गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

(प्रथम खण्ड)

प्रकाशक : श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

॥ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ॥

श्रीरामानन्द पुस्तकालय प्रकाशनमाला का तृतीय पुष्प-

श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

प्रथम-खण्ड

श्रीमत् प्रियादास जी कृत कवित्तमयी

भक्ति-रसबोधिनी

(टीका सहित)

मूल छप्पय १ से २७ तक - टीका कवित्त १ से १०५ तक

●

टीकाकार :

श्रीगणेशदासजी 'भक्तमाली' (गोवर्धन)

●

भाष्यकार :

रामायणी श्रीरामेश्वरदास जी (चित्रकूटी)

●

सम्पादक :

जगन्नाथदास शास्त्री

●

प्रकाशन :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)

मूल्य ३३०/- रुपये

ISBN : 978-93-84836-05-4

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

अष्टम संस्करण :

४००० प्रतियाँ

●

प्रकाशन तिथि :

श्रीसीताराम विवाहोत्सव सम्वत् २०७७

सर्वाधिकार-प्रकाशकाधीन

●

मूल्य-३३०/- रुपये

●

प्राप्ति-स्थान :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन, पिनकोड-२८११२१ (जिला-मथुरा)

मोबाइल : ०९२१९८८०१११

●

खण्डेलवाल बुक सेलर

अठखम्बा, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-२८११२१

❁ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ❁

भूमिका

लेखक – स्वामी श्रीजयरामदेव जी महाराज

समस्त साधन समुच्चयों में 'भक्ति' भगवान को सर्वाधिक प्रिय है। भक्तिमती शबरी से स्वयं भगवान् श्रीरामजी कहते हैं कि मैं जीव को केवल भक्ति सम्बन्ध से स्वीकार करता हूँ। यथा–'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भक्ति कर नाता।।' भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी भगवान् को प्राणों से भी अधिक प्रिय है। परन्तु भक्तिहीन ब्रह्मा भी भगवान् के लिए वैसे ही हैं जैसे सामान्य जीव। यथा–'भक्तिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्राण प्रिय असि मम बानी।।'' भक्तिहीन विरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई।।'' श्रीभक्ति की इस महिमा के सम्बन्ध में सभी शास्त्रों एवं सदाचार्यों का मतैक्य है। वैसे तो भक्ति के इस महत्व का प्रतिपादन करने वाले वेद–पुराणादि प्राचीन एवं श्रीरामचरितमानसादि अर्वाचीन अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु श्रीभक्तमाल सर्वोपरि है, यह निर्भ्रान्त सत्य है। इस अद्वितीय भक्ति ग्रन्थ के प्रणेता परम भागवत श्रीनाभाजी ने अपने सद्गुरु श्रीअग्रदेवाचार्य जी की आज्ञा से भक्तों के परम पवित्र चरित्र के माध्यम से अनिर्वचनीया प्रेमलक्षणा भक्ति के स्वरूप का बड़ा ही मनोहारी चित्रण किया है। मंगलाचरण में 'भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु, चतुरनाम वपु एक।।'' कहकर सन्त, सद्गुरु, भक्ति और भगवान् का तात्विक ऐक्य निरूपण 'जय जय मीन वराह कमठ नरहरि बलि बावन।।' आदि के द्वारा समस्त अवतारों का तात्विक अभेद वर्णन, सभी सम्प्रदायाचार्यों एवं सभी सम्प्रदाय के सन्तों का समान भाव से श्रद्धा पूर्वक संस्मरण–श्रीभक्तमाल की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे श्रीनाभाजी के परम दार्शनिकता, परम रसिकता एवं परम उदारता का परिचय मिलता है। श्रीनाभाजी के आदेश से लिखी गई श्रीभक्तमाल के ऊपर वैष्णवरत्न श्रीप्रियादासजी की 'भक्तिरस–बोधिनी' टीका स्वर्ण में सुगन्ध सदृश है। इससे श्रीनाभाजी के हार्दिक अभिप्रायों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि यह टीका भी श्रीवैष्णव–समाज में मूलवत् ही परम आदर को प्राप्त हुई।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु के गुण, स्वरूप, स्वभाव और प्रभावादि का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में परात्पर प्रभु के चौबीस अवतारों एवं श्रीरामभद्रजू के श्रीचरण–चिह्न वर्णन के साथ सतयुग, त्रेता और द्वापर के भक्तों की पुनीत चर्चा की गई है तथा उत्तरार्द्ध कलियुग के भक्तों की पवित्र गाथा से परिपूर्ण है। भक्तों का चरित्र वर्णन करते हुए ग्रन्थकार श्रीनाभाजी एवं टीकाकार श्रीप्रियादास जी ने नवधा, दशधा, प्रेमा, परा आदि भक्ति के विविध स्वरूपों, ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, शील, सदाचार, सत्य अहिंसा, क्षमा, दया, समानता, अमानता आदि सद्गुणों, भक्तों की रहनी, भक्तों के भगवान् के प्रति दिव्य–भव्य–भाव, उनकी सन्निष्ठा तथा भगवान की भक्तवत्सलता, भक्तप्रियता, सौलभ्य, सौशील्य, कृपालुता आदि दिव्य–गुणों का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।

'श्रीभक्तमाल' भक्तों का सर्वस्व है। इसमें वर्णित श्रीलक्ष्मी जी, हनुमानजी, श्रीअम्बरीषजी आदि की भगवत्सेवा–निष्ठा, श्रीसदाव्रती जी, श्रीहरिपालजी, श्रीत्रिलोचनजी आदि की साधु–सेवा–निष्ठा, श्रीपरीक्षित जी की श्रवण–निष्ठा, श्रीशुकदेवजी, श्रीजयदेव जी, श्रीतुलसीदास जी, श्रीसूरदास जी, आदि की कीर्तन–निष्ठा श्रीधुव्रजी, श्रीप्रह्लाद जी की स्मरण निष्ठा, श्रीपृथु की पूजा–निष्ठा, श्रीअक्रूरजी आदि की वन्दन–निष्ठा, श्रीअर्जुन जी, विप्र श्रीसुदामाजी, श्रीमधुमंगलजी, सुवलादि ग्वाल–बाल, गोविन्द स्वामी आदि की सख्य निष्ठा, श्रीबलिजी,

श्रीविभीषण जी आदि का आत्म-निवेदन, श्रीनन्द-यशोदा, श्रीविट्ठलनाथ जी, श्रीकर्माबाईजी आदि की वात्सल्य-निष्ठा, श्रीहनुमान जी, अम्बरीषजी आदि की दास्य-निष्ठा, श्रीगोपिकावृन्द, श्रीमीराबाईजी, स्वामी श्रीहरिदास जी, गो. श्रीहितहरिवंश जी, श्रीअग्रदेवजी आदि की मधुरभावमयी शृंगार-निष्ठा, श्रीकबीरदासजी, अन्तर्निष्ठ राजा आदि की नाम-निष्ठा, श्वेतद्वीपवासी भक्तवृन्द, श्रीरत्नावती जी बाई आदि की रूप-निष्ठा, श्रीमाधवदास जी आदि की लीला-निष्ठा, श्रीभट्टजी की धाम-निष्ठा श्रीलालाचार्य जी, मधुकरशाहजी की वेष-निष्ठा, श्रीहरिराम व्यासजी, पुरी के राजा आदि की प्रसाद-निष्ठा, श्रीरूप-सनातन-रघुनाथदास गोस्वामी जी आदि का अद्‌भुत त्याग-वैराग्य और अनुराग, द्वादश-महाभागवताचार्यों की भक्ति-निष्ठा, श्रीचैतन्यमहाप्रभु जी का लोकोत्तर प्रेमोन्माद आदि परमार्थ पथ के पथिकों के लिये परम आदर्श एवं अनुकरणीय है। भक्त-चरित्रों का श्रवण एवं स्वाध्याय करने से इन सबका एक साथ सम्यक् बोध हो जाता है। इसी से श्रीभक्तमाल भक्तों को अत्यन्त प्रिय है।

महत्व की बात यह है कि यह श्रीभक्तमाल भक्तों को अत्यन्त प्रिय होने के साथ-साथ भगवान को भी परमप्रिय है। यथा-' धारी उर प्यारी किहूँ करत न न्यारी।।' हरि को निज जस ते अधिक भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रचीं, करि ध्रुव कण्ठ सिंगार।।' भगवान अपने नित्य धाम में श्रीभक्तमाल का सदा स्वाध्याय करते हैं। श्रीभक्तमाल के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। जैसे भक्तों को भगवान का चरित्र परमप्रिय है, वैसे ही भगवान को भक्तों का चरित्र परमप्रिय है। सत्य तो यह है कि भगवान् अपने से भी अधिक भक्तों को आदर देते हैं। यथा-' मोते सन्त अधिक करि लेखा।।' और भावुक भक्तों का भी यह अनुभव है। यथा-मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।'

ऐसे महिमामय ग्रन्थ श्रीभक्तमाल के भावों को हृदयंगम कराने के लिये सुधी-सन्तों के द्वारा आज तक इस ग्रन्थ पर बहुत से तिलक एवं टिप्पणियाँ लिखी गई हैं और सभी का अपना निजी महत्व है। परन्तु प्रस्तुत संस्करण निश्चय ही पूर्व प्रकाशित समस्त टीका-टिप्पणियों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। श्रीगणेशदासजी महाराज (श्रीलक्ष्मण मन्दिर गोवर्धन ने) इसकी भाषा टीका लिखी है, जो अत्यन्त ही सरल एवं सुबोध है। जिसे पढ़कर सर्वसाधारणजन भी मूल के भावों को सम्यक्तया समझ सकते हैं तथा रामायणी श्रीरामेश्वरजी (चित्रकूटी) ने इसकी व्याखी लिखी है। श्रीभक्तमाल जी की इतनी विस्तृत विशद और भावपूर्ण व्याख्या आज तक नहीं प्रकाशित हुई थी। श्रीनाभाजी एवं श्रीप्रियादासजी के भावों का सम्यक् दिग्दर्शन कराने वाली विविध पौराणिक एवं सन्त-समाज में प्रचलित कथाओं, प्रमाणरूप श्लोक, कवित्त आदि विविध छन्दों, प्रसंग का सम्यक् बोध कराने वाले सुन्दर दृष्टान्तों से समलंकृत यह व्याख्या अवश्य ही अभूतपूर्व एवं अद्वितीय है। इन दोनों ही महानुभावों ने बड़े ही अध्ययन एवं अध्यवसाय पूर्वक इस ग्रन्थ की भाषा-टीका एवं व्याख्या प्रस्तुत करके वैष्णव जगत् को एक अमूल्य निधि प्रदान की है। भाषा-टीका एवं व्याख्या की सरलता एवं गम्भीरता का अनुभव आप स्वयं इसका अध्ययन करके प्राप्त करेंगे। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध प्रथमखण्ड आपके कर कमलों में है। उत्तरार्द्ध का प्रकाशन भी हो चुका है। यह ग्रन्थ प्रेमीजनों का तो जीवन धन है ही, उन्हें तो भक्ति रसार्णव में सरावोर करने वाला है ही विमुखों एवं नास्तिकों के हृदय को भी आस्तिक बनाने में परम समर्थ है। अत: जिसको अपना मानव-जीवन सफल बनाना हो और जो भगवान की भक्ति चाहते हैं उन्हें निरन्तर श्रीभक्तमालजी का श्रवण, मनन, स्वाध्याय करना चाहिये। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस श्रीभक्तमाल जी का अध्ययन करके समस्त जन-समुदाय आह्लादित हो उठेगा।

श्रीगिरिधारी मन्दिर, श्रीवृन्दावन **—जयरामदेव**

◉ श्रीरामः शरणं ममः ◉

नम्र-निवेदन

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक।।

'बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है' श्रीप्रियादासजी के इस महावाक्य से प्रेरित होकर मैं श्रीभक्तमालजी के स्वाध्याय के लिए श्रीचित्रकूट से श्रीवृन्दावन आया। श्रीवंशीवट, यमुनातट पर स्थित श्रीसुदामाकुटी, भारत प्रसिद्ध सन्त सेवी स्थान हैं। भगवत्कृपा से मुझे यहाँ पर निवास के लिये सभी सुख-सुपास सहज ही सुलभ हो गया। भगवत्-भागवत सेवा-परायण, परमार्थ-निरत, परम उदार, सौशील्य मूर्ति, सन्त शिरोमणि श्रीसुदामादासजी महाराज यहाँ के महन्त हैं। आपका मेरे ऊपर अगाध स्नेह है। आपके वरदहस्त की छत्रछाया में रहते हुए मैं वैसे ही निश्चिन्त हो गया जैसे-मैया-बाबा की गोद में बालक। **श्रीमहन्त सुदामादासजी महाराज** की आज्ञा से मैं यहाँ पर श्रीरामचरित मानस की कथा कहते हुये **परम श्रद्धेय श्रीगिरिधारीदासजी महाराज 'भक्तमाली'** से श्रीभक्तमालजी का स्वाध्याय भी करने लगा बीच-बीच में विशेष-उत्सवों के शुभ-अवसरों पर प्रातः स्मरणीय, परमपूज्य अनुरागमूर्ति **पण्डित श्रीजगन्नाथदासजी 'भक्तमाली'** के श्रीमुख से भी श्रीभक्तमाल जी की कथा सुनने का सौभाग्य मिला। प्रस्तुत संग्रह इन्हीं महानुभावों का कृपा-प्रसाद है। इसके लिये हम हृदय से इन गुरुजनों के कृतज्ञ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जो सौष्ठव है, वह इन कृपालु गुरुजनों का है और जो त्रुटियाँ हैं, वह मेरी हैं। कृपालु पाठक उन्हें क्षमा करते हुए सुधारकर पढ़ें।

श्रीभक्तमालजी के मूल दोहे और छप्पयों तथा श्रीप्रियादासजी की टीका-कवित्तों में आये हुए कठिन शब्दों का अर्थ एवं भावार्थ श्रीभक्तमालजी के भक्तवल्लभा टिप्पणीकार, परमादरणीय सन्त शिरोमणि **श्रीगणेशदासजी** (लक्ष्मण मन्दिर, गोवर्धन) द्वारा लिखित हैं। व्याख्या में आये हुए श्लोकों, पदों एवं कथा प्रसंगों का संकलन जिन-जिन ग्रन्थों से किया गया है, यथा-स्थान उनका संकेत कर दिया है और जहाँ संकेत नहीं है, वहाँ उनको सन्तों के द्वारा श्रौत-परम्परा से प्राप्त समझना चाहिये। व्याख्या के सम्बन्ध में मुझ अबोध बालक को अल्प-बुद्धि से जैसा कुछ बन पड़ा आप सहृदय पाठकों के समक्ष उपस्थित है। आप लोगों के प्यार ने मुझे ढीठ बना दिया है, इसी से कुछ लिखने का साहस कर सका हूँ और वह भी इस बल एवं विश्वास से कि-

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।।
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।। (रामा.)

प्रकाशन सम्बन्धी समस्त कार्य-पाण्डुलिपि निरीक्षण प्रूफ संशोधन आदि परम श्रद्धेय **श्रीगणेशदासजी** (गोवर्धन) के अथक् प्रयास से सम्पन्न हुआ है। निश्चय ही यदि आपका सहयोग नहीं प्राप्त हुआ होता तो मेरे लिये ग्रन्थ-प्रकाशन कठिन ही नहीं सर्वथा असम्भव था। आपके इस अहैतुक अनुग्रह के लिये हम परम आभारी हैं।

लेखन काल में पं. श्रीओंकारदत्त शर्मा, श्रीहनुमानजी का मन्दिर, जवार (अलीगढ़) ने महाभारत आदि अनेक दुर्लभ ग्रन्थ दिये। भक्तमाली पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसाद जी महाराज से अध्ययन करके श्रीरामसेवकदासजी

भक्तमाली ने यथा समय अर्थ-भावार्थ का बोध कराया एवं श्रीपण्डित जी से श्रीभक्तमाल श्रवण करके संस्मरण लिखने वाले श्रीदुर्गाप्रसाद जी श्रीवास्तव द्वारा लिखित एक कापी पूज्यपाद श्रीगर्वीलीशरण जी 'भक्तमाली' के सौजन्य से प्राप्त हुई, इसके अतिरिक्त श्रीधाम वृन्दावन के अनेक सन्त महानुभावों द्वारा यथा समय भक्तमाल सम्बन्धी सामग्री प्राप्त हुई उससे तथा श्रीधाम अयोध्या के भक्तमाली श्रीरामशरणदास जी वैद्य के पुस्तकालय से एक पुरानी टिप्पणी प्राप्त हुई, उससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई अत: हम उन सभी के कृतज्ञ हैं श्रीरामनारायण दास जी भक्तमाली ने अपना संग्रह दिखाया अत: उन्हें कोटिश: धन्यवाद।

आप भगवत् भागवतचरितामृत रसास्वाद कुशल महानुभावों के कर-कमलों में यह श्रीरामानन्द पुस्तकालय, (सुदामाकुटी, वृन्दावन) प्रकाशनमाला का तृतीय पुष्प 'प्रथमखण्ड भक्तमाल' सप्तम संस्करण समर्पित करते हुए मुझे महान हर्ष हो रहा है और आगे हम शीघ्र ही श्रीप्रभु कृपा से उत्तरार्द्ध भी आपकी सेवा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। उसमें कलियुग में हुए प्रेमी भक्तों के चरित्र होंगे। उत्तरार्द्ध में बहुत से ऐसे भी भक्त हैं जिनके नाममात्र छप्पयों में आये हैं उनके चरित्र उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही भक्तों के ग्रन्थों की, वाणियों की प्रशंसा मिलती है पर ग्रन्थ एवं वाणियाँ अप्राप्त हैं जैसे 'चालक की चरचरी चहुँदिशि उदधि अन्त लौं अनुसरी', 'गोप्यकेलि रघुनाथ की मानदास परगट करी', जकरीजन गोपाल आदि। ये तथा अन्य भक्तमाल सम्बन्धी ग्रन्थ, पद, चरित्र जिन सज्जनों के पास हों मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे कृपया भक्तमाल सम्बन्धी सामग्री भेजें, प्राप्त करने के पते बतायें, पत्र-व्यवहार करें। अध्ययन के बाद प्रतियाँ वापस कर दी जावेंगी।

प्रार्थी-

दासानुदास

रामेश्वरदास रामायणी (चित्रकूटी)

सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीप्रियादास कृत भक्तमाल-वन्दना

नमो नमो श्रीभक्त सुमाल।

जाके सुनत महा तम नाशत उर झलकत-राधा नन्दलाल।।
गदगद स्वर पुलकत अंग अंगनि लोचन बरसत अँसुवन जाल।
उतरि जात अभिमान व्यालविष लेत जिवाय सुरस तिहिं काल।।
होत प्रीति हरि भक्तजनन सों लेत शीघ्र हठि चरण प्रछाल।
तजत कुसंग लेत सत्संगति भाग जगत कोउ अद्भुत भाल।।
निसिवासर सोवत अरु जागत रोम-रोम ह्वै करत निहाल।
श्रीअग्रनारायणदास प्रिया प्रिय प्रगटी जीवन रसिक रसाल।।

❁ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ❁

प्राक्कथन

लेखक-गणेशदास
(भूतपूर्व व्यवस्थापक-श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन)

★★★

श्रीभक्तमाल ग्रन्थ भक्ति साहित्य का अनूठा एवं अनमोल रत्न है इस बात को सम्पूर्ण भक्त जगत् जानता एवं मानता है। किसी भी ग्रन्थ की महिमा, मान्यता उसके रचयिता के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होने के कारण ही होती है। श्रीमद्गोस्वामी नाभाजी जिनका गुरुप्रदत्त नाम नारायणदास है इनका जन्म-कर्म दिव्य था। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आपने जन्म लेकर अपने नेत्र बन्द ही रखे, जगत् को देखा ही नहीं। जब सन्त सद्गुरुदेव की एवं उनकी कृपा की प्राप्ति हो गई, तब आपने नेत्र खोले, सर्वप्रथम गुरु, गोविन्द के ही दर्शन किये। सत्य तो यह है कि आपके जीवन में, आपकी दृष्टि में सन्त भगवन्त के अतिरिक्त और कोई आया ही नहीं, आपने किसी को देखा ही नहीं। सन्तों की कृपा से इन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई जानकर गुरुवर्य आचार्य श्रीअग्रदेवजी महाराज ने इन्हें भक्तमाल रचने की आज्ञा दी, (विशेष इसी ग्रन्थ के ९२ पृष्ठ में इनका चरित्र पढ़िये) तभी ऐसे अनुपम, दिव्य ग्रन्थ की आपने रचना की, जिसका सभी आस्तिकों में बहुत अधिक आदर हुआ। अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। इसके पठन, श्रवण से शुष्क-हृदय सरस हो जाता है और सरस हृदय में सदा के लिये भक्ति का ज्वार आ जाता है। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत एवं श्रीरामायण आदि सभी ग्रन्थों के प्रवक्ता भक्तमाल के भक्तों के दृष्टान्त देकर भक्ति के सभी रसों को, अंगों को परिपुष्ट करते हैं।

श्रीनाभाजी का जन्म माघ सुदी ५ सं. १५८७ वि. में हुआ। श्रीभक्तमाल की रचना का समय लगभग १५९९ है। आपने साकेतधाम गमन के लगभग १०० वर्ष पश्चात् आपने श्री प्रियादासजी को दर्शन देकर श्रीभक्तमाल पर टीका करने की आज्ञा दी क्योंकि आपने यह अनुभव किया है कि श्रीप्रियादास जी में भी मेरे समान ही सन्तों में अपार स्नेह है, उनके महत्व-परत्व को भलीभाँति जानते हैं।

श्रीप्रियादासजी-

का संक्षिप्त-परिचय देते हुए बाबा श्रीकृष्णदासजी (कुसुम सरोवर, गोवर्धन) ने 'श्रीप्रियादास-ग्रन्थावली' की भूमिका में लिखा है कि इनका जन्म राजपुरा नामक ग्राम-सूरत (गुजरात) में हुआ। जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि वि. सं. १७४० के पूर्व ही आपका प्रादुर्भाव हुआ था। नवीन अवस्था में ही आप श्रीधाम वृन्दावन आ गये और श्रीराधारमणजी के मन्दिर में श्रीमनोहरदास जी महाराज के शिष्य हुए। ये श्रीमद्गोपाल भट्टजी के चरणाश्रित श्रीनिवासाचार्य प्रभु के शिष्य थे। श्रीगुरुदेव की आज्ञा से श्रीप्रियादास जी ने तीर्थाटन किया। प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूट आदि धामों के दर्शन कर आप गलतागादी, जयपुर पधारे और कुछ दिन तक वहाँ रहे। वहीं पर मानसी-सेवा के समय श्रीनाभाजी ने दर्शन देकर श्रीभक्तमाल की छन्दोबद्ध टीका लिखने की आज्ञा दी। तब आपने 'भक्तिरसबोधिनी' टीका लिखी जो यथा-नाम तथा गुण वाली है।

इसके अतिरिक्त १. रसिक मोहिनी, २. अनन्य मोदिनी, ३. चाहवेली, ४. भक्तसुमरणी आदि आपकी रचनायें भी प्रसिद्ध हैं। टीका करने के बाद आप नित्य श्रीभक्तमाल की कथा कहने लगे। ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा को गये। वहाँ महन्त श्रीलालदास जी ने कथा कहवाई। उसी बीच ठाकुर चोरी चले गये फिर ठाकुर जी को वापस लाकर चोरों ने अपने स्वप्न की बात कहवाई, जिससे प्रमाणित हुआ कि श्रीभक्तमाल की कथा भगवान् को अति प्रिय है। (सम्पूर्ण प्रसंग श्रीभक्तमाल-माहात्म्य में पढ़िये)

इस श्रीभक्तमाल के पूर्वार्द्ध में मूल में ४ दोहे तथा २३ छप्पय हैं और इनकी टीका भक्तिरसबोधिनी के १०५ कवित्त हैं। अयोध्या, वृन्दावन में श्रीभक्तमालजी की अध्ययन और अध्यापन और प्रवचन सन्तों द्वारा विशेष रूप से सदा होता रहता है। भगवान् की असीम अनुकम्पा से सं. २०२६ से रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी महाराज, सुदामाकुटी (वृन्दावन) में आकर विराजे हैं, तब से निरन्तर कथा-सत्संग का लाभ यहाँ हो रहा है। पाँच वर्ष में श्रीरामचरितमानस की दो आवृत्तियाँ पूरी हुईं। उसके पश्चात् श्रवण रसिक भक्त-भगवन्त की इच्छा से आपने श्रीभक्तमाल की कथा आरम्भ की, जो लगभग दो वर्ष में पूर्ण हुई। भक्त-चरित्रों के श्रवण से प्रेमीभक्तों को अनिर्वचनीय परमानन्द का लाभ हुआ। उसी से प्रेरित होकर प्रेमियों ने विशेष इच्छा प्रकट की, कि भाषा-टीका एवं विस्तृत व्याख्या सहित एक भक्तमाल ग्रन्थ प्रकाशित हो। वैसे बहुत पहले से ही सन्तों की यह माँग थी ही अत: सर्व समर्थ भक्त-भगवन्त ने मुझ दास एवं श्रीरामायणीजी के द्वारा लेखन और रामानन्द पुस्तकालय सुदामाकुटी वृन्दावन द्वारा प्रकाशन करा लिया। आप सज्जन इसी प्रकार कृपा बनाये रक्खे जिससे उत्तरार्द्ध श्रीभक्तमाल एवं अन्य भक्ति-साहित्य हम प्रकाशित कर सकें। पूर्वार्द्ध भक्तमाल का यह षष्ठम् संस्करण पाठकों की सेवा में सादर समर्पित है।

दासानुदास - गणेशदास

❀ ❀ ❀

काल झपट्टा देत है दिन में बार हजार। मूरख नर चेते नहीं कैसे उतरे पार।।
कैसे उतरे पार मोह में हार्‌यौ बाजी। भज्यौ नहीं भगवन्त रह्यौ माया में राजी।।
कहत 'दीन दरबेश' छोड़ दे कूट कपट्टा। दिन में बार हजार देत है काल झपट्टा।।
मर जावेगा मूरखा क्यों न भजे भगवान। झूठी माया जगत की मत करना अभिमान।।
मत करना अभिमान वेद शास्तर यों कहवें। तज ममता भज राम नाम अम्मर सों रहवें।।
कहत 'दीन दरबेश' फेर अवसर कब आवे। भज्यौ नहीं भगवान अरे मूरख मर जावे।।

❀ ❀ ❀

❁ श्रीभक्तवत्सलो जयति ❁

सम्पादकीय

पूज्यचरण श्रीगणेश दास जी भक्तमाली (भक्तमाल टीकाकार) के साकेत गमनोपरान्त भक्तमाल के प्रकाशन एवं श्रीरामानन्द पुस्तकालय का गुरुतर भार मुझ दास के कन्धों पर आया, यद्यपि मेरे राम सर्वथा अयोग्य एवं अनुभव हीन थे। जिस भक्तमाल के विषय में श्री नाभाजी महाराज कहते हैं कि **''गाउँ राम कृष्ण को न पाउँ भक्ति दांव को''** ऐसे भक्तमाल का प्रकाशन बड़ा दुरूह कार्य है, परन्तु पूज्य महान्त श्रीसुतीक्ष्णदासजी महाराज की सत्प्रेरणा एवं कुटिया बिहारी सरकार की असीम अनुकम्पा से दास इस पुनीत कार्य में लगा। जब भक्तमाल प्रथम खण्ड का अवलोकन किया तो प्रतीत हुआ कि ग्रन्थ में अशुद्धि प्रचुर मात्रा में हैं, भक्तों की शिकायत भी आती रही, इन बातों को ध्यान में रखकर प्राचीन प्रति से मिलान करके प्रूफ संशोधन का कार्य किया गया तथा श्रीभागवत जी के श्लोकों का नम्बर नहीं था उसे नम्बरों से युक्त करने का यथासम्भव प्रयास किया गया। अनुभव विहीन होने के कारण अनेक त्रुटियाँ सम्भव हैं, विज्ञ पाठक जन हमें क्षमा करते हुए सुधार कर पढ़ें।

–जगन्नाथदास शास्त्री

सम्पादक

सुन सुत एक कथा कहौं प्यारी।
कमल नयन मन आनँद उपज्यौ चतुर सिरोमणि देत हुँकारी।।
नगर एक रमणीक अयोध्या बड़े महल जहाँ अगम अटारी।
बहुत गली पुर बीच विराजत भाँति भाँति सब हाट बजारी।।
तहाँ नृपति दसरथ रघुवंशी जाके नारि तीन सुखकारी।
कौसल्या कैकयी सुमित्रा तिनके जन्म भए सुत चारी।।
चारि पुत्र राजा के प्रगटे तिनकें एक राम व्रतधारी।
जनक धनुष व्रत देखि जानकी त्रिभुवन के सब नृपति हँकारी।।
राजपुत्र दोऊ ऋषि लै आये सुनि व्रत जनक तहाँ पग धारी।
धनुष तोरि मुख मोरि नृपन कौ जनक सुता तिनकी वर नारी।।
पग अँगुठा जब पीर नृपति कैं तब कैकयी मुख मेलि निवारी।
वचन माँगि नृप सों तब लीन्यौ रघुपति के अभिषेक सँवारी।।
तात वचन सुनि तज्यौ राज तिन भ्राता सहित घरनि वनचारी।
उनके जात पिता तनु त्यागौ अति व्याकुल करि जीव बिसारी।।
चित्रकूट गये भरत मिलन जब पग पाँवरि दै करी कृपारी।
युवती हेतु कनक मृग मार्‌यौ राजिवलोचन गर्वप्रहारी।।
रावन हरन कर्‌यौ सीता कौ सुनि करुणामय नींद बिसारी।
सूर श्याम कर उठे चाप को लछिमन देहु जननी भ्रम भारी।।

❁ श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः ❁

परमादरणीय, परमपूज्य, परमभागवत अनुरागमूर्ति, श्रीभक्तमाल रस रसिक श्रीश्री १०८ पण्डित श्रीजगन्नाथ दास जी महाराज का

शुभ-आशीर्वाद

❁ ❁ ❁

प्रातः स्मरणीय श्री १०८ श्रीरामेश्वरदास जी महाराज रामायणी (सुदामाकुटी, वृन्दावन) श्रीराघवेन्द्र सरकार की प्रेरणा से गोस्वामी श्रीनाभाजीकृत श्रीभक्तमाल तथा श्रीप्रियादासजी कृत टीका की विस्तार से व्याख्या की है। उसमें अन्य वैष्णव ग्रन्थों से तत्तत् विषयक श्लोक, पद, कथा प्रसंग एवं दृष्टान्त लेकर उनके द्वारा बहुत ही सुन्दर रीति से भाव प्रकाशित किया गया है। इसमें श्रीगोवर्धन निवासी श्री १०८ श्रीगणेशदास जी महाराज जिन्होंने श्रीभक्तमाल की अनुपम टिप्पणी रची है उन्होंने शब्दार्थ भावार्थ बड़ा ही सुन्दर लिखा है। इस प्रकार आप श्रीरामायणीजी के इस मंगलमय कार्य में परम सहायक हुए हैं। आपका श्रीवैष्णवों के चरित्रों में अद्वितीय भाव है वह सराहना करने में नहीं आता है। मैं श्रीवृन्दावन-बिहारीजी से प्रार्थना करता हूँ कि इनकी मति भक्त भगवद् यश कथन-श्रवण में निरन्तर लगी रहे।

विश्वास है कि भागवतजन इस ग्रन्थ को पढ़कर आपके परिश्रम को सफल बनावेंगे तथा भागवतों के श्रीचरणों में प्रेम सम्बन्ध करें।

आप भगवदीयजनों का कृपाकांक्षी-

जगन्नाथदास "भक्तमाली"

श्रीवृन्दावन

काव्यवेदान्ततीर्थ घटिकाशतक महाकवि श्रीवनमालिदास शास्त्रीजी की

शुभ-सम्मतिः

येनाऽकारि गुरोर्निजस्य चरितं काव्यं कविप्रीतिदं,
चक्रे 'सख्यसुधाकरं' य उ महाकाव्यं हरिप्रेष्ठकम्।।
टीकां यश्च लिलेख भाववलितां गोपालचम्पूद्वये,
तेनेयं वनमालिदासकविना देदीयते सम्मतिः।।१।।

जिन्होंने कवियों को हर्ष देने वाला एवं अपने गुरुदेव स्वामी श्री १०८ श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज के दिव्य-चरित्रों से परिपूर्ण 'श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य' बनाया एवं उसके बाद आज से ३४ वर्ष पहले सख्यरस-प्रतिपादक 'श्रीसख्य-सुधाकर' नामक ग्रन्थ बनाया एवं उसी के साथ-साथ भारत सरकार से पुरस्कृत 'श्रीहरिप्रेष्ठ महाकाव्य' रचना की थी तथा 'श्री राधारमण शतक' 'श्री वनमालि-प्रार्थना-शतक' 'श्री भक्तनाम-मालिका' आदि की रचना की और जिन्होंने 'श्रीगोपालचम्पू', 'श्रीपद्यावली' आदि प्राचीन भक्ति-ग्रन्थों पर भाव-भरी सिद्धान्तमयी टीका लिखी, वे ही महाकवि वनमालिदास शास्त्रीजी इस 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थ पर अपनी शुभ-सम्मति को विशेषता पूर्वक दे रहे हैं।।१।।

गणेशदासेन सुटीकितेऽस्मिन्, श्रीयुक्तरामेश्वरदास-भाष्ये।
श्रीभक्तमालाऽऽह्वय-दिव्यग्रन्थे, मनोऽलिसङ्घो रमते समेषाम्।।२।।

श्रीचित्रकूट-चर्चिका आदि ग्रन्थों के रचयिता एवं श्रीभक्तमाल पर 'भक्तवल्लभा' टिप्पणी के लेखक 'श्रीगणेशदासजी महाराज' (गोवर्धन-निवासी) द्वारा की हुई सुन्दर भाषा-टीका से युक्त एवं सुप्रसिद्ध सरस रामायणी 'श्रीरामेश्वरदासजी महाराज' (चित्रकूटी) द्वारा विरचित भाष्य से युक्त 'श्रीभक्तमाल' नामक इस दिव्य-ग्रन्थ में सभी भक्तों का मनरूपी मिलिन्दवृन्द रमता रहता है।।२।।

कतिपय-टीकाग्रन्था, दृष्टाः श्रीभक्तमालायाः।
ते नो सर्वाङ्गीणा, यथाऽयमास्ते सर्वाङ्गीणः।।३।।

मैंने आज तक प्रकाशित हुए 'श्रीभक्तमाल' के कितने ही टीका ग्रन्थ देखे, किन्तु वे सब उस प्रकार से सांगोपांग नहीं हैं कि, जिस प्रकार से 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन से प्रकाशित होने वाला यह 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थ सांगोपांग मूलार्थबोधन समर्थ है।

मधुनि लिल्युरशेषरसा यथा, तदवदत्र हि भक्तिरसाः समे।
इति विचार्य विचारविचक्षणा, अपि पठन्तु मनोहर-पुस्तकम्।।४।।

'देखो! मधु (शहद) में जिस प्रकार सभी रसलीन रहते हैं, ठीक उसी प्रकार अब प्रकाशित होने वाले इस 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थ में भी भक्ति के सभी रस सांगोपांग सप्रमाण विद्यमान हैं' ऐसा विचार करके विचार में विचक्षण (चतुरजनों) को भी यह मनोहर ग्रन्थ अवश्य ही पढ़ना चाहिए।।४।।

पूर्वं पूर्वमितस्तु प्रकाशित-भक्तमाल-ग्रन्थानाम्।
नैव प्रकाशन रीती, रमणीयाऽऽसीद् यथैतस्य।।५।।

'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' सुदामाकुटी से प्रकाशित होने वाले इस 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थ की प्रकाशन रीति जिस प्रकार रमणीय है, उस प्रकार की प्रकाशन रीति तो इससे पहले-पहले सैकड़ों वर्षों से प्रकाशित 'श्रीभक्तमाल' के ग्रन्थों की भी कदापि नहीं थी।।५।।

स जयति गणेशदासः, साधुः सौशील्य-सम्पूर्णः।
यत्कृतटीकामध्ये, गूढो भावः सर्वोऽपि मूलस्य।।६।।

सुशीलता से परिपूर्ण साधुवर्य उन श्रीगणेशदासजी महाराज की जय हो कि जिनके द्वारा की हुई इस 'श्रीभक्तमाल' की टीका में मूल का सम्पूर्ण गूढ़-रहस्य स्पष्ट ही विद्यमान प्रतीत हो जाता है।।६।।

श्रीरामेश्वरदासः स जयति व्याख्या-प्रवीणता-पूर्णः।
यत्कृत व्याख्यां श्रुत्वा, चेतो नृत्यति समस्त श्रोतृणाम्।।७।।

शास्त्रों की व्याख्या की प्रवीणता से परिपूर्ण साधुवर्य उन श्रीरामेश्वरदासजी महाराज की जय हो कि जिनके द्वारा की हुई व्याख्या को सुनकर, सभी श्रोताओं का मन नाचने लग जाता है।।७।।

श्रीभक्तमाल-पठन-श्रवणानुमोदैः, शीघ्रं समेति हृदये भजतां मुरारिः।
वृन्दाटवी वसति लब्धकवित्वशक्तिरित्याह भक्तकृपया वनमालिदासः।।८।।

श्रीभक्तमाल-ग्रन्थ के पठन, श्रवण एवं अनुमोदन करने मात्र से मुरारि भगवान भजन करने वाले भक्तों के हृदय में शीघ्र ही आ जाते हैं इस बात को 'श्रीभक्तमाल' में विद्यमान भक्तों की कृपा से, वही 'वनमालिदास' कह रहा है कि, जिसको कविता-शक्ति का लाभ श्रीवृन्दावन में निवास करने के अलौकिक प्रभाव से ही हुआ है।।८।।

❀ ❀ ❀

श्रीभक्तनाम मालिका
(श्रीभक्तसहस्त्रनाम)

स्त्रग्धरावृत्तमेतत्

श्रीकृष्णं प्रापयन्ती सकलजनमनोदोहदं दापयन्ती
पापाद्रिं दारयन्ती गुरुभवजलधेरञ्जसा तारयन्ती।
कामादीन्नाशयंती निखिलरिपुगणान् वासनां शासयंती
भक्तानां नामगङ्गाऽवतु मम रसनाभूमिभागे पतन्ती।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

लोपं विलोक्य भुवि सख्यरसस्य तस्य
सञ्चारणाय हरिणा कलकण्ठनामा।
सम्प्रेषितो य इह तं व्यतरज्जनेभ्य-
स्तं श्रीगुरुं स्वकमहं शरणं व्रजामि।।

इतः श्लोकपञ्चके पञ्चचामरवृत्तं ज्ञेयम्।

हरिः प्रसन्नतां तथा न याति नामकीर्तनैः
स्वकैर्यथा निसर्गतः स्वभक्तनामकीर्तनैः।
इतीव चिन्तयन्नहं करोमि भक्तमालिका-
क्रमेण कृष्णप्रीतये तु भक्तनाममालिकाम्।।
नमामि भक्तमालिकागतानहं पुरा सत-
स्ततस्तु प्रार्थये भृशं विनीत भावतः स्थितः।
यदि व्यतिक्रमः क्वचित्तु वृत्तभङ्गभीरुणा
मया कृतो भवेत्तदापि मर्षयन्तु सज्जनाः।।
विरिञ्चिनारदौ शिवः कुमारकर्दमात्मजौ
मनुः कयाधुनन्दनो विदेहजश्च भीष्मकः।
बलिः शुकश्च धर्मराडिमेऽवयन्ति द्वादश
सुधर्ममन्तरङ्गमन्तरङ्गतां गता अतः।।
अजामिलस्ततो हरेरमी प्रधानपार्षदाः
सुषेणविश्वगर्वसेनकौ जयो विपूर्वकः।
जयो बलः प्रपूर्वको बलः सुनन्दनन्दकौः
सुभद्रभद्रकौ ततः प्रचण्डचण्डकौ मतौ।।
कुपूर्व मुदः कुपूर्वको मुदाक्षकस्ततः
सुशीलशीलकौ मतौ कप्रत्ययोऽत्र स्वार्थिकः।
इमे हरिं सदैव प्रीणयन्ति सर्वभावतो
मनोगतिर्ममास्तु तत्र यत्र पार्षदा हरेः।।

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीलक्ष्मीर्गरुडः समीरतनयः श्रीजाम्बवानुद्धवः
सुग्रीवः शबरी विभीषणजटायू अम्बरीषो ध्रुवः।
अक्रूरो विदुरः सुदामगजराजग्राहभीमार्जुना
मैत्रेयो नकुलो युधिष्ठिरसदेवो चन्द्रहासः कृती।।
कुन्ती द्रौपदिका सदा विजयते श्रीचित्रकेतुः कृती
अङ्ग श्रीश्रुतदेवकश्च मुचुकुन्दः श्रीपरीक्षित्पृथू।
शेषः शौनकमुख्यकाः प्रियव्रतः सूतः प्रचेतोगण
आकूतिश्च प्रसूतिरस्ति शतरूपा देवहूतिः सती।।
गोप्यो यज्ञसती सुनीतिरपरा मन्दालसा पार्वती
वाल्मीकिश्च भगीरथश्चसगरो वाल्मीकिरन्योऽपि च
श्रीसत्यव्रत ताम्रकेतुसुरथाः प्राचीनबर्हिः शिविः
श्रीरुक्माङ्गदराडलर्कभरतौ नीलो मयूरध्वजः।।
श्रीविन्ध्यावलिजीरहूगणसुधन्वानो हरिश्चन्द्रक
इक्ष्वाकुश्च दधीचिरैल ऋभुगाधी श्रीरघुः श्रीगयः
उत्तङ्कश्च रयोऽप्यमूर्तिनहुषौ वैवस्वतः श्रीमनु-
र्भूरिर्देवलरन्तिदेवशतधन्वानो ययातिर्यदुः।।
मान्धाता निमिपिप्पलायनभरद्वाजा दिलीपो गुहः
पूरुर्दक्षशमीकसञ्जयवरा उत्तानपादस्तथा।
मातङ्गः शरभङ्गको विजयते श्रीयाज्ञवल्क्यो मुनि-
रेतेषां चरणाब्जधूलिषुमनः स्नातुं ममोत्कण्ठे।।

हरिणीवृत्तमेतत्

कविरथ हरिः पूज्यः श्रीपिप्पलः करभाजनो
द्रुमिलचमसावाविर्होत्रोऽन्तरिक्षप्रबुद्धकौ
भजनचतुरा जायन्तेया इमे गदिता नव
निमिसदसि ते पूज्यन्ते कौ यथा च नवग्रहाः।।

पञ्चचामरवृत्तमेतत्

अगस्त्यसौभरी पुलस्त्यगर्ग गौतमा भृगु-
र्वसिष्ठकर्दमात्रिलोमशा ऋचीककश्यपौ।
पराशरोऽङ्गिराश्च दूर्विकाशनश्च पर्वतो
विभाण्डकश्च व्यासशिष्य ऋष्यशृङ्गदाल्भ्यकौ।।

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

अरिष्टनेमिः कवषः सुतीक्ष्णो
मेधातिथीन्द्रप्रमदेध्मवाहाः ।
उतथ्य और्वोऽप्यरुणः शरद्वान्
धौम्योऽप्ययोध्याधिप आर्ष्टिषेणः।।
सरस्वती तुम्बुरुरुग्रसेनो व्याधो गणेशो नृगदारुकौ च।

इतः श्लोकाष्टके अनुष्टुब्वृत्तम्

कौशल्या च सुमित्रा च कैकयी सरमा रुमा।
सुनयनाप्यञ्जनाहल्या तारा मन्दोदरी तथा।।
पिङ्गला च सुदामा च वैशम्पायन आरुणिः।
जैमिनिर्वरुणश्चैव कुबेरतनयौ तथा।।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतब्रणः।
अथर्वा सुमतिः पैलः सुमन्तुर्द्रोण आसुरिः।।
विश्वामित्रोऽथ जाबालिर्माण्डव्यश्च्यवनस्तथा।
मार्कण्डेयोऽथ पुलहो जमदग्निस्तथैव च।।
द्वैपायनः शतानन्दो वामदेवोऽसितोऽरुणिः।
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च कण्वो रामश्च गालवः।।
रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या जाम्बवती तथा।
मित्रविन्दा च कालिन्दी भद्रान्या लक्ष्मणा तथा।।
भौमगेहगताः कन्या सहस्राणि च षोडश।
कृष्णेन मोचिताः काराज्जरासन्धस्य भूभुजः।।
अष्टादशपुराणाचि स्मृतयोऽष्टादशैव च।
एते च स्मृतिकर्तारो ज्ञेया निम्नाङ्किता बुधैः।।

श्लोकद्वये वसन्ततिलकावृत्तम्

अत्रिर्मनुर्यमबृहस्पतियाज्ञवल्क्या
हारीतगौतमशनैश्चरदक्षशङ्खाः।
कात्यायनक्रतुवसिष्ठपराशराश्च
विष्णुः शतातपवराङ्गिरसौ सँवर्तः।।
धृष्टिर्जयन्तविजयौ खलु धर्मपालः
श्रीराष्ट्रवर्धनसुराष्ट्रसुमन्त्रवर्याः
निष्कोप एत इह राघवमन्त्रिवर्या
अष्टौ मया निगदिता हरिभक्तिप्राप्त्यै।।

श्रीशूरसेनाद् वसुदेवनामा भार्याभवद् यस्य च देवकीति
पर्जन्यनाम्नोऽपि च गोपराजान्नन्दादयो वै नव संबभूवुः।।

तोटकवृत्तमेतत्

पनसोऽङ्गदगन्धमदद्विविदाः
कुमुदो नलनील दरी वदनाः।
शरभो दधितुण्डसुषेणमय–
न्दगवाक्षबराः सुभटो गवयः।

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीदेवमीढस्य बभूवतुर्द्वे भार्ये हि विट्क्षत्रियवंशजाते।
पर्जन्यनामा जनिवैश्यपुत्र्याराजन्यपुत्र्यापि चशूरसेनः।।

पज्झटिकावृत्तम्

उपनन्दो नन्दोऽप्यभिनन्दः कर्मानन्दो धर्मानन्दः।
धरानन्दध्रु वनन्द सुनन्दावल्लभनन्द इमे नव नन्दाः।।

शिखरिणीवृत्तमेतत्

यशोदारोहिण्यावपि च वृषभानुश्च जयति
सुकीर्तिः श्रीराधा पशुपयुवतीमण्डलगता।
कदम्बाद्या वृक्षा भ्रमरमृगवृन्दावनलता
रवेः पुत्री गोवर्धनगिरिरथान्यच्च सकलम्।।

इतः श्लोकद्वये अनुष्टब्वृत्तम्

ललिता च विशाखा च रंगदेवी सुदेविका।
चित्रा च चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका।।
श्रीराधिकासखीब्यूहे त्वष्टसख्य इमाः स्मृताः।
आसां पदरजश्चित्तं मूर्ध्ना वोढुं ममोत्सुकम्।।

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

सुबलकोकिलभङ्गुरभारतीसुमधुमङ्गलबन्धवसन्तकाः
गृहलगन्धकडारसनन्दनार्जुनविदग्धकसांधिकहंसकाः

श्लोकद्वये स्वागतावृत्तम्

गोभटर्षभसुबाहुकभोजाः श्रीसुदामविजयौ कलविङ्कः।
देवप्रस्थवसुदामसुयक्षाः श्रीलदामवृषभेन्द्रभटाश्च।।
वीरभद्रबलभद्रसुभद्राः स्तोककृष्णमणिबन्धविटङ्काः।
भद्रसेनसुविशालकरण्डा दामकिङ्किणिवरूथपवेधाः।।

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

भद्रवर्धनशिवौ च सुकण्ठो मङ्गलांशुकपिलाः कलकण्ठः।
उज्ज्वलश्च सुमना ओजस्वी पल्लवश्च वकुलस्तेजस्वी।।
पुण्डरीककुलवीरमिलिन्दा महाभीमरणभीमकलिन्दाः।
सुरेशविलासिशरप्रभकुन्दाः पुष्पहासरणधीरमरन्दाः।।

उपजातिवृत्तमेतत्

इमे सखायो व्रजराजसूनोः सर्वप्रकारैः सुखयन्ति नित्यम्।
कुर्वन्तु दीने करुणां मयीमे यथा भवेयं सखिषु प्रविष्टः।।

श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

रक्तकवकुलौ प्रेमाकन्दः पत्रकमधुवतौ मकरन्दः।
पत्रिरसालविशालशारदाश्चन्द्रहासमधुकण्ठपयोदाः।।
सदानन्दरसबुद्धिप्रकाशा उक्ताः कृष्णस्यैते दासाः।
गृहे वने सर्वत्रदिनान्ते हरिं यथासमयं सेवन्ते।।

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

सप्तद्वीपनिवासिनश्च नवखण्डान्तर्गता ये जनाः
श्वेतद्वीपनिवासिनश्च किल ते भक्तास्तु भूपा मम।
एलापल्लवशेषकम्बलमहापद्मास्तथा वासुकिः
शङ्कुस्तक्षक इत्यमी उरगराजोऽष्टौ सकर्कोटकाः।।

पञ्चचामरमेतत्

कृतादिकत्रिकेऽभवन्निमे समेऽपि वैष्णवा
अनन्तकोटिवैष्णवेष्विमे प्रसिद्धिमागताः।
अतोऽङ्किता मयासहर्षमन्यवैष्णवानहं
कथं लिखामि दिव्यदृष्टिरस्ति नाल्पमेधसः।।

उपजातिरेषा

एवं कृतादित्रिकजातभक्तनामावलीं हर्षभरेण गायन।
प्रवर्तते श्रीकलिजातभक्तनामानिगातुं वनमालिदासः।।

इतः श्लोकाष्टके पज्झटिकावृत्तम्

कलिहतजीवानां तरणाय श्रीहरिपादाम्बुजवरणाय।
चत्वारश्चतुरैरतिललिता मार्गाः पूर्वाचार्यैः कलिताः।।
तेषां नामानीह लिखामः पूर्वं मूर्ध्ना तान् प्रणमामः।
श्रीरामानुजमध्वाचार्यौ श्रीलविष्णुनिम्बार्काचार्यौ।।
श्रीशठकोपबोपदेवौ च नाथमुनिपुण्डरीकाक्षौ च।
राममिश्रजिपराङ्कुशवर्यौ श्रीयामुनमुनिपूर्णाचार्यौ।।
कुरेशश्च धनुर्दासश्च श्रुतिप्रज्ञः श्रीश्रुतिदेवश्च।
श्रुतिधामा श्रीश्रुत्युदधिश्च लालाचार्यपादपद्मौ च।।
देवाचार्यो हर्यानन्दः राघवानन्दो रामानन्दः।
श्रीलकबीरोऽनन्तानन्दः सुखानन्दसुरसुरानन्दकौ।।
पद्मावती नृहर्यानन्दः श्रीपीपाः श्रीभावानन्दः।
गालवानन्दो योगानन्दो रैदासश्च धनाः कर्मचन्दः।।
सेनोऽल्हः सुरसुरी गयेशः पयोव्रतः श्रीलकृष्णदासः।
राणाः सारी रामसुदासः श्रीरंग श्रीनरहरिदासः।।
कुल्हुराजकील्हावग्रदासः केवलदासश्चरणसुदासः।
व्रते हठी नारायणदासः पृथुदासः पुरुषोत्तमदासः।।

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीसूर्यदासस्त्रिपुरस्य दासो गोपालदाश्च हि पद्मनाथः।
श्रीटेकरामश्च गदाधरः श्रीटीलास्ततः श्रीयुतदेवपण्डाः।।
कल्याणदासः खलुहेमदासोगङ्गा च रङ्गाचहिविष्णुदासः।
श्रीचाँदनः कान्हरदासवर्योगोविन्ददासश्च सबीरिवर्यः।।

उपजातिवृत्तम्

सुमेरदेवश्च मानसिंहो नाभावरः श्रीयुतशङ्करार्यः।
पद्मार्यपृथ्वीधरकार्यवर्यौ श्रौतोटकाचार्यस्वरूपकार्यौ।।

इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीवामदेवश्च हि नामदेवः श्रीज्ञानदेवश्च त्रिलोचनश्च।
पद्मावती श्रीजयदेववर्यः श्रीश्रीधरो बिल्वसुमङ्गलश्च।।

पज्झटिकावृत्तम्

चिन्तामणिलक्ष्मणभट्टौ च परमानन्दो वल्लभभट्टः।
विष्णुपुरीः कुलशेखरभक्तो रतिमन्ती लीलारतभक्तः।।

उपजातिवृत्तमेतत्

प्रसादनिष्ठः पुरुषोत्तमे नृपः
सिल्पिल्लभक्तेऽलमुभे हि बालिके।
कर्मा च भक्तार्थविषप्रदे ह्युभे
स्वस्त्रीयभक्तश्च हि मातुलस्तथा।।

शार्दूलविक्रीडितम्

हंसाश्चैव सदाव्रती भुवनचौहानश्च कामध्वजो
ग्वालः श्रीहरिपालको जयमलः श्रीसाक्षिगोपलकः।
सस्त्रीकद्विजरामदासवरजः सुस्वामिवाराङ्गना
अन्तर्निष्ठसुवेषनिष्ठनृपती श्रीनन्ददासस्तथा।।

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

गुरुनिष्ठो लड्डूभक्तश्च पद्मनाभतत्वाजीवाश्च।
माधवदासविज्ञगोस्वामी श्रीरघुनाथदासगोस्वामी।।
श्रीबलदेवकृष्णनामानौ यावतीर्णौ भुवि भूमानौ।
नित्यानन्दकृष्णचैतन्यौ तावेव हि गदितौ नहि चान्यौ।।

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

अद्वैतश्च सनातनश्च वररूपो माधवेन्द्रः पुरी
जीवः श्रीरघुनाथभट्ट इतरो गोपालभट्टस्तथा।
श्यामानन्दगदाधरावपि शची लक्ष्मीश्च विष्णुप्रिया
श्रीगोपालगुरुस्तथा नरहरिः श्रीमज्जगन्नाथकः।।
श्रीमत्केशवभारतीश्वरपुरीवर्यौ च विद्यानिधिः
श्रीनाथश्च मुकुन्दरामहरिदासाः श्रीनृसिहस्तथा।
श्रीवासश्च हि सार्वभौमजगदानन्दौ प्रतापो नृपः
श्रीदामोदरशङ्करावपि मनोहारिप्रियादासकौ।।
श्रीवक्रेश्वरचन्दनेश्वरमुरारि श्रीस्वरूपप्रबो-
धानन्दाश्च हि विश्वनाथबलदेवश्रीलगोविन्दकाः।
श्रीशुक्लाम्बरकृष्णदासकविराज श्रीशिवानन्दकाः
श्रीकान्तः कविकर्णपूर उदितः श्रीविश्वरूपस्तथाः।।
श्रीहाड़ाइरुवीरचन्द्रवसुधापद्मावती जाह्नवा
गौरीदासनरोत्तमौ नकुलवर्णी श्रीनिवासस्तथा।
भूगर्भश्च सनातनश्च वसुरामानन्दकः श्रीधरः
सीता भट्टगदाधरौ तपनमिश्रो माधवाचार्यकः।।
श्रीनीलाम्बरको मुरारिरसिकः श्रीवल्लभाचार्यकः
प्रद्युम्नश्च हि रामचन्द्रतुलसीमिश्रौ सुखानन्दकः।
कृष्णानन्दपुरी नृसिंहपुरी श्रीलक्ष्मणाचार्यकः
श्रीवृन्दावनदासहर्षहृदयानन्दाश्च काशीश्वरः।।

वसन्ततिलकावृत्तममेतत्

श्रीसूरदासमदनादिकमोहनश्च
श्रीचन्द्रशेखरहलायुधविष्णुदासाः।
वंशीमुखश्च मधुराघवपण्डितौ च
श्रीवासुदेवनिधिलोचनठक्कुराश्च।।
श्रीसूरदासमदनादिकमोहनश्च

विद्युन्मालावृत्तमेतत्

गोपीनाथाचार्यो ब्रह्मानन्दः श्रीमत्काशीमिश्रः।
गङ्गादासः श्रीमद्रामानन्दः श्रीमद्वाणीनाथः।।

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

आचार्यरत्नः प्रभुवासुदेवा-
चार्यस्तथा श्रीपतिलौकनाथौ।
चैतन्यभक्ताः खलु भक्तमाला-
कारैरनुक्ता अपि ते मयोक्ताः।।
चैतन्यभक्ता अपि भक्तमाला-
मध्ये निरुक्ताश्च पृथक्तया ये।
एकत्र संयोज्य मया निरुक्ता-
स्ते चापि सम्यक्परिशीलनाय।।

इतः पज्झटिकावृत्तत्रयम्

सूरदासश्रीकेशवभट्टौ परमानन्ददासश्रीभट्टौ।
श्रीहरिव्यासदिवाकरनाथौ त्रिपुरदासश्रीविट्ठलनाथौ।।
गिरिधरगोविन्दगोकुलनाथाबालकृष्णरघुनाथयदुनाथाः।
श्रीघनश्यामकृष्णदासौ च गंगलवर्धमानभक्तौ च।।
भीष्मभट्टकमलाकरभट्टौ विट्ठलदासनारायण भट्टौ।
हरिरामहठी क्षेमगोस्वामी वल्लभश्च हरिवंशस्वामी।।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीआसुधीरतनयो हरिदासवर्यः
श्रीव्यासकोऽलिभगवान् मधुगोपतिश्च।
श्रीविट्ठलादिविपुलश्च घमण्डिरङ्गौ
श्रीकृष्णदासबुधवर्णिवरौ च सोझाः।।

इतः पज्झटिकापञ्चकम्

जगन्नाथथानेश्वरवर्यः सीवाँ युगलकिशोरो वर्यः।
आधारो हरिनामसुवर्य आशाधरस्त्रिलोचनवर्यः।।
हृषीकेशद्योराजनिवर्यौ श्रीसदनाकाशीश्वरवर्यौ।
कृष्णकिङ्करः कटहरियाजिः सोभूराम उदारामाजिः।।
पद्मो डूँगरपदारथौ च रामदास विमलानन्दौ च।
रामरावलः श्यामः खोजिः श्रीसोहा दलहा पद्माजिः।।

मनोरथो राँका बाँकाजिः द्यौगुर्जाड़ा गुरुचाचाजिः।
श्रीलसवाईचाँदानीपाः श्रीपुरुषोत्तमचतुरौ कीताः।।
लक्ष्मणलड्डूत्यागीलफराः सूरजकुम्भनदासौ नफराः।
खेमविरागिविमानिभावना विरहितभरतहरिकेशपावनाः।।

वसन्ततिलकावृत्तम्

श्रीचक्रपाणिहरिदासतिलोकवर्या
विज्जुस्तथा पुखरदीरपि सोमनाथः।
सोमस्तथा वनचरान्वयजोद्धवश्च
श्रीभीमविक्कलमध्यानवरा विशाखाः।।

इतः श्लोकत्रये अनुष्टुब्वृत्तम्

महदाश्च मुकुन्दश्च गणेशश्च त्रिविक्रमः।
वाल्मीकिश्च रघुश्चैव जननो वृद्धव्यासकः।।
झाँझूश्च विट्ठलाचार्यो हरिभूर्हरिदासकः।
लाला बाहुबलो लाखा राघवाचार्यछीतरौ।।
उद्धवश्च कपूरश्च घाटमो घुरिरेव च।
देवानन्दमुकुन्दौ च नृहर्यानन्द एव च।।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीरङ्गछीतममहीपतिसन्तरामाः
श्रीनन्दविष्णुबजुमाधवखेमरामाः।
दामोदरो नृहरिमण्डनवींदरूपाः
श्रीद्वारिकाशरणको भगवांश्च बालः।।

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्

श्रीकान्हारः केशवकेशवौ च लोहंगनागूजप्रयागदासाः।
गोपालखेताहरिनाथभीमागोविन्दवर्णीकिल बालकृष्णः।।

पज्झटिकावृत्तम

बड़भरतोऽच्युतमुकुन्दलालौ गुणनिधिरपया जसगोपालौ।
विद्यापति गोपीनाथौ च ब्रह्मदासजिबहोरनकौ च।।

इतः श्लोकद्वये अनुष्टब्वृत्तम्

रामलालो विहारी च गोविन्दस्वामिकस्ततः।
भक्तभाईप्रियदयालौ गङ्गारामकस्ततः।।
श्रीमत्परशुरामश्च खाटीकः केशवस्तथा।
आशकरनपूरनभीष्मा जनदयालकः।।

इतः पज्झटिकावृत्तद्वयम्

दासूस्वामी श्रीरघुनाथो गुञ्जामाली गोपीनाथः।
रामभद्रवीठलभक्तौ च चितउत्तममरहठभक्तौ च।।
गोविन्दयदुनन्दनरघुनाथा भगवत्केशवमुकुन्दनाथाः।
मुरलीश्रोत्रियरामानन्दौ श्रीहरिदासमिश्रजिमुकुन्दौ।।

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

चरित्रभक्तश्च चतुर्भुजश्च श्रीविष्णुदासाऽपि च वेनिभक्तः।
झालीचसीतासुमतिश्चशोभाउमाचगङ्गा प्रभुताकुमारी।।
गोपाल्युवीठाच गणेशदेवी कला लखा चैव कृतङ्गढौजी।
श्रीसत्यभामा यमुनाच कोलीरामा मृगामानवतीचदेवा।।

इन्द्रवज्रावृत्तम्

कीकी च जेवाद्वयमेव हीरा श्रीदेवकी श्रीकमला च गौरी।
जापूस्तथा श्रीहरिचेरिका च धाराय रूपा नरवाहनश्च।।

पज्झटिकावृत्तमेतत्

मधुकरशाहवाहनवरीशौ जयमलबीदावतकावीशौ।
गम्भीरार्जुनकश्च जयन्तः श्रीगोविन्द उदा रावन्तः।।

उपजातिरेषा

जनार्दनश्चानुभवी चजीता दामोदरः सांपिलको गदाश्च।
श्रीलेश्वरो हेमविदीतकश्च श्रीमन्मयानन्दगुढ़ीलकौ च।।

इतः श्लोकचतुष्टये पज्झटिकावृत्तम्

मोहनवारीतुलसीदासौ वानियाँरामगाँवरीदासौ।
दाऊरामजगदीशदासौ श्रीमल्लक्ष्मणभगवद्दासौ।।
श्रीगोपालो लाखाभक्तो गोपालश्च जोबनेरस्थः।
नरसीभक्तश्रीदिवदासौ श्रीलयशोधरनन्दसुदासौ।।
खिन्नदास उ चतुर्भुदासश्चेतस्वामी माधवदासः।
चतुर्भुजोऽङ्गदजनगौपालौ मीरा पृथ्वीराड्जयमालौ।।
लघुजनरामचन्द्रनीवाश्च अभयरामभगवद्विरमाश्च।
रायमलोऽक्षयराज ईश्वरोमधुकरशाहः श्रीलकान्हरः।।

उपजातिवृत्तमेतत्

खेमालरत्नश्च किशोरसिंह स्वधर्मपत्नीयुतरामरेनः।
चतुर्भुजश्रीहरिदाससन्तदासास्तथा चालककृष्णदासः।।

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्

कात्यायनीचैव गुरारिदासो गोस्वामिपूर्वस्तुलसीसुदासः।
श्रीमानदासोगिरिधारीलालगोस्वामिश्रीगोकुलनाथवर्यः।।

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

चौड़ाचौमुखचण्डकोल्हकरमानन्दाल्हका माधवः
श्रीसाधुर्वनमालिदासदुदुको चौरासिको माण्डनः।
श्रीनारायणमिश्रवावनकजीवानन्दसीवास्तथा
सीवाराघवदासकौ परशुरामो दासनारायणः।।
पृथ्वीराजजिप्रेमसिंहजुजुवाः कल्याणसिंहस्तथा
श्रीमन्माधवसिंहवोहिथवरो राज्ञी च रत्नावती।
श्रीनारायणदासनर्तकमणिः श्रीरामदासस्तथा
गोविन्दश्च हि वर्धमान उ जगन्नाथादिपारीषकः।।
छीतस्वामिगदाधरौ च मथुरादासस्तथा मांडिलः
श्रीगोसूयशवन्तकन्हरवराः श्रीरामगोपालकः।
श्रीश्यामश्च कुमारवर्यहरिनाभामिश्रकौ नारदो
दीनादासकवत्सपालकवरौ श्रीरामदासस्तथा।।
श्रीगङ्गाभगवज्जनावलमनन्तानन्दकश्चोद्धवो
विश्रामश्च हि कृष्णजीवनवरो नारायणान्तो हरिः।
कुंडाकिङ्करब्रह्मदासपरसा रामा बिहारी तथा
श्रीखेमाच्युतरामरेणुजयदेवश्यामदासास्तथा।।
गोपानन्ददयालराघववरा दामोदरो मोहनः
श्रीसोठाविदुरोद्धवाश्च परमानन्दः प्रधानस्तथा।
श्रीखोरा चतुरोनगानरघुनाथाः कृष्णदासस्तथा
श्रीखेमा भगवद्द्वयी च परमानन्दश्च गोमोद्धवः।।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीश्यामदासजयतारणविट्ठलाश्च
गोपालचीधडजिकेवलदासपीपाः।
जंगी च पूरनविनोदिप्रयागदासाः
श्रीमद्दिवाकरवरो वनमालिदासः।।

इतः श्लोकसप्तके अनुष्टुब्वृत्तम्

नृसिंहदासो भगवद्दासः किशोरदासश्च जगतदासः।
सल्लूधो जगन्नाथदासः श्रीखांची श्रीखेमदासः।।
टीला लघूद्धवो धर्मदासः श्रीलीहाः परमानन्ददासः।
खेमदासकः खरतरदासो ध्यानदासकः केशवदासः।।
श्रीमत्योलाः श्रीहरिदासः श्रीवीठलसुतकान्हरदासः।
नीवास्तूवा भगवद्दासो जसवन्तो भीमो हरिदासः।।
विष्णुदासको गोपालश्च आसकरनराजर्षिवरश्च।
रूपदासको भगद्दासश्चतुरदासकश्छीतरदासः।।
रसिकरायमलदेवादासौ गौरदासजिरायमलदासौ।
लाखैदामोदरभक्तौ च गोपालदासनाथभट्टौ च।।
तूँवरदासगंगग्वालौ च परशुरामजा करमेती च।
शेषावतिराडपि तत्रस्थः श्रीमत्खड्गसेनकायस्थः।।
सोतीप्रेमनिधी लालदासो माधवग्वालः प्रयागदासः।
पद्मा राघवदासदुर्वलो हरिनारायण ऊधा अटलः।।

इतः श्लोकत्रये शार्दूलविक्रीडतम्

देमाखीचनिपूनिराश्च तुलसीदासश्च हीरामणि-
र्वीरा रामसुदासकश्च परमानन्दश्च रैदासिनी।
श्रीरामापि च गोमती च यमुना श्रीदेवकल्याणको
वीरा पर्वतजाद्वयी किल धना लाली च लक्ष्मीस्तथा।।
श्रीजेवा हरिषा तथा जयसिनी गङ्गा च केशी तथा
श्रीमत्कान्हरदास केशव लटेरौ बादरानी तथा।
कल्याणो हरिवंशकः कुमरिरायो भीमसिहस्तथा
रङ्गः केवलराम आसकरनः श्रीधर्मदासस्तथा।।
लाखैवीठलदासकौ परशुरामः श्रीसदानन्दकः
कल्याणोऽपि च श्यामदासहरिदासौ वंशनारायणः।
श्रीमच्छङ्करकृष्णदासजगदेवा ग्वालगोपालकः
श्रीदामोदरतीर्थकः खड़गुकः श्रीचित्सुखानन्दकः।।

अनुष्टुब्वृत्तमेतत्

माधवानन्दकः श्रीलमधुसूदनसरस्वती।
नृसिंहारण्यकश्चैव रामभद्रसरस्वती।।

इतः पज्झटिकापञ्चकम्

जगदानन्दद्वारिकादासौ लक्ष्मणभट्टगदाधरदासौ।
पयोव्रतः श्रीयुतकृष्णदासः पूर्णः श्रीनारायणदासः।।
कल्याणसिंहो भगवद्दासः सन्तदासको माधवदासः।
आनन्दसिंहः कान्हरदासो जगतसिंहको गोविन्ददासः।।
दीपकुमारी वासोदेवी जयसिंहो गोपालीदेवी।
गिरिधरग्वालरामदासौ च रामराय श्रीभगवन्तौ च।।

उपजातिवृत्तमेतत्

श्रीरामदासश्च विलासदासः किशोरदासस्त्रय एव चैते।
व्यासात्मजा लालमतीचभक्तापीपाश्रितोभूपतिसूर्यसेनः।।

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

इत्येषा गदिता मयाघदमनी श्रीभक्तनामावली
यां श्रुत्वा मुदितो भवत्यतितरां श्रीकृष्णचन्द्रः स्वयम्।
तस्माद् येऽभिलषन्ति लब्धुमचिरात्पादाम्बुजं श्रीहरे-
स्ते नित्यं प्रपठन्तु प्रीतिसहिता उद्दिश्य प्रीतिं हरेः।।

शिखरिणीवृत्तमेतत्

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्
समस्तांस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम्।
अये भक्ता यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपां
ममाक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः।।

स्रग्धरावृत्तमेतत्

यस्याः पाठस्य मुख्यं फलमपि गदितं श्रीहरिप्राप्तिरेव
या दातुं तं समर्था परमपि पुरुषं भोग्यमन्यत्त किन्नो।
तस्माद् भावानुसारं सकलजनमनोदोहदं पूरयन्ती
सानित्यं प्रादुरास्तांममरसनतरौचिन्मयीकाल्पल्ली।।

एतां मालां श्रीहरिगले समर्पयति पञ्चचामरवृत्तेन-

विचित्रवृत्तगुच्छकैर्विचित्रभावगन्धकै-
र्विचित्रनामपुष्पकैर्विचित्रभक्तिसूत्रकैः।
हरे मुदा विनिर्मिता समर्पिता गले च ते
मुदं तनोतु भक्तनाममालिकेयमाशु ते।।

अधुना ग्रन्थसमाप्तिंकालमभिधत्ते तूणकवृत्तेन-

पक्षशून्यशून्यपक्षकैमिते तु वत्सरे
विक्रमार्कभूपतेश्च मार्गशीर्षमासके।
शुक्लपक्षपञ्चमीतिथवियं समापिता
सूर्यजातटीकुटीरवासिना तु केनचित्।

अधुना स्वकृतज्ञताप्रकाशनाय यस्य दयया भक्तिभागभव स इमां मम कृतिं दृष्ट्वा प्रसन्नो भवतु जीयाच्चेत्याह सनामनिर्देशमार्यावृत्तद्वयेन-

यस्य दयालवबलतो बलहरिपदयोर्ममानुरागोऽभूत्।
स कृतिमिमां मम दृष्ट्वा तुष्टः प्रेष्ठो हरेर्भूयात्।।
श्रीलरामहरिदास इत्यपराख्यापि यस्य विख्याता।
शिक्षानिदेशिको मे यः शास्त्रज्ञः स संजीयात्।।

(माहात्म्यम्)

श्रीभक्तनामस्त्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसन्निधाने।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्वसौख्यं
सम्प्राप्स्यते सुखतया हरिसन्निधिस्तैः।।

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावारपारदृश्वसख्यरसावताराष्टोत्तरशत श्रीस्वामि श्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराजशिष्येण काव्यवेदान्ततीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा गुम्फिता भक्तसहस्रनामेत्युपनाम्नी श्रीभक्तनाममालिका सम्पूर्णा।।

लाख बार हरि हरि कहै एक बार हरि दास।
सीता राम प्रसन्न हो भाखै नाभा दास।।

❀ ❀ ❀

श्रीभक्तमालजी से श्रीभागवतजी का अभिन्न सम्बन्ध

अनादि वैदिक चतुःसम्प्रदायान्तर्गत श्रीरामानन्द सम्प्रदाय क्षितिज के भास्कर श्रीनाभादासजी रचित श्रीभक्तमालजी का आज भागवत जगत में जो इतना समादर है, इसका एकमात्र मंगलमय हेतु यह प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत जी से इसका अभिन्न सम्बन्ध है। विचार करने पर भागवत शब्द के दो ही अर्थ होते हैं। भगवदानुरागी भक्त तथा भागवत ग्रन्थ, यथार्थ तो यह है कि श्रीभक्तमाल जी का एक भी छप्पय ऐसा नहीं है जो प्रत्यक्ष या किसी प्रकारान्तर से श्रीभागवतजी से सम्बन्धित न हो। एतावता श्रीनाभादास जी महाराज के शब्दों में अन्य सत्रह पुराणों में साधन-साध्य का ही वर्णन है, परन्तु श्रीमद्भागवत तो फलस्वरूप है (साधन साध्य सत्रह पुराण फलरूपी श्रीभागवत छ. १७)

आपने ११ छप्पयों में भागवत ग्रन्थ के रूप में नाम का प्रयोग किया है। प्रथम श्रीपण्डितराज वोपदेवजी के सम्बन्ध से (वोपदेव भागौत लुप्त उधर्‌यो नवनीता छ. ३०) यह छप्पय महाराज ने श्रीरामानुज परम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है। वास्तव में श्रीवोपदेवजी स्मार्त्त थे और जब यवनों के द्वारा ग्रन्थ नष्ट कर दिये थे तथा कहीं भी नवनीतस्वरूप भागवतजी की प्रति नहीं प्राप्त हो रही थी, तब आपने प्राचीन पण्डितों के यहाँ से एक प्रति प्राप्त कर और उसकी कई सहस्र प्रति लिखवाकर विद्वानों को दे-देकर तथा भागवत पर परमहंस प्रिया, मुक्ता फलादि सन्दर्भ ग्रन्थ लिखकर उद्धार किया। जिसके कारण शाक्तों ने तथा दयानन्दियों ने अपने मत की पुष्टि के लिये 'भागवत वोपदेव का लिखा हुआ है' ऐसा प्रचार कर दिया। वस्तु स्थिति में भागवत व्यासजी का लिखा हुआ है, क्योंकि वोपदेव से बहुत पूर्व श्रीशंकराचार्य के बाबा गुरु श्रीगौड़पादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में भागवत के श्लोक का उद्धरण तथा श्रीशंकराचार्य की परम्परा में तृतीय पीठकाचार्य श्रीचित्सुखाचार्यजी ने तो भागवत पर टीका भी लिखी थी जो आजकल उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु श्रीजीव गोस्वामी के ग्रन्थों (चित्सुख सम्मत पाठोऽयं) वचनों से निश्चित होता है जिसका संकेत श्रीनाभादासजी ने भी (चित्सुख टीकाकार भक्ति सर्वोपरि राखी छ. १८१) में किया है। वस्तुस्थिति में चित्सुखाचार्य ने भागवत पर टीका लिखी थी, गीता पर नहीं, अस्तु-

भागवत के अनुपम टीकाकार श्रीवंशीधरजी ने तो अपने 'जन्माद्यस्य' श्लोक की टीका में लिखा है कि काशी में एक बार ग्रन्थ चक्र में चूड़ामणि के रूप में जब भागवतजी का अर्चन किया जा रहा था, तब किसी पण्डित ने यह कह दिया कि भागवत तो व्यासकृत है ही नहीं, यह तो वोपदेव का लिखा हुआ है। तब समस्त पण्डितों ने उसको (कुण्डोऽयम्) अर्थात् यह जारजन्य है, ऐसा कहा। जिसके फलस्वरूप जनश्रुति है कि उसके वंशज कुण्ड नाम से विख्यात हुए। इसी प्रकार दूसरी बार भागवत का नाम श्रीधर स्वामी के सम्बन्ध से। यथा-(श्रीधर श्रीभागौत में परम धर्म निर्णय कियो छ. ४५) तथा तीसरी बार विष्णुपुरी जी के द्वारा लिखी हुई भक्तिरत्नावलिजी के सम्बन्ध से (महासमुद्र भागौत ते भक्ति रतन राजी रची छ.

४७) तथा चतुर्थ बार श्रीमाधोदास जी के निर्मित ग्रन्थों से (भारतादि भागौत मथित उद्धार्‌यो हरियश छ. ७०) फिर अपने छः छप्पयों में भागवत के कथा व्यासों की प्रशंसा में भागवत नाम का प्रयोग किया है। प्रथम युग्म भ्राता श्रीवर्धमान गंगलभट्‌टजी के सम्बन्ध से (श्रीभागौत बखान अमृतमय नदी बहायी। छ. ८२) श्रीजनगोपालजी के सम्बन्ध से (बुद्धि प्रवेश भागौत ग्रन्थ संसय को खण्डन। छ. १११) श्रीनारायण मिश्रजी के सम्बन्ध से (भागौत भली विधि कथनकों धन जननी एकै जन्यो। छ. १३४) श्रीमिश्रजी सारस्वत ब्राह्मण जाति के न्योले थे। आपका जन्म १५५० आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को हुआ था। आप व्रजधाम वासार्थ लाहौर से मथुरा में आकर बसे, आपको मधुवन सरोवर से श्रीकिशोरीरमणजी की मूर्ति प्राप्त हुई। आपकी नवमी पीठिका में श्रीराधारानी के अनन्योपासक रसिक पुङ्गव श्रीवंशीअलिजी का प्राकट्‌य हुआ था। अस्तु। श्रीगदाधर श्रीभट्‌टजी के सम्बन्ध से (श्रीभागौत सुधा वरषै वदन काहू को नाहिंन दुखद।' छ० १३८) तथा श्री लक्ष्मण भट्‌ट जी के सम्बन्ध से (श्री भागौत बखान के नीर क्षीर विवरन कर्‌यो। छ. १८४) और कमलाकर भट्‌टजी के सम्बन्ध से (परिपाटी ध्वज विजय सदृश भागौत बखाने। छ०८६) श्री नाभादास जी ने भट्‌ट जी को द्वितीय माध्वाचार्य के रूप में लिखा है वास्तव में आप स्मार्त्त थे। ये उनके निर्णय सिन्धु आदि ग्रन्थों के मंगलाचरण से सिद्ध होता है। द्वैत सम्प्रदाय टीकाचार्य जयतीर्थ शिष्य विजयध्वजजी ने भागवत पर (पद रत्नावली) नामक टीका लिखी है जो विलक्षण पाठ भेद युक्त है तथा द्वैत सिद्धान्तानुसार लिखी गयी है। फिर आपने एक श्रोता श्रीभगवानदास के सम्बन्ध से (श्रोता श्रीभागौत रहस ज्ञाता अक्षर रस। छ. १८८) ये मथुरा निवासी श्रीयुत् स्यामान्वेषक सतत् विश्राम घाट पर भागवत के श्रोता थे। आपकी सुन्दर वाणी भी प्राप्त है। अस्तु–

अब ये बताया जा रहा है कि श्रीनाभादासजी ने जन–कल्याणार्थ भागवतचरित लेखन, भक्त, भक्ति का उपदेश भी श्रीभागवतजी से प्राप्त किया है। श्रीशौनकजी श्रीसूतजी से परीक्षित चरित्र श्रवणार्थ प्रश्न करते हुए कहते हैं। यथा–

तत्कथ्यतां महाभागवत यदि कृष्णकथाश्रयम्। अथवाऽस्य पदाम्भोजकरन्दलिहां सताम्।।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।।(भा. १/१६/५–६)

यदि इस कथा का श्रीकृष्ण कथा से सम्बन्ध हो अथवा श्रीकृष्ण चरणारविन्द मकरन्द मलिन्दों की कथा से सम्बन्ध हो तो ही इस कथा को सुनाइये अन्यथा असत् आलापों में इस आयु का व्यर्थ व्यय क्यों किया जाये।

इसी प्रकार वराहावतार चरितामृत श्रवणेच्छु श्रीविदुरजी श्री मैत्रेयजी से कहते हैं यथा–

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
यत्तद् गुणानुश्रवणं मुकुन्द पादारविन्दं हृदयेषु येषां।। (भा. ३/१३/४)

दीर्घकाल तक शास्त्र श्रवण का विद्वज्जनों ने एक उत्कृष्ट फल निश्चय किया है कि जिन भगवदीयों के हृदय सिंहासन पर निरन्तर आनन्दकन्द नन्दनन्दन मुकुन्द चरणारविन्द विराजमान रहते हैं उनके दिव्य मंगलमय विश्व पावन चरित्रों का श्रवण किये बाल भक्त श्रीध्रुव पृश्निगर्भ नारायण की स्तुति करते हुए कहते हैं।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपदम् ध्यानाद् भवज्जन कथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किं त्वन्तकासि लुलितात् पततां विमानात्।

(भा. ४/९/१०)

हे मेरे नाथ! जो परमानन्द आपके चरणारविन्द ध्यान से तथा आपके भक्तजनों की कथा श्रवणसे प्राप्त होता है, वह तो निजानन्दस्वरूप ब्रह्म में भी नहीं प्राप्त होता है फिर काल खड्ग से खण्डित किये हुए, विमानों से गिरने वाले दीन-पुरुषों को तो कहाँ से हो सकता है। अस्तु इन्हीं दिव्य भावों का संकलन श्रीनाभादासजी कितने अनूठे शब्दों में करते हैं।

दो.- सब सन्तन निर्णय कियो, मथि श्रुति पुराण इतिहास।
भजिवे कों दोई सुघर कै हरि कै हरिदास।।३।।

इसके बाद ग्रन्थारम्भ करते हुए श्रीनाभादासजी प्रभु के चौबीस अवतारों का स्मरण करते हैं।

जय-जय मीन वराह कमठ नरहरि बलि बावन। । छ. ५।। भागवतजी का नारदजी के शब्दों में एक नाम अवतार कथाऽमृत 'श्रृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतार कथामृतम्।' (भा. ७/१४/३) अत: इस ग्रन्थ में पाँच स्थानों पर अवतार कथा वर्णन प्राप्त होती है (१) प्रथम स्कन्ध अ. ३ में २२ अवतारों की नाम, रूप, लीला का वर्णन किया गया है। (२) द्वितीय स्कन्ध अ. ७ में पूरे २४ अवतारों का नाम चरित्र वर्णन है। फिर तीसरी बार एकादश स्कन्ध अ. ४ में १६ अवतारों का नाम तथा दशम स्कन्ध की अक्रूर स्तुति एवं गर्भ स्तुति में भी क्रमश: अवतारों के ११ नाम तथा ९ नाम प्राप्त होते हैं। अत: समस्त ग्रन्थ पढ़ने से यह निश्चय होता है कि भक्तमालकार ने द्वितीय स्कन्ध अ. ७ वाले २४ नाम इस छप्पय में पिरोये हैं। जिनके कारण से श्रीनाभादासजी की भागवतजी पर अगाध श्रद्धा थी ऐसा निश्चय होता है। प्रथम स्कन्ध में २२ अवतारों के क्रमश: ये नाम हैं। १-सनकादिक २-शूकर, ३-नारद, ४-नरनारायण, ५-कपिल, ६-दत्त, ७-यज्ञ, ८-ऋषभ, ९-पृथु, १०-मत्स्य, ११-कच्छप, १२-धन्वन्तरि, १३-मोहिनी, १४ -नृसिंह, १५-वामन, १६-परशुराम, १७-व्यास, १८ वें दशरथ राम, १९-वसुदेवनन्दन बलराम, २०-श्रीकृष्ण, २१-बुद्ध, २२-कल्कि। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होता है आपने तीन अवतार नामों को छोड़ दिया है श्रीहंस, हयग्रीव तथा पृश्निगर्भ जिसको श्रीनाभाजी अपने छप्पय में (ध्रुव वर दैन) लिखा है और विशेष बात यह है कि भगवान् श्रीबलरामजी को अवतार सूची में सम्मिलित कर लिया है जिसका कारण है कि यह अवतार वर्णन रोमहर्षण पुत्र उग्रश्रवा सूत के द्वारा किया गया है और अपने पिता रोमहर्षण के वध होने के अनन्तर आपको व्यासत्व श्रीबलरामजी के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। अत: ऐसा करना उचित ही था। एतावता यदि श्रीबलराम को छोड़कर तीन उक्त नामों को जोड़ दिया जाय तो २४ अवतारों की संख्या पूरी हो जाती है। अब जब हम भा० द्वितीय स्कन्ध अ. ७ को पढ़ते हैं जो श्रीब्रह्माजी के द्वारा श्रीनारदजी को २४ अवतार का वर्णन है उसमें श्रीनारद एवं श्रीमोहिनी ये दो नाम नहीं प्राप्त होते हैं और उनके नाम के स्थान पर २४ संख्या पूर्णार्थ प्रात:स्मरणीय गजन्द्रोद्धारक चतुर्थ तामस मन्वन्तरावतार श्रीहरि को। तथा दूसरे (मन्वन्तर) नामक २४ वें अवतार की कल्पना कर ली है। 'द्रष्टव्य' मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो भा. २/७/२० जिसका अनुवाद भी नाभादासजी ने (बुद्ध कलक्की व्यास पृथु हरि हंस मन्वन्तर छ. ५) यथावत् कर दिया है वास्तव में मन्वन्तर कोई अवतार नहीं है। वस्तुस्थिति में बिना हेर-फेर के भागवतानुसार २४

अवतार नामावली का यथावत् लिख देना श्रीनाभादास जी की श्रीभागवत पर अगाध श्रद्धा का द्योतक है। अस्तु यहाँ भी ब्रह्माजी के द्वारा इन दो अवतारों के नाम नहीं लेने का विशेष हेतु है। वह यह कि जिस समय श्रीब्रह्माजी अवतार कथा सुना रहे हैं उस समय सामने पुत्र श्रीनारद श्रोता रूप में उपस्थित हैं। अतः उनको अवतारों में कैसे कहा जाय तथा श्रीमोहिनी नारायण के नाम ही लेने का हेतु यह है कि यह अवतार वैष्णव चक्र चूड़ामणि भगवान् शंकर की प्रतिष्ठा को क्षति प्राप्त करा चुका है तथा शुक मुनि जैसे अप्सरा दर्प भंजन बालयोगी भी जिस अवतार के वर्णनोपरान्त भयाविन्त होकर 'असत् विषयमंघ्रि' भा. ८/१२/४७ वें श्लोक के द्वारा प्रणाम करते हैं। ऐसे मोहिनी अवतार का स्मरण करना भी खतरे से खाली नहीं हो सकता था। प्रायः जगत् में देखा जाता है कि तप्त दुग्ध दग्ध मनुष्य शीतल तक्र को भी फूत्कार पूर्वक पान करता है।

श्रीनाभादासजी ने श्रीभागवत जी के पर्याप्त स्थल विशेष तथा श्लोकों का जो अनुवाद किया है वह क्रमशः इस प्रकार है 'स्वयं भूर्नारदः शम्भुः' (भा. ६/३/२) जिसका अनुवाद विधि नारद शंकर सनकादिक छ. ७। 'नन्द सुनन्दोऽथ' (भा. ८/२१/१६/७) जिसका अनुवाद 'विष्वक्सेन जय विजय प्रबल बल मंगलकारी' छ. ८ ते वै दिन्त्यतितरन्ति च देवमायां भा. २/७/४६ अनुवाद तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे छ. १३। श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं (भा. ७/५/२३) अनुवाद पद-पराग करुणा करो नेता नवधा भगति के छ. १४। भगवत पंचमस्कन्धानुवाद आपने २ छप्पयों में कैसा अच्छा संक्षेप से किया है। सप्तद्वीप में दास जे छ. २४। मध्यद्वीप छ. २५। मद्भक्त पूजाऽभ्यधिका भा. ११/१९/२१ का कैसा सुन्दर अनुवाद 'श्रीमुख पूजा सन्त की आपुन ते अधिक कही' छ. १०६। तव कथामृतमं-भूरिदा जनाः भा. १०/३१/९ अनुवाद गुणगान विषद गुपाल के एते जन भये भूरिदा छ. १४६। अब आपके द्वारा भागवत की लीला प्रसंगों के सम्बन्ध में देखिये। आपने अपने उपास्य श्रीराघवेन्द्र प्रभु की लीला पात्रों के सम्बन्ध में १९-२० उन्नीसवें-बीसवें दो ही छप्पय लिखे परन्तु श्रीब्रजेन्द्रनन्दन लीलापात्रों के सम्बन्ध में भागवत ग्रन्थानुरागवश होकर २१ वें २२ वें तथा ६३ वे तीन छप्पय लिखे हैं। और श्रीकृष्णचन्द्र के पूरे परिवार का परिचय दिया है जो सर्वसाधारणजनों को सर्वथा अश्रुत था। श्रीनाभादासजी के भागवतानुराग का एक अद्भुत उदाहरण-विश्व प्रख्यात महाभारत ग्रन्थानुसार श्रीपाण्डु पत्नी पृथा (कुन्ती) जब धृतराष्ट्र महाराज वृद्ध वय में (चौथेपन जाइहि नृप कानन) विधि के अनुसार वन में प्रयाण करते हैं तब कुन्ती उनकी सेवार्थ उनका अनुगमन करती हैं और वहीं भगवत् प्राप्ति लाभ करती हैं परन्तु भागवत ग्रन्थानुसार जिस कुन्ती को वसुदेवनन्दन श्यामसुन्दर (भ्रात्रेय) भतीजे के रूप में प्राप्त हैं, जेठ-जेठानी की सेवा की जाय उसकी बलाय। वह जब अर्जुन के द्वारा प्राणधन श्यामसुन्दर भतीजे का धाम प्रयाण समाचार सुनती हैं, तो तत्क्षण प्राणोत्सर्जन कर देती हैं। पृथाप्यनुश्रुत्य भा. १/१५/३३ श्रीनाभादासजी उसी वृत्त का वर्णन मुरारीदास की कथा के प्रसंग में करते हैं-

कृष्ण विरह कुन्ती शरीर त्यों मुरारि तन त्यागियो। छ. १२८। ब्रह्मा वत्सहरण लीला की पुनरावृत्ति का सुन्दर उदाहरण (वच्छहरण पाछै विदित सुनौ सन्त अचरज नयो छ. ५४) कृते यद् ध्यायतो भा. १२/३/५२ अनुवाद सोदाहरणपूर्वक कैसा अद्भुत है-और युगन तें कमल नैन कलियुग बहुत कृपा करी छ. ५५। फिर आपने भागवत श्रवण से (श्रीविष्णुरात) परीक्षित जैसा मुक्ति प्राप्ति का कलिकाल में दूसरा उदाहरण

भी भक्तराज श्रीलालदासजी का उपस्थित किया है (विष्णुरात सम रीति वघेरे त्यों तन त्याज्यो। छ. १६४) विशेष कलेवर वृद्धि के कारण 'मधुरेण समापयेत्' विध्यनुसार एक मधुर प्रसंग लिखकर इस लेख को विराम देते हैं।

इसी प्रकार श्रीरामानन्द सम्प्रदाय गगन के जगज्जनानन्द प्रदायक दिव्य चन्द्रस्वरूप श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी श्रीमद्‌भागवत भक्ति के सिद्धान्तानुसार श्रीमद् रामचरितमानस की रचना की है। दास के पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय कथा वाचस्पति गुरुपाद गोस्वामी श्रीअर्जुनदत्तजी महाराज तो कहा करते थे कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस के रूप में भागवत का अनुवाद किया है केवल नायक को बदल दिया है। परन्तु एक मजेदार है कि कहीं भी आपने समस्त मानस में भागवत शब्द ग्रन्थ रूप में प्रयुक्त नहीं किया है। फिर भी आप मूर्त्तिमान वात्सल्य विग्रहा 'व्रजेश्वरी' 'व्रजेन्द्र गेहनी' कनुआ वलुआ हरि हलधर श्रीराम स्याम की अम्बा श्रीयशोदाजी को नहीं भुला सके और श्रीरामनाम वन्दना प्रकरण में (जीह जसोमति हरि हलधर से) शब्दों में अर्थात् श्रीरामनाम के युग्माक्षर जिह्वा के लिए इस प्रकार प्रिय हैं। जैसे अम्बा यशोदा के लिए अपने लाड़ले हरि हलधर कन्हैया बल भैया प्रिय हैं। इसी प्रकार श्रीनाभादासजी महाराज भी श्रीअम्बा यशोदा को नहीं भुला सके हैं और भक्त शिशुओं के प्रति वात्सल्य भागवती श्रीगोपाली बाई के सम्बन्ध में लिखा है कि श्रीगोपाली बाई भक्तजनों का इस प्रकार लाड़-प्यार पूर्वक पोषण करती थीं कि मानो श्रीअम्बा यशोदा का दूसरा अवतार प्रकट हुआ है।

गोपाल जन पोष कों प्रगट यशोदा अवतरी।। छ. १९५।। 'इत्यलं'

पं. गंगादत्त व्यास
जयपुर

ऐसी कौन प्रभु की रीति।

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ।।
काम मोहित गोपिकनपर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह।।
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपु में हरि राज सभा मँझारि।।
ब्याध चित दै चरन मारयो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि।।
कौन तिन्हकी कहै जिन्ह के सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।।

❁ श्रीराम ❁

धन्यवाद!

विद्वत् समाज में यह श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है कि-

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते।।

परन्तु बिना भक्तों के भगवान् का कोई चरित्र नहीं होता। भक्तों के सम्बन्ध में वेदों में संकेत तो हैं ही। सभी पुराणों में समास-व्यास रूप से भक्त-चरित्र यत्र-तत्र वर्णित हैं परन्तु कहीं एक स्थल पर उनका संकलन नहीं है। पूज्य स्वामी श्रीनारायण दास (नाभाजी) महाराज ने सर्वप्रथम भक्त चरित्रों को एकत्रित किया और 'भक्तमाल' की रचना की। इसके पूर्वार्द्ध में पौराणिक भक्तों के नामों का संकेतमात्र किया गया है। उत्तरार्द्ध में कलियुग के अनेक ज्ञात भक्तों का चरित्र छप्पय छन्दों में वर्णन किया गया है। वे छप्पय, छन्द भक्तमाल की मणियाँ हैं। उन मणियों में भक्तों का चरित्र सूत्ररूप में पिरोया गया है-'सूत्रे मणिगणा इव।' यह सभी जानते हैं कि सूत्र के दोनों छोर एकमात्र सुमेरू में ही रहते हैं, इसी तरह भक्तमाल में दो छप्पय पूरे के पूरे चिरञ्जीवी पयोऽहारी श्रीश्रीकृष्णदासजी महाराज के लिये ही हैं अतः वे ही श्रीभक्तमाल के सुमेरु रूप में हैं।

श्रीभक्तमाल पर दो प्राचीन टीकायें हैं-गौड़ीय वैष्णव श्रीप्रियादास जी महाराज की 'भक्तिरसबोधिनी' और श्रीरामानन्दीय वैष्णव श्रीबालकदास जी महाराज की 'भक्तदामगुण-चित्रणी' नाम से ख्यात है। दोनों टीकायें प्रायः एक ही काल की हैं। गौड़ीय सन्त श्रीवैष्णवदासजी ने मूल एवं श्रीप्रियादास की टीका पर टिप्पणी की। वह सर्वप्रथम खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई के यहाँ छपी। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व की लिखी यह टिप्पणी श्रीराम-ग्रन्थागार मणिपर्वत श्रीअयोध्याजी में आज भी सुरक्षित है। साम्प्रदायिकता के कारण उस टिप्पणीकार का मंगलाचरण जो श्रीगौरांगपरक था उसे निकालकर उसका पुनः प्रकाशन हुआ।

श्रीनाभाजी की भक्तमाल के बाद अनेक साम्प्रदायिकों-कवियों ने छप्पय छन्दोबद्ध अनेक भक्तमाल लिखे किन्तु श्रीप्रियादासजी की टीका छप चुकने के कारण और मौलिकता के कारण इसी का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। फिर तो अनेकों अनुवाद हुए, टीकायें लिखी गईं। यथा-नाम तथा गुण वाली भक्तिरसबोधिनी टीका की कुछ त्रुटियों को भी लोगों ने तथ्य माना। मूल भक्तमाल एवं उसकी टीकाओं पर अब तक भाष्य उपलब्ध नहीं हैं। एकमात्र कुछ-कुछ वृहद्भाष्य के रूप में वृन्दावनीय श्रीसर्वेश्वर-पत्र का विशेषांक प्रकाशित हुआ था परन्तु आज वह भी अप्राप्त है।

इस समय 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय', सुदामाकुटी, श्रीवृन्दावन से श्रीभक्तमाल पर सर्वश्रेष्ठ वृहद्भाष्य प्रकाशित हो चुका है इसमें भी सम्भवतः समयाभाव अथवा समस्त ग्रन्थों के प्राप्त न होने से समस्त उद्धरणों का सन्दर्भ नहीं दिया जा सका। जैसा संग्रह ग्रन्थों में मिला, वैसा ज्यों का त्यों दे दिया गया। तो भी भाव समझने वालों के लिये तथा कथा वाचक के लिए कोई खटकने वाली बात नहीं है। मैं तो पं. श्रीगणेशदासजी महाराज तथा श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी के परिश्रम पर मुग्ध हूँ। इन्हें धन्यवाद देता हूँ, ये सभी काव्य प्रेमियों, भक्तों के हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

भगवद् भागवतानुचर

फाल्गुन कृष्णैकादशी
पं. रामकुमार दास

वि. सं. २०४०
श्रीराम-ग्रन्थागार, मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजी

❀ श्रीहरिः ❀

अथ श्रीवैष्णवदासजीकृत

श्रीभक्तमाल-माहात्म्य

दो.-श्रीनारायणदासजू कृत भक्तन्ह की माल। पुनि ताकी टीका करी प्रियादास सु रसाल।।
ताकौ साधुन्ह के कहे कहौं महातम बानि। लै ग्रंथनि मत आधुनिक परिचै रस की खानि।।
भक्तनकी महिमा कही कपिलदेव भगवान। नारायण आधीन हैं मैं कह कहौं बखान।।
सब संसार सुआरसी जन महिमा प्रतिबिम्ब। रति दृग बिन सूझै नहीं अन्धे को वह बिम्ब।।
वेद शास्त्र के श्रवण को अति फल हरि निरधार। सो याके श्रोता अहैं महिमा अगम अपार।।
भयौ चहै हरि पाँति को सुनै सोइ हरषाय। तहाँ दोय इतिहास हैं सुनिये चित्त लगाय।।

चौ.- प्रियादास जू के सुमित्र वर। श्रीगोवर्धननाथ नाम कर।
ते श्रीभक्तमाल रंग छाये। पढ़ि साँभरि की रामति आये।।
मग में श्रीगोविन्द देव जो। तिनके दरसन को गमने सो।।
तहँ श्रीराधारमन पुजारी। हरिप्रिय रसिक अनन्य सु भारी।।
तिन-तिनकौं राखो अटकाई। भक्तमाल सुनिबे के ताईं।।
होन लगी तहँ भक्त सुमाला। जहाँ विराजत गोविन्द लाला।।
जयपुरवासी सुनिबे आवैं। प्रेम मुदित ह्वै अश्रु बहावैं।।
कछु दिन बाँचि बन्द करि दीनी। श्रोतन ते निश्चय यह कीनी।।
सांभरि की रामति करि आऊँ। तब ही पूरी कथा सुनाऊँ।।
रामति गये बगदि फिरि आये। कथा कहन को फिरि बैठाये।।
कहँ तक भई सँभार सु नाहीं। श्रोता अरु वक्ता भ्रम माहीं।।
श्रीगोविन्द देव विख्याता। कही पुजारी सों यह बाता।।
श्रीरैदास भक्त की गाथा। भई कहो आगे अब नाथा।।

दो.- सुनि सु पुजारी के दृगन पानी बह्यौ अपार। याके श्रोता आप हैं यह कीनी निरधार।।

चौ.- पुनि दूजो इतिहास सुनौ अब। प्रियादास टीका कीनी जब।।
तब व्रज परिकरमा महँ आये। फिरत फिरत होडल जा छाये।।
लालदास तहँ रहे महन्ता। जन सेवी अनन्य रसवन्ता।।
सब समाज तिन रोकि सु लीनो। बाँचौ भक्तमाल हठ कीनो।।

भक्तमाल तहँ होन सु लागी । सुनन लगे सब लोग सुभागी।।
इक दिन निशि तहँ आये चोरा। सबै वस्तु लीनी टकटोरा।।
ठाकुर हू को ते लै गये। हरि ही के ये कौतुक नये।।
प्रात भये सबही दुख छाये । प्रियादास हू अति अकुलाये।।
कही कथा न रसोई कीनी । महा दुक्ख में मति अति भीनी।।
ठाकुर को ये चरित न प्यारे। ताते चोरन संग पधारे।।
श्रीमहन्त बोले कर जोरी। हम कहँ तजि ठाकुर गे चोरी।।
तुमहू त्याग करोगे जो पै। मेरी कुगति होयगी तोपै।।
ताते हरि इच्छा मन दीजे । कहिये कथा रसोई कीजै।।
प्रियादास बोले यों सुनहू। अब मैं कथा न कहिहौं कबहू।।
श्रीनाभा यों वचन उचारे। हरि को जन चरित्र ये प्यारे।।
सो झूठी अब भई यहाँई । कथा त्यागि हरि गये पराई।।
दो.- यों कहिकै भूखे रहे काहुहिं परी न चैन। सुपने चोरन ते कहैं ठाकुर जू यों बैन।
चौ.- मोहिं जहाँ को तहँ करि आवौ । नातर तुम बहुतै दुख पावौ।।
इक दुख भक्त रहे दुख माहीं । भक्तमाल पुनि सुनी सु नाहीं।।
दुहरे दुक्ख परे हैं हम पर। चौहर दुख डारूँगो तुम पर।।
सुनिकै चोर उठे अधराता। ठाकुर को लै हरषित गाता।।
गावत बजवत नाचत आये। संग सकल सामग्री लाये।।
प्रातःकाल होन नहिं पायो। समाचार द्विज एक सुनायो।।
चोर तिहारे ठाकुर ल्यावत। नाचत गावत बजवत आवत।।
सुनि सब साधु निपट हरषाये। करत कीरतन सनमुख धाये।।
सुधि-बुधि गई प्रेम में छाये। जाय परस्पर लपटत भाये।।
चोरहु कछुकहि सकैन बतियाँ। दृगभरि आवत फाटत छतियाँ।।
आँसू पोंछत गद गद बानी। सुपने की सब कथा बखानी।।
सुनि सबने अति ही सुख पायौ। प्रेम मगन मन दुक्ख नसायौ।।
मन्दिर में प्रभु को पधरायौ। बहु मंगल उच्छव करवायौ।।
भक्तमाल की कथा सुहाई। नाम कीरतन सहित कहाई।।
याके श्रोता श्रीहरि अहहीं। पुनि-पुनि साधु प्रेमवश कहहीं।।

दो.-हाथ कंकनहिं आरसी कहा दिखाये माहिं। हरि श्रोता बिन सबन के मन यों अटकत नाहिं।

चौ.- श्रोता वक्ता को फल जोई। कापै कहि आवत है सोई।।
जो लिखाय राखै उर माहीं। अन्त समै हरि प्राप्ति कराहीं।।
तहाँ एक सुनिये इतिहासा। क्वौ जन प्रियादास के पासा।।
आय कही म्वहिं देहु लिखाई। भक्तमाल सुन्दर सुखदाई।।
प्रियादास पूछी सुखराशा। कहन सुनन कछु है अभ्यासा।।
तिन कह मैं कछु कहन न जानौं। सुनिबे हू की गति न पिछानौं।।
आपु कही तब करिहौ काहा। बात सुनाय दिखाई चाहा।।
महाराज मैं जग व्यौहारी। गृह कामन में अटक्यौ भारी।।
साधु संग को अवसर नाहीं। ताते मैं सोची मन माहीं।।
मरती बार हिये पर धरिहौं। इतने साधुन संग उबरिहौं।।
सुनि यह बात नेत्र भरि आये। बहुत बड़ाई करि सुख छाये।।
ताको पोथी दई लिखाई। सो लै घर गवन्यौ सुख पाई।।
घर कारज में अटक्यौ भारी। आई ताहि मीच भयकारी।।
जम के दूतन आय दबायौ। दई त्रास अरु कण्ठ रुकायौ।।
बेटा पोते ढिंग बिललाता। नैन सैन दे कही सुबाता।।
भक्तमाल की पोथी लाई। मम छाती ते देहु लगाई।।
ते उठाय पोथी लै आये। धरि छाती पर अचरज छाये।।
धरतहिं यम के दूत भजे यों। सूरन के आगे कायर ज्यों।।
कण्ठ खुल्यौ नैंननि जल ढार्‌यौ। हरे कृष्ण गोविन्द उचार्‌यौ।।
बहु भक्तन के दरशन पायौ। हिये माँझ आनन्द समायौ।।
सुत हरषित सब पूछत बाता। कहा भयौ सो कहिये ताता।।
तिन कह यमदूतन दुख दीनौ। भक्तनि अब उबारि मैं लीनौ।।
नामदेव रैदास कबीरा। सेन धना पीपा अति धीरा।।
ठाढ़े सकल कहत हैं बाता। हमरे संग चलौ अब ताता।।
सो मैं अब इनके संग जैहौं। यमदूतन के मुख न चितैहौं।।
यह कहि रामकृष्ण उच्चारत। नैन मूंदि हरि को उर धारत।।
प्रान त्यागि हरि धाम सिधायौ। बेटन के उर अति सुख छायौ।।
तबते तिनने नेम करे हैं। अन्त समय उर ग्रन्थ धरे हैं।।

तिनको कुटुम वनहिं को आयौ। तिननि सबै यह चरित सुनायौ।।
सो हम लिखन कियौ है सही। सब दिन भक्तनि महिमा रही।।
शेष महेश जासु गुन गावैं। तेऊ चरण रेणु मन लावैं।।
आपु ते अधिक दास को गावैं। जन की महिमा कहि नहिं आवैं।।
प्रियादास अति ही सुखकारी। भक्तमाल टीका विस्तारी।।
तिनको पौत्र परम रंग भीनौ। वैष्णवदास महातम कीनौ।।

दो.-भक्तमाल की गन्ध को, लेत भक्त अलि आय।
भेक विमुख ढिंगहीं बसैं, रहे कीच लपटाय।।

।। इति श्रीभक्तमाल माहात्म्य सम्पूर्णम् ।।

मिती माह वदी ६ सम्वत् १८८६, वृन्दावन

❀ ❀ ❀

श्रीनाभाजी का दैन्य

बातन ही हौ पतित पावन।
मोते काम परे जानहुगे, बिन रन सूर कहावन।।
सतयुग त्रेता द्वापरहू के, पतितन को गति आपी।
उन्हैं हमैं बहुतैं अन्तर है, हम कलियुग के पापी।।
कोउ टांक द्वै टांक पौसेरा, बड़ी बड़ाई सेर।
हौं पूरन पतिताई ऐसो, ज्यौं पाषाननि मेर।।
हौं दिनमनि खद्योत आन खल, अविद्या को जु उजागर।
गोपद पावन के न सरवरै, हौं दुरमति जल सागर।।
पतितपावन है विरद तिहारो, सोइ करो परमान।
पाहन नाव पार करो 'नाभा', कै हरि पकरौ कान।।

वन्दनीय नाभा की वाणी

वन्दनीय नाभा की वाणी हरि हरिजन को प्यारी।
भवसरि तरणि करणि कल्याणी हरती बाधा सारी।।
किसी तरह से एकबार भी जिसने सुना सुनाया।
नहीं भुलाया भवाटवी में श्रीहरि ने अपनाया।।१।।

नाभा के प्रवचन ने देखो चमत्कार दिखलाया।
भक्ति सुरसरी का कलियुग में दिव्य प्रवाह बहाया।।
ऐसी है यह मधुर प्रेम के पञ्चरसों की गंगा।
प्यासा नहीं जहाँ से लौटा कोई पतित अपंगा।।२।।

किं कर्तव्य विमूढ़ बने क्यों चिन्तित बैठे भाई।
भक्तमाल सुनि अपने पथ पर क्यों नहीं चलते आई।।
महा भयंकर भवदावा में जलने वाले आवो।
भक्त कथा शीतल सागर में करि मज्जन सुख पावो।।३।।

खल गन की करनी से धरनी महा नरक बन जाती।
वही सन्त के सदाचार से स्वर्गहु से अधिकाती।।
सुनि पुनि गुनि नाभा की बानी सुभग सन्त बन जावो।
अत्याचार विकार जगत के छोड़ो और छुड़ावो।।४।।

असत् पन्थ से दूर हटाकर सत पथ पर यह लावै।
दै विश्राम सुखद मनमाने इष्ट पास पहुँचावै।।
गौर श्याम अभिराम ललकि मिलि पुलकैं अंक लगावैं।
'गौरमंजरी' अलि परिकर ते बहुरि नहीं बिलगावैं।।५।।

येन गीता यदा भक्तमाला मुदा, तेन पीता महाप्रेमधारा तदा।
ये मननं कृतं भक्तलीलारसं, तेन कृत्यं कृतं सर्वविधिसर्वदम्।।
यस्य श्रवणं गता भक्तमाला यदा, तस्य हृदयंगता भक्तिरन पायनी।
यस्य कण्ठं गता भक्तमाला यदा, तस्य वश्यो भवेद्रामचन्द्रो हरिः।।

जय जय भक्तमाल हरि प्यारी। भक्तन की गाथा अघहारी।
जय जय भक्तमाल रस रंगा। सुनत पढ़त पुलकत अँग अंगा।।
जय जय भक्तमाल शुचि चन्दा। रसिक चकोरन्ह देत अनन्दा।
जय जय भक्तमाल शुभ सागर। अमल भक्तयश रत्न उजागर।।

।। श्रीभगवद्भक्तेभ्यो नमः ।।

छन्द प्रमाणिका

नमामि भक्तमाल को

पढ़ैं जो आदि अन्त लौं, बढ़ैं सो पर्म तन्त लौं।
दहै अनन्त साल को, नामामि भक्तमाल को।।१।।

कथा करै जो याहि की, व्यथा रहै न ताहि की।
मिलै सो रामलाल को, नमामि भक्तमाल को।।२।।

प्रकार नौ कि भक्ति जो, सो अङ्ग होत शक्ति सो।
कहै गिरा रसाल को, नमामि भक्तमाल को।।३।।

गहै अनन्य भाव है, लहै सुभक्ति भाव है।
वही प्रमाण भाल को, नमामि भक्तमाल को।।४।।

अभक्त भक्ति को लहै, न भूलि मुक्ति को चहै।
गिनै सो तुच्छ काल को, नमामि भक्तमाल को।।५।।

करै जो पाठ प्रात में, सरै सुकाज गात में।
हरै हि कर्मजाल को, नमामि भक्तमाल को।।६।।

मिलाय दुग्ध तक्र ते, जु होत सर्पि चक्र ते।
तथा सुबुद्धि बाल को, नमामि भक्तमाल को।।७।।

बहूपमा कहौं कहा, कहे न पार को लहा।
बखान सूर्य ख्याल को, नमामि भक्तमाल को।।८।।

समर्पण

ज्ञानगुदरिकारत्नं वृन्दावन विहारिणम्।
पण्डितं श्रीजगन्नाथदासं भक्तमालिनम्।।१।।

भक्तानां भक्तिदातारं, निम्बादित्यानुगामिनम्।
प्रसन्नवदनं वन्दे, वन्दनीयं विवेकिनम्।।२।।

साम्प्रतं यत्कृपातो महादुर्लभोभक्तमालारसः सज्जनैः स्वाद्यते।
पण्डितः श्रीजगन्नाथदासः स वै दासानुदासं सदा स्वीकरोतु।।३।।

श्रीहरि गुरु हरिदास चरण अरविन्द मधुप वर।
भक्तमाल भागवत कथा अति कहत मनोहर।।

दरसन परम पुनीत गिरा गम्भीर नीरधर।
सबसों हित निष्काम श्याम-श्यामा राजत उर।।

नित मगन रहत रससिन्धु में, पुलकित तन गदगद वयन।
श्रीजगन्नाथ के दास जनु, जगन्नाथ करुणा अयन।।

श्रीवृन्दावन वास रसिक कुल कुमुद सुधाकर।
महा मोह तम-तोम नाश कर विमल विभाकर।।

सौम्य सुशील उदार सरलता सीम दयाकर।
सन्त जनन्ह सुख देत सदा श्रीहरि गुण गाकर।।

सुख विलसत युगलकिशोर वर, नित्य जासु उर अमल में।
यह ग्रन्थ समर्पित तिनहिं के, अति पुनीत कर-कमल में।।

दासानुदास- गणेशदास, रामेश्वरदास

वन्दना

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक व्यासाम्बरीषशुक शौनकभीष्म दाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुन वशिष्ठ विभीषणादीन् एतानहं परम भागवतान्नमामि।

सन्त सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु। बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरण रति देहु।।
वन्दौं सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोय। अंजलिगत शुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय।।
कलि केवल संसार में और न कोउ उपाय। साधु संग हरिनाम बिनु मन की तपन न जाय।।
साधुरूप हरि आप हैं पावन परम पुरान। मेंटैं दुविधा जीव की सब विधि करि कल्यान।।
भक्तन की महिमा अमित पार न पावै कोय। जहाँ भक्तजन पग धरैं उत्तम तीरथ होय।।
कथा कीरतन कलि विषै भवसागर की नाव। कह 'कबीर' जग तरन को नाहिन और उपाव।।
सन्त सभा झाँकी नहीं कियौ न हरिगुन गान। 'नारायण' फिर कवन विधि तू चाहै कल्यान।।

श्रीभगवतरसिकजी महाराजकृत-

श्रीभक्त-नामावली

हमसों इन साधुन सों पंगति।
जिनको नाम लेत दुख छूटत, सुख लूटत तिन संगति।।
मुख्य महन्त काम रति गणपति, अज महेश नारायण।
सुर नर असुर मुनी पक्षी पशु, जे हरि भक्ति परायण।।
वाल्मीकि नारद अगस्त्य शुक, व्यास सूत कुल हीना।
शबरी, स्वपच वशिष्ठ विदुर, विदुरानी प्रेम प्रवीना।।
गोपी गोप द्रोपदी कुन्ती, आदि पाण्डवा ऊधो।
विष्णु स्वामि, निम्बारक, माधो, रामानुज मग सूधो।।
लालाचारज धनुर्दास, कूरेश भाव रस भीजे।
ज्ञानदेव गुरु शिष्य त्रिलोचन, पटतर को कहि दीजे।।
पद्मावती चरण को चारन, कवि जयदेव जसीलौ।
चिन्तामणि चिद्रूप लखायो, विल्वमंगलहि रसीलौ।।
केशवभट्ट श्रीभट्ट नारायन, भट्ट गदाधर भट्टा।
विट्ठलनाथ वल्लभाचारज, व्रज के गूजर जट्टा।।
नित्यानन्द, अद्वैत, महाप्रभु, शची सुवन चैतन्या।
भट्ट गोपाल रघुनाथ जीव, अरु मधु गुसांई धन्या।।

रूप सनातन भजि वृन्दावन, तजि दारा सुत सम्पति।
व्यासदास हरिवंश गुसांई, दिन दुलराई दम्पति।।
श्रीस्वामी हरिदास हमारे, विपुल विहारिनि दासी।
नागरि नवल माधुरी बल्लभ, नित्य विहार उपासी।।
तानसेन अकबर करमैती, मीरा करमाबाई।
रत्नावती मीर माधो, रसखान रीति रस गाई।।
अग्रदास नाभादि सखी ये, सबै राम सीता की।
सूर मदनमोहन नरसी अलि, तस्कर नवनीता की।।
माधोदास गुसाँई तुलसी, कृष्णदास परमानन्द।
विष्णुपुरी श्रीधर मधुसूदन, पीपा गुरु रामानन्द।।
अलि भगवान मुरारि रसिक, श्यामानन्द रंका वंका।
रामदास चीधर निष्किञ्चन, सम्हन भक्त निसंका।।
लाखा अङ्गद भक्त महाजन, गोविन्द नन्द प्रबोधा।
दास मुरारि प्रेमानिधि विट्ठलदास, मथुरिया योधा।।
लालमती सीता प्रभुता, झाली गोपाली बाई।
सुत विष दियौ पूजि सिलपिल्ले, भक्ति रसीली पाई।।
पृथ्वीराज खेमाल चतुर्भुज, राम रसिक रस रासा।
आशकरण जयमल मधुकर नृप, हरिदास जन दासा।।
सेना धना कबीरा नामा, कूबा सदन कसाई।
बारमुखी रैदास सभा में, सही न श्याम हँसाई।।
चित्रकेतु प्रह्लाद विभीषण, बलि गृह बाजे बावन।
जामवन्त हनुमन्त गीध गुह, किये राम जे पावन।।
प्रीति प्रतीति प्रसाद साधु सों, इन्हें इष्ट गुरु जानौं।
तजि ऐश्वर्य मरजाद वेद की, इनके हाथ बिकानौं।।
भूत भविष्य लोक चौदह में, भये होयँ हरि प्यारे।
तिन-तिन सों व्यवहार हमारो, अभिमानिन ते न्यारे।।
'भगवतरसिक' रसिक परिकर करि, सादर भोजन पावै।
ऊँचो कुल आचार अनादर, देखि ध्यान नहिं आवै।।

।।श्रीभक्तवत्सल भगवान की जय।।

❀ ❀ ❀

सूची-पत्र

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	श्रीरघुवीरजी	११४	श्रीलक्ष्मीजी	१९१
आज्ञा-निरूपण	२	श्रीकृष्णजी	११७	श्रीगरुड़जी	१९५
टीका का नाम-रूप	६	श्रीबुद्ध भगवान	११८	श्रीहनुमानजी	१९७
भक्ति का शृंगार	९	श्रीकल्कि	१२१	श्रीजामवन्तजी	२११
टीका की महिमा	२०	श्रीव्यासजी	१२२	श्रीसुग्रीवजी	२१६
शान्तरस	२२	श्रीपृथुजी	१२३	श्रीविभीषणजी	२१८
दास्यरस	२४	श्रीहरिजी	१२५	श्रीशरणागति	२२१
सख्यरस	२६	श्रीहंसजी	१२६	श्रीशबरीजी	२३१
वात्सल्यरस	२८	श्रीमन्वन्तर	१२७	श्रीजटायुजी	२५६
शृंगाररस	३१	श्रीयज्ञ	१२८	श्रीध्रुवजी	२६२
श्रीभक्तमाल-महिमा	३५	श्रीऋषभ	१२८	श्रीअम्बरीषजी	२६६
सत्संग प्रभाव	४१	श्रीहयग्रीव	१३०	श्रीअम्बरीष की छोटी रानी	२७७
श्रीभक्तमालस्वरूप	४९	श्रीध्रुव-वरदेन	१३१	श्रीविदुरजी	२८९
श्रीभक्तमाल-माहात्म्य	५३	श्रीधन्वन्तरि	१३१	श्रीसुदामाजी	२९४
मूल-मंगलाचरण	५७	श्रीनर-नारायण	१३२	श्रीचन्द्रहासजी	३१५
अनुबन्ध चतुष्टय	६०	श्रीदत्तात्रेय	१३३	श्रीमैत्रेयजी	३३५
भक्त-लक्षण	६१	श्रीकपिलदेवजी	१३३	श्रीचित्रकेतुजी	३३७
भक्तिस्वरूप	६८	श्रीसनकादिकजी	१३३	श्रीउद्धवजी	३४०
भगवन्तस्वरूप	७०	श्रीचरण-चिह्न	१३७	श्रीगज-ग्राह	३४४
गुरु-लक्षण	७२	पंचवीर	१३९	श्रीयुधिष्ठिरजी	३४६
सन्त-निर्णय	७७	द्वादश भागवत	१४४	श्रीभीमसेनजी	३४९
आज्ञा-निरूपण	८०	श्रीब्रह्माजी	१४५	श्रीअर्जुनजी	३५१
सन्त-प्रभाव	८७	श्रीनारदजी	१४७	श्रीनकुल-सहदेव	३५६
श्रीनाभा-चरित्र	९२	श्रीशंकरजी	१५०	श्रीकुन्तीजी	३५७
सन्त-सीथ	९९	श्रीसनकादिकजी	१५९	श्रीद्रौपदीजी	३६१
चौबीस अवतार	१०१	श्रीमनुजी	१६०	श्रीश्रुतिदेवजी	३७०
श्रीमीन	१०२	श्रीजनकजी	१६१	श्रीअंगदजी	३७३
श्रीबाराह	१०४	श्रीभीष्मजी	१६३	श्रीमुचुकुन्दजी	३७४
श्रीकच्छप	१०५	श्रीधर्मराजजी	१६६	श्रीप्रियव्रतजी	३७६
श्रीनृसिंहजी	१०६	अजामिल	१६८	श्रीशेषजी	३७७
श्रीवामनजी	१०८	षोडश-पार्षद	१७९	श्रीसूतजी	३७९
श्रीपरशुरामजी	११२	हरिवल्लभ	१८६	श्रीशौनकजी	३८०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
श्रीप्रचेतागण	३८२	श्रीगयजी	४९४	श्रीकर्दमजी	५८६
श्रीशतरूपाजी	३८३	श्रीशतधन्वा	४९६	श्रीअत्रिजी	५८९
श्रीप्रसूतीजी	३८५	श्रीअमूर्ति	४९६	श्रीऋचीकजी	५९०
श्रीदेवहूतिजी	३८५	श्रीरन्तिदेवजी	४९७	श्रीयमदग्निजी	५९०
श्रीसुनीतिजी	३८५	श्रीउतंकजी	४९९	श्रीगर्गजी	५९०
श्रीसतीजी	३८५	श्रीभूरिजी	५०३	श्रीगौतमजी	५९१
श्रीमदालसाजी	३८७	श्रीदेवलजी	५०३	श्रीव्यास शिष्य	५९२
श्रीयज्ञ-पत्नियाँ	३९०	वैवस्वतमनुजी	५०३	श्रीलोमशजी	५९३
श्रीब्रज-नारियाँ	३९४	श्रीनहुषजी	५०३	श्रीभृगुजी	५९४
श्रीप्राचीनबर्हिजी	४०६	श्रीययातिजी	५०५	श्रीअंगिराजी	५९५
श्रीसत्यव्रतजी	४०८	श्रीदिलीपजी	५०७	श्रीशृंगीऋषि	५९५
श्रीरहूगणजी	४०९	श्रीपुरुजी	५०९	श्रीमाण्डव्यजी	५९६
श्रीसगर-भगीरथजी	४०९	श्रीयदुजी	५०९	श्रीविश्वामित्रजी	५९६
श्रीमहर्षि वाल्मीकिजी	४१२	श्रीगुहजी	५१०	श्रीदुर्वासाजी	५९९
सुपच वाल्मीकिजी	४१९	श्रीमान्धाताजी	५२१	अट्ठासी हजार ऋषि	६००
श्रीरुक्मांगदजी	४३२	श्रीपिप्पलादजी	५२२	श्रीजाबालिजी	६००
श्रीरुक्मांगद की पुत्री	४३७	श्रीनिमिजी	५२३	श्रीयमदग्निजी	६००
एकादशी की उत्पत्ति	४३९	श्रीभरद्वाजजी	५२४	श्रीमायादर्शजी	६००
श्रीहरिश्चन्द्रजी	४४१	श्रीदक्षजी	५२६	श्रीकश्यपजी	६०२
राम-भक्त सुरथ	४४६	श्रीशरभंगजी	५२८	श्रीपर्वतजी	६०२
सुरथ-सुधन्वा	४४८	श्रीसंजयजी	५२९	श्रीपराशरजी	६०३
शंखलिखित	४५२	श्रीशमीकजी	५२९	अठारह पुराण	६०३
श्रीशिविजी	४५३	श्रीउत्तानपादजी	५३०	चतु:श्लोकी	६०५
श्रीभरतजी	४५६	श्रीयाज्ञवल्क्यजी	५३०	अठारह स्मृतियाँ	६०६
श्रीदधीचिजी	४६०	नव-योगीश्वर	५३४	श्रीराम सचिव	६०७
विन्ध्यावलीजी	४६३	श्रीपरीक्षितजी	५४०	श्रीसुमन्त्रजी	६०८
श्रीनीलध्वजजी	४६६	श्रीशुकदेवजी	५४६	श्रीराम सहचर	६१०
मोरध्वज-ताम्रध्वज	४६७	श्रीप्रह्लादजी	५५४	श्रीअंगदजी	६११
अलर्कजी	४८०	श्रीअक्रूरजी	५६६	श्रीदधिमुखजी	६१४
श्रीऋभुजी	४८६	श्रीबलिजी	५७१	श्रीद्विविदमयन्द	६१४
श्रीइक्ष्वाकुजी	४८७	श्रीअगस्त्यजी	५७७	श्रीसुषेणजी	६१४
श्रीऐलजी	४८९	श्रीपुलस्त्यजी	५८०	श्रीनल-नीलजी	६१४
श्रीगाधिजी	४९०	श्रीच्यवनजी	५८१	श्रीशरभजी	६१५
श्रीरघुजी	४९१	श्रीवशिष्ठजी	५८२	श्रीगवयजी	६१५
श्रीरयजी	४९४	श्रीसौभरिजी	५८५	श्रीगन्धमादनजी	६१५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
नवनन्द	६१६	श्रीकीरति वृषभानुजी	६२१	सप्तद्वीप	६३०
पर्जन्यजी	६१६	श्रीराधाजी	६२१	जम्बूद्वीप	६३२
श्रीनन्दजी	६१७	अष्ट-सखियाँ	६२५	श्वेतद्वीप	६३३
समस्त ब्रजवासी	६१८	श्रीमधुमंगलजी	६२६	अष्टकुल नाग	६४१
श्रीयशोदाजी	६१९	श्रीकृष्ण-सखा	६२८		

दृष्टान्त सूची-पत्र

दृष्टान्त	पृष्ठ	दृष्टान्त	पृष्ठ	दृष्टान्त	पृष्ठ
दो मित्र	३	सुदर्शन खत्री	६६	चार किरात	१७८
सिद्ध-साधक	४	सन्तसेवी खाती	६७	एक यवन	१७८
दो कठपुतलियाँ	१२	गुड़ लोभी पुत्र	७४	चार चोर	१७८
श्रीरंगाचार्यजी	१४	खिलाड़ी गुरु	७४	श्रीभृगुजी	१८५
छप्पन-भोग	१६	मन भूत है	८२	तपस्वीजी	१८९
एक साधु	१६	शेखचिल्ली	८३	भालू और व्याध	१९३
दो मित्र	२६	जलघड़ियाजी	८४	लैला-मजनूं	२०४
तान-तरंग वेश्या	३४	बन्दर सेवक	८४	देवता-दैत्य	२१७
इन्द्र और दुर्वासा	३७	एक तोता	८५	वृद्ध वणिक्	२२७
बन्दर और बया	४३	रसायनी	८६	तुलसी का राम-नाम	२२९
जिज्ञासुगण	४३	दो भक्त	८९	गूजरी	२२९
दो जिज्ञासु	४४	वृन्दावन के भक्त	९०	बुढ़िया व घुड़सवार	२३०
श्रीध्रुवजी	४४	विकट भक्त	९१	खटका बुरा	२३३
सेठ का पुत्र	४५	बाबा रामकृष्णदास	९१	भूखी बिल्ली	२४०
दो छात्र मित्र	४७	मस्ताने सन्त	९३	क्रोधी ब्राह्मण	२४१
गोरख की डिबिया	४८	श्रीतुलसीदासजी	९५	अपरस	२४२
ब्रह्मोपदेश	५१	चालाक मियाँ	१०७	धोंगारी छांछ	२४५
जसवन्तसिंह की रानी	५१	एक फकीर	१३५	श्याम-सखी	२४५
श्याम-विरहिणी	५२	धनुषदासजी	१३५	विष्णुदत्त ब्राह्मण	२५१
दम्भी बादशाह	५६	एक गड़रिया	१३६	चोखामेला	२५३
माला की एकता	५९	कृष्णदत्त	१४९	तोता और वेश्या	२५४
राजपुत्र	६०	नानक और मरदाना	१५७	गंगा और भगीरथ	२५५
श्रीपति कवि	६३	श्रीवल्लभाचार्यजी	१५९	हंस और काग	२६७
एक भक्त कवि	६३	व्यास और जैमिनि	१६९	एक सन्त	२७४
पटना वाली बाई	६३	अकबर-बीरबल	१७३	एक हलवाहा	२७९
एक सेठ	६४	राजवैद्य	१७३	पण्डित और राजा	२७९
शेरगढ़ का आमिल	६५	एक बूढ़ा	१७५		

दृष्टान्त	पृष्ठ	दृष्टान्त	पृष्ठ	दृष्टान्त	पृष्ठ
राजपुत्री और श्वपच	२८८	दरिद्र ब्राह्मण	४०७	जीमूत वाहन	४७९
कालू धीमर	२८८	बनावटी सिद्ध	४२२	पुरी का ब्राह्मण	४८५
बूढ़ा और बालक	३०१	जीवनमुक्त	४२२	श्रीवेंकटनाथजी	५३३
द्रुपद और द्रोण	३०४	बोला सो मरा	४२३	पनहियां भक्त	५३४
एक गुरुभक्त	३०५	द्रौपदीजी	४२४	खारी कथा	५४२
दो फकीर	३०९	बिरजोजी	४२७	ठाली-ठाली	५४२
त्यागी राजा	३१३	नारद उर्वशी	४३५	होडल का बनियाँ	५४३
सन्तोषी ब्राह्मण	३१३	आय फँसे	४३७	एक सन्त	५४९
पन्नाधाय	३१६	एक मुल्लाजी	४३८	एक बुढ़िया	५६५
ईश्वर करे सो ठीक	३२१	राणा हम्मीर	४५४	लकड़हारा	५६४
दैवज्ञ ब्राह्मण	३२२	काकभुशुण्डिजी	४५७	राधावल्लभीय सूरदास	५७५
गरुड़जी	३२८	मिथ्या ब्रह्मज्ञानी	४६५	श्रीशिवजी	५७६
यथा राजा तथा प्रजा	३३२	एक राजा	४७२	बनावटी सिद्ध	५८७
उपरिचर वसु	४०७	श्रीयुधिष्ठिरजी	४७२	एक गँवार	६२९

वर्णक्रमानुसार सूची-पत्र

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अक्रूरजी	५६६	अलर्कजी	४८०	कच्छप	१०४
अगस्त्यजी	५७७	अष्टकुल नाग	६४१	कपिलजी	१३१
अंगदजी	३७३	अष्ट-सखियाँ	६२५	कल्कि	१२१
अंगदजी	६११	आकूती जी	३८५	कृष्ण	११७
अंगिराजी	५९५	आज्ञारूप मङ्ग	२	कृष्ण सखा	६२८
अजामिल	१६८	आज्ञानिरूपण	८१	कमलाजी	१९१
अट्ठासी हजार ऋषि	६००	इक्ष्वाकुजी	४८७	कर्दमजी	५८६
अठारह स्मृतियाँ	६०६	उत्तङ्कजी	४९९	कश्यपजी	६०२
अठारह पुराण	६०३	उत्तानपादजी	५३०	कीर्तिजी	६२१
अत्रिजी	५८९	उद्धवजी	३४०	कुन्तीजी	३५७
अनसूयाजी	५८९	ऋचीकजी	५९०	कौशल्याजी	३८३
अनुबन्ध चतुष्टय	६०	ऋषभजी	१२८	गजराज	३४४
अमूर्तिजी	४९६	ऋषि शृंगीजी	५१५	गन्धमादनजी	६१५
अम्बरीषजी	२६६	एकादशी	४३९	गयजी	४९४
अम्बरीष की छोटी रानी	२७७	एलापत्रजी	६४१	गरुड़जी	१९५
अर्जुनजी	३५१	ऐलजी	४८९	गवयजी	६१५

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
गवाक्षजी	६१५	धन्वन्तरि	१३१	प्रियव्रतजी	३७६
गर्गजी	५९०	धर्मराज	१६६	बलिजी	५७१
ग्राहजी	३४४	ध्रुवजी	२६२	बाराह	१०५
गाधिजी	४९०	ध्रुव-वरदेन	१३१	बाल्मीकि	४१२
गुरु-लक्षण	७२	नकुलजी	३५६	बाल्मीकि सुपच	४१९
गुहजी	५१०	नन्दजी	६१७	विन्ध्यावलीजी	४६३
गोपवृन्द	६२८	नर-नारायण	१३२	बुद्ध भगवान	११८
गोपिकायें	३९४	नल-नील	६१४	ब्रह्माजी	१४५
गौतमजी	५९१	नहुषजी	५०३	भगवन्तस्वरूप	७०
चन्द्रहासजी	३१५	नृसिंहजी	१०६	भगीरथजी	४०९
चतुःश्लोकी	६०५	नवनन्द	६१६	भरतजी	४५६
चरण-चिह्न	१३७	नव-योगीश्वर	५३४	भरद्वाजजी	५२४
च्यवनजी	५८१	नाभाजी	९२	भक्तमाल-महिमा	३५
चित्रकेतुजी	३३७	नारदजी	१४७	भक्तमालस्वरूप	४९
चौबीस अवतार	१०१	निमिजी	५२३	भक्तमाल-माहात्म्य	५३
जटायुजी	२५६	नील-नल	६१४	भक्त-लक्षण	६१
जनकजी	१६१	नीलध्वजजी	४६६	भक्ति का श्रृंगार	९
जम्बूद्वीप	६३२	पंचवीर	१३९	भक्तिस्वरूप	६८
जाबालिजी	६००	परशुरामजी	११२	भीमसेनजी	३४९
जामवन्तजी	२११	पराशरजी	६०३	भीष्मजी	१६३
टीका नाम	६	परीक्षितजी	५४०	भूरिजी	५०३
टीका की महिमा	२०	पर्जन्यजी	६१६	भृगुजी	५९४
ताम्रध्वज	४६७	पर्वतजी	६०२	मधुमंगलजी	६२६
दक्षजी	५२६	पाण्डव	३४६	मनुजी	१६०
दत्तात्रेयजी	१३३	पार्षद	१७९	मदालसाजी	३८७
दधिमुखजी	६१४	पिप्लादजी	५२२	मन्वन्तर	१२७
दधीचिजी	४६०	पुरुजी	५०९	मयन्दजी	६१४
दास्यरस	२४	पुलस्त्यजी	५८०	माण्डव्यजी	५९६
द्वादश भागवत	१४४	पुलहजी	५८१	मान्धाताजी	५२१
दिलीपजी	५०७	पुराण	६०३	मार्कण्डेयजी	६००
द्विविदजी	६१४	पृथुजी	१२३	मीन भगवान	१०२
दुर्वासाजी	५९९	प्रचेतागण	३८२	मुचुकुन्दजी	३७४
देवहूतिजी	३८५	प्रसूतीजी	३८५	मूल-मंगलाचरण	५७
देवल	५०३	प्रह्लादजी	५५४	मैत्रेयजी	३३५
द्रौपदीजी	३६१	प्राचीन बर्हिजी	४०६	मोरध्वजजी	४६७

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
यज्ञ भगवान	१२८	विभीषणजी	२१८	सगरजी	४०९
यज्ञ-पत्नियाँ	३९०	विश्वामित्रजी	५९६	संजयजी	५२९
यदुजी	५०९	वैवस्वतमनु	५०३	सत्संग-प्रभाव	४१
यमदग्निजी	६००	ब्रजवासी	६१८	सत्यव्रतजी	४०८
यमदग्निजी	५१०	ब्रजनारियाँ	३९४	सतीजी	३८५
ययातिजी	५०५	व्यासजी	१२२	सनकादिक	१३३
यशोदाजी	६१९	व्यास शिष्य	५९२	सनकादिक	१५९
याज्ञवल्क्यजी	५३०	शंकरजी	१५०	सन्त-निर्णय	७७
युधिष्ठिरजी	३४६	शतधन्वाजी	४९६	सन्त-प्रभाव	८७
योगेश्वर-नव	५३३	शतरूपाजी	३८३	सन्त-सीथ	९९
रघुजी	४९१	शबरीजी	२३१	सप्तद्वीप	६३०
रन्तिजी	४९७	शमीकजी	५२९	सहदेवजी	३५६
रयजी	४९४	शरणागति	२२१	सुग्रीवजी	२१६
रहूगणजी	४०१	शरभंगजी	५२८	सुदामाजी	२९४
रघुवीरजी	११४	शरभजी	६१५	सुधन्वाजी	४४८
रामसचिव	६०७	शंखजी	४५२	सुनीतिजी	३८५
रामसहचर	६१०	शान्तरस	२२	सुमन्त्रजी	६०८
राधाजी	६२१	शिविजी	४५३	सुरथजी	४४६
रुक्मांगदजी	४३२	शुकदेवजी	५४६	सुरथजी	४४८
रुक्मांगद की पुत्री	४३७	शेषजी	३७७	सुषेणजी	६१४
लक्ष्मीजी	१९१	शौनकजी	३८०	सूतजी	३७९
लिखित	४५२	शौनकादि	६००	सौभरिजी	५८५
लोमशजी	५९३	श्वेतद्वीप	६३३	हंस भगवान	१२६
वशिष्ठजी	५८२	श्रृंगाररस	३१	हनुमानजी	१९७
वात्सल्यरस	२८	श्रृंगी ऋषि	५९५	हयग्रीवजी	१३०
वामन भगवान	१०८	श्रुतिदेवजी	३७०	हरिजी	१२५
विदुरजी	२८९	षोडश पार्षद	१७९	हरिश्चन्द्रजी	४४१
विदुरानीजी	२९०	सख्यरस	२६	हरिवल्लभजी	१८६

• • •

श्रीकुटिया विहारी भगवान्

श्रीकौशलकिशोर जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीगुरुदेव

श्रीश्री १०८ श्रीअग्रदास जी महाराज

श्रीभक्तमालकार

श्रीश्री १०८ श्रीनाभा जी महाराज

श्री वैष्णव कुलभूषण गौ सन्तसेवी

श्रीश्री १०८ श्रीसुदामादास जी महाराज

सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल गूढ़ार्थ प्रकाशक

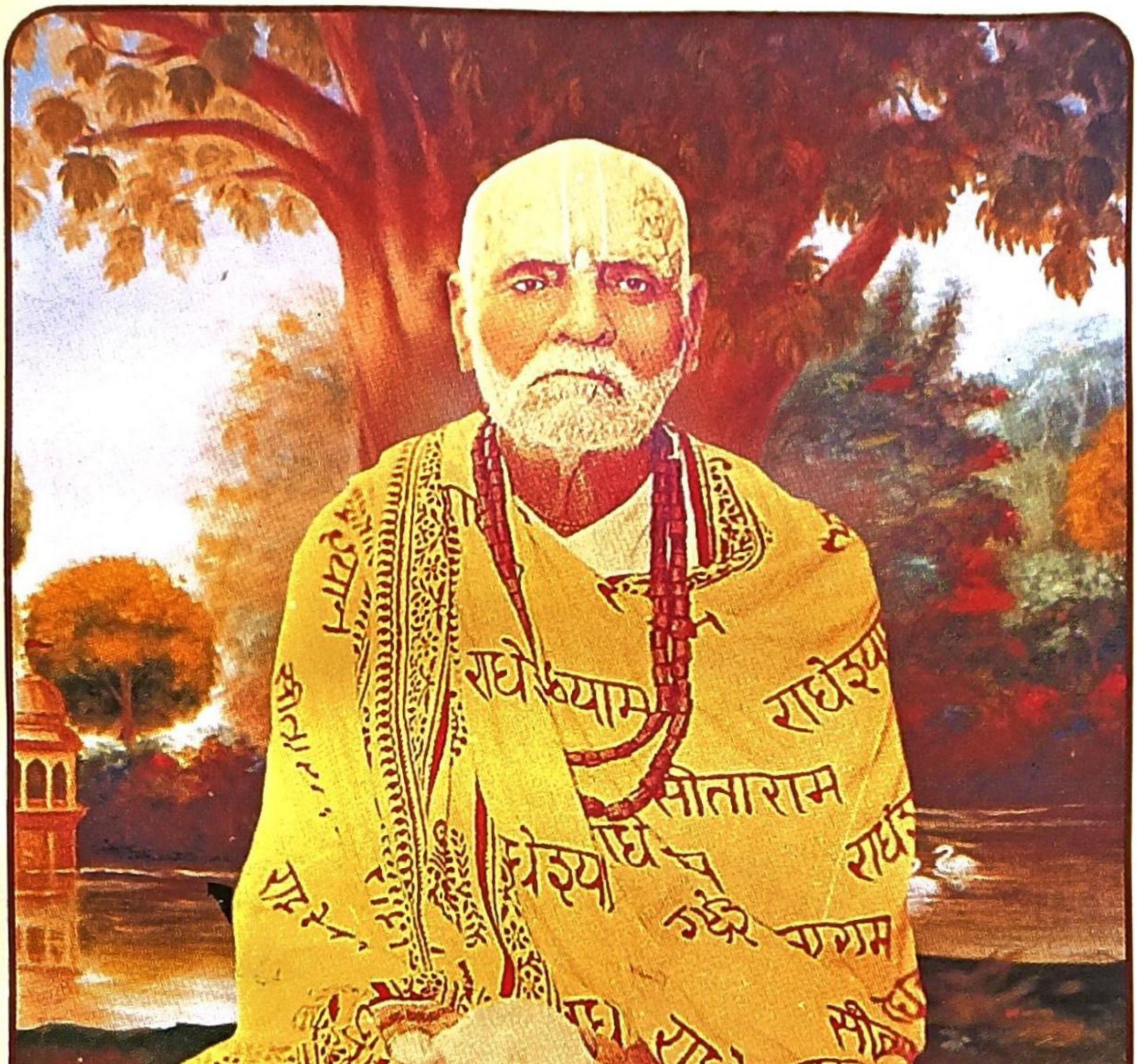

भक्तमाली श्रीजगन्नाथदास जी महाराज

ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल के भाष्यकार

श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी (चित्रकूटी)

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल टीकाकार

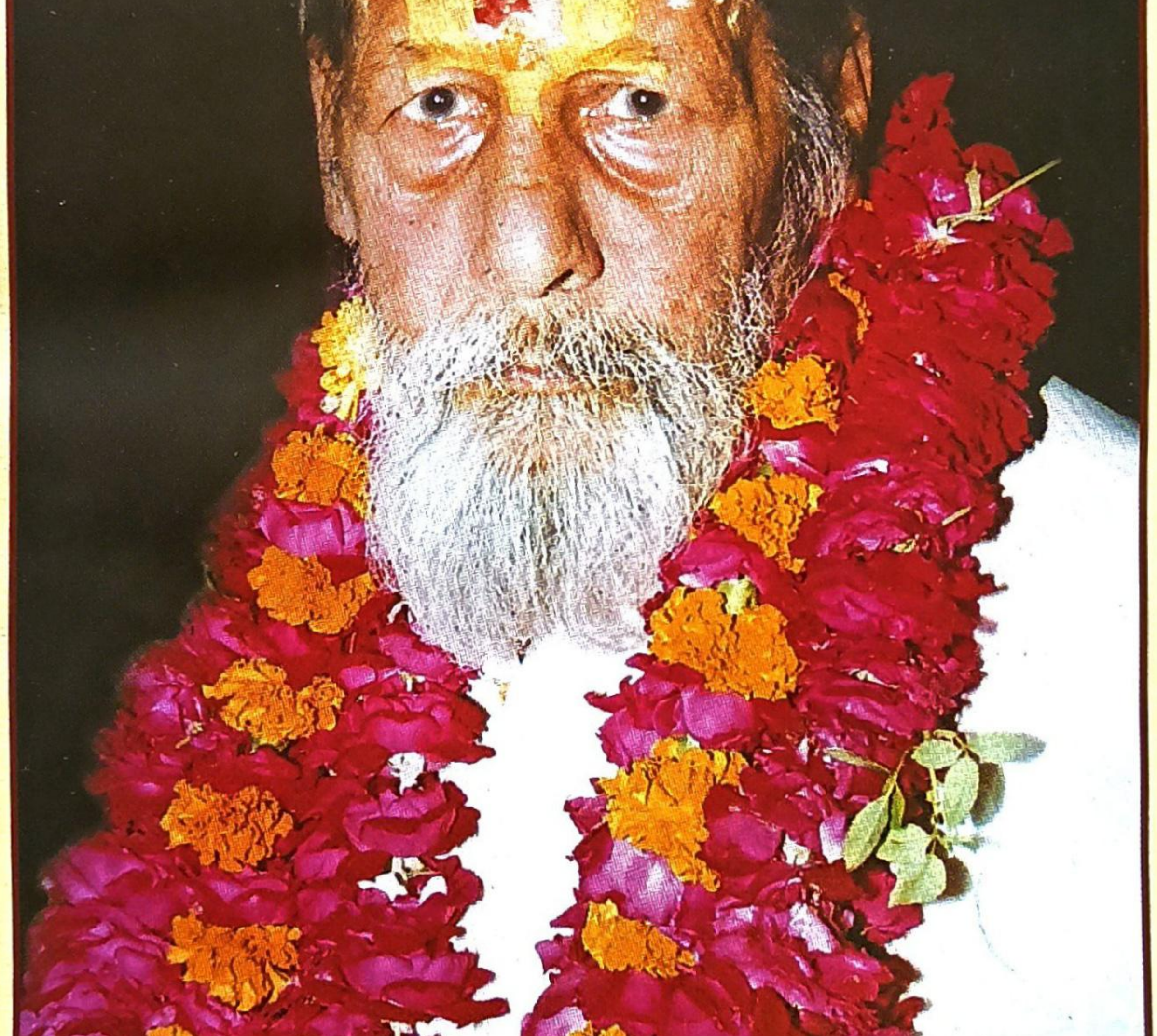

भक्तमाली श्रीगणेशदास जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

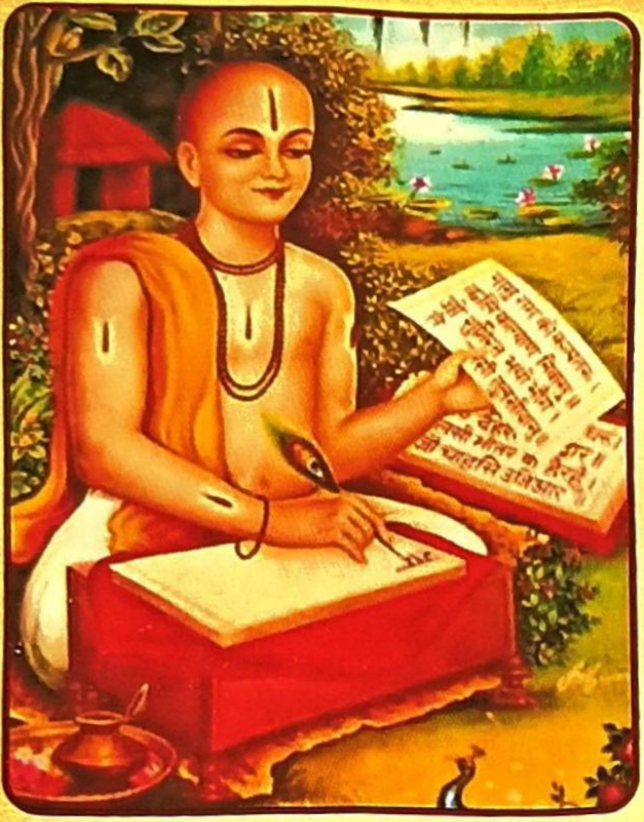

(भक्त) श्रीतुलसीदासजी

भक्ति

(भगवन्त) श्रीरामजी

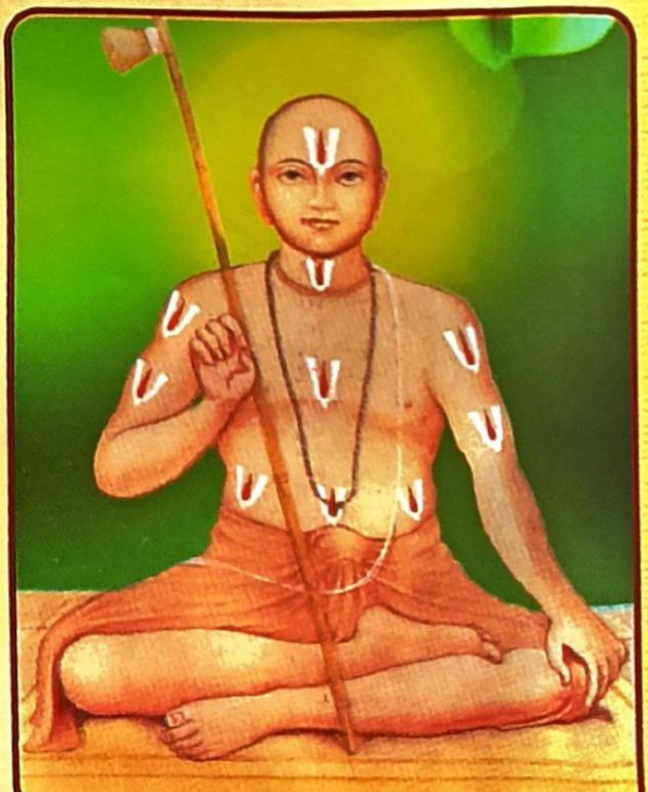

(गुरु) श्रीरामानन्दाचार्यजी

भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक।।

❀ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ❀

❀ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ❀

❀ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ❀

卐 श्रीभक्तमाल 卐

***

(प्रथम खण्ड)

***

अथ मंगलाचरण

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च, कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो, वैष्णवेभ्यो, नमो नमः।।१।।
सीतानाथसमारम्भां, रामानन्दाचार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां, वन्दे गुरुपरम्पराम्।।२।।
भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक।।३।।
बन्दउँ गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर।।४।।
बार-बार बन्दन करौं (श्री) नाभा आभा ऐन।
काढ्यो गाभा वेद को, (श्री) भक्तमाल रस दैन।।५।।
(श्री) प्रियादास पदकमल पुनि, बन्दउँ बारम्बार।
कीन्ह भक्तिरस बोधिनी, टीका अति सुखसार।।६।।
चारि जुगन में भक्त जे, तिनके पद की धूरि।
सर्वसु सिर धरि राखिहौं, मेरी जीवन मूरि।।७।।

टीकाकार कृत मङ्गलाचरण एवं आज्ञा निरूपण-

टीका भक्तिरस बोधिनी

महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरनजू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै।
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै।।
कीजिये कवित्त बंद छन्द अति प्यारो लगै जगै जग माहिं कहि वाणी विरमाइयै।
जानों निजमति ऐ पै सुन्यौ भागवत शुक द्रुमनि प्रवेश कियो ऐसेई कहाइयै।।१

शब्दार्थ—महाप्रभु=परम समर्थ, वैष्णवाचार्य। मनहरन=मन को हरने वाले, श्रीमनोहरदास जी (श्रीप्रियादासजी के गुरुदेव) बन्दछन्द=छन्दोबद्ध, कवितामयी। जगै=प्रसिद्ध हो। प्रकाशित हो। जगमगाये। विरमाइये= विश्राम लिया, विश्राम दीजिये। विशेष रूप से रमण कराइये। वा विलमाइये= लगाइये। द्रुमनि=वृक्षों में।

भावार्थ—श्रीप्रियादासजी भक्तमाल की भक्ति रसबोधिनी टीका का मङ्गलाचरण एवं इस टीका के लिखे जाने का हेतु बताते हुए कहते हैं कि—एक बार मैं महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य एवं गुरुदेव श्रीमनोहरदास जी के श्रीचरणकमल का हृदय में ध्यान और मुख से नाम संकीर्तन कर रहा था उसी समय श्रीनाभाजी ने मुझे आज्ञा दी। जिसे मैंने शिरोधार्य कर लिया। वह आज्ञा यह थी कि श्रीभक्तमालकी विस्तार पूर्वक टीका करके सुनाइये। टीका कवित्त छन्दों में कीजिये, जो कि अत्यन्त प्रिय लगे और सम्पूर्ण संसार में प्रकाशित हो, प्रसिद्ध हो, जगमगाये। वा ऐसी कवितामयी टीका कीजिये कि मेरा छप्पय छन्द भी अत्यन्त प्यारा लगने लगे तथा संसार में प्रसिद्ध हो। इस प्रकार भक्तों का चरित्र कहकर अपनी वाणी को विश्राम दीजिये, वा भक्तों का चरित्र कहने में वाणी को लगा दीजिये। ऐसा कहकर श्रीनाभा जी ने वाणी का विश्राम दिया। वा श्रीनाभाजी की वाणी ने विश्राम लिया। तब मैंने भावना में ही निवेदन किया कि—मैं तो अपनी बुद्धि को जानता हूँ कि वह टीका करने में सर्वथा असमर्थ है। परन्तु मैंने श्रीमद्भागवत में सुना है कि श्रीशुकदेवजी वृक्षों में प्रवेश करके स्वयं बोले थे, वैसे ही आप भी मेरी जड़मति में प्रवेश करके कहला लेंगे अर्थात् टीका रचना करा लेंगे।

व्याख्या—'महाप्रभु'—कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः। यथा-अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां, शैलो मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणक्षीणतां। वह्निःशीतलतां हिम दहनतामायाति यस्येच्छया, लीला दुर्ललिताद्भुतव्यसनिने कृष्णाय तस्मै नमः। (पद्यावली ६)

अर्थ—जिनकी इच्छा शक्ति से समुद्र स्थल और स्थल समुद्र बन जाता है एवं धूलिकण पर्वत तथा पर्वत धूलिकण, तृण वज्र और वज्र तृण से भी बलहीन, अग्नि शीतल एवं परम शीतल हिम भी अग्नि भाव को प्राप्त हो जाता है अतएव जिनकी लीला शक्ति दुर्ज्ञेय है एवं भूत (प्रकार) सर्वथा अद्भुत श्रीकृष्ण के लिए हमारा कोटिशः प्रणाम है। पुनः—**तृण ते कुलिस कुलिस तृण करई।** (रामचरितमानस) **मसकहिं करहिं विरंचि प्रभु अजहि मसकते हीन** (वही) **जो चेतन कहँ जड़ करहिं, जड़हिं करहिं चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य।।** (वह) महाप्रभु। कृष्णचैतन्य—परमात्मा प्रभु हैं और श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। यह कैसे?

दृष्टांत—दो मित्र थे। आगे चलकर उनमें से एक तो राजा हुआ, दूसरा कुसंग में पड़कर हाथ में हथकड़ी, पाँव में बेड़ी गले में तौंक, ऊपर से पहरे में चौकीदार, इस प्रकार कैद में पड़ गया। महा कष्ट में पड़ा वह मित्र अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में विचार करते-करते उसने मन में निश्चय किया कि संकट में मित्र ही सहायक होते हैं, यथा—**विपति कालकर सतगुन नेहा।** (रामचरितमानस) तो मेरा मित्र राजा है, समर्थ है उसी से अपनी स्थिति निवेदन करनी चाहिये। फिर तो उसने अपने राजा मित्र के पास अपना हाल कह पठाया। तब राजा ने कहा कि यदि वह मेरे पास आ जावे तो छुड़ा दूँ। कैसा मधुर जबाब है। न तो वह राजा के पास जा ही सकेगा, न बन्धन से छूट ही सकेगा। दार्ष्टान्त में— जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र हैं। यथा—**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (श्वेताश्वतरोपनिषद अ० ४, श्लोक ६) परमात्मा राजा हैं। जीवात्मा बन्धन में पड़ा हुआ नाना कष्ट भोग रहा है। यथा—**जिव जबते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।। माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुण दुःख पायो।।** (विनय पत्रिका १३६) तहां गृह बन्धन की बेड़ी है। स्त्री पुत्रादिकों का स्नेह ही हथकड़ी है। धनादिकों का मोह ही तौंक है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँचों विषय ही जबरदस्त चौकीदार हैं। इस प्रकार परवश, बन्धन में पड़ा हुआ, स्वयं छूटने में असमर्थ, क्योंकि—भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।** (गीता ७/१४) ऐसा जीव परमात्मा से बारम्बार विनती करता है कि मुझे बन्धन से छुड़ाइये तब भगवान कहते हैं कि तुम मेरी शरण में आ जावो तो बन्धन से छूट जावोगे। यथा—**सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः।।** (गीता १८/६६) कैसा टका सा जबाब है। जीव तो इतने बन्धनों से जकड़ा हुआ है, वह भला शरण में आ ही कैसे सकता है अतः यद्यपि भगवान समर्थ हैं। परन्तु जीव तो जब सन्त, सद्गुरु आचार्य कृपा करके कथा, वार्ता, सत्सङ्ग, उपदेशादि के द्वारा उसके विविध बन्धनों को छिन्न-भिन्न करते हैं, तभी भगवत् शरणागत हो पाता है अतः सन्त, सद्गुरु आचार्य परम समर्थ कहे गये हैं। इसलिये श्रीकृष्णचैतन्यजी को महाप्रभु कहा गया है। क्योंकि आपने भगवान का नाम सुना सुनाकर असंख्य जीवों को बन्धन से मुक्त किया है। यथा—**कृष्ण नाम दिया जीवे कराव चैतन्य। ता कारनें नाम तार श्रीकृष्ण चैतन्य** (चै०च०) "**महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के चरण को ध्यान**"—इसका अर्थ कई प्रकार से होगा। यथा—१-महाप्रभु श्रीकृष्ण और श्रीचैतन्य और श्रीमनोहरदास जी के चरण का ध्यान। (इस अर्थ में श्रीकृष्ण और चैतन्य दोनों शब्द पृथक्-पृथक् माने गये हैं। महाप्रभु सबका विशेषण है) २-मनहरन शब्द को केवल विशेषण मानने पर-मनहरन श्रीकृष्ण और चैतन्य का ध्यान। ३-श्रीकृष्ण चैतन्य और मनोहरदास जी के चरण का ध्यान। ४-मनहरन श्रीकृष्णचैतन्य जी के चरण का ध्यान। ५-श्रीचैतन्य मनहरन श्रीकृष्ण जी के चरण का ध्यान। श्रीकृष्ण जी एवं श्रीचैतन्य जी के मन को हरने वाले श्रीमनोहरदास जी के चरण का ध्यान। यथा—**जन मन हरि लाल मनोहर नांवपायो उनहूँ को मन हरि लीनो याते राय हैं।** (भक्तमाल कवित्त ६३०) महाप्रभु और मनोहर शब्द, कृष्ण, चैतन्य मनोहरदासजी, चरन और नाम सबका विशेषण है।

नाम मुख गाइए—से जनाया कि मैं भगवन्नाम संकीर्तन कर रहा था। माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय में कीर्तन की प्रधानता है। यहाँ ध्यान और जप दोनों कहा गया है। यही उत्तम विधि भी है। यथा—**तज्जपस्तदर्थ भावनम्** (पातञ्जलयोगदर्शन १/२८) अर्थ साधक को ईश्वर के नाम का जप और उसके स्वरूप का स्मरण चिन्तन करना चाहिये। पुनः-**जपहिं राम धरि ध्यान उर सुन्दर स्याम सरीर।** (रामचरितमानस) श्री प्रियादास जी का ध्यान '**इन्द्रियाणांलयोध्यानं**' वाला ध्यान नहीं था जैसा कि

श्रीकील्हदासजी के चरित्र में आता है कि यवन बादशाह ने माथे में कील ठुकवाई, उन्हें भान ही नहीं हुआ। इन्होंने तो अपने ध्यान और जप के अभ्यन्तर श्रीनाभाजी का दर्शन किया और आज्ञा भी सुनी। यह उत्तम ध्यान योग है। यह नहीं कि स्वांग तो करे जप का, ध्यान का, और मन माया का चिन्तन करता रहे।

दृष्टान्त–सिद्ध साधक का—दो ढोंगी थे। उन्होंने सलाह किया कि कहीं एकान्त जंगल में बैठकर कुछ धन द्रव्यादि कमाना चाहिए। फिर तो एक सिद्ध बना, एक साधक। पुजापा में आधा-आधा दोनों का हिस्सा होता। घोर जंगल में जा करके बैठ गये। सिद्ध समाधि लगाते, साधक पंखा करता। यदि कोई उस मार्ग से निकलता तो उससे भूरि–भूरि सिद्धजी की प्रशंसा करता। एक बार उधर से ही राजा की सवारी निकली। सिद्ध ने ध्यान का स्वांग किया था। राजा के पूछने पर साधक ने '**लागि समाधि अखण्ड अपारा।**' कहकर गौरव बढ़ाया। राजा ने प्रभावित होकर दो मुहरें भेंट कीं और प्रणाम कर चलता बना। राजा के चले जाने पर साधक ने एक मुहर उठा ली। सिद्ध ने आँखें खोलीं और पूछा कि दूसरी मुहर कहाँ गई। साधक ने कहा—एक मुहर ही चढ़ाई थी। सिद्ध ने कहा–नहीं, दो मुहरें भेंट की थीं। दो–चार बार एक–दो की कहा–कही हुई। अन्त में साधक ने पूछा—आपके नेत्र तो बन्द थे आपको कैसे मालूम कि दो मुहरें भेंट कीं। सिद्ध ने कहा—भेंट करते समय मुहरें आपस में खटकी थीं। एक होती तो खटकती नहीं। तब साधक ने कहा कि मैं समझ गया आपका ध्यान तो केवल मुहरों के खटके में ही था, अरे थोड़ा बहुत तो परमात्मा का भी ध्यान करते। तात्पर्य ऐसा ध्यान नहीं करना चाहिये। शङ्का–ध्यान और नामसंकीर्तन दोनों साथ–साथ कैसे सम्भव हैं? समाधान–सिद्धावस्था में दोनों एक साथ सम्भव हो जाते हैं। जैसे—श्रीभरतजी महाराज ने मृग शरीर में भगवान का ध्यान करते हुए तथा वाणी से हरे कृष्ण गोविन्द नाम का उच्चारण करते हुए वह मृग शरीर छोड़ा था। ऐसे ही श्रीप्रियादासजी भी ध्यान और नाम गान दोनों ही कर रहे थे। इस कवित्त की प्रथम पंक्ति में भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु चारों का ही स्मरण किया गया है। श्रीकृष्ण भगवान, श्रीचैतन्य भक्त, मनहरन गुरु और चरण का ध्यान तथा नाम गान भक्ति। अथवा महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य का स्मरण करने से भक्त, भक्ति भगवन्त और गुरु का स्मरण हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्य रूप से प्रगट हैं अतः आपका स्मरण भगवान का स्मरण हुआ। आप अपने परिचय में अपने को '**गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः**' कहते हैं अतः भक्त भी हैं। हितोपदेष्टा, मन्त्र प्रदाता होने से गुरु भी हैं और जैसा कि भक्ति–स्वरूप वर्णन में श्रीप्रियादासजी ने लिखा है कि–'**भक्ति रसरूप को स्वरूप यहै छविसार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है।**' [श्रीभक्तमाल कवित्त ९] आपकी भी "**और एक न्यारी रीति आंसू पिचकारी मानो उभै लाल प्यारी भाव सागर समात है।**" [श्रीभक्तमाल कवित्त ३२८ अतः मूर्तिमान भक्ति स्वरूप भी हैं।]

ताही समय—जब मन वाणी समाहित होकर इष्ट और गुरु के चरण चिन्तन और नाम सङ्कीर्तन में तन्मय हो रहे थे। शरीर की दशा लोकबाह्य थी, उसी समय यह दिव्य सन्देश मिला।

नाभाजू ने आज्ञा दई—प्रश्न–श्रीनाभाजी का तो लगभग १०० वर्ष पूर्व परमधाम गमन हो चुका था। फिर आज्ञा कैसे दिये? समाधान–नित्यधाम में भक्त सदा दिव्य भाव तनु से निवास करते हैं और भावानुसार भक्तों को दर्शन भी देते हैं। भगवान की तरह से भक्त भी नित्य और व्यापक होते हैं। "**न मे भक्तः प्रणश्यति**" [गीता ९/३१]। जैसे–श्रीहरिराम व्यासजी को श्रीकबीरदासजी श्रीयमुनाजी से प्रगट होकर दर्शन दिये, वार्तालाप किये। श्रीतुलसीदासजी से श्रीकबीरदासजी आकाश मार्ग से आकर मिले।

दक्षिण देश के एक भक्त रूपरसिकजी को श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी ने परमधाम से आकर मन्त्रोपदेश किया। श्रीहित हरिवंशजी ने भी सेवकजी को नित्य- धाम से आकर मन्त्रोपदेश किया था। जैसे गोपाल भक्त तथा विष्णुदासजी को श्रीनामदेवजी तथा श्रीकबीरदासजी ने दर्शन दिया था। वैसे ही श्रीनाभाजी ने भी दर्शन देकर आज्ञा दी थी। पूर्व के वर्णित कथा प्रसङ्ग आगे इनके छप्पय कवित्तों की व्याख्या में वर्णन किये जायेंगे। प्रश्न तत्कालीन किसीऔर सन्त को टीका विस्तार की आज्ञा न देकर श्रीप्रियादासजी को ही टीका विस्तार की आज्ञा क्यों ? समाधान—वैसे तो किसी को भी आदेश देने पर यह शङ्का हो सकती है फिर भी १-इनका हृदय प्रेम लक्षणा भक्ति से परिपूर्ण था। २-सन्तों में इनका बड़ा अनुराग था। ३-बड़े गुरुनिष्ठ थे। ४-भगवत भागवत प्रीति भाजन थे। ५—कवि भी थे। ६-और सबसे बड़ी बात यह है कि 'भक्त भक्ति......वपु एक' यही सिद्धान्त इनका भी था। इस प्रकार सैद्धान्तिक एकता थी और साम्प्रदायिक पक्षपातशून्य थे। जिसका होना भक्तमाल टीकाकार के लिए परमावश्यक है। क्योंकि श्रीभक्तमालजी में सभी सम्प्रदायों के सन्तों का वर्णन है। श्रीप्रियादासजी के सम्बन्ध में रीवाँ नरेश श्रीरघुराजसिंहजी स्वकृत 'श्रीराम रसिकावली' भक्तमाल में कहते हैं कि—**प्रियादास एक सन्त प्रधाना। शिष्य मनोहर दास सुजाना।। तेहि किय साधु चरण अति प्रेमा। साधु सेव तजि द्वितिय न नेंमा।।** (राम रसिकावली पृष्ठ ५८०) इन समस्त आवश्यकीय सद्गुणों को श्रीप्रियादासजी में वर्तमान देखकर श्रीनाभाजी ने इन्हीं को आज्ञा दी।

'टीका विस्तार भक्तमाल की सुनाइये'—श्रीनाभाजी ने मूल भक्तमाल का छप्पय छन्दों में सूत्ररूप से वर्णन किया है। परन्तु केवल मूल मात्र से ही भक्त चरित का विस्तार न होता हुआ देखकर सर्वजन हिताय विस्तार करने की आज्ञा दी।

'कीजिये कवित्त बन्द छन्द'—साथ ही यह भी संकेत कर दिया कि वह टीका कवितामयी हो। क्योंकि कविता के माध्यम से वर्णित चरित्र श्रोतावक्ता को विशेष श्रवण सुखद और मनोहारी होते हैं तथा कहने सुनने में प्रमाण भी बन जाते हैं। तथा इसी में यह भी जना दिये कि कविता भी कवित्त छन्दों में हो। प्रश्न- विविध छन्द भेद होते हुए भी कवित्त छन्द में ही रचना करने का इतना सुस्पष्ट संकेत क्यों ? समाधान- **'छन्द अति प्यारो लगै।** बात भी सत्य है। पढ़ने सुनने में जो रोचकता कवित्त छन्द में है। रसों का प्रवाह कवित्त छन्द में उमड़ता हुआ पाया जाता है वैसा अन्य छन्दों में नहीं। यही कारण है कि पूर्व के प्राय: सभी राज दरबारी कवियों ने अपनी रचनायें विशेषकर इसी छन्द में रची हैं। बहुत से रस तो छन्द विशेष में ही निखरते हैं परन्तु कवित्त में सभी रस साकार हो उठते हैं, अत: कीजिये कवित्त० ऐसा कहा। छन्द अति प्यारौ लगै का दूसरा अर्थ भावार्थ में दिया गया है। जगै जग का भावार्थ के अतिरिक्त एक अर्थ यह भी है कि ऐसी टीका करिये कि जिसे पढ़ सुनकर संसार के लोग मोह निद्रा से जग जावें।

जानौं निजमति—यथा—**कवि न होउँ नहिं वचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।। निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं।.........**' (श्रीरामचरितमानस) ''**सुन्यौं भागवत.........कहाइयै**''. ...... प्रसङ्ग इस प्रकार से है—**यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं, द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूत हृदयं मुनिमानतोऽस्मि।।** (श्रीमद्भागवत १/२/२) अर्थ-जिस समय श्रीशुकदेवजी का यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ था। लौकिक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अवसर भी नहीं आया था। उन्हें अकेले ही संन्यास लेने के उद्देश्य से जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरह से

कातर होकर पुकारने लगे–'बेटा! बेटा!' उस समय तन्मय होने के कारण श्रीशुकदेवजी की ओर से वृक्षों ने उत्तर दिया। ऐसे सबके हृदय में विराजमान श्रीशुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ। श्रीशुकदेवजी योगीश्वर हैं, वृक्षों में व्याप्त होकर पिताजी को समझाये। उसी प्रकार आप मुझमें प्रविष्ट होकर टीका कराइयेगा। महाप्रभु कृष्ण-चैतन्य और श्रीमनोहरदास के ध्यान से प्रियादास जी का माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदायानुयायी होना पाया गया। आपकी गुरु परम्परा इस प्रकार से है– श्रीगौराङ्ग महाप्रभु। श्रीगोपालभट्ट जी, श्री निवासाचार्य जी, श्रीमनोहरदास जी, श्रीप्रियादास जी।

टीका का नाम स्वरूप वर्णन

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई, अति छवि छाई मोद झरी-सी लगाई है।।
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभाजू कहाई, याते प्रौढ़िकै सुनाई है।
हृदै सरसाई जो पै सुनिये सदाई, यह 'भक्तिरस बोधिनी' सुनाम टीका गाई है।।

शब्दार्थ–रची=रचना की, बनाई। कविताई=कविता, काव्य। निपट=अत्यन्त। सुहाई=सुन्दर। सचाई= सच्ची, सत्यता। पुनरुक्ति=कहे हुए को फिर कहना, जो एक दोष है (पुनः + उक्ति) अनुप्रास=एक अलंकार, जिसमें एक पद या एक अक्षर का बारम्बार प्रयोग किया जाता है। जमकाई=जमाया, प्रयोग किया, यमक= एक शब्दालङ्कार जिसमें एक ही शब्द का भिन्न अर्थों में कई बार प्रयोग किया जाता है। मोद=आनन्द, प्रसन्नता। झरी=लगातार वर्षा। प्रौढ़िकै=निश्चय करके, बढ़ा करके। धृष्टता=ढिठाई करके। सरसाई=रसमय होता है, सरसता। भक्तिरस बोधिनी=भक्ति के पाँचों रसों का अनुभव कराने वाली। सुनाम=सुन्दर नाम वाली।

भावार्थ–इस कवित्त में श्रीप्रियादास जी अपने काव्य की विशेषतायें एवं टीका का नाम बताते हुए कहते हैं कि–मैंने टीका काव्य की ऐसी रचना की है जो पाठकों और श्रोताओं को सुख देने वाली है और अत्यन्त सुहावनी लगती है। इसमें सच्चाई है अर्थात् सत्य-सत्य कहा गया है। पुनरुक्ति दोष को मिटा दिया गया है। अर्थात् आने ही नहीं दिया गया है। अक्षरों की मधुरता, अनुप्रास और यमक आदि अलंकारों से अत्यन्त सुशोभित होकर इस टीका काव्य ने आनन्द की झरी-सी लगा दी है। अपने काव्य की अपने मुख से प्रशंसा करना अच्छा नहीं होता, परन्तु इसे तो श्रीनाभाजी ने कहवाया है, इसी से इसकी प्रशंसा निःशंक होकर दृढ़ता पूर्वक सुनाई है। यदि नीरस हृदय व्यक्ति भी सदा श्रवण करे तो उसके हृदय में सरसता होगी और सरस हृदय वाले के लिए बारम्बार सुनने पर भी यह टीका उत्तरोत्तर सरस प्रतीत होगी। ऐसी यह 'भक्तिरस बोधिनी' सुन्दर नामवाली टीका गाई है, जो भक्ति के सभी रसों का बोध कराने वाली है।।२।।

व्याख्या–'**रची कविताई**-रचने का अर्थ रंगना भी होता है। जैसे मेंहदी रचाना। रची अर्थात् रंगीन कविता की, उसका स्वरूप–**थोरे अक्षर सरस हित अधिक चोज तिन माहिं। सोइ रंगीन कविता कही, और दूसरी नाहिं।।** भाव यह है कि मैंने कविता में रंग ला दिया। रंग लाने का भाव यह कि हृदय के भाव मूर्तिमान हो गये हैं साकार हो गये हैं। समझने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता है सुनते ही मन मुग्ध हो जाता है। यथा– ''**पिय लखि सिय की माधुरी, तृण तोरण के चाइ। भोरें धनुष उठाइकैं तौर् यौ सहज सुभाइ।।** (पुरानी भक्तमाल टिप्पणी)। कैसी कविता रची? कहते हैं कि '**सुखदाई**' सर्व सुखदाई

कविता ही वास्तव में कविता है। यथा—**कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।** (श्रीरामचरितमानस) और ऐसी कविता का लक्षण है—**सरल कवित कीरति विमल, गावहिं, सुनहिं सुजान। सहज बैर विसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।।** (श्रीरामचरित मानस) और ऐसी कविता भी बनती तब है, जब **हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना। जो बरसै वर वारि विचारू। होंहि कवित मुक्ता मनि चारू।।** (श्रीरामचरित मानस) और यह सम्भव है भगवत्कृपा से। यथा—**शारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तर्यामी।। जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं वानी।।** कविता के सुखदाई होने का हेतु पूरे पद में वर्णित है।

निपट सुहाई—भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु के नित्य, निरवधिक, असंख्येय कल्याण गुण गणों से, उनके स्वरूप और स्वभाव-सौष्ठव से समलंकृत होने से, एवं साथ-साथ काव्य गुण पूरित होने से निपट सुहाई कहा। काव्य गुण पूरित कविता सुहाई होती है। साथ-साथ भगवत भागवत यश समलंकृत होने से कविता निपट सुहाई हो जाती है। एक बात स्मरण रखने की है कि केवल काव्य गुण अलंकार आदि ही काव्य की वास्तविक शोभा नहीं है। वास्तविक शोभा तो भगवत भागवत गुण वर्णन ही है। यथा—**भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ।। बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।। सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अङ्कित जानी।। सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुन ग्राही।।** (रामा०) पुनः—**न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो, जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः।। तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो, यस्मिन्प्रतिश्लोकमवद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः।** अर्थ— जिस वाणी से, चाहे वह रस-भाव-अलंकारादि से युक्त ही क्यों न हो, जगत को पवित्र करने वाले भगवान श्रीकृष्ण के यश का कभी गान नहीं होता, वह तो कौओं के लिए उच्छिष्ट फेंकने के स्थान के समान अपवित्र मानी जाती है। मानसरोवर के कमनीय कमलवन में विहरने वाले हंसों की भाँति ब्रह्मधाम में विहार करने वाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त कभी उसमें रमण नहीं करते, इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो दूषित शब्दों से युक्त भी है, परन्तु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवान से सुयश सूचक नामों से युक्त है, वह वाणी लोगों के सारे पापों का नाश कर देती है, क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणी का श्रवण गान और कीर्तन किया करते हैं। (श्रीमद्भागवत १/५/१०,११)

'सचाई'—का भाव यह है कि टीका में वर्णित समस्त विषय परम सत्य हैं। क्योंकि—**दिव्य दृष्टि हरिजनन कृपा ते श्रीनाभा ने पाई। पुनः अग्रने आयसु के संग आशिष दई सुहाई।। ध्यावत अपनो चरित रूप सब भक्त आय दिखरावैं। देखि सत्य गायो श्रीनाभा सो मोते कहवावैं।।** (श्रीभक्तवल्लभा टिप्पणी) सचाई की दुहाई देने का हेतु यह है कि—**संसारी जे बहु कुकवि, लोभ मोह वश जस कहैं। मिथ्यावादी अजस लहि, पुनि परत्रहू दुख लहैं।।** यथा—कमले वसति ब्रह्मा, हरिश्शेते च वारिधौ। हरौ हिमालये शेते, मन्ये मत्कुणशंकया। (अज्ञात) अर्थ—ब्रह्मा कमल में बसते हैं, हरि समुद्र में तथा हर हिमालय पर सोते हैं। क्यों ? मैं जान गया, खटमल के भय से। उक्त श्लोक छन्द दृष्टि से ठीक होने पर भी सत्यांश न होने से व्यर्थ है। ऐसी कविता के कथन श्रवण से क्या लाभ ?

पुनश्च— **मांस ही की ग्रन्थि कुच कंचन कलश कहैं, मुख कहैं चन्द सो जो कफ ही को घरु है।**
वे भुज कमल नाल नाभि कूप कहैं ताहिं, हाड़ ही के खम्भ ताहि कहैं रम्भतरु है।।

हाड़ के दसन ताहि कुन्द कली सों कहैं, चाम के अधर ताहि कहैं विम्बाफरु है।
ऐसी झूठी जुगुति बनावैं औ कहावैं कवि, ताहू पर कहैं हमें शारदा को वरु है।। (अज्ञात)

वस्तुतः सरस्वती ऐसे कवियों को वर न देकर रुष्ट होकर शाप देती हैं। यथा–**भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई। रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ।। कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।।** ऐसी ही उक्तियों पर झुँझलाकर किसीनीतिकार ने लिखा है कि-**वायसाः किं न भक्षन्ति, किं न कुर्वन्ति योषितः। मद्यपाः किं न जल्पन्ति, कवयो न वदन्ति किम्।।** अर्थ–कौन-सी ऐसी अपवित्र वस्तु है जिसे कौवे नहीं खाते हैं, कौन सा ऐसा दुष्कर कार्य है जिसे स्त्रियाँ नहीं कर डालती हैं, शराबी क्या-क्या नहीं बकते हैं और लौकिक कवि क्या नहीं कह डालते हैं?

'पुनरुक्ति'–एक ही शब्द या पद को दूसरी बार कहना ही पुनरुक्ति दोष है। परन्तु यदि अर्थ परिवर्तन हो जाय तो दोष नहीं होता है। यथा–"बारन को तारन करत, बार न लागी तोहिं। बारन कीजै नाथ हे बारन बारत मोहिं।। अर्थात् गज को तारने में आपको देर नहीं लगी। अब मुझे वारण (बाधायें) बारत (जलाती) हैं। उन्हें बारन (दूर) कीजिये। पुनश्च–**बिना गोरसं को रसो भोजनानां बिना गोरसं को रसो भूपतीनाम्। बिना गोरसं को रसः पण्डितानां, बिना गोरसं को रसः कामिनीनाम्।।** यहाँ गो के गाय पृथ्वी, वाणी इन्द्रिय आदि भिन्न अर्थ हैं। **"अक्षर मधुरताई"–मृदु अक्षर मृदु भावमय, मधुर छन्द जो होय। तौ कोमल हिय इष्ट गुन, सुरति बढ़ावै सोय।।**

अनुप्रास, यमकाई–यथा–

सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर वांसुरी की तान पर ठौरनि ठगी रहै।
मूरति विशाल पर कंचन-सी माल पर हंसन-सी चाल पर खोरन खगी रहै।।
भौंहें धनु मैन पर, लोने युग नैंन पर शुद्ध रस बैन पर 'वाहिद' पगी रहै।
चंचल से तन पर सांवरे वदन पर नन्द के नन्दन पर लगन लगी रहै।।

तथा- **ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी, ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।**
कन्दमूल भोग करैं, कन्दमूल भोग करैं, तीनि बेर खातीं ती वे तीनि बेर खाती हैं।।
भूषन शिथिल अङ्ग भूषन शिथिल अङ्ग विजन डुलाती ती वे बिजन डुलाती हैं।
'भूषण' भनत शिवराज वीर तेरे त्रास नगन जड़ाती ती वे नगन जड़ाती हैं।।

श्रीप्रियादासजी रचित इसी दूसरे कवित्त में ही प्रथम चरण में अनेक बार ई तथा स का, दूसरे में भी ईकार तथा रकार का, तीसरे में ईकार, ककार तथा नकार का, चौथे में भी ईकार तथा सकार आदि अक्षरों के सुन्दर अनुप्रास हैं। इसी प्रकार पूरी टीका काव्योचित गुणों से परिपूर्ण, सत्य, मधुर तथा दोष रहित है। **'अति छबि छाई'** काव्य गुणों से छबि छाई है। भक्ति से अति छबि छाई है यथा–**'भक्ति छबि भार'** (श्रीभक्तमाल कवित्त ५)

मोद झरी-सी लगाई है–इसलिये कि श्रीप्रियादासजी के हृदय का उमड़ता हुआ आनन्द ही कविता रूप में प्रवाहित हो चला है। जैसा कि श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–**भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।। चली सुभग कविता सरिता सो। राम विमल जस जल**

भरितासो।। (रामचरितमानस) तथा जैसे श्रीशुकदेवजी से हृदय के आनन्द का भार नहीं सहा गया, तब उसे उतारने के लिये घूमते-घूमते श्रीपरीक्षित जी की सभा में जाकर श्रीपरीक्षित जी को सुनाकर हलका किये। वैसे ही श्रीभक्तमाल जी की टीका कवित्तें श्रीप्रियादास जी के हृदय का आनन्द प्रवाह है। अतः 'मोद झरी सी लगाई है।'

काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति—यथा—**परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।।** (सु०र०भा० आत्मश्लाघानिन्दा प्रसंगे) पुनश्च—**अपने मुख तुम आपनि करनी। बार अनेक भांति बहु बरनी।। नहिं सन्तोष त पुनि कछु कहहू।** (श्रीलक्ष्मण जी की व्यंगोक्ति श्रीपरसुराम प्रति) **लाजवन्त तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ।।** (श्रीअङ्गद जी की व्यङ्गोक्ति रावण प्रति) रामचरितमानस।

'नाभाजू कहाई याते प्रौढ़ि कै सुनाई है'—भाव यह कि यह बड़ाई वस्तुतः अपनी एवं अपने काव्य की न होकर श्रीनाभा जी की बड़ाई है। ऐसा समझना चाहिये।

'हृदय सरसाई जो पै सुनिये सदाई'—इसका दो प्रकार से अर्थ होगा। १. यदि सदा सुना जाय तो हृदय सरस हो जायगा। २. सदा सुनने पर भी यह हृदय को सरस ही लगेगी। प्रथम की अपेक्षा द्वितीय अर्थ विशेष भावपूर्ण है। 'सुनिये सदाई' से जनाया कि भगवत भागवत चरित सदा सुनना चाहिये। यथा—**गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। भक्ति सदा सत्सङ्ग** (रामचरितमानस) पुनश्च—**भवन स्वच्छता हित यथा, सदा सोहिनी देहु। मन निर्मलता कूं तथा, नित शुचि यश सुनि लेहु।। रसका चसका ज्यहिं लगै, तापै रह्यौ न जाय। यश पराग हित सकल तजि, भौंरा इव मँडराय।।** (भ०व०टि०)

भक्तिरस बोधिनी सुनाम—मैया बाबा का धरा हुआ नाम नाम, और श्रीगुरुदेव एवं भगवान का धरा नाम सुनाम। यथा—**'कर्मा सुनाम'** (भक्तमाल कवित्त १९६)। इस पद में 'रची कविताई से लेकर मोद झरी सी लगाई है' तक काव्य की, कला पक्ष की प्रशंसा है और 'हृदय सरसाई से लेकर गाई है तक भाव पक्ष की श्रेष्ठता कही गई है।

श्रीभक्ति देवी का शृङ्गार

श्रद्धाई फुलेल औ उबटनौ श्रवण कथा मैल अभिमान अङ्ग अङ्गनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाइ अंगुछाइ दया नवनि वसन पन सोधो लै लगाइये।।
आभरन नाम हरि साधु सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ सङ्ग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीकौ सिंगार चारु बीरी चाह रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये।।३।।

शब्दार्थ—श्रद्धा=वेद, गुरु वाक्यों में विश्वास, आस्था, भक्ति, आदर। फुलेल=सुगन्धित तेल। उबटनौ= शरीर पर मलने का लेप, वुकवा, अङ्गराग। मैल=मल, दोष, विकार, जिसके लगने से तेज नष्ट हो जाता है। अभिमान=अहङ्कार, गर्व, मिथ्या ज्ञान। अंग अंगनि=प्रत्येक अंग में। मनन=बारम्बार विचार या ध्यान करना, सोचना। सुनीर=सुन्दर, शीतल, पवित्र जल। अन्हवाइ=स्नान कराकर। अंगुछाइ=पोंछकर। दया=दूसरे के दुःख को देखकर उसके निवारणार्थ उत्पन्न मन का भाव, कृपा, करुणा। नवनि=नम्रता। पन=प्रतिज्ञा, प्रण, टेक। सोधो=सुगन्ध। आभरन=गहना, भूषण। मानसी=मन की, मानसिक उपकरणों से

की हुई सेवा। सुनथ= सुन्दर नथ, नाक में पहनने की बाली। संग=सज्जनों का संग। अञ्जन=कज्जल। चारु=उत्तम, सुन्दर। चाह=चाव, इच्छा, आवश्यकता। लहै=पावै।

भावार्थ—चूँकि श्रृंगारित रूप विशेष आकर्षक होता है, अत: इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिये टीकाकार ने इस कवित्त में श्रीभक्तिदेवी के श्रृंगार का वर्णन एक रूपक के द्वारा किया है। भक्तिदेवी के श्रीविग्रह की निर्मलता के लिये कथा श्रवण उबटन है। जिससे अहङ्कार रूपी मैल को प्रत्येक अंग से छुड़ाइये। फिर श्रद्धारूपी फुलेल से शुष्कता दूर कर चिकनाई लाइये। फिर मनन के सुन्दर जल से स्नान कराकर दया के अंगोछे से पोंछिये। उसके बाद नम्रता के वस्त्र पहनाकर भक्ति में प्रतिज्ञारूपी सुगन्धित द्रव्य लगाइये। फिर नाम संकीर्तन रूप अनेक आभूषण, हरि और साधु सेवा के कर्णफूल तथा मानसी सेवा की सुन्दर नथ पहनाइये। फिर सत्संगरूपी अञ्जन लगाइये। जो भक्ति महारानी का इस प्रकार शृंगार करके फिर उन्हें अभिलाषा की बीड़ी (पान) अर्पण करके उनके सुन्दर स्वरूप का दर्शन करता रहे, वह श्रीप्रिया प्रियतम को प्राप्त करता है। ऐसा सन्तों एवं शास्त्रों ने गाया है।।३।।

व्याख्या—**'श्रद्धा'—वेदगुरुवाक्येषु विश्वास:।** श्रद्धा कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों का ही मूल है यथा—**कर्म मूला श्रद्धा-श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई** (रामचरितमानस) ज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसे ही वचन मिलते हैं। यथा—**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं** (गीता ४/३९) श्रीरामचरितमानस में भी '**सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई**' से ही ज्ञान घृत की उपलब्धि वर्णन की गई है। अत: श्रद्धा ज्ञान मूला भी है। भक्ति में भी श्रद्धा की प्रधानता है। यथा—**आदौ श्रद्धा तत: साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत:।। अथासक्तिस्ततो भावस्तत: प्रेमाऽभ्युदञ्चेति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रम:** (भक्ति रसामृत सिन्धु:) अर्थ—सबसे पहले श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। उसके बाद साधु–संग, तदनन्तर भजन क्रिया, तब अनर्थ निवृत्ति उसके बाद निष्ठा विश्वास, उसके बाद रुचि, तदनन्तर आसक्ति फिर भाव उसके बाद प्रेम का उदय होता है। साधकों के हृदय में प्रेम के प्रादुर्भूत होने का यह क्रम बतलाया गया है। अत: श्रद्धा भक्ति मूला भी है। श्रद्धा से यहाँ गीतोक्त सात्विकी श्रद्धा समझना चाहिये। जो अध्यात्म की ओर प्रवृत्त करती है। यथा—**सात्विक्या- ध्यात्मिकी श्रद्धा, कर्म श्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा।** (भा० ११/२५/२७) अर्थ—अध्यात्म में सात्विकी, कर्म में राजसी, अधर्म में तामसी तथा मेरी सेवा में जो श्रद्धा है वह निर्गुणा है। श्रद्धा विरहित समस्त साधन असत् अतएव तामस अतएव निष्फल हो जाते हैं। यथा—**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यतेपार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।** (गीता १७/२८) अर्थ—श्रद्धा बिना किये हुए दान, तप हवन तथा अन्य कर्म असत् कहे जाते हैं। उसका कुछ लाभ न यहाँ, न मरने के बाद ही है। श्रद्धारहित यज्ञादि सभी शुभ कर्मों को तामस कर्म कहते हैं। यथा—**श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।** (गीता १७/१३) और **तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनी, बए न जामहिं धान।।** (रामचरितमानस) अत: यहाँ गीतोक्त सात्विकी तथा भागवतोक्त निर्गुणा श्रद्धा से ही अभिप्राय है—

'श्रद्धा फुलेल'—जैसे फुलेल से शरीर स्निग्ध एवं सुवासित होता है। वैसे ही श्रद्धा से भक्ति में स्नेह (प्रेम) रूपी स्निग्धता और सन्त समाज में सुजस रूपी सुवास फैलती है। जैसे श्रृंगार प्रसाधनों में फुलेल की प्राथमिकता है वैसे ही भक्ति में भी श्रद्धा का प्रथम स्थान है अत: 'श्रद्धाई फुलेल' प्रथम कहा। श्रद्धावान के उदाहरण श्रीभक्तमाल में श्रीगदाधर भट्ट आदि।

'उबटनौ श्रवण कथा'—मन बुद्धि चित्त लगाकर अनुराग पूर्वक भगवत भागवत यश का श्रवण। यथा—**'सुनहु तात मति मन चित लाई।' 'तात सुनहु सादर अति प्रीति।'** (श्रीरामचरितमानस) जैसे श्रद्धा कर्म-ज्ञान-भक्तिमूला है वैसे ही कथा से भी कर्म, ज्ञान और भक्ति की सिद्धि होती है प्राप्ति होती है यथा—**भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत्।'** (भा०मा० ३/६७) अर्थ—(जब हरिद्वार में श्रीगंगा जी के आनन्द नामक घाट पर श्रीसनकादि श्रीमद्भागवत महापुराण का सप्ताह यज्ञ कर रहे थे, तो उस समय माहात्म्य वर्णन करते समय ही उस सभा में एक बड़ा आश्चर्य यह हुआ कि) वहाँ तरुणावस्था को प्राप्त हुये अपने दोनों पुत्रों (ज्ञान और वैराग्य) को लेकर विशुद्ध प्रेमरूपा भक्ति बार-बार भगवन्नामों का उच्चारण करती हुई अकस्मात् प्रगट हो गई। लोगों के पूछने पर कि सभा में भक्ति का कैसे प्रवेश हुआ? श्रीसनकादि ने कहा—यह अभी- अभी कथा के अर्थ से प्रगट भई हैं। यथा—**'ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं कथार्थतो निष्पत्तिताधुनेयम्।'** (भा०मा० ३-६९) पुनश्च—**रामचरण रति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।।** (रामचरितमानस) जैसे उबटन शरीर में चिपके मैल को दूर करता है वैसे ही कथा-श्रवण से अनाद्यविद्या संचित मोहजनित मल दूर होता है। यथा—**मङ्गलकरनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।** (रामचरितमानस) पुनश्च—'अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।' (भा० ३/७/१४)

मैल अभिमान'—से तात्पर्य समस्त मानसिक विकारों से है। चूँकि अभिमान समस्त दोष, दुःखों का मूल है। यथा—**संसृति मूल शूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना।** (रामचरितमानस) और भगवान भी इससे चिढ़ते हैं। यथा—''**गुमान गोविन्दहिं भावत नाहीं**' (कवितावली), चाहे वह घर का आदमी हो, चाहे घर वाली ही क्यों न हो। अन्य की तो बात ही क्या। यथा—'**करुना निधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।। तुरत सो मैं डारिहौं उपारी। प्रन हमार सेवक हितकारी।।** (रामचरितमानस) श्रीनारदजी प्रभु के निज जन हैं, जनों के समस्त अपराध प्रभु क्षमा करते हैं। यथा—'**जन अवगुण प्रभु मान न काऊ।**' (रामचरितमानस) परन्तु '**जन अभिमान न राखै काऊ।**' (रामचरितमानस) घर वाली श्रीसत्यभामाजी का भी अभिमान प्रभु ने तत्काल दूर कर दिया। देखिये प्रसङ्ग श्रीहनुमानजी का। इसी से भगवान का नाम 'गर्व प्रहारी' भी है। यथा—'**राजिव लोचन गर्व प्रहारी**' (सूर सागर) जाति विद्या महत्वादि के अभिमानी ऋषियों को छोड़कर शबरी के यहाँ जाना भी इसका प्रमाण है। अतः मैल अभिमान कहा। यह पाँच प्रकार का कहा गया है। यथा—**जातिर्विद्या महत्वं च रूप यौवनमेव च। यत्नेन परितस्त्याज्या पञ्चैते भक्तिकण्टकाः।** अर्थ—जाति, विद्या, महत्व, रूप तथा यौवन इन पाँचों के अभिमान ही भक्ति पथ के मुख्य काँटे हैं, बाधक हैं। इसलिये सभी प्रकार के अभिमान सर्वथा त्याज्य हैं। क्योंकि—**तिमिर गयो रवि देखि कै, मोह गयो गुरुज्ञान। कियौ करायौ सब गयौ जब आयौ अभिमान।।** श्रीतुलसीदासजी रचित 'विनय पत्रिका' के एक पद में मोह जनित मलका बड़ा ही सुन्दर निरुपण किया गया है। यथा—**मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहुँ जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई। नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय संग लागे। हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।। परनिन्दा सुनि श्रवण मलिन भये जीह दोष पर गाये। सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन विसराये।।**

अङ्ग अङ्गनि छुड़ाइये—जैसे मैल से सौन्दर्य का नाश तथा विविध रोगों की उत्पत्ति होने से तन का नाश हो जाता है। वैसे ही अभिमान से भक्ति की अशोभा तथा समस्त साधनों का सत्यानाश हो जाता है। अत: उबटनो श्रवण कथा कहा। इसके ज्वलन्त उदाहरण श्रीपरीक्षितजी, पृथुजी आदि हैं।

'मनन सुनीर'—श्रद्धापूर्वक श्रवण किये गये का बारम्बार चिन्तन करना, भावों को हृदयंगम करना ही मनन कहा जाता है। इसे सुनीर कहने का भाव यह कि जैसे सुनीर अर्थात् स्वच्छ, शुचि, सुशीतल जल से स्नान करने से तथा उसके पान करने से मन प्रसन्न हो जाता है, श्रम दूर हो जाता है। यथा—'**करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना।।**' '**मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। शुचि जल पियत मुदित मन भयऊ।।** (रामचरितमानस) वैसे ही भगवान के नाम, रूप, गुण, लीलादि को सुनकर मनन करने से अत्यन्त आह्लाद होता है भव श्रम दूर होता है परम विश्राम मिलता है। यथा—'**बुध विश्राम सकल जन रंजनि।**' '**पायउँ परम विश्राम।**' '**तब हनुमन्त कही सब, राम कथा निज नाम। सुनत युगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुण ग्राम।।**' '**एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।।**' (रामचरितमानस) जैसे उबटन के बाद स्नान परमावश्यक है। वैसे श्रद्धापूर्वक कथा श्रवणोपरान्त मनन परमावश्यक है। बिना मनन किये भक्ति का वास्तविक स्वरूप नहीं निखरता और बिना विशुद्ध प्रेम लक्षणा भक्ति के हरि के समीप पहुँचना असम्भव है। अत: मनन सुनीर कहा। सुनीर अर्थात् शुचि स्वच्छ सुशीतल जल। यह नहीं कि जैसा तैसा जल। मनन पर दृष्टान्त-धुन्धकारी का।इसने श्रीमद्भागवत श्रवण कर मनन किया अत: मुक्त हो गया। गोकर्ण ने भगवत्पार्षदों से पूछा कि कथा तो सबने सुनी पर विमान एक ही के लिये क्यों आया? तब पार्षदों ने कहा—'**श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतं।**' (श्रीभागवत माहात्म्य) दूसरा दृष्टान्त-श्रीचतुर्भुज जी की कथा सुनने वाले चोर का। देखिये कवित्त ४९४, ४९५।

दृष्टान्त दो कठपुतलियों का—एक राजा के दरबार में एक कठपुतली विक्रेता पहुँचा। पास में दो कठपुतलियाँ थीं। एक का दाम ५) रु० एक का ५००) रु०। एक-सी पुतलियों का भिन्न-भिन्न असमानान्तर दाम सुनकर जब राजा ने इसका हेतु पूछा तो उसने रहस्य बताया। एक के कान में सूत डाला तो दूसरे कान से बाहर निकल गया। यह ५) रु० की थी। दूसरी के कान में सूत डाला तो वह भीतर की ओर चला गया। यह ५००) रु० की थी। तात्पर्य एक व्यक्ति सुनकर भुला देते हैं। दूसरे मनन पूर्वक धारण करते हैं। राजा ने इन्हें आदर्श प्रेरक मानकर खरीद लिया।

'अंगुछाइ दया'—दया दयावतां ज्ञेयः स्वार्थस्तत्र न कारणं। (भगवद् गुण दर्पण) जैसे—स्नानोपरान्त अंग प्रक्षालन के लिये अंगोछा की आवश्यकता होती है, वैसे ही श्रद्धा, श्रवण, मनन के साथ-साथ दया भी होनी चाहिये। कथा श्रवण कर मनन करने से तत्त्वबोध होने पर प्राणिमात्र में आत्मभाव हो जाता है। द्वैत, बैर विरोध का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में सहज ही प्राणियों के प्रति स्नेह, सौहार्द, क्षमा, दया, करुणा आदि सद्गुणों का उद्भव और विकास होता है। यही अंगोछा है और दया पर वश हो सबका दु:ख दूर करने के लिये प्रयत्नशील होना ही अंग प्रक्षालन है। '**यह गुन साधन ते नहिं होई।**' यह तो भगवत्कृपा से ही सम्भव है। यथा—'**तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।**' पुनश्च—**दया बसत जाके हृदय, रामहिं पावत सोय। दया राम पावैं तबहिं, जब दया राम की होय।।** और श्रीरामजी की दया होती है, तब, जब उन्हें याद किया जाये। भगवान की याद ही हमें दयारूप में प्राप्त होती है। जैसे

गेंद दिवाल पर मारते हैं तो टकराकर अपनी ओर आती है। वैसे ही जब हम भगवान की याद करते हैं तो याद प्रभु से टकराकर लौटती है तो हमें दया के रूप में मिलती है। याद का उलटा दया होता है। भगवान ने श्रीमुख से, श्रीनारद जी से, वैष्णवों के तीन कर्म, जीवों पर दया, भगवान की भक्ति और भक्तों की सेवा का वर्णन करते हुए दया को प्रथम स्थान दिया है। यथा–**वैष्णवानां त्रयं कर्म, दया जीवेषु नारद। श्रीगोविन्दे पराभक्तिस्तदीयानां समर्चनम्।** (ना०पं०) पुनश्च–**दया में वसत देव सकल धरम।** (विनय पत्रिका) **दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान। तुलसी दया न छाँड़िये, जब लगि घट में प्राण।।** (तुलसीदास) दया हीन मानव, मानव नहीं दानव है। यथा–**दृष्ट्वा तान् कृपणान् व्यङ्गाननङ्गान् रोगिणस्तथा। दया न जायते यस्य स रक्ष इति मे मतिः।** (भा०) अर्थ–अङ्गहीन, रोगी, घायल तथा दीनों को देखकर जिसे दया नहीं आती है वह मनुष्य नहीं रक्ष=राक्षस है। श्रीप्रह्लादजी ने तो भगवान से दया का ही वरदान माँगा है। यथा–**न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।** (भागवत) अर्थ–मैं राज्य, स्वर्ग अथवा मोक्ष नहीं चाहता हूँ, मैं दुःख से दुःखी प्राणियों के दुःख का नाश चाहता हूँ। दया के दृष्टान्त श्रीकेवलराम जी (कवित्त ६०), श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी, **'गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च स्वर मन्त्र उचार्‌यौ'** (कवित्त ९४)।

'नवनि वसन'–जैसे स्नानोपरान्त शरीर को पोंछकर वस्त्र धारण करते हैं, वैसे ही उपर्युक्त सद्‌गुणों के साथ-साथ नम्रता भक्ति का परिधान है। जैसे सम्पूर्ण श्रृङ्गार होने पर भी बिना वस्त्र के उसकी कोई शोभा नहीं, प्रत्युत श्रृङ्गार की बिडम्बना मात्र होती है। यथा–**बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी। बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी।।** (रामचरितमास)

पुनश्च–**शरच्चन्द्रवक्त्रा लसत्पद्मनेत्रा,**
स्वलंकार युक्तापि वासो विमुक्ता।
सुरूपापि योषिन्न वै शोभमाना,
हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव।। (सुभाषित)

अर्थ–जैसे शरद् चन्द्रमुखी कमलनयनी उत्तम भूषणों से युक्त सुन्दर स्त्री भी बिना वस्त्र के सुशोभित नहीं होती है वैसे ही हरिनाम हीन सुन्दर वाणी भी सुशोभित नहीं होती है। वैसे ही नम्रता बिना भक्ति सर्वथा अशोभित है। तथा जैसे–वस्त्र विहीन नग्न स्त्री को देखना अकल्याणकर होता है, यथा–**'न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन।'** (धर्म ग्रन्थे) नग्न स्त्री को पुरुष कदापि न देखे, पाप लगता है। श्रीहनुमान जी के अतुलनीय पराक्रम का परिचय जानते हुए, उन्हें बन्धन में पड़ा देखकर हैरान रावण ने पूछा–

रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जू को।
को रघुनन्दन रे? त्रिशिरा खरदूषण दूषण भूषण भू को।।
सागर कैसे तरयौ? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहिं देखो।
कैसे बँध्यौ? अजु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।।

(रामचन्द्रचन्द्रिका)

वैसे ही नम्रता विहीन भक्ति भी मान मद दम्भ का रूप धारण कर पतन का कारण बन जाती है। अतः भक्ति में नम्रता परमावश्यक है। नम्रता को वस्त्र कहकर श्रीप्रियादासजी ने उपमा को सजीव कर दिया है। वस्तुतः बेचारा वस्त्र नम्रता की मूर्ति ही तो है। चाहे वह कितना ही मूल्यवान क्यों न हो, अपने समस्त गौरव को भूलाकर (पहनने वाले के मनोऽनुकूल) जिधर ही, जैसे ही मोड़िये, बिना ननु नच किये मुड़ जाता है।

दृष्टान्त—श्रीभक्तमाल जी में जोवनेरी गोपाल जी (४२० कवित्त), श्रीरसिकमुरारी जी (कवित्त ३८६) आदि इसके उदाहरण हैं तथा श्रीस्वामी रंगाचार्य जी का आख्यान भी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। कथा इस प्रकार से है। श्रीस्वामी जी के सद्‌गुणों, विशेषकर उनके औदार्य से आकृष्ट होकर, केशव नाम के कवि, उनकी विरुदावली बखानकर पुरस्कार लेने की अभिलाषा से आये। कवि ने श्रीस्वामीजी का बहुत बखान किया, बड़ाई की। परन्तु यह क्या? स्वामीजी ने तो उनकी ओर देखा तक नहीं, बैठने तक को नहीं कहा, जल तक नहीं पूछा। कवि जी बड़े ही निराश हुए, मन ही मन झुँझलाये। अपने को अपमानित समझ, उसका बदला लेने के लिए अवसर की प्रतिक्षा में थे। सायंकाल को श्रीरङ्गनाथ भगवान की सवारी निकली। जब श्रीस्वामीजी श्रीठाकुरजी को—

'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पापिनं घोरं सर्वपाप हरो हरिः।।' (ना०प०)

यह मन्त्र बोलते हुए दण्डवत् करने लगे, उसी समय केशव कवि ने भी खिसियाकर श्रीठाकुर जी के सामने कहा—'प्रभो! ये जैसा कहते हैं वैसे ही हैं भी।' तुरन्त ही श्रीस्वामीजी ने उठकर कविजी को हृदय से लगा लिया। अपने गले का स्वर्णहार उनको पहिना दिया और श्रीठाकुरजी से बोले—प्रभो! हम जो कुछ कह रहे हैं, वह सत्य कह रहे हैं, इसके साक्षी कविजी हैं। अब तो आप मानियेगा। केशव दंग रह गये, इतनी विनम्रता। बड़े ही प्रभावित हुए। चरणों में पड़ गये। श्रीचैतन्य महाप्रभुजी का आत्म-परिचय भी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। यथा—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो, नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्दपूर्णामृताब्धेर्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः।।

(पद्यावली)

अर्थ—न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ। न शूद्र, न ब्रह्मचारी हूँ। न गृहस्थी, न वानप्रस्थी हूँ, न संन्यासी ही। किन्तु निखिल परमानन्द परिपूर्ण, अमृतसागर स्वरूप गोपीपति श्रीकृष्ण के चरणकमलों के दासों के दासानुदासों का भी एक छोटा सा दास हूँ। नवनि का स्वरूप-गुण-महिमा-दो०-शील गहनि, सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम। तुलसी रहिये यहि रहनि, सन्त जनन को काम।। नम्र भये सद्‌गुण टिकत, ऊँचे ते गिरि जात। पर्वत पर जल नहिं रहत सिन्धु मांहि ठहरात।। नम्र भये भय होत नहिं ऊँचे उठे विनास। आंधी में तृन वचि रहैं, बड़े वृक्ष को नास।। श्लोक—**तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।** अर्थ—श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि अपने को तृण से भी नीच समझकर, वृक्ष से भी सहनशील बनकर, स्वयं अमानी होकर दूसरों का मान देने वाला बनकर सदैव श्रीहरिनाम संकीर्तन करता रहे।। (शिक्षाष्टक)

'पन सोधो'—पन=प्रण, प्रतिज्ञा, अनन्यता, दृढ़ इष्ट निष्ठा। यथा—**गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है।** (भक्तमाल) **'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।'** (विनय) **'पन करि रघुपति भगति दृढ़ाई। को शिव सम रामहिं प्रिय भाई।।'** (रामचरितमानस)

'कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं एकहिं रंग रंग्यो यह डोरौ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ैं, रसना मुख बांधि हलाहल घोरौ।।
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै हम कैसेहु टेक तजैं जनि भोरौ।
बावरी ये अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छोड़ि निहारति गोरौ। (ठाकुर कवि)

श्रीजानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित्त कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन विलोकत औरहिं शीश ईशही नैहौं।।
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।। (विनय पत्रिका)

पुनश्च—**पल काटौं सही इन नैननि के गिरधारी बिना पल अन्त निहारैं।**
जीभ कटै न भजै नन्द नन्दन बुद्धि कटे हरिनाम बिसारैं।।
मीरा कहे जरि जावो हिया पद कंज बिना पल अन्तर धारै।
सीस नवै ब्रजराज बिना वह सीसहिं काटि कुवाँ किन डारै।।

पुनश्च—**ऐसे नहीं हम चाहन हार जो आज तुम्हें कल और को चाहैं।**
फेंक दे आँखें निकारि दोऊ यदि दूसरी ओर करैं ये निगाहैं।
लाख मिलैं तुमते बढ़ के तुमहीं को चहैं तुमहीं को सराहैं।
जौलौं यह जीव रहें तन में तौलौं हम नेह को नातो निबाहैं।।

इसी प्रकार से भवन्नाम जप, दर्शन, स्मरण, तुलसी, चरणामृत सेवनादि के प्रण। संकटकाल में भी प्रण की रक्षा दु:ख सहकर तथा सब कुछ त्यागकर भी करनी चाहिए। उदाहरण के लिए जैसे—नृतक नारायणदास का केवल भगवान के आगे नृत्य करने का प्रण (कवित्त ५६१, ५६२) श्रीपति कवि का केवल ईश गुन-गान का प्रण (देखिये व्याख्या कवित्त ९ की) और भी श्रीजैमल, जैदेवादि का अपना-अपना प्रण। भक्ति में नम्रता अर्थात् सब प्रकार की अभिमान शून्यता होने के साथ-साथ इष्ट का अभिमान, यथा—**'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।'** (रामचरितमानस) तथा इष्ट में अनन्य निष्ठा परमावश्यक है क्यों कि इसके बिना प्रण की पूर्णता असम्भव है। जैसे सुगन्ध चारों ओर फैलकर दूसरों को सुखद होय, वैसे ही प्रण की प्रसिद्धि सुनकर दूसरे भक्त सुख मानते हैं। सुगन्ध से चित्त की प्रसन्नता वैसे ही प्रण से आत्मा को आह्लाद होता है। एक बात स्मरण रखने की है कि पपीहा की तरह दृढ़ प्रण वाला होना चाहिए। यथा—**पनहिं पपीहा ना तजै, तजै तो तन बेकाज। तन छूटै तौ कुछ नहीं, पन छूटै तौ लाज।** (दोहावली) पुनश्च—'मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा' (रामचरितमानस) शिथिल पन का कोई मूल्य नहीं। यथा—

दृष्टान्त छप्पन भोगी का—एक महात्मा ने पन किया था कि जो छप्पन भोग बना करके निमन्त्रण करेगा उसी के घर जाकर पावेंगे अन्यथा भूखे भले रह जायेंगे। नगर के लोग विचार में पड़ गये कि सबके घर छप्पन भोग की व्यवस्था भी मुश्किल है और नहीं करते हैं तो साधु भूखा रहता है, गृहस्थाश्रम का धर्म नहीं रहता। क्या किया जावे। एक तार्किक ने कहा—पहले तो मैं बाबा के पन की परीक्षा लूँगा। देखूँ, पन सच्चा है कि कच्चा। फिर व्यवस्था बाद में की जावेगी। सबका समर्थन पाकर उसने प्रातःकाल साधु का अपने घर निमन्त्रण किया। सन्त ने अपने छप्पन भोग पाने की चेतावनी दी तो उसने अट्ठावन भोग बनवाने की हामी भरी। दोपहरी को सन्त जी को लिवा ले जाकर घर की ऊपर की मंजिल पर बैठा दिया। बोला सब सामान तैयार है। दो एक व्यंजन बाकी हैं। देर भई तब बाबाजी ने कहा—देखो कितनी देर है रसोई में। वह देखकर आया और बोला, बस घड़ी दो घड़ी। ऐसे ही करते-करते सन्ध्या हो गई। बाबाजी को भूख सताने लगी। फिर पता लगाने को भेजे तो वह बड़ा उदास-सा भया लौटा। उदासी का कारण पूछे तो उसने कहा, महाराज! कुछ पूछो मत, रसोई तो कुछ कुत्ता खा गया और कुछ बिखेर गया। रसोइया जल लेने चला गया था। परन्तु महाराज! आपकी कृपा से सब सामग्री घर में है, मैं अभी-अभी सब सामान तैयार करवाता हूँ। महात्मा ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। उसने रसोई घर में धुँआँ करवा दिया। एक पहर रात हो गई, बाबाजी को भूख के मारे रहा न जाय, तब उसने कहा महाराज! भोग तो बन ही रहा है तब तक आप सतावनवाँ भोग नमक-मिर्च मिला हुआ भुजा चना है, थोड़ा चबाइये। बाबाजी प्रस्तुत हो गये तो वह छत पर चढ़कर चिल्ला कर बोला, बाबाजी चना चबाने को कहते हैं, किसी के पास हों तो ले आओ। बाबा जी बड़े लज्जित हुए। उसने समझाया कि जो सहज में मिल जाय वही पा लिया करें। क्यों ऐसा हठ करते हैं आप तो महात्मा हैं आदि-आदि।

दूसरा दृष्टान्त—एक साधु एक घोड़े वाले को, अपने घोड़े को जबरदस्ती मुँह में गुड़ का गुलेला देकर खिलाते देखकर पन कर लिये कि हमें भी ऐसे ही भगवान् खिलावेंगे तभी खाऊँगा। ऐसा निश्चय कर एकान्त वन में जा बैठे। तीन दिन बीत गये। तब भगवान् स्वयं दिव्य प्रसाद लेकर आये और अपने हाथ खिलाने लगे तो इन्होंने अपने से मुँह खोल दिया, प्रतिज्ञा का ध्यान नहीं रहा। रहे भी कैसे, एक तो भूख लगी है, दूसरे दिव्य प्रसाद, तीसरे पवाने वाले स्वयं भगवान्। भला भगवान् को देखकर फिर किसी का प्रण रहता है? वह तो ढह जाता है। मुँह खोलते ही भगवान तुरन्त अन्तर्धान हो गये। ये बिलखने लगे तो आकाशवाणी भई कि आपका नियम कच्चा रहा। यदि आप अपने नियम में दृढ़ रहते तो मैं स्वयं मुख में जबरदस्ती ग्रास डालता। अब हठ छोड़कर प्रसाद पावो। इन्हें अपनी भूल मालूम हुई। प्रसाद पाने लगे। निष्कर्ष यह कि ऐसा शिथिलपन वाला नहीं होना चाहिए।

आभरण नाम हरि—समस्त श्रृङ्गार प्रसाधनों में जैसे आभूषण विशेष शोभा वर्द्धक होते हैं वैसे ही भक्ति समस्त साधन श्रृङ्गारों में भगवन्नाम निष्ठा से भक्ति की विशेष शोभा होती है। जैसे आभूषण अंग-प्रत्यङ्ग में धारण किये जाते हैं। वैसे ही नाम निष्ठ के रोम-रोम से भगवन्नाम की ध्वनि होने लगती है नाम रोम-रोम में प्रतिष्ठित हो जाता है। अंग-अंग की तो बात ही क्या? श्रीहनुमानजी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यथा—

नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराजराजः।
यद्रूपरागीश्वर वायु सुनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्।।

अर्थ–श्रीराम के नाम का प्रभाव वानरराज श्रीहनुमानजी अच्छी प्रकार से जानते हैं अतः रूप-रागियों में प्रधान श्रीवायुपुत्र के रोम-रोम से रामनाम की ध्वनि होती रहती है। श्रीअर्जुनजी के भी रोम-रोम से 'जय कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि निकलती थी। (देखिये कथा अर्जुन जी की) तथा चोखामेला चमार की निर्जीव हड्डियों से भगवन्नाम की ध्वनि निकल रही थी। (देखिये नामदेवजी का प्रसंग) नामनिष्ठा की इस चरम-दशा को प्राप्त करना ही भक्ति-महारानी को नामरूपी आभूषण धारण कराना है। जैसे समस्त श्रृङ्गार करने पर भी बिना आभूषण धारण किये वह अपूर्ण ही है। वैसे ही भक्ति के समस्त साधनों का यथा विधि अनुष्ठान करने पर भी बिना भगवन्नामाराधन के वह अपूर्ण है अधूरा है 'नाम राम को अङ्क है सब साधन हैं सून। अङ्क गये कछु हाथ नहीं, अङ्क रहे दसगून।।' (दोहावली) जैसे– स्त्रियों को आभूषण बहुत प्रिय होता है, वैसे ही भक्ति-महारानी को नामाभरण बहुत प्रिय है। अतः आभरण नाम कहा।

'हरि साधु-सेवा कर्णफूल'—कर्णफूल श्रृङ्गार तो है ही, सौभाग्यसूचक भी है। कर्णफूल का न होना वा नष्ट होना श्रृङ्गार हानि के साथ-साथ सौभाग्य हानि भी सूचित करता है। यथा—**मन्दोदरी सोच उर बसेऊ। जबते श्रवण पूर महि खसेऊ।।** (रामचरितमानस) वैसे ही हरि-साधु सेवा भी भक्ति-महारानी का श्रृङ्गार होने के साथ-साथ सौभाग्यरूप भी है। जैसे स्त्री के सौभाग्य चिह्नों को देखकर उसका पति प्रसन्न होता है वैसे ही हरि-साधु-सेवा को देखकर भगवान प्रसन्न होते हैं। कर्णफूल दो होते हैं। वैसे ही यहाँ सेवायें भी दो कही। १. हरि-सेवा। २. साधु-सेवा। दोनों कर्णफूल धारण करने पर ही सम्यक्-शोभा होती है। एक के अभाव में दूसरा भी शोभा-सम्बर्द्धन में पूर्ण-समर्थ नहीं होता वैसे ही हरि और साधु, दोनों की सेवा से ही भक्ति की पूर्ण-शोभा होती है। हरि-सेवा दायें कान का कर्णफूल है, जो कि गुप्त (ढका) रहता है। तात्पर्य भगवत्-सेवा परदे के भीतर होती है अतः गुप्त है इसलिए दायें कान का कर्णफूल है। साधु-सेवा बायें कान का कर्णफूल है जो कि प्रगट रहता है। भाव यह कि साधु-सेवा खुले मैदान होती है अतः वामकर्ण का कर्णफूल कहा। जैसे कर्णफूल कई प्रकार के होते हैं। यथा—मकराकृत, मीनाकृत, पुष्पाकृत, भ्रमराकृत, काष्ठ के, चाँदी के, सोने के जड़ाऊ। वैसे ही हरि- साधु-सेवा के भी भावानुसार विविध प्रकार हैं। सम्पूर्ण भक्तमाल मानो इसी की व्याख्या है। भगवत्-सेवा का स्वरूप—**'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं।।'** (रामचरितमानस) साधु-सेवा का स्वरूप—**'जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक विलोचन गोलक जैसे।।'** (रामचरितमानस) श्रीभक्तमाल में हरि-सेवा के आदर्श—श्रीपृथुजी, आसकरनजी, जैमलजी आदि। साधु-सेवा के आदर्श—श्रीहरिपालजी, त्रिलोचनजी, सदाव्रतीजी आदि।

मानसी सुनथ—मानसी-सेवा—**कृष्णसेवा सदा कार्या, मानसी सा परामता। चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।** (श्रीबल्लभाचार्य) अर्थ—श्रीकृष्ण-सेवा तीन प्रकार की होती है। १. तनुजा, २. वित्तजा, ३. मानसी, इन तीनों में मानसी-सेवा श्रेष्ठ कही गई है। मानसी की सिद्धि होना ही सेवा का स्वरूप है। जिस प्रकार नथ अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अलङ्कारों में प्रमुख है, सुहाग सूचक भी है। वैसे ही मानसी-सेवा, सेवा का अत्यन्त सूक्ष्म एवं भावगम्य रूप है और श्रेष्ठ है। यथा—**'तुलसी मनसे जो बनैं (तो) बनी बनाई राम।।'** (दोहावली) जैसे नथ में दो मोती होते हैं और दोनों मोतियों के बीच में एक लालमणि। वैसे ही मानसी-सेवा में भी विवेक और वैराग्य ये दो सत्वगुण सम्पन्न प्रकाशमान मोती हैं और इष्ट के प्रति सच्चा-अनुराग ही बीच की लालमणि है। इसके उदाहरण हैं। श्रीअग्रदासजी,

श्रीरङ्गजी। श्रीरघुनाथदासजी आदि। (विशेष देखिये कवित्त १०) मानसी-सेवा की विधि–

सकल जगत चिन्तन त्यागि कैं ध्यान धारैं। परम प्रिय मनोहर मूर्ति हिय में बिठारैं।
विविध विधि मनोमय वस्तु ते पूजि तपैं। इमि हरि अपने करि भाव सों सर्व अर्पै।।
मन वचन परे कहि वेद जाको बतावैं। मन वचन रमैं सोइ सन्त यौं भेद गावैं।।
प्रगट, मनसि पूजन दोउ को संग कीनें। रसिक मन रमावहिं राम के रंग भीनें।।

(भ०व०टि०)

सङ्ग अञ्जन—सत्संग को अञ्जन इसलिए कहा—कि जैसे अञ्जन लगाने से नेत्र-दोष दूर होकर शुद्ध-दृष्टि प्राप्त होती है। तथा नेत्र सुन्दर भी लगने लगते हैं उसी प्रकार सत्संग से दूषित-विचार दूर होकर विवेक-विलोचन तथा दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति होती है। उससे सत्-असत् का ज्ञान हो जाता है। यथा—**जाड्यं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्, सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।** (भर्तृहरि) अर्थ—सत्संग-बुद्धि की जड़ता को हरता है, वाणी को सत्य से परिपूर्ण करता है, सम्मान और उन्नति प्रदान करता है, पापों को दूर करता है, चित्त को प्रसन्न करता है चारों ओर कीर्ति को फैलाता है तो बताइये, सत्संग मनुष्यों के साथ कौन-सा उपकार नहीं करता है?

न रोधयति मां योगो, न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्।।

(कृष्णवाक्य, उद्धव के प्रति भा० ११/१२/१,२)

अर्थ—सब आसक्तियों को हरने वाला सत्संग मुझे जिस प्रकार वश में कर लेता है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, दक्षिणा, व्रत, वेद, तीर्थाटन, यम और नियम मुझे वश में नहीं कर पाते हैं।

सत्संगेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगाः। बहवो मत्पदं प्राप्तस्त्वाष्ट्र कायाधवादयः।।

(भागवत ११-१२-३-५)

अर्थ—सत्संग से वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि दैत्य और राक्षस, खग-मृग-योनियों में उत्पन्न भक्तों ने मुझे प्राप्त किया है। **मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।। सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ।।** (रामचरितमानस) **कह न होय सत्संग ते, देखहु तिल अरु तेल। नाम मोल सब फिरि गयो, पायो नाम फुलेल।।** (ध्रुवदासजी) सत्संग सिद्धाञ्जन हैं। **यथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध, सुजान। कौतुक देखत सैल वन, भूतल भूरि निधान।।** (रामचरितमानस) वैसे ही सत्संगरूपी सिद्धाञ्जन से अव्यक्त-अगोचर-परमात्मा का दर्शन सहज-सुलभ हो जाता है। अन्यथा असम्भव है। यथा—**नयन निकट काजर बसै, पै दरपन दरसाय। त्यौं साधुन के संग बिनु हरि छबि हिय न लखाय।।** अंजन में दो गुण—१. नेत्र रोग दूर होता है। २. प्रियतम प्रसन्न होकर वशीभूत हो जाते हैं। वैसे ही सत्संग से भव-रोग दूर होता है और प्रियतम-प्रभु प्रसन्न होते हैं, वश में हो जाते हैं। अत: संग अंजन कहा। सत्संग-महिमा पर देखिये श्रीबाल्मीकिजी तथा श्रीवशिष्ठ-विश्वामित्र का प्रसंग।

चाह बीरी—चाह=लालसा, अभिलाषा, मिलन की उत्कण्ठा। यथा—**एक लालसा बड़ि उर माहीं।—चाहउँ तुमहिं समान सुत।। उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई। सबके उर अभिलाष अस, पूरित पुलक शरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ बीर।।** (रामचरितमानस) प्रियतम–मिलन की चाह, निगम–अगम साहब को भी सुगम बना देती हैं। यथा—**निगम अगम साहब सुगम, राम साँचिली चाह।।** (दोहावली) जैसे सम्पूर्ण श्रृङ्गार के बाद पान, उसी प्रकार समस्त साधनों का पर्यवसान प्रियतम–मिलन की चाह में है। जैसे पान से श्रृङ्गार की, उसी प्रकार चाह से भक्ति की परिपूर्णता है। अतः चाह बीरी कहा। चाह का स्वरूप—

कदा वृन्दारण्ये, विमल यमुना तीर पुलिने। चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।।
अये कृष्णस्वामिन् मधुरमुरली वादन विभो। प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

अर्थ—अहा! वह–दिन कब होगा, जब यमुना–तट कुञ्जों में श्रीहलधर, सुदामादि के सहित श्रीगोविन्द मधुरवंशी बजाते हुए विचरते हों, और मैं हे कृष्ण! हे स्वामिन्! हे मधुर–मुरली–वादक! हे विभो! प्रसन्न होइये, ऐसे पुकारते हुए निमिष की भाँति दिनों को बिताऊँगा।

ऐसी चाह के उदाहरण हैं श्रीमधु गोसाईंजी। यह है भक्ति महारानी का श्रृङ्गार। श्रीप्रियादासजी ने भक्ति को महारानी कहा है। आगम–ग्रन्थों में भी इन्हें महादेवी कहा गया है। यथा—**हरिभक्ति महादेव्याः, सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः। भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः।।** (ना०पा०)अर्थ—मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकार की विलक्षण भुक्तियाँ (भोग) दासी की भाँति हरिभक्ति महादेवी की सेवा में लगी रहती हैं। ऐसी महामहिमामयी भक्ति–महारानी का इस प्रकार श्रृङ्गार करके जो उनके सुन्दर–स्वरूप का दर्शन करता है अर्थात् जो इस प्रकार भक्ति के लक्षणों से युक्त हैं। वह श्रीप्रिया–प्रियतम को अवश्यमेव पा लेता है क्योंकि भगवान् को भक्ति अत्यन्त प्रिय है। यथा—'**पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।**''**भगतिहिं सानुकूल रघुराया।**''**जेहिं ते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।**''**भगति प्रियो माधवः**', '**भगति अबसहिं बस करी**' (रामचरितमानस) **भक्त्या त्वनन्यया शक्यः** (गीता ११/५४) अतः लहै लाल प्यारी। गाइये–सन्तों एवं सत्–शास्त्रों ने गाया है। जैसा कि उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति महारानी के चौंसठ अङ्गों का वर्णन है। यथा—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् । विस्त्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्।।
सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे। निवासो द्वारकाऽऽदौ च गंगाऽऽदेरपि सन्निधौ।।
व्यवहारेषु च सर्वेषु यावदर्थानुवर्तिता । हरिवासर सम्मानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम्।।
एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता। सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः।।
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः । बहुग्रन्थ कलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम्।।
व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं शोकाद्यवश वर्तिता । अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता।।
सेवानामापराधानामुद्भवाभावकारिता । कृष्णतद्भक्तिविद्वेषिविनिन्दाऽद्यसहिष्णुता।।
व्यतिरेकतयामीषां दशानां स्यादनुष्ठितः । अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः।।
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम् । धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च।।
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः । अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा।।
अर्च्चनं परिचर्या च गीतं संकीर्तनं जपः । विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः।।

धूप माल्यादि सौरभ्यं श्रीमूर्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् । आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम्।।
स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । निजप्रियोपहरणं तदर्थेखिलचेष्टितं।।
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् । तदीयास्तुलसीशास्त्र मथुरावैष्णवादयः।।
यथा वैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः । ऊर्जादरो विशेषेण यात्राजन्मदिनादिषु।।
श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम् । श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह।।
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे । नाम संकीर्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः।।
अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च । निखिलश्रैष्ठ्य बोधाय पुनरप्यत्र संशनम्।।

अर्थ—१. गुरु के चरणों का आश्रय लेना। २. उनसे दीक्षा आदि को ग्रहण करना। ३. विश्वास पूर्वक गुरु की सेवा। ४. साधु-मार्ग का अनुसरण करना। ५. सद्धर्म की जिज्ञासा। ६. श्रीकृष्णार्थ-भोग त्याग। ७. द्वारिका आदि में अथवा गंगादि के तट पर निवास। ८. यावत्प्रयोजन वस्तु संग्रह। ९. हरिवासर सम्मान। १०. आमलक, अश्वत्थादि वृक्षों का, माहात्म्य मानना एवं उनका सेवन। ११. विमुख संग त्याग। १२. अधिक शिष्यादि न करना, बड़े-बड़े सांसारिक कार्यों का आरम्भ न करना। १३. अधिक ग्रन्थों का अभ्यास न करना, कलाओं का अभ्यास न करना। १४. व्याख्या और विवादादि से बचना। १५. व्यवहार में दीनता, कृपणता को न आने देना। १६. शोकादि के वशीभूत न होना। १७. अन्य देवताओं का अपमान न करना। १८. जीवों को कष्ट न देना। १९. सेवा तथा नामापराध से बचना। २०. भक्त-भगवान की निन्दा को न सहना। २१. वैष्णव चिह्नों को धारण करना। २२. श्रीहरि के नाम के अक्षरों को धारण करना। २३. निर्माल्यादि का धारण। २४. भगवान् के सामने ताण्डव-नृत्य। २५. दण्डवत् प्रणाम करना। २६. भक्त तथा भगवान् का उठकर सत्कार करना। २७. साथ चलना। २८. तीर्थ एवं मन्दिरों में गमन, परिक्रमा करना। २९. अर्चन। ३०. परिचर्या (सेवा) ३१. गीत। ३२. सङ्कीर्तन। ३३. मन्त्रजप। ३४. विज्ञप्ति। ३५. स्तव पाठ। ३६. नैवेद्य का आस्वादन। ३७. पाद्यास्वाद। ३८. धूप सौरभ, माल्यादि की गन्ध लेना। ३९. श्रीमूर्ति का स्पर्श। ४०. श्रीविग्रह का दर्शन। ४१. आरती तथा उत्सवादि का दर्शन। ४२. श्रवण। ४३. श्रीहरिकृपा की चाह। ४४. स्मरण। ४५. ध्यान। ४६. दास्य। ४७. सख्य। ४८. आत्म-निवेदन। ४९. निजप्रिय वस्तु समर्पण। ५०. भगवदर्थ समस्त चेष्टाएँ करना। ५१. शरणापत्ति। ५२. वैष्णव-सेवन। ५३. श्रीतुलसी-सेवन। ५४. वैष्णव शास्त्रों का आदर। ५५. मथुरा-मण्डलवास। ५६. यथा वैभव उत्सव करना। ५७. कार्तिक मास का विशेष आदर। ५८. जन्म-दिवस आदि पर यात्रा करना। ५९. विशेष-श्रद्धा एवं प्रेम से श्रीमूर्ति के चरणों की सेवा। ६०. रसिकों के साथ श्रीमद्भागवत के अर्थों का आस्वादन करना। ६१. अपने से उत्तम सजातीय प्रेमी साधुओं के साथ सत्सङ्ग करना। ६२. नाम, रूप, लीला, गुण कीर्तन। ६३. मथुरा-मण्डल में निवास करना। ६४. परिक्रमा।

टीका की महिमा

शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य, औ शृङ्गार चारु, पाँचों रस सार विस्तार नीके गाये हैं।
टीका को चमत्कार जानौगे विचारि मन, इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं।।
जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू, तिनहूँ को भाव सिन्धु बोरि सो छकाये हैं।
जौलौं रहैं दूर रहैं विमुखता पूर हियो, होय चूर चूर नेकु श्रवण लगाये हैं।।४।।

शब्दार्थ—शान्त=सौम्य, गम्भीर, मनोविकार रहित, विघ्न-बाधा रहित। काव्य एवं भक्ति का वह रस, जिसमें मन-शान्ति का अनुभव करे। दास्य=सेवा, स्वामी की आज्ञा का प्रीति-समेत-पालन। सख्य=मैत्री, मित्रता। वात्सल्य=दुलार, प्यार, वह भाव, जो माता-पिता का पुत्र के प्रति होता है। श्रृङ्गार=माधुर्य, नायक-नायिका का पारस्परिक भाव। रस-सार=रसों का तत्व। चमत्कार=अनूठापन, विचित्रता, विलक्षणता। अनूप=सुन्दर, उपमा रहित। पुलकित=हर्षयुक्त, रोमांचित। गात=शरीर। छकाये=प्रेमोन्मत्त, तृप्त, पूर्ण किये। जौलौं=जब तक। विमुखता=उदासीनता, लापरवाही, विरोध, ईश्वर-भक्ति-राहित्य। चूर-चूर=लीन, निमग्न, नशे में उन्मत्त।

भावार्थ—इस कवित्त में टीकाकार, टीका की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि—इस भक्ति रसबोधिनी टीका में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार-भक्ति के इन पाँच रसों का तत्व विस्तार से, अच्छी प्रकार वर्णन किया गया है। इनके सुन्दर-स्वरूपों को जैसा मैंने भली-भाँति उत्तम रीति से वर्णन करके दिखाया है, इस चमत्कार को पाठक एवं श्रोता अपने मन में अच्छी तरह से विचार करने पर ही जानेंगे। श्रवण- कीर्तन आदि करके प्रेमवश जिनके नेत्रों में कभी भी आनन्द के आँसू नहीं आते हैं और शरीर में रोमाञ्च नहीं होता है, ऐसे नीरस, कठोर हृदय वाले लोगों को भी भक्ति के भावरूपी समुद्र में डुबाकर तृप्त कर दिया गया है। जब तक वे इससे दूर हैं, तभी तक भक्ति से पूर्ण विमुख हैं किन्तु यदि कान लगाकर इसका थोड़ा भी श्रवण करेंगे तो उनका हृदय चूर-चूर होकर रस से परिपूर्ण हो जायेगा।।४।।

व्याख्या—श्रीभक्ति के पाँच रस हैं। रुचि के अनुसार भक्त पाँच में से किसी का भी आश्रय लेकर इष्ट को प्राप्त कर सकता है। अतः रसों के विभाव, अनुभाव आदि वर्णन किये जाते हैं। उन्हें समझने के लिये प्रथम इनकी परिभाषा एवं प्रकार (भेद) समझ लेना आवश्यक है। यहाँ उनकी परिभाषा और भेद का एक दिग्दर्शन कराते हैं।

भाव—रस के उल्लसित एवं चमत्कृत विकास तथा परिणाम को 'भाव' कहते हैं। भाव=मन के तरंग। अमरकोष में कहा है "**विकारो मानसो भावः।**" रस के अनुकूल मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं उसको 'भाव' कहते हैं। यथा—'**कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।**' (रा०) में ध्वनि सुनने से श्रृङ्गार रस के अनुकूल विकार उपजा। भाव चार हैं—

१-विभाव, २-अनुभाव, ३-स्थायी, ४-संचारी।

विभाव=भाव के कारण। जिसके सहारे मनोविकार वृद्धि-लाभ करते हैं। उस कारण को विभाव कहते हैं। विभाव दो हैं (१) आलम्बन (२) उद्दीपन। **आलम्बन**=जिसके आधार से वा जिसके प्रति आश्रय या पात्र के हृदय में विकार उत्पन्न हो। जैसे नायक के लिए नायिका यह रस का अवलम्ब है। आलम्बन दो हैं— **विषयालम्बन, आश्रयालम्बन। उद्दीपन**=जिससे आलम्बन के प्रति स्थित-भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हो। जैसे चाँदनी, निर्जनवन, वसन्त ऋतु, मारू बाजे। जिनके देखने सुनने से रस प्रगट हो।

अनुभाव—मनोविकार की उत्पत्ति के अनन्तर वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रस का बोध हो, =चित्त के भाव को प्रकाश करने वाली कटाक्ष रोमांच आदि चेष्टाएँ। अनुभाव चार हैं। १-सात्विक (आठ प्रकार के हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर्भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय) २-कायिक। ३-मानसिक=(मन की अवस्था को प्रगट करना) ४-अहार्य=रूप बदलकर अभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित करना।

स्थायी—वे भाव जो वासनात्मक होते हैं चित्त में चिरकाल तक स्थित रहते हैं। ये विभावादि के योग से परिपुष्ट होकर रसरूप होते हैं। ये सजातीय या विजातीय भावों के योग से नष्ट नहीं होते, वरंच उनको अपने में लीन कर लेते हैं। ये नौ माने गये हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

सञ्चारी—जो रस को विशेष रूप से पुष्ट कर जल की तरंगों की तरह उनमें संचरण करते हैं। ये रस की सिद्धि तक नहीं ठहरते। ये तैतीस माने गये हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, मति, विषाद, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, गर्व, अमर्ष, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्था, दीनता, ब्रीडा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, भास, उन्माद, जड़ता, चपलता और वितर्क।

तत्र शान्त भक्तिरसः—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः। स्थायीशान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः।।
प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्। किन्त्वात्मसौख्यमघनंघनन्त्वीशमयं सुखम्।।
तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता। दासादिवत्मनोज्ञत्वं लीलादेर्न तथा मता।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थ—आगे कहे जाने वाले विभावादि के द्वारा, शान्तिरूप स्थायीभाव, शमवानों के आस्वाद का विषय होकर शान्त-भक्तिरस नाम से कहलाता है। इस शान्तरस में योगियों को प्रायः स्वसुखजातीय अर्थात् आत्म-साक्षात्कारात्मक निर्विशेष-ब्रह्मास्वाद-सहोदर-सुख प्राप्त होता है। किन्तु विशेषता यह होती है कि आत्म-साक्षात्कार का सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षात्कारमय सुख घनत्वमय होता है। उसमें भी भगवत्स्वरूप का अनुभव ही सुखानुभूति के आधिक्य का कारण होता है। उनकी मनोज्ञलीलादि तथा दासादि के समान बुद्धि सुखातिशय की जनक नहीं होती है।

स्पष्टार्थ—ध्यान, समाधि में जो ईश्वर-चिन्तन किया जाता है उसे शान्तरस की उपासना कहते हैं। प्रश्न—ज्ञानी भी तो ध्यान, समाधि में स्वरूपानुसन्धान करता है, फिर ज्ञानी और शान्त-रसोपासक-भक्त में अन्तर ही क्या ? समाधान—ज्ञानी और शान्त-रसोपासक-भक्त में भेद यह है कि ज्ञानी 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुसन्धान करते हुये निर्गुण, निराकार, निर्विशेष-ब्रह्म का ध्यान करता है तो उसे आत्म-साक्षात्कार होता है और भक्त-भगवान् के ऐश्वर्य रूप का ध्यान करता है अतः उसे भगवत्साक्षात्कार होता है। आत्म-साक्षात्कार घनत्वहीन होता है भगवत्साक्षात्कार घनत्वयुक्त होता है जैसे सूर्य का प्रकाश घनत्वहीन और सूर्यघनत्वयुक्त होता है जैसे-**रवि आतप भिन्न न भिन्न यथा।** वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। निर्विशेष ब्रह्मानन्द-स्वरूप सुख में उसके निर्विशेष-विषयक होने से गुणादि का भान नहीं होता और भगवत् साक्षात्कारात्मक ईशमय सुख में सच्चिदानन्द विग्रहादिरूप गुणों की भी स्फूर्ति होती है। ज्ञानी को ध्यान, समाधि में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग, वेपथु अश्रु आदि प्रेम-दशायें नहीं प्राप्त होती हैं। शान्त रसोपासक इन सभी दशाओं को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानमार्ग में निर्वेद को स्थायी-भाव माना गया है परन्तु यहाँ निर्वेद संचारी-भावों में गिना गया है। यथा—'**राम देखि मुनि विरति बिसारी।**' अब शान्त भक्तिरस के आलम्बन विभाव कहते हैं। **चतुर्भुजाश्च शांताश्च तस्मिन्नालम्बना मता।।** (भ० र० सि०) अर्थ—चतुर्भुज भगवान् तथा शान्त भक्तिरस वाले भगवद्भक्त इसमें आलम्बन विभाव होते हैं।

अथोद्दीपना:—अब उद्दीपन विभाव कहते हैं—

श्रुतिर्महोपनिषदां, विविक्त स्थानसेवनम् ।
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य स्फूर्तिस्तत्वविवेचनम् । विद्याशक्ति प्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम् ।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्म सत्रादयस्तथा । एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी ।।
(भ० र० सि०)

अर्थ—१. महत्वशालिनी उपनिषदों का श्रवण, २. एकान्त-स्थान का सेवन, ३. अन्तर्मुखी वृत्ति विशेष, ४. चतुर्भुजस्वरूप की स्फूर्ति, ५. तत्वविवेचन, ६. विद्या की प्रधानता अर्थात् वेद ज्ञानादि, ७. शक्ति की प्रधानता, ८. विश्वरूप का दर्शन, ९. ज्ञानी-भक्तों के साथ सम्पर्क, १०. ब्रह्मसत्र अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्चा आदि। अथानुभावा:—अब अनुभावों को कहते हैं—

नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूत विचेष्टितम् । युगमात्रप्रेक्षित गतिर्ज्ञान मुद्रा प्रदर्शनम् ।।
हरेर्द्विष्यपि नद्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि । सिद्धितायास्तथा जीवनमुक्तेश्च बहुमानिता ।।
नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा । मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः ।।
(भ० र० सि०)

अर्थ—१. नासिका के अग्रभाग पर नेत्र जमाये रखना। २. अवधूतों के समान व्यापार करना। ३. चार-पाँच हाथ की दूरी तक देखते हुये चलना अर्थात् नीची दृष्टि करके चलना। ४. ज्ञान की मुद्रा का प्रदर्शन। ५. कृष्ण के शत्रुओं से भी द्वेष न करना। ६. कृष्ण के प्रियों में भी अति-भक्ति का न रखना। ७. सिद्धता तथा जीवन्मुक्ति के प्रति अधिक आदर का होना। ८. उदासीनता। ९. किसी के प्रति ममता का न रखना। १०. अहङ्कार का अभाव। ११. मौन आदि शीत क्रियायें शान्त-भक्तिरस के असाधारण विशेष अनुभाव हैं। अथ सात्विका:—अब सात्विक-भावों को कहते हैं। **रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्विकाः प्रलयं बिना ।।** अर्थ—प्रलय अर्थात् मूर्छा को छोड़कर रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि शान्त भक्तिरस के सात्विक-भाव हैं। अथ संचारिण:—अब संचारि-भाव कहते हैं—**सञ्चारिणोऽत्रनिर्वेदो, धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः। विषादोत्सुक- ताऽऽवेगवितर्काद्याः प्रकीर्त्तिताः।** (भ० र० सि०) अर्थ— इसमें निर्वेद धृति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि संचारी-भाव माने जाते हैं।

अथ स्थायी—अब स्थायी-भाव कहते हैं। **'अत्र शान्ति रतिः स्थायी समासान्द्रा तु सा द्विधा।** (भ० र० सि०) अर्थ—इसमें शान्ति स्थायी-भाव होती है और वह १. समा, २. सान्द्रा दो प्रकार की होती है। यह शान्त-भक्तिरस १-परोक्षात्मक तथा २-साक्षात्कारात्मक होने से दो प्रकार का होता है। विष्णु धर्मोत्तर में शान्त रस का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है। **नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः। समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः।।** अर्थ—जहाँ न सुख है न दुःख न द्वेष है और न मत्सर है और सब प्राणियों के प्रति सम-बुद्धि होती है वह शान्तरस कहलाता है। शान्त भक्तिरस एवं शान्ति के सम्बन्ध में और भी शास्त्र, सद्ग्रन्थ एवं सन्तों के वचन। यथा—गीतायाम्—**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।** (६/३०) अर्थ—जो मुझ परमात्मा को सब स्थानों में, सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझसे कभी दूर होता है।

शान्ति की महिमा—**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागं, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।** (गी० १२-१२) अर्थ—अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है। ज्ञान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परम-शान्ति होती है। इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति को ज्ञान-ध्यानादि का चरमफल कहा गया है।

पुनश्च— **जाके हिय ते शान्ति न जावै। शान्त भक्त सो सब सुख पावै।।**

तुलसी यह तन तवा है, तपत सदा त्रयताप। शान्त होय तब शान्ति पद, पावै राम प्रताप।।
अहंकारकी अगिनिमें, दहत सकल संसार। तुलसी बाँचे सन्तजन, केवल शान्ति अधार।।
ज्ञानको भूषण ध्यान है, ध्यानको भूषण त्याग। त्यागको भूषण शांतिपद, तुलसी अमल अदाग।।

अमल अदाग शान्ति पद सारा। तहँ कलेस न करत प्रहारा।।
तुलसी उर धारैं जो कोई। रहै आनन्द-सिन्धु महँ सोई।।
विविध पाप सम्भव जो तापा। मिटहिं दोष-दुख विविध कलापा।।
परम-शान्ति सुख रहै समाई। तहँ उत्पात न भेदै आई।।
तुलसी ऐसे शीतल सन्ता। सदा रहै एहि भांति एकन्ता।।
कहा करैं खल लोग भुजङ्गा। कीन्हों गरलशील जो अङ्गा।।
जहाँ शान्ति सद्गुरु की दई। तहाँ क्रोध की जर जरि गई।।
तुलसी सुखद शान्ति को सागर। सन्तनि गायौ करन उजागर।।

सातदीप नव खण्ड लौं, तीनि लोक जग माहिं।
तुलसी शांति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं।।

(वैराग्य-संदीपनी)

शान्तरसोपासक भक्तों के उदाहरण—श्रीशिवजी। यथा—**बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे शरीर शान्तरस जैसे।** आप अधिकांश समाधि में रहते। यथा—**शंकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखण्ड अपारा। शिव समाधि बैठे सब त्यागी। बीते सम्वत सहस सतासी। तजी समाधि सम्भु अविनासी।।** श्रीनारदजी—**सुमिरत हरिहिं साप गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी।।** श्रीसनकादिजी—**ब्रह्मानन्द सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना।** कलियुग के भक्तों में श्रीशङ्कराचार्यजी, मधुसूदन सरस्वती आदि शान्तरस के उदाहरण हैं।

दास्यरस— दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः। विश्वस्ताः प्रभुताज्ञान विनम्रितधियश्च ते।। अर्थ—दास उन भगवान् के आश्रित, आज्ञाकारी विश्वस्त और प्रभुता के ज्ञान के कारण विनम्र बुद्धि वाले होते हैं। ये सेवक अधिकृत, आश्रित, पारिषद् और अनुगामी भेद से चार प्रकार के होते हैं। यथा—**चतुर्द्धाऽमी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः।**' (भ० र० सि०) तत्रालम्बनाः—'**हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह।।**' अर्थ—इसमें भगवान् तथा उनके दास आलम्बन विभाव होते हैं। अथोद्दीपनाः—**अनुग्रहस्य सम्प्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा।। भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसंगतिः। इत्यादयो विभावाः स्युरेष्व- साधारणा मताः।।** (भ० र० सि०) अर्थ—इसमें

१. अनुग्रह की सम्प्राप्ति, २. उनकी चरणधूलि की प्राप्ति, ३. उनके शीत प्रसाद की प्राप्ति तथा उनके भक्तों की सङ्गति इत्यादि विशेष रूप से उद्दीपन विभाव माने जाते हैं।

अथानुभावाः—**सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः। ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने। तन्निष्ठताऽऽद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः।।** (भ० र० सि०) अर्थ—भगवान् के प्रति अपने कर्त्तव्यों का सर्वतः अधिकाधिक रूप से ग्रहण करना और उनके भक्तों के प्रति ईर्ष्यालव से रहित, मैत्री तथा सर्वात्मना तन्निष्ठता आदि ये आश्रितादि दासों में असाधारण अनुभाव होते हैं। अथ सात्विकाः—**स्तम्भाद्याः सात्विकाः सर्वे प्रीतादि त्रितये मताः।** (भ० र० सि०) अर्थ—प्रलय को छोड़कर स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग, वेपथ, अश्रु आदि इसमें सात्विक भाव होते हैं। अथ व्यभिचारिणः—हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता।। दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले। वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थकाः।। बोधः स्वप्नः क्लमोव्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः। (भ० र० सि०) अर्थ—व्यभिचारीभाव—इसमें, १. हर्ष। २. गर्व। ३. धृति। ४. निर्वेद। ५. विषाद। ६. दैन्य। ७. चिन्ता। ८. स्मृति। ९. शंका। १०. मति। ११. औत्सुक्य। १२. चपलता। १३. वितर्क। १४. आवेग। १५. लज्जा। १६. जाड्य। १७. मोह। १८. उन्माद। १९. अवहित्था। २०. बोध। २१. स्वप्न। २२. क्लम। २३. मरण ये व्यभिचारीभाव होते हैं। स्थायीभाव—(१) अविरल भक्ति, (२) तैल धारावत् स्मरण, (३) प्रेम, (४) भजन, (५) सेवा, (६) पूजा, (७) अर्चा, (८) स्तुति।

जीव ईश्वर का नित्यदास है। यथा—'**जीवेर स्वरूपहय कृष्णेर नित्यदास**' पुनश्च—रावण के द्वारा परिचय पूछे जाने पर श्रीहनुमान जी का कथन—**दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य।** अतः यह भाव प्रायः सुदृढ़ रहता है। ऐश्वर्य दर्शन होते ही वात्सल्य, सख्य, माधुर्य ये सभी रस दास्यरस रूप ही बन जाते हैं, यथा—दोहा—**बार-बार कौशिल्या विनय करैं कर जोरि। अब जनि कबहूँ व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि।** श्रीदशरथजी—**बार-बार करि प्रभुहिं प्रनामा। दशरथ हरषि गयउ सुरधामा।।** (रामायण) श्रीवसुदेव देवकी यथा—**युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ। भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह।। तत्ते गतोस्म्यरणमद्य पदारविन्दमापन्न संसृतिभयापहमार्त्तबन्धो। एतावतालमल मिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः।।** (भागवत १०/८५/१८–१९) अर्थात् आप दोनों मेरे पुत्र नहीं हैं किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हैं भूभार हरणार्थ अवतीर्ण हुए हैं। अतः मैं आपके पादारविन्द की शरण में हूँ जो संसृति रूप भय को दूर करने वाले हैं।। श्रीयशोदा— **गोप्यश्च गोपाः सह गोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः।।** भगवान् के मुख में विश्व देखकर माता ने प्रार्थना की कि जिसकी कृपा से गोपी गोप गोधन इस प्रकार हैं ऐसी प्रतीति होती है वही प्रभु मेरी गति हैं। इसी प्रकार नन्दबाबा—**मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।।** आदि।। अर्जुन—विराट्रूप देखकर—**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।।** (गी० ११-४१) सारांश—आपकी महिमा को न जानकर आपको सखा मानकर विहार, शय्या, आसन, भोजन आदि में जो अपराध हुए हों उन्हें क्षमा कराता हूँ (गीता)।

ब्रजगोपियाँ यथा—**श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।।** आदि प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त श्रीदशरथ- कौशल्या, वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा, वात्सल्य रसोपासक हैं, श्रीअर्जुनजी सख्य रसोपासक हैं, ब्रजदेवियाँ शृङ्गार रसोपासिका हैं। परन्तु ऐश्वर्य ज्ञान होने पर सभी के भाव दास्य रूप में परिणित हो

गये। दास्य भाव की इस महिमा को विचार कर ही श्रीकाकभुसुण्डि जी ने बड़ा जोर देकर कहा है कि **सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि। भजिय राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि।।** (रा०च०मा०) भगवान् को भी दास से बढ़कर कोई प्रिय नहीं है। यथा—**अनुज राज सम्पति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही।। सब मोहिं प्रिय नहिं तुमहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना।। सेवक प्रिय सबके यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती।।** (रा०च०मा०) **सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। नहिं कोऊ प्रिय मोहि दास सम कपट प्रीति बहिजाउ।।** (गीतावली) पुनश्च—**सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहिं भाये। तिन महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिनमहुँ निगम धर्म अनुसारी।। तिन महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी। तिनते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहिं गति मोर न दूसरि आसा।।** इसी से भगवान् के दास भगवान् से प्रार्थना करते हैं—**सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यहि ओर निबाहू।।** (रा०च०मा०)

सख्यरस—स्थायीभावो विभावाद्यैःसख्य मात्मोचितैरिह। नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते।। (भ० र० सि०) अर्थ—सख्यरूप स्थायी भाव अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में पुष्टि को प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयो-भक्तिरस अर्थात् सख्य) रस कहलाता है।। तत्रालम्बना:—'**हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बनामताः**' (भ० र० सि०) अर्थ—इसमें श्रीहरि तथा उनके मित्र आलम्बन विभाव माने जाते हैं। अथोद्दीपना:—**उद्दीपना वयोरूपाश्रृङ्ग वेणुदरा हरेः।। विनोद नर्म विक्रान्ति गुणाः प्रेष्ठ जनास्तथा। राजदेवावतारादि चेष्टाऽनुकरणादयः।।** (भ० र० सि०) अर्थ—कृष्ण की आयु, रूप, श्रृङ्ग, बांसुरी और शंख तथा विनोद हँसी-मजाक, पराक्रम के गुण तथा प्रियजन एवं राजा, देवता, अवतार आदि की चेष्टाओं का अनुकरण आदि उद्दीपन विभाव हैं।

अथानुभावा:—'**नियुद्ध कन्दुक द्यूत वाद्य वाहादिकेलिभिः। लगुडालगुडिक्रीड़ा-सङ्गैश्चास्यतोषणम्। पल्यंकासन दोलासु सहस्वापोपवेशनम्। चारुचित्र परीहासो विहारः सलिलाशये।। युग्मत्वे लास्य गानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः।।** अर्थ—कुश्ती, गेंद खेलना, द्यूत क्रीड़ा। वाद्य तथा सवारी आदि की क्रीड़ाओं के द्वारा, एवं डण्डों से परस्पर लड़ाई आदि के द्वारा इन (श्रीकृष्ण) को प्रसन्न करना। पलका, आसन और झूले पर साथ-साथ सोना और बैठना, सुन्दर एवं नाना प्रकार का परिहास करना जलाशयों में विहार करना और दो के इकट्ठे होने पर नाचना गाना आदि सख्य भक्तिरस में सबके साथ समान रूप से होने वाले व्यापार अनुभाव होते हैं। सख्यरस में सात्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वैवर्ण्य, कम्प, वेपथु, अश्रु।

अथव्यभिचारिण:—**औग्रयं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाः परे।** (भ० र० सि०) अर्थ—उग्रता, भय तथा आलस्य को छोड़कर शेष सारे व्यभिचारि भाव, विद्वान लोग सख्यभक्तिरस में बतलाते हैं। स्थायी—**विमुक्त सम्भ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः। प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्।।** (भ० र० सि०) अर्थ— दो समान व्यक्तियों की भयरहित तथा विश्वासरूपिणी जो रति होती है वह सख्य नामक स्थायी भाव कहलाता है।

दृष्टान्त दो मित्रों का— विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्।। (भ० र० सि०)

दो मित्र थे। परस्पर बड़ा स्नेह था। एकबार कहीं यात्रा में जा रहे थे। जंगल में सघन वृक्ष की छाया में, थके माँदे, दोनों बैठकर विश्राम करने लगे। एक मित्र की जाँघ पर अपना सिर रखकर एक मित्र

सो गया। दूसरा जग रहा था। तब तक वृक्ष के कोटर से एक सर्प निकला और सोये हुये मित्र की ओर बड़ा। जागने वाले मित्र ने सर्प को टोक कर उससे आने का अभिप्राय पूछा। सर्प ने कहा–यह मेरा पूर्वजन्म का बैरी है। मैं इसका खून पीऊँगा। मित्र ने कहा कि तू मेरा खून पीले, मेरे मित्र को छोड़ दे। परन्तु सर्प ने स्वीकार नहीं किया। तब मित्र ने विचारा कि इसके काटने से तो मित्र की मृत्यु हो जायगी और इसे चाहिये केवल खून ही। तब उसने सर्प से पूछा कि तुम्हें किस अङ्ग का खून पीना है। मैं वहीं का तुम्हें दे दूँ। सर्प ने कहा-कण्ठ का। बस मित्र ने छुरी निकाली और मित्र के कण्ठ की त्वचा चीरकर खून निकाल कर एक पत्ते पर सर्प को दे दिया। सर्प पीकर चला गया। इसने कण्ठ पर पट्टी बाँध दी। यद्यपि सोया हुआ मित्र, जब उसके कण्ठ पर छुरी चलाई गई तब जाग गया था। परन्तु नेत्र मूंद लिया। जगने पर कण्ठ में पट्टी बँधी देखकर भी, कष्ट का अनुभव होने पर भी अपने मित्र से कुछ कहा नहीं। पूछा तक नहीं। दूसरे मित्र से नहीं रहा गया। उसने स्वयं उससे जब कहा कि मैंने आपके कण्ठ पर छुरी चलाई, परन्तु आप पूछते भी नहीं, जागकर भी सो रहे क्या कारण है? तब उस मित्र ने कहा कि मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरा मित्र जो कुछ भी करेगा मेरे कल्याण के लिए ही। अतः पूछने का कोई प्रश्न ही नहीं। यह है मित्र वृत्ति और विश्वास का उदाहरण।

मित्र लक्षण–पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति। आपद्गतं च न जहाति ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।। (भर्तृ०) अर्थ-पाप से रोकता है, भलाई में लगाता है। गुप्त बातों को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति आने पर छोड़ता नहीं और समय पर यथाशक्ति देता है। सत्पुरुष मित्र का यही लक्षण बताते हैं। पुनश्च–**कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा।। देत लेत मन शंक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।। विपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।** (रा०)

कुमित्र लक्षण–पुरा साधुवद् भाति मिथ्याविनीतः, परोक्षे करोत्यर्थनाशं हताशः। भुजङ्गप्रयातोपमं यस्य चित्तं, त्यजेत्तादृशं दुर्विनीतं कुमित्रम्।। यही भाव रामायण की चौपाईयों का है। यथा–**आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई। जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरे भलाई।।** मित्र के प्रति भगवान राम का स्नेह। यथा–**सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब विधि घटब काज मैं तोरे।** पुनश्च–**तब रघुपति बोले मुसकाई। तुम प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई।।** पुनः–**ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे। मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे।।** (रा०)

श्रीकृष्ण का मित्र स्नेह–न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्।। (भा० ११-१४-१५) अर्थ–उद्धव! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, सगे भाई बलराम, स्वयं अर्द्धाङ्गिनी श्रीजी और मेरी अपनी आत्मा भी नहीं है। इसी प्रकार व्रज सखाओं के प्रति विलक्षण भाव है यथा–

चौपाई– **जम्यौ खेल अति मगन कन्हाई। देखत सुर मुनि रहे लुभाई।।**
जीतत सखा श्याम जब जाने। नहिं खेलौं तब कहि मचलाने।।
कहत सखा सब सुनहु गोपाला। रुगटैयां को कौन खियाला।।
श्रीदामा सों हौ तुम हारे। झूठी सौहैं खाउ लला रे।।

खेलत में को काको सैयाँ। कहा भयो जो नन्द गुसैंयाँ।।
क्यों तुम गर्वित हौ मन महियाँ। नहिं हम बसत तुम्हारी छहियाँ।।
अति अधिकार जनावत ताते। तुम्हरे अधिक गाय कछु जाते।।
एक गाँव महँ वास हमारौ। मैं नहिं सहिहौं कह्यौ तिहारो।।
एक कहो तो दस मैं कहिहौं। मैं कछु तुमसों डरपि न जैहौं।।
अब नहिं खेलहिं संग तुम्हारे। भय सखा सब रिस सौं न्यारे।।
खेल्यो चाहत त्रिभुवन राई। दियो दाँव तब पीठि चढ़ाई।।

दोहा— जाके गुण गण अमित अति, निगम न पावत छोर।
सो प्रभु खेलत ग्वाल संग, बँधे प्रेम की डोर।। (व्रजविलास)

पुनश्च-दोहा— गो चारत वृन्दाविपिन, खेलत ग्वालन संग।
दिव्य नृत्य संगीत लखि, हरि मन उठी तरङ्ग।।

छन्द— तब कह्यौ कृष्ण सबसौं सुनाय। संगीत नृत्य दीजै सिखाय।।
सब बोलि उठे यामें प्रधान। है तोष तुम्बुरू के समान।।
झट टेरि तोष लीन्हें बुलाय। कर जोरि कान्ह बोल्यो मनाय।।
प्रिय सखे तोष सन्तोष राय। म्वहिं नाच गान दीजै सिखाय।।
सुनिकह्यौ तोष यह कठिन ज्ञान। प्रथमहिं गुरु सेवौ छांड़ि मान।।
सहि मार डांट फटकार झार। अभ्यास करौ फिरि लगातार।।
गुरु कृपा भये स्वर होहिं सिद्ध। वश करनी विद्या जग प्रसिद्ध।।
स्वीकारि कृष्ण गुरु कियो तोष। तब सखन्ह मांझ भा असंतोष।।
मधु मंगल बोल्यो सुनो कान्ह। हम अछत गुरु नहिं बनैं आन।।
मैं हौं कुलगुरु करु गुरू मोय। तव गुरु कदापि नहिं तोष होय।।
सुनि अपर कहैं हम गुरू सांच। सब ज्ञान सिखावै कथाबांचि।।
तब कहन लगे सब सखा लोग। श्रीकृष्ण गुरु हम बनैं योग।।
हौं गुरु, हौं गुरु, जब सुन्यौ शोर। तब कहत कृष्ण करिकै निहोर।।
तुम सब ही हौ अब गुरू मोर। विद्या सिखवौ हम शिष्य तोर।।

दोहा— हर विरंचि हूँ को जनक, जगत गुरू जो ख्यात।
भये ग्वारिया तासु गुरु, सख्य भक्ति के नात।।

सख्य रसोपासक भक्तों के सम्बन्ध में देखिये भक्तमाल छप्पय २२ और श्रीसूरदास जी तथा श्रीगोविन्द स्वामी के प्रसंग।।

वात्सल्य भक्तिरस—विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायीपुष्टिमुपागतः। एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः।। (भ०र०सि०) अर्थ—विभावादि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ वात्सल्यरूप स्थायीभाव वत्सलभक्तिरस होता है। इसको विद्वान लोग केवल वात्सल्यरस कहते हैं। तत्रालम्बनाः—**कृष्णं तस्यगुरूंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः।।** अर्थ—विद्वान लोग कृष्ण और उनके गुरुजनों को वात्सल्य

रस का आलम्बन मानते हैं। अथोद्दीपना:—**कौमारादिवयोरूपवेषा: शैशव चापलम्। जल्पितस्मितलीलाद्या बुधैरुद्दीपना: स्मृता:** (भ०र०सि०) अर्थ—कौमारादि आयु, रूप, वेष, शैशव की चपलता, बात करना, मुस्कराना और लीला आदि को विद्वान लोग उद्दीपन बतलाते हैं। अथानुभावा:—**अनुभावा शिरोध्राणं, करेणाङ्गाभिमार्जनम्।। आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रति पालनम्।। हितोपदेश दानाद्या वत्सले परिकीर्त्तिता:।।** (भा०र०सि०) अर्थ—सिर का सूँघना, शरीर पर हाथ फेरना आशीर्वाद और आज्ञा देना, लालन पालन करना तथा हित का उपदेश करना आदि वात्सल्य रस में अनुभाव कहे जाते हैं। अथ सात्विका:-अब सात्विक भावों को कहते हैं। १-स्तन्यश्राव, २-स्तम्भ, ३-रोमांच, ४-स्वेद, ५-वैवर्ण्य, ६-कम्प, ७-अश्रु, ८-स्वरभंग, ९-प्रलय। अथ व्यभिचारिण:—'**अत्रापस्मारसहिता:, प्रीतोक्ता: व्यभिचारिण:।।**' अर्थ—अपस्मारसहित दास्यभक्तिरस में कहे हुये व्यभिचारिभाव इनमें होते हैं। अथस्थायी-**सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितु:। रति: सैवात्र वात्सल्यं स्थायीभावो निगद्यते।।** अर्थ—अनुकम्पा करने वाले गुरुजनों की अनुकम्पनीय के प्रति भयादि से रहित जो रति होती है उसी को यहाँ वात्सल्य नामक स्थायीभाव कहते हैं। यथा—'**सुत विषयक तब पद रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।।**' (रा० च० मा०)

वात्सल्य रस सम्बन्धी उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग—अम्बा कौशल्या—

चौपाई— **कबहुँ उछंग कबहुँ वर पलना। मातु दुलारहिं कहि प्रिय ललना।।**
सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा।।
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु वचन लिये उर लाई।।
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति चरित ललित कर गाना।।
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा।।
कौशल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।।
निगम नेति सिव अन्त न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा।।
धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये।।

दोहा— **भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।**
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ।। (रामायण)

पद— **ललन लोने लेरूआ बलि भैया।**
सुख सोइये नींद बिरियाँ भइ चारु चरित चारो भैया।
कहति मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।
मोद कन्द कुल कुमुद चन्द मेरे रामचन्द्र रघुरैया।।
रघुबर बाल केलि सन्तन की, सुभग सुभद सुरगैया।
तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनिघैया।।

पद— **आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।**
रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावत हू रोवत राम मेरो सो सोच सबही के।।

देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घी के।
तदपि कबहु कबहुँक सखि ऐसे ही अरत जब परत दृष्टि दुष्ट तीके।।
बेगि बोलि कुलगुरु छूवौं माथे हाथ अमी के।
सुनत आय ऋषि कुस हरे नरसिंह मन्त्र पढ़े जो सुमिरत भय भीके।।
जासु नाम सर्वसु सदा शिव पार्वती के।
ताहि झरावति कौसल्या यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के।। (गीतावली)

पद— आउ मेरे गोविन्द गोकुल चन्दा।
भई बड़ि बार खेलत यमुना तट बदन दिखाय देहु आनन्दा।।
गायन की आवन की बिरियाँ दिनमनि किरन होत अति मन्दा।
आये तात मात छतियाँ लागे गोविन्द प्रभु ब्रजजन सुख कन्दा।।

चौपाई— मन अवसेर करत महतारी। पलक ओट रहि सकल न न्यारी।।
देखत द्वार गली में ठाढ़ी। सुत मुख दरश लालसा बाढ़ी।।
ततछन हरि खेलनते आये। दौरि मातु लै कण्ठ लगाये।।
खेलन दूरि जात किन कान्हा। मैं बलि तुम अबहीं अति नान्हा।।
आज एक बन हाऊ आयौ। तुम नहिं जानत मैं सुनि पायौ।।
इक लरिका भजि आयौ तबहीं। सो वह मोसों कहि गयो अबहीं।।
वह तो पकरि लेत है तिनको। लरिका करि जानत हैं जिनको।।
चलौ भाजि चलिये निज धामहिं। यह सुनि टेरि लिये बलरामहिं।।
कनियाँ करि लैआई धामहिं। बड़ भागिनी यशुमति सुत श्यामहिं।।

दोहा— रूप रेख जाके नहीं, विधि हरि अन्त न पाय।
हाऊसों डरपाय तेहिं, यशुमति राखत स्वाय।। (ब्रजविलास)

श्लोक— पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य, दामोदरं वदति कोपवशात् यशोदा।
त्वं शूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे, इत्युक्तसस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः।।

सवैया— खेलत रारि मचावत धावत कूदत कृष्ण सखा संग भैया।
श्री यमुना तट पंक में लोटि बन्यौ अति अद्भुत नंद कौ छैया।।
कीच सन्यौ किलक्यौ हँसिकै लखिकै करि कोप कहै इमि मैया।
मैं अब जानि सुमानि गई गतजन्म को शूकर है तु कन्हैया।।

श्लोक—रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तौ पितुर्वाचा पंचवटी बने विहरतस्तामाहरद् रावणः।
निद्रार्थं जननी कथामितिहरेर्हुङ्कारतः श्रृण्वतः, सौमित्रे क्व धनुर्धनुरितिव्यग्रा गिरः पातु वः।।
(विल्व०)

सवैया— नहिं नींद भई बड़ि राति गई यशुदा इतिहास कहै हरि को।
पितु आयसु ते मुनिवेष किये रघुनाथ ससीय गये वन को।।

जब पंचवटी वन में पहुँचे तब रावन आय हरी सिय को।
सुनि चौंकि कह्यो धनुवान कहाँ, यह व्यग्र गिरा सुख दै सबको।।

श्लोक– **क्वाननं क्व नयनं क्व नासिका, क्व श्रुतिः क्व च शिखेति देशितः।**
तत्रतत्र निहितांगुलीदलो बल्लवीकुलमनन्दयत् प्रभुः।। (पद्यावली)

अर्थ–श्रीकवि सार्वभौम जी कहते हैं कि–बालमूर्ति श्रीकृष्ण पर दुलार करती हुई गोपियाँ जब श्रीकृष्ण से यों कहती हैं कि, लालजी! तुम्हारा मुख कहाँ है? नेत्र कहाँ हैं? नासिका कहाँ? कान कहाँ हैं और तुम्हारी चुटिया कहाँ है? तब प्रभु श्रीनन्दलाल जी उस-उस स्थान पर अंगुली धर-धरकर सब गोपियों को आनन्दित कर देते हैं।।

शृंगार रस–आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि। मधुराख्यो भवेद्भक्ति रसोऽसौ मधुरारतिः।। (भ०र०सि०) अर्थ–अपने अनुरूप विभावादिकों के द्वारा सहृदयों के हृदय में पुष्टि को प्राप्त मधुरा रति को 'मधुरभक्तिरस' अर्थात् शृङ्गार रस कहा जाता है। तत्रालम्बना:–**अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः।।** (भ०र०सि०) अर्थ–इसमें श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्बन विभाव होती हैं। अथोद्दीपना:–**उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरली निस्वनादयः।।** (भ०र०सि०) अर्थ–मुरली की ध्वनि आदि (आदि शब्द से कमनीयता, वसन्त ऋतु, कोकिल कूक, त्रिविध पवन, कटाक्ष, मुस्कान आदि का संकेत है) इसमें उद्दीपन विभाव है। अथानुभावा:–**अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः।**' (भ०र०सि०) अर्थ–कटाक्ष तथा स्मित आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं। सात्विक भाव-स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, अश्रु, स्वरभंग, प्रलय। अथव्यभिचारिण:–**आलस्यौग्रयेबिना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः।** अर्थ–सम्भोग बाधक रूप आलस्य तथा उग्रता को छोड़कर शेष सारे प्रिय संग कारक व्यभिचारी भाव मधुर भक्तिरस में भी होते हैं। व्यभिचारि भाव ३३ होते हैं। यथा–१. निर्वेद। २. ग्लानि। ३. शंका। ४. श्रम। ५. धृति। ६. जड़ता। ७. हर्ष। ८. दीनता। ९. उग्रता। १०. चिन्ता। ११. त्रास। १२. ईर्ष्या। १३. अमर्ष। १४. गर्व। १५. स्मृति। १६. अपस्मृति। १७. मरण। १८. मद। १९. निद्रा। २०. सुषुप्ति। २१. अवबोध। २२. ब्रीडा। २३. मोह। २४. मति। २५. आलस्य। २६. आदेश। २७. वितर्क। २८. अवहित्था। २९. व्याधि। ३०. उन्माद। ३१. विषाद। ३२. चपलता। ३३. औत्सुक्य।

अथ स्थायी–'**स्थायीभावो भवत्यत्र पूर्वोक्त मधुरारतिः।**' (भ०र०सि०) अर्थ–पूर्वोक्तमधुर भक्ति ही यहाँ स्थायीभाव कहा जाता है। वह मधुर भक्ति या शृङ्गार रस सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का होता है। यथा–स विप्रलम्भसम्भोगभेदेन द्विविधो मतः (भ०र०सि०) विप्रलम्भ=वियोग। सम्भोग=संयोग। प्रेम तत्त्वदर्शी आचार्यों का अनुभव है कि संयोग की अपेक्षा वियोग श्रेष्ठ है यथा–"**संगम विरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य। एकः स एव संगे, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।।**" अर्थ–संयोग और वियोग इन दोनों में मैं संयोग की अपेक्षा वियोग को ही श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि संयोग में वह प्रियतम अकेला ही दीखता है और वियोग में तो त्रैलोक्य प्रियतममय दिखाई देने लगता है। यथा–"**जित देखौं तित श्याम मई है।**" उर्दू के एक शायर ने भी लिखा है–"**वस्ल में हिज्र का गम, हिज्र में वस्ल की खुशी। कौन कहता है हिज्र से वस्ल अच्छा है।।**' अर्थ–संयोग में वियोग की आशङ्का होती है और वियोग में संयोग (मिलन) की खुशी समाई रहती है। अतः कौन कहता है कि

वियोग से संयोग अच्छा है। वियोग (विप्रलम्भ) चार प्रकार का होता है। (१) प्रत्यक्ष, (इसी को प्रेम वैचित्र्य भी कहते हैं), (२) पलकान्तर, (३) वनान्तर, (४) देशान्तर। इनकी विशेष व्याख्या देखिये! श्रीनन्ददास जी के प्रसंग में एवं आगे चलकर प्रसंगानुसार अन्यत्र भी संयोग और वियोग के सम्बन्ध में लिखा जायेगा। सम्भोग–**द्वयोर्मिलितयोर्भोगः सम्भोग इति कीर्त्यते।**' (भ०र०सि०) अर्थ–मिलने पर दोनों का भोग सम्भोग श्रृङ्गार कहलाता है।

शृंगार रस के कुछ उदाहरण–

जोई-जोई प्यारो करै सोई-सोई भावै मोहिं, भावै मोहिं जोई सोई-सोई करै प्यारौ।
मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैंनन में, प्यारो भयो चाहै मेरे नैनन को तारो।।
मेरे तन मन प्राणहूँ ते प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्रीहित हरिवंश हंस-हंसनी सांवल गौर कहो कौन करै जल तरङ्गनि न्यारे।।

पद– **तव मुखचन्द चकोर ये नैना।**
अति आरत अनुरागी लम्पट भूलि गई गति पलहू लगैना।।
अरबरात मिलिबे को निस दिन मिलेइ रहत मानों कबहुँ मिलै ना।
'भगवत रसिक रसिककी बातैं रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।।

कवित्त– **ऐरी आज काल सब लोक लाज त्यागि दोऊ, सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।**
यह रसखानि दिन द्वै में बात फैलि जैहै कहाँ लौं सयानी चन्द हाथनि छिपायबो।।
अजहूँ निहार बीर निपट कालिन्दी तीर दोउन को दोउन सों मुख मुसक्याइबो।
दोऊ परैं पैयां दोऊ लेत हैं बलैयाँ उन्हें भूलि गईं गैयां इन्हें गगरी उठायबो।।

चौपाई– **रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुखु नहि कथनीया।।**
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ।।

पुनः– **प्राणनाथ तुम बिन जगमाहीं। मों कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।।**
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु बदन निहारे।।
छिनु-छिनु प्रभुपद कमल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी।।

दोहा– **प्राणनाथ करुणायतन सुन्दर सुखद सुजान।**
तुम बिनु रघुकुल कुमुद विधु सुरपुर नरक समान।।

तब श्रीराम वाक्य–**तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।**
सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं। जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं।। (रामायण)

'पाचौरस सार'–यथा–**शान्त, दास्य, वात्सल्य कहि तिमि श्रृङ्गार सुसख्य। ये पाँचों रस भक्ति के, मणि रस रंग सुमुख्य।। काव्यन में श्रृङ्गार कौ, कहैं यदपि रसराज। पै भक्ती में सम अहै, पाँचों रस सुखसाज।।** (श्रीराम रस रंग दोहावली) पुनश्च–**घाटि बाढ़ि एकौ नहीं पाँचों रस हैं सार। सबही ते प्रभु रीझहीं, सब पर राखैं प्यार।। पाँच रसन को भक्ति के, पाँच प्राण ही जानिये। रुचि अनुसार उपासिये, पै घट बढ़ नहिं मानिये।।** (भ०व०टि०)

'विस्तार नीके गाये हैं'—भाव यह है कि—आगे जो भक्तों का चरित्र गाया गया है, तो जो भक्त जिस रस का उपासक है, उसके चरित्र वर्णन में, उस रस का सम्यक् बोध कराया गया है। वस्तुत: रसों का सम्यक् बोध, जैसा उन-उन रसोपासक भक्तों के चरित्र के माध्यम से किया जा सकता है, वैसा रसों की स्वतन्त्र व्याख्या से समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: श्रीप्रियादास जी ने इस कवित्त में केवल रसों के नाम ही निर्देश किये हैं, विस्तार आगे चरित्र वर्णन में किया है। श्रीभक्तमाल के सभी भक्त इन पाँचों रसों के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—शङ्कराचार्य जी, श्रीविमलानन्द जी, दामोदरतीर्थ जी, मधुसूदन सरस्वती आदि शान्त रसोपासक भक्त हैं। श्रीहनुमान जी, श्रीसुग्रीव जी आदि दास्य रसोपासक हैं। श्रीअर्जुन, मधुमंगल, सुबलादि सख्य रसोपासक हैं। श्रीदशरथ-कौशल्या, नन्द-यशोदा, कर्माबाई आदि वात्सल्य रसोपासक हैं। श्रीव्रजदेवियाँ, श्रीअग्रदास, श्रीनाभा जी, श्रीसूरदास जी मदन-मोहन, श्रीनरसी जी आदि शृङ्गार रसोपासक भक्त हैं।

टीका को चमत्कार—

छप्पय— **टीका ते बनि भूप राजसिंहासन राजै। टीका ही ते साधु विष्णु सम सुन्दर साजै।।**
टीका ते यम डरैं लोक में आदर पावै। टीका मंगल मूल भये वर व्याह रचावै।।
सुभगा तिय टीका किये, कविभाषा को रस मिलै। मूलग्रंथ कलिकासरिस सरसी टीका ते खिलै।।

जानौगे विचारि मन—रहस्य विचार करने पर ही समझ में आते हैं। इसमें श्रीप्रियादास जी का संकेत है कि प्रत्येक प्रसंग गहराई से विचार पूर्वक मनन किया जाय तो बड़े-बड़े अनूठे भाव रत्न मिलेंगे। पूर्व कहे हैं कि टीका चमत्कारपूर्ण हैं, तो अब टीका का चमत्कार वर्णन करते हैं—१. इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं। २. जिनके न अश्रुपात......छकाये हैं। ३. जौलौं रहै दूर....श्रवण लगाये हैं। ये सब चमत्कार हैं।

इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं—इसका कई प्रकार से अर्थ होगा। १. इन रसों का स्वरूप मैंने अनुपम अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट रीति से दिखाया है। २. इन रसों के विस्तार से वर्णन में मैंने अनुपम भक्ति को अनुपम रीति से दिखाया है। भक्ति अनुपम है। यथा—'**तात भगति अनुपम सुख मूला।।**' (रा० च० मा०) ३. इन रसों का स्वरूप वर्णन करने में मैंने अनुपम भगवान को दिखा दिया है। अर्थात् भगवत्स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया है। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों ही अनूप हैं। यथा—नाम अनूप— '**इनके नाम अनेक अनूपा।**' रूप अनूप—**निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहैं।।** लीला अनूप=**कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा।।** धाम अनूप=**संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल।।** (रा० च० मा०) दिखाये हैं-जनाया कि जो भी विषय मैंने वर्णन किया है, वह मूर्तिमान हो गया है। ऐसे काव्य को चित्र काव्य कहते हैं। जिसमें बिना तूलिका और बिना रंग के शब्दों द्वारा विषय को साकार कर दिया जाता है। अनूपलै दिखाये हैं—भाव ज्यों का त्यों मैंने दरसा दिया है।

दृष्टांत-तानतरंग वेश्या का—तानतरंग नाम की एक वेश्या थी। इसकी भाव प्रदर्शन कला की बड़ी प्रसिद्धि थी। कला प्रदर्शन के लिये राजदरबार में बुलाई गई। बादशाह ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला का भाव दिखाने की आज्ञा दी। उसने 'मैया री मैं चन्द खिलौना लैहौं' का भाव दिखाया। तदाकार हो गयी। मचल गई। मानो साक्षात् बाल कृष्ण मैया से मचले हों। बादशाह प्रसन्न होकर बहुत-बहुत पुरस्कार देते, परन्तु वह कुछ भी नहीं लेती, फेंक-फेंक देती, बस एक ही रट 'मैया री मैं चन्द खिलौना लैहौं।' बादशाह झुँझलाया। एक अनुभवी सज्जन ने भाव को पहिचाना और सुझाव दिया कि जैसे—रोहिणी माता ने युक्ति पूर्वक थाल में जल रखकर चन्द्र प्रतिबिम्ब दिखाकर बालकृष्ण को मनाया था, वही किया जाय। ऐसा ही किया गया। वह प्रसन्न हो गई। बादशाह ने उलाहना दिया—तुम बड़े से बड़े पुरस्कार पर नहीं रीझीं और झूठ-मूठ के चन्द्र प्रतिबिम्ब पर रीझ गईं। ऐसा क्यों ? उसने उत्तर दिया कि यदि मैं पुरस्कारों का लोभ करती तो भाव प्रदर्शन में त्रुटि रह जाती। बालकृष्ण तो चन्द्र प्रतिबिम्ब पर ही रीझे थे। अन्य किसी भी वस्तु पर नहीं।

जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभूं—भाव जो सर्वथा वज्र हृदय हैं। कितना हूँ, कैसा भी, करुण प्रसंग क्यों न सामने आये, जो किंचित्मात्र भी पसीजने वाले नहीं हैं। यथा—**कुलिस कठोर निठुर सोई छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती** (रा० च० मा०) पुनश्च—**तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिना- मधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषुहर्षः।।** (भा० २/३/२४) अर्थ—वह हृदय नहीं है, लोहा है, जो भगवान के मंगलमय नामों का श्रवण कीर्तन करने पर भी पिघल कर उन्हीं कीओर बह नहीं जाता। जिस समय हृदय पिघलता है, उस समय नेत्रों में आँसू छलकने लगते हैं और शरीर का रोम-रोम खिल उठता है। ऐसे कठोर हृदय को तो फट जाना चाहिये, नेत्र फूट जाने चाहिये, शरीर जल जाना चाहिये जो भगवान का स्मरण करके भी द्रवते, स्रवते तथा पुलकायमान नहीं होते। यथा—**हिय फाटहु फूटहु नयन, जरउ सो तन केहि काम। द्रवहिं स्रवहिं, पुलकहिं नहीं, तुलसी सुमिरत राम।।** (दोहावली) भगवान का चरित्र कहने, सुनने में जिनको हर्ष रोमांच आदि होता है वे निश्चय ही बड़े सुकृती हैं। यथा—'**कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।।** (रामचरितमानस)

तिनहूँ को भाव सिन्धुबोरि सो छकाये हैं—तिन्हहूँ का भाव यह है कि रसिक महानुभावों के लिये तो यह टीका रसबोधिनी होगी ही जो कुलिश कठोर हृदय हैं' उनको भी। भावसिन्धुबोरि का भाव यह है कि जहाँ भावबिन्दु भी नहीं है वहाँ भावसिन्धु हिलोरें लेने लगता है। विचारने की बात है कि जब, यह टीका रसहीन हृदय में भाव सिन्धु उमगाने वाली है तो रसिक हृदय को कितनी सुखदायिनी होगी। भावसिन्धु में डुबोने का भाव यह कि सदा सर्वदा के लिये उसका हृदय सरस हो जाता है। क्षणिक अनुराग की प्राप्ति हो, सो बात नहीं। क्योंकि—''**डूबा प्रेम सिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा।।**'' (ललितकिशोरी जी)

छकाये हैं—भाव—'**चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यौं, कबहुँ न उदर भरो।**' यह बात नहीं। मैंने तो उनको छका दिया है, पूर्ण तृप्त कर दिया है। यथा—

कवित्त—**सुनि रोवैं गावैं एक भूमि में लुटावैं तन, एक हंसि नाचैं ध्यान लावैं मूर्ति लाल की।**
एक धन धाम खान पान परिवार त्यागि सुनैं नित्त जात सोच छांड़ि माया जालकी।।

भांग बूटी छूटी अरु ही की आंख खूटी तब ममता जंजीर टूटी मेटी चिन्ता कालकी।
एक एकन बुलाय धाय लाय समुझाय कहैं, चलि सुनि आओ कथा होति भक्तमाल की।।
(भ० व० टि०)

पुनः— **घरहू छुटाये काम पूरे हू न परन पाये, हिय हुलसाये रूप मति अति लाल की।**
असन वसन भूले लोचन सरोज फूले मन रस भूले बानी सुनि सुरसाल की।।
लोक कुल धर्म टारे धीरज विडारि डारे रंग भरि भारे शोभा अक्षर विसाल की।
प्रेम सुख जाल रही काहू न सँभाल अहो सुनि भक्तमाल कैधौं बाँसुरी गोपाल की।।

जौ लौं रहैं दूर—भाव यह है कि जब तक श्रीभक्तमाल जी का दर्शन नहीं किया है-पढ़ा, सुना, समझा नहीं है तब तक 'रहै विमुखता पूर'—क्योंकि—'**बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।''** '**हियो होय चूर-चूर नेक श्रवण लगाये हैं।**' यथा—

दोहा— **भक्तमाल जू की कथा, भई मधुपुरी माहिं। प्रेम सहित चौविनें सब, नित्य सुनन तहँ जाहिं।।**

चौपाई— **एक रही सो कबहुँ न जावै। नित्त परोसिनि ताहि बुलावै।।**
गृह कारज अवसर नहिं पाऊँ। कैसे कथा सुनन को जाऊँ।।
एहि बिधि कहि कबहूँ नहिं जावै। संग हेतु सो नित्त बुलावै।।
कथा भवन कछु कारज आयौ। जाय अनिच्छित कछु सुनि पायौ।।
भगवत् कृपा रङ्ग चढ़ि आयौ। देह गेह छन मांझ भुलायौ।।
भई बावरी सी पछिताई। वसन विभूषण सुधि बिसराई।।
ऐसी कथा न मैं सुनि पाई। अब समाप्त होवे पर आई।।
प्रेम भूत सो ऐसो लाग्यौ। चूर-चूर हिय रति रस पाग्यौ।।
करि उपाय घर के जब हारे। तब निज भवन कथा बैठारे।।
परमानन्द भयो तब-ताको। कथा सुधा को चसको बाँको।।

दोहा— **लाखा पिघले रंग परै, नहीं सकै बिलगाय।**
द्रवित चित्त पै रंग चढ़ै क्यों हू उतरै नाँय।। (विशेष देखिये भक्तमाल माहात्म्य)

भक्तमाल-महिमा

पंच रस सोई पंच रङ्ग फूल थाके नीके, पीके पहिराइवे को रचिकै बनाई है।
वैजयन्ती दाम भाववती अलि 'नाभा', नाम लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है।।
धारी उर प्यारी, किहूँ करत न न्यारी, अहो! देखौ गति न्यारी ढरिपायनको आई है।
भक्ति छबिभार, ताते नमित श्रृङ्गार होत, होत वश लखै जोई याते जानि पाई है।।५।।

शब्दार्थ—पंचरस=शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार रस। थाके=गुच्छे, स्तबक, सुस्थित। पीके=प्रियके, श्रीराघवेन्द्र सरकार के। बैजयन्ती=पाँच रंगों के फूलों की माला जिसे भगवान पहनते हैं।

भावती=प्रेम करने वाली, प्रेमिका। अली=सखी। न्यारी=अलग, दूर निराली, अनोखी। ढरि= लटककर। नमित=झुका, नम्र।

भावार्थ—प्रस्तुत कवित्त में श्रीभक्तमाल को पंचरंगी बैजयन्ती माला बताकर उसकी महिमा, सुन्दरता और भगवत प्रियता का वर्णन किया गया है। पूर्व कवित्त में कहे गये पाँच रस ही मानो फूलों के सुन्दर गुच्छे हैं, भाववती नाभा नाम की सखी ने अपने प्रियतम को पहनाने के लिये अच्छी प्रकार से बनाया है। यह बैजयन्ती माला इतनी सुन्दर है कि लोकाभिराम श्यामसुन्दर श्रीराम की बुद्धि भी इसे देखकर ललचा गई। उन्होंने इस प्यारी बनमाला को अपने वक्षस्थल पर धारण किया, उन्हें यह इतनी प्रिय लगी कि—इसे वे कभी भी अपने कण्ठ से अलग नहीं करते हैं। इस माला की विचित्र गति तो देखिये कि—भगवान ने इसे कण्ठ में धारण किया और यह लटक कर श्रीचरणों में आ लगी है। इस माला में भक्ति की सुन्दरता का भार है, इसी से झुकी है। पंचरंगी भक्तमाल पहने हुये श्यामसुन्दर का जो दर्शन करता है, वह उनके वश में होकर उन्हें वश में कर लेता है। यह रहस्य की बात भक्तमाल के द्वारा जानी गई है।।५।।

व्याख्या-पंच रस सोई पंच रंग फूल—शान्त रस श्वेत रंग का फूल है, दास्य रस पीत रंग का, सख्य हरे रंग का, वात्सल्य लाल रंग का और शृङ्गार रस श्यामवर्ण का फूल है। यथा—

कवित्त—**शान्त भक्त श्वेत पुष्प ब्रह्म ज्योति ध्यान धरैं, चित्तवृत्ति शुद्ध-स्वच्छ वारिधार गंग की।**
दास्य पीत हैं प्रसून पाद-पद्म प्रीतिरीति, भीति हीय माँझ नित्य चिन्त स्वामि अंग की।
सख्य भाव चाव पूर्ण, हैं हरे सुरंग फूल, खेल कूद प्रेम युक्त चाह है उमंग की।
वात्सल्य लाल रंग लाल को लड़ाय लाड़ गोद राखि मोद मानि बुद्धि हू अपङ्ग की।।१।।
श्याम वर्ण है सिङ्गार अङ्ग संग में आनन्द याहि देखु, आय भक्तमाल पंच रंग की।
राम श्याम कण्ठ माहिं देखि शोर चारि ओर, देखुरी लजाति जोति आजु है अनङ्ग की।
एक द्यौस मांझ पुष्प माल हीन छीन होति, नित्त ही नवीन आलि काव्य यौं अभंग की।
धारि कै न फेरि याहि को उतारिबे की चाह ऐसी बैजयन्ती भक्त-माल पंच रङ्ग की।।२।।
(भ० व० टि०)

थाके=गुच्छे। पंचरंग फूल के गुच्छे कहने का भाव यह कि, भक्तमाल में जो भक्त सुमन पिरोये गये हैं, वह कुछ इस क्रम से नहीं कि शान्त रसोपासक एक जगह और दास्य रसोपासक एक जगह बल्कि सभी रस के भक्तों का सम्मिलित वर्णन किया गया है। जैसे एक-एक गुच्छे में बहुत-बहुत फूल होते हैं। वैसे ही एक-एक छप्पय में बहुत-बहुत भक्तों का वर्णन है। अत: पंचरंग फूल थाके कहा। थाके का अर्थ स्थिर होना भी होता है। इसके अनुसार भाव यह कि—श्रीनाभा जी ने भक्त-सुमनों को भक्ति सूत्र में ऐसा पिरोया है कि एक भी फूल झड़ नहीं सकता, अर्थात् सभी भक्तों का चरित्र इतना सरस है, भावपूर्ण है कि एक के भी सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह ठीक नहीं। 'सभी ही अत्यन्त हृदयाकर्षक हैं। दूसरे-प्यारे भी इतना सँभाल कर इस माला को धारण करते हैं कि एक भी सुमन झड़ने न पाये और भक्त सुमन भी स्वयं सावधान हैं, गिर नहीं सकते। अत: थाके नीके ऐसा कहा।

पीके पहिराइबे को—पीके अर्थात् अपने प्यारे प्रभु श्यामसुन्दर को पहिराइबे को। प्रश्न—पीके ही पहनाने को क्यों? समाधान—१. भक्त की मनसा वाचा कर्मणा समस्त चेष्टायें स्वाभाविक ही,

भगवान के लिये ही होती हैं। भक्त जो कुछ भी करता है, उसे भक्तिपूर्वक प्रभु को ही समर्पित करता है। यथा—**कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृत स्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।**' (भा० ११/२/३६) अर्थ—वह (भक्त) शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहङ्कार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाव वश जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान नारायण के लिये ही है। इस भाव से उन्हें समर्पण कर दे।। २. भगवान की आज्ञा भी है। यथा—"**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।**" (गीता ९/२७) अर्थ—हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।। ३. इस माला के महत्व को, माली की भक्ति को जैसा प्रभु समझते हैं, वैसा अन्य नहीं। यथा—'**को जिय कै रघुबर बिनु बूझा।**' अतः पीके.......। जो वस्तु के महत्व को नहीं जानता, उसे वह वस्तु प्रदान करने से, वस्तु का निरादर होता है, दाता को क्षोभ होता है, प्रतिगृहीता का अमङ्गल होता है। इस पर—

दृष्टांत-इन्द्र और दुर्वासा का—श्रीदुर्वासा जी भगवान का दर्शन करने वैकुण्ठ गये। प्रभु ने प्रसन्न होकर निज प्रसादी माला मुनि को दी। मुनि माला को लेकर आ रहे थे। इन्द्र ऐरावत पर चढ़कर देवासुर संग्राम में जा रहे थे। इन्द्र ने उन्हें सादर प्रणाम किया। मुनि ने इन्द्र की मङ्गल कामना से वह माला उन्हें दे दी। परन्तु मदोन्मत्त इन्द्र ने उसे ऐरावत के माथे पर डाल दिया। ऐरावत ने सूँड़ से तोड़ कर पाँवों से कुचल दिया। यह सब देखकर रुद्रावतार दुर्वासा मुनि ने ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का शाप दे दिया। कथा का तात्पर्य—इन्द्र ने माला के महत्व को नहीं जाना, अतः उसका निरादर किया, हाथी के सिर पर डाल दिया जिससे मुनि को क्षोभ हुआ। अतः पीके......। ४. चूँकि भगवान को भक्त अति प्यारे हैं। यथा—'**तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे।।**' (रा० च० मा०) '**साधवो हृदयं मह्यं**' '**सन्त आत्माऽहमेव च।**' (भा०) अतः पीके पहिराइबे को......। पहिराने से तात्पर्य प्रेमपूर्वक सुनाने से है और प्रेमपूर्वक सुनना, सुनकर भावों को हृदयङ्गम करना, भाव हृदयङ्गम होने पर भी सदा सुनते रहना, सदा सुनते रहने पर भी, सुनने के लिये समुत्सुक ही बने रहना पहिनना है, धारण करना है। वस्तुतः श्रीभक्तमाल के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। देखिये श्रीभक्तमाल माहात्म्य।

रचिकै बनाई है—भक्तिभाव पूर्वक बनाई है। यथा—छन्द—**भाव बाटिका से नाभा अलि भक्त सुमन चुनि लाई है। हृदय टोकरी में धरि अँसुवन सींचि सींचि सरसाई है।। गुरु की आज्ञा सुई भई हरि भक्ति सूत्र सुखदाई है। हरिजन प्रेम युक्ति से गूँथी यहि विधि, रची बनाई है।।** (भ० वि० ट०)

वैजयन्ती दाम—श्रीनाभा जी ने इस भक्तमाल को वैजयन्ती दाम अर्थात् वनमाल नाम दिया। वनमाल नाम क्यों? समाधान—इसलिये कि वनमाला पाँच प्रकार के पुष्पों से निर्मित होती है। यथा—'**तुलसी कुन्द मन्दार, पारिजात सरोरुहैः। पंचभिर्ग्रथिता माला, वनमाला प्रकीर्तिता।।**' अर्थात्—१. तुलसी। २. कुन्द। ३. मन्दार। ४. पारिजात और ५. कमल। वनमाला में ये पाँच प्रकार के फूल होते हैं और भक्तमाल भी पंचरस रूपी पंचरङ्ग के फूलों से निर्मित है अतः वैजयन्ती दाम कहा।

भाववती अलि नाभा नाम—यहाँ श्रीनाभा जी को अलि (सखी) कहा गया है। वस्तुतः श्रीनाभा जी की श्रृंगार रस की ही उपासना है। इनके गुरुदेव श्रीअग्रदास जी श्रृंगार रस के आचार्य हैं अतः श्रीभगवत

रसिक जी ने भी इन्हें अलि रूप में ही स्मरण किया है। यथा—**अग्रदास नाभादि सखी ये सबै राम सीता की। सूर मदनमोहन नरसी अलि तस्कर नवनीता की।।** 'नाभा नाम'—वस्तुत: आपका श्रीगुरु जी का दिया हुआ नाम तो श्रीनारायणदास है जैसा कि श्रीभक्तमाल के उपसंहार में आप स्वयं संकेत करते हैं। यथा—**काहू के बल जोग जग, कुल करनी की आस। भक्त नाम माला अगर, उर बसो नारायणदास** (भक्तमाल दोहा २१४) तो फिर नाभा नाम क्यों कहा? समाधान—१. **थे प्रेमवृक्ष श्रीअग्रदेव, तिनको यह नाभा गाभा है। कीन्ही जब इनने भक्तमाल तब फैली भक्ति की आभा है।। सुनि सुनि हरि लोक लगे जाने भा अद्भुत दुर्लभ लाभा है। याते उपमा के योग न क्वौ, नाभा सम नाभा नाभा है।।** २. श्रीगुरुदेव श्रीअग्रदास जी मानसी में ध्यान कर रहे थे। आप पंखा झल रहे थे और गुरुजी की मानसी सेवा का सुख भी ले रहे थे चूँकि श्रीगुरुजी की नाभि की बात जान गये अत: नाभा नाम पड़ा। ३. **कमल नाभ अज विष्णु यों अग्रनाभ नाभा भयो। उन हरि अज्ञा पाय सकल ब्रह्माण्ड उपायो। इन गुरु आज्ञा पाइ भक्त को निरनै गायौ।। चार युगन के भक्त जनन की गूथी माला। अंग अंग बनी विशाल विचित्रा बहुत रसाला।। 'लघु मोहन' अचरज कहा सीतापति जिय घर जयो। कमल नाभ अज विष्णु यों अग्रनाभ नाभा भयौ।।** अत: नाभा नाम पड़ा।

लाई—समर्पण करने के लिय लाये (तो दूर से ही देखकर) '**श्याम मति ललचाई है**'—जैसे भगवान का चरित्र सुनने को भक्त ललचाते रहते हैं वैसे ही भक्तों का चरित्र सुनने को भगवान लालायित रहते हैं। यथा—**निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रणत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।।** (गीतावती)

अभिराम श्याम मति ललचाई—से माला का वैशिष्ट्य दिखाया गया है। श्याम स्वयं अभिराम अर्थात् परम सुन्दर हैं यथा—'**निकाम श्याम सुन्दरं**' देखतरूप चराचर मोहा।' (रा०च०मा०) परन्तु वह भी जिस माला को देखकर ललचावें उसकी सुन्दरता का क्या कहना है। ऐसी अभिराम है वह वैजयन्ती माला (भक्तमाल)। और ज़ब अभिराम श्याम ही ललचाते हैं तो और की तो बात ही क्या 'अभिराम'—**उर पर धारी प्रेम सों रामचन्द्र घनश्याम। कबहुँ न न्यारी करत हैं याही ते अभिराम।।** अभिराम शब्द दाम, अलि और श्याम तीनों का विशेषण है। दाम अभिराम इसलिये कि श्याम ने उर पर धारण किया है। अलि अभिराम इसलिये कि भाववती हैं। श्याम अभिराम इसलिये कि—'**किहूँ करत न न्यारी।।**'

धारी उर प्यारी—हृदय में धारण किया—अर्थात् पाठ करने के लिये कण्ठस्थ कर लिया, दूसरा भाव यह है कि यह भक्त-सुमनों की माला है और भक्त भगवान के हृदय हैं। यथा—'**साधवो हृदयं मह्यं।**' दूसरे प्यारी है, क्योंकि भक्त भगवान को अत्यन्त प्यारे होते हैं। यथा—'**तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे।**' अत: प्यारे भक्त सुमनों की होने से प्यारी है अत: धारी उर प्यारी कहा। धारी उर प्यारी का एक बड़ा ही मधुर भाव यह कि—माला बड़ी थी जैसा कि आगे स्पष्ट है—'**ढरि पांयन को आई।**' अत: प्रभु ने अपने तो धारण किया ही श्रीप्यारी श्रीजानकी जी को भी धारण करा दिया। इससे भी अधिक एक और भी मधुर भाव यह है कि त्रिभुवन मोहन अभिराम श्याम मति तो ललचाई ही, त्रिभुवन मोहन मोहिनी श्रीश्यामाजी की भी मति ललचा गई अत: स्वयं ही 'धारी उर प्यारी' अर्थात् युगल सरकार इस माला को धारण करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीभक्तमाल जी युगलाकर्षिणी हैं।।

किहूँ करत न न्यारी—क्योंकि प्यारी जो ठहरी। अतः सदा सर्वदा पठन, श्रवण, मनन किया करते हैं, श्रीभक्तमाल जी को हृदय से लगाये रहते हैं। दूसरे चूँकि—'**बिना भक्तमाल भक्ति रूप अतिदूर है**' और '**पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी।**' अतः भक्ति के लोभ से और भक्ति करना सीखने के लोभ से भी '**किहूँ करत न न्यारी। अहो देखो गति न्यारी।।**' यह कि जहाँ अन्य विविध साधनानुष्ठान करने पर भी, भगवान की एक झलक भी परम दुर्लभ है, वहाँ भक्ति के प्रभाव से भक्त भगवान के हृदय का हार बन जाते हैं और एक क्षण के लिये भी प्रभु से पृथक् नहीं होते। मणिमाल, मुक्तामाल, वनमाल तुलसीमाल चाहे भले ही न्यारी हो जायँ परन्तु श्रीभक्तमाल 'किहूँ करत न न्यारी' अतः कहते हैं कि 'देखो गति न्यारी' पुनः—**सखी अभिराम कर माला अभिराम लाई अति अभिराम देखि लोभे सुखदाई है। पंचरंग फूल सुखमूल समतूल लगै शोभा सुखरास आस धर के बनाई है।। दीनी ततकाल लखि रीझि ततकाल मंजुमाल प्रियलाल प्यारी उर पहिराइ है। अति मन भाई हिये प्रीति सरसाई राखे उर लपटाई याते न्यारी गति गाई है।।** अहो आश्चर्य बोधक है।

ढरि पांयन को आई है—श्रीभक्तमाल में दूसरा निरालापन यह है कि श्याम तो माल को 'उर धारी' परन्तु माल ढर कर पाँवों की ओर आती है। प्रश्न—भगवान के हृदय में न रहकर पावों की ओर ढरने का क्या हेतु है? समाधान—१. इसमें एक हेतु तो भक्तों का सहज दैन्य है, विनम्रता है। भक्त हमेशा—'**तृणादपि सुनीचेन**' तथा '**राई ते बीसो बिसे, ता बीसे पुनि बीस। ताते छोटे ह्वै रहौ, तब मिलि हैं जगदीश।**' का अनुसन्धान करते हैं। इसलिये कि भगवान को दैन्य अत्यन्त ही प्रिय है। यथा—'**जेहि दीन पियारे, वेद पुकारे द्रवउँ सो श्रीभगवाना।**' '**जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।**' (रा०च०मा०) **एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई, दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।** (विनय) अतः ढरि पांयन को आई है। २. भगवान का हृदय तो श्री श्रीजी का निवास स्थान है। यथा—'**उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला।**' इस सम्बन्ध में बड़ी ही सुन्दर कथा संत महानुभाव जन प्रमाण में कहते हैं यथा—

जब श्रीजानकी जी व्याह के बाद श्रीमिथिला से विदा होकर श्रीअयोध्या आईं, तो महारानी श्रीकौशल्या जी, सुन रखी थीं कि मिथिलेश नन्दिनी अत्यन्त सुकुमारिणी हैं। यथा—**पलङ्ग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।**' अतः वह वहाँ मणिमय कठोर भूमि पर कैसे पाँव धरेंगी, यह विचार कर असंख्य असंख्य कमलों को मँगाकर उनका पराग-रज झड़वाकर समस्त प्रांगण में बिछवाई थीं परन्तु आश्चर्य, परम आश्चर्य। जब श्रीजानकीजी पालकी से उतरीं तो पराग रज पर पाँव धरने पर भी वे बार-बार अपने श्रीचरण-कमलों को उठातीं-धरतीं। माता श्री कौशल्या ने यह देख लिया और यह भी देखा कि वधू जानकी के ओष्ठ सूखे हैं तब तो वे अधीर हो गईं और कान में धीरे से पूछी—बेटी! तुम बारम्बार अपने पाँवों को क्यों उठाती हो? तथा तुम्हारे ओष्ठ क्यों सूखे हैं? श्रीजानकीजी ने कहा कि—माताजी! यह पराग रज मेरे चरण तल में गड़ती है अतः मैं बार-बार पाँव उठाती हूँ और आपकी यह दासी बहुत देर से टकटकी लगाकर मेरे मुख की ओर देखती है अतः उसके नेत्रों के ताप से मेरे ओष्ठ सूख रहे हैं। इस कथा का बड़ा ही सुन्दर संकेत 'श्रीगुणरत्न कोश' में मिलता है। यथा—'**पादारुन्तुदमेव पंकज रजश्चेटीभृशालोकितैरङ्गम्लानिरथाम्ब साहसविधौ लीलारविंदग्रहः।।**'' तब अत्यन्त हैरान सी श्रीकौशल्याजी ने पूछा—'बेटी! तब तुम रहोगी कहाँ? तो जानकी जी ने श्रीरामजी के हृदय की ओर

संकेत किया। भाव—मेरा निवास स्थान प्रभु का हृदय है। इससे सिद्ध हुआ कि भगवान का हृदय श्री श्रीजी का निवास स्थान है और श्री श्रीजी भक्तों की परमाराध्या हैं अतः भक्तों ने प्रभु के श्रीचरण-कमलों को ही अपना आश्रय बनाया है। क्योंकि हृदय में रहने से श्री श्रीजी की (परमाराध्याकी) बराबरी होगी और आराध्य की बराबरी बड़ा दोष है। यथा—'**प्रभु की समता बड़ दोष लहौंगो**'' (कवितावली) अतः 'ढरि पाँयन को आई है।' और इधर श्रीप्रभु समेट-समेट कर हृदय में धारण करते हैं 'धारी उर। क्योंकि प्रभु के श्रीमुख के वचन हैं—'**अनुज राज सम्पति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही।। सब मोहि प्रिय नहिं तुमहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना।।** भक्त भगवान के धन हैं, भगवान का नाम ही पड़ गया है। 'अकिंचन वित्त'। यथा—'**नमोऽकिञ्चन वित्ताय**' (भागवत १/८/२७) और भगवान हैं भक्त धन के लोभी। यथा—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे।। और भगवान के श्रीचरण कमल भक्तों के परम धन हैं। यथा—'**धनं मदीयं तव पाद पंकजं**'' (आलवन्दार स्तोत्र) दोनों-दोनों के धन हैं। अतः भगवान 'धारी उर' और भक्तमाल 'ढरि पायन को आई है। ४. इसका एक कारण टीकाकार भी आगे की पंक्ति में स्वयं संकेत करते हैं। यथा—भक्ति छवि०

भक्ति छवि भार ताते नमित—भक्ति छबि भार ताते नमित शृङ्गार होत—यह बड़ी ही भावपूर्ण उक्ति है। कवि ने गागर में सागर भर दिया है। इसका कई प्रकार से बड़ा ही भावमय अर्थ किया जाता है। यथा—१. श्रीभक्तमाल में भक्तों की भक्ति रूपी छबि का भार है। ताते=इस कारण से अर्थात् भक्ति छबि से भारायमान होने से श्रृंगार=माला नमित होत अर्थात् झुक-झुक कर नीचे पांयनि की ओर आती है। इस अर्थ में श्रृंगार का अर्थ माला किया गया है। २. श्रीभक्तमाल में भक्ति छबि भार है ताते माला नमित होत, ताते अर्थात् माला भक्ति छबि से तो छबि वाली ही है, नमित होने से उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है और इससे भी अधिक चमत्कार की बात यह है कि ऐसी माला को धारण करने से, उसे पुनः पुनः सँभालने से भगवान का भी अद्‌भुत श्रृंगार होत। ३. माला रचना में श्रीनाभाजी की जो भक्ति है, प्रीति है, उससे भक्तमाल प्रेम-रस पुंजनि होकर छविभार से भारायमान हो जाती है। तात्पर्य माला के स्वकीय सहज सौंदर्य में, श्रीनाभाजी की प्रीति का संयोग होने से शोभा अधिकाधिक बढ़ जाती है। अर्थात् भक्तचर्चा तो सहज ही मनोहारिणी है। उसमें भी यदि प्रेम पूर्वक प्रेमी सन्तों का चरित्र कहा जाय तो सोने में सुगन्ध है। इस कारण से नमित होत अतः श्रृंगार होत।। ४. माला में भक्ति-छबि भार है ताते भगवान का श्रृंगार नमित होत। अर्थात् श्री भक्तमाल जी की शोभा के सामने भगवान के समस्त श्रृंगार फीके पड़ जाते हैं। श्रीभक्तमाल जी सबके ऊपर विराजती हैं। सबसे अधिक शोभायमान होती हैं। इस अर्थ में, प्राकृतिक श्रृङ्गार प्रसाधनों की कौन कहे भगवान के दिव्यातिदिव्य आभूषण भी भक्ति की शोभा की समता करने में असमर्थ होते दिखाये गये हैं। अतः भक्ति सौन्दर्य की लौकिक-अलौकिक समस्त शृङ्गार सौन्दर्यों से श्रेष्ठता सिद्ध होती हैं।

होत वश लखै जोई—जोई=जो कोई भी भक्ति-छवि भार से भारायमान श्रीभक्तमाल को देखता है अर्थात् दर्शन, श्रवण, पठन, मनन, गान करता है तथा उस माल को उर में धारण किये हुये भगवान को देखता है वही भक्त और भगवान के वश में हो जाता है अर्थात् भागवतों के चरित्रों को सुनकर तथा महिमा विचार कर कि—इसे भगवान धारण करते हैं हृदय में सहज ही भक्ति का आविर्भाव होने से वह भक्त और भगवान का अनन्य भक्त हो जाता है। २. जोई=ज्योंही भगवान श्रीभक्तमाल को देखते हैं, त्योंही भक्तों के

वश में हो जाते हैं। **'याते जानि पाई है'**—इससे श्री भक्तमाल की महिमा तथा भगवान का भक्तपारतन्त्र्य मैंने प्रत्यक्ष जाना।।

दृष्टव्य—एक बात यहाँ बड़े ही महत्व की यह है कि माला पंचरस रूपी पंचरंगे फूलों की है और ढरकर पांवों की ओर आ रही है, इससे जनाया गया कि सभी रसोपासक भक्तों का अन्तिम साध्य लक्ष्य श्रीप्रभु के चरणारविन्द ही हैं अर्थात् सभी रसों का पर्यवसान दास्य रस में ही होता है। यथा—दासनपति श्री हनुमानजी तो श्रीप्रभु के दास्य एवं प्रभु पादारविन्दों को अपना सर्वस्व समझते ही हैं—**'दासोऽहं कौसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः'** (श्रीवाल्मीकि रामायण) **'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना'** आदि। वात्सल्य रसोपासक श्री दशरथजी—**'असि कहि गे विश्राम गृह, रामचरन चितलाइ।'** (रा० च० मा०) सख्यरसोपासक श्री उद्धवजी अपने को दास कहते हैं—यथा—**'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकार-चर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि।।'** (भा० ११/६/४६) अर्थ—हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुये चन्दन लगाये आपके उतारे हुये वस्त्र पहने और हम आपके धारण किये गहनों से अपने को सजाते हैं। हम आपकी जूठन खाने वाले दास हैं, इसलिये हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे।। इस श्लोक में सखा उद्धवने अपने को दास कहा है। श्रृङ्गाररसोपासिका ब्रजदेवियाँ अपने को प्यारे श्यामसुन्दर की दासी ही कहती हैं यथा—**'भज सखे भवत्किङ्करीः स्मनो'** (भा० १०/३१/६) अर्थ—हम तो तुम्हारी दासी हैं हमसे रूठो मत। प्रेम करो। शान्त रसोपासक श्री मधुसूदन सरस्वतीजी कहते हैं—**'अद्वैतवीथीपथिकैरूपास्य, स्वानन्दसिंहासन-लब्धदीक्षाः। शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन।।** अर्थ—छन्द—**अद्वैतज्ञान पथ पथिकन द्वारा मैं उपास्य जगमाहीं। तत्त्वज्ञान के सिंहासन पर मैं आरूढ़ सदाहीं। पै ब्रज गोपिन के प्रेमी ने मन मेरो अरुझायो। नटखट शठने हा हठ करिकै मोकूँ दासि बनायौ।** इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पाँचों रसों का पर्यवसान दास्यरस में ही होता है। एक बात और—जब तक किसी भी रस की उपासना में दास्य भाव का समावेश नहीं होगा तब तक वह उपासना न होकर एक क्रिया विशेष मात्र है, क्योंकि भक्ति शब्द का वास्तविक अर्थ है सेवा, और सेवा प्रधान दास्य रस ही है।

सत्संग प्रभाव वर्णन

भक्ति तरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरीहू कौ, बारि दै बिचार वारि सींच्यो सत्संग सों।
लाग्योई बढ़न, गोंदा चहुंदिशि कढ़न सो चढ़न अकाश, यश फैल्यो बहुरंग सों।।
सन्त उर आल बाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सों।
देखौ बढ़वारि जाहि अजाहू की शंका हुती, ताहि पेड़ बाँधे झूमें हाथी जीते जंग सों।।६।।

शब्दार्थ—पौधा=नया निकलता हुआ पेड़। विघ्न डर=कामादि षड्विकारों से भय। छेरी=बकरी, दूसरे पक्ष में अजा, माया। बारि=घेरा। विचार=सत् असत् का विवेक। वारि=जल। गोंदा=छोटा नया वृक्ष। कढ़न=फूटना, फैलना। बहुरंग=अनेक प्रकार। सन्त उर=सज्जन का सा कोमल सरल हृदय। आलबाल= थाल्हा। (पौधे के मूल के चारों ओर जल देने का स्थान) जीवजाल=प्राणियों के समूह। प्रसंग=सत्संग, हेतु, कारण। अजा=माया, दूसरे पक्ष में बकरी। शंका=संदेह, भय। जंग=युद्ध, संग्राम।

भावार्थ—भक्ति का वृक्ष जब साधक के हृदय में छोटे पौधे के रूप में होता है तब उसे हानि का

भय माया रूपी बकरी से भी होता है, अतः पौधे की रक्षा के लिए उसके चारों ओर विचार रूपी घेरा लगाकर सत्संग रूपी जल से सींचा जाता है, तब उसमें चारों ओर से शाखा–प्रशाखाएँ निकलने लगती हैं और वह आकाश की ओर चढ़ने–बढ़ने लगता है। सरल साधु हृदय रूप थाल्हे में सुशोभित इस विशाल भक्ति–वृक्ष की छाया अर्थात् सत्संग पाकर त्रिविध तापों से तपे जीव समूह सन्ताप रहित होकर परमानन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सार–सँभार करने पर इस भक्ति का विचित्र रूप से बढ़ना तो देखो कि जिसको पहले कभी छोटी–सी बकरी का भी डर था, उसी में आज महा–संग्राम विजयी, काम–क्रोध आदि बड़े–बड़े हाथी बँधे हुए झूम रहे हैं, परन्तु उस वृक्ष को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकते हैं।।६।।

व्याख्या—पूर्व कवित्त ३ में भक्ति महारानी का श्रृङ्गार वर्णन किये। अब भक्ति तरु पौधे के रूपक द्वारा पुनः भक्ति का स्वरूप एवं महत्व वर्णन करते हैं। भक्ति और तरु की समता—१. तारयति इति तरुः, जैसे तरु तारते हैं पार, करते हैं। नदी आदि से तारने का साधन नाव, बेड़ा आदि तरु से ही बनते हैं। वैसे ही भक्ति भी जीवों को भव सागर से तारने के लिये नाव रूप है, यथा—'**हरि की भक्ति नवरिया, हरीनाम पतवार। सद्गुरुदेव मलहवा, चढ़ै सो होवै पार।**' (सन्तवाणी)

२. जैसे तरु प्राणी मात्र को विश्रामप्रद होते हैं, वैसे ही भक्ति भी सर्व सुखदायिनी है। यथा—**पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ।।** (रा०च०मा०) भक्ति में प्राणिमात्र का अधिकार है। चराचर द्रोही एवं सुदुराचारी भी भक्ति भाजन हो सकता है। यथा—'**जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।। तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।।** (रा० च० मा०)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।
(गीता ९/३०/३२)

अर्थ—यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त हुआ मेरे को निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है। क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।। क्योंकि हे अर्जुन! स्त्री वैश्य और शूद्रादिक तथा पाप योनि वाले भी जो कोई होवे, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगति को ही प्राप्त होते हैं। यह बात ज्ञान और कर्म में सुलभ नहीं। वहाँ तो अधिकारी जन ही लाभान्वित होते हैं।

३. वृक्ष और भक्ति दोनों में ही पक्षपात शून्यता तथा सबके प्रति समता होती है। यथा—भक्ति में—'**इहाँ न पक्षपात कछु राखौ**' (रा० च० मा०) वृक्ष के ऊपर लिखे हुए गुण प्रत्यक्ष एवं प्रसिद्ध हैं। ४. दोनों ही उदार होते हैं। यथा—'**रामभक्त जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।** (रा० च० मा०) वृक्षों की उदारता प्रत्यक्ष एवं प्रसिद्ध है। ५. दोनों ही परोपकारी हैं—यथा—**सन्त विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबनि कै करनी।** (रा० च० मा०) '**परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।**' भक्ति भाव से भावित सन्त भी परोपकारी होते हैं। यथा—'**पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज स्वभाव**

खगराया।। हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।' (रा० च० मा०) ६. तरु फलवान होते हैं। भक्ति फलरूपा है। यह विशेष बात है। यथा–**जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।'**

भक्ति-तरु–पौधा का पूरा रूपक इस प्रकार है–सन्त, सद्‌गुरु माली हैं, आश्रित का सत्वप्रधान हृदय ही भूमि है, मन्त्र बीज है, जैसे बीज पृथ्वी में गुप्त रहता है उसी प्रकार मन्त्र हृदय में गुप्त रहता है। बीज बोने के पूर्व माली लोग पृथ्वी को काँटा, कंकण आदि निकाल कर खूब खोद कर उर्वरा एवं कोमल कर लेते हैं तब उसमें बीज बोते हैं। वैसे ही सन्त सद्‌गुरुदेव भी सदुपदेश द्वारा शिष्य के हृदय के विकारों को दूर कर '**सत हरि भजन जगत सब सपना**' के रहस्य को पुनः पुनः समझाकर मन्त्र दीक्षा की इच्छा जाग्रत करते हैं। हृदय में यह दीक्षा की शुभेच्छा होना ही हृदय भूमि का उर्वरा एवं कोमल होना है। तब गुरु उसमें मन्त्र रूप बीज बोते हैं। भूमि को बिना बनाये बीज बोने से परिश्रम व्यर्थ जाता है। गाँठ का बीज भी जाता है। उसी प्रकार से बिना पात्रता के (अधिकार के) उपदेश निष्फल जाता है और अपनी हानि भी होती है, यथा–

मूर्ख शिष्योपदेशेन दुष्टास्त्रीभरणेन च। दुःखितैः सम्प्रयोगेन, पण्डितो व्यवसीदति।। (नीतौ)

पुनश्च–सीख वाहि को दीजिए, जाको सीख सोहाय। सीख न दीजै वानरा, घरहु बया का जाय।

दृष्टान्त–सर्दी का समय था। वर्षा की झड़ी लगी हुई थी। बन्दर वृक्ष के नीचे ठिठुर रहे थे। अपने घोंसले में सुख से बैठे वया नाम के पक्षियों ने कहा–तुम लोग तो हाथ-पाँव वाले हो चाहो तो अपने रहने के लिए सुन्दर स्थान बना सकते हो। देखो, हम अपनी चोंच से ही रहने के लिए स्थान बनाकर सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं और तुम लोग ठिठुर रहे हो। पक्षियों के उपदेश की यह बात सुनकर बन्दर बहुत ही झुंझलाये और बोले कि वर्षा बन्द होने दो तो अभी हम तुम्हारे उपदेश की दक्षिणा देते हैं और सचमुच जब वर्षा बन्द हुई तो बन्दरों ने पक्षियों के समस्त घोंसले उजाड़ डाले। मूर्ख बन्दरों को उपदेश देने के कारण पक्षीगण स्वयं संकट में पड़ गये। अतः अनधिकारी को दीक्षा देना निष्फल और स्वयं को (दीक्षक को) भी संकट में डालने वाला होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वाचार्य प्रथम अधिकार परीक्षा करके ही दीक्षा देते थे।

दृष्टान्त–२. एक गुरुकुल में बहुत से जिज्ञासु जन दीक्षार्थ निवास करते थे और गुरु की सेवा करते हुए नित्यप्रति उपदेश श्रवण करते थे। कुछ काल बीतने पर श्री गुरुदेवजी ने सबकी परीक्षा ली। सभी जिज्ञासुओं को दो-दो केले देकर कहा कि ले जाओ जहाँ कोई न देखे वहाँ खा लेना। सभी एकान्त की तलाश में इतस्ततः दौड़ पड़े और अपनी-अपनी समझ से एकान्त ढूँढ़कर दो-दो मिनट में ही अपने-अपने केले खा-खाकर गुरुजी के पास लौट आये। परन्तु एक जिज्ञासु सायंकाल तक ऐसा एकान्त ढूँढ़ता रहा जहाँ कोई न देखता हो। परन्तु उसे कहीं भी एकान्त न मिला। दोनों केले हाथ में लिए हुए श्री गुरुजी के पास आकर प्रणाम किया और श्री गुरुजी के पूछने पर अपने केले नहीं खाने का हेतु निर्देश करते हुए ब्रह्म की सर्व व्यापकता एवं सर्वत्र दृष्टि को कारण बताया। श्री गुरुजी ने उसे हृदय से लगा लिया और आज तक के अपने उपदेश को सफल समझकर इसे ही अधिकारी जानकर मन्त्रोपदेश किया।

दृष्टान्त—३. एक गुरुजी के यहाँ दो जिज्ञासु दीक्षा निमित्त सेवा करते हुये निवास करते थे। जब उपदेश श्रवण करते-करते कुछ काल बीत गया तो श्री गुरुदेव ने अधिकार परीक्षार्थ दोनों को एक-एक मुट्ठी चना देकर एक वर्ष बाद इन्हें लेकर अपने पास आने को कहा—दोनों घर चले गये। एक ने घर जाकर चनों को डिबिया में बन्द करके रख दिया और दूसरे ने अपने उस एक मुट्ठी चनों को उपजाऊ भूमि में बो दिया। फलस्वरूप वह कई गुना हो गया, जब एक वर्ष बीतने पर दोनों श्रीगुरुजी के पास आये और अपने-अपने चने प्रस्तुत किये। श्री गुरुजी ने देखा कि डिबिया वाला चना तो रखा-रखा घुन गया था और दूसरे शिष्य के चनों को कई गुना वृद्धि को प्राप्त हुआ पाया। इसकी इस क्रिया से भक्ति वृद्धि होने का लक्षण जानकर इसे ही अधिकारी समझकर मन्त्रोपदेश किया।।

बीज बोया जाता है तो प्रथम उसमें अंकुर निकलता है जिसमें दो दल होते हैं, वैसे ही यहाँ पर कण्ठी और तिलक ये दो दल हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। जब अंकुर बढ़ता है तो उसे पौधा कहते हैं, यहाँ भक्ति तरु पौधा अर्थात् जो नई-नई साधन भक्ति है वह पौधा तुल्य है। '**ताहि विघ्न डर छेरी हू को**'—यहाँ विघ्न और डर दो बातें हैं। विघ्न तो माया के द्वारा होता है यथा—'**विघ्न अनेक करइ तब माया।**' अर्थात् माया रूपी बकरी कहीं खा न जाय, यह विघ्न और डर यह कि कोई शत्रु उखाड़ न दे। दोनों ही दशाओं में पौधे का नाश हो जाता है। वैसे ही यहाँ पर भी कुसंगी जनों द्वारा उखाड़े जाने का डर है। यथा—**आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं।।** (रा० च० मा०) **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।** (चार्वाक वचनम्) इत्यादि वचन भक्ततरु पौधा के उखाड़ने के प्रयत्न स्वरूप हैं। माया के द्वारा विघ्न होते हैं।

दृष्टान्त श्रीध्रुवजी का—विमाता के वाग्बाणों से बिद्ध हृदय श्री ध्रुवजी जब अपनी जननी से उपदेश पाकर भगवद् भजन के लिए वन जाने को प्रस्तुत हुए तब पिता उत्तानपादजी ने माँ बेटे को जीवन निर्वाहार्थ एक सेर अन्न दिये जाने के बजाय दो सेर अन्न देने का प्रलोभन देकर ध्रुव को लौट आने के लिए कहलवाया। यही माया का विघ्न है। श्री ध्रुवजी ने इसे समझा और तत्काल उत्तर दिया—'**जिन प्रभु कीन्ह सेर से दूना। तिनके भवन और का सूना।।**' श्री ध्रुवजी ने इसे विचारा कि अभी तो मैंने भजन का सङ्कल्प मात्र किया है और प्रतिकूल पिता भी अनुकूल होकर दूनादून देने को प्रस्तुत हैं। फिर तो उनका उत्साह और भी बढ़ा। अपने इन सामान्य प्रयत्नों को विफल होते देखकर राजा ने आधा राज्य तक देने का प्रलोभन दिया। माया का यह अर्द्ध राज्यरूप प्रबल विघ्न भी बालक ध्रुव को विचलित नहीं कर सका। बल्कि वे तो भक्ति के इस अद्भुत चमत्कार पर मुग्ध हुए कि भक्ति का सङ्कल्प मात्र ही भला इतना फलदायी है कि जो एक सेर अन्न मात्र देता था वह आज आधा राज्य देने के लिए तैयार है। फिर तो और आगे बढ़े, रास्ते में श्री नारदजी मिले उन्होंने तो पूरा राज्य दिलवाने का वचन दिया। परन्तु तब भी श्री ध्रुवजी अपने लक्ष्य में सुमेर गिरि की भाँति अडिग ही बने रहे। परिणामतः श्री नारदजी की कृपा और मन्त्रोपदेश पाकर मधुवन में जाकर तपस्या में संलग्न हो गये। इतने पर भी माया ने पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन अचानक आँधी, पानी, बवण्डर, तूफान आदि की सृष्टि कर स्वयं श्री ध्रुवजी की माता का स्वरूप धारण कर माया श्री ध्रुवजी के आश्रम के पास रोने-बिलखने लगी और बार-बार घर लौट चलने का अनुरोध करने लगी। माँ के स्वर से मिलता-जुलता करुण-क्रन्दन सुनकर श्री ध्रुवजी ने विचार किया—माँ ने तो उपदेश दिया है यथा—**इहै कह्यौ सुत वेद चहूँ। श्रीरघुनाथ चरण चिन्तन बिन नाहिन ठौर**

कहूँ।। (विनय) फिर माँ ही मुझे भजन से, श्री रघुनाथ चरण चिन्तन से विरत क्यों करने लगी। पुनश्च—जिसका लाल भगवान का आराधन करेगा भला वह माँ संकट में पड़ ही कैसे सकती है। भगवान का विरद है—**प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई।।** (रा० च० मा०) निश्चय ही यह माया का विघ्न है।

श्री ध्रुवजी अपने साधन में और भी लीन हो गये। यहाँ उपदेश की चार बातें १. श्री ध्रुवजी भगवान के पीछे हैं और माया श्री ध्रुवजी के पीछे पड़ी है। इसमें दिखाया है कि भगवान का अनुगमन करने वाले की माया स्वतः अनुगामिनी हो जाती है। यथा—**माया को सब जग भजै माधव भजै न कोय। तुलसी जो माधव भजै, माया चेरी होय।** २. माया जिसके पीछे पड़ी हो अर्थात् विचलित करने के लिए कटिबद्ध हो उसे भगवान का अनुगमन करना चाहिये। यथा—श्लोक—**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।** (गीता ७/१४) अर्थ—यह अलौकिक अर्थात् अति अद्‌भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं। ३. जिनके दृष्टिपथ में भगवान रहते हैं उनसे माया पीछे अर्थात् बहुत दूर रह जाती है। ४. जिन्हें भगवद्दर्शन की लालसा है उन्हें माया को पीछे करना होगा। क्योंकि जीव और ब्रह्म के बीच में माया आवरण स्वरूपा है।। यहाँ माया को बकरी कहा गया है। माया त्रिगुणात्मिका होने से चितकबरी बकरी है। (सतोगुण श्वेत, रजोगुण लाल, तमोगुण श्याम) यथा—**अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां, वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः (श्वेताश्वतरोपनिषद्—४-५)।।** अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय बहुत से भूत समुदायों को रचने वाली तथा लाल, सफेद और काले रङ्ग की अर्थात् त्रिगुणमयी एक अजा (अजन्मा-अनादि प्रकृति) को निश्चय ही एक अजन्मा आसक्त हुआ भोगता है (और) दूसरा अज (ज्ञानी महापुरुष) इस भोगी हुई प्रकृति को त्याग देता है।

'बारि दै विचार'—पौधा तरु की रक्षा के लिए बाड़ लगाते हैं। यहाँ विचार ही बाड़ है। विचार से तात्पर्य है अर्थ पंचक एवं तत्वत्रय का अनुचिन्तन।। जगत की असारता यथा—**उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।। योग वियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा।। जनम मरन जहं लगि जग जालू। संपति विपति करम अरु कालू।। धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरगु-नरकु जहँ लगि व्यवहारू।। देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं।।** माया की प्रबलता—**अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जौ दाया।** (रा०) भगवद्‌भजन की साररूपता का निरन्तर अनुसन्धान ही विचाररूपी बाड़ है। अविचार से ही असार संसार भी सारभूत भासित होता है। यथा—'**मैं तोहिं अब जान्यौ संसार।.......।।' देखत ही रमणीय कछू नाहिं न पुनि किये विचार। ज्यौं कदली तरु मध्य निहारत निकसत कबहूँ न सार।।** पुनश्च—'**अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी।**' (विनय) विचार करने पर जगत की असारता, दु:ख रूपता, क्षण भंगुरता का जीता-जागता स्वरूप दिखाई देने लगता है।

दृष्टान्त—सेठ के लड़के का—काशी नगरी के सबसे बड़े सेठ का यश नामक पुत्र अत्यन्त विषयी-विलासी हो गया था। अहर्निश अनेक-अनेक रमणीय रत्नों, नर्तकियों, परिचारिकाओं के रागरङ्ग में वह इतना निमग्न रहता था कि उसे कोठे पर से नीचे उतरना ही अच्छा नहीं लगता। संयोग की बात एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में टिमटिमाते हुए दीपक के क्षीण प्रकाश में उसने अपने रागरङ्ग का जो

वीभत्स स्वरूप देखा उससे उसकी आत्मा सिहर उठी। उसके अङ्ग पीले पड़ गये, नेत्रों के सामने अन्धेरा छा गया, उसने देखा प्रिय ललनायें नर्तकियाँ तथा परिचारिकायें चेतना शून्य थीं, नींद के वश में थीं। किसी के मुख से लार टपक रही थी, तो किसी के अधरों पर कफ का फेनिल विकार था। कोई टेढ़ी सो रही थी तो किसी की अनावृत भुजायें वीभत्सता प्रगट कर रही थीं। किसी का मुख टेढ़ा पड़ गया था तो किसी के खुले हुए बिखरे केश अत्यन्त भयावने लग रहे थे मानो कोई चुड़ैल पड़ी हो। उसने देखा, कामिनी की कनक काया का कुत्सित रूप और चीत्कार उठा–ओह! मैं जिसे सत्य शाश्वत और सुखदायी समझता था वह असत्य क्षणभंगुर और अत्यन्त वीभत्स दीखता है। 'वह सेठ का पुत्र जमीन पकड़ कर बैठ गया। उसके हृदय में उसी क्षण वैराग्य का उदय हो गया। ब्रह्म वेला निकट थी, उसने भगवान बुद्ध की शरण को ग्रहण किया। (बुद्धचर्या)

'वारि सींचो सत्संग सों'—पौधे को जल से सिंचन करते रहने से वह बढ़ता है, हरा-भरा रहता है, फूलता-फलता है अतः जल की आवश्यकता पौधे की स्थिति में होने के साथ-साथ बड़े होने पर भी रहती है, उसी प्रकार सत्संग भी साधनावस्था एवं सिद्धावस्था दोनों में ही परमावश्यक है। साधनावस्था में सत्संग से ही भक्ति का प्रादुर्भाव, पोषण एवं संरक्षण होता है यथा—'**प्रथम भगति सन्तन कर सङ्गा।**' '**सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई।**' (रा० च० मा०) '**बिनु सत्संग भक्ति नहिं होई।**' (विनय) '**तात भगति अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होंइ अनुकूला।** आदि-आदि (रा० च० मा०) और सिद्धावस्था में सत्संग से भक्ति की वृद्धि तथा स्थैर्य का सम्पादन होता है। यही कारण है कि परमसिद्ध श्री शिवजी एवं अगस्त्यजी तक भगवान से सत्संग की याचना करते हैं। यथा—**बार बार वर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदासतसंग।।** पुनश्च—'**यह वर माँगौं कृपा निकेता। बसहु हृदय श्रीअनुज समेता।। अविचल भक्ति बिरति सत्संगा। चरण सरोरुह प्रीति अभंगा।।**' (रा० च० मा०)

माता देवहूति से सत्संग की महिमा वर्णन करते हुए भगवान श्री कपिलदेवजी कहते हैं कि—'**सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य संविदो, भवन्ति हृत्कर्ण रसायनाः कथाः। तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धारतिर्भक्ति रनुक्रमिष्यति।**' (भा० ३/२५/२५) अर्थ—सत्पुरुषों के समागम से मेरे पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली तथा हृदय और कानों को प्रिय लगने वाली कथायें होती हैं, उनका सेवन करने से शीघ्र ही मोक्षमार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकास होता है। अतः सदा सत्संग की आवश्यकता है। जैसे पौधे में जल नहीं देने से वह सूख जाता है वैसे ही सत्संग के अभाव में भक्ति का भी अभाव हो जाता है। यथा—**तुलसी घट नव छिद्र को, सत्संगति सरि बोर। बाहर रहै न बूँद जल, कीजै जनत करोर।।**' (दोहावली)

श्री भर्तृहरिजी को जब वैराग्य हुआ और माता से आज्ञा लेने गये तो माता ने चार उपदेश दिये—१. सदा किले में रहना, २. अमृत भोजन करना, ३. फूल की सेज पर सोना, ४. उदर शोधना। स्पष्टीकरण—सन्तों के बीच में रहना, सदा सत्संग करना ही किले में निवास करना है। खूब भूख लगने पर भगवदिच्छा से जो मिले वही खाना अमृत भोजन है। खूब नींद आने पर सोना सुमन शय्या पर सोने के समान है और किसी प्रकार की व्याधि हो तो प्रथम उदर का शोधन करना चाहिए अतः वारि सींचो सत्संग सो ऐसा कहा।

एक बात ध्यान में रखने की है कि सत्संग भी अपनी उपासना से सम्बन्धित सन्तों का ही करना चाहिए। यथा—**इष्ट मिले, अरु मन मिले, मिले भजनकी रीति। मिलिये ताहि निशंक ह्वै, तिनसों कीजै प्रीति।।** (व्यासवाणी) ऐसा नहीं कि एक सगुणोपासक हो, दूसरा निर्गुणोपासक। एक तो कहता कि भगवान के नेत्र 'अतिशय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते। हैं तो दूसरा डाँटता कि यह क्या कह रहे हो, भगवान तो—**बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।। तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्राण बिनु बास असेषा।।** (रा० च० मा०) वेदों में भी लिखा है—"**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१९)** अर्थ—वह परमात्मा हाथ-पैरों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला, वेग पूर्वक सर्वत्र गमन करने वाला है, आँखों के बिना ही वह सब कुछ देखता है, कानों के बिना ही सब कुछ सुनता है, वह जो कुछ भी जानने में आने वाली वस्तुयें हैं उन सबको जानता हैं, परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है, उसे महान आदि पुरुष कहते हैं।।

दृष्टान्त—दो छात्र मित्र थे, संग-संग पढ़ते थे। अध्ययन समाप्त होने पर दोनों के मन में वैराग्य हो गया। एक निर्गुणोपासक, एक सगुणोपासक गुरु के यहाँ जाकर दीक्षित हुए। कुछ कालोपरान्त दोनों मिले परस्पर उपासना सम्बन्धी बात हुई। एक ने अपने को 'दासोऽहम्' कहा और दूसरे ने अपने को 'सोऽहम्' कहा। 'दासोऽहम्' वाले मित्र ने 'सोऽहम्' वाले को अपनी उपासना की श्रेष्ठता समझाते हुए उसे भी दासोऽहम् का ही अनुसन्धान करने को कहा परन्तु उस मित्र ने गुरु मन्त्र का परित्याग न करने में जब अपने को विवश बताया तब इन्होंने कहा कि—मन्त्र तो श्री गुरुजी का ज्यों की त्यों रहने दो मेरी ओर से तुम 'दा' अक्षर और जोड़ लो। उसने मित्र की बात मान ली। 'दासोऽहम्' रटते हुये श्री गुरुजी के पास गया। जब श्री गुरुजी को समस्त वृत्तान्त मालूम हुआ और यह भी जानने में आया कि यह मित्र के द्वारा प्राप्त 'दा' अक्षर को निकालने के लिए प्रस्तुत नहीं है तो गुरुजी ने आग्रह करके अपनी ओर से 'स' अक्षर और जोड़ लेने को कहा, अब मन्त्र हो गया 'सदासोऽहम्'—सदासोऽहम्'। पुनः कुछ काल बाद दोनों मित्र मिले और परस्पर चर्चा हुई तो 'दासोऽहम'-वाले मित्र ने अपनी ओर से पुनः 'दा' अक्षर लगा लेने को कहा, मंत्र अब हो गया 'दास-दासोऽहम्' एवं प्रकारेण उस बेचारे की साधना 'सोऽहम्' और 'दासोऽहम्' के द्वन्द में पड़ गयी।

अतः ऐसा संग उचित नहीं है। इस प्रकार के सत्संग कभी-कभी बहुत बड़े विवाद के कारण बन जाते हैं। जैसे—श्री कागभुशुण्डीजी और श्री लोमशजी की कथा। यथा—सगुणोपासक श्री कागभुशुण्डीजी महर्षि प्रवर श्री लोमशजी से अपने आराध्य के दर्शन की विधि पूछते हैं और वे—**लागे करन ब्रह्म उपदेसा।** तब जब श्री कागभुशुण्डीजी ने सगुण पक्ष का निरूपण किया तो वे—'**खण्डि सगुण मत अगुण निरूपा।**' बात बढ़ गई। खण्डन-मण्डन प्रारम्भ हो गया। कागजी भी कहते हैं—'**तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरि।।**' परिणामतः—'**उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा।।**' क्रोधाभिभूत ऋषि ने कागजी को शाप तक दे डाला। कहावत है—'**चौबे गए छब्बे होने, हो गए दुबे।**' गये थे आराध्य के दर्शन की विधि पूछने, हो गये ब्राह्मण से काग। अतः ऐसे भाव विरोधी सत्संग से बचना चाहिए।

लागोई बढ़न गोदा चहुँ दिशि कढ़न सो—सींचते रहने से पौधा बढ़ता है तो उसमें स्कन्ध, शाखा-प्रशाखायें फूटती-फैलती हैं। यहाँ पंचरस ही स्कन्ध (मोटे तने) एवं नवधा, दशधा, प्रेमा, परा, साधन, सिद्धादि भेद से भक्ति के जो विविध अङ्ग कहे गये हैं वे ही शाखा-प्रशाखा हैं। वृक्ष पंचांगमय होते हैं—मूल, शाखा, पल्लव, फूल, फल। भक्ति पंच संस्कारमय होती है। ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा, नाम, माला, मन्त्र ये पाँच वैष्णव संस्कार हैं—जैसे-वृक्ष की शाखा-प्रशाखायें चारों ओर फैलती हैं वैसे ही भक्तिमान की भक्ति यत्र-तत्र सर्वत्र प्रकाशित होने लगती हैं। '**चढ़न आकाश**' बीज, जो प्रथम भूमि में गुप्त था, वह ही वृक्ष रूप से पृथ्वी से ऊपर उठकर आकाश में चढ़ गया, वैसे ही भक्त भी क्रमशः भक्ति वृद्धि के साथ ही प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं। यथा—'**ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थाः**' (गीता १४-१८) यह आकाश में ऊँचे उठना है।

यश फैल्यो—जब तक वृक्ष छोटा रहता है तब तक समीप के ही लोग उसे देखते हैं। बड़ा होने पर दूर-दूर के लोग देखते हैं, बड़ाई करते हैं, उसी प्रकार से भक्ति की प्रारम्भिक दशा में तो समीप के ही लोग जानते हैं, मानते हैं, परन्तु बढ़ने पर तो दूर-दूर के लोग भी जान जाते हैं और प्रशंसा करते हैं। बहुरंग सों-वृक्ष के बड़ा होने पर कोई तो उसकी बड़ाई की बड़ाई करते हैं, कोई फूल की, कोई पल्लव की, कोई रस की, कोई छाया आदि की बड़ाई करते हैं। इस प्रकार बहुरंग में बड़ाई होती है, वैसे ही यहाँ भी कोई तो श्रवण निष्ठा की, कोई कीर्तन निष्ठा की, कोई वन्दन निष्ठा की बड़ाई करते हैं।

सन्त उर आलबाल—सन्त उर=गम्भीर हृदय, उदार हृदय, सरस हृदय, निर्मल हृदय, निष्काम हृदय। यथा—**अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो**। (भक्तमाल) '**सन्त हृदय जस निर्मल बारी।**'' ''**सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पर कहै न जाना।। निज परिताप द्रवहि नवनीता। पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।।**'' ''**राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।**'' (रा०च०मा०) ऐसा सन्त हृदय भक्ति तरु का थाला है। थाले में जैसे वृक्ष वैसे ही सन्तों के हृदय में भक्ति होती है। इससे यह भी जनाया कि जिनके भी हृदय में भक्ति है वे सन्त ही हैं। थाला बड़ा और गहरा हो तो उसमें जल अधिक अटता है जिससे वृक्ष सदा हरा-भरा बना रहता है। वैसे ही हृदय विशाल, उदार गम्भीर हो तो वह सत्संग कथा वार्ता को धारण करने में समर्थ होता है। यथा—**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।**

दृष्टान्त—गुरु गोरखनाथ की सिद्ध डिबिया का—आप केवल एक डिबिया में भिक्षा करते थे। एक समय यत्र तत्र सर्वत्र फिरते हुए आवाज लगायी—कोई भी हमारी इस डिबिया को दूध से भर दे, परन्तु जहाँ भी गये मनों दूध मँगाकर भरने का प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण न हो सकी। ऐसे ही सन्तों का हृदय विशाल होता है। सत्संगरूपी जल निरन्तर भरते रहने पर भी पूर्ण नहीं होता, अलम् भाव को नहीं प्राप्त होता है।

शोभित विशाल छाया—भक्ति का विकास होने पर दीनता, नम्रता, शील, सुविभावादि समस्त सद्‌गुण हृदय में आ विराजते हैं। यथा—**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतोमहद्‌गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः।।** (भा० ५/१/१३) अर्थ—जिस पुरुष की भगवान में निष्काम भक्ति है, उसके हृदय में समस्त देवता धर्म ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्‌गुणों के सहित सदा निवास करते हैं, किन्तु जो भगवान का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहाँ सकते हैं वह तो तरह-तरह के सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है। अतः उक्त सद्‌गुण

ही उसकी विशाल छाया है। छाया से वृक्ष की शोभा और लोक का हित होता है वैसे ही शील आदि सद्‌गुणों से भक्ति की शोभा है (शीलं परं भूषणम्)।

जिये-जीव जाल—जिये जीव जाल का भाव यह है कि जैसे अत्यन्त आतप से आकुल प्राणी वृक्ष की छाया में जाकर सुख शान्ति पाते हैं। यथा—"**जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।।**" तथा कोई काष्ठ से, कोई फल से, कोई फूल से, कोई पल्लव से एवं प्रकारेण हर तरह से वृक्ष के समाश्रय से जीते हैं वैसे ही संसार ताप संतप्त प्राणी नवधा, दशधा, प्रेमा, परा आदि भक्ति का साधन करके लोक-परलोक सुख लाभ करते हैं। यथा—**देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं।।** (रा० च० मा०)

देखौ बढ़वारि........जंग सों—जब तक साधन भक्ति रहती है तभी तक माया का भय है। सिद्धा भक्ति में तथा पूर्व संस्कारों से जन्मजाता भक्ति में विघ्न भय नहीं है। यथा—**यावत्साधना भक्तिस्तावदस्ति- महद्भयम्। सिद्धौ विध्नाः स्वयं नष्टा जन्मजाताश्च निर्भयाः।।** (भ० व० टि०) दृष्टान्त शठकोपाचार्यजी का (देखिये छप्पय भक्तमाल ३०) बड़े-बड़े नास्तिक कुतर्की एवं कामादि विकार ही हाथी जीते जङ्ग हैं, ये लोग भी भक्तिमान का कुछ बिगाड़ नहीं सकते, बल्कि सम्मुख पड़ते ही भक्त बन जाते हैं, आस्तिक बन जाते हैं। यथा—श्री विट्ठलनाथजी का दर्शन करके छीतू चौबे का छीत स्वामी बनना। (देखिये भक्तमाल छप्पय १४६) श्री रसिकमुरारीजी को देखकर मतवाला हाथी भक्त बन गया। (देखिये कवित्त भक्तमाल ९०) श्री पीपाजी के दर्शन से सिंह भक्त बन गया। (कवित्त २९०) काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि ही जङ्ग जीते हाथी हैं। यथा— **सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।** परन्तु भक्ति भावित हृदय में इनका प्रवेश भी नहीं हो पाता। यथा—**जिमि हरिजन हिय उपज न कामा। मत्सर मान मोह मद चोरा। इन कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।।** (रा० च० मा०)। प्रश्न— भक्ति तरु पौधा कौन तरु है? समाधान—'**कहैं कहाँ धौं रसाल है**' अर्थात् आमवृक्ष है।

भक्तमाल स्वरूप वर्णन

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो, कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है।
गुण पै अपार साधु कहैं आंक चारिही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है।।
सुनि सन्त सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानो, घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है।।
सुने हे अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा, सो सुगन्ध भक्तमाल है।।७।।

शब्दार्थ—पट=वस्त्र। मिहीं=महीन, झीन। लाल=मानिक, रत्न। आंक=अंक, अक्षर। टकसाल=प्रामाणिक वस्तु, जची-खरी असली वस्तु। झूमि रही=आनन्द मग्न होकर सिर और धड़ को बार-बार घुमा-हिला रही। अलि=भँवरा, भ्रमर। श्रेणी=पंक्ति, समूह। रसाल=रसमय, रसीला, आम्रवृक्ष, अतिमधुर। अगर=एक सुगन्धित वृक्ष विशेष, जिसका धूप में प्रयोग किया जाता है तथा जिसका इतर भी बनता है, अग्रदेव जी। चोवा=इत्र।

भावार्थ—जिस भक्त का जैसा सुन्दर स्वरूप है, उसको श्री नाभाजी ने अति उत्तम प्रकार से अपने काव्य में स्पष्ट करके दिखा दिया है। कविता ऐसी की है कि जैसे महीन वस्त्र के अन्दर रखे हुये

माणिक्य रत्न की चमक बाहर प्रकाश करे, उसी प्रकार कविता की शब्दावली से भक्त–स्वरूप प्रकट होता है। साधु भक्तों के गुण और उनकी महिमा अपार है, किन्तु नाभाजी ने सन्त गुरु कृपा से थोड़े ही अक्षरों में भक्तों के गुणों का ऐसी विचित्रता के साथ वर्णन किया है कि उसके अनेक अर्थ होते हैं और गुणों का अपार विस्तार हो जाता है। यही सच्चे टकसाली कवि की विशेषता है। सन्तों की सभा इसे सुनकर भक्तमाल काव्य का रसास्वादन कर आनन्द विभोर होकर झूम रही है, मानों सन्त रूपी भ्रमर–समूह चरित्र रूपी सुगन्धित पुष्पों पर मँडरा रहा है। आश्चर्यचकित होकर वे कहते हैं कि यह रसमयी कैसी विचित्र कविता है। मैंने अगर अर्थात् स्वामी श्री अग्रदेव जी का नाम तो सुना था परन्तु अब मैंने जाना और अनुभव किया कि अगर वस्तुतः अगर (सुगन्धित वृक्ष ही) हैं जिनसे नाभाजी जैसा इत्र उत्पन्न हुआ है और जिसकी दिव्य सुगन्ध यह भक्तमाल है।।७।।

व्याख्या—जाको० स०—**जिमि मल्लहिं मल्ल बुधै बुध को, गुनवान गुनज्ञहिं जानि सकैं। तिमि सन्तहिं सन्त अनन्त लखै, नहिं आँधर मूरख मानि सकै।। अति दिव्य सुदृष्टि अहै जिनकी वह ही बस गाय गवाय सकैं।। यह सन्त सरूप अनूप अहै त्यहिं सन्तहि देखि दिखाय सकैं।।** (भ० व० टि०)

अनूप लै दिखाय दियो—कैसे दिखाया है? "ज्यों पट मिही मध्य लाल है।" जैसे—महीन वस्त्रावेष्टित लाल मणि स्पष्ट दिखाई देती है वैसे ही श्री नाभाजी की कविता में भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरु का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे वस्त्र साधारण होता है और लाल अनमोल होता है वैसे ही सरल कविता में अनुपम भाव दिखाया गया है। जैसे—"धारी उर प्यारी" की गम्भीरता को ही ले लीजिये। सरल शब्दों में अद्‌भुत भावों का समावेश है। (देखिये कवित्त–५) किसी–किसी कवि की ऐसी कविता होती है कि शब्दाडम्बर का तो ठिकाना नहीं और भावार्थ कुछ भी नहीं। यहाँ यह बात नहीं है। कविता सरल, भाव अनुपम है। जैसे महीन वस्त्र से आवेष्टित होने पर भी लाल मणि का प्रकाश स्पष्ट झलकता है वैसे ही कविता का अर्थ। जैसे वस्त्र बीच लाल–मणि वैसे ही कविता में साक्षात् लाल प्यारी (युगल प्रिया–प्रियतम) यह श्री नाभाजी की रचना का वैशिष्ट्य है।

गुण पै अपार—यद्यपि श्री भक्तमाल जी के प्रधान वर्ण्य विषय भक्त चरित्र ही है तब भी प्रसङ्गानुसार श्री नाभाजी ने भक्तों के गुण स्वरूप निरूपण के साथ–साथ भक्ति–भगवन्त–गुरु का भी सम्यक् गुण–स्वरूप निरूपण किया है। चारों के ही गुण अपार हैं यथा—सन्त—"**सुनु मुनि साधुन्ह के गुण जेते। कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते।**" "**गुणागार संसार दुख, रहित विगत संदेह। तजि मम चरण सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह।**" भगवन्त—"**राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।**" (रामायण) भक्ति—"**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्रसमासते सुराः।**" (भागवत ५/१८/२२) गुरु—गुरुः साक्षात् परब्रह्म तो अनन्त गुणगण महार्णव होते ही हैं।

साधु कहैं आंक चारि ही में—महत्पुरुष गम्भीर से गम्भीर बड़े से बड़े विषय को थोड़े शब्दों में ही अभिव्यक्त कर देते हैं। यथा—श्री भरत वाक्य—"**सुगम अगम मृदु मंजु कठारे। अरथ अमित अति आखर थोरे।।**" (रा०च०मा०) क्योंकि श्री भरतजी साधु हैं। यथा—"**तात भरत तुम सब विधि साधु।**" परम साधु श्रीरामजी भी इसके उदाहरण हैं। श्री लक्ष्मणजी के द्वारा पूछे गये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ईश्वर, जीव, माया विषयक प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं—**थोरे महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।।** (रा० च० मा०) परम साधु जो ठहरे यथा—**सब कोउ कहै राम सुठि साधू।**

दृष्टान्त-ब्रह्मा के उपदेश का—एकबार देवता, मनुष्य और असुर—ये तीनों ही ब्रह्माजी के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने लगे। कुछ काल बीत जाने पर उन्होंने उनसे उपदेश (समावर्तन) ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। सबसे प्रथम देवताओं ने कहा—प्रभो! हमें उपदेश कीजिये। प्रजापति ने एक ही अक्षर कह दिया 'द'। देवताओं ने कहा—हम समझ गये। हमारे स्वर्गादि लोकों में भोगों की ही भरमार है। उन्हीं में लिप्त होकर हम अन्त में स्वर्ग से गिर जाते हैं, अतएव आप हमें 'द' से 'दमन' अर्थात् इन्द्रिय-दमन, इन्द्रिय-संयम का उपदेश कर रहे हैं। तब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, 'ठीक है तुम समझ गये।' फिर मनुष्यों ने प्रजापति से कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये' प्रजापति ने उनसे भी 'द' इसी एक अक्षर को ही कहा और पूछा कि 'क्या तुम समझ गये?' मनुष्यों ने कहा—जी, समझ गये, आपने हमें दान करने का उपदेश दिया है, क्योंकि हम लोग जन्मभर संग्रह करने की ही लिप्सा में लगे रहते हैं, अतएव हमारा दान में ही कल्याण है।' तब प्रजापति ने कहा ठीक है, मेरे कथन का यही अभिप्राय था।' अब असुरों ने उनके पास जाकर उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने इन्हें भी 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया। असुरों ने सोचा, 'हम लोग स्वभाव से ही हिंसक हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्य का सहज व्यापार है। अतएव निःसन्देह हमारे कल्याण का मार्ग एकमात्र 'दया' ही है। प्रजापति ने हमें उसी का उपदेश किया है, क्योंकि दया से ही हम इन दुष्कर्मों को छोड़कर पाप-ताप से मुक्त हो सकते हैं। ऐसा विचार कर वे जब चलने को तैयार हुए, तब प्रजापति ने उनसे पूछा—'क्या तुम समझ गये?' असुरों ने कहा—'प्रभो! आपने हमें प्राणीमात्र पर दया करने का उपदेश दिया है।' प्रजापति ने कहा, 'ठीक है तुम समझ गये। प्रजापति के अनुशासन की प्रतिध्वनि आज भी मेघ-गर्जना में हमें 'द-द-द' के रूप में अनुदिन होती सुनाई पड़ती है अर्थात् भोग प्रधान देवताओ! इन्द्रियों का दमन करो। संग्रह प्रधान मनुष्यो! भोग सामग्री का दान करो और क्रोध प्रधान असुरो! जीवमात्र पर दया करो। इससे हमें दम, दान और दया—इन तीनों को सीखना तथा अपनाना चाहिए। (वृहदारण्यक उपनिषद्)।

दृष्टान्त-जसवन्तसिंह की रानी का—एकबार राजा जसवन्तसिंह दिल्ली गये थे। वहाँ उन्हें बहुत दिन बीत गये। जब आने की इच्छा हुई तो रानियों के पास पत्र भेजे कि जिसकी जो इच्छा हो वह लिखे, मैं दिल्ली के बाजार से लेता आऊँगा। सभी रानियों ने अपनी-अपनी मन भावती वस्तुयें राजा के पास लिख भेजी। जो सबसे छोटी रानी थी, उसने केवल लाल स्याही से 'सा' अक्षर लिखकर भेजा। सबके पत्र पहुँचे, भाव विदित हुए। परन्तु जब छोटी रानी का पत्र राजा ने पढ़ा तो कुछ भी समझ में नही आया। राजा ने अपने सभासदों को वह पत्र दिया। परन्तु वे भी कुछ नहीं समझ सके, मन्त्री मण्डल भी समझने में विफल रहा। तब राज पण्डित को वह पत्र दिया गया। पण्डितजी ने प्रातःकाल उसका तात्पर्य बताने को कहा। रातभर विचार करते रहे। बहुत चिन्तन के बाद यह बात समझ में आई कि लाल स्याही से 'सा' लिखा है, इसमें रानी का तात्पर्य राजा के दर्शन की 'लालसा' से है। फिर तो प्रातःकाल आकर पण्डितजी ने प्रथम तो रानी की बुद्धि की प्रशंसा की, फिर पत्र का तात्पर्य बताया। राजा बहुत प्रसन्न हुए। पण्डितजी का दान-मान से बड़ा सम्मान किया और शीघ्र ही दिल्लीश्वर से विदा होकर घर को आये तो सर्वप्रथम छोटी रानी के ही महल में गये और वस्तुतस्तु जैसा पण्डितजी ने रानी के भाव का दिग्दर्शन कराया था, वह परम सत्य पाया। यह है 'गुण पै अपार साधु कहैं आँक चारि ही में' का ज्वलन्त उदाहरण, परन्तु विरहिणी ब्रजाङ्गना का पत्र तो इससे भी उत्कृष्ट उदाहरण है। श्री ब्रह्माजी ने तो 'द'

अक्षर कहकर देवता, दैत्य एवं मनुष्यों को उपदेश दिया था। जसवन्तजी की छोटी रानी ने लाल स्याही से 'स' लिखकर अपने भाव को अभिव्यक्त किया था। लेकिन विरहिणी की पत्रिका में तो एक अक्षर भी नहीं लिखा था, परन्तु भाव सब अभिव्यक्त रहे। यथा–

दृष्टान्त–श्याम विरहिणी का–दोहा–'**तर झुरसी, ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाइ। प्रीतम पाती बिन लिखी बाँची विरह बलाइ।** (विरह पत्रिका) श्याम विरहिणी जब पत्र लिखने बैठी तो पत्र नीचे विरहाँच से झुलस गया और ऊपर शोकाश्रु से भीग गया। उस पर कज्जल मिश्रित अश्रुबिन्दु गिरे उसमें और कुछ न लिख सकी, उसे प्रियतम के पास भेज दिया। पत्र की यह दशा देखकर ही प्यारे श्यामसुन्दर ने वियोगिनी के विरह–बलाय (अति–विरह) का अनुमान कर लिया।

एकबार एक गोपी ने एक पत्र में केवल गुलाल से गुलाब लिखकर प्यारे श्यामसुन्दर के पास भेजा था। चतुर शिरोमणि ने उनका भाव समझा, तात्पर्य था–आप देखने में तो गुलाब से सुन्दर सुकोमल सरस, सुगन्धित दीखे, परन्तु निकले गुलाल सदृश। देखने में सुन्दर किन्तु नीरस, सुगन्धहीन। यह गोपिकाओं का व्यंग है। वस्तु तस्तु भगवान तो रस स्वरूप हैं यथा–'रसो वै सः' और आप गुलाल सृदश हैं, हम गोपिकायें गुलाब सदृश।

जैसे विष्णुपुरीजी ने '**कोटि ग्रन्थ को अर्थ तेरह विरचन में गायो**' (देखिये भक्तमाल छप्पय ४७) ऐसे ही श्री नाभाजी ने थोड़े ही अक्षरों में अमित भाव भर दिये हैं। श्री रूपसनातनजी के चरित प्रसङ्ग में श्री प्रियादासजी ने लिखा है कि–**कहत वैराग्य गये पागि नाभा स्वामी जू वै गई यौं निबर तुक पाँच लागी आँच है। रही एक मांझ धरे कोटिक कवित्त अर्थ याही ठौर लै दिखायो कविता को साँच है।।**' वह तुक है–'**ब्रजभूमि रहस्य राधा कृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ**' (छ० ८९) '**अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है**'–थोड़े अक्षरों में अमित भाव भर देना तथा अमित भाव भरे थोड़े अक्षरों का अनन्त विस्तार कर देना यह कविराजों का ही कौशल है। यथा–**टकसाली कविजनकी बानी। सुगम अगम मृदु कठिन बखानी।। गागर में सागर भरि देहीं, गागर को सागर करि देहीं।। एक शब्द ते काव्य बनावैं। कोटि ग्रन्थ इक पद में गावैं।** (भ० व० टि०) गागर में सागर भरने के अर्थात् थोड़े अक्षरों में अमित भाव भरने के दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके हैं अब देखिये गागर को सागर बनाने अर्थात् थोड़े शब्दों का अमित विस्तार कर देने का प्रमाण। श्री वेदव्यासजी, श्रीनारदजी के बताये चार श्लोकों से अठारह हजार श्लोक श्रीमद्भागवत महापुराण के बनाये। श्री बाल्मीकिजी, श्री नारदजी से मूल रामायण के सौ श्लोक सुनकर सौ करोड़ श्लोकों की रचना की। यथा–"**रामायन सतकोटि अपारा।**"

***सुनि सन्त सभा*–**इससे जनाया गया कि श्री नाभाजी के समय में ही श्री भक्तमालजी की कथा होने लगी थी। ***झूमि रही अलि श्रेणी मानो घूमि रही*–**भाव यह कि अत्यन्त सुगन्धित पुष्प के खिलने पर जैसे भ्रमरों की पंक्ति आ–आकर उसके ऊपर मँडराती है और मकरन्द रसपान कर मत्त होकर झूमने लगती है वैसे ही जहाँ भक्तमाल की कथा होती है, रसिक सन्त महानुभाव वहाँ आ–आकर एकत्रित हो जाते हैं और कथा रसामृतास्वादन कर प्रेमोन्मत्त होकर झूमने लगते हैं '**कहैं यह कहा धौं रसाल हैं**'–भाव यह कि श्री भक्तमालजी रस ही रस हैं इसमें कर्मरूपी छिलका और शुष्क ज्ञान रूपी गुठली तथा भक्ति व्यतिरिक्त अन्य मत–मतान्तर रूपी रेशे नहीं हैं।।

सुने हे अगर......भक्तमाल है'—सुने हे अगर से जनाया गया कि श्री अग्रदासजी परम विख्यात थे। कहीं-कहीं गुरु से चेला की ख्याति होती है, कहीं-कहीं चेला से गुरु की ख्याति होती है, कहीं-कहीं गुरु और चेला दोनों ही विख्यात होते हैं। जैसे—श्री अग्रदासजी और श्री नाभाजी दोनों ही परम प्रसिद्ध हुये। **अब जाने मैं अगर सही**' भाव जैसा नाम है वैसा ही गुण भी है। जैसे अगर वृक्ष विशेष के काष्ठ से इत्र बनता है जिसकी बड़ी ही मनमोहक सुगन्धि होती है। वैसे ही श्री अग्रदासजी रूपी अगर से श्री नाभारूप इत्र तैयार हुआ है श्री भक्तमाल जिसकी सुगन्धि है। जैसे उत्तम इत्र की सुगन्धि बिना सूँघे ही अपने आप नासिका के अनुभव में आने लगती है, सूँघने पर यदि इत्र की बास मिली तो फिर वह इत्र ही क्या। यथा—**हाँके ते टट्टू चले, सूँघे इतर बसाय। कहिबे पै बेटा करे तीनो देय बहाय।।** वैसे ही उत्तम काव्य बिना किसी विज्ञापन के अपने आप जन-जन के मन-मन में अपना स्थान बना लेता है—श्रीभक्तमाल ऐसी ही रचना है।

भक्तमाल माहात्म्य वर्णन

बड़े भक्तिमान, निशिदिन गुणगान करैं हरैं जगपाप, जाप हियो परिपूर है।
जानि सुख मानि हरिसन्त सनमान सचे बचेऊ जगतरीति, प्रीति जानी मूर है।।
तऊ दुराराध्य, कोऊ कैसे कै अराधिसकै, समझो न जात, मन कंप भयो चूर है।
शोभित तिलक भाल, माल उर राजै, ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।।८।।

शब्दार्थ—जाप=जप, नाम अथवा मन्त्र का अभ्यास। परिपूर=अच्छी तरह से भरा हुआ। सचे=एकत्र किये, सच्चे। दुराराध्य=कठिनता से उपासना योग्य। अराधि सकै=आराधना उपासना कर सके। अतिदूर=बहुत दुर्लभ, अप्राप्य।

भावार्थ—कोई बड़े साधक कैसे ही अच्छे भक्तिमान हों, रात-दिन भगवान के गुणों का गान करते हों, संसार के पापों को हरते हों, जप, ध्यान आदि से हृदय परिपूर्ण हो, श्रीहरि और सन्तों के स्वरूप को जानकर सच्चाई से उनकी सेवा और उनका आदर भी करते हों तथा उसमें सुख भी मानते हों, जगत के मायिक प्रपंचों से बचे भी हों और प्रेम को ही मूलतत्त्व मानते हों इतने पर भी भक्ति की आराधना कठिन है, उसकी आराधना कोई कैसे कर सकता है। विशुद्ध भक्ति का स्वरूप समझ में नहीं आता है, मन कम्पित होकर शिथिल हो जाता है। चाहे मस्तक पर सुन्दर तिलक और गले मैं कण्ठी माला सुशोभित है परन्तु बिना भक्तमाल पठन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन किये भक्ति का स्वरूप बहुत दूर है, उसका जानना असम्भव है।।८।।

व्याख्या—'बड़े भक्तिमान'—अर्थात् श्रवणादिक नवधा भक्ति परायण हैं। '**निशिदिन गुणगान करैं**' भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की आधारभूताभगवत्कथा का निरन्तर गान करते रहते हैं। प्रभाव भी, जैसा सन्तों का वर्णन किया गया है, यथा—**मुख देखत पातक हरैं, परसत कर्म विलाहिं। वचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग मिलाहिं।। (वैराग्य संदीपनी) जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये' (विनय) 'सन्त दरस जिमि पातक टरई'** इत्यादि अपने दरसन, स्पर्श समागमादिक से जगत का पाप हरते हैं। '**जाप हियो परिपूर है'**—जप तीन प्रकार का होता है। १. वाचिक, २. उपांशु,

३. मानस। १. वाचिक—जो जप वैखरी वाणी से अर्थात् उच्च स्वर से किया जाता है उसे वाचिक जप कहते हैं। २. उपांशु—जिस जप में जिह्वा और ओष्ठ हिलते तो हैं पर शब्द नहीं होता है उसे उपांशु कहते हैं। ३. मानस—जिसमें जिह्वा और ओष्ठ भी नहीं हिलते हैं केवल मन में ही नाम अथवा मन्त्र का मनन किया जाता है। उसे मानस जप कहते हैं। इस प्रकार के त्रिविध जप का सविधि अनुष्ठान भी करते हैं।

'जानि'—जानि से तात्पर्य सन्त और भगवन्त की महिमा जानने से है **'सुखमानि'** — सुखमानि से जनाया गया कि सन्त और भगवन्त दर्शन से उन्हें परम सुख की प्राप्ति भी होती है। अतः अहर्निश हरि और हरि भक्तों के सम्मान में भी लगे रहते हैं। **'बचेऊ जगत रीति'** — सांसारिक प्रपंचों से जो बचे हुए हैं यथा—**क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्क शयनः क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः। क्वचित्कन्था- धारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।** अर्थ—वह कभी धरती पर सो लेता है कभी पलंग पर, कभी शाक का ही आहार करता है और कभी उत्तम चावल आदि के उत्तम भोजन की रुचि करता है। कभी गूदड़ी धारण करता है और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करता है। इस प्रकार मनोजयी पुरुष अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सुख और दुःख की परवाह नहीं करता। (भर्तृहरिनीतिशतके) **'प्रीति जानी मूर है'**—तथा जो यह जानते हैं कि प्रेम ही सर्वस्व है यथा—''**सबसे ऊँची प्रेम सगाई।**'' ''**रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा।।**'' ''**पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।।**'' ''**साधन आन प्रेम सम नाहीं**'' इत्यादि।

तऊ दुराराध्य—यहाँ एक प्रश्न यह होगा कि अन्यत्र तो भक्ति को अत्यन्त सुलभ कहा गया है। यथा—'**सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।**'' **रघुपति भगति सुलभ सुखकारी, जो त्रय ताप शोक भय हारी। कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा।**'' इत्यादि। तो फिर यहाँ दुराराध्य क्यों कहा? समाधान-भक्ति में यत्र तत्र सर्वत्र जो सौलभ्य वर्णन किया गया है वह ज्ञानादि साधनों की कठिनता को लक्ष्य करके। वस्तुतस्तु ज्ञानादि साधन बड़े ही कठिन हैं, यथा—''**कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक। होइ घुनाक्षर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक।**'' इनकी अपेक्षा भाक्ति में सौलभ्य है। परन्तु सौलभ्य का अर्थ यह नहीं कि भक्ति करने में कुछ श्रम नहीं। यथा—''**रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार सोइ जानै जेहि बनि आई।।**'' (विनय) दूसरी बात=हरि, सन्त, सद्गुरु प्रसादोत्थ स्वयं सिद्धा भक्ति सुलभ और स्वानुष्ठित साधन सिद्धा भक्ति कठिन, अतः दुराराध्य कहा।

इस सम्बन्ध में अन्य महानुभावों के भी कथन प्रमाण हैं। यथा—श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजी—

प्रेम पंथ अति दूर पूर पन मुश्किल पहुँचि न सकता है।
कायर कूर कमाल हाल बिन देह गेह दिशि तकता है।।
करनी कठिन ख्याल नहिं करता सकल बात बहु बकता है।
श्रीयुगलानन्यशरण सौंपे शिर तब प्रेमी फल पकता है।।

पुनश्च—सवैया— **अति छीन मृनाल के तारहुँ ते त्यहिं ऊपर पाँव दैं आवनो है।**
सुइ वेह ते द्वार सकी न जहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।।

कवि 'बोध' घनी अनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है।
यह प्रेम को पंथकराल महा तलवार की धार पै धावनो है।।

इश्क चमन के दोहे– **अरे इश्क के चमन में सँभलि के पग धरि आव।**
बीच राह के डूबना ऊबट माहिं बचाव।।
शीश काटि के भू धरै, ऊपर रक्खै पाँव।
इश्क चमन के बीच में ऐसा है तो आव।।
जिन पांवों से खलक में चलै सो धर मत पाँव।
शिर के पाँवों से चला इश्क चमन में आव।।
पाँव सकै नहिं ठहरि कै, बुरी चश्म की पीर।
सो जानै जिसको लगै कहर जहर के तीर।। (श्री नागरीदास)

बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है—परम प्रेम रूपा भक्ति का स्वरूप पूछे जाने पर भक्ति सूत्रकार श्री नारदजी यही कहकर मौन हो जाते हैं कि–'**अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं**' अर्थात् प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। '**मूकास्वादनवत्**' अर्थ–गूँगे के स्वाद की तरह क्योंकि–'**प्रेम हृदय की वस्तु है, परम गुप्त अनमोल। कथनी में आवै नहीं सकै न कोऊ तोल।।**' (प्रेम सरोवर) परन्तु इतने कथन मात्र से ही जब जिज्ञासुजनों का समाधान नहीं होते देखे तब बोले कि '**प्रकाशते क्वापि पात्रे**' अर्थ–किसी विरले योग्य पात्र में (प्रेमी भक्त में) ऐसा प्रेम प्रकट भी हो जाता है। (नारद भक्ति सूत्र ५१, ५२, ५३) अर्थात् जब कोई प्रेम मद से छके हुए भाग्यवान महापुरुष तन, मन की सुधि भुलाकर उन्मत्तवत् दिव्य चेष्टा करने लगते हैं, तब प्रेम का कुछ-कुछ प्रकाश लोगों को प्रकट दीखने लगता है। अतः ऐसे महानुभावों का दर्शन कर अथवा उनका चरित्र श्रवण-पठन कर ही प्रेम का स्वरूप समझा जा सकता है। श्री भक्तमालजी में जिन सहस्त्रों भक्तों का स्मरण किया गया है, ये वे ही महानुभाव हैं जिनके हृदय में प्रेम का परिपूर्ण प्रकाश हुआ है अतः बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।

वस्तुतस्तु बिना भक्त चरित्र श्रवण, मनन, अनुशीलन किये, बिना सत्पुरुषों का सत्संग किये, भक्ति का स्वरूप समझना असम्भव ही है। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम में कैसी निष्ठा होनी चाहिए, सन्त सद्गुरुदेव में कैसा भाव रखना चाहिये, प्राणी मात्र से कैसा व्यवहार करना चाहिए, जागतिक प्रपञ्च से किस प्रकार जागरुक रहना चाहिए, भक्तों के चरित्र के माध्यम से इनका जैसा हृदय ग्राही वर्णन श्री भक्तमालजी में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अतः बिना भक्तमाल........है। पुनश्च–जैसे करषे की बात (उत्तेजनात्मक वार्ता) सुनकर कायर भी शूर होकर लड़ने लगता है, वैसे श्री भक्तमाल सुनकर साधन में शिथिल भये लोग भी सत्प्रेरणा पाकर पुनः साधन में दृढ़ होकर भक्ति करने लगते हैं और शूरवीर जैसे और भी अधिक शौर्ययुक्त हो जाते हैं वैसे ही साधन दृढ़ और भी अधिक दृढ़ हो जाते हैं। अतः–

छन्द– **हरिभक्तन के चरित सुनि रीति प्रीति की सीखिये।**
निज बुधि बल ते हरि भगति मिली न कबहूँ देखिये।।
मिली भगति तब थिर रहै, जब हरिजन रंग रांचिये।
याते सुनि के प्रेम सों भक्तमाल नित बाँचिये।।

नारद कियौ साधन स्वयं अभिमान ने बाधा करी।
नर तुच्छ की गिनती कहा मति जासु माया नें हरी।।
हरि भक्त अर्जुन संग रहिकै फेरि अभिमानी भयो।
तब भक्त मोरध्वज चरित ने भक्ति की शिक्षा दयो।।
रांका तथा बांका भगति को नामदेवहु ने लख्यौ।
तब हारिकै शिक्षा लई निष्काम रति रस को चख्यौ।।
पीपा भगत सीता सहित चीधर भगत के घर गये।
लखि के चरित दोऊन के अति नम्र लघु दोऊ भये।। (भ० व० टि०)

उपर्युक्त पद में वर्णित समस्त कथा प्रसङ्ग आगे विस्तार से वर्णन किये जायेंगे। बिना सन्त, सद्‌गुरु का अनुग्रह पाये, बिना भक्तमाल पठन–श्रवण किये भक्ति व भगवान को जानने का दावा करना मिथ्या दम्भ है।

दृष्टान्त—दम्भी बादशाह का—एक बादशाह था। इसने दम्भवश झूठ–मूठ यह कहना शुरू किया कि मैंने साहब को जान लिया है। हमारी उनकी जान–पहचान है। वे हमसे मिलते–जुलते हैं आदि–आदि। यह सब कह–कहकर वह सन्तों एवं सत्संग की उपेक्षा करता। एक सिद्ध फकीर को बात खटकी। इसने कभी सन्तों का सङ्ग किया नहीं। उनकी सेवा की नहीं। उनके चरणरज से अपना अभिषेक किया नहीं, उनका चरित्र कभी पढ़ा–सुना नहीं, अत: निश्चय ही इसे भक्ति मिली नहीं, फिर इसने कैसे बिना भक्ति पाये भगवान को जान लिया। जानने के तो यही सूत्र हैं। निश्चय ही यह सब बादशाह का दम्भाचरण मात्र है। अत: उपदेश देने की ठानी। फिर तो दस रुपये देकर एक मोची से सवा–सवा हाथ लम्बा एक जोड़ा जूता बनवाया और रात्रि में एक जूता मस्जिद में फेंक दिया। प्रात: झाड़ू लगाने वाले ने देखा, आकर बादशाह से कहा। बादशाह ने विचारा इतना बड़ा पाँव मनुष्य का तो हो नहीं सकता, निश्चय ही यह साहब का जूता है, लगता है साहब ने हमारी बात रख दी। फिर तो मस्जिद में जाकर जूते को सिर से लगाया और बड़े सम्मान के साथ सिंहासन पर पधरा कर रोज उसका पूजन करता, माथे से लगाता। पूछने पर कहता कि साहब मुझसे मिलने आये थे, जाते समय जल्दी में एक जूता छूट गया। एक दिन उसने जूते को विमान में सजाकर जुलूस निकाला। इधर फकीर भी एक जूते को लाठी में लटकाये आ रहे थे। बादशाह को देखकर दुहाई दी। रीति है दुहाई देने से बादशाह रुक कर फरियाद सुनते हैं। अत: फकीर से दुहाई का कारण पूछा। फकीर ने कहा, हुजूर! मेरा जूता खो गया है, और सुना है कि वह आपके पास है। गरीब परवर! मेरा जूता मिलना चाहिए। बादशाह ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, क्या यह जूता आपका है? फकीर ने कहा, हाँ हुजूर! यह जूता मेरा ही है। यदि विश्वास न हो तो मोची को बुलाकर पूछ लिया जाय। ऐसा ही किया गया। तब तो बादशाह बहुत लज्जित हुआ। फकीर ने कहा—बिना भक्ति के भगवान नहीं मिलते और बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है। श्री भक्तमाल भक्ति का सर्वोपरि ग्रन्थ है यथा—

हरि सों जग कछु वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सों पंथ।
सद्‌गुरु सों सज्जन नहीं, भक्तमाल सों ग्रंथ।।

卐

❀ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ❀

अथ मूल मंगलाचरण

दोहा— भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक।।१।।

शब्दार्थ—भक्त=भगवद्भक्ति युक्त, प्रेमी, सेवक, ज्ञानी जीव। भक्ति=भगवान में प्रीति, सेवा, शुश्रूषा, श्रद्धा, अनुराग। भगवन्त=भगवान, ब्रह्म, परमेश्वर, नारायण, राम, कृष्ण, पूज्य, गुरु। गुरु=ईश्वर, मन्त्रदाता, विज्ञान प्रद, आचार्य, उपदेशक, महान्, पूज्य, गम्भीर, भारी। चतुर=चार। नाम=संज्ञा, आख्या। वपु=शरीर, स्वरूप।

भावार्थ—भगवान के भक्त, भगवान की भक्ति, भगवान और भगवत्तत्व बोध कराने वाले गुरुदेव, ये अलग-अलग चार नाम और चार वपु हैं, पर वास्तव में इनका वपु (स्वरूप=तत्त्व) एक ही है। इनके श्रीचरणों की वन्दना करने से समस्त विघ्नों का पूर्णरूप से नाश हो जाता है।।१।।

व्याख्या—अब मूल ग्रन्थकार श्रीनाभाजी ग्रन्थारम्भ में, ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और प्राणिमात्र को मङ्गलकारी होने के लिए मङ्गलाचरण करते हैं। मङ्गलाचरण करने से ग्रन्थ निर्विघ्न सम्पूर्ण होता है। यथा—'**समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्।**' अर्थ—कार्य समाप्ति के इच्छुक को कार्यारम्भ में मङ्गलाचरण करना चाहिए। जिन शास्त्रों के आदि मध्य अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है, वे सुप्रसिद्ध होते हैं, निर्विघ्न समाप्त भी होते हैं—तथा उनके अध्ययन करने वाले (वक्ता, श्रोता) आयुष्मान् वीर और मङ्गल कल्याणयुक्त होते हैं। यथा—'**मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युरिति**' (पातञ्जल महाभाष्य) पुनश्च—**आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम्। तत्पठनं पाठनं वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत्।।**

मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं। १. नमस्कारात्मक, २. वस्तुनिर्देशात्मक, ३. आशीर्वादात्मक। नमस्कारात्मक—जिसमें इष्ट को नमस्कार किया गया हो। यथा—**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्** (भागवत) पुनश्च—**रामं रामानुजं सीतां, भरतं भरतानुजम्। सुग्रीवं वायुसूनुञ्च प्रणमामि पुनः पुनः।।** (रामायण) वस्तुनिर्देशात्मक—जिसमें अभीष्ट वर्ण्य वस्तु का स्वरूप दिखाया गया हो।

यथा— अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं,
वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरी निर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्त स्रस्तनिबद्ध नीविविलसद् गोपीसहस्त्रावृतं,
हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति।। (कृष्णकर्णामृत)

अर्थ—जो देवांगनाओं के हाथों के अग्रभाग से गिरे हुए कल्पवृक्ष के पुष्पों से आवृत है, प्रस्तुत वेणुनाद की लहरियों के आनन्द से अव्यग्र है तथा जो बार-बार खिसकती हुई नीवी वाली ब्रज गोपियों के अनन्त समूह से घिरा हुआ है और शरणागत के हाथ में जिसने अपवर्ग सौंप दिया है ऐसा वह सबसे उदार किशोर आकृति वाला ही इष्ट वस्तु है। आशीर्वादात्मक—उसे कहते हैं जिसमें इष्ट का स्मरण करते हुए आशीर्वाद भी दिया गया हो। यथा—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानां,
वीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम।। (श्रीहनुमन्नाटक)

अर्थ—जो समस्त कल्याणों का निधान, कलियुग के पापों का नाशक, पवित्रों को भी पवित्र करने वाला है तथा जो श्रेष्ठ परम पद की प्राप्ति के लिए चले हुए मुमुक्षु को पाथेय (राह खर्च) है और श्रेष्ठ कवियों की वाणी का सुखद विश्राम स्थान, सज्जनों का जीवन एवं धर्मरूपी वृक्ष का बीज है, वह श्रीरामनाम आप लोगों को कल्याणरूप ऐश्वर्य प्रदान करे।।

श्रीनाभाजी ने एक दोहे में ही तीनों प्रकार के मंगलाचरणों के भाव दिखाये हैं। यथा—'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक' इतने अंश से इष्ट वस्तु का निर्देशन हुआ है कि इस ग्रन्थ में इन चार वस्तुओं का वर्णन किया गया है और ये चारों तत्वतः एक वस्तु हैं। अतः वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण हुआ। 'इनके पद वन्दन किये' इतने अंश से नमस्कारात्मक मंगलाचरण हुआ। 'नाशैं विघ्न अनेक' इतने अंश के द्वारा आशीर्वादात्मक मंगलाचरण हुआ।

चतुर नाम वपु एक—नाम चार हैं अर्थात् कहने को चार हैं वस्तुतस्तु है एक ही तत्व, एक ही तत्व इन चारों रूपों में जगत् का कल्याण कर रहा है। चारों की तात्विक एकता-संत और भगवन्त एक ही हैं। यथा— '**सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं, किमपि मति विमल कह दासतुलसी।**' '**सन्त आत्माऽहमेव च।**' इत्यादि भगवन्त और गुरु एक हैं। यथा—'**आचार्यं मां विजानीयात्, गुरुः साक्षात् पर ब्रह्म।**' सन्त सद्गुरु एक हैं—'**सन्त सबै गुरुदेव हैं, गुरु हैं साँचे सन्त।**' भक्ति और भगवान एक ही हैं यथा—'**गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।**' अतः चतुर नाम वपु एक कहा। तीन को अलग करके एक का वर्णन नहीं हो सकता और न तीन को अलग करने पर एक का अस्तित्व ही रह सकता है। तात्पर्य चारों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। 'वपु एक' का भाव यह कि एक ही में चारों के दर्शन, चारों की प्राप्ति हो जाती है। जैसे श्रीगौरांग महाप्रभु में चारों स्वरूपों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष देखी गई। आप साक्षात् श्रीकृष्ण के अवतार हैं अतः आपमें भगवत्स्वरूप का दर्शन (द्विभुज, चतुर्भुज, षड्भुज) अधिकारी भक्तों ने किया और विधिवत् मन्त्र दीक्षा लेकर प्रेमी भक्तों का सा आचरण करना और अपने परिचय में '**गोपी भर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः**' कहना आपका भक्तस्वरूप है और आश्रित जनों को हितोपदेश करने से गुरु रूप और '**और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारीमानो,** ....'' में आपका भक्ति स्वरूप दर्शित होता है। (विशेष देखिये कवित्त १)

इन चारों में से यदि किसी को, किसी एक की प्राप्ति हो जाय तो चारों की प्राप्ति होकर रहती है। यथा—श्रीधनाजी को पहले भक्त मिले तो आगे सबकी स्वतः प्राप्ति हो गई, श्रीनामदेवजी को भक्ति मिलने पर, श्रीकबीरदासजी को पहले भगवदनुग्रह (भई नभ बानी) होने पर, श्रीपीपाजी को पहले गुरु श्रीरामानन्दजी के मिलने पर शेष तीन की स्वतः प्राप्ति हो गई। (देखिये श्रीभक्तमाल में ही इनके प्रसंग।) पुनश्च—एक की तुष्टि से चारों की तुष्टि हो जाती है। इस प्रकार का दृष्टान्त श्रीअवधूतदासजी का (देखिये आगे श्रीवल्लभाचार्य जी का प्रसंग) पुनः चारों ही समान रूप से परमानन्द प्रदान करते हैं। जैसे गाय का थन कहने को चार होकर भी दूध सबमें एक-सा ही निकलता है अतः 'चतुर नाम वपु एक' कहा।

यद्यपि भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु ये तत्वतः एक ही हैं तो भी श्रीनाभाजी ने ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण में प्रथम 'भक्त' शब्द का प्रयोग करके भक्तों को अधिक महत्व दिया है। इसका कारण एक तो यह है कि गुरुदेव श्रीअग्रदासजी ने शिष्य करके इन्हें सन्त-सेवा में ही लगाया। सन्त सीत प्रसाद सेवन की आज्ञा दी। उसी सन्त-सेवा एवं संत सीत के प्रताप से इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। गुरु की मानसी सेवा का दर्शन तथा समुद्र में जहाज रक्षा की शक्ति भी सन्तों की कृपा से ही प्राप्त हुई। अतः भक्त को पहले कहा। दूसरे—'**जान्यौ सन्तन प्रभाव को**' गुरुदेव ने भी सन्त प्रभाव जानकर, सन्तों का ही चरित्र लिखने की आज्ञा दी। भक्ति-भगवन्त व गुरु के सम्बन्ध में लिखने की आज्ञा नहीं दी। अतः 'भक्त' को ही पहले कहा। तीसरे—**वोई हृदय आय कहैं सब**' उन सन्तों ने ही हृदय में आ-आकर भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु के स्वरूप को प्रदर्शित किया अतः प्रथम 'भक्त' कहा। चौथे—एक भक्त में ही भक्ति, भगवन्त, गुरु तीनों का समावेश है अतः प्रथम भक्त शब्द का प्रयोग करके भक्तों की ही प्रधानता दिखाई। पाँचवे—भक्तों की प्रधानता का मुख्य कारण यह है कि—दुर्लभ होते हुए भी अन्य तीन की अपेक्षा भक्त ही सुलभ हैं। यथा—**सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।।** (रा०च०मा०) इन्हीं कारणों से ग्रन्थ का भी नाम 'भक्तमाल' ही रखा। भक्तमाल नाम रखने का दूसरा हेतु है माला और भक्तमाल की एक रूपता।

'दृष्टान्त—मालाका'—जैसे एक माला में सूत्र, मणियाँ, सुमेरु और फुँदना ये चार वस्तुयें होती हैं वैसे ही भक्तमाल में भी भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु, चार का स्मरण किया गया है। इसमें भक्ति ही सूत्र है। यथा— '**भक्तिसूत्रोपनद्धः**' (भागवत माहात्म्य) भक्त ही मणियाँ हैं। श्रीगुरुदेव ही सुमेरु हैं और भगवान ही फुन्दना हैं। माला में मणियाँ जिसकी होती हैं माला भी उसी नाम की होती है—यथा—तुलसीमाला, मणिमाला, मुक्तामाला इत्यादि। यह 'भक्तमाल' है अतः भक्तों को मणि कहा गया है। माला में सुमेरु अन्य मणियों से बड़ा होता है और सबके ऊपर विराजता है वैसे ही श्रीगुरुदेव सबसे श्रेष्ठ और सर्वोपरि विराजते हैं अतः गुरु को ही सुमेरु कहा है, जैसे फुन्दना अनेक रंग-बिरंग का होता है। वैसे ही भगवान भी चूँकि सर्वरसों के अधिष्ठान हैं तथा अनेक रूप से अनेक अवतार धारण करते हैं अतः अनेक रंग रूप वाले हैं इसलिये भगवान को फुन्दना कहा। जैसे माला में सूत्र सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है वैसे ही भक्त में भक्ति व्याप्त रहती है। जैसे सब मणियों में एक ही सूत्र व्याप्त रहता है वैसे ही सभी भक्तों में गुरु में भगवान में तत्वतः एक ही भक्ति व्याप्त रहती है। जैसे मणियाँ अनेक, वैसे ही भक्तगण अनेक होते हैं।

जैसे मणियाँ और फुन्दना के बीच में सुमेरु वैसे ही भक्त और भगवान के बीच में गुरुदेव होते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—राज पुत्र का—एक राजा के इकलौते अबोध बालक को वस्त्राभूषणों के लोभ से चोर मौका पाकर चुराकर जंगल में ले गये। उसके बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण तो लिये ही उसे बहकाकर, बहलाकर, अपने पास ही रख भी लिए। अबोध बालक कालान्तर में अपने निजी माता पिता को भूलकर उन चोरों को ही अपना माता-पिता मानने लगा। इधर राजा ने बहुत खोज करवाई परन्तु नहीं मिलने पर राजा निराश होकर बैठ गये। बहुत काल बीतने पर राज्य में एक ज्योतिषी आये। राजा ने बड़े ही सम्मान के साथ सभा दरबार में बुलाकर अपने पुत्र का पता पूछा। ज्योतिषी ने योग लग्न आदि के आधार पर गणित करके बताया कि आपका पुत्र जीवित है, परन्तु वह आप लोगों को भूल गया है अत: उसका स्वेच्छा से आना अब मुश्किल है और यदि आप बलपूर्वक ले आवेंगे तो वह पुन: भाग जावेगा, मैं उसे समझा-बुझाकर पहले वास्तविकता का बोध करा दूँ फिर आप उसे पुन: प्राप्त कर सकते हैं। राजा-रानी ज्योतिषी के चरणों में पड़े बहुत उपकार माने। ज्योतिषी राजा से वार्ता करके विदा होकर भीलों के पास पहुँचा और अपने ज्योतिष के चमत्कार से सबको चमत्कृत कर राजकुमार के मन को आकर्षित किया। राजकुमार जब एकान्त में मिले तो उसे वास्तविकता का परिचय कराया तो राजकुमार भी अपने पिता-माता से मिलने के लिए तड़प उठा और ज्योतिषीजी के चरणों में पड़ गया। फिर तो ज्योतिषी ने राजा के पास संदेश भेजा और राजा ने आकर, भीलों को मारकर अपने पुत्र को पुन: प्राप्त कर लिया। इस प्रकार राजा और राजकुमार के बीच में पड़कर ज्योतिषी ने दोनों को मिला दिया। यह है दृष्टान्त। द्राष्टान्त में ब्रह्म ही राजा है, जीव ही राजकुमार और सद्गुण ही आभूषण हैं। काम क्रोध-लोभादि चोर हैं। आचार्य ही ज्योतिषी हैं जैसे राजपुत्र भीलों में पड़कर राजा को (माता-पिता को) भूल गया था। वैसे ही यह जीव भी माया में पड़कर भगवान को भूल जाता है। जैसे ज्योतिषी ने राजपुत्र को, उसका एवं उसके पिता का परिचय बताया और मिलाया वैसे आचार्य ही जीव को आत्म-स्वरूप एवं परमात्म-स्वरूप का परिचय कराकर मिलाते हैं। जैसे राजा और राजपुत्र दोनों ही ज्योतिषी के कृतज्ञ हैं वैसे ही ईश्वर और जीव दोनों के द्वारा आचार्य सम्मान्य होते हैं। इस दृष्टान्त से ईश्वर और जीव, भक्त और भगवन्त के मध्य आचार्य का होना दरसाया गया है। इस प्रकार भक्ति सूत्र, भक्त मणि, गुरुदेव सुमेरु और भगवान फुन्दना सिद्ध हुए। जैसे सूत्र, मणि, सुमेरु और फुन्दना की समष्टि को माला कहते हैं वैसे ही भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु की समष्टि ही भक्तमाल है।

नाशैं विघ्न अनेक—यथा—श्रीरत्नावतीजी (भक्त) का स्मरण मानसिंह ने किया तो अनेक विघ्न दूर हुए। यह भक्त स्मरण से विघ्न नाश का प्रमाण है। (कवित्त ५५८) द्रौपदी-गजेन्द्र ने भगवान का स्मरण किया, समस्त दु:ख दूर हुए। श्रीअग्रदासजी का स्मरण एक सौदागर शिष्य ने किया तो समुद्र के विघ्न से उसके जहाज की एवं उसकी रक्षा हुई। (क० १०) और भक्ति में तो विघ्न है ही नहीं। **'राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी।। तेहिं बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई।।'** (रा० च० मा०) अत: इनके पद बन्दन.........अनेक।

ग्रन्थ—अनुबन्ध—चतुष्टय—अनुबन्ध चार हैं-- १- विषय, २- प्रयोजन, ३- सम्बन्ध, ४- अधिकारी। ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के साथ-साथ अनुबन्ध चतुष्टय का उल्लेख भी

परमावश्यक है। क्योंकि अनुबन्ध-चतुष्टय का बोध होने पर ग्रन्थ में रुचि प्रवृत्ति होती है। अतः श्रीनाभाजी ने मङ्गलाचरण में ही अनुबन्ध चतुष्टय का भी बोध करा दिया है यथा—

विषय—ग्रन्थ में मुख्य रूप से जिसका वर्णन किया गया हो उसे विषय कहते हैं। श्रीभक्तमालजी में भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, इन चारों के ही अनूप स्वरूप का वर्णन ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

प्रयोजन—ग्रन्थ बनाने का जो मुख्य उद्देश्य है उसे प्रयोजन कहते हैं। **'पी के पहिराइबे को रचिकै बनाई है'** अर्थात् भाववती नाभा नाम की अलि ने अपने प्रियतम को पहनाने के लिए इसे रचकर बनाया है। इष्ट को प्रसन्न करने के लिए इसका निर्माण हुआ है। श्रीभक्तमाल का एक उद्देश्य तो है इष्ट की प्रसन्नता, दूसरे **'भवसागर के तरन को नाहिन और उपाय।'** यही दो मुख्य प्रयोजन हैं।

सम्बन्ध—भगवान, गुरु और भक्त इनके साध्य-साधक, सेव्य-सेवक भाव ही सम्बन्ध हैं।

अधिकारी—इसके अधिकारी सन्त और भगवन्त दोनों ही हैं। भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं। यथा— **'श्याम मति ललचाई है।'** श्रीभक्तमाल के मुख्य श्रोता तो भगवान ही हैं। अतः भक्तमाल के अधिकारी हैं। दूसरे अधिकारी सन्त हैं क्योंकि **'सुनि सन्त सभा झूमि रही'** इस प्रकार सन्त और भगवन्त दोनों ही श्रीभक्तमाल के अधिकारी हैं। वैसे, जिनके भी भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु के प्रति श्रद्धा है, विश्वास है, वे अधिकारी हैं। यथा—**'भक्ति विश्वास जाके ताही को प्रकाश कीजै'**

हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है।
भक्ति रस रूप कौ स्वरूप यहै छबिसार चारु हरिनाम लेत अंसुवन झरी है।।
वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशता हू पांडुन सो करी है।
गुरु गुरुताई की सचाई लै दिखाई जहाँ गाई श्री पैहारी जू की रीति रंगभरी है।।९।।

शब्दार्थ—सही=ठीक, सच्चा। गही=धारण की, मन से पकड़ी। टेक=प्रण। छबि=शोभा चित्र। सार=तत्व। छबिसार=अतिसुन्दर। चारु=सुन्दर। विचार करैं=ध्यान दें, मानें, ख्याल करैं। पांडुन=पाण्डव। रंगभरी=आनन्दमयी, अनोखी, मजेदार।

भावार्थ—भगवान, गुरुदेव और भक्तों के प्रति जो सच्चा निष्कपट व्यवहार करता है और भक्ति की किसी एक प्रतिज्ञा को हृदय में धारण कर फिर उससे कभी चलायमान नहीं होता है वही सच्चा भक्त है। रसरूपा भक्ति का सुन्दर स्वरूप यही है कि भगवान के सुन्दर नामों को लेते ही आँखों से प्रेम के आँसुओं की झरी लग जाय। ईश्वरता को दूर रखकर जो भक्तों की प्रीति को सदा ध्यान में रक्खे वही भगवान है, जैसा कि श्रीकृष्ण ने राजसूय यज्ञ में पाण्डवों के साथ किया है। गुरुदेव की गुरुता की सच्चाई भक्तमाल में वहाँ दिखाई गई है, जहाँ पयोहारी श्रीकृष्णदासजी की आनन्दमयी अनोखी रीति गाई गई है।।९।।

व्याख्या—'हरि गुरु दासनि सों सांचो'—दोहा—**हरि गुरु सों सांचो रहे विघ्न न व्यापै कोइ। हरि गुरु सों सांचो नहीं, विघ्न दशो दिशि होइ।।** श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीनाभाजी कृत मूल-मङ्गलाचरण की टीका करते हुए भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु इन चारों का स्वरूप निरूपण करते हैं। प्रथम भक्त-स्वरूप का वर्णन करते हैं। हरि-गुरु-दासनि सों सांचो सोई भक्त सही यह कह कर यहाँ

भक्त के लिए हरि, गुरु और भक्त इन तीनों में ही मन वचन कर्म से छल छोड़कर प्रीति सद्भाव, श्रद्धा, भक्ति का होना आवश्यक बताया गया है। साधारणतया भगवान में जिनकी प्रीति है उन्हें भक्त कहा जाता है, परन्तु इतनी ही, भक्त की पूरी परिभाषा नहीं है। भगवान में प्रीति होने के साथ-साथ गुरु में भी अनुराग होना चाहिए। यह नहीं कि मन्त्र मिला और सम्बन्ध छूटा—'हाटके गुरु बाटके चेला। साँझे मूड़े सबेरे अकेला' यह उचित नहीं। श्रीसद्गुरु चरणारविन्दा- नुरागीजनों को ही तत्व बोध होता है। तब भगवान में प्रीति होती है। यथा—**यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।**' अर्थ—अपने इष्ट में जिनकी एकान्त भक्ति है और जो गुरु को भी स्वयं इष्ट करके मानते हैं उस महात्मा के हृदय में ही तत्वज्ञान का प्रकाश होता है।

पुनश्च— **ज्यौं गुरु त्यौं गोविन्द, विनु गुरु गोविन्द किन लह्यौ।**
ज्यौं मावस्या इन्दु (त्यौं) निगुरा पन्थ न पावई।।
गुरु सेवत गोविन्द मिल्यौ, गुरु गोविन्दै आहि।
विहारिदास हरिदास को जीवत है मुख चाहि।। (स्वामी विहारिनिदेवजी)
गुरु सेये हरि सेइये, हरि सेये गुरु नाहिं।
गुरु छाँड़े हरिको भजै तिनसों दोऊ जाहिं।। (श्रीललितकिशोरदेवजी)
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियौ बताय।। (कबीरजी)

अतः श्रीहरि में प्रीति होने के साथ-साथ गुरु में भी अनुराग होना चाहिए। परन्तु साथ ही यदि श्रीहरि-गुरु में तो निष्ठा है परन्तु भगवद्दासों के प्रति कोई सद्भाव नहीं है तो वे भी सच्चे भक्त कहाने के अधिकारी नहीं हैं। सच्चे भक्त तो वे ही हैं जिनका भक्तों में भी श्रीहरि-गुरु की तरह ही समीचीन भाव हो। यथा—**राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही।** (वाल्मीकि-वचन) **'मोते सन्त अधिक करि लेखा'** (श्रीराम वाक्य) **हरि गुरु सों सांचो रहै, सन्तन सों सद्भाव। दुनियां से ऐसो रहै, जैसो देखै दाव।।** बिना भक्तों में भाव भये कब किसने भगवान को पाया है? भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—**भगतन बिनु हौं ना मिलौं, हरि ने कही पुकार। मो सुमिरत सेवत नहीं, डूबेगो मझधार।।** (सन्त वाणी) अतः 'हरिगुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही।' श्रीभगवत रसिकजी ने भी लिखा है—

इतने गुन जामें सो सन्त।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमला कन्त।।
हरि को भजन साधु की सेवा सर्वभूत पर दाया।
हिंसा लोभ दम्भ छल त्यागै विष सम देखै माया।।
सहनशील आसय उदार अति धीरज सहित विवेकी।
सत्य वचन सबको सुखदायक गहि अनन्यव्रत एकी।।
इन्द्रीजित अभिमान न जाके करै जगत को पावन।
'भगवत रसिक' तासु की संगति तीनों ताप नशावन।।

'गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है'—अर्थात् जिनकी मनसा वाचा कर्मणा श्रीहरि गुरु दासो में अनन्य दृढ़ निष्ठा हो जो किसी भी प्रकार से विचलित नहीं कीये जा सके। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीपति कवि का—अनन्य भगवद्भक्त कवि श्रीपति निर्धन होने के कारण पत्नी के आग्रह से अकबर बादशाह के दरबार में गये और गुणग्राही बादशाह को जब अपनी स्वरचित कविता में भगवान के गुण-समूह को सुनाया तब बादशाह गद्गद हो गया और बहुत-सा पुरस्कार प्रदान करने के साथ-साथ श्रीपति को अपना दरबारी कवि बना लिया परन्तु वाह रे श्रीपति! बादशाह के दरबार में रहकर भी भगवद् गुणगान के अतिरिक्त बादशाह की प्रशंसा का एक पद भी न कभी बनाये न सुनाये, जबकि अन्य दरबारी कवियों की अकबर के गुण गाते-गाते जिह्वा घिसी जाती थी। परन्तु विशेष पुरस्कार श्रीपति को ही मिलता। इससे अन्य कवि इनसे जलते थे और अन्त में इनको निष्ठा से च्युत करने के लिए एक षड्यन्त्र रचे। एकदिन दरबार मेंयह समस्या रखी गयी कि सभी कवि **'करौ मिलि आस अकब्बर की'** समस्या पूर्ति करें। आज सभी कवि मन ही मन में बड़े प्रसन्न थे। दरबार में श्रोता जन-समुदाय की अपार भीड़ थी। सभी कवियों ने बारी-बारी से बादशाह की प्रशंसा में लिखी कविताएँ सुनायीं। अन्त में परमानन्य भक्त श्री श्रीपतिजी की बारी आई। सबकी दृष्टि श्रीपतिजी के मुख पर केन्द्रित थी। निर्भीक श्रीपति निश्चिन्त मुस्कराते हुए उठे और उनकी विमल वाणी निनादित हो उठी—

'अबके सुलतां फनियान समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की।
तजि एकहिं दूसरे को जु भजैं, कटि जीभ गिरै वहि लब्बर की।।
सरनागत 'श्रीपति' रामहिं की, नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की।
जिनको हरि में परतीति नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बर की।।'

इस कविता को सुनते ही सब द्वेषी लोग भौचक्के हो गये, उनके चेहरे फीके पड़ गये। भगवत् प्रेमी दरबारी और दर्शकों के मुख खिल उठे। बादशाह प्रसन्न हो गए श्रीपतिजी की निष्ठा और रचना चातुरी देखकर प्रथम पुरस्कार श्री पति को ही मिला।

दृष्टान्त २-धर्म निष्ठ भक्त कवि का—एक यवन राज के दरबार में जहाँ अन्य इस्लाम समर्थक यवन कवियों की भरमार थी वहाँ एक अनन्य श्रीकृष्ण भक्त हिन्दू कवि भी रहते थे। वे भगवान को छोड़कर अन्य किसी का भी, बादशाह का भी गुणगान नहीं करते थे। इस पर चिढ़कर अन्य कवियों ने एक समस्या पूर्ति के माध्यम से इन्हें निष्ठा से विचलित करना चाहा। वह समस्या थी—'कमसल व काफिर हैं वही बन्दे न जो इस्लाम के।' सबने अपनी-अपनी समस्या पूर्ति की। अन्त में भक्त कवि की बारी आई। भगवान का स्मरण कर भक्त ने बड़ी निर्भीकता पूर्वक इस प्रकार से समस्या पूर्ति की—**लाम के मानिन्द हैं काकुल मेरे घनश्याम के। कमसल व काफिर हैं वही बन्दे न जो इस लाम के।।** भक्त की दृढ़ निष्ठा ने, सबको चमत्कृत कर दिया।

अब 'हरि गुरु दासनि सों साँचो' पर भक्तों के दृष्टान्त देखिये। श्रीहरि से साँचे पर देखिये कथा श्रीजयमलजी की (कवित्त २३१, २३२) राजा आसकरनजी (कवित्त ६०१, ६०२, ६०३)

दृष्टान्त—पटना वाली बाई का—पटना में एक वृद्धा बाई रहती थी। उसके कोई सन्तान नहीं थी। सन्तों में बड़ा भाव रखती थी। एकदिन घूमते-विरचते एक सन्त बुढ़िया के घर आये। वृद्धा माता ने

बड़ा सत्कार किया। वार्तालाप के सिलसिले में बुढ़िया ने बड़ा ही खेद प्रकट करते हुए कहा महाराज! मुझे और तो सब सुख मिला परन्तु मुझ अभागिनी को सन्तान सुख नहीं मिला। सन्त ने दया करके उसे श्रीबालमुकुन्द भगवान का एक श्रीविग्रह देकर कहा कि अब यह तुम्हारे पुत्र हुए। इनकी सेवा करो, खूब लाड़-लड़ाओ। ये तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण करेंगे। बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हुई, खूब लाड़-प्यार से सेवा करने लगी। संयोग की बात, एकबार गाँव में बिगवा (हाऊ) आया और दो एक छोटे बच्चों को उठा ले गया। बुढ़िया सचिन्त हो गई। कहीं हमारे बालमुकुन्द को बिगवा न उठा ले जाय। अब तो वह रात-दिन रखवाली में तत्पर हो गई। पहले तो कुछ काम-धाम के सिलसिले में बाहर भी चली जाती थी परन्तु अब तो एक क्षण के लिए भी घर का दरवाजा नहीं छोड़ती, रात्रि में अपने लाला बालमुकुन्द को गोद में लेकर सोती। एकदिन सोई थी कि रात्रि में बिगवा एक बालक को उठा ले गया, शोरगुल हुआ। बुढ़िया जल्दी में उठी। बालमुकुन्द खाट से नीचे गिर गये। टटोलने पर खाट पर न पाकर वह जोर-जोर से क्रन्दन करने लगी, चीखने-चिल्लाने लगी। हाय! हाय!! मेरे बालमुकुन्द को बिगवा ले गया। भगवान उसके सच्चे वात्सल्य भाव पर रीझ गये, प्रकट होकर बोले—मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ मुझसे वर माँगो, मैं बालमुकुन्द भगवान हूँ। बुढ़िया ने कहा—हे बालमुकुन्द भगवान! आप मुझ पर कृपा कर मेरे लाल बालमुकुन्द को मिला दीजिये और यही वरदान दीजिये कि मेरे लाला बालमुकुन्द को बिगवा न ले जाय। भगवान 'एवमस्तु' कहकर पुनः लाला बालमुकुन्द रूप हो गये।

यह है हरि से साँचे का ज्वलन्त उदाहरण। यह नहीं कि स्वांग तो हरि सेवा का करे और चित्तवृत्ति गुलछर्रे उड़ावे शहर बाजारकी गलियों में। जैसे टोडे के राजा सूर्यसेनजी शरीर से कर तो रहे थे भगवान की पूजा और मन मोची के घर बैठा जूता बनवा रहा था। (देखिये कवित्त ३००)। अथवा दुःख, शोक, आर्त्ति, अभाव आदि की दशा में तो खूब भगवान को भजे और जब भगवान कृपा करके सुख समृद्धि प्रदान करें तो उन्हें उठाकर ताख में रख दिया जाय। ऐसा नहीं करना चाहिए।

दृष्टान्त—एक सेठ का—एक सेठजी थे। समय के फेर से गरीब हो गये थे पुनः समृद्धि के लिए खूब गोपाल सहस्रनाम का पाठ, अर्चन-वन्दन शुरू किये। भगवान से प्रार्थना करते, प्रभो! आप कृपा करके मुझे धन-धान्य से पूर्ण कर दें, मैं भूरि-भूरि दान दक्षिणा यज्ञ-यागादि, सदाव्रत, साधु-सेवा आदि पुण्य कर्म करूँगा। आपकी सेवा का विस्तार करूँगा। दयालु भगवान ने सेठ को दिन दूना रात चौगुना लाभ देकर नगर का सबसे बड़ा सेठ बना दिया। परन्तु वाह रे! कृतघ्नी! भगवान के समस्त उपकारों को भूलकर ऐसा धन मद में चूर हुआ कि भगवान की सेवा का विस्तार करने की कौन कहे भगवान को उठाकर ताख में रख दिया और पूजा गृह को अन्न का गोदाम बना दिया। पूर्वकृत संकल्प केवल कल्पना ही बनकर रह गये। **'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'** की अजस्र धारा में सेठ बह गया। भगवान ने सोचा—अच्छा भगत मिला। इसने मुझे भी धोखा दिया। फिर तो, इसे शिक्षा देनी चाहिए। यह संकल्प कर प्रभु ने एक साधु का वेष धारण कर दुकान पर आकर 'राधेश्याम' 'सीताराम' की रट लगाई। सेठ सन्त को देखते ही जल-भुन गया, बड़बड़ाया सबेरा होते ही माँगने के लिए आ पहुँचे और अन्त में नौकरों द्वारा धक्का दिलाकर सन्त वेषधारी भगवान को बहिष्कृत कर दिया।

भगवान को अपनी माया की प्रबलता पर हँसी आयी तथा जीव के अज्ञान पर क्षोभ हुआ और उसे चैतन्य करने को कठोर कदम उठाये। सेठजी स्नान करने गये थे। तब तक भगवान उन्हीं का स्वरूप

धारण कर, घर आकर बच्चों को, नौकर-चाकरों को सजग कर दिये कि एक बहुरूपिया मेरा ही रूप धारण किये हुए, इधर को ही आ रहा है उससे सावधान रहना, घर में प्रवेश नहीं करने देना। उसके लाख सौगन्ध खाने पर भी विश्वास नहीं करना, यदि जोर करे तो जूतों से मारकर नगर से बाहर कर देना। ऐसा ही हुआ। सेठजी के आते ही, बालक, बूढ़े, नौकर-चाकर टूट पड़े और अत्यन्त तिरस्कार पूर्वक उन्हें नगर से बाहर कर दिया। सेठजी एक वृक्ष के नीचे बैठे रो रहे थे अपनी तकदीर पर। भगवान पुनः उसी सन्त वेष में फिर पहुँचे और उनकी दुर्दशा पर अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कृपा करके ज्ञानोपदेश किया, सेठ की आँखें खुली, चरणों में पड़ गया और 'सम्पत्ति सब रघुपति कै आही' का अनुसन्धान करते हुए, सन्त भगवन्त सेवा व्रत लेकर उसने अपना शेष जीवन हरि-स्मरण में बिताया। तो इस प्रकार हरि से असाँचे (झूठे) नहीं होना चाहिए। गुरु से साँचे पर कथा-श्रीरसिकमुरारिजी, पादपद्मजी, नरवाहनजी, भगवन्त मुदितजी आदि की (देखिये आगे इनके प्रसङ्ग) गुरु से असाँचे (झूठे) पर—

दृष्टान्त—शेरगढ़ के आमिल का—श्रीवल्लभाचार्यजी का शेरगढ़ में सेवकाना था अर्थात् उस गाँव के अधिकांश लोग आपके शिष्य थे। शिष्यों में एक सरकारी हाकिम भी थे। आचार्यपाद के एक दूसरे शिष्य ने सन्त-सेवा में द्रव्य व्यय हो जाने के कारण समय पर सरकारी भुगतान नहीं किया तो ये हाकिम साहब उसे कैद में डाल दिये। संयोग की बात उसी समय आचार्यचरण उस गाँव में पधारे। सब लोग दर्शन कर कृतकृत्य हो गये। कारागार में पड़े उस शिष्य को जब गुरुदेव के आगमन का समाचार मिला तो वह दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुल हुआ। अपने दुर्भाग्य पर बहुत पश्चात्ताप किया तथा दर्शनार्थ जेलर से बहुत अनुनय विनय किया। दयालु जेलर ने उसकी गुरुनिष्ठा देखकर दो सिपाहियों को साथ देकर दूर से, ओट से दर्शन कराने की अनुमति दे दी। क्योंकि डर था कि कहीं हाकिम देख लेगा तो हम सब विपत्ति में पड़ जायेंगे। फिर तो गाँव आये, दूर से, वृक्ष की ओट से छिप कर दर्शन करते, बार-बार झाँकते। सेवा में न पहुँचने का बड़ा दुःख था। आँसू बहाते, बिलखाते, आचार्य की दृष्टि पड़ी, बार-बार लुकते-छिपते प्रकट होते देखकर लोगों से पूछे। हाकिम के डर से किसी की हिम्मत नहीं पड़ी, तब सेवा में उपस्थित हाकिम से ही पूछे तो उसके संकेत से अन्य कर्मचारी ने समस्त वृत्तान्त बताया।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने कहा, अरे! वह तो तुम्हारा गुरुभाई था। द्रव्य भी सन्त सेवा में ही व्यय किया था फिर उसके साथ तुमने ऐसा दुर्व्यवहार किया? जब हाकिम ने इस बात की अपनी अनभिज्ञता बताई तो श्रीमहाप्रभु ने उस सन्तसेवी शिष्य से कहा—कि जब हाकिम यह बात नहीं जानते थे तो तुमने क्यों नही अपना सम्बन्ध बताया। तब वह शिष्य हाथ जोड़कर अत्यन्त विनम्रता पूर्वक बोला—प्रभो! मेरी धृष्टता क्षमा हो, जो मैं आपके सामने बोल रहा हूँ। आपकी कृपा से मेरी समझ में कुछ यह बात आयी कि शरीर को तो अपने शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने ही पड़ते हैं और यह शरीर भी तो क्षणभंगुर है। अतः इस अधम शरीर के सुख-दुःख के अर्थ हाकिम से आप गुरुदेव का नाम लेना मुझे उचित नहीं जान पड़ा। आपकी कृपा से आपका दर्शन हो गया। मुझे सब आनन्द ही आनन्द है। शिष्य के ये वचन सुनकर आचार्य महाप्रभु ने उसे सच्चा दास जाना, पुनः उस हाकिम से—महाप्रभु ने कहा कि गुरु भाई न सही, वैष्णव तो जानते थे, इस नाते भी तुम्हारा भाई हुआ। फिर परम भागवत वैष्णव को तुमने बिना विचारे जेल दे दिया। सच कहना, क्या तुम अपने सगे भाई को इस तरह कारागार में डाल सकते हो यदि

नहीं तो, लौकिक सम्बन्ध की तो इतनी मान्यता और गुरुदेव के द्वारा स्थापित पारमार्थिक सम्बन्ध का कोई मूल्य ही नहीं। तूने न तो गुरु को माना, न गुरुभाई को। फिर आचार्य ने अपना आदमी भेजकर बड़ा आश्वासन देकर उसे अपने समीप बुलाया। वह आकर चरणों में पड़कर फफक कर रोने लगा। दयालु गुरु ने उसका भुगतान स्वयं कर दिया, उसे जेल से मुक्त करा दिया और इस हाकिम शिष्य का परित्याग कर दिया। (आगे की कथा बड़ी मधुर है—अत: प्रसङ्ग से सम्बन्ध न होने पर भी उसकी चर्चा कर ही देता हूँ।)

जब आचार्य चरण ने उस हाकिम को त्याग दिया तो उसका बड़ा भारी पतन हुआ, बुद्धि भ्रष्ट हो गई, विपत्ति जाल में फँस गया। परन्तु यह सब होने पर भी भक्ति का संस्कार नष्ट नहीं हुआ। क्योंकि '**भक्ति बीज पलटै नहीं, जौ जुग जाँय अनन्त। ऊँच नीच कुल ऊपजै, होय सन्त को सन्त।।**' बीज गुरु द्वारा बोया जाता है। उसने एक दिन बाजार में बढ़िया जलेबी बनते देखकर मोल लेकर ठाकुर श्री श्रीनाथजी को मानसी भोग लगाया। भगवान ने स्वीकार कर लिया, कुछ पाये और कुछ हाथ में लिए रहे। जब उत्थापन के समय आचार्य ने यह देखा तो पूछा, जै, जै यह जलेबी कहाँ से आई। भोग में तो धरी नहीं गई थी। श्रीठाकुरजी ने सब बात बतायी। तो आचार्य कुछ अनमने से होकर बोले, एक तो बाजार की वस्तु का आपको भोग नहीं लगता, दूसरे मैंने तो उसका त्याग कर दिया है फिर उसके द्वारा समर्पित वस्तु को आपने क्यों अङ्गीकार किया। भगवान बोले—आप आचार्य हैं, आप आश्रित पर कृपा भी करते हैं और सुधार के लिए आवश्यकता पड़ने पर क्रोध भी करते हैं। ग्रहण भी करते हैं, त्याग भी करते हैं। परन्तु मेरा यह स्वभाव है कि एकबार जब आचार्य के द्वारा जीव का ब्रह्म सम्बन्ध हो जाता है तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ता। प्रभु की इस असीम करुणा पर आचार्य चरण बारम्बार बलिहार गये। और सहसा हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी—'**अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेश रघुपति सम लेखउँ।।**' (रा०)

'दासनि सों सांचो' पर कथा—श्रीलालाचार्य जी, श्रीसदाव्रती जी, चीधर जी आदि की तथा—

दृष्टान्त सुदर्शन खत्री का—आप बड़े ही सन्तसेवी थे। एकबार घर पर सन्त आये। संयोग से इनकी तबियत ठीक नहीं थी, अत: स्वयं सेवा में उपस्थित होने में असमर्थ थे इसलिए पत्नी को सेवा के लिए कहा। परन्तु पत्नी का चूँकि सन्तों में कोई भाव नहीं था अत: उसने सिर दूखने का बहाना कर दिया। तब सुदर्शन ने सन्तों को सीधा सामान दे दिया। सन्त अपना टिक्कर बना ही रहे थे कि पत्नी का भाई आ गया। फिर क्या था, तुरन्त उठकर बड़े हौसले से खीर-पूड़ी बनाई। घर में धुआँ उठा, कुछ छौंक-छर्रे की सुगन्धि फैली, सुदर्शन ने सोचा, मालूम पड़ता है, दया करके सन्त सेवा में जुट गई है। आकर देखे तो रसोई लगभग तैयार हो चुकी है। पत्नी की बड़ी प्रशंसा किये तो पत्नी ने झुंझलाकर कहा कि मेरा भाई आया है उसके लिए मैं मर-मर कर बना रही हूँ। सुदर्शन ने माथा ठोका, जब मेरा भाई आया तो इसने सिर दूखने का बहाना बना लिया और अपने भाई के लिए इतनी तैयारी यह तो ठीक नहीं किया। फिर तो इन्होंने युक्ति बनाई। पत्नी को जल लाने के लिए भेजा और इधर सब सामान (पूरी, पुआ, खीर आदि) सन्तों को तथा सूखे टिक्कर साले को परस दिये। जल लेकर आई और जब उसने यह व्यतिक्रम देखा तो दीवाल की ओट से, अपनी नाक पर उँगली रखकर संकेत किया कि तुमने नाक काट लिया। तब सुदर्शन ने भी गले पर हाथ रखकर संकेत किया कि तुमने तो गला ही काट लिया था। ऐसे थे सन्तों से साँचे श्रीसुदर्शन जी।

इनका एक और प्रसंग—एकबार सन्त सेवा के लिए दूध ले आ रहे थे। उसी समय इनके भाव की परीक्षा करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण लुटेरे का रूप धारण कर मार्ग में आ डटे, हाथ में लाठी लिए इनको घेर लिया। बोले दूध हमें दे दो। इन्होंने कहा, दूध हम सन्तों के लिए ले जा रहे हैं तो तुम्हें कैसे दे दें। तब भगवान ने इन्हें बहुत डराया-धमकाया। परन्तु इन्होंने किंचित् भय नहीं माना। निर्भीकता पूर्वक बोले, करोड़ उपाय करो हम दूध देने के नहीं। भगवान इन्हें मारने के लिए लाठी उठाये तो अपना सिर झुका लिए, बोले—लाठी का प्रहार स्वीकार है परन्तु दूध देना स्वीकार नहीं। भगवान उनकी यह सन्त निष्ठा देखकर प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिये और बोले—मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। देख लिया, सन्तों में जैसा सद्भाव होना चाहिए वैसा ही तुममें परिपूर्ण है। तो साधु-सन्तों में इस प्रकार का समीचीन भाव होना चाहिए।

२—दृष्टान्त—एक सन्त सेवी खाती का—वह जाति का बढ़ई था। सन्तों में बड़ा अनुराग था पत्नी भी बड़ी साध्वी थी। एकबार घर पर सन्त आये परन्तु घर में कुछ था नहीं तो पत्नी की नथ बेचकर साधुओं के लिए सीधा-सामान लाये और सन्तों को सौंपकर आप किसी के यहाँ कुछ काम-धन्धा करने चले गये। इधर भाववश्य भगवान उसके भाव पर रीझकर स्वयं उस खाती का रूप धरकर बणिक के यहाँ से नथ छुड़ा लाये और बोले—लो पहन लो सुहाग है, इसके बिना अच्छा नहीं लगता है। मालिक से मैंने कहा तो उन्होंने मजदूरी के कुछ पैसे पहले ही दे दिये तो मैं तुरन्त छुड़ा लाया हूँ। संयोग से वह उस समय चौका लगा रही थी। हाथ गोबर से सना था अतः बोली ताक में रख दो मैं बाद में पहन लूँगी। खाती रूपधारी भगवान ने जब बार-बार तत्काल पहनने का आग्रह किया तो उसने कहा कि मेरा हाथ तो ठीक नहीं है तुम्हीं पहना दो। तो भगवान ने अपने श्रीकर-कमल से उसे नथ पहनाई और चलते बने। बाद में बढ़ई आया। पत्नी को नथ पहने देखकर पूछा तो उसने जब सब बात बताई तो वह भगवान की महती कृपा विचार कर गद्गद हो गया।

'गही एक टेक'—प्रमाण श्रीप्रह्लादजी। पिता हिरण्यकशिपु के द्वारा अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी अपनी भजन की टेक से नहीं टले (विशेष देखिये कवित्त ९९, १००) श्री ब्रजदेवियों की टेक—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कोऊ, कोऊ कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक बरलोकन में, लीनी मैं अलीक, लीक लीकन ते न्यारी हौं।।
तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरु जन जाव जीव, क्यों न जाव टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारी वनवारी के मुकुट पर, पीत पट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं।।

पुनश्च—**घर तजौं, बन तजौं नागर नगर तजौं, वंशीवट तट तजौं काहू पै न लजि हौं।**
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं, आज राजकाज सब ऐसे साज सजि हौं।।
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोकों, बावरी कहेते मैं काहू न बरजि हौं।
कहैया औ सुनैया तजौं बाप और भैया तजौं, दैया तजौं मैया! पै कन्हैया नाहि तजि हौं।।

(विशेष देखिये कवित्त ३, पन सोंधौं)

भक्ति रस रूप कौ स्वरूप—भक्ति स्वरूप निरूपण के सम्बन्ध में देवर्षि श्रीनारदजी कहते हैं। सूत्र—**१. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।** अर्थ—वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है। सूत्र—**२. अमृतस्वरूपा च।** अर्थ—और अमृतस्वरूपा (भी) है। सूत्र—**३. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।** अर्थ—जिसको (परमप्रेमरूपा अमृतरूपा भक्ति को) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है। सूत्र—**४. यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।** अर्थ—जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्ति के) प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे (विषय भोगों की प्राप्ति में) उत्साह होता है। सूत्र— **५. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।** अर्थ—जिसको (परा प्रेमरूपा भक्ति को) जान (प्राप्त हो) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है (और) आत्माराम बन जाता है।

पुनश्च—सूत्र **५१. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।** अर्थ—प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। सूत्र **५२. मूकास्वादनवत्।** अर्थ—गूँगे के स्वाद की तरह। सूत्र **५३. प्रकाशते क्वापि पात्रे।** अर्थ—किसी विरले योग्य पात्र में (प्रेमी भक्त में) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है। सूत्र **५४. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण-वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।** अर्थ—यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है। पुनश्च—सूत्र **१५. तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्।** अर्थ—अब नाना मतों के अनुसार उस भक्ति के लक्षण बताये जाते हैं। सूत्र **१६. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।** अर्थ—पराशरनन्दन श्रीव्यासजी के अनुसार भगवान की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है। सूत्र **१७. कथादिष्विति गर्गः।** अर्थ—श्रीगर्गाचार्य के मत से भगवान की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है। सूत्र **१८. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।** अर्थ—शाण्डिल्य ऋषि के मत में आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है। सूत्र **१९. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।** अर्थ—परन्तु देवर्षि नारद के मत से अपने सब कर्मों को भगवान को अर्पण करना और भगवान का थोड़ा-सा विस्मरण होने में व्याकुल होना ही भक्ति है। सूत्र **२०. अस्त्येवमेवम्।** अर्थ—ठीक ऐसा ही है। **२१. यथा व्रजगोपिकानाम्।** अर्थ—जैसे व्रजगोपियों की (भक्ति)। (नारदभक्तिसूत्रे)। पुनश्च—**सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिलभक्ति सूत्र-१-१-२)** अर्थ—आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी कहते हैं—**द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।** (भक्ति रसायन १-३) अर्थ—भगवद् गुण के श्रवण से प्रवाहित होने वाली भगवद्- विषयिणी धारावाहिक वृत्ति को ही भक्ति कहते हैं। तथा—**कृपास्य दैन्यादि-युजिप्रजायते, यथा भवेत् प्रेम विशेष-लक्षणा। भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।। (श्रीनिम्बार्काचार्य कृत वेदान्त कामधेनु)** अर्थ—परिपूर्ण—सौन्दर्यादिसागर श्रीसर्वेश्वर की कृपा से ही उनकी प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति स्फुरित होती है। जिनमें विनम्रता आदि गुण हों उन्हीं पर प्रभु कृपा करते हैं। परा और अपरा ये दो भेद हैं। उनमें प्रेमरूपा परा (उत्तमा) है और साधन—रूपा अपरा है। **अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।**

(भक्तिरसामृतसिन्धु) अर्थ—अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत श्रीकृष्ण-प्रीति के अनुकूल आचरण करना भक्ति है।

भक्तिरसामृतसिन्धुकार श्रीरूपगोस्वामीपाद जी महाराज ने भक्ति का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। आपके विचार में भक्ति दो प्रकार हैं— १. शुद्धाभक्ति, २. मिश्राभक्ति। पूर्व कथित उत्तम भक्ति को शुद्धा एवं अन्याभिलाष से युक्त कर्ममिश्रा तथा योग तपस्यादि मिश्रित भक्ति को मिश्रा भक्ति कहा जाता है। शुद्धा भक्ति के तीन भेद हैं। १. साधनभक्ति, २. भावभक्ति और ३. प्रेमभक्ति। साधनभक्ति के दो भेद हैं। १. वैधी, २. रागानुगा। वैधी साधनभक्ति के तीन भेद हैं। १. उत्तम, २. मध्यम, ३. कनिष्ठ। रागानुगा साधन भक्ति के दो भेद। १. कामानुगा, २. सम्बन्धानुगा। कामानुगा के दो भेद—१. सम्भोगेच्छामयी, २. तद्भावेच्छामयी। सम्बन्धानुगा के चार भेद। १. दास्य, २. सख्य, ३. वात्सल्य, ४. श्रृङ्गार। पुनः भाव भक्ति के तीन भेद। १. साधनाभिनिवेश जात, २. श्रीकृष्ण-प्रसादजात, ३. भक्त प्रसादजात। साधनाभिनिवेशजात के दो भेद। १. वैध एवं २. रागानुग। श्रीकृष्णप्रसादज के तीन भेद। १. वाचिक, २. दर्शनजात, ३. हार्द। प्रेमभक्ति के दो भेद। १. भावोत्थ एवं २. श्रीकृष्णातिप्रसादोत्थ। भावोत्थ के दो भेद। १. वैध एवं २. रागानुगा। श्रीकृष्णाति प्रसादोत्थ दो प्रकार की होती है। १. माहात्म्यज्ञानयुक्त, २. केवल माधुर्य्यमय।

श्लोक—**आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथभजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततोनिष्ठारुचिस्ततः।। अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।।** (भ०र०सि०) अर्थ—भक्ति-प्रेम आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया—सबसे पहले १. श्रद्धा (की उत्पत्ति होती है) उसके बाद २. साधुसंग तदनन्तर, ३. भजनक्रिया, तब ४. अनर्थ निवृत्ति, उसके बाद ५. निष्ठा विश्वास, उसके बाद ६. रुचि, तदनन्तर ७. आसक्ति फिर ८. भाव, उसके बाद ९. प्रेम का उदय होता है। साधकों के भीतर प्रेम के प्रादुर्भूत होने का यह क्रम बतलाया गया है।। पुनश्च—**प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय राग रस जीति। तुलसी सन्तन के मते इहै भगति की रीति।।** (दोहावली) एवं प्रकारेण आचार्यों ने भक्ति की पृथक्-पृथक् व्याख्या करी है।

श्रीभक्तमालजी के टीककार श्रीप्रियादासजी महाराज भक्तिस्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि—मेरे विचार से तो—'**भक्ति रस रूप को सरूप यहै छबिसार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है।**' —श्रीमद्भागवत में भी भक्ति के इसी स्वरूप का समर्थन किया गया है—यथा—''**वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।।**' (११-१४-२४) अर्थ—जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद् हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है। एक क्षण के लिए भी रोने का ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने लगता है तो कभी नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है।।

भक्ति का यह स्वरूप श्रीप्रेम पुरुषोत्तम गौराङ्ग महाप्रभु में प्रत्यक्ष देखा गया है। यथा—'**और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारी मानो उभय लाल प्यारी भाव सागर समात हैं।**' (कवित्त ३३१) श्रीमीरा की जिह्वा से गिरधर नाम निकलने के पहले आँखों से आँसू निकल पड़ते थे। यथा—'**मीरा जपति**

गिरधरनाम। देह सुधि भूली हिये अवलोकि सूरति श्याम।। नाम रसना सों न निकस्यो नैन अश्रुप्रवाह। कण्ठ गद्गद शिथिल तंन मन देखिबे की चाह।।'

'वही भगवन्त'—विष्णुपुराण में भगवान का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है। यथा—

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् । अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम्।
विभु सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम् । व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः।।
तद्ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिभिः। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्।।
तदेवभगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः । वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः।।

(अंश ६ अ० ५)

अर्थ—अव्यक्त अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप (देवमनुष्यादिरूपरहित) (मायिक) हस्तपादादि रहित, विभु (नियन्ता), व्यापक, नित्य, सर्वभूत की जिनसे उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्य में जो व्याप्त हैं, जिनका बुद्धिमान लोग ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म वह परमधाम, मुमुक्षु का ध्येय, श्रुति ने जिसका वर्णन किया है, सूक्ष्म और विष्णु का परमपद, यह परमात्मा का स्वरूप 'भगवत्' शब्द से वाच्य है और उस अनादि अक्षय आत्मा का 'भगवत्' शब्द वाचक है। यह स्वरूप बताकर उसकी व्याख्या की गई है।

'भगवत्' के भ, ग, व अक्षरों के सांकेतिक अर्थ इस प्रकार हैं। भ=सम्भर्ता (प्रकृति को कार्य योग्य बनाने वाले),=भर्ता (स्वामी या पोषक)। ग=नेता (रक्षक), गमयिता (संहर्ता) और स्रष्टा। व=जो सबमें वास करता है और जिसमें सब भूत वास करते हैं। यथा—**'सम्भर्त्तेति भर्त्ता भकारोऽर्थ-द्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने।।.....वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः।।** (वि०पु० ६-४)। उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने से 'भगवान्' नाम है। इस व्याख्या से यह सिद्ध किया कि संसार का उपादानकारण, निमित्तकारण तथा उत्पत्ति-स्थितिलय के करने वाले और अन्तर्यामी यह सब 'भगवान' हैं। (२) भगवान=भगः अस्यास्ति इति भगवान। सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक् यश, सम्यक् श्री, सम्यक् वैराग्य ये छहों मिलाकर 'भग' कहलाते हैं। ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण रूपेण जिनके पास हों उन्हें भगवान कहते हैं। यथा—**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।** (३) भगवान=जो जीवों की उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्या को जानते हैं यथा—**उत्पतिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्तिविद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।।** (वि०पु० ६-५) **पोषणं भरणाधारं शरणं सर्वव्यापकम्।। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्।।** (महारामायणे) अर्थात् भरण-पोषण करने वाला, शरणागत को शरण देने वाला, सर्वव्यापक और करुणापूर्ण इन छहों से पूर्ण भगवान् श्रीराम हैं। (३) **'सर्वहेयप्रत्यनीककल्याणगुणवत्तया। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवानिति शब्द्यते।।'** (निरुक्ति। विष्णुसहस्रनाम की श्लोकबद्धटीका)। अर्थात् त्याज्य मायिक गुणदोषों के विरोधी, कल्याणगुणों से युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्यों से भी पूज्यतम होने से 'भगवान' नाम है? (पं० अखिलेश्वरदासजी, मानसपीयूष)।

'सन्त प्रीति को विचार करै'—यथा—**'प्रीति पहिचान यह रीति दरबार की'** (विनय)।

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीच हूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।।१
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम की पहिचानि।।२
गीध कौन दयालु विधि जो रच्यौ सिंहासानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि।।३
प्रकृति मलिन कुजाति शबरी सकल औगुन खानि।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि।।४
रजनिचर अरु रिपुविभीषण सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेटत देह दसा भुलानि।।५
कौन सुभग सुसील वानर जिनहिं सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि।।६
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।
भजहिं ऐसे प्रभुहिं तुलसी कुटिल कपट न ठानि।।७

पुनश्च—**जानत प्रीति रीति रघुराई।**
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।। (विनय)

श्लोक—**तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।**
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।। (गौतमीय तन्त्र)

छन्द—**बस एक चुल्लू जल तथा दल एक तुलसी प्रीति सों।**
जो ही समर्पै हाथ जाके जात बिक परतीति सों।।

'धरै दूर ईशताहू'—गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

पद—**ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।**
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति।।१
जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरि।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरि।।२
जाकी माया वश विरंचि शिव नाचत पार न पायौ।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन्ह सोइ नाच नचायौ।।३
विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु होइ द्विज माँगी भीख।।४
जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार।।५

जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
वानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी।।६
लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसीदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेत कर धारी।।७ (विनय)

'पाण्डुन सों करी है'—यथा—भगवते—

सारथ्य पारषद सेवनसख्यदौत्य वीरासनानुगमन स्तवनप्रणामान्।
स्निग्धेषु पांडुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविंदे।। (भा० १-१६-१६)

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेम परवश होकर पाण्डवों के सारथि का काम किया। उनके सभासद बने। यहाँ तक कि उनके मन के अनुसार काम करके उनकी सेवा भी की। उनके सखा तो थे ही दूत भी बने। वे रात को शस्त्र ग्रहण करके वीरासन से बैठ जाते और शिविर का पहरा भी देते। उनके पीछे-पीछे चलते, स्तुति करते तथा प्रणाम करते। इतना ही नहीं, अपने प्रेमी पाण्डवों के चरणों में उन्होंने सारे जगत को झुका दिया। जब परीक्षितजी यह प्रसङ्ग सुनते तो उनकी भक्ति भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में और भी बढ़ जाती।।

पुनश्च—**हम भक्तन के भक्त हमारे।**
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे।
जो मम भक्त सों बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो।
देखि विचारि भक्त हित कारण हांकत हौं रथ तेरो।
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारों।
सूरदास सुनि भक्त विरोधी चक्र सुदर्शन जारों।। (सूरसागर)

'गुरु'—गुरु वह है जो शिष्य के मोहरूपी अन्धकार को दूर करे।

यथा—**गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः।**
अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।। (गुरुगीता)

सर्वेषामेवं लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः। गुरु प्रकाशकः तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः।
(पद्मपुराण भूमि खण्ड, ८५/८)

अर्थ—जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार गुरु शिष्य को उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत को प्रकाशित करते हैं।

पुनश्च—**महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।** (रा०च०मा०)

पुनश्च—**गुरु वही जो सन्त सेवावै। गुरु वही जो विपिन बसावै।**
गुरु वही जो हरिहिं मिलावै। इन करनी बिनु गुरु न कहावै।।

शास्त्रों में गुरु को साक्षात् परम् ब्रह्म कहा गया है। यथा—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।। (गुरुगीता ४३)

भगवान ने श्रीमुख से कहा है। यथा–

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत् कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्धयाऽसूयेत सर्वदेव मयो गुरुः।। (भा० ११/१७/२७)

अर्थ–आचार्य को मेरा स्वरूप जानना चाहिए। उनका कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए और न मनुष्य मानकर उनकी निन्दा करनी चाहिए। क्योंकि गुरु सर्व देवमय हैं। श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि–

गुरुन विषे नर बुद्धि शिला सम गनै विष्णु तन।
चरणोदक जल जान मन्त्र वन्दै वाणी सम।।
महाप्रसादहिं अन्न साधु की जाति पिछाने।।
ते नर नरकहिं जाहिं वेद स्मृति बखाने।।
अग्र कहैं यह पाप घट, अति मोटो दुर्घट विकट।
और पाप सब छुटैं पै, ये न मिटैं हरिनाम रट।।

गुरु का महत्व वर्णन करते हुए गरुड़जी कहते हैं–'**गुरु बिन भवनिधि तरइ न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई।।**'

गुरु गुरुताई की सचाई.................रंग भरी है–श्री पयोहारी जी के वर्णन में श्री नाभाजी ने गुरु की सच्ची गुरुता का उल्लेख किया है। यथा–'निर्वेद अवधि' में वैराग्य, 'अन्नपरिहरि पय पान कियो'–में सात्विक आहार, 'जाके सिर कर धर्‌यो तासु करतर नहिं अड्ड्यो'–में निस्पृहता, 'अर्प्योपद निर्वान'–में मोक्ष प्रदान की सामर्थ्य, 'शोक निर्भय करि छड्यो'–में आन्तरिक शत्रु-विनाश सामर्थ्य, तेज पुंज'–में दुर्धर्षत्व, 'बल भजन'–में भजनैकनिष्ठ होना तथा 'महामुनि'–में गीतोक्त–'**दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।**' (गी० २-५६) अर्थ–दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और राग, भय, क्रोध जिसके छूट गये हैं उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। इन गुणों की उपस्थिति, 'ऊरधरेता'–में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य 'सेवत चरन सरोज रायराना भुविजेता'–में बड़े से बड़े को प्रभावित करने की शक्ति, 'दिन कर उदय'–में अमित ज्ञान, 'सन्त-कमल-हिय सुख दियो'–में सन्तों में सद्भाव आदि अलौकिक दैवी गुणों का संकेत किया गया है।

अन्यत्र भी इन गुणों का उल्लेख पाया जाता है। यथा–

'निस्प्रेही गुरु भजन पारायण सो शिष्य पार उतारै।
ज्यौं नारद ऋषि व्यास उबारे बूड़त भव जल धारै।। (भगवत रसिक)

पुनश्च–**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।**
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।। (भा० ११/३/२१)

अर्थ—जिसको अपने परम कल्याण को जानने की इच्छा हो, उसको वेद ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ एवं शान्त गुरु की शरण होना चाहिए।। **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।** (मुण्डक १/२/१२) अर्थ—ब्रह्म को जानने के लिए श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप उस अधिकारी को कुछ समित् (लकड़ी) आदि उपहार लेकर जाना चाहिए। पुनश्च—

गुरु को ऐसा चाहिये, शिष ते कछु नहिं लेय।
शिष को ऐसा चाहिये, गुरु कहँ सरबस देय।।
गुरु निरमोही चाहिये, शिष्य न छांड़े प्रीति।
स्वारथ छाड़ै हरि मिलैं, यही भजन की रीति।।
गुरु निर्मोही चाहिये, शिष्य न छांड़े नेह।
दोऊ ऐसे होइ रहैं, एक प्राण द्वै देह।।

ऐसा नहीं कि— **'गुरुजी लड़ैं मुकद्दमा, चेला जोतैं खेत।**
निसिदिन रहैं प्रपंच महँ, हरिजन सौं नहिं हेत।।'

एवमेव— **गुरु होय करैं शिष्य की आस । राम भजन ते होय निरास।।**
लोभी गुरु लालची चेला । घोर नरक में ठेली ठेला।।
हरै शिष्य धन शोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महँ परई।।
'गुरु लोभी सिष लालची, दोऊ देखें दाँव। दोऊ डूबें बापुरे चढ़ि पाथर की नाव।।'

'गुरु गुरुताई की सचाई' का वास्तविक तात्पर्य यह है कि गुरु (आचार्य) स्वयं सदाचरण करते हुए आश्रित जनों से सदाचरण करवावें। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति ही है—'आचरति आचारयतीति वा आचार्यः।' केवल दूसरे को सदाचरण का उपदेश देना और स्वयं सदाचरण न करना आचार्यत्व की बिडम्बना मात्र है ऐसे आचार्यों के उपदेश भी व्यर्थ जाते हैं जैसे—

दृष्टान्त—गुड़ लोभ पुत्र का—एक गाँव में किसी महानुभाव के इकलौते पुत्र को गुड़ खाने का चस्का लग गया था। माता-पिता के बहुत मना करने पर भी जब वह किसी तरह नहीं माना तो घर वाले उसे एक सन्त के पास ले गये और सन्तजी से प्रार्थना किये कि आप इसे ऐसा उपदेश दें कि यह गुड़ खाना छोड़ दे। सन्त ने कहा—एक महीने के बाद इसे फिर मेरे पास लाना। घर वालों ने ऐसा ही किया। सन्तजी ने दो चार शब्दों में ही समझाकर सदा-सर्वदा के लिए बालक का गुड़ खाने का व्यसन छुड़ा दिया। बालक मान गया। घर वालों ने सन्तजी से पूछा—महाराज! यही बात आपने पहले ही क्यों नहीं कह दी। सन्तजी बोले—'जब तुम पहली बार आये थे तो उस समय मैं स्वयं गुड़ खाता था। अतः दूसरों को यदि गुड़ न खाने का उपदेश देता भी तो व्यर्थ जाता। अब मैंने स्वयं एक महीने से गुड़ का सर्वथा त्याग कर दिया है। अतः बालक को भी सहज ही उपदेश लग गया। निष्कर्ष यह है कि—बिना स्वयं आचरण किये केवल कोरा सदुपदेश ही कार्य नहीं करता।

२—दृष्टान्त—खिलाड़ी गुरू का—एक गुरुजी अपने शिष्यों को बहुत उपदेश देते थे। उपदेश पालन में किंचित् त्रुटि होने पर शिष्यों पर बहुत क्रुद्ध होते थे। एक दिन एक शिष्य बिना तिलक

किये भोजन करने बैठ गया तो गुरुजी ने उसे बहुत फटकारा, भोजन नहीं दिया। संयोग की बात दूसरे दिन जब गुरु-शिष्य सभी भोजन करने बैठे तो शिष्य बड़ी सावधानी से तिलक आदि लगाकर बैठे थे, परन्तु गुरुजी बिना तिलक के ही बैठे थे। डरते-डरते एक शिष्य ने जब इस बात की चेतावनी दी तो गुरुजी कड़क कर बोले—'तुम्हें क्या पता ? गुरुजी कौन ख्याल में खेल रहे हैं।' उसी दिन से अब गुरुजी कुछ भी करें, कैसे भी रहें इस सम्बन्ध में शिष्य कुछ भी नहीं बोलते। एक दिन की बात है—गुरुजी को कहीं सेवकाने में जाना था अतः उन्होंने एक शिष्य से घोड़ी की जीन कसने के लिए कहा भोले-भाले शिष्य से जीन कुछ ढीली रह गई। गुरुजी ने भी ध्यान नहीं दिया। घोड़ी पर चढ़कर चल दिये। कुछ दूर जाने पर जीन ढीली होने के कारण गुरुजी एक ओर लटकने लगे। शिष्य को पुकारे—'मैं गिरा जा रहा हूँ। मुझे सँभालो।' परन्तु शिष्य यह कहते हुए कि 'ओ हो गुरुजी न जाने कौन से ख्याल में खेल रहे हैं।' और दूर हट-हट जाता। परिणामतः गुरुजी खिसकते-खिसकते उल्टे झूल गये। कुछ राहगीर जा रहे थे। गुरुजी ने उनसे अपने परित्राण की प्रार्थना की। परन्तु जब राहगीर सँभालने को उद्यत हुए तो शिष्य ने उन्हें धर्म की सौगन्ध दे दी कि खबरदार! मेरे गुरु को छूना नहीं। तुम लोगों को क्या मालूम मेरे गुरुजी कौन से ख्याल में खेल रहे हैं। तथापि उन पथिकों ने शिष्य की इन बातों पर ध्यान नहीं दिया और गुरुजी को सँभाल लिया परन्तु गुरुजी की स्वयं आचरण के सम्बन्ध में व्यर्थ की बहाने-बाजी ने उनके प्राण संकट में तो डाल ही दिये थे। अतः आचार्य को स्वयं भी आचरणशील होना चाहिए।।

दोहा—मंगल आदि विचारि रह, वस्तु न और अनूप।
हरिजन को यश गावते, हरिजन मंगल रूप।।२।।
सब संतन निर्णय कियौ, श्रुति पुराण इतिहास।
भजिवे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास।।३।।
अग्रदेव आज्ञा दई भक्तन कौ यश गाउ।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाउ।।४।।

शब्दार्थ—मंगल=मङ्गलाचरण, शुभ, कल्याण। आदि=ग्रन्थ के आरम्भ में। अनूप=सुन्दर, उपमा रहित। हरिजन=भगवान के भक्त। श्रुति=वेद। पुराण=वेदव्यास द्वारा रचित अठारह पुराण। इतिहास=पुरानी प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन, रामायण, महाभारत आदि।।

भावार्थ—ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के सम्बन्ध में विचार करने पर यही समझ में आता है कि भक्त चरित्रों के समान दूसरी और कोई वस्तु सुन्दर नहीं है, जिससे मङ्गलाचरण किया जाय। भगवद्भक्तों का चरित्र गान करने में भगवद्भक्त ही मंगल रूप हैं।।२।। वेद, पुराण, इतिहास आदि सभी शास्त्रों ने तथा सभी साधु-सन्तों ने यही निर्णय किया है कि भजन, आराधन के लिए भगवान या भगवान के भक्त दो ही सबसे सुन्दर हैं।।३।। स्वामी श्रीअग्रदेवजी ने मुझ नारायणदास को आज्ञा दी, कि भक्तों का यशोगान करो, क्योंकि संसार-सागर से पार होने का इससे सरल दूसरा कोई उपाय नहीं है।।४।।

व्याख्या—श्रीनाभाजी ने मङ्गलाचरण में भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु इन चारों का स्मरण किया है इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि गणेश, महेश, सरस्वती या अपने-अपने इष्टदेव की वन्दना करने की प्राचीन परम्परा का परित्याग कर सर्वथा नवीन पद्धति का प्रारम्भ क्यों ? तो श्रीनाभाजी महाराज स्वयं इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—'मंगल आदि.............अनूप' अर्थात् मैंने मङ्गलाचरण के सम्बन्ध में प्रारम्भ में बहुत विचार किया तो मुझे भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु से बढ़कर और अनूप कोई मांगलिक वस्तु समझ में नहीं आई। बात भी सत्य ही है। सचमुच यदि नाम निर्देश पूर्वक किसी देवी, देवता, गुरुदेव या इष्टदेव की वन्दना करते तो वन्दना का यह व्यापक रूप सामने नहीं आता, जो भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु में है। नाम निर्देश में एक देशीयता होती है। फिर तो जिसका नाम वन्दना में है उसी की वन्दना समझी जाती है और इसमें तो अपने इष्ट गुरु अथवा वन्द्य के साथ-साथ समस्त भक्तों के वन्दनीय स्वरूपों का वन्दन हो जाता है। भक्त शब्द में समस्त भक्त, गणेश, महेश, सरस्वती तक का अन्तर्भाव है। भक्ति शब्द में समस्त भक्तों की भक्ति एवं श्रीजी का भाव है। भगवन्त शब्द में सब भक्तों के आराध्य स्वरूपों का अन्तर्भाव है। ऐसे ही गुरु शब्द में समस्त आचार्यों की वन्दना का अन्तर्भाव हैं। अतः 'मंगल आदि...........अनूप।' मंगल तो मांगलिक वस्तुओं का ही किया जाता है और श्रीनाभाजी के वन्द्य भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु चारों ही मंगलमय हैं। यथा—

'भक्त मङ्गल'— 'मुद मङ्गल मय सन्त समाजू। सत संगति मुद मङ्गल मूला।। मङ्गल मूरति मारुति नन्दन। सकल अमङ्गल मूल निकंदन।।' पुनश्च—**ज्ञानभक्ति प्रकाशाय, प्रेमोन्मत्ताय मंगलम्। नामलीला विदग्धाय तीर्थीभूताय मङ्गलम्।। अनन्याय रसज्ञाय, लोकमङ्गलकारिणे। भगवन्मयाय भक्ताय, मङ्गलाय सुमङ्गलम्।।**

'भक्ति मङ्गल'— या हरिं वशमानीय, भक्तेषु च विराजिता। ज्ञानवैराग्ययोर्माता तस्यै भक्त्यै सुमङ्गलम्।। (भ०व०टि०)

'भगवन्त मङ्गल'— मङ्गलं कौशलेन्द्राय, महनीयगुणाब्धये। चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम्।। (वाल्मीकिजी) **रामाय कृष्णाय रसप्रदाय, सुभक्त भक्ताय सराधिकाय। गोविन्दगोपीजन- वल्लभाय, सुमङ्गलम् दीनजनप्रियाय।।** (भ०व०टि०)

'गुरु मङ्गल'— मोहान्धकारस्य विनाशकाय, चन्द्रार्ककञ्जोपमविग्रहाय। त्रितापहाराय कृपाकराय, आचार्य देवाय सुमङ्गलञ्च।। (भ०व०टि०)

हरिजन को यश गावते हरिजन—हरिजन शब्द में हरि और जन (भक्त) दोनों का ही अन्तर्भाव है। बड़ी ही चमत्कार पूर्ण पंक्ति है। अर्थ होगा हरि का यश गाने से जन (भक्त) मंगल रूप हो जाते हैं क्योंकि हरि— **'मंगल भवन अमंगल हारी'** ठहरे। और जनों (भक्तों) का यश गाने से हरि मंगलमयता को प्राप्त होते हैं क्योंकि भक्त भी तो मंगलमय हैं। यथा—**'मुद मंगल मय संत समाजू।'** जैसे भक्त भगवान का यश गाने से आनन्द प्राप्त करते हैं वैसे ही भगवान भी भक्तों का यश गाकर सुनकर परमानन्द का अनुभव करते हैं। यथा— **'सकृत प्रनाम प्रणत यश वरनत, सुनत कहत फिर गाउ।।** (विनये) भक्त और भगवान दोनों का ही स्वभाव है—भजने वाले को आत्मसारूप्य प्रदान करना।। यथा—भक्त स्वभाव—**पारस में अरु सन्त में, बहुत अन्तरो जान। वह लोहा सोना करै यह करै आप समान।।**

भगवन्त स्वभाव—यथा—**प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूं न राम से, साहिब शील निधान।।** (रामचरितमानस)

सब सन्तन निर्णय कियौ—एकबार सन्तों की सभा में इस बात को लेकर विचार विमर्श हुआ कि सबसे बड़ा कौन है। तो एक महानुभाव ने कहा कि—सबमें बड़ी पृथ्वी है जो सबको धारण करती है। दूसरे सन्त ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा पृथ्वी से बड़ा समुद्र है। समुद्र का क्षेत्रफल पृथ्वी से दूना है। तीसरे महानुभाव इनके भी कथन का खण्डन करते हुए बोले—कि समुद्र से बड़े तो श्रीअगस्त्यजी हैं जिन्होंने समुद्र को चुल्लू में भरकर पी लिया था। चौथे सज्जन बोले—समुद्र सोखने वाले अगस्त्यजी आकाश में एक तारा ही बनकर रह गये हैं। जब सूर्य का उदय होता है तो अगस्त्य तारे का पता नहीं चलता। इससे सिद्ध हुआ कि अगस्त्यजी से तो सूर्य ही बड़े हैं। पाँचवे सज्जन अपने पक्ष का समर्थन करते हुए बोले कि इतने बड़े सूर्य भगवान चक्रपाणि ने नेत्र स्थानीयमात्र हैं। यथा—**नैन दिवाकर कच घन माला।** (रामचरितमानस) अतः सूर्य से बड़े तो भगवान ही हुए। परन्तु यह मत भी सर्वमान्य नहीं रहा। एक महानुभाव अपना मत प्रकट करते हुए बोले कि—ऐसे महान भगवान भी भक्तों के हृदय-कमल में निवास करते हैं। अतः भगवान से भी बड़े भगवान के भक्त हुए। श्रीभगवत् रसिक जी ने एक छप्पय में इस प्रसंग का स्मरण किया है। यथा—

कोउ कह अवनी बड़ी तासु दूनो समुद्र पुनि।
सो अञ्जलि भरि लियौ ताहि सोख्यो अगस्त्य मुनि।।
नभ अगस्त्य को बास छिपैं उद्योत भानु के।
भानु वेद यों कहैं चक्षु हैं चक्रपाणि के।।
चक्रपाणि हरि जनन के हृदय कमल कियो बास।
भगवत लघुता विष्णुलौं दीरघ हरि के दास।।

ऐसे ही एकबार कविजनों के बीच भी इसी बात को लेकर विवाद हुआ था, जिसकी चर्चा श्रीनाभाजी ने स्वयं श्रीभक्तमालजी के उपसंहार में किया है। यथा—छप्पय देखिये २००।। पुनश्च—एक बार देवर्षि के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि—जगत् में सबसे महान कौन है। उन्होंने सोचा कि चलूं भगवान के पास ही वहीं इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा। वे सीधे वैकुण्ठ में गये और वहाँ जाकर प्रभु से अपना मनोभाव व्यक्त किये। प्रभु ने कहा—नारद! सबसे बड़ी तो यह पृथ्वी ही दीखती है, पर वह समुद्र से घिरी है अतएव यह भी बड़ी नहीं है। रही बात समुद्र की, सो उसे अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः वह भी बड़ा कैसे हो सकता है। इससे तो अगस्त्यजी बड़े हो गये। पर देखा जाता है कि अनन्ताकाश के एक सीमित भाग में वे केवल एक खद्योतवत् चमक रहे हैं, इससे वे भी बड़े कैसे हो सकते हैं? अब रहा आकाश विषयक प्रश्न सो प्रसिद्धि है कि भगवान विष्णु ने वामनावतार में इस आकाश को एक ही पग में नाप लिया था, अतएव वह भी उनके सामने अत्यन्त नगण्य है। इस दृष्टि से भगवान विष्णु ही सर्वोपरि महान सिद्ध होते हैं। तथापि नारद! वे भी सर्वाधिक महान हैं नहीं, क्योंकि तुम्हारे हृदय में वे ही अंगुष्ठमात्र स्थल में ही सर्वदा अवरुद्ध देखे जाते हैं। इसलिए भैया! तुमसे बड़ा कौन है? वास्तव में तुमही सबसे महान सिद्ध हुए—

पृथ्वी तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः,
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
तदव्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं,
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्।।

'त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्' से तात्पर्य भक्तमात्र से है।। उपर्युक्त प्रमाणों से हरि-भक्तों की भजनीयता सिद्ध होती है अब श्रीहरि की भजनीयता का एक प्रसंग देखिये—

एकबार सरस्वती नदी के तट पर कुछ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे। उनमें इस विषय पर विचार-विमर्श हुआ कि—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तीन त्रिदेवों में सबसे बड़ा कौन है? इस बात को जानने के लिए उन्होंने ब्रह्माजी के पुत्र महर्षि भृगु को उनकी परीक्षा लेने के लिए भेजा। भृगुजी पहले ब्रह्माजी की सभा में गये और उनके स्वभाव की परीक्षा करने के लिए उन्होंने न तो नमस्कार किया और न उनकी स्तुति ही की। इससे ब्रह्माजी अपने तेज से प्रज्वलित हो उन पर अत्यन्त कुपित हुए। किन्तु अपने पुत्र के ही प्रति उत्पन्न क्रोध को ब्रह्माजी ने अपने मन में इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे तेजस्तत्व से ही उत्पन्न हुए जल से अग्नि शान्त हो जाती है। तदनन्तर वे कैलाश को गये। अपने भाई महर्षि भृगु को आया देख, श्रीमहादेवजी अति आनन्दित हो, उठकर उन्हें आलिङ्गन करने के लिए उद्यत हुए किन्तु 'नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति...... ....', तुम कुमार्गी हो— ऐसा कहकर 'भृगुजी ने उनसे मिलने की अनिच्छा प्रगट की। (अर्थात्) उनका तिरस्कार किया। तब महादेवजी को बड़ा क्रोध हुआ और वे तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने के लिए उद्यत हुए। देवी पार्वतीजी ने उनके चरणों पर गिरकर उन्हें प्रार्थनामयी वाणी से शान्त किया। इसके बाद भृगुजी वैकुण्ठ धाम को गये। भगवान लक्ष्मी जी की गोद में सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुजी ने जाते ही उनके वक्षःस्थल में लात मारी। साधुओं के एकमात्र गति श्रीहरि लक्ष्मीजी सहित उठ बैठे और शैय्या से उतरकर उन्होंने भृगुजी को प्रणाम किया और कहने लगे—

आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो।।
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।
वज्रकर्कशमद्वक्षः स्पर्शेन परिपीडितौ।।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना।। (भा० १०-८९-९-१०)

हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है, यहाँ एक क्षण आसन पर विराजिये। हमें आपके यहाँ पधारने का कोई पता न था, अतः हमारी धृष्टता क्षमा करें। हे महामुने! आपके चरण-कमल अत्यन्त कोमल हैं और मेरा वक्षःस्थल वज्र के समान कठोर है। उसका स्पर्श होने से आपके चरणों में बहुत पीड़ा हुई होगी। यह कहकर वे भृगुजी के चरणों को अपने हाथों से दबाते हुए पुनः बोले—'आपका चरणोदक तीर्थों को भी पवित्र करने वाला है। उससे आप वैकुण्ठ लोक के सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालों को पवित्र कीजिये। भगवन्! आपके पादस्पर्श से मेरे समस्त पाप नष्ट हो गये। अतः लक्ष्मी मेरे हृदय में निरन्तर विराजमान रहेंगी। अब मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय स्थान हो गया हूँ। यथा—

पुनीहि सह लोकं मां लोकपालांश्च मद्‌गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणः।।
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः।। (भा० १०-८९-११-१२)

भगवान् की ऐसी गम्भीर वाणी सुनकर भृगुजी अति आनन्दित और तृप्त हो मौन हो गये तथा भक्ति के उद्रेक से उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया नेत्रों में जल भर आया। तदनन्तर उन्होंने पुनः भूमि में आकर मुनीश्वरों के सामने अपना सारा अनुभव कह सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर सबका सन्देह दूर हो गया। इसके बाद सभी मुनीश्वर—

प्रेम पुलकि वैकुण्ठ सिधारे। जयति जयति कहि सकल पुकारे।।
अशरण शरण हरण भव वाधा। क्षमहु नाथ हमरो अपराधा।।
वेद प्रमाण बड़े तुम भारी। करी परीक्षा चूक हमारी।।
अब प्रतक्ष यह भा परमाना। तुमहिं बड़े सबते भगवाना।।
सुनि बोले हँसि भक्त उपासी। कहत सत्य तुम नहिं उपहांसी।।
सकल जगत उर मांझ हमारे। हमको रहैं सदा उर धारे।।
हमहूं जिनको चिन्तन करहीं। जिनके हित जग में अवतरहीं।।
जब खण्डन करि विमुख ऊखारैं। थापि मोहिं जश मोर प्रचारैं।।
ताते जन उपास्य हैं मेरे। अहैं सकल विधि भक्त बड़ेरे।।

दोहा— **सुनि मुनि बोले सत्य है, जो प्रभु कहत बखानि।**
भक्त और भगवन्त दोउ, पूज्य लिये हम जानि।।
तबहीते यह मत सुदृढ़, सबनि कियो विश्वास।
सोई श्री गुरु कृपा ते, गायो नाभादास।। (भ०व०टि०)

'भजिबे को सुघर'—इसलिए कहा है कि 'भक्त और भगवान' दोनों ही—

'बलि पूजा चाहैं नहीं, चाहैं एक प्रीति।
सुमिरत ही मानैं भलो पावन सब रीति।।'

तथा—**'भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुणाभवन'**,
'सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जल अंजलि दिये',
'भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः भक्तिप्रियो माधवः',
'भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः'
'सेवत सुलभ सकल सुखदायक'
'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।'

भक्त और भगवान को छोड़कर सभी कारण कृपालु देखे गये हैं। यथा—

'जे सुर सिद्ध मुनीश योग विद वेद पुराण बखाने।
पूजा लेत देत, पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने।।' (विनय)
'भूमि पाल व्याल पाल लोक पाल नाक पाल।
कारण कृपालु मैं सबै के जीकी थाह ली।।' (कवितावली)

अतः भक्त-भगवान को भजिबे को सुघर कहा।

'श्रीगुरु अग्रदेव'—कहकर श्रीनाभाजी ने गुरुदेव का नाम निर्देश किया। 'आज्ञा दई'— यह ग्रन्थ रचना का हेतु है, आज्ञा क्या है, तो कहते हैं कि—'भक्तन को जस गाउ' और वह इसलिए कि 'भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ।। प्रश्न—भगवान का न कहकर हरि-भक्तों का ही यश गाने का इतना सुस्पष्ट संकेत क्यों? समाधान—

१—श्रीनाभाजी को सन्त कृपा से ही दिव्य दृष्टि मिली जिससे कि वह समुद्र के जहाज की कौन कहे गुरुदेव की मानसी सेवा का भी प्रत्यक्षतया दर्शन करने लगे थे। यथा—**'अचरज दयो नयो यहाँ लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो जान्यो सन्तनि प्रभाव को। आज्ञा तब दई 'यह भई तो पै साधु कृपा उनहीं को रूप गुन कहो हिय भाव को'** (टी०क० ११)

२—भगवान का यश तो बहुत से लोगों ने गाया है, गाते हैं, गाते रहेंगे यथा—**'शारद शेष महेश विधि, आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान।। 'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहि।'** मैं स्वयं (अग्रदासजी) हरि-यश गाता हूँ तो कोई भक्तों का यश भी तो गाने वाला होना चाहिए।

३—**हरि को निज जसते अधिक, भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रची करि ध्रुव कण्ठ सिंगार।।** विनय-पत्रिका में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि—**'निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।।'** अर्थात् प्रभु का भक्तों के यश-श्रवण-कथन में इतना भाव है कि अपना विरुद-वर्णन बन्द कराकर सेवकों से भक्तों का यश गाने का आग्रह करते हैं। स्वयं बड़े प्रेम से सुनते हैं। फिर-फिर गाने को कहते हैं, स्वयं भी गाते हैं। अतः श्रीभक्तमालजी के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। (देखिये भक्तमाल महात्म्य)

४—श्रीनाभाजी ने मङ्गलाचरण में भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु इन चार का स्मरण किया है। भक्ति भावात्मक होने से भक्त, भगवन्त गुरु इन तीनों में अन्तर्हित है। प्रत्यक्ष सेव्य स्वरूप तीन हुए। फिर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकला कि—**'भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास।'** यहाँ भक्त और भगवान दोनों में ही गुरुतत्व की अवस्थिति है। अतः दोई सुघर कहा। इन दो में भी श्रीअग्रदासज़ी ने 'भक्तन को जस गाउ' की आज्ञा करी। अर्थात् केवल भक्तों को चुन लिया। इसलिए कि भक्त में भक्ति, भगवान और गुरुदेव सबका ही भाव पाया जाता है अतः 'भक्तन को जस गाउ' कहा।।

भवसागर के तरन को नाहिन और उपाय—यथा भागवते—**निमज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ताः नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्।।** (भा० ११-२६-३२) अर्थ—जो भयंकर संसार समुद्र में डूबते-उतराते हैं उनके लिए परम आधार ब्रह्मवेत्ता शान्त सन्त हैं जैसे जल में डूबते हुए

प्राणी के लिए नाव सहारा होती है।। वैसे तो भवसागर से पार जाने के लिए वेद-शास्त्रों ने बहुत से उपायों का निर्देश किया है। यथा—**बहु उपाय संसार तरन कहँ विमल गिरा श्रुति गावै।**' (विनय) परन्तु सर्व सुलभ न होने से उन उपायों से जीव, भव-बन्धन से छूटने की जगह और अधिक बँधता जाता है। पार जाने की जगह और अधिक डूबता जाता है यथा—**श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।**' (रामा०) और सन्त चूँकि सबको, सब काल सब देश में सुलभ हैं यथा—'**सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।**' अतः यह सौलभ्य विचारकर श्रीअग्रदासजी कहते हैं—भवसागर.........उपाउ।।

आज्ञा निरूपण

मानसी स्वरूप में लगे हैं अग्रदास जू वै करत बयार नाभा मधुर सँभार सों।
चढ्यो हो जहाज पै जु शिष्य एक आपदामें कर्‌यौ ध्यान खिंच्यो मन छूटयो रूप सार सों।।
कहत समर्थ गयो बोहित बहुत दूरि आवो छबि पूरि फिर ढरो ताही ढार सों।
लोचन उघारि कैं निहारि कह्यौ बोल्यौ कौन! वही जौन पाल्यो सीथ दै दै सुकुँवार सों।।१०।।

भावार्थ—सँभार=सँभाल, निगरानी, रक्षा, स्मरण, पोषण, प्रबन्ध। आपदा=संकट, आपत्ति। रूप-सार= अत्यधिक सुन्दर। समर्थ=सर्व शक्तिमान्। बोहित=जहाज। ढरो=चलो, तत्पर होइयै, लहराइयै। ढार=चाल, रीति, झूले का झोंका। सीथ=जूँठनि। सुकुवाँर=सुकुमार, बचपन।

शब्दार्थ—एकबार स्वामी श्रीअग्रदेवजी महाराज मानसी-सेवा में संलग्न थे और श्रीनाभाजी अति कोमल एवं मधुर संरक्षण के साथ धीरे-धीरे प्रेम से पंखा कर रहे थे। उसी समय श्रीअग्रदासजी का एक शिष्य जहाज पर चढ़ा हुआ समुद्र की यात्रा कर रहा था। उसका जहाज संकट (भँवर) में फँस गया। चालक निरुपाय हो गये तब उस शिष्य ने श्रीअग्रदासजी का स्मरण किया। उससे श्रीअग्रदासजी का ध्यान अतिसुन्दर स्वरूप भगवान श्रीसीतारामजी की सेवा से हट गया। गुरुदेव की मानसी-सेवा में विघ्न समझकर श्रीनाभाजी ने पंखे की वायु से जहाज को संकट से पार कर दिया और श्रीगुरुदेव से नम्र निवेदन किया कि—प्रभो! जहाज तो बहुत दूर निकल गया, अब आप उसी शोभा पूर्ण भगवान की सेवा में लग जाइये। यह सुनकर श्रीअग्रदेवजी ने आँखें खोलीं और नाभाजी की ओर देखकर कहा कि—अभी कौन बोला? श्रीनाभाजी ने हाथ जोड़कर कहा—जिसे आपने बचपन से सीथ प्रसाद देकर पाला है। उसी आपके दास ने प्रार्थना की है।।१०।।

व्याख्या—आचार्यों ने भगवत् सेवा त्रिविध वर्णन की है। १. तनुजा। २. वित्तजा। ३. मानसी। तनुजा—श्रद्धा, भक्ति सहित शरीर से भगवत कैङ्कर्य करना। वित्तजा-वित्त शाठ्य परित्याग पूर्वक भगवान की उत्तमोत्तम राग-भोग श्रृङ्गार आदि की सेवा। मानसी-उत्तमा सहजा वृत्ति द्वारा मन मन्दिर में भगवान को विराजमान कराकर सदा-सर्वदा (अष्टयाम) मनोमय पूजोपकरणों द्वारा मन से भगवान की सेवा। तनुजा और वित्तजा सेवा का फल है मानसी सेवा की सिद्धि। मानसी सेवा को अत्यन्त श्रेष्ठ सेवा कहा गया है यथा—**कृष्ण सेवा सदा कार्या, मानसी सा परामता। चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।**

श्रीअग्रदासजी मानसी सेवा में ही तन्मय हो रहे थे। मन स्वभाव से ही चंचल है। श्रीगीता जी में बार-बार मनो निरोध पर बल देने पर श्रीअर्जुनजी ने झुँझलाकर कहा—'**चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।** (गीता ६/३४) अर्थ—हे कृष्ण! मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। वायु के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है। अर्जुन के इस तर्क का समर्थन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण मनोनिरोध का उपाय भी बताते हैं। यथा—**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।** (गीता ६/३५) अर्थ—हे महाबाहु अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु सर्वथा असम्भव नहीं है। हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। यहाँ अभ्यास से तात्पर्य मन को बाह्य विषयों से हटाकर पुनः-पुनः भगवान में लगाने से है। ज्ञानी, लोग जहाँ मन का निरोध संयम रूपी कोड़े लगा-लगाकर करते हैं वहाँ उपासना मार्ग में भक्तजन मन को भगवान के रूप माधुर्यामृत का पान कराकर चंचल से अचल बनाते हैं। इस पर बड़ा ही सुन्दर अलबेली अलि और सुन्दरदासजी ने लिखा है। यथा—

चञ्चल तो मन की गति है अलि रूप सुमन वन में फिरिये।
कुण्डल लोल कपोलनि में अलकनि झलकनि चित में धरिये।।
वर वेंदी भाल रसाल दिये अधरनि में मोती थरहरिये।
अलबेली लाल विहारिनि को दिन रेंन निहारनि ही करिये।।
मन है तो भली थिरकै रहितू हरि के पद पंकज में गिरि तू।
कवि सुन्दर जौ न सुभाव तजै फिरिबोई करैं तौ उहाँ फिरि तू।।
मुरली पर मोर पखा पर ह्वै लकुटी पर ह्वै भ्रकुटी भ्रमि तू।
इन कुण्डल लोल कपोलनि में घन से तन में घिरि कै रहि तू।।

दृष्टान्त—भूत का—दोहा—**यह मन भूत समान है दौरै दांत पसार।**
बांस गांठ उतरै चढ़ै सब बल जावै हार।।

किसी मन चले व्यापारी ने एक सिद्ध सन्त से शीघ्र सिद्धि का मन्त्र पूछा। सन्त ने भूत सिद्धि का मन्त्र बता दिया। सन्त के बताये हुए विधान से उसने एक भूत को वश में कर लिया और उससे कहा कि—हम जो कहैं वह तुम्हें करना होगा। भूत ने कहा—हम तुम्हारी आज्ञा इस शर्त पर मानने को तैयार हैं कि जिस समय तुम मुझे कुछ काम नहीं बताओगे उस समय मैं तुम्हें खा जाऊँगा। अर्थात् हमें हर समय काम मिलना चाहिए। व्यापारी का वैसे तो बड़ा भारी कारोबार था। काम बहुत रहता था, परन्तु जो भी वह कहता, भूत अपनी दिव्य शक्ति से तत्काल सम्पन्न कर देता। ऐसी स्थिति में वह व्यापारी हमेशा चिन्तित रहने लगा कि अब इसे कौन सा काम बताऊँ। चिन्ता के कारण उसका शरीर कृशित होने लगा। एक मित्र ने जब कृशता का हेतु पूछा तो उसने अपना समस्त वृत्तान्त बताकर इस दुःख से छूटने का उपाय पूछा। अनुभवी मित्र उसको एक सिद्ध के पास ले गया। सिद्ध ने युक्ति बताई। कहा कि—उस भूत से कहो, एक हजार गांठ वाला बाँस लावे और जब वह लावे तो कहना कि इसे हमारे आँगन में गाड़ दो और खाली समय में इस पर चढ़ो उतरो। जब हमें काम होगा तब कहूँगा। इस प्रकार वह व्यापारी भूत के संकट से मुक्त हुआ।

ऐसे ही भूत रूपी चंचल मन को भी भगवान के नखशिख रूप में लगाये रहे तो जीव सुखी रहता है। नहीं तो व्यर्थ ही असद् विषयों में भटकता रहता है। यथा—**हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।** (भा०) अर्थ—जो भगवान का भक्त नहीं, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहाँ से सकते हैं? वह तो तरह-तरह के संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है।

दृष्टान्त—शेखचिल्ली का—किसी धनी का घी भरा मटका, चार आने मजदूरी पर सिर पर रखकर ले जा रहे थे। मन ही मन सोचते, चार आने पैसे से खोमचा चलाऊँगा, जब आमदनी अधिक हो जायगी तो बकरी खरीदूँगा। बकरियों के व्यापार से जब अधिक मुनाफा होगा तो गाय खरीदूँगा। फिर लाभ होने पर घोड़े का व्यवसाय करूँगा। फिर जब काफी मालोमाल हो जाऊँगा तो ब्याह करूँगा। पुत्र होगा, जब वह बड़ा हो जायेगा तो मैं उसे फारसी पढ़ाना चाहूँगा और पत्नी हिन्दी पढ़ाने पर जोर देगी तो मुझे क्रोध आयेगा तो मैं उछलकर उसे लात मारूँगा, बस यह सोचते ही आवेश आया, शेखचिल्ली सचमुच उछल पड़े। असावधानी में घी भरा घड़ा गिरकर फूट गया। घी फैल गया। धनी को क्रोध आया, दो थप्पड़ लगाये। शेखचिल्ली चिल्लाने लगे। लोगों की भीड़ एकत्रित हो गई। पूछने पर धनी ने अपनी घृत हानि बताई। शेखचिल्ली ने चिल्लाकर कहा, आपका तो दस पाँच रुपये के घी का नुकसान हुआ, मेरी सब गृहस्थी ही चौपट हो गई। लोग बड़े ही चकपकाये। फिर जब शेखजी के मनोराज्य को जाने तो उन्हें और भी अधिक कुतूहल हुआ। यह है मन की भटकन।

श्रीअग्रदासजी अपने मन को श्रीयुगल सरकार प्रिया-प्रीतम श्रीसीतारामजी की मानसी-सेवा में लगा रखे थे। उस समय का ध्यान—छन्द—

अवधपुरी निजधाम परम अति सुन्दर राजै।
हाटक मणिमय सदन नगन की कांति विराजै।।
पौरि द्वार अति चारु सुहावन चित्रित सोहैं।
चम्पतार मन्दार कल्पतरु देखत मोहैं।।
कल्पवृक्ष के निकट तहाँ इक धाम मणिन युत।
कंचनमय सब भूमि परम अति राजत अद्भुत।।
स्वर्ण वेदिका मध्य तहाँ इक रतन सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पद्म शुभासन।।
ताके मध्य सुदेश कर्णिका सुन्दर राजै।
अति अद्भुत तहँ तेज बह्नि सम उपमा भ्राजै।।
तामधि शोभित राम नील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अम्भोधि सजलघन तन की शोभा।
दक्षिणभुज सुभग सुहावन सुन्दर राजैं।
दिव्यायुध सुविशाल वामकर धनुष विराजैं।।
षोडश वर्ष किशोर राम नित सुन्दर राजैं।
रामरूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजैं।।

अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द बाम दिशि जनक कुमारी।।
अलक झलकता श्याम पीठ शोभित कलवेणी।
सुन्दरता की सींव किधौं राजति अलिश्रेणी।।
दक्षिण भुज रिपुदलन गौरतन तेज उदारा।
उभै हेतु अनुसार धरे ब्रतऽखण्डित धारा।।
शेष लिये कर छत्र भरत लिए चँवर ढुरावैं।
अनिलसुवन कर जोरि सुप्रभु की कीरति गावैं।।
अपनी-अपनी ठौर नित्य परिकर बनि भारी।
सुरति शक्ति विमलादि रहत नित आज्ञाकारी।।
यहि विधि राजत राम अवधपुर अवध विहारी।
दम्पति परम उदार सुजश सेवक सुखकारी।।
यही ध्यान उर धरैं स्वयं तन सुफल करे वा।
भव चतुरानन आदि चरन बन्दैं सब देवा।।
ध्यान मञ्जरी नाम सुनत मनमोद बढ़ावैं।
श्रीरघुबर को दास मुदित मन अग्रसो गावै।।

(अग्रदास कृत—ध्यान मंजरी से)

करत बयार नाभा—करत बयार नाभा से गर्मी का दिन जनाया गया। '**मधुर सँभार सों**'=मधुर का अर्थ धीरे-धीरे, इसलिए कि ध्यान में कोई विक्षेप न पड़े। बहुत जोर-जोर से भी पंखा झलने से ध्यान में व्यवधान पड़ता है तथा बहुत धीरे-धीरे करने से भी अच्छी तरह तापापनोदन नहीं होगा। तो भी व्यवधान होगा, अतः मधुर अर्थात् न अत्यन्त तेज न अत्यन्त मन्द ही। सँभार सों=अर्थात् बड़ी सावधानी से। सावधानी यह कि कहीं धोखे से पंखा श्रीगुरुदेवजी को न लग जाय। अथवा मुझे ही कहीं आलस न आ जाय। सेवा में सावधानी परमावश्यक है। यथा—'**सेवा सुमिरन सावधान चरण राघव चित लाये।**' (छ० ४१) सेवा में सावधान रहना चाहिये, इस पर—

दृष्टान्त—जलघड़िया का—वृन्दावनस्थ श्रीठाकुर रसिक-विहारीजी का जलघड़िया एकबार स्नान करके श्रीयमुना जल कलश में भरे सिर पर लिये हुए जा रहा था। रास्ते में ब्रजवासी बालक खेल रहे थे। एक बालक ने जलघड़िया का हाथ पकड़कर जल पिलाने को कहा। वह झुँझलाया। ब्रज के बालक इतने ढीठ होते हैं कि इन्हें तनिक भी अपरस सपरस का विचार नहीं होता है। मैं श्रीठाकुरजी की सेवा में जा रहा था इसने छू दिया, इत्यादि बातें विचार कर उस बालक को थप्पड़ लगा दिया। वह बालक कोई और नहीं स्वयं ठाकुर श्रीरसिक विहारीजी ही बाल-वेष बनाये बालकों के साथ विविध विनोद कर रहे थे। ठाकुरजी के कोमल कपोल पर अँगुलियों के चिह्न उभड़ आये। जब सेवा में श्रीमहन्त जी उपस्थित हुए और उनकी दृष्टि जब कपोल पर उभड़े निशानों पर गई तो पूछे—जै-जै यह चिह्न कैसे? तब ठाकुरजी ने सुबकते हुए कहा, आपके जलघड़िया ने मुझे मारा है। जब इस बात का रहस्योद्घाटन हुआ तो जलघड़िया को बड़ा क्षोभ हुआ। क्षमा-याचना की। बात आयी गयी हो गयी, जलघड़िया तो इस

प्रसङ्ग को भूल गया परन्तु श्रीठाकुरजी नहीं भूले थे। गर्मी के दिन थे जलघड़िया ठाकुरजी को पंखा झल रहा था। पंखा झलते-झलते उसे आलस्य आ गया। पंखे की डोरी छूट गयी। छिटक कर श्री ठाकुरजी को जा लगी। उसकी इस असावधानी पर झुँझलाकर श्रीठाकुरजी ने भी उसे एक थप्पड़ मारकर असावधानी का दण्ड और पीछे का बदला दोनों ही चुका लिया। अतः सेवा सुमिरन में सावधानी रखनी चाहिये। श्रीनाभाजी बड़ी ही सावधानी पूर्वक पंखा झल रहे थे। सेवा सबको करनी नहीं आती। इस पर—

दृष्टान्त—बन्दर सेवक का—एक राजा ने एक बन्दर को पंखा झलना सिखा रखा था। गर्मी के दिन थे। बन्दर पंखा झल रहा था। राजा सोये हुए थे। एक मक्खी राजा के शरीर पर बार-बार बैठती, बन्दर उसे बार-बार उड़ाता जब वह किसी प्रकार नहीं मानी तब बन्दर तो बन्दर ही ठहरा रोष में भरकर उसने मक्खी को मारने के लिये राजा के बगल में पड़ी हुई तलवार उठा ली और मक्खी ज्यों ही राजा के वक्षःस्थल पर बैठी, सधे हाथ से बन्दर ने तलवार का प्रहार किया। मक्खी तो मरी नहीं राजा के दो टुकड़े हो गये। ऐसी सेवा नहीं करनी चाहिये। श्रीनाभाजी तो सेवा-सुमिरन में सावधान रहने वाले सेवक थे।

श्रीगुरुजी भगवान की मानसी-सेवा में लगे हैं और श्रीनाभाजी गुरु सेवा में। हेतु—१.शिष्य का परम धर्म है, गुरु की सेवा करना। २. **जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी।।** ३. भगवान की सेवा न कर श्रीगुरुजी की सेवा कर रहे थे इसलिये भी कि वे श्रीगुरुजी को भगवान से भी अधिक करके मानते थे। '**तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।**' के समर्थक थे। ४. जैसे श्रीगुरुजी मानसी-सेवा सुख में निमग्न रहते हैं वैसे ही श्रीनाभाजी भी मानसी-सेवा सुख की अभिलाषा करते हैं और यह सम्भव है श्रीगुरु कृपा से। यथा—**बिनु गुरु होइ कि ग्यान।**

दृष्टान्त—तोते का—एक सन्तजी अपने उपदेश में यह बात बार-बार दुहराते थे कि राम नाम रटने से भव-बन्धन छूट जाता है। उनके शिष्य ने भी यह सूत्र याद कर लिया और जहाँ भी जाते यही उपदेश करते। एकबार वे चित्रकूट गये हुए थे। साधन-साध्य सम्बन्धी वार्ता होने पर शिष्य ने भी यह बात बार-बार दुहराई। एक तोते ने झुँझलाकर कहा—यह झूठी बात है। मैं तो एकबार नहीं अनेक बार राम नाम रटता हूँ। परन्तु भव-बन्धन की तो बात ही क्या—पिंजड़े के बन्धन से भी नहीं छूट पाया। शिष्य सकपका गया। समुचित उत्तर नहीं दे सका। आकर गुरुजी से निवेदन किया। गुरु ने कहा—तोते से जाकर कहना—वह मृतक का स्वांग कर जाये। शिष्य के कहने पर तोते ने ऐसा ही किया। गृह स्वामी ने तोते को मरा हुआ समझकर पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता अवसर पाकर उड़ा तो उड़ते हुये यह कहा कि—राम नाम रटने से भव-बन्धन छूट जाता है, यह बात सत्य है परन्तु कूंची गुरु के हाथ है। अतः 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'—

कृपा होगी सेवा से ही। यथा—

कृपा-कृपा सब कोइ कहै, कृपापात्र नहिं कोइ।
कृपापात्र सोइ जानिये, (जो) सब विधि सेवक होइ।।

पुनश्च—
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः।। (गी० ४-३४)

अर्थ—इसलिये तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी-पुरुषों से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुये प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो। वे तत्त्ववेत्ता ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। तात्पर्य यह कि बिना गुरु की सेवा किये रहस्य बोध असम्भव है। इस पर—

दृष्टान्त—रसायनी का—एक फकीर रसायन विद्या (स्वर्ण निर्माण) जानते थे। बादशाह को जब यह मालूम हुआ तो उसने फकीर को बुलाकर रसायन विद्या सिखाने को कहा। परन्तु फकीर ने इन्कार कर दिया। बादशाह का रौब इन शहंशाह फकीरों पर भला चल ही कैसे सकता है। बादशाह का आग्रह व्यर्थ गया। तब उसने शक्ति का प्रयोग किया और फकीर को कैद में डाल दिया। परन्तु बादशाह को, चूँकि यह विद्या सीखने की सच्ची चाह थी अत: रात्रि में भेष बदलकर, एक गरीब भिस्ती का रूप धरकर कारागार में ही जाकर फकीर की सेवा करना प्रारम्भ किया। यथा सम्भव हर सेवा बड़े भाव से करता। फकीर ने यह जान तो लिया कि बादशाह ही है, तो भी खूब सेवा ली। क्योंकि बिना सेवा के प्राप्त विद्या सफल नहीं होती। एकदिन फकीर ने भिस्ती रूपधारी बादशाह से घर की स्थिति के सम्बन्ध में पूछा—तो बादशाह ने बताया, साहब! बड़ा भारी परिवार है। बहुत बाल-बच्चे हैं। मैं उनका समुचित पालन-पोषण नहीं कर पाता हूँ। आप कोई ऐसी दुआ दें जिससे सब परिवार सुखी हो जाय। (यहाँ परिवार से तात्पर्य सम्पूर्ण राज्य की प्रजा से है) सन्त को दया आ गई। उन्होंने रसायन विद्या सिखा दी। दूसरे दिन बादशाह ने फकीर को कारागार से मुक्त कर दरबार में उपस्थित करने का हुक्म दिया। फकीर आये। बादशाह ने मुस्कराते हुए कहा, फकीर साहब! आपने नहीं सिखाया, परन्तु मैंने तो रसायन विद्या सीख ली। फकीर ने हँसकर कहा—सीखे होंगे तो बादशाहत की रौब से नहीं, सेवा करके सीखे होंगे। बादशाह चरणों में पड़ गया। अत: श्रीनाभाजी भी गुरु-सेवा में लगे हैं।

आपदा में कर्‌यौ ध्यान—क्योंकि '**भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक। इनके पद वन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक।।**' 'खिच्यो मन छुट्यो रूप सारसों' का भाव यह कि मानसी-सेवा से हटकर शिष्य के संकट की ओर आकृष्ट हुआ। श्रीनाभाजी श्रीसन्त, सद्‌गुरु कृपा से दिव्य-दृष्टि द्वारा यह सब देख रहे थे अत: ज्यों ही श्रीगुरुदेवजी का मन सेवा से हटा, त्यों ही श्रीनाभाजी ने पंखे की हवा से समुद्र के भँवर में फँसे जहाज को बाहर निकाल दिया और श्रीगुरुजी को प्रणाम कर बोले—'गयो वोहित......दूर'। यहाँ श्रीप्रियादासजी ने श्रीनाभाजी को समर्थ कहा है, यथा—'कहत समर्थ'। इसलिये कि दूर देश समुद्र में जहाज का संकट, सेवक का श्रीगुरु-स्मरण, श्रीगुरुदेव का मानसी-सेवा से हटकर मन का सेवक संकट की ओर आकृष्ट होना, यह सब बातें श्रीनाभाजी ने बिना किसी प्रत्यक्ष प्राप्त संकेत के ही, बिना ध्यान द्वारा देखे ही, स्वत: सहज ही जान लीं और जानकर पंखे की हवा से ही जहाज को विपत्ति से बाहर कर उसे गन्तव्य दिशा में बहुत दूर तक पहुँचा दिया अत: समर्थ कहा। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि यहाँ उपर्युक्त सभी कार्य एक क्षण के अन्तर्गत ही हुए हैं कहने में बिलम्ब है, कार्य होने में बिलम्ब नहीं हुआ।

फिर ढरो ताही ढार सों—बात यह थी कि उस समय श्रीअग्रदासजी मानसी में श्रीठाकुरजी को किरीट-मुकुट धारण कराने का उपक्रम कर रहे थे। प्रभु सिर झुकाये हुए थे। तब तक जहाज की ओर ध्यान आकृष्ट हो गया। अत: आपने संकेत दिया 'ढरो ताही ढ़ार सों' प्रश्न—क्या श्रीअग्रदासजी नहीं देख

रहे हैं कि जहाज विपत्ति से बचकर बहुत दूर चला गया है, जो नाभाजी चेतावनी दे रहे हैं? समाधान—श्रीअग्रदासजी का मन खिचकर समुद्र तट पर ज्यों ही पहुँचा, नाभाजी ने जहाज को तुरन्त ही भँवर से निकाल दिया था, तो ये समुद्र की शोभा देखने में लगे थे। समुद्र भी एक भगवद्विभूति है यथा—'सरसामस्मि सागरः।' (गीता) तब नाभाजी को कहना पड़ा कि समुद्र तो शोभा-सिन्धु प्रभु की एक कला मात्र है आपं उसे छोड़कर पूर्ण सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु प्रभु की ओर ही ढरें। श्रीअग्रदासजी ने कहा—बोल्यो कौन? उत्तर—'पाल्यौ जौन सीथ दै दै' कैसा विवेक पूर्ण उत्तर है। यह नहीं कहते हैं कि 'मैंने कहा।' यह है 'अहं' का सर्वथा लय होना। श्रीनाभाजी जानते हैं कि मैं तो ज्ञान चक्षु की कौन कहे, प्राकृत चक्षु से भी रहित था। परन्तु अब जो प्राकृत चक्षु के साथ-साथ ज्ञान चक्षु भी खुले हैं, यह सब गुरु कृपा-प्रसाद का ही सुफल है।

अचरज दयो नयो यहाँ लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो, जान्यो सन्तन प्रभाव को।
आज्ञा तब दई, ''यह भई तोपै साधु कृपा उनही को रूप गुन कहौ हिये भाव को''।।
बोल्यो कर जोरि, 'याको पावत न ओर छोर, गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्ति दाव को।
कही समुझाइ, 'वोई हृदय आइ कहैं सब, जिनलै दिखाय दई सागर में नाव को।।११।।

शब्दार्थ—यहाँ लौं=मेरे हृदय की सेवा एवं समुद्र तक। ओर छोर=आदि अन्त, वार-पार। दाव=युक्ति, उपाय, चाल, घात।

भावार्थ—(श्रीनाभाजी का उपर्युक्त कथन सुनकर श्रीअग्रदेवजी को) महान् तथा नवीन आश्चर्य हुआ, मन में विचारने लगे कि इसका यहाँ मेरी मानसी-सेवा तक प्रवेश कैसे हो गया और यहीं से जहाज की रक्षा कैसे की? विचार करते ही उनके मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। वे जान गये कि यह सब सन्तों की सेवा तथा उनके सीथ प्रसाद ग्रहण का ही प्रभाव है, जिससे ऐसी दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई है। तब श्रीअग्रदेवजी ने आज्ञा दी कि—'तुम्हारे ऊपर यह साधुओं की कृपा हुई है। अब तुम उन्हीं साधु-सन्तों के गुण, स्वरूप और हृदय के भावों का वर्णन करो।' इस आज्ञा को सुनकर श्रीनाभाजी ने हाथ जोड़कर कहा-'भगवन्! मैं श्रीरामकृष्ण के चरित्रों को तो कुछ गा भी सकता हूँ, परन्तु सन्तों के चरित्रों का ओर-छोर नहीं पा सकता हूँ क्योंकि उनके रहस्य अति गम्भीर हैं, मैं भक्तों की भक्ति के रहस्य को नहीं पा सकता।' तब श्रीअग्रदेवजी ने समझाकर कहा—''जिन्होंने तुम्हें मेरी मानसी-सेवा और सागर में नाव दिखा दी, वही भक्त भगवान तुम्हारे हृदय में आकर सब रहस्यों को कहेंगे और अपना स्वरूप दिखायेंगे।।'

व्याख्या—अचरज दयो—से जनाया गया कि श्रीनाभाजी की सेवा निष्ठा से, कर्त्तव्य परायणता से, भक्ति, भगवन्त, गुरु में अपार आस्था होने से श्रीअग्रदासजी यह तो अवश्य अनुभव करते थे कि यह कोई विशेष आत्मा है। परन्तु इसमें इतना अलौकिक चमत्कार है यह तो आज ही जाने अतः अचरज दयो। 'नयो' का भाव यह है कि पूर्व भी कभी-कभी इनकी चमत्कार पूर्ण क्रियाओं से श्रीअग्रदास जी चमत्कृत हो जाते थे, परन्तु आज तो विशेष-विशेष बोध का परिचय पाकर नवीन आश्चर्य में पड़ गये। **'यहाँ लौं प्रवेश भयो'**—अर्थात् समुद्र में आपद् ग्रस्त जहाज को तो बचाया ही, मेरे मनकी गति का भी अनुभव होने लगा, मानसी स्वरूपका भी साक्षात्कार होने लगा। शिष्य के मनकी बात गुरुजी जान जावें तो यह कोई विशेष बात नहीं, परन्तु गुरु के मन की बात शिष्य जानने लगे तो निश्चय ही यह विशेष बात है।

मन सुख छयो—सुयोग्य शिष्य पाकर सद्गुरु को प्रसन्नता होती है। हमारी भारतीय संस्कृति में गुरु शिष्य को अपने से अधिक योग्य होने पर गौरव का अनुभव करता है। यथा—**'शिष्यादिच्छेत् पराजयम्।'** परन्तु एक बात स्मरण रखने की है कि यह भाव सद्गुरु का है। नामधारी गुरु तो शिष्योत्कर्ष देखकर कुढ़ने लगते हैं। जैसे श्रीरामानुजाचार्य जी के उत्कर्ष को देखकर उनके विद्या गुरु यादव प्रकाश जी जलने लगे थे। (देखिये इनका प्रसङ्ग) श्रीअग्रदासजी तो सद्गुरु हैं अतः मन सुख छयो।

जान्यो संतन प्रभाव को—शिष्य श्रीनाभाजी ने कहा—'पाल्यो जौन शीथ दै दै' अर्थात् जो कुछ भी चमत्कार हुआ है उसमें मूल आपका प्रभाव है, आपकी कृपा है। यह है शिष्य की निरभिमानता, तो श्रीगुरुजी की सावधानता देखें, उन्होंने उसे अपना न मानकर उसे 'जान्यो सन्तन प्रभाव को।' अर्थात् दिव्य-दृष्टि-दाता तो सन्त हैं। यथा—**'सन्तोदिशन्तिचक्षूंषि'** (भा० ११-२६-३४) **'उनहीं को रूप गुन कहौ हिय भावको'**—रूप से तात्पर्य भेष-भूषा, रहनी-सहनी आदि से है। कण्ठी-माला, तिलक छाप से 'साधन-साध्यनिष्ठा आदि से है। सन्त-भेष की भी बड़ी महिमा है। यथा—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमालाः ये वा ललाट पटले तसदूर्ध्वपूण्ड्राः।
ये बाहुमूल परिचिन्हित शंखचक्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति।। (पद्मपुराण)

अर्थ—जो कण्ठ में लगी तुलसी और कमलाक्ष की माला धारण किये हैं। भाल (ललाट) में सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक दिये हैं और दोनों बाहुमूल में जिनके शंख-चक्र के चिह्न हैं वे वैष्णव सब लोकों को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं।। श्रीभक्तमालजी में बहुत से भेषनिष्ठ भक्तों की चर्चा है जैसे मधुकर शाह, लालाचार्य, हंस भक्त आदि।

सन्त-गुण-यथा—

चौ०— **सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिनते मैं उनके बस रहऊँ।।**
षट् विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।।
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कबि कोविद जोगी।।
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना।।

दोहा— **गुनागार संसार दुःख रहित, विगत सन्देह।**
तजि मम चरण सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह।।

चौ०— **निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।।**
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीति।।
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।।
विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना।।
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।।
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला।।
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।।

सन्त-हिय-भाव से तात्पर्य उपासना में भगवत-भागवत एवं जीवमात्र के प्रति जो उनका भाव, होता है। जैसे भगवान के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य, श्रृङ्गार आदि भाव। भक्तों के साथ ईश्वर, गुरु गुरुभाई आदि भाव। जीवमात्र के साथ मैत्री भाव, आत्म भाव।

'याको पावत न ओर-छोर'—यथा—

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की।
जिनके विमल विवेक, सेस महेश न कहि सकहिं।।
महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सो तदपि, महिमा लिखी न जाइ।। (वैरा० सं०)

विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।।
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे।। (रा०)

सन्त सरोवर अगम जल, निगम कलस भरि चार।
कह कबीर ता नीर के सब पण्डित पनिहार।।

'गाऊँ रामकृष्ण.........दाव को'—भाव यह है कि भक्तों का रूप (वेष) तो वर्णन किया जा सकता है। उनके गुण भी यथाश्रुत, यथादृष्ट, यथामति गाये जा सकते हैं परन्तु उनके हृदय के भाव को कहना तो अति ही कठिन है। श्रीभरत-भाव-वर्णन के प्रसङ्ग में श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई।।
कविहिं अरथ आखर बल सांचा। अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा।।
अगम सनेह भरत रघुवर को। जहँ न जाइ मन विधि हरि हर को।।
सो मैं कुमति कहौं कहिं भाँती। बाज सुराग की गाडर ताँती।।

धर्म निरूपण, ब्रह्म-विवेचन में समर्थ योगिराज ज्ञानि शिरोमणि श्री जनकजी कहते हैं कि—**धर्मराज नय ब्रह्म बिचारू। इहाँ यथा मति मोर प्रचारू।। सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छल छुवति न छाँही।।** इसलिए श्रीनाभाजी कहते हैं कि 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।' क्योंकि भक्तों के भाव बड़े ही विलक्षण होते हैं।

दृष्टान्त-दो भक्तों का—दो सन्त कहीं रामत पर जा रहे थे। जंगल में से होकर रास्ता था। सन्तों की दृष्टि एक हनुमानजी के अर्चा विग्रह पर पड़ी। वहीं जल-थल का सुपास देखकर ठाकुर सेवा-पूजा, भजन- साधन का मन हो आया। आसन लग गया। पुनः एक सन्त स्नान करने चले गये और एक सन्त बैठे थे आसनादि की सुरक्षा में। श्रीहनुमानजी को चौड़े में देखे। भाव आया कि आतप वर्षा बात में श्रीहनुमानजी को कष्ट होता होगा। एक झोंपड़ी तो कम से कम होनी ही चाहिये। निश्चय हो गया कि—अब तो झोंपड़ी तैयार करके ही स्नान ध्यान होगा। जंगल से फूस, काष्ठ आदि एकत्रित किये। आनन-फानन में (अति शीघ्र ही) झोंपड़ी तैयार हो गई। झोंपड़ी बनाकर सन्तोष की साँस ली। तब तक

स्नान को गये सन्त भी आ गये। यह सब देखे, सोचे—जंगल है कोई रहता है नहीं, जंगल में आग लगती ही रहती है। यदि झोंपड़ी में भी आग लग गई तो क्या होगा। सोचकर हृदय सिहर गया। फिर तो झोंपड़ी उजाड़ देना चाहिये यह निश्चय हो गया। प्रथम तो झोंपड़ी बनाने वाले सन्त से कहा, परन्तु वे भला कब उजाड़ते। वे तो खूब सोच-विचार कर बनाये थे। तब वे स्वयं उजाड़ने को उद्यत क्यों होवें। बात बढ़ गई, फरसा, कुल्हाड़ी, खंतियाँ उठीं। श्रीहनुमानजी से नहीं रहा गया। भला, आप इन भावुकों का अमङ्गल कैसे सह सकते, प्रकट हो गये। बीच-बचाव हो गया। श्रीहनुमानजी ने कहा कि भाई बात तो दोनों की यथार्थ है अतः बीच का कोई रास्ता निकालो। जिसमें दोनों के भाव की रक्षा हो जाय। सन्तों ने श्रीहनुमानजी से ही पूछा। तब श्रीहनुमानजी ने कहा कि सामने एक चबूतरा बना दो, जब आग लगेगी तो चबूतरे पर आ जाऊँगा अन्यथा झोंपड़ी में ही रहूँगा। ऐसा ही किया गया। यह है भक्तों का विलक्षण भाव, अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

दूसरा दृष्टान्त—श्रीशुकदेवजी ने भगवान से माया से बचने का वरदान माँगा और श्रीमार्कण्डेय ने माया को देखने का वरदान माँगा। अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।' (देखिये इनके प्रसङ्ग छप्पय १५-१६)

तीसरा दृष्टान्त—अन्तर्निष्ठ भक्त ने भगवान का नाम मुख से निकलते ही शरीर छोड़ दिया (छ० ५७) और श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी गुरुदेवजी के मना करने पर भी "**गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च स्वर मन्त्र उचार्‌यो।**" (छप्पय ३१)। अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

चौथा दृष्टान्त—एक सन्त श्रीनृसिंहजी को भजते थे। किसी ने पूछा कि राम-कृष्ण को छोड़कर उनकी उपासना क्यों करते हैं। उन्होंने उत्तर दिया वे गृहस्थी हैं। हम विरक्त हैं। विरक्त होकर गृहस्थ को क्यों भजें। हम तो विरक्त ठाकुर श्रीनृसिंहजी को भजते हैं। अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

पांचवाँ दृष्टान्त—श्रीवृन्दावन के एक सन्त रात के बारह बजे श्रीठाकुरजी को भोग लगाते थे। एकबार एक नवागन्तुक सन्त उनके आश्रम पर आये। उन्होंने कई दिन लगातार बारह बजे रात को ही जब भोग लगाते देखा तो उनसे रहा नहीं गया। पूछ ही बैठे—सन्तजी! यह रात के बारह बजे किस विधान के अनुसार आप भोग लगाते हैं, क्यों लगाते हैं? सन्त ने उत्तर दिया—दिन भर तो सभी लोग श्रीठाकुरजी को भोग लगाते ही रहते हैं। हमें तो इसी समय श्रीठाकुरजी निश्चिन्त बैठे मिलते हैं। अतः इसी समय भोग लगाता हूँ। यह है भक्तों का विलक्षण भाव। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

छठवाँ दृष्टान्त—जहाँ आस्तिकजन अन्त समय में धाम-प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं कि—शरीर भगवद्धाम में छूटे वहाँ परम भागवत श्रीभगवन्तमुदितजी के पिता का विलक्षण भाव देखते ही बनता है। जब उनका अन्त समय आया, शरीर बेसुध था। परिवार के लोग उनको आगरा से वृन्दावन ले चले। आधा मार्ग तय होने पर जब उनको सुधि आई और परिस्थिति का पता चला तो बड़े ही क्षुभित होकर बोले अरे अज्ञानियो! तुम लोग हमें कहाँ ले जा रहे हो? यह मलमूत्र का भण्डागार शरीर श्रीवन में जाने योग्य नहीं है। श्रीवन श्रीप्रियाप्रियतम का नित्य-विहार स्थल है। वहाँ पर जिस समय शरीर को जलावोगे तो युगल को दुर्गन्धि लगेगी। अरे, जाने वाला हंस (आत्मा) तो युगल के पास चला ही जावेगा। इस प्रकार

वे पुनः घर (आगरा) को लौट गये। ऐसे भाव-राशि थे ये महानुभाव। अतः श्रीनाभाजी कहते हैं—'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

सातवाँ दृष्टान्त—विकट भक्त का—एकबार अर्जुन को गर्व हो गया कि मुझसे बढ़कर भगवान का कोई भक्त नहीं है। सर्वान्तर्यामी प्रभु को ताड़ते देर न लगी। अर्जुन को लेकर घूमने का ब्याज बनाकर निकल पड़े सघन वन की ओर। वन प्रान्त में अर्जुन ने देखा कि—एक नग्न पुरुष बायें हाथ में तलवार लिये, भूमि पर पड़े सूखें तृण खा रहा है। आश्चर्य-चकित हो भगवान श्रीकृष्ण से पूछे इस अद्भुत जीव के विषय में। भगवान ने भी विस्मय का अभिनय करते हुये कहा कि मुझे तो कोई क्षीब (शराबी) मालूम होता है। अर्जुन को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ। वे भगवान को एक शिलाखण्ड पर बैठाकर स्वयं जिज्ञासा का समाधान करने के लिये उसके पास गये और बड़ी ही विनम्रता पूर्वक—हाथ में तलवार लेने और सूखे तृण खाने का हेतु पूछे। पहले तो उस महामानव ने बताने में आना-कानी की परन्तु जब अर्जुन का आग्रह जारी ही रहा तो उन्होंने बताया—इस अधम शरीर की रक्षा के लिये, दग्ध उदर की पूर्ति के लिये मुझे कोमल शिशु तृण राशि का संहार उचित नहीं प्रतीत होता है अतः सूखा तृण खा रहा हूँ। अर्जुन का आश्चर्य और भी बढ़ गया। कहाँ तो यह सार्वभौम अहिंसा महाव्रत और कहाँ हाथ में नग्न तलवार। रहस्य समझ में नहीं आया अतः पुनः प्रणाम कर पूछे तृण पर्यन्त समस्त प्राणियों को अभय देने वाले अहिंसा महाव्रत के पालन के साथ-साथ तलवार भी धारण करने का हेतु। बताने की अनिच्छा होने पर भी अर्जुन का विशेष आग्रह देखकर उन्होंने कहा—यदि तुम मेरे शत्रुओं को मारने की प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हें यह बात बताऊँ। अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर ली। तब उस दिगम्बर ने कहा—एक शत्रु तो मेरा है, वह ब्राह्मणाधम, जिसने मेरे प्रिय प्रभु को शयन करते समय वक्षः स्थल पर तीव्र पाद-प्रहार किया, जिसका चिह्न आज भी प्रभु के हृदय देश में ज्यों का त्यों बना हुआ है। ध्यान में जब मैं प्रभु के उस चिह्न को देखता हूँ तो मेरे हृदय में बड़ी वेदना होती है। मैं उस चिह्न को नहीं मिटा सका तो उस भूकलङ्क ब्राह्मण को ही मिटा डालूँगा। दूसरा शत्रु है, जिसके विनाश के लिये मैंने तलवार ले रखी है, वह है एक स्त्री, जिसके पाँच-पाँच पति हैं। उस स्त्री ने दुर्वासा के शाप से बचने के लिये अपना जूठा शाक मेरे प्रभु को खिलाया था। यदि वह स्त्री कहीं दीख जाय तो मेरा यह खड्ग उसे अवश्य चाट जाय और मेरा तीसरा शत्रु है, वह क्षत्रिया- धम, जिसने मेरे प्रिय प्रभु को घोड़ों की लगाम हाथ में सौपकर सारथी बनाया था, दूसरे से शक्ति उधार लेकर जो मन में अपने को वीर मानता है। यह सुनकर अर्जुन को अब भान हुआ कि मैं कितने पानी में हूँ। उन्होंने कहा योगिन्! आप अपनी तलवार मुझे दे दीजिये। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, इसी क्षण मैं आपको उस क्षत्रियाधम का मुण्ड दिखला रहा हूँ। उस महामानव ने कहा—''तब तो इस तलवार के साथ मेरा वेदोक्त आशीर्वाद लो और शीघ्र ही विजयी होकर लौटो। यह कहकर वह दिगम्बर तलवार अर्जुन को देकर अर्जुन के देखते-देखते भगवान के हृदय में प्रविष्ट हो गया। अर्जुन का अहंकार गलकर पानी हो गया। (सत्कथांक) यह है भक्तों का विलक्षण भाव, जिसे जानना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है, अतः श्रीनाभाजी कहते हैं कि—'गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्ति दाव को।'

आठवाँ दृष्टान्त—बाबा रामकृष्णदास का—यह प्रसङ्ग अभी कुछ ही वर्षों का है। श्रीधाम वृन्दावन में परम रसिक बाबा रामकृष्णदासजी एवं स्वामी शरण बाबा विराजते थे। बाबा रामकृष्णदासजी

का नियम था कि केवल ब्रजवासियों के यहाँ की वस्तु स्वीकार करते। एकबार एक बाहर से आये हुए श्रद्धालु सज्जन बाबा रामकृष्णदासजी का दर्शन करने गये तो साथ में भेंट के लिये प्रचुर फल-फूल ले गये परन्तु उनके लाख प्रयत्न करने पर भी बाबा ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। तब वही सज्जन उन्हीं फल-फूलों को लेकर स्वामीशरन बाबा का दर्शन करने गये तो बाबा बड़े ही प्रसन्न हुए। बोले-वाह! तुमने बहुत अच्छा किया। सन्त के यहाँ खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। जाय तो कुछ लेकर जाय। तुरन्त ही फलों का भोग श्रीठाकुरजी को लगा। तब तक बाबा रामकृष्णदासजी भी वहीं आ गये, बाबा स्वामीशरनजी से सत्संग करने लगे, श्रीस्वामीशरन बाबा ने सर्वप्रथम श्रीबाबा रामकृष्णदासजी को प्रसाद देकर, फिर और लोगों को दिया। बाबा रामकृष्णदासजी ने तुरन्त प्रसाद पा लिया। क्योंकि अब तो वह फल-फूल ब्रजवासी बाबा का हो गया था। यह है सन्तों का अद्‌भुत भाव। अतः 'गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्ति दाव को।' **'वोई हृदय आइ कहैं सब'**-हुआ भी ऐसा ही ध्यान करते ही सब सन्त श्रीनाभाजी के हृदय में आ विराजते और उनका स्वरूप, गुण, स्वभाव, निष्ठा रहनि आदि समस्त बातें इनके हृदय में भासित होने लगती थीं।

श्रीनाभाजी का चरित्र वर्णन

हनूमान वंश ही में जनम प्रशंस जाको भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।
उमरि वरष पाँच मानि कै अकाल आँच माता वन छोड़ि गयी विपति विचारिये।।
कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दियो लियो यों अनाथ जानि पूछी सो उचारिये।
बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन चैन भयो खुले चख जोरी को निहारिये।।१२।।

शब्दार्थ-प्रशंस=बड़ाई के योग्य, वन्दनीय। दृगहीन=अन्धे। नवीन=नई, अनुपम। अकाल=दुर्भिक्ष। आंच=दुःख। चैन=सुख। जोरी=जोड़ी, दो।

भावार्थ-श्रीनाभाजी का जन्म प्रशंसनीय हनुमान वंश में हुआ था। आश्चर्य जनक एक नई बात यह जानिये कि ये जन्म से ही नेत्रहीन थे। जब आपकी आयु पाँच वर्ष की हुई, उसी समय अकाल के दुःख से दुखित माता इन्हें वन में छोड़ गई। माता और पुत्र दोनों के लिए यह कितनी बड़ी विपत्ति थी। इसे आप लोग सोचिये। दैवयोग से श्रीकील्हदेवजी और श्रीअग्रदेवजी दोनों महापुरुष उसी मार्ग से दर्शन देते हुए निकले। बालक नाभा को अनाथ जानकर, जो कुछ दोनों ने पूछा, उसका इन्होंने उत्तर दिया। वे बड़े भारी सिद्ध सन्त थे। उन्होंने अपने कमण्डल से जल लेकर नाभाजी के नेत्रों पर छिड़क दिया। सन्तों की कृपा से नाभाजी के नेत्र खुल गये और सामने दोनों सन्तों को उपस्थित देखकर इन्हें परम आनन्द हुआ।।१२।।

व्याख्या-हनुमान वंश-दक्षिण में एक ब्राह्मण थे। सब प्रकार से सम्पन्न होने पर भी सन्तान बिना दुःखी रहते थे। एक बार एक सन्त आपके घर आये। इन्होंने सन्त का बड़ा सत्कार किया। दयालुचित्त सन्त इनकी सेवा से बड़े ही प्रसन्न हुए और कुशल-मङ्गल के सिलसिले में इनकी उदासी का कारण पूछे तो इन्होंने अपनी मनोव्यथा सन्त से निवेदन की। सन्तजी ने श्रीहनुमानजी की आराधना बताई और श्रीहनुमानजी में विश्वास दृढ़ करने के लिए इस भाव का पद सुनाया-

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की।।
अघटित घटन सुघट विघटन ऐसी विरुदावली न आन की।।
सुमिरत संकट सोच विमोचन मूरति मोद निधान की।।
तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरु जानकी।।
तुलसी कपि की कृपा विलोकनि खानि सकल कल्यान की।।

ब्राह्मण ने सन्त की बात में विश्वास कर, अति विश्वास पूर्वक सन्तान की इच्छा से बारह वर्ष तक श्रीहनुमानजी की आराधना की। श्रीहनुमानजी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। ब्राह्मण ने पुत्र का वर माँगा। श्रीहनुमानजी तो भक्ति का, भगवान का संयोग कराने वाले हैं सो ब्राह्मण ने श्रीहनुमानजी से भक्ति न माँगकर भगवद्दर्शन न चाहकर पुत्र माँगा। तभी तो कहा गया है—**'सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कर मति इन्ह कृत न मलीनी।'** (मानसे)। हाँ तो श्रीहनुमानजी ने कहा, भाई! पुत्र का ठेका तो हमारा नहीं है यह तो भगवान के अधीन है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिशंविसन्ति।'** अर्थ—उस परमात्मा से ही सभी प्राणी जन्म लेते हैं, पलते हैं और उसमें ही पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए पुत्र-प्राप्ति निमित्त तो भगवान से कहना पड़ेगा। तुरन्त श्रीहनुमानजी ने जाकर भगवान से निवेदन किया। भगवान ने कहा—इस ब्राह्मण को तो सात जन्म तक पुत्र का संस्कार ही नहीं है। श्रीहनुमानजी ने आकर ब्राह्मण से यह बात कही। ब्राह्मण ने कहा—महाराज! यदि मेरे भाग्य में पुत्र लिखा होता तो मैं आपके द्वार का भिखारी क्यों बनता। आप समर्थ हैं। यथा—**'समरथ सुवन समीर के रघुवीर पियारे।'** आप 'अघटित घटन' हैं, अतः जैसे भी हो आप कृपा करें। श्रीहनुमानजी अपने सहज कोमल स्वभाव एवं ब्राह्मण के इस चातुर्य से प्रसन्न हो गये और पुत्रवान होने का वर देते हुए कहे कि मैं स्वयं ही तुम्हारा पुत्र बनूँगा। इसी वरदान के फलस्वरूप कालान्तर में श्रीहनुमानजी ब्राह्मण पुत्र बने। चूँकि यह बात प्रसिद्ध थी कि ब्राह्मण के कोई सन्तान नहीं है अतः पुत्र-जन्म के बाद जब ब्राह्मण की गोद में लिए पुत्र को कोई देखता तो सहज ही पूछ देता, यह किसका बालक है? अथवा क्या यह आपका पुत्र है? तो ये भाव-विभोर होकर सहज ही कहते कि श्रीहनुमानजी का पुत्र है। यह नहीं कहते कि श्रीहनुमानजी ही हैं। परिणाम-स्वरूप आगे चलकर इस वंश का नाम ही हनुमान वंश हो गया। यहाँ एक प्रश्न होगा—कि जब ब्राह्मण के प्रारब्ध में पुत्र था ही नहीं, भगवान ने भी इन्कार कर दिया था, तो फिर श्रीहनुमानजी ने कैसे पुत्र का योग बनाया? समाधान—भगवान के भक्त प्रारब्ध भी बदल सकते हैं, मिटा सकते हैं, नये भाग्य का निर्माण कर सकते हैं। इस पर—

दृष्टान्त संत मस्ताने का—एक सन्त-सेवी सेठ थे। धन-धान्य से परिपूर्ण होकर भी सन्तान बिना दुःखी रहते थे। एकबार सन्त-सेवा के प्रभाव से इन्हें श्रीनारदजी का दर्शन हुआ और इन्होंने देवर्षि वर्य से सन्तान के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। श्रीनारदजी ने भगवान से पूछकर बताने को कहा। कुछ दिन बाद श्रीनारदजी ने पुनः सेठजी को दर्शन दिया और कहा, भगवान ने तो कहा है कि सात जन्म तक तुम्हें पुत्रहीन रहना है। सेठ भी यह सुनकर निराश हो गये। एकदिन रात में लगभग दस बजे एक सन्त ने आवाज लगाई— 'भाई मैं भूखा हूँ। जो भी मुझे एक रोटी देगा, उसको एक बेटा, दो देने वाले को दो बेटा, तीन देने वाले को तीन आदि-आदि।

सेठजी ने प्रसन्न मन से सन्त को चार रोटियाँ दीं। परिणाम-स्वरूप सेठजी चार पुत्र वाले भी हो गये। कुछ दिन के बाद श्रीनारदजी पुनः उसी मार्ग से लौटे। सेठजी ने नारदजी का स्वागत किया। पुत्रों से दण्डवत् प्रणाम करवाया। नारदजी ने पूछा—ये बालक किसके हैं? सेठजी ने समस्त वृत्तान्त बतलाया। श्रीनारदजी झुँझलाये हुए भगवान के पास गये। उलाहना दिये कि—आपने मुझसे कहा था कि कई जन्म तक उसे पुत्र का योग ही नहीं है और मैं आँखों से देख आया सेठ की गोद में विनोद करते हुए चार-चार बालक। भगवान ने कहा—मैंने थोड़े ही उसे पुत्र दिया है। यह तो मेरे एक भक्त की कृपा से हुआ है, जिसके वचन को मैं भी मिथ्या नहीं कर सकता। श्रीनारदजी आश्चर्य-चकित हो गये। भक्त विशिष्ट को देखने की इच्छा जागृत हुई। सर्वान्तर्यामी भगवान तुरन्त ही देवर्षि के मन की जान गये और उनकी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए पेट-दर्द का बहाना किये। औषधि पूछने पर किसी भक्त का कलेजा माँगे। नारदजी चले खोजने, परन्तु निराश लौटे। राह में लेटे मस्ताने सन्त मिले। मस्ताने सन्त ने श्रीनारदजी से उनकी व्यग्रता का कारण पूछा और जब प्रभु के पेट-दर्द की बात मालूम हुई तो उन्होंने तुरन्त चाकू लेकर यह कहते हुए कि भला यह शरीर और कौन से काम में आयेगा। दिल निकालने को उद्यत हुये। भगवान तत्काल प्रगट हो गये और बोले नारद! ऐसे भक्तों की बात रखनी ही पड़ती है। श्रीनारदजी को भी अपनी भूल का भान हुआ कि कलेजा तो मेरे पास भी था परन्तु मैं न दे सका। धन्य हैं ऐसे भक्त। श्रीहनुमानजी तो ऐसे भक्तों में भी शिरोमणि हैं। अतः यदि उस पुत्र संस्कारहीन ब्राह्मण को पुत्रवान बनाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इसी हनुमान वंश में श्रीनाभाजी महाराज का प्रादुर्भाव हुआ था। आप ब्रह्माजी के अंशावतार हैं। यथा—

भे नाभा अज अंश कृष्ण ने शापहिं दीयो।
हरे ग्वाल अरु वत्स महा अपराधहिं कीयो।।
जानत हू भा मोह ताहि ते अन्धे जाये।
शापमुक्त ह्वै गये गुरू के दरशन पाये।। (भ०व०टि०)

श्रीभक्तमाल तिलककार स्वर्गीय श्रीसीतारामशरण 'भगवान प्रसाद' रूपकलाजी अपने भक्ति सुधा-स्वाद तिलक में श्रीनाभाजी के जन्म के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—स्वामी श्रीनाभाजी का नाम 'नभभूज' है, आप अयोनिज पुरुष हैं, आपकी जाति तो कोई नहीं, आप श्रीहनुमत-स्वेद से हैं, अतएव हनुमानवंशी प्रसिद्ध हैं। 'श्रीसूर्य भगवान से विद्या पढ़ने के अनन्तर जिस समय श्रीअञ्जनीनन्दन पवनतनय श्रीहनुमानजी श्रीशिवजी के समीप योग सीख रहे थे, उस समय यौगिक विचार के परिश्रम से जो स्वेद (पसीना) मारुति भगवान के अंग से निकला, उसको भक्तिरत्न के कोषाध्यक्ष त्रिकालज्ञ जगद्गुरु श्रीशिवजी ने एक पात्र में रख लिया। कालान्तर में श्रीभगवद्भक्ति के विवर्द्धन के निमित्त उसी को नभ से भू में निक्षेप किया—इसी से इनका नाम—'नभभूज' हुआ जो कि 'नाभाजी' के नाम से प्रसिद्ध है। हनुमानवंशी इसी से कहलाये। अयोनिज पुरुष की जाति कोई नहीं।। वह पसीना (स्वेद) उस समय का था कि जब आप नेत्रों को बन्द किये योग की पराकाष्ठा दशा (समाधि) में थे, अतएव श्रीनाभाजी बाह्य नयनों से हीन (परन्तु अन्तःकरण की दिव्य-दृष्टि से अनुपम रहस्य के देखने वाले) हुए। 'नवीन बात'—यह थी कि इनको नेत्र के निशान तक नहीं थे।

मानिकै अकाल आँच—शाहनशाह चोरी करैं, कोमल बनै कठोर। पुण्यवान पापी बनै, क्षुधा आँच अति घोर।। 'माता वन छोड़ि गयी'—अकाल से अत्यन्त पीड़ित होने पर जब अपने देश में शरीर का निर्वाह करना असम्भव हो गया तो माँ अपने इस दृगहीन बालक को लेकर गाँव छोड़कर अन्यत्र के लिये चल दी। परन्तु दैव दुर्विपाकवश वन-पथ से जाते हुए माँ-बेटे को जब लगातार कई दिन तक कुछ खाने-पीने को नहीं मिला तब, जब अपना ही शरीर सँभालना मुश्किल हो रहा था ऐसी दशा में बालक को लेकर चलना कितना कठिन है। यह स्वयं अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि माँ के हृदय में पुत्र के प्रति अपार स्नेह होता है परन्तु विपत्ति में विरले ही लोगों की बुद्धि धीर रहती है। 'दुःखेषु अनुद्विग्नमना' ऐसे स्थितप्रज्ञ लोग होते ही कितने हैं। माँ से जब कष्ट असह्य हो गया तो पुत्र को भगवान के भरोसे छोड़कर स्वयं वहाँ से चलती भईं। श्रीराम भरोसे छोड़ने का परिणाम यह हुआ कि 'कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दिये' और इनकी रक्षा हो गई। तभी तो कहा गया है कि—

तुलसी विरवा बाग को, सींचे ते कुम्हिलाय।
राम भरोसे जो रहैं, पर्वत पर हरियाय।।

यहाँ यह शङ्का उठाकर कि, एक तो माता, जिसके सम्बन्ध में यह अति प्रसिद्ध उक्ति है कि—**'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'** वह भला अपने पुत्र को, उसमें भी अबोध पाँच साल के बालक को, उसमें भी अन्धा, उसमें भी वन में भला कब छोड़ने वाली है अतः 'माता वन छोड़ गई' का यह भी अर्थ किया जाता है कि माता इन्हें वन में छोड़कर गई अर्थात् परलोक चली गयी।

विपत्ति विचारिये—माँ घोर विपत्ति विचारकर इन्हें छोड़कर चली गई। पुनः 'विपत्ति विचारिये' का भाव-विपत्ति का कोई नहीं साथी। माँ भी बेटे को छोड़कर चली गई। इसी से कहा है, 'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'। संसार तो स्वार्थ का साथी है। यथा—

सुनु रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहुरीति। विपति कसौटी जे कसे तेई साँचे मीत।।

बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है—

स०—वारिधि तात हुये विधि से सुत आदित सोम सहोदर दोऊ।
रम्भा रमा तिनकी भगिनी मघवा मधुसूदन से बहनेऊ।।
तुच्छ तुषार इतौ परिवार भयौ सर मध्य सहाय न कोऊ।
सूखि सरोज रह्यौ जल में सुख सम्पत्ति में सबको सब कोऊ।।
पुनः— **तुलसी कुसमौ के परे क्वौ काहू को नाहिं।**
घर की नारी को कहे तन की नारी नाहिं।।

श्रीनाभाजी के साथ भी ऐसा ही हुआ। विपत्ति पर विपत्ति। पाँच साल की अवस्था, नेत्रहीन वन में भूखे-प्यासे, एक सहारा माँ थी, वह भी चलती बनी अतः नाभाजी की विपत्ति विचारिये।

दृष्टान्त—गोस्वामी तुलसीदासजी का—अभुक्त मूल नक्षत्र में जन्म होने से पिता ने त्याग दिया। यथा—**जनमेउ सुत मोर अभागो मही। सौ जियै वा मरै मोहिं सोक नहीं।।** माता के कहने से चुनियाँ दासी अपने घर हरिपुर ले गयी। परन्तु विधि की विडम्बना तो देखिये, पाँच साल के बाद वह भी

असहाय बालक राम बोला (तुलसी) को छोड़कर परलोक चली गयी। तब श्रीशिव पार्वती ने सार-सँभाल किया। स्वप्न में आदेश देकर श्रीनरहरियानन्द को लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा का दायित्व सौंपा। श्रीसद्गुरुदेव नरहरियानन्द को पाकर तुलसीदास सनाथ हुए और श्रीकील्हदेव, अग्रदेवजी को पाकर नाभाजी सनाथ हुये। धैर्य ने साथ नहीं छोड़ा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि यही बालक आगे चलकर जगदुद्धारक सिद्ध हुआ। सच तो यह है कि प्रायः महापुरुष विघ्नों, विपत्तियों के बीच जन्म लेते हैं, जीते हैं, जगते हैं एवं जगत को जगाते हैं, धैर्य ही उनके जीवन का सम्बल होता है ये इस निश्चय के साथ कि-**कहैं रतनाकर जौं सुख के रहे ना दिन तौ ये दुख द्वन्द की न रातैं रहि जायँगी।** अपने मार्ग में बढ़ते ही जाते हैं। मानों वे यह सिद्ध करते हैं कि धैर्य पूर्वक विपत्ति सहते हुए लक्ष्य-प्राप्ति में लगे रहने से विपत्ति-बाधक नहीं साधक ही होती है।

पूछी सो उचारिये—प्रश्न- १. तू कौन है? उत्तर- शरीर पंच भूतों का संघात है, आत्मा अनाम है। ऐसी स्थिति में मैं अपने को कौन बताऊँ, यह मैं नहीं जानता। ठीक भी है। माया 'ईश न आपु कहँ, जान कहिय सो जीव'।। प्रश्न- २. कहाँ से आये हो? उत्तर- जीव का किसी निश्चित स्थान से, निश्चित स्थान तक आना-जाना नहीं होता। कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता हुआ भटकता रहता है, स्वर्ग, नरक, मृत्युलोक आदि में। यथा—'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।' प्रश्न- ३. तुम्हारा रक्षक कौन है? उत्तर- जो सबका रक्षक है। देखा भी गया है—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोपि वने विसर्जितः, कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति।।

अर्थ—दैव जिसकी रक्षा करता है वह लोक-दृष्टि से अरक्षित होने पर भी सुरक्षित रहता है। और दैव जिसको नष्ट करने पर तुल जाता है, वह सुरक्षित रहने पर भी विनष्ट हो जाता है। दैव रक्षित वन में छोड़े जाने पर भी जीवित रहता है। दैव का मारा हुआ घर में सुरक्षित रहने पर भी नहीं जीता है।।

कबीरदासजी ने भी यही बात कही है, यथा—'**जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय। बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।।**' इस प्रकार श्रीनाभाजी ने श्रीकील्हदेवजी के प्रश्नों का बड़ा ही तात्विक समाधान किया। उनके मुँह से बरबस निकल पड़ा—'**होनहार बिरवानके होत चीकने पात**' '**खुले चख**'-**सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्क समुत्थितः।**........।। (भा० ११-२६-३४)।। अर्थ—जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर लोगों को जगत तथा अपने को देखने के लिये नेत्र दान करते हैं, वैसे ही सन्त पुरुष अपने को तथा भगवान को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। '**चैन भयो**' के दो हेतु- १. चख खुल्यो २. जोरी को निहारिये। प्रथम हेतु सामान्य है। दूसरा विशेष है। क्योंकि-"**सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।।**' '**गिरिजा सन्त समागम, सम न लाभ कछु आन।**' '**तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सङ्ग।।**' और उसमें भी सद्गुरु मिले। श्रीकबीरदासजी कहते हैं-**तीरथ न्हाये एक फल, सन्त मिले फल चारि। सद्गुरु मिले अनेक फल, कहहिं कबीर बिचारि।** श्रीनाभाजी को सन्त रूप में सद्गुरु मिले अतः 'चैन भयो।।'

ज्ञातव्य—यहाँ श्रीनाभाजी का हनुमानवंश में जन्म लेना कहा गया है। आगे छप्पय १०७ में श्रीनाभाजी ने भक्त लाखाजी को वानरवंशी कहा है। यथा—'**परम हंस बंसनि में भयो विभागी वानरो।**'

और छप्पय के इस तुक की टीका करते हुये श्रीभक्तमालजी के आदि टीकाकार श्रीप्रियादासजी लिखते हैं कि—**लाखा नाम भक्त वाको बानरो बखान कियौ कहे जग डोम जासों मेरो शिरमौर है**' अर्थात् लाखाजी वानरवंशी (हनुमानवंशी) तथा डोमवंशी थे। परन्तु यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि यहाँ जो 'डोम' शब्द है वह कत्थक ब्राह्मणों के समकक्ष नृत्य-गान प्रवीन मारवाड़ में निवास करने वाली जाति है। श्रीप्रियादासजी ने छप्पय ५६ में वर्णित एक भागवत राजा के प्रसंग की टीका करते हुये डोम शब्द को भाट के साथ प्रयुक्त किया है। यथा—'**राजा भक्तराज डोम भांड़ कौ न काज।**' इससे सिद्ध होता है कि डोम यह भाटों से मिलती-जुलती नृत्य-गान प्रबीन जाति है।

रीवाँ नरेश श्रीरघुराजसिंह जी ने अपनी 'राम रसिकावली' भक्तमाल में श्रीनाभाजी को लांगूली ब्राह्मण वंश का सुस्पष्ट कहा है यथा—'**सो शिशु लांगूली द्विज केरो**' इससे स्पष्ट होता है कि वानर वंश अथवा हनुमान वंश या डोम वंश, यह कत्थक ब्राह्मणों के समकक्ष एक ब्राह्मण वंश ही है। विद्वानों के मत से श्रीनाभाजी इसी वंश के थे।

एकबार जयपुर नरेश महाराज मानसिंहजी श्रीअग्रदासजी से अनुनय विनय कर उपदेश श्रवणार्थ श्रीनाभाजी को, जयपुर लिवा ले गये। उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए। राजदरबार के पण्डितों को श्रीनाभाजी का यह प्रभाव ईर्ष्या का विषय बन गया और श्रीनाभाजी से भिड़ गये। राजदरबार में राजा के सामने ही तरह-तरह के प्रश्न किये। परन्तु सबका समुचित उत्तर पाकर, हारकर अन्त में श्रीनाभाजी का मान भङ्ग करने के लिये बिना सोचे समझे जाति सम्बन्धी प्रश्न किये। प्रथम तो श्रीनाभाजी ने उनके प्रश्न को ही व्यर्थ ठहराया। यथा—**जाति न पूछो साधु की, पूछि लेहु तुम ज्ञान। मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान।**' पुनः— **अर्चावतारोपादानम्, वैष्णवोत्पत्तिचिन्तनम्। मातृयोनिपरीक्षां च तुल्यमाहुर्मनीषिणः।।** (प०पु०) अर्थ— भगवद्विग्रह की उत्पत्ति का उपादान कारण कि यह धातु की है या पाषाण की, वैष्णवों की उत्पत्ति और मातृयोनि परीक्षा करना, इन तीनों को पण्डितजन तुल्य कहते हैं। अर्थात् ये महापाप हैं। फिर आपने कहा—**मृतक चीर, जूठनि वचन, काक विष्ट अरु मित्र। शिव निरमालय आदि दै, ये सब वस्तु पवित्र।।** दोहे का स्पष्टीकरण—

वायस के विष्टा ते पवित्र जानि पीपर को, मृतक की चीर मृग-छाल जग जानिये।
शंभु निर्माल्य गंगा जानो त्योंही जूठन है वच्छ को सरस क्षीर-फेन उर आनिये।।
माछीते महक है उछार सुनो जानै जग इनमें न दोष यह निश्चैं ग्रन्थ बानिये।
ऐसे ही प्रगट काहु कुल में जु साधु होइ सदा है स्वरूप शुद्ध पूज्य मन मानिये।।

भावार्थ—काक विष्ठा से उत्पन्न पीपल मनुष्यों की तो बात ही क्या देवताओं द्वारा भी पूज्य है। **काक विष्ठा समुत्पन्नो अश्वत्थं प्रोच्यते बुधैः। दैवैरपि नरैर्वापि पूज्य एव न संशयः।** (पद्मपुराण) मृतक मृग का चीर, उसका चर्म अर्थात् मृगछाला सदा पवित्र है। बछड़े का जूठन दूध सदा पवित्र होता है। शिवनिर्माल्य श्रीगङ्गाजी सदा परम-पावनी हैं। मधुमक्खी और भौंरे सभी पुष्पों को सूँघते हैं परन्तु वह सदा पवित्र ही होते हैं। वे पुष्प और उन पुष्पों से बना इत्र भगवान को चढ़ता है। ऐसे ही वैष्णव किसी भी कुल में उत्पन्न हों वे सदा पूज्यतम ही हैं।

श्रीनाभाजी के इस शास्त्र-सम्मत वचन को सुनकर पण्डित लोग बड़े ही लज्जित हुये तब उनका सोच मिटाने के लिये परम साधु श्रीनाभाजी बात का पैंतरा बदलकर बोले—आप लोग तो सर्वशास्त्र ज्ञाता हैं। सब जानते हैं परन्तु हमारे मुख से सुनने के लिये ऐसा प्रश्न किये। आप लोगों के साथ शास्त्र सम्बन्धी विचार कर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। धीर नाभाजी के इन गम्भीर वचनों से ब्राह्मण भी बड़े प्रभावित हुये।

पांय परि आंसू आये कृपा करि संग लाये कील्ह आज्ञा पाइ मन्त्र अगर सुनायो है।
गलते प्रगट साधु सेवा सो विराजमान जानि अनुमानि ताही टहल लगायो है।।
चरण प्रछाल सन्त, सीथ सों अनन्त प्रीति जानी रस रीति ताते हृदै रंग छायो है।
भई बढ़वारि ताकौ पावै कौन पारावार जैसो भक्ति रूप सो अनूप गिरा गायो है।।१३।।

शब्दार्थ—चरण प्रछाल=चरणोदक। सन्त-सीथ=साधुओं की जूठनि। बढ़वारि= बढ़ना। पारावार=ओर- छोर, आदि-अन्त।

भावार्थ—दोनों सिद्ध महापुरुषों के दर्शन कर नाभाजी उनके चरणों में पड़ गये। उनके नेत्रों से आँसू आ गये। दोनों सन्त कृपा करके बालक नाभाजी को अपने साथ लाये। श्रीकील्हदेवजी की आज्ञा पाकर श्रीअग्रदेवजी ने इन्हें राम मन्त्र का उपदेश दिया और 'नारायणदास' यह नाम रखा। गलता आश्रम (जयपुर) में साधु-सेवा प्रकट प्रसिद्ध थी। वहाँ सर्वदा सन्त-समूह विराजमान रहता था। श्रीअग्रदेवजी ने सन्त-सेवा के महत्व को जानकर और सन्त-सेवा से ही यह समर्थ होकर जीवों का कल्याण करने वाला बनेगा, यह अनुमान कर नाभाजी को सन्तों की सेवा में लगा दिया। सन्तों के चरणोदक तथा उनके सीथ-प्रसाद का सेवन करने से, श्रीनाभाजी का सन्त पादोदक एवं सीथ-प्रसाद में अपार प्रेम हो गया। इन्होंने भक्तिरस की रीतियाँ जान लीं। इससे इनके हृदय में अद्‌भुत प्रेमानन्द छा गया। हृदय में भक्त-भगवान के प्रेम की ऐसी अभिवृद्धि हुई कि जिसका ओर-छोर भला कौन पा सकता है। इस प्रकार श्रीनाभाजी जैसे मूर्तिमान भक्ति के स्वरूप हुये, वैसे ही सुन्दर वाणी से इन्होंने भक्तमाल में भक्तों के चरित्रों को गाया है।।१३।।

व्याख्या—'पांय परि'—प्रेम वश चरणों में पड़े। यथा—'गहे चरण अति प्रेम अधीरा।' प्रेम विबस पुनि-पुनि पद लागी' पुनः-कृतज्ञता ज्ञापन करते हुये चरणों में पड़े। यथा— मो पहि होइ न प्रति उपकारा। बन्दउँ तव पद बारहिं बारा।।' (रा०च०मा०) पुनश्च—कृपा याचना करते हैं, भाव, जैसे आपने इतनी कृपा करी वैसे ही इतनी कृपा और करें कि मुझे अपने साथ ही रखें, अब मेरा परित्याग नहीं करें। इसलिये पांय पड़ते हैं अर्थात् कृपा के लिये इसी ब्याज से मूक प्रार्थना करते हैं। **आंसू आये**—ये आनन्द के प्रेम के आँसू हैं। पूर्व कहा गया है, 'चैन भयौ।' **कृपा करि संग लाये**—श्रीनाभाजी की प्रार्थना स्वीकार हो गई। वांछाकल्पतरु सन्त-सद्‌गुरुदेव ने साथ ले लिया।

मन्त्र अगर सुनायो है—प्रश्न- श्रीकील्हदेवजी ने ही मन्त्र क्यों नहीं सुना दिया। वे तो बड़े भी हैं? समाधान—श्रीकील्हदेवजी विशेषकर ध्यान-समाधि में मग्न रहते थे, जैसा कि आगे इनके चरित्र से स्पष्ट होता है। अत: आपने इन्हें शिष्य बनाने, शिक्षा-दीक्षा देने का कार्य श्रीअग्रदेवजी को ही सौंप रखा था। इसलिये मन्त्र अगर सुनायो है। मन्त्र से तात्पर्य वैष्णव-पंच संस्कार से है। पंच संस्कार ये हैं—

श्लोक— **पुण्ड्रं मुद्रा तथा नाम माला मन्त्रश्च पञ्चमः।**
अमी हि पञ्च संस्काराः पुण्यस्यैकान्तहेतवः।।

१. ऊर्ध्व पुण्ड्रतिलक। २. शंख चक्र की छाप। ३. भगवत्सम्बन्धीनाम। ४. माला धारण। ५. मन्त्रोपदेश। ये पंच संस्कार हैं। **'गलता'**—जयपुर के निकट पुराण-प्रसिद्ध महर्षि गालव मुनि का आश्रम। यहाँ श्रीकील्हदेवजी एवं श्रीअग्रदेवजी के सद्गुरु श्रीकृष्णदासजी पयोहारी ने पय-पान करते हुए महान् तप किया था।। यथा—**पयहारी पयपान करि, जहँ तप कियो महान्। गलता गंगाधार में करत लोग अस्नान।। गलता गद्दी दरश करि, गलत महा अभिमान। सन्त समूह विराजहीं, पूज्य भक्त भगवान।।** (भ०व०टि०)

'जानि अनुमानि'—इनके लक्षणों से, आचरण से, शील-स्वभाव से, सूझ-बूझ, दूर-दर्शिता से, सेवा में रुचि से, इनकी सन्त-सेवा की योग्यता जानकर। यह सन्त-सेवा कर लेंगे यह अनुमान कर **'ताहि टहल लगायौ है।'** सन्त-सेवा करने की पात्रता सबमें नहीं होती श्रीजीव गोस्वामीजी के प्रसङ्ग में आता है-**'डारैं धन जमुना में आवै चहुं ओर ते। कही दास 'साधु सेवा कीजै' कहैं 'पात्रता न' 'करों नीके' करी बोल्यौ कटु कोप जोर ते।' तब समझायो सन्त गौरव बढ़ायौ, यह सबकौ सिखायो बोलैं मीठी निशिभोर ते।।** (क० ३७४) जहाँ सन्त-सेवा होती है वहाँ अनेक गुण स्वभाव के सन्त आते हैं, सबको सँभालना बड़ी टेढ़ी खीर है। इन विविध भाव-स्वभाव वाले बाबा वैरागियों से महावीर कबीरदासजी भी बहुत घबराते थे—सुनिये, उन्हीं के शब्दों में—

कोइ जटधारी, कोइ मठधारी है, कोई इन्द्रीजित भारी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, खोपड़ी-खोपड़ी गति न्यारी।।

सन्त सीथ—एकबार श्रीमद्वल्लभाचार्यजी से किसी वैष्णव ने पूछा, सबसे श्रेष्ठ कौन हैं? आपने उत्तर दिया—श्रीहरि। पुनः प्रश्न किया—हरि से श्रेष्ठ कौन हैं? उत्तर मिला—श्रीहरिनाम। फिर पूछा—नाम से भी श्रेष्ठ कोई है? आचार्यपाद ने कहा—सन्त। वैष्णव ने फिर पूछा—सन्तों से भी श्रेष्ठ कुछ है? आचार्य प्रभु ने कहा—सन्तों की सीथ-प्रसादी। क्या इससे भी श्रेष्ठ कुछ है? इसके उत्तर में आपने कहा—मैं त्रिवाचापूर्वक कहता हूँ-सन्तों की सीथ-प्रसादी से बढ़कर कुछ नहीं है। **'चरण......। अनन्त प्रीति'**—से श्रीनाभाजी का अत्यन्त बड़भागी होना जनाया। क्योंकि—''**महाप्रसादे गोविन्दनाम्नि ब्राह्मण वैष्णवे। स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।।** अर्थ—महाप्रसाद में, श्रीगोविन्द भगवान के नाम में, ब्राह्मण और वैष्णवों में स्वल्प पुण्यवालों को विश्वास नहीं होता। **जानि रसरीति**-प्रेमतत्वदर्शी आचार्यों ने प्रेम-तत्व को अत्यन्त दुर्बोध बतलाया है। यथा—**'कहत अगम कोउ जोग जप, कोउ आराधन नीति। अति दुर्गम दुर्बोध अति, हम जानी रसरीति'** (सन्तवाणी) परन्तु वही दुर्बोध रसरीति प्रीति पूर्वक सन्तों की सीथ-प्रसादी सेवन करने से श्रीनाभाजी को सहज-सुगम हो गई। सन्तों की सीथ-प्रसादी के सम्बन्ध में देवर्षि नारदजी भी अपना पूर्व चरित्र वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

'उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्त किल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध चेतसस्तद्धर्म एवात्म रुचिः प्रजायते।।' (भा० १-५-२५)

अर्थ—उन सन्तों की अनुमति प्राप्त करके बरतनों में लगा जूँठन मैं दिन में एकबार खा लिया करता था। इससे मेरे सारे पाप धुल गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे लोग जैसा भजन-पूजन करते थे, उसी में मेरी भी रुचि हो गई। रस की (प्रेम की) रीति या तो रस-स्वरूप भगवान जानते हैं या उनके कृपाभाजन-भक्त। यथा—'**जानत प्रीति रीति रघुराई**' (विनय) '**प्रीति की रीति रंगीलोइ जानै**' (हित चतुरासी) तथा—'**सो जानै जेहि देहु जनाई।**' '**ताते**'—इस कारण से-कारण दो हैं—एक तो सन्त-सीथ सों अनन्त प्रीति ताते, दूसरे जानी रस रीति ताते। वा सन्त-सीथ सों अनन्त प्रीति, ताते जानी रस रीति और जानीरस रीति ताते—'हृदै रङ्ग छायो है।' अर्थात् प्रेमानन्द का सुख साम्राज्य छा गया।

भई बढ़वारि—प्रेम का स्वभाव है निरन्तर बढ़ना। यथा—'**प्रेम सदा बढ़िबो करै, ज्यों शशिकला सुवेष। पै पूनो यामे नहीं, ताते कबहुँ न शेष।** (प्रेम योग) '**प्रतिक्षण वर्द्धमानं, सूक्ष्मतरं अनुभवरूपं,** (नारदभक्तिसूत्र ५४) **छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सोतो प्रेम न होय। अघट प्रेम पिंजर बसौ, प्रेम कहावै सोय** (कबीर) '**जैसो भक्ति रूप सो अनूप गिरा गायौ है**'—भाव—श्रीनाभाजी को सन्तों की कृपा से जैसी अनुपम भक्ति मिली है और जैसे ये अनुपम भक्ति के स्वरूप हैं, वैसे ही अनुपम वाणी अर्थात्-भक्ति से ओत-प्रोत वाणी से भक्तों का चरित्र भी गाया है।

अनूप गिरा—मृदुल, मंजुल, सरल, सुबोध, सत्य, प्रिय, हित, मित एवं विचार पूर्वक कही हुई वाणी ही अनूप गिरा है। यथा—'**कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी।**' **बोले वचन विगत सब दूषन। मृदु मञ्जुल जनु वाग विभूषन।** आदि। श्रीनाभाजी की वाणी में कहीं भी कूट, उलटवांसी और भ्रामक सत्य ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। कूट-यथा—**हे हर-हार-अहार सुत, तात नवत हौं तोहिं। अबला सुतके तनय को वेगि दिखावो मोहिं।** स्पष्टार्थ हर=शिव। हर-हार=सर्प। हर-हार-अहार=वायु। हर-हार-अहार सुत=हनुमानजी। अबला=इन्दुमती। अबलासुत=श्रीदशरथजी। अबला सुत के तनय=श्रीराम जी। अर्थ—श्रीजानकीजी कहती हैं कि हे हनुमान! हे तात! मैं तुमसे विनती करती हूँ। शीघ्र श्रीरामजी का दर्शन करावो। उलटवांसी-जैसे-**कबीरदास की उल्टी बानी। बरसै भीजै पानी।।** भ्रामक सत्य-यथा—

कुञ्जरो वा नरोवा—महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ते हुए द्रोणाचार्य जब पाण्डवों की सेना का संहार करने लगे, तब श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि अब तो द्रोणाचार्य का वध किये बिना काम नहीं चल सकता परन्तु अर्जुन को गुरुवध, करने की हिम्मत नहीं हुई। भगवान ने भीम के द्वारा अश्वत्थामा नाम के हाथी को मरवा डाला। द्रोणाचार्य के पुत्र का भी अश्वत्थामा नाम था और वे उनको बड़े ही प्यारे थे। जब 'अश्वत्थामा मारा गया' यह आवाज द्रोणाचार्य के कानों में पहुँची तो उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा कि 'कौन अश्वत्थामा मारा गया? युधिष्ठिर ने कहा—**अश्वत्थामाहतो नरो वा कुञ्जरो वा।** अर्थात् अश्वत्थामा मनुष्य मारा गया या हाथी। द्रोणाचार्य 'या हाथी' (वा कुञ्जरो वा) इस अंश को न सुन सके। राजनीति का पालन करते हुए धर्मराज ने सत्य की रक्षा करना चाहा, पर वह न हो सका, असत्य बोलने का कलङ्क उनके जीवन पर लग ही गया। अस्तु, पुत्रमरण सुनकर ज्यों ही द्रोणाचार्य मूर्च्छित से हुए त्यों ही धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काट लिया। 'नरो वा कुञ्जरो वा' यह वाक्य तभी से कहावत के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

चौबीस अवतार

(मूल छप्पय)

जय जय मीन, वराह, कमठ, नरहरि बलि-बावन।
परशुराम, रघुवीर, कृष्ण कीरति जगपावन।।
बुद्ध, कल्कि अरु, व्यास पृथु, हरि हंस, मन्वंतर।
यज्ञ, रिषभ, हयग्रीव, ध्रुववरदैन धन्वंतर।।
बद्रीपति, दत्त, कपिलदेव, सनकादिक करुणा करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर, श्रीअग्रदास उर पद धरौ।।५।।

शब्दार्थ—जय=विजय हो, मङ्गल, नमस्कार, विष्णु, विष्णुपार्षद। पावन=पवित्र, पवित्र करने वाला। करुणा=कृपा, तरस।

भावार्थ—मङ्गल-मय मीन, बाराह, कच्छप, नरसिंह तथा वामन आदि चौबीस भगवान के अवतारों की जय हो, जय हो, इनका मङ्गल हो, हम इन्हें नमस्कार करते हैं। परशुराम, रघुवीर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण आदि सभी अवतारों की पवित्र कीर्ति संसार को पवित्र करने वाली है। बुद्ध, कल्कि, व्यास, पृथु, हरि, हंस, मन्वन्तर, यज्ञ, ऋषभ, हयग्रीव, ध्रुव वरदायी, धनवन्तरि, नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिल देव, तथा सनक-सनन्दन-सनातन सनत्कुमार सभी मुझ दास पर कृपा करौ। चौबीसों अवतारों के रूप एवं उनकी लीलायें अत्यन्त सुन्दर हैं। इन अवतारों के समेत गुरुदेव श्रीअग्रदासजी महाराज मेरे हृदय में अपने श्रीचरण स्थापित करें। (अथवा सभी अवतार मुझ अग्रदास के हृदय में निज-पद-कमल रक्खें)।।

व्याख्या-जय जय मीन—प्रश्न-श्रीगुरुदेवजी ने तो भक्त यश वर्णन की आज्ञा दी थी तो प्रारम्भ में भगवान के चौबीस अवतारों की वन्दना क्यों?

समाधान—१. श्रीभक्तमाल के मुख्य श्रोता भगवान हैं अतः कथारम्भ के पूर्व श्रोताओं को 'जय जय मीन................' लिखकर उपस्थित किया।

२. जिन्हें बुलाना हो उनके प्रेमियों को, उनकी प्रिय वस्तुओं को यदि बुला या रख लिया जाय व उनका गुण गाया जाय तो वे प्रसन्न होकर अवश्य आते हैं और ठहरते हैं। भक्तगण भगवान और उनके यश के प्रेमी होते हैं। अतः प्रथम उनके इष्ट-स्वरूप चौबीस अवतारों की वन्दना किये। इष्ट का नाम सुनते ही भक्त आ जाते हैं।

३. भक्तों के भगवान और भगवान के भक्त ही हृदय हैं। यथा—**'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि।।** (भागवत ९-४-६८) चौबीस अवतारों को कहकर श्रीनाभाजी ने मानों भक्तों के हृदय को आकृष्ट किया। अब भक्त बिना आये कैसे रह सकते हैं। अतः जय जय मीन................ प्रथम कहा।

४. वैष्णव-सन्त सेवा के लिये ठाकुर-बटुआ रखते हैं। अगर बटुआ रख लिया जाय तो उसे छोड़कर नहीं जाते, जैसे श्रीहरिराम व्यासजी ने एक प्रेमी-सन्त का बटुआ नहीं दिया तो वे गये ही नहीं अत: श्रीनाभाजी ने भक्तों के सेव्य चौबीस अवतारों को ग्रन्थ में प्रथम स्थान दिया।

५. भक्तों की कृपा से भगवान में तथा उनके चरित्रों में प्रीति होती है तथा भगवान की कृपा से भक्तों में और उनके चरित्रों में प्रीति होती है। अत: भक्तों की भक्ति तथा उनके चरित्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रथम भगवान के अवतारों की ही वन्दना किये।

६. ग्रन्थ में श्वपच, बाल्मीकि, कबीर, रैदास आदि के चरित्र लिखे जायेंगे तो यह शङ्का कोई न करे कि निम्न वर्ण में भक्त कैसे हुये तथा इन्हें निम्न वर्ण का मानकर इनमें कोई अभाव न करे। अत: यहाँ अवतारों की वन्दना करके यह दिखाया कि जैसे मीन, कच्छप, बाराहादि निम्न योनियों के रूप में प्रकट होकर के भी भगवान पूज्य हुए उसी प्रकार भक्त कहीं भी प्रकट हों वह पूजनीय हैं। यथा—"**अश्वत्थधात्री तुलसी हरिप्रिया, सत्याँ कुभूमावपि पूजिता यथा। एवं सुभक्ताअपि निम्नजातिजा दैवैः सुपूज्याः किमु मानुषै र्न हि।**"

पुनश्च—"**तुलसी पीपर आँवला जो घूरे पर होय। घटती महिमा तासु नहिं पूजत है सब कोइ**" अत: मीन वराह कमठ को प्रथम कहा।

७. 'भक्तों का यश गावो'—ऐसी गुरुदेव की आज्ञा पाकर श्रीनाभाजी ने विचारकर निश्चय किया कि—सबसे बड़े भक्त तो भगवान ही हैं, भक्तों के प्रति उनकी अवर्णनीय भक्ति है। भक्तों के लिये ही दस या चौबीस अवतार लेते हैं। यथा—

जाको नाम लेत भव छूटत जनम मरन दुख भार।
अम्बरीष हित लागि दयानिधि सोइ जनमें दसबार।। (विनय)

और—**एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।**
उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्।। (भा० १०/८६/५९)

अर्थ—राजन्! भगवान अपने भक्तों के भक्त हैं। (सदा भक्तों के लिए ही सभी कार्य करते हैं) वे अपने (राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव) दोनों भक्तों को प्रसन्न करने के लिए कुछ दिनों तक मिथिलापुरी में रहकर उन्हें साधु-पुरुषों के मार्ग का उपदेश कर पुन: द्वारकापुरी को लौट आये। इन प्रमाणों के अनुसार भगवान को भक्त-भक्तिमान सर्वश्रेष्ठ भक्त जानकर प्रथम उनका चरित्र 'जय जय मीन' कहा।

श्रीराम-कृष्ण को छोड़कर सर्वप्रथम मीन को क्यों कहा? उत्तर—जैसे भक्तजन भगवान की शरण में अति दैन्य भाव से जाते हैं, उसी तरह मीन भगवान ने 'पृथु देहि पदं मह्यं यत् त्वाहं शरणं गता।।' (भा० ८/२४/२०) कहकर भक्त की शरण गये, अत: भक्तों के सर्वश्रेष्ठ भक्त मानकर सर्वप्रथम मीन का नाम लिया।

मत्स्यावतार की कथा—(१) ब्रह्माजी के सोने का जब समय आ गया और उन्हें नींद आने लगी, उस समयवेद उनके मुख से निकल पड़े और उनके पास ही रहने वाले हयग्रीव नामक दैत्य ने उन्हें चुरा लिया। ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय होने से सारे लोक समुद्र में डूब गये। श्रीहरि ने हयग्रीव की चेष्टा जान ली और वेदों का उद्धार करने के लिए मत्स्यावतार ग्रहण किया। द्रविड़ देश के राजर्षि सत्यव्रत बड़े

भगवत् परायण थे। वे केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे। ये ही वर्तमान महाकल्प में वैवस्वत मनु हुए। एकदिन कृतमाला नदी में तर्पण करते समय उनकी अञ्जलीमें एक छोटी-सी मछली आ गई, उन्होंने उसे जल के साथ फिर नदी में छोड़ दिया। उसने बड़ी करुणा से प्रार्थना की कि—मुझे जलजन्तु खा लेंगे, मेरी रक्षा कीजिये। राजा ने उसे जलपात्र में डाल लिया। वह इतनी बढ़ी कि कमण्डल में समवाई न रही, तब राजा ने बड़े मटके में रक्खा। दो घड़ी में वह तीन हाथ की हो गई तब उसे एक बड़े सरोवर में रख दिया। थोड़ी ही देर में उसने महामत्स्य का आकार धारण किया। जिस किसी जलाशय में रखते उसी से वह बड़ी हो जाती। तब राजा ने उसे समुद्र में छोड़ दिया। उसने बड़ी करुणा से कहा—राजन्! आप मुझको इसमें न छोड़ें, मेरी रक्षा करें। तब उन्होंने प्रश्न किया 'मत्स्यरूप धारण करके मुझको मोहित करने वाले आप कौन हैं? आपने एक ही दिन में ४०० कोस के विस्तार का सरोवर घेर लिया। आप अवश्य ही सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं। आपने यह रूप किस उद्देश्य से ग्रहण किया है?' तब भगवान ने कहा—आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय कालीन समुद्र में डूब जायेंगे। तब मेरी प्रेरणा से एक बड़ी भारी नाव तुम्हारे पास जावेगी। उस समय तुम समस्त प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को लेकर सप्तर्षियों के समेत उस पर चढ़ जाना और समस्त औषधियों और बीजों को साथ रख लेना। जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहेगी तब तक मैं तुम्हारी नौका को लिए समुद्र में विहार करूँगा। और तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा। यह कहकर मत्स्य भगवान अन्तर्धान हो गये।

प्रलयकाल में वैसा ही हुआ जैसा भगवान ने कहा था। मत्स्य भगवान प्रकट हुये। उनका शरीर सोने के समान देदीप्यमान था और शरीर का विस्तार चार लाख कोस का था। शरीर में एक बड़ी भारी सींग भी थी। वह नाव वासुकी नाग से सींग में बाँध दी गई। सत्यव्रतजी ने भगवान की स्तुति की। भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने स्वरूप का सम्पूर्ण परम रहस्य, ब्रह्म-तत्व उपदेश किया। जो मत्स्य-पुराण में है। ब्रह्मा की नींद टूटने पर भगवान ने हयग्रीव को मारकर श्रुतियाँ ब्रह्माजी को लौटा दीं। (भा० ८-२४)

(२) समुद्र का एक पुत्र शंख था। इसने देवताओं को परास्त करके उनको स्वर्ग से निकाल दिया, सब लोकपालों के अधिकार छीन लिये। देवता मेरुगिरि की कन्दराओं में जा छिपे, शत्रु के अधीन न हुये। तब दैत्य ने सोचा कि देवता वेद मन्त्रों के बल से प्रबल प्रतीत होते हैं। अतः मैं वेदों का अपहरण करूँगा। ऐसा निश्चय करके वह वेदों को हर लाया। ब्रह्माजी कार्तिक की प्रबोधिनी एकादशी को भगवान की शरण गये। भगवान ने आश्वासन दिया और मछली के समान रूप धारण करके आकाश से वे विन्ध्य पर्वत निवासी कश्यप मुनि की अञ्जलि में गिरे। मुनि ने करुणावश उसे क्रमशः कमण्डल, कूप, सर, सरित आदि अनेक स्थानों में रखते हुये अन्त में उसे समुद्र में डाल दिया। वहाँ भी वह बढ़कर विशालकाय हो गया। तदनन्तर उन मत्स्य- रूपधारी भगवान ने शंखासुर का वध किया और उसे हाथ में, लिये वे बदरीवन में गये। वहाँ सम्पूर्ण ऋषियों को बुलाकर आदेश दिया कि 'जल के भीतर बिखरे हुये वेदों की खोज करो और रहस्यों सहित उनका पता लगाकर शीघ्र ही ले आओ।' तब तेज और बल से सम्पन्न समस्त मुनियों ने यज्ञ और बीज सहित वेदमन्त्रों का उद्धार किया। जिस वेद के जितने मन्त्रों को जिस ऋषि ने उपलब्ध किया, वही उतने भाग का तबसे ऋषि माना जाने लगा। ब्रह्मा समेत सब ऋषियों ने आकर प्राप्त किये हुये वेदों को भगवान को अर्पण कर दिया। (पद्मपुराण)

(३) दिति के मकर, हयग्रीव, महाबलशाली हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, जम्भु और मय आदि पुत्र हुये, मकर ने ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी को मोहित करके उनसे सम्पूर्ण वेद ले लिये। इस प्रकार श्रुतियों का अपहरण करके वह महासागर में घुस गया। फिर तो सारा-संसार धर्मशून्य हो गया। ब्रह्मा की प्रार्थना से भगवान मत्स्य रूप धारण करके महासागर में प्रविष्ट हुये और मकर दैत्य को थूथुन के अग्रभाग से विदीर्ण करके उन्होंने मार डाला और अङ्ग-उपाङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदों को लाकर ब्रह्माजी को समर्पित कर दिया। (पद्मपुराण)

'मत्स्य' अवतार कृतयुग में आषाढ़ शुक्ल ११ को प्रातःकाल में पुष्प भद्रा में हुआ।।

पुनश्च—एकबार यह अवतार वैवस्वत मनु के लिये हुआ। यथा—**'रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधि सम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्।।** (भा० १/३/१५) अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में समुद्र की बाढ़ से प्रलय होने पर उन्होंने मत्स्य रूप धारण किया और पृथ्वीमयी नौका पर वैवस्वत मनु को चढ़ाकर उनकी रक्षा की।।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि।। (भा० ८/२४/६१)

अर्थ—प्रलयकालीन समुद्र में जब ब्रह्माजी सो गये थे। उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी। उस समय उनके मुख से निकली हुई श्रुतियों को चुराकर हयग्रीव दैत्य पाताल में ले गया था। भगवान ने उसे मारकर वे श्रुतियाँ ब्रह्माजी को लौटा दीं एवं सत्यव्रत तथा सप्तर्षियों को ब्रह्म-तत्व का उपदेश किया। उन समस्त जगत् के परम-कारण लीला-मत्स्य भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।।

श्रीवाराह अवतार—ब्रह्मा से सृष्टिक्रम प्रारम्भ करने की आज्ञा पाये हुये स्वायम्भुव मनु ने पृथ्वी को प्रलय के एकार्णव में डूबी हुई देखकर उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे और मेरी प्रजा के रहने के लिये पृथ्वी के उद्धार का प्रयत्न करें जिससे मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँ। ब्रह्माजी इस विचार में पड़कर कि पृथ्वी तो रसातल में चली गई है, इसे कैसे निकाला जाय, वे सर्वशक्तिमान श्रीहरि की शरण गये। उसी समय विचारमग्न ब्रह्माजी की नाक से अंगुष्ठ प्रमाण एक वराह बाहर निकल पड़ा और क्षण-भर में पर्वताकार विशालरूप गजेन्द्र सरीखा गर्जन करने लगा। शूकररूप भगवान पहले तो बड़े वेग से आकश में उड़े। उनका शरीर बड़ा कठोर था त्वचा पर कड़े-कड़े बाल थे, सफेद दाढ़ें थीं, उनके नेत्रों से तेज निकल रहा था। उनकी दाढ़ें भी अति कर्कश थी। फिर अपने वज्रमय पर्वत समान कठोर-कलेवर से उन्होंने जल में प्रवेश किया। बाणों के समान पैने खुरों से जल को चीरते हुये वे जल के पार पहुँचे। रसातल में समस्त जीवों की आश्रयभूता पृथ्वी को उन्होंने वहाँ देखा जिसे कल्पान्त में शयन करने के लिए उद्यत श्रीहरि ने अपने ही उदर में लीन कर लिया था। पृथ्वी को वे दाढ़ों पर लेकर बाहर आये। जल से बाहर निकलते समय उनके मार्ग में विघ्न डालने के लिये महापराक्रमी हिरण्याक्ष ने जल के भीतर ही उन पर गदा से प्रहार करते हुए आक्रमण कर दिया। भगवान ने उसे लीला ही से मार डाला। श्वेत दाढ़ों पर पृथ्वी को धारण किये, जल से बाहर निकले हुये तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण वराह भगवान को देखकर ब्रह्मादिक को निश्चय हो गया कि ये भगवान ही हैं। वे सब हाथ-जोड़कर स्तुति करने लगे। प्रलयावस्था में यज्ञ-सामग्री भगवान के श्रीअङ्ग में लीन हो गयी थी। सृष्टिकाल में यज्ञ वराह

मूर्ति भगवान ने यज्ञ विस्तार हेतु अपने श्रीअङ्ग से वही सब यज्ञोपकरण प्रकट कर दिये। वराहावतार भी सतयुग में ही भाद्रपद शुक्ल पंचमी को मध्याह्नकाल में हरिद्वार में हुआ था।

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते।। (भा० ३/१३/३४)

अर्थ—भगवन् अजित! आपकी जय हो, जय हो! यज्ञपते! आप अपने वेदत्रयी रूप-विग्रह को फटकार रहे हैं। आपको नमस्कार है। आपके रोम कूपों में सम्पूर्ण यज्ञलीन हैं। आपने पृथ्वी का उद्धार करने के लिये ही यह सूकर रूप धारण किया है। आपको नमस्कार है।।

कमठ (कच्छप) अवतार—जब दैत्यों के तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार से देवता अमर होकर भी संग्राम में मरने लगे और प्राणों से वियोग हो जाने से फिर पृथ्वी से न उठ सके। जब दुर्वासाजी के शाप से इन्द्र सहित तीनों लोक श्री रहित हो गये। (यह कथा पूर्व कवित्त ५ की व्याख्या में लिखी जा चुकी है) तब इन्द्रादि ब्रह्माजी की शरण में गये। ब्रह्माजी सबको लेकर अजित भगवान के धाम को गये और उनकी स्तुति की। भगवान ने उनको यह युक्ति बताई कि दैत्य और दानवों के साथ सन्धि करके मिल-जुलकर क्षीर सिन्धु को मथने का उपाय करो। मन्दराचल को मथानी और वासुकी नाग को नेती बनाओ। मन्थन करने पर पहले कालकूट निकलेगा, उसका भय न करना, और अनेक रत्न निकलेंगे उनका लोभ न करना। अन्त में अमृत निकलेगा वह युक्ति से मैं तुम लोगों को पिला दूँगा। देवताओं ने जाकर दैत्यराज बलिमहाराज से सन्धि कर ली। अब देवता और दैत्य मन्दराचल को उखाड़ कर ले चले परन्तु थक गये, तब भगवान प्रगट होकर उसे उठाकर गरुड़ पर रखकर सिन्धु तट पर पहुँचे। वासुकी अमृत के लोभ से नेती बने। जब समुद्र-मन्थन होने लगा तब बड़े-बड़े देवता और असुरों के पकड़े रहने पर भी अपने भार की अधिकता और नीचे कोई आधार न होने के कारण मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा। इस प्रकार अपना सब करा-कराया मिट्टी में मिलते देखकर उन सबों का मन टूट गया। उस समय भगवान ने यह देखकर कि यह सब विघ्नराज (गणेशजी) की करतूत है, उन्होंने हँसकर कहा—सब कार्यों के प्रारम्भ में गणेशजी की पूजा करनी चाहिये। सो तो हम लोगों ने बिल्कुल भुला दिया। बिना उनकी पूजा के कार्य सिद्ध होता नहीं दीखता। अब उन्हीं की पूजा करनी चाहिये। लीलामय भगवान की लीला है। वे स्वयं सर्व-समर्थ हैं। परन्तु कार्यारम्भ में गणेशजी की अग्रपूजा की मर्यादा जो बाँध रखी है। उसका पालन करने के लिये जब देवताओं और दैत्यों को यह परामर्श दिये तो सभी लोग उधर श्रीगणेशजी की पूजा में लगे, इधर भगवान ने तुरन्त अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छप का रूप धारण कर समुद्र में प्रवेश करके अपनी एक लाख योजन वाली पीठ पर मन्दराचल को ऊपर उठा लिया। तब देवता और दैत्य फिर बड़े वेग से समुद्र को मथने लगे। भगवान कच्छप को पीठ पर मन्दराचल का घूमना ऐसा जान पड़ता था मानो कोई उनकी पीठ को खुजला रहा है।

भगवान कच्छप रूप से मन्दराचल को धारण किये हुए थे, विष्णु रूप से देवताओं के साथ मथ रहे थे। एक तीसरा रूप भी धारण करके मन्दराचल को अपने हाथों से दबाये हुये थे कि कहीं उछल न जाय। मथते-मथते बहुत देर हो गई, परन्तु अमृत न निकला। अब भगवान ने सहस्त्रबाहु होकर स्वयं ही दोनों ओर से मथना आरम्भ किया। उस समय भगवान की बड़ी विलक्षण शोभा थी। ब्रह्मा, शिव, सनकादि,

जय-जयकार करते हुए आकाश मण्डल से पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। उन लोगों की ध्वनि में ध्वनि मिलाकर समुद्र भी भगवान की जय-जयकार कर रहा था। समुद्र से सर्वप्रथम 'हलाहल विष' प्रगट हुआ उससे त्रैलोक्य जलने लगा तो वह देवाधिदेव महादेव को भेंट किया गया। फिर और भी रत्न निकले। उनमें से 'कामधेनु' को ऋषियों ने स्वीकार किया। उच्चैःश्रवा नामक अति सुन्दर बलिष्ठ अश्व को दैत्यों ने लिया। बाद में 'ऐरावत' नामक महान हाथी निकला वह देवताओं के राजा इन्द्र को मिला। 'कौस्तुभमणि' के प्रति सभी लालायित थे उसे भगवान ने अपने कण्ठ में धारण कर लिया। 'कल्पवृक्ष' बिना किसी की अपेक्षा किये स्वर्ग में चला गया। 'अप्सरायें' भी स्वेच्छा से स्वर्ग को ही प्रस्थान कर गईं। 'भगवती लक्ष्मी' ने, अपनी ओर से उदासीन रहने पर भी सर्वगुण सम्पन्न भगवान विष्णु को वरण किया। 'वारुणी देवी' को दैत्यों ने बड़े चाव से लिया। 'धनुष' तो किसी से उठा ही नहीं। तब भगवान विष्णु ने उसे धारण किया। 'चन्द्रमा' को अनन्त आकाश विचरने के लिये दिया गया। 'दिव्य शंख' को भगवान ने स्वीकार किया। अन्त में 'अमृत कलश' हाथ में लिये हुए प्रगट हुए धन्वन्तरिजी महाराज। दैत्यों ने उनसे अमृत-कलश छीन लिया, देवता उदास हो गये। तब भगवान ने मोहिनी-स्वरूप धारणकर दैत्यों को व्यामोहित कर अमृत-कलश उनसे लेकर अमृत देवताओं को पिला दिया। देवताओं की पंक्ति में सूर्य और चन्द्र के बीच में एक राहु नामक दैत्य वेष बदलकर आ बैठा था। उसे अमृत पिलाया ही जा रहा था कि चन्द्रमा और सूर्य ने बतला दिया और तुरन्त ही भगवान के चक्र ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। परन्तु कुछ अमृत उसे मिल चुका था अतः सिर कटने पर भी मरा नहीं। इसलिए उसे ग्रहों में स्थान दिया गया। राहु अब भी सूर्य चन्द्रमा से बदला लेने के लिए उनके पर्व अमावस्या और पूर्णिमा पर आक्रमण करता है। जिसे ग्रहण कहते हैं। देवताओं ने अमृत पी ही लिया था। भगवान का आश्रय था ही। अतः अबकी बार संग्राम में विजय देवताओं की हुई। बोलिये कच्छप भगवान की जय।।

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति।।

(भा० १२-१३-२)

अर्थ—जिस समय भगवान ने कच्छप रूप धारण किया था और उनकी पीठ पर बड़ा भारी मन्दराचल मथानी की तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराचल की चट्टानों की नोंक से खुजलाने के कारण भगवान को तनिक सुख मिला। वे सो गये और श्वांस की गति तनिक बढ़ गई। उस समय उस श्वांस वायु से जो समुद्र के जल को धक्का लगा था उसका संस्कार आज भी उसमें शेष है। आज भी समुद्र उसी श्वांस वायु के थपेड़ों के फलस्वरूप ज्वार-भाटों के रूप में दिन-रात चढ़ता-उतरता है उसे अब तक विश्राम न मिला। भगवान की वही परम प्रभावशाली श्वांस वायु आप लोगों की रक्षा करे।। (भागवत)।।

श्रीनृसिंह-अवतार—जब वाराह भगवान ने हिरण्याक्ष का वध कर डाला था उसकी माता दिति, उसकी पत्नी भानुमती, उसका भाई हिरण्यकशिपु और समस्त परिवार बड़ा दुःखी था। दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपु ने सबको समझा-बुझाकर शान्त किया, परन्तु स्वयं शान्त नहीं हुआ। हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला धधकने लगी। फिर तो उसने निश्चय किया कि तपस्या करके ऐसी शक्ति प्राप्त की जाय कि त्रिलोकी का राज्य निष्कण्टक हो जाय और हम अमर हो जायें। निश्चय कर लेने पर हिरण्यकशिपु ने मन्दराचल की घाटी में जाकर ऐसा घोर तप किया कि जिससे देवलोक भी तप्त हो गये। देवताओं की

प्रार्थना पर ब्रह्माजी ने जाकर उससे अमरत्व छोड़कर अन्य कोई भी मनचाहा वर माँगने को कहा। उसने कहा कि मैं चाहता हूँ कि आपके बनाये हुए किसी प्राणी से मेरी मृत्यु न हो। भीतर बाहर, दिन में रात में, आपके बनाये हुए प्राणियों के अतिरिक्त और भी किसी जीव के अस्त्र-शस्त्र से, पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में कोई भी मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियों का एकछत्र सम्राट बनूँ। इन्द्रादि समस्त लोकपालों में जैसी आपकी महिमा है वैसी ही मेरी हो। तपस्वियों और योगियों, योगेश्वरों को जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है वही मुझे भी दीजिये। ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहकर उसके माँगे वर उसको दिये वह अपनी चतुराई पर बड़ा ही प्रसन्न हुआ कि मैंने ब्रह्मा को भी ठग लिया। उनके न चाहने पर भी मैंने युक्ति से अमरत्व का वरदान ले ही लिया। यह जीव का स्वभाव है, वह अपनी चतुराई से चतुरानन की कौन कहे भगवान को भी धोखा देने का प्रयास करता है।

दृष्टान्त—चालाक मियाँ का—मुसलमानों का रोजा का त्यौहार चल रहा था। वे इस त्यौहार में जल नहीं पीते। फलस्वरूप सन्ध्या होते-होते उनके मुख मुरझा जाते हैं। परन्तु एक मुसलमान बड़ा ही प्रसन्न रहता था। लोगों ने जब उससे उसकी प्रसन्नता का कारण पूछा तो उसने कहा मैं पानी पी लेता हूँ परन्तु ऐसा पानी पीता हूँ कि खुदा भी नहीं जानते। बात यह थी कि वह स्नान करते समय डुबकी लगाता तो डूबे-डूबे ही जल पी लेता था। भगवान की लीला एक दिन ज्यों ही उसने जल पीने के लिये मुँह खोला तो छोटी-सी श्रृङ्गी मछली गले में जाकर फँस गई। खुदा की कौन कहे, सब लोग जान गये, वैसे ही हिरण्यकशिपु ने भी अपनी समझ से मृत्यु का दरवाजा बन्द ही कर लिया था किन्तु भगवान ने जब चाहा तो खोल ही लिया।

वर प्राप्तकर उसने सम्पूर्ण दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नर गन्धर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितृगणों के अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत और प्रेतों के नायक तथा सम्पूर्ण जीवों के स्वामियों को जीतकर अपने वशीभूत कर लिया। इस प्रकार उस विश्वजित् असुर ने अपने पराक्रम से सम्पूर्ण लोकपालों के स्थान छीन लिये, स्वयं इन्द्र भवन में रहने लगा। उसने दैत्यों को आज्ञा दी कि आजकल ब्राह्मणों और क्षत्रियों की बहुत बढ़ती हो गई है। जो लोग तपस्या, व्रत, यज्ञ, स्वाध्याय और दानादि शुभ-कर्म कर रहे हैं, उन सबों को मार डालो। विष्णुकी जड़ है द्विजातियों का कर्म-धर्म और वही धर्म का परम आश्रय है। दैत्यों ने जाकर वैसा ही किया। परन्तु जहाँ त्रैलोक्य में इस प्रकार धर्म का नाश किया जा रहा था, वहाँ हिरण्यकशिपु के पुत्रों में प्रह्लादजी जन्म से ही भगवद् भक्त थे। पाँच वर्ष की अवस्था में वे अपने पिता को भगवद्भक्ति का पाठ सुना रहे थे। अपने शत्रु विष्णु का इसे भक्त जानकर उसने यह निश्चय कर लिया कि यह अपना शत्रु है जो पुत्र रूप से प्रगट हुआ है अतः उसे मार डालने की आज्ञा दी। पर दैत्यों के सब प्रयोग व्यर्थ हुए। तब हिरण्यकशिपु को बड़ी चिन्ता हुई। उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियों से कुचलवाया। विषधर सर्पों से डसवाया, कृत्या राक्षसी उत्पन्न कराई कि प्रह्लाद को खा ले। पहाड़ों पर से नीचे गिरवाया। शंबरासुर से अनेकों प्रकार की माया का प्रयोग कराया। विष दिलाया। दहकती आग में प्रवेश कराया, समुद्र में डुबाया, इत्यादि। अनेक उपाय मार डालने के किये। पर उनका बाल भी बांका नहीं हुआ गुरु पुत्रों की सलाह से वे वरुणपाश से बाँधकर रक्खे जाने लगे कि कहीं भाग न जाय और गुरु पुत्र इन्हें अर्थ, धर्म और काम की शिक्षा देने लगे। छुट्टी के समय प्रह्लादजी ने समवयस्क असुर बालकों को भगवद्भक्ति का स्वरूप बताया, जिसे सुनकर सब सहपाठी असुर बालक

भगवन्निष्ठ हो गये। यह देखकर पुरोहित ने जाकर सब हाल हिरण्यकशिपु से कहा। सुनते ही उसका शरीर क्रोध के मारे थर-थर काँपने लगा और उसने प्रह्लादजी को अपने हाथ से मार डालने का निश्चय किया। उन्हें बुलाकर बहुत डांटा, झिड़का और पूछा कि, तू किसके बल पर मेरी आज्ञा के विरुद्ध काम किया करता है?

प्रह्लादजी ने उसे सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान भगवान के स्वरूप का उपदेश दिया, वह क्रोध से भरकर बोला—देखूँ वह तेरा जगदीश्वर कहाँ हैं? अच्छा, क्या-कहा—वह सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नहीं दीखता। अच्छा, तुझे इस खम्भे में भी दीखता है। मैं अभी तेरा सिर अलग करता हूँ, देखता हूँ, तेरा वह हरि तेरी कैसे रक्षा करता है? वे मेरे सामने आवें तो सही। इत्यादि, कहते-कहते जब वह क्रोध को सँभाल न सका तब सिंहासन पर से खड्ग लिये कूद पड़ा और प्रह्लादजी के यह कहते ही कि हाँ वह खम्भे में भी हैं उसने बड़े जोर से खम्भे को एक घूँसा मारा। उसी समय खम्भे से बड़ा भारी शब्द हुआ। घूँसा मारकर वह प्रह्लादजी को मारने के लिये झपटा था परन्तु उस अपूर्व घोर शब्द को सुनकर वह घबड़ाकर देखने लगा कि शब्द करने वाला कौन? इतने में उसने खम्भे से निकले हुए एक अद्भुत प्राणी को देखा वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है न सिंह। फिर यह नृसिंह रूप में कौन अलौकिक जीव है। वह इस उधेड़-बुन में लगा ही हुआ था कि उसके बिल्कुल सामने नृसिंह भगवान खड़े हो गये।

श्रीनृसिंह भगवान के उस समय के विकराल स्वरूप का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—'तपाये हुए सोने के समान पीली आँखें, दाढ़ें बड़ी पैनी, तलवार की तरह लपलपाती हुई छुरे की धार के समान तीखी जीभ, टेढ़ी भौहें, कान निश्चल एवं ऊपर को उठे हुये, फूली हुई नासिका और पर्वत-कन्दरा के समान खुला हुआ मुँह, बड़े ही भयंकर फटे हुये जबड़े, स्वर्ग का स्पर्श करने वाला शरीर, नाटी-मोटी गरदन, छाती चौड़ी, कमर बहुत पतली, सारे शरीर पर चन्द्र समान चमकीले रोयें, चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं। जिनके बड़े-बड़े नख आयुध का काम देते थे। भगवान उससे बड़ी देर तक खेलवाड़ करते रहे अन्त में सन्ध्या समय उन्होंने बड़े उच्च स्वर से प्रचण्ड भयङ्कर अट्टहास किया जिससे आँखें बन्द हो गईं। उसी समय झपटकर भगवान ने उसे पकड़कर राजसभा द्वार की ड्योढ़ी पर ले जाकर अपनी जंघाओं पर गिराकर अपने नखों से उसके पेट को चीरकर उसकी आँतें गले में डाल लीं। उस समय उनकी शोभा हाथी को मारकर गले में आँतों की माला पहने हुए मृगराज की-सी थी। **असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः।**' (भा० ८/७/३०) (विशेष देखिये श्रीप्रह्लादजी के प्रसङ्ग में) नृसिंहावतार मुल्तान में वैशाख शुक्ल १४ मध्याह्न काल में हुआ। यह अवतार सत्ययुग त्रेता की सन्धि में हुआ था।

वागीशा यस्य वदने, लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे।। [श्रीधर स्वामी]

श्रीवामनावतार की कथा—भगवान की कृपा से ही देवताओं की विजय हुई। स्वर्ग के सिंहासन पर इन्द्र का अभिषेक हुआ। परन्तु अपनी विजय के गर्व में देवता लोग भगवान को भूल गये विषय परायण हो गये। उधर हारे हुए दैत्य बड़ी सावधानी से अपना बल बढ़ाने लगे। वे गुरु शुक्राचार्यजी के साथ-साथ समस्त भृगुवंशी ब्राह्मणों की सेवा करने लगे, जिससे प्रभावशाली भृगुवंशी अत्यन्त प्रसन्न

हुए और दैत्यराज बलि से उन्होंने विश्वजित यज्ञ कराया। ब्राह्मणों की कृपा से यज्ञ में स्वयं अग्निदेव ने प्रगट होकर रथ घोड़े आदि दिये और अपना आशीर्वाद दिया। शुक्राचार्यजी ने एक दिव्य शंख और प्रह्लादजी ने एक दिव्य माला दी। इस तरह सुसज्जित हो सेना सहित उन्होंने जाकर अमरावती को घेर लिया। देवगुरु बृहस्पति के आदेशानुसार देवताओं सहित इन्द्र ने स्वर्ग को छोड़ दिया और कहीं जा छिपे। विश्व-विजयी हो जाने पर भृगुवंशियों ने बलि से सौ अश्वमेघ यज्ञ कराये। इस तरह प्राप्त समृद्ध राज्य-लक्ष्मी का उपभोग वे बड़ी उदारता से करने लगे। (भा०)

अपने पुत्रों का ऐश्वर्य राज्यादि छिन जाने से माता अदिति बहुत दुःखी हुईं अपने पति कश्यपजी के उपदेश से उन्होंने पयोव्रत किया। भगवान ने प्रकट होकर कहा कि—ब्राह्मण और ईश्वर बलि के अनुकूल हैं। इसलिये वे जीते नहीं जा सकते। मैं अपने अंशरूप से तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे सन्तान की रक्षा करूँगा। फिर तो भाद्रपद शुक्ल १२ के मध्याह्न काल में अभिजित मुहूर्त्त में भगवान प्रगट हुए और कश्यप अदिति के देखते-देखते उसी शरीर से वामन [बौना] ब्रह्मचारी का रूप धारणकर लिया। ठीक वैसे ही जैसे कोई नट अपना भेष बदल ले।। भगवान को वामन ब्रह्मचारी के रूप में देखकर महर्षियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन लोगों ने कश्यप प्रजापति को आगे करके उनके जात कर्म आदि संस्कार करवाये। जब उनका उपनयन संस्कार होने लगा तब सूर्य ने उन्हें गायत्री का उपदेश दिया। बृहस्पति ने यज्ञोपवीत और कश्यप ने मेखला दी। पृथ्वी ने कृष्णमृग चर्म, वन के स्वामी चन्द्रमा ने दण्ड, माता अदिति ने कौपीन और उत्तरीयवस्त्र, आकाश के अभिमानी देवता ने छत्र, ब्रह्मा ने कमण्डल, सप्तर्षियों ने कुश और सरस्वती ने रुद्राक्ष की माला समर्पित की। कुबेर ने भिक्षापात्र और साक्षात् जगन्माता अन्नपूर्णा ने भिक्षा दी। इस प्रकार ब्रह्मचर्य दीक्षा पूर्ण हुई। उसी समय भगवान ने सुना कि सब प्रकार की सामग्रियों से सम्पन्न यशस्वी बलि भृगुवंशी ब्राह्मणों के आदेशानुसार बहुत से अश्वमेघ यज्ञ कर रहे हैं, तब उन्होंने वहाँ के लिये यात्रा की।

यात्रा के प्रसङ्ग में एक बड़ी मधुर कथा आती है—श्रीवामन भगवान जब बलि के यहाँ जा रहे थे तो मार्ग में एक गहरी नदी पड़ी और आप ठहरे 'बावन अंगुल गात।' उस पर भी हाथ में छतरी, लोटा, सोटा, लंगोटी। मुञ्जी, मेखला, कौपीन-कमण्डल। सम्हाल नहीं पाते थे एक सँभालते तो दूसरा गिरने लगता। भगवान की बड़ी अद्‌भुत लीला है। नहीं तो भला जिनके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनके लिए कौपीन- कमण्डल का क्या भार। नदी पार करना है। एक दो कदम भीतर जाते फिर बाहर निकल आते। देर तक यह भीतर बाहर जाने-आने की लीला हुई। उस पार भजन में प्रवृत्त एक ब्राह्मण का ध्यान बरवस इधर आकृष्ट हुआ। तो वे वामन ब्रह्मचारीजी के पास आकर पूछे तो इन्होंने बलि की यज्ञशाला में जाकर दान-दक्षिणा लेने की बात बताई। ब्राह्मण ने देखा ब्रह्मचारी है बड़ा तेजस्वी बलिजी हैं बड़े उदार, दक्षिणा मोटी मिलेगी। अतः ब्राह्मण ने आधी दक्षिणा पर पार करने का ठेका किया। वामनजी ने स्वीकृति दे दी। ब्राह्मण ने वामन भगवान को कन्धे पर चढ़ा लिया। प्रभु का मृदुल संस्पर्श होते ही ब्राह्मण को अभूतपूर्व सुख मिला। दर्शन से मन मोहित था ही, स्पर्श ने और भी अधिक मोहिनी डाल दी।

भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य, सौकुमार्य, संभाषण संस्पर्श आदि के द्वारा अपहृत चित्त ब्राह्मण की दृष्टि जब भगवान के श्रीचरण-कमल-तल पर गयी तो देखा—**रेख कुलिश ध्वज अंकुश सोहैं।** विद्वान् ब्राह्मण को समझते देर नहीं लगी। तुरन्त जान गये कि यह साधारण भिक्षुक ब्रह्मचारी नहीं,

ये तो स्वयं भगवान हैं। फिर क्या था। मन झूम उठा, परम-परमानन्द के हिंडोले में। जब बीच धारा में पहुँचे तो बोले—मैंने आपको पहचान लिया, आप तो भगवान हैं। अब आपको मैं तभी छोड़ूँगा जब आप मुझे भवसागर से पार करने का वचन दे देंगे। प्रभु ने बात बनाई, पण्डितजी! आप यह क्या कह रहे हैं। मैं तो पिता श्रीकश्यपजी, माता श्रीअदितिजी का पुत्र हूँ। भिक्षा के लिए जा रहा हूँ। परन्तु ब्राह्मण ने एक न मानी। वह तो जान चुका था, पहचान चुका था। अत: विवश होकर प्रभु ने उन्हें निज-स्वरूप का दर्शन कराकर जीवन्मुक्त कर दिया। फिर जब नदी पार हुए तो बोले—हमारे आपके बीच जो तय हुआ है सो, उसके लिए आप भी हमारे साथ-साथ चलिये। ब्राह्मण ने कहा—प्रभो! वह तो अनजाने की बात थी। **'अब कछु नाथ न चाहिय मोरे।'** भगवान हँसते हुए चल दिये।

राजा बलि नर्मदा नदी के उतर तट पर भृगुकच्छ नामक क्षेत्र में भृगुवंशियों के आदेशानुसार एक श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। ठीक उसी समय हाथ में छत्र, दण्ड और जल से भरा कमण्डल लिये वामन भगवान ने अवश्वमेध यज्ञ मण्डप में प्रवेश किया। वे कमर में मूँज की मेखला और गले में यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। बगल में मृगचर्म और सिर पर थी जटा। राजा बलि ने स्वागत वाणी से उनका अभिनन्दन किया और चरणों को पखारकर चरणतीर्थ को मस्तक पर रखा। फिर बटुरूपधारी भगवान से बोले—ब्राह्मण कुमार! ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। आप जो कुछ भी चाहते हैं, अवश्य ही वह सब आप मुझसे माँग लीजिये। भगवान ने प्रसन्न होकर बलि का अभिनन्दन किया और कहा—राजन्! आपने जो कुछ कहा, वह धर्ममय होने के साथ-साथ आपकी कुल परम्परा के अनुरूप है। यह कहकर फिर बलि के पूर्वजों का यशोगान किया। बलि के पिता विरोचन की उदारता, पितामह प्रह्लाद की भक्ति निष्ठा, प्रपितामह हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष के अमित पराक्रम की प्रशंसा किये और बोले—मैं केवल अपने डग से तीन डग पृथ्वी चाहता हूँ। बलिजी हँस गये—**'यथा दरिद्र विबुधतरु पाई। बहु सम्पति मांगत सकुचाई।'** वही हाल आपका है। भगवान ने कहा— नहीं, कम माँगने में दरिद्रता हेतु नहीं है। सन्तोष हेतु है। यथा—

गो धन गज धन बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।।

बलि ने कहा—अच्छा, तीन पग लेना है तो मेरे दैत्यों के पग से लीजिये। देखिये एक-एक योजन के इनके पाँव हैं। भगवान भी पूरे हठी हैं, बोले—नहीं मुझे तो अपने ही पाँव से नाप लेने हैं। क्योंकि धन का उतना ही संग्रह करना चाहिये जितने की आवश्यकता हो। जो ब्राह्मण स्वयं प्राप्त वस्तु से ही सन्तोष कर लेता है उसके तेज की वृद्धि होती है। नहीं तो पतन हो जाता है। शुक्राचार्यजी के बहुत समझाने पर भी कि ये बटुरूपधारी तुम्हारे शत्रु भगवान विष्णु हैं, से सब छीनने के लिये आये हैं। अपनी जीविका छिनती देख असत्य बोलकर उनकी रक्षा करना निन्दनीय नहीं है। राजा ने असत्य बोलना, देने को कहकर फिर नकार जाना स्वीकार न किया। तब शुक्राचार्यजी ने राजा को ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का शाप तक दे दिया। तो भी महात्मा बलि अपने वचन से नहीं डिगे। नहीं डिगने के तीन हेतु— १. प्रतिज्ञा कर चुके हैं, सोचे कि—**'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'** २. जब ये मेरा सब लेने के लिए आये हैं तो मैं नहीं भी दूँगा तो मुझे थप्पड़ मारकर ले लेंगे, जैसे मेरे पूर्वजों से ले लिया करते थे। तो फिर मैं राजी-खुशी से दान ही

क्यों न कर दूँ। ३. गुरुजी ने ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का शाप दे दिया है तो मुझे किसी न किसी प्रकार से ऐश्वर्य रहित होना ही है तो मैं दान ही क्यों न कर दूँ। अतः बलि जी अपने निश्चय से हटे नहीं और हाथ में जल लेकर तीन पग पृथ्वी का संकल्प कर दिया।

संकल्प होते ही वामन रूप बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि भगवान की इन्द्रियों में और शरीर में सभी चराचर प्राणियों का दर्शन होने लगा। सर्वात्मा भगवान में यह सारा ब्रह्माण्ड देखकर सब दैत्य भयभीत हो गये। उन्होंने एक डग से बलि की सारी पृथ्वी नाप ली। शरीर से नभ और भुजाओं से सभी दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पग से स्वर्ग नाप लिया। तीसरा पग रखने के लिये बलि की कोई भी वस्तु न बची। भगवान का दूसरा पग ही ऊपर को जाता हुआ महर्लोक, जन-लोक और तप-लोक से भी ऊपर सत्य-लोक में पहुँच गया। श्रीब्रह्माजी ने विश्वरूप भगवान के ऊपर उठे हुए चरण का अर्घ्यपाद्य से पूजन और प्रक्षालन किया। ब्रह्मा के कमण्डल का वही जल विश्वरूप भगवान के पद-प्रक्षालन से पवित्र होने के कारण गङ्गाजी के रूप में परिणत हो गया।

बलि के सेनापतियों ने, यह जानकर कि यह भिक्षुक ब्रह्मचारी तो हम लोगों का बैरी है जो अपने को छिपाकर देवताओं का काम करना चाहता है और राजा तो यज्ञ में दीक्षित होने से कुछ कहेंगे नहीं, वामन भगवान पर अस्त्र चलाया, पर भगवत्पार्षदों ने उन्हें खदेड़ा। बलि ने दैत्यों को समझा-बुझाकर लड़ाई करने से रोक दिया। भगवान का इशारा पाकर गरुड़ ने वरुणपाश से बलि को बाँध दिया। तत्पश्चात् भगवान बलि से बोले— दो पग में तो मैंने तुम्हारी सब पृथ्वी और सब लोकों को नाप लिया, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी न होने से अब तुम नरक भोगोगे। इत्यादि रीति से वामनजी ने बहुत तिरस्कार किया परन्तु राजा बलि धैर्य से विचलित न हुए। उन्होंने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया, प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। धन बड़ा है कि धनी? भगवान ने कहा—चूँकि धन धनी के अधीन रहता है इसलिये धनी धन से बड़ा होता है। बलिजी ने कहा—प्रभो! आपने मेरा धन तो दो पग में नाप लिया है। रही एक पग की बात, सो वह पग आप मेरे सिर पर दीजिये। यद्यपि हूँ तो मैं दो पग से भी अधिक, परन्तु एक ही पग में मैं आपके चरणों में आत्म-समर्पण करता हूँ। भगवान बहुत प्रसन्न होकर ब्रह्माजी से बोले—मैं जिस पर बहुत प्रसन्न होता हूँ उसका धन छीन लिया करता हूँ।....मैंने इसका धन छीन लिया, राजपद से अलग कर दिया, तरह-तरह के आक्षेप किये, शत्रुओं ने इसे बाँध लिया, भाई-बन्धु छोड़कर चले गये, इतनी यातनाएँ इसे भोगनी पड़ीं—यहाँ तक कि इसके गुरुदेव ने भी इसे शाप दे दिया, परन्तु इस दृढ़व्रती ने प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छल भरी बातें कीं, मन में छल रखकर धर्मोपदेश किया, परन्तु इस सत्यवादी ने अपना धर्म न छोड़ा!. ....। फिर राजा बलि को सुतललोक में रहने की आज्ञा दी और अपूर्व वर दिये। राजा बलि के आप द्वारपाल बन गये। इस तरह बलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को देकर अदिति की कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर सारे जगत का शासन करने लगे। कश्यप और अदिति की प्रसन्नता के लिए तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अभ्युदय के लिए समस्त लोकों के स्वामी के पद पर वामनजी का अभिषेक कर दिया गया। (भागवत)

छलयसिविक्रमणे बलिमद्भुत वामन। पद नख नीरजनित जन पावन।।
केशव धृत वामन रूप जय जगदीश हरे। (गी० गो०)

श्रीपरशुरामावतार—(वाल्मीकि रामायण के अनुसार) साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र राजा कुश के चार पुत्रों में से कुश-नाभ दूसरे पुत्र थे। राजा कुश-नाभ ने पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप गाधि नामक परम धर्मात्मा पुत्र हुआ। राजा गाधि के एक कन्या सत्यवती नाम की थी जो महर्षि ऋचीक को ब्याही गयी थी। एकबार सत्यवती और सत्यवती की माता ने ऋचीकजी के पास पुत्र कामना से जाकर उसके लिए प्रार्थना की। ऋचीक ने दो चरु सत्यवती को दिये और बता दिया कि यह तुम्हारे लिए है और यह तुम्हारी माँ के लिए है इनका तुम यथोचित उपयोग करना। यह कहकर वे स्नान को चले गये। उपयोग करने के समय माता ने कहा—बेटी! सभी लोग अपने ही लिए सबसे अधिक गुणवान पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नी के भाई के गुणों में किसी की विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले क्योंकि मेरे पुत्र को तो सम्पूर्ण भूमण्डल का पालन करना होगा और ब्राह्मण कुमारों को तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदि से लेना-देना ही क्या है? ऐसा कहने पर सत्यवती ने अपना चरु माता को दे दिया। जब ऋषि को यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जाने से अब तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवती के बहुत प्रार्थना करने पर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होंने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किन्तु पौत्र उस स्वभाव का होगा। यही कारण है कि राजा गाधि की स्त्री ने जो चरु खाया उसके प्रभाव से विश्वामित्रजी हुए जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए और श्रीऋचीकजी के पुत्र श्रीयमदग्निजी तो परम शान्त, दान्त ब्रह्मर्षि हुए परन्तु यमदग्नि पुत्र परशुराम बड़े ही घोर योद्धा हुए।

श्रीपरशुराम जी की मातृ-पितृ भक्ति—एकबार यमदग्नि ऋषि ने अपनी स्त्री रेणुकाजी को नदी से जल लाने को भेजा। वहाँ गन्धर्व-गन्धर्विणी विहार कर रहे थे। ये जल लेने गईं तो उनक विहार देखने लगीं। इसमें उन्हें लौटने में देर हुई। ऋषि ने देरी का कारण जान लिया और यह समझकर कि स्त्री को पर-पुरुष की रति देखना महापाप है, अपने पुत्रों को बुलाकर (एक-एक करके) आज्ञा कि माता को मार डालो। परन्तु मातृ-स्नेहवश सातों पुत्रों ने इस काम को करना अंगीकार न किया। त आठवें पुत्र परशुराम को आज्ञा दी कि इन सब भाईयों सहित माता का वध करो। इन्होंने तुरन्त सबका सिर काट डाला। इस पर पिता ने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगने को कहा। तब इन्होंने कहा कि मेरे सब भाई माता जी उठें और इन्हें यह भी न मालूम हो कि मैंने इन्हें मारा था। हमको पाप का स्पर्श न हो। युद्ध में कोई मेरी बराबरी न कर सके, मैं दीर्घकाल तक जीवित रहूँ। महातपस्वी यमदग्नि ने इन्हें वे सब वर दिये।

माहिष्मती नगर का राजा सहस्रार्जुन भगवान दत्तात्रेयजी से, युद्ध में कोई सामना न कर सके, युद्ध के समय हजार भुजायें प्राप्त हो जायँ सर्वत्र अव्याहत गति हो आदि वरदान प्राप्तकर उन्मत्त होकर वह रथ और वर के प्रभाव से देवता, यक्ष और ऋषि सभी को कुचले डालता था। उसके द्वारा सभी प्राणी पीड़ित हो रहे थे। एकबार उसने केवल धनुष और बाण की सहायता से, अपने बल के घमण्ड में आकर समुद्र को आच्छादित कर दिया। तब समुद्र ने प्रगट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ-जोड़कर कहा—बीरवर! बोलो, मैं तुम्हारी किस आज्ञा पालन करूँ। उसने कहा—यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्ध में मेरा मुकाबला कर सके तो उसका पता बताओ। फिर मैं तुझे छोड़कर चला जाऊँगा। तब समुद्र ने कहा—महर्षि यमदग्नि के पुत्र परशुराम युद्ध में तुम्हारा अच्छा सत्कार कर सकते हैं। तुम

वहीं जाओ। यह सुनकर राजा ने वहीं जाने का निश्चय किया। अपनी अक्षौहिणी सेना सहित राजा सहस्रार्जुन श्रीयमदग्नि ऋषि के आश्रम पर पहुँचे।

ऋषि ने इनका यथोचित आतिथ्य सत्कार किया, जिससे वह चकित हो गया कि वनवासी के पास ऐसा ऐश्वर्य कहाँ से आया? यह मालूम होने पर कि यह सब कामधेनु की महिमा है, उसने मुनि से गऊ माँगी, न देने पर जबर्दस्ती उसे छीन लिया और मुनि के प्राण भी ले लिये। उस समय परशुरामजी घर पर नहीं थे। घर पर आने पर उन्होंने माता को विलाप करते हुए पाया। कारण जानने पर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने का सङ्कल्प किया। कहते हैं कि विलाप में माता ने २१ बार छाती पीटी थी अतः इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया। श्रीपरशुरामजी ने माता को ढाढ़स दे तुरन्त सहस्रबाहु से युद्ध किया और उसकी भुजाओं को छिन्न-भिन्न कर उसका सिर काट डाला। इतने पर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। सहस्रार्जुन को मारने के बाद उसके वंश (हैहयवंश) का सफाया किया। पुनः पृथ्वी को क्षत्रियों को सूनी कर दी। उसका राज्य ब्राह्मणों को सौंप दिये। परन्तु कुछ काल बाद बचे-बचाये क्षत्रिय जब पुनः वृद्धि को प्राप्त हुए तो वे ब्राह्मणों को निमन्त्रण खिला-खिलाकर उन्हें फुसला-फुसलाकर पुनः राज्य ले लिये।

परशुरामजी ने पुनः संहार किया। इस प्रकार इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कर राज्य ब्राह्मणों को दिये और क्षत्रिय सहज ही उनसे राज्य ले लेते। तब परशुरामजी ने नाराज होकर ब्राह्मणों को शाप दिया कि ''तुम लोग राज्य पाकर भिक्षुक जीवन ही पसन्द करते हो तो सदा भिक्षुक ही बने रहोगे।'' इक्कीसवीं बार क्षत्रियों का नाश करके परशुरामजी ने अश्वमेध यज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यपजी को दान में दे दी। पृथ्वी क्षत्रियों से सर्वथा रहित न हो जाए इस अभिप्राय से कश्यपजी ने उनसे कहा अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम दक्षिण समुद्र की ओर चले जाओ। चूँकि परशुरामजी के पूर्वजों ने भी यह संहार कार्य अनुचित कहकर परशुरामजी को इससे निवृत्त होने का अनुरोध किया था और कश्यपजी ने भी पृथ्वी छोड़ देने को कहा अतः परशुरामजी दक्षिण समुद्र की ओर ही चले गये। समुद्र ने अपने अन्तर्गत स्थित महेन्द्राचल पर इनको स्थान दिया। परशुराम जी भगवान के आवेशावतार हैं। जब श्री रामावतार हो गया। तब इनके अवतार कार्य की समाप्ति हो गई। मिथिला पुरी में श्रीरामजी द्वारा शम्भु-धनु-भङ्ग सुनकर आकाश मार्ग से आये और आकर प्रथम तो धनुष तोड़ने वाले को '**बहुत भांति तिन्ह आंख देखाये।**' परन्तु अन्त में श्रीराम-तत्त्व को जानकर अपना वैष्णव धनुष भी श्रीराम को सौंपकर पुनः-पुनः प्रणाम करके तपस्या करने के लिए महेन्द्राचल पर चले गये। यथा—

राम रमापति कर धनु लेहु। खैंचहु मिटै मोर सन्देहू।।
देत चाप आपुहिं चलि गयऊ। परशुराम मन विसमय भयऊ।।

जाना राम प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले वचन, हृदय न प्रेम अमात।।

जय रघुवंश बनज वन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू।।
जय सुर विप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रमहारी।।
कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।।

श्रीपरशुरामजी का अवतार वैशाख शुक्ल ३ मध्याह्नकाल में यमुनियाँ (बिहार) ग्राम में हुआ था। महाभारत के अनुसार श्रीब्रह्मा, भृगु, च्यवन, और्व, ऋचीक, जमदग्नि के पुत्र श्रीपरशुरामजी थे।

क्षत्रिय रुधिरमये जगदपगत पापम्।
स्नपयसि पयसि शमित भवतापम्।।
केशव धृत भृगुपति रूप जय जगदीश हरे।। (गी० गो०)

श्रीरामावतार—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़ँ असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु।।

तथा—'**तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे।।**'

अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार अकारण करुण, करुणावरुणालय भक्तवत्सल भगवान श्रीरामचन्द्रजी चार रूप धारण करके श्रीअयोध्यापति चक्रवर्ती महाराजाधिराज, श्रीदशरथजी के पुत्र रूप में चैत्र शुक्ल ९ रामनवमी को अवतीर्ण हुए। महारानी श्रीकौशल्याजी की कुक्षि से श्रीराम, श्रीकैकेयीजी की कुक्षि से श्रीभरत, और श्रीसुमित्राजी की कुक्षि से श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्न प्रगट होकर—

बाल चरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनन्द दासन्ह कहँ दीन्हा।।
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा।।

यथा— **कबहुँ ससि माँगत आरि करैं, कबहुँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।**
कबहुँ कर ताल बजाइ कै, नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।।
कबहुँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई, जेहिं लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं।। (कवितावली)

यथा समय जात कर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीतादि संस्कार सानन्द सम्पन्न हुये। पश्चात्—**गुरु गृह पढ़न गये रघुराई। अलप काल विद्या सब आई।।** इस प्रकार विविध विनोद करते हुए श्रीराम किशोरावस्था में प्रवेश करते हैं और '**जेहिं बिधि सुखी होंहिं पुर लोगा। करहिं कृपा निधि सोइ संजोगा।....।। आयसु मांगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषहिं मन राजा।।**'' इसी हर्षोल्लास के बीच श्रीविश्वामित्रजी आते हैं और श्रीदशरथजी महाराज से अपने यज्ञ रक्षणार्थ श्रीरामजी एवं श्रीलक्ष्मणजी को माँग ले जाते हैं। यज्ञ में विघ्न डालने वाले ताड़ुका, मारीच, सुबाहु आदि असंख्यों राक्षसों का सहज ही श्रीराम और लक्ष्मण ने वध कर डाला। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। फिर श्रीविश्वामित्रजी के साथ जनकपुर में श्रीसीताजी का स्वयंवर देखने के निमित्त जाकर, विशाल शम्भु-धनु, जिसे त्रैलोक्य के भटमानी वीर डिगा भी न सके थे, उसे श्रीराम ने मध्य से ऐसे तोड़ डाला जैसे मतवाला हाथी कमल नाल को तोड़ डालता है परिणाम स्वरूप— '**महि पाताल नाक जस व्यापा। राम बरी सिय भंजेउ**

चापा। धनुर्भङ्गोपरान्त श्रीपरशुरामजी का आगमन हुआ, जो प्रारम्भ में तो निश्चय ही रङ्ग में भङ्ग-सा प्रतीत हुआ परन्तु परिणाम महामङ्गलकारी रहा। श्रीराम के अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य को जानकर श्रीपरशुरामजी—**'कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'** पश्चात् यह शुभ समाचार श्रीअयोध्या भेजा गया और श्रीदशरथजी आये तो बारात लेकर श्रीराम के ब्याह के लिए, परन्तु ब्याह हो गया चारों राजकुमारों का। कुछ काल मिथिलापुर वासियों को आनन्द देकर— **'भाइन्ह सहित बिआहि घर आये रघुकुल चन्द।'** श्रीअयोध्या के आनन्द का ठिकाना नहीं है। यथा—

दोहा— **मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस यहि भाँति।**
उमगी अवध अनन्द भरि, अधिक अधिक अधिकाति।।

विवाह के बारह वर्ष बाद तेरहवें वर्ष के प्रवेश में, श्रीदशरथजी महाराज ने उत्तम गुणों से युक्त और सत्य पराक्रम वाले सद्‌गुणशाली अपने प्रियतम, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम को, जो प्रजा के हित में संलग्न रहने वाले थे, प्रजावर्ग का हित करने की इच्छा से प्रेमवश युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहा। तदनन्तर श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ देखकर रानी कैकेयी ने जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था। देवमाया से मोहित होकर, मंथरा से उकसाई जाकर, राजा से यह वर माँगा कि श्रीराम का निर्वासन (वनवास) और भरत का राज्याभिषेक हो। कैकेयी का प्रिय करने के लिये, पिता की आज्ञा के अनुसार उनकी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए वीर श्रीराम वन को चले। विदेहवंश वैजयन्ती, मिथिलेश राजनन्दिनी श्रीराम प्रिया श्रीजानकी एवं श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी प्रेमवश प्रभु के साथ चल दिये। उस समय पिता श्रीदशरथजी ने अपना सारथि भेजकर एवं पुरवासियों ने स्वयं साथ जाकर दूर तक उनका अनुसरण किया। फिर श्रृङ्गबेरपुर में गङ्गा तट पर अपने प्रिय सखा निषादराज गुह के पास पहुँच कर धर्मात्मा श्रीराम ने सारथि (सुमन्तजी) को अयोध्या के लिए विदा कर दिया। निषादराज गुह, लक्ष्मण और सीता के साथ श्रीराम मार्ग में बहुत जल वाली अनेकों नदियों को पार करके, एक वन से दूसरे वन को गये। महर्षि भरद्वाजजी का दर्शन कर गुह को वापिस कर महर्षि वाल्मीकिजी का दर्शन किये और उनकी आज्ञा से, चित्रकूट पहुँचकर वहाँ वे तीनों देवता और गन्धर्वों के समान वन में नाना प्रकार की लीलायें करते हुए एक रमणीय पर्णकुटी बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे।

पुत्र शोक में श्रीदशरथजी के स्वर्ग गमन के पश्चात् श्रीवशिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणों द्वारा राज्य संचालन के लिए नियुक्त किये जाने पर भी महाबलशाली वीर भरत ने राज्य की कामना न करके, पूज्य श्रीराम को प्रसन्न करने के लिये वन को ही प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम से यों प्रार्थना किये— धर्मज्ञ! आप ही राजा हो। परन्तु महान यशस्वी श्रीराम ने भी पिता के आदेश का पालन करते हुए राज्य की अभिलाषा न की और उन भरताग्रज ने राज्य के लिए न्यास (चिह्न) रूप में अपनी खड़ाऊँ भरत को देकर उन्हें बार-बार आग्रह करके लौटा दिया। श्रीभरत ने श्रीराम के चरणों का स्पर्श किया और श्रीराम के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए वे नन्दिग्राम में रहकर राज्य कार्य सँभालने लगे। श्रीभरत के लौट जाने पर सत्य प्रतिज्ञ श्रीराम ने, वहाँ पर नागरिकों का पुनः आना-जाना देखकर उनसे बचने के लिए दण्डकारण्य में प्रवेश किया। उस महान वन में पहुँचने पर महावीर श्रीराम ने विराध नामक राक्षस को मारकर, श्रीशरभङ्ग सुतीक्ष्ण,, अगस्त्य आदि मुनियों का दर्शन किया। श्रीराम ने दण्डकारण्यवासी

अग्नि के समान तेजस्वी उन ऋषियों को राक्षसों के मारने का वचन दिया और संग्राम में उनके वध की प्रतिज्ञा की।

इसके पश्चात् वहाँ ही रहते हुए श्रीराम ने इच्छानुसार रूप बनाने वाली जनस्थान निवासिनी सूर्पणखा नाम की राक्षसी को लक्ष्मण के द्वारा उसके नाक-कान कटाकर कुरूप कर दिया। पश्चात् सूर्पणखा के द्वारा प्रेरित होकर चढ़ाई करने वाले खर, दूषण, त्रिशिरादि चौदह हजार राक्षसों को श्रीराम ने युद्ध में मार डाला। तदनन्तर राक्षसेन्द्र रावण ने प्रतिशोध की भावना से मारीच की सहायता से श्रीजानकीजी का अपहरण कर लिया और श्रीजानकीजी को लेकर जाते समय मार्ग में विघ्न डालने के कारण श्रीजटायूजी को आहत कर दिया। पितृवत् पूज्य जटायू के द्वारा ही श्रीराम को श्रीजानकीजी का पता मिला तब वे अपनी गोद में प्राण त्यागे हुए श्रीजटायूजी का अग्नि-संस्कार कर वन में श्रीसीताजी को ढूँढ़ते हुए उन्होंने कबन्ध नामक राक्षस को देखा। तो उसे भी तत्काल मारकर शुभगति प्रदान किया। कबन्ध के द्वारा संकेत पाकर श्रीराम परम भागवती शबरीजी के यहाँ गये। उसने इनका पूजन किया। श्रीराम ने शबरी का मातृवत् सम्मान किया। उत्तम गति प्रदान की। फिर शबरी के संकेतानुसार श्रीहनुमानजी से मिलकर सुग्रीवजी से मित्रता किये और सुग्रीव के कथनानुसार संग्राम में बाली को मारकर उसके राज्य पर श्रीराम ने सुग्रीव को ही बिठा दिया।

तब उन वानर राज सुग्रीव ने भी सभी वानरों को बुलाकर श्रीजानकीजी का पता लगाने के लिए भेजा। सम्पाति नामक गृध्र के पता बताने पर महा बलवान श्रीहनुमानजी सौ योजन विस्तार वाले क्षीरसमुद्र को कूदकर लांघ गये। वहाँ रावण पालित लङ्कापुरी में पहुँचकर उन्होंने अशोक-वाटिका में श्रीसीताजी को चिन्ता मग्न देखा। तब उन विदेह-नन्दिनी को पहचान (मुद्रिका) देकर श्रीराम का सन्देश सुनाया और उन्हें सान्त्वना देकर उन्होंने वाटिका का विध्वंस कर डाला और अक्षय कुमारादि असंख्य राक्षसों का संहार कर डाला, इसके बाद में वे जान-बूझकर पकड़ में आ गये। श्रीब्रह्माजी के वरदान से अपने को ब्रह्मपाश से छूटा हुआ जानकर भी वीर हनुमानजी ने अपने को बाँधने वाले उन राक्षसों का अपराध स्वेच्छानुसार सह लिया। तत्पश्चात् मिथिलेश कुमारी सीता के स्थान के अतिरिक्त समस्त लङ्का को जलाकर वे महाकपि श्रीहनुमानजी, श्रीराम को प्रिय सन्देश सुनाने के लिये लङ्का से लौट आये और श्रीरामजी की प्रदक्षिणाकर श्रीजानकीजी का पता बताया। इसके अनन्तर असंख्य वानर सेना को साथ लेकर श्रीराम ने महासागर के तट पर सूर्य के समान तेजस्वी बाणों से समुद्र को क्षुब्ध किया। तब नदीपति समुद्र ने अपने को प्रकट कर दिया, फिर समुद्र के ही कहने से श्रीराम ने नल, नील से पुल निर्माण कराया। उसी पुल से लङ्कापुरी में जाकर रावण को सदल-बल मारकर श्रीजानकीजी को प्राप्त किया।

पश्चात् चूँकि श्रीराम को बड़ी लज्जा हुई अतः भरी सभा में श्रीसीता के प्रति मर्मभेदी वचन कहने लगे। उनकी इस बात को न सह सकने के कारण साध्वी सीता ने अपनी अग्नि परीक्षा दी। इसके बाद अग्नि के कहने से श्रीराम ने श्रीसीता को निष्कलङ्क माना। महात्मा श्रीरामचन्द्र के इस कर्म से देवता और ऋषियों सहित चराचर त्रिभुवन सन्तुष्ट हो गया। फिर सभी देवताओं से पूजित होकर श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए और राक्षसराज विभीषणजी को लङ्का के राज्य पर अभिषिक्त करके तथा स्वयं देवताओं से वर पाकर और मरे हुए वानरों को जीवन दिलाकर अपने सभी साथियों के साथ पुष्पक विमान पर चढ़कर

अयोध्या के लिए प्रस्थित हुए। भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचकर सबको आराम देने वाले सत्य-पराक्रमी श्रीराम ने भरत के पास हनुमानजी को भेजा, पुन: श्रीहनुमानजी से श्रीअवध का समाचार पाकर भरद्वाज आश्रम से अयोध्या के लिये प्रस्थित हुये। श्रीअयोध्या पहुँचकर श्रीअवधवासियों के उमड़ते हुए अनुराग को देखकर "**अमित रूप प्रगटे तेहि काला। यथा जोग मिले सबहिं कृपाला।।**" पश्चात् श्रीवशिष्ठजी के आदेशानुसार शुभ घड़ी में श्रीरामभद्रजू राज्य सिंहासनासीन हुए। श्रीरामजी के सिंहासन पर बैठते ही त्रैलोक्य परम आनन्दित हो गया। यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गये सब सोका।" श्रीरामावतार त्रेतायुग में श्रीअयोध्या में चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ था।

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयोदिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपाल वसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये।। (भा० ९-११-२१)

अर्थ—जिन भगवान श्रीराम का निर्मल सुयश सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला है। उसकी उज्वलता से दिग्गजों के श्यामल शरीर भी चमक रहे हैं। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि आज भी राजाओं की सभाओं में उसका गान करते हैं। स्वर्ग के देवता और पृथ्वी के राजा लोगों के कमनीय किरीटों से जिनके चरण-कमल सेवित हैं, उन्हीं रघुवंशभूषण श्रीरामचन्द्रजी की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

"सियावर रामचन्द्र की जय"

श्रीकृष्णावतार—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।" (गीता ४/८) साधु-पुरुषों के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म संस्थापन के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ। अपने इस वचन को पूर्ण चरितार्थ करते हुये अखिल रसामृतसिन्धु, षडैश्वर्यवान्, सर्वलोक महेश्वर स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भाद्रपद की कृष्णाष्टमी की अर्धरात्रि को कंस कारागार में परम अद्भुत चतुर्भुज नारायण रूप से प्रकट हुये। वात्सल्य भाव-भावित हृदया माता देवकी की प्रार्थना पर भक्त-वत्सल भगवान ने प्राकृत शिशु का-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान की आज्ञानुसार शिशु रूप भगवान को नन्दालय में श्रीयशोदा के पास सुलाकर बदले में यशोदात्मजा जगदम्बा महामाया को ले आये। गोकुल में नन्दबाबा के घर ही जात कर्मादि महोत्सव मनाये गये। भगवान श्रीकृष्ण की जन्म से ही सभी लीलायें अद्भुत और अलौकिक हैं। पालने में झूल रहे थे उसी समय लोकबालघ्नी रुधिराशना पिशाचिनी पूतना के प्राणों को दूध के साथ पी लिया। शकट भंग किया। तृणावर्त, बकासुर एवं वत्सासुर को पीस डाला। सपरिवार धेनुकासुर और प्रलम्बासुर को मार डाला। दावानल से घिरे गोपों की रक्षा की। कालिय नाग का दमन किया। श्रीनन्दबाबा को अजगर से छुड़ाया। इसके बाद गोपियों ने भगवान को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये व्रत किया और भगवान श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया। भगवान ने यज्ञ-पत्नियों पर कृपा की। गोवर्द्धन-धारण की लीला करने पर इन्द्र और कामधेनु ने आकर भगवान का यज्ञाभिषेक किया। शरद् ऋतु की रात्रियों में ब्रज-सुन्दरियों के साथ रास क्रीड़ा की। दुष्ट शंखचूड़, अरिष्ट और केशी का वध किया।

तदनन्तर अक्रूरजी मथुरा से वृन्दावन आये और उनके साथ भगवान श्रीकृष्ण तथा बलरामजी ने मथुरा के लिये प्रस्थान किया। श्रीराम और श्याम ने मथुरा में जाकर वहाँ की सजावट देखी और कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक चाणूर एवं कंस आदि का संहार किया। सान्दीपनि गुरु के यहाँ विद्याध्ययन करके उनके

मृत-पुत्रों को लौटा लाये। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण मथुरा में निवास कर रहे थे उस समय उन्होंने उद्धव और बलरामजी के साथ यदुवंशियों का सब प्रकार से प्रिय और हित किया। जरासंध कई बार बड़ी-बड़ी सेनायें लेकर आया और भगवान ने उनका उद्धार करके पृथ्वी का भार हल्का किया। कालयवन को मुचुकुन्द से भस्म करा दिया। द्वारकापुरी बसाकर रातों-रात सबको वहाँ पहुँचा दिया। स्वर्ग से कल्पवृक्ष एवं सुधर्मा सभा ले आये। भगवान ने दल के दल शत्रुओं को युद्ध में पराजित करके श्रीरुक्मिणी का हरण किया। बाणासुर के साथ युद्ध के प्रसङ्ग में महादेवजी पर ऐसा बाण छोड़ा कि वे जंभाई लेने लगे और इधर बाणासुर की भुजायें काट डालीं। प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भौमासुर को मारकर सोलह हजार कन्यायें ग्रहण कीं। शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुष्ट दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन आदि दैत्यों के बल पौरुष को चूर्ण कर उनका वध किये। महाभारत युद्ध में पाण्डवों को निमित्त बनाकर पृथ्वी का बहुत बड़ा भार उतार दिया और अन्त में ब्राह्मणों के शाप के बहाने यदुवंश का संहार किया। श्रीउद्धवजी की जिज्ञासा पर सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्म निर्णय का निरूपण किया। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की अनन्त अद्‌भुत अलौकिक लीलायें हैं। जो जगत के प्राणियों को पवित्र करने वाली हैं।। (भागवत)

श्रीकृष्ण-अवतार द्वापर में श्रीवसुदेवजी की पत्नी देवकी के गर्भ से भाद्रपद कृष्ण-अष्टमी को मथुरा में कंस के कारागार में हुआ था।।

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोल मुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।। (गी०गो०)

अर्थ—मीन रूप से वेदों का उद्धार करने वाले, कच्छप रूप से ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, वराह रूप से पृथ्वी को धारण करने वाले, नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु दैत्य के नाशक, वामन रूप से बलि को छलने वाले, परशुराम रूप से क्षत्रियों के नाशकर्ता, रामरूप से रावण को जीतने वाले, बलदेव रूप से हल को धारण करने वाले बुद्धरूप से अत्यन्त दयाशील और कल्कि रूप से म्लेच्छों के नाशक, इस प्रकार दशावतारधारी हे श्रीकृष्ण! आपको नमस्कार है।।

श्रीबुद्ध अवतार—एकबार दैत्यों ने इन्द्र से पूछा कि किस काम को करने से हमारा राज्य स्थिर रह सकता है। इन्द्र ने शुद्धभाव से उत्तर दिया कि तुम लोग यज्ञ और वेद विहित आचार करो। तब दैत्यों ने भी यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ कर दिया। परन्तु स्वभाव से तमोगुणी होने के कारण उनके सभी धर्म-कर्म, यज्ञ-व्रत, दान तमो बहुल होते थे और उनकी देखा-देखी और लोग भी वैसा ही करने लगे थे। अत: सर्वथा अनधिकारी, तमोगुणी, देवद्रोही दैत्यों को मोहित कर विहित यज्ञों से विरत करने के लिये द्वापरयुग के अन्त में भगवान ने गया में राजा शुद्धोदन की पत्नी माया से बुद्ध अवतार लिया। गौतम गोत्र होने से गौतम नाम ही पड़ा। श्रीमद्‌भागवतजी में भी श्रीब्रह्माजी ने नारदजी से कहा है कि देवताओं के शत्रु दैत्यगण जब वेदमार्ग का सहारा लेकर वेदमार्ग में स्थित रहकर मय-दानव के बनाये हुए अदृश्य अलक्षित गति वाले पुरों में रहकर लोगों को नष्ट करेंगे तब भगवान उनकी बुद्धि में मोह और लोभ उत्पन्न करने

वाला बुद्ध-भेष धारणकर उन्हें कितने ही उपधर्मों का उपदेश करेंगे। यथा—

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान्घ्नतां मति विमोहमतिप्रलोभं, वेषं विधाय बहुभाष्यत औपधर्म्यम्।।

(भागवते २/७/३७)

श्रीअक्रूरजी ने भी बुद्धजी को दैत्य-दानव मोहिने विशेषण दिया है। श्रीबुद्धजी का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। ये स्वभाव से बड़े दयावान थे। किसी का भी किंचित मात्र भी दुःख देख लेते तो विकल हो जाते। यही कारण है कि उनके पिता राजा शुद्धोदन की ओर से राज्य में ऐसी व्यवस्था थी कि कोई दुःखमय प्रसङ्ग इनके दृष्टिपथ में न आने पाये। परन्तु यह सब होने पर भी दैवयोग से एकदिन सहसा एक रुग्ण पुरुष को, कुछ ही दिन बाद एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष को, पश्चात् एक मृतक को देखकर इनकी आत्मा सिहर उठी और उसी दिन से ये जगत से उदास हो गये।

इनकी यह उदासीनता माता-पिता को खली और इन्हें जगत् प्रपंच में फँसाने के लिए अत्यन्त रूपवती यशोधरा नाम की कन्या से विवाह कर दिया और समय पर सिद्धार्थ के राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु उदासीनता मिटी नहीं बल्कि बढ़ती ही गई। परिणामस्वरूप अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा, नवजात पुत्र राहुल, स्नेह मूर्ति पिता महाराज शुद्धोदन तथा वैभव सम्पन्न राज्य इन सबको ठुकराकर युवावस्था में ही गौतम घर से निकल पड़े। केवल तर्क-पूर्ण बौद्धिक-ज्ञान उन्हें सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं था। उन्हें तो रोग पर, बुढ़ापे पर और मृत्यु पर विजय पानी थी। उन्हें शाश्वत जीवन अमरत्व अभीष्ट था। प्रख्यात विद्वानों, उद्भट शास्त्रज्ञों के समीप वे गये किन्तु वहाँ उनको सन्तोष नहीं हुआ। आश्रमों से, विद्वानों से निराश होकर वे गया के समीप वन में आये तपस्या करने लगे। जाड़ा, गर्मी और वर्षा में भी बुद्धजी वृक्ष के नीचे अपनी वेदिका पर स्थिर बैठे रहे। उन्होंने सब प्रकार का आहार बन्द कर दिया था। दीर्घकालीन तपस्या के कारण उनके शरीर का मांस और रक्त सूख गया, केवल हड्डियाँ नसें और चर्म ही शेष रहा। गौतम का धैर्य अविचल था। कष्ट क्या है इसे वे अनुभव ही नहीं करते थे। किन्तु उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त नहीं हो रहा था। सिद्धियाँ मँडरातीं, परन्तु एक सच्चे साधक, सच्चे मुमुक्षु के लिए सिद्धियाँ बाधक हैं अतः गौतम ने उन पर दृष्टिपात ही नहीं किया।

एकदिन जहाँ गौतम तपस्या कर रहे थे उस स्थान के समीप के मार्ग से कुछ स्त्रियाँ गाती-बजाती निकलीं। वे जब गौतम की तपोभूमि के पास पहुँचीं। तब एक गीत गा रही थीं। जिसका आशय था "सितार के तारों को ढीला मत छोड़ो नहीं तो वे बेसुरे हो जायेंगे परन्तु उन्हें इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायें।" गौतम के कानों में वह सङ्गीत ध्वनि पड़ी। उनकी प्रज्ञा में सहसा प्रकाश आ गया—'साधना के लिए केवल कठिन तपस्या ही उपयुक्त नहीं है, संयमित भोजन एवं नियमित निद्रादि व्यवहार भी आवश्यक हैं। इस प्रकार सम्यक् बोध प्राप्त कर लेने पर गौतम का नाम 'गौतम बुद्ध' पड़ा। तत्वज्ञान होने के बाद भगवान बुद्ध वाराणसी चले आये और अपना सर्वप्रथम उपदेश 'सारनाथ' में दिये।

उपदेश—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्य गानादि त्याग, सुगन्ध माला त्याग, असमय भोजन त्याग, कोमल शय्या त्याग, कामिनी-कंचन का त्याग, ये दस सूत्र आपने दुःख उन्मूलन एवं निर्वाण प्राप्ति में परमोपयोगी बताये हैं।

धर्म्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।

यह बुद्धजी का शरणागति मन्त्र है।

श्रीगौतम बुद्ध के अन्दर अद्भुत शान्ति, सहनशीलता और जीवों के प्रति दया थी। एकबार भरद्वाज नाम का एक ब्राह्मण भगवान बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु हो गया। उसका एक सम्बन्धी इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर बुद्धजी के समीप पहुँचा और उन्हें अपशब्द कहने लगा। बुद्धदेव तो देव ही ठहरे देवता के समान ही वे शान्त और मौन बने रहे। ब्राह्मण अन्ततः अकेला कहाँ तक गाली देता। वह थक कर चुप हो गया। अब बुद्धजी ने पूछा क्यों भाई! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते हैं? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"आते तो हैं।" बुद्धदेवजी ने पूछा, "तुम उनका सत्कार करते हो।" ब्राह्मण खीझकर बोला "अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नहीं करेगा।" बुद्धजी बोले, "मान लो कि तुम्हारी अर्पित वस्तुएँ अतिथि स्वीकार न करें, तो वे कहाँ जायेंगी।" ब्राह्मण ने फिर झुँझलाकर कहा, "वे जायेंगी कहाँ, अतिथि उन्हें नहीं लेगा तो वे मेरे पास आ जायेंगी।" बुद्ध ने शान्ति से कहा—तुम्हारी दी हुई गालियाँ मैं स्वीकार नहीं करता अब यह गालियाँ कहाँ जायेंगी? "किसके पास रहेंगी?" ब्राह्मण का मस्तक लज्जा से झुक गया। उसने भगवान बुद्ध से क्षमा माँगी।

भगवान बुद्ध का एक पूर्ण नामक शिष्य उनके समीप एकदिन आया और उसने तथागत से धर्मोपदेश प्राप्त करके 'सुनापरान्त' प्रान्त में धर्म प्रचार के लिए जाने की आज्ञा माँगी। तथागत ने कहा—'उस प्रान्त के लोग तो अत्यन्त कठोर तथा बहुत क्रूर हैं। वे तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा? पूर्ण बोले—"भगवन्! मैं समझूँगा कि वे लोग बहुत भले लोग हैं, क्योंकि वे हमें थप्पड़ घूँसे तो नहीं मारते।' बुद्ध बोले—'यदि वे तुम्हें थप्पड़ और घूँसे मारने लगें तो? पूर्ण बोले—'मुझे पत्थर या डण्डों से तो नहीं पीटते, इससे मैं सत्पुरुष मानूँगा।' बुद्ध बोले—'वे पत्थर-डण्डों से भी पीट सकते हैं।' पूर्ण बोले—'वे शस्त्र-प्रहार तो नहीं करते, इससे वे दयालु हैं—ऐसा मानूँगा।' बुद्ध बोले—'यदि वे शस्त्र प्रहार करें?' पूर्ण बोले—'मुझे वे मार नहीं डालते, इससे मुझे उनकी कृपा दीखेगी।' बुद्ध बोले—'ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे तुम्हारा वध नहीं करेंगे।' पूर्ण बोले—'भगवन्! यह संसार दुःख रूप है। यह शरीर रोगों का घर है। आत्मघात पाप है, इसलिए जीवन धारण करना पड़ता है। यदि 'सुनापरन्त (सीमा प्रान्त) के लोग मुझे मार डालें तो मुझ पर वे उपकार ही करेंगे। वे लोग बहुत अच्छे सिद्ध होंगे।' भगवान बुद्ध प्रसन्न होकर बोले—पूर्ण! 'जो किसी दशा में किसी को भी दोषी नहीं देखता, वही सच्चा साधु है। तुम अब चाहे जहाँ जा सकते हो, धर्म सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।'

बुद्धजी की अद्भुत उपदेश शैली—गौतमी का प्यारा इकलौता पुत्र मर गया। उसको बहुत बड़ा शोक हुआ। वह पगली-सी हो गयी और पुत्र की लाश को छाती से चिपकाकर 'कोई दवा दो' 'कोई मेरे बच्चे को अच्छा कर दो' एवं प्रकारेण चिल्लाती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी। लोगों ने बहुत समझाया, परन्तु उसकी समझ में कुछ नहीं आया। उसकी बड़ी दयनीय स्थिति देखकर एक सज्जन ने उसे भगवान् बुद्ध के पास यह कहकर भेज दिया कि—'तुम सामने के बिहार में भगवान के पास जाकर दवा माँगो, वह निश्चय ही तुम्हारा दुःख मिटा देंगे।' गौतमी दौड़ी हुई गयी और बच्चे को जिलाने के लिए भगवान बुद्ध से रो-रोकर प्रार्थना करने लगी। भगवान ने कहा—'बड़ा अच्छा किया, तुम यहाँ आ गयीं।

बच्चे को मैं जिला दूँगा। तुम जाकर जिसके घर में कोई भी आज तक मरा न हो, उससे कुछ सरसों के दाने माँग लावो।' गौतमी बच्चे की लाश को छाती से चिपकाये दौड़ी और लोगों से सरसों के दाने माँगने लगीं, जब किसी ने देना चाहा, तब उसने कहा—'तुम्हारे घर में आज तक कोई मरा तो नहीं है न? मुझे उसी से सरसों लेनी है जिसके घर में कोई मरा न हो।' उसकी इस बात को सुनकर घर वालों ने कहा—'भला ऐसा भी कोई घर होगा जिसमें कोई आज तक मरा न हो। मनुष्य तो हर घर में मरते ही हैं। वह घर-घर फिरी पर सभी जगह एक ही जबाव मिला। तब उसकी समझ में आया कि मरना तो हर घर का रिवाज है। जो जन्मता है, वह मरता भी है। मृत्यु किसी भी उपाय से टलती नहीं। टलती होती तो क्यों कोई अपने प्यारे को मरने देता? एक घर में ही नहीं जगत् भर में सभी जगह मृत्यु का विस्तार है। बस, जब यह बात ठीक-ठीक समझ में आ गयी तब उसने बच्चे की लाश को ले जाकर श्मशान में गाड़ दिया और लौटकर भगवान बुद्ध से सारी बात कह दी। भगवान ने उसे फिर समझाया कि देखो—'यहाँ जो जन्म लेता है उसे मरना पड़ेगा। यह निश्चय है। जैसे हमारे घर के मरते हैं, वैसे हम भी मर जायेंगे। इसलिए मृत्यु का शोक न करके उस स्थिति की चिन्ता करनी चाहिए, जिसमें पहुँच जाने पर जन्म ही न हो। जन्म न होगा तो मृत्यु आप ही मिट जायेगी। बस समझदार आदमी को यही करना चाहिये।'

निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुति जातम्। सदय हृदय दर्शित पशुघातम्।
केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे।। (गी०गो०)

कल्कि अवतार—कलियुग के अन्त में जब सत्पुरुषों के घर भी भगवान की कथा में बाधा होगी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पाखण्डी हो जायेंगे और शूद्र राजा होंगे, यहाँ तक कि कहीं भी स्वाहा, स्वधा और वषट्कार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी। जब राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे, तब कलियुग का शासन करने के लिये भगवान बालक रूप में शंभल ग्राम में विष्णुयश के घर में अवतार ग्रहण करेंगे। यथा—

'यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः, पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहास्वधा बषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते।। (भा० २-७-३८)

''अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्कि र्जगत्पतिः।।'' (भा० १-३-२५)

अर्थ—जब कलियुग का अन्त समीप होगा और राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे, तब जगत् के रक्षक भगवान विष्णु यश नामक ब्राह्मण के घर कल्कि रूप में अवतीर्ण होंगे।।

''शम्भल ग्राम मुरव्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति।।'' (भा० १२-२-१८)

अर्थ—शम्भलग्राम (मुरादाबाद जिला) में विष्णुयश नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे। उनका हृदय बड़ा उदार एवं भगवद्भक्ति से पूर्ण होगा। उन्हीं के घर कल्कि भगवान अवतार ग्रहण करेंगे। बालक का नाम कल्कि विष्णुयश होगा। मन के द्वारा चिन्तन करते ही उनके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायेंगे। यथा—''**मनसा तस्यसर्वाणि वाहनान्यायुधानि च।।**

उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च।" परशुरामजी उनको वेद पढ़ावेंगे। शिवजी शस्त्रास्त्रों का संधान सिखावेंगे, साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे। तब कल्कि भगवान ब्राह्मणों की सेना साथ लेकर संसार में सर्वत्र फैले हुए म्लेक्षों का नाश करेंगे। पापी दुष्टों का नाश करके वे सत्ययुग के प्रवर्तक होंगे। वे ब्राह्मण कुमार बड़े ही बलवान्, बुद्धिमान और पराक्रमी होंगे। धर्म के अनुसार विजय प्राप्त कर वे चक्रवर्ती राजा होंगे और इस सम्पूर्ण जगत् को आनन्द प्रदान करेंगे। (म०भा०बन० १९०-९५-९६)

म्लेच्छनिवह निधने कलयसि करवालम्। धूमकेतुमिव कमपि करालम्।
केशव धृत कल्कि शरीर जय जगदीश हरे।। (गी० गो०)

११. श्रीव्यासजी—चेदि देश के राजा वसु पर अनुग्रह करके देवराज इन्द्र ने एक दिव्य विमान दिया था जिस पर बैठकर वे आकाश में सबके ऊपर विचरते थे अतः उनका नाम उपरिचर वसु पड़ गया था। एकबार राजा उपरिचर वसु अपनी ऋतु स्नाता पत्नी गिरिका को, जिसने पुत्रोत्पत्ति की कामना से उचित समय पर समागम की प्रार्थना की थी, उसे छोड़कर, पितरों की तृप्ति के लिये मेध्य पशुओं का वध करने के लिये वन में चले गये। वन में ऋतुराज वसन्त की अद्भुत शोभा देखकर राजा को कामोद्दीपन हुआ जिससे उनका वीर्य स्खलित हो गया। राजा ने यह विचारकर कि मेरा वीर्य भी व्यर्थ न जाय और रानी का ऋतुकाल भी व्यर्थ न हो, अशोक पत्र पुट में रखकर एक बाज पक्षी के द्वारा उस वीर्य को रानी के पास भेजा। संयोगबस मार्ग में एक दूसरे बाज से संघर्ष हो जाने के कारण वह वीर्य जमुना नदी में गिर गया, जिसे ब्रह्माजी के शाप से-मछली रूपधारिणी अद्रिका नाम की अप्सरा पी गई और कालान्तर में जब मत्स्यजीवी मल्लाहों के जाल में वह मछली फँसी और मछुओं ने उसके पेट को चीरा तो उसमें अत्यन्त सुन्दर एक पुत्र और एक कन्या रत्न को पाया। मछुओं ने उन दोनों सन्तानों को राजा उपरिचर वसु को निवेदन किया। राजा ने पुत्र तो स्वयं ले लिया जो आगे चलकर मत्स्य नामक बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ। कन्या के शरीर से मछली की गन्ध आती थी अतः उसे दासराज नामक मल्लाह को सौंप दिया। वह रूप के साथ-साथ सत्य से युक्त थी। अतः उसका सत्यवती नाम पड़ा।

एकबार तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से विचरने वाले महर्षि पराशर ने उसे देखा तो शुभ संयोग देखकर बुद्धिमान पराशर ने उसके साथ समागम की इच्छा प्रकट की। सत्यवती ने संकुचित होकर, अपने कन्यात्व को दूषित होने, दिन होने के कारण नदी के आर-पार दोनों तटों पर उपस्थित लोगों द्वारा देखे जाने तथा अपने शरीर से मछली की-सी दुर्गन्धि निकलने की बात कही। समर्थ ऋषि ने तीनों कठिनाइयाँ तत्काल दूर कर दीं। आशीर्वाद दिया—तुम्हारा कन्या-भाव सुरक्षित रहेगा। शरीर से सुन्दर सुगन्धि निकलेगी जो एक योजन तक फैलेगी, और कुहराकी सृष्टि कर चारों ओर अन्धेरा कर दिया। तब तो वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवती ने उस अद्भुत कर्मा महर्षि पराशर के साथ समागम किया और तत्काल ही एक शिशु को जन्म दिया। यह शिशु ही, पराशरजी से उत्पन्न होने से पाराशर्य, जमुनाजी के द्वीप (जल से घिरा भूभाग) में उत्पन्न होने से द्वैपायन, वेदों का व्यास (विस्तार) करने से वेदव्यास नाम से विख्यात हुआ। इन्होंने माता से कहा—"आवश्यकता पड़ने पर तुम मेरा स्मरण करना, मैं अवश्य दर्शन दूँगा। इतना कहकर माता की आज्ञा ले श्रीव्यासजी ने तपस्या में मन लगाया। श्रीव्यासजी ने देखा कि प्रत्येक युग में धर्म का

एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। 'मनुष्यों की शक्ति और आयु क्षीण हो चली है, यह सब देख सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणों पर अनुग्रह करने की इच्छा से वेदों का व्यास (विस्तार) किया। वेद में सबका अधिकार न होने से सर्व-साधारण को वेद-तात्पर्य सुलभ कराने की दृष्टि से, आपने पाँचवें वेद तुल्य महाभारत (इतिहास ग्रन्थ) की रचना की। फिर वेदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये ही सत्रह पुराणों की रचना की। परन्तु मन में जैसी शान्ति चाहिये वैसी शान्ति नहीं होने से, अपने को अकृतार्थ-सा मानकर, खिन्नता को प्राप्त श्रीव्यासजी ने देवर्षि नारदजी की प्रेरणा से श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना कर परम विश्राम पाया। परमहंसाचार्य श्रीशुकदेवजी आपके पुत्र हैं।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारत तैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः।।

१२. श्रीपृथुजी—महाराज 'अङ्ग' की पत्नी सुनीथा, जो साक्षात् मृत्यु की कन्या थीं उससे 'बेन' नामक पुत्र हुआ, जो अपने नाना मृत्यु के स्वभाव का अनुसरण करने के कारण अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला हुआ। फलस्वरूप उसकी दुष्टता से उद्विग्न होकर राजर्षि अङ्ग नगर छोड़कर चले गये। राजा के अभाव में राज्य में अराजकता न फैल जाय, इसलिये ऋषियों ने और कोई उपाय न देखकर बेन को अयोग्य होने पर भी राजपद पर अभिषिक्त कर दिया। स्वभाव से क्रूर, ऐश्वर्य पाकर अत्यन्त उन्मत्त, विवेक-शून्य बेन जब धर्म एवं धर्मात्मा पुरुषों को विनष्ट करने पर तुल गया। ऋषियों के समझाने पर भी समझना तो दूर रहा, उल्टे उनकी अवहेलना किया। तब क्षुब्ध ऋषियों ने क्रोध करके हुँकार मात्र से बेन को मार डाला। परन्तु कोई राजा नहीं होने के कारण लोक में लुटेरों के द्वारा प्रजा को बहुत कष्ट होने लगा। यह देखकर ऋषियों ने बेन के शरीर का मन्थन किया। प्रथम जांघ का मन्थन किया तो उसमें से एक बौना पुरुष, कुरूप, काला-कलूटा उत्पन्न हुआ और जब उसने पूछा कि मैं क्या करूँ? तो ऋषियों ने कहा—'निषीद' (बैठ जा) इसी से वह निषाद कहलाया। फिर बेन की भुजाओं का मन्थन किया तो एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। ऋषियों ने पुरुष को 'पृथु' नाम से एवं स्त्री को 'अर्चि' नाम से सम्बोधित किया। ऋषि-ब्राह्मणों को श्रीपृथुजी के हाथ में बिना किसी रेखा से कटा हुआ चक्र का एवं पाँव में कमल का चिन्ह देखकर, यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि पृथु के रूप में साक्षात् श्रीहरि के अंश ने ही संसार की रक्षा के लिये अवतार लिया है और अर्चि के रूप में निरन्तर भगवान की सेवा में रहने वाली श्रीलक्ष्मीजी ही प्रकट हुई हैं।

सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत महाराज पृथु का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। उस समय अनेक अलङ्कारों से सजी हुई महारानी अर्चि के साथ वे दूसरे अग्निदेव के सदृश जान पड़ते उन सब लोगों ने उन्हें तरह-तरह के उपहार भेंट किये। इसके पश्चात् सूत, मागध और बन्दीजनों ने स्तुति की। ब्राह्मणों ने पृथुजी को प्रजा का रक्षक उद्घोषित किया।

बेन के अत्याचार से उत्पीडित पृथ्वी ने समस्त औषधियों को अपने में छिपा लिया था और चूँकि बहुत समय बीत गया था अतः वे औषधियाँ पृथ्वी के उदर में जीर्ण हो गई थीं यही कारण है कि जब श्रीपृथुजी का राज्य हुआ तब भी पृथ्वी रसा होकर भी रसहीना ही बनी रही। फलस्वरूप भूख के कारण

प्रजाजनों के शरीर सूखकर काँटे हो गये थे। उन्होंने अपने स्वामी पृथु के पास आकर कहा। तब पृथुजी ने क्रोध में भरकर पृथ्वी को लक्ष्यकर बाण चढ़ाया। पृथ्वी प्रथम तो डरकर गोरूप धारणकर भागी परन्तु कहीं भी बचाव न देखकर श्रीपृथुजी की शरण में आ गई। तब श्रीपृथुजी ने पृथ्वी के संकेत से गोरूपधारिणी पृथ्वी का दोहन किया जिससे पुनः सभी अन्न औषधियाँ प्रकट हो गयीं। प्रजा सुख चैन से रहने लगी।

परम धर्मात्मा श्रीपृथुजी ने सौ अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प कर निन्यानबे यज्ञ पूर्ण होने पर जब सौवें अश्वमेध यज्ञ का प्रारम्भ किया तो इन्द्र ने, अपना सिंहासन छीने जाने के भय से बहुत विघ्न किया। तब इन्द्र का वध करने के लिए उद्यत श्रीपृथुजी को याजकों ने यज्ञ में क्रोध को अनुचित बताकर स्वयं मन्त्रबल से बलात्कार से इन्द्र को अग्नि में हवन कर देने का निश्चय किया। तब लोकस्रष्टा जगत पितामह ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों को समझाकर रोका। श्रीपृथुजी को, सौ यज्ञ करने का जो आग्रह था। उससे निवृत्त कर इन्द्र से सन्धि करा दी। महाराज पृथु के निन्यानबे यज्ञों से ही यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वर भगवान विष्णु को भी बड़ा सन्तोष हुआ। वे देवराज इन्द्र को साथ लेकर श्रीपृथुजी के सामने प्रकट हुये अपने ही कर्म से लज्जित इन्द्र श्रीपृथुजी के चरणों में गिरना ही चाहते थे कि श्रीपृथुजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। भगवान का दर्शन कर श्रीपृथुजी निहाल हो गये। आँखों में प्रेमाश्रु, शरीर में रोमांच, हृदय में उमड़ा हुआ अनन्त आनन्द सागर, यह थी उस समय श्रीपृथुजी की अवस्था। उन्होंने हाथ-ज़ोड़कर भगवान की स्तुति की। भगवान ने श्रीपृथुजी के गुणों की सराहना करते हुये, वर माँगने को कहा। तब श्रीपृथुजी बोले—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः।। (भागवत ४-२०-२४)

अर्थ—मुझे तो उस मोक्ष की भी इच्छा नहीं है, जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरण-कमलों का मकरन्द नहीं है, जहाँ आपकी कीर्ति कथा सुनने का सुख नहीं मिलता है। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके लीला गुणों को सुनता ही रहूँ। इस प्रकार प्रार्थना करने पर उनको अपनी भक्ति का वर प्रदान कर भगवान अन्तर्धान हो गये।

आदिराज श्रीपृथुजी ने स्वयं शुभ-कर्म-धर्मों का आचरण करते हुये प्रजा को भी धर्माचरण का उपदेश दिया। उस समय सभा में उपस्थित समस्त जन-समूह उनकी इस धार्मिकवृत्ति की प्रशंसा करने लगा। वर्णन आया है कि जिस समय प्रजाजन परम-पराक्रमी श्रीपृथुजी की प्रार्थना कर रहे थे उसी समय वहाँ सूर्य के समान तेजस्वी चार मुनीश्वर आये। वे सनकादि कुमार थे। महाराज पृथु ने उनका शिष्टजनोचित सत्कार किया। स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान कराकर विधिपूर्वक पूजन किया। पुनः बड़ी श्रद्धा और संयम के साथ प्रेम-पूर्वक यह जिज्ञासा की कि इस संसार में मनुष्य का किस प्रकार सुगमता से कल्याण हो सकता है। आप लोग त्रिकालज्ञ हैं सर्वज्ञ हैं, और भगवान श्रीहरि के परम भक्त हैं, अतः कृपा पूर्वक मेरी जिज्ञासा का समाधान करें। श्रीसनकादिकों ने पृथुजी के वचनों का अभिनन्दन करते हुये भगवान के आराधनीय चरण-कमलों को ही कल्याण का मूल बताया और आज्ञा दी कि—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।। (भा० ४-२२-३९)

अर्थ—सन्त-महात्मा जिनके चरण-कमलों के अंगुलि दल की छिटकती हुई छटा का स्मरण करके अहङ्काररूप हृदय ग्रन्थि को, जो कर्मों से गठित है, इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते हैं कि समस्त इन्द्रियों का प्रत्याहार करके अपने अन्तःकरण को निर्विषय करने वाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते। तुम उन सर्वाश्रय भगवान वासुदेव का भजन करो। (भागवते ४-२२-३९) इस प्रकार श्रीसनकादि कुमार भक्त पृथुराज को उपदेश देकर श्रीपृथुजी के शील की प्रशंसा करते हुये सब लोगों के सामने ही आकाश मार्ग से चले गये।

बहुत काल तक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन कर श्रीपृथुजी ने सनत्कुमारजी के उपदेशों का स्मरण कर कि 'अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चहिये।' पृथ्वी का भार पुत्रों को सौंपकर अपनी पत्नी सहित अकेले ही तपोवन को चले गये और वहाँ जाकर भगवान सनत्कुमार ने जिस परमोत्कृष्ट अध्यात्म योग की शिक्षा दी थी उसी के अनुसार पुरुषोत्तम श्रीहरि की आराधना करने लगे और अन्त में भगवान के श्रीचरण-कमलों का चिन्तन करते हुये ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये। यह देखकर महाराज पृथु की पतिव्रता पत्नी अर्चि ने चिता बनायी और अपने पति के साथ सती हो गई। परम साध्वी अर्चि को इस प्रकार अपने पति वीरवर पृथु का अनुगमन करते देख सहस्रों वरदायिनी देवियों ने अपने-अपने पतियों के साथ उनकी स्तुति की। वहाँ देवताओं के बाजे बजने लगे। देवाङ्गनाओं ने पुष्प-वृष्टि की।

रञ्जयतीति राजा यः स्वनाम सफली कृतः।
दुदोह वसुधां वीजं तस्मै श्रीपृथ्वे नमः।।

श्रीहरि अवतार—त्रिकूटाचल पर्वत पर जब ग्राहने गज को पकड़ा था तब उसकी आर्तवाणी को सुनकर श्रीहरि भगवान प्रगटे। इन्होंने ही ग्राह को मारकर गजेन्द्र की रक्षा की तथा लोगों के बड़े-बड़े संकट हरण करके 'श्रीहरि' यह नाम चरितार्थ किया। कथा इस प्रकार से है—

क्षीरसागर में त्रिकूट नाम का एक प्रसिद्ध, सुन्दर एवं श्रेष्ठ पर्वत था। वह दस हजार योजन ऊँचा था। उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी चारों ओर इतनी ही थी। उस पर्वतराज त्रिकूट की तराई में भगवान वरुण का ऋतुराज नाम का उद्यान था। जिसके चारों ओर वृक्षों के झुण्ड शोभा दे रहे थे। वहीं एक विशाल सरोवर था। उस पर्वत के घोर-जंगल में बहुत-सी हथिनियों के सहित एक गजेन्द्र निवास करता थाा। जो बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियों का सरदार था। एकदिन वह अपनी हथिनियों के साथ वन को रौंदता हुआ उसी पर्वत पर विचर रहा था। मद के कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। बहुत कड़ी धूप के कारण वह व्याकुल हो गया। वह साथियों सहित प्यास से सन्तप्त होकर जल की खोज में फिर रहा था कि उसे दूर ही से कमल के पराग से सुवासित वायु की सुगन्ध मिली, जिसके सहारे वह उसी सरोवर पर पहुँचा और स्नानकर श्रम मिटाया, प्यास बुझाई, फिर उसमें गृहस्थों की भाँति क्रीड़ा करने लगा।

जिस समय वह इतना उन्मत्त हो रहा था उसी समय एक बलवान ग्राह ने क्रोध में भरकर उसका पैर पकड़ लिया। हाथी और हथिनियों ने शक्ति भर सहायता की। पर वे गजेन्द्र को बाहर निकालने में असमर्थ ही रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राह को बाहर खींच लाता तो कभी ग्राह गजेन्द्र को भीतर खींच ले जाता। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीत गये। अन्त में गजेन्द्र का उत्साह, बल तथा शक्ति क्षीण हो गई और ग्राह का बल, उत्साह और शक्ति बढ़ गई।

गजेन्द्र के प्राण संकट में पड़ गये। वह अपने को छुड़ाने में सर्वथा असमर्थ हो गया। बहुत देर तक अपने छुटकारे के उपाय पर विचार करता हुआ वह इस निर्णय पर पहुँचा—'जब मेरे बराबर वाले हाथी भी मुझे न छुड़ा सके, तब ये बेचारी हथिनियाँ कब छुड़ा सकती हैं। ग्राह का मुझे ग्रस लेना विधाता की फाँसी है। अतएव अब मैं सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र आश्रय परब्रह्म की शरण लेता हूँ। जो प्रचण्ड कालरूपी सर्प से भयभीत प्राणियों की रक्षा करता है तथा मृत्यु भी जिसके भय से दौड़ती रहती है। यथा—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि।। (भा० ८-२-३३)

ऐसा निश्चय कर पूर्वजन्म में सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्र के द्वारा स्तुति करने लगा। गजेन्द्र ने किसी देव विशेष का नाम न लेकर स्तुति की। इसलिए भिन्न-भिन्न नाम और रूपों को अपना स्वरूप मानने वाले ब्रह्मादि देवता उसकी रक्षा करने न आये। सर्वदेव-स्वरूप, सर्वात्मा भगवान स्वयं ही वहाँ छुड़ाने को प्रकट हो गये। भगवान शीघ्रता पूर्वक गरुड़ पर चढ़कर चल दिये। भगवान को चक्र लिए, आते देख, अपने सूँड़ में एक सुन्दर कमल का पुष्प लेकर (जो उस सरोवर में खिला हुआ था) सूँड़ को ऊपर उठाकर बड़े कष्ट के साथ पुकार कर कहा—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है—"**सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्। उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते** (भा० ८-३-३२)।" पुकारने के साथ ही भगवान गरुड़ को छोड़कर तत्काल वहाँ पहुँचे और दोनों को सरोवर से निकालकर ग्राह का मुँह चक्र से फाड़कर गज को छुड़ा दिया। भगवान का स्पर्श होते ही गजेन्द्र के अज्ञान बन्धन कट गये और वह भगवान का-सा चतुर्भुज रूप हो गया, अर्थात् उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई। भगवान उसे अपना पार्षद बनाकर अपने साथ ही ले गये। विशेष देखिये छप्पय ९ ग्राह-गज प्रसङ्ग।

हंस अवतार—एकबार सनकादिक परमर्षियों ने अपने पिता श्रीब्रह्माजी से पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा ही रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते ही हैं अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार-सागर से पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक-दूसरे से कैसे अलग कर सकता है। यद्यपि श्रीब्रह्माजी देवशिरोमणि, स्वयम्भू और सब प्राणियों के जन्मदाता हैं तो भी कर्म-प्रवण बुद्धि होने से इस प्रश्न का समुचित समाधान न कर सके। अतः इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने भक्ति-भाव से भगवान का चिन्तन किया।

तब भगवान हंस का रूप धारण करके उनके सामने प्रगट हो गये और श्रीसनकादिक तथा ब्रह्माजी से वंदित होकर, सनकादि के यह पूछने पर कि आप कौन हैं? भगवान बोले—ब्राह्मणो! यदि परमार्थ रूप वस्तु नानात्व से सर्वथा रहित है, तब आत्मा के सम्बन्ध में आप लोगों का ऐसा प्रश्न कैसे युक्ति संगत हो सकता है? देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी शरीर पंचभूतात्मक होने के कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थ से भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थिति में 'आप कौन हैं?' आप लोगों का यह प्रश्न ही केवल वाणी का व्यवहार है। विचार पूर्वक नहीं है अतः निरर्थक है। मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग

तत्व विचार के द्वारा समझ लीजिए। पुत्रो! यह चित्त-चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूप भूत जीव के देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिए बार-बार विषयों का सेवन करते रहने से जो चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनों को अपने वास्तविक रूप से अभिन्न मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिए। इस प्रकार भगवान ने सनकादि मुनियों के संशय मिटा दिये और भली-भाँति उनके द्वारा पूजित और वन्दित होकर श्रीब्रह्माजी और सनकादिकों के सामने ही अदृश्य होकर अपने धाम को चले गये।

मन्वन्तर—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों युग जब एक हजार बार व्यतीत होते हैं तो उसको को कल्प कहते हैं। एक कल्प अर्थात् एक हजार चर्तुयुगीकाल श्रीब्रह्माजी का एकदिन होता है। श्रीब्रह्माजी के एकदिन में अर्थात् एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनु इकहत्तर चर्तुयुगी से कुछ अधिक कालतक अपना अधिकार भोगते हैं। इन मन्वन्तरों में भगवान सत्वगुण का आश्रय लें, अपनी मनु आदि मूर्तियों के द्वारा पौरुष प्रगट करते हुए इस विश्व का पालन करते हैं। विश्व व्यवस्था का संचालन करते हुए अपने-अपने में बड़ी सावधानी से सबके सब मनु पृथ्वी पर चारों चरणों से परिपूर्ण धर्म का अनुष्ठान स्वयं करते हैं तथा प्रजा से करवाते हैं। जब एक मनु की अवधि पूरी हो जाती है तो उनके साथ ही साथ उस समय के इन्द्र, सप्तर्षि, मनु पुत्र और भगवदवतार तथा देवता, ये छओं पहिले की जगह नये-नये होते हैं।

अब चौदह मनुओं का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। १. स्वायम्भुव मनु—मरीचि आदि महान शक्तिशाली ऋषियों से भी सृष्टि का विस्तार अधिक नहीं होते देख श्रीब्रह्माजी मन ही मन चिन्ता करने लगे—'अहो! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करने पर भी प्रजा की बृद्धि नहीं हो रही है। मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है।' जिस समय श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैव के विषय में विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये। उन दोनों विभागों में से एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। उनमें से जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट स्वायम्भुव मनु हुए, और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुईं। तब से मिथुन धर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग) से प्रजा की वृद्धि होने लगी। महाराज स्वायम्भुवमनु ने शतरूपा से पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं। श्रीप्रियव्रत और उत्तानपद, ये दो पुत्र और आकूति, प्रसूति और देवहूति तीन कन्यायें थीं। मनुजी ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से, देवहूति का विवाह कर्दम प्रजापति से तथा प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापत्ति से किया। इन तीनों कन्याओं की सन्तति से सारा-संसार भर गया (विशेष देखिये छप्पय ६)।

२. स्वारोचिष मनु—ये अग्नि के पुत्र थे। ३. उत्तम मनु—ये प्रियव्रत के पुत्र थे। ४. तामस मनु—ये तीसरे मनु उत्तम के सगे भाई थे। ५. रैवत मनु—ये चौथे मनु तामस के सगे भाई थे। ६. चाक्षुष मनु—ये चक्षु के पुत्र थे। ७. वैवस्वत मनु—विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यशस्वी श्राद्धदेव ही सातवें वैवस्वत मनु हैं। यह वर्तमान मन्वन्तर ही उनका काल है। ८. सावर्णि मनु—आठवें मन्वन्तर में सूर्य की पत्नी छाया देवी के पुत्र सावर्णि मनु होंगे। ९. दक्ष सावर्णि—वरुण के पुत्र दक्ष सावर्णि नौवें मनु होंगे। १०. ब्रह्म

सावर्णि—उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि दसवें मनु होंगे। ११. धर्म सावर्णि—ये ग्यारहवें मनु होंगे। १२. रुद्र सावर्णि—ये बारहवें मनु होंगे। १३. देव सावर्णि—ये तेरहवें मनु होंगे। १४. इन्द्र सावर्णि—ये चौदहवें मनु होंगे। ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों ही काल में चलते रहते हैं और समस्त भूमण्डल का शासन करते हुए सनातन-धर्म की रक्षा करते हैं। (भागवत)

श्रीयज्ञ अवतार—श्रीस्वायम्भुव मनु की पुत्री आकूति, जो रुचि प्रजापति से ब्याही गई थीं। उन रुचि प्रजापति ने आकूति के गर्भ से एक पुरुष और स्त्री का जोड़ा उत्पन्न किया। उनमें जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञ-स्वरूपधारी भगवान विष्णु थे और जो स्त्री थी, वह भगवान से कभी भी अलग न रहने वाली लक्ष्मी की अंशरूपा 'दक्षिणा' थीं। मनुजी अपनी पुत्री आकूति के उस परम तेजस्वी पुत्र को बड़ी प्रसन्नता से अपने घर ले आये और दक्षिणा को रुचि प्रजापति ने अपने पास रखा। जब दक्षिणा विवाह के योग्य हुई तो उसने यज्ञ भगवान को ही पति रूप में प्राप्त करने की इच्छा की। तब भगवान यज्ञ पुरुष ने उससे विवाह किया। इससे दक्षिणा को बड़ा सन्तोष हुआ। भगवान यज्ञ पुरुष ने दक्षिणा से सुयम नामक देवताओं को उत्पन्न किया और तीनों लोकों के बड़े-बड़े संकट दूर किये। वर्णन आया है—जब स्वायम्भुव मनु ने समस्त कामनाओं और भोगों से विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने वन को चले गये और वन में जाकर सुनन्दा नदी के तट पर एक पैर से खड़े रहकर सौ वर्ष तक घोर तपस्या की। उस समय एकबार स्वायम्भुव मनु एकाग्र चित्त से भगवान की स्तुति कर रहे थे, तो भूखे असुर और राक्षस उन्हें नींद में अचेत होकर बड़बड़ाते जानकर खा डालने के लिए टूट पड़े। यह देखकर अन्तर्यामी भगवान यज्ञपुरुष अपने पुत्र सुयम नामक देवताओं के साथ वहाँ आये उन्होंने उन्हें खा डालने के निश्चय से आये असुरों का संहार कर डाला और फिर वे इन्द्र के पद पर प्रतिष्ठित होकर स्वर्ग का शासन करने लगे। (भागवत)

दिव्यातिदिव्याय गदाधराय, यज्ञस्वरूपाय मनोहराय।
आकूतिपुत्राय सुरक्षकाय, यज्ञावताराय नमो नमस्ते।।

श्रीऋषभ अवतार—महाराज नाभि के कोई सन्तान नहीं थी इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित पुत्र की कामना से एकाग्रता पूर्वक भगवान यज्ञपुरुष का यजन किया। भक्तवत्सल भगवान उनके विशुद्ध भाव से सन्तुष्ट होकर यज्ञ में प्रकट हुए। सभी ने सिर झुकाकर अत्यन्त आदर पूर्वक प्रभु की पूजा की और ऋषियों ने उनकी स्तुति कर यह वर माँगा कि हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आपके ही समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं। आप इनके मनोरथ को पूर्ण करें। भगवान बोले—मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिए मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ आकर अवतार लूँगा। क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नहीं देता। यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये और यथा समय महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए। नाभिनन्दन के अङ्ग जन्म से ही भगवान विष्णु के वज्र अंकुश आदि चिह्नों से युक्त थे। सभी श्रेष्ठ सद्‌गुणों से युक्त होने के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा। राजा नाभि ने यह देखा कि

ऋषभदेव प्राणिमात्र को अत्यन्त प्रिय लगते हैं और राज्य-कार्य सँभालने योग्य भी हो गये हैं तब उन्होंने इन्हें धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषिक्त कर स्वयं पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम चले गये और वहाँ भगवान की आराधना करते हुए भगवत्स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान ऋषभदेव सर्वधर्म विज्ञाता होकर भी, ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम, दानादि नीति के अनुसार ही पुत्रवत् प्रजा का पालन करते थे। एकबार इन्द्र ने ईर्ष्यावश इनके राज्य में वर्षा नहीं की तो योगेश्वर भगवान ऋषभ ने अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभ खण्ड में खूब जल वर्षाया। आपने लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया और उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये। महायोगी श्रीभरतजी ज्येष्ठ पुत्र थे। नव पुत्र नव योगीश्वर के नाम से विख्यात हुए। इक्यासी पुत्र पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये। नव पुत्र पृथ्वी के नव खण्डों का शासन करने वाले हुए।

एकबार भगवान ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देश में पहुँचे। वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा में उन्होंने प्रजा के सामने ही अपने समाहित चित्त तथा विनय और प्रेम के भार से सुसंयत पुत्रों को भगवद्भक्ति का उपदेश देते हुए कहा, कि पुत्रो! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धि से उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है। इनके बिना मनुष्य अपने को महामोहमय काल पाश से छुड़ा नहीं सकता। इस प्रकार पिता ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया। आपका कहना है कि—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।। (भा० ५-५-१८)

अर्थ—जो अपने प्रिय सम्बन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता है, वह गुरु, गुरु नहीं है, स्वजन, स्वजन नहीं है, पिता, पिता नहीं है, माता, माता नहीं है, इष्टदेव, इष्टदेव नहीं है और पति, पति नहीं है।

भगवान ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे और थे बड़े भगवद्भक्त। श्रीऋषभदेवजी ने पृथ्वी का पालन करने के लिये उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों को भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित शिक्षा देने के लिये बिल्कुल विरक्त हो गये। केवल शरीरमात्र परिग्रह रखा। वस्त्रों का भी त्याग कर सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे, उन्मत्त का-सा वेष था। सर्वथा मौन हो गये थे। जड़, अन्धे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे। लोगों की उनके प्रति की गई अनुकूल-प्रतिकूल सभी चेष्टायें उनके लिये समान थीं। इसलिये कि इस मिथ्या शरीर में उनकी अहंता ममता तनिक भी नहीं थी। लोक-मान्यता से बचने के लिये उन्होंने अजगर वृत्ति धारण करली थी। वे लेटे ही लेटे खाने-पीने और मलमूत्र त्याग करने लगे। कभी-कभी अपने त्यागे हुए मल में ही लोट-पोट कर शरीर को उससे सान लेते। एक बात स्मरण रखने की है कि उनके मल में दुर्गन्धि का लेश नहीं था। बड़ी सुगन्ध थी। इस प्रकार मोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने परमहंसों को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये विविध प्रकार की योगचर्याओं का आचरण किया।

निरन्तर परमानन्द का अनुभव करते हुये, दिगम्बर रूप से इतस्ततः भ्रमण करते हुए भगवान ऋषभदेव का शरीर कुटकाचल के वनों में घूमते हुए, प्रबल दावाग्नि की लाल-लाल लपटों में लीन हो गया।

नित्यानुभूत निजलाभ निवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्त बुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै।। (भा० ५-६-१९)

अर्थ—निरन्तर विषय-भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्म लोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे उन भगवान ऋषभदेव को नमस्कार है।

श्रीहयग्रीव अवतार—सृष्टि रचना में अत्यन्त व्यस्त श्रीब्रह्माजी के देखते-देखते मधु और कैटभ नाम के दैत्यों ने वेदों को हर लिया और तुरन्त रसातल में जा पहुँचे। वेदों का हरण हो जाने पर ब्रह्माजी को बड़ा खेद हुआ। उन पर मोह छा गया। तब वह यह विचार करते हुए कि वेद ही तो मेरे नेत्र हैं। वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरे परम गुरु तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं। मैं वेदों के बिना संसार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ? वे भगवान श्रीहरि की शरण गये और उन्होंने हाथ-जोड़कर भगवान की स्तुति की। ब्रह्माजी की स्तुति को सुनकर भक्तवत्सल भगवान वेदों की रक्षा करने के लिये हयग्रीव रूप धारण करके रसातल में जा पहुँचे और वहाँ जाकर परमयोग का आश्रय ले शिक्षा के नियमानुसार उदात्त आदि स्वरों से युक्त उच्च-स्वर से सामवेद का गान करने लगे। उन दोनों असुरों ने वह शब्द सुनकर वेदों को कालपाश से आबद्ध करके रसातल में फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधर से ध्वनि आ रही थी। इसी बीच में हयग्रीव रूपधारी भगवान श्रीहरि ने रसातल में पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदों को ले लिया तथा ब्रह्माजी को पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूप में आ गये।

इधर वेद ध्वनि के स्थान पर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवों ने जब कुछ नहीं देखा तब वे बड़े वेग से फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदों को नीचे डाल रखा था। वहाँ देखने पर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखाई दिया। तब वे बलवानों में श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेग का आश्रय लेकर रसातल से शीघ्र ही ऊपर उठे तो आकर देखते हैं कि आदिकर्त्ता भगवान योगनिद्रा का आश्रय लेकर शेषशय्या पर सो रहे हैं उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर हँसने लगे और उन्होंने भगवानको जगाया। फिर तो उन दोनों असुरों का और भगवान का युद्ध आरम्भ हो गया। भगवान मधुसूदन ने ब्रह्माजी का मान रखने के लिए तमोगुण और रजोगुण से आविष्ट शरीर वाले उन दोनों दैत्यों मधु और कैटभ को मार डाला। इस प्रकार भगवान पुरुषोत्तम ने ब्रह्माजी का शोक दूर किया। (महाभारत)

२-दिति पुत्र हयग्रीव नामक दैत्य ने देवी की आराधना कर उन्हें सन्तुष्ट कर अमर होने का वर माँगा। **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'** (गी० २-२७) देवी के ऐसा कहने पर हयग्रीव ने कहा—अच्छा तो हयग्रीव के ही द्वारा मारा जाऊँ। भगवान की माया जगन्मोहिनी जगदम्बा इस दैत्य को यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गई। दैत्य ने सोचा हयग्रीव तो मैं ही हूँ, मैं भला अपने को क्यों मारने लगा और दूसरा मुझे

मार सकता नहीं अतः उन्मत्त होकर अपने अत्याचार से पृथ्वी को व्याकुल करने लगा। तब अकारण करुण, करुणावरुणालय भगवान ने हयग्रीव अवतार धारण कर इस दैत्य का वध किया।

वेधसः प्रार्थनां हत्वा तु मधुकैटभौ। वेदानुद्धृतवान् यस्तु हयग्रीवं नमामि तम्।।

ध्रुववर देन—एक पैर से खड़े होकर तप करने वाले ध्रुव को शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप से भगवान दर्शन देने के लिये प्रकट हुए और ध्रुव को ध्रुवपद देकर कृतार्थ किया। यथा—

'विद्धः सपत्न्युदित पत्रिभिरन्ति राज्ञो बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे बनानि।
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो दिव्याः स्तुवन्ति मुनयोयदुपर्यधस्तात्।।

अर्थ—अपने पिता राजा उत्तानपद के पास बैठे हुए पाँच वर्ष के बालक ध्रुव को उनकी सौतेली माता सुरुचि ने अपने वचन बाणों से बेध दिया था। इतनी छोटी अवस्था होने पर भी वे उस ग्लानि से तपस्या करने के लिए वन में चले गये। उनकी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर भगवान प्रकट हुए और उन्होंने ध्रुव को ध्रुवपद का वरदान दिया। आज भी ध्रुव के ऊपर नीचे प्रदक्षिणा करते हुए दिव्य महर्षिगण उनकी स्तुति करते रहते हैं। विशेष देखिये छप्पय ९ में श्रीध्रुवजी का प्रसङ्ग।

भागवत प्रथम स्कन्ध तीसरे अध्याय के आठवें श्लोक में देवर्षि नारद के अवतार का संकेत है। उसके अनुसार चौबीस अवतारों में श्रीनारदजी की भी गणना होनी चाहिए। नारदजी ने ध्रुव को उपदेश देकर सफल होने का वरदान दिया ही था, अतः ध्रुव वरदेन से श्रीनारदजी का भी ग्रहण होना चाहिये। तथा—**तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः।।** (भा० १-३-८) अर्थात् ऋषियों की सृष्टि में भगवान ने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत-तन्त्र (नारद पांचरात्र) का उपदेश किया, जिसमें कर्मों के बन्धन से कर्म द्वारा मुक्ति पाने का उपाय वर्णित है।।

श्रीधन्वन्तरि—क्षीर-सागर का मन्थन होने पर आप अमृत कश लेकर प्रकट हुये। दैत्यों द्वारा छीने गये यज्ञों के भाग तथा अमृत देवताओं को आपकी ही कृपा से मिला। आपने संसार को आयुर्वेद विद्या देकर अनन्त रोगों से मुक्त किया।

अमृत वितरण हो जाने पर देवराज इन्द्र ने इनसे देव वैद्य पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। इन्होंने इन्द्र की इच्छानुसार अमरावती में निवास करना स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद पृथ्वी पर अनेक व्याधियाँ फैलीं। तब इन्द्र की प्रार्थना से भगवान धन्वन्तरि ने काशिराज दिवोदास के रूप में पृथ्वी पर अवतार धारण किया। लोक-कल्याणार्थ विविध-व्याधियों को नष्ट करने के लिये स्वयं भगवान विष्णु धन्वन्तरि के रूप में कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को प्रकट हुए थे। साक्षात् विष्णु के अंश से प्रकट होने से ये भी श्रीहरि के समान श्याम एवं दिव्य थे।

देवान् कृशानसुरसंगनिपीडिताङ्गान् दृष्ट्वा दयालुरमृतं वितरीतुकामः।
पाथोधिमन्थनविधौ प्रकटोऽभवद्यो धन्वन्तरिः स भगवानवतात् सदा नः।।

अर्थ—असुरों के द्वारा पीड़ित होने से जो दुर्बल हो रहे थे उन देवताओं को अमृत पिलाने की इच्छा से ही भगवान धन्वन्तरि समुद्र-मन्थन से प्रकट हुये। वे हमारी सदा रक्षा करें।

श्रीबद्रीपति (नर-नारायण)—दक्षकन्या धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से भगवान नर-नारायण रूप में प्रकटे। उन्होंने आत्मतत्व का साक्षात्कार कराने वाले उस भगवदाराधन रूप कर्म का उपदेश किया जो वास्तव में कर्म-बन्धन से छुड़ाने वाला और नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कराने वाला है। उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्म का अनुष्ठान किया। वे आज भी बदरिकाश्रम में उसी कर्म का आचरण करते हुए विराजमान हैं। इन्द्र ने यह आशंका करके कि यह अपने घोर तप के द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं, उनका तप भ्रष्ट करने के लिए सदल-बल कामदेव को भेजा। उनकी महिमा न जानने के कारण गर्व में आकर कामदेव वहाँ पहुँचकर अप्सरागण, वसन्त, मंद-सुगन्ध वायु और स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों से उन्हें बेधने की चेष्टा करने लगा। इन्द्र की कुचाल जानकर, कुछ भी विस्मय न करते हुये आदिदेव नारायण ने उन भय से काँपते हुये कामादि से हँसकर कहा—हे मदन! हे मंदमलय मारुत! हे देवाङ्गनाओं! डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये बिना ही जाकर हमारा आश्रम सूना मत करो।

अभयदायक दयालु भगवान के ऐसा कहने पर लज्जा से सिर झुकाये हुये देवगण ने करुण स्वर से उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् भगवान ने बहुत-सी ऐसी रमणियाँ प्रकट कीं जो अद्‌भुत रूप-लावण्य से सम्पन्न और वस्त्रालंकारों से सुसज्जित थीं तथा भगवान की सेवा कर रही थीं। साक्षात् लक्ष्मी के समान रूपवती स्त्रियों को देखकर, उनके रूप-लावण्य की महिमा से कान्तिहीन हुए देवगण उनके अङ्ग की दिव्य-गन्ध से मोहित हो गये। अब उनका गर्व चूर-चूर हो गया। तब अत्यन्त दीन हुये उन अनुचरों से भगवान हँसकर बोले—इनमें से किसी एक को, जो तुम्हारे अनुरूप हो स्वीकार कर लो। वह स्वर्गलोक की भूषण होगी। देवगण ने 'जो आज्ञा' कहकर उनको प्रणाम किया और उर्वशी नामक अप्सरा को साथ लेकर स्वर्गलोक में इन्द्र के पास चले गये।

यहाँ बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि शंकर आदि अपनी क्रोध भरी दृष्टि से काम को भस्म कर देते हैं, परन्तु अपने हृदय को जलाने वाले क्रोध को नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायण के विमल हृदय में प्रवेश करने के पूर्व ही डर के मारे काँप जाता है, फिर भला उनके हृदय में काम का प्रवेश हो ही कैसे सकता है। (भागवत) जैमिनीय भारत में लिखा है—सहस्त्रकवची दैत्य ने तपस्या द्वारा सूर्य भगवान को प्रसन्न किया और वर माँगा कि मेरे शरीर में एक हजार कवच हों। जब कोई एक हजार वर्ष युद्ध करे तब कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे। उसी को मारने के लिए नर-नारायण का अवतार हुआ था। एक भाई हजार वर्ष तक युद्ध करता और एक कवच तोड़कर मृतक-सा बन जाता, तब दूसरा भाई उसे मन्त्र से जिलाकर और स्वयं एक हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मृतक-सा बन जाता। तब पहला भाई इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता। इस तरह से लड़ते-लड़ते जब एक कवच रह गया तब दैत्य भागकर सूर्य में लीन हो गया। और तब नर-नारायण भगवान बदरिकाश्रम में जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापर में कर्ण हुआ जो गर्भ से ही कवच धारण कर पैदा हुआ। तब नर-नारायण ही ने अर्जुन और कृष्ण हो उसे मारा।

साकेतवासी संत-शिरोमणि श्रीपण्डित रामवल्लभाशरणजी महाराज कहते थे कि भगवान ने विचारा कि कलियुग बड़ा प्रबल है और भरतखण्ड ही केवल कर्म-भूमि है, अन्य खण्ड भोग-भूमि है। काल के प्रभाव से शास्त्र का कथन, मनन, ज्ञान, कुछ भी जीव न कर सकेंगे। इस प्रकार दया से आर्द्रचित्त होकर 'समस्त भारत के बदले का तप हम ही करेंगे, हमारे दर्शन मात्र से उनका तप पूर्ण समझा जायगा।'

ऐसा विचार करके वे अवतार लेकर बदरिकाश्रम में जाकर तप करने लगे। वहाँ श्रीनारदजी अत्यन्त भक्ति-भाव से भगवान की उपासना करते हैं।

श्रीदत्तात्रेय—महर्षि अत्रि की तपस्या से चित्रकूट में माता अनसूया के गर्भ से दत्तात्रेय भगवान प्रकट हुए। वर देते समय भगवान ने कहा था कि मैंने अपने को तुम्हें (दत्त) दे दिया अतः दत्त नाम पड़ा। दत्तात्रेय भगवान के चरणों की सेवा से राजा यदु तथा सहस्रार्जुन आदि ने योग-भोग तथा मोक्ष की भी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं (विशेष देखिए छप्पय १६)।

श्रीकपिलदेव—महर्षि कर्दम की धर्मपत्नी देवहूति के गर्भ से विन्दु सरोवर के निकट नौ बहिनों के साथ भगवान कपिलदेव प्रकट हुए। इन्होंने अपनी माता को आत्मज्ञान का उपदेश दिया, जिससे वे भगवान के वास्तविक-स्वरूप को समझकर स्वल्प समय में ही मोक्ष पद को प्राप्त कर लीं। श्रीकपिलदेव जी माता को उपदेश देकर उनकी अनुमति लेकर विन्दुसर से समुद्र तट पर जा विराजे। जहाँ अश्वमेध यज्ञ के अश्व को खोजते हुए राजा सगर के साठ हजार पुत्र भागवत-अपराध रूप पाप से भस्म हो गये। आपकी कृपा से ही गङ्गाजी धरातल पर आईं और उन सगर पुत्रों का तो उद्धार हुआ ही आज भी जगत का कल्याण हो रहा है। आज भी गङ्गा-सागर-सङ्गम में श्रीकपिल भगवान विराजमान हैं। आपने ऋषियों को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया। आप सांख्ययोग के आचार्य हैं।

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं, कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।। (भा० ३-२४-३३)

अर्थ—कर्दमजी कहते हैं—हे भगवन्! आप परब्रह्म हैं, सारी-शक्तियाँ आपके अधीन हैं। प्रकृति पुरुष महत्तत्व त्रिविध काल अहंकार समस्त लोक एवं लोकपालों के रूप में आप ही प्रकट हैं तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपंच को चेतन-शक्ति के द्वारा अपने में लीन कर लेते हैं अतः इन सबसे आप परे हैं। मैं आप भगवान श्रीकपिलदेव की शरण में हूँ।।

श्रीसनकादि—सृष्टि के आरम्भ में श्रीब्रह्माजी ने लोकों को रचने की इच्छा से तप किया। ब्रह्मा के अखण्ड तप से प्रसन्न होकर भगवान ने तप अर्थ वाले 'सन्' नाम से युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार रूप से अवतार ग्रहण किया। इस अवतार के द्वारा भगवान ने पहले कल्प के भूले हुए आत्मज्ञान को ऋषियों के प्रति यथावत उपदेश किया। सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने से बहु-कालीन हैं। परन्तु सदा पाँच वर्ष के बालक के रूप में रहते हैं, जिससे माया का विकार न उत्पन्न हो सके। ये सदा मन से अपने ब्रह्म-स्वरूप में लीन रहते हैं, और जीवन्मुक्त हैं। इनको उत्पन्न करके ब्रह्माजी ने जब यह आज्ञा दी कि जाकर प्रजासृष्टि की रचना करो। तब इन्होंने प्रपंच विस्तार का अनौचित्य एवं वैराग्य पूर्वक भगवद्भजन का औचित्य दिखाकर ब्रह्माजी को निरुत्तर कर वन की राह ली। आप अखण्ड ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं और अपने तप से समस्त लोकों का सदा कल्याण करते हैं। (विशेष देखिये छप्पय ७, कवित्त २५)

करुणा करौ—भाव यह है कि भगवान की कृपा से ही भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु के स्वरूप को जाना जा सकता है। यथा—'**सोइ जानइ जेहिं देहु जनाई।**' '**तुम्हरिहिं कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन।**' अतः करुणा करौ।।

चौबीस रूप लीला रुचिर—कहकर जनाया कि कोई यह न समझे कि श्रीराम-कृष्ण के ही नाम, रूप, लीलादि रुचिर हैं, चौबीसों अवतारों की लीलायें बड़ी रुचिर हैं।

अग्रदास उर पद धरौ—१-श्रीनाभाजी ने चौबीस अवतारों की वन्दना के साथ-साथ श्रीगुरुदेवजी का भी स्मरण किया है। क्योंकि गुरुदेव भी तो ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। यथा—'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।' अतः अर्थ हुआ—'इन अवतारों के समेत गुरुदेव श्रीअग्रदेवजी महाराज मेरे हृदय में अपने श्रीचरण-कमल स्थापित करें।

२-श्रीअग्रदास शब्द श्रीनाभाजी का पर्याय भी हो सकता है, क्योंकि जहाँ-तहाँ कवित्तों में श्रीअग्रदेवजी के लिये केवल 'अगर' शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा—**'सुने हे अगर, अब जाने मैं अगर सही'** **'कील्ह औ अगर ताहि डगर दरस दियो'** **'अगर सुरीति भाई।'** अतः अग्रदास शब्द का अर्थ होगा अग्रजी का दास अर्थात् नाभाजी। तब छप्पय के अन्तिम चरण का अर्थ होगा—सभी अवतार मुझ श्रीअग्रजी के दास नाभा के हृदय में निजपद-कमल स्थापित करें।

इन दोनों अर्थों के अनुसार यह छप्पय श्रीनाभाजीकृत ही सिद्ध होता है। परन्तु कोई-कोई महानुभाव इस छप्पय को श्रीअग्रदासजीकृत मानते हैं। इस मत का समर्थन श्रीप्रियादासजी की इस छप्पय की टीका कवित्त से भी होता है। यथा—**'अगर सुरीति भाई बसौ उर हार कौं।'**—अर्थात् श्रीअग्रदासजी की मीन, कमठ, वराह, नरहरि आदि अवतार-वन्दना की रीति मुझे अच्छी लगी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह छप्पय श्रीअग्रदासकृत ही है। तब प्रश्न यह होगा कि श्रीनाभाजी ने इसे क्यों लिखा? समाधान—श्रीनाभाजी को भी श्रीगुरुदेवजी की यह रीति भाई अर्थात् अच्छी लगी अतः श्रीगुरुवाणी में ही अवतारों की वन्दना की। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रीअग्रदासजी ने यह अवतार-वन्दना रहस्य श्रीनाभाजी को समझाया हो और नाभाजी गुरु कृपा से मुग्ध होकर छप्पय रचकर छाप श्रीगुरुजी की लगा दिये हों जैसे श्रीहरिवंशजी अपने शिष्य नरवाहनजी की गुरुनिष्ठा पर मुग्ध होकर स्वकृत दो पदों में छाप नरवाहन की लगा दी।। (देखिये इनके प्रसङ्ग)

'उरपद धरौ'—श्रीहरि-गुरु चरणारविन्दों की महिमा अमित है। यथा—

> **चरण कमल वन्दौं हरिराई।**
> **जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कछु दरसाई।।**
> **बहिरो सुनै मूक पुनि बोले रंक चलै सिर छत्र धराई।**
> **सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बन्दौं तेहि पांई।।** (सूरसागर)

जिते अवतार सुखसागर न पारावार करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं।
जाही रूप मांझ मन लागै जाको, पागै तहीं, जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं।।
सब ही हैं नित्त ध्यान करत प्रकाशैं चित्त, जैसे रंक पावैं वित्त, जो पै जानै सार कौं।
केशनि कुटिलताई, ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हार कौं।।१४।।

शब्दार्थ—जिते=जितने। नित्त=नित्य। उधारको=उद्धारको=उद्धार-भवसागर से पार करने के लिये। रङ्क=दरिद्र। केशनि=बालों की। कुटिलताई=टेढ़ापन।

भावार्थ—भक्तवत्सल भगवान के जितने भी अवतार हैं। सभी शाश्वतसुख के समुद्र हैं, उनके नाम, रूप, लीला आदि का ओर-छोर नहीं है। जीवों का उद्धार करने के लिये अवतार लेकर भगवान लीलाओं का विस्तार करते हैं जिस भक्त का मन भगवान के जिस रूप में लग जाता है, उसी रूप में पग (रम) जाता है और उसी रूप से सम्बन्धित प्रेम-भाव जग जाता है। भगवान के सभी रूप अनन्त सुख के सागर हैं अतः प्रेमभाव की तरंगों का आर-पार भला कौन पा सकता है। सभी अवतार नित्य हैं और ध्यान करते ही हृदय को प्रेमानन्द से प्रकाशित कर देते हैं। तब वह भक्त ऐसा सुखी हो जाता है जैसे दरिद्र धन पा गया हो, पर इस प्रकार का दुर्लभ अनुभव तभी होता है जब वह गम्भीर रहस्य को समझे। जिस प्रकार केशों की कुटिलता दूषण न होकर भूषण है, उसी प्रकार मीन, वाराह आदि भगवान के अवतार भी भक्तों को सुख देने वाले हैं। सभी अवतार नित्य एवं पूर्ण हैं, श्रीअग्रदेवजी की यह सुन्दर मान्यता की रीति मुझे अच्छी लगी। चौबीस अवतारों की यह माला मेरे हृदय में हार की तरह बसै।।१४।।

व्याख्या—जिते अवतार—का भाव यह कि कुछ चौबीस अवतार ही नहीं, भगवान के अनन्त अवतार हैं। यथा—'**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः**' और सभी अनन्त-आनन्द सागर स्वरूप हैं। '**करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं।**' यथा—'**असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग विस्तारहिं विसद जस राम जनम कर हेतु।। सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपा सिन्धु जनहित तनु धरहीं।।**' **जाही रूप मांझ मन लागै जाको पागै तहीं**—इस पर—

दृष्टान्त—एक फकीर का—एक फकीर सुन्दर रूप का रसिक था। एकदिन राजकुमार की सवारी निकली। फकीर ने देखा अद्भुत सौन्दर्य था। उसने आज तक ऐसा रूप नहीं देखा था। देखकर बोला—अहा! क्या बढ़िया खुदा का नूर है। फिर क्या था, वह राजकुमार के साथ लग गया। सदा साथ-साथ रहने लगा। यह बात राजकुमार को अच्छी नहीं लगती। सिपाहियों ने फकीर को रोका। राजकुमार ने भी मना किया। परन्तु फकीर तो अपनी धुन में मस्त था। किसी की सुनता ही नहीं। अन्त में राजकुमार तो राजकुमार ही ठहरा। एकदिन उसे बड़ा ही क्रोध आया, फकीर को बहुत पीटा। बात बादशाह तक पहुँच गई। राजकुमार बुलाया गया। पूछने पर सब वृत्तान्त बताया। राजा की समझ में बात आई नहीं कि फकीर राजकुमार पर क्यों इतना आशिक है। फकीर बुलाया गया। उसने अपने को रूप-विषयवश बताया। न्याय-प्रिय राजा ने बिना समझे-बूझे राजकुमार को फकीर के पीटने के फलस्वरूप यह दण्ड दिया कि जब तक फकीर के घाव अच्छे न हों, तब तक इसकी सेवा करो। ऐसा ही हुआ। फकीर की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। देखने का सुन्दर संयोग बन गया। अब फकीर करता क्या कि जब घाव पूरे होने पर होते तो उन्हें नाखूनों से पुनः-पुनः विदीर्ण कर दिया करता। राजवैद्य दवा करते-करते हैरान हो गये। घाव क्यों नहीं अच्छे होते हैं? इस सम्बन्ध में पूछ ताछ करने पर जब परिस्थिति का सही-सही पता लगा तो राजा रूप की आशिकी पर बहुत प्रसन्न हुआ और आदेश दिया कि जब तक तुम्हारी इच्छा हो तब तक राजकुमार के साथ बने रहो। फकीर मनभावता पाकर कृतार्थ हो गया।

२—दृष्टान्त—धनुषदास का—दक्षिण देश में निछुलापुर में एक धनुषदास नाम का व्यक्ति था। उसे सुन्दर रूप देखने का विषय लग गया था। उसकी पत्नी बड़ी रूपवती थी। अतः वह जहाँ भी

जाता, पत्नी की ओर मुँह करके उसका रूप देखते हुए स्वयं गिरते-पड़ते पीछे की ओर चलता। एकबार श्रीरङ्गनाथ भगवान का उत्सव देखने के लिए इसी प्रकार जा रहा था। संयोगवश उस समय श्रीस्वामीरामानुजाचार्य जी काबेरी नदी में स्नान कर लौट रहे थे। संग में शिष्य वर्ग था, लोग आपस में हास-परिहास करने लगे कि ऐसा विषयी व्यक्ति तो आज तक देखने में नहीं आया। श्रीस्वामीजी की भी दृष्टि पड़ी, तो तुरन्त ही एक शिष्य के द्वारा उसे अपने पास बुलवाया और पूछा—मनुष्य होकर भी सर्वथा लज्जा का परित्यागकर पशु की तरह क्यों इस प्रकार चलते- फिरते हो? धनुषदास ने कहा—प्रभो! मैं काम के अधीन न होकर इसके रूप के अधीन भया सब सुधि-बुधि खो बैठा हूँ। इसका स्वरूप देखे बिना मुझे चैन नहीं। तब श्रीस्वामीजी ने कहा कि—यदि तुम इससे भी सुन्दर-स्वरूप देख लोगे तो क्या इसे देखना छोड़ दोगे? धनुषदास ने सौगन्ध खाई कि-मैं निश्चय ही इसे मन से भुला दूँगा। तब श्रीस्वामीजी ने उसे अपने संग ले जाकर त्रिभुवन-मोहन भगवान श्रीरङ्गनाथजी का दर्शन कराया। यतिराज की प्रार्थना पर श्रीरङ्गनाथ भगवान ने भी धनुषदास को अपनी अलौकिक छवि-सुधा का पान कराकर सदा-सर्वदा के लिये उसे अपना बना लिया। आगे चलकर यह धनुषदास श्रीस्वामी रामानुजाचार्य के अनन्य भक्त हुए। इसी प्रकार यदि भगवान के रूप में मन लग जाता है तो वह उसी रूप में पग जाता है फिर तो हृदय में अपार भाव-सागर हिलोरें लेने लगता है।

सबही हैं नित्त—पूर्व कहा कि सभी सुख-सागर हैं अब कहते हैं कि सभी नित्य हैं। तात्पर्य, भगवान के अवतारों में किसी में न्यून किसी में अधिक की भावना न करके सबको पूर्ण ही समझना चाहिए। जैसे श्रीकमलाकर भट्टजी—'**जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि मानैं।**' (छप्पय ८६) पुनश्च—'**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।**' (उपनिषद्) अर्थ—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है। यह जगत भी पूर्ण ही है। क्योंकि उस पूर्ण परब्रह्म से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण परब्रह्म में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण बचा रहता है। अतः ईश्वरावतारों में न्यूनाधिक्य मानना अपराध है, हृदय की संकीर्णता मात्र है। अनन्यता नहीं।

जैसे रंक पावै वित्त०—इस सारतत्व को जान लेने पर कि सभी अवतार पूर्ण हैं, नित्य हैं, सुख-सागर हैं, सभी ही ध्यान करने से चित्त को परम प्रकाशित करते हैं, हृदय में ऐसा आह्लाद होता है जैसे किसी रंक (दरिद्र) को महानिधि मिलने पर आनन्द होता है। 'जो पै जाने सार को'—का भाव यह कि बिना तत्व, महत्व जाने वित्त मिलने पर भी तज्जन्य सुख नहीं मिल पाता, जैसे किसी को पारस मणि मिल जाय परन्तु वह उसे जाने नहीं कि यह पारस है तो उसका पारस से क्या सुख? इस पर—

दृष्टान्त—एक गड़रिये का—किसी गड़रिया को एक हीरा मिल गया, उसने उसे चमकीला पत्थर समझकर बालक को खेलने को दे दिया। एकदिन उसकी पत्नी उसे साग बेचने वाले को पाव-भर साग के बदले दे आई। साग बेचने वाला पंसारी के यहाँ थोड़े से मूली के बीज के बदले दे आया। एक सर्राफ ने देखा तो पंसारी से एक रुपये में ले लिया और दुकान की शोभा मात्र बढ़ाना उसका प्रयोजन रहा। एक जौहरी ने देखा तो दस-बीस रुपया देकर उसे खरीद लिया और कई लाख रुपया देकर जौहरी से बादशाह ने लेकर अपने मुकुट में जड़वाया। दृष्टान्त का तात्पर्य, हीरे के महत्व को न जानने के कारण ही गड़रिया, साग बेचने वाला, पंसारी तथा सर्राफ हीरे को पाकर भी पूर्ण लाभान्वित न हो सके। उसी

प्रकार परमात्मा को नहीं जानने से उस आनन्दकन्द के घट-घट व्यापक होने पर भी लोग दु:खी ही बने रहते हैं। यथा—'**अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।**' और जान लेने पर तो—'**जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।**' तभी तो श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—'**जाने बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति।। प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।**' और बिना भक्ति के सुख नहीं। यथा—'**सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।**' अत: 'जो पै जानै सार को' कहा।

केशनि कुटिलताई ऐसे मीन सुखदाई—भाव यह है कि वैसे तो कुटिलता सदा दुर्गुण ही है परन्तु केश में कुटिलता (घुंघरालापन) गुन है। केश के सम्बन्ध से दूषण (कुटिलता) भी भूषण हो गया वैसे ही मीन, कमठ, सूकर आदि शरीर निन्द्य हैं परन्तु प्रभु के सम्बन्ध से वह स्तुत्य हो गये। जैसे कुटिल केश देखने में सुखदाई लगते हैं। वैसे ही मीन आदि अवतार सुखदायी हैं। अत: जय जय मीन कहा।

अगर सुरीति भाई०—सभी अवतारों की वन्दना करना श्रीअग्रदेवजी की सुन्दर रीति है। इसे 'अगर सुरीति' कहने का भाव यह कि प्राय: लोग अपने इष्ट की वन्दना करते हैं। अपने इष्ट के प्रति भावाधिक्य होता है। परन्तु श्रीअग्रदेवजी तो सभी अवतारों को (इष्ट-स्वरूपों को) ही एक समान (इष्ट समान) ही मानते हुये वन्दना करते हैं, यह अगर सुरीति है। यही वास्तविक अनन्यता है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि यह रीति मुझे बहुत अच्छी लगती है। अत: कहते हैं कि-'**बसौ उर हार को**' यह सुरीति हृदय में हारवत् बसे वा चौबीसों अवतार हृदय में हारवत् बसें वा चौबीसों अवतार सहित श्रीगुरु-पद-कमल हृदय में हारवत् बसे। हार को अर्थात् भक्तमाल के वास्ते उसके रहस्यों को जानने के लिए यह अग्रदेवजी की सुरीति हृदय में बसे। जब तक भगवत् स्वरूपों- अवतारों में भेद-भाव बना रहेगा, तब तक भक्तों में भेद-भाव बना रहेगा और जब तक भक्तों में भेद-भाव रहेगा तब तक भक्त-भगवन्त का अभेद, 'चतुर्नाम वपु एक' यह सिद्धान्त समझ में नहीं आयेगा अत: बसौ....हार को।

चरण चिन्ह रघुबीर के संतनि सदा सहायका।।
अंकुश अम्बर कुलिश कमल जव धुजा धेनुपद।
शंख चक्र स्वस्तीक जम्बुफल कलश सुधा हृद।।
अर्द्धचन्द्र षट्कोन मीन विन्दु ऊरध रेखा।
अष्टकोन त्रैकोन इन्द्रधनु पुरुष विशेषा।।
सीतापति पद नित बसत एते मङ्गल दायका।
चरण चिन्ह रघुबीर के संतनि सदा सहायका।।६।।

शब्दार्थ—अंकुश=आंकुश, नोकदार लोहे का डण्डा, जिससे हाथी चलाया जाता है, शासन। अम्बर=वस्त्र। कुलिश=वज्र, इन्द्र का हथियार। जव=जौ, एक धान्य। ध्वजा=झण्डा। धेनुपद=गाय का खुर। चक्र=सुदर्शन चक्र, पहिये के आकार का एक गोल अस्त्र। स्वस्तीक=मांगलिक चिन्ह विशेष। जम्बुफल=जामुन के फल के समान आकार वाली रेखा। कलश=घड़ा। सुधाह्रद=अमृत कुण्ड। अर्धचन्द्र=आधा चन्द्रमा। षट्कोन=छ: कोने का यन्त्र। विन्दु=बूँद, गोल शून्य। ऊरध रेखा=ऊर्ध्वरेखा,

ऊपर की ओर लम्बी रेखा। अष्टकोन=आठ कोने का यन्त्र। विशेष=श्रेष्ठ। बसत=निवास करते हैं।।

भावार्थ—सीतापति श्रीरामचन्द्र के श्रीचरणों में अंकुश, अम्बर, वज्र, कमल, जव, ध्वजा, गोपद शंख, चक्र, स्वस्तिक, जम्बुफल, कलश, अमृतकुण्ड, अर्द्धचन्द्र, षट्कोण, मीन, बिन्दु, ऊर्ध्वरेखा, अष्टकोण, त्रिकोण, इन्द्रधनुष और पुरुष विशेष ये बाइस चिन्ह सदा विराजते हैं। ये राघवेन्द्र सरकार के चरण-चिन्ह भक्तों को मङ्गलदायक तथा सदा उनके सहायक हैं।।६।।

व्याख्या—चरण—चिन्ह—श्रीरामजी के चरण-कमलों में अड़तालीस महा-मङ्गलदायक चिन्ह हैं। चौबीस चिन्ह दक्षिण पद-कमल में एवं चौबीस वाम पद-कमल में। यथा—

''पुरुष माल अरु छत्रशुभ, सिंहासन यमदण्ड।
चँवर चक्र अंकुश मुकुट सुरतर केतु प्रचण्ड।।
स्वस्तिचिन्ह अठकोण श्री, शर हल मूसल शेष।
पटुक पदुम रथ वज्र जौ, ऊर्ध दाहिंने रेष।।
हंस चन्द्रिका त्रोण धनु, वंशी वीण निशेष।
मीन त्रिवलि पीयूषह्रद, गोखुर महि कलशेश।।
ध्वजा जम्बुफल शशिकला, दर षटकोण त्रिकोण।
गदा जीव सरयूसरित, ऊर्ध विन्दु सुठि लोन।।''

एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि जो चिन्ह श्रीरामजी के दाहिने चरण में हैं वे श्रीजानकीजी के बायें चरण में हैं और जो चिन्ह श्रीरामजी के बायें चरण में हैं वे श्रीजानकी जी के दाहिने पद में हैं।।

भक्तजन अपनी भावना एवं चिन्तन सामर्थ्य के अनुसार यथा साध्य श्रीचरण-चिन्हों का ध्यान करते हैं। जैसे श्रीयामुनाचार्यजी ने सात चरण-चिन्हों का स्मरण किया है। यथा—''**कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पक ध्वजारविन्दांकुश-वज्रलाञ्छनम्। त्रिविक्रमत्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्धानमलंकरिष्यति।**'' (आलवन्दार स्तोत्र)।। अर्थ—हे त्रिविक्रम! शङ्ख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, पताका, कमल, अंकुश, वज्र आदि अनेक चिन्ह जिनमें विराजमान हैं वे आपके श्रीचरण-कमल मेरे मस्तक को कब सुशोभित करेंगे। श्रीतुलसीदासजी ने चार चिन्हों का ही जहाँ-तहाँ स्मरण किया है। यथा—**ध्वज कुलिश अंकुश कंजयुत वन फिरत कण्टक किन लहे। पदकंज द्वन्द्व मुकुन्द राम रमेश नित्य भजामहे।।** (रा०च०मा०) श्रीनाभाजी ने उपर्युक्त छप्पय में बाइस चरण-चिन्हों का स्मरण किया है।

सन्तनि सदा सहायका—ये चरण-चिन्ह सन्तों के सर्वस्व हैं। भावमूर्ति श्रीभरतलालजी चित्रकूट के वन पथ में श्रीरघुनाथजी के चरण-चिन्हों को देखकर श्रीरघुवर-मिलन का ही अनुभव करते हैं। यथा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहु पारस पायउ रंका।।
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुवर मिलन सरिस सुख पावहि।।

परम भागवत श्रीअक्रूरजी की भी यही दशा है। यथा—

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टातलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षिति कौतुकानि विलक्षितान्यब्ज यवांकुशाद्यैः।।

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षण।
रथादवस्कन्ध स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति।। (भा० १०-३८-२५-२६)

अर्थ—जिनके चरण-कमल की रज को सभी लोकपाल अपने किरीटों के द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजी ने गोष्ठ में उन चरण-चिन्हों के दर्शन किये। कमल यव अंकुश आदि असाधारण चिन्हों के द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथ्वी की शोभा बढ़ रही थी।। उन चरण-चिन्हों का दर्शन करते ही अक्रूरजी के हृदय में इतना आह्लाद हुआ कि वे अपने को सँभाल न सके, विह्वल हो गये। प्रेम के आवेग से उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रों में आँसू भर आये और टप-टप टपकने लगे। वे रथ से कूदकर उस धूलि में लोटने लगे और कहने लगे—अहो! यह मेरे प्रभु की चरण-रज हैं।

भगवान के चरण-चिन्ह भक्तों को अभय प्रदान करने वाले हैं। यथा—श्रीकृष्ण ने कालिय नाग से कहा कि—**द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः। यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पाद-लाञ्छितम्।।** (भा० १०-१६-६३) अर्थ—तू जिस गरुड़ के भय से रमणक द्वीप छोड़कर इस दह में आ बसा था। अब तेरा शरीर मेरे चरण-चिन्हों से अङ्कित हो गया है, अतः वे गरुड़ भी अब तुझे न खा सकेंगे।। इस प्रकार इन चिन्हों की अनन्त महिमा है। अतः भगवान के चरण-चिन्ह भक्तों के परम ध्येय बन गये हैं। यथा—'**आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा।।**' श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी प्रभु पद-चिन्हों का कितना आदर करती हैं यह देखते ही बनता है। यथा—**प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता।। सीय रामपद अङ्क बराए। लखन चलहिं मग दाहिन लाए।।** (रा०च०मा०) अतः श्रीनाभाजी भक्त यश वर्णन के पूर्व सन्त सहायक श्रीप्रभुपद-चिन्हों का वर्णन करते हैं।

रघुबीर—श्रीनाभाजी ने श्रीरामजी को बार-बार रघुबीर कहा है। पूर्व अवतार वन्दना में भी 'रघुबीर' ही कहा और यहाँ भी 'रघुबीर' कहते हैं। इसलिये कि '**बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।**' (विनय पत्रिका) रघुबीर शब्द पाँच प्रकार की वीरता के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। यथा—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः।।
पञ्चवीराः समाख्याता राम एव च पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्व वीरोपलक्षणः।।

इन पाँचों के उदाहरण क्रम से लिखते हैं—

१—त्यागवीर— **पितु आयसु भूषण वसन तात तजे रघुबीर।**
हृदय न हरष विषाद कछु पहिरे वल्कल चीर।।

२—दयावीर— **चरण कमल रज चाहती कृपा करहु रघुबीर।।**

३—विद्यावीर— **श्रीरघुबीर प्रताप ते सिन्धु तरे पाषान।**
ते मतिमन्द जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन।।

(जल पर पत्थर तैराना एक विद्या ही है।)

४—पराक्रमवीर— **सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।**
हृदय न हरष विषाद कछु, बोले श्री रघुबीरु।।

५—धर्मवीर— **श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।**
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर।।

सीतापतिपद नित बसत—यहाँ 'नित' कहने का भाव यह है कि लौकिक प्राणियों की भाग्य रेखायें शुभाशुभ कर्मानुसार बनती मिटती रहती हैं, घटती-बढ़ती रहती हैं परन्तु श्रीसीतापति के कर-पद चिन्ह तो सीतापति की ही तरह नित्य हैं और श्रीसीतापति के कर-पद में नित्य वास करते हैं। इनका बनना-मिटना, घटना-बढ़ना नहीं होता है। **'ये तिहुँकाल एक रस रहहीं।** वसत-शब्द से इनकी सजीवता (चैतन्यता) दिखाई गई है। वस्तुतस्तु नित्यमुक्त विभूतियाँ ही इन रूपों में निवास करती हैं। श्रीस्कन्दपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में लिखा है कि वज्रनाभ ने श्रीकृष्ण के दाहिने चरण-कमल में अपने को स्थित देखा। यथा—'**वज्रस्तु दक्षिणे दृष्ट्वा कृष्णपाद सरोरुहे।**'

सन्तनि सहाय काज धारे नृपराज राम चरण सरोजन में चिन्ह सुखदाइये।
मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुश लै धार्‌यो हिये ध्याइये।।
सठता सतावै सीत ताही ते अम्बर धर्‌यो हर्‌यो जन शोक ध्यान कीन्हे सुख पाइये।
ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को कंज मन लाइये।।१५।।

शब्दार्थ—मतंग=हाथी। मतवारो=मतवाला, पागल। हाथ आवै नाहिं=वश में नहीं होता है। सठता=जड़ता, दुष्टता। फोरिबे को=ढहाने, नाशने के लिये। निधि=खजाना, नवनिधि यथा—महामद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व।

भावार्थ—सन्तों की सहायता के लिये राजाधिराज भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने अपने चरण-कमलों में सुख देने वाले इन चिन्हों को धारण किया है। मनरूपी उन्मत्त हाथी किसी भी प्रकार वश में नहीं आता है इसलिये भगवान ने अंकुश का चिन्ह धारण किया है। मनोजय के लिये अंकुश का ध्यान करना चाहिये। जड़तारूपी जाड़ा भक्तों को दुःख देता है, इसलिए वस्त्र चिन्ह धारण करके प्रभु ने उनका शोक दूर किया, भक्तजन ध्यान करके सुख प्राप्त करें। इसी प्रकार पापरूपी पहाड़ों को फोड़ने के लिये वज्र का चिन्ह और भक्तिरूपी नवनिधि जोड़ने के लिये कमल का चिन्ह धारण किया, इनका ध्यान कीजिये।।१५।।

व्याख्या—मन ही मतंग—यथा—

मन है गयंद बलवन्त कहूँ देख्यो नाहिं मार्‌यो हू न जात ताके अंग लै दिखात हैं।
काम क्रोध लोभ मोह पांव चारि चलिबे की प्रकृति ही पूँछ कान कामना हलात हैं।।
निन्दा ही के नैन दन्त द्वन्द्व दुख देइबे को माथो मद मच्छर सूंड तृष्णा डुलात है।
अंकुश पदारविंद हाथी मन जीतिबे को यह है प्रसिद्ध और बातन की बात है।।

अन्यत्र भी मन को मतङ्ग कहा है। यथा—**मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः।** (भागवते) अर्थ—मनरूपी हाथी नाना क्लेशरूपी दावाग्नि से दग्ध है। पुनः—'**मन करि विषय अनल वन जरई।**' (रामचरितमानस) मन और मतवाले हाथी का बड़ा ही सुन्दर रूपक एक कवि ने लिखा है। यथा—

छप्पय— धरना धर्म उखारि शर्म सांकर गहि तोरत।
तरुणी करिणी लखत शील शालहिं गहि मोरत।।
विनय बान नहिं गनत ज्ञान शासन नहिं मानत।
गुरु महावत बात तासु की उर नहिं आनत।।
रहत सदा नवरङ्ग में मनमतङ्ग विचरत बुरो।
प्रभु पद अंकुश वश रहत तजत कुटिलता बनि खरो।।

कैसा भी मतवाला हाथी हो, अंकुश से सहज में ही वशीभूत हो जाता है। तथा—**'महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब।'** वैसे ही कैसा भी विषयोन्मत्त मन हो प्रभुपद में विराजमान अंकुश का ध्यान करने से सहज ही वश में हो जाता है।

सठता सतावै शीत—यहाँ शठता को शीत कहा गया है। दोनों में साम्य यह है कि जैसे शीत से अङ्ग जकड़ जाते हैं अत: कुछ भी करने में असमर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार शठता से बुद्धि-विवेक-विचार आदि कुण्ठित होकर लोक-परलोक साधन में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। शीत का निवारण जैसे वस्त्र धारण करने से होता है वैसे ही शठता अम्बरचिन्ह का ध्यान करने से निवृत्त होती है। **'कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को'**—जैसे वज्र प्रहार से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। वैसे ही 'वज्र' चिन्ह का ध्यान करने से पाप चूर-चूर हो जाते हैं। पाप, भगवद् भजन में बड़ा ही व्यवधान करने वाला है। यथा—**पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।'** अत: इसको नष्ट करने के लिये 'वज्र' चिन्ह का ध्यान करना चाहिए। भक्ति-निधि—जैसे निधियाँ नव हैं (देखिये शब्दार्थ) वैसे ही भक्ति भी श्रवण, कीर्तन आदि भेद से नव प्रकार की होती है। (देखिये छप्पय १४) **कंज मन लाइये—**कमल श्रीलक्ष्मीजी का निवास स्थान है इसी से लक्ष्मीजी का एक नाम ही पड़ गया है पद्ममालया और निधियाँ श्रीलक्ष्मी जी का विलास हैं। निधियों को प्राप्त करने के लिये कमलालया (लक्ष्मी) की आराधना करनी चाहिए और भक्ति-निधि की प्राप्ति के लिए 'कमल' का ध्यान करना चाहिए।।

जव हेतु सुनो सदा दाता सिद्धि विद्या ही को सुमति सुगति सुख सम्पत्ति निवास है।
छिनु में सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभैको विश्वास है।।
गोपद सो ह्वै हैं भवसागर नागरनर जो पै नैन हिय के लगावै मिटै त्रास है।
कपट कुचाल माया बल सबै जीतिबे को दर को दरस कर जीत्यो अनायास है।।१६।।

शब्दार्थ—सिद्धि=मोक्ष, सफलता, आठ सिद्धियाँ यथा—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व। नागर=चतुर। दर=शङ्ख। अनायास=अन्=आयास, विनाश्रम।

भावार्थ—जव चिन्ह के धारण का कारण सुनिये कि यह सर्व विद्या और सिद्धियों का दाता है, इसमें सुमति, सुगति और सुख सम्पत्ति का निवास है, ध्यान करने वालों को इनकी प्राप्ति होती है। कलियुग की कुटिल गति देखकर भक्तलोग क्षण भर में ही भयभीत हो जाते हैं, विशेष करके उनको निर्भयता का विश्वास दिलाने के लिये भगवान ने अपने चरणों में ध्वजा का चिन्ह धारण किया है। चतुर भक्तजन यदि हृदय के नेत्र गोपद चिन्ह में लगावें तो अपार भवसागर गाय के खुर के समान छोटा (सहज पार करने

योग्य) हो जाता है और सभी संसारी कष्ट मिट जाते हैं। माया का कपट, माया की कुचाल और माया के सम्पूर्ण बल को जीतने के लिए प्रभु ने शङ्ख-चिन्ह धारण किया, इसका ध्यान करके भक्तों ने सहज ही माया को जीत लिया।।१६।।

व्याख्या—विद्या—मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि मनुष्य के जानने योग्य दो विद्यायें हैं। एक परा दूसरी अपरा। उनमें से (जिसके द्वारा लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान होता है वे) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। शिक्षा (जिसमें वेदों के पाठ की विधि का उपदेश है), कल्प (जिसमें यज्ञादि की विधि का वर्णन है), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दों का कोष), छन्द (वैदिक छन्दों की जाति और भेद का जिससे ज्ञान होता है) और ज्योतिष, इन दस का नाम 'अपरा' है। और जिसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है वह 'परा' विद्या है। पुनश्च—विद्यायें प्रायः चौदह मानी जाती हैं। यथा—'**पुराणन्यायमीमां- साधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानिविद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।**' (याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात— प्रकरण १)। अर्थात् ब्रह्म आदि अठारह पुराण, तर्क विद्यारूप न्याय, मीमांसा (वेद वाक्य का विचार), धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि), वेद के छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द) और चारों वेद—ये मिलकर चौदह विद्यायें हैं।।

पुनश्च— **ब्रह्मज्ञान रसायनं स्वरधरं वेदं तथा ज्योतिषं,**
व्याकरणं च धनुर्धरं जलतरं वैद्यं च कृष्यापरम्।
कोके बाहन वाजिनां नटनृतं सम्बोधनं चातुरी,
विद्यानां च चतुर्दश प्रति दिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्।।

पुनश्च—श्रीरामानन्दराय ने कहा है—**श्रीकृष्णभक्ति बिना विद्या नाहिं आर।।**
(चै०च० ८-१९९)

कलि की कुचाल— आश्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाषण्ड पाप रत अपने अपने रंग रई है।।
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल विलसत हुलसत खलई है।।
परमारथ स्वारथ साधन भये अफल सफल नहिं सिद्धि सई है।
कलि कुचाल बरनिये कहाँ लौं करत फिरत बिनु टहल टई है।। (विनय)

कपट कुचाल मायाबल—यथा—**व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड। सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड।।**

'जीत्यो अनायास'—कहने का भाव यह है कि माया के सेनानी महा अजय कहे गये हैं। यथा—'**महा अजय संसार रिपु।**' परन्तु भगवान के चरण-चिन्हों का ध्यान करने से सहज में ही जीत लिये जाते हैं।

कामहू निशाचर के मारिबे को 'चक्र' धर्‌यो मङ्गल कल्याण हेतु 'स्वस्तिक' हूँ मानिये।
मंगलीक 'जम्बूफल' फल चारि हूँ कौ फल कामना अनेक विधि पूर्ण नित ध्यानिये।।
'कलश' सुधा को सर' भर्‌यो हरि भक्ति रस, नैन पुट पान कीजै जीजै मन आनिये।
भक्ति को बढ़ावै औ घटावै तीन तापहूँ को, 'अर्धचन्द्र' धारण ये कारण हैं जानिये।।१७।।

शब्दार्थ—ध्यानिये=ध्यान कीजिये। पुट=दोना।। जीजै=जीवित रहिये, जीवन सफल कीजिये। मन आनिये=मन में लाइये, मानिये।

भावार्थ—भगवान ने कामरूपी निशाचर को मारने के लिए अपने चरण में चक्र-चिह्न धारण किया। ध्यान करने वाले के मंगल और कल्याण के लिये स्वस्तिक रेखा धारण की, ऐसा मानिये। अर्थ धर्म काम और मोक्ष चारों फलों का फल जम्बूफल मंगल करने वाला अनेक प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, इसका नित्य ध्यान कीजिये। अमृत का कलश और अमृत का कुण्ड ये चिह्न इसलिये धारण किये कि ध्याता के हृदय में भक्तिरस भरे। ध्यान नेत्र के कटोरा से पीकर सदा अमर रहें, भक्तजन मन में ध्यान करें। अर्धचन्द्र के धारण का कारण यह जानिये कि वह ध्यान करने वाले के तीनों तापों को नष्ट करे और भक्ति को बढ़ावे।।१७।।

व्याख्या—कामहू निशाचर—यहाँ काम को निशाचर कहा गया है। क्योंकि दोनों ही निशा (रात्रि) में अधिक बलवान हो जाते हैं। **'फल चारिहूं को फल'**—चार फल से तात्पर्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष से है और चारों फलों के भी फल से तात्पर्य प्रेम से है। प्रेम को पंचम पुरुषार्थ कहा गया है। यथा—**'पंचम पुरुषार्थ हय प्रेम महाधन।'** 'कामना अनेक विधिपूर्ण'—का भाव यह कि जहाँ अन्य अनेक साधनों से एक दो प्रकार की कामनायें पूर्ण होती हैं वहाँ एक 'जम्बूफल' चिन्ह का ध्यान करने से ही अनेक विध कामनायें पूर्ण हो जाती हैं।

विषया भुजंग बलमीक तनमाहिं बसै दास कौ न डसै याते यत्न अनुसर्‌यौ है।
'अष्टकोन''षटकोन' औ 'त्रिकोन' जन्त्र किये जिये जोई जानि जाके ध्यान उर भर्‌यो है।।
'मीन' 'बिन्दु' रामचन्द्र कीन्ह्यो वशीकर्ण पाँय ताहि ते निकाय जन मन जात हर्‌यो है।
सागर संसार ताको पारावार पावें नाहिं 'ऊर्ध्वरेखा' दासन को सेतु बन्ध कर्‌यो है।।१८।।

शब्दार्थ—विषया=इन्द्रियों के अनेक विषय। भुजङ्ग=सर्प। बलमीक=बाँबी, बिल। अनुसर्‌यो=कियो। वशीकर्ण=अपने अधीन करने का। निकाय=समूह। सेतुबन्ध=अति अपार जे सरित वर, जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनुश्रम पारहि जाहिं।।

भावार्थ—काम आदि विषयरूपी साँप शरीररूपी बाँबी में बसते हैं, वह भक्तों को न डसें, इसलिये यह उपाय किया है कि अष्टकोण, षटकोण और त्रिकोण यन्त्र-चिन्हों को धारण किया, ऐसा जानकर जिस-जिसने हृदय में इनका ध्यान किया वे विषयरूपी सर्प से बचे और जीवित रहे अर्थात् उनका निरन्तर भगवान में प्रेम बना रहा। भगवान श्रीरामचन्द्र ने अपने चरण-कमल में मीन और बिन्दु-चिन्हों को वशीकरण यन्त्र बनाकर धारण किया, इसी से बहुत से भक्तों के मन हरे जाते हैं। संसार-रूपसागर अपार है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता इसलिए ऊर्ध्वरेखा धारण कर पुल बाँध दिया। ध्यान करने वाले सहज में ही संसार-सागर पार कर जाते हैं।।१८।।

'धनु' पद माहिं धर्‌यौ हर्‌यौ शोक ध्यानिनको मानिनको मार्‌यो मान रावणादि साखिये।
'पुरुष विशेष' पदकमल बसायौ राम, हेतु सुनो अभिराम श्याम अभिलाषिये।।
सूधो मन सूधी बैन सूधी करतूति सब ऐसो जन होय मेरो, याही के ज्यों राखिये।
जो पै बुधिवन्त रसवन्त रूप सम्पत्ति में, करि हिये ध्यान हरिनाम मुख भाषिये।।१९।।

शब्दार्थ—धनु=धनुष। मानिन=अहङ्कारियों का। अभिराम=सुन्दर।

भावार्थ—श्रीराघवेन्द्र सरकार ने अपने श्रीचरणों में इन्द्रधनुष-चिन्ह धारण करके ध्यान करने वाले भक्तों का दुःख दूर किया और रावण आदि अहङ्कारियों के अहङ्कार को भी धनुष से ही नाश किया सो प्रसिद्ध है। पुरुष विशेष चिन्ह अपने पद-कमल में बसाया उसका कारण सुनिये और श्यामसुन्दर को प्राप्त करने की अभिलाषा कीजिये। उनका कथन है कि हमारा भक्त यदि सरल मन वाला, सत्य सरल वचन वाला और शुद्ध सरल कर्म वाला हो तो इसी पुरुष-चिन्ह के समान मैं चरण-शरण में रखूँगा। जो जन बुद्धिमान हों, रूप सम्पत्ति के रसिक हों वे पूर्व वर्णित इन श्रीचरण-चिन्हों का हृदय में ध्यान करके मुख से भगवान के नामों का उच्चारण करते रहें।।१९।।

व्याख्या—सूधो मन०—भाव यह है कि—मन, वचन, कर्म से निर्मल, निश्छल। यथा—**मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।** ऐसे लोग भगवान को बहुत भाते हैं—यथा—**निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।।** 'जो पै बुधिवन्त' अर्थात् बुद्धिमान हों, साथ-साथ रसवन्त भी हों तात्पर्य यह कि बुद्धि की शोभा हृदय की सरसता से है। पूर्ण रसास्वादन भी तभी होता है जब दोनों का योग हो। 'रूप-सम्पत्ति'—भक्तों की सम्पत्ति भगवान का नाम रूप, लीला, धाम ही है। यथा—नाम धन—'**बड़ो धन हरिजन को हरिनाम**' (सूर) '**परम धन राधानाम अधार**' (व्यास) '**पायो जी मैंने राम रतन धन पायो** (मीरा) रूपधन '**धनं मदीयं तव पाद पंकजम्**' (यामुनाचार्यजी) चरित (लीला) धन—'**राम भगत जन जीवन धन से।**' धाम-धन—'**मैदा मिश्री मुहरैं मेरी वृन्दावन की धूरि**' (व्यासजी)

विधि नारद, शङ्कर, सनकादिक, कपिलदेव, मनु भूप।
नरहरिदास, जनक, भीषम, बलि, शुकमुनि धर्मस्वरूप।।
अन्तरङ्ग अनुचर हरि जू के जो इनको यश गावैं।
आदि अन्त लौं मंगल तिनको श्रोता वक्ता पावैं।।
अजामेल परसंग यह निर्णय परम धर्म के जान।
इनकी कृपा और पुनि समझें 'द्वादश भक्त' प्रधान।।७।।

शब्दार्थ—धर्मस्वरूप=धर्मराज। अन्तरङ्ग=आत्मीय, अति समीप का, घनिष्ट। अनुचर=सहचर, सेवक, पीछे-पीछे चलने वाला। परसंग=प्रसङ्ग, प्रकरण। निर्णय=फैसला, दो पक्षों में से उचित को उचित और अनुचित को अनुचित ठहराना। परमधर्म=श्रेष्ठ वैष्णव धर्म, भक्ति देने वाला आचरण।

भावार्थ—श्रीब्रह्माजी, श्रीनारदजी, श्रीशङ्करजी, श्रीसनकादिक, श्रीकपिलदेवजी महाराज, श्रीमनुजी, श्रीप्रह्लादजी, श्रीजनकजी, श्रीभीष्मपितामहजी, श्रीबलिजी, महामुनि श्रीशुकदेवजी और धर्मराजजी ये बारहों भगवान के अन्तरङ्ग सेवक हैं, जो इनके यश को सुनैं गावें उन सभी श्रोता और वक्ताओं का आदि से अन्त तक सर्वदा मंगल हो। अजामिल के प्रसंग में धर्मराज का यह परमश्रेष्ठ निर्णय जानिये कि इन्हीं की कृपा से और दूसरे भक्त-भक्ति के रहस्यों को समझते हैं, ये द्वादश प्रधान भक्त हैं।।७।।

व्याख्या—परम धर्म—स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।। (भा० १-२-६) अर्थ—मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवान में भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृत-कृत्य हो जाता है।। इनकी......... प्रधान—यथा—श्रीब्रह्माजी की कृपा से श्रीसनकादिक, नारदादिक को, श्रीनारदजी की कृपा से श्रीध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि व्यासादि को, श्रीशिवजी की कृपा से श्रीपार्वती, अगस्त्य (यथा—**ऋषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई)** कागभुसुण्डि **(सोइ सिव कागभुसुण्डिहिं दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा)** लोमशादि को **(सम्भुप्रसाद तात मैं पावा।)** श्रीसनकादिजी की कृपा से श्रीनारदजी को भागवतमहापुराण-सार मिला, श्रीकपिलदेवजी की कृपा से माता देवहूति एवं आसुरि आदि शिष्यों को, श्रीमनुजी की कृपा से मनुस्मृति के द्वारा मानवमात्र को, श्रीप्रह्लादजी की कृपा से दैत्य बालकों को, श्रीजनकजी की कृपा से मुनिवृन्द (यथा—**जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा)** एवं शुकदेवजी को, श्रीभीष्मजी की कृपा से श्रीयुधिष्ठिरादि को, श्रीबलिजी की कृपा से (उनके आत्म-समर्पण के द्वारा) साधकमात्र को, श्रीशुकदेवजी की कृपा से श्रीपरीक्षित, सूत ऋषिगणादि को, श्रीधर्मराजजी की कृपा से, उनके दूतों एवं नचिकेता आदि को परमधर्म भक्ति-तत्व का बोध हुआ।

श्रीब्रह्माजी—द्वादश प्रधान महाभागवतों में श्रीब्रह्माजी अग्रगण्य हैं। श्रीमद्भागवतजी में भी यमराज ने अपने दूतों से परम-भागवतों का वर्णन करते हुये श्रीब्रह्माजी को प्रथम कहा है यथा—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्।।
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः। गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते।। (भा० ६/३/२०)

अर्थ—भगवान के द्वारा निर्मित भागवत धर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है वह भगवत्स्वरूप को प्राप्तकर लेता है। दूतो! भागवत धर्म का रहस्य हम बारह व्यक्ति ही जानते हैं। ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान शङ्कर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुवमनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म पितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज)।।

सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयार्णव के जल में डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र श्रीनारायणदेव शेष-शय्या पर पौढ़े हुए थे। सृष्टिकाल आने पर भगवान नारायण की नाभि से एक परम प्रकाशमय कमल प्रकट हुआ और उसी कमल से साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए। उस कमल की कर्णिका में बैठे हुए ब्रह्माजी को जब कोई लोक दिखाई नहीं दिया तब वे आँखें फाड़कर आकाश में चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये। आश्चर्य-चकित श्रीब्रह्माजी कुतूहलवश कमल के आधार का पता लगाने के लिये उस कमल की नाल के सूक्ष्म छिद्रों में

होकर उस जल में घुसे। परन्तु दिव्य सहस्रों वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी कुछ भी पता न मिलने पर अन्त में विफल मनोरथ हो वे पुनः कमल पर लौट आये। तदनन्तर अव्यक्त वाणी के द्वारा तप करने की आज्ञा पाकर श्रीब्रह्माजी एक सहस्र दिव्य वर्ष पर्यन्त एकाग्रचित्त से कठिन तप करते रहे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें अपने लोक का एवं अपना दर्शन कराया। सफल मनोरथ श्रीब्रह्माजी ने भगवान की स्तुति की। भगवान ने उन्हें भागवत-तत्व का चार श्लोकों में उपदेश दिया, जिसे चतुःश्लोकी भागवत कहते हैं। उपदेश देकर भगवान ने कहा—ब्रह्माजी आप अविचल समाधि के द्वारा मेरे इस सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा कर लो। इससे तुम्हें कल्प-कल्प में विविध प्रकार की सृष्टि रचना करते रहने पर भी कभी मोह नहीं होगा। फिर भगवान ने अपने संकल्प से ही ब्रह्माजी के हृदय में सम्पूर्ण वेद-ज्ञान का प्रकाश कर दिया—

यथा—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः**' (भा० १-१-१) अर्थ—भगवान ने अपने संकल्प से ही ब्रह्माजी को उस वेद-ज्ञान का दान दिया जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कालान्तर में श्रीनारदजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजी ने उनको चतुःश्लोकी भागवत-तत्व का उपदेश दिया और देवर्षि नारदजी ने वह तत्व-ज्ञान भगवान वेदव्यास जी को सुनाया और श्रीव्यासजी ने चार श्लोकों से ही अठारह हजार श्लोकों के रूप में श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना कर श्रीशुकदेवजी को पढ़ाया। इस प्रकार श्रीमद्भागवत का लोक में विस्तार हुआ।

भगवान के द्वारा प्राप्त उपदेश का निरन्तर चिन्तन करते रहने से तथा भगवत्स्वरूप का ध्यान करते रहने से ब्रह्माजी का अपने मन-वाणी और इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो गया है कि सदा-सर्वदा जगत्-प्रपञ्च में लगे रहने पर भी इनकी वृत्तियाँ स्वप्न में भी असत् की ओर नहीं जाती हैं। इस बात को स्वयं ब्रह्माजी ने कहा है। यथा—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः।। (भा० २/६/३३)

अर्थ—प्यारे नारद! मैं प्रेमपूर्ण एवं उत्कण्ठित हृदय से भगवान के स्मरण में मग्न रहता हूँ, इसी से मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य संकल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादा का उल्लंघन करके कुमार्ग में नहीं जातीं।। सच पूछें तो यही भागवत धर्म का सार है। भगवान की शरणागति महिमा पर प्रकाश डालते हुए श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि

तावद्भयं द्रविणगेहं सुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्ति मूलं यावन्नतेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।। (भा० ३/९/६)

अर्थ—जब तक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दों का आश्रय नहीं लेता तभी तक उसे धन, घर और बन्धुओं के कारण प्राप्त होने वाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं। तभी तक उसे मैं, मेरेपन का दुराग्रह रहता है, जो दुःख का एकमात्र कारण है।

पुनश्च— **तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।**
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।। (भा० १०/१४/३६)

अर्थ—हे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्यामसुन्दर! तभी तक राग-द्वेषादि दोष चोरों के समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभी तक घर और उसके सम्बन्धी कैद की तरह सम्बन्ध के बन्धनों में बाँधें रखते हैं और तभी तक मोह पैर की बेड़ियों की तरह जकड़े रहता है, जब तक जीव आपका नहीं हो जाता। जगत् के जीवों को कर्तव्य निर्देश करते हुए श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।। (भा० १०/१४/८)

अर्थ—इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षण पर बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा का ही भली-भाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मन से भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय गद्गद् वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणों में समर्पित करता रहता है— इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परमपद का अधिकारी हो जाता है जैसे पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का।

श्रीब्रह्माजी के परम सौभाग्य का क्या कहना है? जो कि भगवान के समस्त अवतारों के दर्शन स्तवन करते हैं। **'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं'** इसके अनुसार ब्रह्माजी के अधिकार काल में ३६००० बार भगवान के विविध अवतार होते हैं। क्योंकि एक कल्प ब्रह्माजी का एक दिन होता है और सौ वर्ष श्रीब्रह्माजी की आयु में ३६००० कल्प दिन के (उतने ही रात्रि के भी) होते हैं। साथ ही प्रायः अधिकांश अवतार ब्रह्माजी की प्रार्थना से होते हैं।

श्रीनारदजी-'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' अर्थात् प्रजापति ब्रह्माजी की गोद से श्रीनारदजी उत्पन्न हुये। जब ब्रह्माजी ने इन्हें भी सृष्टि विस्तार की आज्ञा दी तो नारदजी ने यह कहकर कि—'अमृत से भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण सेवा छोड़कर कौन मूर्ख विषय नामक विष का भक्षण (आस्वादन) करेगा? ब्रह्माजी की आज्ञा का अनौचित्य दिखाया। श्रीनारदजी की यह बात सुनकर ब्रह्माजी रोष से आग बबूला हो गये और नारदजी को शाप देते हुए बोले—नारद! मेरे शाप से तुम्हारे ज्ञान का लोप हो जायेगा, तुम पचास कामिनियों के पति बनोगे। उस समय तुम्हारी उपबर्हण नाम से प्रसिद्धि होगी फिर मेरे ही शाप से दासी पुत्र बनोगे, पश्चात् सन्त-भगवन्त कृपा से मेरे पुत्र रूप में प्रतिष्ठित हो जाओगे।

ब्रह्माजी के दिये हुए उस शाप के कारण नारदजी आगे चलकर उपबर्हण नाम के गन्धर्व हुए और चित्ररथ गन्धर्व की पचास कन्याओं ने उन्हें पति रूप में वरण किया। एकबार वे पुष्कर क्षेत्र में श्रीब्रह्माजी के स्थान पर गये और वहाँ श्रीहरि का यशोगान करने लगे। वहीं रम्भा अप्सरा को नृत्य करते देख काम मोहित होने से वीर्य स्खलित हो गया। जिससे कुपित होकर ब्रह्माजी ने उन्हें शाप देते हुए कहा—तुम गन्धर्व शरीर का त्यागकर शूद्र योनि को प्राप्त हो जाओ। शाप सुनकर उपबर्हण ने तत्काल उस शरीर को योग-क्रिया के द्वारा छोड़ दिया और कालान्तर में द्रुमिल गोप की पत्नी कलावती के गर्भ से उत्पन्न होकर दासी पुत्र कहलाये। (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

द्रुमिल गोप के स्वर्ग सिधार जाने पर कलावती एक सदाचारी ब्राह्मण के घर सेवा कार्य करती हुई जीवन-यापन करने लगी। उस समय का अपना चरित्र बताते हुए नारदजी ने व्यास जी से कहा कि ब्राह्मण के घर चातुर्मास्य बिताने के लिये सन्तों ने निवास किया। ब्राह्मण की आज्ञा से मैं माता समेत सन्तों

की सेवा में लगा रहता था और पात्रों में लगी हुई उनकी जूठन दिन में एकबार खा लिया करता था। जिससे मेरे सब पाप दूर हो गये, हृदय शुद्ध हो गया, जैसा भजन-पूजन वे लोग करते थे उसमें मेरी भी रुचि हो गयी। यथा–

उच्छिष्टलेपाननुमोदितोद्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध चेतसस्तद्धर्म एवात्म रुचिः प्रजायते।। (भा० १/५/२५)

चातुर्मास्य करके जाते हुए साधुओं ने मुझ शान्त, दान्त, विनम्र बालक को रूप ध्यान और नाम जप का उपदेश दिया। कुछ ही दिन बाद सायंकाल में गाय दुहाकर लौटते समय साँप के काटने से माता की मृत्यु हो गई। तब मैं भगवान की कृपा का सहारा लेकर उत्तर दिशा की ओर वन में चला गया। थककर पीपल मूल में बैठकर ध्यान करते हुए मेरे हृदय में प्रभु प्रकट हो गये, मैं आनन्दमग्न हो गया। परन्तु वह झाँकी तो विद्युत की भाँति आयी और चली गई। मैं पुनः दर्शन पाने के लिए व्याकुल हो गया। उस समय आकाशवाणी ने आश्वासन देते हुए बतलाया–'अब इस जन्म में तुम मुझे नहीं देख सकते। यह एक झाँकी तो मैंने तुम्हें कृपा करके इसलिए दिखलाई कि इसके दर्शन से तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय।' तब मैं दयामय भगवान को प्रणाम कर उनका गुण गाते हुए पृथ्वी पर घूमने लगा। समय आने पर मेरा वह शरीर छूट गया तब दूसरे कल्प में मैं ब्रह्माजी का पुत्र हुआ। व्यासजी! अब तो जब मैं वीणा बजाकर प्रभु गुण-गान करता हूँ तो बुलाये हुए की तरह भगवान मेरे चित्त में तुरन्त प्रकट हो जाते हैं। यथा–

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपदः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि।। (भा० १/६/३४)

श्रीभक्ति की महिमा वर्णन करते हुये श्रीनारदजी कहते हैं कि–

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।। (भा० १/५/१२)

अर्थ–वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् साधन है, यदि भगवान की भक्ति से रहित हैं तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओं में सदा अमङ्गलरूप है वह काम्य-कर्म और जो भगवान को अर्पण नहीं किया गया है ऐसा निष्काम कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।

सत्रह पुराणों की रचना करके भी असन्तुष्ट व्यासजी को आपने चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया। तब व्यासजी ने भागवत का निर्माण किया। गर्भस्थ प्रह्लाद तथा वन जाते हुए ध्रुव को नारदजी ने ही उपदेश देकर महान् भक्त बनाया। दक्ष के हर्यश्व नामक दस हजार पुत्रों को विरक्त बना दिया। दूसरी बार दक्ष ने एक हजार पुत्र उत्पन्न करके सृष्टि वृद्धि हेतु तप करने भेजा, इनको भी नारदजी ने विरक्त बना दिया। तब कुपित होकर दो घड़ी से अधिक कहीं न ठहरने का शाप दक्ष ने दिया जिसे बहुत अच्छा कहकर नारदजी ने स्वीकार किया। सामर्थ्य होते हुए भी बदला न लेना ही साधुता है। यथा–

प्रतिजग्राह तद् वाढं नारदः साधुसम्मतः।
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्।। (भा० ६/५/४४)

नारदजी देवर्षि हैं तथा वेदान्त, योग, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत तथा भक्ति के मुख्य आचार्य हैं। पृथ्वी पर भक्ति प्रचार का श्रेय आपको ही है। भक्तिदेवी तथा ज्ञान-वैराग्य का कष्ट दूर करते हुए वृन्दावन में आपने प्रतिज्ञा की है कि—''हे भक्तिदेवी! कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है अतः कलियुग में दूसरे धर्मों का तिरस्कार करके और भक्ति विषयक महोत्सवों को आगे करके जन-जन और घर-घर में तुम्हारी स्थापना न करूँ तो मैं हरिदास न कहाऊँ।'' यथा—

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने। तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने।।
अन्य धर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान्। तदानाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये।।
(भा० मा० २-१३-१४)

स्वयं भक्ति ने कहा कि हे ब्रह्मपुत्र! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारे एकबार के उपदेश से प्रह्लाद ने माया विजय तथा ध्रुव ने ध्रुवपद प्राप्त कर लिया। यथा—

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकल कुशलपात्रं ब्रह्म पुत्रं नतास्मि।। (भा० मा० १-८०)

पुनः भक्ति ने कहा कि तुम्हारी मुझमें प्रीति है अतः तुम्हारे चित्त में सदा निवास करूँगी। यथा—**अहो नारद! धन्योऽसि प्रीतिस्ते निश्चला मयि। न कदाचिद् विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा।।** (भा० मा० २-२३) भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीनारदजी की स्तुति करते हुये उग्रसेन से कहा कि निरहंकारी, ब्रह्मा की गोद से प्रकट, सर्वज्ञ नारदजी को नमस्कार है। यथा—**उत्सङ्गात्ब्रह्मणोजातो यस्याहन्ता न विद्यते। अगुप्तश्रुति चारित्रं नारदं तं नमाम्यहम्।।** (स्कन्द पुराण में २२ श्लोकों में यह स्तोत्र है) श्रीनारदजी का गुण गाते हुए भगवत-रसिकजी कहते हैं कि—'**गुरु नारद सो मिलै अकिंचन पर उपकारी।**'

दृष्टान्त—कृष्णदत्त का—एक गाँव में एक ब्राह्मण-दम्पत्ति निवास करते थे। ब्राह्मण का नाम था कृष्णदत्त ब्राह्मणी का नाम था सुन्दरी। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। सुन्दर सुखमय जीवन था। एकबार विचरण करते हुए श्रीनारदजी उधरसे ही जा निकले। सहृदय दम्पत्ति को देखकर विचार आया कि ये तो भगवान का भजन करते तो अच्छा होता। फिर तो उतर पड़े उसके द्वार पर। संयोग से ब्राह्मण किसी कार्यवश बाहर चला गया था। ब्राह्मणी ने देवर्षि का बड़ा सत्कार किया, अपना धन्य-भाग्य माना। बाद में श्रीनारदजी ने प्रसङ्ग छेड़ा, घर में सेवा-पूजा किसकी है? गोपालजी हैं अथवा श्रीरामजी हैं। शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई है? मन्त्र कौन-सा है? आदि-आदि। ब्राह्मणी ने सबका नकारात्मक उत्तर दिया। तब तो नारदजी ने जो कुछ खाया-पीया था, तत्काल वमन कर दिया और पूछने पर बताया कि अदीक्षित के हाथ का अन्न-जल ग्रहण नहीं करना चाहिये।

ब्राह्मणी अत्यन्त दीन होकर चरणों में पड़ गयी और दीक्षा के लिये प्रार्थना की। श्रीनारदजी तो इसी के लिये आये ही थे। तुरन्त कण्ठी बाँधे श्रीहरि नाम सुनाये और उपदेश दिये कि आज से तुम भी किसी अदीक्षित का छुवा न पाना। ब्राह्मणी ने आज्ञा-शिरोधार्य की। 'श्रीनारदजी' जय श्रीमन्नारायण,

कहकर चलते भये। तब तक भूखा-प्यासा उसका पति घर पर आया और घड़े से जल लेने के लिए ज्यों ही आगे बढ़ा, ब्राह्मणी ने ललकारा—छूना नहीं, मैंने आज ही नया घड़ा रखा है। फिर स्वयं जल दिया। ब्राह्मण ने भोजन किया तो बचा हुआ उच्छिष्ट, जो प्रतिदिन स्वयं खाती थी, आज गाय को डाल दिया, बरतन साफ की, चौका लगायी तब अपने खायी। ब्राह्मण हैरान था। इसकी प्रकृति में इतना परिवर्तन क्यों? पूछने पर ब्राह्मण झुंझलाया, पत्नी को डाँटा-धमकाया, दो-चार चपत भी लगा दिया कि तू मेरी पत्नी होकर मुझे नहीं मानती, नारद के बहकावे में आ गई। भला—'**नारद कर उपदेश सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह।**' परन्तु ब्राह्मणी तो पक्के गुरु की चेली थी, श्रीपार्वतीजी का-सा जवाब दिया—'**तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू। गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।।**'

श्रीपार्वतीजी से सप्तर्षि हार गये थे। ब्राह्मणी ने भी कहा—चाहे मुझे मार भले डालो परन्तु जब तक तुम भी दीक्षा नहीं लोगे तब तक मैं तुम्हारी जूठन खाने की नहीं। ब्राह्मण ढीला पड़ गया। दीक्षा लेने की स्वीकृति दे दी। ब्राह्मणी ने तुरन्त स्मरण किया, श्रीनारदजी तत्काल प्रकट हो गये। ब्राह्मण भी चरणों में पड़ा, निवेदन किया दीक्षित करने के लिए। श्रीनारदजी ने कहा—तुम स्नान कर आओ। ब्राह्मणी से कहे=तुम चौका लगाओ। उधर ब्राह्मण को त्वरापूर्वक जाते देखकर किसी ने पूछा और ब्राह्मण ने जब बताया तो उसने उसे उल्टा-सीधा पढ़ा दिया। अभी पितृ-पक्ष है पितरों का तर्पण-श्राद्ध करो। दीक्षा के अभी बहुत दिन हैं। ब्राह्मण भूल-भूलैया में आ गया। लौटकर श्रीनारदजी से बोला—अभी नहीं—आगे अक्षय-नवमी को दीक्षा लूँगा। श्रीनारदजी वीणा बजाते, हरि गुण गाते हुये चलते भये।

निश्चित समय पर जब फिर ब्राह्मण के घर आये तो पता चला कि वे तो दोनों स्वर्ग सिधार गये। श्रीनारदजी ने ध्यान धरकर देखा तो पता चला कि ब्राह्मणी तो राजकुमारी भई और ब्राह्मण उसी राजा के यहाँ हाथी रूप में है। श्रीनारदजी वहाँ भी पहुँचे। राजकुमारी ने पूर्वजन्म के भावानुसार ही बड़ा अर्चन-वन्दन किया और गजराज ने इन्हें देखकर सिर नीचा कर लिया। दोनों को ही श्रीनारद जी के दर्शन के प्रभाव से पूर्वजन्म का ज्ञान था। हाथी अपनी करनी पर पश्चात्ताप करता। राजकुमारी को देखकर रोता रहता कि अब यह दूसरे की पत्नी हो जायेगी। राजकुमारी उसे समझाती रहती तथा पूर्ववत् उसमें पति भाव रखती। यहाँ तक कि स्वयम्बर के दिन उसने हाथी के गले में जयमाला भी डाली। यद्यपि इस प्रक्रिया से राजा एवं राजकुमारी का बड़ा उपहास हुआ परन्तु वह तो अपने भाव में दृढ़ रहते हुए बार-बार गज के ही गले में जयमाला डाली। अन्त में जब माता-पिता बड़े दुःखी हुये तो उसने श्रीगुरुदेव नारदजी का स्मरण किया। श्रीनारदजी आये। हाथी के पास जाकर बोले अब तो नाम सुन लो। हाथी ने माथा टेककर प्रणाम किया श्रीनारदजी ने कान में भगवन्नाम सुनाया। हाथी तुरन्त अपना वह शरीर छोड़कर दिव्य-राजकुमार हो गया। फिर नारदजी ने दोनों को विधिवत् दीक्षा दी। ऐसे हैं परमकृपालु गुरु श्रीनारदजी।

श्रीशंकरजी—निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा।। (भा० १२-१३-१६) अर्थ—नदियों में गङ्गा, देवों में अच्युत (भगवान) पुराणों में भागवत और वैष्णवों में शम्भु श्रेष्ठ हैं। द्वादश परम भागवतों में श्रीशिवजी का प्रमुख स्थान है। भगवान के स्वभाव, प्रभाव, गुण, शील माहात्म्य आदि के जानने वालों में भी श्रीशिवजी अग्रगण्य हैं। यथा—**राम रावरो सुभाउ गुण शील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लखन भरत।** (विनय)

भगवान के नाम के प्रभाव को तो जैसा श्रीशिवजी जानते हैं वैसा कोई जानने वाला नहीं है। यथा—**नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को।।** पुनश्च—'**जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम।।** (नन्दी-पुराण) श्रीराम-नाम के प्रभाव को तो गिरिजापति श्रीशंकर ही जानते हैं। उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता। मेरा यह वचन सत्य है सत्य है। भगवान नीलकण्ठ श्रीशिवजी का हलाहल पान इस बात का साक्षी है। अमृत के लोभ से समुद्र-मन्थन किये जाने पर सर्वप्रथम कालकूट (महाविष) निकला, जो सब लोकों को असह्य हो उठा। देवता और दैत्य तक उसकी झार से झुलसने लगे।

तब भगवान का संकेत पाकर सबके सब मृत्युञ्जय श्रीशिवजी की शरण गये और जाकर उन्होंने उनकी स्तुति की। करुणावरुणालय भगवान शंकर इनका दुःख देखकर सतीजी से बोले—'देवि! प्रजा एवं प्रजापति महान् संकट में पड़े हैं, इनके प्राणों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है अतः मैं इस विष को पी लूँगा जिससे इन सबका कल्याण हो।' भवानी ने इस इच्छा का अनुमोदन किया। जगज्जननी जो ठहरीं तथा उन्हें विश्वनाथ का प्रभाव भी सर्वथा ज्ञात था। फिर तो श्रीशिवजी ने—

''**श्रीरामनामाखिल मन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्।**
हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भयम्।।''

अर्थ—श्रीराम-नाम समस्त मन्त्रों का बीज है। मेरा जीवन है तथा मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर स्थित है। फिर तो चाहे हलाहल पान करना हो चाहे प्रलयानल पान करना हो चाहे मृत्यु के मुख में ही क्यों न प्रवेश करना हो, भय ही किस बात का? श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है—**राम नाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।।** अर्थ—समस्त तापों को दूर करने के लिए एकमात्र महौषधि श्रीराम-नाम को जपने वाले को भय ही किस बात का? हे तात! तुम स्वयं देख लो, मुझ रामनामाश्रयी के शरीर के समीप आकर अग्नि भी जल की तहर शीतल हो जाता है। यह कहकर 'रा' उच्चारण कर हलाहल विष को कण्ठ में धर लिया और फिर 'म' कहकर मुख बन्द कर लिया। श्रीनन्दीश्वरजी कहते हैं कि—'**श्रृणुध्वं भो गणाः सर्वे राम नाम परं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहलमयीं पिबेत्।।** (नन्दीपुराण) अर्थ—हे गणो! श्रीराम-नाम की महा-महिमा सुनो, जिस राम-नाम के प्रभाव से श्रीशिवजी ने हलाहल विष भी पान कर लिया और आश्चर्य की बात यह है कि—'**खायो कालकूट भयो अजर अमर तनु।**'

हलाहल पान के प्रसंग में श्रीशिवजी की निष्ठा तथा जीवों पर दया का भाव प्रकाश में आता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—**जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहिं पान किय। तेहिं न भजसि मन मंद, को कृपालु संकर सरिस।।**' (रा०च०मा०) श्रीशिवजी स्वयं निरन्त राम-नाम जपते रहते हैं। यथा—'**तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती।। संतत जपत शम्भु अविनासी। सिव भगवान ज्ञान गुन रासी।।**'' तथा अपनी अत्यन्त प्रिय काशीपुरी में मरने वाले प्रत्येक प्राणी को मृत्यु क्षण में श्रीराम-नाम का उपदेश देकर उसे मुक्त कर दिया करते हैं यथा—'**अहं भगवन्नामगुणैः कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम।।**' (अध्यात्म-रामायण) अर्थ—मैं आपके नाम के गुणों से कृतार्थ होकर काशी में भवानी सहित निवास

करता हूँ और मरणासन्न प्राणियों की मुक्ति के लिये उनके कान में आपका मन्त्र राम-नाम का उपदेश करता हूँ। श्रीरामजी के साथ श्रीशिवजी का सम्बन्ध त्रिविध है। यथा—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'** अर्थात् श्रीशिवजी श्रीसीतापति रामचन्द्रजी के सेवक भी हैं, सखा भी हैं और स्वामी भी हैं। इस भाव का प्रकाश उस समय होता है जब श्रीरामचन्द्रजी ने सेतुबन्धन के समय शिवलिंग की स्थापना की और उनका नाम रामेश्वर रखा। नामकरण होने के पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्द के अर्थ पर विचार होने लगा। सर्वप्रथम श्रीरामजी ने इसमें तत्पुरुष समास बताते हुए अर्थ किया—रामस्य ईश्वरः (राम के ईश्वर) इस पर श्रीशिवजी बोले—भगवन्! यहाँ बहुव्रीहि समास है अर्थात् इसका अर्थ—रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः (राम ही ईश्वर हैं जिनके वह रामेश्वर) इस भाँति हैं। ब्रह्मादिक देवता हाथ-जोड़कर बोले कि-महाराज! इसमें कर्मधारय समास है अर्थात् 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' वा 'यो रामः स ईश्वरः (जो राम वही ईश्वर) ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिका से तीनों भाव स्पष्ट हैं। 'रामेश्वर' शब्द में बहुव्रीहि समास से शिवजी का सेवक-भाव, तत्पुरुष से स्वामी भाव तथा कर्मधारय से सख्य भाव पाया जाता है। ऐसे अद्भुत भक्त हैं श्रीशिवजी।

भगवान की भक्ति के भण्डारी श्रीशिवजी ही हैं। यथा—

दो०— **औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।**
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।।

चौ०— **जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी।।**
शिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा।।
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।

दो०— **संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।**
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास।।

चौ०— **बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू।।**

वस्तुतस्तु शिव और विष्णु में भेद नहीं है यथा—**'अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः। न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते। नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि।।** (भा० १२/१०/२१, २२) अर्थ—शिवजी ने मार्कण्डेय ऋषि से कहा कि मैं शंकर, ब्रह्मा और विष्णु भगवान एक ही हैं। इनमें भेद न जानो।

भगवत्प्राप्ति के श्रुति-पुराण प्रतिपादित विविध साधनों में 'प्रेम' को श्रीशिवजी सर्वोपरि मानते हैं। यथा—

चौ०— **बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा।**
पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पय निधि बस प्रभु सोई।।
जाके हृदयँ भगति जसि प्रीति। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।।
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ।।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।
देश काल दिसि बिदिसहु मांहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।।
मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना।।

श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीशिवजी की भगवत-भागवत-निष्ठा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा 'भागवत' अति सुखदाई, नाना विधि करि गाये हैं।
शिवजी की बात एक बहुधा न जानै कोऊ, सुनि रस सानै, हियौ भाव उरझाये हैं।।
'सीता' के वियोग 'राम' विकल विपिन देखि 'शङ्कर' निपुन 'सती' बचन सुनाये हैं।
'कैसे ये प्रवीन ईश कौतुक नवीन देखौ', मनेहूँ करत, अङ्ग वैसे ही बनाये हैं।।२०।।

शब्दार्थ—द्वादश=बारह। बहुधा=प्रायः, अक्सर। प्रवीन=चतुर, बुद्धिमान। कौतुक=आश्चर्य, परिहास।

भावार्थ—प्रसिद्ध बारह भक्तराजों की सुख देने वाली कथायें श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में अनेक प्रकार से गाई गई हैं, परन्तु शिवजी की एक बात को प्रायः लोग नहीं जानते हैं। उस सुन्दर कथा को सुनकर हृदय भक्तिरस में मग्न हो जाता है। ऐसे सुन्दर भावों में शंकरजी ने अपने मन को उलझा रखा है। सीता के वियोग से वन में श्रीरामचन्द्रजी को व्याकुल देखकर सतीजी ने भाव-प्रवीण शंकरजी से कहा—यह कैसे सर्वज्ञ ईश्वर हैं, यह इनका नवीन कौतुक देखिये कि सीताजी के वियोग में अति दुःखी हो रहे हैं। तब शंकरजी ने खूब समझाया कि—यह तो प्रभु की नर-लीला है। परन्तु सतीजी की समझ में नहीं आया। मना करने पर भी परीक्षा लेने के लिये उन्होंने सीताजी का-सा रूप बनाया।।२०।।

व्याख्या—सीता.......विपिन—ललित नर-लीला का अभिनय करते हुए भगवान श्रीरामजी श्रीजानकीजी के हरण पर ऐसे विकल हुए जैसे कोई प्राकृत (लौकिक) पुरुष अपनी प्रिया के वियोग में दीन हो रहा हो। यथा—**आश्रम देखि जानकी हीना। भये विकल जस प्राकृत दीना।।** (रामचरितमानस) श्रीराम की इस विकलता का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन 'श्रीहनुमन्नाटक' ग्रन्थ में मिलता है। यथा—(पुनर्लक्ष्मणमासाद्य वैक्लव्यं नाटयति)—

के यूयं वद नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कोऽहं वत्स स आर्य एव भगवानार्यः स को राघवः।
किं कुर्मो विजने वने तत इतो देवी समुद्वीक्षते,
का देवी जनकाधिराजतनया हा हा प्रिये जानकि।।

अर्थ—(श्रीराम-लक्ष्मण को अपने समीप पाकर विकलता का अभिनय करते हुए पूछते हैं।) राम—बताओ तुम कौन हो? लक्ष्मण—हे नाथ! हे महाराज! आपको यह क्या हुआ? मैं तो आपका दास लक्ष्मण हूँ। राम—हे तात! मैं कौन हूँ? लक्ष्मण—महाराज! आप वही अवधेश श्रीरामचन्द्र हैं। राम—वह कौन राम? लक्ष्मण-वही रघुकुल भूषण। राम—इधर-उधर निर्जन वन में घूमते हुए हम क्या कर रहे हैं? लक्ष्मण—देवी को खोज रहे हैं। राम—कौन-सी देवी? लक्ष्मण—महाराज जनक की पुत्री। राम—हाय हाय प्रिये जानकी! तू कहाँ है?

पुनश्च— सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्भवता कथं नु विदितं धत्ते कुरंगं यतः,
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने - चन्द्रानने जानकि।।

अर्थ—(आकाश में उदय होते हुए पूर्णचन्द्र को देखकर) राम—हे लक्ष्मण! देखो सूर्य उदय का ताप प्रतीत होता है, चलो वृक्ष की छाया में चलकर बैठें। लक्ष्मण—हे नाथ! आप सूर्य की क्या बातें करते हैं। महाराज! यह तो चन्द्रमा का उदय हो रहा है। राम—भैया! यह तुमने कैसे जाना? लक्ष्मण—यह मृग का चिन्ह धारण किये हुए हैं इस कारण। राम—हा कुरङ्गनयनी—चन्द्रमुखी प्रिये जानकी! तू कहाँ है?

देखि शंकर............नवीन देखों—इसकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या श्रीरामचरितमानस में है। यथा—

चापाई— संभु समय तेहिं रामहि देखा। उपजा हिय अति हरष विसेषा।।
भरि लोचन छबि सिन्धु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी।।
जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन।।
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता।।
सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा सन्देह विसेषी।।
संकरु जगत वन्द्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।
तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द पर धामा।।
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।।

दोहा— ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद।।

चौपाई— विष्णु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्वग्य यथा त्रिपुरारी।।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी।।
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्वग्य जान सब कोई।।
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।।
जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अन्तरजामी सब जानी।।
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ।।
जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।।
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहिं सदा मुनि धीरा।।

छन्द— मुनि धीर योगी सिद्ध सन्तत विमल मन जेहिं ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तन्त्र नित रघुकुलमनी।।

दोहा— लाग न उर उपदेसु, जदपि कहेऊ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेसु हरि माया बल जानि जिय।।

चौपाई— जौं तुम्हरे मन अति सन्देहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू।।
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी।।

मनेहूं करत अङ्ग वैसे ही बनाये हैं—भाव यह कि श्रीशिवजी ने सावधान कर दिया था कि उपाय जो कुछ भी करना, विचार कर करना। परन्तु श्रीसतीजी ने शिवजी का अभिप्राय समझे बिना श्रीजानकीजी का रूप धारण कर लिया। यथा—**पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीता कर रूप। आगें होइ चलि पन्थ तेहिं, जेहिं आवत नर भूप।।**

सीता ही सो रूप वेष लेशहू न फेर फार रामजी निहारि नेकु मन में न आई है।
तब फिर आयकै सुनाय दई शंकर को अति दुखपाय बहु बिधि समझाई है।।
इष्टको स्वरूप धर्‍यौ ताते तनु परिहर्‍यो पर्‍यो बड़ो शोच मति अति भरमाई है।
ऐसे प्रभु भाव पगे पोथिन में जगमगे लगे मोको प्यारे यह बात रीझि गाई है।।२१।।

शब्दार्थ—लेशहू=नाममात्र, थोड़ा भी। फेर फार=अन्तर, फर्क। भरमाई=मोहित हो गई। इष्ट=आराध्यदेव।

भावार्थ—सतीजी का रूप और वेषभूषा सीताजी के समान था, उसमें थोड़ा भी अन्तर नहीं था। श्रीरामजी ने उसे देखा पर उनके मन में नाममात्र भी यह बात नहीं आई कि यह सीताजी हैं, उनको सती ही माना। तब सतीजी ने यह बात आकर शङ्करजी को सुना दी। शङ्करजी ने अति दुःख पाकर सतीजी को अनेक प्रकार से समझाया कि तुमने इष्टदेवता श्रीसीताजी का रूप धारण किया। इसलिये तुम्हारे इस शरीर में अब मेरा पत्नी भाव नहीं रहा। यह सुनकर सतीजी को बड़ा शोक हुआ और उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई। सतीजी ने वह शरीर त्याग दिया, पुनः हिमालय के घर में जन्म लेकर शङ्करजी को प्राप्त कर सकीं। शिवजी श्रीरामजी की भक्ति-भावना में इस प्रकार मगन रहते हैं। इतिहास पुराणों में उनकी कथा जगमगा रही है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मुझे शिवजी अत्यन्त प्यारे लगे इसलिए रीझकर मैंने इस कथा का गान किया है।।२१।।

व्याख्या—सीता....फेर फार—सतीकृत सीता वेष ऐसा था कि और की कौन कहे श्रीलक्ष्मणजी भ्रमित हो गये। यथा—**लछिमन दीख ऊमाकृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय विशेषा।।** अतः लेश न फेर-फार कहा।

'रामजी...... आई है'—यथा—

चौपाई— **सती कपटु जानेउ सुर स्वामी। सबदरसी सब अन्तरजामी।।**
निज मायाबलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी।।
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू।।
कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।।

दोहा— **राम वचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।**
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु।।

सतीजी का कपट श्रीरामजी के सामने नहीं चला। क्योंकि सतीजी हैं माया और श्रीरामजी हैं मायाधीश। भला मायाधीश के सामने माया की क्या गिनती। वह तो ऐसे ही हैं जैसे सूर्य के सामने जुगनू। श्रीरामजी सूर्यवत् हैं सतीजी जुगनू के समान हैं। इसी से नीतिकारों ने कहा है कि—**उपाध्याये नटे धूर्ते कुदूत्यां च बहुश्रुतौ। मायातत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता।।** अर्थ—आचार्य, नट, धूर्त, कुदूती, बहुश्रुत इतने लोगों से माया नहीं करनी चाहिए। क्योंकि माया इनकी ही रची है।।

'तब फिर.......अति दुख पाय'—यथा—

दोहा— **गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।**
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात।।

चौपाई— **सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ।।**
कछु न परीक्षा लीन्ह गुसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं।।
जो तुम कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई।।
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना।।
बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहिं झूठ कहावा।।
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत सम्भु सुजाना।।
सती कीन्ह सीता कर वेषा। सिव उर भयउ विषाद विसेषा।।

'बहुबिधि समुझाई है'—समझाना पूर्व कवित्त २१ में लिखा जा चुका है।

इष्ट........परिहर्यो—यथा—

चौपाई— **'जौं अब करऊँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथ होइ अनीती।।**

दो०— **परम पुनीत न जाइ तजि, किएँ प्रेम बड़ पाप।**
प्रगटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संताप।।

चौपाई— **तब संकर प्रभु पद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा।।**
एहि तन सतिहिं भेंट मोहिं नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं।।

इस प्रकार शिवजी ने इष्ट में अभाव होने से अपनी वामाङ्ग-स्वरूपा सतीजी का परित्याग कर दिया। ऐसे ही जगन्नाथपुरी के राजा ने प्रसाद की अवज्ञा जानकर अपना दाहिना हाथ कटवा दिया। (छप्पय ५०) ऐसे ही एक भक्त, भगवान को निवेदन किये बिना भूल से अमनियाँ वस्तु पा गये। तत्काल याद आने पर अपना गला काटने के लिए प्रस्तुत हो गये कि कहीं पेट में न चला जाय। भगवान ने हाथ—पकड़ लिया।।

'पर्यो बड़ो........भरमाई है'—यथा—**सुनि नभ गिरा सती उर सोचा।.....।। चिन्ता अमित जाइ नहिं बरनी।।** परिणाम-स्वरूप सतीजी ने पिता दक्ष के यज्ञ में योगाग्नि से शरीर भस्म कर, हिमालय

के यहाँ जन्म लेकर, पुनः श्रीशिवजी की प्राप्ति के लिये तपस्या करके उन्हें प्राप्त किया। **'ऐसे प्रभु भाव पगे'**—यथा— **अस बिचारि शंकर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा।। चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।। अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। रामभगत समरथ भगवाना।।** पुनश्च—**सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी।। पन करि रघुपति भगति दृढ़ाई। को सिव सम रामहिं प्रिय भाई।।** (याज्ञवल्क्य वाक्य) मानस

चले जात मग उभै खेरे शिव दीठि परे, करे परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है।
पार्वती पूछें, किये कौन को? जू! कहौ मोसों, दीखत न जन कोऊ, तब सो उचारी है।।
बरष हजार दश बीते तहाँ भक्त भयो, नयो और ह्वै है दूजी ठौर बीते धारी है।
सुनिकै प्रभाव, हरिदासनि सों भाव बढ़्यो, रढ़्यो कैसे जात चढ़्यो रङ्ग अति भारी है।।२२।।

शब्दार्थ—उभै=दो। खेरे=टीले, छोटे ग्राम। दीठि=दृष्टि, निगाह। रढ़्यो=कह्यौ, रट्यौ, वर्णन। रंग=प्रेम प्रभाव।

भावार्थ—एकबार भगवान शंकर देवी पार्वती के साथ पृथ्वी पर विचर रहे थे, मार्ग में उजड़े ग्रामों के दो टीले दिखाई पड़े। शङ्करजी ने नन्दी से उतरकर दोनों को प्रणाम किया क्योंकि भक्ति आपको अत्यन्त प्यारी है। पार्वतीजी ने पूछा—भगवन्! आपने किसको प्रणाम किया, यहाँ कोई देवता या मुनि दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। तब शिवजी ने उत्तर दिया कि—पहले टीले पर दस हजार वर्ष पूर्व एक प्रेमी-भक्त निवास करते थे और यह जो दूसरा टीला है, इस पर दस हजार वर्ष बाद एक भक्त निवास करेंगे। इसी से ये दोनों स्थान वन्दनीय हैं। भक्तों का ऐसा प्रताप सुनकर पार्वतीजी के हृदय में भक्तों के प्रति अधिक अनुराग बढ़ गया, उसका ऐसा गहरा रङ्ग चढ़ा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।।२२।।

व्याख्या—उभै खेरे शिव दीठि परे—यहाँ कोई शंका करे कि जहाँ ऐसे महानुभाव हो गये हैं और आगे होंगे भगवान शङ्कर उनका स्मरण कर उन टीलों को प्रणाम करते हैं, तो वे स्थान खेरे (टीले, दूह-ढाह) क्यों हो गये? समाधान—

दृष्टान्त—नानक और मरदाना का—एक समय गुरु नानक अपने मरदाना शिष्य के साथ विचरते हुए थकेमांदे एक नगर में पहुँचे। परन्तु नगर भर में घूमने पर भी किसी ने उन्हें बैठने तक को नहीं कहा, उलटे जहाँ जाते वहाँ लोग उपहास करते। तब श्रीनानकजी उस गाँव को छोड़कर अन्यत्र को चले। जब इस गाँव से बाहर होने लगे तो यहाँ के लोगों को आशीर्वाद दिये कि यहाँ के वासी यहाँ ही सुख-चैन से बसें। धन-धान्य से परिपूर्ण रहें। अन्यत्र कहीं न जाँय। इस प्रकार आशीर्वाद देकर दूसरे गाँव में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने बड़ा सत्कार किया, बड़ी भाव-भक्ति से मिले-जुले। श्रीनानकजी जब वहाँ से चले तो गाँव के बाहर आकर भगवान से प्रार्थना किये कि यहाँ के लोग और गाँवों में, पुरों में, नगरों में, जा-जाकर बसें। एकत्र न रहें। श्रीनानकजी का आशीर्वाद मरदाना की समझ में नहीं आया। जहाँ अपमान हुआ वहाँ तो सुख-चैन, धन-धान्य का वरदान और जहाँ सम्मान हुआ वहाँ इस तरह के वचन कि ये लोग यहाँ से उजड़-उजड़ कर अन्यत्र चले जाँय। आखिर मरदाना ने श्रीनानक जी से पूछा तब श्रीनानकजी ने समाधान किया कि पहले गाँव के लोग विमुख थे अतः वे जहाँ जायेंगे दूसरे को भी विमुख बनायेंगे। इसलिये उन्हें

वहीं आबाद रहने का वरदान दिया और दूसरे गाँव के लोग भक्त हैं वे जहाँ जायेंगे, भक्ति का प्रचार करेंगे अत: उन्हें जहाँ-तहाँ जाकर बसने का वरदान दिया। ऐसे ही उन खेरों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।।

सुनि........भाव बढ्यो—श्रीशिवजी के द्वारा सन्तों की महिमा सुनकर श्रीपार्वतीजी की श्रद्धा उमड़ी और उसी दिन उन्होंने श्रीअगस्त्यजी का ही निमन्त्रण कर दिया। (प्रश्न होगा और किसी संत को नेवता न देकर श्रीअगस्त्यजी का ही निमन्त्रण क्यों? समाधान—श्रीअगस्त्यजी से विशेष घनिष्ठता आना-जाना था। यथा—**एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुम्भज रिषि पाहीं।। संग सती जग जननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी।।**) बाद में श्रीशिवजी से निमन्त्रण वाली बात कही। श्रीशिवजी हँसे कि आज ही तो सन्तों में श्रद्धा भई और आज ही ऐसे सन्त को न्योता कर दिया कि भक्ति ही पूरी कर देंगे। अरे! अगर किसी को जिमाना ही रहा तो किसी कम खुराक वाले को निमन्त्रण देती। श्रीअगस्त्यजी को नहीं जानती हो कि तीन चुल्लू में ही सम्पूर्ण समुद्र ही सोख गये। भला इनका पेट भरना कोई हँसी-खेल है और यदि भूखे रह गये तो लोक में बड़ी बदनामी होगी कि जिन्दगी में एकबार शिवजी के यहाँ भोजन करने गये और भूखे ही लौटे। भद्रे! काम विचार कर नहीं किया। श्रीपार्वतीजी बोलीं—अब तो न्योता दे ही दिया है, उसमें उलट-फेर होने का नहीं। चाहे जो भी हो। शिवजी बोले—तो तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मैं तो चुप-चाप राम-राम करूँगा।

श्रीपार्वतीजी भी अन्नपूर्णा हैं, उन्होंने सोचा जब मैं विश्व-ब्रह्माण्ड को पूर्ण करा देती हूँ तो क्या एक ऋषि का पेट नहीं भर सकती हूँ? अवश्य पूर्ण करा दूँगी, पूर्ण ही नहीं महापूर्ण करा दूँगी। फिर क्या था, बड़े जोर-शोर से तैयारी हुई। सामानों के पहाड़ लग गये। खायें कितना खायेंगे ऋषि। परन्तु वाहरे अगस्त्यजी! जब पाने बैठे तो भोजन का कोई हिसाब ही नहीं। श्रीपार्वतीजी अपनी समस्त सखियों सहेलियों सहित दौड़-दौड़कर परोसतीं, जिसमें भोजन का तार न टूटे। टोकरी की टोकरी थाल में पलट दी जातीं। परन्तु इधर यह भी खूब रहे, क्षण-भर में थाली साफ। पाते-पाते जब श्रीअगस्त्यजी की जठराग्नि धधकी तो उन्हें भोजन हाथ से उठा-उठाकर ग्रास-ग्रास पाने की जरूरत नहीं रही, भोजन स्वयं खिंचकर इनके मुँह में चला जाता। परोसने वाली सखियाँ घबड़ाईं कि कहीं भोजन के साथ-साथ हम सब भी न खिंच जाँय। ऋषिजी का रवैया देखकर अन्नपूर्णा भी अचम्भे में पड़ गईं। सोचीं अब तो मर्यादा भगवान ही रखें। ठीक कहा था शम्भु ने। परन्तु साथ ही श्रीपार्वतीजी शिवजी पर मन ही मन झुंझलातीं भी कि देखो तो, मैं तो हैरान हूँ ऐसे समय पर इन्हें मेरी सहायता करनी चाहिये, सो यह मुँह फेरे बैठे हैं। निरुपाय अन्नपूर्णा ने भगवान का द्वार खटखटाया। ठीक भी है, 'हारे को हरिनाम' प्रसिद्ध ही है।

भगवान तुरन्त ही बालक ब्रह्मचारी का रूप धरकर आ पहुँचे और बोले—'भवति! भिक्षां देहि।' श्रीपार्वतीजी घबड़ाईं कि मैं तो एक ही को पूर्ण करने में परेशान हूँ, ये दूसरे समाज-सेवक भी आ धमके। सो भी भूखे ही। परन्तु धर्म से विवश होकर श्रीब्रह्मचारीजी का स्वागत करना ही पड़ा। ब्रह्मचारीजी के लिये भी ऋषि के समीप ही आसन लगा दिया गया। श्रीअगस्त्यजी अपने समीप आसन नहीं लगाने देते थे कि मेरे भोजन में खलल पड़ेगी, परन्तु ब्रह्मचारीजी भी पूरे जिद्दी थे, अड़ गये कि बैठूँगा तो यहीं। हारकर अगस्त्यजी को चुप हो जाना पड़ा। श्रीअगस्त्यजी पाते ही रहे, ब्रह्मचारी ने थोड़ा ही पाकर आचमन कर लिया। श्रीपार्वतीजी ने पूछा—प्रभो! इतनी जल्दी क्यों बन्द कर दिये? वे बोले हम ब्रह्मचारी हैं, अधिक पाने से आलस्य, प्रमाद आता है, जिससे भजन में बाधा पहुँचती है। दूसरी बात यह भी कि (श्रीअगस्त्यजी

की ओर हाथ से संकेत करते हुये) हम ऐसे भुक्खड़ थोड़े ही हैं कि पूर्ण ही न हों। उधर श्रीअगस्त्यजी ने भी पाना बन्द कर दिया। क्योंकि एक पाता ही रहे और दूसरा आचमन करले तो चौका जूठा हो जाता है।

दूसरी बात यह कि जो बाद में आया वह पहले पा लिया, यह देखकर भी संकोच हुआ, तीसरा कारण यह है कि भगवान ने हाथ से संकेत करते हुए कहा—हम ऐसे पाने वाले नहीं हैं। श्रीअगस्त्यजी ने विचारा कि ब्रह्मचारी एवं पार्वती क्या कहेंगी कि ऋषिजी न जाने कितने दिन के भूखे हैं जो कब से पा रहे हैं और अभी तक पेट नहीं भरा। यह सब विचार कर इन्होंने पाना तो बन्द कर दिया परन्तु समस्या यह थी कि ये अब तक जल नहीं पीये थे, पा ही रहे थे अतः ब्रह्मचारी पर बिगड़े कि तुमने मुझे जल भी नहीं पीने दिया, आचमन करके बैठ गये। भगवान ने कृपा करके स्व स्वरूप का दर्शन कराया और कहा कि आप धैर्य धरें, आपको जल मैं द्वापर में पिलाऊँगा, निमन्त्रण आज ही दिये देते हैं। सो, जब इन्द्र ने अपना यज्ञ बन्द होने से रिस में भरकर ब्रज को डुबाने के लिये अति वृष्टि की तो भगवान ने अगस्त्यजी को उस जल के शोषण के लिये नियुक्त किया था। भाव बढ्यो—का भाव यह है कि भगवान से भी अधिक भगवद्दासों में भाव हो गया। होना भी चाहिये क्योंकि '**रामते अधिक राम कर दासा**' तथा—'**भक्तन के सम्मान ते हरि मानैं परितोष।**' श्रीपार्वतीजी ने न्योता भी दिया तो बस एक महात्मा का।

दृष्टान्त—श्रीबल्लभाचार्यजी एवं एक भक्त का—एकबार एक भक्त ने श्रीबल्लभाचार्य से कहा—प्रभो! सौ ब्राह्मणों को भोजन कराने की इच्छा है। श्रीआचार्य ने कहा—एक वैष्णव को भोजन करा दो, उतना ही फल मिलेगा। भक्त ने पुनः कहा—यदि सौ वैष्णव पवाऊँ तो! श्रीमहाप्रभु ने कहा—एक अनुरागी भक्त को पवा दो। वही फल प्राप्त होगा। भक्त ने कहा—यदि सौ अनुरागियों को पवा दूँ तो? यह सुनकर आचार्य की आँखों से प्रेमाश्रु छलछला आये, बोले—भैया! सौ अनुरागी मिलेंगे ही नहीं। अतः पार्वतीजी ने भी एक का ही निमन्त्रण किया।

श्रीसनकादिक जी—श्रीपद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य प्रसंग में देवर्षि नारदजी ने श्रीसनकादिकजी की महा-महिमा का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—यथा—

भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः। पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।।
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तन तत्पराः। लीलामृत रसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः।।
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः। अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते।।
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा। भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ।।

(भा० मा० २-४६-४८)

अर्थ—आप सभी लोग बड़े योगी, बुद्धिमान और विद्वान हैं, आप देखने में पाँच-पाँच वर्ष के बालक से जान पड़ते हैं किन्तु हैं पूर्वजों के भी पूर्वज। आप लोग सदा वैकुण्ठ धाम में निवास करते हैं। निरन्तर ही कीर्तन में तत्पर रहते हैं। भगवल्लीलामृत का रसास्वादन कर सदा उसी में उन्मत्त रहते हैं और एकमात्र भगवत्कथा ही आपके जीवन का आधार है। 'हरिःशरणम्' (भगवान ही हमारे रक्षक हैं) यह वाक्य (मन्त्र) सर्वदा आपके मुख में रहता है। इसी से कालप्रेरित वृद्धावस्था भी आपको बाधा नहीं पहुँचाती। पूर्वकाल में आपके भ्रू भङ्गमात्र से भगवान विष्णु के द्वारपाल जय और विजय तुरन्त पृथ्वी पर गिर गये थे और फिर आपकी ही कृपा से पुनः वैकुण्ठ लोक पहुँच गये।।

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम्।
निश्शेषशेषमुखगीतकथैकपानाः प्रेमप्रकाशकृतये शरणंगतोऽस्मि।।
भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः।। (भा० मा० २-७५-७६)

अर्थ—महानुभावो! आपका दर्शन जीव के सम्पूर्ण पापों को तत्काल नष्ट कर देता है और जो संसार दुःखरूप दावानल से तपे हुए हैं उन पर शीघ्र ही शान्ति की वर्षा करता है। आप निरन्तर शेषजी के सहस्त्र मुखों से गाये हुये भगवत्कथामृत का पान करते रहते हैं। मैं प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रकाश करने के उद्देश्य से आपकी शरण लेता हूँ। जब अनेकों जन्मों के संचित पुण्य पुञ्ज का उदय होता है, उससे मनुष्य को सत्संग मिलता है तब वह उसके अज्ञान-जनित मोह और मदरूपी अन्धकार का नाश करके विवेक का उदय करता है।।

श्रीरामचरितमानस में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी, श्रीसनकादिजी का स्वरूप-निरूपण करते हुए कहते हैं कि—**जानि समय सनकादिक आये। तेजपुंज गुन सील सुहाये।। ब्रह्मानन्द सदा लय लीना। देखत बालक बहु कालीना।। रूप धरे जनु चारिउ वेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।। आसा बसन व्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं।।** श्रीसनकादिजी को श्रीनारदजी ने कथा-मात्रैकजीवी कहा और श्रीतुलसीदासजी ने कथा सुनने का व्यसनी कहा। वस्तुतस्तु इन लोगों को कथा का ऐसा चस्का लगा कि समाधि छोड़-छोड़ कर कथा सुनते हैं। यथा—**'जीवन मुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान' 'सुनि गुन गान समाधि विसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी।।** पाताल में भगवान शेषजी के पास, कैलास पर भगवान शंकर के पास एवं दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्यजी के पास जा-जाकर कथा सुनने का वर्णन मिलता है। जब कोई और वक्ता नहीं मिलता है तो अपने में से ही किसी को वक्ता बनाकर कथा श्रवण करते हैं। श्रीसनकादिक चारों कुमार भक्ति मार्ग के मुख्याचार्य हैं (विशेष देखिये छप्पय ५ और कवित्त २५)

श्रीकपिलदेवजी—देखिये छप्पय ५।।

श्रीमनुजी—महाभागवत श्रीमनुजी का परम-पुनीत चरित्र वर्णन करते हुये श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

चौपाई— **स्वायम्भुव मनु अरु सतरूपा । जिन्हते भइ नर सृष्टि अनूपा।।**
दम्पतिधरम आचरन नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिनकै लीका।।
तेहिं मनु राज कीन्ह बहुकाला । प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।।

दोहा— **होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।**
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।

चौपाई— **बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा । नारि समेत गवन वन कीन्हा।।**
तीरथ वर नैमिष विख्याता । अति पुनीत साधक सिधि दाता।।
द्वादश अक्षर मन्त्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग। वासुदेव पद पंकरुह दम्पति मन अति लाग।।

करहिं अहार साक फल कन्दा । सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा।।
उर अभिलाष निरन्तर होई । देखिय नयन परम प्रभु सोई।।
एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार । संबत सप्त सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार।।
बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ।।

श्रीमनुजी के इस अपार तप को देखकर त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) ने बहुत-बहुत वरदान का प्रलोभन देकर तप से विरत करना चाहा परन्तु ये अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहे। फलतः-**भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। विश्वबास प्रगटे भगवाना।।** दम्पति मनु-सतरूपा युगल सरकार श्रीसीतारामजी का दर्शन कर निहाल हो गये। भक्तवाञ्छा कल्पतरु भगवान ने श्रीमनुजी को अपने अंशों सहित स्वयं पुत्र होने का वरदान देकर निवेदन किया कि—**अब तुम मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी।। तहँ करि भोग विसाल, तात गये कछु काल पुनि। होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत।।**

यही मनुजी आगे चलकर श्रीदशरथजी हुए हैं और श्रीसतरूपाजी महारानी कौशिल्या हुई हैं, और स्वयं भगवान श्रीराम इनके पुत्र बने (विशेष देखिये छप्पय ५)।

श्रीनरहरिदास (श्रीप्रह्लादजी)—देखिये छप्पय ५ एवं कवित्त ९९, १००।

श्रीजनकजी—चौपाई—**प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू । जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।।**
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई।।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस के बालकाण्ड के आरम्भ में वन्दना प्रसङ्गान्तर्गत श्रीजनकजी महाराज की वन्दना करते हुए श्रीराम-चरणों के प्रति उनके गूढ़-स्नेह की सूचना दी है और यह भी लक्ष्य कराया है कि श्रीजनकजी ने गूढ़-भक्ति रत्न को योग और भोगरूपी सम्पुट (डब्बे) में छिपा रखा था जो श्रीरामजी का दर्शन करते ही प्रकट हो गया।

'मिथिलापुरी में धनुष यज्ञ है' श्रीजनकदुलारी का स्वयम्बर है' श्रीजनकजी के दूत ने महामुनि विश्वामित्रजी को निमन्त्रण पत्र देते हुए मुखाग्र भी यह बात कही। श्रीविश्वामित्रजी दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण को साथ लेकर मुनि-मण्डली के साथ शुभ घड़ी में मिथिला की ओर प्रस्थान कर दिये। मार्ग में शाप ग्रस्ता मुनि पत्नी अहिल्या का उद्धार करते हुए कौशल राजकिशोर श्रीराम अनुज लक्ष्मण को वन-उपवन के प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन कराते हुए मुनि-मण्डली के साथ जनकपुरी में पहुँचकर नगर से बाहर मनोरम अमराई में ठहरते हैं।

श्रीमिथिलेश महाराज जनक इस शुभ-सम्वाद को सुनकर स्वागतार्थ मन्त्रीवर्ग, ब्राह्मण गण गुरुजन एवं कुटुम्बीजनों को साथ लेकर बाग में आये और दण्डवत्-प्रणाम कुशल-क्षेम के बाद मुनि की आज्ञा पाकर बैठे ही थे कि—**तेहिं अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई।। स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा।** यद्यपि राजकुमार थे तो बालक, परन्तु इनके आते ही लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि—'**उठे सकल जब रघुपति आए।**' श्रीविश्वामित्रजी ने सबको बैठाते हुए अत्यन्त प्यार पूर्वक दोनों राजकुमारों को अपने पास बैठाया। उस समय श्रीरामजी का दर्शन करते ही श्रीजनकजी का गुप्त प्रेमधन सहसा प्रकट हो गया। यथा—

चौपाई— मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी।।
दोहा— प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर।
बोले मुनि पद नाइ सिर, गद-गद गिरा गम्भीर।।

चौपाई— कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक।।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेषधरि की सोइ आवा।।
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द चकोरा।।
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ।।
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।।

श्रीराम का दर्शन कर बरबस ब्रह्मानन्द का परित्याग कर श्रीराम के स्वरूपानन्द में मगन होना यह श्रीजनकजी के मन की मनमानी नहीं है, बुद्धिमानी है। भला कौन ऐसा है गोद का छोड़कर पेट वाले की आशा करेगा। नयन गोचर के मिल जाने पर भी आगोचर के पीछे लगा रहेगा। ब्रह्मानन्द में सदा लवलीन रहने वाले श्रीसनकादिक भी इसी दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यथा—**मुनि रघुपति छबि अतुल विलोकी। भये मगन मन सके न रोकी**। महामुनि महाज्ञानी विश्वामित्रजी भी—**भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा।।** (रामचरितमानस) श्रीविदेहजी, श्रीविश्वामित्रजी के यह बतलाने पर कि 'मेरा यज्ञ पूर्ण कराकर इन्होंने हम ऋषियों को बहुत आनन्द दिया' हर्ष के मारे फूले नहीं समाये। विश्वामित्र के यज्ञ को पूर्ण कराने वाले क्या मेरे धनुष-यज्ञ को पूर्ण नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। इस निश्चय के साथ श्रीजनकजी मुदित होकर कहने लगे—

चौपाई— मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्य प्रभाऊ।।
सुन्दर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनन्दहूं के आनन्द दाता।।
इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि।।
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।।
पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू।।

यह है श्रीजनकजी के गूढ़ स्नेह की एक झलक। श्रीरामचन्द्र का दर्शन कर क्षण-प्रतिक्षण उमगने वाला श्रीजनकजी का अनुराग-सागर बारात की बिदाई के समय तो मर्यादा ही तोड़ बैठता है यथा—

चौपाई— जोरि पंकरुह पानि सुहाए। बोले बचन प्रेम जनु जाए।।
राम करौं केहिं भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।।
करहिं जोग जोगी जेहिं लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी।।
व्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानन्द निरगुन गुनरासी।।
मन समेत जेहिं जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई।।
दोहा— नयन विषय मो कहुँ भयउ, सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभ जग जीव कहँ, भएँ ईसु अनुकूल।।
सबहिं भाँति मोहिं दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई।।
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा।।

मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा।।
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।।
बार बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरै चरन जनि भोरे।।

श्रीरामजी का वन-गमन सुनकर श्रीचित्रकूट पहुँचने पर श्रीजनकजी के प्रेम-पयोधि की उमंग देखते ही बनती है। यथा—

चौपाई—**उर उमगेउ सम्बुधि अनुरागू। भयउ भूप मन मनहुँ पयागू।।**
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेम सिसु सोहा।।
चिरजीवी मुनि ज्ञान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलम्बनु।।
मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की।।
जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा।।
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सियराम सनेह बड़ाई।।

इस प्रकार श्रीजनकजी महाराज जहाँ कर्म-योग के सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानते जाते हैं, ज्ञानियों में अग्रगण्य कहे जाते हैं, वहाँ प्रेम-योग के भी परमाचार्य रूप में प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। श्रीजनकजी में कर्म, ज्ञान और प्रेम का अद्भुत संगम है।।

श्रीभीष्म पितामहजी—ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी की होमधेनु-नन्दिनी का अपहरण करने के कारण धर्म देवता के पुत्र आठों वसुओं को मुनि के शाप से मनुष्य योनि में जन्म लेने को विवश होना पड़ा। उनका शीघ्र उद्धार करने के लिए श्रीगङ्गाजी ने उनकी माता होना स्वीकार कर कालान्तर में, इस शर्त पर कि 'मैं जो कुछ भी करूँ आप मुझे रोक नहीं सकते, महाराज शान्तनु की पत्नी हुईं। सात वसुओं को तो उन्होंने जन्मते ही अपने जल में डालकर उनको शाप-मुक्त कर देवत्व को प्राप्त करा दिया। परन्तु आठवें वसु, जिसका नाम 'द्यौ' था। जिसने अपनी पत्नी के कहने से मुनि की गाय चुराई थी, उसे शान्तनु जी ने नहीं फेंकने दिया। गङ्गाजी यह पुत्र राजा को सौंपकर स्वयं अन्तर्धान हो गईं। इसी बालक का नाम देवव्रत हुआ। आगे चलकर महाराज शान्तनु दासकन्या सत्यवती पर मुग्ध हो गये। विवाह का प्रस्ताव करने पर दासराज ने कन्या के ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी देने की शर्त पर ब्याह करना चाहा, परन्तु राजा ने इस शर्त को स्वीकार कर अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र देवव्रत के अधिकार को नष्ट करना उचित नहीं समझा। साथ ही सत्यवती की आसक्ति भी बनी ही रही। इस कारण बड़े उदास रहने लगे। देवव्रत को जब पिता के मित्रों एवं मन्त्रियों से यह बात मालूम हुई तो दासराज के पास जाकर कभी भी अपने राज्यासन न लेने की प्रतिज्ञा की। पश्चात् दासराज के यह कहने पर कि आप नहीं तो आपकी सन्तान राज्य के लिये कलह कर सकती है, देवव्रत ने दूसरी भीषण प्रतिज्ञा की कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा। देवताओं ने इस भीषण प्रतिज्ञा करने के कारण देवव्रत का दूसरा नाम भीष्म रखा। पुष्पों की वर्षा की। पुत्र की इस पितृ-भक्ति से सन्तुष्ट होकर महाराज शान्तनु ने इच्छा-मृत्यु का वरदान दिया।

श्रीभीष्मजी ने श्रीपरशुरामजी से धनुर्वेद सीखा था और आगे चलकर जब परशुरामजी ने काशिराज की कन्या अम्बा की प्रार्थना पर भीष्मजी को अम्बा से ब्याह करने की आज्ञा दी पर आप अपने सत्यव्रत पर अटल रहते हुए उनकी आज्ञा नहीं माने तब परशुरामजी के युद्ध की चुनौती देने पर भीष्म ने उनसे घोर

संग्राम भी किया परन्तु व्रत नहीं छोड़ा। अन्त में परशुराम को ही देवताओं के कहने से शान्त होना पड़ा। व्रत की दृढ़ता के सम्बन्ध में भीष्मजी का कथन था कि—पंचभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य चाहे तेजोहीन हो जायँ, चन्द्रमा चाहे शीतलता का परित्याग कर दें, इन्द्र में से बल तथा धर्मराज में से धर्म चाहे भले ही चला जाय परन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। यह वचन भीष्म ने माता सत्यवती से कहा था। जब सत्यवती के दोनों पुत्र परलोक सिधार चुके थे। वंश-परम्परा नष्ट हो रही थी। राज्य सिंहासन खाली पड़ा था, सत्यवती ने दोनों कार्यों को सम्भालने के लिए अनुरोध किया था। तब भीष्म ने अपना निश्चय सुनाया था। श्रीभीष्मजी भगवत्-तत्व के ज्ञाता थे। श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में अग्रपूजन के प्रश्न पर श्रीकृष्ण की भगवत्ता, महत्ता का प्रतिपादन करना इसका प्रमाण है। दुर्योधन के आश्रय में रहने के कारण महाभारत में युद्ध तो इन्होंने दुर्योधन की ओर से ही किया परन्तु दुर्योधन की दुर्नीतियों की हमेशा भर्त्सना ही करते रहे। इससे आपकी न्यायप्रियता सिद्ध होती है। यही कारण है जो आपने न्यायप्रिय पाण्डु पुत्रों की विजय के लिए अपनी मृत्यु का उपाय भी पाण्डवों को बता दिया।

श्रीभीष्म की भगवन्निष्ठा का पता तो तब चलता है जब दुर्योधन के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर आपने भगवान को शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा कर ली—यथा—

पद— **आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।**
तो लाजौं गङ्गाजननी को शान्तनु सुत न कहाऊँ।।
स्यंदन खण्डि महारथ खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं शपथ मोहिं हरि की क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ।।
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय बिन जियत न पीठ दिखाऊँ।।

श्रीभीष्मजी के अन्तर प्रेम को पहिचान कर भक्तवत्सल भगवान ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी, भक्त की प्रतिज्ञा रख ली। रींवा नरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी ने श्रीभीष्मजी के इस आन्तरिक भाव का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

पद— **जो मैं सुरसरि सुवन कहाऊँ।**
तौ प्रन सभा मध्य अस गाऊँ।।
कौरव पांडव बीच दोउ दल हरि पूजन अस ठाऊँ।
शोणित जल अन्हवाय नाथ को रण रज वसन ओढाऊँ।।
पांडव सेन मारि गोविन्द अङ्ग चन्दन कोप चढाऊँ।
विविध वरन को विपुल विकासित विशिख माल पहिराऊँ।।
सनमुख शत्रु संहारि सहस्रन कीरति सुरभि सुँघाऊँ।
तबहिं त्रिविक्रम को तुरन्त तहँ विक्रम दीप दिखाऊँ।।
पारथ सखा समीप जायके प्राण नवेद लगाऊँ।
सकल जगत ते ऐंचि प्रीति की बीरी आजु खवाऊँ।।

विजय जान चढ़ि वायु समर महँ जय दक्षिणा दिवाऊँ।
रथ सों रथ मिलाय माधव को ध्वज चामरहिं चलाऊँ।।
नख शिख निरखत रूप अनूपम नैंन निराजन लाऊँ।
बार बार धुनि दण्ड प्रतञ्चा धनुषहिं बाज बजाऊँ।।
रथ मण्डल करि दै परदक्षिण उर आनन्द उपजाऊँ।
यदुवर कर सों आजु अवसि मैं चक्र प्रसादहिं पाऊँ।।
अर्जुन शर पञ्जर जञ्जर ह्वै गिरि सनमुख शिर नाऊँ।
यहि विधि रन प्रभु को करि पूजन त्रिभुवन में यश छाऊँ।।
श्रीरघुराज कृपा हरि की लहि बरबस हरिपुर जाऊँ।।

पुनश्च— **भीषम के बानन की मार इमि माची गात एकहू न घात सव्य साची करि पावैं हैं।**
कहैं रतनाकर निहारि सो अधीर दशा त्रिभुवन नाथ नैन भरि भरि आवैं हैं।।
बहि बहि हाथ चक्र ओर ढहि जात पीठ रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावैं हैं।
उत प्रन पालन की कानि सकुचावै इत भक्त-भय टालन की बानि उमगावैं हैं।।
छूट्यौ अवसान मान सकल धनञ्जय को धाक रही धुन में न सांक रही सर में।
कहैं रतनाकर निहारि करुणाकर कै आई कुटिलाई कछु भौहन कगर में।।
रोकिझर रंचक अरोकि वर बाननिकी भीषम यों भाख्यो मुसिकाइ मन्द स्वर में।
चाहत विजैको सारथी जो कियो सारथ तो वक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ करमें।।
ज्यों ही भये विरथ रथाँग गहि हाथ नाथ निज प्रन भंगकी रही न चित चेत है।
कहैं रतनाकर त्यों संग ही सखा हू कूदि आनि अर्‌यौ सौंहैं हाहा करत सहेत है।
कलित कृपा औ त्रिपा द्विमग समा हैं पग पलक उठ्यो ही रह्यो पलक समेत है।
धरन न देत आगे अरुझि धनञ्जय औ पाछे उभय भक्त भाव परन न देत है।।

भीष्म कहने लगे— **जय जय जय चिन्तामणि स्वामी शन्तनु सुत यों भाखै।**
तुम बिन ऐसो कौन दूसरो जो मेरौ प्रण राखै।।

उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्ष में शरशय्या पर पड़े हुये भीष्मजी के हृदय में भगवान की यह त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति बारम्बार स्मृति पथ में आती रहती थी जिसे वे युद्ध-क्षेत्र में रथ का टूटा हुआ पहिया लेकर अपनी ओर आते देखे थे। यथा—

पद— **वा पटपीत की फहरानि।**
कर धरि चक्र चरन की धावनि नहिं बिसरति वह बानि।।
रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच रज की लपटानि।
मानो सिंह शैल ते निकस्यो महामत्त गज जानि।।
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आनि।।

भगवान श्रीकृष्ण की दर्शनाभिलाषा से आये हुये महाराज युधिष्ठिरजी ने जब एकदिन श्रीकृष्ण को ही ध्यानावस्थित देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि योगीन्द्र-मुनीन्द्र-ध्येय आज स्वयं किसका ध्यान कर रहे हैं। पूछने पर विदित हुआ कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण शरशय्या पर पड़े हुये परम भागवत भीष्मजी का ध्यान कर रहे हैं। श्रीयुधिष्ठिरजी भाव-विभोर हो गये, पितामह की अद्‌भुत भक्ति निष्ठा को विचारकर। भगवान ने कहा—युधिष्ठिर! अब यह परम प्रकाशपुञ्ज सूर्य अस्त होने वाला है अत: वहाँ चलकर तुमको उपदेश लेना चाहिए। युधिष्ठिरजी ने भगवान की आज्ञा का पालन किया। भगवान की कृपा से पितामह की सारी पीड़ा दूर हो गई, उन्होंने बड़े उत्साह से युधिष्ठिर को धर्म के समस्त अङ्गों का उपदेश किया।

प्रसङ्ग आता है, श्रीभीष्मजी धर्मोपदेश कर ही रहे थे कि बीच में ही महारानी द्रौपदी आ गईं। पितामह ने उपदेश रोककर पूछा—बेटी! तू हँसी क्यों? प्रथम तो द्रौपदीजी अपनी भूल पर बहुत संकुचित हुईं, प्रसङ्ग को टालना चाहीं। परन्तु भीष्मजी के पुनः पुनः पूछने पर बोलीं—दादाजी आज तो आप धर्म की ऐसी उत्तम बातें कर रहे हैं, किन्तु कौरवों की सभा में जब मैं दु:शासन द्वारा नङ्गी की जा रही थी तो उस समय आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था? पितामह ने शान्तिपूर्वक समझाया—बेटी! मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था परन्तु दुर्योधन का अन्यायपूर्ण अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी इसी से उस समय धर्म का ठीक निर्णय करने में मैं असमर्थ हो गया था। परन्तु अब अर्जुन के बाणों के लगने से, दूषित अन्न से बने रक्त के शरीर से बाहर निकल जाने के कारण मेरी बुद्धि शुद्ध हो गई है, इससे इस समय मैं धर्म का तत्व ठीक-ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ।

अन्त में सूर्य के उत्तरायण होने पर एक सौ पैंतालीस वर्ष की अवस्था में माघ शुक्ल अष्टमी को सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियों के बीच भीष्मपितामह ने अपने सम्मुख खड़े पीताम्बरधारी श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन करते हुए, उनकी स्तुति करते हुए चित्त को उन परम-पुरुष में एकाग्र करके शरीर का त्याग कर दिया।

आपकी भीष्म-प्रतिज्ञा एवं पितृभक्ति से प्रभावित होकर ऋषियों और पितरों ने यह विधान किया कि जो भी कोई देव-पितृ-तर्पण करे वह अन्त में भीष्मपितामह को जलाञ्जलि दे। इन्हें जलदान किये बिना देव-पितृ- अतृप्त ही रह जायेंगे। तभी से सभी लोग—**वैयाघ्रपदगोत्राय, सांकृत्य प्रवराय च। अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे।।** इस मन्त्र से जल देते हैं।

श्रीबलिजी—देखिये छप्पय ५ और कवित्त १०२।।

श्रीशुकदेवजी—देखिये कवित्त ९८।।

श्रीधर्मराजजी—भगवान सूर्य की पत्नी संज्ञा से आपका प्रादुर्भाव हुआ है। कल्पान्त तक संयमनी पुरी में रहकर जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फल का विधान करते रहते हैं। पुण्यात्मा लोगों को धर्मराज के रूप में बड़े सौम्य और पापात्मा जीवों को यमराज रूप में भयङ्कर दीखते हैं। जैसे अशुद्ध सोने को शुद्ध करने के लिए अग्नि में तपाते हैं वैसे ही आप कृपावश जीवों को दण्ड देकर शुद्ध कर भगवद्‌भजन के योग्य बनाते हैं।

भगवान के मङ्गलमय नाम की महिमा वर्णन करते हुये श्रीधर्मराजजी अपने दूतों से कहते हैं कि—

नामोच्चारण माहत्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत।।
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति भ्रियमाण इयाय मुक्तिम्।।

अर्थ—प्रिय दूतो! भगवान के नामोच्चारण की महिमा तो देखो, अजामिल जैसा पापी भी एकबार नामोच्चारण करने मात्र से मृत्युपाश से छुटकारा पा गया। भगवान के गुण, लीला और नामों का भली-भाँति कीर्तन मनुष्यों के पापों का सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है। क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिल ने मरने के समय चंचल चित्त से अपने पुत्र का नाम 'नारायण' उच्चारण किया, इस नामाभास मात्र से ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्ति की प्राप्ति भी हो गयी।

पुनश्च—**ते देवसिद्धपरिगीत पवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।**
तान् नोपसीदत हरे र्गदयाभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे।।

अर्थ—जो समदर्शी साधु भगवान को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उन पर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रों का प्रेम से गान करते रहते हैं। मेरे दूतो! भगवान की गदा उनकी सर्वदा रक्षा करती रहती है। उनके पास तुम लोग कभी भूलकर भी मत जाना। उन्हें दण्ड देने की सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् काल में ही।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृत विष्णुकृत्यान्।। (भा० ६-३-२९)

अर्थ—जिनकी जीभ भगवान के गुणों और नामों का उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त, उनके चरणारविन्दों का चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एकबार भी भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में नहीं झुकता उन भगवत्सेवा विमुख पापियों को ही मेरे पास लाया करो। (भा०)

कठोपनिषद् में उद्दालक मुनि के पुत्र नचिकेता और यमराज का प्रसङ्ग आता है। जिसमें श्रीयमराजजी आत्म-तत्व के सम्बन्ध में की गई नचिकेता की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं कि—**नित्यो नित्यानां चेतश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।** अर्थ—जो नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है और अकेला ही इन अनेक जीवों की कामनाओं का विधान करता है उस अपने अन्दर रहने वाले पुरुषोत्तम को ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं उन्हीं को सदा अटल रहने वाली शान्ति प्राप्त होती है। दूसरों को नहीं। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।** अर्थ—यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त होता है। जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।

प्रश्न—श्रीसनकादिकजी, श्रीकपिलदेवजी, श्रीमनुजी आदि तो भगवदवतारों में गिने गये हैं, फिर इनको द्वादश भक्तों में क्यों कहा गया है? समाधान—यद्यपि ये हैं अवतार ही परन्तु इन्होंने अपने को

सदा-सर्वदा भक्त मानकर भगवान के भजन-सुख का ही रसास्वादन किया है अतः भागवताचार्यों में भी गिने गये। भगवान के भक्त सर्वस्व त्यागकर, लोक-परलोक की वांछा को ठुकराकर निरन्तर भजन-ध्यान में लगे रहते हैं, यहाँ तक कि यदि भगवान के मिलने से भनज में बाधा पड़ती हो तो भगवान को छोड़ देंगे, परन्तु भगवान का भजन नहीं छोड़ेंगे यथा—**प्रिय रामनाम ते जाहिं न रामो** (विनय) तो भगवान को भी यह इच्छा होती है कि भजन में न जाने वह कौन-सा विलक्षण सुख है जिसके लिए मेरे भक्त स्वार्थ-परमार्थ तक का त्याग कर देते हैं। यथा—**परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे।।** यह अनुभव करना चाहिये। अतः स्वयं भी भक्त बनकर भजन सुख का रसास्वादन करते हैं और फिर चस्का लग जाने पर वे भक्त ही बने रहना चाहते हैं भगवान नहीं। भगवान श्रीकृष्ण गोपी प्रेम का रसास्वादन करने के लिए श्रीगौरांग महाप्रभु के रूप में भक्तावतार लिये थे।।

धर्‌यौ पितु मातु नाम अजामेल सांचो भयो भयौ अजामेल तिया छूटी शुभजात की।
कियो मदपान सो सयान गहि दूरि डार्‌यो गार्‌यौ तनु वाही सों जो कीन्हों लैकै पातकी।।
करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाये साधु आये घर देखि बुद्धि आइ गई सातकी।
सेवा करि सावधान सन्तन रिझाय लियो नारायण नाम धरो गर्भ बात बात की।।२३।।

शब्दार्थ—अजा=माया, कुलटा स्त्री। मेल=सम्पर्क, सम्बन्ध। शुभजात=ब्राह्मण कुल। मदपान=मदिरा पीना। सयान=विवेक, चतुराई। गार्‌यौ=नष्ट कियौ, गिरायौ, निचोर्‌यौ। सातकी=सात्विकी, सतोगुणी। बात की=बातचीत की, उपदेश दिया।

भावार्थ—पिता-माता ने पुत्र का नाम अजामिल रखा, वह सच्चा हो गया। अजा अर्थात् मायारूपी वेश्या से उसका मेल हो गया। ब्राह्मण कुल की विवाहिता पत्नी छूट गई। वह मद्यपान करने लगा, उसने आचार-विचार और विवेक को दूर फेंक दिया। अपने शरीर को उसके साथ घुला-मिला दिया, जिससे वह महान पापी हो गया। संयोगवश विचरते हुए कुछ साधु-सन्त आये, उनसे किसी दुष्ट ने हँसी की कि—अजामिल बड़ा साधु-सेवी है उसी के यहाँ चले जाओ। सन्त अजामिल के घर पहुँच गये। दर्शनमात्र से ही अजामिल को सतोगुणी बुद्धि आ गई। सन्तों में बड़ी श्रद्धा हुई। सावधानी से सेवा करके उन्हें प्रसन्न कर लिया। सन्तों के चलते समय स्त्री समेत अजामिल ने प्रणाम किया। सन्तों ने आशीर्वाद दिया कि—इसके पुत्र होगा और उसका नाम 'नारायण' रखना। कुछ समय बाद पुत्र का जन्म हुआ और अजामिल ने उसका 'नारायण' नाम रखा।।२३।।

व्याख्या—अजामिल कान्यकुब्ज ब्राह्मण (कन्नौज निवासी) थे। यथा—**कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।।** (भा० ६-१-२१) वेद, शास्त्र, पुराणादिकों के पारङ्गत विद्वान थे। शील, सदाचार और सद्‌गुणों के तो खजाना ही थे। ब्रह्मचारी विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ और मन्त्रवेत्ता थे। इन्होंने गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्ध पुरुषों की बहुत सेवा की थी। इनमें अहङ्कार का तो लेश भी नहीं था। समस्त प्राणियों का हित चाहते, सबका उपकार करते, किसी में दोष नहीं देखते थे। परन्तु विधि का विधान बड़ा विलक्षण होता है। '**धर्‌यो............भयो अजामिल**' पिता-माता ने प्यारवश इनका नाम अजामिल रखा था सो वह आगे चलकर सत्य ही अजा=माया से मिला हुआ, लिपटा हुआ अर्थात् साक्षात् मायारूपिणी वेश्या में अत्यन्त आसक्त हो गये। कथा इस प्रकार से है—एकदिन अजामिल अपने पिता के

आदेशानुसार वन में गये और वहाँ से फल-फूल, समिधा तथा कुश लेकर घर को लौट रहे थे कि एक अत्यन्त कामी निर्लज्ज, पतित सुरापी शूद्र को मदिरा पीकर किसी वेश्या के साथ विहार करते देखे। दोनों ही नशे के कारण अपनी सुध-बुध खोये हुये अत्यन्त कामोद्दीपक चेष्टायें कर रहे थे, जिसे देखकर अजामिल सहसा ही मोहित और काम के वश में हो गये।

यहाँ एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इतने बड़े विद्वान्, सद्गुण सम्पन्न ब्राह्मण अजामिल क्षण मात्र में ही कैसे ज्ञान ध्यान को तिलांजलि देकर विषयवश हो गये। इसका एक समाधान तो यह है कि माया ऐसी बलवती है ही कि–**'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआयीं बिमोह मन करई।।** और उसमें भी–**'नारि विष्णु माया प्रगट।'** श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं कि–**स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी। स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्।।** अर्थ–जो स्मरण करने पर संताप देती है, देखने पर उन्माद को बढ़ाती है और छू जाने पर मोह को बढ़ाती है ऐसी स्त्री दयिता (प्यारी) कैसे हो सकती है।

पुनश्च–**ज्ञान ध्यान वैराग्य अरु लोक बेद कुल कान। कछु न रहत लागै जबै तरुणी नैना बान।।**
तनक न रहै विरक्तता, लगै दृगन की थाप। कहुँ पूजा माला कहूँ, कहुँ बटुवा कहुँ आप।।
पण्डित पूजा पाक दिल, यह गुमान मतलाय। लगे जरब अँखियान कै, सकल गरब गरि जाय।।

सोउ मुनि ज्ञान निधान, मृग नयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होहिं हरिजान, नारि विष्णु माया प्रकट।।

दृष्टान्त–व्यास और जैमिनी का–श्रीव्यासजी ने श्रीमद्भागवत में श्रीययातिजी के प्रसङ्ग में लिखा है–**मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।** (भा० ९-१८-१७) अर्थ–अपनी माँ, बहिन और कन्या के साथ भी अकेले एक आसन पर सटकर नहीं बैठना चाहिये। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं। श्रीव्यासजी के शिष्य जैमिनी को यह बात नहीं जँची। भला विद्वान् को इन्द्रियाँ क्या विचलित कर सकती हैं? श्रीगुरुजी ने लिखने में भूल कर दी है। बस जैमिनी ने वह श्लोक बदल दिया 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसं नाप कर्षति।' श्रीव्यासजी ने समझाया भी, परन्तु जैमिनी को बोध नहीं हुआ। अभिमान में भरकर बोले–गुरुदेव! तुच्छ इन्द्रियों की क्या शक्ति है। मैं तो उन पर सर्वथा विजय प्राप्त कर चुका हूँ। यह सुनकर श्रीव्यासजी जैमिनी की परीक्षा लेने के लिये स्वयं स्त्री रूप धारण कर अन्धेरी रात में जब कि कुछ बादल बरस रहे थे। जैमिनी के आश्रम में पहुँच कर बोले–हे मुने! मैं एक अबला स्त्री हूँ। मैं अपने साथियों से बिछुड़ गई हूँ। अत्यन्त व्याकुल एवं इस वन में भयभीत होकर आपके आश्रम में आई हूँ। आज रात बिताकर प्रात: सूर्योदय होते ही अपने साथियों को ढूँढ़ लूँगी। फिर उनके साथ चली जाऊँगी। स्त्री की प्रार्थना सुनकर महर्षि जैमिनी ने कहा–यहाँ से कहीं दूर जा। मैं स्त्री को अपने आश्रम में आश्रय नहीं देता।

उसने कहा–मैं अकेली इस अँधेरी रात में कहाँ जाऊँगी। शरणागत का परित्याग शास्त्र में नहीं कहा गया है आप सर्वज्ञ हैं। सब कुछ जानते ही हैं। तब जैमिनी ने कहा कि–अच्छा लो इस कमरे की

चाबी। मेरे बगल के कमरे में भीतर से किवाड़ बन्द कर पड़ी रहना। यदि मैं भी किवाड़ खोलने के लिए आग्रह करूँ तो नहीं खोलना। उस स्त्री ने कहा—ऐसा ही करूँगी। उसने ऐसा ही किया पुनः काम की प्रबलता से जैमिनी महर्षि का अपना स्वरूप विस्मृत हो गया। उस निर्जन रात्रि में उस रूपवती युवती के साथ समागम की इच्छा उत्पन्न हो गई। अपनी पर्णकुटी से बाहर आकर उस युवती से किवाड़ खोल देने का आग्रह किया। जब बहुत प्रार्थना करने पर भी नहीं खोली तब उस कमरे की छत पर जाकर उस पर्णकुटी के काठों को हटाकर कमरे में प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने अपने गुरुदेव श्रीवेदव्यासजी को बैठे देखकर बड़े लज्जित हुए तथा उनको नमस्कार करते हुए बोले—हे गुरुदेव! आपकी वाणी सत्य है। वास्तव में काम पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। श्रीवेदव्यास जी अपने आश्रम को चले गये।

पुनश्च—**विश्वामित्र पाराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशिनास्तेऽपि स्त्रीमुख पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।।** अर्थ—विश्वामित्र, पाराशर आदि भी जो वायु, जल और सूखे पत्ते खाते थे, स्त्री के मुखकमल को देखकर मोह को प्राप्त हो गये थे।। दूसरे—विषय भी ऐसे बलवान होते हैं कि स्त्री-पुरुष के विहार की तो बात ही क्या? सौभरि ऋषि तो मछलियों का विहार देखकर विषय-वश हो गये थे। (देखिये छप्पय १६) तीसरे—कथा आती है कि ये पूर्वजन्म में ऋषि थे। सत्यवती के साथ पराशर ऋषि का जो समागम हुआ था उस पर ये पराशरजी का बड़ा उपहास किये थे। तब क्षुभित होकर पराशरजी ने शाप दे दिया कि तुम्हारा तो सारा जन्म ही वेश्या के साथ बीतेगा। अतः महत्पुरुषों का उपहास नहीं करना चाहिये। स्वायम्भुव मन्वन्तर में प्रजापति मरीचि के पुत्र, यह देखकर कि ब्रह्माजी अपनी पुत्री (सरस्वती) से समागम करने के लिए उद्यत हैं, हँसने लगे। इस परिहासरूप अपराध के कारण उन्हें ब्रह्माजी ने तीन बार जन्म लेने का शाप दे दिया। जिसके फलस्वरूप वे एकबार हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। पुनः देवकी के गर्भ से जन्मे, पुनः राजा बलि के पुत्र बने। फिर माता देवकी की प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण उन्हें बलि के यहाँ से ले आये और वे माता देवकी का स्तन-पान करते ही शाप से मुक्त होकर देवत्व को प्राप्त हो गये। (भा० १०/४६-५७ तक) राजा चित्रकेतु ने भगवान शिव का उपहास किया, जिससे असुर बनना पड़ा। (देखिये कवित्त ६९) जब ये अनुनय विनय कर अपराध क्षमा की याचना किये तो ऋषि ने कहा कि—अच्छा! जब तुम अत्यन्त मोहासक्त हो जाओगे तो मैं ही आकर तुम्हारा उद्धार भी करूँगा। इन उपर्युक्त हेतुओं से अजामिल उस कामी शूद्र और वेश्या के काम-विहार को देखते ही व्यामोहित हो गये।

यद्यपि अजामिल ने अपने विवेक बल से काम मोहित मन को रोकने की बहुत-बहुत चेष्टायें कीं, परन्तु सफल न हो सके। इनकी सदाचार और शास्त्र-ज्ञान सम्बन्धी चेतना नष्ट हो गई। अपने धर्म से विमुख हो गये। अहर्निश उस वेश्या का ही चिन्तन करते रहते। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों द्वारा उस वेश्या को प्रसन्न करने के प्रयत्न में इन्होंने अपने पिता की सारी सम्पत्ति उस कुलटा पर न्यौछावर कर दिया। घर का धन नष्ट होने पर विषय-विमुग्ध अजामिल न्याय से, अन्याय से, जैसे भी, जहाँ कहीं भी धन मिलता वहीं से लाकर वेश्या को रिझाता रहता। अजामिल ने 'यथा नाम तथा गुण' इस कहावत को चरितार्थ कर दिया। इस प्रसङ्ग से यह चेतावनी मिलती है कि माता-पिता को बालकों का नाम विचार कर धरना चाहिये, जैसा-तैसा नाम धरना ठीक नहीं।

तिया छूटी शुभ जाति की—उस स्वच्छन्दचारिणी कुलटा की तिरछी चितवन ने इनके मन को ऐसा लुभा लिया कि इन्होंने अपनी कुलीन, नवयुवती और विवाहिता पत्नी तक का परित्याग कर दिया।

कियो मदपान—ब्राह्मण के लिये मद्यपान अति ही निषिद्ध है, परन्तु '**को न कुसङ्गति पाइ नसाई**' अजामिल मदिरा भी पीने लगा। **सो सयान गहि दूरि डार्यौ—'सो सयान**'=वह विवेक अर्थात् पूर्व का शास्त्र ज्ञान। कियो मदपान....डार्यो—का दो प्रकार से अर्थ होगा-१—मदिरा पीने लगा अतः वह विवेक नष्ट हो गया। २—विषयवश होने से वह विवेक नष्ट हो गया अत: 'कियो मदपान।' मदपान और विषयवश्यता—दोनों में ही विवेक नष्ट हो जाता है। यथा—**यौवन मद, अरु मद पिये, पुनि तरुणी मदमत्त। भूले माता पिता गुरु दया धर्म अरु सत्त।।** विवेक-विनाशरूप अनर्थ के लिये एक ही मद पर्याप्त है—यथा—**मद ते गुनी। नासहिं वेगि नीति अस सुनी।।** (रामा०) और यहाँ तो, यौवन-मद, मदिरा-मद और तरुणी-मद तीन-तीन मद हैं। अतः 'सो सयान गहि दूर डार्यौ।।'

गार्यो तन वाही सों—यथा—भर्तृहरि वाक्य—**वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता। कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।।** अर्थ—यह वेश्या कामरूप अग्नि की ज्वाला है जो रूप रूपी ईंधन से बढ़ाई गई है। कामी लोग इसमें यौवन और धन का हवन करते हैं। **जो कीन्हौं लै कै पातकी**—पातक तीन प्रकार का होता है। १—उप पातक, २—पातक, ३—महापातक। अजामिल से एक भी पाप बचा नहीं था। '**जे पातक उप पातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं**। अजामिल ने सब किये थे। वेश्या-गमन, मद्यपान आदि कुकर्मों ने उसे महापातकियों की पंक्ति में बैठा दिया था। महापातकी चार होते हैं यथा—**ब्रह्महा, मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पग। एते महापातकिनो यश्च तैः सह सम्वसेत्।।**

करि परिहास.....साधु—सन्तों की एक जमात गाँव में आई। वस्तुतस्तु श्रीपराशरजी अजामिल का उद्धार करने के लिये सन्त-समाज को साथ लेकर आये थे। गाँव में आकर पूछे—भाई! यहाँ कोई साधु-महात्मा व सन्तसेवी भक्त हैं। किसी दुष्ट ने कह दिया—हाँ अजामिल बड़े साधु हैं, बड़े सन्तसेवी हैं, वहीं चले जाइये। **देखि-सातकी**—यह सन्त दर्शन की महिमा है। यथा—**येषा संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः। किं पुनर्दर्शन स्पर्शपादशौचासनादिभिः।।** अर्थ महात्माओं के स्मरण मात्र से ही गृहस्थों के घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं फिर हृदय के शुद्ध होने की तो बात ही क्या है। फिर दर्शन, स्पर्श, पाद प्रक्षालन और आसन दानादि का सुअवसर मिलने पर तो कहना ही क्या है। पुनश्च—**मुख देखत पातक हरै, परसत करम विलाहिं। बचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग मिलाहिं।। सरदातप निशि शशि अपहरई। सन्त दरस जिमि पातक टरई।। जब द्रवैं दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहिं दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये।।**

यहाँ सन्त-वैष्णव की पहिचान है कि जिनके दर्शन मात्र से भगवत-भागवत में प्रीति हो जाय। एकबार श्रीगौरांग महाप्रभुजी से कुलीन ग्रामवासी भक्तों ने पूछा—प्रभो! वैष्णव की क्या पहचान है? श्रीमहाप्रभु ने कहा—जिसके मुख से एकबार भी श्रीकृष्ण नाम निकला हो वही वैष्णव है। दूसरी बार पुनः कुलीन ग्रामवासियों ने यही प्रश्न पूछा तो महाप्रभु ने कहा—जो निरन्तर श्रीकृष्ण नाम लेता हो वह वैष्णव है। तीसरी बार पुनः जब उन लोगों ने यही प्रश्न किया, तब महाप्रभु ने कहा—जिनके दर्शन मात्र से ही हृदय में भगवत-भागवत प्रीति का समुदय हो और स्वतः मुख में श्रीकृष्ण नाम स्फुरित हो, वे वैष्णव हैं।

अजामिल के घर ऐसे ही सन्त पधारे जिनके दर्शन करते ही वेश्या और अजामिल दोनों को ही सात्विक बुद्धि आ गई। अजामिल साधु का पता पूछते-पूछते सन्त लोग जब उनके घर गये तो अजामिल घर पर थे नहीं, वेश्या अपना साज-श्रृंगार किये दीख पड़ी। उसके रंग-ढंग को ही देखकर महात्माओं ने समझ लिया कि यह तो वेश्या मालूम पड़ती है, अतः लौटकर जाने लगे। परन्तु सन्त-समाज के दर्शन से प्राप्त सात्विक बुद्धि की प्रेरणा से वेश्या ने तुरन्त ही आगे बढ़कर बहुत भाव-भक्ति पूर्वक अनुनय विनय कर रोक ही लिया और 'सेवा करि सावधान संतन रिझाय लियो।' वेश्या की भाव-भक्ति देखकर सन्त बड़े प्रसन्न हुये और जो उन्होंने पहले वेश्या जानकर उसकी उपेक्षा की थी, उसे अपनी भूल समझे। अब सन्त बारम्बार वेश्या से अजामिल साधु को पूछते कि वे कहाँ गये हैं? कब आवेंगे? आदि-आदि।।

वेश्या ने विचारा—मालूम पड़ता है—किसी ने इन महात्माओं से व्यङ्ग पूर्वक अजामिल को साधु कह दिया है और ये सरल हृदय साधु उसे सत्य ही मान बैठे। अतः अब तो हमें अजामिल को साधु रूप में ही महात्माओं के सामने प्रस्तुत करना चाहिये। बस तुरन्त ही महात्माओं को सुव्यस्थित कर बाजार में जाकर सुन्दर कण्ठी, माला, तिलक, पीताम्बरी धोती खरीद कर मार्ग में अजामिल की प्रतीक्षा करने लगी। वेश्या को भय था कि अजामिल जंगल में शिकार लाने गया है। कहीं नित्य के नियमानुसार वह बहुत से मृत पशु-पक्षियों को लेकर सहसा आ गया तो सब बना-बनाया खेल मिट्टी में मिल जायेगा। उसे देखकर मुनि-महात्मा निश्चय ही क्रोध करके घोर शाप देंगे जिससे उद्धार असम्भव हो जायेगा अतः वह बड़ी सतर्कता से अजामिल को इतस्ततः देख ही रही थी कि अजामिल वन्य मृगों को मारकर कन्धे पर लटकाये, उनके रुधिर से सने हुए आते दिखाई पड़े। झट वेश्या ने आगे बढ़कर वह सब फेंकवा दिया, बोली—घर पर साधु आये हैं। अजामिल ने कहा—साधु आये हैं तो उनके पास कुछ मालमत्ता भी है कि केवल लंगोटिया बाबाजी ही हैं। वह जान गई कि अभी इनका मदिरा का नशा उतरा नहीं है।

अतः उसने कहा कि पहले स्नान करो तब सब बात बताऊँगी। अजामिल वेश्या के बड़े आज्ञाकारी थे। तुरन्त मृगादिकों को फेंककर स्नान किये। वेश्या ने इनका वैष्णव वेष बनाया। कण्ठी, माला, तिलक, पीताम्बरी से इनको सुसज्जित किया और समझाया कि सन्तों ने आज बड़ी कृपा की है जो मुझ अभागिनी के घर पधारे हैं, तो आप भी चलकर उनको भक्ति-भाव से दण्डवत् करना, और बड़ी नम्रता पूर्व उनसे वार्तालाप करना। उनसे कहना कि—महाराज! आप लोगों ने बड़ी कृपा की जो मेरे घर पधारे। मेरे बड़े भाग्य हैं जो आप लोगों के दर्शन हुये, मैं आपका दास हूँ, आप जो आज्ञा करें, मैं सेवा करने के लिये तैयार हूँ। फिर परीक्षा के लिये वेश्या ने अजामिल से पूछा कि अच्छा बताओ, क्या कहोगे? तो अजामिल बोले—कहूँगा कि मैंने बड़ी कृपा की जो आप लोगों से मिला, आप लोगों के बड़े भाग्य हैं जो मेरे दर्शन हुए, मैं आप लोगों का स्वामी हूँ, जो आज्ञा करूँगा वह सब आप लोग करने को तैयार रहेंगे आदि-आदि। वेश्या ने देखा कि यह तो सब उलटे ही बोल रहे हैं तब बोली कि अच्छा तुम एकदम चुप रहना, मैं सब कार्य सँभाल लूँगी। मूर्ख का तो चुप रहना ही ठीक है। नीति में भी लिखा है कि—

आत्मनो मुख दोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः। बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थ साधनम्।।

अर्थ—तोता और मैना सुन्दर बोल लेते हैं। अतः लोग पकड़कर पिंजड़े में बन्द करके पालते हैं। ये अपने मुख दोष से बन्धन में पड़ते हैं और बकुला बन्धन से रहित होता है। अतः लगता है कि मौन ही सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है।

दृष्टान्त—अकबर और बीरबल का—अकबर बादशाह की बीरबल की प्रखर बुद्धि के सामने कुछ नहीं चलती। बात-बात में लज्जित होना पड़ता। अकबर इस प्रयत्न में रहते कि मैं कौन ऐसा उपाय करूँ जिससे बीरबल को कुछ लज्जित होना पड़े। किसी ने बादशाह से कहा कि हुजूर! बीरबल के घर के लोग बड़े मूर्ख हैं, प्रवीण तो एक बीरबल ही हैं। बादशाह ने यह बात जब बीरबल से कही तो बीरबल ने तुरन्त उत्तर दिया—हुजूर! आपको किसी ने बहका दिया है। वस्तुतस्तु घर के सभी लोग बड़े प्रवीण हैं उनमें मूर्ख तो मैं ही हूँ। बादशाह ने कहा—मैं उन लोगों को देखना चाहता हूँ। तब बीरबल ने घर जाकर सबको एकत्रित करके सुन्दर-सुन्दर पोशाक धारण कराकर घोड़ा पालकी पर बैठाकर बादशाह के दरबार में उपस्थित किया। बीरबल ने घर वालों को सिखा दिया था कि बादशाह कुछ भी पूछे तुम लोग बोलना मत। बोलोगे और उत्तर ठीक से नहीं बन पड़ा तो बादशाह मार डालेगा। हुआ भी ऐसा ही। जब वे लोग दरबार में पहुँचे तो बादशाह देखते ही जान गया कि सचमुच ये हैं तो पूरे गँवार ही, इनके गँवारपन का भण्डाभोड़ करना चाहिये। अतः बादशाह ने बात चलाई-तुम लोग इतनी सुन्दर पोशाक पहने हो यदि कोई छीने तो क्या करोगे? ऐसे ही कई बार पूछा, परन्तु वे तो सिखाये-पढ़ाये थे, अतः एक चुप हजार चुप।। कोई कुछ भी बोले ही नहीं। बादशाह ने बीरबल से पूछा— ये बोलते क्यों नहीं? बीरबल ने कहा—हुजूर! आप समझे नहीं। इन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मूर्ख से न बोलना ही अच्छा। यह सुनकर बादशाह झेंप गया, साथ ही बीरबल की बुद्धिमानी पर प्रसन्न भी हुआ।

इसी प्रकार वेश्या ने भी अजामिल से कहा कि तुम मौन ही रहना। यही हुआ—अजामिल आये, जैसे-तैसे सन्तों को दण्डवत् करके एक ओर बैठे रहे। सन्तों ने इसे भोला-भाला भक्त समझा।

सेवा करि सावधान—सेवा धर्म बड़ा ही गहन है। यथा—'सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' अतः इसमें बड़ी सावधानी वर्तनी पड़ती है। सन्त-दर्शन के प्रभाव से सात्विक बुद्धि का उदय होने से वेश्या और अजामिल ने मन, वचन, कर्म से भाव-भक्ति पूर्वक सन्तों की सेवा कर उन्हें रिझा लिया। क्योंकि—**'सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जल अंजलि दिये।'' भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः।' नारायण.....बातकी।'** —सर्वज्ञ सन्तों से अजामिल और वेश्या की वास्तविकता छिपी नहीं रही और इन दोनों ने भी अपनी शोचनीय दशा सन्तों को कह सुनाई और अत्यन्त ग्लानि में भरकर सन्तों के चरणों में लोटकर रोते हुये अपने उद्धार का उपाय पूछा। फिर तो '**लागि दया कोमल चित संता**' संतों ने कहा—भगवान का भजन करो, कल्याण हो जायेगा। अजामिल बोले—प्रभो! मैंने जन्म-भर तो पाप किया है, भला भजन में मेरा मन कैसे लग सकता है। यथा—**पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहिं भाव न काऊ।** ऋषियों ने अजामिल को स्वरूपानुरूप औषधि (उपाय) बताया—'**नारायण नाम धरो गर्भ बातकी।**' जैस चतुर वैद्य रोगी की हैसियत के अनुसार ही दवा बताते हैं।

दृष्टान्त—राजवैद्य का—एक राजवैद्य थे। उन्होंने जिस रोग के लिये राजा को कई हजार की कीमती औषधि बतायी थीं, उसी रोग के लिए एक गरीब को दो-चार आने का नुस्खा बता दिया और वह उसी से अच्छा हो गया। लोगों ने राजा से शिकायत की। राजा ने वैद्यजी को बुलाकर पूछा—दो-चार आने की जगह आपने मुझसे दो-चार हजार क्यों खर्च करवाये? वैद्य ने कहा—जैसा रोगी वैसी औषधि। दो-चार आने की औषधि में आपका विश्वास भी तो नहीं होता।

दृष्टान्त—२—श्रीवाल्मीकिजी को सप्तर्षियों ने उलटा नाम जपने का उपदेश दिया था। (देखिये कवित्त ७४) उसी प्रकार समागत साधुओं ने अजामिल का उद्धार करने के लिये बेटे का नाम 'नारायण' धरवाया।

आइ गयो काल मोह जाल में लपटि रह्यो महा विकराल यमदूत सो दिखाइये।
वोही सुत नारायण नाम जो कृपाकै दियो लियो सो पुकारि सुर आरत सुनाइये।।
सुनत ही पार्षद आये वाही ठौर दौरि तोरि डारे पास कह्यौ धर्म समुझाइये।
हारे लै बिडारे जाइ पति पै पुकारे कही सुनो बजमारे मति जावो हरि गाइये।।२४।।

शब्दार्थ—सुर-आरत=दु:खित स्वर। पास=फाँस, बन्धन, यमपाश। बिडारे=फटकार कर भगाये। बजमारे=नीच, अधम।

भावार्थ—अजामिल स्त्री-पुत्र के मोह जाल में लिपटा पड़ा था, इतने में उसके मरने का समय आ गया। अति भयानक यमदूत दिखलाई पड़े। भय और मोहवश अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया। सन्तों ने कृपा करके जो बालक का नाम रखवाया था, उसे बड़े दीन-दु:खित स्वर से नारायण! नारायण!! ऐसा पुकारा। भगवन्नाम सुनते ही विष्णु-पार्षद उसी समय उसी स्थान पर दौड़कर आ गये। यमदूतों ने जिस फाँसी से अजामिल को बाँधा था उसे पार्षदों ने तोड़ डाला। यमदूतों के पूछने पर पार्षदों ने धर्म का रहस्य समझाया। यमदूत न माने, अजामिल को पापी समझकर ले जाना चाहते थे, तब पार्षदों ने डाट-डपटकर भगा दिया। हारकर सब यमदूतों ने धर्मराज के पास जाकर पुकार की। धर्मराज ने कहा—अरे नीचो! तुम पर गाज गिरे, तुमने बड़ा अपराध किया है। अब सावधान रहना, जहाँ कोई किसी भी प्रकार से भगवन्नाम का उच्चारण करे वहाँ मत जाना। अपने कल्याण के लिये स्वयं भी तुम लोग हरि के नाम और यश का गान करो।।२४।।

व्याख्या—आय गयौ काल—उस समय अजामिल की आयु अठ्ठासी वर्ष की थी। यथा—**कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः।।** अर्थ—हे राजन्! इस प्रकार उसकी आयु का बड़ा भाग अठ्ठासी वर्ष बीत गया।। काल दुर्निवार है। यथा—**अण्ड कटाह अमित लय कारी। काल सदा दुरति क्रम भारी।।** (रामचरितमानस) जिसने काल को अपने महापराक्रम से बाँध रखा था, अन्त में काल ने उसको भी आत्मसात कर लिया। यथा—**सहस बाहु दशवदन आदि नृप बचे न काल बली ते।** फिर अजामिल की तो बात ही क्या है। पुनश्च—

न बचै कोउ पण्डित वेद पढ़े न बचै कोऊ ऊँची चिनाये अटा।
न बचै कोउ जंगल बास किये न बचै कोउ शीश बढ़ाये जटा।।
दिन चारि चलाचल यों तुलसी नर नाहक को सब ठाट ठटा।
जो भलाई चहो सियाराम रटो नहिं आय अचानक काल डँटा।।

अजामिल का अन्तिम समय आ गया। **मोह जाल में लपटि रह्यो**—संसारासक्त प्राणियों की मोह-ममता वृद्धावस्था में और भी अधिक प्रबल हो जाती है। यथा—

देखत ही आई बिरधाई । जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई।
ताके गुन कछु कहे न जाहीं । सो अब प्रगट देख तन माहीं।।
सो प्रगट तन जर-जर जराबस व्याधि सूल सतावई।
सिर कंप इन्द्रिय शक्ति प्रतिहत वचन काहु न भावई।।
गृह पालहूं ते अति निरादर खान-पान न पावई।
ऐसिहुं दशा न विराग तहँ तृष्णा तरङ्ग बढ़ावई।। (विनय)

ऐसे ही एक वृद्ध को देखकर भगवान शंकराचार्यजी ने कहा था—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्।।

अर्थ— पलित हो गये बाल शीश के गलित हुआ सब गात।
टूट गये त्यों ही क्रम-क्रम से मुँह के सारे दांत।।
पकड़ा हुआ हाथ में कँपता कैसा फबता दण्ड।
फिर भी नहीं छोड़ता आशा भण्ड अहो पाखण्ड।।

पुन— बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।

अर्थ— बालक है तब तक नर रहता क्रीडा में आसक्त।
तरुण हुआ तब तरुणी में ही हो जाता अनुरक्त।।
वृद्ध अवस्था में नाना चिन्ताओं में है मग्न।
हुआ नहीं उस पर ब्रह्म में कोई भी संलग्न।। (च. प)

पद— ममता तूँ न गई मेरे मनते।
पाके केश जनम के साथी लाज गई लोकन ते।
तन थाके कर कम्पन लागे ज्योति गई नैनन ते।
सरवन वचन न सुनत काहु के शक्ति गई इन्द्रिन ते।।
टूटे दसन वचन नहिं आवत शोभा गई मुखन ते।।
कफ पित बात कण्ठ पर बैठे सुतहिं बुलावत करते।
भाई बन्धु सब परम पियारे नारि निकारत घर ते।।
जैसे शशि मण्डल बिच स्याही छुटै न कोटि जतन ते।।
तुलसिदास बलि जाउँ चरन की लोभ पराये धनते।।

दृष्टान्त—एक बूढ़े का—एक बूढ़ा मरण शय्या पर पड़ा हुआ घड़ी-दो घड़ी का मेहमान था। पित्त-कफ-वात से कण्ठावरोध हो गया। सगे-सम्बन्धी घेरे खड़े थे। अन्तिम घड़ी गिनी जा रही थी। संयोग से एक बछिया सामने पड़ी बहारू को चबा रही थी किसी का भी ध्यान उधर नहीं गया। उस बूढ़े ने देख लिया। वह बोल तो सकता नहीं था, शरीर में थोड़ी-थोड़ी चेतना थी, अतः हाथ से उधर ही संकेत करने लगा। परन्तु सहसा किसी की समझ में बात आई नहीं कि यह क्या संकेत कर रहे हैं? बार-बार

हाथ उठाने से लोगों को शङ्का हुई कि सम्भव है कुछ द्रव्य गड़ा पड़ा हो अथवा किसी को दिये ही हों। क्योंकि प्राय: लोग मोहवश जीते-जी तो बताते नहीं, जब निश्चित जान जाते हैं कि अब तो मरना ही है तब बता दें, तो बता दें। अत: हो न हो कुछ ऐसी ही बात है। उसके लड़के तुरन्त ही दौड़कर एक वैद्यजी के पास गये और बोले कि जैसे हो तैसे आप कृपा कर एकबार मेरे पिताजी से बात करा दीजिये। वैद्यजी ने कहा बात तो करा देंगे परन्तु २००) रु० लेंगे और वह भी पहले ही ले लेंगे तब दवा देंगे। क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में बाद में लोग देने में आनाकानी करते हैं। इन लोगों को गरज थी अत: प्रथम ही २००) रु० दे दिये, वैद्यजी ने ऐसी दवा दी कि कण्ठ खुल गया। बूढ़ा बात करने लगा। लोगों ने पूछा—आप क्या कह रहे थे। उसने झल्लाकर कहा—कह क्या रहा था, देखते नहीं बछिया बहारू खाये जा रही है कोई भी उधर ध्यान नहीं देता। भला मेरे आँख के सामने यह हाल है तो बाद में क्या होगा। लड़के पूछे कि बस यही कहना था कि और कुछ। उसने कहा और कुछ नहीं। लड़के झुंझलाये—मर रहे हैं, राम-श्याम कुछ भी नहीं, बहारू का इतना ध्यान। यह है 'तृष्णा तरङ्ग बढ़ावई' का उदाहरण।

महा विकराल—यथा—**स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्। वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्।।** (भा० ६-१-२८) अर्थ—इतने में ही अजामिल ने देखा कि उसे ले जाने के लिए अत्यन्त भयावने तीन यमदूत आये हैं। उनके हाथों में फाँसी है, मुँह टेढ़े-मेढ़े विकराल हैं और शरीर में रोये खड़े हैं।। (भागवत)

वोही सुत.....सुनाइये—बूढ़े अजामिल के दस पुत्र थे, छोटे का नाम था '**नारायण**'। माँ-बाप उससे बहुत प्यार करते थे। उस समय बालक नारायण वहाँ से कुछ दूरी पर खेल रहा था। यमदूतों को देखकर अजामिल ने अत्यन्त व्याकुल होकर अत्यन्त आर्त और उच्च स्वर से पुकारा 'नारायण'। 'सुनत ही पार्षद आये'—भगवत्पार्षदों ने पुत्र के नारायण नामोच्चारण को भगवन्नाम संकीर्तन माना। यह है पार्षदों की भावुकता, स्वामि-भक्ति।। पार्षद संख्या में चार थे। यथा—यमदूत वाक्य—'**चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञाते विप्रलम्भिता**' (भा० ६-३-८) अर्थ—चार अद्भुत सिद्धों ने आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया है।। (भा०) '**कह्यो धर्म समुझाइये**'—जब भगवत्पार्षदों ने यम-पाश को तोड़कर अजामिल को यमदूतों के बन्धन से मुक्त कर दिया तब यमदूतों ने कहा—हम धर्मराज के सेवक हैं, हमें आप लोग क्यों अपने कार्य से रोक रहे हैं? भगवत्पार्षदों ने कहा—यदि तुम लोग सचमुच धर्मराज के सेवक हो तो हमें धर्म का लक्षण और धर्म का तत्व सुनाओ। यमदूत बोले—वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है वे अधर्म हैं परन्तु इस पापी ने श्रुति शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करके स्वच्छन्द आचरण किया है और अब तक इसने अपने पापों का कोई प्रायश्चित भी नहीं किया है। इसलिये हम लोग इसे भगवान यमराज के पास ले जा रहे थे जिससे यह वहाँ अपने पापों का दण्ड भोगकर शुद्ध हो जाय।

इस प्रकार यमदूतों द्वारा सामान्य धर्म का निरूपण किये जाने पर भगवत्पार्षदों ने परम धर्म का विवेचन करते हुए अजामिल को निष्पाप बताया यथा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्म कोट्यं हसामपि। यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः।।
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्। यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्।।
स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः। स्त्रीराजपितृ गोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे।।

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्। नाम व्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः।। (भा० ६-२-७-१०)
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणं अशेषाघहेरं विदुः।। (भा० ६-२-१४)
यथागदं वीर्यतम मुपयुक्तं यदृच्छया। अजानतोऽप्यात्म गुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः।। (भा० ६-२-१९)

अर्थ—इसने कोटि-कोटि जन्मों की पाप-राशि का पूरा-पूरा प्रायश्चित कर लिया। क्योंकि इसने विवश होकर ही सही भगवान के परम-कल्याणमय (मोक्षप्रद) नाम का उच्चारण तो किया है। जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरों का उच्चारण किया, उसी समय केवल उतने से ही इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित हो गया। चोर, शराबी, मित्र-द्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, ऐसे लोगों का संसर्गी, स्त्री, राजा, पिता और गाय को मारने वाला, चाहे जैसा और चाहे जितना बड़ा पापी हो, सभी के लिये यही—इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित है कि भगवान के नामों का उच्चारण किया जाय, क्योंकि भगवन्नामों के उच्चारण से मनुष्य की वृत्ति भगवान के गुण, लीला और स्वरूप में रम जाती है और स्वयं भगवान की उसके प्रति आत्मीय-बुद्धि हो जाती है। बड़े-बड़े महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि संकेत में (किसी दूसरे अभिप्राय से), परिहास में अथवा किसी की अवहेलना करने में भी यदि कोई भगवान के नामों का उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे कोई परम-शक्तिशाली अमृत को उसका गुण न जानकर अनजान में पीले तो भी वह अवश्य ही पीने वाले को अमर बना देता है, वैसे ही अनजान में उच्चारण करने पर भी भगवान का नाम अपना फल देकर ही रहता है (वस्तु-शक्ति श्रद्धा की अपेक्षा नहीं करती।।) (भागवत)

हारे......हरि गाइये—इस प्रकार जब भगवान के पार्षदों ने यमदूतों का प्रयत्न विफल कर दिया, तब उन लोगों ने यमराज के पास जाकर विष्णुपार्षदों की शिकायत की। तब श्रीधर्मराजजी ने दूतों को भागवतधर्म का उपदेश करते हुए आज्ञा की कि—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्दपादारविंद—मकरन्दसादजस्त्रम्।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गैर्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्।। (भा० ६-३-२८)

अर्थ—बड़े-बड़े परमहंस दिव्य-रस के लोभ से सम्पूर्ण जगत् और शरीर आदि से भी अपनी अहंता ममता हटाकर, अकिंचन होकर निरन्तर भगवान मुकुन्द के पादारविन्द का मकरन्द रस-पान करते हैं। जो दुष्ट उस दिव्यरस से विमुख हैं और नरक के दरवाजे घर-गृहस्थी की तृष्णा का बोझ बाँधकर उसे ढो रहे हैं उन्हीं को बार-बार मेरे पास लाया करो। (विशेष देखिये इसी छप्पय में वर्णित धर्मराज प्रसङ्ग) इसके बाद धर्मराज ने भगवान से क्षमा-याचना की। यथा—

तत्क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः।
स्वानामहोनविदुषां रचिताञ्जलीनां क्षांतिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने।। (भा० ६-३-३०)

अर्थ—आज मेरे दूतों ने भगवान के पार्षदों का अपराध करके स्वयं भगवान का ही तिरस्कार किया है। यह मेरा ही अपराध है। पुराण-पुरुष भगवान नारायण हम लोगों का यह अपराध क्षमा करें। हम अपराधी होने पर भी हैं उनके निज-जन और उनकी आज्ञा पाने के लिए अञ्जलि बाँधकर सदा उत्सुक रहते हैं। अतः परम महिमान्वित भगवान के लिए यही योग्य है कि क्षमा कर दें। मैं उन सर्वान्तर्यामी एकरस अनन्त प्रभु को नमस्कार करता हूँ।। (भा०)

इधर अजामिल भगवत्पार्षदों द्वारा यमदूतों के फन्दे से छूटकर निर्भय और स्वस्थ होकर भगवत्पार्षदों का दर्शन कर आनन्द में मग्न होकर उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किये। अजामिल के कुछ कहने की इच्छा करते ही भगवत्पार्षद अन्तर्धान हो गये। अजामिल को, जो भगवत्पार्षदों के मुख से विशुद्ध भागवतधर्म सुना था उससे हृदय में शीघ्र ही भगवद्भक्ति का उदय होने से, अब अपने पापों को याद करके बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। फिर तो संसार के प्रति तीव्र वैराग्य हो जाने से सबके सम्बन्ध और मोह को छोड़कर हरिद्वार चले गये और शेष जीवन भगवद्-भजन में बिताते हुए अन्त में भगवान के पार्षदों के साथ स्वर्णमय विमान पर आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से भगवान लक्ष्मीपति के निवास स्थान वैकुण्ठ को चले गये।

१. दृष्टान्त—चार किरातों का—श्रीअजामिलजी का उद्धार नामाभास मात्र से हुआ। **'नाम लियो पूत को पुनीत कियो पातकीश।।'** श्लोक—**वने चरामो वसु चाहरामो नदीस्तरामो न भयं स्मरामः। इत्थं वदन्तश्च वने किराताः मुक्तिं गता राम पदानुषङ्गात्।।** भावार्थ—चार किरात वन को गये। वहाँ जाकर एक ने कहा—वने चरामः=वन में विचरूँगा। दूसरे ने कहा—वसु चाहरामः=धन हरण करूँगा। तीसरे ने कहा— नदीस्तरामः=मैं नदी को पार करूँगा। चौथे ने कहा—न भयं स्मरामः=मैं किसी से नहीं डरूँगा। इतने में भूकम्प आया और पहाड़ गिरा। सहसा चारों की मृत्यु हो गई। राम नाम के आभास मात्र से सबकी मुक्ति हो गई। तब उक्त श्लोक देवताओं ने गाया था।

२. दृष्टान्त—एक यवन का—

कवित्त— **आँधरो अधम जड़ जांजरो जरा जवन, सूकर के सावक ढकाँ ढकेल्यो मग में।**
गिरो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो, हाय हाय करत परीगो काल फग में।।
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति लोक गयो नाम कै प्रभाव बात विदित है जग में।
सोई राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जात अग में।।

(कवितावली)

जमनहिं मारी चोट सूकरा ग्राम ने । बोल्यो मार्‌यो हाय हराम हराम ने।
भयो नाम आभास प्रगट पार्षद भये । जमदूतनि ते छीनि धाम को लै गये।। (भ.व.टि.)

३. दृष्टान्त—चार किरातों का—एक जंगल में चार चोर ऊँचे टीले पर बैठकर लूटने की घात में यात्रियों को देखा करते। जब कोई यात्री जंगल में ऊँचे-नीचे कहीं भी नदी नाले के मार्ग से जाता दिखाई देता तो एक आवाज लगाता 'नारायण'। तात्पर्य—पथिक नाले में उतर गया है। तब दूसरा कहा—'वासुदेव'। तात्पर्य—दो चार बाँस (लाठी) मारो। तब तीसरा कहता—'दामोदर' तात्पर्य—जो कुछ पैसे हों, उन्हें छीन लो। तब चौथा कहा—'हरि हर'। तात्पर्य—छोड़ दो। इस प्रकार भगवन्नामों के संकेत से यात्रियों को लूटते रहते। एकबार चारों यही कह रहे थे कि उन पर बिजली गिरी। सबके सब नामाभास मात्र से दिव्य विमान पर बैठकर भगवद्धाम को गये तभी तो कहा है कि—

कहा व्रत नेम गजेन्द्र कर्‌यौ कहा वेद पुराण पढ़ी गनिका।
अजामिल कौन अचार कर्‌यो निसि वासर खान सुरा पनिका।।

कहा जप जागहिं गिद्ध कियो सुहतो वन जीवन को हनिका।
तुलसी अघ पर्वत कोटि जरैं हरिनाम हुतासन को कनिका।।

(विशेष देखिये छप्पय ६८ कवित्त ३११)

षोडश पारषद

मो चित्तवृत्ति नित तहँ रहौ जहँ नारायण पारषद।।
विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल, बल, मङ्गलकारी।
नन्द, सुनन्द, सुभद्र, भद्र, जग आमय हारी।।
चण्ड, प्रचण्ड, विनीत, कुमुद, कुमुदाक्ष, करुणालय।
शील, सुशील, सुषेन, भावभक्तन प्रतिपालय।।
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रवीन भजनानन्द भक्तन सुहृद।
मो चित्त वृत्ति नित तहँ रहौ जहँ नारायण पारषद।।८।।

शब्दार्थ—आमयहारी=रोग और शोक हरने वाला, अविद्या मायाजन्य दु:खहारी। विनीत=नम्र, सुशील, शासित, संयमी। करुणालय=करुणा=कृपा=स्थान, अति कृपालु। भावभक्तन=प्रेमीजनों को, भक्तों के भावों को। प्रतिपालय=रक्षण-पोषण करते हैं। प्रीणन प्रवीन=प्रसन्न करने में चतुर। भजनानन्द=सेवा-भजन का आनन्द लेने वाले। मो=मम, मेरी। चित्तवृत्ति=मन की गति। पारषद=पार्षद, पास में रहने वाले, सेवक मन्त्री।

भावार्थ—मेरी चित्तवृत्ति सर्वदा वहाँ ही रहे, जहाँ नारायण भगवान के पार्षद रहते हैं। विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल और बल ये भक्तों का मङ्गल करने वाले हैं। नन्द, सुनन्द, सुभद्र और भद्र ये भवरोगों को हरने वाले हैं। चण्ड, प्रचण्ड, कुमुद और कुमुदाक्ष ये परम विनीत तथा अति कृपालु हैं। शील, सुशील और सुषेण भावुक भक्तों के प्रतिपालक हैं। ये सोलह प्रधान पार्षद श्रीलक्ष्मीनारायण की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने में परम चतुर हैं और भजनानन्दी भक्तों के हितकारी हैं। सीमा के अर्थात् सर्वश्रेष्ठ भजनानन्दी भक्त हैं।।८।।

व्याख्या—श्रीअजामिलजी के प्रसङ्ग में भगवत्पार्षदों की परम कृपालुता देखकर श्रीनाभाजी यह अभिलाषा करते हैं कि 'मो चित्तवृत्ति......पारषद। पार्षद सेवा-आज्ञा में रहते हैं मेरी चित्तवृत्ति भी वहीं रहे।

नारायण पार्षद—भगवान नारायण के पार्षद असंख्य हैं, उनमें से सोलह पार्षद प्रमुख हैं, जिनके नाम छप्पय में स्मरण किये गये हैं। इन पार्षदों का स्वरूप भगवान के ही तुल्य होता है। अन्तर केवल श्रीवत्स और कौस्तुभ का है। ये दोनों चिन्ह श्रीभगवान के ही होते हैं, पार्षदों के नहीं। यथा—**प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः। आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ।**

पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम्।। (भा० ६/९/२८, २९) अर्थ—(जब देवताओं ने इस प्रकार भगवान की स्तुति की) तब शङ्ख, चक्र, गदा पद्मधारी भगवान उनके सामने पश्चिम की ओर (अन्तर्देश में) प्रगट हुए। भगवान के नेत्र शरत्कालीन कमल के समान खिले हुए थे। उनके साथ सोलह पार्षद उनकी सेवा में लगे हुए थे। वे देखने में सब प्रकार से भगवान के समान ही थे। केवल वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह और गले में कौस्तुभमणि नहीं थी। बल, प्रबल, नन्द, सुनन्द, भद्र, सुभद्र, कुमुद और कुमुदाक्ष की गणना वैष्णव द्वारपाल के रूप में की जाती है। यथा—**नन्दादयोऽष्टौ द्वास्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः।** (भा० १२/११/२०) अर्थ—भगवान के स्वाभाविक गुण, अणिमा, महिमा आदि अष्ट–सिद्धियों को ही नन्द–सुनन्द आदि आठ द्वारपाल कहते हैं। भगवान के प्रधान–पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी हैं, वे पाँचरात्रादि आगमरूप हैं। यथा—**विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।**

श्रीवैकुण्ठधाम में भगवान विष्णु के मणिमय प्रासाद के पश्चिम द्वार पर जय–विजय द्वार की रक्षा में तत्पर रहते हैं। पूर्व के दरवाजे पर चण्ड और प्रचण्ड, दक्षिण द्वार पर भद्र और सुभद्र तथा उत्तर के दरवाजे पर धाता और विधाता नाम के द्वारपाल रहते हैं। कुमुद और कुमुदाक्ष की गणना वैकुण्ठ के मध्य में स्थित अयोध्या नगरी के दिक्पालों में भी की जाती है। भगवान सर्वशक्तिमान हैं, अजेय हैं पर उनके नित्य–पार्षद उनकी रक्षा और सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। श्रीमद्‌भागवत में वर्णन है कि जब वैष्णव पार्षदों ने देखा कि बलि के अनुचर दैत्यों ने वामन भगवान को मारने के लिए अस्त्र–शस्त्र उठा लिये तब उन्होंने भी हँसकर अपने अस्त्र उठा लिये, असुरों को रोक दिया। नन्द–सुनन्द, जय–विजय, बल–प्रबल, कुमुद–कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त, सात्वत आदि भगवत्पार्षद दस–दस हजार हाथियों का बल रखते हैं। यथा—

इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः। ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः।।
अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवञ्जातमन्यवः। तानभिद्रवतोदृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप।।
प्रहस्यानुचराविष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः। नन्दः सुनन्दोऽथजयो विजयः प्रबलोबलः।।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते लघ्नुरासुरीम् ।। (भा० ८/२१/१३–१४–१५)

जैसे भगवान भक्तों के लिए मङ्गलकारी (यथा—**मङ्गल भवन अमङ्गल हारी।**) आमयहारी (यथा— **भवरोग महागद मान अरी**), करुणालय (यथा—**अनघ अनेक एक करुनामय**) प्रतिपालक (यथा—**भजहुँ प्रनत प्रतिपालक रामहिं।**) (रा०च०मा०) तथा सुहृद (यथा—**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**) (गीता) अर्थ—जो मुझको सब प्राणियों का हितैषी (मित्र) जानता है वह शान्ति पाता है, वैसे ही भगवत्पार्षद भी इन समस्त सद्‌गुणों से युक्त हैं। अजामिल के प्रसङ्ग में ये सभी गुण चरितार्थ दीखते हैं। यथा—

तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
प्रायेण दूता इह वै मनोहराश्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ।।
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्‌भुतानि ।
रक्षन्ति मद्‌भक्तिमतः परेभ्यो मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ।। (भा० ६–३–१७–१८)

अर्थ—उन सबके स्वामी, परम स्वतन्त्र, मायापति पुरुषोत्तम के दूत उन्हीं के समान परम मनोहर रूप, गुण और स्वभाव से सम्पन्न होकर इस लोक में प्रायः विचरण किया करते हैं। विष्णु भगवान के सुर-पूजित एवं परम अलौकिक पार्षदों का दर्शन बड़ा दुर्लभ है। वे भगवान के भक्तजनों को उनके शत्रुओं से, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियों से सर्वदा सुरक्षित रखते हैं।। (भा०)

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्ध सेवा ही की ऋद्धि हिये राखी बहु जोरि कै।
श्रीपति नारायन के प्रीनन प्रवीन महा ध्यान करैं जन पालैं भाव दृग कोरि कै।।
सनकादि दियो शाप प्रेरि कै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यौ पियो सुधा जिमि घोरि कै।
गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै।।२५।।

शब्दार्थ—ऋद्धि=सम्पत्ति। जोरिकै=एकत्र करके। भाव=प्रेम। दृगकोरिकै=कृपा कटाक्ष की कोर से। प्रेरिकै=उभाड़ कर। हद=सीमा।

भावार्थ—श्रीनाभाजी ने नारायण भगवान के मुख्य सोलह पार्षद कहे। ये सहज स्वभाव से ही नित्य-सिद्ध एवं नित्यमुक्त हैं। इन्होंने भगवत्सेवारूपी अनन्त सम्पत्ति को हृदय में एकत्र कर रखा है। ये लक्ष्मीपति नारायण को प्रसन्न करने में परम चतुर हैं। सदा भगवान के ध्यान में मग्न रहते हैं। प्रेमभाव से पूर्ण दृष्टिकोण से भक्तों का पालन करते हैं। स्वयं नारायण भगवान ने प्रेरणा करके सनकादिकों से जय-विजय को तीन जन्म तक असुर होने का शाप दिलाया। फिर वहाँ प्रकट होकर बोले कि—यह शाप मेरी इच्छा से ही हुआ है। यह सुनकर जय-विजय ने शाप को अमृत पान के समान रुचि पूर्वक स्वीकार किया और कहा कि—'यदि आपको यही अच्छा लगता है तो अनुकूल सेवा-सुख त्यागकर प्रतिकूल शत्रुभाव भी स्वीकार है।' ऐसी रंगीली प्रीति की रीति धारण की, इससे इनकी उपासना की रीति अन्तिम सीमा की कही गई है।।२५।।

व्याख्या - सुभाव सिद्ध - कहने का भाव यह है कि ये किसी साधन अथवा किसी देवता के आशीर्वाद से, वरदान से सिद्ध भये हों सो बात नहीं, ये भगवान से अभिन्न होने से नित्यमुक्त एवं स्वतः सिद्ध हैं। सिद्ध कहकर जनाया गया कि समस्त सिद्धियाँ इनके अधीन हैं। तो भी ये सिद्धि-सुख की उपेक्षा करके सेवा रूप सम्पत्ति का ही संचय करते हैं।

सेवा ही........जोरि कै—भगवत्सेवा ही भगवद्भक्तों की सम्पत्ति है। यथा—**कामी धन तरुणी तिया, लोभी को धन दाम। भगवद्दास अनन्य को सेवाधन अभिराम।।** भक्त भगवान की सेवा को छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। मोक्ष तक सेवा के समक्ष लघु प्रतीत होता है। यथा—**सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।** (भा० ३-२९-१३) अर्थ—मेरे भक्त दिये जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते।। भगवद्भक्तों की दृष्टि में सेवा धन सभी धनों में प्रधान है। यथा—'**लोकद्वयं सौख्ययुतं सुखेन, चेतोपि सानन्दमयं विभाति। दुःखानि दूरे प्रभवन्ति तेन सेवाधनं सर्वधनं प्रधानम्।।**' अर्थ—सेवा रूप धन से सहज ही दोनों लोक (इहलोक और परलोक) सुखमय हो जाते हैं चित्त भी परमानन्द से परिपूरित होकर चमत्कृत हो उठता है। सभी दुःख नितान्त निःशेष हो जाते हैं। इसलिये सेवा-धन निश्चय ही सभी धनों में प्रधान है।।

चक्रवर्ती राज्य मिलने पर भी भाव-मूर्ति श्रीभरतजी दु:खी ही हैं, क्योंकि उनकी सेवारूपी सम्पत्ति छीन ली गई है। यथा—**हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई।। शोक समाज राज केहि लेखे।....।।** भगवद्‌भक्त सेवा सम्बन्ध शून्य कुछ भी रखना नहीं चाहते। यथा—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं,
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्व विभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा,
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्।।

अर्थ—हे नाथ! आपके दास्य अर्थात् सेवा से भिन्न देह, प्राण समस्त इच्छित सुख एवं आत्मा तथा अन्य कुछ भी यदि मैं चाहूँ तो उसका सर्वथा विनाश हो जाय। हे मधुसूदन! यह मेरी सच्ची घोषणा है।।

सेवा हित सर्वस्व लहक-लहक कर होम करने पर जीवन रस स्वयं ललक-ललक कर, तुम्हारे ना-ना करने पर भी छलक-छलक कर तुम्हें भीतर-बाहर से आप्लावित कर देगा। सेवा-मेवा है। सेवा करो मेवा मिलेगा (कल्याण) सेवा से दुर्लभ भगवान भी सुलभ हो जाते हैं। यथा—**सेवत सुलभ सकल सुखदायक** (रा०च०मा०) भगवान सेवा से भक्त के वश में हो जाते हैं, बिक जाते हैं, ऋणी हो जाते हैं। यथा—'**कपि सेवा बस भये कनौड़ो कह्यौ पवन सुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।।**' '**सांची सेवकाई हनुमान की सुजान राय रिनियां कहाने हैं बिकाने ताके हाथ जू।**' अत: '**सेवा ही........जोरि कैं।**' पुन:—सेवा से आत्मा को जैसी शान्ति मिलती है वैसी अन्य साधनों से नहीं। **यमादिभिर्योगपथैः काम लोभ हतो मुहुः। मुकुन्द सेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति।।** (भा०) अर्थ—काम और लोभ की चोट से बार-बार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्ण-सेवा से जैसी प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव करता है, यम-नियम आदि योग मार्गों से वैसी शान्ति नहीं मिल सकती। अत: 'सेवा. ....जोरि कै।।'

श्रीपति..........महा—प्रीणनं=प्रीति जननं (भा०) तर्पणं प्रीणनावनम् (अमरकोश) भगवान की प्रसन्नता, भगवान में प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि, भगवान की तृप्ति, भगवान की सन्तुष्टि, इन सब में भगवत्पार्षद परम प्रवीण हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवत्पार्षद किस साधन से भगवान नारायण का प्रीणन करते हैं? इसका बड़ा ही सुन्दर समाधान भक्त-शिरोमणि श्रीप्रह्लादजी ने किया है। यथा—**नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।। न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।।** (भा० ७-७-५१-५२) अर्थ—दैत्य बालकों! भगवान को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मण, देवता, वा ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानों से सम्पन्न होना तथा तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान केवल निष्काम प्रेम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं और सब तो बिडम्बना मात्र हैं। भगवत्पार्षदों की ऐसी ही निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति भगवान में है अत: 'श्रीपति...........महा' कहा गया है।।

सनकादि............यही मन भाई—सम्पूर्ण आसक्तियों का परित्याग कर समस्त लोकों में विचरण करने वाले श्रीसनकादिकजी एकबार भगवद्दर्शन की लालसा से वैकुण्ठ धाम में जा पहुँचे। दर्शन की

अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठावश वे वैकुण्ठ की अन्य दुर्लभ दिव्य दर्शनीय वस्तुओं पर दृष्टिपात न करते हुए छः ड्योढ़ियाँ पार करके जब सातवीं पर पहुँचे और सर्वत्र समदृष्टि होने के कारण निःसंकोच रूप से भीतर प्रवेश करने लगे तब भगवान के पार्षद जय और विजय ने उन पंचवर्षीय से दीखने वाले दिगम्बर तेजस्वी कुमारों की हँसी उड़ाते हुए बेंत अड़ाकर उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। भगवद्दर्शन में व्यवधान होने के कारण उनके नेत्र सहसा कुछ-कुछ क्रोध से लाल हो उठे और वे इस प्रकार कहने लगे—तुम भगवान वैकुण्ठनाथ के पार्षद हो, किन्तु तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त मन्द है। तुम तो देवरूपधारी हो, फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखाई दिया जिससे तुमने भगवान के साथ कुछ भेदभाव के कारण होने वाले भय की कल्पना कर ली। तुम अपनी भेदबुद्धि के दोष से इस वैकुण्ठलोक से निकलकर उन पाप-पूरित योनियों में जाओ, जहाँ काम, क्रोध एवं लोभ प्राणियों के ये तीन शत्रु निवास करते हैं।

शाप सुनकर जय-विजय की आँख खुली, अपने अपराध का बोध हुआ, अतः अत्यन्त व्याकुल होकर दोनों पार्षद दीनभाव से उनके चरणों में लोटकर प्रार्थना करने लगे—भगवन्! हमने अपने अपराध का उचित फल पाया, अब आप इतनी कृपा करें कि अधमाधम योनियों में जाने पर भी हमारी भगवत्स्मृति बनी रहे।

इधर श्रीभगवान को जब विदित हुआ कि हमारे पार्षदों ने श्रीसनकादिक का निरादर किया है, तब वे तुरन्त श्रीलक्ष्मीजी के सहित वहाँ पहुँच गये। समाधि के विषय त्रिभुवन मोहन श्रीवैकुण्ठनाथ की अचिन्त्य, सौन्दर्य राशि के दर्शन कर सनकादिक की विचित्र दशा हो गई यथा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्क मिश्रतुलसी मकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः।। (भा० ३-१५-४३)

अर्थ—सनकादिक मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्द में निमग्न रहा करते थे। किन्तु जिस समय भगवान कमल-नयन के चरणारविन्द मकरन्द से मिली हुई तुलसी मंजरी की गन्ध से सुवासित वायु ने नासारन्ध्र के द्वारा उनके अन्तःकरण में प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीर को सँभाल न सके। उस दिव्य-गन्ध ने उनके मन में खलबली पैदा कर दी। (भा०) श्रीसनकादिक ऋषियों ने निखिल सृष्टिनायक भगवान की स्तुति कर प्रभु के मङ्गलमय चरण कमलों में प्रणाम किया। भगवान श्रीहरि ऋषियों की प्रशंसा कर उनके शाप का समर्थन करते हुये बोले—ऋषीश्वरो! ये जय-विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होंने आपका अपराध किया है। आपने इन्हें दण्ड देकर उचित ही किया है। ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं। मेरे अनुचरों के द्वारा आप लोगों का जो अनादर हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा ही किया समझता हूँ। मैं आप लोगों से प्रसन्नता की भिक्षा माँगता हूँ।।

मुनियों ने कहा—भगवन्! आप साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। सत्वगुण की खानि हैं। सर्वेश्वर! इन द्वारपालों को आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा पुरस्कार रूप में इनकी वृत्ति बढ़ा दें। हम निष्कपट भाव से आपसे सब प्रकार सहमत हैं। अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप दिया है, इसके लिये हमी को उचित दण्ड दें। वह भी हमें सहर्ष स्वीकार है। श्रीभगवान ने कहा—मुनियो! आप सत्य समझिये, आपका यह शाप मेरी ही प्रेरणा से हुआ है। ये दैत्य-योनियों में जन्म तो लेंगे किन्तु क्रोधावेश से बढ़ी एकाग्रता के कारण शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे। श्रीसनकादिक ऋषियों ने प्रभु के अमृतमय

वचन सुनकर उनकी परिक्रमा कर प्रणाम किया और उनकी महिमा का गान करते हुये वहाँ से लौट गये।

तदनन्तर प्रभु ने अपने पार्षदों से कहा—तुम लोग निर्भय होकर जाओ। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सर्व-समर्थ होकर भी ब्रह्मतेज की रक्षा चाहता हूँ। यही मुझे अभीष्ट है। एकबार मेरे योगनिद्रा में स्थिर होने पर तुम दोनों ने द्वार में प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजी को रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें शाप दे दिया था। अब दैत्ययोनि में मेरे प्रति अत्यधिक क्रोध के कारण तुम्हारी जो एकाग्रता होगी, उससे तुम विप्र तिरस्कार-जनित पाप से मुक्त होकर कुछ ही समय में मेरे पास लौट आवोगे। इन शापों को शाप न समझकर सुधा (अमृत) समझो, क्योंकि इससे अपराधों का शमन होकर तुम लोगों की शुद्धि हो जायेगी तथा मेरी भी अवतार लेकर लीला करने की इच्छा पूर्ण होगी। अतः 'पीयो सुधा जिमि घोरि कै।।'

सनकादि दियो शाप प्रेरि कै दिवायो आप—शुद्ध सत्वमय वैकुण्ठधाम में जय-विजय के द्वारा श्रीसनकादिक ऋषियों की उपेक्षा तथा इन ऋषीश्वरों का क्रुद्ध होकर जय-विजय को शाप देना, दोनों ही बातें अनमेल हैं। इसकी संगति लगाते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि प्रेरिकै.....। तात्पर्य दोनों ही कार्य भगवत्प्रेरणा से ही हुए हैं। भगवान ने भी इस बात को स्वीकार किया है। यथा—**शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः।** अर्थ—हे मुनिगण! आपने जो इन्हें शाप दिया है, यह मेरी ही प्रेरणा से हुआ है।

प्रश्न होगा—भगवान ने ऐसी प्रेरणा क्यों करी? समाधान—१— भगवान के योग निद्रा में स्थिर होने पर जब जय-विजय ने भीतर प्रवेश करती हुई श्रीलक्ष्मीजी को रोका था तब श्रीलक्ष्मीजी ने इन पार्षदों को बहुत समझाया था कि तुम लोग हमको और श्रीप्रभु को पृथक्-पृथक् समझते हो, यह तुम्हारी भूल है। हम तो '**गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।**' अतः मुझे रोकना उचित नहीं है। प्रभु ने जो आज्ञा करी है कि भीतर कोई न आने पावे उससे तात्पर्य अन्य लोगों से है न कि अभिन्न-स्वरूपा मुझसे। तब बड़ी मुश्किल से पार्षदों ने श्रीलक्ष्मीजी को भीतर जाने दिया। श्रीलक्ष्मीजी जाकर प्रभु के चरण-कमल पलोटने लगीं तो प्रभु के श्रीअङ्गों में परम सुकुमारता देखकर संशय में पड़ गयीं कि प्रभु इतने सुकुमार हैं और ये पार्षद बड़े प्रबल हैं, कहीं ये प्रभु को हराकर मुझ पर अधिकार न कर लें। '**अधिक प्रीति मन भा संदेहा**' श्रीलक्ष्मीजी ने प्रभु से इन पार्षदों की शिकायत की और इनको यहाँ से हटाने को कहा। भगवान ने कहा अभी आप धैर्य धारण करें। क्योंकि यदि मैं अभी-अभी इनको यहाँ से हटाता हूँ तो ये कहेंगे कि प्रभु ने घर वाली का पक्षपात किया। अतः मैं ऐसी युक्ति करूँगा कि इनको दण्ड भी मिल जायगा और हम दोषी भी नहीं होंगे। अतः प्रभु ने 'प्रेरि कै दिवायो आप।।'

२—एकबार श्रीलक्ष्मीजी प्रभु की सेवा कर रही थीं। ये तो अपने परम सुकोमल कर-कमलों से धीरे-धीरे पाँव पलोटतीं, परन्तु इतने पर भी वैकुण्ठनाथ कहते हैं—धीरे-धीरे!! यह सुनकर लक्ष्मीजी को शङ्का हुई कि भला मेरे कोमल करारविन्दों के मृदुल संस्पर्श को भी ये सहने में असमर्थ हैं तो दैत्य-दानवों से कैसे लड़ते हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र कैसे सहते हैं। यह देखना चाहिये। सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी प्रभु तुरन्त इनके मन की जान गये। विचार किये कि श्रीलक्ष्मीजी को मेरा बल-पराक्रम देखने की इच्छा है। इसके लिए चाहिये कोई प्रतिद्वन्दी और मेरे सामने साधारण प्राणी टिक नहीं सकता, अगर मेरा मुकाबला कर सकते हैं तो मेरे पार्षद ही। परन्तु ये तो मेरे अपने जो ठहरे। ये मुझसे संग्राम ही क्यों करने लगे। अतः लीला सम्पादनार्थ श्रीसनकादिकों को 'प्रेरि कै दिवायो शाप।'

श्रीसनकादिकजी ने तीन जन्म का शाप दिया था। यथा—**मुक्त न भये हते भगवाना। तीन जन्म द्विज वचन प्रमाना।।** (रा०च०मा०) अतः जय-विजय को, हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण, शिशुपाल-दन्तवक्त्र, इन तीन रूपों में जन्म लेना पड़ा। शापानन्तर जब उद्धार की बात हुई तो श्रीसनकादिक ने अपने मन में कहा—धन्य तो ये पार्षद ही हैं जिन्हें भगवान बार-बार अपना कहते हैं और उनके अपराध को अपना अपराध मानते हैं। प्रभु ने मेरी प्रशंसा तो बहुत की और पूज्य भी कहा परन्तु एकबार भी अपना नहीं कहा अतः अब हमें भी वही करना चाहिए जिससे भगवान अपनावें, अपना कहें। ऐसा विचार कर सनकादिक ने कहा कि—भगवन्! शाप के हम कारण हैं—अतएव एक जन्म में इनका उद्धार भी मेरे निमित्त से होगा हम स्वयं इनके पुत्र बनेंगे और मुझे ये सतायेंगे तब आपका अवतार और इनका उद्धार होगा। आगे चलकर श्रीसनकादिक, श्रीप्रह्लादजी के रूप में हिरण्यकशिपु के पुत्र बने जिनके लिये भगवान ने नृसिंह अवतार लिया। श्रीलक्ष्मीजी ने कहा—एक जन्म में इनका उद्धार मेरे निमित्त से होगा। मेरा हरण इनके उद्धार का कारण बनेगा। ऐसा ही हुआ। रावण ने श्रीजानकीजी का हरण किया और श्रीरामजी के द्वारा मारा जाकर शाप से छुटकारा पाया। भगवान ने कहा—एक जन्म में इनके उद्धार का निमित्त मैं बनूँगा। मुझसे व्यक्तिगत घोर विरोध करेंगे और मेरे द्वारा मारे जाकर शाप से सर्वथा मुक्त हो जायेंगे। शिशुपाल-वध ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ।।

प्रश्न—सनकादिक से ही अपने पार्षदों को शाप क्यों दिलाया? समाधान—भगवत्पार्षद स्वतः सिद्ध हैं, समर्थ हैं इन्हें साधारण ऋषि-मुनि का शाप लगेगा ही नहीं। अतः परम सिद्ध, परम समर्थ, स्वरूपभूत श्रीसनकादिकों से शाप दिलवाया। समर्थ पुरुषों को साधारण लोगों का शाप नहीं लगता है।

दृष्टान्त—भृगुजी का—भृगु पत्नी दैत्यों का बहुत पक्ष लेतीं। उनका अनुचित पक्षपात भगवान को असह्य हो उठा अतः चक्र-सुदर्शन से उनका सिर काट लिया। महर्षि भृगुजी दुःखित होकर भगवान को भी नारि विरह से दुःखी होने का शाप दिये। भगवान परम समर्थ हैं। कह दिये—हम नहीं स्वीकार करते हैं आपके शाप को। तब लाचार होकर श्रीभृगुजी ने बड़ी कठिन तपस्या करके भगवान को प्रसन्न किया और भगवान के वर देने के लिये उद्यत होने पर यही वर माँगा कि आप हमारे शाप को स्वीकार करें। भगवान ने 'एवमस्तु' कहा।

गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई—श्रीसनकादिकजी का शाप सुनकर जय-विजय को प्रथम तो बड़ा सन्ताप हुआ, परन्तु जब यह जाने कि इसमें तो मुख्य प्रभु की इच्छा है तो वे शाप को भी सुधा सदृश ही समझकर स्वीकार किये। यही वास्तविक सेवक का धर्म है। यथा—

नरक जौ देयँ तौ न निदरि विमुख हूजै स्वरग जो देयँ तौ न हरषि सराहिये।
रद्द करि डारैं तौ न कीजिये कलेश जिय करैं जो कबूल तौ न फूलि के उमाहिये।।
जिही अङ्ग रङ्ग होय तिही अङ्ग रङ्ग हूजै ऐ दिल सनेही नेह नीके कै निबाहिये।
चित्त क्यौं न चाह मरो, आपु चाह चूल्हे परो प्रीतम जो चाहैं चाह सोई चाह चाहिये।।

दृष्टान्त—राजा के सेवक का—एक राजा का स्वामिभक्त सेवक अपनी सेवा-सावधानी से राजा का अत्यन्त प्रिय-पात्र बन गया था। राजा उसे हमेशा संग-संग रखते। बड़ा प्यार करते, अपने जो खाते उसे भी वही खिलाते। इस प्रकार दोनों का परस्पर मधुर भाव था। एकदिन राजा साहब ककड़ी

खा रहे थे। संयोग से वह कड़वी निकली। उन्होंने सेवक के हाथ में दे दिया। सेवक ने बड़े प्रेम से उसे वैसे ही खाया जैसे पहले राजा के हाथ से मिली मिठाईयाँ खाता था। राजा ने विस्मित होकर पूछा—तुमको ककड़ी कड़वी नहीं लगी? तुमने उसे फेंक क्यों नहीं दिया? तब सेवक ने हाथ जोड़कर कहा—

ज्यहिं नित्त लड़ाय खवाय पिवाय दियौ सुख सर्व सनेह बड़ाई।
अरु दूरि किये दुख द्वन्द्व सबै हरि लीन अशेष कुरोग खुटाई।।
म्वहिं नाथ सनाथ कियो सबही विधि जाय न वर्णि कृपा बहुताई।
अस ईश रजाय रहै प्रतिकूल तबौ अनुकूलहिं जानहु भाई।।

राजा सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—'आज तुमने मुझे यह उपदेश दिया कि जो परमात्मा हमें नित्य अनेक प्रकार का सुख देता है, उसी के हाथ से यदि कभी दुःख भी आवे तो उस दुःख को प्रसन्नता पूर्वक भोग लेना चाहिए। 'मंगल-भवन अमंगल हारी' के प्रत्येक विधान को मंगलमय ही मानना चाहिये।' उस दिन से राजा उस सेवक को और भी अधिक प्यार करने लगा। वही सेवक सन्त लुकमान के नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी प्रकार से ये भगवत्पार्षद और भी श्रीहरिवल्लभ हो गये।

याते रीति हद गाई—सदा-सर्वदा अनुकूल भाव से सेवा करने वाले भगवत्पार्षदों ने स्वामी की इच्छा विचार कर सहर्ष प्रतिकूलभाव को भी अङ्गीकार कर लिया, यह आज्ञा पालन रूप रीति की सीमा है। यथा—

हरिलोक निवास कहाँ हरि के संग लंक निशाचर संग कहाँ।
सुखदिव्य सुभोग कहाँ प्रभु धाम के, भक्ष्य अभक्ष्य अभंग कहाँ।।
नित ब्रह्म अनन्द कहाँ तहँ के यहँ द्वेष कुराग कुढङ्ग कहाँ।
हरि आयसु जानि सुमानि लियो असि प्रीति की रीति को रंग कहाँ।। (भ०व०टि०)

हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आसाधरी ।।
कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोडश प्रभु पद रति ।
हनुमन्त जामवन्त सुग्रीव विभीषण शबरी खगपति ।।
ध्रुव उद्धव अम्बरीष विदुर अक्रूर सुदामा ।
चन्द्रहास चित्रकेतु ग्राह गज पाण्डव नामा ।।
कौषारव कुन्ती वधू पट ऐंचत लज्जा हरी ।
हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आसाधरी ।।९।।

शब्दार्थ—षोडश=सोलह। रति=प्रीति, अनुराग। कौषारव—मैत्रेयमुनि। ऐंचत—खींचते समय। हरी=भगवान। वल्लभ=प्यारे। प्रार्थौं=प्रार्थना करौं। रेणु=रज।

भावार्थ—श्रीलक्ष्मीजी, गरुड़जी, सुनन्द आदि सोलह पार्षद, हनुमानजी, जाम्बवानजी, सुग्रीवजी, विभीषणजी, खगपति जटायुजी, ध्रुवजी, उद्धवजी, अम्बरीषजी, विदुरजी, अक्रूरजी, सुदामाजी, चन्द्रहासजी,

चित्रकेतुजी, गजेन्द्र, ग्राह, पाण्डव (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव) कुन्तीजी और द्रौपदी जी, जिनकी लज्जा दु:शासन के वस्त्र खींचते समय भगवान ने रक्खी। इन सबकी प्रभु के पादपद्मों में प्रीति है। इन हरि के प्यारे भक्तों की मैं प्रार्थना करता हूँ। इनके चरणों की रज को प्राप्त करने की आशा मन में धारण की है।।९।।

व्याख्या—हरिवल्लभ—प्राणिमात्र के वल्लभ अर्थात् अत्यन्त प्रिय भगवान हैं। यथा—'**अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहिं रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं।** पुनश्च—**नारद जानेउ नाम प्रतापू। 'जगप्रिय' हरि हरि हर प्रिय आपू।।** आदि ऐसे श्रीहरि के वल्लभ (प्रियतम) हैं हरि-भक्त। यथा—शबरीजी से नवधा-भक्ति का वर्णन कर श्रीरामजी कहते हैं कि—'**नवमहुँ एकउ जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।। सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।।** पुनश्च—'**पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्वभाव भज कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोइ।।' 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई'** आदि (रा०च०मा०)

सब प्रार्थौं—प्रार्थना, आराधना का एक मुख्य अङ्ग है। या यों कहें कि 'प्रार्थना, आराधना, उपासना, अर्चा-पूजा आदि समस्त साधनों का प्राण है' तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। प्रार्थना बिना साधना अधूरी है। परन्तु केवल प्रार्थना से ही साधना पूरी देखी गई। भगवान के जितने भी अवतार होते हैं। प्राय: सबमें प्रार्थना से प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। पुराणों में तो ऐसे प्रसङ्गों का प्राचुर्य है ही दैनिक जीवन में भी अन्य साधनों के अभाव में केवल प्रार्थना से ही अभीष्ट सिद्धि होते देखी जाती है। विशेष विवशता में, संकट काल में प्रार्थना के सिवा अन्य साधन सम्भव भी नहीं है। गजेन्द्र ने द्रौपदी ने केवल प्रार्थना ही की थी, भगवान ने उनका अभीष्ट पूर्ण किया। अत: श्रीनाभाजी भी सबकी प्रार्थना करते हैं।

जिन चरण रेणु आसाधरी—जिस भक्ति के कारण भक्त भगवान के वल्लभ बन जाते हैं वह भक्ति, भक्तों के चरण-रज के सेवन से ही प्राप्त होती है। यथा—**रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यैविनामहत्पादरजोऽभिषेकम्।।** (भा० ५-१२-१२) (अर्थ—हे रहूगण! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि सेवा, दीन सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह भगवद्-भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। पुनश्च—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।। (भा० ७-५-३२)

अर्थ—जो लोग अकिञ्चन भगवत्प्रेमी महात्माओं के चरणों की धूलि में स्नान नहीं कर लेते, उन लोगों की बुद्धि, वैदिक कर्मों का पूरा-पूरा अनुष्ठान करने पर भी जन्म-मृत्यु रूप अनर्थ का सर्वथा नाश करने वाले भगवान के चरण-कमलों का स्पर्श नहीं कर सकती।

यही कारण है कि उद्धवजी सरीखे परम-ज्ञानवान भी परम-भागवती व्रजदेवियों के चरण-रज की अभिलाषा करते हैं। यथा—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वाभेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।। (भा० १०-४७-६१)

अर्थ—मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यह होगी कि मैं वृन्दावन-धाम में कोई झाड़ी, लता अथवा औषधि-जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओं की चरण धूलि निरन्तर सेवन करने को मिलेगी। इनके चरण-रज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादाओं का परित्याग करके इन्होंने भगवान की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम-प्रेम प्राप्त कर लिया है। औरों की तो बात ही क्या-भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूपा समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अब तक भगवान के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं प्राप्त नहीं कर पातीं।

औरों की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान भी भक्तों की चरण-रज के लिये लालायित रहते हैं। यथा— **निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।** (भा० ११-१४-१६) अर्थ—जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर मेरे मनन-चिन्तन में तल्लीन रहते हैं और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं, उन महात्माओं के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उनके चरणों की धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ। अतः श्रीनाभाजी कहते हैं कि—'जिन चरण रेणु आसाधरी।'

हरि के जे वल्लभ हैं दुर्लभ भुवन मांझ तिनहीं की पदरेणु आसा जिय करी है ।
योगी यती तपी तासों मेरो कछु काज नाहिं प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है ।।
कमला गरुड़ जाम्बवान सुग्रीव आदि सबै स्वाद रूप कथा पोथिन में धरी है ।
प्रभुसों सचाई जग कीरति चलाई अति मेरे मन भाई सुखदाई रस भरी है ।।२६।।

शब्दार्थ—दुर्लभ=अप्राप्त, कठिनता से मिलने वाले। भुवन=चौदहभुवन, संसार। योगी=कोरे योगी, हठ योगी। तपी= तपस्वी, तप करने वाले।

भावार्थ—जो भगवान के प्यारे भक्त हैं वे चौदहों भुवनों में दुर्लभ हैं, मैंने उन्हीं की चरणरेणु को प्राप्त करने की आशा की है। भक्तिहीन जो कोरे योगी, संन्यासी और तपस्वी हैं, उन लोगों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। भक्तों की प्रीति विश्वास और उपासना की रीति ने मेरी बुद्धि को अपनी ओर खींच लिया है। लक्ष्मी, गरुड़, जाम्बवान और सुग्रीव आदिकों की अति मधुर कथायें पुराण आदि ग्रन्थों में लिखी हैं। जिन भक्तों ने प्रभु से निष्कपट सच्चा प्रेम किया तथा संसार में अपनी और भगवान की कीर्ति फैलाई, उनकी वह रसमयी मधुर गाथा मेरे मन को बहुत अच्छी लगी क्योंकि वह सुनने-सुनाने में हृदय को सुख देने वाली है।।२६।।

व्याख्या—हरि के........भुवन माँझ—भगवान को जो प्यारे हैं, ऐसे महाभागवत सुदुर्लभ होते हैं। यथा—**मुक्तानामपिसिद्धानां नारायण परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।** (भा० ६-१४-५) अर्थ—हे महामुने! करोड़ों जीवन्मुक्तो तथा परम सिद्धों में भी परम शान्त चित्त वाला श्रीनारायण परायण भक्त अत्यन्त दुर्लभ है।। पुनश्च—**गिरौ गिरौ न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे। साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने।।** अर्थ—सभी पर्वतों में माणिक्य नहीं होते, सभी हाथियों में मुक्ता नहीं होती, सभी वनों में चन्दन नहीं होता और सर्वत्र साधु नहीं होते हैं। पुनश्च—**अमृत सर देखा नहीं,**

पारस को न पहार। प्रेम छके देखे नहीं मैं हरिभक्त हजार।। (भ०व०टि०) पुनः—**सबते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया।।** (रा०च०मा०)

योगी........नाहिं—यथा—**जोगी ज्ञानी कर्मठी, तपसी से अति दूर। नागर रसिक अनन्य नित, रहत नैन भरि पूर।। योगी रोगी भक्त बावरे ज्ञानी पूत निखट्टू। कर्मकाण्डी ऐसे डोलैं, ज्यौं भाड़ेको टट्टू।। दूधाधारी पर घर चित्त। नागा माँगै लकड़ी नित्त।। मौनी चहैं मीत की आस। गुदड़िया बाबा रहैं उदास।।** अतः इनसे मेरो कुछ काज नाहिं।। दूसरी बात यह कि इनकी शरण लेने पर ये लोग योग, ज्ञान, जप-तप, संयम-व्रत का ही उपदेश करेंगे और इनकी मुझमें क्षमता नहीं है। तीसरे—यदि जैसे-तैसे कर भी सकूँ, तो इन साधनों से, दैन्य जो भगवान को प्रिय है—वह न होकर अभिमान—जिससे भगवान को चिढ़ है—वह सहज ही हो जाता है।

दृष्टान्त—तपस्वीजी का—एक तपस्वीजी वन में निवास करते हुए कठिन तप करते थे। जाड़े के दिनों में जल-शयन, गर्मी में पंचाग्नि, वर्षा में खुले आकाश के नीचे रहकर बूँद-आघात-सहन, इस प्रकार का कठोर साधन करते-करते कई हजार वर्ष बीत गये। जिस पाषाण पर बैठकर ध्यान करते थे वह पाषाण घिस गया था। जहाँ योगासन आदि करते वहाँ की शिला में अंगों की गतिविधि के अनुसार गड्ढे हो गये थे। करुणावरुणालय भगवान उनकी इस तितिक्षा पर द्रवित होकर दर्शन देने आये, वरदान देने आये। तपस्वीजी ने भगवान का दर्शन किया, दण्डवत्प्रणामादि शिष्टाचार किये। तदनन्तर भगवान ने कहा—तपस्वीजी! मैं आपके तप से द्रवीभूत होकर यहाँ आया हूँ। आप जो चाहें सो वर मुझसे माँग लीजिये। तपस्वीजी ने—'**समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा।**' अपनी तपस्या का अभिमान हो आया कि मेरे तपोबल से भगवान भी खिंचकर आ गये और वर देने की सिफारिश कर रहे हैं। अतः अकड़कर बोले—माँगना क्या है? मेरी साधना का हिसाब कर लीजिए। आप तो जानते ही हैं कि मैंने इतने हजार वर्ष तप किया है। यह कहकर तपस्वी ने भगवान की कृपा की अवज्ञा की। भगवान हँस गये इनके अभिमान पर इनकी अज्ञता पर।

सच तो यह है कि जैसे उदारचेता कृपालु स्वामी कभी-कभी सेवक के साधारण कार्य पर भी सन्तुष्ट होकर बड़ा से बड़ा पुरस्कार दे देता है। इसमें गौरव कार्य का नहीं, स्वामी के सद्गुणों का होता है। यही हाल भगवान का भी है। परन्तु इनके गर्व को देखकर भगवान ने कहा—तपस्वीजी! आज मैं आपका हिसाब-किताब तो नहीं लाया हूँ। वैसे आपका प्रतिदिन का लेखा-जोखा मेरे पास है। मैं कल लेकर आऊँगा। ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये, उन्होंने ऐसी माया रची कि सहसा अत्यन्त ताप बढ़ा। जंगल के समस्त जलस्रोत, नदी, नाले सूख गये। वृक्ष झुलस गये, फल-फूल का नाम नहीं रह गया। जल के बिना तपस्वीजी के प्राण कण्ठगत होने लगे। धैर्य छूट गया। उसी समय भगवान वेष बदलकर एक घड़ा ठण्डा पानी लेकर उसी मार्ग से निकले। तपस्वी की तृषार्त आँखों ने जीवनाधार को देखा। तपस्वीजी के मुँह से बोल तो निकलता नहीं था, हाथ के संकेत से ही समीप बुलाकर जल पिलाने को कहा। भगवान ने प्रथम तो आना-कानी करी कि मैं अपने आदमियों (भक्तों) के लिए जल ले जा रहा हूँ, तुम्हें कैसे पिलाऊँ परन्तु तपस्वी के अधिक आग्रह करने पर प्रभु ने कहा—बाबाजी! आपने बहुत तप किया है। बोलो, जल पी लोगे तो मुझे क्या दोगे? तपस्वी ने कहा—मेरे प्राण बचाओ, मैं अपनी आधी

तपस्या तुम को दे दूँगा। भगवान ने जल पिलाया। लगभग आधा घड़ा जल पी गये, आधी तपस्या गई।

दूसरे दिन प्रभु पुनः अपने रूप में उपस्थित हुये। पूर्ववत् दण्डवत् प्रणामोपरान्त तपस्वीजी बोले—क्यों महाराज! मेरा हिसाब लाये? भगवान ने कहा—लाया हूँ, आधे घड़े जल में आधी तपस्या तो पूरे घड़े जल में पूरी तपस्या। सो मैं आधे तप का फल आधा घड़ा जल देने के लिये तैयार हूँ परन्तु पहले तुम अब मेरा हिसाब देलो, तब मैं तुम्हारा चुकाऊँगा। जीवन पर्यन्त तुमने मेरा जल पिया है, स्नान किया है, मेरी पृथ्वी पर सोया है, मेरे फल-फूल खाये हो, मेरे ही चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश में पले हो। मेरी वायु में श्वांस लिये हो। अब तपस्वीजी की अक्ल ठिकाने हुई, लगे काँपने। उधर प्रभु कड़े हुये—**हरि जैसे को तैसा। खुरपी टेढ़ा बैसा।।** बोले—मेरा हिसाब चुकाओ नहीं तो नरक के लिये प्रस्तुत हो जाओ। तपस्वीजी 'त्राहि त्राहि' करते हुये चरणों में गिरकर कृपा की भीख माँगने लगे। भगवान ने कहा—मूर्ख! मैं तो कृपा करने आया ही था परन्तु तूने मेरी अहैतुकी कृपा को अपनी तपस्या का चमत्कार समझा। फिर प्रभु ने कृपा करके तपस्वीजी को भक्ति दान दिया।। अतः काज नाहिं।

पुनश्च—**योगी.......काज नाहिं**—का एक हेतु स्वयं भी बताते हैं कि—**प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है**—प्रियतम तो प्रीति से प्रसन्न होते हैं सदा मिलते हैं सदा-सदा के लिये अपने हो जाते हैं। यथा—**प्रीतम प्रीतिही ते पैये।** (गोविन्द स्वामी) अतः भक्त भगवान से प्रीति करते हैं। यथा—ब्रजदेवियों की प्रीति—

मीन की प्रीति जथा जल में अरु मोर की है घन माल में जैसी।
प्रीति यथा करि की कर में फणि की मणि ज्योति विशाल में जैसी।।
प्रीति बिहारी चकोरिनि की छनदा पति के छबि जाल में जैसी।
नेही विचारि के नीके लखो ब्रजगोपिन प्रीति गुपाल में तैसी।।

पुनश्च—**तौंक पहिरावौ पांव बेरी लै भरावो, गाढ़े बन्धन बँधाओ औ खिंचावो कांची खाल सों।**
विष लै पिआवो, तापै मूठहू चलाओ माझीधार में डुबाओ बाँधि पाथर कमाल सों।।
बिच्छू लै बिछावो, तापै मोहि ले सुलावो, फेरि आग भी लगावो बांधि कापर दुसाल सों।
गिरि से गिरावो कालीनाग से डसावो हा हा प्रीति ना छुड़ावो गिरिधारी नन्दलाल सों।।

परन्तु ऐसी प्रीति होती है परतीति से। '**बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति।**' अतः भक्तों की भगवान में दृढ़ प्रतीति होती है। यथा—

पाप हरे परिताप हरे तनु पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंस कियो बक ते बलि जाऊँ कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई।।
काल बिलोकि कहैं तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई।।

दोहा—**एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।**
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।

तथा सभी भक्तों की उपासना की अलग-अलग रीति होती है यथा-

रसिक मुरारि साधु सेवा विसतार कियो पावै कौन पार रीतिभांति कुछ न्यारियै।
रांकां पति बांका तिया बसैं पुर पण्ढर में उर में न चाह नेकु रीति कुछ न्यारियै।।
हरिबंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।
बीनैं तानोबानो हिये राम मडरानो कहि कैसे कै बखानौं वह रीति कछु न्यारियै।
और एक न्यारी रीति आंसू पिचकारी मानो उभै लाल प्यारी भवसागर समात है। आदि।

उपर्युक्त भक्तों की प्रीति परतीति, रीति ने मेरी बुद्धि को हर लिया है अतः इनको छोड़कर अन्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

श्रीकमला (लक्ष्मीजी)—भगवान का संग कभी न छोड़ने वाली जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजी नित्य हैं और जिस प्रकार श्रीविष्णु भगवान सर्व-व्यापक हैं। वैसे ही ये भी हैं। विष्णु अर्थ हैं तो लक्ष्मीजी वाणी हैं, हरि न्याय हैं तो ये नीति हैं। भगवान विष्णु बोध हैं तो ये बुद्धि हैं तथा वे धर्म हैं तो लक्ष्मीजी सत्क्रिया हैं। यथा—**नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतोविष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम।। अर्थोविष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः। बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्मोऽयौ सत्क्रिया त्वियम्।।** (वि०पु०) श्रीहरि और श्रीहरि प्रिया का यह तात्विक ऐक्य श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी वर्णन किया है। यथा—**गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बन्दौं सीताराम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।** इन्द्र ने भी लक्ष्मीजी की प्रार्थना करते हुये उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। यथा—**त्वं माता सर्व लोकानां देव देवो हरिः पिता। त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्।।** (वि०पु०) अर्थ—हे अम्ब! तुम सभी लोकों की माता हो तथा देव-देवेश्वर विष्णु पिता हैं। तुमसे और भगवान विष्णु से यह स्थावर-जंगम जगत् व्याप्त है।

सर्व-शक्तिमान भगवान जब-जब लीला-शरीर धारण करते हैं तब-तब महाशक्ति भी उनका अनुसरण करकै लीला-शरीर धारण करती हैं और उनकी लीला में सहयोग देती हैं यथा-

राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी।।
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णुर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्।।

अर्थ—श्रीराम रूप में अवतार लेने पर श्रीसीता के रूप में अवतरित हुईं। वे ही कृष्णावतार में रुक्मिणी हुईं। इसी तरह अन्यान्य अवतारों में भी वे प्रभु से पृथक् नहीं हुईं। देव बनने पर देवी बनती हैं। मानवावतार ग्रहण करने पर मानवी बनती हैं। भगवान विष्णु के अनुरूप ही ये भी लीला शरीर धारण करती हैं।

वैसे तो लक्ष्मीजी का स्वरूप, रूप, गुण, विभव और ऐश्वर्य शील आदि भगवान नारायण के अभिमत और अनुरूप ही है, परन्तु जगत्पिता होने के कारण भगवान में, जहाँ कभी-कभी जीवों के कुपथगामी होने पर पितृ सुलभ हितकारी कोप भी दृष्टिगोचर होता है वहाँ जगज्जननी में तो जीव की अपराध दशा में भी वात्सल्य क्षमा, करुणा आदि गुण ही देखने में आते हैं। यह बात श्रीजी में विशेष है। जब कभी भगवान अपराधी जीव को दण्ड देकर शुद्ध करने का विचार करते हैं तो जगज्जननी अपने

सहज मातृ-स्वभाव से प्रेरित होकर विविध प्रयत्नों द्वारा जीव को क्षमा-दान दिलवाकर उसे दण्ड मुक्त कराती हैं। यथा—

पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने,
हित स्त्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः।। (श्रीगुणरत्नकोश)

अर्थ—हे माता! परिपूर्ण पापी जीव के विषय में हित करने की वृत्ति से पिता के समान आपके स्वामी जब कभी कुपित होते हैं। उस समय में आप—'यह क्या हुआ?' 'इस जगत में अपराध रहित कौन है?' आदि इस प्रकार के उपायों से इस जीव के अपराधों को ईश्वर के चित्त से भुलाकर उसे अपनाती हैं। इस कारण से आप हम लोगों की माता हैं।

यह तो रही नित्य-धाम की बात। लीलावतार काल में भी जगज्जननी का करुणा-सागर उमड़ता हुआ ही दिखाई पड़ता है। महापराधी जयन्त के लिए भी आपका वात्सल्य उमड़ पड़ा तो और की तो बात ही क्या? यथा—

पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा।
तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी।।
प्राण संशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्।
त्राहि त्राहीति भर्त्तारमुवाच दयया विभुम्।।
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपा पीयूष सागरः।
ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत।। (प० पु०)

अर्थ—देवी श्रीजानकीजी ने भूमि पर सामने पड़े हुए काक जयन्त के सिर को श्रीरामजी के चरणों में लगा दिया और प्राण जाने के भय से डरे हुए उस कौवे को देखकर श्रीजानकीजी ने दया करके अपने समर्थ स्वामी से 'इसकी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए' इस प्रकार कहा। कृपा-निधान श्रीरामजी ने उस कौवे को अपने हाथ से उठाकर उसकी रक्षा की और फिर वे दया-दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे।

पुनः जैसे बालक के कुएँ में गिरने पर माता उसे निकालने के लिए स्वयं कूद पड़ती है उसी तरह जगज्जननी ने देवाङ्गनाओं सहित देवताओं को रावण के बन्दीगृह में पड़े देखकर उनको निकालने के लिए स्वयं भी बन्दिनी होना स्वीकार किया और जब तक रावण का नाश कराकर उनको छुड़ा न दिया तब तक श्रीहनुमानजी के साथ भी लौटना स्वीकार नहीं किया।

इससे भी अधिक करुणामयी माँ की करुणा का दर्शन तो उस समय होता है जब रावण वधोपरान्त श्रीरामजी ने हनुमन्तलाल को विजय-सन्देश सुनाने के लिए श्रीजानकीजी के पास भेजा। इस सुखद-संवाद से हर्षोल्लसित मिथिलेशनन्दिनी ने आनन्दमग्न होकर हनुमान से मन-भावता वर माँगने को कहा। तब श्रीहनुमानजी ने उन राक्षसियों के चित्रवध (अङ्ग-अङ्ग टुकड़े-टुकड़े कर डालने की क्रिया) करने की

आज्ञा माँगी। यह सुनकर जगज्जननी का हृदय दया से विह्वल हो गया। वे श्रीहनुमानजी को समझाती हुई बोलीं—

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्। समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः।।
पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणां प्लवंगम। कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।।

अर्थ—पापियों के पापों की ओर धर्मात्मा पुरुष ध्यान नहीं देते हैं। तुम्हें तो इस मर्यादा की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि सन्तों का भूषण सच्चरित्र ही है। पापी हो, अशुभ आचरण वाला हो और चाहे वह वध करने योग्य ही क्यों न हो, सज्जनों को उस पर करुणा करनी चाहिये। क्योंकि ऐसा कोई भी नहीं, जो अपराध नहीं करता हो। यह कहकर फिर श्रीजानकीजी ने हनुमानजी को एक कथा सुनाई—

दृष्टान्त—भालू और व्याध का—पूर्वकाल में किसी जंगल में एक बाघ के खदेड़ने पर एक व्याध वृक्ष पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर ऋक्ष (भालू) निवास करता था। वृक्ष के समीप जाकर बाघ ने भालू से कहा कि तुम इस व्याध को अपने वृक्ष पर से नीचे गिरा दो क्योंकि यह हम लोगों का शत्रु है। भालू ने कहा— मेरे निवास स्थान पर आये हुए इस व्याध को मैं नहीं गिराऊँगा, ऐसा करने से शरणागति धर्म में महान कलङ्क लग जायेगा। ऐसा कहकर भालू सो गया। तब बाघ ने व्याध से कहा कि मैं तुमको छोड़ दूँगा, तुम सोये हुए भालू को वृक्ष से गिरा दो। दुष्ट व्याध ने सोये हुए भालू को वृक्ष पर से ढकेल दिया किन्तु पूर्व अभ्यास के बल से भालू वृक्ष की शाखा को पकड़ कर बच गया। नीचे नहीं गिरा। तब बाघ ने भालू से कहा—देखो कैसा दुष्ट यह व्याध है। तुम्हारे साथ इसने विश्वासघात किया अतः अब इस विश्वासघाती व्याध को तुम नीचे ढकेल दो। बाघ के इस प्रकार बार-बार कहने पर भी भालू ने व्याध को नीचे नहीं गिराया और बाघ से कहा कि मैं इस अपराधी की भी रक्षा करूँगा। क्योंकि शरणागति धर्म में अपराधियों की भी रक्षा का विधान है।

यहाँ प्रसङ्गवश एक बात और कह दूँ कि श्रीजानकीजी ने राक्षसियों की रक्षा में शरणागति धर्म का हवाला दिया है। प्रश्न होगा कि ये दुष्ट-स्वभावा राक्षसियाँ शरण में कब आईं? समाधान—सुन्दरकाण्ड में जब त्रिजटा ने श्रीराम विजय सूचक अपने स्वप्न का वृत्तान्त राक्षसियों से कहा, तब सभी राक्षसियाँ अत्यन्त भयभीत होकर त्रिजटा से अपनी रक्षा का उपाय पूछने लगीं। उस समय त्रिजटा ने कहा कि यद्यपि तुम लोगों ने वैदेही को बहुत सताया है परन्तु मैं उनके स्वभाव को जानती हूँ, वह प्रणाम मात्र से ही प्रसन्न हो जाती हैं। अतः सब राक्षसियों के महान भय से रक्षा के लिये श्रीमैथिली की प्रणति मात्र ही पर्याप्त है। यथा—**प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्।।** (वा०) राक्षसियाँ आपस में यह विचार-विमर्श ही कर रहीं थीं, अभी प्रणाम किया भी नहीं इधर करुणामयी माता ने केवल प्रणाम करने की बात सुनकर उनकी शरणागति मान ली। यथा—**ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः।।** अर्थ—प्रियतम विजय से हर्षित हृदया श्रीजानकीजी ने अपनी ओर से उन राक्षसियों से कहा—यदि सचमुच मेरे प्रियतम विजयी होंगे तो मैं तुम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कर लूँगी। धन्य करुणा। (वा०)

इस प्रकार प्रणाम मात्र भी न करने वाली राक्षसियों को स्व-स्वभाव वश ही शरणागत मानकर श्रीहनुमानजी से समझा-बुझाकर रक्षा करायीं। श्रीजानकीजी के इस निर्हेतु-वत्सल स्वभाव पर मुग्ध होकर

श्रीभट्टार्क स्वामी कहते हैं कि–

मातर्मैथिलि! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषण शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः,
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी।।

अर्थ–हे माता! हे मैथिलीजी! तात्कालिक अपराध करने वाली राक्षसियों की श्रीहनुमान से रक्षा कराने वाली आपकी कृपा से, 'मैं आपकी शरण हूँ' ऐसा वचन कहने वाले शरणागत जयन्त और विभीषणजी की रक्षा कराने वाली श्रीरामजी की कृपा को अत्यन्त लघु सिद्ध कर दिया। वह आपकी निर्हेतुकी कृपा अत्यन्त पापी हम सरीखे आश्रितों को सुखी करे।। (श्रीगुणरत्नकोश)

ऐसी भगवान नारायण के समान रूप, गुण वैभव वाली, कृपा गुणाधिका श्रीलक्ष्मीजी तत्वतः भगवान से अभिन्न होकर भी नित्य पत्नी भाव को स्वीकार कर अत्यन्त अनुराग पूर्वक भगवान को भजती हैं। यथा– **ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः। सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता।।** अर्थ–जिनका कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिये ब्रह्मादि देवता भगवान के शरणागत होकर बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे, वही लक्ष्मीजी अपने निवास स्थान कमल-वन का परित्याग करके बड़े प्रेम से जिनके चरण-कमलों की सुभग छत्र-छाया का सेवन करती हैं।। पुनश्च–'**जिनके चरणकमल कमला के करतल ते न निकलते देखा।**'

कोसलेन्द्र पदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावज महेशवन्दितौ। जानकी करसरोज लालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसंगिनौ।। अर्थ–कोसलपुरी के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के सुन्दर और कोमल दोनों चरण-कमल ब्रह्माजी और शिवजी के द्वारा वन्दित हैं, श्रीजानकीजी के कर-कमलों से दुलराये हुए हैं और चिन्तन करने वाले मनरूपी भौंरे के नित्य संगी हैं। पुनश्च–

चौ०– **पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता।।**
जानति कृपा सिन्धु प्रभुताई। सेवति चरन-कमल मन लाई।।
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी।।
निजकर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।
बिधि हरि हर ब्रह्मादि बन्दिता। जगदम्बा संततमनिन्दिता।।

जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिन्द रति, करति सुभावहिं खोइ।। (रामायण)

पुनश्च–**कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।**
पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः।। (भा० १०-६०-१)

अर्थ–एकदिन समस्त जगत् के परमपिता और ज्ञानदाता भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी के भवन में पलंग पर आराम से बैठे थे। भीष्मक-नन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियों के साथ अपने पतिदेव की सेवा कर रही थीं। उन्हें पंखा झल रही थीं। **बालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्। तेन वीजयती देवी**

उपासाञ्चक ईश्वरम्।। (भा० १०-६०-७) अर्थ—रुक्मिणीजी ने अपनी सखी के हाथ से वह चँवर ले लिया, जिसमें रत्नों की डाँड़ी लगी थी, और परम रूपवती लक्ष्मीरूपिणी देवी रुक्मिणीजी उसे डुला-डुलाकर भगवान की सेवा करने लगीं। यही कारण है कि ईश्वरी होने पर भी श्रीलक्ष्मीजी की भक्तों में भी गणना की जाती हैं।

श्रीलक्ष्मीजी की भगवन्निष्ठा का उद्घाटन तो उस समय होता है जब अमृत के उद्देश्य से समुद्र-मन्थन किये जाने पर अन्य विविध रत्नों के साथ वह स्वयं प्रकट होती हैं। उस समय देवता-दैत्य, मुनि, मानव, सभी ने चाहा कि ये हमको मिल जायँ परन्तु श्रीलक्ष्मीजी तो चाहती थीं कि मुझे कोई निर्दोष और सर्वगुण सम्पन्न अविनाशी पुरुष मिले तो मैं उसे अपना आश्रय बनाऊँ, वरण करूँ। परन्तु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदि में कोई भी वैसा श्रेष्ठ पुरुष उन्हें न मिला। रहे एक भगवान विष्णु। श्रीलक्ष्मीजी ने देखा कि इनमें सभी मङ्गलमय गुणनित्य निवास करते हैं, परन्तु ये तो मुझे चाहते ही नहीं। मेरी ओर पीठ किये समुद्राभिमुख हो उसकी तरंगें गिन रहे हैं। तो भी श्रीलक्ष्मीजी ने अपने चिर अभीष्ट भगवान को ही वर के रूप में चुना। तो भगवान ने भी श्रीलक्ष्मीजी की निष्ठा से प्रभावित होकर उन्हें अपने वक्षःस्थल पर ही सर्वदा निवास करने का स्थान दिया। इस प्रसंग से हमें यह शिक्षा मिलती है कि नहीं चाहने पर भी भजने योग्य भगवान ही हैं। तथा सर्वतोभावेन भजने वाले को भगवान अपने हृदय में बसाते हैं। यथा—**अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे।।**

श्रीगरुड़जी—

चौ०—**गरुड़ महाज्ञानी गुन रासी। हरि सेवक अति निकट निवासी।।** (रा०च०मा०)

दक्ष प्रजापति की कद्रू और विनता नाम की दो कन्यायें जो महर्षि कश्यप से व्याही गई थीं, पुत्र कामना से बड़े अनुराग पूर्वक पति की सेवा करने लगीं। सेवा से सन्तुष्ट महर्षि कश्यप ने जब दोनों को मन-भावता वर माँगने को कहा। कद्रू ने समान शक्ति वाले एक हजार नागों को पुत्र रूप में पाने का वर माँगा। विनता ने कद्रू के पुत्रों से सभी गुणों में श्रेष्ठ केवल दो पुत्रों का वर माँगा। ऋषि ने एवमस्तु कहा। फलस्वरूप कालान्तर में कद्रू ने एक हजार और विनता ने दो अण्डे दिये। पाँच सौ वर्ष तक अण्डों का सेवन करने के अनन्तर कद्रू के हजार नागपुत्र तो अण्डों से बाहर आ गये, परन्तु विनता के अण्डे ज्यों के त्यों रहे। अधीर होकर विनता ने एक अण्डा स्वयं फोड़ डाला तो देखा—पुत्र के शरीर का ऊपरी भाग पूर्णरूप से विकसित एवं पुष्ट था किन्तु नीचे का आधा अंग अभी अधूरा रह गया था। माता की इस नादानी से क्रुद्ध होकर पुत्र ने शाप दिया कि तूने जिस सौत की ईर्ष्यावश आतुरता के कारण मुझे अधूरे शरीर वाला बना दिया, उसी की पाँच सौ वर्षों तक दासी बनी रहेगी, और यह तुम्हारा दूसरा पुत्र तुम्हें दासी भाव से मुक्त करेगा। परन्तु धैर्य रखना, कहीं आतुरता में इस अण्डे को भी नहीं फोड़ देना। तेजोमय अरुणकान्ति के कारण विनता के उस प्रथम पुत्र का नाम अरुण पड़ा और ब्रह्माजी की आज्ञा से वे सूर्य के सारथी बने। तदनन्तर समय पूरा होने पर श्रीगरुड़जी का जन्म हुआ। उस समय वे प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे। श्रीगरुड़जी के तेज को न सह सकने के कारण देवताओं ने उनकी स्तुति की तो इन्होंने अपना तेज समेट लिया।

कद्रू और कद्रू-पुत्र नागों के द्वारा बार-बार दासवत् व्यवहार किये जाने पर श्रीगरुड़जी ने जब इसका हेतु पूछा तो विनता ने कद्रू के कपट की कथा सुनाई। बात यह हुई कि एकबार दोनों में सूर्य के घोड़े की अथवा क्षीरसमुद्र से निकले हुये उच्चैःश्रवा नामक घोड़े की पूँछ के रङ्ग के विषय में वाद-विवाद हुआ, कद्रू काली बताती और विनता श्वेत। अन्ततोगत्वा यह निश्चय हुआ कि जिसकी बात झूँठी निकले वह दूसरे की दासी होकर रहे। कद्रू की आज्ञानुसार उसके पुत्र नाग घोड़े की पूँछ से जा लिपटे, जिससे वह काली दीख पड़ी। इस चालाकी से कद्रू ने विनता को दासी बनाया और अनेकों कष्ट दिया करती थी। यह सब जानकर श्रीगरुड़जी ने नागों से कहा कि हम तुम्हारा क्या काम कर दें जिससे कि मैं और मेरी माता दास-भाव से छुटकारा पा जायँ? उन्होंने कहा कि हमें अमृत ला दो।

श्रीगरुड़जी माता को प्रणाम कर, आज्ञा और आशीर्वाद पाकर स्वर्ग में जाकर देवताओं को पराजित कर अमृत के पात्र को लेकर बड़ी तेजी से वहाँ से उड़ चले। अमृत अपने अधिकार में होने पर भी श्रीगरुड़जी स्वयं उसे नहीं पीये। उनकी यह निस्पृहता देखकर भगवान विष्णु ने प्रसन्न होकर उन्हें बिना अमृत-पान के ही अजर-अमर होने का तथा अपनी ध्वजा पर स्थित रहने का एवं अपना वाहन बनने का परम दुर्लभ वरदान दिया। अमृत का अपहरण करके लिये जाते देखकर देवेन्द्र ने रोष में भरकर श्रीगरुड़जी के ऊपर वज्र का आघात किया परन्तु भगवान से वर पाकर अजर-अमर भये गरुड़जी ने तो वज्र की मर्यादा रखने के लिए मुस्कराकर अपना एक पंख मात्र गिरा दिया। वैनतेय के इस अद्भुत पराक्रम से प्रभावित होकर इन्द्र ने वैरभाव का परित्याग कर दृढ़ मैत्री कर ली। श्रीगरुड़जी ने अमृत के सम्बन्ध में अपना भाव व्यक्त किया कि मुझे इसको पीना नहीं है। माता को दासीपने से मुक्त कराने के लिये मैं इसे सर्पों को सौंपूँगा, आप उनसे ले लेना। इन्द्र ने इस बात से सन्तुष्ट होकर गरुड़जी को, सर्पों को भक्षण करने में समर्थ होने का अभीष्ट वर प्रदान किया।

श्रीगरुड़जी ने अमृत-पात्र सर्पों को प्रदान किया। माता को दासीपने से मुक्त किया, स्वयं स्वच्छन्द हुए। सर्प अमृत को कुशों में छिपाकर स्नान करने चले गये इसी बीच में इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्ग को चले गये। अमृत के अभाव में सर्पों ने लोभवश कुशों को ही चाटना शुरू किया जिससे उनकी जीभ के दो भाग हो गये। तभी से सर्प द्विजिह्वा हो गये तथा तभी से कुशा अमृत का स्पर्श होने के कारण परम-पवित्र हो गया।

श्रीगरुड़जी भगवान सूर्य के पास जाकर वेद पढ़ाने की प्रार्थना किये। परन्तु इन्हें पक्षी होने के कारण अनधिकारी जानकर सूर्य ने वेद पढ़ाने से इन्कार कर दिया। ये बड़े ही उदास तथा अप्रसन्न होकर वहाँ से लौटे। इनकी अप्रसन्नता देखकर सूर्य डर गये कि इनके बड़े भाई अरुण मेरे सारथी हैं, कहीं यह उन्हें भी लेकर चले गये तो मेरा सब काम ही बन्द हो जायगा अतः पुनः गरुड़जी को बुलाये परन्तु इन्होंने तो तप के द्वारा वेद-ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था अतः नहीं लौटे। तब सूर्य ने स्वयं बिना तप किये ही तप-फल समस्त वेद का बोध होने का वरदान दिया और यह भी कहा कि आपके पंखों से निरन्तर साम-गान की ध्वनि होती रहेगी।

श्रीगरुड़जी सर्वात्मा भगवान की सेवा में तत्पर रहते हैं। आपकी सेवाओं का स्मरण करते हुए श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी कहते हैं कि—

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रि सम्मर्दकिणाङ्कशोभिना।। (आलवन्दार स्तोत्र)

अर्थ—ऋक्, यजुः, सामवेद-स्वरूप आपके चरण-कमलों के संघर्ष के चिह्न से अङ्कित शरीर वह गरुड़जी उचित समय पर आपके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान तथा पंखा बनकर आपकी सेवा करने के लिये, सदा आपके आगे खड़े रहते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी श्रीगरुड़जी को महाज्ञानी- गुणराशि, हरि-सेवक, हरि के अत्यन्त निकट निवास करने वाला कहा है। यथा—**गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी।।** भगवान ने अपनी विभूतियों का उल्लेख करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में अपने-आपको पक्षियों में वैनतेय बताया है। यथा—'**वैनतेयश्चपक्षिणाम्।**'

श्रीनन्द सुनन्द आदि सोलह प्रधान-पार्षदों के सम्बन्ध में छप्पय ८ में लिखा जा चुका है।

श्रीहनुमानजी—

सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।।

स्वर्ग की परम सुन्दरी पुञ्जिकस्थला नाम की अप्सरा एक ऋषि का उपहास करने के कारण शापवश कुञ्जर वानर की कन्या अञ्जना नाम की वानरी के रूप में जन्मी। (कहीं-कहीं अञ्जना को गौतम की पुत्री लिखा है) अञ्जना का विवाह वानरराज केशरी से हुआ। वानर-योनि में भी वह ऋषि के अनुग्रह से इच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी। एकबार वह मानवीरूप धारणकर सुन्दर वस्त्र, आभूषण माला आदि से विभूषित हो पर्वत शिखर पर खड़ी होकर प्राकृतिक सौन्दर्य देख रही थी। पवनदेव ने उसके रूप पर मोहित होकर मन से उनका आलिङ्गन किया। अञ्जना ने अनुभव किया, जैसे मुझे कोई स्पर्श कर रहा हो। फिर तो वे अपने वस्त्रों को सँभालती हुई, अपने स्पर्श करने वाले को डाँटकर बोलीं—कौन ढीठ मेरे सतीत्व को भङ्ग करना चाहता है? वे शाप देने के लिये प्रस्तुत ही हुईं थीं कि सहसा पवनदेव ने प्रकट होकर अञ्जना को आश्वासन देते हुए कहा—मैंने अव्यक्त रूप से तुम्हारा आलिङ्गन करके मानसिक संकल्प द्वारा अपने समान बल-पराक्रम से सम्पन्न एवं परम-बुद्धिमान पुत्र प्रदान किया है। पुत्राभिलाषिणी अञ्जना प्रसन्न हो गईं पुत्र का वरदान पाकर। जिसके प्रभाव से सब प्रकार से पवन के समान श्रीहनुमानजी पवन के औरस और केशरी के क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न हुए। (बा० रा०)

चौपाई—**पवन तनय बल पवन समाना । बुधि विवेक विज्ञान निधाना।।**

दूसरी कथा—एक समय की बात है जब अत्यन्त अद्भुत लीला करने वाले भगवान शिव को श्रीविष्णु के मोहिनीरूप (दैत्यों को मोहित कर उनसे अमृत लेकर देवताओं को पिलाने के लिए भगवान ने यह रूप धारण किया था) का दर्शन प्राप्त हुआ, तब से कामदेव के बाणों से आहत हुये की तरह क्षुब्ध हो उठे। उस समय उन महेश्वर-शिव ने भविष्य में श्रीराम कार्य की सिद्धि के लिये अपना वीर्यपात किया। तब सप्तर्षियों ने उस वीर्य को पत्रपुटक (दोना) में रख लिया, पश्चात् श्रीरामकार्यार्थ शम्भु के उस वीर्य को अञ्जना में कर्ण मार्ग से प्रवेश करा दिया। उसके फलस्वरूप श्रीहनुमानजी प्रकट हुये। यथा—

शंकर-सुवन केशरी नन्दन। तेज प्रताप महा जग वन्दन।।
रुद्र देह तजि नेह बस वानर भे हनुमान। (शिवपुराण शतरुद्र संहिता अध्याय २०)

तीसरी कथा—ब्रह्मलोक की दिव्य अप्सराओं में से सुवर्चला नामक अप्सरा की कुचेष्टा से क्रुद्ध होकर ब्रह्माजी ने उसे मर्त्यलोक में गृध्री हो जाने का शाप दे दिया। अनुग्रह के लिए प्रार्थना करने पर ब्रह्माजी ने कहा—राजा दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ में अग्निदेव चरु के साथ प्रकट होंगे। वह चरु तीनों रानियों में वितरित होगा। तू कैकेयी के भाग का चरु लेकर उड़ जायगी। चरु तो तू खा नहीं सकेगी किन्तु उसके स्पर्शमात्र से शाप से मुक्त होकर स्व-स्वरूप प्राप्त करके ब्रह्मलोक में आ जायगी। ब्रह्माजी के वचनानुसार वैसी ही घटना घटी। महारानी कैकेयीजी अपने भाग का पायस हाथ में लिए हुए पाने का विचार ही कर रही थीं कि सहसा आकाश से एक गृध्री झपटकर चरु को अपनी चोंच में भरकर आकाश में उड़ चली।

इधर अञ्जना ने पुत्र की प्राप्ति के लिए सात हजार वर्षों तक आशुतोष भगवान शिव की उपासना की। प्रसन्न होकर भोलेनाथ ने कहा—एकादश रुद्रों में से मेरा अंश ग्यारहवाँ रुद्र ही तुम्हारे पुत्र के रूप में प्रकट होगा। मेरी प्रेरणा से पवन देवता तुम्हें प्रसाद देंगे उस प्रसाद से ही तुम्हें सर्वगुण सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति होगी। अञ्जना अञ्जलि पसारे प्रसाद की प्रतीक्षा करती हुई शिव-मन्त्र का जप कर रही थीं। उसी समय उक्त गृध्री कैकेयी के भाग का पायस लिए आकाश में उड़ती हुई जा रही थी। सहसा झंझावात आया, पायस उसकी चोंच से गिर गया। पवनदेव ने उस पायस को अञ्जना की अञ्जलि में डाल दिया। अञ्जना ने तुरन्त उस पवन-प्रदत्तचरु को अत्यन्त आदर-पूर्वक ग्रहण कर लिया और उसके फलस्वरूप रुद्रावतार श्रीहनुमानजी प्रकट हुए। यथा—

जेहि शरीर रति रामसों, सो आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान।।

श्रीहनुमानजी का जन्म कार्तिक कृष्ण १४ मंगलवार को स्वाती और मेष लग्न में हुआ था। यथा—
ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां कपीश्वरः। मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भात् प्रादुर्भूत शिवः स्वयम्।
कल्पभेद से चैत्र की पूर्णिमा के दिन श्रीहनुमानजी का शुभ-जन्म कहा जाता है। यथा—
महाचैत्री पूर्णिमायां समुत्पन्नोऽञ्जनीसुतः । वदन्ति कल्पभेदेन बुधा इत्यादि केचन।।

(आनन्द रामायण)

हनुमानजी की माता अञ्जना एकदिन फल लाने के लिए वन में गयीं। उस समय माता के चले जाने से और भूख के कारण बालक हनुमान बहुत रोये। इतने में ही उन्हें जपाकुसुम के समान उदय होता हुआ सूर्य दिखाई दिया। उसे फल समझकर ये उसकी ओर दौड़े। यह देखकर देवता, दानव और यक्षों को बड़ा विस्मय हुआ। अपने पुत्र को सूर्य की ओर जाते देख उसे दाह से बचाने के लिए उस समय वायुदेव भी वर्षा के समान शीतल होकर उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। इस प्रकार बालक हनुमान कई हजार योजन आकाश पार करके सूर्य के पास पहुँचे। जिस दिन ये सूर्य को पकड़ने के लिए उछले थे उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिये चला था जब इन्होंने सूर्य के रथ पर पहुँचकर सूर्य को पकड़ने की चेष्टा की तब वह वहाँ से भागकर क्रोध में भरा हुआ इन्द्र के पास आकर बोला—तुमने मेरी भूख मिटाने के लिए सूर्य और चन्द्रमा को मुझे दिया था अब इस समय तुमने उन्हें दूसरे के अधीन क्यों कर दिया। आज मेरा पर्वकाल था, पर वहाँ तो एक दूसरे राहु ने आकर सूर्य को ग्रस लिया। राहु के वचन सुनकर इन्द्र घबड़ाकर ऐरावत पर चढ़ राहु को आगे कर वहाँ पहुँचे।

राहु को भी फल समझ वे सूर्य को छोड़ पुन: उसकी ओर दौड़े। तब वह डरकर चिल्लाने लगा, इन्द्र! मुझे बचाओ। इन्द्र ने यह कहते हुये कि 'डरो मत' मैं इसे मारता हूँ, ऐरावत को बढ़ाया। इन्होंने ऐरावत को भी विशाल फल ही समझा और ये उसे पकड़ने दौड़े। उस समय कुछ देर के लिए उनका रूप और भी भयङ्कर हो गया। उससे इन्द्र को भी क्रोध आया और उन्होंने इन पर वज्र का प्रहार किया। वज्र की चोट खाकर ये पर्वत पर गिरे जिससे इनकी बायीं 'हनु' (ठुड्डी) कुछ टूट गयी। अपने पुत्र को वज्र के आघात से विह्वल हो गिरते देख वायुदेव ने उनको गोद में लेकर गुफा में घुसकर समस्त प्रजा के भीतर से अपनी गति समेट ली जिससे सबको प्राणान्त कष्ट होने लगा तब देवताओं को लेकर ब्रह्माजी पवनदेव के पास गये। चरणों पर गिरते देख वायु को उन्होंने उठाया और बालक हनुमानजी पर भी हाथ फेरा। वे स्वस्थ हो गये और वायुदेव भी प्रसन्न हो पूर्ववत् सब प्राणियों में संचार करने लगे।

तब वायु का प्रिय करने की इच्छा से ब्रह्माजी बोले, 'इन्द्र, अग्नि, वरुण, महेश्वर और कुबेर! आप सब लोग यद्यपि जानते हैं, तो भी मैं आपके हित की बात कहता हूँ। इस बालक के द्वारा आपके बहुत से कार्य होंगे। अत: वायुदेव की प्रसन्नता के लिए आप इसे वर दें।' तब इन्द्र ने इनके गले में सुनहरे कमलों की माला डालकर कहा, 'मेरे वज्र से इसकी हनु टूट गयी थी इसलिये इस कपि-श्रेष्ठ का नाम हनुमान होगा। इसके अतिरिक्त मैं इसको वर देता हूँ कि आज से यह मेरे वज्र के द्वारा भी नहीं मारा जा सकेगा।' सूर्य भगवान बोले कि—'मैं इसे अपने तेज का शतांश देता हूँ और मैं इसे शास्त्रों का ज्ञान कराऊँगा। वरुण ने वर दिया कि 'हमारे पाश या जल से इसकी मृत्यु कभी भी न होगी।' यम ने अपने दण्ड से अभय किया और निरोगता का वर दिया। कुबेर ने वर दिया कि, 'इसे युद्ध में कभी विषाद न होगा और मेरी गदा इसका वध न करेगी।' महादेव ने वर दिया कि, 'यह मेरे और मेरे आयुधों के द्वारा भी अवध्य होगा।' विश्वकर्मा ने अपने बनाये समस्त दिव्यास्त्रों से अवध्य होने और चिरकाल तक जीवित रहने का वर दिया। अन्त में ब्रह्माजी ने कहा कि, 'यह दीर्घायु, महात्मा तथा सब प्रकार के ब्रह्मदण्डों से अवध्य होगा।' फिर पवनदेव से बोले कि, तुम्हारा पुत्र शत्रुओं के लिए भयङ्कर होगा। इसे कोई न जीत सकेगा। यह इच्छानुसार रूप धारण कर सकेगा और जहाँ चाहेगा जा सकेगा। इसकी अव्याहत गति होगी। यह बड़ा यशस्वी होगा।

स्वकीय स्वाभाविक महाबल के साथ-साथ वरदान-जनित शक्ति से सम्पन्न अञ्जनानन्दन कपि सुलभ चंचल स्वभाववश महर्षियों के आश्रमों में जाकर उपद्रव किया करते थे। ये शान्त चित्त महात्माओं के यज्ञोपयोगी पात्र फोड़ डालते थे, अग्निहोत्र के साधनभूत, स्रुक, स्रुवा आदि को तोड़ डालते, बल्कलों को चीर-फार देते थे। यद्यपि माता-पिता ने इन्हें समझाने का प्रयत्न बहुत किया परन्तु सब व्यर्थ गया। चपलता बढ़ती ही गई। फलत: भृगु और अंगिरावंश में उत्पन्न हुये ऋषियों ने हनुमानजी को शाप दे दिया। 'वानर-वीर! तुम जिस बल का आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे हमारे शाप से मोहित होकर तुम दीर्घकाल तक भूले रहोगे। तुम्हें अपने बल का पता नहीं चलेगा। जब कोई तुम्हें तुम्हारी कीर्ति का स्मरण दिलायेगा तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा।। महर्षियों के इस वचन के प्रभाव से श्रीहनुमानजी उन्हीं आश्रमों में शान्त-भाव से विचरण करते। (बाल्मीकि रामायण)

विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार होने के बाद हनुमानजी ने माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर, आशीर्वाद लेकर वेदाध्ययनार्थ भगवान सूर्य के पास जाकर निवेदन किया। सूर्य ने अपनी स्थिति निवेदन की। अहर्निश मेरा रथ चलता ही रहता है, वेग भी सामान्य नहीं, एक मुहूर्त में चौंतीस लाख आठ सौ योजन की दूरी तय करता है। ऐसी दशा में, मैं तुम्हें शास्त्र का अध्ययन कैसे कराऊँ? तुम्हीं सोचकर कहो, क्या किया जाय? इस प्रकार यह कहकर सूर्य ने टालने का प्रयत्न किया। परन्तु पवन कुमार को इसमें कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी। वे तो सूर्य भगवान को प्रणाम कर उनकी ओर मुख करके आगे-आगे चलने लगे। श्रीहनुमानजी में तो स्वत: सभी विद्यायें निवास करती थीं परन्तु मर्यादा का पालन करते हुये भगवान सूर्य से अत्यन्त अल्पकाल में ही सांगोपांग वेद-शास्त्र और स्मृति प्रभृति धर्म-ग्रन्थ पढ़कर, सबमें पारंगत हो गये। गुरु-दक्षिणा लेने का आग्रह करने पर सूर्य ने स्वांश से उत्पन्न सुग्रीव की रक्षा का भार सौंपा। श्रीहनुमानजी ने आज्ञा शिरोधार्य की। सदा-सर्वदा सुग्रीव की रक्षा करते रहे। (हनुमान बाहुक)

एकबार नव-नील-सरोरुह शिशु श्रीराम एक मदारी को बन्दर नचाते हुए देखकर बन्दर के लिये मचल गये। बहुत से बन्दर मँगाये गये, परन्तु किसी से भी लाल की ललक मिटी नहीं तब श्रीवशिष्ठजी बुलाये गये। उन्होंने ध्यान धरकर देखा, प्रभु किस बन्दर की इच्छा करते हैं। ध्यान में शिवावतार श्रीहनुमानजी आये। मन्त्रिवर्य सुमन्त्र को बुलाकर कहा—कि ये अञ्जना-नन्दन को पाकर सन्तुष्ट होंगे। सुमन्त्रजी जाकर अंजना से हनुमानजी को माँग लाये। इनको देखकर प्रभु बहुत प्रसन्न हुये। हनुमानजी, अपने आराध्य श्रीरामलाल को जैसे सुख मिले उनका जैसे मनोरंजन हो, वही करते थे। जब श्रीविश्वामित्र जी के साथ श्रीराम के जाने का अवसर आया तब प्रभु ने उनसे यह कह दिया था कि तुम चलो हम किष्किन्धा में आकर फिर मिलेंगे। (पद्म रामायण)

ललित नर-लीला का अभिनय करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी जब अपनी प्राणवल्लभा श्रीसीताजी को ढूँढ़ते हुए किष्किन्धा पहुँचे तो सर्वप्रथम हनुमानजी ही मिले। इसके बाद सुग्रीव से श्रीराम की मैत्री कराकर श्रीसीता-शोध से लेकर रावण-विजय पर्यन्त श्रीराम-कार्य में जो योगदान श्रीहनुमानजी का रहा उसके सम्बन्ध में स्वयं भगवान श्रीराम कहते हैं कि—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका।
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।।
लोका हि यावत् स्थास्यन्ति तावत् स्थास्यति मे कथा।
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्।
मदंगे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्।।

अर्थ—हनुमान! इस लोक में जब तक मेरी कथा रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्ति और तुम्हारा जीवन रहेगा और जब तक जगत् रहेगा तब तक मेरी कथा रहेगी। वानर-वर! तुमने जो उपकार किये हैं, उसमें से एक-एक के लिये मैं प्राण-निछावर कर सकता हूँ। तुम्हारे शेष उपकारों के लिये तो मैं ऋणी ही रहूँगा। कपिश्रेष्ठ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तुमने जो-जो उपकार किये हैं वे सब मेरे शरीर में ही जीर्ण हो

जाँय। उसका बदला चुकाने का मुझे कभी अवसर न मिले। क्योंकि पुरुष में उपकार का बदला पाने की योग्यता आपत्तिकाल में ही आती है। मैं नहीं चाहता कि तुम संकट में पड़ो और मैं तुम्हारे उपकार का बदला चुकाऊँ। (वा० रा०)

पुनश्च—**सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।।**
प्रति उपकार करौं का तोरा । सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि विचार मन माहीं।।

(रामचरितमानस)

समुद्रलंघन, लङ्कादहन, द्रोणाचल आनयन आदि कार्य श्रीहनुमानजी की अघटित-घटन सामर्थ्य के सूचक हैं। आपके अतुलित बल के सम्बन्ध में श्रीरामजी कहते हैं कि—सीतान्वेषण के समय समुद्र को देखकर समस्त वानर-वीर घबरा उठे। यह देख महावीर हनुमान वानरों को धैर्य बँधाकर एक ही छलांग में सौ योजन समुद्र को लांघ गये। सुरसा और सिंहिका से जिस प्रकार ये पार पाये वह विवेक और बल भी अद्भुत ही रहा। फिर लङ्किनी को परास्त कर देवताओं के लिए भी दुष्प्रवेश्य रावण के अन्त:पुर में गये, सीताजी से मिले, उनसे बात चीत की और उन्हें धैर्य बँधाया। वहाँ अशोक वन में इन्होंने अकेले ही रावण के सेनापतियों, मन्त्रिकुमारों, किङ्करों तथा रावण पुत्र अक्ष को मार गिराया। फिर वे मेघनाद के नागपाश से बँधे और स्वयं ही मुक्त हो गये। तत्पश्चात् इन्होंने रावण से वार्तालाप किया। जैसे प्रलयकाल की आग से समस्त ब्रह्माण्ड भस्म हो जाता है उसी प्रकार लङ्का को जलाकर भस्म कर दिया। युद्ध में हनुमानजी के जो पराक्रम देखे गये हैं वैसे वीरतापूर्ण कर्म न तो काल के, न इन्द्र के, न भगवान विष्णु के और न वरुण के ही सुने जाते हैं। मुनीश्वर! मैंने तो इन्हीं के बाहुबल से विभीषण के लिये लङ्का, शत्रुओं पर विजय, अयोध्या का राज्य तथा सीता, लक्ष्मण, मित्र और बन्धुजनों को प्राप्त किया है। श्रीरामजी कहते हैं कि—शूरता, दक्षता, बल, धैर्य, बुद्धिमत्ता, नीति, पराक्रम और प्रभाव—इन सभी सद्गुणों ने श्रीहनुमानजी के भीतर घर कर रक्खा है। (वा० रा०)

सेतु-बन्धन के समय सुमेरगिरि तक से गिरि शिखर लाये गये थे। श्रीहनुमानजी द्रोणाचल के एक शिखर के रूप में स्थित, गोलोक से अवतरित प्रेमपुंज गोवर्धन गिरि को भगवद्दर्शन कराने का प्रलोभन देकर लिए चले आ रहे थे। व्रज-वसुन्धरा में पहुँचे ही थे कि प्रभु का आदेश पहुँचा कि जिनके हाथ में जो पर्वत या वृक्ष जहाँ कहीं हों, वे वहीं उन्हें छोड़कर तुरन्त प्रभु के समीप पहुँच जाँय। श्रीगोवर्धन अत्यन्त उदास हो गये। श्रीहनुमानजी ने प्रभु से गिरिराज की व्यथा निवेदन की। भगवान ने वचन दिया—अगले अवतार में, मैं गिरि गोवर्धन को सिर-माथे पर धारण करूँगा। परमपूज्य पद प्रदान करूँगा। श्रीहनुमानजी ने जब यह शुभ-सन्देश गिरिराज को सुनाया तो उनके मुँह से बरबस निकल पड़ा—

मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा । बन्दउँ तव पद बारहिं बारा।।

(श्रीकृष्णावतार में इसकी पूर्ति हुई)

युद्ध के समय रावण के कहने पर पातालवासी अहिरावण विभीषण का वेष बनाकर रात्रि में वानर-भालुओं के बीच निश्चिन्त सोये हुए श्रीराम-लक्ष्मण को चुरा ले गया। यद्यपि श्रीहनुमानजी जग

रहे थे परन्तु विभीषण का वेष देखकर कुछ कह नहीं सके। भगवान की इच्छा ही मुख्य है। प्रभु को न देखकर सेना में कोहराम मच गया। श्रीहनुमानजी के बताये हुए सूत्रों से विभीषण ने तुरन्त ही इसे अहिरावण की चाल समझकर उसके यहाँ तक पहुँचने का सब भेद बताकर महावीर को तत्काल भेजा। पाताल में पहुँचकर मुख्य द्वार पर एक अपने समान आकार वाले वानर को द्वार-रक्षक देखकर हनुमानजी को आश्चर्य हुआ और महान आश्चर्य तो तब हुआ जब सुने कि यह वानर हनुमान का पुत्र है। नाम मकरध्वज है। पूछने पर मकरध्वज ने लङ्कादाह के समय सम्भूत हनुमत स्वेद से अपनी उत्पत्ति बताई। जिसे पूँछ की अग्नि बुझाने के लिए समुद्र में कूदने पर एक मछली ने जल के साथ पी लिया था। हनुमानजी सामनीति से भीतर प्रवेश करना चाहे, परन्तु अपने धर्म में स्थित मकरध्वज ने जब जाने से रोका तो बल पूर्वक उसे मूर्छित कर देवी के मन्दिर में पहुँचे अति लघुरूप से। देवी पाताल में धँस गई। अहिरावण के अर्पित समस्त नैवेद्य को सानन्द पाकर हनुमानजी अहिरावण वध के लिए प्रभु का रुख देख रहे थे। उधर अहिरावण ने श्रीराम और लक्ष्मण को बलि-वेदी पर प्रस्तुत कर अपने संरक्षक का स्मरण करने को कहा और ज्यों ही श्रीराम ने हनुमानजी की ओर देखा, श्रीहनुमानजी ने अहिरावण के हाथ से तलवार छीन कर अहिरावण के साथ-साथ पातालवासी समस्त निशाचरों का क्षणमात्र में संहार कर श्रीराम-लक्ष्मण को कन्धे पर बैठाकर तुरन्त सेना में आ उपस्थित हो गये। देखकर सबने कहा—'जय हनुमान! श्रीहनुमानजी ने कहा—जय श्रीराम!'

युद्ध समाप्त हुआ। यत्र-तत्र-सर्वत्र श्रीराम का जयघोष सुनाई पड़ रहा है परन्तु श्रीराम अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक हनुमान की ओर देख रहे हैं। यथा—

पुनि पुनि कपिहिं चितव सुरत्राता । लोचन नीर पुलक अति गाता।।

रतन अपार क्षीरसागर उधार किये लिए हित चाय कै बनाय माला करी है।
सब सुख साज रघुनाथ महाराज जू को भक्तिसों विभीषणजू आनि भेट धरी है।।
सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे डारि दई सुधिभई मति अरबरी है।
राम बिन काम कौन फोरि मनि दीन्हे डारि खोलि त्वचा नामही दिखायो बुद्धिहरी है।।२७।।

शब्दार्थ—रतन=मणि, जवाहरात। अपार=बहुत। सार=उत्तम। चाय=चाव, प्रेम। चाह=पाने की इच्छा। अवगाह=गहरा, अथाह। अरबरी=घबड़ाई, डावांडोल। त्वचा=खाल।

भावार्थ—देवता और दैत्यों के द्वारा क्षीरसागर-मन्थन करने पर बहुत से अमूल्य रत्न निकले। सबको जीतकर रावण ने वे रत्न छीन लिए और अपने कोष में रखे। विभीषण ने बड़े प्रेम से उन रत्नों की एक माला बनाई। राज्याभिषेक के समय सभी सुख के साज-समाज से युक्त श्रीरघुनाथजी को विभीषणजी ने वही रत्नमाला भक्ति-पूर्वक भेंट की। उसे देखकर सभा के सभी लोगों को लेने की बड़ी भारी इच्छा हुई। रघुनाथजी ने वह माला हनुमानजी के गले में डाल दी। हनुमानजी श्रीचरण-सेवा में मग्न थे, माला के स्पर्श से उन्हें होश हुआ। माला देखकर बुद्धि घबरा गई। रामनाम हीन रत्नमाला किस काम की। एक-एक करके मणियाँ फोड़कर देखीं, भीतर भी रामनाम न पाकर डाल दी। पूछने पर कहा कि—रामनाम हीन माला किस काम की। विभीषण ने पूछा—आपके शरीर में रामनाम कहाँ है, जिसे आपने धारणकर रक्खा है। तब हनुमानजी ने शरीर की खाल के एक पर्त को खोलकर भीतर लिखे रामनाम का दर्शन कराया। देखकर सभी की बुद्धि खो गई, लोग आश्चर्य से चकित हो गये।।२७।।

व्याख्या—सभा ही की चाह अवगाह—श्रीसुग्रीवजी अपने मन में सोच रहे थे कि हम मित्र हैं हमने श्रीजानकीजी को मिलाया है अत: माला हमें ही मिल जाय तो अच्छा हो। श्रीअङ्गदजी विचारते कि मैंने रावण से शास्त्रार्थ किया, उसके चार मुकुट चलाये, पाँव रोपा, युद्ध में घोर संग्राम किया अत: हमको मिलना चाहिए। जाम्बवानजी के मन में यह हो रहा था कि हम युद्ध मन्त्री हैं और पराक्रम भी अद्‌भुत किया कि मेघनाद का पाँव पकड़कर लंका में फेंक दिया था और सबमें वृद्ध भी तो मैं ही हूँ अत: मुझे ही क्यों न मिल जाय। नल-नील इसी उधेड़-बुन में पड़े थे कि हमने सेतु बाँधा है। यदि हम यह कार्य न करते तो सबका पुरुषार्थ धरा ही रह जाता अत: हमको ही मिलेगी। इस प्रकार सभी ही की चाह....। और की तो बात ही क्या स्वयं विभीषण तक के मन में यह चाह थी कि श्रीप्रभु तो पूर्ण-काम हैं, उन्हें भला माला में क्या ममता। तो हमें ही यदि प्रसाद रूप में मिल जाती तो बड़ा अच्छा होता। एक श्रीहनुमानजी सर्वथा निष्काम थे। सर्वज्ञ श्रीप्रभु ने विचारा-माला एक है, चाहने वाले अनेक हैं, सेवा सबने की है। यदि एक को देता हूँ तो शेष अप्रसन्न होते हैं। पक्षपात की कल्पना होगी। अत: श्रीप्रभु ने माला श्रीजानकीजी को दे दिया। इसमें किसी को एतराज नहीं, क्योंकि बल्लभा हैं और श्रीजानकीजी ने हनुमानजी को पहना दिया। इसमें भी किसी को एतराज नहीं, इसलिए कि श्रीजानकी माता के लड़ैते जो हैं। माँ निरन्तर आशीर्वादों की वर्षा करती रहती हैं अपने आञ्जनेय पर। यथा—

चौ०—**आशिष दीन्ह राम प्रिय जाना। होहु तात बलसील निधाना।।**
अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू।।

पुनश्च— **सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदयँ बसहुँ हनुमन्त।**
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनन्त।। (रा० च० मा०)

इसका आध्यात्मिक अभिप्राय युगल-सरकार सम्मुख विराजमान हैं। इन्हें न चाहकर माला की चाह होना मानसिक दुर्बलता है सर्वान्तर्यामी प्रभु ने सबके हृदय की इस कमजोरी को दूर करने के लिये ही श्रीहनुमानजी के माध्यम से सबको उपदेश दिया। श्रीहनुमानजी की निष्ठा से प्रभु परिचित हैं कि इनके 'रोम-रोम में नाम हैं' अत: श्रीजानकीजी को दे दिया और श्रीजानकीजी ने श्रीहनुमानजी के गले में डाल दिया।

सुधि भई—गले में माला पड़ी तब सुधि भई। इससे जनाया गया कि अब तक इन्हें सुधि ही नहीं थी कि कैसी माला है और कैसी लोगों की चाह है। वे तो युगल-सरकार के श्रीचरण-कमल के दर्शन में तल्लीन थे। अब सुधि भई कि यह क्या है। **मति अरबरी है—**असमंजस में पड़ गये कि इसे क्या करूँ। तत्काल विचार आया।

राम बिन काम कौन—तात्पर्य—भगवत्सम्बन्ध शून्य वस्तु भक्तों के किसी काम की नहीं होती। यथा—

न तत्पुराणो नहि यत्र रामो यस्यां न रामो नहि संहिता सा।
स नेतिहासो नहि यत्र रामो काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः।।
शास्त्रं न तत्स्यान्नहि यत्र रामस्तीर्थं न तद्यत्र न रामचन्द्रः।
यागः स यागो न हि यत्र रामो योगः स रोगो नहि यत्ररामः।।

न सा सभा यत्र न रामचन्द्रः कालोऽप्यकालः कलिरेव सोऽस्ति।
संकीर्त्यते यत्र न रामदेवो विद्याऽप्यविद्या रहिताह्यनेन।।
स्थाथं भयस्थानमरामकीर्ति र्राममति नाम्ना सुखशून्यमस्य।
सर्पालनं प्रेतगृहं गृहं तद्यत्रार्चते नैव महेशपूज्यः।।
उक्तेन किं स्यात्बहुनाति विश्वं सर्वं मृषा स्याद्यदिरामशून्यम्।
एतच्चकृष्णः पुनराह नोऽसौ स्पृष्ट्वोपवीतं जपमालिकाञ्च।। (कोसलखण्ड)

पुनश्च— **नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराज राजः।**
यद्रू परागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्।। (प्रमोद नाटक)

दृष्टान्त—अर्जुनजी का (देखिये—आगे पाण्डवों की व्याख्या)

फोरि मनि दीन्हें डारि—श्रीहनुमानजी ने हार को उलट-पलट कर देखा, मणि के प्रकाश में झांका, परन्तु कहीं भी भगवान के दर्शन नहीं हुए। बस फिर क्या था, दूसरे ही क्षण मणिमाला की एक-एक मणि कोअपने वज्रतुल्य दांतों से फोड़-फोड़कर उसके भीतर बड़े ध्यान से देखते और फेंकते जाते। उस समय युगल-सरकार श्रीसीतारामजी मुसकुरा रहे थे। सभासद चकित तथा विभीषण क्षुभित हो रहे थे। आखिर विभीषण पूछ ही बैठे—हनुमानजी! आप इन्हें तोड़-फोड़ कर बरबाद क्यों कर रहे हैं? हनुमान—मैं यह देख रहा हूँ कि इसमें बाहर व भीतर कहीं भी मेरे प्यारे प्रभु भी हैं। यदि हैं तो हार मेरे सिर-माथे पर है अन्यथा मेरे किसी काम का नहीं। विभीषण—तो क्या आपके इस शरीर में भगवान विराजमान हैं, जो कि इसे सुख-पूर्वक आप धारण किये हैं? हनुमान—निश्चय। यदि विश्वास नहीं हो तो देख लो। इतना कहकर श्रीहनुमानजी ने तत्काल ही अपना वक्षःस्थल विदीर्ण कर दिखा दिया अपने परमाराध्य श्रीराम को सपरिकर हृदय सिंहासन पर विराजमान। श्रीराम ने सिंहासन से उठकर हनुमान का आलिङ्गन किया। प्रभु का संस्पर्श होते ही उनका शरीर पूर्व से भी अधिक दृढ़ एवं दिव्य हो गया। सबने श्रीहनुमानजी की वन्दना की—

दोहा— **प्रनवउँ पवन कुमार, खलबन पावक ज्ञानघन।**
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर-चाप-धर।।

खोलि त्वचा नाम ही दिखायो—हृदय में युगल-छबि का दर्शन कराया और त्वचा को उधेड़कर रोम-रोम में रामनाम का दर्शन कराया। यथा—

राम माथ मुकुट राम राम सिर नयन राम राम कान नासा राम ठोढ़ी रामनाम है।
राम कण्ठ कन्ध राम राम भुजा बाजूबन्द राम हृदय अलंकार हार रामनाम है।।
राम उदर नाभि राम राम कटि कटि सूत्र राम बसन जंघ राम जानु पैर राम है।
राम मन वचन राम राम गदा कटकराम मारुति के रोम रोम व्यापक रामनाम है।।

दृष्टान्त—लैला-मजनू का—एकबार एक साहूकार बलख-बुखारे से दिल्ली को आ रहा था। रास्ते में उसे मजनू मिला। मजनू को जब यह मालूम हुआ कि साहूकार दिल्ली को जा रहा है तो उसने कहा कि लैला से मेरा एक सन्देश कह देना। साहूकार सन्देश सुनने के लिये रथ रोकने लगा तो मजनू ने

कहा—रोकने की जरूरत नहीं है। मैं साथ-साथ चल रहा हूँ। मजनू को अपने प्रेम-सन्देश सुनाते-सुनाते कई दिन कई रात बीत गयीं। लेकिन सन्देश पूरा नहीं हुआ। साहूकार सुनते-सुनते अपने गन्तव्य पर पहुँच गया। दिल्ली पहुँचकर साहूकार ने लैला को मजनू का सन्देश देने के साथ-साथ उसकी दुर्दशा का भी वर्णन किया और अन्त में बोला मजनू तो तुम्हारे विरह में सूखकर ठठरी हो गया, परन्तु तुम इतनी प्रसन्न किस कारण से हो ? लैला बोली—मजनू मुझे अपने से पृथक् समझता है इससे दु:खी रहता है और मेरे तो रोम-रोम में मजनू रमा है अत: मैं प्रसन्न हूँ। यह कहकर लैला ने विश्वास के लिये अपनी एक अँगुली चीरकर सादे कागज पर जितनी खून की बूँदें गिराईं, उतनी मजनू की तस्वीरें बन गईं। जब लौकिक प्रेम में तन्मयता के कारण यह स्थिति सम्भव है तो श्रीहनुमानजी का तो श्रीरामजी में अलौकिक प्रेम है। फिर रोम-रोम से श्रीराम-नाम की स्फूर्ति होना कौन आश्चर्य जनक है।

बुद्धि हरी है—श्रीहनुमानजी की इस भगवन्निष्ठा को देखकर सबकी बुद्धि हर गई अर्थात् श्रीहनुमानजी की निष्ठा सबकी बुद्धि से परे की वस्तु है। अब लोगों को अपनी भूल मालूम हुई कि हम राम-भक्त कहा करके भी श्रीराम को न चाहकर मणिमाला को चाहने लगे थे। श्रीहनुमानजी के द्वारा सबको उपदेश हुआ कि भगवत्पादारविन्दानुराग को छोड़कर अन्यत्र रति करना उचित नहीं है। श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि—

राम चरण तजि आन रति गज तजि नर गदहा चढ़ै।
वहै नीच वहै पोच वहै आतम हन पापी । वहै अविद्या मूल वहै गुरुद्रोही सुरापी।।
वहै दीनमति हीन वहै नरकिनमें नामी । वहै कृतघ्नी कुटिल वहै बड़ लोन हरामी।।
अगर कहैं गति ताहि नहिं तीनि ताप सों हिय डढ़ै।।
राम चरण तजि आन रति गज तजि नर गदहा चढ़ै।।

श्रीहनुमानजी के सम्बन्ध में सन्त-महानुभावों से सुने हुए कुछ प्रसङ्ग—

१. एकदिन जगज्जननी श्रीजानकीजी की माँग में सिन्दूर देख श्रीहनुमानजी ने सिन्दूर धारण का रहस्य पूछा। माँ ने सरलभाव से कहा—हनुमान! इसके धारण करने से प्रभु की आयु-वृद्धि होती है और वे इसे देखकर प्रसन्न होते हैं। बस फिर क्या था। हनुमानजी को भी तो ये दोनों ही बातें अभीष्ट हैं। सोचे—जब तनिक-सी सिन्दूर रेखा धारण करने से आयु बढ़ जाती है तो हम अधिकाधिक आयु वृद्धि के लिये तथा परम-प्रसन्नता के लिए सर्वाङ्ग में ही क्यों न सिन्दूर धारण कर लें। विचार कार्यरूप में परिणत हो गया। सिन्दूर पूरिताङ्ग श्रीहनुमानजी को देखकर सभा में जोर का अट्टहास हुआ। श्रीराम सर्वाधिक प्रसन्न हैं। हनुमान के हर्ष का ठिकाना नहीं है। सोचते हैं—अहो! इतने प्रसन्न तो प्रभु कभी नहीं हुए थे जितने आज हैं। अब तो मैं हमेशा सिन्दूर धारण करूँगा। हनुमानजी के सरल-भाव पर प्रसन्न होकर प्रभु ने घोषणा कर दी—आज मंगलवार है। इस दिन जो हनुमानजी को सिन्दूर चढ़ायेंगे उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होंगे।

२. हनुमानजी की सेवापरायणता से भरतादिक भाइयों को कभी सेवा का संयोग नहीं मिल पाता था। श्रीजानकीजी भी यथेच्छ सेवा नहीं कर पाती थीं। परिणाम यह हुआ कि एकदिन सभी भाईयों एवं सेवकों ने मिलकर प्रात:काल से लेकर शयन पर्यन्त की सभी सेवाओं का आपस में बँटवारा करके श्रीजानकी माता के माध्यम से प्रभु के हस्ताक्षर करा लिये। श्रीहनुमानजी ने देखा मेरे नाम कोई सेवा है ही

नहीं। पूछने पर लोगों ने कहा—तालिका के अतिरिक्त जो सेवा है वह आपकी है। सेवा व्रतैकनिष्ठ हनुमान ने सेवा ढूँढ़ ही ली। बोले— भगवान को जँभाई आने पर चुटकी बजाने की सेवा मेरी होगी। सबने हामी भर ली। भक्त-वत्सल प्रभु ने हनुमानजी के सेवा-पत्र पर भी हस्ताक्षर कर दिया। बस हनुमानजी प्रभु के सम्मुख चुटकी बजाने की मुद्रा में वीरासन से बैठ गये। पता नहीं कब जँभाई आ जाय इसलिये सतत् सावधानी पूर्वक एक क्षण के लिए भी प्रभु से पृथक् नहीं होते। उठते-बैठते, चलते-फिरते सोते-जागते, खाते-पीते हमेशा हनुमान प्रभु के सम्मुख। सब लोग एक ही दिन में मुँह की खा गये इस सेवाव्रती के सामने। रात्रि में शयन-कक्ष में भी श्रीहनुमानजी पहुँचे। माता जानकी का संकेत पाकर शयनागार के कंगूरे पर बैठकर प्रभु का नाम-संकीर्तन करते हुए लगातार चुटकी बजाने लगे कि कहीं मैं सेवा से चूक न जाऊँ। परिणाम यह हुआ कि कहीं सेवक की सेवा व्यर्थ न जाय, प्रभु बार-बार जँभाई लेने लगे। अन्त में तो ऐसी स्थिति हो गयी कि प्रभु का मुँह खुला का खुला ही रह गया। श्रीजानकीजी घबड़ा गयीं। माताओं के पास सन्देश गया। महल में शोर मच गया। अनेक औषधि-उपचार किये गये। परन्तु सब व्यर्थ। तब गुरु वशिष्ठजी बुलाये गये। गुरुदेव ने आते ही एक दृष्टि से सबको देखा परन्तु हनुमान नहीं दीखे। पूछताछ करने पर रहस्योद्घाटन हुआ। तत्काल श्रीवशिष्ठजी ने हनुमानजी को प्रभु के सम्मुख उपस्थित किया। सेवाव्रती ने युगल-चरणों में अपना मस्तक रख दिया। प्रभु का वरदहस्त कपि के सिर पर फिरने लगा। माता ने स्नेह भरा आश्वासन दिया—हनुमान! प्रभु सेवा का सर्वाधिकार तुम्हें दिया जा रहा है। हनुमान माता-पिता की ममता और प्यार पाकर कृत-कृत्य हो गये।

३. परम कौतुकी नारदजी के कहने से दर्शनार्थ आये हुए काशी नरेश ने श्रीराम को तो प्रणाम किया परन्तु समीप में ही विराजमान विश्वामित्रजी को हाथ भी नहीं जोड़ा। मौका पाकर श्रीविश्वामित्रजी ने काशी नरेश के इस असद्व्यवहार की श्रीराम से शिकायत किया और मर्यादा पुरुषोत्तम ने भी इसे अपनी मर्यादा में कलंक मानकर सायंकाल तक काशी नरेश का वध करने की प्रतिज्ञा कर तीन बाण निकालकर अलग कर लिये। जब यह प्रतिज्ञा काशी नरेश सुने तो उनके होश उड़ गये। आर्त काशी नरेश नारदजी के निर्देशानुसार माता अञ्जना की शरण गये। सरल हृदय माँ ने अभय-वरदान दिया, परन्तु जब स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ तो वह एक क्षण के लिए असमंजस में पड़ गयीं। तब तक माता के दर्शन के लिये आये हुए हनुमान ने माँ का चरण-स्पर्श किया। माँ ने प्रथम हनुमानको वचनबद्ध करा लिया तब सब हाल-हवाल निवेदन किया। हनुमानजी प्रथम तो कुछ झिझके परन्तु पुनः विचार कर रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प हो गये। श्रीराम से बड़े श्रीरामनाम की शरण लिये। काशी नरेश को निरन्तर नाम जप का उपदेश दिये। राजा हनुमानजी के कहने से श्रीसरयूजी में कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर राम-राम-राम-राम का अनवरत जप कर रहे थे। प्रभु प्रेरित प्रथम बाण नाम-श्रवण कर राजा का स्पर्श किये बिना लौट गया। श्रीहनुमानजी ने दूसरे बाण को 'जै सियाराम जै जै सियाराम' इस युगल-मन्त्र का जप कराकर लौटने के लिए बाध्य कर दिया। तीसरी बार जब प्रभु ने बाण छोड़ना चाहा तो श्रीहनुमानजी ने राजा से 'जै जै सियाराम जै जै हनुमान' इस मन्त्र का जप करने को कहा। परिस्थिति की विषमता को विचारकर श्रीवशिष्ठजी ने काशी नरेश को प्रेरणा दी—'महर्षि विश्वामित्र को प्रणाम करो।' राजा ने तत्काल मन्त्र-जप करते हुए मुनि को प्रणाम किया। कोमलचित्त मुनि ने क्षमा कर दिया। श्रीराम के बाण तरकश में पहुँच गये। सर्वत्र ध्वनि छा गयी—'जय हनुमान।'

४. जगज्जननी श्रीजानकीजी आज अपने लड़ैते हनुमन्तलाल को स्वयं '**व्यञ्जन विविध नाम को जाना**' परोसकर भोजन करा रहीं थीं। भाव-विभोर हनुमान ने माता के हाथों से परोसा हुआ अमृतमय भोजन कितना खा लिया, इसका कोई अन्दाज नहीं। इधर माँ का चौका भी धीरे-धीरे खाली हो चला था। श्रीजानकीजी घबड़ायीं। क्या किया जाय। तत्काल ही '**सुमिरत राम हृदय अस आवा।**' श्रीजानकीजी ने देखा हनुमान के रूप में साक्षात् शिव भोजन कर रहे हैं जो कि प्रलयकाल में समस्त ब्रह्माण्ड को ही उदरस्थ कर लेते हैं। भला थोड़े से भोजनों से वे कैसे पूर्ण हो सकते हैं। बस तुरन्त ही उन्होंने उनके सिर पर लिख दिया 'ॐ नमः शिवाय' फिर क्या था। हनुमानजी तुरन्त ही तृप्त हो गये।

५. क—द्रौपदीजी का प्रिय करने के लिए भीमसेन ने सौगन्धिक नाम वाले सहस्रदल कमलों को लाने के लिए बद्रिकाश्रम से ईशानकोण की ओर गये। गन्धमादन पर्वत पर कई योजन लम्बा-चौड़ा एक केले का वन उनको मिला। गर्जना करते हुए ये उसके भीतर घुस गये। इसी में हनुमानजी रहते थे। उनको भीम के आने का पता लग गया था। अतः वे कदली वन से होकर स्वर्ग को जाने वाले सँकरे मार्ग को रोक कर एक मोटी शिला पर लेट गये। वहाँ लेटे-लेटे जँभाई लेते हुए जब वे अपनी पूँछ फटकारते थे तो उनकी प्रतिध्वनि सब ओर फैल जाती थी। इससे वह महापर्वत डगमगाने लगता था। उस शब्द को सुनकर भीमसेन के रोयें खड़े हो जाते थे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे वहाँ पहुँचे। हनुमानजी को अकेला देख वे उनके पास चले गये। हनुमानजी ने उपेक्षापूर्वक उनकी ओर देखा और मुस्कुराते हुए कहा, 'मैं रोगी हूँ, यहाँ आनन्द से सो रहा था, तुमने मुझे क्यों जगा दिया?' तुम्हें जीवों पर दया करनी चाहिए। तुम्हारी प्रवृत्ति क्रूर कर्मों में क्यों होती है? मालूम होता है तुमने विद्वानों की सेवा नहीं की है। तुम हो कौन? यहाँ क्यों आये हो? आगे यह पर्वत अगम्य है। तुम यहीं से लौट जाओ। भीमसेन के अपना परिचय देने पर हनुमानजी ने कहा कि—'मैं तो बन्दर हूँ। तुम्हें इधर होकर नहीं जाने दूँगा। यहीं से लौट जाओ, नहीं तो मारे जाओगे' भीमसेन बोले—तुम्हारी बला से मैं मरूँ या जीऊँ। मैं तुमसे इस विषय में तो कुछ पूछता नहीं। तुम जरा उठकर मुझे रास्ता दे दो। हनुमानजी बोले—'मैं रोग से पीड़ित हूँ यदि तुम्हें जाना ही है तो मुझे लाँघकर चले जाओ' भीमसेन बोले कि—'भगवान सब शरीरों में व्याप्त हैं इसलिए मैं लाँघकर उनका अपमान नहीं करूँगा। यदि मुझे यह ज्ञान न होता तो तुम्हें क्या, इस पर्वत को भी लाँघ जाता, जैसे हनुमानजी समुद्र को लाँघ गये थे। मैं बल, पराक्रम और तेज में उन्हीं के समान हूँ। इसलिए तुम खड़े हो जाओ और मुझे रास्ता दे दो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानते हो तो मैं तुम्हें यमपुरी में भेज दूँगा।'

हनुमानजी बोले कि—'बुढ़ापे के कारण मुझमें उठने की शक्ति नहीं है। इसलिए कृपा करके मेरी पूँछ हटाकर निकल जाओ।' यह सुनकर भीमसेन अवज्ञापूर्वक हँसकर अपने बायें हाथ से पूँछ उठाने लगे, किन्तु वह टस से मस न हुई। तब उन्होंने दोनों हाथ लगाये। फिर भी उसके उठाने में असमर्थ रहे। तब उन्होंने लज्जा से सिर नीचा कर लिया और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम कर अपने कटु वचनों के लिए क्षमा-प्रार्थी हुए और बोले कि कृपा करके अपना परिचय दीजिये कि वानरशरीरधारी आप कौन हैं? श्रीहनुमानजी का परिचय पाने पर भीमसेन ने प्रार्थना की कि—'हे वीरवर! समुद्रोल्लंघन समय के आपके अनुपम रूप का मैं दर्शन करना चाहता हूँ।' हनुमानजी ने कहा कि—'उस रूप के देखने को तुम समर्थ नहीं हो। कोई भी उसे नहीं देख सकता। दूसरे युग के अनुसार बल विक्रम घटता-बढ़ता रहता हैं व्यर्थ आग्रह न करो।'

भीमसेन का हठ देखकर हनुमानजी ने अपना रूप बढ़ाया। यह विशाल विग्रह देखकर भीमसेन विस्मित हो गये। उनके रोंगटे खड़े हो गये। वह विग्रह तेज में सूर्य के समान था और सोने का पर्वत ही जान पड़ता था। उसकी विशालता का क्या वर्णन किया जाय। मानो देदीप्यमान आकाश ही हो उसे देखते ही भीमसेन ने आँखें बन्द कर लीं। भयानक विशाल देह को देखकर वे डर गये और हाथ-जोड़कर प्रार्थना करने लगे कि—'अब आप अपने इस स्वरूप को समेट लीजिये। आप मैनाकपर्वत के समान अपरिमित और दुराधर्ष जान पड़ते हैं मैं आपकी ओर देख नहीं सकता हूँ।'

५. ख— एकबार छोटे-बड़े अनेक ऋषि रत्न की थालियों में देव-दुर्लभ षट्रस-भोजन कर रहे थे। उस समय भीम ने ब्राह्मणों से इस प्रकार कठोर वचन कहे, 'हे ब्राह्मणों! देखिये, पात्र में आप लोग कुछ भी उच्छिष्ट न छोड़ सकेंगे। यदि ऐसा हुआ तो वह जूठा मैं आपकी चोटियों में बाँध दूँगा। जितना आप लोगों के पेट में अँटें उतना माँग लें। थाली में अधिक लेकर छोड़ देना ठीक नहीं होगा। मेरा स्वभाव आप लोग अच्छी तरह जानते ही हैं।' भीम के डर से वे ऋषि अत्यल्प-आहार करने लगे, जिससे वे विचारे दुर्बल हो गये। यह बात श्रीहरि ताड़ गये और भीमसेन से बोले, तुम शीघ्र जाकर गन्धमादन से ऋषियों को बुला लाओ। उनकी बड़ी आवश्यकता है। भीम के मन में अपने बल पर बड़ा गर्व था। अत: वे तेजी से ऋषियों को लाने चले गये। मार्ग में वृद्ध वानर के वेश में महान पर्वत की तरह अपनी पूँछ मार्ग में अड़ाकर हनुमानजी बैठे थे। भीम ने गर्जकर कहा—'रे वानर! रास्ते से पूँछ हटा।' शेष कथा पूर्ववत् ही है। (रामायणाङ्क)

६. क— अर्जुन ने एकबार बात ही बात में श्रीकृष्णजी से कहा कि आपने रामावतार में पुल बाँधने के लिए इतना बड़ा आयोजन क्यों किया? बाणों से पुल बाँध देते? बेचारे वानरों को झूठमूठ क्यों परेशान किया? भगवान ने हँसकर कहा—अच्छा तुम बाणों से समुद्र के एक छोटे-से अंश पर पुल बाँधो। मैं तुम्हें बताता हूँ। अर्जुन ने आनन-फानन में पुल बाँध दिया। भगवान ने हनुमानजी का स्मरण किया। वे तुरन्त पहुँचे और भगवान की आज्ञा से वे बाणों के उस पुल पर चढ़े। उनके चढ़ते ही वह पुल चरचराकर टूटने लगा। तब वे उस पर से उतर आये। अर्जुन ने देखा कि भगवान की पीठ पर खून लगा हुआ है। समुद्र का जल लाल हो गया है। पूछने पर मालूम हुआ कि यदि भगवान कच्छप-रूप से अपनी पीठ लगाकर उस पुल को न रोकते तो वह हनुमानजी को लिए हुए रसातल को चला जाता और अर्जुन की बड़ी हँसी होती। भगवान ने कहा—वहाँ ऐसे-ऐसे अनेकों वानर थे। वे बाण के पुल पर कैसे जाते। इस तरह भगवान ने हनुमानजी के द्वारा अर्जुन का गर्व भङ्ग किया।

अर्जुन ने भगवान की आज्ञा से हनुमानजी की बड़ी आराधना की। हनुमानजी ने वर दिया कि मैं सर्वदा तुम्हारी सहायता करूँगा और भावी-युद्ध में तुम्हारे रथ पर बैठकर तुम्हारी रक्षा करूँगा।

६. ख— एकबार अर्जुन अकेले ही रथ पर चढ़कर शिकार खेलते हुए दक्षिण समुद्र पर पहुँच गये वहाँ धनुषकोटि तीर्थ में स्नान करके मध्याह्न की क्रिया कर रथ पर बैठकर कुछ गर्व में भरे हुए समुद्र तट पर घूमने लगे। इसी बीच में वन में पर्वत के ऊपर सामान्य वानर के रूप में हनुमानजी को राम-राम कहते हुए देखकर पूछा—हे कपे! तुम्हारा नाम क्या है? हनुमानजी ने कहा—मैं रामदूत हनुमान हूँ। अर्जुन ने गर्व से हँसकर कहा— 'राम ने सेतु बाँधने में व्यर्थ परिश्रम किया। उन्होंने बाणों से ही क्यों न पुल बाँध

दिया?' इस पर हनुमानजी ने कहा। बड़े-बड़े वानरों के भार से बाण का सेतु समुद्र में डूब जाता यही विचारकर श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र पर बाण से पुल नहीं बाँधा। यह सुनकर अर्जुन ने कहा कि यदि वानरों के भार से ही सेतु डूब जाय तो उस धनुर्धारी की धनुर्विद्या ही क्या? मैं अभी तुम्हारे सामने ही बाणों का पुल बाँधे देता हूँ। तुम उस पर जी-भरके उछलो, कूदो। आज मेरी धनुर्विद्या को देखो।' हनुमानजी बोले कि, 'यदि मेरे पैर के अँगूठे के भार से ही तुम्हारा सेतु जल में डूब जाय तो तुम क्या हारते हो।' अर्जुन ने कहा, 'यदि तुम्हारे भार से मेरा बाणों का सेतु डूब जाय तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। यदि न टूटा तो तुम क्या हारते हो।' हनुमानजी ने कहा कि 'यदि मेरे अंगुष्ठ भार से तुम्हारा सेतु न टूट जाय तो मैं तुम्हारी ध्वजा पर रहकर तुम्हारी सहायता किया करूँगा।

अर्जुन ने 'तथास्तु' कहकर अपने महान धनुष का टङ्कार किया और क्षणमात्र में समुद्र के ऊपर सौ-योजन विस्तार वाला दृढ़तर और सघन पुल बाँध दिया। उसे देखकर हनुमानजी ने अपने अँगूठे की नोंक से उसको लीलापूर्वक दबा दिया जिससे वह क्षणमात्र में समुद्र में डूब गया।

उसी समय आकाश से देवता, गन्धर्व, किन्नर, उरग, राक्षस, विद्याधर, अप्सरायें और सिद्ध आदि हनुमानजी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि करने लगे। अर्जुन उसी समय चिता बनाकर, हनुमानजी के रोकने पर भी देह छोड़ने को तैयार हो गये। उसी समय भगवान कृष्ण बटुरूप में आकर उपस्थित हो गये और अर्जुन के मुख से दोनों की प्रतिज्ञायें सुनकर बोले कि—बिना साक्षी के तुम दोनों का कर्म व्यर्थ गया। अब मैं साक्षी हूँ मेरे सामने अपना-अपना करतब दिखाओ। तब जानूँ कि कौन सच्चा है, कौन झूठा? अब अर्जुन ने फिर वैसा ही बाणों का सेतु बाँध दिया। उसी समय श्रीकृष्ण ने अपने चक्र को सेतु के नीचे रख दिया। हनुमानजी ने अंगुष्ठ के भार से सेतु को दबाया। पर अबकी-बार सेतु को दृढ़ देखकर उन्होंने उसे फिर अपने पैर, घुटने और हाथ के सम्पूर्ण बल से दबाया। परन्तु सेतु हिला भी नहीं।

तब हनुमानजी चुपचाप होकर मन में विचार करने लगे कि पहले तो यह सेतु मेरे अँगूठे के भार से ही डूब गया था और इस समय हाथ-पैर के सम्पूर्ण भार लगाने पर भी क्यों नहीं चलायमान होता है? इसका कारण यह बटु ही मालूम होता है। यह बटु नहीं है। स्वयं भगवान ही हैं। अब मुझे पूर्व का वरदान याद पड़ता है। भला, भगवान के सामने मुझ वानर का पुरुषार्थ कितना? ऐसा विचार कर वे अर्जुन से बोले कि—"इस बटु की सहायता से तुमने मुझे जीत लिया है। यह बटु नहीं है, स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जिन्होंने तुम्हारी सहायता के लिए बटुरूप धारण कर चक्र को सेतु के नीचे रख दिया है। इन्होंने त्रेता में रामरूप से मुझे वरदान दिया था कि द्वापर में तुम्हें मैं कृष्णरूप से दर्शन दूँगा। उसी वचन को आज उन्होंने सेतु के बहाने यहाँ आकर पूरा किया।' इतना कहते ही बटु कृष्णरूप धारण कर हनुमानजी को आलिंगन दिया और साथ ही वह सेतु भी जल में डुबा दिया। तब अर्जुन का गर्व टूट गया और वे समझ गये कि हमारे प्राणों की रक्षा श्रीकृष्ण ने ही की।

७. श्रीसत्यभामा को अपने सौन्दर्य का, चक्रसुदर्शन को अपने तेज का, गरुड़ को अपने बल और वेग का गर्व हो गया था। इसे दूर करने के लिए भगवान के संकल्प करते ही हनुमानजी द्वारिका के पास ही एक उपवन में आ विराजे। भगवन्नाम संकीर्तन करते हुये फल खाने लगे, डालियाँ तोड़ने लगे। भगवान ने गरुड़ को बुलाकर आज्ञा दी कि 'शीघ्र ही जाकर बन्दर को पकड़ लाओ। तुम बड़े पुरुषार्थी

हो। त्रैलोक्य में तुम्हारे समान कोई नहीं है। अकेले ही जाओगे या कुछ सेना भी ले जाओगे?' ये वचन सुनकर गरुड़ बड़े आवेश में आकर बोले, 'मैं तो गिरते हुये आकाश को अपने बल से धारण कर सकता हूँ। मुझे यही आश्चर्य है आप मुझे साधारण बन्दर को पकड़ने के लिये न जाने क्यों भेज रहे हैं?' अच्छा, मैं अभी उसे पकड़ लाता हूँ। यह कहकर वे शीघ्र वन में पहुँचे और वहाँ बन्दर (हनुमानजी) को अपनी ओर पीठ किये बैठे, कौतुक से फल खाते और श्रीरामनाम का कीर्तन करते देख बोले—'रे बन्दर! तूने सारा-वन नष्ट कर डाला, सारे-वनचरों को भगा दिया और सब फल भी खा डाले। तू बड़ा अन्यायी है। मैं तुझे दण्ड दूँगा।' हनुमानजी ने मुस्कुराकर पूछा कि—तुम कौन हो, तुम्हारा क्या नाम है और तुमको किसने भेजा है? तब गरुड़ ने अपने को कश्यपपुत्र श्रीहरिदूत पक्षिराज गरुड़ बताया और कहा कि—'मैं समस्त देवताओं को परास्त कर अपने पुरुषार्थ से अमृत प्राप्त किया। मेरे भय से नागराज पृथ्वी के नीचे जा छिपे हैं।' इस पर हनुमानजी ने कहा कि 'जो अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करता है वह सैकड़ों मूर्खों से भी अज्ञानी है। अपनी प्रशंसा करने वाला वस्तुत: वैसा नहीं होता।' क्रोध में आकर गरुड़ ने कहा कि 'रे बन्दर! मालूम होता है कि तू अब मरनहार है। इसी से मरते समय तेरी तूती बोलने लगी है। हनुमानजी ने भी वैसा ही उत्तर दिया। तब गरुड़ सहसा आकाश में उड़कर गरजकर एकदम से श्रीहनुमानजी पर टूट पड़े और उन्हें चोंच से मारने लगे। परन्तु हनुमानजी को उनकी चोटें और उनका मारना ऐसा मालूम होता था जैसे पर्वत पर भ्रमर का, बड़े पेड़ पर मक्खी का या हाथी के कन्धे पर चींटी का भार हो। क्षणभर यह लीला करके हनुमानजी ने गरुड़ को अपनी पूँछ में लपेटकर तनिक-सा कस दिया। वे छटपटाने लगे। तब उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण का नाम बताकर कहा कि उनकी आज्ञा से मैं आया हूँ। उन्होंने तुम्हें बुलाया है। हनुमानजी ने गरुड़ को छोड़कर कहा कि मैं सीतानाथ श्रीराम का उपासक हूँ, मैं श्रीकृष्ण के पास क्यों जाऊँ? ऐसा कहकर मानो उन्होंने भगवान की लीला में सहयोग दिया।

अभी गरुड़ का गर्व टूटा न था। वे सोचते थे कि अगर मैं पकड़ा न गया होता तो हनुमान को बलात् ले चल सकता था। उन्होंने दुबारा आक्रमण किया। अभिमान अन्धा बना देता है। श्रीकृष्ण का दूत समझकर हनुमानजी ने उन पर जोर से आघात नहीं किया पर हल्के हाथ से पकड़कर समुद्र की ओर फेंक दिया। वे श्रीकृष्ण के पास आये। सब बात सुनकर श्रीकृष्ण बहुत हँसे। अभी गरुड़ के मन में तेजी से उड़ने का गर्व बाकी था। सोचते थे कि उड़ने में मेरा मुकाबला वायुदेव भी नहीं कर सकते हैं। भले ही हनुमान मुझ से बल में बड़े हों। भगवान ने उनको फिर भेजा और कहा कि इस बार जाकर कहो कि तुम्हारे इष्टदेव भगवान श्रीराम तुम्हें बुला रहे हैं।शीघ्र ही चलो। उन्हें अपने साथ ही ले आना। अब वे तुम्हें कुछ न कहेंगे। तुम्हारा बड़ा आदर करेंगे। गरुड़ ने जाकर सन्देशा कहकर यह भी कहा कि यदि मेरे साथ ही आप चल सकें तो चलें, नहीं तो मेरे कन्धों पर बैठ लें, मैं लेता चलूँ। हनुमानजी ने कहा तुम चलो, मैं आता हूँ। गरुड़ को श्रीहनुमानजी की बात काटने का साहस डरके मारे न हुआ, वे चले गये।

इधर भगवान ने चक्र को फाटक पर पहरा देने की आज्ञा दी जिससे कोई भीतर न आ सके। हनुमानजी गरुड़ से बहुत पहले द्वारिका पहुँच गये। उनकी दृष्टि में वह द्वारिका न थी अयोध्या थी। फाटक पर चक्र ने उन्हें जाने से रोका। तब हनुमानजी ने यह कहते हुए कि तू भगवान के दर्शन में विघ्न डालता है, उसे पकड़कर मुँह में डाल लिया। श्रीभगवान ने सत्यभामाजी से कहा—श्रीरामोपासक हनुमान के लिये मैं रामरूप धारण करता हूँ तुम सीता का रूप धारण कर समीप बैठ जाओ। महल में जाकर हनुमानजी ने

भगवान के चरणों में साष्टाङ्ग–दण्डवत् प्रणाम करके पूछा–प्रभो! माताजी कहाँ हैं? आज आपने किस दासी को इतना आदर दे रक्खा है? सत्यभामा लाज के मारे वहाँ से हट गयीं। श्रीरुक्मिणीजी ने सीतास्वरूप धरकर अभाव की पूर्ति की। वर्णन आया है कि श्रीहनुमानजी नख शिख प्रभु का दर्शन कर रहे थे, इधर जल्दबाजी में श्रीकृष्ण को ध्यान नहीं रहा कि मैंने रामरूप धारण तो कर लिया परन्तु मुरली तो कटि में फेंट से कसी ही है। श्रीहनुमानजी की दृष्टि पड़ी बोले–जै जै–यह मुरली कबसे? भगवान ने तुरन्त ही उसे छिपा लिया। हनुमान ने युगल का दर्शन किया, कृत–कृत्य हो गये। भगवान के पूछने पर कि किसी ने तुमको रोका नहीं? हनुमानजी ने चक्र को मुँह में से निकालकर सामने रख दिया। तब तक दौड़ते–हाँफते गरुड़ पहुँचे, हनुमान को पहले ही पहुँचा देखकर तेजहत हो गये। मस्तक नत हो गया। इस प्रकार प्रभु ने श्रीहनुमानजी के द्वारा तीनों का गर्व दूर किया।

'राम काज कीन्हे बिनु, मोहिं कहाँ विश्राम' सेवा–धर्म के इस उच्चतम आदर्श के साकार–विग्रह श्रीहनुमानजी की अनन्य–भक्ति से रीझकर जगज्जननी श्रीजानकीजी एवं जगत्पिता भगवान श्रीरामजी ने श्रीमुख से इन्हें आत्मतत्व का उपदेश किया है। (अध्यात्म–रामायण) इसलिए श्रीहनुमानजी भक्ति के आचार्य हैं, परमभागवत हैं। भक्तों के सर्वस्व हैं। किम्पुरुष वर्ष में श्रीलक्ष्मणाग्रज, श्रीसीता हृदयाभिराम भगवान श्रीराम के अनन्य–भक्त श्रीहनुमानजी अविचल भक्तिभाव से उनकी उपासना करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं–

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षो वधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य।। (भा० ५–१९–५)

अर्थ–प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसों का वध करने के लिये नहीं हुआ है। इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्यों को शिक्षा देना है। अन्यथा अपने स्वरूप में ही रमण करने वाले साक्षात् जगदात्मा को सीताजी के वियोग में इतना दुःख कैसे हो सकता है। पुनः–

न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः।। (भा० ५–१९–७)

अर्थ–लक्ष्मणाग्रज! उत्तमकुल में जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठयोनि, इनमें से कोई भी गुण आपकी प्रसन्नता का हेतु नहीं हो सकता है, यह बात दिखाने के लिये ही आपने इन सब गुणों से रहित हम वनवासी–वानरों से मित्रता की है।।

हनूमान सम नहिं बड़ भागी । नहिं कोउ राम चरण अनुरागी।।
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई । बार–बार प्रभु निज मुख गाई।।

श्रीजाम्बवन्तजी–

जानि राम सेवा सरस, समुझि करब अनुमान।
पुरुषाते सेवक भये, हर ते भे हनुमान।। (दोहावली)

श्रीरामजी की सेवा को परम–आनन्दमय जानकर पितामह ब्रह्माजी जाम्बवानजी बन गये और श्रीशिवजी हनुमान हो गये।

निरन्तर सृष्टि विस्तार में व्यस्त ब्रह्माजी को एक बड़ी-भारी ग्लानि हुई कि—'**बीत गये दिन भजन बिना रे।**' हृदय में भगवद्भजन के भाव उमड़ ही रहे थे कि ब्रह्माजी को जँभाई आई मानो उनका भाव ही साकार होकर ऋक्षराज जाम्बवान के रूप में प्रकट हो गया। यथा—

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्ष पुङ्गवः । जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत।।

अर्थ—मैंने पहले ही ऋक्षराज जाम्बवान की सृष्टि कर रखी है। एकबार मैं जँभाई ले रहा था उसी समय वह सहसा मेरे मुँह से प्रकट हो गये। यह जाम्बवानजी ब्रह्माजी के ही अंशावतार हैं। श्रीब्रह्माजी इस रूप से भगवद्भजन का रसास्वादन करते हैं।

श्रीजाम्बवानजी अपने जीवन का एक मधुर संस्मरण स्वयं वर्णन करते हैं कि—

जबहिं त्रिविक्रम भये खरारी । तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी।।
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं, सात प्रदच्छिन धाइ।। (रामायण)

बात सतयुग की है। जब बामन भगवान ने तीन पग में बलि का सर्वस्व ले लेने का संकल्प कर विराट्रूप धारण किया था, दो ही पग में बलि का सर्वस्व लेकर तीसरे पग की पूर्ति के लिये बलि को बाँधा था। उस समय श्रीजाम्बवानजी की तरुणावस्था थी, बल का पारावार नहीं था अतः दो ही घड़ी में प्रभु की सात परिक्रमायें की थीं तथा मन के वेग के समान दौड़कर सब दिशाओं में भेरी बजा-बजाकर भगवान की मङ्गलमय विजय की घोषणा कर आये। यथा—

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः। विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्।। (भा० ८-२१-८)

जाम्बवानजी के बल-बुद्धि-विवेक आदि अनुपम गुणों से आकृष्ट वानरराज सुग्रीव ने इन्हें अपना प्रधानमन्त्री बनाया था। समय-समय पर इनकी दूरदर्शिता का अद्‌भुत दर्शन होता है। जिस समय श्रीजानकीजी का पता नहीं लगने तथा सुग्रीव की बताई हुई अवधि के बीत जाने से अङ्गदादि वानर वीर बहुत दुःखी हो रहे थे उस समय श्रीजाम्बवानजी ने परिस्थिति को सँभाला था। यथा—

चौपाई—**जामवन्त अङ्गद दुख देखी । कही कथा उपदेश बिसेषी।।**
तात राम कहुँ नर जनि मानहु । निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।।
हम सब सेवक अति बड़ भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।

दोहा— **निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।**
सगुन उपासक सङ्ग तहँ रहहिं मोक्ष सब त्यागि।। (रामायण)

पुनश्च—जब समुद्र पार जाने की समस्या थी। सभी वानर '**पार जाइ कर संशय राखा।**' उस समय श्रीजाम्बवानजी ने श्रीहनुमानजी को बल का स्मरण कराकर पार भेजा था। यथा—

चौपाई—**कहइ रीछपति सुनु हनुमाना । का चुप साधि रहेउ बलवाना।।**
पवन तनय बल पवन समाना । बुधि विवेक विज्ञान निधाना।।

कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।।
राम काज लगि तव अवतारा।..........

पुनश्च—आवेश में श्रीहनुमानजी बहुत कुछ कह गये। यथा—**सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।।** आदि। अत: जाम्बवानजी से पूँछते हैं—चौ०—**जामवन्त मैं पूछउँ तोहीं। उचित सिखावन दीजैं मोहीं।।** तब जाम्बवानजी ने कहा—

चौपाई— **एतना करेहु तात तुम जाई। सीतहिं देखि कहहु सुधि आई।।**
तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि सङ्ग कपि सेना।।

छन्द— **कपि सेन संग संघारि निशिचर राम सीतहिं आनि हैं।**
त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि हैं।।

जाम्बवानजी की सलाह हनुमानजी को बहुत ही सुहाई। यथा—**जामवन्त के बचन सुहाए। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाए।।** यही कारण है कि जब हनुमानजी श्रीजानकीजी का पता लगाकर आये तो वहाँ का सब समाचार स्वयं न कहकर जाम्बवानजी से कहवाया। तो जाम्बवानजी की बातें प्रभु को बहुत सुहाईं। यथा—**पवन तनय के चरित सुहाए। जामवन्त रघुपतिहिं सुनाए।। सुनत कृपानिधि मन अति भाए।**

जिस समय समुद्र पर सेतु बाँधने के लिए श्रीराम अत्यन्त व्यग्र थे। जाम्बवानजी ने कहा—**सुनहु भानुकुलकेतु, जामवन्त कर जोरि कह। नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं।। यह लघु जलधि तरत कति बारा।।** इससे प्रभु को बड़ा सन्तोष हुआ, अत: श्रीरामजी ने जाम्बवानजी को अपना समर-मन्त्री बनाया।

समुद्र पर सेतु बाँधा जा रहा था। उदधि की उत्ताल तरंगें पर्वतों को स्थिर नहीं रहने देती थीं। नल-नील उपाय करके हार गये। तब यह विचार हुआ कि सम्भव है प्रभु का स्पर्श पाकर पर्वत-खण्ड स्थिर रहें अत: प्रभु से निवेदन किया गया। श्रीराम ने एक पत्थर का टुकड़ा हाथ में लिया और उसे समुद्र में फेंक दिया। वह तत्काल ही जल में डूब गया। किसी से कुछ कहते नहीं बनता था। जाम्बवानजी ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! आप जिसको छोड़ देंगे वह तो डूब ही जायेगा। जीव तो पार होता है आपके ही आश्रय से।

लङ्का में सुबेल शैल पर प्रभु का पड़ाव पड़ा है। श्रीरामजी ने अपने सभी मन्त्रियों से पूछा—आगे का कार्यक्रम क्या होना चाहिये? तब—**जामवन्त कह पद सिर नाई। सुनु सर्वग्य सकल उर बासी। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी।। मन्त्र कहउँ निजमति अनुसारा। दूत पठाइय बालि कुमारा।।** श्रीजाम्बवानजी की इस मन्त्रणा का सबने समर्थन किया। यथा—**नीक मन्त्र सबके मनमाना।।**

अङ्गद-रावण संवाद में रावण ने जाम्बवानजी को बूढ़ा कहकर इनकी उपेक्षा की थी। अत: युद्ध में जाम्बवान ने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि अप्रतिम-योद्धा रावण और मेघनाद को भी मुँह की खानी पड़ी। यथा—जिस समय मेघनाद ने अपनी माया से सभी को व्याकुल कर दिया था और की तो बात ही क्या? मायापति तक नाग-पाश में बँधे पृथ्वी पर पड़े-पड़े ऊर्ध्व श्वांस ले रहे थे। परन्तु जामवन्तजी को वह माया छू भी नहीं गई थी। उस समय—

चौपाई—**जामवन्त कह खल रह ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा।।**
बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोहीं। लागेसि अधम पचारै मोहीं।।
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो। जामवन्त कर गहि सोइ धायो।।
मारेसि मेघनाद की छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती।।
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निजबल देखरायो।।
बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा।।

इस प्रकार मेघनाद को बूढ़ा कहने का परिणाम भुगताया।

श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगने के समय जब सब लोग 'किं कर्तव्य विमूढ़' हो रहे थे, उस समय श्रीजाम्बवानजी ने धैर्यधारण कर समयोचित परामर्श दिया। यथा—**जामवन्त कह वैद सुषेना। लंका रहइ को पठइअ लेना।।** श्रीहनुमानजी के द्वारा सब कार्य सिद्ध हुआ।

जिस समय राक्षसेन्द्र रावण ने समस्त वानर-भालू वीरों की तो बात ही क्या महावीर हनुमान तक को मूर्च्छित कर दिया था। उस समय अकेले जाम्बवन्त ने रावण को मौत की घाटी का दर्शन करा दिया। यथा—

चौपाई— **देखि भालुपति निजदल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता।।**

छन्द— **उर लात घात प्रचण्ड लागत विकल रथ ते महि गिरा।**
गहि भालु बीसहुं कर मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा।।
मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो।
निसि जानि स्यन्दन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो।।

लङ्का के युद्ध में जाम्बवान की युद्ध की अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। क्योंकि रावण और मेघनाद जैसे वीर भी एक लात और एक घूंसे में ही धूल चाटने लगे। जब कभी श्रीराम के करि-कर-सरिस-सुभग भुजदण्डों को जाम्बवान देखते तो इच्छा होती कि यदि इन भुजाओं से दो-दो हाथ होते तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाता। सर्वान्तर्यामी भगवान ने इनके मन की जानकर द्वापर में कृष्णावतार में इच्छापूर्ति का वरदान दिया।

चौदह वर्ष के पश्चात् वन से आने पर राज्याभिषेक होने के बाद महारानी सुनयना के निमन्त्रण पर श्रीप्रभु राघवेन्द्र, मिथिलेशनन्दिनी श्रीजानकीजी के साथ जब ससुराल जाने को प्रस्तुत हुए तो जाम्बवान, हनुमान, नलनीलादि सखा भी प्रभु की ससुराल देखने को मचल गये। प्रभु ने मुस्कुराकर कहा कि आप लोग चलना तो चाहते हैं परन्तु ससुराल की टकसाल भी कुछ मालूम है? घर-सरीखे मनमाना घर-जाना वहाँ नहीं हो सकता है। आप लोग स्वतन्त्र स्वभाव के हैं, यदि कहीं वहाँ चलकर स्वभाववश कुछ चञ्चलता कर बैठे तो मेरी हँसी होगी। सबने एक स्वर से कहा—प्रभो! आपका इतना सावधान कर देना हम लोगों के लिए पर्याप्त है। अब हम सब खूब सतर्क रहेंगे, फिर भी हमारी एक प्रार्थना है कि आप वयोवृद्ध श्रीजाम्बवानजी को ससुराल के रेक-टेक अच्छी तरह से समझा दें फिर तो हम सब इन्हीं का अनुकरण करेंगे। यह बात प्रभु को भी जँच गई अतः जाम्बवानजी को समझाकर सभी सखाओं का मुखिया बना

दिया। जाम्बवानजी बड़ी दक्षतापूर्वक सुव्यवस्थित रूप से सबका संचालन करते। एकदिन की बात है—भोजन के समय विविध-व्यञ्जनों के साथ कटहल के कोये भी परोसे गये थे, जाम्बवानजी ने सर्वप्रथम कोया ही हाथ में लिया, परन्तु चिकना होने के कारण हाथ का तनिक-सा दाब पड़ते ही वह ऊपर को उछल गया, फिर तो उसे सँभालने के लिए जाम्बवानजी भी उछले। उधर सभी सखाओं का ध्यान जाम्बवानजी की ओर था। उनके उछलते ही सबके-सब उछलने लगे। महल में हास्य का अद्भुत ठहाका गूँज गया। रानी-समुदाय में से किसी ने व्यङ्ग किया—ननदोईजी को अच्छे सखा मिले। किसी ने कहा—आखिर वानर-भालू ही तो ठहरे। आदि।

इस प्रकार मधुर हास-परिहास में भोजन कार्य समाप्त हुआ। जब सब लोग निवास स्थान पर गये तो प्रभु ने सबको बुलाकर उछल-कूद का कारण पूछा। सबने सरल-भाव से उत्तर दिया कि प्रभो! हम लोगों ने तो जाम्बवानजी का अनुकरण किया, हमने समझा कि यह कोई राजकीय भोज की परिपाटी होगी और आपने इन्हें बताया होगा, वही यह कर रहे हैं। प्रभु ने जाम्बवानजी से पूछा—नेताजी! यह कौन-सी लीला थी? जाम्बवानजी ने बड़े अदब से हाथ-जोड़कर निवेदन किया—प्रभो! जब मैंने कटहल का कोया हाथ में लिया तो वह मेरे हाथ से छिटककर ऊपर को उछला। आप जानते ही हैं, युद्ध में एक भी असुर मेरे हाथ से सुरक्षित नहीं जा सका, फिर यह कोया निकल जाय, यह मैं कैसे सहन कर सकता था। मैंने उछलकर उसे पकड़ ही तो लिया। यह कहकर जाम्बवानजी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और प्रार्थना किये कि यदि इसमें मेरी कुछ भूल-हुई हो तो आप क्षमा करेंगे। वानरों के तथा विशेषकर जाम्बवानजी के इस भोलेपन पर प्रभु बहुत प्रसन्न हुए।

बात द्वापरयुग की है। भगवान सूर्य की आराधना से प्राप्त स्यमन्तकमणि को अर्थ लोलुप सत्राजित ने भगवान श्रीकृष्ण के कहने पर भी महाराज उग्रसेन को देना स्वीकार नहीं किया। विधि का विधान बड़ा विचित्र होता है। एकदिन उस मणि को गले में बाँधकर सत्राजित का भाई प्रसेनजित शिकार खेलने वन में गया। वन में प्रसेनजित को मारकर एक सिंह ने उस मणि को लिया और सिंह को मारकर जाम्बवान ने वह मणि ले ली। अब वह मणि जाम्बवान के बच्चों का खिलौना बन गई। कलंक श्रीकृष्ण पर लगा। क्षुद्र-हृदय सत्राजित ने प्रसेन को मारकर मणि ले लेने का लाञ्छन श्रीकृष्ण पर लगाया। इस कलंक-पंक प्रक्षालन के लिए श्रीकृष्ण, नगर के कुछ सभ्य-पुरुषों को साथ लेकर जब वन में मणि खोजने के लिए निकले तो प्राप्त-चिह्नों के आधार पर जाम्बवान की गुफा में अकेले ही प्रवेश किये। गुफा में एक अपरिचित का आगमन भयावह जानकर बच्चों की धाय चिल्ला उठी। जाम्बवानजी का क्रोध भड़का, फिर तो जाम्बवान और श्रीकृष्ण (भक्त और भगवान) में सत्ताईस दिन तक घोर द्वन्द्व युद्ध होता रहा। अट्ठाइसवें दिन युद्ध प्रसङ्ग समाप्त करने की इच्छा से जब श्रीकृष्ण ने जाम्बवान पर कठिन घूंसे का प्रहार किया तो जाम्बवान के अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ गये। तत्काल बोध हुआ कि बिना भगवान के इस प्रकार मुझे शिथिल करने वाला दूसरा कोई देव-दानव-मानव हो नहीं सकता। पुन: तुरन्त ही पूर्व वरदान की स्मृति भी हो आई। अत: जाम्बवानजी ने युद्ध छोड़कर भगवान की स्तुति की, भगवान ने उन्हें श्रीरामरूप का दर्शन कराया और उनके शरीर पर वरद-हस्त फिराया—'**तन भा कुलिस गई सब पीरा।**' गुफा में भगवान के प्रवेश करने का अभिप्राय जानकर जाम्बवान ने भगवत्सेवार्थ अपनी कन्या जाम्बवन्ती को मणि के साथ श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में समर्पित कर दिया।

श्रीजाम्बवानजी ऐसे महाभागवत हुए कि जिन्होंने भगवान के विविध अवतारों का दर्शन किया। प्रसङ्ग आता है, जिस समय विभीषणजी ने पुष्पक विमान में बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ भरकर प्रभु श्रीराम को भेंट किया तो श्रीप्रभु ने जाम्बवानजी से पूछा कि—मैं इनमें से क्या लूँ! तब जाम्बवानजी ने अपनी अतिकालीनता का परिचय देते हुए कहा कि प्रभो! मैंने सृष्टि के कितने ह्रास-विकास देखें हैं। कितने मनु और मन्वन्तर, कितने देव और देवेन्द्र देखे हैं। कितने समुद्र-नदी-नद-नारे और चन्द्रमा-सूर्य-सितारे देखे हैं जो मेरे सामने बने और बिगड़े। आपके भी कितने अवतार-दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला, परन्तु यह मैंने कभी नहीं देखा कि आप स्वयं देकर फिर ले भी लेते हो। यह तो मैं आज ही सुन रहा हूँ। श्रीरामजी हँस गये। बोले—जाम्बवानजी! आपके श्रीमुख से हमें अपने इस स्वभाव की प्रतिष्ठा करानी थी, इसलिए मैंने आपसे यह बात पूछी थी। प्रतिष्ठा प्रामाणिकजनों द्वारा ही होती है और आपसे बढ़कर प्रमाणरूप दूसरा मुझे मिलेगा नहीं। श्रीजाम्बवानजी प्रभु के चरणों में लोट-पोट हो गये। भगवान ने उठाकर हृदय से लगा लिया।

श्रीसुग्रीवजी—एकबार मेरु पर्वत पर तपस्या करते हुए ब्रह्माजी की आँखों से गिरे हुए आँसुओं से एक प्रतापी बन्दर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋक्षराज था। एकबार ऋक्षराज शापित सरोवर के पानी में अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा। पानी में गिरते ही उसने एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया। एकबार उस स्त्री को देखकर इन्द्र और सूर्य मोहित हो गये। इन्द्र ने अपना वीर्य उसके मस्तक पर और सूर्य ने अपना वीर्य उसके गले पर डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्री को इन्द्र के वीर्य से बालि और सूर्य के वीर्य से सुग्रीव नामक दो वानर उत्पन्न हुए। इसके कुछ दिनों बाद उस स्त्री ने पुनः अपना पूर्वरूप धारण कर लिया। ब्रह्माजी की आज्ञा से उसके पुत्र किष्किन्धा में राज्य करने लगे।

कालान्तर में इन दोनों भाइयों में विरोध हो गया। विरोध का कारण यह बना कि एकदिन आधी रात को मायावी नामक असुर के ललकारने पर महाबली बालि ने उसका पीछा किया। सुग्रीव भी भ्रातृ-स्नेहवश सङ्ग-सङ्ग लग गये। वह दैत्य भागकर एक गुहा में घुस गया। बालि ने सुग्रीव से कहा कि—'**परिखेसु मोहिं एक पखवारा। नहिं आवउँ तब जानेसु मारा।**' और स्वयं गुफा में प्रवेश कर गया। सुग्रीव एक महीने तक गुहा-द्वार पर उपस्थित रहे, अन्त में क्या देखे कि रक्त की एक बड़ी धारा उस गुफा से निकल रही है। उसमें बालि के रोम-समूह देखकर सुग्रीव ने अनुमान किया कि बालि का ही वध हुआ है। ऐसा सोचकर गुहा का द्वार एक शिला से बन्द कर वह किष्किन्धा वापस लौट आये। मन्त्रियों ने नगर को राजा-विहीन देखकर सुग्रीव को ही बरबस राज्य दे दिया। पीछे बालि उसका वध करके आकर, सुग्रीव को गद्दी पर बैठा देखकर उसने मन में बड़ा खेद माना और सुग्रीव को बैरी की भाँति मारा और स्त्री तथा सर्वस्व हरण कर लिया। प्राणरक्षार्थ सुग्रीव समस्त भुवनों में भागते-फिरते रहे परन्तु कहीं ठौर नहीं मिली तब श्रीहनुमानजी के संकेत पर श्रीमतंग ऋषि के आश्रम ऋष्यमूक पर्वत पर हनुमान, जाम्बवान, नल, नील इन चार मन्त्रियों को लेकर रहने लगे।

श्रीसीतान्वेषण के सिलसिले में जब श्रीराम, शबरी के बताने पर ऋष्यमूक पर्वत पर आये तो प्रथम तो सुग्रीवजी को इन्हें बालि का भेजा हुआ जानकर बड़ा भय हुआ, परन्तु बाद में जब सुग्रीव के भेजे हुए हनुमानजी ने बटुरूप धरकर पूर्ण परिचय प्राप्त कर दोनों भाइयों को पीठ पर चढ़ाकर सुग्रीव को

यह इशारा किया कि ये तो परम अनुकूल हैं तो सुग्रीव ने सन्तोष की साँस ली। हनुमानजी ने बड़े ही आदर-पूर्वक दोनों भाइयों को पर्वत पर लाकर अग्नि को साक्षी देकर श्रीराम और सुग्रीव में दृढ़-मैत्री करा दी। सुग्रीव ने श्रीजानकीजी का पता लगाने का आश्वासन दिया—**कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच आनहु मन धीरा।। सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहिं जानकी आई।।**

उपर्युक्त बातों से सुग्रीव की अपनी सेवा में परायणता और तत्परता देखकर कृपासिन्धु भगवान श्रीराम ने प्रसन्न होकर सुग्रीव से भी वन में बसने का कारण पूछा और बालि की अनीति जान लेने पर—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठीं द्वौ भुजा बिसाला।।

सुनु सुग्रीव मारिहौं, बालिहिं एकहि बान।

ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहिं प्रान।।

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे।।

इस प्रकार श्रीराम ने सुग्रीव का सहयोग किया और सुग्रीव ने श्रीराम का सहयोग किया। फलत: दोनों ही पूर्णकाम हुए। इस पर—

दृष्टान्त—देवता और दैत्यों का—एकबार दैत्यों ने ब्रह्माजी से शिकायत की कि यद्यपि हम लोग सब प्रकार से देवताओं से बढ़-चढ़कर ही हैं तो भी स्वार्थ-साधन में पीछे ही रह जाते हैं। हाथ में आये हुए लाभ से वंचित रह जाते हैं। क्या बात है? ब्रह्माजी ने मुस्कुराकर कहा—इसका समाधान कल किया जावेगा। दूसरे दिन ब्रह्माजी ने दैत्यों और देवताओं को नेवता किया। भोजन लड्डू का था। बड़े-बड़े लड्डू बने थे। चूँकि दैत्य अपने को देवताओं से श्रेष्ठ मानते हैं। अत: उन्हें भोजन के लिए पहले बैठाया गया। जब लड्डू परस दिये गये तो ब्रह्माजी ने दैत्यों के हाथों में एक-एक सीधी लकड़ी बँधवा दी जिसमें उनका हाथ-मुड़कर मुँह के पास न आ सके, बिल्कुल सीधा रहे और खाने का आदेश दिया। दैत्य बड़ी कठिनाई में पड़ गये। वे पत्तल से लड्डू उठाते, मुँह तक पहुँचता नहीं, ऊपर को उछालते इधर अपना मुँह फैलाकर ऊपर देखते। कोई लड्डू तो निशाने से मुँह में पड़ता, कोई नाक पर गिरता, कोई माथे पर गिरता, कोई ठुड्डी पर गिरता एवं प्रकारेण सामान सब बरबाद हो गया और पेट किसी का नहीं भरा। इसके बाद ब्रह्माजी ने देवताओं को भोजन कराने के लिए बैठाया और वही बात इनके साथ भी की गई। देवताओं ने बुद्धि से काम लिया। वे लड्डू उठाते और दूसरे के मुँह में डाल देते। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से देवताओं ने बड़े आनन्दपूर्वक भोजन किया और सामान किंचित्-मात्र भी बरबाद न हुआ। दैत्य देखकर भौंचक्के से रह गये। ब्रह्माजी ने उनको समझाया—तुम लोगों में स्वार्थ-साधन के लिये, जो परम आवश्यक एक-दूसरे का सहयोग है, उसका अभाव है इसी से स्वार्थ-सिद्धि में विफल हो जाते हो। श्रीरामजी के लिये तो कहा है कि—**नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।।** अत: पहले सुग्रीव का काम कर दिये, पश्चात् अपने कार्य का ध्यान दिलाया।

सुग्रीव को अत्यधिक प्रीति के कारण प्रभु के बल में सन्देह हो गया अत: परीक्षा के लिये दुन्दुभि दैत्य की हड्डियाँ और सप्ततालों को दिखाया। श्रीरघुनाथजी ने अस्थियों को तो पैर के अंगुष्ठमात्र से दस योजन दूर फेंक दिया और सप्ततालों को भी एक ही बाण से गिरा दिया। सुग्रीव को—**देखि अमित**

बल बाढ़ी प्रीति। बालि बधब इन भइ परतीति।। हुआ भी ऐसा ही बालि मारा गया। किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को और यौवराज्य बालि पुत्र अङ्गद को मिला। भगवान की माया अतिशय प्रबल है। जो सुग्रीव पूर्व भगवान से प्रतिज्ञा किये थे कि—'**सुख सम्पत्ति परिवार-बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई।**' वे ही राज्य पाने पर सेवा करना तो दूर रहा भगवान को ही एकदम भूल गये। यथा—'**सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।।**' श्रीहनुमानजी ने सुग्रीव को सावधान किया। श्रीरामजी ने भय दिखाकर पुनः अपने सखा को अपनी ओर आकृष्ट किया। तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीजानकीजी का पता लगाने के लिए चतुर्दिक वानरों को भेजा। पता लगने पर सुग्रीव असंख्य-असंख्य वानर-भालुओं को साथ लेकर श्रीरामजी के संग लङ्का पर चढ़ गये।

जिस समय श्रीराम सुबेल-शैल पर सेना सहित उतरे और राक्षसेन्द्र रावण अपने महल में बैठा-बैठा नृत्य-गान का अखाड़ा देख रहा था। सुग्रीवजी वीर-रसावेश में उछलकर रावण के यहाँ पहुँचकर घोर-संग्राम करते हैं और रावण को नीचा दिखाकर पुनः विजयोल्लास में भरे हुए प्रभु के श्रीचरणों में आ विराजते हैं। युद्ध में भी सुग्रीव ने अद्भुत पराक्रम दिखाया। श्रीराम ने—**सुग्रीवः पञ्चमो भ्राता** कहकर सुग्रीव का सम्मान किया। श्रीअयोध्या में जाकर तो श्रीरामजी ने श्रीसद्‌गुरुदेव वशिष्ठजी से इनका परिचय देते हुए यहाँ तक कहा कि—**ए सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे।। मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे।।**

श्रीसुग्रीवजी की श्रीराम-सेवा-निष्ठा का परिचय तो उस समय मिलता है जब वे वानर-भालुओं को श्रीसीतान्वेषणार्थ यत्र-तत्र भेजते हुए चेतावनी देते हैं। यथा—

चौपाई— **मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचन्द्र कर काज सँवारेहु।।**
भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामिहिं सर्व भाव छल त्यागी।।
तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भव सम्भव सोका।।
देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई।।
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।।

श्रीसुग्रीवजी का समस्त जीवन ही श्रीराम-सेवामय रहा।

श्रीविभीषणजी—पुलस्त्यजी ब्रह्माजी के परमप्रिय मानसपुत्र थे। पुलस्त्यजी की स्त्री का नाम 'गौ' था, उससे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण पितामह-ब्रह्मा की सेवा में रहने लगा। इससे पुलस्त्यजी को बहुत क्रोध आ गया। उन्होंने (वैश्रवण को दण्ड देने के लिए) अपने आपको ही दूसरे शरीर से प्रकट किया। इस प्रकार अपने आधे-शरीर से रूपान्तर धारण पुलस्त्यजी विश्रवा नाम से विख्यात् हुए। विश्रवाजी वैश्रवण पर सदा कुपित रहा करते थे। किन्तु ब्रह्माजी उन पर प्रसन्न थे, इसलिये उन्होंने उसे अमरत्व प्रदान किया, समस्त धन का स्वामी और लोकपाल बनाया, महादेवजी से उनकी मित्रता करा दी और नलकूबर नामक पुत्र प्रदान किया। साथ ब्रह्माजी ने उनको राक्षसों से भरी लङ्का का आधिपत्य और इच्छानुसार विचरने वाला पुष्पकविमान दिया तथा यज्ञों का स्वामी बनाकर उन्हें 'राजराज' की उपाधि भी दी।

कुबेरजी (वैश्रवणजी) पिता के दर्शन को प्रायः जाया करते थे। विश्रवामुनि उनको कुपित-दृष्टि से देखने लगे। कुबेर को जब मालूम हुआ कि मेरे पिता मुझसे रुष्ट हैं तब उन्होंने उनको प्रसन्न करने के लिए पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नाम की परमसुन्दरी तथा नृत्यगान में निपुण तीन निशाचर-कन्यायें उनकी सेवा में नियुक्त कर दीं। तीनों अपना-अपना स्वार्थ भी चाहती थीं, इससे तीनों लाग-डांट से विश्रवामुनि को सन्तुष्ट करने में लग गयीं। मुनि ने सेवा से प्रसन्न होकर तीनों को लोकपालों के सदृश पराक्रमी-पुत्र होने का वरदान दिया। पुष्पोत्कटा के दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। मालिनी से एक पुत्र विभीषण हुए। राका के गर्भ से खर और शूर्पणखा हुए। यथा—

'पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरो। कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाऽप्रतिमौ भुवि।
मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्। राकायां मिथुनं जज्ञेखरः शूर्पणखा तथा।।' (महा०)

पुनश्च—बाल्मीकीय के अनुसार राजा तृणविन्दु अपनी कन्या को पुलस्त्य को सौंप गये। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि ने आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है। अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ, जिसका नाम विश्रवा होगा। विश्रवाजी बड़े चरित्रवान पुरुष हुए। वे पिता के समान तप में संलग्न रहने लगे। यह देखकर श्रीभरद्वाजजी ने अपनी देववर्णिनी नाम की कन्या उनको ब्याह दी। इसी के पुत्र वैश्रवण हुए। पुलस्त्यजी ने नामकरण किया और कहा कि यह बालक धनाध्यक्ष होगा। वैश्रवणजी ने एक हजार वर्ष कठोर तप किया। कभी जल पीकर, कभी पवन पानकर और कभी निराहार रहकर तप करते थे। ब्रह्माजी ने इन्हें यम, इन्द्र और वरुण के समान चौथा लोकपाल और निधियों का स्वामी बना दिया और पुष्पक-विमान दिया। वैश्रवण ने पिताजी से जाकर सब वृत्तान्त बताकर कहा कि पितामह ने मेरे रहने का प्रबन्ध कुछ नहीं किया। तब विश्रवाजी उनको विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लङ्का में निवास करने को कहा। यथा—**शून्या सम्प्रति लंका सा प्रभुस्तस्या न विद्यते। स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम्।।** (वाल्मीकि रामायणे)

उसी समय विष्णु भगवान के भय से राक्षसराज सुमाली परिवार सहित रसातल में रहने लगा था। एकबार जब वह अपनी कुमारी कन्या कैकसी सहित मर्त्यलोक में विचर रहा था, उसी समय कुबेरजी पिता विश्रवा के दर्शनों को जा रहे थे। उनका देवताओं और अग्नि के समान तेज देखकर वह रसातल को लौट आया और राक्षसों की वृद्धि का उपाय सोचकर उसने अपनी कन्या कैकसी से कहा कि तुम पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा को स्वयं जाकर वरण कर लो। इससे कुबेर के समान तेजस्वी पुत्र तुम्हें प्राप्त होंगे। पिता की आज्ञा मानकर कैकसी विश्रवामुनि के पास गयी। सायंकाल का समय था वे अग्निहोत्र कर रहे थे। दारुण प्रदोषकाल का उसने विचार न कर वहाँ जाकर उनके समीप खड़ी हो गयी। उसे देखकर उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो और क्यों आई हो? उसने उत्तर दिया कि आप तपः प्रभाव से मेरे मन की बात जान सकते हैं। मैं केवल इतना बताये देती हूँ कि मैं केवल अपने पिता की आज्ञा से आई हूँ और मेरा नाम कैकसी है। विश्रवा मुनि ने ध्यान के द्वारा सब जानकर उससे कहा कि तू दारुण समय में आयी है इससे तेरे पुत्र बड़े क्रूर-कर्म करने वाले और भयङ्कर आकृति के होंगे। यह सुनकर उसने प्रार्थना की कि—आप ऐसे ब्रह्मवादी से मुझे ऐसे पुत्र न होने चाहिए। आप मुझ पर कृपा करें। मुनि ने कहा—अच्छा, तेरा पिछला पुत्र वंशानुकूल धर्मात्मा होगा। कैकसी के गर्भ से क्रमशः रावण, कुम्भकर्ण, सूर्पणखा उत्पन्न हुए। सबके पीछे विभीषण हुए। (बाल्मीकीय रामायणे)

विभीषण जी ने गोकर्ण क्षेत्र में जाकर धर्म-पूर्वक पवित्रता से एक पैर पर खड़े होकर पाँच हजार वर्ष तक तप किया। इस नियम को समाप्त करके जब ऊर्ध्वबाहु होकर सिर ऊपर किये हुए, सूर्य पर दृष्टि जमाये हुए पाँच हजार वर्ष तक वेद-पाठ करते रहे। इस तरह दस हजार वर्ष तप करने पर ब्रह्माजी ने सन्तुष्ट होकर इनके समीप आकर वर माँगने को कहा तो इन्होंने भगवान के श्रीचरण-कमलों में निश्चल, निश्छल प्रेम माँगा। यथा—**गये विभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर माँगु। तेहि मांगेउ भगवन्त पद कमल अमल अनुरागु।** श्रीब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहा। यद्यपि श्रीविभीषणजी रावण के साथ लङ्का में निवास करते थे परन्तु रावण का सङ्गदोष विभीषण को छू भी नहीं गया था। वे निरन्तर भगवद्भजन में ही अपना समय बिताते थे। तभी तो कहा गया कि—**विधि बस सुजन कुसङ्गति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।** विभीषण की इस रहनी पर स्वयं भगवान श्रीराम भी आश्चर्य चकित थे। यथा—**कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।। खल मण्डली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहइ केहि भाँती।।** यद्यपि रावण स्वयं भगवान से, भगवद्भक्तों से, देवताओं से बैर मानता था परन्तु विभीषण के भजन-पूजन में कोई बाधा नहीं देता था। लङ्का जैसी राक्षसों की नगरी में भी भगवान का मन्दिर तुलसी-वाटिका, कथा-कीर्तन, शंख-ध्वनि विभीषण की भक्ति-भावना के प्रतीक हैं। यथा—

चौ०—**भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा।।**

रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका वृन्द तहँ, देखि हरष कपिराइ।।

श्रीविभीषणजी के हरि-मन्दिर के सम्बन्ध में रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंहजी लिखते हैं—

चौपाई—**रावण जीत्यौ इन्द्रहिं जाई । लूटि भण्डार लंक महँ लाई।।**
नाती सुतन वस्तु सब दीन्हों । प्रभु वराह मूरति एक चीन्हों।।
दियो विभीषण काहि बुलाई । कही विभीषण तब सिर नाई।।
जो मोहि देहु तो अस कहि दीजै । अपने मनकी सब करि लीजै।।
रावण कह्यौ करहु चित चाहा । तुम्हें न होई कछु दुख दाहा।।

दो०— **तबहिं विभीषण मुदित ह्वै, नव मन्दिर बनवाय।**
रामायुध अङ्कित भवन, दिय वराह पधराय।।

करम अनेक करन सो लाग्यो । रह्यो न रावण के भय पाग्यो।। (रामरसिकावली)

जब श्रीहनुमानजी श्रीजानकी माता को खोजते हुए विभीषण के भवन के पास पहुँचे तो, उन्हें प्रथम तो अद्भुत-सा लगा परन्तु तत्काल ही जब विभीषणजी ने जगकर—'राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा।' तो हनुमानजी को बड़ा हर्ष हुआ सज्जन पहचान कर। यथा—'**हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा।**' फिर तो हनुमानजी इन महाभागवत से मिले बिना नहीं रह सके। बड़ा ही सुख-सम्मिलन रहा इन महानुभावों का। परस्पर भगवत्स्मृति में विभोर हो गये। यथा—**एहि विधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।।** श्रीविभीषणजी के बताये हुए संकेतों से ही हनुमानजी श्रीजानकीजी का पता लगाने में सफल हो सके।

विभीषणजी रावण की नगरी में रहकर भी रावण की दुर्नीतियों का हमेशा विरोध करते हुए उसे सन्मार्ग-प्रदर्शन ही करते थे। जिस समय श्रीरामदूत हनुमान को राक्षसेन्द्र रावण ने प्राण-दण्ड की घोषणा की और राक्षस मारने के लिये दौड़े ही थे कि—**सचिवन्ह सहित बिभीषन आए।। नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिअ दूता।। आन दण्ड कछु करिअ गुसाईं। सबही कहा मन्त्र भल भाई।** रावण की अनीति से लंका जल गई। राक्षस जीवन से निराश हो गये। कुछ चापलूस मन्त्रियों के बहकावे में आकर रावण को भावी-विनाश की किंचित् चिन्ता नहीं रही। उस समय विभीषणजी ने अपना कर्तव्य विचारकर रावण को श्रीराम-तत्व का बोध कराते हुए बैर-विरोध छोड़कर भगवद्भजन का सुझाव दिया। परन्तु काल-विवश रावण ने विभीषण का तिरस्कार कर लङ्का से निष्कासित कर दिया। लेकिन इतने पर भी विभीषणजी हितोपदेश ही करते रहे। यथा—**मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीति। सठ मिलु जाइ तिनहिं कहु नीति।। अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा।। उमा संत की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई। तुम पितु सरिस भले मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा।।** रावण को यह सन्देश देकर विभीषण ने स्वयं श्रीराम की शरण ली।

श्रीनारद पांचरात्रान्तर्गत शरणागति षड्विधा कही गई है। यथा—**आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।।** अर्थात् भगवान की शरण-प्राप्ति में जो-जो बात अनुकूल हों उसकी प्रतिज्ञा करना, प्रतिकूल का त्याग करना, रक्षा में दृढ़-विश्वास हो अर्थात् प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह दृढ़-विश्वास रहे। रक्षक रूप से आत्मा को प्रभु को समर्पण कर देना। अपनी दीनता निवेदन करना। श्रीविभीषणजी ने इन छओं प्रकार से शरणागति की। यथा—

१—अनुकूलता का संकल्प—	**चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं।। देखिहउँ जाइ चरन जल जाता।।**
२—प्रतिकूलता का त्याग—	**मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ देहुँ जनि खोरि।। अस कहि चला बिभीषनु जबहि।**
३—रक्षा में विश्वास—	**सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।।**
४—गोप्तृत्ववरण—	**श्रवन सुजस सुनि आयऊँ, प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर।।**
५—आत्म निवेदन—	**अस कहि करत दण्डवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा।।**
६—कार्पण्य—	**नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता।। सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहिं तम पर नेहा।।**

(रा०च०मा०)

शरणागत वत्सल भगवान श्रीराम ने सब प्रकार से विभीषण को अपनाया और तत्काल ही तीर्थपति समुद्र के जल से लंकेश-पद पर अभिषिक्त कर उन्हें अपना समर-मन्त्री बनाया। श्रीरामजी विभीषण की

मन्त्रणाओं का आदर करते थे। समुद्र-सन्तरण के समय इनके कहने पर तीन दिन तक समुद्र तट पर सत्याग्रह भी किये थे। युद्धकाल में विभीषण की मन्त्रणायें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के बल के रहस्यों का बोध इन्होंने समय-समय पर बड़ी चातुरी से कराया है और जब अनेक प्रयत्न करने पर भी रावण को मरते न देखकर श्रीरामजी ने विभीषण की ओर देखा तो विभीषण ने ही रावण-वध की युक्ति बताई—**मरइ न रिपु श्रम-भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा।** तो विभीषण ने कहा—**नाभिकुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बल ताके।।** युद्ध के समय का सबसे महत्वपूर्ण प्रसङ्ग तो वह है जब श्रीरामजी ने अति प्रेम के कारण अधीर विभीषण को धर्मरथ का उपदेश दिया। यथा—

चौपाई—**रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।।**
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना।।
सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

दोहा— **महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।**
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।।
सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरिष गहे पद कंज।
एहि मिस मोहि उपदेसेहु राम कृपा सुख पुंज।।

विजय श्रीराम की हुई। लङ्काधिपति विभीषण बने। सर्वस्व श्रीराम को सौंपा। श्रीराम ने सर्वतोभावेन विभीषण को अपना करके माना। श्रीराम के साथ विभीषण भी अयोध्या आये। श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्दकन्द कौसलचन्द्र श्रीरामजी का राज्याभिषेक हो जाने पर प्रभु से बहुत-बहुत प्यार पाकर जब विदा होने लगे तो उन्हें विरह-व्याप गया। तब श्रीरामजी ने अपने कुल देवता 'श्रीरङ्गजी' को देकर कहा कि—'**आराधय जगन्नाथ इक्ष्वाकु कुल दैवतम्।**' तुम इनकी आराधना करना परन्तु मार्ग में कहीं रखना नहीं, पृथ्वी पर रख दोगे तो ये फिर वहाँ से उठेंगे नहीं। विभीषणजी कावेरी तट पर चन्द्र-पुष्करणी क्षेत्र में पहुँचे तो उन्हें लघुशंका लगी तब इन्होंने श्रीठाकुरजी का विमान वहाँ रख दिया, फलस्वरूप विमान वहाँ से न उठा, तब श्रीविभीषणजी ने भगवान की बहुत अनुनय-विनय की तो भगवान ने आज्ञा करी कि—

थापहु मोहिं कावेरी तीरा। नित पूजन आवहु मतिधीरा।।
जो हमको लंकहि लै जैहौ। तो इक तुमहीं दरसन पै हौ।।

कलि में जो मम दरसन करि हैं। बिन प्रयास भवसागर तरिहैं।।
भरत खण्ड जन लंक न जै हैं। तौ केहि विधि मम दरसन पै हैं।।
ताते करहु जगत उपकारा। यहि थल मन्दिर रचहु उदारा।।
रङ्गनाथ के वचन सुनि, हर्षि निशाचर पाल।
विशकर्मा को तेहि थलहिं बुलवायो तत्काल।।
तुरत महा मन्दिर बनवायो। तामें रङ्गनाथ पधरायो।।
लंका ते नित पूजन हेतू। आवन लग्यो निशाचर केतू।।
यहि बिधि बीति गयो बहु काला। भयो इतै कोऊ नर पाला।।
रङ्गनाथ के मन्दिर माहीं। राखौ कोउ इक पूजक काहीं।।
सो पूजक आंगन इक राती। उपटी लख्यौ चरण की पांती।।
इक-इक पद इकइस कर केरे। तेहि अचरज लाग्यो दृग हेरे।।
छिपि बैठ्यौ ताकन के काजा। सो तहँ लख्यौ निशाचर राजा।।
पूछ्यो कौन अहौ तुम देवा। करियत रङ्गनाथ की सेवा।।
कह्यो विभीषन मैं लंकेशा। मेरे इष्टदेव रंगेशा।।
तुम हो सेवक मम प्रभु केरे। ताते चलहु विप्र घर मेरै।।
अस कहि विप्रहिं कन्ध चढ़ाई। गवन्यो भवन निशाचर राई।।
तहँ बहु मणि दै पूजन कीन्हों। पुनि पहुँचाय रङ्ग ढिग दीन्हों।।

(राम-रसिकावली)

कथा आती है कि एक ब्राह्मण को श्रीविभीषणजी के दर्शन की इच्छा हुई तो वह श्रीरङ्गनाथजी के मन्दिर में प्रसादी फूलों के ढेर में छिप रहा। जब श्रीविभीषणजी पूजन करके जाने लगे तो सेवकों ने प्रसादी-माला फूल रथ में धर लिया। बलवान राक्षसों को पण्डितजी भी माला-फूल से ही लगे। लङ्का पहुँचने पर जब प्रसाद-वितरण होने लगा तब पण्डितजी प्रगट हुए। विभीषणजी ने बड़ा आदर-सत्कार किया और पूछा—मैं आपकी क्या सेवा करूँ। तब पण्डितजी ने कहा—लङ्का में जो दुर्लभ वस्तु हो वह मुझे आप दीजिये। विभीषण ने मन्त्रियों से परामर्श किया तो मालूम हुआ कि लङ्का में लोहा और फटे-चीथड़े दुर्लभ हैं। विभीषणजी ने मणिजटित स्वर्ण-पेटिका में बन्दकर यही उपहार रूप में दिया। पण्डित के भाग्य का दोष। स्वर्ण-मणिमयी लंका से लोहा और चीथड़ा लेकर चला। विभीषणजी ने सँभाल दिया, पेटिका रत्नमयी प्रदान करी जिसमें घर जाकर ब्राह्मण को अधिक पश्चात्ताप न हो।

आज भी श्रीरङ्गनाथजी वहीं विराजमान हैं। आज भी श्रीविभीषणजी भगवान का पूजन करने के लिए नित्य आते हैं। एकबार श्रीविभीषणजी रथ पर चढ़कर श्रीरङ्गजी के पूजन निमित्त आ रहे थे। विप्रघोष नाम के गाँव में गली के एक मोड़ पर संयोगवश एक धर्मात्मा वृद्ध-ब्राह्मण इनके रथ के नीचे दबकर मर गया विभीषणजी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो वहीं रुक गये। वहाँ के ब्राह्मणों ने इन्हें बहुत मारा-पीटा परन्तु प्राण नहीं निकले। तब इन्हें जञ्जीरों से जकड़कर जमीन के अन्दर एक कोठरी में बन्द कर दिया। श्रीनारदजी के द्वारा जब यह समाचार रामजी को मिला तो वे तत्काल पुष्पक-विमान से वहाँ आये। वहाँ ब्राह्मणों ने

श्रीरामजी का बड़ा स्वागत किया और विभीषण को समुचित दण्ड देकर धर्म की रक्षा करने के लिए अपील की। उस समय शरणागत-वत्सल श्रीराम ने जो कुछ कहा है उससे, भगवान की भक्तों के प्रति कितनी ममता है, इस तथ्य का उद्‌घाटन होता है। श्रीरामजी ने बड़ी विनम्रता-पूर्वक कहा—

वरं ममैव मरणं मद्‌भक्तो हन्यते कथम् । राज्यमायुर्मयादत्तं तथैव स भविष्यति।
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते । रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्।।

अर्थ—द्विजवरो! विभीषण को तो मैं कल्पपर्यन्त तक के लिए अखण्ड राज्य और आयु दे चुका हूँ वह तो मर नहीं सकता। फिर उसके मरने की जरूरत ही क्या? वह तो मेरा भक्त है। भक्त के लिये मैं स्वयं मरने को भी उद्यत हूँ। सेवक के अपराध की जिम्मेवारी तो वास्तव में स्वामी पर ही होती है। नौकर के दोष से मालिक ही दण्ड का पात्र होता है, अतएव विभीषण के बदले आप लोग मुझे ही दण्ड दीजिये। अहा! **अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ।।** तभी तो श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि— **हरि तजि और भजिये काहि। नाहिनै कोउ रामसों ममता प्रणत पर जाहि।।** श्रीराम ने अपने हाथ से विभीषण के बन्धन खोले, उन्हें हृदय से लगाया। यह सब सुन-देखकर ब्राह्मण बड़े ही विस्मित हुए और सबके-सब ऐसे करुणामय स्वामी की शरण ग्रहण किये। (स्थल-पुराण)

एकबार भगवान श्रीराम, भरतादिक भाइयों एवं सुग्रीवादिक सखाओं को साथ लेकर पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर विभीषण का शासन-प्रबन्ध देखने के लिये लङ्का गये। विभीषणजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। परम-प्रेमोल्लास में भरकर प्रभु का बड़ा-भारी स्वागत-समारोह किया। प्रभु का दर्शन कर साष्टांग प्रणाम कर अपने जीवन को, जन्म को सफल समझा। उत्तम, उच्चतम रत्न-जटित स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान कराकर षोडशोपचार विधि से पूजन किये। युद्ध के समय लङ्का निवासी श्रीराम का दर्शन नहीं कर पाये थे अत: आज दर्शन के लिये समस्त लङ्का-नगरी उमड़ पड़ी। श्रीराम की आज्ञा पाकर विभीषण ने प्रजा के लिये दर्शनार्थ द्वार खोल दिया। लोग निहाल हो गये भुवनमोहिनी श्रीराम-भरत की जोड़ी देखकर। चौथे दिन विभीषण ने श्रीराम से निवेदन किया—प्रभो! रावण की, कुम्भकर्ण की तथा मेरी माता कैकसी आपके श्रीचरण-कमलों का दर्शन करने के लिए आना चाहती हैं। आप कृपा करके उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ने कहा—भैया विभीषण! जैसे वह तुम्हारी माँ हैं वैसे ही मेरी भी माता ही हुईं। मैं स्वयं उनका दर्शन करने के लिये चलता हूँ। जाकर माँ से निवेदन करो। इतना कहकर प्रभु तुरन्त ही उठकर चल दिये और जाकर कैकसी को देखकर—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' यह कहकर मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और विभीषण सरीखे पुत्र को जन्म देने वाली जननी को बधाई दी। कौशल्या के समान मानकर सत्कार किया। कैकसी ने भी वात्सल्य-भाव से भावित होकर आशीर्वाद दिया।

पश्चात् विभीषण पत्नी सरमा ने श्रीराम की स्तुति की। श्रीराम ने भरत को सरमा का परिचय देते हुए कहा कि—'यह महाभागवत विभीषण की साध्वी भार्या हैं। इनका नाम सरमा है ये परम-साध्वी सीता की प्रिय सखी हैं। इनकी सखिता बहुत ही दृढ़ है। लंका में अशोक-वन में निवासकाल में इन्होंने अपनी पुत्री कला के साथ सीता की बहुत सेवा की है। तदनन्तर श्रीराम ने विभीषण, सरमा एवं समस्त लंका-निवासियों को समयोचित उपदेश दिया। कुछ दिन रहकर जब श्रीराम चलने को प्रस्तुत हुए तो

विभीषण ने समुद्र पर स्थापित सेतु के सम्बन्ध में आपत्ति की, कि यदि यह बना रहा तो अवांछनीय लोग भी लंका में आकर शान्ति भंग करेंगे। आप जैसा उचित समझें वैसा करें। श्रीराम ने उस सेतु को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। अब लंका पुनः—'**खाई सिन्धु गँभीर अति चारिहुँ दिसि फिर आव।**' के रूप में स्थित हो गई।। श्रीराम अयोध्या आ गये। इस प्रसङ्ग से भगवान श्रीराम का विभीषण एवं उनके कुटुम्ब के प्रति भी अनुराग-दर्शित होता है।

श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने भी विभीषणजी के जीवन का एक मधुर संस्मरण प्रस्तुत किया है। जिससे उनकी भगवन्निष्ठा का पता चलता है। वह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन ऐ पै कछु कही जाति सुनो चितलाय कै।
चलत जहाज परी अटकि विचार कियौ कोऊ अङ्गहीन नर दियौ लै बहाय कै।।
जाय लग्यौ टापू ताहि राक्षसनि गोद लियौ मोद भरि राजा पास गये किलकाय कै।
देखत सिंहासन ते कूदि परे नैन भरे याही के आकार राम देखे भाग पाय कै।।२८।।

शब्दार्थ—अटकि=रोक, बाधा। अङ्गहीन=दुर्बल, पंगु। किलकाइ=प्रसन्न, उमंग।

भावार्थ—ऐसा कौन कवि है जो विभीषणजी की भक्ति का वर्णन कर सके। फिर भी यथामति कुछ कहा जाता है, उसे चित्त लगाकर सुनिये। समुद्र में एक जहाज जा रहा था, वह किसी कारण से अटक गया। अनेक उपाय करने पर भी जब जहाज न चला, तब समुद्र ने रोका है और भेंट चाहता है, ऐसा मानकर नाविकों ने एक दुर्बल पंगु-मनुष्य को बलिदान की तरह समुद्र में बहा दिया। वह मरा नहीं, तरंगों में बहते-बहते लंका टापू में जा लगा। राक्षसों ने उसे गोद में उठा लिया और आनन्द से हँसते-किलकाते उसे राजा विभीषण के पास ले गये, उसे देखते ही विभीषणजी सिंहासन से कूद पड़े, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा— श्रीरामचन्द्रजी भी इसी आकार के थे, बड़े भाग्य से आज इनका दर्शन हुआ।।२८।।

व्याख्या—भक्ति.....जन—लंका में रहकर भगवद्भक्ति करना, निश्चय ही श्रीविभीषणजी की भक्ति की वह अद्भुत विशेषता है जो कही नहीं जा सकती। जहाँ शास्त्रों का उद्घोष है कि एक कुसंगी का भी एक क्षण का कुसंग भी पतन के लिए पर्याप्त है वहाँ विभीषणजी का असंख्य-असंख्य दुष्टों के बीच नित्य-निवास करते हुए धर्म-निर्वाह कर लेना लोकोत्तर बात है। श्रीहनुमानजी सरीखे परम भागवत को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि लंका में भी कोई भक्त हो सकता है। यथा—**लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा।। मन महुँ तरक करैं कपि लागा।** स्वयं भगवान श्रीराम जी को भी असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है। तभी तो पूछते हैं—**कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।। खल मण्डली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँति।।** इस बात को विभीषणजी भी समझते हैं। यथा—**सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी।।** ऐसे कुसमाज में रहकर भी अपनी निष्ठा में अविचल हैं अतः 'भक्ति......कौन जन' कहा।

कोऊ अङ्गहीन.....बहाय कै—ऐसी लोक प्रसिद्धि है कि नदी समुद्रादि बलि लेने के लिये कोप करते हैं और बलि पा जाने पर शान्त हो जाते हैं। अतः नाविकों ने जहाज के मालिक को बलिदान की

सलाह दी। जहाज में वैसे तो बहुत लोग थे परन्तु एक पंगु को बलि के नाम पर समुद्र में बहा दिया गया। प्रश्न— अङ्गहीन की बलि क्यों ? इसकी तो रक्षा करनी चाहिए। समाधान—**वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्याति सौहृदम्।।** अर्थ—वन को जलाते हुए प्रचण्ड अग्नि का तो लपट को बढ़ाने में पवन सहायक बन जाता है और वही दीपक की लौ को बुझा देता है। ठीक कहा है—दुर्बल का कौन सहायक है। दैव भी तो दुर्बल का ही घातक है। यथा—**अश्वं नैव गजं नैव, सिंह नैव च नैव च। अजापुत्रं बलिं दद्यात् दैवो दुर्बल घातकः।। सबै सहायक सबल के, निबल न कोउ सहाय।** दूसरी बात यह कि—स्वार्थी दोष को नहीं देखता है, यथा—

नहि पश्यति जन्मान्धो, कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो, अर्थी दोषं न पश्यति।।

अर्थ—जैसे जन्मान्ध, कामान्ध एवं मदान्ध को कुछ नहीं दिखाई देता है। वैसे ही कार्यार्थी भी अपने कार्य-साधन में दोष नहीं देखता है।

'जाय लग्यौ टापू'—जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।
बाल न बांका करि सकै जो जग बैरी होय।।

पुनश्च—**चारि भुजा के जो राखन हार [तो] कहा बिगरै द्वै भुजा के बिगारे।।**

भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाले भगवान के लिये इस समुद्र से बचा लेना कौन बड़ी बात है। समुद्रों की तरङ्गों का कन्दुक (गेंद) बना वह पंगु बहते-बहते लंका के टापू से जा लगा। **ताहि.... किलकाय कै—**समुद्र तट पर विचरने वाले राक्षसों ने देखा तो उन्हें यह पंगु-नर अद्भुत जन्तु-सा लगा। वे मनुष्य देखे नहीं थे, कोई जलचारी-जीव समझकर कुतूहलवश उसे गोद में उठा लिये और यह विचारकर कि इसे देख हमारे महाराज (विभीषणजी) बहुत प्रसन्न होंगे, वे राक्षस भी आनन्द में भरकर उछलते-कूदते उस पंगु को भी उछालते-कुदाते विभीषणजी के पास ले आये।

देखत ही.....भाग पाय कै—भक्तों का स्वभाव होता है कि इष्ट की स्मृति दिलाने वाली वस्तु भी उन्हें इष्टवत् प्रिय लगती हैं। यथा—**कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहिं राम पिरीते।।** अपने प्रियतम के नाम, रूप, लीला, धाम से सम्बन्धित किसी भी वस्तु को देखकर प्रेमियों का प्रेम-उद्दीप्त होता है। यथा—

नील कंज फूल देखि जमुनाको कूल देखि श्याम सुधि आवैं सुख सिन्धु सरसाय जात।
गुंजन से गुञ्जमाल मोर पंख पुंजन से मुकुट सुकुञ्जनि से ख्याल दरसाय जात।।
ग्वाल कवि गैयन से, ग्वालनकी गोलन से पिक की सुबोलन से वही छबि छाय जात।
मठा से मथानी से मन्थन, सुमाखन से मोहन की मेरे मन सुधि आय-आय जात।।

रचि कैं सिंहासन पै लै बैठाये ताही छन राक्षसन रीझि देत मानि शुभ घरी है।
चाहत मुखारबिन्द अति ही आनन्द भरि ढरकत नैन नीर टेकि ठाड़ो छरी है।।
तऊ न प्रसन्न होत छन-छन छीन ज्योति हूजिये कृपाल मति मेरी अति हरी है।
करो सिन्धु पार मेरे यही सुख सार दियो रतन अपार लाये वाही ठौर फेरि है।।२९।।

शब्दार्थ—रचिकै=रचना करके, सजाय कर। छीन=क्षीण, मलीन। ज्योति=कान्ति। हूजिए=होइये।

भावार्थ—विभीषणजी ने उस मनुष्य को वस्त्र और अलंकारों से सजाकर सुसज्जित सिंहासन पर बैठाया और अनेक प्रकार से उसका सम्मान किया। उस घड़ी को शुभ माना और प्रसन्न होकर राक्षसों को पुरस्कार दिया। अति-आनन्द में मग्न होकर विभीषणजी उस मनुष्य के मुखारविन्द को रुंचि पूर्वक देखने लगे, उनके नेत्रों से नीर बहने लगा। आज्ञाकारी सेवक की भाँति वे छड़ी लेकर सामने खड़े हो गये। फिर भी वह मनुष्य प्रसन्न नहीं हो रहा था। क्षण-क्षण में उसकी कान्ति क्षीण हो रही थी। तब विभीषण ने प्रार्थना की, कि—प्रभो ! कृपा कीजिये, सेवा के लिए मुझे आज्ञा दीजिये। आपको उदास देखकर मेरी बुद्धि जाने कहाँ चली गई है। यह सुनकर उस मनुष्य ने कहा—मुझे समुद्र के उस पार पहुँचा दो,इसी में मुझे बड़ा-भारी सुख होगा। बहुमूल्यवान अपार रत्नराशि भेंट में उसे देकर उसी ठौर समुद्र तट पर फिर ले आये।।२९।।

व्याख्या—तऊ.....ज्योति—पंगु ने राक्षस कभी देखा नहीं था। जैसे राक्षसों के लिए पंगु कौतूहल था वैसे ही पंगु के लिए राक्षस अत्यन्त भयावह थे। पंगु ने विभीषणजी के पूजोपचार को बलि का विधान माना। उसने विभीषण की भक्ति-भावना तो समझी नहीं, समझा कि ये लोग मुझे माला-फूल पहनाकर फिर अपने देवता को बलि देंगे, अतः 'न प्रसन्न होत'। पंगु को स्वर्णमयी लङ्का, स्वर्ण सिंहासन, अर्चन-वन्दन, जै-जैकार आदि मृत्यु-भय के कारण बिल्कुल विपरीत लगते थे। 'करो.....सुखसार'—सुखसार-शारीरिक सुख सुख है। आत्मिक सुख, सुखसार है 'मेरे यही सुखसार'-पंगु को श्री विभीषण सरीखे सन्त का सत्संग सुख अच्छा नहीं लगा, उसे अपना घर याद आ रहा था। जबकि कहा गया है कि—'**सन्त मिलन सम सुख जग नाही।**' '**तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अङ्ग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसङ्ग।।**' इसका कारण यह है कि जैसे—**बिष का कीड़ा विष ही खाय। मिश्री सूंघत ही मर जाय। श्रीबिहारीदास जो जाहि सुहाइ। ता बिन तापै रह्यो न जाय।।** उसी प्रकार माया-मोहित जीव भी सत्सङ्ग-सुधा को छोड़कर विषय-विष की विशेष चाहना करता है। उसे तो देह-गेह-सुत-वित-कलत्र ही सुखमय प्रतीत होते हैं।

दृष्टान्त—वृद्ध वणिक का—संसार के जीवों को दुःखी देखकर नारदजी ने भगवान से शिकायत किया कि आप इन्हें अपने धाम में क्यों नहीं बसाते हैं। भगवान ने कहा—नारदजी ! कोई आना नहीं चाहता है। नारदजी ने कहा—मैं अभी लिवा लाता हूँ, भला वैकुण्ठ में कौन नहीं आना चाहेगा। नारद ज़ी ने एक नगर में एक अतिवृद्ध वणिक को देखा। यद्यपि वह धन-सम्पत्ति, पूत-पोतों से, भरा-पूरा था परन्तु कुत्ते से भी अधिक तिरस्कारमय जीवन बिता रहा था। पेट को भोजन नहीं मिलता, तन ढकने को वस्त्र नहीं पाता। कटु वचन अलग से सहने पड़ते। नारदजी को दया आई और उससे वैकुण्ठ चलने को कहे तो वह अत्यन्त कुपित होकर बोला—तुम्हीं वैकुण्ठ जावो, मेरे तो सब कुछ है मेरे वैकुण्ठ तो मेरे नाती-पोते ही हैं। नारदजी अपना-सा मुँह लेकर चलते बने। कुछ दिन बाद फिर उसी नगर में आये तो देखा वह वणिक मरकर उसी घर में भैंसा होकर भार ढो रहा है। उसके लड़के अति निर्दयता-पूर्वक उससे काम लेते हैं। नारदजी ने समीप जाकर पुनः चलने को कहा तो मारने के लिए सींग चलाया। बोला—मैं अपने बच्चों की बचत करता हूँ, काम अधिक भोजन कम करता हूँ। कुछ दिन बाद फिर आये तो देखे भैंसा मरकर

कुत्ता भया है। कभी टुकड़ा मिलता कभी नहीं भी। अतः नारदजी पुनः अपनी बात दुहराये तो वह काटने को दौड़ा। बोला—मैं रखवाली करता हूँ। नहीं रहूँगा तो कौन रखावेगा। कुछ दिन बाद फिर आये तो वह मरकर सर्प भया था, नाबदान में रहता। पुनः नारदजी ने कहा तो बोला—रात में चोरों की निगरानी करता हूँ। मैं नहीं जाने का। तब नारदजी उसका पता बताकर पुत्रों से ही मरवाकर जबर्दस्ती वैकुण्ठ ले गये। भगवान ने हँसकर कहा—नारदजी! एक को लाने में जब आपको भी लोहे के चने-चबाने पड़ गये तो भला अपने से कौन आता है। यही कारण है कि पंगु भी कहता है कि—'मेरे यही सुखसार....।'

दियो रतन अपार—विभीषण के यहाँ रत्नों की कमी नहीं है त्रैलोक्य के रत्न रावण ने जीतकर अपने कोष में रखा ही था, डर के मारे रत्नाकर (समुद्र) भी रावण को नित्य भेंट में रत्न देता था और अब प्रेमवश समुद्र विभीषण को रत्नोपहार देता है 'अतः रतन अपार दिये।'

रामनाम लिखि सीस मध्य धरि दियो याको यही जल पार करै भाव सांचो पायो है।
ताही ठौर बैठ्यौ मानो नयो और रूप भयो गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है।।
लियो पहिचानि पूछ्यो सब सौ बखान कियो हियो हुलसायो सुनि बिनै कै चढ़ायो है।
पर्‌यो नीर कूदि नेकु पांय न परस कर्‌यो हर्‌यो मन देखि रघुनाथ नाम भायो है।।३०।।

पाठान्तर—''पांय न परस कियो' के स्थान पर 'माया ने प्रवेश कर्‌यो'

शब्दार्थ—हुलसायौ=प्रसन्न भयौ। विनै=विनती।

भावार्थ—विभीषणजी ने उस मनुष्य के शिर में श्रीरामनाम लिखकर रख दिया और कहा कि—'यही रामनाम तुम्हें समुद्र से पार कर देगा।' विभीषण की कृपा से उस मनुष्य ने भी सच्चा-प्रेम और विश्वास पाया। रामनाम के प्रताप से उसका नया दिव्यरूप हो गया और वह उसी ठौर बैठ गया। संयोगवश वही जहाज फिर लौटकर आया जिससे इसे गिराया गया था। जहाज पर के लोगों ने इसे पहचान लिया। पूछने पर उसने उल्लास पूर्वक सब वृत्तान्त बताया। सुनकर लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगों ने बड़ी अनुनय-विनय करके उस मनुष्य को जहाज़ पर चढ़ा लिया। लोभवश नाविकों ने उससे रत्नराशि छीननी चाही, तब वह जल में कूद पड़ा और थल की तरह जल में चलने लगा। उसके पैरों में जल छू तक नहीं जाता था। यह देखकर सभी को श्रीरामनाम अति प्रिय लगा। नाम में सबका अपार प्रेम हो गया।।३०।।

व्याख्या—रामनाम—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्ली यत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा स भवति भवपारं रामनामानुभावात्।।

अर्थ—मधुर से भी मधुर, मङ्गलों का भी मङ्गल करने वाले, सम्पूर्ण वेदरूपी लता का फल एवं चैतन्य-स्वरूप श्रीभगवन्नाम का भाव से, अभाव से अथवा कुभाव से किसी प्रकार भी एकबार भी यदि किसी ने गायन कर लिया तो वह श्रीहरिनाम के प्रभाव से अनायास संसार-सागर से पार हो जाता है। पुनश्च—**रामचन्द्र तव नाम जपन्तः पामरा अपि तरन्ति भवाब्धिम्। अङ्ग सङ्ग भवदंगुलिमुद्रः किन्नु चित्रमतरत्कपिरब्धिम्।।** अर्थ—हे रामजी! आपका नाम जपकर तो नीच भी भवसागर से पार हो जाते

हैं तो आपकी श्रीरामनामाङ्कित-मुद्रिका के आश्रय से श्रीहनुमानजी समुद्र पार हो गये तो इसमें क्या आश्चर्य है।। पुनः—**प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं। जलधि लांघि गये अचरज नाहीं।।** मुद्रिका रामनामांकित थी। यथा—**तब देखी मुद्रिका मनोहर। रामनाम अंकित अति सुन्दर।।** श्रीविभीषण जी ने ऐसे श्रीरामनाम को स्वर्ण-पत्र पर लिखकर उसके सिर पर स्थापित कर दिया। 'याको यही जल पार करै' भवसागर पार करने वाले श्रीभगवन्नाम के लिए साधारण समुद्र पार करना कौन बड़ी बात है।

दृष्टान्त—१—तुलसीदास के रामनाम का—गोस्वामी तुलसीदासजी काशी में विराजते थे। नित्य-सत्सङ्ग होता था अस्सी घाट पर। कथा सुनने के लिए गङ्गा पार से एक महानुभाव आते थे। नित्य-प्रति कथा सुनकर सायंकाल को नाव से घर चले जाते थे। एकदिन कथा में प्रसंगवश बिलम्ब हो जाने से इन्हें पार जाने के लिए नाव नहीं मिली तो ये बहुत घबड़ाये, आकर गोस्वामीजी से निवेदन किये। उन्होंने कहा कि आज यहीं विश्राम करो प्रातःकाल चले जाना। परन्तु वह तो घर जाने के लिए ही उतावला हो रहा था। गोस्वामीजी ने पूछा—तुम घर जाने के लिये इतने उत्सुक क्यों हो? उसने कहा—महाराज! यहाँ रहूँगा तो घर की याद आयेगी जो ठीक नहीं, और घर चला जाऊँगा तो यहाँ का स्मरण होगा, इस लाभ के लिए जाने को समुत्सुक हूँ। गोस्वामीजी उसके इस कथन से प्रभावित हुए और तुलसी-दल पर श्रीरामनाम लिखकर दे दिये। वह मुट्ठी में धरे उस महामन्त्र को, जल पर भी थल की तरह जाने लगा। लगभग गंगा पारकर चुका था, थोड़ी दूर ही किनारा था, उसने सोचा जरा देख तो लूँ बाबाजी ने इसमें कौन-सा मन्त्र लिखा है? खोलकर देखा तो राम-नाम लिखा था, मन ही मन कहने लगा यह तो मैं भी जानता हूँ बस तुरन्त ही गंगा मैया ने उसे एक गोता लगवा दिया। वह बहुत रामनाम कहा परन्तु डूबने से बच नहीं सका तब घबड़ाकर कहा—हे तुलसीदास के रामनाम! मुझे बचाइये। बस तुरन्त ही लहरों का एक झोंका आया और इसे किनारे की रेत में ला पटका। श्रीरामनाम के प्रभाव से गंगाजी ने पार तो कर दिया परन्तु दो-चार डुबकी और एक पटक तो लगा ही दी। क्योंकि इसने महत्पुरुष की निष्ठा से स्पर्धा की थी।

२—दृष्टान्त—गूजरी का—जमुना पार से एक गूजरी श्रीवृन्दावन में दही-दूध बेचने आया करती थी। उसे नित्यप्रति नाव वालों की सिफारिस करनी पड़ती, पैसे अथवा दूध-दही ही देने पड़ते। एकदिन उसने कथा में सुन लिया कि श्रीकृष्ण-नाम लेने से जीव भवसागर से पार हो जाता है तो उसने विचार किया कि तब क्या हम श्रीकृष्ण का नाम लेकर यमुना पार नहीं हो सकती हैं। बस विश्वास-पूर्वक वह सायंकाल को जाते समय श्रीयमुनाजी को प्रणाम कर श्रीकृष्ण-नाम लेकर जमुना के जल में थल की तरह चलकर पार हो गई। अब तो वह रोज इसी प्रकार से आती-जाती। एकदिन उसने विचार किया कि पण्डितजी ने बड़ा उपकार किया है तो उनका एकदिन नेवता करना चाहिए। फिर तो उसने पण्डितजी को निमन्त्रण दे ही दिया। पण्डितजी भी बड़े प्रसन्न मन से गूजरी के साथ-साथ चल दिये। वह तो नित्य-नियम के अनुसार पूर्ववत् जाने लगी परन्तु पण्डितजी तो प्रथम नाव के लिये आग्रह किये। फिर गूजरी के बल देने पर वैसे ही चलने तो लगे लेकिन निज के विश्वास बिना डूबने की नौबत आई तो चिल्लाने लगे। गूजरी बड़ी चकित हुई कि इन्हीं के बताये मन्त्र से तो मैं निर्भय हो गई हूँ और ये डूब रहे हैं, यह क्या बात है? फिर वह पण्डितजी को अपने आधार से पार ले गई। तात्पर्य यह है कि—**कवनिउ सिद्धि कि बिनु**

विश्वासा।। श्रीतुलसीदासजी को, गूजरी को, जैसे भगवन्नाम में विश्वास था वैसे ही विभीषणजी को दृढ़-विश्वास था कि श्रीरामनाम इसे समुद्र से पार कर देगा। अतः 'रामनाम....भाव साँचो पायो है।।' (नाम-महिमा पर विशेष देखिये। श्रीनामदेवजी और पद्मनाभ का प्रसङ्ग)

नयो और रूप भयो—श्रीविभीषणजी के स्पर्श से तथा श्रीरामनाम के प्रभाव से पंगु और पंगुत्व दूर हो गया। इस पर दृष्टान्त—श्रीचरणव्रतजी का। देखिये छप्पय १९। **बिनै कै चढ़ायो**-जहाज के लोगों ने पंगु के साथ जो प्रथम अन्याय किया था उसके प्रायश्चित के लिये तथा उसके ऊपर भगवत्कृपा विचार कर उसकी बड़ी विनती की, अपराध-क्षमा-याचना की और सहानुभूति दिखलाते हुए उसे जहाज पर भी बैठा लिया। उसने अपने भोलेपन में सब बात तो बतायी ही, रत्नराशि भी खोलकर दिखा दिया। जहाज मालिक ने देखा तो विचार किया कि मेरा तो सम्पूर्ण व्यापार भी इसके एक रत्न के मोल के बराबर नहीं है। यह अकेला है, करेगा ही क्या? छीन लूँ इसके समस्त रत्न। उसके मन में दुर्भाव आते ही यह समुद्र में कूद गया। **'पर्‌यो नीर....कियो'** प्रश्न इसने यह कैसे जान लिया कि ये लोग हमारे रत्नों को छीनना चाहते हैं? समाधान 'उर प्रेरक रघुवंश विभूषण।' इस पर—

दृष्टान्त—बुढ़िया एवं घुड़सवार का—एक बुढ़िया मुहरों की गठरी शीश पर धरे कहीं जा रही थी। गठरी वजनी थी। बुढ़िया थक गयी थी, विश्राम की इच्छा हो रही थी, इतने में एक घुड़सवार उसी मार्ग से बुढ़िया की गन्तव्य-दिशा की ओर जा रहा था। बुढ़िया ने अपनी गठरी घोड़े की पीठ पर धर लेने की प्रार्थना की। सवार अभिमान में भरकर बोला—तेरी गठरी ढोने के लिये ही मैंने घोड़ा रखा है। घोड़े को एड़ लगाई, घोड़ा सपाटे से भगा, दूर निकल गया। कुछ दूर जाने पर सवार ने विचारा कि गठरी तो देखने में छोटी थी परन्तु वजन उसमें अधिक था, बुढ़िया वजन से दबी जा रही थी। लगता है गठरी में द्रव्य है मैंने भूल किया जो धर नहीं लिया। धर लेता, घोड़े को भगा देता, बुढ़िया करती ही क्या? बस सवार फिर बुढ़िया की ओर मुड़ा और इधर बुढ़िया ने भी घोड़े की सरपट चाल देखकर सोचा कि भला हुआ जो उसने गठरी ली नहीं, नहीं तो लेकर भाग जाता, मैं कर ही क्या सकती थी। अतः जब वह घुड़सवार लौटकर बड़ी सहानुभूति दिखाते हुए उससे गठरी माँगने लगा तो बुढ़िया ने कहा—जाओ भैया। अब मैं अपनी गठरी नहीं देने वाली। जिसने तुम्हें मेरी गठरी का भेद बताया उसी ने मुझे तुम्हारे हृदय का भेद बता दिया है। इसी प्रकार भगवान ने इसे भी प्रेरणा कर दी, बस तुरन्त ही समुद्र में कूद गया।

नेकु पाँय न परस कियो—श्रीरामनाम के प्रभाव से यह जल में भी थल की तरह चलने लगा। इस पर दृष्टान्त पीपाजी का समुद्र में से सूखे वस्त्र सहित निकलने का कवित्त-२८९।। **'हर्‌यो मन देखि'**—यह चमत्कार देखकर सबका मन हर गया। लोगों ने पूछा—१—तुमको यह अद्भुत कौशल कैसे प्राप्त हुआ जो कि जल में चलने पर भी जल का स्पर्श तक तुमको नहीं होता। २—तुम्हारा पंगुपन कैसे दूर हुआ। इसने भगवन्नाम की महिमा को ही मुख्य हेतु बताया। तब सभी को **'रामनाम भायो है'** अर्थात् सबके-सब श्रद्धा-विश्वासपूर्वक श्रीभगवन्नाम में निष्ठा करने लगे सच्चे हृदय से भक्त हो गये। परम-भागवत श्रीविभीषणजी के सत्सङ्ग का यह प्रभाव है कि देह-गेह-सुत-वित-कलत्रादि में आसक्त पंगु तथा जहाज का मालिक और नाविकादि सभी को रघुनाथ नाम भायो है। तभी तो कहा गया है—**कह न होइ सत्सङ्ग ते, देखहु तिल अरु तेल। तोल मोल सब बढ़ि गयो पायो नाम फुलेल।।** फिर तो इसे

बहुत विश्वास दिलाकर कि आपके ऊपर भक्त विभीषण की, भगवान की बड़ी कृपा है। आपका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता, आओ जहाज पर बैठ जाओ। जहाज पर बैठाकर पार किये।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी महाराज ने विभीषण शरणागति बावन-बार गुरु श्रीशैलपूर्ण स्वामीजी से सुना था। आचार्यपाद श्रीरामायणजी के इस प्रसंग से बड़े प्रभावित थे। हृदय में बारम्बार इस प्रसङ्ग का चिन्तन करते उपदेश काल में भी जिस समय शिष्य परिकर विराजमान होते तो आप यह प्रसंग बड़े ही भाव में भरकर सुनाते। एकबार यही प्रसंग सुना रहे थे। कथा के सिलसिले में जब आपने कहा कि विभीषणजी शरण आये तो प्रभु ने मन्त्रियों से इनके सम्बन्ध में पूछताछ की। सुग्रीव ने सलाह दिया कि. ....**सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई।। जानि न जाइ निसाचर माया।। कामरूप केहि कारन आया। भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।।** तो यह सुनकर श्रीस्वामीजी के परम कृपापात्र धनुर्दासजी तुरन्त ही कथा छोड़कर वहाँ से चल दिये। स्वामीजी ने पूछा तो धनुर्दास ने प्रथम तो आनाकानी की बताने में, परन्तु जोर देकर पूछने पर बोले कि प्रभो! जा, इसलिये रहा हूँ कि मैं इस दरबार के लायक नहीं हूँ। जहाँ शरणागत की जाँच-पड़ताल की जाती है वहाँ हम सरीखे अधमों का निर्वाह कैसे होगा अत: मैं चल दिया कि कहीं ऐसा न हो कि '**दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।**' चलकर घर ही सम्हालूँ। श्रीआचार्यपाद ने समझाया—धनुर्दास! तुमने पूरा प्रसंग तो सुना नहीं, बीच में ही चल दिये। प्रभु तो इतने दयालु हैं कि हजार मन्त्रियों के कहने पर भी अपने विरद् के अनुसार विभीषण को शरण ले ही लिये तथा उनके समस्त परिवार एवं अनुगतजनों को भी शरणागत मान लिये केवल विभीषण के नाते। क्योंकि '**प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई**' प्रभु का विरद् जो ठहरा। अत: तुम्हें क्यों चिन्ता है? जब प्रभु ने मुझे शरण में ले लिया है तो मेरे पीछे तुम सब स्वत: प्रभु के शरणागत हो गये, प्रभु के द्वारा अपना लिये गये हो। तब श्रीधनुर्दासजी को सन्तोष हुआ। विभीषण शरणागति का ऐसा दिव्य महत्व है।

श्रीशबरीजी—पूर्वजन्म की कथा—एक बड़े ही त्यागी, तपस्वी, भजन परायण महात्मा थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान विष्णु भी कभी-कभी उनसे सत्सङ्ग करने आते थे। एकदिन श्रीलक्ष्मीजी को भी ऐसे भक्त के दर्शन की इच्छा हुई, अत: वह भी भगवान के साथ आईं, दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता हुई और तपस्वीजी को अपने यहाँ प्रसाद पाने का निमन्त्रण दे दिया। त्यागीजी महाराज समय पर वैकुण्ठ पहुँचे। श्रीलक्ष्मीजी ने बड़े उत्साह से खूब तैयारी की थी। मेवा-मिष्ठान्न, पूआ-पकवान, कढ़ी-भात आदि '**व्यञ्जन बिबिध नाम को जाना**', सब सङ्कल्प से तैयार कर दिये। जब त्यागीजी पाने बैठे तो कच्ची रसोई देखकर बिगड़ पड़े—बोले—हम दुनियाँ के हाथ की कच्ची रसोई नहीं पाने वाले हैं और उठ खड़े हुए। श्रीलक्ष्मीजी की समझ में त्यागी की बात नहीं आई। भगवान से पूछी। भगवान ने बताया कि ये हम लोगों को गृहस्थी मानते हैं अत: अपनी टकसाल के अनुसार हमारे यहाँ का कच्चा-भोजन (कढ़ी-भात आदि) नहीं खा सकते हैं। यह सुनकर श्रीलक्ष्मीजी बड़ी नाराज हुईं कि तुम हमें दुनियाँ कहकर हमारे परोसे गये भोजन की अवहेलना करते हो। हमारा ही भजन कर महात्मा बने और हमारा ही निरादर। मैं शाप देती हूँ कि तुम्हें रोटी पर रोटी धरकर खाने को नहीं मिलेगी। त्यागीजी बोले—रोटी नहीं मिलेगी तो हलुवा पूरी-तस्मई खा लिया करेंगे। कभी-कभी बाटी दाल, बना लेंगे, नहीं तो रोटी ही एक सेर की एक ही बना लेंगे, रोटी पर रोटी धरने की नौबत ही नहीं आयेगी। (आज भी त्यागियों का यही

ठाट है)। परन्तु ध्यान रखना—तुमने मुझे बिना अपराध के शाप दिया है, यह उचित नहीं किया अतः मैं भी शाप देता हूँ कि तुम भी नीचकुल में जन्म लोगी और हमारे भेष की अर्थात् सन्तों की शरण में जाने पर ही तुम्हारा उद्धार होगा। इसी शाप से श्रीलक्ष्मीजी शबरी हुईं। (यह कथा किसी सन्त से सुनने को मिली। आर्षग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है)।

२—शबरीजी पूर्वजन्म में रानी थीं, बड़ी रूपवती थीं। महल में सदा परदे में रहतीं। परन्तु हृदय-सात्विक था, अतः साधु-सन्तों में बड़ा-भाव था। लेकिन एक तो रूपवती, दूसरे रानी, तीसरे लौकिक मर्यादा, चौथे उच्चकुल में जन्म इन हेतुओं से बाहर निकलकर सन्तों का दर्शन नहीं कर पाती थीं। यह बात इन्हें बहुत खलती थी। तीर्थराज प्रयाग का कुम्भपर्व आया। सोचीं कि वहाँ चलकर खूब जी-भरकर सन्तों का दर्शन करूँगी, परन्तु संयोग ऐसा बना कि वहाँ भी वही परदा। यहाँ तक कि श्रीत्रिवेणी स्नान करते समय भी परदे में ही स्नान करना पड़ा। तब रानी को बड़ा दुःख हुआ और अपने रूप, रानीपने तथा लौकिक बन्धनों को बहुत धिक्कारते हुए श्रीत्रिवेणीजी से वर माँगा कि अगला-जन्म मेरा नीचकुल में हो, कुरूपा होऊँ, भगवत्-भागवत चरणों में मेरा प्रेम हो। वही रानी दूसरे-जन्म में शबरी हुईं।

३—एक ब्राह्मण-दम्पत्ति वन में निवास करते हुए भजन-साधन करते थे। एकबार ब्राह्मण कहीं चले गये थे, कुछ दिन बाद जब लौटे तब स्त्री से बोले—मुझे बड़े जोर की भूख लगी है। शीघ्र कुछ खिलाओ। तब स्त्री ने भोजन बनाकर खिलाया। ब्राह्मण-भोजन कर ही रहे थे कि—

रोय उठो जब शिशु तेहिं काला । मुनि पूछो यह का कर बाला।।
तिय कह आजु भयो यह मेरे । सुनि मुनि तिय पै नैन तरे रे।।
अरी अशौच न मोहिं बतायो । कस पूजन भोजन करवायो।।
शबरी होइ महावन जाई । सुनि पति शाप महा दुःख पाई।।
कीन्हों तैं पातिव्रत धर्मा । ताते तैं ह्वै है शुभकर्मा।।
तैं करिहै सन्तन की सेवा । ऐहैं तव घर रघुकुल देवा।। (रामरसिकावली)

काल पाकर वह ब्राह्मणी ही शबरी हुई।। भगवान की तरह भक्तों के भी कल्पभेद सब चरित सुहाये एवं सत्य समझना चाहिये।।

शबरी का गृह-त्याग—इनके विवाह के अवसर पर माता-पिता ने बरातियों के स्वागत के लिये एक-सौ जंगली जानवरों को पकड़कर बाँध रखा था वध करने के लिये। वे निरीह वन्य पशु कातर-दृष्टि से शबरी की ओर देख रहे थे। भोली-भाली वह शबर-किशोरी शबरी माता से पूछी—माँ! ये जानवर क्यों बाँधे गये हैं? माँ ने सहज-भाव से सब बात बता दी। शबरी का सात्विक-हृदय दयार्द्र हो उठा। शबरी ने आधी-रात को सभी जानवरों का बन्धन काट दिया तो बन्धन मुक्त पशु भी शबरी को हृदय से आशीर्वाद दिये कि तुमने हमारे बन्धन काटे तो भगवान तुम्हारा भव-बन्धन काटेंगे, तुमने हमारी रक्षा करी है तो भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुमने हमारे ऊपर कृपा की है तो भगवान तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे। क्योंकि परोपकारी जीव भगवान को बहुत प्रिय लगते हैं। यथा—**उपकारप्रियो विष्णुः जलधारा शिवप्रियः। भानुप्रियनमस्कारो ब्राह्मणो मधुरप्रियः।।** शबरी का पुण्य-उदय हुआ। घर से वैराग्य हुआ, उसी रात्रि को स्वयं भी भाग निकलीं।। आगे प्रसंग श्रीप्रियादासजी वर्णन करते हैं कि—

वन में रहति नाम शबरी कहत सब चाहत टहल साधु तन न्यूनताई है।
रजनी के शेष ऋषि आश्रम प्रवेश करि लकरीन बोझ धरि आवै मन भाई है।।
न्हाइबे को मग झारि कांकरनि बीनि डारि वेगि उठी जाइ नेकु देति न लखाई है।
उठत सबारे कहैं कौन धौं बुहारि गयो भयौ हिये सोच कोऊ बड़ो सुखदाई है।।३१।।

शब्दार्थ—शबरी=शबर एक जंगली-जाति है, उस कुल में जन्मी। न्यूनताई=हीनता, कमी। रजनी के शेष=थोड़ी रात रहे।

भावार्थ—वे वन में निवास करती थीं, सब लोग इन्हें शबरी कहते थे। इनके मन में साधु-सन्तों की टहल करने की बड़ी इच्छा थी, पर शरीर नीच-जाति का है, साधु-सन्त सेवा स्वीकार नहीं करेंगे इसलिए उनके समीप नहीं जाती थीं। थोड़ी रात रहने पर वह ऋषियों के आश्रम में छिपकर जातीं और लकड़ियों के बोझ रख आतीं। यह सेवा उन्हें बहुत अच्छी लगती थी। प्रातःकाल शीघ्र ही उठकर सरोवर पर जाने-आने के मार्ग को झाड़-बुहारकर उसकी कंकड़ियों को बीनकर अलग डाल देती थीं। यह सेवा करते हुए इनको कोई भी नहीं देख पाता था। सबेरे उठकर ऋषि लोग आपस में कहते कि—मार्ग को नित्य कौन झाड़ जाता है और लकड़ियों के बोझ कौन रख जाता है। सभी मन में सोचते कि—कोई बड़ा भारी सुख देने वाला सेवक है।।३१।।

व्याख्या—वन में रहति—वन में बसते हुए अनुराग पूर्वक भजन का अभ्यास करने से भजन में वृद्धि होती है। यथा—**नदी किनारो गिरिशिखर, बाग इकौसो देश। भगवत जन बिल में तहाँ बाढ़ै भजन विशेष।।** इतने स्थानों में भक्ति की वृद्धि होती है। गीताजी में भी कहा गया है—'**विविक्तदेशसेवित्वमर- तिर्जनसंसदि।** (१३/१०) पुनः—**परधन कुल अभिमान तजि बसत जबै बनमांहिं। संग-संग श्रीहरि भजन, रामकृपा बनि जाहिं।।** (भ०व०टि०) अतः साधकों को जगत्प्रपञ्च से दूर ही रहना चाहिए। जहाँ बहुत-जनों का आना-जाना होता है वहाँ भजन की हानि होती है। यथा—**घाट बाट चौपाल चुरी, देवल हाट मसान। भगवत बसि न सराय में, भाड़ै भजन निदान।।** दूसरी बात यह भी कि संसार में रहने से उसका थोड़ा-घना रङ्ग लग ही जाता है। यथा—

जाइये न तहाँ जहाँ संगति कुसंगति है कायर के संग सूर भागिहै पै भागि है।
फूलन के पास बसे फूलन की बास होति कामिनी के संग काम जागिहै पै जागि है।।
घर बसे, घर बसे, घर में वैराग कहा माया मोह ममता में पागिहै पै पागि है।
काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय काजर की एक रेख लागिहै पै लागि है।।

दृष्टान्त—खटके का—एकबार एक धनी के बगीचे का पक्षी, वन में रहने वाले अपने मित्र पक्षी के पास गया। उसने वन में ऋतु के अनुसार प्राप्त फल-फूलों से मित्र का स्वागत किया परन्तु इसको वन के फल-फूल रुचे नहीं। एक-दो दिन रहकर जब यह अपने निवास को आने लगा तो बनवासी मित्र पक्षी को भी साथ ले आया। बगीचे में सुन्दर-सुन्दर फलों के फूलों के वृक्ष लगे थे। बड़े ही स्वादिष्ट सुमधुर तथा सरस थे वहाँ के फल। बाग की रक्षा के लिए माली नियुक्त था, वह फलों को पक्षियों से बचाने के लिए बीच-बीच में टीन बजाया करता था। वनवासी-पक्षी ने ज्योंही किसी फल पर

चोंच मारा, त्योंही माली ने टीन खटखटाया, वह चौंक गया। दो-चार बार यह क्रिया हुई तो वह अपने बगीचे वाले मित्र को राम-राम कहकर वन को चलने लगा तो उसने जब जाने का कारण पूछा तो इसने कहा कि यहाँ और सब कुछ ठीक है परन्तु खटका होता रहता है और मुझे खटका अच्छा नहीं लगता। हमारे वन में खटका नहीं है। यह है दृष्टान्त। दार्ष्टान्त में भाव यह है कि संसार में खटका है भजन में बहुत से व्यवधान हैं, अतः भजन-परायण लोग वन का आश्रय लेते हैं।

सिद्धावस्था में इन विधि-निषेधों का बन्धन नहीं रह जाता है। यथा—

निसिवासर वस्तु विचारो करैं सुख साँच हिये करुणा घन है।
अघ निग्रह से ग्रह धर्म कथा सुपरिग्रह साधन को गन है।।
कहि केशव भीतर जोग जगै अति ऊपर भोगन में तन है।
मन हाथ सदा जिनके तिनको वन ही घर है घर ही वन है।।

पुनः- **जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह। तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहिं कि गेह।।**
जथा लाभ सन्तोष सुख, रघुबर चरन सनेह। तुलसी जौं मन खूँद सम, कानन बसहुँ कि गेह।।

ज्ञातव्य—घोड़ा एक ही स्थान पर खड़ा हुआ टाप चलाता रहता है। परन्तु स्थान नहीं छोड़ता है। उस स्थिति को खूंद कहते हैं। इसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी जिनका मन प्रभु-प्रेम में अचल रहता है उनके लिए घर और वन का बन्धन नहीं है। पुनः 'वन में रहति' का भाव यह कि जैसे—कर्णफूल कान में शोभा देता है वैसे ही वैराग्यवान-भक्त भी कानन (वन) में ही शोभा पाते हैं। यथा—**लाल पनन सौं जे भरे, उघरे डाक लगाइ। कर्णफूल झूलत रहैं कानन में ही आइ।।**

नाम शबरी—यह उस महाभागवती की जातिवाचक संज्ञा है। नाम तो कुछ और ही रहा परन्तु इसी नाम से विख्यात हुईं। कहत सबका भाव यह है कि वह कहने मात्र को शबरी थी, नहीं तो वस्तुतः **'कैऊ कोटि विप्रताई तापै वारि डारियै।'**

चाहत टहल साधु—भगवान में भाव होना भगवत्कृपा है और भक्तों में भाव होना विशेष-भगवत्कृपा है। यह वास्तविक-भक्त का लक्षण है। यथा—**हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही। प्रश्न**—हरि की टहल (सेवा) न चाहकर, 'चाहत टहल साधु' क्यों? समाधान—**सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युत सेविनाम। निःसंशयस्तु तद्भक्त परिचर्यारतात्मनाम्।।** अर्थ—जो श्रीहरि की सेवा करते हैं, उनको चाहे भले यह सन्देह हो कि मेरा कार्य-सिद्धि होगा वा नहीं परन्तु हरि भक्तों की सेवा करने वाले को कभी भी स्वकार्य-सिद्धि में सन्देह नहीं होता। (गरुड़पुराण) अतः चाहत.....साधु।

तनु न्यूनताई है—कोल, किरात, भील आदि वर्णाधम माने गये हैं। यथा—'**जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।' 'लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।।' 'अधम जाति शबरी जोषित जड़ लोक वेद ते न्यारी।'** अतः शबरी ने विचारा कि मैं समीप की सेवा करने की तो अधिकारिणी नहीं हूँ, हाँ दूर-दूर की सेवा भले करलें, तो करलें। फिर तो उसने सेवा सोच ही ली—लकड़ी, दोना, पत्तल एवं मार्ग झाड़ने-बुहारने की सेवा। सेवानिष्ठ के लिए सेवा की कमी नहीं रहती। कोई न कोई सेवा मिल ही जाती है। इस पर दृष्टान्त—श्रीहनुमानजी की चुटकी बजाने की

सेवा (देखिये हनुमान प्रसंग) '**भयो हिये सोच**'—सोच का एक कारण तो यह है कि दूसरे से सेवा लेने से सुकृत बँट जाता है। (साधक को हलुआ, पूरी, तस्मई खिलाने वालों से सावधान रहना चाहिए) तपस्वी को तो अपनी सेवा स्वयं करनी चाहिए क्योंकि—'**स्वयं दासास्तपस्विनः**' दूसरा कारण यह है कि—'**कोऊ बड़ो सुखदाई है**' अर्थात् ऐसे सुखदाई का तो दर्शन करना चाहिये, परन्तु ऋषियों के दृष्टिपथ में शबरी आती ही नहीं अतः 'भयो हिये सोच' कि कब और कैसे इस महाभाग के दर्शन होंगे? कोऊ बड़ो सुखदाई है—**जासों सब कोउ सुख लहैं, सोई हरि को दास। जो काहू दुख देत है सो न दास रैदास।। तन से, मन से, वचन से, देत सबहि जो सुख। तुलसी पातक मिटत है, देखत तिनको मुख।।**

बड़ेई असङ्ग वे मतङ्ग रस रङ्ग भरे धरे देखि बोझ कह्यो कौन चोर आयो है।
करै नित चोरी अहो गहो वाहि एक दिन बिना पाये प्रीति वाकी मन भरमायो है।।
बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान आय गई गहि लई कांपै तनु नायो है।
देखत ही ऋषि जलधारा बही नैनन ते बैनन सों कह्यो जात कहा कछु पायो है।।३२।।

शब्दार्थ—असंग=विरक्त। रसरङ्ग=भक्तिरस का आनन्द। चौकी=पहरा। नायो=झुकायौ, डाल दियौ।

भावार्थ—वनवासी-ऋषियों में एक मतङ्ग नामक ऋषि थे वे परम विरक्त और भक्तिरस के आनन्द से परिपूर्ण थे। लकड़ियों के बोझ रखे देखकर वे कहने लगे कि—इस तपोवन में कौन-सा चोर आ गया? जो नित्य-चोरी से सेवा करता है। उसे एकदिन पकड़ो, उस प्रेमी के प्रत्यक्ष दर्शन किये बिना प्रीतिवश मन-चञ्चल रहता है। आज्ञा पाकर मतङ्गजी के शिष्य सावधानी से पहरा देने लगे, जैसे ही शबरीजी ने लकड़ियों का बोझ रखा वैसे ही शिष्यों ने उसे पकड़ लिया। वह बेचारी भय और संकोचवश कांपने लगी और पैरों पर गिर गई। उसे देखते ही मतङ्गजी के आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। शबरी के मिलने का ऐसा अलभ्य-लाभ हुआ मानों कोई मनचाही दुर्लभ वस्तु मिल गई हो, जिसे वे वाणी से वर्णन नहीं कर सकते।।३२।।

व्याख्या—बड़ेई असङ्ग—संग (आसक्ति) समस्त अनर्थों की जड़ है। यथा—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (गीता २-६२-६३)

अर्थ—आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से पुरुष अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है। इसी से कहा गया है कि—'**सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः।**'

मतङ्ग रस रंग भरे—पूर्व कहा गया है कि मतङ्गजी बड़े असंग थे। अब असंगता का हेतु बताते हैं—'रस रङ्ग भरे।' अर्थात् रस-स्वरूप परमात्मा के रङ्ग (अनुराग) से भरे थे, पगे थे। '**रसो वै सः। रसं ह्येवाऽयंलब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।**' अर्थात् वह परमात्मा अनन्त-रसमय हैं यह जीव इस अनन्तरस को

प्राप्त करके ही आनन्दयुक्त होता है। भगवत्स्वरूपानन्द में छके रहने वाले ही असंग होते हैं। यथा—**जो मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षट्रस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।।** (विनय) साथ ही असंग होने पर ही रसरंग चढ़ता है यथा—**मन मतंग को वश करे, जगते रहे असंग। तिनही पै आछो चढ़ै हरि रति रसको रङ्ग।।** (भ०व०टि०)

दृष्टान्त—श्रीशुकदेवजी का—आप असंगता की सीमा होकर भी ऐसे रसरंग भरे थे कि श्रीमद्भागवतजी में वेणुगीत और रासपञ्चाध्यायी आदि प्रसंगों को बड़े ही शृंगार-भाव के साथ वर्णन किया है। अत: यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि असंग रस रंग-भरे कैसे हो सकते हैं? और जो असंग तथा रसरंग-भरा है वही मतंग हो सकता है अर्थात् उसके अंग-अंग में प्रेमोन्मत्तता होती है।

कौन चोर आयो है—सन्तों की बड़ी विचित्र रीति होती है। शबरी करती है सेवा, देती है सुख, उसे कहते हैं चोर। तभी तो नाभाजी ने कहा—'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को' यहाँ चोर कहने के दो भाव—१—सेवा करने वाला भजनरूप पूँजी को हड़प लेता है तथा एकभाव यह भी कि नित्यप्रति की सेवा से वंचित हो जाना भी सेवा धन का चोरी चला जाना है। यथा—**कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये'** (कवित्त ४६) २—उसकी निष्काम-सेवा ने मन को चुरा लिया है। यथा—**बिना पाये प्रीति वाकी मन भरमायौ है।'** अत: कौन चोर आयो कहा।

गहो वाहि एकदिन—इसके दो भाव—एक तो स्पष्ट है कि उस चोर को एकदिन पकड़ो। दूसरा-भाव यह भी कि ऐसा चोर और ऐसी चोरी तो गहने योग्य अर्थात् दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने योग्य, अपनाने योग्य है। **बिना....पाये भरमायो है—** भाव यह कि मनुष्य की कौन कहे, देवता-मुनि भी बिना पाये कुछ देने वाले नहीं हैं। यथा—**सब स्वारथी असुर-सुर-नर-मुनि कोउ न देत बिनु पाये।।** (विनय) **सुर-नर-मुनि सबकी यह रीति। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति।।** फिर यह बिना कुछ पाये ही क्यों और कैसे सेवा करता है? निष्काम -सेवा, हेतुरहित उपकार, यह तो हरि और हरि-सेवकों से ही सम्भव है। यथा—**हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।** तो क्या—स्वयं हरि ही हैं अथवा कोई हरि-भक्त हैं? 'गहो वाहि एकदिन।'

आय गई—सिर पर लक्कड़ का गट्ठर, बगल में पत्तलों का बण्डल, एक-हाथ में बहारू, यह है उस समय का शबरी का ध्यान।

देखत......पायो है—श्रीमतंगजी ने दर्शन किया भक्तिमती शबरी का, प्रेम से विह्वल हो गये—**भरे बिलोचन प्रेम जल, पुलकावली शरीर।** धैर्य-धरकर पूछे—आश्रम से तो तुझे कुछ मिलता नहीं, अन्यत्र से तुझे कुछ जात=धन (द्रव्य) मिला है, जो कि तुम इतनी सेवा करती हो। ऋषि का दर्शन कर शबरी की भी आँखें सावन-भादों बनीं अश्रु बरसा रही थीं।

डीठि हू न सोहीं होत मानि तन गोत छोत परी जाय सोच सोत कैसे के निकारिये।
भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीके कैऊ कोटि विप्रताई यापै वारि डारिये।।
दियो बास आश्रम में श्रवन में नाम दियो कियो सुनि रोष सबै कीनी पांति न्यारिये।
शबरीं सों कह्यो तुम राम दरसन करो मैं तो परलोक जात आज्ञा प्रभु पारिये।।३३।।

शब्दार्थ—डीठि=दृष्टि, निगाह। सोहीं=सन्मुख, सामने। गोत=गोत्र, कुल। छोत=छूत, अपवित्र वा छोटा, नीच। सोच=चिन्ता, सोच-विचार। सोत=झरना, नदी। निपट=अत्यन्त। पारिये=पालिये।

भावार्थ—अपने शरीर और कुल को अछूत मानकर शबरीजी की दृष्टि मतङ्गजी के सामने नहीं हो रही थी। उसकी ऐसी दशा देखकर मतङ्गजी मन में विचारने लगे कि—अपने को अपवित्र समझकर यह चिन्ता के प्रवाह में पड़ी है, इसे कैसे निकाला जाय। मतङ्गजी भगवद्भक्ति के प्रभाव को बहुत अच्छी तरह से जानते थे। वे सोच-विचारकर शिष्यों से बोले कि—भक्ति के प्रताप से यह इतनी पवित्र है कि इसके ऊपर कई कोटि ब्राह्मणता न्यौछावर कर देना चाहिये। मतङ्गजी ने शबरी को अपने आश्रम की एक पर्णकुटी में रहने के लिये स्थान दिया और उसके कान में श्रीसीताराम-मन्त्र दिया। यह सुनकर तपोवन के दूसरे ऋषियों को बड़ा क्रोध हुआ और उन लोगों ने मतङ्गजी को अपनी जाति-पाँति से अलग कर दिया। इससे मतङ्गजी को कोई कष्ट नहीं हुआ वरन् प्रसन्नता ही हुई। बहुत दिनों के बाद जब मतङ्ग जी की तपस्या पूर्ण हो गई तो उन्होंने शबरीजी से कहा कि—मैं प्रभु की आज्ञा से उनके धाम को जा रहा हूँ। तुम इसी आश्रम में रहकर भजन करो। यहीं श्रीरामजी का दर्शन प्राप्त करोगी।।३३।।

व्याख्या—डीठि........होत—शबरी की दृष्टि मुनि के चरणों पर थी। मानो चरणों में आश्रय देने की मूक प्रार्थना कर रही हों। परी......सोच-सोच इस बात का कि मैं अब सेवा से वंचित हो जाऊँगी। ये अब हमारी सेवा नहीं स्वीकार करेंगे आदि-आदि।

भक्ति को प्रताप—

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी । मोहिं प्रान प्रिय असि मम बानी।।
भगति हीन विरंचि किन होई । सब जीवहुँ सम प्रिय मोहि सोई।। (रा०च०मा०)
किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।। (भा० २-४-१८)

अर्थ—किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी जिन भगवान के शरणागत भक्तों की शरण-ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाते हैं। उन सर्व-शक्तिमान भगवान को बार-बार नमस्कार है। पुनश्च—

'भगति अबसहिं बस करी।'
जप तप तीरथ दान व्रत, जोग जग्य आचार।
भगवत भक्ति अनन्य बिनु जीव भ्रमत संसार।। (भगवतरसिक)

तथा—**व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,**
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपते रुग्रस्य किं पौरुषः,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः, भक्ति प्रियो माधवः।।

अर्थ—व्याध का आचरण, ध्रुवजी की अवस्था, गजेन्द्र की विद्या, सुदामाजी का धन, कुब्जा का रूप, विदुरजी का वंश और उग्रसेनजी का बल कुछ भी नहीं था। फिर भी इन सबके ऊपर भगवान प्रसन्न

हुए इससे सिद्ध हुआ कि केवल धन, बल, विद्या आदि गुणों से भगवान प्रसन्न नहीं होते हैं। वे केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं क्योंकि उन्हें भक्ति ही प्रिय है।

कैऊ कोटि..........डारिये—यथा—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादर विंदनाभपादारविंदविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित मनोवचनेहितार्थ प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः।। (भा० ७-९-१०)

अर्थ—प्रह्लादजी कहते हैं कि—मेरी समझ से (धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग) इन बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान कमलनाभ के चरण-कमलों से विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान के चरणों में समर्पित कर रखा है। क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और बड़प्पन का अभिमान रखने वाला वह ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता है। पुनश्च—**चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः।।** (वृहन्नारदीय पुराण) अर्थ—ईश्वर के प्रति एकान्तिक भक्ति के कारण भक्तिमान चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर है और ईश्वर भक्ति विहीन होने पर ब्राह्मण भी चाण्डालाधम है। पुनश्च—नालं द्विजत्वमित्यादि देखिये—पृष्ठ-१८२।

पुनश्च— **तुलसी भगत सुपच भलो, जपै रैन दिन राम।**
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम।।
ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधो निन्दा सोय।।
व्यास कुलीननि कोटिमिलि, पण्डित लाखपचीस।
श्वपच भक्त रैदास पर, तुलै न तिन को शीश।।
व्यास बड़ाई छोड़ि कै, हरि चरणनि चित जोरि।
एक भक्त रैदास पर, बारौं बांभन कोरि।।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है—**इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।।**
दियो वास आश्रम में—क्योंकि इस प्रकार का निष्काम-सेवक मिलना दुर्लभ है। पुनः ऐसी भावमयी भागवती का तो सामीप्य होना चाहिए। पुनश्च—**यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत् तेन सह संवदेत् तेन सह भुञ्जीयात्** (अथर्व) अर्थ—सो चाण्डाल पुनीत अति, रामनाम मुख जासु। ताके संग नित कीजिये, भाषण भोजन वास।। **न मे भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथास्म्यहम्।।** अर्थ—चारों वेदों को जानने वाला ब्राह्मण, यदि भक्तिहीन है तो वह मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तो भक्तिमान श्वपच प्रिय है। अतः मेरे भक्तों से देने-लेने का व्यवहार करना चाहिये। वह तो मेरे समान पूज्य हैं।

श्रवण में नाम दियो—श्रीमतंगजी ने स्वयं दीक्षा दी। यहाँ यह बात चरितार्थ हुई कि अधिकारी शिष्य को गुरु की खोज नहीं करनी पड़ती है। गुरु स्वयं ऐसे शिष्य को खोजते रहते हैं। अधिकारी शिष्य

पाकर बिना कहे ही उपदेश देने लगते हैं। यथा—**ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। मोहिं परम अधिकारी जानी।। लागे करन ब्रह्म उपदेसा।** पुनः—**सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई। मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा। हरषित राम मन्त्र तब दीन्हा।। मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा।।** अर्थात् महर्षि लोमशजी ने कागभुशुण्डिजी को परम-अधिकारी जानकर स्वतः ब्रह्मोपदेश किया, स्वतः श्रीराममन्त्र दिया, स्वतः श्रीरामचरितमानस सुनाया। इसी प्रकार श्रीमतंगजी भी शबरी को श्रवण में नाम दिये। **यावद् गुरुर्न क्रियते सिद्धि स्तावन्न लभ्यते। तस्माद् गुरुर्हि कर्तव्यो नैव सिद्धिर्गुरुं विना।।** (पाञ्चरात्र) सुपात्र को दान देने से वह बढ़ता है। यथा—**जले तैलं, खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि। शास्त्रं सुधियि श्रद्धालौ दीक्षा शिक्षा विवर्द्धति।।** श्रीरामनाम धन है। यथा—'बड़ो धन हरिजन को हरिनाम।' उसे शबरी-सा सुपात्र पाकर प्रदान किया, जिसने नाम की महिमा बढ़ाई।

कियो सुनि.........न्यारियै—जाति, विद्या, महत्व, गुण-गौरव-गुमानी ऋषियों ने श्रीमतंगजी की इस दीनवत्सलता पर रोष किया। महाभागवती शबरी में जाति-बुद्धि करके शबरी को अपनाने के नाते मतंगजी को अपने खान-पान की पंक्ति से अलग कर दिया। परन्तु भक्त-वत्सल भगवान ने इन्हें धन्य माना। रहीमजी कहते हैं—**जो दीनन कूं लखत हैं धनि रहीम वे लोग। कहा सुदामा वापुरो कृष्ण मिताई जोग।। दीन सबहि को लखत हैं, दीनहिं लखै न कोय। जो रहीम दीनहिं लखैं, दीनबन्धु सम होय।** श्रीमतंगजी ने दीन-शबरी को आश्रय दिया, सब प्रकार से अपनाया, भक्ति की महिमा बढ़ाई, इस महान्-सुकृत के फलस्वरूप तत्काल ही आकाशवाणी हुई कि हे मुनि! आपने गरीबिनी-शबरी का उद्धार किया है अतः आपके लिये दिव्य-विमान जा रहा है इस पर आरूढ़ होकर आप शीघ्र मेरे धाम को चले आइये। तब तक देखते हैं कि विमान आ ही गया। श्रीमतंगजी उस पर चढ़कर चलने को प्रस्तुत हुए तो शबरी अत्यन्त व्याकुल हुई तब श्रीगुरुदेव ने कहा कि शबरी! अधीर मत हो, मैं तो भगवद्धाम जाकर प्रभु का दर्शन करूँगा परन्तु तेरी-भक्ति पर रीझकर भगवान स्वयं यहाँ दर्शन देने आयेंगे (सच तो यह है कि तेरा-दर्शन करने आयेंगे)। **'परलोक'—न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।** (गी० १५-६) अर्थ—उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित करते हैं न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं, तथा जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आता, वही मेरा परम-धाम है।

आज्ञा प्रभु पारिये—इससे जनाया गया कि श्रीमतंगजी को शबरी को छोड़कर भगवद्धाम जाने की इच्छा नहीं है। क्योंकि भागवतों के सत्संग-सुख के सामने वैकुण्ठ सुख भी कोई चीज नहीं। यथा—**राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय। जो सुख यहँ सत्सङ्ग में, सो वैकुण्ठ न होय।।** परन्तु विवशता यह है कि प्रभु की आज्ञा हो रही है। भगवान की आज्ञा अनुल्लंघनीय है। यथा—**प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। राम रजाइ मेटि मनमांहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं।। मेटि जाइ नहिं राम रजाई।। विधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला।। अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई।। करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के।।** अतः आज्ञा प्रभु पारिये।।

गुरु को वियोग हिये दारुन लै शोक दियो जियो नहीं जात तऊ राम आसा लागी है।
न्हाइबे की बाट निशि जात ही बुहारि सब भई यौं अबार ऋषि देखि व्यथा पागी है।।

छुयो गयो नेकु कहूँ खीझत अनेक भांति करिकै विवेक गयो न्हान यह भागी है।
जल सो रुधिर भयो नाना कृमि भरि गयो नयो पायो सोच तौ हू जाने न अभागी है।।३४।।

शब्दार्थ—दारुन=कठिन, असह्य। बाट=रास्ता। अबार=बिलम्ब, देर। व्यथा=दु:ख। पागी=डूबी। खीझत=अप्रसन्न होत। कृमि=कीड़े।

गुरुदेव श्रीमतंगजी के वियोग ने शबरीजी के हृदय को बड़ा कठोर कष्ट दिया, उनसे जीवित नहीं रहा जाता था, पर श्रीरामजी के दर्शनों की आशा लगी थी इसीलिए जीवित रहीं। मुनियों के स्नान-मार्ग को थोड़ी-रात रहे झार-बहार आती थीं। एकदिन विलम्ब हो गया। स्नान के लिए ऋषि आने-जाने लगे, उन्हें देखकर शबरीजी को अत्यन्त कष्ट हुआ। मार्ग सँकरा था कोई ऋषि शबरीजी से किंचित् छू गये। तब वे अनेक प्रकार से शबरीजी को डाँटने फटकारने लगे। शबरीजी भागकर अपनी कुटी में चली आईं। वे ऋषि सोच-विचार करके पुन: स्नान के लिए गये। सरोवर में प्रवेश करते ही उसका जल अनेक कीड़ों से भरा हुआ रुधिर के समान हो गया। इससे ऋषिजी को एक नया दु:ख उत्पन्न हो गया। भक्त-स्पर्श से अपने को अपवित्र समझने वाले मुनि के अपराध से ही सरोवर का जल अपवित्र हुआ था, पर उस अभागे ने यह रहस्य नहीं जाना। उलटे ऐसा समझा कि शबरी के स्पर्श जन्य दोष से ही जल दूषित हो गया।।३४।।

व्याख्या—गुरु को वियोग—कृपासिंधु श्रीसद्गुरुदेव मतंगजी ही शबरी के एकमात्र परमाश्रय थे, वह अहर्निश श्रीगुरुजी के दर्शन करते हुए जीवन धारण करती थीं। यथा—**गुरु मूरति मुख चन्द्रमा, सेवक नयन चकोर। अष्ट प्रहर निरखत रहौं, गुरु चरनन की ओर।।** अब गुरुदेव का अदर्शन उसे असह्य कष्टकर हो गया। **जियो नहिं जात**—इस पर दृष्टान्त श्रीविट्ठलविपुलदेवजी का—

स्वामी हरिदासजू के दास, दास बीठल हैं गुरुसे वियोग दाह उपज्यौ अपार है।
रास के समाज में विराज सब भक्तराज बोलिकैं पठाये आये आज्ञा बड़ौ भार है।।
युगल-स्वरूप अवलोकि नाना नृत्यभेद गान तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिलि गये वाही ठौर पायौ भावतन और कहे रससागर सो ताको यों विचार है।।

(विशेष देखिये कवित्त ३७७ की व्याख्या)

तऊ राम आशा लागी है—जैसे श्रीअयोध्यावासी श्रीराम के वन-गमनकाल में **'अवधि आस सब राखहिं प्राना।'**

दृष्टान्त—बिल्ली का—एक बड़े ही सदाचारी भगवद्भक्त ब्राह्मण थे, थे अकेले। गंगा-स्नान का कोई पुण्य-पर्व लगा घर में ताला बन्दकर गंगा-स्नान करने चले गये। घर के भीतर बिल्ली बन्द थी, छींके पर डलिया में धुनी हुई श्वेत रुई धरी थी बिल्ली ने उसे मक्खन समझा और उसे प्राप्त करने के लिए उछल-कूद मारना शुरू किया, घर खुद गया, पर छींके तक पहुँच नहीं पाई। तीन-चार दिन बाद पंडितजी आये। अत्यन्त श्रान्त, क्लांत, बिना कुछ खाये-पिये मरणासन्न बिल्ली कोने में पड़ी-पड़ी छींके की ओर ताक रही थी। फाटक खोलते ही घर की स्थिति देखकर पण्डितजी समझ गये और लाठी से डलिया गिरा दिये, रुई लुढ़क पड़ी, बिल्ली झपटी, उसे सूँघी और तत्काल मर गई। क्योंकि उसकी मक्खन वाली आशा टूट गयी। अब तक तो वह आशावश जीती थी। इसी से कहावत है आशा में सांसा।

न्हाइबे....सब—इससे शबरी की सेवा-निष्ठा दिखाई गई। वह अब भी पूर्ववत् ही अपनी सेवा सावधानी से करती जाती थी। 'भई यों अबार'—देर का कारण, इधर गुरु का वियोग, उधर श्रीराम-दर्शन की प्रतीक्षा, इस द्वन्द्व में शबरी सुधि-बुधि खो बैठी थी अतः देर सबेर का ध्यान जाता रहा। ऋषि—पागी है—व्यथा यह विचारकर भई, कि मेरे कारण ऋषि को रोष-क्षोभ हुआ, मैं कुछ सुख तो दे नहीं सकी दुःख का हेतु बन गई। यह शबरी का नीचानुसन्धान है। छुयो गयो नेकु-झाडु से उचटकर एक कङ्कड़ी ऋषि के पाँवों से जा लगी। खीझत अनेक भाँति—इस पर—

दृष्टान्त—क्रोधी ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण स्नान करके आ रहे थे। मार्ग में एक भंगिन की छाया इनके ऊपर आ पड़ी। ब्राह्मण उस भंगिन पर बहुत नाराज हुए। बेचारी भंगिन ने अनेक प्रकार से अनुनय-विनय किया कि महाराज! मुझसे चूक हो गई, आप पुनः स्नान कर लीजिये, यदि आपके वस्त्र, लोटा आदि काम के न रह गये हों तो इन्हें दूर कर दीजिये मैं दाम देती हूँ आप नये खरीद लीजिये, आदि-आदि। परन्तु वह ज्यों-ज्यों विनय करती त्यों-त्यों ब्राह्मण का क्रोध बढ़ता जाता था। भंगिन ने देखा कि यह शान्त होने के बजाय और भी क्रुद्ध होते जा रहे हैं, तब उसने ब्राह्मण का हाथ पकड़ लिया और बोली कि तुम तो हमारी बिरादरी के हो हमारे पति हो चलो हमारे घर, कैसी भोली-भाली बातें कर रहे हो। ब्राह्मण और भी झुंझलाया और वहाँ एकत्रित लोगों से कहने लगा कि देखो! एक तो इसने हमको अपवित्र कर दिया उस पर भी हाथ पकड़ लिया और अपनी बिरादरी का अपना पति कहती है। तब लोगों ने भंगिन को समझाने का प्रयत्न किया कि ये तेरे पति कैसे हैं। हम लोग इन्हें जानते हैं। ये तो ब्राह्मण हैं। भंगिन बोली—नहीं, ये मेरे पति ही हैं, तुम लोग जिसको जानते हो वे ये नहीं हैं। ऐसे ही झगड़ते-झगड़ते दोनों राजा के पास गये। राजा के सामने भी भंगिन ने यही बात कही। तब राजा ने विचार किया कि, हैं तो ये ब्राह्मण ही, परन्तु यह जो ऐसा कह रही है उसका कुछ कारण अवश्य होगा। तब उससे पूछे कि तुम सही-सही कहो, ये तुम्हारे पति कैसे भये। तब भंगिन ने हाथ-जोड़कर निवेदन किया कि महाराज! मैंने इनसे प्रथम बहुत अनुनय-विनय किया, पर सब व्यर्थ गया तो मैंने विचार किया कि ब्राह्मण की सतोगुणी वृत्ति तो इनमें है नहीं, चाण्डालरूप क्रोध इनमें भरा है सो चाण्डाल मेरी बिरादरी है मेरा पति है, इसलिए मैंने इनसे ऐसा कहा। यह सुनकर राजा ने भंगिन की सराहना की और पण्डितजी को समझा-बुझाकर विदा किया कि अब क्रोध नहीं करना, नहीं तो ब्राह्मणत्व से हाथ धोना पड़ेगा, फिर हम नहीं जानते।

इसी प्रकार वह ऋषि भी अनेक प्रकार से क्रोध करने लगे। अनेक भाँति खीझना यह कि ऋषि ब्रह्म-मुहूर्त में स्नान करके आ रहे थे, शबरी को देखकर मन ही मन झुंझला रहे थे कि प्रातःकाल में अशुभ-मूर्ति का दर्शन हुआ, भीलनी, नीच है-माया है, बड़ी भक्तिन बनी है। सबेरे-सबेरे आकर रास्ते में डँट गई, कितनी ढीठ है, ना-समझ है, आदि-आदि। सत्य ही कहा है कि जिसके प्रति द्वेष-बुद्धि हो जाती है उसके गुण भी दोष ही समझ पड़ते हैं, शबरी की सेवा भी इन्हें अपराध ही मालूम पड़ती है।

करिकै विवेक—यह कि भीलनी से छू गया हूँ अब तो पुनः स्नान से ही शुद्धि हो सकती है। यथा—**जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।** यहाँ पहले 'खीझत' कहकर फिर 'करिके विवेक' कहकर जनाया गया कि ऋषि ने अपनी समझ से विवेक किया परन्तु रोष में विवेक कहाँ सम्भव है? उस समय तो अज्ञान का बोल-बाला होता है। यथा—**क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।।** (रा०च०मा०)

महाभागवती शबरी के स्पर्श से अशुद्धि की कल्पना महा-अविवेक है। ऐसे ही लोगों को चेतावनी देते हुए श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं—

जासों सपरस चाहिये तासों अपरस नित्त।
जासों अपरस चाहिये तासों चिभुको चित्त।।
तासों चिभुको चित्त भई विपरीत बुद्धि अब।
असन-वसन आचार-कनक कामिनि रांचे सब।।
भगवत रसिक अनन्य करैं स्पर्धा तासों।
पतित होय गिरि परैं परमपद हूं सो जासों।।

दृष्टान्त—श्रीवल्लभकुल में अपरस-सपरस का बहुत विचार है। एकबार गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी स्नान करके अपरस में श्रीठाकुरजी की सेवा में जा रहे थे, उसी समय इनका भान्जा आया और इन्हें चरण-छूकर प्रणाम किया। गुसाईंजी ने पूछा—तुम कौन हो? बोला—आपका भान्जा। तीन बार पूछे तीनों बार वही उत्तर। तब जाकर पुनः स्नान करके तब सेवा में गये। कुछ दिन बाद ऐसे ही मारवाड़ के एक वैश्य ने चरण-छूकर प्रणाम किया तो आपने उससे भी पूछा—तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया—मैं वैष्णव हूँ। इससे भी तीन बार पूछे, तीनों बार वही उत्तर। तो गुसाईंजी ने पुनः स्नान नहीं किया। भला कहीं वैष्णव के स्पर्श से अशुद्धि होती है। वैष्णवों की चरण-रज को धारण करके तो स्वयं भगवान अपने को पावन बनाते हैं।

यह भागी है—इसलिए कि कहीं दूसरे महर्षि न आ जायँ। पुनः—कोई क्रोध करता हो तो उसके सामने से हट जाना चाहिए। हट जाने से क्रोध कम हो जाता है, सामने रहने से अधिक बढ़ता है। इसीलिए तो श्रीपरशुरामजी श्रीलक्ष्मणजी के लिए कहते हैं कि—**'बेगि करहु किन आँखिन ओटा।'**

नयो पायौ सोच—शबरी से छू जाने का तो सोच था ही, शुद्धि के लिए सरोवर में स्नान करने आये तो उसका जल भी अशुद्ध हो गया। अतः अपनी शुद्धि एवं सरोवर की शुद्धि कैसे होगी, यह नया सोच है। **तौहू जानै ना अभागी है—**ऋषि ने समझा कि शबरी के स्पर्श से उसका पाप हमें लगा और हमारे जल-स्पर्श करने से वह जल को लग गया, उन्होंने यह नहीं जाना कि यह भागवत अपराध का दुष्परिणाम है।

अभागी है—श्रीप्रियादासजी को ऋषि का यह असद्व्यवहार असह्य हो रहा है अतः झुंझलाकर कह रहे हैं—'अभागी है'—'ठीक भी है भक्त में अभाव होना अभाग्य का ही लक्षण है। यथा—

भागी बुद्धि कुसङ्ग ते, कर्म करै सह गर्व।
मिथ्या फल ताको मिलैं, सहसा नाशै सर्व।।
सहसा नाशैं सर्व दोष तब दूजेहिं देहीं।
करि निन्दा अपराध दून शिर पर धर लेहीं।।
मल ते साबुन धोय रहे यौं अन्ध अभागी।
जिनते मिलते ईश ताहि निदरत दुरभागी।।

लावै बन बेर लागी राम की अवसेर भल चाखै धरि राखै फिर मीठे उन जोग हैं।
मारग में जाई रहै लोचन बिछाइ कभूं आवैं रघुराइ दृग पावैं निज भोग हैं।।
ऐसे ही बहुत दिन बीते - मग जोहत ही आय गये औचक सो मिटे सब सोग हैं।
ऐ पै तनु नूनताई आई सुधि छिपी जाय पूछैं आप सबरी कहाँ ठाड़े सब लोग हैं।।३५।।

शब्दार्थ—अवसेर=चिन्ता, ध्यान। जोहत=देखत, प्रतीक्षा करते हुए। औचक=एकाएक, अचानक। सोग=शोक।

भावार्थ—शबरीजी को श्रीरामजी की बड़ी-भारी चिन्ता रहती, वे आगमन की प्रतीक्षा में अति-व्याकुल रहतीं। वन से बेर बीन-बीनकर लातीं, चाखकर देखतीं (जिस वृक्ष के) जो फल मीठे होते उन्हें श्रीराम के योग्य समझकर उनके लिए रखती थीं। उत्कण्ठावश अपने प्रभु के आगमन के मार्ग में जाकर उसे स्वच्छ एवं कोमल बनातीं एवं अपने नेत्रों के पाँवड़े बिछाकर विचारा करतीं कि—राघवेन्द्र सरकार कब आवेंगे? जब मेरे नेत्र उनके दर्शनरूपी अमृत का आस्वादन करेंगे। इसी प्रकार प्रभु के आगमन की बाट देखते-देखते जब बहुत दिन बीत गये तब एक दिन अचानक ही श्रीरामजी आ गये। उनके शुभागमन से सभी शोक मिट गये। परन्तु उसे अपने शरीर के नीचकुल में उत्पन्न होने की बात याद आ गई, इसलिए वह संकोच वश भागकर कहीं छिप गई। श्रीरघुनाथजी स्वयं सबसे पूछने लगे कि—शबरी कहाँ है? शबरी कहाँ है? ऋषि-मुनि शबरी का छिपना और प्रेम विवश प्रभु का पूछना देखकर स्तब्ध खड़े रहे।।३५।।

व्याख्या—राम की अवसेर—शबरी मन अवसेर अति, पुलक गात चषनीर। कब प्रभु दरशन पाइहौं, कब हरिहैं हरि पीर।। प्रभु दर्शन की प्रबल लालसा को हृदय में संजोये हुए शबरी अत्यन्त आर्त होकर कह उठती है—

पद—**कबहिं देखाइहौं हरि चरन।**
समन सकल कलेस कलिमल, सकल मङ्गल करन।।
सरद भव सुन्दर तरुणतर अरुन वारिज बरन।
लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन।।
गंग जनक अनंग अरि प्रिय कपट बटु बलि छरन।
विप्रतिय नृग बधिक के दुख दोष दारुन दरन।।
सिद्ध सुर मुनिवृन्द वन्दित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं नर होत तारन-तरन।।
कृपा सिन्धु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन।। (विनय)

पुनश्च—**थाकी गति अंगन की मति पर गई मन्द सूखी झांझरी-सी ह्वै कै देह लागी पियरान।**
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीनि लई सुख के समाज जित तित लागे दूर जान।।

हरीचन्द रावरे विरह जग दुःखमयो भयो कछु और होन हार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे बैनहू अथान लागे आओ प्राणप्यारे अब प्राण लागे मुरझान।।

चाखै......जोग हैं—वाल्मीकि, अध्यात्म और मानस में कहीं जूठे-फलों का खाना नहीं लिखा है। परन्तु श्रीभक्तमाल में जूठे-फलों का खाना कहा है। यथा—'**लावै वन बेर लागी रामकी अवसेर फल चाखै धरि राखै फिरि मीठे उन जोग हैं।**' कुछ लोगों का मत है कि वृक्ष का एक बेर लेकर चखती थीं, यदि वह मीठा होता तो उसी के बेर रख लेती थीं और वही बेर प्रभु को खिलाये। जूठे में यह आपत्ति है कि मर्यादा पुरुषोत्तम ऐसा नहीं करते। यह कहना भी उचित है पर साथ ही यह भी है कि शबरीजी इनको राजकुमार नहीं समझती थीं, भगवान ही समझती थीं—यह सभी रामायणों से सिद्ध है और भगवान प्रेम के भूखे हैं, उनके लिए क्या जूठा क्या अनूठा। प्रेमी ही इस बात को समझ सकता है दूसरा नहीं। दूसरे, इसका उत्तर क्या है कि जिस हाथ से बेर खाया उसी जूठे हाथ से फिर तोड़े, तब ये फल भगवान के योग्य रहे? क्या वे जूठे नहीं। तो अनूठे कहलायेंगे? क्या शबरी बार-बार वन में हाथ धोने के लिए जल लिये रहती थीं। कदापि नहीं। इस प्रश्न का उत्तर प्रेमियों को क्या दिया जावेगा? हमारी समझ में नहीं आता। यह कहना पड़ता है कि प्रेम की गली कुछ और ही है। आज भी जहाँ कट्टर कर्मकाण्डी उपासक भगवान को बिना चखे भोग लगते हैं वहाँ हम देखते हैं कि प्रेमी बिना चखे कभी प्रभु को कोई पदार्थ अर्पण नहीं करते, यद्यपि लोक-व्यवहार में तो किञ्चित् भी चख लेने से वह पदार्थ भगवान के योग्य नहीं समझा जाता।

प्रेम पन्थ में अधर्म भी धर्म में गिना जाता है। यथा—**यत्राधर्म एव धर्मःस्थापितः।।** (प्रेम पत्तनम्) जैसे श्रीवसुदेवजी ने कंस से प्रतिज्ञा की थी सब लड़के दे देंगे, परन्तु प्रतिज्ञा छोड़कर नन्दजी के यहाँ कृष्ण को पहुँचा दिया। यह अधर्म भी धर्म ही माना जाता है। कहा जाता है कि पद्मपुराण में लिखा है कि शबरी बेरों की परीक्षा कर, उनका स्वाद चखकर मीठे-मीठे बेर रखती थी। यथा—**फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने।।** अर्थ—फल और मूल लाकर उनकी परीक्षा करके तदनन्तर रघुपतिजी को निवेदन किया। पुनः—**प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फल चतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरी मणिः।।** (प्रेमपत्तनम्) अर्थ—प्रेम से अवशिष्ट जूठे चार फलों को भोजन करके श्रीरघुनाथजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दी। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी इस विषय में 'सुरस' पद देकर जूठे का भी भाव गुप्तरीति से दरसा दिया है। प्रभु में शबरी का वात्सल्य भाव था, जैसा कि गीतावली से स्पष्ट है। इस भाव से तो जूठे फल खिलाने में कोई आपत्ति ही नहीं रह जाती है। फिर आगे प्रभु स्वयं उसी से कहते हैं कि मैं तो केवल भक्ति का नाता मानता हूँ। मुझे जाति-पाँति से सरोकार नहीं (मानस-पीयूष)।

पुनः— **शबरी आश्रम रघुबर आये। अर्घ्यासन दै प्रभु बैठाये।।**
खाटे तजि फल मीठे लाई। जूठे भये सु सहज सुनाई।। (सूर)
झूठे फल शबरी के खाये। ऋषि स्थान विसराये।। (नामदेव)

पद— **मीठे-मीठे चाखि बेर लाई भीलनी।**
कौन-सी आचारवती, नहीं रूप-रंग, रती, जातिहू में कुलहीन, बड़ी ही कुचीलनी।।

जूठे फल खाये राम सकुचे न भाव जानि तुम तो प्रभु ऐसी करी रस की रसीलनी।
सांची प्रीति करें कोई 'अमरदास' तरे सोई प्रीति ही सों तरि गयीं गोकुल अहीरनी।।

दृष्टान्त—धोंगारी छाँछ का—ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के बाल सखा अत्यन्त प्रेम करते थे अपने श्यामसुन्दर से। उन्हें कोई भी अच्छी वस्तु मिलती, वह कन्हैया-भैया को दे देते, दिखाते, खिलाते, पिलाते। एक दिन की बात है वन में सबके घर-घर से छाँछ आयी। ग्वाल-बाल भोजन करने बैठे। एक की मैया ने धोंगारी छाँछ भेजी थी। उसने ज्यों ही छाँछ को एक घूँट पिया, तो बड़ी ही अच्छी लगी, तुरन्त ही अपने मुँह से हटा लिया और बोला—दादा कन्हैया! यह छाँछ तो बड़ी ही बढ़िया है। तेरे लायक है, इसे तूँ पी ले, बस यह कहते हुए उसने छाँछ की मलरिया को कन्हैया के मुँह से लगा दिया और कन्हैया भी अपनी मैया का भेजा हुआ मिष्ठान्न एक ओर कर उसे गट-गट एक ही साँस में ऐसे पी गये जैसे कोई जनम का भूखा हो। ऐसे ही किसी का कुछ, किसी का कुछ जूठा, अनूठा बिना विचारे प्रेम से खाते।

प्रेमियों को शरीर की ही सुधि-बुधि नहीं रहती फिर आचार-विचार को वे निबाह ही कैसे सकते हैं—

पद— **जाहि लगन लगी घनश्याम की।**
धरत कहूं पग परत है कितहूँ भूल जाय सुधि धाम की।
छबि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि-पल-निशि दिन जामकी।
जित मुँह उठै तितै ही धावै सुरति न छाया घाम की।
अस्तुति निन्दा करौ भले ही मेंड़ तजी कुल गाम की।
'नारायन' बौरी भई डोलै रही न काहू काम की।।

पुनः— **जड़ चैतन्य कछू नहिं सूझत विधि निषेध सब रहे धरे।**
नरहरिदास ते भये बावरे जो कोउ प्रेम प्रवाह परे।।

दृष्टान्त—श्याम-सखी का—कुसुम-सरोवर पर एक बड़े ही सिद्ध-महात्मा रहते थे। इनके शिष्य थे श्रीश्याम-सखीजी। एकबार श्रीगुरुदेवजी ने कहा कि श्रीठाकुरजी के सामने चौका लगा आओ। ये बड़े ही अनुराग-पूर्वक चौका लगा रहे थे। उसी समय श्रीठाकुरजी खूब बने-ठने छम-छम करते हुए उनके सामने से निकले। ये दर्शनकर स्तब्ध से रह गये, शरीर की सुधि-बुधि भूल गये, अपना गोबर से सना हाथ गाल पर धरे हुए सुबह के बैठे शाम तक उसी भावावेश में मगन रहे। कुछ देर बाद श्रीगुरुजी ने समझा कि चौका लग गया होगा, इनको बुलाये, परन्तु ये बोले ही नहीं तब आकर देखे तो इनकी यह दशा। जब शाम को इनको कुछ सुध-भई तो पूछने पर सब वृत्तान्त बताये। यही श्रीश्याम-सखीजी एकबार सन्तों की जमात लिए ब्रज के एक गाँव में पहुँचे। ग्वारिया घर पर नहीं था। ग्वालिनी को भी खेत पर जाना था अत: वह सन्तों के लिए भोजन की सब सामग्री देकर चली गयी। रसोई बनीं। पङ्क्ति बैठ गई थी, पारस हो रहा था तब तक वह आ गई तो देखा कि बूरा तो अभी धरा ही है। यद्यपि सन्त अपनी आवश्यकता-भर ले चुके थे, परन्तु उसे इतने से सन्तोष नहीं हुआ। पूछा—बाबा! बूरा क्यों नहीं लिये? सन्तों ने कहा—मैया हम सब ले चुके हैं। यह तो बचा हुआ है, ले जाओ घर। लेकिन वह तो सब-सन्तों के लिए ही दी थी। मारे प्रेम के वह जूता पहने ही स्वयं बूरा परोसने लगी। प्रेम में उसे

इस बात का ध्यान नहीं रहा। यह देखकर सब-सन्त आपस में काना-फूसी करने लगे, भोजन छोड़कर उठने का विचार करने लगे तब श्रीश्याम-सखीजी ने समझाया कि यह इस समय प्रेम में विभोर है, बिना प्रेम के भला अपनी वस्तु कोई इस प्रकार लुटाता है। आप लोग आचार-विचार न देखकर इसके प्रेम को देखें। तब सबने प्रसाद पाया।

मारग.... में भोग हैं—

जबते सुनी शबरी कि रघुबर चित्रकूट हिं छाय हैं।
तहँ वास करि सानन्द पुनि युत बन्धु इहि दिशि आय हैं।।
तब ते सदा उठि प्रात ही बहु दूरि लौं मग झारहीं।
पुनि धाय छिन-छिन जाय उर उमगाय पन्थ निहारहीं।।
कबहूं सुनिर्तत मगन मन सियाराम गुण गण गाय कै।
कबहूँ दुहुँ दृग मूंदि बैठत श्याम ध्यान लगाइ कै।।
कबहूं अनेक विचार करि-करि हीय होत हरास है।
कबहूँ मुदित मन हँसत शबरी लगी दरशन आस है।।
कबहूं बिचारत राम मेरे भवन किहि बिधि आय हैं।
जो आय हैं तो भीलनी गुनि मोहिं न पद परसाय हैं।।
कबहूं कहत मन माँहिं यों रघुबीर परम दयाल हैं।
लखि दीन दैहैं दरस मो कहँ सत्य जन प्रणपाल हैं।।
कबहूं विपिन बिच जाय बीनत बेर हिय हुलसाय कै।
तिन चाखि मीठे जानि रघुबर हेत धरत सुखाय कै।।
कबहूं निहोरी मुनिन भाषत नाथ नहिं विसराइयो।
तव धाम आवहिं राम तो मोहिं दूरते दरसाइयो।।

दृग पावैं निज भोग हैं—नेत्रों का अपना निजी भोग भगवत्स्वरूप दर्शन है न कि सांसारिक, प्राकृतिक मायिक मिथ्या रूपदर्शन। यथा—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**' (भागवत) **इहै परम फल इहै बड़ाई। नखशिख रुचिर विन्दु माधव छबि निरखहिं नयन अघाई।।** (विनय) '**होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।।**' '**निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौ।**' '**निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।।**' आदि। क्योंकि श्याम की श्यामता से ही तो नैन-नैन बने हैं। यथा—**कोटि भानु ज्यों ऊगवै, तऊ उज्यार न होइ। तनक श्याम की श्यामता, ज्यों दृग परी न होइ।** अतः निज भोग कहा।

ऐसे ही.......जोहत ही—शबरी को प्रभु-दर्शन की प्रतीक्षा करते सहस्त्रों वर्ष बीत गये। प्रश्न होगा— शबरी की बेर अबेर क्यों? समाधान—प्रतीक्षा का अद्‌भुत सुख देने के लिए। प्रियतम-मिलन की प्रतीक्षा में भी अलौकिक सुख होता है।। रसिक-महानुभावों का तो कहना है कि दर्शन से भी अधिक सुख-दर्शन की प्रतीक्षा में होता है। यथा—'**है वस्ल से ज्यादा मजा इन्तजार का। खुदा करे मजा इन्तजार का न मिटे।**' अतः आने में अबेर भी करुणासिंधु की कृपा ही है। पुनः विरह अवां में जब प्रेम परिपक्व हो जाता है तब संयोग-सुख स्थायी बनकर रहता है।

आइ गये औचक—भक्ति समानी भाव में, भक्तन में भगवान।
श्रीबिहारीदास सांची कहै, श्रीभागवत प्रमान।।
नारायण मैं सच कहूं, भुज उठाइ के आज।
जौं जिय बने गरीब तो, मिलें गरीब निवाज।।

औचक कहने का भाव यह है कि शबरी इस आशा में थी कि प्रभु पहले ऋषियों के यहाँ आवेंगे, अतः वह बार-बार ऋषि आश्रमों की ओर ही निहारती रहती परन्तु प्रभु तो उनके आश्रम के रास्ते को छोड़कर अन्य मार्ग, अनन्य मार्ग (प्रेम-मार्ग) से शबरी के यहाँ एकाएक आ गये। जैसे भगवान श्रीकृष्ण दुर्योधन द्वारा सजाये गये राजमार्ग को छोड़कर अन्य गली (प्रेम-गली) से श्रीविदुरजी के घर चले गये।

मिटे सब सोग हैं—'सब दुख मिटहिं राम पग देखे।' सब सोग-गुरु का वियोग शोक, ऋषियों के दुःखित-कुपित होने का शोक, आयु बीत गई, प्रभु के दर्शन नहीं हुए, इस बात का शोक, इस तरह कई प्रकार का शोक है, अतः सब शोक कहा। **'ऐपै........छिपी जाय'**—यह है शबरी का **'तृणादपि-सुनीचेन'** का नीचानुसन्धान, दैन्य, कार्पण्य। जो कि भगवान को अतिप्रिय है। यथा—**'राई ते बीसों बिसे, ता बीसे पुनि बीस। ताते नान्हे ह्वै रहै, तब मिलि हैं जगदीस।।' 'छिपी जाय'**—इसका एक कारण तो स्पष्ट है कि—'तन न्यूनता विचारि' भाव यह है कि—**'तुम प्रिय पाहुने वन पग धारे। सेवा जोग न भाग हमारे।।** दूसरे—ऋषियों को और भी अधिक दुःख होगा कि इसने एक तो मतङ्गजी की चेली बनकर उनका स्थान दखल कर लिया, दूसरे सरोवर का जल बिगाड़ा अब भगवान पर भी भुरकी डाल दिया, भगवान को भी वश में कर लिया।

पूछै आप........लोग हैं—यथा—

पथिकन ते पूछत सप्रेम प्रभु पेखि-पेखि शबरी हमारी प्यारी बसै केहि ठौर है।
कौन वाको ग्राम इहाँ कौन वाको नाम कहैं कौन वाको धाम जासों काम एक मोर है।।
कौन घरी ऐहैं जामें नयननि निहारिहौं मैं खैहों फल सुधा स्वाद सरिस अथोर हैं।
रघुराज जै छिन विलोकिना विलोचन सों बीतत पलक सम कलप करोर हैं।।

(राम रसिकावली)

पूछि पूछि आये तहाँ शबरी स्थान जहाँ कहाँ वह भागवती देखौं दृग प्यासे हैं।
आय गई आश्रम में जानि कै पधारे आप दूर ही ते साष्टांग करी चख भासे हैं।।
रवकि उठाय लई विथा तनु दूर गई नई नीरझरी नैन परे प्रेम पासे हैं।
बैठे सुखपाइ फल खाइकै सराहे वेई कह्यो कहा कहौं मेरे मग दुख नासे हैं।।३६।।

शब्दार्थ—भागवती=भगवद्भक्ता, भाग्यशालिनी। भासे=प्रकासे, प्रफुल्लित। रवकि=लपकि। पासे=फन्दा, जाल, गोद। पासे पड़े=भाग्य अनुकूल हुए।

भावार्थ—भगवान श्रीराम वनवासी लोगों से और ऋषियों से पूछते-पूछते वहाँ आये जहाँ शबरीजी का स्थान था। वहाँ शबरी को न देखकर भगवान कहने लगे कि—भाग्यशालिनी हरिभक्ता कहाँ है। मेरे नेत्र उसके दर्शनरूपी-सुधा के प्यासे हैं। स्वयं सरकार मेरे आश्रम में पधारे, यह जानकर शबरीजी भी

आश्रम की ओर दौड़ी। दूर जहाँ से प्रभु को देखा वहीं से सप्रेम-साष्टांग-दण्डवत्-प्रणाम किया। शबरी के नेत्र प्रफुल्लित हो गये। भगवान ने समीप जाकर शीघ्रता से ललककर उठा लिया। कोमल कर-कमल के स्पर्श से तन-मन की सब व्यथा दूर हो गई। नेत्रों से आनन्द के आँसुओं की झरी लग गई। प्रेम के पाशे भाग्यवश अनुकूल पड़ गये। भगवान श्रीराम परम-सुखी होकर आसन पर विराजे। शबरीजी ने अर्घ्यपाद्य-पूर्वक बेर आदि फल अर्पण किये। श्रीरामजी ने उन्हें प्रेम से खाकर उनके अद्‌भुत सुन्दर-स्वाद की बार-बार प्रशंसा की और कहा कि—मैं क्या कहूँ, आज सुमधुर फल खाकर मार्ग का श्रम और दु:ख सब मिट गये।।३६।।

व्याख्या—पूछि-पूछि आये—वनमार्ग में ऋषि-मुनियों के कोल-भीलों के पते पूछ-पूछकर उनसे शबरी के आश्रम का पता बार-बार पूछकर आये। इस प्रकार प्रभु ने शबरी के प्रति अपने प्रेम का प्रचार किया। सभी लोगों को जानने के लिए बार-बार पूछा, अन्यथा एकबार पूछकर सीधे चले आते। **'कहाँ वह.....प्यासे हैं**—जैसे भक्त कहते हैं कि—**अँखियाँ हरि दरशन की प्यासी। दरसन तृपित न आज लगि प्रेम पियासे नैन।।** वैसे ही भगवान के नेत्र भी भक्त-दर्शन के लिये प्यासे हैं। जैसे भक्त के हृदय में भगवद्दर्शन की उत्कण्ठा होती है वैसे ही भगवान के हृदय में भक्त-दर्शन की। भक्त-भगवान का दर्शन करते हैं, भगवान-भक्त का। यथा—**सहस्त्रशीर्षापि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षयागतः।।** (भा० ४-९-१) अर्थ—तदनन्तर विराट्-स्वरूप भगवान गरुड़ पर चढ़कर अपने भक्त को देखने के लिये मधुवन में आये।। धन्य शबरी! तेरे दर्शन के लिये श्रीरामजी के नेत्र प्यासे हैं। तरस रहे हैं। यथा—**दुर्लभ भक्तअनन्य अति, प्रेमी अरु निष्काम। नर वपुरे को कहां मिलैं, तरसत राजाराम।।** (भ०व०टि०) **'चख भासे हैं—मिले चारि चख प्रेम ते भयो तबहिं उजियार। मूरति सूरति हिय बसी, मिल्यौ सकल सुखसार।।** (भ०व०टि०)

विथा......गई—पूर्व कहा गया है कि 'विथा पागी है' (कवित्त ३४) अब प्रभु के दर्शन-स्पर्श से समस्त-व्यथा दूर हो गई। यथा—**निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर। कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा।। 'रवकि उठाइ लई'**-इससे जनाया गया है कि शबरी ने जहाँ से प्रभु को देखा वहीं से दण्डवत्-प्रणाम किया। शबरी और श्रीराम के बीच कुछ दूरी थी, उस दूरी को भगवान ने दौड़कर दूर किया, भला प्रेम और परमात्मा में दूरी कैसी? इसी प्रकार जब श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी ने श्रीवशिष्ठजी को प्रणाम किया था तो मुनि ने भी दौड़कर हृदय से लगा लिया था यथा—**गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे। दण्ड प्रनाम करन प्रभु लागे।। मुनिवर धाइ लिये उरलाई।।** (रा०च०मा०)

नई नीर झरी—कहने का भाव यह है कि पहले तो श्रीसियाजी के वियोग में नेत्र आँसू बहाते थे। अब शबरी के प्रेमवश आँसुओं की झड़ी लग गई। यह शबरी के पक्ष में भी लगता है। शबरी के भी नेत्रों से प्रथम वियोग-दु:ख के कारण अश्रुधारा चलती थी अब संयोग-सुख के कारण। दु:ख और सुख दोनों ही दशाओं में अश्रु पुलकादि होते हैं। **'परे प्रेम पासे हैं'—चौपड़ खेलूँ पीव सों बाजी राखूँ जीव। हारूँ तो मैं पीव की, जीतू तो मम पीव।।** (मीरा) प्रेम पासे भी भक्त और भगवान दोनों के परे हैं यह अद्‌भुत बात है। नहीं तो पासा एक ही ओर पड़ता है। शबरी समझती है मेरा अभीष्ट पूर्ण हो गया, श्रीराम समझते हैं मेरा अभीष्ट पूर्ण हो गया। दोनों ही दोनों को पाकर अपने को जीता हुआ समझते हैं अत:-'परे प्रेम पासे हैं।'

बैठे........दुखनासे हैं—यथा—

चौ०— **सबरी देखि राम गृह आए । मुनि के बचन समुझि जिय भाए।।**
सरसिज लोचन बाहु बिसाला । जटा मुकुट सिर उर बनमाला।।
स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई । सबरी परी चरन लपटाई।।
प्रेम मगन मुख बचन न आवा । पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।।
सादर जल लै चरन पखारे । पुनि सुन्दर आसन बैठारे।।
कन्द मूल फल सुरस अति, दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए, बारम्बार बखानि।। (रा०च०मा०)

श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'श्रीराम गीतावली' में इस प्रसङ्ग को बड़ी भावुकता के साथ वर्णन किया है। यथा—

सबरी सोइ उठी फरकत वाम विलोचन बाहु । सगुन सुहावने सूचत मुनिमन अगम उछाहु।।
मुनि अगम उर आनन्द लोचन सजल तन पुलकावली।
तृनपर्न साल बनाइ जल भरि कलस फल चाहन चली।।
मंजुल मनोरथ करति सुमिरति बिप्रबर बानी भली।
ज्यों कल्पबेलि सकेलि सुकृत सुफूल फूली सुख फली।।
प्रान प्रिय पाहुने ऐहैं राम लखन मेरे आजु । जानत जन जियकी मृदुचित राम गरीब नेवाज।।
मृदुचित गरीब निवाज आज विराजिहैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि शंकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै।।
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतित पावन पाइकै।।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै।।
दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फलफूल । अनुपम अमियहु ते अम्बक अवलोकत अनुकूल।।
अनुकूल अम्बक अम्ब ज्यौं निजडिंभहित सब आनिकै।
सुन्दर सनेह सुधा सहज जनु सरस राखे सानिकै।।
छन भवन छन बाहर विलोकति पंथ भू पर पानि कै।
दोउ भाइ आये शबरिका के प्रेम पन पहिचानि कै।।
स्त्रवन सुनत चली आवत देखि लखन रघुराउ । सिथिल सनेह कहै है सपना विधि कैधों सतिभाउ।।
सतिभाउ कै सपनो निहारि कुमार कोसल राय के।
गहे चरन जे अघ हरन नतजन वचन मानस कायके।।
लघु भाग भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चितचायके।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।।
प्रेम पट पांवड़े देत सु अरघ विलोचन वारि । आश्रम लै दिये आसन पंकज पांय पखारि।।
पद पंक जात पखारि पूजे पंथ श्रम विरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये।।

प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि आदर जनु जये।
फल चारिहू फल चारि दहि पर चारि फल सबरी दये।।
सुमन बरसि हरषे सुर मुनि मुदित सराहि सिहात । केहि रुचि केहि छुधा सानुज मांगि-मांगि प्रभुखात।।
प्रभु खात मांगत देत सबरी रामभोगी जागके।
पुलकत प्रसंसत सिद्ध शिव सनकादि भाजन भाग के।।
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के।
सुनि समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के।।
रघुबर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम कर जोरि । हौं बलि-बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि।।
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी।
अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद मंगल भरी।।
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोरथ मनधरी।
सिर नाइ आयसु पाइ गवने परम निधि पाले परी।।

सराहे—पद—**शबरी थारा मीठा लागे री बोर।**
इन बोरन में कोउ अति मीठे जिनकी खाँड़ी कोर।
कबहुँक मैया हमहिं लै देती इनमें स्वाद कछु और।।
खात सराहत दोऊ भैया कोसल राज किशोर।
तुलसीदास यह प्रभु की करुणा हिये बसो निसि भोर।।

श्रीरघुनाथजी ने कहा—शबरी! कितने दिनों के बाद जैसे मैया के हाथ से भोजन करके मैं तृप्त होता था वैसे ही आज तृप्त हुआ हूँ। गोस्वामीजी ने भी लिखा है कि—'शबरी के दिये बिन भूख न भाजी।' पूरा पद इस प्रकार है—

दानव देव अहीश महीश महामुनि तापस सिद्ध समाजी।
जग जाचक दानि दुतीय नहीं तुम्हही सबकी सब राखत बाजी।।
एते बड़े तुलसी तऊ सबरी के दिये बिनु भूख न भाजी।
राम गरीब नेवाज भये हौ गरीब नेवाज गरीब नेवाजी।। (कवितावली)

वैसे तो प्रभु नित्य पाते हैं और भक्तजन नित्य भाव-पूर्वक पवाते हैं परन्तु माता का भाव तो और ही होता है। अन्य को तो भोजन कराने के समय मातृभाव की भावना करनी पड़ेगी और माता को वह भाव सहज ही प्राप्त है तो भला-भावित-भाव की बराबरी कैसे कर सकता है।

बेर बेर बेर लै साराहैं बेर बेर बहु 'रसिकबिहारी' देत बन्धु कहँ फेर फेर।।
चाखि चाखि भाखैं वह वाहू ते महान मीठो लेहु तौ लखन यों बखानत हैं हेर हेर।।
बेर बेर देवै बेर शबरी सुबेर बेर तऊ रघुबीर बेर बेर तेहिं टेर टेर।।
बेर जनि लावो बेर बेर जनि लावो बेर बेर जनि लावो बेर लावो कहैं बेर बेर।।

(राम रसायन)

गीतावली के '**बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल सागके।**' इस उद्धरण के अनुसार शबरी के यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों का ही फल-साग-पाना सिद्ध होता है। परन्तु कोई-कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि प्रभु तो प्रेमवश पाने लगे परन्तु लक्ष्मणजी तो समझ गये कि ये तो जूठे हैं, तो विचारे कि–'**प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा।।**' लेकिन मुझसे लोग पूछेंगे तो कहना पड़ेगा ही। तो प्रभु को तो कोई कुछ कहेगा नहीं, पर मेरी लोग हँसी उड़ायेंगे। बस यह विचारकर पाने का स्वाँग करते हुए पीछे फेंक देते, पाते नहीं। वही बेर द्रोणगिरि पर संजीवनी होकर जमे। प्रेमी का प्रेमोपहार था, प्रेम से नहीं पाये तो वेवशी में पाना ही पड़ा।

बड़े-बड़े योगी-यति, जपी, तपी ऋषियों के यहाँ न जाकर प्रभु के दीना शबरी के यहाँ जाने पर–

दृष्टान्त–विष्णुदत्त ब्राह्मण का–अनन्त शयनतीर्थ में निवास करते हुए महाराज चोल भगवद्विग्रह को स्वर्ण, मणि, रत्नों की मालाओं से समलंकृत कर फूले नहीं समाते थे साथ ही धनहीन किन्तु भाव धनी विष्णुदत्त के द्वारा केवल तुलसी-पुष्प से भगवान का पूजन उनके लिये अकारण ईर्ष्या का विषय बन गया। निदान एक दिन धन-मद-माते राजा ने ब्राह्मण का तिरस्कार करते हुए कहा–आप तुलसी-पुष्प चढ़ाकर भगवान के वस्त्राभूषणों की शोभा नष्ट करते हैं, यह उचित नहीं। विष्णुदत्त ने शास्त्रोक्त प्रमाणों से जब तुलसी-पुष्प की स्वर्ण-मणियों से अधिक महत्ता प्रतिपादित की तो राजा खीझ उठे और बोले यदि ऐसी बात है तो देखूँ भगवान तुमको पहले मिलते हैं या मुझे। इस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण को चुनौती देकर राजा तो मुद्गल ऋषि के आचार्यत्व में विष्णु यज्ञ करने लगे। इधर ब्राह्मण के पास सिवा तुलसी-पुष्प के और था ही क्या ? हाँ भाव था, उसने भाववश्य भगवान को भाव से ही प्रसन्न करने की ठानी। वे सारा समय भगवत्स्मरण में व्यतीत करते हुए पत्र-पुष्पार्पण पूर्वक भगवदाराधन करने लगे। दिन में एकबार भोजन बनाते, पाते। एकबार ऐसा हुआ कि सात दिन तक लगातार भोजन चोरी चले जाने से विष्णुदत्त निराहार ही रहकर भगवत्स्मरण करते रहे। आठवें दिन देखे कि एक दुबला-पतला चाण्डाल भोजन लेकर भगा जा रहा है तो वे पीछे से घृत लेकर दौड़े। चाण्डाल मूर्छित होकर गिर पड़ा तो ये अपने वस्त्र से हवा करने लगे। इनके इस भव्यभाव पर रीझकर चाण्डाल के स्थान पर भगवान विष्णु साक्षात् प्रकट हो गये। विष्णुदत्त दर्शन कर कृतकृत्य हो गये। भगवान ने ब्राह्मण को अपना रूप प्रदान किया। देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की। विष्णुदत्त दिव्य विमान पर बैठकर वैकुण्ठ को गये। चोल नरेश यह देखकर भक्ति को श्रेष्ठ माने। राजा यज्ञ बन्द कर ग्लानि में भरकर यज्ञकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हुए तो भगवान विष्णु ने उन्हें भी दर्शन दिया और वैकुण्ठ को ले गये।

करत हैं सोच सब ऋषि बैठे आश्रम में जल को बिगार सो सुधार कैसे कीजिये।
आवत सुने हैं वन पथ रघुनाथ कहूँ आवैं जब कहैं याको भेद कहि दीजिये।।
इतने ही मांझ सुनी सबरी के विराजे आनि गयो अभिमान चलो पग गहि लीजिये।
आय खुनसाय कही नीर कौ उपाय कहौ गहौ पग भीलिनी के छुये स्वच्छ भीजिये।।३७।।

शब्दार्थ–विगार=बिगाड़, अपवित्रता। खुनसाय=रिसाय। गहौ=पकड़ौ। भीलिनी=भील जाति की स्त्री, शबरी। स्वच्छ=शुद्ध। भीजिए=प्रसन्न हुए, प्रेमार्द्र हुए।

भावार्थ—सभी ऋषि लोग आश्रम में बैठकर सोच-विचार कर रहे थे कि—सरोवर का जल बिगड़ गया है उसे शुद्ध करने के लिये यज्ञ-याग, सर्वतीर्थ-जल निक्षेप आदि सब उपाय हमने कर लिये पर वह शुद्ध नहीं हुआ, अब बताओ वह कैसे सुधरे? सबों ने परस्पर विचार कर निश्चय किया कि—वन के मार्ग से श्रीरघुनाथजी आ रहे हैं, यह सुना है जब वे आवें तब हम लोग उनसे कहें कि—आप इसका भेद बताइये। इतने में ही उन ऋषियों ने सुना कि श्रीरामजी तो शबरी के आश्रम में आकर विराजे हैं। तब सबका ब्राह्मणत्व का अहङ्कार दूर हो गया और वे कहने लगे कि—चलो, वहीं चलकर उनके चरणों में प्रणाम करें। अप्रसन्न वे ऋषिगण शबरी के आश्रम में आकर बोले—प्रभो श्रीराम! आप सरोवर के जल को शुद्ध करने का उपाय बताइये। भगवान ने उत्तर दिया कि—शबरी के चरणों का स्पर्श करो, उसके बाद सरोवर के जल से इसके चरणों का स्पर्श कराओ। जल तुरन्त पवित्र हो जायेगा। भगवान की आज्ञा से ऋषियों ने ऐसा ही किया। सरोवर का जल अति निर्मल हो गया। भक्ति की ऐसी महिमा देखकर ऋषियों के हृदय प्रेमभाव से द्रवित हो गये।।३७।।

व्याख्या—याको भेद कहि दीजिये—इसके कई भाव हैं। १. शबरी—मतङ्ग की चुगली करेंगे। २. कहेंगे कि शबरी के पाप से सरोवर का नीर बिगड़ा है। ३. यह कैसे शुद्ध होगा। नीच पापी को भी तीर्थ पवित्र करता है, पापों से तीर्थ का अपवित्र होना सुना नहीं गया है। तो फिर यह सरोवर कैसे अशुद्ध हुआ इसका रहस्य आप बतावें। **सुने शबरी के बिराजे आन**—तो बहुत से महात्मा तो ऐसा कहने लगे कि मालूम पड़ता है कि धर्मशास्त्र नहीं पढ़े हैं। इसी से तो पहले हम लोगों को छोड़कर भीलनी के यहाँ गये। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। **'गयो अभिमान'—जाति, विद्या, महत्वं च रूपं यौवनमेव च। यत्नेन परितस्त्याज्या पञ्चैते भक्तिकण्टकाः।। 'चलो....लीजिये'**—दण्डवत् प्रणाम नहीं, पग गहने को कहते हैं, एक रस्म अदायगी मात्र। परन्तु जब यही महात्मा शबरी के आश्रम में पहुँचे, तो श्रीरामजी देखते ही उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किये, तब मुनि लोग आपस में कहने लगे कि यह देखकर तो लगता है कि धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं। तभी तो मर्यादा का पालन करते हैं। **आय खुनसाय कही**—रोष के कारण ऋषि पग-गहना भी भूल गये, आते ही बरस पड़े श्रीरामजी पर। बोले—

नीर को उपाय कहो—श्रीरघुनाथजी से सर-शुद्धि का उपाय इसलिये पूछते हैं कि सुन चुके हैं कि **'रिषि तिय तरी लगत पग धूरी।'** तथा **'दण्डक पुहुमि पाय परस पुनीत भई उकठे विटप लागे फलन फरन।'** अतः सर भी अवश्य शुद्ध कर सकते हैं। भगवान ने कहाँ हम तो क्षत्रिय हैं। वेषमात्र विरक्तों का धारण किया हूँ, वह भी थोड़े ही दिनों से। नया-नया वैराग्य है। आप लोग ब्रह्मर्षि हैं। बहुकालीन महात्मा हैं, आप लोगों की महिमा हमसे अधिक है। अतः यह तो आप लोगों से ही सम्भव है। यह सुनकर कई एक बड़े भारी डम्बूधारी ऋषि फूलकर कुप्पा हो गये, सोचे कि सचमुच, मैंने तो परीक्षण किया नहीं। नहीं तो कबका शुद्ध हो गया होता। बस यह सोचकर सरोवर में कूद गये, बहुत हिले डोले, हाथ, पाँव हिलाये परन्तु हुआ कुछ नहीं। लज्जित लौट आये।

फिर भगवान से ही उपाय करने को कहने लगे। प्रभु ने अपने को सर शुद्ध करने में अशक्य बताया कारण कि यह भागवत अपराध का परिणाम है और भागवत अपराध प्रभु नहीं क्षमा करते हैं। दृष्टान्त—अम्बरीष दुर्वासा का। (कथा आगे है।) परन्तु जब ऋषि लोग अत्यन्त आग्रह करने लगे तो भगवान ने जाकर पाँव से जल-स्पर्श किया तो कीड़े और भी अधिक एवं मोटे हो गये तथा जल भी

अधिक खराब हो गया। इसके दो कारण—१. '**कोटि विष्णु सम पालन करता है।**' २. **संतत दासन्ह देहिं बड़ाई।**' शबरी को बड़ाई देने के लिये प्रभु ने ऐसा किया। परन्तु इस बात को तो लोग समझे नहीं, कोई-कोई कहने लगे जैसे हम वैसे ही यह भी निकले। जिनको अवतार में सन्देह था उन्हें एक बात कहने को मिल गई कि हम तो पहले ही कहते थे कि ये भगवान नहीं हो सकते, राजकुमार ही हैं। देखो अब परीक्षा हो गई। तभी तो श्रीकागजी ने कहा है कि—**निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।** तब ऋषियों ने कहा कि कोई उपाय ही बता दीजिये तो भगवान ने कहा कि यदि शबरीजी के चरण का स्पर्श हो जाय तो मेरा-विश्वास है कि सरोवर शुद्ध हो जायेगा। यह सुनकर ऋषियों ने शबरी से प्रार्थना किया तो शबरी भला भगवान और बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों के सामने कब चरण-स्पर्श कराने लगी, उसने अपनी अधमता सुनाई। यथा—' अधम ते अधम-अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मति मन्द अघारी। आदि तब प्रभु ने कहा—हाथ-जोड़ने से काम नहीं चलेगा—

गहो पग भीलनी के—जैसी व्याधि, वैसी औषधि। जाति कुल महत्वादि के अभिमानी ऋषियों के अभिमान को दूर करने का यही समुचित उपचार है।

दृष्टान्त—चोखामेला का—यह जाति के चमार थे, परन्तु थे बड़े भागवत। एकबार बाजार में बढ़िया केला के फल देखे तो जी में आया कि ले चलूँ श्रीठाकुरजी को भोग लगाने के लिये। बस जिस कार्य से बाजार गये थे, वह तो विस्मृत हो गया, केला खरीद लाये और लाकर श्रीपण्डरीनाथ भगवान के पुजारी को भोग लगाने को दिया। पुजारी ने धोखे में ले तो लिया। परन्तु जब देने वाले को देखा तो झल्लाकर फेंक दिया— बोला—अरे! तुम चमार का केला भगवान को भोग लगेगा। चोखामेला केला उठाकर घर आये, डूब गये सोच -सागर में, रात्रि में नींद नहीं आई। चिन्ता अपने तिरस्कार की, चमार कहे जाने की नहीं थी, चिन्ता तो थी 'सेवा जोग न भाग हमारे।' इस बात की। उधर जब भगवान को शयन कराकर पुजारी अपने-अपने घर गये तो प्रभु को नींद नहीं आई। वे चोखामेला के घर आकर बोले—भगतजी! लाओ अपने केले। मुझे केला खाने की बड़ी इच्छा है। प्रेम विभोर चोखामेला प्रभु की इस अहैतुकी कृपा पर बार-बार बलि जाते हैं, जैसे-तैसे प्रभु के चरणों में मत्था टेके पुनः हाथ जोड़कर बोले—प्रभु! मैं तो नीच हूँ। मेरे केले आप कैसे पाइयेगा। भगवान ने कहा— भगतजी! मैंने तो नहीं फेंका था, मैं तो माँग रहा हूँ लाओ, दो। चोखामेला ने प्रभु को केले अर्पण किये। प्रभु ने कुछ तो पाया और कुछ रुक्मिणी जी के लिये लेते गये। बोले—पाकर देखो, इन केलों में कैसा स्वाद है? श्री रुक्मिणी जी भी कुछ तो खाईं और कुछ रखलीं। प्रातः जब पट खुला तो मन्दिर में केले के छिलके एवं कुछ फलों को देखकर पुजारी जान गये कि यह केला तो चोखामेला के हैं। ओहो! लगता है उसने हमारे भगवान को बहका लिया है। चलो उसकी खबर लें। फिर तो चोखामेला के घर आकर पुजारियों ने बहुत मार लगाई। भला भक्तवत्सल भगवान यह अनीति कैसे सह सकते हैं। जब पुजारी पूजा करने गये तो प्रभु ने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये। कितनी ही प्रार्थना किये परन्तु खोले नहीं। जब बहुत रोने-गिड़गिड़ाने लगे तो बोले—जाओ चोखामेला को कन्धे पर बैठाकर मेरे पास ले आओ, तब तुम्हारी पूजा स्वीकार करेंगे अन्यथा नहीं। तब तो इन लोगों की आँख खुलीं—अरे! चोखामेला ऐसा भक्त है! हमलोग तो आज जाने। फिर कन्धे पर बैठाकर ले आये प्रभु के पास। प्रभु ने हृदय से लगाया चोखामेला को। इस प्रकार श्रीरामजी ने ऋषियों से कहा 'गहो पग भीलनी के।'

पुनश्च—नीति में लिखा है कि='शठं प्रति शाठ्यं कुर्यादादरं प्रति चादरम्। त्वया मे लुञ्चिते पक्षे मया तेमुण्डितं शिर:।।

दृष्टान्त—तोता और वेश्या का—दोनों एक राजा के यहाँ रहते थे। वेश्या तो नगर नारी होती है। उसकी राजा के अतिरिक्त और भी लोगों से यारी थी। वे लोग भी मौका देखकर वेश्या के पास आते-जाते थे। तोता राजा से सब बता देता, जिससे राजा वेश्या को ताड़ना करता। राजा चाहता कि यह केवल हमसे ही सम्बन्ध रखे, परन्तु वेश्या अपने स्वभाव से विवश थी। क्रोधवश एकदिन वेश्या ने झुँझलाकर तोते का पंख नोंच दिया। वह तो चाहती थी मार डालना ही परन्तु तोता पंख फड़-फड़ाकर भाग गया। जाकर शिवालय की मोरी में घुस गया, जहाँ राजा रोज दर्शन करने जाया करता था। आज जब राजा दर्शन करने आया तो तोता ने खूब आशीर्वाद दिया और आज्ञा करी कि वेश्या का मूड़-मुड़ाकर फटे वस्त्र पहनाकर नगर से बाहर निकाल दो तो तुम्हारे सुख-समृद्धि की वृद्धि होगी अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा। राजा ने इसे शिवाज्ञा समझकर वैसा ही किया। कुछ दिन बाद जब तोता के पंख जम गये तो वह उड़कर वेश्या के पास गया। वेश्या वृक्ष के नीचे रो रही थी। तोते ने पूर्वोक्त श्लोक सुनाया। जिसका भाव यह है कि—शठ के साथ शठता एवं आदर करने वाले के साथ आदर-व्यवहार करना चाहिये। यह नीति है। तुमने मेरे पंख नोंचे तो मैंने तेरा सिर मुड़ा दिया। वैसे ही—'हरि जैसा को तैसा। खुरपी में टेड़ा वैसा।। तथा—नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।।' अत: कहा कि गहो पग....। गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी ने लिखा है—

दोहा— **तुलसी जो कीरति चहैं, परकी कीरति खोय।**
तिनके मुँह मसि लागि हैं, मिटहि न मरिहैं धोय।।

जब ऋषि लोग अभिमान छोड़कर शबरी के चरण पकड़ने को उद्यत हुए तो शबरी भगी। तब भगवान ने कहा कि इसकी चरणरज ही ले जाकर सरोवर में छोड़ो। रज डालते ही सरोवर शुद्ध हो गया। यथा—'अधिक बढ़ावत आपते, जन महिमा रघुबीर। शबरी पद रज परसते शुद्ध भयो सरनीर।।' यहाँ 'राम से अधिक राम कर दासा' चरितार्थ हुआ। अन्यत्र भी 'साहिबते सेवक बड़ो, जे निज धर्म सुजान। राम बाँधि उतरे जलधि, कूदि गयो हनुमान।' अत: भगवान से भी अधिक भगवद्भक्तों का आदर करना चाहिए। भगवान की आज्ञा भी है। यथा—मोते सन्त अधिक कर लेखा।' पुनश्च—**ये मे भक्तजना: पार्थ न मे भक्ताश्च ते जना:। मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता:।।** (आदि पुराण) अर्थ—हे पार्थ! जो केवल मेरे भक्त हैं, वस्तुत: वे मेरे भक्त नहीं हैं। जो मेरे भक्तों की भक्ति करते हैं, वास्तव में मेरे भक्त वे ही हैं। प्रभु का स्वभाव है—'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर-बैर अधिकाई।' अत:—'जो दोषी हैं सन्त के, हरि दोषी सौ बार। भजन करत सेवा करत डूबैगो मझधार।।' सन्त की सेवा से अपने आप भगवन्त-सेवा हो जाती है। यथा—'अन्तर्यामी गर्भगत, सन्त सुन्दरी माँहि। तुलसी पूजे सन्त के दोऊ पूजे जाहिं।

छुये स्वच्छ भीजिये—छूने से स्वच्छ हो जायगा, छूने से स्वच्छ हो गया, एवं छूने से आप लोग भी स्वच्छ अर्थात् अभिमानरूपी मल से रहित होकर प्रेमरस में भीज जाइयेगा। सभी अर्थ सुसंगत हैं।

दृष्टान्त—गंगा और भगीरथ का— जब श्रीभगीरथजी ने श्रीगङ्गाजी से अपने पूर्वजों का उद्धार करने के लिये पृथ्वी पर अवतरित होने की प्रार्थना किया तो श्रीगङ्गाजी ने दो कठिनाइयाँ बताईं। एक तो यह कि जब मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरूँगी तो मेरे वेग को धारण करने वाला कोई परम-समर्थ होना चाहिये, अन्यथा मैं पृथ्वी को फोड़कर रसातल में चली जाऊँगी। दूसरी यह कि लोग मुझमें अपने पाप धोयेंगे फिर मैं उस पाप को कहाँ धोऊँगी? श्रीभगीरथजी ने प्रथम समस्या के समाधान में सहज-समर्थ भगवान शंकर को स्मरण कराया तथा दूसरी के समाधान में कहा—जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रादिकी कामनाओं का सर्वथा त्यागकर दिया है, जो संसार में उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ एवं लोगों को पवित्र करने वाले परोपकारी सन्त हैं वे अपने अङ्ग-स्पर्श से तुम्हारे पापों को नष्ट कर देंगे क्योंकि उनके हृदय में अघरूप अघासुर को मारने वाले भगवान सदा निवास करते हैं। यथा—(भा० ९-९-६)

साधवोन्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोक पावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्ग सङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः।।

शबरीजी की महामहिमा का प्रत्यक्ष अनुभव कर ऋषि लोग वस्तुतः प्रेम में भींज गये। आखिर हैं तो ऋषि-मुनि, ज्ञानी-विज्ञानी। अपने पूर्व के कृत्यों का स्मरण कर लोगों को बहुत पश्चात्ताप हुआ, प्रभु से पूछे— प्रभो! हम लोगों ने मिथ्याभिमान वश महाभागवती शबरी की जो अवहेलना की है उसका प्रायश्चित कैसे होगा? जैसे आपने कृपा करके सर-शुद्धि का उपाय बताया वैसे ही इसका भी समाधान करें। भगवान ने ऋषियों को भक्ति का प्रताप सुनाकर आज्ञा किया कि आप लोग शबरी—नारायण का मन्दिर बनवाइये और शबरी के नाम सहित मेरी पूजा कीजिये तभी इसका प्रायश्चित सम्भव है अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। ऋषियों ने प्रभु की आज्ञा का पालन किया। अद्यापि शबरी नारायण का मन्दिर वर्तमान है।

श्रीरघुनाथजी ने शबरी को नवधा-भक्ति का उपदेश दिया—यथा—

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।
नवधा भगति कहउँ तोहिं पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति सन्तन्ह कर सङ्गा। दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा।।

दो०— **गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।**
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।।

चौ०—**मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।**
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते सन्त अधिक करि लेखा।।
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।।
नव महुँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।।
जोगि वृन्द दुर्लभ गति जोई । तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ।।

इसके पश्चात् शबरीजी ने सीताजी का समाचार कहा—यथा—

सियसुधि सब कही, नखशिख निरखि-निरखि दोउ भाई। दै-दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाई।।
अति प्रीति मानस राखि रामहिं रामधामहिं सो गई। तेहि मातु ज्यौं रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलिदई।।
तुलसी भनित शबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामयी। गावत सुनत समुझत भगति हिय होइ प्रभुपद नितनई।।

श्रीराम-राज्याभिषेक होने के बाद एक दिन श्रीप्रभु का दरबार लगा था। श्रीवशिष्ठजी ने चर्चा चलायी। वन में तो आपको बहुत से प्रेमी मिले होंगे तो क्या जैसे श्रीअवध में भरतजी आपके परमानुरागी हैं वैसे ही वन में भी कोई भक्त मिला था। श्रीरघुनाथजी क्रमशः मुनिगण-मिलन प्रसङ्ग वर्णन करते-करते, जब शबरी का प्रसङ्ग आया तो हा शबरी! कहकर मूर्छित हो गये। बहुत उपचार करने के बाद जब मूर्छा दूर हुई तो पुनः पूछने पर प्रभु शबरी-प्रेम का वर्णन करते अघाते ही नहीं थे। चौदह वर्ष बाद वन से आने पर—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कही शबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।। (विनय)

श्रीजटायुजी

जानकी हरण कियो रावण मरण काज सुनि सीतावाणी खगराज दौर्यौ आयो है।
बड़ी ये लड़ाई लीन्ही देह वारि फेरि दीन्ही राखे प्राण राममुख देखिबो सुहायौ है।।
आये आपु गोद शीश धारि दृग धार सींच्यो दई सुधि लई गति तनहू जरायो है।
दशरथ वत मान कियो जल दान यह अति सम्मान निज रूप धाम पायो है।।३८।।

शब्दार्थ—खगराज=पक्षिराज, जटायु। वारि फेरि=न्यौछावर। वत=तरह।

भावार्थ—रावण ने जब श्रीरघुनाथजी के हाथों से मरने के लिए वन में श्रीजानकीजी का हरण किया उस समय सीताजी का आर्तवाणी से विलाप सुनकर पक्षियों के राजा जटायुजी दौड़कर आये उन्होंने रावण के साथ बड़ा भारी युद्ध किया और उसी में अपना शरीर न्यौछावर कर दिया श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा से अपने प्राण नहीं छोड़े। श्रीजानकीजी को खोजते हुए श्रीरामजी आये और प्यार से जटायु के सिर को गोद में रख लिया। जटायु की दशा देखकर प्रभु इतने दुःखित हुए कि उनके नेत्रों से आँसुओं की धार बह चली। उससे जटायु का शरीर भीग गया। जटायुजी ने रावण के द्वारा सीताहरण का समाचार सुनाया और मुनि दुर्लभगति प्राप्त की। भगवान ने जटायुजी के शरीर का दाह-संस्कार किया और अपने पिता राजा दशरथ के समान उनको माना, अत्यन्त सम्मान के साथ जल से तर्पण तथा पिण्डदान किया। इस प्रकार जटायुजी ने दिव्य-चतुर्भुज रूप तथा वैकुण्ठधाम पाया।।३८।।

व्याख्या—पक्षिराज जटायुजी, गरुड़जी के ज्येष्ठ भ्राता अरुणजी के पुत्र थे। अद्‌भुत साहस अपरिमित- पराक्रम, अतुल-बल, विवेकशील-बुद्धि ये समस्त विशेषतायें जटायुजी में एक साथ वर्तमान थीं। इनके ज्येष्ठ भ्राता सम्पाती ने इनके जीवन के संस्मरण में एक प्रसंग युवावस्था का वर्णन किया है

यथा—**हम द्वौ बन्धु प्रथम तरुनाई। गगन गए रबि निकट उड़ाई। तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि निअरावा।। जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा।।** सूर्य तक पहुँचने की उड़ान में इनके साहस, पराक्रम और बल तथा असह्य तेज के कारण लौट आने में विवेक-बुद्धि का परिचय मिलता है। यही कारण है कि इन्हें सम्पाती जैसी दुर्दशा नहीं भोगनी पड़ी। ये लौटकर दण्डकारण्य में पंचवटी के वनों में निवास करने लगे।

इनकी अयोध्या नरेश चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी के साथ मित्रता थी। एकबार की बात है कि जब शनि कृत्तिका नक्षत्र के अन्त में थे तब ज्योतिषियों ने राजा दशरथजी को बताया कि अब शनैश्चर रोहिणी नक्षत्र को भेदकर (जिसे शकट-भेद भी कहते हैं) जाने वाले हैं, जिसका फल देव-दानवों को भी भयङ्कर है और पृथ्वी पर तो बारह वर्ष का भयङ्कर दुर्भिक्ष होना है। यह सुनकर सब लोग व्याकुल हो गये। तब राजा ने श्रीवशिष्ठादि ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे इसके परिहार का उपाय पूछा। वशिष्ठजी ने कहा कि यह योग ब्रह्मादि के लिए भी असाध्य है। इसका कोई परिहार नहीं। यह सुनकर राजा परम-साहस धारणकर दिव्यरथ में अपने दिव्यास्त्रों सहित बैठकर सूर्य के सवा-लक्ष-योजन ऊपर नक्षत्र-मण्डल में गये और वहाँ रोहिणी-नक्षत्र के पृष्ठ भाग में स्थित होकर उन्होंने शनि को लक्षित करके धनुष पर संहारास्त्र को चढ़ाकर कर्णपर्यन्त खींचा। परन्तु वाहरे शनि! शनि की दृष्टि पड़ते ही राजा का रथ भस्म हो गया। राजा आकाश से गिरने लगे। इतने में जटायु पहुँचे और राजा को अपनी पीठ पर बैठा लिया। तब फिर राजा ने धनुष-बाण लेकर सामना किया तब शनि हृदय से डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा। फिर उन्होंने राजा से कहा कि हम तुम पर प्रसन्न हैं वर माँगो। राजा ने यही माँगा कि आप अब कभी शकट-भेदन नहीं करना। शनि ने एवमस्तु कहा।

तब श्रीदशरथजी ने शनि की, स्तुति की, जिसे सुनकर शनि बड़े प्रसन्न हुए और यह वर दिये कि जो कोई तुम्हारी की हुई इस स्तुति को पढ़ेगा उसे मेरी बाधा नहीं होगी। फिर श्रीदशरथजी को जटायुजी ने सकुशल पृथ्वी पर पहुँचा दिया तो श्रीदशरथजी ने जटायु का बहुत उपकार माना और बोले—गीधराजजी! देखिये, मैं भू-मण्डल का चक्रवर्ती राजा हूँ मेरा नाम दशरथ है, आपने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है अतः आप बोलिये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ। 'यह राजा दशरथ हैं।' यह सुनकर श्रीजटायुजी ने अपना बड़ा भाग्य माना। क्योंकि वे ऋषियों, मुनियों, देवताओं से सुन रखे थे कि श्रीदशरथजी के यहाँ परात्पर-ब्रह्म का चतुर्व्यूह रूप से अवतार होने वाला है। अतः उन्होंने यही माँगा कि आपका ज्येष्ठ पुत्र मेरा रहे। यह सुनकर श्रीदशरथजी उदास होकर बोले—जटायुजी! आपने तो ऐसी वस्तु माँगी कि वचन खाली ही जायेगा। क्योंकि मेरा तो छोटा-बड़ा कोई पुत्र है ही नहीं। जटायुजी ने मुस्कुराकर कहा—अभी नहीं है न सही, जब होवै तो इस बात का ध्यान रखना कि ज्येष्ठ पुत्र मेरा है। श्रीदशरथजी ने 'एवमस्तु' कहा और घर चले आये।

अवतार का समय उपस्थित होने पर जब श्रीदशरथजी के यहाँ प्रभु का प्राकट्य हुआ तो जटायु ने आकाश में देवताओं को दुन्दुभि बजाते, स्तुति करते हुए देखकर जान लिया कि प्रभु का प्रादुर्भाव हो गया है, अतः चलूँ मैं भी दर्शन कर आऊँ। फिर क्या था? उड़े और आ विराजे श्रीदशरथजी के राजद्वार पर। इनका बड़ा विशाल कलेवर था अतः इन्हें देखकर श्रीअयोध्यावासियों को बड़ा कुतूहल हुआ। श्रीदशरथजी को खबर पड़ी तो उन्होंने जाकर देखा तो ये मेरे मित्र जटायु हैं। जटायुजी ने सादर अभिवादन

किया और बोले कि राजन्! आपको अपने वचन याद हैं? राजा ने कहा—हाँ मित्रवर! याद तो हैं। जटायु-तब लाओ हमारी थाती—श्रीदशरथजी ने महाभाग जटायु को सूतिका-गृह के द्वार ले जाकर श्रीरामलला का दर्शन कराया। जटायु धन्य-धन्य हो गये दर्शन पाकर। बोले कि ये अभी बहुत छोटे हैं अतः अभी आप ही इनका लालन-पालन करें, बड़े होने पर हम ले जायेंगे। यह कहकर जटायुजी चले गये एवं प्रकारेण जटायुजी प्रति पक्ष इसी बहाने श्रीअवध आते श्रीरामलला का दर्शन कर, श्रीदशरथजी को चैतन्य कर चले जाते। अन्ततोगत्वा श्रीराम में श्रीदशरथजी की ममता समझकर इन्होंने कह दिया कि अच्छा, आप इनको अपने पास ही रक्खें, हम तो पक्षी ठहरे, कहाँ रखेंगे, परन्तु ध्यान रखना इन पर स्वत्व हमारा ही है। श्रीदशरथजी बड़े ही प्रसन्न हुए। प्रभु श्रीरामजी ने जटायुजी के इस भाव को अन्त तक निबाहा। तभी तो कहा है कि—'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा।'

वनवास-काल में जब श्रीरघुनाथजी महर्षि अगस्त्यजी के संकेतानुसार पंचवटी पहुँचे हैं तो रास्ते में विशालकाय जटायु को देखकर उनका परिचय पूछा है तो वह बहुत ही मधुरवाणी से बोले—'वत्स! मुझे अपने पिता का मित्र जानो।' यथा—'**उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः।**' (वाल्मीकि) यह सुनकर भावग्राही प्रभु ने बिना कुछ और पूछे प्रथम जटायुजी की पूजा की, पश्चात् नामादि पूछा। तदनन्तर जटायुजी ने कहा कि तुम्हारे यहाँ रहने से मैं यथाशक्ति सहायता करूँगा। इससे प्रभु को बड़ा सन्तोष हुआ यथा—**गीधराज सैं भेट भइ, बहुविधि प्रीति बढ़ाइ। गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।।** (रा०च०मा०) अब कवित्त का भाव कहते हैं।

जानकी........काज—यथा—

चौ०— **सुर नर असुर नाग खग माहीं । मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं।।**
खर दूषन मोहि सम बलवन्ता । तिनहिं को मारइ बिनु भगवंता।।
सुर रंजन भंजन महि भारा । जौ भगवंत लीन्ह अवतारा।।
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ । प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।।
होइहि भजनु न तामस देहा । मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा।।

सुनि.......आयो है—यथा—

आरत वचन कहति वैदेही।
विलपति भूरि विसूरि दूरि गये मृग सँग परम सनेही।।
कहे कटु वचन रेखनांघी मैं तात छमा सो कीजै।
देखि बधिक बस राज मरालिनी लषन लाल छिनि लीजै।।
वनदेवनि सिय कहन कहति यौं छल करि नीच हरी हौं।
गोमर कर सुरधेनु नाथ ज्यौं त्यौं पर हाथ परी हौं।।
तुलसीदास रघुनाथ नाम धुनि अकनि गीध धुकि धायो।
पुत्रि-पुत्रि जनि डरहि न जैहैं नीचु मीचु हौं आयो।। (गीतावली)

पुनः— **गीधराज सुनि आरत बानी । रघुकुल तिलक नारि पहिचानी।।**
अधम निसाचर लीन्हे जाई । जिमि मलेछ बस कपिला गाई।।
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा । करिहउँ जातुधान कर नासा।।
धावा क्रोधवन्त खग कैसे । छूटइ पबि परबत कहुँ जैसे।। (रामा०)

बड़ी.......दीन्ही—

फिरत न बारहिं बार प्रचार्‌यौ।
चपरि चोंच चंगुल हय हति रथ खण्ड-खण्ड करि डार्‌यौ।।
विरथ विकल कियो छीन लीन्ह सिय घन घायनि अकुलान्यो।
तब असि काढ़ि काटि पर पाँवर लै प्रभु प्रिया परान्यो।।
राम काज खग राज आज लर्‌यौ जियत न जानकी त्यागी।
तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य विहँग बड़भागी।। (गी०)

राखे.........सुहायो है—यथा—

मेरे एकौ हाथ न लागी।
गयो बपु बीति बादि कानन ज्यों कलप लता दव दागी।।
दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी।
बरबस हरत निशाचर पति सों हठि न जानकी राखी।।
मरत न मैं रघुवीर विलोके तापस वेष बनाये।
चाहत चलन प्रान पांवर बिनु सिय सुधि प्रभुहिं सुनाये।।
बार-बार कर मीजि सीसधुनि गीधराज पछिताई।
तुलसी प्रभु कृपाल तेहि औसर आइ गये दोउ भाई।। (गी०)

आये......सींच्यो—यथा—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हों।।
सुनहु लखन! खग पतिहिं मिले वन मैं पितु मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो निठुर विधाता बड़ो पछ आजुहिं भान्यौ।।
बहु विधि राम कह्यौ तन राखन परम धीर नहिं डोल्यौ।
रोकि प्रेम अवलोकि वदन बिधु वचन मनोहर बोल्यौ।।
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं।।

श्रीजटायुजी अपने भाग्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि—'**श्रवन वचन मुख नाम रूप चख राम उछंग लियो हौं। तुलसी मो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं।।** (गी०) श्रीरघुनाथजी ने जटायुजी से शरीर रखने का बहुत अनुरोध किया, परन्तु जटायु ने आज अपना प्रेम-पासा पड़ा हुआ देख जीवन-धारण करना स्वीकार नहीं किया। यथा—

मेरे जान तात कछुक दिन जीजै।
देखिय आप सुवन सेवा सुख मोहि पितु को सुख दीजै।।
दिव्य-देह इच्छा-जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ दरसदै लोग कृतारथ कीजै।।
देखि बदन सुनि वचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
बोलो बिहँग विहँसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै।।

मेरे मरिबे सम न चारिफल होहिं तो क्यों न कहीजै।
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौनहीं परी मानो प्रेम सहीजै।। (गी०)

भाववश्य भगवान ने 'जटायु की धूरि जटान सों झारी।' यथा—

दीन मलीन अधीन हैं अंग विहंग परे छिति खिन्न दुखारी।
राघव-दीनदयाल-कृपाल को देखि दुखी करुना भइ भारी।।
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरे वारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सो झारी।।१।।
श्रीरघुनाथ जू लै खग हाथ निहारैं औ नैनन सों जल डारैं।
टूक ह्वै जात है सीता विथा 'केसौ' याकी सनेह कथा को विचारैं।।
तजि मोहि चले लगे नीको तुम्हें, हमें सौह तिहारी है संग तिहारे।
यों कहि राम गरो भरि फेरि जटायुकी धूरि जटान सों झारैं।।२।।
गोद धरे अखियाँ जु भरे प्रभु छांह करै छबि ओर निहारैं।
पोछत पच्छन से छत हू तन बाहु सों चंगुल चोंच सुधारैं।।
सोचत राम सकोचत आँसू सहो दुख मो हित गीध विचारैं।
श्रीरघुनाथजू आपने हाथ जटायु की धूरि जटान सों झारैं।।३।।

दई.........गति—

चौ०— तब कह गीध बचन धरि धीरा । सुनहु राम भंजन भव भीरा।।
नाथ दसानन यह गति कीन्हीं । तेहि खल जनक सुता हरि लीन्हीं।।
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं । बिलपति अति कुररी की नाईं।।
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना । चलन चहत अब कृपा निधाना।।
जल भरि नयन कहहिं रघुराई । तात कर्म निज ते गति पाई।।
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।
तनु तजि तात जाहु मम धामा । देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।।

श्रीजटायुजी गीध-शरीर का परित्याग कर भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर, अविरल भक्ति का वर पाकर जब भगवद्धाम को जाने लगे तो श्रीराम ने पिता श्रीदशरथजी के लिये सन्देश भेजा। यथा—

मेरो सुनियो तात सन्देशो।
सीय हरन जनि कहेहु पिता सों ह्वै है अधिक अँदेसो।।
रावरे पुण्य प्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहि हैं।
कुल समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहि हैं।।
सुनि प्रभु वचन राखि उर मूरति चरन-कमल सिर नाईं।
चल्यो नभ सुनत राम कल कीरति-अरु निजभाग बड़ाई।।
पितु ज्यौं गीध क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु विसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो।। (गी०)

तनहू.....पायो हैं—जटायु के शरीर छोड़ने पर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण जी से कहा—कि जैसे महाराज दशरथ हमारे पूज्य और मान्य हैं वैसे ही ये पक्षिराज भी हैं। यथा—**राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः। पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः।।** अतः लक्ष्मण! लकड़ी एकत्र करो, मैं इस गृध्रराज का, जो मेरे लिये मारे गये हैं, अग्नि-संस्कार करूँगा। 'यज्ञ करने वालों को, युद्ध में सन्मुख लड़ने वालों और पृथ्वी दान करने वालों को जो गति प्राप्त होती है तुम उसी को प्राप्त हो, मैं तुम्हारा संस्कार कर रहा हूँ।' ऐसा कहकर अपने बान्धवों की तरह दुःखी होकर उनका दाह-संस्कार किया। उनको पिण्डदान दिया। उनके लिए उन मन्त्रों का जप किया जो ब्राह्मण मृतप्राणी को स्वर्ग प्राप्ति के लिए जपा करते हैं। गोदावरी में स्नान करके उनके लिये जल दिया। यथा—'**ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ। उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ।।**' (वाल्मीकि)

श्रीजटायुजी के इस मङ्गल-मरण पर उनके भाग्य की सराहना करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—

दो०— **रघुनाथ विकल विहँग लखि, सो बिलोकि दोउ वीर।**
सिय सुधि कहि सियराम कहि, देह तजी मति धीर।।
दशरथ ते दश गुन भगति, सहित तासु करि काज।
सोचत बन्धु समेत प्रभु, कृपासिन्धु रघुराज।।
प्रभुहिं विलोकत गोद गत, सिय हित घायल नीच।
तुलसी पाई गीधपति, मुकुति मनोहर मीच।।
विरत करमरत भगत मुनि, सिद्ध ऊँच अरु नीच।
तुलसी सकल सिहात सुनि, गीधराज की मीच।।
मुये, मरत, मरिहैं, सकल, घरी पहर के बीच।
लही न काहू आज लौं, गीधराज - सी मीच।।
मुये मुकुत, जीवत मुकुत, मुकुत-मुकुत हूं बीच।
तुलसी सबही ते अधिक, गीधराज की मीच।। (दोहावली)

जिस समय हनुमानजी लङ्का में श्रीजानकीजी को श्रीराम, लक्ष्मण एवं सुग्रीवादि सखाओं का समाचार सुना रहे थे, श्रीजानकीजी अपने परम-हितैषी जटायु की सुधिकर प्रेम-विभोर होकर पूछने लगीं—

कहौ कपि हैं केहि भाँति जटाई।
घायल परे दुष्ट के करते तबते सुधि नहिं पाई।।
करति विलाप रही नभमें मैं पुत्रि-पुत्रि कहि धाई।
तोरि दशन दशवदन वदन के लीन्हो मोहि छोड़ाई।।
परहित साधन बलिवेदी पर जिन निज देह चढ़ाई।
सूरदास मैं करि न सकी कछु निज करते सेवकाई।।१।।
प्रभुसों कहियो कपि समुझाई।
ऐसो नाहिं मिलो तुलना में जैसो कियो जटाई।।

मेरे विषम विरह वियोग में जब फिरि हैं दोउ भाई।
तब परि पांय प्राणधन प्रभुसों कहियो विसरि न जाई।।
सूर-श्याम मम विनय मानि तेहिं कोसलपुर लै जाई।
सिंहासन बैठारि प्रेम सों करिहैं प्रभु सेवकाई।।२।।

श्रीहनुमानजी ने कहा—

माता गीध परम बड़भागी।
करि प्रभु दरस रूप धरि हरि को धाम गयो अनुरागी।।
पितु की अन्त क्रिया करिबे को बड़ो पुत्र अधिकारी।
सो पितु क्रिया भरत को सौंपी प्रभु खग क्रिया सँवारी।।
सीता की सेवा बिन पाये खग सुरधाम सिधारी।
सूर गिरी भू-सुता धरनि पर मनहु सक्र सर मारी।।

पुनः— मूर्च्छा दूर होने पर बार-बार श्रीजानकीजी ने जटायुजी की प्रेम-प्रशंसा किया। धन्य जटायु।।

श्रीध्रुवजी—स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद थे जिनकी दो रानियाँ थी—एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचि पर राजा का बड़ा प्रेम था, उससे उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीति से ध्रुवजी हुए। राजा प्रायः सुरुचि के महल में रहते थे। एकदिन राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में बिठाकर प्यार कर रहे थे उसी समय ध्रुवजी बालकों के साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुँच गये और पिता की गोद में बैठना चाहे परन्तु सुरुचि के भय से राजा ने इनकी ओर देखा भी नहीं। ये बालक थे इससे सिंहासन पर स्वयं चढ़ सकते नहीं थे, अतः इन्होंने कई बार पिता को पुकारा परन्तु राजा ने ध्यान नहीं दिया। तब सुरुचि राजा के समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक बोली—'वत्स! तूँ राजा की गोद में सिंहासन पर बैठने की इच्छा करता है, तू उसके योग्य नहीं है। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भ से नहीं उत्पन्न हुआ। तू राजसिंहासन का अधिकारी तभी होता जब हमारे उदर से तेरा जन्म होता। तू बालक है, नहीं जानता है कि तू अन्य स्त्री का पुत्र है। जा पहिले तप के द्वारा भगवान को सन्तुष्ट कर उनसे वर माँग कि मेरा जन्म सुरुचि से हो तब हमारा पुत्र होकर राजा के आसन का अधिकारी हो सकता है। अभी तेरा या तेरी माँ का इतना पुण्य नहीं है। अपने और अपनी माता के विषय में ऐसे निरादर के और हृदय में बिंधने वाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी स्तब्ध से रह गये और लम्बी-लम्बी श्वासें भरने लगे।

राजा यह सब देखता सुनता रहा परन्तु कुछ न बोला। बालक ध्रुव चीख मारकर रोते, ऊर्ध्व श्वांस लेते, ओठ फड़फड़ाते हुए अपनी माँ के पास आये। माँ ने यह दशा देख तुरन्त गोद में उठा लिया। संग के बालकों ने समस्त वृत्तान्त सुनाया। तब वह बोलीं—वत्स! तू किसी के अमंगल की इच्छा न कर, कोई दुःख दे तो उसे सह लेना चाहिए। सुरुचि के वचन बहुत उत्तम और सत्य हैं। वस्तुतः हम दुर्भगा हतभाग्या ही हैं। ध्रुव ने पूछा—माँ! मैं और उत्तम दोनों समानरूप के राजकुमार हैं, तब उत्तम क्यों उत्तम है और क्यों मैं अधम हूँ? राजसिंहासन क्यों उत्तम के योग्य है और क्यों मेरे योग्य नहीं है? सुनीति ने उत्तर दिया—बेटा! सुरुचि और उसके पुत्र उत्तम ने पूर्वजन्म में बड़ा-भारी पुण्य किया है, इसी से वे राजा के विशेष प्रेमभाजन

हैं, राजसिंहासनासीन होने के अधिकारी हैं। पुण्य से ही राजसिंहासन मिलता है। यदि तुझे भी राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा है तो विमाता ने जो यथार्थ बात कही हैं उसी का द्वेषभाव छोड़कर पालन कर और श्रीअधोक्षज भगवान के चरण-कमलों की आराधना कर। देख, उन श्रीहरि के चरण-कमलों की आराधना करने से ही श्रीब्रह्माजी को भी वह सर्वोत्तम पद प्राप्त हुआ है जिसकी मुनिजन भी वन्दना करते हैं।

इहै कह्यौ सुत वेद चहूँ।
श्रीरघुनाथ चरण चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूँ।।
जाके चरण विरञ्चि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।
सुक सनकादि मुकुत विचरत तेउ भजन करत अजहूँ।।
जद्यपि परम चपल श्री सन्तत थिर न रहति कतहूँ।
हरिपद पंकज पाइ अचल भइ करम वचन मनहूँ।।
करुणासिन्धु भगत चिन्तामणि सोभा सेवत हूँ।
और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ।।
सुरुचि कह्यौ सोइ सत्य तात अति परुष बचन जबहूँ।
तुलसिदास रघुनाथ विमुख नहिं मिटै विपति कबहूँ।। (विनय)

माता के ऐसे मोह तम नासक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चय कर, माता को प्रणाम कर और आशीर्वाद लेकर चल दिये। श्रीनारद मुनि ने जब यह सब सुना तो बड़े विस्मित हुए कि—'अहो! क्षत्रियों का कैसा अद्‌भुत तेज है? वे थोड़ा-सा भी मान-भङ्ग नहीं सह सकते। पाँच वर्ष का बालक इसको भी सौतेली माँ का कटु-वचन नहीं भूलता है।' प्रथम तो श्रीनारदजी ने इन्हें आकर समझाया-बुझाया कि घर लौट चलो, हम तुम्हें आधा राज्य दिला देंगे। भगवान की आराधना क्या खेल है? योगी-मुनि से भी पार नहीं लगता। (इत्यादि वचन परीक्षार्थ कहे) ध्रुवजी ने उत्तर दिया—'मैं घोर क्षत्रिय स्वभाव के वश में हूँ। सुरुचि के वचनरूपी वाणों से मेरे हृदय में छिद्र हो गया है। आपके वचन इसी से उसमें नहीं ठहरते हैं। आपने कृपा करके दर्शन दिया तो अब ऐसी कृपा करिये कि मैं शीघ्र ही श्रीहरि को सन्तुष्ट कर वह पद प्राप्त कर लूँ जो त्रिलोकी में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं।' देवर्षि ने कृपा करके द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का उपदेश किया और मधुवन में जाकर आराधना करने का आदेश दिया।

ध्रुव ने मधुवन में पहुँचकर आराधना आरम्भ कर दी। आराधनाकाल में ध्रुव ने शरीर निर्वाहार्थ तीन-तीन रात्रि के अन्तर से केवल कैथा और बेर पाकर एक-मास व्यतीत किया। दूसरे महीने में छः-छः दिन के अन्तर से सूखे पत्ते और घास खाकर भगवद्भजन किया। तीसरे में नौ-नौ दिन पर केवल जल पीकर आराधना करते रहे। चौथे महीने में बारह-बारह दिन के अनन्तर केवल वायु पीकर भगवद्-ध्यान करते रहे। पाँचवे महीने में तो उन्होंने श्वांस लेना भी बन्दकर दिया। भगवान की अतिशय प्रबल माया ने इसी बीच विविध विघ्न किये, परन्तु ध्रुव की ध्रुवनिष्ठा के सामने उसे पराजित ही होना पड़ा। (देखिये कवित्त ६—ताहि विघ्नडर छेरीहू को) ध्रुव के तप से तप्त देवताओं ने भगवान श्रीहरि से पुकार की। भगवान

तो ऐसे महाभागवत का दर्शन करने के लिये लालायित हो उठे और गरुड़ पर आरूढ़ होकर मधुवन में आ गये। प्रभु का दर्शन पाकर बालक ध्रुव को परम-आनन्द हुआ, वह प्रेम से अधीर हो उठा, उसने पृथ्वी पर दण्ड के समान पड़कर उन्हें प्रणाम किया। हाथ-जोड़े हुए, सिर-झुकाये, विनयावनत बालक ध्रुव प्रभु के सामने खड़े होकर स्तुति करना चाहकर भी नहीं कर पाते थे। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ने कृपा करके अपने वेदमय शंख को उनके कपोल से छुआ दिया। ध्रुव को तत्काल दिव्य-वाणी प्राप्त हो गई और भगवान की स्तुति करने लगे।

श्रीप्रभु ने ध्रुव को ध्रुवपद प्रदान किया जो कल्प पर्यन्त रहने वाले अन्य लोकों का नाश हो जाने पर भी स्वयं स्थिर रहता है तथा तारागण के सहित धर्म अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि नक्षत्र एवं सप्तर्षिगण जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। साथ ही ३६००० (छत्तीस हजार) वर्ष तक के लिये पृथ्वी का राज्य भी प्रदान किया।

ध्रुव के वन चले जाने पर राजा उत्तानपाद को अपनी भूलों पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। देवर्षि श्रीनारदजी ने आकर ध्रुव के उज्ज्वल भविष्य की मङ्गल-कथा सुनाकर उनको आश्वासन दिया। फिर तो वे अहर्निश ध्रुव-मिलन की प्रतीक्षा करते हुए संसार से सर्वथा उदासीन रहने लगे। भगवत्कृपा पाकर ध्रुव घर को लौटे, महाराज उत्तानपादजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा इस शुभ-सन्देश को सुनाने वाले को बहुमूल्य हार दिया, ध्रुव के स्वागत की बहुत-बड़ी तैयारी की। पुत्र को देखने के लिये वे बहुत दिनों से उत्कण्ठित हो रहे थे। प्रेमातुर उत्तानपादजी ध्रुव को देखते ही उन्हें भुजाओं में भरकर बहुत-बहुत प्यार प्रदान किया। माता सुरुचि ने भी भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया। माता सुनीति का हर्ष वाणी से परे का है, उसे वर्णन ही कौन कर सकता है। नगर में परम-हर्षोल्लास छा गया, श्रीउत्तानपादजी ने शुभ-मुहूर्त में ध्रुवजी को निखिल-भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए संसार से विरक्त होकर वन को चल दिये। सर्वोपाधि-शून्य-सर्वात्मा अच्युत में अतिशय भक्ति-भाव रखते हुए श्रीध्रुवजी ने छत्तीस हजार वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया।

एकबार शिकार खेलते हुए उत्तम को एक यक्ष ने मार डाला। उसके वियोग में उसकी माता भी दावानल में जल मरी। यह सुनकर ध्रुवजी ने यक्षों से भरी अलकापुरी पर चढ़ाई कर दी। भयंकर संग्राम हुआ। तेरह अयुत यक्ष सेना का सत्यानाश देखकर यक्षों ने आसुरी माया का प्रयोग किया। मुनिगण मङ्गल-कामना करते हुए कहने लगे, 'वत्स ध्रुव! शरणागत रक्षक नारायण तुम्हारे शत्रुओं का संहार करें। ध्रुवजी ने नारायणास्त्र से माया नष्ट कर दी। यक्षों का विध्वंश देखकर श्रीमनुजी ने आकर समझाया—'तात! बस, बस। निरपराध यक्षों का वध न करो। प्रभु तुम्हें अपना प्रिय-भक्त समझते हैं तथा भक्तजन तुम्हारा बड़ा आदर करते हैं। तुम साधुजनों के पथ-प्रदर्शक हो अतः क्षमा करो।' ध्रुवजी ने श्रीमनुजी को प्रणाम किया और शान्त हो गये। यह जानकर सभी यक्ष चारण किन्नर लोग उनकी स्तुति करने लगे। ये हाथ-जोड़कर खड़े हो गये। तदनन्तर कुबेर ने आकर कहा—मैं प्रसन्न हूँ वरदान माँगो। ध्रुवजी के मन में पछतावा था कि मैंने सकाम-आराधना कर भगवान से श्रेष्ठपद चाहा अतः प्रेमाभक्ति की कामना करते हुए इन्होंने कहा—हे शंकर सखा कुबेरजी! आप हमें यह वर दें कि मुझे श्रीहरि की अखण्ड-स्मृति बनी रहे।' एवमस्तु कहकर कुबेर समेत सभी देवगण ध्रुवजी पर पुष्पवृष्टि करने लगे।

इनके भक्तिभाव पर रीझकर भगवान विष्णु नित्य इनके साथ बैठकर सत्सङ्ग करते। एक दिन श्रीध्रुवजी और श्रीभगवान विष्णु नौका-विहार कर रहे थे। अत्यन्त भाव में भर कर कभी तो श्रीध्रुवजी नाव खेते, कभी स्वयं भगवान खेते, कभी एक डाँड़ ध्रुवजी अपने हाथ में लेते और एक डाँड़ भगवान अपने हाथ में लेते, और नाव चलाते। इस प्रकार अत्यन्त आनन्दमय जल बिहार हो रहा था। इसी बीच ध्रुवजी ने कहा—प्रभो! एक संशय मेरे मन में है, आप कृपा कर उसे दूर करें। प्रभु की अनुमति मिलने पर ध्रुवजी ने पूछा—जब मैं विमाता के वाग्बाणों से बिद्ध होकर आपके आराधन के लिये उन्मुख हुआ तो मार्ग में श्रीनारदजी मिले और कहे कि बड़े-बड़े ऋषीश्वरों मुनीश्वरों को भी, करोड़ों कल्पों में भी भगवान का दर्शन दुर्लभ है। तो नारदजी के वचन तो झूठे हो नहीं सकते। यथा—'मृषा न होइ देवरिषि भाषा।' फिर आप मुझे पाँच महीने में ही कैसे मिल गये? भगवान ने कहा—ध्रुवजी! यह तो कहने कहाने की बात है कि पाँच महीने में धुव को भगवत्प्राप्ति हो गई। वस्तुतस्तु यह तुम्हारी करोड़ों वर्षों की तपस्या का फल है। ध्रुव को कुतूहल-सा हुआ कि इस बात को हम कैसे समझें तो भगवान ने उनको दिव्य दृष्टि प्रदान किया तो ध्रुव को अपने पिछले जन्मों की तपस्या का अनुभव हुआ। ध्रुव ने देखा—हमारे करोड़ों शरीर कहीं गुफाओं में, कहीं कन्दराओं में, कहीं नदी के कछारों में, कहीं घोर जंगलों में तप करते-करते सूख गये हैं। तब ध्रुव की आँख खुली। भगवान ने कहा कि इतना अवश्य है—यदि करोड़ कल्प में भी मेरी प्राप्ति हो जाय तो उसे सुलभ ही समझना चाहिये। सच तो यह है कि भगवान कृपा से ही मिलते हैं। साधन तो एक निमित्त है।

अन्त में ध्रुवजी अपने पुत्र उत्कल को राज्य देकर स्वयं बदरिकाश्रम को चले गये और उन्होंने गङ्गातट पर निवास करते हुए भजन करने का निश्चय किया। गङ्गातट पर श्रीध्रुवजी को और तो सब प्रकार का सुख था, परन्तु गङ्गाजी के बहुत ऊँचे से गिरने से वहाँ शोर बहुत होता था अतः श्रीध्रुवजी का मन वहाँ नहीं लगा क्योंकि शोरगुल से ध्यान में विक्षेप पड़ता था। इसलिये दो चार दिन रहकर फिर वे वहाँ से चल दिये। जब श्रीगङ्गाजी ने ध्रुव को जाते देखा तो बड़ी ही दुःखी हुईं और बालिका का रूप धरकर उनसे मिलीं। जब ध्रुव ने जाने का हेतु पूछने पर गंगा का शोरगुल करना बताया। तब तो और भी दुःखी हुईं कि मेरे कारण से दुःखी होकर जा रहे हैं। अतः साक्षात् प्रगट होकर प्रार्थना करने लगीं कि—आपके आने से हमें बड़ा सुख हुआ, क्योंकि 'सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।' तथा जाने से दुःख भी बहुत हुआ। यथा—'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। परन्तु अब तो मेरे दुःख का ठिकाना नहीं रहा जो आप मुझसे दुःख मानकर जा रहे हैं, सुख से जाते तो कोई बात नहीं थी, अतः आप यही रहें मैं अब कुछ भी शोरगुल नहीं करूँगी। तब श्रीध्रुवजी रुक गये। श्रीगंगाजी अब तक वहाँ शान्त हैं।

जिस समय भगवान की आज्ञा से भगवत्पार्षद दिव्य विमान लेकर आये और श्रीध्रुवजी से भगवद्धाम को चलने की प्रार्थना किये, ध्रुवजी बदरिकाश्रम में निवास करने वाले मुनियों को प्रणाम कर, दिव्य रूप धारण करके उस पर चढ़ने को तैयार हुए थे कि देखा कि काल मूर्तिमान होकर उनके सामने खड़ा है। काल ने प्रार्थना किया—महाराज! जगत में जन्म लेने वाले सभी प्राणी मेरे द्वारा ग्रास किये जाते हैं, परन्तु आपके भजन के प्रभाव से आपको ग्रसने की शक्ति मुझमें नहीं है। लेकिन यदि आप हमसे सर्वथा असंस्पृष्ट ही चले जाते हैं तो मेरी मर्यादा जाती है अतः आप ऐसा कीजिए कि मेरी मर्यादा भी बनी रहे और आपका प्रभाव भी बना रहे। श्रीध्रुवजी ने पूछा कि तो हम क्या करें? काल ने कहा—देखिये! विमान पृथ्वी से

ऊपर है। यह दिव्य होने से पृथ्वी का स्पर्श नहीं कर सकता है, अत: मैं यहाँ बैठ जाता हूँ। आप मेरे सिर पर पैर रखकर चढ़ जाइये, इससे मेरी मर्यादा भी रह जाएगी कि ध्रुव को भी काल का स्पर्श हुआ और आपका प्रभाव भी बना रहेगा कि ध्रुवजी काल के सिर पर पांव रखकर भगवद्धाम को गये। ध्रुवजी ने ऐसा ही किया। विमान पर आरूढ़ होकर ध्रुवजी ज्यों ही चलने को प्रस्तुत हुए त्यों ही उन्हें अपनी माता सुनीति का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे क्या मैं बिचारी अपनी माता को छोड़कर अकेला ही दुर्लभ वैकुण्ठधाम को जाऊँगा। ध्रुव के मन के भाव को जानकर भगवत्पार्षदों ने उन्हें दिखाया कि देवी सुनीति आगे-आगे दूसरे विमान पर जा रही हैं, ध्रुव ने भगवत्कृपा से ध्रुवपद पाया।

श्रीध्रुव-चरित्र का आध्यात्मिक रहस्य—महत्वाकांक्षी जीव ही उत्तानपाद है (ऊपर पैर बढ़ाने वाला) सुरुचि और सुनीति, ये दो वृत्तियाँ ही तत्तत् नामवाली रानियाँ हैं। सुरुचि के प्रति जीव का सहज आकर्षण होता ही है यही उत्तानपाद का छोटी रानी में प्रेम है। रुचि की अपेक्षा नीति बड़ी है अत: सुरुचि छोटी रानी, और सुनीति बड़ी रानी है। उपेक्षित होने पर भी सुनीति में शान्ति है सुरुचि का पुत्र उत्तम और सुनीति का पुत्र ध्रुव। वृत्तियों का भी यही परिणाम है, सुरुचि उत्तम भोगों को जन्म देती हैं। जो कि क्षयिष्णु हैं। सुनीति ध्रुवपद प्रदान करने वाली होती है। यही कारण है कि उत्तम मारा गया और सुरुचि भी समाप्त हो गई और ध्रुव आज भी ध्रुवपद पर प्रतिष्ठित हैं। अंत: जीव को चाहिये कि सुरुचि से रुचि हटाकर सुनीति से प्रेम करे।

गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी कहते हैं—

ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ । पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।। (रा०च०मा०)

श्रीअम्बरीषजी

अम्बरीष भक्त की जो रीस कोऊ करै और बड़ो मति बौर किहूँ जान नहिं भाखिये।
दुरबासा रिषि सीष सुनी नहीं कहूँ साधु मानि अपराध सिर जटा खैंचि नाखिये।।
लई उपजाय काल कृत्या विकराल रूप भूप महाधीर रह्यौ ठाढ़ो अभिलाखिये।
चक्र दुख मानि लै कृशानु तेज राख करी परी भीर ब्राह्मण को भागवत साखिये।।३९।।

शब्दार्थ—रीस=स्पर्धा, ईर्ष्या, बराबरी। मतिबौर=बुद्धि का पागलपन। नाखिये=फेंक दिया। कालकृत्या=कालाग्नि, राक्षसी। विकराल=भयंकर। कृशानु=अग्नि। तेज=प्रभाव। भीर=संकट। साखिये=प्रमाण-साक्षी है।

भावार्थ—राजऋषि भक्त अम्बरीष से ईर्ष्या करके यदि कोई उनकी बराबरी करना चाहे तो वह महामूर्ख और पागल है क्योंकि उनकी भक्ति को कोई नहीं जान सकता है वह अपार है, उसका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सकता है। दुर्वासा ऋषि के समान किसी तपस्वी साधु का रोष नहीं सुना गया। भक्तों के साथ स्पर्धा और बराबरी नहीं करना चाहिये। इस उत्तम शिक्षा को भी उन्होंने नहीं माना। अम्बरीषजी को अपराधी मानकर उनके ऊपर कुपित हो गये। सिर की जटा खींचकर पृथ्वी पर पकट दी। उससे भयंकर रूपवाली कालकृत्या शक्ति उत्पन्न करके उसे आज्ञा दी कि—इस राजा अम्बरीष को भस्म कर दो। वह अम्बरीष की ओर चली। वे महा धैर्यवान थे, भयभीत नहीं हुए। हाथ जोड़कर ऋषि

को प्रसन्न करने की अभिलाषा से खड़े ही रहे। चक्रसुदर्शन भगवान राज्य समेत राजा की रक्षा में सदा तत्पर थे। उन्होंने दु:ख मानकर कालकृत्या की अग्नि को राख कर दिया। पश्चात् वे दुर्वासा की ओर चले। ब्राह्मण पर भारी सङ्कट पड़ा। श्रीमद्भागवत में सविस्तार वर्णन है।।३९।।

व्याख्या—वैवस्त मनु के पुत्र हुये नभग और नभग के हुये महाभाग नाभागजी। इन्हीं नाभागजी के पुत्र हुये परम भागवत श्रीअम्बरीष जी। वर्णन आया है कि राजर्षि नाभाग अपनी पत्नी के सहित दीर्घकाल तक पुत्र की कामना से भगवदाराधन करते रहे। एक बार की बात है, दम्पति रात्रि में यशन कर रहे थे, उसी समय भगवान ने प्रसन्न होकर कहा—अम्ब! वे बोलीं—कौन! प्रभु ने कहा—ईश। यह सुनकर राजर्षि दम्पत्ति तत्काल उठ बैठे, प्रभु के दर्शन किये तथा स्तुति करने के बाद वरदोन्मुख प्रभु से पुत्र का वर माँगा। भगवान अपने ही अंश से पुत्र होने का वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। समय पर जब नाभाग के पुत्र हुआ तो नाम रखा गया— 'अम्बरीष'। कारण यह है कि दम्पत्ति ने भगवान के श्रीमुख से अम्ब-ईश यह शब्द सुना था। श्रीअम्बरीषजी का भगवान श्रीकृष्ण में तथा उनके प्रेमी सन्त-महात्माओं में परम प्रेम था। यथा—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसना तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्येनतु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोक जनाश्रया रतिः।। (भा० ९-४-१८-२०)

अर्थ—उन्होंने अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणारविन्द युगल में, वाणी को भगवद् गुणानुवर्णन में हाथों को श्रीहरि-मन्दिर मार्जन सेवन में और अपने कानों को भगवान् अच्युत की मङ्गलमयी कथा के श्रवण में लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्द मूर्ति एवं मन्दिरों के दर्शनों में, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तों के शरीर स्पर्श में नासिका उनके चरणकमलों पर चढ़ी श्रीमती तुलसी के दिव्य गन्ध में और रसना (जिह्वा) को भगवान के प्रति अर्पित नैवेद्य प्रसाद में संलग्न कर दिया था। अम्बरीष के पैर भगवान के क्षेत्र आदि की पैदल यात्रा, करने में ही लगे रहते और वे सिर से भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलों की वन्दना किया करते। राजा अम्बरीष ने समस्त भोग सामग्री भगवान की सेवा में समर्पित कर दिया था। भोगने की इच्छा से नहीं, बल्कि इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्र कीर्ति भगवान के निज जनों में ही निवास करता है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—

अम्बरीष.........भाखिये—बड़ों की बराबरी नहीं करनी चाहिये।

दृष्टान्त-हंस और काग का—समुद्र तट के किसी निकटवर्ती नगर में एक धनी वैश्य के पुत्रों ने एक कौआ पाल रखा था। मनमाना पुष्टकर भोजन मिलने से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट कौआ अपने सामने किसी पक्षी को कुछ समझता ही नहीं था। एक दिन समुद्र तट पर कुछ हंस आकर उतरे। हंसों की प्रशंसा सुनकर उस मन्दमति अभिमानी कौवे ने उनके पास जाकर प्रतियोगिता करके उड़ान की चुनौती दी। हंसों ने बहुत समझाया कि भला मानसरोवर निवासी हम हंसों के साथ तुम कैसे उड़ सकते हो? मिथ्याभिमानी

कौए ने अपनी उड़ने की सैकड़ों गतिविधियों का वर्णन करते हुए कहा—बताओ इनमें से तुम किस गति से उड़ना चाहते हो? हंस ने हँसकर कहा भैया! मैं तो एक ही गति जानता हूँ जो हम लोगों की स्वाभाविक गति है। नहीं मानते हो तो तुम अपनी गति से उड़ो मैं अपनी गति से उड़ूँगा। उस समय वहाँ और भी पक्षी यह प्रतियोगिता देखने के लिये आ गये। उड़ान समुद्र की ओर लगाई गई। प्रारम्भ में कौआ अपनी कला दिखाता हुआ हंस के आगे-आगे उड़ता था और हंस अपनी स्वाभाविक सामान्य गति से उड़ रहा था। थोड़ी देर बाद ही कौआ थक गया, विश्राम-स्थल की तलाश करने पर भी उसे जब कहीं आश्रय नहीं मिला तो हृदय से हारकर समुद्र के जल के ऊपर तैरने लगा, उसके चोंच और पंख बार-बार जल में डूबने लगे। इधर हंस बहुत आगे निकल गया। जब उसने पीछे मुड़कर देखा तो कौए की दुर्दशा पर उसे बहुत तरस आया अतः समीप आकर पूछा—भैया! उड़ने की विविध गतियों में यह कौन-सी गति है? कौए को अब मालूम हो गया था कि हम कितने पानी में हैं। अतः बड़ी दीनता पूर्वक बोला—हंसराज! यह बड़ों से स्पर्धा करने वालों की जो गति होती है वह गति है। भला, काँव-काँव करने वाले तुच्छ पक्षी हम काग आप हंसों की बराबरी क्या कर सकते हैं। अब कृपा करके मेरे प्राण बचाओ। हंस ने उस कौए को उठाकर उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से उड़ा था। अतः बड़ो मतिबौर कहा।

किहूँ जान नहिं भाखिये—किहूँ=कोई भी, किसी प्रकार भी। जान नहि=जानने में नहीं आती, अतः नहिं भाखिये=कही नहीं जाती। (यहाँ 'नहिं' शब्द दीप देहरी न्याय से जान और भाखिये दोनों शब्दों के साथ है।) यहाँ दो बातें कही गई हैं—१. बड़ों की बराबरी नहीं करनी चाहिये। २. अम्बरीषजी की भक्ति को जाना ही नहीं जा सकता है तो भला किया कैसे जा सकता है अतः 'बड़ो मति बौर' कहा। 'भाषिये'—का भाव यह कि यद्यपि याथार्थ्येन श्रीअम्बरीषजी की भक्ति नहीं कही जा सकती तो भी अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये मैं यथा मति वर्णन करता हूँ। यथा—**तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी।। निजगिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो। रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लह्यो।।**

दुरवासा.........साधु—श्रीदुर्वासाजी ने तीर्थराज प्रयाग में मकर संक्रान्ति के समय सन्त समाज के बीच श्रीनारदजी के द्वारा अम्बरीषजी की बड़ी बड़ाई सुनी। चूँकि श्रीअम्बरीषजी श्रीनारदजी के कृपापात्र थे। अतः दुर्वासाजी को ऐसा लगा कि मानो ये शिष्य होने के नाते राजा की तो इतनी बड़ाई कर रहे हैं और हम ऋषियों की कोई चर्चा नहीं। अतः वहाँ से उठकर चले दिये। परन्तु आश्चर्य! दुर्वासाजी जहाँ भी जाते वहीं महाराज अम्बरीष की प्रशंसा सुनने को मिलती। तब तो दुर्वासाजी के मन में राजा की भक्ति को देखने की इच्छा हुई। फिर तो चल ही पड़े। उन दिनों महाराज अम्बरीष ने अपनी धर्मशीला पत्नी के सहित भगवान श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए एक वर्ष तक द्वादशी प्रधान एकादशी व्रत करने का नियम लेकर विधिपूर्वक व्रत किया। व्रत की समाप्ति पर कार्तिक महीने में मधुपुरी में निवास करते हुये नित्य यमुना स्नान कर भगवान श्रीकृष्ण का महाभिषेक पूर्वक पूजन करते। शुक्ल पक्ष की प्रबोधिनी एकादशी को निर्जल व्रत करके विधि पूर्वक रात्रि में जागरण किया, प्रातःकाल द्वादशी के दिन स्नान और पूजन करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान-मान से सन्तुष्ट कर स्वयं भी ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर व्रत का पारण करने के लिये भोजन करने को बैठे ही थे कि शाप और वरदान देने में समर्थ श्रीदुर्वासाजी अपने दस हजार शिष्यों के सहित वहाँ आ पहुँचे।

राजा ने उठकर महर्षि का यथोचित सत्कार किया और भोजन के लिये प्रार्थना की। दुर्वासाजी स्वीकृति देकर आवश्यक कृत्य करने के लिये यमुना तट पर चले गये। इधर द्वादशी केवल घड़ी भर शेष रह गयी थी। राजा की 'भइ गति साँप छछुन्दर केरी' यदि ऋषि की प्रतीक्षा करता हूँ तो व्रत खण्डित होता है और यदि पारण कर लेता हूँ तो ऋषि की अवज्ञा होती है। अत: श्रीवशिष्ठजी प्रभृति धर्मनिर्णायक ब्राह्मणों से पूछे, तब उन लोगों ने विचार कर भगवत् चरणामृत ग्रहण करने की आज्ञा दी। श्रीअम्बरीषजी ने श्रीकृष्ण चरणारविन्दों का चिन्तन करते हुए चरणामृत पी लिया। इतने में ही दुर्वासाजी आ गये और वे सर्वज्ञ तो थे ही सब जानकर, अपना अपमान समझकर, राजा का अपराध मानकर कुपित हो उठे।'' मान अपराध से जनाया गया कि राजा का अपराध है नहीं, वे तो शास्त्र सम्मत कार्य ही किये परन्तु इन्होंने अपनी जोरावरी बस उसे अपराध मान लिया। यद्यपि ब्राह्मण-साधुओं ने मुनिजी को समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि राजा का कोई दोष नहीं है। परन्तु ये तो किसी की शिक्षा सुने ही नहीं।

भूप महाधीर—राजा को महाधीर कहने का भाव यह है कि दुर्वासाजी मुनि होकर भी बिना अपराध के अपराध मानकर कुपित हो गये परन्तु राजा को मुनि के इस विपरीत व्यवहार पर किंचित् मात्र भी रोष-क्षोभ नहीं हुआ। जो किसी प्रकार भी विचलित न हो वही तो परमधीर है। यथा—'परम धीर नहिं चलहिं चलाये।' नहीं तो राजा स्वयं भी समर्थ थे, चाहते तो बड़ा से बड़ा, कड़ा से कड़ा प्रतिकार कर सकते थे। इस पर दृष्टान्त श्रीवशिष्ठजी और निमिजी का (देखिये छप्पय १२) 'रह्यो........... अभिलाषिये—' भाव यह है कि यद्यपि राजा का कोई अपराध नहीं था तो भी ऋषि को कैसे भी मेरे निमित्त से क्रोध हो गया, यह मेरा अपराध ही है, यह मानकर इसके प्रायश्चित के लिये आप अभिलाषा कर रहे थे कि अवश्य ही मुझे कृत्या जला दे जिससे मेरा प्रायश्चित एवं मुनि को सन्तोष हो जायेगा। इस पर दृष्टान्त श्री परीक्षितजी का (देखिये छप्पय १०)

चक्र.........साखिये—अम्बरीषजी की अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति से प्रसन्न होकर तथा भगवदाराधन में अत्यन्त तन्मय होने के कारण राज्य शासन व्यवस्था की ओर से एकदम उदासीन जानकर भगवान ने उनकी रक्षा के लिये तथा शासन व्यवस्था के लिए सुदर्शन चक्र को नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियों को भयभीत करने वाला एवं भक्तों की रक्षा करने वाला है। ऐसे सुदर्शन चक्र जी ने जब सर्वथा निर्दोष राजा पर मुनि को कुपित होकर कृत्या का प्रयोग करते देखा तो बड़ा ही दु:ख हुआ। फिर तो अपने प्रचण्ड तेज से कृत्या को भस्म कर मुनि पर भी झपटे। यह कथा श्रीमद्भागवत जी में विस्तार से है।

भाज्यो दिशा दिशा सब लोक लोकपाल पास गयो नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।
ब्रह्मा शिव कही यह गही तुव टेव बुरी दासनि को भेद नहिं जान्यो वेद धारे हैं।।
पहुंचे वैकुण्ठ जाय कह्यौ दु:ख अकुलाय हाय हाय राखौ प्रभु खरो तन जारे हैं।
मैं तो हौं अधीन तीनि गुन को न मान मेरे भक्तवात्सल्य गुन सबही को टारे हैं।।४०।।

शब्दार्थ—चून किये=जलाये, पत्थर से चूना चूर्ण। टेव=आदत, स्वभाव। वेद धारे हैं=वेदों में लिखा है, गाते हैं। खरो=उत्तम ब्राह्मण।

भावार्थ—दुर्वासाजी चक्र सुदर्शन के भय से भागे। सभी दिशाओं में सभी लोकों में और सभी लोकपालों के पाय गये। पर किसी ने भी उनकी रक्षा नहीं की। चक्र का असह्य तेज बढ़ता ही जा रहा था, वह ऋषि को जलाकर पत्थर से चूना की तरह तप्त कर रहा था। वे ब्रह्मा और शङ्कर के लोकों को गये। उन्होंने भी रक्षा नहीं की और कहा कि—भक्तों की परीक्षा लेने की तुम्हारी यह आदत बड़ी बुरी है। भक्तों की महिमा और उनके भेद तो आपने बिल्कुल ही नहीं जाना, जिसका सभी वेद वर्णन करते हैं। तब दुर्वासाजी वैकुण्ठलोक में भगवान के पास पहुँचे और व्याकुल होकर बोले कि—हाय-हाय प्रभो! रक्षा करो, रक्षा करो। मुझ ब्राह्मण के उत्तम शरीर को आपका चक्र जला रहा है। भगवन्! आप शरणागत रक्षक, भक्त आर्ति नाशक और ब्रह्मण्यदेव हैं। आपके इन तीनों गुणों के प्रताप से मैं रक्षा के योग्य हूँ, क्योंकि मैं शरणागत, दु:खी ब्राह्मण हूँ। भगवान ने कहा कि—मैं तो अपने भक्तों के अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। आपके बताये हुये तीनों गुणों को मैं उतनी मान्यता नहीं देता हूँ जितनी कि भक्तवत्सलता को। एक दास वात्सल्य गुण ने उन तीनों गुणों को दूर कर दिया।।४०।।

व्याख्या—भाज्यो—'भूप रह्यो ठाढो' और ऋषि भाज्यो' यही अन्तर है भक्ति और तप में। अनन्य गतिक भक्त राजा अम्बरीष भगवान का स्मरण करते हुये अपने स्थान पर अचल हैं, परम तपस्वी महर्षि दुर्वासा भागे-भागे फिर रहे है कृत्या ऋषि प्रयुक्त है, राजा ने अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना नहीं की, चक्र का प्रयोग नहीं किया वह भगवत्प्रयुक्त है। दुर्वासा कृत कृत्या-प्रयोग को श्रीचक्र ने विफल कर दिया परन्तु चक्रकृत कोप को तप निवारण करने में असमर्थ है। भक्त का बाल भी बांका नहीं हुआ और तपस्वीजी चूने हुये जा रहे हैं। इसी से भक्ति की सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यथा—**सा तु कर्म ज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।।** (ना०भ०सू०) अर्थ—वह प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठतर है। स्वयं श्रीभगवान कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्याय स्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता (भा० ११-१४-२०)

अर्थ—जिस प्रकार मेरी दृढ़भक्ति मुझे वश करती है उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वश में नहीं करते हैं।।

पुनः—**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्यं विधो दृष्टं दृष्टवानसि मां यथा।।**
भक्त्या त्वनन्या शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

(गीता ११-५३-५४)

अर्थ—हे अर्जुन! जैसा तुमने मुझको देखा है वैसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से मैं नहीं देखने में आता हूँ। हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार से मुझे देखा जाना, मुझे तत्व से जानना और मुझमें प्रवेश पाना सम्भव है।

भाज्यो दिशा दिशा—इस पर दृष्टान्त जयन्त का—

चौ०—**सुरपति सुत धरि बायस बेषा । सठ चाहत रघुपति बल देखा।।**
सीता चरन चोंच हति भागा । मूढ़ मन्द मति कारन कागा।।
चला रुधिर रघुनायक जाना । सींक धनुष सायक संधाना।।
प्रेरित मन्त्र ब्रह्म सर धावा । चला भाजि बायस भय पावा।।

धरि निजरूप गयउ पितु पाहीं । राम बिमुख राखा तेहिं नाहीं।।
भा निरास उपजी मन त्रासा । जथा चक्र भय रिषि दुर्वासा।।
ब्रह्म धाम सिव पुर सब लोका । फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका।।
काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकइ राम कर द्रोही।।
मातु मृत्यु पितु समन समाना । सुधा होइ विष सुनु हरिजाना।।
मित्र करइ सत रिपु कै करनी । ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी।।
सब जग ताहि अनलहुँ ते ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।। (रा०च०मा०)

ब्रह्म वाक्य—

स्थानं मदीयं सह विश्व मेतत् क्रीडावसाने द्विपरार्ध संज्ञे।
भ्रूभङ्ग मात्रेण हि संदिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति।। (भा० ९-४-५३)

अर्थ—जब मेरी दो परार्ध की आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान अपनी सह सृष्टि लीला समेटने लगेंगे और इस जगत् को जलाना चाहेंगे उस समय उनके भ्रूभङ्ग मात्र से यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायेगा तो भला उनके भक्त के द्रोही को उनके महास्त्र से बचाने में हम कैसे समर्थ हो सकते हैं।

शिव वचन—

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः।। (भा० ९-४-५६)

अर्थ—दुर्वासा जी! जिन अनन्त परमेश्वर में ब्रह्मा जैसे जीव और उनके उपाधिभूत कोश, इन ब्रह्माण्ड के समान ही अनेकों ब्रह्माण्ड समय पर पैदा होते और समय आने पर फिर उनका पता भी नहीं चलता, जिनमें हमारे जैसे हजारों चक्कर काटते रहते हैं—उन प्रभु के सम्बन्ध में हम कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रखते।। **तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः। तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति।।** (भा० ९-४-५९) अर्थ—यह चक्र उन विश्वेश्वर का शस्त्र है, यह हम लोगों के लिये असह्य है। तुम उन्हीं की शरण में जाओ। वे भगवान ही तुम्हारा मङ्गल करेंगे।।

गही........बुरी—से जनाया गया कि श्रीदुर्वासाजी का स्वभाव सा बन गया है, जहाँ-तहाँ भक्तों से उलझ जाने का। प्रश्न—श्रीशिवावतार दुर्वासाजी का जहाँ-तहाँ अकारण भी क्रोध करना तथा भक्तों से भिड़ जाना कहाँ तक संगत है? समाधान—१. रुद्रावतार होने से स्वाभाविक ही तेज-तलब तो हैं ही, साथ ही परम समर्थ भी हैं अतः सामान्य, क्षम्य भूलों को भी बड़ा अपराध मानकर दण्ड देने को उद्यत हो जाते हैं। २. श्रीदुर्वासा जी ने इतना आतङ्क मचा रखा है कि मारे डरके संसारी लोग इनके पास कम जाते हैं जिससे प्रापञ्चिक विघ्न इनके पास नहीं फटक पाते हैं। श्रीशिव जी भी तो जगत् से बचने के लिये अमंगल साज-सजा रखे हैं यद्यपि हैं मंगल राशि। यथा—**'साज अमङ्गल मङ्गल रासी'** ३. भक्ति का एवं भक्तों का उत्कर्ष सिद्ध करने के लिये मुनि जान-बूझकर, स्वयं दुःख अपमान सहकर भी ऐसी लीला

करते हैं। इससे मुनि की आन्तरिक भक्ति में निष्ठा समझनी चाहिये। **४. हरेरिच्छा बलीयसी।** स्वयं भगवान भी भक्ति तथा भक्तों की महिमा बढ़ाने के लिये ऋषि को ऐसी प्रेरणा ही कर देते हैं। एक बात स्मरण रखने की है कि भक्तों से भिड़ने में दुर्वासा जैसे परम तपस्वी ही समर्थ हो सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं, अतः इन्हें उपयुक्त पात्र जानकर भगवान इन्हें ऐसी ही प्रेरणा करदेते हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप में यह भक्तों के साथ प्रतिकूल बर्ताव अच्छा नहीं है अतः कहते हैं 'गहि......बुरी।'

दासनि को भेद—तात्पर्य भगवद्दासों की महिमा—यह कि दास भगवान को अत्यन्त प्यारे हैं। यथा— **कांता प्राणाधिका शश्वन्न हि कोऽपि ततोऽधिकः। भक्तान् द्वेष्टि स्वयं साचेत् तूर्णं त्यजति तां विभुः।।** अर्थ—श्रीलक्ष्मी भगवान् को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। उनसे अधिक प्रिय कोई नहीं है। परन्तु वह भी यदि भक्तों से द्वेष करें तो भगवान् उन्हें भी अविलम्ब छोड़ देंगे परन्तु भक्त का परित्याग नहीं करेंगे।। क्योंकि भक्त अति प्यारे हैं। पुनः—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सबते अधिक मनुज मोहिं भाए।।
तिन्ह महँ द्विज द्विजमहँ श्रुतिधारी । तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी।।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी । ग्यानिहुँ ते अति प्रिय बिज्ञानी।।
तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा । जेहिं गति मोरि न दूसरि आसा।।

पुनः— **मायापति सेवक सन माया । करइ त उलटि परइ सुरराया।।**
मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई।। (रा०)
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ।। (वि०)

वेद धारे हैं—भाव-वेद भी सन्तों की महिमा का गान करते हैं। यथा—**संतन्ह की महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुराणन गाई।।** वेद धारे हैं का दूसरा भाव यह है कि आपने वेद तो धारण कर लिया है अर्थात् पढ़ लिया है परन्तु वेद का तात्पर्य 'दासनि को भेद' नहीं जाना।।

मैं तो हौं अधीन—भगवान ने कहा—

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।
नाहमात्मानमाशासे मदभक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहंपरा।।
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे।।
मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिंयथा।। (भा० ९-४-६३-६६)

अर्थ—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-साधे भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।। ब्रह्मन्! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, इसलिये अपने साधु स्वभाव भक्तों को छोड़कर मैं न तो अपने आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्धाङ्गिनी, विनाश रहित लक्ष्मी को ही।। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, उन्हें छोड़ने का संकल्प भी कैसे कर सकता हूँ।। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत से सदाचारी पति को वश में कर लेती है वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम-बन्धन से बाँध रखने वाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं।

तीन गुन.....टारे हैं—आर्तिहरणत्व, ब्रह्मण्यत्व, शरणागत रक्षकत्व। भाव यह कि दुर्वासाजी ने वैकुण्ठ में जाकर भगवान के यहाँ दुहाई दी थी कि आप आर्तिहरण हैं मैं आर्त हूँ, आप ब्रह्मण्य देव हैं, मैं ब्राह्मण हूँ, आप शरणागत पालक हैं मैं शरणागत हूँ। यह सुनकर श्रीभगवान बोले—मैं तो...टारे हैं। तात्पर्य यह कि भक्त वात्सल्य गुन ने इस देशकाल में उन तीनों गुणों का तिरस्कार कर दिया है, इस समय वे गुण गौण हो गये हैं वर्णन आया है—जिस समय दुर्वासाजी वैकुण्ठ में पहुँचे उस समय श्रीभगवान विष्णु, भगवती लक्ष्मीजी से अम्बरीषजी की भक्ति की ही चर्चा कर रहे थे। महाराज की भक्ति से तो प्रभु पूर्व से ही प्रभावित थे, भला इस स्थिति में दुर्वासाजी की सुनवाई ही कैसे होती। भगवान ने कान मूँद लिया। यथा—

दोहा— **लात हनी भृगु हृदय में, हरि कीन्हों सन्मान।**
अम्बरीष अपराध ते भगवत मूँदे कान।।

मोको अति प्यारे साधु उनकी अगाधमति करयो अपराध तुम सह्यो कैसे जात है।
धाम धन वाम सुत प्राण तनु त्याग करैं ढरैं मेरी ओर निशिभोर मोसों बात है।।
मेरेउ न सन्त बिनु और कछु सांची कहौं जाओ वाही ठौर जाते मिटै उत्पात है।
बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करैं न्यूनता न धरैं कहूँ भक्ति गात गात है।।४१।।

शब्दार्थ—अगाध=अति गंभीर। ढरैं=चलैं, ढरकैं।

भावार्थ—भगवान ने दुर्वासाजी से कहा—मुझे साधु-सन्त अत्यन्त ही प्यारे हैं क्योंकि उनकी अपार श्रद्धा और प्रीति है। तुमने उन्हीं भक्तों का अपराध किया है, यह मुझसे कैसे सहा जा सकता है। वे मेरे भक्त मेरे लिए घर, धन, तन, स्त्री, पुत्र और अपने प्रिय प्राणों का भी परित्याग करके मेरी ओर आते हैं। दिन-रात मुझसे ही मेरी ही बातें करते हैं। दूसरों से उन्हें कोई प्रयोजन ही नहीं। मैं सत्य कहता हूँ, मेरे भी उन सन्तों के लालन- पालन के सिवा और कोई काम नहीं है। इसलिए अब तुम अम्बरीष की ही शरण में जाओ, जिससे यह तुम्हारा दु:ख मिटे। वे मेरे भक्त बड़े ही दयालु हैं, सदा दीनों का प्रतिपाल करते हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में मेरी भक्ति ही भक्ति भरी है। दूसरे द्वेष आदि भावों को वहाँ स्थान नहीं है। तुम नि:संकोच उनकी शरण में जाओ।।४१।।

व्याख्या—मोको अति प्यारे साधु—इसके भाव पूर्व कवित्त में आ चुके हैं। **सांची कहौं**—यथा—**पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।।** निशि.....बात है—तात्पर्य उन्हें-**'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं'**। वा ऐसे भक्तों से और भगवान से नित्य साक्षात्कार बना रहता है। सत्सङ्ग वार्ता होती रहती है। **जाओ.....उत्पात है**—भगवान ने स्वयं तो मुनि की रक्षा में असमर्थता दिखाई परन्तु भगवत शरणागति व्यर्थ नहीं जाती है इसलिये प्रभु ने उपाय बता दिया कि—**ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्। क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति।।** (भा० ९-४-७१) अर्थ—दुर्वासाजी! आपका कल्याण हो, आप नाभागनन्द परम भाग्यशाली राजा अम्बरीष के पास जाइये और उनसे क्षमा माँगिये। तब आपको शान्ति मिलेगी भगवान ने साफ संकेत कर दिया कि आपने अपराध किया है। अतः आपको राजा से क्षमा याचना करनी होगी। केवल हाथ जोड़ने से काम नहीं चलेगा।

दुर्वासाजी का अपराध–निरपराध राजा को अपराधी मानना, एक तो यही अपराध है, उस पर भी निरपराध पर दण्ड विधान महापराध है। दुर्वासाजी ने कहा—कौन–सा मुँह लेकर अम्बरीष के पास जाऊँगा। मैंने तो उनका बहुत बड़ा अनिष्ट करने का उद्योग किया था। भगवान ने कहा—

बड़ेई दयाल—भाव यह है कि दयालु तो भगवान भी हैं परन्तु भक्त बड़े अर्थात् भगवान से भी बढ़कर दयालु होते हैं। तभी तो यह कहा गया है—**'राम ते अधिक राम कर दासा।' सदा.....करैं**—सदा प्रतिपाल का भाव यह कि सन्त अनुग्रह ही करते हैं, निग्रह नहीं, भगवान अनुग्रह–निग्रह दोनों करते हैं। **न्यूनता न धरैं**—पूर्व कहे कि सन्त अनुग्रह ही करते हैं, दया, ही करते हैं, अब उसका हेतु बताते हैं—न्यूनता न धरैं—भगवान तो कभी–कभी जीव के महदपराध पर कुपित हो जाते हैं दण्ड भी देते हैं। यथा—**तानहं द्विषतः क्रुरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।** (गी० १६–१९) अर्थ—उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मा नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ। परन्तु सन्त तो—**'सपनेहुँ नहिं देखहिं पर दोषा।'** अतः कुपित होने, दण्ड देने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। अब अदोष–दर्शन का हेतु बताते हैं कि **'भक्ति गात गात है'**—भाव यह है कि सन्तों के रोम–रोम में भक्ति समायी हुई है अतः दोषानुसंधान के लिए जगह ही नहीं है। इस पर दृष्टान्त—१—श्रीजयदेवजी और चोरों का (देखिये कवित्त १५२–१५५)

दृष्टान्त—एक सन्त का—एक सन्त वन पथ से जा रहे थे। कुछ लोगों ने मना किया कि इस मार्ग में एक महादुष्ट रहता है जो साधु–महात्माओं को पत्थर मारता है। अतः आप न जावें। सन्त नहीं माने। गये उसी मार्ग से, और दुष्ट ने भी अपने स्वभाववश सन्त को पत्थर मारा, सिर फूट गया तो भी सन्त बिना कुछ कहे आगे बढ़ गये। कुछ दिन बाद फिर उसी मार्ग से लौटे तो देखे—वह दुष्ट अत्यन्त ज्वर के वेग में मूर्छित पड़ा हुआ था, सन्त को दया आई, उसका सिर गोद में धरकर सहलाने लगे, मुँह में कमण्डल का जल थोड़ा–थोड़ा करके डालने लगे तो उसको आराम मिला। मूर्छा दूर हुई तो देखा, जिस सन्त को मैंने पत्थर मारा था वही मेरे जीवनदाता निकले। उसका हृदय भर आया, आँखों से झर–झर अश्रुपात होने लगा, चरणों में गिरकर अपराध के लिये क्षमा माँगने लगा। सन्त ने उसको धैर्य बँधाते हुये कहा—भैया ! तुम अपने ही तो हो, अपने दाँतों से जिह्वा कट जाती है तो क्या उन्हें निकालकर फेंक दिया जाता है, फिर तुमने तो कुछ किया भी नहीं—**काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।।**

ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो गर्व सों उदास पग गहे दीन भाष्यो है।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान कर्‌यो ढर्‌यो चक्र ओर करजोरि अभिलाष्यो है।।
भक्त निसकाम कभूं कामना न चाहत हैं चाहत हैं विप्र दुख दूरि करो चाख्यो है।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई आई मन माँझ सब तेज ढाँकि राख्यो है।।४२।।

शब्दार्थ—निसकाम=निष्काम, कामना, इच्छा रहित। ढाँकिराख्यौ=छिपा लिया।

भावार्थ—भगवान के ऐसे वचन सुनकर दुर्वासाजी वहाँ से निराश होकर तथा अभिमान को त्याग कर राजा अम्बरीष के पास आये। उनके चरण पकड़कर क्षमा माँगी। राजा ने लज्जित होकर अति

कोमल वचनों से ऋषि का सम्मान किया। फिर चक्र सुदर्शन की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—हे चक्र सुदर्शन! भक्त सदा निष्काम रहते हैं, उन्हें कभी कोई कामना नहीं होती है, तथापि मैं चाहता हूँ कि आप इस ब्राह्मण का दुःख दूर करें, इसने बड़े कष्ट का अनुभव किया है। राजा की प्रार्थना सुनकर और ब्राह्मण की व्याकुलता देखकर सदा सन्तों को सुख देने वाले चक्र भगवान के मन में दया आ गई और उन्होंने अपना सब तेज छिपा लिया।।४२।।

व्याख्या—ह्वै करि.......भाख्यो है—यथा—

पद— **हम भक्तनि सों भूलि बिगारी।**
जान्यो नहीं इतो बल इनको ये हरि के अधिकारी।।
कमल पराग भँवर भल जानै वह वासना विहारी।
निपट नाल के निकट मेढुका भयो कीच को चारी।।
काम क्रोध मद अतिशै जड़मति तप बल बढ़ो बिकारी।
अङ्गीकार कियो हरि इनको यह कछु हम न विचारी।।
दुर्वासा अम्बरीष के आगे करी दीनता भारी।
अग्रदास अभिमान पोटरी रिषि सिर ते तब डारी।।

पुनः— **हरि भक्तन सों गर्व न करिबो।**
यह अपराध परम पद हूँते उतरि नर्क में परिबो।।
गज सिंहासन अश्व ऊँट चढ़ि भवसागर नहिं तरिबो।
यह मति भली नहीं आपुन बड़ नर कूकर अनु सरिबो।।
हरि-सेवी जस-गायक को लघु मानत नेकु न डरिबो।
अपनै दोष निपट आंधे पर दोष कुतर्कन जरिबो।
वृथा चातुरी बादि जनमते भलो गर्भ में गरिबो।।
खान-पान ऐंडान भले जू बदन पसार न मरिबो।
कृष्णदास हित धर विवेक चित साधुन सङ्ग उबरिबो।।

राजा लाज मानि—इतने बड़े ऋषीश्वर चरणों में पड़े, दीन वचन कह रहे हैं, इससे 'सबहिं मानप्रद आपु आमानी' महाराज अम्बरीष को लज्जा का अनुभव हुआ। 'मृदु.....कर्यो—यह सन्त स्वभाव है। ये कठोर वचन तो कभी बोलते ही नहीं—**सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।।** तथा—सदा सर्वदा प्राणिमात्र में आदर बुद्धि रखते हैं। यथा—**सब सन प्रीति सबहिं आदरहिं। हरि गुरु सन्त भाव मन भरहीं।** (सन्तवाणी) ढर्यो.....है—राजा ने प्रथम सुदर्शन चक्रजी को हाथ जोड़ा जिसका अभिप्राय था कि अब आप अपने तेज को समेटकर ब्राह्मण के ऊपर कृपा करें। परन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब राजा ने श्रीचक्रजी की बड़ी विनती की। परन्तु तब भी तेज शान्त नहीं हुआ। क्योंकि बड़ों को प्रथम तो शीघ्र क्रोध आता नहीं है, और जब हो जाता है तो शीघ्र शान्त नहीं होता है। दृष्टान्त श्रीनृसिंह भगवान का (देखिये प्रह्लाद प्रसङ्ग कवित्त ९९, १००) तब अन्त में श्रीअम्बरीषजी ने कहा—

भक्त.....चाख्यो है—तात्पर्य यह कि आज तक मैंने आपकी निष्काम आराधना की है, मैंने कभी भी आपसे किसी कामना पूर्ति नहीं चाही है। अतः यदि मैं सचमुच मन वचन कर्म से निष्काम भक्त हूँ, तो हे चक्र सुदर्शन! आज हमारी यह अभिलाषा, चाहना, कामना पूर्ण की जाय कि ब्राह्मण का शीघ्र ही दुःख दूर हो। यथा—**यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्व गुणाश्रयः। सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः।।** (भा० ९-५-११) अर्थ—भगवान समस्त गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। यदि मैंने समस्त प्राणियों के आत्मा के रूप में उन्हें देखा हो और वे मुझ पर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजी की सारी जलन मिट जाय।। जैसे श्रीभरतलालजी ने हनुमानजी की मूर्छा को दूर करने के लिये प्रेम का प्रयोग किया था। यथा—**जो मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम पद कमल अमाया।। तौ कपि होउ बिगत श्रमसूला। जौ मोपर रघुपति अनुकूला।।** तो—'**सुनत बचन उठ बैठ कपीसा।**' उसी प्रकार अम्बरीषजी ने यहाँ अपनी निष्कामता का प्रयोग किया। रीति है—जो सर्वदा निष्काम सेवा करते हैं—उदार स्वामी उनका मुँह जोहा करते हैं कि यह कभी कुछ कहैं, माँगें और यदि कदाचित् वह कभी कुछ कामना करते हैं तो उसे तत्काल पूर्ण करते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ।

देखि........राख्यो है—श्रीचक्रजी ने देखा कि ऋषि तो तेज से व्याकुल हैं ही, इनकी व्याकुलता से महाराज अम्बरीष भी व्याकुल हो रहे हैं, और मेरा उद्देश्य है—सदा सन्तों को सुख देना, तथा इनको सुख देने के लिये ही प्रभु ने मुझको यहाँ नियुक्त कर रखा है अतः मेरे किसी भी व्यवहार से राजा को दुःख, शोक, व्याकुलता हो यह उचित नहीं, अतः आई मन माँझ कि अब तो ठण्डा ही हो जाना चाहिये। बस तुरन्त ही—सब तेज ढाँकि राख्यो है—श्रीचक्रजी ने अपना समस्त तेज समेट लिया। ऋषि की रक्षा हो गई।

श्रीअम्बरीषजी के इस सद्व्यवहार से दुर्वासाजी बड़े ही प्रभावित हुये। उनके मुँह से बरबस निकल पड़ा—

अहो अनन्त दासानां महत्वं दृष्टमद्य मे । कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे।।
दुष्करः कोनु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् । यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः।।
राजन्ननुगृहीतोऽहंत्वयाति करुणात्मना । मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षितः।। (भा० ९-५-१४-१७)

अर्थ—अहो! आज मैंने भगवान के प्रेमी भक्तों का महत्व देखा। राजन्! मैंने आपका अपराध किया फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल कामना ही कर रहे हैं।। जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों को दृढ़ प्रेम भाव से पकड़ लिया है, उन साधु पुरुषों के लिये कौन-सा कार्य कठिन है, जिनका हृदय उदार है वे महात्मा भला किस वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते हैं।। राजन्! आपका हृदय करुणा भाव से परिपूर्ण है। आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया। अहो! आपने मेरे अपराधों को सर्वथा भुलाकर मेरे प्राणों की रक्षा की है।

चौ०— **सुनि दुर्वासा की असि बानी । मुनि पद गह्यो भूप दोउ पानी।।**
मुनिहिं भवन महँ गयउ लिवाई । शिष्य सहित भोजन करवाई।।
बार बार पद मँह धरि शीशा । कियो मुनीशहिं विदा महीशा।।
चक्र त्रास भागत दुर्वासै । बीत्यो एक वर्ष युत त्रासै।।

तब लौं रह्यौ भूप तहँ ठाढ़ो। सोइ चरणामृत लै मति गाढ़ो।।
जब दुर्वासा सुखित सिधारा। अम्बरीष तब कियो अहारा।। (राम रसिकावली)

वर्णन आया है कि वैसे तो श्रीअम्बरीषजी के शरणागत होने से, दुर्वासाजी की प्राण रक्षा हो गई परन्तु उनके मन का अमर्ष गया नहीं। कारण कि चक्र ने बहुत पीछा किया था अत: उनकी पीठ झुलस गई थी। यथा—'नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।' 'खरो तन जारे हैं।' शरीर भस्म तो नहीं हुआ परन्तु गर्मी अधिक बढ़ गई, जिसे शान्त करने के लिये इन्हें उत्तराखण्ड जाना पड़ा। उसी अमर्ष में भरकर इन्होंने दीर्घकाल तक कठोर तप करके भगवान को प्रसन्न किया। भगवान ने दर्शन दिया—वर माँगने को कहा—तो इन्होंने यह वर माँगा कि अम्बरीषजी मुक्त होने के लिये साधन कर रहे हैं तो उनको मुक्त होने के बजाय दस हजार बार जन्म लेना पड़े। भगवान भीतर से बड़े नाराज हुए और बोले—मुने! मैंने आपको वर देने का वचन दिया है अत: यद्यपि आप जो माँग रहे हैं वह है तो बड़ा ही अनुचित, परन्तु मैं उसे इस प्रकार पूर्ण करूँगा कि अम्बरीषजी तो मुक्त होंगे ही, उनकी जगह पर मैं स्वयं दस बार जन्म लूँगा। भक्त का हजार जन्म और मेरा एक जन्म बराबर है अत: भगवान ने अम्बरीषजी के लिये दशावतार धारण किया यथा—**जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार। अम्बरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार।।** (वि०) इसलिये श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि— अम्बरीष............भाखिये।। (कवित्त ३९)

एक नृप सुता सुनि अम्बरीष भक्ति भाव भयो हिय भाव ऐसो वर कर लीजिये।
पिता सों निशङ्क ह्वै कै कही पति कियो मैं ही विनय मानि मेरी वेगि चीठी लिख दीजिये॥
पाती लैके चल्यो विप्र छिप्र वही पुरी गयो नयो चाव जान्यो ऐ पै कैसे तिया धीजिये।
कहो तुम जाय रानी बैठी सत आय मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा मांझ भीजिये॥४३॥

शब्दार्थ—निशंक=नि:शंक, नि:सङ्कोच। छिप्र=क्षिप्र, शीघ्र। चाव=चाह, लालसा। धीजिये=मानूं, विश्वास करूँ। सत=सौ।

भावार्थ—राजा अम्बरीष के भक्ति भाव की प्रशंसा सुनकर एक राजा की लड़की के मन में यह भाव आया कि इसी राजा के साथ विवाह करना चाहिये। यह निश्चय करके उसने बिना किसी संकोच के अपने पिता से कहा कि—आप मेरी प्रार्थना मानकर राजा अम्बरीष को शीघ्र ही एक पत्र लिख दीजिये। मैं उनके साथ अपना विवाह करना चाहती हूँ। पिता ने पत्र लिखकर एक ब्राह्मण को दिया। वह पत्र लेकर राजा अम्बरीष की पुरी में गया और राजा को पत्र दे दिया। उसे पढ़कर राजा ने कहा कि—मैंने राजकन्या की नवीन लालसा को समझ लिया, पर मैं उसे अपनी स्त्री कैसे बनाऊँ क्योंकि मेरे राजमहल में मेरी सौ रानियाँ बैठी हैं और उनसे बोलना भी मुझे अच्छा नहीं लगता है। मैं तो दिन-रात भगवान की सेवा में ही लगा रहता हूँ। हे विप्रदेव! मेरी यह बात आप उस राजकन्या से जाकर कह दीजिये।।४३।।

व्याख्या—एक नृप सुता—मिथिला प्रान्त के एक राजा राममोहन की पुत्री, जिसका नाम सुबुद्धिनी था। 'सुनि....भाव'-पूर्व कहा जा चुका है कि इनकी भक्ति की सर्वत्र चर्चा चलती थी, राजा के यहाँ भी भई, राजकुमारी ने सुन लिया, और अन्य सम्बन्ध सूत्रों से भी जानकारी भई। पुन: श्रीदुर्वासाजी के प्रसङ्ग

से आपकी अति प्रसिद्धि हो गई, श्रीदुर्वासाजी ने एक तरह से त्रैलोक्य में महाराज अम्बरीष की भक्ति का पताका फहरा दी। श्रीनारदजी तो ऐसे प्रसङ्गों के प्रचारक हैं ही तथा साथ ही कौतुकी भी हैं अत: स्वयं ही जाकर राजकुमारी को अधिकारी जानकर तथा भावी सम्बन्ध विचारकर सुना आये। आगे के कथा प्रसङ्ग में भी इनकी उपस्थिति पाई जाती है। 'भयो.....लीजिये'-राजकुमारी भी बड़ी भागवती थी अत: उसने ऐसो अर्थात् परम भागवत वर को वरण करने का निश्चय किया। क्योंकि-'**सवै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं, समन्ततः पातिभयातुरं जनम्।**' (भा० ५-१८-२०) अर्थ—सच्चा पति वही है जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगों की सब प्रकार से रक्षा कर सके। भगवद्भक्त स्वयं निर्भय होते हैं। यथा—'**त्वयाभि गुप्ता विचरन्ति निर्भयाः।**' अर्थ—आप परमात्मा के द्वारा रक्षित भक्तगण निर्भय विचरते हैं। पुनः—**तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।।** (वि०) तथा जीवों के भव-भय को दूर करने वाले होते हैं। यथा—**सन्त सरन अतिही सुखदाई। छिनमें दें भव-भीति मिटाई।।** (सन्तवाणी) अत: ऐसो पति करि लीजिये।

पिता.....दीजिये—निशङ्क कहने का भाव यह कि—यद्यपि कन्या का पिता से पति के सम्बन्ध में वार्ता करना लज्जा का विषय है, माता से चाहे कह भी दें, परन्तु प्रबल प्रेम में प्रेमी लज्जा की परवाह नहीं करता। यथा—

चन्दन पंक गुलाब सुनीर सरोज की सेज उठाय धरौरी।
तूल भयो तनु जात जरो येहि वैरि दूकूलहिं दूरि करौरी।।
लोकहुँ वेद की कान तजौ अरु धर्महु के सिर भार परौरी।
लाज के ऊपर गाज परौ व्रजराज मिलै सोइ काज करौरी।।१।।
आये हैं भाव भरे नन्दलाल सुबाल करै गृह काम सुभावै।
झाँकी दै नैनन सैन कह्यो हरि आवौ जू कुंज सुखेल खिलावै।।
त्यौं तरुणी वरुणी न परै पल घूंघट खैंचन सासु सिखावै।
ताहि न लाज सो काज कछू जरि जाइ सो लाज जो काज नसावै।।२।।
पंकजके दलसों दृगदेखि भई बस स्याम स्वरूप महा है।
जाको जोई सोइ ताहि चहै बिनु देखे महा दुख देह दहा है।।
सङ्गति सङ्ग भयो जेहिं ते तेहिं ते कछु नाहिं विवेक रहा है।
तूं जो कहै सखि लाज करौ जब लागि गई तब लाज कहा है।।

पुनः— **चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे लाज।**
नारायन प्रेमी नहीं बातन को महराज।।

अत: निसंक कही। 'पति कियो मैं ही'—भाव-लोक व्यवहार के अनुसार माता-पिता कन्या के लिये सुयोग्य वर ढूँढ़ते हैं। परन्तु यहाँ तो राजकुमारी ने स्वयं वरण कर लिया। राजकुमारी की निष्ठा पर पिता बड़े ही प्रसन्न हुए। दूसरे इस सम्बन्ध से स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि है। परमभागवत से सम्बन्ध होने से परमार्थ सिद्धि और चक्रवर्ती महाराज से सम्बन्ध होने से स्वार्थ सिद्धि है।

नयो चाव जान्यो—नई भक्ति नौ दिना। खैंचा खैंची दस दिना।

दृष्टान्त—एक हलवाहे का—गाँव में सन्तों की जमात पड़ी थी पूआ तस्मई की रसोई थी। सामान बहुत बचा था, जो भी आता, सन्त खूब प्रसाद देते। एक हलवाहा आया, उसे तो महापूर्ण करा दिये। उसने पूछा क्यों महाराज! ऐसे ही रोज माल घुटता है? सन्त ने कहा—हाँ बच्चा! फिर तो वह घर गया ही नहीं, सन्तों के साथ लग गया। कुछ सेवा कर देता, खाने पीने को खूब माल मिलता। संयोग की बात, दो चार दिनों के बाद ही वर्षा की झड़ी लग गई, ठीक से रोटी दाल बनना भी मुश्किल पड़ गया, महात्माओं को अभ्यास होता है, दो एक दिन न भी कुछ मिले तो कोई बात नहीं परन्तु जो खाने के लिये ही साधु बना है उसे तो ऐसे समय में मुश्किल पड़ जाता है। हलवाहे को एक दिन बालभोग नहीं मिला, इतने में ही घबड़ाने लगा, संयोग से राजभोग का भी ठिकाना नहीं लगा, तब तो उसे बड़ी विकलता हुई। दैवेच्छा से शाम को भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं हुई, बस वह अधीर हो गया। एक परिचय का व्यक्ति मिला, उससे घर सन्देश भिजवाया कि बूढ़े बैल को बेचगे नहीं वैराग्य में अभी कच्चाई है। दूसरे दिन तो वह जमात छोड़कर घर भाग ही गया। तब एक महात्मा ने कहा— भाई—नई भक्ति नौ......दिना।।

कैसे तिया धीजिये—नखीनां च नदीनां च शृङ्गीणां शस्त्रपाणिनाम्। विश्वासो नैवकर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।। (चाणक्य नीति) अर्थ—नखवाले सिंह, व्याघ्रादिकों का, नदियों का, सींग वाले जानवरों का, हाथ में शस्त्र लिये हुए का, तथा स्त्रियों एवं राजकुलों का विश्वास नहीं करना चाहिये।। यथा— **शरत्पद्म लसद् वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्। हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्।।**

दृष्टान्त—पण्डित और राजा का—एक पण्डितजी बड़ी सुन्दर कथा कहते थे। खूब प्रसिद्धि हुई। सुजस सुनकर वहाँ के राजा भी कथा सुनने आने लगे और कथा के प्रभाव से धीरे-धीरे विषयों से वैराग्य हो गया। सब ओर से आसक्ति हटाकर भगवद्भजन में प्रवृत्त हो गये। रानी को यह बात खटकी। यह जानकर कि राजा के ऊपर कथा का रंग चढ़ गया है। एक दासी ने राजा की मति फेरने के लिये उपाय करने को कहा। तब वह दासी रानी से सुन्दर वस्त्राभूषण लेकर अपने को सुसज्जित कर पालकी में बैठकर कथा सुनने को आने लगी। पाँच मुहरें नित्य भेंट करती। लोभी कथा वाचकों का स्वभाव होता है कि जो भेंट पूजा विशेष देते हैं उनका विशेष ध्यान रखते हैं परन्तु इन पण्डितजी पर दासी की माया नहीं चली उसके हाव-भाव, झनक-मनक एवं भेंट-पूजा का प्रयोग निष्फल गया। तब वह एक दिन रात्रि में प्रेत का स्वांग कर पण्डितजी के पास आकर उभाने लगी। पण्डितजी के पूछने पर उसने अपने को प्रेत कहा और मेरा निवास राजा के महल के पिछवाड़े पीपल के वृक्ष पर है। तुम्हारी स्त्री ने मानता की थी परन्तु उसने हमारा पूजन नहीं किया तो यदि तुम अपनी खैर चाहते हो तो आज रात के बारह बजे अपनी स्त्री को कन्धे पर बिठाकर पूजा की सामग्री लेकर मेरे स्थान पर आकर मेरा पूजन करो अन्यथा मैं सर्वनाश कर दूँगा। राजमहल के पिछवारे वाली बात सुनकर तो पण्डितजी को शङ्का हुई कि कहीं रानी का कोई षडयन्त्र तो नहीं है। परन्तु फिर जैसी हरि की इच्छा-यह विचारकर स्वीकार कर लिये और निश्चित समय पर वहाँ पहुँच ही गये। उधर रानी अवसर की प्रतीक्षा में थी, उसने तुरन्त ही राजा को यह कौतुक दिखाया। राजा कौतूहलवश जब समीप गये तो देखे वही पण्डितजी हैं जो नित्य उपदेश करते हैं। बड़ा आश्चर्य हुआ इस 'कहनि आन विधि रहनि आन विधि' पर। आखिर पूछ ही बैठे—पण्डितजी! यह सब मैं क्या देख रहा हूँ। पण्डितजी ने कहा—राजन्! देख लो, माया की प्रबलता, हमेशा चरणों में रहने वाली आज सिर पर चढ़ रही है। भला विचारो तो सही, जब मुझ सरीखे पण्डित की भी यह दशा हो रही

है तो अन्य की तो बात ही क्या ? अत: इससे दूर ही रहना चाहिये। **इन कर संग सदा दुखदाई।** इस पर दृष्टान्त—छोटे हरिदासजी का। (देखिये गौरांग चरित्र) राजा की समझ में बात आ गई। भगवत्कृपा से रानी का यह भी षडयन्त्र निष्फल चला गया। अत: कैसे तिया धीजिये कहा।

मोंको.....भीजिये—

जलको सनेही मीन विछुरत तजै प्रान मनि बिनु अहि जैसे जीवन न लहिये।
स्वाति विन्दु को सनेही प्रगट जगत माहिं एकसीप दूसरो सुचातकहू कहिये।।
रबि को सनेही पुनि कमल सरोवर में शशि को सनेही हूँ चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही सुन्दर एक प्रभुसों सनेह जोरि और कछु देखि काहू ओर नहिं बहिये।।

पुनः— **जाको मन लागो गुपाल सों ताहि और नहिं भावै।**
लैकर मीन दूध में राखौ जलबिनु नहिं सचुपावै।।
ज्यौं गूंगो गुड़ खाय रहत है स्वाद न काहू बतावै।
जैसे सूरमा घायल घूमत पीर न काहू जनावै।।
जैसे सरिता मिली सिंधु महँ उलटि प्रवाह न आवै।
तैसे सूर कमल मुख निरखत चित इत उत न डुलावै।।

कह्यो नृप सुता सों जु कीजिये जतन कौन पौन जिमि गयो आयो काम नाही विया को।
फेरिकै पठायो सुख पायो मैं तो जान्यो वह बड़े धर्मज्ञ वाके लोभ नाहीं तिया को।।
बोली अकुलाय मन भक्ति ही रिझाय लियो कियो पति मुख नहीं देखौं और पिया को।
जायके निशंक यह बात तुम मेरी कहो चेरी जो न करौ तौपै लेवो पाप जियाको।।४४।।

शब्दार्थ—विया=विय, जोड़ा, व्याह, रंचमात्र भी। जिया=जीव। चेरी=दासी, पत्नी।

भावार्थ—ब्राह्मण ने आकर राजा की लड़की से कहा कि—मैं हवा की तरह शीघ्रता से गया और आया पर विवाह सम्बन्धी कार्य थोड़ा-भी नहीं बना। अब बताओ, और कौन-सा उपाय किया जाय। राजकन्या ने ब्राह्मण को फिर भेजते हुए कहा कि—उनके मना करने से मुझे बड़ा सुख हुआ और मैं जान गई कि वे परम विरक्त और धर्मज्ञ हैं। उनके मन में स्त्री का लोभ नाममात्र भी नहीं है। फिर वह प्रेमातुर होकर बोली कि— उनकी भक्ति ने ही मेरे मन को मोहित कर लिया है। मैं उन्हें अपना पति बना चुकी। अब किसी दूसरे मनुष्य का मुख नहीं देखूँगी। ब्राह्मण देव! आप फिर जाइये, और मेरी यह बात राजा से निडर होकर कहिये कि—यदि आप उसे चरणों की दासी न बनाइयेगा तो उसके प्राण त्याग के पाप को लीजियेगा।।४४।।

कही विप्र जाय सुनि चाय भहराय गयो दयो लै खड़ग यासों फेरी फेर लीजिये।
भयो जू विवाह उत्साह कहूं मात नाहिं आई घर अम्बरीष देखि छवि भीजिये।।
कह्यौ नव मन्दिर में झारिकै बसेरो देवो देवो सब भोग विभौ नाना सुख कीजिये।
पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती याते सनबन्ध पायो यहै मानि धीजिये।।४५।।

शब्दार्थ—चाय=चाव, चाह। भहराय=रोमांचित, अपने निश्चय से डिग गये। फेरी=भाँवर। मात=समात- अमात हुती-थी। गन्ध=वासना। सनबन्ध=सम्बन्ध।

भावार्थ—ब्राह्मण ने जाकर राजा अम्बरीष से राजकन्या की सब बात कह दी। उसके प्रण, प्रणय और पातिव्रत को सुनकर राजा अम्बरीष पुलकित हो गये और व्याह न करने के अपने निश्चय से डिग गये। सम्बन्ध स्वीकार करके राजा ने अपनी तलवार दे दी और कहा कि इसी से भाँवर डाल लाइये। इस प्रकार विवाह हो जाने पर राजकन्या के मन में आनन्द नहीं समा रहा था। वह पति के नगर में आई। राजा और नई रानी दोनों परस्पर एक दूसरे की भक्तिमयी छबि देखकर आनन्दमग्न हो गए। राजा ने रनिवास की दासियों को आज्ञा दी कि—नये सुन्दर भवन को झाड़-बुहारकर उसमें नई रानी को निवास दो और भोग-विलास के विविध वैभव दो, जिससे सब प्रकार के सुख प्राप्त करें। इस नई रानी के साथ पूर्व जन्म की कोई मेरी भक्ति वासना थी, इसी से यह विवाह सम्बन्ध हुआ है, ऐसा मानकर राजा अम्बरीष मन में प्रसन्न हुए।।४५।।

व्याख्या—पूरब जनम०—

दोहा— **अम्बरीष को कहत हौं पूर्वजन्म इतिहास।**
रह्यो विप्रवर एक कोउ वैदशास्त्र अभ्यास।।

नृप की नई नारि जो आई। रही एक द्विज सुता सुहाई।।
रुज वश भई सुता एक कालै। सोइ वैद गवन्यौ तेहिं आलै।।
भई कामवश परसत नारी। कछू काल में मरी कुमारी।।
फेरि वैद यमलोक सिधारा। बहुरि भयो सो आइ सोनारा।।
गणिका भइ सो विप्र कुमारी। भै सोनार वेश्या की यारी।।
वारवधू धन संचित कीन्हों। शिव मन्दिर सुन्दर रचि दीन्हों।।
सो सुनार वैष्णव कछु रहेऊ। शिव मन्दिर कलसा रचिलयऊ।।
चढ़ि मन्दिर में कलश लगाई। उतरत गिर्‌यो मर्‌यो महि आई।।
गणिका जरी सङ्ग महँ ताके। आये गण हरि हर ब्रह्मा के।।
निज निज लोक चहैं ले जाना। झगरो मांचि रहो विधि नाना।।
तब विधि आइ कह्यो अस न्याऊ। स्वर्णकार ह्वै है नृप राऊ।।
गणिका ह्वै है ताकरि रानी। पतिव्रता सुशील मति खानी।।
स्वर्णकार सोइ होत भो, अम्बरीष महाराज।
गणिका सोइ रानी भई, हरिपुर गे सुखसाज।। (रामरसिकावली)

रजनी के सेस पति भौन में प्रवेश कियो लियो प्रेम साथ ढिग मन्दिर के आइये।
बाहिरी टहल पात्र चौका करि रीझि रही गही कौन जाय जामे होत न लखाइये।।
आवत ही राजा देखि लगै न निमेष किहूँ कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये।
देखी दिन तीनि फेर चीन्हिके प्रवीन कही ऐसो मन जौ पै प्रभुमाथे पधराइये।।४६।।

शब्दार्थ—निमेष=पलक।

भावार्थ—नई रानी ने एक दिन कुछ रात्रि शेष रह जाने पर केवल प्रेम के सहारे पति के भवन में प्रवेश किया और भगवान के मन्दिर में जाकर बाहरी सेवा चौका पार्षद मञ्जनादि करके परम प्रसन्न हुई फिर अपने महल में चली आई। किसी ने आते-जाते या सेवा करते नहीं देखा। जब राजा स्नानादि करके मन्दिर में सेवा करने के लिये आए, तो चौका पार्षद की सेवा हुई देखकर आश्चर्यचकित हो गए। सेवा को बिना पलक मारे टकटकी लगाकर देखने लगे फिर मन में विचार करने लगे कि—यह कौन चोर आया? जिसने मेरी सेवारूपी सम्पत्ति की चोरी की। इसी प्रकार तीन दिन सेवा की चोरी होते देखकर चौथे दिन छिपकर देखा और नई रानी को पहचानकर प्रेम प्रवीण राजा ने कहा कि—यदि भगवान की सेवा में ऐसा प्रेम है तो सम्पूर्ण सेवा अपने सिर पर लीजिये। अपने महल में मन्दिर बनाकर प्रभु को पधराइये और अष्टयाम सेवा कीजिये।।४६।।

व्याख्या—रजनी........लखाइये—नई रानी ने दासी से पूछा कि मैं महाराज की कुछ सेवा करना चाहती हूँ तो कैसे करूँ? दासी ने कहा—महारानी जू! महाराज न तो किसी रानी के यहाँ जायँ न कोई रानी उनके यहाँ जा सकें। बड़ा सख्त पहरा रहता है। बड़ी कठोर आज्ञा है। तब रानी ने पूछा—अच्छा, बताओ श्रीठाकुरजी की सेवा कहाँ करते हैं? दासी ने कहा—श्रीठाकुरजी का मन्दिर आपके महल के बिल्कुल पास ही है। आप जो नित्य प्रति घण्टा घड़ियाल की ध्वनि सुनती हैं वह वहीं की है। रानी ने महाराज की दिनचर्या पूछी तो दासी ने कहा—वैसे तो हर समय मन्दिर के घेरे में ही रहते हैं, केवल प्रातःकाल श्रीसरजू स्नान करने तथा श्रीठाकुर सेवा के लिये जल लाने के लिये निकलते हैं। यह कहकर दासी ने रानी को मन्दिर दिखा भी दिया। थोड़ी-सी दूरी थी रानी के महल और मन्दिर में। रानी ने पेंचदार सीढ़ी बनवायी, जब जी चाहे फैला लें जब जी चाहे समेट लें। बस प्रातः ब्राह्म वेला में रानी ने 'लिये प्रेम.... आइये—' रानी ने अपने साथ किसी अन्य दास दासी को न रखकर प्रेम को साथ लिया। क्योंकि—'रामहिं केवल प्रेम पियारा।' 'बाहिरी टहल'—चौका, पार्षद, तुलसी, फूल और चन्दन आदि की सेवा करके रानी ने अपने को कृतार्थ माना। **मन राखै नित ध्यान में, तन ते टहल कराय। वाणी ते गुण गाय के, प्रभु को लेय रिझाय।।** दृष्टान्त रसायनी का (देखिये क० १०) श्रीठाकुरजी को दण्डवत कर पुनः अपने महल में लौट आईं। कौन चोर आयो'—(देखिये कवित्त ३२)

मेरी सेवा लै चुराइये—महाराज श्रीअम्बरीषजी समस्त कैंकर्य अपने हाथ से करते थे यहाँ तक कि भोग सामग्री के लिये आटा-चावल तक स्वयं तैयार करते। पूर्व जो कहा गया है कि—'करौ हरेर्मन्दिर मार्जनादिषु' उसमें आदि शब्दान्तर्गत सभी प्रकार की सेवायें आ जाती हैं। कथा आती है कि एकबार गर्मी के दिनों में श्रीअम्बरीषजी चक्की चला रहे थे, पसीने से भीग रहे थे तो स्वयं श्रीठाकुर जी पीछे से पंखा झलने लगे। राजा ने पीछे मुड़कर देखा तो भगवान को देखकर अत्यन्त दीन होकर बोले—जै जै प्रभो! क्या आपको यह शोभा देता है? भगवान ने कहा—तो क्या आपको चक्की चलाना शोभा देता है? श्रीअम्बरीषजी ने कहा—प्रभो! यह तो मेरा कर्तव्य है। प्रभु ने कहा कि—हमारा भी तो यह विरद है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता) बोलिये भक्त और भगवान की जय।

देखि.......कही—जब तीन दिन तक लगातार यह क्रम जारी रहा तो राजा ने बहुत पता लगाया परन्तु पता नहीं लग सका तो चौथे दिन महाराज ने एक युक्ति करी। राजा ने अनुमान कर लिया कि सेवा

करने वाला, जब हम स्नान करने जाते हैं उसी समय भीतर प्रवेश करता है, अतः जब स्नान को जाने का समय हुआ तो नित्य नियम के अनुसार सेवकों ने जय-जयकार किया, बाजे-बजने लगे तब महाराज ने सबको तो श्रीसरयू तट पर भेज दिया परन्तु स्वयं लौट आये और भीतर महल में छिपे रहे। रानी ने समझा, महाराज चले गये, वह पूर्ववत् महल में प्रवेश कर समस्त सेवा सम्पन्न कर जब श्रीठाकुरजी को प्रणाम कर जाने लगी तो महाराज प्रगट हो गये और 'चीन्हि के प्रवीन कहीं—यहाँ प्रवीन शब्द राजा और रानी दोनों के लिये ही प्रयुक्त है अर्थ होगा—प्रवीण राजा ने रानी को कहा—तुम प्रवीण हो। वस्तु तस्तु दोनों ही प्रवीण हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में प्रवीण की परिभाषा—**अस बिचारि तजि संशय रामहिं भजहिं प्रवीण।।** इस कसौटी पर दोनों ही खरे उतरे हैं। रानी को प्रवीण कहने पर एक हेतु यह भी कि आप बड़ी विधि से सब सेवा-कार्य करतीं जिसे देखकर यह स्वतः अनुमान होता कि यह प्रवीण हैं। बात यह थी कि इनके घर में भी ठाकुर सेवा थी अतः सब सेवा-विधि जानती थीं। 'ऐसो मन.....पधराइये'—राजा ने पूछा—ऐसा क्यों करती हो? रानी ने कहा—मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। अतः हमें भी आपके साथ कम से कम आधी सेवा तो करने का अवसर मिलना ही चाहिये। राजा ने कहा—अर्द्ध सेवा की तो बात ही क्या? स्वयं ठाकुरजी को पधराकर पूरी सेवा करो, मैं कब रोकता हूँ।

लई बात मानि मानो मन्त्र लै सुनायौ कान होत ही बिहान सेवा नीकी पधराई है।
करति सिंगार फिर आपु ही निहारि रहै लहै नहीं पार दृग झरी सी लगाई है।।
भई बढ़वार राग भोग सों अपार भाव भक्ति विस्तार रीति पुरी सब छाई है।
नृप हू सुनत अब लागि चोप देखिबे की आये ततकाल मति अति अकुलाई है।।४७।।

भावार्थ—विहान=सबेरा। चोप=उमंग, रुचि।

भावार्थ—रानी ने राजा की बात इस प्रकार आदर पूर्वक मानी, जैसे गुरुदेव के द्वारा कान में सुनाया गया मन्त्र भावुक शिष्य स्वीकार करता है। प्रातःकाल होते ही रानी ने अपने मन्दिर में विधि समेत श्रीठाकुरजी की सेवा को पधराया। नई रानी श्रीठाकुरजी की सेवा और श्रृङ्गार करके फिर उनकी सुन्दर शोभा को एकटक निहारती रहती और अपार प्रेम में मग्न हो जाती। नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की झड़ी सी लग जाती। रानी के अपार प्रेम भाव से दिन प्रतिदिन भोग राग में बढ़ोत्तरी होती चली गई। इस प्रेम भक्ति की तथा भोगराग आदि के विस्तार की बात सारे नगर में फैल गई। राजा अम्बरीष ने भी बड़ी भारी प्रशंसा सुनी तो उन्हें भी दर्शन करने की बड़ी भारी अभिलाषा हुई। दर्शनों की उत्सुकता से वे अति अधीर हो गए और उसी समय शीघ्र रानी के मन्दिर में आये।।४७।।

व्याख्या—लई बात मानि—इससे जनाया गया कि रानी के हृदय में भक्ति के संस्कार पूर्व से विद्यमान हैं। निश्चय ही उसने अनेकों जन्मों तक विविध साधनों के द्वारा अपने समस्त कल्मष नष्ट कर डाला है। तभी भगवत्सेवा में इतना अनुराग है यथा—**जन्मान्तर सहस्त्रेषु तपोध्यान समाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।**

निहारि........लगाई है—छबि निहारि गोपाल की, जेहिं न होइ आनन्द। नारायन तेहि जानिये, यही चौथ को चंद।। 'भई बढ़वारि...... छाई है'—

रंगी प्रेम रङ्ग सों नृपरानी। तजी लाज अरु कुल की कानी।।
बोलि सकल पुर के हलवाई। लगी रचावन ढेर मिठाई।।

प्रति दिन हरि को लागत भोगू । आवैं सकल नगर के लोगू।।
पावहिं सकल कृष्ण परसादा । गावहिं सुजस सहित अहलादा।।
पुनि डौंड़ी पुर महँ पिटवाई । आवै इत पुरजन समुदाई।।
जो ऐहैं प्रसाद सो पैहैं । विमुख कोउ इत ते नहिं जैहैं।।
यह सुनि पुरजन दिवस प्रति, हरि दरशन को लेन।
रानी मन्दिर आवहीं, पावहिं अतिशय चैन।। (रा० र०)

अब तो श्रीअयोध्या में सबके घर चूल्हा-चक्की चेतना बन्द हो गया। लोग प्रसाद से ही तृप्त हो जाते अखण्ड नाम-संकीर्तन, कथा-सत्संग का अलौकिक आनन्द उमड़ता रहता।

नृपहू सुनत—पुरवासियों के मुख से तो सुने ही, विशेषकर नारदजी के द्वारा सुने। बात यह हुई कि रानी के भक्तिभाव की चर्चा नारदजी के भी कान पड़ी तो वे कौतुकी तो ठहरे ही, चल पड़े, रानी के भक्तिभाव को देखने के लिये। सर्वप्रथम तो नारदजी राजा के पास गये। राजा ने बड़े प्रेम से बैठने को आसन दिया, तथा कुछ मेवा-मिष्ठान्न प्रसाद दिया तब तक श्रीनारदजी को कीर्तन की ध्वनि सुनाई पड़ी तो पूछे—यह कीर्तन की आवाज कहाँ से आ रही है। राजा ने सब बात बतायी। श्रीनारदजी बोले—अच्छा तो मैं रानीजी के भी ठाकुरजी का दर्शन कर आऊँ। यह कहकर चल दिये। श्रीनारदजी जब वहाँ पहुँचे तो वहाँ का आनन्द देखकर मुग्ध हो गये। जाते ही रानी ने बड़ी श्रद्धा से अर्ध्य पाद्यादि से देवर्षि का पूजन किया, फिर छप्पन भोग प्रसाद सामने आया। श्रीनारदजी ने कुछ खाया और कुछ रख लिया राजा को दिखाने के लिये। थोड़ी देर रहकर श्रीठाकुरजी को प्रणाम कर वहाँ से पुनः राजा के पास आये। सोचते हुए आ रहे हैं कि राजा तो थोड़े से किसमिस बादाम पर ही हम लोगों को टाल देते हैं, परन्तु यहाँ तो बड़े भाव की सेवा है रानी ने तो बाजी मार ली है। इस प्रकार रानी की भक्ति से प्रभावित मुनिराज राजा के पास आकर रानी की सेवा-पूजा, भक्ति-भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हएु बोले कि महाराज! आज तक तो मैं सभाओं में, समाज में आपकी भक्ति को ही सराहता था परन्तु आज तो मैंने आँखों देखा—रानी आपसे भी आगे निकल गईं।

अब लागी चोप देखिबे की—क्योंकि जब नारदजी प्रशंसा कर रहे हैं तो अवश्य ही भक्ति विशेष है। क्योंकि '**मृषा न होइ देवरिषि भाखा**' अत: '**अवसि देखिअहि देखन जोगू।**' **आये........अकुलाई है**—राजा बड़ी शीघ्रता से अपना दैनिक सेवाकार्य सम्पन्न कर, रानी के यहाँ जाने का उचित समय शोधकर बड़ी उतावली से चले। एक बात यहाँ ध्यान रखने की है कि राजा का यह जाना रानी के यहाँ नहीं बल्कि प्रभु अनुरागिणी बड़भागिनी भागवती के यहाँ समझना चाहिये। राजा रानियों से उदासीन हैं न कि भगवद्-भक्तों से। भक्तों में तो अगाध भाव है।

हरे हरे पांव धरै पौरियान मने करै खरे अरबरैं कब देखौं भागभरी को।
गये चलि मन्दिर लौं सुन्दरी न सुधि अङ्ग रङ्ग भीजि रही दृग लाइरहे झरी को।।
बीन लै बजावै गावै लालन रिझावै त्यों-त्यों अति मनभावै कहैं धन्य यह घरी को।
द्वार पै रह्यो न जाय गये ढिग ललचाय भई उठि ठाढ़ि देखि राजा गुरु हरी को।।४८।।

शब्दार्थ—हरे-हरे=धीरे-धीरे। पौरियान=द्वारपालों को। भागभरी=भाग्यशालिनी। खरे=चोखे, प्रेम विशुद्ध, खड़े। अरबरे=आतुर विशेष।

भावार्थ—मेरे आने का पता रानी को न लगे, उनके कीर्तन में बाधा न हो, उनकी प्रेममग्न दशा को मैं छिपकर देखूँ इसलिये धीरे-धीरे पैर रखते हुए राजा अम्बरीषजी द्वार पर पहुँचे। द्वारपाल राजा की जय-जयकार करके आने की सूचना रानी को देना चाहते ही थे कि राजा ने उनको इशारे से मना कर दिया। विशुद्ध प्रेमातुर राजा ने थोड़ी देर वहीं खड़े रहकर प्रेमगान की ध्वनि सुनी। उसके बाद वे ललचाये कि सौभाग्यशालिनी भक्ता को कब देखूँ। राजा से रहा न गया। भीतर मन्दिर के द्वार पर जाकर देखा कि—उस प्रेमवती रानी को अपने शरीर की सुधि नहीं है क्योंकि वह प्रेम के आनन्द में मग्न है। उसके नेत्रों ने आँसुओं की झड़ी लगा रक्खी है। रानी वीणा बजाते हुए गा-गाकर अपने प्यारे लाल को ज्यों-ज्यों प्रसन्न करती हैं, त्यों-त्यों रानी की वह दशा राजा के मन को बहुत प्यारी लग रही है। अपना अहोभाग्य मानकर राजा ने मन में कहा कि—इस घड़ी को धन्य है अब राजा से मन्दिर के द्वार पर न रहा गया, ललचाकर रानी के समीप गये। रानी अपने भक्तराज राजा, गुरु और हरि को आया देखकर उठ खड़ी हुई।।४८।।

व्याख्या—हरे......धरें—जिससे रानी को आने की आहट न मिले।। **पौरियान मने करै**—वे नित्य के अभ्यासवश महाराज की जय-जयकार करने लगे तो आपने मना कर दिया। **'देखों भाग भरीको'—सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।। सुन्दरी....झरी को**—यह सब प्रेम के सात्विक-भाव हैं। भगवान का दर्शनकर प्रेम में शरीर की सुधि नहीं रह जाती है। यथा—**'राम देखि मुनि देह बिसारी।' मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेह बिदेह बिसेषी।' 'भये मगन सब देखन हारे। जनक समान अपान बिसारे।' देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान।।' धन्य यह घरी 'धन्य घरी सोइ जब सत्सङ्ग।'**

भई उठि......हरी को—महाराज अम्बरीषजी रानी के लिये सब विधि सम्मान्य हैं। इत तो पति हैं, दूसरे राजा हैं, तीसरे श्रीठाकुर-सेवा का उपदेश दिये हैं यथा—**'मानो मन्त्र लै सुनायो कान'** अतः गुरु हैं यथा—**एकाक्षर प्रदातारं गुरुं यो हि न मन्यते। श्वान जन्म शतं लब्ध्वा नरकेषु पतन्ति वै।।** अर्थ—मात्र एक अक्षर के उपदेशक भी माननीय हैं, जो उपदेशक गुरु को नहीं मानता है वह सौ बार कुत्ते की योनि पाकर नरक में गिरता है। चौथे पति होने से, राजा होने से, गुरु होने से तथा ईश्वरांश होने से एवं परम भागवत होने से श्रीहरि भी हैं। स्त्री के लिए उसका पति परमेश्वर ही होता है। यथा—**भर्त्तानाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सहः। भर्ता तीर्थश्च पुण्यश्च नारीणां नृपनन्दन।।** (प०पु०) राजा भी ईश्वररूप होता है। यथा—**'नराणां च नराधिपः।'** गुरु तो ईश्वररूप है ही यथा—**गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।'** श्रीअम्बरीषजी ईश्वरांश हैं। देखिये जन्म प्रसंग। तथा परम भागवत और भगवन्त एक ही हैं। यथा—**'भगत भगति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।'** पुनः—**संत भगवंत अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी।'** अतः हरी को कहा।

वैसे ही बजाओ बीनताननि नवीन लैके झीन सुर कान परै जाति मति खोइये।
जैसे रङ्ग भीजि रही कही सो न जात मोपै ऐपै मन नैन चैन कैसे करि गोइये।।

करिकै अलापचारी फेरिकै सँभारितान आइगयो ध्यान रूप ताहि माँझ भोइये।
प्रीति रस रूप भई राति सब बीति गई नई कछु रीति अहो जामें नहिं सोइये।।४९।।

शब्दार्थ—वीन=वीणा। झीन=महीन, कोमल। सुर=स्वर। रङ्ग भीजि=प्रेम में सराबोर। गोइये=छिपाइये। अलापचारी=संगीत में सातों स्वरों का राग सहित उच्चारण। भोइये=भीजए, लीन होइये।

भावार्थ—रङ्ग को भङ्ग होते देखकर राजा ने कहा कि—तुम जिस प्रकार नई-नई विचित्र तानों को लेकर वीणा बजा रही थीं उसी प्रकार बजाओ। झीना मधुर स्वर कान में पड़ने से इतना आनन्द आता है कि मति विभोर हो जाती हैं। तुम जिस प्रकार आनन्द में मग्न हो रही थीं, उनका वर्णन मुझसे नहीं हो सकता है। मधुर कीर्तन सुनकर और प्रेमविभोर भक्त-भगवत् का दर्शनकर मेरे कान, नैन तथा मन को जो अपार सुख हुआ है उसे मैं कैसे छिपाऊँ। यह सुनकर रानी ने सावधानी से फिर वीणा सँभाली और स्वरों को साधकर गाना आरम्भ किया, जिससे दोनों श्यामसुन्दर की रूप माधुरी के ध्यान में मग्न हो गये। हृदय में प्रेम रस रूपा भक्ति भर गई। अनुराग रङ्ग में आनन्द लेते हुए सारी रात बीत गई। अहो! प्रीति की रीति बड़ी विचित्र है, इसमें तमोगुणी निद्रा का अभाव है। यहाँ तो प्रेम समाधि है।।४९।।

व्याख्या—कही सो न जात मोपै—अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्।। मूकास्वादनवत्।। (ना०भ०सू०) अर्थ—प्रेम का स्वरूप अवर्णनीय है। जैसे गूँगे का गुड़।।

करिकै.....भोइये

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति साँवरी सूरति नैना बने विशाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजन्ती माल।।
क्षुद्र घंटिका कटि तट शोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त वछल गोपाल।।

प्रीति रस रूपभई राति—तमोमयी राति प्रेमियों के सम्मिलन से प्रेमरूपा हो गई '**जामें नहिं सोइये'—अजब प्रीति की रीति है, गजब करै सब ठौर। क्षुधा नींद आशा नसी, बिनु हरि रहा न और।।**

बात सुनी रानी और राजा गये नई ठौर भई सिर मौर अब कौन वाकी सर है।
हमहूँ लै सेवा करैं पति मति वशकरैं धरैं नित्य ध्यान विषय बुद्धि राखी धर है।।
सुनिकै प्रसन्न भये अति अम्बरीष ईस लागी चोप फैलि गई भक्ति घर घर है।
बढ़ै दिन दिन चाव ऐसोई प्रभाव कोई पलटै सुभाव होत आनँद को भर है।।५०।।

शब्दार्थ—सिरमौर=श्रेष्ठ। सर=समान। धर=दूर। चोप=इच्छा, उत्साह, शौक। भर=पूर्णता।

भावार्थ—दूसरी रानियों ने जब यह बात सुनी कि—राजा नई रानी के मन्दिर में गए और भगवद् गान सुनते-सुनते उन्होंने सारी रात वहीं बिताई। वे आपस में कहने लगीं कि—अब तो नई रानी हम सबों में

श्रेष्ठ हो गई। उसके समान राजा की कृपापात्र कौन-सी रानी है अर्थात् कोई नहीं। फिर सबों ने निश्चय किया कि—हम लोग भी सभी इन्द्रियों के संसारी विषयों को मन से दूर हटा दें और भगवान श्यामसुन्दर की सेवा करें। नित्य प्रेम से उनका ध्यान धरैं। इस प्रकार अपनी भक्ति से भक्तराज अपने पति के मन को हम भी अपने वश में करें और उनकी कृपा प्राप्त करें। अपने इन विचारों के अनुसार सभी रानियाँ तन-मन-धन से सेवा करने लगीं। यह सुनकर राजा अम्बरीष अति प्रसन्न हुए और उनके मन्दिर में जा-जाकर उनके प्रेम के दर्शन करने लगे। इससे प्रभावित होकर राज्य की समस्त प्रजा भी अपने-अपने घरों में भगवान की सेवा करने लगी। इस प्रकार घर-घर में भक्ति फैल गई। यह भक्ति की रुचि दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। जैसे एक प्रेमवती रानी के प्रभाव से भक्ति का विस्तार हुआ इसी प्रकार जब किसी भक्त का प्रभाव होता है, तब लोगों का विषयी स्वभाव बदल जाता है और लोग प्रेम के आनन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं।।५०।।

व्याख्या—जिस दिन से राजा ने छोटी रानी का भक्ति भाव देखा उसी दिन से अब नित्य ही रानी के यहाँ कीर्तन का आनन्द लेने के लिये जाने लगे। इस नई लगन में अब अपने श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा में भी शीघ्रता होने लगी। राजा को सदा रानी के यहाँ जाकर पद-कीर्तन सुनने की त्वरा बनी रहती अतः जल्दी-जल्दी श्रीठाकुरजी को नहला-धुलाकर, चन्दन-तिलक लगाकर, कुछ भोग अर्पित कर आरती-स्तुति भी शीघ्रतापूर्वक ही करके सेवा-पूजा से निवृत्त होकर रानी के यहाँ जा विराजते। परिणाम यह हुआ कि एक दिन श्रीठाकुरजी को कहना पड़ा कि महाराज! यदि आपसे सेवा नहीं बन रही है तो हमें भी वहीं पहुँचा दीजिये फिर तो आप निश्चिन्त होकर वहीं रहिये। सच बात तो यह थी कि श्रीठाकुरजी की भी इच्छा हो रही थी ऐसी महाभागवती का दर्शन करने की। जैसे शबरी और ध्रुवजी के दर्शन के लिये आप लालायित भये थे उसी प्रकार रानी के भी भक्ति भाव से आकर्षित होकर दर्शनार्थ त्वरित हो रहे थे। 'बात सुनी.......ठौर'—'छन महँ व्यापेउ सकल पुर घर घर यह सम्वाद।'

भई-सिरमौर—छोटी थी बड़ी हो गई। यह भक्ति की महिमा है। भगवत् कृपा है। सत्सङ्ग का प्रभाव है। यथा—

सो सुकृती सुचिमन्त सुसन्त सुजान सुशील सिरोमनि स्वै।
सुर-तीरथ तासु मनावत आवन पावन होत हैं ता तनु छ्वै।।
गुन गेह सनेह को भाजनसो सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै।
सतिभाँय सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै।। (कवि०)

पुनः—'**जो बड़ होत सो राम बड़ाई।**' '**केहि न दीन्ह रघुवीर बड़ाई।**' '**सन्तत दासन्ह देहिं बड़ाई।**' पुनः—**केहिं न सुसङ्ग बड़प्पन पावा।**' अतः भई सिर मौर।

विषय बुद्धि राखीधर है—क्योंकि—**जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम। तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रबि रजनी एक ठाम।।** '**सुनि कै.......चोप**' अब तो महाराज को सभी रानियों के यहाँ से कीर्तन का निमन्त्रण आता और आप सहर्ष उनके यहाँ जाते। सबके महल मन्दिर हो गये, सर्वत्र ठाकुर सेवा का साज सज गया। 'फैली.........घर है'—धीरे-धीरे समस्त नगर में घर-घर भक्ति महारानी का साम्राज्य हो गया। यह सब छोटी रानी की भक्ति का प्रताप है। कोई आश्चर्य नहीं। भक्तिमान तो त्रैलोक्य को पुनीत करने में समर्थ होता है। यथा—मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति' (भागवत)

पलटै सुभाव—वैसे तो स्वभाव को अमिट कहा गया है। यथा—'**स्वभावो दुरतिक्रमः।**' '**अतीत्य हि गुणान्सर्वान् स्वभावो मूर्ध्निवर्तते।**' '**स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन।**' **सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।**' पुनः—**कोटि जतन कीजै तऊ प्रकृतिहिं परै न बीच। नलबल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच।।** (विहारी) परन्तु भक्ति प्रताप स्वभाव को भी बदलने में समर्थ है।

दृष्टान्त राज कन्या और श्वपच का—एक श्वपच राजकुमारी के रूप लावण्य को देखकर अत्यन्त आसक्त हो गया। परन्तु उसकी प्राप्ति को परम दुर्लभ जानकर चिन्ता में अन्न, जल ग्रहण करना छोड़ दिया। खाट पर पड़ा-पड़ा आहें भरता रहता। तब उसकी स्त्री ने उससे जब दुःख का कारण पूछा तो प्रथम तो उसने टाल-मटोल किया परन्तु हठ करने पर अपनी मानसिक व्यथा को व्यक्त करते हुए जीवन को राजकुमारी के अधीन बताया। अर्थात् 'मैं न जियब विनु राजकुमारी।' उसकी स्त्री ने उसे आश्वासन दिया और स्वयं राजकुमारी के पास जाकर हाथ जोड़कर खड़ी भई। पूछने पर जब उसने अपने पति का सब हाल-हवाल बताया तो राजकुमारी बड़े धर्म संकट में पड़ गई। एक ओर तो अपने चरित्र की रक्षा, दूसरी ओर उसके प्राण की रक्षा। उसने भगवान का स्मरण किया, प्रभु ने प्रेरणा की, राजकुमारी को उपाय सूझ गया—भक्ति में स्वभाव सुधारने की अद्भुत शक्ति है—अतः उसने भंगिन से कहा कि तुम अपने पति से कह दो कि वह वन में जाकर भगवान के चरणारविन्दों का ध्यान करे, जब वह ध्यान में निरन्तर मग्न रहने लगेगा तब मैं उसके पास चलूँगी। पत्नी की बात सुनकर भंगी ने वैसा ही किया। फलस्वरूप उसकी बड़ी प्रसिद्धि भई। नगर के सब लोग दर्शनार्थ आने जाने लगे। परन्तु वह तो किसी की ओर देखे ही नहीं। उसे ध्यान का सुख मिलने लगा था। निदान एक दिन राजकुमारी भी पिता की आज्ञा लेकर दर्शन का बहाना बनाकर उसके पास गई। संग में बहुत से पकवान मिठाईयाँ ले गई थी। सामने धर कर प्रसाद ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी परन्तु उसने तो आँख भी नहीं खोली। तब उसने वहाँ उपस्थित सभी लोगों को हटाकर एकान्त में कहा—मैं वही हूँ जिसके लिये तुम श्रीकृष्ण-चरणारविन्दों का ध्यान कर रहे हो। जब दो-चार बार राजकुमारी ने यह बात कहा तो वह धीरे- धीरे आँख खोलकर मुस्कराकर बोला—राजकुमारी! यह तुमने ठीक कहा है कि मैं वही हूँ परन्तु ध्यान रखो अब मैं वह नहीं हूँ। तो राजकुमारी ने उसकी बड़ी प्रशंसा किया और कहा कि इसीलिये तो मैंने यह उपाय कहा था। सो वह उपाय सफल हुआ। विषयों की ओर से मन हटकर भगवान में लग गया यह बड़े हर्ष की बात है उसने भी राजकुमारी को गुरु मानकर प्रणाम किया।

इसी प्रकार श्रीअम्बरीष की रानियों ने जो राजा को वश में करने के लिये भक्ति का स्वांग किया था वह भक्ति के प्रताप से सत्य हो गया, रानियों का मन भगवान में लग गया। विषय-बुद्धि दूर हो गई। तभी तो कहा गया है—'स्वांगहु करत सांच होइ जाय' 'झूठ-मूठ खेलै सच-मुच होय। सचमुच खेलै विरला कोय।' अतः पलटै सुभाव कहा।

दृष्टान्त—कालूधीमर का—जंगल में एक सुन्दर सरोवर था। जिसके लिये राजाज्ञा थी कि इसमें कोई मछलियों का शिकार न करे। एक दिन कालू नाम का धीमर चोरी से सरोवर में जाल डालकर मछलियों का शिकार कर रहा था। इतने में राजा की सवारी उधर को ही आती दिखाई पड़ी। धीमर डर गया। बचाव का और कोई उपाय न देखकर तत्काल जाल समेट कर कीचड़ में गाड़ दिया और स्वयं

धूल-मिट्टी लपेट कर साधु का स्वांग करके ध्यान लगाकर बैठ गया। राजा ने देखा तो बड़े प्रभावित हुये कि कैसे एकान्तवासी महात्मा हैं। परम अकिंचन हैं। राजा ने प्रणाम किया और बहुत से मणिरत्न भेंट किये। राजा की देखादेखी सभी लोगों ने प्रणाम किया और यथा शक्ति भेंद की। जब सब लोग चले गये तो कालू ने आँख खोली। सामने रजत-स्वर्ण-मणियों की ढेरी देखकर विचार करने लगा कि जब एक क्षण के साधु वेष धारण करने का यह फल है तो सदा सर्वदा की तो बात ही क्या कहनी है? बस, उसका भी पलट्यौ स्वभाव। साधु ही हो गया।

श्रीभगवत रसिकजी कहते हैं कि—**तात ऋषभ सों होय मात मंदालस जानौ। पुत्र कपिल सों मिलै मित्र प्रहलादहिं मानौ।। भ्राता विदुर दयाल योषिता द्रुपद दुलारी। गुरु नारद सों मिलै अकिंचन पर उपकारी।। भर्ता नृप अम्बरीष सों, राजा पृथु सों जो मिलैं। भगवत भवनिधि उद्धरैं चिदानन्द रसमें झिलै।।**

श्रीविदुरजी—महात्मा माण्डव्य के शाप से साक्षात् धर्मराज ही विदुर रूप में उत्पन्न हुये थे। कथा इस प्रकार है—एकबार राजपुरुषों द्वारा पीछा किये जाने पर बहुत से चोर चोरी का माल महर्षि माण्डव्यजी के आश्रम में रखकर अपने भी वहीं छिप गये। मुनि ध्यानस्थ थे। उन्हें इस बात की किंचित् जानकारी नहीं थी। अतः राजपुरुषों के पूछने पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। तब उन राजपुरुषों ने आश्रम में खोज-बीन प्रारम्भ की तो चोर एवं चोरों का माल, दोनों ही बरामद हुये। फिर तो उनका मुनि पर भी सन्देह हो गया और चोरों के साथ उन्हें भी राजा के सम्मुख पेश किया गया। राजा ने शूली पर चढ़ा देने का हुक्म दे दिया। अन्य चोर तो तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गये परन्तु महामुनि माण्डव्य शूली के अग्रभाग पर बैठे हुये तप ही करते रहे। बहुत दिनों तक इस प्रकार तपोधन मुनि को शूली पर बैठे देखकर राजकर्मचारियों ने जाकर राजा से यह सब समाचार निवेदन किया। राजा तत्काल ही दौड़े आये और विविध प्रकार से अनुनय विनय कर अपराध के लिये क्षमा याचना करते हुये मुनि को शूली से उतार दिया। शूल की किंचित् अनी शरीर में प्रविष्ट हो गई थी जो निकालने का प्रयत्न करने पर भी नहीं निकल सकी तो उसे उतना काट दिया गया। शूल की अनी को शरीर में धारण करने से आगे चलकर इनका नाम अणिमाण्डव्य पड़ गया।

एक बार महर्षि ने धर्मराज के पास जाकर उन्हें उलाहना देते हुये कहा—मैंने अनजाने में कौन-सा ऐसा पाप किया है जिसके फल का भोग मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ और फिर मेरी तपस्या का फल देखो। धर्मराज ने कहा—आपने बाल्यावस्था में एक पतिंगे के पृच्छभाग में सींक घुसेड़ दिया था उसी का यह फल मिला। ऋषि ने कहा—एक तो बाल्यावस्था में धर्मशास्त्र का ज्ञान नहीं होता, दूसरे तुमने थोड़े से अपराध में मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है अतः मैं तुम्हें शाप दूँगा। धर्मराज ने कहा कि यदि आप मुझे शाप ही देना चाहते हैं तो कृपाकर राजा, दासी पुत्र एवं चाण्डाल होने का शाप न दीजियेगा। मुनि ने क्रुद्ध होकर कहा—तुम तीनों हो जाओ। इसी शाप के फलस्वरूप धर्मराज ने राजा युधिष्ठिर, दासी पुत्र विदुर एवं श्वपच भक्त बाल्मीकि के रूप में जन्म लेकर मुनि के शाप को सफल किया। माता सत्यवती की आज्ञा होने पर भगवान वेद व्यासजी ने नियोग विधि से अम्बिका की दासी के गर्भ से महात्मा विदुरजी को जन्म दिया। इनको अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, स्वार्थ तथा परमार्थादिका सम्यक् बोध था। आत्मकल्याण को आप जीवन का परम लक्ष्य मानते थे इस सम्बन्ध में आपका कथन है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् । ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्।।

(म० भा०)

अर्थ—कुल के हित के लिये एक व्यक्ति को त्याग दें, गाँव के हित के लिये एक कुल को छोड़ दें, देश के हित के लिये एक गाँव का परित्याग कर दें, और आत्मा के कल्याण के लिये सारे भूमण्डल को त्याग दें।

धर्मावतार श्रीविदुरजी सदा धर्म का समर्थन करते थे। यही कारण था कि अधर्मरत धृतराष्ट्र पुत्रों से इनकी नहीं पटती थी। धर्मपरायण पाण्डु पुत्रों में इनका सहज स्नेह था। समय-समय पर कौरवों के कुचक्र से बचने के लिये इन्होंने पाण्डवों को बराबर आगाह किया। लाक्षा गृह का भेद, वहाँ से बचकर निकल भागने के लिये प्रथम से ही सुरङ्ग व्यवस्था, नदी पार करने के लिये नाव और नाविक का भेजना, पाण्डवों को आधा राज्य देकर सन्तुष्ट रखने के लिये धृतराष्ट्र से अनुरोध, श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में दान-धर्माध्यक्षता, द्यूत क्रीड़ा के प्रस्ताव का घोर विरोध, जुए के अवसर पर धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण, दुःशासनादि को चेतावनी देना, द्रोपदी को सभा-भवन में लाने के सम्बन्ध में दुर्योधन के आदेश की भर्त्सना, सभासदों को द्रोपदी के प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिये प्रेरित करना, वनवास के समय पाण्डवों को धर्मपूर्वक रहने का उपदेश देना, समय-समय पर वन में जाकर पाण्डवों को सान्त्वना देना, धृतराष्ट्र को नीति धर्म का उपदेश देना (जिसे विदुर नीति कहते हैं) कौटुम्बिक कलह एवं लोभ से हानि बताते हुए धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण की बात मान लेने के लिए समझाना, श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए उनकी भक्ति करने का अनुरोध करना आदि श्रीविदुरजी की धर्मपरायणता के सूचक कार्य हैं। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादास जी श्रीविदुर एवं विदुरानी के श्रीकृष्ण-प्रेम का एक मधुर प्रसङ्ग वर्णन करते हैं—

न्हात ही विदुर नारि अंगन पखारि करि आइ गये द्वार कृष्ण बोलिकै सुनायो है।
सुनत ही स्वर सुधि डारी लै निदरि मानो राख्यो मद भरि दौरि आनिकै चितायो है।।
डारि दियो पीतपट कटि लपटाय लियो हियौ सकुचायो वेष वेगि ही बनायो है।
बैठी ढिग आइ केरा छीलि छीलका खवाइ आयो पति खीझ्यो दुख कोटि गुनो पायो है।।५१।।

शब्दार्थ—निदरि=निरादर करके। मद=नशा, हर्ष। चितायो=चितयो, देख्यौ।

भावार्थ—जिस समय विदुर की स्त्री हाथ पैर धोने के बाद मात्र एक ही वस्त्र होने के कारण नग्न स्नान कर रही थीं उसी समय भगवान श्रीकृष्ण आये और उन्होंने द्वार पर से ही पुकारा। भगवान का मधुर स्वर सुनते ही वे मानो हर्ष से भरी मतवाली हो गईं। इसलिये उन्होंने शरीर की स्मृति का निरादर करके उसे फेंक दिया अर्थात् उन्हें शरीर का होश नहीं रहा। वे दौड़कर आईं, किवाड़ खोलकर उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन किए। भगवान ने उन्हें प्रेम विह्वल देखकर अपना पीताम्बर उनके ऊपर डाल दिया तब विदुरानीजी को कुछ होश आया और उन्होंने पीताम्बर को कमर से लपेट लिया। उनके मन में बड़ा संकोच हुआ। शीघ्र ही उन्होंने भीतर जाकर वस्त्र धारण कर लिए। फिर आकर भगवान के निकट बैठ गईं। भगवान ने कहा कि—काकी! मुझे तो भूख लगी है। तब वे केला ले आईं और पुनः प्रेम विवश

बेसुध होकर केला छील-छीलकर छिलका खिलाने लगीं। भगवान बड़े चाव के साथ छिलके खा रहे थे। इतने में विदुरजी आ गये और इस दृश्य को देखकर बहुत झुँझलाए। विदुरानीजी को जब अपनी भूल का पता चला तब उन्हें विदुरजी से कोटि गुना दुःख हुआ।।५१।।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण जब कौरव-पाण्डवों में सन्धि स्थापन के लिये शान्ति दूत बनकर हस्तिनापुर गये, दुर्योधन ने स्वागत की बड़ी भारी तैयारी की थी। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण धृतराष्ट्रादि से मिलकर दुर्योधन के आग्रह पर उसके महल में गये। उस समय दुर्योधन के हृदय में प्रीति का अभाव होने पर भी ऊपर से बहुत-बहुत प्रेम का प्रदर्शन करते हुये श्रीकृष्ण को भोजन के लिये आमन्त्रित किया, परन्तु केशव ने उस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। जब दुर्योधन ने इसका कारण पूछा तो भगवान ने कहा—**सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः। न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्।।** (म०भा०) अर्थ—किसी के घर का अन्न या तो प्रेम के कारण भोजन किया जाता है या आपत्ति पड़ने पर। नरेश्वर! तुम तो प्रेम नहीं रखते और हम किसी आपत्ति में नहीं पड़े हैं।। पुनः—

द्वै बिध भोजन कीजै राजा विपति परे कै प्रीति।
तेरी प्रीति न मोहि आपदा यहै बड़ी विपरीति।।
ऊँचे मन्दिर कौन काम के कनक कलशजु चढ़ाये।
भक्त भवन में मैं जु बसत हौं यद्यपि तृण करि छाये।।
अन्तर्यामी नाम हमारौ हौं अन्तर की जानौं।
तद्यपि सूर भक्त वच्छल हौं भक्तन हाथ बिकानो।

दूसरा कारण यह है कि इस समय मैं दूत बनकर आया हूँ और नियम यह है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर ही मेरा और मेरे मन्त्रियों का सत्कार करना। तीसरा कारण यह है कि—**द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषंतं नैव भोजयेत्। पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणाः हि पाण्डवाः।।** (म०भा०) अर्थ—जो द्वेष रखता हो उसका अन्न न खाना चाहिये और न उसे खिलाना चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवों से द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं। ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उनके भव्य भवन से बाहर निकलकर ठहरने के लिये महात्मा विदुर के घर गये। संयोग की बात—श्रीविदुर जी उस समय श्रीकृष्ण से ही मिलने के लिये धृतराष्ट्र के महल में गये थे। यथा—

हरि ठाढ़े रथ चढ़े दुवारे।
तुम दारुक आगे ह्वै देखहु भक्त भवन किधौं अनत सिधारे।।
सुनि सुन्दरि उठि उत्तर दीन्हौं कौरवसुत कछु काज हँकारे।
तहँ आये यदुपति कहियत हैं कमल नयन हरि हितू हमारे।।
तिहि को मिलन गयो मेरो पति ते ठाकुर हैं प्रभु हमारे।
सूर सु प्रभु सुनि संभ्रम धाये प्रेम मगन तन वसन विसारे।।

श्रीविदुरानी जी उस समय स्नान कर रही थीं। श्रीप्रभु द्वार पर खड़े पुकार रहे हैं—

खोलो विदुरजी ! विदुरजी ! पट कृष्ण यों रटने लगे।
भव बन्ध मानो विदुर के तत्काल ही कटने लगे।।
भगवान खोलो कह रहे यह बँध गये किस डोर से।
सत्प्रेम की जँजीर से जकड़े हुए चहुँ ओर से।।

सुनत........चितायो है—**विरहिन के श्रवननि परै, जो प्रियतम के बैन। सुधि बिसरै तन भवन की, ऐसो आवत चैन।।** 'छीलिका खबाय'—**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्यु पहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।** (गीता) अर्थ—हे अर्जुन! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादिक मैं प्रीति सहित खाता हूँ।। पुनश्च—

रहिमन रहिला की भली, जो परसत मन लाय।
परसत मन मैला करे, सो मैदा जरि जाय।।
तत्त्ववेत्ता तिहुँ लोक में भोजन कियो अपार।
कै शबरी कै विदुर घर, रुचि मानी दुइ बार।।

प्रेम को विचार आपु लागे फलसार दैन चैन पायो हियो नारि बड़ी दुखदाई है।
बोले रीझि श्याम तुम कीनो बड़ो काम ऐपै स्वाद अभिराम वैसी वस्तु में न पाई है।।
तिया सकुचाय कर काटि डारौं हाय प्राणप्यारेको खवाइ छीलि छीलिका न भाई है।
हित ही की बातें दोउ पार पावैं नाहिं कोऊ नीकेकै लड़ावै सोई जानै यह गाई है।।५२।।

शब्दार्थ—फलसार=गूदा, गिरी। लड़ावै=प्यार करै।

भावार्थ—विदुरजी ने विचारा कि प्रेमवश बेसुध होकर ही भूल से उसने छिलके खिलाए और इन्होंने भी खा लिये। अब आप अपने हाथ से केला छील-छीलकर गूदा खिलाने लगे। मन में कुछ सुख और शान्ति आई। भगवान् से बोले कि—प्रभो! यह स्त्री बड़ा दुख देने वाली है जिसने आपको छिलके खिला दिये। भगवान प्रसन्न होकर बोले कि काकाजी! आपने यह बड़ा भारी काम किया कि मुझे फलसार खिलाया। पर जैसा सुन्दर स्वाद उस वस्तु में था वैसा इसमें नहीं है। वैसी वस्तु तो मैंने कभी कहीं नहीं पाई है। विदुरानीजी संकुचित होकर कह रही थीं—हाय! मैं क्या करूँ, इन हाथों को काट डालूँ, जिनसे अपने प्राणप्यारे लाल को मैंने छिलके खिलाये। छिलके प्रभु को कैसे लगे होंगे। यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। प्रियादासजी कहते हैं कि— विदुरानीजी का छिलके खिलाना तथा विदुरजी का केला की गिरि खिलाना ये दोनों बातें प्रेम की ही हैं। उसका कोई पार नहीं पा सकता है। जो कोई श्यामसुन्दर से भली-भाँति प्रेम करे वही रहस्य को जान सकता है। यह बात प्रेम की पोथियों में गाई गई है। मैंने तो यहाँ केवल चरित्र का गान किया है। भला मैं प्रेम को क्या जानूँ।।५२।।

व्याख्या—बोले रीझि.....पाई है—भगवान ने केले के छिलकों में विदुरानी के हृदय में उमड़ते हुये अनुराग को देखा, पाया, खूब तृप्त होकर पाया। बाद में विदुरजी ने फलसार खिलाया, और फिर बाद

में रसोई भी तैयार करायी। भगवान ने उसे भी पाकर बड़ी सराहना किया कि 'तुम कीनो बड़ो काम' लेकिन इसमें वह स्वाद नहीं आया, जो छिलकों में था। श्रीप्रभु के वह वचन सुनकर विदुरानी का संकोच तो दूर हो गया परन्तु विदुरजी संकुचित हो गये। तब भक्त वत्सल भगवान उनका संकोच मिटाने के लिये उनके जंघा पर सिर रखकर उनकी गोद में सो गये। विदुरजी के जंघे पर भगवान के कुण्डल की अमिट छाप लग गई। हरिद्वार में जब श्रीमैत्रेयजी ने देखा तो इनके भाग्य की बड़ी सराहना किया। हित ही की बातें दोऊ—इस पर दृष्टान्त—दो भक्तों का। (देखिये कवित्त ११)

सोई जानै—

जो जानै मानै सोई मानै क्यों बिन जान । पीर प्रसूती की कहा जानत बांझ अजान।।
जानत बांझ अजान नपुंसक रति सुख नाहीं । ऐसे नीरस पुरुष कहा समुझै रसमाहीं।।
भगवत नित्यबिहार रसिक अनुभव उर आनै । गूढ़ वात नभजाति जाति बरही जोजानै।।

श्रीविदुरजी ने कहा—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्।।

अर्थ—जिस सभा में बड़े-बूढ़े नहीं वह सभा नहीं, जो धर्म की बात न कहें वे बूढ़े नहीं, जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपट से पूर्ण हो, वह सत्य नहीं।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः । प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्।।

अर्थ—राजन्! ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और निर्धन होने पर भी दान देने वाला।।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले वद्ध्वा दृढ़ां शिलाम् । धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।।

अर्थ—जो धनी होने पर भी दान न कर सके और दरिद्र होने पर भी तप नहीं कर सके इन दो प्रकार के मनुष्यों को गले में मजबूत पत्थर बाँधकर पानी में डुबो देना चाहिये।।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यंते कदाचन।। (वि० नी०)

अर्थ—तृण का आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनों के घर में इन चार चीजों की कभी कमी नहीं होती।। (वि० नी०) एक समय धृतराष्ट्र को रात में नींद नहीं आ रही थी, तब उन्होंने रात में ही श्रीविदुरजी को बुलाकर उनसे शान्ति का उपाय पूछा। उस समय विदुरजी ने धृतराष्ट्र को धर्म और नीति का जो सुन्दर उपदेश दिया वह विदुर नीति के नाम से प्रसिद्ध है। उपर्युक्त श्लोक वहीं से उद्धृत किये गए हैं। इसके बाद श्रीविदुरजी ने ब्रह्माजी के पुत्र सनत्सुजात जैसे सिद्धयोगी एवं महर्षि द्वारा धृतराष्ट्र को तत्व का उपदेश कराकर उनके कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

सन्धि का प्रस्ताव लेकर आए हुए शान्तिदूत श्रीकृष्ण के प्रयत्नों के विफल होने पर, दुर्योधन के-पाँच गाँव की तो बात ही क्या—**बिना युद्धे न दातव्यं सूच्यग्रं नैव केशव**। अर्थ—'हे केशव! बिना युद्ध के सुई की नोंक बराबर जमीन भी हम नहीं दे सकते हैं।' इस दूराग्रह के फलस्वरूप दोनों ओर से

युद्ध की तैयारी होने पर, चूँकि विदुरजी को युद्ध में किसी का पक्ष लेना नहीं था अपनी आँखों से अपने कुल का सर्वनाश देखना अभीष्ट नहीं था अतः शस्त्र का परित्याग कर वे तीर्थाटन को चले गये। अवधूत वेष में वे तीर्थों में घूमते रहे। विचरते- विचरते जब मथुरापुरी में आये तो जमुना तट पर इन्होंने परम भागवत श्रीउद्धवजी का दर्शन किया। उनसे महाभारत के युद्ध, यदुकुल के क्षय तथा भगवान के स्वधाम गमन का समाचार मिला। भगवान ने स्वधाम पधारते समय महर्षि मैत्रेय को आदेश दिया था कि वे मेरे द्वारा कहे गये तत्वज्ञान का विदुरजी को उपदेश करें। उद्धवजी से यह समाचार पाकर विदुरजी हरिद्वार गये। वहाँ मैत्रेयजी से उन्होंने भगवदुपदिष्ट तत्वज्ञान प्राप्त किया और फिर हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर विदुरजी केवल बड़े भाई धृतराष्ट्र को आत्म-कल्याण का मार्ग प्रदर्शन करने आये थे। वे नित्य धृतराष्ट्र के समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे। जिससे धृतराष्ट्र के प्रज्ञा के नेत्र खुल गये और गान्धारी के सहित वन जाने का निश्चय कर लिये तो श्रीविदुरजी भी उनके साथ हो लिये।

कुछ काल बाद जब धृतराष्ट्र और गान्धारी परलोक सिधार गये तो विदुरजी ने घोर तपस्या का व्रत ले लिया। वे निराहार रहकर निर्जन वन में एकान्तवास करने लगे। शून्य वन में कभी-कभी लोगों को दर्शन हो जाया करता था। कुछ दिनों बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार और सेना को साथ लेकर वन में ताऊ-ताई को देखने गये थे, उसी समय उन्हें विदुरजी दूर पर दिखाई दिये। वे सिर पर जटा धारण किये हुए थे, मुख में पत्थर दबाये थे और दिगम्बर वेष बनाये हुए थे। वे आश्रम की ओर देखकर लौटे जा रहे थे। युधिष्ठिर जी उनसे मिलने के लिये उनके पीछे दौड़े और जोर-जोर से अपना नाम बताकर उन्हें पुकारने लगे। घोर जंगल में पहुँचकर विदुरजी एक वृक्ष का सहारा लेकर स्थिर भाव से खड़े हो गये। राजा युधिष्ठिर ने देखा कि विदुरजी का शरीर अस्थि पञ्जर मात्र रह गया है। वे बड़ी कठिनाई से पहचाने जाते थे। युधिष्ठिर ने उनके सामने जाकर उनकी पूजा की, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष नेत्रों से युधिष्ठिर की ओर देखने लगे। इसके बाद वे योगबल से अपने अङ्गों को युधिष्ठिर के अङ्गों में, इन्द्रियों को उनकी इन्द्रियों में तथा प्राणों को प्राणों में मिलाकर उनके शरीर में प्रवेश कर गये। विदुरजी का शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्ष के सहारे खड़ा रह गया। इस प्रकार साक्षात् धर्म के अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन बिताकर अन्त में धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिर के ही शरीर में प्रवेश कर गये।

श्रीअक्रूरजी का प्रसङ्ग देखिये कवित्त १०१ में।

श्रीसुदामाजी

बड़ो निष्काम सेर चूनहू न धाम ढिग आई निजभाम प्रीति हरिसों जनाई है।
सुनि सोचपर्‌यो हियोखरो अरबर्‌यो मन गाढ़ो लैकै कर्‌यो बोल्यो हाँजू सरसाई है।।
जावो एक बार वह वदन निहार आवो जोपै कछु पावो ल्यावो मोको सुखदाई है।
कही भली बात सात लोक में कलंक ह्वै है जानियत याही लिये कीन्ही मित्रताई है।।५३।।

शब्दार्थ—भाम=स्त्री। गाढ़ो=दृढ़। सरसाई=सरसता, अधिकता।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण के सखा श्रीसुदामाजी ऐसे निष्काम भक्त थे कि उनके घर में कभी सेर भर आटा एकत्र नहीं हो पाया। वे ब्राह्मण-वृत्ति से कष्टपूर्वक अपनी जीविका चलाते थे। एक दिन

उनकी ब्राह्मणी ने समीप आकर स्मरण कराया कि—आपकी तो द्वारकानाथ श्रीकृष्ण से बड़ी भारी मित्रता है। स्त्री की बात सुनकर तथा उसका आशय समझकर सुदामाजी सोच-विचार में पड़ गए। उनका विशुद्ध निष्काम हृदय आतुर हो गया फिर उन्होंने मन को दृढ़ करके कहा—हाँ, अवश्य हमारी और उनकी गहरी मित्रता है। तब सुदामाजी की स्त्री सुशीला ने कहा—तो आप एक बार उनके समीप द्वारिकापुरी को चले जाइये। उनके सुन्दर बदन का दर्शन कर आइये और जो कुछ भी मिले उसे ले आइये। उनके द्वारा दी गई वस्तु मुझे परम सुख देने वाली होगी। सुदामाजी ने कहा—तुमने बात तो बहुत अच्छी कही परन्तु इससे सातों लोकों में बड़ी बदनामी होगी। लोग यही कहेंगे कि मालूम पड़ गया, सुदामा ने इसीलिए मित्रता की थी।।५३।।

व्याख्या—जो दीनन सूँ हित करैं, धनि रहीम वे लोग। कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग।। स्कन्द पुराण रेवाखण्ड सत्य नारायण व्रत कथानुसार सत्यनारायण का व्रत-पूजन करने वाला शतानन्द नामक निर्धन ब्राह्मण दूसरे जन्म में सुदामा ब्राह्मण हुआ यथा—**शतानन्दो महाप्राज्ञः सुदामा ब्राह्मणो ह्यभूत्। तस्मिन् जन्मनि श्रीकृष्णं ध्यात्वा मोक्षमवापह।।** श्रीसुदामाजी ने पोरबन्दर के निकटवर्ती ग्राम में, जिसे वर्तमान में सुदामापुरी कहते हैं, ब्राह्मणकुल में जन्म लिया था। आपका परिचय देते हुये श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चित् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः।। (भा० १०-८०-६)

अर्थ—एक ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण के परम मित्र थे। बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयों से विरक्त, शान्त चित्त और जितेन्द्रिय थे। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—

'बड़ो निसकाम'—अर्थ, धर्म, काम की वासना से रहित होना निष्कामता है, मोक्ष की भी इच्छा न होना बड़ी निष्कामता है। भगवान के भक्त मोक्ष की भी कामना नहीं करते हैं, जब कि मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। यथा—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन।। (रामा०)

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।। (भा० ११-१४-१४)

अर्थ—मुझमें चित्त लगाये रखने वाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्मा का पद, चक्रवर्ती राज्य, लोक-लोकान्तरों का आधिपत्य, योग की सब सिद्धियाँ और मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते हैं। एक भक्त कहते हैं कि—

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं,
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां,
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते।। (बोधसार)

अर्थ—प्रियतम श्रीकृष्ण की पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्ति से मन प्रफुल्लित हो गया। प्रेमाश्रुओं ने मुख को और गद्‌गद वाणी ने कण्ठ को सुशोभित कर दिया अब तो हमें एक क्षण के लिए भी फुरसत नहीं है कि हम दूसरे विषय को स्वीकार करें। इतने पर भी सायुज्य आदि चारों प्रकार की मुक्तियाँ न जाने क्यों हमारे दरवाजे पर खड़ी हमारी दासी बनने के लिये आतुर हो रही हैं। ऐसे भक्तों का हृदय कमल भगवान का विश्राम स्थल है। यथा—**बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिनके हृदय कमल महुँ, करउँ सदा विश्राम।।** ऐसे भक्त भगवान को बड़े प्यारे लगते हैं। यथा—**ते तुम राम अकाम पियारे।**' (रामा०) ऐसे भक्तों को भगवान अपना सर्वस्व दे देते हैं। यथा—'**अकामिनां स्वधामदं।**' श्रीसुदामाजी ऐसे ही भक्त थे।

सेर चूनहू न धाम—संग्रह के नाम पर एक सेर आटा भी घर में नहीं रखते थे। जबकि ब्राह्मण के लिए एक वर्ष तक के लिये संग्रह करने की विधि है। परन्तु ये तो बड़े निष्काम थे अतः एक वर्ष की कौन कहे एक दिन के लिये भी संग्रह नहीं करते थे। इनके सम्बन्ध में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—**यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।।** अर्थ—वे गृहस्थ होने पर भी किसी प्रकार का संग्रह-परिग्रह न रख कर प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता उसी में सन्तुष्ट रहते थे। भगवान को ऐसे भक्तों की चिन्ता रहती है। यथा—**गांठी में बांधे नहीं, मांगत में सकुचायँ। पीछे-पीछे हरि फिरै, भूखे ना रहि जायँ।।** लौकिक दृष्टि से सुदामाजी दीन थे, एक टूटी झोंपड़ी, टूटे-फूटे दो चार पात्र और तन ढकने के लिए कुछ फटे चिथड़े, यही सुदामा की सम्पत्ति थी। किसी कवि ने लिखा है कि—विधि की विडम्बना तो देखो—

चन्द को मित्र चकोर सदा तेहि भोजन आगि विरञ्चि ने दीन्हों।
पंकज को हितू द्यौसपती हिम जारत ताहि यहै प्रन लीन्हों।।
कर्म बली सुन री अबला नितसङ्ग रहैं सबके पुर तीनो।
लच्छिमी नाथ सखा जिनके तिनके घर वास दरिद्र ने कीनो।।

कोई-कोई कहते हैं कि श्रीलक्ष्मी ब्राह्मणों से अप्रसन्न रहती हैं, इसीलिए ब्राह्मण दरिद्र होते हैं। यथा—

पीतः क्रुद्धेन तातः चरणतल हतो बल्लभो येन रोषात्।
द्वार्वत्यां विप्रवर्गैः शुभमुख विवरे धारिता वैरिणी मे।।
गेहं मे छेदयन्तः प्रतिदिवसमुमाकांत पूजा निमित्त।
तस्माच्छिन्ना सदाहं द्विज प्रति निलयं नाथ नित्यं त्यजामि।।

अर्थ—श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं—ब्राह्मण (अगस्त्य) ने मेरे पिता (समुद्र) को पी डाला, पति (विष्णु) को ब्राह्मण (भृगु) ने लात मारी, तथा ब्राह्मण मेरी सौत सरस्वती को मुख में बसाये रहते हैं, श्रीशिवजी की प्रसन्नता के लिये मेरे निवास स्थान (विल्व-पत्र) का निरन्तर छेदन करते रहते हैं। अतः मैं इन ब्राह्मणों से खेद खिन्न होकर हमेशा इनके घर से दूर ही रहती हूँ। परन्तु श्रीसुदामाजी की दरिद्रता का हेतु श्रीलक्ष्मीजी का अभिशाप नहीं बल्कि उनकी परम निष्कामता हैं। परन्तु वस्तुतस्तु ऐसे भगवत प्रेम-धन-धनी के सामने देवराज इन्द्र भी नगण्य थे। यथा—**आठ गांठ कौपीन में, औ भाजी बिनु लोन। तुलसी रघुबर उर बसैं, इन्द्र बापुरो कौन।।**

ढिग आई निजभाम—सुदामाजी की पत्नी का नाम सुशीला था, वह सुशीला थी भी। परन्तु दारिद्रय ने उन्हें ऐसा झकझोरा कि एक दिन उन्होंने विवश होकर अपने पतिदेव से निवेदन किया—**ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः। ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः।।** (भा० १०-८०-९) अर्थ—हे भगवन्! साक्षात् लक्ष्मी पति भगवान श्रीकृष्ण आपके सखा हैं वे भक्तवांछाकल्पतरु हैं, शरणागत वत्सल और ब्राह्मणों के परम भक्त हैं। इस प्रकार 'प्रीति हरि सों जनाई है।'

मित्रता प्रसंग—श्रीकृष्ण जब उज्जैन में श्रीसान्दीपनिजी के यहाँ शिक्षा प्राप्त करने जा रहे थे तब सुदामाजी भी वहीं पहले से ही गुरु के आश्रम में रहते हुए विद्याध्ययन कर रहे थे। एक दिन सुदामाजी जंगल में कुशा, समिधा लेने गए थे, पांव में कांटा लग गया। कोमल हृदय ब्राह्मण कुमार अधीर होकर रोने लगे। स्वयं काँटा निकालने का साहस नहीं हो रहा था, दूसरा कोई दिखाई नहीं पड़ रहा था, अत्यन्त विकल, निरुपाय सुदामा ने निरबल के बलराम का स्मरण किया, तब तक तुरन्त ही श्रीकृष्णचन्द्र का रथ वहाँ आ पहुँचा। वह आज ही विद्यालय में प्रवेश का मुहूर्त करने जा रहे थे। ब्रह्मण्य देव ने ब्राह्मण कुमार की विकलता देखी, रथ से उतर पड़े, बड़ी सान्त्वना दिये अपने श्रीकर-कमलों से काँटा निकालकर अपना पीताम्बर फाड़कर पट्टी बाँधे और रथ पर बैठाकर विद्यालय लिवा लाये। बिना किसी पूर्व परिचय के इस सद्व्यवहार से सुदामाजी बड़े प्रभावित हुए, परस्पर मित्रता हो गई। सङ्ग-सङ्ग अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

विद्यालय का नियम था—पाठ भूलने वाले को जंगल से लकड़ियाँ लाना पड़ता था। एक पन्थ दो काज थे, सेवा की सेवा और दण्ड का दण्ड। एक दिन सुदामाजी पाठ भूल गये, अतः इन्हें लकड़ी लाने का आदेश हुआ। परम सुहृद भगवान मित्र वियोग से अधीर हो गये, मुझे मित्र के बिना कैसे अच्छा लगेगा? मित्र अकेले कैसे वन में जायेगा? यह विचार कर सर्वज्ञ प्रभु भी जान बूझकर अपना पाठ भूल गये। इन्हें भी वही आदेश हुआ। प्रसन्नमन दोनों मित्र वन को गये। संयोग की बात, वन में पहुँचने पर वर्षा बहुत जोर की हुई। प्यारे श्यामसुन्दर परम सुकुमार हैं, ये वर्षा के झकोरे कैसे सह सकेंगे? यह विचार कर सुदामाजी ने इन्हें गोद में दुबका लिया, अपने से, एवं वस्त्रों से चारों ओर से आच्छादित कर लिया। जिसमें मित्र को बात-वर्षा का कष्ट न हो। स्वयं सम्पूर्ण कष्ट सहकर मित्र की रक्षा किए। इधर कोमल हृदय गुरुदेव देर भई जानकर वर्षा बन्द होने पर शिष्यों को साथ लेकर खोजने को निकले। जब वन में आकर सुदामा-कृष्ण की दशा देखे तो बहुत प्रसन्न हुए आशीर्वाद दिए कि तुम दोनों की मित्रता अचल बनी रहे।

ऐसे ही एक बार श्रीकृष्ण-सुदामा जंगल में लकड़ी लेने गए। श्रीगुरुमाता ने कलेऊ के लिए एक मुट्ठी चने दिया था। दोनों के भाग के चने सुदामा के ही पास थे। वन में पहुँचने पर बड़े जोर की वर्षा के साथ-साथ हवा भी बड़ी तेजी से चलने लगी। दोनों मित्र एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए खुलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसी बीच सुदामाजी को बड़े जोर की भूख लगी। पास में चना था ही, धीरे-धीरे मित्र की आँख बचाकर पाने लगे और अपना भाग तो पाये ही, श्रीकृष्ण के भाग के चने भी पा गये। चना पाने की आहट पाकर एकबार श्रीकृष्ण ने पूछा भी कि मित्र! तुम्हारा मुँह क्यों बोल रहा है? इन्होंने बात बदल दी—भैया! सर्दी के कारण दाँत बज रहे हैं। श्रीकृष्ण चुप हो गये। कुछ देर बाद वर्षा बन्द हुई तो श्रीकृष्ण ने अपने भाग का चना माँगा तो सुदामा अत्यन्त सकुचाते हुए बोले—मित्र मैंने क्षुधा से पीड़ित

होकर तुम्हारे चने भी खा लिये। श्रीकृष्ण ने सहज ही विनोद भाव से कहा—अरे मित्र! तुमने यह क्या किया! क्या तुम भूल गये कि दूसरे का भाग खाने वाले को दरिद्रता का दुःख भोगना पड़ता है। सुदामा ने कहा—भैया श्रीकृष्ण! क्षुधा-पीड़ा ने मेरे विवेक को एकदम हर लिया था, इसी से मैंने तुम्हारे चने भी खाये और तुमसे झूठ भी बोल दिया। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि— 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' भैया! मेरा कोई अदृष्ट ही ऐसा था जिसने मुझसे ऐसा कर्म करा लिया। परन्तु भैया! अब ऐसी कृपा करो कि दरिद्रावस्था में मैं तुझे भूलूँ नहीं। सर्वभूत सुहृद श्रीकृष्ण ने मित्र को हृदय से लगा लिया।

प्रश्न—सुदामा पत्नी को बालपन की श्रीकृष्ण मित्रता का प्रसङ्ग कैसे मालूम हुआ? समाधान—प्रथम तो बाल सखा, मोर-मुकुट-धारी, मुरलीधर श्रीकृष्ण ने सुदामा के मन को एकदम हर लिया था। वे अहर्निश उन्हीं का निरन्तर ध्यान करते, उन्हीं का गुणगान करते। पत्नी से भी वे अपने सखा के रूप, गुण, शील, स्वभाव, औदार्य आदि का बखान करते अघाते नहीं थे। यथा—'**पढ़े एक चटसार कह्यौ तुम कैयो बार**''**कहत नरोत्तम संदीपनी गुरु के पास तुमही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।**' (सुदामा चरित) इस प्रकार सुशीला जानती थी। दूसरे स्वयं भगवान ने सुशीला को सुदामा की श्रीकृष्ण से मित्रता का प्रसङ्ग सुनाकर ऐसे समय में मित्र के पास भेजने के लिए प्रेरित किया। कथा इस प्रकार है—भक्तवत्सल भगवान ने विचारा कि सुदामा स्वयं कुछ चाहने वाले नहीं, बेचारी ब्राह्मणी दारिद्रय दुःख से तो दुःखी है ही, उसे विशेष दुःख होता है अत्यन्त कृशकाय पति की कृशता, दुर्बलता और उसमें भी होने वाले कई-कई दिन के लगातार उपवास को देखकर दुःख बढ़ता ही जा रहा है। एक दो दिन का हो तो कोई बात नहीं, रोज का दुःख दुःसह होता है अतः अब हमें इनका दुःख दूर करने के लिये कमर कसनी पड़ेगी।

फिर तो एक दिन ब्राह्मण का रूप धर कर द्वार पर आकर आवाज लगाये—'भवतिभिक्षां देहि' ब्राह्मणी के पास तो कुछ था नहीं, वह देवे क्या? उसने कहा—विप्रवर! मेरे घर सूतक पड़ा है। भगवान—कितने दिन का है? ब्राह्मणी—दिन का नहीं पक्ष का नहीं, मास का नहीं, वर्ष का नहीं, जीवन भर का है। भ०—सूतक की तो अधिक से अधिक एक महीने में निवृत्ति हो जाती है। ब्रा०—महाराज! मेरे तो ऐसा सूतक लगा है जो मरण पर्यन्त छूटने वाला नहीं है। भ०—(मन में) आश्चर्य है, ब्राह्मणी तो देखने में प्रसूती सी लगती भी नहीं फिर ऐसा सूतक लगा है। ब्रा०—मेरे दारिद्रय नामक पुत्र पैदा हुआ है। भ०—तो इसके दूर करने का कोई उपाय आपने किया? ब्राह्मणी—मेरी तो समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ? भ०—ऐसे समय में इष्ट-मित्रों से सहायता ली जाती है। तो आप अपने पतिदेव को भी कहीं क्यों नहीं भेजती हैं? ब्रा०—हमें तो मालूम नहीं कि ऐसा कौन मित्र है जो इस समय हम लोगों की सहायता कर हमारे दारिद्रय को हर सके। भ०—आपको नहीं मालूम है परन्तु मैं जानता हूँ, आपके पतिदेव के बाल सखा द्वारकानाथ श्रीकृष्ण हैं और वे हैं परमोदार। यदि उन्हें किंचित भी आपकी दशा का बोध हो जाय तो बिना माँगे ही जनम-जनम की दरिद्रता दूर हो जायेगी। इतना कहकर भगवान वहाँ से चल दिये। तब ढिंग आई निज भाम प्रीति हरि सों जनाई है। श्रीसुदामाजी को—

सुनि सोच—इसलिये कि मेरी गुप्त प्रीति को यह जान गई, एक बात, दूसरी बात यह कि यह मेरी निष्काम प्रीति में वासना का बीज बो रही है रीति यह है कि स्वार्थ आते ही स्नेह समाप्त हो जाता है। तो मैं इसे मित्रता वाली बात बताऊँ या नहीं तीसरे—यह माँगने के लिए मित्र के पास भेजकर मुझ विप्र सुदामा को, भक्त सुदामा को, तपस्वी सुदामा को, दरिद्र सुदामा बनाना चाहती है। क्योंकि माँगने से बड़े

भी छोटे हो जाते हैं। यथा— **रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात। नारायन हू को भयो बावन अंगुल गात।।** अत: सोच परयो।

'हियो खरो अरबर्‍यो'—अब सुदामाजी को अपनी दीनता पर पश्चात्ताप हुआ वे मन ही मन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि—

हे करतार हौं तोसों कहौं कबहूँ जनि दीजिये काहू को टोटो।
और लिखो जिनि काहू के भाग में माल के काज महीपनि मोटो।।
तू हू तो जानत हौ अपने जिय मागिबे ते कछु और न खोटो।
जो गयो मागत तूं बलि द्वार तो याही ते ह्वै गयो बावन छोटो।।

फिर मन को दृढ़ करके आपने कहा—हाँ जू....। परन्तु मैं कुछ भी याचना करने के लिए मित्र के पास नहीं जा सकता। ब्राह्मणी तो श्रीद्वारकानाथ का औदार्य सुन चुकी थी अत: उसने कहा कि बहुत अच्छा—आप माँगने मत जावो परन्तु एकबार अपने मित्र का दर्शन तो कर आवो और सहज रूप में वह जो भी दे दें वह मेरे लिए परम सुखदाई होगा। सुदामाजी ने कहा कि तुमने जो दर्शन की बात कही वह तो बहुत अच्छी है, परन्तु 'पावो ल्यावो' वाली बात उत्तम नहीं। इससे तो सात लोक में कलंक ह्वै है—यथा—**भक्ति करै धन फल चहै ताको बनिया जान। देत लेत जो तौलि के लाभहिं के परमान।।** पुन:—**फल कारन प्रीती करै, जाँचै त्रिभुवन राव। 'दादू' सो सेवक नहीं खेलै अपनो दाव।।**

जानियत......मित्रताई है—फिर तो हमारी मित्रता कलियुगी मित्रता अर्थात् मतलब की यारी हो जायेगी। एक महात्मा चारों युग के चार नाम बताते। सतयुग का नाम धर्म सिंह, त्रेता का वीर सिंह, द्वापर का धीर सिंह और कलियुग का मतलब सिंह। भाव यह कि कलियुग में प्राय: सभी लोग मतलब का ही व्यवहार करते हैं। हमारी प्रीति भी वैसी ही समझी जायेगी। अत:—

बोल्यो मुसकाइ नारि बावरी कहाँ धौ आई मीतनि पै मांगे सो कपूतन को राव है।
गिरि हूँ ते भारे ऐसे दारिद हमारे भाग दई फटकारे तिन्हैं कहो कहाँ ठांव है।।
खैबे को न रोटी ऐसी आपदा है मोटी सात थेगरी कछोटी सो सुदामा मेरो नांव है।
जौ लौं गावैं श्याम घन मांगे पावैं भीख कन तौंलों मानि लीजै शिर छत्रन की छांव है।।

पुन:— **आवति है लाज भारी जात ब्रजराज जू पै बसन समाज देखि खरो मरि जाइये।**
एक ही पिछौरी सो तो ठौर ठौर फाटि रही ओढिये निशाको जासों प्रात उठि न्हाइये।।
भेंट ऐसी नाहीं जो लै जाइये भगवन्त जू पै अंतक भई है नारि कौलौं समझाइये।
देह पर मास जौ लौं नासिका में स्वास तौ लौं बड़ो उपहांस मांगि मीत न सताइये।।

पुन:— **सिच्छक हौं सिगरे जगको तिय ताको कहा अब देति हैं सिच्छा।**
जे तपकै परलोक सुधारत सम्पत्ति की तिनके नहिं इच्छा।।
मेरे हिये हरि के पद पंकज बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि बांभन को धन केवल भिच्छा।।

कह्यौ सुदामा वाम सुनु, वृथा और सब भोग।
सत्य भजन भगवान को धर्म सहित जप जोग।। (सुदामा चरित)

तिया सुनि कहै कृष्ण रूप क्यों न चहै? जाय दहै दुख आप ही सो वचन सुनाये हैं।
आई सुधि प्यारे की विचारे मति टारे सब धारे पग मग झूमि द्वारावती आये हैं।।
देखि के विभूति सुख उपज्यो अभूत कोऊ चल्यो मुख माधुरी के लोचन तिसाये हैं।
डरपत हियो ड्योढ़ी लांघि मन गाढ़ो कियो लियो कर गहि चाह तहाँ पहुँचाये हैं।।५४।।

शब्दार्थ—द्वारावती=द्वारकापुरी। विभूति=ऐश्वर्य। अभूत=अपूर्व, विलक्षण। तिसाये=प्यासे।

भावार्थ—यह सुनकर सुशीला ने कहा—श्रीकृष्ण के मधुर रूप के दर्शन करने का भी मन नहीं चाहता है क्या? उनके दर्शनों से सभी दुःख अपने आप जलकर भस्म हो जायेंगे। आप केवल दर्शन कर आइये। कुछ भी याचना न कीजियेगा। उसने जब ये वचन सुनाये तब प्यारे श्रीकृष्ण के सुन्दर स्वरूप का स्मरण हो आया। सोच-विचारकर विचारे सुदामाजी की बुद्धि दर्शनों की लालसा से चञ्चल हो गई। वे अपने प्रिय मित्र से मिलने चले। मार्ग में आनन्द से पग-पग पर झूमते हुए वे द्वारकापुरी को आये। वहाँ का अपार ऐश्वर्य देखकर उनके हृदय में अपूर्व सुख उत्पन्न हुआ। आश्चर्यचकित द्वारकापुरी को देखते हुए वे आगे चले। उनके नेत्र श्रीकृष्णचन्द्र की रूपसुधा के प्यासे थे। कोई राजपुरुष महलों में जाने से रोक न दे, इसलिए श्रीसुदामाजी मन में डर रहे थे। किसी तरह मन को मजबूत करके सुदामाजी ने राजद्वार लांघकर राजभवन में प्रवेश किया। मानो प्रभु दर्शन की तीव्र अभिलाषा ने ही हाथ पकड़कर उन्हें प्रभु के निकट पहुँचा दिया।।५४।।

व्याख्या—कृष्ण रूप क्यों न चहै—जब सुदामाजी मित्र के पास जाकर कुछ माँगने को प्रस्तुत नहीं हुए तब ब्राह्मणी ने कहा—अच्छा आप मांगो मत, जो पावो सो लावो मत, परन्तु दर्शन तो कर आओ। **क्यों न चहै**—का भाव यह कि जिनका थोड़ा भी प्रेम प्रभु में होता है वे दर्शन के लिए तड़पते रहते हैं और आप तो अहर्निश मित्र प्रेम में मग्न रहते हैं फिर भी दर्शन करने की इच्छा नहीं होती। तो क्या बस ऊपर-ऊपर की ही भक्ति है कि कुछ भीतर भी भाव है। तात्पर्य यह कि यदि हृदय में कुछ भी अनुराग होगा तो आपको स्वतः बिना दर्शन के चैन नहीं पड़ेगा। 'दहै दुःख आपही'—सुदामाजी की पत्नी ने तीन बात कही—१. जाकर मित्र से माँगो। २. यदि न माँग सको तो स्वयं वे जो कुछ दे दें वह ल्यावो। ३. यह भी न कर सको तो केवल दर्शन ही कर आओ, अपने आप दुःख नष्ट हो जायेगा।

विप्र के भगत हरि जगत विदित बन्धु लेत सबही की सुधि ऐसे महादानि हैं।
पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो बार लोचन अपार झट तुम्हें पहिचानि हैं।।
एक दीनबन्धु कृपासिन्धु फेरि गुरुबन्धु तुमसम कौन दीन जाको जिय जानि हैं।
नाम लेत चौगुनी, गये ते द्वार सौगुनी सो देखत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं।।

आई......टारे सब—सुदामाजी को तो प्यारे श्रीकृष्ण की अखण्ड-स्मृति बनी रहती है, फिर आई सुधि क्यों कहा? समाधान—आई सुधि से तात्पर्य प्यारे की विविध लीलाओं की, विलोकनि, बोलनि, चलनि, हँसनि, मिलन की सुधि आई। यथा—**रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोच हँसि मिलनी।।** (रा०च०मा०) विचारे-विचारकर किया गया कार्य परिणाम में मङ्गलकारी होता है।

इसी से बुद्धिमतां वरिष्ठ श्रीहनुमानजी—'**पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह विचार।**' '**तरु पल्लव महँ रहा लुकाई। करई बिचार करौं का भाई।**' '**कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।**' '**ब्रह्म अस्त्र तेहिं साधा कपि मन कीन्ह बिचार।**' आदि। बिना विचारे सहसा कार्य करने वाले अबुध होते हैं। यथा—**सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं।।**' पुनः—'**विना विचारे जो करै, सो पाछे पछताय। काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय।।** अतः विचारे।

मति टारे सब—विचार करने पर यह निश्चय हुआ कि—'**अयं हि परमो लाभ उत्तम श्लोक दर्शनम्।।**' (भा० १०-८०-१२) अर्थ—(द्वारकापुरी जाने से) भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन हो जायेगा, यह तो जीवन का परम लाभ है। फिर तो पूर्व की समस्त बातें 'सात लोक में कलङ्क ह्वै है' 'याही लिये कीन्हीं मित्रताई है' आदि दूर हटा दिया, भाव इनकी परवाह नहीं किये। प्रेमी लोक-लाज, कुल-कानि, विधि-निषेध, मान-अपमान आदि की परवाह नहीं करते। यथा—

ब्रज के बनितान की रीति यही, उन्हें आपुस में बतरान दैरी।
वहि 'ज्योति सी' माधुरी मूरति पै बिनुमोलहिं प्रान बिकान दैरी।।
अस ऐहैं न अवसर फेरि भटू उरझीं अंखियां अरुझान दैरी।
मन मोहन मीत के हेतु अरी कुल कानि नसाय नसान दैरी।।

पुनः— **नैनन को तरसैये कहाँ लौं कहाँ लौं हियो बिरहाग में तैये।**
एकौ घरी न कहूँ कल पैये कहाँ लगि प्राननको कलपैये।।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये।
मान घटै तो कहा घटिहैं जो पै प्रान पियारे को देखन पैये।।

सुदामाजी ने भी लोकापवाद की परवाह नहीं किया। संसार का तो स्वभाव है, कोई कैसा हू दूध का धोया क्यों न हो, कुछ न कुछ उल्टा-सीधा कह ही डालता है।

दृष्टान्त—बूढ़े और बालक का—एक बूढ़ा साथ में एक बालक लिये हुए कहीं जा रहा था। बूढ़ा घोड़े पर सवार था, बालक पैदल चल रहा था। रास्ते में कुछ लोगों ने देखा तो आपस में कहने लगे—देखो! बुड्ढा कितना निर्दयी है, अपने तो घोड़े पर चढ़ा है और बालक बेचारा पैदल चल रहा है। बुड्ढे ने सुन लिया, बस वह स्वयं घोड़े से उतरकर उस पर बालक को बैठा दिया। कुछ दूर जाने पर पुनः कुछ लोग मिले तो कहने लगे—देखो! बालक कैसा मूर्ख है अपने घोड़े पर जा रहा है और बेचारा बूढ़ा पैदल। अरे! बालक तो वैसे ही दौड़ा-दौड़ा चला जाता है बूढ़े ने विचारा कि लगता है हम दोनों को ही घोड़े पर चढ़कर चलना आवश्यक है अतः दोनों घोड़े पर बैठ गये। आगे चलकर, यह देखकर कुछ लोगों ने वचन मारा कि देखो तो इन बेपीरों को। दोनों के दोनों घोड़े पर लदे चले जा रहे हैं, इन्हें तनिक भी घोड़े की पीर नहीं है। बस दोनों ही उतरकर स्वयं पैदल चलने लगे। घोड़ा कसा-कसाया खाली जा रहा था। यह देखकर फिर कुछ लोगों ने कहा कि देखो ये तो दोनों कैसे ना समझ हैं कि सवारी साथ है और पैदल चल रहे हैं। अब तो बूढ़ा झुँझलाया जगत के इस रवैये पर कि यह तो कैसे भी रहैं कुछ न कुछ बिना कहे मानने वाले नहीं अतः अपने विचारानुसार दोनों बारी-बारी से जब थकते तो घोड़े पर चढ़कर चलते। अतः ये भी मति टारे सब।।

सुदामाजी चलने के लिये प्रस्तुत हो गये परन्तु मित्र के पास खाली हाथ कैसे जायँ? यह विचार जब ब्राह्मणी को सुनाये तब उस ब्राह्मणी ने पास पड़ोस के घर से चार मुट्ठी चिउड़े माँगकर एक कपड़े में बाँधकर भगवान को भेंट देने के लिये अपने पतिदेव को दे दिया। सुदामाजी चिउड़े की पोटली बगल में दबाये चल पड़े द्वारकापुरी को। कुछ दूर जाने पर इन्होंने किसी राहगीर से पूछा—भैया! द्वारकापुरी कितनी दूर है? इनकी अत्यन्त कृश काया को देखकर उसने कह दिया—पण्डितजी! इस शरीर से तो वहाँ पहुँचना असम्भव है। द्वारकापुरी तो बहुत दूर है। यह सुनकर सुदामाजी की सुधि-बुधि जाती रही, अचेत से हो गये। हाथ से लोटा- सोटा गिर गया। परन्तु प्रभु प्रेरणा से तत्काल ही आत्म-बल जागृत हुआ, प्रेम ने प्रोत्साहन दिया—निराश मत होओ—'जो जाही को भावता सो ताही के पास।' 'यदि प्रेम है तो प्रभु पास में हैं।' ये पुनः साहस करके चल पड़े। मार्ग में समुद्र की खाड़ी पड़ी। नाव नदारत थी। रात्रि हो रही थी। सुदामाजी घबड़ाये कि 'कैसे जैये पार।' निरुपाय होकर 'हारे को हरिनाम' का स्मरण किया। तत्क्षण भगवान ही स्वयं नाव और नाविक दोनों ही बनकर आ गये। आश्चर्य नहीं। स्वयं भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ।। (गी० १२-७)

अर्थ—हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त को लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ। फिर समुद्र की खाड़ी की तो बात ही क्या है।

सुदामाजी को कुछ धैर्य हुआ। नाविक को बुलाये और नाव समीप आने पर चढ़ने लगे तो नाविक ने रोका—ठहरो! चढ़ तो रहे हो, उतराई क्या दोगे? तब तो ये सकुचाये। बोले—भैया नाविक! तुम्हें देने लायक तो मेरे पास कुछ है नहीं, मैं तुम्हें क्या दूँ? नाविक—ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि तुम्हारे पास कुछ भी न हो। सुदामा—भैया! मैंने तो पहले ही कहा तुम्हारे लायक नहीं है मेरे पास जो है उसे कोई ले नहीं सकता। ना०— अच्छा तुम मुझे वही दे दो। सु०—भैया! उसे तो भगवान ही स्वीकार करने में समर्थ हैं। भला दारिद्रय लेकर तुम क्या करोगे? सुदामाजी को नहीं मालूम कि स्वयं श्रीहरि ही आज हमारा दारिद्रय हर रहे हैं। कृपा करके ढरे हैं। 'मैंने स्वीकार किया' यह कहकर प्रभु ने सुदामा की दरिद्रता का काला कलङ्क सदा सर्वदा के लिये मिटा दिया। खाड़ी पार कर सुदामाजी पुनः आगे बढ़े। दिन भर चलते-चलते थककर चूर हो गये थे, एक वृक्ष के नीचे भगवत्स्मरण करके सो गये। दीनबन्धु द्वारकानाथ ने अपनी योगमाया को सुदामाजी को शीघ्र द्वारकापुरी ले आने के लिये भेजा। (कोई-कोई महानुभाव गरुड़जी को भेजना कहते हैं) उसने तत्काल सुदामाजी को सोये हुए ही प्रभु के बाग में पहुँचा दिया। जब सुदामाजी जगे तो उन्हें यह जानकर बड़ा कौतूहल हुआ कि मैं द्वारकापुरी में आ गया। सोचने लगे कि बहुत नजदीक है द्वारकापुरी। लोग कहते हैं कि बहुत दूर है, परन्तु यह तो बस खाड़ी पार है। दृष्टान्त जापरे का—(देखिये सिलपिल्ले भक्ता उभय बाई प्रसङ्ग १९८)

देखिकै........अभूत—भगवद्धाम भी भगवान के समान ही सच्चिदानन्दरूप होता है। यथा—**रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।।** (वशिष्ठ-संहिता) अर्थ— भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। अतः जैसे भगवद्दर्शन से अभूत सुख उत्पन्न होता है वैसे ही भगवद्धाम दर्शन से भी। अतः सुख उपज्यो अभूत कहा। द्वारकापुरी के सुख को देखकर सुदामाजी का मन मुग्ध तो हुआ ही लुब्ध भी हो गया। यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये

कि बड़े निष्काम सुदामा को यह कामना कैसी? सुदामाजी भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम से निष्काम थोड़े ही हैं। दूसरी बात यह भी कि भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम का प्रभाव ही ऐसा है कि—**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।** (भा० १-७-१०) अर्थ—जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गई है और जो सदा आत्मा में रमण करते हैं वे भी भगवान के गुणों से आकर्षित होकर भगवान की अहैतुकी भक्ति करते हैं अतः सुदामाजी यदि धाम सुख पर लुभाये तो आश्चर्य ही क्या?

चले..........तिसाये हैं—जैसे श्रीसनकादिक जी वैकुण्ठ की अलौकिक शोभा देखकर भी भगवान वैकुण्ठेश के दर्शन के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे थे। **'डरपत हियो'**—इसलिये कि कहीं मुझे कोई रोक न दे।

चक्कवै चौंकि रहे चकिसे तहाँ भूले से भूप अनेक गनाऊँ।
देव गन्धर्व औ किन्नर यक्ष से साँझ लौं देखे खरे जेहिं ठाऊँ।।
तैं दरबार विलोक्यों नहीं अब तोहिं कहा कहिकै समुझाऊँ।
रोकिये लोकन को मुखिया तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ।।

मन गाढ़ो कियो—यह विचार कि चाहे जो भी हो, मुझे तो प्रभु को छोड़कर दूसरी कोई गति ही नहीं है। अतः दीनबन्धु मुझ पर कृपा करेंगे ही। यथा—**मो मरने को नेम है, मरौं तो हरि के द्वार। कबहूँ तौ हरि बूझिहैं, कौन मर्‌यौ दरबार।।** 'लियो.....पहुँचाये हैं'—दरिद्रता ने डरवाया, तब प्रभु मिलन की चाह ने सुदामाजी का हाथ पकड़कर प्रभु तक पहुँचा दिया। चाह दूती प्रेमी को प्रियतम तक पहुँचाने वाली है। भक्ति में चाह की बहुत बड़ी महिमा है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—**निगम अगम साहब सुगम राम सांचिलीचाह।** (दोहावली) श्रीप्रियादासजी कहते हैं—**भक्ति महारानी को सिंगार चारु वीरी चाह रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये।।** (कवित्त ३)

देख्यो श्याम आयो मित्र चित्रवत रहे नेकु हितको चरित्र दौरि रोइ गरे लागे हैं।
मानो एकतन भयो लयो ऐसे लाइ छाती नयो यह प्रेम छूटै नाहिं अङ्ग पागे हैं।।
आई दुबराई सुधि मिलन छुटाई ताने आने जल रानी पग धोये भाग जागे हैं।
सेज पधराइ गुरु चरचा चलाइ सुख सागर बुड़ाइ आपु अति अनुरागे हैं।।५५।।

शब्दार्थ—चित्रवत्=स्तब्ध।

भावार्थ—श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भगवान ने देखा कि—हमारे परम मित्र सुदामाजी पधारे हैं। इनके अचानक आ जाने से वे प्रेमवश कुछ देर के लिये चित्र की तरह स्तब्ध खड़े रहे फिर सावधान होकर दौड़े और रोते हुए उनको गले से लगा लिया। यह प्रेम की अद्‌भुत लीला है। कुछ देर तक वे दोनों मित्र परस्पर छाती से छाती लगाकर इस प्रकार मिले रहे कि मानो दोनों का शरीर एक हो गया है। यह ऐसा विलक्षण प्रेम था कि दोनों के शरीर आपस में इस प्रकार मिल गये थे कि छुड़ाने से भी न छूटें। इतने में भगवान को सुदामाजी की दुर्बलता का स्मरण हो आया, सोचा कि मेरे गाढालिङ्गन से इन्हें पीड़ा हो रही होगी। इधर सुदामाजी को भी अपने देह दौर्बल्य की स्मृति हुई, इन्होंने सोचा कि मेरा अस्थिपंजर कोमल श्रीअङ्ग में

चुभ रहा होगा। इन विचारों से दोनों का मिलन छूटा। इतने में ही भगवान के संकेत से श्रीरुक्मिणीजी सोने की झारी में जल ले आईं। भगवान ने अपने श्रीहस्तकमल से सुदामाजी के चरण धोये। आज बड़ा शुभअवसर प्राप्त हुआ है, इससे मालूम पड़ता है कि मेरे भाग्य जाग गये हैं। ऐसा कहकर उन्हें शय्या पर पधराया। फिर उस समय की चर्चा चलाई जब दोनों उज्जैन सान्दीपनि मुनि के आश्रम में अध्ययन करते थे। भगवान ने पुरानी चर्चा चलाकर उन्हें सुख के समुद्र में डुबो दिया और स्वयं भी अत्यन्त प्रेम में मग्न हो गये।।५५।।

व्याख्या—श्रीसुदामाजी ने अपने को श्रीद्वारकानाथ का मित्र बताकर द्वारपाल से श्रीकृष्ण को अपने आने की सूचना देने के लिए कहा। द्वारपाल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि देवराज इन्द्र भी जहाँ अपने को दास कहने में भी संकोच मानते हैं, वहाँ यह दरिद्रता की प्रतिमूर्ति ब्राह्मण निःसंकोच अपने को श्रीकृष्ण का मित्र कह रहा है। भला राजा और भिखारी की मित्रता कैसी?

दृष्टान्त—द्रुपद और द्रोण का—बाल्यावस्था में राजा द्रुपद और द्रोणाचार्य में बड़ी मित्रता थी। सङ्ग-सङ्ग अध्ययन और आनन्दमयी बाल-क्रीड़ायें हुयी थीं। आगे चलकर द्रुपद पाञ्चाल देश के राजा हो गये और द्रोण अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत होकर भी अकिञ्चन ब्राह्मण ही रहे। एकबार द्रोणाचार्य अपने बाल-सखा राजा द्रुपद से मिलने की अभिलाषा लेकर उनके यहाँ गये और द्वारपाल से अपने आने की सूचना दिये। राजा की अनुमति मिलने पर उनके समीप जाकर इन्होंने पूर्व की मित्रता वाली बात कही। यद्यपि आचार्य द्रोण ने बड़े स्नेह के साथ वार्तालाप किया परन्तु पाञ्चालनरेश द्रुपद इनकी इस बात से खीझ उठे, क्रोध और अमर्ष से उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, आँखों में लाली छा गई, धन और ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त होकर वे द्रोण से यों बोले—ब्रह्मन! तुम्हारी बुद्धि सर्वथा संस्कार शून्य और अपरिपक्व है, तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मेरे मित्र बन रहे हो। अरे मूढ़! बड़े-बड़े राजाओं की तुम्हारे जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्यों से मित्रता कभी नहीं होती। ऐसे ही बहुत से कटु वचन कहे। आचार्य द्रोण उलटे पाँव वहाँ से लौट पड़े। बाद में इन्होंने द्रुपद से इस तिरस्कार का बदला चुकाया। परन्तु श्रीकृष्ण द्वारकानाथ होने के साथ-साथ दीनबन्धु भी तो हैं अतः आश्चर्य भी नहीं। द्वारपाल ने जाकर सूचना दी—

सीस पगा न झँगा तनमें प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिं सामा।।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकिसो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा।। (सु० च०)

अपने रंगमहल में महारानी श्रीरुक्मिणीजी के साथ शय्या पर विराजमान प्रभु विविध विनोद वार्ता के बीच ज्यों ही 'सुदामा' यह नाम सुने, प्रेमवश अत्यन्त अधीर हो पांव-प्यादे 'मित्र-सुदामा' यह कहते हुए, मिलने के लिये अत्यन्त आतुर हो दोनों भुजा फैलाये हुए दौड़ पड़े।

देख्यो......लागे हैं—प्रथम तो मित्र को देखकर चित्रवत् हो गये। तात्पर्य अति प्रेम ने शरीर को जड़ बना दिया, लगता था मानो श्रीकृष्ण नहीं हैं, श्रीकृष्ण की तस्वीर सामने खड़ी है। हित को चरित्र-भाव यह है कि प्रेम में ऐसा ही हो जाता है। प्रथम क्षण में चित्रवत् रहे, दूसरे ही क्षण रोइ गरे लागे हैं। **छूटै नाहिं अङ्गपागे हैं**—जैसे चासनी में कोई वस्तु पागी जाती है तो चासनी भीतर-बाहर सब ओर से ओत-प्रोत हो जाती है। वैसे ही यहाँ दोनों के हृदय में तो दोनों रहे ही, बाहर भी एक-दूसरे से लिपटे हैं अतः पागे हैं कहा। **आई दुबराई सुधि....ताने**—बहुत देर तक मिलने के बाद श्रीप्रभु ने विचारा कि ये

अति दुर्बल हैं, कहीं मेरे बलिष्ट पुष्ट शरीर से आलिङ्गित होने से इन्हें किसी प्रकार का श्रम न हो जाय। इधर सुदामाजी ने विचार किया कि कहीं मेरे इस अस्थिपंजर मात्र सूखे शरीर की ग्रन्थियाँ प्रभु के परम सुकोमल श्रीअङ्ग में गड़कर पीड़ा न पहुँचायें अत: मिलन छुटाई।

पश्चात् श्रीकृष्ण ने मित्र सुदामा को ले जाकर अपने पलङ्ग पर बैठाया। पाद प्रक्षालन के लिये **'आने जल रानी'**—श्रीरुक्मिणीजी को जल-कलश लाते देखकर सभी रानियों का भाव उमड़ पड़ा अत: सबकी सब एक-एक कलश जल लाईं। सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ हैं, उतने ही जल भरे कलश आये। सर्दी का समय था, सुदामाजी घबड़ाये कि यह सब क्या हो रहा है। पूछे—भैया कृष्ण! क्या किसी देवता का महाभिषेक होना है? भगवान ने कहा—नहीं, आपके स्नान के लिये आया है। मित्रवर! आपका दर्शन कर सभी रानियों को श्रद्धा हो गई है। ये सब आपका विधिवत् पूजन करेंगी। सुदामाजी बोले—भैया! तेरी बिनोद की बानि अभी राजा होने पर भी बनी ही है। भला मैं दुर्बल ब्राह्मण इतने जल से कैसे स्नान करने में समर्थ हो सकता हूँ। भगवान ने मुस्कराकर कहा—तो क्या आप किसी की श्रद्धा की अवहेलना करेंगे? भला राजा-रानी को कब किसमें भाव-भक्ति होने लगी। यह तो आपके दर्शन की महिमा है जो इनको सेवा सूझी है, तो भला आप पीछे हटेंगे तो ये महारानियाँ क्या कहेंगी? इनको दु:ख होगा कि मेरी सेवा स्वीकार नहीं भई। आदि आदि। सुदामाजी की समझ में नहीं आ रहा है कि यह कैसी सेवा है?

दृष्टान्त—गुरु भक्त का—एक गाँव में किसी सज्जन के घर उनके गुरुजी आये। गर्मी का दिन था, अत: उन्होंने नये घड़े मँगवाकर उसमें स्नान-पान के लिये जल भरवाकर रखा। गुरुजी शीतल जल में स्नान करते, शीतल जल पान करते। पड़ोस में एक दूसरा भोला-भाला गुरुभक्त था। उसने जब सेवा की यह सुव्यवस्था देखी तो मन ही मन संकल्प किया कि हमारे गुरुजी आयेंगे तो मैं भी ऐसी ही सेवा करूँगा। संयोग की बात—इनके गुरुजी ठण्डी के दिन में आये। इसने बड़े उत्साह से कुम्हार के घर से कई नये घड़े लाकर उनमें जल भरकर छत पर रखा जिसमें खूब शीतल हो जाय। गुरुजी ने यह सब देखकर पूछा कि यह क्या कर रहे हो? उसने मन की बात बताया। श्रीगुरुजी ने बहुत समझाया कि बच्चा! आजकल तो गर्म जल से सब कृत्य करने चाहिये, शीतल जल अनुकूल नहीं पड़ता है। परन्तु वह भला कब मानने लगा—बोला—नहीं गुरुजी! मैंने अपनी आँखों देखा, पड़ोसी के गुरुजी आए थे तो उसने ऐसे ही सेवा की थी, तो भला मैं उनसे कुछ कम हूँ कि आप उनके गुरुजी से कम हैं? अत: मैं तो उनसे भी चढ़-बढ़कर आपकी सेवा करूँगा। गुरुजी को मुश्किल पड़ गई। जैसे तैसे समझा पाये।

कौतुकी प्रभु ने यह कौतुक कर फिर सभी कलशों में से एक-एक आचमनी जल निकालकर एक कलश रखा, सोने की परात मँगवायी। महारानी श्रीरुक्मिणीजी जल डालतीं, प्रभुपाद प्रक्षालन करते। जिस समय श्रीप्रभु की दृष्टि बिवाइयों से विदीर्ण सुदामाजी के पैरों पर पड़ी, करुणामय श्रीकृष्ण अत्यन्त अधीर हो उठे। कविवर श्रीनरोत्तमदासजी ने इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है यथा—

ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग कण्टक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आये इतैन कितै दिन खोये।।
देखि सुदामाकी दीन दशा करुणा करि कै करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयौ नहीं नैननके जलसों पग धोये।। (सु० च०)

पावन को भी पावन बनाने वाले श्रीप्रभु ने मित्र ब्राह्मण सुदामा के पांव पखार कर उनका चरणोदक अपने सिर पर धारण किया, पश्चात् षोडशोपचार विधि से पूजन किया। भगवान ने अपने श्रीकर कमलों से इनके माथे पर तिलक लगाया मानो इसी ब्याज से इनके लिलार में लिखे कुअंकों को मिटा दिया। चन्दन छिड़कने के ब्याज से प्रभु ने दारिद्रय को भगा दिया। पूजा-आरती के उपरान्त प्रणाम क्रिया प्रारम्भ हुई। प्रथम श्रीप्रभु ने फिर श्रीरुक्मिणीजी ने फिर एक-एक करके सभी रानियों ने प्रणाम करना शुरू किया। श्रीसुदामाजी प्रथम तो मुख से आशीर्वाद देते रहे, परन्तु जब मुख दुखने लगा तो हाथ से आशीर्वाद देने लगे, जब हाथ भी दुखने लगा तो सिर झुकाने लगे, परन्तु गर्दन भी दुखने लगी तो बड़े असमंजस में पड़ गये कि अब क्या करूँ। उधर प्रणाम करने वालों का तांता ही नहीं टूटता था। सोलह हजार एक सौ आठ तो रानियाँ ही रहीं, फिर सखियाँ सहेलियाँ दास, दासियाँ फिर जब पुरवासियों को पता लगा कि हमारे महाराज श्रीद्वारकानाथजी के परम मित्र पधारे हैं, तो वे भी दर्शन-प्रणाम के लिए उमड़ पड़े। तब भगवान ने सबसे कहा कि भाइ! आप सब लोग एक साथ प्रणाम कर लें। ऐसा ही हुआ। तदुपरान्त नाना प्रकार के सुधा-स्वादु सुन्दर भोजन कराकर, आचमन कराकर पान देकर अपनी शैय्या पर बैठाया। श्रीरुक्मिणीजी पंखा झल रहीं थीं। हाथ में हाथ लिये हुए श्रीकृष्ण सुदामा बचपन की आनन्ददायिनी स्मृतियों में डूब गये।

गुरु......अनुरागे हैं—द्वारकेश भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा अत्यन्त सत्कृत होने पर सुदामाजी को मोह हो गया कि कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रभु किसी अन्य बहुत बड़े महामुनि के धोखे में मेरी पूजा कर रहे हों और बाद में पता लगने पर इन्हें पछताना पड़े, क्योंकि मैं तो इस लायक हूँ नहीं और इनके यहाँ तो बड़े-बड़े लोग आया करते हैं। सर्वान्तर्यामी प्रभु इनके मन का असमञ्जस जानकर तुरन्त ही 'गुरुचर्चा चलाइ'—इससे प्रथम संशय तो दूर हो गया परन्तु एक नया पुनः उत्पन्न हो गया कि प्रभु तो बड़े विनोदी हैं, कहीं चने वाली बात न कहने लगें। फिर तो मेरी बड़ी बदनामी होगी। अतः सुदामाजी मन ही मन सत्यनारायण की कथा कहने लगे। मित्र का संकोच समझकर प्रभु ने वह प्रसङ्ग ही नहीं छेड़ा।

सुख सागर बुड़ाइ—पढ़ाई लिखाई के बाद विवाह की चर्चा चली भगवान ने उलाहना दिया कि मित्र! सुना है कि आपका विवाह भी हो गया है, परन्तु आपने मुझे निमन्त्रण नहीं दिया। सुदामाजी बोले—भैया कृष्ण! मैं तो गरीब ब्राह्मण, आपको बुलाने की सामर्थ्य नहीं रहने से नहीं बुलाया। बुलाकर कैसे सत्कार करता? परन्तु आप तो समर्थ थे, सोलह हजार एक सौ आठ विवाह किये। परन्तु मुझे एक में भी नहीं बुलाया। बुलाना तो दूर रहा चार बताशे भी तो नहीं मिले। क्या बात है? इस प्रकार से विविध सुखमय विनोद हुआ।

चिउड़ा छिपाये कांख पूछे कहा ल्याये मोंको अति सकुचाये भूमि तकैं दृग भीजे हैं।
खैंचि लई गांठि मूठि एक मुख मांझ दई दूसरी हूँ लेत स्वाद पाइ आपु रीझे हैं।।
गह्यो कर रानी सुख सानी प्यारी वस्तु यह पावो बांटि मानो श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं।
श्याम जू विचारि दीनी सम्पत्ति अपार विदा भये पै न जानीं सार बिछुरनि छीजे हैं।।५६।।

शब्दार्थ—चिउड़ा=चूरा चिरवा। कांख=बगल। तकैं=देखें। धीजे=प्रसन्न-सन्तुष्ट हुए। सार=तत्व। छीजे=दुखी हुए।

भावार्थ—सुदामाजी पुराने फटे से वस्त्र में बँधे चिउड़ा की छोटी-सी पोटली को बगल में छिपाये हुए थे। भगवान ने पूछा—प्रिय मित्र! मेरे लिये क्या लाये हो? उस भेंट को तुच्छ जानकर सुदामाजी उसे दें या न दें, यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे। भगवान का प्रेम और अपनी दीनता देखकर वे बहुत सकुचा गए। भूमि की ओर देखने लगे। आँखों में आँसू आ गये। भगवान ने पोटली खींच ली और उसमें से एक मुट्ठी अपने मुख में डाल ली। उसके बाद दूसरी और ली। उस प्रेमोपहार का स्वाद पाकर आप अति प्रसन्न हो गये और तीसरी मुट्ठी लेना चाहते ही थे कि श्रीरुक्मिणी ने भगवान का हाथ पकड़ लिया और कहने लगीं कि ऐसी सुखद स्वादिष्ट वस्तु को आप अकेले ही न खाइये। इसमें से थोड़ी-थोड़ी हम सबको भी बाँट दीजिये। तब शेष एक मुट्ठी चिउड़ा भगवान ने रुक्मिणी को दे दिया। वे सुदामा के प्रेम से अति ही सन्तुष्ट थे। प्रभु ने सुदामा की धर्मपत्नी के भावों को विचारकर अपार सम्पत्ति दे दी, पर सुदामाजी को इस तत्व का कुछ भी पता नहीं। सात दिन तक रहकर मित्र सत्कार से सन्तुष्ट होकर विदा हुए। प्रिय मित्र के वियोग में सुदामाजी को बड़ा कष्ट हुआ। यह मित्रता का रहस्य है।।५६।।

व्याख्या—चिउड़ा छिपाये—तन्दुल तिय दीन्हे हते, आगे धरियौ जाय। देखि राज सम्पत्ति विभव, दै नहिं सकत लजाय।। पुनः यह भी विचारकर कि प्रभु का स्नेहिल स्वभाव है, बिना खाये मानेंगे नहीं और यदि इस रूखे चूड़े को खाने से प्रभु के पेट में दर्द होने लगा तो लोग कहेंगे कि ब्राह्मण ने न जाने क्या खिला दिया? प्रभु को कष्ट हो गया। फिर तो उन्हें भी दुःख और हमें भी दुःख। अतः छिपा लिये। प्रगट ही नहीं करना चाहते हैं।

पूछैं.......भीजे हैं—श्रीसुदामाजी लेटे हुए थे, प्रभु चरण सेवा कर रहे थे और पूछ भी रहे थे—'**कहो मित्र क्या है दिया, भाभी ने सौगात।**' ये अपनी दीनता निवेदन कर रहे थे। तब प्रभु ने कहा कि जरा करवट बदलें तो इधर के अङ्गों की भी सेवा कर दूँ। परन्तु ये करवट लेना नहीं चाहते थे क्योंकि इधर ही तो वह तन्दुल की पोटली छिपाये हुए थे अतः बोले कि इधर के अङ्ग नहीं दुख रहे हैं बस आप रहने दीजिये। जब प्रभु ने करवट बदलने के लिए बड़ा जोर दिया तो गठरी को सँभालते हुए उठ बैठे। प्रभु ने देख लिया पोटली को और पूछने लगे कि मित्र! यह क्या है? ये बोले कि—इसमें ठाकुर पूजा की सामग्री है, ठीक भी है, है तो श्रीठाकुरजी का भोग ही, और कुछ गोली, चूर्ण है। आदि-आदि प्रभु ने हँसकर कहा—

आगे चना गुरु मात दये ते लये तुम चांबि हमैं नहिं दीने।
स्याम कह्यो मुसुकाय सुदामा सौं चोरीकी बानिमें हौ जु प्रवीने।।
पोटरी कांख में चापि रहे तुम खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली बानि अबौ न तजी तुम तैसेई भाभी के तन्दुल कीने।।

यह कहते हुए खैंचि लई गांठि........रीझे हैं—

खोलत सकुचत गांठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिखिरि गये तेहिठौर।।

इसमें सुदामाजी की दीनता की पराकाष्ठा दिखाई गई है जिस वस्त्र में चिउड़ा बँधा था वह इतना जीर्ण-शीर्ण था कि गांठ खोलते-खोलते फट गया।

एक मुठी हरि भरि लई, लीन्ही मुख में डारि।
चबत चबाव करन लगे चतुरानन त्रिपुरारि।।
कांपि उठी कमलामन सोचति मोसों कहा हरि को मन औंकौ।
रिद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी, नव निद्धि कँपी ब्रह्मना यह धौंकौ।।
सोच भयो सुरनायक कौ जब दूसरि बार लियो भरि झौंकौ।
मेरु डर्‌यो बकसैं जनि मोहि कुबेर चबावत चाउर चौंकौ।। (सु० च०)

स्वाद.....रीझे हैं—यथा—

खायो अनेकन जागन भाग न मेवा रमाकर वागन दीठे।
देव समाज के साधु समाज के, लेत निवेदन नाहिं उबीठे।।
मीत जु सांची कहौं रघुराज इतेक सबै भये स्वाद ते सीठे।
पायौं नहीं कतहूं अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे।। (रा० र०)

पुन: स्वाद पाइका भाव यह है कि आज बहुत दिनों के बाद जैसा स्वाद शबरी के बेरों में मिला था, जैसा स्वाद विदुरानी के केले के छिलकों में मिला था वैसा स्वाद सुदामा के तन्दुलों में पाये अत: रीझे हैं—पुन: भाव यह कि, विधि है जब किसी के यहाँ से सौगात आती है तो उसे कुटुम्ब, परिवार, परिचित प्रेमीजनों में बाँटकर खाया जाता है। परन्तु प्रभु तो बिना किसी के बाँटे अकेले ही सब पाये जा रहे थे। श्रीप्रियादासजी कारण बताते हैं कि-रीझे हैं। इस पर दृष्टान्त श्रीशिवजी का—श्रीरामार्चाका प्रसाद बिना पार्वतीजी को दिये ही पा लेने का। (देखिये छप्पय-१५) तभी तो कहा गया है—भाववश्य भगवान। सम्पूर्ण श्रीभक्तमाल में भगवान की इसी भाववश्यता का ही उद्‌घोष है।

गह्‌यो कर रानी—

मुठी तीसरी भरत ही, रुकमिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई, सम्पत्ति की अनचाह।।
कहीं रुकमिनी कान में यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामहिं आपसो, होत सुदामा आप।।
हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहैं नाथ कहा तुमने चितधारी।
तन्दुलखाय मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी।।
खाइ मुटी तिसरी अब नाथ कहाँ निज वासकी आस बिचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहिं होन भिखारी।। (सु० च०)

श्रीप्रभु ने कहा—

क्यों रस में विष वाम कियौ अब और न खान दियो एक फंका।
विप्रहिं देत तृतीयक लोक करी तुम क्यों अपने मन शंका।।
भामिनि मोहिं जिमाय भली विधि कौन रह्यो जग में नर रंका।
लोक कहै हरि मित्र दुखी हम सों न सह्यो यह जात कलंका।।

गह्योकर रानी के चार हेतु—१—क्या सब खाकर सर्वस्व दे देंगे। २—कहीं अधिक खा लेने से पेट में दर्द न हो जाय। ३—यह प्रेमोपहार है, सबको मिलना चाहिए। ४—

पावो बाँटि—बाँटि के खाना वैकुण्ठ जाना।

दृष्टान्त—फकीर का—एक बार दो फकीर मिले। एक ने पूछा—कहिये साहब! कैसे चल रही है? उन्होंने कहा—अच्छी बीत रहीहै। साहब देते हैं, खूब मौज से खाता पीता हूँ। पहले फकीर ने कहा कि यह कौन अच्छा बीतना है। यह तो कुत्ता भी कर लेता है। उसे भी तो साहब देता है और वह खाता है। तब फिर आप में और उसमें अन्तर ही क्या रहा। दूसरे फक़ीर ने पूछा—आपकी कैसे बीतती है? तो इन्होंने कहा—मेरी अच्छी बीतती है। साहब जो कुछ देता है उसे बाँटकर खाता हूँ। अतः पावो बाँटि कहा। फिर तो भगवान ने वह चिउड़ा अपनी समस्त रानियों, मित्रों एवं पुरवासियों को बाँट दिया।

श्याम जू.....सार—सात दिवस यहि विधि रहे, दिन दिन आदर भाव। चित्त चल्यो घर चलन को, ताकर सुनो बनाव।। भगवान श्रीकृष्ण ने विचार किया कि यद्यपि सुदामा के मन में कोई कामना नहीं है, परन्तु इनकी पत्नी ने धन पाने की इच्छा से ही इन्हें यहाँ भेजा है अतः भक्तवाञ्छा कल्पतरु भगवान ने विश्वकर्मा को भेजकर उनके ग्राम को द्वारका जैसी भव्य सुदामापुरी बनवा दिया एक रात में ही झोपड़ी के स्थान पर देव दुर्लभ ऐश्वर्य से परिपूर्ण मणिमय भवन खड़े हो गये। लेकिन महत्त्व की बात तो यह है कि सुदामाजी को इसकी गन्ध तक मिलने नहीं दी। प्रभु के इस महादान से वे सर्वथा अपरिचित ही रहे। प्रश्न—इतना अपार ऐश्वर्य देकर भी प्रभु ने इसे प्रकट क्यों न किया? समाधान—भावग्राही जनार्दन भगवान श्रीकृष्ण को सुदामाजी के तन्दुलों की तुलना में द्वारका का ऐश्वर्य भी हीन ही दिखाई पड़ा अतः मारे संकोच के प्रभु ने जनाया नहीं, कि मैंने दिया ही क्या? जनाया तो तब जाता है जब अधिकाधिक करके दिया जाता है। यहाँ तो अधिक की कौन कहे बराबरी का भी नहीं है। कम है, नितान्त कम है अतः प्रगट नहीं किया, यह है सार और यह है भगवान के यहाँ भाव का सम्मान। इस पर दृष्टान्त—श्रीरामजी का संकोचपूर्वक विभीषण को लंका का राज्य देने का। यथा—**जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ। सोइ सम्पदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।**

विदा भये—लीलाबिहारी श्रीकृष्ण मित्र को पहुँचाने चले, मुट्ठी बाँधे हुए आ रहे थे, सुदामाजी ने समझा कि होगा मुट्ठी में कोई हीरा-जवाहरात, पन्ना-पोखराज, मणि-माणिक्यादि, विदा होते समय देंगे। अगर एक भी बढ़िया रत्न मिल जायेगा तो पण्डितानी के दिन सुख से बीत जायेंगे। परन्तु यह तो केवल लीला ही थी। नगर के बाहर जाकर प्रभु ने अपनी मुट्ठी खोलकर संकेत किया कि बस यही मार्ग है, आप चले जाइये। मानो इसी संकेत के ब्याज से प्रभु ने इनके यहाँ अनन्त वैभव इनके पहुँचने से पहले ही पहुँचा दिया। सुदामाजी मन में सोचने लगे कि यह मार्ग तो मैं भी जानता हूँ, यह कौन नई बात बता रहे हैं, मैं तो समझता था कि कुछ देंगे परन्तु यह तो खाली-खाली मार्ग बताकर ही रह गये। एकबार जी में आया कि ब्राह्मणी की बात निवेदन करूँ, परन्तु संकोचवश कह न सके। दोनों मित्र ने परस्पर राम राम कहा और अपनी-अपनी राह लिये।

सुदामाजी मार्ग में सोचते हैं कि ब्राह्मणी पूछेगी तो क्या कहूँगा? क्या कह दूँगा कि मित्र ने कुछ दिया नहीं। नहीं, नहीं, ऐसा कहने से मित्र के विरद में बट्टा लग जायेगा। तो मेरा क्या यही कर्तव्य है कि

मित्र की बदनामी कराऊँ। नहीं, कदापि नहीं। तो फिर? कह दूँगा कि उन्होंने दिया तो बहुत था परन्तु मार्ग में चोरों ने लूट लिया, इस तरह बात बनाकर कह दूँगा और यदि फिर दुबारा ब्राह्मणी तङ्ग करेगी तो कह दूँगा कि मेरे मित्र कहते थे कि मैंने भाभी को नहीं देखा है अतः अब की बार तुम्हीं जावो। (लीला में दिखाते हैं कि प्रभु ने सुदामाजी को खूब बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से समलंकृत करके विदा किया था परन्तु मार्ग में चोरों ने वह भी छीन लिया, ये जैसे आये थे वैसे ही घर को गये) परन्तु सर्वथा निष्काम हृदय सुदामाजी के मन में इस बात की किञ्चित भी हानि ग्लानि नहीं थी कि लक्ष्मीपति के यहाँ से खाली हाथ ही लौटा। मेरे राजराजेश्वर मित्र ने मुझ दरिद्र की दरिद्रता का समाधान नहीं किया। वे सोचते जा रहे थे कि—अहो! आज मैंने परम सुहृद श्रीकृष्ण की ब्राह्मण भक्ति देखा, कहाँ, अत्यन्त दरिद्र, पाप निवास मैं, और कहाँ लक्ष्मीपति, पुण्य निवास प्रभु। परन्तु उन्होंने मुझे अपनी भुजाओं में भरकर हृदय से लगाया। यथा—

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णःश्रीनिकेतनः । ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः (भा० १०-८१-१६)

अपनी प्रिया के पलंग पर बैठाया। मेरे चरण धोये। देवता समान मेरी पूजा की। परम दयालु ब्रह्मण्य देव श्रीकृष्ण ने यह सोचकर मुझे थोड़ा सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिल्कुल मतवाला न हो जाय और मुझे भूल न बैठे। यथा—**अधनोऽयं धनं प्राप्तो माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्। इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्।।** (भा० १०-८१-२०) 'विछुरनि छीजे हैं'—यदि इन्हें दुःख है तो प्रभु वियोग का। 'प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपा निधाना।।

आये निजग्राम वह अति अभिराम भयो नयो पुर द्वारका सों देखि मति गई है।
तिया रंग भीनी सङ्ग सतनि सहेली लीनी कीनी मनुहारि यों प्रतीति उर भई है।।
वहै हरि ध्यान रूप माधुरी को पान तासों राखैं निज प्रान जाके प्रीति रीति नई है।
भोग की न चाह ऐसे तनु निरबाह करैं ढरैं सोई चाल सुख जाल रसमई है।।५७।।

शब्दार्थ—सतनि=सैकड़ों। मनुहार=अनुनय-विनय।

भावार्थ—जब श्रीसुदामाजी द्वारका से अपने ग्राम को आये तो उन्होंने देखा कि वह नया और अत्यन्त सुन्दर नगर हो गया है। उसकी रचना और उसका ऐश्वर्य द्वारका के समान है, उसे देखकर उनकी बुद्धि आश्चर्य चकित हो गई। वे विचारने लगे कि मेरी झोंपड़ी और ब्राह्मणी कहाँ गई? क्या यहाँ किसी राजा ने नगर बसा दिया? इतने में ही भगवत्कृपा से प्राप्त ऐश्वर्य और पति दर्शन के आनन्द से मग्न हुई सुदामाजी की स्त्री सैकड़ों सखी सहेलियों को साथ लेकर आई। उसने सादर अपने पतिदेव का स्वागत कर उनकी अनुनय-विनय की। श्रीकृष्ण कृपा से प्राप्त ऐश्वर्य का समाचार सुनाया तब उन्हें विश्वास हुआ। अपार वैभव को पाकर सुदामाजी उसके मोह और भोगों में आसक्त नहीं हुए। वे सदा श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का ध्यानरूपी अमृत पान करके अपने प्राणों का पोषण करते थे। न कि खान पान से शरीर का। उनकी प्रीति की रीति ही निराली थी। उन्हें संसारी भोगों की चाह बिल्कुल नहीं थी। अन्न वस्त्र आदि का उतना ही प्रयोग करते थे कि जितने से शरीर का निर्वाह हो जाय वे उसी अपनी पुरानी चाल से चलते थे जो सात्विक सुख और प्रेम के रस से परिपूर्ण थी।।५७।।

व्याख्या—आये.........मति गई हैं—

वैसेइ राज समाज बने गज बाजि घने मन सम्भ्रम छायौ।
कैधों पर्‌यो कहुँ मारग भूलिकै कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयौ।।
भौन बिलोकिबे को मन लोचत सोचत ही सब गांव मझायौ।
पूछत पांडे फिरैं सबसों पर झोपड़ी को कहुँ खोज न पायौ।।१।।

पद— सुदामा मन्दिर देखि डरे।
यहाँ तो रही मेरी ठाकुर सेवा कञ्चन महल खरे।।
यहाँ तो रही मेरी नारी सुशीला दासी झुण्ड खड़े।
यहाँ तो रह्यो मेरो तुलसी बिरवा अब गज बाजि खड़े।।
कनक झरोखा निरखे सुशीला बाहर कन्त खड़े।
ऐसी हरी करी मेरे संग जात गलानि गरे।।
सुदामा मन्दिर देखि डरे।।२।।

याही ते जनम भरि गयो नहीं श्याम जू पै मेरो कह्यो बचन पड़ाइनि न माने हो।
जाहु जाहु लै रह्यो न मानति अनाज खाइ ऐंड़ी मैंड़ी बातें तो गोविन्द की न जाने हो।।
द्रौपदी को चीर दिये गोपिन को छीन लिये ग्राह ते बचायो गज रङ्गभूमि भानै हो।
ब्राह्मणी समेत कहूँ खेत ते उखार्‌यो घर केतो समझायों तिया समझ न आनै हो।।३।।

चौतरा उजारि काहू चामीकर धाम कीन्हों, छानि को हटाय हाय छाई चित्र सारी जू।
जौ हौं होतो घर तो पै काहे को बनन देतो होनहार ऐसी खोटी दशा ही हमारी जू।।
गयो हौं दरन दुख दीनता अधीनता पै आई सिर आफत हमारे बड़ी भारी जू।
लोभ की सँवारी, दुख भूख की दलन हारी भैया वनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू।।४।।

इतने में बहुत से सेवकों ने आकर श्रीसुदामाजी का अभिवादन कर भीतर भवन में पधारने की प्रार्थना किया। उधर श्रीसुशीलाजी झरोखे से अपने पतिदेव को देखकर सैकड़ों सखियों को सङ्ग लेकर अगवानी हेतु आगे आईं। यथा—'तियारङ्ग भीनी'—

दूरि ही ते चीन्हि कह्यो आयो पिय द्वारका सों साजिके सुदामा वाम उठी अतुराइ कै।
उर्वशी तिलोत्तमासी पूर्व चित्ति मेनकासी सेविका हजार लीनी चली सङ्ग चाइ कै।।
पान दान वारी केती पीक दान वारी और पंखावारी पटवारी चलीं अति धाइ कै।
आरती उतारैं गाय मङ्गल मनावैं विप्र अति सकुचाय वह फूलै सुख पाइकै।।

सेवकों ने निवेदन किया।

सखिन सङ्ग श्रीस्वामिनी, आवति हैं तुव पास।
सुनत सुदामा सहमिगे, मानि हृदय अतित्रास।।

आलिन के जूथ ज्यौं ज्यौं आदर सों बोलैं आइ त्यौं त्यौं डरपाइ पग आगे को न देत हैं।
पण्डित न ज्योतिषी न वैदवा न कौतुकी हौं रानी जु बुलावती हैं कहौ कौन हेत हैं।।

द्वारकाके राजा से मिले ते घर छीनो गयो रानी कहा छीनैगी फल्यो न मेरो खेत हैं।
मोसों कहा नातो तुम जाइ कहो वाते मोहि भूलि ना सुहातो कोउ साँची कहे देत हैं।।

तब तक श्रीसुशीलाजी समीप आ गईं। सुदामाजी पहचान नहीं पा रहे थे। तब सुशीलाजी ने कहा— **मैं तो नारि तिहारिये, सुधि सँभारिये कन्त। प्रभुता सुन्दरता दई, अद्भुत श्रीभगवन्त।।** तब सुदामाजी को विश्वास हुआ। महल में आये, अनन्त वैभव देखकर चकित हो गये, तथा प्रभु की कृपा पर बार-बार बलिहार गये कि देखो तो मेरे तनिक से तुच्छ चिउड़े को तो लोक प्रसिद्ध कर दिये और स्वयं इतनी अपार सम्पत्ति दिये, परन्तु और की कौन कहै, मैं स्वयं तक नहीं जान पाया। 'ऐसो को उदार जग माहीं।' 'अस सुभाव कहुँ सुनेउँ न देखेउँ' पुनः दूसरे ही क्षण सुदामाजी को यह विचार आया कि भला इस वैभव में फँसकर कौन नहीं भगवान को भूल जायेगा? हाय हाय! मैं तो लुट गया, प्रभु का भजन छूट जायेगा, क्योंकि सुख, ऐश्वर्य को तो भगवद् भजन में बाधक कहा गया है। यथा—

सुख सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई।।
ए सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक।। (रा० च० मा०)

सुदामाजी मूर्च्छित हो गये। भक्तवत्सल भगवान तत्काल वहीं प्रगट हो गये और इन्हें समझाये कि सुदामाजी! आप चिन्ता न करें, इससे आपको मेरे भजन में बाधा नहीं पड़ेगी, यह तो मेरी प्रसादी है। कृपा द्वारा प्राप्त वैभव बाधक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि जो भगवद्विमुख प्राणी हैं उनको ये सब बाधक हैं, आप तो परम भागवत हैं अतः आपको कोई चिन्ता नहीं। जैसे पारस के स्पर्श से स्वर्ण भाव को प्राप्त लोहा पुनः लोहा नहीं होता वैसे ही मुझको प्राप्त कर जीव पुनः संसार में नहीं पड़ता है। यथा—**मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।।** (रा० च० मा०) तब सुदामाजी को धैर्य हुआ।

जाके प्रीति.......नई है—प्रेम का यही वास्तविक रूप है कि वह नित्य नव-नवायमान ही बना रहता है। यथा—**सोई पिरीत अनुराग बखानिबे तिल-तिल नूतन होय।।** (विद्यापति) **रटत-रटत रसना रटी, तृषा सूखि गये अङ्ग। तुलसी चातक प्रेम की नित नूतन रुचिरङ्ग।।** (दोहावली) श्रीसुदामाजी की श्रीकृष्ण में ऐसी ही प्रतिक्षण वर्द्धमान नित नूतन प्रीति है, तथा जन्म-जन्म में इसी प्रीति की अभिलाषा करते हैं। तथा—

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः।। (भा० १०-८१-३६)

अर्थ—मुझे जन्म-जन्म में उन्हीं का प्रेम, उन्हीं की हितैषिता, उन्हीं की मित्रता और उन्हीं की सेवा प्राप्त हो। मुझे सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं, सदा-सर्वदा उन्हीं के गुणों के एकमात्र निवास स्थान महानुभाव भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में मेरा अनुराग बढ़ता जाय और उन्हीं के प्रेमी भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त हो।

भोग की न चाह—

अवध राजु सुर राज सिहाई । दशरथ धन सुनि धनद लजाई।।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा।।

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।।
'सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृणसम विषय विलास।
'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं।।' (रा०)

'जे रघुवीर चरन अनुरागे। ते सब भोग रोग सम त्यागे।।'
ब्रह्म पियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावैं।
तौ कत मृग जल रूप विषय कारन निशि वासर धावैं।।
जेहिं के भवन विमल चिन्तामनि सो कत कांच बटोरै।। (वि०)
श्रीविहारी दास रस मत्त जे ते न विषयखर खांइ।।

दृष्टान्त—त्यागी के राजा बनने का—एक नगर में राजा का देहावसान हो गया था। वहाँ नये राजा के चुनाव का यह नियम था कि प्रातःकाल नगर द्वार पर जो कोई प्रथम मिल जाता उसे ही राजा बना दिया जाता। संयोग से एक बड़े त्यागी महात्मा कहीं से आये, नगर में प्रवेश नहीं कर पाये थे, तब तक नगर-द्वार बन्द हो गया। अतः रात्रि में द्वार पर ही पड़े रहे। प्रातःकाल जब द्वार खोला गया तो सर्वप्रथम त्यागीजी ही मिले, मन्त्रियों ने इन्हीं को राजसिंहासन पर बैठा दिया। त्यागीजी को राजोचित पोशाक धारण कराई गई। परन्तु त्यागीजी ने अपना आड़बन्द-लँगोटी, कमण्डल-कौपीन-सुरक्षित रखा। उसकी उपेक्षा नहीं किया। अनासक्त भाव से राज्य की देखभाल करते रहे। हुक्म दे दिया कि खूब सन्त सेवा होने दो, ब्राह्मण भोज कराओ, गरीबों, दीन-दुखियों को अन्न-वस्त्र बाँटो, घोंटो-छानो। नगर में अमन-चैन छा गया। पड़ोसी राजा को जब यह सब मालूम हुआ कि महात्यागी इस नगर के राजा बनाये गये हैं, वे स्वयं रात-दिन भजन-पूजा में मग्न रहते हैं, प्रजा को खूब घोटने-छानने की आज्ञा दे दिये हैं तो भला ये राज्य कैसे सम्भाल सकते हैं अतः उसने अवसर का लाभ उठाने की सोची। राज्य पर सहसा आक्रमण कर दिया। मन्त्रियों ने जब इस बात की सूचना दी, तो उन्होंने कहा—लाओ हमारा आड़-बन्द, लँगोट, कमण्डल-कौपीन, इतने दिन तक हमने घोंटछान किया अब वह घोंटे छाने, अपने राम जंगल की राह लेते हैं। ऐसा कहकर कमण्डल उठाया और चल दिये। क्योंकि त्यागीजी के हृदय में भोगों की तो चाह थी नहीं जो राज्य से चिपके रहते, परमानन्द में मग्न रहने वाले भला तुच्छ लौकिक सुखों को समझें ही क्या? ऐसे ही श्रीसुदामाजी को भोग की न चाह।

तनु निर्बाह करैं—भाव यह है कि पूर्ववत् केवल शरीर निर्वाह मात्र खान-पान से प्रयोजन रखते। इतना भी इसलिए कि—**'तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना।' ढरें......रसमई है-**सोई चाल अर्थात् पूर्ववत् सन्तोष पूर्वक जीवन यापन करना। सुख जाल कहने का भाव यह है कि **'सन्तोषादनुत्तमसुख लाभः।'** (पा०यो०द०) अर्थ—सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। **'बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।' कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।।** (रा०च०मा०)

दृष्टान्त—सन्तोषी ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण थे। बड़ी सुन्दर कथा कहते थे। सन्तोष की साकार प्रतिमा थे। कथा में भी प्रसङ्ग पाकर सन्तोष की बड़ी महिमा वर्णन करते। **गोधन, गजधन, बाजिधन और रतन धन खान। जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।'** तथा—**सन्तोषी**

ब्राह्मण सदासुखी।' ये दो वाक्य तो ये बात-बात में दुहराया करते थे। एकबार एक राजा के यहाँ कथा हो रही थी। इनकी बात को सुनकर राजा के मन में परीक्षा की बात आई तो ये कहते ही भर हैं, कि हैं भी सन्तोषी। फिर तो पण्डितजी ने एक महीना कथा कहा और राजा ने कुल दो रुपये चढ़ाये। (राजा ने सोचा था कि परीक्षा के बाद फिर पण्डितजी को अच्छी भेंट कर दूँगा) पण्डितजी ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक वे दो रुपये लेकर पोथी बाँधकर चल दिये। राजा ने देखा-वास्तव में पण्डितजी को '**मन महँ तनिक विषाद न आवा।**' नहीं तो कथा वाचक को दक्षिणा कम मिलने पर बड़ा दुःख होता है। कथा आती है कि एक पण्डितजी बड़ी रसमयी कथा कहते थे, करुण प्रसङ्गों पर श्रोताओं को आँसुओं की झड़ी लग जाती, परन्तु पण्डितजी को कभी एक बूँद भी आँसू नहीं गिरते।

एक दिन एक व्यक्ति ने पूछा—पण्डितजी! आपके श्रीमुख से कथा सुनकर दूसरे तो प्रेम विह्वल होकर आँसू बहाने लगते हैं। परन्तु आपके नेत्र कभी गीले भी नहीं होते हैं। क्या बात है? पण्डितजी बोले भैया! मेरे भी आँसू आवेंगे, पर अभी नहीं, जब दक्षिणा कम मिलेगी तो देखना मेरे आँसुओं का प्रवाह। तात्पर्य ब्राह्मणों को प्रायः दक्षिणा पर बड़ा ध्यान रहता है। परन्तु सब एक से नहीं होते ये पण्डितजी तो बड़े सन्तोषी थे। दक्षिणा के दो रुपये ही लेकर चल दिये। मार्ग में एक वैश्य मिला, वह व्यापार के लिये विदेश जा रहा था। उसने सुन रखा था कि पण्डितजी राजा के यहाँ कथा बाँच रहे हैं, अपनी सहज वणिक वृत्ति से उसने कहा—पण्डितजी! अगर आपके पास भी कुछ रुपये हों तो मुझे दे दीजिए, मैं आपके पैसे भी व्यापार में लगा दूँगा और जो भी मुनाफा होगा वह मूलधन के सहित आपको लौटा दूँगा। उसने सोचा था कि राजा के यहाँ कम से कम दस-पाँच हजार तो चढ़े ही होंगे। पण्डितजी दो रुपया उसके हाथ पर धरते हुए बोले—आज की दक्षिणा तो यही है। वणिक ने वह दो रुपया ही ले लिया और विदेश जाकर अपना करोबार किया। पण्डितजी के दो रुपया का कौन व्यापार करूँ यह उसकी समझ में नहीं आया। कुछ दिन बाद जब लौटा तो रास्ते में उसका जहाज एक समुद्री टापू के पास जाकर रुका था, वहाँ उसने बिल्ली के दो बड़े ही तेज-तलब, अद्भुत अनोखे बच्चे देखे। दो रुपयों में दोनों को खरीद लिया और अपने देश आ गया।

संयोग बस वही राजा समुद्र तट पर एक बहुत बड़ा अनुष्ठान कर रहे थे। वैश्य को पता चला तो वह अपने मित्र राजा से मिलने गया, देखा तो राजा बड़े उदास बैठे थे। कारण पूछने पर राजा ने बताया कि मित्र! कुछ पूछो मत। इस समय मैं चूहों के उपद्रव से बहुत ही हैरान हूँ। मैं यज्ञ कर रहा हूँ, यहाँ और तो सब ठीक है परन्तु चूहे इतना बढ़ गये हैं कि ब्राह्मणों को भोजन तक नहीं करने देते हैं। पत्तलों पर से परसा-परसाया सामान उठाकर, देखते-देखते चले जाते हैं। यज्ञ में हिंसा निषेध है अतः मारे जा नहीं सकते, बिचारे ब्राह्मण भूखे ही रह जाते हैं। मुझे इसका कुछ उपाय नहीं सूझता है। वैश्य ने कहा महाराज! इसका उपाय तो मेरे पास है, मैं अभी किये देता हूँ। फिर तो उसने दोनों बिल्ली के बच्चों को लाकर खड़ा कर दिया। डरके मारे चूहों का आना-जाना एकदम बन्द हो गया। राजा ने जबरदस्ती वैश्य को दो हजार रुपया दिया। वैश्य ने वह रुपये पण्डितजी को देते हुए कहा—महाराज! आपके ये दो रुपये तो बड़ी कमाई के निकले। पण्डितजी ने तुरन्त साधु ब्राह्मणों को बड़ा बढ़िया भण्डारा किया। उधर राजा यज्ञानुष्ठान पूर्णकर पण्डितजी का पता लगाने के लिये उनके घर गये तो देखा खूब जय घोष पूर्वक महात्माओं की पंक्ति हो रही। पूछा—पण्डितजी! बड़ी धूम-धाम है। क्या बात है? पण्डितजी ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

सुनकर राजा बड़ा लज्जित हुआ, चरणों में पड़कर पाँच हजार रुपया और भेंट किया और बोला—सचमुच 'सन्तोषी विप्र सदा सुखी।' अतः सुदामाजी भी ढरें सोई चाल।'

अब सुदामाजी कभी-कभी स्वेच्छा से परम सुहृद श्रीकृष्ण से मिलने द्वारकापुरी जाया करते थे। एकबार की बात है—ये सखा श्रीकृष्ण से मिलने द्वारका को गये हुए थे। दोनों मित्र स्नानार्थ सरोवर पर जा रहे थे। मार्ग में सुदामाजी ने कहा—भैया कृष्ण! मैंने सुना है, तेरी माया बड़ी प्रबल है। क्या कभी मुझे भी उसका चमत्कार दिखा सकते हो? श्रीकृष्ण ने कहा—चलो मित्र मैं अभी दिखाता हूँ। माया-नाट्य दिखाने के लिए प्रभु को कुछ रंगमंच, परदा, सीन (दृश्य) थोड़े ही तैयार करना पड़ता है। तालाब में पहुँचकर दोनों मित्र ज्यों ही जल में डुबकी लगाये, तो सुदामाजी तो तुरन्त ही एक बिलक्षण देश में जा पहुँचे। देश बड़ा रमणीय था। वहाँ का राजा मर गया था। लोग एक योग्य राजा की तालाश में थे। तब तक जनता की दृष्टि इन पर पड़ी। इनके देवोपम स्वरूप को देखकर सब लोगों ने सर्व सम्मति से इनको राजगद्दी पर बिठा दिया। ये भी सुखपूर्वक राज-काज करने लगे। इनका एक रूपवती कन्या से विवाह हुआ। बहुत से बाल-बच्चे हुए। इस प्रकार बड़े ही सुख में मानो कई वर्ष बीत गये।

एक दिन दैव दुर्विपाक वश इनकी पत्नी मर गई, ये बड़े ही दुःखी हुए और उस दुःख में भी बड़ा दुःख यह हुआ कि उस देश की प्रथा थी कि स्त्री के मरने पर पुरुष को उसके साथ आत्म-दाह करना पड़ता था अतः वहाँ के लोग इन्हें भी स्त्री के साथ जल मरने को विवश करने लगे। पर ये तैयार नहीं हो रहे थे। तब अन्त में लोग जबरदस्ती इन्हें पकड़कर जलती हुई चिता में डाल देना चाहे, उस समय ये घबड़ाकर बलपूर्वक उनसे छुड़ाकर भागे, तब तक जल से बाहर आ गये। श्रीकृष्ण मुस्करा रहे थे। प्रभु ने पूछा—कहो मित्रवर! इतने व्यग्र क्यों हो? श्वांस साधकर ये बोले—भैया! तुम्हारी कृपा से बचकर आ गया, नहीं तो लोग जिन्दा ही जला देते। श्रीप्रभु बोले—भैया! बस यही हमारी दुरत्यया माया है। सुदामाजी ने हाथ जोड़कर कहा—'अब जनि कबहुँ व्यापै, प्रभु मोहि माया तोरि।' इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के प्यारे सखा सुदामा ने उन्हीं के ध्यान में निरन्तर तन्मय रहते हुये, थोड़े ही समय में सन्तों के एकमात्र आश्रय भगवद्धाम को प्राप्त किया।

श्रीचन्द्रहास जी

हुतो एक नृप ताके सुत चन्द्रहास भयो परी यों विपति धाई लाई और पुर है।
राजा कौ दीवान ताके रही घर आन बाल आपने समान संग खेलै रस ढुर है।।
भयो ब्रह्मभोज कोई ऐसोई संयोग बन्यो आये वै कुमार जहाँ विप्रन को सुर है।
बोलि उठे सबै तेरी सुता को जु पति यहै हुवो चाहै जानि सुनि गयो लाज घुर है।।५८।।

शब्दार्थ—धाई=धाय, पालन करने वाली माँ। और पुर=दूसरे नगर। आन=आकार के। रस ढुर=प्रसन्न, भक्तिरस प्रवृत्त। सुर=देव, प्रधान। घुर=घुल।

भावार्थ—केरल में एक सुधार्मिक नाम का राजा था उसी के पुत्र भक्त चन्द्रहासजी हुये। जन्म के थोड़े दिन बाद ही इनके पिता संग्राम में वीरगति को प्राप्त हो गये और माता सती हो गई। शासन शत्रुओं के हाथ में चला गया। इस प्रकार बड़ा भारी संकट पड़ा। तब धाय माँ बालक चन्द्रहास को लेकर कुन्तलपुर

चली गई और वहाँ के मन्त्री धृष्ट बुद्धि के यहाँ रहने लगी तथा चन्द्रहास को अपना बालक बताकर उसका पालन-पोषण करने लगी। चन्द्रहास अभी पाँच ही वर्ष के हुए थे कि उस धाय माँ का भी स्वर्गवास हो गया। अब वे अनाथ हो गये। चन्द्रहास अपने समान अवस्था वाले बालकों के साथ भक्ति-रसबर्द्धक खेल खेला करते थे। (एक दिन कृपालु श्रीनारदजी ने आकर दर्शन दिया और एक शालग्राम की छोटी सी मूर्ति समेत भगवन्नाम का उपदेश दिया, चन्द्रहासजी नित्य उसकी पूजा करके उसे मुख में रख लेते थे) एकदिन धृष्टबुद्धि के यहाँ ब्राह्मण भोज हुआ, संयोगवश चन्द्रहासजी वहीं खेल रहे थे जहाँ ब्राह्मणों में प्रधान विद्वान् बैठे थे। उस समय धृष्टबुद्धि ने वहाँ आकर पूछा कि—मेरी कन्या का कैसा भाग्य है, इसे कैसा पति प्राप्त होगा। तब वे सब चन्द्रहास की ओर संकेत करके बोल उठे कि—यही तेरी कन्या का पति होना चाहिये। दासी पुत्र मेरी कन्या का पति होगा, यह जानकर वह लज्जा से घुल गया।।५८।।

व्याख्या—हुतो एक......भयो—

केरलाधिपतिः पूर्वमासीद् राजा सुधार्मिकः । राज्यं चकार मेधावी विधिवत् पालयन् महीम्।
तस्य पुत्रोऽभवन्मूलनक्षत्रे बहुभाग्यवान् ।। (जैमिनीयाश्वमेध पर्व ५५/२१/२२)

अर्थ—प्राचीनकाल की बात है, केरल देश में एक परम मेधावी (बुद्धिमान) राजा राज्य करता था। उसका नाम था सुधार्मिक। वह शास्त्र विधि के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करता हुआ राज्य-कार्य सँभालता था। उसके एक महान भाग्यशाली (चन्द्रहास नामक) पुत्र हुआ, जिनका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था। **परी यों विपति**—शत्रु राजाओं ने मिलकर एक बारगी केरल देश पर चढ़ाई कर दी, राजा सुधार्मिक युद्ध में मारे गये, उनकी रानी, पुत्र चन्द्रहास को धाय के हाथों सौपकर पति के साथ सती हो गई। शैशवावस्था में ही मातृ-पितृ हीन हो जाना भारी विपत्ति है। प्रश्न—ऐसे महाभागवत के ऊपर शैशवावस्था में ही इतनी बड़ी विपत्ति क्यों? समाधान—भगवान के श्रीमुख का वचन है—

यस्य तुष्टो ह्यहं पार्थ वित्तं तस्य हराम्यहम् । करोमि बन्धुविच्छेदं स च कष्टेन जीवति।।

अर्थ—हे पार्थ! जिस पर मैं प्रसन्न होता हूँ उसका धन हर लेता हूँ, बन्धु-बान्धवों से वियोग करा देता हूँ। वह बड़े कष्ट के साथ जीता है पुनः—

जाको करत स्याम सहाइ । प्रथम बरनौं कृपा क्रम हौं विषै मूल गमाइ।।
कुल कुटुम्ब बल वित्त हीनो दीनकै दुखदाइ । आपने को करि जु लीन्हों आपुही अपनाइ।।

धाई लाई और पुर है—विपक्षियों ने राजवंश का सर्वथा विनाश करने के लिये महल को घेर लिया, कि जिसमें कोई भी पुरुष, स्त्री या बच्चे बच न पावें, सबको एक-एक करके खोजकर मार दिया जाये क्योंकि नीति है—'**रिपु रिन रंच न राखब काऊ।**' '**रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।**' परन्तु '**जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।**' धाय ने भंगिन का वेष बनाया, शिशु चन्द्रहास को टोकरी में रखकर ऊपर से दोना-पत्तल रखकर महल से बाहर निकली, पहरेदारों में से किसी ने इच्छा किया कि देखें भंगिन की टोकरी में क्या है, परन्तु भगत्प्रेरणा से किसी ने घृणा भी उत्पन्न कर दी अतः तलाशी नहीं ली गई, वह बचकर निकल गई।

दृष्टान्त—पन्ना धाय का—चित्तौड़ के महाराणा संग्रामसिंह के वीरगति प्राप्त करने पर, उनका ज्येष्ठपुत्र विक्रम गद्दी पर बैठा। परन्तु उसको राज्य-कार्य में अयोग्य जानकर राजपूत सरदारों ने

महाराणा के छोटे पुत्र षट् वर्षीय उदयसिंह को गद्दी पर बैठाकर उनकी सुरक्षा का भार दासी पुत्र बनवीर को सौंपा। बनबीर के मन में राज्य का लोभ हो आया। अतः उस नर-पिशाच ने एक दिन, यह सोचकर कि यदि मैं महाराणा के दोनों पुत्रों को मार डालूँ तो राज्य का सर्वेसर्वा मैं ही हो जाऊँगा, रात्रि में नङ्गी तलवार लेकर सोते हुए विक्रम का वधकर उदयसिंह की ओर आ ही रहा था कि महल में जूठे पत्तलों को साफ करने के लिए आई हुई बारिन के द्वारा बनबीर के कुकृत्य एवं उसके हृदय की दुरभिसंधि को जानकर, उदयसिंह की धाय पन्ना ने तत्काल अपना कर्तव्य विचार कर बालक राणा उदयसिंह को बारिन को देकर, वीरा नदी के तट पर मिलने का संकेत कर, तुरन्त वहाँ से चले जाने को कहा। वारिन टोकरी में उदयसिंह को रखकर पत्तलों से ढककर महल से बाहर निकल गई। उधर पन्ना धाय ने अपने पुत्र चन्दन को उदयसिंह के पलङ्ग पर लिटा दिया। तब तक बनबीर ने आकर उदय का पता पूछा। धाय ने अँगुली से अपने सोते हुए पुत्र की ओर संकेत कर दिया। बनबीर की तलवार उठी तत्काल बालक का शिर धड़ से अलग हो गया। उस धर्मनिष्ठ धाय ने उफ तक नहीं किया। बनबीर के चले जाने पर वह पुत्र का शव लेकर महल से बाहर निकली, वीरा नदी के तट पर उसने पुत्र का अन्तिम संस्कार किया। बारिन से उदयसिंह को लेकर यत्र-तत्र भटकती हुई देयरा के आशाशाह की शरण ग्रहण की। समय आने पर बनबीर को अपने दुष्कर्म का समुचित दण्ड मिला, महाराणा उदयसिंह जब सिंहासन पर बैठे तो पन्नाधाय की चरण-धूलि को मस्तक पर चढ़ाकर उन्होंने अपने को धन्य माना।

ऐसे ही चन्द्रहासजी की धाय ने भी अपना कर्तव्य निबाहा। चन्द्रहासजी को लेकर कुन्तलपुर में राजा कुन्तलक के मन्त्री धृष्टबुद्धि के घर रहने लगी। विधि का विधान बड़ा विलक्षण होता है। जब बालक चन्द्रहास तीन साल का हुआ तो वह सती-साध्वी धाय भी परलोक सिधार गई। यथा—**सोऽर्भकस्त्र्याब्दिको गौरो लक्षणैरभिलक्षितः। ततः स पञ्चत्वमगमद् धात्री बालं बिना सती।।** (जै० ५५/२७) तब उस शुभ लक्षणों से लक्षित गौर वर्ण, परम सुन्दर बालक चन्द्रहास का पालन-पोषण उस नगर की वात्सल्यमयी माताएँ करने लगीं। कोई नहला देतीं, कोई बढ़िया श्रृङ्गार कर देतीं, कोई भोजन करातीं, कोई चन्दन लगा देतीं, कोई टोपी बनवा देतीं, कोई गोद में उठाकर बहुत-बहुत प्यार करतीं। इस प्रकार बालक चन्द्रहास का जीवन बड़ा ही आनन्दमय हो गया। सत्य ही कहा है—**जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करै सब कोई।।**

खेलैं रस ढुर है—जन्म से ही भक्ति के शुभ संस्कार थे अतः बालकों के साथ खेलते भी तो रसमय अर्थात् भगवत्सम्बन्धी खेल खेलते। यथा—**खेलउँ तहुँ बालकन मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला।। (कागभुसुण्डीजी)**

चौदहों भुवनों में अव्याहत गति से परिभ्रमण करने वाले देवर्षि नारदजी एकबार कुन्तलपुर में आये तो देखा एक नन्हा-सा बालक आँख बन्दकर ध्यान मुद्रा में बैठा है। त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ नारदजी को समझते देर नहीं लगी। भविष्य में यह बालक भक्त भूप होगा अतः इसे भक्ति का प्रोत्साहन देना चाहिए यह विचारकर देवर्षि ने उस परम अधिकारी बालक को एक शालग्राम भगवान की मूर्ति देते हुए संक्षेप में पूजन की विधि (धो के पी लेना, दिखा के भोजन पाना) बताकर भगवन्नाम का उपदेश कर दिया तथा श्रीशालिग्रामजी को कपोल-मध्य में रखने की युक्ति बताकर वहाँ से प्रस्थान किये। अब तो बालक

की दशा कुछ और ही हो गई। चन्द्रहास एकान्त में बैठकर भगवान का पूजन करते, ध्यान करते भाव विभोर होकर भगवन्नाम का गान करते हुए नृत्य करने लगते। उस समय उनकी वह भाव दशा ऐसी मनोहारिणी होती कि नगर के लोग उनका दर्शन कर अपनी सुधि-बुधि खो बैठते। वर्णन आया है कि जब बालक चन्द्रहास तन्मय होकर कीर्तन करने लगते तो उस समय उन्हें प्रत्यक्ष दीखता कि एक नील सरोरुह-नीलमणि नील नीरधर-श्याम-सलोना बालक मधुर-मधुर मुरली बजाते हुए मेरे साथ नृत्य कर रहा है, इससे चन्द्रहास की तन्मयता और भी गाढ़ हो जाती।

ऐसोई संयोग बन्यो—भाव यह कि धृष्ट बुद्धि तो 'यथानाम तथा गुण' के अनुसार धृष्ट बुद्धि वाला ही था, उसके यहाँ कहाँ साधु-ब्राह्मणों का सत्कार, उसका पुत्र मदन भागवत था, वह कभी-कभी कोई उत्सवादिका ब्याज (बहाना) बनाकर साधुओं-ब्राह्मणों की सेवा करता था। आज भी ऐसे ही ब्रह्मभोज रहा। 'कोई......कुमार'—उसी समय में कोई ऐसा संयोग बना कि चन्द्रहास समवयस्क बालकों को साथ लिये भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए उधर ही जा निकले, नहीं तो ये प्रायः एकान्त में ही स्मरण कीर्तन करते थे। परन्तु **तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलइ सहाइ। आपु न आवइ ताहिं पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ।।** बालकों की, विशेषकर चन्द्रहास की अत्यन्त मधुर कीर्तन ध्वनि से आकृष्ट होकर ब्राह्मण मण्डली मन्त्रमुग्ध होकर कीर्तन सुनने लगी। कीर्तन समाप्त होने पर ब्राह्मणों ने स्नेहवश चन्द्रहास को साथ लेकर भोजन किया और बड़ी सूक्ष्मता से उसके शुभ लक्षणों को देखते रहे। भोजनोपरान्त जब मन्त्री ने अपनी लाड़िली बेटी विषया को ब्राह्मणों के चरणों में माथा नवाकर प्रणाम कराकर उसके वर के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो सभी ब्राह्मणों ने एक स्वर में कहा—'तेरी सुता को जु पति यहै।' सुनि गयो लाज घुर है—का भाव यह है कि सचमुच मेरी बेटी का ब्याह इस अनाथ बालक से होगा। यदि ऐसा हुआ तो बड़ी लज्जा की बात होगी। लोग क्या कहेंगे।

पर्‌यो सोच भारी कहा करौं यौं बिचारी अहो सुता जो हमारी ताको पति ऐसो चाहिये।
डारौं याहि मार याको यहै है विचार तब बोलि नीच जन कह्यो मारो हिय दाहिये।।
लैके गये दूर देखि बाल छबि पूर हम योनि परै धूर दुःख ऐसो अवगाहिये।
बोले अकुलाय तोहिं मारेंगे सहाय कौन मागौं एक बात जब कहौं तब बाहिये।।५९।।

शब्दार्थ—योनि=जाति, देह। धूर परै=धिक्कार है। अवगाहिये=भोगिये। बाहिए=तलवार चलाइये।

भावार्थ—धृष्टबुद्धि बड़े सोच-विचार में पड़ गया कि—अहो! अब मैं क्या करूँ? कहाँ यह हमारी पुत्री और कहाँ वह अनाथ दासी पुत्र। सम्राट् के मन्त्री की कन्या को क्या ऐसा ही पति चाहिए, कदापि नहीं। यदि ऐसा हुआ तो मेरी बड़ी अपकीर्ति होगी। इसलिए अब यही विचार ठीक है कि इस लड़के को ही मरवा डाला जाय। ऐसा निश्चय करके उसने नीच बधिकों को बुलाकर कहा कि—'इसे मार डालो, यह मेरे हृदय को जला रहा है।' धृष्टबुद्धि की आज्ञा से बधिक लोग चन्द्रहास को दूर निर्जन वन में ले गये। उन्होंने देखा कि बालक बड़ा सुन्दर है। वे अपने को धिक्कार कर कहने लगे कि—हमारी इस देह और जाति पर धूल पड़े जो अबध्यों का वध करके दुःख का अनुभव करना पड़ता है। फिर वे घबड़ाकर चन्द्रहास से बोले कि—हम तुम्हें मारेंगे बताओ, अब तुम्हारा रक्षक कौन है? चन्द्रहास ने कहा

कि—मैं तुमसे केवल एक बात माँगता हूँ कि तुम लोग थोड़ी देर रुको, जब मैं कहूँ तब मुझ पर हथियार चलाना।।५९।।

व्याख्या—सुता.....चाहिये—'हमारी सुता' इस शब्द से धृष्टबुद्धि का मन्त्रीपने का अभिमान द्योतित होता है। ताको पति ऐसो अर्थात् सर्वथा अनाथ, सब प्रकार से दीन-हीन नहीं होना चाहिये। शास्त्र की आज्ञा है—

जौ घर बर कुल होय अनूपा । करिअ बिबाह सुता अनुरूपा।।

पुनः— **कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।**
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः।। (सुभाषित)

अर्थ—कन्या रूपवान् पति, माता धन, पिता विद्या, वन्धु वर्ग उत्तम कुल और अन्य लोग (बराती) सुन्दर भोजन और सत्कार चाहते हैं। पुनः—समाने सदृशे बरे अर्थात् योग्य वर को कन्या देनी चाहिये। 'डारौं याहि मार' अर्थात् न रहै बाँस न बाजै बाँसुरी।

देखि........अवगाहिये—'ततो देवः स भगवांश्चाण्डालांस्तानमूमुहत्। मोहितास्त्वन्त्यजा वाक्यमब्रुवन्कीदृशः शिशुः।।' अर्थ—तदनन्तर भगवान श्रीकृष्ण ने उन चाण्डालों को मोह में डाल दिया। तब मोह के वशीभूत हुए वे—चाण्डाल यों कहने लगे—भाइयो! यह कैसा सुकुमार बालक है, इसके नेत्र विशाल हैं, भुजायें घुटनों तक लटक रही हैं और इसका रूप मन को चुराये लेता है। न जाने धृष्टबुद्धि ने इसे मारने की आज्ञा क्यों दी है। हम लोग तो वैसे ही पूर्वजन्म के नाना प्रकार के पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप चाण्डाल होकर उत्पन्न हुए हैं, फिर यदि हम इस बालक का वध करेंगे तो हमारी कौन दारुण दशा होगी अथवा न जाने इस बालक ने ही कौन सा ऐसा कर्म किया है कि जन्म से ही मातृ-पितृ हीन होकर इस अल्पवय में ही मृत्यु का ग्रास हो रहा है।

बोले अकुलाय—इधर 'बाल छबि पूर' देखकर हृदय कहता है कि 'बध लायक नहिं बाल अनूपा।' उधर मन्त्री की आज्ञा। क्या करें। यह समझ में नहीं आता परन्तु मन्त्री के भय से आज्ञा पालन की अनिवार्यता विचारकर बड़े ही विकल होकर बोले। 'तोहिं मारेंगे सहाय कौन' यह रीति है, जिसका वध किया जाता है उसे अपने सहायक के स्मरण का मौका दिया जाता है। अहिरावण ने श्रीराम-लक्ष्मण जी से भी यही बात कहा था। (देखिये हनुमत्प्रसङ्ग) जो अनाथ हो जाता है, जिसका कोई सहारा नहीं होता उसके लिए अनाथ-नाथ, सर्वाधार श्रीहरि ही नाथ बन जाते हैं, आश्रय हो जाते हैं। फिर चन्द्रहास के तो वे सर्वस्व हैं। अतः चन्द्रहास को विश्वास है कि—

जो प्रभु भारत युद्ध में, राखे भरुही अण्ड।
सोई मोकूँ राखि हैं जो राखत ब्रह्माण्ड।।

तथा— **जिन राखो ऋषि यज्ञ जनक नृप को पन राखो।**
जिन राखो पितृ बोल काक कपटी जिन राखो।।
जिन राखो ऋषि सकल विकल दण्डक वन वासी।
जिन राखो सुग्रीव वसत गिरि त्रसित उदासी।।
दनुज विभीषण पग परत लंक दई सन मानिकै।
सो प्रेम सखा पति राखि हैं दीनबन्धु जन जानिकै।।

मानि लीन्हों बोल वे कपोल मध्य गोल एक गंडकी को सुत काढ़ि सेवा नीकी कीनी है।
भयो तदाकार यों निहार सुख भार भरि नैननि की कोर ही सों आज्ञा बध दीनी है।।
गिरे मुरझाय दया आइ कछु भाय भरे ढरे प्रभु ओर मति आनन्द सों भीनी है।
हुती छठी आंगुरी सो काटि लई दूषन हो भूषन ही भयो जाइ कही साँच चीन्ही है।।६०।।

शब्दार्थ—गण्डकी को सुत=शालग्राम। तदाकार=तल्लीन।

भावार्थ—बधिकों ने बात मान ली, चन्द्रहास ने अपने गाल से एक गोल शालग्राम की मूर्ति को निकालकर वन के पत्र-पुष्पों से उसकी प्रेमपूर्वक सेवा की। मूर्ति को पुनः गाल में रखकर ध्यान में तल्लीन हो गये। समस्त सुखों से परिपूर्ण प्रभु की छबि को देखकर हृदय में धारणकर नेत्रों के इशारे से मार डालने की आज्ञा दे दी। बधिक मूर्च्छित होकर गिर पड़े। थोड़ी देर बाद वे सावधान हुए, उनके हृदय में दया आ गई। भक्त बालक की दशा देखकर वे भी भगवान की ओर झुके। 'उनका हृदय आनन्द से विभोर हो गया। चन्द्रहास के बायें पैर में छः अँगुलियाँ थी जो एक दोष था। बधिकों ने छठी अँगुली धृष्टबुद्धि को दिखाने के लिये काट ली। जो अच्छा ही हुआ। बधिकों ने जाकर कटी अँगुली धृष्टबुद्धि को दिखाकर कहा कि—हमने उसे मार डाला। उसने भी अँगुली पहचानकर उनकी बात को सत्य मान लिया।।६०।।

व्याख्या—गोल गंडकी सुत—'वृत्ता सुवृत्तदा प्रोक्ता' अर्थ—शालग्राम की गोल प्रतिमा का पूजन करने से सुन्दर आचरण की प्राप्ति होती है। (शालग्रममाहात्म्य) 'भयो तदाकार' चन्द्रहासजी ने पूजा करके भगवान की स्तुति की यथा—

कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ वासुदेव जनार्दन। चाण्डाला: शित धारैश्च खड्गैर्घ्नन्ति जगत्पते।।
पाहि मां परमानन्द सर्वव्यापिन् नमोऽस्तुते। ध्रुवश्च रक्षितोयेन प्रह्लादो गजराट् तथा।। (जै०)

अर्थ—हे भक्तों का चित्त आकर्षित करने वाले श्रीकृष्ण! जगदीश्वर! वासुदेव! जनार्दन! जगत्पते! ये चाण्डाल अपनी तीखी धार वाली तलवारों से मुझे मार डालना चाहते हैं, अतः परमानन्द स्वरूप भगवन! मेरी रक्षा कीजिये। जिन्होंने ध्रुव, प्रह्लाद तथा गजराज को संकट से बचाया था। उन सर्वव्यापी नारायण को मेरा प्रणाम है। इस प्रकार स्तुति करते-करते भगवद्ध्यान में तल्लीन हो गये। भगवान के श्रीमुख का वचन है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं यातिनास्त्यत्र संशयः।।
यं यं वापि स्मरन् भावंत्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमां गतिम्।।
(गी० ८/५, ६ १३)

अर्थ—जो पुरुष अन्तकाल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! सदा उसी भाव में पगे रहने से यह मनुष्य अंतकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उस उसको ही प्राप्त होता है। जो ॐ ऐसे इस एकाक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ

स्वरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

गिरे........भीनी है—प्रश्न—सर्वथा निर्दय हृदय क्रूरकर्मा वधिकों का चन्द्रहास के वध की बात विचार कर मूर्च्छित होना, दया भाव आना, भाव में भरना, प्रभु की ओर ढरना, और आनन्दयुक्त होना, ये सभी बातें इनके स्वभाव के प्रतिकूल हैं। सहसा इतना स्वभाव परिवर्तन क्यों? समाधान—मुख्य तो भगवत्प्रेरणा ही हैं, अपने भक्त की रक्षा करने के लिए भगवान ने बधिकों को मोहित कर दिया, उनका स्वभाव ही बदल गया (श्लोक पूर्व आ चुका है) नहीं तो भला इनके हृदय में दया, भगवत्–भागवत में प्रीति, श्रद्धाभक्ति त्रिकाल में असम्भव है। इनकी तो '**हिंसा पर अति प्रीति**' होती है। इनके पापों का कोई ठिकाना नहीं, '**तिनके पापहि कवन मिति।**' फिर ये भगवान की ओर कब उन्मुख होने लगे—यथा—**पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।** (रा० च० मा०)

दूसरे इन्होंने परम भागवत श्रीचन्द्रहास जी का दर्शन किया, पश्चात् श्रीशालग्राम भगवान का दर्शन किया, भगवान की सेवा–पूजा का अवलोकन किया, जिससे पाप नष्ट हुआ, बुद्धि शुद्ध हुई, शुभ संस्कारोदय हुआ—बधिकों ने भगवान से प्रार्थना किया—प्रभो! हम लोग इस समय किं कर्तव्य विमूढ़ हो रहे हैं, एक ओर राजाज्ञा, दूसरी ओर बालक पर दया, हम करें तो क्या करें? भगवान ने प्रेरणा दी—वे चाण्डाल उस बालक के शरीर की ओर निहारने लगे। तब तक उनकी दृष्टि उनके बाँये पैर के उस छोटी–सी छठी अँगुली पर पड़ गई। फिर तो उन चाण्डालों ने उस छठी अँगुली को काट लिया और बालक चन्द्रहास को मुक्त कर दिया। धृष्टबुद्धि को प्रतीति के लिये वह अँगुली दिखा दी। दूषण भूषण हो गया—भगवत्कृपा का यह सुफल है यथा—**कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर।।** (श्रीभरत वाक्य) पुन—**राम कीन्ह आपन जबहीं ते। भयउँ भुवन भूषन तबहीं ते।।** (श्रीनिषाद राज वाक्य)

दृष्टान्त—गन्ने से राजा का हाथ कटने का—एक राजा का मंत्री बात–बात में कहा करता कि भगवान जो करते हैं, सो अच्छा ही करते हैं, एक दिन संयोग से राजा साहब की गन्ना चोखते समय अँगुली कट गई। यह देखकर और लोग तो समवेदना प्रकट करते, परन्तु मंत्री महोदय बोले—भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं। मन्त्री की यह बात सुनकर राजा ने क्रुद्ध होकर उसे कारागार में बन्द करा दिया। कुछ काल बाद एक दिन राजा साहब शिकार खेलने के लिये वन में गये। किसी शिकार का पीछा करते हुये निर्जन वन में जा पहुँचे सभी साथी छूट गये। भीलराज के पुत्र की आरोग्यता के लिये अपने इष्टदेव को बलिदान के लिये भीलों को एक पुरुष की तलाश थी। उन्होंने अकेले पाकर राजा को ही पकड़ लिया अपने इष्टदेव के समक्ष बलि चढ़ाने को ले गये। जब बलिकी तैयारी पूरी हो गई तो एक भील खांड़ा लेकर राजा के सामने आया उसी समय एक वृद्ध भील की दृष्टि राजा की उस कटी अँगुली पर पड़ गई। उसने तत्काल मना करते हुए कहा कि यह अङ्ग–भङ्ग बलि देवता कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे, राजा को छोड़ दिया गया। राजा को मन्त्री की बात याद आई। राजधानी में आकर तुरन्त ही मन्त्री को मुक्त कर दिया और अब उसे भी दृढ़ प्रतीति हो गई कि वस्तु तस्तु भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं। परन्तु अभी भी राजा के मन में एक शङ्का शेष थी। उसके निवारणार्थ उसने मन्त्री से एकदिन पूछा—मन्त्रीजी! हमारे लिये तो भगवान ने अँगुली कटाकर अच्छा किया परन्तु आपको कारागार में डालकर क्या अच्छा किया। मन्त्रीजी ने कहा—महाराज! हमारे लिये भी भगवान ने अच्छा इस प्रकार

किया कि यदि आप मुझे कैद में नहीं डालते तो मैं आपके साथ अवश्य रहता और आप तो कटी हुई अँगुली के कारण बच जाते, मैं मारा जाता अतः भगवान ने पहले ही आपको प्रेरित कर मुझे कैद में डलवा दिया। यह सुनकर राजा को अविचल विश्वास हो गया कि भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं। चन्द्रहास की भी जो छठी अँगुली अमङ्गल मानी जाती थी आज प्राण बचाने में सहायक हुई। श्रीचन्द्रहास का 'अँगुलीकटि माथो बच्यो।' भाव यह कि जहाँ सिर कटने का दुर्योग था वहाँ भगवत्कृपा से केवल अँगुरी ही कटकर रह गई। इस पर—

दृष्टान्त—दैवज्ञ ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण ने अपनी जन्म पत्री देखी तो उसमें एक ऐसा योग पड़ा था कि अमुक समय में राजा तुम्हें गधे पर चढ़ाकर मुख काला करके नगर से बाहर निकाल देगा। पण्डितजी भयभीत होकर अपने संत-सद्गुरु के पास गये। श्रीगुरुजी ने इन्हें प्रेमपूर्वक भगवत्स्मरण करने को कहा। फिर तो ये अहर्निश भगवन्नाम की रट लगाते रहते। एक दिन वे किंचित निद्रावस्था में थे तो स्वप्न में इन्हें वह सब दृश्य दिखलाई पड़ा—राजा ने इन्हें पकड़वाया, मुँह काला किया—गधे पर बैठाया, नगर से बाहर निकाला—लड़के इनके ऊपर धूल मिट्टी फेंकने लगे—तब तक इनकी नींद खुल गई। इन्होंने श्रीगुरुजी से यह सब बात कही, तो गुरुजी हँसकर बोले—पण्डितजी! भगवत्कृपा से आपका वह प्रबल भोग स्वप्न मात्र ही होकर निवृत्त हो गया।

वहै देश भूमि में रहत लघुभूप और और सुख सबै एक सुत चाह भारी है।
निकस्यो विपिन आनि देखि याहि मोदमानि कीन्हीं खगछांह घिरी मृगीपांति सारी है।।
दौरिकै निशंक लियो पाइ निधि रंक जियो कियो मन भायो सो बधायो श्रीहु वारी है।
कोऊ दिन बीते नृप भये चित चीते दियो राजको तिलक भावभक्ति विसतारी है।।६१।।

शब्दार्थ—सारी=समस्त। चित चीते=मन के सोचे।

भावार्थ—कुन्तलपुर के राजा के राज्य में एक छोटा राज्य और था जिसकी राजधानी चन्दनावती नगरी थी। वहाँ का राजा कुन्तलपुर के राजा को प्रतिवर्ष कर देता था। वह सब प्रकार के सुखों और सम्पत्तियों से सम्पन्न था, पर उसके कोई पुत्र नहीं था। उसे एक पुत्र की बड़ी भारी अभिलाषा थी। वह उसी जङ्गल से होकर निकला और उस बालक चन्द्रहास हो देखकर अति प्रसन्न हुआ क्योंकि जिस पक्षी की छाया पड़ने से मनुष्य चक्रवर्ती सम्राट हो जाता है, उसी पक्षी ने अपने पक्ष से छाया कर रखी थी और हिरनियाँ चारों ओर से घेरे खड़ी थीं। चन्दनावती के राजा ने निःसंकोच दौड़कर बालक को गोद में उठा लिया और जैसे दरिद्र खजाना पाकर आनन्दित हो, इस प्रकार आनन्दित हुआ। घर में चन्द्रहास को लाकर पुत्र जन्म के समान आनन्द मङ्गल मनाया। बधाइयाँ बजने लगीं और राजा ने बहुत सी सम्पत्ति न्यौछावर कर दी। कुछ दिनों के बीत जाने के बाद राजा ने सोच-विचार करके चन्द्रहास को राजसिंहासन पर बैठाकर राजतिलक कर दिया। चन्द्रहास ने राज्य पाकर अपने राज्य में भाव भक्ति का बड़ा भारी प्रचार-प्रसार किया।।६१।।

व्याख्या—सुत चाह भारी है—

सुत बित लोक ईषना तीनी । केहि कर मति इन कृत न मलीनी।। (रामचरितमानस)

धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना । धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं संततिं विना ।। (भा० मा० ४-२९)

अर्थ—सन्तानहीन जीवन को धिक्कार है। सन्तानहीन गृह को धिक्कार है। सन्तानहीन धन को धिक्कार है और सन्तानहीन कुल को धिक्कार है।

नरस्य पुत्रहीनस्य नास्ति वै जन्मतः फलम् । अपुत्रस्य गृहं शून्यं हृदयं दुःखितं सदा ।।
पितृदेव मनुष्याणां नानृणत्वं सुतं विना । तस्मात् सर्व प्रयत्नेन सुतमुत्पादयेन्नरः ।। (ब्र०पु०)

अर्थ—पुत्रहीन मनुष्य को जन्म का फल नहीं है। अपुत्र का घर शून्य लगता है जिसमें उसका हृदय सदा दु:खी रहता है। पितर, देव और ऋषियों के ऋण से पुत्र के बिना उद्धार नहीं होता है। इसलिए मनुष्यों को पुत्रोत्पत्ति का प्रयत्न करना चाहिए। चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी कहते हैं कि—

मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् । पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम । (वा० रा०)

अर्थ—महर्षियों! मैं पुत्र के लिए निरन्तर संतप्त रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य सुखादि से भी मुझे सुख नहीं मिलता। अत: मैंने विचार किया है कि पुत्र के लिए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करूँ। तथा देखिये चित्रकेतु की कथा क० ६९।

चन्दनावती के राजा कुलिन्दक ने भी पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था। आज ही यज्ञ की पूर्णाहुति थी। ब्राह्मणों ने यज्ञावशेष अभिमन्त्रित पायस प्रसाद राजा को प्रदान किया और आशीर्वाद दिया कि इसके प्रभाव से आपको अवश्यमेव परम भाग्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। राजा ब्राह्मणों का आशीर्वाद शिरोधार्य कर, उनके वचनों में दृढ़ विश्वास कर अपने देश की देख-भाल करते हुए उस गहन में जा पहुँचे, जहाँ चन्द्रहास कटी हुई अँगुली की पीड़ा से व्याकुल, शरीर से अधिक रक्त निकल जाने से निरबल तथा अबोध बालक होने से अत्यन्त अधीर हो करुण स्वर से भगवान को पुकार रहे थे। यथा—

त्राहि मां करुणासिन्धो द्रौपदी च यथा पुरा । किमुपेक्षसि मां बालं वने मात्रा विवर्जितम् ।। (जै०)

अर्थ—हे करुणासिन्धो! जैसे पहले आपने द्रोपदी को संकट से उबारा था, उसी तरह आज मेरी भी रक्षा कीजिये। भगवन्! मैं मातृ-पितृहीन बालक वन में छोड़ दिया गया हूँ। ऐसी दशा में आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं? बालक की बात सुनकर कुलिन्द आश्चर्य चकित हो गये। तुरन्त ही घोड़े से उतरकर उस ओर चल पड़े तो देखे कि एक चन्द्रमा की सी कान्ति वाला सुघर सलोना बालक रो रहा है, उसके कपोल अश्रुओं से भीग रहे हैं शिशु मृगी अपनी कोमल जिह्वाओं से उसके घाव तथा शरीर को भी चाट रही हैं। बहुत से पक्षी छत्रवत् छाया कर रहे हैं।

सहचरि शरण किताबों में एक हुमा बिहंग कहा है।
जा शिर परत छांह बर ताकी साहेब होत महा है।।
आशिक रसिक जहाँ बिच त्यौंही तिनते लाहु लहा है।
ये अनुकम्पा करत निकर पति नहिं सन्देह रहा है।।

राजा कुलिन्द ने देखा ऐसे पक्षी भी अपने पंख फैलाये हुए बालक के भविष्य की शुभ सूचना दे रहे हैं। मृग-मृगियों का झुण्ड मण्डलाकार हो बालक की रक्षा में तत्पर हैं। बालक मधुर-मधुर ध्वनि

से भगवन्नाम संकीर्तन कर रहा है। चन्दनावती नरेश ने समीप आकर बालक से माता-पिता का परिचय तथा रोने का कारण पूछा। चन्द्रहास ने कहा—

मम माता पिता कृष्णस्तेनाहं परिपालितः । तमपश्यन् महाराज रोदनं क्रियते मया। (जै०)

अर्थ—हे महाराज! मेरे माता-पिता तो श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने ही अब तक मेरा पालन-पोषण किया है, परन्तु आज मुझे उनका दर्शन नहीं हो रहा है। इसी कारण से मैं रोता हूँ। बालक की यह बात सुनकर राजा कुलिन्द विचार करने लगे कि मैं पुत्रहीन हूँ अतः यदि यह विष्णु भक्त शिशु मेरा पुत्र हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। मन ही मन ऐसा विचारकर राजा कुलिन्द उस बालक को हृदय से लगाकर घोड़े पर बिठाकर अपने नगर को चले आये और इस दैवेच्छा से प्राप्त पुत्र को अपनी रानी की गोद में डाल दिया।

जब चन्द्रहास की अवस्था सात वर्ष की हुई तो ये पढ़ने के लिये गुरुकुल में भेजे गये परन्तु इन्होंने तो जन्म से ही "श्रीहरिः शरणं मम" इस श्रुति-शास्त्र-सार-सिद्धान्त को पढ़ रखा था अतः अन्य अध्ययन इनको भाता ही नहीं। अतः विद्या-गुरु ने आकर राजा कुलिन्द से शिकायत किया कि तुम्हारे पुत्र को कोई पिशाच लगा है जो कि हरिनाम छोड़कर और वर्णों का उच्चारण ही नहीं करता है। राजा तो चन्द्रहास की भक्ति-निष्ठा से परिचित थे, अतः ब्राह्मण देवता को धन-मान देकर विदा करके चन्द्रहास को हृदय से लगाकर अपने जीवन जन्म को धन्य माने। चन्द्रहासजी के शास्त्र और शस्त्र, दोनों विद्याओं में पारङ्गत होने पर चन्दनावती नरेश इनका राजतिलक कर स्वयं भगवद्भजन में लग गये।

भाव भक्ति विसतारी है—प्रथम तो पुरवासियों को उपदेश देकर भजनोन्मुख किया, जिनको उपदेश नहीं लगा उनको आदेश द्वारा बलपूर्वक भजन की ओर लगाया गया। बाद में तो भजन में सुख मिलने पर सब लोग सहज ही, बिना उपदेश और आदेश के ही भगवद् भजन में प्रवृत्त होने लगे। चन्द्रहासजी का पुरवासियों को उपदेश—**आयुष्यं चपलं तादृग् जलबुद्बुद् संन्निभम्। चिन्तयध्वं जना मूढ़ा माधवं वर्ष्म सुस्थिरम्।।** (जै०) माया मोह में पड़े हुए मनुष्यों! यह आयु जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है। अतः तुम लोग इस शरीर में सुस्थिर रहने वाले माधव का ध्यान करो। आदेश **अतः प्रभृति भोः पौराः प्राप्ते याम्ये दिने शुभे। उत्सवं चैकभक्तं यो न करोति स मे रिपुः। तथा विष्णोस्तिथौ चान्नं यो भुङ्क्ते स महानरिः।।** (जै०) अर्थ—हे मेरे पुरवासियों! आज से लेकर दशमी का शुभ दिन आने पर जो नागरिक एक समय भोजन करके उत्सव नहीं करेगा वह मेरे लिए शत्रु के समान होगा तथा विष्णु की तिथि एकादशी के दिन जो अन्न खायेगा उसे मैं अपना महान शत्रु समझूँगा। इस पर दृष्टान्त—श्रीरुक्मांगदजी का। (देखिये कवित्त ८४)

रहे जाके देश सो नरेश कछु पावै नाहीं बाँह बल जोरिदियो सचिव पठाइकै।
आयो घर जानि कियो अति सनमान सो पिछान लियो वहै बाल मारो छलछाइ कै।।
दई लिखि चीठी जाओ मेरेसुत हाथ दीजै कीजै वही बात जाको आयौ लै लिखाइकै।
गये पुर पास बाग सेवा मति पाग करि भरी दृग नींद नेकु सोयो सुख पाइकै।।६२।।

शब्दार्थ—बाँहबल=सेना। जोरि=एकत्र कर। पिछान=पहचान। छाइकै=फैलाकर।

भावार्थ—(चन्द्रहास) में चक्रवर्ती सम्राट के लक्षण थे इसलिए स्वभावत:, जिस राजा के राज्य में रहते थे उसे अब कुछ भी वार्षिक कर नहीं मिलने लगा। तब उस राजा ने कर वसूल करने के लिये सेना एकत्र कर मन्त्री धृष्टबुद्धि के साथ भेज दिया। मन्त्री को अपने घर आया जानकर चन्दनावती के राजा ने उसका बड़ा सम्मान किया। मन्त्री ने चन्द्रहास को पहचान लिया कि यह वही बालक है। मन में खीझकर निश्चय किया कि कपट का जाल फैलाकर अब इसे मारूँगा। कर लेने की बात पीछे पड़ गई। धृष्टबुद्धि ने एक चिट्ठी लिखकर चन्द्रहास को दिया और कहा कि—इसे मेरे लड़के मदनसेन के हाथ में दे देना और कहना कि इसमें जो लिखाकर लाया हूँ उस कार्य को जल्दी ही कर दीजिये। चन्द्रहासजी पत्र लेकर कुन्तलपुर को चले। नगर के समीप एक बाग में सेवा समय जानकर रुके। आनन्द मग्न होकर शालग्राम भगवान की सेवा की फिर विश्राम करने लगे। उन्हें ऐसा सुख मिला कि आँखों में नींद भर गई, वे वहीं सो गये।।६२।।

व्याख्या—चन्दनावती नगरी कुन्तलपुर नरेश के अधीन थी। कुन्तलपुर नरेश के द्वारा राजा कुलिन्द को सौ गाँव मिले थे और इन्हें वार्षिक करके रूप में दस हजार स्वर्ण मुद्रायें देनी पड़ती थीं परन्तु जब से चन्द्रहासजी का राज्य हुआ तब से यह देय बन्द हो गया। कारण यह कि चन्द्रहास में चक्रवर्ती राजा के लक्षण थे। चक्रवर्ती किसी को कर नहीं देता है अत: इनके राजतिलक के बाद स्वाभाविक रूप से कर नहीं दिया गया। दूसरा कारण यह कि चन्द्रहास इतने उदार थे कि नगर में आये हुए याचकों को 'भगवान अधोक्षज प्रसन्न हों' इस बुद्धि से इतना धन देते थे कि वह अर्थार्थी कुबेर का उपहास करने लगता था। यथा—

यस्यां समागतश्चार्थी कुबेरं हसति श्रिया । दत्तया चन्द्रहासेन प्रीयतामित्यधोक्षजः।। (जै०)

तथा राज्य में कुँवा, बावली, विष्णु मन्दिर, शिवालय, साधु-ब्राह्मणों की सेवा आदि शुभ कर्मों में अपना समस्त धन व्यय कर देते थे। साथ ही 'सम्पत्ति सब रघुपति के आही।' का निरन्तर अनुसंधान करने से इन्हें, जो सम्पत्ति संत-भगवन्त की, दीन-दुखियों की सेवा में लगती है उसे राजा को देना उचित भी नहीं जान पड़ा अत: 'सो नरेश कछु पावै नाहिं।'

कियो अति सनमान—इसलिये कि एक तो इनके अधीन रहते थे, दूसरे इन्होंने विपत्ति में आश्रय दिया था, इनके यहाँ पालन-पोषण हुआ था, तीसरे अपने घर आये हैं। शिष्टाचार है, घर पर आये हुए शत्रु का भी सत्कार करना चाहिए ये तो सब प्रकार से सम्मान्य हैं अत: अति सम्मान किया।

मारौं छल छाइ कै—भाव यह कि धृष्टबुद्धि ने युद्ध में इन्हें बल से पराजित करना, व मारना असम्भव समझा अत: छल का आश्रय लिया। 'मुख में राम बगल में छूरी' यह छल की परिभाषा है। धृष्टबुद्धि ने भी ऊपर से चन्द्रहास एवं कुलिन्द के प्रति बड़ा भाव दिखाया और बोला—यद्यपि चन्दनावती नरेश ने आपको राज्य पद प्रदान कर दिया है परन्तु जब तक हमारे महाराज की सही नहीं हो जाती है तब तक आपका राज्य पक्का नहीं है—क्योंकि आप उनके आधीन हैं। २—आप कुलिन्दजी के औरस पुत्र भी नहीं अत: उनकी स्वीकृति आवश्यक है। ३—हमारे महाराज की अनुकूलता प्राप्त होने पर आप निर्भय हो जायेंगे। वे समय पड़ने पर धन- बल से आपकी सहायता करते रहेंगे, अन्यथा अन्य प्रबल राजा आपको हानि पहुँचा सकते हैं।आदि।

खेलति सहेलिन मों आई वाहि बाग मांझ करि अनुराग भई न्यारी देखि रीझी है।
पाग मधि पाती छबिमाती झुंकि खैंच लई बांची खोलि लिख्यो विषदैन पिता खीझी है।।
विषया सुनाम अभिराम दृग अञ्जन सों विषया बनाइ मन भाइ रस भीजी है।
आइ मिली आलिन में लालनको ध्यान हिये पिये मद मानो गृह आइ तब धींजी है।।६३।।

शब्दार्थ—पाती=पत्रिका, चिट्ठी। माती=मतवाली। धीजी=प्रसन्न।

भावार्थ—उसी बाग में धृष्टबुद्धि मन्त्री की लड़की अपनी सहेलियों के साथ खेलती हुई आई। चन्द्रहास के सौंदर्य को देखकर उसे बड़ा अनुराग हुआ फिर निकट से देखने के लिये अपनी सहेलियों से अलग होकर चन्द्रहास के समीप आई और उनकी रूपमाधुरी को देखकर उनमें प्रेमासक्त हो गई। शोभा सौंदर्य के मद से मतवाली उस लड़की ने चन्द्रहास की पगड़ी में रक्खी हुई चिट्ठी को झुँककर धीरे से खींच लिया। उसे बाँचा तो उसमें लिखा था कि—पुत्र मदन! बिना कुछ सोच-विचार किये इस चिट्ठी लाने वाले बालक को शीघ्र विष दे दो। यह बांच कर मन्त्री की लड़की अपने पिता पर नाराज हुई (कि मेरा नाम लिखते-लिखते ऐसी भूल की) उसका सुन्दर नाम 'विषया' था। उसने अपने आँख के काजल से विष के आगे 'या' और बना दिया, फिर मनमाने आनन्द की उमंग में मग्न अपनी सहेलियों में आ मिली। प्रियतम चन्द्रहास का ध्यान करती हुई बेहोश सी मानो कोई नशीली वस्तु पान कर ली हो, वह घर आकर प्रसन्न हुई।।६३।।

व्याख्या—भई न्यारी—बाग की, विहंगों की, वृक्षों की, बल्लरियों की, विविध मृगवृन्दों की शोभा देखते-देखते दूर चली गई। 'छबि-माती के दो अर्थ—१-अपनी छबि से माती, वा २-चन्द्रहास की छबि देखि मतवाली भई।

लिख्यो विष दैन—यथा—

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे । कार्याकार्यं न द्रष्टव्यं कर्तव्यं खलु मे प्रियम्।।

अर्थ—मदन! तुम इस शत्रु को विष दे देना। यह कार्य उचित है या अनुचित, इसका विचार नहीं करना, मेरा प्रिय करना अर्थात् ऐसा करने से हम कृतार्थ हो जायेंगे।। (जै०) पत्र पढ़कर प्रथम तो मन्त्री-पुत्री अपने पिता पर खीझी, फिर उसने यह विचार किया कि मेरे पिता तो मेरे लिये सुन्दर वर की तलाश में थे और इससे सुन्दर वर हो ही कौन सकता है अतः सम्भव है इन्हें पसन्द करके यहाँ भेजा हो, स्वयं किसी विशेष कार्य वश नहीं आ सके और अत्यन्त आनन्दातिरेक में 'विषया' का 'विषम' लिख गया हो।

विषया सुनाम—अब तक मन्त्री कुमारी को इस बात का बड़ा खेद था कि हमारी सखियों के बड़े सुन्दर-सुन्दर नाम हैं। यथा—चम्पक मालिनी, हेमलता, कनकप्रभा, शशिकला आदि। परन्तु मैं इतने बड़े बाप की बेटी और मेरा नाम ठीक नहीं रखा गया। परन्तु आज उसे यह नाम बहुत ही अच्छा लगा, क्योंकि विषम से विषया सहज बना दिया गया, यदि अन्य सुन्दर नाम होते तो उसे परिवर्तित करने में बड़ी कठिनाई पड़ती। विषया बनाइ—विषया ने लिख दिया—'विषयास्मै प्रदातव्या त्वया मदनशत्रवे।' अब अर्थ हो गया कि—मदन है शत्रु अर्थात् पराजित जिससे ऐसे इस सुन्दर बालक को विषया दे देना।

उठ्यो चन्द्रहास जिहि पास लिख्यो ल्यायो आयो देखि मन भायो गाढ़े गरे सों लगायो है।
दई कर पाती बात लिखी मो सुहाती बोलि विप्र घरी एक माँझ व्याह उभरायो है।।
करी ऐसी रीति डारे बड़े नृप जीति श्री देत गई बीति चाव पार पै न पायो है।
आयो पिता नीच सुनि घूमि आई मीच मानों बानो लखि दूलह को शूल सरसायो है।।६४।।

शब्दार्थ—गाढ़े=दृढ़ता से, प्रेम से। मीच=मौत। बानौ=वेष। शूल=दु:ख।

भावार्थ—चन्द्रहासजी उठे और जिसको चिट्ठी लिखी गई थी उस मन्त्री पुत्र मदनसेन के पास आये। चन्द्रहास उसे बहुत प्रिय लगे। उसने चन्द्रहास को प्रेमपूर्वक गले से लगा लिया। चन्द्रहास ने उसके हाथ में पत्र दिया जिसे पढ़कर उसने कहा कि—इसमें तो मेरे मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली बात लिखी है। उसने जल्दी से ब्राह्मण को बुलवाकर एक ही घड़ी में चन्द्रहास के साथ अपनी बहन विषया का ब्याह कर दिया। विवाह में उसने इतना धन खर्च किया कि जितना बड़े-बड़े राजा भी नहीं कर सकते थे। दान और न्यौछावर देते-देते सम्पत्ति समाप्त हो चली पर उसके मन की उमङ्ग कम न हुई। कुछ समय बाद नीच धृष्टबुद्धि आ गया ब्याह की बात सुनकर उसे ऐसा लगा मानो इधर-उधर घूम-घामकर मौत ही उस पर आ गई हो। चन्द्रहास को दूलह के वेष में देखकर उसके मन में बड़ा भारी दु:ख हुआ।।६४।।

व्याख्या—घरी एक माँझ व्याह—'शुभस्य शीघ्रं', इस शास्त्राज्ञा वश तथा संयोग से विवाह का मुहूर्त भी मानो पहिले ही से प्रतीक्षा में बैठा था अत: सुन्दर मङ्गल मूल गोधूलि वेला में विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। **डारे बड़े नृप जीति**—का भाव यह कि यद्यपि हैं तो मन्त्री, परन्तु इतना दान-दहेज दिया कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उतना नहीं दे सकते। 'चाव पार पै न पायो है'—मन्त्री पुत्र मदन ने मारे उल्लास से पूर्वजों की पृथ्वी में गड़ी सम्पत्ति भी निकालकर लुटा दिया। परन्तु इतने पर भी मदन को सन्तोष नहीं हुआ तब उसने सब लोगों के सामने ही इस प्रकार कहा—चन्द्रहास के निमित्त मेरा शिर-कमल भी काल के हवाले किया जा सकता है। जब कभी ऐसा अवसर आयेगा मैं अपने इस शिर को क्रीड़ा के लिए इनके कर-कमलों में अर्पित कर दूँगा।

पिता-नीच—कहने का भाव यह है कि जो पिता धर्मत: रक्षक है वही भक्षक का कृत्य कर रहा है। रक्षक होकर भक्षक का सा कृत्य करना नीचता है। पुन: **तकै नीच जो मीच साधु की, सो पामर तेहि मीच मरै।**' (वि०) तात्पर्य—साधु की मृत्यु का उद्यम करना नीचता है अत: नीच कहा। **सुनि घूमि आई मीच मानो**—नगर में प्रवेश करते ही जो भी मिलता जुहार करता और बधाई देता कि महाराज! आपने बहुत सुन्दर, बहुत सुशील वर भेजा है। धृष्टबुद्धि की समझ में बात नहीं आती कि ये लोग क्या कह रहे हैं। अत: उसने पूछा तो लोगों ने विस्तार से विवरण दिया। फिर तो मानो घूमिआई मीच—तात्पर्य यह कि इसने जो मृत्यु का प्रयोग चन्द्रहास के लिए किया था मानो वह वहाँ न जाकर उलटे उसी के माथे पर आ गई। ठीक भी है—**मायापति सेवक सन माया। करह त उलटि परइ सुरराया।।** आगे चलकर इसकी मृत्यु भी हो ही गई। **बानो....सरसायो है**—मृत्यु तुल्य कष्ट तो रास्ते में सुनकर ही हुआ था, अब दूलह वेष देखकर तो वह शूल और भी सरस अर्थात् बढ़ गया। इस मूर्ख को यह नहीं मालूम कि—**'आपन सोची होय नहिं, हरि सोची तत्काल।'**

दृष्टान्त—गरुड़जी का—एकबार भगवान विष्णु गरुड़जी पर आरूढ़ होकर कैलाश पर जा रहे थे। गरुड़जी ने देखा, एक जगह दो बरातें ठहरी थीं। पूछ बैठे प्रभु से। प्रभो! यह एक ही द्वार पर दो दूलह दो बरातें कैसी? भगवान ने कहा—गरुड़जी! एक ही कन्या को ब्याहने के लिए दो बरातें आई हैं। माता किसी और वर से, पिता किसी और वर से कन्या का विवाह करना चाहते हैं अतः दो जगह से दो बरातें आई हैं। ग०— आखिर विवाह किस वर से होगा? भ०—माता ने जिसे बुलाया है। गरुड़जी चुप हो गये फिर भगवान को कैलाश से वैकुण्ठ पहुँचाकर, सोचे कि जरा देखूँ तो वहाँ क्या हो रहा है? इस कुतूहलवश गरुड़जी वहाँ आये, फिर विचार आया कि यदि मैं माता के बुलाये वर को यहाँ से हटा दूँ तो कैसे विवाह होगा? फिर तो भगवद्वि- धान का चमत्कार देखने के लिये तुरन्त ही उस वर को उठाये और ले जाकर समुद्र के एक टापू में धर दिये। पुनः सोचे कि बेचारा यहाँ खायेगा क्या? वहाँ तो बराती लोग विविध पकवान्न खायेंगे और यह उपवास करे, यह उचित नहीं अतः फिर आये।

इधर स्थिति यह थी कि वर लापता हो जाने से माता बड़ी निराश हो रही थी, परन्तु अपने हठ पर अडिग थी अतः कन्या को एक भारी टोकरी में बैठाकर ऊपर से फल-फूल, मेवा-मिष्ठान्न सजा दिया, जिसमें कि भोजन-सामग्री ले जाने के ब्याज से वर पक्ष के लोग कन्या को घर ले जाकर वर को खोजकर ब्याह कर दें। माता ने अपना यह भाव समधी को सूचित कर दिया। संयोग की बात गरुड़जी ने आंगन में धरी उस टोकरी को उठाया और ले जाकर वर के सम्मुख धर दिया। जब वह वर भोजन के लिए टोकरी में से फल-फूल निकालने लगा तो उसने देखा—टोकरी में बैठी है षोडश श्रृङ्गार किये षोडशी कुमारिका। गरुड़जी देखकर दङ्ग रह गये। निश्चय हो गया—'**हरि इच्छा बलवान।**' "राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।।" फिर तो मुहूर्त विचारकर श्रीगरुड़जी ने ही पुरोहिताई की। वेदमन्त्रों से विधिपूर्वक विवाह कराकर वर-वधू को घर पहुँचाया। पुनः प्रभु के पास जाकर सब वृत्तान्त निवेदन कर झुँझलाकर बोले—प्रभो! आपने अच्छी लीला करी। सारा ब्याह कार्य हमीं को करना पड़ा। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे।

बैठ्यो लै इकान्त सुत करी कहा भ्रान्त यह कह्यौ सो नितान्त कर पाती लै दिखाई है।
बाँचि आंच लागी मैं तो बड़ोई अभागी ऐ पै मारौं मति पागी बेटी रांड़ हू सुहाई है।।
बोलि नीच जाति बात कही तुम जावो मठ आवै यहाँ कोऊ मारि डारौ मोहि भाई है।
चन्द्रहास जू सों भाख्यौ देवी पूजि आवौ आप मेरी कुल पूज सदा रीति चली आई है।।६५।।

शब्दार्थ—भ्रान्त=भूल, भ्रांति। नितान्त=बिल्कुल, सब बात। रांड़=विधवा।

भावार्थ—धृष्टबुद्धि ने एकान्त में बैठकर अपने लड़के से पूछा कि—तुमने यह भूल कैसे की? मदनसेन ने कहा कि—मैंने बिल्कुल वही सब काम किया जो कि आपने अपने हाथ से पत्र में लिखा था। ऐसा कहकर उसने वह पत्र पिताजी को दिखा दिया। उसे पढ़कर उसके शरीर में आग-सी लग गई अर्थात् हृदय बड़ा दुःखी हुआ। वह मन में विचारने लगा कि—मैं तो बड़ा अभागी हूँ, अब भी मैं इसे मरवा डालूँगा। वह मरवाने के विचार में मग्न हो गया—सोचा कि—दासी पुत्र में मतिपागी (आसक्त) बेटी से तो बेटी का विधवा हो जाना ही अच्छा है। ऐसा विचारकर धृष्टबुद्धि ने गुप-चुप नीच बधिकों को बुलाकर कहा

कि—तुम देवी के मठ में जाकर बैठो, वहाँ जो कोई पूजा करने आवे उसे मार डालना। फिर वह चन्द्रहास से बोला कि—आप जाकर देवी का पूजन कर आइये। वह मेरी कुल पूज्या हैं। विवाह के बाद अकेले ही जाकर वर द्वारा देवी पूजन की रीति मेरे वंश में सदा से चली आ रही है।।६५।।

व्याख्या—बाँचि आँचि लागी—क०—

दूलह सङ्ग दुलहिनि बनाये वेष रङ्ग भरे देखि धृष्ट बुद्धि दुक्ख सागर डुबायो है।
गीतगान मङ्गल सुमण्डप सजाये देखि फिर्‌यो शीश मानो काहु आरा सो चलायो है।।
अंग अंग लागि आग मन ही मन दुःख पागि पुत्र मदन पै रिसाय अतिशय अकुलायो है।
चीठी लेत हाथ माथ ठोकि पछतात अस विषया के बाँचे विष याके चढ़ि आयो है।।

बेटी रांड़हू सुहाई है—

अगर दुष्टता जीव की, सिर तजि अपजस लेइ।
सन तन खाल कढ़ाइ कै पर तन बन्धन देइ।।
सन इव खल पर बन्धन करई।
खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।।

'मारि डारौ मोहि भाई है'—

सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच । मरत सिखावन दे गये, गीधराज मारीच।। (दो०)
लखि परिचौ खल हठ करै, नहिं छांड़ै दुर्भाव । हरि हारै तबहूँ नहीं, पलटैं दुष्ट स्वभाव।।
(भ० व० टि०)

खलउ करइ भल पाइ सुसंगू । मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू।।

चन्द्रहास..........आई है—

यथा— **चन्द्रहास महाप्राज्ञ श्रृणु मे वचनं हितम्।**
अस्माकं हि कुले देवि चण्डिका पूज्यते किल।
कृतोद्वाहो भवानद्य तां नमस्कुरु तारकाम्।। (जै०)

अर्थ—महाबुद्धिमान चन्द्रहास! तुम मेरे हितकर वचनों पर ध्यान दो। हमारे कुल में विवाहादि माङ्गलिक अवसरों पर चण्डिकादेवी के पूजन की प्रथा है और तुम्हारा अभी-अभी विवाह हुआ है अतः आज तुम भी सङ्कट से तारने वाली उन भगवती को नमस्कार करने जाओ।।

चल्योई करन पूजा देशपति राजा कही मेरे सुत नाहीं राज वाही को लै दीजिये।
सचिव सुवन सों जु कह्यो तुम लावो जावो पावो नहिं फेरि समय अब काम कीजिये।।
दौर्‌यौ सुख पाइ जाइ मग ही में लियो जाय दियो सो पठाइ नृप रङ्गमाहि भीजिये।
देवी अपमान ते न डरौ सनमान करौं जात मारि डार्‌यौ यासों भाख्यो भूप लीजिये।।६६।।

व्याख्या—धृष्टबुद्धि के कथनानुसार चन्द्रहासजी देवी का पूजन करने चले। इसी बीच कुन्तलपुर के राजा ने सभा में कहा कि मेरे कोई लड़का नहीं है, इसलिए मन्त्री के दामाद चन्द्रहास को ही राज्य दे

दूँ। सर्व सम्मति से निश्चय करके राजा ने मदनसेन से कहा कि—तुम शीघ्र ही चन्द्रहासजी को जाकर ले आओ। अभी शुभ घड़ी है फिर ऐसा समय नहीं मिलेगा। इसलिए यह काम अभी कीजिए। यह सुनकर मदनसेन सुख पाकर शीघ्र ही दौड़े। मार्ग में ही चन्द्रहास को पाकर प्रसन्न हुए और बोले कि—आप शीघ्र ही राजसभा में चले जाइये। इस समय राजा आपके प्रेमरङ्ग में डुबे हैं। आपको राज्य देना चाहते हैं। आप देवी के अपमान से मत डरिये। उनका मानसिक ध्यान कर लीजिये। मैं आपके बदले जाकर देवी का पूजन करूँगा। यह कहकर मदनसेन देवी के मठ में गए। वहाँ जाते ही पहले से बैठे हुए बधिकों ने उन्हें मार डाला। इधर चन्द्रहासजी के राज्यसभा में पहुँचते ही राजा ने कहा कि—राज्य लीजिये। उन्हें राजसिंहासन पर बैठाकर राजा ने राज्याभिषेक कर दिया। सभी लोग सम्राट् चन्द्रहास की जय-जयकार करने लगे।।६६।।

व्याख्या—जिस समय चन्द्रहास देवी की पूजा करने के लिए प्रस्थान किए उसी समय कुन्तलपुर नरेश अपने पुरोहित गालव मुनि को बुलाकर उनसे अपने शरीर की दशा का वर्णन करते हुए कहने लगे कि निःसन्देह मेरी मृत्यु का समय निकट आ गया है क्योंकि मुझे निकट मृत्यु सूचक बहुत से लक्षण लक्षित हो रहे हैं अतः आप मुझे ऐसे योग्य पुरुष का निर्देश करें जिसके ऊपर राज्य-कार्य-भार सौंपकर मैं निश्चिन्त होकर कुछ काल तक भगवद्भजन कर सकूँ। श्रीगालवजी ने कहा—राजन्! श्रीब्रह्माजी के द्वारा प्राप्त संकेतानुसार मैं यही कहने के लिए आ ही रहा था। अब तो तुम धृष्टबुद्धि के जामाता, चन्दनावती नगर के अधिपति श्रीचन्द्रहासजी को वेद विधि से अपनी कन्या चम्पक मालिनी का विवाह कर राज्य भार सौंपकर शेष जीवन भगवदाराधना में व्यतीत करो। दौर्‍यौ सुख पाइ—इसलिए कि अब अपना बहनोई ही महाराज बनने जा रहा है। नृप रङ्ग माँहि भीजिए—भाव यह है कि ऐसा भाव हर समय नहीं होता है, इस समय भाव उमड़ा है अतः शीघ्र ही वहाँ पहुँचना चाहिए।

जात मारि डार्‍यो—कैसा विलक्षण विधि का विधान है कि मृत्यु का उद्यम किया गया चन्द्रहास के लिए, मारा गया मंत्री पुत्र मदन। ठीक ही कहा है—**जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय। बाल न बाँको करि सके जो जग बैरी होय।।**

पुनः— **जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और की कहा सरै।**
होइ न बाँको बार भगत को जो कोइ कोटि उपाय करै।।
तकै नीच जो मीच साधु की सो पामर तेहिं मीच मरै।
वेद विदित प्रह्लाद कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै।।
गज उधारि हरिथप्यो विभीषन ध्रुव अविचल कबहूँ न टरै।
अम्बरीष की शाप सुरति करि अजहूँ महामुनि ग्लानि गरै।।
सोधौं कहा जो न कियो सुयोधन अबुध आपने मान जरै।
प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पाण्डवनैं बरिआइ बरै।।
जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहिं कूप परै।
सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै।।
है काके द्वै शीश ईश की जो हठि जन की सींम चरै।
तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभै काहू न डरै।।

काहू आनि कही सुत तेरो मार्‌यो नीचनि ने सींचन शरीर दृग नीर झरी लागी है।
चल्यो ततकाल देखि गिर्‌यो ह्वै विहाल सिर पाथरसों फोरि मर्‌यो ऐसोही अभागी है।।
सुनि चन्द्रहास चलि वेगि मठ पास आये ध्याये पग देवता के काटे अङ्ग रागी है।
कह्यो तेरो द्रेषी याहि क्रोध करि मार्‌यो मैं ही उठैं दोऊ दीजै दान जिये बड़भागी है।।६७।।

भावार्थ—किसी ने आकर धृष्टिबुद्धि से कहा कि—देवी के मठ में तुम्हारे पुत्र को वधिकों ने मार डाला। सुनते ही वह रोने लगा उसकी आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी जिससे उसका शरीर भीगने लगा। तुरन्त ही वह लौटकर देवी के मठ में गया। मृतक पुत्र को देखते ही व्याकुल होकर गिर पड़ा और पत्थर पर सिर पटक-पटक कर मर गया। किसी का क्या वश, वह ऐसा ही अभागी था। जब राजा चन्द्रहास ने यह समाचार सुना तो वे भी देवी के मठ में आये। देवी के चरणों का ध्यान करके स्वयं अपना शिर काटकर अर्पण करने के लिए तैयार हो गए। तब देवी ने कहा कि—यह धृष्टबुद्धि तो तुम्हारा द्रोही है। इसे तो क्रोध करके मैंने ही मारा है। चन्द्रहासजी ने कहा कि मृत्यु तो मेरी थी, मेरे बदले मदनसेन आये और मारे गये। पुत्र वध सुनकर पिताजी आये और मरे। ये दोनों निरपराध हैं। इसलिए दोनों जीवित हो जाँय, कृपा करके ऐसा वरदान दीजिये। चन्द्रहास के प्रार्थना करते ही दोनों जीवित हो गये। धृष्टबुद्धि को सात्विकी बुद्धि आ गई। भक्त महिमा समझकर दोनों बड़भागी हो गये।।६७।।

व्याख्या—ऐसो ही अभागी है—सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी।। (रा०च०मा०) **ते नर नरक रूप जीवत जग भव भञ्जन पद विमुख अभागी।।** (विनय) भगवत्-भागवत विमुख अभागी हैं और विमुख रहने के साथ-साथ निन्दक, द्रोही, घातक बड़े अभागी हैं। धृष्टबुद्धि बड़ा अभागी है। यथा—'मैं तो बड़ोई अभागी।' (धृष्टबुद्धि वाक्य) 'ऐसो ही'—कहने का भाव यह कि जैसे इसने अपने से अपना सिर फोड़कर मृत्यु को प्राप्त किया है वैसा ही अभागा यह था भी। यथा—मन्थरा वाक्य—'फोरै जोग कपार अभागा।।'

सुनि चन्द्रहास—चन्द्रहास का देवी पूजन के लिए जाना, कुन्तलपुर नरेश का चन्द्रहास को बुलाकर राज्य देना, मदन का एवं धृष्टबुद्धि का मारा जाना एवं मरना ये सब कार्य सन्ध्या से लेकर कुछ रात्रि बीतने तक के हैं। चन्द्रहासजी को दूसरे दिन प्रातः एक तपस्वी मुनि ने, जो जल और पुष्प लेकर देवी का पूजन करने के लिये गये थे, मदन और धृष्टबुद्धि को मरा हुआ देखकर, सूचना दी। 'चलि' से जनाया गया कि नंगे पाँव, पैदल चलकर देवी के पास आये। यथा—**यस्य वाक्यं समाकर्ण्य पद्भ्यामेवागतो नृप।।** (जै०)

उठैं दोऊ दीजै दान—चन्द्रहास के साधु स्वभाव पर सन्तुष्ट होकर देवी ने दो मनोऽभिलषित वर माँगने को कहा। तब चन्द्रहास ने यह वर माँगा यथा—

हरौ भक्तिः सदा भूयान्मम जन्मनि जन्मनि।
वरोऽयं प्रथमो मातर्द्वितीयेन मृतौ त्विमौ।।
पिता पुत्रौ प्रजीवेतां जगत्पावनि ते नमः।। (जै०)

अर्थ—जगत को पवित्र करने वाली देवि! आपको प्रणाम है। माता! मेरा पहला वर तो यह है कि प्रत्येक जन्म में मेरी सदा श्रीहरि के चरणों में भक्ति बनी रहे और दूसरे वर के रूप में मैं यह याचना करता हूँ ये मरे हुए दोनों पिता पुत्र जीवित हो जायें। 'बड़ भागी है'—इसलिए कि परम भागवत चन्द्रहास ने अपना मान लिया है। निश्चय ही परम धन्य हैं वे लोग जिन्हें भगवान और भक्त अपना करके मानते हैं। पुनः बड़भागी कहने का भाव यह है कि चन्द्रहास की प्रार्थना पर देवी की कृपा से इनका पुनर्जन्म होने पर ये भी समस्त बैर भाव का परित्याग कर सर्वभूत सुहृद भाव को अपनाकर भगवान के भक्त हो गये अतः बड़भागी कहा। यथा—**सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुवीर चरन अनुरागी।।** पुनः—**परम अभागी दुष्टहू, बड़भागी सो जान। साधु सङ्ग सुधरैं सहमि ताहि सन्त ही मान।।** (भ०व०टि०)

करयो ऐसो राज सब देश भक्तराज करयो ढिग को समाज ताकी बात कहा भाखिये।
हरि हरि नाम अभिराम धाम धाम सुनैं और काम कामना न सेवा अभिलाषिये।।
काम क्रोध लोभ मद आदि लै कै दूरि किये जिये नृप पाइ ऐसो नैननि में राखिये।
कही जिती बात आदि अन्त लौं सुहाति हिये पढ़े उठि प्रात फल जैमिनि में साखिये।।६८।।

भावार्थ—चन्द्रहासजी ने ऐसा राज्य किया था—देश के सभी लोग भक्तराज हो गये। जो समाज-राज्य कर्मचारी मन्त्री आदि चन्द्रहास के समीप रहते थे उनकी भक्ति के सम्बन्ध में क्या कहें? वह तो अवर्णनीय है। घर-घर में जन-जन के मुख से सुन्दर हरि-हरि नाम सुनाई देता था। भगवत् सेवा की ही कामना सबके मन में थी। दूसरी वस्तुओं की किसी को इच्छा ही नहीं होती थी। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि मायिक विकारों को लोगों ने दूर कर दिया था। ऐसे राजा को पाकर सभी ने जीवन का फल पाया। प्रेमवश लोग राजा चन्द्रहास को सदा आँखों के सामने ही रखना चाहते थे। राजा चन्द्रहास का चरित्र आदि से अन्त तक हृदय को आनन्दित करने वाला है। प्रातःकाल उठकर पठन स्मरण से हरि-भक्ति प्राप्त होती है। यह जैमिनी संहिता में व्यासजी ने लिखा है।।६८।।

व्याख्या—सब देश भक्त राज करयो—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा।।

अर्थ—राजा धर्मिक हो तो प्रजा धार्मिक होती है। राजा पापी हो तो प्रजा पापी होती हैं, राजा सम हो तो प्रजा सम होती है। प्रजा राजा का अनुकरण करती है। जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

पुनः—**अश्वायां जायते वत्सो मिथ्या वदति भूपतिः । वस्त्रं जलाग्निा दग्धं यथा राजा तथा प्रजा।।**

दृष्टान्त—यथा राजा तथा प्रजा—एक राजा के दरबार में ज्योतिषी शास्त्र पारङ्गत एक विद्वान ब्राह्मण रहते थे। राजा अपने समस्त कार्य उनसे पूछ-पूछकर करता और सफलता भी मिलती अतः वह पण्डितजी का बड़ा आदर करता। अन्य दरबारियों को पण्डितजी का यह उत्कर्ष सहा नहीं गया। वे किसी भी प्रकार से पण्डितजी को दरबार से बहिष्कृत करवाने के प्रयत्न में थे। एक दिन राजा ने ज्योतिषीजी से पूछा— पण्डितजी! निकट समय में बच्चा देने वाली हमारी गाय और घोड़ी को कौन-सा बच्चा होगा? पण्डितजी ने गणित करके बताया कि दोनों को बछड़ा और बछेड़ा ही होगा। द्वेषियों ने

पण्डितजी की बात झूँठी करके दण्डित कराने के लिए चाल यह चली कि घोड़ी का बछेड़ा तो गोशाला में गाय के पास धर दिया और गाय का बछड़ा घुड़साल में घोड़ी के पास रख दिया और जाकर राजा से शिकायत की कि पण्डितजी की बात झूँठी निकली। आप भोले-भाले हैं, आपको बहकाकर पण्डितजी खूब धन-मान कमाते हैं। साधारण-सी बात में ही परीक्षा हो गई। यदि इनके विश्वास पर कोई बड़ा कार्य किया जाय और विपरीत परिणाम निकला तो कितनी बड़ी हानि होगी।

बिना सोचे-समझे राजा ने रञ्ज में आकर पण्डितजी को अपने राज्य से निकल जाने को कहा। पण्डितजी ने तीन दिन की मोहल्लत माँगी। घर का सामान सँभाले, धोबी को धोने के लिए वस्त्र देने गये। इनकी विकल दशा देखकर धोबी ने वस्त्र धोकर नहीं दिया, पण्डितजी घबड़ाये। उधर राज-कर्मचारी आ धमके। अब तक नहीं जाने का कारण पूछने पर पण्डितजी ने धोबी को दोषी ठहराया। धोबी राज-दरबार में पेश किया गया। राजा ने धोबी से जवाब-तलब किया—तुमने पण्डितजी का वस्त्र धोकर क्यों नहीं दिया? धोबी ने आश्चर्य की मुद्रा बनाकर कहा—हजूर! पण्डितजी के वस्त्र जल में डालते ही जल गये। राजा ने झुँझलाकर कहा—भला कहीं जल में आग लगती है जो कि वस्त्र जल गये। धोबी ने कहा—तो भला कहीं गाय बछेड़ा और घोड़ी बछड़ा जनती है? जब राजा ही मिथ्या बोलते हैं तो प्रजा कब सत्य बोलने लगी। यह कहकर धोबी ने पूर्वोक्त श्लोक सुनाया। राजा की समझ में बात आ गई। पता लगाने पर षड्यन्त्रकारियों के षडयन्त्र का भी भण्डाफोड़ हो गया। दण्डित हुए और पण्डितजी पूर्व से भी अधिक सम्मान पाये।

और काम कामना न—'कामं च दास्ये' तथा देखिये कवित्त २५—**सेवा ही की ऋद्धि।।** 'काम.....दूर किये'—**मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।। काम क्रोध कैरव सकुचाने। अघ उलूक जहँ तहाँ लुकानें।। आदि।** (रा०च०मा०) **'जिये नृप पाइ'**—वैष्णव राजा बड़े भाग्य से प्रजा को मिलते हैं। यथा—**दुर्लभा वैष्णवी नारी, दुर्लभो विप्र वैष्णवः। दुर्लभो वैष्णवो राजा प्रजा भाग्येन लभ्यते।। वर्षत हर्षत लोग सब, कर्षत लखे न कोय। तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होय।। माली भानु किसान सम, नीति निपुन नर पाल। प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुँ-कबहुँ कलिकाल।।** (दोहावली) माली—मुरझाये हुए पौधों को सींचता है, बहुत बढ़े हुओं को काटता-छाँटता है, झुके हुए कमजोर पौधों को लकड़ी का ठेका देकर उठाता है और तब फल-फूलों का संग्रह करता है। सूर्य—किसी को भी बिना सताये, सर्वथा अव्यक्त रूप से नदी, समुद्रादि जलाशयों से जल खींचकर और फिर उसे अमृत-सा बनाकर यथा योग्य बरसा देते हैं। किसान—खेत तैयार करता है, खाद देता है, बीज बोता है, सींचता है, रक्षा करता है, फिर फसल पकने पर काटता है। उत्तम राजा भी इसी प्रकार से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं, प्रजा का रञ्जन करते हैं।

नैननि में राखिये—से अति प्रियत्व जनाया गया। यथा—'**जो मांगा पाइय बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन माँहीं।।' 'आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है।'**

'पढ़ै......साखिये'—इतिहासमिमं भक्त्या यः श्रृणोति पठत्यपि।
स भुक्त्वा विविधान् भोगान् विष्णुलोके महीयते।। (जै०)

अर्थ—जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस इतिहास को पढ़ता अथवा सुनता है, वह इस लोक में नाना प्रकार का सुख भोगकर पश्चात् विष्णु लोक में प्रतिष्ठित होता है।

पुनः— **इदं चरित्रं चन्द्रहासस्य भक्त्या नरः पठेच्छृणुयाद् यः समग्रम्।**
स चाप्नुयाद् बलमायुश्च पुत्रान् सदाचारान् विष्णु भक्तांश्च दातृन्।
कृष्णे भक्तिः सुदृढ़ा ह्यन्तकाले संसाराब्धेस्तारयेद् वासुदेवः।। (जै०)

अर्थ—जो मनुष्य चन्द्रहास के इस सम्पूर्ण चरित्र को भक्तिपूर्वक पढ़ेगा अथवा सुनेगा उसे बल, आयु तथा सदाचारी, दाता एवं विष्णु भक्त पुत्रों की प्राप्ति होगी। अन्त समय में उसकी भक्ति भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में सुदृढ़ हो जायेगी जिससे भगवान वासुदेव भवसागर से उद्धार कर देंगे।।

श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज का अश्वमेध यज्ञ में छोड़ा हुआ घोड़ा जब कुन्तलपुर में आया तो यह सुनकर कि अश्व के संरक्षण में अर्जुन के साथ स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी हैं, दर्शन की अभिलाषा से श्रीचन्द्रहासजी ने अपने पुत्र मकरध्वज और पद्माक्ष से घोड़ा पकड़वा लिया और स्वयं सेना सजाकर युद्ध में आ डटे। तब भगवान श्रीकृष्णजी ने अर्जुनजी को श्रीचन्द्रहासजी की भक्ति की प्रशंसा करके, उनसे मेल-मिलाप करने को कहा। श्रीअर्जुनजी ने चन्द्रहासजी का आलिङ्गन किया, भगवान श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज रूप से उनको दर्शन दिया, श्रीचन्द्रहासजी ने अपना समस्त राज्यैश्वर्य भगवान के श्रीचरण कमलों में अर्पित कर दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने चन्द्रहासजी के ज्येष्ठ पुत्र मकरध्वज का राज्याभिषेक कर दिया। फिर चन्द्रहासजी ने श्रीकृष्ण के साथ यज्ञीय अश्व की रक्षा में रहते हुए प्रभु का सान्निध्य सुख पाकर अपने जीवन-जन्म को सफल माना।

कौषारव नाम सो बखान कियो नाभा जू ने मैत्रेय अभिराम ऋषि जानि लीजै बात में।
आज्ञा प्रभु दई जाहु विदुर है भक्त मेरौ करौ उपदेश रूप गुण गात गात में।।
चित्रकेतु प्रेम केतु भागवत ख्यात जाते पलट्यो जनम प्रतिकूल फल घात में।
अक्रूर आदि ध्रुव भये सब भक्तभूप उद्धव से प्यारेन की ख्याति पात पात में।।६९।।

शब्दार्थ—प्रेम केतु=प्रसिद्ध प्रेमी। ख्याति=प्रसिद्ध। जाते=जिससे। पलट्यौ=बदल्यौ। प्रतिकूल=विरुद्ध। घात=मारण तन्त्र, मारण यज्ञ, हत्या।

भावार्थ—श्रीनाभाजी ने कौषारव नाम से जिनका वर्णन किया है वे परम श्रेष्ठ ऋषि मैत्रेयजी हैं। परमधाम जाने से पूर्व जब भगवान श्रीकृष्ण उद्धवजी को उपदेश दे रहे थे। उस समय मैत्रेयजी भी वहीं उपस्थित थे। मैत्रेयजी को भगवान ने आज्ञा दी कि—तुम जाओ, और मेरे भक्त विदुरजी को मेरे द्वारा कथित ज्ञान भक्ति का उपदेश दो। जिससे मेरे रूप और गुण उनके रोम-रोम में व्याप्त हो जाँय। मैत्रेय और विदुरजी का संवाद श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में वर्णित है। प्रेम की ध्वजा फहराने वाले भक्त चित्रकेतु का चरित्र भी श्रीभागवत में प्रसिद्ध है। शङ्करजी का अपमान करने पर उन्हें दैत्य योनि प्राप्त हुई। फिर भी उनकी भक्ति ज्यौं की त्यौं रही। अक्रूरजी और ध्रुवजी ये सभी बड़े-बड़े भक्तराज हुए। उद्धव सरीखे भगवान के प्यारे भक्तों की कथा संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है।।६९।।

व्याख्या—श्रीमैत्रेय जी—एकबार भगवान वेदव्यासजी कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक कीड़े को गाड़ी की लीक से बड़ी तेजी के साथ भागते देखा। तब सर्वभूत-सुहृद श्रीव्यासजी ने द्रुत गति से भागने वाले उस कीड़े से भय का कारण पूछा। उसने कहा—हे महामुनीश्वर! एक बहुत बड़ी बैलगाड़ी इधर ही आ रही है, कहीं मैं इस गाड़ी से कुचल न जाऊँ, अतः इस अत्यन्त दारुण दु:ख से अपनी रक्षा करने के लिए मैं यहाँ से भागा जा रहा हूँ। श्रीव्यासजी ने कहा—कीट! तुम्हें कहाँ सुख है? मेरी समझ में तो तुम्हारा मर जाना ही तुम्हारे लिए सुख की बात है। कीट ने कहा—महाप्राज्ञ! जीव सभी योनियों में सुख का अनुभव करते हैं। मुझे भी इस योनि में सुख मिलता है, यही सोच समझकर मैं जीना चाहता हूँ। दूसरी बात यह है कि इस कुत्सित कीट योनि से भी अधम लाखों योनियाँ हैं मैं कहीं मरकर उन योनियों में न चला जाऊँ। मैंने पूर्वजन्मों में सदा वेद-विरुद्ध आचरण किये, केवल अपनी बूढ़ी माता की सेवा तथा एकबार अपने घर पर आये हुए ब्राह्मण अतिथि का स्वागत सत्कार किया था, बस पुण्य पूछिये, तो यही दो शुभ-कर्म बन गये थे जिसके फलस्वरूप मुझे पूर्व के गर्भवास, जन्म मरणादि के क्लेश सभी स्मरण हैं और मैं इतना भयभीत हो गया हूँ कि कैसे जन्म-मरण से छुटकारा हो, हमेशा यही सोचा करता हूँ।

श्रीव्यासजी ने कहा—चूँकि इस समय तुम्हारी धर्म के प्रति श्रद्धा है अतः तुम्हें धर्म अवश्यमेवं प्राप्त होगा। तुम भय न करो मैं जब तक तुम्हारे उद्धार का मार्ग प्रशस्त नहीं हो जायगा, तब तक सभी योनियों से शीघ्र छुटकारा दिलाता रहूँगा। जब तुम पवित्र ब्राह्मण कुल में जन्म लोगे तो उस समय मैं तुम्हारे पास आकर ब्रह्म-विद्या का उपदेश करूँगा तथा तुम जिस लोक में जाना चाहोगे वहीं तुम्हें पहुँचा दूँगा। श्रीव्यासजी के इस प्रकार आश्वासन देने पर वह कीड़ा गाड़ी के पहिये के नीचे दबकर मर गया। कालान्तर में वह कीड़ा विविध योनियों में जन्म लेता हुआ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ और व्यासजी के उपदेश से धर्म पूर्वक प्रजा पालन करते हुए, चौथापन आने पर वन में जाकर थोड़े ही समय में परलोकवासी होकर प्रजा-पालन-रूप धर्म के प्रभाव से ब्राह्मण कुल में जन्म पा गया। जब वह पाँच वर्ष का हुआ तभी व्यासजी ने उसे सारस्वत मन्त्र का उपदेश कर दिया। उसके प्रभाव से बिना पढ़े ही उसे सम्पूर्ण वेद, शास्त्र का स्मरण हो आया। आजीवन धर्माचरण करते हुए उस ब्राह्मण ने बहूदक तीर्थ में शरीर छोड़ा और दूसरे जन्म में ही मैत्रेय नामक महान ऋषि हुए। इनके पिता का नाम कुषारु था अतः कौषारव नाम से विख्यात हुए। माता का नाम मित्रा था अतः मैत्रेय नाम से भी प्रसिद्ध हुए। इन्होंने श्रीव्यासजी के पिता श्रीपराशरजी से विष्णु पुराण और 'वृहत्-पाराशर होरा शास्त्र' नामक विशाल ज्योतिष ग्रन्थ का अध्ययन किया था।

रींवा नरेश श्रीरघुराजसिंह जी 'श्रीरामरसिकावली भक्तमाल' में लिखते हैं कि श्रीसनकादिकजी ने शेषजी से प्रार्थना किया कि आपने भगवान नारायण से जो भागवत रहस्य श्रवण किया है वह कृपा करके हम लोगों को सुनाइये। तब श्रीशेषजी ने सनकादिकों को सुनाया फिर सनकादिकजी ने श्रीवृहस्पतिजी को सुनाया श्रीवृहस्पतिजी ने श्रीपराशरजी को सुनाया। श्रीपराशरजी भागवत का अधिकारी श्रोता ढूँढ रहे थे तो उन्हें श्रीमैत्रेयजी उपयुक्त जँचे। फिर विचार आया कि केवल अनुमान ही पर्याप्त समझना ठीक नहीं, परीक्षा भी कर लेनी चाहिये। फिर तो जब श्रीमैत्रेयजी आपकी सेवा में श्रीभागवत पढ़ने के लिए उपस्थित हुए तो श्रीपराशरजी उनसे सुवर्ण लाने को कहा।

श्रीमैत्रेयजी आज्ञा शिरोधार्य कर सुवर्ण लेने के लिये चल पड़े। मार्ग में विचार करते हैं कि लोकभाषा में सुवर्ण सोना को कहते हैं, परन्तु सोने में कलियुग का निवास होता है, समस्त दोषों का भण्डार है और गुरुजी इस बात को जानते हैं, अतः गुरुजी का सुवर्ण-धातु से अभिप्राय नहीं हो सकता है। निश्चय ही पारमार्थिक सुवर्ण भगवान से ही तात्पर्य होगा। इस पर दृष्टान्त—श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं विष्णुपुरी का (देखिये छप्पय-४७, कवित्त १७७) फिर तो श्रीगण्डकी शिला शालग्रामजी का सुन्दर स्वरूप लेकर श्रीपराशरजी के पास आकर बोले—गुरुजी! सुवर्ण ले आये। श्रीपराशरजी ने कहा कि यह तो शिला है, सुवर्ण कहाँ है? तुम मुझे ठग रहे हो? मैत्रेयजी ने कहा—वास्तविक सुवर्ण तो भगवान ही हैं और यह शिला साक्षात् भगवत्स्वरूप हैं, ऐसा वेद पुरान कहते हैं। अतः मैंने यही सुवर्ण (सुन्दर वर्ण वाले भगवान) आपकी सेवा में प्रस्तुत किया। यह कहकर श्रीमैत्रेयजी ने अपने कथन की प्रामाणिकता के लिए पुनः यह वचन कहा—**जो सति सुबरण होइ मुरारी। तौ प्रगटै मूरति भुजचारी।। जब मित्रा सुत अस मुख गायो। शिला प्रगट हरिको बपु आयो।।** यह देखकर श्रीपराशरजी ने मैत्रेयजी को हृदय से लगा लिया और इन्हें परम अधिकारी जानकर श्रीमद्भागवत पुराण पढ़ाया।

परम धाम जाते समय भगवान श्रीकृष्ण ने जब उद्धवजी को परमार्थ का उपदेश किया था तो श्रीमैत्रेयजी वहाँ वर्तमान थे। भगवान ने उपदेश के अन्त में श्रीमैत्रेयजी को आज्ञा दी थी कि इस परम गुह्य ज्ञान का उपदेश महात्मा विदुरजी को भी देना। श्रीउद्धवजी के द्वारा यह भगवदादेश सुनकर श्रीविदुरजीने हरिद्वार में जाकर श्रीमैत्रेयजी का दर्शन किया और उनसे भगवद्दत्त ज्ञान का श्रवण किया। भगवान के परम मङ्गलमय गुणों की महिमा वर्णन करते हुए श्रीमैत्रेयजी कहते हैं कि—

एकान्तलाभं वचनो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम्।। (भा० ३-६-३७)

अर्थ—महापुरुष का मत है कि पुण्यश्लोक शिरोमणि श्रीहरि के गुणों का गान करना ही मनुष्यों की वाणी का तथा विद्वानों के मुख से भगवत्कथामृत का पान करना ही उनके कानों का सबसे बड़ा लाभ है।

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द परागसेवारतिरात्मलब्धा।। (भा० ३-७-१४)

अर्थ—श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन एवं श्रवण अशेष दुःख राशि को शान्त कर देता है फिर यदि हमारे हृदय में उनके चरण कमल की रज के सेवन का प्रेम जग पड़े तब तो कहना ही क्या है।

को नाम लोके पुरुषार्थ सारवित् पुराकथानां भगवत्कथा सुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम्।। (भा० ३-१३-५०)

अर्थ—संसार में पशुओं को छोड़कर अपने पुरुषार्थ का सार जानने वाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो आवागमन से छुड़ा देने वाली भगवान की प्राचीन कथाओं में से किसी भी अमृतमयी कथा का अपने कर्ण पुटों से एकबार पान करके फिर उनकी ओर से मन हटा लेगा।

विष्णु पुराण सुनाने के उपरान्त श्रीपराशरजी ने इनसे कहा कि तुम इस पुराण को कलियुग के अन्त में शिनीक को सुनावोगे। इससे सिद्ध होता है कि ये चिरंजीवी हैं और अब भी किसी न किसी रूप में इस धराधाम पर विद्यमान हैं। ये हमेशा प्रभु प्रेम में मग्न रहते हैं और इनकी ग्रीवा आनन्द भार से झुकी रहती है। यथा—'**तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः प्रमोदभावानत कन्धरस्य।।** (भा० ३-४-१०)

जयति हरि मित्र जगमित्र मित्रा सुवन ऋषि प्रवर योगनिधि तत्वदरशी। ज्ञान वैराग्य श्रीभक्ति दाता तथा सिद्ध वक्ता सदा रङ्ग बरसी।। मोह, मद, कोह लोहावरण में परे जीव जंजाल जंगल न छांड़ै सो।। सो कृपा अब करौ भक्ति पथ अनुसरौं मोह माया अमङ्गल न मांड़ै।।

श्रीचित्रकेतुजी—प्राचीनकाल की बात है सूरसेन देश में चक्रवर्ती सम्राट महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे, प्रजा इनके शासन से सन्तुष्ट थी। राजोचित सर्वगुण सम्पन्न शूरसेन देश के इस सार्वभौम नरेश के एक करोड़ रानियाँ थीं, परन्तु उन्हें उनमें से किसी के भी गर्भ से कोई सन्तान न हुई। एक दिन शाप और वरदान देने में समर्थ श्रीनारदजी और अङ्गिरा ऋषि विचरते हुए राजा के यहाँ पहुँचे। राजा ने प्रत्युत्थान, अर्ध्य-पाद्यादि द्वारा पूजन कर उनका आतिथ्य सत्कार किया। राजा से कुशल-प्रश्न करते हुए ऋषिजी ने कहा—राजन्! मैं देख रहा हूँ कि तुम स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो। तुम्हारी कोई कामना अपूर्ण है। तुम्हारे मुँह पर किसी आन्तरिक चिन्ता के चिन्ह झलक रहे हैं। क्या कारण है? राजा ने अपना दुखड़ा सुनाया कि बिना एक पुत्र के मैं पूर्वजों सहित नरक में पड़ रहा हूँ। कृपा करके वह उपाय कीजिए जिससे पुत्र पाकर मैं दुष्पार नरक से उत्तीर्ण हो सकूँ। मुनि ने कृपा पूर्वक त्वाष्ट्र चरु तैयार कर उससे त्वष्टा देवता का पूजन कराया और राजा की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पटरानी कृतद्युति को उस यज्ञ का अवशिष्ट अन्न देकर कहा—'इसे खा लो।' फिर राजा से कहा—इससे एक पुत्र होगा, परन्तु उससे तुमको हर्ष और शोक दोनों होंगे। यह कहकर ऋषि चले गये।

समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने बहुत दान दिये। पुत्रवती होने के कारण राजा की प्रीति इस रानी पर विशेष बढ़ती गई, जिससे और रानियों को डाह होने लगा एक तो वे रानियाँ सन्तान न होने के कारण दुःखी थी हीं, दूसरे राजा भी उनसे उदासीन से रहने लगे अतः वे अपने आपको धिक्कारने लगीं। वे सोचतीं कि हम तो दासियों से भी गई गुजरी हैं। हमसे अधिक मन्दभागिनी कौन होगी। वे सौत का सौभाग्य नहीं देख सकती थीं। एकबार पुत्र सो रहा था, माता किसी कार्य में लगी थीं। सब सौतों ने अवसर पाकर बच्चे को विष दे दिया, जिससे उसके नेत्रों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ गईं और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। महारानी कृतद्युति को सौतों की कुचाल का पता भी न था। बहुत देर होने पर माता ने धाय को राजकुमार को जगा लाने की आज्ञा दी, धाय ने जाकर देखा तो चीख मारकर मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। रानी यह देखकर दौड़ पड़ीं। महल में कोलाहल मच गया। रानी राजा दोनों का शोक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। महाशोक वश होकर विलाप-प्रलाप करते हुए वे मोह के कारण मूर्च्छित हो गये।

ठीक इसी अवसर पर श्रीअङ्गिरा ऋषि और देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। वे दोनों महर्षि राजा को यों समझाने लगे कि—हे राजाओं में श्रेष्ठ! सोचो तो कि जिसके लिए तुम शोक कर रहे हो, वह तुम्हारा कौन है और पूर्व जन्म में तुम इसके कौन थे और आगे इसके कौन होंगे? जैसे जल के प्रवाह के वेग से बालू बह-बहकर दूर-दूर पहुँचकर कहाँ से कहाँ जा इकट्ठा हो जाती है, इसी प्रकार काल के

प्रबल चक्र द्वारा देह- धारियों का वियोग और संयोग हुआ करता है। अतएव पिता-पुत्र कल्पना मात्र हैं। वृथा शोक क्यों करते हो? ऋषियों के इन वचनों को सुनकर राजा को ज्ञान हुआ, तब उन्होंने कुछ धीरज धारण करके, हाथ से आँसू पोंछकर ऋषियों से कहा—आप दोनों अवधूत वेष बनाये हुए कौन हैं? आप लोग निश्चय ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं जो हम सरीखे विषयासक्त प्राणियों को उपदेश देने के लिए जगत् में विचरते रहते हैं। आप दोनों मेरी रक्षा करें, मैं घोर अन्धकूप में डूबा पड़ा हूँ, मुझे ज्ञानदीप का प्रकाश दीजिये। श्रीअङ्गिराजी ने दोनों का परिचय दिया और कहा कि—तुम भगवान के भक्त हो, ब्रह्मण्य हो, तुमको इस प्रकार शोक में मग्न होना उचित नहीं है, अत: तुम पर अनुग्रह करने के लिए ही हम दोनों यहाँ आये हैं। पूर्व जब मैं आया था तब तुमको पुत्र की उत्कट उत्कण्ठा में निमग्न देख ज्ञान का उपदेश न देकर पुत्र ही दिया। अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दु:ख होता है। ऐसे ही समस्त सांसारिक पदार्थ शोक-सन्ताप ही देने वाले हैं क्योंकि सर्वथा कल्पित और मिथ्या हैं। अत: इनमें सत्यता का विश्वास त्यागकर शान्तिस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाओ। तदनन्तर देवर्षि नारद ने मृत राजकुमार के जीवात्मा को शोकाकुल स्वजनों के सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा—जीवात्मन्! तुम अपने वियोग से अत्यन्त व्याकुल स्वजनों को देखो, अपने शरीर में प्रवेश कर इनका दु:ख दूर करो। पिता के दिये हुए भोगों को भोगो, और राजसिंहासन पर बैठो।

जीवात्मा ने कहा—मैं अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमता रहता हूँ, उनमें ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए थे। अरे! विभिन्न जन्मों में सभी आपस में एक दूसरे के भाई, पिता, माता, शत्रु, मित्र, नाशक, रक्षक इत्यादि होते रहते हैं। ये लोग हमें पुत्र मानकर शोक करने के बदले, शत्रु समझकर प्रसन्न क्यों नहीं होते हैं? जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रय की वस्तुएँ एक व्यापारी से दूसरे के पास आती-जाती रहती हैं वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता रहता है। जितने दिन, जिसके साथ जिसका सम्बन्ध रहता है, उतने दिन उस पर उसकी ममता रहती है। आत्मा नित्य, अव्यय, सूक्ष्म और स्वयं प्रकाशित है। कोई उसका मित्र व शत्रु नहीं है। वह जीव फिर बोला कि—मैं पूर्व जन्म में पाञ्चाल देश का राजा था। कथा-सत्संग के प्रभाव से राज-सुख-भोग से वैराग्य होने पर मैं भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता हुआ भगवत्स्मरण गुण-गान करते हुए विचरते-विचरते एक ग्राम में आ गया। इस मेरी माता ने भोजन बनाने के लिए मुझे कण्डा दिया, जिसमें अनेकों चींटियाँ थीं। उन कण्डों का संशोधन किये बिना ही मैंने उनमें आग लगा दी, सब चींटियाँ मर गयीं। मैंने भोजन बनाकर श्रीशालग्राम भगवान का भोग लगाकर प्रसाद पाया, वही चींटियाँ मेरी सौलेती माताएँ हुईं। प्रभु का अर्पण कर प्रसाद पाने से एक ही जन्म में सबने मुझसे बदला ले लिया। नहीं तो अनेक जन्म लेने पड़ते। भगवान ने कृपा करके कर्म का भोग भी दे दिया और मैंने क्लेश भी नहीं पाया। यथा—'**प्रभु राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पावा क्लेश।।**' अब इस देह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इतना कहकर वह जीवात्मा चला गया।

राजा को विवेक हो गया, उसने राज्य छोड़ दिया। श्रीनारद मुनि ने संकर्षण भगवान का मन्त्र दिया, स्तुतिमयी विद्या बतायी। श्रीअङ्गिराजी एवं नारदजी चित्रकेतु के द्वारा अभिवन्दित होकर ब्रह्मलोक को चले गये। चित्रकेतु को विधिवत सात दिन तक जप करने पर संकर्षण भगवान का दर्शन हुआ। उनके हृदय में भक्तिभाव की बाढ़ आ गई, वे बहुत देर तक शेष भगवान की कुछ भी स्तुति न कर सके।

पश्चात् उन्होनें विवेक-बुद्धि से मन को समाहित करके भगवान शेष की स्तुति की। तब उन्होंने प्रसन्न होकर चित्रकेतु को अपने परम गुह्य तत्वज्ञान का उपदेश दिया। भगवान के अन्तर्द्धान हो जाने पर दिव्य शक्ति सम्पन्न चित्रकेतु भगवान के दिये हुए तेजोमय विमान पर आरूढ़ होकर आकाश-मार्ग से स्वच्छन्द विचरने लगे।

एक बार बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा में सिद्ध चारणों के बीच श्रीपार्वतीजी को गोद में बैठाकर विराजमान भगवान श्रीशिवजी को देखकर, चित्रकेतु उनके समीप आकर जोर से हँसकर उपेक्षा पूर्वक आलोचना करने लगे कि सम्पूर्ण जगत के धर्मगुरु देव-देव महादेव का इस प्रकार निर्लज्जता पूर्वक गोद में स्त्री लेकर ऋषियों के बीच बैठना निश्चय ही अति निन्द्य है। कृपासिन्धु श्रीशिव तो ये वचन सुनकर केवल हँस दिये परन्तु भगवती श्रीपार्वतीजी को चित्रकेतु की धृष्टता पर क्रोध आ गया और वे बोलीं—तुमने अपने बड़प्पन के अभिमान में ब्रह्मादि के वन्द्य भगवान शिव का तिरस्कार किया है अतः दुर्मते! तुम पापमय असुर योनि में जाओ। ऐसा होने से तुम फिर कभी किसी महापुरुष का अपराध नहीं कर सकोगे। चित्रकेतु को अपनी भूल मालूम हुई, विमान से उतरकर श्रीपार्वतीजी के चरणों में प्रणाम किये, शाप को सहर्ष स्वीकार किये। शाप-मुक्ति के लिए नहीं, अपनी बात से श्रीपार्वतीजी को जो क्षोभ हो गया था, उसके लिये क्षमा-याचना किये और विमान पर सवार होकर वहाँ से चले गये। चित्रकेतु की निर्द्वन्द्वता देखकर सभी ऋषि-मुनि बड़े विस्मित हुए। भगवान शिवजी बोले—सुन्दरि! दिव्य-लीला विहारी भगवान के निस्पृह और उदार हृदय दासानुदासों की महिमा तुमने अपनी आँखों से देख ली। जो लोग भगवान के शरणागत होते हैं वे किसी से भी नहीं डरते। उन्हें अनुकूल परिस्थिति में न तो कोई हर्ष और प्रतिकूल परिस्थिति में न कोई विषाद ही होता है। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरकों में भी एक ही वस्तु के, केवल भगवान के ही समान भाव से दर्शन होते हैं। यथा—

स्वर्ग नरक अपवरग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ।। (रा० च० मा०)

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ।। (भा० ६-१७-२८)

अतः ऐसे भक्त शान्त, समदर्शी, महात्मा पुरुषों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं करना चाहिये। श्रीशिवजी के इन वचनों से सबका समाधान हो गया।

यही चित्रकेतु दानव योनि का आश्रय लेकर त्वष्टा के यज्ञ में दक्षिणाग्नि से पैदा हुए। वहाँ इनका नाम वृत्रासुर हुआ और वहाँ भी ये भगवत्स्वरूप के ज्ञान और भक्ति से परिपूर्ण रहे। जिस समय देवराज इन्द्र भगवान के उपदेश से महर्षि दधीचि की हड्डियों से निर्मित वज्र को लेकर युद्ध में मारने को उद्यत हुए, उस समय असुरराज वृत्र वज्र एवं इन्द्र दोनों में ही भगवत्स्वरूप का दर्शन कर, भगवान की कृपा का अनुभव कर भाव-मग्न हो गये और उनसे प्रार्थना करने लगे। यथा—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मिभूयः।
मनःस्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः।।१।।
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
नयोगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्यकांक्षे।।२।। (भा० ६-११-२४-२५)

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।३।।
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसार चक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मज दार गेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्।।४।। (भ० ६-११-२६-२७)

अर्थ—प्रभो! आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि अनन्य भाव से आपके चरण-कमलों के आश्रित सेवकों की सेवा करने का अवसर मुझे अगले जन्म में भी प्राप्त हो। प्राण वल्लभ! मेरा मन आपके गुणों का स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हीं का गान करे और शरीर आपकी सेवा में संलग्न रहे।।१।। सर्व सौभाग्य निधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एक छत्र राज्य योग की सिद्धियाँ—यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।।२।। जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं, और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है।।३।। प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मों के फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े इसकी परवाह नहीं। परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस योनि में जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान के प्यारे भक्तजनों से मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी माया से देह-गेह और स्त्री-पुत्रादि में आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी भी किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न हो।।४।।

इन्द्र ने वृत्रासुर के भाव की प्रशंसा की। जिस समय इन्द्र ने वज्र से वृत्रासुर का शिरच्छेदन किया उस समय उसके शरीर से निकलकर उसकी आत्मज्योति इन्द्र आदि सब लोगों के देखते-देखते सर्व लोकातीत भगवान के स्वरूप में लीन हो गई।। (भा०)

श्रीउद्धवजी—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्नशंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्।। (भा० ११-१४-१५)

अर्थ—उद्धव! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरी अपनी आत्मा भी नहीं है। श्रीभगवान ने स्वयं श्रीमुख से यह बात श्रीउद्धवजी से कहा है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा। शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः।। (भा० १०-४६-१)

अर्थ—परीक्षत! उद्धवजी वृष्णि वंशियों में एक प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् वृहस्पतिजी के शिष्य और परम बुद्धिमान थे। उनकी महिमा के सम्बन्ध में इससे बढ़कर और कौन-सी बात कही जा सकती है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के प्यारे सखा तथा मन्त्री थे। बाल्यावस्था से ही इनका भगवान के चरणों में बड़ा अनुराग था। जब ये पाँच वर्ष के थे तब बालकों की तरह खेल में ही श्रीकृष्ण की मूर्ति बनाकर उसकी सेवा पूजा में ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेवा के लिए माता के बुलाने पर भी उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते थे। भगवान श्रीकृष्ण ने जब इन्हें सखा रूप में स्वीकार कर लिया तब तो ये एक क्षण के लिए प्रभु से अलग नहीं होते थे। यथा—**सदा मिलि एक साथ बैठत चलत बोलत सङ्ग।।** (सूरसागर)

दोनों मित्रों में बड़ी अन्तरंगता थी। मतैक्य था। परन्तु एक स्थल पर दोनों में घोर विरोध भी था। विरोध इस बात का था कि जब प्रेम-योगी श्रीकृष्ण प्रेममयी व्रजदेवियों की स्मृति में प्रेम विह्वल होकर उनके अनुराग की चर्चा करते तो ये अद्वैत-वेदान्त की शुष्क गाथा गाने लगते। यथा—

पद— **हरि गोकुल की प्रीति चलाई।**
सुनहु उपँगसुत मोहिं न विसरत व्रज वासी सुखदाई।।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं यहाँ नहीं मन लागत।
गोपी गाइ ग्वाल वन चारण अति दुख पायो त्यागत।।
कहां माखन रोटी कहँ यशुमति जेवों कहि कहि प्रेम।।
सूर श्याम के बचन हँसत सुनि थापत अपनो नेम।।

प्रेम-विरह की बात सुनकर ऊधव भगवान श्यामसुन्दर को योग-ज्ञान का उपदेश करते। यथा—

पांचो तत्व माहिं एक सत्व ही की सत्ता सत्य, याही तत्व ज्ञान को महत्व श्रुति गायो है।
तुम तो विवेक रतनाकर कहौं क्यौं पुनि भेद पाञ्च भौतिक के रूप में रचायो है।।
गोपिन में आप में वियोग औ संजोग हूँ मैं एकै भाव चाहिये सचोप ठहरायो है।
आपु ही सों आपुको मिलाप और विछोह कहा मोह यह मिथ्या सुख दुःख सब ठायो है।।

ऊधव की यह अद्वैत-चर्चा श्रीकृष्ण को खीर में नोन की तरह लगती। वे मन मसोस कर रह जाते कि—

संग मिलि कहौं कासों बात । योग की यह कथत बातें जामें रस जरि जात।। (सू० सा०)

इह अद्वैत दरशी रङ्ग।
सदा मिलि एक साथ बैठत चलत बोलत सङ्ग।।
बात कहत न बनत यासों निठुर योगी जंग।
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रसभंग।।
सदा व्रज को ध्यान मेरे रास रंग तरंग।
सूर वह रस कहौं कासों मिल्यो सखा भरंग।। (सू० सा०)

भगवान ने विचारा की संगी मिला तो अवश्य परन्तु कंचन को कांच जैसा, हंस को काग जैसा। यथा— **हंस काग कौ संग भयो। जैसे कंचन कांच त्यों विधि यह संग दयो।।** (सू०सा०) फिर तो श्रीश्याम सुन्दर ने मित्र ऊधव को प्रेम-पाठ पढ़ाने के लिये प्रीति पाठशाला व्रज में भेजने का निश्चय किया यथा—

याहि और कछु नहीं उपाई।
मेरो प्रगट कह्यो नहिं बदि हैं व्रज ही देउँ पठाइ।।
गुप्त प्रीति युवतिन की कहिकै याको करौं महन्त।
गोपिन को परबोधन कारण जैहैं सुनत तुरन्त।।
अति अभिमान करैगो मनमें योगिन की एहि भाँति।
सूर श्याम यह निहचै करिकै बैठत है मिलि पांति।।

एक दिन शरणागतों के समस्त दु:ख हर लेने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय मित्र और एकान्त प्रेमी उद्धवजी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—

ऊधौ तुम यह निहचै जानौ।
मन वच क्रम मैं तुमहिं पठावत व्रज को करौ पयानौ।।
पूरण ब्रह्म अलख अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता।।
यह मत दै गोपिन को आवहु विरह न मन में भाषति।
सूर तुरत यह जाय कहो तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति।।

यह सुनकर उद्धवजी ज्ञान के अभिमान में फूल गये साथ ही बड़े आदरपूर्वक अपने प्रिय सखा का सन्देश लेकर रथ पर सवार हुए और नन्द गाँव के लिए चल पड़े।। गोकुल की गैल में पग धरते ही उद्धव पर जो प्रेम का प्रभाव पड़ा उसका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन श्रीरत्नाकर जी ने उद्धव-शतक में किया है। यथा—

लैकै उपदेश-औ-सन्देश पन ऊधौ चले सुजस कमाइबे उछाह उद्गार मैं।
कहैं रतनाकर निहारि कान्ह कातर पै आतुर भये यौं रह्यौ मन न संभार मैं।।
ज्ञान गठरी की गांठ छरकि न जाने कब हरें हरें पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डारि में तमालनि की कछु विरमानी अरु कछु अरुझानी है करीरनि की झार मैं।।१।।

हरैं हरैं ज्ञान के गुमान घट जानि लगे, जोग के विधान ध्यान हूँ ते टरिबै लगे।
नैननि में नीर रोग सकल शरीर छयो प्रेम-अद्‌भुत-सुख सूझि परबै लगे।।
गोकुल के गाँव की गली में पग पारत ही भूमि कै प्रभाव भाव और भरिबै लगे।
ज्ञान मारतण्ड के सुखाये मन मानस कौ सरस सुहाये घनश्याम करिबै लगे।।२।।

बरसाने पहुँचने पर तो रहा सहा धैर्य और ज्ञान भी रफू-चक्कर हो गया। यथा—

दुखसुख ग्रीषम और शिशिर न व्यापै जिन्हैं छापै छाप एकै हिये ब्रह्मज्ञान साने मैं।
कहैं रतनाकर गँभीर सोई ऊधव कौ धीर उधरान्यौ आनि व्रज के सिवाने मैं।।
औरै मुख रङ्ग भयौ, सिथिलित अङ्ग भयौ बैन दबि दङ्ग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलक पसीजि पास चाँपि मुरझाने काँपि जानै कौन बहति बयार बरसाने मैं।।३।।

उद्धवजी सूर्यास्त के समय ब्रज पहुँचे। श्रीकृष्ण के प्यारे सखा उद्धवजी से मिलकर श्रीनन्दबाबा बड़े प्रसन्न हुए, मानो स्वयं श्रीकृष्ण ही आ गये हों। बड़े ही सत्कारपूर्वक महल में ले जाकर श्रीकृष्ण के अनुराग रङ्ग में रंगे हुए नन्द-यशोदा ने अपने प्यारे पुत्र की बाल-लीलाओं का एक-एक करके स्मरण करते हुए बार-बार कुशल समाचार पूछा और उद्धवजी उनके प्रेम पर मुग्ध भये उत्तर देते हुए बीच-बीच में ज्ञान-योग का उपदेश भी देते रहे, इस प्रकार वह रात्रि प्रेम और ज्ञान की चर्चा में ही बीत गई। प्रातःकाल जब गोपाङ्गनाओं को ऊधव के आने का समाचार मिला, तब तो मानो ब्रज में प्रेम का समुद्र ही उमड़ पड़ा

और ऊधव जैसे ज्ञानि शिरोमणि भी उसमें लीन हो गये। (श्रीऊधव गोपी सम्वाद के लिए देखिये अगले छप्पय १० में गोपी प्रेम प्रसंग)

ऊधव के व्रज से लौटते समय बड़ा ही चारु-चित्रण श्रीरत्नाकरजी ने किया है। यथा–

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधौ अब सब सुख साधन को सूधो सो जतन लै।
कहैं रतनाकर गँवाये गुन गौरव औ गरब गढ़ी को परिपूरन पतन लै।।
छाये नैन नीर पीर कसक कमाये उर दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै।
प्रेम रस रुचिर विराग तूमड़ी में पूरि ज्ञान गूदड़ी में अनुराग सों रतन लै।।

भगवान श्रीकृष्ण का सङ्कल्प पूर्ण हुआ। ज्ञान-योग-प्रवीण ऊधो प्रेम रङ्ग में रङ्ग गये। अब दोनों मित्रों में किसी प्रकार का मत-भेद नहीं रहा।

द्वारका लीला में भी ऊधवजी भगवान के साथ रहे। ब्रह्माजी की प्रार्थना पर जब श्रीकृष्ण ने अपनी लीला सम्वरण का सङ्कल्प किया, द्वारकापुरी में बड़े-बड़े अपशकुन होने लगे, तब भगवान श्रीकृष्ण का अभिप्राय समझकर ऊधवजी ने एकान्त में उनके पास जाकर उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे अपनी विरह व्यथा निवेदन करते हुए अपने साथ ही धाम ले चलने की प्रार्थना किया। भगवान ने विचार किया–'अब इस लोक से मेरे चले जाने पर संयमी शिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञान को ग्रहण करने के सच्चे अधिकारी हैं।। उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं क्योंकि वे आत्मजयी हैं, विषयों से कभी भी विचलित नहीं हुए हैं अतः लोगों को मेरे ज्ञान की शिक्षा देते हुए यहीं रहें तो अच्छा है। अतः भगवान ने ऊधवजी को बहुत आश्वासन देकर अपने तत्वज्ञान का उपदेश दिया और बदरिकाश्रम में जाकर रहने की आज्ञा दी। यथा–

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् । अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः।।
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद् गुणैर्नार्दितः प्रभुः । अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु।। (भा० ३-४-३०-३१)

तथा–**गच्छोद्धव मयाऽऽ दिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।।** (भा० ११-२९-४१)

भगवान के प्रति प्रेम करके फिर त्याग करना सम्भव नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग की कल्पना से ऊधवजी कातर हो गये। वे बार-बार विह्वल होकर मूर्च्छित होने लगे। अन्त में उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की चरण पादुकायें अपने सर पर रख लीं और बार-बार भगवान के चरणों में प्रणाम करके उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया। मथुरा में श्रीयमुना तट पर श्रीविदुरजी से मिले। श्रीविदुरजी ने उन्हें देखकर प्रेम से गाढ़ आलिङ्गन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनों का कुशल समाचार पूछा। तब श्रीउद्धवजी अत्यन्त प्रेमविभोर होकर भगवान की लीलाओं का वर्णन करते हुए वियोग का स्मरण कर बेसुध हो गये। परिणाम यह हुआ कि परम-धाम जाते समय भगवान ने जो तत्वोपदेश इन्हें दिया था वह वर्णन करने में अपनी असमर्थता दिखाते हुए विदुरजी को श्रीमैत्रेयजी के पास जाने को कहा और स्वयं श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य कर अपने स्थूल रूप से तो बदरिकाश्रम चले गये परन्तु भाव शरीर से श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में निवास करते हैं। महर्षि शाण्डिल्य के आदेशानुसार वज्रनाभ ने जब गोवर्धन के समीप सङ्कीर्तन महोत्सव किया। तब लता-कुञ्जों से उद्धवजी प्रगट हो गये और एक महीने तक वज्रनाभ तथा श्रीकृष्ण की रानियों को श्रीमद्भागवत सुनाकर अपने साथ ले नित्य

ब्रजभूमि में अन्तर्हित हो गये। जो लोग श्रीकृष्ण प्रेम में निरन्तर मग्न रहते हैं, उन भावुक भक्तों को आज भी उनके दर्शन होते हैं।।

गजग्राह—गजेन्द्र पूर्वजन्म में द्रविड़ देश का पाण्ड्य वंशी राजा था। उसका नाम था इन्द्रद्युम्न। एकबार परम भागवत राजा इन्द्रद्युम्न राज-पाठ छोड़कर भगवदाराधन करते हुए मलय पर्वत पर रहने लगे थे। एकदिन स्नान के बाद पूजा के समय मन को एकाग्र करके एवं मौन व्रती होकर वे सर्वशक्तिमान भगवान की आराधना कर रहे थे। उसी समय दैव योग से श्रीअगस्त्यमुनि अपनी शिष्य मण्डली के साथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने यह देखा कि यह राजा प्रजा पालन और गृहस्थोचित अतिथि सेवा आदि धर्मों का परित्याग करके तपस्वियों की तरह एकान्त में चुपचाप बैठकर उपासना कर रहा है, इसलिए वे राजा इन्द्रद्युम्न पर क्रुद्ध होकर शाप दे दिये कि ब्राह्मणों का सत्कार न करके तप में लगा हुआ राजा हाथी के समान जड़ बुद्धि है इसलिये इसे वही घोर अज्ञानमयी हाथी की योनि प्राप्त हो।। राजर्षि इन्द्रद्युम्न ने यह समझकर सन्तोष किया कि मेरा प्रारब्ध ही ऐसा था। शाप के फलस्वरूप राजा को हाथी की योनि प्राप्त हुई परन्तु भगवान की आराधना का ऐसा प्रभाव है कि हाथी होने पर भी उन्हें भगवान की स्मृति हो ही गई। भगवान श्रीहरि ने गजेन्द्र का उद्धार किया। (विशेष देखिये छप्पय ५ हरि अवतार की कथा)

ग्राह पूर्व जन्म में हूहू नामक गन्धर्व श्रेष्ठ था। इसने एकबार श्वेतद्वीप के एक सरोवर में स्नान करते समय देवल ऋषि का पैर पकड़ कर डरा दिया। उसके इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर ऋषि ने शाप दे दिया कि तुम ग्राह योनि को प्राप्त हो। यह ग्राह भगवान के हाथ से मरकर अपने पूर्व रूप को प्राप्त हुआ और स्तुति कर अपने लोक को चला गया। भक्त गजेन्द्र के चरण को इसने पकड़ा था अतः भक्ति पाकर कृतार्थ हुआ।

कल्पभेद से इनके पूर्व जन्म की दूसरी कथा—मरुदेव राजा के यज्ञ में दो भाई ब्राह्मणों में से एक ब्रह्मा और दूसरे होता हुए। यज्ञान्त में होता को दक्षिणा अधिक मिली, ब्रह्मा को उनकी अपेक्षा कम। अतएव ब्रह्मा ने दोनों दक्षिणा एक में मिलाकर आधा-आधा बाँट लेना चाहा। परन्तु होता को यह प्रस्ताव स्वीकार न हुआ। अतः ब्रह्मा ने शाप दे दिया कि तुम ग्राह हो जाओ। तदुपरान्त होता ने भी शाप दिया कि तुम गज हो जाओ। (श्रीरूपकलाजी की टीका से)

सर्वोपाय शून्य होकर की गई गजेन्द्र की करुण पुकार पर भगवान श्रीहरि की आतुरता का बड़ा ही सुन्दर वर्णन कवियों की वाणियों में मिलता है। भगवान श्रीवेदव्यासजी महाराज लिखते हैं—

तं वीक्ष्यं पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्।। (भा० ८-३-३३)

अर्थ—जब भगवान ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है तब वे एकबार ही गरुड़ को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्र के साथ ही ग्राह को भी बड़ी शीघ्रता से सरोवर से बाहर निकाल लाये फिर सब देवताओं के सामने ही भगवान श्रीहरि ने चक्र से ग्राह का मुँह फाड़ डाला और गजेन्द्र को छुड़ा लिया।। श्रीरत्नाकरजी लिखते हैं—

रमत रमा के सङ्ग आनन्द उमङ्ग भरे अङ्ग परे थहरि मतङ्ग अवराधें पै।
कहैं रतनाकर बदन दुति औरै भई बूँदे छाईं छलकि दृगनि नेहनाधे पै।।
धाये उठि बारन उबारन में लाई रञ्च चञ्चलाहू चकित रही है बेग साधे पै।
आवत वितुण्डकी पुकार मगआधे मिली लौटत मिल्यौ त्यौं पक्षिराज मग आधे पै।।१।।
गुनि गजभीर गह्यौ चीर कमला को तजि ह्वै हरि अधीर पीर उमगि अथाह में।
कहैं रतनाकर चपल चक्र बाहि चले वक्र ग्राह निग्रह के अमित उछाह में।।
पच्छीपति, पौन, चञ्चलासौं, चख चञ्चलसौं चित्तहूँसौं चौगुनौ चपल चलि राह में।
बारन उबारि दशा दारुन विलोकि तासु हुचकन लागे आप करुणा प्रवाह में।।२।।
छल बलकै थाक्यो अनेक गजराज भारी भयो बलहीन जब नेकुना छुड़ा गयो।
कहिबे को भयो करुना की कवि कारे कहैं रही नेक नाक और सबही डुबा गयो।।
पंकज से पायन पयादे पलङ्ग छांड़ि पाँवरी विसारि प्रभु ऐसी पीर पा गयो।
हाथीके हृदय मांहि आधो हरिनाम सोऊ गरे जौ न आयो गरुड़ेश तौलौं आ गयो।।३।।

कल बल छल करि हारि गज लियो राम को नांव।
रा कहते हरि दुःख हरयो म कहि छूयो पांव।।
पुनः— हाथी कहि धाये हरी, गज को देखि निरास।
'हा' उचर्यो निज धाम में, 'थी' हाथी के पास।। (भ०व०टि०)

भक्त दुःख कातर प्रभु की उस समय की शोभा देखकर गजेन्द्र को अपने को ग्राह द्वारा ग्रसे जाने की सुधि भूल गई। यथा—

गज निरखत फहरान वसन की।
ललकि लग्यौ मुखकमल विलोकन भूलि गयो सुधि ग्राह ग्रसन की।।
मनरथ पर आनत दरसावत भुज भुषित ज्यौं सिर परसन की।
कुण्डल कच थहरात वदन पर दामिनि सी मृदु मन्द हसन की।।
वनमाला हलकत उर झलकत पीताम्बर कटि फेट कसन की।
फूल उखारि उठाय सूँड़ सो भेंट दियो ज्यौं भाव असन की।।
प्रेमसखी गज छीनि ग्राह सों तहँ पठये जहँ डर न खसन की।।

करुणा वरुणालय प्रभु ने चक्र को आज्ञा दिया ग्राह का सिर काट लेने के लिये। पश्चात् भक्तवत्सल भगवान ने अपने श्रीकरकमलों से गजराज के पांव से ग्राह का मुँह छुड़ाकर अपने पीताम्बर से उसके घाव पोंछकर पीताम्बर फाड़कर उस पर पट्टी बांधी। इतना ही नहीं, श्रीहरि ने इस प्रकार गजेन्द्र का उद्धार करके उसे अपना पार्षद बना लिया और पार्षद रूप गजेन्द्र को साथ लेकर गरुड़ पर सवार होकर अपने अलौकिक धाम को चले गये।

एक बात बड़े महत्त्व की यह है कि ग्राह ने अपने उद्धार के लिए गज का पांव पकड़ा अर्थात् भक्त का आश्रय लिया और गजेन्द्र ने भगवान को पुकारा अर्थात् भगवान का आश्रय लिया। हम देखते

हैं कि भक्ताश्रयी ग्राह का उद्धार पहले होता है और भगवदाश्रयी गजेन्द्र का बाद में। इससे सिद्ध होता है कि '**राम से अधिक राम कर दासा। ग्राह हत्यौ राख्यो गजहिं, भयो सुजस अभिराम। भक्तचरन बिनु भक्ति गहि प्रथम ग्राह गा धाम।।**

पाण्डव—महाराज पाण्डु के पुत्र श्रीयुधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव। एक बार वन-बिहार के समय अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नी के साथ मृगरूप धारण करके मैथुन में प्रवृत्त किंदम नाम के ऋषि का महाराजा पाण्डु के द्वारा मृग के धोखे में वध हो गया। मरते समय मृगरूपधारी ऋषि किंदम ने पाण्डु को शाप दे दिया कि आपकी भी मैथुन में प्रवृत्त होते ही मृत्यु हो जायेगी। उस समय तक पाण्डु के कोई सन्तान नहीं थी, ऋषि के वध एवं शाप से पाण्डु को बड़ा पश्चाताप हुआ और अपनी दोनों पत्नी कुन्ती और माद्री को साथ लेकर शतश्रृङ्ग पर्वत पर वानप्रस्थ विधि से तपस्या करने के लिये चले गये। कुछ काल बाद वंश परम्परा की रक्षा, एवं पितृऋण से उद्धार होने के लिये पाण्डु के मन में पुत्र की प्रबल लालसा जागृत होने लगी महारानी कुन्ती ने पितृ-गेह-निवास-काल में सेवा से सन्तुष्ट महर्षि दुर्वासा द्वारा प्राप्त हुए देवताओं के आह्वान के मन्त्रों की महिमा सुनायी। महाराज पाण्डु ने धर्मात्मा पुत्र की कामना से धर्मराज के आह्वान की आज्ञा दी, जिसके फलस्वरूप कुन्ती ने धर्मराज के अंश से श्रीयुधिष्ठिरजी हुए, बली पुत्र की कामना से वायुदेव के अंश से भीमसेन हुए। सर्वोत्तम पुत्र की कामना से इन्द्र के अंश से अर्जुन हुए, एवं माद्री के अनुरोध पर अश्विनीकुमारों के अंश से माद्री के नकुल और सहदेव ये दो पुत्र हुए। ये पाँचों ही पाण्डु के क्षेत्रज पुत्र होने से पाण्डव कहलाये। इनकी भगवान श्रीकृष्ण में परम भक्ति थी। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी इनसे बहुत प्रेम करते थे। शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर पहुँचने पर दुर्योधन से वार्ता के सिलसिले में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा '**मम प्राणा हि पाण्डवाः।**' (महाभारत) अर्थ—पाण्डव मेरे प्राण हैं। प्रियत्व द्योतित करने के लिए इससे अधिक और कहा ही क्या जा सकता है। क्योंकि '**देह प्राण ते प्रिय कछु नाहीं।**' अब आगे की पंक्तियों में पृथक्-पृथक् इनके चरित्रों पर प्रकाश डाला जाता है।

श्रीयुधिष्ठिरजी—''**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिर कीर्तनेन।**'' साक्षात् धर्म के अंशावतार श्रीयुधिष्ठिर के सर्वस्व श्रीकृष्ण थे। यथा—**प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्। कोहि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्व निश्चयवित् सुहृत्।।** (म० भा०) अर्थ—हे कृष्ण! तुम्हारे समान हमारा प्रिय हितचिन्तक सब कर्मों की गति जानने वाला तथा सब प्रकार के निश्चय का ज्ञाता, सुहृद दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं। यद्यपि श्रीकृष्ण उनके ममेरे भाई लगते थे, उम्र में छोटे थे तब भी युधिष्ठिर की श्रीकृष्ण में भक्ति थी, इसलिये कि वे धर्म के सारतत्व को अच्छी तरह समझते थे। वर्णन आया है कि जब वे बाल्यावस्था में गुरुकुल में पढ़ रहे थे तब गुरुजी ने '**सत्यंवद**' '**धर्मञ्चर**' का पाठ पढ़ाया और दूसरे दिन गुरुजी के पूछने पर सभी विद्यार्थियों ने अपना पाठ सुना दिया परन्तु इन्होंने कहा—गुरुजी! अभी पाठ ठीक से याद नहीं है। जब कई दिन तक यही उत्तर देते रहे तो गुरुजी झुँझलाये कि तुमसे छोटे-छोटे विद्यार्थी एक दिन में ही याद कर लेते हैं और तुम्हें, इतने दिन हो गये याद नहीं भया। इन्होंने बड़ी विनम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—गुरुजी! मैं केवल पाठ को रट लेना ही याद होना नहीं मानता हूँ। मैं तो यथावत् रूप से उनका आचरण में लाना ही याद होना समझता हूँ। इनकी इस शास्त्र सिद्धान्त निष्ठा से गुरुजी बड़े ही प्रभावित हुए, हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिये कि समस्त सद्गुण तुममें निवास करें।

सचमुच भक्ति के प्रभाव से तथा श्रीगुरुजी के आशीर्वाद से श्रीयुधिष्ठिरजी में सभी गुणों का एक जगह दर्शन होता है।

बाल्यावस्था में ही पिता श्रीपाण्डुजी का निधन हो गया। परिणामस्वरूप इनका समस्त पितृभाव ताऊ धृतराष्ट्र में केन्द्रित हो गया। जैसा कि कहा गया है—"**अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पति ऐन।।**" श्रीयुधिष्ठिर के सम्बन्ध में पूर्ण चरितार्थ है। वारणावत नगर में लाक्षागृह में रहने तथा जूआ खेलने जैसी धृतराष्ट्र की निन्द्य आज्ञाओं का भी आपने स्वागत किया जबकि इसके कारण आपको कौन-सा संकट नहीं झेलना पड़ा? भरी सभा में महारानी द्रौपदी का तिरस्कार अपनी आँखों से देखा परन्तु ताऊ की आज्ञा पर आंच नहीं आने दी। ऐसी अद्‌भुत थी इनकी पितृ-भक्ति। दुर्योधन और शकुनि के कपट-द्यूत की निन्दा किसने नहीं की? परन्तु धन्य हैं श्रीयुधिष्ठिरजी, जिन्होंने बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास का कष्ट स्वीकार कर लिया परन्तु कौरवों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। इसी से इनका एक नाम 'अजातशत्रु' भी था। इससे इनकी साधुता का परिचय मिलता है। यथा—'**उमा सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जे करहिं भलाई।।**" (रामचरितमानस)

वनवास काल में जब ये द्वैत वन में निवास कर रहे थे, दुष्ट दुर्योधन इनका तिरस्कार करने के लिए वहाँ भी ससैन्य पहुँचा। पाण्डवों की रक्षा के लिये देवराज इन्द्र के भेजे हुए चित्रसेन आदि गन्धर्वगणों से दुर्योधन की मुठभेड़ हो गई। गन्धर्व दुर्योधन को पराजित पर कैद कर लिये। जब यह समाचार श्रीयुधिष्ठिरजी को मिला तो भीमसेन के विरोध करने पर भी इन्होंने अर्जुन को भेजकर दुर्योधन को गन्धर्वों से मुक्त कराया। आपकी इस विशाल हृदयता, अजात-शत्रुता को देखकर इन्द्रादि देवता दङ्ग रह गये। ऐसे ही एकबार जयद्रथ वन में द्रौपदी को देखकर जबर्दस्ती अपने रथ में बिठाकर ले भागा। पाण्डवों को तत्काल ही जयद्रथ की शैतानी का पता लग गया। पीछा किये तो जयद्रथ डर के मारे द्रौपदी को रथ से उतारकर स्वयं जान बचाने के लिये भागा, परन्तु भीमसेन ने पकड़ ही लिया और श्रीयुधिष्ठिरजी के सामने प्रस्तुत किया तो आपने इस महारथी को भी दया करके छुड़वा ही दिया। ऐसी अद्‌भुत क्षमाशीलता एवं दयालुता थी आप में।

एकबार एक ब्राह्मण की अरणी (अग्नि-उत्पादक काष्ठ विशेष) एक मृग की सींग में खुजलाते समय फँस गई। मृग अरणी सहित भागा। अरणी के अभाव में अग्निहोत्र कार्य में बाधा जानकर ब्राह्मण ने पाण्डवों से आकर अपनी परिस्थिति निवेदन किया। पाँचों भाई मृग के पीछे दौड़ पड़े धनुष-बाण लेकर। कुछ दूर जाने पर मृग अदृश्य हो गया। ये लोग प्यास से व्याकुल हो रहे थे। धर्मराज की आज्ञा से नकुल पानी लेने गये। एक सरोवर में जल लेने के लिए झुक ही रहे थे कि अदृश्य वाणी भई—मेरे प्रश्नों का प्रथम उत्तर देलो तब जल पीओ। इन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया, फलतः पानी पीते ही निर्जीव होकर गिर पड़े। क्रमशः यही स्थिति सहदेव, अर्जुन और भीम की भी रही। जब अन्त में श्रीयुधिष्ठिरजी आये तो वही आकाशवाणी फिर भई। साथ ही एक विशालकाय यक्ष भी प्रकट हो गया। उसने श्रीयुधिष्ठिरजी से जो-जो प्रश्न किया, इन्होंने उसका समुचित उत्तर देकर उसका भली प्रकार समाधान किया। यक्ष सन्तुष्ट होकर बोला—अपने भाइयों में से जिस किसी को तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ। आपने नकुल को जीवित करने को कहा। यक्ष ने विस्मित होकर पूछा—सगे भाई अर्जुन और भीम को छोड़कर नकुल

को जीवित करने की प्रार्थना क्यों? आपने उत्तर दिया—हमारे पिता की दो भार्यायें थीं, मैं चाहता हूँ कि वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें। माता कुन्ती का एक पुत्र मैं मौजूद ही हूँ, माँ माद्री का भी एक पुत्र बना रहे, इसलिये मैंने ऐसी प्रार्थना की। युधिष्ठिर के न्याय और धर्म की परीक्षा के लिये साक्षात् धर्म ने ही यह लीला की थी। यक्ष के स्थान पर धर्म देवता प्रकट हो गये, चारों भाइयों को जीवित कर दिये, ब्राह्मण की अरणी भी दे दिये और भूरि-भूरि आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये।

युद्ध जैसी भीषण परिस्थिति में भी धर्म-मर्यादा का पालन आपकी निजी विशेषता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी थीं, तभी आपने भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों को प्रणामकर उनके हृदय को प्रथम ही जीत लिया। सबने हृदय से महाराज की विजय-कामना करते हुए शुभाशीर्वाद दिया। आपके इस सद्व्यवहार से भगवान श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए थे। सभी धर्मों का मूल सत्य आपका सर्वस्व था। सत्य के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां, वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति।। (म० भा०)

अर्थ—मेरी सत्य प्रतिज्ञा को सुनो, मैं सत्य धर्म को अमरता और जीवन से श्रेष्ठ मानता हूँ। सत्य के सामने राज्य, पुत्र, यश और धन आदि का कोई मूल्य नहीं। इसी सत्य निष्ठा का परिणाम था कि उनके रथ के पहिये सदा पृथ्वी से चार अँगुल ऊँचे रहा करते थे। निष्कामता ऐसी थी कि केवल पाँच गाँव ही मिल जाने पर सन्तोष करना स्वीकार कर लिये थे। यही कारण है कि युद्धोपरान्त सार्वभौम सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी तुच्छ राज्य के लिए स्वजनों का संहार विचार कर आपको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। बड़ी कठिनाई से भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यास आदि ने समझा-बुझाकर इन्हें राज्याभिषेक के लिए तैयार किया था। सिंहासनासीन होने पर प्रजा को जो सुख आपने दिया, उसका तो कहना ही क्या है? जिन धृतराष्ट्र की कुटिलता के कारण पाण्डवों को महान विपत्तियाँ भोगनी पड़ीं, उनको भी श्रीयुधिष्ठिरजी ने इतना सुख दिया कि वे अपने सौ पुत्रों का मरण भूल गये।

भगवान श्रीकृष्ण का परमधाम-गमन सुनकर राज्य परीक्षित को सौंपकर आपने बिना किसी से कुछ कहे महाप्रयाण के लिये उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। भाइयों एवं द्रौपदी ने आपका अनुसरण किया। आप स्व-स्वरूप में स्थित होकर भगवच्चरणारविन्दों का चिन्तन करते हुए आगे बढ़ते गये। मार्ग में द्रौपदी तथा चारों भाई गिरते गये परन्तु इसकी कोई परवाह नहीं किये। स्वयं देवराज इन्द्र रथ लेकर इन्हें लेने को आये, परन्तु आपने प्यारे भाइयों तथा पतिप्राणा द्रौपदी के बिना अकेले स्वर्ग जाना अस्वीकार कर दिया। जब इन्द्र ने विश्वास दिलाया कि वे पहले ही पहुँच चुके हैं तब ये रथ पर चढ़ने को प्रस्तुत हुए। प्रारम्भ से ही इनके साथ एक कुत्ता संग लग गया था, आपने कुत्ते को भी साथ ले चलना चाहा। इन्द्र के आपत्ति करने पर इस शरणागत कुत्ते को छोड़कर स्वर्ग जाना आपको उचित नहीं लगा अतः पुनः अस्वीकार कर दिये। श्रीयुधिष्ठिरजी की इस अनुपम शरणागतवत्सलता को देखकर कुत्ते की जगह साक्षात् धर्म देवता प्रगट हो गये, यह इनकी अन्तिम परीक्षा थी। इसमें भी ये उत्तीर्ण हुए। फिर तो धर्म, इन्द्र एवं अन्य देवताओं के साथ रथ में बैठकर स्वर्ग के लिए प्रस्थान किये। युद्ध में स्वजनों एवं श्रीकृष्ण के भी विवश करने पर 'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुञ्जरो वा।' इस भ्रामक सत्य के कहने से इनको मार्ग में

कल्पित नगर का दृश्य दिखाया गया, जहाँ इनको ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे भाई भी यहीं पड़े क्रन्दन कर रहे हैं एवं अन्य नारकी जीव हमसे प्रार्थना कर रहे हैं कि आपके यहाँ आने से हमें नरक की पीड़ा नहीं सताती है अत: आप थोड़ा और यहाँ रुकें। अत: श्रीयुधिष्ठिरजी ने नरक में ही रहना मन्जूर कर लिया। परन्तु यह तो कल्पना मात्र थी। क्षण भर में ही वह सब दृश्य गायब हो गया। श्रीयुधिष्ठिरजी ने भगवद्धाम में पहुँचकर अपने भाइयों एवं द्रौपदी को श्रीकृष्ण की सेवा में उपस्थित देखा। ये भगवान का दर्शन कर निहाल हो गये।

श्रीभीमसेनजी—'पापंप्रणश्यति वृकोदर कीर्तनेन।' अर्थ—भीमसेन का यश गाने से पाप का समूल नाश हो जाता है। भीमसेन बल-वीर्य, शौर्य पराक्रम की प्रति मूर्ति थे। इनमें दस हजार हाथियों का बल था। इनको तनिक सा भी अन्याय असह्य था। परन्तु यह सब होने पर भी ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी के आज्ञाकारी थे। इनके इशारे पर नाचने वाले थे। यही कारण है कि जहाँ इनको अल्प अन्याय से भी चिढ़ थी वहाँ कौरवों का बड़े से बड़ा अन्याय, सामर्थ्य रहते हुए भी सह लेते थे, इसलिए कि बड़े भाई की ऐसी ही इच्छा देखते। द्रौपदी के चीर-हरण प्रसङ्ग में कौरव सभा में दु:शासन के दुष्कृत्य को देखकर दण्ड देने में समर्थ होने पर भी श्रीयुधिष्ठिरजी का रुख नहीं पाने से इनका मन मसोसकर रह जाना इसका प्रमाण है। ऐसे ही बहुत से अवसर आये जहाँ न्यायत: भीमसेन बल का प्रयोग कर दुष्टों का दमन कर सकते थे परन्तु भातृ-भक्ति से भावित होने के कारण शान्त ही रह जाते। एक बात स्मरण रखने की है कि भीमसेन अन्याय पर ही उबलते थे अन्यथा सहज स्वभाव से शान्ति प्रिय थे। इनकी शान्ति प्रियता का दर्शन उस समय होता है जब भगवान श्रीकृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर कौरव सभा के लिये प्रस्थान करते हैं। भीमसेन कहते हैं—हे मधुसूदन! कौरवों के बीच में आप ऐसी बातें करें जिनसे शान्ति स्थापित हो जाय। दुर्योधन स्वभाव से दुरात्मा है, दुराग्रही है, वह मरना स्वीकार कर लेगा परन्तु झुकना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अतएव आप उससे जो कुछ भी कहें कोमल और मधुर वाणी में धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म और अर्थ से युक्त तथा कल्याणकारी हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। श्रीकृष्ण! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदों को ऐसा करने के लिये कहें जिससे हम सब भाइयों में सौहार्द्र बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय। शान्ति प्रियता के भावों से भरे हुए इन शब्दों में भीमसेन के हृदय की विशालता का सहज ही अनुमान हो जाता है। (म० भा० उद्योग पर्व ७४ अध्याय)

भीमसेन में ब्राह्मणों के प्रति बड़ा भाव था। वर्णन आया है जब वारणावत नगर के लाक्षागृह से निकलकर पाण्डव एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के घर रहते थे। एक दिन चारों भाई भीमसेन को माता के पास छोड़कर भिक्षा के लिये चले गये। उस दिन उस ब्राह्मण के घर में रोना-पीटना मच गया। यह सुनकर भीमसेन ने माता कुन्ती से कहा—

ज्ञायतामस्य यद्दु:खं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्।। (म० भा०)

अर्थ—माँ! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मण को क्या दु:ख है और वह कैसे प्राप्त हुआ है। जान लेने पर अत्यन्त दुष्कर होने पर भी मैं उसको दूर करने की चेष्टा करूँगा पश्चात् माता की आज्ञा से भीमसेन ने वन में जाकर दुष्ट बकासुर—जो इस ब्राह्मण के ही नहीं, सम्पूर्ण नगर के दु:ख का कारण बना

हुआ था— नित्य प्रति एक मनुष्य, दो भैंसे एवं बीस टोकरी अन्न की सामग्री की बलि लेता था—उसको मारकर उस ब्राह्मण परिवार तथा समस्त नगर की विपत्ति दूर की।

भीमसेन का भगवान श्रीकृष्ण में अद्भुत अनुराग था। परम विश्वास था। जिस समय राजसूय यज्ञ के अवसर पर महाराज श्रीयुधिष्ठिर श्रीकृष्ण के मुख से मगध-नरेश जरासन्ध के अमित बल की बात सुनकर बड़े ही निराश हो रहे थे, भीमसेन ने भगवान श्रीकृष्ण की ओर देखकर धर्मराजजी से कहा—

त्वद् बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा।। (म० भा०)

अर्थ—हे गोविन्द! आपके बुद्धि-बल का आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करने वाले आप हैं उनकी—हम पाण्डवों की विजय निश्चित है। कैसा दृढ़ विश्वास है भीमसेन का भगवान के प्रति। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पूर्ण हो जाने पर श्रीद्वारकापुरी को प्रस्थान कर रहे थे, प्रेमवश महाराज युधिष्ठिर दारुक को सारथि के स्थान से हटाकर उन्होंने घोड़ों की बाग-डोर अपने हाथ में ले ली। श्रीअर्जुनजी रथ पर आरूढ़ हो स्वर्ण दण्डयुक्त विशाल चँवर हाथ में लेकर दाहिनी ओर से भगवान के मस्तक पर डुलाने लगे। उस समय भीमजी भी रथ पर चढ़कर भगवान के ऊपर छत्र लगाकर खड़े हो गये। यथा—

तथैव भीम सेनोऽपि रथमारुह्य वीर्यवान् । छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम्।।
वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् । दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वनः।। (म० भा०)

भीमसेन स्वभाव से बड़े भोले-भाले थे। इसी से कौतुक प्रिय श्रीकृष्ण कभी-कभी इनसे खूब व्यङ्ग—विनोद भी करते थे। जैमिनीयाश्वमेध पर्व में कथा आती है, महाभारत का युद्ध समाप्त होने पर जब महाराज श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीव्यासजी की प्रेरणा से अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये निश्चय करते हैं तो सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को बुलाने के लिये भीमसेन को द्वारकापुरी भेजते हैं। श्रीभीमसेन ने जब श्रीकृष्ण के महल के द्वार पर पहुँचकर अपने आगमन की सूचना दी तो भोजन कर रहे भगवान हृषीकेश ने सैरन्ध्री से कहलाकर भीमसेन को वहाँ आने से मना कर दिया। उन्होंने ऐसा विनोद इसलिए किया कि उन्हें भीम की सरल हृदय की अट-पटी व्यङ्ग पूर्ण बातें सुने बहुत दिन हो गये थे। महल में प्रवेश की निषेधाज्ञा सुनकर भीमसेन इसे अपना अपमान समझकर हँसते हुए गम्भीर वाणी में बोले—सैरन्ध्री! यह तो बता—श्रीकृष्ण अकेले क्यों भोजन कर रहे हैं? क्या देवी देवकी की मृत्यु हो गई है? या सत्यभामा का ही स्वर्गवास हो गया? अथवा इस राज्य में मेघों ने जल की वर्षा नहीं की है? जिससे अन्न की मँहगी पड़ गयी है। अथवा किसी राक्षस ने इनके पुत्रों और पौत्रों का संहार कर डाला है। या ये श्रीहरि स्त्रियों के साथ ही भोजन करते हैं। भीमसेन अभी ऐसा कह ही रहे थे कि कौतुक के लिये श्रीकृष्ण प्रथम खाजा (एक प्रकार की मिठाई) फिर पापड़ पाने लगे, जिनके पाने में चरर-मरर शब्द होते थे। फिर घट-घट की आवाज का अभिनय करते हुए कढ़ी पीने लगे। तब भीमसेन उस शब्द को सुनकर हँसते हुए कहने लगे—ओहो! जो पहले छाछ पीने के ही अभ्यासी थे अब वे औटाया हुआ दूध आदि कैसे पी रहे हैं? उस दाई को क्या कहें, जिसने इनके गले को बढ़ा दिया है। न जाने उसने इनके गले में अँगूठा डालकर उसे बढ़ाया है या मूसल अथवा हल डालकर।।

इतने पर भी जब श्रीकृष्ण नहीं बोले तब भीम ने कहा—क्या तुम्हारे गले में बड़ा अटक गया है? क्या मैं आकर उसे गदा से मसल दूँ? परन्तु नही, नहीं। प्रलयकाल में बड़े-बड़े पर्वत भी जिनके गले में बिना किसी अटक के प्रवेश कर जाते हैं वहाँ इस बेचारे बड़े की क्या गिनती। परन्तु गोविन्द! उस प्राचीन अभ्यास वश अपने कुटुम्बियों को नहीं निगल जाना। अरे हरे! कहीं दूर से आये हुए मुझ भीम को ही नहीं खा जाना। लेकिन एक बात याद रखना—मैं तुम्हारे उदर में पहुँचकर सुखदायक नहीं सिद्ध होऊँगा। क्योंकि मेरा गमन नीचे की ओर नहीं होता, मैं तो सदा ऊपर की ओर ही गमन करने वाला हूँ। साथ ही श्रीकृष्ण! लोग तुम्हारी निन्दा भी करेंगे कि महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से कुन्ती नन्दन भीमसेन बड़ी आशा लेकर अकेले ही आये थे उन्हें श्रीकृष्ण ने खा लिया। अगर मुझे खाना ही अभीष्ट हो तो मेरे साथ माँ कुन्ती को भी खा जाना नहीं तो वे मेरे बिना दुखी होंगी। परन्तु पुरुषोत्तम। यह सब सुनकर तुम्हारी बहन सुभद्रा तुमको राक्षस समझेगी। अतः तुमको बहुत बड़ा दोष लग जायगा। परन्तु प्रलयकाल में तुम्हीं सबका संहार करते हो, पर दोष तुमको छू नहीं जाता फिर यह दोष क्यों लगने लगा। साथ ही श्रीकृष्ण! सृष्टि करने वाले भी तुम्हीं हो, अतः मेरा निवेदन यह है कि अभी खाकर सृष्टिकाल में मेरी सृष्टि मत करना और यदि मुझे उत्पन्न ही करना हो तो व्यर्थ में अपना दास नहीं बनाना। इतनी सब कहा-सुनी होने पर श्रीकृष्ण ने भीमसेन का दाहिना हाथ पकड़कर बड़े आदर से बैठाकर अपने हाथों से परस-परसकर भीमसेन को भोजन कराया। पश्चात् बड़े समारोह के साथ हस्तिनापुर को प्रस्थान किये। ऐसे भगवदीयजन थे भीमसेनजी।।

श्रीअर्जुनजी—'शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन।' श्रीअर्जुनजी भगवान श्रीकृष्ण के सख्य रसोपासक भक्त थे। इनकी इस निष्ठा पर भगवान ने मुहर भी लगा दी। यथा—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति।**' (गी०) अर्थ—हे अर्जुन! तुम मेरे भक्त हो, सखा हो। यही कारण है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन में परस्पर किसी प्रकार संकोच नहीं रह गया था। दोनों का एक-दूसरे के साथ खुला व्यवहार था। उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना सब सङ्ग-सङ्ग होता था। कभी-कभी तो साख्य रसावेश में मर्यादा के बाहर व्यङ्ग विनोद हो जाते थे। महाभारत युद्ध में गीतोपदेश के समय भगवान का विश्वरूप-दर्शन करने पर अर्जुनजी ने इसके लिये बड़ी क्षमा-याचना की है यथा—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। (गी० ११-४१-४२)

अर्थ—हे प्रभो! 'सखा' ऐसे मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेम से अथवा प्रमाद से भी हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इस प्रकार जो कुछ हठ पूर्वक कहा गया है और हे अच्युत! जो आप हँसी के लिये, विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकों के अकेले अथवा सखाओं के सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अप्रमेय स्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे क्षमा कराता हूँ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन में कैसी अभिन्नता थी इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन स्वयं भगवान ने श्रीमुख से वन को जाते समय किया है। यथा—हे पार्थ! तुम एकमात्र मेरे हो और मैं एकमात्र तुम्हारा हूँ जो मेरे हैं

वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है वह हमारा प्रेमी है। तुम नर हो मैं नारायण हूँ। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हम दोनों एक हैं। (म०भा०व०प० १२/४५-४७) जहाँ अहर्निश अर्जुन के प्रत्येक प्रयत्न श्रीकृष्ण-प्रीति विवर्द्धन के लिए होते वहाँ श्रीकृष्ण भी सतत् प्रयत्नशील रहते अपने प्यारे सखा अर्जुन के प्रति प्रीति बढ़ाने के लिये।

वर्णन आया है—राजा श्वेतकि के यज्ञ में बारह साल तक लगातार घृत-पान करने से अग्निदेव का तेज मन्द पड़ गया था। अपने तेज को पुनः प्राप्त करने के लिये अग्निदेव ने श्रीअर्जुन और श्रीकृष्ण से खाण्डव वन जलाने की प्रार्थना किया। श्रीकृष्ण के सहयोग से अर्जुन ने अपने अद्भुत पराक्रम से खाण्डव वन को जलाया। अग्नि की अभिलाषा पूरी हुई। उस समय अर्जुन और श्रीकृष्ण के अलौकिक शौर्य को देखकर सुप्रसन्न देवराज इन्द्र ने समीप आकर इनकी सराहना करते हुए वर माँगने को कहा तो अर्जुन ने सब प्रकार के दिव्यास्त्र माँगे और श्रीकृष्ण ने यह वर माँगा कि अर्जुन के साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे। इन्द्र ने परम बुद्धिमान श्रीकृष्ण को यह वर दे दिया। यथा—**वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्। ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते।।** (म० भा०)

खाण्डव-वन दाह के समय ही जब मय दानव ने बचने का कोई उपाय नहीं देखा तो उसने अर्जुन की शरण ली। अर्जुन ने उसे अभय प्रदान कर दिया। मयदानव ने इस उपकार के बदले में अर्जुन की कुछ सेवा करना चाहा। अर्जुन ने कहा तुम श्रीकृष्ण का कोई प्रिय कार्य कर दो, इसी से हमारी सेवा भी हो जायगी। श्रीकृष्ण ने दैत्यों के शिल्पी मयदानव से महाराज युधिष्ठिर के लिए एक सुन्दर सभा-भवन तैयार करवाया। इस प्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक दूसरे का प्रिय करते रहते थे। कहाँ तक कहा जाय जिस समय अर्जुन सुभद्रा के सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर उन्हें प्राप्त करने की युक्तियाँ सोच रहे थे, श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता चला तो वे अर्जुन का प्रिय करने के लिये उनके बिना पूछे ही सुभद्रा को हर कर ले जाने की युक्ति बता देते हैं। इतना ही नहीं अपना रथ और अस्त्र-शस्त्र भी उन्हें दे देते हैं एवं सुभद्रा हरण हो जाने के बाद जब बलरामजी इसका विरोध करते हैं तो श्रीकृष्ण बड़े भैया के हाथ जोड़कर, पाँव पकड़कर, समझा-बुझाकर मना लेते हैं और वहीं द्वारका में ही सुभद्रा का पाणिग्रहण हो जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को इतना चाहते हैं तो अर्जुन भी श्रीकृष्ण को छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। महाभारत के युद्ध में इन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की एक अरब नारायणी सेना को न लेकर श्रीकृष्ण को वरण किया और युद्ध में रथ की ही नहीं जीवन की भी बागडोर श्रीकृष्ण के हाथ में सौंपकर सदा के लिए निश्चिन्त हो गये। परिणाम यह हुआ कि '**प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पाण्डवनैं बरिआइ बरैं।**' कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महारथी समस्त प्रयत्न करके स्वयं खेत रहे परन्तु अर्जुन के शरीर पर आंच तक नहीं आई। तभी तो कहा गया है—'**जाको राखै साइयां मारि सकै नहिं कोय।**'

भगवान श्रीकृष्ण ने अपना परम गुह्य गीताज्ञान अर्जुन को ही परम अधिकारी जानकर प्रदान किया। इन समस्त प्रसङ्गों से श्रीकृष्ण और अर्जुन की अभिन्नता, आत्मीयता एवं अनन्यानुराग का दर्शन होता है।

श्रीकृष्ण-प्रीति के साथ-साथ अर्जुन में और भी अद्भुत अलौकिक गुणों का सामञ्जस्य था। जिस समय अर्जुन इन्द्र के अनुरोध से अमरावती में रहकर अस्त्र विद्या तथा गान्धर्व विद्या सीख रहे थे, एक दिन देवराज इन्द्र ने सभा में अर्जुन को उर्वशी की ओर निर्निमेष नेत्रों से देखते हुए पाया था। इन्द्र ने वास्तविकता तो समझी नहीं, उन्होंने समझा अर्जुन उर्वशी के रूप लावण्य पर आसक्त हैं। अत: रात्रि के समय उनकी सेवा के लिए, स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को देवराज की आज्ञा हुई। उर्वशी के लिए तो मानो बिल्ली के भाग्य से छींका टूट गया हो। वह तो पहले से ही अर्जुन पर मुग्ध थी, इन्द्र की आज्ञा ने मार्ग प्रशस्त कर दिया। फिर क्या था, अपनी उत्तमोत्तम समस्त साज-सज्जा से समलंकृत होकर वह स्वर्ग की देवी अर्जुन के एकान्त-कक्ष में अपने विविध हाव-भावों को प्रकाशित करती हुई प्रविष्ट हुई। अर्जुन से उर्वशी का अभिप्राय अविदित नहीं रहा। उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये और उर्वशी को माता की भाँति प्रणाम किया। उर्वशी के सौन्दर्य का यह प्रथम पराभव था। वह यह देखकर दङ्ग रह गई। अन्ततोगत्वा उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुन के प्रति अपना काम भाव प्रकट किया।

अर्जुन ने अपने हाथों से दोनों कान बन्द कर लिये और बोले—माता! यह क्या कह रही हो? देवि! निःसन्देह तुम मेरी पूजनीया हो। हमारे कुल की जननी हो। आप हमारे पूर्वज महाराज पुरूरवा की पत्नी रही हैं। आपसे ही हमारा वंश चला है और इसी भाव से मैंने देवसभा में आपको देखा था। आपको मेरे सम्बन्ध में और कोई बात नहीं सोचनी चाहिए। मेरे लिये जैसे माता कुन्ती और माद्री प्रणम्य हैं, पूज्य हैं वैसे आप भी। मैं सिर झुकाकर तुम्हारे चरणों में प्रणाम करता हूँ। उर्वशी ने अर्जुन को समझाने का प्रयत्न किया कि हम अप्सरायें किसी की पत्नी नहीं होतीं, हम तो सभी स्वर्गीय लोगों की भोग्या हैं। तुम्हारा यह विचार उचित नहीं। परन्तु अर्जुन का मन सुमेरु गिरि की तरह अडिग ही बना रहा। किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं हुआ। अन्त में विफल मनोरथ उर्वशी ने खीझकर अर्जुन को एक वर्ष तक नपुंसक होकर, स्त्रियों के बीच में रहकर नाचने-गाने का शाप दे दिया। अर्जुन ने उर्वशी का शाप सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु धर्म का त्याग नहीं किया। धन्य संयम, धन्य इन्द्रिय-जय। जब इन्द्र को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने हर्ष में भरकर कहा—बेटा! तुम्हारे जैसा पुत्र पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई। तुमने अपने धैर्य से ऋषियों को भी जीत लिया। चिन्ता नहीं करना, उर्वशी ने जो शाप दिया है वह तुम्हारे लिये वरदान का काम करेगा। वनवास के तेरहवें वर्ष में जब तुम अज्ञातवास करोगे तो उस समय शाप तुम्हारे लिए छिपने में सहायक होगा। इसके बाद तुम्हें पुन: पुरुषत्व की प्राप्ति हो जायगी। आगे चलकर ऐसा ही हुआ।

कुन्ती माता की आज्ञा से द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनीं। कहीं कालान्तर में इस विषय को लेकर भाइयों में विरोध न हो जाय अत: देवर्षि नारद के सुझाव पर पाण्डवों ने यह नियम बनाया कि जिस समय द्रौपदी एक भाई के पास एकान्त में रहे, उस समय कोई दूसरा भाई यदि उसके कमरे में चला जाय तो वह बारह वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया जाय। एक दिन कुछ लुटेरे किसी ब्राह्मण की गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मण ने आकर पाण्डवों के सामने पुकार की। अर्जुन ने ब्राह्मणों की करुण पुकार सुनी और उन्हें गौओं को छुड़ाकर लाने का वचन दिया परन्तु उनके शस्त्र उस घर में थे जहाँ बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए थे। अर्जुन बड़े असमञ्जस में पड़ गये। अर्जुन को निर्णय करते देर नहीं लगी—उन्होंने निश्चय किया—नियम भंग के कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित क्यों न करना पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायें, ब्राह्मण के गोधन की रक्षा करके अपराधियों को दण्ड देना

मेरा धर्म है और वह मेरे जीवन की रक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है। अर्जुन ने ब्राह्मण की गौयें छुड़ाकर ब्राह्मण को सौंपा और श्रीयुधिष्ठिरजी के लाख समझाने पर भी बारह साल के लिए वनवास की दीक्षा लेकर वहाँ से चल पड़े। धन्य ब्रह्मण्यता, धन्य सत्प्रतिज्ञा और नियम पालन की तत्परता।।

एक बार महर्षि गालव जब प्रातःकाल सूर्य को अर्ध्य प्रदान कर रहे थे, तो उनकी अञ्जलि में आकाश मार्ग से जाते हुए चित्रसेन गन्धर्व की थूकी हुई पीक गिर पड़ी। मुनि रुक गये फिर उन्होंने जाकर भगवान श्रीकृष्ण से फरियाद की। ब्रह्मण्यदेव प्रभु ने प्रतिज्ञा कर ली—चौबीस घण्टों के अन्दर चित्रसेन को मार डालने की। संयोग से उसी समय कौतुकी श्रीनारदजी आ पहुँचे और स्वागत सत्कारोपरान्त जब नारदजी को श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा की जानकारी हुई तो वे मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। इसलिये कि उन्हें अब कुछ कौतुक की सामग्री मिल गई। चल पड़े प्रभु को प्रणाम कर और झट पहुँचे चित्रसेन के पास। मुनि को उदासीन-सा देखकर जब चित्रसेन ने कारण पूछा तो मुनि ने श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा सुनाते हुए गन्धर्वराज को चेतावनी दी कि अपना कल्याण चाहते हो तो कुछ दान-पुण्य कर लो। अब थोड़े ही देर के मेहमान हो। बस केवल चौबीस घण्टे के।

बेचारे चित्रसेन का होश उड़ गया। इन्द्र-पुत्र जयन्त की सी दशा हो गई। सभी लोकों में लोकपालों के पास गया परन्तु—'काहू बैठन कहा न ओही।' भला भगवान से कौन शत्रुता मोल ले। अन्ततो गत्वा चित्रसेन ने श्रीनारदजी की ही शरण ली। जयन्त का कल्याण भी श्रीनारदजी के उपदेश से ही हुआ था। फिर तो 'लागि दया कोमल चित सन्ता।' इन्होंने चित्रसेन को उपाय बताया—'अर्धरात्रि को यमुना तट पर जाकर क्रन्दन करना। एक स्त्री तुम्हारे पास आकर तुम्हारे दुःख का कारण पूछेगी, परन्तु जब तक वह दुःख निवारण की प्रतिज्ञा न कर ले तब तक तुम अपने कष्ट का कारण नहीं बताना। देवर्षि चित्रसेन को सान्त्वना देकर पहुँच गये अर्जुन के महल में महारानी सुभद्रा के पास। बोले—'सुभद्रे! आज बड़ा ही महत्वपूर्ण पर्व है। आज अर्धरात्रि को यमुना स्नान कर किसी दीन दुःखी की रक्षा करने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होगी। 'मृषा न होइ देव रिषि बानी।' सुभद्रा ने निश्चित समय पर यमुना स्नान कर, किसी के करुण-स्वर में रोने की आवाज सुनकर, उसके समीप जाकर दुःख का कारण जानने की चेष्टा की, परन्तु पक्के गुरु का चेला चित्रसेन भला यों ही कब कहने लगा। अन्त में इनके प्रतिज्ञाबद्ध होने पर ही उसने स्थिति स्पष्ट की। सुभद्रा बड़े धर्मसंकट में पड़ गईं। अन्त में शरणागत-परित्राण का निश्चय करके वे उसे अपने साथ ले आईं और समस्त वृत्तान्त श्रीअर्जुन को सुना दिया। अर्जुन ने सुभद्रा और चित्रसेन दोनों को आश्वासन दिया।

इधर देवर्षिवर्य ने द्वारका पहुँचकर चित्रसेन, सुभद्रा और अर्जुन का हाल श्रीद्वारकानाथ से निवेदन किया। श्रीकृष्ण ने नारदजी के माध्यम से अर्जुन को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ। शरणागतवत्सल अर्जुन ने अपना निश्चय सुना दिया—'**शरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पाँवर पाप मय तिन्हहिं बिलोकत हानि।। मम पन शरनागत भय हारी।**' परिणाम स्वरूप श्रीकृष्ण और अर्जुन में तुमुल युद्ध छिड़ गया। कैसा अद्भुत संग्राम है यह भक्त और भगवान का। दोनों ही अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं। सुलह की कोई सम्भावना नहीं। असमय में प्रलयकाल का सा दृश्य उपस्थित हो गया। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान श्रीशिव ने आकर प्रभु से निवेदन किया—नाथ! 'राम सदा

सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी।।' इस विरद को स्मरण कर इस लीला को यहीं समाप्त कीजिये। आपने सदा सर्वदा से अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर भक्त की प्रतिज्ञा रखी है—'यह नई रीति न राउरि होई। लोकहुँ वेद विदित नहिं गोई।।' युद्ध समाप्त हो गया—दोनों ने श्रीशिवजी का उपकार माना। परस्पर हृदय लगाकर मिले। सर्वत्र सुख शान्ति छा गई। परन्तु महर्षि गालव का क्रोध भभक उठा वे अपनी शाप-शक्ति से श्रीकृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा, और चित्रसेन को भस्म करने के लिए हाथ में जल लिये, तब तक सुभद्रा बोल उठी—मैं यदि श्रीकृष्ण की भक्त होऊँ और अर्जुन के प्रति मेरा पातिव्रत्य पूर्ण हो तो यह जल ऋषि के हाथ से पृथ्वी पर न गिरे। ऐसा ही हुआ, ऋषि संकुचित हो गये। चित्रसेन ने जान-बूझकर ऋषि की अवहेलना की हो, सो बात नहीं थी अतः ऋषि ने भी परिस्थिति की वास्तविकता समझकर प्रभु को नमस्कार कर अपने आश्रम को प्रस्थान किया। शरणागत की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व श्रीकृष्ण से भी युद्ध करना अर्जुन की शरणागत वत्सलता में चार चाँद लगा देता है। (सत्कथाङ्क)

अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण के तो कृपापात्र थे ही, भगवान शङ्कर की भी इनके ऊपर बड़ी कृपा थी। एक बार अर्जुनजी ने इन्द्र की प्रेरणा से अपनी कठोर तपस्या के द्वारा औढर दानी शिव को सन्तुष्ट कर दिया। वे आशुतोष भगवान इनके ऊपर कृपा करने के लिए एक भील के रूप में इनके सामने प्रगट हुए। एक जङ्गली सूअर को लेकर—मैंने मारा—यह कहते हुए दोनों में विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनों में भीषण युद्ध हुआ। अर्जुन ने अपने अस्त्र कौशल से भी शिव को सन्तुष्ट कर दिया, तब भगवान शङ्कर ने देवी पार्वतीजी के सहित अर्जुन को दर्शन दिया। परम दिव्य पाशुपतास्त्र की शिक्षा के साथ-साथ वेदतत्व का भी उपदेश किया। इतना ही नहीं महाभारत के युद्ध में अर्जुन के आगे-आगे श्रीशिवजी त्रिशूल धारण कर शत्रु का संहार करते चलते थे। यह अर्जुन ने अपने आँखों से देखा था।

एक बार भगवान शिवजी के श्रीमुख से भक्तों की महिमा सुनकर भगवती पार्वतीजी ने भागवत-दर्शन की अभिलाषा प्रगट किया। आशुतोष भोलानाथ अपनी प्राण प्रिया को साथ लेकर श्रीकृष्ण सखा अर्जुन के महल के द्वार पर जाकर द्वारपाल से अर्जुन का पता पूछे। यह जानकर कि वे अभी शयन कर रहे हैं इधर पार्वतीजी दर्शन के लिये अधीर हो रही हैं, श्रीशिवजी ने अर्जुनजी को जगाने के लिये भगवान श्रीकृष्णजी का स्मरण किया। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान तत्काल ही मित्र उद्धव, देवी रुक्मिणी और सत्यभामा के सहित आ उपस्थित हुए और श्रीशिवजी के कहने पर शयन कक्ष में जाकर देखा कि अर्जुन सो रहे हैं, सिरहाने बैठी सुभद्राजी पंखा झल रही हैं। श्रीकृष्ण को देखते ही सुभद्रा उठ खड़ी हुई, उनकी जगह पर सत्यभामाजी विराजमान होकर पंखा झलने लगीं, उद्धवजी भी एक पंखा लेकर डुलाने लगे। तब तक एकाएक चकित होकर ऊधव सत्यभामा की ओर और सत्यभामा ऊधव की ओर देखने लगीं। सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण ने जब आश्चर्य का हेतु पूछा तब ऊधव ने कहा—हे प्रभो! अर्जुन के रोम-रोम से 'श्रीकृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। श्रीरुक्मिणीजी ने कहा—नाथ! पैरों से भी वही आवाज आ रही है। जब समीप जाकर भगवान ने सुना तो यही अनुभव किया कि सचमुच अर्जुन के प्रत्येक रोम-तारों से श्रीकृष्ण नाम की झनकार निकल रही है। तब तो भाववश्य भगवान उन्हें जगाना भूलकर स्वयं भी उनके चरण दबाने लगे। प्रभु के परम सुकोमल श्रीकरकमलों का संस्पर्श होते ही अर्जुन की निद्रा और भी प्रगाढ़ हो गई।

बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद श्रीशिवजी ने ब्रह्माजी को बुलाकर अर्जुन को जगाने के लिये भेजा। किन्तु अन्त:पुर में पहुँचने पर ब्रह्माजी भी अर्जुन के रोम-रोम से 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि सुनकर और स्वयं भगवानको अपने भक्त के पाँव पलोटते देखकर अपने प्रेमावेश को न रोक सके। अपने चारों मुखों से वेद स्तुति करने लगे। बिलम्ब देखकर शिवजी ने नारदजी को भेजा, परन्तु नारदजी भी जगाना भूलकर श्रीकृष्ण-कीर्तन में तल्लीन हो गये। कीर्तन की ध्वनि सुनकर शिवजी अब अपने को नहीं सम्भाल सके वे भी पार्वतीजी के साथ तुरन्त ही अन्त:पुर में पहुँचकर, वहाँ का विचित्र दृश्य देखकर प्रेम में विभोर होकर ताण्डव नृत्य करने लगे। साथ ही पार्वतीजी भी सुमधुर वाणी से हरि-गुण गान करने लगीं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज प्रेम समुद्र में डूब गया। पार्वतीजी महाभागवत का दर्शन कर कृतार्थ हुईं। धन्य प्रेम।। (सत्कथाङ्क)

श्रीनकुल और सहदेव—'माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः।।' भगवान वेदव्यास जी लिखते हैं कि युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी—ये छः व्यक्ति एक ही हृदय रखते थे। यथा— **राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः। नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम्।।** (म०भा०) यह कथन साक्षात् नर ऋषि के अवतार श्रीअर्जुनजी का श्रीवसुदेवजी से वार्ता के प्रसङ्ग में मौसल पर्व में आया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाँचों पाण्डव समान रूप, शील, गुण, शौर्य, पराक्रम, भक्ति-भावना वाले थे। पूर्व जैसा श्रीयुधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के कतिपय गुणों के उल्लेख के साथ-साथ इन लोगों की श्रीकृष्ण-प्रीति का वर्णन आया है वैसा ही श्रीनकुल और सहदेव का भी समझना चाहिये।

श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ के अवसर पर धर्मराज की इस जिज्ञासा पर कि सर्वप्रथम किसकी पूजा होनी चाहिए, श्रीभीष्मजी के इस निर्णय का कि 'भगवान श्रीकृष्ण ही अग्र-पूजा के योग्य हैं' समर्थन करते हुए श्रीसहदेवजी ने भीष्मजी की आज्ञा से वृष्णिकुल-भूषण भगवान श्रीकृष्ण को विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य- पाद्यादि निवेदन किया—**तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्। उपजह्रेऽथ विधिवद वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम्।।** (म० भा०)

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार तो—सभासद लोगों के इस विषय पर विचार-विमर्श करने पर कि सदस्यों में पहले किसकी अग्रपूजा होनी चाहिए? जितनी मति, उतने मत। ऐसी स्थिति में श्रीसहदेवजी ने कहा है—'यदुवंश शिरोमणि भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण ही सदस्यों में सर्वश्रेष्ठ और अग्रपूजा के पात्र हैं। क्योंकि यही समस्त देवताओं के रूप में हैं। यह सारा विश्व, समस्त यज्ञ, अग्नि, आहुति, मन्त्र आदि सभी श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं। सभासदो! मैं कहाँ तक वर्णन करूँ—भगवान श्रीकृष्ण वह एकरस अद्वितीय ब्रह्म हैं जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद नाममात्र भी नहीं है। इसलिए सबसे महान भगवान श्रीकृष्ण की ही अग्र-पूजा होनी चाहिये। इनकी पूजा होने से समस्त प्राणियों की तथा अपनी भी पूजा हो जाती है। उस समय धर्मराज युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा में जितने सत्पुरुष उपस्थित थे, सबने एक स्वर से बहुत ठीक है, बहुत ठीक है, कहकर सहदेव की बात का समर्थ किया, तब श्रीयुधिष्ठिरजी ने प्रेमोद्रेक से विह्वल होकर भगवान श्रीकृष्ण की पूजा की। ऐसे तत्व-निर्णायक थे श्रीसहदेवजी।

पश्चात् शिशुपाल ने जब श्रीकृष्ण की अग्र-पूजा पर आक्षेप किया तो श्रीसहदेवजी ने उसके आक्षेपों का मुँह तोड़ उत्तर देते हुए यह बात कही थी—राजाओ! केशी दैत्य का वध करने वाले अनन्त

पराक्रमी भगवान श्रीकृष्ण की मेरे द्वारा जो पूजा की गई है, उसे आप लोगों में से जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानों के मस्तक पर मैंने यह पैर रख दिया। मैंने खूब समझ सोचकर यह बात कही है। जो इस बात का उत्तर देना चाहे वह सामने आ जाय। तथा 'जो बुद्धिमान राजा हों वे मेरे द्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्य निवेदन के सर्वथा योग्य भगवान श्रीकृष्ण की पूजा का हृदय से अनुमोदन करें। उपर्युक्त कथन में श्रीसहदेवजी ने श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व एवं सब-विधि सम्मान्य स्वीकार किया है।

श्रीनकुल और सहदेव के गुणों का वर्णन करती हुई श्रीद्रौपदीजी कहती हैं—

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी।
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एव वीरो नकुलो पतिर्मे।।

अर्थ—जो समस्त धर्म और अर्थ के निश्चय को जानते हैं, भय से भीत मनुष्यों का भय दूर करने वाले हैं, जो परम बुद्धिमान हैं, अपने बड़े भाइयों की सेवा में तत्पर रहने वाले और उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, वे ही मेरे वीर पति नकुल हैं। पुनः—

बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः।
स एष सूरो नित्यममर्षणश्च, धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे।।
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैष व्याहरेद्धर्मबाह्यम्।।

अर्थ—बुद्धि में जिनकी समानता करने वाला कोई नहीं है। जो अच्छे वक्ता और सत्पुरुषों की सभा में सिद्धान्त के ज्ञाता माने गये हैं। ऐसे मेरे पति सहदेव शूर-वीर, सदा ईर्ष्या रहित, बुद्धिमान और विद्वान हैं। ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आग में प्रवेश कर सकते हैं, परन्तु धर्म के विरुद्ध कोई बात नहीं बोल सकते हैं।

श्रीकुन्ती जी

कुन्ती करतूति ऐसी करै कौन भूत प्राणी मांगति विपति जासों भाजैं सब जन हैं।
देख्यौ मुख चाहौं लाल देखे बिन हिये शाल हूजिये कृपाल नहीं दीजै वास वन हैं।।
देखि विकलाई प्रभु आँखि भरि आई फेरि घर ही को लाई कृष्ण प्राण तन धन हैं।
श्रवण वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो भयो वपु न्यारो अहो यही सांचो पन हैं।।७०।।

शब्दार्थ—करतूति=करनी, करतब, कर्तव्य, गुण। शाल=पीड़ा, दुःख। वपु न्यारो=शरीर छूटा, मरण।

भावार्थ—इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो श्रीकुन्तीजी के समान भगवान में प्रीति करे। जिन विपत्ति से सभी लोग दूर भागते हैं उसे कुन्तीजी ने भगवान से माँगा कि मुझ पर सदा विपत्ति रहे जिसमें आपका दर्शन होता है। हे लालन! मैं सदा तुम्हारे मुखारविन्द का दर्शन चाहती हूँ, बिना दर्शनों के हृदय में शूल लगने के समान दुःख होता है, या तो आप निकट रहकर सदा दर्शन दीजिये, नहीं तो विपत्ति रूप वनवास ही दीजिए। ऐसी व्याकुलता देखकर भगवान की आँखों में आँसू आ गये। द्वारका को प्रस्थान

करते हुए श्रीकृष्ण को फिर घर को ही लौटा लायीं। श्रीकृष्ण ही कुन्ती के तन, धन और प्राण थे। 'भूमि का भार उतारकर भगवान निज-धाम को चले गए'—यह सुनते ही उनके वियोग में कुन्तीजी से थोड़ा भी नहीं रहा गया। तुरन्त शरीर छूट गया। वे भगवद्धाम को चली गयीं। धन्य है यही सच्चा प्रेम-पण है।।७०।।

व्याख्या—सेवा, सदाचार, तप-त्याग, धैर्य-धर्म, प्रेम-प्रण की प्रतिमूर्ति, पाण्डवों की जननी श्रीवसुदेवजी की सगी बहिन, श्रीकृष्ण की बूआ, महाराज सूरसेन की लाड़िली बेटी तथा राजा कुन्तीभोज की दत्तक-पुत्री कुन्ती सिद्धिनामक देवी के अंश से उत्पन्न हुई थी। इनके दैवी गुण भी इसके प्रमाण हैं। समस्त सद्गुण बाल्यावस्था से ही इनमें पुञ्जीभूत थे। महर्षि दुर्वासा जैसे विकट तपस्वी को इन्होंने सेवा से सन्तुष्ट किया था पिता के घर पर ही। जब ऋषिराज को इनकी सेवा में ढूँढ़ने पर भी कोई त्रुटि नहीं मिली तो वे परम प्रसन्न होकर मन-भावता वर माँगने को कहे। परन्तु सर्वथा निष्काम हृदया कुन्ती ने ऋषि की प्रसन्नता को ही परम लाभ मानकर कोई वर नहीं माँगा। तब उन्होंने स्वेच्छा से उसे अथर्ववेद के शिरोभाग में आये हुए मन्त्रों का उपदेश दिया और कहा कि इन मन्त्रों के बल से तू जिस देवता का आवाहन करेगी वही तेरे अधीन हो जायेगा। यों कहकर दुर्वासाजी अन्तर्धान हो गये। आगे चलकर इसी मन्त्र के प्रभाव से महाराज पाण्डु के अनुरोध पर पाँच देवताओं के अंश से पाँच पुत्रों की प्राप्ति हुई। चर्चा पूर्व प्रसङ्गों में की जा चुकी है।

महाराज पाण्डु के स्वर्गवास तथा उनके साथ माद्री के सती हो जाने पर कुन्ती का जीवन कष्टों की कसौटी बन गया। धृतराष्ट्र की कुटिलता एवं दुर्योधन की दुर्नीति के कारण इन्हें पग-पग पर विपत्तियों से संघर्ष करना पड़ा, परन्तु धन्य देवी! तुमने भी कष्ट चुपचाप सह लिये, लेकिन धर्म और धैर्य नहीं छोड़ा। विशेष बात तो यह थी कि कुन्ती माता जहाँ अपने ऊपर आई आपत्तियों को सहन करने में कुलिशाधिक कठोर थीं वहीं दूसरे का रंचमात्र दु:ख भी इनसे देखा नहीं जाता था फिर तो किसी भी उपाय से उसका दु:ख दूर करने के लिए प्रस्तुत हो जातीं। एक चक्रा नगरी में ब्राह्मण के घर निवास काल में बकासुर के द्वारा प्राप्त ब्राह्मण परिवार के सङ्कट को दूर करने में कुन्ती ने जिस विशाल हृदयता का परिचय दिया, वह अवर्णनीय है। बिलखते ब्राह्मण- ब्राह्मणी के समीप जाकर कुन्ती ने कहा—महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक कन्या है। मेरे तो आपकी कृपा से पाँच पुत्र हैं। आप चिन्ता न करें, राक्षस को भोजन पहुँचाने के लिए मैं उनमें से किसी को भेज दूँगी। ब्राह्मण की रक्षा के लिए बिना किसी झिझक के अपने पुत्र को राक्षस के पास भेजना यह आपकी अद्भुत ब्रह्मण्यता है वैसे कुन्ती माता को दृढ़ विश्वास है कि वह राक्षस मेरे बेटे का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यह बात उन्होंने ब्राह्मण से कह भी दिया था। (विशेष देखिये-भीमसेन का प्रसङ्ग)

पाण्डवों की आदि गुरु भी माता कुन्ती ही हैं। स्वयं कर्त्तव्यों का दृढ़ता से पालन करते हुए हमेशा अपने पुत्रों को कर्त्तव्यपरायणता की शिक्षा देती रहती थीं। वनवास काल में वीरमाता कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा पुत्रों को क्षत्रिय धर्म पर डटे रहने का संदेश भेजा था। युद्ध का निश्चय होने पर उन्होंने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में पुत्रों को संदेश भेजा—पुत्रो! जिस कार्य के लिये क्षत्राणी पुत्र उत्सव करती है, उस कार्य के करने का अवसर आ गया है। इस समय तुम लोग मेरे दूध को न लजाना। माँ की मंगलकामना पुत्रों के साथ रही। विजय पाण्डवों की हुई। धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट पद पर अभिषिक्त हुए, श्रीकुन्ती

राजमाता बनीं। परन्तु इन्होंने अपने समस्त गौरव को भुलाकर पुत्र वियोग से दुःखी जेठ-जेठानी (धृतराष्ट्र और गान्धारी) की सेवा का भार स्वयं स्वीकार किया, उन्हें सब प्रकार से सुखी रखने का प्रयत्न करतीं। कैसा अद्‌भुत आदर्श जीवन है माता कुन्ती का। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि कुन्ती.......प्राणी।

मांगति विपति—श्रीयुधिष्ठिरजी का राज्याभिषेक हो जाने के बाद द्वारका जाने के लिए प्रस्तुत श्रीकृष्ण की अमित कृपा अनन्त उपकारों का स्मरण कर माता कुन्ती गद्‌गद होकर उनकी स्तुति करने लगती हैं। यथा—**कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च। नन्दगोप कुमाराय गोविन्दाय नमो नमः।।** (भा० १-८-२१) स्तुति प्रसङ्ग में ही कुन्ती ने भगवान के अवतार हेतुओं का बड़ा सारगर्भित वर्णन किया है। आप कहती हैं कि— आपने अजन्मा होकर भी जन्म क्यों लिया है, इसका कारण बताते हुए कोई-कोई महानुभाव यों कहते हैं कि जैसे मलयाचल की कीर्ति का विस्तार करने के लिये चन्दन प्रगट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त-पुण्यश्लोक राजा यदु की कीर्ति का विस्तार करने के लिये ही आपने उनके वंश में अवतार ग्रहण किया है।। दूसरे लोग यों कहते हैं कि वसुदेव और देवकी ने पूर्व जन्म में (सुतपा और पृश्नि के रूप में) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था, इसलिये आप अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण और दैत्यों के नाश के लिए उनके पुत्र बने।। कुछ लोग यों कहते हैं कि यह पृथ्वी समुद्र में डूबते हुए जहाज की तरह दैत्यों के भार से डगमगा रही थी, तब ब्रह्मा की प्रार्थना से उसका भार उतारने के लिए आप प्रकट हुए। कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जो लोग इस संसार में अज्ञानवश कामना और कर्मों के बन्धन में जकड़े हुए क्लेश पा रहे हैं, उन लोगों के लिये श्रवण और स्मरण करने योग्य लीला करने के विचार से ही आपने अवतार ग्रहण किया है तथा कोई-कोई तत्वदर्शी आचार्य यह कहते हैं कि—आप शुद्ध हृदय वाले, विचारशील, जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में अपनी प्रेममयी भक्ति का सृजन करने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। फिर हम अल्प बुद्धि स्त्रियाँ कैसे पहचान सकती हैं यथा—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोग विधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः।।"

(भा० १-८-२०)

अकारण करुण, करुणा वरुणालय श्रीकृष्ण कुन्ती के निर्मल हृदय के भाव-भरे उद्‌गारों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—बूआजी! आप आज्ञा करें, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ। भक्तवाञ्छा-कल्पतरु भगवान के इस परमौदार्यपूर्ण आश्वासन ने ब्रह्मादिक देवताओं को असमञ्जस में डाल दिया। मन ही मन विचार करने लगे कि जीवन भर विपत्तियों से झकझोरी गई कुन्ती आज इस अवसर पर न जाने किस लोक की सुख-सम्पदा माँगेगी। सबको अपने-अपने लोकों की पड़ गई। परन्तु धन्य कुन्ती! तूने तो अमरों को भी आश्चर्य में डाल दिया अपनी लोकोत्तर माँग को प्रस्तुत करके। कुन्ती ने कहा—कृष्ण! मैं जो माँगूँगी, वह तुम दे सकोगे? महादानी ने सबको सुनाते हुए अपना विरद बखाना—'मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं।' कुन्ती—तो सुनो—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्‌गुरो । भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम्।। (भा० १-८-२५)

अर्थ—जगद्‌गुरो! हमारे जीवन में सर्वदा पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें। क्योंकि विपत्तियों में निश्चित रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जाने पर फिर जन्म मृत्यु के चक्कर में नहीं आना पड़ता है।

विपत्ति की विशेष महिमा का वर्णन कर श्रीकुन्तीजी सुख-सम्पत्ति से होने वाली हानि का भी निरूपण करती हैं यथा–

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् । नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ।। (भा० १-८-२६)

अर्थ–ऊँचे कुल में जन्म, ऐश्वर्य विद्या और सम्पत्ति के कारण जिसका अभिमान बढ़ रहा है वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता, क्योंकि आप तो उन लोगों के नेत्र, वाणी, श्रवण और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के विषय बनते हैं जो सर्वथा अकिंचन हैं। अतः मैं तो यही चाहती हूँ कि विपद....। श्रीकबीरदासजी भी इसी का समर्थन करते हैं। यथा–सुख के माथे सिल परो, रामहिं देत भुलाय। बलिहारी वा दुःखकी, पल-पल नाम रटाय।। श्रीतुलसीदासजी का भी यही सम्मत है। यथा–सुख सम्पति परिवार बढ़ाई।......ए सब राम भगति के बाधक।। (रा०च०मा०) इसी को लक्ष्य करके किसी और कवि ने भी बड़ा सुन्दर कहा है–प्रियतम मिलैं उजार में, वहै उजार बजार। प्रियतम नहीं बजार में, वहै बजार उजार।। पुनः–**कहा करौं वैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छांह। अहमद ढाँक सुहावने, जहाँ प्रीतम गलबाँह।** अतः मांगति विपति।।

देख्यो मुख चाहों–

मेरी अँखियन को भूषण गिरधारी।
बलि बलि जाउँ छबीली छबि पर अति आनन्द सुखकारी।।
परम उदार चतुर चिन्तामणि दरस परस दुख हारी।
अतुल प्रताप तनक तुलसी दल मानत सेवाभारी।।
छीत स्वामि गिरिधरन बिसदजस गावत गोकुल नारी।
कहा बरनौं गुनगाथ नाथ के श्रीविट्ठल हृदय बिहारी।।१।।

अँखियन इहई टेव परी।
कहा करौं वारिज मुख ऊपर लागति ज्यौं भ्रमरी।।
यद्यपि हटकि हटकि राखति हौं तद्यपि होत खरी।
चितवति रहति चकोर चन्द ज्यो विसरत नाहिं घरी।।
गड़ि जो रहीं वा रूप जलधि में प्रेम पियूष भरी।
सूर तहां नग अङ्ग परस रस लूटत निधि सगरी।।

देखे बिनु हियेशाल–प्रेमी-जन समस्त दुःख सहर्ष सहने के लिये प्रस्तुत रहते हैं परन्तु प्रियतम-वियोग दुःख उनको असह्य होता है। यथा–'सब दुःख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं।।' (श्रीदशरथ वाक्य) कारण यह है कि–'प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होंहि न कृपा निधाना।।' (श्रीजानकी वचन)

श्रवण.........पन है–यथा–

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः।। (भा० १-१५-३३)

अर्थ—कुन्ती ने भी अर्जुन के मुख से यदुवंशियों के नाश और भगवान के स्वधाम गमन की बात सुनकर अनन्य भक्ति से अपने हृदय को भगवान श्रीकृष्ण में लगा दिया और सदा के लिये इस जन्म-मृत्यु रूप संसार से अपना मुँह मोड़ लिया अर्थात् नश्वर शरीर छोड़कर भगवत्पद में लीन हो गईं।। इस पर दृष्टान्त श्रीदशरथजी का—**बन्दउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहिं राम पद। बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।।** दूसरा दृष्टान्त—श्रीपद्मावतीजी का—(देखिये क० १६१) तथा मुरारिदास का (छप्पय १२८)

समस्त प्राणी जिस विपत्ति से, दुःख से भागते हैं उसी को भगवान के दर्शन स्मरण में सहायक होने से कुन्ती माता सदा-सर्वदा के लिये भगवान से याचना करती हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः। विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।।

अर्थ—विपत्ति यथार्थ में विपत्ति नहीं है। सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

श्रीजानकीजी का सन्देश सुनाते हुए श्रीहनुमानजी ने भी यही कहा है। यथा—'कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई।।' (रा०च०म०) पुनः—सा हानिस्तन्महच्छिद्रं तद्धि दुःखं महत्तमम्। यदा पुंसो हरेर्नाम विस्मरणं किल जायते।। (भक्तिरसायन) अर्थ—मनुष्य को जब भगवन्नाम का विस्मरण हो जाता है, तो उसके लिए वही सबसे बड़ी हानि है, सबसे बड़ा दोष है तथा सबसे बड़ा दुःख है। श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं—'हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नरतन पाई।। लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहिं गावहिं श्रुति सन्त पुराना।।' (रा०च०मा०)

श्रीद्रौपदीजी

द्रौपदी सती की बात कहै ऐसो कौन पटु खैंचत ही पट पट कोटि गुने भये हैं।
द्वारका के नाथ जब बोली तब साथ हुते द्वारका सों फेरि आये भक्त वाणी नये हैं।।
गये दुर्वासा ऋषि वन में पठाये नीच धर्म पुत्र बोले विनय आवै पन लये हैं।
भोजन निवारि तिया आइ कही सोच पर्‌यो चाहै तनु त्याग्यौ कह्यो कृष्ण कहूँ गये हैं।।७१।।

भावार्थ—पटु=चतुर (कवि)। पट=वस्त्र। निवारि=निवेर कर, समाप्त कर। नये=नहे, नथे, बँधे, नम्र झुके।

भावार्थ—ऐसा कौन चतुर कवि है जो पतिव्रता श्रीद्रौपदीजी के चरित्र का वर्णन कर सके। श्रीकृष्ण में इनका अटल विश्वास और प्रेम था। दुर्योधन ने कपट से जुआ में युधिष्ठिर को हराकर सर्वस्व के साथ द्रौपदी को भी जीत लिया। दुष्ट दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने के लिये उनके वस्त्र खींचने लगा। उसी समय उनके वस्त्र करोड़ों गुने बढ़ गये। अपनी लाज बचाने के लिए द्रौपदीजी ने जब पुकारा कि—हे द्वारकानाथ! दुष्टों से मेरी रक्षा करो। उस समय यद्यपि भगवान द्रौपदी के समीप ही थे क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं, परन्तु द्रौपदी ने 'द्वारका के नाथ' यह कहकर पुकारा था इसलिए वे अपने भक्त की वाणी सत्य करने के लिए द्वारका से ही अति शीघ्र दौड़कर आए। भगवान भक्त की वाणी में नथे हैं। दुष्टों को दण्ड नहीं दे सके अतः संकुचित हैं।

जिस समय पाण्डव द्रौपदी समेत वनवास कर रहे थे उसी समय दुर्योधन ने प्रार्थना करके दुर्वासाजी को भेजा कि—आप अपने दस हजार शिष्यों समेत वन में जाकर उस समय युधिष्ठिर के अतिथि बनिये जब कि द्रौपदी समेत सभी पाण्डव भोजन कर चुके हों। वन में दुर्वासाजी को देखते ही युधिष्ठिरजी ने सविनय भोजनार्थ निमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि हम जिस नित्य नियम का प्रण लिये हैं उसको करके अभी आते हैं। युधिष्ठिरजी ने कहा—ऋषियो के लिए भोजन तैयार करो। द्रौपदीजी ने कहा—अब तो मैं स्वयं भोजन कर चुकी और सूर्य के द्वारा दिये हुए उस पात्र को धोकर साफ कर चुकी यह सुनकर युधिष्ठिर आदि सभी भाइयों को बड़ा शोक हुआ। वे बोले—यदि उन्हें भोजन न मिला तो वे शाप से भस्म कर देंगे अतः अच्छा यही है कि काष्ठ एकत्र करो, हम पहले ही जल जांय। जिससे ब्राह्मण का अपमान तो न हो। तब द्रौपदीजी ने कहा कि— आप इतने चिन्तिन क्यों होते हैं, क्या सदा सहायता करने वाले श्रीकृष्ण कहीं चले गये हैं।।७१।।

व्याख्या—द्रौपदी सती—द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता। द्रुपदस्य कुले कन्या वेदि- मध्यादनिन्दता।। (म०भा०) अर्थ—सती-साध्वी द्रौपदी शची (इन्द्राणी) के अंश से उत्पन्न हुईं थीं। वह राजा द्रुपद के कुल में यज्ञ की वेदी के मध्य भाग से एक अनिन्द्य परम सुन्दरी कुमारी कन्या के रूप में प्रगट हुईं थीं। पाञ्चाल नरेश राजा द्रुपद ने महर्षि याज और उपयाज के आचार्यत्व में पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था, जिसमें विधि पूर्वक तैयार की गई पुत्र संस्कार युक्त हविष्य की आहुति को अग्नि में डालते ही उस अग्नि से प्रथम देवता के समान तेजस्वी एक कुमार, पश्चात् एक कन्या प्रकट हुई। कुमार का नाम धृष्टद्युम्न हुआ और कन्या का नाम कृष्णा रखा। द्रुपद पुत्री से होने से द्रौपदी कहलायीं।

पूर्व जन्म में ये ऋषि-कन्या थीं। अपने अनुरूप सर्व-शुभ लक्षण सम्पन्न पति की प्राप्ति के लिए इन्होंने उग्र तपस्या के द्वारा भगवान शङ्कर को प्रसन्न किया। भगवान शिव ने इनसे मन-भावता वर माँगने को कहा। यह आनन्दातिरेक में पाँच बार—'मुझे सर्वगुण-सम्पन्न पति प्राप्त हो।' इस वाक्य को दुहराईं। तब श्रीशिव ने कहा—भद्रे ! तुमने मुझसे पाँच बार यह वर माँगा है, अतः तुम्हारे पाँच भरतवंशी पति होंगे। इसी वरदान के फलस्वरूप इस जन्म में द्रुपदकुमारी पाँचों पाण्डवों की पत्नी हुईं और यही कारण है कि पञ्चभर्त्री होने परभी इन्हें सती कहा गया है। इस पर दृष्टान्त—प्रचेता गणों का—ये दस थे। इन दसों की पत्नी एक थी। (देखिये छप्पय १०)

दूसरी कथा—यह पूर्व कहा जा चुका है कि द्रौपदी शची (इन्द्राणी) के अंश से उत्पन्न हुई थीं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार पाँचों पाण्डवों के रूप में इन्द्र ने ही पाँच रूप धारण किया था। कथा इस प्रकार से है—जब देवराज इन्द्र ने त्वष्ट्रा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप का वध किया तो इस अन्याय के कारण इन्द्र का तेज इनके शरीर से निकलकर धर्मराज के शरीर में प्रवेश कर गया। वृत्रासुर का वध करने पर इन्द्र के शरीर से उनका बल निकलकर वायु देवता में समा गया। जब इन्द्र ने गौतम-पत्नी अहिल्या के साथ व्यभिचार किया तो उस समय उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का लावण्य इन्द्र को छोड़कर दोनों अश्विनीकुमारों के पास चला गया। पुत्र की कामना से जब कुन्ती ने धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों का आह्वान किया तो ये देवता इन्द्र के ही तेज बल, रूप को कुन्ती में स्थापित किये थे, स्वयं इन्द्र ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का अर्द्धांश कुन्ती के गर्भ में स्थापित किया था। इस प्रकार इन्द्र ही पाँचों पाण्डवों के रूप में प्रगट होकर द्रौपदी का वरण किये। अतः पंचभर्त्री होकर भी द्रौपदी सती ही कही गई हैं।

तीसरी कथा—भारतसार संग्रह में लिखा है कि एकबार कपिला गौ के पीछे पाँच वृषभों को लगे देखकर सतीजी तथा गङ्गाजी ने उपहास किया था कि देखो—इसे एक वृषभ से सन्तोष नहीं होता है, पाँच-पाँच लिये डोल रही है। इस बात को सुनकर कपिला ने शाप दिया कि हम तो पशु हैं। हमारे लिए कोई लाज की बात नहीं है, तुम मानवी होकर पाँच पतियों की पत्नी बनोगी। यह सुनकर सतीजी बहुत दु:खित हुईं तो शिवजी ने समझाया कि दु:खी मत हो, मैं ही पाँच रूप से तुम्हें वरण करूँगा वही श्रीशिवजी ही प्रथम धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों में अपनी शक्ति सन्निहित कर दिये। पश्चात् कुन्ती के द्वारा आह्वान किये जाने पर इन देवताओं द्वारा शिव-शक्ति की ही कुन्ती और माद्री के गर्भ में प्रतिष्ठा की गई। जिससे पाँचों पाण्डव हुए चूँकि ये सभी शिवांश हैं अत: पाँचों द्वारा वरण किये जाने पर भी द्रौपदी सती ही हैं। श्रीगङ्गाजी भी उसी श्राप के फलस्वरूप शान्तनुजी की पत्नी बनीं।

बात कहै ऐसो कौन पटु—द्रौपदी के अगाध विश्वास, अनन्य निष्ठा, अविचल प्रीति का वर्णन करना बड़े-बड़े प्रवीणों के वश के बाहर की बात है। जबकि स्वयं भगवान ही कहने में थकित हो जाते हैं। यथा—"प्रीति प्रतीति द्रुपद तनया की को कहि सकै बखानी। 'देव' दीन की कहा चलावै हार हरी ने मानी।।"

'खैंचत......भये हैं'—महात्मा विदुर के घोर विरोध करने पर भी दुष्ट दु:शासन द्वारा केश पकड़ कर सभा में लाई गई द्रौपदी ने सभा में उपस्थित भीष्म पितामह आदि प्रमुख धर्म-निर्णायकों से प्रश्न किया—आप लोग मुझे यह बताने की कृपा करें—'मैं धर्म पूर्वक जीती गई हूँ या नहीं?' परन्तु सिवा मौन के और कोई उत्तर नहीं मिला—"भीषम द्रोण रहे गहि मौन, दु:शासन अम्बर लेन चहा है।" पश्चात् उसने अपने पतियों की ओर देखा—'**तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितान पश्यत्।।**' परन्तु वे भी विवश थे धर्म और धर्मराज के सामने। वर्णन आया है—द्रौपदी का यह दु:ख भीमसेन की सहन-शक्ति से बाहर हो गया। वे दु:ख और क्रोध- वश विवेक को नहीं सँभाल सके। श्रीयुधिष्ठिरजी से बोले—'राजन्! द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आप पर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। मैं आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा—जिनसे आपने जूआ खेलने जैसा निन्द्य कार्य किया। सहदेव! आग ले आओ। श्रीअर्जुनजी ने भीमसेन को समझा-बुझाकर शान्त किया। गुरुजन मौन हैं, पाँचों पति धर्म के बन्धन में जकड़े होने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं, मुझ अबला का बल ही कितना? यह सब विचारकर द्रौपदी ने भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया। यथा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय। कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।।
हे नाथ रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन। कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन। प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।। (म०भा०)

अर्थ—हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्गनाओं के प्राणबल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे सङ्कटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूपी समुद्र में डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। हे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! महायोगिन! विश्वात्मन्! विश्वभावन्! गोविन्द! कौरवों के बीच में कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबला की रक्षा कीजिये।

पुनः—पद—

द्रोपदी हरि सों टेरि कही।
भीषम करन द्रोण दुःशासन देखत बांह गही।।
लेत उसास निराश सभा में नैननि नीर बही।
पाँचों बन्धु पीठि दै ठाढ़े मैं अति सकुचि रही।।
तुम सुधि लेउ द्वारकावासी फाटत नाहिं मही।
मो पति पांच पांच के तुम पति यहँ पति कछु न रही।।
हा जगदीश राखु यहि अवसर प्रगट पुकारि कही।
सूरदास प्रभु तुम सब लायक मो पति राखु सही।।

पुनः— **द्रौपदी राम कृष्ण कहि टेरी।**
सुनत द्वारका ते उठि धायो जानि आपनी चेरी।।
रही लाज पछतात दुसासन अम्बर लाग्यो ढेरी।
हरिलीला अवलोकि चकित चित सकल सभा भुइँ हेरी।।

पुनः— **सभा सभासद निरखि पट, पकरि उठायो हाथ।**
तुलसी कियो इगारहों, वसन वेष यदुनाथ।।
त्राहि तीन कह्यो द्रौपदी, तुलसी राज समाज।
प्रथम बढ़े पट बिय विकल, चहत चकित निज काज।। (दो०)

प्रथम 'त्राहि' कहते ही वस्त्र बढ़ा, दूसरी में भगवान व्याकुल हो उठे कि इन दुष्टों का क्या करूँ? तीसरे में चकित होकर दुष्ट-संहाररूपी कार्य की इच्छा करने लगे अर्थात् दुःशासनादि कौरवों के संहार का निश्चय कर लिये। (भक्त की सच्चे मन से की हुई एक पुकार व्यर्थ नहीं जाती है।) पुनः—

द्रुपद सुता निरबल भइ तादिन तजि आये निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भइ वसन रूप भये श्याम।। (सूर)
कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुवीर।
दश सहस्र गजबल घट्यो घट्यो न दस गज चीर।।

क०— **दुर्जन दुशासन दुकूल गह्यो दीनबन्धु दीन ह्वै कै द्रुपद दुलारी यों पुकारी है।**
आपनो सुबल छांड़ि ठाढ़े पति पारथ से भीम महाभीम ग्रीव नीचे करि डारी है।।
अम्बर लौं अम्बर पहाड़ कीने 'शेष कवि' भीषम करन द्रोण सब यों विचारी है।
नारी मध्य सारी है कि सारी मध्य नारी है कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है।।

अतः कहे—'पट कोटि गुने भये हैं। भगवान ने द्रौपदी की लाज बचाई। परम भागवती द्रौपदी ने जब श्रीकृष्ण के समक्ष कृतज्ञता प्रकाशित किया तो परम कृतज्ञ प्रभु ने कहा—कृष्णा! मैंने क्या किया? तुमने तो अपना दिया ही पाया है। यथा—

आदि उर अंचल ते फारि बीज बोयौ तुम परम सुखेत हित हिय हुलसायो है।
श्रद्धासह दीन्हें दान होत हैं सहस गुन हमहूँ सुन्यो है अरु निगमहूँ गायो है।।
पुण्य को प्रभाव अब कहाँ लौं तिहारो कहौं हौं हूँ कैयो बेर सुजमायो अजमायो है।
प्रभू जू कहत हँसि हँसि सती द्रौपदी सों हम कहा कीन्हो तुम आपु दीन पायो है।।

नोट—राजसूय यज्ञ में शिशुपाल वध के लिए चक्र चलाते समय भगवान श्रीकृष्ण की अँगुली छिल गई थी। उस समय द्रौपदी ने तत्काल अपने सुहाग की रेशमी साड़ी फाड़कर पट्टी बाँधी थी। श्रीकृष्ण ने कहा—अरे कृष्णा! तुमने यह क्या किया? द्रौपदी ने कहा—

प्यारे घनश्याम यदि काम आवैं आपके निकाल दूं नसों को ये तो रेशम के धागे हैं।
धागे भी पुराने इन्हें दुर्लभ कौन माने न तो दुलहा के जोड़े हैं न दुलहिन के बागे हैं।।
मैंने कहाँ फाड़ा चीर रक्त देखि पीर धागे होइ के अधीर स्वयं चीर छोड़ भागे हैं।
वे धागे हैं अभागे कि जो बढ़े नहीं आगे भाग तिनही के जागे जो कि उँगली पर लागे हैं।।

दूसरी कथा—एक बार दुर्वासाजी स्नान कर रहे थे। संयोग की बात नदी की धार में लँगोटी बह गई। बड़े ही संकोच में पड़ गये। श्रीद्रौपदीजी वहीं स्नान कर रहीं थीं। मुनि की परिस्थिति को समझकर इन्होंने अपनी नई साड़ी फाड़कर मुनि को दे दिया। श्रीदुर्वासाजी ने आशीर्वाद दिया—कृष्णे! तूने मेरी लाज बचाया तो भगवान तेरी लाज बचायेंगे। इन हेतुओं से भगवान को ग्यारहवाँ वस्त्रावतार लेना पड़ा। तभी तो कहा गया है सत्पात्र को दिया गया दान कोटि गुना हो जाता है। यथा—

रितु वसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुमपात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात।।

भक्त वाणी नये हैं—इसलिए कि लाज तो रख दी परन्तु भक्त की लाज हरने वालों का प्राण नहीं हर लिया, भुजा नहीं काट ली, इसका संकोच है। प्रश्न—श्रीकृष्ण ने शिशुपाल की तरह दुर्योधन, दु:शासन के सिर क्यों न काट लिये? समाधान—इसलिए कि अभी ये थोड़े ही हैं। कुछ काल प्रतीक्षा करके मूल और ब्याज दोनों चुकाना चाहते हैं अर्थात् महाभारत युद्ध में इनके सहयोगियों सहित इनका विनाश करना है अत: अभी शान्त रहे। द्रौपदी का ऋण अभी पूर्णरूपेण नहीं चुका पाये, अत: नये हैं। यथा—श्रीकृष्ण वाक्य-''यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूर वासिनम्। ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।। अर्थ—कृष्णा! मुझ दूर द्वारकावासी को जो तुमने करुण स्वर से पुकारा, उसका मेरे ऊपर इतना ऋण हो गया है कि वस्त्र बढ़ाने पर भी चुका नहीं। इसकी मुझको चिन्ता बनी रहती है। भाव यह है कि जब तक उन दुष्टों का विनाश नहीं कर लूँगा तब तक मुझे सन्तोष नहीं होने का।

गये.......नीच—एक बार दुर्योधन ने पाण्डवों के अमंगल की कामना से महर्षि दुर्वासा को अपने आतिथ्य सत्कार से सन्तुष्ट कर वरदानोन्मुख महर्षि से वर माँगा कि—'यदि आपकी मुझ पर कृपा हो तो मेरी प्रार्थना से आप वन में पाण्डवों के पास ऐसे समय पर जाइये, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पातियों को भोजन कराकर, स्वयं भी भोजन करने के पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्राम कर रही हों।।

'सोच पर्‌यो'—बात यह थी कि वन जाते समय परम ब्रह्मण्य महाराज युधिष्ठिर के साथ बहुत से ब्राह्मण-गण मना करने पर भी, समझाने-बुझाने पर भी संग-संग चलने लगे। तब महाराज को इनके भोजनादि व्यवस्था की चिन्ता हुई तो पुरोहित धौम्यजी के उपदेशानुसार आपने भगवान सूर्य की आराधना की, तो भगवान भुवन भास्कर ने सन्तुष्ट होकर इन्हें एक अक्षय पात्र देते हुए कहा—राजन! यह मेरी दी हुई तांबे की बटलोई लो। सुव्रत! तुम्हारे रसोई घर में इस पात्र के द्वारा फल, मूल, भोजन करने के योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकार की सामग्री तैयार होगी वह तब तक अक्षय बनी रहेगी जब तक द्रौपदी स्वयं भोजन न कर लें। इस दिव्य अक्षय पात्र के प्रभाव से श्रीयुधिष्ठिरजी वन में भी चक्रवर्ती सम्राट की ही तरह रहते हुए अतिथि अभ्यागतों की समुचित सेवा करते रहते थे। दुर्योधन के कथनानुसार दुर्वासाजी उस समय पहुँचे जब द्रौपदी भोजनकर चुकी थीं। अब उस पात्र से कुछ मिलना सम्भव नहीं था, कुटी में दस हजार ऋषियों के लिए पर्याप्त संग्रहीत सामग्री थी नहीं अतः शोच पर्‌यो।

चाहैं तनु त्याग्यौ—इसलिये कि ब्राह्मण के शाप से दग्ध होने की अपेक्षा स्वतः शरीर त्याग श्रेष्ठ है। यथा—

नाहं विशंके सुरराज वज्रान्नत्र्यक्षशूलान् न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्क सोमानिलवित्तपास्त्राच्छंके भ्रशं ब्रह्मकुलावमानात्।। (भा० ५-१०-१७)

अर्थ—रहूगण कहते हैं कि—मुझे इन्द्र के वज्र का कोई डर नहीं है, न मैं महादेवजी के त्रिशूल से डरता हूँ और न यमराज के दण्ड से। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेर के अस्त्र-शस्त्रों का भी कोई भय नहीं है। परन्तु मैं ब्राह्मण कुल के अपमान से बहुत डरता हूँ।

कृष्ण कहूँ गये हैं—भाव यह है कि वे सदा सर्वदा साथ ही हैं। यथा—भक्तसंगे भ्रमत्येव छायेव सततं हरिः। चक्रेण रक्षते भक्तान् भक्त्या भक्त जनप्रियः।। (ब्रह्मवैवर्त पुराण) अर्थ—भगवान भक्तों के संग निरन्तर छाया की तरह फिरते रहते हैं और श्रीचक्रसुदर्शन के द्वारा भक्तों की रक्षा करते हैं क्योंकि भक्तों की भक्ति आपको अति प्रिय है।। द्रौपदीजी के इस शब्द में उनके हृदय का अगाध विश्वास ही मूर्तिमान दिखाई पड़ता है।

सुन्यो भागवती को वचन भक्तिभाव भर्‌यो कर्‌यो मन आये श्याम पूजे हिये काम है।
आवत ही कही मोहि भूख लागी देवो कछु महासकुचाये मागैं प्यारो नहीं धाम है।।
विश्व के भरण हार धरे हैं आहार अजू हमसों दुरावो कही वाणी अभिराम है।
लग्यो शाक पत्र पात्र जल सङ्ग पाइगये पूरण त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नाम है।।७२।।

शब्दार्थ—भागवती=भगवद्‌भक्ता वैष्णवी, भाग्यशालिनी। भरणहार—भरपेट खिलाने योग्य।

भावार्थ—परमभक्ता द्रौपदी की भक्तिभाव भरी वाणी सुनकर धर्मपुत्र ने श्रीकृष्ण का स्मरण किया। वे तुरन्त आ गये, उनके दर्शनों से हृदय की सब इच्छायें पूर्ण हो गईं। आते ही भगवान ने कहा—मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने के लिये दो। यह सुनकर सबको बड़ा संकोच हुआ कि—प्राण प्यारे प्रभु भोजन माँग रहे हैं और यहाँ कुछ भी नहीं है। संकुचित तथा मौन देखकर भगवान् ने बड़ी मीठी वाणी से

कहा कि—अजी! हमारी और शिष्यों समेत दुर्वासाजी की क्या चले, तुम्हारे यहाँ तो सम्पूर्ण विश्व को तृप्त कर देने भर का आहार रखा है, पर हमसे तुम छिपा रहे हो। द्रौपदी ने वह पात्र लाकर भगवान् के सामने रख दिया। उस पात्र में कहीं शाक के पत्ते का कण लगा रह गया था, भगवान उसे ही छुड़ाकर जल के साथ खा गए। इससे तीनों लोकों के जीवों का पेट भर गया। शिष्यों समेत दुर्वासाजी की तो गिनती ही क्या।।७२।।

व्याख्या—भागवती को वचन—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय। वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्ति विनाशन।।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय।।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर। आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मिते।।
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा। तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि।। (म०भा०)

महा.........धाम है—जहाँ प्रेमी प्रियतम का मुँह जोहता रहता है कि क्या खिला दूँ? क्या पिला दूँ? क्या दे दूँ? वहाँ आज प्यारे स्वयं माँग रहे हैं और देने को कुछ भी नहीं है। कैसी बेबसी है। उस समय प्रेमी पाण्डवों की जो दशा हुई होगी उसे कौन वर्णन कर सकता है। विचित्र बात तो यह थी कि भूख मिटाने के लिये जिसको बुलाया गया, वह स्वयं भी भूखा ही आया। आज का मुहूर्त ही ऐसा मालूम पड़ता है। सत्य संकल्प प्रभु के 'पूरण त्रिलोकी' यह कहते ही सचमुच त्रिलोकी पूर्णतृप्त हो गया और दुर्वासा प्रभृति ब्रह्मणों को तो अपच सा हो गया। कोई-कोई तो अपच निवारण मन्त्र पढ़ने लगे। यथा—

'अगस्त्यं कुम्भकर्णञ्च शनिञ्च बड़वानलम् । आहारपरिपाकाय स्मरेद् भीमं च पञ्चकम् ।'

कोउ अगस्त्यको मन्त्र उचारै । कोउ चूरण को हाथ पसारैं।।
कोऊ अमलबेत को याचैं । कोऊ पेट पीट के नांचैं।।
यह फल हरिजन के अपमाने । मनहिं विचारैं सकुचि सयाने।।
सन्ध्या पूजा सब कहँ भूली । माया विवश भई मति लूली।।
भीम बुलावन आवत जाने । भागि भागि वन मांझ लुकाने।।

यहाँ कोई शंका करे कि अत्यन्त अल्प शाकपत्र खाने से तथा केवल भगवान के खाने से त्रिलोकी कैसे तृप्त हो गयी? तो उसका समाधान यह है कि—

'अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तो पहृतं न मे तोषाय कल्पते।। (श्रीकृष्ण वाक्य)

अर्थ—छन्द- **कण मात्र भक्त का भोजन भी मैं प्रेम सहित ले खाता हूँ।**
यदि देय नहीं तो मांगि लेउँ नहिं पाऊँ तभी चुराता हूँ।।
कन मन भर होता है हमको हमसे त्रयलोकी छकती है।
विमुखोंका मनभर नहिं कन सम हिय प्रेमकी भूख धधकती है।। (भ० व० टि०)

पुनः— **यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।**
प्राणोपहाराश्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।। (भा० ४-३१-१४)

अर्थ—जिस प्रकार मूल के सिंचन से वृक्ष के स्कन्ध शाखा-प्रशाखायें, सभी तृप्त होती हैं, जैसे प्राणों को तृप्त करने के लिये खाया गया आहार सभी इन्द्रियों के लिए तृप्ति कर होता है वैसे ही भगवान की पूजा से सबका पूजन हो जाता है।।

वर्णन आया है कि शाक-पत्र पाकर सन्तृप्त भये भगवान श्रीकृष्ण ने भीमजी (महाभारत में सहदेव को) मुनियों को बुलाने के लिये भेजा। प्रथम तो भीम की समझ में नहीं आया कि यहाँ भोजन की तो कुछ तैयारी है नहीं, मैं कैसे बुलाने जाऊँ? परन्तु जब श्रीकृष्ण ने समझाया कि मैंने सबको पूर्ण कर दिया अब वे लोग पाने के लिए आवेंगे ही नहीं। आप तो जाओ—उनसे कहना कि भोजन तैयार है आप लोग चलिये, तब ऋषिजी आ तो सकते नहीं, आपको प्रसन्न करने के लिए वर माँगने को कहेंगे तब आप उनसे यही वर माँगना कि जिन दुष्टों ने हम लोगों का अमङ्गल करने के लिए आपको भेजा था उनका शीघ्र नाश हो। भीम गये। इन्हें देखते ही और ऋषि तो भाग खड़े हुए, दुर्वासाजी खड़े रहे। भीम के निवेदन करने पर मुनि ने कहा—भीमसेन! हम लोग आपका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण कर, प्रसन्न होकर वरदान ही तो देते, सो वरदान आप वैसे भी माँग लो, इस समय हम लोग कुछ खाने-पीने की स्थिति में नहीं हैं। फिर तो भीम ने वही वर माँगा जो भगवान ने सिखाया था। मुनि 'एवमस्तु' कहकर चले गये। भगवान की कृपा से दुष्ट दुर्योधन का प्रयत्न उलटे उसी के लिए विनाशक सिद्ध हुआ—तभी तो कहा गया है कि—'**तकै नीच जो मीच साधुकी सो सठ फिरि तेहि मीच मरै।।** (वि०)

महाभागवती श्रीद्रौपदीजी के हृदय की विशालता, ब्रह्मण्यता, धार्मिकता, न्यायप्रियता, निष्कपटता एवं कारुणिकता का एक साथ दर्शन कराने वाला वह प्रसंग बड़ा ही हृदय स्पर्शी है जब कि अन्यायी अश्वत्थामा ने रात्रि में शिविर में सोये हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मार डाला। पुत्र वत्सला द्रौपदी के दुःख का पारावार नहीं। महापराक्रमी अर्जुन ने द्रोण पुत्र का पीछा किया, भला वह इनसे भागकर जा ही कहाँ सकता है? अर्जुन ने आचार्य पुत्र को पशु की भाँति रस्सियों से बाँधकर द्रौपदीजी के सामने प्रस्तुत कर दिया। उस समय द्रौपदीजी ने जो कुछ किया और कहा है उससे उनकी महानता का पता चलता है। यथा—

तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन। निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वाम- स्वभावा कृपया ननाम च।। उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती। मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः। सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः। अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्।। स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते। तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी।। तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्। वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः।। मारोदीदस्य जननी गौतमी पति देवता। यथाऽऽहं- मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रु मुखी मुहुः।। यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः। तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् (भा० १/७/४२-४८)

अर्थ—द्रौपदी ने देखा कि अश्वत्थामा पशु की तरह बाँधकर लाया गया है। निन्दित कर्म करने के कारण उसका मुख नीचे की ओर झुका हुआ है। अपना अनिष्ट करने वाले गुरु पुत्र अश्वत्थामा को इस प्रकार अपमानित देखकर द्रौपदी का कोमल हृदय कृपा से भर आया और उसने अश्वत्थामा को नमस्कार किया।। गुरु पुत्र का इस प्रकार से बाँधकर लाया जाना सती द्रौपदी को सहन नहीं हुआ। उन्होंने

कहा—'छोड़ दो-छोड़ दो इन्हें।' ये ब्राह्मण हैं, हम लोगों के अत्यन्त पूजनीय हैं।। जिनकी कृपा से आपने रहस्य के साथ सारे धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहार के साथ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्र के रूप में आपके सामने खड़े हैं। उनकी अर्धाङ्गिनी कृपी अपने वीर पुत्र की ममता से ही अपने पति का अनुगमन नहीं कर सकीं। वे अभी जीवित हैं।। महाभाग्यवान् आर्य पुत्र! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं। जिस गुरुवंश की नित्य पूजा और वन्दना करनी चाहिए, उसी को व्यथा पहुँचाना आपके योग्य कार्य नहीं है।। जैसे अपने बच्चों के मर जाने से मैं दु:खी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखों से बार-बार आँसू निकल रहे हैं वैसे ही इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें।। जो उच्छृंखल राजा अपने कुकृत्यों से ब्राह्मण कुल को कुपित कर देते हैं, वह कुपित ब्राह्मण कुल उन राजाओं को सपरिवार शोकाग्नि में डालकर शीघ्र ही भस्म कर देता है।। कैसे आदर्श वचन हैं ये महाभागवती द्रौपदी के। फलत: मणि छीनकर अश्वत्थामा को छोड़ दिया गया।।

वनवास काल में एकबार भगवान श्रीकृष्ण अपनी रानियों सहित पाण्डवों से मिलने के लिये वन में गये। उस समय एकान्त में श्रीसत्यभामाजी ने श्रीद्रौपदीजी से वार्ता के सिलसिले में पूछा—प्रिय दर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सब तुम्हारे मुँह की ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे बताओ। मैं वह उपाय जानना चाहती हूँ। जो यश और भाग्य की वृद्धि करने वाला हो तथा जिससे प्यारे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें।। श्रीसत्यभामाजी की इस जिज्ञासा पर श्रीद्रौपदीजी ने महासतियों के परम पातिव्रत्य रूप असिधारा व्रत का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया जिसका सारांश यह है कि पतिव्रता के लिये मन, वचन, कर्म से पति की आराधना ही सर्वश्रेष्ठ वशीकरण है।

पद पङ्कज बांछौं सदा जिनके हरि नित उर बसैं।।
योगेश्वर श्रुतिदेव अंग मुचुकुन्द प्रियव्रत जेता।
पृथू परीक्षित शेष सूत शौनक परचेता।।
सतरूपा त्रय सुता सुनीति सती सब ही मन्दालस।
यज्ञपत्नि व्रजनारि किये केशव अपने वश।।
ऐसे नर नारी जितै तिनहीं के गाऊँ जसैं।
पदपङ्कज वांछौं सदा जिनके हरि नित उर बसैं।।१०।।

पाठान्तर—पद पंकज वन्दौं सदा।

शब्दार्थ—पदपंकज=चरण कमल। वांछौं=चाहता-मांगता हूँ। योगेश्वर=महान् योगी। जेता=विजयी, जितने। त्रय सुता=तीनों कन्यायें। सती= शिव पत्नी, पतिव्रता। जसैं=यशको।

भावार्थ—जिन भक्तों के हृदय में भगवान नित्य निवास करते हैं, मैं उनके चरणकमलों को प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ। नव योगेश्वर, श्रुतिदेव, राजा अङ्ग, मुचुकुन्दजी, विश्वविजयी प्रियव्रतजी, पृथुजी, परीक्षितजी, शेषजी, सूतजी, शौनकादि ऋषि, प्रचेता गण, शतरूपाजी, प्रसूतिजी, आकूति, देवहूतिजी,

सुनीतिजी, दक्षकन्या सतीजी, सम्पूर्ण सती वर्ग, मन्दालसा, यज्ञ पत्नियाँ और व्रजगोपियाँ जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लिया है। ऐसे जितने भी स्त्री पुरुष हैं मैं सदा उनके सुयश का गान करूँ।।१०।।

व्याख्या—पद.....सदा—भगवान श्रीरामजी भक्ति के साधन का निरूपण करते हुए श्री लक्ष्मणजी से कहते हैं—संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।। (रा०च०मा०) श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—भवसागर कहँ नाव शुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुःख हरन।। (वि०) पुनः—जो हरि भक्ति चहौ सुखदाई। सेवहु संत कमल पद भाई।। अतः पद....सदा।।

जिनके.....बसैं—भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—**बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम। तिनके हृदय कमल महँ, करौं सदा विश्राम।** श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामजी को निवास करने के लिये भक्तों का हृदय ही उपयुक्त स्थान बताया है। यथा—**तिनके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक।। 'तिनके हिय तुम कहँ गृह रूरे।' 'राम बसहु हिय तासु।' 'तिनके हृदय बसहु रघुराया।' 'तेहि के हृदय रहहु रघुराई।'** विशेष देखिये अगले छप्पय में महर्षि वाल्मीकिजी का प्रसङ्ग—

श्रीश्रुतिदेवजी

जिनहीं के हरि नित उर बसैं तिनहीं की पद-रेनु चैन दैन आभरन कीजियै।
योगेश्वर आदि रसस्वाद में प्रवीन महा विप्र श्रुतिदेव ताकी बात कहि दीजियै।।
आये हरि घर देखि गयो प्रेम भरि हियो ऊँचो कर करि पट फेरि मति भीजियै।
जिते साधु सङ्ग तिन्हैं विनय न प्रसंग कियौ कियो उपदेश मोसों बाढ़ पांव लीजियै।।७३।।

शब्दार्थ—चैन=परमानन्द। दैन=दायक। आभरण कीजिए=भूषणवत् मस्तक पर धारण कीजिए। मो सों=हम से। बाढ़=अधिक। पांव लीजिए=चरण स्पर्श करिए।

भावार्थ—जिन भक्तों के हृदय में सदा श्रीहरि वास करते हैं उनके चरणों की धूलि अखण्ड आनन्द देने वाली है, उसी को भूषण मानकर मस्तक पर धारण कीजिए। नव योगीश्वर आदि सभी भक्त प्रेमरस के आस्वादन में परम चतुर हैं। उनमें से श्रीश्रुतिदेवजी ब्राह्मण की बात कहता हूँ। भगवान को घर में आया देखकर इनका हृदय प्रेम से भर गया। दोनों हाथों को ऊँचे उठाकर वस्त्र फिरा-फिरा कर नाचने लगे। प्रेम में ऐसे मग्न हो गये कि श्रीकृष्ण के साथ आये हुए साधु-सन्तों का स्वागत-सत्कार विनय-प्रणाम आदि भी न कर सके। तब भगवान ने इन्हें सावधान करके उपदेश दिया कि—ये सन्त मुझसे भी बढ़कर श्रेष्ठ हैं, इनके चरणों का अर्चन-वन्दन करो।।७३।।

व्याख्या—पद रेनु—देखिये कवित्त २६।। **'नव योगेश्वर'**—देखिये छप्पय १३।।

श्रीश्रुतिदेवजी—आपका परिचय देते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—**कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतिदेव इतिश्रुतः। कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः।। स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी।।** (भा० १०-८६-१३-१४) अर्थ—विदेह की राजधानी मिथिला में एक गृहस्थ ब्राह्मण थे,

उनका नाम था श्रुतदेव। वे भगवान श्रीकृष्ण के परम भक्त थे, वे एकमात्र भगवद्भक्ति से ही पूर्ण मनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे। भगवान मुकुन्द के श्रीचरण कमलों में उनका मन ऐसा अनुरक्त हो गया था कि वे श्रीचरण-चिन्तन के अतिरिक्त शरीर-निर्वाह के लिये भी किसी प्रकार का उद्योग नहीं करते थे। **'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।** (गीता ९-२२) अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान इनका योगक्षेम वहन करते। उस देश के राजा वहुलाश्वजी भी विप्र श्रुतिदेव की तरह परम भागवत थे। दोनों को ही भगवान श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण को ये दोनों ही बड़े प्यारे थे।

स्यमन्तक मणि के लोभ से शतधन्वा ने श्रीसत्यभामा के पिता को रात्रि में सुप्तावस्था में मार डाला। समाचार पाकर श्रीकृष्ण और बलराम ने रथ पर बैठकर उसका पीछा किया। घोड़े पर बैठकर भागता हुआ शतधन्वा मिथिला नगर के बाहरी उपवन में पहुँचते-पहुँचते पकड़ा और मार डाला गया। श्रीबलरामजी विदेहराज बहुलाश्वजी के यहाँ चले गये परन्तु श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये। जब यह बात विप्र श्रुतिदेव और नृप बहुलाश्व को मालूम हुई तो वे बड़े ही व्याकुल हुए कि प्रभु यहाँ तक आये भी और हम लोगों को दर्शन नहीं हुआ तथा बलरामजी घर आये परन्तु प्रभु नहीं आये। निश्चय ही हमारे प्रेम में कमी हैं। फिर तो दोनों ही भागवत बड़े प्रेम से भगवदाराधन में लग गये तथा द्वारका जाकर भगवान का दर्शन करने का निश्चय किये। श्रीश्रुतिदेव एवं राजा बहुलाश्व—दोनों ही नित्य भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये श्रीद्वारका जाने की सोचते, परन्तु नित्य के नियमित भजन-पूजन से अवकाश ही नहीं मिलता कि जा पावें और भजन में ऐसी निष्ठा हो गई थी कि छोड़ते बनता नहीं। परिणाम यह हुआ कि आज-कल करते-करते एक वर्ष बीत गया— रोज चलने की तैयारी होती और रोज रह जाते। तब भगवान श्रीकृष्ण ने ही स्वयं एकबार उन दोनों पर प्रसन्न होकर दारुक से रथ मँगवाया और उस पर सवार होकर द्वारका से मिथिला को प्रस्थान किया। भगवान के साथ श्रीनारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, असित्, आरुणि और श्रीशुकदेवजी आदि ऋषि भी थे।

भगवान श्रीकृष्ण के शुभागमन का समाचार पाकर मिथिलापुर वासियों के आनन्द की सीमा नहीं रही, वे अपने हाथों में पूजा की विविध सामग्रियाँ लेकर उनकी अगवानी करने आये। मिथिला नरेश बहुलाश्व और विप्रश्रुति देव तो प्रभु के परमानुग्रह को विचारकर फूले नहीं समाये। दोनों ने ही आकर चरणों में गिरकर प्रणाम किया और दोनों ने ही एक साथ हाथ जोड़कर मुनि-मण्डली के सहित भगवान श्रीकृष्ण को आतिथ्य ग्रहण करने के लिये निमन्त्रण दिया। भगवान श्रीकृष्ण दोनों की प्रार्थना स्वीकार करके दोनों को ही प्रसन्न करने के लिये एक ही समय पृथक्-पृथक् रूप से दोनों के घर पधारे। परन्तु यह बात एक-दूसरे को मालूम नहीं हुई कि भगवान श्रीकृष्ण मेरे घर के अतिरिक्त और भी कहीं जा रहे हैं। मिथिला नरेश महाराज बहुलाश्वजी ने सबको सुन्दर आसन पर विराजमान कराकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक षोडशोपचार विधि से उनकी पूजा की। जब सब लोग भोजन करके तृप्त हो गये तब राजा बहुलाश्व भगवान श्रीकृष्ण के चरणों को अपने गोद में लेकर बैठ गये और बड़े आनन्द से धीरे-धीरे सहलाते हुए बड़ी मधुर वाणी से भगवान की स्तुति करते हुए उन्होंने कुछ काल तक मुनि-मण्डली सहित अपने यहाँ निवास करने के लिये निवेदन किया। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान ने उनकी इच्छा पूर्ण की।

इधर श्रीश्रुतिदेवजी प्रथम तो प्रेमातिरेक में भगवान को अपने यहाँ आया हुआ जानकर खूब नृत्य किये। जब किंचित् देहानुसंधान हुआ तो सबके बैठने के लिये पीढ़ा, चटाई और कुशासन आदि बिछाया, फिर तुलसी दल, कन्द-मूल, फल-फूल, खस से सुवासित शीतल जल आदि परम सात्विक सामग्रियों से भगवान का पूजन कर, श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का स्पर्श करते हुए स्तुति की और अपने भाग्य की सराहना किये। यथा—**धन्योऽहं कृत-कृत्योऽहं पुण्योऽहं पुरुषोत्तम। अद्य मे सफलं जन्म जीवितं सफलं च मे।।** (सनत्कुमार संहिता) शरणागत वत्सल प्रभु ने श्रुतिदेव की प्रार्थना सुनकर अपने हाथ से उनका हाथ पकड़ लिया और मुस्कराते हुए सन्तों का माहात्म्य सुनाया। यथा—

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः । शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया।। (भा० १०-८६-५२)

अर्थ—देवता पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदि के द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनों में पवित्र करते हैं, परन्तु सन्त पुरुष अपनी दृष्टि से ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नहीं देवता आदि में जो पवित्र करने की शक्ति है वह भी उन्हें सन्तों की दृष्टि से ही प्राप्त होती है।। इसलिए श्रुतदेव! तुम इन ब्रह्मर्षियों को मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धा से पूजा करो।

मोसे बाढ़ पांव लीजिये—भाव यह है कि मैं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर भी इन भक्तों के अधीन हूँ। यथा—'**अहं भक्त पराधीनोह्यस्वतन्त्र इव द्विज।।**' अतः मुझसे भी बढ़कर इनका सत्कार करना चाहिये। शबरी से प्रभु ने यही कहा है यथा—'**मोते सन्त अधिक करि लेखा।**' श्रीउद्धवजी को भी प्रभु ने यही उपदेश दिया है। यथा—**मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः।।** श्रीशिवजी कहते हैं—**आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्।।** श्रीकागजी कहते हैं—**मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।**

पुनः—**मद्वन्दनाच्छत गुणं मद्भक्तस्य तु वन्दनम् । मत्कीर्तनाच्छत गुणं मद्भक्तस्य तु कीर्तनम्।**
मत्सेवनाच्छतगुणं मद्भक्तस्य तु सेवनम् । मद्भोजनाच्छतगुणं मद्भक्तस्य तु भोजनम्।।
(वराहपुराण)

अतः बाढ़ कहा। बाढ़ पाँव लीजिये का दूसरा भाव यह भी कि सन्त को देखकर आगे बढ़कर दश कदम चलकर इनकी अगवानी करनी चाहिये। यथा—'**दृष्ट्वा भागवतं दूरात् सम्मुखे यो न गच्छति। न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां च दशवार्षिकीम्।।** अतः बाढ़ पाँव......कहा।। यदि तुम ऐसा करोगे तो समझ लो कि तुमने साक्षात् मेरा ही पूजन कर लिया। भगवान श्रीकृष्ण का यह आदेश प्राप्त करके श्रुतदेव ने भगवान श्रीकृष्ण और उन ब्रह्मर्षियों की एकात्म भाव से आराधना की।

एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि श्रुतदेव ने कुछ भाव में कमी होने से ऋषियों का पूजन न किया हो सो बात नहीं, वे प्रेम में ऐसे विभोर ही हो गये थे कि उन्हें कुछ सुधि नहीं रह गई थी, जब प्रभु ने ध्यान दिलाया तो इन्होंने ऋषियों की भी उसी भाव से पूजा किया। भगवान श्रीकृष्ण श्रीश्रुतदेव और बहुलाश्व—दोनों ही भक्तों के यहाँ कुछ दिन रहकर, फिर उनसे विदा लेकर द्वारका लौट आये। ये दोनों महाभागवत भी प्रभु के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण-स्वभाव का चिन्तन करते हुए अन्त में भगवत्स्वरूप को प्राप्त हो गये।

श्रीअङ्गजी—महाभागवत श्रीध्रुवजी के वंश में राजर्षि अङ्ग का प्रादुर्भाव हुआ था। पिता उल्मुक और माता पुष्करिणी ने बड़ी तपस्या के बाद अंग जैसा पुत्र पाया था। शील स्वभाव, साधुता, ब्रह्मण्यता आदि सद्गुण आपमें बाल्यावस्था से ही विराजमान थे। एकबार राजर्षि अंग ने अश्वमेध-महायज्ञ का अनुष्ठान किया। उसमें वेद-वादी ब्राह्मणों के आवाहन करने पर भी देवता लोग अपना भाग लेने नहीं आये। तब ऋत्विजों ने विस्मित होकर यजमान अंग से कहा—राजन्! हम आहुतियों के रूप में आपका जो घृत आदि पदार्थ हवन करते हैं, उसे देवता लोग स्वीकार नहीं करते हैं। हम जानते हैं आपकी होम सामग्री दूषित नहीं है, आपने उसे बड़ी श्रद्धा से जुटाया है, तथा वेदमन्त्र भी किसी प्रकार बल हीन नहीं है, क्योंकि उनका प्रयोग करने वाले ऋत्विज गण याजकोचित सभी नियमों का पूर्णतया पालन करते हैं। देवताओं का किंचित् तिरस्कार भी नहीं हुआ है—फिर भी कर्माध्यक्ष देवता लोग क्यों अपना भाग नहीं ले रहे हैं? यह सुनकर महाराज अंग उदास हो गये और उन्होंने इसमें अपने कर्म को ही कारण मानकर सदस्यों से अपने ज्ञाताज्ञात अपराध के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। इस पर सुधी सदस्यों ने कहा—राजन्! इस जन्म में तो आपसे कोई अपराध नहीं हुआ, हाँ पूर्व जन्म में अवश्य आपसे कुछ अपराध बन गया है, जिससे कि आप अब तक पुत्रहीन हैं। परन्तु हम लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि आप पुत्र की कामना से यज्ञ करेंगे तो यज्ञेश्वर भगवान अवश्य आपको पुत्र प्रदान करेंगे। राजा अंग ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया।

ऋत्विजों के सत्प्रयत्न से यज्ञ पूर्ण हुआ। आहुति डालते ही अग्निकुण्ड से एक दिव्य पुरुष स्वर्ण पात्र में सिद्ध खीर लिये प्रकट हुए। राजा ने उस चरु को अञ्जलि में लेकर स्वयं सूँघकर प्रसन्नता पूर्वक अपनी पत्नी को दे दिया। रानी ने वह पुत्र प्रदायिनी खीर खाकर गर्भ धारण किया और यथा समय एक पुत्र को जन्म दिया। राजा अंग की पत्नी मृत्यु की कन्या थीं, नाम था सुनीथा। उससे जो बालक पैदा हुआ वह अपने नाना मृत्यु के गुण-स्वभाव लक्षणों वाला हुआ। क्या पशु, क्या पक्षी, क्या मनुष्य, वह दुष्ट बालक हँसते-हँसते सहज ही उनके प्राण ले लेता। प्रजा उससे ऐसी संत्रस्त हो गई थी कि वह जिधर ही जाता लोग चिल्ला पड़ते—बेन आया, बेन आया। (बेन उस बालक का नाम था) बेन की ऐसी दुष्ट प्रकृति देखकर महाराज अंग ने उसे बहुत प्रकार से समझाकर सुमार्ग पर लाने की चेष्टा की, परन्तु सफल नहीं हुए। इससे उन्हें बड़ा ही दु:ख हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—जिन गृहस्थों के पुत्र नहीं हैं, उन्होंने अवश्य ही पूर्व जन्म में श्रीहरि की आराधना की होगी, इसी से उन्हें कुपूत की करतूतों से होने वाल असह्य क्लेश नहीं सहने पड़ते हैं। जिससे सब प्रकार के अनर्थों की प्राप्ति होती है—ऐसी नाम मात्र की सन्तान के लिए कौन समझदार पुरुष ललचावेगा? वह तो आत्मा के लिए एक प्रकार का मोहमय बन्धन ही है।

पुन: श्रीअंगजी के मन में यह विचार आया कि—मैं तो सपूत की अपेक्षा कुपूत को ही अच्छा समझता हूँ क्योंकि सपूत को छोड़ने में बड़ा क्लेश होता है परन्तु कुपूत तो घर को नरक बना डालता है अत: उससे सहज ही छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अंग का चित्त संसार से विरक्त हो गया। वे रात्रि में घर से निकल गये। प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृदय वर्ग ने खोजने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु नहीं पा सके जैसे कुयोगी पुरुष सर्वगुहाशायी भगवान को नहीं खोज पाते हैं (भा०) श्रीराम रसिकावली में महाराज रघुराजसिंह जी आपके विषय में लिखते हैं कि—

कानन जाइ भज्यो यदुराई । माया और डीठि नहिं आई।।
वन में करहिं साधु की सेवा । साधु छोड़ मानहिं नहिं देवा।।

कोउ एक साधु कह्यौ नृपपाहीं । कुटी देहु मेरे घर नाहीं।।
कुटी सहित सर्वस दै राखे । पुनि ताकी सेवा अभिलाखे।।
साधु प्रसन्न कह्यौ अस वानी । मिलिहिं तोहिं नृप सारङ्ग पानी।।
भूपति कह्यौ न अस मोहिं आसा । तोहि तजि चहौं न रमानिवासा।।
आये नृप कहँ लेन विमाना । साधु त्यागिसो किय न पयाना।।
हरिपार्षद तब सन्त चढ़ाई । लैगे नृपहिं विकुण्ठ लिवाई।।
वैकुण्ठहुँ महँ अङ्ग नृप, साधु चरण-रति कीन।
विभवभोग पार्षद सरिस, जदपि कृष्ण बहु दीन।।

श्रीमुचुकुन्दजी—इक्ष्वाकुवंशावतंश महाराज मान्धाता-तनय श्रीमुचुकुन्दजी बड़े ही ब्राह्मणभक्त, सत्य प्रतिज्ञ, संग्राम विजयी एवं महाप्रतापी राजा थे। एक बार इन्होंने अपने बल की परीक्षा लेने के लिये अलकापति कुबेर पर चढ़ाई की। तब यक्षराज कुबेर ने इनका सामना करने के लिये राक्षसों की सेना भेजी। उन राक्षसों ने इनकी सेना को कुचलना प्रारम्भ किया, तब ये श्रीसद्गुरुदेव वशिष्ठजी की शरण में गये। श्रीवशिष्ठजी ने अपने तपोबल से राक्षसों का संहार कर डाला। श्रीमुचुकुन्दजी की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। अपनी सेना का संहार देखकर श्रीकुबेरजी स्वयं मुचुकुन्दजी के समीप आकर बोले—महाराज! यदि तुम्हारी भुजाओं में कुछ बल है तो उसे दिखाओ, ब्राह्मण के बल पर युद्ध करना ठीक नहीं। श्रीमुचुकुन्दजी ने कहा—अलकापते! ब्राह्मणों में सदा तप और मन्त्र का बल उपस्थित होता है और क्षत्रियों में अस्त्र तथा भुजाओं का। अत: ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों को एक साथ मिलकर ही प्रजा का पालन करना चाहिए। मैं भी इसी नीति के अनुसार कार्य कर रहा हूँ। फिर आप मेरी निन्दा क्यों कर रहे हैं? यह सुनकर कुबेरजी बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—राजन्! आपमें नीति और धर्म दोनों ही पूर्णरूपेण वर्तमान हैं अत: आज मैं आपको इस सारी पृथ्वी का राज दे रहा हूँ। आप इस मेरी दी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करो। श्रीमुचुकुन्दजी ने कहा—राजाधिराज! मैं आपके दिये हुए राज्य को नहीं भोगना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि मैं अपने बाहुबल से उपार्जित राज्य का उपभोग करूँ। महाराज मुचुकुन्द के इस क्षत्रियोचित, वीरोचित, वंशोचित वचन को सुनकर कुबेर को बड़ा विस्मय हुआ। तदनन्तर क्षत्रिय धर्म का सम्यक् पालन करने वाले राजा मुचुकुन्द ने अपने बाहुबल से प्राप्त की हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन किया।। (म०भा०)

एकबार इन्द्रादि देवता असुरों से अत्यन्त भयभीत होकर अपनी रक्षा के लिए मुचुकुन्दजी से प्रार्थना किये तो इन्होंने बहुत काल तक देवताओं की रक्षा किया। जब देवताओं को सेनापति के रूप में स्वामि कार्तिकेय मिल गये तब उन लोगों ने राजा मुचुकुन्द से कृतज्ञता प्रकट करते हुए विश्राम करने को कहा, साथ ही देवताओं ने यह भी बताया कि आपके पुत्र, रानियाँ, बन्धु और आमात्य-मन्त्री तथा आप की प्रजा में से अब कोई नहीं रहा। सबके सब काल के गाल में चले गये हैं। अब आप बताइये हम देवता आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम केवल मोक्ष छोड़कर सब कुछ देने में समर्थ हैं। मोक्ष तो भगवान विष्णु ही दे सकते हैं। राजा मुचुकुन्द ने बहुत समय तक युद्ध करते रहने से थके होने के कारण निद्रा का ही वर माँगा। देवताओं ने इन्हें निश्चिन्त निद्रा का वर देते हुए यह भी कहा कि सोते समय यदि कोई मूर्ख

बीच में ही आपको जगा देगा तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षण भस्म हो जायेगा। श्रीमुचुकुन्दजी धवलपुर के पर्वत की गुफा में आकर सो गये। सतयुग के सोये महाराज मुचुकुन्द की द्वापर के अन्त में नींद खुली। नींद खुलने का प्रसङ्ग इस प्रकार है—

म्लेच्छराज काल-यवन अपने समान किसी प्रतिद्वन्दी वीर की तलाश में था। देवर्षि नारदजी से उसने यादवों की प्रशंसा सुनकर तीन करोड़ म्लेच्छों को लेकर मथुरापुरी को घेर लिया। उधर मगधराज जरासन्ध का आक्रमण होने वाला था। मथुरा नगर पर घोर संकट आया हुआ विचारकर भगवान श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा के द्वारा समुद्र में दिव्य द्वारकापुरी का निर्माण कराकर अपने समस्त स्वजन सम्बन्धियों को अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के द्वारा द्वारका में पहुँचा दिया। शेष प्रजा की रक्षा के लिये बलरामजी को मथुरापुरी में रख दिया और स्वयं बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये हुए नगर के बड़े द्वार से बाहर निकले। श्रीनारदजी के द्वारा बताये गये लक्षणों से कालयवन ने पहचान लिया कि यही श्रीकृष्ण हैं अतः वह द्वन्द युद्ध के लिये स्वयं भी अस्त्र-शस्त्र छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा। कालयवन के संहार और मुचुकुन्दजी के ऊपर कृपा करने का लक्ष्य बनाकर भगवान श्रीकृष्ण दूसरी ओर मुँह करके रण से भाग चले और उन योगिदुर्लभ प्रभु को पकड़ने के लिये कालयवन उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। कालयवन पीछे से बार-बार आक्षेप करता कि 'अरे भाई! तुम परमयशस्वी यदुवंश में पैदा हुए हो, तुम्हारा इस प्रकार युद्ध छोड़कर भागना उचित नहीं है तुम कैसे वीर हो? भगवान यह कहते हुए कि हम ऐसे ही हैं, तुम चले आओ, उसके आक्षेप करते रहने पर भागते- भागते उस पर्वत की गुफा में घुस गये जहाँ मुचुकुन्दजी सोये हुए थे। भगवान ने उनको अपना पीताम्बर ओढ़ा दिया और स्वयं छिप गये। उनके पीछे कालयवन भी घुसा और पीताम्बर ओढ़े हुए सोये मुचुकुन्दजी को श्रीकृष्ण समझकर—मन ही मन यह सोचकर कि 'देखो तो सही, यह मुझे इस प्रकार इतनी दूर ले आया और अब इस तरह मानो इसे कुछ पता ही न हो—साधु बनकर सो रहा है।' उस मूढ़ ने कस कर उनके ऊपर पद प्रहार किया। मुचुकुन्दजी की निद्रा टूट गई। आँख खुली, दृष्टि पड़ते ही कालयवन तत्क्षण जलकर राख हो गया।

तत्पश्चात् यदुवंश शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण ने कृपा करके राजा मुचुकुन्द के सामने आकर दर्शन दिया। भगवान की परम दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर महाराज मुचुकुन्द ने चकित होकर पूछा—'आप कौन हैं? इस काँटों से भरे हुए घोर जंगल में आप कमल के समान कोमल चरणों से क्यों विचर रहे हैं? और इस गुफा में पधारने का क्या प्रयोजन है? क्या आप समस्त तेजस्वियों के मूर्तिमान तेज अथवा अग्निदेव ही तो नहीं हैं? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा, देवराज इन्द्र या कोई दूसरे लोकपाल हैं? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप देवताओं के आराध्य ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर इन तीनों में से पुरुषोत्तम भगवान नारायण ही हैं। क्योंकि आपकी परम ज्योतिर्मय अङ्ग कान्ति से इस गुफा का अन्धेरा सर्वथा दूर हो गया है। यदि आप उचित समझें तो अपना परिचय दीजिये और यदि आप मेरा परिचय जानना चाहें तो मैं इक्ष्वाकु वंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा नाम मुचुकुन्द है, मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाता का पुत्र हूँ। आपका दर्शन कर कृतार्थ हुआ। तब समस्त प्राणियों के जीवन दाता भगवान श्रीकृष्ण ने हँसते हुए मेघ ध्वनि के समान गम्भीर वाणी से कहा—प्रिय मुचुकुन्द! मेरे जन्म, कर्म, नाम तो अनन्त हैं। वर्तमान में मैंने यदुवंश में अवतार लिया है, मैं वसुदेवजी का पुत्र हूँ इसलिए लोग मुझे वासुदेव कहते हैं। राजन्! यह कालयवन था जो मेरी ही प्रेरणा से तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया। तुमने पहले मेरी बड़ी आराधना की है, अतः मैंने प्रसन्न होकर तुमको

दर्शन दिया और अब तुम्हारी जो अभिलाषा हो मुझसे माँग लो। मुचुकुन्दजी को समझते देर नहीं लगी कि ये भगवान हैं क्योंकि वृद्ध गर्ग ने इनसे पहले ही से कह रखा था कि यदुवंश में भगवान अवतार लेने वाले हैं। अतः आपने प्रभु की स्तुति की और भक्ति का वरदान माँगा। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—राजन्! तुमने क्षत्रिय धर्म का आचरण करते समय शिकार आदि के अवसरों पर बहुत से पशुओं का वध किया है। अब एकाग्रचित्त से मेरी आराधना करते हुए तपस्या के द्वारा उस पाप को धो डालो। अगले जन्म में तुम ब्राह्मण होगे और समस्त प्राणियों के सच्चे हितैषी तथा परम सुहृद होओगे तथा मुझमें तुम्हारी विषय वासना शून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी। जिससे कि तुम मुझ विशुद्ध विज्ञान घन परमात्मा को प्राप्त कर लोगे।

श्रीमुचुकुन्दजी ने भगवान की परिक्रमा की और प्रणामकर भगवान नर–नारायण के नित्य निवास स्थान बदरिकाश्रम में जाकर बड़े शान्त भाव से गर्मी–सर्दी आदि द्वन्द सहते हुए वे तपस्या के द्वारा भगवान की आराधना करने लगे। वे निरन्तर अपना चित्त भगवान श्रीकृष्ण में लगाये रहते। उन्हें अब किसी प्रकार की आसक्ति एवं संशय–सन्देह नहीं रह गया था। अगले जन्म में आप ही गुर्जर प्रदेश में भक्त–शिरोमणि श्रीनरसीजी के रूप में प्रकट हुये।।

श्रीप्रियव्रतजी

श्रीस्वायम्भुव मनु–पुत्र श्रीप्रियव्रतजी बड़े ही भगवद्भक्त और आत्माराम थे। देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी के चरणों की सेवा से उन्हें सहज ही परमार्थ तत्व का बोध हो गया था। अतः राज्य–सुख को छोड़कर गन्धमादन पर्वत पर निवास करते हुए निरन्तर आत्मचिन्तन में लगे रहते थे। एकबार उन्होंने ब्रह्मसत्र की दीक्षा लेकर निरन्तर ब्रह्माभ्यास में जीवन बिताने का निश्चय किया। उसी समय उनके पिता श्रीस्वायम्भुवमनु ने इन्हें पृथ्वीपालन के लिये शास्त्र में बताये हुए सभी श्रेष्ठगुणों से पूर्णतया सम्पन्न देखकर राज्य शासन के लिए आज्ञा दी। परन्तु श्रीप्रियव्रतजी ने यह सोचकर कि कहीं मैं राज्य और कुटुम्ब की आसक्ति में फँसकर आत्म स्वरूप को भूल न जाऊँ, परमार्थ से च्युत न हो जाऊँ, पिता की आज्ञा अनुलङ्घ्य होने पर भी उसे नहीं स्वीकार किया। सृष्टि विस्तार के लिये सतत् प्रयत्नशील श्रीब्रह्माजी ने जब श्रीप्रियव्रत की ऐसी प्रवृत्ति देखी तो वे अपने पार्षदों से परिवेष्टित हंस पर आरूढ़ होकर अपने दिव्य प्रकाश से गन्धमादन की घाटी को प्रकाशित करते हुए श्रीप्रियव्रतजी के पास पहुँचे। संयोग से उस समय प्रियव्रतजी को आत्म–विद्या का उपदेश देने के लिये श्रीनारदजी भी आये थे। श्रीब्रह्माजी को आया हुआ देखकर वे स्वायम्भुवमनु और प्रियव्रत के सहित तुरन्त उठ खड़े हुए। सबने उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। श्रीनारदजी ने उनकी विधि पूर्वक पूजा और स्तुति की। तदुपरान्त श्रीब्रह्माजी ने प्रियव्रत की ओर मन्दमुस्कान युक्त दया दृष्टि से देखते हुए इस प्रकार कहा—बेटा! देखो, हम, महादेवजी, तुम्हारे पिता स्वायम्भुव मनु और तुम्हारे गुरु श्रीनारदजी—ये सभी विवश होकर भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं, उनकी इच्छानुसार चलते हैं। यथा—

'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला । माया जीव करम कुलि काला।।
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई । जोग सिद्धि निगमागम गाईं।।
करि बिचार जिय देखहु नीके । राम रजाइ सीस सबही के।।'
'राम रजाइ मेटि मन माहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं।।'
'राम रजाइ सीस सबही के । उतपति थिति लय बिषहु अमी के।।'

यद्यपि तुमने श्रीकमलनाभ भगवान के श्रीचरण कमल कोशरूपी किले का आश्रय लेकर सब प्रकार की भोग वासनाओं को जीत लिया है तो भी पहले उन पुराण पुरुष के दिये हुए भोगों को भोगो, इसके बाद निःसङ्ग होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना।।

श्रीप्रियव्रतजी ने 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर बड़े आदर पूर्वक उनका आदेश शिरोधार्य किया। श्रीमनुजी समस्त भूमण्डल का शासन भार इन्हें सौंपकर स्वयं भजन में परायण हो गये। तदनन्तर श्रीप्रियव्रतजी ने प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया। उससे दश पुत्र और एक कन्या हुई। महामना प्रियव्रतजी सर्वथा अनासक्त होकर भोगों को भोगते हुए आदि पुरुष भगवान के चरण युगल का निरन्तर ध्यान करते रहते थे।

एक बार जब इन्होंने यह देखा कि भगवान सूर्य सुमेरु की परिक्रमा करते हुए लोकालोक पर्यन्त पृथ्वी के जितने भाग को आलोकित करते हैं, उसमें से आधा ही प्रकाश में रहता है और आधे में अन्धकार छाया रहता है। तो उनको यह बात पसन्द नहीं आई। तब उन्होंने यह संकल्प लेकर कि 'मैं रात को भी दिन बना दूँगा' सूर्य के समान ही वेगवान एक ज्योतिर्मय रथ पर चढ़कर द्वितीय सूर्य की ही भाँति उनके पीछे-पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमायें कर डालीं। भगवान की उपासना से इनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था। उस समय इनके रथ के पहियों से जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए। उनसे पृथ्वी में सात द्वीप हो गये। इस प्रकार राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक पृथ्वी का शासन किया। पश्चात् श्रीहरि की कृपा से विवेक के जागृत होने पर उन्होंने यह सारी पृथ्वी यथायोग्य अपने अनुगत पुत्रों में बाँट दी और स्वयं हृदय में वैराग्य धारण कर भगवान की लीलाओं का चिन्तन करते हुए श्रीनारदजी के बताये मार्ग का पुनः अनुसरण करने लगे। महाराज प्रियव्रत के सम्बन्ध में निम्नलिखित लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् । यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायांघ्नन् सप्तवारिधीन्।। (भा० ५-१-३९)

अर्थ—राजा प्रियव्रत ने जो कर्म किये हैं, उन्हें सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिवा और कौन कर सकता है? उन्होंने रात्रि के अन्धकार को मिटाने का प्रयत्न करते हुए अपने रथ के पहियों से बनी हुई लीकों से ही सात समुद्र बना दिया।

श्रीपृथुजी का चरित्र छप्पय पाँच में आ चुका है। श्रीपरीक्षितजी की चर्चा आगे छप्पय १४ में की जायगी।

श्रीशेषजी—ये साक्षात् भगवान् नारायण के स्वरूप हैं। भगवान के चतुर्व्यूह में ये सङ्कर्षण व्यूह हैं तथा अपने शेष स्वरूप से भगवान आदिपुरुष नारायण के पर्यङ्करूप में क्षीरसागर में विराजमान रहते हैं। अपने एक हजार मुख दो हजार जिह्वाओं से निरन्तर भगवान का गुणानुवाद करते रहते हैं। विशेष बात तो यह है कि ये नित्य भगवान के नये नामों का उच्चारण करते रहते हैं। श्रीनामामृतास्वादन में आपको इतना सुख मिलता है कि आपकी श्रीनाम-पीयूष-पान के लिये लार टपकती रहती है, परन्तु कहीं नाम-जप में व्यवधान न पड़ जाय अतः ये लार को भी नहीं सँभालते हैं, परिणामतः वहाँ इनकी लारों का अमृतमय कुण्ड बन गया है। ब्रह्मानन्द में सदा लवलीन रहने वाले श्रीसनकादिकजी भी आपके यहाँ भगवद्गुणानुवाद श्रवण करने के लिये जाते हैं। यथा—

'निःशेषशेषमुखगीतकथैकपानाः' (भा०मा० २-७५)

ये भगवान के नित्य-परिकरों में से हैं। भगवान की सेवा ही इनकी परम साधना है। भगवत्सेवा सुखास्वादनार्थ ये विविध रूपों से विविध सेवायें करते हैं। यथा—

'निवास शय्यासन पादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीर भेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः।।' (आलवन्दार स्तोत्र)

अर्थ—जो समयानुसार आपके दास होने वाले तथा निवास, शय्या, आसन, पादुका, अंशुक (वस्त्र) उपधान (तकिया) छत्र आदि अनेक प्रकार के शरीरों को धारण करके सेवा में तत्पर रहने वाले हैं, तथा जिनका लोग 'शेष' ऐसा नाम कहते हैं, ये जीवों को भगवान के शरण पहुँचाने वाले हैं अत: सभी देवता, असुर, नाग, सिद्ध गन्धर्व विद्याधर, मुनि-मनुष्य भगवान अनन्त (शेष) का ध्यान करते हैं, स्तुति एवं गुणगान करते हैं। इलावृत वर्ष में तो भगवान शेष ही प्रधान देव हैं और भगवान शिव इनके पुजारी हैं। (विशेष देखिये छ० २५)

लीला-विनोद में ये प्रजापति कश्यप की पत्नी कद्रू के असंख्य पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हैं। उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ काली है वा सफेद, इस विषय को लेकर भये कद्रू-विनता विवाद में, अपनी बात को सत्य करने के लिये छल का आश्रय लेकर कद्रू ने अपने पुत्रों को उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ में लिपटकर उसे काली सिद्ध करने के लिए आज्ञा करी, परन्तु एक हजार पुत्रों ने अस्वीकार कर दिया तो कद्रू ने उन्हें जनमेजय के नाग यज्ञ में भस्म हो जाने का शाप दे दिया। उन नागों में श्रीशेषनागजी भी थे। माता के इस व्यवहार से क्षुभित होकर महायशस्वी भगवान शेषजी कद्रू का साथ छोड़कर कठोर तपस्या में लग गये। वे केवल वायु पीकर रहते और संयमपूर्वक व्रत का पालन करते। विभिन्न-विभिन्न पुण्यतीर्थों में जा-जाकर इन्होंने विविध तप किये।

इनके तप से सन्तुष्ट होकर वरदाता श्रीब्रह्माजी ने इनके समीप आकर वर माँगने को कहा तो शेषजी ने यह वर माँगा कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, मनो निग्रह एवं तपस्या में लगी रहे। श्रीब्रह्माजी ने कहा—नागोत्तम! तुम शेष हो, धर्म ही तुम्हारे आराध्य देव हैं। तुमने इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह पूर्वक धर्म रूप परमात्मा की आराधना किया है इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं आशीर्वाद देता हूँ—'तुम्हें सदा भगवान की स्मृति बनी रहे।' अब तुम मेरी आज्ञा से प्रजा के हित के लिए पर्वत, वन, सागर, ग्राम, बिहार और नगरों सहित इस समूची पृथ्वी को भली भाँति धारण करके इस प्रकार स्थित हो जाओ, जिससे यह पूर्णतः अचल बनी रहे। सर्वसमर्थ शेष ने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य कर, पृथ्वी के विवर में प्रवेश करके समुद्र से घिरी हुई इस वसुधा देवी को उन्होंने सब ओर से पकड़कर सिर पर धारण किया। तभी से यह पृथ्वी स्थिर हो गयी। श्रीशेषजी की अचिन्त्य शक्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इनके एक सिर पर रज-कण की भाँति स्थित है। यथा—**ब्रह्माण्ड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज कनी।।** (रा० च० मा०)

जिस प्रकार भू-भार हरणार्थ भगवान के विविध अवतार होते हैं वैसे ही शेषजी के भी अवतार होते हैं। यथा—'सेस सहस्र सीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन।।' 'जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।। (रा०च०मा०)

त्रेता में श्रीराम के साथ श्रीलक्ष्मण रूप में, द्वापर में श्रीकृष्ण के साथ बलराम रूप में और कलियुग में श्रीरामानुजाचार्य के रूप में अवतार लेकर आपने प्राणियों का कल्याण किया।

श्रीसूतजी—आत्म—परिचय देते हुए श्रीसूतजी स्वयं कहते हैं—

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म वृद्धानुवृत्यापि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः।। (भा० १-१८-१८)

अर्थ—अहो! विलोम जाति में उत्पन्न होने परभी महात्माओं की सेवा करने के कारण आज हमारा जन्म सफल हो गया क्योंकि महापुरुष के साथ बात-चीत करने मात्र से ही नीच कुल में उत्पन्न होने की मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है। उच्चवर्ण की माता और निम्न वर्ण के पिता से उत्पन्न सन्तान को विलोमज कहते हैं। सूत जाति की उत्पत्ति इसी प्रकार ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिता से हुई है। यथा—ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः (अमर कोश) श्रीसूतजी ने अपने को इसी परम्परा में स्वीकार किया है। आपका वास्तविक नाम रोमहर्षण है। सूत तो जातिवाचक संज्ञा है।

भगवान वेद व्यासजी की कृपा से आपको इतिहास पुराणादि का सम्यक् बोध है। आपके अमित विवेक के सम्बन्ध में श्रीशौनकजी कहते हैं—

अज्ञानध्वान्तविध्वंस कोटिसूर्यसमप्रभ। सूताख्याहि कथासारं मम कर्ण रसायनम्।। (भा०मा० १-४)

अर्थ—हे सूतजी! आपका ज्ञान अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिये करोड़ों सूर्यों के समान है। आप हमारे कानों के लिए रसायन-अमृत स्वरूप सारगर्भित कथा कहिये।। पुनश्च—

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ। आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत।।
यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः। अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः।।
वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्वतस्तदनुग्रहात्। ब्रुयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।।
(भा० १-१-६-८)

अर्थ—सूतजी! आप निष्पाप हैं। आपने समस्त इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन किया है तथा उनकी भली-भाँति व्याख्या भी की है। वेद-वेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवान वेद व्यास ने एवं भगवान के निर्गुण-सगुण स्वरूपको जानने वाले दूसरे मुनियों ने जो कुछ जाना है-उन्हें जिन विषयों का ज्ञान है वह सब आप वास्तविक रूप से जानते हैं। आपका हृदय बड़ा ही सरल और शुद्ध है, इसी से आप उनकी कृपा और अनुग्रह के पात्र हुए हैं। गुरुजन अपने प्रेमी शिष्य को गुप्त से गुप्त बात भी बता दिया करते हैं।

समस्त पुराण पढ़ाने के बाद श्रीव्यासजी ने आपको पुराण-वक्ता होने का आशीर्वाद दिया। यही कारण है कि इनका सम्पूर्ण जीवन ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में भगवद् गुण-लीला-कीर्तन में ही बीता। इनका सबसे बड़ा कथा-सत्र नैमिसारण्य में हुआ। एकबार भगवान विष्णु एवं देवताओं के परम पुण्यमय क्षेत्र नैमिषारण्य में श्रीशौनकादि अट्ठासी हजार ऋषियों ने भगवत्प्राप्ति की इच्छा से एक हजार वर्ष में पूरे होने वाले एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया। संयोग से एक दिन ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर दर्शन करते-विचरते हुए श्रीसूतजी भी नैमिष क्षेत्र में जा पहुँचे तो इनका दर्शन कर ऋषियों ने

अपना बड़ा सौभाग्य माना। यथा—'त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा।' सभी ने सूतजी का पूजन किया और उन्हें आसन पर बैठाकर बड़े आदरपूर्वक भगवान की लीला-कथा एवं प्राणियों के कल्याण के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। तब सूतजी उनके प्रश्नों का अभिनन्दन करते हुए बड़े विस्तार से पुराण-रहस्य वर्णन किये। इन्होंने एक-एक करके सभी पुराणों की कथा ऋषियों को सुनाई।

कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध का निश्चय जानकर श्रीबलरामजी दोनों ही पक्षों से तटस्थ होकर तीर्थयात्रा के ब्याज से द्वारका से चले गये। वे सभी तीर्थों का परिभ्रमण करते नैमिषारण्य पहुँचे, जहाँ शौनकादि ऋषि उन दिनों सत्सङ्ग रूप महान् सत्र कर रहे थे। श्रीबलरामजी को आया हुआ देखकर ऋषियों ने अपने-अपने आसनों से उठकर उनका स्वागत सत्कार किया और यथायोग्य प्रणामाशीर्वाद के उपरान्त उनकी पूजा की। व्यास-गद्दी की मर्यादा को ध्यान में रखकर श्रीसूतजी अपने आसन पर बैठे ही रहे। श्रीबलरामजी को यह बात खटक गई कि रोमहर्षणजी सूत जाति में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मणों से ऊँचे आसन पर बैठे हैं। यहाँ तक कि मेरे आने पर भी न तो उठकर स्वागत ही किये और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही। बस, श्रीबलरामजी को क्रोध आ गया उन्होंने अपने हाथ में स्थित कुश की नोक से उन पर प्रहार किया और वे तुरन्त मर गये। यह देखकर सब ऋषि-मुनि हाय-हाय करने लगे। सबके चित्त खिन्न हो गये। उन्होंने श्रीबलरामजी से कहा—प्रभो! आपने यह बहुत बड़ा अधर्म किया।। यदुवंश शिरोमणे! सूतजी को हमी लोगों ने ब्राह्मणोचित आसन पर बैठाया था और जब तक हमारा यह सत्र समाप्त न हो तब तक के लिये उन्हें शारीरिक कष्ट से रहित आयु भी दे दी थी। आपने अनजान में यह ऐसा काम कर दिया जो ब्रह्महत्या के समान है। हम लोग यह मानते हैं कि आप योगेश्वर हैं, वेद भी आपके ऊपर शासन नहीं कर सकता है। फिर भी आपसे यह प्रार्थना है कि आपका अवतार लोगों को पवित्र करने के लिये हुआ है, यदि किसी की प्रेरणा के बिना स्वयं अपनी इच्छा से ही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्तकर लेंगे तो इससे लोगों को बड़ी शिक्षा मिलेगी। श्रीबलरामजी ने ऋषियों का अनुरोध स्वीकार किया और कहा—ऋषियो! वेदों का ऐसा कहना है कि आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। इसलिए रोमहर्षण के स्थान पर उनका पुत्र आप लोगों को पुराणों की कथा सुनायेगा। उसे मैं अपनी शक्ति से दीर्घायु, इन्द्रियशक्ति और बल दिए देता हूँ। तब से रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा पुराणों के वक्ता हुए। ये भी सूत नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्रीशौनकजी—श्रीसूतजी जैसे पुराणों के प्रधान प्रवक्ता हैं वैसे ही श्रीशौनकजी पुराणों के प्रधान श्रोता हैं। इन्होंने एक-एक करके सभी पुराण के गूढ़ रहस्यों को श्रीसूतजी से श्रवण किया है। ये अट्ठासी हजार ऋषियों के समुदाय में प्रमुख ऋषि थे, शुनक ऋषि के पुत्र होने से शौनक एवं भृगुवंशी होने से भार्गव कहे जाते थे। ये ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, तपोवृद्ध थे, कुलपति एवं ऋग्वेदी थे। वर्णन आया है कि जब ये नैमिषारण्य में एक हजार वर्ष के लिए ब्रह्म-सत्र की दीक्षा लेकर बैठ गए तो सङ्ग के ऋषि लोग घबड़ाये कि इतने दिन तक एक जगह रहने से कैसे भोजन-वस्त्र की व्यवस्था हो सकेगी? तब उन्होंने जो कुछ कहा है उससे इनका अपार प्रभु-विश्वास द्योतित होता है। यथा—

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरोदेवः स भक्तान् किमुपेक्षते।।

अर्थ—भोजन और वस्त्र के लिये वैष्णवजन व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। भला जो विश्वम्भर है वह अपने भक्तों की क्या उपेक्षा करेगा? अर्थात नहीं। इनके दृढ़ निश्चय और अटल विश्वास को देखकर

भगवान ने सन्त के रूप में आकर इन्हें एक चिन्तामणि प्रदान की, फिर तो परमानन्द हो गया। न चूल्हा चेतना न चक्की, जो इच्छा करते वही सामग्री तत्काल प्राप्त हो जाती। आपके विचार से समय वहीं सार्थक है जिसमें भगवान का नाम-गुण श्रवण-कीर्तन किया जाता है। यथा–

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तम श्लोक वार्तया।।
तरवःकिं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्राम पशवोऽपरे।।
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः।। (भा० २-३-१७)

अर्थ–जिसका समय भगवान श्रीकृष्ण के गुणों के गान अथवा श्रवण में व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान सूर्य प्रतिदिन अपने उदय और अस्त से उनकी आयु छीनते जा रहे हैं।। क्या वृक्ष नहीं जीते हैं? क्यों लोहार की धौंकनी सांस नहीं लेती? गाँव के अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य-पशु की ही तरह खाते-पीते या मैथुन नहीं करते? जिसके कान में भगवान श्रीकृष्ण की लीला कथा कभी नहीं पड़ी, वह नरपशु, कुत्ते ग्राम सूकर, ऊँट और गधे से भी गया बीता है। अतः 'धन्य घरी सोई जब सतसङ्गा।'

मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों की सार्थकता निरर्थकता के बारे में आपके विचार निम्नलिखित हैं। यथा–

बिले बतोरुक्रम विक्रमान् ये न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथाः।।
भारः परं पट्टकिरीट जुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चन कंकणौ वा।।
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ।।
जीवञ्छवो भगवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णु पद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवोयस्तु न वेद गंधम्।।
तदश्मसारं हृदय बतेदं यद् गृह्यमाणै र्हरिनाम धेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः।। (भा० २-३-२०)

अर्थ–जो मनुष्य श्रीकृष्ण की कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिल के समान हैं। जो जीभ भगवान की लीलाओं का गायन नहीं करतीं, वह मेढ़क की जीभ के समान टर्र-टर्र करने वाली है। उसका तो न रहना ही अच्छा है।। जो सिर भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में कभी नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्र से सुसज्जित और मुकुट से युक्त होने पर भी बोझ मात्र ही है। जो हाथ भगवान की सेवा-पूजा नहीं करते वे सोने के कङ्कण से भूषित होने पर भी मुर्दे के हाथ हैं। जो आँखें भगवान को याद दिलाने वाली मूर्ति, तीर्थ,

नदी आदि का दर्शन नहीं करतीं, वे मोरों की पांख में बने हुए आँखों के चिह्न के समान निरर्थक हैं। मनुष्यों के वे पैर चलने की शक्ति रखने पर भी न चलने वाले पेड़ों जैसे ही हैं, जो भगवान की लीला-स्थलियों की यात्रा नहीं करते।। जिस मनुष्य ने भगवत्प्रेमी सन्तों के चरणों की धूल कभी सिर पर नहीं रखी वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस मनुष्य ने भगवान के चरणों पर चढ़ी हुई तुलसी की सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की वह श्वांस लेता हुआ भी श्वांस रहित शव है। सूतजी! वह हृदय नहीं लोहा है जो भगवान के मङ्गलमय नामों का श्रवण कीर्तन करने पर भी पिघलकर उन्हीं की ओर बह नहीं जाता है। जिस समय हृदय पिघल जाता है उस समय नेत्रों में आँसू छलकने लगते हैं और शरीर का रोम-रोम खिल उठता है। श्रीव्यासजी ने इन्हें कथामृतरसास्वादकुशल कहा है। यथा 'कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत्।।

श्रीप्रचेतागण

श्रीपृथुजी के वंश में राजा प्राचीनबर्हि की शतद्रुति नाम की पत्नी से प्रचेता नाम के दश पुत्र हुए। वे सबके सब बड़े धर्मज्ञ तथा एक से नाम रूप और आचरण वाले थे। जब पिता ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तब उन सबने सुन्दर सुयोग्य सन्तान की कामना से तपस्या करने के लिये पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते उन्होंने समुद्र के समान एक विशाल सरोवर देखा। वहाँ मृदङ्ग, पणव आदि बाजों के साथ गायन की मधुर ध्वनि सुनकर उन राजकुमारों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इतने में ही उन्होंने देखा कि देवाधिदेव भगवान शङ्कर अपने अनुचरों के सहित उस सरोवर से बाहर आ रहे हैं। उनका सहसा दर्शन पाकर प्रचेताओं को बड़ा कुतूहल हुआ और उन्होंने श्रीशिवजी के चरणों में प्रणाम किया। तब शरणागत भयहारी धर्मवत्सल भगवान शङ्कर ने अपने दर्शन से प्रसन्न हुये उन धर्मज्ञ और शील सम्पन्न राजकुमारों से प्रसन्न होकर कहा-

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान यथा।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्।। (भा० ४-२-३०)

अर्थ-तुम लोग भगवद्भक्त होने के नाते मुझे भगवान के समान ही प्यारे हो। इसी प्रकार भगवान के भक्तों को भी मुझसे बढ़कर और कोई प्रिय नहीं होता। तुम लोग जो कुछ करना चाहते हो वह मुझे मालूम है। इस समय तुम लोगों पर कृपा करने के लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया, अब मैं तुम्हें एक बड़ा ही पवित्र, मंगलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ इसका तुम लोग शुद्ध भाव से जप करना। तपस्या पूर्ण होने पर इसी से तुम्हें अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा। यह कहकर महादेव शिव ने प्रचेताओं को उस स्तोत्र का उपदेश दिया, जिसे रुद्रगीत कहते हैं। प्रचेताओं ने बड़े भक्ति भाव से श्रीशंकर की पूजा किया। इसके पश्चात् वे उन राजकुमारों के सामने ही अन्तर्धान हो गये। सबके सब प्रचेता समुद्र के जल में खड़े रहकर भगवान रुद्र के बताये हुए स्तोत्र का जप करते हुए दस हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे। तपस्या और जप यज्ञ के द्वारा उन्होंने श्रीहरि को सन्तुष्ट कर लिया।

पुराणपुरुष भगवान श्रीनारायण अपनी मनोहर कान्ति द्वारा उनके तपस्या जनित क्लेश को शान्त करते हुए कोटि-कोटि कन्दर्पदर्प-दलन पटीयान् विग्रह से उनके समाने प्रकट हुए और अपने शरणागत प्रचेताओं की ओर दया दृष्टि से निहारते हुए मेघ के समान गम्भीर वाणी में कहा-राजपुत्रो! तुम लोगों के पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, भ्रातृत्व और धर्म-पालन से मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। जो लोग तुम्हारा स्मरण करेंगे

उनका भाइयों में ऐसा ही निश्छल प्रेम होगा तथा समस्त जीवों के प्रति मित्रता का भाव हो जायगा। तुम लोगों ने सहर्ष पिता की आज्ञा का पालन किया है इससे तुम्हारी कमनीय कीर्ति समस्त लोक में फैल जायगी। तुम्हारे एक ब्रह्माजी के समान यशस्वी पुत्र होगा। कण्डु ऋषि के तपोनाश के लिये इन्द्र की भेजी हुई प्रम्लोचा अप्सरा के एक कमलनयनी कन्या उत्पन्न हुई थी। उसे छोड़कर वह स्वर्गलोक चली गई। तब वृक्षों ने उसे पाला-पोसा। उसके भूख लगने पर औषधियों के राजा चन्द्रमा ने दया वश उसके मुँह में अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अँगुली दे दी थी। तुम लोग शीघ्र ही उस देवोपम सुन्दरी कन्या से विवाह कर लो। तुम सब एक ही धर्म में तत्पर हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक- सा ही है, इसलिये तुम्हारे ही समान धर्म और स्वभाव वाली वह सुन्दरी कन्या तुम सभी की पत्नी होगी तथा तुम सभी में उसका समान अनुराग होगा। तुम लोग मेरी कृपा में दस लाख दिव्य वर्षों तक पूर्ण बलवान रहकर अनेकों प्रकार के पार्थिव और दिव्य भोगों को भोगोगे। अन्त में मेरी अविचल भक्ति से हृदय का समस्त वासना रूप मल दग्ध हो जाने पर, तुम इस लोक और परलोक के नरक तुल्य भोगों से उपरत होकर मेरे परम-धाम को जाओगे।

प्रचेताओं ने भगवान की स्तुति की और यह वर माँगा कि—जब तक आपकी माया से मोहित होकर हम अपने कर्मानुसार संसार में भ्रमते रहें तब तक जन्म-जन्म में हमें आपके प्रेमी भक्तों का सङ्ग प्राप्त होता रहे। भगवन्! आपके प्रिय सखा भगवान शङ्कर के क्षण भर के समागम से ही आज हमें आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है, हम लोग आपकी शरण हैं। शरणागतवत्सल भगवान ने 'तथास्तु' कहकर उनके मनोरथ को पूर्ण किया और यद्यपि भगवान की मधुर मूर्ति के दर्शन से अभी प्रचेताओं के नेत्र तृप्त नहीं हुए थे, इसलिये वे उन्हें जाने देना नहीं चाहते थे परन्तु तो भी प्रभु अपने परमधाम को चले गये। पश्चात् प्रचेताओं ने श्रीब्रह्माजी के आदेश से उस मारिषा नाम की कन्या से विवाह कर लिया। इसी के गर्भ से प्रजापति दक्ष ने श्रीशिवजी की अवज्ञा के कारण अपना पूर्व शरीर त्यागकर जन्म लिया और पुनः प्रथम प्रजापति फिर प्रजापति नायक के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। दस लाख वर्ष बीत जाने पर जब प्रचेताओं को विवेक हुआ तब उन्हें भगवान के वाक्यों की याद आई और वे अपनी भार्या मारिषा को पुत्र के पास छोड़कर तुरन्त घर से निकल पड़े और वे पश्चिम दिशा में समुद्र के तट पर पहुँचकर श्रीनारदजी के द्वारा पुनः तत्व ज्ञान प्राप्त कर भगवान के चरण-कमलों का ही चिन्तन करने लगे और अन्त में भगवद्धाम को प्राप्त हुए।

श्रीशतरूपाजी

महामानव श्रीमनुपत्नी शतरूपाजी मनु के समान धर्मशीला थीं। यथा—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नर सृष्टि अनूपा।।
दम्पति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका।। (रामचरितमानस बा०)

श्रीमनुजी के साथ ही आपने भी समस्त राज्य-सुख भोग-परित्याग-पूर्वक नैमिषारण्य में दुष्कर तप किया था। यथा—'ठाढ़े रहे एक पग दोऊ।।' दोनों को भगवान का दर्शन हुआ। यथा—'**चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सत रूपा।।**' भगवान श्रीरामजी ने मनुजी से वर माँगने को कहा—'**सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं। मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं।।** तो श्रीसतरूपाजी से भी

कहे—'**सतरूपहिं विलोकि कर जोरे। देबि मांगु वर जो रुचि तोरे।** जो वरदान श्रीमनुजी ने माँगा वही वरदान श्रीसतरूपाजी ने भी माँगा, साथ ही कुछ और भी माँग लिया। यथा—

चौ०—**जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपालु मोहिं अति प्रिय लागा।।**
प्रभु परन्तु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुमहिं सोहाई।।
तुम ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अन्तरयामी।।
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।।
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।।

दो०— **सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।**
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु।।

चौ०— **सुनि मृदु गूढ़ रुचिर वर रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना।।**
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।।
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहिं अनुग्रह मोरे।। (रामचरितमानस बा०)

श्रीरामावतार के समय इन्हीं को श्रीरामजननी कौशल्या होने का सौभाग्य मिला था। श्रीसतरूपा रूप में अभीप्सित वरों की पूर्ति कौशल्या रूप में ही हुई। यथा—

निज भक्तों का सुख—

दो०— **मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।**
ताकर सुख सोई जानइ परानन्द सन्दोह।।

श्रीकौशल्याजी को उसकी प्राप्ति—

पावा परम तत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।।
जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहिं लोचन लाभ सुहावा।।
मूक बदन जनु सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई।।
एहि सुखते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनन्द।।

सोइगति— **प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।।** (सुतीक्षणजी)

कौशल्या—**निगम नेति सिव अन्त न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा।।**

सोइभगति—

अबिरल भगति विसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत योगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।।

कौशल्या— **व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत विनोद।**
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।।

सोइ निज चरन सनेह—

रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।।

कौशल्या—**तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूँदि चरननि सिर नावा।।**

सोइ विवेक— **जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।**
सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।।
अस बिबेक जब देइ बिधाता।

कौशल्या— **कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनन्ता।**
माया गुन ग्याना तीत अमाना वेद पुरान भनन्ता।।
बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ व्यापै प्रभु मोहिं माया तोरि।।

सोइ रहनि—**मन क्रम वचन रामपद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक।।**

कौशल्या—**सम्पूर्ण जीवन ही निज भक्तों की रहनी का आदर्श है।**

यथा— **कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।**
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल बिनीत।।

त्रयसुता—श्रीमनु और शतरूपाजी की तीन कन्यायें—आकूति, प्रसूति, देवहूति। श्रीआकूति जी— देखिये छप्पय ५ यज्ञावतार की कथा।

श्रीप्रसूतिजी—श्रीमनुजी ने अपनी प्रसूति नाम की कन्या का विवाह श्रीब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति से किया था। जिनकी विशाल वंश परम्परा सम्पूर्ण त्रिलोकी में फैली हुई है। जिनके यहाँ आदि शक्ति भगवती सती पुत्री के रूप में प्रादुर्भूत हुई थीं। विशेष देखिये छप्पय १२ दक्षजी का प्रसङ्ग।

श्रीदेवहूतिजी—देखिये छप्पय १६ श्रीकर्दमजी का प्रसङ्ग।

श्रीसुनीतिजी—देखिये श्रीध्रुवजी का प्रसङ्ग छप्पय ९।

श्रीसतीजी—यह प्रजापति दक्ष की कन्या थीं और श्रीशिवजी से ब्याही गई थीं। इनकी गणना श्रेष्ठ पतिव्रताओं में की जाती है ये सब प्रकार से अपने पतिदेव की सेवा में संलग्न रहने वाली थीं। श्रीशिवजी भी इनको बहुत प्यार करते थे। परन्तु भगवान श्रीराम की ललित नर-लीला (श्रीसीताजी के वियोग में विरह-विलाप) देखकर इनको मोह हो गया, श्रीशिवजी के बहुत समझाने पर भी दूर नहीं हुआ, तब इन्होंने भगवान राम की परीक्षा ली। परीक्षा में भूल यह हुई कि इन्होंने श्रीजानकीजी का वेष धर लिया था, जबकि श्रीजानकीजी में शिवजी का मातृ-भाव है अतः श्रीशिवजी ने अब सतीजी में पत्नी-भाव रखने से भक्ति निष्ठा में हानि विचारकर सती शरीर से पत्नी भाव का विचार त्याग कर दिया। (विशेष देखिये छप्पय ६ श्रीशिवजी का प्रसंग) श्रीशिवजी का रुख देखकर ही सतीजी उनके हार्दिक भावों को समझ जाती हैं जिससे उनको बड़ा ही पश्चात्ताप होता है। यथा—

संकरु रुख अवलोकि भवानी । प्रभु मोहिं तजेउ हृदयँ अकुलानी।।
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई । तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।।

श्रीशिवजी कैलास पर आकर अखण्ड समाधि लगा लेते हैं। सतीजी के दुःख का पारावार नहीं है। अन्त में वह दुःख निवृत्ति के लिये भगवान राम की शरण लेती हैं। यथा—

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी । मन महुँ रामहिं सुमिरि सयानी।।
जौं प्रभु दीन दयालु कहावा । आरति हरन बेद जसु गावा।।
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी । छूटउ बेगि देह यह मोरी।।
जौं मोरे सिव चरन सनेहू । मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू।।
तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु, करउ सो बेगि उपाइ।
होइ मरन जेहिं बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ।।

आखिर प्रभु ने उपाय कर ही दिया। पिता दक्ष ने प्रजापति-नायकत्व के अभिमान में श्रीशिवजी को यज्ञ-भाग से वञ्चित करके अपमानित करने के उद्देश्य से वृहस्पति-सव नामक महायज्ञ का समारम्भ किया। शिवजी को छोड़कर समस्त देवताओं को निमन्त्रण दिये परन्तु दक्ष के हीन उद्देश्य को जानकर ब्रह्मा और विष्णु भी यज्ञ में नहीं गये। अन्य देवता विमानारूढ़ हो-होकर यज्ञ में भाग लेने के लिए प्रस्थान किये। आकाश मार्ग से जाती हुई विमानावलियों को देखकर जब सती ने समाधि से जगे हुए शिवजी से पूछा तो यह जानकर कुछ हर्ष अवश्य हुआ कि इसी व्याज से यज्ञ में जाकर हृदय का दु:ख भार कुछ कम कर आवेंगी। अत: इन्होंने यज्ञ में जाने के लिये श्रीशिवजी की अनुमति चाही परन्तु श्रीशिव ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए सतीजी को वहाँ जाने की अनुमति नहीं दी। यथा—

कहेहु नीक मोरेहु मनभावा । यह अनुचित नहिं नेवत पठावा।।
दच्छ सकल निज सुता बोलाई । हमरे बयर तुम्हउ बिसराई।।
ब्रह्म सभा हम सन दुख माना । तेहिं ते अजहुँ करहिं अपमाना।।
जौ बिनु बोले जाहु भवानी । रहइ न सीलु सनेहु न कानी।।
जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा । जाइअ बिनु बोलेहु न सन्देहा।।
तदपि बिरोध मान जहँ कोई । तहाँ गये कल्यानु न होई।।

सतीजी जाने पर तुली हुई थीं अत: श्रीशिवजी ने अपने गणों के साथ इन्हें आदरपूर्वक विदा कर दिया। परन्तु वहाँ जाने पर सतीजी को अनुभव हुआ कि वस्तुतस्तु श्रीशिवजी ने जो कुछ कहा था वह ठीक ही कहा था। दक्ष ने सती का कोई सम्मान नहीं किया। दक्ष के भय से अन्य का साहस नहीं हुआ। बहनों के मिलन-वार्ता में व्यंग का पुट था। हाँ 'सादर भलेहिं मिली एक माता'। परन्तु इतने से सती को सन्तोष कहाँ? अत: वह जाकर यज्ञशाला का निरीक्षण कीं तो मालूम हुआ कि सब देवताओं का यहाँ तक कि न जाने पर भी ब्रह्मा और विष्णु का भी यज्ञ-भाग है परन्तु—'कतहुँ न दीख सम्भु कर भागा।' सती आई थीं दु:ख कम करने, हुआ उल्टा—यथा—पाछिल दु:ख न हृदय अस व्यापा। जस यह भयउ महा परितापा।।' श्रीसतीजी ने सबको सम्बोधित कर चेतावनी दिया—

सुनहु सभासद सकल मुनिन्दा । कही सुनी जिन्ह सङ्कर निन्दा।।
सो फलु तुरत लहब सब काहूँ । भली भाँति पछिताब पिताहूँ।।
सन्त सम्भु श्रीपति अपबादा । सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा।।
काटिअ तासु जीभ जो बसाई । श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई।।
जगदातमा महेस पुरारी । जगत जनक सबके हितकारी।।
पिता मन्द मति निन्दत तेही । दच्छ सुक्र सम्भव यह देही।।

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चन्द्रमौलि वृष केतू।।
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हा हा कारा।।

श्रीशिवजी के गणों ने यज्ञ विध्वंश कर दिया। (विशेष देखिये दक्ष प्रसंग) कालान्तर में यही सतीजी पार्वतीजी के रूप में हिमाचल की पुत्री बनकर प्रकट हुईं। यथा—**सती मरत हरिसन बरु मांगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा। तेहि कारन हिम गिरि गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई।।** और तप करके पुनः शिवजी को प्राप्त किया।।

श्रीमदालसाजी—यह गन्धर्वराज विश्वावसु की कन्या थीं अपने अलौकिक रूप लावण्य, सद्‌गुण- सम्पत्ति, शील स्वभाव से स्वर्ग की देवियों की भी गौरव-गरिमा को संकुचित करती थीं। एक दिन मदालसा अपने पिता के उद्यान में घूम रही थीं, उसी समय पाताल केतु नामक एक दुरात्मा दैत्य अपनी आसुरी माया फैलाकर, इन्हें मोह में डालकर अपहृत कर पाताल में ले गया। मदालसा की एक सखी, जिसका नाम कुण्डला था, जो विन्ध्यवान गन्धर्व की कन्या एवं पुष्करमाली की पत्नी थी। शुम्भ दैत्य ने उसके पति को मार डाला, तब से वह जगत से विरक्त होकर उत्तम व्रतों का पालन करती हुई दिव्य गति से भिन्न-भिन्न तीर्थों में विचरती रहती थी। एक बार वह पाताल लोक में पहुँची तो वहाँ उसने अपनी सखी मदालसा को देखा। फिर तो वह अन्यत्र गमन का विचार छोड़कर अपनी सखी के साथ ही रहने लगी। इससे मदालसा को बड़ा सहारा हो गया। एक दिन जब मदालसा ने अपनी सखी से यह सुना कि आगामी त्रयोदशी को राक्षस पाताल केतु तुम्हारे साथ आसुरी विधि से विवाह करेगा तो ये बहुत दुखी हुईं और आत्महत्या करने को तैयार हो गईं। उसी समय स्वर्ग से आकर कामधेनु ने इन्हें आश्वासन दिया कि—बेटी! वह नीच दानव तुम्हें नहीं पा सकता है। महाभागे! मर्त्यलोक में जाने पर इस दानव को जो अपने वाणों से बींध डालेगा वही महामानव तुम्हारा पति होगा। धैर्य धरो। बहुत शीघ्र ही यह सुयोग आने वाला है। यह कहकर सुरभीदेवी अन्तर्धान हो गईं।

उन्हीं दिनों पृथ्वी पर शत्रुजित नाम के एक महापराक्रमी राजा राज्य करते थे। उनके ऋतध्वज नाम के बड़े ही शील-सौन्दर्य निधान, बुद्धिमान, शूरवीर एवं महाप्रतापी पुत्र थे जो अपने रूप-गुण से देवताओं को भी विस्मय में डालने वाले थे।

एक बार महाराज शत्रुजित के यहाँ महर्षि गालव एक दिव्य अश्व लेकर आये, और अपनी व्यथा- कथा सुनाने लगे। ऋषि ने कहा—राजन्! पाताल केतु नाम के दानव के अत्याचार से क्षुभित होकर हम आपके पास आये हैं। यद्यपि हम अपनी सामर्थ्य से उसे भस्म कर सकते हैं तो भी तपोनाश के भय से ऐसा नहीं करते। एक दिन की बात है, उस असुर को देखकर मैं अत्यन्त खिन्न हो लम्बी साँसें ले रहा था इतने में ही यह घोड़ा आकाश से नीचे उतरा और उसी समय यह आकाशवाणी हुई कि—'मुने! यह अश्व बिना थके समस्त भूमण्डल की परिक्रमा कर सकता है, इसलिये संसार में इसका कुवलय नाम प्रसिद्ध होगा। इसे सूर्यदेव ने कृपा करके दिया है। जो नीच दानव रात-दिन तुम्हें क्लेश में डाले रहता है, उसका भी इसी अश्व पर आरूढ़ होकर राजा शत्रुजित के पुत्र ऋतध्वज वध करेंगे। इस अश्वरत्न को पाकर राजकुमार भी कुवलयाश्व नाम से प्रसिद्ध होंगे। गालव मुनि के यों कहने पर धर्मात्मा राजा ने मङ्गलाचरण पूर्वक राजकुमार ऋतध्वज को उस अश्व पर चढ़ाया और मुनि के साथ भेज दिया।

वीर कुवलयाश्व गालव मुनि के आश्रम में निवास कर रहे थे। ऋषि लोग सन्ध्योपासन में लगे हुए थे तब तक वह दुष्ट दैत्य सूकर का रूप धरकर आश्रम में आकर उत्पात करने लगा। राजकुमार ने अश्व पर आरूढ़ होकर धनुष-बाण लेकर उसका पीछा किया। हजारों योजन दूर जाने पर बाणों से घायल वह सूकर रूपधारी असुर प्राण बचाने के लिये एक अन्धकारमय भू-विवर में प्रवेश कर गया। राजकुमार ने भी घोड़े सहित उसमें प्रवेश किया। अन्धकार पार करने पर राजकुमार को वह दैत्य तो नहीं दिखाई पड़ा, पाताल लोक की अद्‌भुत शोभा का दर्शन हुआ। घूमते-घूमते उन्होंने एक स्त्री को देखा यह वही मदालसा की सखी कुण्डला थी। उसका परिचय पाने के लिये पीछे-पीछे चलते हुए राजकुमार ने महल में प्रवेश कर दिव्य देवाङ्गना तुल्य मदालसा को देखा। निश्चय ही उस रूप-लावण्य ने इनके मन को चुरा लिया, तब भी पुरुष होने के नाते अपने को सँभालकर समीप जाकर परिचय प्राप्त करने के लिये ज्यों ही कुछ कहने का उपक्रम किया—देवी मदालसा इनकी लोकोत्तर सौन्दर्य राशि को देखकर सहसा मूर्च्छित हो गयीं। तब राजकुमार ने उनकी सखी से परिचय एवं मूर्च्छा का कारण पूछा। सखी कुण्डला ने परिचय दिया और मूर्च्छा का कारण निवेदन करते हुए उसने कहा कि—महाराज! सुरभी के कथनानुसार तो यह पत्नी उस वीर पुरुष की होगी जो पातालकेतु को घायल कर देगा, परन्तु यह मोहित हो गयीं आपके रूप सौन्दर्य पर, अतः इस दुविधा में ये मूर्च्छित हो गयीं। अब आप अपना परिचय दीजिये।

परिचय में कुण्डला को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरी सखी जिसे देखकर मुग्ध है वही महा-पराक्रमी पुरुष पातालकेतु का वध करने वाला भी है। इससे मदालसा की दुविधा दूर हो गयी। कुण्डला ने मदालसा की ओर लक्ष्य करके राजकुमार से कहा—जैसे अति कमनीया कान्ति चन्द्रमा को ही प्राप्त होती है, प्रचण्ड प्रभा सूर्य में ही मिलती है, वैसे ही दैवी विभूति धन्य पुरुष को ही प्राप्त होती है। भला गोमाता सुरभी का वचन मिथ्या कैसे हो सकता है। मेरीयह सखी बड़ी भाग्यशालिनी है। आपको पाकर यह धन्य हो गयी।। इसके बाद कुण्डला ने विवाह की सामग्री एकत्रित करके अपने कुल गुरु तुम्बुरु को स्मरण किया। वे समिधा और कुशा लिये तत्काल वहाँ आ पहुँचे और देवविधि से विवाह कार्य सम्पन्न किये। कुण्डला अपनी सखी से विदा होकर तपस्या करने के लिए दिव्यगति से अपने अभीष्ट स्थान को चली गई। राजकुमार कुवलयाश्व मदालसाजी को घोड़े पर बिठाकर चलने को उद्यत ही हुए थे कि पातालवासी दैत्यों ने अपनी विशाल सेना को लेकर इन्हें घेर लिया और अस्त्र-शस्त्र की वर्षा करने लगे। परन्तु राजकुमार के पराक्रम के सामने वे अधिक समय तक टिक न सके। राजकुमार सकुशल रमणीरत्न मदालसा को साथ लिए पिता के चरणों में प्रणाम किए। पिता ने अपने आशीर्वाद एवं स्नेह सिंचन से कुमार को आप्लावित कर दिया। अब राजकुमार पिता की आज्ञा से नित्य-प्रति अश्वारूढ़ होकर साधु-ब्राह्मणों, दीन-दु:खियों की रक्षा के लिये पृथ्वी पर विचरते रहते।

एक दिन की बात है—घूमते-घूमते यमुना तट पर गए। वहाँ पातालकेतु का छोटा भाई तालकेतु आश्रम बनाकर रहता था। उसके मन में अपने बड़े भाई पातालकेतु के मारे जाने का बड़ा क्षोभ था और उसका बदला लेने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा में था। संयोग से आज राजकुमार उसके आश्रम पर चले गये। उस कपटी-मुनि ने राजकुमार को अपना कपट-पूर्ण साधु-स्वांग दिखाकर प्रभावित कर लिया और अपना अभीष्ट सुनाया—राजन्! मैं धर्म के लिए यज्ञ करूँगा परन्तु मेरे इस आश्रम की रक्षा करो। तब तक मैं जल के भीतर प्रवेश करके वरुण देवता की पूजा-स्तुति करके अभी लौटता हूँ। राजकुमार

अपना स्वर्ण-हार उसे देकर आश्रम की रक्षा करने लगे। वह महामायावी दैत्य जल में डुबकी लगाकर राजकुमार के नगर में चला गया और मदालसा तथा अन्य लोगों के समक्ष पहुँचकर इस प्रकार बोला—वीर कुवलयाश्व दैत्यों से युद्ध करते-करते वीरगति को प्राप्त हो गये, मरते समय उन्होंने अपने गले का यह आभूषण मुझे दिया है। इसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो वह आप लोग करें। इस दु:खद समाचार को सुनकर नगर में कुहराम मच गया। पतिपरायणा मदालसा ने तो तत्काल शरीर ही छोड़ दिया। महाराज शत्रुजित ने धैर्य धारण कर लोगों को सान्त्वना दी। मदालसा का दाह-संस्कार किया गया। इसी बीच उस मुनि रूपधारी दुरात्मा दैत्य ने आश्रम में पहुँचकर राजकुमार से अपनी अभीष्ट सिद्धि का शुभ समाचार सुनाकर उन्हें घर जाने की आज्ञा दिया। घर जाकर राजकुमार ने माता-पिता को प्रणाम किया तथा सभी को अन्य मनस्क देखकर इस उदासीनता का कारण पूछा। पुत्रवत्सल पिता ने समस्त वृत्तान्त वर्णन किया। अपनी मनोरमा भार्या मदालसा की मृत्यु का समाचार सुनकर राजकुमार स्तब्ध हो गये। मन ही मन विचार करने लगे कि—मेरे पत्नी प्रेम को धिक्कार है जो मेरी प्रेयसी ने मेरी मृत्यु की बात सुनकर तत्काल प्राण त्याग कर दिये और मैं जीवित हूँ। परन्तु मैं प्राण त्याग कर दूँ अथवा उसके वियोग में 'हा प्रिये' 'हा प्रिये' कहकर क्रन्दन करूँ तो इससे उस प्राण-बल्लभा का उपकार ही क्या होगा। अत: अब तो मुझे धैर्यपूर्वक जीवन धारण करते हुए माता-पिता की सेवा करना ही परम अभीष्ट प्रतीत होता है। यह निश्चय कर राजकुमार ऋतध्वज ने सबके सामने यह प्रतिज्ञा किया कि—यदि इस जन्म में मेरी सुन्दरी पत्नी मदालसा फिर न मिली तो दूसरी कोई स्त्री मेरी जीवन-सङ्गिनी नहीं बन सकती है।

राजकुमार ऋतध्वज के शील-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर नागराज अश्वतर के दो नागकुमारों ने इनसे मैत्री कर ली थी। राजकुमार के प्रेमवश वे दोनों नागकुमार प्रतिदिन बड़ी प्रसन्नतापूर्वक राजकुमार के साथ रहते हुए भाँति-भाँति के विनोद, हास्य और वार्तालाप आदि करते रहते थे। दिन भर राजकुमार के साथ रहते, रात्रि में नागलोक में चले जाते। जब नागराज अश्वतर को इनकी मैत्री का पता चला तो बड़े प्रसन्न होकर बोले—पुत्रो! जिस मित्र के संग रहकर तुम लोग परम सुखानुभव करते हो, उनका कोई मनोरथ सिद्ध करके क्या तुम लोगों ने भी उनके चित्त को प्रसन्न किया है? नागकुमारों ने कहा—पिताजी वे महाराज कुमार सब प्रकार से सिद्धार्थ हैं। उन्हें कोई भी वस्तु देकर प्रत्युपकृत नहीं किया जा सकता है और उन्हें जिसकी आकांक्षा है वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि सर्वसमर्थ परमेश्वरों के सिवा हम लोगों के लिये सर्वथा असम्भव है। नागराज ने कहा—पुत्रो! किसी कार्य को असम्भव मानकर उद्योग छोड़ना उचित नहीं। ऋषियों का कथन है कि—'तप से अगम न कछु संसारा।' अत: तुम सब राजकुमार के अभीष्ट को अभिव्यक्त करो, हम उसे तप से सम्भव करने का प्रयत्न करेंगे। नागपुत्रों ने राजकुमार की प्रतिज्ञा सुनाते हुए मदालसा की पुन: प्राप्ति को अभीप्सित बताया। नागराज अश्वतर ने हिमालय पर जाकर तप के द्वारा सरस्वती को सन्तुष्ट कर स्वर-सिद्धि का वरदान प्राप्त किया, पुन: अपनी स्वर-साधना से शिवजी को सन्तुष्ट करने के लिये कैलाश पर गये। वहाँ उन्होंने भगवान आशुतोष को रिझाकर मदालसा को अपनी कन्या रूप में प्रकट होने का वर माँगा। शिवजी ने 'तथास्तु' कहकर नागराज के मध्यम फण से मदालसा की उत्पत्ति बतायी।

नागराज पूर्ण मनोरथ हो श्रीशिवजी के चरणों में प्रणाम कर अपने स्थान पर आ गये। समय पर सचमुच मदालसा पूर्ववत् ही रूप-शील सद्गुण से समलंकृत मङ्गलमय वपु धारण कर नागराज के मध्यम

फण से प्रादुर्भूत हुई। नागराज ने यह रहस्य किसी को नहीं बताया। मदालसा को महल के भीतर गुप्त रूप से स्त्रियों के संरक्षण में रख दिया। इसके बाद पिता के कहने पर वे दोनों नागपुत्र एक दिन अनुरोध करके राजकुमार ऋतध्वज को अपने पिता के पास नागलोक में ले गये। राजकुमार ने नागराज अश्वतर को मित्र के पिता होने के नाते अपने पिता के ही समान मानकर चरण स्पर्श पूर्वक प्रणाम किया। नागराज ने प्रेम पूर्वक छाती से लगाकर बड़ा ही प्यार किया और फिर क्रमशः स्नानादि सब कार्य करके नागराज ने अपने पुत्रों तथा राजकुमार के साथ प्रसन्नता पूर्वक भोजन किया। तत्पश्चात् राजकुमार का प्रिय करने के लिए नागराज ने घर में छिपायी हुई मदालसा को सम्मुख लाकर उपस्थित किया और इनके पुनः प्राकट्य की कथा कह सुनायी। फिर तो राजकुमार ने अपनी प्यारी पत्नी को ग्रहण किया। तदनन्तर उनके स्मरण करते ही उनका प्यारा अश्व वहाँ आ पहुँचा। तब वे नागराज को प्रणाम करके मदालसा के साथ अश्व पर आरूढ़ होकर नगर को चल दिये।

राजकुमार को पुनः मदालसा सहित देखकर माता-पिता एवं पुरवासी बहुत ही प्रसन्न हुए। इस उपलक्ष्य में बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया। महाराज शुत्रजित के परलोकवासी होने पर पुरवासियों ने उनके महात्मा पुत्र ऋतध्वज को जिनके आचरण तथा व्यवहार बड़े उदार थे, राजपद पर अभिषिक्त किया। श्रीमदालसाजी महाराज की पटरानी हुईं। महाराज ऋतध्वज एवं महारानी मदालसाजी दोनों अपनी प्रजा का औरस पुत्रों की भाँति पालन करने लगे। श्रीमदालसाजी का सन्तों में बड़ा सद्भाव था। महल में साधु ब्राह्मणों की भीड़ लगी रहती थी। सन्त सेवा और सत्सङ्ग के प्रभाव से मदालसाजी को जगत की असारता और दुःख रूपता का सम्यक् बोध हो गया था। अतः इनकी इनमें किंचित् आसक्ति नहीं रह गई थी। इनका सिद्धान्त था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्।।
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रतितत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्।। (मार्क० पु०)

अर्थ—संग (आसक्ति) का सब प्रकार से त्याग करना चाहिये। किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये। क्योंकि सत्पुरुषों का संग ही उसकी औषधि है। कामनाओं को सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये। क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने की दवा है।। (विशेष देखिये कवित्त ९३ श्रीअलर्कजी का प्रसङ्ग)

श्रीयज्ञ पत्नियाँ—एकदिन बलराम सहित श्रीकृष्ण ग्वालबालों को साथ लेकर श्रीमधुवन में गये। वहाँ पहुँचकर सब बालक बड़ी स्वतन्त्रता से अपनी गौएँ चराते हुए बिचरने-विहरने लगे। खेलते-खेलते वह थक गये, उन्हें भूख प्यास सताने लगी। तब सब गोप शिशु श्रीकृष्ण के पास आये बोले—नयनाभिराम बलराम! भैया कन्हैया! तुमने बड़े-बड़े दुष्टों का संहार किया है। उन्हीं दुष्टों के समान यह भूख भी हमें सता रही है। अतः तुम दोनों इसे भी बुझाने का उपाय करो। श्रीकृष्ण ने मथुरा की परम भागवती ब्राह्मण पत्नियों पर अनुग्रह करने के लिये, जिन्होंने चिरकाल से भगवान श्यामसुन्दर के अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य

एवं उनकी मनोहर लीलाओं को सुन-सुनकर अपना हृदय समर्पित कर दिया था, जो सदा सर्वदा के लिए उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन हो जायँ, उनके चिरसंचित मनोरथ को पूर्ण करने के लिये यह बात कही—मेरे प्यारे मित्रो! यहाँ से थोड़ी दूर पर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्ग की कामना से आंगिरस नाम का यज्ञ कर रहे हैं, तुम लोग उनकी यज्ञशाला में जाओ और वहाँ जाकर श्रीबलरामजी का और मेरा नाम लेकर कुछ भोजन की सामग्री माँग लाओ।

तब ग्वाल बाल उन ब्राह्मणों की यज्ञशाला में जाकर, दण्डवत-प्रणाम कर, हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से बोले—विप्रवरो! हम व्रज के ग्वाले भगवान श्रीकृष्ण और बलराम की आज्ञा से आपके पास क्षुधा निवृत्ति निमित्त कुछ भात की याचना करते हैं, यदि आप लोगों की श्रद्धा हो तो कुछ भोजन दे दीजिये। परन्तु उन ब्राह्मणों ने इनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। 'हाँ या ना' कुछ भी नहीं कहा। इसलिये कि वे स्वर्ग-कामी, कर्मजाल में उलझे हुए भगवान के भगवत्स्वरूप को एकदम भूले हुए थे। निराश ग्वाल बालों ने आकर श्रीकृष्ण से जब यह बात कही तो वे उन्हें धैर्य बँधाते हुए हँसकर बोले—मेरे प्यारे ग्वाल वालो! इस बार तुम लोग उनकी पत्नियों के पास जाओ और उनसे कहो कि राम और श्याम यहाँ आये हैं। अब तुम जितना चाहोगे उतना भोजन वे तुम्हें देंगी। वे मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं। उनका मन सदा सर्वदा मुझमें लगा रहता है। (भगवान के हँसने में मधुर व्यंग यह है कि ब्राह्मण भांग के नाते दाऊजी को अधिक मानते हैं, श्रीठाकुरजी हँसे कि देख लिया दाऊजी के भक्तों को, अब हमारे भक्तों का भाव देखो।) अब ग्वाल वालों ने ब्राह्मण पत्नियों को भी प्रणाम कर अपने आने के उद्देश्य को व्यक्त किया तो वे श्रीकृष्ण के आने की बात सुनते ही उतावली हो गयीं, उनका हृदय हर्ष से खिल उठा, नेत्रों में आनन्द के आँसू छलक आये, वे स्वर्ण और रजत (चाँदी) पात्रों में भक्ष्य, भोज्य लेह्य, चोष्य—चारों प्रकार की भोजन सामग्री लेकर, भाई-बन्धु, पति-पुत्रों के रोकते रहने पर भी अपने प्रियतम भगवान श्रीकृष्ण से मिलने के लिये घर से निकल पड़ीं, ठीक वैसे ही जैसे नदियाँ समुद्र के लिये।

ब्राह्मण पत्नियों ने जाकर देखा कि यमुना तट पर नये-नये कोपलों से शोभायमान अशोक वन में ग्वाल वालों से घिरे हुए बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर घूम रहे हैं। उनके सांवले शरीर पर सुनहरा पीताम्बर झिलमिला रहा है, गले में वनमाला लटक रही हैं। उनके मस्तक पर मोर पंख का मुकुट है। अंग-अंग में रङ्गीन धातुओं से चित्रकारी कर रखी हैं। नये-नये कोपलों के गुच्छे शरीर में लगाकर नट का सा वेष बना रखा है। एक हाथ अपने सखा ग्वाल वाल के कन्धे पर रखे हुए हैं और दूसरे हाथ से कमल का फूल नचा रहे हैं, कानों में कमल के कुण्डल हैं, कपोलों पर घुंघराली अलकावली लटक रही हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुसकान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा है। यथा—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह धातु प्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्त हस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोल मुखाब्ज हासम्।। (भा० १०-२३-२२)

जिन ब्राह्मण पत्नियों ने अब तक अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के गुण और लीलायें अपने कानों से सुन-सुनकर अपने मन को उन्हीं के प्रेम रंग में रंग डाला था, उसी में सराबोर कर दिया था अब नेत्रों के मार्ग से उन्हें हृदय कुञ्ज में ले जाकर बहुत देर तक वे मन ही मन आलिंगन करती रहीं और इस प्रकार उन्होंने अपने हृदय की जलन शान्त की।

मन्द-मन्द मुसकाते हुए मदनमोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्रेम का अभिनन्दन किया। उनके उमड़ते हुए अनुराग की भूरि-भूरि सराहना करते हुए इस प्रकार बोले—देवियो! अब तुम लोग मेरा दर्शन कर चुकीं, अब अपनी यज्ञशाला में लौट जाओ, तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं, वे तुम्हारे साथ मिलकर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे। ब्राह्मण पत्नियों ने कहा—प्यारे श्रुतियां कहतीं हैं कि जो एकबार भगवान को प्राप्त हो जाता है उसे संसार में नहीं लौटना पड़ता, अब हम आपके चरणों में आ पड़ी हैं हमें अब और किसी का सहारा नहीं है। हम अपने स्वजन सम्बन्धियों की आज्ञा का उल्लंघन कर आपके पास आईं अतः वे हमें स्वीकार भी नहीं करेंगे। केशव! अब तो आप ऐसी कृपा करो कि हमें आपके श्रीचरण कमलों की सेवा प्राप्त हो, हम प्रतिक्षण आपके मुखारविन्द का दर्शन करती रहें।

करुणानिधान प्रभु ने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। फिर वे बालकों की मण्डली में बैठ गये। तदनन्तर ब्राह्मण-पत्नियों ने उन्हें सुधा के समान मधुर-भोजन प्रदान किया। भगवान ने उस अन्न को लेकर गोप-बालकों को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया। इसी समय आकश से एक दिव्य अनुपम विमान उतरा। मणि-रत्न जटित वह स्वर्ण का बना हुआ विमान बड़ा ही मनोहर था। उस पर श्रीकृष्ण के समान स्वरूप और श्रृंगार धारण किये हुए पार्षद विराजमान थे। वे पार्षद विमान से उतरकर, श्रीहरि के चरणों में प्रणाम करके ब्राह्मण-पत्नियों से बोले—'आप लोग इस विमान पर चढ़कर गोलोक चलें।' वे यज्ञ पत्नियाँ श्रीहरि को नमस्कार करके मनोवाञ्छित गोलोक में जा पहुँचीं। वे मानव देह का परित्याग करके तत्काल दिव्य गोपीरूप हो गयीं। तत्पश्चात् श्रीहरि ने वैष्णवी माया के द्वारा उनकी छायां निर्माण करके ब्राह्मणों के घर भेज दिया। (ब्रह्मवैवर्त पुराण)

इन अनुरागवती देवियों का दर्शन कर ब्राह्मणों का विवेक जागृत हुआ तो इन्हें बहुत ही पश्चात्ताप हुआ कि हम भगवान को पहचान नहीं सके, तब वे पछता-पछताकर अपनी निन्दा करते हुए कहने लगे कि—

धिग्जन्मनस्त्रिवृद् विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे।। (भा० १०-२३-३९)

अर्थ—हाय! हम भगवान श्रीकृष्ण से विमुख हैं अतः हमारे ऊँचे कुल में जन्म, गायत्री दीक्षा, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, विद्या, व्रत, बहुज्ञता, कर्मकाण्ड की निपुणता को धिक्कार है। श्रीसूरदास ने भी इन ब्राह्मणों के आत्म-धिक्कार का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यथा—

हम सबहिं मन्द भाग भगवानसों विमुख भये धन्य वे नारि गोविन्द पूजे।
मूँदि रहे नैन हम सबै उलूक ज्यों भानु भगवान आये न सूझे।।
सङ्ग गोधन लगे खेल रस रङ्ग में भोर के निकसि भूखे आये।
देहु तो भात कर जोरि ग्वालन कह्यौ, अहो भूदेव तुम पे पठाये।।
केवल करुना रटनि, प्रात भोजन करनि, निगमहू अगम महिमा बतावै।
कहाँ प्रभु की यचनि हमारे मदकी मचनि, देवकी रचनि कछु कहि न जावै।।
शौच आचारु, गुरुकुलहिं सेवा कछू कुटिल करकस हिये बुद्धि दीनी।
देखौ इन तियन कौ भाग या जगत में सच्चिदानन्द के रङ्ग भीनी।।

उमँगि पहिले चलीं पार संसार के सांवरों कुँवर हिय मांझ पोयो।
धरि रहे कूर सुर लोक आसा अलप पाय अमी आश अमृत निचोयो।।
तियाकौतुक मिलीं, कछुक जानी चली कमलिनी हियो मन ना मिलावैं।
शेष त्रिपुरारि ब्रह्मादि सनकादि शुक चरन की रेनु सिर पर चढ़ावैं।।
जदपि नारायण अवतार यदुकुल विषें सुन्यौं बहुभाँति तौ मन न आये।
देखो या दैव की माया अति मोहनी दई दृग धूरि हम सब भुलाये।।
धिक जन्मजाति कुलक्रिया स्वाहा स्वधा जोग जज्ञ जप सकल धिक हमारे।
ज्ञान विज्ञान धर्म कछु कर्म नाहीं ईश पद विमुख आरम्भ सारे।।
गृह आगार संसार दुःख सम्भवै मिथुन मृग निर्मयो मन मिलावै।
सूर की सोर हरि विमुख जग में बड़े बुझि गयो दीप जब बड़ कहावै।।

पुनः इन ब्राह्मणों ने अपनी पत्नियों की बड़ी सराहना की यथा—

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ। दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्यु पाशान् गृहाभिधान्।। (भा० १०-२३-४१)
नासां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि। न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः।। (भा० १०-२३-४२)

अर्थ—कितने आश्चर्य की बात है? देखो तो सही—यद्यपि ये स्त्रियाँ हैं तथापि जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण में इनका कितना अगाध प्रेम है, अखण्ड अनुराग है। उसी से इन्होंने गृहस्थी की वह बहुत बड़ी फाँसी भी काट डाली जो मृत्यु के साथ भी नहीं कटती।। इनके न तो द्विजाति के योग्य संस्कार हुए हैं और न तो इन्होंने गुरुकुल में ही निवास किया है, न इन्होंने तपस्या की है और न तो आत्मा के सम्बन्ध में ही कुछ विवेक विचार किया है। कहाँ तक कहा जाय, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो शुभ कर्म ही। पुनः ब्राह्मणों ने ऐसी भागवती पत्नियों से सम्बन्ध होने से अपने भाग्य को सराहा—'अहो हमारे धन्य भाग्य हैं, हम सब धन्याति धन्य हैं, तभी तो हमें ऐसी पत्नियाँ प्राप्त हुई हैं। इनकी भक्ति से हमारी भी बुद्धि भगवान श्रीकृष्ण के अविचल प्रेम से युक्त हो गयी।

उन स्त्रियों में से एक को आने के समय ही उसके पति ने बलपूर्वक रोक लिया था। इस पर उस ब्राह्मण पत्नी ने भगवान के वैसे ही स्वरूप का ध्यान किया, जैसा कि बहुत दिनों से सुन रखा था। जब उसका ध्यान स्थायित्व को प्राप्त हो गया तब मन ही मन भगवान का आलिंगन करके उसने कर्म के द्वारा बने हुए अपने पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़ दिया-शुद्ध सत्वमय दिव्य भाव शरीर से उसने भगवान की सन्निधि प्राप्त कर ली। यथा—**तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्।।** (भा० १०-२३-३४) इस प्रसंग का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन श्रीसूरदासजी ने किया है। यथा—

देखन दे वृन्दावन चन्दहिं।
हा हा कन्त मानि विनती यह कुल अभिमान छांड़ि मतिमन्दहिं।।
कहि क्यों भूलि धरत जिय औरे जानत नहिं पावन नन्दनन्दहिं।
दरशन पाइ आइहौं अबही करन सकल तेरे दुख द्वन्द्वहिं।
शठ समझै यह समुझत नाहीं खोलत नाहिं कपट के फन्दहिं।
देह छोड़ि प्राणनि भइ प्रापति सूर सुप्रभु आनन्द विधि कन्दहिं।।

रति बाढ़ी गोपाल सों।
हा हा हरि लौं जान देहु पिय पद परसत हौं भाल सों।।
सङ्ग की सखी स्याम सनमुख भई मैं ही परी पशुपाल सों।
परबस देह नेह अन्तर्गत क्यौं मिलौं नयन विशाल सों।।
शठ हठ करि तू हीं पछितैहै इहै भेंट तोहि बाल सों।
सूरदास गोपी तनु तजिकै तनमय भइ नन्दलाल सों।।२।।

प्रिय जनि रोकहिं अब जान दै।
हौं हरि विरह जरे जांचति हौं इतनी बात मोहिं दान दै।।
बैन सुनौं विहरत बन देखौं इह सुख हृदय सिरान दै।
पुनि जो रुचै सोइ तूं कीजै सांच कहति हौं आन दै।।
जो कछु कपट किये याचति हौं सुनहिं कथा हित कान दै।
मन क्रम वचन सूर अपनो प्रण राखौंगी तन मन प्राण दै।।३।।

व्रजनारि—प्रेम स्वरूपा व्रजगोपियाँ—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः।। (भा० १०-४४-१५)

अर्थ—मथुरापुरी की ललनायें व्रजदेवियों के सौभाग्य की सराहना करते हुए कहती हैं कि—सखी! व्रज की गोपियाँ धन्य हैं। निरन्तर श्रीकृष्ण में ही चित्त लगा रहने के कारण प्रेम भरे हृदय से, आँसुओं के कारण गद्गद कण्ठ से वे इन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं। वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को झूला झुलाते, रोते हुए बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते, धुलाते, घरों को झाड़ते-बुहारते—कहाँ तक कहें सारे काम काज करते समय श्रीकृष्ण के गुणों के गान में ही निमग्न रहती हैं।। गोपियों के प्रेम की प्रथम किरण का दर्शन होता है सूतिका गृह में ब्रजेन्द्र-गेहिनी यशोदा की गोद में नील सरोरुह नीलमणि, नील, नीरधर श्याम नयनाभिराम श्रीकृष्ण को देखकर यथा—

अहो शिरसि धारये नयनयोर्मुहुः स्पर्शये हृदि प्रचुरमर्पये हृदयमध्यमावेशये।
इदं विविध भावनं भृशमतीत्य वीचिक्षिषा बलाद्धरदृशां दृशां विषयतामनैषीदमुम्।।
(गोपालचम्पू)

अर्थ—अहा हा! मैं तो लाल को शिर पर धारण करूँगी, दूसरी बोली—मैं तो बारम्बार नेत्रों का ही स्पर्श करूँगी। तीसरी बोली—मैं तो अपने हृदय पर दृढ़तापूर्वक धारण करूँगी। चौथी बोली—बहिन! मैं तो हृदय के बीच में ही स्थापित कर लूँगी। पुनः इनकी प्रबल दर्शनेच्छा ने सभी भावों का अतिक्रमण कर इन व्रज-ललनाओं को इस बालक को देखने में लगा दिया अर्थात् ये अपलक नेत्रों से दर्शन करने लग गईं। श्रीकृष्ण की कल्याण-कामना से गोपियों ने भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया। (यह तत्सुख सुखित्व का श्रीगणेश है) प्रथम दर्शन में ही उनके मन और दृष्टि, उनके नहीं रह गये। वे अहर्निश श्रीकृष्ण में मन लगाये उनका मङ्गल विधान करती रहतीं। जिस समय बाल कृष्ण ने पूतना का संहार किया—गोपियों ने

प्रेमवश भगवान के विविध नामों द्वारा श्रीकृष्ण के अङ्गों की सब प्रकार से रक्षा की। यथा—**इति प्रणय वद्धाभिः गोपीभिः कृतरक्षणम्।।** (भा० १०-६-३०)

श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के इस सहजानुराग का परिणाम यह हुआ कि—**जाकी माया वश विरंचि शिव नाचत पार न पायो। करतल ताल बजाइ ग्वाल युवतिन सोइ नाच नचायो** (वि०) भगवान की इस भक्तवश्यता का बड़ा सरस वर्णन श्रीसूरदासजी ने किया है। यथा—

देत करताल वे लाल गोपाल सों पकरि ब्रजबाल कपि ज्यौं नचावै।।
कोउ कहै ललन पकराव मोहि पांवरी कोउ कहै लाल बलि लाऔ पीढ़ी।
कोउ कहै ललन गहाव मोहिं सोहनी कोउ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी।।
कोउ कहै ललन देखो मोर कैसे नचैं कोउ कहै भ्रमर कैसे गुञ्जारैं।
कोउ कहै पौरि लगि दौर आवौ लाल रीझि मोतिन के हार वारैं।।
जो कछु कहैं ब्रज बधू सोइ सोइ करत तोतरे बैन बोलनि सुहावैं।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठै तबै चूम मुख जननी उरसौं लगावैं।।
देन कहि लौनी पुनि चाहि रहत बदन हँसि स्वभुज वीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूलि रहीं कान्ह बलराम के संग डोलै।।
सूर गिरिधरन मधु चरित मधु पान कै और अमृत कछु आन लागै।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै मुक्तिहू लोन सी खारी लागै।।

बालकृष्ण एक दिन मैया से माखन के लिये मचल रहे थे। एक व्रज गोपी सुन रही थी। उस समय उसके हृदय में भाव-तरंगें उठती हैं? सूर के शब्दों में इसका आश्वादन कीजिये—

मैया री मोहिं माखन भावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई मोहिं नहीं रुचि आवै।।
व्रज युवती इक पाछे ठाढ़ी सुनति श्याम की बात।
मन मन कहति कबहुँ अपने घर देखौं माखन खात।।
बैठे जाइ मथनियां के ढिंग तब मैं रहौं छिपानी।
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिनि मन की जानी।।१।।

फिर क्या था—'गये श्याम तेहि ग्वालिनि के घर।' उसका जनम-जनम का चिर सञ्चित मनोरथ पूर्ण हुआ। उसने श्यामसुन्दर को माखन खाते तथा निज प्रतिबिम्ब से बतराते देखा। उसके प्रेमानन्द का पारावार नहीं। यथा—

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखीं परस्पर बातैं पायो पर्‌यो कछुक हैं तैंरी।।
पुलकित रोम रोम गद् गद मुख वाणी कहत न आवै।।
ऐसो कहा आहि सो सखि री मोकूं क्यों न सुनावै।।
तन न्यारो जिय एक हमारो हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखीसों देख्यों रूप अनूप।।

समस्त व्रज में यह बात फैल गयी। फिर तो प्रत्येक गोपी इस अद्‌भुत सुख की अभिलाषा करने लगती है। यथा—

व्रज घर घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी करि लै हरि ग्वाल सखा सङ्ग खात।।
ब्रज बनिता यह सुनि मन हर्षीं सदन हमारे आवैं।
माखन खात अचानक पावैं भुज भरि उरहिं छुपावैं।।
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु को घर में लै दैंहों माखन खान।।

भक्त वांछा कल्पतरु भगवान श्रीकृष्ण ने सबका मनोरथ पूर्ण किया। यथा—

चली ब्रज घर घरनि यह बात।
नन्द सुत संग सखा लीने चोरि माखन खात।।
कोउ कहति मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें उतहिं गये पराई।।
कोउ कहति केहिं भांति हरि को देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनौ श्याम।।
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं को सकै निरवारि।।
सूर प्रभु के मिलन कारन करति विविध विचार।
जोरि कर विधि कौ मनावति पुरुष नन्द कुमार।।

श्यामसुन्दर ने दही की मटकी फोड़ दी माखन बन्दरों को लुटा दिया। यशोदा मैया उन्हें पकड़ने चलीं वे दौड़े, पर आखिर पकड़े गये। मैया ने हाथ में छड़ी लेकर उन्हें डाँटना आरम्भ किया, वे डर गये, आँखों में आँसू बह चले। इसी समय कुछ व्रज गोपियाँ आ जाती हैं। उस समय के इनके भाव भरे उद्‌गार सुनिये श्रीतुलसीदासजी के शब्दों में—

हरि को ललित बदन निहारु।
निपट ही डाँटति निठुर ज्यों लकुट करतें डारु।।
मंजु अञ्जन सहित जलकन चुवत लोचन चारु।
स्याम सारस मग मनहुँ ससि स्त्रवत सुधा सिंगारु।।
सुभगउर दधि बुंद सुन्दर लखि अपनपौ बारु।
मनहुँ मरकत मृदु शिखर पर लसत विषद तुषारु।।
कान्हहू पर सतर भौंहें महरि मनहिं विचारु।
दास तुलसी रहति क्यों रिस निरखि नन्दकुमार।। (कृ० गी०)

ब्रजेन्द्र-नन्दन श्यामसुन्दर मदन-मोहन आनन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द की मंजुल मंगलमयी परमाशोभा के दर्शन को ही व्रज गोपियाँ जीवन-जन्म की नेत्रों की सफलता मानती हैं। यथा—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं ब्रजेश सुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वानिपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।। (भा० १०-२१-७)

अर्थ—(सर्व भूत मनोहर श्रीकृष्ण के वेणुरव को सुनकर विमुग्ध भईं व्रज देवियाँ उस वेणु माधुर्य का वर्णन करते-करते तन्मय हो गईं, भावना में वे मन ही मन वहाँ पहुँच गईं जहाँ श्रीकृष्ण थे। स्वमनमोहन श्रीकृष्ण का दर्शन और आलिङ्गन कर वे गोपियाँ आपस में कहती हैं—) अरी सखी! हमने तो आँख वालों के जीवन की, और उनकी आँखों की बस यही—इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है। वह कौन सा लाभ है? वह यही कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौर सुन्दर बलराम ग्वाल बालों के साथ गायों को हाँककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज में ला रहे हों, उन्होंने अपने अधर पर मुरली धर रक्खी हो और प्रेम भरी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरी का पान करती रहें।

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी, लीला माधुरी, वेणु-माधुरी एवं प्रेम-माधुरी में परम आसक्त भईं ब्रज गोपियाँ परमानन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र को वर रूप में प्राप्त करने के लिये भगवती कात्यायनी की अर्चना और व्रत-विधान करने लगीं। वे नित्य यही माँगतीं कि—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।। (भा० १०-२२-४)

अर्थ—हे कात्यायनी! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सबकी एकमात्र स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिये। हे देवि! हम आपके चरणों में नमस्कार करती हैं।

पूर्णमासी तिथि थी, व्रत की पूर्ति का दिन था, गोपियाँ नित्य प्रति यमुना तट पर आकर पूर्ववत् वस्त्रों को खोलकर, श्रीकृष्ण के मंगलमय यश का गान करती हुई प्रसन्नता से जल बिहार करने लगीं। योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण से उनकी अभिलाषायें छिपी नहीं रहीं। गोपियों के जल बिहार के बीच ही सखाओं के संग आकर उनके सारे वस्त्र उठा लिये और बड़ी फुर्ती से वे एक कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गये। एक बात यहाँ ध्यान रखने की है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के चीर हरण के साथ-साथ उनकी लज्जा एवं अहंता का भी हरण कर लिया। वस्तुतस्तु प्रेम की प्राप्ति में आवरण, लज्जा एवं अहंता बाधक है। यथा—**प्रीति तहाँ पर्दा नहीं, पर्दा तहाँ न प्रीति। प्रीति करै पर्दा करै, तुलसी यह अनरीति।।** पुनः **चाखा चाहे प्रेम रस राखा चाहै लाज। नारायण प्रेमी नहीं, बातन को महाराज।।** इसलिये कहा गया है कि—**लाज के ऊपर गाज परौ व्रजराज मिलैं सोइ काज करौरी।।** पुनः—**परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई।।** प्रेम में पूर्ण समर्पण होता है और मान समर्पण में बाधक है अत: अहं का भी हरण कर लिया। महत्व की बात तो यह है कि भगवान श्रीकृष्ण ने प्रथम तो, आवरण, लज्जा एवं अहंता का अपहरण किया फिर अन्त में प्रसन्न होकर चीर-प्रदान के व्याज से लज्जा एवं अहं को भी लौटा दिया। तब इसकी संगति कैसे होगी? समाधान प्रेम की प्राप्ति में ये तीनों बाधक हैं परन्तु प्रेम प्राप्त हो जाने पर ये रस वर्द्धक होते हैं। घूँघट, लज्जा, संकोच, अहं (मान) इनसे प्रेम में वृद्धि होती है। अतः प्रथम चीरादि का हरण करके इनको पूर्ण प्रेम प्रदान किया।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि इन्हें अब पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया है? समाधान—

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिता: प्रस्तोभिता: क्रीडनवच्च कारिता:।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृता:।। (भा० १०-२२-२२)

अर्थ—श्रीकृष्ण ने कुमारियों से छल भरी बातें की, उनका लज्जा संकोच छुड़ाया, हँसी की और कठपुतियों के समान नचाया, यहाँ तक कि उनके वस्त्र तक हर लिये, फिर भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, उनकी इन चेष्टाओं को दोष नहीं माना, बल्कि अपने प्रियतम के संग से वे और भी प्रसन्न हुईं।

यही प्रेम की कसौटी है। प्रेमी अपने प्रियतम की बड़ी से बड़ी प्रतिकूल क्रिया को भी गुण करके ही देखता है। जैसे चातक—मेघ की महान निष्ठुरता प्रसिद्ध है—'**पयद प्रेम पथ कूर।**' चातक के प्रति वह कम अन्याय नही करता—यथा—'**उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।**' परन्तु तो भी—'**चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।**' पुन:—'**बरषि परुष पाहन पयद, पङ्ख करौ टुक टूक।**' परन्तु— '**तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहिं चूक।**' इसका एकमात्र कारण यही है कि चातक का मेघ से प्रेम है। अत: '**चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।**' गोपियों की भी यही दशा है अत: सिद्ध होता है कि इन्हें पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया है। इसलिए भगवान ने पुन: चीरादि लौटा दिया, क्योंकि अब ये रस पोषक होंगे। पश्चात् रसिक शेखर श्रीकृष्ण ने उन अनुरागवती व्रज बालाओं को उनके भावानुसार सुख संवर्द्धन न करने वाले ये वचन कहे—कुमारियो! अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई है। तुम आने वाली शरदऋतु की रात्रियों में मेरे साथ विहार करोगी। सतियो! इसी उद्देश्य से तो तुम लोगों ने यह व्रत और कात्यायनी देवी की पूजा की है।

महारास की महा मङ्गलमयी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण के मधुर मुरली रव को सुनकर सुधि बिसराये व्रज-वधुएँ सावन की सरिता की तरह बिना किसी अवरोध के परम-प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर के समीप पहुँच जाती हैं। यथा—**सुनत चलीं व्रजवधू गीतधुनि को मारग गहि। भवन, भीति, द्रुम, कुञ्ज पुञ्ज कितहूँ अटकी नहिं।। सावन सरित न रुकै करै जौ जतन कोउ अति। कृष्ण गहे जिनके मन ते क्यों रुकहिं अगम अति।।** (रा० प०) रसघन श्रीकृष्ण ने उनके प्रेमपुञ्ज को प्रकाशित करने के लिये सामान्य धर्म का उपदेश करते हुए घर लौट जाने को कहा। उस समय इन व्रज देवियों ने जो कहा है वह प्रेम का सर्वोच्चतम आदर्श स्वरूप है। यथा—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुंनृशंसं, संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषोभजते मुमुक्षून्।। (भा० १०-२९-३१)
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।। (भा० १०-२९-३२)
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तवपाद मूलाद् याम: कथं व्रजमथो करवाम किं वा।। (भा० १०-२९-३४)

अर्थ—प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घट-घट व्यापी हो। हमारे हृदय की बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरता भरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणों में ही प्रेम करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तुम स्वतन्त्र हो और हठीले भी हो। तुम पर हमारा कोई वश नहीं है। फिर भी तुम अपनी ओर से, जैसे आदि पुरुष भगवान नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तों से प्रेम करते हैं वैसे ही

हमें स्वीकार कर लो। हमारा त्याग मत करो। प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मों का रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना है कि—अपने पति पुत्र और भाई बन्धुओं की सेवा करना ही स्त्रियों का धर्म है—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेश के अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशों के चरम लक्ष्य हो, साक्षात् भगवान हो। तुम्हीं समस्त शरीर धारियों की आत्मा हो, सुहृद हो और परम प्रियतम हो।। मनमोहन! अब तक हमारा चित्त घर के काम धन्धों में लगा रहता था, इसी से हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इसमें तुम्हें कोई कठिनाई भी नहीं पड़ी। तुम सुख स्वरूप जो ठहरे। परन्तु अब तो हमारी गति मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरण कमलों को छोड़कर एक पग भी हटने के लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं। फिर हम व्रज में कैसे जायँ? और यदि वहाँ जायँ भी तो करेंगी क्या?

भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ विविध रास-विलास किया। पुनः—प्रेमपुञ्ज वरधन के काज व्रजराज कुँवर पिय। मंजु कुञ्ज में नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय।। (रा० प०) उस समय की व्रजगोपियों की विरह दशा का वर्णन करते हुए श्रीनन्ददासजी कहते हैं कि—ठगी रहीं ब्रज बाल लाल गिरधर पिय बिनु यौं। निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यौं जाइ भईं त्यौं।। ह्वै गईं विरह विकल तब बूझति द्रुम बेलीबन। को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरही जन।। (रा० प०) उस समय अपने हृदयेश्वर श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों ने अनेक प्रेमप्रलाप किये हैं। जो 'गोपी-गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। गोपी-गीत के अन्तिम श्लोक को यदि हम रास पञ्चाध्यायी का एवं गोपियों के प्रेम का प्राण कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह श्लोक तत्सुख सुखित्वं का ज्वलन्त उदाहरण है। यथा—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।। (भा० १०-३१-१९)

अर्थ—तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर भी डरते-डरते बहुत धीरे से रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणों से तुम रात्रि के समय घोर जङ्गल में छिपे-छिपे भटक रहे हो। क्या कङ्कड़-पत्थर आदि की चोट लगने से उनमें पीड़ा नहीं होती होगी? हमें तो इसकी सम्भावना मात्र से ही चक्कर आ रहा है। अचेत हो जा रही हैं। श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है। हम तुम्हारे लिए जी रहीं हैं। हम तुम्हारी हैं।

श्रीराम प्रेममूर्ति श्रीभरतलालजी की भी तो यही सबसे बड़ा दुःख है। यथा—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं । करि मुनि वेष फिरहिं बन बनहीं।।
अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बरषा बात।।
एहि दुःख दाह दहइ दिन छाती । भूख न बासर नींद न राती।। (रामा०)

इससे सिद्ध होता है कि यह भाव प्रेम का प्राण स्वरूप है।

भाववश्य भगवान ने पुनः प्रकट होकर गोपियों के प्रेम के प्रति जो कृतज्ञता ज्ञापन की है उससे इन व्रज-सीमन्तिनी-जनों की प्रेम-महिमा का उद्घाटन होता है। यथा—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जर गेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।। (भा० १०-३२-२२)

अर्थ—मेरी प्यारी गोपियो! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है जिन्हें बड़े-बड़े योगी यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से अमर जीवन से अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से, मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

सन्देशा देकर भेजते समय भगवान ने उद्धवजी से कहा था—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्।। (भा० १०-४६-४)

अर्थ—हे उद्धव! गोपियों ने अपना मन मुझको समर्पण कर दिया है, मैं ही उनके प्राण हूँ, मेरे लिए उन्होंने अपने देह के सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिए समस्त लौकिक धर्मों को छोड़ देते हैं, उनको मैं सुख पहुँचाता हूँ।। (भा०)

प्रेम का पूर्ण प्रकाश विरह में होता है। श्रीरामावतार में वनवास रूप विरह का मुख्य प्रयोजन एकमात्र परमधीर, परम गम्भीर, भावमूर्ति श्रीभरतलालजी के अगाध अन्तस्तल में छिपे अनन्त प्रेम-महार्णव को प्रकट करना है। यथा—'प्रेम अमिय मन्दर विरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुबीर।। (रा०च०मा०) वैसे ही कृष्णावतार में माथुर लीला गोपियों के प्रेम के महा प्रकाश के लिए हैं। जब गोपियों ने सुना कि हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर और गौर सुन्दर बलराम जी को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूरजी व्रज में आये हैं, तब इनके हृदय में बड़ी व्यथा हुई। वे व्याकुल हो गईं और मन ही मन अपने प्यारे की अनन्त आनन्द दायिनी, उदारता भरी विविध लीलाओं का चिन्तन करते हुए उनके विरह भय से कातर हो गईं। आँखों में आँसू भरे गद्‌गद स्वर से वे आपस में कभी तो ब्रह्माजी के ऊपर दोषारोपण करतीं—यथा—'अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया' कभी अक्रूरजी को कोसतीं—यथा—'अक्रूर इत्येतदतीव दारुणः' कभी प्यारे श्रीकृष्ण को ही 'न नन्दसूनुः क्षणभङ्ग सौहृदः' कहकर अपने हृदय के विरह-भार को कुछ हल्का करतीं। क्योंकि—'कहेहू ते कछु दुख घटि होई।' (रा०च०मा०) श्रीकृष्ण-गृहीत-मानसा वे व्रज ललनायें विरह की सम्भावना से अत्यन्त आर्त हो लज्जा छोड़कर 'हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव! इस प्रकार उच्च स्वर से पुकार-पुकारकर सुस्वर रुदन करने लगीं।

अक्रूर श्रीकृष्ण बलराम को रथ में बैठाकर ले चले। उस समय की इनकी विरह-दशा का वर्णन करते हुए कविवर श्रीबिहारीजी कहते हैं—

चन्द्रकला आदिक चन्द्रावली 'बिहारी' बाल लाड़िली समेत खड़ी ललिता विशाखा सी।
हेरैं हरि ओरैं नैन जोरैं मुखमोरैं नाहिं चकित निहौरैं सबै सुवरण सुशाखा सी।।
श्याम भये अदृश तब रथसों लगाये दृग रथ ना लखानों लखैं ध्वजा अभिलाषा सी।
ध्वजा न दिखानी तब धूरि देखि धारी धीर धूरि भये लोपसो समूल गिरीं शाखा सी।।

श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल व्रजांगनाओं का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में किया है। यथा—

जब ते ब्रज तजि गये कन्हाई।
तब ते बिरह रबि उदित एक रस सखि! विछुरन वृष पाई।।
घटत न तेज चलत नाहिन रथ रह्यो उर नभ पर छाई।
इन्द्रिय रूप राशि सोचहिं सुठि सुधि सबकी बिसराई।।
भयो शोक भय कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।
चित चकोर मन मोर कुमुद मुद सकल विकल अधिकाई।।
तनु तड़ाग बल वारि सुखन लाग्यो परि कुरूपता काई।।
प्रान मीन दिन दीन दूबरे दसा दुसह अब आई।।
तुलसी दास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भादौं बिनु जियकी जरनि न जाई।। (कृष्ण गीतावली)

अर्थ—सखी! जब से श्रीकान्हकुँवर ब्रज को छोड़कर गये हैं तभी से उनके वियोगरूपी वृषराशि को पाकर (ज्येष्ठ का) विरह रूपी (घोर ताप देने वाला) सूर्य एक रस (अत्यन्त प्रचण्ड होकर) उदित हो रहा है। न तो उस विरह रूपी प्रचण्ड सूर्य का ताप ही घट रहा है न उसका रथ ही आगे चलता है। (अर्थात् विरह का घोर ताप स्थिर हो गया है।) वह हृदय रूपी आकाश पर छा रहा है। इन्द्रियाँ अन्य सबकी सुधि भुलाकर (श्रीश्यामसुन्दर की मनोहर) रूप राशि का ही चिन्तन कर रही हैं। यह विरह सूर्य का प्रचण्ड ताप जहाँ एक ओर शोकरूपी चकवे, भयरूपी कमल तथा भ्रमरूपी भँवरों को सुखदाई है, वहीं दूसरी ओर चित्तरूपी चकोर, मनरूपी मयूर और मोद (हर्ष) रूपी कुमुद अत्यन्त व्याकुल है। शरीर रूपी सरोवर का बल रूपी जल सूखने लगा, उस पर कुरूपता की काई भी पड़ गई, प्राणरूपी मछलियाँ दिनों दिन और दुर्बल होने लगीं। उनकी दशा इस समय असह्य हो गई है। तुलसीदासजी कहते हैं कि मन के मनोरथ रूपी हरिन जहाँ-तहाँ दौड़कर ताप से मर रहे हैं। श्रीबलराम और श्यामसुन्दर रूपी सावन-भादों के आये बिना हृदय की जलन कभी शान्त नहीं होगी।

गोपी-जन वल्लभ श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय मित्र वेदान्त केशरी उद्धव को गोपियों की विरह-वेदना को ज्ञानोपदेश द्वारा दूर करने के लिये व्रज भेजा। (देखिये छप्पय ९ श्रीउद्धवजी का प्रसङ्ग) श्रीउद्धव के व्रजागमन पर गोपियों की प्रेमोत्कण्ठा का बड़ा ही सरस चित्रण श्रीरत्नाकरजी ने किया है। यथा—

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की, सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहैं 'रतनाकर' गुवालिनिकी झौरि-झौरि, दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं।।
उझकि-उझकि पदकंजन के पंजनि पै, पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।।

ब्रज देवियों की उस प्रेमातुरता को देखकर उद्धव की क्या दशा होती है? उसे सुनिये—

दीन दशा देखि ब्रजबालनि की ऊधव कौ, गरिगौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आये मुख बैन नैन, नीर भरि ल्याये भये सकुचि सिहाने से।।

सूखे से श्रमे से, सकबके से सके से थके, भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूलहूले से हिये मैं हाय हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।।

बहुत धैर्य धारण कर ऊधव ने श्रीश्यामसुन्दर के हाथ की लिखी पत्रिका देते हुए अपनी ओर से ज्ञान की बात कही। यथा—

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबहीं हैं लखो, घट-घट अन्तर अनन्त श्याम घन कौं।
कहैं रतनाकर न भेद भावना सौं भरो, वारिधि औ बूँद बिचारि बिछुरन कौं।।
अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि, जोग जुगुती करि जुगावौ ज्ञान धन कौं।
जीव आतमाकौं परमातमा मैं लीन करौ, छीन करौ तन कौ न दीन करौ मन कौं।।

योग-ज्ञान-ध्यान-समाधि की शुष्क वार्ता ने इन रसिकनी गोपियों के हृदय को उद्वेलित कर दिया। यथा—

सुनि सुनि ऊधवकी अकह कहानी कान, कोऊ थहरानी कोऊ थनहिं थिरानी हैं।
कहैं रतनाकर रिसानी बररानी कोऊ, कोउ बिललानी बिकलानी बिथकानी हैं।।
कोऊ सेद सानी कोऊ भरि दृग पानी रहीं कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि विलखानी कोऊ, कोमल करेजो थामि सहमि सुखानी हैं।।

फिर जैसे तैसे अपने को सँभालकर गोपियों ने प्रथम तो पत्रिका को लक्ष्य करके प्यारे श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिया। यथा—**ह्यां तो विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।।** तत्पश्चात् ऊधव के योग और ज्ञान को लक्ष्य करके गोपियों ने जो उत्तर दिया है उसे सुनकर प्रकांड पण्डित, परम ज्ञानवान् ऊधव एक दम निरुत्तर हो जाते हैं। यथा—

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनौ, भुक्ति मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम।
कहैं रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं, तन-मन-साँसनि की साँसति प्रमानैं हम।।
एक व्रजचन्द कृपा मन्द-मुसुकानि ही मैं, लोक-परलोक कौ अनन्द जिय जानैं हम।
जाके या वियोग दुख हू मैं सुख ऐसो कछू, जाहि पाइ ब्रह्म सुखहू मैं दुःख मानैं हम।।

पुनः— **कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकाश गिरि श्रृङ्गन पै, व्रज में तिहारी कला नैकु खटिहै नहीं।**
कहैं रतनाकर न प्रेम तरु पैहैं सूखि, याकी डार पात तृन तूल घटि हैं नहीं।।
रसना हमारी चारु चातकी बनी हैं, ऊधौ, पी-पी की विहाइ रट और रटिहैं नहीं।
लौटि-पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों, हिये ते हमारे घनश्याम हटि हैं नहीं।।

निरगुन निराकार ब्रह्म के सम्बन्ध में अपना विचार प्रगट करते हुए गोपियाँ कहती हैं—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह, पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइ हैं।
कहैं रतनाकर बदन बिनु कैसे चाखि, माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइ हैं।।
देखि सुनि कैसे दृग स्त्रवन बिना ही हाय, भोरे व्रज बासिनकी विपति बराइ हैं।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म, ऊधो कहौ कौन धौ हमारे काम आइ हैं।।

एक गोपी ने कहा—सखी! छोड़ इन बातन को। ऊधोजी! आपसे यह पूछती हूँ—

ऊधौ कहौ सूधौ सौ संदेश पहिले तौ यह, प्यारे परदेश तैं कबै धौं पगधारि हैं।
कहैं रतनाकर तिहारी परि बातन मैं, मीड़ि हम कबलौं करेजौ मन मारि हैं।।
लाइ लाइ पाती छाती कबलौं सिरैहैं हाय, धरि-धरिध्यान धीर कब लगि धारि हैं।
बैननि उचारि हैं उराहनौं कबै धौं सबै, स्यामको सलोनो रूप नैननि निहारि हैं।।

किसी ने कहा—ऊधौ! यह तो बताओ—

षटरस व्यंजन तो रंजन सदा ही करैं, ऊधौ नवनीत हू सप्रीति कहूँ पावै हैं।
कहैं रतनाकर बिरद तो बखानैं सबै साची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं।।
रतन सिंहासन विराज पाकशासन लौं जग चहुँ पासन ते शासन चलावैं हैं।
जाइ जमुना तटपै कोऊ बटछाँह माहिं, पासुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावे हैं।।

प्यारे श्यामसुन्दर की मधुर स्मृति में तन्मयता को प्राप्त भई एक गोपी ने कहा—

स्याम तन स्याम मन स्याम हैं हमारो धन, आठो जाम ऊधौं हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये, आँधे की सी लाकरी अधार स्याम नाम है।।
स्याम गति स्याम मति स्याम ही हैं प्रान पति, स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भये बौरे, पाती लैकै आये दौरे, जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम हैं।।

एक गोपी ने कहा—

प्राननि के प्यारे तन ताप के हरन हारे, नन्द के दुलारे व्रज वारे उमहत हैं।
कहैं पदमाकर उरुझे उर अन्तर यों, अन्तर चहे हूँ ते न अन्तर चहत हैं।।
नैननि बसे हैं अङ्ग अङ्गनि लसे हैं रोम, रोम हुलसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वे गोविन्द मथुरा में कोई और, यहाँ मेरे तो गोविन्द मोहिं मोहिं में रहत हैं।।

किसी गोपी ने कहा—ऊधो मन न भये दस बीस। एक हुतो सो गयो स्याम सङ्ग को अवराधै ईस।। (सूर) एवं प्रकारेण गोपियाँ अपनी-अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कर ही रहीं थीं कि उसी समय एक भौंरा उनके पास आकर गुनगुनाने लगा। गोपियों ने ऐसा समझा कि मानों हमें रूठी हुई समझकर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो। फिर तो एक गोपी ने भ्रमर को लक्ष्य करके प्यारे श्रीकृष्ण को खूब मधुर प्रभोपालम्भ दिया। यथा—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः कुचविलुलितमाला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्।। (भा० १०-४७-१२)

अर्थ—रे मधुप! तू कपटी का सखा है। इसलिये तू कपटी है। तू हमारे पैरों को मत छू। झूठे प्रणाम करके हमसे अनुनय मत कर। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्ण की जो वनमाला हमारी सौतों के वक्षःस्थल के स्पर्श से मसली हुई है उसका पीला-पीला कुंकुम तेरी मूँछों पर भी लगा है। तू स्वयं भी तो किसी

कुसुम से प्रेम नहीं करता। यहाँ से वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा ही तू भी है। मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी स्त्रियों को मनाया करें। उनका वह कुंकुम रूप कृपा प्रसाद, जो यदुवंशियों की सभा में उपहास करने योग्य हैं,अपने पास ही रखें। उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजने की क्या आवश्यकता है। आदि-आदि।

गोपियों की इस प्रकार श्रीकृष्ण में तन्मयता देखकर ऊधव प्रेमानन्द में विभोर होकर उनको नमस्कार कर उनका यशोगान करने लगे। यथा–

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एवं निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्म जन्मभिरनन्त कथारसस्य।। (भा० १०-४७-५८)

अर्थ–इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि वे सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गयी हैं। प्रेम की यह ऊँची से ऊँची स्थिति संसार के भय से भीत मुमुक्षुजनों के लिए ही नहीं अपितु बड़े-बड़े मुनियों मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति अभी नहीं हो सकी है। सत्य है, जिन्हें भगवान श्रीकृष्ण की लीला कथा के रस का चसका लग गया है, उन्हें कुलीनता की द्विजाति समुचित संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञ-यागादिकों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता! अथवा यदि भगवान की कथा का रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होने से ही क्या लाभ? इस प्रकार से गोपियों की बहुत-बहुत स्तुति-प्रशंसा करके श्रीउद्धवजी ने इनके चरण रज की आकांक्षा की है। यथा–

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।। (भा० १०-४७-६१)

रसिक शिरोमणि श्रीसूरदासजी लिखते हैं कि–

सुनि गोपिन के वयन नेम ऊधौ को भूल्यो। गावत गुण गोपाल फिरत कुञ्जन में फूल्यौ।।
खन गोपिन के पद परैं धन्य सोइ हैं नेम। धाइ धाइ द्रुम भेटहीं ऊधव छाके प्रेम।।

गोपी-भाव-भावित श्रीऊधवजी कुछ काल तक व्रज में रहकर क्या खोकर एवं क्या लेकर लौटे? इसका बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन श्रीरत्नाकरजी ने ऊधव शतक में किया है। यथा–

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधौ अब सबसुख साधन कौ सूधौ सौ जतन लै।
कहैं रतनाकर गवाँए गुन गौरव औ गरब गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै।।
छाये नैन नीर पीर कसक कमाये उर दीनता अधीनता के भार सौ नतन लै।
प्रेम रस रुचिर विराग तूमड़ी में पूरे ज्ञान गूदड़ी मैं अनुराग सौं रतन लै।।

अद्वैत-वेदान्त-निष्णात ऊधव अब प्रेम-सरोवर में स्नान कर प्रेमी बन गये। धन्य है प्रेम की महा महिमा। जो निज ज्ञान-योग द्वारा गोपियों के प्रेम पर विजय पाने की अभिलाषा से आये थे वहीं अब स्वयं

प्रेम रंग में रंगे, गोपियों की ओर से उनके प्रेम की वकालत कर रहे हैं। रसिक कवि श्रीनन्ददासजी ने इसका अत्यन्त आकर्षक वर्णन किया है। यथा—

पुनि पुनि कहौं अहो श्याम जाय वृन्दावन रहिये।
परम प्रेम को पुंज जहाँ गोपिन सङ्ग लहिये।।
और काम सब छोड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यो जात है अब हीं नेह सनेहु।।
करौगे फिर कहा।।

सुनत सखा के बैन-नैन भरि आये दोऊ।
बिवश प्रेम आवेश रही सुधि नाहीं कोऊ।।
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहीं साँवर गात।
कल्पतरोरुह साँवरो ब्रज वनिता भई पात।।
उलझि अँग अङ्गते।।

ह्वै सचेत कहि भले सखा पठये सुधि लावन।
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन।।
मोमे उनमें अन्तरौ एकौ छिन भर नाहिं।
जो देखो मो माहिं वे त्यौं हौं उन हीं माहिं।।
तरंगिनि वारि ज्यौं।।

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी।
ऊधव भ्रमहिं निवारि डारि मुख मोह की जारी।।
आपन रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय।
नन्द दास पावन भये जे एहि लीला गाय।।
प्रेम रस पुंजिनी।।

श्रीपरमानन्द दासजी इन व्रज देवियों के अनुराग की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन जगदीश किये वश अपने उर धरि श्याम-भुजा।।
सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनो उद्धव संत सराही।
धन्य भाग गोकुल की वनिता अतिपुनीत भव माहीं।
कहा विप्रघर जनमहिं पाये हरि सेवा विधि नाहीं।।
तेई पुनीत दास परमानन्द जे हरि सनमुख जाहीं।।

अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जांचिहौं।
प्राचीनबर्हि सत्यव्रत रहूगण सगर भगीरथ।।
वाल्मीकि मिथिलेश गए जे जे गोविन्द पथ।
रुक्माङ्गद हरिचन्द भरत दधीचि उदारा।।
सुरथ सुधन्वा शिविर सुमति अति बलि की दारा।
नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक कीरति रांचिहौं।
अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जांचिहौं।।११।।

शब्दार्थ—अंघ्री=अङ्घ्रि, चरण। अम्बुज=कमल। पांशु=धूलि, रज। हौं=मैं। जाचिहौं=माँगूँगा। राचिहौं=राचूँगा, अनुरक्त होऊँगा। बाल्मीकि=आदि कवि महर्षि वाल्मीकि, श्वपच भक्त वाल्मीकि।

भावार्थ—प्राचीनबर्हिजी, सत्यव्रतजी, रहूगणजी, सगरजी, भगीरथजी, महर्षि वाल्मीकिजी, श्वपच वाल्मीकिजी और मिथिलापुरी के राजा आदि जो-जो गोविन्द भगवान को प्राप्त करने वाले मार्ग पर चले। रुकमांगदजी, हरिश्चन्द्रजी, भरतजी, परम उदार दधीचिजी, सुरथजी, सुधन्वाजी, शिविजी, अति शुद्ध बुद्धि वाली बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजी, नीलध्वजजी, मोरध्वजजी, ताम्रध्वजजी और अलर्कजी इन सभी भक्तों की कीर्ति में मेरा अनुराग हो, मैं उस रङ्ग में रङ्ग जाऊँ। इनके चरण कमलों की धूलिको मैं प्रत्येक जन्म में माँगता हूँ।।११।।

व्याख्या—श्रीप्राचीन बर्हिजी—आदिराज महाराज पृथु के विमल वंश में श्रीहविर्धान की पत्नी हविर्धानी से बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण सत्य और जितव्रत नाम के छः पुत्र पैदा हुये। इनके महाभाग बर्हिषद यज्ञादि कर्म काण्ड और योगादि में कुशल थे। अपने परम-प्रभाव के कारण उन्होंने प्रजापति का पद प्राप्त किया। राजा बर्हिषद ने एक स्थान के बाद दूसरे स्थान में लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्व की ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशों से पट गई थी। इसी से आगे चलकर ये प्राचीन बर्हि के नाम से विख्यात हुए। राजा प्राचीनबर्हि ने ब्रह्माजी के कहने से समुद्र की कन्या शतद्रुति से विवाह किया था। जिससे प्रचेता नाम के दस पुत्र हुए थे। जिनका वर्णन पूर्व आ चुका है। राजा प्राचीनबर्हि का चित्त कर्मकाण्ड में बहुत रम गया था। इनकी अगाध कर्मनिष्ठा को देखकर देवर्षि नारदजी ने विचार किया कि यदि यह निष्ठा भगवान में लग जाती तो राजा का कल्याण हो जाता। दूसरी बात यह भी थी कि विविध धर्मानुष्ठानों से इनका हृदय शुद्ध भी हो गया था अत: ये अब उपदेश के परम अधिकारी भी हो गये हैं। यह विचारकर एकबार अध्यात्म विद्या विशारद, परम-कृपालु श्रीनारदजी ने आकर इन्हें तत्वोपदेश दिया।

श्रीनारदजी ने कहा—राजन्! इन कर्मों के द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण चाहते हो? दु:ख के आत्यन्तिक नाश और परमानन्द की प्राप्ति का नाम कल्याण है, वह तो कर्मों से मिलने का नहीं। यथा—'नास्त्यकृत: कृतेन।' (मुण्डकोपनिषद्) अर्थ—किये जाने वाले कर्मों से अकृत अर्थात् स्वत: सिद्ध

नित्य परमेश्वर निश्चय ही नहीं मिल सकते।। राजा ने कहा—महाभाग नारदजी! मेरी बुद्धि कर्म में फँसी हुई है इसलिये मुझे परम कल्याण का कोई पता नहीं है। आप ही मुझे विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दीजिये। जिससे मैं इस कर्म बन्धन से छूट जाऊँ। क्योंकि जो पुरुष कपट धर्ममय गृहस्थाश्रम में ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धन को ही परम पुरुषार्थ मानता है वह अज्ञानवश संसारारण्य में ही भटकता रहता है। उसे परम कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राचीनबर्हि ने स्वर्ग की कामना से बहुत ही हिंसा प्रधान यज्ञ भी किये थे। श्रीनारदजी ने कृपा करके राजा को दिव्य दृष्टि देकर कहा—राजन्! देखो, देखो, तुमने यज्ञ में निर्दयता पूर्वक जिन हजारों पशुओं की बलि दी है— उन्हें आकाश में देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी गई पीड़ा को याद करते हुए बदला लेने के लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोक में जाओगे। तब ये अत्यन्त क्रोध में भरकर तुम्हें अपने लोहे के सींगों से छेदेंगे। अरे! यज्ञ में पशुओं की बलि देने वाले की तो बात ही क्या, पशुबलि का समर्थन करने वाला पतित हो जाता है।

दृष्टान्त—उपरिचर वसु का—बात सतयुग की है—एक बार तपोनिरत महर्षियों से देवताओं ने कहा—श्रुति कहती है कि यज्ञ में अज-बलि होनी चाहिये। अज बकरे का नाम है अतः आप लोग अज-बलि प्रधान यज्ञ क्यों नहीं करते? महर्षियों ने कहा—देवताओं को मनुष्य की इस तरह वंचना नहीं करनी चाहिए और न उनकी बुद्धि को भ्रम में ही डालना चाहिए। बीज का नाम अज है। बीज के द्वारा अर्थात् अन्नों से ही यज्ञ करने का वेद निर्देश करता है। यज्ञ में पशुवध सज्जनों का धर्म नहीं है। परन्तु देवताओं ने ऋषियों की बात स्वीकार नहीं की। दोनों पक्षों में इस प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया। उसी समय राजा उपरिचर आकाश मार्ग से सेना के साथ उधर से निकले। उन प्रतापी नरेश को देखकर देवताओं तथा ऋषियों ने उन्हें मध्यस्थ बनाना चाहा। उनके समीप जाकर ऋषियों ने पूछा—यज्ञ में पशुबलि होनी चाहिए या नहीं। राजा उपरिचर ने पहले यह जानना चाहा कि देवताओं और ऋषियों में से किसका क्या पक्ष है। दोनों का विचार जानकर राजा ने सोचा—देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करने का यह अच्छा अवसर है। मुझे इसका लाभ उठाना चाहिये। अतः उन्होंने निर्णय दे दिया कि 'यज्ञ में पशुबलि होनी चाहिये।' उपरिचर का निर्णय सुनकर मुनियों ने क्रोध पूर्वक कहा—तूने सत्य का निर्णय नहीं करके पक्षपात किया है, असत्य का समर्थन किया है अतः हम शाप देते हैं कि अब तू देवलोक में नहीं जा सकेगा। पृथ्वी के ऊपर भी तेरे लिये स्थान नहीं रहेगा। तू पृथ्वी में धँस जायेगा। उपरिचर उसी समय आकाश से गिरने लगे। तब देवताओं को उन पर दया आई। उन्होंने कहा—महाराज! महर्षियों के वचन मिथ्या करने की शक्ति हममें नहीं है। हम लोग तो श्रुतियों का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हठ किये हुए थे। पक्ष तो महर्षियों का ही सत्य है, किन्तु हम लोगों से अनुराग होने के कारण आपने हमारा पक्ष लिया, इससे हम वरदान देते हैं कि जब तक आप भूगर्भ में रहेंगे तब तक यज्ञ में ब्राह्मणों द्वारा जो घी की धारा डाली जायगी वह आपको प्राप्त होगी। आपको भूख प्यास का कष्ट नहीं होगा। (म०भा०)

दृष्टान्त दूसरा—एक दरिद्र ब्राह्मण का—विदर्भ देश में सत्य नामक एक दरिद्र ब्राह्मण था उसका विश्वास था कि यज्ञ में देवता के लिये पशु बलि देनी चाहिये। परन्तु दरिद्र होने के कारण न तो वह पशु-पालन ही कर सकता था और न बलिदान के लिये पशु खरीद ही सकता था। इसलिए कूष्माण्डादि फलों को ही पशु कल्पित करके उनका बलिदान देकर हिंसा प्रधान यज्ञ एवं पूजन करता था। एक तो

वह ब्राह्मण दरिद्र होने पर भी स्वयं सदाचारी, तपस्वी, त्यागी और धर्मात्मा था और दूसरे उसकी पत्नी सुशीला, पतिव्रता तथा तपस्विनी थी। उस साध्वी को पति का हिंसा प्रधान पूजन–यज्ञ सर्वथा अरुचिकर था किन्तु पति की प्रसन्नता के लिये वह उनका सम्भार अनिच्छा पूर्वक करती थी। कोई धर्माचरण की सच्ची इच्छा रखता हो और उससे अज्ञानवश कोई भूल होती हो तो उस भूल को स्वयं देवता सुधार देते हैं। उस तपस्वी ब्राह्मण से हिंसापूर्ण संकल्प की जो भूल हो रही थी उसे सुधारने के लिए एक दिन धर्म स्वयं मृग का रूप धारण करके उसके पास आकर बोले—तुम अङ्ग हीन यज्ञ कर रहे हो। पशु बलि का संकल्प करके केवल फलादि में पशु की कल्पना करने से पूरा फल नहीं होता है इसलिये तुम मेरा बलिदान करो।

ब्राह्मण हिंसा–प्रधान यज्ञ–पूजन करते थे, पशु–बलि का संकल्प भी करते थे, किन्तु उन्होंने कभी पशु–बलि की नहीं थी। उनका कोमल हृदय मृग की हत्या करने को प्रस्तुत नहीं हुआ। ब्राह्मण ने मृग को हृदय से लगाकर कहा—तुम्हारा मंगल हो, तुम शीघ्र यहाँ से चले जाओ। धर्म जो मृग का रूप धर कर आये थे, ब्राह्मण से बोले—आप मेरा वध कीजिये। यज्ञ में मारे जाने से मेरी सद्गति होगी और आप भी स्वर्ग प्राप्त करोगे। आप चाहें तो इस समय स्वर्ग की अप्सराओं तथा गन्धर्वों के विचित्र विमानों को देख सकते हैं। ब्राह्मण यह भूल गया कि मृग ने छल से वही तर्क प्रस्तुत किया है जो बलिदान के पक्षपाती दिया करते हैं। स्वर्गीय विमानों तथा अप्सराओं को देखकर उसके मन में स्वर्ग प्राप्ति की कामना तीव्र हो गई। उसने मृग का बलिदान कर देने का विचार किया। अब मृग ने कहा—ब्रह्मन्! क्या सचमुच दूसरे प्राणी की हिंसा करने से किसी का कल्याण सम्भव है? ब्राह्मण ने सोचकर उत्तर दिया एक का अनिष्ट करके दूसरा कैसे अपना हित कर सकता है। अब मृग अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। साक्षात् धर्मराज को सामने देखकर ब्राह्मण उनके चरणों पर गिर पड़ा। धर्म ने कहा—ब्रह्मन्! आपने यज्ञ में मृग को मार देने की इच्छा मात्र की, इसी से आपकी तपस्या का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। यज्ञ या पूजन में पशु हिंसा उचित नहीं है। उसी समय से ब्राह्मण ने यज्ञ–पूजन में पशु–बलि का संकल्प भी त्याग दिया।

इसके बाद श्रीनारदजी ने प्राचीनबर्हि को पुरञ्जनोपाख्यान सुनाया, जिसमें यह दिखाया गया है कि जीव किस प्रकार मोह में फँसकर भवाटवी में भटक जाता है और 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।' की परम्परा में आबद्ध हो जाता है। परम दयालु भागवत शिरोमणि श्रीनारदजी ने राजा प्राचीनबर्हि को जीव और ईश्वर के स्वरूप का दिग्दर्शन कराकर मल–विक्षेप–आवरण–निवारण पूर्वक माया का निराकरण कर भगवत्प्राप्त्युपाय का निर्देश कर, उनसे परम सत्कार प्राप्त कर विदा लेकर सिद्ध लोक को चले गये। तब राजर्षि प्राचीनबर्हि भी प्रजापालन का भार अपने पुत्र को सौंप कर तपस्या करने के लिये कलिपाश्रम को चले गये। वहाँ उन बीरवर ने समस्त विषयों की आसक्ति छोड़कर एकाग्र मन से भक्तिपूर्वक श्रीहरि के चरणकमलों का चिंतन करते हुए सारूप्यपद प्राप्त कर लिया।।

श्रीसत्यव्रतजी—एकबार इनके मन में संसार भर को निमन्त्रित करके भोजन पवाने की इच्छा हुई। अपना मनोभाव श्रीठाकुरजी के सामने अभिव्यक्त किये तो श्रीप्रभु ने आज्ञा दी कि तैयारी करो, मनोरथ पूर्ण होगा। राजा सत्यव्रत ने अपार भोजन सामग्री बनवायी। एक दिन स्नान करने गए थे तो इन्हें

एक मत्स्य मुँह खोले दिखाई पड़ा। इन्होंने समझा कि यह भूखा है अत: कुछ इसे भोजन कराना चाहिये। परन्तु आश्चर्य। जब यह खिलाने लगे तो वह मत्स्य सम्पूर्ण भोज्य पदार्थ अकेले ही खा गया। तब राजा ने विस्मित होकर पूछा—आप कौन हैं? भगवान ने कृपा करके दर्शन दिया और बोले—हमने भोजन कर लिया तो अब समझ लो कि समस्त विश्व ब्रह्माण्ड तृप्त हो गया। विशेष चरित्र देखिये छप्पय ५ मत्स्यावतार की कथा।।

श्रीरहूगणजी—यह सिंधु-सौवीर देश के अधिपति थे। जब हृदय में तत्वज्ञान की जिज्ञासा का जागरण हुआ तो पालकी पर बैठकर आत्मज्ञानी मुनियों के परम गुरु और साक्षात् श्रीहरि की ज्ञान शक्ति के अवतार योगेश्वर भगवान कपिलदेवजी से ज्ञानयोग का रहस्य जानने के लिए कपिलाश्रम जा रहे थे। भगवदिच्छा से मार्ग में उनकी श्रीजड़भरतजी से भेंट हो गई और सम्पूर्ण शङ्काओं का समुचित समाधान पाकर कृतकृत्य हो गये। विशेष देखिये इसी छप्पय में श्रीजड़भरतजी का प्रसंग।

श्रीसगर-भगीरथजी—इक्ष्वाकु वंश में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की नवीं पीढ़ी में महाराज बाहुक राजा हुए। धर्मभीरु राजा बाहुक युद्धादि से बहुत दूर रहते थे। अत: शत्रुओं ने उनकी इस अहिंसा-प्रियता का अनुचित लाभ उठाया। उनका राज्य छीन लिया। तब राजा बाहुक अपनी पत्नियों के साथ वन में चले गये। वन में जाने पर कुछ काल बाद जब राजा बाहुक की मृत्यु हो गई, तब उनकी प्रधान रानी भी उनके साथ सती होने को उद्यत हुई। परन्तु महर्षि और्व को यह मालूम था कि रानी गर्भवती है, इसलिए उन्होंने उसे सती होने से रोक दिया। जब उसकी सौतों को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने उसे भोजन के साथ गर (विष) दे दिया। परन्तु ऋषि की कृपा से गर्भ पर उस विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा बल्कि उस विष को लिए ही एक बालक का जन्म हुआ, जो गर के साथ पैदा होने के कारण सगर नाम से विख्यात हुए। सगर चक्रवर्ती सम्राट हुए। ये बड़े ही धर्मात्मा एवं पराक्रमी थे। इनकी केशिनी और सुमति नाम की दो रानियाँ थीं। केशिनी विदर्भ राजा की कन्या थी इससे वैदर्भी नाम से भी इनका कहीं-कहीं उल्लेख पाया जाता है। सुमति गरुड़जी की बहिन थीं।

महाराज सगर अपनी उन दोनों पत्नियों के साथ हिमालय पर्वत पर जाकर भृगु प्रस्रवण नामक शिखर पर तपस्या करने लगे। सौ वर्ष पूरे होने पर उनकी तपस्या द्वारा प्रसन्न हुए सत्यवादियों में श्रेष्ठ महर्षि भृगु ने राजा सगर को वर दिया कि एक रानी के वंश बढ़ाने वाला एक ही पुत्र होगा और दूसरी के साठ हजार बलवान, कीर्तिमान और उत्साही पुत्र होंगे। जो एक पुत्र उत्पन्न करना चाहे वह एक पुत्र उत्पन्न करे और जो बहुत चाहे वह बहुत पुत्र उत्पन्न करे। मुनि का यह वचन सुनकर केशिनी ने वंशधर एक ही पुत्र का वर ग्रहण किया और सुमति ने साठ हजार पुत्रों को जन्म देने का वर प्राप्त किया। महाभारत के अनुसार यह वरदान भगवान शङ्कर से प्राप्त होना पाया जाता है। वर्णन आया है कि दोनों (राजा और रानियों ने) कैलाश पर जाकर कठिन तप किया। भगवान शिव ने दर्शन दिया। दोनों ने प्रणाम कर उनसे पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना की। श्रीशिवजी ने कहा—तुमने जिस मुहूर्त में वर माँगा है उसके अनुसार एक रानी के अत्यन्त गरबीले और शूरवीर साठ हजार पुत्र होंगे किन्तु वे सबके सब एक साथ नष्ट हो जायेंगे। दूसरी रानी से वंश चलाने वाला केवल एक ही पुत्र होगा। यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। पद्मपुराण के अनुसार और्वऋषि के द्वारा यह वरदान मिलना पाया जाता है।

कुछ काल बीतने पर बड़ी रानी केशिनी ने सगर के औरस पुत्र असमञ्जस को जन्म दिया और छोटी रानी सुमति ने तूँबी के आकार का एक मांस पिण्ड उत्पन्न किया। (वा०) राजा सगर ने उस तूँबी को फेंक देने का विचार किया। उसी समय गम्भीर स्वर से आकाशवाणी हुई कि—राजन्! ऐसा दु:साहस न करो। अपने इन पुत्रों का त्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। इस तूँबी में से एक-एक बीज निकालकर उन्हें कुछ-कुछ घी से भरे हुए घड़ों में पृथक्-पृथक् रख दो। ऐसा करने से तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे। (म०भा०) आकाशवाणी के कथनानुसार उन्हें घी से भरे घड़ों में रखकर धात्रियों ने उनका पालन पोषण किया। इस तरह दीर्घकाल के पश्चात् राजा सगर के रूप और युवावस्था से सुशोभित होने वाले साठ हजार पुत्र तैयार हो गये। सगर के ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जस पहले जन्म में योगी थे। किसी सङ्ग के कारण वे योग से विचलित हो गये। परन्तु अब भी उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण बना हुआ था, इसलिए वे ऐसा काम किया करते थे, जिनसे भाई बन्धु प्रिय न समझे। कभी-कभी तो वे नगर के बालकों को पकड़कर सरयू में डाल देते थे और जब वे डूबने लगते तब उनकी ओर देखकर हँसा करते। परिणामत: सब पुरवासी भय और शोक से व्याकुल रहने लगे। एक दिन सबने आकर राजा से प्रार्थना की कि असमंजस से हमारी रक्षा कीजिये। महात्मा सगर ने पुरवासियों के हितार्थ पुत्र स्नेह को तिलाञ्जलि देकर असमञ्जस को नगर से निकाल दिया। राजा हो तो ऐसा हो। प्रजा को प्राणों से भी बढ़कर रक्षा करना राजा का धर्म है। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहिं न प्रजा प्रिय प्रान समाना।। (रा०च०मा०)

महाराज सगर बड़े ही प्रजावत्सल राजा थे। इधर असमञ्जस ने अपने योगबल से उन सब बालकों को जीवितकर दिया और अपने को दिखाकर वन को चले गये। श्रीअयोध्या के नागरिक अपने बालकों को पुन: जीवित देखकर बड़े आश्चर्य चकित हुए और सगर को अपने पुत्र की महिमा विचारकर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। असमञ्जस के एक पराक्रमी पुत्र अंशुमान थे जो बड़े ही मधुर भाषी एवं लोक प्रिय थे।

बहुत काल बीतने पर राजा सगर ने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में आर्यावर्त की पुण्य भूमि में और्व ऋषि के उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण वेदमय एवं देवमय सर्वात्मा भगवान की आराधना का निश्चय कर अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही पुत्रों द्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्द गति से विचरते-विचरते जल शून्य समुद्र के तट पर आकर सहसा अदृश्य हो गया। बात यह हुई कि इन्द्र ने राक्षस का वेष धरकर उसे चुराकर भगवान कपिलदेव के आश्रम में बाँध दिया। सगर के साठ हजार राजकुमारों ने समुद्र, द्वीप, वन, पर्वत, नदी, नद और कन्दरायें सभी स्थान छान डाले परन्तु कहीं भी घोड़ा का पता नहीं लगा। तब लौटकर, उन्होंने राजा से सब समाचार कह दिया। राजा ने क्रोध में भरकर आज्ञा दी कि उसे जाकर खोजो, खाली हाथ लौटकर न आना। ये लोग फिर खोजने लगे। एक जगह पृथ्वी कुछ फटी दिखाई पड़ी, जिसमें एक छिद्र भी था। सगर-पुत्रों ने उसे पाताल तक खोद डाला। वहाँ घोड़े को उन्होंने घूमते और चरते हुए देखा। उसके पास ही महात्मा कपिलदेव भी दीख पड़े। उस समय मुनि ध्यान में थे। काल प्रेरित ये राजकुमार क्रोध से भरकर कहने लगे कि देखा—कैसा चोर है? घोड़ा चुराकर यहाँ मुनि वेष बनाकर बैठा है। अरे मूर्ख! तूने हमारे यज्ञ का घोड़ा चुराया है। हम लोग सगर के पुत्र तुमको दण्ड देने के लिए आ गये, यह जान ले। इस कोलाहल से मुनि की आँखें खुल गईं और उन्होंने बड़े क्रोध से हुँकार किया जिससे सब राजकुमार क्षण-मात्र में उनके तेज से भस्म हो गये। (वा०रा०)

महाभारत वनपर्व में लिखा है कि श्रीनारदजी ने सब समाचार राजा से कहा। पुत्रों की मृत्यु जनित वेदना से अत्यन्त दुखी हो, पुनः स्वयं ही अपने आपको सान्त्वना देकर असमञ्जस के पुत्र अंशुमान को बुलाकर और समझाकर भाइयों एवं यज्ञ के घोड़े का पता लगाने को भेजा। ये अपने चाचाओं की खोदी हुई पृथ्वी के रास्ते पर पहुँचे। सब दिग्गजों को प्रणाम कर, उनसे आशीर्वाद पाकर उस स्थान पर पहुँचे जहाँ सगर पुत्रों की भस्म पड़ी हुई थी। श्रीअंशुमानजी ने सबको जलाञ्जलि देनी चाही, परन्तु कहीं जल नहीं मिला। तब गरुड़जी ने आकर अंशुमान से कहा कि ये श्रीकपिलजी के क्रोध से भस्म हुए हैं, साधारण जल से इनकी सद्गति नहीं होने की। इनका तो श्रीगङ्गाजल से ही उद्धार हो सकता है। तुम घोड़ा लेकर जाओ। महाभारत के अनुसार अंशुमान श्रीकपिलदेवजी के आश्रम पर गये और उनकी स्तुति की। उन्होंने वर माँगने को कहा। इन्होंने यज्ञिय अश्व माँगा और अपने पितरों के उद्धार की प्रार्थना की। इन्होंने प्रसन्नता पूर्वक घोड़ा दे दिया और वर दिया कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ गङ्गाजी को लाकर इन सबका उद्धार करेगा। घोड़ा लाकर अंशुमान ने राजा को दिया और यज्ञ पूर्ण हुआ। सगर के पश्चात् अंशुमान ही राजा हुए। उन्होंने अन्त में अपने धर्मात्मा पुत्र दिलीप को राज्य देकर स्वयं श्रीगङ्गाजी को लाने के लिए तप किया। बत्तीस हजार वर्ष तक तप में निरत हुये राजा अंशुमान भगवद्धाम को चले गये।

अंशुमान के बाद महाराज दिलीप जब राजा हुये तो निरन्तर इस दुःख से सन्तप्त रहते थे कि किस प्रकार मेरे पूर्वजों की सद्गति हो। राजा दिलीप ने भी श्रीगङ्गाजी को इस भूतल पर उतारने के लिये महान प्रयत्न किया परन्तु सफल नहीं हो सके। दिलीप के भगीरथ नाम का एक परम विख्यात पुत्र हुआ। अपने पितरों की दुर्गति सुनकर इनको बड़ा दुःख हुआ। राज्याभिषेक होते ही इन्होंने प्रजा एवं राज्य की रक्षा का भार मन्त्रियों पर रखकर गंगाजी को पृथ्वी पर लाने के लिये गोकर्ण क्षेत्र में जाकर बड़ी भारी तपस्या करने लगे। (वा०रा०) महाभारत के अनुसार हिमालय के शिखर पर जाकर एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी देवताओं सहित वहाँ आये और वर माँगने को कहा। इन्होंने गंगाजी के लिए एवं पुत्र के लिए प्रार्थना की। उन्होंने मनोरथ पूर्ण होने का वर दिया। साथ ही यह भी संकेत कर दिया कि गंगाजी के वेग को पृथ्वी सह नहीं सकेगी। उसको धारण करने की शक्ति श्रीशिवजी को छोड़कर और किसी में नहीं है। अतः तुम उनको प्रसन्न करो। यह कहकर और गंगाजी को भगीरथजी का मनोरथ पूर्ण करने की आज्ञा देकर ब्रह्मलोक को चले गये। (वा०रा०)

महाभारत के अनुसार—भगीरथजी की तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीगंगाजी ने दिव्य रूप से प्रकट होकर इन्हें साक्षात् दर्शन दिया और कहा कि—नरश्रेष्ठ! तुम मुझसे क्या चाहते हो? मैं तुम्हारा कौन सा मनोरथ पूर्ण करूँ। श्रीभगीरथजी ने कहा कि मेरे पितृगण, महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को श्रीकपिलदेवजी ने भस्म कर यमलोक भेज दिया है। जब तक आप अपने जल से उनका अभिषेक नहीं करेंगी, तब तक उनकी सद्गति नहीं हो सकती। उनके उद्धार के लिए ही आपसे प्रार्थना है। श्रीगंगाजी ने कहा कि मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी, परन्तु जिस समय मैं आकाश से पृथ्वी पर गिरूँगी उस समय मेरे वेग को कोई रोकने वाला न होने से मैं रसातल को चली जाऊँगी, तुम उसका उपाय करो। तीनों लोकों में भगवान शङ्कर को छोड़कर कोई ऐसा नहीं जो मुझे धारण कर सके। अतएव तुम उनको प्रसन्न कर लो, जिससे कि मैं गिरूँ तो वे मुझे मस्तक पर धारण कर लें। पद्मपुराण के अनुसार भगीरथजी के दस हजार वर्ष तक तप करने पर भगवान विष्णु ने प्रसन्न होकर गंगाजी को भगीरथ का अभीष्ट पूर्ण करने की

आज्ञा दी। श्रीमद्भागवत महापुराण में आता है कि गंगाजी ने भगीरथजी के सामने दो कठिनाइयाँ प्रस्तुत कीं। एक तो वेग को धारण करने की, दूसरे यह कि मैं पृथ्वी पर जाऊँगी तो लोग मुझमें पाप धोयेंगे, फिर मैं उस पाप को कहाँ धोऊँगी ? इस विषय में तुम स्वयं विचार कर लो।

भगीरथजी ने कहा—माता ! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्र की कामना का संन्यास कर दिया है, जो संसार से उपरत होकर अपने आप में शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं और लोगों को पवित्र करने वाले तथा परोपकारी हैं, वे अपने अङ्गस्पर्श से तुम्हारे पापों को नष्ट कर देंगे। क्योंकि उनके हृदय में अघरूप अघासुर को मारने वाले भगवान सर्वदा विराजमान रहते हैं तथा समस्त प्राणियों के आत्मा रुद्रदेव आपका वेग धारण कर लेंगे। तत्पश्चात् भगीरथजी ने पुनः तीव्र तपस्या की और महादेवजी को प्रसन्न करके इनसे गंगाजी को धारण करने का वर प्राप्त कर लिया। श्रीशङ्करजी हिमालय पर आकर खड़े हो गये। भगीरथजी गंगाजी का ध्यान करने लगे। इन्हें देखकर गङ्गाजी ब्रह्मलोक से धारा प्रवाह रूप से चलीं और श्रीशिवजी के मस्तक पर इस प्रकार आकर गिरीं मानो कोई स्वच्छ मोतियों की माला हो। बात यह थी कि श्रीगङ्गाजी को यह अभिमान था कि शिव भी शायद ही मुझे सँभाल पायें। अतः सर्वज्ञ शिव ने अपना प्रभाव दिखाया। वह ऐसी लगतीं जैसे कोई पुष्पहार हो। शिवजी दस हजार वर्षों तक उन्हें अपनी जटाओं में ही धरे रह गये। श्रीभगीरथजी ने पुनः तपस्या करके शङ्करजी को प्रसन्न किया तब उन्होंने गङ्गाजी को जटाओं से छोड़ा। गङ्गाजी ने राजा से कहा कि मैं तुम्हारे लिए ही पृथ्वी पर आई हूँ, अतः बताओ—मैं किस मार्ग से चलूँ। यह सुनकर आगे-आगे राजा रथ पर और पीछे-पीछे गङ्गाजी। इस तरह कपिलजी के आश्रम पर, जहाँ सगर पुत्रों की राख पड़ी थी, वे गङ्गाजी को ले गये। गङ्गा-जल के स्पर्श से उनका उद्धार हो गया। श्रीगङ्गाजी सहस्र- धारा होकर कपिलजी के आश्रम पर गयीं। राजा भगीरथजी ने उनको पुत्री मान लिया और पितरों को गङ्गा-जल से उन्होंने जलाञ्जलि दी।

अपने सुदीर्घ राज्यकाल में महामना नरेश श्रीभगीरथजी ने प्रचुर एवं उत्तम दक्षिणा से युक्त, हविष्य, मन्त्र और अन्न से सम्पन्न सौ अश्वमेध यज्ञों के द्वारा यज्ञ पुरुष भगवान की आराधना किया था और ब्रह्मण्य तो ऐसे थे कि उनके पास जो भी प्रिय धन था वह ब्राह्मण के लिये अदेय नहीं था। राजा भगीरथ ब्राह्मणों की कृपा से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुये। यथा—'नादेयं ब्राह्मणस्यासीद् यस्य यत्स्यात् प्रियं धनम्। सोऽपि विप्र प्रसादेन ब्रह्मलोकं गतो नृपः।। (म०भा०)

महर्षि वाल्मीकिजी

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो, सन्तपदकञ्ज रेनु सीस पर धारिये।
पराचीनबर्हि आदि कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्त तैं न टारिये।।
भये भील सङ्ग भील ऋषि सङ्ग ऋषि भये, भये राम दरशन लीला विस्तारिये।
जिन्हें जग गाय किहूँ सकै ना अघाय चाय, भाय भरि हियोभरि नैन भरि ढारिये।।७४।।

भावार्थ—प्रियादासजी नाभाजी के हार्दिक भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—अहो ! यदि मुझे बार-बार जन्म लेकर संसार में आना पड़े तो इसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है क्योंकि इससे बड़ा भारी यह लाभ होगा कि सन्तों के चरण कमलों की रज सिर पर धारण करने का शुभ अवसर मिलेगा। प्राचीनबर्हि आदि भक्तों की कथाएँ पुराण-इतिहासों में वर्णित हैं। परन्तु महर्षि वाल्मीकि और श्वपच

भक्त वाल्मीकि इन दोनों की कथा को चित्त से कभी दूर नहीं करना चाहिये। महर्षि वाल्मीकि पहले भीलों का साथ पाकर भीलों का सा आचरण करने वाले हो गये फिर सन्तों का संग पाकर ऋषि हो गये। उन्हें श्रीरघुनाथजी के दर्शन हुए। उन्होंने अपनी वाल्मीकि रामायण में श्रीरामजी के चरित्रों का विस्तार पूर्वक ऐसा उत्तम वर्णन किया है, जिन्हें गाते और सुनते हुए संसार तृप्त नहीं होता है। श्रोताओं और वक्ताओं के हृदय उत्कट प्रेमानुरागमय भावों से भर जाते हैं फिर आनन्दवश नेत्रों से आँसुओं की धारा बहती रहती है।।७४।।

व्याख्या—

बन्दउँ मुनि पद कंज, रामायन तेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।। (रा०)

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार ये प्रचेता ऋषि के पुत्र थे अतः इनको प्राचेतस भी कहा गया है। यथा—'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।।' पुनः—यः पिबन् सततं रामचरितामृत सागरम्। अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्।।

बँगला-भाषा के कृत्तिवास रामायण के अनुसार ये अंगिरागोत्र में उत्पन्न एक ब्राह्मण थे। नाम था रत्नाकर। बालपने से ही किरातों के कुसंग में पड़कर ये किरात ही हो गये थे। ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया था। सदा शूद्रों का सा आचार करने लगे थे। शूद्रा स्त्री से इनके बहुत सी सन्तान हुईं। सहज रीति से परिवार का पालन- पोषण न होते देख इन्होंने लूटमार का रास्ता अपनाया। नित्य ही धनुष-बाण लिए वन में जीवों का घात करते रहते थे। जो भी यात्री वन-पथ से निकलता, उसे बिना कुछ सोचे समझे मार डालते थे और उसके पास जो कुछ भी मिलता उससे परिवार का पालन करते। वह मार्ग यात्रियों के लिए मौत की घाटी बन गया था। वर्णन आया है कि इन्होंने इतनी हत्यायें की थीं कि उनमें जो द्विजाति थे उनके केवल यज्ञोपवीत साढ़े सात बैल गाड़ी एकत्र हो गये थे। जीवों का यह महान संकट सप्तऋषियों से देखा नहीं गया। वे प्राणिमात्र को इस घोर विपत्ति से बचाने के लिये तथा इनके ऊपर भी अनुग्रह करने के लिये उसी रास्ते से निकले, जिस घोर वन में इनका अड्डा था। (कहीं-कहीं देवर्षि नारदजी का आना वर्णन किया गया है। कल्पभेद से सब ठीक है।)

श्रीकश्यप, अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ, गौतम, विश्वामित्र और जमदग्नि—इन परम तेजस्वी सप्तर्षि मण्डल को आते हुए देखकर ये 'खड़े रहो, खड़े रहो' ऐसा कहते हुए दौड़ पड़े। परन्तु उन परम समर्थ ऋषियों को इनसे न तो भय हुआ, न इन पर किंचित् क्रोध ही। बल्कि सहज स्वभाव से कोमल चित्त उन सन्तों को इस माया-मोहित जीव पर दया आई और इन्हें देखकर पूछे—'द्विजाधम! तू क्यों दौड़ रहा है? क्या चाहता है? हम लोगों ने तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ा भी नहीं है फिर हम निरपराधों पर शस्त्राघात से तुम्हारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? इन्होंने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री आदि बहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिये आप लोगों के वस्त्रादिक लेने आ रहा हूँ। ऋषिगण विकल नहीं हुये किन्तु प्रसन्न मन से बोले कि तू घर जाकर पहले ये तो पूछ आ कि जो पाप तूने बटोरा है इसको वे लोग भी बँटावेंगे कि नहीं? इन्होंने सहज उत्तर दिया—यह कैसे हो सकता है कि जो मेरे पाप से कमाये धनसे सुख भोगते हैं तो वे मेरे पाप के फल में भाग न लेंगे अर्थात् भाग तो लेंगे ही। ऋषियों ने कहा—भोले ब्राह्मण! एकबार तू हम लोगों के

कहने से पूछ तो ले और यदि तुम्हें यह सन्देह हो कि ये लोग भाग जायेंगे तो हम लोगों को वृक्षों में कसकर बाँध दो। इन्होंने ऐसा ही किया। घर जाकर पिता-माता-स्त्री-पुत्र आदि सबसे एक-एक करके पूछा, परन्तु हर एक ने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पाप के भागी नहीं, वह पाप तो सब तुझको ही लगेगा। हम लोग तो केवल फल को ही भोगने वाले हैं। यथा—'पापं तवैतत्सर्वं वयं तु फलभागिनः' (अध्यात्म रामायण)

कुटुम्बियों के ऐसे कोरे जबाब को सुनकर इनके मन में बड़ा खेद और ग्लानि हुई कि जिनके लिये मैंने इतना पाप किया। वे केवल स्वार्थ के साथी निकले। तभी तो श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि—

कोऊ काहू को नहीं, देख्यो ठोंक बजाइ।।
देख्यों ठोंक बजाइ नारि पट भूषण चाहै। सुत सोषै नित प्राण सुता छिन प्रति अवगाहै।।
तात मात करैं बैर बधू नित चित्त बिगारी। स्वारथता के सजन दास दासी दैं गारी।।
अगर काम हरि नाम सौं संकट होत सहाय। कोऊ काहू को नहीं देख्यो ठोंक बजाइ।।

पुनः— **गृह कुटुम्ब हित लोक धन, घन दामिनि दिन देह।**
राम चरण अस जानि मन, करहु राम पद नेह।।
राम चरण स्वारथ हितू, सुहृद मातु पितु पूत।
अन्तकाल जब होत हैं, तुरत होत जमदूत।।
राम चरण तन सुख लिये, बैर मित्र बहु कीन।
अन्त भस्म विष्ठा कृमी कहा गयो धौं दीन।।

फिर तो इनके मन में संसार से वैराग्य हो गया और दौड़े-दौड़े मुनियों के पास आये। अन्तःकरण के सच्चे पश्चात्ताप एवं ऋषियों के परम-पावन दर्शनसे इनका हृदय शुद्ध हो गया। ये क्रन्दन करते हुये दण्डाकारं उन ऋषियों के पैरों पर गिर पड़े और अत्यन्त दीन वचन बोले—'हे मुनि श्रेष्ठ! नरक रूप समुद्र में आ पड़ा हूँ। मेरी रक्षा कीजिये' मुनि बोले—'उठ, उठ, तेरा कल्याण हो, सज्जनों का मिलना तुझको सफल हुआ, जो कि तुझे आत्मोद्धार की चिन्ता हुई। हम तुम्हें उपदेश देंगे जिससे तूँ मोक्ष पावेगा मुनि परस्पर विचार करने लगे कि यह अधम है तो क्या, अब शरण में आ गया है अतः रक्षा करना उचित है और फिर इनको 'राम' नाम का सीधा उच्चारण करने में असमर्थ देखकर 'मरा' 'मरा' जपने का उपदेश दिया। श्रीतुलसीदासजी ने भी लिखा है—'राम विहाइ मरा जपते बिगरी सुधरी कवि कोकिल हू की।। (क०) पुनः—'उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।' और कहा कि एकाग्र मन से इसी ठौर स्थित रहकर मन्त्र को जपो, जब तक हम फिर लौट न आवें। यथा—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा। (अ०रा०)

अर्थ—(श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामजी से कहते हैं कि—) हे राम! ऐसा विचारकर उन्होंने आपके नामाक्षरों को उलटा करके मुझसे कहा कि तू इसी एकान्त स्थान पर रहकर एकाग्रचित से सदा 'मरा' 'मरा जपा कर।

इन्होंने ऐसा ही किया, नाम में तदाकार हो गये देह सुधि भूल गई, दीमकों ने देह पर मिट्टी का ढेर लगा दिया। जिससे वह बांबी हो गई, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष की तो बात क्या, इस प्रकार

नामानुरागनिमग्न इनको एक हजार युग बीत गये। ऋषि फिर आए और बोले कि बांबी से निकल। ये मुनियों के वचन सुनते ही निकल आये। उस समय मुनि बोले—कि अब तू 'मुनि वाल्मीकि' नामक मुनीश्वर है, क्योंकि तेरा यह जन्म वाल्मीकि से हुआ है। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि भये.......ऋषि भये।

श्रीवाल्मीकिजी का यह प्रसङ्ग कुसङ्ग से हानि एवं सुसङ्ग से लाभ का ज्वलन्त उदाहरण है। श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसीदासजी ने कुसंग और सुसंग का बड़ा ही हृदय ग्राही वर्णन किया है। यथा—

हानि कुसङ्ग सुसङ्गति लाहू। लोकहूँ बेद बिदित सब काहू।।
गगन चढ़इ रज पवन प्रसङ्गा। कीचहिं मिलइ नीच जल सङ्गा।।
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी।।
धूम कुसङ्गति कारिख होई। लिखिअ पुरान मञ्जु मसि सोई।।
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता।।
ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग।।

श्रीवाल्मीकिजी में यह चरितार्थ हुआ है।

स्कन्द पुराण वैष्णव खण्ड वैशाख मास माहात्म्य में श्रीवाल्मीकिजी की कथा इस प्रकार है कि ये पूर्वजन्म में व्याध थे। इन्होंने एक बार गर्मी के दिनों में वन पथ से जाते हुये महर्षि शङ्ख के जूता एवं छाता को छीन लिया था। ऊपर सूर्य का प्रचण्ड ताप, नीचे पहाड़ी भूमि अत्यन्त तप्त हो रही थी।' जूता छाता छिन ले जाने से महर्षि को बड़ा क्लेश हुआ। भगवत्प्रेरणा से व्याध ने कुछ ही दूर जाने पर महर्षि को बुलाकर पुनः उनका जूता छाता लौटा दिया। इससे महर्षि शङ्ख ने प्रसन्न होकर दया करके इनको वैशाख माहात्म्य बताकर, यह उपदेश दिया कि तुम निरन्तर श्रीराम नाम का जप करो और आजीवन वैशाख मास के जो धर्म हैं इनका आचरण करो, इससे वाल्मीकि ऋषि के कुल में तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध होंगे। यथा—

तस्मात् रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्। धर्मानेतान् कुरु व्याध यावदामरणान्तिकम्।
ततस्ते भविता जन्म वल्मीकस्य ऋषेः कुले। वाल्मीकिरितिनाम्ना च भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि।। (अ०रा०)

उपदेश पाकर व्याध ने वैसा ही किया। एक बार कृणु नाम के ऋषि बाह्य व्यापार वर्जित हो दुश्चर तप में निरत हो गये। बहुत समय बीत जाने पर उनके शरीर पर दीपक की बाँबी जम गई। इससे उनका नाम वल्मीक मुनि पड़ गया। इन वल्मीक ऋषि के वीर्य द्वारा एक अप्सरा के गर्भ से उस व्याध का पुनर्जन्म हुआ। इससे उसका नाम वाल्मीकि हुआ। भगवन्नाम में इनका परमानुराग था।

एक बार जब ये अपने शिष्य भरद्वाजजी के साथ तमसा नदी पर स्नान करने को गये हुए थे, उसी समय एक व्याध ने एक क्रौञ्च पक्षी को जो अपनी मादा के साथ जोड़ा खा रहा था, मारा, जिससे वह छटपटा कर मर गया। मादा करुण स्वर से चिल्लाने लगीं। यह दृश्य देखकर स्वभावतः परम करुण ब्रह्मर्षि ने 'यह बड़ा अधर्म हुआ है' ऐसा निश्चय करके रोती हुई क्रौञ्ची की ओर देखते हुये निषाद से इस प्रकार से कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (वा०रा०)

अर्थ—निषाद! तुझे नित्य-निरन्तर, कभी भी शान्ति न मिले। क्योंकि तूने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की जो काम से मोहित हो रहा था। बिना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली। तदनन्तर ऋषि का ध्यान जब अपने कथन पर गया तो उन्हें यह ज्ञात हुआ कि शोक पीड़ित हुये मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है वह चार चरणों में आबद्ध श्लोक रूप है। शिष्य के साथ आश्रम में पहुँचकर धर्मज्ञ ऋषि वाल्मीकिजी आसन पर बैठकर दूसरी-दूसरी बातें करने लगे परन्तु उनका ध्यान उस श्लोक की ओर ही लगा था। इतने में ही जगत- पितामह ब्रह्माजी मुनिवर वाल्मीकि से मिलने स्वयं उनके आश्रम पर आये। स्वागत सत्कारोपरान्त ब्रह्मा उनकी मनःस्थिति को समझकर हँसते हुये बोले—मुनिवर! तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोक रूप ही होगा। मेरे सङ्कल्प अथवा प्रेरणा से ही तुम्हारे मुँह से ऐसी वाणी निकली है। अब तुम श्रीराम के सम्पूर्ण चरित्र का वर्णन करो। श्रीराम के जो गुप्त या प्रकट वृत्तान्त हैं, वे सब अज्ञात होने पर भी तुम्हें ज्ञात हो जायेंगे। इस काव्य में अङ्कित तुम्हारी कोई भी बात झूठी नहीं होगी। इसलिए तुम श्रीराम चरित्र गाओ। ऐसा कहकर भगवान ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये।

महर्षि वाल्मीकिजी ने देवर्षि नारदजी के मुख से श्रीराम-कथा का श्रवण किया था ही, इधर ब्रह्माजी के वरदान से भी इन्हें सम्पूर्ण गुप्त प्रकट चरित करामलकवत् दीखने लगे, फिर तो उन उदार दृष्टि वाले परम यशस्वी महर्षि वाल्मीकिजी ने भगवान श्रीरामचन्द्रजी के चरित्र को लेकर करोड़ों श्लोकों से युक्त रामायण महाकाव्य की रचना की। यथा—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्।।
वाल्मीकि गिरिसम्भूता रामाम्भोनिधि संगता। श्रीमद्रामायणी गङ्गा पुनातिभुवनत्रयम्।।
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कविता वनचारिणः। शृण्वन् राम कथानादं को न याति परां गतिम्।।

श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में श्रीरामायणजी की कथा होती, त्रैलोक्य के कथामृत रसास्वाद कुशल रसिक महानुभाव सुनने के लिये आते। सबकी इच्छा होती इस परम-पावन रामायण ग्रन्थ को अपने-अपने लोक में ले जाने की। तब भगवान शङ्कर ने सबका मनोरथ पूर्ण करने के लिये ऋषि की इच्छा से श्रीरामायण के तीन भाग करके तीनों लोकों को एक-एक भाग दे दिया। इस प्रकार प्रत्येक लोक को तैंतीस करोड़, तैंतीस लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ तैंतीस श्लोक एवं दश अक्षर प्राप्त हुए। दो अक्षर 'रा' और 'म' रह गये तो श्रीशिवजी ने इन्हें स्वयं ले लिया। यथा—**ब्रह्म रामते नाम बड़ बर दायक वर दानि। रामचरित सत कोटि महँ लिय महेश जिय जानि।।** (रा०च०मा०)

श्रीरामायण की इसी महा महिमा को लक्ष्य करके श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—जिन्हें......... ढारिये।' जिन्हें जग गाय से श्रीरामायण की लोकप्रियता दर्शायी। 'किहूँ सकैना अघाय' से इसकी रस रूपता का संकेत किया। जिनको कथामृत का चस्का लग जाता है उन्हें कथा श्रवण से तृप्ति ही नहीं होती है। यथा—शौनक वाक्य—**वयं तु न वितृप्याम उत्तम श्लोक विक्रमे। यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे।।** (भा० १-१-१९) अर्थ—पुण्य कीर्ति भगवान की लीला सुनने से हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद-पद पर भगवान की लीलाओं में नये-नये रस का अनुभव

होता है। यदि किसी को भगवत् कथा से तृप्ति हो गई हो तो उनके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—'**रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन नाहीं।**' भाय भरि हियो भरि नैन भरि यह सब प्रेम के सात्विक भाव हैं। इससे जनाया गया कि श्रीरामायण कथा सुनने से दुर्लभ भगवत्प्रेम सहज सुलभ हो जाता है।

भये राम दरशन—वनवास के समय श्रीरघुनाथजी इनके आश्रम पर भी गये। प्रभु का दर्शन कर मुनि की जन्म-जन्म की साध पूरी हो गयी। यथा—**देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सन्मान आश्रमहिं आने।।** (रा०) आतिथ्य-सत्कार के बाद श्रीरामजी ने अपनी परिस्थिति निवेदन करते हुये मुनि से सुन्दर पर्णशाला बनाकर निवास करने के लिये उचित स्थल की जिज्ञासा की। यथा—

चौ०—**देखि पायँ मुनि राय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे।।**
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई।।
अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ।।
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बास करौं कछु काल कृपाला।।

तब महर्षि वाल्मीकिजी ने भगवान श्रीराम का अनन्तैश्वर्य वर्णन करते हुए जो चौदह स्थान वर्णन किये हैं, वह भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले परमार्थ-पथ-पथिकों के लिये बड़े महत्व की वस्तु है इसमें भक्ति के समस्त साधनों का समावेश हो जाता है। यथा—

चौ०—**सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।।**
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहँ गृह रुरे।।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।।
तिनके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक।।

दो०— **जसु तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।**
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु।।

चौ०—**प्रभु प्रसा सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।।**
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।।
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा।।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।।
मन्त्र राज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।।
तरपन होम करहिं बिधि नाना। विप्र जेंवाइ देहिं बहुदाना।।
तुम्ह ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।।

दो०— **सब करि माँगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।**
तिन्हके मन मन्दिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ।।

चौ०—काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।।
जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया। तिन्हकें हृदय बसहु रघुराया।।
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।।
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी।।
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।।
जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराव बिष तें बिष भारी।।
जे हरषहिं पर सम्पति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।।
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे।।

दो०— स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम तात।
मन मन्दिर तिन्ह के बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात।।

चौ०—अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं।।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका।।
गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही।।
जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।
सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई। तेहि के हृदय बसहु रघुराई।।
सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा।।

दो०— जाहि न जाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह।।

चौ०—एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए। बचन सप्रेम राम मन भाए।
कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक।।
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू।।

दो०— चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ।।

श्रीवाल्मीकिजी का श्रीरामजी में वात्सल्य भाव था इसी से श्रीरामजी ने इनको दण्डवत् प्रणाम किया है और इन्होंने भी शुभाशीर्वाद दिया है। यथा—'मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबाद विप्र बर दीन्हा।।' श्रीजानकीजी को ये पुत्री करके मानते थे। जिस समय मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी ने लोकापवाद भय से श्रीजानकीजी को लक्ष्मण से वन में छोड़ने को कहा है, उस समय श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीसीताजी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के पास ही छोड़ा है। जब महर्षि प्रवर को इस बात का पता लगा है तो वे उस स्थान पर दौड़े हुए आये, जहाँ मिथिलेश राजकुमारी सीता विराजमान थीं, और आकर शोक के भार से पीड़ित हुई सीता को सान्त्वना देते हुये मधुर वाणी से बोले—बेटी! अपने मन में यह समझकर कि मैं अपने पिता के घर आई हूँ, किसी प्रकार का शोक न कर। कल्याणि! तुझे शीघ्र ही

आनन्द-मङ्गल प्राप्त होने वाला है। महर्षि के इन वात्सल्य पूरित प्यार भरे वचनों से श्रीजानकीजी को बड़ा सन्तोष हुआ। वे आश्रम में रहने लगीं। श्रीलव-कुश का जन्म एवं जात कर्मादि संस्कार सब ऋषि आश्रम में हुआ। श्रीवाल्मीकिजी ने लव-कुश को रामायण-रहस्य एवं गान की शिक्षा के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रों की भी समुचित शिक्षा दी। श्रीरामजी के अश्वमेध यज्ञ में महर्षि प्रवर ने शपथ पूर्वक श्रीसीताजी की शुद्धता का समर्थन किया। यथा–

इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्म चरिणी। अपवादात् परित्यक्ता ममाश्रम समीपतः।।
बहु वर्ष सहस्त्राणि तपश्चर्या मया कृता। नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदिमैथिली।।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्व न किल्विषम्। तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि।।वा०रा०

अर्थ–दशरथनन्दन! यह सीता उत्तम व्रत का पालन करने वाली और धर्म परायणा है। आपने लोकापवाद से डरकर इसे मेरे आश्रम के समीप त्याग दिया था। मैंने कई हजार वर्षों तक भारी तपस्या की है। यदि मिथिलेश कुमारी सीता में कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्या का फल न मिले। मैंने मन, वाणी और क्रिया द्वारा भी पहले कभी कोई पाप नहीं किया है। यदि मिथिलेश कुमारी सीता निष्पाप हों, तभी मुझे अपने उस पाप शून्य पुण्य कर्म का फल प्राप्त हो। ऋषि के इन वचनों के समर्थन में देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। श्रीराम ने वद्धाञ्जलि होकर महर्षि के बचनों की परम प्रामाणिकता को स्वीकार किया। आप सदा भगवान श्रीराम के नाम-गुनगान में निमग्न रहते हैं भगवान के नाम प्रताप को आपने अच्छी तरह जाना है। यथा–

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू।। (रा०च०मा०)

श्वपच भक्त श्रीवाल्मीकिजी

हुतो वालमीकि एक सुपच सुनाम ताको श्याम लै प्रकट कियो भारत में गाइयै।
पांडवन मध्य मुख्य धर्म पुत्र राजा आप कीनो यज्ञ भारी ऋषि आए भूमि छाइयै।।
ताको अनुभाव शुभ शङ्ख सो प्रभाव कहै जो पै नहीं बाजै तो अपूरनता आइयै।
सोई बात भई वह बाज्यो नाहिं शोच पर्‌यौ पूछैं प्रभुपास याकी न्यूनता बताइयै।।७५।।

शब्दार्थ–हुतो=था। सुपच=श्वपच, सफाई करने वाली एक जाति, श्व=कुत्ता उसे पच=पचाने-खाने वाली जाति। अनुभाव=महिमा, बड़ाई, सामर्थ्य। भारत=महाभारत। प्रभाव=असर, प्रताप। न्यूनता=कमी, घटी, त्रुटि।

भावार्थ–श्वपच वाल्मीकि नामक एक भगवान के बड़े भारी भक्त थे वे गुप्त ही रहते थे। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र ने उन्हें प्रकट किया। इसका वर्णन महाभारत में है। पाण्डवों में मुख्य धर्म पुत्र युधिष्ठिर राजा थे। आपने बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें इतने ऋषि-महर्षि पधारे कि सम्पूर्ण यज्ञस्थल भर गया। भगवान ने एक शंख स्थापित किया और कहा कि–यज्ञ के सांगोपांग पूर्ण हो जाने पर उसका प्रभाव और उसकी महिमा को शङ्ख कहेगा–अर्थात् बिना बजाये बजेगा। यदि नहीं बजे तो समझिये कि यज्ञ में अभी कुछ त्रुटि है, यज्ञ पूरा नहीं हुआ। वही बात हुई। पूर्णाहूति, तर्पण, ब्राह्मण भोजन, दान-दक्षिणादि सभी कर्म विधि समेत सम्पन्न हो गये परन्तु वह शङ्ख नहीं बजा। तब सबको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने श्रम

के बाद भी यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ। सभी लोगों ने भगवान श्रीकृष्ण के पास आकर कहा कि—प्रभो! आप कृपा करके बताइये कि यज्ञ में कौन सी कमी रह गई है।।७५।।

व्याख्या—सुपच सुनाम—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवु: सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।। (भा० ३-३३-७)

अर्थ—अहो! वह चाण्डाल भी इसी से सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वा के अग्रभाग में आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचार का पालन और वेदाध्ययन, सबकुछ कर लिया। अत: श्रीप्रियादासजी 'सुपच सुनाम' कहते हैं। श्याम लै प्रगट कियो—इससे जनाया गया कि ये एकदम अपने को छिपाए हुए थे। क्योंकि—लोक मान्यता अनल सम, कर तप कानन दाहु।। इसी से सन्त पुरुष—'सदा रहहिं अपनपौ दुराए। सब बिधि कुसल कुबेस बनाए।।' परन्तु भगवान का स्वभाव है—'संतत दासन्ह देहिं बड़ाई।' अत: प्रगट किये। कीन्हों यज्ञ भारी राजसूय यज्ञ किये थे।

बोले कृष्णदेव याको सुनो सब भेव ऐ पै नीके मानि लेव बात दुरी समुझाइये।
भागवत संत रसवन्त कोऊ जेंयो नाहि ऋषिन समूह भूमि चहूँ दिशि छाइये।।
जौपै कहौ 'भक्तनाहीं' नाहीं कैसे कहौं गहौं गांस एक और कुलजाति सो बहाइये।
दासनि को दास अभिमान की न वास कहूँ पूरणकी आस तोपै ऐसो लै जिमाइये।।७६।।

शब्दार्थ—भेव=भेद। दुरी=छिपी। रसवन्त=भक्तिरसज्ञ। गांस=बन्धन, रुकावट, मन की गुप्त बात। बहाइये=त्याग दिया हो। वास=गन्ध, लेश।

भावार्थ—भगवान श्रीकृष्ण बोले—शङ्ख न बजने का रहस्य सुनिए और उसे अच्छी प्रकार से मान लीजिये। मैं आप लोगों को अत्यन्त गुप्त बात सुनाकर समझा रहा हूँ। यद्यपि ऋषियों के समूह से चारों दिशायें, सम्पूर्ण भूमि भर गई है और सभी ने भोजन किया है परन्तु किसी रसिक वैष्णव सन्त ने भोजन नहीं किया है, यदि आप लोग यह कहें कि इन ऋषियों में क्या कोई भक्त नहीं है तो मैं नहीं कैसे करूँ, अवश्य इन ऋषियों में बहुत उत्तम-उत्तम भक्त हैं, फिर भी मेरे हृदय की एक गुप्त बात यह है कि मैं एक गांस और रखता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ रसिक वैष्णव भक्त उसे मानता हूँ, जिसे अपनी जाति, विद्या, ज्ञान आदि का अहंकार बिल्कुल न हो। जो अपने को दासों का दास मानता हो, जिसमें किसी भी प्रकार के अभिमान की थोड़ी भी गन्ध न हो, यदि यज्ञ पूर्ण करने की इच्छा है तो ऐसे भक्त को लाकर जिमाइये।।७६।।

व्याख्या—कृष्णदेव—कहने का भाव यह है कि जैसे 'मृषा न होइ देवरिषि भाषा।' वैसे ही श्रीकृष्णदेव का कहना मिथ्या नहीं हो सकता। नीके मानि लेव-अप्रतीति की सम्भावना है अत: प्रथम ही कहे देते हैं कि नीके.......। प्रतीति की असम्भावना का हेतु बताते हैं कि 'बात दुरी' भाव यह कि जो बात मैं कहने वाला हूँ उसे आज तक कोई नहीं जानता है। भागवत, सन्त, रसवन्त, इनमें से एक-एक भाव की प्राप्ति दुर्लभ है, तीनों का एक साथ संयोग होना तो परम दुर्लभ है। भागवत=भक्त=हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही। संत— इतने गुन जामें सो संत। (देखिये कवित्त ९) रसवन्त—रसस्वरूप भगवान के भाव में निरन्तर निमग्न रहने वाला, रस-भावना-प्रवीण। कोऊ कहने का भाव यह कि ऐसे

महानुभाव बहुत कम होते हैं। यथा—कोउ एक पाव भक्ति जिमि मोरी। (रा०) कश्चिन्मां वेति तत्वतः। (गीता) दृष्टान्त—श्रीवल्लभाचार्य का देखिये कवित्त २२।।

कुल जाति सो बहाइये—

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।
सब तजि तुम्हहिं रहइ उरलाई। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराई।।
जाति नहीं जगदीश की, जनकी कहाँ ते होय। सांभर में जो कोइ परै, सोई सांभर होय।।

जाति विद्यादि के अभिमान को भक्ति का कण्टक कहा है। देखिये कवित्त ३। 'दासनि को दास'—भक्त हमेशा अपने को दासानुदास का ही अनुसन्धान करते हैं। यथा—गौराङ्ग महाप्रभु—गोपीभर्तुः पदकमलयोः दासदासानुदासः। पाण्डवगीता—त्वद्भृत्यभृत्य परिचारक भृत्यभृत्यभृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।।

अभिमान की न वास कहूँ—भक्त के अहं का शरणागति के समय ही प्रभु-पद में लय हो जाता है वह अपने को तृणादपि सुनीच मानने लगता है। फिर अभिमान किस बात का। 'न वास' कहने का भाव यह है कि अभिमान की तो बात ही क्या अभिमान की गन्ध भी नहीं होती है। तात्पर्य यह कि जैसे सुगन्धित पुष्प हाथ में लेकर उसे छोड़ देने पर भी उसकी सुगन्ध का असर हाथ में बना रहता है। वैसे ही जाति-विद्यादि के अभिमान को दूर करने पर भी उनके सूक्ष्म संस्कार (स्मृति रूप में) बने रहते हैं। परन्तु भक्तों को एकमात्र भगवत्स्मृति से भिन्न और कोई स्मृति भी नहीं होती अतः 'न वास कहूँ' कहा। 'कहूँ'—कहने का भाव यह है कि अभिमानी को अभिमान अङ्ग-अङ्ग में, रोम-रोम में समाया होता है। परन्तु भक्त के तो अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम में भक्ति समायी रहती है। अतः अभिमान के लिये कहीं स्थान ही नहीं है।

ऐसो हरिदास पुर आस पास दीसै नाहिं बास बिन कोऊ लोक लोकन में पाइये।
तेरेई नगर मांझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय ऐपै काहू बात न जनाइये।।
सुनि सब चौंकि परे भाव अचरज भरे हरे मन नैन अजू वेगि ही बताइये।
कहा नांव? कहां ठांव? जहाँ हम जाय देखैं लेखैं करि भाग धायपाय लपटाइये।।

शब्दार्थ—दीसै=दीखै। बास बिनु=पूर्ण निष्काम, इच्छा एवं अहंकार रहित। लोक-लोकन में= भूलोक को छोड़कर दूसरे लोक में। हरे=मुरझाये से हरे हुए। हरे मन नैन=मन और नैन दर्शन के लिए लालायित हुए।

भावार्थ—भगवान की यह बात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—प्रभो! सत्य है, पर ऐसा भगवद् भक्त हमारे नगर के ओर-पास कहीं भी दिखाई नहीं देता है। जिसमें अहंकार की गन्ध न हो ऐसा भक्त तो किसी दूसरे लोक में भले ही मिले। भगवान ने कहा—नहीं, तुम्हारे नगर में ही रहता है। दिन-रात प्रातः सायं तुम्हारे यहाँ आता जाता भी है पर उसे कोई जानता नहीं है और वह स्वयं अपने को प्रकट भी नहीं करता है। यह सुनकर सभी आश्चर्य से चौंक उठे और प्रेमभाव में भर गए। उस भक्त को जानने के लिए और उसके दर्शनों के लिए लोगों के मन और नेत्र व्याकुल हो उठे। वे बोले—प्रभो! कृपया शीघ्र ही

बताइये, उनका क्या नाम है और कहाँ स्थान है? जहाँ जाकर हम उनका दर्शन करके अपने को सौभाग्यशाली बनायें। दौड़कर उनके चरणों में लिपट जायँ।।७७।।

व्याख्या—वासविन पाइये—भाव यह है कि लोक में तो सिद्ध न होने पर भी सिद्ध कहाने के लिये लोग बड़े-बड़े विज्ञापन करते हैं, बड़ी-बड़ी जोग-जुक्ति करते हैं। बद्ध होकर भी जीवन मुक्त होने का दम भरते हैं।

दृष्टान्त—बनावटी सिद्ध का—किसी गाँव में एक भेषधारी साधू ने अपनी सिद्धाई का झूठा प्रचार कर खूब धन-मान का अर्जन किया। एक समय वर्षा न होने से खेती सूखने लगी। सर्वत्र जल के लिये हाहाकार मच गया। तब गाँव के सब लोग एकत्रित होकर सिद्धजी के पास गये और अपनी दीन-दशा निवेदन की और प्रार्थना किये कि—महाराज! ऐसी कृपा करो कि पानी बरस जाय, सब खेती सूख रही है। सिद्ध ने कहा—इसमें किसी का वश ही क्या है? भगवान जो चाहते हैं वही होता है। एक जमींदार ने बहुत अनुनय-विनय किया, रोया-गिड़गिड़ाया तो सिद्ध ने कहा—कि जा, तेरे खेत में बरसा हो जायेगी। जमींदार अपने घर गया। रात्रि के समय सिद्ध ने अपने चेलों से कहा कि सब लोग एक-एक घड़ा लेकर जमींदार के खेत को सींच आओ। चेलों ने वैसा ही किया। दूसरे दिन जब गांव वालों ने जमींदार के खेत को सींचा हुआ देखा तो इसे सिद्ध की सिद्धाई का चमत्कार मानकर सबके सब लोग इनके पास आकर विनती करने लगे। उनमें से एक ने बहुत आग्रह किया तो सिद्ध ने कहा—जा, आज तेरे खेत में बरसा होगी। सिद्धजी कीयह बात सुनकर सभी चेला सब लोगों को सुनाकर बोले कि भाइयो! अब तो गुरुजी बरसैं तो बरसैं परन्तु चेला तो अब कोई नहीं बरसेगा। जब सब लोगों ने इस कथन का अभिप्राय पूछा, तब चेलों ने कहा सारी रात पानी के घड़े ढोते-ढोते हमारे सिर के बाल घिस गये, तब खेत सिंचा है अब हमारी सामर्थ्य नहीं कि फिर कोई खेत सींचे, गुरुजी चाहे भले ही बरसें। इस प्रकार सिद्ध की झूठी सिद्धाई का भण्डाफोड़ हो गया। तो लोक में ऐसे सिद्ध बहुत मिलते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—जीवन्मुक्त का—एक समय दो ऊर्ध्व बाहु महात्माओं को देखकर जयपुर नरेश सवाई जयसिंह ने उनके समीप आकर पूछा कि आप लोगों का क्या नाम है? इन्होंने कहा कि हम जीवन मुक्त हैं। राजा ने प्रणाम किया और दोनों के बीच एक मुहर भेंट रखकर, एक जासूस लगा दिया कि देखो—ये दोनों क्या करते हैं? स्वयं वहाँ से चले गये। तब एक ने एक जीवनमुक्त से कहा कि यह मुहर तो हमारी भेंट है। राजा ने हमको चढ़ाया है अतः इसे हम लेंगे। दूसरे ने भी इन्हीं बातों को दुहराकर अपना हक जायज किया। ऐसे ही परस्पर बड़ा भारी विवाद हो गया। दोनों अपने-अपने पावों से मुहर को अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। इससे कोई न्याय तो हुआ नहीं, लतियाव (पद-प्रहार) शुरू हो गया। वह उसको पद-प्रहार करता, वह उसको। मुख से परस्पर एक-दूसरे को गाली देते। इनकी यह सब हकीकत जासूसों ने राजा से जाकर कहा। राजा ने दोनों को बुलाकर कहा कि तुम लोगों ने जीवन्मुक्त कहाने के लिये वृथा ही इतना कष्ट किया। जो एक मुहर के लिये लड़मर रहे हो। जीवन्मुक्तों को यह शोभा नहीं देता, यह कहकर राजा ने उनके हाथों की मालिश कराकर नीचे उतार दिया।

ऐसे जीवन्मुक्त और ऐसे सिद्ध तो लोक में बहुत मिलते हैं, परन्तु सचमुच सिद्ध और जीवन्मुक्त होकर भी मन में किञ्चित् मान प्रतिष्ठा की वास भी न हो, ऐसे तो लोक-लोकान्तरों में ही मिल सकते हैं।

हमने अपने जीवन में बहुत कुछ देखा-सुना, परन्तु ऐसा निर्लोभ निष्काम, निरभिमानी तो आज तक दृष्टि पथ में आया नहीं। यथा-

नख बिन कटा देखे, योगी कन फटा देखे शीश भारी जटा देखे छार लाये तन में।
मौनी अनबोल देखे जैनी शिरछोल देखे करत कलोल देखे वनखंडी वन में।।
गुणी अरु कूर देखे कायर और शूर देखे माया माहिं पूरि देखे पूर रहे धन में।
आदि अंत सुखी देखे जनम के दुखी देखे ऐसे नाहिं देखे जिन्हें लोभ नहीं मन में।।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—**कोउ भल कहउ देउ कछु यह बासना न उर ते जाई** (वि०) **तेरेई नगर०** भाव यह कि लोकान्तर में नहीं इसी लोक में, लोक में भी कहीं अन्यत्र नहीं तुम्हारे ही नगर में, नगर में कहीं कोने में पड़ा रहता हो सो बात नहीं प्रातः सायं नित्य प्रति तुम्हारे द्वार पर आता है। **काहू बात न जनाइये**—इसलिये कि जिनसे लोक-परलोक सुधरने वाला है वे प्रभु तो स्वतः बिना जनाये ही सब जानते हैं। यथा—'**प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये।**' और संसार को जनाने से कोई लाभ नहीं—'**देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़ियै।**' (बौंड़ी=कौड़ी) और हानि बहुत बड़ी है।

दृष्टान्त—बोला सो मरा—एक जङ्गल में एक सिद्ध महात्मा रहते थे। उनका दर्शन करने सत्संग करने एक राजा नित्य आया करते थे और सेवा भी खूब करते थे। सेवा से सन्तुष्ट होकर सन्त ने एक दिन अपनी सिद्धि की बात व्यक्त की। राजा सन्त के चरणों में पड़कर फफक-फफक कर रोने लगा। जब सिद्ध ने बार-बार दुःख का कारण पूछा तो राजा ने कहा—महाराज! आपकी कृपा से सब सुख है परन्तु एक पुत्र नहीं है, जिसके बिना सब सूना-सूना लगता है, अब आप सरीखे सिद्ध सन्त की शरण में आकर भी हमारा दुःख बना ही रहे, यह ठीक नहीं। सिद्ध ने कहा—राजन्! वैसे तो तुम्हारे प्रारब्ध में पुत्र का योग नहीं है, परन्तु तुम मुझसे आग्रह कर रहे हो, इतना दीन-अधीन हो रहे हो तो जाओ, तुमको एक पुत्र होगा। राजा खुशी-खुशी अपने घर आया। सन्त को अपनी भूल मालूम हुई—मैंने नाहक इससे सिद्धि की चर्चा कर दी। परन्तु अब किया ही क्या जा सकता है। अब तो हमें स्वयं शरीर छोड़कर राजा का पुत्र बनना पड़ेगा। ठीक ही कहा है—'बोला सो मरा।' फिर तो कुछ दिन बीतने पर सिद्ध ने देह त्यागकर राजा का पुत्र होकर जन्म लिया। राजा ने बड़ा उत्सव किया। परन्तु सिद्ध को पूर्वजन्म की बातें सब स्मृति पथ में वर्तमान थीं इसलिये अबकी बार उन्होंने निश्चय कर लिया था कि अब मैं किसी से बोलूँगा ही नहीं। राजा को जहाँ पुत्र जन्म का अत्यन्त आनन्द था, वहीं गूंगा होने का अपार शोक भी था। बहुत उपाय किया गया, परन्तु सब व्यर्थ।

राजकुमार अब किशोरावस्था में पदार्पण किये। एकदिन कुछ सैनिकों एवं राजकुमार को भी साथ लेकर राजा शिकार खेलने वन में गये। राजकुमार की सवारी कुछ आगे निकल गई। संग-संग अंग रक्षक सिपाही थे। तब तक एक झाड़ी में छिपा बैठा तीतर बोल पड़ा। सिपाहियों ने तत्काल उसे मार डाला। राजकुमार के मुख से सहसा निकल पड़ा—'बोला सो मरा'। सिपाही राजकुमार का बोलना सुनकर बड़े प्रसन्न हुये और राजा से आकर सब हाल-हवाल बताये। राजा ने पुनः बड़ा उत्सव किया और सिपाहियों को बहुत-बहुत पुरस्कार दिया। फिर दरबार में बैठकर राजकुमार को गोद में लेकर बड़े प्यार से पुनः

कुछ बोलने को कहा-परन्तु कुमार तो एक चुप हजार चुप। राजा को रंज आया सिपाहियों पर कि इन्होंने झूठ कहकर हमारा बहुत-सा द्रव्य खर्च करा दिया, अत: अपने सिपाहियों को बुलाकर दण्ड देने का हुक्म कर दिया। तब राजकुमार फिर बोल पड़ा-'बोला सो मरा' अब तो राजा ने सिपाहियों को क्षमा कर दिया और राजकुमार से हठ करके पूछा कि क्या बात है जो तुम बोलते नहीं हो और बोलते भी हो तो केवल एक ही शब्द 'बोला सो मरा'। तब राजकुमार ने खोलकर सब वृत्तान्त वर्णन किया कि मैं वही सिद्ध हूँ जिसने तुमको पुत्र का वरदान दिया था। मैं बोला तो मुझे मरना पड़ा, गर्भवास और जन्म का कष्ट भोगना पड़ा, तीतर बोला तो वह मारा गया, सिपाही बोले तो दण्ड के भागी बने। इससे सिद्ध होता है कि संसार में जो बोला सो मरा। अत: काहू बात न जनाइये।

सुनि सब............ भरे- इतने महान सन्त, जिनकी बड़ाई स्वयं भगवान करते हैं, और वह नित्य हमारे द्वार पर आते हैं और हम लोगों ने आज तक उन्हें जाना नहीं, इससे बड़ा आश्चर्य हुआ अत: चौंक पड़े, साथ ही उनमें बड़ी श्रद्धा भी हुई, क्योंकि प्रभु स्मरण करके बार-बार पुलकायमान हो रहे थे। दर्शन के लिये आतुर हो उठे। 'जहाँ हम जाय देखैं'-भाव यह है कि सन्त दर्शन के लिये स्वयं चलकर जाने का बड़ा माहात्म्य है। यथा-'सन्त मिलन को जाइये, तजि ममता अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे परै, कोटिन यज्ञ समान।।

दृष्टान्त- द्रौपदी का- कथा आती है कि एक सन्त जंगल में निवास करते हुए निरन्तर भजन-ध्यान में मग्न रहते थे। लोक में उनका बड़ा सुयश फैला हुआ था। लोगों को बड़ी इच्छा होती महात्माजी को अपना घर पवित्र कराने के लिये नगर में ले चलें। लोगों को आग्रह देखकर सन्त ने अपना नियम सुनाया कि जो एक करोड़ यज्ञ किये हों, उनके घर मैं जा सकता हूँ। यह नियम सुनकर लोग ढीले पड़ जाते थे। प्रख्याति बढ़ते-बढ़ते धर्मराज युधिष्ठिर तक पहुँची। वे बड़ी श्रद्धा से महात्मा जी का दर्शन करने के लिये गये और घर चलने के लिये आग्रह किये। परन्तु इनसे भी वही बात दुहराये। श्रीयुधिष्ठिर जी उदास हो गये। एक करोड़ यज्ञ न किये ही हैं न जीवन भर में होने की सम्भावना ही है। परन्तु मन में भाव था कि कैसे भी महात्मा जी को घर लिवा ले चलूँ। इनको उदास देखकर महारानी द्रौपदी ने जब कारण पूछा और इन्होंने बताया तो द्रौपदी जी ने कहा-आप चिन्ता न करें, मैं महात्मा जी को लिवा लाऊँगी। फिर तो द्रौपदीजी अत्यन्त सादे वेष नंगे पांव पैदल सन्तजी का दर्शन करने गयीं और अपनी प्रार्थना सुनायीं। सन्तजी पूर्ववत् इनसे भी वही समस्या बताये। तब द्रौपदीजी ने प्रणाम कर कहा- महाराज! मैंने आप लोगों के ही मुख से सुना है कि-'सन्त मिलन...........समान।।' फिर आप तो सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी हैं मेरे हृदय के भाव को देखकर चलने की कृपा करें। द्रौपदी की यह बात सुनकर सन्तजी बड़े प्रसन्न हुये और बोले-बेटी! सन्त दर्शन का महत्व तो तुमने ही अच्छी तरह समझा है। भला मैं तुझ सरीखे भागवती का आग्रह टाल ही कैसे सकता हूँ। सन्तजी बड़े प्रेम से आकर सबको कृतार्थ किये। अत: कहते हैं कि 'हम जाय देखै।'

लेखैं करि भाग- क्योंकि 'बड़े भाग पाइय सत्संगा।' 'पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।।' 'धाय पांय लपटाइये' -'हरिजन हीरा पारखी, साधु जौहरी होय। धाय पाय आदर करै मूरख निदरै सोय।।'

जिते मेरे दास कभूँ चाहैं न प्रकाश भयो करौं जो प्रकाश मानैं महादुखदाइये।
मोको पर्‌यो सोच यज्ञ पूरन की लोच हिये लिये वाको नाम कहूँ ग्राम तजि जाइये।।

ऐसौ तुम कहौं जामें रहो न्यारे प्यारे सदा हमही लिवाइ ल्याइ नीकेकै जिमाइये।
जावो वालमीक घर बड़ो अवलीक साधु कियो अपराध हम दियो जो बताइये।।७८।।

शब्दार्थ–लोच=अभिलाषा। अवलीक=अव्यलीक, सर्वपाप रहित, सच्चा।

भावार्थ–भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– जितने मेरे दास हैं, वे कभी भी अपने को स्वयं प्रकट नहीं करते हैं। कभी मैं उनको प्रकाशित कर देता हूँ, तो वे मन में अत्यन्त दु:ख का अनुभव करते हैं। इससे मैं बड़े सोच-विचार में पड़ गया हूँ। यज्ञ पूर्ण हो, यह मेरी हार्दिक इच्छा है, साथ ही यह भय भी है कि यदि मैं उनका नाम बताता हूँ, तो कहीं ऐसा न हो कि वे संकोच वश नगर को छोड़कर कहीं दूसरी जगह चले जाँय। युधिष्ठिरजी ने कहा–प्यारे श्यामसुन्दर! आप इस प्रकार बताइये कि जिससे अलग ही रहिये और उस भक्त के सदा प्रिय भी बने रहिये। हम जाकर उन्हें लिवा लायें और उन्हें अच्छी तरह से भोजन करा दें। भगवान ने कहा–श्वपच भक्त वाल्मीकि के घर को चले जाओ, वे सर्व विकार रहित सच्चे साधु हैं। हमने यह अपराध किया जो उनका पता आपको बता दिया।।७८।।

व्याख्या– जिते.........भयो– भागवतों की रहनी लोक से न्यारी होती है। संसारी लोग विविध विधानों से अपने को लोक में प्रकाशित करने का प्रयत्न करते हैं और भगवद्दास तो लोक की तो बात ही क्या भगवान तक को यह नहीं जनाना चाहते कि मैं आपका भक्त हूँ। यथा–श्रीभरत वाक्य–'जानउ राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही।। सीता राम चरण रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।।' (रा.च.मा.) 'मानैं महा दुख दाइये'–इसलिये कि प्रकाशित हो जाने पर मान प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। अभिमान हो जाता है, जिससे साधक का पतन हो जाता है। यथा–'तिमिर गयौ रवि देखिकै, मोह गयो गुरुज्ञान। कियो करायो सब गयो, जब आयो अभिमान।।' यदि अभिमान न भी हो तो जन समुदाय के विशेष आवागमन से भजन में बाधा पड़ती है जो भक्तों के लिए सबसे बड़ा दु:ख है। यथा–'कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरण भजन न होई।।' यही कारण है कि साधु पुरुष प्रतिष्ठा को सूकरीविष्ठा के समान, गौरव को रौरव नरक के समान, अभिमान को सुरापान के समान समझकर इन तीनों को छोड़कर भगवद् भजन में ही सुख मानते हैं। यथा–प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा गौरवं नरक रौरवं यथा। अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

जावो वालमीक घर– भाव यह है कि कहीं किसी नाई आदि से निमन्त्रण मत भिजवाकर रह जाना, स्वयं जाकर लिवा लाओ। यदि यह संकोच करें कि श्वपच के घर कैसे जायं? तो इस पर कहते हैं कि 'वह बड़ो अवलीक साधु'–भाव यह कि साधु के यहाँ जाने में कोई हर्ज नहीं है अवलीक=निष्कपट। भगवान को कपट नहीं सुहाता है। यथा–'निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।।' श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं–'पेट कपट, जिह्वा कपट, नैना कपट निराट। तुलसी हरि कैसे मिलैं, घर में औघट घाट।।' पुन:–'अहमद या मन सदन में हरि आवैं केहिबाट। बिकट जुरें जौ लौं निपट, खुलैं न कपट कपाट।। कपट से प्रेम नष्ट हो जाता है।' यथा–'जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि। विलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि।। (रा.च.मा.) 'करि कुवेश छिपिकै रहैं, सर्प यथा वल्मीकि। पलत भक्ति की लीक में साधु सदा अवलीक (भ.व.टि.)

अर्जुन और भीमसेन चलेई निमन्त्रण को अन्तर उघारि कही भक्तिभाव दूर है।
पहुँचे भवन जाइ चहुँ दिशि फिरि आइ परे भूमि झूमि घर देख्यो छबिपूर है।।
आये नृप राजनिको देखि तजे काजनिको लाजनि सो कांपि कांपि भयो मनचूर है।
पायनि को धारिये जू जूठन को डारिये जू पाप ग्रह टारिये जू कीजै भाग-भूर है।।७९।।

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। उघारि=खोलकर। फिर आइ=परिक्रमा करके। परे=साष्टांग दण्डवत् किए। छबिपूर=शोभापूर्ण, सुन्दर। पाप=अपराध,। ग्रह=ग्रहण, स्वीकारिता, राहुकेतु आदि। भागभूर= अति भाग्यशाली।

भावार्थ—अर्जुन और भीमसेन भक्त वाल्मीकिजी को निमन्त्रण देने के लिए उनके घर जाने को तैयार हुए। तब भगवान ने उन्हें सतर्क करते हुए हृदय की बात खोलकर कही—जाते तो हो, पर सावधान रहना, भक्तों की भक्ति का भाव अत्यन्त दुर्लभ और गम्भीर है, उनको देखकर मन में किसी प्रकार का विकार न लाना, अन्यथा तुम्हारी भक्ति में दोष आ जायेगा। दोनों ने वाल्मीकि के घर पहुँचकर उसके चारों ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा की। आनन्द से झूमते हुए पृथ्वी पर पड़कर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। भीतर जाकर देखा तो उनका उपासना गृह बड़ा सुन्दर था। वाल्मीकिजी ने जब दोनों राज-राजाओं को आया देखा तो उन्होंने सब काम छोड़ दिए। लज्जा एवं संकोचवश काँपने लगे, उनका मन विह्वल हो गया। अर्जुन और भीमसेन ने सविनय निवेदन किया—भक्तवर! कल आप हमारे घर पर पधारिये और वहाँ अपनी जूठन गिराकर हमारे पापग्रहों को दूर कीजिए। हम सबों को परम भाग्यशाली बनाइए।।७९।।

व्याख्या—अन्तर..........दूर है—हृदय की रहस्य की बात खोलकर कह दिया कि भक्ति-भाव दूर है अर्थात् दुर्लभ है, परम गम्भीर है। तात्पर्य यह कि जबरदस्ती नहीं करना, अधिकार नहीं जानाना राजापने की ठसक नहीं दिखाना, तथा श्वपच समझकर अभाव नहीं करना, उपेक्षा दृष्टि से नहीं देखना। भगवान इतना सतर्क इसलिए कर रहे हैं कि तनिक सी असावधानी भी बड़ी अनर्थ कारिणी हो जाती है। पुनः प्रेम-मार्ग पर चलना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं। यथा—

नारायण या डगर पर कोउ चलत है वीर।
पग पग पर बरछी लगै श्वास श्वास में तीर।।
पांव सकै नहिं ठहरिं कै, बुरी चश्म की पीर।
सो जाने जिसको लगै कहर जहर के तीर।।

अतः कहा कि भक्तिभाव अति दूर है।

भूमि—आनन्द में विभोर होकर देख्यौ 'छबिपूर'—दण्डवत करते समय घर में दृष्टि गई तो देखे-भीतर श्रीठाकुरजी विराजे हैं। सामने पार्षद, पूजा की सामग्री धूप-दीप-नैवेद्यादि चौकी पर धरे हैं। वाल्मीकिजी श्रीठाकुरजी की पूजा में तन्मय हो रहे हैं। घर में परम स्वच्छता एवं सात्विकता का वातावरण हृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। इस पर—

दृष्टान्त—विरजो हलाल खोरिन का—विरजो श्रीवृन्दावन में निवास करती थी। नित्य श्रीगोविन्ददेवजी की कुंज की टहल करने जाती थी। जब टहल करके अपने घर आती तो स्नान करके

उज्ज्वल वस्त्र, कंठी, माला, तिलक धारण करके श्रीठाकुरजी की सेवा करती, सुन्दर भोग लगाती, कीर्तन करती, फिर चरणामृत प्रसाद लेकर तब अपने गृह कार्य में लगती। ऐसे ही नित्यप्रति लोगों से छिपाकर श्रीबालमुकुन्दजी की पूजा-सेवा करती, परन्तु इस बात को कोई नहीं जानता, न यह ही कोई जानै कि यह परम भागवती है। ऐसे ही श्रीवाल्मीकिजी भी राजा के यहाँ की झाड़ू-बहारू की सेवा करके घर आकर श्रीकृष्ण की सेवा-पूजा, नाम- गुणकीर्तन में निमग्न रहते। जब अर्जुन और भीमसेन ने इनको भगवान की सेवा में तल्लीन देखा तो बहुत ही प्रसन्न भये और परस्पर कहने लगे कि परोक्ष में जैसा श्रीकृष्ण ने इनकी भाव-भक्ति का वर्णन किया था वैसे ही ये प्रत्यक्ष देखने में भी आये। इस पर—

दृष्टान्त—विरजो का ही—एक दिन विरजो श्रीयमुनाजी स्नान करने तथा श्रीठाकुरजी के लिए जल लाने को गई थी। वह कलश मांज-धोकर तट पर रखकर स्नान कर रही थी। उसी समय एक ब्राह्मणी भी उसके कलश के समीप ही बैठकर जल भरने लगी। विरजो ने बड़ी विनम्रता से कहा—देखना, कहीं हमारे कलश पर छींटा न पड़ जाय। यह सुनकर ब्राह्मणी आग-बबूला हो गई और बोली—क्या हम तुमसे भी नीच हैं, जो मेरे छींटे से कलश बचाती है! विरजो ने बड़ी मृदुतापूर्वक ब्राह्मणी को समझाया कि यह श्रीठाकुरजी का कलश है, सेवा के लिए जल ले जाऊँगी इसलिये मैंने आपको सावधान किया है। कुछ अपने को ऊँचा मानकर नहीं। आप तो सब विधि पूज्य हैं। परन्तु ब्राह्मणी क्यों कर शान्त होने लगी। विरजो को अन्ट सन्ट बकती हुई ब्राह्मणी घर गई और अपने पति से समस्त वृत्तान्त वर्णन किया और बोली कि अब तो मैं यहाँ नहीं रहूँगी, यहाँ भंगी ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हैं। यह बड़ी अनीति है। इसका न्याय होना चाहिये। ब्राह्मण ने न्यायालय में जाकर फरियाद की। न्यायाधीश ने मन में विचारा कि निश्चय ही इसमें कोई रहस्य होगा, नहीं तो भला भंगिन ऐसा कब कहने लगी। यह श्रीवृन्दावन धाम है। यहाँ तो परम भागवतों का निवास है। यहाँ भक्ति ही ऊँच-नीच की कसौटी है। यह विचारकर न्यायाधीश ने अपने आदमियों को भेजा कि ब्राह्मणी और बिरजो—दोनों जिस भी हालत में हो उन्हें तुरन्त हाजिर किया जाय। सिपाही गये दोनों को लिवा लाये। उस समय विरजो स्नान कर श्वेत वस्त्र धारणकर माथे पर तिलक लगाये फूल का दोना हाथ में लिए हुए श्रीठाकुरजी की पूजा करने जा रही थी और ब्राह्मणी अत्यन्त मलीन वस्त्र पहने, खपरैल में बालकों की विष्ठा फेंकने जा रही थी। दोनों को इस हालत में देखकर न्यायाधीश ने कहा कि हमें तो विरजो ही ब्राह्मणी लगती है और ब्राह्मणी श्वपचिन सी लगती है। पंच लोग निर्णय करें कि कौन ब्राह्मणी है और कौन श्वपचिन यह सुनकर ब्राह्मण ब्राह्मणी बहुत लज्जित भये और चुप-चाप घर चले आये। विरजो अपने घर जाकर श्रीठाकुरजी की सेवा में लग गई। तात्पर्य यह कि परोक्ष में जैसा कहा-सुना जाय, प्रत्यक्ष में वैसा ही मिलना वास्तविकता की कसौटी है। श्रीवाल्मीकिजी कसौटी पर खरे उतरे।

देख्यो छबि पूर है—यह श्रीठाकुरजी एवं वाल्मीकिजी दोनों के साथ लगता है। श्रीठाकुरजी तो छबिपूर हैं ही, श्रीवाल्मीकिजी भी भक्ति छबि से पूर्ण हैं यथा—सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तन पाइ भजइ रघुवीरा।। **तजे काजनि को**—शिष्टाचार है—महानुभाव घर पर आवें तो सब काम छोड़कर उनका स्वागत सत्कार करना चाहिये। **लाजनि....चूर है**-इतने बड़े होकर ये लोग मुझ दीन-हीन को प्रणाम कर रहे हैं इससे लज्जा भी भई और भय भी हुआ। भय इस बात का कि कहीं मुझे अभिमान न हो जाय कि मेरे यहाँ बड़े-बड़े राजा महाराजा आकर चरणों में लोट-पोट होते हैं। **भयो मन चूर है**—कल्पनातीत

प्रसङ्ग को देखकर। वालमीकजी यह सोच भी नहीं सकते थे कि अर्जुन और भीम हमें प्रणाम करेंगे।

पाप ग्रह टारिये जू—संतों के पदार्पण से गृह के समस्त अमङ्गल दूर हो जाते हैं। यथा—**जहँ जहँ हरि प्यारे पग धारैं। सकल अमङ्गल दूर सिधारैं।। भोजन भजन करैं जिहिं ठामा। मंगलमय पावन सो धामा।।** (भ०व०टि०) पुनः येषां संस्मरणात्० (देखिये कवित्त २३) पुनः—**साधवो जङ्गमास्तीर्था निर्जलाः सर्वकामदाः येषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः।।** अर्थ— साधू चलते-फिरते तीर्थ हैं सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। जिनके वाणीरूपी जल से तत्काल ही मलीन जन शुद्ध हो जाते हैं।। **मुहूर्तार्द्धं मुहूर्तं वा यत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः। सत्यं सत्यं मुने सत्यं तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।।** (ना०प०) अर्थ—वैष्णव जन एक मुहूर्त वा आधा मुहूर्त भी जहाँ बैठ जाते हैं। हे मुनिजी! वही स्थान तीर्थ हो जाता है, वही तपोवन हो जाता है। यह बात सत्य है, सत्य है, सत्य है।। 'कीजैभाग भूरि है'—मुख......भाग मिलाहिं। (देखिये क० ७७)

जूठनि लै डारौं सदा द्वार को बुहारों नहीं और को निहारौं अजू यही साँचो पन है।
कहो कहा? जेंवो कछु पाछे लै जिंवावो हमें जानी गई रीति भक्ति भाव तुम तन है।।
तब तौ लजानो हिये कृष्ण पै रिसानो नृप चाहौ सोई ठानौ मेरे सँग कोऊ जन है।
भोर ही पधारौ अब यही उर धारौ और भूलि न विचारौ कही भली जो पै मन है।।८०।।

शब्दार्थ—ठानौ=करौ। भली=अच्छी। जो पै=यदि।

भावार्थ—दोनों को निमन्त्रण देते तथा अपनी बड़ाई करते हुए सुनकर वाल्मीकिजी कहने लगे अजी! हम तो सदा से आपकी ही जूठन उठाते हैं और आपके द्वार पर झाड़ू लगाते हैं। कभी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते हैं, यही हमारी सच्ची प्रतिज्ञा है। आप यह क्या कह रहे हैं, मेरा निमंत्रण कैसा? पहले आप लोग भोजन कीजियेगा, फिर पीछे से हमें अपनी जूठन दीजियेगा। अर्जुन-भीमसेन ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं? पहले आप भोजन कीजियेगा, फिर पीछे से हमें कराइयेगा। बिना आपको खिलाए हम लोग नहीं खायेंगे। अब तो आपके भक्तिभाव की रीति मालूम हो गई है, आपमें अटल प्रेम है। यह सुनकर वाल्मीकिजी बड़े लज्जित हुए और मन ही मन श्रीकृष्ण पर रिसाये फिर बोले—आप राजा हैं, सर्व समर्थ हैं, जो भी चाहें वह करें, मेरे साथ मेरा सहायक कोई नहीं है, फिर आपकी आज्ञा को कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ। तब दोनों ने कहा—आप कल प्रातःकाल पधारिये, अब यही एक निश्चय मन में रखिये। दूसरी बात भूलकर भी मन में न सोचिए। वाल्मीकिजी ने कहा—बहुत अच्छी बात है, यदि आपके मन में है तो ऐसा ही होगा।।८०।।

व्याख्या—जूठन लै डारौं—श्रीअर्जुनजी ने कहा—'जूठन को डारिये जू' जिसका तात्पर्य तो यह था कि घर चलकर आप भोजन करें आप की जूठन गिरे। परन्तु—वाल्मीकिजी ने बात बनाई—महाराज! मैं तो सदा ही जूठन फेंकता हूँ, अर्थात् जूठी पत्तलें आदि फेंकता हूँ। द्वार पर झाड़ू बहारू लगाता हूँ। **नहीं और को निहारौं**—नियम है कि राज सेवक और की टहल नही करते हैं, यदि अन्यत्र सेवा करें तो राजा की शिकायत होती है कि नृप कृपण है। तभी तो सेवकों को पूरा नहीं पड़ता हैं जिससे कि उन्हें अन्यत्र जाना पड़ता है। राजा—रईसों के नाऊ, धोबी, दर्जी, लुहार, कुम्हार, भंगी आदि सब अलग होते हैं और

सबके निर्वाह की समुचित व्यवस्था होती है। कोई–कोई लोभी सेवक लुक–छिपकर चाहे और जगह भी जाकर कुछ कमालें, परन्तु ये तो कहते हैं कि मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है। यह चातक वृत्ति है। यथा—**चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।।** (दो०)

जेंवो........जिवावो हमें—श्रीअर्जुनजी समझ गये कि पहली बार कहने में कुछ भूल हो गई जिससे कि इन्होंने उसका अपने अनुकूल अर्थ लगा लिया, तब उसको स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि 'जेंवो। जिवावो कहने का भाव है कि जब तक आप नहीं जीमेंगे तब तक हम लोग भी कुछ नहीं खायेंगे पीयेंगे। **जानी गई रीति**—कैसे जानें? समाधान—**सोइ जानइ जेहिं देहु जनाई।** श्रीठाकुरजी ने जना दिया है। नहीं तो कोई भला प्रेमियों के गूढ़ प्रेम को क्या जान सकता है। **भक्ति भाव तुम तन है**—कहने का भाव यह कि केवल आपका हृदय भक्ति पूरित हो सो बात नहीं, आपका तो पूरा शरीर ही भक्ति भाव रूप है। 'लजानो'—यह भक्ति का लक्षण है। संसारी लोग अपनी प्रशंसा सुनकर अभिमान में फूल जाते हैं। परन्तु साधु पुरुष संकुचित होते हैं। यथा— **निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं।**

हिये रिसानो—जान गये कि श्रीकृष्ण ने ही बताया है, दूसरा तो कोई जानता ही नहीं था अत: रिसाने। यह प्रणय—कोप है। जो आनन्द मूलक होता है। रस वर्द्धक होता है। मेरे सङ्ग कोऊ जन है—बाह्य भाव तो यह कि आप स्वयं राजा हैं, सर्व समर्थ हैं, फिर आपके साथ सभी जन हैं। मैं दीन-हीन, मेरा कोई पक्ष लेने वाला नहीं है अत: बेबसी है। अन्तरङ्ग भाव यह कि मेरे तो एक श्रीकृष्ण हैं, वह भी इस समय आपके ही हो रहे हैं। **और भूलि न विचारौ**—और विचार यही कि आप राजा हैं आदि। 'जो पै मन'—यह अर्जुन-भीम एवं श्रीकृष्ण दोनों के साथ लगता है। बाह्य भाव तो यह कि यदि आप लोगों का ऐसा ही मन है। अन्तरङ्ग भाव यह कि जब श्रीठाकुरजी का ही ऐसा मन है तो चलना ही पड़ेगा। भला उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ कर ही क्या सकता है। यथा—**राम कीन्ह चाहइ सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।।** दूसरी बात यह भी कि भक्त तो भगवान की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता मानता है। यथा—'**राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।**' तत्सुख ही तो प्रेम का मूल मन्त्र है। अनन्य रसिक श्रीस्वामी हरिदासजी कहते हैं कि—'**ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हौ त्यौंही त्यौंही रहियतु है हो हरि**' अत: कहते हैं कि जो पै मन है।

कही सब रीति सुनि धर्म पुत्र प्रीति भई करी लै रसोई कृष्ण द्रौपदी सिखाई है।
जेतिक प्रकार सब व्यञ्जन सुधारि करो आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है।।
ल्याये जा लिवाय कहैं बाहिर जिमाय देवो कही प्रभु आपु ल्यावो अङ्कभरि भाई है।
आनिकै बैठायो पाकशाल में रसाल ग्रास लेत बाज्यो शङ्ख हरि दण्ड की लगाई है।।८१।।

शब्दार्थ—व्यञ्जन=पक्वान्न, मिष्ठान्न, कच्चे, पक्के सभी प्रकार के भोजन। सुधारि=अच्छी तरह से। सफलाई=सफलता, सार्थकता। पाकशाला=रसोईघर। ग्रास=कवल, कौर। दण्डकी=छड़ी।

भावार्थ—अर्जुन और भीमसेन ने लौटकर राजा युधिष्ठिर से बाल्मीकि की सब बात कही, सुन कर युधिष्ठिर को श्वपच भक्त के प्रति बड़ा प्रेम हुआ। भगवान श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को अच्छी प्रकार से सिखाया कि—तुम सभी प्रकार के षट्रस व्यञ्जनों को अच्छी प्रकार से बनाओ। तुम्हारे हाथों की सफलता

आज इसी में है कि भक्त के लिये सुन्दर रसोई तैयार करो। रसोई तैयार हो चुकने पर राजा युधिष्ठिर जाकर वाल्मीकि को लिवा लाये। उन्होंने कहा कि—हमें बाहर ही बैठाकर भोजन करा दो। श्रीकृष्ण भगवान ने कहा—हे युधिष्ठिर! ये तो तुम्हारे भाई हैं, इन्हें सादर गोद में उठाकर स्वयं ले आओ। इस प्रकार उन्हें पाकशाला में लाकर बैठाया गया और उनके सामने सभी प्रकार के व्यञ्जन परोसे गये। रसमय प्रसाद का कौर लेते ही शङ्ख बज उठा परन्तु थोड़ी देर बजकर फिर बन्द हो गया तब भगवान ने शङ्ख को एक छड़ी लगाई।।८१।।

व्याख्या—कही सब रीति—भक्ति की रीति 'घर देख्यो छबि पूर०।' भक्त की रीति 'आये देखि.....चूर है।' भक्त के वार्ता करने की रीति 'जूठनि.....पन है।' तथा स्वीकृति की बात कही। सुनि धर्म पुत्र प्रीति भई—'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।' श्रीविभीषणजी श्रीहनुमानजी से कहते हैं कि—'की तुम हरि दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई।' वैसे ही श्रीयुधिष्ठिरजी के हृदय में भी परम भागवत जानकर वाल्मीकिजी के प्रति प्रीति हो गई। साथ ही विश्वास भी हो गया कि ऐसे परम भागवत के पाने से अवश्यमेव हमारा यज्ञ पूर्ण हो जावेगा। क्योंकि—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति।'

कृष्ण द्रौपदी सिखाई है—जैसे परम भागवत को पवाना है वैसे ही परम भागवती ही रसोई बनाने के लिए भी होना चाहिए। अतः श्रीकृष्ण ने इस कार्य के लिए द्रौपदी को उपयुक्त समझा और सामयिक सिखावन दिया। यथा—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं चक्षुषा गृह्यते मया।
रसं तु दास जिह्वायामश्नामि कमलोद्भव।।

अर्थ—हे ब्रह्मन्! सामने समर्पित नैवेद्य को मैं नेत्र द्वारा ही ग्रहण करता हूँ। अर्थात् दृष्टिभोग करता हूँ। उसके रस का आस्वादन तो भक्तों की जिह्वा से ही करता हूँ।। पुनः—

करत कर्महू कछु नहिं करऊँ। मैं निर्लेप भाव ते रहऊँ।।
भक्तन की आंखिन सों देखूं। इकलो मैं कछु हू नहिं लेखूं।।
भक्तन की रसना सों खाऊँ। भक्तन के सुख सों सुख पाऊँ।। (भ०व०टि०)

जेतिक.......करो

चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई।।
छरस रुचिर व्यञ्जन बहुजाती। एक एक रस अगनित भाँती।। (रा०च०मा०)

(चारि भाँति—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य। भक्ष्य—दांत से काटकर खाये जाने वाले पदार्थ। भोज्य— वह पदार्थ जो मुँह में रखकर खाया जाता है। चोष्य—जो चूसकर खाया जाय। लेह्य—वह पदार्थ हैं जो चाटे जाते हैं।)

छरस— कटुकं लवणं चैव तिक्तं मधुरमेव च।
आम्लश्चैव कषायं च षड्विधाश्च रसाः स्मृताः।।

अर्थ—कटु (काली मिर्च लाल मिर्च आदि) लवण (नमकीन), तिक्त, मधुर, अम्ल और कषाय, छः रस हैं। परस्पर मिश्रण से अनेक रस बन जाते हैं। चार प्रकार एवं षड्रस के भोजन अनेक प्रकार से बनाये जाते हैं। यथा—'व्यञ्जन विविध नाम को जाना।'

आजु..........सफलाई है—आज से जानाया गया कि यह पहला अवसर है, जो ऐसे महाभागवत की सेवा का संयोग बना है। भगवत-भागवत सेवा में हाथ बँटाना ही हाथों की सफलता है। भाई है—श्रीवाल्मीकिजी अपने सहज दैन्यवश बोले कि हमें बाहर ही भोजन करा दो। भीमजी सहमत हो गये। तब श्रीकृष्ण ने कहा— 'नहीं, ऐसा करना उचित नहीं है। क्योंकि भाई है। भाई कहने का एक कारण यह है कि श्रीमाण्डव्य ऋषि के शाप से धर्मराज ही तीन रूप में (युधिष्ठिर, विदुर एवं श्वपच वाल्मीकि) प्रगट हुए थे अत: तीनों भाई भये। दूसरे वैष्णव होने के नाते भी भाई भये।यदि तुम्हारा भाई हो और कहे कि मुझे बाहर ही पवादो तो क्या उसे बाहर ही बैठाकर पवाओगे? यदि नहीं, तो इन्हें भी पाकशाला में ले जाकर भोजन कराओ। तीसरे-ऐसी बात मुझे भाई अर्थात् अच्छी लग रही है कि इन्हें भीतर पाकशाला में पावाया जाय और मेरी प्रसन्नता ही समस्त यज्ञों का फल है। ल्यावो अङ्कभरि कहकर जनाया गया कि ये कहने-सुनने से पाकशाला में जाने को प्रस्तुत नहीं हो रहे थे तब श्रीठाकुरजी ने ललकारा कि गोद में उठाकर ले चलो। दृष्टान्त—श्रीगोकुलनाथजी का—कान्हा भङ्गी को हृदय से लगाये। (कवित्त ५२१) 'हरि दण्ड की लगाई है'— इसलिए कि एक-दो बार बजकर ही रह गया। भक्त और भक्ति की महिमा के अनुरूप नहीं बजा।

सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो कछु लाज्यो कहा भक्तिको प्रभाव तै न जानत यों जानिये।
बोल्यो अकुलाय जाय पूछिये जू द्रौपदी को मेरो दोष नाहिं यह आपु मन आनिये।।
मानि सांच बात जाति बुद्धि आई देखि याहि सबही मिलाई मेरी चातुरी विहानिये।
पूँछेते कही है बालमीक मैं मिलायों यातें आदि प्रभु पायो पाऊँ स्वाद उनमानिये।।८२।।

शब्दार्थ—सीत-सीत प्रति=कन कन पर। विहानिये=नष्ट कर दी। उनमानिये=अनुमान करके। उन=उन्होंने। मानिये=मान लिया।

भावार्थ—भगवान ने शङ्ख से पूछा—तुम कण-कण के भोजन करने पर ठीक से क्यों नहीं बज रहे हो? क्या तुम कुछ लज्जित हो गये हो, मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम भक्ति का प्रभाव अच्छी तरह से नहीं जानते हो। घबड़ाकर शंख बोला—आप द्रौपदी के पास जाकर उनसे पूछिये, आप मन से यह मान लीजिये कि मेरा कुछ भी दोष नहीं है। जब द्रौपदी से पूछा गया तो उन्होंने कहा कि—शङ्ख का कथन सत्य है। भक्तजी खट्टे मीठे आदि सभी रसों के सभी व्यञ्जनों को एक में मिलाकर खा रहे हैं, इससे मेरी रसोई करने की चतुरता धूल में मिल गई। अपनी पाक विद्या का निरादर देखकर मेरे मन में यह भाव आया कि—आखिर हैं तो ये श्वपच जाति के ही, ये भला व्यञ्जनों का स्वाद लेना क्या जानें? तब भगवान ने सब पदार्थों को एक में मिलाकर खाने का कारण पूछा। वाल्मीकि ने कहा कि—इनका भोग तो आप पहले ही लगा चुके हैं, अत: पदार्थ बुद्धि से अलग-अलग स्वाद कैसे लूँ। पदार्थ तो एक के बाद दूसरे रुचिकर और अरुचिकर लगेंगे। फिर इसमें प्रसाद बुद्धि कहाँ रहेगी। मैं तो प्रसाद का सेवन कर रहा हूँ,

व्यञ्जनों को नहीं खा रहा हूँ। यह सुनकर भक्त वाल्मीकि में द्रौपदी का अपार सद्भाव हुआ। शङ्ख जोरों से बजने लगा। लोग भक्त की जय-जयकार करने लगे। इस प्रकार यज्ञ पूर्ण हुआ और भक्त वाल्मीकिजी की महिमा का सबको पता चला।।८२।।

व्याख्या—सीत.........कहा—ग्रासे ग्रासे कृते नादे कृष्णः शङ्खमुवाच ह। लुप्तो भक्ति प्रतापश्च सिक्थे सिक्थे न नादितः।। भक्ति को प्रभाव-(देखिये क० ३३) 'बोल्यो अकुलाय'—भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि तूने भक्त एवं भक्ति का सम्मान नहीं किया तो मैं तुम्हें अपने पास नहीं रखूँगा, फेंक दूँगा, चूर-चूर कर दूँगा। यह सुनकर शङ्ख व्याकुल हुआ। 'जाति बुद्धि आई'—साधु की जाति का विचार नहीं करना चाहिये। (देखिये क० १२)

सबही मिलाई—वाल्मीकिजी ने तो प्रसाद बुद्धि से सब एक में मिलाकर पाया। परन्तु द्रौपदी ने इसका यह अर्थ लगाया कि अपने जाति स्वभाव वश जैसे जूठी पत्तलें उठाते समय सब बचा-खुचा एक ही टोकरी में रख लेते हैं, वैसे ही अलग-अलग परोसा हुआ भोजन भी एक में ही मिला लिये। आदि..। 'मानिये' स्वाद तो प्रभु ने पाया, हम तो प्रसाद पा रहे हैं। प्रसाद में पदार्थ बुद्धि करके स्वाद का अनुभव करने से प्रसाद का महत्त्व जाता रहता है। प्रसाद निष्ठा में त्रुटि आती है। ''उन मानिये—उन्होंने जान लिया एवं मान लिया कि—

जाति पांति पूछै नहि कोय। हरिको भजै सो हरिको होय।।
नारायण को भक्ति पियारी। जोइ भजै सोई अधिकारी।।
तुलसी भगत सुपच भलो, जपै रैन दिन राम।
ऊँचौ कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम।।
भक्तिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।।

श्रीरुक्माङ्गदजी

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो करि अनुराग देवबधू लेन आवहीं।
रहि गई एक कांटा चुभ्यो पग बैंगन को सुनि नृप माली पास आये सुख पावहीं।।
कहौ 'को उपाइ स्वर्ग लोक को पठाइ दीजै' करै एकादशी जल धरै कर जावहीं।
व्रतको तो नाम यहि ग्राम कोऊ जानै नाहिं कीनो हो अजान काल्हि लावो गुन गावहीं।।८३।।

शब्दार्थ—देववधू=स्वर्ग की परी, अप्सरा। जल धरैकर=संकल्प करके हाथ में जल दे।

भावार्थ—भक्त राजा रुक्मांगद का बाग अनेक प्रकार के सुन्दर फूलों की उत्तम सुगन्ध से भरा हुआ था, इससे प्रभावित होकर मनोरंजन करने और फूलों को लेने के लिये स्वर्ग की अप्सराएँ भी आती थीं। दैवयोग से एक दिन एक अप्सरा के पैर में बैंगन का कांटा चुभ गया, इससे उसका पुण्य क्षीण हो गया। वह उड़कर स्वर्ग को न जा सकी, बाग में ही रह गई। प्रातःकाल बाग के मालियों से यह समाचार सुनकर रुक्मांगदजी बाग में आये। अप्सरा को चिन्तित देखकर राजा ने पूछा—तुम्हें सुखी करने का क्या उपाय किया जाय। तब उसने कहा कि आपके बाग में हम लोग प्रायः आती रहती हैं, कल एकादशी व्रत

का दिन था, इसमें बैंगन के सेवन का सर्वथा निषेध है। मेरे पैर में बैंगन का कांटा लग गया इससे मेरा पुण्य क्षीण हो गया, मैं स्वर्ग को न जा सकी। अब आप कृपा करके ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं स्वर्ग को जा सकूँ। उपाय यह है कि—कल जिसने एकादशी का व्रत किया हो, वह हाथ में जल लेकर अपने व्रत के फल का संकल्प करके मुझे दे दे। तब मैं अपने लोक को जा सकती हूँ। राजा ने कहा—व्रत करना तो दूर रहा, मेरे नगर में तो कोई इसका नाम भी नहीं जानता है। तब अप्सरा ने कहा कि—बिना जाने ही कोई भूखा रह गया हो,उसे ही लाकर संकल्प करा दो, उसी के फल से चली जाऊँगी और कृतज्ञ होकर सदा आपका गुन गाऊँगी।।८३।।

व्याख्या—श्रीरुक्मांगदजी श्रीअयोध्यापुरी के राजा थे। बाग......रह्यो—इनके बाग के सुन्दर फूलों की सुगन्ध स्वर्ग तक जाती थी। जबकि स्वर्ग के फूलों की सुगन्ध यहाँ तक नहीं आती है।। यह विशेष बात है। 'करि अनुराग......आवहीं'—आकाश मार्ग से जाती हुई अप्सराओं को उपवन के पवन का संस्पर्श हुआ, वे आकृष्ट होकर बाग में उतर आई वहाँ की शोभा-सम्पत्ति को देखने के हेतु। सुगन्धित पुष्पों को देखकर उनका मन ललचा गया अत: नित्य ही रात्रि में उपवन में विहार करने तथा पुष्प लेने के लिये आने लगीं। बाग में माली बड़ी हैरानी में पड़ गये कि सायंकाल को बहुत-सी विकासोन्मुख कलियाँ दिखाई पड़तीं परन्तु प्रात:काल एक भी खिले फूल नहीं मिलते। राजा भी यदा-कदा पूछते कि अब फूल नहीं खिलते हैं, क्यों? माली इसका समुचित उत्तर नहीं दे पाते थे। बहुत सावधानी रखने पर भी जब वे नहीं जान सके कि कौन फूलों को ले जाता है तो वे निश्चय कर लिये कि कोई दैवी शक्ति अदृश्य रूप से फूलों को ले जाती है। पर वह कौन है? यह नहीं समझ सके। भगवान की इच्छा—

रह गई एक......बैंगन को—उसका नाम था उर्वशी। बैंगन का कांटा चुभने से उसका पुण्य क्षीण हो गया, वह पुन: स्वर्ग को नहीं जा सकी। क्योंकि शास्त्रों में बैंगन को बहुत निषिद्ध माना गया है। यथा—स्कान्दे— **यो भक्षयति वृन्ताकं तस्य दूरतरो हरि:।** अर्थ—जो बैंगन खाते हैं, उनसे श्रीहरि बहुत दूर अवस्थित रहते हैं। पुन: यामले—**यत्र मद्यं तथा मासं तथा वृन्ताक मूलके। निवेदयेन्नैव तत्र हरेरैकान्तिकी रति:।।** अर्थ—जहाँ सुरा, मांस, बैंगन और मूलक निवेदन किया जाता है, वहाँ जनार्दन भगवान की ऐकान्तिकी प्रीति नहीं रहती।। यहाँ तो निषेध की पराकाष्ठा हो गई कि बैंगन का स्पर्श होने मात्र से ही उर्वशी की दिव्यगति मन्द पड़ गई।

सुनि......सुख पावहीं—राजा बड़े प्रसन्न हुये कि मेरा बाग इतना बढ़िया है कि स्वर्ग से अप्सरा फूल लेने आती हैं। 'पास आये'—राजा को अपनी ओर आते देखकर अप्सरा ने स्पर्श का निषेध किया। उसे भय था कि कहीं राजसी प्रवृत्ति वश मुझे महल में ले चलने का उद्योग न करने लगे। कारण कि ये तो देव भोग्या हैं। मनुष्य का इनको भोगने का अधिकार नहीं। पुराणों में ऋषि-मुनियों अथवा किसी-किसी राजाओं का भी जो अप्सराओं से सम्भोग का प्रसंग पाया जाता है। वहाँ यह समझना चाहिये कि अपने तपोबल अथवा ज्ञानादिक पुण्यों से इसी शरीर में देवत्व को प्राप्त कर चुके हैं। अन्यथा सर्वसाधारण के लिये सम्भव नहीं है।

व्रत को.......जानै नाहिं—प्रश्न—सप्त मोक्षदायिनी पुरियों में सर्वश्रेष्ठ श्रीअयोध्यापुरी के परम धर्मात्मा राजा श्रीरुक्मांगद के राज्य में एकादशी व्रत करना तो दूर रहा, कोई इस व्रत का नाम तक नहीं

जानता था। यह परम आश्चर्य सा लगता है। समाधान—वह समय सतयुग का था। लोगों की योग-ज्ञान में विशेष प्रवृत्ति होती थी। यथा—**कृतयुग सब योगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।** (रा०च०मा०) एकादशी व्रत को ज्ञान-योग-समाधि की अपेक्षा गौण मानकर उससे एकदम उदासीन थे। अत: कहते हैं कि नाम कोउ जानै नाहिं।

फेरी नृप डौंड़ी सुनि बनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी निशि जागी उन मारिये।
राजा ढिग आनि करि दियो व्रत दान गई तिया यों उड़ानि निज लोक को पधारिये।।
महिमा अपार देखि भूपने विचारी याको कोऊ अन्न खाय ताको बांधि मारि डारिये।
याही के प्रभाव भाव भक्ति विसतार भयो नयो चोज सुनो सब पुरी लै उधारिये।।८४।।

शब्दार्थ—डौंड़ी=डुग्गी, घोषणा। लौंड़ी=दासी। कनौड़ी=लज्जिता, खरीदी हुई दासी, गरीबिन, कानी, कृतज्ञा। पुरी=अयोध्या।

भावार्थ—राजा ने अपने नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि—कल जिसने अन्न, जल ग्रहण न किया हो वह दरबार में आवे, उसे इनाम मिलेगा। इसे सुनकर एक बनिया की दासी आई, जिस बेचारी को बिना अपराध के ही बनिये ने मारा था। इससे वह ग्लानिवश दिन-रात भूखी प्यासी और जागती ही रह गई थी। राजा ने उसी से व्रत का संकल्प करा दिया। अप्सरा उड़कर अपने लोक को चली गई। एकादशी व्रत की ऐसी अपार महिमा देखकर राजा ने विचार करके यह घोषणा की कि-मेरे राज्य में सभी को एकादशी व्रत करना अनिवार्य है। यदि कोई अन्न खायगा तो उसे बाँधकर मार डाला जायगा। इसके प्रभाव से राजा रुक्मांगद के राज्य में भाव-भक्ति का बहुत विस्तार हुआ। अब दूसरी अनोखी बात सुनो, जिससे राज्य की समस्त प्रजा एक साथ ही वैकुण्ठ धाम को चली गई।।८४।।

व्याख्या—बनिक.......कनौंड़ी—बणिक बड़ा कृपण था। कभी भी वह दास दासियों को ठीक से भोजन भी नहीं देता था और यदि कोई कुछ एतराज करता अथवा और माँगता तो वह उन्हें मारता और एकदम भोजन बन्द कर देता। आज दासी भी इसी संकट में पड़ गई थी। तभी तो कहा गया है कि कृपण की सेवा बड़ी दुखदायिनी होती है। यथा—**कष्टाधिकष्टं सतत प्रवासी ततोऽधि कष्टं परगेहवासी। ततोऽधिकष्टं कृपणस्य सेवा ततोऽधिकष्टं धनहीन सेवा।।** (नीतौ) अर्थ—निरन्तर प्रवास (अपना देश छोड़कर अन्यत्र निवास) बड़ा ही दु:खद होता है, उससे भी अधिक दुखदायी होता है दूसरे के घर में निवास करना, उससे भी अधिक कृपण की सेवा कष्टकारिणी होती है और सबसे अधिक कष्टकर तो है धन हीन की सेवा। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी लिखा है—**सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल समचारी।।** यहाँ नृप से तात्पर्य स्वामी से है। इसी से बीरबल ने एक पद में लिखा है कि—

पूत कपूत कुलच्छनि नारि परोसी लड़ाक लजाय न सारो।
बंधु कुबुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतीथ धुतारो।।
साहब सूम अड़ाक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो।
ब्रह्म भनैं सुनु शाह अकब्बर बारहो बांधि समुद्र में डारौ।।

निशि जागी—एकादशी के दिन जागरण का भी विधान है। यथा—**उपोष्यैकादशीं विधिवत् करोति जागरणं निशि। नृत्यं संकीर्तनं भक्त्या हरिस्तस्य वशे भवेत्।।** (ए० मा०) अर्थ—जो विधिपूर्वक एकादशी व्रत करके रात्रि में भगवान के सम्मुख भक्ति पूर्वक जागरण करते हुये नृत्य-संकीर्तन करते हैं, भगवान उनके वश में हो जाते हैं।। वह दासी भूख के मारे तथा अत्यन्त शोक के कारण रात्रि भर सोई भी नहीं थी, अत: उसका विधिवत् एकादशी व्रत सहज ही सम्पन्न हो गया था।

उन मारिये—उस वणिक ने उसे मारा भी था। तभी तो कहा गया है कि—**लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम्। शेषे धराभराक्रान्ते शेते लक्ष्मीपतिः स्वयम्।।** (नीतौ) अर्थ—प्राय: लक्ष्मीवन्त दूसरे की पीड़ा का कम अनुभव कर पाते हैं और की तो बात ही क्या? स्वयं श्रीलक्ष्मीपति भगवान विष्णु भी शेष शैय्या पर सोते हैं, जबकि शेषजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भार को धारण करने से स्वयं भाराक्रान्त होते हैं।। पुनः— **दुख गरीब को नहिं लखैं, अभिमानी धनवान। पीर पराई पारखी केवल सन्त सुजान।।** (भ० व० टि०) **निज लोक को पधारिये**—बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इन अप्सराओं के रूप लावण्य पर मोहित होकर अपने स्वरूप को भूल जाते हैं परन्तु राजा रुक्मांगदजी को उर्वशी को देखकर किंचित् भी आसक्ति नहीं हुई, बल्कि प्रयत्न करके उसे स्वर्ग पठवाये। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीनारद-उर्वशी का—एक बार देवर्षि नारदजी आकाश मार्ग से कहीं जा रहे थे। संयोग से उर्वशी अप्सरा उधर ही आ रही थी। उसे अपनी ओर आते देखकर श्रीनारदजी रास्ता छोड़कर आगे निकलने लगे। ब्रह्म वर्चस्वी मुनि की अद्भुत कान्ति को देखकर उर्वशी मोहित हो गई और लज्जा छोड़कर मुनि को हाव-भाव दिखाकर मोहित करने का प्रयत्न करने लगी, परन्तु सब व्यर्थ गया। तब स्पष्ट शब्दों में उसने कहा कि नारदजी! आप मुझसे प्रेम करो। क्या वैराग्य में धूल खाते डोलते हैं? श्रीनारदजी ने कहा—अस्थि चर्म, मल-मूत्र के भाण्डागार कामिनी के वास्तविक स्वरूप को समझने वाला कौन ऐसा विवेकी पुरुष है जो उससे प्रीति करेगा? उर्वशी ने कहा—नारदजी! आप कैसी भूली-भूली सी बातें कर रहे हैं? यह सब दोष तो प्राकृत स्त्रियों में होते हैं। हम तो दिव्य देवाङ्गना हैं। हमारा शरीर तो दिव्य सुगन्धि का भण्डार है। यदि आपको विश्वास न हो तो देख लीजिये। ऐसा कहकर उर्वशी ने अपना पेट चीरकर दिखाया तो उसमें से केशर-कस्तूरी, चोबा-चन्दन की दिव्य सुगन्धि फैल गई। परन्तु श्रीनारद के मन में कोई विकार न हुआ। वे बोले—माताजी! यदि मैं ऐसा जानता तो तेरे ही उदर से जन्म लेता। यह सुनकर उर्वशी यह सोचकर कि जब इन्होंने माता ही कह दिया तो इनसे क्या कहना है? स्वयं संकुचित होकर चली गई। इसी प्रकार श्रीरुक्मांगदजी भी सर्वथा निर्विकार रहे।

महिमा अपार—यथा—**सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा। गोविन्द स्मारणं नृणामेकाद श्यामुपोषणम्।।** (ब्रह्मवैवर्त) अर्थ—एकादशी के दिन उपवास का रखना सब पापों को नाश करने वाला, अत्यन्त पुण्य कारक तथा मनुष्यों को भगवान का स्मरण कराने वाला होता है। 'देखि'—का भाव यह कि शास्त्रों में इनकी महिमा का वर्णन तो बहुत है। कथा-वार्ता में सुना तो बहुत है परन्तु आज तो प्रत्यक्ष देख लिया। **कोऊ अन्न........डारिये**—श्रीरुक्मांगदजी एकादशी के दिन हाथी पर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि—'आज एकादशी तिथि है आज के दिन आठ वर्ष से अधिक और पचासी वर्ष से कम आयु वाला जो मन्द बुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह मेरे द्वारा दण्डनीय होगा, उसे नगर से निष्कासित कर दिया जायगा। औरों की तो बात ही क्या? पिता, भ्राता, पुत्र, पत्नी और

मेरा मित्र ही क्यों न हो, यदि वह एकादशी के दिन भोजन करेगा तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा।

पुरी लै उधारिये—इस प्रकार घोषणा करने पर सब लोग एकादशी व्रत करके भगवान विष्णु के लोक में जाने लगे। यमपुरी सूनी हो गयी। इससे यमराज बड़े ही चिन्तित हुये। वे प्रजापति ब्रह्मा के पास गये और उन्हें यमपुरी के उजाड़ होने तथा अपनी बेकारी का समाचार सुनाया। ब्रह्माजी ने उन्हें शान्त किया और एकादशी तथा भगवद्भक्तों की महिमा का वर्णन किया। पश्चात् ब्रह्मा ने यमराज के बहुत आग्रह करने पर उनकी इच्छा की पूर्ति एवं भक्त रुक्मांगद के गौरव को बढ़ाने के लिए माया की एक मोहिनी नाम की स्त्री बनाया और श्रीरुक्मांगदजी को मोहित करने के लिए उसे मन्दराचल पर भेजा। शिकार खेलने के लिए वन में गये हुए राजा रुक्मांगद बढ़ते-बढ़ते मन्दराचल पर जा पहुँचे और मोहिनी द्वारा मधुर स्वर से गाये गये गीत के शब्दों का अनुसन्धान करते हुये उसके समीप जा पहुँचे। उसके लोकोत्तर रूप-लावण्य को देखकर राजा ने मुग्ध होकर प्रणय-प्रस्ताव किया। तब उसने कहा कि मेरी एक शर्त यह है कि 'मैं जो कुछ भी कहूँ, वही आपको करना पड़ेगा।' राजा तो मोहासक्त हो रहे थे तत्काल प्रतिज्ञा कर लिये—देवि! तुम जिससे सन्तुष्ट रहो, मैं वही शर्त स्वीकार करता हूँ। मोहिनी राजा रुक्मांगदजी के साथ राजधानी की ओर चल पड़ी। महाराज की परम सती, साध्वी पति परायणा पत्नि सन्ध्यावली, तथा मातृ-पितृ भक्त राजकुमार अङ्गद ने बड़े उत्साह के साथ दोनों का स्वागत किया। दिन बड़े सुख से बीतने लगे।

अन्त में एकादशी का पुण्य पर्व आया। शहर में ढिंढोरा पीटा जाने लगा—'कल एकादशी है। सावधान, कोई भूल से भी अन्न न ग्रहण करे।' मोहिनी के कानों में ये शब्द पहुँचे। उसने महाराज से पूछा— यह कैसी घोषणा है। रुक्मांगदजी ने सारी परिस्थिति बतलायी और स्वयं भी व्रत करने के लिये तत्पर होने लगे। मोहिनी ने कहा—महाराज! आपको मेरी एक बात माननी होगी। राजा ने कहा—प्रिये! यह तो मेरी प्रतिज्ञा ही है। तुम निःसंकोच हृदय की बात कहो। मोहिनी ने कहा—आप एकादशी व्रत न करें। महाराज तो स्तब्ध हो गये। बहुत सँभलकर बोले—मोहिनी! मैं तुम्हारी सब बात मानने के लिये तैयार हूँ। परन्तु देवि! मुझसे एकादशी व्रत छोड़ने के लिए मत कहो। यह मेरे लिये नितान्त असम्भव है। मोहिनी ने कहा—यह तो हो ही नहीं सकता। आपने स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा की है। फिर आप अपनी की हुई प्रतिज्ञा से टल ही कैसे सकते हैं। रुक्मांगदजी ने कहा—तुम किसी भी शर्त पर यह व्रत करने की आज्ञा मुझे दो। मोहिनी यदि ऐसी बात है, तो आप अपने हाथ से अपने प्रिय पुत्र धर्माङ्गद का सिर काटकर मुझे दे दीजिये। श्रीरुक्मांगदजी बड़े धर्म संकट में पड़ गये। श्रीधर्मांगदजी को जब यह बात मालूम हुई तो वे पिता के समक्ष सिर झुकाकर बारम्बार पिताजी से अपना सिर काटने के लिये अनुरोध करने लगे। धर्मांगदजी ने पिता को समझाया—पिताजी मेरे लिये इससे बढ़कर सौभाग्य का सुअवसर नहीं मिल सकता है। आज मैं धन्य हुआ जो अपना सिर देकर पिताजी की प्रतिज्ञा और माता का मनोरथ पूर्ण करूँगा। महारानी श्रीसन्ध्यावलीजी ने भी धर्मांगद के वचनों का समर्थन किया। राजा रुक्मांगद ज्यों ही तलवार चलाने को प्रस्तुत हुए कि पृथ्वी काँप उठी। साक्षात् भगवान श्रीहरि वहाँ आविर्भूत हो गये और अपने श्रीकर- कमल से राजा का हाथ पकड़ लिया और बोले—'चलो धाम मम बैठि विमाना।' रुक्मांगदजी ने कहा—'**इकलो नहिं जैहौं भगवाना।। अबध पुरी की प्रजा हमारी मोकूँ अहैं प्रान ते प्यारी।। तब सब कहँ संग लै असुरारी। गये धाम इमि पुरी उधारी।।** (भ० व० टि०)

श्रीरुक्मांगदजी की पुत्री

एकादशी ब्रत की सचाई लै दिखाई राजा सुता कि निकाई सुनौ नीके चित लाइकै।
पिता घर आयो पति भूख ने सतायो अति माँगे तिया पास नहिं दियो यह भाइकै।।
आजु हरिवासर सो तासर न पूजै कोऊ डर कहा मीच को यों मानी सुख पाइकै।
तजे उन प्रान पाये बेगि भगवान वधू हिये सरसान भई कह्यों पन गाइकै।।८५।।

शब्दार्थ—निकाई=अच्छाई, विशेषता, व्रतनिष्ठा। हरिवासर=हरि=विष्णु+वासर=दिन, एकादशी। ता सर=उसके समान। न पूजै=पूरा न हो, बराबरी न कर सके।

भावार्थ—राजा रुक्माङ्गद ने एकादशी व्रत की सच्ची महिमा को प्रत्यक्ष प्रकट करके दिखाया, अब राजपुत्री की एकादशी व्रत निष्ठा को एकाग्र मन से सुनिये। एक बार जब वह अपने पिता के ही घर थी तब एक दिन उसका पति आया। व्रत का दिन था इसलिए किसी ने भोजन पानादि की बात भी नहीं पूछी। उसे भूख ने बहुत सताया, व्याकुल होकर उसने अपनी स्त्री से भोजन माँगा। एकादशी व्रत होने के कारण उसने भी कुछ खाने को नहीं दिया। तब उसके पति ने कहा कि—मुझसे भूख-प्यास सही नहीं जा रही है, मैं थोड़ी देर में मर जाऊँगा। राजपुत्री ने कहा—आज तो एकादशी है, इसके समान प्राण त्यागने का उत्तम दिन और कोई नहीं है इसलिये मृत्यु का क्या भय ? यदि प्राण छूट भी जाय तो दुर्लभ वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी राजपुत्री ने सुख पाकर ऐसा ही माना और व्रत निष्ठा पर अटल रही। उधर भोजन न मिलने से उसके पति ने प्राण त्याग कर दिये और शीघ्र ही वैकुण्ठधाम को पहुँचकर भगवान को प्राप्त हो गया। यह देखकर उसकी स्त्री का हृदय भक्ति से भर गया। उसने भी शरीर त्यागकर पति का अनुगमन किया। इस प्रकार उसके प्रण को ऋषियों ने गाकर कहा।।८५।।

व्याख्या—पिता......घर कै—कन्या का पति दशमी की सन्ध्या को ही आ गया। प्रथम श्वसुर श्रीरुक्माङ्गदजी के पास गया और प्रणाम किया। राजा ने बड़ा प्यार किया, भूरि-भूरि शुभाशीर्वाद दिया, कुशल-मङ्गल पूछा, परन्तु खाने-पीने की कोई बात भी नहीं पूँछी। क्योंकि एकादशी व्रत के विधान में दशमी को भी केवल एक बार लघु आहार किया जाता है इसके बाद वह सासु के पास गया वहाँ भी वही बात। तत्पश्चात् उसने पत्नी से कहा कि क्या बात है कि मेरे सास-ससुर प्यार की बात तो बहुत करते हैं, परन्तु भोजन-पानी का कुछ नाम भी नहीं लेते हैं। तब राजकुमारी ने सब रहस्य बताया तो वह विचार करने लगा कि बुरे फँसे। इस पर—

दृष्टान्त—आय फंसे का—मुसलमानों का ताजिया निकला था। बाजे बज रहे थे। बड़ा शोर शराबा हो रहा था। एक पण्डितजी ने सोचा—नगर कीर्तन होगा। इसी धोखे में घर से बाहर निकले तो देखे कि यह तो ताजिया है। संयोग की बात, उन्हीं मुसलमानों में पण्डितजी का एक मित्र मुसलमान भी था। उसने मारे प्रेम के पण्डितजी को भी बुला लिया। श्रीपण्डितजी भी अपने धर्म के अनुकूल न होने पर भी मित्र के संकोच वश संग चल पड़े। परन्तु पड़ गये फेर में। मुसलमान तो 'हाय हुसेन' कहते चल रह थे। पर ये अब क्या कहें। इनको तो 'हाय हुसेन' कहकर छाती पीटना उचित नहीं है, और कहने का कोई अभ्यास भी नहीं। अत: ये कहते कि—'आय फँसे सो आय फँसे।'

कन्या के पति ने दशमी की रात तो जैसे तैसे बिता दिया। क्योंकि घर से खा-पीकर आया ही था। परन्तु एकादशी के दिन तो उसे मारे भूख के चैन नहीं पड़तीं, प्राणों पर आ बनी। उसने पत्नी से बहुत कहा कि मुझे कुछ खिलाओ नहीं तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। परन्तु पत्नी ने नहीं दिया। इस पर दृष्टान्त—श्रीनामदेवजी का—ब्राह्मण मर गया लेकिन अन्न नहीं दिये। (विशेष देखिये कवित्त १४२) बोली आजु........कोऊ।

डर कहा मीच को—'जो मरने से जगडरै सो मेरे आनन्द। कब मरिहौं कब भेटिहों पूरण परमानन्द'।। 'तजे प्रान'।। 'तजे उन प्रान'—परमसुकुमार राजकुमार को क्षुधा-कष्ट सह्य नहीं हुआ। उसने प्राण छोड़ दिया।

दृष्टान्त—मुल्ला का—हिन्दुओं के एक गाँव में एक मुसलमान का भी घर था। वह हिन्दुओं के बीच में रहने से प्रायः उन्हीं की रहन-सहन से रहने लगा। सभी व्रत, त्यौहार भी हिन्दुओं की तरह स्वयं भी मानता। ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की भीमसेनी एकादशी थी। उसने एक ब्राह्मण से पूछा—पण्डितजी! आज का व्रत कैसे किया जाता है? पण्डितजी ने कहा—मौलवी साहब! आज तो निर्जल व्रत करने की विधि है। मुल्ला ने सोचा—कर लूँ, एक दिन की ही तो बात है। वर्ष के और सभी त्यौहार तो खूब घोटने-छानने के होते हैं। एक ऐसा ही सही। वह भी निर्जल रह गया। दिन तो जैसे-तैसे व्यतीत हो गया। रात में मुश्किल पड़ गयी। राम-रहीम करते रात भी बिताई। परन्तु प्राण कण्ठगत हो रहे थे। प्रातःकाल कहीं से रोने की आवाज सुनाई पड़ी। बात यह थी कि किसी की कन्या विदा हो रही थी। मिलने-भेंटने वाले रो-विलख रहे थे। मुल्ला की पत्नी ने कहा—न जाने कौन रो रहा है और क्यों रो रहा है? मुल्ला ने झट कहा—क्यों, बात क्या पूछ रही हो। कोई एकादशी व्रत करने वाला मर गया होगा। क्योंकि वह स्वयं ऐसी ही स्थिति में पहुँच चुका था। ऐसे ही तजे उन प्रान।

पाये वेगि भगवान—यह एकादशी का परम प्रताप है। **एकादशी व्रतं गीता गङ्गाम्बु तुलसीदलम्। विष्णोः पादाम्बुनामानि मरणे मुक्तिदानि च।।** (गु०पु०) नहीं तो बड़े-बड़े ज्ञानी, कर्मकाण्डी तो अनेक जन्म तक साधनानुष्ठान करने पर भगवद्धाम के अधिकारी हो पाते हैं। यथा—'**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**' (गी० ७-१९) **अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।**' (गी०) कन्या ने पति का अनुगमन कर अपने सतीत्व एवं एकादशी व्रत—दोनों का पूर्णतः निर्वाह किया। ऐसा ही प्रसंग आता है कि श्रीरुक्मांगदजी की पुत्री चन्द्र भागा के पति शोभन को सुमेरु गिरि के निकट देवपुर नामक दिव्य नगर का वास मिला। वहाँ उसे सब दिव्य सुख प्राप्त थे, परन्तु वह लोक अध्रुव था। क्योंकि आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (गी०) अतः वह चिन्तित रहता था। एक बार श्रीअयोध्या के ही सोमगिरि नामक ब्राह्मण, जो बड़े ही तपस्वी थे, अपने तपोबल से वहीं जा पहुँचे और उन्होंने शोभन को पहिचान लिया। ब्राह्मण ने जब शोभन से उदासी का कारण पूछा तो उसने कहा कि बिना श्रद्धा के कष्टपूर्वक जैसे-तैसे एकादशी का व्रत करने से मुझे यह दिव्य लोक मिला तो, परन्तु क्षयिष्णु होने से मैं खेद खिन्न रहता हूँ। यदि मेरी पत्नी अपनी एक एकादशी व्रत का पुण्य मुझे दे-दे तो मैं अक्षय भगवद्धाम को चला जाऊँगा। ब्राह्मण ने आकर चन्द्रभागा से कहा तो वह तुरन्त ही अपने पति के पास चल पड़ी। मार्ग में श्रीवामदेवजी मिले। चन्द्रभागा की व्रत-निष्ठा एवं पति-प्रेम पर प्रसन्न होकर अपने तपोबल से उसे वहाँ पहुँचा दिया। उसने अपना समस्त व्रत फल पति को दे दिया। फलस्वरूप,

तुरन्त दिव्य विमान आया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'पाये वेगि भगवान'। तब शोभन ने कहा कि मैं तो सर्वथा विमुख था, परन्तु पत्नी के पुण्य प्रताप से भगवद्धाम का अधिकारी बना हूँ अत: मैं उसके बिना अकेले नहीं जा सकता हूँ। तब भगवत्पार्षद भगवदादेश से दोनों को ही वैकुण्ठ ले गये। इससे चन्द्रभागा को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। यथा—'बधू हिये सरसान भई' धन्य एकादशी ब्रत निष्ठा।

एकादशी की उत्पत्ति—सतयुग में शंखासुर का पुत्र मुर नामक दैत्य हुआ। शंखासुर को भगवान ने मार डाला इससे मुर को बड़ा दु:ख हुआ और इसका बदला लेने के लिये वन में जाकर उसने घोर तप किया। उसके तप से सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजी ने उसके पास आकर उससे वर माँगने को कहा। यह सुनकर मुर बोला—हे नाथ! देवता, दैत्य, मुनि-मनुष्य, शिव-विष्णु और लोकपाल-दिग्पाल आदि जहाँ तक आपकी सृष्टि है, मुझसे कोई समर में जीत न सके। 'ऐसा ही हो' कहकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये। मुर ने वर पाकर सभी लोकपालों को जीतकर समस्त लोकों पर अधिकार कर लिया और वहाँ अपने दैत्य नियुक्त कर दिये। दु:खी देवता श्रीशिवजी के पास गये। श्रीशिवजी सबको लेकर भगवान विष्णु की शरण में गये। देवताओं ने स्तुति की। भगवान ने प्रसन्न होकर देवताओं को आश्वासन दिया और स्वयं देवताओं एवं पार्षदों की सेना सजाकर युद्ध के लिये चल पड़े। मुर दैत्य ने भी अपनी सेना सजाकर युद्ध का डङ्का बजवा दिया घोर युद्ध हुआ। देवताओं और दैत्यों को प्रबल देखकर भगवान विष्णु ने युद्ध की समाप्ति की इच्छा से मुर पर चक्र सुदर्शन का प्रहार किया परन्तु वरदान के कारण उस दुर्दान्त दैत्य ने आह तक नहीं किया, चक्र लौट आया लज्जित होकर। देवताओं में हा-हाकार मच गया।

तब भगवान ने दूसरी लीला की। युद्ध छोड़कर भाग चले। मुर ने पीछा किया। भगवान भागकर बदरिकाश्रम की एक गम्भीर गुफा में जा छिपे और अत्यन्त श्रमित होने के कारण निद्रावश हो गये। मुर ने भी गुहा में प्रवेश किया। उसी समय भगवान के हृदय से आदि शक्ति ने कन्या के रूप में प्रकट होकर अपने परम तेज एवं दिव्यायुधों से क्षण मात्र में सेना सहित मुर दैत्य को भस्मसात् कर दिया। देवताओं ने स्तुति की और पुष्पों की वर्षा की। भगवान विष्णु भी जग गये। देवताओं ने भगवान की भी स्तुति की, पुष्प बरसाये। पश्चात् भगवान ने उस कन्या से कहा—देवि! तुम चलकर मेरे लोक में रहो। मेरे शरीर से एकादशी तिथि को उत्पन्न होने से तुम्हारा नाम एकादशी होगा। तुम अष्ट सिद्धियों, नवो निधियों, सभी प्रकार की मुक्तियों एवं मुझ परमात्मा में दुर्लभ प्रेम तथा मुझको भी प्राप्त कराने वाली होओगी। नियम पूर्वक व्रत करके जो नर-नारी तुम्हारा पूजन करेंगे उनकी समस्त मनोकामनायें सिद्ध होंगी। (विश्रामसागर)

एकादशी व्रत तीन दिनों में साध्य होने वाला बतलाया गया है। दशमी से व्रत का उपक्रम होता है और द्वादशी को पूर्ण होता है। इन तीन दिनों में दशमी में दश, एकादशी में ग्यारह और द्वादशी में द्वादश नियम अवश्यमेव पालनीय हैं। यथा—**कांस्यं मांसं मसूरान्नं चणकान् कोद्रवाँस्तथा। शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने। दशम्यां दश वस्तूनि वर्जयेद्वैष्णवः सदा।।** अर्थ—काँसे का वर्तन, मांस, मसूर, चना, कोदो, शाक, मधु, परान्न (दूसरे का अन्न) पुनर्भोजन (दो बार खाना) और मैथुन—ये दश दशमी के दिन वर्ज्य हैं।। **द्यूतक्रीडां च निन्दां च ताम्बूलं दन्तधावनम्। परापवादं पैशुन्यं स्तेयं हिंसां तथा रतिम्।। कोपं ह्यनृतवाक्यं च एकादश्यां विवर्जयेत्।।** अर्थ—जूआ खेलना, नींद लेना, पान खाना, दाँतुन करना, चोरी करना, मैथुन करना, क्रोध करना और झूठ बोलना—एकादशी को ये ग्यारह कार्य न करे।।

कांस्यं मांसं सुरां क्षौद्रं तैलं वितथ भाषणम्।
व्यायामं च प्रवासं च पुनर्भोजन मैथुने।
अस्पृश्यास्पर्शमासूरे द्वादश्यां द्वादश त्यजेत्।।

अर्थ—कांसे का बर्तन, मांस, मधु, तेल, झूठ बोलना, व्यायाम करना, परदेश में जाना, दुबारा भोजन, मैथुन, जो स्पर्श करने योग्य न हो उसका स्पर्श करना और मसूर खाना—ये द्वादश वस्तुएँ द्वादशी को न करे।। (ना० पु०)

दशमी के दिन पूर्वाह्न में एक बार हविष्यान्न भोजन करना चाहिये। इसके बाद फिर कुछ नहीं खाना-पीना चाहिए। एकादशी के दिन ब्रह्ममुहूर्त में उठकर प्रातःकालीन कृत्य से निवृत्त होकर स्नान करके भगवान की प्रसन्नता के उद्देश्य से व्रतोपवास का सङ्कल्प लेकर संध्या-तर्पण करने के अनन्तर भगवान का षोडशोपचार विधि से पूजन करना चाहिए। पुनः स्तुति—प्रणामानन्तर सम्पूर्ण दिवस भगवान्नाम संकीर्तन, जप, स्वाध्याय में लगाना चाहिए। रात्रि में जागरण करे। निर्जल व्रत करना उत्तम कहा गया है। यदि ऐसा न हो सके तो स्वल्प मात्रा में एकबार दूध अथवा फल लेना चाहिए। द्वादशी के दिन पूर्ववत् सेवा-पूजा करके भगवान का चरणामृत लेकर कम से कम एक ब्राह्मण को भोजन कराकर व्रत का पारण करना चाहिये। (ब्रह्मवैवर्त)

टीका समुदाय की

सुनो हरिश्चन्द कथा व्यथा बिन द्रव्य दियो तथा नहीं राखी बेचि सुततिय तन है।
सुरथ सुधन्वा जू सों दोष के करत मरे शङ्ख औ लिखित विप्र भयौ मैलो मन है।।
इन्द्रऔ अगिनि गये शिविपै परीक्षा लैन काटि दियो मांस रीझि सांचो जान्यो पन है।
भरत दधीच आदि भागवत बीच गाए सबनि सुहाये जिन दियो तन धन है।।८६।।

शब्दार्थ—व्यथा=कष्ट। द्रव्य=धन। तथा=तैसे, पहला संकल्प, समानता, और, तैसे। दोष=अपराध, झूठी निन्दा।

भावार्थ—अब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा सुनिए। उन्होंने मन में बिना किसी कष्ट का अनुभव किये प्रसन्नता पूर्वक विश्वामित्र मुनि को अपना सम्पूर्ण राज्य वैभव दान कर दिया। कुछ भी शेष नहीं रखा, पहले संकल्प को पूरा किया, सत्य का पालन करने में अपने समान किसी को नहीं रखा। राज्य छोड़कर काशीपुरी को चले गए, वहाँ उन्होंने अपने शरीर के साथ ही स्त्री-पुत्र को बेच दिया। सत्य की रक्षा करके भगवान को प्रसन्न किया।

सुरथ और सुन्धवा दोनों बड़े भारी भक्त थे शंख और लिखित दोनों ब्राह्मणों के मन मलिन थे, उन्होंने दोनों भक्तों को मिथ्या दोष लगाया और वे अपने पाप से मर गए। शरणागत रक्षक राजा शिवि के पास परीक्षा लेने के लिये इन्द्र और अग्निदेव बाज और कबूतर बनकर गए। शरणागत कबूतर की रक्षा करते हुए प्रसन्न होकर उन्होंने बाज को अपने शरीर का मांस काटकर दे दिया, तब दोनों को विश्वास हुआ कि राजा अपने प्रण का पालक और सच्चा धर्मात्मा है। छप्पय में आये शेष भरत और दधीचि

आदि भक्तों की कथाएँ श्रीभागवत में कही गई हैं। जिन्होंने परोपकार में अपना तन-मन और धन अर्पण किया वे भक्त संसार में सभी को प्रिय हुए।।८६।।

व्याख्या—श्रीहरिश्चन्द्रजी

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य विचार।।

सत्यव्रती महाराज श्रीहरिश्चन्द्रजी श्रीअयोध्या के चक्रवर्ती नरेश थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, प्रजापालक, दानवीर एवं भगवद् भक्त थे। इनकी धर्मनिष्ठा लोक विख्यात थी। इनके धर्माचरण के प्रभाव से इनके राज्यकाल में कभी अकाल नहीं पड़ा, किसी को रोग नहीं हुआ मनुष्यों की अकाल मृत्यु नहीं हुई और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पुरवासियों की कभी भी अधर्म में रुचि नहीं हुई।

एक बार महाबाहु राजा हरिश्चन्द्र जङ्गल में शिकार खेलने गये थे। वहाँ उनको कुछ स्त्रियों की कातरवाणी सुनाई पड़ी। वे कह रही थीं—'हमें बचाओ, हमें बचाओ।' राजा ने शिकार का पीछा छोड़ दिया और उन स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा—'डरो मत, डरो मत। कौन ऐसा दुष्टबुद्धि वाला है जो मेरे राज्य में इस प्रकार का अन्याय कर रहा है।' बात यह थी कि भक्त महर्षि विश्वामित्र समस्त विद्याओं को वश में करने का साधन कर रहे थे। परन्तु वे वश में होना नहीं चाहती थीं। अतः मूर्तिमती होकर क्रन्दन कर रही थीं। जब राजा ने उन्हें आश्वासन देते हुए उनको दुःख देने वालों को कुछ कटु वचन कहा तो उसे सुनकर महर्षि विश्वामित्र कुपित हो उठे उनके मन में क्रोध का उदय होते ही साधन में त्रुटि आ जाने से सभी विद्यायें अन्तर्धान हो गईं। श्रीहरिश्चन्द्रजी कुपित महामुनी को देखकर कांप गये और विनय पूर्वक मुनी को प्रणाम कर बोले—भगवन्! मैंने राज्यधर्म का पालन किया है। इसे अपराध मानकर आप कुपित न हों। धर्मज्ञ राजा को उचित है कि श्रेष्ठ ब्राह्मणों को तथा जिनकी जीविका नष्ट हो गई है, उन्हें दान दें, भयभीत प्राणियों की रक्षा करें और शत्रुओं के साथ युद्ध करें।

विश्वामित्र ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो जैसे तुमने इन विद्याओं की रक्षा की है वैसे ही मैं प्रतिग्रह की इच्छा करता हूँ। मुझे इच्छानुसार दान दो। राजा के सहर्ष वचन बद्ध होने पर मुनी ने राजा के शरीर स्त्री और पुत्र को छोड़कर सर्वस्व माँग लिया और राजा ने सहर्ष दे दिया। पुनः इस सर्वस्वदान की पूर्णता के लिए दक्षिणा रूप में प्रचुर स्वर्ण राशि मांगी और वस्त्राभूषणों को उतारकर केवल एक वस्त्र धारण कर राज्य से निकल जाने को कहा। राजा ने दक्षिणा की रकम को चुकता करने के लिए एक महीने का अवकाश माँगा और अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित को साथ लेकर नगर से निकल पड़े। प्रजा में हा-हाकार मच गया। प्रजा को सान्त्वना देने के लिये महाराज तनिक रुके कि तुरन्त विश्वामित्रजी ने आकर उन्हें बहुत फटकारा कि राज्य दान देकर पुनः उसमें आसक्ति करना उचित नहीं है। राजा पत्नी और पुत्र को खींचते हुए 'मैं जाता हूँ, मैं जाता हूँ' यह कहते हुए अपनी विलखती प्रजा को छोड़कर चल दिये। श्रीविश्वामित्रजी के इस कठोर व्यवहार की पाँच विश्वेदेवों ने भर्त्सना की तो मुनि ने उन्हें भी कुपित होकर मनुष्य योनी में जन्म लेने का शाप दे दिया वही द्रौपदी के पाँच पुत्र हुए। (मार्कण्डेय पुराण)

भक्तचरिताङ्क में यह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—देवर्षि नारदजी से महाराज हरिश्चन्द्रजी का सुयश श्रवण कर देवराज इन्द्र को ईर्ष्या हुई। वे परीक्षा की बात सोच ही रहे थे कि महर्षि विश्वामित्र जी

आ गये। शोकमुद्रा में देवेन्द्र को देखकर महर्षि ने कारण पूछा। तब इन्द्र ने अपने मन का भाव मुनि के समक्ष प्रकट किया। संयोग की बात, मुनि विश्वामित्र भी ऋषियों की सभा में राजा की प्रशंसा सुनकर परीक्षा लेने की सोच ही रहे थे कि इन्द्र ने भी वही बात कही। बात बन गई। मुनि ने अपने तपोबल से ऐसी माया रची कि राजा ने स्वप्नावस्था में अपना सर्वस्व मुनि को दान कर दिया। दूसरे दिन महर्षि विश्वामित्र ने श्रीअयोध्या की राज सभा में आकर स्वप्न की बात याद दिलायी तथा राज्य माँगा। सत्यवादी राजा ने स्वप्न के दान को भी सत्य ही माना और पूरा राज्य तथा कोष मुनि को सौंप दिया। तत्पश्चात् ऋषि ने इतने बड़े दान की सांगता सिद्ध्यर्थ एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा दक्षिणा में माँगी। चक्रवर्ती सम्राट श्रीहरिश्चन्द्र के पास अब एक कौड़ी भी नहीं रह गई थी। परन्तु इतने पर भी उन्होंने दक्षिणा देना स्वीकार कर, दूसरा कोई उपाय न देखकर अपना शरीर बेचकर दक्षिणा चुकाने का निश्चय कर अपनी पत्नी और पुत्र को साथ लेकर नगर से निकल पड़े। श्रीशिवजी की नगरी काशीपुरी आये।

कल्पभेद से विश्रामसागर में यह कथा और तरह से वर्णित है। यथा—**नृप कीरति सब जग में छाई। जहाँ तहाँ मुनि करहिं बड़ाई। सुनि कौशिक मुनि कहा रिसाई। अबहीं नृप सत देहिं डिगाई।।** फिर तो मुनिजी तुरन्त ही एक विशाल वराह का रूप धारण करके श्रीअयोध्या में आकर श्रीहरिश्चन्द्र जी की फुलवारी में प्रवेश करके उसे रौंदने लगे। उसकी गुर्राहट सुनकर रखवाले भाग गये और आकर राजा को सूचना दिये। राजा ने वीरों को सूकर को मार भगाने के लिये भेजा। परन्तु वे सूकर को भगाने में समर्थ नहीं हो सके। तब श्रीहरिश्चन्द्रजी स्वयं घोड़े पर चढ़कर वहाँ पहुँचे। इन्हें देखते ही सूकर भाग चला इन्होंने उसका पीछा किया। वह कभी प्रगट होता कभी छिप जाता इस प्रकार राजा को घोर जंगल में दूर ले जाकर अदृश्य हो गया। फिर मुनि ने यह उपाय किया कि अपने तपोबल से एक पुत्र और एक कन्या बनाकर, स्वयं पुरोहित बनकर उनका विवाह कराने लगे। राजा सूकर को न पाकर लौटकर उनके पास आ गये। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! इस कन्या के कोई नहीं है, तुम्हीं इसका कन्या-दान करो। राजा ने कहा—द्विजवर! इस समय तो मेरे पास कुछ है नहीं, मैं उपकार में क्या दूँ? ब्राह्मण ने कहा—खजाने की चाभी और घोड़ा तो है ही, इसी से पाँव पूज दो। राजा ने ऐसा ही किया। तब ब्राह्मण ने कहा—मैं आपका पुरोहित हूँ, मुझे भी कुछ दीजिये। इस पर जब राजा ने ब्राह्मण से माँगने को कहा, तब ब्राह्मण ने तीन भार स्वर्ण की याचना की। राजा हरिश्चन्द्र ने यह भी देने का वचन दिया। इस प्रकार विश्वामित्रजी ने छल से राजा का सर्वस्व एवं तीन भार स्वर्ण ऊपर से माँग लिया। श्रीअयोध्या पहुँचने पर जब राजा खजाने से स्वर्ण देने लगे तो विश्वामित्र ने अपना तर्क प्रस्तुत किया कि यह सब तो पहले ही संकल्प कर चुके हो, फिर दिये का दान कैसा। मुनि के यह वचन सुनकर राजा ने अपनी रानी तथा पुत्र को बेचकर मुनि का देय चुकाने का संकल्प किया। (वि० सा०)

एक प्राचीन हस्तलिखित श्रीभक्तमाल तिलक में लिखा है कि एक समय श्रीवशिष्ठजी और विश्वामित्रजी श्रीब्रह्माजी की सभा में बैठे थे। श्रीनारदजी भी वहीं थे। ब्रह्माजी ने नारदजी से पूछा कि इस समय समस्त लोक-लोकान्तरों में सबसे श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ कौन है? श्रीनारदजी ने राजा हरिश्चन्द्र का नाम लिया। श्रीवशिष्ठजी ने समर्थन किया। श्रीविश्वामित्रजी को नारद की यह बात अच्छी नहीं लगी। मन में परीक्षा का भाव जाग्रत हुआ। सर्वज्ञ श्रीवशिष्ठजी इनके मनोभाव को जानकर अयोध्या आकर राजा हरिश्चन्द्र से बोले कि आप अब सावधान हो जाइये। श्रीब्रह्माजी की सभा में आपके सुयश की वार्ता हुई

है जो मुनि को नहीं सुहाई है। वे हमसे स्पर्धा करते हैं, अतः हमारे नाते आपसे भी वे कठोर बर्ताव कर सकते हैं। उनके स्वभाव को आप जानते ही हैं। राजा ने कहा—आपकी कृपा से सब मंगल ही होगा। ऐसा मेरा विश्वास है। इसके बाद राजा ने राजसूय यज्ञ करके अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिया इसके पश्चात् महर्षि विश्वामित्र आये और यज्ञ करने के लिये राजा से एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा माँगे। सत्यव्रती श्रीहरिश्चन्द्रजी ने मुनि का मनोरथ पूर्ण करने के लिये अपने को बेचकर उन्हें अभीप्सित द्रव्य देने का विचार कर काशी प्रस्थान किया।

राजा ने विचार किया कि सभी शास्त्र-पुराण कहते हैं कि काशीपुरी भगवान शङ्कर के त्रिशूल पर बसी है। उसके अधिपति देवाधिदेव महादेव हैं। अतः वह परम दिव्यपुरी भला मेरे राज्य के अन्तर्गत कैसे हो सकती है? मुझे तो वहीं चलकर अपना विक्रय करना चाहिये। फिर तो कल के चक्रवर्ती सम्राट आज भिखारी की तरह नंगे पाँव पैदल अपनी परम सुकुमारी रानी एवं नन्हें पुत्र रोहित को लेकर काशी को चल पड़े। मार्ग में मुनि ने एक माया यह रची कि इधर राजा, रानी और रोहित, तीनों को अत्यन्त तृषार्त कर दिया, उधर एक प्याऊ की सृष्टि रच दी। प्याऊ पर बैठे ब्रांह्मण ने राजा को प्यासा देखकर जल पीने का बहुत आग्रह किया, परन्तु धर्मात्मा राजा ने कहा कि मैं मुनि की दक्षिणा चुकाये बिना जल नहीं ग्रहण कर सकता हूँ। ऐसा कहकर राजा आगे बढ़ गये। ब्राह्मण ने इसी प्रकार रानी और रोहित से भी जल पीने को बहुत कहा परन्तु इन्होंने भी वही उत्तर दिया जो राजा ने दिया था। ब्राह्मण ने झूठ-मूठ ही कहा कि राजा तो जल पी गये हैं फिर तुम लोग क्यों कष्ट सह रहे हो, परन्तु तो भी ये अपनी निष्ठा में अचल बने रहे। इनके इस ध्रुव-धैर्य को देखकर विश्वामित्रजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुये, साथ ही अपनी माया के विफल हो जाने से लज्जित हुये।

महाराज हरिश्चन्द्र को पैदल चलने से एक महीने की अवधि मार्ग में ही पूर्ण हो गई थी केवल एक दिन शेष रह गया था। बीच-बीच में विश्वामित्रजी प्रगट हो-होकर राजा को चेतावनी दे जाते थे, डरा-धमका जाते थे। आज अन्तिम दिन है। विश्वामित्रजी पुनः प्रगट होकर राजा से बोले—महाराज! यदि आज मुझे दक्षिणा न मिली तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा। श्रीहरिश्चन्द्रजी ने मुनि को प्रणाम कर कहा—मुनिवर! अभी आधा दिन शेष है। इतने समय तक आप और प्रतीक्षा कीजिये, मैं अभी आपकी दक्षिणा चुकाता हूँ। मुनि अन्तर्धान हो गये। राजा ने अपने को बेचने का निश्चय किया तब उनकी परम साध्वी रानी ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज! मुझसे पुत्र का जन्म हो चुका है। श्रेष्ठ पुरुष स्त्री-संग्रह का फल पुत्र ही बताते हैं, वह फल आपको मिल चुका है, अतः मुझे ही बेचकर ब्राह्मण की दक्षिणा चुका दीजिये। महारानी का यह वचन सुनकर राजा हरिश्चन्द्र मूर्च्छित हो गये और पुनः होश आने पर विलाप करने लगे और असह्य दुःख के कारण पुनः मूर्च्छित हो गये। पति की इस दुरवस्था को देखकर रानी शैब्या भी मूर्च्छित हो गई। इसी बीच विश्वामित्रजी फिर प्रगट हो गये और जल छींटा देकर राजा-रानी को चैतन्य कर बोले—राजेन्द्र! सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है, सत्य भाषण सबसे बड़ा धर्म है अतः तुम अपने सत्य का शीघ्र पालन करो। देखो अब सूर्यास्त का समय होने वाला है।

उधर पत्नी का आग्रह, इधर विश्वामित्रजी की कड़ी चेतावनी, राजा ने विवश होकर व्याकुल चित्त से नगर में जाकर नेत्रों में आँसू भरे हुए गद्गद कण्ठ से पत्नी को बेचने की आवाज लगाई। एक वृद्ध ब्राह्मण ने पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ देकर रानी को खरीद लिया। महारानी शैब्या ने हाथ जोड़कर ब्राह्मण

से प्रार्थना की कि– देव! यथाशक्ति आपके घर की सेवा करने में कभी इन्कार नहीं करूँगी, मेरी तीन बातें आपको स्वीकार करनी पड़ेंगी। एक तो यह कि मैं कभी परपुरुष से भाषण नहीं करूँगी, दूसरे यह कि मैं जूठा नहीं खाऊँगी, तीसरे यह कि सेवा के अतिरिक्त मैं एकान्त में वास करूँगी। ब्राह्मण ने तीनों बातें स्वीकार कर लीं। जिस समय ब्राह्मण रानी को लेकर चला, राजा के दुःख का पारावार नहीं रहा, बालक रोहित 'माँ' कहता हुआ माँ के अञ्चल का छोर पकड़ कर सङ्ग–सङ्ग लग गया। ब्राह्मण ने बालक को बहुत दुत्कारा। तब रानी शैव्या ने ब्राह्मण से बालक को भी साथ ले चलने की अनुमति माँगी। ब्राह्मण ने बालक को भी कुछ द्रव्य देकर खरीद लिया और राजा के देखते–देखते रानी और रोहित को लेकर आँखों से ओझल हो गया।

राजा दुःख से अत्यन्त कातर हो रहे थे, तब तक विश्वामित्रजी आ धमके। राजा ने प्राप्त धन मुनि के हवाले किया और शेष के लिए कुछ काल और प्रतीक्षा की प्रार्थना की। फिर राजा ने अपने को बेचने की आवाज लगाई। उसी समय धर्म चाण्डाल का रूप धारण कर राजा के सम्मुख प्रस्तुत हुए और अभीप्सित धन देकर राजा को खरीदने के लिए तैयार हो गये। जब राजा को यह पता चला कि यह चाण्डाल है तो वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये। उन्हें विश्वामित्र की शापाग्नि से जल मरना श्रेयस्कर प्रतीत हुआ परन्तु चाण्डाल की अधीनता अच्छी नहीं लगी। राजा सोच ही रहे थे किं 'किं करोमि, क्व गच्छामि' तब तक विश्वामित्रजी क्रोध से आँखें लाल–लाल किये हुये आ पहुँचे और आते ही शाप की धमकी दिये। श्रीहरिश्चन्द्रजी ने कहा–मुनिश्रेष्ठ! आप मुझ पर कृपा करें। चाण्डाल का सम्पर्क बड़ा निन्दनीय है। शेष धन के बदले मैं आपका ही सब कार्य करने वाला, आपके अधीन रहने वाला तथा आपकी इच्छानुसार चलने वाला दास बनकर रहूँगा। विश्वामित्र ने कहा–यदि तुम मेरे दास हो तो मैंने एक अरब स्वर्ण मुद्रा लेकर तुम्हें चाण्डाल को दे दिया। अब तुम उसके दास हो गये। चाण्डाल ने मुनि को धन देकर राजा को अपने अधीन कर लिया। (मार्कण्डेय पुराण)

अन्यत्र राजा को चाण्डाल ने पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा में खरीद लिया है। कैसी विधि की विडम्बना है। एक चक्रवर्ती सम्राट श्मशान में रात्रि के समय पहरा देने के काम पर लगने को विवश हुए। वे रात–दिन लाठी लिये हुये मरघट पर शवदाह करने वालों से कर वसूल करते थे। महारानी शैव्या, जिनकी अयोध्या में सैकड़ों दासियाँ सेवा करती थीं, अब ब्राह्मण के यहाँ झाड़ू देना, घर लीपना, जल भरना आदि छोटे–बड़े काम करने पर विवश हुईं। राजकुमार रोहित को भी पुष्प–चयन आदि सेवाएँ करनी पड़ती थीं। विश्वामित्र को इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ। विश्राम सागर में आया है कि–चाण्डाल की आज्ञा से राजा हरिश्चन्द्र कई नाँदों में जल भी भरते हैं, विश्वामित्र क्या करते कि आकर उन नाँदों को फोड़ देते, सब जल बह जाता, जिससे चाण्डाल और चाण्डाली हरिश्चन्द्र से बहुत झगड़ते, तिरस्कार करते।

उधर अचानक एक दिन पूजा के लिए पुष्पचयन करते समय सन्ध्या की बेला में राजकुमार रोहित को सर्प ने डस लिया। यह भी मुनि की माया ही थी। बालक का तत्काल प्राणान्त हो गया। महारानी शैव्या जिस पुत्र का मुख देखकर जीवन धारण करती थीं। निष्ठुर विधाता ने उसे भी छीन लिया। दुःखिनी के दुःख का कौन वर्णन कर सकता है। रात्रि का घोर अन्धकार, आकाश मेघों से आच्छादित, रानी शैव्या अकेली पुत्र का शव लिये, रोती–विलखती श्मशान पहुँची। कैसा स्वार्थी संसार है। इस असहाया को ऐसी दशा में भी सान्त्वना के दो शब्द कहने वाला कोई नहीं मिला न कोई श्मशान तक साथ ही

गया। बहुत प्रार्थना करने पर भी ब्राह्मण ने भी शव को अपने यहाँ नहीं रहने दिया। रानी विवश थीं रात में ही शव को श्मशान ले जाने को उस महा- बीभत्स भयानक श्मशान भूमि में पुत्र के शव को छाती से चिपटाये रानी शैव्या करुण-क्रन्दन कर रहीं थीं। किसी स्त्री का रुदन सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आ पहुँचे और बोले—श्मशान के स्वामी का कर पहले दे लो तब और जो कुछ करना हो वह करना। इसी बीच बिजली चमकी, राजा की दृष्टि अपनी माता की गोद में पड़े मृत बालक पर पड़ी तो अपने प्यारे लाड़ले पुत्र रोहित की याद आ गई और साथ ही अनिष्ट आशङ्का से हृदय धड़कने लगा तब तक रानी ने विलाप करते हुए पुत्र रोहित एवं पति अयोध्या नरेश महाराज हरिश्चन्द्र का नाम लिया। जिसे सुनकर राजा के ऊपर मानो वज्रपात हो गया।

पुत्र और पत्नी की यह गति देखकर दुःख से अत्यन्त सन्तप्त राजा हरिश्चन्द्र रोते-रोते मूर्च्छित हो गये। राजा को पहचानकर एवं उनकी स्थिति की कल्पना कर रानी भी मूर्च्छित हो गईं। कुछ देर बाद होश आने पर अपने को स्थिर करके हरिश्चन्द्र ने कहा—देवि! स्वामी की आज्ञा है कि बिना कर दिये कोई शव-दाह या प्रवाह न करे। अतः तुम अपने धर्म का पालन करो और मुझे भी धर्म पर स्थित रहने में सहयोग दो। जिस धर्म के लिये हमने सब प्रकार के संकट स्वीकार किये, उसकी तनिक से मोह वश उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। परम सती महारानी शैव्या, जिन्होंने सदा-सर्वदा पति के धर्म-पालन में सहयोग दिया है, भला आज वह कैसे पति के वचनों का आदर न करती? यद्यपि रोहित का शव ढकने के लिये रानी के पास कोई वस्त्र नहीं था। वह तो उसे अपने अंचल से लपेट लाई थी। परन्तु धर्म के गौरव को ध्यान में रखती हुई उस पतिव्रता ने अपना अंचल ही फाड़कर देने का निश्चय किया। परन्तु पुत्र-शोक विह्वला रानी शैव्या ने ज्यों ही अंचल फाड़ना चाहा—साक्षात् भगवान विष्णु, मूर्तिमान धर्म, देवराज इन्द्र और महर्षि विश्वामित्र प्रगट हो गये। इन्द्र ने अमृत की वर्षा करके कुमार रोहित को जीवित कर दिया। भगवान ने प्रसन्न होकर राजा को अविचल, अनपायिनी प्रेम-लक्षणा भक्ति का वरदान दिया।

देवराज इन्द्र ने प्रार्थना किया—महाभाग! आप अपनी पत्नी और पुत्र सहित सशरीर स्वर्ग को चलें। श्रीहरिश्चन्द्र ने कहा—देवराज! मैं अपने स्वामी चाण्डाल की आज्ञा लिए बिना, तथा रानी ब्राह्मण की अनुमति लिये बिना, और उनके ऋण से उद्धार पाये बिना हम कैसे स्वर्ग को चल सकते हैं? धर्म बोले—राजन्! तुम्हारे इस भावी संकट को जानकर मैंने ही माया से अपने को चाण्डाल रूप में प्रकट किया था। धर्म का दास दूसरे किसी का दास नहीं बन सकता है। विश्वामित्रजी ने कहा—महाराज! एक रूप से ब्राह्मण मैं ही बना था, आप खेद नहीं करना। इस कठोर परीक्षा से आपका सुयश अत्यन्त उज्ज्वलतम हो गया। आप अक्षय काल तक दिव्य धाम का सुख भोगेंगे। इन्द्र ने पुनः स्वर्ग चलने वाली बात दुहराई। प्रजा वत्सल राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पुत्रवत् प्यारी प्रजा को छोड़कर स्वर्ग जाना नहीं स्वीकार किया। उनका तो कथन था कि हमारे समस्त पुण्य को लेकर हमारी सारी प्रजा स्वर्ग जाय और मैं सबके सम्पूर्ण पापों को लेकर उनका फल भोगने के लिए अनन्त काल तक नगर में निवास करना चाहता हूँ। 'ऐसा ही होगा' यह सुनकर इन्द्र ने सबके लिए दिव्य विमानों की व्यवस्था की। महर्षि विश्वामित्र ने राजकुमार रोहिताश्व को अयोध्या के सिंहासन पर बैठाकर अयोध्या को फिर से बसाया। समस्त अयोध्यावासी महाराज हरिश्चन्द्र की जय-जयकार करते हुए उनके साथ सदेह स्वर्ग को गये। तभी तो कहा गया है—'नहिं सत्यात्परोधर्मः।'

श्रीरूपकलाजी कृत श्रीभक्तमाल के भक्ति-सुधा-स्वाद-तिलक में ऐसा वर्णन आया है कि राजा हरिश्चन्द्र ने रानी के वस्त्र में से आधा फड़वा के कर ले ही लिया, अपना धर्म न छोड़ा। इन्द्र तथा विश्वामित्रजी ने जब राजा को इस प्रकार दृढ़ पाया तो दूसरी चाल चली। काशी नरेश के पुत्र को मारकर (विश्राम सागर के अनुसार माया कृत एक बालक को मारकर) और श्रीहरिश्चन्द्रजी की सर्वथा निर्दोष पत्नी को डाकिनी बताकर बालक की मृत्यु का कलंक उस पर लगाया। काशी नरेश ने राजा हरिश्चन्द्र को ही रानी को मार डालने की आज्ञा दी इस अन्तिम परीक्षा में भी श्रीहरि कृपा से उत्तीर्ण धर्मात्मा राजा ने ज्यों ही रानी के वध के लिए शस्त्र उठाया त्यों ही श्रीसूर्य भगवान ने प्रसन्न होकर निजकुल भूषण राजा हरिश्चन्द्र की जय बोलते हुए पुष्प वृष्टि की। इन्द्रादि देवताओं ने भी फूल बरसाये। आगे की कथा पूर्ववत् ही है।

श्रीसुरथ नाम के दो भक्त हो गये हैं। एक तो कुण्डलपुर के राजा, जो श्रीरामजी के भक्त थे, दूसरे चम्पकपुरी के राजा हंसध्वजजी के पुत्र, भक्त सुधन्वा के भाई, श्रीकृष्ण के परमोपासक।

श्रीरामभक्त राजा सुरथजी—ये कुण्डलपुर के राजा थे और भगवान श्रीरामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे। ये अपने शौर्य, वीर्य, बल, पराक्रम, स्थैर्य, विद्या एवं बुद्धि के लिये विख्यात थे। परम धर्मात्मा राजा सुरथ की तरह ही उनकी प्रजा भी श्रीरामभक्त होने के साथ-साथ सद्धर्म परायण थी। इनके राज्य में घर-घर अश्वत्थ (पीपल) और तुलसी की पूजा तथा भगवान श्रीसीतारामजी की कथा होती थी। राज्य में अनीति और अधर्म का लेश भी नहीं था अतः सभी परम सुखमय जीवन बिताते थे। एकबार सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाले धर्म देवता इनकी भक्ति-निष्ठा की परीक्षा लेने के लिये एक जटा-जूटधारी तपस्वी का रूप धारण कर इनके सभा-भवन में आये। राजा सुरथ ने शिष्टजनोचित स्वागत सत्कार करने के बाद हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता पूर्वक कहा—महाराज! आप जैसे परम-भागवत का दर्शन कर आज मेरा जन्म लेना सफल हो गया। अब आप कृपा करके श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्दकन्द कौशल चन्द्र भगवान श्रीरामचन्द्रजी की परम मङ्गलमयी कथा सुनाइये। क्योंकि '**अशेषसंक्लेशशमं विधत्तेगुणानुवादश्रवणं मुरारेः।**' परीक्षार्थ आये हुए देवता ने हँसकर कहा—राजन्! यह तुम्हारी भूल है केवल कथा से जीव की जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर की व्यथा नहीं मिटने की। यह तो आलसियों की ढाल है। यथा—'**कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा।।**' मनुष्य को तो कर्मशील होना चाहिये। क्योंकि—'**कर्म प्रधान विस्वकरि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।**' (रा०च०मा०) गीता में भी कहा गया है कि—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।।**' अतः तुम भी कर्म का आश्रय लो। छोड़ो व्यर्थ की बकवाद।

राजा सुरथ का भावुक हृदय ऐसे भावना के प्रतिकूल वचनों को सुनकर व्यथित हो उठा। उन्होंने बड़े खेद के साथ कहा—ओ हो! आपने वेष तो विरक्त साधु महात्माओं का सा बना लिया है परन्तु आपने साधु- जनोचित बात नहीं कही। आपने हरि एवं हरि कथा को गौण बताकर कर्म को प्राधान्य दिया, यह उचित नहीं है। कर्म अधिक से अधिक स्वर्ग सुख दे सकते हैं यथा—'स्वर्ग सुकृतैक फल' (विनय) और स्वर्ग है क्षयिष्णु— यथा—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।**' (गी० ९-२१) स्वर्ग ही नहीं ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती कहे गये हैं। यथा—**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।।**' (गीता ८-१६) परन्तु भगवद् भक्त तो भजन के प्रभाव से उस लोक को प्राप्त

करता है, जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता है। यथा—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी०) भगवान के श्रीमुख का वचन है कि '**न मे भक्तः प्रणश्यति।**' अतः— '**जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। माया बस मतिमन्द अभागी।**' ऐसे प्राणी अनन्त काल तक अनन्त यम यातना भोगने पर भी दुःखों से छुटकारा नहीं पाते। आपके मुख से ऐसे वचन शोभा नहीं देते हैं। राजा के भाव भरे वचनों को सुनकर धर्म देवता बड़े प्रभावित हुये और साक्षात् प्रकट होकर राजा को दर्शन दिये और उन्होंने अभीप्सित वर माँगने को कहा। राजा सुरथ ने धर्मराज के चरणों में प्रणाम कर यही वर माँगा कि श्रीराम के दर्शन के बिना मेरी मृत्यु न हो। धर्म देवता 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

लंका-विजयोपरान्त जब राजाधिराज रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया तो श्रीशत्रुघ्नजी, हनुमानजी, अंगदजी एवं श्रीभरतकुमार पुष्कल के संरक्षण में यज्ञिय अश्व देश-देशान्तरों में विचरता हुआ कुण्डलपुर पहुँचा तो महाराज सुरथ ने श्रीराम दर्शन की अभिलाषा से उस अश्व को पकड़वा लिया। श्रीशत्रुघ्नजी ने बालि-कुमार अङ्गदजी को दूत के रूप में सुरथ के पास भेजा। श्रीअङ्गदजी ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए अपने पक्ष के वीरों के महापराक्रम का वर्णन किया। परन्तु परम निर्भय कुण्डलपुर नरेश ने अङ्गदजी से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—इस अश्व को मैं तभी छोड़ूँगा, जब भक्तवत्सल भगवान श्रीराम यहाँ स्वयं उपस्थित होकर मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। अन्यथा मैं सहर्ष क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए युद्ध में पराजित हुये बिना अश्व को नहीं लौटा सकता। आप मेरा यह निश्चय श्रीशत्रुघ्नजी की सेवा में निवेदन करें। श्रीअङ्गदजी के द्वारा सुरथ का अभिप्राय जानकर श्रीशत्रुघ्नजी ने युद्ध का बाजा बजवा दिया। असंख्य सेनाओं के साथ श्रीलक्ष्मणानुज शत्रुघ्न समर भूमि में आ डटे। उधर महाराज सुरथजी भी अपने वीर, रणधीर, चम्पक, मोहक, रिपुञ्जय, दुर्वार, प्रतापी, बलमोदक, हर्यक्ष, सहदेब, भूरिदेव तथा असुतापन नामक दस पुत्रों तथा महापराक्रमी सेनापतियों के संरक्षण में विशाल सैन्य समुदाय को लेकर डट गये। घोर संग्राम हुआ। दोनों ओर 'राजा रामचन्द्र की जय' का महाघोष होता। विविध अस्त्र-शस्त्रों का आदान-प्रदान हुआ। जब सुरथ ने देखा कि अन्य दिव्यास्त्रों से भी इस महासेना सागर को पार पाना असम्भव है, तब वे श्रीरघुनाथजी का स्मरण कर श्रीरामास्त्र का प्रयोग किये और उसके द्वारा सभी वीरों को मूर्च्छित करके श्रीशत्रुघ्नजी, अङ्गद, हनुमान आदि प्रमुख वीरों को बाँधकर रथ में बैठाकर प्रसन्न मन से नगर की ओर चल पड़े।

राजसभा में बैठकर महाराज सुरथ ने बँधे हुये श्रीहनुमानजी से कहा पवनकुमार! अब तुम अपनी मुक्ति के लिये दयामय श्रीरघुनाथजी का स्मरण करो। श्रीहनुमानजी ने अपने समीप पक्ष के सभी प्रमुख वीरों को बँधा हुआ देखकर मन ही मन भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान श्रीराम का स्मरण किया। प्राणप्रिय पवनकुमार के अन्तर्मन की करुण पुकार सुनते ही दयामय परम प्रभु श्रीराम तत्काल ही पुष्पक विमान से वहाँ आ पहुँचे। साथ में श्रीभरत, लक्ष्मण एवं अपार सन्तों के समुदाय को भी देख कर श्रीहनुमानजी बहुत हर्षित हुये। श्रीरघुनाथजी की दया दृष्टि से श्रीहनुमानजी आदि सभी वीर बन्धन से मुक्त हो गये तथा समस्त मूर्च्छित तथा मृत योद्धा जीवित हो गये। राजा सुरथ के आनन्द की सीमा नहीं थी उन्होंने पुत्रों सहित हर्षोल्लास पूर्वक प्रभु की अर्चना की। प्रभु ने भाव में भरकर राजा सुरथ को छाती से लगा लिया। राजा, मन्त्री, सैनिक एवं समस्त नागरिक भगवान श्रीराम का सपरिकर दर्शन कर धन्य-धन्य हो गये। श्रीरामजी ने राजा की भक्ति एवं क्षात्र- धर्म निष्ठा की सराहना किया।

श्रीकृष्णभक्त सुरथ-सुधन्वा—ये दोनों चम्पापुरी के राजा हंसध्वजजी के पुत्र थे। महात्मा हंस- ध्वज स्वयं तो परमधार्मिक, प्रजावत्सल, भगवद् भक्त तथा अप्रतिम योद्धा थे ही, उनकी समस्त प्रजा भी इन आदर्श गुणों से युक्त थी। भगवद्‌भक्त, रणवीर, सदा दीनों पर दया करने वाला, एक पत्नी व्रती तथा हित, मित, प्रिय, सत्य बोलने वाला ही हंसध्वज के राज्य में रह सकता था अन्यथा उसे कहीं अन्यत्र ही आश्रय ढूँढ़ना पड़ता था। ऐसा सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध था महाराज हंसध्वज का। इनके पाँच पुत्र थे और पाँचों ही पिता के समान निष्ठा वाले थे परन्तु सुरथ और सुधन्वा ने तो अपनी अनुपम भक्ति निष्ठा से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान को भी अपने वश में कर लिया था। जिस समय महाराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। श्रीप्रद्युम्न, सात्यकि आदि असंख्यों महारथी योद्धाओं को साथ लिये श्री अर्जुनजी यज्ञिय अश्व के संरक्षण में थे। वह अश्व विभिन्न देशों में घूमता-फिरता हुआ जब चम्पापुरी की परिधि में गया तो गुप्तचरों द्वारा यह शुभ समाचार पाते ही महाराज हंसध्वज ने परम भागवत, नर ऋषि के अवतार अर्जुन और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन करने की अभिलाषा से घोड़े को पकड़ लेने का निश्चय किया और हर्ष पूर्वक युद्ध का नगाड़ा बजवाकर अपनी सेना को शीघ्र ही व्यूह के आकार में एकत्रित होने की आज्ञा दी तथा स्वयं भी गजराज पर चढ़कर रणभूमि के लिये प्रस्थान कर दिये।

उस समय पुरोहित शंख और लिखित की सलाह से राजा की आज्ञा से वहाँ खौलते तेल से भरा हुआ एक कड़ाह लाया गया और यह घोषणा करा दी कि जो कोई युद्धार्थ नगर से बाहर नहीं निकलेगा तथा ठीक समय पर उपस्थित नहीं होगा वह राजा का सगा सम्बन्धी क्यों न हो, उसे उबलते हुए तेल के भयंकर कड़ाहे में डलवा दिया जायेगा। नगाड़े की आवाज सुनकर क्षत्रिय वीर युद्ध स्थल में जाने के लिए निकल पड़े। राजकुमार सुधन्वा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर प्रथम माता की आज्ञा और आशीर्वाद लेने के लिये माँ के पास जाकर चरणों में प्रणाम कर कहने लगे—माँ! मैं परम विख्यात वीर अर्जुन से युद्ध करने जा रहा हूँ। मुझे अपनी मङ्गल कामना के साथ युद्ध की आज्ञा और आशीर्वाद दो जिससे मैं पाण्डुपुत्र को पराजित कर पिताजी के मनोरथ को पूर्ण करने में समर्थ हो सकूँ। सुधन्वा की माता ने समयोचित रणोल्लास बढ़ाते हुये पुत्र का मंगला शासन किया और कहा—बेटा! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिन श्रीहरि का रात-दिन गुण-गान करते हैं, उनका दर्शन मुझे जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करना। मेरे वीर पुत्र! अर्जुन और श्रीकृष्ण के पराक्रम से आतंकित होकर युद्ध में पीठ नहीं दिखाना क्योंकि श्रीकृष्ण के सम्मुख मरने वाला अपने सहित अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करने वाला होता है। वत्स! तेरा कल्याण हो। तू आज युद्ध में अर्जुन को तृप्त कर दे तो श्रीकृष्ण तेरे वशीभूत हो जायेंगे।

सुधन्वा विदा लेकर ज्यों ही चलने को उद्यत हुये कि बहिन कुबला ने आकर उसकी सुन्दर ढङ्ग से आरती की और विजय-कामना की। यहाँ से चलकर सुधन्वा बाहर की ड्यौढ़ी पर आये तो उन्होंने अपनी पत्नी प्रभावती को देखा कि वह पूजा का थाल लिये हुये मेरी प्रतीक्षा में है। समीप पहुँचने पर उस पतिव्रता ने अपने पति वीरवर सुधन्वा की पूजा की और प्रेम भरी चितवन से स्वामी की ओर निहारती हुई पति की आरती उतारने लगी। तत्पश्चात् प्रभावती बोली—प्राणनाथ! आप महाबली अर्जुन से युद्ध करने के लिये संग्राम भूमि में जा रहे हैं, मेरी इच्छा है कि आपके चले जाने के बाद जलाञ्जलि देने वाला एक पुत्र रहे। सुधन्वा ने शीघ्रातिशीघ्र श्रीकृष्ण और अर्जुन का दर्शन कर तथा उन्हें पाँच बाणों से ही जीतकर

वापस आने का उल्लासपूर्ण आश्वासन दिया। प्रभावती ने कहा—नाथ! जो लोग श्रीकृष्ण से मिलने के लिये गये और जिन्हें उन मधुसूदन भगवान के दर्शन प्राप्त हुये वे पुनः इस संसार में लौटकर नहीं आये, फिर आप कैसे लौटने की बात कहते हैं। अतः आपको मेरी प्रार्थना पूर्ण करनी चाहिये। सोच विचारकर सुधन्वा ने सती नारी की धर्म सम्मत प्रार्थना को पूर्ण किया, पुनः भली भाँति स्नान-प्राणायाम करके शुद्ध होकर रथारूढ़ हो युद्ध के लिये प्रस्थान किया।

उस समय राजा हंसध्वज ने रणभूमि में एक सुधन्वा को छोड़कर सबको उपस्थित देखकर, अत्यन्त क्रोध में भरकर सुधन्वा को पकड़ लाने के लिए उग्रकर्मा यवन सिपाहियों को भेजा। उन सैनिकों के कहने से अपने परम सामर्थ्यशाली पिता को क्रुद्ध जानकर सुधन्वा ने बड़ी शीघ्रता से रथ को चलाया और तुरन्त ही युद्ध भूमि में पहुँचकर पिता को प्रणाम करके आगे खड़े हो गए। हंसध्वज का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उन्होंने अपने पुरोहित शंख और लिखित के पास दूत भेजकर सुधन्वा के सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था की जिज्ञासा की। स्वभाव से ही अत्यन्त क्रोधी ऋषि शङ्ख और लिखित ने तेल से भरे खौलते कड़ाह में डालकर सुधन्वा के जीवन का अन्त कर देना ही एकमात्र प्रमुख प्रायश्चित्त बताया और यह भी कहलवा दिया कि राजा को पुत्र मोह हो तो लो—हम दोनों भाई इस राजा के राज्य से बाहर चले जाते हैं क्योंकि जिस देश का राजा सत्यवादी न हो उस राज्य में नहीं रहना चाहिये।

शङ्ख और लिखित के निर्णय को सुनकर राजा हंसध्वज ने सुधन्वा को तत्काल कड़ाहे में डालने के लिये मन्त्री को आदेश देकर स्वयं अपने रूठे पुरोहित को मनाने के लिये चल पड़े। राजाज्ञा से विवश मन्त्री ने सुधन्वा को अपना धर्मसङ्कट सुनाया। सुधन्वा ने मन्त्री को कर्तव्य पालन पर बल देते हुये राजा-ज्ञानुसार कार्य करने का सुझाव दिया और स्वयं ललाट पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक तथा गले में तुलसी की माला धारणकर भक्त- वत्सल भगवान का ध्यान करने लगे मन्त्री के संकेत पर सुधन्वा को उबलते तेल के कड़ाह में डाल दिया गया। उस समय सुधन्वा कह रहे है—हे गोविन्द! दामोदर! हे माधव! हे मुकुन्द! हे हरे! आप मेरी रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये प्रभो! मुझे मरने का दुःख नहीं है, मैं तो आपका दर्शन करते हुये महाभागवत अर्जुन के बाणों से बिंध कर आपके चरण प्रान्त में गिरकर मरने के लिये आया ही था। मुझे दुःख इस बात का हैं कि मैं न तो आपका दर्शन ही कर सका, न युद्ध स्थल में अपने पराक्रम से आपको और अर्जुन को सन्तुष्ट ही कर सका और न गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों से स्वयं वीरगति ही प्राप्त कर सका। संसार में लोग मेरी निन्दा करेंगे सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहे में जलकर अपमृत्यु को प्राप्त हुआ। अतः जैसे आपने प्रह्लाद के लिये अग्नि को चन्दन के समान शीतल कर दिया था वैसे ही मेरी भी रक्षा करें। ऐसा कहते हुये भक्त सुधन्वा भगवान का ध्यान करने लगे और श्रीहरि कृपा से खौलता हुआ तेल चन्दन पङ्क के समान सुशीतल हो गया।

जैसे जल में कमल प्रफुल्लित रहता है उसी तरह खौलते हुए तेल में सुधन्वा के सुन्दर मुख कमल को विकसित देखकर सभी लोग आश्चर्य करने लगे। तदनन्तर राजा हंसध्वज अपने पुरोहित शङ्ख और लिखित के साथ वहाँ आकर जब यह अद्‌भुत चमत्कार देखे तो वे अबाक रह गये परन्तु पुरोहितों को संदेह हुआ कि कहीं आग से तेल अभी गरम न हुआ हो अतः तेल की परीक्षा के लिये उन्होंने एक नारियल का फल कड़ाह में डाला उबलते हुये तेल में पड़ते ही नारियल तड़ाक से फूटा और उसके दो टुकड़े हो

गये, जिसमें एक टुकड़ा शङ्ख के तथा दूसरा टुकड़ा लिखित के ललाट में जाकर जोर से लगा। यह तो निश्चित हो गया कि तेल खूब खौल रहा है परन्तु सुधन्वा पर इसका प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा है, यह बात पुरोहितों कीसमझ में नहीं आ रही है। उन्होंने तत्रस्थ लोगों से पूछा—क्या सुधन्वा ने कड़ाह में कूदते समय किसी औषधी का प्रयोग किया था, व किसी अग्नि शामक मन्त्र का प्रयोग किया था, व किसी देवता व सिद्ध का स्मरण किया था? जिसके प्रभाव से इसका एक रोम भी नहीं मुरझाया है। लोगों ने समस्त विकल्पों का निषेध करते हुये केवल श्रीकृष्ण-स्मरण की बात बताई। पुरोहित की आँख खुली। उन्हें भगवत-भागवत महिमा का ज्ञान हुआ। अतः अपने को धिक्कारते हुए वे तप्त तेल के कड़ाह में कूदकर प्राणान्त कर देने का निश्चय कर सबके सामने ही उसमें कूद पड़े। भक्त के प्रभाव से उनके लिये तेल शीतल ही बना रहा।

शङ्ख ने सुधन्वा को छाती से लगाकर कहा—प्रिय राजकुमार! भला अग्नि में इतनी शक्ति कहाँ जो तुम सरीखे परम वैष्णव को जला सके। पुरुषसिंह! तुम्हारे शरीर का स्पर्श करके आज मेरा यह अधम शरीर भी पवित्र हो गया। सुव्रत! अब तुम तेल-कड़ाह से बाहर निकलकर अपने पिता, भ्राता, सेना एवं समुपस्थित समुदाय को पावन करो और साथ ही मेरा उद्धार करो। वीरवर! भगवान श्रीकृष्ण जिनका सारथ्य कर रहे हैं, उन अर्जुन के साथ आज समराङ्गण में यथोचित युद्ध करके अपने सुयश को स्थायी बनाकर मङ्गल के भागी होओ। सुधन्वा ने तेल-कड़ाह से बाहर निकलकर पिता के चरणों में प्रणाम किया, पिता ने हृदय से लगाकर शुभाशीर्वाद दिया और वीर श्रेष्ठ को सेनापति पद पर प्रतिष्ठित कर युद्ध के लिये आज्ञा दिया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। सुधन्वा के अमित पराक्रम के सामने अर्जुन की सेना का कोई भी वीर नहीं टिक सका, तब स्वयं अर्जुन ही इस महावीर के मुकाबले में आ डटे। अर्जुन की ललकार पर वीर सुधन्वा ने अत्यन्त निर्भयतापूर्वक हँसकर कहा—पार्थ! आपने पहले संग्राम भूमि में जो लड़ाइयाँ लड़ी हैं और उनमें विजय प्राप्त की हैं, उसका कारण यह है कि उन युद्धों में आपके परम हितकारी भगवान श्रीकृष्ण रथ पर बैठे हुए सारथी का काम करते थे, परन्तु आज आप श्रीकृष्ण को छोड़कर अकेले युद्ध करने आये हैं। मुझे सन्देह है कि आप मेरे सामने युद्ध करने में समर्थ हो सकेंगे या नहीं?

एक बालक के मुख से चुनौती की इन बातों को सुनकर श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ने कुपित होकर सुधन्वा पर असंख्य बाणों की वर्षा की परन्तु सुधन्वा हँसते-हँसते अर्जुन के समस्त बाणों को तिल प्रमाण करके व्यर्थ कर ही दिया, अपने अचूक प्रहारों से उनके धनुष, प्रत्यञ्चा, रथ की ध्वजा को काटकर और सारथी को मारकर तथा उनको भी घायल कर उन्हें एकदम विस्मय में डाल दिया। पश्चात् आश्चर्य चकित अर्जुन को सम्बोधन कर सुधन्वा ने कहा—वीरवर! आज आपका पुरुषार्थ कहाँ चला गया? मुझ जैसे बालक के बाणों से घायल होकर इस दशा में पहुँचना आप जैसे शूर-वीर को शोभा नहीं देता। अब भी आप शीघ्र ही अपने श्रीकृष्ण नामक सारथि का स्मरण कर लीजिये। अर्जुन ने मन ही मन ज्यों ही भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया, त्यों ही दयामय प्रभु ने तत्काल प्रगट होकर घोड़ों की बागडोर के ब्याज से अर्जुन के जीवन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। श्रीकृष्ण को प्रणाम कर अर्जुन सौ गुने उत्साह से बाणों की वर्षा करने लगे। इधर सुधन्वा ने भी श्रीकृष्ण का जीभरकर दर्शन किया और मन ही मन प्रणामकर अर्जुन से कहा—पार्थ! अपने सुहृद् सारथि श्रीकृष्ण को पाकर अब तो आप मुझ पर विजय पाने के लिये प्रतिज्ञा करें। फिर मेरे पुरुषार्थ को देखें।

तब अर्जुन ने कहा—वीर! आज मैं तुम्हारे सुन्दर मस्तक को तीन बाणों द्वारा काटकर नीचे गिरा दूँगा। यदि श्रीकृष्ण के सामने तुम्हारे सिर को न गिरा सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरक में गिर पड़ें। अब तुम अपनी रक्षा करो, साथ ही अपनी प्रतिज्ञा भी सुनाओ। सुधन्वा ने कहा—पार्थ! मैं श्रीकृष्ण के सन्मुख ही आपके तीनों वाणों को काट डालूँगा। यदि मैं आज उनके तीन टुकड़े न कर दूँ तो मुझे घोर गति की प्राप्ति हो। यह कहकर महाबली सुधन्वा ने हर्ष में भरकर दस बाणों द्वारा अर्जुन को एवं सौ बाणों द्वारा श्रीकृष्ण को घायलकर एक ऐसा बाण रथ पर चलाया कि अर्जुन का रथ कुम्हार के चाक की भाँति चक्कर काटते हुए सौ हाथ पीछे हट गया। सुधन्वा के उस पराक्रम ने भगवान श्रीकृष्ण को भी विस्मय में डाल दिया। वे बोले—अर्जुन! तुमने बिना समझे बूझे प्रतिज्ञा कर ली परन्तु उसकी पूर्ति कठिन ही नहीं, असम्भव जान पड़ती है। सुधन्वा की शक्ति तुमने देखी। सुधन्वा सुदृढ़ एक पत्नीव्रती है। इस विषय में हम-तुम, दोनों ही पिछड़े हुए हैं। इन उत्तेजनात्मक वचनों को सुनकर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण को प्रणामकर अपने धनुष पर कालानल के समान भयङ्कर बाण का सन्धान किया।

श्रीकृष्ण ने उस बाण को, पहले गोवर्धन पर्वत उठाकर जो गोप-गौओं की रक्षा की थी उससे प्राप्त पुण्य से संयुक्त कर दिया। सुधन्वा ने बात की बात में अर्जुन के उस बाण को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उस समय उसके मुख से श्रीकृष्ण की मङ्गलमय नामों का उच्चारण हो रहा था। त्रैलोक्य चकित हो गया सुधन्वा के अस्त्र-कौशल को देखकर। भगवदाज्ञा से अर्जुन ने दूसरा बाण चढ़ाया, भगवान ने उस बाण को भी अपने बहुत से पुण्यों से संयुक्त किया। सुधन्वा ने अर्जुन को ललकारा—वीरवर! अब मेरी प्रतिज्ञा सुनिये। यदि मैं आपके बाण के दो टुकड़े न कर दूँ तो आज मुझे श्रीअरुन्धती सहित महर्षि वशिष्ठ की हत्या का पाप लगे। तत्पश्चात् वीर सुधन्वा ने 'गोविन्द दामोदर माधवेति' का उच्चारण करते हुए अपने प्रबल पुरुषार्थ से अर्जुन के उस बाण को भी बीच से काट डाला। उस समय अर्जुन उदास से हो गये। भगवान श्रीकृष्ण ने सखा को प्रोत्साहित किया, अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया और तीसरा बाण सन्धान करने की आज्ञा दी। महामनस्वी अर्जुन ने तीसरा बाण हाथ में लिया। श्रीकृष्ण ने रामावतार के समय जो एक पत्नीव्रत पालन करके पुण्योपार्जन किया था, वह सबका सब बाण को अर्पण कर दिया। फिर उस बाण के पिछले भाग में ब्रह्माजी तथा बीच में काल को प्रतिष्ठित कर अग्रभाग में स्वयं हो गये। प्रभु की लीला सुधन्वा को अविदित नहीं रही। वह सब जान गये और अर्जुन से बोले—अच्छा पार्थ! अब आप श्रीकृष्ण का स्मरण करके कुछ प्रतिज्ञा कीजिये। तब अर्जुन ने कहा—वीर! यदि आज मैं इस बाण के द्वारा तुम्हारे मुकुट सहित मस्तक को न गिरा दूँ तो विष्णु और शिव में भेदभाव रखने से जो पाप लगता है वह सारा पाप मुझे लगे।

सुधन्वा ने कहा—यदि मैं आपके इस बाण को काट न दूँ तो काशी में मणिकर्णिका तीर्थ में श्रीशिवजी की पूजा को पैरों से ठुकराने का जो पाप होता है, वही पाप मुझे लगे। इतना कहकर सुधन्वा ने भगवान श्रीकृष्ण का नामोच्चारण करके अर्जुन के उस बाण को भी काट दिया। ऐसे प्रभावशाली बाण के कट जाने से वहाँ महान हाहाकार मच गया, तब तक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटना यह घटी कि उस बाण के आधे भाग ने उछलकर सुधन्वा के सुन्दर मस्तक को भी काट गिराया। सुधन्वा का वह कटा हुआ सिर आनन्द के साथ 'केशव' 'राम' 'नृसिंह' आदि भगवन्नामों का उच्चारण करता हुआ तुरन्त ही श्रीकृष्ण के चरणकमलों में गिर पड़ा। भक्तवत्सल भगवान ने उस सिर को दोनों हाथों से उठा लिया, इतने में सुधन्वा

के मुख से एक ज्योति निकली और तत्क्षण श्रीकृष्ण के मुख में समा गई। तत्पश्चात् वसुदेव नन्दन श्रीकृष्ण ने उस मस्तक को सुधन्वा के पिता हंसध्वज के रथ पर डाल दिया। राजा हंसध्वज ने पुत्र शोक में बहुत विलाप किया साथ ही पुत्र के कर्तव्य पालन की पूर्णता पर प्रसन्न भी हुये और उस मस्तक को पुन: श्रीकृष्ण के रथ पर डाल दिया। श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर आकाश में उछाल दिया। तब भक्तों को अभय प्रदान करने वाले भगवान शिव ने उस रमणीय सिर को लेकर अपनी मुण्डमाला में पिरो लिया।

अनुज सुधन्वा के मारे जाने पर परम भागवत वीर-धुरीण सुरथ रथ पर आरूढ़ हो, बहुत बड़ी सेना साथ में ले, हाथ में कठिन को दण्ड धारणकर समरांगण में आकर अर्जुन से बोले—महाबली पार्थ! अब मेरे साथ युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हो जाओ। तत्पश्चात् सुरथ ने श्रीकृष्ण से कहा—देवकी नन्दन! अब आप अर्जुन की सम्यक प्रकार से रक्षा कीजिये। हरे! आपने अपना पुण्य प्रदान करके जो मेरे भाई का वध करा दिया है, यह तो आपकी बाल चेष्टा ही है। आपने अपनी हानि पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जैसे कोई शिशु मोतियों को देकर बदले में बेर ले लेता है उसी तरह आपने सुधन्वा के बेर सदृश जीवन को लेकर उसके बदले में मुक्ताफल रूपी अपना पुण्य प्रदान किया। अत: बताइये यहाँ कौन किसके द्वारा ठगा गया। इस प्रकार श्रीकृष्ण से प्रेममय व्यंग-विनोद करके सुरथ ने अर्जुन को ललकारा। सुरथ के रणोत्साह को देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस महावीर के सम्मुख जाना उचित नहीं समझा अत: सेना को आगे करके श्रीकृष्ण अर्जुन को रणक्षेत्र से तीन योजन दूर हटा ले गये। परन्तु धन्य सुरथ। अर्जुन की विशालवाहिनी को क्षणमात्र में तितर- वितरकर तत्काल उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ श्रीहरि विराजमान थे। अर्जुन और सुरथ के घोर युद्ध के ही बीच सुरथ ने कहा—पार्थ! मैंने सुन रखा है कि इस लोक में तुम्हारी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं होती, अत: वीर! अब तुम कोई सत्य प्रतिज्ञा करो।

अर्जुन ने कहा—वीर! मैं तुम्हारे पिता के सामने ही तुम्हें धराशायी करूँगा यही प्रतिज्ञा है। अब तुम अपनी यथोचित प्रतिज्ञा बतलाओ। सुरथ ने कहा—अर्जुन मैं भी तुम्हें युद्धस्थल में रथ से भूतल पर गिरा दूँगा। यदि मैं इस वचन को सत्य न करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय। तत्पश्चात् बहुत देर तक दोनों में रोम हर्षण युद्ध होने के बाद अर्जुन ने एक सर्वदेवमय बाण से सुरथ के बड़े-बड़े नेत्रों वाले तथा कुण्डलों से सुशोभित विशाल सिर को काट गिराया। भक्त के वचन को सत्य करने के लिये भगवान ने ऐसी लीला करी कि सुरथ का कटा हुआ सिर उछलकर अर्जुन के ललाट में जा लगा। जिसके आघात से वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और वह सिर भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में गिर पड़ा। तदनन्तर भक्तवत्सल भगवान ने अर्जुन को पृथ्वी से उठाकर रथ पर बैठाया और सुरथ के सिर को दोनों हाथों से उठाकर देखने लगे। अर्जुन ने भी उस सिर को लेकर, यह कहते हुए कि 'इसके समान कोई योद्धा नहीं है।' युद्ध-स्थल में उसकी वन्दना की। इसके बाद श्रीकृष्ण ने गरुड़जी से कहा—पक्षिराज! वीरवर सुरथ के सिर को ले जाकर शीघ्र ही प्रयाग में डाल दो। इस सिर के स्पर्श से मेरा वह प्रयाग भी पावन हो जायगा। प्रयाग मेरा कोश है, अत: इस वीर के रत्न रूपी सिर को उस कोश में डाल दो। श्रीगरुड़जी ने ऐसा ही किया। भगवान शिव ने सुरथ के सिर को अपनी मुण्ड माला में पिरो लिया।

महर्षि शंख और लिखित—यह दोनों सगे भाई थे। दोनों ही धर्म शास्त्र के परम मर्मज्ञ, अत: कठोर व्रत का पालन करने वाले तपस्वी थे। बाहुदा नदी के तट पर उन दोनों के अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे। एक दिन लिखित शंख के आश्रम पर गये। दैवेच्छा से शङ्ख उस समय आश्रम से कहीं बाहर

गये हुए थे। भाई शङ्ख के आश्रम में जाकर क्षुधार्त लिखित ने खूब पके हुए फल तोड़े और निश्चिन्तता के साथ खाने लगे। वे अभी खा ही रहे थे कि शङ्ख आश्रम पर आ गये। शङ्ख ने फलों के सम्बन्ध में पूछ-ताँछ की तो लिखित ने निकट जाकर बड़े भाई को प्रणाम किया और कहा—भैया! ये फल तो हमने आपके ही बाग से लिया है, तब शङ्ख ने रोष में भरकर कहा—तुमने मुझसे पूछे बिना ही स्वयं फल लेकर यह चोरी की है। अतः तुम राजा के पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें सुनाकर समुचित दण्ड की प्रार्थना करो।

महात्मा लिखित ने राजा सुद्युम्न से जाकर निवेदन किया—नरश्रेष्ठ! मैंने बड़े भाई के दिये बिना ही उनके बगीचे से फल लेकर खा लिया है। इसके लिये मुझे दण्ड दीजिये। सुद्युम्न ने कहा—ब्राह्मण-शिरोमणे! यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जाने की आज्ञा देने का भी अधिकार होता है। आप पवित्र कर्म करने वाले और महान व्रतधारी हैं। मैंने आपका अपराध क्षमा कर दिया, अब सुखपूर्वक अपने आश्रम को लौट जाइये परन्तु ब्रह्मर्षि लिखित तो बिना दण्ड भोगे किसी भी हालत में जाने को तैयार नहीं हुये। तब उस समय के दण्ड-विधान के अनुसार राजा सुद्युम्न ने उस महामना लिखित के दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँ से चले गये और बड़े भाई को जाकर प्रणाम किया। शङ्ख ने कहा—भैया! हम दोनों का कुल इस जगत में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलंक है। तुमने धर्म का उल्लंघन किया था अतः उसका प्रायश्चित्त आवश्यक था, सो हो गया। अब तुम शीघ्र ही बाहुदानदी के तट पर जाकर विधि पूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करो। भविष्य में फिर कभी अधर्म की ओर मन न ले जाना। अग्रज की आज्ञा शिरोधार्य कर लिखित ने स्नान करके ज्यों ही पितरों का तर्पण करने की चेष्टा की, त्यों ही उनके सुन्दर दोनों हाथ प्रगट हो गये। दोनों भाई हृदय से लगकर मिले।

शङ्ख और लिखित की इस धर्म परायणता तथा न्याय प्रियता पर मुग्ध होकर चम्पापुरी के राजा हंसध्वज ने इन्हें अपना पुरोहित बनाया था तथा न्याय विभाग इनके हाथ में सौंप दिया था। भक्त सुधन्वा और इन पुरोहितों में कभी-कभी भक्ति और कर्मकाण्ड को लेकर विवाद हो जाता था। यद्यपि सुधन्वा शास्त्रीय आकाट्य तर्कों से, प्रमाणों से स्वानुभूत तथ्यों से भक्ति के श्रैष्ठ्य का सफल सम्पादन करते परन्तु इन कर्म-जड़ों को विश्वास नहीं होता उल्टे सुधन्वा से बैर मानने लगे और शास्त्रार्थ में तो पराजित करने में समर्थ हो नहीं सके, कोई छिद्र ढूँढ़ते जिससे सुधन्वा को नीचा दिखा सकें। इससे श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—'भयो मैलो मन है। यही कारण है कि इन्होंने सुधन्वा को तेल-कड़ाह में डालने का बड़ा जोर दिया परन्तु आज तो प्रत्यक्ष भक्ति का प्रताप देखकर शंख और लिखित दोनों ही परम भागवत हो गये।। (महाभारत)

महाराज शिविजी—ये उशीनर महाराज के पुत्र थे। इनकी शरणागत वत्सलता, साधुता, परमोदारता एवं भगवद्भक्ति लोक विख्यात थी। एक बार इनके इन गुणों की परीक्षा लेने के लिये देवताओं ने इन्द्र और अग्नि को भेजा। इन्द्र बाज पक्षी बन गये और अग्नि कबूतर। राजा शिवि सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। भयभीत कबूतर भागता हुआ उनकी गोद में जा गिरा। तब तक कबूतर का पीछा करता हुआ बाज भी वहाँ जा पहुँचा। कबूतर ने राजा से कहा—मैं आपकी शरण हूँ, मैं वस्तुतः

कबूतर नहीं, एक स्वाध्याय निरत तपस्वी और श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ। मेरे प्राणों की रक्षा कीजिये। इस पर बाज बोला—राजन्! मैं आग्रह पूर्वक कहता हूँ, आप इस कबूतर को लेकर मेरे भोजन के कार्य में विघ्न न डालें। इन दोनों की ऐसी स्पष्ट देव-भाषा में बातचीत सुनकर राजा असमञ्जस में पड़ गये।

पुनः—शरणागत रक्षक की महिमा तथा परित्याग करने से महान दोष को विचारकर राजा शिवि—**'सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि।।'** तथा—**'यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम्। शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम्।।'** (म०भा०) अर्थ—'जो मनुष्यों की हत्या करता है, जो जगन्माता गौ का वध करता है, तथा जो शरण में आये हुए को त्याग देता है, इन तीनों को समान पाप लगता है।' इन शास्त्र प्रमाणों में शरणागत को शत्रु के हाथ में देने के पाप को कहते हुये बाज से बोले कि मैं अपने प्राण चाहे दे दूँ, परन्तु शरणागत को नहीं छोड़ूँगा। तुम इसके लिये व्यर्थ क्लेश न करो। हाँ मैं इसके बदले में अन्य किसी मेध्य पशु-पक्षी का माँस दे सकता हूँ, अथवा और जिसमें मेरी कीर्ति हो और तुम्हारा भी प्रिय हो, वह बताओ, मैं उसे ही करने को तैयार हूँ। तब बाज ने कहा—आप अपनी दाहिनी जंघा का माँस अपने हाथ से काटकर इसके बराबर तौलकर मुझे खिला दीजिये तो मेरा प्रिय होगा, आपका सुजस होगा और इसके प्राण बच जायेंगे।

महाराज शिवि ने एक तराजू मँगाकर एक पलड़े में कबूतर को बिठाया और दूसरे में अपना माँस काटकर रखते गये, परन्तु सारे शरीर का माँस काटकर चढ़ा देने पर भी कबूतर का पलड़ा भारी ही रहा। तब राजा शिवि ने अपना शरीर ही शरणागत की रक्षा करने के लिये अर्पण कर दिया। उस समय राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—बाज! तुमने मुझ पर बड़ी कृपा की। यदि यह शरीर प्राणियों के उपकार में न आये तो प्रतिदिन का इसका पालन-पोषण व्यर्थ ही है। इस नाशवान, अनित्य शरीर से नित्य, अविनाशी धर्म किया जाय, यही तो शरीर की सफलता है। यह देखकर बाज यह कहता हुआ अन्तर्धान हो गया कि राजा के लिये असाध्य कुछ नहीं है और कबूतर की प्राण रक्षा हो गयी। तब राजा ने कबूतर से पूछा कि यह बाज कौन था? उसने सारा हाल कह दिया और वर दिया जो माँस तुमने रक्षा के लिये दिया है, यह तुम राजाओं का स्वर्ण वर्ण अत्यन्त पवित्र सुगन्धयुक्त राज चिह्न होगा अर्थात् तुम्हारी जंघा की त्वचा का रङ्ग सुन्दर और सुनहला हो जायगा तथा इससे बड़ी पवित्र सुन्दर सुगन्ध निकलती रहेगी और तुम्हारे दक्षिण भाग से, जंघा के इस चिह्न के पास से, परम यशस्वी कपोतरोमा नाम का पुत्र होगा। यह कहकर कबूतर भी अन्तर्धान हो गया। (म०भा०)

दृष्टान्त—राणा हम्मीर का—इनके विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—**सिंह गवन सज्जन वचन कदलि फरै इक बार। तिरिया तेल हमीर हट चढ़ै न दूजी बार।।** अलाउद्दीन ने एक मंगोल सरदार को सामान्य अपराध पर प्राणदण्ड की घोषणा कर दी। वह दिल्ली छोड़कर तुरन्त भाग खड़ा हुआ। प्राण रक्षा के लिये अनेक स्थानों पर गया, किन्तु उसे शरण देकर बादशाह से शत्रुता लेने का साहस किसी में नहीं था। भटकता हुआ वह रणथम्भौर पहुँचा। वहाँ के राणा हमीर ने उसका स्वागत किया और कहा—आप मेरे यहाँ सुखपूर्वक रहें राजपूत सिर देकर भी शरणागत की रक्षा करते हैं। बादशाह अलाउद्दीन को यह समाचार मिला। उसने राणा हमीर के पास सन्देश भेजा—शाही अपराधी को शरण देना तख्त की तौहीन करना है। रणथम्भौर की ईंट से ईंट बजा दी जायगी। नहीं तो हमारे अपराधी को लौटा दो। राणा हमीर का उत्तर था—राज्य और प्राण भय से हम धर्म नहीं छोड़ेंगे। शरणागत की रक्षा

करना हमारा धर्म है। यद्यपि कुछ राजपूत सरदारों ने सुझाव दिया कि बादशाह से शत्रुता लेना ठीक नहीं है, परन्तु हमीर अपने निश्चय पर अडिग रहे। अलाउद्दीन ने राणा का उत्तर पाकर भारी सेना भेज दी किन्तु रणथम्भौर का दुर्ग लोहे का चना सिद्ध हुआ। शाही सेना के छक्के छुड़ा दिये राजपूतों ने। अन्त में शाही सेना ने दुर्ग पर घेरा डाल दिया। यह घेरा लगातार पाँच साल तक रहा। रणथम्भौर के दुर्ग में भोजन समाप्त हो गया। मङ्गोल सरदार ने कई बार राणा से कहा कि उसे बादशाह के पास जाने दिया जाय, उसके कारण राणा और विनाश न करायें, किन्तु राणा ने उसे हर बार यह कहकर रोक दिया कि आपको एक राजपूत ने शरण दी है। प्राण रहते आपको वहाँ नहीं जाने दूँगा। दुर्ग में उपवास चल रहा था। एक बड़ी चिता बनाई गई दुर्ग के प्राङ्गण में। दुर्ग के भीतर सब नारियाँ उस प्रज्जवलित चिता में प्रसन्नतापूर्वक कूदकर सती हो गईं। पुरुषों ने केशरिया वस्त्र पहने और दुर्ग का द्वार खोलकर शत्रु पर टूट पड़े। उनमें से एक भी उस युद्ध में जीता नहीं बचा। केवल यह मंगोल सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीन ने उससे पूछा—तुमको छोड़ दूँ तो क्या करोगे? सरदार बोला—हमीर की सन्तान को दिल्ली का तख्त देने के लिये तुमसे जिन्दगी भर लड़ूँगा। अलाउद्दीन ने उसे भी मार डाला। इतना नर-संहार स्वीकार कर लिया परन्तु हमीर ने शरणागत रक्षण धर्म नहीं छोड़ा।।

कहीं-कहीं ऐसा भी लिखा है कि राजा शिवि ने सौ यज्ञ करने का संकल्प किया। निन्यानवे यज्ञ पूरे हो जाने पर इन्द्र डरे कि राजा हमारा सिंहासन न छीन ले अतः उन्होंने अग्नि को साथ ले, राजा जहाँ यज्ञ में बैठे थे, वहीं परीक्षा लेने पहुँचे।......जब शरीर का माँस कबूतर के बराबर न हुआ तब राजा ने सिर काटकर देना चाहा ज्यों ही उन्होंने तलवार उठाई, इन्द्र और अग्नि छद्म रूप छोड़ कर प्रगट हो गये और प्रसन्न होकर राजा का शरीर जैसा का तैसा कर दिया। ये सोमवंशी राजा थे और ययाति के दौहित्र थे।

श्रीशिविजी के धर्म और धैर्य की परीक्षा के लिये एकबार ब्रह्माजी ब्राह्मण का वेष धरकर आये और बोले—शिवे! मैं भोजन करना चाहता हूँ। राजा ने पूछा—आपके लिए रसोई तैयार कराऊँ। आज्ञा कीजिये। ब्राह्मण ने कहा—यह जो तुम्हारा पुत्र बृहदगर्भ है, इसे मार डालो। फिर उसका दाह संस्कार करो। तत्पश्चात् अन्न तैयार करो और मेरी प्रतीक्षा करो। राजा ने ऐसा ही किया। जब भोजन तैयार कर राजा ब्राह्मण के पास गये तो वहाँ न मिले। किसी ने बताया कि देर हो जाने के कारण वह विप्र कुपित हो गये और आपके भवन, कोषागार, शस्त्रागार, अश्वशाला और गजशाला—सबमें आग लगा रहे हैं तब भी राजा के मन में किंचित् भी रोष व क्षोभ नहीं हुआ। वे विप्र के पास भोजन ले गये और पाने की प्रार्थना किये। उसने कहा कि तुम्हीं खा लो। ब्राह्मण की आज्ञा मानकर राजा शिवि ज्यों ही खाने को तैयार हुये, विप्र ने हाथ पकड़ लिया और राजा के धर्म और धैर्य की बहुत प्रशंसा किया। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुमने क्रोध को जीत लिया है, तुम्हारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो तुम ब्राह्मण के लिये न दे सको। तुम्हारा मङ्गल हो। राजा ने जब आँख उठाकर देखा तो उनका पुत्र जीवित आगे खड़ा था। देवकुमार की भाँति दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित था। उसके शरीर से पवित्र सुगन्धि निकल रही थी। ब्राह्मण देवता सब वस्तुओं को पूर्ववत् ठीक करके अन्तर्धान हो गये।। (म०भा०)

राजा शिवि से जो कुछ भी माँगता था, वे देने को उद्यत हो जाते थे, यह कुछ यश की अथवा ऐश्वर्य व भोगों की कामना से नहीं, किन्तु इस विचार से कि 'धर्मात्मा पुरुषों ने इस मार्ग का सेवन किया

है। अतः मेरा भी यही कर्तव्य है। सत्पुरुष जिस मार्ग से चले हैं वही उत्तम मार्ग है। यथा—"महाजनो येन गतः स पन्था।।"

राजर्षि भरतजी—भगवदवतार श्रीऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में महायोगी श्रीभरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान थे इन्हीं के नामसे इस अजनाभ खण्ड को भारतवर्ष कहा जाने लगा है। भगवान ऋषभदेव ने इन्हीं को पृथ्वी की रक्षा का भार सौंपा था। श्रीभरतजी के विश्वरूप की कन्या पञ्चजनी नाम की पत्नी से पाँच सर्वगुण सम्पन्न पुत्र हुए थे। अपने पूर्वजों के समान स्वधर्म में स्थित रहते हुए राजा भरत अत्यन्त वात्सल्य भाव से प्रजा का पालन करते थे। इन्होंने निष्काम भाव से यथा समय विविध सात्विक यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक यज्ञपुरुष श्री भगवान का यजन किया। इस तरह कर्म की शुद्धि से इनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, फलस्वरूप भगवान वासुदेव में दिन-दिन वेगपूर्वक बढ़ने वाली उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त हो गई। फिर तो इनका राज्य कार्य में एकदम मन नहीं लगने लगा। सदा सर्वदा भगवान का चिन्तन करते रहते। मन्त्री, मित्र, सूर-सामन्त इनका ध्यान राज्य की ओर आकृष्ट रखने का प्रयत्न करते परन्तु इनकी भावदशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। सिंहासन पर बैठे रहते, समाधि लग जाती, बलात् कोई राज्य कार्य सामने लाया जाता, ये उसको देखते-देखते शरीर की सुधि-बुधि भूलकर 'गोविन्द', 'दामोदर', 'श्रीकृष्ण' आदि भगवन्नाम उच्चारण करने लग जाते। कुछ दिन ऐसे ही जैसे-तैसे राज्य कार्य चलता रहा। तत्पश्चात् राज्य को यथा-योग्य पुत्रों में बाँटकर अपने सर्व सम्पत्ति सम्पन्न राजमहल को छोड़कर ये पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) में चले आये। उस पुलहाश्रम के उपवन में एकान्त स्थान में अकेले ही रहकर ये अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल फलादि उपहारों से भगवान की आराधना करने लगे। इससे इनका अन्तःकरण समस्त विषयाभिलाषाओं से निवृत्त होकर शान्त हो गया।

एक बार भरतजी गण्डकी में स्नानकर नित्य-नैमित्तिक कृत्यों से निवृत्त होकर प्रणव का जप करते हुए नदी तट पर बैठे थे। इसी समय एक हरिनी प्यास से व्याकुल हो जल पीने के लिए अकेली ही उस नदी के तीर पर आई। अभी वह जल पी ही रही थी कि पास ही गरजते हुए सिंह की लोक भयंकर दहाड़ सुनाई पड़ी। सिंह के डर के मारे उसका कलेजा धड़कने लगा और भयवश उसने एकाएक नदी पार करने के लिए छलांग मारी। छलांग के समय अत्यन्त भय के कारण उसका गर्भस्थ बच्चा बाहर निकल कर नदी के प्रवाह में गिर गया। सहज भीरु-स्वभाव वह हिरनी सिंह से भयभीत होने, गर्भ के गिरने तथा लम्बी छलांग मारने से पीड़ित होकर किसी गुफा में जा पड़ी और वहीं मर गई।

राजर्षि भरत की सम्पूर्ण साधना नदी के प्रवाह में बहते हुए उस मातृहीन मृगी-शावक की सुरक्षा में केन्द्रीभूत हो गई। वे उसे बड़ी त्वरा पूर्वक सरिता के वेग से बचाकर बाहर निकाल लाये और आश्रम पर लाकर अत्यन्त आत्मीयता पूर्वक उसका लालन-पालन करने लगे। उस मृग-छौने के प्रति भरतजी की ममता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि अपने मृगशावक के रूप में प्रतीत होने वाले प्रारब्ध कर्म के कारण तपस्वी भरतजी भगवदाराधन रूप कर्म एवं योगानुष्ठान से च्युत हो गये। प्रारब्ध भी कैसा बलवान होता है जिन्होंने मोक्षमार्ग में साक्षात् विघ्न रूप समझकर अपने ही हृदय से उत्पन्न दुस्त्यज पुत्रादि को भी त्याग दिया था, उन्हीं की अन्य जातीय हरिण शिशु में ऐसी आसक्ति हो गई। अन्ततोगत्वा इस मृगाशक्ति के बीच ही इनका शरीर छूट गया और अन्तकाल की भावना के अनुसार अन्य साधारण पुरुषों के समान मृग शरीर ही मिला। किन्तु इनकी साधना पूरी थी, इससे इनकी पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नहीं

हुई। अत: इन्हें मन ही मन अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ, हृदय में वैराग्य भाव का पुनर्जागरण हुआ। बस फिर क्या था—अपनी माता मृगी को त्यागकर अपनी जन्मभूमि कालञ्जर से पुन: पुलह ऋषि के आश्रम को चले आये। बस अकेले रहकर वे सूखे पत्ते, घास और झाड़ियों द्वारा निर्वाह करते हुए अन्त में अपने शरीर का आधा भाग गण्डकी के जल में डुबोये रखकर भगवन्नाम स्मरण करते हुए उस मृग शरीर को छोड़ दिया।

जड़ भरत—आङ्गिरस, गोत्रोत्पन्न शम, दम, तप, स्वाध्यायादि साधनरत, विद्या, विनय, त्याग, तितिक्षा, शान्ति एवं सन्तोषादि श्रेष्ठ सद्गुण-विभूषित एक विवेक शील ब्राह्मण के यहाँ परम भागवत, राजर्षि शिरोमणि भरत ने मृग-शरीर का परित्याग करके अन्तिम ब्राह्मण शरीर धारण किया। इस जन्म में भी भगवान की कृपा से अपनी पूर्वजन्म-परम्परा का स्मरण रहने के कारण, वे इस आशङ्का से कि कहीं फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय, अपने स्वजनों से दूर ही रहते थे। हर समय श्रीभगवान के युगल चरणकमलों को ही हृदय में धारण किये रहते तथा दूसरों की दृष्टि में अपने को पागल, मूर्ख, अन्धे और बहरे के समान दिखाते। पुत्र- वत्सल पिता ने अपने पागल पुत्र के भी शास्त्रानुसार समय-समय पर सभी संस्कार किये। उपनयन संस्कार कर, अपना कर्तव्य विचार कर इन्हें विद्वान बनाने के लिये पिता ने प्राण-प्रण से अथक प्रयास किया कि इन्हें व्याहृति और शिरोमन्त्र प्रणव के सहित त्रिपदा गायत्री मन्त्र को याद कराकर वेदाध्ययन प्रारम्भ करा दूँ। परन्तु जो सोया है, उसे तो जगाया जा सकता है, किन्तु जिसने जान-बूझकर सोने का स्वांग किया है उसे जगाना बहुत कठिन है। चार महीने में भी इन्हें गायत्री मन्त्र याद नहीं करा सके। फिर भी प्रयत्न से पराङ्मुख नहीं हुए। पुत्र-स्नेहवश सदा-सर्वदा ब्राह्मण के ब्रह्मचर्याश्रम के आवश्यक व्रत नियमों की शिक्षा देते रहे परन्तु भरतजी तो पिता के सामने ही उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण करने लगते। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीकागभुसुण्डिजी का—

चौ०—**प्रौढ़ भये मोहिं पिता पढ़ावा । समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।।**
मन ते सकल बासना भागी । केवल रामचरन लय लागी।।
कहु खगेस अस कवन अभागी । खरी सेव सुर धेनुहिं त्यागी।।
प्रेम मगन मोहिं कछु न सोहाई । हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।। (रा०च०मा०)

पिता के मन का मनोरथ मन में ही रह गया, कराल-काल ने आकर उन्हें धर दबोचा। पिता के परलोक सिधारने पर तथा माता के भी पति के साथ परलोक चले जाने पर, इनके ज्येष्ठ भ्राता, जो ब्रह्मज्ञान रूप परा विद्या से सर्वथा अनभिज्ञ थे, केवल कर्मकाण्ड को ही सबसे श्रेष्ठ समझते थे, इन्हें निरा मूर्ख समझकर उन्होंने पढ़ाने-लिखाने का आग्रह छोड़ दिया। अविवेकी जन इन्हें पागल मूर्ख, गूँगा, बहरा कहकर पुकारते तो ये वैसा ही आचरण करते, जिससे लोग सत्य ही पागल समझें। कोई कुछ भी करने को कहता तो ये बिना किसी हिचक के कर देते और जो भी मिल जाता उसी को जीभ का जरा भी स्वाद न देखते हुए खा लेते। निरन्तर ब्रह्मानन्द में लयलीन रहने से इनको शीतोष्ण, सुख-दु:ख, मानापमानादि द्वन्दों का भान नहीं होता था। सुन्दर सुगठित एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर था, पृथ्वी पर ही पड़े रहते थे। कभी तेल, उवटन आदि लगाते ही नहीं थे और न कभी स्नान ही करते थे। इससे इनके शरीर पर मैल जम गया था।

इनका ब्रह्मतेज धूलि से ढके हुये मूल्यवान मणि के समान छिप गया था। दूसरों की मजदूरी करके पेट पालते देख जब इन्हें इनके भाइयों ने घर का ही काम करने को कहा तो ये इनकी बात मानकर वैसा ही करने लगे। परन्तु शरीर की सुधि तो रहती नहीं, द्वार बुहारने के लिये झाड़ू उठाते तो अपना द्वार तो बुहारते ही पूरे गाँव में बहारू लगाने लगते कोई मना करता तब मानते। जल भरते तो भरते ही जाते जल-पात्र की कौन कहे पूरा घर भर देते। भाईयों ने देखा कि ये घर पर ठीक कार्य नहीं करते हैं तो इन्हें धान के खेत की क्यारियाँ समतल करने में लगा दिये। क्यारी जहाँ ऊँची होतीं, इन्हें खोदकर वहाँ से मिट्टी हटाने को कहते, जहाँ नीची होती, वहाँ मिट्टी पूरने को कहते परन्तु इनकी तो यह हालत थी कि—**खनन कहैं तो कूप बनावै। पूरन कहैं तो शैल उठावैं।।** खोदने लगते तो एक जगह खोदते-खोदते कुँआ बना देते। पूरने लगते तो पाटते-पाटते पहाड़ खड़ा कर देते। तब उन्होंने इस काम से भी हटाकर इन्हें खेत की रखवाली में लगा दिया। ये खेत की मेंड पर जाकर लेट जाते और चिड़ियों के झुण्ड को देखकर कहते—**रामजी की चिड़िया रामजी का खेत। खालै चिरैया भर-भर पेट।।** ये रखवाली में बैठे ही रहते, खेत चौपट हो जाता।

एक समय डाकुओं के सरदार ने सन्तान की कामना से भद्र काली को मनुष्य की बलि देने का संकल्प किया परन्तु उसने जो पुरुष-पशु बलि के लिये पकड़ मँगाया था, वह दैव वश उसके फन्दे से छूटकर भाग निकला। उसे ढूँढ़ने के लिये उसके सेवक चारों ओर दौड़े, किन्तु अंधेरी रात के समय उसका तो कहीं पता लगा नहीं, वीरासन से बैठे हुए खेत की रखवाली करते श्रीजड़भरतजी को देखकर वे प्रसन्न हुये कि इस पुरुष-पशु में तो बड़े शुभ लक्षण दिखाई देते हैं, इसकी बलि से निश्चय ही देवी अत्यन्त सन्तुष्ट होंगी और हमारे स्वामी का कार्य सम्पन्न होगा। दुष्ट इन्हें रस्सियों से बाँधकर चण्डिका मन्दिर में ले आये। तदनन्तर उन चोरों ने अपनी पद्धति के अनुसार विधिपूर्वक स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये, पुष्पमाला, चन्दनादि से विभूषित कर अच्छी तरह से भोजन कराया, फिर बलिदान विधि से नृत्य, गान एवं मृदङ्ग ढोल आदि वाद्य बजाते हुये इन्हें ले जाकर भद्रकाली के सामने सिर नीचा करके बिठा दिया। पश्चात् दस्युराज के पुरोहित बने हुये लुटेरे ने बलि देने के लिये देवी मन्त्र से अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण खड्ग उठाया। यह भयंकर कुकर्म देखकर देवी भद्रकाली के शरीर में अति दुःसह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्ति में से प्रगट हो गईं। उन्होंने क्रोध से तड़ककर बड़ा भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमन्त्रित खड्ग से ही उन समस्त पापियों का मस्तक काट डाले। तभी तो कहा गया है कि—"**तकै नीच जो मीच साधु की सो सठ फिर तेहिं मीच मरै।।** (विनय) फिर परम भागवत को प्रसन्न करने के लिये देवी ने अपने गणों सहित श्रीजड़भरतजी के सामने नृत्य-गान किया।

एकबार सिन्धु—सौबीर देश के राजा रहूगण पालकी पर चढ़कर श्रीकपिलदेवजी से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये कपिलाश्रम जा रहे थे। जब वह इक्षुमती नदी के किनारे पहुँचे तो उनकी पालकी का एक कहार अस्वस्थ हो जाने के कारण पालकी ढोने में असमर्थ हो गया। कहारों के मुखिया को एक कहार की खोज थी। दैववश उसे ये ही महापुरुष मिल गये। इन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर उसने सवारी के लिये उपयुक्त समझा और पकड़कर पालकी में जोड़ दिया। महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्य के योग्य नहीं थे तो भी वे बिना कुछ बोले चुपचाप पालकी को उठा ले चले। कोई-कोई सन्त महानुभाव कहते हैं कि वह मृग-शावक ही, जिसे ये पूर्व राजर्षि भरत रूप में नदी के प्रवाह से निकालकर

लालन-पालन किये थे। मारे प्यार के कन्धे पर उठाकर जहाँ-तहाँ ले जाते थे तथा जिसका चिन्तन करते हुये शरीर छोड़े थे, उसी ने राजा रहूगण के रूप में जन्म लिया और इनके शुभ चिन्तन के फलस्वरूप इन्हें पुनः मिला और संयोग की बात तो यह कि अब राजा बनने पर भी इनके कन्धे पर चढ़ गया परन्तु इन्होंने भी ऐसा अपनपौ माना कि अपने साथ ही इसे भी मुक्त कर दिया।

एक तो इन्हें पालकी ढोने का कोई अभ्यास नहीं था दूसरे कोई जीव पैरों तले दब न जाय, इस डर से आगे की एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे, इसलिये दूसरे कहारों से इनकी चाल का मेल नहीं खाता था, अतः पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी तो रहूगण ने पालकी उठाने वालों को डाँटा। तब उन सबों ने कहा—महाराज! यह हमारा प्रमाद नहीं है, यह एक नया कहार अभी-अभी पालकी में लगाया गया है, यह दोष इसी का है। राजा रहूगण यद्यपि महापुरुषों का सेवन किये थे, तथापि क्षत्रिय स्वभाववश रजोगुण व्याप्त बुद्धि होने के कारण रोषपूर्ण वचन बोले। इस महापुरुष के स्वरूप को समझे नहीं, तिरस्कार कर बैठे, परन्तु इन्होंने इसका कुछ भी बुरा नहीं माना क्योंकि वे समस्त सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से परे ब्रह्मरूप हो गये थे। लेकिन जब रहूगण ने राजापने के अभिमान में बार-बार अनाप-सनाप बातें कहीं, तो ये ब्रह्मभूत ब्राह्मण देवता मुस्कराये और परम शान्तिपूर्वक राजा रहूगण को उन्होंने आत्मतत्त्व का उपदेश किया और श्रद्धापूर्वक श्रीहरि-गुरु-सन्त- चरणों की उपासना को आत्मोद्धार के लिए परम श्रेयस्कर बताया। यथा—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्।।
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे।। (भा० ५/१२/१२-१३)

अर्थ—रहूगण! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि सेवा, दीन सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्म-ज्ञान और सुदुर्लभा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।। इसका कारण यह है कि महापुरुषों के समाज में सदा पवित्र कीर्ति श्रीहरि के गुणों की चर्चा होती रहती है। जिससे विषय-वार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती है और जब भगवत् कथा का नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुष की शुद्ध बुद्धि को भगवान वासुदेव में लगा देती है।

रहूगण को अपनी भूल पर बहुत पश्चात्ताप हुआ कि ऐसे महाज्ञानी को मैंने पालकी में लगाया और निरादर किया—इस अपराध का प्रायश्चित्त कैसे होगा। पुनः 'भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः' का स्मरण कर अत्यन्त भक्तिभाव पूर्वक राजा रहूगण ने श्रीजड़भरतजी को प्रणाम किया। यथा—

नमो नमः कारणविग्रहाय स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय।
नमोऽवधूतद्विजबन्धुलिङ्ग निगूढ़नित्यानुभवाय तुभ्यम्।। (भा० ५/१२/१)

अर्थ—भगवन् मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने जगत् का उद्धार करने के लिये ही यह देह धारण की है। योगेश्वर! अपने परमानन्द स्वरूप का अनुभव करके आप इस स्थूल शरीर से उदासीन हो गये हैं तथा एक जड़ ब्राह्मण के वेष से अपने नित्य ज्ञानमय स्वरूप को जन साधारण की दृष्टि से ओझल किए हुए हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। रहूगण अपनी जिज्ञासा का समुचित समाधान पाकर कृत-कृत्य हो गये।

राजर्षि भरतजी के सम्बन्ध में पण्डित जन ऐसा कहते हैं कि—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः । नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ।।
यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः । जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ।। (भा० ५-१४-४२-४३)

अर्थ—जैसे गरुड़जी की होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरत के मार्ग का कोई अन्य राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता।। उन्होंने पुण्य कीर्ति श्रीहरि में अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादि को युवावस्था में ही विष्ठा के समान त्याग दिया था। दूसरों के लिये तो इनका त्याग बहुत कठिन है।

महाभारत में एक दुष्यन्त-शकुन्तला पुत्र भरत का भी प्रसङ्ग आता है। जिनके जन्म के समय इन्द्र ने आकाशवाणी की थी कि—'शकुन्तले! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। पृथ्वी पर कोई भी इसके बल, तेज तथा रूप की समानता नहीं कर सकता। यह पुरुवंश का रत्न सौ अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञों द्वारा सहस्रों बार अपना सारा धन ब्राह्मणों के अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा। श्रीमद्भागवतजी में भरत को भगवान का अंशावतार कहा गया है। इनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न था और पैरों में कमल कोश का। श्रीभरतजी ने सत्ताइस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकच्छत्र शासन किया और एक सौ तैतीस अश्वमेध यज्ञ किये थे। अन्त में सार्वभौम सम्राट् भरत ने निश्चय किया कि लोकपालों को भी चकित करने वाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति अखण्डशासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है। सत्य स्वरूप तो एकमात्र परमात्मा ही हैं यह निश्चय कर उन्होंने संसार से एकदम उदासीन होकर भगवान श्रीहरि के श्रीचरणकमलों को चिन्तन करते हुये भगवान की दुरत्यया माया को सहज में जीत लिया और भगवत्पद को प्राप्त कर लिया। यथा—**दौष्यन्तिरित्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ।।** (भा० ९-२०-२७) आपके सम्बन्ध में भगवान वेदव्यासजी कहते हैं कि—

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपः। नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ।। (भा० ९-२०-२९)

अर्थ—भरत ने जो महान कर्म किया वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न तो आगे ही कोई कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथ से स्वर्ग को छू सकता है अर्थात् नहीं।

श्रीदधीचिजी—ये ब्रह्म पुत्र अथर्वा ऋषि के पुत्र थे। इनका एक नाम अश्वशिरा भी था ये बड़े ही ब्रह्मज्ञानी थे। एक समय इन्हीं दधीचि ऋषि के आश्रम में इन्द्र आए। अतिथि वत्सल ऋषि ने इन्द्र से कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं, जो कहिये, सो मैं करूँ।' इन्द्र ने कहा—आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए। महर्षि दधीचि दुविधा में पड़ गए। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है और उपदेश के योग्य अधिकारी इन्द्र नहीं हैं। आखिर उन्होंने वचन को सत्य रखने के लिए उपदेश देने का

निश्चय किया और भली-भाँति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषि ने प्रसङ्ग वश भोगों की निन्दा की तथा भोगदृष्टि से इन्द्र को और एक कुत्ते को एक-सा सिद्ध किया। इन्द्र ब्रह्मविद्या के अधिकारी तो थे ही नहीं, स्वर्गादि भोगों की निन्दा सुनकर उन्हें क्रोध आ गया और उन्होंने दधीचि ऋषि पर कई तरह से दोषारोपण करके मार डालने की इच्छा होने पर भी निन्दा, शाप और हत्या के डर से मारने की इच्छा छोड़ दी, परन्तु उन्होंने यह कह दिया कि यदि आप इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसी दूसरे को करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्र से आपका सिर उतार लूँगा। क्षमाशील ऋषि ने शान्त हृदय से इन्द्र की बात सुनकर बिना ही किसी क्षोभ या क्रोध से उनसे कहा—'अच्छी बात है। हम किसी को उपदेश करें, तब सिर उतार लेना।' इस बर्ताव का इन्द्र पर प्रभाव पड़ा और शान्त होकर स्वर्ग को लौट गये।

कुछ दिनों बाद अश्विनी कुमारों ने वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये महर्षि दधीचिजी के चरणों में उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिये प्रार्थना की। एकबार इन अश्विनी कुमारों ने पहले भी मुनि से यह निवेदन किया था, तो उस समय ऋषि ने यह कहकर टाल दिया था कि अभी आप लोगों में वैराग्य का अभाव है और बिना वैराग्य के ब्रह्म विचार व्यर्थ होता है—**'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।'** (रा०च०मा०) अतः आप लोग प्रथम वैराग्य युक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं आप लोगों को अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा। अब वे वैराग्य पूर्वक तत्त्व जिज्ञासा कर रहे हैं। अतः सत्यपरायण श्रीदधीचिजी ने सोचा कि 'इनको उपदेश न देने से मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करने पर इन्द्र मेरा शिर उतार लेंगे। वचन असत्य होने की अपेक्षा मर जाना उत्तम है। प्रतिज्ञा भङ्ग और असत्य का जो महान दोष होता है, उसके सामने मृत्यु क्या चीज है। शरीर का नाश तो एक दिन होगा ही।' यह विचारकर उन्होंने उपदेश देना निश्चय कर लिया। अश्विनीकुमारों को इन्द्र के साथ जो बात-चीत हुई थी, वह कहकर सुना दी।

अश्विनी कुमारों ने पहले तो कहा कि भगवन्! आप हम लोगों को कैसे उपदेश देंगे? क्या आपको इन्द्र के वज्र से मरने का डर नहीं है? परन्तु जब दधीचिजी ने कर्मवश शरीरधारी की मृत्यु की निश्चयता, परमार्थ रूप से असारता और सत्य की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी, तब अश्विनी कुमारों ने कहा—भगवन्! आप किंचित् भी भय न करें। हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्या से वंचित होना पड़ेगा। हम पृथक्-पृथक् हुये अङ्गों को जोड़कर जीवित करने की विद्या जानते हैं। पहले हम इस घोड़े का सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़े की धड़ पर रख देते हैं और घोड़े का सिर आपके धड़ से जोड़ देंगे और इन्द्र द्वारा कटा हुआ घोड़े का सिर घोड़े की धड़ से जोड़ देंगे। न घोड़े का ही कुछ बिगड़ेगा न आपका ही। महर्षि दधीचि ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भलीभाँति उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। जब इन्द्र को इस बात का पता लगा तो इन्द्र ने आकर वज्र से दधीचिजी के धड़ से जोड़ा हुआ घोड़े का सिर काट लिया। पश्चात् अश्विनीकुमारों ने सञ्जीवनी विद्या के प्रभाव से घोड़े की धड़ से जुड़ा हुआ ऋषि का सिर उतारकर उनके धड़ से जोड़ दिया और घोड़े पर घोड़े का सिर रखकर उसे जोड़ दिया फलस्वरूप दोनों जीवित हो गये। (उपनिषदों के चौदह रत्नों से, तैत्तिरीय ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद के आधार पर)

वृत्रासुर के महापराक्रम से पराभूत सबके सब देवता दीन-हीन और उदास हो गये तथा एकाग्रचित्त से अपने हृदय में विराजमान आदि पुरुष भगवान नारायण की शरण गये। देवताओं की प्रार्थना पर अन्तर्यामी

भगवान शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये उनके सामने प्रकट हो गये। भगवान का दर्शन पाकर सभी देवता आनन्द से विह्वल हो गये। उन लोगों ने धरती पर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे उठकर वे भगवान की स्तुति करने लगे। जब देवताओं ने बड़े आदर के साथ भगवान का स्तवन किया तो वरदानोन्मुख प्रभु देवताओं से बोले—देवताओ! तुम लोगों का कल्याण हो। अब देर मत करो। ऋषि शिरोमणि श्रीदधीचिजी के पास जाओ और उनसे उनका शरीर जो उपासना व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त सुदृढ़ हो गया है—माँग लो। वे तुम लोगों को माँगने पर अपना शरीर अवश्य दे देंगे। इसके बाद विश्वकर्मा द्वारा उनकी अस्थियों से एक श्रेष्ठ आयुध तैयार करा लेना। देवराज! मेरी शक्ति से युक्त होकर तुम उसी शस्त्र के द्वारा वृत्रासुर का वध कर सकोगे। इतना कहकर भगवान वहीं अन्तर्धान हो गये। अब देवताओं ने उदार शिरोमणि दधीचि ऋषि के पास जाकर भगवान की आज्ञा के अनुसार याचना की। देवताओं की याचना सुनकर महर्षि को बड़ा आनन्छ हुआ। उन्होंने हँसकर देवताओं से कहा—देवताओ! आप लोग जानते हैं कि—**जनमत मरत दुसह दुख होई।'** अतः जन्म लेने पर मरना कोई नहीं चाहता और जो लोग जग में जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिये शरीर बहुत ही अनमोल, प्रियतम एवं अभीष्ट वस्तु है। यथा—**'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।' 'सबके देह परम प्रिय स्वामी।'** ऐसी स्थिति में स्वयं विष्णु भगवान भी यदि जीव से उनका शरीर माँगें तो कौन उसे देने का साहस करेगा।

देवताओं ने कहा—ब्रह्मन्! आप जैसे उदार और प्राणियों पर दया करने वाले महापुरुष, जिनके कर्मों की बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव भी प्रशंसा करते हैं, प्राणियों की भलाई के लिये कौन सी वस्तु निछावर नहीं कर सकते हैं। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि माँगने वाले लोग स्वार्थी होते हैं। उनमें देने वालों की कठिनाई का विचार करने की बुद्धि नहीं होती। यदि उनमें इतनी समझ होती तो वे माँगते ही क्यों? इसी प्रकार दाता भी माँगने वाले की विपत्ति नहीं जानता, अन्यथा उसके मुँह से कदापि नाहीं नहीं निकलती। इसलिये आप हमारी विपत्ति समझकर हमारी याचना पूर्ण कीजिये। दधीचि ऋषि ने कहा—देवताओ! आप लोगों के मुँह से धर्म की बात सुनने के लिये ही आपकी माँग के प्रति उपेक्षा की थी। यह लीजिये मैं अपने प्यारे शरीर को आप लोगों के लिये अभी छोड़ता हूँ क्योंकि एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़ने वाला है। देव शिरोमणियों! जो मनुष्य इस विनाशी शरीर से दुःखी प्राणियों पर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यश का सम्पादन नहीं करता वह जड़ वृक्षादि से भी गया बीता है। **योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्। ईहेत् भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि।।** (भा० ६-१०-८) ऐसा निश्चय कर महर्षि दधीचि ने अपने को परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान में लीन करके अपना स्थूल शरीर त्याग दिया। कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन आता है कि श्रीदधीचिजी को समस्त तीर्थों के दर्शन की इच्छा थी, जब उन्होंने यह बात इन्द्र से कही तो देवराज इन्द्र ने नैमिषारण्य में समस्त तीर्थों का आह्वान किया। स्नान कर दधीचिजी ने पद्मासन लगाकर बैठकर अपना शरीर छोड़ दिया। इन्द्र के कहने पर जङ्गली गायों ने दधीचि के शरीर को चाट-चाटकर अस्थियों से त्वचा, माँसादि को अलग कर दिया। अब विश्वकर्मा ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से वज्र बनाया। जिसके द्वारा इन्द्र ने वृत्रासुर का वध करके लोक का कल्याण किया।

श्रीदधीचिजी की अस्थियों की कठोरता के सम्बन्ध में ब्रह्मपुराण में कथा आती है कि एक बार देवासुर संग्राम में देवता असुरों को पराजित करके अपने समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्र महर्षि दधीचिजी के

आश्रम में धरोहर रूप से रख गये। जब दैत्यों को यह बात मालूम हुई तो वे इन अस्त्र-शस्त्रों को हड़पने के विविध प्रयत्न करने लगे तथा महर्षि की सावधानी देख उनसे चिढ़ने लगे। दैत्यों ने दधीचिजी से भी बैर बाँध लिया। जब दधीचिजी को यह निश्चय हो गया कि दैत्य इन आयुधों को लेने पर तुले हैं तो इन्होंने उनकी रक्षा के लिये एक काम किया—इन्होंने पवित्र जल से मन्त्र पढ़ते हुये अस्त्रों को नहलाया फिर वह सर्वास्त्रमय परम पवित्र और तेज युक्त जल स्वयं पी लिया। तेज निकल जाने से वे सभी अस्त्र-शस्त्र शक्ति हीन होकर नष्ट हो गये और उनका तेज इनकी अस्थियों में समा गया अत: इनकी अस्थियाँ वज्र हो गईं।

इस प्रसङ्ग में महत्व की बात यह है कि जिस इन्द्र ने पहले महर्षि का सिर काट लिया था उन्हीं के मङ्गल के लिये इन्होंने अपना शरीर ही दे दिया। तभी तो कहा गया है—**उमा संत की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।।** धन्य औदार्य।।

श्रीविन्ध्यावलीजी

विन्ध्यावली तियासी न देखी कहूँ तिया नैन बाँध्यो प्रभु पिया देखि किया मन चौगुनौ।
करि अभिमान दान देन बैठ्यो तुमहीं को कियो अपमान मैं तो मान्यों सुख सौगुनौ।।
त्रिभुवन छीनि लिये दिये बैरी देवतान प्रानमात्र रहे हरि आन्यो नहिं औगुनौ।
ऐसी भक्ति होइ जो पै जागौ रहौ सोइ अहो रहो भव मांझ ऐ पै लागै नहीं भौगुनौ।।८७।।

शब्दार्थ—पिया=पति। मन चौगुनौ=अति प्रसन्न मन, चौगुना सुख माना। औगुनी=अवगुन, दोष। भौगुनौ=भवगुन, संसार की माया।

भावार्थ—राजा बलि की स्त्री विन्ध्यावलीजी के समान कोई भी स्त्री देखने-सुनने में नहीं आई। जिसने वामन भगवान द्वारा अपने पति को बाँधा गया देखकर अपने मन को थोड़ा भी मलिन नहीं किया, बल्कि मन में अति प्रसन्न हुई। उस समय भगवान की प्रार्थना करते हुए विन्ध्यावलीजी ने कहा—प्रभो! राजा आपका सेवक होकर, मैं बड़ा दानी हूँ इस अभिमान के वश अपने को दानी और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के स्वामी आपको तुच्छ भिक्षुक मानकर दान करने बैठ गया। इससे आपका बड़ा भारी अपमान हुआ। आपने जो कृपा रूप दण्ड देकर इसके अभिमान को चूर किया, इससे मैंने सौगुना सुख पाया। अहो! देखिये, रानी विन्ध्यावली की कैसी अपूर्व निष्ठा है कि वामन भगवान ने राजा से छल पूर्वक तीनों लोकों को छीनकर राजा बलि के शत्रु देवताओं को दे दिया, पति को अति अपमानित करके बँधवा दिया, नरक भेजने की धमकी दी। बलि के केवल प्राणमात्र शेष रहे, फिर भी विन्ध्यावलीजी ने भगवान में कोई दोष नहीं देखा, राजा की ही भूल मानी। यदि भगवान की दया से किसी में ऐसी भक्ति हो, तो वह चाहे जागता [सावधान होकर सत्कर्म करता] रहे अथवा सोता (लोगों की दृष्टि में निष्क्रीय) रहे। दोनों अवस्थायें समान हैं। वह संसार में संसारी की भाँति व्यवहार करता रहे पर उसे माया के गुण नहीं लगेंगे। वह जीवन मुक्त है।।८७।।

व्याख्या—विन्ध्यावली................तियानैन—

दुर्लभो वैष्णवो राजा दुर्लभो विप्रवैष्णवः।
दुर्लभा वैष्णवी नारी अति दुर्लभ दुर्लभाः।।

(अर्थ स्पष्ट है।) 'करि अभिमान........तुमहीं को'—यथा—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपित कर्तृ वादाः।। (भा० ८/२२/२०)

अर्थ—विन्ध्यावली ने कहा—प्रभो! आपने अपनी क्रीड़ा के लिए ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। जो लोग कुबुद्धि हैं वे ही अपने को स्वामी मानते हैं। जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं, तब आपकी माया से मोहित होकर अपने को झूठ-मूठ कर्ता मानने वाले निर्लज्ज आपको समर्पण क्या करेंगे? श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी कहते हैं कि—

मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधीः अथवा किंनु समर्पयामि ते।। (आलवन्दार)

अर्थ—हे नाथ! जो कुछ मेरा है, और स्वयं जो कुछ मैं हूँ, वह सब आपकी ही नियत निधि है। मेरा कुछ नहीं, ऐसा सोचने पर कुछ शेष रहता ही नहीं, जो मैं आपको समर्पण करूँ। क्योंकि जो आपका न हो वह आपको समर्पण किया जाय। ऐसी अवस्था में मैं आपको क्या समर्पण करूँ।

कियो अपमान—भगवान की सम्पत्ति को अपनी मानकर, स्वयं दाता बनकर स्वामी की वस्तु को, भगवान को दान देना, भगवान के समक्ष दानीपने का अभिमान करना, भगवान का अपमान ही है। एक कवि ने कहा है—'नारी काहू रङ्क की, अपनी कहै न कोइ। हरि नारी अपनी कहै, क्यों न फजीहत होइ।। आन्यो नहिं औगुनो—यह भक्त का स्वभाव है। यथा—''गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। (रा०च०मा०) यद्यपि यहाँ अवगुन की प्राप्ति है। विन्ध्यावली सोचैं तो सोच सकती हैं कि वामन रूप से याचना किये, विराट रूप से नापे। तीन पग माँगि, तीनों लोक नाप लिये। स्वयं भी नहीं रखे—'दिये वैरी देवतान।' सर्वस्व ले लिये—केवल प्राणमात्र बच रहे, उस पर भी वरुणपाश में बाँध, नरक का भय दिये, डांटे-फटकारे आदि। यह सब उचित नहीं हुआ है परन्तु विन्ध्यावली ने मन में किञ्चित्मात्र भी भगवान के प्रति दोष बुद्धि नहीं आने दी। अज्ञानी जीव तो बात-बात में—'कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।।' (रा०च०मा०) भगवान का अपमान करते हैं।

स्कन्द-पुराण में कथा आती है कि सर्वान्तर्यामी भगवान विन्ध्यावली के इस समीचीन भाव पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—देवि! तुम्हारे पति के द्वारा आज मुझे तीन पग पृथ्वी मिलनी चाहिये। इसकी पूर्ति कहाँ से होगी? विन्ध्यावली ने कहा—देव! आप समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी हैं, भला हम जैसे लोग आपको क्या दे सकते हैं? इसलिये इस समय मैं जो निवेदन करती हूँ उसके अनुसार आप कार्य कीजिये। मेरे स्वामी ने इस समय तीन पग भूमि देने की प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार मेरे पूज्य पतिदेव तीनों पगों के लिये स्थान इस प्रकार दे रहे हैं। प्रभो! देवेश्वर! आप अपना पहला पग मेरे मस्तक पर रखिये। जगत्पते! दूसरा पग मेरे इस बालक के मस्तक पर स्थापित कीजिये तथा जगन्नाथ! अपना तीसरा

पग मेरे पति के मस्तक पर रख दीजिए। केशव! इस प्रकार से मैं ये तीन पग आपको दे रही हूँ। भगवान ने इनकी भक्ति की सराहना की।

ऐसी भक्ति होइ—भगवान की प्रत्येक इच्छा में, प्रत्येक कार्य में मङ्गल विधान की विभावना करना, उसमें प्रसन्न रहना, म्लानता का हेतु उपस्थित होने पर भी प्रसन्न रहना—यथा—बलि के बाँधे जाने पर भी किया मन चौगुना, सब सम्पत्ति भगवान की समझते हुए, अपने को एक मात्र प्रभु का सेवक समझते हुए उसकी सार-सँभाल-सदुपयोग करना, दु:ख में भी सुख मानना, अवगुन में भी गुन मानना, एवं सर्वतो भावेन भगवान के श्रीचरण-कमलों में आत्म समर्पण कर देना—यदि ऐसी भक्ति हो, यथा—'जामें रहैं प्रसन्न हरि, कीजै सोई बात। अपनी चाह न ऊपजै, याही में कुशलात।। विन्ध्यावली जी में यह सब भाव प्राप्त हैं।

जागौ रहौ सोइ—यथा—'सर्वस सौंपि हरिहिं निश्चिन्ता। जागत सोवत जनहिं न चिन्ता।।' तात्पर्य यह कि ऐसी दशा में स्वयं भगवान उस जन की सदा-सर्वदा रक्षा में तत्पर रहते हैं। यथा—'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करउ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (रा०च०मा०) पुन:—'जो अनुरागी जन अहैं, साँचो हरि सों भाव। तिनको बाधा कछु नहीं, भावै सोवै गाव।। फिर तो—**रहै भव.....भौगुनो।।** जैसे कमल जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है। यथा—'साधु यों जग में रहैं ज्यौं नलिनी जल माहिं। सदा सर्वदा संग रहैं, पै जल परसत नाहिं।। 'मैं अरु मोर तोर तैं' मायाजन्य इस अभिनिवेश वश ही जीव को समस्त दोष-दु:ख प्राप्त होते हैं।

दृष्टान्त—मिथ्या ब्रह्मज्ञानी का—एक कोरा ज्ञान कथन करने वाले ब्रह्मज्ञानी ने बड़ा सुन्दर बाग लगाया था। संयोग की बात एक दिन एक गाय बाग में प्रवेश करके दो एक पौधे खा गई। इनको क्रोध आया, जोर से लाठी मारी, गैया मर गई। फलस्वरूप गो हत्या मूर्तिमान होकर इनके पास आई और बोली—तुमने जो गो-बधरूप महापाप किया है, उसके फल-भुगतान के लिये मैं तुम्हारे शरीर में प्रवेश करूँगी। मैं गो-हत्या हूँ। इन्होंने तुरन्त ब्रह्मज्ञान बघारा—हमने थोड़े ही गाय मारी है। वह तो हाथों ने मारी है और हाथों का भी क्या दोष है? हाथ के देवता तो इन्द्र हैं, बिना उनकी प्रेरणा के हाथ उठ ही नहीं सकता। अत: तुम इन्द्र के पास जाओ। हत्या इनके ज्ञान-कथन से प्रभावित होकर इन्हें छोड़कर इन्द्र के पास गई। जब सब वृत्तान्त इन्द्र को मालूम हुआ तो उन्होंने भी बात बना दी-देखने वाले तो नेत्र हैं, यदि नेत्र नहीं देखता तो मारने के लिए हाथ उठता ही नहीं, और नेत्र के देवता हैं सूर्य अत: तुम सूर्य के पास जाओ। सूर्य के पास जाने पर उन्होंने कहा—सभी इन्द्रियों का राजा मन है। बिना मनोयोग के कोई इन्द्रिय ठीक से कार्य नहीं कर सकती हैं और मन के देवता हैं चन्द्र तुम वहाँ जाओ। वहाँ जाने पर चन्द्र ने मन को उत्तेजित करने वाले अहंकार के देवता शिव के पास भेजा और शिव ने अहंकार का बोध कराने वाली बुद्धि के देवता ब्रह्मा के पास भेजा और ब्रह्मा ने सबके परम-प्रेरक भगवान विष्णु के पास भेजा। तब भगवान गो-हत्या को साथ लेकर उस ज्ञानी के ज्ञान की वास्तविकता का पता लगाने के लिये बाग में गये और वहाँ पहुँचकर बाग की बहुत बड़ाई की कि धन्य है उस बाग लगाने वाले को जिसने इतना सुन्दर बाग लगाया है, कैसे सुन्दर हैं इस बाग के वृक्ष, कैसी सुन्दर है इस बाग की रचना आदि। मिथ्या ब्रह्मज्ञानी प्रशंसा सुनकर फूल गये और अभिमान में भरकर बोले कि यह बाग हमारा लगाया है। मैंने इसको सींचा

है, सँभाला है आदि-आदि। तब भगवान ने मुस्कराकर गो-हत्या से कहा कि जब सबके कर्ता ये हैं तो गोवध के भी कर्ता ये ही हुए अत: उस पाप का फल भी इन्हीं को भोगना पड़ेगा। मीठा-मीठा गप्प और कड़ुवा- कड़ुवा थू-यह ठीक नहीं। यदि यह शुरू से अकर्ता ही बने रहते तो इससे भी न्यारे हो जाते, परन्तु जब बनाने का कर्ता ये अपने को मानते हैं तो बिगाड़ने का कर्ता कोई देवता या परमात्मा नहीं हो सकता। मैं-मोर, तैं-तोर आते ही कर्तृत्व भोक्तृत्व जीव का ही हो जाता है।

श्रीनीलध्वजजी—ये माहिष्मती नगर के राजा थे। इनके प्रवीर नाम का एक महापराक्रमी पुत्र था। श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के यज्ञिय अश्व को प्रवीर ने पकड़ लिया और अपने शौर्य के अभिमान में अर्जुन के पास यह संदेश भिजवा दिया कि मुझ नीलध्वज के पुत्र प्रवीर ने यज्ञिय अश्व को पकड़कर माहिष्मती नगरी में भेज दिया है। अब अर्जुन कोप करके इसे छुड़ा लें। प्रवीर की इस चुनौती को स्वीकार करते हुये घोर संग्राम हुआ। प्रवीर पाण्डव वीरों के समक्ष नहीं टिक सका, तब इसके पिता महाराज नीलध्वज तीन अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध भूमि में आ डटे। इनका मुकाबला वीरवर अर्जुन से रहा। अर्जुन ने इन्हें मूर्च्छित कर दिया, तब ये अपने जामाता अग्निदेव को बाणाग्र भाग पर प्रतिष्ठित करके पाण्डव सेना पर छोड़ दिये। जिससे असंख्यों वीर क्षणमात्र में भस्म हो गये। (नोट—नीलध्वज ने अपनी स्वाहा नाम की कन्या अग्निदेव को ब्याही थी।)

यद्यपि अर्जुन ने अग्नि को शान्त करने के लिये वरुणास्त्र का प्रयोग किया लेकिन अग्निदेव नहीं शान्त हुये, तब अर्जुन के नारायणास्त्र का प्रयोग किया। नारायणास्त्र का धनुष पर सन्धान हुआ देखकर अग्निदेव शान्त हो गये और अर्जुन के यह पूछने पर कि अब तक तो आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा रही है। आपने ही मुझे गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया है तथा आप सर्वदा मेरे साथ उत्तम और दिव्य सौहार्द का व्यवहार करते आये हैं, परन्तु आज मेरे विरुद्ध अधिकाधिक उद्दीप्त होते जा रहे हैं, क्या बात है? अब आप यों प्रेमभाव को तिलाञ्जलि देकर विपरीत व्यवहार करने पर उतारू हो गये हैं, तो बताइये, मैं कर ही क्या सकता हूँ।

अग्निदेव ने कहा—धनञ्जय! यदि तुम कमलनयन श्रीकृष्ण के समीप रहने पर भी अश्वमेध यज्ञ द्वारा युधिष्ठिर को पवित्र करना चाहते हो तो उन श्रीहरि के बिना यज्ञ, देवता अथवा मन्त्र-कोई भी उन्हें पवित्र करने में समर्थ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा श्रीकृष्ण में विश्वास नहीं है। तुम क्षीरसागर को पाकर भी दूध के लिये बकरी क्यों दुहाते हो तथा उदित हुये सूर्य का परित्याग करके प्रकाश के लिये जुगनू की आकांक्षा कैसे कर रहे हो? पार्थ! इस समय मैंने तुम्हारी सेना पर जो आक्रमण किया है, उसका प्रधान कारण यही है। नीलध्वज की प्रेरणा तो गौण है। यह कहकर अग्निदेव ने अर्जुन की नष्ट समस्त सेना को जीवित कर दिया और राजा नीलध्वज को समझाया कि भला—जिन्होंने इन्द्र के खाण्डव वन को सहज ही जलाकर भस्म कर दिया, जो श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग सखा हैं, उन्हें कौन हरा सकता है? अत: आप उनका यह यज्ञिय अश्व वापस करके उनसे मित्रता कर लो जिससे आपका कल्याण हो। राजा नीलध्वज ने ऐसा ही किया और अर्जुन से बोले—महाबाहु पार्थ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तब अर्जुनजी ने कहा—भूपाल शिरोमणे! आप श्रेष्ठ वीर हैं। इसलिये मेरे साथ रहकर मेरे इस यज्ञिय अश्व की रक्षा कीजिये। राजा नीलध्वज 'तथास्तु' कहकर राज्य अपने पुत्र प्रवीर को सौंपकर श्रीअर्जुन जी के साथ हो लिये और अश्व रक्षा में अपने अद्‌भुत पराक्रम का परिचय दिये। श्रीअर्जुन जी के द्वारा राजा

नीलध्वजजी की बड़ाई सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से इनका गाढ़ आलिंगन किया था। (जैमिनीयाश्वमेधपर्व)

श्रीमोरध्वजजी और ताम्रध्वजजी

श्रीमोरध्वजजी रत्ननगर के राजा थे, ताम्रध्वजजी इनके पुत्र थे। पिता-पुत्र दोनों ही परम भागवत थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' इसके अनुसार राजा मोरध्वजजी के राज्य में अन्त्यज भी शङ्ख, चक्र की छाप धारण करते थे और वैष्णवी दीक्षा पाकर ये सदाचारी हो गये थे जैसे वैदिकी दीक्षा से युक्त उच्च वर्ण के लोग सदाचार सम्पन्न होते हैं। यथा—**अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्ख चक्रैकधारिणः। सम्प्रदाय वैष्णवीं दीक्षाँ दीक्षिता इव सम्बन्धुः।।** (जैमिनीयाश्वमेध) महाराज मोरध्वजजी की साधु-सन्तों में बड़ी प्रीति थी। वेष मात्र साधु का देखकर सिंहासन छोड़कर आगे जाकर उसका स्वागत करते थे। यथा—**माला तिलक सहित जो आवै। सुनतै नृप आगे उठि धावै।। भवन लाय कै चरण पाखारै। चरणोदक सोइ मुख में धारै।।** (विश्राम सागर) जिस दिन किसी सन्त के दर्शन नहीं होते थे उस दिन राजा भोजन नहीं करते थे। जैसे पलटूदास। **पलटू धुनियां जाति का निस दिन धुनै कपास। जेहिं दिन सन्त मिलै नहीं तेहिं दिन करै उपास।।**

एक बार कुछ चोरों ने राजा की इस वेष-निष्ठा का अनुचित लाभ उठाने का निश्चय किया। वे साधु का वेष बनाकर राजा के यहाँ आये। राजा ने इनका बहुत सत्कार किया। महल में निवास दिया। एक दिन महाराज मोरध्वज वन की शोभा देखते-देखते दूर निकल गये। उन्होंने रात्रि में वन में ही निवास किया। इधर चोरों को मौका मिला, वे रानी को मारकर सारी रात धन-माल ढोते रहे। प्रातःकाल वे सिर पर मणि-रत्नों का गट्ठर लिये भागे जा रहे थे, उधर से घोड़े पर चढ़कर राजा महल को लौट रहे थे। वे इन्हें पहिचान लिये और घोड़े से उतरकर इन्हें दण्ड प्रणाम किये और यह विचार कर कि निश्चय ही मेरी अनुपस्थिति में इनका सत्कार ठीक से नहीं हुआ होगा, इसलिये ये चले जा रहे हैं, राजा ने इस अपराध के लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की और पुनः लौटने की प्रार्थना करने लगे। कहावत है—'चोर की दाढ़ी में तिनका' चोर डर गये कि घर ले जाकर हम लोगों को दण्ड देंगे, अतः धन सौंपते हुये अपना सही परिचय देने लगे कि 'महाराज! हम लोग साधु नहीं हैं, हम चोर हैं, हमने आपका धन चुराया है, इसे आप लीजिये और दया करके हम लोगों को छोड़ दीजिये।' राजा ने कहा—आप लोग कैसी बात कर रहे हैं, हमारा तो सर्वस्व आप सन्त-महात्माओं का ही है। आप लोग घर चलकर मुझे कृतार्थ करें। इस प्रकार अत्यन्त आग्रह करके राजा उन्हें लौटा लाये। घर पर आकर उनका पग धोये, स्वयं चरणामृत लिये और रानी के ऊपर भी छिड़का। रानी तत्काल उठ बैठीं जैसे प्रागाढ़ निद्रा से सोकर उठी हों। राजा-रानी दोनों ने बड़े भाव से इनके चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया। मोरध्वजजी की इस अगाध भक्ति-भावना का चोरों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, उनको अपने कुकृत्यों पर बड़ी ग्लानि हुई और सदा के लिये चोरी छोड़कर स्वयं भी साधु हो गये।

भगवान ने मोरध्वज के राज्य की रक्षा के लिये अपने सुदर्शनचक्र को नियुक्त कर रखा था। एक बार यमराज के दूत घूमते-घूमते इनके राज्य की ओर जा निकले। श्रीचक्रसुदर्शन ने उनको खदेड़ा। वे भागकर यमराज से जाकर शिकायत किये और अपना दण्ड-पाश यम के आगे फेंक दिये। यमराजजी ने भगवान विष्णु से इस बात की फरियाद की। भगवान ने हँसकर कहा—धर्मराज! सुनो, राजा मोरध्वज के

समान मेरा कोई भक्त नहीं है। इसलिये उनकी रक्षा के लिये चक्र को नियुक्त कर रखा है। फिर भला आपके दूतों का उधर जाने का प्रयोजन ही क्या ? धर्मराजजी ने श्रीमोरध्वजजी की भक्ति को जानना चाहा तो भगवान ने कहा कि वह कहने में नहीं आ सकती, आपकी इच्छा है तो चलिये दिखलाऊँ। फिर तो भगवान स्वयं साधु बने और धर्मराज को सिंह बनाये, साथ लेकर राजदरबार में आये। राजा ने बड़े भाव से सिंहासन पर पधराकर षोडशोपचार विधि से पूजन किया और भोजन के लिये निवेदन किया तो साधुरूप धारी भगवान ने कहा—प्रथम मेरे सिंह को सन्तुष्ट करो, पश्चात् मुझे खिलाने-पिलाने की बात करो और देखो, यह तुम्हारे पुत्र का माँस खाने की इच्छा करता है, अत: अन्य वस्तुओं से इसका समाधान नहीं हो सकता है। राजा बड़े प्रसन्न हुये और एक सेवक के द्वारा राजकुमार को बुलवाकर सन्त की बात कह सुनाई। यह सुनकर कुँवर ताम्रध्वज ने सिर झुकाकर आज्ञा शिरोधार्य करते हुए कहा कि—पिताजी ! वह शरीर धन्य है जो परोपकार में लगे। ऐसा कहकर राजकुमार ताम्रध्वज पिता को प्रणाम कर सिंह के सामने जाकर बोले—ईश्वर रूप अतिथि ! तुम शीघ्र ही मुझे खाकर अपनी आत्मा को तृप्त करो। इतने में ताम्रध्वज क्या देखते हैं कि साधु के स्थान पर भगवान विष्णु एवं सिंह के स्थान पर धर्मराज प्रगट हो गये और राजा एवं राजकुमार की भक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा कर तथा अविचल भक्ति का वरदान देकर अपने धाम को चले गये। (वि०सा०)

महाराज मोरध्वजजी नर्मदा तट पर सात अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करके आठवाँ यज्ञ कर रहे थे। यज्ञिय अश्व की रक्षा कर रहे थे राजकुमार ताम्रध्वज। उसके संग में अपार चतुरङ्गिणी सेना थी। इधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिर भी अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे। इनका भी सर्व शुभ-लक्षण-सम्पन्न अश्व श्रीअर्जुनजी के संरक्षण में छूट चुका था। अर्जुन के साथ थे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं असंख्य सेना। श्रीयुधिष्ठिरजी का वह यज्ञिय अश्व जब देश-देशान्तरों में घूमता हुआ मणिपुर से आगे बढ़ा तो उधर से ताम्रध्वज भी ससैन्य अपने घोड़े के साथ आ रहे थे। एक-दूसरे घोड़े के मस्तक पर बँधे हुये स्वर्ण पत्र को देखकर ताम्रध्वज ने अपने मन्त्री बहुलध्वज से उसे बाँचने को कहा। जब मन्त्री ने पढ़कर समस्त विवरण बताया तो राजकुमार ताम्रध्वज ने, यह जानकर भी कि यह अश्व अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित है, निर्भय होकर पकड़ लिया और सेना अर्द्धचन्द्र नामक व्यूह के आकार में खड़ी करके युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। तब तक भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने पाञ्चजन्य और देवदत्त नामक शङ्ख का तुमुल नारद करते हुये रणक्षेत्र में आ धमके।

श्रीकृष्ण को देखकर ताम्रध्वज आनन्द मग्न होकर कहने लगे—केशव ! अब आप अश्व को छुड़ाने के लिये तथा अर्जुन की रक्षा करने के लिये अपने सुदर्शनचक्र, शार्ङ्गधनुष तथा अन्य आयुधों को धारण कीजिये, आपसे मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि मैंने आपका दर्शन कर लिया है। इसके पश्चात् दोनों दलों में घोर युद्ध आरम्भ हुआ। अर्जुन की सेना के पाँव उखड़ गये तब अर्जुन स्वयं ताम्रध्वज से लड़ने लगे। दोनों महावीरों में सात दिन लगातार युद्ध होता रहा। युद्ध में अर्जुन को शिथिल देखकर श्रीकृष्ण ने क्रोध में भरकर परम तेजोमय चक्रसुदर्शन से क्षणमात्र में ताम्रध्वज की असंख्य सेना का संहार कर डाला परन्तु ताम्रध्वज घबड़ाया नहीं, बल्कि प्रसन्न होकर कहने लगा—भगवन् ! आपने जो मेरी सेना का संहार कर दिया, यह तो बड़ा उत्तम कार्य किया, क्योंकि यह मेरे और आपके बीच में व्यवधान रूप थी। अब इसके न रहने पर मैं यहाँ खड़े हुये आपके वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर सकूँगा। देव ! जैसे काँच

की खोज करने वाले को दिव्य मणि की प्राप्ति हो जाय, उसी तरह अपने यज्ञिय अश्व की रक्षा करते हुये मुझे अकस्मात् आपका दर्शन सुलभ हो गया।

श्रीकृष्ण ने कहा—राजकुमार! यह बात करने का अवसर नहीं है, अब तुम अपना पराक्रम दिखाओ और मेरे पराक्रम को भी देखो। इतना कहकर श्रीकृष्ण ने चक्र को हाथ में सँभाला और चलाने के लिए ज्यों ही हाथ को ऊपर उठाया कि ताम्रध्वज ने श्रीकृष्ण के उस चक्रधारी हाथ को अपने दाहिने हाथ में ले लिया और वेगपूर्वक बायें हाथ से उन देवेश्वर के चरणों को पकड़कर अपने ललाट पर रख लिया। उधर श्रीकृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने अपने धनुष पर सौ बाणों का सन्धान कर एक साथ ताम्रध्वज पर प्रहार किया, परन्तु महाबली ताम्रध्वज ने उन बाणों की किंचित परवाह न कर हँसते हुए अपनी दोनों भुजाओं से श्रीकृष्ण के साथ ही अर्जुन को भी पकड़ लिया। मौका देखकर श्रीकृष्ण ने उसे बड़े जोर से धक्का दिया, जिससे ताम्रध्वज पृथ्वी पर गिर पड़ा परन्तु वाह रे वीर! गिरते समय भी अपने हाथ के वेग से उन श्रीकृष्ण और अर्जुन को भी साथ ही खींच ले गया। अपने तो शीघ्र ही उठ खड़ हो गया परन्तु अर्जुन और श्रीकृष्ण को तो प्रगाढ़ मूर्छा आ गई।

ताम्रध्वज ने देखा कि दोनों यज्ञिय अश्व अपने नगर की ओर जा रहे हैं तो स्वयं भी अपने हतावशिष्ट वीरों को साथ लेकर पिता मयूरध्वज के पास आ पहुँचा। यज्ञमण्डप में विराजमान राजा मोरध्वज ने जब दोनों घोड़ों के साथ पुत्र को आया हुआ देखा तो दूसरे अश्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। ताम्रध्वज ने कहा—पिताजी! यह दूसरा अश्व धर्मराज युधिष्ठिर का यज्ञिय अश्व है। इसकी रक्षा के लिये उन्होंने श्रीकृष्ण की संरक्षकता में धनुर्विद्या विशारद अर्जुन को नियुक्त किया था। उनके साथ और भी बहुत से रणधीर वीर थे। घोर संग्राम हुआ, सेना को पराजित करके तथा अर्जुन और श्रीकृष्ण को मूर्च्छित करके इन घोड़ों को आपके पास लाया हूँ। अब आप इन दोनों द्वारा अपना अश्वमेध यज्ञ सोल्लास सम्पन्न करें। यह सब सुनकर राजा मयूरध्वज अपने पुत्र पर प्रसन्न नहीं हुए बल्कि असन्तुष्ट होकर मन्त्री बहुध्वज से बोले—मन्त्रिन्! देखो तो सही, मेरे इस मूर्ख पुत्र ने अपने वश में आये हुए अर्जुन और श्रीकृष्ण को छोड़कर इन दोनों घोड़ों को लेकर मेरे पास लौटा है। हाय! यह तो मेरे लिये बड़े कष्ट की बात हुई, मैं तो ठग लिया गया। मेरे यज्ञ की पूर्णता तो नर-नारायणावतार अर्जुन और श्रीकृष्ण के आने से होगी न कि घोड़ों के आने से। फिर मयूरध्वज ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये यज्ञ का भी परित्याग कर उनके पास जाने का निश्चय किया।

इधर मणिपुर में श्रीकृष्ण की मूर्च्छा दूर हुई, तब भगवान श्रीकृष्ण ने ताम्रध्वज और मोरध्वज की बड़ी बड़ाई की। अर्जुन की समझ में यह नहीं आ रहा है कि स्वयं वीर शिरोमणि मैं और सर्व समर्थ श्रीकृष्ण मेरे संरक्षक, फिर मैं एक बालक से कैसे हार गया। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी अर्जुन की इस शङ्का का समाधान करते हुए आगे का प्रसङ्ग वर्णन करते हैं। यथा—

अर्जुन के गर्व भयो कृष्ण प्रभु जानि लियो दियो रस भारी याहि रोग यों मिटाइयै।
मेरो एक भक्त आहि तो को लै दिखाऊँ ताहि भये विप्र वृद्ध संग बाल चलि जाइयै।।
पहुँचत भाष्यो जाइ मोरध्वज राजा कहाँ वेगि सुधि देवो काहू बात जा जनाइयै।
सेवा प्रभु करौं नेकु रहौ पाउँ धरौं जाइ कहौ तुम बैठो कही आग सी लगाइयै।।८८।।

शब्दार्थ—रस=भक्ति, रस औषधि। रहौ=रुकौ। धरौं=पकड़ौं।

भावार्थ—एक समय अर्जुन को बड़ा भारी अहंकार हो गया कि—मैं भगवान का बड़ा भारी भक्त हूँ। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण ने यह जान लिया कि—मैंने इसे सख्यरस प्रदान किया पर इसे अहंकार हो गया। यह सबसे बड़ा रोग है, इसलिए इसे मिटा देना चाहिए। ऐसा विचार कर आप अर्जुन से बोले कि—मेरा एक प्रेमी भक्त है, मेरे साथ चलो, तुम्हें उसका दर्शन कराऊँ। पर ऐसा करो कि मैं एक वृद्ध ब्राह्मण बन जाऊँ और तुम एक बालक बन जाओ, इस तरह दोनों चलें। वेष बनाकर राजा मोरध्वज के यहाँ गये और द्वार पर जाकर सेवकों से पूछा कि—राजा कहाँ है? उसे मेरे आने की सूचना शीघ्र दो। तब किसी ने जाकर राजा को सूचना दे दी। राजा ने कहा—मैं प्रभु की सेवा कर रहा हूँ, तुम जाकर दोनों के चरण पकड़ो और प्रार्थना करो कि—प्रभो! बिराजिये, थोड़ी सी प्रतीक्षा कीजिए। उसने आकर कहा। सुनते ही वे ऐसे क्रोधित हो गए मानो उनके शरीर में आग लग गई हो।।८८।।

व्याख्या—अर्जुन के गर्व भयो—अर्जुनजी को अपनी वीरता एवं भक्ति दोनों का ही गर्व हो गया था। महाभारत के युद्ध में विजय पाण्डवों की हुई, परन्तु हुई श्रीकृष्ण कृपा से ही, यह निर्विवाद सत्य है। लेकिन शौर्य की सराहना हुई अर्जुन की ही। भगवान श्रीकृष्ण भी यदा-कदा प्रसङ्ग वशात् अर्जुन के बल-पराक्रम की, शौर्य-वीर्य की, धीरता-वीरता की, युद्ध-कौशल की सराहना कर देते थे, अतः वीरता का अभिमान हो जाना स्वाभाविक है और वेद वेद्य, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वंदित-पादारविन्द, स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने जिनका सारथ्य तक किया, उन्हें यदि अपनी भक्ति का अभिमान हो जाय तो क्या आश्चर्य है? लेकिन यह अभिमान है समस्त अनर्थों का मूल। यथा—'संसृति मूल शूलप्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना।। (रा०च०मा०) पुनः—कियो करायो सब गयो, जब आयो अभिमान।

कृष्ण प्रभु जानि लियो—कैसे जान लिये? तो इस पर कहते हैं कि 'प्रभु' जो ठहरे। अर्थात् 'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये।'

दियो रस भारी—इसके दो अर्थ—श्रेष्ठ सख्य रस, और उसमें भी भारी अर्थात् अत्यधिक दे दिया, जिसे अर्जुन सँभाल नहीं सके, जिससे गर्व हो गया। २-(जब अभिमान रूप रोग हो गया तो उसे दूर करने के लिये) भारी रसायन रूप महौषधि दिया। 'याहि रोग यों मिटाइये'—जैसे श्रीनारदजी को काम-विजय का अभिमान होने पर प्रभु ने विचार किया—'करुना निधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।। वेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी।।' भगवान को अभिमान से बहुत चिढ़ है तथा—'वेद पुरान कहैं जग जान गुमान गोविन्दहिं भावत नाहीं। (कवितावली) जैसे भगवान भक्तों के अन्य अवगुणों पर ध्यान नहीं देते हैं। यथा—जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ। (रा०) परन्तु अभिमान तो भक्तों का भी नहीं रहने देते, और की तो बात ही क्या? यथा—सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखैं काऊ।। (रा०) सत्यभामा, गरुड़, चक्र आदि अपने निजी परिकरों तक का अभिमान नहीं रहने दिये। प्रसङ्ग पूर्व आ चुका है। (देखिये हनुमानजी की कथा) इसी से भगवान का एक नाम ही पड़ गया है 'गर्व प्रहारी' यथा—धाये कनक मृगा के पीछे राजिव लोचन गर्व प्रहारी। (सूर सागर) इसी गर्व को दूर करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने ऐसी लीला करी। राजकुमार ताम्रध्वज के द्वारा पराजित कराके अर्जुन के वीरता के गर्व को खर्व कर दिया और आगे मोरध्वजजी की भक्ति-निष्ठा का दर्शन कराके इनके भक्ति के अभिमान को भी दूर कर दिया।

मेरो एक....ताहि—जब भगवान श्रीकृष्ण ने ताम्रध्वज और मोरध्वजजी की बहुत बड़ाई की तो अर्जुन के मन में ऐसे भक्त एवं ऐसे भक्तों की भक्ति को देखने की इच्छा हुई, तब भगवान ने कहा—मेरा एक भक्त अर्थात् मोरध्वजजी हमारे एक=अनुपम=अद्वितीय भक्त हैं। **भये विप्रवृद्ध संगबाल**—यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन—दोनों ही समवयस्क हैं, तो भी चूँकि अभिमान होने से बड़े, छोटे हो जाते हैं और अमानित्व से छोटे भी बड़े हो जाते हैं, इसलिये अर्जुन को बालक बनाये और स्वयं वृद्ध ब्राह्मण बने। बालक बनाने का एक यह भी भाव है कि अभिमान करना बाल-बुद्धि का ही काम है। पुनः—अर्जुन शिष्य हैं और भगवान श्रीकृष्ण गुरु। यथा— 'शिष्यस्तेऽहं' (गीता २/७) पुनः—इससे जगत पिता श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति वात्सल्य भी जनाया। विप्र इसलिये बने कि ब्राह्मण सदा सम्मान्य है। यथा—**पूजिय विप्र सीलगुण हीना।।** (रा०) **'ब्राह्मणो नितरांगुरुः'** (भा०)

कही आगिसी लगाइये—जब मोरध्वजजी सेवा में तुरन्त उपस्थित न होकर बैठकर प्रतीक्षा करने के लिये कहे तो अर्जुनजी श्रीकृष्ण की ओर देखकर मुसकरा दिये। मुसकराने का भाव यह था कि बड़ी बड़ाई करते थे, देख लिया आपके भक्त की श्रद्धा भक्ति को। एक तो राजा ने बैठने को कहला दिया, इधर अर्जुन ने व्यङ्गात्मक हँसी-हँस दी। अतः भगवान को भारी झेंप का अनुभव हुआ इसलिये 'आगसी लगाइये' और चले अनखाइ........।

चले अनखाय पाँय गहि अटकाय जाय नृप को सुनाय ततकाल दौरे आये हैं।
बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी निपट नवेल फल पाँय याते पाये हैं।।
दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै सुख लीजै यही, पीजै वाणी रस मेरे नैन लै सिराये हैं।
सुनि क्रोध गयो मोद भयो सो परीक्षाहिये लिये चित चाव ऐसे बचन सुनाये हैं।।८९।।

शब्दार्थ—अनखाय=रिसाय। अटकाय=रोककर। फरी=फली, फलवती हुई। चाह बेली= आशारूपी लता। निपट=बिल्कुल। नवेल=नवीन, नये। सिराये=शीतल।

भावार्थ—दोनों ब्राह्मण कुपित होकर चल दिये, तब द्वारपालों ने चरण पकड़ कर उन्हें रोका और राजा के पास जाकर सूचित किया। सुनते ही राजा मोरध्वज दौड़कर शीघ्र आए। प्रार्थना और प्रणाम करते हुए बोले—आज आपने बड़ी कृपा की, जो मुझे दर्शन दिया। आज मेरी आशा रूपी लता फूल और फल गई क्योंकि मुझे आपके चरणरूपी सुन्दर नवीन फल मिल गए। अब आप जिस लिए आए हैं वह आज्ञा मुझे दीजिए। मैं उसे करूँ और सुख लूँ। आप दोनों महापुरुष के दर्शन से मेरे नेत्र शीतल हो गए हैं। सुधारूपी आपकी वाणी के रस का पान करना चाहता हूँ। राजा के मधुर वचन सुनकर उनका क्रोध ठण्डा हो गया। वे अति प्रसन्न हुए। उनके मन में मोरध्वज की परीक्षा लेने की रुचि थी, इसलिए वे इस प्रकार बोले।।८९।।

व्याख्या—पाँय गहि अटकाय—इससे राज-सेवकों की सेवा में सावधानी दिखाई गई। वे जानते हैं कि राजा बड़े ब्रह्मण्य हैं। यदि राजद्वार पर आकर बिना सत्कार पाये ब्राह्मण चले जाते हैं तो राजा को बड़ा दुःख होगा। उसमें भी चले अनखाय अर्थात् क्रोध में भरकर जा रहे हैं। ब्राह्मण का क्रोध बड़ा अमङ्गलकारी होता है। यथा—**मङ्गल मूल विप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।** (रा०)

पुनः—**नाहं विशंके सुरराज वज्रात्....**(भा०) (देखिये कवित्त ७१) इसलिये सेवकों ने ब्राह्मण रूपधारी भगवान को जैसे-तैसे अनुनय विनय करके, हाथ जोड़कर, पाँवों में पड़कर रोका और राजा को सूचना दी। इससे सेवकों की भी ब्राह्मण भक्ति दर्शित होती है। सुनकर राजा '**ततकाल दौरे आये**'—इससे राजा की ब्राह्मण भक्ति प्रगट होती है। **बड़ी कृपा करी**—भाव यह है कि सन्त-भगवन्त की प्राप्ति कृपा साध्य ही है, साधन साध्य नहीं। जब भगवान कृपा करते हैं तो भक्तों का दर्शन होता है। **फरी चाह बेल**—से जनाया गया कि राजा निरन्तर सन्तों के शुभागमन की अभिलाषा करते रहते हैं। 'आज' से जनाया गया कि वैसे तो इनके यहाँ सन्त महात्मा आते ही रहते हैं, परन्तु आज तो भगवान ही साधु रूप धारण कर आ गये। साधारण सन्तों की सेवा करने से विशेष सन्त भगवान के दर्शन हो गये।

दृष्टान्त—एक राजा का—एक राजा थे वे रोज नियम से चिड़ियों को चुगा डलवाते थे। बहुत दूर-दूर से पक्षी चुगा चुगने के लिये आते थे। एक दिन बहुत से पक्षियों के समूह को आकाश मार्ग से इधर ही आते देखकर हंसों का समुदाय भी इनके साथ उतर पड़ा। लोगों को दुर्लभ मानसरोवर वासी हंसों का दर्शन हो गया।

दूसरा दृष्टान्त—श्रीयुधिष्ठिरजी का—आपके यहाँ बड़े भाव से साधु ब्राह्मणों की सेवा होती थी। इनके सेवा भाव से सन्तुष्ट होकर एक दिन परम हंसाचार्य शुकदेवजी भी आकर पंक्ति में बैठ गये। उस समय घण्टा अपने आप बजने लगा। श्रीयुधिष्ठिरजी ने जब घण्टा बजने का रहस्य श्रीकृष्ण से पूछा तो प्रभु ने बताया कि आज महाराज श्रीशुकदेवजी आपके यहाँ पधारे हैं।

निपट नबेल फल०—पूर्व कहे कि फरीचाह बेलि। अब फल को बताते हैं-पाँय अर्थात् आपके श्रीचरण कमल ही मेरी चाह बेलि के फल हैं। आज निपट नबेल से जनाया गया कि महाराज मोरध्वजजी को इनमें लोकोत्तरता का अनुभव हो रहा है। नहीं तो सन्त तो इनके यहाँ आया ही करते थे। **पीजै वाणी रस**-का भाव यह कि नेत्र तो आपके रूपामृत का पान करके शीतल हुये अब श्रवन आपके वचनामृत पान के लिये लालायित हैं, इन्हें भी तृप्त कीजिये। **सुनि क्रोध गयो**-विनम्र वचनों से क्रोध शान्त हो जाता है। यथा—**अति विनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुग पानी।। राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने।** (रा०च०मा०) श्रीराम जी के विनम्र वचनों को सुनकर श्रीपरशुराम जी का क्रोध शान्त हो गया। **मोद भयो**—इसके दो कारण १. राजा की भक्ति देखकर २. मन-माना परीक्षा का योग लगा जानकर। **परीक्षा हिये**—प्रीति—परीक्षा की परिपाटी है। यथा—**सो प्रभु जन कर प्रीति परिच्छा।।** पुनः—**पारवती पहिं जाइ तुम प्रेम परीछा लेहु।।** आदि (रा०) लोक रीति है कि दो पैसे की हण्डी लेते हैं तो उसे ठोक बजाकर लेते हैं अतः प्रभु भी किसी के जीवन के समस्त छर-भार को स्वीकार करते समय थोड़ा जाँच परख लेते हैं। अतः प्रभु भी किसी के जीवन के समस्त छर-भार को स्वीकार करते समय थोड़ा जाँच परख लेते हैं परन्तु परीक्षा लेने का यह गौण कारण है। प्रधान कारण तो है—भक्त के सुयश को परमोज्ज्वल करना।।

देबे की प्रतिज्ञा करो करी जू प्रतिज्ञा हम जाहि भाँति सुख तुम्हैं सोई मोको भाई है।
मिल्यो मग सिंह यहि बालक को खाये जात कही खावो मोहिं नहीं यही सुखदाई है।।

काहू भाँति छोड़ो नृप आधो जो शरीर आवै तौ ही याहि तजौं कहि बात मों जनाई है।
बोलि उठी तिया अरधङ्गी मोहि जाइ देवो पुत्र कहै मोको लेवों और सुधि आई है।।९०।।

शब्दार्थ—भाई=अच्छी लगने वाली। जनाई=बताई। अरधंगी=अर्द्धांगिनी, पत्नी।

भावार्थ—राजन्! हम जो भी वस्तु माँगे, पहले तुम उसे देने की प्रतिज्ञा करो। राजा ने कहा—प्रभो! मैंने प्रतिज्ञा कर ली, जिस प्रकार से आपको सुख होगा, हम वही करेंगे और वही हमें प्रिय होगा। वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—मैं वन के मार्ग से आ रहा था, वहाँ एक सिंह मिला। वह इस बालक को खा जाना चाहता था। मैंने उससे कहा—तुम मुझे खा लो और इसे छोड़ दो। उसने कहा—नहीं, मुझे तो इस बालक का माँस ही प्रिय है। मैंने कहा—ऐसा मत करो, किसी प्रकार इस बालक को छोड़ दो। उसने कहा—यदि राजा मोरध्वज का आधा शरीर आवे, तभी मैं उसे खाकर इसे छोड़ सकता हूँ, ऐसा उस सिंह ने कहा है। इतने में रानी बोल उठी—मैं राजा की अर्धांगिनी हूँ मुझे सिंह को अर्पण कर दो। राजा के पुत्र ने कहा—इस बालक के बदले में मुझ बालक को अर्पण करना सिंह के लिए अति प्रिय होगा। ब्राह्मण देव बोले—सुनो, भूली हुई एक बात और याद आ गई।।९०।।

व्याख्या—मिल्यो........खाये जात—अभिमान सिंह है, साधन च्युत कर देना ही खा जाना है। भाव यह कि अभिमान होने पर साधक अपने साधन से भ्रष्ट हो जाता है। 'खावो मोहिं, नहिं भाई है, भाव यह कि भगवान सर्वदा-सर्वथा अमानी हैं, अभिमान कभी छू भी नहीं जाता, इसी से अच्युत हैं। क्योंकि च्युत करने वाला तो अभिमान ही है। जैमिनीयाश्व मेध पर्व में लिखा है कि—श्रीमोरध्वज के पूछने पर ब्राह्मणरूपधारी भगवान ने अभीष्ट अभिव्यक्त करते हुए कहा—राजन्! मैं जिस कार्य के लिये आपके पास आया हूँ, उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये मैं अपने पुत्र का विवाह करने के लिये परम रमणीय धर्मपुर से रवाना हुआ हूँ, मार्ग में मैंने सुना कि आपके इस नगर में कृष्ण शर्मा नामक ब्राह्मण रहते हैं वे आपके पुरोहित हैं, उनके एक कन्या है व माननीयों का समादार करने वाले हैं, अतः अपनी कन्या मेरे पुत्र के लिये दे देंगे। ऐसा विचार करके मैं पुत्र को साथ ले आपके नगर की ओर आ रहा था, तब तक मार्ग में भयङ्कर वन में पहुँचने पर वहाँ क्रोध में भरा हुआ एक सिंह मिला। उसने मेरे देखते-देखते मेरे तरुण पुत्र को पकड़ लिया। उसे छुड़ाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। मैंने उसे अपना शरीर देना चाहा तो उसने कहा—'त्वदीयं तपसा दग्धं वृद्धं गात्रं न रोचते।' अर्थात् तुम्हारा शरीर तो तपस्या से दग्ध एवं वृद्ध हो चुका है। अतः यह मुझे पसन्द नहीं है।

काहू भाँति छोड़ो—मैंने उससे कहा कि—**केनोपायेन दानेन तपसा वा प्रमुञ्चसि**। अर्थात् तुम दान से, तपस्या से अथवा किस उपाय से मेरे पुत्र को छोड़ सकते हो सो कहो। 'नृप आधो जो शरीर आवै' इससे परीक्षा की कठोरता दर्शायी गई। पूरा शरीर दे देना सरल है जैसे शिविजी ने कबूतर के प्राण बचाने के लिए अपना पूरा शरीर दे दिया था। परन्तु आधा देने वाली बात तो बड़ी कठिन है। **अरधङ्गी, मोहि जाइ देवो-यद्देवेभ्यो यच्च पित्रागतेभ्यः कुर्यादभर्ताभ्यर्चनं सत्क्रियातः। तस्याप्यर्धं केवलानन्यचित्ता नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव।।** अर्थ—देव, पितर अरु अतिथि का पूजन अरु सत्कार। ताके आधे पुण्य में पतिव्रता अधिकार।। (भ०व०टि०) अतः महारानी ने कहा—**राजन् विप्राय देहार्धं त्वया देयं मयाश्रुतम्। तवार्धगात्रं भार्यास्मिमां दत्वा सत्यवाग्भव।।** (जै०) अर्थ—राजन्! मैंने सुना

है कि अपने शरीर का अर्ध भाग ब्राह्मण को देना चाहते हैं, सो आपका अर्धाङ्ग तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं आपकी भार्या हूँ। अतः आप मुझे ब्राह्मण को देकर अपने वचन को सत्य करिये।

पुत्र— **पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।**
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा।। (म० भा०)

अर्थ—पुत्र 'पुत्' नामक नरक से पिता का त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजी ने उसे पुत्र कहा है। पुत्र पिता की आत्मा ही होता है। यथा—'आत्मा वै जायते पुत्रः' (उपनिषद्) अतः पुत्र ने कहा—**यो वै पिता स पुत्रो हि श्रुतिरेषा सनातनी। ब्राह्मणार्थे हि मत्पित्रा शरीरार्धं समर्पितम्। शरीरार्धं समग्रं हि पितुर्भवति पुत्रकः।।** (जै०) अर्थ—जो पिता है वही पुत्र है, यही सनातनी श्रुति है। इसलिये यदि मेरे पिताजी ने अपने शरीर का अर्धभाग ब्राह्मण को देने के लिये प्रतिज्ञा की है तो पिता के शरीर का सम्पूर्ण आधा भाग पुत्र ही होता है, वह मैं चलने के लिये तैयार हूँ।

मोरध्वज की पत्नी का नाम कुमुद्वती है। पत्नी और पुत्र ने ही स्वधर्म निर्वाह किया। भगवान ने देखा कि राजा तो सहज ही बच जाते हैं, पत्नी अथवा पुत्र—दोनों में से किसी एक के जाने से धर्मतः राजा की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाती है और हमारा परीक्षा का प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है, तब भगवान ने और कड़ा कदम उठाया और अब की बार राजा के साथ-साथ रानी और राजकुमार की भी परीक्षा लेने का निश्चय किया, अतः बोले—अरे भाई! एक बात और याद आ गई।

सुनो एक बात सुत तिया लै करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नाहिं पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भाँति अहो नासा लगि आयो जब ढर्‌यो दृग नीर भीर बाकर न चाखिये।।
चले अनखाय गहि पांय सों सुनाये बैन नैन जल बांयो अङ्ग काम किहिं नाखिये।
सुनि भरि आयो हियो निज तनु श्याम कियो दियो सुखरूप व्यथा गई अभिलाषिये।।९१।।

शब्दार्थ—करौत=आरा। धीरैं=धैर्यपूर्वक तथा धीरे-धीरे। भीरैं=कष्ट। ढर्‌यौ=गिर्‌यौ। भीर=सङ्कट। बाकर=सिंह। नाखिये=फेंका या बिगाड़ा जायगा। भरि आयो=करुणापूर्ण हुआ।

भावार्थ—पीछे से उस सिंह ने जो कहा था उसे सुनिये—राजा के शरीर को आरा से राजा की स्त्री और पुत्र दोनों धैर्य पूर्वक धीरे-धीरे चीरें। कोई किसी कष्ट से अधीर न हो, अन्यथा मैं राजा के शरीर को न खाकर इस बालक को खाऊँगा। ऐसा ही किया गया, जब आरा राजा की नासिका तक आ गया, तब राजा के बायें नेत्र से आँसू बहने लगे। यह देखकर वृद्ध ब्राह्मण बोले—राजा को कष्ट हो रहा है, वह आँसू बहाकर रो रहा है, अब इसे सिंह नहीं खायेगा। ऐसा कहते हुए अप्रसन्न होकर वे चल दिए। तब चरण पकड़कर राजा ने कहा—प्रभो! बायें नेत्र से आँसू इसलिये आए कि वह अंग व्यर्थ होगा, किसी काम न आयेगा। दाहिना अंग भाग्यशाली है। राजा का यह हार्दिक भाव सुनकर उनका हृदय करुणा से भर गया। श्रीकृष्ण अर्जुन दोनों राजा के सामने प्रकट हो गए। भगवान ने राजा के शरीर को स्वस्थ करके सुखस्वरूप दर्शन दिया। राजा के शरीर का कष्ट दूर हो गया। तब भगवान ने वरदान देने की अभिलाषा प्रकट की।।९१।।

व्याख्या—सुततिया.......चीरैं—जैमिनीय में वर्णन आया है कि राजा मोरध्वजजी ने ब्राह्मण के वचन को सुनकर अपने पुत्र ताम्रध्वज को राजसिंहासन पर बैठा दिया और स्वयं गंगाजल से भली प्रकार स्नान किया, श्रीशालग्राम शिलाओं के प्रक्षालित जल से अपने को सींचा और तुलसीदलों से बनी हुई माला गले में धारण कर ली, शरीर को शङ्ख चक्र से अङ्कित किया, इस प्रकार राजा मोरध्वज आनन्दपूर्वक हँसते हुए सभा मण्डप में आये और सभी ब्राह्मणों से कहने लगे—द्विजवरो! ये ब्राह्मण देवता अपने पुत्र की जीवन-कामना से मेरे पास आये हुए हैं। अतः मैं इन्हें श्रीकृष्ण के समान मानकर अपने शरीर का आधा भाग देकर इनका सत्कार करूँगा। मेरे राज्य में छोटा-सा भी सिंह नहीं रहता, अतः नृसिंह के अतिरिक्त और कौन ब्राह्मण के पुत्र को पकड़ सकता है। आज तो 'दुहूँ हाथ मुद-मोदक मोरे' हैं। इधर ब्राह्मण देवता प्रसन्न होंगे, उधर भगवान नृसिंह। इसके बाद राजा ने आज्ञा करी कि अब यहाँ दो खम्भे खड़े कर दिये जांय तथा बढ़ई आरा लिये हुए आ जायँ और मेरे मस्तक को दो भागों में चीर दें। यह सुनकर ब्राह्मण बोला—

सुनो......गात चीरैं—भगवान ने सोचा कि पत्नी-पुत्र की महाराज में बड़ी ममता है। तब तो प्राण की बाजी लगाकर राजा की रक्षा के लिये प्रयत्नशील है अतः राजा के शरीर को चीरने का कठोर कार्य इन्हीं को सौंपा। यदि इनका राजा की अपेक्षा ब्राह्मणों में अधिक भाव होगा, तब तो सहर्ष चीरने के लिये प्रस्तुत हो जायेंगे, अन्यथा आनाकानी करेंगे। इससे इनकी भी परीक्षा हो जायेगी। चीरैं, धीरैं, भीरैं, नाहिं—में कठोर, कठोरतर, कठोरतम, परीक्षा का भाव है। शरीर को आरे से चीरकर दो भाग करना, कठोर है, धीरे-धीरे चीरना कठोरतर, एक बारगी किसी तीक्ष्ण धार वाले आयुध से दो टुकड़े कर देना उतना क्लेश कर नहीं है और उसमें भी खेद न होवे, यह कठोरतम कार्य हैं। जबकि इस बात को सुनने मात्र से प्रजा में हाहाकार मच गया था।

कीन्ह्यो वाही भाँति—महाराज मोरध्वजजी धैर्यपूर्वक 'केशव' 'राम' 'नृसिंह' आदि भगवान के मंगलमय नामों का जप करने लगे। हाथ में आरा लिये हुए राजकुमार ताम्रध्वज सन्मुख थे। रानी पीछे थीं। ये भी भगवान का स्मरण करके धीरे-धीरे आरा चलाने लगे। 'चले अनखाय'—श्रद्धाहीन दान का देना और लेना—दोनों ही व्यर्थ होते हैं अतः चले.....। गहि पांय—क्योंकि—'शापत ताड़त परुष कहन्ता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।। (रा०) सो सुनाये बैन—रानी ने राजा के विदीर्ण भये मस्तक को दोनों हाथों से थाम लिया। तब राजा बोले। 'नैन जल बांयो—भाव यह कि यदि दुःख के आँसू होते तो दोनों नेत्रों में आँसू होते। 'अङ्ग.....नाखिये'—राजा मोरध्वजजी ने कहा—ब्रह्मन्! मैंने सोचा कि मेरा दक्षिणाङ्ग तो ब्राह्मण के कार्य में लग जायेगा, इसलिये इसका तो उत्तम उपयोग हो गया, परन्तु वामांग यों ही व्यर्थ फेंक दिया जायगा। इसी कारण मेरे बांये नेत्र में आँसू आ गया। विप्रवर! मुझे तीक्ष्ण धार वाले आरे से चीरे जाने पर वैसी व्यथा नहीं मालूम हुई, जैसी यहाँ अपने बाँये अंग के ब्राह्मण से विमुख हो जाने से हो रही है।

दियो सुख रूप—उस समय कमल लोचन भगवान श्रीकृष्ण ने कृपा करके दर्शन दिया राजा का आलिंगन करके उनके भक्ति-भाव की सराहना किया। यथा—'समालिङ्ग्याब्रवीत् वीर कृष्णः कमललोचनः। धन्योऽसि नृपशार्दूल मयूरध्वज सुव्रत'।। (जै०) 'व्यथा गई'—भगवान के दर्शन-स्पर्श

से समस्त दु:खों की निवृत्ति हो जाती है। यथा—'निरखि राम छविधाम मुख विगत भई सब पीर।' 'कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनभा कुलिस गई सब पीरा।।' भगवान ने अपना कर कमल राजा के सिर पर फिराया, जिससे उनका शरीर परम दिव्य एवं तेजोमय हो गया।

अभिलाषिये—भगवान श्रीकृष्ण ने राजा से वर माँगने को कहा, राजा मोरध्वजजी बोले—'नाथ देखि पद कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे।।' अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे। दीन दयाल अनुग्रह तोरे।। (रा०च०मा०) भगवान ने कहा—राजन्! मैंने माना कि आपको अब कोई अभिलाषा नहीं, अत: आपको अपनी किसी इच्छा की पूर्ति के लिए कोई वरदान नहीं चाहिए परन्तु मेरी अभिलाषा तो है आपको वर देने की। अत: मेरी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए मुझसे कुछ अवश्य माँगिये।

मोपै तौ दियौ न जाइ निपट रिझाइ लियो तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिये साल है।
मांगौ बर कोटि चोट बदलो न चूकत है सूकत है मुख सुधि आये वही हाल है।।
बोल्यौ भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानौ कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान दीयो जू बखानो बेगि साधुपै परीक्षा जनि करो कलिकाल है।।९२।।

शब्दार्थ—साल=दु:ख। चूकत=चुकता। सूकत=सूखता। कृत=किया। जाल=बहुत।

भावार्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने राजा मोरध्वज से कहा—राजन्! तुमने अपने कठिन एवं बड़े भारी त्याग से मुझे बहुत अधिक रिझा लिया है। इसके बदले में मुझसे कुछ भी नहीं दिया जा सकता है, मैं क्या दूँ। यह समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी प्रसन्न होकर यदि मैं तुम्हें कुछ भी नहीं देता हूँ तो इससे मेरे हृदय में भारी वेदना रहेगी। तुम करोड़ों वर माँग लो और मैं दे भी दूँ, तो उस महान कष्ट का बदला चुक नहीं सकता है। तुम्हारी उस दशा का स्मरण आते ही हृदय के ताप से मेरा मुख सूखने लगता है। प्रभु की यह प्रेम भरी बात सुनकर भक्तराज मोरध्वज बोले—महाराज! आप परम उदार शिरोमणि हैं, आपकी प्रसन्नता के लिए यदि कोई थोड़ा-सा भी कार्य करता है तो आप अपनी कृतज्ञता से उसे बड़ा भारी सुकृत मान लेते हैं। अब आप यदि कुछ मुझे देना ही चाहते हैं तो एक वरदान दीजिए। भगवान अकुलाकर बोले—राजन्! मैंने दे दिया, शीघ्र बताओ क्या चाहते हो? मोरध्वज ने कहा—प्रभो! आप कलिकाल में साधु-भक्तजनों की परीक्षा कभी न लीजियेगा। 'एवमस्तु' कहकर दोनों चले गए। अर्जुन का अहंकार दूर हो गया।।९२।।

व्याख्या—मोपे तौ दियो न जाइ—प्रेमियों के प्रेम का बदला नहीं चुकाया जा सकता है इसलिये प्रेमियों के तो भगवान सदा-सर्वदा ऋणी ही रहते हैं। यथा—'न पारयेऽहं.....(भा०) (देखिये गोपी-प्रेम, छप्पय १०) भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि—विभो! आप इन भक्तों को क्या देकर उऋण होंगे, जिनके एकमात्र सर्वस्व आप ही हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में अर्पण कर दिया है? भगवान ने कहा—ब्रह्मन्! जब मैं अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक हूँ, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हूँ, तब ये प्रेमी भक्त जो भी लेंगे वही देकर उऋण हो जाऊँगा। दिव्यातिदिव्य सौख्य साधन, उच्च से उच्च कोटि का ऐश्वर्य देकर उनसे उऋण हो सकता हूँ। ब्रह्मा ने कहा—भगवन्! संसार में जितना भी सुख है, उन सबका पर्यवसान आनन्द बिन्दु में है, तो क्या आप इन प्रेमियों को आनन्द बिन्दु देकर ही ऋण से छुटकारा पाना चाहते हैं? यह हो नहीं सकता। भला जिनके मणिमय प्राङ्गण में

धूलि धूसरित होकर परमानन्दसिन्धु ही मूर्तिमान होकर 'थेई-थेई' करता हुआ नाच रहा है, उनको आनन्द बिन्दु की अपेक्षा ही क्या ? भगवन् विविध सुख-सामग्री, ऐन्द्र, माहेन्द्र एवं ब्राह्मपद के समस्त वैभवों को देकर भी इनसे उऋण नहीं हो सकते। आपको तो इनका चिर ऋणी ही रहना पड़ेगा।

भगवान ने कहा—अच्छा ब्राह्मन् मैं इन प्रेमी भक्तों को अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द सिन्धुसार सर्वस्व अपने आपको ही दे डालूँगा। तब तो इनसे मुक्त हो जाऊँगा ? ब्रह्मा ने फिर कहा—भगवन्! अपने आपको तो आपने लोक बालघ्नी, रुधिराशना राक्षसी, पिशाचिनी पूतना को भी दे डाला था, दुर्वृत्त राक्षसेश्वर रावण जैसे अत्याचारियों को भी दे दिया था। जो महद् वस्तु उन विरोधियों को दी गई, वही इन अनन्य, अन्तरंग प्रेमी भक्तों को दी जाय, यह न्याय नहीं। इसलिये अपने आपको देकर भी आप इनसे उऋण नहीं हो सकते। भगवान ने कहा—अच्छा इनके कुटुम्ब भर को अपने को दे डालूँगा। फिर ब्रह्मा ने कहा—हे देव! पूतना का क्या कोई बचा था ? अघासुर बकासुर—सब तो आपको पा गये। रावण भी तो सकुटुम्ब आपको पा गया। अन्त में भगवान ने कहा—अच्छा ब्रह्मन्! मैं इन प्रेमियों का ऋणी ही रहूँगा। यथा—**एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति। सद्वेषादिव पूतनापिसकला त्वामेव देवापिता यद्धामार्थ सुहृत्प्रियात्मतनय प्राणाशयास्त्वत्कृते।।** (भा० १०-१४-३५) अतः कहते हैं—'मो पै तो दियो न जाय।'

बोल्यो भक्तराज—श्रीप्रियादासजी राजा मोरध्वजजी को भक्तराज कहते हैं। इतना बड़ा त्याग, बलिदान करके भी उसे स्वल्प समझना वा कुछ नहीं समझना यह भक्तराज का लक्षण है। सर्व साधारण तो करते हैं थोड़ा, मानते हैं अधिक। भक्त करते हैं अधिक मानते हैं कम। परन्तु भक्तराज तो सर्वातिशय करके भी उसे कुछ नहीं समझते। भगवान की कृपा को, सदा सर्वदा निर्हेतुक मानते हैं। **बड़े महाराज**—कहकर राजाओं की तीन कोटियाँ दर्शायी गई—१. राजा २. महाराजा ३. बड़े महाराज। राजा—जो सेवा अनुरूप फल देते हैं। यथा— **सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यौं विहीन गुन पथिक पिया से जात पथके।** महाराज—जो सेवा से अधिक फल देते हैं। यथा—**कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है।** बड़े महाराज—जो बिना सेवा किये भी भूरि-भूरि कृपा-कोश लुटाते रहते हैं यथा—**बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं। ऐसो को उदार जगमाहीं।।** (वि०) राजा, महाराजा तो और हो सकते हैं परन्तु बड़े महाराज तो भगवान ही हैं।

थोरोऊ.......कृतजाल है—यथा—जनगुण अलप गनत सुमेरू करि, अवगुण कोटि विलोकि बिसारन। (वि०) 'निज करतूति न समुझिय सपने। सवेक सकुच सोच उर अपने।।' देखि दोष कबहुं न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने।। (रा०च०मा०) **दीजै दान**-श्रीमोरध्वजजी वरदान नहीं माँगते हैं, दान-भिक्षा माँगते हैं, यह इनका दैन्य है।'' 'बखानौ बेगि'-भाव यह है कि कहने की देर है, मुझे देने में देर नहीं है। साधु......कलिकाल है—भाव यह कि भक्तों की परीक्षा लेने का आपने नियम बना रखा है, तो सतयुग, द्वापर, त्रेता में भले परीक्षा लिया करें, परन्तु आगे कलिकाल आने वाला है। इस युग में सभी लोग स्वल्प सत्व (धैर्य) वाले होंगे, भला वे इतनी कठोर परीक्षा में कैसे समुत्तीर्ण हो सकते हैं। 'कलिकाल है'—कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना। कलिकाल में तो तनिक सी क्षुधा-तृषा की बाधा भी सहने में लोग असमर्थ हैं। यथा—'चार सबेरी चार अबेरी इतनी दे गोपाला।

इतने में से एक घटै तो लै यह अपनी माला।। (विशेष देखिये कवित्त १६ -कलि की कुचालि) ऐसे युग में यदि किसी से थोड़ा बहुत भी भजन बन जाय तो उसे धन्य समझना चाहिये।

भगवान श्रीकृष्ण ने मोरध्वजजी का मनोवांछित पूर्ण किया, तत्पश्चात् बोले—महामते! महान् आत्मबल से सम्पन्न आपने अपनी निष्ठा से मुझे जीत लिया है, अत: मैं आपके यज्ञ में कर्मचारी होकर कार्य करूँगा। एक तो मैं यों ही भक्त-पराधीन हूँ, दूसरे तुम्हारे पुत्रने मुझे संग्राम भूमि में जीत लिया है तीसरी आपकी निष्ठा ने मुझे बिना दाम का चेरा बना लिया है। यह सुनकर मोरध्वज जी ने कहा—लक्ष्मीपते! आप जगदीश्वर का दर्शन हो जाने पर, आपके नाम लेने पर, आपके चरणों में नमस्कार करने पर तथा आपका गुणानुवाद सुनने पर करोड़ों यज्ञों के अनुष्ठान का पुण्य यों ही प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं। गोविन्द! मैं आपको पाकर भी यदि यज्ञानुष्ठान में लग जाऊँ तो ये वेद वेदाङ्ग के पारगामी विद्वान ब्राह्मण मेरी हँसी उड़ायेंगे। जनार्दन! ऐसा कौन मूर्ख होगा जो प्यास से व्याकुल होने पर श्रीगङ्गाजी को पाकर भी, उसका परित्याग कर ओसकणों की ओर दौड़ेगा। तत्पश्चात् राजा मोरध्वज ने भगवान की षोडशोपचार विधि से पूजा एवं स्तुति की। भक्त-वत्सल भगवान अर्जुन को राजा की भक्ति का दर्शन कराते हुए उनके भक्तिभाव से सन्तुष्ट होकर उस रत्नपुर में तीन रात तक ठहरे रहे। तदनन्तर राजा मोरध्वज ने अर्जुन को हृदय से लगाया और अपनी सारी सम्पत्ति तथा जीवन भी भगवान श्रीकृष्ण के हाथों में समर्पित कर दिया।

श्रीमोरध्वजजी की इस लोकोत्तर निष्ठा को देखकर अर्जुन का गर्व सर्वथा दूर हो गया, भगवान की कृपा को मुख्य माने और हाथ जोड़कर अत्यन्त दीन होकर भगवान से बोले—

पद— **कहहुँ कहाँ लगि कृपा तिहारी।**
कुल कलङ्क सब मेटि हमारे कीन्ह जगत जस पावन कारी।।
द्विज कानीन हमारो आजा गोलक पिता वंश को गारी।
हम सब कुण्डज यह जगजानै ताहू में औरें गति न्यारी।।
महा कष्ट करि व्याहहिं कीन्हों ह्वै गइ तिया पंच भरतारी।
व्यसनी बड़ दूषणयुत राजा हम से अधिक जु अग्र जुवारी।।
या कुकर्म की अवधि कहा है जो तिय राज सभा में हारी।
हते पितामह बन्धु विप्र गुरु लोभी नीच स्वारथी भारी।।
समुझौ नहीं कौन विधि रीझै हम हैं ऐसे अधम विकारी।
अति आतुर ह्वै रक्षा कीनीं असन वसन की सबै सँभारी।।
यह तो साधन को फल नाहीं बार बार हम मनहिं बिचारी।
वीरभद्र केवल कृपाते विगरति गई सो सबै सुधारी।।

पद में आये हुये पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण-कानीन—'कानीन: कन्यका जात: सुत:' (अमरकोश) अर्थ—कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र। पाण्डवों के आजा=पितामह श्रीव्यासजी हैं। व्यासजी का प्रादुर्भाव सत्यवती (योजनगन्धा) से कन्यावस्था में ही पराशर जी के तेज से हुआ है, अत: व्यासजी कानीन हुये। विशेष देखिये छप्पय ५ व्यासावतारकी कथा। गोलक—'मृतेभर्तरि गोलक:'—जो पति के

मरने पर अन्य पुरुष से उत्पन्न हुये हों उनका नाम गोलक है। पाण्डवों के पिता पाण्डु गोलक हैं। (विशेष देखिये पाण्डवों का प्रसङ्ग छप्पय ९) कुण्ड:—'अमृते जारज: कुण्ड:—अपने पति के जीते ही अन्य पति से जो पुत्र हों उनका नाम कुण्ड हैं। पाण्डव कुण्ड है। पाण्डुजी के जीते ही धर्म, वायु, इन्द्र एवं अश्विनी कुमारों से कुन्ती तथा माद्री के श्रीयुधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव हुये हैं। (विशेष देखिये पाण्डवों का प्रसंग छप्पय ९) 'ह्वै गई तिया पंचभर्तारी'—(देखिये द्रौपदी-प्रसंग कवित्त-७१)

ब्राह्मण पुत्र की रक्षा करने के लिये मोरध्वज का सिंह हेतु स्व शरीरार्द्ध देने पर दृष्टान्त गन्धर्व जीमूत वाहन का—

चौ०— **बैनतेय बैरी नागन के। जाइ पताल खाहिं गन गन के।।**
सकल नाग मिलि कियो बिचारा। दिन प्रति होइ महा संहारा।।
गरुड़हिं एक नाग नित दीजै। यहि विधि कुल की रक्षा कीजै।।
विनता सुत सों बिनय सुनाई। मानि लियौ हिय अति हरषाई।।
ता दिन ते जलनिधि के तीरा। भेजैं एक नाग मति धीरा।।
खाहिं सुपर्ण समय पर जाई। शङ्खचूड़ की बारी आई।।
निज जननी के इकसर नागा। रोवत माता सहित अभागा।।

दो०— **समझावैं दोउ दुहुन को, बाढ़्यो शोक अपार।**
धीरज हृदय न आवई, करत करुण चित्कार।।

छन्द— **चित्कार सुनि जीमूत वाहन आइ तेहिं अवसर गये।**
सुनि हेतु हिय उमड़ी दया रक्षा करन तत्पर भये।।
बोले बचन तिन्हसों मधुर मानो सनेह सुधा सने।
हौं जाउँ गरुड़ समीप त्यागहु सोच तुम दोऊ जने।।

सो०— **सुनि कै बचन उदार, भये स्वस्थ सुत जननि दोउ।**
माने अति उपकार, जोरि पानि यह कहत भे।।

चौ०— **धन्य धन्य तुम परम दयाला। पर हित सत मारग प्रतिपाला।।**
सुनि तव बचन मोह मम गयऊ। अब हौं यह अपने मन लयऊ।।
निज हित तुमहिं जान नहिं दैहौं। शिवहिं नाइ सिर तुरत सिधैहौं।।
अस कहि गये करन परनामा। त्यौं जिमूत वाहन तेहि ठामा।।
आइ तुरत बैठ्यो वेदी पर। आये गरुड़ जानि निज अवसर।।
चोंचन्ह तनहिं विदीरन कीन्हें। खात भक्ष्य अति हित चित दीन्हें।।
तब तक एकाएक रुकि गयऊ। गरुड़ हृदय अति विसमय भयऊ।।
अहो जीव यह परम सुधीरा। हँसत मुदित यद्यपि अति पीरा।।
तब जिमूत वाहन यह बोले। क्यों न खाहु जिय करत कलोले।।
तन में अबहिं मांस है मेरे। नारिन रुधिर प्रवाह घनेरे।।
भर्‌यो न उदर तुम्हारो अबहीं। फिर क्यों रुक्यो खात तन सबहीं।।

तौलौं शङ्खचूड़हू आयौ । अघटित घटना लखि अकुलायौ।।
गरुड़हिं सकल भेद बतलायौ । सुनत सुपर्ण महा दुख पायौ।।
स्वर्गहिं जाइ सुधा लै आये । दिय जिमूत वाहनहिं जिलाये।।
पुनि भविष्य हित किय पन भारी । हिंसा नहिं करिहौ दुखकारी।। (बौद्ध कथा)

श्रीअलर्कजी

अलरक कीरति में राँचौं नित सांचो हिये किये उपदेश हू न छूटै विषै वासना।
माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ आवै जो उदर मांझ फेरि गर्भ आसना।।
पतिको निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो ताको लै गये निकासि मिलि काशी नृप शासना।
मुद्रिका उघारि और निहारि दत्तात्रेयजू को भये भवपार करी प्रभु की उपासना।।९३।।

शब्दार्थ—रांचौं=रंग जाऊँ, अनुरक्त होऊँ। विषै=विषय, इन्द्रियों के भोग। वासना=भोगने की इच्छा। आस ना=आश=आशा+ना=नहीं। निहोरो=प्रार्थना। कोरो=कोरा, जिस पर रंग न चढ़ाया गया हो, बिना धुला।

भावार्थ—मैं भक्तवर श्रीअलर्क की कीर्ति के कथन-श्रवण में सच्चे हृदय से मग्न रहूँ। इस मायिक जगत् में प्राय: उपदेश करने पर भी विषयों को भोगने की इच्छायें नहीं छूटती हैं। अलर्कजी माता मन्दालसा के पुत्र थे। माता की यह बड़ी भारी प्रतिज्ञा थी कि जो भी जीव मेरे उदर में आयेगा, उसे दूसरी बार गर्भ में जाने की आशा या आवश्यकता कदापि नहीं होगी। वह आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्त होकर भगवान के श्रीचरणों का अनुरागी हो जायेगा। मन्दालसाजी के चार पुत्र हुए, उनमें से तीन पुत्र माता के उपदेश से पूर्ण विरक्त होकर वन को चले गये। पतिदेव के निहोरा करने पर सबसे छोटे अलर्कजी को माता ने ज्ञान का उपदेश देकर वैराग्य रंग में नहीं रंगा, इसलिये ये कोरे ही रहे। इन्हें प्रवृत्तिमार्ग की शिक्षा मिली। माता ने एक उपदेश सूत्र लिखकर उसे मुद्रिका में बन्द करके वह मुद्रिका अलर्कजी को दे दी और कहा कि—जब महान संकट पड़े तब खोलकर इसे देखना। तत्पश्चात् अलर्कजी को राजगद्दी पर बैठाकर पतिदेव के साथ मन्दालसा जी भजन करने के लिए वन को चली गईं। वहाँ भजन में संलग्न पुत्रों को देखकर अति प्रसन्न हुई। माता को अलर्क की चिन्ता थी।

अधिक समय तक संसारी सुखों को भोगने के बाद भी जब अलर्कजी को वैराग्य नहीं हुआ। तब माता ने अलर्क के बड़े भाइयों को भेजा कि—अलर्क को संसार बन्धन से छुड़ा लाओ। इन लोगों ने माता की आज्ञा के अनुसार अलर्क को बहुत उपदेश किया, पर अलर्कजी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। तब उन्होंने अपने मामा काशी नरेश से मिलकर अलर्क के राज्य पर आक्रमण करा दिया। चारों ओर से बड़ी भारी सेना ने नगर को घेर लिया। भयङ्कर संकट आया देखकर माता के द्वारा दी हुई मुद्रिका को खोलकर अलर्कजी ने देखा। पत्र के पढ़ते ही संसार को असार समझकर राज्य का परित्याग करके वन को चले गए और विरक्त होकर भगवद्भजन में तल्लीन हो गए। वन में दत्तात्रेय भगवान का दर्शन हुआ, उनसे उपदेश पाकर प्रभु की उपासना की और संसार सागर से सहज ही पार हो गए।।९३।।

व्याख्या—कियो.......वासना—यथा—पद—

मेरो मन हरि जू हठ न तजै।
निशिदिन नाथ देऊँ सिख बहु बिधि करत सुभाऊ निजै।।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल विसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजैं।।
लोलुप भ्रम गृह पशु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजैं।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।।
हौं हार्यो करि जतन बिबिध विधि अतिशै प्रबल अजै।
तुलसिदास वश होहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।। (वि०)

दृष्टान्त—वृद्ध बणिक का—देखिये क० २९

पति........कोरो—माता मन्दालसाजी के गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। विक्रान्त, सुबाहु, शत्रुमर्दन और अलर्क। जब प्रथम पुत्र हुआ तो राज्य में बड़ा हर्ष मनाया गया। राजा ऋतध्वज ने उस पुत्र का नाम विक्रान्त रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगी। कारण पूछने की इच्छा रहते हुए भी राजा नहीं पूछ सके। मदालसाजी ने अपनी प्रतिज्ञानुसार शैशवावस्था से ही बालक को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। यथा—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्तिनाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः।। (मा० पु०)

अर्थ—हे तात! तू शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो मुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पंचभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) का बना हुआ है। यह न तेरा है, न तू इसका है। फिर किसलिये रो रहा है। पुनः—'शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसार माया परिवर्जितोऽसि। संसारनिद्रां त्यजस्वप्नरूपां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्।। (अर्थ स्पष्ट है।) परिणाम यह हुआ कि उस बालक ने बाल्यावस्था में ही ज्ञानी एवं ममता शून्य होकर आत्म-साक्षात्कार के लिये वन की राह ली।

इसी प्रकार जब मदालसाजी को दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ तब पिता ने उसका नाम सुबाहु रखा। इस पर भी मदालसा हँसी तथा इस बालक को भी उपदेश देकर पूर्ववत् ज्ञानी बना दिया। तृतीय पुत्र उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम शत्रुमर्दन रखा। इस पर भी मदालसा बहुत देर तक हँसती रही तथा इसको भी ज्ञानोपदेश देकर जीवन्मुक्त बना दिया। राजा ऋतध्वज जब चौथे पुत्र का नामकरण करने चले तो सदाचार परायण मदालसा उस समय भी मन्द-मन्द मुस्करा रही थी, तब राजा ने हँसने का कारण पूछा और यह भी कहा कि यदि मेरे द्वारा धरे गये नाम अच्छे न हों तो इस चौथे बालक का नामकरण तुम ही करो। मदालसाजी ने राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर चौथे बालक का नाम अलर्क रक्खा, जिसे सुनकर राजा बहुत ठठाकर हँसे और सर्वथा असम्बद्ध नाम रखने का कारण पूछा मदालसा ने कहा—राजन्! लौकिक व्यवहार चलाने के लिये कोई नाम रख लिया जाता है,, वस्तुतः आत्मा का इन नामों से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा

व्यापक होने से न तो विक्रान्त (एक जगह से दूसरी जगह जाने वाला) है, और न निराकार होने से सुबाहु ही है तथा तत्वतः सभी शरीरों में एक ही आत्मा का निवास होने से, शत्रु-मित्र भेद रहित होने से शत्रुमर्दन नाम भी असंगत ही है। ऐसे ही मैंने अलर्क नाम भी रख दिया है, जिसका प्रयोजन मात्र व्यवहार सिद्धि है। परमार्थ नहीं। तदनन्तर मदालसा ने पहले पुत्रों की भाँति उसको भी ज्ञान जनक बातें सुनानी आरम्भ कीं।

तब राजा ऋतध्वज ने कहा देवि! हमने तुम्हारी सभी इच्छाओं को पूर्ण किया, अब तुम मेरी भी एक इच्छा पूर्ण करो। वह यह कि मेरे इस पुत्र को प्रवृत्ति मार्ग में लगाओ, जिससे वंश परम्परा का उच्छेद न हो तथा पितरों के पिण्डदान का लोप न हो। पति के यों निहोरा-विनती करने पर मदालसाजी ने अपने छोटे पुत्र अलर्क को बड़े विस्तार से प्रवृत्ति परक वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, राज-धर्म, विधि-धर्म, निषेध-धर्म का उपदेश दिया। तदनन्तर बहुत समय बाद वृद्धावस्था आने पर धर्म-परायण महाराज ऋतध्वज ने अपनी पत्नी के साथ तपस्या करने केलिये वन में जाने का विचार किया और पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसा ने अपने पुत्र की विषय भोग विषयक आसक्ति को हटाने के लिए उससे यह अन्तिम वचन कहा—बेटा! यदि तुम्हारे ऊपर कोई असह्य दुःख आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठी से यह उपदेश पत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्र पर बहुत सूक्ष्म अक्षरों में लिखा है, तुम अवश्य पढ़ना। तत्पश्चात् पुत्र को अँगूठी देकर, राज्य कार्यभार सौंपकर, बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर महाराज ऋतध्वज और महारानी मदालसा वन में चले गये।

माता-पिता का वन में आगमन सुनकर सभी पुत्रों ने आकर प्रणाम किया। माता मदालसा अपने ही पुत्रों को पहचान न पाईं। इसलिये कि बचपन में ही (११ साल की अवस्था में) घर छोड़कर चले आये थे। अब बहुत बड़े हो गये थे, सिर पर जटाजूट, शरीर पर बल्कल, परम तेजोमय रूप, अतः पहचानना कठिन था। माता ने पूछा—आप लोग किसके कृपा पात्र हैं? वे बोले—हम श्रीमाता मदालसाजी के कृपापात्र हैं। माँ ने बड़ा स्नेह किया, अपने को तथा पुत्रों को धन्य माना तथा अलर्क के लिये पुत्रों से अनुरोध किया कि जैसे हो तैसे उसे भी परमार्थ पथ पर अग्रसर करो। माता की आज्ञा शिरोधार्य कर ज्येष्ठ पुत्र सुबाहु नगर में आये और बाग में आसन लगाये। जब अलर्कजी अपने अग्रज का आगमन सुन मिलने के लिए आये तो सुबाहुजी ने इन्हें बहुत उपदेश दिया। परन्तु इन्होंने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। प्रत्युत नाराज भये कि अपने तो घर-बार छोड़कर लँगोटी लगाकर भिखारी बने ही, अब हमको भी बाबाजी बनाना चाहते हैं। तब सुबाहु ने कहा कि यदि हमारा उपदेश नहीं मानना है तो राज्य छोड़ो, बड़े तो हम हैं अतः राज्य के वास्तविक अधिकारी तो हम हैं। अलर्क ने जवाब दिया—अब आप लोगों का राज्याधिकार समाप्त हो गया है। अब तो आप लोग गुरु की सम्पत्ति के भले ही अधिकारी हो सकते हैं, पैतृक सम्पत्ति के नहीं। जब सुबाहु ने बलपूर्वक राज्य लेने की बात कही तो अलर्क ने उपेक्षा पूर्वक कहा—व्यर्थ की बातों से कार्य सिद्ध होने का नहीं। शक्ति हमारे हाथ में है, चाहूँ तो कारागार में डाल दूँ, जीवन भर जेल में ही पड़े-पड़े सड़ जाओ। जब सुबाहु ने देखा कि यह किसी तरह से बात मानने को प्रस्तुत नहीं है तब—

ले गये.......शासना—सुबाहु अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये असंख्य बलबाहनों से सम्पन्न काशी नरेश के पास गये। इनके संकेतानुसार काशी नरेश ने अलर्क का राज्य घेर लिया और दूत भेजकर यह सन्देश कहलाया कि अपने बड़े भाई सुबाहु को राज्य दे दो अन्यथा युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ। अलर्क ने क्षात्र-धर्म के अनुसार युद्ध की चुनौती स्वीकार की, परन्तु काशी नरेश के अपार सैन्यबल के

समक्ष टिक नहीं सके, तब इन्हें माता की अँगूठी की याद आई तो स्नान करके पवित्र होकर, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर अँगूठी से वह उपदेश-पत्र निकालकर पढ़ा। वह उपदेश इस प्रकार था—सङ्गः सर्वात्मना.......भेषजम्।। (देखिये छप्पय १० में मदालसाजी के प्रसङ्ग के अन्त में मदालसाजी का सिद्धान्त)।

अलर्कजी को मार्ग मिल गया। समस्त आसक्तियों को छोड़कर भगवान दत्तात्रेयजी की शरण गये। वहाँ जाकर देखे तो श्रीदत्तात्रेयजी परम प्रसन्न, शरीर से भी हृष्ट-पुष्ट बैठे भगवान का भजन कर रहे थे। इन्होंने अपना दुःख निवेदन करते हुये मुनि की प्रसन्नता का कारण पूछा। श्रीदत्तात्रेयजी ने कहा—मैंने पहले चौबीस वैद्यों से चौबीस खुराक दवा खाई थी अतः अब मैं सर्वथा निरुज हो गया हूँ। इसी से मेरी प्रसन्नता और पुष्टता सदा सर्वदा एकरस बनी रहती है। जब इन्होंने अपने लिये भी उन महौषधियों की याचना की तो श्रीदत्तात्रेयजी ने इन्हें चौबीस में से पाँच पुड़िया ही देकर परम-श्रेय-भाजन बना दिया। वह पाँच औषधियाँ ये हैं—१. पृथ्वी के समान धैर्य, २. तीर बनाने वाले के समान मन की एकाग्रता, ३. वृक्ष की सी परोपकारिता, ४. कन्या की चूड़ी के समान एकाकी रहने की प्रवृत्ति, ५. पिंगला के समान आशा त्याग।

उपदेशाधिकार की इस भूमिका के पश्चात् श्रीदत्तात्रेयजी ने अलर्क को आत्मतत्वोपदेश किया और उसके साक्षात्कार के लिये अष्टाङ्ग योग की शिक्षा दी। अलर्क ने कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए मुनि को प्रणाम किया और पुनः नगर में आकर, महाबाहु वीरवर काशिराज के निकट पहुँचकर सुबाहु के सामने ही हँसते हुए इस प्रकार कहा—राज्य की इच्छा रखने वाले काशिराज! अब तुम इस बढ़े हुए राज्य को भोगो, अथवा यदि तुम्हारी इच्छा हो तो भाई सुबाहु को ही दे डालो। काशिराज ने कहा—अलर्क! तुमने युद्ध किये बिना ही राज्य को क्यों छोड़ दिया? यह तो क्षत्रिय का धर्म नहीं है और तुम क्षत्रिय धर्म के ज्ञाता हो। श्रीअलर्क ने कहा—नरेश्वर! परम योगीश्वर गुरुवर्य श्रीदत्तात्रेयजी की कृपा से मुझे जब आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः अब मेरी कहीं आसक्ति नहीं रह गई है और न कोई मेरा शत्रु वा मित्र ही रह गया है। अलर्क के यों कहने पर सुबाहु अत्यन्त प्रसन्न होकर, आसन से उठे और 'धन्य! धन्य!' कहकर अपने भाई का अभिनन्दन करने के पश्चात् वे काशिराज से इस प्रकार बोले—नृपश्रेष्ठ! मैं जिस कार्य के लिये तुम्हारे पास आया था वह सब पूरा हो गया। अब मैं जाता हूँ। तुम सुख पूर्वक राज्य करो। सुबाहु की बातें काशिराज की समझ में एक दम न आईं। वे भौंचक्के से रह गये। तब सुबाहु ने विधिवत् सब रहस्य इनको समझाया। सुबाहु की कृपा से काशिराज को भी तत्वज्ञान हो गया। बस, इधर अलर्क अपने ज्येष्ठ पुत्र को तथा उधर काशिराज अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर, दोनों ही सुबाहु के साथ तपस्या करने के लिये वन को प्रस्थान किये।

श्रीरूपकलाजी अलर्कजी का एक और प्रसङ्ग वर्णन करते हैं कि—एक बार अलर्कजी कालंजर के समीप एक वन में विचरण कर रहे थे तो उन्होंने एक दिव्य सरोवर देखा, जिसके तट पर एक मृतक मनुष्य पड़ा था और दो पिशाच आपस में झगड़ा कर रहे थे। एक कह रहा था कि मैं खाऊँगा और दूसरा कहता था कि मैं खाऊँगा। जब श्री अलर्कजी ने उन दोनों से झगड़ने का कारण पूछा तो वे दोनों पिशाच बोले कि वस्तु एक ही है और हम दोनों ही भूखे हैं, उदर कैसे भरे? श्रीअलर्कजी ने कहा—एक शव को खावे और दूसरा मेरी देह को। अलर्क की इस परमोदारता पर प्रसन्न होकर वहाँ मृत शव एवं प्रेतों के

स्थान पर त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रगट हो गये और वर माँगने को कहे। श्रीअलर्क ने त्रिदेवों की स्तुति, पूजा—प्रणाम किया और यही वर माँगा कि कोई जीव किसी प्रकार का दु:ख न पावे। तब त्रिदेव बोले—कर्म का फल तो जीवों को अवश्य भोगना पड़ता है, परन्तु जो तुम्हारा दर्शन-स्मरण करेंगे वह दु:ख से मुक्त हो जायेंगे।

श्रीअलर्कजी ने एक बार वेद पाठी ब्राह्मण के माँगने पर अपनी आँखें निकालकर दे दी थीं। प्रभु की कृपा से पुन: आपके दिव्य नेत्र हो गये।। श्रीअलर्कजी बहुत समय तक वन में निर्द्वन्द एवं परिग्रह शून्य होकर रहे और अनुपम योग-सम्पत्ति को पाकर निर्वाण पद को प्राप्त हुये।।

तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे।।
रिभु, इक्ष्वाक रु ऐल गाधि, रघु रै, गै, शुचि शतधन्वा।
अमूरति अरु रन्तिदेव, उतंग, भूरि, देवल, वैवस्तमन्वा।।
नहुष, जजाति दिलीप, पुरु यदु, गुह, मान्धाता।
पिप्पल, निमि, भरद्वाज, दक्ष, सरभङ्ग संघाता।।
संजय, समीक, उत्तानपाद, याज्ञवल्क्य जस जग भरे।
तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे।।१२।।

शब्दार्थ—शुचि=स्वच्छ, पवित्र, निर्दोष। अरु=और। संघाता=सङ्घात, समूह, भरे=फैले, प्रसिद्ध, परिपूर्ण, व्याप्त। भूरि=अधिक। तरे=पार हुये, जीत गये, मुक्त हुये।

भावार्थ—जो भक्त भगवान की अपार माया से तर गये, उसके जाल में नहीं फँसे, उनके श्रीचरणों की बहुत-सी रज सादर मेरे सिर पर है और सदा रहे। ऋभुजी, इक्ष्वाकुजी, ऐलजी, गाधिजी, रघुजी, रयजी, गयजी, शतधन्वाजी, अमूर्तिजी, रन्तिदेवजी, भूरिश्रवाजी, देवलजी, वैवस्वत मनुजी, पिप्पलजी, निमिजी, भरद्वाजजी, शरभंगजी, समीकजी, उत्तानपादजी और याज्ञवल्क्यजी इनके सुयश संसार में भरे हुए हैं। ये भगवद्भक्ति के प्रताप से माया को जीतने वाले हैं।।१२।।

व्याख्या—हरिमाया—

पद— **माधव असि तुम्हारि यह माया।**
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।।
सुनिय गुनिय समुझिय सुमुझाइय दशा हृदय नहिं आवै।
जेहिं अनुभव विनु मोह जनित भव दारुन विपति सतावै।।
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावैं।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर धावैं।।
जेहि के भवन विमल चिन्तामनि सो कत काँच बटोरैं।
सपने परबस परै जागि देखत केहिं जाय निहोरैं।।

ग्यान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।। (विनय)

जो ज्ञानिन कर चित अपहरई। बरि आई बिमोह मन करई।।
जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ विहँगेस।
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जो दाया।।
सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ, कहौं पद रोपि।। (रा०च०मा०)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। (गी० ७-१४)
इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया। नारायण परो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्।। (भा०)

अर्थ—जो शास्त्रोक्त रीति से सद्गुरु की शरण में जाकर भागवत-धर्मों की शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है और वह नारायण के परायण होकर उस माया को अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पंजे से निकलना बहुत ही कठिन है। माया की दुस्तरता पर—

दृष्टान्त—जगन्नाथपुरी के ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण श्रीजगन्नाथपुरी में निवास करते थे, भगवद्भक्त थे, नित्य गीता का पाठ स्वाध्याय के सिलसिले में जब 'दैवी.........तरन्ति ते' यह श्लोक आता तो पण्डितजी बहुत हँसते और कहते कि देखो तो, भगवान ने अपनी माया की कैसी बड़ाई की है। भला हम सरीखे साधन-सम्पन्न व्यक्ति को वह कर ही क्या सकती है? ऐसे ही बहुत दिन हँसे, तब भगवान ने इन्हें अपनी अघटित घटना पटीयसी माया दिखाने का सङ्कल्प किया। एक दिन पण्डितजी स्नान करने को चले और अपनी पत्नी से कहा कि तुम शीघ्र श्रीठाकुरजी को भोग लगाने के लिये खिचरी बनाओ। हम स्नान करके अभी आते हैं। यह कहकर पण्डितजी मार्कण्डेय घाट पर जाकर स्नान करते समय ज्योंही डुबकी लगाये तो प्रकट हुए काशीपुरी में मणिकर्णिका घाट पर। यह भौंचक्के से इधर-उधर देख रहे थे। एक ब्राह्मण ने पूछा—तुम कौन हो? इन्होंने कहा—हम जगन्नाथपुरी के ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण ने कहा—क्या तुम कुछ पढ़ने-लिखने के लिए काशी आए हो? इन्होंने कहा—हाँ! फिर तो वह ब्राह्मण इनको अपने घर लिवा ले गया और सब प्रकार की सुव्यवस्था कर दी तथा अच्छी तरह से वेद-शास्त्र का अध्ययन कराया।

तत्पश्चात् इनको योग्य देखकर इनसे अपनी कन्या का विवाह भी कर दिया। ये पढ़-लिखकर वहीं बस गये। इनके कई सन्तानें हुईं। ऐसे ही बारह साल बीत गये। एक दिन ये पुन: मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने गये, तो ज्यों ही डुबकी लगाई, फिर जगन्नाथपुरी में मार्कण्डेय घाट पर प्रगट हुए। देखा धोती-लोटा जहाँ का तहाँ धरा है। किंचित्-किंचित् काशी के प्रसङ्ग की भी स्मृति बनी रही। सोचते विचारते घर गये, पूछे खिचरी बनकर तैयार भई कि नहीं। पत्नी ने कहा—आज बहुत जल्दी आप स्नान करके आ गये, अभी तो मैंने केवल चूल्हे पर चढ़ाय भर है। फिर धीरे-धीरे रसोई बनी, ठाकुरजी को भोग लगा, तत्पश्चात् प्रसाद पाये। उधर काशीपुरी में शोर पड़ किया कि पण्डितजी के जमाई कहीं चले गये। बहुत खोज-बीन हुई। एक आदमी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जगन्नाथपुरी आया तो इन्हें अपने कुटुम्ब-परिवार में निमग्न

देखा। उसने काशीपुरी में इनके यहाँ रहने की सूचना दे दी। ब्राह्मण ने इनको वहीं बुलाने का बहुत प्रयत्न किया। पर ये जब नहीं गये और न कुछ जबाब ही दिये तो वह ब्राह्मण अपनी लड़की तथा लड़की के लड़कों को साथ लेकर काशी से आया और इनसे उन सबको अपने साथ राखने को कहा परन्तु ये तैयार नहीं हुये।

तब उस ब्राह्मण ने पंचायत किया और पंचों से समस्त वृत्तान्त कहा। पंचों ने कहा—पण्डितजी! आपको धोखा है। ये तो पुरी छोड़कर कहीं जाते ही नहीं। परन्तु काशी का ब्राह्मण अपने कथन पर दृढ़ रहा, तब पंचों ने इनसे पूछा तो इन्होंने कहा कि वैसे तो ठीक-ठाक हमारी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है परन्तु हमको तनिक-तनिक याद सी बनी है कि हम काशी गए थे, इनके यहाँ निवास किया था आदि-आदि। तब सबने बड़ा आश्चर्य माना और इनसे मानसिक चिन्तवन के सम्बन्ध में पूछा तो इन्होंने गीता के माया निरूपण वाले श्लोक के विषय में अपनी बनी धारण को व्यक्त किया। तब सभी लोगों ने निश्चय किया कि यह हरि-माया का ही अमित प्रभाव है। इनके सन्देह को दूर करने के लिए भगवान ने अपनी माया का किंचित प्रभाव दिखाया है। पण्डितजी की भी समझ में आ गया। तात्पर्य यह कि वस्तुतः भगवान की माया दुस्तर ही है और उससे भगवत्कृपा से ही पार पाना सम्भव है। आगे ऐसे महाभागवतों का चरित्र वर्णन किया जाता है कि 'जे जे हरि माया तरे'।।

श्रीऋभुजी—ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं स्वाभाविक ही निवृत्ति परायण एवं ब्रह्मतत्वज्ञ होने पर भी इन्होंने शास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिये अपने अग्रज सनत्सुजात से विधि-पूर्वक शिक्षा-दीक्षा ली थी। सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन में तल्लीन ये महर्षि मल, विक्षेप तथा आवरण से रहित होकर प्रायः विचरते रहते थे। एकदिन विचरण करते हुए ये पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में पहुँच गये। वहाँ पुलस्त्यपुत्र निदाघ को वेदाध्ययन में संलग्न देखकर, उसे अधिकारी जानकर इन्होंने उपदेश दिया—मनुष्य जीवन का परम लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। वेदों को कण्ठस्थ कर लेने पर भी यदि आत्मज्ञान न हो तो वेदाध्ययन व्यर्थ है। निदाघ! तुम आत्मज्ञान का सम्पादन करो। निदाघ विद्वान थे, शुद्ध चित्त थे, और थे सच्चे जिज्ञासु। उन्होंने महर्षि ऋभु की शरण ग्रहण की। कुछ काल तक उन अवधूत की सेवा करते हुए उनके साथ विचरते रहे। महर्षि ऋभु ने इनका सेवा में सद्भाव तथा तप-त्याग देखकर इन्हें तत्व-ज्ञान का उपदेश दिया तथा साथ ही घर जाकर विवाह करके गार्हस्थ्य धर्म-पालन करते हुए आत्म-चिन्तन करते रहने की आज्ञा दी। निदाघ पिता के यहाँ लौट आये। उनका विवाह हुआ और देविका नदी के तट पर वीरनगर के पास एक उपवन में आश्रम बनाकर गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए सपन्नीक निवास करने लगे।

बहुत दिनों के बाद महर्षि ऋभु अपने आश्रित शिष्य निदाघ की स्थिति जानने के लिए तथा उसे सत्पथ पर दृढ़ करने के लिए घूमते-घूमते निदाघ के घर पहुँचे। यद्यपि निदाघ ने उन्हें पहचाना नहीं, तथापि अतिथि सत्कार तो गृहस्थ का कर्तव्य है, उन्होंने भली प्रकार इनका सत्कार किया। भोजन कर लेने के पश्चात् निदाघ ने बड़ी विनम्रता से पूछा—भगवन्! आप तृप्त हो गये? भोजन का स्वाद कैसा रहा? आप कहाँ रहते हैं? कहाँ जा रहे हैं? महर्षि ऋभु ने मुस्कराकर कहा—ब्राह्मण! भूख-प्यास का तृप्ति-अतृप्ति का अनुभव मन और प्राणों को होता है, ये शरीर के धर्म हैं। स्वाद का अनुभव करने वाली रसाना (जिह्वा) होती है। मैं न तो शरीर हूँ, न मन, न प्राण, न इन्द्रिय और न क्षुत्तृट् धर्मी ही हूँ। तब

तृप्ति-अतृप्ति क्या बताऊँ। रही बात कहीं आने जाने रहने की, तो आत्मा आकाश की भाँति सर्व व्यापक है, अतः उसके साथ इन क्रियाओं की भी कोई संगति नहीं है। इस प्रकार ऋभु ने शिष्य को समझाया। निदाघ गुरु का परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुए। महर्षि चले गये।

दूसरी बार महर्षि ऋभु फिर आये तो संयोगवश उस समय वीरपुर नरेश की सवारी निकल रही थी। महर्षि ने निदाघ से पूछा—यह भीड़ कैसी है? निदाघ—राजा कहीं यात्रा पर जा रहे हैं। दर्शकों की भीड़ है। ऋभु—इनमें कौन राजा है और कौन अन्य लोग? नि०—जो सबसे बड़े हाथी पर बैठे हैं वे राजा हैं तथा शेष अन्य लोग हैं। ऋभु—कौन हाथी और कौन राजा हैं? नि०—जो नीचे है वह हाथी है और जो ऊपर चढ़ा है वह राजा। ऋभु— नीचे क्या है, ऊपर क्या है? निदाघ चिढ़ गये। गुरु को वे पहचान नहीं सके थे। पागल जैसे दीखते उस व्यक्ति के ऊपर वे चढ़ बैठे और बोले—अब तुम नीचे और मैं ऊपर हूँ। ऋभु ने बड़ी शान्ति से पूछा—तुम कौन हो और मैं कौन हूँ? यह बात सुनते ही निदाघ उनके चरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़कर कहने लगे—प्रभो! अवश्य ही आप मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। मैंने अनजान में बड़ा अपराध किया, आप कृपया मुझे क्षमा करें। ऋभु ने पुनः पूर्व के तत्व ज्ञान को दुहराया। निदाघ ने उनकी बड़ी स्तुति की। परम समदर्शी महर्षि ऋभु वहाँ से आगे बढ़े। (धर्माङ्क वि०पु०)

(२) श्रीऋभुजी एक ब्राह्मण के बालक थे। हृदय भक्ति-संस्कार युक्त था। एक दिन उमा महेश्वरजी के मन्दिर के समीप हो के चले जा रहे थे। सुन्दर शिवलिङ्ग देखकर चित्त में पूजा करने की श्रद्धा हुई, सो एक फूल, जो उस समय इनके हाथ में था, उसको उस विग्रह पर रख कर बोले—'ॐ नमः शिवाय।' आशुतोष, औढर ढरन महादानी श्रीगिरिजावरजी के मन्दिर से आकाशवाणी भई कि 'वर माँग'। इन्होंने अपने सहज बाल-सुलभ-स्वभाववश हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—प्रभो! आपसे भी बड़ा कोई परम पुरुष हो, आप कृपा करके इस अबोध बालक को उनका दर्शन करा दीजिये। इस महान वर की याचना से श्रीगिरिजापति कुछ विचार करने लगे। इतने में ही अपने परम भक्त, परम प्रिय, देवदेव महादेव के वचन को पूर्ण करने के लिये श्रीहरि स्वयं वहाँ प्रगट हो गये। अकारण-करुण, करुणावरुणालय, भक्त वत्सल भगवान को देखते ही श्रीशिवजी भी प्रत्यक्ष प्रकट हो गये और प्रेम एवं हर्ष से परिपूर्ण हृदय भोलानाथ द्विजबालक ऋभु से बोले— वत्स! तू जिन दीनबन्धु, ब्रह्मण्यदेव, जगत्राता, प्राणवल्लभ प्रभु को ढूँढ़ता था, सो तेरे सुकृतों के सुफल, कारणरहित कृपाल प्रभु तेरे समक्ष विराजमान हैं, दर्शन कर ले। तेरे भाग्य धन्य हैं, तू धन्य है, तेरे माता-पिता धन्य हैं एवं तेरे गुरु धन्य हैं। तत्पश्चात् ऋभु को अविचल, अविरल प्रेम लक्षणा भक्ति का वरदान देकर दोनों देव अन्तर्धान हो गये। (श्रीरूपकलाजी)

श्रीइक्ष्वाकुजी—परम पुरुष परमात्मा ने जब सृष्टि की इच्छा की तो सर्वप्रथम उनकी नाभि से एक सुवर्णमय कमलकोश प्रगट हुआ, उसी में चतुर्मुख ब्रह्माजी का आविर्भाव हुआ। ब्रह्माजी के मन से मरीचि और मरीचि के पुत्र कश्यप हुये। उनकी पत्नी अदिति से विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ। विवस्वान् की संज्ञा नामक पत्नी से श्राद्धदेव मनु का जन्म हुआ। परम मनस्वी राजा श्राद्धदेव मनु ने अपनी पत्नी श्रद्धा के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सबसे ज्येष्ठ इक्ष्वाकुजी थे। कहीं-कहीं मनुजी की नासिका से इक्ष्वाकु का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है। यथा—**क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः।।** (भा०) अर्थ—एकबार मनुजी के छींकने पर उनकी नासिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

श्रीइक्ष्वाकुजी अयोध्या के प्रथम राजा हुये यथा—**तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम्।।** (वाल्मीकीय रामायण) अर्थ—(श्रीविश्वामित्रजी राजा जनक से कहते हैं कि) उन इक्ष्वाकु को ही आप अयोध्या का प्रथम राजा समझें, महाराजा इक्ष्वाकुजी बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुये। श्रीमद्भागवत में श्रीपरीक्षितजी की जन्म-कुण्डली वर्णन करते हुये ज्योतिषियों ने सर्वप्रथम यही कहा है कि—**पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः।।** (भा० १-१२-१९) अर्थ—धर्मराज! यह बालक मनु पुत्र इक्ष्वाकु के समान अपनी प्रजा का पालन करेगा। महाभारत के युद्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान का अनादित्व वर्णन करते हुए श्रीइक्ष्वाकुजी का स्मरण किया है। यथा—

इमं विवस्ते योगं प्रोक्तवानहमव्यम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। (गी० ४-१)

अर्थ—श्रीभगवान बोले—मैंने इस अविनाशी ज्ञान योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार श्रीइक्ष्वाकुजी महाराज गीता-ज्ञान के आचार्य सिद्ध होते हैं।

रीवाँ नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंहजी ने स्वरचित श्रीरामरसिकावली भक्तमाल में श्रीइक्ष्वाकु जी की लीलाभिनय-निष्ठा का एक सरस प्रसङ्ग वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि—

जबते महिपाल इक्ष्वाकु भये हरि लीला रचें शिशुसंगन में।
सतिभाव विलोकि कै तासु हरी कह्यो मांगु रँगे रति रङ्गन में।।
रघुराज कह्यो जस खेलत हैं तुमहू तस खेलो उमङ्गन में।
मुसकाइ कह्यो हरि तेरेइ वंश में खेलिहौं औध के अङ्गन में।।

इसी वरदान के फलस्वरूप स्वयं भगवान श्रीराम ने इसी वंश में अवतार ग्रहण किया था। यथा—**इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।।**

एक बार महाराज इक्ष्वाकु तीर्थ यात्रा करते हुये श्रीजापकमुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने राजा को अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछने के बाद इस प्रकार कहा—महाराज! आपका स्वागत है। मैं अपनी शक्ति के अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ? यह आप मुझे बतावें। राजा ने कहा—विप्रवर! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप स्वधर्म में स्थित ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। ब्राह्मण ने कहा—नरेश्वर! आप उन ब्राह्मणों को दान करें जो प्रवृत्ति मार्ग में हों। मैं तो प्रतिग्रह से निवृत्त ब्राह्मण हूँ। अतः आपसे दान नहीं ले सकता। हाँ, आपको जो अभीष्ट हो, वह कहें मैं अपने तपोबल से पूर्ण कर दूँगा। इक्ष्वाकुजी बोले—हम क्षत्रियों को याचना का अभ्यास नहीं होता। यदि कभी ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त होता है तो हम लोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो।' ब्राह्मण ने कहा—नरेश्वर! जैसे आप अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अतः आपको जो अच्छा लगे वही कीजिये। महाराज इक्ष्वाकु ने इन उदारचेता ब्राह्मण मुनि से इनके समस्त जप-साधन का फल माँगा। मुनि ने सहर्ष सङ्कल्प कर दिया। तत्पश्चात् राजा इक्ष्वाकु ने अपने समस्त पुण्यों का फल जापक मुनि को समर्पित कर दिया और कहा—हमारा और आपका सारा पुण्य हम दोनों के लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें। जापक मुनि ने इनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों एक-दूसरे का उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ मन को विषयों की ओर

से हटाकर मन सहित प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान इन पाँचों प्राण वायुओं को सुषुम्णा मार्ग द्वारा मूर्धा में स्थापित करके समाधि में स्थित हो गये। तत्पश्चात् दोनों ही ब्रह्म रन्ध्र का भेदन करके दिव्यरूप धारण करके ब्रह्मलोक को गये और सभी देवताओं के देखते-देखते श्रीब्रह्माजी के मुखारविन्द में प्रविष्ट हो गये। (म०भा०)

श्रीऐल—(पुरूरवा) जी-वैवस्वत मनु के पुत्र न था। उस समय सर्व समर्थ भगवान वशिष्ठ जी ने इन्हें सन्तान-प्राप्ति कराने के लिये मित्रावरुणदेव का यज्ञ कराया। मनु-पत्नी श्रद्धा, जिसने यज्ञ की दीक्षा ली थी, उसने होता के पास जाकर प्रणाम पूर्वक कन्या के लिये प्रार्थना की। फलतः होता ने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित्त हो कन्या का सङ्कल्प कर आहुति छोड़ी। होता के इस व्यतिक्रम से मनु के पुत्र के स्थान पर इलानाम की कन्या पैदा हुई। उसे देखकर मनु जी प्रसन्न नहीं हुये। उन्होंने अपने गुरु वशिष्ठजी से पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ? तब वशिष्ठजी ने ध्यान करके देखा तो सब बात विदित हो गई। तत्पश्चात् राजा से समस्त वृत्तान्त कहकर बोले कि अब हम अपने ब्रह्मतेज से आपकी कामना पूर्ण करेंगे। ऐसा निश्चय करके ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी ने उस इलानाम की कन्या को ही पुरुष बना देने के लिये पुरुषोत्तम भगवान नारायण की स्तुति की, सर्वशक्तिमान भगवान श्रीहरि ने सन्तुष्ट होकर इन्हें मुँह माँगा वर दिया, जिसके प्रभाव से वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गई।

एक बार शिकार खेलते हुये ससमाज राजा सुद्युम्न सुमेरू पर्वत की तरहटी के एक गिरिजाशङ्कर विहार वन में पहुँच गये। वहाँ प्रवेश करते ही (शिवजी के शापवश कि इस वन में जो आयेगा, वह स्त्री हो जायेगा) सब स्त्री हो गये। इसलिये वे पुनः इलानाम की कन्या बने हुये अपने अनुचरों के साथ एक वन से दूसरे वन में विचरने लगे। उसी समय चन्द्रमा पुत्र बुध, जो समीप के ही एक वन में तपस्या कर रहे थे, स्त्री रूपधारी सुद्युम्न को देखकर मोहित हो गये और इधर इन्होंने भी कामोपम चन्द्रकुमार बुध को पति बनाना चाहा। फिर तो दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। परिणाम स्वरूप बुध ने उनसे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। कुछ काल बाद सुद्युम्न ने श्रीसद्गुरुदेव वशिष्ठजी का स्मरण किया। वे आये और राजकुमार की दशा देखकर उन्हें दया आ गई। उन्होंने सुद्युम्न को पुनः पुरुष बना देने के लिये भगवान शङ्कर की आराधना की। श्रीशिवजी ने अपना शाप और वशिष्ठजी की विनय—दोनों की रक्षा करते हुये यह वर दिया कि यह एक महीने तक पुरुष एवं एक महीने तक स्त्री रहेंगे। बुध-पुत्र पुरूरवा ही इला के गर्भ से उत्पन्न होने से ऐल कहे गये।

स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी एक दिन इन्द्र की सभा में देवर्षि नारदजी के मुख से पुरूरवा के रूप, गुण, शील-स्वभाव, शौर्य-वीर्य, बल-पराक्रम को सुनकर मोहित होकर स्वर्ग से पुरूरवा के पास चली आई। उर्वशी को मित्रा वरूण का शाप भी था मर्त्युलोक में जाने का। अतः उसने पुरूरवा के साथ बिहार करते हुये शाप की अवधि बिताने का निश्चय किया। इधर देवाङ्गना उर्वशी को देखकर राजा पुरूरवा भी धैर्य खो बैठे। परिणाम स्वरूप दोनों में स्नेह-सम्बन्ध हो गया। शाप की अवधि पर्यन्त पुरूरवा के साथ काम शास्त्रोक्त पद्धति से रमण करती हुई उर्वशी अवधि बीतने पर बिना किसी शील-सङ्कोच के इन्हें छोड़कर स्वर्ग चली गई। उसके चले जाने पर पहले तो परम यशस्वी सम्राट् पुरूरवा विरह से अत्यन्त व्याकुल हो गये परन्तु पीछे शोक हट जाने पर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और तब उनके हृदय से जो उद्गार निकला है, वह परमार्थ पथ के पथिकों के लिये बड़े ही महत्व का है। यथा—अपने वास्तविक

कल्याण को समझने वाले विवेकी पुरुष को चाहिये कि स्त्रियों एवं स्त्री लम्पट पुरुषों का सङ्ग न करे। विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन में विकार होता है। अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गई है उसके लिये मन में विकार नहीं होता। जो लोग विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है अत: मन, वाणी और श्रवण आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्री लम्पटों का संग कभी नहीं करना चाहिये। मुझ जैसे सांसारिक लोगों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं है।

राजराजेश्वर पुरूरवा के मन में जब इस प्रकार उद्गार उठने लगे तब उन्होंने उर्वशी का मन से परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होने से उनके मन का मोह जाता रहा और उन्होंने अपने हृदय में ही आत्मस्वरूप से श्रीकृष्ण का साक्षात्कार कर लिया और भाव में स्थित हो गये। महाभारत अनुशासन पर्व में इन्हें प्रात: स्मरणीय राजर्षियों के रूप में स्मरण किया गया है।

श्रीगाधिजी—श्रीब्रह्माजी के पुत्र थे राजर्षि कुश, कुश के पुत्र कुशनाभ हुये। राजा कुशनाभ के कोई पुत्र नहीं था, अत: श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति के लिये इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ के अनुष्ठानकाल में परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुश ने इनकी देवता पितरों के प्रति अगाध श्रद्धा देखकर ब्रह्मलोक से आकर आश्वासन दिया—बेटा कुशनाभ! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त होगा और उसके द्वारा तुम्हें संसार में अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी। पृथ्वीपति कुशनाभ से ऐसा कहकर राजर्षि कुश आकाश में प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोक को चले गये। कुछ काल के पश्चात् बुद्धिमान राजा कुशनाभ के यहाँ परम धर्मज्ञ 'गाधि' नामक पुत्र हुआ। (वा० रा०) ये कान्यकुब्ज देश के राजा थे। महाराज गाधि दीर्घकाल तक पुत्र हीन रह गये। तब सन्तान की इच्छा से पुण्यकर्म करने के लिये ये वन में रहने लगे। वहाँ रहते समय सोमयाग करने से राजा के एक कन्या हुई। जिसका नाम सत्यवती था। भूतल पर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्य की तुलना नहीं थी। परम तप में संलग्न महर्षि ऋचीक ने राजा गाधि से उस कन्या को माँगा। ऋषि की सामर्थ्य से सुपरिचित राजा गाधि ने यज्ञार्थ शुल्क रूप में एक सहस्र ऐसे घोड़े माँगे जो चन्द्रमा के समान कान्तिमान और वायु के समान वेगवान हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंग का हो। महर्षि ऋचीक ने वरुण देवता से एक सहस्र अश्व लेकर राजा गाधि को दे दिये। तब राजा गाधि ने अपनी कन्या को वस्त्राभूषणों से विभूषित कर भृगु नन्दन ऋचीक को दे दिया। इन्हीं महर्षि ऋचीक की कृपा से राजा गाधि के श्रीविश्वामित्रजी सरीखे पुत्र रत्न हुये। (देखिये परशुरामावतार की कथा)

राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। प्रजा इन्हें साक्षात् भगवत् रूप समझती थी। इन्होंने अपने राज्यकाल में विविध यज्ञों द्वारा यज्ञ पुरुष भगवान की आराधना की थी। इनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय था। जब इन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्र को राज्य पर अभिषिक्त करके शरीर को त्याग देने का विचार किया, तब सारी प्रजा इनसे नत-मस्तक होकर बोली—प्रभो! आप कहीं न जायँ, यहीं रहकर हमारी इस जगत् के महान भय से रक्षा करते रहें। राजा गाधि ने श्रीविश्वामित्र के सद्गुणों की प्रशंसा करके प्रजा को आश्वस्त किया और मंगल-मुहूर्त में विश्वामित्रजी को राज्य सिंहासन पर बैठाकर स्वयं प्राणायाम के द्वारा प्राणों का उत्क्रमण कर भगवद्धाम को चले गये।

श्रीरघुजी महाराज—जबकि स्वयं भगवान श्रीरामजी भी अपने को रघुवंशी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं तो भला उन रघुजी महाराज की महा-महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है? तथापि यथामति आपके कतिपय पुनीत संस्मरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

इक्ष्वाकु-कुल-भूषण चक्रवर्ती महाराज दिलीप की साधना के सुफल श्रीरघुजी परम-भागवत परम धर्मात्मा, परम ब्रह्मण्य, परम प्रजा-वत्सल तथा परम प्रतापी राजा हुए। देवता भी आपकी सहायता चाहते थे। एकबार चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीरघुजी किसी राज्य कार्यवशात् कहीं बाहर गये हुए थे, उसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण कुछ याचना करने के लिए राज-द्वार पर आया। अतः दासी ने महल में सूचना दी। रानियों ने तुरन्त ही उस ब्राह्मण को भीतर महल में बुलाकर सिंहासन पर विराजमान कराकर विधिपूर्वक पूजन किया और सुन्दर सुस्वादु मधुरान्न भोजन कराया। महारानियों के अद्भुत लोकोत्तर लावण्य को देखकर ब्राह्मण मुग्ध हो गया और रानियों से पूछा—देवियो! महाराज ने ऐसा कौन-सा सुकृत किया है जो आप सरीखी अनुपम रमणी-रत्नों को प्राप्त किया है? रानियों ने कहा—द्विजवर्य! महाराज ने पूर्व जन्मों में श्रीशिवजी का समाराधन किया है, अपना शिर तक काटकर शिवजी को चढ़ाया है, उसी के फलस्वरूप इस जन्म में यह अपार ऐश्वर्य एवं सुन्दर स्त्रियाँ मिली हैं। ब्राह्मण ने कहा—तो अब मैं भी काशीपुरी में जाकर श्रीशिवजी को शीश चढ़ाऊँगा जिससे कि मनोवाञ्छित वैभव एवं तुम्हारे समान शील-स्वरूप-सम्पन्ना नारी को प्राप्त कर सुखपूर्वक जीवन बिताऊँगा। ऐसा कहकर ब्राह्मण ने काशीपुरी की राह ली।

संयोग से मार्ग में मिल गये महाराज रघु। दण्डवत् प्रणामोपरान्त जब ब्राह्मण देवता ने अपना अभीष्ट राजा को सुनाया तो राजा रघु ने कहा—महाराज इस साधारण कार्य के लिए आप इतना साधन श्रम क्यों करने जा रहे हैं। मैं आपको अपनी समस्त रानियाँ सौंपता हूँ। आप लौट चलें। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैं गरीब ब्राह्मण, भला कैसे इतना बड़ा खर्च सँभाल सकूँगा। तब महाराज रघु ब्राह्मण को अपना समस्त राजकोश भी सौंपकर स्वयं वन में जाकर एक वृक्ष के नीचे निवास करने लगे। उस वृक्ष पर दो मित्र पक्षी निवास करते थे। एक दिन वे दोनों पक्षी इन्द्र सभा में से एक दिव्य फल ले आये और उसे स्वयं न खाकर महाराज रघु को यह कहकर दे दिया कि राजन्! इस फल को खाने से शरीर दिव्य एवं तरुण हो जाता है। राजा ने विचार किया कि यह फल तो उस ब्राह्मण के योग्य है। यद्यपि उनको सर्वसुख-साधन प्राप्त हैं, परन्तु शरीर से वृद्ध होने से वे अपना यथेष्ट उपभोग करने में असमर्थ हैं। ऐसा विचार कर राजा रघु उस फल को लेकर नगर में आये और उन्होंने ब्राह्मण को फल देकर उसका महत्व भी सुनाया। महाराज रघु तो चले गये। ब्राह्मण ने मन में विचार किया—'निश्चय ही यह राजा का छल है, वह अपनी रानियों एवं राज्य को पुनः लेने के लिये यह विष फल दे गये हैं।' फिर तो उसने फल को फेंक दिया। एक निर्धन रोगी क्षुधा से पीड़ित हो भोजन की खोज में था। उसे वह सुन्दर फल दिखाई पड़ा तो उसने ललककर वह फल उठा लिया और बिना किसी विचार के खा गया। फल खाते ही उसका शरीर तरुण तथा दिव्य हो गया।

जब ब्राह्मण को यह वृत्तान्त मालूम हुआ कि फल खाने से अमुक रोगी का असाध्य रोग दूर हो गया तो ब्राह्मण बहुत पछताया। फिर रघुजी महाराज का पता लगाते-लगाते वन में पहुँचा और पुनः एक फल की याचना की। राजा ने स्थिति स्पष्ट की कि वह फल तो मुझे पक्षियों से मिला था, अब और मेरे

पास नहीं है। ब्राह्मण हठ कर गया कि आप यदि मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं करते हैं तो मैं आत्महत्या कर लूँगा। तब महाराज रघु उसे धैर्य देकर पुनः उस वृक्ष के नीचे जा बैठे। जब रात्रि में वे मित्र पक्षी आकर उस वृक्ष पर बसेरा लिए तो राजा ने उससे फल की याचना की। पक्षियों ने कहा—वह फल तो हमें इन्द्र के दरबार में मिला था। तब महाराज रघु देवराज इन्द्र के यहाँ जाकर फल माँगे। इन्द्र ने कहा—वह फल तो हमको ब्रह्माजी के यहाँ मिला था राजा ब्रह्मसभा में उपस्थित हुए और फल के सम्बन्ध में बात चली तो ब्रह्मा ने कहा—हमें तो भगवान विष्णु के द्वारा प्राप्त हुआ था। राजा रघु श्रीविष्णु के पास पहुँचे। भगवान विष्णु ने राजा का बड़ा सत्कार किया और राजा ने फल की याचना की तो भगवान ने मुस्करा कर कहा—राजन्! वह तो आपके ही पुण्य बाग का फल है। नरेश्वर! आपके अनन्त सुकृतों के फल स्वरूप वैकुण्ठ में ऐसे फलों का बहुत बड़ा बाग है, जिसके भोक्ता आप हैं। अब आप सुखपूर्वक यहाँ निवास करते हुए उन फलों का भोग कीजिये। श्रीरघुजी ने कहा—प्रभो! हम तो ब्राह्मण के लिए चाहते हैं। हमें इन फलों से कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आपका मुझ पर अनुराग है तो उस ब्राह्मण को ही बुलाकर यह सम्पूर्ण बाग प्रदान कर दीजिए। श्रीरघुजी महाराज के इस परमौदार्य पर भगवान बड़े ही प्रसन्न हुये और बोले—उदार शिरोमणे! आप हमारी आज्ञा मानकर जाकर अपना राज्य सँभालें, ब्राह्मण अब हमारे लोक में आकर निवास करेगा। भगवान की आज्ञा शिरोधार्य कर महाराज रघु ने पुनः राज्य-कार्य सँभाला। ब्राह्मण भगवद्धाम को चला गया। (रामरसिकावली)

एकबार रघुजी महाराज ने विश्वजित् नामक महायज्ञ किया। उसमें इन्होंने अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिया। उन्हीं दिनों महर्षि वर्तन्तु के परम अकिंचन, प्रिय शिष्य कौत्स ने अपने समावर्तन संस्कार के समय श्रीगुरुदेवजी से गुरुदक्षिणा माँगने का आग्रह किया। दयालु गुरु ने वात्सल्य पूरित स्वर से कहा—वत्स! तुम्हारी सेवा ही मेरी दक्षिणा है परन्तु कौत्स को इतने से सन्तोष कहाँ? उसने पुनः आग्रह किया, बार-बार आग्रह किया। तब श्रीवर्तन्तुजी ने कहा—तुमने मुझसे चौदह विद्यायें पढ़ी हैं, अतः चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ दक्षिणा में दो। यद्यपि कौत्स के पास संग्रह के नाम पर केवल एक कौपीन मात्र शरीर पर था, परन्तु चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रा का नाम सुनकर निराश नहीं हुए। कौत्स निश्चिन्त थे कि जब तक पृथ्वी पर महादानी महाराज रघु वर्तमान हैं, तब तक ब्राह्मण-साधु को सोच किस बात का? श्रीकौत्स सीधे अयोध्या आये। उन्होंने दूर से ही देखा—महाराज रघु एक वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, आस-पास कुछ केवल मृत्तिका के पात्र हैं। स्थिति समझते देर नहीं लगी वे इनसे बिना मिले ही लौटने लगे। कौत्स अब भी प्रसन्न थे। मुखमण्डल पर ब्रह्मतेज स्फुटित हो रहा था। श्रीरघुजी ने भी देखा—एक ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण कुमार मेरे ही पास आ रहा है परन्तु मुझे ऐसी हालत में देखकर लौटा जा रहा है। श्रीरघुजी ने आगे बढ़कर ब्राह्मण ब्रह्मचारी का स्वगात किया और निवास स्थान पर लाकर मृत्तिका के पात्रों द्वारा ही अर्ध्य पाद्यादि प्रदानकर कौत्सजी की पूजा की तथा प्रार्थना किया कि विशेष सेवा के लिये आज्ञा प्रदान कीजिये।

श्रीकौत्सजी ने अपने आने का हेतु निर्देश किया और कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। आपने सर्वस्व दान कर दिया है अतः अब आपसे कुछ भी याचना करना ठीक नहीं है। श्रीरघुजी ने हाथ जोड़कर कहा—भगवन्! आप कृपाकर एक दिन अतिथि शाला में ठहरिये, निश्चय ही धन की व्यवस्था हो जायेगी। इस प्रकार श्रीकौत्सजी को आदर पूर्वक ठहराकर, मन्त्रियों से मन्त्रणा कर श्रीरघुजी ने निश्चय किया कि कुबेर के ऊपर चढ़ाई करके उनसे धन लाया जाय। 'सुरपति बसहिं बांह बल जाके।' फिर कुबेर की तो

बात ही क्या? महाराज रघु के इस निश्चय को जानकर कुबेर ने आक्रमण के पूर्व ही अयोध्या में स्वर्ण की वृष्टि कर दी। महाराज रघु ने वह समस्त धन श्रीकौत्सजी को अर्पण कर दिया, परन्तु आदर्श ब्रह्मचर्य व्रती ब्राह्मण कुमार ने केवल गुरु दक्षिणार्थ चौदह करोड़ मुद्रायें स्वीकार कीं। शेष धन श्रीरघुजी ने अन्य ब्राह्मणों को सादर दान कर दिया। श्रीरघुजी की पवित्र निष्ठा देखकर श्रीकौत्सजी बोले—हे राजन्! दिव्य गुण सम्पन्न एवं वंश की कीर्ति बढ़ाने वाला पुत्र तुम्हें प्राप्त हो। यहाँ पर समस्त पापों को हरने वाला एवं अभीष्ट प्रदान करने वाला परम दिव्य स्वर्ण खनि तीर्थ हो। इस प्रकार आशीर्वाद देकर श्रीकौत्सजी चले गये। महाराज श्रीरघुजी के संस्मरण के रूप में स्वर्णखनि कुण्ड आज भी अयोध्या में वर्तमान है। (श्रीअयोध्या माहात्म्य रु०या०)

विजय दोहावली में लिखा है कि—श्रीरघुजी महाराज ने यज्ञ में सबको अभिमत दान दिया। इनके अद्भुत दान की प्रशंसा सुनकर धनराज कुबेर भी इनकी यज्ञशाला में याचक बनकर आये। धनाध्यक्ष की दृष्टि बहुत दिनों से महाराज रघु के परम दिव्य पुष्पक विमान पर गड़ी थी। आज सुअवसर देखकर कुबेर ने पुष्पक विमान की ही याचना की। परमोदार राजा ने सहर्ष उन्हें दान कर दिया। कालान्तर में जब राक्षसेन्द्र रावण का आतङ्क बढ़ा तो उसने कुबेर से पुष्पक विमान छीन लिया। तब श्रीकुबेरजी ने रघुजी से आकर अर्ज किया कि आपका दिया हुआ दान बलात् दुष्ट दशानन छीन ले गया, आप कृपा कर मुझे उससे विमान दिलाने का प्रयत्न करें। श्रीरघुजी ने क्रोध में आकर रावण के वध का सङ्कल्प कर एक साथ दस बाणों का सन्धान किया। तब श्रीब्रह्माजी ने आकर कहा—राजेन्द्र! रावण की मृत्यु का विधान तो मैंने श्रीराम के हाथों कर रखा है। यदि आप ही वध कर डालेंगे तो मेरा विधान मिथ्या हो जायेगा। श्रीरघुजी ने कहा—परन्तु मैंने भी तो इन दस बाणों से उस दुष्ट को मार डालने का सङ्कल्प कर लिया है। अतः यदि नहीं मारता हूँ तो मेरा सङ्कल्प झूठा होता है। तब ब्रह्माजी ने उभय पक्ष की रक्षा करते हुए यह कहा कि आप इन बाणों को सुरक्षित रखे, समय पर श्रीरामजी इन्हीं बाणों से उसका वध करेंगे। श्रीरघुजी ने ऐसा ही किया। चूँकि श्रीरघुजी ने कुबेर को पुष्पक विमान दिलाने के लिये इन बाणों का सन्धान किया था अतः श्रीरामजी ने भी रावण का संहार कर पुष्पक विमान को श्रीकुबेरजी के ही पास भेज दिया। यथा—**उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं, तुम कुबेर पहिं जाहु। प्रेरित राम चलेउ सो, हरष बिरह अति ताहु।।** (रामा०)

श्रीरघुजी की महा-महिमा को श्रवण कर एक बार लंकेश रावण ब्राह्मण का रूप रखकर श्रीअयोध्या आया। संयोग से श्रीरघुजी उस समय श्रीसरयू स्नान करने के लिये गए थे। रावण रनिवास में पहुँचा। रानियों ने ब्राह्मण समझकर प्रणाम किया और अत्यन्त आदर वश श्रीरघुजी महाराज के सिंहासन पर उसे बैठाया परन्तु सूर्यवंशी राजाओं के उस परम धर्ममय सिंहासन पर बैठते ही रावण का छल छूट गया। उसका कृतिम ब्राह्मण स्वरूप तिरोहित हो गया, दस सिर बीस भुजायें प्रगट हो गईं। उसके भयानक रूप को देखकर रानियाँ भागकर महल में जा छिपीं। रावण भी लज्जित होकर सिंहासन से उतर कर पुनः ब्राह्मण रूप धारण कर महल से बाहर निकला और श्रीरघुजी का पता पूछते-पूछते सरजू तट पर गया। उस समय राजा स्नान करके सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। रावण ने देखा राजा रघु सन्ध्या-वन्दन के बीच में ही आचमन करके बड़ी त्वरा पूर्वक क्रोध में भरकर दक्षिण दिशा में कुछ मन्त्र पढ़कर जल और कुशा फेंके। इसका रहस्य रावण की समझ में नहीं आया। सन्ध्योपरान्त रावण ने बहुत विनय पूर्वक इस बात की जिज्ञासा की तो श्रीरघुजी ने कहा कि वन में एक गाय के ऊपर सिंह आक्रमण करने ही वाला था कि

गाय ने उसे देखकर अपनी रक्षा के लिए मेरी दुहाई दी इसलिए मैंने यह अभिमन्त्रित कुश फेंका था, अब गाय बच गई, वह सुखपूर्वक चर रही है, सिंह मारा गया। रावण को विश्वास नहीं हुआ। उसने घटना स्थल पर जाकर देखा तो बात सत्य निकली। रावण डर के मारे फिर अयोध्या को नहीं लौटा। लङ्का जाकर उसने मन्दोदरी को यहाँ का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। मन्दोदरी श्रीरघुजी महाराज के महाप्रताप से परिचित थी। उसने कहा—

चौ०— **अहह कन्त सब लङ्क नसानी। रघु महिमा तुम रञ्च न जानी।।**
जासु सुजस त्रेलोकहिं छायो। तिन्ह के गृह छल-छन्द रचायो।।
करहु उपाय बचै जिमि लङ्का। नृपसर ते को रहइ निसंका।।
सुनि रावन मन गयउ डेराई। करहु प्रिया कोउ बेगि उपाई।।

इधर सन्ध्या-वन्दन करके महाराज रघु जब महल में पधारे तो महारानियों ने रावण की कपट कहानी कही। रावण का यह दुस्साहस सुनकर श्रीरघुजी ने क्रोधाभिभूत हो तत्काल पवित्र सरयू जल से अभिमन्त्रित कर, लङ्का विध्वंस का संकल्प कर सात बाण एक साथ चलाये। लंका में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। यत्र-तत्र-सर्वत्र 'त्राहि माम्' का कुहराम मच गया। राक्षसेन्द्र रावण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। मन्दोदरी ने सामयिक सयानपन दिखाया। उसने रक्षा का कोई उपाय न देखकर तुरन्त ही—**तृण दबाय द्विज दुहुँ कर जोरी। विहवल बोली वचन निहोरी।। हौं रघुराज सरनयुत ईशा। बधौ मोहिं आगे यह सीसा।।** बाण बड़े असमञ्जस में पड़ गये। इधर तो लंका विध्वंस की आज्ञा, उधर शरणागतवत्सल राजा रघु की दोहाई।। शरणागत परित्राण धर्म को प्रधान समझकर बाण श्रीरघुजी के पास लौट आये। श्रीरघुजी ने दया करके रावण के अपराध को क्षमा कर दिया। यथा—**तब बोले रघुराज कृपाला। धर्म शरण रक्षक हम पाला।। याते चूक क्षमा सब कीनी। अबला जानि अभय तिहिं दीनी।।** (राम रसायन) ऐसे महाप्रतापी राजा श्रीरघुजी भये। इन्हीं रघुजी महाराज के पुत्र हुये श्रीअजजी, श्रीअज के पुत्र हुए श्रीदशरथजी, जिनके यहाँ स्वयं भगवान श्रीराम चतुर्व्यूह रूप से प्रगट हुये।

श्रीरयजी—श्रीऐल (पुरूरवा)—उर्वशी प्रसङ्ग पूर्व वर्णन किया जा चुका है। श्रीरयजी महाराज का प्रादुर्भाव पिता ऐल माता उर्वशी से हुआ था। यथा—

ऐलस्य चोर्वशी गर्भात् षडासन्नात्मजानृप। आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः।। (भा० ९-१५-१)

अर्थ—परीक्षित्! उर्वशी के गर्भ से पुरूरवा के छः पुत्र हुये—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय। श्रीनाभाजी महाराज अन्यों का स्मरण न कर रयजी का स्मरण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुरूरवा के छओं पुत्रों में श्रीरयजी परम भागवत हुये और भगवान के श्रीचरणकमलों में मन लगाकर माया से पार हो गये।।

श्रीगयजी—राजर्षिवर्य्य श्रीभरतजी के वंश में महाराज नक्त की धर्मपत्नी दुति के गर्भ से उदार कीर्ति राजर्षिप्रवर गय का जन्म हुआ था। ये जगत की रक्षा के लिये सत्वगुण को स्वीकार करने वाले साक्षात् भगवान विष्णुजी के अंश माने जाते थे। संयमादि अनेकों गुणों के कारण इनकी महापुरुषों में गणना की जाती है। महाराज गय ने प्रजा पालन, पोषण, रञ्जन, लाड़-चाव और शासनादि करके तथा तरह-तरह के यज्ञों का अनुष्ठान करके निष्काम भाव से केवल भगवत्प्रीति के लिये अपने धर्मों का

आचरण किया। इससे उनके सभी कर्म सर्वश्रेष्ठ परम परमात्मा श्रीहरि के अर्पित होकर परमार्थ रूप बन गये थे। इससे तथा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषों के चरणों की सेवा से उन्हें भक्ति योग की प्राप्ति हुई। तब निरन्तर भगवच्चिन्तन करके उन्होंने अपना चित्त शुद्ध किया और देहादि अनात्म वस्तुओं से अहंभाव हटाकर वे अपने आत्मा को ब्रह्मरूप अनुभव करने लगे। यह सब होने पर भी वे निरभिमान होकर पृथ्वी का पालन करते रहे।

प्राचीन इतिहास को जानने वाले महात्माओं ने राजर्षि गय के विषय में यह गाथा कही है—अहो! अपने कर्मों से महाराज गय की बराबरी और कौन राजा कर सकता है? वे साक्षात् भगवान की कला ही थे। उन्हें छोड़कर और कौन इस प्रकार यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला, मनस्वी, बहुज्ञ, धर्म की रक्षा करने वाला, लक्ष्मी का प्रिय पात्र, साधु समाज का शिरोमणि और सत्पुरुषों का सच्चा सेवक हो सकता है। यथा— 'गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्म गोप्ता। समागत श्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते।। (भा०) सत्संकल्प वाली, परम साध्वी श्रद्धा, मैत्री और दया आदि दक्ष कन्याओं ने गङ्गा आदि नदियों के सहित बड़ी प्रसन्नता से उनका अभिषेक किया था तथा उनकी इच्छा न होने पर भी वसुन्धरा ने, जिस प्रकार गौ-बछड़े के स्नेह से पिन्हाकर दूध देती है, उसी प्रकार उनके गुणों पर रीझकर प्रजा को धन- रत्नादि सभी अभीष्ट पदार्थ दिये थे। उन्हें कोई कामना न थी, तब भी वेदोक्त कर्मों ने उनको सब प्रकार के भोग दिये। राजाओं ने युद्धस्थल में उनके बाणों से सत्कृत होकर नाना प्रकार की भेंट दीं तथा ब्राह्मणों ने दक्षिणादि धर्म से सन्तुष्ट होकर, उन्हें परलोक में मिलने वाले अपने धर्म फल का छटा अंश दिया। उनके यज्ञ में बहुत अधिक सोमपान करने से इन्द्र उन्मत्त हो गये थे तथा उनके अत्यन्त श्रद्धा तथा विशुद्ध और निश्चल भक्ति-भाव से समर्पित किये हुए यज्ञ फल को भगवान यज्ञ पुरुष ने साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण किया। जिनके तृप्त होने से ब्रह्माजी से लेकर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष एवं तृण पर्यन्त सभी तत्काल तृप्त हो जाते हैं—वे विश्वात्मा श्रीहरि नित्य तृप्त होकर भी राजर्षि गय के यज्ञ में तृप्त हो गये थे। ऐसे महाभागवत थे राजर्षि गय।।

वायुपुराणान्तर्गत गया-माहात्म्य में एक गय नामक असुर की कथा आती है, जिसके शरीर पर गया तीर्थ बसा हुआ है। कथा इस प्रकार है—यह असुर महा पराक्रमी था। सवा सौ योजन ऊँचा था और उसकी मोटाई साठ योजन थी। उसने घोर तपस्या की, जिससे त्रिदेवादि सब देवताओं ने उसके पास आकर वर माँगने को कहा। उसने यह वर माँगा कि—'देव, द्विज, तीर्थ, यज्ञ आदि सबसे अधिक मैं पवित्र हो जाऊँ। जो कोई मेरा दर्शन व स्पर्श करे बस तुरन्त पवित्र हो जाय।' एवमस्तु कहकर सब देवता चले गये। सवा सौ योजन ऊँचा होने से उसका दर्शन बहुत दूर तक के प्राणियों को होने से वे अनायास पवित्र हो गये जिससे यमलोक में हाहाकार मच गया। तब भगवान ने ब्रह्मा से कहा कि तुम यज्ञ के लिये उसका शरीर माँगो। जब वह लेट जायेगा, तब दूर से लोगों को दर्शन न हो सकेगा। जो उसके निकट जायेंगे वे ही दर्शन स्पर्श से पवित्र होंगे। ब्रह्माजी ने आकर उससे कहा कि संसार में हमें कहीं पवित्र भूमि नहीं मिली, जहाँ यज्ञ करें, यदि तुम लेट जाओ तो हम तुम्हारे शरीर पर यज्ञ करें। उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यज्ञोपरान्त अवभृथ स्नान के पश्चात् वह कुछ हिला तब ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी देवता उसके शरीर पर बैठ गये और उससे वर माँगने को कहे। उसने यह वर माँगा कि जब तक संसार स्थित रहे। तब तक आप समस्त देवगण यहाँ निवास करें। यदि कोई भी देवता आप लोगों में से चला जायगा तो मैं

निश्चल नहीं रहूँगा। उठकर खड़ा हो जाऊँगा तथा यह क्षेत्र मेरे नाम से अर्थात् गया नाम से प्रसिद्ध हो तथा पिण्ड दान देने से लोगों का पितरों सहित उद्धार हो जाये। देवताओं ने उसे यह वर दे दिया।

श्रीशतधन्वाजी—यादव श्रेष्ठ सत्राजित ने अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तक मणि दोनों ही भगवान को अर्पण कर दी। श्रीकृष्ण ने मणि को सत्राजित के पास ही रहने दिया। क्योंकि सत्राजित को मणि भगवान सूर्य ने प्रसन्न होकर दिया था और उसमें उसका ममत्व भी था, अत: भगवान ने उसे स्वयं अपने पास रखना उचित नहीं समझा। कृतवर्मा आदि यादव सत्राजित से असन्तुष्ट थे कि इन्होंने हमारे माँगने पर भी अपनी कन्या को हमें न देकर श्रीकृष्ण से व्याह दिया। वे इसका बदला लेना चाहते थे। अत: इन लोगों ने सत्राजित के भाई शतधन्वा को भड़काया। शतधन्वा सरल हृदय थे। भाई के प्रति प्रेम था, श्रीकृष्ण में उनकी श्रद्धा थी श्रीनाभाजी ने इन्हें शुचि शतधन्वा कहा है। परन्तु कहावत है—'को न कुसङ्गति पाइ नसाई।' कृतवर्मा ने कहा— देखा सत्राजित की कपट चातुरी, वह मणि को तुम्हें न देकर श्रीकृष्ण को दे दिया। तुम तो उससे स्नेह करते हो परन्तु वह तुमसे कपट करता है। तुम्हारी समृद्धि उसको नहीं सुहाई तब तो मणि को तुम्हें नहीं दिया। अत: तुम सत्राजित को मारकर मणि क्यों नहीं ले लेते। हम लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। शतधन्वा इनके बहकावे में आ गया और लोभवश एक दिन सोये हुये सत्राजित को मार डाला और मणि लेकर वहाँ से चम्पत हो गया।

संयोग की बात, उस समय श्रीकृष्ण बलराम द्वारकापुरी में न थे। वे पाण्डवों के वारणावत नगर में लाक्षागृह में जल मरने का दु:खद समाचार सुनकर उस समय का कुल परम्परोचित व्यवहार करने के लिए हस्तिनापुर गये थे। महारानी सत्यभामाजी को पिता-मरण का बड़ा शोक हुआ। ये रोती-बिलखती हुई हस्तिनापुर गईं और बड़े दु:ख से भगवान श्रीकृष्ण को उन्होंने अपने पिता की हत्या का वृत्तान्त सुनाया। सर्व शक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण और बलरामजी ने सब सुनकर मनुष्यों की सी लीला करते हुए अपनी आँखों में आँसू भर लिए और विलाप करने लगे। इसके बाद द्वारका आकर शतधन्वा को मारने तथा उससे मणि छीनने का उद्योग करने लगे।

जब शतधन्वा को यह मालूम हुआ तो वह बहुत डरा और अपने प्राण बचाने के लिए उसने कृतवर्मा से सहायता माँगी। परन्तु कृतवर्मा ने उसे एकदम टका सा जबाव दे दिया कि हम सर्व समर्थ श्रीकृष्ण से बैर कर तुम्हें बचाने में समर्थ नहीं हैं। तब शतधन्वा ने अक्रूरजी से सहायता के लिए प्रार्थना किया, परन्तु यहाँ भी वही उत्तर मिला। तब शतधन्वा ने स्यमन्तक मणि उन्हीं के पास रख दी और आप चार सौ कोस लगातार चलने वाले घोड़े पर सवार होकर वहाँ से बड़ी फुर्ती से भागा। श्रीकृष्ण बलराम रथ पर आरूढ़ होकर उसका पीछा किये। मिथलापुरी के निकट एक उपवन में शतधन्वा का घोड़ा गिर पड़ा, अब वह उसे छोड़कर पैदल ही भागा। भगवान भी पैदल ही उसके पीछे दौड़े और थोड़ी ही दूर जाने पर उसे पकड़कर अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसका सिर उतार लिया परन्तु स्यमन्तक मणि उसके पास नहीं मिली। शतधन्वा की आत्म-ज्योति प्रभु में लीन हो गई।

श्रीअमूर्तरयजी—ये ब्रह्माजी के पुत्र महातपस्वी राजर्षि कुश के पुत्र थे। इन्होंने गया तीर्थ के पास धर्मारण्य नामक नगर बसाया था। धर्मारण्य में पितृ पूजन की महत्ता बतायी गई है।। (बा० रा०)

श्रीरन्तिदेवजी

अहौ रन्तिदेव नृप सन्त दुसकन्त वंश अति ही प्रशंस सो आकाश वृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकैं आवै सो उठाइ देत नेति नहिं करैं भूखे देह छीन भई है।।
चालिस औ आठ दिन पीछे जल अन्न आयो दियो विप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।
हरि को निहारैं उन माँझ तब आए प्रभु भाए जग दुःख जिते भोगौं भक्ति छई है।।९४।।

शब्दार्थ—अहो=आनन्दमय आश्चर्य। दुसकन्त=दुष्यन्त, चन्द्रवंशी राजा। आकाशवृत्ति=वह जीविका जिसमें कर्म तथा चेष्टा शून्य रहकर ईश्वरेच्छा से प्राप्त भोजन करके रहा जाय। छीन=दुर्बल, क्षीण।

भावार्थ—वाह! धन्य है, जिनकी कथा सुनकर आश्चर्य हो, ऐसे राजा रन्तिदेव परम प्रशंसनीय भगवद्भक्त हुए, उनका जन्म दुष्यन्त के वंश में हुआ था। बहुत दिनों तक राज्य कर चुकने पर आप अपनी रानी और पुत्र के समेत वन में चले गए। वहाँ जाकर आपने आकाशवृत्ति स्वीकार की। आप इतने बड़े दयालु थे कि भूखे को देख नहीं सकते थे। उसे तृप्त करने के लिये जो कुछ भी होता उसे उठाकर दे देते थे, किसी को मना नहीं करते थे। इसलिये निरन्तर भूखे रहने पर शरीर दुर्बल हो गया। परन्तु सन्तुष्ट मन से भगवत्स्मरण सर्वदा करते रहते।

एक बार ऐसा हुआ कि अड़तालीस दिन बिना भोजन-जलपान के ही बीत गए। उसके बाद सुन्दर प्रसाद रूप अन्न-जल प्राप्त हुआ। वे तीनों भोजन करने जा रहे थे कि इतने में एक ब्राह्मण अतिथि आ गए, उन्हें रन्तिदेव ने सादर भोजन कराया फिर एक भूखा शूद्र आ गया, उसे भी आपने सादर भोजन कराया। इसके बाद एक नीच कुत्तों को साथ लिए हुए आया और क्षुधावश अपनी दीनता दिखाने लगा दयावश शेष बचे हुए अन्न से नीच तथा कुत्तों को सन्तुष्ट कर दिया। अब केवल थोड़ा-सा जल ही शेष रहा था उसे वे पीना चाहते थे कि एक बनवासी पुल्कस ने आकर कहा—राजन्! तुम बड़े परोपकारी हो, मैं कई दिन का प्यासा हूँ। रन्तिदेवजी ने जल भी उसे पिला दिया, वे उन ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल और कुत्तों में भगवान के ही दर्शन कर रहे थे। जब राजा ने बिना किसी कष्ट के सबका आतिथ्य किया तब स्वयं भगवान प्रकट हो गए। वस्तुतः इन रूपों में आकर भगवान ही भक्तनिष्ठा को देख रहे थे भगवान ने वर देने का प्रलोभन दिया तब आपने इस लोक तथा ब्रह्मलोक तक के सुखों को तुच्छ मानकर यही वर माँगा कि—संसारी प्राणियों के पापों का फलरूप दुःख मैं भोगूँ और वे सभी सुखी हो जायँ। ऐसी विलक्षण भक्ति राजा रन्तिदेवजी के हृदय में छा गई।।९४।।

व्याख्या—दुष्यन्त वंश—चन्द्र वंशावतंश राजर्षि पुरु की वंश परम्परा में महाराज दुष्यन्त पुरुवंश की कीर्ति का विस्तार करने वाले, महान पराक्रमी तथा चारों समुद्रों से घिरी हुई समूची पृथ्वी के पालक, सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट थे। ये बल में भगवान विष्णु एवं तेज में भगवान सूर्य के समान थे। यथा—**बले विष्णु- समञ्चासीत् तेजसा भास्करोपमः।।** (म० भा०) ये समुद्र के समान अक्षोभ्य एवं पृथ्वी के समान महान सहनशील थे। इनके राज्य में समस्त प्रजा अपने-अपने धर्म के पालन में रत रहती थी। लोग देवाराधन आदि कर्मों को निष्काम भाव से करते थे। परम धर्मात्मा राजा दुष्यन्त का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजा निर्भय हो गई थी। इन्हीं के पुत्र भरत थे जिनके नाम से इस वर्ष (खण्ड) का

नाम भारतवर्ष पड़ा है। विशेष देखिये छप्पय ११९—**विदित गान्धर्वी व्याह कियो दुष्कन्त प्रमानै।।** इन्हीं के वंश में परमोदार राजा रन्तिदेव भये। इनका निमर्ल यश इस लोक में एवं परलोक में सब जगह गाया जाता है। ये महाराज संकृति के पुत्र थे।

अति ही.......लई—वृत्तियाँ कई प्रकार की होती हैं। यथा—मधुकर वृत्ति, सिंह वृत्ति, श्वान वृत्ति, सर्प वृत्ति, अजगर वृत्ति, वेश्या वृत्ति, आकाश वृत्ति इत्यादि। इस सब में आकाश वृत्ति अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य वृत्तियों की अपेक्षा इस वृत्ति में पूर्ण भगवदाश्रय है अतः अति ही प्रशंस कहा। ये अपने राज्य-काल में भी बिना उद्योग के ही दैववश प्राप्त वस्तु का ही उपभोग करते। परिणाम स्वरूप, राज्य-कोश में वृद्धि तो होनी नहीं थी, खर्च नित्य प्रति का था, अतः वह दिनों दिन घटता जा रहा था। इसी बीच अचानक देश में अनावृष्टि के कारण बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ गया। पर दुःख कातर राजा रन्तिदेव ने सम्पूर्ण राज्य कोश, अन्नागार आदि सब क्षुधा पीड़ितों की सेवा में व्यय कर दिया। अन्त में अवस्था ऐसी आ गई कि स्वयं रन्तिदेव तथा उनके परिवार के भोजन के लिये दो मुट्ठी अन्न राजसदन में नहीं रह गया। प्रजा का दुःख देखा नही जाता था, निवारण का कोई साधन शेष नहीं रह गया था। अतः राजा रन्तिदेव ने स्त्री-पुत्र को साथ लेकर चुपचाप महल छोड़कर वन की राह ली। परन्तु अकाल के समय वन के कन्द-मूल, फल-फूल-पत्ते भी क्या बच पाते हैं। भूखे मनुष्य तो वृक्षों की छाल तक छीलकर खा जाते हैं। स्थिति यह आ गयी कि राजा रन्तिदेव को पूरे अड़तालीस दिन बीत गये, अन्न-जल के कहीं दर्शन न हुये। उनञ्चासवें दिन—**घृतपायस संयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्।।** (भा० ९-२१-४) अर्थ—प्रातःकाल ही उन्हें कुछ घृत, खीर, हलवा और जल मिला।

हरि को निहारैं उन माँझ—यथा—**विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनिचैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शिनः।।** (गीता ५-१८) अर्थ—तत्वज्ञ पुरुष विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी सम भाव से एक ही आत्मा व परमात्मा को देखने वाले होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने ऐसे साधक को सर्वश्रेष्ठ योगी कहा है। यथा—**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः।** (गीता ६-३२) अर्थ—हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है परन्तु ऐसे महात्मा होते हैं परम दुर्लभ। यथा—**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मासुदुर्लभः।।** (गीता ७-१९)

भाये........भोगौं—यथा—**न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।**
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।
क्षुत्तृट्श्रमो गात्र परिश्रमञ्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषो जींवजलार्पणान्मे।। (भा० ९-२१-१२-१३)

अर्थ—(तृषार्त चाण्डाल की अत्यन्त करुणापूर्ण वाणी को सुनकर रन्तिदेव दया से अत्यन्त सन्तप्त हो उठे और ये अमृतमय वचन कहने लगे-) मैं भगवान से आठों सिद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणी को दुःख न हो। यह दीन प्राणी जल पीकर जीना चाहता था। जल दे देने से इसके जीवन की रक्षा हो गयी तथा

इसकी ही नहीं मेरी भी भूख-प्यास की पीड़ा, शरीर की शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह—ये सबके सब जाते रहे। मैं भी सुखी हो गया।

भक्त शिरोमणि श्रीप्रह्लादजी की भी यही कामना है। यथा—**न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।** अर्थ—हे प्रभो! मुझे राज्य, स्वर्ग और मुक्ति आदि कुछ भी नहीं चाहिये। मेरी कामना तो केवल यही है कि अनेकों तापों से संतप्त प्राणियों के समस्त दुःख दूर हों।

यद्यपि श्रीरन्तिदेवजी के प्राण जल के बिना स्वयं कण्ठगत हो रहे थे, फिर भी स्वभाव से ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपने दुःखों की—किंचित् परवाह नहीं किये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित! ये अतिथि वास्तव में भगवान की रची हुई माया के ही विभिन्न रूप थे। परीक्षा पूर्ण हो जाने पर भक्तवांछाकल्पतरु भगवान, विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीनों ही वरदायक देव उनके सामने प्रकट हो गये। श्रीरन्तिदेव ने उनके चरणों में नमस्कार किया। उन्हें भगवान के सिवा और किसी भी वस्तु की इच्छा तो थी नहीं वे भगवत्कृपा से सर्वथा स्पृहा और आसक्ति से रहित हो गये थे, अतः इन्होंने अपने मन को पूर्ण रूप से भगवान में लगा दिया। इसलिये त्रिगुणमयी माया, जागने पर स्वप्न दृश्य के समान नष्ट हो गयी। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि 'हरि माया तरे।' श्रीरन्तिदेव के अनुयायी (स्त्री-पुत्र परिवार, प्रजा आदि) भी उनके समान ही, उनके सङ्ग के प्रभाव से योगी हो गये और सब भगवान के ही आश्रित हो परम भक्त बन गये।

महर्षि उत्तङ्कजी—ये बड़े भारी, तपस्वी और गुरुभक्त थे। इन्होंने जीवन में गुरु के सिवा दूसरे किसी देवता की आराधना नहीं की थी। जब ये गुरुकुल में रहते थे, उन दिनों सभी ऋषि कुमारों के मन में यह अभिलाषा होती थी कि हमें भी उतङ्क के समान गुरुभक्ति प्राप्त हो यथा—

उत्तंको महता युक्तस्तपसा जनमेजय। गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किञ्चिदपूजयत्।।
सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः। औत्तंकीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामिति भारत।। (म० भा०)

महर्षि गौतम के बहुत से शिष्य थे परन्तु उनका सबसे अधिक प्रेम उत्तङ्क में ही था। उत्तङ्क के इन्द्रिय संयम, बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता, पुरुषार्थ, कर्म और उत्तमोत्म सेवा से गौतमजी बहुत प्रसन्न रहते थे। इधर गुरुभक्त उत्तङ्क भी ऐसे सेवा में लीन हुये कि वे यह नहीं जान सके कि मेरा बुढ़ापा आ गया। एक दिन ये वन से लकड़ियों का भारी गट्ठर सिर पर धरकर ले आये और जब आश्रम में आकर उस बोझ को वे जमीन पर गिराने लगे तो उस समय चाँदी के तार की भाँति सफेद रङ्ग की उनकी जटा उलझकर लकड़ियों के साथ ही जमीन पर गिर पड़ी। मुनि भार से तो दबे थे ही, भूख-प्यास से भी अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उसी में जब उन्हें अपने श्वेत केशों को देखकर यह भान हुआ कि मैं वृद्ध हो गया तो बहुत ही आर्त होकर रोने लगे। उस समय पिता की आज्ञा पाकर परम सुशीला गौतम पुत्री ने अपने हाथों में उत्तङ्क के आँसुओं को ग्रहण कर लिया परन्तु उन अश्रु बिन्दुओं से उसके दोनों हाथ जलने लगे अतः अश्रु टपककर पृथ्वी पर जा पड़े। परन्तु पृथ्वी भी उन्हें धारण करने में असमर्थ हो गयी।

महर्षि प्रवर गौतमजी ने उत्तङ्क से रोने का हेतु पूछा तो उन्होंने कहा कि मेरे बाद के आये हुए सैकड़ों, हजारों विद्यार्थी आपकी सेवा में आये और अध्ययन पूरा करके, आपकी आज्ञा पाकर घर चले गये और मुझे यहाँ रहते हुये सौ वर्ष बीत गये तो भी आपने मुझे घर जाने की आज्ञा नहीं दी। गौतम जी ने

कहा—विप्रवर! तुम्हारी गुरु शुश्रूषा से मैं ऐसा मुग्ध हो गया कि इतना अधिक समय बीत गया। तो भी मेरे ध्यान में यह बात आई ही नहीं। अब यदि आज तुम्हारे मन में यहाँ से जाने की इच्छा हुई है तो मेरी आज्ञा को स्वीकार करो और शीघ्र ही यहाँ से अपने घर को चले जाओ। जब श्रीउत्तङ्कजी ने गुरु-दक्षिणा के लिये आज्ञा माँगी तो गुरु गौतमजी ने कहा कि तुमने जो सेवा की है, उसी से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। द्विजवर्य! यदि आज तुम सोलह वर्ष के तरुण हो जाओ तो मैं तुम्हें पत्नी रूप से अपनी कुमारी कन्या अर्पित कर दूँगा, क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई स्त्री तुम्हारे तेज को नहीं सह सकती। गुरुजी की प्रसन्नता के लिये उत्तङ्कजी ने तपोबल से तरुण होकर उस यशस्विनी कन्या का पाणिग्रहण किया।

पश्चात् उत्तङ्क ने गुरुपत्नी अहल्या से कहा—माताजी! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं गुरु दक्षिणा में आपको क्या दूँ? मैं अपना प्राण देकर भी आपका प्रिय करना चाहता हूँ। अहल्या ने कहा—पुत्र! मैं तुम्हारे भक्ति-भाव से ही परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ जाओ परन्तु उत्तङ्क ने जब बहुत आग्रह किया तो अहल्या ने कहा—बेटा! राजा सौदास की रानी ने जो दिव्य मणिमय कुण्डल धारण कर रखे हैं, उन्हें ले आओ। उनके ला देने से तुम्हारी गुरु दक्षिणा पूरी हो जाएगी। तब 'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्क राजा सौदास से कुण्डलों की याचना करने के लिये वहाँ से प्रस्थित हुये। उत्तङ्क के चले जाने पर जब महर्षि गौतम को सब वृत्तान्त मालूम हुआ तो वे बड़ा पश्चात्ताप किये और पत्नी से बोले—देवि! तुमने ठीक नहीं किया। राजा सौदास तो श्रीवशिष्ठजी के शाप से राक्षस भावापन्न हो गये हैं, अतः वे उस ब्राह्मण कुमार को अवश्य ही मार डालेंगे। श्रीअहल्याजी ने उत्तङ्क की मङ्गल-कामना की, मुनि ने तथास्तु कहा। उत्तङ्क अत्यन्त निर्भयता पूर्वक निर्जन वन में यमराज के समान भयंकर दीखने वाले राजा सौदास के सम्मुख उपस्थित हुए। राजा ने कहा—द्विज श्रेष्ठ! दिन के छठे भाग में मेरे लिये आहार का विधान किया गया है। यह वही समय है मैं भूख से पीड़ित हूँ। तुम भले आये।

उत्तङ्क बोले—राजन्! आपको मालूम होना चाहिए कि मैं गुरु दक्षिणा के लिए आया हूँ। मनीषी पुरुषों का कथन है कि शुभ कार्य के लिये उद्योगशील पुरुष अवध्य होता है परन्तु जब उत्तङ्क ने देखा कि यह शापाभिभूत होने के कारण मुझे खाना ही चाहता है तब इन्होंने कहा—महाराज! मैंने गुरु को जो वस्तु देने की प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही अधीन है, अतः नरेश्वर! मैं आपसे उसकी भीख माँगता हूँ। आप मेरी याचना को पूर्ण करें और विश्वास करें—मैं गुरु दक्षिणा चुकाकर फिर आपके पास आ जाऊँगा, तब मुझे खा लेना। श्रीउत्तङ्क की सुदृढ़ गुरुनिष्ठा और सत्य प्रतिज्ञा के प्रभाव से सौदास का हृदय परिवर्तित हो गया। वे मुनि के खाने का निश्चय छोड़ दिये और बोले—विप्र शिरोमणे! आप रानी के पास जाइये और मेरी आज्ञा सुनाकर कहिये—कि आप मुझे कुण्डल दे दें। महर्षि उत्तङ्क राजा सौदास की महारानी मदयन्ती के पास जाकर अपना प्रयोजन सुनाये। रानी ने कहा—मुनि श्रेष्ठ! मेरे ये दोनों मणिमय कुण्डल दिव्य हैं। देवता, यक्ष, महर्षि लोग भी विविध उपायों से इसे चुरा ले जाने की इच्छा से छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। यदि इन कुण्डलों को पृथ्वी पर रख दिया जाय तो नाग इसे हड़प लेंगे, अपवित्र अवस्था में धारण करने पर इन्हें यक्ष गण और निद्रावस्था में इन्हें पहनकर सो जाने से देवगण इसे बलात्कार पूर्वक छीन ले जायेंगे।

ये दोनों कुण्डल रात दिन सोना टपकाते रहते हैं, रात्रि में ये नक्षत्र की आभा को भी छीन लेते हैं। इन्हें धारण कर लेने पर भूख प्यास का भय नहीं रह जाता। धारक विष, अग्नि एवं हिंसक जन्तुओं से भी

निर्भय हो जाता है। कुण्डलों के इन दिव्य गुणों से आकृष्ट होकर सभी लोग इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ब्रह्मन्! यद्यपि आप महाराज के ही पास से उन्हीं का सन्देश लेकर आये हैं, तथापि आपको इस बात का कोई प्रमाण अवश्य लाना चाहिये। मुनि उत्तङ्क पुनः राजा सौदास के पास आकर रानी का कथन सुनाये। राजा ने अपने सम्बन्ध के कुछ सांकेतिक वचन कहे, जिन्हें रानी समझती थीं और सौदास ने यह भी कह दिया कि अब आपको मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं है। मुनि ने जाकर उन्हें रानी को सुनाया। महारानी मदयन्ती ने स्वामी का वचन सुनकर तत्काल अपने मणिमय कुण्डल मुनि को दे दिये। उत्तङ्क उन कुण्डलों को लेकर बड़े वेग से गौतम मुनि के आश्रम की ओर चले। रास्ते में उन्हें एक स्थान में बड़े जोर की भूख लगी, वहाँ पास ही फलों के भार से झुका हुआ एक बेल का वृक्ष था। उत्तङ्क उस वृक्ष पर चढ़ गये और कुण्डलों को मृगचर्म में लपेटकर वृक्ष की शाखा पर धर दिये। संयोग से एक बेल उस मृगचर्म पर गिर पड़ा, जिससे वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और कुण्डल भी पृथ्वी पर गिर पड़े बस, तुरन्त ही एक महासर्प आया और कुण्डल को लेकर बिल में घुस गया। सर्प के द्वारा कुण्डलों का अपहरण होता देखकर उत्तङ्क मुनि उद्विग्न हो उठे और अत्यन्त क्रोध में भरकर वृक्ष से कूद पड़े तथा एक काष्ठ दण्ड हाथ में लेकर उस बांबी को खोदने लगे। मुनि पैंतीस दिनों तक बिना किसी घबराहट के बिल खोदने के कार्य में जुटे रहे। मुनि के दृढ़ निश्चय को देखकर पृथ्वी घबरा गयीं।

देवराज इन्द्र को दया आई। वे ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनि के पास आये और दण्ड से बिल खोदकर नागलोक तक पहुँचना असम्भव बताया। तब उत्तङ्कजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो मैं आपके सामने ही प्राणों का परित्याग कर दूँगा। तब इन्द्र ने दण्ड के अग्रभाग पर अपना वज्र संयोजित कर दिया। जिससे क्षणमात्र में नागलोक तक का मार्ग बन गया। उत्तङ्क मुनि नागलोक पहुँच तो गये परन्तु वहाँ की विशालता एवं व्यवस्था को देखकर निराश हो गये। उसी समय अग्निदेव वहाँ अश्व के रूप में प्रगट हो गए और उत्तङ्क से बोले—तुम मेरे पुच्छभाग में फूँक मारो, मैं अब नागलोक को जलाये देता हूँ। नागलोक कुण्डल देने के लिए विवश हो जायेंगे। उत्तङ्क ने ऐसा ही किया। फिर तो घबड़ाकर सभी नाग बूढ़े और बालकों को आगे करके हाथ जोड़, मस्तक झुका, प्रणाम करके बोले—भगवन्! हम पर प्रसन्न हो जाइये। फिर नागों ने उन्हें अर्घ्य और पाद्य निवेदन किया और वे दोनों परम श्रेष्ठ दिव्य कुण्डल भी वापस कर दिये। तदनन्तर नागों से सम्मानित होकर महामुनि उत्तङ्क अग्निदेव की प्रदक्षिणा करके गुरु के आश्रम की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर गुरुपत्नी को उनका अभीष्ट कुण्डल प्रदान किया तथा गुरु गौतमजी से समस्त वृत्तान्त निवेदन किया। ऐसे गुरु-भक्त थे मुनि उत्तङ्क।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर जब भगवान श्रीकृष्ण द्वारका जा रहे थे तो मार्ग में श्रीउत्तङ्कजी मिले। परस्पराभिवादनोपरान्त मुनि ने युद्ध का वृत्तान्त पूछा। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—महर्षे! प्रारब्ध के विधान को कोई टाल नहीं सकता। कौरव और पाण्डव दल के सभी वीर युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये। केवल पाँच पाण्डव ही जीवित बच गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण के इतना कहते ही उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रोध से जल उठे और बोले—श्रीकृष्ण! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे, तथापि शक्ति रहते हुये भी उनकी रक्षा न की। इसलिए मैं तुम्हें शाप दूँगा। भगवान श्रीकृष्ण ने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा—भार्गव! आप तपस्वी हैं, इसलिए मेरी अनुनय विनय स्वीकार कीजिए। मैं आपको अध्यात्म तत्व सुना रहा हूँ। उसे सुनने के पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आप मुझे शाप दीजियेगा। मैं आपके संचित किये हुए तप का

नाश नहीं कराना चाहता हूँ। फिर भगवान ने मुनि को अध्यात्म ज्ञान की शिक्षा दी। ज्ञानयोग को श्रवण कर मुनि का चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो गया। रोष रफू-चक्कर हो गया, हृदय श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिभाव से पूर्ण हो गया। अत: शाप का विचार अपने आप जाता रहा। तत्पश्चात् श्रीउत्तङ्कजी ने भगवान श्रीकृष्ण से उस विश्वरूप का दर्शन कराने की प्रार्थना की जिसे युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन को दिखाया था। मुनि की इच्छा पर श्रीकृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखाया। मुनि कृत-कृत्य हो गये। पुन: मुनि की प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण पूर्व रूप में हो गये।

एक कणिक नाम का व्याध था। वह स्वभाव से बड़ा क्रूर था। देवता, ब्राह्मण, गुरु, साधु किसी को भी नहीं मानता। सबकी निन्दा करना, धन लूटना और प्राणियों की हत्या करना, यही उसका काम था। सौवीर नगर में भगवान विष्णु का एक बड़ा मन्दिर था। जिसके शिखर पर विशाल स्वर्ण कलश लगा था। उस कलश को देखकर वह व्याध मन में यह अनुमान करके कि मन्दिर में बहुत धन होगा, रात के समय में घुसा। मन्दिर में महामुनि उत्तङ्क बैठकर नेत्र बन्द किये हुए भगवान के ध्यान में मग्न थे उस दुष्ट व्याध ने मुनि को धक्का देकर पटक दिया और उनकी छाती पर पैर रखकर एक हाथ से उनके केश पकड़कर उनका सिर तलवार से काटने को उद्यत हुआ। मुनि ने नेत्र खोले और उसकी ओर देखा। उनके नेत्रों में ऐसा तेज और स्नेह उमड़ रहा था कि उस डाकू पर जादू सा हो गया। उसके हाथ से तलवार गिर पड़ी और वह दूर खड़ा होकर मुनि को एकटक आश्चर्य से देखने लगा। बड़े ही शीतल शब्दों में मुनि ने उससे कहा—'जो अपराध करता है, उसे दण्ड दिया जाता है। मैंने तो तुम्हारा कोई अपराध किया नहीं। तब मेरा वध क्यों करना चाहते हो? साधु तो सताने वाले को भी क्षमा करते हैं और उसका कल्याण करते हैं। पाप से धन एकत्र करके जो भी परिवार का पालन करते हैं, मरने पर पाप का फल उन्हें अकेले ही भोगना पड़ता है। अरे भाई! तुम क्या कर रहे हो, यह तुमने कभी सोचा है? इस पाप का कितना भयङ्कर फल होगा इस पर तुमने कभी विचार किया है? यह जीवन तो भगवान की प्राप्ति के लिये तुमको मिला है, न कि पाप बटोरने के लिए। मोह को छोड़कर भजन में लगो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्मा उत्तङ्क की वाणी का प्रभाव उस पर इतना अधिक पड़ा कि वह पश्चात्ताप से व्याकुल होकर उनके चरणों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा। उसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। दयालु मुनि ने उसके शरीर पर भगवान का चरणोदक छिड़का। उसी समय भगवान के पार्षद दिव्य विमान पर उसे बैठाकर परमधाम को ले गये। व्याध की यह सद्गति देखकर उत्तङ्क मुनि चकित हो गये। भगवान की महिमा एवं उन दयामय की असीम दया का स्मरण करके उनका शरीर पुलकित हो गया। गद्गद् कण्ठ से वे भगवान की स्तुति करने लगे। भगवान ने कृपा कर मुनि को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। मुनि ने 'मुरारे! रक्षा करो, रक्षा करो' कहकर चरणों में पड़कर प्रणाम किया, भगवान ने अपनी विशाल भुजाओं से मुनि को उठाकर हृदय से लगा लिया और वर माँगने को कहा। तब मुनि ने यह वर माँगा—

किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः।
त्वयि भक्तिर्दृढ़ा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि।।
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाच मनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च।।

अर्थ—प्रभो! आप मुझे मोहित क्यों करते हैं? मुझे कोई वरदान नहीं चाहिये। जन्म-जन्मान्तर में

आपके चरणों में अविचल भक्ति सदा बनी रहे। मैं कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य किसी भी योनि में रहूँ, हे केशव! आपकी कृपा से मेरी सदा-सर्वदा आप में अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे। भगवान मुनि को वरदान देकर एवं उनकी पूजा स्वीकार कर अन्तर्धान हो गये।

श्रीभूरि जी—ये कुरुवंशी सोमदत्तजी के पुत्र थे। ये अपने पिता तथा भाइयों के साथ द्रौपदी के स्वयंवर में गये थे। श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में भी पधारे थे। भगवान श्रीकृष्ण में इनकी प्रीति थी, महाभारत के युद्ध में सात्यकि के द्वारा मारे जाकर विश्वेदेवों में मिल गये।। (म० भा०)

श्रीदेवलजी—(१) एक सुप्रसिद्ध ऋषि, जो प्रत्यूष नामक वसु के पुत्र थे। (२) एक देव-विद्या के पारङ्गत ऋषि, जो महर्षि धौम्य के अग्रज थे तथा जनमेजय के सर्पसत्र के सदस्य बनाये गये थे। ये सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान में निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देवताओं और ब्राह्मणों की सदा पूजा करने वाले थे। इनकी सुवर्चला नाम की एक सर्व शुभ लक्षण सम्पन्ना कन्या थी। जिसकी प्रतिज्ञा थी कि मैं ऐसे पति को वरण करूँगी जो अन्धा भी हो और आँख वाला भी हो। मुनि देवल ने बहुत से ब्राह्मण कुमारों को बुलाया जो सब प्रकार से निर्दोष एवं सुयोग्य भी थे, परन्तु उनकी समझ में यह बात नहीं आती थी कि 'अन्धा होना और आँख वाला होना' दोनों एक साथ कैसे सम्भव है। कुछ काल बाद महर्षि उद्दालक के पुत्र, परम ब्रह्मवेत्ता श्रीश्वेतकेतुजी श्रीदेवल के आश्रम में पधारे। उन्होंने अपने को दोनों प्रकार से युक्त बताया। उन्होंने विषय को स्पष्ट किया कि जगत जिन आँखों से देखता है, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् उनसे तत्वालोचन रूप सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार नहीं होता है। अत: नेत्रों के रहने पर भी मैं अन्धा ही हूँ और परमात्मा रूपी चक्षु से युक्त हूँ अत: आँख वाला भी हूँ। श्वेत केतु की योग्यता देखकर महर्षि देवल ने उनको अपनी कन्या प्रदान कर दी। श्रीदेवलजी ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ समझे जाते हैं।। (म० भा०)

श्रीवैवस्वतमनुजी—विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा भगवान सूर्य की पत्नी हैं। उनके गर्भ से वैवस्वत मनु का जन्म हुआ, जो परम विख्यात यशस्वी और अनेक विषयों के परिज्ञान में पारंगत थे। विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र होने के कारण ही ये वैवस्वत कहलाये। पिता भगवान सूर्य ने इन्हें भगवान से प्राप्त गुह्यतम ज्ञान की शिक्षा दी थी, जिसका वर्णन गीता के चतुर्थ अध्याय में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने किया है। (देखिये इक्ष्वाकु प्रसङ्ग) इन्होंने बदरिकाश्रम में जाकर दोनों बाहें ऊपर उठाये एक पैर से खड़े होकर दस हजार वर्षों तक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय इनका सिर नीचे की ओर झुका हुआ था और यह एक टक नेत्रों से निरन्तर देखते रहते थे। इस प्रकार बड़ी दृढ़ता के साथ इन्होंने तप किया। एक दिन की बात है, वैवस्वत मनु कृतमाला नदी में स्नान करके तर्पण कर रहे थे। एकाएक इनकी अञ्जली में एक नन्हीं-सी मछली आ गई। (म०भा०) आगे की कथा सत्यव्रतजी से मिलती-जुलती है। (देखिये छप्पय ५ मत्स्यावतार-प्रसङ्ग) ये चौदह मनुओं में सातवें मनु हैं। वर्तमान मन्वन्तराधिपति ये ही हैं। भागवत के अनुसार राजर्षि सत्यव्रत ही वैवस्वत मनु हुये हैं।।

राजर्षि नहुष जी—महाराज नहुष महान तेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी थे। देवराज इन्द्र जब वृत्रासुर का वध करने से ब्रह्महत्या से पीड़ित होकर जल में छिप रहे, चारों ओर अराजकता छा गई, तब देवताओं ने राजा नहुष को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित किया और उनको शक्ति दी कि जिससे इनके तेज के आगे किसी का तेज न रहे। यथा—

तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव।।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे।। (म० भा०)

अर्थ—(हम लोग अपना तपः प्रभाव आपको प्रदान करते हैं उससे युक्त होने पर) जो भी आपके नेत्रों के सामने आ जायेंगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान हो जायेंगे। अतः सदा धर्म को सामने रखते हुये आप सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होइये। तदनन्तर राजा नहुष का स्वर्ग में इन्द्र पद पर अभिषेक हुआ।

नहुष ने एक दिन इन्द्राणी को देखा तो उनका चित्त दूषित हो गया और उन्होंने आज्ञा दी कि शची देवी आज मेरे महल में शीघ्र पधारें। यह सुनकर इन्द्राणी देवगुरु बृहस्पतिजी की शरण गईं। बृहस्पतिजी ने आश्वासन दिया—देवि! तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्र को प्राप्त करोगी, तुम्हें नहुष से नहीं डरना चाहिये। जब राजा नहुष ने सुना कि इन्द्राणी बृहस्पति की शरण में गयी हैं, तब वे बहुत कुपित हुये। देवताओं और ऋषियों ने नहुष को बहुत समझाया, पर कामान्ध नहुष ने उनके समझाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया। तब देवता, गन्धर्व, ऋषि सबने जाकर देव गुरु से परामर्श किया। उन्होंने सलाह दिया कि इन्द्राणी नहुष के पास जाकर मुहलत माँगें। ऐसा ही किया गया। नहुष प्रसन्न हुये और मुहलत दे दी कि इन्द्र का पता लगा लें।

इन्द्राणी ने इन्द्र का पता लगाकर उनके पास जाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया और पातिव्रत्य की रक्षा चाही। इन्द्र ने यह उपाय बताया कि तुम एकान्त में नहुष से मिलकर कहो कि तुम मुझसे मिलने के लिये ऋषीश्वरों की दिव्य सवारी पर चढ़कर आओ। तब मैं प्रसन्नता पूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। शची ने ऐसा ही किया। राजा से जाकर कहा कि मेरी इच्छा है कि सब ऋषि मिलकर अपने कन्धे पर आपकी सवारी ले चलें, इस प्रकार नयी सवारी पर चलना आपके योग्य होगा। कोई ऋषि कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि आपके तेज के सामने सबका तेज हर जाता है। नहुष ने इस प्रस्ताव को अङ्गीकार कर लिया। इधर श्रीबृहस्पतिजी ने नहुष के भ्रष्ट होने एवं इन्द्र को खोजने के लिये यज्ञारम्भ कर दिया।

नहुष देवर्षि और महर्षियों से पालकी उठवाकर इन्द्राणी के पास चले। ऋषिगण श्रान्त हो रहे थे, तब भी नहुष 'सर्प-सर्प' अर्थात् 'जल्दी चलो जल्दी चलो' इस प्रकार ऋषियों को शासित कर रहे थे। तब ऋषिगण क्षुभित होकर राजा से कहे कि आप अधर्म पर उतारू हैं। पूर्व के महर्षिगण और ब्रह्मा जो कह आये हैं, उनकी बनाई हुई मर्यादा को आप नहीं मानते हैं। इस विषय पर विवाद हो जाने पर क्रोधान्ध हो नहुष ने श्रीअगस्त्यजी के सिर पर लात चलायी। श्रीअगस्त्यजी ने शाप दे दिया कि तूने अधर्म से व्याप्त होकर मेरे सिर में पैर की ठोकर मारी, अतः तू तेजहत होकर पृथ्वी पर गिर और दस हजार वर्ष तक अजगर बना रहे। नहुष का काम का नशा उतर गया और अत्यन्त दीन होकर मुनि श्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजी से प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे शाप का अन्त नियत कर दीजिये। तब श्रीअगस्त्यजी ने कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर दे दे वही तुम्हें शाप से छुड़ा सकता है। राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह बलवान से भी बलवान क्यों न हों, उसका भी धैर्य छूट जाएगा। तत्पश्चात् राजा नहुष अजगर होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

जब पाण्डव जुए में हारकर वनवास कर रहे थे। उस समय द्वैतवन में एक दिन भीमसेन नहुष की पकड़ में आ गये। लाख प्रयत्न करने पर भी महाबली भीम अपने को छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सके क्योंकि

ऋषि का वरदान ही ऐसा था। तब उनको खोजते-खोजते महाराज युधिष्ठिरजी वहाँ पहुँचे। श्रीधर्मराज ने अजगर से भीम को छोड़ देने के लिये बहुत प्रार्थना किया परन्तु उसने नहीं छोड़ा। तब श्रीयुधिष्ठिरजी ने कहा— अच्छा बताओ-हम किस उपाय का अवलम्बन करें, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो? अजगर ने कहा—यदि तुम मेरे पूछे हुये कुछ प्रश्नों का अभी उत्तर दे दोगे तो मैं तुम्हारे भाई को छोड़ दूँगा। श्रीयुधिष्ठिरजी की अनुमति पाकर अजगर ने पूछा—**ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर। ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे।।** (म० भा०) अर्थ—राजन्! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है? जानने योग्य तत्त्व क्या है? श्रीयुधिष्ठिरजी ने कहा—नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रौर्याभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखाई देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है तथा जानने योग्य तत्त्व तो परब्रह्म ही कहा गया है, जो दुःख और सुख से परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोक से पार हो जाता है। अजगर ने कहा—युधिष्ठिर! तुम जानने योग्य सभी बातें जानते हो। मैंने तुम्हारी बातें अच्छी तरह सुन लीं। पार्थ! तुम्हारे शुभागमन से मेरे लिये यह महान पुण्य काल उपस्थित हो गया है अब इस घोर तमोमयी योनि से मेरा उद्धार हो गया है। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोक को जाऊँगा। यह कहते हुये राजा नहुष ने अजगर का शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गलोक को चले गये। (म० भा०)

श्रीययातिजी—ये महाराज नहुष के द्वितीय पुत्र थे। इनके बड़े भाई यति योग का आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये। अतः ये ही भूमण्डल के सम्राट् हुये। इन्होंने अपने राज्य काल में सहस्त्रों यज्ञों का अनुष्ठान किया था। ये अपराजित मन और इन्द्रियों का संयम करने वाले तथा भगवान के परम भक्त थे। इनके प्रताप, पराक्रम और सुयश की देवता भी सराहना करते थे। एकबार दैत्यराज वृषपर्वा की मानिनी कन्या शर्मिष्ठा और दैत्यों के पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी—ये दोनों अपनी सहस्त्रों सखियों के साथ वन के सरोवर में स्नान कर रही थीं। भगवान शिव और पार्वती को देखकर संकोच वश शीघ्रतापूर्वक वस्त्र धारण करने की त्वरा में शर्मिष्ठा ने देवयानी के वस्त्र पहिन लिये। इस पर देवयानी क्रोध के मारे आग बबूला हो गई और उसने शर्मिष्ठा को बहुत कुछ बुरा-भला कह डाला। देवयानी को अपने ब्राह्मणत्व का गौरव था तो शर्मिष्ठा भी राजा की बेटी थी वह देवयानी के कटु प्रलापों को सुनकर तिलमिला उठी और उसने पुरोहित पुत्री को बहुत उल्टा-सीधा सुनाकर क्रोध में भरकर उसके वस्त्र छीनकर उसे कुएँ में ढकेल दिया।

दैवयोग वश उसी समय शिकार खेलते हुये राजा ययाति प्यास से व्याकुल होकर जल की तलाश करते हुये उस कुएँ पर जा पहुँचे। उन्होंने कुएँ में गिरी हुयी वस्त्रविहीना देवयानी को देखा तो अपना दुपट्टा उसके ऊपर फेंक दिया और दाहिना हाथ पकड़कर बाहर निकाला। देवयानी ने प्रेम भरी वाणी से कहा—वीर शिरोमणे! आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है, अब कोई दूसरा इसे न पकड़े परन्तु ब्राह्मण कन्या होने के कारण ययाति ने देवयानी की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। तब देवयानी ने कहा—वीरश्रेष्ठ! पहले मैंने बृहस्पति के पुत्र कच को शाप दे दिया था। इस पर उसने मुझे शाप दे दिया। इसी कारण ब्राह्मणकुमार मेरा पाणिग्रहण नहीं कर सकता। शाप की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—बृहस्पतिजी का पुत्र कच शुक्राचार्यजी से मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़ता था। अध्ययन समाप्त करके जब वह अपने घर जाने लगा तो देवयानी ने उसे वरण करना चाहा परन्तु गुरु पुत्री होने के कारण कच ने उसका प्रस्ताव स्वीकार

नहीं किया। इस पर देवयानी ने उसे शाप दे दिया कि तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या सफल नहीं होगी। तब कच ने भी उसे शाप दे दिया कि कोई भी ब्राह्मणकुमार तुम्हें पत्नी रूप में नहीं स्वीकार करेगा।

महाराज ययाति ने इसे दैवरचित विधान समझकर स्वीकृति दे दी और नगर को चले आये। इधर जब शुक्राचार्य को यह सब मालूम हुआ तो वे दैत्यों से क्षुभित होकर अपनी कन्या देवयानी को साथ लेकर नगर से निकल पड़े। जब दैत्यराज वृषपर्वा को यह समाचार मिला तो उसने मार्ग में आकर मुनि के चरणों पर माथा टेक दिया। श्रीशुक्राचार्यजी ने कहा—दैत्येन्द्र ! तुम्हें देवयानी को सन्तुष्ट करना चाहिये। वृषपर्वा के अनुरोध पर देवयानी ने कहा—'पिताजी मुझे जिसको दे दें और मैं जहाँ कहीं जाऊँ, शर्मिष्ठा अपनी सहेलियों के साथ मेरी सेवा के लिये वहीं चले। शर्मिष्ठा ने पितृ-कुल की कल्याण कामना से देवयानी की बात स्वीकार कर ली। देवयानी का विवाह ययाति के साथ हुआ और शर्मिष्ठा अपनी एक हजार सहेलियों के साथ दासी के समान उसकी सेवा करने लगी। देवयानी के दो पुत्र हुये—यदु और तुर्वसु। उधर राजा ययाति ने शर्मिष्ठा को भी पत्नीत्वेन अङ्गीकार करके उससे तीन पुत्र उत्पन्न किये। यद्यपि शुक्राचार्यजी ने यह कह दिया था कि—राजन्! शर्मिष्ठा को अपनीसेज पर कभी न आने देना परन्तु ययातिजी ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

जब देवयानी को यह पता लगा तो उसने पिता के पास जाकर इस बात की शिकायत की। इस पर उन्होंने राजा को शाप दिया कि तुम शीघ्र बूढ़े हो जाओ। राजा तुरन्त बूढ़े हो गये। राजा की प्रार्थना पर शुक्राचार्य ने शापानुग्रह यों किया कि जो प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अपनी जवानी दे दे उससे तुम अपना बुढ़ापा देकर बदल सकते हो। राजा ने अपने पुत्रों से एक-एक करके जवानी माँगी। परन्तु बुढ़ापा के दु:खों से अवगत देवयानी के दोनों पुत्र यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा के तीन पुत्रों में द्रुह्यु और अनु ने पिता की आज्ञा अस्वीकार कर दी। इन पुत्रों ने धर्म पर ध्यान नहीं दिया, शारीरिक सुख-दु:ख ही इनका परम साध्य था। तब ययाति ने उनको शाप दे दिया कि तुम लोग पैतृक राज्याधिकार से वंचित रहोगे। तत्पश्चात् सबसे छोटे पुत्र पुरु से एक हजार वर्ष के लिए विषयोपभोगार्थ युवावस्था माँगी। पुरु ने 'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पति ऐन।।' इस स्मृति को गौरव देते हुए पिता की आज्ञा का पालन किया। अपनी जवानी दे दी। पिता ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया—वत्स! पुरो! मैं तुम्हें वर देता हूँ कि तुम्हारे राज्य में समस्त प्रजा अपनी सम्पूर्ण कामनाओं से सम्पन्न होगी।

एक सहस्र वर्ष बीतने पर राजा को वैराग्य हो गया। उनको यह अनुभव हो गया कि विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं होती। बल्कि जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है वैसे ही भोग वासनायें भी भोगों से प्रबल हो जाती हैं। यथा—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। (भा० ९-१९-१४)

पृथ्वी में अन्न, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सभी यदि किसी कामी मनुष्य को प्राप्त हो जायँ तो भी वह उन्हें भोगकर तृप्त नहीं हो सकता है। यथा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते।। (भा० ९-१९-१३)

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं कि—'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुं विषयभोग बहु घी ते।' (वि०)

उन्होंने पुरु की जवानी लौटाकर उसको राजा बनाया। तब ब्राह्मणों ने आकर कहा कि राज्य बड़े पुत्र को देना चाहिए था न कि छोटे को। आपको धर्म का पालन करना चाहिये। राजा ने उत्तर दिया कि पिता का विरोधी पुत्र सज्जनों की राय में पुत्र ही नहीं है। माता-पिता का आज्ञाकारी भक्त पुत्र ही सच्चा पुत्र है। शुक्राचार्य ने भी ऐसा ही वर दिया है कि जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे वही राजा हो। इसलिए आप लोग पुरु का राज्याभिषेक करने में विरोध न करें। सब प्रजा यह सुनकर सन्तुष्ट हुई। इस प्रकार पुरु को राज्य देकर स्वयं वनवास की दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणों के साथ नगर से बाहर निकल गए। वन में निवास करते हुए राजा ययाति एक सहस्त्र वर्ष से अधिक वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तपस्या करके स्वर्गलोक को चले गये।

दीर्घकाल तक स्वर्गलोक का सुख-भोग भोगते हुए महायशस्वी राजर्षि ययाति इच्छानुसार सभी देवलोक और ब्रह्मलोक में भी विचरण करते रहे। एक दिन देवराज इन्द्र ने राजा ययाति से पूछा कि—वनवास करके आपने किसके समान तपस्या की? राजा ने अभिमान पूर्वक कहा कि देव, मनुष्य, महर्षि आदि में मुझे अपनी तपस्या के समान किसी की तपस्या नहीं दीख पड़ती। इस तरह अपने से उत्तम और अपने बराबर वालों का अपमान करने के कारण राजा पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्ग से गिरा दिये गये। नन्दनवन से गिरते समय देवता करुण स्वर से उनके लिए शोक प्रकट करने लगे। उनकी कृपा से राजा ययाति राजर्षि अष्टक की यज्ञभूमि में आ टिके। पुण्य और पुण्यफल के सम्बन्ध में अष्टक के पूछने पर राजा ने बताया कि तपस्या, दान, शान्ति, इन्द्रियदमन, लोकलज्जा, सरलता और दया—ये सात फाटक स्वर्ग के हैं परन्तु अपने श्रेष्ठ होने का अहंकार करके दूसरे का अपमान करने से ये सातों मिट्टी में मिल जाते हैं, अपने मुँह से अपनी करनी का बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययाति की कन्या माधवी के पुत्र हैं, अतः इनके नाती भए। वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं कि पुत्रों और पौत्रों की भाँति पुत्री और दौहित्रों का धर्माचरण से प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिए होता है। अतः अष्टक के पुण्यफल से राजा ययाति फिर स्वर्ग में पहुँच गये। (म० भा०)

श्रीदिलीपजी—परम भागवत महाराज रघुजी का चरित्र पूर्व वर्णन किया जा चुका है। स्वनाम धन्य, परम धर्मात्मा, गो-सन्तसेवी राजा दिलीप उन्हीं श्रीरघुजी के पिता हैं। अयोध्या नरेश महाराज दिलीप का पराक्रम लोक विख्यात था। देवराज इन्द्र को भी इनकी सहायता अपेक्षित थी। देवता और दैत्यों में संघर्ष चलता ही रहता है। एकबार देवराज इन्द्र के आह्वान पर ये देवताओं की ओर से देवासुर संग्राम में भाग लेने गए थे। विजय देवताओं की हुई। श्रीदिलीपजी का बड़ा सम्मान किया देवताओं ने। विजयोल्लास से भरे हुए राजा दिलीप जब अयोध्या को लौट रहे थे तो रास्ते में इन्हें कामधेनु खड़ी मिली परन्तु विजय गर्व, सुर-सम्मान, घर आने की त्वरा—इन हेतुओं से राजा कामधेनु को बिना प्रणाम किये ही आगे बढ़ गए। कामधेनु तो इस आशा से मार्ग में खड़ी थीं कि राजा मुझे प्रणाम करेंगे तो उन्हें मैं भूरि-भूरि शुभाशीर्वाद दूँगी, परन्तु हुआ विपरीत। इनके प्रणाम न करने से कामधेनु ने दुःख मान लिया और रुष्ट होकर शाप दे दिया कि तूँ पुत्रहीन होगा। हाँ! यदि मेरी सन्तान तुझ पर अनुग्रह कर दें तो भले

तुझे सन्तान की प्राप्ति हो जाय। दिलीपजी शाप से सर्वथा अनवगत रहे। भला देववाणी कभी मिथ्या हो सकती हैं? सचमुच दिलीप को सब सुख प्राप्त हुआ परन्तु इनको सन्तान-सुख का सुयोग नहीं हुआ। राजा रानी रात-दिन चिन्तित रहने लगे। राजा ने विविध प्रयत्न किए सन्तानोत्पति के, प्रजा ने भी बहुत-बहुत पुण्य का बल लगाया, परन्तु मनोरथ पूर्ण नहीं हो सका।

तब अन्त में श्रीदिलीपजी ने अपने कुल-गुरु श्रीवशिष्ठजी के चरणों का आश्रय लिया। भला सर्वज्ञ श्रीवशिष्ठजी से क्या अविदित है? उन्होंने पुत्र न होने का हेतु बताते हुए कामधेनु की सन्तान, अपनी होमधेनु नन्दिनी की सेवा का संकेत किया। फिर क्या था? राजा-रानी दोनों ही श्रीगुरुजी की आज्ञा शिरोधार्य कर प्राण-प्रण से नन्दिनी की सेवा में जुट गये। महारानी प्रातःकाल उस गौ की विधिवत् पूजा करतीं, महाराज दिलीप गोदोहन हो जाने पर उस गाय के साथ वन जाते। गौ जिधर भी जाती, उसके पीछे-पीछे चलते। वह बैठ जाती तो स्वयं भी उसके समीप बैठकर उसके शरीर को सहलाते। हरी-हरी दूब उखाड़कर उसे खिलाते। उसके जल पी लेने पर ही स्वयं जल पीते। वह जिधर से भी चलती, उधर ही चलते और अपने उत्तरीय से उस पर बैठने वाले मच्छर, मक्खी आदि जीवों को उड़ाते रहते थे, सारांश यह कि महाराज छाया की तरह गौ के साथ-साथ रहते। यथा—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।। (रघुवंश)

सायंकाल को गौ वन से लौटती, महारानी उसकी फिर पूजा करती थीं। महाराज रात्रि में गौ के समीप ही भूमि पर सोते थे। सेवा में सावधान राजा दिलीप को अत्यन्त ही श्रद्धापूर्वक नन्दिनी की सेवा करते हुए एक महीना बीत गया। एक दिन वे गौ के पीछे-पीछे जङ्गल में जा रहे थे। गौ एक बहुत बड़े सघन वन में घुस गई। महाराज भी पीछे-पीछे धनु से लताओं को हटाते हुए चले। वन में वे एक स्थान पर वृक्षों का सौन्दर्य देखते खड़े हो गये। नन्दिनी तृण चरती हुई दूर निकल गई, इस बात का उन्हें ध्यान नहीं रहा। तब तक इन्हें सहसा गौ का चित्कार सुनाई पड़ा। शब्द का अनुसन्धान करते हुए दिलीपजी शीघ्रता पूर्वक उस ओर चले। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि एक बलवान सिंह गौ को पंजे में दबाये उसके ऊपर बैठा है गौ बड़ी कातर दृष्टि से इनकी ओर देख रही है। महाराज ने तरकस से बाण निकालकर उस सिंह को मारना चाहा किन्तु इनका वह हाथ जहाँ का तहाँ जड़वत् रह गया, राजा बड़े ही विस्मित हुए।

तब सिंह ने मनुष्य भाषा में कहा—राजन्! व्यर्थ उद्योग मत करो। मैं साधारण पशु नहीं हूँ। मैं भगवती पार्वती का कृपापात्र हूँ और उन्होंने मुझे अपने हाथों से लगाये इस देवदारु वृक्ष की रक्षा के लिए नियुक्त किया है। जो पशु अपने आप यहाँ आ जाते हैं वे ही मेरे आहार होते हैं। श्रीदिलीपजी ने कहा—मृगेन्द्र! जगत के माता-पिता भगवान शिव-पार्वती के आप सेवक हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप अपनी क्षुधा निवृत्ति के लिये मुझे खा लें, परन्तु मेरे गुरुदेव की इस गौ को छोड़ दें। सिंह ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—आप युवा हैं, नरेश हैं और आपको सभी सुख भोग प्राप्त हैं। एक गौ के लिए इस प्रकार आपका देहत्याग उचित नहीं है। लगता है तुममें विचार करने की शक्ति बिल्कुल नहीं है। यथा—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।। (रघुवंश)

आप तो एक गौ के बदले अपने गुरु को लाखों गौएँ देकर सन्तुष्ट कर सकते हैं किन्तु राजा अपने ध्येय पर अटल रहे और सिंह से बोले—आप मेरे शरीर पर कृपा करने के बदले मेरे धर्म की रक्षा करें। मेरी रक्षा में दी हुई गौ मेरे देखते मारी जाय, तो भला ऐसा जीना किस काम का। आप मुझे सुख-भोग के प्रलोभन के बदले कर्तव्य पालन की प्रेरणा दें। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब राजा ने किसी प्रकार अपना आग्रह नहीं छोड़ा। तब सिंह गाय को छोड़कर दिलीपजी को ही खाने को तैयार हो गया। महाराज का तरकस से चिपका हुआ हाथ छूट गया, वे अपने शरीर से आयुधों को दूर कर सिंह के आगे पृथ्वी पर गिर पड़े परन्तु यह क्या—सिंह के टूटने के बदले इनके शरीर पर आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। प्यार बरसाती हुई नन्दिनी बोली—वत्स! उठो, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये मैंने ही अपनी माया से यह दृश्य उपस्थित किया था। पत्ते के दोने में मेरा दूध दुहकर पी लो, इससे तुम्हें तेजस्वी पुत्र होगा। राजा ने कहा—देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है किन्तु आपका बछड़ा जब तक न पी लेगा, गुरुदेव के यज्ञ के लिये दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजी की आज्ञा न होगी, तब तक मैं दूध नहीं पी सकता हूँ, महाराज की इस धर्मनिष्ठा से नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई। सायंकाल को आश्रम में पहुँचने पर श्रीगुरुदेवजी की आज्ञा से दिलीपजी ने गौ का दूध पिया। नन्दिनी के अनुग्रह एवं श्रीवशिष्ठजी की कृपा से श्रीदिलीपजी के यथा-समय पुत्र उत्पन्न हुआ, जो जगत में श्रीरघुजी के नाम से विख्यात हुआ। इन्हीं श्रीरघुजी के नाम पर आगे चलकर इस वंश का नाम रघुवंश पड़ा।। (रघुवंश)

श्रीपुरूजी—ये पौरव वंश के प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इनका गुरुजनों के प्रति बड़ा आदर भाव था। जिस समय इनके पिता राजा ययाति अपनी वृद्धावस्था के बदले पुत्रों से जवानी माँग रहे थे और सभी पुत्रों ने अस्वीकार कर दिया। तब राजा ने अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु से कहा। उस समय पुरु ने 'गुरोराज्ञागरीयसी' का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। यथा—

गुरोर्वै पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम्।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः।।
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात्।। (म० भा०)

अर्थ—गुरुजनों की आज्ञा का पालन मनुष्यों के लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करने वाला है। गुरु के ही प्रसाद से इन्द्र ने तीनों लोकों का शासन किया है। गुरु स्वरूप पिता की अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यह कहकर पुरु ने सहर्ष अपनी युवावस्था पिता को देकर बदले में उनके बुढ़ापा को स्वीकार कर लिया। जिससे कि महान यश के भागी हुये। इनको गुरुजनों की कृपा से परावर तत्व का ज्ञान था। इस कारण ये जगत्प्रपञ्च से सर्वथा अनासक्त रहे। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने इनको पितृ-भक्तरूप में स्मरण किया है। यथा—'तनय जजातिहिं जौवन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजस न भयऊ।। पुरुजी के वंश में बहुत से राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुये हैं।

श्रीयदुजी—ये राजा ययाति के प्रथम पुत्र थे, जो देवयानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये यादववंश के प्रवर्तक राजा हुए। इन्हीं के वंश में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ था ये बड़े धर्मज्ञ तथा धर्मशील थे। यथा—**अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्।।** (भा० ११/७/२५) तथा—**यदोश्चधर्मशीलस्य.....**(भा० १०/१/२) यहाँ यदि कोई शंका

करे कि इन्होंने तो पिता ययाति की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया था जो कि अधर्म हैं। फिर इन्हें धर्मवित् वा धर्मशील कैसे कहा गया? इसका समाधान यह है कि इन्होंने मुख्य धर्म भगवद्भक्ति को प्राधान्य देकर सामान्य धर्म पित्राज्ञापालन को अस्वीकार किया था अतः अधर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो भगवद्भक्ति ही है। यथा—धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो.....। और पिता की आज्ञा मानकर जरावस्था को स्वीकार करने से भगवद्भजन में बाधा पड़ती। जरावस्था साधनोपयोगी नहीं कही गयी है। यथा—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।। (भर्तृहरि)

अर्थ—जब तक यह शरीर रूपी घर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति अबाधित है और जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, विद्वान् मनुष्य को तभी तक अपने कल्याण के लिए महान प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि घर में आग लगने पर कुआँ खोदने का उद्यम किस काम का?

अतः पिता की आज्ञा नहीं माने। पुनः परमपिता परमात्मा की सेवा में दत्तचित्त यदु ने यदि लौकिक पिता के वचन को नहीं माना तो कोई दोष नहीं। सामान्य धर्म से विशेष धर्म श्रेष्ठ है। पुनः राजा ययाति के आज्ञा पालन में यदु को महान अनौचित्य यह दिखाई पड़ा कि मुझ पुत्र की युवावस्था से माता के साथ भोग विलास करना चाहते हैं जो कि सर्वथा धर्म के प्रतिकूल है। पुनः हरिवंश पुराण में वर्णन आता है कि श्रीयदुजी ने किसी ब्राह्मण को उनके अनिर्दिष्ट कार्य की पूर्ति का वचन दे दिया था। जरावस्था के अंगीकार करने पर वह कार्य सम्पादन असम्भव हो जाता इसलिए भी पिता की आज्ञा नहीं माने। इसमें यदुजी की ब्रह्मण्यता प्रदर्शित होती है। पुनः यदि श्रीयदुजी ने एक पिता की आज्ञा नहीं मानी तो उसके प्रायश्चित के लिए सम्पूर्ण जीवन धर्माचरण में बिताया और इनकी धर्मशीलता का परम प्रमाण तो यह है कि स्वयं भगवान ने इनके कुल में जन्म लिया। श्रीयदुजी महाराज भगवान दत्तात्रेयजी से ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो गये थे।।

श्रीगुहजी—ये भगवान श्रीरामजी के अत्यन्त प्रिय सखा हैं। जाति के निषाद एवं श्रृङ्गबेरपुर के राजा हैं। शिव पुराण में इनके पूर्व जन्म का प्रसंग प्राप्त होता है। कथा इस प्रकार से है—एक जंगल में गुरुद्रुह नाम का एक भील रहता था। जीवों की हिंसा करना उसका सहज कर्म बन गया था। उसी से वह परिवार का पालन-पोषण करता था। महाशिवरात्रि का दिन था, वह प्रातःकाल ही शिकार की टोह में घर से निकल पड़ा, परन्तु दैवयोग से उस दिन उसे कुछ नहीं मिला। सन्ध्या हो गई। 'घर के लोग भूखे बाट देखते होंगे, अतः अवश्यमेव कुछ लेकर ही लौटना चाहिये।' यह विचारकर वह भील एक जलाशय के समीप के बेल के वृक्ष पर चढ़ गया। उसके नीचे एक शिवलिंग था। रात्रि के प्रथम प्रहर में एक हरिणी जल पीने के लिए जलाशय पर आई। भील हर्षित होकर अपना धनुष बाण सँभालने लगा। इसी में उसके शरीर के हिलने से कन्धे पर लटकती हुई जल भरी तूँबी से कुछ जल छलक कर श्रीशिवलिंग पर जा पड़ा तथा धनुष बाण सञ्चालन से विल्वपत्र भी टूटकर शिवलिङ्ग पर जा पड़ा। इस अचानक सम्पादित हुये सुकृत से उस भील का बहुत सा पाप तत्काल नष्ट हो गया।

इतने में हरिणी की दृष्टि व्याध पर गई। वह उसके अभिप्राय को समझकर बोली—व्याध! मैं अपने बच्चों को अपनी बहिन को अथवा स्वामी को सौंपकर अभी आती हूँ, फिर तुम मुझे मारकर अपनी उदर पूर्ति कर लेना। मैं शपथ पूर्वक कहती हूँ, मेरे वचनों का विश्वास करो। अकस्मात् सम्पन्न शिवार्चन के पुण्य प्रभाव से व्याध ने दया करके उस हरिणी को छोड़ दिया। थोड़ी देर बाद उसी हरिणी की बहन दूसरी हरिणी वहीं जल पीने के लिये आई। इसके वध का उद्योग करते समय पुनः पूर्ववत् जल और विल्वदल शिवलिंग पर जा गिरा। इस हरिणी ने भी व्याध से पहली हरिणी के समान ही वार्ता की। व्याध ने इसे भी छोड़ दिया। इतने में एक हृष्ट-पुष्ट हरिण जलाशय की ओर आता दिखाई पड़ा। पुनः इसके भी वधोद्योग में सहज शिवार्चन सम्पन्न हो गया। व्याध का अभिप्राय समझकर हिरण ने भी यह निवेदन किया कि मैं अभी-अभी अपने बच्चों को उनकी माता के हाथों में सौंपकर आता हूँ। व्याध यद्यपि स्वयं बहुत भूखा था, परिवार के लोग अत्यन्त क्षुधार्त होकर इसके आने की बाट देख रहे थे, परन्तु श्रीशिवजी की कृपा से उसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे, हृदय शुद्ध हो गया था। अरे भाई! शिवरात्रि के दिन उसने व्रत एवं शिवार्चन जो कर लिया था। फिर शिवजी भी तो आशुतोष और औढरदानी हैं। व्याध ने दयापरवश हो मृग को भी छोड़ दिया।

निवास स्थान पर पहुँचने पर जब मृग और दोनों मृगियाँ मिलीं तो परस्पर विचार विमर्शकर उन्होंने यही निर्णय किया कि हम सब लोग मिलकर व्याध के पास चलें, क्योंकि सबने सत्य की सौगन्ध खाई है। माता-पिता को जाते देख बच्चे भी साथ लग गये। इस मृग समूह को देखकर व्याध को बड़ा ही हर्ष हुआ और धनुष पर बाण सन्धान करने का उपक्रम करने लगा। पुनः जल और विल्वदल शिवलिंग पर गिरे। उस व्याध के पाप तो पहले के ही पूजन के प्रभाव से नष्ट हो गये थे। इस बार तो उसे दया के साथ विवेक भी प्राप्त हो गया। व्याध को सहसा बड़ी ही आत्म ग्लानि हुई कि ये पशु होकर भी कितने परमार्थ निष्ठ हैं और मैं मनुष्य होकर भी परमार्थ की कौन कहे स्वार्थ से भी विमुख रहा। उचित रीति से मैं उदर पूर्ति करने में भी असमर्थ रहा। धन्य हैं ये मृग, और मेरे जीवन को बार-बार धिक्कार है। इस प्रकार ज्ञान सम्पन्न होने पर व्याध ने अपने बाणों को रोक लिया, और कहा—श्रेष्ठ मृगो! तुम धन्य हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाओ। व्याध के ऐसा कहने पर भगवान शिवजी ने तत्काल प्रगट होकर अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन कराया और प्रसन्न होकर सुदुर्लभा भक्ति का वरदान देकर बोले—व्याध! एक दिन निश्चय ही भगवान श्रीराम तुम्हारे घर आवेंगे और तुम्हारे साथ मित्रता करेंगे। वे मृग भी शिवजी का दर्शन कर दिव्यरूप धारणकर दिव्य शिव लोक को चले गये और वह भील ही कालान्तर में श्रृंगबेरपुर का राजा निषादराज गुह हुआ जिसकी श्रीरामजी में अविचल प्रीति थी। तभी तो कहा गया है कि—शिव सेवा कर फल सुत होई। अविरल भक्ति राम पद होई।। (रा०)

निषादराज गुह और श्रीरामजी के प्रथम मिलन की बड़ी मधुर कथा सन्त-महानुभाव इस प्रकार वर्णन करते हैं—निषादराज के पिता से और चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी से बड़ी मित्रता थी। वे समय-समय पर श्रीअयोध्या आया करते थे। जिस समय श्रीदशरथजी के यहाँ प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। लाल की बधाई लेकर तो वे स्वयं आये थे और चारों कुमारों का दर्शन कर परम सुख पाये थे परन्तु एक तो स्वयं जराग्रस्त थे, दूसरे बालक गुह नित्य अयोध्या के लिये मचलता रहता था, और जबसे उसने श्रीराम की शोभा का वर्णन सुना है तब से तो वह विशेष उत्कण्ठित

रहने लगा है। श्रीअयोध्या जाकर भ्राताओं सहित श्रीराम का दर्शन करने के लिये। आज-कल करते-करते पाँच वर्ष बीत गये। अतः गुह जब कुछ बड़े भी हो गये और उधर राजकुमार भी अवध की गलियों में विविध विनोद करते हुए विहरने लगे तक एक दिन वृद्ध पिता ने गुह को श्रीअयोध्या जाने की आज्ञा दी। गुह के हर्ष का पारावार नहीं रहा। भेंट के लिये वन्य कन्द-मूल, फल तथा चारों राजकुमारों के लिये चार जोड़ी रुरुनामक मृग के चर्म के बनीं हुई सुन्दर पनहियाँ बगल में दबाये हुए गुह श्रीअयोध्या को चल पड़े हृदय में अनेकानेक मधुर भावनाओं को संजोये हुये। पिताजी के द्वारा सुने हुए राजकुमारों के सौन्दर्य-माधुर्य का अनुचिन्तन करते हुए गुह श्रीअवध में आ पहुँचे।

मन में विचार आया कि प्रथम श्रीसरजू स्नान कर लूँ फिर दरबार में चलूँ। अतः श्रीसरजू तट पर उपहार की पोटली रखकर ये स्नान करने लगे। तब तक क्या देखते हैं कि चार बालक उपहार पोटली खोल रहे हैं। बालक बड़े सुघर थे, देखते ही मन मोह गया। अतः ऊपर से तो उन्हें मना करते हैं, परन्तु भीतर से यह हो रहा है कि खोल लो, ले लो, पहन लो, मैं तो आपके लिये ही लाया हूँ। हुआ भी ऐसा ही। गुह मना करते ही रहे बालकों ने पोटली खोल ली, पनहियाँ पहन लीं और केले के फल लेकर खाते हुए सरजू तट पर विहरने लगे। गुह नाराज भी हो रहे थे और प्रसन्न भी। स्नानकर बाहर निकले। वस्त्र बदलकर बालकों के समीप पहुँचे, कुछ रीझे से, कुछ खीझे से पूछे—आप लोग किसके बालक हैं? आप लोगों को मालूम नहीं, मैं यह उपहार चक्रवर्ती महाराज कुमारों के लिये लाया था। बालक मधुर मुसक्यान पूर्वक बोल पड़े—ओ हो! तब तो हमारे लिये ही था। गुह ने पूछा—तो क्या महाराज श्रीदशरथ राजकुमार आप ही हैं? बालकों के उत्तर देने के पूर्व ही गुह का हृदय बोल पड़ा—गुह! सचमुच महाराज श्रीदशरथ राजकुमार ये ही हैं। तुम्हारे परमाराध्य, प्रिय सखा ये ही हैं। तुम्हारे जीवन धन, प्राण-सर्वस्व यही हैं।

गुह के हृदय के कथन का ही समर्थन-बालकों ने भी किया। वे बोले—सखा! महाराज कुमार हम ही हैं। गुह की आँखें सजल हो गयीं, हाथ जुड़ गये, शीश झुक गया, चरणों पर गिरने के पूर्व ही राजकुमारों ने हाथों में थाम लिया। श्रीराम-लक्ष्मण ने दाहिना हाथ पकड़ लिया, श्रीभरत-शत्रुघ्न ने बायाँ हाथ पकड़ा और लिवा ले चले अपने मित्र को महल की ओर। गुह गद्गद है कृपा को विचारकर। चक्रवर्तीजी चकित हैं, सख्य प्रेम को देखकर। राजकुमारों ने पिताजी को प्रणाम किया, गुह ने भी साश्रु नयन, पुलकित तन विह्वल वाणी से हाथ जोड़कर अभिवादन किया। श्रीरामलाल ने अपने नये सखा का परिचय दिया, श्रीदशरथजी ने जैसे अपने पुत्रों को हृदय से लगाया वैसे ही गुह को भी हृदय से लगा लिया। श्रीदशरथजी ने देखा—लाल बड़े प्रसन्न हैं अपने इस सखा से और सखा ने भी तन-मन-प्राण न्यौछावर कर दिया है लाल के ऊपर। महाराज ने रोक लिया गुह को श्रीअयोध्या में, बहाना यह बनाया कि तुम यहाँ रहकर मेरे पुत्रों को धनुर्विद्या का अभ्यास कराते रहो, वन में शिकार खेलना सिखाया करो। गुह के लिये तो मानो—'जनम रङ्क जनु पारस पावा।' सत्योपाख्यान ग्रन्थ में विस्तार से राजकुमारों का गुह के साथ वन-क्रीड़ा का प्रसङ्ग वर्णन किया गया है। यथा—

एकबार श्रीरामलालजी ने अनुज और सखाओं से कहा कि आज वन में जो प्रथम शिकार सामने आयेगा उस पर सर सन्धान मैं करूँगा। यदि दूसरा कोई वार करेगा तो मैं उसे पिताजी से कहकर दण्ड दिलाऊँगा। सब लोग सजग हो गये। संयोग की बात, वन में पहुँचते ही एक सिंह सामने आ डटा। लोग जहाँ के तहाँ खड़े हो गये। श्रीराम सर-सन्धान में बिलम्ब कर रहे थे, सिंह ऊपर टूटने ही वाला था, अनुज

एवं अन्य सखा श्रीरामाज्ञा का पालन करते हुए अपने स्थान पर थे, गुह ने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया, जो भी दण्ड मिले मैं सह लूँगा, परन्तु मेरी आँख के सामने सिंह के द्वारा कोई अनिष्ट मुझे सह्य नहीं। इन्होंने तत्काल एक सांग चलायी। निशाना सही बैठा, सिंह मारा गया। श्रीराम के हृदय में भक्तवत्सलता उमड़ रही थी, अन्य सशंक हो रहे थे कि इन्होंने श्रीराम की आज्ञा का उल्लंघन किया, पतानहीं कौन सा दण्ड मिलेगा। निषादगुह प्रसन्न हो रहे थे अपने मित्र को सकुशल देखकर। लोग वन-विहार कर घर लौट आये। सबने देखा—श्रीरामलाल के श्रीमुख से गुह का गुणगान सुनकर चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी अपने हाथ का आभूषण गुह के हाथ में पहना रहे हैं, हृदय से लगा रहे हैं तथा तुरन्त ही श्रृङ्गवेरपुर के राजा होने की घोषणा कर देते हैं। यथा—

एक बार शिकार को राम गये वन में तब आय के सिंह अड़ा।
भरतादिक सङ्ग सखा सकुचे सुनि के रघुनाथ के सौंह बढ़ा।।
समया पर सेवक ढीठ न जानि निषाद झपट्ट के सांग जड़ा।
श्रृङ्गवेर को राज बकस्स दिये पहिराय दियो निज हाथ कड़ा।।

'साकेत' महाकाव्य में राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने निषादराज गुह को श्रीराम विवाह में मिथिला जाने का प्रसङ्ग लिखा है। यद्यपि विवाह के बहुत वर्ष हो गये हैं, परन्तु निषादराज को मिथिला की मिठाइयाँ भूली नहीं हैं। वनवास के समय जब श्रीराम जी अपने प्रिय सखा निषादराज से मिले हैं तो इन्होंने श्रीजानकीजी से यह बात कही है। यथा—भद्रे! भूले नहीं मुझे आह्लाद वे। मिथिलापुर के राजभोग हैं याद वे।। पेट भरा था किन्तु भूख तब भी रही।....।। श्रीप्रियादास जी महाराज निषादराज गुह के प्रेम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

भीलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो वनवास मिल्यो मारग में आइकै।
करौ यह राज जू विराजि सुख दीजै मोको बोले चैन साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै।।
दारुण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पीछे लोहू जात वह सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिन देखौं कहा? अहा प्रेम रीति मेरे हिये रही छाइ कै।।९५।।

शब्दार्थ—चैन=आनन्द। साज=साधक, राज्य। दारुण=कठोर। लोहू=खून।

भावार्थ—गङ्गाजी के तट पर स्थित श्रृङ्गवेरपुर के निवासी भीलों के राजा गुह का भगवान श्रीरामचन्द्रजी में अलौकिक प्रेम था। जब भगवान को वनवास हुआ तब उनके आने का समाचार सुनकर निषादराज मार्ग में ही आकर मिले और यह प्रार्थना की कि—प्रभो! श्रृङ्गवेरपुर का राज्य आपका ही है। आप यहाँ के शासक राजा बनकर बिराजिये, मुझ दास को यही सुख दीजिये। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—सब सुखों का साज-समाज मैंने पिता जी की आज्ञा से त्याग दिया है, मैं तो नगर में प्रवेश भी नहीं कर सकता हूँ। भगवान के वन में चले जाने पर निषादराज जी असह्य वियोग से अत्यन्त व्याकुल हो गए उनकी आँखों से निरन्तर अश्रुपात होता रहता था। बाद में रोते-रोते उनके नेत्रों से आँसुओं के बदले खून बहने लगा। उनकी इस अवस्था का वर्णन भला कौन कर सकता है। आपने अपने नेत्रों को बिल्कुल बन्द कर लिया। लोगों के पूछने पर कहते कि—भला मैं अब श्रीरघुनाथजी के बिना किसको देखूँ। वाह! धन्य है। निषादराजजी के प्रेम की यह रीति मेरे हृदय में बस गई हैं, बार-बार याद आती है।।९५।।

व्याख्या—राम अभिराम प्रीति—यही जीव का सच्चा स्वार्थ है परम परमार्थ है यथा—स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा। सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन रामपद नेहू।। (रामा०) अभिराम प्रीति से तात्पर्य केवल प्रेम से है, जो भगवान को अत्यन्त प्रिय है। यथा—रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जानन हारा।। इस केवल प्रेम का स्वरूप वर्णन करते हुए सुन्दरदास जी लिखते हैं कि—

प्रीति की रीति कछू नहिं राखत जाति न पांति नहीं कुलगारो।
प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि लगो सब खारो।।
लीन भये हरि सों अभिअन्तर आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह प्रेम के पन्थ को पैंडोइ न्यारो।।

भयो वनवास—इसका हेतु श्रीरामजी स्वयं बताते हैं। यथा—'आज्ञा पितु पाइकै।' वनवास का बहिरङ्ग हेतु तो देवमाया मोहिता कुटिला, कूबरी चेरी-मन्थरा के बहकावे में आकर श्रीभरत माता कैकयी का दशरथ जी से श्रीराम राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर मन-भावता वर माँगने का आश्वासन पाकर अपने पुत्र भरत के लिए राज्य तथा उसकी निर्विघ्न सिद्धि के लिए श्रीराम का वनवास ये दो वरदान हैं। परन्तु अन्तःरङ्ग हेतु में तो भगवान की इच्छा ही मुख्य है अर्थात् श्रीराम स्वयं वन जाना चाहते थे अतः देवमाया, मन्थरा, कैकयी और दो वरदानों को निमित्त बनाकर भगवान ने निज इच्छा ही पूर्ण की और इस प्रकार की इच्छा के भी दो कारण हैं—१. गौण, २. प्रधान। गौण कारण तो है दुष्ट-दमन, साधु-परित्राण, अधर्म का नाश, धर्म की संस्थापना आदि। प्रधान कारण है विरहरूपी मन्दराचल से भरत सिन्धु को मथकर सर्वजन हिताय प्रेमामृत को प्रकट करना। यथा—

प्रेम अमिय मन्दर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुवीर।। (रा०च०मा०)

मिल्यौ मारग में आइकै—श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित में भक्त-भगवान के इस मिलन का बड़ा ही मधुर वर्णन किया है। यथा—

चौ०— **सीता सचिव सहित दोउ भाई। श्रृङ्गबेरपुर पहुँचे जाई।।**
यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रियबन्धु बोलाई।।
लिए फल मूल भेंटभरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा।।
करि दण्डवत भेंट धरि आगे। प्रभुहिं विलोकत अति अनुरागे।।
सहज सनेह विवश रघुराई। पूछत कुसल निकट बैठाई।।
नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयउँ भाग भाजन जन लेखे।।
देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा।।
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिय जन सब लोग सिहाऊ।।
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना।।

दो०— बरष चारि दस बास बन, मुनि व्रत वेष अहार।
ग्राम वास नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुख भार।।

चौ०— तब निषाद पति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना।।
लै रघुनाथहिं ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भांति सुहावा।।
गुह सँवारि सांथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई।।
सुचि फल मूल मधुरमृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी।।

दो०— सिय सुमन्त्र भ्राता सहित कन्दमूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुवंश मणि पांय पलोटत भाइ।।

प्रभु के शयन कर जाने पर पहरे में बैठे हुए श्रीलक्ष्मणजी के पास जाकर निषादराज गुह ने जो हृदयोद्गार प्रगट किये हैं उसमें उनके हृदय का श्रीराम प्रेम मूर्तिमान हो उठता है। यथा—

चौ०— सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयउ प्रेम वस हृदय विषादू।।
तन पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई।।
भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदन न पटतर पावा।।
मनिमय रचित चारु चौवारे। जनु रति पति निज हाथ सँवारे।।

दो०— सुचि सुविचित्र सुभोगमय, सुमन सुगन्ध सुबास।
पलंग मञ्जु मनि दीप जहँ सब विधि सकल सुपास।।

चौ०— विविध वसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु विसद सुहाई।।
तहँ सिय राम सयन निसि करहीं। निजछबि रति मनोज मद हरहीं।।
ते सियराम साथरीं सोये। श्रमित वसन विनु जाहिं न जोये।।
मातु पिता परिजन पुरबासी। संखा सुसील दास अरु दासी।।
जोगवत जिन्हहिं प्रानकी नाईं। महि सोवत तेइ राम गुसाईं।।
पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ।।
रामचन्द्र पति सो वैदेही। सोवत महि विधिवाम न केही।।
सिय रघुवीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू।।

दो०— कैकयनन्दिनि मन्दमति कठिन कुटिल पन कीन्ह।
जेहिं रघुनन्दन जानकिहिं सुख अवसर दुख दीन्ह।।

चौ०— भइ दिनकर कुल विटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब विस्व दुखारी।
भयउ विषाद निषादहिं भारी। राम सीय महि सयन निहारी।।

परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजी ने निषादराज के विषाद का समाधान किया। भैया! कर्मकाण्ड की दृष्टि से—'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।' ज्ञान काण्ड की दृष्टि से—'देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं।। उपासना काण्ड की दृष्टि से—'भगत

भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।। अतः 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुवीर चरन रत होहू।।'

प्रातःकाल श्रीराम ने मन्त्रिवर्य सुमन्त को समझा बुझाकर विदा किया और स्वयं मुनि वेष धारण कर गङ्गा पार हुये। प्रभु ने देखा कि निषादराज गुह भी समस्त राज-काज, कुटुम्ब-परिवार को छोड़कर संग चलने को प्रस्तुत हैं तो उन्हें समझाया, घर पर रहने का अनुरोध किया। जब निषादराज जी ने अत्यन्त दीन होकर, अधिक नहीं तो कम से कम चार दिन तक सेवा का सौभाग्य मिलने की प्रार्थना किया तो प्रभु ने दयार्द्र होकर सङ्ग रहने की अनुमति दे दी। यथा—'सहज सनेह राम लखि तासू। सङ्ग लीन गुह हृदय हुलासू।।' फिर आगे चलकर श्रीरामजी ने इन्हें बहुत-बहुत बोध देकर घर को लौटा दिया। इनका मन तो नहीं था परन्तु—'राम रजायसु सीस धरि भवन गवन तेइ कीन्ह।।' निषादराज प्रभु के कहने से घर वापिस आ गये परन्तु नित्य प्रति स्वयं तथा स्वकीय जनों द्वारा प्रभु का कुशल समाचार लेते रहते थे और पत्र द्वारा श्रीअयोध्या पहुँचाया करते थे। यथा—'सुनी मैं सखी मंगल चाह सुहाई। सुभ पत्रिका निषादराज की आज भरतपहँ आई।।' (गी०)

श्रीभरतलालजी का चतुरंगिनी सेना के साथ चित्रकूट गमन सुनकर श्रीराम सखा निषादराज गुह सशंक हो उठते हैं। अपने वीरों को समुत्साहित करते हुए स्वयं प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। यथा—'तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।।' करुणानिधान भगवान ने ही परिस्थिति सँभाला, नहीं तो न जाने क्या होता। गुह ने युद्ध का बाजा बजाने की ज्योंही आज्ञा दी, बाई दिशा में छींक भई। एक वृद्ध ने सकुन विचारकर कहा—'भरतहिं मिलिअ न होइहिं रारी।' बात गुह को भी जँच गई। युद्ध स्थगित कर दिया। श्रीभरत के शील-स्वभाव को समझे बिना युद्ध करना ठीक नहीं है। निषादराज ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीभरत के भाव की परीक्षा किया। वह तीन प्रकार की भेंट सामग्री लेकर मिलने जाते हैं। यथा—१. कन्दमूल (सात्विक) २. खग-मृग (राजस) ३. मीन पीन पाठीन पुराने (तामस) परन्तु भावमूर्ति भरत तो त्रिगुणातीत पुरुष हैं उन्होंने किसी भी भेंट पर दृष्टिपात न करके—'राम सखा सुनि स्यन्दन त्यागा। चलेउ उतरि उमगत अनुरागा।।'

यद्यपि निषादराज ने—'गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहार माथ महिलाई।।' परन्तु श्रीभरत ने इस पर भी ध्यान नहीं दिया। वे तो श्रीराम सखा को हृदय से लगाकर ऐसे सुखी हुए मानो भैया लक्ष्मण से मिल रहे हों। देवताओं ने निषादराज के भाग्य को सराहा। यथा—'धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहिं बरिसहिं फूला।।' परन्तु—निषादराज को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे श्रीभरत के सील-सनेह को देखकर सुधि-बुधि खो बैठे। परस्पर कुशल प्रश्न हुआ। निषादराज का भ्रम दूर हो गया। उन्होंने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सबकी सुव्यवस्था की। प्रातःकाल श्रीराम सखा ने चार दण्ड में सबको गंगा पार किया और चित्रकूट तक के मार्ग-दर्शन का कार्य भी किया।

निषादराज को प्रभु के निवास स्थान का पता था। जिस समय श्रीचित्रकूट पहुँचकर भरतजी श्रीकामतानाथ का दर्शन कर प्रेम विभोर होकर प्रभु की कुटी के सम्बन्ध में जिज्ञासा किये तो उस समय का वर्णन इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यथा—

चौ०— **तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई।।**
नाथ देखिअहिं विटप विशाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला।।

ए तरु सरित समीप गुसाईं। रघुबर परन कुटी जहँ छाई।।
तुलसी तरुवर विविध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये।।
वट छाया वेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई।। आदि

श्रीचित्रकूट पहुँचने पर श्रीराम भाई भरत की ही तरह सखा निषाद से भी मिले। निषादराजजी के प्रेम की महिमा तो तब प्रगट हुई जब इन्होंने श्रीराम के साथ ही गुरुदेव वशिष्ठ जी को प्रणाम किया। यद्यपि ये आये थे मुनि के साथ ही परन्तु श्रीराम का दर्शन करते ही इन्हें एकदम आत्म विस्मृति हो गई। इन्हें ऐसा लगा कि हम तो नित्य श्रीप्रभु के साथ रहते हैं और मुनि जी आज आये हैं, अतः प्रभु के साथ ही ये भी—**'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरिते दण्ड प्रणामू।।'** मुनिराज पहचान चुके थे अब राम सखा को। अतः **राम सखा रिषि बरवस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।।** उस समय इनके भाग्य को देखकर देवता कहते हैं—

रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला।।
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं।।

जेहिं लखि लखनहुते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।। (रा०च०मा०)

श्रीचित्रकूट से विदा होने पर निषादराज को बड़ा भारी वियोग व्यापा है। यथा—**बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू।।** श्रीप्रियादासजी भी लिखते हैं—दारुण वियोग० ।। **पीछे लोहू जात—गाइकै—**प्रेम में अश्रुपात की ही अवर्णनीय महिमा है, यहाँ तो आँखों से रक्त का प्रवाह चलने लगा। भला इस प्रेम का वर्णन कौन कर सकता है। आँखों में घाव हो गया। उपचार के लिये वैद्यों ने पट्टी बाँधी परन्तु इन्होंने तो नेत्र अच्छे होने पर भी पट्टी नहीं खोली। हेतु बताते हैं—**रघुनाथ बिनु देखौं कहा**—यथा—गोपी वाक्य—

बिछुरे पिय के जगसूनो भयो अब का करिये और परेखिये का।
सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हरे इन तुच्छन को अवलेखिये का।।
हरिश्चन्द जू हीरन को व्यवहार कै कांचन को लै परेखिये का।
जिन आंखिन सों तव रूप लख्यो उन आंखिनसों अब देखिये का।।

दृष्टान्त सूरदासजी का—मेरी आँखें पुनः फूट जायँ।। **प्रेम रीति**—यह कि प्रियतम के विरह में जीना दूभर हो जाता है। यथा—

जासुसंग सुख लहि रहौं, सारे दुख विसराइ।
ता प्रियतम के विरह में यह तन छुटत न हाइ।।
आँखड़िया झाईं परी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाले पड़े, नाम पुकारि पुकारि।। (मीरा)

चौदह वरष पीछे आये रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आए प्रभु देखिये।
बोल्यो 'अब पाऊँ कहाँ?' होति न प्रतीति क्यों हूँ प्रीति करि मिले राम कहि मोको पेखिये।।

परसि पिछाने लपटाने सुख सागर समाने प्राण पाये मानो भाग भाल लेखिये।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बानी में समात नाहिं अति अकुलात कहौ कैसे कै विशेखिये।।९६।।

शब्दार्थ—पिछाने=पहचाने। समाने=मग्न हो गये।

भावार्थ—वनवास की लीला समाप्त करके चौदह वर्षों के बाद पुष्पक विमान पर बैठकर जब श्रीरघुनाथजी आए, तब आपके साथी भीलों ने कहा कि—प्रभु पधारे हैं उनका दर्शन कीजिए। पर श्रीनिषादराज को विश्वास नहीं हो रहा था। वे वियोग से व्याकुल होते हुए बोले—मैं फिर से श्रीराम को पाऊँ, ऐसा मेरा भाग्य कहाँ? इतने में श्रीरामचन्द्रजी आ गए और प्रेम से मिलकर बोले—मैं आ गया, मुझे देखिये। निषादराज ने भगवान के श्रीअङ्ग को स्पर्श करके पहचाना और प्रभु से लिपट गये। स्पर्श प्राप्तकर दिव्य सुखसागर में डूब गये। उनके गए हुए प्राण मानो पुनः आ गये। निषादराज ने अपने को परम सौभाग्यशाली माना। श्रीप्रियादासजी कहते हैं—ऐसे विलक्षण प्रेम की बात किसी प्रकार से वाणी से वर्णन करने में नहीं आती। अलौकिक प्रेम को देखते ही उसे शब्दों से प्रकट करने में वाणी विह्वल हो जाती है, फिर कहो प्रेम की विशेषता कैसे कही जाय।।९६।।

व्याख्या—प्रीति करि.....पेखिये—सेवकों के कहने पर भी निषादराज को प्रतीति नहीं हुई। तब सेवकों ने जाकर प्रभु से निवेदन किया। तब प्रभु स्वयं निषादराजजी के समीप आकर बड़े प्रेम से बोले—मित्रवर! मैं आपके सामने खड़ा हूँ और आप नेत्र बन्द किये हैं। अब तो आप नेत्र खोल कर दर्शन करें। अहाहा! प्रेम की कैसी अद्‌भुत महिमा है कि कोई तो कहता है कि प्रभो! मुझे दर्शन दो परन्तु दर्शन नहीं होता और यहाँ प्रभु स्वयं कहते हैं—मोको पेखिये। परन्तु अब भी निषादराज को पूर्ण प्रतीति नहीं हुई क्योंकि चौदह साल बहुत होते हैं, फिर जंगल पहाड़ में भटकना, ज़हाँ-तहाँ का जल पीना, प्रभु के स्वर पहचाने से लगते तो थे, परन्तु पहाड़ का पानी लगने से कुछ बदला-बदला सा लगता था। अतः अब भी आँख नहीं खोले। परन्तु जब प्रभु ने बार-बार कहा कि सचमुच मैं आपका मित्र राम ही हूँ तब निषादराजजी ने प्रथम चरण स्पर्श किया। एक पन्थ दो काज होंगे। प्रणाम का प्रणाम और पहचान की पहचान। परसि पिछाने—श्रीचरण कमलों की कोमलता ने सत्यता का परिचय दिया। फिर तो निषादराजजी चरणों में लिपट गये। श्रीचरणों में पड़ने पर आँख पर बँधी पट्टी की गाँठ ऊपर पड़ गई, दीखने लगी। तब प्रभु ने अपने श्रीकरकमलों से उनकी पट्टी खोली। आज चौदह वर्ष के बाद निषादराज ने प्रभु का दर्शन किया।

सुख सागर समाने—क्योंकि—**जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई।।** (रा०) प्राण पाये—जैसे श्रीदशरथजी—**सुत हिय लाय दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्राण जनु भेंटे।।** इससे जनाया गया कि प्रभु वियोग में प्राणान्तक कष्ट था। प्रभु प्राणों के भी प्राण हैं। यथा—**प्राण प्राण के जीव के जिव सुख के सुख राम।।** (रामा०) **'स उ प्राणस्य प्राणः' नित्यो नित्यानां चेतन-श्चेतनानां** (उपनिषद्) **भालभाग लेखिये**—इससे जनाया गया कि निषादराज पूर्ण निराश हो गये थे कि अब प्रभु के दर्शन इस जीवन में नहीं होने के। तभी तो कहते थे कि—'अब पाउँ कहाँ' प्रभु के आने पर भी प्रतीति नहीं होती थी। इन्होंने समझ लिया था कि—'सब सुख सुकृत सिरान हमारा। (रा०) परन्तु जब प्रभु के दर्शन हुए तो समझे कि अभी हमारा सौभाग्य शेष है।

प्रेम की जू बात

चौ०— **प्रेम बात कछु कही न जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई।।**
प्रेम बात सुनि बौरा होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई।।
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछुवै न विचारै।।
ऐसो प्रेम उपजि हैं जबहीं। 'हित ध्रुव' बात बनैगी तबहीं।।
प्रेम की छटा बहुत विधिआही। समुझिलई जिन जैसी चाही।। (ध्रुवदास)

बानी में समात नाहिं—देवर्षि श्रीनारदजी ने प्रेम को अनिर्वचनीय बताया है। यथा—'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्' मूकास्वादनवत्' कविरत्न सत्यनारायण जी लिखते हैं कि—

जानत सब कुछ प्रेम-स्वाद मुख वरनि न आवत।
जदपि परम बाचाल मूक बनि भाव बतावत।।
विद्यावश तत्वनि के भेद प्रभेद बताये।
गूँगे कौ गुर खाय जगत बैठ्यौ सिरनाये।।

अति अकुलात—'प्रेम प्रेम सब कोउ कहैं, कठिन प्रेम की फांस। प्रान तरफि निकरैं नहीं, केवल चलत उसास।। (भ०व०टि०) प्रेम में व्याकुलता का बड़ा ही सरस चित्रण श्रीभारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र ने किया। यथा—

व्याकुल ही तड़पौं बिन प्रीतम कोउ तो नेक दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तन रूप सुधा बिनु पानिय पीको पपीहै पिलाओ।।
जीय में हौंस कहूँ रहि जाय न हा 'हरिचन्द्र' कोऊ समझाओ।
आवै न आवै पियारो अरे कोउ हाल तो जायके मेरो सुनाओ।।

श्रीनिषादराज की माता ने प्रभु का निमन्त्रण किया परन्तु श्रीप्रभु को श्रीभरत मिलन की चटपती थी अत: कहे कि—माताजी! अभी तो मुझे श्रीअवध जाने की त्वरा है क्योंकि 'बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावौं बीर।' इस समय मुझे क्षमा करें, फिर कभी देखा जायगा। संयोग की बात उस वृद्धा के मन का मनोरथ मन में ही रह गया। वह पुन: श्रीराम को बुलाने की सोचती ही रही कि अचानक वैकुण्ठ पधार गई परन्तु भगवान का विरद है—'राम सदा सेवक रुचि राखी।' अत: यही वृद्धा श्रीकृष्णावतार में फल बेचने वाली मालिन हुई, तब श्रीकृष्ण रूप में इसकी अभिलाषा पूर्ण किये।

अपनी चिरकामनाओं को सँजोए हुए मालिन नित्य-प्रति नन्दपौरि पर 'फल लेलो फल' की आवाज लगा जाती और यशोदा की गोद में लाल को निहार कर अपने नेत्रों को निहाल कर जाती। वह इस द्वार से निराश, खाली हाथ कभी नहीं जाती। कभी मैया यशोदा और कभी बाबा नन्द अपने लाला के लिए फल लेते और मालिन उन्हें देकर अत्यन्त हर्षित होती, परन्तु एक अभिलाषा उसके हृदयकोआन्दोलित करती रहती कि काश! किसी दिन कन्हैया मुझसे फल माँगता। उस भाववश्य भगवान से कैसे रहा जाता? एक दिन मालिन ने आवाज लगाई—'फल लो जी फल।' लाल मचल पड़े। मैया! यदि तू कहे तो आज मैं फल खरीद लाऊँ। मैया ने हँसकर कहा—लाला! पैसे भी पास में हैं कि वैसे ही खरीदोगे? कृष्ण ने

अपने बाल सुलभ स्वभाव से जेब में हाथ डाला तो उसमें एक भी पैसा नहीं था। कैसी अद्भुत अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री जिनकी चरणसेविका हैं, उनके पास एक पैसा नहीं।

वस्तुत: वह परमात्मा सर्वैश्वर्यवान होकर भी प्रेमियों का ऋणी है अत: प्रेमियों के यहाँ तो बिना दाम के ही उनकी टहल बजाते हैं। माँ हँस गयीं। लाल ने तुरन्त दूसरी तरकीब सोच ली, अन्न की ढेरी लगी थी। माँ के देखते-देखते अँजुली में अन्न भरकर फल खरीदने चले। यह कौन जा रहा है फल लेने? तो श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'ययौ सर्वफल प्रद:' अर्थात् जो सबको सभी साधनों का फल देने वाला है। भगवान सबको फल देने वाले हैं परन्तु प्रेमियों से तो वह स्वयं प्रेम फल लेते हैं। नन्हें-नन्हें हाथ, शिथिल अंजुली ठुमक-ठुमक चाल, मालिन के पास पहुँचते-पहुँचते सब धान्य गिर गया। दो-चार दाने अंगुली के गवों में अटके थे, वही ले जाकर मालिन की डाली में डाल दिये। उसकी डलिया महादिव्य मणि रत्नों से आपूरित हो गई। विश्वम्भर के लिये एक डलिया भर देना कौन बड़ी बात है? एक बात और बड़े महत्व की यह है कि मालिन ने फल दिया नहीं, सोचा भर हैं, संकल्प भर किया है और भगवान ने उसके फलदान का फल पहले ही प्रदान कर दिया।

इसी प्रकार जीव जब कर्म करके भगवान को कर्म फल के समर्पण की बात सोचता है, तभी दयामय प्रभु कृपा करके उसे फल का भी फल प्रेम-भक्ति प्रदान कर देते हैं। मालिन तो लाल के रूप सुधा सागर में निमग्न हो गई और लाल खड़े हैं फल की प्रतीक्षा में। अरे भाई! मालिन को भी तो कम प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी थी। अब लाल को कहना पड़ रहा है—मालिन! मुझे फल दे दो। दो-चार बार कहने पर उसे सुधि भई। लाल ने एक चतुर खरीददार की तरह पूछा—अरी तेरे फलों का क्या भाव है? इतना कहना था कि मालिन के हृदय में वात्सल्य सिंधु उमड़ पड़ा। उसने कहा—लाल! ये तो वात्सल्य भाव के फल हैं। इन्हें धन-धान्य से नहीं खरीदा जा सकता है। लाल ने कहा कि तो फिर कैसे दोगी? उसने अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा— लाल! इसके लिये तो तुमको मेरी गोद में बैठकर मुझे मैया कहना पड़ेगा। मालिन का मनोरथ पूर्ण करने के लिये तो लाल आज कृतसंकल्प हैं ही, उसके यह कहते ही वह योगीन्द्र-मुनीन्द्र दुर्लभ पादारविन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र चट से मालिन की गोद में बैठकर बोले—'मैया! मोंय फल देदे।' मालिन को भाव समाधि लग गई। उसे जो सुख मिला, वह वाणी से वर्णन करने का विषय नहीं है।

श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं कि—'प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ।। सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।। (रामा०) जब मालिन सावधान हुई तो बड़े प्यार से पूछा—लाल! फल काहे में लोगे। हाथ तो तुम्हारे अत्यन्त छोटे हैं। चतुर चूड़ामणि ने चट अपनी झिंगुली फैला दी मालिन के आगे। जय हो प्रेमदेव की? ब्रह्मा-शिवादि भी जिनके सामने झोली पसारते हैं वही आज मालिन के सामने अपनी झिंगुली फैलाये खड़ा है। मालिन ने अच्छे-अच्छे फलों से झिंगुली भर दी। लाल ने कहा—अरी! तू बेर नहीं लाई है क्या? एक बात स्मरण रखने की है लाल को फलों में बेर बहुत अच्छे लगते हैं। यथा—लाल को भावै गुड़ गांड़ा और बेर।। (परमानन्द)

मालूम है लाला को बेर इतने अच्छे क्यों लगते हैं? अरे भाई? शबरी के यहाँ जो पाये थे, तभी से इनको बेर का चस्का लग गया है। मालिन ने धन्य माना अपने बेरों को, जिनको प्रभु ने स्वयं माँगकर लिया। भक्त और भगवान दोनों पूर्ण काम हो, दोनों-दोनों का ध्यान करते हुए अपनी-अपनी राह लिये।

फलों को झिंगुली में भरे हुये लाल मैया यशोदा के पास पहुँचे। मैया ने बहुत से फलों को देखकर पूछा—लाला! तू अनाज तो थोड़ा ही ले गया फिर इतने फल कैसे लाया? लाल ने अपनी तोतली वाणी से सब बातें बता दी। मैया ने कहा—क्यों रे कन्हैया! मैंने तो इतना जप तप किया, व्रत अनुष्ठान किया, तब मैया बन पायी और उस मालिन को तूने चार बेर पर ही मैया बना लिया। लाल ने कहा कुछ नहीं, केवल मुस्करा भर दिये। मुस्कराने का हेतु यह था कि भला मैया को क्या मालूम कि इसका मेरे ऊपर कितना मूलधन और कितना ब्याज बढ़ा हुआ था, तब इसने मैया पद पाया है।।

श्रीराम जब श्रृङ्गबेरपुर से चले तो सखा निषादराज को भी पुष्पक विमान पर बैठाकर श्रीअयोध्या लिवा लाये। श्रीराम राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न होने के कुछ दिन बाद सबकी विदाई हुई—प्रभु ने तो सबका ही बड़ा समादर किया, परन्तु निषादराज का विशेष। यथा—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हें भूषन बसन प्रसादा।।
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहू।।
तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता।।

प्रभु ने निषादराज को 'भरत सम भ्राता' कहकर सम्मान की पराकाष्ठा दिखाई क्योंकि श्रीभरतलाल से बढ़कर कोई श्रीराम प्रेमी नहीं। यथा—'भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही।। (रामा०) श्रीभक्तमालजी के भक्ति-सुधास्वाद तिलक कर्ता श्रीरूपकलाजी निषादराज के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—जिस समय श्रीराघवेन्द्र सरकार श्रीरामजी लंका विजय कर श्रीभरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे और अपने श्रेष्ठ दूत श्री हनुमानजी को श्रीअयोध्या श्रीभरतलालजी को अपने शुभागमन की सूचना देने के लिये भेजा तो मित्र वत्सल प्रभु ने अपने सखा निषदराज को भी सूचित करने के लिए श्रीहनुमानजी से कहा। संयोग की बात, जिस समय श्रीहनुमानजी श्रृङ्गबेरपुर पहुँचे, उस समय द्रुमिल नामक राक्षस को, जो श्रीअवधवासियों को कष्ट देने के लिए कटिबद्ध था, निषादराज ने श्रृङ्गबेरपुर में ही यह विचारकर रोक लिया था कि इसको श्रीप्रभु की पुरी अयोध्या जाने से पहले ही बीच में ही यम द्वार दिखा दूँ। फिर तो अपने तीन सहस्त्र धनुर्धुरों को साथ लेकर तीन दिन से निषादराज द्रुमिल से संग्राम कर रहे थे।

उस समय तक निषादराज द्रुमिल राक्षस की सात हजार सेना को मार चुके थे। अभी तीन हजार राक्षस शेष थे, इधर निषादराज भी थक चले थे। ठीक उसी समय श्रीहनुमानजी पहुँच गये और स्थिति समझकर जोर से गर्जन किया। जिससे कि निषादराज का बलसंवर्द्धन हो कि मैं श्रीराम-दूत पहुँच गया। श्रीहनुमानजी की हांक सुनते ही राक्षस अधमरे हो गये। केशरी किशोर ने उन्हें लांगूल में लपेटकर आकाश में चक्रवात मण्डप में फेंक दिया। इधर निषादराज ने द्रुमिल के साथ मल्लयुद्ध करके उसको पृथ्वी पर पटककर, उसकी छाती में शस्त्र चुभा दिया जिससे उसका प्राणान्त हो गया। इसके अनन्तर दोनों श्रीराम प्रेमी परस्पर मिले। तत्पश्चात् निषादराज से स्वामी के आगमन का शुभ सन्देश कहकर श्रीहनुमानजी तो श्रीभरतलालजी के समीप चले गये और श्रीनिषादराजजी श्रीभरद्वाज आश्रम को प्रभु से मिलने के लिए प्रस्थान किये।। शेष कथा पूर्ववत् ही है।

श्रीमान्धाताजी—महाराज इक्ष्वाकुवंश में एक युवनाश्व नाम के परम प्रतापी राजा हुए। राजा युवनाश्व के सौ रानियाँ थी परन्तु सन्तान किसी के भी नहीं थी। इसलिए राजा युवनाश्व दुःखी होकर अपनी सभी रानियों के साथ वन में चले गये। वहाँ ऋषियों ने कृपा करके राजा से पुत्र प्राप्ति के लिये

इन्द्र देवता का यज्ञ कराया। एक दिन राजा युवनाश्व को रात्रि के समय बड़े जोर की प्यास लगी। वह यज्ञशाला में गये किन्तु वहाँ देखे कि ऋषि लोग सो रहे हैं। तब जल मिलने का कोई और उपाय न देखकर उन्होंने वह मन्त्र से अभिमन्त्रित जल ही पी लिया। जब प्रातःकाल ऋषियों को मालूम हुआ तो उन लोगों ने भगवदिच्छा को ही प्रधान माना। इसके बाद प्रसव का समय आने पर युवनाश्व की दाहिनी कोख फाड़कर एक बालक उत्पन्न हुआ। उसे रोते देखकर ऋषियों ने कहा—यह बालक दूध के लिए रो रहा है। अतः किसका दूध पीयेगा? तब इन्द्र ने कहा—मेरा पीयेगा—'मां धाता' बेटा! तूँ रो मत। यह कहकर इन्द्र ने अपनी तर्जनी ऊँगली उसके मुँह में डाल दी। ब्राह्मणों और देवताओं के प्रसाद से युवनाश्व की भी मृत्यु नहीं हुई। वह जंगल में ही तपस्या करके मुक्त हो गये। इन्द्र ने उस बालक का नाम रखा त्रसद्दस्यु। क्योंकि रावणादि दस्यु (लुटेरे) उससे भयभीत रहते थे और इन्द्र ने जो जन्म के समय कह दिया था—'मां धाता' अतः बालक मान्धाता नाम से भी जगत में प्रसिद्ध हुआ। मान्धाताजी चक्रवर्ती राजा हुए। भगवान के तेज से तेजस्वी होकर उन्होंने अकेले ही सातों द्वीप वाली पृथ्वी का शासन किया। वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे, उन्हें कर्मकाण्ड की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों से यज्ञपुरुष प्रभु की आराधना किया। परमयोगी मुचुकुन्दजी इन्हीं के पुत्र थे।

श्रीपिप्पलादजी—ये महर्षि दधीचि के पुत्र थे। जिस समय देवताओं की याचना पर श्रीदधीचिजी ने अपनी अस्थियाँ इनको प्रदान कीं। ऋषि-पत्नी सुवर्चा उस समय आश्रम से कहीं बाहर गई हुईं थीं। जब वे आश्रम में आई और देवताओं की स्वार्थपरता से पति की मृत्यु का समाचार उन्होंने सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उस पतिव्रता ने पतिलोक जाने का विचारकर पवित्र लकड़ियों द्वारा एक चिता तैयार किया। उसी समय श्रीशिवजी की प्रेरणा से आकाशवाणी हुई कि—प्राज्ञे! ऐसा साहस मत करो, तुम्हारे उदर में मुनि का तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक पहले उत्पन्न करो, पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करना क्योंकि शास्त्र का ऐसा आदेश है कि गर्भवती को सती नहीं होना चाहिये। उसे सुनकर वह मुनि पत्नी क्षण भर के लिए विस्मय में पड़ गयी। परन्तु उस सती साध्वी सुवर्चा को तो पतिलोक की प्राप्ति ही अभीष्ट थी, अतः उसने अपने उदर को विदीर्ण कर दिव्य स्वरूपधारी अपने पुत्र को पीपल के समीप रख दिया और स्वयं स्वामी में चित्त लगाकर अग्नि को प्रणामकर चिता में प्रवेश किया और पति सहित दिव्यलोक को चली गईं।

पीपल के वृक्षों ने उस बालक का पालन किया था इसलिए आगे चलकर वह पिप्पलाद नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये भगवान शिव के अंश से प्रादुर्भूत हुए थे। पिप्पलादजी ने उसी अश्वत्थ के नीचे लोकों की हित कामना से महान तप किया था। वह स्थल आज भी पिप्पल तीर्थ एवं अश्वत्थ तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। (मा० पु०, शि० पु०) प्रश्नोपनिषद् में वर्णन आता है कि भरद्वाज तुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेशीय अश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव और कत्यऋषि के प्रपौत्रकबन्धी—ये सबके सब परब्रह्म की खोज करते हुए हाथ में समिधा लेकर भगवान पिप्पलाद ऋषि के पास गये। तब श्रीपिप्पलादजी ने उन लोगों को श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तप करने को कहा। आपका कथन है कि—'तेषामेव ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।' (प्रश्न०) अर्थ--जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है उन्हीं को ब्रह्मलोक मिलता है।।

श्रीनिमिजी—ये महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र थे और महर्षि गौतम के आश्रम के समीप वैजयन्त नामक नगर बसाकर वहाँ का राज्य करते थे। एक बार निमि ने एक सहस्र वर्ष में समाप्त होने वाले एक यज्ञ को आरम्भ किया और उसमें श्रीवशिष्ठजी को ऋत्विज के रूप में वरण किया। श्रीवशिष्ठजी ने कहा कि पाँच सौ वर्ष के यज्ञ के लिए इन्द्र ने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः इतने समय तक तुम ठहर जाओ। राजा ने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वशिष्ठजी ने यह समझकर कि राजा ने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्र का यज्ञ कराने चले गये। विचारवान निमि ने यह सोचकर कि शरीर तो क्षणभंगुर है, अतः बिलम्ब करना उचित नहीं है, उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओं द्वारा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इन्द्र का यज्ञ समाप्त होते ही, 'मुझे निमि का यज्ञ कराना है' इस विचार से वशिष्ठ जी तुरन्त ही आ गये। राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञ में अपने स्थान पर गौतम को होता का कर्म करते देखकर वशिष्ठजी ने सोते हुए राजा को शाप दे दिया कि इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्म का भार गौतम को सौंपा है, इसलिये यह देह हीन हो जाय।। (वि० पु०)

श्रीमद्भागवत में शाप के वचन ये हैं। निमि को अपनी विचार शीलता और पाण्डित्य का बड़ा घमण्ड है, इसलिए इसका शरीर पात ही जाय। वशिष्ठ जी ने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमि ने भी उनको शाप दे दिया कि गुरु ने मुझसे बिना बातचीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझे सोये हुए को शाप दिया है इसलिए इनका देह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार शाप देकर राजा ने शरीर छोड़ दिया। (वि० पु०) श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि निमि की दृष्टि में गुरु वशिष्ठ का शाप धर्म के प्रतिकूल था। इसलिए उन्होंने भी शाप दिया कि आपने लोभवश अपने धर्म का आदर नहीं किया, इसलिए आपका भी शरीर पात हो जाय, महर्षि गौतम आदि ने निमि के शरीर को तैल आदि में रखकर उसे यज्ञ की समाप्ति तक सुरक्षित रखा।

यज्ञ की समाप्ति पर जब देवता लोग अपना भाग ग्रहण करने के लिए आये तब ऋत्विजों ने कहा कि यजमान को वर दीजिये। देवताओं के पूछने पर कि क्या वर चाहते हो, निमि ने सूक्ष्म शरीर के द्वारा कहा कि देह धारण करने पर उससे वियोग होने में बहुत दुःख होता है। इसलिए मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियों के लोचनों पर हमारा निवास हो। देवताओं ने यही वर दिया। तभी से लोगों की पलकें गिरने लगीं। (वि०पु०) श्रीमद्भागवत में इस प्रकार वर्णित है कि सत्रयाग की समाप्ति पर जब देवता आये तब मुनियों ने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमि का यह शरीर पुनः जीवित हो उठे। देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा। तब निमि ने कहा कि मुझे देह का बन्धन नहीं चाहिये। विचारशील मुनि लोग अपनी बुद्धि को पूर्ण रूप से श्रीभगवान में ही लगा देते हैं और उन्हीं के श्रीचरण कमलों का भजन करते हैं। एक न एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा इस भय से भीत होने के कारण वे इस शरीर का कभी संयोग ही नहीं चाहते हैं—वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं। अतः मैं अब दुःख, शोक और भय के मूल कारण इस शरीर को धारण करना नहीं चाहता। जैसे जल में मछली के लिए सर्वत्र ही मृत्यु के अवसर हैं वैसे ही इस शरीर के लिए सब कहीं मृत्यु है।

देवताओं ने आशीर्वाद दिया कि राजा निमि बिना शरीर के ही प्राणियों के नेत्रों पर अपनी इच्छा के अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीर से भगवान का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरने से उनके अस्तित्व का पता चलता रहेगा। इसके बाद महर्षियों ने यह सोचकर कि राजा के न रहने

पर लोगों में अराजकता फैल जायगी। निमि के शरीर का मन्थन किया, उस मन्थन से एक कुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेने के कारण उसका नाम 'जनक' हुआ—विदेह से उत्पन्न होने के कारण 'वैदेह' और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण उसी बालक का नाम 'मिथिल' हुआ। उसी ने मिथिलापुरी बसायी। यथा—'जन्मना जनक: सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहज:। मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता।।' (भा.) इस वंश के सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। मुनियों के अशीर्वाद से यह वंश सदा से योगी ज्ञानी और भक्त रहा है। इसी कुल में श्रीशीरध्वज जनक के यहाँ आदिशक्ति श्रीसीताजी ने अवतार लिया था।।

श्रीभरद्वाजजी—ये आङ्गिरस गोत्रीय उतथ्य ऋषि की स्त्री ममता के गर्भ से उतथ्य के भाई बृहस्पति के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। ये मन्त्र दृष्टा वैदिक ऋषि हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीभरद्वाजजी की उत्पत्ति का प्रसङ्ग इस प्रकार है कि एकबार बृहस्पतिजी ने अपने भाई उतथ्य की गर्भवती पत्नी से मैथुन करना चाहा। उस समय गर्भ में जो बालक (दीर्घतमा) था, उसने मना किया। किन्तु बृहस्पतिजी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। बल्कि उसे 'तू अन्धा हो जा' यह शाप देकर बलपूर्वक गर्भाधान कर दिया। उतथ्य की पत्नी ममता इस बात से डर गई कि कहीं मेरे पति मेरा त्याग न कर दें। इसलिए उसने बृहस्पतिजी के द्वारा होने वाले लड़के को त्याग देना चाहा। उस समय देवताओं ने गर्भस्थ शिशु के नाम का निर्वचन करते हुये यह कहा—'बृहस्पति कहते हैं कि अरी मूढ़े! यह मेरा औरस है और मेरे भाई का क्षेत्रज—इस प्रकार दोनों का पुत्र (द्वाज) है, इसलिए तू डर मत, इसका भरण पोषण कर।

इस पर ममता ने कहा—बृहस्पते! यह मेरे पति का नहीं, हम दोनों का ही पुत्र है, इसलिए तुम्हीं इसका भरण पोषण करो। इस प्रकार आपस में विवाद करते हुए माता-पिता दोनों ही इसको छोड़कर चले गये। इसलिए इस बालक का नाम भरद्वाज हुआ। यथा—'मूढे भर द्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते। यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्।। (भा०) माता-पिता के छोड़कर चले जाने पर मरुद्गण उस बालक को उठाकर ले गये और पालन-पोषण किये। जब दुष्यन्त पुत्र भरत ने पुत्र कामना से मरुत्स्तोम यज्ञ किया। तब मरुद्गण ने प्रसन्न होकर भरद्वाज को उनके सुपुर्द कर दिया। ये संसार से उपरत होकर तीर्थराज प्रयाग में निवास करते थे। इनका परिचय देते हुए श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'भरद्वाज मुनि वसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा।। तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना।। (रामा०)

वनवास के समय श्रीरामजी एक रात्रि इनके आश्रम में निवास किये थे। श्रीराम-भरद्वाज मिलन का बड़ा ही मधुर वर्णन श्रीरामचरित मानस में मिलता है। यथा—'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आये। करत दण्डवत मुनि उर लाये।। मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्दरासि जनु पाई।। कुशल प्रश्नोपरान्त मुनि ने प्रेम-पूर्वक षोडशोपचार विधि से श्रीराम का पूजन किया और अमृत सदृश सुमधुर कन्द-मूल, फल-अंकुर अर्पण किया। मुनि के द्वारा अर्पित फल-मूलों को पाकर सुख-सागर श्रीराम सुखी हुए और विश्राम धाम का श्रम दूर हो गया। तत्पश्चात्—..........। 'भरद्वाज मृदु वचन उचारे।।'

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जपजोग बिरागू।।
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी।।
अब करि कृपा देहु बर एहू। निजपद सरसिज सहज सनेहू।।

दोहा— **करम वचन मन छांड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार।**
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार।। (रा०च०मा०)

मुनि के प्रेम से संतृप्त श्रीराम ने श्रीमुख से मुनि का सुयश बखान किया। यथा—'तब रघुबर मुनि सुजस सुहावा।। कोटि भांति कहि सबहिं सुनावा।। सो बड़ सो सब गुन गन गेहू। जेहि मुनीस तुम आदर देहू।। इस प्रकार 'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।।

परमार्थ-पथ-परमसुजान महर्षि भरद्वाजजी से श्रीरघुनाथजी ने जाने का मार्ग पूछा। मुनि ने बड़ा ही भावपूर्ण उत्तर दिया। यथा—मुनिमन विहँसि राम सन कहहिं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।। आन्तरिक भाव यह कि आप के लिये कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, उपासना-मार्ग, प्रेममार्ग सभी मार्ग सुगम हैं आप किसी से भी चलकर भक्तों के पास पहुँचने में समर्थ हैं। फिर मुनि ने अपने चार शिष्यों को मार्गदर्शन के लिये भेजा। श्रीरामजी की ही तरह श्रीभरतलालजी भी चित्रकूट गमन के समय एक रात्रि मुनि के आश्रम में रहे थे। श्रीभरत-तत्व को श्रीभरद्वाजजी ने पहचाना। यथा—'तुम तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू।।' श्रीभरतलालजी का सुजस वर्णन करते हुए मुनि की वाणी अघाती ही नहीं थी और अन्त में तो यहाँ तक कह डाला कि—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं।।
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा।।
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा।। (रा०च०मा०)

यह कहते-कहते मुनि को समाधि लग गई। यथा—'भरत धन्य तुम्ह जस जग जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ।। तत्पश्चात् मुनि ने अपने तपोबल से विधि विस्मय दायक विभव के द्वारा ससमाज श्रीभरतजी का आतिथ्य सत्कार किया। यथा-विधि विसमय दायक विभव मुनिवर तप बल कीन्ह।। मुनि प्रभाव जब भरत विलोका। तब लघु लगे लोक पति लोका।।' (रामा०) वनवास की चौदह वर्ष की अवधि बिताकर, लंका विजय करके पुष्पक विमान से लौटते समय भी श्रीराम महर्षि भरद्वाजजी से मिलने का लोभ संवरण न कर सके। यथा—'तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ।। नाना विधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आशिष दीन्ही।। (रा०च०मा०)

श्रीभरद्वाजजी यद्यपि ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी के शिष्य हैं। ग्यारह हजार वर्षों तक भगवान सूर्य से वेद पढ़े हैं, वेद मन्त्रों के दृष्टा हैं, स्मृतिकार हैं, त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञ हैं तो भी निरन्तर ब्रह्म-तत्व सम्बन्धी जिज्ञासा और उसके समाधान में लगे रहते हैं। भगवत्कथा-श्रवण के बड़े रसिक हैं। एक बार का प्रसङ्ग श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी वर्णन करते हैं कि—

चौ०— **एक बार भरि मकर नहाये। सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाये।।**
जागबलिक मुनि परम बिवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी।।
सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे।।
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोलें अति पुनीत मृदु बानी।।
नाथ एक संसय बड़ मोरे। करगत वेद तत्व सब तोरे।।
कहत सो मोहिं लागत भय लाजा। जौ न कहउँ बड़ होइ अकाजा।।

दोहा— संत कहहिं असि नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न विमल विवेक उर गुरु सन किये दुराव।। (रा०च०मा०)

चौ०— राम कवन प्रभु पूछउँ तोहीं। कहिअ बुझाइ कृपा निधि मोहीं।।
एक राम अवधेश कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।।
नारि बिरह दुःख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा।।

दोहा— प्रभु सोई राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्वज्ञ तुम कहहु विवेक विचारि।। (रा०च०मा०)

मुनि की इस प्रश्न विधि पर श्रीयाज्ञवल्क्यजी हँस गये और उनकी तत्व जिज्ञासा की भूरि-भूरि सराहना किये। यथा—

जाग बलिक बोले मुसकाई। तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई।।
राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी।।
चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हेउ प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा।।
तात सुनहुँ सादर मन लाई। कहऊँ राम की कथा सुहाई।। (रा०च०मा०)

श्रीराम चरित मानस में श्रीतुलसीदास जी इसी याज्ञ वल्क्य-भरद्वाज सम्वाद से ही श्रीराम चरित्र वर्णन प्रारम्भ करते हैं।।

श्रीदक्षजी—'दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भवः' (भा०) अर्थात् दक्षजी श्रीब्रह्माजी के अंगूठे से उत्पन्न हुये। स्वायम्भुव मनु की कन्या प्रसूति दक्षपत्नी हुईं। प्रजापति दक्ष ने क्षीर सागर के उत्तर तट पर स्थित होकर देवी जगदम्बिका को पुत्री रूप में प्राप्त करने की इच्छा तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शन की कामना से उन्हें हृदय मन्दिर में विराजमान करके कठिन तप किया। उनकी सात्विक आराधना से सन्तुष्ट होकर पराम्बा ने दर्शन देकर पुत्री होने का वचन दिया, साथ ही यह भी कह दिया कि यदि कभी मेरे प्रति तुम्हारा आदर भाव घट जायगा, तब उसी समय मैं अपने शरीर को त्याग कर अपने स्वरूप में लीन हो जाऊँगी। दक्ष यह सोचकर बहुत प्रसन्न रहने लगे कि देवी शिवा मेरी पुत्री होने वाली हैं।

सृष्टि विस्तारार्थ ब्रह्माजी की आज्ञा से दक्ष प्रजापति ने पंचजन प्रजापति की असिक्नी नाम की कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार कर हर्यश्व संज्ञक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। पिता की आज्ञा से उत्तम सृष्टि के उद्देश्य से वे हर्यश्व गण नारायण सरोवर पर जाकर तप करने लगे। इन्हें अधिकारी जानकर देवर्षि नारदजी ने आत्मतत्व का उपदेश देकर निवृत्ति परायण बना दिया। तत्पश्चात् दक्ष ने शबलाश्व संज्ञक एक हजार पुत्र उत्पन्न किये परन्तु श्रीनारदजी ने इन्हें भी पूर्ववत् ही परमार्थ पथका पथिक बना दिया। अबकी बार दक्ष ने कुपित होकर श्रीनारदजी को शाप दे दिया कि आज से तीनों लोकों में विचरते हुए तुम्हारा पैर कहीं स्थिर नहीं रहेगा। नारदजी इसे भगवान की इच्छा ही मानकर शाप शिरोधार्य कर लिया।

श्रीदक्षजी ने प्रसूति के गर्भ से चौबीस कन्यायें उत्पन्न करके उन्होंने बड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्म को ब्याह दीं, शेष ग्यारह में से एक अग्नि को, एक शिव को, एक पितृगण को ब्याह दी और अन्य आठ मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ, भृगु—इन आठ प्रजातियों को ब्याह दीं। प्रसूति की

कन्याओं द्वारा विशाल वंश परम्परा त्रिलोकी में फैल गई। प्रजा की वृद्धि का कार्य जैसा दक्ष द्वारा हुआ, ऐसा किसी से न हुआ। इसलिये ब्रह्माजी ने इन्हें प्रजापतियों का नायक बना दिया। यथा—'देखा विधि विचारि सब लायक। दक्षहिं कीन्ह प्रजापति नायक।।'

अति प्राचीनकाल में एक बार विश्वस्त्रष्टाओं ने एक यज्ञ किया था जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियों सहित आकर उपस्थित हुये। जब सूर्य के समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये तो दक्ष को देखकर उनके तेज से प्रभावित और धर्षित चित्त होकर श्रीशिवजी और ब्रह्माजी को छोड़कर अन्य सभी देवगण, ऋषिगण आदि सदस्यगणों ने अपने आसनों से उठकर सम्मान किया। दक्ष ब्रह्माजी को प्रणाम कर, उनकी आज्ञा पाकर उनके दिये हुए आसन पर बैठ गये। दक्ष ने यह देखकर कि शिवजी आसन पर बैठे ही रहे, उठकर उन्होंने सम्मान नहीं किया और उनके इस व्यवहार से अपना अपमान समझकर क्रूर दृष्टि से उनकी ओर देखा और उस महासभा में ही उन को बहुत दुर्वचन कहे और पछताने लगे कि मैंने केवल ब्रह्माजी के कहने से ही ऐसे पुरुष को अपनी सुन्दरी साध्वी भोली-भाली कन्या दे दी। दुर्वचन कहकर दक्ष ने श्रीशिवजी को शाप भी दिया कि देवयज्ञों में इन्द्र उपेन्द्र आदि देवगणों के साथ यह यज्ञ का भाग न पावें। श्रीशिवजी कुछ भी न बोले। शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो दक्ष सभा से निकलकर अपने स्थान को चले गये।

यह जानकर कि दक्ष ने शाप दिया है, नन्दीश्वर को बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणों को, जिन्होंने दक्ष के कुवाक्यों का अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि यह दक्ष देहाभिमानी है, देह ही को आत्मा समझता है, अविद्या को विद्या जानता है। विषय सुखवासनाओं में आसक्त होकर कर्मकाण्ड में रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओं के समान यह स्त्री लम्पट हो और इसका मुख शीघ्र बकरे का हो। यह सदा तत्वज्ञान से विमुख रहे। इस प्रकार शापा-शापी होने के बाद श्रीशिवजी भी अपने गणों सहित वहाँ से चल दिये। कालान्तर में दक्ष ने रुद्र का अपमान करने के लिए ही बृहस्पति सव नामक यज्ञ किया। (देखिये छप्पय १० सती-प्रसङ्ग) यज्ञ में शिव का अपमान देखकर सती ने शरीर त्याग कर दिया। सती-तन-त्याग सुनकर श्रीशिव के गणों ने दक्ष का यज्ञ विध्वंश कर दिया। शिवजी का अपमान करने वाले देवताओं तथा सदस्यों को समुचित दण्ड दिया। गणनायक वीरभद्र ने दक्ष के सिर को मरोड़कर धड़ से अलग कर यज्ञ की दक्षिणाग्नि में डाल दिया, मानो इससे होमकुण्ड की पूर्णाहूति की। अन्त में यज्ञशाला को जलाकर शंभु-गन कैलाश को लौट आये।

श्रीब्रह्माजी की सलाह से सभी देवता ब्रह्माजी को भी साथ लेकर कैलाश पर जाकर स्तुति प्रार्थना करके भगवान शिव को प्रसन्न किये। श्रीशिवजी ने कहा—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देव मायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया।। (भा० ४-७-२)

अर्थ—प्रजापते! भगवान की माया से मोहित हुए दक्ष जैसे ना समझों के अपराध की न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करने के लिए ही थोड़ा-सा दण्ड दे दिया है। तत्पश्चात् शिवाज्ञानुसार दक्ष के धड़ से बकरे का सिर जोड़ दिया गया। श्रीशिवजी की कृपा से दक्ष सोकर जागे हुए के समान जी उठे। दक्ष का हृदय शुद्ध हो चुका था, श्रीशिव के प्रति श्रद्धा का सिंधु उमड़ पड़ा और बड़े ही विनीत भाव से उन्होंने शिव की स्तुति की। इसके बाद पुनः यज्ञारम्भ किया गया, जिसमें यज्ञपुरुष भगवान विष्णु ने

साक्षात् प्रकट होकर दक्ष को ज्ञानोपदेश देते हुए शिव-ब्रह्मा तथा स्वयं में तात्विक एकता का निरूपण किया। सबने भगवान की स्तुति की। यज्ञ सानन्द सम्पन्न हुआ।

मैंने इस शरीर से शिव का अपमान किया है। यह विचारकर ग्लानि में भरकर प्रजापति दक्ष ने अपना वह शरीर त्यागकर प्रचेता गण की मारिषा नाम की पत्नी के गर्भ से पुनः जन्म लिया। इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्ति से समस्त तेजस्वियों का तेज छीन लिया। श्रीब्रह्माजी ने इन्हें पुनः प्रजापतियों के नायक पद पर अभिषिक्त कर दिया। ये कर्म करने में बड़े दक्ष थे इसी से इनका नाम दक्ष हुआ। भगवदाराधन पूर्वक इन्होंने सृष्टि का विस्तार एवं संरक्षण किया।। (भा०)

श्रीशरभंगजी—परम तपस्वी श्रीशरभङ्गजी ने एक बार एक सहस्त्र वर्ष तक ऐसा कठिन तप किया कि इनके शिर से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। देवराज इन्द्र भयभीत हो गये और उन्होंने महर्षि का तप भङ्ग करने के लिये गन्धर्वराज विश्वावसु को भेजा। बहुत सी अप्सराओं को संग लेकर गन्धर्वराज ने मुनि के आश्रम में आकर यथा सम्भव बहुत प्रयत्न किया परन्तु मुनि को तप से च्युत करने में समर्थ नहीं हो सके।। तब इन्द्र ने त्रिभुवन मोहन कामदेव को यह कार्य सौंपा। काम ने भी अपनी करोड़ों कलाएँ दिखाईं परन्तु सब व्यर्थ। तब अन्त में पंचबाण ने कुसुमसायक का प्रयोग किया। काम के इस सुमन-शर की महिमा वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदास जी लिखते हैं कि—'सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।। (रामा०) परन्तु समर्थ शरभङ्गजी ने अभिमन्त्रित करके एक कुश काम की ओर फेंक दिया, उससे काम का शरभङ्ग अर्थात् व्यर्थ हो गया। उसी दिन से इनका नाम शरभङ्ग प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने अपने महान तप से ब्रह्मलोक जीत लिया था। वनवास काल में भगवान श्रीराम इनके आश्रम पर भी आये थे।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि श्रीरामचन्द्रजी ने शरभंगजी के आश्रम में यह अद्भुत चरित्र देखा कि अपने हरे घोड़े जुते हुए विचित्र रथ पर सवार इन्द्र आकाश में दीप्तिमान हैं। देवाङ्गनाओं से सेवित हैं। देवता-गन्धर्व और बहुत से सिद्ध महर्षि उनकी स्तुति कर रहे थे और वह शरभंगजी से बात-चीत कर रहे हैं। श्रीरामजी को आते हुए देखकर इन्द्र वहाँ से यह सोचकर चल दिए कि हमें वे देख न पावें। रावण वध होने पर मैं समीप से उनका दर्शन करूँगा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी शरभंगजी के आश्रम में आये और स्वागत आदि हो जाने पर मुनि से इन्द्र के आगमन का कारण पूछा? उन्होंने यों बताया कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक को जीत लिया है। इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक ले जाने के लिए आये थे, परन्तु जब मुझे मालूम हुआ कि नरश्रेष्ठ आप थोड़ी ही दूर पर हैं तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे प्रिय अतिथि, पुरुषसिंह धर्मिष्ठ महात्मा के दर्शन बिना ब्रह्मलोक को न जाऊँगा।

श्रीरामचरित मानस में यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित है—

चौपाई—**पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुन्दर अनुज जानकी संगा।।**

दोहा— **देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग।**
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग।।

चौ०— **कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। शङ्कर मानस राजमराला।।**
जात रहेउँ विरंचि के धामा। श्रवन सुनेउँ वन ऐहहिं रामा।।
चितवत पन्थ रहेउँ दिनराती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।।
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।।

सो कछु देव न मोहिं निहोरा। निजपन राखेउ जन मनचोरा।।
तबलगि रहहु दीनहित लागी। जबलगि मिलौं तुम्हहिं तनुत्यागी।।
जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति वर लीन्हा।।
येहि विधि सररचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा।।

दो०— **सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु श्याम।**
मम हिय बसहु निरन्तर सगुन रूप श्रीराम।।

चौ०— **अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा वैकुण्ठ सिधारा।।** (रा०च०मा०)

श्रीसंजयजी—ये विद्वान् गावल्गण नामक सूत के पुत्र थे, धृतराष्ट्र के मन्त्री तथा श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। धर्म के पक्षपाती थे। यही कारण है कि धृतराष्ट्र के मन्त्री होकर भी पाण्डवों से सहानुभूति रखते थे और धृतराष्ट्र एवं धृतराष्ट्र पुत्रों को अधर्म से रोकने के लिये कड़े से कड़े वचन कहने में हिचकते नहीं थे। ये 'अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः' के ज्वलन्त उदारहण थे। इन्हें भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान था। ये बारम्बार धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण को भगवान कहकर उनकी उपासना करने का आग्रह करते। इस पर धृतराष्ट्र ने इनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं'—इस बात को तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूप में क्यों नहीं पहचान सका? इसके उत्तर में संजय ने वेदव्यासजी के सामने इस बात को कहा है कि मैं कभी कपट का आश्रय नहीं लेता, मिथ्या धर्म का आचरण नहीं करता, तथा ध्यान योग के द्वारा मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है इसलिये मुझे श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हो गया है। भगवान वेदव्यासजी ने संजय के इस कथन का समर्थन किया।

संजय ने भगवान श्रीकृष्ण के नामों की बड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्र को सुनाई। इससे संजय के शास्त्रज्ञान का भी अनुमान होता है। भगवान वेदव्यासजी की कृपा से इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ये परोक्ष की बात देखने की कौन कहे मन में सोची हुई बात को भी जानने में समर्थ थे। इन्होंने धृतराष्ट्र को सम्पूर्ण महाभारत युद्ध का विवरण सांगोपांग सुनाया है। भगवद्गीता का उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया, वह सब इन्होंने भी अपने कानों से सुना। इतना ही नहीं देवताओं के लिये भी सुदुर्दर्श भगवान के विश्वरूप तथा चतुर्भुज रूप का दर्शन भी इन्होंने किया। गीतोपदेश तथा भगवत्स्वरूप दर्शन की स्मृति में संजय को अलौकिक सुखानुभूति होती यथा—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्यरूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।। (गी० १८-७६-७७)

महाभारत युद्ध में विजय के सम्बन्ध में संजय ने यह घोषणा पूर्व ही कर दी थी कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीति र्मतिर्मम।। (गी० १८-७८)

संजय का सिद्धान्त है—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतोह्रीरार्जवं यतः। ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः।। (म०भा०)

अर्थ—जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वर विरोधी कार्य करने में लज्जा और हृदय की सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं निस्सन्देह विजय है।

श्रीशमीकजी—परम तपस्वी श्रीशमीकजी वन में गौओं के रहने के स्थान में बैठते थे और गौओं का दूध पीते समय बछड़ों के मुख से जो फेन निकलता था उसी को पीकर निरन्तर तप में निरत रहते थे।

ये परमशान्त, दान्त, तितिक्षु क्षमाशील सन्त थे। वन में शिकार खेलने के लिये गये हुए राजा परीक्षित भूख-प्यास से व्याकुल होकर इनके आश्रम में आये परन्तु मौन व्रत लेकर समाधि में स्थित होने के कारण ऋषि द्वारा राजा का समयोचित समुचित सत्कार न हुआ। क्षुधार्त, तृषार्त, अत: हत विवेक राजा परीक्षित ने मुनि की स्थिति को बिना समझे ईर्ष्या और क्रोध के वशीभूत हो धनुष की कोर से ऋषि के गले में मृतक सर्प को डालकर घर चले आये। जब ऋषिकुमार शृङ्गी को यह पता चला तो राजा के व्यवहार से क्षुभित होकर उसने शाप दे दिया कि— 'आज से सातवें दिन राजा परीक्षित को तक्षक नाग डस लेगा।' जिस समय ब्रह्मर्षि शमीक को यह सब मालूम हुआ तो उन्होंने पुत्र का अभिनन्दन नहीं किया। उनकी दृष्टि में परीक्षित शाप के योग्य नहीं थे। उन्होंने कहा—मूर्ख बालक ! तूने थोड़ी-सी गलती के लिये इतना बड़ा शाप देकर बहुत बड़ा अपराध किया। तुझे भगवत् स्वरूप राजा को साधारण मनुष्यों के समान नहीं समझना चाहिये। राजा ईश्वर का अंश होता है। यथा—'नराणां च नराधिप:।'

जिस समय राजा का रूप धारण करके भगवान पृथ्वी पर नहीं दिखाई देंगे उस समय अराजकता वश निरंकुश प्रजा मनमाना आचरण करने लग जायगी। तब उसके अपराधों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होने पर भी वह हम पर लागू होगा। सम्राट परीक्षित तो बड़े ही यशस्वी और धर्म धुरन्धर हैं। उन्होंने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान के प्यारे भक्त हैं। वे ही राजर्षि भूख-प्यास से व्याकुल होकर हमारे आश्रम पर आये थे, वे शाप के योग्य कदापि नहीं थे इस नासमझ बालक ने हमारे निष्पाप सेवक राजा का अपराध किया है, सर्वात्मा भगवान कृपा करके इसे क्षमा करें। महामुनि शमीक को पुत्र के अपराध पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। राजा परीक्षित ने जो उनका अपमान किया था, उस पर तो उनका ध्यान ही नहीं गया। यही साधु पुरुषों के स्वभाव की विशेषता है। तत्पश्चात् महर्षि शमीक ने अपने गौर मुख नाम वाले परम संयमी शिष्य द्वारा राजा को शाप की सूचना भेजी तथा स्वयं राजा की मङ्गलकामना की। (भा०) (विशेष देखिये श्रीपरीक्षित का प्रसंग छप्पय १४)

श्रीउत्तानपादजी—ये स्वायम्भुव मनु के पुत्र एवं परम भागवत श्रीध्रुवजी के पिता हैं। (विशेष देखिये श्रीध्रुवजी का प्रसंग)

श्रीयाज्ञवल्क्यजी—ये ब्रह्माजी के अवतार हैं। एक समय की बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्रीजी को आने में देर हुई और शुभ मुहूर्त बीता जा रहा था तब इन्द्र ने एक गोप-कन्या को लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहण कर यज्ञ आरम्भ कीजिये परन्तु ब्राह्मणी न होने के कारण उसको ब्रह्मा ने गौ के मुख में प्रविष्ट कर योनि द्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया, क्योंकि ब्राह्मण का और गौ का कुल शास्त्र में एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहण कर उन्होंने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देर में सावित्रीजी वहाँ पहुँची और ब्रह्मा के साथ यज्ञ में दूसरी स्त्री को बैठे देखकर उन्होंने ब्रह्माजी को शाप दिया कि तुम मनुष्यलोक में जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्बन्ध ब्रह्मा से तोड़कर वह तपस्या करने चली गयीं। कालान्तर में ब्रह्माजी ने चारण ऋषि के यहाँ जन्म लिया और वहाँ याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होने पर वे शाप वशात् अत्यन्त कामी हुये जिससे पिता ने उनको घर से निकाल दिया। पागल सरीखे भटकते हुये वे चमत्कारपुर में शाकल्य ऋषि के यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय अनर्त्त देश का राजा चातुर्मास्य व्रत करने को वहाँ

प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजा पाठ के लिये शाकल्य को पुरोहित बनाया। शाकल्य ऋषि नित्यप्रति अपने यहाँ का एक विद्यार्थी पूजा पाठ करने को भेज देते थे।

एकबार याज्ञवल्क्यजी की बारी आई। यह पूजा आदि करके जब मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तब वह राजा विषय में आसक्त था, अतः उसने कहा कि यह लकड़ी जो पास ही पड़ी है, इस पर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोध में आ, आशीर्वाद के मन्त्राक्षत काष्ठ पर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नहीं ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठ में शाखापल्लव आदि हो गये। यह देखकर राजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे शिर पर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता है। दूसरे दिन राजा ने शाकल्यजी को कहला भेजा कि आज भी उसी शिष्य को भेजिये परन्तु उन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये हम नहीं जायेंगे। तब शाकल्य ने कुछ दिन और विद्यार्थियों को भेजा। राजा विद्यार्थियों से दूसरे काष्ठ पर आशीर्वाद छुड़वा देता परन्तु किसी के मन्त्राक्षत से काष्ठ हरा-भरा न हुआ। यह देखकर राजा स्वयं जाकर आग्रह किया कि आप याज्ञवल्क्य को ही भेजें परन्तु इन्होंने साफ जबाब दे दिया। शाकल्य को इस पर क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि—**एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्।।** (स्कन्द पुराण) अर्थ—गुरु, जो शिष्य को एक भी अक्षर प्रदान करता है, पृथ्वी में कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय।

उत्तर में याज्ञवल्क्यजी ने कहा—'**गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते।।** (स्क० पु०) अर्थ—जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं) को नहीं जानता हो, ऐसा दुराचारी, चाहे वह गुरु ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर जाते हैं। यह सुनकर शाकल्य ने अपनी विद्या लौटा देने को कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजी ने वैसा ही किया। अन्न के साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जाने से वे मूढ़बुद्धि हो गये। तब उन्होंने हाटकेश्वर में जाकर सूर्य की बारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्य की उपासना की। बहुत काल बीतने पर सूर्यदेव प्रकट हुये और वर माँगने को कहे। याज्ञवल्क्यजी ने प्रार्थना किया कि मुझे चारों वेद सांगोपांग पढ़ा दीजिये। सूर्य ने कृपा करके इन्हें वह मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारणकर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीर से हमारे रथ के घोड़े के कान में बैठ जाओ, हमारी कृपा से तुम्हें ताप न लगेगा। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे-बैठे सुनना।। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने सूर्य से सांगोपांग चारों वेद पढ़ा। (स्कन्द पुराण)

श्रीमद्भागवत में इनकी कथा इस प्रकार है—याज्ञवल्क्यजी ने ऋग्वेद संहिता वाष्कल मुनि से, और वाष्कल ने पैल से सुनी। पैल ने श्रीव्यासजी से पढ़ी थी। इसी प्रकार यजुर्वेद संहिता व्यासजी ने अपने शिष्य वैशम्पायनजी से कही, वैशम्पायनजी से याज्ञवल्क्य ने पढ़ी थी। एकबार वैशम्पायनजी को ब्रह्महत्या लगी। हत्या लगने का प्रसंग इस प्रकारसे है कि एकबार समस्त ऋषियों ने किसी विषय के सम्बन्ध में विचार करने के लिये सुमेरू पर्वत पर एक सभा करने का निश्चय किया। उसमें यह नियम किया कि जो ऋषि उस सभा में सम्मिलित नहीं होगा, उसको सात दिन के लिये ब्रह्महत्या लगेगी। उस दिन वैशम्पायनजी के पिता का श्राद्ध था, इसलिये वे अपनी नित्य क्रिया के लिये अँधेरे ही में उठकर स्नान को जाने लगे तो एक बालक पर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। इस बालहत्या के शोक से वे सभा में न जा सके। इस

प्रकार एक तो उन्हें बालहत्या लगी, दूसरे ब्रह्महत्या। इन्हीं दोनों हत्याओं के निवारणार्थ वैशम्पायनजी ने अपने सब शिष्यों से प्रायश्चित करने को कहा। (मा०पी०) तब उनके शिष्य चरकावध्वर्यु ने हत्या दूर करने वाले व्रत का आचरण किया।

उस समय याज्ञवल्क्यजी ने गुरु वैशम्पायनजी से कहा—भगवन्! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते हैं। इनके व्रत पालन से लाभ ही कितना है? मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित के लिए बहुत ही कठिन तप करूँगा। यह सुनकर वैशम्पायनजी रुष्ट होकर बोले—मुझे ब्राह्मणों का अपमान करने वाले ऐसे शिष्य से कोई प्रयोजन नहीं है। तुमने अब तक मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है, उसका शीघ्र से शीघ्र त्याग कर दो और यहाँ से शीघ्र चले जाओ। याज्ञवल्क्यजी ने यजुःश्रुतियों को वमन कर दिया, और वहाँ से चल दिये। उन वमन रूप से पड़े हुये यजुर्वेद के अत्यन्त सुरम्य मन्त्रों को देखकर अन्यान्य मुनियों ने लोलुपतावश तीतर का रूप धरकर ग्रहण कर लिया। तीतर रूप इसलिये धारण कर लिये कि ब्राह्मण रूप से वमन को कैसे निगलेंगे? यही कारण है कि वह अत्यन्त मनोहर यजुःशाखा तैत्तिरीय शाखा कहलाई। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य ने, वैशम्पायन भी जिनको न जानते हों, ऐसी यजुः श्रुतियों की प्राप्ति के लिये सूर्य भगवान की आराधना की। इनकी उपासना से प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य ने अश्व रूप धारणकर उनकी कामनानुसार उन्हें वैसी ही यजुः श्रुतियाँ प्रदान कीं। जिससे याज्ञवल्क्यजी ने पन्द्रह शाखाओं की रचना की। वही वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। वाजसनेयी संहिता के आचार्य होने से इनका नाम वाजसनेय भी हुआ।

एक बार मोक्षवित् जनक के पिता देवरातजी ने यज्ञ किया। अध्वर्यु कर्म में जो प्रायश्चित आदि रहता है, उसे वैशम्पायनजी करा रहे थे। उसके करने में कुछ त्रुटि हो जाने से यज्ञ में कुछ न्यूनता मालूम पड़ी। उस समय याज्ञवल्क्यजी ने वैशम्पायनजी को टोका। तब जनक तथा वैशम्पायन दोनों ने इनसे प्रार्थना की कि उसकी पूर्ति करा दें। याज्ञवल्क्यजी ने अपने वेदों से उस त्रुटि की पूर्ति कराई। यज्ञ समाप्त होने पर देवरातजी ने जब वैशम्पायन को दक्षिणा दी तब याज्ञवल्क्यजी ने उसका विरोध किया और कहा कि यह सब दक्षिणा हमको मिलनी चाहिये न कि वैशम्पायन को क्योंकि यज्ञ की पूर्ति तो हमने अपने वेदों से करायी है अन्त में महर्षि देवल ने वह दक्षिणा दोनों में आधी-आधी बँटवा दी याज्ञवल्क्यजी ने उनके कहने से स्वीकार कर लिया। (मा०पी०)

एकबार देवरातजी के पुत्र मोक्षवित् राजा जनक ने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों का समाज एकत्र किया और एक सहस्र सवत्सा गौओं को समलङ्कृत कर यह प्रतिज्ञा की कि जो ऋषि ब्रह्मनिष्ठ हो वह हमारे प्रश्नों का उत्तर दे और इन गौओं को ले जाय। सब ऋषि सोचने लगे कि ब्रह्मनिष्ठ तो हम सभी हैं, तब दूसरों का अपमान करके हममें से कोई एक इन गायों को कैसे ले जाय इतने में याज्ञवल्क्यजी आये और उन्होंने यह कहते हुये कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि इन गौओं को आश्रम पर ले जाओ। मैं इनके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। इस पर अन्य सब ब्रह्मनिष्ठ ऋषि बिगड़ गये। तब इन्होंने सबको परास्त किया। राजा जनक याज्ञवल्क्यजी के शिष्य हो गये। (मा०पी०)

श्रीतुलसीदासजी ने भी इन्हें परम विवेकी कहा है। यथा—'जागबलिकमुनि परम विवेकी। (रामा०) सूर्य भगवान से समस्त वेद-ज्ञान प्राप्त होने के बाद लोग आपसे बड़े उत्कट प्रश्न किया करते थे। आपने सूर्य भगवान से शिकायत की, तब उन्होंने वर दिया कि जो कोई तुमसे अतिप्रश्न करेगा तथा तुमसे वाद-विवाद

करके तुम्हारे निश्चित किये यथार्थ सिद्धान्त पर भी वितण्डावाद करेगा, उसका सिर फट जायगा। वर्णन आया है कि शाकल्य ऋषि ने याज्ञवल्क्यजी का उपहास किया। तो उनका सिर फट गया था। तभी से सब लोग इनसे प्रश्न करने से डरने लगे। इन्होंने श्रीकागभुशुण्डिजी से श्रीरामचरित श्रवण किया है और महर्षि भरद्वाज को सुनाया है। यथा—**तेहिं सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि, भरद्वाज प्रति गावा।।** (रा० च० मा०)

निमि अरु नौ योगेश्वरा पादत्राण की हौं शरण।।
कवि, हरि, करभाजन, भक्ति रतनाकर भारी।
अन्तरिक्ष अरु चमस अनन्यता पधति उधारी।।
प्रबुध प्रेम की राशि, भूरिदा आविरहोता।
पिप्पल द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता।।
जयन्ती नन्दन जगत के त्रिविध ताप आमय-हरण।
निमि अरु नौ योगेश्वरा पादत्राण की हौं शरण।।१३।।

शब्दार्थ—पादत्राण=चरणरक्षक, पादुका, खड़ाऊँ, जूता। करभाजन=कर=हाथ+भाजन=पात्र, करपात्री। रत्नाकर=रत्नों का समूह या स्थान, समुद्र। अनन्यता=एकनिष्ठ, सर्वथा एक में अनुराग रखने वालों का भाव। पधति=पद्धति, प्रणाली, रीति, परिपाटी, मार्ग। उधारी=उद्धार किया। प्रसिद्ध किया, प्रचार किया। रासि=ढेर, समूह। भूरिदा=भूरि=अधिक, + दा=दाता, बहुत देने वाला। भवाब्धि=भव=संसार+अब्धि= समुद्र, संसारसागर। पारके=उस पार जाने के लिए। पोता=पोत, जहाज। नन्दन=पुत्र, आनन्ददायक। त्रिविधताप=दैहिक, दैविक, भौतिक दुःख। आमय=रोग, चोट, मानसिक काम क्रोधादि।

भावार्थ—मैं राजा निमिजी और नव योगीश्वरों की चरणपादुकाओं की शरण में हूँ। कवि, हरि और करभाजनजी भक्ति के अथाह समुद्र हैं। अन्तरिक्ष और चमसजी वैष्णव उपासना में अनन्यता की परिपाटी को चलाने वाले हैं। प्रबुधजी प्रेम की राशि हैं। आविर्होताजी ज्ञान और भक्ति के उदार दाता हैं। पिप्पलजी और द्रुमिलजी प्राणियों को भवसागर से पार करने वाले प्रसिद्ध जहाज हैं। श्रीऋषभदेवजी की पत्नी जयन्ती देवी को आनन्दित करने वाले उनके ये नवपुत्र संसार के तीनों प्रकार के तापों को तथा मानसिक रोगों को हरने वाले हैं।।१३।।

व्याख्या—निमिजी—इनका चरित पूर्व छप्पय में आ चुका है।

नवयोगीश्वर—ये श्रीऋषभदेवजी के पुत्र हैं। इनके नाम—'कविर्हरिरन्तिरिक्षः प्रबुद्धः पिप्लायनः। आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः।। (भा० ११/२/२१) ये महाभागवत एवं भागवत धर्म विज्ञाता हुये। 'पादत्राण की हौं शरण'—यथा—श्रीभरतलालजी—मेरे सरन रामहिं की पनहीं। श्रीनिषादराजजी—'सुमिरि राम पद पंकज पनहीं।' (रा०च०मा०)

दृष्टान्त—श्रीवेंकटनाथजी का—शेषावतार श्रीस्वामी रामानुजाचार्य के पवित्र सम्प्रदाय में श्रीवैष्णव जगत के महान आचार्य श्रीवेङ्कटनाथ का प्राकट्य विक्रम संवत् १३२५ में विजयदशमी के दिन हुआ था। ये बहुत बड़े विद्वान, प्रचारक, महान आचार्य भक्त तथा परम आदर्श चरित महात्मा थे। इनकी

बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से जलने वाले कुछ लोग इनसे द्वेष करते थे और सदा यही सोचा करते थे कि किसी प्रकार इनकी प्रतिष्ठा भङ्ग हो। एक दिन कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने मिलकर आपके द्वार पर जूतों की माला लटका दी। वह इतनी नीची थी कि बाहर निकलते ही उनका सिर में लगना अवश्यम्भावी था। जब श्रीवेंकटनाथजी अपनी कुटी से बाहर निकले तो उन्होंने इस कुकृत्य को देखा, परन्तु मन में किंचित् क्षोभ नहीं हुआ। बड़ी शान्ति पूर्वक बाहर निकल आये और यह कहने लगे—

'कर्मावलम्बकाः केचित् केचिज्ज्ञानावलम्बकाः। वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः।।'

अर्थात् कोई कर्म मार्ग का आश्रय लेते हैं और कोई ज्ञान मार्ग का परन्तु हमें तो एकमात्र भगवद् भक्तों की पनहियाँ ही सहारा है। इन शब्दों को सुनकर आस-पास के लोग बहुत प्रभावित हुये, और जिन लोगों ने यह कुकृत्य किया था, उनको बड़ी ग्लानि हुई और वे आकर आपके चरणों में पड़कर क्षमा माँगे। (सतकथाङ्क)

भावुक भक्त तो श्रीहरि एवं हरिदासों के पाद-त्राणों के प्रति भी आराध्यवत् अत्यन्त आदर बुद्धि रखते हैं जैसे श्रीभरतलालजी—

चौपाई— **प्रभु करि कृपा पांवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।।**
भरत मुदित अवलम्ब लहे ते। अस सुख जस सियराम रहे तें।।

पुनः—दो०— **सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि। सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।।**
नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
मांगि मांगि आयसु करत, राजकाज बहुभाँति।। (रा०च०मा०)

तथा—मदनमोहन सूरदासजी—'सन्तन की पानहीं को रक्षक कहाऊँ मैं।।' (भक्तमाल) यही 'पादत्राण की हौं शरण' का वास्तविक अभिप्राय है! यह नहीं कि—'दास पनहिंयन के बनैं, तकत रहै नित घात। अवसर पाइ बजार में, बेचि मिठाई खात।।'

दृष्टान्त—पनहियाँ भक्त का—एक आदमी का तकियाकलाम था—वह बात-बात में कहा करता था कि 'हम आपकी पनहियों के दास हैं' तथा स्वभाव से बड़ा कंजूस था। एक बार उसके मित्रों ने उससे बड़ा आग्रह किया कि 'तुम हम लोगों की दावत करो। उसने बात मान ली, सबको निमन्त्रित कर दिया लोग निर्दिष्ट समय पर बड़े ठाठ-बाट से बढ़िया धोती, बढ़िया कुर्ता और बढ़िया जूता पहन-पहन कर आये। उसने सबको मकान की दूसरी मंजिल पर ले जाकर बैठाया। गद्दा-तकिया लगा दिया। स्वयं नीचे आकर सबके जूतों को समेटकर दुकान पर ले जाकर बेच दिया और उसकी कीमत से हलवाई की दुकान से बढ़िया मिठाई मोल ले आया। मित्र-मण्डली मिठाई खाती और सराहती जाती थी यह हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता से कहता—'यह सब आप लोगों की पनहियंन की कृपा है।' लोग इस कथन को मित्र की शालीनता समझते, निरभिमानता समझते। जब सब लोग खा-पीकर चलने को प्रस्तुत हुये तो देखे—जूता नदारत। पूछने पर वह वही पूर्व का वाक्य दुहराता—मैंने तो पहले ही कहा कि 'यह सब आप लोगों की पनहियन की कृपा है।' धीरे-धीरे बात स्पष्ट हुई। मित्रों को अच्छी मुँह की खानी पड़ी। अपनी-अपनी गाँठ से पैसा खर्च कर अपने जूते छुड़ा लाये, लेने के देने पड़े। अपना-सा मुँह लेकर घर गये।।

अनन्यता पद्धति—यथा—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।। (रामा०)

भूरिदा—यथा— **तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।**
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदाजनाः।। (भा० १०-३१-९)

अर्थ—प्रभो! आपकी लीला-कथा अमृत स्वरूप हैं, तप्त प्राणियों के लिये तो वह जीवन सर्वस्व हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं, भक्त कवियों ने उसका गान किया है, वह समस्त पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवण मात्र से परम मङ्गल, कल्याण का दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर, विस्तृत भी है। जो आपकी उस लीला-कथा का गान करते हैं, वास्तव में भूलोक में वही सबसे बड़े दाता हैं।

जयन्ती—'इन्द्र की कन्या, ऋषभदेवजी की पत्नी, नव योगीश्वरों की माता। त्रिविध ताप' यथा— 'दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।। (रामा०) दैहिक ताप—वह सारे कष्ट जो मिथ्या आहार-विहार और देह-संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, दैहिक ताप कहलाते हैं। जैसे ज्वर, अतिसार आदि। दैविक ताप—वह सब कष्ट जो आकाशीय ग्रहों की गति के कारण, अग्नि जलवायु या पृथ्वी के उपद्रवों के कारण अथवा अनेक तरह के संक्रामक रोगों के कारण होते हैं, दैविक ताप कहलाते हैं। भौतिक ताप—वह समस्त कष्ट, जो कीट पतङ्गादि सूक्ष्म प्राणियों से लेकर आवागमन शील प्रेतों और पितरों के आक्रमण से होते हैं, भौतिक ताप कहलाते हैं।

श्री निमी और नव योगीश्वर संवाद—एकबार की बात है—महाराज निमि बड़े-बड़े ऋषियों के द्वारा एक महान यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नव-योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुये उनके यज्ञ में जा पहुँचे। सूर्य के समान तेजस्वी, परमानुरागी इन नव-योगीश्वरों को देखकर राजा निमि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सबके सब स्वागत में खड़े हो गये। प्रेम तथा आनन्द से भरकर विधि पूर्वक इनकी पूजा की। तत्पश्चात् श्रीनिमिजी ने कहा—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रिय दर्शनम्।। (भा० ११-२-२९)

अर्थ—भगवन्! जीवों के लिये मनुष्य शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है क्योंकि यह क्षणभंगुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य जीवन में भगवान के प्यारे और उनके प्यार करने वाले भक्तजनों का, सन्तों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है। हम आप लोगों से यह जानना चाहते हैं कि जीव के परम कल्याण का स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या है? तथा कृपा करके भागवत धर्मों का भी वर्णन कीजिये।

श्रीनिमि के प्रश्न का अभिनन्दन करते हुये श्री कविजी बोले—

मन्येऽकुतश्चिद् भयामच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तंतेभीः।। (भा० ११-२-३३)

अर्थ—राजन्! भक्तजनों के हृदय से कभी दूर न होने वाले अच्युत भगवान के चरणों की नित्य निरन्तर उपासना ही इस संसार में परम कल्याण-आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भय शून्य है। ऐसा मेरा

निश्चित मत है देह-गेहादि तुच्छ एवं असत् पदार्थों में अहंता एवं ममता हो जाने के कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासना का अनुष्ठान करने पर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।। (भा० ११-२-३६)

अर्थ—कल्याण कामी पुरुष शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से अहंकार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाववश जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान नारायण के लिये ही है-इस भाव से उन्हें समर्पण कर दे।।

श्रृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः।। (भा० ११-२-३९)

अर्थ—संसार में भगवान के जन्म की और लीला की बहुत-सी मंगलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज संकोच छोड़कर उसका गान भी करते रहना चाहिये तथा सर्वत्र आसक्ति शून्य होकर विचरण करते रहना चाहिये।

ख वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेःशरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।। (भा० ११-२-४१)

अर्थ—राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशायें, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब भगवान के शरीर हैं। ऐसा समझकर अनन्य भक्त प्राणी मात्र को प्रणाम करता है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्तुस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।। (भा० ११-२-४२)

अर्थ—जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति—ये तीनों एक साथ हो जाते हैं। वैसे ही जो मनुष्य भगवान की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभु के स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से वैराग्य—इन तीनों की ही एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।

भगवद् भक्तों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर श्रीहरि ने कहा—

सर्वभूतेषु यःपश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।। (भा० ११-२-४५)

अर्थ—आत्मस्वरूप भगवान समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से, नियन्ता रूप से, स्थित हैं और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्म स्वरूप भगवान में स्थित है। इस प्रकार का जिसका अनुभव है, उसे उत्तम भागवत समझना चाहिये।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्म सुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः।। (भा० ११-२-५३)

अर्थ—बड़े-बड़े देवता और ऋषि मुनि भी अपने अन्तःकरण को भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान के ऐसे चरण कमलों से आधे क्षण, आधे पल के लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर

उन चरणों की सन्निधि और सेवा में संलग्न रहता है। यहाँ तक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवन की राज्य लक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृति का तार नहीं तोड़ता है, उस राज्य लक्ष्मी की ओर ध्यान नहीं देता, वही पुरुष वास्तव में भगवद्भक्त वैष्णवों में अग्रगण्य है।

श्रीनिमिजी की जिज्ञासा पर श्रीकरभाजनजी ने चारों युगों के ध्येय स्वरूपों का वर्णन करते हुए कलियुग में भगवन्नाम सङ्कीर्तन को सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन बताया है। यही कारण है कि सतयुग, त्रेता और द्वापर की प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो। आपका कथन है कि कलियुग में भगवत्परायण भक्त बहुत होंगे। यथा—

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्। कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाः।। (भा० ११-५-३८)

भगवच्छरणागति की महिमा वर्णन करते हुए श्रीकरभाजनजी कहते हैं कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।। (भा० ११-५-४१)

अर्थ—राजन्! जो मनुष्य यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म वासनाओं अथवा भेद बुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत, वत्सल प्रेम के वरदानी भगवान मुकुन्द की शरण में आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता है। वह किसी के अधीन, किसी के बन्धन में नहीं रहता।।

श्रीअन्तरिक्षजी ने माया का विशद विवेचन किया है। दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय माया के ही कार्य हैं। यथा—'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्त कारिणी।।' माया से मोहित होकर ईश्वरांश, चेतन, अमल, अविनासी, सहज सुखराशि जीव अनेक प्रकार की कामनाओं से युक्त होकर अनेकों कर्म, अकर्म, विकर्म करता है और उनके अनुसार शुभकर्म का फल सुख और अशुभ कर्म का फल दुःख भोगता है और विविध योनियों में जन्म लेकर इस संसार में भटकने लगता है। यथा—'कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्। तत्तत् कर्म फलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्।।

श्रीचमसजी ने विमुख जीवों का अधःपतन वर्णन करते हुए उन्हें साधु पुरुषों की दया का पात्र बताया है। यथा—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः।। (भा० ११-५-१५)

अर्थ—यह शरीर मृतक शरीर है इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीर से तो प्रेम की गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरों में रहने वाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान भगवान से द्वेष करते हैं, उन मूर्खों का अधःपतन निश्चित है। 'तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्' अर्थात् वे आप जैसे साधु पुरुषों की दया के पात्र हैं।

भगवान की दुरत्यया माया से पार पाने के लिये उपाय निरूपण करते हुए श्रीप्रबुद्धजी कहते हैं कि—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ।। (भा० ११-३-२१)
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः । अमाययानुवत्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ।। (भा० ११-३-२२)

अर्थ—इसलिये जो परम कल्याण का जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेव की शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द ब्रह्म-वेदों के पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे आश्रित को ठीक-ठीक समझा सकें, तथा साथ ही परब्रह्म में परिनिष्ठित तत्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई रहस्य की बातों को बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, विशेष व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रवृत्त न हों।। जिज्ञासु को चाहिये कि गुरु को ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे और उनके पास रहकर भागवत-धर्म की—भगवान को प्राप्त कराने वाले भक्तिभाव के साधनों की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनों से सर्वात्मा और भक्तों को अपने आत्मा का दान करने वाले भगवान प्रसन्न होते हैं। संत-सद्गुरु समाश्रित साधक को चाहिये कि वह स्वयं राशि-राशि पापों को नष्ट करने वाले भगवान श्रीहरि के महा-मङ्गलमय नामों का स्मरण करे और एक-दूसरे को स्मरण करावे। (भा०)

इस प्रकार साधन भक्ति का अनुष्ठान करते-करते प्रेम भक्ति का उदय हो जाता है। जिससे शरीर में निरन्तर प्रेम के अष्टसात्विक भाव रोमांच आदि बने ही रहते हैं। यथा—स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या सञ्जातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।। जो इस प्रकार भागवत धर्मों की शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेमलक्षणा-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान नारायण के पारायण होकर उस माया को अनायास ही पार हो जाता है। जिसके पंजे से निकलना बहुत ही कठिन है।

श्रीनिमिजी के कर्मयोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर श्रीआविर्होत्रजी ने भगवत्सेवा-पूजारूप कर्म को परम कल्याण दायक बताया है। यथा—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।। (भा० ११-३-४७)

अर्थ—जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र से शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्मा की हृदय ग्रन्थि मैं और मेरे की कल्पित गाँठ खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियों से भगवान की आराधना करे। आराधना-विधि का संकेत करते हुए कहते हैं कि—

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः। पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासो विभूषणैः।। (भा० ११-३-५२)
गन्धमाल्याक्षत स्त्रग्भि र्धूप दीपोपहारकैः। साङ्गंसम्पूज्य विधिवत् स्तवैःस्तुत्वा नमेद्धरिम्।। (भा० ११-३-५३)

अर्थ—अपने-अपने उपास्यदेव के विग्रह की हृदयादि अङ्ग, आयुधादि उपाङ्ग और पार्षदों के सहित मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, अक्षत (तिलकालङ्कार में, अन्यथा नहीं—'नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं') अर्थात् दधि-अक्षत के तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदि से विधिवत पूजा करे तथा फिर स्तोत्रों द्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान श्रीहरि को नमस्कार करे। ऐसा करने से वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यथा—'अचिरान्मुच्यते हि सः'।। (भा० ११/३/५५)

श्रीपिप्पलायनजी ने भगवत्स्वरूप का निरूपण करते हुये भगवद् भक्ति का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया। यथा—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः।। (भा० ११-३-४०)

अर्थ—जब भगवान कमलनाभ के चरण कमलों को प्राप्त करने की इच्छा से तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्नि की भाँति गुण और कर्मों से उत्पन्न हुये चित्त के सारे मलों को जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रों के निर्विकार होने से सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

श्रीद्रुमिलजी ने श्रीनिमिजी के पूछने पर भगवान के विविध अवतारों का वर्णन किया (देखिये छप्पय ५ अवतार कथायें) आपका कहना है कि—भगवान अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणों को गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वी के धूलि कणों को गिन ले परन्तु समस्त शक्तियों के आश्रय भगवान के अनन्त गुणों का कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता है। यथा—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः।। (भा० ११-४-२)

पद पराग करुणा करौ नेता नवधा भगति के।।
श्रवण परीक्षित सुमति व्यास सावक सुकीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद पृथु पूजा कमला चरनन मन।।
बन्दन सुफलक सुवन दास्यदीपत्ति कपीश्वर।
सख्यत्वे पारत्थ समर्पन आतम बलिधर।।
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पद पराग करुणा करौ नेता नवधा भगति के।।१४।।

शब्दार्थ—पद पराग=चरण कमल रज। नेता=नायक, सरदार, प्रवर्तक, आचार्य अगुआ। नवधा=नौ प्रकार की। श्रवन=(कथा कीर्तन) सुनना। सावक=पुत्र, शिशु। कीर्तन=जीभ से भगवत के नाम और गुणों का सप्रेम उच्चारण, गायन। सुठि=सुन्दर। सुमिरण=स्मरण, मन में याद करना। पूजा=आराधना, अर्चना, श्रद्धा सम्मान एवं समर्पण के भावों को प्रकट करने का कार्य। वन्दन=प्रणाम, स्तुति। सुवन=पुत्र। दीपत्ति=दीप्ति, द्युति, प्रकाश, प्रभा। कपीश्वर=कपि=वानर+ईश्वर=स्वामी, हनुमानजी। सख्यत्वे=मित्रता में, सख्य रूप में। समर्पन=समर्पण, निवेदन, अच्छी प्रकार से सदा के लिए देना। आतम=आत्मा, मन अपनपौ। उपजीवी=आश्रित। त्राता=रक्षक। अगति=दुर्दशा, नरक, विमुखता।

भावार्थ—श्रवण आदि नव प्रकार की भक्ति के जो मुख्य आचार्य हैं, वे अपने चरणकमलों की रज देते हुए हम दयनीय दसों पर करुणा (तरस, दया) करें। बुद्धिमान परीक्षितजी श्रवणभक्ति के तथा व्यास पुत्र शुकदेवजी कीर्तनभक्ति के, सुन्दर रूप के स्मरण करने वालों में प्रह्लादजी, अष्टयाम भगवच्चरणसेवन में मन देने वालों में लक्ष्मीजी और विधि समेत पूजन भक्ति में पृथुजी प्रधान हैं। वन्दन भक्ति में श्वफल्क पुत्र अक्रूरजी और दास्य भक्ति को प्रकाशित करने वालों में हनुमानजी सर्वश्रेष्ठ हैं। सख्यरस के उपासकों में अर्जुन और सर्वस्व समेत आत्म समर्पण करने वालों में राजा बलि अग्रगण्य हैं। मैं नवधा भक्ति के इन आचार्यों के नाम के आश्रित हूँ अर्थात् इनका नाम लेकर जीविका चलाता हूँ, जीवन धारण करता हूँ। ये जीवों को नरक–विमुखता आदि दुर्गतियों से बचाते हैं। इन श्रेष्ठ भागवतों की कृपा से ही नवधा भक्ति का आचरण सम्भव है।।१४।।

व्याख्या—पद—पराग—देखिये 'चरण रेणु आसाधरी' (छप्पय ९)

नवधा भक्ति— **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदम्।। (भा० श्रीप्रह्लाद वाक्य ७-५-२३)

नेता—यथा— **श्रीकृष्णश्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने,**
प्रह्लादस्मरणेऽङ्घ्रिपद्मभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपति र्दास्ये च सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेते विदुः।।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराजाराम जी की नवधा भक्ति के नव आदर्श ये हैं—

नवधा भक्ति निधान ये राम प्राण प्रिय भक्त दश।
श्रवण समीर कुमार कीरतन कुश लव निर्भर।
शुचि सुमिरन रत भरत चरण सेवन अंगदकर।।
पूजन शबरी शुभ सुमन्त्र बन्दन अधिकारी।
लखन दास्य सुग्रीव सख्य सुख लूट्यो भारी।।
आत्म समर्पण गीध पति कृत अपूर्व करि लिये यश।
नवधा भक्ति निधान ये राम प्राण प्रिय भक्त दश।। (श्रीरूपकलाजी)

श्रीपरीक्षितजी

श्रवण रसिक कहूँ सुने न परीक्षित से पानहू करत लागी कोटि गुणी प्यास है।
मुनिमन माँझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप रास है।।
कही शुकदेव जू सों टेक मेरी लीजै जानि प्रान लागे कथा नहीं तक्षक को त्रास है।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानी अहो बानी विरमानी जहाँ जीवन निरास है।।९७।।

शब्दार्थ—पान=पीना, कथा श्रवण। प्यास=पीने—सुनने की इच्छा। तक्षक=सांप। सानी=सन गई, रम गई। विरमानी=रुकी, विराम हुआ।

भावार्थ—जो भगवान का गुणानुवाद सुनकर अपूर्व सुख का अनुभव करते हैं, ऐसे श्रवण-रसिक भक्त सुनने में नहीं आये। वे जैसे-जैसे कथा रूपी अमृत का कर्णपुटों से पान करते थे, वैसे ही वैसे उनकी प्यास अर्थात् कथा श्रवण की अभिलाषा करोड़ों गुनी बढ़ती जाती थी। समाधि लगाकर निरन्तर ध्यान करने पर भी मुनियों के हृदय में जो भगवान नहीं आते हैं, उन्हीं रूप के समूह भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन परीक्षितजी ने अपने माता के गर्भ में ही किया था। श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करते हुए उन्होंने शुकदेवजी से कहा कि— आप हमारी टेव को जान लीजिए, मेरे प्राण कथा में लीन हो रहे हैं, मुझे साँप के डसने का भय बिल्कुल नहीं है। आप चाहें तो परीक्षा लेकर देख लें। शुकदेवजी ने मन में मान लिया कि राजा की बुद्धि कथा में लीन हो गई है, राजा की श्रवण-निष्ठा अनुपम है। सातवें दिन कथा कहकर जैसे ही शुकदेवजी की वाणी ने विश्राम किया वैसे ही राजा ने शरीर त्याग दिया।।९७।।

व्याख्या—श्रवण—देखिये 'उबटनौ श्रवण कथा' (कवित्त ३) श्रवण रसिक—यथा—

जिनके श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहँ गृह रूरे।।

जैसे श्रीहनुमानजी—'प्रभु चरित्र सुनिबे को रसिया'।। (हनुमान चालीसा)

यत्र यत्र रघुनाथ कीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
वाष्पवारि परिपूर्ण लोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।।

पुनः—**जयति रामायण श्रवण संजात। रोमांचलोचन सजल सिथिल वानी।।** (विनय)

श्रीसनकादिजी—

'आसा वसन व्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं।। श्रीशौनकजी। (देखिये छप्पय १०) भगवत्-भागवत यश सुनकर तृप्त हो जाने वालों को अरसज्ञ कहा गया है। यथा—रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं।। (रामा०) रसिक श्रोता को पाकर आचार्य गुह्याति गुह्य रहस्य को भी कह देते हैं। यथा—

श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकाश।। (रामा०)

पुनः—**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।।** (भा० १-१-८)

पुनः—**अन्यमना दृगलोल पदच्छेदक असमञ्जस।**
अस्थित अधीर श्रुतिमन्द पलक झपकै निद्राबस।।

प्रश्नप्रसंग न मिलै मधुर अनुमोदन अक्रिय।
बादि रसिकरस छहर अनभिज्ञ अलापत प्रियाप्रिय।।
रसिकअनन्य विशालमति बातकहत अनुभव सकृत।
दसदोष रहित श्रोता मिलैं उज्ज्वल रस बरसै अमृत।। (पुरानी टिप्पणी)

श्रोता दो प्रकार के होते हैं—१-प्रवर, २-अवर। प्रवराश्चातको हंस: शुको मीनादयस्तथा। अवरा बृकभूरुण्डवृषोष्ट्राद्या: प्रकीर्तिता।। (स्क० पु०) प्रवर (श्रेष्ठ)=चातक, हंस, शुक, मीनादि। अवर (अधम= वृक, भूरुण्ड, वृष और ऊँट आदि। चातक—जो केवल इष्ट विषय ग्रहण करे। शुक—जो वक्ता से सुनकर अपनी सुन्दर वाणी से दूसरों को सुनावे। मीन—जो मौन होकर रसास्वादन करे। वृक—जो बीच-बीच में बोलकर रस भंग करते हैं। भूरुण्ड—जो दूसरे से सुनकर जैसा का तैसा दूसरों को सुनाते हैं परन्तु स्वयं आचरण में नहीं लाते। वृष—जो सरस नीरस सबको समान समझे। ऊँट—जो रस से प्रेम न करके नीमवद् कटुक भावों को ही पसन्द करते हैं। संक्षेप में—आलस्य रहित होकर प्रेम पूर्वक कथा सुनने वाले उत्तम श्रोता को पाकर वक्ता के हृदय में सुन्दर-सुन्दर भाव तरंगें उठती हैं और कथा में आकर ऊँघने वाले श्रोता तो स्वयं कथा के रसास्वादन से वंचित होते ही हैं, वक्ता का मन भी उदास कर देते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—खारी कथा का—एक सेठानी नित्य नियम से कथा सुनने जाया करतीं थीं परन्तु सेठजी कभी नहीं जाते थे। उलटे सेठानी से कहते कि क्या धरा है कथा में, जो कि तुम रोज-रोज जाती हो। सेठानी मन ही मन भगवान से प्रार्थना करती कि यह भी कथा सुनने लगें। सेठानी ने एक दिन एक उपाय रचा। उत्सव का दिन था, उसने बढ़िया पदार्थ बनाये। सेठजी भोजन करने बैठे तो उन्हें स्वाद आया, बोले—आज तो रसोई में बड़ी मिठास है। सेठानी ने कहा—इसमें क्या मिठास हैं? मिठास तो असल में भगवान की कथा में है। उस मिठास के सामने तो इन भोजनों में मानों कुछ भी मिठास नहीं है। सेठ ने कहा—यदि ऐसी बात है तो आज मैं भी कथा सुनने चलूँगा। सेठजी को बैठे-बैठे ऊँघने का अभ्यास था अत: समाज में न बैठकर एकान्त में अकेले कथा सुनने बैठे, आखिर झपकी आ ही गयी। सेठजी मुँह खोलकर खर्राटे लेने लगे।

तब तक एक कुत्ता आकर इनके मुँह में लघु शङ्का कर गया। निद्रा भङ्ग हुई तो इन्हें मुँह का स्वाद खारा-खारा सा लगा। घर जाने पर सेठानी ने पूछा—कैसी कथा लगी? सेठ ने कहा—तुमने तो कहा था कि कथा बड़ी मीठी होती है, परन्तु हमें तो खारी-खारी सी लगी। सेठानी ने पूछा—कहाँ बैठे थे? इन्होंने बताया— सबसे दूर, अलग। सेठानी समझ गयी। उसने बात सँभाली। उसने कहा—सेठजी! प्रथम-प्रथम और उसमें भी दूर बैठने से तो कथा खारी ही लगती है, रोज-रोज जाकर समीप से सुने तो मीठा लगने लगती है और नित्य सुनने पर ऐसी मीठी लगने लगती है कि छोड़ी नहीं जाती। दूसरे दिन जब सेठजी कथा सुनने गये तो सेठानी समीप बैठी और जब इनको नींद आई तो सबकी आँख बचाकर सेठानी ने इनके मुँह में दो बतासे डाल दिया। आज सेठ ने सराहना की। इसी प्रकार सेठानी ने दो-चार दिन ऐसे ही किया, फिर तो सेठ को कथा सुनने का चस्का लग गया।

दूसरा दृष्टान्त—ठाली-ठाली का—एक बनिया कथा सुनने के लिए गया। वक्ता के समीप ही जाकर बैठा। थोड़ी देर बाद उसको नींद आ गई। उसी में ठाली-ठाली कहकर लठिया चलाया, सो वक्ता महोदय के सिर में जा लगी। कथा में विघ्न हो गया। लोगों ने पूछा—तुमने यह क्या किया? उसने बहुत ही संकुचित होकर कहा—पञ्चो! हमारे परचून की दुकान है, सो एक गाय रोज चावल, दाल के बोरे में मुँह मार जाती है, मुझे नींद में ऐसा लगा कि मैं दुकान पर बैठा हूँ, गैया आई है और मैं उसे भगाने लगा। लोग हँस गये और बोले कि प्रथम तो कथा में आकर सोवो नहीं, यदि सोने का अभ्यास सिद्ध ही हो गया

हो तो समीप मत बैठो और यदि समीप ही बैठना हो तो लठिया संग मत लाया करो। कथा में सोना ठीक नहीं।

तीसरा दृष्टान्त—होड़ल के बनियाँ का—इसको भी कथा में बैठे-बैठे ऊँघने का अभ्यास था और बैठता वक्ता के समीप ही। लोग समझा-बुझाकर हार गये परन्तु इसने न तो सोना छोड़ा, न समीप बैठना छोड़ा और न कथा में आना छोड़ा। एक दिन कथा में जाने का समय हो गया था, उसी समय कपड़े का एक ग्राहक आ गया। वह एक रुपये का दस गज माँगता था, यह नव गज देता था। सौदा पटा नहीं। यह लड़के को दुकान पर बैठाकर चला आया। मन में सौदे की लगी रही। कथा में बैठते ही नींद आ गई। स्वप्न में लेन-देन प्रारम्भ हुआ। इसने ग्राहक से कहा—न तेरे दस गज, न मेरे नव गज, साढ़े नव गज का लेलो। बात तय हो गई। श्रीव्यासजी को किसी सेवक ने नया दुपट्टा दिया था। उसका कोर झूल रहा था। उस बनिये ने ग्राहक को देने के लिए हाथ बढ़ाया तो व्यासजी का दुपट्टा हाथ लगा, उसी को फाड़ दिया। लोगों ने उसे बहुत फटकारा। तात्पर्य यह कि ऐसे श्रोता ठीक नहीं। श्रोता को रसिक होना चाहिये।

श्रीपरीक्षितजी परम रसिक श्रोता हैं। पाँच दिन तक एक आसन से बैठे हुए अखण्ड अहर्निश कथा श्रवण में निमग्न चित्त श्रीपरीक्षितजी से छठें दिन श्रीशुकदेवजी ने पूछा—राजन्! क्या आपको भूख नहीं लगती? प्यासा नहीं लगती? निरन्त बैठे रहने पर भी श्रम का अनुभव नहीं होता? अरे! ये दुर्निवार बाधायें तो बड़े-बड़े योगियों को भी बाधित करती रहती हैं। यथा—'छुधापीर सहि सकैं न योगी।' इसको सबसे बड़ा कष्ट कहा गया है। यथा—''वासुदेव जरा कष्टं, कष्टं निर्धन जीवनम्। पुत्रशोकं महाकष्टं कष्टात्कष्टतरं क्षुधा।। स्पष्टार्थ—एक राजा के दरबार में चार दुःखी मनुष्य पहुँचे। उनसे पूछा गया कि आप लोगों को क्या दुःख है तो उन चारों ने उपर्युक्त चार बात बताई। (अथवा यों भी इस श्लोक की सङ्गति लगाते हैं कि राजा ने अपने दरबार के पण्डितों से पूछा कि सबसे बड़ा दुःख क्या है तो इस पर पण्डितों ने उपर्युक्त श्लोक कहा था।)

इसकी निवृत्ति के लिये कितने-कितने अन्न खा डाले गये, जल पी डाले गये परन्तु यह ज्यों की त्यों बनी रही। फिर कोई महायोगीश्वर यदि इन बाधाओं पर विजय भी प्राप्त कर ले तो कोई बात नहीं, आप एक राजा, अपार सुख-भोग में पले, फिर भी आपने इस पर कैसे विजय पाली? श्रीपरीक्षितजी ने कहा—'नैषातिदुः सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरि कथामृतम्।। (भा०) अर्थ—भगवन्! अन्न की तो बात ही क्या, मैंने जल का भी परित्याग कर दिया है। फिर भी वह असह्य भूख-प्यास (जिसके कारण मैंने मुनि के गले में मृत सर्प डालने का अन्याय किया था) मुझे तनिक भी नहीं सता रही है, क्योंकि मैं आपके मुख कमल से झरती हुई भगवान की सुधामयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ।

पानहूँ......प्यास है—यही उत्तम श्रोता का लक्षण है। 'मुनि........ध्यावत हूँ'—यथा—'जिति पवन मन गो निरस कर मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।।' (रा०च०मा०) 'वही......गर्भ रूप रास है'—(कथा आगे लिखी जाती है।) इससे जनाया गया कि श्रीपरीक्षितजी का मुनियों से भी सौभाग्य विशेष है क्योंकि जहाँ मुनियों के हृदय में प्रयत्न करने पर भी, भावनात्मक मूर्ति की भी स्फूर्ति नहीं होती, वहाँ इनको सहज ही साक्षात् रूपराशि भगवान के दर्शन हुये। 'नहीं तक्षक को त्रास है'—यथा—'भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्। प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया।। (भा० १२-६-५) अर्थ-भगवन्!

तक्षक से मृत्यु को प्राप्त होने का भय अब मुझे नहीं है क्योंकि अब तो मैं आपके द्वारा प्रदर्शित परम निर्भय ब्रह्मानन्द पद को प्राप्त हो गया हूँ।

श्रीपरीक्षितजी पर भगवान का परमानुग्रह—भगवान श्रीकृष्ण ने अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को उनका वह राज्य जो धूर्तों ने छल से छीन लिया था, वापस दिलाया, तथा द्रौपदी के केशों का स्पर्श करने से जिनकी आयु क्षीण हो गयी थी उन दुष्ट राजाओं का वध कराया। साथ युधिष्ठिर द्वारा उत्तम सामग्रियों से तथा वेद मन्त्र दृष्टा ब्राह्मणों-पुरोहितों से तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। इस प्रकार युधिष्ठिर के पवित्र यश को सौ यज्ञ करने वाले इन्द्र के यश की तरह सब ओर फैलाकर भगवान श्रीकृष्ण ने वहाँ से जाने का विचार किया। फिर तो पाण्डवों से विदा ली, श्रीव्यासादि ब्रह्मर्षियों की वन्दना कर तथा उनके द्वारा अत्यन्त सम्मानित होकर सात्यकि और उद्धव के साथ द्वारका जाने के लिये रथ पर सवार हुये। उसी समय उन्होंने देखा कि अर्जुन-कुमार अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा भय से विह्वल होकर दौड़ी चली आ रही है। श्रीकृष्ण के समीप आकर उत्तरा बोली—देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! आप महायोगी हैं, सर्व शक्तिमान हैं। यह प्रलयाग्नि के समान दहकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले परन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे—ऐसी कृपा कीजिये।

भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण जान गये कि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वंश को निर्बीज करने के लिये ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया है। उसने पाँच बाण पाण्डवों पर भी चलाये थे। भक्त दु:ख कातर प्रभु ने अपने अनन्य प्रेमियों पर बड़ी ही विपत्ति आयी जान कर अपने महास्त्र सुदर्शन चक्र से तो पाण्डवों की रक्षा की और स्वयं अंगुष्ठ प्रमाण शरीर धारण कर महायोगेश्वर श्रीकृष्ण गदा लेकर उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हो गये। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'वही गर्भमध्य देखि आयो रूपरास हैं।' गर्भस्थ शिशु परीक्षित ने देखा कि उसकी आँखों के सामने सहसा एक ज्योतिर्मय पुरुष प्रकट हो गया है। वह देखने में अँगूठे भर का है, परन्तु उसका स्वरूप बहुत ही निर्मल है। अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, विद्युत वर्ण पीताम्बर धारण किये हुए हैं, सिर पर स्वर्ण मुकुट झिलमिला रहा है, बड़ी ही सुन्दर लम्बी-लम्बी चार भुजायें हैं। कानों में तपाये हुये स्वर्ण के सुन्दर कुण्डल हैं, आँखों में लालिमा है, हाथ में लूके के समान प्रज्वलित गदा लेकर उसे बार-बार घुमाता जा रहा है और स्वयं शिशु के चारों ओर घूम रहा है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को भगा देते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपनी तेजोमयी गदा के द्वारा ब्रह्मास्त्र के तेज को शान्त कर दिया। भला भगवान के अमित तेज के समक्ष ब्रह्मास्त्र का अस्तित्व ही क्या?

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने परीक्षितजी की रक्षा किया। शुभ समय में परम भागवत परीक्षित का जन्म हुआ। महाराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों से मङ्गलवाचन एवं जात कर्म संस्कार करवाये तथा दान-मानादि से ब्राह्मणों को परम सन्तुष्ट किया। श्रीयुधिष्ठिरजी के जिज्ञासा करने पर ब्राह्मणों ने बालक का भविष्य कथन किया। ब्राह्मणों ने कहा—भगवान ने इस बालक के प्राण बचाये हैं अत: इसका नाम विष्णुरात होगा। निस्सन्देह यह बालक संसार में बड़ा यशस्वी होगा तथा यह होगा भगवान का परम भक्त। यह मनुपुत्र इक्ष्वाकु के समान प्रजापालक, भगवान श्रीराम के समान ब्रह्मण्य और सत्यप्रतिज्ञ, शिवि के समान दाता और शरणागत वत्सल होगा। दुष्यन्त पुत्र भरत के समान यज्ञ करने वाला, अर्जुन के समान धनुर्धर, अग्नि के समान दुर्धर्ष, समुद्र के समान दुस्तर, सिंह के समान पराक्रमी, हिमाचल के समान आश्रयार्ह,

पृथ्वी के समान तितिक्षु एवं माता-पिता के समान सहनशील होगा। इसमें ब्रह्मा के समान समता, शिव के समान कृपालुता होगी। विष्णु के समान प्राणिमात्र का पालन करने वाला होगा। रन्तिदेव के समान उद्धार, ययाति के समान धार्मिक, बलि के समान धैर्यवान, प्रह्लाद के समान भगवन्निष्ठ होगा। मर्यादा का उल्लंघन करने वालों को यह दण्ड देगा। यह पृथ्वी माता और धर्म की रक्षा के लिए कलियुग का भी दमन करेगा। ब्राह्मण कुमार के शाप से तक्षक के द्वारा अपनी मृत्यु सुनकर यह समस्त आसक्तियों को छोड़कर भगवान के चरणों की शरण लेगा। श्रीशुकदेवजी के द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त करके गङ्गा तट पर शरीर छोड़कर निश्चय ही अभय पद प्राप्त करेगा।

बालक विष्णुरात गर्भ में जिस पुरुष का दर्शन पा चुका था उसका स्मरण करता हुआ लोगों में उसी की परीक्षा करता रहता था कि देखें इनमें से कौन-सा वह है? किसी को पीत वस्त्र धारण किये हुए देखता तो घुटुरुवन चलकर उसके पास जाता, धोती का छोर पकड़ लेता, बड़ी उत्सुकता से ऊपर देखता, परन्तु यह देखकर कि यह तो वह पुरुष नहीं है, फिर उसे छोड़कर आकर दादा युधिष्ठिर की गोद में बैठ जाता। इसी से आगे चलकर इस बालक की परीक्षित नाम से प्रसिद्धि हुई।

भगवान के स्वधाम गमन वृत्तान्त को सुनकर निश्चलमति श्रीयुधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण का विचार किया। अत: सब प्रकार से सुयोग्य पौत्र परीक्षित को सार्वभौम सम्राट पद पर प्रतिष्ठित कर उन्मत्त का सा रूप बनाकर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। छोटे भाइयों एवं द्रौपदी ने भी महाराज युधिष्ठिर का अनुसरण किया और भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलों का चिन्तन करते हुए सभी परम पद को प्राप्त हो गये।

पाण्डवों के महाप्रयाण के पश्चात् परम भक्त राजा परीक्षित श्रेष्ठ ब्राह्मणों की शिक्षा के अनुसार पृथ्वी का शासन करने लगे। ज्योतिर्विद ब्राह्मणों के द्वारा पूर्व वर्णित समस्त सद्‌गुण उनमें विद्यमान थे। एक बार दिग्विजय करते समय उन्होंने देखा कि शूद्र के रूप में कलियुग राजा का वेष धारण करके गोरूप धारिणी पृथ्वी एवं वृषभ रूपधारी धर्म को पाँव की ठोकरों से मार रहा है। वह कमलतन्तु के समान श्वेत रंग का बैल एक पैर से खड़ा काँप रहा था तथा शूद्र की ताड़ना से पीड़ित और भयभीत होकर मूत्र त्याग कर रहा था धर्मोपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थों का देने वाली वह गाय भी बार-बार शूद्र के पैरों से ठोकरें खाकर अत्यन्त दीन हो रही थी। इनकी दुर्दशा देखकर करुण-हृदय महाराज परीक्षित ने इन्हें सान्त्वना दी और अधर्म के कारण रूप कलियुग को मारने के लिए तीक्ष्ण तलवार उठाई। श्रीपरीक्षितजी की सामर्थ्य से परिचित कलियुग ने तुरन्त ही राजचिन्ह फेंककर भय से विह्वल होकर उनके चरणों में अपना सिर रख दिया। शरणागत रक्षक परीक्षित ने उसके वध का निश्चय छोड़ दिया और उसके रहने का स्थान नियत कर दिया—द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसङ्ग और हिंसा। कलियुग के प्रार्थना करने पर एक स्थान और दे दिया—सुवर्ण (धन)। इसलिये कल्याण कामी पुरुष को इन पाँचों स्थानों का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। धर्म और पृथ्वी अपने समस्त दु:ख शोकों से मुक्त होकर स्वस्थ हो गये।

एक दिन शिकार खेलने के प्रसङ्ग में ब्राह्मण कुमार से शाप मिलने की कथा पूर्व शमीकजी के प्रसङ्ग में लिखी जा चुकी है। राजधानी पहुँचने पर राजा परीक्षित को अपने उस निन्दनीय कर्म के लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे अत्यन्त उदास हो गये और सोचने लगे—मैंने निरपराध एवं अपना तेज छिपाये हुये ब्राह्मण के साथ अनार्य पुरुषों के समान बड़ा नीच कर्म किया। यह बड़े खेद की बात है। अवश्य ही

उन महात्मा के अपमान के फलस्वरूप शीघ्र से शीघ्र मुझ पर कोई घोर विपत्ति आवेगी। मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ क्योंकि उससे मेरे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा और फिर कभी मैं ऐसा काम करने का दु:साहस नहीं करूँगा। इस प्रकार वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें गौरमुख नाम के ब्राह्मण कुमार से शाप की बात मालूम हुई। श्रीपरीक्षितजी ने इसे भगवान का मंगल विधान माना और सहज ही सब ओर से आसक्तियों का त्याग करके भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलों की सेवा को ही सर्वोपरि मानकर आमरण अनशन व्रत लेकर वे गंगातट पर बैठ गये। राज-काज का भार अपने पुत्र जनमेजय को सौंप दिया।

उस समय त्रिलोकी को पवित्र करने वाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्यों के साथ वहाँ पधारे। श्रीपरीक्षितजी ने सबका सत्कार किया और अपने भाग्य को सराहा। तत्पश्चात् श्रीपरीक्षितजी उन महामुनियों से श्रेय-साधन के सम्बन्ध में पूछ ही रहे थे कि उसी समय भगवान श्रीशुकदेवजी वहाँ पहुँचे। राजा ने शुकदेवजी को सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। तदनन्तर यह जिज्ञासा की कि मनुष्यमात्र के लिये, विशेषकर जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है उसे क्या करना चाहिये ? श्रीशुकदेवजी महाराज ने परीक्षितजी के प्रश्न का अभिनन्दन करते हुये, उन्हें परम अधिकारी जानकर श्रीमद्भागवत महापुराण को सात दिन में सुनाया। राजर्षि परीक्षित ने उनका सम्पूर्ण उपदेश बड़े ध्यान से श्रवण किया और श्रीशुकदेवजी की पूजा स्तुति करके उनकी आज्ञा लेकर मौन होकर अन्तरात्मा को परमात्मा के चिन्तन में समाहित करके ध्यान मग्न हो गये।

उधर ऋषिकुमार की प्रेरणा से तक्षक नाग राजा परीक्षित को डसने के लिये चला। रास्ते में उसने कश्यप नाम के एक ब्राह्मण को देखा। कश्यप सर्पविष की चिकित्सा करने में बड़े निपुण थे। वे राजा के शाप की बात सुनकर, मन्त्र-बल से राजा को जीवित कर प्रचुर-धन पाने के लोभ से आ रहे थे। तक्षक ने इनके मन्त्र-प्रभाव की परीक्षा लिया। एक बहुत बड़े हरे-भरे वृक्ष को तक्षक ने डँसा, वह वृक्ष तत्काल ही भस्म हो गया परन्तु वाहरे कश्यप! मन्त्र की शक्ति से इन्होंने पुनः भस्म को वृक्ष रूप में परिणित कर दिया। तक्षक डर गया और ब्राह्मण को बहुत-बहुत धन देकर वापस कर दिया। बहुत से नागों को उसने ब्राह्मण का रूप धरकर राजा के पास जाने को प्रेरित किया और स्वयं अत्यन्त छोटा सा रूप धरकर एक फूल में प्रवेश कर गया। ब्राह्मण रूपधारी नागों ने जाकर राजा को पुत्र-पुष्प, फल-मूल अर्पण किया। उन्हीं फल-फूलों के साथ तक्षक नाग राजा परीक्षित के पास पहुँचकर स्व-स्वरूप में प्रगट होकर उन्हें डस लिया और आकाश मार्ग से अमरावती को चला गया। तक्षक के विष की ज्वाला से परीक्षित का शरीर सबके सामने जलकर राख हो गया परन्तु राजर्षि परीक्षित तो तक्षक के डसने के पहले ही ब्रह्म में स्थित हो चुके थे।

परमहंस श्रीशुकदेवजी

गर्भते निकसि चले बनहीं में कीयो बास व्याससे पिता को नहिं उत्तरहु दियो है।
दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई लई नई रीति पढ़ि भागवत लियो है।।
रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि आए सभा नृप ढरि भीज्यो प्रेमरस हियो है।
पूछे भक्त भूप ठौर ठौर परे भौंर जाय गाय उठे जबै मानो रंगझर कियो है।।९८।।

शब्दार्थ—दशम=दशवां स्कन्ध श्रीभागवत। गुनि=विचार कर, मनन कर। ढरि=कृपा करके, चल करके। भौंर=चक्कर। रंगझर=परमानन्द की झड़ी।

भावार्थ—परमहंस श्रीशुकदेवजी माता के गर्भ से जन्म लेते ही वन को चल दिये और वहीं रहकर भजन करने लगे। वात्सल्य प्रेमवश पुत्र! पुत्र!! पुकारने पर भी वेदव्यास सरीखे पिता को जिन्होंने उत्तर भी नहीं दिया था, वे ही शुकदेव व्यास शिष्यों द्वारा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के श्लोकों को सुनकर मोहित हो गए। श्लोकों के अर्थ का मनन करके उनकी बुद्धि भगवान के गुणानुवादों में रम गई। विचित्र बात तो यह हुई कि—पुकारने पर उत्तर न देकर जिनकी उपेक्षा की थी, उन्हीं के समीप आकर उनकी शिष्यता स्वीकार की और श्रीमद्भागवत को पढ़ा। श्रीकृष्ण के अद्भुत रूप और गुणों से शुकदेवजी का हृदय भर गया। प्रतिक्षण बढ़ने वाले भावों का भार कैसे सहा जाय फिर आप गङ्गा तट पर आत्माद्धार के निमित्त राजा परीक्षित द्वारा आयोजित ऋषियों की सभा में पधारे। कृपावश उनका हृदय राजा का उद्धार करने के लिए पसीज गया। भक्तभूप राजा परीक्षित ने सात दिनों में ही अपने उद्धार का उपाय पूछा—जिसे सुनकर ऋषिलोग जहाँ-तहाँ विचारने लगे। पर वे दुविधा के चक्कर में पड़ गए। कुछ भी निर्णय न कर सके। तब शुकदेवजी भाव-विभोर होकर भगवद् गुणानुवाद गा उठे, उस समय ऐसा लगा मानो वे भक्तिरस आनन्द की निरन्तर वर्षा कर रहे हैं।।९८।।

व्याख्या—गर्भ ते निकसि चले—श्रीआनन्द वृन्दावन चम्पू में श्रीराधिकाजी के द्वारा लालित-पालित एक लीलाशुक का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। कवि कर्णपूरजी कहते हैं कि एकबार श्रीराधाजी ने मणिमय पिंजरे में से तोते को निकाला और अपने करतल पर बैठाकर उसे पके अनार के दाने खिलाने लगीं। उसकी चोंच के निकट अनार का दाना देते हुए श्रीकृष्ण के अनुराग से सहसा हृदय भर गया क्योंकि शुक की नासिका को देखकर उन्हें श्रीकृष्ण की नासिका का स्मरण हो आया। प्रेम से हृदय विह्वल हो उठा। वे बोलीं—हे शुक! 'श्रीकृष्ण कहो, श्रीकृष्ण कहो।' तोता बार-बार 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहने लगा। उस समय श्रीराधिकाजी को सहसा महानुराग प्रकट हो गया और विह्वलता में उनके मुख से यह पद निकला, जिसे वे तोते को पढ़ाने लगी और स्वयं गाने लगीं—

> **दुरापजन वर्तिनी रतिरपत्रपाभूयसी,**
> **गुरूक्तिविषवर्षमतिरतीव दौस्थ्यं गता।**
> **वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये,**
> **न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः।।** (आ०वृ०च०)

अर्थ—अत्यन्त दुष्प्राप्य पुरुष में प्रीति रखने वाली बुद्धि निर्लज्ज होकर गुरुजनों की विष वर्षा से दुःखपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो गयी है, शरीर परवश है, तथा उत्तम कुल में जन्म हुआ है। ऐसे दुःखों से घबराकर प्राणी को मर जाना चाहिये, किन्तु यह जी रहा है।

उस समय चतुर शुक ने सुनते ही यह श्लोक कण्ठ कर लिया और अपने पक्षी स्वभावानुसार 'कृष्ण, कृष्ण'' कहता हुआ श्रीकिशोरीजी के कर कमल से सहसा आकाश में उड़ता हुआ श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण के कर कमल पर बैठकर वही पद गाने लगा। उसे सुनकर श्रीकृष्ण को परमाह्लाद हुआ। होना भी चाहिये क्योंकि परमाह्लादिनी सार श्रीराधिका का हृदयोद्गार जो ठहरा। फिर इस पर के उत्तर में श्रीकृष्ण ने भी एक पद अपने प्रिय सखा कुसुमासव (मनसुखा) को सम्बोधित कर शुक को सुनाया—

न वन गमने नाप्यासंगे वयस्यगणैः समं,
न च मुरलिकानादे मोदो न धेनु गणावने।
इममश्रृणवं यावत्कीरोत्तमाननिःसृतं,
कमपि दयितालापं गाढ़ानुरागभरालसम्।। (आ० वृ० च०)

अर्थ—सखे! जब से इस सुन्दर शुक के मुख से निकले हुए प्रगाढ़ अनुराग भरे किसी प्रिय अलाप को सुना है, तब से न वन गमन में आनन्द मिलता है, न एकान्त में बैठने में सुख मिलता है। सखाओं के साथ में भी आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। न वंशी बजाने में सुख प्रतीत होता है, न गौओं के साथ वन जाने में ही रस आता है अर्थात् इस शुक की वाणी सुनने के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।

लीला-शुक ने श्रीकृष्ण के इस हार्दिक भाव को श्रीराधाजी को सुनाकर उनके हृदय को परमाह्लादित कर दिया। भगवल्लीला-रहस्य विज्ञविद्वज्जनों का कथन है कि—रस-भावना-प्रवीण, युगल-गुणगान कुशल लीला शुक ही श्रीशुकदेवजी के रूप में प्रादुर्भूत हुये। आपके प्राकट्य के सम्बन्ध में कथा आती है कि एकबार देवर्षि नारदजी चतुर्दश भुवनों में परिभ्रमण करते हुये कैलाश पर्वत पर पहुँचे। संयोग की बात, उस समय शिवजी पुण्य सलिला गङ्गाजी में स्नान कर रहे थे। (कोई-कोई कहते हैं कि अपने मित्र कुबेरजी से मिलने गये थे। कहीं-कहीं शिवजी की समाधि में स्थित होने का वर्णन आया है) श्रीपार्वतीजी ने देवर्षि का स्वागत सत्कार किया। कुशल-क्षेम के उपरान्त श्रीनारदजी ने पूछा—सुमंगले! सदाशिव स्नेह तो करते हैं न? तुम तो उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा, सादर, सप्रेम परिचर्या करती हो न? परस्पर किसी प्रकार का पर्दा तो नहीं है न? क्योंकि देवि! प्रेम में पर्दा बड़ा ही अनुचित है। यथा—

प्रीति तहाँ परदा नहीं, परदा तहाँ न प्रीति। प्रीति करै परदा करै, तुलसी यह अनरीति।।
जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि। बिलग होई रस जाई, कपट खटाई परत पुनि।।

श्रीपार्वतीजी ने भगवान भूत भावन के अपने प्रति सहज सनेह की प्रशंसा किया। श्रीनारदजी ने कहा—धन्यवाद है इस दिव्य दाम्पत्य को। अच्छा गिरिजे! क्या तुम यह बता सकती हो कि शिवजी के गले में जो मुण्डों की माला है वह किसकी है? श्रीपार्वतीजी चुप हो गईं। कुछ देर बाद बोलीं—मुनिवर्य! यह तो मुण्डमाली ने कभी बताया ही नहीं। श्रीनारदजी ने कुछ व्यङ्ग के स्वर में—यह कैसा प्रेम? कहकर वहाँ से रमते राम हुये। श्रीपार्वतीजी को शिव पर सन्देह हो गया। वे कोप भवन में चली गईं। तब तक श्रीशिवजी भी आ गये। पार्वती को न देखकर दास-दासियों से पूछे। उनके बताने पर जब गिरिराज कुमारी के पास गये तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ इनकी अभूतपूर्व अवस्था देखकर। जब बहुत मनुहारि करने पर पार्वतीजी ने रहस्य खोला तो श्रीशिवजी हँस गये और बोले—क्या मेरी अनुपस्थित में नारदजी आये थे? 'वह तो अभी-अभी गये हैं' यह कहकर पार्वतीजी ने सब बात ब्योरेवार बतायी तथा मुण्डमाल का विवरण पूछा। श्रीशिवजी ने कहा—प्रिये! कुछ मुण्ड तो तुम्हारे हैं और कुछ अन्य प्रेमी भक्तों के हैं। जब-जब तुम्हारा शरीर छूटता है, तब-तब मैं अत्यन्त प्रेम में होने के कारण तुम्हारे मुण्ड को अपनी माला में पिरो लेता हूँ। श्रीपार्वतीजी यह सुनकर गम्भीर हो गईं कि इसका अर्थ यह हुआ कि मैं मरती हूँ और शंभु अविनाशी हैं। फिर वे हाथ जोड़कर बोलीं कि प्रभो! जब आपका मुझ पर इतना प्रेम है तो मुझको भी अपनी तरह ही अमर क्यों नहीं बना देते हैं जिससे कि हमारा आपसे कभी वियोग हो ही नहीं।

श्रीशिवजी ने प्रथम तो अत्यन्त गोपनीय कहकर अपनी अमरता के रहस्य को छिपाना चाहा, परन्तु अन्त में—'गूढौ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।' इस शास्त्रवचन को प्रमाण मानकर श्रीपार्वतीजी को अमर कथा सुनाने को प्रस्तुत हो गये। कैलाश पर गणों की तथा और भी अन्यान्य लोगों की भीड़ देखकर श्रीशिवजी पार्वती को लेकर परम एकान्त स्थल में चले गये, जिसे वर्तमान में 'अमरनाथ' तीर्थ कहते हैं। वहाँ भी पहुँचकर शिव ने सबसे प्रथम बड़े जोर का डमरूनाद किया, जिससे कि अन्य जीव-जन्तु वहाँ से पलायन कर जायँ क्योंकि सर्व साधारण इस रहस्य-बोध के अधिकारी नहीं हैं। इसके बाद शङ्कर ने पार्वती को सावधान किया कि मन, बुद्धि, चित्त लगाकर श्रवण करो। प्रमाद नहीं करना, मैं ध्यान में स्थित होकर समाधि की भाषा में वर्णन करूँगा। श्रीपार्वतीजी बड़े ही मनोयोग से सुनने लगीं। शिवजी ध्यानावस्थित हो वर्णन कर रहे थे। भगवान की बड़ी विचित्र लीला हैं। श्रीपार्वतीजी कथामृत के माधुर्य में एक दम आत्मविभोर हो गईं।

उसी समय एक शुक, जो प्रथम डमरूवादन के समय अण्ड में ही स्थित था इसलिए वहाँ से भाग नहीं सका था, कथामृत से पोषित होकर अण्डा फोड़कर बाहर निकला और हुँकारी भरने लगा। कथा समाप्त होने पर जब शिवजी को बाह्यज्ञान हुआ तो पार्वती को ध्यानस्थ देखे। शिवजी विस्मय में पड़ गये कि आखिर हुँकारी कौन भर रहा था? पूछने पर पार्वतीजी मारे संकोच के कुछ बोल नहीं सकीं। श्रीशिवजी ने ध्यानपूर्वक देखा तो उन्हें एक शुक पक्षी दिखायी पड़ा। पक्षी को अनाधिकारी समझकर रुद्र देवता हाथ में त्रिशूल लेकर उसे मारने के लिये दौड़े। बेचारा शुक भगा और जाकर श्रीव्यास-पत्नी वटिका के मुख मार्ग से उदर में प्रवेश कर गया। तब तक श्रीशिवजी वहाँ पहुँच गये और व्यासजी से बोले—आपके यहाँ मेरा चोर आया है आप उसे बाहर करें मैं मारूँगा। जब श्रीव्यासजी को समस्त वृत्तान्त मालूम हुआ तो हँसकर बोले कि आखिर आप हैं तो भोले ही। आप कहते हैं कि उस रहस्य को जान लेने पर प्राणी अमर हो जाता है। फिर भला आप उसे अब कैसे मार सकते हैं? क्या आप अपने से अपनी स्थापित मर्यादा को भंग करेंगे? क्या ब्राह्मणी का पेट फाड़ेंगे? श्रीशिवजी प्रसन्न मन आशीर्वाद देकर वहाँ से लौट आये। यह शुक वही श्रीजी के लीला शुक हैं।

महाभारत में श्रीव्यासजी का मेरु पर्वत पर जाकर उत्तम पुत्र की कामना से कठिन तपस्या करने एवं श्रीशिवजी के वरदान देने का प्रसंग आया है। यद्यपि श्रीव्यासजी स्वयं परम समर्थ हैं, इनके कृपा कटाक्ष से कितने सन्तानहीन उत्तम सन्तान प्राप्त किये हैं, परन्तु लोकसंग्रह के लिये आपने स्वयं सन्तान के लिये तप करके यह आदर्श स्थापित किया कि कामना रखने वालों को इस प्रकार साधन निरत होना चाहिये। स्कन्द पुराण के अनुसार जाबालि मुनि की कन्या चेटिका, जिसका दूसरा नाम पिङ्गला भी था, व्यासजी की पत्नी थी। उन्हीं के गर्भ से श्रीशुकदेवजी का प्राकट्य हुआ। श्रीशुकदेवजी बारह वर्ष तक माता के गर्भ में रहे। यदि यहाँ कोई शंका करे कि तब तो इनके द्वारा माता को बड़ा कष्ट हुआ होगा। तो इसका समाधान यह है कि सन्त जहाँ रहते हैं वहाँ फूल की तरह रहते हैं।

दृष्टान्त—एक सन्त का—एक साधु-सेवी स्थान था। जहाँ किसी उत्सव विशेष का समय था। सम्पूर्ण स्थान संत वैष्णवों से भरा पड़ा था। एक संत आये और स्थान के महन्तजी से आसन लगाने के लिये पूछे। महन्तजी बड़े असमञ्जस में पड़ गये। यहाँ साधु सेवा होती है अतः इन्कार नहीं किया जा सकता और खाली स्थान नजर नहीं आता है। अतः महन्तजी ने एक उपाय किया—अपने चेला के हाथ

एक कटोरा जल से परिपूर्ण भरकर संतजी के पास भेजा। जिसका तात्पर्य यह था कि जैसे कटोरे में एक बूँद भी जल रखने की जगह नहीं है वैसे ही स्थान में एक आसन की भी गुञ्जायश नहीं है। संत बड़े दूरदर्शी थे इन्होंने जल से भरे कटोरे में एक सुगन्धित फूल डालकर फिर महन्तजी के पास भेज दिया जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे जल भरे कटोरे में जल की समाइत भले नहीं हो परन्तु फूल तो रह सकता है। फूल से जल को कोई विक्षेप नहीं है प्रत्युत जल की शोभा है तथा जल सुवासित हो जाता है। ऐसे ही संत की रहनी फूलवत् होती है। महन्तजी तुरन्त सन्तजी का अभिप्राय समझ गये और बुलाकर अपने आसन को थोड़ा समेट कर अपने पास ही आसन लगवाये। ऐसे ही श्रीशुकदेवजी फूलवत् माता के गर्भ में रहे। अतः माता को कोई कष्ट नहीं था।

उन्होंने गर्भ में ही सारे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और मोक्ष-मार्ग को श्रवण करके हृदयङ्गम कर लिया और अक्षुण्ण रूप से आत्म-परमात्म चिन्तन में निमग्न रहने लगे। भगवान वेदव्यास तथा अन्य ऋषियों द्वारा गर्भ से बाहर निकलने के लिये आग्रह किये जाने पर उनका बस एक ही उत्तर था कि—गर्भ में जीव का ज्ञान जाग्रत रहता है, विषयों से वैराग्य होता है, भगवान में अनुराग होता है। परन्तु गर्भ से बाहर निकलते ही पूर्वकथित सभी वार्तायें व्यर्थ हो जाती हैं, विपरीत हो जाती है। यथा—'भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।। (रा०च०मा०) जिससे जीव का अधःपतन हो जाता है अतः मैं तो गर्भ में ही रहना चाहता हूँ। तब श्रीव्यासजी ने मायापति भगवान विष्णु का स्मरण किया। भगवान ने स्वयं ही आकर आश्वासन दिया कि गर्भ से बाहर आने पर भी आपको माया नहीं व्यापेगी। तब श्रीशुकदेवजी माता के उदर से बाहर निकले परन्तु अन्य संस्कार की कौन कहे नालोच्छ्दन भी नहीं हुआ और ये भजन के लिये वन की ओर चल पड़े। पुत्र-विरह-कातर श्रीव्यासजी के बुलाने पर भी लौटना तो दूर रहा बोले तक नहीं। यथा—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरह कातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूत हृदयं मुनिमानतोऽस्मि।। (भा० १-२-२)

देखिये कवित्त १-'द्रुमनि प्रवेश कियो।'

श्रीव्यासजी ने पुनः भगवान से कहा परन्तु अब की बार प्रभु ने साफ जवाब दे दिया कि मैंने तो गर्भ से बाहर निकालने का वचन दिया था सो पूरा हुआ, अब आप जाने और आपका काम जाने। असल में बात यह थी कि भगवान तो कृपा करके संसारोन्मुख जीव को भजनोन्मुख करते हैं तो फिर भला भजनोन्मुख को क्यों लौटाने लगे। प्रश्न—जब स्वयं भगवान ने आवश्वासन देकर इनको माया से निर्भय कर दिया था, तब फिर ये माया से इतने भयभीत क्यों? समाधान—यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि निर्भयता का आश्वासन पाने पर भी माया से सतत् सावधान ही रहना चहिये। आश्वासन के बल पर प्रमाद करना उचित नहीं है अतः समस्त आसक्ति को छोड़कर वन को चल पड़े।

जिस समय श्रीव्यासजी श्रीशुकदेवजी को पुकारते हुए पीछे-पीछे पुत्र प्रेम-परवश हो चले जा रहे थे, उस समय वन के एकान्त सरोवर में स्नान करने वाली देवांगनाओं ने नग्न, षोडशवर्षीय, परम मनोज्ञ श्रीशुकदेवजी को देखकर तो वस्त्र धारण नहीं किया, परन्तु वस्त्र पहने हुए वयोवृद्ध व्यासजी को देखकर उन्होंने लज्जावश कपड़े पहन लिए। इस आश्चर्य को देखकर जब व्यासजी ने उन स्त्रियों से

इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपकी दृष्टि में तो अभी स्त्री-पुरुष का भेद बना हुआ है, परन्तु आपके पुत्र की शुद्ध दृष्टि में यह भेद नहीं हैं।' यथा—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।। (भा० १-४-५)

श्रीव्यासजी को बोध हो गया कि ऐसे समदर्शी पुत्र के लिए भला लौकिक सम्बन्ध क्या महत्त्व रखते हैं। अतः लौट आये परन्तु श्रीव्यासजी की आसक्ति कम नहीं हुई। यदि यहाँ कोई शंका करे कि व्यासजी सरीखे ज्ञानवान के लिये इतना पुत्र मोह उचित नहीं है तो इसका समाधान यह है कि प्राकृत पुत्र मोह पतनकारी है, परन्तु भगवान ही यदि पुत्र रूप से प्रगट हो तो उनमें आसक्ति महामंगलकारी है। भगवान में तो येनकेन प्रकारेण प्रेम होना चाहिये। श्रीशुकदेवजी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं। यथा—'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्म रूपिणे।' (भा०)

श्रीव्यासजी ने विचार किया कि ऐसे योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंसों के चित्त को यदि आकृष्ट किया जा सकता है तो भगवान के अचिन्त्यानन्द सौन्दर्य-माधुर्य एवं मंगलमय परम दिव्य गुणावलियों के द्वारा ही। यथा—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।। (भा० १-७-१०) अतः उन्होंने श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकर श्रीकृष्णचन्द्रजी की रूप माधुरी का दिग्दर्शन कराने वाला एक श्लोक अपने शिष्यों को सिखाया और आज्ञा दिया कि जब वे वन में कुश-समिधा, फल, फूल-मूल लेने को जायँ तो अत्यन्त सुमधुर स्वर से इसे गाया करें। श्लोक इस प्रकार है—

बर्हापीडंनटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै,
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।। (भा० १०-२१-५)

अर्थ—श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं, उनके सिर पर मयूर पिच्छ है और कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प, शरीर पर सुनहला पीताम्बर और गले में पाँच प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की बनी वैजयन्ती माला है। रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुये श्रेष्ठ नट का सा क्या ही सुन्दर वेष है? बाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वाल बाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठ से श्रेष्ठ वह वृन्दावन उनके चरणचिह्नों से और भी रमणीय बन गया है।

जब श्रीशुकदेवजी को यह श्लोक कर्ण गोचर हुआ तो इनका निर्गुण निराकार निर्विशेष ब्रह्मानन्द में निमग्न मन सहज ही श्रीकृष्ण के रूप-सुधा-सिन्धु में अवगाहन करने के लिये मचल पड़ा। परन्तु बुद्धि को रूप के ही अनुरूप गुणों की भी जिज्ञासा हुई अतः रूप-निरूपण सुनकर भी एकदम नहीं आकृष्ट हुये। श्रीव्यासजी ने इस मर्म को समझा अतः शिष्यों को श्रीकृष्ण-गुणोत्कर्ष-ज्ञापक एक श्लोक सिखाया। यथा—

अहो वकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।। (भा० ३-२-२३)

अर्थ—अहो! पापिनी पूतना ने अपने स्तनों में हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्ण को मार डालने की नीयत से उन्हें दूध पिलाया था। उसको भी भगवान ने वह परम गति प्रदान की, जो धाय को मिलनी चाहिये।। उन भगवान श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कौन दयालु है जिसकी शरण ग्रहण करें। यह श्लोक सुनकर श्रीशुकदेवजी के मन ने बरबस ब्रह्म सुख को बराक समझकर श्रीपरमहंसाचार्यजी को श्रीव्यासजी के समीप आने के लिये विवश कर दिया। उन्होंने प्रथम तो सुन्दर स्वर लहरियों से लुब्ध-मुग्ध मृग की तरह उन गाने वाले ब्राह्मण बटुओं के समीप आकर इन श्लोकों को पुनः-पुनः आग्रह करके गवाया और स्वयं भी सुधि-बुधि खोये हुए उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए गाया। पश्चात् यह मालूम होने पर कि इनके श्रीसद्गुरुदेवजी ने ऐसे अठारह हजार श्लोकों की परमहंससंहिता बनायी है, श्रीशुकदेवजी ने उनसे उनके गुरुजी का परिचय पूछा और यह जानकर कि वह तो हमारे पिताजी ही हैं बड़े ही उत्कण्ठित हुये उनके दर्शन के लिये तथा विशेषकर श्रीमद्भागवत महापुराण का अध्ययन करने के लिये।

इस तथ्य को आपने स्वयं स्वीकार किया है। यथा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोक लीलया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्।। (भा० २-१-९)

अर्थ—राजन्! मेरी निर्गुण स्वरूप परमात्मा में पूर्ण निष्ठा है। फिर भगवान श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं ने बलात् मेरे हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। यही कारण है कि मैंने इस पुराण का अध्ययन किया है। श्रीसूतजी कहते हैं कि—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजन प्रियः।। (भा० १-७-११)

अर्थ—भगवद्भक्तों के अत्यन्त प्यारे, श्रीव्यासनन्दन शुकदेवजी ने भगवान के गुणों से आकृष्ट चित्त होकर इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया।

यद्यपि श्रीशुकदेवजी स्वयं ब्रह्म स्वरूप हैं तथा पिता श्रीव्यासजी से उन्होंने ब्रह्म सम्मित श्रीमद्भागवत महापुराण एवं अन्यान्य समस्त निगमागम का सम्यक् अध्ययन किया है, फिर भी पिता की आज्ञा से आप धर्म की निष्ठा तथा मोक्ष का परम आश्रय पूछने के लिये मिथिला नरेश के पास गये। वस्तुतः यहाँ श्रीशुकदेवजी को शिक्षा-दीक्षा के लिये नहीं, बल्कि प्राप्त ज्ञान की परीक्षा के लिये भेजा गया था। जब श्रीशुकदेवजी मिथिला पहुँचकर राजमहल में प्रवेश करने लगे तो द्वारपालों ने उन्हें कठोर वाणी द्वारा डाँटकर भीतर जाने से रोक दिया। वे शान्त चित्त वहीं खड़े हो गये, उनके मन में किसी प्रकार का खेद व क्रोध नहीं हुआ। रास्ते की थकावट और सूर्य की धूप तथा भूख और प्यास का उन्हें कोई ध्यान नहीं था। कुछ देर बाद एक दूसरे द्वारपाल ने बड़ी विनम्रता पूर्वक प्रणाम कर आपका यथा विधि पूजन किया और महल की दूसरी कक्षा में पहुँचा दिया। समदृष्टि श्रीशुकदेवजी वहाँ पहुँचकर एकान्त स्थल में बैठकर आत्म चिन्तन करने लगे। तब तक राजमन्त्री आया और इन्हें महल की तीसरी कक्षा में प्रमदा वन में पहुँचा दिया। वहाँ खूब सजी हुई पचास प्रमुख वाराङ्गनायें इनकी सेवा पूजा में लग गईं। उन्होंने अपने विविध हाव-भाव-विलास दिखलाये, परन्तु सर्वथा विशुद्धान्तःकरण श्रीशुकदेवजी तो समभाव

से मोक्षतत्त्व का विचार ही करते रहे। रात्रि में विश्राम करने के लिये रत्नजटित दिव्य पलङ्ग जिस पर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, दिया गया। रात्रि का प्रथम प्रहर ध्यान में व्यतीत कर द्वितीय प्रहर में यथोचित निद्रा लिये और ब्रह्मबेला में पुनः उठकर नित्य कृत से निवृत्त होकर परमात्म चिन्तन में लग गये।

तदनन्तर प्रातःकाल मन्त्रियों सहित राजा जनक पुरोहित को आगे करके आये और सर्वतो भद्र नामक रत्नजटित आसन पर विराजमान कराकर शास्त्र विधि से पूजन किये। परस्पर कुशल प्रश्नोपरान्त श्रीशुकदेवजी की तत्त्व जिज्ञासा का समाधान करते हुये श्रीजनकजी ने कहा—ब्रह्मन्! इस जगत में ब्राह्मण होने का जो फल है और मोक्ष का जो स्वरूप है उसी में आपकी स्थिति है। आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है, आप सुख दुःख में कोई अन्तर नहीं समझते अतः मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय मोक्ष मार्ग में स्थिर मानते हैं। राजा जनक की यह बात सुनकर श्रीशुकदेवजी एक दृढ़ निश्चय पर पहुँच गये और बुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये एवं आनन्दमग्न हो बड़ी शान्ति का अनुभव करते हुए उत्तर दिशा की ओर चल दिये।

आये सभा नृप ढरि—जिस समय श्रीपरीक्षितजी ऋषिकुमार द्वारा प्राप्त अपने शाप की बात सुनकर गङ्गातट पर आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गये, उस समय वहाँ पर बड़े-बड़े देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि राजा पर अनुग्रह करके आये। सबका यथोचित सत्कार करने के बाद श्रीपरीक्षितजी ने हाथ जोड़कर पूछा—विप्रवरो! आप सभी विद्वान् परस्पर विचार करके बताइये कि सबके लिये सब अवस्थाओं में और विशेषकर थोड़े ही समय में मरने वाले पुरुषों के लिये अन्तःकरण और शरीर से करने योग्य विशुद्ध कर्म कौन सा है? 'बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो' नाना मुनियों के नाना मत। जब कोई निश्चित निर्णय नहीं हो सका तब श्रीनारदजी ने कहा कि अच्छा अब मैं उपाय करता हूँ। यह कहकर श्रीनारदजी श्रीशुकदेवजी के पास गये और बोले—आपसा अद्वितीय वक्ता और परीक्षित-सा अधिकारी श्रोता—दोनों का संयोग दुर्लभ है। इस अवसर पर आप वहाँ पधारकर उनको कृतार्थ करें।

उधर श्रीशुकदेवजी भी आनन्दभार से भारायमान हो रहे थे अतः तुरन्त चल पड़े। उनका वेष अवधूत का था, अवस्था सोलह वर्ष की थी, सर्वाङ्ग अत्यन्त सुघर-सलोने सुगठित और सुडौल थे, श्याम वर्ण था। वे शरीर की छटा एवं मधुर मुस्कान से बड़े ही मनोहर जान पड़ते थे। बच्चों और स्त्रियों ने उन्हें घेर रखा था। वर्णन आया है कि कोई-कोई चपल बालक श्रीशुकदेवजी के ऊपर धूल, कङ्कड़ फेंक देते थे, परन्तु वे केवल मुस्करा कर रह जाते। बच्चों की देखा देखी श्रीनारदजी ने भी एक फूल फेंक दिया तो श्रीशुकदेवजी ने उनको कर्री दृष्टि से देखा। श्रीनारदजी सहम गये और पूछे कि बालकों को धूल कङ्कड़ फेंकने पर भी आप नहीं बोलते और मुझे आँख तरेरते हैं। क्या बात है? श्रीशुकदेवजी ने कहा कि नारदजी! वे तो अनभिज्ञ हैं अतः उनकी भूल क्षम्य है, परन्तु आप तो जान-बूझकर नादान बन रहे हैं। यह उचित नहीं है।

श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित को सात दिन में भागवत सुनाकर परम पद का अधिकारी बना दिया। प्राणिमात्र को परम श्रेय पथ का निर्देश करते हुए आप कहते हैं कि—

तस्मात्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्।। (भा० २-१-५)

अर्थ—इसलिये हे परीक्षित! जो अभय पद को प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा सर्व शक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। परमहंसचर्या का वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धेह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः।। (भा० २-२-४)
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।। (भा० २-२-५)

अर्थ—जब जमीन पर सोने से काम चल सकता है, तब पलंग के लिये प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ भगवान की कृपा से अपने को स्वयं ही मिली है, तब तकियों की क्या आवश्यकता। जब अञ्जली से काम चल सकता है तब बहुत से बर्तन क्यों बटोरे। जब वृक्ष की छाल पहनकर या दिगम्बर, (वस्त्रहीन) रहकर भी जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रों की क्या आवश्यकता।। पहनने को क्या रास्तों में चिथड़े नहीं हैं? भूख लगने पर दूसरों के लिये ही शरीर धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नहीं देते? जल चाहने वालों के लिये क्या नदियाँ बिल्कुल सूख गईं? रहने के लिए क्या पहाड़ों की गुफाएँ बन्द कर दी गईं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान भी अपने शरणागतों की रक्षा नहीं करते। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान लोग भी धन के नशे में चूर घमण्डी धनिकों की चापलूसी क्यों करते हैं? कीर्तन भक्ति के परमाचार्य श्रीशुकदेवजी कीर्तन की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।। (भा० १२-३-५२)

अर्थ—इसी श्लोक का भाषानुवाद करते हुए श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजामख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग।।
(रा०च०मा०)

श्री प्रह्लादजी

सुमिरन सांचो कियो लियो देखि सबही में एक भगवान कैसे काटै तरवार है।
काटिबो खडग जल बोरिबो सकति जाकी ताहिको निहारैं चहूँ ओर सों अपार है।।
पूछे ते बतायो खम्भ तहां ही दिखायो रूप प्रगट अनूप भक्तवाणी ही सों प्यार है।
दुष्ट डार्‌यौ मारि गरे आंतैं लई डारि तऊ क्रोधको न पार कहा कियो यो बिचार है।।९९।।

शब्दार्थ—सकति=शक्ति, सामर्थ्य।

भावार्थ—भक्तवर प्रह्लादजी ने सच्चे हृदय से भगवान का सच्चा स्मरण किया। उन्होंने देख लिया कि एक ही भगवान चराचर में सर्वत्र विराजमान हैं, अब भला उन्हें तलवार कैसे काट सकती थी। जिसकी शक्ति से तलवार में काटने की और जल में डुबाने की शक्ति है उसी भगवान को तलवार तथा जल में देखते थे इसलिए उन्हें तलवार कैसे काटे और जल कैसे डुबावे, वे अपने तथा संसार में चारों ओर अपार-अनन्त भगवन्त को ही देखते थे। जब हिरण्यकशिपु ने पूछा—तेरा रक्षक भगवान कहाँ हैं? प्रह्लादजी

ने कहा—वह सर्वत्र है। हिरण्यकशिपु ने कहा—तो इस खम्भे में क्यों नहीं दीखता है? प्रह्लादजी ने कहा—मुझे तो इस खम्भे में भी दिखाई पड़ता है। यह सुनकर उसने क्रोधवश खम्भे में बड़े जोर से घूसा मारा। तब खम्भे से प्रकट होकर भगवान ने अपना अनुपम रूप दिखाया क्योंकि भगवान को तो भक्तवाणी से ही प्यार है। फिर भगवान ने हिरण्यकशिपु को मार डाला, उसके पेट को फाड़कर उसकी आँतें अपने गले में डाल लीं। फिर भी आपका क्रोध शान्त नहीं हुआ। पता नहीं, अब और कौन सा कार्य करने का विचार है।।९९।।

व्याख्या—जिस समय भगवान विष्णु से भाई हिरण्याक्ष के वध का बदला लेने के लिये अमरत्व की कामना से हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था, उस समय इन्द्र की प्रेरणा से दो ऋषि पक्षी का वेष धारण करके उसके पास आये और 'नमो नारायणाय' का उच्चारण करने लगे। दो चार बार सहन करने के पश्चात् उसे क्रोध आ गया और वह धनुष बाण उठाकर उन्हें मारने दौड़ा। वे पक्षी तो मिले नहीं, परन्तु क्रोध होने से तपस्या में विघ्न पड़ गया। हिरण्यकशिपु घर लौट आया और पत्नी से उसने समाचार कहा—कहते समय नारायण मन्त्र का उच्चारण किया। उसका प्रभाव गर्भ पर पड़ा इसी से प्रह्लाद जैसे भक्त कयाधू के गर्भ में आये। पत्नी की प्रेरणा से हिरण्यकशिपु पुनः तप करने चला गया। (सत्कथाङ्क)

हिरण्यकशिपु के चले जाने पर देवताओं को अवसर मिला, उन्होंने दैत्यों की राजधानी पर आक्रमण कर दिया। उत्साहदायक नायक के अभाव में दैत्यों का साहस छूट गया और वे प्राण बचाकर दिशा-विदिशाओं में भाग गये। देवताओं ने दैत्येन्द्रपुरी को मन माना लूटा और देवराज इन्द्र ने हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधू को बन्दी बना लिया। दैववश देवर्षि नारदजी उधर आ निकले और देखा कि सुरराज बलात् दैत्यराज की पत्नी को स्वर्ग लिये जा रहे हैं, उन्होंने कहा—सुरपते! इस निरपराध सती-साध्वी अबला का तिरस्कार मत करो, इसे छोड़ दो, तुरन्त दोड़ दो। इन्द्र ने कहा—इसके पेट में देव द्रोही हिरण्यकशिपु का अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है। प्रसव पर्यन्त यह मेरे पास रहेगी, बालक हो जाने पर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूँगा। श्रीनारदजी ने कहा—इसके गर्भ में भगवान का परम प्रेमी भक्त, अत्यन्त बलवान और निष्पाप महात्मा है। तुममें उसको मारने की शक्ति नहीं है। श्रीनारदजी के वचन का विश्वास कर इन्द्र ने कयाधू को छोड़ दिया और भक्त जननी जानकर उसकी परिक्रमा करके स्वर्ग चले गये।

श्रीनारदजी कयाधू को अपने आश्रम पर लिवा ले गये और कहे कि जब तक तुम्हारा पति तपस्या करके घर लौट नहीं आता है तब तक तुम यहीं रहो। कयाधू ऋषि की आज्ञा शिरोधार्य कर वहीं रहने लगी। परम दयालु श्रीनारदजी ने गर्भस्थ भक्त बालक को लक्ष्य करके कृपा करके उसे भागवत धर्म का रहस्य और विशुद्ध ज्ञान दोनों का उपदेश दिया। फलस्वरूप कयाधू को तो कालान्तर में वह ज्ञानोपदेश भूल गया परन्तु प्रह्लाद को उसकी स्मृति सदैव बनी रही। ये गर्भ से ही भगवान का स्मरण करते रहे। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि सुमिरन साँचो कियो०। यहाँ एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि माता की जीवनचर्या का गर्भस्थ शिशु पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। सात्विक वातावरण में रहकर मुनि का उपदेश सुनने वाली दैत्य पत्नी कयाधू का गर्भस्थ बालक भी सात्विक संस्कारों से युक्त हो गया। दृष्टान्त सुभद्रा का—जब इनके गर्भ में अभिमन्यु थे, उस समय श्रीअर्जुनजी इन्हें वीरता की, युद्ध कौशल की ओज पूर्ण कथायें सुनाया करते थे। उसी प्रसंग में अर्जुन ने इन्हें चक्रव्यूह भेदन रहस्य भी सुनाया था, जिसका संस्कार वीर अभिमन्यु को गर्भ में ही पड़ गया था जो कि आगे चलकर महाभारत के युद्ध में काम आया।

हिरण्यकशिपु के तप से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उसे वरदान दिया। वह लौटकर अपने घर आया। यथावसर मङ्गल मुहूर्त में कयाधू ने भक्त शिरोमणि प्रह्लाद को जन्म दिया। दैत्य बालक होकर भी प्रह्लादजी दैवी सद्‌गुण सम्पत्ति से युक्त थे वे बड़े ही सन्तसेवी थे, ब्राह्मण-भक्त, सौम्यसुभाव, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय और सर्वभूत सुहृद थे। इनके गुणों पर मुग्ध होकर भगवान वेदव्यासजी लिखते हैं कि जैसे भगवान के गुण अनन्त हैं, वैसे ही प्रह्लाद के श्रेष्ठ गुणों की भी कोई सीमा नहीं है। भगवान श्री कृष्ण के परमानुग्रह भाजन श्री प्रह्लादजी बचपन से ही खेल-कूद छोड़कर भगवान के ध्यान में तन्मय हो जाया करते थे। हर समय 'श्रीहरि' 'नारायण' 'कृष्ण' 'गोविन्द' आदि नामों का उच्चारण करते हुए प्रेम में विभोर रहा करते थे। दैत्यों की प्रकृति के प्रतिकूल इनके इस आचरण को देखकर हिरण्यकशिपु शङ्कित हुआ और समझा-बुझाकर अपने स्वभाव के अनुकूल बनाने का सामान्य प्रत्यन्त भी किया परन्तु जब उसका कोई भी प्रभाव पड़ते न देखा तो उसने गुरु शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड और अमर्क को बुलाकर विधिपूर्वक उपनयन संस्कार कराकर गुरुकुल में ले जाकर आसुर-धर्म-कर्म की शिक्षा देने का आदेश दिया। श्रीप्रह्लादजी अब नित्य प्रति पाठशाला में पढ़ने जाने लगे।

एक दिन प्रह्लाद गुरुकुल में जा रहे थे। रास्ते में एक कुम्हार का घर पड़ता था। प्रह्लाद ने देखा कुम्हारी हाथ में तुलसी की माला लिये हुये 'राम-राम' कहती हुई अवां की परिक्रमा कर रही थी। श्रीप्रह्लादजी को उसका यह कर्म कुछ अस्वाभाविक सा लगा अतः पूछ ही बैठे। कुम्हारी ने कहा—दैत्येन्द्र नन्दन! मेरे कच्चे बर्तनों के ढेर में एक बिल्ली ने बच्चा दिया था, मैंने सोचा था कि इनका अवां लगाते समय मैं उस पात्र को बचा दूँगी, जिसमें बिल्ली के बच्चे हैं, परन्तु रात्रि में अवां लगाते समय मुझे इस बात का ध्यान नहीं रहा। वह घड़ा भी अवे में लग गया। जब अवाँ की आग धधकी तो मुझे इस बात का स्मरण हुआ, परन्तु अब तो सिवा भगवान के स्मरण के और कोई उपाय सम्भव नहीं और न सफल ही हो सकता है अतः मैं उन बिल्ली के बच्चों की प्राण रक्षा के लिये श्रीराम-नाम का स्मरण कर रही हूँ। भगवान के नाम की अनन्त महिमा है। यथा—

सोच संकटनि सोच संकट परत जर जरत प्रभाव नाम ललित ललाम को।
बूड़िऔ तरति बिगरी औ सुधरति बात होत देखि दाहिनो सुभाउ विधि बाम को।।
भागत अभाग अनुरागत विराग भाग जागत आलसी तुलसीहू से निकाम को।
धाई धारि फिरि के गोहारि हितकारी होति आई मीचु मिटति जपत राम नाम को।। (कवितावली)

श्रीप्रह्लादजी ने अपने बाल स्वभाव वश कहा—कुम्हारी! मेरे पिताजी तो कहते हैं कि भगवान मैं ही हूँ। यथा—ईश्वरोऽहं.........(गीता) समस्त देवी-देवता तक मुझसे भय खाते हैं। तब तू उन्हें छोड़कर दूसरे भगवान को क्यों भजनती है? कुम्हारी ने कहा—आपके पिता अपने मन से बने बनाये नकली भगवान हैं। आपके पिता में यह सामर्थ्य नहीं कि जलती हुई अवां की अग्नि से बिल्ली के बच्चों को बचा सकें। यह सामर्थ्य तो एक मात्र परम पिता परमात्मा में ही है और वह परमात्मा हैं भगवान श्रीराम। कुम्हारी का उत्तर बड़ा ही निर्भीकता पूर्ण है। वह यह डर नहीं करती कि अपने पिता की अवज्ञा पर कहीं राजकुमार रुष्ट न हो जायँ, राजा अप्रसन्न न हो जायँ। वह तो प्रभु विश्वास के बल पर निर्भय हो गई है। यथा—'तुलसिदास रघुवीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै।' निर्भय होना दैवी सम्पत्ति का प्रथम गुण

रत्न है। यथा—'अभयं सत्वसंशुद्धि....।' (गी०) कुम्हारी के वचन सुनकर श्रीप्रह्लादजी की श्रीराम में बड़ी निष्ठा हो गई, साथ ही यह भी कहे कि कुम्हारी! अवां मेरे सामने खोला जाय। यदि तुम्हारी बात सत्य हुई तो मैं भी तुम्हारी तरह श्रीरामभक्त बन जाऊँगा अन्यथा पिताजी से तुमको दण्ड दिलाऊँगा, जो तुमने, उनके राज्य में रहकर भी उनके लिये अपमान के वचन कहा है। कुम्हारी के विश्वास की विजय हुई। भगवत्कृपा से बिल्ली के बच्चे जीवित निकले। उनको किञ्चित मात्र भी आँच नहीं लगी थी। भक्त प्रह्लाद की निष्ठा और भी दृढ़ हो गई।

परम प्रतिभाशाली प्रह्लाद गुरुजी का पढ़ाया हुआ पाठ पढ़ लेते पूछने पर ज्यों का त्यों सुना देते परन्तु वह पाठ उनको रुचता नहीं। वे तो स्वयं एवं साथ के दैत्य बालकों को भी लेकर अपना अधिकांश समय भगवत्स्मरण-चिन्तन में ही बिताते थे। एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को बड़े प्रेम से गोद में लेकर पूछा— बेटा! बताओ तो सही, तुम्हें कौन सी बात अच्छी लगती है? प्रह्लादजी ने कहा—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वा ऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरि माश्रयेत।। (भा० ७-५-५)

अर्थ—पिताजी! संसार के प्राणी 'मैं' और 'मेरे' के झूठे आग्रह में पड़कर सदा ही अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। ऐसे प्राणियों के लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने अधःपतन के मूल कारण, घास से ढके हुए अँधेरे कुएँ के समान इस घर को छोड़कर वन में चले जायँ और भगवान श्रीहरि की शरण ग्रहण करें। यह सुनकर हिरण्यकशिपु हँस गया और बोला जान पड़ता है कि गुरुजी के घर पर विष्णु के पक्षपाती कुछ ब्राह्मण वेष बदलकर रहते हैं। वे बालकों को बहका देते हैं, तभी यह बालक इस प्रकार बोल रहा है। हिरण्यकशिपु ने शण्डामर्क को सावधानी रखने की आज्ञा देकर प्रह्लाद को पुनः गुरुकुल भेज दिया। अब की बार शण्डामर्क ने बड़े मनोयोग से प्रह्लाद को राजनीति का अध्ययन कराया जिससे इनकी पारमार्थिक बुद्धि पर स्वार्थ का आवरण पड़ जाय।

कुछ दिन बाद जब गुरुजी ने देखा कि प्रह्लाद ने साम, दाम, दण्ड, भेद सम्बन्धी सारी बातें जान ली हैं तब वे उन्हें लेकर प्रथम उनकी माँ के पास गये। माँ ने बड़ा प्यार किया और सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाकर पिता के पास भेजा। विनयावनत होकर चरणों में प्रणाम करते हुए पुत्र को उठाकर दैत्येन्द्र ने हृदय से लगा लिया, शिर सूँघा, आशीर्वाद दिया और आनन्द में भरकर पूछा—बेटा प्रह्लाद! अपने अधीत विषयों में से कोई अच्छी बात हमें सुनाओ। प्रह्लादजी ने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्ति श्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।। (भा० ७-५-२३-२४)

पिताजी! श्रवण, कीर्तनादि भेद से जो भगवान की नवधा भक्ति है, यदि यह भगवान के प्रति समर्पण भाव से की जाय तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन मानता हूँ। यह सुनकर हिरण्यकशिपु के क्रोध का पारावार नहीं रहा। और उसने गुरुपुत्रों को बहुत डाँटा कि तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो अतः साधु ब्राह्मणों का पक्ष करते हो। मेरी किञ्चित् भी परवाह न करके मेरे पुत्र को तुमने सर्वथा निस्सार शिक्षा दी है। पुरोहित पुत्रों ने सौ-सौ सौगन्ध खाकर कहा कि आपका बालक न तो हमारे बिगाड़ने से बिगड़ा है न अन्य के बिगाड़ने से इसका तो यह जन्म जात स्वभाव है। व्यर्थ में हमें दोष न लगाइये।

जब हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादजी से इस सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने पुनः भगवत्तत्व का निरूपण करते हुये पिता से भी भगवद्भजन करने का अनुरोध किया। इतना सुनना था कि क्रोधान्ध हिरण्यकशिपु ने पुत्रस्नेह को तिलाञ्जलि देकर प्रह्लाद को अपनी गोद से उठाकर भूमि पर पटक दिया और अपने आज्ञाकारी असुरों से उन्हें मार डालने को कहा। असुरराज के आदेश से दुर्दान्त दैत्यों ने श्रीप्रह्लादजी को मारने के लिये विविध उपाय किये परन्तु सब व्यर्थ गये, जैसे भाग्य हीन के सब उद्योग धन्धे व्यर्थ हो जाते हैं।

यथा— **पासनि सो बाँधि कै अगाध नीर बोर राखे तीर तरवारन सों मारि मारि हारे हैं।**
गिरि ते गिराइ दियो डरपे न नेकु तब मदमतवारे भारे हाथी तर डारे हैं।।
फेरे सिर आरे लै अगिनि मांझ जारे और पूँछ मीड़ गातन लगाये नाग कारे हैं।
भाँवते के प्रेम में मगन कछू जानैं नाहिं ऐसे प्रह्लाद पूरे प्रेम मतवारे है।।

तथा— **व्याल कराल महा विष पावक मत्त गयन्द हुँ के रद तोरे।**
साँसति संकि चली डरपे हुते किंकर ते करनी मुख मोरे।।
नेकु विषाद नहीं प्रह्लादहिं कारन केहरि के बल होरे।
कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि है राम तो मारि है को रे।। (कवितावली)

पर्वत भेदी अस्त्र-शस्त्र भक्त के शरीर का स्पर्श होते ही टुकड़े-टुकड़े हो गये, मतवाले हाथियों ने कुचलने के बजाय सूँड़ से उठाकर सिर पर बिठा लिया, विषधर सर्प गले की हारमाला बन गये, मृगेन्द्र श्वानवत् पूँछ हिलाते हुए चरणों में लोट गये, शूली, सिंहासन हो गयी, पर्वत से गिराये जाने पर कठोर पृथ्वी कोमल सुमन शय्या हो गई, पर्वत के नीचे दबाये जाने पर पहाड़ फूलों की गेंद हो गये। लाखों मन लकड़ियों के ढेर में अग्नि लगाई गई। लपटें आकाश चूम रही थीं। हिरण्यकशिपु की बहन होलिका जिसे अग्नि में न जलने का वरदान मिला था। अग्नि स्तम्भन विद्या जानती थी। वह इन्हें गोद में लेकर बैठी अग्नि-महल के बीच परन्तु आश्चर्य, होलिका भस्म हो गई और प्रह्लाद के लिये हुतवहज्वाला चन्दन पङ्क बन गई। हिरण्यकशिपु हक्का-बक्का सा देख रहा था। उससे रहा नहीं गया, उसने पूछा—प्रह्लाद तुम्हें ताप नहीं लग रहा है? प्रह्लादजी ने कहा—

रामनाम जपतां कुतोभयं सर्वतापशमनैक भेषजम्।
पश्य तात! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।।

अर्थ—हे पिताजी! समस्त तापों की एक महौषधि श्रीरामनाम को जपने वाले को भय कहाँ? आप स्वयं देख लें, मेरे शरीर के समीप आकर अग्नि भी शीतल हो जाता है। विष मिश्रित भोजन अमृत भाव को प्राप्त हो गया। वर्णन आया है कि हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अंधेरी कोठरी में बन्दकर दिया और खाना-पीना भी बन्द करा दिया। उस समय वैकुण्ठ में जब श्रीलक्ष्मीजी भगवान को भोजन परोस कर लाईं तो भगवान ने पाने से इन्कार कर दिया। पूछने पर बोले कि मेरा प्रिय भक्त भूखा है तो मैं भला कैसे खा सकता हूँ? यह कहते-कहते भगवान के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये और लक्ष्मीजी को साथ लेकर भोग का थाल लिये हुये प्रह्लादजी के पास आये। उस समय वे ध्यानावस्थित थे। प्रभु ने स्वयं

चैतन्य कर उन्हें अपनी गोद में बिठाकर प्रसाद पवाया। भक्त युगल सरकार का दर्शनकर एवं उनके श्रीकर कमल से परम दिव्य प्रसाद पाकर कृतार्थ हो गया। हिरण्यकशिपु के दण्ड को वरदान माना।

असुर राज ने एक दूसरा उद्योग किया। अग्नि से तपाकर लाल किये हुये लौह स्तम्भ में प्रह्लादजी को बाँधने की आज्ञा असुरों को दे दी। प्रह्लाद को स्तम्भ के सम्मुख खड़ा कर दिया। उन्होंने एक बार खम्भे पर दृष्टिपात किया तो देखा कि एक चींटी उस पर चढ़ी चली जा रही है। भक्त का हृदय उमड़ पड़ा, भगवान की कृपा का साक्षात्कार कर। वे 'प्यारे-प्यारे, कहते हुए स्वयं उस स्तम्भ से जा लगे मानो साक्षात् भगवान से भेंट रहे हों। हिरण्यकशिपु ने अनेक मायावादी दैत्यों से माया का प्रयोग कराया, परन्तु वे सब व्यर्थ गईं उलटे उन दुष्टों को ही जा लगी। तभी तो कहा गया कि—'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परै सुरराया।।' अपने समस्त प्रयत्न व्यर्थ जाने पर हिरण्यकशिपु ने पुरोहित से कहा—

त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः।
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरम्।। (विष्णु पुराण)

अर्थ—अरे अरे पुरोहितों! जल्दी करो, जल्दी करो, इसके नष्ट करने के लिये कृत्या को उत्पन्न करो। अब देरी न करो। पुरोहितों ने एक बार पुनः प्रह्लादजी को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई प्रभाव पड़ता न देखकर क्रोधित होकर आग की भयानक लपटों के समान प्रज्वलित शरीर वाली कृत्या को उत्पन्न किया। परन्तु क्या—'सीम किचांपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।। (रामा०) कृत्या प्रह्लाद के दुर्धर्ष वैष्णव तेज से पराभूत होकर लौटी और उसने स्वप्रयोग कर्ता शण्डामर्क को ही मार डाला। सर्वभूत सुहृद श्रीप्रह्लादजी भला अपने गुरुजनों का अमङ्गल कैसे देख सकते थे। उन्होंने इनकी प्राण रक्षा के लिये तत्काल भगवान से प्रार्थना की कि हे प्रभो! यदि मैं प्राणीमात्र में आपका दर्शन करता होऊँ, तो मेरे इस सत्य के प्रभाव से ये पुरोहित जीवित हो जायँ यह कहकर प्रह्लादजी ने उनका स्पर्श किया। वे तुरन्त जीवित हो गये और गद्‌गद होकर कृतज्ञता पूर्ण हृदय से आशीर्वाद देते हुये बोले—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्य समन्वितः। पुत्र पौत्रधनैश्वर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तमः।। (वि० पु०)

अर्थ—वत्स! तू परम श्रेष्ठ है। तू दीर्घायु हो। अप्रतिहत हो, बलवीर्य से, पुत्र पौत्रादि से एवं धनैश्वर्यादि से सम्पन्न हो।

हिरण्कशिपु चिन्तित हो उठा अपने प्रयत्नों को विफल होते देखकर। पुरोहित पुत्रों ने समझाया कि प्रायः अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ गुरुजनों की सेवा से बुद्धि सुधर जाया करती है अतः इस बालक को वरुणपाश से आबद्ध कर पुनः पाठशाला भेजा जाय। असुरेन्द्र ने अनुमति दे दी। पुरोहित श्रीप्रह्लादजी को पुनः अर्थ, धर्म, काम—इन तीन पुरुषार्थों की शिक्षा देने लगे परन्तु भक्त शिरोमणि तो अपनी राम-धुन में ही लगे रहते। अध्ययन काल में बीच-बीच में अवकाश मिलने पर जब दैत्य बालक प्रह्लाद को खेलने के लिए बुलाते तो ये अपनी अमृतोपम वाणी से स्वयं आकर्षित कर अपने पास बुलाकर भगवद् भजन का उपदेश देने लगते। यथा—

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रु वमर्थदम्।। (भा० ७-६-१)

अर्थ—मित्रो! इस संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को बचपन में ही भगवान की प्राप्ति कराने वाले साधनों का अनुष्ठान कर लेना चाहिये। लौकिक सुख तो प्रारब्ध के अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलते रहते हैं जैसे बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये, निवारण करने पर भी दु:ख मिलते हैं। इसलिये व्यर्थ ही आयु का व्यय करने वाले सांसारिक सुखों का प्रयत्न छोड़कर अपने-अपने हृदय में विराजमान हृदयेश्वर भगवान का भजन करो। प्रह्लादजी का प्रवचन सुनकर दैत्य बालकों ने उसी समय से, निर्दोष होने के कारण उनकी बात पकड़ ली।

एक दिन गुरुजी गृहस्थी के काम से कहीं बाहर गये हुये थे, बालकवृन्द प्रह्लाद को घेरकर बैठ गये और बोले—मित्रवर! तुम्हारी बातें हमें बड़ी अच्छी लगती हैं। कुछ सुनाओ तो। श्रीप्रह्लादजी ने भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य का नख-शिख वर्णन कर दैत्य बालकों को इसी स्वरूप का ध्यान करने को कहा। फिर क्या था? सबने भीतर से पाठशाला की किवाड़ें बन्द कर ली और अपने-अपने आसन पर सिद्धासन से बैठकर भगवान का ध्यान करने लगे। थोड़ी ही देर बाद सबको समाधि लग गई। उधर जब गुरु शण्डामर्क आये तो उन्होंने पाठशाला में सन्नाटा देखा। बड़े विचार में पड़े कि आखिर बात क्या है जो कि बच्चे पाठ नहीं याद कर रहे हैं। जब निकट आये तो देखे कि भीतर से जंजीर बन्द है, खिड़की की राह से झाँककर देखा तो सब समाधिस्थ थे। सोचे कि अच्छा मौका है, चलकर दैत्येन्द्र को दिखाऊँ कि देखिये प्रह्लाद अपने तो बिगड़े ही हैं सखाओं को भी बिगाड़ दिये। इनकी दृष्टि में भक्ति करना, जप-ध्यान करना बिगड़ना है। यथा—'मीरा गिरधर हाथ विकानी लोग कहैं बिगड़ी।' पुरोहितों ने दरबार में आकर शिकायत किया। हिरण्यकशिपु ने देखने के लिये अपने प्रधानमन्त्री को भेजा।

उधर प्रह्लादजी की समाधि खुली, तब इन्होंने सबको चैतन्य किया और बोले कि भाइयो! अब मेरा विचार है कि हम सब लोग मिलकर कीर्तन करें। बालकों ने सहर्ष प्रस्ताव का समर्थन किया और ताली बजा-बजाकर नृत्यपूर्वक कीर्तन करने लगे। अद्भुत सुख मिला। 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।' की मङ्गलध्वनि से सम्पूर्ण नगर गुञ्जायमान हो उठा। इतने में हाथी पर सवार होकर प्रधानमन्त्री आया। परन्तु यह क्या? कीर्तन सुनकर हाथी के भी पैर थिरक उठे और वह भी प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगा। मन्त्री भी कीर्तन के प्रभाव से वंचित नहीं रहा, उसे भी ऐसा प्रेमरङ्ग लगा कि हाथी से उतरकर लाज-संकोच छोड़कर नाच-नाचकर कीर्तन करने लगा। जब बहुत देर हुई और मन्त्री महोदय नहीं लौटे तो हिरण्यकशिपु ने दूसरे-तीसरे-चौथे-इस प्रकार क्रमशः कई कर्मचारियों को भेजा परन्तु सबकी वही दशा।

किसी ने जाकर दरबार में जब यह सूचना दी तब वह असुर-शिरोमणि स्वयं ही सबका निरीक्षण करने चला कि देखें तो कैसा है कीर्तन का जादू? कहावत है—'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोलै' कीर्तन की ध्वनि कान में पड़ते ही हिरण्यकशिपु का मनमयूर भी मचल उठा नाच-नाचकर कीर्तन करने को। असुर को अपने आप पर ही सन्देह होने लगा और वह तुरन्त ही वहाँ से भाग खड़ा हुआ कि कहीं मेरी भी यही दशा न हो जाय। इस पर दृष्टान्त मथुरा के चौबों का—देखिये छीत स्वामी का प्रसंग (छप्पय १४६) उसने समझ लिया कि निश्चय ही इस समय कीर्तन का प्रभाव बड़े जोर का है, जो भी आयेगा,

अवश्यमेव प्रभावित हो जायगा। अभागा कान बन्द कर वहाँ से भागा। श्रीप्रह्लादजी ने संग के सखाओं से कहा—भैया! मेरे पिताजी के डर से कोई भगवान का नाम नहीं लेता तो चलो हम लोग आज नगर कीर्तन करें। इससे बहुत लोग तो भय छोड़कर नाम लेने लगेंगे और जो नहीं भी लेंगे वह सुनेंगे तो। भगवान का नाम तो सुनने से भी लाभदायक है। यथा— 'जाकर नाम सुनत सुभ होई।' कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके।' बालकों ने बड़े उत्साह से नगर कीर्तन किया। पूरा शहर कीर्तनमय हो गया परन्तु जब कीर्तनकारी असुर राज के महल के समीप पहुँचे तो उनकी हिम्मत छूट गई। बालको को भयभीत जानकर प्रह्लादजी ने उनको हृदय से लगाकर विदा कर दिया और स्वयं भी शान्तिपूर्वक घर चले गये।

अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर चुपचाप सन्मुख खड़े प्रह्लादजी से हिरण्यकशिपु ने कड़ककर पूछा—मूर्ख बालक! मेरे तनिक से क्रोध करने पर लोकपाल भी काँप उठते हैं फिर तूने किसके बलबूते पर निडर की तरह मेरी आज्ञा के विरुद्ध काम किया है? प्रह्लादजी ने सर्वशक्तिमान भगवान की अचिन्त्य शक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए पिता से क्रोध परित्याग की प्रार्थना किया। अपने पुत्र की इन स्वभाव विरुद्ध बातों को सुनकर दुष्ट दैत्य ने निश्चय कर लिया कि इसे अब अपने ही हाथों से मार डालना चाहिए। फिर तो दाँत पीसकर बोला मूढ़मते! मैं तेरा वध करूँगा। कहाँ है वह तेरा सहायक ? वह अब तुझे आकर बचाये तो जानूँ। प्रह्लाद—मैं आपसे पूछता हूँ कि वह कहाँ नहीं हैं? यथा—'देस काल दिसि विदिशहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाही।। हरि व्यापक सर्वत्र समाना। (रामा०) वह तो जैसे हममें हैं वैसे ही आप में भी वर्तमान है और वैसे ही आपकी इस खड्ग में तथा सर्वत्र व्याप्त हैं। हिरण्य:—तो क्या वह इस खम्भे में भी है? प्रह०—हाँ।

इतना सुनते ही वह दुष्ट हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और बड़े जोर से उस खम्भे में घूँसा मारा। भक्त के वचन को पूर्ण करने के लिए भक्तवत्सल भगवान खम्भ से ही प्रकट हो गये। विशेष देखिये छप्पय ५ श्रीनृसिंहावतार की कथा। श्रीप्रियादासजी कहते हैं—'भक्तवाणी ही सों प्यार है'—भगवान ने चारों युगों में भक्तों के वचन को सत्य किया है। देखिये छप्पय ५२। भक्त के वचन को रखने के लिए भगवान प्रह्लाद की ऊँगली के इशारे पर नाचे। प्रह्लाद ने ऊँगली के संकेत से कहा था कि भगवान हममें, तुममें, खड्ग में और खम्भ में अर्थात् सबमें हैं, तो भगवान भी जहाँ-जहाँ भक्त की ऊँगली जाती वहीं-वहीं से प्रगट होने के लिये तैयार हो जाते। क्योंकि भक्त वाणी०।

दुष्ट डार्‌यौ मारि—हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से ऐसा वरदान माँग लिया था कि मृत्यु के लिये किंचित् अवकाश ही नहीं रह गया था परन्तु परम प्रवीण प्रभु ने मार्ग निकाल ही लिया। उसने माँगा था—न जमीन पर मरूँ न आकाश में, तो भगवान ने अपनी जाँघों पर गिरा लिया। उसने माँगा था—न दिन में मरूँ न रात में। भगवान ने संध्या समय में मारा। उसने माँगा था—न मनुष्य से मरूँ न पशु से। भगवान ने नृसिंह रूप धारण कर मारा। उसने माँगा था—मैं आपकी सृष्टि के प्राणियों से न मरूँ तो भगवान 'आप प्रगट भये विधि न बनाये।' उसने माँगा था—न मैं सूखे आयुधों से मरूँ न गीले से। भगवान ने नखों से विदीर्ण कर डाला, नख न सूखे ही कहते बनते हैं क्योंकि बढ़ते हैं, न गीले ही कहते बनते हैं क्योंकि काटने में कष्ट नहीं होता है। उसने माँगा था—मैं बारह महीनों में नहीं मरूँ। भगवान ने उसे पुरुषोत्तम मास में मारा। भगवान ने उसे सभी वरदान सुरक्षित रखते हुए उसे मारा अपनी बात के समर्थन में उसी से हामी

भरवाकर मारा। उससे पूछे—देखो तुम्हारी कोई शर्त अधूरी तो नहीं रहीं? उसने कहा—नहीं भगवान ने कहा—अब मार डालूँ तो कोई हर्ज तो नहीं। उसने 'मौनं सम्मति लक्षणम्' मौन से स्वीकृति दे दी।

गरे आँतैं लई डारि—कारण १—सिंह स्वभाव, २—भागवत अपराध के कारण क्रोधवश। ३—इस शरीर से भक्तशिरोमणि का जन्म हुआ है। इस नाते से भी, ४—भगवान के आँत निकालने का एक हेतु यह भी है कि कहीं इन आँतों में कोई और प्रह्लाद तो बीज रूप में नहीं है। तत्पश्चात् श्रीनृसिंह भगवान हिरण्यकशिपु की राजसभा में ऊँचे सिंहासन पर जाकर विराजमान हो गये। सिंहासन पर बैठकर भगवान ने आसुरी सम्पदा का शोधन किया। इस पर बैठकर हिरण्यकशिपु ने न जाने कौन-कौन से अत्याचार किये थे। तो भला इसकी शुद्धि किये बिना इस पर कैसे अपने भक्त को बैठाते। अतः प्रथम स्वयं बैठकर उसकी शुद्धि कर दी। पुनः भक्त तो प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं, अतः बैठकर उसे प्रसाद बना दिया। 'अब भोगे रोग भयं' वाली समस्या नहीं रही। 'क्रोध को न पार'—यद्यपि दुष्ट मार डाला गया परन्तु प्रभु का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ। बात यह है कि बड़ों को प्रथम तो क्रोध होता नहीं और जब होता भी है तो उनके स्वरूपानुरूप क्रोध भी बहुत होता है, और वह जल्दी शान्त नहीं होता है। 'कहा कियो यों विचार है'—भगवान ने विचार किया था कि हिरण्यकशिपु के साथ ही सारी सृष्टि को भी समाप्त कर दूँ और पुनः अब सृष्टि रचना नहीं करूँगा। क्योंकि संसारी लोग हमारे भक्तों को कष्ट देते हैं। ब्रह्मादिक सृष्टि के अधिकारियों को चिन्ता पड़ गयी कि तब तो हमारा अधिकार, पद, महकमा आदि ही खत्म हो जायेगा। फिर तो ब्रह्मादि सभी लोकपाल, दिग्पालों ने भगवान की पृथक्-पृथक् स्तुति की परन्तु तब भी क्रोध शान्त नहीं हुआ।

डरे शिव अज आदि देख्यो नहीं क्रोध ऐसो आवत न ढिंग कोऊ लछिमी हूँ त्रास है।
तब तो पठायो प्रहलाद अहलाद महा अहो भक्ति भाव पग्यो आयो प्रभु पास है।।
गोद में उठाइ लियो शीस पर हाथ दियो हियो हुलसायो कही वाणी विनयरास है।
आई जग दया लगि पर्‌यौ श्रीनृसिंहजू को अर्‌यो यों छुटावो कर्‌यो माया ज्ञान नास है।।१००।।

शब्दार्थ—अहलाद=आनन्द, सुख। लगि पर्‌यौ=उलझ पड़े, अरुझि गए। अर्‌यो=हठ कियौ।

भावार्थ—नृसिंह भगवान के अति भयंकर रूप को देखकर ब्रह्माजी आदि सभी देवगण भयभीत हो गए। उन्होंने आज तक ऐसा क्रोध नहीं देखा था। डर के मारे कोई भी उनके समीप नहीं आता था। यहाँ तक कि लक्ष्मीजी को भी उनके पास आने में भय लगता था। तब ब्रह्माजी ने उनका क्रोध शान्त करने के लिए प्रह्लादजी को उनके समीप भेजा। नृसिंहजी के दर्शनों से प्रह्लादजी को अति प्रसन्नता हुई, वे भक्ति भाव में निमग्न नृसिंहजी के पास पहुँचे। भगवान ने प्रह्लाद को गोद में उठा लिया और उनके सिर पर हाथ फेरा। प्रभु के करकमल का कोमल स्पर्श पाकर उनका हृदय आनन्दित हो गया। वे विनम्रता पूर्वक प्रभु की स्तुति करने लगे। फिर 'वर माँगो' ऐसा नृसिंह भगवान के कहने पर प्रह्लादजी को संसारी जीवों पर दया आ गई। उन्होंने भगवान के श्रीचरणों में लगकर यह वर माँगा कि—आप माया से बँधे जीवों को छुड़ाइये। माया ने ही लोगों के ज्ञान का नाश कर दिया है। इस वर को पाने के लिए प्रह्लादजी ने मचलकर हठ किया।।१००।।

व्याख्या—लछिमी हूँ त्रास है—श्रीशिव ब्रह्मादिकों ने श्रीनृसिंह भगवान का क्रोध शान्त करने के लिए श्रीहरिप्रिया लक्ष्मीजी का आश्रय लिया। देवताओं के कहने पर श्रीलक्ष्मीजी मनाने के लिए आईं तो, परन्तु श्रीनृसिंह भगवान ने एक घुड़की इनको भी दिया और कर्री दृष्टि से देखा। इसलिये कि यह सब खुराफात तुम्हारे ही कारण हुई है। मेरे भक्त को इतना दु:ख भोगना पड़ा। पार्षदों को मेरे हाथ से मरना पड़ा आदि। लक्ष्मीजी भगीं। कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन आता है कि श्रीलक्ष्मीजी ने डर के मारे यह कहकर इनकार कर दिया कि मेरे पति तो भगवान विष्णु हैं फिर मैं नृसिंहजी के पास कैसे जाऊँ? तब अन्त में सब लोगों ने श्रीप्रह्लादजी को ही प्रभु के पास भेजा। श्रीप्रह्लादजी बड़े ही आनन्दित हो भक्ति भाव से भरकर प्रभु के पास आये। अरे भाई! सिंह अन्य के लिए चाहे जितना भयानक हो परन्तु सिंह-शावक को भला सिंह से क्या भय? यही कारण है कि जहाँ ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी तक को त्रास है वहाँ बालक प्रह्लाद अति ही निर्भय हैं।

गोद में उठाइ लियो—जैसे वात्सल्यरस पूर्ण पिता अपने लाड़िले बेटा को देखते ही गोद में उठा लेता है। श्रीरामनाम लेने पर हिरण्यकशिपु ने खीझकर इन्हें गोद से फेंक दिया था तो कृपा करके जगत पिता ने अपनी गोद में उठाकर सम्मान किया। प्राकृत गोद छूटी तो अप्राकृत गोद मिली—'सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।' भगवान ने बड़ा प्यार किया श्रीप्रह्लादजी का। श्रीप्रह्लादजी भी अबोध बालक की तरह श्रीनृसिंह भगवान की दाढ़ी मूँछ पकड़ लेते, उनको खींचते, मुँह खोलकर दाढ़ें गिनने लगते, गले में हाथ डालकर झूल जाते—ऐसी विविध बाललीला करते। भगवान ने पूछा—प्रह्लाद! तुझे डर नहीं लगता है? प्रह्लादजी ने कहा—प्रभो! आपके इस भयानक मुख, लपलपाती हुई जिह्वा, सूर्य के समान तेजस्वी नेत्र, चढ़ी हुई भौहों, पैनी दाढ़ों, आँतों की माला, खून से लथपथ गरदन के बालों, बर्छे की तरह सीधे खड़े कानों, दिग्गजों को भी भयभीत करने वाले सिंहनाद एवं शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले आपके इन नखों को देखकर मुझे तो तनिक भी भय नहीं हो रहा है। यथा—

नाहं विभेम्यजित तेऽति भयानकास्यजिह्वार्क नेत्रभृकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात्।
आन्त्रस्त्रजः क्षतजकेसर शङ्कुकर्णान्निर्ह्रादभीत दिगिभादरिभिन्नखाग्रात्।। (भा० ७-९-१५)

श्रीप्रह्लादजी ने बड़ी विनम्रतापूर्वक भगवान की बड़ी स्तुति की। प्रभु ने प्रसन्न होकर मनभावता वर माँगने को कहा परन्तु प्रह्लादजी ने बालक होने पर भी वर-याचना को प्रेम-भक्ति में विघ्न समझकर भगवान से कहा—प्रभो! जो सेवक अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये आपकी सेवा करता है वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करने वाला बनियाँ है यथा—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।।' (भा०) मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। फिर भला क्या लेना और क्या देना? जब भगवान ने प्रह्लादजी से माँगने का बहुत आग्रह किया तो वे बोले—मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँह माँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो। मेरे नाथ! आपसे मैं एक वर और माँगता हूँ। आपके स्वरूप को बिना जाने मेरे पिताजी ने आपसे एवं आपका भक्त होने से मुझसे भी द्रोह किया। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस महदपराध से मुक्त हो जायँ। श्रीनृसिंह भगवान ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद! जिस कुल में तुम्हारे जैसा महाभागवत पुत्र उत्पन्न होगा उसकी तो इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती हैं, फिर पिता के तरने की तो बात

ही क्या है। प्रह्लाद! तुम तो मेरे सभी भक्तों के आदर्श हो। यथा—'भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्।।' (भा०) तदनन्तर भगवान ने प्रह्लाद की इच्छा न होने पर भी एक मन्वन्तर पर्यन्त पिता के पद पर प्रतिष्ठित होकर मुनियों की आज्ञा के अनुसार दैत्यों का शासन करने का अनुरोध किया।

आई जगदया....नाश है—जगत के जीवों पर दया करके श्रीप्रह्लादजी ने भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभो! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है। साधारण पुरुषों की कौन कहे। बड़े-बड़े ज्ञानियों के ज्ञान का नाशकर मोह में डाल देती है। यथा—'जो ज्ञानिन्हकर चित्त अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई।।' अतः आप कृपा करके इस माया का सर्वथा नाश कर दीजिये। श्रीभगवान ने कहा कि मायानाश करने पर तो कुछ रह ही नहीं जायगा, सृष्टि ही समाप्त हो जायेगी। प्रपंच तो माया से ही भासमान है। अतः ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, जो तुम्हारा स्मरण करेगा, उसे हमारी माया नहीं व्यापेगी। श्रीप्रह्लादजी ने करुणा परवश हो भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभो! संसार के समस्त जीवों को आप अपने वैकुण्ठ लोक में वास दें। भगवान ने हँसकर कहा—प्रह्लाद! सब लोग वैकुण्ठ जाना नहीं चाहते तो फिर मैं कैसे ले जाऊँ? प्रह्लादजी को यह बात समझ में नहीं आई कि भला वैकुण्ठ कौन नहीं जाना चाहेगा? भगवान ने कहा—यदि हमारी बात पर विश्वास न हो तो जाओ सबसे पूछ आवो। तब ये जब सर्वप्रथम अपने ही कुल के वृद्धों से पूछने गये तो वे लोग इन्हीं को डाँटने लगे कि पिता को तो मरवाकर वैकुण्ठ ले ही गया अब हम लोगों का भी सत्यानाश करवाना चाहता है हम नहीं जायेंगे वैकुण्ठ। जिससे भी पूछते, वह लगभग यही उत्तर देता। एक सूकर को अत्यन्त गन्दे कीचड़ में पड़ा देखकर श्रीप्रह्लादजी ने विचारा कि इससे अधिक दुःखी तो संसार में कोई होगा नहीं। यह तो अवश्य ही चलने को प्रस्तुत हो जायेगा। अतः बड़ी आशा से उससे पूछे तो उसने कहा कि पहले यह बताओ—वैकुण्ठ में ऐसा मुलायम कीच है? या नहीं, प्रह्लादजी ने कहा—भला वैकुण्ठ में कीच का क्या काम। वहाँ तो सब परम दिव्य मणिमय भूमि है। सूकर ने साफ जवाब दे दिया—मैं नहीं जाता वैकुण्ठ को। प्रह्लादजी हैरान रह गये और निष्कर्ष निकाले कि जो जीव जिस भी योनि में है, मोहवश उसी में सुख मान लेता है मरना कोई नहीं चाहता।

दृष्टान्त—बुढ़िया का—अपनी वृद्धावस्था के कष्टों से व्याकुल होकर बुढ़िया रोज मौत को बुलाती और यमराज को दोष देती कि मुझे क्यों नहीं बुला लेते हैं। एक दिन मुहल्ले के छोटे-छोटे बालक एक चूहिया को झोली में रख कर लाये बोले—दादी! तू रोज-रोज मौत को बुलाती थी, ले आज हम लोग ले आए हैं। बुढ़िया ने गिड़गिड़ाकर कहा—बेटा! जहाँ से ले आया है वहीं इसे कर आओ, अभी मैं ऐसी बूढ़ी नहीं भई हूँ जो आज ही मरूँ।

दूसरा दृष्टान्त—लकड़हारे का—वह अत्यन्त गरीब था। जंगल से लकड़ी काट कर बेचकर जीविका चलाता था। एक दिन बड़े परिश्रम से लकड़ियाँ एकत्रित कर भारी बण्डल बाँधा। उठाने लगा तो बोझ भारी होने से उठता नही था, लोभवश लकड़ी निकालता नहीं था। भूख-प्यास अलग सता रही थी। थका- माँदा लकड़हारा ऐसे जीवन से मरना ही अच्छा समझकर उसने अत्यन्त अधीर होकर मृत्यु देवता को पुकारा। वे आ भी गये और जब पूछे कि किसलिये बुलाया है तो उसने हाथ जोड़कर कहा—आप कृपा करके यह मेरा लकड़ी का गट्ठर मेरे सिर पर उठवा दीजिये। यह है प्राणियों की जिजीविषा।

श्रीनृसिंह भगवान ने अपने बिलम्ब से प्रगट होने के कारण प्रह्लाद से क्षमा माँगी। यथा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वेमाः प्रमत्तकृत दारुण यातनास्ते।
नालोकितं विषममेतदभूतपूर्व क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः।। (नृ०)

क०— **बोले प्रभु प्यारे प्रिय कोमल तिहारे अङ्ग असुर ने मारे मम नाम एक गाने में।**
गिरि ते गिराये पुनि जल में डुबाँये हाय अग्नि में जलाये कमी राखी न सताने में।।
उर से लगाय लपटाय कहैं बार बार करुणा सरूप बने करुणा दिखाने में।
मञ्जुल मुखारविन्द चूमि चूमि कहैं प्रभु छमा करो पुत्र मोहिं देर भई आने में।।

श्रीनृसिंह भगवान इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। भगवान की आज्ञा के अनुसार प्रह्लादजी ने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया की। इसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने उनका राज्याभिषेक किया। प्रह्लादजी ने अपने शासन काल में आसुरी अनीतियों का उन्मूलन कर न्याय की प्रतिष्ठा की। आपकी न्यायप्रियता के सम्बन्ध में महाभारत में एक प्रसङ्ग आता है कि पांचाल प्रदेश की सत्कुलोत्पन्ना, सर्वगुण सम्पन्ना, कुमारी केशिनी ने किसी सत्कुलोद्भव वर से ही व्याह करने का सङ्कल्प किया था। वैसे तो उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर बड़े-बड़े महाराजकुमारों के प्रस्ताव आये थें परन्तु उसने सबको ठुकराकर महर्षि अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वा से विवाह करने का निश्चय कर लिया था। इसके बाद प्रह्लाद के पुत्र विरोचन ने जाकर कुमारी के समक्ष अपने को सुधन्वा से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अपनी विवाहेच्छा प्रकट की। केशिनी ने अपना निश्चय सुनाते हुए विरोचन से इस सम्बन्ध में सुधन्वा से विचार-विमर्श करने को कहा। दोनों कुमारी केशिनी के यहाँ ही इस विषय पर वाद-विवाद किये परन्तु किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके। तब दोनों ने किसी अन्य न्यायाधीश से ही इसका निर्णय लेना उचित समझा। सुधन्वा ने न्याय प्रिय प्रह्लाद को ही, जो कि विरोचन के पिता थे, इसका निर्णय करने के लिए न्यायाधीश चुना। दोनों कुमारों में शर्त यह हो गई कि विजित (हारा हुआ) व्यक्ति विजेता के चरणों में अपने प्राण समर्पित कर देगा। समस्या प्रह्लाद के सामने प्रस्तुत की गई। प्रह्लाद ने पुत्र स्नेह की अपेक्षा सत्यपालन को गौरव देते हुए विरोचन को सम्बोधित करके कहा—विरोचन! अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा की माता तेरी माता से श्रेष्ठ हैं, और सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है। अतः सुधन्वा ने तुझको जीत लिया, अब सुधन्वा ही तेरे प्राणों का स्वामी है। प्रह्लाद जी की इस न्याय प्रियता पर प्रसन्न होकर सुधन्वा ने विरोचन को शर्त के बन्धन से मुक्त कर दिया।

एक बार प्रह्लादजी श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा कर रहे थे। उसी समय श्रीसनकादिकजी मिलने आये। द्वारपालों से अपने आगमन की सूचना भेजी तो प्रह्लादजी ने कहा कि कह दो—अभी सेवा में हैं। यह सुनकर श्रीसनकादिक मुनीश्वर चले गये। वे कृपा करके आये थे परन्तु उसका समुचित सत्कार न होने से प्रह्लादजी से भागवत अपराध बन गया। परिणाम स्वरूप बुद्धि विपरीत हो गई। भगवान की सेवा करते-करते मन में यह धारणा बनी कि अहो हो! इनकी क्या पूजा करना, जिन्होंने मेरे पूज्य पिता को मार डाला, ताऊ-चाचा को मार डाला। हम दैत्यों का खोज-खोजकर संहार करते ही रहते हैं। इनसे तो लड़ाई करके बदला लेना चाहिये। फिर तो तुरन्त ही सेवा छोड़कर युद्ध के लिये तैयार हो गये। युद्ध के मारू बाजे बजने लगे। समस्त दैत्य योद्धा एकत्रित हो गये। वैकुण्ठ पर धावा बोल दिया। भगवान विष्णु को जब यह समाचार मिला तो वे हैरान होकर रह गये, समझ में नहीं आ रहा था कि भला प्रह्लाद ने ऐसा क्यों

किया? मैं उनसे कैसे लड़ूँगा? तब प्रभु ने श्रीनारदजी का स्मरण किया। नारदजी तत्काल प्रगट हो गये। भगवान ने कहा—नारदजी! आपका चेला बदल गया है। आप ही बताइये—मेरा क्या दोष है? एक बार जिसको गोद में बैठाकर प्यार किया है, उसके ऊपर मैं अस्त्र-शस्त्र भला कैसे चला सकता हूँ? अतः आप जाकर प्रह्लाद को समझाइये। श्रीनारदजी प्रह्लादजी के पास आये। शिष्य ने गुरु को साष्टांग प्रणाम किया। गुरुदेव नारद ने आशीर्वाद देकर जब स्थिति पूछी तो इन्होंने सब सही-सही बता दिया। श्रीनारदजी ने कहा—बेटा प्रह्लाद! तुम्हारी बुद्धि तो ऐसीनहीं होनी चाहिये। तुम तो भक्तों के आदर्श हो। तुमसे निश्चय ही कोई महदपराध हो गया है। तत्पश्चात् श्रीनारदजी ने ध्यान धर कर देखा तो उन्हें सब बात मालूम हुई। तब श्रीनारदजी ने प्रह्लाद को श्रीसनकादि ऋषियों की प्रार्थना करने को कहा। गुरु की आज्ञा मानकर प्रह्लादजी ने एकाग्रचित्त हो उनका ध्यान करते हुए स्तवन किया। सन्त-स्मरण, संस्तवन के प्रभाव से बुद्धि शुद्ध हो गई। तब तो श्रीप्रह्लादजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और युद्ध का निश्चय छोड़कर गुरु और गोविन्द के चरणों में बारम्बार प्रणाम कर अपराध क्षमा कराकर घर आये। यह है महदपराध का दुष्परिणाम एवं सन्त-स्मरण का सुपरिणाम—दोनों का ज्वलन्त उदाहरण। श्रीप्रह्लादजी को श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने भक्त-शिरोमणि के रूप में स्मरण किया है। यथा—'नामजपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत शिरोमणि भे प्रहलादू।।' इनके प्रेम की प्रशंसा करते हुए श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं कि—

आरतपाल कृपाल जो राम जेहीं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रतापमहामहिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े।।
सेवक एकते एक अनेक भये तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन पाहनते परमेश्वर काढ़े।।१।। (कवितावली)
काढ़िकृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाउँ हैं, खम्भ में? हाँ, सुनि हांक नृकेहरि जागे।।
बैरि बिदारिभये बिकराल कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति भई तुलसी तबते सब पाहन पूजन लागे।।२।।
अंतरजामिहुँ ते बड़े बाहिरजामी है राम जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कानि कियेतें।।
आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये ते।
पैज परे प्रह्लादहुँ के प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें।। (कवितावली)

धन्य प्रह्लाद! भगवान श्रीराम ने तो शिला से मुनि पत्नी अहल्या को प्रगट किया, परन्तु तुमने तो खम्भ से भगवान को ही प्रकट कर लिया।

श्रीअक्रूरजी

चले अकरूर मधुपुरी ते विसूर नैन चली जलधारा कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावैं एक देखिबोई भावैं देह सुधि बिसरावै लोटै लखि पगधूर को।।

बन्दन प्रवीन चाह निपट नवीन भई दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को।
मिले रामकृष्ण झिले पाइ के मनोरथको खिले दृगरूप कियो हियो चूर-चूर को।।१०१।।

शब्दार्थ—विसूर=चिन्ता। छबिपूर=शोभा पूर्ण, सुन्दर। झिले=सन्तुष्ट-प्रसन्न हुए।

भावार्थ—भगवान कृष्ण और बलराम को लिवा लाने के लिये जब कंस ने अक्रूर को मथुरा से भेजा, तब ये प्रेमातुर होकर नन्द गोकुल को चले। प्रेमचिन्तित अक्रूरजी के नेत्रों में आँसूओं की धारा बह चली। मार्ग में जाते हुए सोच रहे थे कि कब मैं शीघ्र जाकर शोभाधाम श्यामसुन्दर को देखूँगा। वे मन ही मन यही मना रहे थे कि मुझे जो यह शुभ शकुन हो रहे हैं, इनका फल प्रभु दर्शन ही हो। उन्हें दर्शनों के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध नहीं थी। गोकुल घुसते ही जब उन्हें धूलि में वज्र-ध्वज-अंकुश-कमल युक्त श्रीकृष्ण के चरणचिन्ह दिखाई पड़े तब वे सहसा कूद पड़े और वहीं ब्रजरज में लोटने लगे। वन्दनभक्ति में परमप्रवीण श्रीअक्रूरजी के हृदय में बिल्कुल नई प्रेममयी एक अभिलाषा प्रकट हुई। श्रीशुकदेवजी ने श्रीभागवत में उस उत्कण्ठा का वर्णन किया है। जो भक्तों के जीवन में भक्तिरूपी प्राणों के लिए संजीवनी बूटी है। बलराम और कृष्ण दोनों भाई बड़े प्रेम से अक्रूरजी से छाती लगाकर मिले। अक्रूरजी ने मार्ग में जितने मनोरथ किए थे, वे सभी पूर्ण हो गए। प्रभु की रूप माधुरी से उनके नेत्र आनन्द से खिल उठे। अक्रूरजी ने अपने हृदय को प्रेमार्द्र करके प्रभु में लीन कर दिया।

व्याख्या—श्रीअक्रूरजी—ये यदुवंशान्तर्गत सात्वत वंशीय यादवश्रेष्ठ श्वफल्क के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गान्दिनी था। इनका दूसरा नाम दानपति भी था। कुल-कुटुम्ब के नाते से ये श्रीकृष्ण के चाचा, वसुदेवजी के छोटे भाई लगते थे। ये नवधा-भक्ति में वन्दन भक्ति के परमादर्श हैं, आचार्य हैं। कंस के अत्याचार से उत्पीड़ित होकर बहुत यादव तो मथुरा छोड़कर जहाँ-तहाँ चले गए, परन्तु देश-कालवित् श्रीअक्रूरजी समय की प्रतीक्षा करते हुए कसं के दरबार में ही बने रहे, जैसे रावण की लङ्का में भक्तराज विभीषण। भगवान का प्रादुर्भाव जानकर भी भगवद्दर्शन की प्रबल लालसा होने पर भी कंस के भय से मन मारकर रह जाते थे। जब कंस के भेजे हुए बहुत से दुष्ट दैत्य मार डाले गये और श्रीनारदजी के द्वारा कंस को यह निश्चय हो गया कि नन्द-यशोदानन्दन श्रीकृष्ण उनके पुत्र न होकर वस्तुतस्तु श्रीवसुदेव-देवकी के पुत्र हैं और रोहिणी पुत्र बलराम भी वसुदेव-नन्दन ही हैं और इन्हीं के हाथों हमारी मृत्यु है, तब उसने श्रीकृष्ण-बलराम को छल से मार डालने का निश्चय किया। उसने एक धनुष-यज्ञ की रचना की और उसको देखने के बहाने से श्रीकृष्ण और बलराम को बुलवाकर अपने वज्रकायमल्लों द्वारा उन्हें मरवा डालने की सोची। फिर क्या था, बड़े ही आदर पूर्वक यादवों में श्रेष्ठ श्रीअक्रूरजी को अपने समीप बुलाकर कुटिल कंस उनका हाथ अपने हाथ में लेकर सौहार्द्र दिखलाते हुए बोला—अक्रूरजी! अब आप जल्दी बलराम और कृष्ण को यहाँ ले आइये। उनसे केवल इतनी ही बात कहियेगा कि वे लोग धनुष-यज्ञ के दर्शन और यदुवंशियों की राजधानी मथुरा की शोभा देखने के लिये यहाँ आ जायँ।

भगवान के दर्शन का योग जानकर श्रीअक्रूरजी कंस की आज्ञा से बड़े प्रसन्न हुये क्योंकि इनको भगवद्दर्शन की प्रबल लालसा तो चिरकाल से ही थी। समय आने पर भगवान ने स्वयं संयोग बना दिया।

वस्तुत: भगवान साधन-साध्य नहीं हैं वह तो कृपा साध्य ही हैं। दूसरे दिन प्रात:काल ही वे रथ पर सवार होकर नन्दबाबा के गोकुल की ओर चल दिये। मार्ग में परम भाग्यवान अक्रूरजी विचारते जाते कि मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्र को ऐसा कौन-सा महत्वपूर्ण दान दिया है जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन करूँगा। अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये। आज मेरा जन्म सफल हो गया क्योंकि आज मैं भगवान के उन श्रीचरण-कमलों में नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियों के भी केवल ध्यान के ही विषय हैं। यथा—

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्।
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः। यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रि पंकजम्।। (भा० १०/३८/३/६)

जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार करने के लिये मैं तुरन्त रथ से कूद पड़ूँगा, उनके चरण पकड़ लूँगा। उन दोनों के साथ ही उनके वनवासी सखा एक-एक ग्वाल-बाल के चरणों की भी वन्दना करूँगा। मेरे अहोभाग्य! जब मैं उनके चरण कमलों में गिर जाऊँगा तब वे अपना करकमल मेरे सिर पर रख देंगे। मैं उनके चरणों में हाथ जोड़कर विनीत भाव से खड़ा हो जाऊँगा। वे मुस्कराते हुए दया भरी स्निग्ध दृष्टि से मेरी ओर देखेंगे तो मैं परमानन्द में मग्न हो जाऊँगा। वे मुझे अपना जानकर अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर अवश्यमेव अपने हृदय से लगा लेंगे। अहा! उस समय मेरी तो देह पवित्र होगी ही, वह दूसरों को पवित्र करने वाली भी बन जायेगी। जब वे मुझे 'चाचा अक्रूर' इस प्रकार कहकर सम्बोधन करेंगे तब मेरा जीवन सफल हो जायगा। कभी-कभी श्रीअक्रूरजी अपने को कंस का दूत विचारकर हताश भी हो जाते थे। यथा—

आवत नगीच ज्यों ज्यों जीवन जगत श्याम त्यों त्यों चितचैन की मंजूस मृदु खोले हैं।
कबहूँ कुठाम वाम जानि के गलानि करें कबहूँ हुलास हिय आनन्द अतोले हैं।।
कबहूँ बिचारैं कंसदूत लखि त्यागै नहीं कहत 'विहारी' मन भांति भांति बोले हैं।
प्रेम के समुद्र तैरै तरणी अक्रूरजी की भाव के भँवर परी डगमग डोले हैं।।

पुन: विचारते हैं कि—

तारे गीध गनिका उबारे गज व्याध सबै अन्तर न राख्यो अजामील उतपाती सों।
सरन गहै जो दीन बाँह गहि लेत ताकी ऐसी बानी गावत पुरान भाँति भाँति सों।।
कहत 'बिहारी' है प्रतीति मोहिं मोहन की रीझत सनेह पै न छोह जाति पाँति सों।
मानि लैहैं भेद तो भगाय दैहैं दूर और पाय लैहैं प्रेम तो लगाय लैहैं छाती सों।।

सगुन मनावें—श्रीअक्रूरजी जब निराश होने लगते हैं तो शुभशकुन उनको धैर्य बँधाते। तब वे हर्षोल्लसित होकर कह उठते—अहो! मैं श्रीमुकुन्द के श्रीमुख कमल का अवश्यमेव दर्शन करूँगा क्योंकि हरिन मेरी दायीं ओर से निकल रहे हैं। आज निश्चय ही मेरा मङ्गल प्रभाव है क्योंकि आज मुझे प्रात:काल से ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं। श्वफल्कनन्दन अक्रूर मार्ग में इसी चिन्तन में डूबे-डूबे रथ से सूर्य के अस्ताचल पर पहुँचते-पहुँचते स्वयं भी नन्द-गाँव पहुँच गये। यहाँ एक प्रश्न होना

स्वाभाविक है कि मथुरा से नन्दगाँव कोई बहुत दूर नहीं है, सवारी रथ की थी, चले प्रातःकाल से थे, फिर नन्दगाँव पहुँचने में सन्ध्या कैसे हो गई? समाधान—सावधान व्यक्ति तो पैदल भी अतिशीघ्र पहुँच सकता है परन्तु श्रीअक्रूरजी तो प्रेम में ऐसे विभोर हो रहे थे कि—'दिशि अरु विदिश पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेऊँ कहाँ नहि बूझा।।'' श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—'देह सुधि विसरावैं।' ऐसी दशा में सन्ध्या तक पहुँचना आश्चर्य का विषय नहीं है, आश्चर्य तो यह है कि यह नन्दगाँव पहुँच कैसे गये? मथुरा से नन्दगाँव के लिये रथ चलाते। दिशा भूल जाती, चले जाते आगरा की ओर। फिर किंचित् सावधान होते तो लौटते तब तक पुनः प्रेमावेश हो जाता, चले जाते दिल्ली की ओर। कभी लौटकर मथुरा ही चले जाते। कभी भगवान के चरण चिह्नों को देखकर लोटने लग जाते तो लोटते ही रहते। अतः पहुँचने में विलम्ब स्वाभाविक है।

लोटें लखि पगधूर को—नन्दगाँव की सीमा में पहुँचने पर वज्राङ्कुशध्वजाम्भोजादि असाधारण चिह्नों से चिह्नित श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों का दर्शन करते ही अक्रूरजी के हृदय में इतना आह्लाद हुआ कि वे अपने को सँभाल नहीं सके। सजलनयन पुलकित तन श्रीअक्रूरजी रथ से कूद कर उस धूलि में लोटने लगे और कहने लगे—अहो! यह हमारे प्रभु के चरणों की रज है।

मिले राम कृष्ण......चूरको—श्रीअक्रूरजी के मनोरथों को पूर्ण करने के लिये श्रीबलराम और कृष्ण गोदोहन का व्याज बनाकर गोष्ठ में जा रहे थे कि रास्ते में ही अक्रूरजी मिले। दोनों भाइयों को देखते ही परम भागवत अक्रूरजी उनके चरणों में साष्टांग लोट गये। श्रीकृष्ण-बलराम ने अपनी विशाल भुजाओं से उठाकर उनको हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् उनका एक हाथ श्रीकृष्ण ने पकड़ा और दूसरा बलराम ने। दोनों भाई उन्हें घर लिवा लाये और उनका बड़ा स्वागत सत्कार किया। अक्रूरजी के आगमन का हेतु जानकर बड़े आनन्दित हुये।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीकृष्ण और बलराम अक्रूरजी के साथ वायु के समान वेग वाले रथ पर सवार होकर मथुरा को प्रस्थान किये। उस समय व्रज में विरह की बाढ़ आ गई थी। श्रीअक्रूरजी भी ब्रजगोपियों की विरह-व्याकुलता से अत्यन्त विकल हो गये, अतः प्रातः कालीन नित्य कृत्य पूर्ण करने में असमर्थ रहे। जब श्रीकृष्ण-बलराम को लेकर चले तो कुछ दूर जाने पर विचार आया कि रथ को रोककर श्रीयमुना तट पर अपने अवशेष नियमपूर्ण कर लूँ। फिर तो अक्रूरजी ने ऐसा ही किया। दोनों भाई रथ पर विराजमान थे, स्वयं श्रीयमुनाजी में स्नान करने लगे। उस समय भगवान ने कृपा कर अक्रूरजी को अपने ऐश्वर्य रूप का दर्शन कराया। अत्यन्त प्रेम की प्रबलता में अक्रूरजी श्रीकृष्ण-बलराम की भगवत्ता भूलकर चिन्ता करने लग जाते कि दुष्ट कंस इन सुघर-सलोने बालकों को मार डालेगा। इस भ्रम को दूर करने के लिये ही भगवान ने ऐश्वर्य- प्रकाश लीला की। अक्रूरजी ज्यों ही डुबकी लगाये तो उन्होंने देखा कि दोनों भाई एक ही साथ जल के भीतर बैठे हुए हैं। मन में विचार आया कि मैं तो इनको रथ पर बैठा आया था, यहाँ कैसे आ गये? परन्तु जब जल से बाहर सिर निकालकर देखा तो वे दोनों रथ पर भी विराजमान थे। बड़ा विस्मय हुआ। पुनः डुबकी लगायी तो फिर उन्होंने भगवान को अनन्त ऐश्वर्यों से युक्त देखा। श्रीअक्रूरजी को बोध हो गया अतः भगवान के श्रीचरणकमलों में प्रणाम कर हाथ जोड़कर गद्‌गद स्वर से स्तुति करने लगे।

भगवान ने हँसकर पूछा—चाचाजी! आपने कोई अद्‌भुत वस्तु देखी है क्या? क्योंकि आप अत्यन्त चकपकाये से जाने पड़ते हैं। श्रीअक्रूरजी ने कहा—प्रभो! अद्‌भुतादद्‌भुत आपका दर्शनकर लेने पर कौन-सा अद्‌भुत दर्शन शेष रह जाता है? यह कहकर अक्रूरजी ने पुनः रथ चलाया और अति शीघ्र मथुरा पहुँच गये। इनकी बड़ी इच्छा थी कि प्रभु को पहले घर लिवाले चलें परन्तु श्रीभगवान ने उन्हें समझाया कि चाचाजी! पहले मैं इस यदुवंशियों के द्रोही कंस को मारकर फिर दाऊ भैया के साथ आपके घर जाऊँगा तथा अपने सभी सुहृत्-स्वजनों का प्रिय करूँगा। श्रीकृष्ण को उनके अभीष्ट स्थान पर पहुँचाकर अक्रूरजी अपने घर गये। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण और बलराम उद्धवजी के साथ अक्रूरजी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये उनके घर गये। अक्रूरजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्होंने विधि पूर्वक उन लोगों की पूजास्तुति की इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर अपनी मधुरवाणी से उन्हें परमाह्लाद प्रदान करते हुये कहा—

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा। वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हिवः।।१।।
भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः। श्रेयस्कामै नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः।।२।।
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवामृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।।३।।
(भा० १०-४८-२९-३०-३१)

अर्थ—हे तात! आप हमारे गुरु—हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंश में अत्यन्त प्रशंसनीय तथा हमारे सदा के हितैषी हैं। हम तो आपके बालक हैं और सदा ही आपकी रक्षा पालन और कृपा के पात्र हैं।।१।। अपना परम कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को आप जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान सन्तों की सर्वदा सेवा करनी चाहिये। आप जैसे सन्त देवताओं से भी बढ़कर हैं, क्योंकि देवताओं में तो स्वार्थ रहता है और सन्तों में नहीं।।२।। केवल जल के तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदि की बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। उनकी तो बहुत दिनों तक श्रद्धा से सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं, परन्तु आप सरीखे सन्त पुरुष तो अपने दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देते हैं।।३।। इसलिए आपको मैं अपने परम प्रिय पाण्डवों का कुशल मङ्गल जानने के लिए हस्तिनापुर भेज रहा हूँ। आपके द्वारा समाचार जानकर मैं उन सुहृदों के सुख का सम्पादन करूँगा।

भगवान की आज्ञा शिरोधार्य कर अक्रूरजी ने हस्तिनापुर जाकर सभी लोगों से यथोचित रीति से मिलकर, वहाँ कुछ दिन रहकर, वहाँ के मर्म को समझकर पाण्डवों को सान्त्वना एवं कौरव श्रेष्ठ धृतराष्ट्र को सदुपदेश देकर तथा कौरव-पाण्डव विद्रोह का अन्तिम परिणाम जानकर सबसे विदा होकर मथुरा लौट आये और कृष्ण-बलराम से वहाँ का समस्त वृत्तान्त कह सुनाए। श्रीकृष्ण की द्वारिका लीला में भी अक्रूरजी साथ रहे। जिस समय शतधन्वा ने सत्राजित को मारकर उनकी स्यमन्तक मणि ले लिया और जब श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मार डालने का निश्चय किया तो शतधन्वा डरके मारे मणि अक्रूरजी के पास रखकर भाग गया। उस समय अक्रूरजी भी, यह भय करके कि कहीं कृष्ण मुझे शतधन्वा का पक्षपाती समझकर विरोध न करें, वे द्वारका छोड़कर काशी चले गये। अक्रूरजी के जाते ही द्वारका में बड़ा अनिष्ट और अरिष्ट होने लगा। तब प्रजा के अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने अक्रूरजी को काशी से बुलवाया। इनकी ऐसी महिमा थी कि ये जहाँ भी रहते, वहीं सुभिक्ष, सुख सुपास होता।। भगवान ने इन्हें निर्भय करके द्वारकापुरी में बसाया और अन्त में अपने धाम ले गये।।

श्रीबलिजी

दियो सरबसु करि अति अनुराग बलि पागि गयो हियो प्रहलाद सुधि आई है।
गुरु भरमावें नीति कहि समुझावैं बोल उर में न आवैं केती भीति उपजाई है।।
कह्यो जोई कियो सांचो भाव पन लियो अहो दियो डर हरिहूँ ने मति न चलाई है।
रीझे प्रभु रहे द्वार भये बस हारि मानी श्रीशुक बखानी प्रीति रीति सोई गाई है।।१०२।।

शब्दार्थ—भरमावैं=बहकावैं। चलाई=हटाई, डुलाई।

भावार्थ—राजा बलि ने बड़े प्रेम के साथ वामन भगवान को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनका हृदय भक्तिभाव में मग्न हो गया। इन्हें अपने पिता के पिता भक्तवर प्रह्लाद की याद आ गई कि—इन्होंने कितने संकट सहे थे, अभी मेरे ऊपर वैसा एक भी संकट नहीं आया है नीति का उपदेश दे-देकर गुरु शुक्राचार्य भी बहकाने और समझाने लगे कि—ये भिक्षुक ब्रह्मचारी नहीं हैं, ये तो साक्षात् विष्णु हैं, ये विराट् रूप धारण करेंगे और तुम्हारा सर्वस्व ले लेंगे। जहाँ जीविका नष्ट हो रही हो, वहाँ झूठ बोलने में भी पाप नहीं होता है। ये बातें बलि की समझ में नहीं आईं। तब शुक्राचार्य जी ने भय दिखाया कि ये तुम्हें पृथ्वी पर नहीं रहने देंगे। नरक में डाल देंगे परन्तु राजा बलि ने जो तीन पग पृथ्वी दान करने की प्रतिज्ञा की थी, उसी पर डटे रहे और उन्होंने उसे पूर्ण भी किया। राजा बलि ने प्रेमभाव से परिपूर्ण प्रण को धारण किया था। फिर पृथ्वी और स्वर्ग को दो पगों से नापकर भगवान ने कहा कि—तीसरा पग कहाँ रखूँ। तुमने तीन पग भूमि देने की प्रतिज्ञा की थी वह पूरी नहीं हुई अतः असत्य भाषण के पाप से अब तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा। इस प्रकार भगवान के धमकाने पर भी राजा की बुद्धि चलायमान नहीं हुई। राजा ने कहा—भगवन्! तीसरा पैर मेरे शिर पर रखिये। राजा की इस आत्म समर्पण भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान इनके द्वारपाल बने। अपनी हार मानकर भगवान बलि के अधीन हो गए। उनकी भक्ति की रीति को श्रीशुकदेवजी ने श्रीभागवत में वर्णन किया है।

व्याख्या—ये श्रीप्रह्लादजी के पुत्र महादानी विरोचन के पुत्र थे। स्कन्दपुराण में इनके पूर्व जन्म की कथा आती है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—प्राचीनकाल में देवताओं और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला एक महापापी जुआरी था। वह सदा ही परायी स्त्रियों में आसक्त रहने वाला था। एक दिन उसने कपट पूर्ण जुए के द्वारा बहुत धन प्राप्त किया। फिर अपने हाथों से स्वस्तिकाकार पान का बीड़ा बनाकर तथा गन्ध मालादि सामग्री जुटाकर एक वेश्या को भेंट देने के लिये वह उसके घर की ओर दौड़ा। रास्ते में वह गिर पड़ा उसे मूर्छा आ गई। मूर्छा दूर होने पर पूर्व जन्म के किसी पुण्य के प्रभाव से उसके मन में सद्बुद्धि उत्पन्न हुई वह वैराग्य को प्राप्त हुआ। पृथ्वी पर पड़े हुए गन्ध पुष्पादि को उठाकर उसने समीपस्थ शिवजी की सेवा में समर्पित कर दिया। जीवन में केवल यही एक पुण्य उसके द्वारा सम्पन्न हुआ था। मरने पर यमराज के सामने पहुँचने पर चित्रगुप्त से सुनकर कि यही एक पुण्य जीवन भर में किया है, उसने कहा कि मैं पहले यही पुण्यफल ही भोगूँगा। फलस्वरूप इसे तीन घड़ी के लिये इन्द्र का पद प्राप्त हुआ। इन्द्र पद प्राप्त होने पर इसने तीन घड़ी तक दान ही दान किया। ऐरावत अगस्त्य को, उच्चैःश्रवा घोड़ा विश्वामित्र को, कामधेनु वशिष्ठ को, चिन्तामणि गालव मुनि को, कल्पवृक्ष

कौण्डिन्य मुनि को और भगवान शङ्कर की प्रसन्नता के लिये अनेक प्रकार के रत्न तथा सर्वस्व ऋषि मुनियों को दान कर दिया। तीन घड़ी बीत जाने पर वह स्वर्ग से चला आया। वही जुआरी अपने महादान के पुण्य से बिना नरक भोगे ही विरोचन का पुत्र बलि हुआ। (विशेष देखिये छप्पय ५ बलि-वामन प्रसङ्ग)

दियो सरबस—श्रीबलिजी आत्म समर्पण भक्ति के आचार्य हैं। इन्होंने अहंतास्पद ऐश्वर्य ममतास्पद शरीर दोनों ही भगवान को अर्पण कर दिया। समर्पण ऐसा ही होना चाहिये। यथा—'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौंपते, क्या लगता है मोर।।' श्रीभरतलालजी भी कहते हैं—'सम्पत्ति सब रघुपति कै आही।''सर्वस्व दान करने वाले विरले होते हैं।' देखिये श्रीरघुजी सर्वस्वदान प्रसङ्ग छप्पय १२। अधिकारी पात्र को पाकर दाता को सर्वस्व दान की श्रद्धा होती है। जैसे श्रीविश्वामित्रजी को महाराज श्रीदशरथजी सर्वस्व देने के लिये प्रस्तुत हैं। यथा—'मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आज सहरोसा।।' (रामा०) श्रीबलिजी ने दबाब पूर्वक सर्वस्व दिया हो सो बात नहीं और न तो किसी लौकिक, पारलौकिक लाभ लोभ से ही। अति अनुराग पूर्वक दिया। यह उत्तम दान की विधि है। अश्रद्धापूर्वक दिया गया दान व्यर्थ होता है। यथा—अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्पप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।' (गी०)

प्रह्लाद सुधि आई है—अति अनुराग का हेतु बताते हैं कि इन्हें उस समय अपने दादा श्रीप्रह्लादजी की याद आ गई। याद यह कि मेरे दादाजी के इष्टदेव हैं। उनके ऊपर इनकी अपार कृपा रही है। वे इन्हें ही अपना सर्वस्व करके मानते थे। इनका निरन्तर यशोगान करते रहते थे। उन्हीं के नाते मेरे ऊपर भी कृपा करने आये हैं। प्रभु ने अपने 'प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई।' इस बिरद को चरितार्थ कर दिया आदि-आदि। ''दियो डर... चलाई है''—भगवान ने नरक का भय दिया। बलिजी ने कहा—आपका दर्शन करके भी नरक में जाना हमारी समझ में नहीं आता है। जैसे बालि ने कहा था—'प्रभु अजहूं मैं पापी, अन्तकाल गति तोरि।।' (रामा०) श्रीकुन्तीजी कहती हैं कि—'भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।' (भा०) अर्थ—आपका दर्शन हो जाने पर फिर जन्म मृत्यु के चक्कर में नहीं आना पड़ता है। तो भला बलिजी भगवान का दर्शन करके भी नरक में कैसे जा सकते हैं।

रीझे प्रभु रहे द्वार—भगवान ने प्रसन्न होकर बलिजी से वर माँगने को कहा। बलिजी ने विचार किया कि अभी-अभी जिसने स्वयं हमसे ही याचना की है। उससे क्या माँगना है? मैं कदापि इनसे नहीं माँगूगा। तब श्रीविन्ध्यावलीजी ने फटकारा कि अभी भी मोह गया नहीं? दानीपने का अभिमान दूर नहीं हुआ? अरे! प्रभु ने कृपा करके आपका यश बढ़ाने के लिये प्रभुता का प्रयोग न कर दान के मिस आपका सर्वस्व स्वीकार किया तो आप उन्हें भिक्षुक ही मान बैठे। माँग लो क्योंकि—'पुनि न बनहिं अस अवसर आई।' (रामा०) भला भगवान कब इतना प्रसन्न होने लगे? आज बानक बना है अतः माँग लो। श्रीबलिजी ने यह वरदान माँगा कि सदा सर्वदा हमें आपका दर्शन होता रहे। मैं जिधर भी देखूँ, उधर आप दिखाई पड़ें। भगवान तो इनके प्रेम में बँध गये थे। अतः इनको मनोवाञ्छित वर प्रदान किया।

वर्णन आता है कि सुतल लोक में बलिजी के राज-प्रासाद में बावन द्वार थे। भगवान उनके बावनों दरवाजों पर खड़े रहते थे। बड़ी सजगदारी रखनी पड़ती थी। पता नहीं किस दरवाजे से बलिजी निकलेंगे

तो उन्हें मेरा दर्शन होना चाहिए। बहुत दिन हो गये। भगवान बलि के यहाँ से लौटे नहीं, तब श्रीलक्ष्मीजी को चिन्ता हुई। वे पता लगाते-लगाते सुतल लोक गईं। वहाँ जाकर इन्होंने भगवान की स्थिति देखी तो इनको तरस आया। जिस दिन रक्षा-बन्धन का पुण्य पर्व था। श्रीलक्ष्मीजी ने श्रीबलिजी को भाई मानकर रक्षा बाँधी और दक्षिणा में सब दरवाजों को बन्द कर देने की याचना की। जिससे प्रभु को निश्चिन्त होकर एक ही द्वार पर रहना पड़े। भगवान स्वयं सर्वथा छूटना नहीं चाहते थे, प्रेम का बन्धन जो था, इसी से लक्ष्मीजी ने भी सर्वथा छोड़ देने की दक्षिणा भी नहीं माँगी। तभी से प्रभु श्रीबलिजी के द्वार पर द्वारपाल बने हुए अद्यावधि विराजमान हैं। यह भी कथा आती है कि भगवान का दर्शन करने श्रीप्रह्लादजी नित्य आते थे और दर्शन करके चले जाते थे। एक दिन भगवान ने कहा कि प्रह्लाद! अकेले मन नहीं लगता है अत: यहीं रहो, मत जाओ। हम तुम दोनों बैठकर सत्सङ्ग करेंगे। प्रह्लादजी ने प्रभु की बात मान ली और वह भी द्वार पर बैठकर आज तक प्रभु का सत्सङ्ग कर रहे हैं। आज भी मकानों के मुख्य द्वार पर जो दो बैठकों के बनाने की विधि है उसमें से एक तो भगवान के लिये और एक प्रह्लाद जी के लिये बनायी जाती है।

हारि मानी—भगवान तीन जगह विपक्षियों से प्रश्नोत्तर में हार गये थे। यथा—'बलि बाली, काली निकट, हारे स्याम सुजान। का अचरज नित हारहीं भक्तन सों भगवान।। 'बलि से हारे'—भगवान ने एक पग भूमि न देने पर बलि को प्रतिज्ञा भ्रंशरूप दोष के कारण नरक का भय दिया। बलिजी ने भगवन के श्रीमुख से ही धन से धनी बड़ा होने का निर्णय कराकर जब आत्मसमर्पण किया तो भगवान संकुचित हो गये। 'बालि से हारे'—बालि को फटकारते हुए भगवान श्रीराम ने कहा—'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी।।' (रामा०) श्रीरामजी के मुखकमल का दर्शन करते हुए बालि ने बड़ी विनम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभु अजहुं मैं पापी, अन्तकाल गति तोरि।' श्रीरामजी तुरन्त ही अपनी प्रतिज्ञा भुलाकर बालि के सिर पर अपना करकमल फेरते हुए शरीर रखने का आग्रह करने लगे।' कालिया (नाग) से हारे'—भगवान श्रीकृष्ण ने जब कालिया नाग के रोषपूर्वक किए गए उग्र दंशन पर आक्षेप किया तो उसने कहा—प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। एक पंसारी की दुकान है। उसमें बहुत से बर्तनों में उसने पृथक्-पृथक् वस्तुएँ रख रखी हैं तो जब वह किसी बर्तन में हाथ डालेगा तो उसमें जो रखा है वही तो उसे मिलेगा। मेरे नाथ! उसी प्रकार इस सृष्टि में आपने जिसको जो गुण-स्वभाव दिया है उससे वैसे ही उपलब्धि भी तो होगी। हम सर्पों को आपने अत्यन्त तामसी बनाया ही है, तो इसमें मेरा क्या दोष? भगवान श्रीकृष्ण चुप हो गये।

श्रीबलिजी जोरावर भक्त हैं, इसी से इनके सामने प्रभु ने प्रभुता बिसार कर दीनता को अंगीकार किया। यथा—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता विसारि जन के बस होत सदा यह रीति।।
विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता वरु ह्वै द्विज मांगी भीख।। (वि०)

हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान।
शङ्कर, शुक, सनकादि, कपिल, नारद हनुमाना।।
विष्वक्सेन, प्रह्लाद, बलि, भीषम जगजाना।
अर्जुन, ध्रुव, अम्बरीष, विभीषण महिमा भारी।।
अनुरागी अक्रूर सदा उद्धव अधिकारी।
भगवन्त भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहत सुजान।।
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान।।१५।।

शब्दार्थ—हरिप्रसाद=भगवद्भुक्तावशेष, भवान की जूठनि। परमान=प्रमान, सबूत, प्रमाणित, मान्य। भुक्त अवशिष्ट=भोज करने से बचा हुआ। सुजान=अच्छी प्रकार जानने वाले, विज्ञानी।

भावार्थ—भगवान को अर्पण करके प्रसाद के रस का स्वाद लेने वाले ये सोलह भक्त परम श्रेष्ठ हैं। शंकरजी, शुकदेवजी, सनकादिक, कपिलजी, नारदजी, हनुमानजी, विष्वक्सेनजी, प्रह्लादजी, बलिजी, अम्बरीषजी, भीष्मजी, अर्जुनजी, ध्रुवजी, विभीषणजी, अक्रूरजी और उद्धवजी इनको सम्पूर्ण जगत जानता है, इनकी बड़ी भारी महिमा है। ये सर्वदा प्रसाद के अधिकारी हैं। ये भगवत्प्रसाद की महिमा को भली- भाँति जानते हैं और उसका वर्णन करते रहते हैं। भगवान का भोग लगाकर प्रसाद इन्हें अवश्य अर्पण करना चाहिये।।१५।।

व्याख्या—हरि प्रसाद—भगवान का प्रसाद भगवान के समान ही महा महिमामय होता हैं। यथा—**प्रसादं जगदीशस्य अन्न पानादिकं च यत्। ब्रह्मवन्निर्विकारं यथा विष्णुस्तथैवतत्।।**

जैसे भगवान का दर्शन, स्पर्श, समागम महा-मङ्गलकारी है वैसे ही प्रसाद भी। यथा—

यह दिव्य प्रसाद प्रिया प्रिय को।
दरशत ही मन मोद बढ़ावत परसत पाप हरत हिय को।।
पावत परम प्रेम उपजावत भुलवत भाव पुरुषतिय को।।
'भगवत रसिक' भावतो भूषण तिहिक्षण होत युगल जिय को।।

भगवत् प्रसाद की महिमा का वर्णन करते हुये अनन्य रसिक श्रीहरिराम जी व्यास कहते हैं कि—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत मेटत सब प्रतिवाद।।
जो षटमास व्रतनि कीने फल सो एक सीथ के स्वाद।
दरसन पाप नसात खात सुख परसत मिटत विषाद।।
देत लेत जो करैं अनादर सो नर अधम गवाद।
व्यास प्रीति परतीति रीति सों जूठन के गुननाद।

भक्त जैसे भगवदाश्रय से माया को जीतते हैं वैसे ही भगवत्प्रसाद-सेवन करके भी माया को जीत लेते हैं। यथा—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनोदासास्तवमायां जयेमहि।। (भा० ११-६-४६)

महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं कि—प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा। सादर जासु लहइ नित नासा।। तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभुप्रसाद पट भूषण धरहीं।। राम बसहु तिनके मन माहीं।। (रा०च०मा०) पुनः—पाद्मे—

नैवेद्यमन्नं तुलसी विमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्।।

अर्थ—भगवान के सामने समर्पित, तुलसी से मिश्रित और विशेष रूपसे चरणामृत से भीगा हुआ नैवेद्य अन्न जो नित्य खाता है वह करोड़ों यज्ञों के पुण्य को प्राप्त करता है।

रसस्वाद—भगवत्प्रसाद-रस का परम दिव्य स्वाद होता है, जिसका अनुभव प्रसादनिष्ठ भक्तों को होता है। उनकी जिह्वा पर पड़ते ही उन्हें ज्ञान हो जाता है कि यह वस्तु अर्पित हैं अथवा अनर्पित । निष्ठावान भक्तों को तो यहाँ तक अनुभव होता है कि यह अमुक ठाकुर का भोग प्रसाद है और यह अमुक ठाकुर का।

दृष्टान्त—श्रीराधाबल्लभी सूरदास का—इनका नियम था कि केवल श्रीराधावल्लभजी का प्रसाद पाते थे, अन्य का नहीं। एक दिन एक सज्जन इनकी निष्ठा का चमत्कार देखने के लिये एक से लड्डू बनवाये और उसमें से कुछ तो श्रीबाँकेबिहारी को भोग लगवाये तथा कुछ श्रीराधावल्लभलालजी को। तत्पश्चात् दो-दो लड्डू दोनों प्रसादों में से निकालकर सूरदासजी को देते हुए बोले—सूरदासजी! राधावल्लभजी का प्रसाद लीजिये। इन्होंने बड़े आदर के साथ प्रसाद लिया और उसमें से दो लड्डू तो पा गये और दो छोड़ दिये। पूछने पर कारण बताये कि दो तो श्रीराधावल्लभजी के प्रसाद थे अतः पा लिया परन्तु दो श्रीविहारीजी के हैं। सो आप पावैं। परीक्षक महानुभाव के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। यह है हरिप्रसाद रसस्वाद का चमत्कार। ऐसे ही श्रीरसिकमुरारीजी को सन्तों के चरणामृत के दिव्य स्वाद का अनुभव होता था। देखिये कवित्त ३८५।।

भक्त इते परमान—यथा—पाद्मे—'बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्जुनः। प्रह्लादो जनको व्यासः, अम्बरीषः पृथुस्तथा।। विष्वक्सेनोध्रुवोऽक्रूरो सनकाद्याः शुकादयः। वासुदेवप्रसादान्नं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः।।

कीरति कहत सुजान—एक बार श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी जगन्नाथपुरी गये हुए थे। भगवान का दर्शन करने गये तो पुजारी ने आपको भगवत्प्रसादी माला पहिनाई एवं प्रसादान्न प्रदान किया। संयोग से उस दिन एकादशी व्रत था अतः महाप्रभुजी विचार में पड़ गये कि यदि अभी पा लेता हूँ तो व्रत-भङ्ग होता है और नहीं पाता हूँ तो प्रसाद का निरादर होता है। आदरणीय दोनों हैं, एकादशी हरिवासर है और यह हरिप्रसाद है। फिर तो श्रीआचार्य पाद भगवत् प्रसाद को हाथ में लिये ही उसकी महिमा का बखान करने लगे और जब द्वादशी आ गई तो तुरन्त पा लिये।

दृष्टान्त—श्रीशिवजी का—एकबार श्रीनारदजी वैकुण्ठ में गये तो भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण ने प्रसन्न होकर इनको प्रसाद दिया। श्रीनारदजी ने तुरन्त पा लिया और अत्यन्त आनन्द में भरे हुए नृत्य गान करते हुए कैलाश आये। आज देवर्षि को अत्यन्त हर्षित देखकर श्रीशिवजी ने पूछ ही तो लिया—नारदजी! आज आपने क्या पा लिया है जो बड़े ही आनन्दित हो रहे हैं! श्रीनारदजी ने कहा—देवदेव! आज मैंने अभी-अभी भगवत्प्रसाद पाया है, इसी से चित्त में बहुत ही आह्लाद हो रहा है। श्रीशिवजी ने कहा—नारदजी! आप तो हमारे परम मित्रों में हैं। फिर आपने हमको भी प्रसाद क्यों नहीं दिया? यह कहते हुये शिवजी ने नारदजी के हाथ पर दृष्टि डाली तो उन्हें अँगुली में प्रसादकण लगा दिखाई दिया, फिर तो श्रीशिवजी नारदजी की अँगुलियों को चाटने लगे और आनन्द में भरकर नृत्यगान करने लगे। तब तक श्रीपार्वतीजी आ गईं। शिव को आनन्द मग्न होकर ताण्डव नृत्य करते देखकर पार्वतीजी ने जब इसका हेतु पूछा तो भगवान शिव ने रहस्य का स्पष्टीकरण किया। पार्वतीजी ने कहा—आप अकेले ही पा गये, हमको भी क्यों नहीं दिये? श्रीशिवजी ने भावावेश में कह दिया कि भगवत् प्रसाद का सर्वसाधारण को अधिकार नहीं है। यह बात श्रीपार्वतीजी को लग गई। फिर तो इन्होंने नीलाचल क्षेत्र (जगदीशपुरी) में जाकर दस हजार वर्ष तक कठिन तप करके भगवान को प्रसन्न किया और यह वरदान माँगा कि सभी लोग आपके प्रसाद के अधिकारी हों। भगवान ने 'एवमस्तु' कहा।

भगवत्प्रसाद की पावनता के सम्बन्ध में श्रीवृन्दावन के अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं कि—'स्वान प्रसादहिं छी गयो, कौआ गयो बिटारि। दोऊ पावन व्यास के, कह भागौत विचारि।। अपनी इस निष्ठा को श्रीव्यासजी ने निबाहा भी। भंगिन की टोकरी में से निकाल कर पकौड़ी प्रसाद पाना इसका प्रमाण है। श्रीव्यासजी की प्रसाद निष्ठा के सम्बन्ध में श्रीहित ध्रुवदासजी लिखते हैं कि—'प्रेम मगन नहिं गन्यो कछु, बरनाबरन विचार। सबन मध्य पायोप्रगट, लै प्रसाद रस सार।'

ध्यान चतुर्भुज चित्त, धर्‌यो तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं।
अगस्त्य, पुलस्त्य, पुलह, च्यवन, वशिष्ठ, सौभरि, रिषि।
कर्दम, अत्रि, ऋचीक, गर्ग, गौतम, सुव्यास शिषि।।
लोमश भृगु दालभ्य अङ्गिरा श्रृंगि प्रकासी।
माण्डव्य, विश्वामित्र, दुर्वासा, सहस अठासी।।
जाबालि जमदग्नि मायादर्श, कश्यप, परबत, पराशर पद रज धरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यौ तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं।।१६।।

शब्दार्थ—ध्यान=चिन्तन, स्मृति, बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना मन में लाना। अनुसरौं=अनुसरण करूँ, गमन करूँ, जाऊँ। प्रकाशी=प्रकाशयुक्त, प्रकाश करने वाले। मायादर्श=माया का दर्शन करने वाले मार्कण्डेय। पर्वत=मरीचि के पुत्र, एक ऋषि।

भावार्थ—जिन भक्तों ने भगवान के चतुर्भुज रूप का ध्यान अपने हृदय में धारण किया, मैं उनकी शरण में हूँ। वे हमारे सब प्रकार से रक्षक हैं। अगस्त्यजी, पुलस्त्यजी, पुलहजी, च्यवनजी, वशिष्ठजी,

सौभरिजी, कर्दमजी, अत्रिजी, ऋचीकजी, गर्गजी, गौतमजी, व्यासजी के शिष्य, लोमशजी, भृगुजी, दालभ्यजी, अङ्गिराजी, ऋष्यश्रृङ्गजी, माण्डव्यजी, विश्वामित्रजी, दुर्वासाजी, शौनकादि अट्ठासी हजार, जाबालिजी, यमदग्निजी, मार्कण्डेयजी, कश्यपजी, पर्वतजी, और पराशरजी इनके चरणों की रज मैं अपने शिर पर चढ़ाता हूँ। ये ऋषिगण बड़े तेजस्वी हैं। मोह अन्धकार को दूर करने के लिए सदा ज्ञान-भक्ति का प्रकाश करते रहते हैं।।१६।।

व्याख्या—ध्यान चतुर्भुज—

छप्पय— **क्रीट मुकुट अरु तिलक माल राजत छबि छाजत।**
पीत वसन तनु श्याम काम कोटिक लखि लाजत।।
कण्ठ त्रिवलि श्रीवत्स सुभग सोहत मन मोहत।
वैजन्ती वनमाल कौन उपमा कवि टोहत।।
कर शङ्ख चक्र गदा पद्मधर रूप अमित गुण गरुड़ ध्वज।
गोविन्द चरण वन्दत सदा जय जय जय श्रीचतुर्भुज।।

चित् धर्‌यो— आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।।

अर्थ—समस्त शास्त्रों का मन्थन कर, उसके सार-सिद्धान्त पर विचार करने पर यही एक सिद्धान्त सुनिश्चित होता है कि भगवान नारायण का सदा-सर्वदा ध्यान करना चाहिये।

शरण हौं अनुसरौं—भाव यह कि शरणागत सब प्रकार से रक्षणीय होता है, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। शरणागत की योग्यता अयोग्यता, गुण-दोष, पाप-पुण्य की परीक्षा नहीं की जाती है। उसका त्याग नहीं किया जाता है, उसे तो प्राणवत् प्यार किया जाता है। यथा—'शरण गये प्रभु ताहु न त्यागा। विश्वद्रोह कृत अघ जेहिं लागा।।' शरणागत कहँ जे तजिहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पांवर पापमय तिनहिं विलोकत हानि।। जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं।। इत्यादि वचन प्रमाण हैं।

श्रीअगस्त्यजी—प्राचीन काल की बात है। एक समय इन्द्र ने वायु और अग्निदेव को दैत्यों का नाश करने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार इन्होंने बहुत से दैत्यों को भस्म कर डाला, कुछ जाकर समुद्र में छिप गये। तब इन्होंने अशक्त जानकर उनकी उपेक्षा कर दी परन्तु वे दैत्य दिन भर समुद्र में छिपे रहते और रात्रि में निकल कर देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्यादिकों का नाश करते थे। तब इन्द्र ने फिर अग्नि और वायु को आज्ञा दी कि समुद्र का शोषण कर लो। ऐसा करने में करोड़ों जीवों का नाश देखकर इस आज्ञा को अनुचित जानकर उन्होंने समुद्र का शोषण करना स्वीकार नहीं किया। इस पर कुपित होकर इन्द्र ने शाप दिया कि तुम दोनों एक मनुष्य का स्वरूप धारण कर पृथ्वी पर धर्मार्थ-शास्त्र रहित योनि में जन्म लेकर मुनियों की वृत्ति धारण करते हुये जाकर रहो और जब तक तुम वहाँ चुल्लू से समुद्र को पी नहीं लोगे तब तक तुम्हें मृत्युलोक में रहना पड़ेगा। इन्द्र का शाप होते ही उनका पतन हुआ और उन्होंने मर्त्युलोक में आकर जन्म लिया।

उन्हीं दिनों की बात है कि उर्वशी मित्र देवता के यहाँ जा रही थी, वे उसको उस दिन के लिये वरण कर चुके थे। रास्ते में उसे जाते हुए देखकर उसके रूप पर आसक्त हो वरुण देवता ने उसको अपने यहाँ बुलाया। तब उसने कहा कि मैं मित्र को वचन दे चुकी हूँ। वरुण ने कहा कि वरण शरीर का हुआ है, तुम मन मेरे में लगा दो और शरीरा से वहाँ जाना। उसने वैसा ही किया। मित्र को यह पता लगने पर उर्वशी को यह शाप दिया कि तुम आज ही मर्त्युलोक में जाकर पुरूरवा की स्त्री हो जाओ। मित्र ने अपना तेज एक घट में रख दिया और वरुण ने भी उस घट में अपना तेज रखा। उन्हीं दिनों राजा निमि के शाप से श्रीवशिष्ठजी देह रहित हुए थे। (देखिये निमिजी का प्रसङ्ग छप्पय १३) तब उन्होंने ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि देहहीन की संसारी क्रिया नष्ट हो जाती है और 'तनबिनु वेद भजन नहिं बरना।' अत: हमको देह दीजिये। तब ब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि मित्रावरुण से जो तेज जायमान है, उसमें जाकर तुम निवेश करो, तुम अयोनिज रहोगे। श्रीवशिष्ठजी ने ऐसा ही किया। इधर वायु सहित अग्निदेव भी उसी घट से श्रीवशिष्ठजी के पश्चात् चतुर्बाहु, अक्षमाला-कमण्डलुधारी अगस्त्य रूप से प्रगट हुये। (प० पु०)

श्रीअगस्त्यजी ने विदर्भ राजकुमारी लोपामुद्रा को पत्नी रूप में वरण कर वानप्रस्थ विधान से मलय पर्वत पर जाकर बड़ी दुष्कर तपस्या की। अपने महान तप के प्रभाव से इन्होंने समुद्र को सोख लिया था। कथा इस प्रकार है—देवताओं से हारकर कालेय दैत्यगण जब समुद्र में छिप गये और नित्य रात्रि में बाहर निकलकर ऋषियों मुनियों आदि को खा डाला करते थे, देवता समुद्र के भीतर जाकर युद्ध नहीं कर सकते थे। तब ब्रह्मादि देवताओं ने यह सम्मत कर कि अगस्त्यजी समुद्र शोषण में समर्थ हैं, सब उनके पास चमत्कार पुर नामक क्षेत्र में गये और उनसे समुद्र शोषण की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि एक वर्ष की अवधि हमें दी जाय, इसमें योगिनियों के विद्याबल के आश्रित होकर हम समुद्र का शोषण कर लेंगे। आप सब एक वर्ष बीतने पर यहाँ आवें तब मैं आपका कार्य करूँगा। तब देवता चले गये और महर्षि अगस्त्य ने यथोक्त विशोषिणी नामक विद्या का आराधन प्रारम्भ किया। एक वर्ष में वह प्रसन्न हो गयी और वरदान देने को उपस्थित हुई। अगस्त्यजी ने माँगा कि आप मेरे मुख में प्रवेश करें जिससे मैं समुद्र का शोषण कर सकूँ। तत्पश्चात् देवता भी आये और अगस्त्यजी ने जाकर समुद्र को सहज ही में पी लिया।। (स्कन्दपुराण)

महाभारत और पद्म पुराण में भगवान विष्णु की सलाह से देवताओं की प्रार्थना सुनकर श्रीअगस्त्यजी का तुरन्त समुद्र तट पर उनके साथ जाना और समुद्र को देखते-देखते चुल्लू लगाकर पी जाना लिखा है। समुद्र शोषण की एक कथा यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार समुद्र एक टिटिहरी के अण्डे को बहा ले गया तब वह पक्षी समुद्र को सुखा डालने का संकल्प करके अपनी चोंच में समुद्र का जल भर-भरकर बाहर उलीचने और बाहर से रेत ला-लाकर समुद्र में डालने लगा। दैवयोग से महर्षि अगस्त्य वहाँ पहुँच गये। सब वृत्तान्त जानने पर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने ''श्रीरामाय नमः, श्रीरामभद्राय नमः, श्रीराम चन्द्राय मनः'। कहकर समुद्र को सोख लिया।

ऐसा भी सुना जाता है कि एक बार आप समुद्र तट पर बैठकर पूजन कर रहे थे। समुद्र आपकी पूजन सामग्री बहा ले गया तब आपने कुपित होकर यह कहते हुये कि क्या तुमने मुझे टिटिहरी समझ रखा है? मैं 'अभी तुम्हारी करनी का फल देता हूँ?' समुद्र को सोख लिया था। महाभारत के अनुसार तो ये समुद्र का जल पीकर पचा गये। बहुत दिन तक समुद्र सूखा पड़ा रहा। फिर जब भगीरथजी गङ्गाजी को

लाये हैं तो गङ्गाजी ने समुद्र को भर दिया। आनन्द रामायण के अनुसार मुनि ने समुद्र को पीकर सुखा दिया फिर लघुशङ्का करके भर दिया। इसी से समुद्र का जल खारा हो गया।

'सूर्य नित्य सुमेरु गिरि की परिक्रमा करते हैं।' देवर्षि नारदजी कौतुकवश यह कहते हुये विन्ध्याचल से सुमेरू गिरि की भूरि-भूरि प्रशंसा कर वहाँ से चलते भये। विन्ध्याचल ने अमर्ष में भरकर सूर्य से कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करो। उन्होंने कहा कि जगत् के ईश्वर ने जो मार्ग मेरे लिये बना रखा है, उसी पर मैं चलता हूँ। उसमें यदि सुमेरू की परिक्रमा हो जाती है तो मैं क्या करूँ? यह सुनकर विन्ध्य कुपित हो सूर्य और चन्द्रमा की गति रोकने को बढ़ चला। विन्ध्य की वृद्धि से चन्द्र-सूर्य की गति में अवरोध पड़ने लगा, सृष्टि में हाहाकार मच गया। देवता घबड़ाकर अगस्त्यजी के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप ही उसके वेग को रोकें। वे स्त्री के सहित विन्ध्याचल के पास आये और कहा कि मैं एक कार्य से दक्षिण दिशा को जाता हूँ, मुझे जाने की राह दो और जब तक मैं न लौटूँ, तुम और नहीं बढ़ना। उसने आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी दक्षिण से फिर लौटे ही नहीं। (म० भा०)

मणिमती नगरी में इल्वल नामक दैत्य रहता था, वातापि उसका छोटा भाई था, एक बार इल्वल ने एक तपस्वी ब्राह्मण से इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र की अभिलाषा की, परन्तु ब्राह्मण ने अस्वीकार कर दिया। तब से उस दैत्य ने साधु ब्राह्मणों से बैर बाँध लिया। वह मायावी दैत्य अपने छोटे भाई को ही माया से राँधकर विविध खाद्य सामग्री तैयार करता। किसी ब्राह्मण को निमन्त्रण दे आता और जब वह ब्राह्मण भोजन कर लेता तो वह अपने भाई का नाम लेकर बुलाता। इल्वल में ऐसी शक्ति थी कि वह जिस किसी भी प्राणी को नाम लेकर बुलाता, वह यमलोक से भी पुनः शरीर धारण करके प्रगट हो जाता। फलस्वरूप इल्वल के बुलाने पर वातापि उस ब्राह्मण का उदर विदीर्ण कर निकल आता, ब्राह्मण मर जाता है उसने यही छल श्रीअगस्त्यजी से भी किया परन्तु परम समर्थ श्रीअगस्त्यजी ने तो उसे पचा ही डाला। जब इल्वल को यह बात मालूम हुई तो वह क्रोध में भरकर मुनि को खाने दौड़ा तब मुनि जी ने उसे अपनी हुंकार मात्र से भस्म कर दिया। (म० भा०)

एकबार श्रीअगस्त्यजी सूर्य के पास गये। वे उठकर महर्षि का सम्मान नहीं किये। मुनि लौट आये और शेषाचल पर जाकर मुनि मण्डली के बीच बोले—यदि मैं सत्य ही श्रीरामजी का दास हूँ। यदि मेरा श्रीरामनाम में अनन्य निष्ठा है तो मेरा यह उत्तरीय कोटि सूर्य के समान प्रकाशवान हो जाय। ऐसा ही हुआ। सूर्य का तेज मन्द पड़ गया, वे बहुत ही लज्जित हुए। विधाता विस्मय में पड़ गये। लोक जलने लगे। तब ब्रह्माजी ने आकर प्रार्थना किया तो मुनि ने अपना तपस्तेज संवरण कर लिया। (राम रसिकावली)

एकबार श्रीअगस्त्यजी श्रीरामतत्व सुनने की अभिलाषा से श्रीशेष भगवान के पास गये। वहाँ और भी ऋषि-महर्षि बैठे थे श्रीशेषजी ने कहा कि मैं तो धरा के भार से आक्रान्त हूँ, कैसे तत्त्वोपदेश करूँ? श्रीअगस्त्यजी ने कहा—भगवन्! आप इस पृथ्वी को मेरे दण्ड पर स्थित कर दीजिये। ऐसा कह कर मुनि ने सबको सुनाते हुए कहा—यदि हमारा श्रीराम नाम में विश्वास है तो यह ब्रह्माण्ड दो दण्ड तक मेरे ब्रह्मदण्ड पर अवस्थित रहे। ऐसा ही हुआ। तब श्रीशेषजी ने सबको सम्बोधन करते हुए कहा—आप लोगों ने श्रीराम नाम का प्रभाव देखा। यही सबसे बड़ा तत्वज्ञान है। विश्वासपूर्वक भगवन्नाम का आराधन समस्त मंगलों का मूल है। (राम रसिकावली)

भगवान शंकर तथा सनकादिजी भी श्रीअगस्त्यजी के यहाँ सत्संग करने जाया करते थे। यथा—एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुम्भज ऋषि पाहीं।। संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी।। रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। पुनः—रहे तहाँ सनकादि भवानी। जहँ घट सम्भव मुनिवर ज्ञानी।। राम कथा मुनिवर बहु बरनी। ग्यान जोनि पावक जिमि अरनी।। (रामा०) भगवान श्रीरामजी के दरबार में इन्होंने श्रीरामजी के जिज्ञासा करने पर बहुत सी पौराणिक कथायें सुनाई थीं।

बनवास काल में भगवान श्रीरामजी श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजी के सहित इनके आश्रम पर भी गये थे। जिसका बड़ा ही मधुर वर्णन श्रीरामचरितमानस में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया है। आपके स्नेह-सुजान शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभु के शुभागमन का मंगल समाचार सुनाते हैं। जिसे सुनकर आप प्रेम विह्वल हो जाते हैं। यथा—

चौ०— **सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये। हरि विलोकि लोचन जल छाये।।**
मुनिपद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई।।
सादर कुशल पूछि मुनि ज्ञानी। आसन पर बैठारे आनी।।
पुनिकरि बहुप्रकार प्रभु पूजा। मोहि सम भाग्यवन्त नहिं दूजा।।
जहँ लगि रहे अपर मुनि वृन्दा। हरषे सब विलोकि सुखकन्दा।।

दो०— **मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।**
शरद इन्दु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर।। (रामा०)

भगवान श्रीराम ने मुनि श्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजी से राक्षसवध का मन्त्र (उपाय) पूछा। श्रीराम के इस ललित नरलीलाभिनय पर मुग्ध होकर मुनि मुस्करा उठे। अहा! देखो तो सर्वज्ञ सर्व समर्थ होकर भी कैसे अज्ञ से बनकर दुष्ट-दमनोपाय हमसे पूछ रहे हैं। मुनि ने प्रथम भगवान श्रीराम का ऐश्वर्य वर्णन किया तत्पश्चात् लीला-सम्पादनार्थ पंचवटी में निवास करने को कहा। प्रभु को प्रसन्न एवं वरदानोन्मुख जानकर श्रीअगस्त्यजी ने भक्त वाञ्छा कल्पतरु भगवान से यह प्रार्थना की कि—'यह वर मांगउँ कृपा निकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता।। अविरल भगति विरति सतसंगा। चरण सरोरुह प्रीति अभंगा।।' (रामा०) आप मन्त्रदृष्टा ऋषि हैं। आपके द्वारा रचित 'अगस्त्य संहिता' को 'मन्त्र संहिता' भी कहते हैं। उसमें भगवदुपासना सम्बन्धी बहुत से मन्त्रों का सांगोपांग विवेचन किया है। सप्तर्षि मण्डल में भी आप विराज रहे हैं।

श्रीपुलस्त्यजी—ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। श्रीब्रह्माजी के कानों से इनकी उत्पत्ति है। यथा—'पुलस्त्यःकर्णयोर्ऋषिः'। (भा०) इनकी पत्नी का नाम गौ था। उनके गर्भ से इनके द्वारा वैश्रवण (कुबेर) का जन्म हुआ था। इन्होंने अपने आधे शरीर से विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न किया था। ये इक्कीस प्रजापतियों में से एक प्रजापति हैं। ये भगवान के परत्व को जानने वालों में हैं। (म० भा०) श्रीमद्भागवत में श्रीकर्दम-कन्या हविर्भूका पुलस्त्य पत्नी होना पाया जाता है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राजर्षितृणविन्दु ने अपनी कन्या इनको सौंप दी थी। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि ने

आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ। जिसका नाम विश्रवा होगा। वस्तुतस्तु विश्रवाजी बड़े चरित्रवान हुये। इनके भरद्वाज-पुत्री देव वर्णिनी से वैश्रवण (कुबेर) पुत्र हुये। जो देवताओं के धनाध्यक्ष हैं। महर्षि पुलस्त्य के विचार—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्।। (वि० पु०)

अर्थ—जो परब्रह्म परधाम और परस्वरूप हैं, उन हरि की आराधना करने से मनुष्य अति दुर्लभ मोक्ष पद को भी प्राप्त कर लेता है। तीर्थ सेवन के सम्बन्ध में आपका कथन है कि—

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढ़व्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते।। (वि० पु०)

अर्थ—हे राजेन्द्र! जो स्वभाव से क्रोध हीन, सत्यवादी, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतों का पालन करने वाला तथा सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मभाव रखने वाला है, उसे तीर्थ सेवन का फल प्राप्त होता है।

श्रीपुलहजी—'पुलहो नाभितो जज्ञे' श्रीब्रह्माजी की नाभि से श्रीपुलहजी का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीकर्दम-कन्या गति इनकी पत्नी हैं। ये अलकनन्दा गङ्गा के तट पर जप और स्वाध्याय में लगे रहते हैं। यह भी एक प्रजापति हैं। स्वयं भगवदाराधन करते हुए दूसरों को भी भगवद्भक्ति का उपदेश देते हैं। यथा—

ऐन्द्रिमिन्द्रः परं स्थानं यमाराध्य जगत्पतिम्।
प्राप यज्ञपतिं विष्णुं तमाराधयः सुव्रत।। (वि० पु०)

हे सुव्रत! जिन जगत्पति की आराधना से इन्द्र ने अत्युत्तम इन्द्रपद प्राप्त किया है, तू उन यज्ञ पति भगवान विष्णु की आराधना कर।।

श्रीच्यवनजी—ये भृगुजी के पुत्र हैं। इनकी माता का नाम पुलोभा था। जब ये माता के गर्भ में थे। तब एकबार श्रीभृगुजी स्नान करने गये हुए थे, उसी समय पुलोमा नाम का एक दैत्य आश्रम को सूना देखकर भृगु पत्नी को हर ले गया। उस समय वह गर्भ, जो अपनी माता की कुक्षि में निवास कर रहा था, अत्यन्त रोष के कारण योगबल से माता के उदर से च्युत होकर बाहर निकल आया। माता के उदर से च्युत होकर गिरे हुए उस सूर्य के समान तेजस्वी गर्भ को देखते ही वह राक्षस तत्काल जल कर भस्म हो गया। च्युत होने के कारण ही उसका नाम च्यवन पड़ा। इस प्रकार भृगु के परम तेजस्वी पुत्र च्यवन का जन्म हुआ। ये निरन्तर तप में निरत रहते थे। इनका आश्रम नर्मदाजी के तट पर था। एकबार मनु पुत्र राजा शर्याति अपनी लाड़िली बेटी सुकन्या एवं और भी सेना एवं सेवक समाज को साथ लेकर वन में घूमते-घूमते च्यवन ऋषि के आश्रम पर जा पहुँचे। सुकन्या अपनी सखियों के साथ वन की शोभा देखती हुई एक बाँबी के समीप जाकर उसमें जुगनू की तरह चमकती हुई दो ज्योतियों को देखकर, बाल सुलभ चपलता वश एक काँटे द्वारा उनको बेध दिया। फलस्वरूप उसमें रक्त की धार बह चली। उसी समय राजा के सैनिकों का मल-मूत्र रुक गया। राजर्षि शर्यातिजी ने तुरन्त ही सबसे पूछा कि किसी ने महर्षि च्यवन का अपराध तो नहीं किया है? तब सुकन्या ने अपने पिता से डरते-डरते अनजान में दो

ज्योतियों को काँटे से छेदने का वृत्तान्त कहा। यह सुनकर शर्याति घबरा गये और उन्होंने बाँबी के पास जाकर स्तुति-प्रार्थना करके बाँबी में छिपे हुये च्यवन मुनि को प्रसन्न किया। नेत्र चले जाने का च्यवन ऋषि ने खेद प्रकट किया तो राजा ने उनकी सेवा के लिये अपनी कन्या सुकन्या ही उन्हें समर्पित कर दी और उनकी अनुमति लेकर स्वयं अपनी राजधानी को लौट आये।

सुकन्या बड़ी सावधानी से मुनि की सेवा करती हुई उन्हें प्रसन्न करने लगी। कुछ काल बाद उनके आश्रम पर दोनों अश्विनी कुमार आये। च्यवन मुनि ने उनका यथोचित सत्कार किया और कहा कि आप दोनों समर्थ हैं, अतः मुझे तरुणी स्त्रियों के लिये परम स्पृहणीय सुन्दर, युवावस्था का रूप प्रदान कीजिये, फिर मैं भी आपको यज्ञ में सोमरस का भाग दूँगा। वैद्य शिरोमणि अश्विनी कुमारों ने दिव्य औषधियों से एक कुण्ड तैयार करके उसमें मुनि को स्नान करने के लिये कहा। च्यवन मुनि के साथ अश्विनी कुमारों ने भी कुण्ड में प्रवेश किया। डुबकी लगाकर कुण्ड से बाहर निकलने पर जब सुकन्या ने देखा कि एक-सी आकृति वाले सूर्य के समान तेजस्वी तीन पुरुष बाहर निकले तो उसने अपने पति को न पहचान कर अश्विनी कुमारों की शरण ली। उसके पातिव्रत्य पर प्रसन्न होकर उन देव वैद्यों ने उसके पति को बतला दिया और स्वयं स्वर्ग को चले गये।

कालान्तर में जब राजा शर्याति यज्ञ करने की इच्छा से च्यवन मुनि के आश्रम पर आये और वहाँ उन्होंने अपनी कन्या को एक सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के साथ बैठे देखा तो बड़े विस्मित हुए। सुकन्या के प्रणाम करने पर भी उसे आशीर्वाद नहीं दिये तथा यह अनुमान करके कि इसने वयोवृद्ध महामुनि च्यवन को छोड़कर किसी परपुरुष को स्वीकार कर लिया है, उसके इस आचरण को लोक-वेद के विरुद्ध एवं पिता और पति दोनों कुलों को कलङ्कित करने वाला बतलाते हुये बहुत फटकारे। तब सुकन्या ने मुस्कराकर कहा पिताजी—ये आपके जामाता स्वयं भृगुनन्दन च्यवन ही हैं। फिर उसने मुनि के तरुण होने का सब प्रसङ्ग कह सुनाया। तब शर्याति बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्री को हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् श्रीच्यवन ने राजा शर्याति से सोमयज्ञ का अनुष्ठान करवाया और सोमपान का अधिकारी न होने पर भी अपने प्रभाव से अश्विनी कुमारों को सोमपान कराया। इस पर चिढ़कर देवराज इन्द्र ने शर्याति को मारने के लिये वज्र उठाया। महर्षि च्यवन ने वज्र के साथ उसके हाथ को वहीं स्तम्भित कर दिया। तब सब देवताओं एवं इन्द्र ने भी अश्विनी कुमारों को सोमभाग देना स्वीकार कर लिया।

श्रीवशिष्ठजी—'प्राणाद्वशिष्ठःसञ्जातो' अर्थात् श्रीब्रह्माजी के प्राण से श्रीवशिष्ठजी उत्पन्न हुए। इन्द्रियों को वश में करने के कारण इनका नाम वशिष्ठ पड़ा। श्रीकर्दम प्रजापति की परमसाध्वी कन्या अरुन्धती इनकी धर्मपत्नी हैं। देवताओं के लिये दुर्जेय काम क्रोध श्रीवशिष्ठजी की तपस्या से सदा के लिये पराभूत होकर इनके चरण दबाते रहते हैं। यथा—

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वशिष्ठोऽरुन्धती पतिः। तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि।।
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः। इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठिइति चोच्यते।। (म०भा०)

श्रीब्रह्माजी ने इन्हें सूर्यवंश की पुरोहिताई सौंपी। पौरोहित्य कर्म को निन्द्य समझकर जब अस्वीकार कर दिये तब श्रीब्रह्माजी ने सूर्यवंश का भविष्य वर्णन करते हुए इस वंश में स्वयं भगवान श्रीराम के प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग कहा। तब तो श्रीवशिष्ठजी ने सहर्ष इस कार्य को स्वीकार कर लिया। यथा—'उपरोहित्य

कर्म अति मन्दा। वेद पुराण स्मृति कर निन्दा।। जब न लेउँ मैं तब विधि मोहीं। कहा लाभ आगे सुत तोहीं।। परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहिं रघुकुल भूषन भूपा।। तब मैं हृदय विचारा, जोग जग्य व्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन।। (रा०च०मा०)

श्रीवशिष्ठजी सरीखे समर्थ सद्गुरु को पाकर सूर्यवंश कृतकृत्य हो गया इनका अमोघ आशीर्वाद निरन्तर दु:खों का दलनकर महा-मंगलों का सृजन करता रहता था। यथा—भानुवंश भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे। जन्म हेतु सब कहँ पितु माता। कर्म सुभासुभ देइ विधाता।। दलि दु:ख सृजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना।।

श्रीवशिष्ठजी विधि गति को रोकने में समर्थ थे यथा—सो गोसाईं विधि गति जेहि छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी।। प्रमाण—१. वैवस्वत मनु की इला नाम की कन्या को सुद्युम्न नाम का पुत्र बना देना तथा सुद्युम्न को श्रीशिव के विहारवन में पहुँचने पर स्त्रीत्व को प्राप्त हो जाने पर पुन: पुंस्त्व प्रदान करना। देखिये— वैवस्वत मनु का प्रसङ्ग (छप्पय १२) २. कृत्तिवास रामायण के अनुसार अंशुमानजी के पुत्र दिलीपजी की दो रानियाँ थीं। श्रीदिलीपजी अपने पूर्वजों (सगर पुत्रों) के उद्धारार्थ श्रीगंगाजी को धरातल पर लाने के लिये तप करने के लिये हिमालय पर चले गये। वहीं उनका देहावसान हो गया। कोई वंशधर पुत्र नहीं था। रानियों ने श्रीवशिष्ठजी से निवेदन किया तो आपने इन्हें परस्पर सम्भोग की आज्ञा दी। फलस्वरूप बड़ी रानी से एक पुत्र हुआ तो परन्तु पुरुष संयोग के बिना ही उत्पन्न होने के कारण उसके शरीर में अस्थि नहीं थीं। वह श्रीवशिष्ठजी के आशीर्वाद से हो गई। यही बालक आगे चलकर राजा भागीरथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिनके तप से सन्तुष्ट होकर श्रीगंगाजी इस धराधाम पर आईं।

३. मानस मयंककार कहते हैं कि महाराज रघुजी की जन्म कुण्डली में ऐसा योग पड़ा था कि विवाह काल में सातवीं भांवर पूर्ण होते ही रघुजी का सिर फट जायगा। इसी डर से इनके पिता दिलीपजी (ये अंशुमान पुत्र दिलीप से दूसरे हैं) इनका विवाह नहीं करते थे। जब श्रीवशिष्ठजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने विवाह की आज्ञा दे दी और विवाह के समय अन्य वैवाहिक कृत्य हो जाने पर जब भांवर पड़ने लगीं, उस समय जब आगे-आगे वर और पीछे-पीछे दुलहिन घूमती हुई चार भांवरे कर चुके तब वशिष्ठजी ने भांवरी रोककर अपना पूजन कराया और पूजोपरान्त जब रघुजी ने प्रणाम किया तब श्रीवशिष्ठजी ने चिरञ्जीव होने का आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् उन्होंने भांवर का क्रम बदल दिया। अर्थात् अबकी बार आगे-आगे दुलहिन और पीछे-पीछे वर-इस प्रकार चले और गिनती में भी चार के बाद पाँच, छै:, सात न कहकर एक दो, तीन कहे। इस प्रकार सात भांवर पड़ गईं परन्तु सात की गिनती नहीं आने पाई और इधर आशीर्वाद का अमोघ बल था अत: विधि की गति रुक गईं।। ४. श्रीदशरथजी महाराज के पुत्र नहीं हुए। उनको आशीर्वाद दिया। साठ हजार वर्ष की अवस्था में चार पुत्र हुए। यथा—'धरहु धीर हौइहैं सुतचारी। त्रिभुवन विदित भगत भय हारी।।' (रामा०)

एक बार राजा विश्वामित्र अपनी अपार चतुरङ्गिनी सेना को संग लेकर पृथ्वी का परिभ्रमण करने निकले। नगरों, नदियों, पर्वतों, जंगलों और आश्रमों को देखते हुए वे वशिष्ठजी के आश्रम में पहुँचे। कुशल प्रश्न करने के पश्चात् मुनि ने राजा को अतिथि-सत्कार ग्रहण करने को निमन्त्रित किया और अपनी कपिला गऊ को बुलाकर सबकी रुचि के अनुसार भोजन प्रस्तुत करके उनका यथोचित सत्कार करने की आज्ञा दी। कपिला के चमत्कार पूर्ण सत्कार से चमत्कृत होकर राजा ने कोटि अलंकृत गऊ

तथा और भी अनेक रत्नों का लालच देकर कहा कि कपिला गऊ हमको दे दीजिये। मुनि ने कहा—मैं इसे किसी प्रकार नहीं दूँगा, यह मेरा धन है, सर्वस्व है, जीवन है। यथा—'एतदेवहि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्। एतदेव हि सर्वस्व-मेतदेव हि जीवितम्।।' (वा०रा०) राजा विश्वामित्र उसे बलपूर्वक ले चले, कपिला उनसे छुड़ाकर मुनि के पास आकर रोने लगी। मुनि ने कहा कि ये राजा हैं, क्षत्रिय हैं, मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। तुम अपने को छुड़ा सको तो छुड़ाकर यहाँ रहो। तब मुनि का आशय समझकर कपिला ने अपने रोम-रोम से असंख्य सेना उत्पन्न करके उसने राजा की सब सेना नष्ट कर दी। तब विश्वामित्र के सौ पुत्रों ने क्रोध में भरकर श्रीवशिष्ठजी के ऊपर आक्रमण किया परन्तु मुनि की एक हुँकार मात्र से राजा के सौ पुत्र और रथ-घोड़ा-सेना सब भस्म हो गये। राजा पङ्ख कटे पक्षी के समान अकेला रह गया।

उन्हें वैराग्य हो गया। फिर तो राज्य एक पुत्र को देकर तप करके उन्होंने शिवजी को प्रसन्न कर यह वर माँगा कि सांगोपांग मन्त्र तथा रहस्य के साथ धनुर्वेद आप मुझे दें। देव-दानव-महर्षि-यक्ष-गन्धर्वादि सभी के जो कुछ अस्त्र हों, वह सब मुझे मालूम हो जायँ। शिवजी ने 'एवमस्तु' कहा। इन्हें पाकर अभिमान से राजा ने मुनि के आश्रम में जाकर उसे क्षण भर में ऊसर के समान शून्य कर दिया। ऋषियों को भयभीत देखकर मुनि ने अपना ब्रह्मदण्ड उठाया और राजा को ललकारा। राजा को समस्त विद्या ब्रह्मदण्ड के सामने कुछ काम न दे सकी। समस्त अस्त्रों के व्यर्थ चले जाने पर राजा ने ब्रह्मास्त्र चलाया, परन्तु उसे भी मुनि ने ब्रह्मदण्ड से शान्त कर दिया। श्रीवशिष्ठजी के प्रत्येक रोमकूप से किरणों के समान अग्नि की ज्वालायें निकलने लगीं ब्रह्मदण्ड उनके हाथ में कालाग्नि के समान प्रज्वलित था। मुनियों ने उनकी स्तुति कर विनय की कि आप अपना तेज अपने तेज से शान्त करें और अपना अस्त्र हटायें, प्राणी मात्र उससे पीड़ित हो रहे हैं। उनकी विनय सुनकर उन्होंने दण्ड को शान्त किया। पराजित राजा विश्वामित्र लम्बी साँस लेते हुए अपने को धिक्कारने लगे। यथा—'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।।' और ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिये तपस्या करने चले गये। अन्त में श्रीवशिष्ठजी के द्वारा ही इन्हें ब्रह्मर्षि पद प्राप्त हुआ। विशेष देखिये श्रीविश्वामित्रजी का प्रसङ्ग।

एक बार श्रीवशिष्ठजी श्रीविश्वामित्रजी के आश्रम पर पधारे। विश्वामित्रजी ने उनका स्वागत सत्कार तो किया ही आतिथ्य में अपनी सहस्र वर्ष की तपस्या का फल भी अर्पित किया। कुछ समय बाद श्रीविश्वामित्रजी श्रीवशिष्ठजी के अतिथि हुए। श्रीवशिष्ठजी ने भी उनका यथोचित सत्कार किया और उन्हें अपनी आधी घड़ी के सत्संग का पुण्य अर्पित किया परन्तु श्रीवशिष्ठजी के इस प्रतिदान से विश्वामित्रजी को सन्तोष नहीं हुआ। बात-बात में तप और सत्संग के ऊपर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। दोनों ब्रह्मविद् ठहरे, उनके विवाद का निर्णय सहज सम्भव नहीं। अन्ततोगत्वा दोनों ही महानुभाव एकमत होकर इसका निर्णय कराने के लिये पाताल में श्रीशेषजी के पास गये। पाताल पहुँचने पर दोनों महर्षियों की बात शेषजी ने सुन ली और बोले—आपमें से कोई अपने प्रभाव से इस पृथ्वी को कुछ क्षण अधर में रोके रहें तो मेरा भार कम हो और मैं स्वस्थ होकर विचार करके निर्णय दूँ। महर्षि विश्वामित्रजी ने हाथ में जल लेकर सङ्कल्प किया कि मेरे सहस्र वर्ष के तपोबल से धरा आकाश में स्थित रहे परन्तु यह सम्भव नहीं हो सका। तब श्रीवशिष्ठजी ने अपने आधी घड़ी के सत्संग के पुण्य बल से दो घड़ी तक पृथ्वी को शेषजी के फण से ऊपर अधर पर टिकाये रखा। श्रीशेषजी ने कहा—अब कहने-कहाने को कुछ शेष नहीं रहा आप दोनों स्वयं समझ लीजिये। श्रीविश्वामित्रजी श्रीवशिष्ठजी के चरणों में पड़ गये।

चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद वह शुभ समय आया, जबकि स्वयं भगवान श्रीराम चतुर्व्यूह रूप से श्रीअयोध्याधिपति चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी के यहाँ पुत्र रूप से अवतीर्ण हुए। जात कर्मादि संस्कार कराने के लिये श्रीगुरुदेवजी बुलाये गये। श्रीवशिष्ठजी ने सर्वप्रथम श्रीरामलाल जी का दर्शन किया। यथा—'गुरु वशिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आयउ द्विजन्ह सहित नृप द्वारा।। अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई।।' (रामा०) इसी लाभ-लोभ से तो इन्होंने सूर्य वंश की पुरोहिताई स्वीकार की थी। मुनि के सौभाग्य का क्या कहना है कि परात्परब्रह्म जिनके शिष्य हैं, सेवक हैं, यजमान हैं। मंगल भवन अमंगलहारी के मंगल के लिए श्रीवशिष्ठजी नित्य आशीर्वाद देने राजमहल में आते और अपने परमाराध्य का दर्शन कर निहाल हो जाते। युग-युग की साधना का सुफल पाकर कृतकृत्य हो जाते।

श्रीवशिष्ठजी कर्म, ज्ञान, उपासना—तीनों में ही परम निष्णान्त थे। तीनों पर इनका समान अधिकार था परन्तु भक्ति के प्रति विशेष आदर भाव था। यथा—

चौ०— **जप तप नियम योग निज धर्मा। श्रुति सम्भव नाना सुभ कर्मा।।**
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन।।
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर।।
छूटइ मल कि मलहिं के धोये। घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये।।
प्रेम भगति जलबिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई।।
सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पण्डित। सोइ गुनगृह विज्ञान अखण्डित।।
दक्ष सकल लच्छन युत सोई। जाकें पद सरोज रति होई।। (रा०च०मा०)

और यही वर भी माँगा है। यथा—'नाथ एक वर मागउँ, राम कृपा करि देहु। जन्म-जन्म प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु।।' (रामा०)

श्रीसौभरिजी—जगत्प्रपंच से सर्वथा विरक्त परम तपस्वी सौभरिजी एक बार यमुनाजल में डुबकी लगाकर तपस्या कर रहे थे। वहाँ एक मत्स्यराज को अपनी अनेक पत्नियों के साथ विहार करते हुये देखकर ब्राह्मण सौभरि के मन में भी विवाह करने की इच्छा जागृत हो उठी। यह है विषयों की प्रबलता। विषयों का तो ध्यान मात्र करने से उनमें आसक्ति हो जाती। यथा—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।' (गी०) फिर दृग्गोचर होने पर तो कहना ही क्या है। सौभरिजी का मन आतुर हो उठा और उन्होंने राजा मान्धाता के पास आकर उनकी पचास कन्याओं में से एक कन्या माँगी। महाराज मान्धाता विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे कि इन परम वयोवृद्ध ऋषि के साथ मैं किशोरी कन्या को कैसे ब्याहूँ और यदि अस्वीकार कर देता हूँ तो ऋषि के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। राजा की—'धर्म सनेह उभयमति घेरी। भइ गति साँप छछुन्दर केरी।।' (रामा०) फिर राजा ने युक्ति सोची कि यदि स्वयम्बर विधि का आश्रय लिया जाय तो मुझे इन्कार भी नहीं करना पड़ेगा और कोई कन्या इन्हें बरेगी भी नहीं। अतः मान्धाताजी ने कहा—ब्रह्मन्! कोई कन्या आपको स्वयम्वर में चुन ले तो आप उसे ले लीजिये। परम ज्ञानवान सौभरिजी मान्धाताजी का अभिप्राय समझ गये और उन्होंने अपने मन में निश्चय

किया कि मैं अपने को ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या देवाङ्गनाएँ भी मेरे लिये लालायित होंगी। ऐसा सोचकर समर्थ सौभरि ने वैसा ही किया। फिर तो उन पचासों राजकन्याओं ने एक सौभरि को ही वरण किया। ऋग्वेदी सौभरि ने उन सभी का पाणिग्रहण कर लिया और पचास पत्नियों के साथ पचास रूप धारण करके, अपने अपार तपोबल से परम दिव्य विविध सुख साधनों की सृष्टि करके, उनसे युक्त होकर अपनी पत्नियों के साथ विहार करने लगे। सप्तद्वीपवती पृथ्वी के स्वामी महाराज मान्धाता भी श्रीसौभरिजी के गार्हस्थ्य के लोकोत्तर सुखैश्वर्य को देखकर चकित हो गये। इस प्रकार सौभरिजी ने बहुत वर्षों तक विषयोपभोग किया परन्तु विषय वासना शान्त नहीं हुई, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। (देखिये ययातिजी का प्रसङ्ग)

ऋग्वेदाचार्य सौभरिजी एक दिन स्वस्थचित्त से बैठकर अपनी स्थिति पर विचार कर रहे थे तो उन्हें अपने इस पतन पर बड़ी ही आत्मग्लानि हुई। वे मन ही मन सोचने लगे कि 'अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरित व्रतस्य। अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्मचिरं धृतं यत्।। (भा० ९-६-५०) अर्थ—अहो! मैं तो बड़ा भारी तपस्वी था मैंने भली भाँति उत्तम व्रतों का अनुष्ठान भी किया था। परन्तु मेरा यह अधः पतन तो देखो। मैंने दीर्घ काल से अपने ब्रह्मतेज को अक्षुण्ण रखा था, परन्तु जल के भीतर विहार करती हुई एक मछली के संसर्ग से मेरा वह ब्रह्म तेज नष्ट हो गया। तत्पश्चात् श्रीसौभरिजी ने मुमुक्षु जनों को चेतावनी दिया कि—

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तदव्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः।। (भा० ९-६-५१)

अर्थ—जिसे मोक्ष की इच्छा है, उस पुरुष को चाहिये कि वह भोगी प्राणियों का संग सर्वथा छोड़ दे और एक क्षण के लिए भी अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने दे। अकेला ही रहे और अपने चित्त को सर्वशक्तिमान भगवान में ही लगा दे। यदि सङ्ग करने की आवश्यकता ही हो तो भगवान के अनन्य प्रेमी निष्ठावान् महात्माओं का संग करे।। इस प्रकार विचारकर उन्होंने पुनः विरक्त होकर संन्यास ले लिया और घर छोड़कर वन चले गये। अपने पति को ही सर्वस्व मानने वाली उनकी उन पत्नियों ने भी उनके साथ ही वन की यात्रा की। वहाँ जाकर परम संयमी सौभरिजी ने कठिन तपस्या के द्वारा अपने आपको परमात्मा में लीन कर दिया। उनकी पत्नियों ने भी उन्हीं का अनुगमन किया।

श्रीकर्दमजी—'छायायाः कर्दमो जज्ञे' अर्थात् ब्रह्माजी की छाया से श्रीकर्दमजी उत्पन्न हुए। जब ब्रह्माजी ने प्रजापति कर्दम को सृष्टि विस्तार की आज्ञा दी तो उन्होंने सर्वप्रथम स्वरूपानुरूप धर्मपत्नी की प्राप्ति के लिए सरस्वती नदी के तट पर बिन्दु सरोवर तीर्थ में दस हजार वर्षों तक तपस्या के द्वारा शरणागत वरदायक श्रीहरि की आराधना की। भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। प्रभु की परम मनोहर मूर्ति का दर्शन कर कर्दमजी को बड़ा हर्ष हुआ, उन्होंने सानन्द हृदय साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर प्रेम-प्रवण चित्त से हाथ जोड़कर अत्यन्त सुमधुर वाणी से भगवान की स्तुति की। भगवान ने कहा—जिसके लिए तुमने आत्म संयमादि के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदय के उस भाव को जानकर मैंने पहले से ही उसकी व्यवस्था कर दी है। परम यशस्वी सार्वभौम सम्राट् महामानव मनु परसों अपनी धर्मशीला भार्या शतरूपा के साथ अपनी रूप-यौवन, शीला और सद्गुण सम्पन्ना कमललोचना

कन्या को लेकर आयेंगे। प्रजापते! वह सर्वथा आपके स्वरूपानुरूप है। मनुजी वह कन्या आपको अर्पण करेंगे। उससे सृष्टि का विस्तार करने वाली नौ कन्याएँ होंगी तथा सांख्य शास्त्र का प्रचार करने के लिये मैं भी अपने अंश-कला से आपके वीर्य का आश्रय लेकर आपकी पत्नी देवहूति के गर्भ से अवतीर्ण होऊँगा। यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

इधर मनु जी भी महारानी शतरूपा के साथ सुवर्ण जटित रथ पर सवार होकर तथा परमसाध्वी, मुनि वृत्तिशीला कन्या देवहूति को भी बिठाकर भगवान के बताये संकेतानुसार निश्चित समय पर शान्ति परायण महर्षि कर्दम के आश्रम पर पहुँचे। अग्निहोत्र से निवृत्त परम तेजस्वी मुनि श्रेष्ठ कर्दम को मनुजी ने प्रणाम किया। श्रीकर्दमजी ने आशीर्वाद देते हुए यथोचित आतिथ्य सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा। मनुजी ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—यह मेरी कन्या है-जो प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहिन है, स्वभाव से ही राजसुख भोगों से विरक्त है, अवस्था, शील, और गुण आदि में अपने योग्य पति पाने की इच्छा रखती है। जब से इसने नारद के मुख से आपके शील, विद्या, रूप और गुणों का वर्णन सुना है, तभी से आपको अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है। द्विजवर! मैं बड़ी श्रद्धा से आपको यह कन्या समर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये। विद्वन्! जो पुरुष अपने अभीप्सित एवं स्वयं प्राप्त हुए भोग का प्रथम निरादर करके, बाद में फिर किसी कृपण के आगे हाथ पसारता है उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरों के तिरस्कार से मानभङ्ग होता है। इस पर—

दृष्टान्त—बनावटी विरक्त का—पूजा-प्रतिष्ठा के लोभ से एक वेषधारी एक गाँव के बाहर वृक्ष के नीचे धूनी लगाकर बैठ गया। गाँव के लोगों को जब यह पता चला तो वे लोग महात्मा का दर्शन करने आये तथा श्रद्धानुरूप भेंट भी लाये परन्तु बाबाजी तो दूर से ही सबको फटकारते। खबरदार! मेरे पास कोई भी कुछ भी नहीं लाना। अपने राम तो खाक-विभूति से ही मस्त रहते हैं। यह सुनकर लोगों को और भी आकर्षण होता और लोगों को आकर्षित देखकर महात्माजी और भी त्याग-वैराग्य की धौंस दिखाते। रात में गुप-चुप कुछ खा लिया करते थे। एक मनचले के मन में परीक्षा की बात आई। उसने बाजार से खूब कुरकुरी, ताजी, बादामी रंग की जलेबी खरीदा और लेकर बाबाजी के पास चला। हिम्मत करके पास जाकर उसने जलेबी, सामने धरकर स्वीकार करने की प्रार्थना की। अपने पूर्वाभ्यास के अनुसार उन्होंने ऊपर से बहुत त्याग दिखाया, परन्तु भीतर से मन ललचाने लगा जलेबियों को देखकर। बाबाजी के डाँटने-फटकारने पर भी वह जलेबी वहीं छोड़कर चला गया। सन्ध्या का समय था, थोड़ा-थोड़ा अंधेरा भी हो चला था, वह कुछ दूर जाकर छिपा रहा बाबाजी का तमाशा देखने को। इधर जब इन्होंने देखा कि वह तो चला गया तो तुरन्त ही जलेबी धूनी की राख में गाढ़ दिया। जब आने-जाने वालों की भीड़ खत्म हो गई तो रात्रि के एकान्त में धूनी से जलेबी निकाल-निकाल उसकी राख झाड़-झाड़कर खाना आरम्भ किया। खाने की धुन में ध्यान नहीं रहा कि कोई देखता न हो। तब तक वह छिपा हुआ व्यक्ति धीरे-धीरे दबे पाँव बाबाजी के पास आ गया और बोला—बाबा! तैने जलेबी खाई तो परन्तु किरकिरी करके खाईं। बाबाजी का मस्तक लज्जा से झुक गया। दृष्टान्त का तात्पर्य यह कि चाही हुई वस्तु मिलने पर तो स्वीकार कर ही लेना चाहिये।

श्रीकर्दमजी ने स्वीकृति तो दे दी परन्तु एक शर्त पर। वह यह कि जब तक इसके सन्तान नहीं हो जायेगी, तब तक मैं गृहस्थ धर्मानुसार इसके साथ रहूँगा, इसके पश्चात् भगवान के बताये हुये परमधर्म भगवदाराधन को ही मैं अधिक महत्व दूँगा। महाराज मनुजी ने ब्राह्म विधि से देवहूति का विवाह कर्दमजी से कर दिया और दहेज में भूरि-भूरि बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान किया और मुनि की आज्ञा लेकर वहाँ से अपने स्थान को चले आये।

मनु पुत्री देवहूति ने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, मदादि का त्यागकर बड़ी सावधानी और लगन के साथ सेवा में तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणादि गुणों से अपने परम तेजस्वी पतिदेव को सन्तुष्ट कर लिया। बहुत काल व्यतीत होने पर सेवा परायणा देवहूति के मन में सन्तान की अभिलाषा जागृत होने पर परम तपोधन श्रीकर्दमजी ने अपने तपोबल से स्वयं दिव्य स्वरूप धारण कर तथा देवहूति को भी दिव्यरूप प्रदान कर, सहस्त्रों दासियों से सेवित एवं समावृत होकर योग-प्रभाव-विनिर्मित दिव्य विमान पर विराजमान होकर देवहूति के साथ बहुत वर्षों तक विहार किया। तत्पश्चात् देवहूति को सन्तान प्राप्ति के लिये समुत्सुक देखकर श्रीकर्दमजी ने अपने स्वरूप के नौ विभाग किये और नवों स्वरूपों से उनके गर्भ में अपना तेज स्थापित किये। इससे देवहूति के नौ कन्याएँ पैदा हुईं। श्रीकर्दमजी अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार संन्यास ग्रहण करने को समुद्यत हुये। पतिदेव के हार्दिक अभिप्राय को जानकर देवहूति ने बड़ी विनम्रता पूर्वक कन्याओं को योग्य वरों के हाथों में सौंपने तथा वन चले जाने पर अपने आधार के लिये एक पुत्र की प्रार्थना किया। तब कृपालु मुनि कर्दम को भगवान विष्णु का वह कथन याद हो आया जिसमें कि उन्होंने स्वयं को मुनि-पुत्र होने का संकेत किया था। श्रीकर्दमजी ने देवहूति को आश्वासन दिया—प्रिये! अधीर न हो, तुम्हारे गर्भ में अविनाशी भगवान विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे। अब तुम संयम नियम दान और तपादि के द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान का आराधन करो। पति वचन विश्वासिनी देवहूति प्राणपण से भगवदाराधन में लग गईं। इधर कर्दमजी ने श्रीब्रह्माजी के आदेशानुसार अपनी कला नाम की कन्या मरीचि को अनसूया अत्रि को, श्रद्धा अङ्गिरा को हविर्भू पुलस्त्य को, गति पुलह को, क्रिया क्रतु को, ख्याति भृगु को, अरुन्धती वशिष्ठ को और शान्ति अथर्वा को समर्पण कर दिया। ये ऋषि लोग श्रीकर्दमजी की आज्ञा लेकर अति आनन्द पूर्वक अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अपने-अपने आश्रम को चले गये।

इधर परम मंगल मुहूर्त आने पर साक्षात् देवाधिदेव भगवान विष्णु श्रीकर्दमजी के वीर्य का आश्रय लेकर देवहूति के गर्भ से श्रीकपिल रूप में प्रगट हुए। देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाईं, पुष्पवृष्टि की। ब्रह्मादिक ने ऋषि दम्पत्ति के सौभाग्य की सराहना करते हुए श्रीकपिल भगवान की स्तुति किया। श्रीकर्दमजी ने पुनः पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कर श्रीकपिल भगवान की आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की और प्रसन्नता पूर्वक वन को चले गये। वहाँ परम भक्तिभाव के द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेव में चित्त लगाकर उन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया। श्रीकपिलदेव भगवान भी माता देवहूति को तत्वज्ञान का उपदेश देकर गंगा-सागर संगम पर जाकर भजन में प्रवृत्त हो गये। देवहूतिजी भी भगवान के श्रीचरणकमलों का अनुचिंतन करती हुई भगवद्धाम को प्राप्त हुईं।

श्रीअत्रिजी—'अक्ष्णोऽत्रिः' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजी के नेत्रों से श्रीअत्रिजी का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीब्रह्माजी के द्वारा सृष्टि रचना का आदेश मिलने पर श्रीअत्रिजी अपनी सहधर्मिणी सतीशिरोमणि श्रीअनसूया जी के साथ तप करने के लिए ऋक्ष नामक कुलपर्वत पर गये और वहाँ जाकर प्राणायाम के द्वारा चित्त को वश में करके सौ वर्ष तक केवल वायु पीकर, एक पैर से खड़े होकर कठोर तप करते रहे। इनकी एकमात्र अभिलाषा थी कि सम्पूर्ण जगत के ईश्वर प्रसन्न होकर मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) इनके आश्रम पर आये। मुनि ने विह्वल होकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर अति मधुर वाणी से उनकी स्तुति की तत्पश्चात् जिज्ञासा की कि—मैंने तो केवल जगदीश्वर भगवान का ही चिन्तन किया था, फिर आप तीनों ने यहाँ पधारने की कृपा कैसे की? मैंने जिनको बुलाया था, वे आपमें से कौन हैं? श्रीअत्रिजी के इन सरल वचनों को सुनकर त्रिदेव हँसकर बोले—प्रिय महर्षे! तुम जिस जगदीश्वर का ध्यान करते हो, वह हम तीनों ही हैं। तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंश स्वरूप तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे सुन्दर यश का विस्तार करेंगे। कालान्तर में ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा, विष्णु के अंश से योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और शिवजी के अंश से दुर्वासाजी अत्रिजी के पुत्र रूप में प्रगट हुए। श्रीअत्रिजी ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। (भा०)

एक बार देवासुर संग्राम में राहु ने अपने बाणों से चन्द्रमा और सूर्य को घायल कर दिया था जिससे सब ओर घोर अन्धकार छा गया था। फिर तो अन्धकार में फँसे हुए देवता लोग कुछ सूझ न पड़ने के कारण एक बारगी बलवान दैत्यों के हाथ से मारे जाने लगे। तब वे भागकर तपोधन श्रीअत्रि मुनि की शरण में जाकर अपनी स्थिति निवेदन किये। देवताओं की प्रार्थना पर अत्रिजी ने अपनी तपस्या से उस युद्ध भूमि में प्रकाश फैलाया और सम्पूर्ण जगत का अन्धकार दूर किया उन्होंने दिन में सूर्य बनकर एवं रात्रि में चन्द्रमा बनकर आलोक प्रदान किया। इतना ही नहीं, इन्होंने अपने प्रचण्ड तेज से दैत्यों को दग्ध कर दिया, जिससे देवता बड़ी सुगमता पूर्वक उन पर विजय पा गये। श्रीअत्रिजी ने चन्द्रमा और सूर्य को अपना तेज देकर तेजोमय बनाया। (म०भा०)

वनवास काल में श्रीरामजी ससीय एवं सानुज श्रीअत्रिजी के आश्रम पर गये थे। यथा—

चौ०— **अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हर्षित भयऊ।।**
पुलकित गात अत्रि उठि धाये। देखि राम आतुर चलि आये।।
करत दण्डवत मुनि उर लाए। प्रेम बारि द्वौ जन अन्हवाए।।
देखि राम छबि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने।।
करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मन भाये।।

सो०— **प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि।**
मुनिवर परम प्रवीन, जोरि पानि अस्तुति करत।। (रा०च०मा०)

स्तुति करने के बाद श्रीअत्रिजी ने भगवान श्रीरामजी से यह वर माँगा—'विनती करि मुनि नाइ सिर, कह करजोरि बहोरि। चरनसरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि।।' (रामा०) श्रीअनुसूयाजी ने श्रीजानकीजी को अपने अमोघ आशीर्वाद के साथ-साथ दिव्य वस्त्राभूषणोपहार प्रदान किये तथा पातिव्रत

धर्म की शिक्षा दी। (श्रीअनुसूयाजी का विशेष चरित देखिये छप्पय ६६ में) जब भगवान श्रीरामजी इनसे अन्यत्र जाने के लिए विदा माँगे तो इनको वियोग व्याप गया। तथा—'केहि विधि कहौं जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम अन्तरजामी।। अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक शरीरा।।' इनके भाव को देखकर भगवान श्रीरामजी मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। श्रीअत्रि आदि ऋषियों के भाव से भावित होकर श्रीरघुनाथजी चित्रकूट में सदा सर्वदा निवास करते हुए भक्तों को अभिमत प्रदान करते रहते हैं। यथा—'चित्रकूट सबदिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। रामनाम जप जापकहिं तुलसी अभिमत देत।।' (दो०)

अत्रि-अनसूया का आध्यात्मिक अर्थ—अ+त्रि=अत्रि अर्थात् त्रिगुणातीत, जीव ही अत्रि है और अत्रि की ही सहधर्मिणी अनसूया (अन्+असूया=अदोष दर्शिनी वृत्ति यथा 'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि। नान्यदोषे रमते सानसूयाप्रकीर्तिता।।' (अत्रिस्मृति) अर्थ—जो गुणियों के गुण का खण्डन नहीं करता, किसी के थोड़े से भी गुणों की प्रशंसा करता है, दूसरे के दोष देखने में मन नहीं लगता है, उसके इस भाव को अनसूया कहते हैं। अर्थात् त्रिगुणातीत पुरुष में ही अनुसूया वृत्ति का उदय होता है और जो स्वयं अत्रि होकर अनसूया से युक्त है वहाँ भगवान स्वत: जाते हैं। उसके यहाँ भगवान जगत्पिता होकर भी उसके पुत्र बन जाते हैं।

श्रीऋचीकजी तथा श्रीयमदग्निजी—देखिये परशुरामावतार छप्पय ५ और राजा गाधि का प्रसंग छप्पय १२।।

श्रीगर्गजी—गर्ग: पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपा:।। (भा० १०-८-१) अर्थ—श्रीगर्गाचार्यजी यदुवंशियों के पुरोहित थे और बड़े तपस्वी थे। श्रीवसुदेवजी ने इन्हें अपने पुत्रों का नामकरण संस्कार करने के लिये गोकुल भेजा था। श्रीगर्गाचार्यजी का दर्शन कर श्रीनन्दबाबा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनके चरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणामोपरान्त श्रीनन्दजी ने विधिपूर्वक आचार्यचरण का पूजन किया और उनके शुभागमन से अपना अहोभाग्य माना। तत्पश्चात् अपने दोनों बालकों को मुनि के चरणों में प्राणाम कराकर इनका नामकरणादि संस्कार करने की प्रार्थना की। मुनि तो इसी निमित्त आये ही थे। परन्तु कंस को कहीं यह आभास न हो जाय कि वसुदेवजी के पुरोहित ने नन्दात्मज का समयोचित संस्कार कराया है अत: हो न हो, ये वसुदेव पुत्र ही हैं, वह दुष्ट इनके अनिष्ट का उद्यम करने लगेगा, अत: श्रीगर्गजी ने एकान्त गोशाला में स्वस्तिवाचन पूर्वक बालकों का द्विजाति समुचित संस्कार कर दिया। इसी व्याज से श्रीगर्गाचार्यजी ने श्रीबलराम-कृष्ण के ऐश्वर्य का भी वर्णन कर दिया जिससे कि आगे की लोकोत्तर लीलाओं में किसी प्रकार का सन्देह न हो। भगवान के अतिमानुषी चरित्रों को देखकर श्रीगर्गजी के वचनों को याद कर लेने पर सहज ही सन्देह का समाधान हो जाता था।

श्रीगर्गजी का श्रीकृष्ण लीला में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समस्त नन्दव्रज कुमारिकायें श्रीकृष्ण को ही पति रूप में प्राप्त करने के लिये श्रीकात्यायिनी देवी का पूजन कर रही थीं परन्तु उनके माता- पिता तो लोक व्यवहार के अनुसार कन्याओं को अन्यत्र ही व्याहना चाहते थे। बड़ी कठिन समस्या थी। श्रीगर्गाचार्यजी ने इसको बड़ी बुद्धिमानी से सुलझाया। जिस समय श्रीब्रह्माजी मोहवश गोप-बालक-वत्सों को हर ले गये थे और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही अनेक-अनेक बालक और वत्स

बनकर विविध विनोद कर रहे थे, उस समय श्रीगर्गाचार्यजी ने लीला के अनुकूल परिस्थिति विचारकर ब्रज में आकर सबको यह चेतावनी दिया कि ग्रहस्थिति के अनुसार अगले बारह वर्षों तक विवाह मुहूर्त नहीं मिलने वाले हैं अतः इसी वर्ष कुमार- कुमारियों का विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिए। जो कि वस्तुतस्तु अनेक रूप में श्रीकृष्ण ही थे। इस प्रकार सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण को स्वकीया ही हुई। श्रीगर्गाचार्यजी ने स्वरचित 'गर्ग-संहिता' में भगवान श्रीकृष्ण की अति मधुर रसमयी लीलाओं का बड़ी मधुरता के साथ वर्णन किया है।

श्रीगौतमजी—शम, दम, तम, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता के मूर्तिमान स्वरूप महर्षि गौतमजी की भगवान में अन्यतम निष्ठा थी। कहते हैं कि एक बार श्रीब्रह्माजी ने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की, जिसका नाम अहल्या रक्खा। समस्त देवगण उसके रूप पर मोहित थे। यह देख ब्रह्माजी ने कहा कि जो सबसे पहले तीनों लोकों की परिक्रमा करके आवेगा उसको यह लोक सुन्दरी कन्या व्याही जायेगी। इन्द्रादि समस्त देवता अपने-अपने वाहनों पर चले। गौतमजी ने अपने शालग्राम भगवान की परिक्रमा कर ली और ब्रह्माजी के पास गये। इधर देवगण जहाँ जाते वहाँ आगे महर्षि गौतम को देखते थे। सबने इनका आगे होना स्वीकार किया। अतः वह कन्या गौतमजी को मिली।

अध्यात्म रामायण में ऐसा भी प्रसङ्ग मिलता है कि ब्रह्माजी ने इस कन्या को गौतमजी के पास धरोहर रखी। बहुत काल बीत जाने पर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आये तो इनका परम वैराग्य देखकर, इनके ब्रह्मचर्य से सन्तुष्ट होकर वह लोक सुन्दरी सेवा परायणा कन्या परम तपोधन गौतमजी को ही दे दी यथा—'**तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषण परायणाम्।।**' (अ०रा०) इन्द्र को यह बहुत बुरा लगा क्योंकि वह तो उसे अपनी ही सोचे बैठे थे। समझते थे कि यह हमें छोड़ दूसरे को नहीं मिल सकती क्योंकि हम देवराज हैं। उनके रूप लावण्य पर मुग्ध होकर वह नित्य प्रति उसके साथ रमण करने का अवसर ताकते रहते थे।

एक दिन मुनि के कही बाहर चले जाने पर वह गौतमजी का रूप धारण कर आश्रम में आये। वाल्मीकि रामायण में ऐसा भी वर्णन है कि मुनिवेशधारी इन्द्र ने अहल्या से कहा कि प्रार्थी ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करता, मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूँ अहल्या ने समझ लिया कि यह मुनि के वेष में इन्द्र है, फिर भी उस मूर्खा ने देवराज के प्रति कुतूहल होने के कारण उसने उनकी बात स्वीकार ली। यथा—**मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलम्।।** पुनः कृतार्थ मन से उसने इन्द्र से कहा—हे देवराज! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहाँ से चले जाइये। महर्षि गौतम से मेरी और अपनी भी सब तरह से रक्षा करना। यथा—कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो।। (वा० रा०) अहल्या के साथ समागम कर वे शीघ्रता से वहाँ से चल दिये। आश्रम से शीघ्र बाहर निकल जाने की चिन्ता में इन्द्र अपना रूप धारण करने को भूल गये। इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आये। आश्रम से अपना रूप धारण किये हुए पुरुष को बाहर निकलते देख मुनि ने कुपित होकर पूछा रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूप को धारण करने वाला तू कौन है? सच-सच बता, नहीं तो मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा। तब इन्द्र ने कहा—मैं काम के वशीभूत देवराज इन्द्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। मैंने बड़ा घृणित कार्य किया है। तब महर्षि ने क्रोध से उनको शाप दिया कि हे दुष्टात्मन्! तू योनि लम्पट है, इसलिए तेरे शरीर में सहस्र भग हो जायँ।

देवराज को शाप देकर मुनि आश्रम में आये। देखा कि अहल्या भय से कांपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। महर्षि ने उसको शाप दिया कि—दुष्टे! तू मेरे आश्रम में शिला में निवास कर। यहाँ तू निराहार रहकर आतप, वर्षा और वायु को सहती हुई तपस्या कर और एकाग्रचित से श्रीराम का ध्यान कर। यह आश्रम सब जीव जन्तुओं से रहित हो जायगा। हजारों वर्षों के बाद श्रीराम जब आकर तेरी आश्रय भूतशिला पर अपने चरण रखेंगे तब तू पाप मुक्त हो जायगी और उनकी पूजा स्तुति आदि करने पर तू शाप से मुक्त होकर फिर मेरी सेवा पायेगी। शाप देकर मुनि हिमालय के उस शिखर पर चले गये जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं। जब भगवान श्रीरामजी महर्षि विश्वामित्र के साथ मिथिलापुरी को जा रहे थे उस समय—

चौ०— **आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं।।**
पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा विशेषी।।

दो०— **गौतम नारी शापवस, उपल देह धरि धीर।**
चरण कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर।।

छ०— **परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही........।।** (रा०च०मा०)

सत्योपाख्यान में वर्णन आया है कि उस समय गौतमजी वहाँ आ पहुँचे और भगवान श्रीरामजी की स्तुति कर अहल्या को साथ लेकर चले गये। यथा—'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सहगता पुनः।।

श्रीगौतमजी न्यायशास्त्र के प्रवर्तक ऋर्षि हैं। कहा जाता है कि महर्षि वेदव्यास ने इनके सिद्धान्त का खण्डन किया था इसलिये इन्होंने उनका मुख न देखने की प्रतिज्ञा की थी। बाद में जब वेदव्यासजी ने इनको प्रसन्न किया तब इन्होंने पैर में नेत्र उत्पन्न करके उनको देखा और अपनी प्रतिज्ञा भी दृढ़ रखी। इसी कारण से इनका नाम अक्षपाद भी पड़ गया। (शब्द कोश)

एक समय बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियों को अन्न जल की बड़ी चिन्ता हुई। सब संत्रस्त होकर गौतम ऋषि के आश्रम पर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब वे लोग अपने-अपने आश्रमों को जाना चाहे परन्तु परम सन्त सेवी महर्षि गौतम ने जाने नहीं दिया। वरंच वहीं निवास करने को कहा। तब उन ऋषियों ने आपस में सम्मत करके एक माया की गाय रचकर मुनि के खेत में खड़ी कर दी और स्नान करके मुनि के आते ही बोले कि गाय खेत चरे जाती है। इन्होंने जैसे ही हाँकने को हाथ उठाया, वह माया की गाय गिरकर मर गई। तब वे सब इनको गोहत्या का दोष लगाकर वहाँ से चलते भये। मुनि ने ध्यान धरकर देखा तो सब चरित्र जान गये और यह शाप दिया कि तुम लोग जहाँ जाना चाहते हो, वह देश नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। मुनि के द्वारा दण्डित उन ऋषियों का स्थान ही शाप के कारण दण्डकारण्य हो गया। जब श्रीरामजी वहाँ पदार्पण किये तो उस शाप की निवृत्ति भई। यथा—'दण्डक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई उकठे विटप लागे फूलन फरन।। (गी०)

श्रीव्यास-शिष्य—जैसे मणियों के समूह में से विभिन्न जाति की मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं। वैसे ही भगवान वेदव्यास ने मन्त्र समुदायों में से भिन्न-भिन्न प्रकरणों के अनुसार मन्त्रों का संग्रह करके उनसे ऋग, यजुः साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनाईं और अपने चार शिष्यों को

बुलाकर प्रत्येक को एक-एक संहिता की शिक्षा दी। उन्होंने 'बह् वृच' नाम की पहली ऋक् संहिता को पैलको, 'निगद' नाम की दूसरी यजु: संहिता वैशम्पायन को, सामश्रुतियों की 'छान्दोग संहिता' जैमिनि को और सुमन्तु को 'अथर्वाङ्गिरस संहिता' का अध्ययन कराया। समस्त पुराणों का सूतजी को एवं श्रीमद्भागवत का श्रीशुकदेवजी को अध्ययन कराया। आगे चलकर इन शिष्यों के शिष्य-प्रशिष्य बहुत हुए।

श्रीलोमशजी—ये चिरंजीवी महर्षि हैं। शरीर पर बहुत-बहुत रोम होने से इनको लोमश कहते हैं। द्विपरार्ध व्यतीत होने पर जब ब्रह्मा की आयु समाप्त होती है तो इनका एक रोम गिरता है। यद्यपि ब्रह्माजी कीआयु बहुत बड़ी है। इनका एक कल्प (हजार चतुर्युगी) का दिन होता है और इतनी बड़ी रात्रि भी होती है। इस प्रकार तीस दिन का महीना और बारह महीने के साल के हिसाब से ब्रह्माजी की सौ बरस की आयु है, लेकिन श्रीलोमशजी की दृष्टि में मानो रोज-रोज ब्रह्माजी मरते ही रहते हैं। एक बार तो अपनी दीर्घायुष्यता से अकुलाकर इन्होंने भगवान से मृत्यु का वरदान माँगा। प्रभु ने उत्तर दिया कि यदि 'जल-ब्रह्म' की वा ब्राह्मण की निन्दा करो तो उस महापातक से आप भले ही मर सकते हो, अन्यथा आपके यहाँ काल की दाल नहीं गलने वाली है। इन्होंने कहा कि अच्छा! आश्रम में जाकर मैं वैसा ही करूँगा। मार्ग में इन्होंने थोड़ा सा जल देखा, जो कि शूकर के लोटने से अत्यन्त गंदला हो गया था। वहीं पर इन्होंने देखा कि एक स्त्री, जिसके गोद में दो बालक थे, पहले एक बालक को स्तनपान कराकर, फिर अपना स्तन धोकर तब दूसरे बच्चे को स्तन पिला रही है। श्रीलोमशजी ने इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि यह एक पुत्र तो ब्राह्मण के तेज से है और दूसरा नीच जाति के मेरे पति से जन्मा है। अतएव मैंन ब्राह्मणोद्भव बालक को धोये स्तन का दूध पिलाया है।

श्रीलोमश का नियम था कि वह नित्य ब्राह्मण का चरणोदक लेते थे। आज उन्होंने अभी नहीं लिया था। दूसरा जल वा दूसरा ब्राह्मण मिला नहीं, अत: उन्होंने उसी जल से उसी ब्रह्मवीर्य्य से उत्पन्न बालक का चरणामृत ले लिया। उसी काल में प्रभु प्रकट हो गये और बोले कि तुमने जब ऐसे जल को भी आदर दिया और ऐसे ब्राह्मण के चरण सरोज की भी भक्ति की तो तुम भला जल वा विप्र के निन्दक कब हो सकते हो। मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि विप्र प्रसाद से तुम चिरंजीव ही बने रहोगे। तभी तो कहा गया है कि— 'हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई।।' 'पुण्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्रपद पूजा।।' (रामा०)

श्रीलोमशजी इतने दीर्घायु होकर भी शरीर की क्षणभंगुरता का निरन्तर अनुसन्धान करते हुए सर्वथा अपरिग्रह पूर्वक सदा-सर्वदा हरिचिन्तन में तल्लीन रहते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में एक कथा आती है कि एक बार देवराज इन्द्र ने अपने को अमर मानकर एक बड़ा विशाल महल बनवाना प्रारम्भ किया। विचारा विश्वकर्मा पूरे सौ वर्ष तक करनी-बसूली चलाता रहा परन्तु तब भी जब निर्माण कार्य का पर्यवसान उन्हें नहीं दीख पड़ा तो घबराकर वह मन ही मन ब्रह्माजी की शरण गया। ब्रह्माजी ने भगवान से प्रार्थना किया। भगवान एक ब्राह्मण बालक का रूप धारण कर इन्द्र के पास पहुँचे और पूछे—देवेन्द्र! आपके इस निर्माण कार्य में कितने विश्वकर्मा लगे हैं और कब तक यह पूर्ण होगा? इन्द्र तो आज तक एक ही विश्वकर्मा को जानते थे। यह प्रश्न सुनकर कुछ चकराकर पूछे—क्या विश्वकर्मा भी कई हैं? तब बालक रूपधारी

भगवान ने इन्द्र से सृष्टि का आनन्त्य वर्णन करते हुए नीचे जाते हुए दौ सौ गज लम्बे-चौड़े चींटों के समुदाय की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि ये सब पहले कभी इन्द्र हो चुके हैं। पुण्य क्षीण होने पर अब इस गति को प्राप्त हैं। इन्द्र के पाँव के नीचे की जमीन खिसक गई। भगवान यह कह ही रहे थे कि महर्षि लोमश भी सिर पर चटाई रखे वहाँ आ पहुँचे। वस्तुतस्तु भगवान ने उनका स्मरण किया था। इन्द्र ने यथोचित सत्कार किया। तदनन्तर भगवान ने जब मुनि से सिर पर चटाई रखने एवं वक्षःस्थल पर के रोमरिक्त स्थान के रहस्य को जानने की इच्छा की तो मुनि ने बड़ी शान्ति पूर्वक कहा—जीवन क्षणभंगुर है। इस थोड़ी सी आयु के लिए संग्रह-परिग्रह तथा कुटिया आदि बनाने की कौन खटपट करे। यह चटाई मुझे पर्याप्त छाया दे देती है। मैंने अपनी आँखों से न जाने कितने इन्द्र और ब्रह्मा का विनाश देखा है। इनकी मृत्यु पर मेरा एक रोम गिर जाता है। यही विचारकर, समस्त जगत्प्रपंच से मुँह मोड़कर, भगवन्नाम का एकमात्र सहारा लेकर, पर्यटन करता रहता हूँ। इन्द्र ने निर्माण कार्य बन्द कर दिया।

एक बार श्रीलोमशजी ने श्रीनारदजी से पूछा—आप कहाँ से आ रहे हैं। श्रीनारदजी ने कहा—मैं नित्यप्रति श्रीअयोध्या जाता हूँ भगवान श्रीराम का दर्शन करने। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है— 'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा।। दिन प्रति सकल अयोध्या आवहि। देखि नगर विराग विसरावहिं।।' (रामा०) श्रीलोमशजी कागभुसुण्डिजी की तरह श्रीनारदजी को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने लगे। श्रीनारदजी को यह उपदेश नहीं रुचा। भगवान से शिकायत किये तब भगवान ने इन्हें भी श्रीमार्कण्डेयजी की तरह माया का दर्शन कराया। ये माया के प्रलयपयोधि में डूबते-उतरते वैकुण्ठ में पहुँचकर भगवान विष्णु से रक्षा की प्रार्थना किये तो भगवान विष्णु ने कहा—हम तो एक ब्रह्माण्ड के पालक हैं और यह माया अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीरामजी की है अतः आप श्रीरामजी की शरण ग्रहण करें। जिस भी ब्रह्माण्ड में लोमशजी पहुँचे वहाँ यही आदेश हुआ, तब भटकते-भटकते जब श्रीअयोध्या पहुँचे तो इन्होंने प्रथम श्रीसरजू जी में स्नान किया तब श्रीरघुनाथजी का दर्शन हुआ। 'त्राहि-त्राहि' कहकर चरणों में पड़े तब माया से छूटे। फिर तो इन्होंने खूब श्रीरामजी का यश गाया। जो लोमशरामायण के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरूपकला जी ने एकबार श्रीकृष्ण की बाललीला देखकर मोहित होने पर तथा एक बार स्वेच्छा से माया का प्रभाव देखने की इच्छा करने पर माया दर्शन का प्रसङ्ग वर्णन किया है।

श्रीभृगुजी—'भृगुस्त्वचि' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजी की त्वचा से श्रीभृगुजी का जन्म हुआ। ये इक्कीस प्रजापतियों में से एक प्रजापति हैं, सप्तर्षि मण्डल के एक ऋषि हैं, परम तपस्वी हैं। इन्होंने एक बार त्रिदेवों की परीक्षा ली थी। देखिये मूल मङ्गलाचरण दोहा ३।। तथा एक बार भगवान विष्णु को शाप दिया था। देखिये क० २५।।

श्रीदाल्भ्यजी—विप्रवर श्रीदाल्भ्यजी ने भगवान श्रीदत्तात्रेयजी से भक्ति-योग की शिक्षा पाई थी इनकी साधना से सन्तुष्ट होकर भगवान श्रीहरि ने दर्शन दिया था। इन्होंने धर्म-ज्ञान-वैराग्य-भक्ति प्रतिपादक, संहिता- ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसे 'दाल्भ्य संहिता' कहते हैं। इनकी परम भागवतों में गणना की जाती है। यथा—

प्रह्लादनारदपराशर पुण्डरीक व्यासाम्बरीषशुकशौनक भीष्म 'दाल्भ्यान्'।
रुक्माङ्गदार्जुनवशिष्ठविभीषणादीनेतानहं परमभागवतान्नमामि।।

श्रीअङ्गिराजी—'अङ्गिरा मुखतो' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजी के मुख से इनकी उत्पत्ति हुई है। ये ब्रह्माजी के सभासद हैं। इन्हीं के पुत्र बृहस्पतिजी को देवताओं के पौरोहित्य के पद पर वरण किया था। देवर्षि नारदजी के उपदेश से भक्ति तत्व का ज्ञान प्राप्त कर श्रीअङ्गिराजी अलकनन्दा गङ्गा के तट पर नित्य स्वाध्याय, जप, तपादि साधनों के द्वारा भगवान श्रीहरि की आराधना करते रहते हैं। एक बार इन्होंने स्वर्ग में जाकर अथर्व वेद के मन्त्रों से देवेन्द्र का पूजन किया था। इससे भगवान इन्द्र ने प्रसन्न होकर इनको यह वर दिया कि— ब्रह्मन्! आप इस अथर्व वेद में अथर्वाङ्गिरस नाम से विख्यात होंगे और आपको यज्ञ भाग भी प्राप्त होगा। इस प्रकार यह एक वैदिक ऋषि एवं यज्ञिय देवता हैं। (म० भा०)

इन्होंने महर्षि शौनक को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इनके विचार से यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यह कृपा करके जिसको स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। यथा—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।' (मुण्डक०) आपका कथन है कि कार्य कारण स्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है। सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। यथा—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।' (मुण्डक०)

श्रीशृङ्गीऋषिजी—इनके जन्म की कथा इस प्रकार से है कि एक बार विभाण्डक मुनि एक कुण्ड में समाधि लगाये बैठे थे। उसी समय उर्वशी अप्सरा उधर से आ निकली। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया, जिसे जल के साथ एक प्यासी मृगी पी गई। उस मृगी से इनका जन्म हुआ। माता के समान इनके सिर पर भी एक सींग था अतः इनका नाम ऋष्यशृङ्ग पड़ा। ये सदा वन में अपने पिता विभाण्डक के पास रहने के कारण किसी स्त्री वा पुरुष को नहीं जानते थे। इस प्रकार इन्हें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने, अग्नि और पिता की सेवा करते बहुत काल बीत गया। उसी समय अंगदेश में रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुए। उनके राज्य में बड़ा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। राजा ने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणों से अपने कर्मों का, जिसके कारण राज्य में वर्षा नहीं हो रही है, प्रायश्चित पूछा। उन ब्राह्मणों ने राजा को यह उपाय बताया कि आप जैसे बने तैसे विभाण्डक मुनि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग को यहाँ ले आइये और उनका सत्कार करके यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर दीजिये।

राजा चिन्तित हुए कि ऋषि को कैसे यहाँ लाया जाय? बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अपने पुरोहित और मंत्रियों से कहा कि आप लोग जाकर ऋषिकुमार को ले आवें। परन्तु उन लोगों ने निवेदन किया कि हम लोग वहाँ जाने में विभाण्डक ऋषि के शाप से डरते हैं। अतः स्वयं न जाकर किसी अन्य उपाय से उनको यहाँ ले आयेंगे जिससे हमको दोष न लगे। मन्त्री और पुरोहितों ने निर्विघ्न कृत कार्य होने कायह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कार पूर्वक भेजी जायँ। वे अपने कौशल से ले आवेंगी। राजा ने वैसा ही उपाय करने को कहा। वेश्याएँ भेजी गईं। आश्रम के निकट पहुँचकर वे धीर ऋषि पुत्र

किया ? मैं उनसे कैसे लड़ूँगा ? तब प्रभु ने श्रीनारदजी का स्मरण किया। नारदजी तत्काल प्रगट हो गये। भगवान ने कहा—नारदजी ! आपका चेला बदल गया है। आप ही बताइये—मेरा क्या दोष है ? एक बार जिसको गोद में बैठाकर प्यार किया है, उसके ऊपर मैं अस्त्र-शस्त्र भला कैसे चला सकता हूँ? अतः आप जाकर प्रह्लाद को समझाइये। श्रीनारदजी प्रह्लादजी के पास आये। शिष्य ने गुरु को साष्टांग प्रणाम किया। गुरुदेव नारद ने आशीर्वाद देकर जब स्थिति पूछी तो इन्होंने सब सही-सही बता दिया। श्रीनारदजी ने कहा—बेटा प्रह्लाद ! तुम्हारी बुद्धि तो ऐसीनहीं होनी चाहिये। तुम तो भक्तों के आदर्श हो। तुमसे निश्चय ही कोई महदपराध हो गया है। तत्पश्चात् श्रीनारदजी ने ध्यान धर कर देखा तो उन्हें सब बात मालूम हुई। तब श्रीनारदजी ने प्रह्लाद को श्रीसनकादि ऋषियों की प्रार्थना करने को कहा। गुरु की आज्ञा मानकर प्रह्लादजी ने एकाग्रचित्त हो उनका ध्यान करते हुए स्तवन किया। सन्त-स्मरण, संस्तवन के प्रभाव से बुद्धि शुद्ध हो गई। तब तो श्रीप्रह्लादजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और युद्ध का निश्चय छोड़कर गुरु और गोविन्द के चरणों में बारम्बार प्रणाम कर अपराध क्षमा कराकर घर आये। यह है महदपराध का दुष्परिणाम एवं सन्त-स्मरण का सुपरिणाम—दोनों का ज्वलन्त उदाहरण। श्रीप्रह्लादजी को श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने भक्त-शिरोमणि के रूप में स्मरण किया है। यथा—'नामजपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत शिरोमणि भे प्रहलादू।।' इनके प्रेम की प्रशंसा करते हुए श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं कि—

आरतपाल कृपाल जो राम जेहीं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रतापमहामहिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े।।
सेवक एकते एक अनेक भये तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन पाहनते परमेश्वर काढ़े।।१।। (कवितावली)
काढ़िकृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाउँ हैं, खम्भ में? हाँ, सुनि हांक नृकेहरि जागे।।
बैरि बिदारिभये बिकराल कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति भई तुलसी तबते सब पाहन पूजन लागे।।२।।
अंतरजामिहुँ ते बड़े बाहिरजामी है राम जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कानि कियेतें।।
आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये ते।
पैज परे प्रह्लादहुँ के प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें।। (कवितावली)

धन्य प्रह्लाद ! भगवान श्रीराम ने तो शिला से मुनि पत्नी अहल्या को प्रगट किया, परन्तु तुमने तो खम्भ से भगवान को ही प्रकट कर लिया।

श्रीअक्रूरजी

चले अकरूर मधुपुरी ते विसूर नैन चली जलधारा कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावैं एक देखिबोई भावैं देह सुधि बिसरावै लोटै लखि पगधूर को।।

श्रीवशिष्ठजी के पुत्र एवं महोदय नाम के ऋषि ने इनका निमन्त्रण अस्वीकार किया तो ये शाप देकर उन्हें भस्म कर दिये और आगत ऋषियों द्वारा यज्ञ आरम्भ कर दिये। परन्तु विधि पूर्वक अनुष्ठान होने पर भी देवता यज्ञ भाग लेने के लिये नहीं आये। तब ये अपने तपोबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने लगे परन्तु त्रिशंकु की अनधिकार चेष्टा पर खीझकर देवराज इन्द्र ने उसे स्वर्ग से ढकेल दिया। तब विश्वामित्रजी राजा को अन्तरिक्ष में ही रोककर अपने तपोबल से दूसरे स्वर्ग की ही सृष्टि करने लगे। यह देखकर ऋषि-मुनि- देवताओं ने आकर अनुनय-विनय कर इनको इस कार्य से निवृत्त किया। विश्वामित्रजी को अपने इस तपक्षय से बड़ी ग्लानि हुई और वे उस स्थान को छोड़कर पुष्कर तीर्थ में जाकर तप करने लगे। उन्हीं दिनों राजा अम्बरीष का यज्ञिय पशु इन्द्र द्वारा चुरा लिये जाने पर पुरोहितों ने जब उसके प्रतिनिधि रूप से किसी पुरुष को लाने की आज्ञा दी तो राजा अम्बरीष महर्षि ऋचीक के मझले पुत्र शुनः शेप को एक लाख गौ एवं एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा में खरीदकर घर की ओर ले चले। रास्ते में पुष्कर तीर्थ पड़ा। यहाँ अपने मामा विश्वामित्र को तप निरत देखकर शुनः शेप अपनी प्राणरक्षा के लिये इनकी शरण में गया। विश्वामित्रजी ने दयार्द्र होकर अपने तपोबल से शुनः शेप को इस विपत्ति से बचाया। यज्ञ-देवता इन्द्र और उपेन्द्र ने बिना बलि लिये ही राजा को पूर्णकाम का वर दे दिया और शुनः शेप को दीर्घायु होने का वर दिया। एक बार का तप ऐसे चला गया।

विश्वामित्रजी ने पुनः एक हजार वर्ष तक तप किया तो ब्रह्माजी ने आकर इन्हें ऋषि पद प्रदान किया। पुनः तप में लगे परन्तु अबकी बार का तप मेनका अप्सरा के मोह जाल में फँस जाने से नष्ट हो गया। तब वे पुष्कर छोड़कर हिमाचल पर जाकर तप करने लगे। एक हजार वर्ष बीतने पर ब्रह्माजी इन्हें 'महर्षि कहकर चले गये। इन्होंने फिर तप प्रारम्भ किया। अबकी बार इनकी कठिन तपश्चर्या को देखकर इन्द्र ने भयभीत होकर रम्भा अप्सरा को तप भंग करने के लिये भेजा। इसे देखकर महर्षि विश्वामित्र को काम का संचार तो नहीं हुआ परन्तु क्रोध हो गया। अब इन्होंने निश्चय किया कि जब तक हमें ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त होगा तब तक चाहे अनन्त वर्ष बीत जायँ मैं बिना खाये-पीये, बिना श्वांस लिये खड़े होकर तप करूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय कर ये पूर्व दिशा में जाकर एक हजार वर्ष तक घोर तप किये। बीच-बीच में उन पर बहुत से विघ्नों का आक्रमण हुआ परन्तु काम-क्रोधादि इनके मन में नहीं घुसने पाये। व्रत पूर्ण होने पर ज्यों ही अन्न भोजन करना चाहा, इन्द्र ने विप्ररूप धरकर उस अन्न को माँग लिया, इन्होंने सहर्ष दे दिया और पुनः श्वांस खींचकर तप में लग गये। इनके मस्तक से अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगीं। सब देवता डर कर ब्रह्माजी के पास दौड़े कि आप शीघ्र उनके मनोरथ को पूर्ण करें। अब उनमें कोई विकार नहीं है।

श्रीब्रह्माजी ने आकर इन्हें ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया। सभी देवताओं एवं ऋषियों ने भी इसे स्वीकार किया परन्तु श्रीवशिष्ठजी अब भी इन्हें अधिक से अधिक महर्षि कहते। श्रीविश्वामित्रजी यह नहीं समझ पाते कि अब हम में क्या कमी है। परिणाम यह हुआ कि इनके मन में पुराना बैर पुनः भड़क उठा और अन्तोगत्वा ये वशिष्ठजी को मार डालने का निश्चय कर रात्रि के सुनसान में अवसर की प्रतीक्षा में आश्रम के समीप छिप रहे। उसी समय श्रीअरुन्धतीजी ने कहा—प्रभो! देखिये, कैसी निर्मल ज्योत्स्ना छिटक रही है। श्रीवशिष्ठजी ने कहा—जैसे आजकल विश्वामित्रजी की तपस्या का तेज समस्त दिशा-विदिशा को आलोकित कर रहा है। श्रीअरुन्धतीजी परोक्ष में श्रीवशिष्ठजी के श्रीमुख से विश्वामित्रजी की प्रशस्ति

सुनकर विस्मित होकर पूछीं— नाथ! तो फिर आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं मान लेते हैं? श्रीवशिष्ठजी ने मुसकराकर कहा—देवि! उनमें अब विकार तो कोई नहीं रहा, परन्तु अस्त्र-शस्त्र का धारण करना उन्होंने नहीं छोड़ा है। जो ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध है। श्रीविश्वामित्रजी यह सब सुन रहे थे। उन्हें अब अपनी भूल मालूम हुई। बड़ा पश्चाताप हुआ। अहो! धिक्कार है, मुझे जो कि मैंने ऐसे महापुरुष के प्रति दोष बुद्धि करके वध तक का दु:सङ्कल्प कर डाला। फिर तो विश्वामित्रजी अपने सभी अस्त्र-शस्त्र उतार फेंके और दौड़कर श्रीवशिष्ठजी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् पड़ गये। श्रीवशिष्ठजी वेदिका से उतरकर 'उठिये ब्रह्मर्षिजी' यह कहते हुये इन्हें दोनों हाथों से उठाकर हृदय से लगा लिये।

भगवान श्रीराम ने इन्हें भी श्रीवशिष्ठजी की ही तरह गुरु का गौरव प्रदान किया है। ये श्रीगंगाजी के तट पर स्थित सिद्धाश्रम (विहार प्रान्त में, वर्तमान में जिसे बक्सर कहते हैं।) में वास करते हुये जप, योग यज्ञादि द्वारा भगवान की आराधना करते थे। उन दिनों राक्षसेन्द्र रावण का बल पाकर मारीच, सुबाहु प्रभृति राक्षस इनके आश्रम में भी बहुत उपद्रव करते थे। यद्यपि ये शाप के द्वारा उनको नष्ट करने में समर्थ थे परन्तु इससे तप हानि विचारकर मुनिजी ने मन में यह निश्चय किया कि भूभारहरणार्थ स्वयं भगवान श्रीराम अवतार लेकर अब किशोर वय में प्रवेश कर चुके हैं। अतः चलूँ श्रीअयोध्या चलकर प्रभु का दर्शन करूँ और श्रीदशरथजी से उनको माँग लाऊँ अपने यज्ञ की रक्षा के लिये। फिर क्या था? मुनि तुरन्त चल पड़े श्रीअवध को, मन में विविध मनोरथ करते हुये। इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली रामायण में किया है। यथा—

आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।
सुखकी सींव अवधि आनन्द की अवध विलोकि हौं पाइहौं।।
सुतनि सहित दसरथहिं देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइ हौं।
रामचन्द्र मुखचन्द्र सुधा छवि नयन चकोरनि प्याइहौं।।
सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं।
तुलसी ह्वै कृत कृत्य आश्रमहिं राम लखन लै आइहौं।।

भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान ने मुनि के सभी मनोरथ पूर्ण किये। श्रीअयोध्या पहुँचने पर श्री दशरथजी ने इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। यथा—'चरन पखारि कीन्ह अति पूजा। मो सम आज धन्य नहिं दूजा।। विविध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हर्ष अति पावा। पुनि चरणनि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह विसारी।। मगन भये देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा।। (रामा०) और आगमन का हेतु पूछा। जब श्रीविश्वामित्रजी ने अपना अभीष्ट निवेदन किया तो श्रीदशरथजी ने प्रथत तो पुत्र स्नेह वश श्रीराम, लक्ष्मण को देने में अपनी असमर्थता बताई, परन्तु बाद में श्रीवशिष्ठजी के समझाने पर—'सौंपे भूप रिषिहिं सुत, वहु बिधि देइ असीस। जननी भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस।।'

यज्ञ में विघ्न करने वाले राक्षसों का संहार कर श्रीरामजी ने मुनियों को निर्भय किया। श्रीविश्वामित्र जी ने अपने चिरकाल तप से अर्जित समस्त शास्त्र-ज्ञान एवं शस्त्रास्त्र-रहस्यों को श्रीरामजी को प्रदान कर उन्हें सफल किया। तत्पश्चात् मिथिलापुरी में धनुष यज्ञ का महान आयोजन सुनकर युगल राजकुमारों को साथ लेकर वहाँ के लिये प्रस्थान किये। श्रीराम ने शम्भु के कठिन कोदण्ड का खण्डन कर विश्वविजय

के साथ- साथ श्रीजानकीजी को भी प्राप्त किया। श्रीविश्वामित्रजी की आज्ञा से श्रीअयोध्याजी को यह शुभ-सन्देश भेजा गया। श्रीदशरथजी बारात लेकर आये श्रीराम व्याह के लिये, परन्तु व्याह हो गया उनके चारों राजकुमारों का। आनन्द का पारावार नहीं है श्रीदशरथजी महर्षि विश्वामित्रजी के चरणों में प्रणाम करते हुए इस समस्त सुख का श्रेय उन्हीं को देते हैं। यथा—बार-बार कौसिक चरन सीसनाइ कह राउ। यह सब सुख मुनिराज तव, कृपा- कटाक्षपसाउ।। (रामा०) मिथिला से बारात विदा होने पर श्रीविश्वामित्रजी भी अयोध्या आये। श्रीदशरथजी के सद्‌भाव एवं श्रीरामजी के प्रेमानुरोध से कुछ दिन तक श्रीअवध रहकर पुनः आश्रम को चले आये। श्रीवशिष्ठजी ने इनकी बड़ी महिमा गाई है। यथा—मुनिमन अगम गाधि सुत करनी। मुदित वशिष्ठ विपुल विधि बरनी।। ये ऋग्वेद के बहुत से मन्त्रों के द्रष्टा हैं।

श्रीदुर्वासाजी—महर्षि अत्रिजी के तप से सन्तुष्ट होकर भगवान शिव ही दुर्वासा रूप से उनके पुत्र बने थे। रुद्रावतार थे अतः स्वभाव में रौद्रता स्वाभाविक थी। परन्तु थे परम समर्थ। पुराणों में आपकी बड़ी विलक्षण कथायें मिलती हैं। पूर्व श्रीअम्बरीषजी एवं द्रौपदीजी के प्रसङ्ग में इनका स्मरण किया जा चुका है। एक प्रसंग यहाँ भी दिया जा रहा है। एकबार ये यह कहते हुये घूम रहे थे कि—मैं दुर्वासा हूँ। मुझे निवास करने के लिए एक स्थान चाहिए परन्तु याद रखना—मुझे तनिक से भी अपराध पर क्रोध आ जाता है। भला, जान- बूझकर कौन विपत्ति बुलाने लगा? तीनों लोकों में किसी ने भी अपने यहाँ रहने का साहस नहीं किया। अन्त में घूमते-घूमते श्रीद्वारका पहुँचे। सबके परमाश्रय भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें आदरपूर्वक बुलाकर अपने निज सदन में वास दिया। कभी तो ये हजारों मूर्तियों का भोजन अकेले ही खा जाते थे, कभी एक बालक की तरह थोड़ा पाकर ही रह जाते थे। कभी दिन में बाहर निकल जाते तो दिन भर लौटते ही नहीं। भोजन धरा ही रह जाता था। कभी आधी रात को भोजन माँगते। सर्व समर्थ प्रभु ने सब व्यवस्था की। एकदिन इन्होंने अपने ठहरने के स्थान में आग लगा दी। सब कुछ जलकर भस्म हो गया और अपने दौड़े-दौड़े श्रीकृष्ण के पास आकर बोले— मैं अभी-अभी खीर खाना चाहता हूँ। श्रीकृष्ण का संकेत पाते ही महारानी श्रीरुक्मिणीजी तुरन्त स्वर्ण थाल में खीर परोसकर लाईं। दुर्वासाजी थोड़ी सी खीर खाकर श्रीकृष्ण से बोले—अब इस जूठी खीर को तुरन्त अपने अङ्गों में पोत लो और रुक्मिणीजी को भी पोत दो। भगवान ने वैसा ही किया।

तदनन्तर मुनिजी ने श्रीरुक्मिणीजी को एक रथ में जोतकर, उस पर स्वयं सवार होकर, जिस तरह सारथी घोड़ा को चाबुक मारता है उसी तरह कोड़े मारते हुए रथ चलाने लगे। रथ राजमार्ग से जा रहा था। भयवश किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हो रहा था। श्रीरुक्मिणीजी अत्यन्त श्रमित होकर जब पृथ्वी पर गिर पड़ी तो रथ से कूदकर दक्षिण दिशा की ओर भागने लगे। पीछे-पीछे श्रीकृष्ण भी दौड़े और कहते जा रहे थे कि—'भगवन्! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये।' तब दुर्वासा खड़े हो गये और बोले—वासुदेव! तुमने क्रोध को जीत लिया हैं। अब मैं तुमको प्रसन्न होकर वर देता हूँ कि तुम सम्पूर्ण विश्व को प्रिय होओगे, तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी। तुमने पूरे शरीर में खीर लगायी है अतः तुम्हारा शरीर समस्त अस्त्र-शस्त्रों से अभेद्य रहेगा किन्तु तुमने पैर के तलवे में खीर क्यों नहीं लगायी? बस, केवल ये तुम्हारे पादतल निर्भय नहीं बन सके। तत्पश्चात् श्रीरुक्मणीजी से बोले—कल्याणी! तुमको रोग तथा जरा नहीं स्पर्श करेगी। तुम्हारी अङ्गकान्ति कभी म्लान नहीं होगी। इतना कहकर महर्षि अन्तर्धान हो गये। श्रीरुक्मणीजी को

साथ लेकर श्रीकृष्ण घर आये तो देखा कि मुनि के जलायी अथवा नष्ट की हुई सभी वस्तुएँ सुरक्षित हैं। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं।

अट्ठासी हजार ऋषि—ये ऋषिगण श्रीशौनकजी के साथ रहते थे।

श्रीजाबालिजी—यह एक ब्रह्मर्षि हैं ये धर्म और नीति में बड़े ही निपुण थे, चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी इनसे मन्त्रणा लिया करते थे। ये उनके यहाँ मंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि जब श्रीभरतलालजी श्रीरामजी को मनाने चित्रकूट गये थे तो ये भी साथ थे। वहाँ पर इन्होंने बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढंग से श्रीरामजी के श्रीमुख से परमार्थ का विवेचन सुनने की लालसा से स्वार्थ को प्राधान्य देते हुए श्रीराम से घर लौटने का आग्रह किया है। नीति-प्रीति-परमार्थ स्वार्थ सुजान श्रीरामजी ने मुनि के भाव को जानकर बड़े ही शास्त्रानुमोदित ढंग से परमार्थ का निरूपण किया है।

श्रीयमदग्निजी—इनका चरित पूर्व आ चुका है। देखिये परशुरामावतार (छ० ५) आपका कथन है कि जब से जिनके हृदय में मंगलधाम श्रीहरि बसने लगते हैं, तभी से उनके लिये नित्य उत्सव है नित्य लक्ष्मी और नित्य मंगल है। यथा—**नित्योत्सवस्तदातेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गलम्। येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः** (पाण्डव गीता)

श्रीमायादर्शी—(मार्कण्डेयजी)—ये मृकण्डऋषि के पुत्र हैं। कहा जाता है कि पहले मृकण्ड ऋषि के कोई सन्तान नहीं थी, परन्तु इनको इस बात की कोई चिन्ता भी नहीं थी। ये निरन्तर तप, स्वाध्यायादि में लगे रहते थे। एक दिन प्रातःकाल ज्यों ही कुटी से बाहर निकले, एक स्त्री ने इनको देखकर मुँह फेर लिया और बड़बड़ाने लगी कि आज सबेरे-सबेरे निःसन्तान का मुख देखा है, पता नहीं क्या होने वाला है? श्रीमृकण्डऋषि को यह देख-सुनकर बड़ी ग्लानि हुई और तब इन्होंने पुत्र की कामना से पत्नी सहित कठिन तप करके भगवान आशुतोष को प्रसन्न किया। श्रीशिवजी ने दर्शन दिया और पुत्र का योग न होने पर भी एक पुत्र का वरदान दिया, परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि इस बालक की आयु केवल सोलह वर्ष की है। पिता-माता को पुत्र प्राप्ति से जहाँ अपार हर्ष हुआ वहाँ अल्पायु विचार कर दुःख भी बहुत होता था। श्रीमृकण्डऋषि ने अपने पुत्र मार्कण्डेय के सभी संस्कार समय-समय पर किये। मार्कण्डेयजी विधि पूर्वक वेदों का अध्ययन करके तप और स्वाध्याय से सम्पन्न हो गये इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था।

जब इनकी आयु का सोलहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तो माता-पिता अत्यन्त उदास रहने लगे। जब मार्कण्डेयजी को उदासी का कारण ज्ञात हुआ तो वे बोले पिताजी! जब भगवान शिवजी ने कृपा करके आपके भाग्य में पुत्र न होने पर भी पुत्र प्रदान किया तो क्या वे मेरी अल्पायु को दीर्घायु नहीं कर सकते हैं। आप दुःखी न हों। मैं भगवान शंकर को प्रसन्न करके योगियों के लिये भी दुर्जेय मृत्यु को जीतकर मरण भय से सर्वथा मुक्त हो जाऊँगा। तदनन्तर श्रीमार्कण्डेयजी माता-पिता की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर श्रीशिवाराधना में लग गये। निश्चित समय पर काल आया, उस समय ये मृत्युञ्जय-स्तोत्र द्वारा श्रीशिवजी का स्तवन कर रहे थे। काल को देखकर स्तोत्र-पाठ करते हुए अधीर होकर शिवलिङ्ग से लिपट गये। भगवान शिवजी को भक्त की विकलता देखी नहीं गई। वे तत्काल ही प्रकट होकर क्रोध में

भरकर मेघ के समान गर्जना करते हुए काल की छाती में लात मारे। महाराज जो ठहरे। श्रीशिवजी ने इन्हें अजर-अमर होने का वर दिया।

तपस्या करते-करते श्रीमार्कण्डेयजी को छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये। सातवें मन्वन्तर में इन्द्र को भय हुआ और इनके तप में विघ्न डालने के लिए ऋतुराज वसन्त और कामदेव के साथ पुञ्जिकस्थली नाम की अप्सरा को भेजा परन्तु श्रीनारायण परायण श्रीमार्कण्डेयजी पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। विशेष बात तो यह थी कि शिवजी ने काम को जीता क्रोध ने धर दबाया। श्रीनारदजी ने काम क्रोध दोनों को जीता तो अहंकार ने दबोच लिया, परन्तु इनके न काम व्याप सका, न क्रोधाभिभूत ही हुए और न अहंकार के ही शिकार हुए। एकरस अपने स्वरूप में स्थित बने रहे। भगवान नर-नारायण ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया, ऋषि ने पूजा स्तुति की। उन्होंने वर माँगने को कहा। तब ऋषि ने कहा कि आपके दर्शन से बढ़कर क्या है जो मैं माँगू तथापि मैं आपकी उस अद्भुत माया को देखना चाहता हूँ जिससे मोहित होकर सभी लोक एवं लोकपाल अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में अनेकों प्रकार के भेद-विभेद देखने लगते हैं। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

एक दिन सन्ध्या समय पुष्पभद्रानदी के तट पर बैठे ऋषि भगवान की उपासना में तन्मय हो रहे थे। उसी समय अकस्मात् बड़े जोर की आँधी चलने लगी और जल की घोर वर्षा हुई। चारों समुद्रों ने उमड़कर सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को डुबो दिया। पृथ्वी ही नहीं आकाश, स्वर्ग आदि सब डूब गये। केवल महामुनि ही बचे। ज्ञानी होने पर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हो गये। उस समय वे पागल और अन्धे के समान जटा फैलाकर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ भाग-भागकर प्राण बचाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रचण्ड लहरों और वायु के थपेड़ों से व्याकुल कभी डूबते, कभी ऊपर उतराते, अमितकाल तक गोते खाते रहे। एक समय उन्होंने एक छोटा सा टापू देखा, जिस पर एक छोटा फूला-फला नवपल्लव युक्त वट वृक्ष था। इसके ईशान कोण की शाखा पर पत्र पुट पर एक परम मनोहर श्यामवर्ण बालक को देखा कि सुन्दर अंगुलियुक्त दोनों हाथों से अपने चरण कमला- ङ्गुष्ठ को मुँह में डाले पी रहा है। मुनि को बड़ा ही आश्चर्य हुआ उन्होंने उस बालक को प्रणाम किया। यथा—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि।।

बालक को देखकर मुनि को परम आनन्द प्राप्त हुआ इनकी सारी थकावट और पीड़ा मिट गई। उनका हृदय कमल और नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। 'तुम कौन हो?' यह पूछने के विचार से जब मुनि बालक के निकट गये तो निकट जाते ही वे उसकी श्वांस के साथ उदर में चले गये। वहाँ उदर में मुनि ने ब्रह्माण्ड को पूर्ववत् ज्यों का त्यों देखा। मोहित होकर कुछ निश्चय न कर सके कि वास्तव में यह क्या है? तब तक पुनः उस दिव्य शिशु के श्वांस के द्वारा बाहर निकल कर फिर उसी प्रलय सागर में गिर पड़े और अब फिर उन्होंने वट के पत्र पुट में लेटे हुए, मुस्क्यान और तिरछी चितवन से अपनी ओर देखते हुए बालमुकुन्द को देखा। मुनि उस छवि को हृदय मन्दिर में बसा करके उसका आलिङ्गन करने के लिये ज्यों ही आगे बढ़े त्यों ही भगवान अन्तर्धान हो गये। प्रबल दृश्य क्षण भर में गायब हो गया और मुनि ने देखा कि मैं तो पहले के समान ही अपने आश्रम में बैठा हूँ। भगवान की इस जगन्मोहिनी माया से मुक्त होने के लिये मुनि ने

मायापति भगवान की शरण ली। उनका चित्त दयामय भगवान में निश्चल हो गया। उसी समय भगवान शङ्कर भगवती पार्वतीजी के साथ नन्दी पर सवार होकर आकाश मार्ग से विचरण करते हुए उधर ही आ निकले।

जब भगवती पार्वतीजी ने मार्कण्डेय मुनि को ध्यान में मग्न देखा तो उनका हृदय वात्सल्य स्नेह से उमड़ पड़ा और वे श्रीशिवजी से बोलीं—भगवन्! आप कृपा करके इस ब्राह्मण को अभीप्सित वर प्रदान करें। ऐसे महाभागवत का दर्शन करने, वार्तालाप करने तथा मनोवांछित प्रदान करने के लिये भगवान शिव उनके पास गये परन्तु उस समय मुनि की समस्त मनोवृत्तियाँ भगवद्भाव में तन्मय थीं इसलिये वे यह भी नहीं जान सके कि मेरे सामने स्वयं भगवान गौरीशङ्कर पधारे हैं। तब श्रीशिवजी अपनी योगमाया से मार्कण्डेय मुनि के हृदय में प्रवेश करके दर्शन दिये। हृदय में अकस्मात् भगवान नारायण की जगह श्रीशिवजी की स्फूर्ति होने से मुनि का ध्यान छूट गया। आँख खोलकर देखे तो सामने श्रीशिव–पार्वती विराजमान हैं। मुनि ने चरणों में प्रणाम कर विधि पूर्वक पूजा स्तुति की। श्रीशिवजी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तब मुनि ने यह वर माँगा कि भगवान में, उनके शरणागत भक्तों में और आपमें मेरी अविचल भक्ति सदा सर्वदा बनी रहे।। आशुतोष, औढर दानी भगवान शिव मुनि को मनभावता वरदान देकर वहाँ से चले गये। भृगुवंश शिरोमणि मार्कण्डेयजी अब भी भक्ति भाव भावित हृदय से भगवान का चिन्तन करते हुए पृथ्वी पर विचरण किया करते हैं। (भा०)

श्रीकश्यपजी—ये ब्रह्मपुत्र महर्षि मरीचि के पुत्र तथा दक्ष प्रजापति के जामाता हैं। इनके द्वारा सृष्टि का बहुत विस्तार हुआ है। देवता–दैत्य, दानव–मानव, पशु–पक्षी आदि सभी इनकी ही सन्तानें हैं। वामनावतार में भगवान ने इन्हें पिता का गौरव प्रदान किया। एक कल्प में ये श्रीदशरथ–कौशल्या भी हुये थे तब स्वयं भगवान श्रीराम अपने अंशों सहित इनके पुत्र बने थे। यथा—कस्यप अदिति महातप कीन्ह। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा।। ते दसरथ कौसल्यारूपा कोसल पुरी प्रगट नर भूपा। तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।। (रा०च०मा०) एक समय की बात है—राजा अङ्ग के साथ स्पर्धा हो जाने के कारण पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी अपने लोक धर्म धारण रूप शक्ति का परित्याग करके अदृश्य हो गईं। उस समय विप्रवर कश्यप ने अपने तपोबल से पृथ्वी को थाम रखा था। इनका भगवान के श्रीचरण कमलों में अविचल अनुराग है। यही कारण है कि सृष्टि रचना में संलग्न रहने पर भी इन्हें माया नहीं व्यापती।।

श्रीपर्वतजी—इनकी देवर्षियों में गणना है। महाभारत में इनका और श्रीनारदजी का अनेक स्थलों पर साथ–साथ वर्णन पाया जाता है। श्रीनारदजी की ही तरह यह भी विचरण शील स्वभाव के हैं। अद्भुत रामायण में कथा आती है कि एक बार श्रीनारदजी और श्रीपर्वत—दोनों मित्र साथ–साथ बिचरते हुए श्रीनगर के राजा अम्बरीषजी के यहाँ गये। राजा ने इनका बड़ा स्वागत सत्कार किया और अपनी लाड़िली बेटी, जिसका नाम श्रीमती था, उसको बुलाकर मुनि के चरणों में प्रणाम कराकर, उसके भाग्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। दोनों ही मुनि श्रीमती के सुन्दर रूप एवं शुभ लक्षणों पर मोहित होकर उसको पृथक्–पृथक् राजा से माँगने लगे। राजा का यह उत्तर मिलने पर कि कन्या जिसको जयमाला पहिना दे वही ले जाय। दोनों पृथक्–पृथक् भगवान के यहाँ गये और दोनों ने ही उनसे सब वृत्तान्त कहकर अपना–अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदजी ने पर्वत ऋषि का मुख बन्दर का सा और पर्वत ने नारदमुनि

का मुख लंगूर का सा कर देने के लिये पृथक्-पृथक् प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि राजकुमारी को ही वह रूप दीख पड़े, दूसरे को नहीं।

भगवान ने दोनों से 'एवमस्तु' कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजा के यहाँ गये। राजा ने बुलाकर कहा कि दोनों ऋषियों में से जिसे चाहो उसे जयमाल पहिना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बन्दर, एक लंगूर और एक सुन्दर धनुष बाण धारी पुरुष दीख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठक कर रह गई। संकोच का कारण पूछे जाने पर उसे जो दीख रहा था वह उसने कह दिया और जयमाल धनुष धारी पुरुष (भगवान श्रीराम) के गले में डाल दिया। भगवान उसे लेकर अन्तर्धान हो गये। इस रहस्य को न समझकर दोनों ऋषि भगवान के पास गये और उपालम्भ दिये। भगवान ने कहा कि हम भक्त पराधीन हैं, तुम दोनों ही हमारे भक्त हो, अत: हमने दोनों का कहा किया। ऋषियों को जब यह मालूम हुआ कि ये ही कन्या को ले गये। दोनों ने ही उनको शाप दिया कि—मम अपकार कीन्ह तुम भारी। नारि विरह तुम होब दुखारी।। कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी। करि हैं कीस सहाय तुम्हारी।। बाद में जब इन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ है तो ये बहुत ही पश्चात्ताप किये हैं और भगवान से शाप के मिथ्या हो जाने की प्रार्थना किये हैं परन्तु भगवान ने शाप को अपनी इच्छा कहकर दोनों को समझा-बुझाकर विदा क़िया।

श्रीपराशरजी—ये ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी के पौत्र, महर्षि शक्तिजी के पुत्र एवं भगवान वेदव्यासजी के पिता हैं। इनकी माता का नाम अदृश्यन्ती था। इन्होंने बारह वर्षों तक माता के गर्भ में ही रहकर वेदाभ्यास किया था। इनके द्वारा रचित 'पराशर स्मृति' में धर्माधर्म का बड़ा विवेक पूर्ण निर्णय किया गया है। धर्म के सम्बन्ध में इनका कथन है कि जो मनुष्य परमदुर्लभ मानव जन्म को पाकर भी काम परायण हो दूसरों से द्वेष करता है और धर्म की अवहेलना करता है वह महान लाभ से वंचित रह जाता है। यथा—'यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः। धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्च्यते।। (म०भा०) भगवत्स्मरण की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं कि—'प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नदिषु संस्मरन्। नारायणमवाप्नोति सद्यःपापक्षयान्नरः।। (विष्णु०) अर्थ— प्रातःकाल, सायंकाल, रात्रि में अथवा मध्याह्न में, किसी भी समय श्रीनारायण का स्मरण करने से पुरुष के समस्त पाप तत्काल क्षीण हो जाते हैं।

अठारह पुराण

साधन साध्य सत्रह पुरान फल रूपी श्रीभागवत।
ब्रह्म, विष्णु, शिव, लिंग, पद्म, स्कन्द, बिस्तारा।
वामन, मीन, बराह, अग्नि, कूरम, ऊदारा।
गरुड, नारदी, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त श्रवण शुचि।
मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड कथा नाना उपजै रुचि।
परम धर्म श्रीमुख कथित चतु:श्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुरान फलरूपी श्रीभागवत।।१७।।

शब्दार्थ—साधन=कार्य सिद्ध करने की क्रिया, उपकरण, सामग्री, उपाय, उपासना। साध्य=साधन करने योग्य, इष्ट, ईश्वर, सरल, प्रतिपाद्य। पुराण=देखो दोहा तीन। विस्तारा=विस्तार, फैलाव, अधिकता। ऊदारा=उदार, दाता, श्रेष्ठ, ऊँचा। रुचि=प्रेम, आसक्ति, तबियत। श्रीमुख=विष्णुमुख। कथित=वर्णित, कहा हुआ। चतु:श्लोकी=जिसमें चार श्लोक हैं। निगमसत=निगम=वेद, मार्ग+सत=सत्व, सारभाग, मूलतत्व।

भावार्थ—ये ब्रह्मपुराण आदि सत्रह पुराण साधन है और श्रीमद्‌भागवत पुराण साध्य है, पुराणों में यह फलरूप है। इन सभी पुराणों में विशेषतया श्रीमद्‌भागवत में स्वयं भगवान के श्रीमुख से परम धर्म कहा गया है। श्रीमद्‌भागवत में चतु:श्लोकी सभी वेदों का सार है। अठारहों पुराण विस्तृत हैं, उदार हैं। इनके सुनने से अन्त:करण पवित्र होता है, इनमें अनेक प्रकार की कथाओं का वर्णन है। जिनसे इष्टदेव में रुचि उत्पन्न होती है।।१७।।

व्याख्या—फलरूपी श्रीभागवत—यथा—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।। (भा० १-१-३)

हे रस भावना प्रवीण रसिकजनों! यह श्रीमद्‌भागवत वेदरूप कल्प वृक्ष का पका हुआ फल है। श्रीशुकदेव रूप तोते के मुख का सम्बन्ध हो जाने से यह परमानन्दमयी, सुधा से परिपूर्ण हो गया है। इस फल में छिलका, गुठली रेशा आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह मूर्तिमान रस है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक इस दिव्य भगवद्रस का निरन्तर बार-बार पान करते रहो। यह पृथ्वी पर ही सुलभ है। श्रीसनकादिकजी कहते हैं कि—

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा। अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः।। (भा०मा० २-६७)

श्रीमद्‌भागवत की कथा वेद और उपनिषदों के सार से बनी है। इसलिये उनसे अलग, उनकी फलरूपा होने के कारण यह बड़ी ही उत्तम जान पड़ती है। यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि वेद, उपनिषद और पुराणों से ही प्रार्दुभूत यह भागवती कथा उनसे श्रेष्ठ क्यों? समाधान—जिस प्रकार रस वृक्ष की जड़ से लेकर शाखाग्र पर्यन्त रहता है, किन्तु इस स्थिति में उसका आस्वादन नहीं किया जा सकता है। वही जब अलग होकर फल के रूप में आ जाता है तब संसार में सभी को प्रिय लगने लगता है। दूध में घी रहता ही है किन्तु उस समय उसका अलग स्वाद नहीं मिलता है। वही जब उससे अलग हो जाता है तब देवताओं के लिए भी स्वाद वर्धक हो जाता है। खाँड़ ईख के ओर-छोर और बीच में भी व्याप्त है। तथापि अलग होने पर उसकी कुछ और ही मिठास होती है। उसी प्रकार यह भागवती कथा वेदादिकों से पृथग्भूता, फलाकृतिः होने से विशेष माधुर्य गुण वाली है। यथा—

आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा। स भूयः सम्पृथग्भूतः फले विश्व मनोहरः।।
यथा दुग्धे स्थितःसर्पिर्न स्वादायोकल्पते। पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रस वर्धनम्।।
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्त तिष्ठति। पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा।।

(भा०मा० २/६८/६९/७०)

अठारहों पुराणों के नाम सूक्ष्म रीति से इस प्रकार है—**मद्वयं भद्वयं शैवं व्रत्रयं ब्रत्रयं तथा। अनापलिंग कूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्।** अर्थ—मअक्षर से प्रारम्भ होने वाले दो—मत्स्य पुराण,

मार्कण्डेय पुराण, भकार वाले दो-भागवत, भविष्य, शिवपुराण, वकार वाले तीन-वामन, वराह, विष्णु, ब वाले तीन-ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, अ-अग्नि, ना-नारद, प-पद्म, लि-लिङ्ग, ग-गरुड़, कू-कूर्म, स्क-स्कन्द पुराण।

पुराणों का लक्षण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—**सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च। वंशोवंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।। दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।।** (भा०) अर्थ—सर्ग (महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा पंचमहाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मन की उत्पत्ति) (विसर्ग जीवों से अनुगृहीत सूक्ष्म रचना के वासनामय चर और अचर सृष्टि की रचना) वृत्ति, रक्षा (अच्युत भगवान के अवतार की चेष्टा) मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, (प्रलय) हेतु और अपाश्रय-पुराणों के ये दश लक्षण हैं।

अष्टादशपुराणों का सार-सिद्धान्त—**अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।** अब सभी पुराणों की श्लोक संख्या कहते हैं—१. ब्रह्म पुराण—दस हजार २. विष्णु पुराण—तेइस हजार, ३. शिव पुराण—चौबीस हजार, ४. लिङ्ग पुराण—ग्यारह हजार, ५. पद्म पुराण—पचपन हजार, ६. स्कन्द पुराण—इक्यासी हजार, ७. वामन पुराण—दस हजार, ८. श्रीमत्स्य पुराण—चौदह हजार, ९. वाराह पुराण—चौबीस हजार, १०. अग्नि पुराण—पन्द्रह हजार, ११. कूर्म पुराण—सत्रह हजार, १२. गरुड़ पुराण—उन्नीस हजार, १३. नारद पुराण—पच्चीस हजार, १४. भविष्य पुराण—चौदह हजार पाँच सौ, १५. ब्रह्मवैवर्त पुराण—अठारह हजार, १६. मार्कण्डेय पुराण—नौ हजार पाँच सौ, १७. ब्रह्माण्ड पुराण—बारह हजार, १८. श्रीभागवत पुराण—अठारह हजार। सम्पूर्ण संख्या चार लाख होती है। परम धर्म—देखिये छप्पय ६।

चतुःश्लोकी—श्रीब्रह्माजी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने इन्हें अपना दर्शन दिया, अपने निर्गुण सगुण स्वरूपों का ज्ञान दिया, सृष्टि रचने की सामर्थ्य दी और सृष्टि करते हुए भी संसार में लिप्त न हों, इसके लिये चतुःश्लोकी का उपदेश दिया। यथा— (भा० २-९-३०-३५)

ज्ञानं परम गुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया।।
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तुते मदनुग्रहात्।।
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।
ऋतेऽर्थंयत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनाऽऽत्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।

अर्थ—श्रीभगवान ने कहा—अनुभव, प्रेमाभक्ति तथा साधनों से युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूप का ज्ञान मैं तुम्हें कहता हूँ, तुम उसे सुनकर ग्रहण करो। जितना मेरा विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण, और लीलाएँ हैं—मेरी कृपा से तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो। सृष्टि के पूर्व मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनों का कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है वहाँ मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे

अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश मण्डल के नक्षत्रों में राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये। जैसे प्राणियों के पंचभूतरचित छोटे-बड़े शरीर में आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरों के कार्य रूप से निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहले से ही उन स्थानों और रूपों में कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नहीं भी करते हैं, वैसे ही उन प्राणियों के शरीर की दृष्टि से मैं उनमें आत्मा के रूप से प्रवेश किये हुए हूँ और आत्म दृष्टि से अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होने के कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ। 'यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं'—इस प्रकार निषेध की पद्धति से और 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'—इस अन्वय की पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं। वही वास्तविक तत्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्मा का तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है। निगम सत-देखिये-फलरूपी श्रीभागवत की व्याख्या।

अठारह स्मृतियाँ

दशआठ स्मृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो।।
मनुस्मृति अत्रेय, वैष्णवी, हरीतक, यामी।।
याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा शनैश्चर, सांवर्तक नामी।।
कात्यायनि, साण्डिल्य, गौतमी, वाशिष्ठी, दाखी।।
सुर-गुरु, आतातापि, पराशर, क्रतुमुनि भाखी।।
आशा पास उदार धी परलोक लोक साधन सो।।
दश आठ स्मृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो।।१८।।

शब्दार्थ—स्मृति=धर्मशास्त्र, मुनि प्रणीत शास्त्र विशेष, संहिता, अनुभव और संस्कार से उत्पन्न ज्ञान, याद। उच्चरी=उच्चारण की, कही, रची बनाई। सरसिज=कमल। भाल मो=भाल=मस्तक+मो=मम, मेरे। दाखी दाक्षी, दक्ष स्मृति। भाखी=भाषी, कही। आशा=पाने की इच्छा, तृष्णा, लालच। पाश=बन्धन, फाँस। उदारधी=श्रेष्ठ एवं शुद्ध बुद्धि।

भावार्थ—जिन अठारह ऋषियों ने स्मृतियों की रचना की, उनके चरण-कमलों में मैं अपनरा मस्तक रखता हूँ। आशा तृष्णा के बन्धन से छुड़ाने के लिए उदार बुद्धि वाले ऋषियों ने स्मृतियाँ बनाई हैं। ये इस लोक में उन्नति तथा परलोक में कल्याण का साधन हैं।।१८।।

व्याख्या—'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता' अर्थात् वर्णधर्म, आश्रम धर्म, राजधर्म, समाज धर्म, लोकधर्म, परलोक धर्म, विधि धर्म, निषेध धर्म, तथा इनके साधन-साध्य का जिसमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है उसे स्मृति कहते हैं। स्मृतियाँ अठारह हैं।

१—मनुस्मृति-इसके रचयिता मनुजी हैं। २—आत्रेयस्मृति-श्रीअत्रिजी ने रचा है। ३—वैष्णव स्मृति भगवान विष्णु द्वारा निर्मित है। ४—हारीतस्मृति-इसके निर्माता श्रीहारित मुनि हैं। ५—याम्य स्मृति-यह यम (धर्मराज) द्वारा रची गई हैं। ६—याज्ञवल्क्यस्मृति-इसके प्रणेता महर्षि याज्ञवल्क्यजी हैं। ७—आङ्गिरस

स्मृति–श्रीअङ्गिराजी की रचना है। ८—शनैश्चर स्मृति–सूर्यपुत्र शनिकृत है। ९—साँवर्तक स्मृति–यह महर्षि अंगिरा के पुत्र श्रीसंवर्त प्रणीत है। १०—कात्यायन स्मृति–श्रीकात्यायन मुनि विरचित हैं। ११—श्रीशाण्डिल्य स्मृति–प्रसिद्ध 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' प्रणेता, श्रीमद्भागवत तत्ववेत्ता, परम भागवत महर्षि शाण्डिल्य के द्वारा इसका प्रणयन हुआ है। श्रीशाण्डिल्य जी महर्षि देवल के पुत्र थे, शङ्ख और लिखित के पिता थे तथा श्रीनन्दगोप के पुरोहित थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभजी को व्रज का रहस्य बताया था। १२—गौतम स्मृति श्रीगौतमजी की कृति है। १३—वशिष्ठ स्मृति–श्रीवशिष्ठजी ने इसका प्रणयन किया है। १४—दाक्ष्य स्मृति–प्रजापति दक्ष द्वारा रचित है। १५—वार्हस्पत्य स्मृति–श्रीबृहस्पतिजी की रचना। १६—आतापत स्मृति–श्रीशतातपजी ने रचा है। १७—पाराशर स्मृति–श्रीपराशर मुनि प्रणीत हैं। १८—क्रतु स्मृति–श्रीक्रतुमुनि कृत हैं।

आशापास—'आशा हि परमं दुःखं' (भा०) तुलसी अद्भुत देवता आशा देवी नाम। सेये शोक समर्पई, विमुख भये अभिराम।। (दो०) जे लोलुप भये दास आसके ते सब ही के चेरे। प्रभु विश्वास आस जिन जीती ते सेवक हरि केरे।। (वि०) मोर दास कहाइ नर आसा। करइत कहहु कहा विश्वासा।। (रा०च०मा०) तब लगि जोगी जगत गुरु, जब लगि रहै निरास। जो जग की आसा भई, जगगुरु जोगी दास।। इसीलिये कहा है कि—पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै।। (वि०) ये स्मृतियाँ जीव को आशा पास से मुक्त करने वाली है।

श्रीराम सचिव

पावै भक्ति अनपायिनी जे राम सचिव सुमिरन करैं।।
धृष्टी, विजय, जयंत नीति पर शुचि सुविनीता।।
राष्टर वर्धन निपुण, सुराष्टर परम पुनीता।।
अशोक सदा आनन्द धर्मपालक तत्ववेता।।
मन्त्रीवर्य सुमन्त्र चतुर्युग मन्त्री जेता।।
अनायास रघुपति प्रसन्न भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपायिनी जे राम सचिव सुमिरन करैं।।१९।।

शब्दार्थ—नीतिपर=नीतिपरायण, नीतियुक्त, नीति=आचार=पद्धति, राजा प्रजा के लिए निर्धारित व्यवस्था, राजनीति। शुचि=पवित्र। तत्ववेत्ता=रहस्य को जानने वाले। मन्त्रीवर्य=सभी मन्त्रियों में श्रेष्ठ। चतुर्युग=चारों युग। जेता=विजयी, जीतने वाले। अनायास=बिना श्रम के, सहज। रघुपति=रामचन्द्र। भवसागर=संसार सागर, आवागमन, जन्म मृत्यु का चक्र। दुस्तर=जिसका पार करना कठिन हो, विकट। अनपायिनी=स्थिरा, अचला। सचिव=मन्त्री।

भावार्थ—जो लोग भगवान श्रीराम के इन आठ मन्त्रियों का स्मरण करते हैं वे श्रीरामजी की अचला भक्ति पाते हैं, उन पर प्रभु अपने आप ही प्रसन्न हो जाते हैं और वे जन्म मृत्यु के कठिन चक्र से छूट जाते हैं, संसार सागर से पार हो जाते हैं। धृष्टिजी, विजयजी, जयन्तजी, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट, अशोक,

धर्मपालक और सुमन्त्रजी ये नीति परायण, पवित्र सुशील, परमचतुर, आनन्दमय और रहस्य के ज्ञाता हैं। सुमन्त्रजी चारों युगों के मन्त्रियों में विजयी और श्रेष्ठ हैं।

व्याख्या—श्रीराम सचिव—यथा—'धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्'। (वा०रा०) यहाँ श्रीनाभाजी ने मन्त्रियों के नाम निर्देश के साथ-साथ उनके गुणों का भी उल्लेख किया है। यथा—नीति पर—मन्त्रियों को नीतिमान होना चाहिये। क्योंकि—'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।' पुनश्च—सचिवधर्म रुचि हरिपद प्रीती। नृप हित हेतु सिखव नित नीती।। (रा०मा०) शुचि—स्वधर्म निष्ठ। यथा—अस विचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुं निज धर्म न डोले।। विनीत-विनय शील। परमपुनीत- सदाचरण परायण। तत्ववेत्ता-परमार्थवित्। यथा—तुम पण्डित परमारथ ज्ञाता।' आदि। इन ऋषियों के सौभाग्य का क्या कहना है, जो कि भगवान श्रीराम के समीप विराजते हैं, सम्मुख विराजते हैं। स्वयं नीति-प्रीति परमार्थ- स्वार्थ के परम विज्ञाता होकर भी श्रीरामजी इनसे मन्त्रणा करते हैं।

श्रीसुमन्त्रजी—श्रीनाभाजी ने इनको चारों युगों के, भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी मन्त्रियों में मूर्धन्य कहा है। ठीक भी है। जिनकी मन्त्रणाओं पर मुग्ध होकर चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी आत्मवत् मानते थे तथा स्वयं भगवान श्रीरामजी जिनका पितृवत् सम्मान करते थे यथा—राम सुमन्त्रहिं आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा।। (रामा०) उन सुमन्त्रजी को चतुर्युगमन्त्रिमूर्धन्य कहना उचित ही है। श्रीदशरथजी किसी भी कार्य को, जब तक उसे सुमन्त्रजी का समर्थन नहीं प्राप्त हो जाता था तब तक कार्यान्वित नहीं करते थे। जिस समय श्रीदशरथजी पुत्र के बिना जीवन को विफल मानकर अत्यन्त ग्लानि कर रहे थे उस समय श्रीसुमन्त्रजी ने श्रीसनत्कुमारजी के श्रीमुख से सुने हुये कथा प्रसङ्ग को सुनाकर जिसमें उन्होंने यह बात निश्चयपूर्वक कही थी कि श्रीऋष्यश्रृंग के द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराये जाने पर श्रीदशरथजी को चार त्रिभुवन विदित भक्तभयहारी पुत्र होंगे, महाराज की चिन्ता दूर की थी। यथा—'सुमन्त्रस्यवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथोऽभवत्।'

मन में श्रीरामराज्याभिषेक की अभिलाषा होने पर श्रीदशरथजी गुरुदेव वशिष्ठजी की अनुमति लेकर तथा सुमन्त्रजी का भी सहर्ष समर्थन पाकर अभिषेक की तैयारी करने लगे। दैव प्रेरणा से कैकेयी के द्वारा विघ्न हुआ। श्रीअवध में हर्ष का ओर-छोर नहीं था। प्रजा हर्षोल्लास में भरी हुयी श्रीरामराज्याभिषेक दर्शन की प्रतीक्षा में थी। परन्तु आश्चर्य! सूर्योदय हो गया, किन्तु श्रीदशरथजी के दर्शन नहीं हुये। पता लगाने पर मालूम हुआ कि अभी शयन-कक्ष से बाहर ही नहीं निकले। आश्चर्य की सीमा नहीं रही। प्रश्न यह था कि 'जागेउ अजहुँ न अवधपति कारन कवन विशेष।' और उन्हें जगाने के लिये किसको भेजा जाय? सर्व साधारण का तो शयनागार तक प्रवेश हो नहीं सकता। अतः सब लोगों ने मिलकर श्रीसुमन्त्रजी को ही भेजा क्योंकि ये महाराज के परम अन्तरंग थे। यथा—'जाहु सुमन्त्र जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई।। श्रीसुमन्त्रजी महल में प्रवेश किये। यद्यपि उन्हें स्थिति का कुछ भी पता नहीं था परन्तु श्रीदशरथजी एवं कैकेयी—दोनों की दशा देखकर ही जान गये कि रानी ने कुछ कुचाल किया है। यथा—'लखी कुचालि कीन्ह कछु रानी।' यह सुमन्त्रजी की दूरदर्शिता है। श्रीदशरथजी का संकेत पाकर श्रीसुमन्त्रजी श्रीरामजी को बुला लाते हैं, स्थिति स्पष्ट हो गयी।

श्रीराम माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर श्रीजानकीजी एवं लक्ष्मण को साथ ले वन को चले। श्रीसुमन्त्रजी राजा की आज्ञानुसार श्रीराम-जानकी एवं लक्ष्मणजी को रथ पर बैठाकर ले चले सम्पूर्ण श्रीअयोध्या की प्रजा श्रीराम प्रेमवश रथ के साथ दौड़ चली। प्रथम विश्राम तमसातट पर हुआ। श्रीराम ने समझा-बुझाकर प्रजा-जनों को लौटाना चाहा परन्तु वे लौटने को प्रस्तुत नहीं थे। तब श्रीरामजी ने सबके सो जाने पर श्रीसुमन्त्रजी से खोज मारकर (जिसमें रथ के चिह्नों का पता न लग सके।) रथ हांकने को कहा। इन्होंने प्रभु की आज्ञा का पालन किया। श्रीअयोध्यावासी विलाप-कलाप करते हुए घर लौट आये। इधर रथ श्रीगङ्गा तट पर स्थित श्रृंगबेरपुर पहुँच गया। श्रीराम सखा निषादराज गुह ने प्रभु का स्वागत-सत्कार किया। रात्रि भर प्रभु गंगा तट पर निवास किये। प्रातःकाल नित्य कृत्य से निवृत्त होकर वट का दूध मँगाकर-'अनुज सहित सिर जटा बनाये। देखि सुमन्त्र नयन जल छाये।।' श्रीसुमन्त्रजी के श्रीराम प्रेम का प्रकाश यहीं से होता है। प्रभु को तापस वेष बनाये देखकर सुमन्त्रजी की व्यथा का पार नहीं रहा। वे श्रीदशरथजी का सन्देश सुनाते हुये श्रीरामजी के चरणों में पड़कर एक अबोध बालक की तरह फफक-फफक कर रोने लगे। यथा—'करि विनती पायन परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ।।'

श्रीसुमन्त्रजी ने बहुत प्रयत्न किया श्रीरामजी को लौटाने का, परन्तु जब उन्हें लौटाने में समर्थ नहीं हो सके तो श्रीजानकीजी को लौटाने का प्रयत्न किये। परन्तु यहाँ भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी। उस समय की इनकी दशा का वर्णन करते हुये श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—सुनि सुमन्त्र सिय सीतल बानी। भयउ विकल जनु फणि मणि हानी।। नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना।।' अन्त में श्रीसुमन्त्रजी जब प्रभु को लौटाने में सफल मनोरथ नहीं हो सके तो स्वयं भी प्रभु के साथ चलने को प्रस्तुत हो गये और इसके लिये प्रभु से बहुत अनुनय-विनय किये। यथा—'जतन अनेक साथ हित कीन्हें। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हें।।' आखिर सुमन्त्रजी को लौटना पड़ा। क्योंकि—'मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई।। अतः—राम लखन सिय पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।।' (रामा०)

श्रीरामजी गंगा पारकर आगे को प्रस्था किये। सखा निषादराज साथ लग गये। परन्तु चार दिन के बाद प्रभु ने उन्हें भी वापिस कर दिया। जब निषादराज लौटकर श्रृंगबेरपुर आये तो देखे सुमन्त्रजी मूर्छित पृथ्वी पर पड़े हैं। यथा—'राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ भूमितल व्याकुल भारी।।' निषादराजजी ने समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु श्रीसुमन्त्रजी विरह के प्राबल्य में समझने की स्थिति में थे नहीं। अतः निषादराज ने जैसे-तैसे उन्हें रथ में बैठाकर अपने चार सेवकों द्वारा श्रीअवध पहुँचाने की व्यवस्था की। सुमन्त्र के सोच का पारावार नहीं है। यथा—सोच सुमन्त्र विकल दुख दीना। धिग जीवन रघुवीर विहीना। रहिहिं न अंतहुँ अधम सरीरू। जसु न लहेउँ बिछुरत रघुबीरू।। भये अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना। अहह मंद मन अवसर चूका। अजहुँन हृदय होत दुइ टूका। मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपन धन रासि गँवाई।। आदि।

श्रीसुमन्त्रजी इस समस्या का समाधान नहीं कर पा रहे हैं कि श्रीराम रहित मुझे देखकर लोग क्या कहेंगे? अथवा जब समस्त नगरवासी, मातायें, महारानी श्रीसुमित्राजी, कौसल्याजी तथा महाराज श्रीदशरथजी पूछेंगे तो मैं क्या कहूँगा? मैं कौन सा मुँह लेकर कहूँगा कि—'गे बन राम लखन वैदेही। हा!

महाकष्ट है? हृदय न विदरेउ पङ्क जिमि बिछुरत प्रीतम नीर। जानत हौं मोहिं दीन्ह विधि यम यातना शरीर।।' इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुये श्रीसुमन्त्रजी का रथ तमसा नदी के तट पर आ गया। इन्होंने निषादों को विदा किया और स्वयं अन्धकार हो जाने पर श्रीअवध में प्रवेश किया और रथ को द्वार पर छोड़कर महल में प्रवेश कर गये। श्रीसीता राम लक्ष्मण के सन्देश को सुनकर श्रीदशरथजी जल के बिना मीन की तरह अत्यन्त व्याकुल हो गये। यद्यपि श्रीसुमन्त्रजी को भी कम क्लेश नहीं है। यथा—'मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जियत फिरेउँ लै राम सन्देसू।।' तथापि इन्होंने परिस्थिति की गम्भीरता को समझकर स्वयं धैर्य धारणकर श्रीदशरथजी को बहुत समझाया। यथा—

चौ०— **सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम पण्डित ज्ञानी।।**
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधु समाज सदा तुम सेवा।।
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा।।
काल करम बस होहिं गुसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं।।
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।।
धीरज धरहु बिवेक बिचारी। छाड़िअ सोच सकल हितकारी।।

श्रीसुमन्त्रजी ने अपना कर्तव्य पालन किया, समझाया। श्रीदशरथजी ने अपना प्रेम-प्रण पालन किया-प्राणों को प्रभु-सङ्ग पठाया। श्रीसुमन्त्रजी ऐसे हानि-ग्लानि-शोक के वश हुये कि चौदह वर्ष तक उन्होंने मुँह नहीं दिखाया। महाराज का स्वर्गवास हुआ, भरतजी आये, और्ध्वदेहिक कृत्य हुआ, भरत सभा हुई, सब लोग चित्रकूट गये, महाराज जनक आये, सब कुछ हुआ, सुमन्त्रजी का पता नहीं है। जब श्रीरामजी वनवास से लौटे, तभी सुमन्त्रजी ने घर से बाहर पाँव दिया। यथा—'तब मुनि कहेउ सुमन्त्र सन, सुनत चलेउ हरषाइ। रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ।।' जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रव्य मँगाइ। हरष समेत वशिष्ठ पद पुनि सिर नायउ आइ।।' (उत्तरकाण्ड) ऐसे महाभागवत थे श्रीसुमन्त्रजी, तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि— 'मन्त्रीवर्य सुमन्त्र चतुर्युग मन्त्री जेता।'

श्रीराम सहचर वर्ग

शुभ दृष्टि वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुवीर के।
दिनकर सुत हरिराज बालि वछ केशरि औरस।
दधिमुख द्विविद मयन्द रिच्छपति समको पौरस।।
उल्का सुभट सुषेन दरीमुख कुमुद नील नल।
सरभरु गवय गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल।।
पद्म अठारह यूथपाल राम काज भट भीर के।
शुभ दृष्टि वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुवीर के।।२०।।

शब्दार्थ—दिनकर सुत=सूर्यपुत्र सुग्रीव। हरिराज=वानरराज। बालिवछ=बालिवत्स, अङ्गद। केशरी= हनुमानजी के पिता। औरस=पुत्र, समान जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न पुत्र, पौरस=पौरुष, पराक्रम, साहस। यूथपाल=सेनापति, यूथ=साहस+पाल=रक्षक। भट=योद्धा। भीर=भीड़, समूह, संकट। शुभदृष्टि=कृपादृष्टि। सहचर=मित्र, साथ चलने वाले, सखा, सेवक।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजी के ये जो सखागण हैं वे हमारे ऊपर मंगलकारिणी कृपादृष्टि की वर्षा करें। सूर्य के पुत्र वानरराज सुग्रीवजी, बालिपुत्र अङ्गदजी, केशरी के पुत्र हनुमानजी, दधिमुखजी, द्विविदजी, मयन्दजी, जिनके समान कोई साहसी और बलवान नहीं है ऐसे रीछों के राजा जाम्बवानजी, श्रेष्ठ योद्धा उल्कामुखजी, सुषेणजी, दरीमुख, कुमुद, नल नील, शरभ, गवय, गवाक्ष, पनस और महाबलवान् गन्धमादन आदि अठारह पद्म जो सेनापति हैं ये संकट के समय भक्तों के तथा श्रीरामजी के कार्य को करने वाले महान् वीर हैं।।२०।।

व्याख्या—शुभ.......करो—महत्पुरुषों के कृपा-कटाक्षावलोकन मात्र से ही जीव के जन्म-जन्म के पाप पुञ्ज क्षणमात्र में ही भस्मीभूत हो जाते हैं। यथा—पाप पुञ्ज बहु जन्मकृत, होत तुरत जरि छार। जब चितवत करिके कृपा हरिजन परम उदार। (सन्तवाणी) अतः शुभ दृष्टि०।। श्रीसुग्रीवजी का चरित्र पूर्व आ चुका है।

श्रीअंगदजी—महाबली वानरराज बालि पिता और सुषेण वानर की कन्या तारा माता से श्रीअङ्गदजी का प्रादुर्भाव हुआ था। इनको बालि ने श्रीरामजी के कर-कमलों में सौंपा था। यथा—यह तनय मम सम विनय बल कल्याण प्रद प्रभु लीजिये। गहि बाँह सुर-नर नाह आपन दास अङ्गद कीजिये। श्रीअङ्गदजी के वचनों से तो यह सिद्ध होता है कि बालि ने केवल हाथ ही नहीं पकड़वाया था बल्कि इन्हें श्रीरामजी की गोद में डाल दिया था। यथा—मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारे कोछे घाली। इस प्रकार श्रीअङ्गदजी श्रीरामजी के गोद लिये हुये (दत्तक) पुत्र हुये। यही कारण है कि श्रीरामजी ने मित्र सुग्रीव को यदि राज्य दिलाया तो पुत्र अंगद को युवराज बनाया। यथा—'राजदीन्ह सुग्रीव कहँ, अङ्गद कहँ युवराज।।' श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हें बड़भागी कहा है। यथा—बड़भागी अङ्गद हनुमाना। चरन कमल चांपत विधि नाना।' (रा०च०मा०)

श्रीसीता-शोध एवं श्रीराम-रावण संग्राम में श्रीअङ्गदजी का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सत्य तो यह है कि श्रीअङ्गदजी अपनी सेवा निष्ठा के प्रभाव से श्रीहनुमानजी के साथ स्मरण किये जाते हैं। यथा— 'बड़भागी अङ्गद हनुमाना' आदि। श्रीराम सेवा परायण अङ्गदजी जब देखते हैं कि अवधि भी बीत गई और श्रीजानकीजी का पता भी नहीं मिला तो वे बहुत दुःखी होते हैं यथा—'कह अङ्गद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी। इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारहिं कपिराई। श्रीअङ्गदजी का दुःख देखकर श्रीजामवन्तजी ने समझाते हुये कहा—तात! दुःख मानने की कोई बात नहीं है हम लोग तो बड़े बड़भागी हैं जो कि सगुण ब्रह्म श्रीरामचरणारविन्दानुरागी हैं। यथा—'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी। श्रीअङ्गद ने कहा.....जाम्बवानजी! हम अपने को बड़भागी तो तब मानें, जब इस शरीर से श्रीराम सेवा सम्पन्न हो अथवा श्रीराम कार्य में देह-प्राण का विसर्जन ही हो जाय। बड़भागी तो वस्तुतस्तु श्रीजटायुजी हैं जिन्होंने प्रभु सेवा में शरीर समर्पित कर दिया। यथा—'कह अङ्गद विचारि

मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम काज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी।' श्रीअंगदजी की यह जटायुजी की चर्चा बड़ी सामयिकी थी। क्योंकि उसी समय गिरिकन्दरा से बाहर निकलकर गीधराजजी का बड़ा भाई सम्पाती जीवन से निराश इन सभी वानरों को खाने की भूमिका बना रहा था। परन्तु जब उसने जटायुजी का प्रसंग श्रवण किया तो उसे वानरों के प्रति बड़ी सहानुभूति हो गयी और उसने श्रीजानकीजी का पूरा पता एवं प्राप्त करने का उपाय भी बता दिया। जिससे वानरों के शरीर में पुनः नव जीवन का संचार हो गया।

समुद्र की विशालता और गम्भीरता को विचार कर वानर एक क्षण के लिये पुनः हतोत्साह से हो जाते हैं तो श्रीअंगदजी उन्हें साहस दिलाते हुए स्वयं समुद्र पार जाने को उद्यत हो जाते हैं। यथा—'अंगद कहइ आउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा।' जामवन्त कह तुम सब लायक। पठइअ किमि सबही कर नायक।। श्रीहनुमानजी के द्वारा सब कार्य सम्पन्न हुआ। श्रीअंगदजी ने उस समय बड़ा भारी उत्सव मनाया। किष्किन्धा आने पर इन्होंने सभी वानरों को मधुवन के फल खाने, एवं मधुपान करने की छूट कर दी। जबकि सुग्रीवजी के उस प्राण-प्रियबाग में प्रवेश करने में देवता भी भय खाते थे। यथा—'तब मधुवन भीतर सब आए। अंगद संमत मधुफल खाए।।' श्रीरामजी ने असंख्य-असंख्य वानर-भालुओं की सेना लेकर लङ्का पर चढ़ायी कर दी। सेना का पड़ाव सुबेल गिरि पर पड़ा। श्रीरघुनाथजी ने आगे के कार्यक्रम के लिये मन्त्रियों से परामर्श किया। श्रीजाम्बवानजी ने कहा—'मन्त्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालिकुमारा।। उस समय भगवान श्रीरामजी ने जो कुछ कहा है उससे श्रीअंगदजी की गौरव गरिमा का प्रकाशन होता है। यथा—

चौ०— **बालितनय बुधि बल गुण धामा। लंका जाहु तात मम कामा।।**
बहुत बुझाइ तुम्हहिं का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ।।
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।। (रा०च०मा०)

यहाँ पर श्रीप्रभु ने 'रिपुसन करेहु बतकही सोई।' यह कह कर श्रीअंगदजी को सर्वाधिकार देकर भेजा है। श्रीअंगदजी रावण के दरबार में एक दूत बनकर नहीं, बल्कि श्रीराम के प्रतिनिधि बनकर जाते हैं। श्रीअंगदजी लङ्का में प्रवेश किये। राक्षसेन्द्र रावण के पुत्र से मार्ग में कुछ विवाद हो गया। परम स्वाभिमानी बालि-पुत्र अंगदजी ने—'गहि पद पटकेउ भूमि भवाँई।' उसके प्राण पखेरू उड़ गये। रावण के दरबार में पहुँचते ही इनके दुर्धर्षतेज से हतप्रभ होकर उसके सभी सभासद उठ खड़े हुए। यथा—'उठे सभासद कपि कहँ देखी। रावन उर भा क्रोध विसेषी।।' इसके पश्चात् अंगद-रावण संवाद बैठकबाजी (युक्ति द्वारा एक दूसरे को पराजित करने) का बेजोड़ नमूना है। श्रीअंगदजी ने रावण को तीन प्रकार से समझाया। प्रथत तो बातों से— यथा—'अब सुभ कहा सुनहु तुम मोरा। सब अपराध छमिहिं प्रभु तोरा।। दसन गहहु तृन कण्ठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी।। सादर जनक सुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे।। प्रणतपाल रघुवंशमणि, त्राहि-त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करेंगे तोहि।' (रा०च०मा०) परन्तु दुर्बुद्धि रावण ने इनके सदुपदेशों की उपेक्षा की तथा भगवान श्रीरामजी की निन्दा की तब—

श्रीअंगदजी ने दूसरी प्रकार—हाथों से समझाया। यथा—'जब तेहिं कीन्ह राम कै निन्दा। क्रोधवन्त अति भयउ कपिन्दा।। कट कटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदण्ड तमकि महि मारी।।' श्रीअङ्गदजी

के प्रबल भुजण्ड के आघात से पृथ्वी डोल गई, रावण का सिंहासन डगमगा गया। वह लुढ़क कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। श्रीअङ्गदजी ने बड़ी शीघ्रता से उसके चार मुकुट उठाकर श्रीराम के पास भेज दिये। रावण जैसे-तैसे अपने को सँभालकर पुनः सिंहासन पर जा बैठा। परन्तु इतने पर भी जब उसे ज्ञान नहीं हुआ तब श्रीअङ्गदजी ने भी इसे लात से ही समझाने का निश्चय किया। यथा—'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा मांझ प्रन करि पद रोपा।। जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी।।' यह प्रतिज्ञा श्रीअङ्गदजी ने दूताधिकार से नहीं बल्कि श्रीप्रभु के द्वारा प्राप्त विशेषाधिकार से की है। यहाँ श्रीअङ्गदजी का प्रतिनिधित्व प्रमाणित होता है। कितना अपार विश्वास है श्रीप्रभु में अङ्गदजी का। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'तेहि समाज कियो कठिन प्रन जेहिं तौल्यौ कैलास। तुलसी प्रभु महिमा कहौं (कि) सेवक को विस्वास।।'

मेघनाद के समान करोड़ों योद्धा मिलकर भी, एक बार, दो बार, तीन बार जोर लगाकर भी श्रीअङ्गदजी का पैर नहीं उठा सके। श्रीशिवजी कहते हैं—'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासुदूत पन कहु किमि टरई।।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—भूमि न छाड़त कपिचरन देखत रिपु मद भाग। कोटि विघ्नते सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग।।' श्रीअङ्गदजी ने रावण को ललकारा। तब वह भी इनका पांव उठाने को झुका ही था कि इन्होंने व्यंग किया—'गहत चरन कह बालि कुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा।। गहसि न राम चरण सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई।।' इस प्रकार रिपुबल को धर्षित करके बालिकुमार श्रीअङ्गदजी ने हर्ष में भरे हुये आकर श्रीरामजी के चरणों में प्रणाम किया।

श्रीरामजी ने अपने प्रिय भक्त अङ्गद के बल-पराक्रम को प्रकाशित करने के लिये अत्यन्त सम्मान पूर्वक अपने समीप बैठाकर कौतूहल पूर्वक पूछा—भैया अङ्गद! महाबलवान् राक्षसेन्द्र रावण के चार मुकुट तुम्हें किस प्रकार प्राप्त हुये, जिन्हें यहाँ फेंक दिया था? श्रीअङ्गदजी ने इस प्रश्न के उत्तर में अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया। यथा—'सुनु सर्वज्ञ प्रणत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूपगुन चारी।। साम दान अरु दण्ड विभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा।। नीति धर्म के चरन सुहाये। अस जियँ जानि नाथ पहिं आये। धर्म हीन प्रभु पद विमुख काल विवस दस सीस। तेहि परिहरि गुण आये सुनहु कोसलाधीस।। परम चतुरता श्रवन सुनि विहँसे राम उदार। समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालि कुमार।।' (रामा०) युद्ध में भी श्रीअङ्गदजी का पराक्रम परम प्रशंसनीय रहा।

श्रीअङ्गदजी के अनुराग का दर्शन तो उस समय होता है जब श्रीराम-राज्याभिषेकोपरान्त सभी सखाओं की विदाई होती है। सबको यथोचित वस्त्राभूषणों से समलंकृत कर ससम्मान विदा किया जा रहा है। परन्तु— अङ्गद बैठ रहा नहिं डोला। देखि प्रीति प्रभु ताहि न बोला।।' जब सब लोग विदा हो गये।

दो०— तब अङ्गद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति विनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेमरस बोरि।।

चौ०— सुनु सर्वज्ञ कृपा सुख सिन्धो। दीन दया कर आरत बन्धो।।
मरती बेर नाथ मोहिं बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछे घाली।।
असरन सरन विरद सम्भारी। मोहिं जनि तजहु भगत हितकारी।।
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता।।

तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा।।
बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना।।
नीचि टहल गृह कै सब करिहऊँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहऊँ।।
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही।।

दो०— **अङ्गद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासींव।**
प्रभु उठाइ उर लायऊ सजल नयन राजीव।।
निज उरमाल बसन मनि बालि तनय पहिराइ।
बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ।। (रा०च०मा०)

चौपाई—**अङ्गद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा।**

जिस समय सबको पहुँचाकर श्रीभरतादिक लौट रहे थे उस समय श्रीअङ्गदजी ने अत्यन्त प्रेम कातर होकर श्रीहनुमानजी से कहा—कहेहु दण्डवत प्रभु सैं तुम्हहिं कहउँ कर जोरि। बार-बार रघुनायकहिं सुरत कराएहु मोरि।।' (रामा०) श्रीअंगदजी के प्रेम का स्मरण करके भगवान श्रीरामजी भाव मग्न हो जाते हैं। यथा—'अस कहि चलेउ बालि सुत फिरि आयउ हनुमन्त। तासु प्रीति प्रभुसन कही मगन भये भगवन्त।।' (रा०च०मा०)

केशरी औरस—एक मतवाला हाथी ऋषियों के आश्रम में जाकर बहुत ऊधम मचाता, आश्रम उजाड़ देता, वस्तुएँ सब नष्ट-भ्रष्ट कर देता। तब महात्माओं ने वानरराज केशरी से कहा तो इन्होंने हाथी को पकड़ कर ऊपर आकाश में फेंक दिया जो चक्रवात में फँसकर नीचे गिरा ही नहीं। तब ऋषियों ने वरदान दिया कि आपके महाबली पुत्र होगा। यही कारण है कि श्रीहनुमानजी भी लङ्का के युद्ध में बहुत राक्षसों को ऊपर आकाश में उछाल दिये जो आज तक भ्रमवात में चक्कर काट रहे हैं। यथा—

जे रजनीचर वीर विशाल कराल विलोकत काल न खाये।
ते रनरोर कपीश किशोर बड़े बर जोर परे फँग पाये।।
लूम लपेटि अकाश निहारि कै हांकि हठी हनुमान चलाये।
सूखिगे गात चले नभ जात परे भ्रम वात न भूतल आये।। (क०)

श्रीहनुमानजी का चरित्र पूर्व आ चुका है। देखिये छप्पय ९।

श्रीदधिमुखजी—ये श्रीसुग्रीवजी के मामा थे। चन्द्रमा के अंश से उत्पन्न हुए थे। यथा—सौम्यः सोमात्मजश्चात्र राजन् दधि मुखः कपिः।। (वा०रा०)

श्रीद्विविदजी-मयन्दजी—ये दोनों अश्विनीकुमारों के पुत्र हैं। यथा—'मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ वलिनावश्विसम्भवौ।।' (वा०रा०) श्रीजाम्बवानजी की कथा पूर्व आ चुकी है।

श्री सुषेनजी—ये धर्म के पुत्र हैं। यथा—सुषेणश्चात्र धर्मात्मा पुत्रो धर्मस्य वीर्यवान्।। (वा०रा०)

श्रीनील-नलजी—नीलजी अग्नि के पुत्र हैं। यथा—पुत्रो हुतवहस्यात्र, नीलः सेनापतिः स्वयं।। नलजी विश्वकर्मा के पुत्र थे। यथा—विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम्।। (वा०रा०) नल ने

श्रीरामजी से कहा है कि हमारे पिता ने हमारी माता को वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र हमारे ही समान बलवान होगा। अतएव हम पिता के समान सब कुछ बनाने में चतुर हैं। एक ही माता से उत्पन्न होने के कारण पिता भिन्न होने पर भी दोनों भाई कहे गये हैं। यथा—'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई।' आनन्द रामायण में कथा है कि मुनियों के शालग्राम को जल में फेंक दिया करते थे। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने भावी समुद्र बन्धन रूप कार्य को देखकर शाप के व्याज से ऐसा वरदान दिया कि पाषाण तुम्हारे स्पर्श मात्र से जल में नहीं डूबेगा वरन् तैरेगा। यथा—समुद्र वचन—'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाई रिषि आसिष पाई।। तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे।। बात सत्य निकली। नल-नील ने पाँच दिन में ही सौ योजन विस्तीर्ण समुद्र पर दस योजन की चौड़ाई का सुन्दर एवं सुदृढ़ सेतु बनाकर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। यथा—'बाँधा सेतु नील नल नागर। राम कृपा जस भयउ उजागर।।' रावण ने श्रीअङ्गदजी से नल नील का उपहास करते हुये कहा था कि—'शिल्पकर्म जानहिं नल नीला।' तो युद्ध में इन दोनों शिल्पियों ने रावण की खोपड़ी की भी मरम्मत की थी। यथा—'तब नल नील सिरन्हि चढ़ि गयऊ। नखन्हि लिलार विदारत भयऊ।।' ये दोनों विन्ध्याचल निवासी और दस-दस करोड़ वानरों के यूथपति थे। श्रीसुग्रीवजी के मन्त्री थे।

श्रीशरभजी—ये पर्जन्यदेव के पुत्र थे। यथा—शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः।। (वा०रा०)

श्रीगवय—गवाक्षजी—ये यमराज के पुत्र थे। यथा—पुत्रा वैवस्वतस्याथ पंच कालान्तकीपमाः। गजो गवाक्षो, गवयः शरभो गन्दमादनः।। (वा०रा०)

श्रीगन्दमादन—ये कुबेर के पुत्र थे। यथा—धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरोगन्धमादनः। (वा०रा०) पद्म अठारह यूथपाल—यथा—'अस मैं श्रवन सुना दसकंधर। पदुम अठारह यूथप बन्दर।। असंख्य बानर- भालु वीरों में अठारह पद्म यूथपति थे और इन अठारह पद्म यूथपतियों के ऊपर छप्पय में वर्णित सुग्रीवादि अठारह यूथपालपति थे। यद्यपि ये सभी अपने को श्रीराम का दास ही मानते थे। परन्तु श्रीरामजी इन्हें अपना सखा मानते थे। यथा—'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे।। मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे।।' (रा०च०मा०)

जे सहचर—कहकर जनाया गया कि ये इनके अतिरिक्त और भी जो सहचर (सखा) हैं वे सब मेरे ऊपर कृपा दृष्टि की वृष्टि करें। श्रीरामरसायन ग्रन्थ में श्रीअयोध्या के भी अठारह सखाओं का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

सुन्दर शेषर, वीरसेन, मणिभद्र निहारौं।
तेजरूप, रसिकेश, कलाधर, हृदय विचारौं।।
वाणरूप, रस रास, मनोहर और गुणाकर।
मानद पुनि पत्रीश बहुरि वनपाल, गदाधर।।
रमनेश, पद्मकर, शीलनिधि रसिकविहारी जानिये।
रघुबीर सखा ये अष्टदश अन्तरङ्ग पहिचानिये।।

नव नन्दजी

व्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुत नीके नवनन्द।
धरानन्द, ध्रुवनन्द, तृतिय उपनन्द सुनागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनन्द, नन्द, सुख सिंधु उजागर।।
सुठि सुनन्द पशुपाल, निर्मल निश्चय अभिनन्दन।
कर्मा धर्मानन्द अनुज वल्लभ जग बन्दन।।
आस पास वा बगर के जहँ विहरत पशुप सुछन्द।
व्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुत नीके नव नन्द।।२१।।

शब्दार्थ—व्रज=गायों के रहने का स्थान, श्रीकृष्ण की लीलाभूमि, चौरासी कोश मथुरा मण्डल। नागर=चतुर। उजागर=प्रसिद्ध, दीप्तिमान्, चमकीले। पशुपाल=गायों के पालक, पशुओं के रक्षक। निर्मल=दोष रहित, पवित्र। वा=उस। बगर=गायों के बाँधने का स्थान, टोला, महल। पशुप=गोप, ग्वाल। सुछन्द=स्वतन्त्र, अपनी इच्छानुसार।

भावार्थ—ब्रजमण्डल के सबसे बड़े माननीय गोप पर्जन्यजी के अति सुन्दर एवं सुशील नौ पुत्र थे, वही नवनन्द हैं। धरानन्दजी ध्रुवनन्दजी, तीसरे परम चतुर उपनन्दजी और चौथे अभिनन्दजी थे। प्रसिद्ध यशस्वी तथा सुख के सागर नन्दजी थे। पशुओं के पालक आनन्दप्रद निर्मल और निश्चल बुद्धि वाले सुनन्दजी थे। विश्व वन्दनीय कर्मानन्दजी और धर्मानन्दजी तथा उनके छोटे भाई बल्लभजी थे। जहाँ गायों का चरने का स्थान है वहाँ उसी के आस-पास स्वच्छन्दता से ये गोप विचरते रहते थे।।२१।।

व्याख्या—व्रज—व्रजभूमि मोहिनी मैं जानी।
मोहन कुंज मोहन वृन्दावन मोहन यमुना पानी।।
मोहननारि सकल गोकुल की बोलत अमृत बानी।।
जै श्रीभट के प्रभु मोहन नागर मोहन राधारानी।।

श्रीपर्जन्यजी—यदुवंश में सर्वगुण सम्पन्न एक देवमीढ़ नाम के राजा हुये। वे श्रीमथुराजी में निवास करते थे। उनके दो पत्नियाँ थीं, पहली क्षत्रिय वर्ण की, दूसरी वैश्य वर्ण की। उन दोनों रानियों के क्रम से यथायोग्य दो पुत्र हुये एक का नाम था शूरसेन, दूसरे का नाम था पर्जन्य। माता-पिता दोनों क्षत्रियवर्ण होने से श्रीशूरसेनजी क्षत्रिय रहे परन्तु पर्जन्यजी का जन्म वैश्य वर्ण की माता से हुआ था अत: 'मातृवद् वर्णसङ्कर:' इस न्याय से वैश्य जाति को प्राप्त होकर इन्होंने गोपालन वृत्ति विशेष को अपनाया। ये बड़े ही भगवत-भागवत सेवी थे। साधु ब्राह्मणों में इनकी अपार श्रद्धा थी। ये अपने औदार्य गुण से परम प्रशंसनीय थे। ये यश में प्रह्लाद, प्रतिज्ञा में ध्रुव, महिमा में पृथु, शत्रुओं के प्रति भीष्म, मित्रों के प्रति शङ्कर, गौरव में ब्रह्मा तथा तेज में श्रीहरि के तुल्य थे। पर्जन्य (मेघ) की तरह प्राणिमात्र के लिये मंगलकारी होकर इन्होंने अपने पर्जन्य नाम को चरितार्थ कर दिया था। इनके समान ही इनकी परम

भागवती पत्नी ने भी सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न होकर अपने 'वरीयसी' इस नाम को सार्थक किया था। ये समस्त गोपों के राजा थे। इनके परम भाग्यशाली उपनन्दादि नव पुत्र थे।

श्रीनन्दजी—श्रीगोपाल चम्पू में वर्णन आता है कि श्रीपर्जन्यजी ने श्रीवसुदेव आदि राजाओं एवं श्रीगर्गाचार्य आदि ब्राह्मणों की सभा करके अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र श्रीउपनन्दजी को राजतिलक दे दिया परन्तु श्रीउपनन्दजी ने पूर्व विधि के अनुसार ही अपने मँझले भाई श्रीनन्दजी को ही गोकुल के राजा के रूप में सम्मानित कर दिया। श्रीनन्दजी भी सलाह के बहाने विशेष रूप से श्रीउपनन्दजी की आज्ञा का ही पालन करते हुये प्राणवत् प्रजा का पालन करते थे। सुमुख गोप की कन्या श्रीयशोदा नन्दरानी के रूप में सुशोभित हुईं। श्रीनन्द-यशोदा का दिव्य दाम्पत्य परम सुखावह था। व्रजराज श्रीनन्दजी सब प्रकार की समृद्धियों से सम्पन्न थे, परन्तु उनके पुत्र नहीं था। अवस्था भी ढल गयी थी। चौथापन चुनौती दे रहा था। श्रीउपनन्द आदि वृद्ध गोपों ने परस्पर परामर्श करके एक पुत्रेष्टि यज्ञ का आयोजन किया। सबने यज्ञ पुरुष से गोपराज नन्द के लिये पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की।

उधर बाहर यज्ञ हो रहा था, इधर अन्तःपुर में श्रीनन्द जी यशोदा से कह रहे थे—महरि! यद्यपि मन में पुत्र की कामना है और पुत्रेष्टि यज्ञ में मेरा विश्वास भी है, परन्तु मन में जिस प्रकार के पुत्र की अभिलाषा है, और हमारे हृदय में जिसकी स्फूर्ति भी होती रहती है कर्म फलस्वरूप उसे प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र है। श्रीयशोदाजी ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ जब उस सङ्कल्पित शिशु के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो श्रीनन्दजी कहने लगे—

श्यामश्चञ्चल चारु दीर्घ नयनो बालस्तवाङ्कस्थले,
दुग्धोद्गारि पयोधरे स्फुटमसौ कीडन् मयालोक्यते।।
स्वप्नस्तत् किमु जागरः किमथवेत्येतन्न निश्चीयते,
सत्यं ब्रूहि सधर्मिणी स्फुरति किं सोऽयं तवाप्यन्तरे।।

अर्थ—मैं देखता हूँ, दिव्यातिदिव्य नीलमणि सदृश श्यामसुन्दरवर्ण एक बालक, जिसके चञ्चल, मनोहर नेत्र अत्यन्त विशाल हैं, तुम्हारी गोद में स्थित होकर तुम्हारे दुग्धस्त्रावी पयोधरों का दुग्धपानकर रहा है और भाँति-भाँति के खेल कर रहा है। उसे देखकर मैं अपने आपको खो देता हूँ। सोता हूँ या जागता, कुछ भी पता नहीं चलता। यशोदे! सत्य बताओ—क्या कभी तुमने भी स्वप्न में इस बालक को देखा है? आनन्द विह्वल होकर गद्गद् कण्ठ से श्रीयशोदा बोलीं—ब्रजराज! सचमुच मैं भी ठीक ऐसे ही बालक को सदा अपनी गोद में खेलता देखती हूँ। तदनन्तर श्रीनन्द-यशोदा इसे श्रीहरि कृपा समझकर, दोनों ने तन, मन, वचन से श्रीहरि- चरण-शरणापन्न होकर एक वर्ष के लिये भवगान के अत्यन्त प्रिय द्वादशी के दिन यथा विधि व्रत करने का नियम लिया और व्रत आरम्भ कर दिया। व्रतानुष्ठान सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न हुआ। एक दिन श्रीयशोदाजी ने स्वप्न की भाँति यह अनुभव किया कि वह पहले स्वप्न में देखा हुआ बालक एक विद्युत वर्णा बालिका के साथ नन्द हृदय से निकलकर उनके हृदय में प्रवेश कर रहा है। बस, तभी से यशोदा के गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगे और आठ महीने के बाद भाद्र मास की कृष्णाष्टमी के दिन आनन्दकन्द श्रीगोविन्द का प्राकट्य हुआ। बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। यत्र-तत्र सर्वत्र 'नन्द के आनन्द भयो जै कन्हैयालाल की' यह मङ्गल ध्वनि छा गई। श्रीनन्दजी तो वात्सल्य रस के साकार स्वरूप हैं। अपने लाल के प्रति इनका प्रेम दिन-दूना, रात चौगुना सौगुना बढ़ने लगा ये रात दिन अपने

लाल की मंगल कामना के लिये विविध जप तप पूजा-पाठ, व्रतोपवासों का अनुष्ठान करते रहते थे। जब गोकुल में कंस के कारण नित्य प्रति अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे तो ये अपने सम्पूर्ण समाज को लेकर बरसाने के समीप आकर बस गये। गाँव का नाम पड़ा नन्दगाँव।

एकबार नन्दबाबा ने कार्तिक शुक्ल एकादशी का उपवास किया था। दिनभर भगवान की सेवा पूजा में लगे रहे रात्रि में गोपों के संग श्रीहरिनाम कीर्त्तन करते हुए जागरण किये। रात्रि अभी अधिक शेष थी, ये स्नान करने चल पड़े। श्रीयमुनाजी में प्रवेश करते ही जल के देवता वरुण के दूत उन्हें पकड़ कर अपने स्वामी के पास ले गये। श्रीनन्दबाबा को न देखकर गोपों में बड़ी खलबली मच गई। वे श्रीकृष्ण एवं बलराम का नाम लेकर विलाप करने लगे। सर्वज्ञ श्रीकृष्ण व्रजवासियों को सान्त्वना देकर श्रीयमुना में कूदकर वरुणलोक पहुँच गये। वरुण देवता ने श्रीकृष्ण की बड़ी पूजा की और उनका दर्शन पाकर अपने जीवन और जन्म को सफल माना तथा दूतों की धृष्टता के लिये क्षमा-याचना की। इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण अपने पिता को लेकर ब्रज में चले आये और ब्रजवासी बन्धुओं को आनन्दित किये। श्रीनन्दबाबा को वरुण का ऐश्वर्य तथा अपने लाल का प्रभाव देखकर बड़ा विस्मय हुआ। ऐसे ही एकबार नन्दबाबा ने गोपों के सहित शिवरात्रि के अवसर पर अम्बिका वन की यात्रा की। वहाँ एक बड़ा भारी अजगर रहता था। उसने सोये हुये नन्दजी को पकड़ लिया। जब वे चिल्लाये तो भक्त वत्सल भगवान ने वहाँ पहुँचकर अपने चरणों से उस अजगर को छूकर उसका उद्धार किया और अपने पिता की रक्षा की।

जब अक्रूरजी के साथ श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा चले गये और पुनः स्वयं नहीं लौटे परन्तु श्रीनन्दबाबा को विवश होकर पुनः व्रज को लौट आना पड़ा। श्रीकृष्ण की लीलाओं का संस्मरण ही उनके जीवन का एकमात्र सम्बल रह गया था। जिस समय श्रीउद्धवजी श्रीश्याम सुन्दर का सन्देश लेकर व्रज आये और श्रीनन्दबाबा से मिले उस समय जब ये अपने लाल की एक-एक लीलाओं को यादकर करके उद्धव से श्रीकृष्ण की कुशल पूछने लगे तब वे तो इनके लोकोत्तर वात्सल्य स्नेह को देखकर चकित हो गये। प्रेम की कैसी अद्‌भुत महिमा है कि श्रीकृष्ण के अनेकों अति मानुष्य चरित्रों को अपनी आँखों से देखकर भी श्रीनन्दबाबा तो उन्हें अपना लाल ही मानते हैं। तभी तो जगत पिता ने भी अपने सर्वैश्वर्य को भुलाकर इनका पुत्र बनकर विविध विनोद किया।

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म।।

समस्त व्रजवासी गण

बाल वृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पादरज।।
नन्दगोप उपनंद ध्रुव धरानन्द महरि जसोदा।
कीरतिदा वृषभानु कुँवरि सहचरि मन मोदा।।
मधुमङ्गल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा।
मण्डल ग्वाल अनेक श्याम-सङ्गी बहुनामा।।
घोष निवासिनकी कृपा सुर-नर बांछित आदि अज।
बाल वृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पाद रज।।२२।।

शब्दार्थ—महरि=(महर=) जमीदारों और वैश्यों में श्रेष्ठ, उसकी स्त्री। यशोदा=नन्द पत्नी, यश देने वाली। घोष=गोपों की बस्ती, व्रजमण्डल। आदि अज=ब्रह्मा आदि देव। अर्थी=प्रार्थी, चाहने वाला।

भावार्थ—ब्रह्मा आदि सभी देव तथा ऋषि मुनि व्रजमण्डल के निवासियों की कृपा चाहते हैं उन बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी गोपी ग्वालों की चरणरज को मैं अपने सिर पर चढ़ाना चाहता हूँ। नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुवनन्द, नन्दजी की पत्नी यशोदाजी, कीर्ति देने वाली वृषभानु की पत्नी कीर्तिजी, बरसाने के राजा वृषभानुजी वृषभानुकुमारी श्रीराधिका, प्रसन्नचित्ता सखियाँ, मधुमङ्गल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा और सम्पूर्ण ग्वाल-मण्डली जिनके अनेक नाम हैं जो श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण चन्द्र के साथी हैं, इन सबके पद की धूरि का चाहने वाला हूँ।।२२।।

व्याख्या—श्रीयशोदाजी—श्रीनन्द-यशोदा श्रीकृष्ण के नित्य पिता-माता हैं तथापि लीलाकाल में अन्य भगवद्विभूतियों का भी पिता-माता के रूप में प्रतिष्ठित होना पाया जाता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में प्रसङ्ग आता है कि वसुओं में श्रेष्ठ तपोधन द्रोण ही श्रीनन्दजी के रूप में तथा उनकी पत्नी परम तपस्विनी धरा श्रीयशोदाजी के रूप में प्रकट हुई थीं। इन दोनों ने श्रीहरि को पुत्र रूप में पाने का वरदान पाया था। बात वस्तुतस्तु यह है कि नित्य पिता-माता नन्द यशोदा में ही इनका अंश भी समाया रहता है। वात्सल्य रस की अप्रतिम प्रतिमा श्री यशोदा के सुख सौभाग्य का कौन वर्णन कर सकता है जिनके पुत्र रूप में प्रगट हुये स्वयं भगवान परमानन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र।

श्रीनारदजी कहते हैं—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं,
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
न शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं,
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः।।

अर्थ—अरी यशोदे! तुझसे हम क्या कहें, अकेली तूने ही न जाने कितने पुण्य क्षेत्रों में जाकर किन-किन विधियों द्वारा कितने-कितने पुण्य किये हैं। अरी! जिनकी कृपा कटाक्ष को इन्द्र, ब्रह्मा और महादेव कोई भी प्राप्त नहीं कर सके। वह पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण तेरी गोद में चढ़ने के लिये रोता हुआ पृथ्वी पर लोट रहा है। तू धन्य है।

श्रीमद्गोस्वमी तुलसीदास कहते हैं—

(माता) लै उछंग गोविन्द मुख बार बार निरखै। पुलकित तनु आनंदघन छन छन मन हरषे।।
पूछत तोतरात बात मातहिं यदुराई। अतिसय सुख जाते तोहिं मोहिं कहु समुझाई।।
देखत तुव वदन कमल मन अनन्द होई। कहै कौन रसन मौन जानै कोइ कोई।।
सुन्दर मुख मोहिं देखाउ इच्छा अति मोरे। मम समान पुण्य पुंज बालक नहिं तोरे।।
तुलसी प्रभु प्रेम बिबस मनुज रूप धारी। बालकेलि लीला रस ब्रजजन हितकारी।।

(कृष्णगीतावली)

श्रीयशोदाजी के वात्सल्य की बलिहारी है। 'जासु त्रास डर कहुँ डर होई।' उन्हें ही हाऊ का भय दिखाती है। यथा—

पद—**खेलन दूर जात कित कान्हा।**
आज सुन्यो बन हाऊ आयौ तुम नहिं जानत नान्हा।।
यह लरिका अबहीं भजि आयौ लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेत सबनि के लरिका जानत जाहि।।
चलहु वेग सबरे जैये भजि अपने अपने धाम।
सूरदास यह बात सुनत ही बोलि लिये बलराम।।

बालकृष्ण भी अपनी मैया यशोदा पर कितना प्यार करते हैं, वह वर्णन नहीं किया जा सकता है। कथा आती है कि जब मैया यशोदा ने लाल को जब ऊखल में बाँध दिया था। श्रीनन्दनन्दन के संस्पर्श से यमलार्जुन का उद्धार हुआ। जब उन दोनों वृक्षों के गिरने का शब्द नन्दबाबा को सुनायी पड़ा तो वे अथाई परसे दौड़े-दौड़े आये जब उन्हें सब वृत्तान्त मालूम हुआ तो वे लाल को गोद में उठा लिये, श्रीयशोदा पर बहुत नाराज हुये और अन्त में यह कहे कि देखो महरि! हमें तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। यदि लाल को इस प्रकार प्रताड़ित करोगी तो मैं इसे लेकर कहीं तीर्थ में चला जाऊँगा। यथा—'यास्यामितीर्थमद्यैव कण्ठे कृत्वा तु बालकम्। अथवा त्वं गृहाद् गच्छ त्वया मे किं प्रयोजनम्।। (ब्र०वै०पु०) यह कह श्रीनन्दबाबा लाल को लेकर पुनः अथाई पर चले गये। इधर मैया को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपने को धिक्कारने लगीं। हाय! मेरे हाथ नहीं कट गये। जेवरी नहीं जल गयी। आदि-आदि। मैया के दुःख का पारावार नहीं था। उधर बालकृष्ण मैया के स्नेह से आकृष्ट हुये। लीलाविहारी ने लीला ठानी। बोले—बाबा! बड़े जोर की भूख लगी है। बाबा ने तुरन्त एक गोप से कहा— जा रे, अपने घर से दूध तो लेआ। ग्वाल बोला—बाबा! अभी हाल लाया। यह कहकर जब वह गोप चलने लगा तो श्रीबालकृष्ण बोले—ना बाबा, मैं तो मैया का दूध पीऊँगा। बाबा बोले—क्यों लाला—मैंने तो तेरे ही लिये तेरी मैया को छोड़ा और तू उसी का पक्ष लेता है। लाल बोले—ना बाबा मैं तो मैया का ही दूध पीऊँगा और मैया की गोद में जाऊँगा। तब तक वहाँ यशोदा की भेजी हुई एक ग्वालिन आई। वह अथाई के नीचे से सब बात सुन रही थी। श्यामसुन्दर का रुख जानकर झट से उसने गोद में लेने के लिये हाथ उठाया। लाल लपककर तुरन्त गोद में आ गये। मैया यशोदा ने आगे बढ़कर लाल को अपनी गोद में लेकर मुँह चूमा। यह है मैया और कन्हैया का परस्पर का भाव।

श्रीकृष्ण-बलराम श्रीअक्रूरजी के साथ मथुरा जा रहे हैं। मैया यशोदा का हृदय विदीर्ण हो रहा है। वह करुणक्रन्दन करते हुये कहती हैं—

पद—**यशोदा बार-बार यों भाखै।**
है कोउ व्रजमें हितू हमारौ चलत गोपालहिं राखै।।
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलाये।
सुफलक सुत मेरे प्राण हनत को काल रूप ह्वै आये।।
बरु ए गोधन हरौ कंस सब मोहि बन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन मों अँखियन आगे खेलौ।।

वासर वदन विलोकत जीऊँ निसि दिनि अंकम लावौं।
तेहि विछुरत जौं जिऊँ करमबस तौ हँसि काहि बुलावौं।
कमल नैन गुन टेरत टेरत अधर वदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ दुखित नन्द की रानी।।

श्रीकृष्ण–बलराम मथुरा चले गये। सङ्ग में श्रीनन्दबाबा भी गये थे परन्तु राम–कृष्ण तो वहीं रह गये। अकेले नन्दबाबा घर लौट आये केवल श्यामसुन्दर की सुधियों को सँजोए हुये। मैया ने देखा—लाल नहीं आये। हृदय चीत्कार कर उठा—प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है? दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है? लखिमुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ। वह हृदय दुलारा नैन तारा कहाँ है? पलपल जिसके मैं पन्थ को देखती थी। निशि दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।। उर पर जिसके हैं सोहती मुक्ता माला। वह नव नलिन से नैन वाला कहाँ है? सहकर कितने ही कष्ट और सङ्कटों को। बहु यजन कराके पूजि के निर्जरों को।। वह सुवन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा। प्रियतम वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है? (प्रिय प्रवास)

मैया बाबा का स्नेह श्रीकृष्ण मथुरेश, द्वारकेश होने पर भी नहीं भूल सके। यथा—

ऊधो मोहिं ब्रज विसरत नाहीं।
वृन्दावन गोकुलतन आवत सघन तृणन की छाहीं।।
प्रात समय माता यसुमति अरु नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजाओ अति हित साथ खवावत।। (सू० सा०)

सूर्य ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में श्रीनन्द यशोदा एवं समस्त ब्रजवासियों से श्रीकृष्ण का मिलन हुआ। मैया यशोदा श्रीकृष्ण को द्वारकानाथ समझकर मिलने में हिचक रही थीं तब श्रीकृष्ण स्वयं ललक कर मैया के पास जाकर बोले—

अबहँसि भेटहु कहि मोहि निजसुत बाल तिहारो हौं नन्द दोहाई।
रोम पुलकि गदगद तनु तिहि छिन जलधारा नैननि बरसाई।।
मिले सुतात मात बन्धू सब कुशल कुशल करि प्रश्न चलाई।
सूरदास प्रभु कृपा करी अब चितहिं धरे पुनिकरी बड़ाई।। (सू० सा०)

श्रीकीरतिदा–वृषभानुकुंवरि–श्रीराधा—भगवान के लीला सम्पादनार्थ गोलोक से वसुदामगोप ही श्रीवृषभानु गोप होकर इस भूतल पर आये और पितरों की मानसी कन्या कलावती ही रानी कीर्तिदा हुईं। इन्हीं दिव्य दम्पति श्रीकीर्तिदा वृषभानुजी के यहाँ भगवान की परमाह्लादिनी सार स्वरूपा श्रीराधा स्वेच्छा से पुत्री रूप में प्रगट हुईं। श्रीराधाकृष्ण–युगल तत्त्वत: 'गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' हैं। परन्तु भक्तों को परम प्रेम रस का आस्वादन कराकर उन्हें परमानन्द प्रदान करने के लिये नित्य युगल स्वरूप में विराजमान होकर विविध रसमय केलि विलास किया करते हैं। प्रेम की परमावधि श्रीराधा–माधव एक होकर भी दो रूपों में विहार करते हैं और दो रूपों में विहार करते हुए भी एक हैं। यथा—

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति हन्त प्रवाद-
स्त्वंमे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत् तच्चनो साधु राधे,
व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः।।

अर्थ—(भगवान श्रीकृष्ण श्रीराधाजी से कहते हैं) मैं प्रियतम हूँ और तुम मेरी प्रियतमा हो यों कहना केवल किंवदन्ती मात्र है। तू मेरे प्राण है मैं तेरे प्राण हूँ—यह कहना भी प्रलाप ही करना है। तू मेरी है और मैं तेरा हूँ—यह भी कोई साधु प्रयोग नहीं हैं। हम दोनों में कभी तू और मैं का किसी प्रकार भी कोई भेद सूचित हो, यह उचित नहीं। अर्थात् हम दोनों में कभी कोई भेद है ही नहीं।

ब्रज लीला में श्रीराधा-माधव की अनादि अनिर्वचनीय प्रीति जन्म से ही देखी जाती है। कीर्ति रानी ने अनुपम लावण्य मूर्ति लली को जन्म दिया है। बरसाने ही नहीं सम्पूर्ण ब्रजमण्डल, वस्तुतस्तु समस्त ब्रह्माण्ड परमोल्लसित है। बधाइयाँ बज रही हैं, दान दक्षिणा, भेंट, न्यौंछावरें हो रही हैं। भला वृषभानु बाबा कीर्तिरानी का सुख कौन वर्णन कर सकता है। तब तक एकाएक श्रीकीर्ति रानी की दृष्टि लली के नेत्रों पर पड़ी। देखा, नेत्र बन्द हैं। बहुत काल तक प्रतीक्षा करने के बाद भी नेत्र नहीं खुले। मैया चिन्तित हो गई बाबा उदास हो गये, लोगों को भी जब यह मालूम हुआ तो सबके मुखों पर कुछ म्लानता सी छा गई। बहुत उपाय करने पर भी नेत्र बन्द ही रहे। लोग किंकर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे। तब तक श्रीनन्दरानी अपने लाल को गोद में लिए हुए लली की बधाई लेकर श्रीवृषभानु के घर आईं। श्रीकीर्तिरानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि मेरी लाड़िली ने यशोदा नन्दन को देखते ही किलकारी मारकर आँखें खोल दीं। इस प्रकार श्रीराधाजी ने लीलाकाल में भी सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को ही देखा। परमाह्लादिनी राधा ने अपने बाल-विनोद से माता-पिता एवं समस्त परिजन पुरजनों को परम आनन्द प्रदान किया।

धीरे-धीरे बड़ी होकर जब वे सखियों के साथ ब्रज की बीथियों एवं यमुना पुलिन आदि स्थलों पर खेलने जाने लगीं तो एक दिन उन्हें अचानक श्यामसुन्दर मिल गये। श्रीसूरदासजी कहते हैं कि—'सूरश्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलिपरी ठगौरी।।' फिर तो वे पूछ ही बैठे—'बूझत श्याम कौन तूँ गोरी। कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।।' श्रीराधा ने कहा—'काहे को हम ब्रज तजि आवति खेलति रहति आपनी पौरी। सुनति रहति श्रवणनि नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।।' श्रीनन्दनन्दन ने कहा—'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ सङ्ग मिलि जोरी। सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातन भुरइ राधिका गोरी।।' तत्पश्चात् श्रीश्यामसुन्दर पुनः खिरक में मिलने का संकेत कर सखा मण्डल में जा मिले। इधर श्रीराधा भी घर चली आईं। उस समय के श्रीराधा भाव का चित्रण करते हुये श्रीसूरदासजी लिखते हैं कि—

नागरि मनहिं रही अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।।
श्याम सुन्दर मदन मोहन मोहिनी सी लाइ।
चित्त चंचल कुंवरि राधा खान पान भुलाइ।।

कबहुँ बिलपति कबहुँ विहसति सकुचि बहुरि लजाइ।
मातु पितु को त्रास मानति मन बिना भइ बाइ।।
जननिसों दोहिनी माँगति वेगि दै री माइ।
सूर प्रभु को खिरक मिलिहौं गए मोहिं बुलाइ।।

एवं प्रकारेण श्रीराधा–माधव का मधुर मिलन कभी गोदोहन के व्याज से खिरक में तो कभी जल भरने के ब्याज से यमुना पुलिन पर होता रहता है। देखिये कवित्त श्रीरसखानजी का—'एरी आज काल०' पृष्ठ ३२ —क० ४ की व्याख्या। श्रीप्रिया प्रियतम में परस्पर प्रेम की होड़ लगी रहती है। देखिये श्रीहित हरिवंशजी का पद—जोई जोई प्यारो करैं०, पृष्ठ ३२ क०—४ की व्याख्या में।

श्रीहितकुल भूषण श्रीवृन्दावन दासादि रसिक महानुभावों ने श्रीलाडसागर आदि ग्रन्थों में श्रीराधा–माधव के विवाह का बड़ा ही भाव–पूर्ण वर्णन किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीब्रह्माजी के द्वारा इस मङ्गलमयी लीला का सम्पादन होना वर्णित है। कथा आती है कि एक दिन श्रीनन्दबाबा अपने बालकृष्ण को साथ लेकर भाण्डीर वन में गौओं की देखभाल करने गये। गायों की गणना तथा पर्यवेक्षण करके बाबा बालक को गोद में लेकर एक वृक्षमूल के पास बैठ गये। इतने में चारों ओर से काली घटायें छा गयीं, वर्षा के साथ बड़े जोर–जोर से हवा चलने लगी। यह सब देखकर नन्दजी को बड़ा भय हुआ। उस समय श्रीकृष्ण वर्षा–बिजली के भय से रोने लगे। उन्होंने पिता के कण्ठ को जोर से पकड़ लिया। तब और उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मन से नारायण का स्मरण करने लगे। इसी समय वहाँ एकाएक नित्य किशोरी श्रीराधा प्रगट हो गयी। उस निर्जन वन में उन्हें देखकर प्रथम तो श्रीनन्दजी को बड़ा विस्मय हुआ, परन्तु बाद में श्रीगर्गजी के वचनों का स्मरण कर और उन्हें नित्य श्रीहरिप्रिया जानकर अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया और भक्ति का वरदान माँगा। दूसरे ही क्षण भगवान की लीला शक्ति से मोहित होकर पुनः माधुर्य भाव से भावित होकर, श्रीकृष्ण को राधा के हाथ में दे दिया।

श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र को लेकर गहन वन में प्रविष्ट हो गईं। वहाँ श्रीराधाजी के स्मरण करते ही परम दिव्य रास मण्डल प्रगट हो गया। सहसा नन्द–सुवन श्रीकृष्ण राधा की गोद से अन्तर्हित हो जाते हैं और जब वह अकपकाकर देखने लगती हैं तो वह कोटि–कोटि कन्दर्प दर्प दलन पटीयान नित्य किशोर श्रीकृष्ण उन्हें पुष्पमयी शय्या पर विराजमान दीख पड़े, रासेश्वरी उस परम मनोहर रूप को देखकर मोहित हो गईं। परस्पर प्रेमावलोकन पूर्वक अतीत का स्मरण कर श्रीराधा–माधव प्रणयवार्ता करते हुये भाव–सिन्धु में निमग्न होने ही वाले थे कि इसी बीच श्री ब्रह्माजी श्रीहरि के सामने आये। आज युगल–चरणारविन्दों का दर्शन कर श्रीब्रह्माजी ने पुष्कर तीर्थ में की गई साठ हजार वर्ष की तपस्या को सफल माना। स्तुति–प्रणामोपरान्त श्रीब्रह्माजी अविचल प्रेम लक्षणा भक्ति का वरदान पाकर कृतार्थ हुये। इसके बाद भगवान् की इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर विधाता ने विधि पूर्वक वेदमन्त्रों द्वारा श्रीराधा–माधव का विवाह कराया। दक्षिणा में श्रीब्रह्माजी ने युगल के श्रीचरणकमलों में प्रेम माँगा। श्रीब्रह्माजी के चले जाने पर युगल ने विविध प्रेम क्रीड़ाएँ कीं। उसके बाद कृष्ण पुनः बाल रूप हो जाते हैं और श्रीराधा उन्हें लेकर मैया यशोदा के पास आती हैं। इसी प्रकार 'एक प्राण द्वै देही' श्रीराधा–माधव का नित्य विहार होता रहता है।

श्रीयुगल के नित्य विहार के सम्बन्ध में रसिक महानुभावों का तो कथन है कि मधुपति श्रीलालजी सृष्टि आदि की बात तो दूर रही, अपने नारदादि भक्तों का भी तनिक ध्यान नहीं करते, श्रीदामा आदि सुहृदों से भी नहीं मिलते, अपने पितृ वर्ग नन्द-यशोदा आदि की स्नेह वृद्धि को भी संकुचित कर देते हैं, परन्तु अगाध मधुर रस सुधा सिन्धु के स्वरूप प्रेम की परमावधि श्रीप्रियाजी को एकमात्र जानते हुए निरन्तर कुञ्जवीथी की उपासना करते रहते हैं। यथा—'दूरे सृष्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन्स्व-भक्तांश्छ्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेह वृद्धिं स्वमित्रो-। किन्तु प्रमैकसीमां मधुर रससुधा सिंधु सारैरगाधां श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुंजवीथीमुपास्ते।।' (श्रीराधासुधा०)

श्रीव्रज की रसोपासना में श्रीकृष्ण प्राणाधिका श्रीराधा श्रीकृष्णराधिका होने के साथ-साथ श्रीकृष्णा- राध्या विशेष हैं। यथा—

ब्रह्म में ढूढ्यौ पुरानन गानन वेदरिचा सुनि चौगुनी चायन।
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कितहूँ वह कैसो स्वरूप है कैसो सुभायन।।
हेरत हेरत हारि थक्यों 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यों दुर्‌यौ वह कुञ्ज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।। (रसखान)

पुनश्च— **चाँपत चरन मोहन लाल।**
प्रयंक पौढ़ी कुँवरि राधा नागरी नव बाल।।
लेत कर धरि परसि नैननि हरषि लावत भाल।
लाइ राखत हृदै सों तब गनत भाग विशाल।।
देखि पिय की अधीनता भई कृपा सिन्धु दयाल।
व्यास स्वामिनि लिये भुज भरि अति प्रवीन कृपाल।। आदि

वैसे तो रसिक महानुभावों की भावनानुसार श्रीप्रिया प्रीतम का वियोग कभी होता ही नहीं। ये तो नित्य निकुंज विहारी हैं परन्तु पौराणिक कथा प्रसङ्गों में वियोग का भी उल्लेख पाया जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कथा आती है कि एक बार गोलोक में श्रीकृष्ण विरजादेवी के समीप थे। श्रीराधा को यह ठीक नहीं लगा। श्रीराधा को क्षुभित जानकर विरजा वहाँ नदी रूप होकर प्रवाहित हो गईं। श्रीराधा ने प्रणय कोप से श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे कुछ कठोर शब्द कहा। सुदामा ने इसका विरोध किया। इस पर लीलामयी श्रीराधा ने उसे असुर होने का शाप दे दिया। सुदामा ने श्रीकृष्ण वियोग की सम्भावना से व्यथित होकर श्रीराधा से कहा—तुम्हें मालूम नहीं, मैं प्यारे श्रीकृष्ण का नित्य सखा हूँ, सदा संग रहने वाला हूँ। मैं उनके वियोग में भला कैसे रह सकता हूँ? तुमने बिना विचारे शाप दे दिया है अतः मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम भी मानवी रूप में प्रगट होकर सौ वर्ष का वियोग सहोगी। इसी शाप के फलस्वरूप श्रीकृष्ण के मथुरा और द्वारिका चले जाने पर श्रीराधा को इतने दीर्घकाल का महा वियोग भी सहना पड़ा। फिर कुरुक्षेत्र में पुनः मिलन हुआ। यथा—

पद— **राधा माधव भेंट भई।**
राधा माधव माधव राधा कीट भृङ्ग गति होइ गई।।

माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रङ्ग रई।
माधो राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई।।
विहँसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर यह कहि ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज विहार नित नई नई।।

दो०— **वन्दौं राधा के परम पावन पद अरविन्द।**
जिनको मृदु मकरन्द नित चाहत स्याम मिलिन्द।।

सहचरी (श्रीललितादिक सखियाँ)—श्रीराधा-माधव की इच्छा शक्ति ही उनकी प्रिय सखियाँ हैं। इच्छा शक्ति के आनन्त्य से सखियाँ भी अनन्त हैं।

यथा—'रजकन उडुगन बूँद घन आवत गिनती माँहिं। कहत जोइ थोरी सोई, सखियन संख्या नाहिं।।' (सभा मण्डल) परन्तु इनमें अष्ट सखी प्रधान हैं।

१—*श्रीललिताजी*—रसिक महानुभावों ने इन्हें आचार्य रूप कहा है। यथा—'आचारज ललितासखी रसिक हमारी छाप।' इनके पिता श्रीविशोकजी तथा माता श्रीशारदाजी हैं। इनका प्राकट्य भाद्रपद शुक्ल, छठ को हुआ। यथा—वरष गाँठ ललिता लली, बरन सुनाऊँ बैन। भादौं सुदि छठि छवि भरी, सब उर आनन्द देन। (चाचा वृन्दावनदासजी) इनकी तन द्युति गोरोचन के सदृश है। मयूर पुच्छप्रभ वस्त्र धारण करती हैं। ये युगल की ताम्बूल सेवा करती हैं। (भारतेन्दु ग्रन्थावली में 'सुरभानु' पिता और 'सत्यकला' माता का नाम आया है।)

२—श्रीविशाखाजी—परम भाग्यवान श्रीपावनजी इनके पिता तथा श्रीसुदक्षिणाजी इनकी माता हैं। श्रीराधाष्टमी के दिन ही इनका भी प्राकट्य है। यथा—वर्षगाँठ सुविशाखा सखी। मङ्गल में मङ्गल रह रखी।। भादौं सुदि आठैं तिथी महा। दुगुनौ मङ्गल कहिये कहा।। यह विद्युतवर्णा हैं तथा तारावली के वर्ण का वस्त्र धारण करती हैं। कर्पूरादि की सेवा करती हैं। (गुणभानु पिता, गुणकला माता)—(भारतेन्दु ग्रन्थावली)

३—श्रीचित्राजी—इनके पिता का नाम श्रीचतुरजी एवं माता का नाम श्रीचर्चिका है। इनका प्राकट्य भाद्रपद शुक्ल दशमी को हुआ है। यथा—धर्मभानु सुभगा घरनि, बेटी लेखाचित्र। बरस गाँठ दशमी सुदी, भादौं मास पवित्र। (चा० वृ०) यह कुंकुम वर्णा हैं तथा काच प्रभ वस्त्र धारण करती हैं। युगल की वस्त्र सेवा इनकी प्रधान परिचर्या है। (रुचिमानु पिता, रुचि कला माता—भा० ग्र०)

४—श्रीइन्दुलेखाजी—इनके पिता का नाम श्रीसागरजी तथा माता का नाम श्रीवेलाजी है। भादौं सुदी एकादशी इनकी प्राकट्य तिथि हैं। यथा—भादौं सुदि एकादशी, बाढ्यौ अतिशय रङ्ग। इन्दुलेखा को जन्म दिन सब मन गौन उमंग।। (चा० वृ०) हरताल प्रभ इनके शरीर की कान्ति है। दाडिम (अनार) पुष्प के समान वस्त्र धारण करती हैं। ये अपने अद्‌भुत नृत्य गान से श्रीप्रिया प्रीतम को रिझाती रहती हैं। (पिता वरभानु, माता वरकला—भा० ग्र०)

५—*श्रीचम्पकलताजी*—इनके पिता श्रीआरामजी एवं माता श्रीवाटिकाजी हैं। इनका प्राकट्य राधाष्टमी के दिन ही है। यथा—अब बरनौं चम्पकलता बरसगाँठ सुख दानि।। सुदि भादौं अष्टमी पुनीत।

सदन गाइये मङ्गल गीत।। (चा० वृ०) इनके शरीर का वर्ण चम्पा पुष्प के समान है। ये श्रीप्रिया प्रसाद भूत नीलाम्बर धारण करती हैं और श्रीप्रिया-प्रियतम को चँवर डुलाने की सेवा करती हैं। (पिता चन्द्रभानु, माता चन्द्रकला—भा० ग्र०)

६—श्रीरंगदेवीजी—इनके पिता का नाम श्रीआरामजी एवं माता का नाम श्रीकरुणाजी है। इनका प्राकट्य भाद्रपद पूर्णिमा को है। यथा—भादौं पूनौ तिथि ललित जनम घोष इक सङ्ग। रङ्गदेवी अरु सुदेवी, वरष गाँठ भरी रङ्ग।। (चा० वृ०) कमल केसर के समान इनके शरीर का वर्ण है। जवा-पुष्प-प्रभ वस्त्र धारण करती हैं तथा श्रीप्रिया-प्रियतम को आभूषण धारण कराने की सेवा करती हैं। (पिता धर्मभानु, माता धर्मकला-भा० ग्र०)

७—श्रीतुंगविद्याजी—यह पिता श्रीपौष्करजी तथा माता मेधाजी की लाड़िली बेटी हैं। इनकी जन्म तिथि भाद्रपद, शुक्ल तृतीया है। यथा— भादौं सुदि तृतीया तिथि भली। बरस गाँठ तुङ्ग विद्या लली।। (चा० वृ०) इनका गौर वर्ण है और पाण्डु वर्ण का वस्त्र धारण करती हैं। यह अपने गीत वाद्य कौशल से श्रीप्रिया-प्रियतम की प्रसन्नता का सम्पादन करती हैं। (पिता सुभानु, माता सुष्ठुकला— भा० ग्र०)

८—श्रीसुदेवीजी—ये श्रीरङ्गदेवीजी की यमज बहन हैं। इनके शरीर की कान्ति तपाये हुये स्वर्ण के समान है। यह लाल रंग की साड़ी पहनती हैं तथा श्रीप्रिया-प्रियतम की जल सेवा करती हैं। (पिता उदधिभानु, माता कमला— भा० ग्र०)

एक बात यहाँ स्मरण रखने की है—सभी सखियाँ सब प्रकार की सेवा में प्रवीण हैं और यथा समय करती भी हैं परन्तु एक-एक सेवा इनकी प्रधान सेवा है। सखियों का सेवा में बड़ा उल्लास है।

यथा— **सखी चहूं ओर फिरै चकडोरि सी सेवा को भाव बढ्यौ मनमाहीं।**
सौंज सिंगार नई नई आनत बानत नैकहुँ हारत नाहीं।।
प्रेम पगी तिहि रङ्ग रङ्गी निरखै तिनकौं तन कौ न अघाहीं।
और सवाद लगै ध्रुव फीको रहैं, विवि रूप के छत्र की छाहीं।। (रस मुक्तावली)

मधुमंगलजी (मनसुखा)—ये पौर्णमासी देवी के पौत्र और श्रीसान्दीपनिजी के पुत्र थे तथा भगवान श्यामसुन्दर के प्रिय नर्म सखा थे। भगवान के प्राकट्य से पूर्व ही श्रीपौर्णमासीदेवी इन्हें लेकर व्रज में चली आई थीं। अपने विविध व्यंग विनोदों द्वारा सखा श्यामसुन्दर के मन को सुख पहुँचाने से इनका नाम मनसुखा भी था। सखा मण्डल में मनसुखा के बिना श्रीकृष्ण को अच्छा ही नहीं लगता था। मनसुखा की विनोद-विधि बड़ी विलक्षण होती थी। एक बार की बात है—श्रीश्यामसुन्दर अपने प्रिय सखाओं के साथ बैठकर भोजन कर रहे थे। श्रीयशोदा मैया बड़े ही स्नेह से सबको परस रही थीं। व्यंजन विविध नाम को जाना।' सब लोग खाने लगे परन्तु मनसुखा नहीं खा रहे थे। वह तो छत की ओर ही टकटकी लगाकर देख रहे थे। यशोदा जी ने पूछा—क्यों लाला मनसुखा! तू खा क्यों नहीं रहा है, ऊपर क्यों देख रहा है? मनसुखा ने कहा— मैया! मैं यह देख रहा हूँ कि कहीं छत न गिर जाय, नहीं तो ये सभी दब जायेंगे। यशोदा ने झुंझलाकर कहा—सब दबेंगे तो तू क्या बच जायेगा? मनसुखा बोला—हाँ मैया! मैं बच जाऊँगा। यशोदा ने कहा सो कैसे? मनसुखा ने कहा—जैसे मैं तस्मई से बच गया हूँ। यशोदा अब समझीं। बोलीं—जा दारी के—मैंने तो तस्मई को कच्ची रसोई समझकर और तुझे ब्राह्मण विचारकर नहीं

दिया तो तू इतना नखरा कर रहा है। मनसुखा ने कहा—मैया! क्या प्रमाण है कि मैं ब्राह्मण हूँ। यशोदा ने कहा तू जनेऊ पहने है। मनसुखा ने तुरन्त जनेऊ को निकालकर बाहर धर दिया और बोला—अब तो मैया, मैं ब्राह्मण नहीं रहा, अब तो तस्मई देगी। सखामण्डल में कहकहा मच गया। यशोदा ने बड़े प्रेम से उसे भी खूब तस्मई दी।

एक दिन श्रीश्यामसुन्दर ने सखाओं से कहा कि कल वन-भोजन होगा। सब लोग अपने-अपने घर से बढ़िया-बढ़िया सामान ले चलना। फिर क्या था। दूसरे दिन सबकी मैया ने अपने-अपने बालकों को विविध प्रकार के मिष्ठान्नादि बाँध दिये। बेचारे मधुमङ्गल की दादी पूर्णमासी एक तो बूढ़ी थी दूसरे गरीब ब्राह्मणी थी। वह बहुत बनाव नहीं बना सकी। ऐसे ही कुछ मठरी-वठरी बाँध दिया। बेचारे मधुमङ्गल उदास थे। सब लोग खूब उछलते-कूदते जा रहे थे। संयोग की बात सुबल सखा खूब बढ़िया बेसनी लड्डू अँगोछी में बाँधे, कन्धे पर लकुटी में लटकाये मस्ती से गाते हुए जा रहे थे। पीछे-पीछे चल रहे थे मधुमङ्गल। उन्हें कौतुक सूझा। उन्होंने रास्ते में एक झोली कनैल के गोटे (फल) तोड़ लिये और बड़ी सावधानी से सुबल की गठरी से एक लड्डू निकालते और एक कनैल का गोटा उसमें रख देते। इस प्रकार उन्होंने धीरे-धीरे सब लड्डू निकाल लिये और उसकी जगह पर कनैल के गोटे बाँध दिये। सुबल बिल्कुल जान नहीं पाये। अन्त में जब वन में गोष्ठी भई सबने अपने-अपने बालभोग निकाले तो सुबल की पीठ में से तो कनैल के गोटे निकले। तब तो वह रोने लगे। उनकी सारी शेखी रफू चक्कर हो गई। इधर मधुमङ्गल हँस-हँसकर, सबको दिखा-दिखाकर लड्डुओं का भोग लगाने लगे। सभी समझ गये कि सब इसी की करतूति है, नहीं तो इसको भला लड्डू कहाँ मिले। फिर सबने मिलजुलकर खाया। ऐसे ही मनसुखा के अनेक चरित्र व्रज में प्रसिद्ध है।

मण्डल........बहुनामा—यथा—'कनिष्ठ सखा'—ये सदा सेवा भाव से श्रीश्यामसुन्दर के साथ रहते हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरुथप, मिलिन्द, कुसुमापीड, मणिबन्ध, करन्धम, मरन्द, चन्दन, कुन्द, कलिन्द, कुलिक। 'पीठमर्द' (अतिधृष्ट) सखा—श्रीदामा, सुदामा, दाम, किङ्किणी, तोक-कृष्ण, अंश, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटकाक्ष, प्रियंकर। 'प्रिय नर्म सखा'—सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, सनन्द, विदग्ध। ये बड़े ही दिल्लगीबाज हैं। 'विदूषक'—मधुमङ्गल, पुष्पांक, हंस। ये बढ़े मसखरे हैं। 'विटसखा'—कडार, भारती, गन्धवद वेध। ये बात बनाने में निपुण हैं। 'चेटक सखा'—भंगुर, भृंगार, सन्धिक, ग्रहल। ये मिलन कराने वाले हैं। 'दास सखा'—रक्तक, पत्रक आदि। देखिये अगला छप्पय। 'बाल सखा'—पल्लव, मङ्गल, फुल्ल, कोयल, कपिल। ये अपनी बाल-सुलभ चेष्टाओं द्वारा श्रीश्यामसुन्दर को रिझाते हैं। 'पान खिलाने वाले—सुविलास, विशालाक्ष, रसाक, रस शाली, जम्बुक। 'जल पिलाने वाले'—पयोद, वारिद। वस्त्र धारण कराने वाले—सारंग, वकुल। 'अतर लगाने वाले'—प्रेमकन्द। श्रृङ्गारी—मकरन्द। 'चन्दन, पुष्पहार की सेवा करने वाले—सुमन, कुसुमोल्लास, पुष्पहास, हर। कमल, विमल आदि पीढ़ा खड़ाऊँ की सेवा करते हैं। विशारद, तुङ्ग, नीतिसार, मनोरम, बावदूक, आदि निकुंज विहार के उपयोगी सखा हैं। मधुरराव, सुविचित्र राव बन्दी हैं। चन्द्रहास, शिवचन्द्र नृत्य प्रवीण हैं। सुखद, सुधाकर, सारंग, मृदंग, प्रवीण हैं। सुधाकण्ठ, कलकण्ठ गान प्रवीण हैं। सारंग, रसद विलास नाट्य कला प्रवीण हैं। चित्र विचित्र चितेरे हैं।

घोष निवासी—श्रीब्रह्माजी भी इनके भाग्य की सराहना करते हैं। यथा—अहोभाग्य महोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातम्।।' (भा० १०-१४-३२) अर्थ—अहो! नन्द आदि व्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य हैं। वास्तव में उनके अहोभाग्य हैं। क्योंकि परमानन्द स्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद हैं। घोष.......अज—सुर, नर, मुनि ब्रह्मादि की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान इनके प्रेमानुग्रह की अभिलाषा करते हैं। यथा—भगवद्वाक्य—'ते ते ब्रह्मादयो देवा वांछन्ति मदनुग्रहम्। अहं तु तासां गोपीनां प्रेमानुग्रह वांछकः।' पुनश्च—व्रज व्रजराज व्रजेन्द्रसुव, गोपी गाय गुवाल। कृपा रूप सब विभु अहैं, छन मँह करत निहाल।' (सन्तवाणी) बाल.... ....पादरज—श्रीब्रह्मादिक भी इनके चरणरज की अभिलाषा करते हैं। यथा—'षष्ठि वर्ष सहस्राणि मया तप्तं पुरातपः। नन्दगोप व्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये।' (टी०भा०) अर्थ— (श्रीब्रह्माजी कहते हैं।) श्रीव्रजगोपियों की चरणरज को प्राप्त करने के लिये मैंने पूर्व साठ हजार वर्ष तक तप किया था। पुनश्च—

तद् भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपिकतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द,
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुति मृग्यमेव।। (भा० १०-१२-३४)

अर्थ—प्रभो! इस व्रजभूमि के किसी वन में विशेष करके गोकुल में किसी भी योनि में जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात होगी। क्योंकि यहाँ जन्म हो जाने पर आपके किसी न किसी प्रेमी के चरणों की धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायेगी। प्रभो! आपके प्रेमी व्रजवासियों का सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवन के एकमात्र सर्वस्व हैं। इसीलिये उनके चरणों की धूलि मिलना आपके ही चरणों की धूलि मिलने के समान है और आपके चरणों की धूलि को तो श्रुतियाँ भी अनादिकाल से अब तक ढूँढ रही हैं।

श्रीकृष्ण के षोडश सखा

व्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं।
रत्तक, पत्रक और पत्रि सबही मन भावैं।
मधुकण्ठौ, मधुवर्त, रसाल, विशाल सुहावैं।।
प्रेमकन्द, मकरन्द, सदा आनन्द चन्द्रहासा।
पयद, बकुल, रसदान, सारदा, बुद्धि प्रकासा।।
सेवा समय बिचारि कै चारु चतुर चित की लहैं।
व्रजराज सुवन संग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं।।२३।।

शब्दार्थ—सदन=घर। अनुग=सेवक, अनुचर। चारु=सुन्दर। चतुर=बुद्धिमान्। लहैं=जानैं, पावैं।

भावार्थ—ब्रजमण्डल के राजा नन्दजी के पुत्र श्रीकृष्ण के साथ घर में तथा वन में ये सेवक सदा सेवा में तत्पर रहते हैं। रक्तक पत्रक और पत्रि ये सबके मन को प्रिय लगते हैं। मधुकण्ठ, मधुवर्त, रसाल, विशाल, प्रेमकन्द, मकरन्द, सदानन्द, चन्द्रहास, पयद, वकुल, रसदान, शारदा और बुद्धिप्रकाश से सुन्दर सुशील एवं परम चतुर सखागण भगवान् की इच्छा के अनुसार जिस सेवा का जो समय है एवं जब जो सेवा उचित है उसको विचार कर करते हैं। ये उनके प्यारे सोलह सखा हैं। मैं इनकी चरण रज का अर्थी हूँ।

व्याख्या—व्रजराज.....तत्पर रहें—भाव यह कि ये सब समय सब प्रकार की सेवा करते हैं। यथा—

सखा सखी अरु तोता मैना कोकिल मोर मयूरी।
जूता छाता पगड़ी लकुटी बनिकै करत हजूरी।।
घर में भोजन शयन सङ्ग बन बिहरैं मन बहलावैं।
जसि सेवा चाहैं श्रीठाकुर तसि करि कै सिर नावैं।। (भ० व० टि०)

रक्तक आदि का सखा रूप में संग रहकर सेवा करना तो प्रसिद्ध ही है। वन में ये अन्य रूपों से भी प्यारे श्यामसुन्दर की सेवा करते हैं। जैसे रक्तक ताल चन्दन कुंकुम, केशर बनकर, पत्रक तमाल वृक्ष, पलाश वृक्ष बनकर, पत्रि रङ्ग विरङ्ग की चिड़िया बनकर, तथा ताल आदि के वृक्ष बनकर, मधुकण्ठ कोयल बनकर, मधुवर्त भ्रमर बनकर, रसाल आम्र कटहल बनकर, विशाल सभी सुख एवं सुखदायक वस्तुओं का विस्तार बनकर अथवा विशाल बड़े-बड़े शाल के वृक्ष बनकर अथवा शाल-दुशाले बनकर प्रेमकन्द कन्द विशेष बनकर, मकरन्द पुष्प रस, कुन्दपुष्प बनकर, सदानन्द आनन्द प्रकाशक वस्तु बनकर, चन्द्रहास चन्द्रमा की किरण बनकर, पयद मेघ बनकर, बकुल मौलसिरी का पेड़ बनकर रसदान रसमय पदार्थ बनकर, शारदा शाङ्खाहुली जड़ी बनकर एवं बुद्धि प्रकाश ब्राह्मी बूटी बनकर सेवा करते हैं।

सेवा समय विचारिकै—भाव यह है कि पृथक्-पृथक् समय की सेवाएँ भी पृथक्-पृथक् होती हैं एवं सेवा का प्रकार भी पृथक् होता है। सेवक को इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है। लकीर का फकीर बनकर बिना विचारे की गई सेवा सेव्य और सेवक दोनों के लिये सङ्कट कारिणी होती है।

दृष्टान्त—एक गँवार का—एक गाँव में एक महानुभाव के घर उनके गुरुजी आये दिन गर्मी का था। उन्होंने गुरुजी के लिये स्नान-पान के लिये शीतल जल की व्यवस्था की। नये-नये घड़े और सुराहियों में जल भरा रहता। हर कार्य शीतल जल से होता। एक गँवार ने जब यह देखा तो उसने संकल्प किया कि हम भी अपने गुरुजी की इसी प्रकार से सेवा करेंगे। संयोग की बात उसके गुरुजी सर्दी के दिनों में आये। फिर तो उसने खूब नये-नये घड़े और सुराहियाँ मँगाईं। उनमें जल भरकर रख दिया। जब भी जरूरत पड़ती सुराही का शीतल जल देता। वयोवृद्ध गुरुजी को मुश्किल पड़ गई। वे बहुत समझाते कि बेटा! आज कल तो गर्म जल प्रयोग में लेना चाहिये। ठण्ड वैसे ही पड़ रही है और फिर उसमें ठण्डा पानी—यह ठीक नहीं। चेला बोला— नहीं गुरुजी! मैंने देखा है—अमुक बाबूजी ने अपने गुरुजी की इसी प्रकार सेवा की थी। फिर भला मेरी क्या कुछ कम निष्ठा है आप में। मैं तो उनसे भी अधिक सेवा करने

वाला हूँ। आप कहें तो जल में थोड़ी बरफ भी डाल दें। गुरुजी जैसे तैसे जान बचाकर वहाँ से भागे। यह है अविचार की सेवा। ऐसा नहीं होना चाहिये।

चारु चतुर चितकी लहैं—चतुर सेवक स्वामी के मन की जानकर बिना कहे ही मनोऽनुकूल सेवा सम्पन्न कर देते हैं। यह उत्तम सेवक का लक्षण है। यथा—

रुचिलै शुचि सेवा करै सेवक कहिये सोय।
तन मन धन अर्पन करै, रहै अपनपौ खोय।।
रहै अपनपौ खोय द्रवैं तब हरि गुरु देवा।
अनमांग्यौ सब मिलै गूढ़ गुन जानै भेवा।।
संचित क्रिय प्रारब्ध कर्म दुख जाय सबै मुचि।
भगवत रसिक कहाय क्रिया त्यागै अपनी रुचि।।

सदा तत्पर रहैं—भाव यह है कि ये सेवा के महत्व को जानते हैं। इनकी सेवा में निष्ठा है अतः सब समय सेवा के लिये समुत्सुक बने रहते हैं। तथा—**सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई।। प्रभु मुख कमल विलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं।।** (रा०च०मा०)

सप्तद्वीप के भक्त

सप्तदीप में दास जे ते मेरे सिरताज।।
जम्बू और पलच्छ सालमलि बहुत राजरिषि।
कुश पवित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जानै लिषि।।
साक विपुल विस्तार प्रसिध नामी अति पुहकर।
पर्वत लोकालोक ओक टापू कंचन धर।।
हरिभृत्य बसत जे जे जहां तिनसों नित प्रति काज।
सप्त दीप में दास जे ते मेरे सिरताज।।२४।।

शब्दार्थ—सप्त=सात। दीप=द्वीप, टापू, वह भूमि जिसके चारों ओर पानी हो। ताज=मुकुट। सिरताज= शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ पुरुष। विपुल=अधिक। ओक=स्थान, आश्रम। कंचनधर=सोने का पर्वत, सुमेरु। हरिभृत्य=भगवान् के भक्त।

भावार्थ—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप और शाल्मलिद्वीप में बहुत से ऋषिराज भक्त हैं। कुशद्वीप और क्रौंचद्वीप ये अति पवित्र हैं यहाँ के भक्तों की महिमा कौन जान सकता है। शाकद्वीप और पुष्करद्वीप इनका बहुत विस्तार है और इनके नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। लोकालोक पर्वत, सुमेरुपर्वत एवं अन्य द्वीप समूहों में जो भगवान् के सेवक निवास करते हैं, उनसे हमारा नित्य ही प्रयोजन है। सातों द्वीपों में जो भगवान् के दास हैं, वे मेरे शिर के मुकुट हैं।।२४।।

व्याख्या—सप्तद्वीप—श्रीप्रियव्रत के रथ के पहिये से जो लीकें बनी, वे ही सात समुद्र हुये और उनसे एक ही भूमण्डल सप्तद्वीपों में विभक्त हो गया। (विशेष देखिये छ० १० श्रीप्रियव्रतजी का प्रसङ्ग) जम्बूद्वीप—इसका विस्तार एक लाख योजन है। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और इतने ही विस्तार वाला विशाल जामुन का वृक्ष है अतः इस द्वीप का नाम भी जम्बूद्वीप पड़ गया। वह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले खारे जल के समुद्र से परिवेष्टित है। श्रीप्रियव्रतजी के पुत्र आग्नीध्रजी इसके अधिपति हैं। प्लक्षद्वीप—इसका विस्तार दो लाख योजन है। यह खारे समुद्र को चारों ओर से परिबेष्टित किये हैं। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और इतने ही विस्तार वाला सुवर्णमय्य प्लक्ष (पाकर) का वृक्ष है। इसी कारण इसका नाम प्लक्ष द्वीप हुआ। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले इक्षु रस के समुद्र से घिरा हुआ है। श्रीप्रियव्रत के पुत्र इध्मजिह्वजी इसके अधिपति हैं। शाल्मलिद्वीप—इसका विस्तार चार लाख योजन है। यह इक्षुरस के समुद्र को चारों ओर से परिवेष्टित किये हैं। इसमें प्लक्ष द्वीप के पाकर के ही समान शाल्मलि (सेमर) का वृक्ष है। कहते हैं, यही वृक्ष अपने वेदमय पङ्खों से भगवान की स्तुति करने वाले पक्षिराज गरुड़जी का निवास स्थान है तथा यही इस द्वीप के नाम करण का भी हेतु है। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले मदिरा के सागर से घिरा है। श्रीप्रियव्रत के पुत्र यज्ञ-बाहु इसके अधिपति हैं।

कुशद्वीप—मदिरा के समुद्र से आगे, उसको चारों ओर से घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कुशद्वीप है पूर्वोक्त द्वीपों के समान यह भी अपने ही समान विस्तार वाले घृत के समुद्र से घिरा हुआ है। इसमें भगवान का रचा हुआ एक कुशों का झाड़ है। उसी से इस द्वीप का नाम कुशद्वीप हुआ। श्रीप्रियव्रत पुत्र महाराज हिरण्यरेता इसके अधिपति हैं।

क्रौञ्चद्वीप—घृत समुद्र के आगे उसके चारों ओर उससे द्विगुण परिमाण वाला अर्थात् सोलह लाख योजन विस्तार वाला क्रौञ्चद्वीप है। यह अपने समान परिमाण वाले दूध के समुद्र से घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्चनाम का बहुत बड़ा पर्वत है। उसी के कारण इसका नाम क्रौञ्चद्वीप हुआ है। श्रीप्रियव्रत पुत्र घृतपृष्ठ इसके अधिपति हैं।

शाकद्वीप—क्षीर समुद्र के आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तार वाला शाकद्वीप है जो अपने ही समान परिमाण वाले मट्ठे के समुद्र से घिरा है। इसमें शाक नाम का एक बहुत बड़ा वृक्ष है। उसकी मनोहर सुगन्ध से साकद्वीप महकता रहता है। इसी से इस द्वीप को शाकद्वीप कहते हैं। श्रीप्रियव्रत पुत्र मेधातिथि जी इसके अधिपति हैं।

पुष्कर द्वीप—मट्ठे के समुद्र से आगे उसके चारों ओर उससे दुगुने विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है जो अपने ही समान विस्तार वाले मीठे जल के समुद्र से घिरा है। वहाँ अग्नि की शिखा के समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पङ्खुड़ियों वाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है। जो ब्रह्माजी का आसन माना जाता है। इसी से इस द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप पड़ा। श्रीप्रियव्रत पुत्र वीतिहोत्र इसके अधिपति हैं।

लोकालोप पर्वत—मीठे जल के समुद्र से आगे नवकरोड़ छयानवे लाख पचास हजार योजन के बाद लोकालोप पर्वत है। यह सूर्य आदि से प्रकाशित एवं अप्रकाशित भूभागों के बीच में है। इससे इसका नाम लोकालोक पर्वत पड़ा। इसे परमात्मा ने त्रिलोकी के बाहर उसके चारों ओर सीमा के रूप में

स्थापित किया है। यह इतना ऊँचा और लम्बा है कि इसके एक ओर से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली सूर्य से लेकर ध्रुव पर्यन्त समस्त ज्योतिर्मण्डल की किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकती हैं। यह साढ़े बारह करोड़ योजन विस्तार वाला है।

कंचनधर टापू—मीठे जल के समुद्र से आगे एक करोड़, सत्तावन लाख, पचास हजार योजन भूमि केउपरान्त काञ्चनी भूमि है, जो दर्पण के समान स्वच्छ है। यहाँ देव कोटि के लोग रहते हैं। इसका विस्तार आठ करोड़ उनतालीस लाख योजन है। (भा०)

हरिभृत्य.........काज—भाव यह कि हमारे समस्त श्रेय (परमार्थ) और प्रेय (स्वार्थ) का सम्पादन इन्हीं से होता है। अतः ये ही मेरे सर्वस्व हैं, शिरोधार्य हैं। इन्हीं से मेरा एक मात्र प्रयोजन है। यथा—'जोगी जती तपी तासों मेरो कछु काज नाहिं प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है।' (भक्ति० बो०) तथा—भूत भविष्य लोक चौदह में भये होहिं हरि प्यारे। तिन-तिन सों व्यवहार हमारो अभिमानिन ते न्यारे।।' (भगवत रसिकजी)

जम्बूद्वीप के भक्त

मध्य द्वीप नवखण्ड में भक्त जिते मम भूप।।
इलावर्त, अधीस संकर्षन, अनुग सदाशिव।
रमनक, मछ, मनुदास, हिरण्य कूरम, अर्जम इव।।
कुरु बराह भूभृत्य वर्ष हरि सिंह प्रहलादा।
किंपुरुष, राम, कपि, भरत, नरायन बीना नादा।।
भद्रासु ग्रीवहय, भद्रस्त्रव, केतु, काम, कमला अनूप।
मध्यद्वीप नवखण्ड में भक्त जिते मम भूप।।२५।।

शब्दार्थ—मध्यद्वीप=बीच का द्वीप, जम्बूद्वीप। अधीस=अधिपति, स्वामी। मछ=मत्स्य। बीनानादा= वीणावादक, नारद।

भावार्थ—सब द्वीपों के मध्य का जो जम्बूद्वीप है उसके नौ खण्ड हैं। उनमें जो भक्त निवास करते हैं वे हमारे राजा हैं, हम उनकी प्रजा हैं। इलावर्त खण्ड के स्वामी भगवान् श्रीसंकीर्षण हैं और उनके मुख्य सेवक शंकरजी हैं। रमणक खण्ड के अधीशवर श्रीमत्स्य भगवान् हैं उनके सेवक मनुजी हैं। हिरण्य खण्ड में भगवान श्रीकूर्मजी आराध्य हैं और अर्यमा उनके पुजारी हैं। कुरुखण्ड के अधीश श्रीवाराह भगवान् हैं और उनकी सेवा करने वाली पृथ्वी देवी हैं। हरिवर्ष खण्ड में श्रीनृसिंह भगवान् विराजते हैं और उनके सेवक प्रह्लादजी हैं। किम्पुरुष खण्ड के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी हैं और उनकी सेवा में हनुमानजी तत्पर रहते हैं। भरत खण्ड में नरनारायण भगवान् आराध्यदेव हैं, उनकी पूजा करने वाले नारदजी हैं। भद्राश्वखण्ड में हयग्रीव भगवान् हैं और भद्रश्रवाजी उनके पुजारी हैं। केतुमालखण्ड के अधिपति भगवान् कामदेव हैं और कमलादेवी उनकी सेविका हैं।

व्याख्या—मध्यद्वीप नवखण्ड—सातों द्वीपों के मध्य में स्थित जम्बू द्वीप के अधिपति महाराज आग्नीध्र के नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नाम के नौ पुत्र हुए। राजा आग्नीध्र ने जम्बू द्वीप का विभाग करके उन पुत्रों के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया। इन नवों वर्षों में परम पुरुष भगवान वहाँ के लोगों पर अनुग्रह करने के लिये अपनी विभिन्न मूर्तियों से विराजमान रहते हैं। इन समस्त वर्षों में भारतवर्ष श्रेष्ठ हैं। देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की महिमा का गान करते हैं। यथा—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्मलब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहा हि नः।। (भा० ५/१९/२१)

अर्थ—अहा! जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान की सेवा के योग्य मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इन पर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्य के लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं। देवता यह अभिलाषा करते हैं कि अब तक स्वर्ग सुख भोग लेने के बाद हमारे पूर्वकृत यज्ञ, प्रवचन और शुभ कर्मों से यदि कुछ भी पुण्य बचा हो तो उसके प्रभाव से हमें इस भारतवर्ष में भगवान की स्मृति से युक्त मनुष्य जन्म मिले, क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करने वाले का सब प्रकार से कल्याण करते हैं। यथा—

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्मनः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शन्तनोति।। (भा० ५/१९/२८)

पुनश्च— **गायन्ति देवा किलगीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।**
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्।। (विष्णु पुराण)

श्वेत द्वीप के भक्त

श्वेत द्वीप में दास जे श्रवण सुनौ तिनकी कथा।
श्रीनारायण बदन निरन्तर ताही देखैं।
पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं।।
तिनके दरशन काज गये तहँ वीणाधारी।
श्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी।।
नारायण आख्यान दृढ़ तहँ प्रसङ्ग नाहिन तथा।
श्वेत द्वीप में दास जे श्रवण सुनौ तिनकी कथा।।२६।।

शब्दार्थ—वदन=मुख। निरन्तर=लगातार। जम जातन=यम की यातना, महान कष्ट। कर=हाथ। सैन=संकेत इशारा। उलटि=वापस जाइये। अधिकारी=योग्यपात्र। आख्यान=कथन, वर्णन, कथा। प्रसङ्ग=प्रकरण, बात।

भावार्थ—श्वेत द्वीप में निवास करने वाले भगवान के भक्तों की कथा कान लगाकर सुनिये। ये श्रीनारायण भगवान के मुखारविन्द का निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। यदि कभी पलक पड़ने भर का भी व्यवधान हो जाय तो उसे वे करोड़ों नारकीय कष्टों के समान मानते हैं। किसी समय नारदजी इन भक्तों के दर्शन करने के लिये गये। नारदजी इन्हें ज्ञानोपदेश करना चाहते थे। श्रीनारायण भगवान ने हाथ से संकेत किया कि यहाँ से लौट जाओ क्योंकि ये रूप माधुरी में आसक्तजन तुम्हारे उपदेशों के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् इन्हें ज्ञान चर्चा सुनने की इच्छा नहीं है। यहाँ भगवान की प्रेमापरा भक्ति में ही निष्ठा है अत: दूसरे ज्ञान प्रसङ्गों की यहाँ चर्चा ही नहीं है।।२६।।

व्याख्या—श्वेतद्वीप—यह भगवान नारायण का अनिर्वचनीय धाम है। इसकी स्थिति क्षीर सागर के उत्तर भाग में है। विद्वानों ने इस द्वीप को मेरुपर्वत से बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। यहाँ के निवासी दिव्य रूप, दिव्य अङ्ग कान्ति, दिव्य शक्ति, दिव्य ज्ञान एवं गुणों से युक्त होते हैं। ये सर्वथा काल बाधा से रहित होकर भक्ति भाव से युक्त होकर निरन्तर अनन्त गुणगणमहार्णव परमेश्वर को अपने हृदय में धारण किये रहते हैं। साधारण प्राणियों को तो इनका दर्शन ही नहीं होता है क्योंकि प्रलय काल में सूर्य की जैसी प्रभा होतीहै वैसी ही इस द्वीप में रहने वाले प्रत्येक पुरुष की प्रभा होती है। (म० भा०) श्रीनारायन.......देखें—नेत्रों की एवं नेत्र वालों के जीवन की सफलता इसी में है कि वे जी भरकर भगवान के मंजुल मुखारविन्द का दर्शन करें। यथा—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेश सुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम्।। (भा० १०/२१/७)

अर्थ—(गोपियाँ आपस में बातचीत करती हैं) अरी सखी! हमने तो आँख वालों के जीवन की और उनकी आँखों की बस यही—इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है। वह यही कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वाल-बालों के साथ गायों को हाँककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर ब्रज में ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरों पर मुरली धर रखी हो और प्रेम भरी तिरछी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम अपने नेत्र पुटों से उनकी मुख माधुरी का पान करती हों। पुन:—निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।। होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पङ्कज भव मोचन।। निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइ हौं। करहु सुफल सबके नयन सुन्दर बदन देखाइ।' आदि (रा०च०मा०)

निरन्तर ताही देखें—भाव यह है कि जिनके नेत्रों को प्रभु के रूप रस का चस्का लग गया है उनको बिना देखे चैन नहीं पड़ता। उनके दर्शन-लोभी नेत्र मना करने पर भी नहीं मानते। यथा—

अँखियन इहई टेव परी।
कहा करौं वारिज मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी।।
चितवति रहति चकोर चन्द्र ज्यों विसरति नाहि घरी।
यद्यपि हटकि हटकि राखति हौं तद्यपि होति खरी।।
गड़ि जु रहीं वा रूप जलधि में प्रेम पियूष भरी।।
सूर तहाँ नग अङ्क परस रस लूटति निधि सिगरी।। (सू०सा०)

पलक.......लेखें—प्रेमियों को देशान्तर, बनान्तर रूप स्थूल विरह की तो बात ही क्या—पलकान्तर रूप सूक्ष्म विरह भी असह्य होता है। यथा—

पद— **देखन देति न बैरिनि पलकैं।**
निरखत बदन लालगिरधर को बीच परति मानो वज्र की सलकै।।
वन ते जु आवज वेनु बजावत गोरज मण्डित राजत अलकैं।।
माथे मुकुट श्रवन मनि कुण्डल ललित कपोलन झाईं झलकैं।।
ऐसो मुख देखन को सजनी कहा कियो यह पूत कमल कैं।
नन्ददास सब जड़न की यह गति मीन मरति भाये नहिं जल कैं।।

पलकों के निमेषोन्मेष से प्यारे श्यामसुन्दर के दर्शन में बाधा पड़ने पर गोपियों ने भी विधाता को बहुत कोसा है यथा—जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।। (भा०) अर्थ—(ऐसा जान पड़ता है कि) इन नेत्रों की पलकों को बनाने वाला विधाता मूर्ख है। पुनश्च—

दो०— **बड़ो मन्द अरविन्द सुत, जिहि न प्रेम पहिचानि।**
पियमुख निरखत दृगन को पलक रची बिच आन।।

क०— **मञ्जु मोर मुकुट निकट घुँघरारी लटें झूमि झूमि कुण्डल कपोलनि में झलकैं।**
बारजि बदन रस रूप को सदन लखि दमकैं रदन भरि धरि छबि छलकैं।।
कानन छुअत कोए ऐन मैन कोटि मोहे शोभा सर लखि लखि मन मीन ललकैं।
देखिबे को श्यामघन देतो दृग रोम रोम सो न कियो विधि औ अविधि करी पलकैं।।

प्रेमी समस्त दुःसह दुःख सहर्ष सहने को प्रस्तुत रहता है, परन्तु प्रियतम का एक क्षण का भी वियोग उसे असह्य होता है। यथा—'सब दुःख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं।। (रा०च०मा०) प्रियतम के विरह में एक-एक पलक कल्प के समान हो जाता है।। यथा—'बिन देखे छिन कल न परत है पल भर कलप बिहात।' (चत्रभुजदास) 'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।' (भा०) अर्थ—गोपियाँ कहतीं हैं—तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक एक क्षण युग के समान हो जाता है। पुनश्च—

युगायितं निमेषेण चक्षुषाप्रावृषायितम्। शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे।। (शिक्षाष्टक)

अर्थ—श्रीगोविन्द के विरह में मुझे एक निमेष युग के समान हो ज़ाता है, नेत्र पावस ऋतु हो जाते हैं, जगत् शून्य हो जाता है।

तिनके......वीणाधारी—यहाँ श्वेतद्वीप वासी भक्तों की महिमा दिखाई गई है कि देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी भी उनके दर्शनार्थ जाते हैं। 'श्याम.......अधिकारी'—भगवान नारायण ने श्री नारदजी को हाथ के इशारे से ही लौट जाने का संकेत किया। प्रश्न होगा कि दर्शन के लिये भगवान ने इन्हें क्यों मना किया? इसका समाधान यह है कि श्रीनारदजी को केवल दर्शन ही नहीं करना था, इनके मन में श्वेतद्वीप वासियों को ज्ञान का उपदेश देने की भी इच्छा थी। जैसा कि आगे स्पष्ट है—'गये नारद विलासी उपदेश आसा लागी है।' सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया, अतः बोले—'अब नहिं अधिकारी'—भाव यह कि ये पूर्णरूपेण प्रेम लक्षणा भक्ति प्राप्त कर चुके है, जो ज्ञान का परम एवं चरम फल है, अतः ये अब ज्ञानोपदेश के अधिकारी नहीं रहे। व्रज-गोपियों ने भी उद्धवजी से यही कहा था। यथा—

ऊधो जी सुधो गहो वह मारग ज्ञान की तेरी जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानि हैं ह्याँ इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है।।
ए ब्रजवाला सबै इकसी 'हरिचन्द' जू मण्डली ही बिगरी है।
एक जु होयँ तो ज्ञान सिखाइय कूपहि मैं यहाँ भाँग परी है।।

'नहिं अधिकारी' में एक मधुर व्यङ्ग भी है। वह यह कि नारदजी! आप इन प्रेमियों को उपदेश देने के अधिकारी नहीं हैं। आप तो वहाँ उपदेश दीजिये जो प्रेम शून्य हों। 'दई कर सैन' में संकेत यह है कि प्रेमियों को कोरे ज्ञान का उपदेश देने वालों से मैं बात नहीं करता 'तहँ प्रसंग नाहिन तथा'—का भाव यह है कि प्रेम की जैसी प्रतिष्ठा श्वेतद्वीप वासियों के हृदय में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

श्वेतद्वीप वासी सदा रूप के उपासी गये नारद विलासी उपदेश आसा लागी है।
दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन दृग देखैं सदा चैन मति गति अनुरागी है।
फिरे दुःख पाइ जाइ कही श्रीवैकुण्ठनाथ साथ लिये चले लखो भक्ति अङ्ग पागी है।
देख्यो एक सर खग रह्यो ध्यान धरि ऋषि पूछैं कहो हरि कह्यो बड़ो बड़भागी है।।१०२।।

शब्दार्थ—विलासी=आनन्दशील, कौतुकी। ऐन=घर, धाम। चैन=परमानन्द।

भावार्थ—श्वेतद्वीप में निवास करने वाले भक्तजन सर्वदा भगवान् के रूप की उपासना करते हैं। रूपमाधुरी का दर्शन ही उनका साधन और साध्य है। अपने उपदेशों से सभी को कृतार्थ करते हुए सर्वदा सर्वत्र विचरने वाले कौतुकी श्रीनारदजी एकबार श्वेतद्वीप को गये। वहाँ के भक्तों को उपदेश देने की आशा लगी थी। भगवान ने इशारा किया कि उपदेश देने की इच्छा से यहाँ मत आओ, यहाँ के भक्त लोग सदा परमानन्ददायक रूप का दर्शन करते रहते हैं। उनकी बुद्धि मेरे रूप में अत्यन्त आसक्त है। मन ही मन दुःखी होकर नारदजी लौट आये और वैकुण्ठधाम में जाकर वैकुण्ठनाथजी से सब बात कही। तब भगवान् ने कहा—हम तुम्हें साथ लेकर चलें और देखें कि किस प्रकार उन भक्तों के रोम-रोम में भक्ति रम रही है। दोनों श्वेतद्वीप को पहुँचे तो वहाँ क्या देखा कि एक सरोवर के तट पर एक पक्षी ध्यान लगाये बैठा है। नारदजी ने पूछा—भगवन्! यह पक्षी इस प्रकार कैसे बैठा है। भगवान् ने कहा—यह बड़ा ही भाग्यशाली है क्योंकि भक्ति में पूर्ण रूप से लीन है।।१०३।।

पद— **पिय मुख देखत ही पै रहिये।**
नैननि को सुख कहत न आवै जा कारन सब सहिये।।
सुनहु गोपाल लाल पाइँ लागौं भली पोच लै बहिये।
हौं आसक्त भई या रूपहिं बड़ें भाग ते लहिये।।
तुम बहु नायक चतुर शिरोमणि मेरी बाँह दृढ़ गहिये।
परमानन्द स्वामी मन मोहन तुमहीं ते निरबहिये।।

व्याख्या—रूप के उपासी—यथा—लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।। निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।। (रा०च०मा०) रूपासक्ति पर देखिये दृष्टान्त धनुर्दासजी एवं फकीर और शहजादे का (कवित्त-१४)

नारद विलासी—श्रीनारदजी बड़े ही कौतुक प्रिय हैं अतः इनका एक नाम ही कौतुकी मुनि पड़ गया है। यथा—'मुनि कौतुकी नगर तेहिं गयऊ। पुरवासिन्ह सब पूछत भयऊ।।' पुनः—'नारद समाचार सब पाये। कौतुक ही गिरि गेह सिधाये।।' (रामा०)

उपदेश आसा लागी है—श्रीनारदजी को उपदेश देने का भी बड़ा चस्का है। रीति तो यह है कि जिज्ञासु आचार्य के पास जाकर तत्व जिज्ञासा करे। परन्तु श्रीनारदजी तो स्वयं ही अधिकारी के पास पहुँचकर उपदेश देते हैं। दक्ष पुत्र, ध्रुव, प्रह्लाद, पार्वतीजी आदि इसके प्रमाण हैं। यह इनकी परम कृपालुता है। तभी तो श्रीभगवतरसिकजी ने कहा है—'गुरु नारद सों मिलैं अकिंचन पर उपकारी।।'

दृग देखैं अनुरागी है—अर्थात् इन्होंने जीवन का फल पा लिया है। अब इन्हें कुछ साधन-साध्य शेष नहीं रहा है। निरन्तर नेत्रों से भगवद्दर्शन, कानों से भगवत्कथा श्रवण, जिह्वा से नामोच्चारण, मति गति की हरि रूप में तन्मयता, प्रभु पदपद्मों में परमानुराग—यही तो जीवन का परम फल है। यथा—

सियराम सरूप अगाध अनूप विलोचन मीननि को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थलु है।।
मति रामहिं सो गति रामहिं सो रति राम सों रामहिं को बलु है।
सबकी न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।। (कवितावली)

फिरे दुख पाइ—दु:ख इस बात का हुआ कि श्रीनारदजी एवं श्रीनारदजी के उपदेश का सर्वत्र समादर होता है परन्तु यहाँ उनको महत्व नहीं दिया गया। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि श्रीनारायण भवगान के मन में श्रीनारदजी व श्रीनारदजी के उपदेश के प्रति कुछ उपेक्षा भाव नहीं है बल्कि प्रेम के परतत्व को विचारकर उनको निवारण किया। भला प्रेम मतवाले ज्ञान को कैसे समझ सकेंगे। परन्तु श्रीनारदजी ने तो इसे अपनी उपेक्षा ही समझी और—'जाइ कही श्रीवैकुण्ठनाथ' श्रीवैकुण्ठनाथजी से कहने का भाव यह कि समस्त वेद-शास्त्र-पुराणादिकों में श्रीवैकुण्ठ एवं श्रीवैकुण्ठनाथ की बड़ी महिमा गाई गई है यथा—'जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद पुराण विदित जग जाना।।' अतः नारदजी ने विचारा कि अवश्यमेव ये श्वेत द्वीपवासी नारायणजी से बड़ें होंगे, क्योंकि उनका इतना सुजस प्राप्त नहीं होता है। अतः इनसे उनकी शिकायत करूँगा तो ये उनको धमकायेंगे कि आपने देवर्षिजी को अपने धाम जाने तक नहीं दिया। परन्तु श्रीवैकुण्ठनाथ जी ने भी श्वेत द्वीपवासी भगवान नारायण का ही समर्थन किया।

तब तो नारदजी ने मन में विचार किया कि मालूम पड़ता है कि सब ठाकुरों की एक ही पंचायत है क्योंकि सब एक ही स्वर से बोल रहे हैं। बात भी यही है। वस्तुतस्तु भक्तजन हिताय एक ही भगवान अनन्त नाम-रूपों को स्वीकार कर अपने अनन्त दासों को अनन्तानन्त सुख दे रहे हैं। तभी तो कहा गया है—'सन्त-सन्त सब एक हैं, ठाकुर-ठाकुर एक। जो दोउन सों हित करै, सोई जान विवेक।।' श्रीनारदजी को विश्वास नहीं हो रहा है कि भला उन्हें कैसा प्रेम प्राप्त है कि मेरे उपदेश की उनको आवश्यकता नहीं रही। भगवान विष्णु श्रीनारदजी के अभिप्राय को जानकर बोले—नारदजी! यदि आपको उनके प्रेम की प्रतीति नहीं हो रही है तो चलिये, मैं आपको उनका प्रेम दिखाऊँ। 'भक्ति अङ्ग पागी है'—भाव यह कि उनके रोम-रोम में भक्ति समाई हुई है, तो भला वे आपके उपदेश को कहाँ धारण करेंगे। जैसा कि ब्रजगोपियों

ने उद्धवजी से कहा था—'ऊधव तुम भये बौरे पाती लैकैं आये दौरे जोग कहाँ राखें यहाँ रोम-रोम स्याम हैं।' पुनश्च—'नाहि न रह्यौ हिय में ठौर। नन्द नन्दन अछत कैसे आनिये उर और।।' 'बड़ो बड़भागी है'—भगवान के चरण कमलों में अनुराग रखने वाले बड़भागी हैं। यथा—'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुवीर चरन अनुरागी।।' और बड़े अनुरागी बड़े बड़भागी हैं।

बरस हजार बीते भये नहीं चित चीते, प्यासोई रहत ऐपै पानी नहीं पीजिये।
पावै जो प्रसाद तब जीभ सो सवाद लेत लेत नहीं और याकी मति रस भीजिये।।
लीजै बात मानि जलपान करि डारि दियो लियो चोंच भरि दृग भरि बुध धीजिये।
अचरज देखि चख लगै न निमेष किहूँ चहुँ दिशि फिर्‌यौ अब सेवा याकी कीजिये।।१०४।।

शब्दार्थ—चहूँ दिशि फिर्‌यौ=परिक्रमा की। चितचीते=मन के सोचे हुए, इच्छित। निमेष=पलक।

भावार्थ—इस भक्त पक्षी को इस प्रकार ध्यान करते हुए एक हजार वर्ष बीत गये हैं परन्तु अभी इसके मन की अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई है। पानी में रहते हुए भी यह प्यासा रहता है परन्तु पानी नहीं पीता है। इसकी ऐसी निष्ठा है कि इसे प्रसाद मिले तभी जीभ से उसका स्वाद लेता है। बिना प्रसाद के कभी कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार इसकी बुद्धि प्रसाद रस में मग्न हो गई है। मेरी इस बात को मान लीजिये। नारदजी को प्रकट दिखाने के लिये भगवान ने जलपान का शेष जल उसके सामने रख दिया। तुरन्त उसने चोंच भरकर पी लिया। भगवत्प्रसाद के स्वाद से उसके नेत्रों में आनन्द के आँसू आ गये और बुद्धि भी विभोर हो गई। इस आश्चर्य को देखकर नारदजी टकटकी लगाकर उस भक्त पक्षी का दर्शन करने लगे। फिर उसके चारों ओर फिरकर उसकी परिक्रमा की और कहने लगे कि अब तो हम यहीं रहकर कुछ काल इसकी सेवा करेंगे।।१०४।।

व्याख्या—भये नहीं चित चीते—भाव यह कि इसका प्रसादी अन्न-जल ही लेने का प्रण है और वह भी अनायास जब बिना किसी प्रयत्न के मिले तब ग्रहण करता है। जैसा कि आगे कहते हैं—पावै जो प्रसाद। परन्तु इसे प्रसाद सहज सम्भव हो नहीं सका, यही कारण है कि भूखा प्यासा होने पर भी, जल में रहकर भी यह पानी नहीं पीता है। पावै जो प्रसाद......रस भीजिए—देखिये छप्पय १५ हरि प्रसाद रस स्वाद के०। 'लीजै बात मानि'—इससे जनाया गया कि श्रीनारदजी को पक्षी की इस निष्ठा पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि कहावत है— प्यास न जाने धोबी घाट। भूख न जाने जूठा भात।। नींद न जाने टूटी खाट। इश्क न जाने जात कुजात।। तब भगवान को जोर देकर कहना पड़ा। परन्तु तब भी श्रीनारदजी जब मानने को प्रस्तुत नहीं हुये तो भगवान ने प्रतीति के लिये जलपान करि डारि दिये। 'चोंच भरि, दृग भरि, बुधि धीजिये'—भगवान के सभी वचन चरितार्थ हुये। यह प्यासा है और प्रसादी ही लेता है—भगवान के इस कथनानुसार पक्षी ने तुरन्त चोंच भर लिया। 'सवाद लेत......रस भीजिये'—इस कथनानुसार भगवत् प्रसादी जलपान कर, उसके लोकोत्तर दिव्य स्वाद का अनुभव कर पक्षी की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये और वह भाव विभोर हो गया।

अचरज देखि—का भाव यह कि ऐसी अनन्य निष्ठा, ऐसा दिव्यानुभव तो देवताओं, ऋषियों, मुनियों को भी दुर्लभ है, जो इस पक्षी को प्राप्त है। 'चख लगै न.......कीजिये' से जनाया गया कि अब

श्रीनारदजी को भगवान नारायण और श्रीवैकुण्ठनाथजी के वचनों में पूरा विश्वास हो गया। अब उनकी उपदेश की बुद्धि जाती रही। अब तो उनकी महिमा विचारकर उनके प्रति सेवा की भावना जागृत हो गई।

चलो आगे देखौ कोऊ रहै न परेखौ भाव भक्ति करि लेखौ गए द्वीप हरि गाइये।
आयो एक जन धाय आरती समय विहाय खैंचि लिये प्राण फिरि बधू याकी आइये।।
वही इन कही, पति देख्यो नहीं मही पर्‌यो हर्‌यो याको जीव तन गिर्‌यो मन भाइये।
ऐसे पुत्र आदि आये साँचे हित में दिखाए फेरिकै जिवाए ऋषि गाये चित लाइये।।१०५।।

शब्दार्थ—परेखो=परीक्षा, परखो—परिचय=प्रतीक्षा करो। विहाय=बिताकर।

भावार्थ—भगवान् ने कहा—अभी और आगे चलो, अभी और देखो, अभी और प्रतीक्षा करो। जिससे कि यहाँ के भक्तों का परिचय प्राप्त करने की, परीक्षा की कोई बात शेष न रह जाय। यहाँ के भक्तों की भक्ति का विचित्र भाव देखो और फिर उस पर विचार करो। श्रीवैकुण्ठनाथजी और नारदजी श्वेतद्वीप में और आगे गये। वहाँ एक मन्दिर में भगवान के नाम और लीलाओं का गान हो रहा था। मन्दिर में आरती हुई। थोड़ी देर बाद एक भक्त दौड़कर आये, जब उन्हें यह मालूम हुआ किआरती हो गई, मन्दिर बन्द हो गया। हम दर्शनों से वंचित रह गये। इस पश्चात्ताप ने उसके प्राण खींच लिये, वह निर्जीव होकर गिर पड़ा। पीछे से उसकी स्त्री भी आ गई और इसने भी यही पूछा कि क्या आरती हो गई ? तो उन लोगों ने फिरभी वही बात कही, जो उसके पति से कही थी—हाँ, आरती हो गई। तुम्हारा पति भी आरती का दर्शन नहीं कर सका। देखती नहीं हो, वह निर्जीव होकर पृथ्वी पर पड़ा है। फिर तो आरती अदर्शन जन्य दु:ख ने इसके भी प्राणों को हर लिया। इसका भी शरीर निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसी प्रकार उसके पुत्र आदि भी आये। दर्शनों के वियोग में वे भी सभी निष्प्राण हो गये। रूप माधुरी देखे बिना उनके मन को मरण ही अच्छा लगा, जीवन प्रिय नहीं लगा। उनका दर्शनों का यह प्रेम नारदजी को अति प्रिय लगा। वे सभी भगवत्प्रेम में सच्चे दिखलाई पड़े। भगवान् ने नारदजी को सच्चे प्रेम का दर्शन कराया। कुछ समय बाद जब आरती होने लगी तब सभी भगवत्कृपा से जीवित होकर दर्शनानन्द में विभोर हो गये। व्यास आदि ऋषियों ने इन चरित्रों का गान किया है, इनका चिन्तन कीजिये।।१०५।।

व्याख्या—चलो आगे देखौ—भाव यह कि अभी आप एक पक्षी की ही निष्ठा को देखकर चकित हो रहे हैं, आगे चलिये तो इससे भी आगे अर्थात् चढ़े-बढ़े निष्ठावानों के दर्शन होंगे। 'कोउ..... ....परेखो'— तात्पर्य यह कि अभी तो आपने केवल प्रसाद निष्ठा का दर्शन किया है आगे चलकर यहाँ के भक्तों की और भी अन्य निष्ठाओं का दर्शन कर लीजिए, जिससे कि फिर कभी किसी विषय में सन्देह न हो क्योंकि भगवत-भागवतों के प्रति सन्देह होना ठीक नहीं है। यथा—अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं।। (रा०च०मा०) 'संशयात्मा विनश्यति' 'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:।। (गीता) 'हरि गाइये' भगवान के श्रीमुख के वचन हैं— 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।' अत: लोग भगवान का नाम गुणगान कर रहे थे। पूर्व पक्षी के ध्यान धरने का प्रसङ्ग कहा गया है, यहाँ नाम-गुणगान और आगे आरती दर्शन

का प्रसङ्ग आता है। इससे जनाया गया कि श्वेतद्वीप में सभी प्रकार की निष्ठा वाले भक्त हैं। परन्तु साध्य सबका एक है—श्रीनारायण बदन निरन्तर ताही देखैं।

आरती—भगवान की आरती के दर्शन की बड़ी महिमा है। यथा—'कोटयो ब्रह्महत्यानाम-गम्यागमकोटय:। दहत्यालोकमात्रेण विष्णो: सारात्रिकं मुखम्।। (स्कन्द पुराण) अर्थ—विष्णु के आरती सहित मुख के दर्शन मात्र से करोड़ों ब्रह्म हत्याओं और करोड़ों अगम्यागमनों के पापों का नाश हो जाता है। पुनश्च—

हरति सब आरती आरती राम की।
दहनि दुख दोष निर्मूलिनी काम की।।
सुभग सौरभ धूप दीप बर मालिका।
उड़त अघ-विहंग सुनि ताल कर तालिका।।
भक्त हृदि भवन अज्ञान तम हारिनी।
विमल विज्ञानमय तेज विस्तारिनी।।
मोह-मद-कोह-कलि-कंज हिम जामिनी।
मुक्ति की दूतिका देह दुति दामिनी।।
प्रणत-जन-कुमुद-वन, इन्दु-कर-जालिका।
तुलसि अभिमान महिषेस बहु कालिका।। (वि०)

खैंचि लिये प्राण—यह निष्ठा की पराकाष्ठा है। जिसके ऊपर कि देह और प्राणों को न्यौछावर कर दिया। नहीं तो देह और प्राण सर्वाधिक प्रिय हैं। यथा—'देह प्राण ते प्रिय कछु नाहीं।' 'सबके देह परम प्रिय स्वामी।' परन्तु प्रेमी तो अपने प्रेमप्रण पर इनको तृणवत् त्याग देता है। यथा—'बन्दउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद। विछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृण इव परिहरेउ।।' (श्रीदशरथ) 'श्रवण वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो, भयो वपु न्यारो अहो यही साँचो पन है।।'' (भ० मा०) (कुन्तीजी) प्रेमियों का तो यह सिद्धान्त होता है कि—'सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा।।' (रामा०)

मन भाइये—श्रीभगवान, नारदजी एवं टीकाकार श्रीप्रियादासजी—तीनों को ही यह निष्ठा बहुत भाई। 'फेरि कै जिवाए'—श्रीनारदजी ने भगवान से प्रार्थना की कि प्रभो! ऐसे अनुरागियों को तो पुन: जीवनदान मिलना चाहिये, मेरे मन में, इनके सत्सङ्ग की बड़ी लालसा है। तब भगवान ने कहा कि अच्छा, आप जोर-जोर से इनके कान के पास जाकर कहिये कि—'उठो, आरती हो रही है, दर्शन करो।' श्रीनारदजी ने ऐसा ही किया। तब सभी जी उठे। 'चित लाइये'—का भाव यह कि ऐसे भक्तों का ध्यान करना चाहिये एवं उनकी निष्ठाओं को हृदयंगम करना चाहिये।

अष्टकुल नाग भक्त

उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति।।
इलापत्र, मुख अनन्त अनन्त कीरति विस्तारत।
पद्म, संकु पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत।।
अशुकम्बल, वासुकी अजित आज्ञा अनुवरती।
करकोटक, तक्षक सुभट सेवा सिर धरती।।
आगमोक्ता शिव संहिता 'अगर' एकरस भजन रति।
उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति।।२७।।

शब्दार्थ—उरग=उर=छाती के बल+ग=गमन करने वाला सर्प। अष्टकुल=आठ वंश। द्वारपाल=द्वार का पहरेदार, ड्योढ़ीवान। थिति=स्थिति, निवास। अनुवरती=अनुवर्ती, अनुयायी। अजित=जो कभी हारा न हो, अजेय भगवान विष्णु। आगमोक्त=शास्त्रों में कहा गया। एकरस=एक समान, अनन्य।

भावार्थ—सर्प भक्तों के आठ वंश हैं। ये भगवान के द्वारपाल हैं। प्रभु की सेवा में सदा सावधान रहते हैं। भगवान के धाम में इनकी स्थिति है। इलापत्रजी और अनन्त मुख वाले शेषजी अनन्त भगवान की अनन्त कीर्ति का विस्तार करते रहते हैं। पद्म और शंकु इनका प्रण प्रसिद्ध है। ये हृदय से भगवान के रूप का ध्यान कभी नहीं टालते हैं। अशु कम्बल और वासुकी ये भगवान के आज्ञाकारी हैं। कार्कोटक और तक्षक ये बड़े वीर हैं, सेवारूपी भूमि को सदा अपने सिर पर धारण करते हैं। शिव संहिता नामक आगम में इनका वर्णन है। श्रीअग्रजी का कथन है कि इन सर्प भक्तों की भजन में सदा एकरस प्रीति रहती है।

व्याख्या—अष्टकुल नाग श्रीकश्यप प्रजापति की पत्नी कद्रू की सन्तान हैं। परन्तु इन्होंने माता कद्रू की तमोगुणी प्रकृति का अन्धानुकरण न कर अपने पिता श्रीकश्यपजी के सात्विक स्वभाव का अनुसरण कर भगवान के भजन में मन लगाया। अतः भगवान ने प्रसन्न होकर इन्हें अपने वैकुण्ठलोक में द्वारपाल के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। 'एकरस भजन रति'—यह विशेष बात है क्योंकि एकरस प्रीति का निर्वाह अत्यन्त कठिन कहा गया है। यथा—

अगिनि आँच सहबो सुगम सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहब एकरस महा कठिन व्यवहार।।
तुलसी जप तप नेम व्रत, सब सबही ते होय।
नेह निबाहब एकरस, जानत बिरलो कोय।।

स्वभाव से ही चंचल मन एक-एक क्षण में न जाने कितनी कलायें दिखाता है, तो भला ऐसे मन से एकरस साधन हो ही कैसे सकता है। पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी मन की हरकतों से ऊबकर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि—

दीनबन्धु सुख सिन्धु कृपाकर कारुणीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिविधजुर करत फिरत बौराई।।
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ वियोग बस होई।
कबहुँ मोह बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई।।
कबहुँ दीन मति हीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पण्डित बिडम्बरत कबहुँ धर्मरत ज्ञानी।।
कबहुँ देव जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै।।
संजम जप तप नेम धर्म व्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग राम पद प्रेम हीन नहिं जाई।।

एक बात स्मरण रखने की है कि वैसे तो सर्प तमोगुणी सृष्टिका प्राणी है, परन्तु इनमें नेह-निष्ठा और समर्पण बहुत उच्चकोटि का होता है। इनकी नेह-निष्ठा—यथा—

तुलसी मनि निज दुति फनिहिं व्याधहिं देउ दिखाइ।
बिछुरत होइ न आँधरो ताते प्रेम न जाइ।।

भावार्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मणि के लोभ से सर्प को मारने के लिये आये हुए व्याध को मणि अपने प्रकाश से भले ही सर्प को दिखला दे, और इस प्रकार उसकी मृत्यु में सहायक बनकर शत्रु का काम करे, परन्तु इससे क्या मणि के प्रति सर्प का अनुराग कम हो जाता है? क्या मणि के वियोग में अन्धा नहीं हो जाता? अर्थात् वह अन्धा हो जाता है और उसका मणि से प्रेम नहीं हटता, यह सर्प का मणि के प्रति आदर्श प्रेम है। प्रेमीजन इस प्रकार के प्रेम की आकांक्षा करते हैं। यथा—मनुजी—

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना।। (रामा०)

श्रीतुलसीदासजी—'राम कबहुँ प्रिय लागि हो जैसे नीर मीन को। सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फणि को हित ज्यों धन लोभ लीन को।। (वि०) समर्पण यथा—

बिबि रसना तनु स्याम है बंक चलनि विष खानि।
प्रेम बचन सुनि मन्त्र मुख सीस समरपत आनि।।

भावार्थ—सर्प के दो जीभें हैं, काला शरीर है, टेढ़ी चाल है तथा विष की खानि होता है। परन्तु सपेरे के मुख से प्रेमपूर्वक मन्त्रोच्चारण एवं महुअर बाजे के शब्द को सुनकर स्वयं प्रेमवश होकर अपना सिर सौंप देता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सर्प में अनेक अवगुण हैं, परन्तु दो गुण भी हैं, और ये गुण हैं बड़े महत्वपूर्ण। उपासना में भी इन्हीं दो गुणों की विशेष अपेक्षा होती है। ये अष्टकुल नाग अपनी इस नेह-निष्ठा को भगवान के श्रीचरणारविन्दों में मन लगाकर आत्म-समर्पण पूर्वक निरन्तर भजन-साधन में लगे रहते हैं।

इति श्रीभक्तमाल प्रथमखण्ड सम्पूर्ण

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

अकारादि क्रम से श्लोकादिवर्णानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ
(अ)	
अक्रोधनश्चराजेन्द्र	५८१
अक्षण्वतांफलमिदं	३९६
,,	६३४
अगस्त्यंकुम्भकर्णं	३६७
अङ्गंगलितंपलितं	१७५
अङ्गानांपंचकस्यास्य	२०
अजातपक्ष इव	३४०
अजामेकां लोहित	४५
अज्ञ नध्वान्त	३७९
अण्वप्युदाहृतं	३६७
अत: प्रभृति भो	३२४
अतीत्यहिगुणान्	२८८
अतीवकोमलौतात	७८
अथ भागवता	३८२
अथासौयुग	१२१
अद्याहं भगवन्	७८
अद्वैतवीथीपथिकै:	४१
अधनोऽयं धनं	३१०
अनन्याश्चिन्त	३७१
अनन्यायरसज्ञाय	७६
अनिच्छतोवले	१८०
अनिर्वचनीयम	६८
अनुग्रहसम्प्राप्ते	२५
अनुभावशिरो	२९
अन्तकाले च	३२०
अन्तर्वृत्तिविशे	२३
अन्त्यजा अपि	४६७
अन्याधर्मांस्तिरस्कृत्य	१४९
अपाणि पादो	४७
अपिचेत्सुदु	४२
अम्भोधि:स्थल	२
अयं हि कृत	१७७
अरक्षितंतिष्ठति	९६
अर्चनं परिचर्या	२०
अर्चावतारोपा	९७
अर्थोविष्णुरियं	१९१
अशेष संक्लेश	३३६
अश्रद्धयाहुतं	१०
अश्वं नैव गजं	२२६
अश्वत्थधात्री	१०१
अश्वायां जायते	३३२
अष्टादशपुराणेषु	६०५
असंशयंमहाबाहो	८१
अस्त्येवमेवम्	६८
अस्माल्लोका	३४३
अहमेवासमेवाग्रे	६५०
अहंभवन्नाम	१५१
अहंभक्तपराधीन:	२७३
अहंहरेतवपादैक	३३९
अहोअनन्तदासा	२७३
अहोअमीषां	६३३
अहोपश्यत	३९३
अहोवतश्वपचो	४२०
अहोवकीयं	५५२
अहोवयंजन्म	३७९
अहोशिरसिधारये	३९४
(आ)	
आचार्यं मां	५८
आत्मनोमुखदोषे	१७२
आत्मरत्यविरो०	६८
आत्मा रामाश्च	५५१
आत्मोचितै:	३०
आत्मौपम्येन	४९८
आदिमध्यावसा०	५७
आदौश्रद्धातत:	१०
,,	६९
आनुकूल्यस्यसं	२२१
आमूलाग्र रस:	६०४
आयुर्हरति वै	३८१
आयुष्यं चपल	३२४
आराधनानां सर्वे	३७२
आर्तिं प्रपद्येऽखिल	४९८
आर्षभस्येहराजर्षे	४६०
आलोड्य सर्व	५७७
आसामहोचरण	१८८
,,	४०४
आह ते स्वागतं	७८
(इ)	
इक्षूणामपि मध्यान्तं	६०४
इतिहाससमिमं	३३४
इति पुंसार्पिता	५५८
इत्यायुधानिजगृह:	१८०
इत्युक्त्वा राम ते	४१४
इदं चरित्रं चन्द्र	३३४
इमं विवस्वते	४८८
इयं दाशरथे	४१९
(उ)	
उक्तेनकिंस्यात्	२०४
उच्छिष्टलेपा	९९

श्लोक	पृष्ठ
उच्छिष्ठलेपा	१४८
उत्तङ्कोमहता	४९९
उत्पतिं प्रलयं	७०
उद्दीपनावयोरूप	२६
उपोष्यैकादशीं	४३५
उवाच चासहन्	३६८
(ऋ)	
ऋतेऽर्थंयत्	६०५
(ए)	
एकश्चरन्रहसि	५८७
एकात पत्रं	५०९
एकादशी व्रतं	४३८
एकान्तलाभं	३६६
एकैकस्योपकाराय	२००
एतावदेवजिज्ञास्यं	६०५
एतावतालमल	१६७
एता: परं तनु	४०४
एतेनैवह्यघो	१७७
एवं स्वभक्तयो	१०२
एषामत्रदशा	१९
एषांघोषनिवासि	४७७
(ऐ)	
ऐन्द्रमिन्द्र: पर:	५८१
ऐलस्य चोर्वशी	४९४
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य	७०
(ओ)	
ओमित्येकाक्षरं	३२०
(क)	
कटुकं लवणं	४३०
कथादिषु	६८
कदा पुन: शङ्ख	१३८
कदावृन्दारण्ये	१९
कन्याबरयते	३१९
करारविन्देन	६०१
कर्मावलम्बका:	५३४
कर्हित्सुख	१९५

श्लोक	पृष्ठ
कलिना सदृश:	१४९
कल्याणां निधानं	५८
कष्टाधिकष्टं	४३४
काकविष्ठासमु	९७
कात्यायनिमहा	३९७
कान्ताप्राणाधि	२७२
कामक्रोधावुभौ	५८३
काम सर्वात्मना	३९०
कायेनवाचा	८१
,,	५३६
कांस्य मासंसु	४४०
कास्यंमासं मसूरा	४३९
किं ब्रूमस्त्वां	६१९
किं मयाचरितं	५६८
किं मां मोहयसो	५०२
कीटेषु पक्षिषु	५०२
क्रीडार्थमात्मन	४६४
कुमुद: कुमुदाक्ष:	१८०
कृतादिषु प्रजा	५३७
कृते यद्ध्यायतो	५५४
कृपास्य दैन्यादि	६८
कृष्ण कृष्णमहाबहो	३६७
कृष्ण कृष्णमहायो	३६३
कृष्ण कृष्ण जग-	३२०
कृष्णस्यासीत्	२९५
कृष्णस्यासीत् द्विज	३७०
कृष्णसेवासदा	१७
के यूयं वदनाथ	१५३
केरलाधिपति	३१६
कोटयोब्रह्मह	६४०
कोनाम लोके	३३६
कौमार आचरेत्	५६०
कौमारादि वयोरूप	२९
क्वचिद् भूमौशय्या	५४
क्वाननं क्वनयनं	३१
क्वाहं दरिद्र: पापी	३१०

श्लोक	पृष्ठ
क्वेदं वपु: क्वच	५६५
(क्ष)	
क्षत्रियरुधिरमये	११३
क्षिप्र भवति धर्मात्मा	४२
(ख)	
खंवायुमग्निं सलिलं	५३६
(ग)	
गन्धमाल्याक्षत	५३८
गयं नृप: क:	४९५
गायन्ति देवा:	६३३
ग्रासे–ग्रसेकृते	४३२
ग्राहाद्विपाटित	३४४
गिरौ गिरौ न	१८९
गुण रहितं कामना	६८
गुरुर्न स स्यात्	१२९
गुरुपादाश्रय:	१९
गुरोर्वैवचनं	५०९
गुरोरप्यवलिप्तस्य	५३१
गोविन्दद्वारका	३६३
(च)	
चंचलं हि मन:	८१
चन्द्रहास महाप्राज्ञ	३२९
चरित रघुनाथस्य	४१६
चरिष्यति कथा	२००
चित्तं सुखेन भवता	३९८
चीराणि किं पथि	५५४
(छ)	
छलयसि विक्रमणे	१११
(ज)	
जयति जगति	१४९
जन्मैश्वर्य श्रुति	३६०
जले तैलं खले	२३९
जाड्यंधियो	१८
जानाति रामनाम्न:	१५१
जाम्बवान् ऋक्ष	२१२
जितं जितं ते	१०४

श्लोक	पृष्ठ
जिह्वा न वक्ति	१६७
जीवञ्छवो	३८१
(ज्ञ)	
ज्ञानभक्ति प्रकाश	७६
ज्ञानं परमं गुह्यं	६०५
ज्ञानि भक्तेन संसर्गो	२३
ज्ञायतामस्य यद्	३४९
(त)	
तं वीक्ष्य पीडित	३४४
ततः सा ह्रीमती	१९४
ततो गोदावरीं	२६१
ततो देवः स भग	३१९
तत्क्षम्यतां स	१७७
तत्साधु मन्ये	५५७
तत्तेगतोऽस्म्य	२५
तत्तेऽनुकम्पां	१४६
तथाहृतं पशुवत्	३६८
तथैव भीमसेनोऽपि	३५०
तदश्मसारं हृदयं	३४
,,	३८१
तदेव भगवद्वाच्यं	६९
तद्वाग्विसर्गो	७
तद् ब्रह्म तत्परं	६९
तद्भूरि भाग्यमिह	६२८
तद् वीक्ष्य पृच्छति	५५१
तद् धर्मज्ञ महाभाग	३६८
तद् दर्शनाह्लाद	१३८
तद्विद्धि प्रणिपातेन	८५
तत्र भागवतान्	५३८
तत्रापीशस्वरूपा	२२
तमुत्थाप्य करेण	१९२
तरवः किन्न	३८१
तल्लक्षणानि	६८
तव कथामृतं	५३५
तस्मात्गुरुं	५३८
तस्मात्भारत	५५४

श्लोक	पृष्ठ
तस्मात् रामेति	४१५
तस्मै ब्रह्मा ददौ	५९१
तस्मै भीष्माभ्य	३५६
तस्यात्मतन्त्रस्य	१८०
तस्यारविन्द नयन	१८२
तस्यैव मे सौहृद	३१२
तानहं द्विषतः	२७४
तानानयध्वं	१७७
ता मन्मनस्का	४००
तावद्रागादयः	१४६
तावद्भयं द्रविण	१४६
तुलसीकुन्दमन्दार	३७
तुलसीदलमात्रेण	७१
तृणादपि सुनी	१४
तृणानि भूमि	२९३
तेज आदास्यसे	५०४
ते ते ब्रह्मादयो	६२८
ते देव सिद्ध	१६७
तेषामहं समु	३०२
त्यागवीरोदया	१३९
त्रयं प्रधानमेवोक्तं	१९
त्राहि मां करुणा	३२३
त्रिभुवन विभव	५३६
त्वं माता सर्व	१९१
त्वं नो गुरुः पितृ	५७०
त्वर्यतां त्वर्यतां	५५९
त्वयोपभुक्त	४१
,,	५७५
त्वयाखलुपुरा	३७९
त्वद् बुद्धिबल	३५०
(द)	
दासास्तु प्रश्रितः	२४
दासः सखा वाहन	१९७
दिव्यातिदिव्या	१२८
दीर्घायुरप्रतिहतो	५६०
दुरापजन वर्तिनो	५४७

श्लोक	पृष्ठ
दुर्लभा वैष्णवी	३३३
दुर्लभो वैष्णवः	४६४
दुर्लभो मानुषो	५३५
दुष्करः कोनु	२७६
दृढ़ प्रलब्धा	३९७
दृष्ट्वाभागवतं	३७२
दृष्ट्वातान् कृप	१३
दृष्ट्वानुयान्त	५५१
देवद्विषां निगम	११८
देवत्वे देवदेहे	१९१
देवाः क्षेत्राणि	३७२
देवर्षि भूताप्त	५३७
देवान् कृशान्	१३१
दैवीह्येषागुण	४५
द्यूत क्रीडाञ्च	४३९
द्रुतस्य भगवद्	६८
द्रौपदी त्वथ	३६२
द्वावम्भसिनि	२९३
द्वाविमौ पुरुषौ	२९३
द्विषदन्नं न	२९१
द्विषन्तः परका	५३७
(ध)	
धन्योऽहंकृत	३७२
धर्मोविवर्द्धति	३४६
धिग्जन्मनः	३९२
धिग्जीवितं प्रजा	३२३
धूपमाल्यादि	२०
(न)	
न कामयेनाथ	१२३
नखीनाञ्चनदी	२७९
न जन्मनूनं	२११
न जातु कामः	५०६
न तथामेप्रिय	२७
,,	३४०
न तद् भासयते	२३९
न तदवचश्चित्र	७

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
न तत्पुराणो	२०३	नाहं वेदैर्न	२७०	पितेवत्वत्	१९२
न त्वहं कामये	१३	नाहं विप्रो	१४	पीतः क्रुद्धेन	२९६
,,		नाहं विशंके	३६६	पुण्ड्रं मुद्रातथा	९८
न दानं न तपो	१८२	नाहं विभेम्य	५६४	पुनीहि सह लोकं	१९
न देहं न प्राणा	१८२	नाहमात्मान	२७२	पुत्राम्नोनरका	४७४
न नाक पृष्ठं न	३३९	निगमकल्प	६०४	पुरतः पतितं	१९२
न नु ब्रह्मन्	२९७	नित्यानुभूत	१२९	पुरा साधुवद्	२७
न परः पापमा	१९३	नित्यैवैषा	१८९	पुष्पोत्कटायां	२१९
न पारमेष्ठ्यं	२९५	नित्यो नित्यानां	१६७	पूजादिष्वनु	६८
न पारयेऽहं नि	३९९	निन्दसियज्ञ	१२०	पूर्णमदः पूर्ण	१३६
न भारती मेऽअङ्ग	१४६	निमज्योन्मज्ज	८०	पूर्वमेव मया	२१२
न मे भक्तश्चतु	२३८	नियुद्ध कन्दुक	२६	पृथ्याण्यनुश्रु	३६०
नमोस्तुते व्यास	१२२	निरपेक्षं मुनिं	१८८	पृथ्वीतावदती	७७
नमो नमः कारण	४५९	निर्माल्यादेश्च	२०	पृष्ठे भ्राम्यद्	१०६
नरस्य पुत्र	३२३	निवासशय्या	३७८	पोषणं भरणा	७०
न रोधयतिमां	१८	नैरपेक्ष्यं	२३	प्रकाशते क्वापि	६८
न वनगमने ना	५४८	नैवेद्यं पुरतो	४३०	प्रगायतः स्व	१४८
न सा सभा	२९३	नैवेद्यमन्नं	५७५	प्रणिपात प्रसन्ना	१९३
न सा सभा	२०४	नैषां मतिस्ताव	१८७	प्रतिक्षणंवर्द्ध	९९
न साधयतिमां	२७०	नैष्कर्म्र्यमप्य	१४८	प्रति जग्राह	१४९
न हि पश्यति	२२६	(प)		प्रतीच्यां दिशि	१८०
न ह्यम्मयानि	५७०	पङ्काभिषिक्त	३०	प्रलय पयसि	१३०
नाघं प्रजेश	५२७	पत्रं पुष्पं फलं	२९२	प्रसादं जगदीश	५७४
नादेयं ब्राह्मणं	४१२	पदानि तस्या	१३८	प्रहस्यानुचरो	१८०
नामोच्चारणमाहा	१६७	परं प्रधानं	१३३	प्रह्लादनारद	५९५
नाम्नः पराशक्ति	१६	परं ब्रह्म परं	५८१	प्राणसंशय	१९२
,,	२०४	परिनिष्ठितो	५५२	प्रातिर्निशितथा	६०३
नारदस्तु तदर्पि	६८	परैः प्रोक्तागुणा	९	प्रायः स्वसुख	२२
नायमात्मा प्रवच	१६७	पल्यङ्कासन	२६	प्रियश्च प्रिय	३४६
नारायणं नमस्कृत्य	५७	पादारुन्तुद	४०	प्रियव्रत कृतं	३७७
नारायण पराः सर्वे	३३९	पादौ हरेः क्षेत्र	२६७	प्रेम्णावशिष्ट	२४४
नालं द्विजत्वं	१८२	पापानां वाशुभा	१९३	प्रेयांस्तेऽहं	६२२
नासाग्रन्यस्त	२३	पापान्निवारयति	२७	(फ)	
नासां द्विजाति	३९३	पापोऽहं पाप	१४	फलमूलं समादाय	२४४
नास्तियत्र सुखं	२३	पाहिमां परमा	३२०	(ब)	
नाहं वसामि	६४०	पितृदेव मनुष्या	३२३	बर्हायिते ते	३८१

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
बर्हापीडंनटवर	५५१	मम माता पिता	३२४	यत्ते सुजात	३९९
बहुवर्षसहस्राणि	४१९	ममाद्यामङ्गलं	५६८	यत्र मद्यं तथा	४३३
बहूनां जन्मना	४३८	मम प्रतिज्ञां च	३४८	यत्र यत्र रघुनाथ	५४१
ब्रह्मणो मानसः	५८३	ममोत्तमश्लोक	३४०	यत्र योगेश्वरः	५२९
ब्रह्मज्ञान रसायनं	१४२	मयि निर्वद्ध हृदया	२७२	यत्रोत्तमश्लोक	४५९
ब्रह्महा मद्यपः	१७१	मर्त्यावतारस्तु	२११	यथागदंवीर्य	१७७
ब्रह्मादयो बहु	१९४	महाचैत्री पूर्णिमा	१९८	यथा दुग्धेस्थितः	६०४
ब्रह्मंस्तद्गच्छ	२७३	मां हि पार्थ	४२	यथा तरोर्मूल	३६७
बालस्तावत्	१७५	मातर्मैथिलि	१९४	यथा महान्ति	६०५
ब्राह्मणः को भवेद्	५०५	मात्रास्वस्त्र	१६९	यथा वैभव सा	२०
बिले बतोरुक्रम	३८१	मा निषाद	४१५	यद्दर्शनं च	१६०
बुद्धया समोयस्य	३५७	मा रोदीदस्य	३६८	यद् देवेभ्यो	४३७
(भ)		मालिनी जनया	२१९	यद्यत्र नः	६३३
भक्तिः परेशानु	५३६	मुकुन्दलिङ्गालय	२६७	यदि नो भगवान्	२७६
भक्त्यात्वनन्य	२७०	मुक्तानामपि	१८८	यमादिभिर्योग	१८२
भरतस्य महत्कर्म	४६०	मुनि वेषं सहस्त्राक्षं	५९२	यर्ह्यब्जनाभ	५३९
भर्तानाथो गुरुः	२८५	मुहूर्तार्धं मुहूर्त	४२८	यर्ह्यालयेष्व	१२१
भवद्धिधामहा	५७०	मूकास्वादनवत्	६८	यश्चाण्डाली	२३८
भवन्तो योगिनः	१५९	मूर्खशिष्योपदे	४३	यस्यतुष्टोह्यहं	३१६
भाग्योदयेन बहु	१६०	मैवं विभोऽर्हति	३९८	यस्यामलं नृप	११६
भारः परं पट्ट	३८१	मोहान्धकारस्य	७६	यस्यां समागतः	३२५
भृत्यापराधे	२२४	म्लेच्छ निवह	१२१	यस्यास्ति भक्तिः	४८
भूतानिविष्णोः	१८०	(य)		या दोहनेऽवहनने	३९४
भोजनाच्छादने	३८०	यं प्रव्रजन्तम	५	यानि वेदविदां	३९७
(म)		,,	५५०	यावज्जीवेत्	४४
मङ्गलादीनि	५७	यः कश्चनेशो	१२५	यावत्साधना भक्तिः	४९
मङ्गलं कौशले	७६	यः पिबन् सततं	४१३	यावत्स्वस्थमिदं	५१०
मत्सेवनात्	३७२	यः सर्वधर्मार्थ	३५७	यावद्गुरुर्न	२३९
मद्वन्दनात्	३७२	य आशु हृदय	५३८	यावानहं यथा	६०५
मद्वयं भद्वयं	६०५	यच्चावहासार्थ	३५१	या हरिं वशमा	७६
मधुपकितव	४०३	यतः सत्यं यतो	५२९	युगायितं निमे	६३५
मधुरमधुरमे	२२८	यत्करोषि यद	३७	युवां न नः सुतौ	२५
मनसा कर्मणा	४१९	यत्पत्यपत्य	३९८	ये कण्ठलग्न	८७
मन्येकुतश्चिद्	५३५	यत्पृथिव्यां	५०७	ये दारागार	२७२
मम तातप्यमान	३२३	यत्तदव्यक्तम	६९	येषां भ्रूभंग	१५९
मम नाथ यदस्ति	४६४	यत्पादपङ्कज	१२४	येषां संस्मरणात्	१७१

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
यं कोपितं ब्रह्म	३६८	वलिर्विभीषणो	५७६	शरच्चन्द्रवक्त्रा	१३
योऽध्रुवेणात्म	४६२	वसन्ति तत्र	७०	शरत् पद्म लसद्	२७९
यो दुर्लभतरं	६०३	वागीशा यस्य	१०८	शास्त्रं न तत्स्यात्	२०३
यो दुस्त्यजान्	४६०	वाग्गद्गदा	६९	शिष्याद्यननुब	१९
यो भक्षयति	४३३	वाञ्छाकल्प	१	शुद्धोऽसिरेतात	४८०
यो मां पश्यति	२४	वायसाः किन्न	८	शून्या सम्प्रति	२१९
यो हि कश्चिद्	४५४	वाल्मीकि गिरि	४१६	श्रृण्वन् सुभद्राणि	५३६
यो वा अनन्तस्य	५३९	वाल्मीकेर्मुनि	४१६	श्यामं हिरण्यपरिधिं	३९१
यो वै पिता स	४७४	वासुदेवोऽपि	३५२	श्यामश्चञ्चल	६१७
(र)		विद्यानियसम्पन्ने	४९८	श्रद्धयाविशेषतः	२०
रञ्जयतीतिराजा	१२४	विद्धः सपत्न्यु	१३०	श्रवणं कीर्तनं	५४०
रहूगणैतत्	१८७	विना गोरसं	८	,,	५८८
,,	४५९	विपदः सन्तु नः	३५९	श्रीकृष्णश्रवणे	५४०
राघवत्वेऽभवद्	१९१	विपदो नैव	३६१	श्रीरामनामा	१५१
राजन् विप्राय	४७४	विप्राद्द्विषड्	२३८	श्रुमिपरे स्मृति	६१८
राजन् संस्मृत्य	५२९	विभावाद्यैस्तु	२७	श्रुतिर्महोपनिष	२३
राजन्ननुगृहीतो	२७६	विभु सर्वगतं	६९	श्रेयोहिज्ञानम	२४
राजा च भीमसेन	३५६	विमुक्त संभ्रमा	२६	श्वविड्वराहो	३८१
राजा दशरथः	२६१	विश्वामित्रपरा	१७०	(ष)	
राज्ञि धर्मिणि	३३२	विषमस्मै प्रदा	३२६	षष्ठिवर्षं सहस्राणि	६२८
रामनाम जपतां	१५१	वृष्णीनां प्रवरो	३४०	(स)	
,,	५५९	वेथत्वं सौम्य	३७९	संभ्रमादिच्युता	२९
रामस्य नाम	३०२	वेदवेद्ये परे	४१३	स एष भगवान	३६८
रामं रामानुजं	५७	वेदानुद्धरते	११७	सखेतिमत्वा	२५
रामाय कृष्णाय	७६	वेधसः प्रार्थनां	१३०	,,	३५१
रामो नाम बभूव	३०	वेश्यासौ मदन	१७१	सङ्गमविरह	३१
रोमाञ्चेन च	२९५	वैदूर्यमणिदण्डं	३५०	सङ्गंत्यजेत्	५८७
(ल)		वैयाघ्रपद	१६६	सङ्गःसर्वात्मना	३९०
लक्ष्मीवन्तो न	४३५	वैष्णवानां त्रयं	१३	सङ्गात्सञ्जायते	२३५
(व)		व्यवहारेषु च	१९	सजातीयाशये	२०
वक्ष्यमाणैर्वि	२२	व्यवहारेप्यका	१९	सञ्चारिणोऽत्र	२३
वनानि दहतो	२२६	व्यतिरेक तया	१९	सतां प्रसङ्गान्मम	४६
वने चरामः	१७८	व्याधस्याचरणं	२३७	सत्यां क्षितौ किं	५५४
वयं तु न वितृ	४१६	व्रतानियज्ञश्छ	१८	सत्संगेन हि	१८
वयं न तात	२७१	(श)		सदा वैकुण्ठनि	१५९
वरं ममैव मरणं	२२४	शम्भल ग्राममु	१२१	सद्धर्म पृच्छा	१९

श्लोक	पृष्ठ
स पाश हस्तान्	१६७
सम्प्रीति भोज्यानि	२९१
सम्प्रीति भोज्यानि	२९१
सम्भेर्तेति तथा	७०
स रहस्यो धनुः	३६८
सर्गोऽस्याथ	६०५
सर्वथा शरणापत्तिः	२०
सर्वधर्मान् परि	३
सर्वभूतेषु यः	५३६
सर्वतः स्वनियो	२५
सर्वपाप प्रशमनं	४३५
सर्वहेय प्रत्य	७०
सर्वे नागायुत	१८०
सर्वेषामप्यघ	१७७
सर्वेषामृषिषु	४९९
स वै पुंसां परो	१४५
स वै मनः कृष्ण	२६७
स वै पतिः स्यात्	२७८
सहस्रशीर्षाऽपि	२४८
साङ्केत्यं पारि	७०
साङ्गोपाङ्गां स	५३८
सात्विक्याध्या	१०
साधवो जङ्गमाः	४२८
साधवो हृदयं	१०१
साधवो न्यासिनः	२५५
सारथ्य पारषद	७१
सिद्धिर्भवति वा	२३४
सेवानामापराधा	१९
सोऽन्तः सरस्यु	१२५
सोर्भकस्त्र्याब्दि	३१७
सोमित्रेननु सेव्य	१५४
स्तेन सुरापो	१७७
स्थानं भयस्थानं	२०४
स्थानं मदीयं	२७१
स्थायी भावो	२६
स्थितः स्थिता	५०८
स्मृता भवति	१६९
स्मृतिर्ध्यानं	२०
स्वयंभूर्नारदः	१४५
(ह)	
हरि भक्तिमहा	१९
हरिः शरणमेवं	१५९
हरेर्गुणाक्षिप्त	५५२
हे नाथ हेरमा	३६३

सवैया, कवित्त, पदादि अनुक्रमणिका

सवैया/कवित्त/पद	पृष्ठ
(अ)	
अँखियन इहई टेव	३६०
,,	३३४
अगिनि आँच सहि	६४१
अति छीन मृणाल	५४
अबके सुलता	६३
अब हँसि भेटहुँ	६३१
अरे इश्क के	५५
अवधपुरी निज	८३
अन्तरजामिहु	५६६
(आ)	
आउ मेरे गोविन्द	३०
आये लौटि	३४३
,,	४०४
आये हैं भाव भरे	२०८
आगे चना गुरु	३०७
आजु अनरसे हैं	२९
आजु जो हरिहिं	१६४
आजु सकल सु	५९८
आदि उर अंचल	३६५
आँधरो अधम	१७८
आरतपाल कृपाल	५६६
आरत वचन	२५८
आलिन के जूथ	३११
आवत नगीच	५६८
आवति है लाज	२९९
आश्रम वरन	१४२
(इ)	
इह अद्वैत दर्शी	३४१
इहैं कह्यौ सुत	२६३
इतने गुन जामें	६२
(ऊ)	
ऊधौ कहौ सूधौ	४०३
ऊधौ मोहिं व्रज	६२१
ऊधौ तुम यह	३४२
(ए)	
एकबार शिकार	५१३
(ऐ)	
ऐरी आजकाल	३२
ऐसी हरि करत	७१
ऐसे नहीं हम	१५
ऐसे विहाल	३०५
(क)	
कणमात्र भक्त का	३६७
कबहिं देखाइहौ	२४३
कबहुं उछंग	२९
कबहूं शशि मांगत	११४
कर बिनु कैसे गाय	४०२
कहा व्रत नेम	१७८
कहौं कहाँ लगि	४७८
कहौ कपि हैं	२६१

सवैया/कवित्त/पद	पृष्ठ
कानन दूसरो	१५
कांपि उठि कमला	३०८
क्रीट मुकुट अरु	५७७
कीजै ज्ञान भानु	४०२
कोउ कह अवनी	७७
कोऊ कहौ कुल्टा	६७
कोऊ काहू को नहीं	४१४
क्यों रस में विष	३०८
(ख)	
खायौ अनेकन	३०८
खेलन दूरि जात	६२०
खेलत रारि मचा	३०
(ग)	
गज निरखत	३४५
गुरु को ऐसा	७४
गुरुन विषे	७३
गोपी प्रेम की	४०५
गोपी रूप दिखाय	४०५
(घ)	
घर तजौं वन तजौं	६७
घरहू छुटाये	३५
(च)	
चक्कवै चौंकि रहे	३०३
चन्दन पंक गुलाब	२७८
चन्द को मित्र	२९६
चन्द्रकला आदिक	४००
चञ्चल तौ मन	८२
चरन कमल बन्दौं	१३४
चली व्रज घर-घर	३९६
चांपत चरन	६२४
चौतरा उजारि	३११
(छ)	
छल बल कै	३४५
(ज)	
जब ते सुनी शबरी	२४६
जब तै महिपाल	४८८

सवैया/कवित्त/पद	पृष्ठ
जब ते ब्रज तजि	४०१
जमनहिं मारी चोट	१७८
जम्यौ खेल अति	२७
जल को सनेही	२८०
जाइये न तहाँ	२३३
जाके गति है	९३
जाके हिय ते	२४
जाको मन लागो	२८०
जासों अपरस	२४२
जाहि लगन लगि	२४५
जिमि मल्लहिंमल्ल	५०
जे रजनीचर वीर	६१४
जोइ जोइ प्यारो	३२
जो पै रघुपति	३३०
जो मैं सुरसरि	१६४
ज्यहिं नित्त लड़ाय	१८६
ज्यौं गुरु त्यौं	६२
(ट)	
टीका ते बनि	३३
(त)	
तव मुख चन्द	३२
तात ऋषभ सों	२८९
तारे गीध गनिका	५६९
तौक पहिरावौ	१९०
(थ)	
थाकी गति अंगन	२४३
(द)	
दानव देव अहीश	२५०
दीन दशा देखि	४०१
दीन बन्धु सुख	६४१
दीन मलीन अधीन	२६०
दुःख सुख ग्रीषम	३४२
दुर्जन दुःशासन	३६४
दूरि हीते चीन्हि	३११
दूलह संग दुलहिनं	३२९
देखन दे वृन्दावन	३९३

सवैया/कवित्त/पद	पृष्ठ
देखन देत न	६३५
देत करतालवे	३९५
द्रौपदी रामकृष्ण	३६४
द्रौपदी हरि सों	३६४
(ध)	
धरना धरम उखारि	१४१
(न)	
नख बिन कटा देखे	४२३
न बचै कोउ पै	१४७
नवधा भक्ति प्रधान	५४०
नरकं जो देयँ	१८५
नहिं नींद भई	३०
नागरि मनहिं	६२२
नील कंज फूल	२२६
नैनन को तरसैये	३०१
(प)	
पकंज के दल	२७८
पथिकन ते पूछत	२४७
पलकाटौं सही	१५
पाँचों तत्व माँहि	३४१
पाप हरे परिताप	१९०
पासनि हों बाँधि	५५८
पिय जनि रोकहि	३९४
पिय मुख देखत ही	६३६
पुनि-पुनि कहौं	४०५
पुरुष माल अरु	१३८
पूत कपूत कुल	४३४
प्यारे घनश्याम	३६५
प्राननि के प्यारे	४०३
प्रीति की रीति	५१४
प्रेम पंथ अति	५४
(फ)	
फिरत न बारहिं	२५९
फूली फिरत ग्वालि	३९५
(ब)	
बसौ मेरे नैनन में	२८६

सवैया/कवित्त/पद	पृष्ठ
बिछुरे पिय के	५१७
बेर बेर बेर लै	२५०
बैठे सुर सब	१५२
बोले प्रभु प्यारे	५६५
बोल्यौ मुसक्याय	२९९
ब्रह्म में ढूंढि	६२४
(भ)	
भक्तमाल जू की	३५
भागी बुद्धि कुसंग	२४२
भीषम के बानन	१६५
भेजे मन भावन	४०१
(म)	
मंजु मोर मुकुट	६३५
मन अवसेर करति	३०
मन है गयन्द	१४०
मन है तौ भली	८२
ममता तू न	१७५
मांस ही की ग्रन्थि	७
माता गीध परम	२६२
माधव असि	४८४
मीठे मीठे चाखि	२४४
मीन की प्रीति	१९०
मेरी अँखियन के	३६०
मेरे एकौ हाथ	२५९
मेरे जान कछुक	२५९
मेरो मन हरिजू	४८१
मेरो सुनियो तात	२६०
मैया री मोहिं	३९५
(य)	
यशुदा बार बार	६२०
यह दिव्य प्रसाद	५७५
याहि और कछु	३४१
याही ते जनम	३११
(र)	
रति बाढी गोपाल	३९४
रमत रमा के संग	३४५
राघव गीध गोद	२९५
राधा माधव भेंट	६२४
राम चरन तजि	२०५
रामनाथ मुकुट	२०४
रामहिं चितव	३२
रावन रथी	२२२
रुचि लै शुचि	६३०
रे कपि कौन तू	१३
(ल)	
ललन लोने लेरुआ	२९
लै उछंग गोविन्द	६१९
लैकै उपदेश औ	३४२
(व)	
वा पट पीत की	१६५
वायस के विष्ठा	९७
वारिधि तात हुते	९५
विप्र के भगत	३००
वैसेइ राज समाज	३११
व्याकुल ही तड़पों	५१९
व्याल कराल	५५८
व्रज घर-घर	३९६
ब्रज के बनितान	३०१
ब्रजभूमि मोहिनी	६१६
(श)	
शम्भु समय तेंहि	१५४
शबरी थारा मीठा	२५०
शबरी सोइ उठी	२४९
शान्त भक्त श्वेत पुष्प	३६
श्रीरघुनाथ जू लै	२६०
श्रीरघुवीर की	७१
श्रीजानकी जीवन	१५
(ष)	
षट्रस व्यञ्जन	४०३
(स)	
सखा सखी अरु	६२९
सखी चहुँ ओर	६२६
सती कपट जान्यौ	१५५
सरग न चाहैं	४०२
सिच्छक हौं	२९९
सियराम सरूप	६३७
सीस पगा न झगा	३०४
सुदामा मन्दिर	३११
सुनत सखा के	४०५
सुनि गज भीर	३४५
सुनि गोपिन के	४०४
सुनि सुनि ऊधो	४०२
सुनि रोवैं गावैं	३४
सुनु मुनि सन्तन	८८
सुन्दर शेषवीर	६१५
सोई कान्ह सोई	४०२
सोच संकटनि	५५७
सो सुकृति सुचि	२८७
स्याम तन स्याम	४०३
(ह)	
हम भक्तन के	७२
हम भक्तन सों	२७५
हम सबहिं मन्द	३९२
हमारी जीवन मूरि	५७५
हरति सब आरती	६४०
हरि ठाढ़े रथ	२९१
हरि भक्तन के	५५
हरि भक्तन सों	२७५
हरि गोकुल की	३४१
हरि लोक निवास	१८६
हरि को ललित	३९६
हरैं हरैं ज्ञान के	३४२
हाथ गह्यौ प्रभु	३०८
हे करतार हौं	२९९
ह्वै सचेत कहिं	४०५

उपसंहार

भक्ति साहित्य में श्रीभक्तमाल यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण मानव संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, सनातन धर्म, वैष्णव धर्म का युक्ति-युक्त पोषण है। ज्ञान-वैराग्य, नवधा-दशधा भक्ति उसकी उपासना की विभिन्न विधियों का सम्यक् प्रकारेण वर्णन है। भक्त-भगवन्त और गुरुदेव के नाम-रूप-लीला एवं धामों की आराधना का चमत्कार मनोरञ्जक एवं अभिमान का नाशक है। साहित्य एवं भक्ति के रसों का लहराता हुआ यह सागर स्पर्शमात्र से सहसा आकृष्ट कर सराबोर कर देता है। भक्तिमयी सदुक्तियाँ कण्ठहार बन जाती हैं। सन्त भगवन्त की ये सदुक्तियाँ शशिकिरण के समान निर्मल, आह्लाद कर अमृत से परिपूर्ण हैं। इनके सेवन से प्राणीमात्र के पाप-ताप, तृष्णा, दुर्वासना, काम-क्रोध, लोभ भयादि सभी क्षीण हो जाते हैं। अनन्य प्रेमियों की वाणी से जैसा आह्लाद होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए 'धन्य घरी सोइ जब सत्सङ्ग।' ऐसा कहा गया है। जो दिन सन्त वचनामृत के पढ़े, सुने बिना बीते वे अधन्य हैं। जीवन में उपदेश ग्रहण करना सभी का कर्तव्य है। भक्तचरित्र मूर्तिमान उपदेश हैं। भक्तों के विचित्र एवं अनन्त भाव होते हैं तदनुसार वे प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। प्रभु उनके भावों को अङ्गीकार करके अपनी लीला से भक्तों को आनन्दित करते हैं। ऐसे चरित्रों का श्रद्धा, भक्ति पूर्वक अध्ययन-श्रवण-मनन करने पर सभी मनोरथों की पूर्ति एवं भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती है।

यह श्रीभक्तमाल का पूर्वार्द्ध है। इसमें सतयुग, त्रेता और द्वापर के भक्तों की कथायें तो हैं ही, साथ-साथ श्रीनाभाजी एवं श्रीप्रियादासजी के सद्भावों का समावेश है। प्रथम चौबीस अवतार, सन्तों के सदा सहायक भगवच्चरणों के चिह्न, जिनकी कृपा से परम धर्म का रहस्य समझा जाता है उन द्वादश-महाभागवतों की कथा एवं दयामय षोडश पार्षदों की कथाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् हरिबल्लभों की पदरज प्राप्त करने की अभिलाषा, माया से पार हुए सन्तों की भूरि चरण धूरि को सिर पर धारण कर नव-योगीश्वरों के पादत्राण की शरणागति की प्रार्थना है। पुनः नवधा के नेता, हरि प्रसाद, रसास्वादी, ध्याननिष्ठों की शरण ग्रहण की गई है। अष्टादश पुराणों में फलरूपी भागवत, अष्टादशस्मृतिकार, अनपायनी भक्तिदाता रामसचिव एवं सहचर वर्ग से प्रार्थना है कि शुभ-दृष्टि की वृष्टि करें। फिर नव नन्द, सभी ब्रजवासी, श्रीकृष्ण के षोडश सखाओं की पदरज की प्राप्ति की इच्छा तथा सप्तद्वीप के भक्तों को अपना भूप बताकर अन्तिम में अष्टकुल नाग भक्तों की कथा है। सर्प भक्तों की कथा से सिद्ध है कि कोई भी ऐसा दुष्ट हृदय मानव नहीं हो सकता है जहाँ भक्ति सम्भव न हो। इस प्रकार भक्त-भक्ति की व्यापकता सिद्ध करके पूर्वार्द्ध पूर्ण हुआ, उत्तरार्द्ध में कलियुग के भक्त चरित्र पठनीय हैं। त्रुटियों को क्षमा करते हुए पाठकजन ऐसी कृपा करें कि भक्त-चरित्रों में प्रेम हो।

प्रार्थी :

दासानुदास-**गणेशदास**

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

ISBN 938483605-2
9789384836054

मूल्य : 330/- रुपये

गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

(द्वितीय खण्ड)

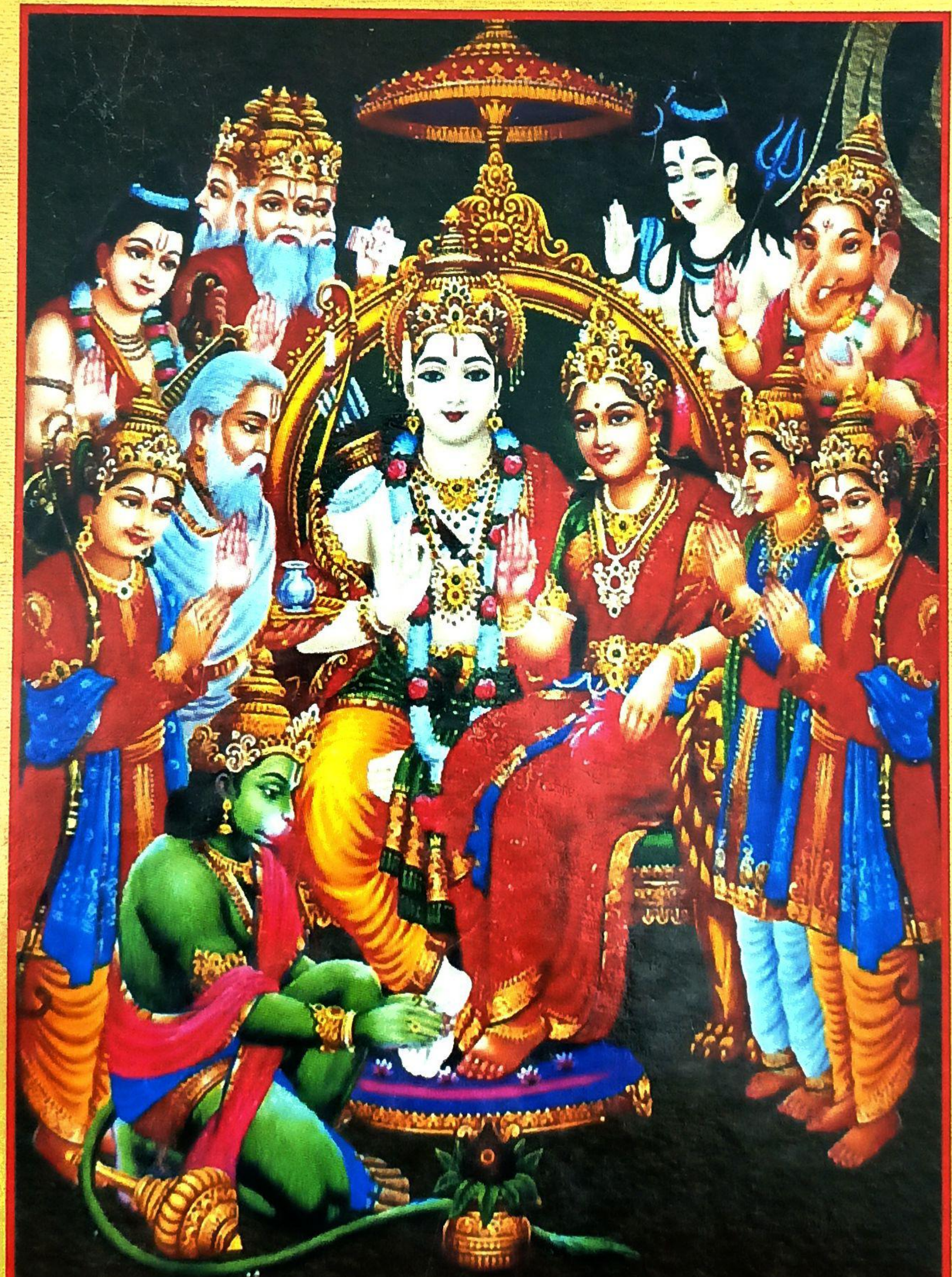

प्रकाशक : श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

श्रीरामानन्द पुस्तकालय प्रकाशनमाला का पंचम पुष्प-

श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

द्वितीय-खण्ड

श्रीमत् प्रियादास जी कृत कवित्तमयी

भक्तिरस-बोधिनी

(टीका सहित)

मूल छप्पय २८ से ७८ तक - टीका कवित्त १०६ से ३३९ तक

•

टीकाकार :

श्रीगणेशदासजी 'भक्तमाली' (गोवर्धन)

•

भाष्यकार :

रामायणी श्रीरामेश्वरदास जी (चित्रकूटी)

•

सम्पादक :

जगन्नाथदास शास्त्री

•

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)

मूल्य 370/- रुपये

ISBN : 978-93-84836-05-4

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन-281121 (मथुरा)

●

सप्तम संस्करण : 4000 प्रतियाँ

सर्वाधिकार-प्रकाशकाधीन

●

प्रकाशन तिथि :

श्रीगुरु पूर्णिमा, सम्वत् 2075

27 जुलाई, सन् 2018

●

मूल्य-370/- रुपये

●

प्राप्ति-स्थान :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन, पिनकोड-281121 (जिला-मथुरा)

मोबाइल : 08755565571

●

खण्डेलवाल ग्रन्थालय

अठखम्बा, वृन्दावन-281121 (मथुरा)

●

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-281121

♦ श्रीरामः शरणं मम ♦

आशीर्वाद

श्रीब्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी की परम रसमयी रासलीला से आकृष्ट होकर मैं श्रीरासबिहारी भगवान के साथ ही श्रीवृन्दावन चला आया। यहाँ की अनुपम-शोभा तथा कण-कण में उमड़ते हुए अलौकिक अनुराग को देखकर मेरा मन मचल उठा, श्रीवृन्दावन के दृढ़ वास के लिए। भगवत्कृपा से वंशीवट के निकट श्रीयमुना तट पर निवास के लिए सहज में ही एकान्त कुटिया भी मिल गई। चित्त की चिर-पिपासा शान्त हो गई परम-प्रभु की अहैतुकी कृपा का अनुभव करके। प्रातःस्मरणीय, परमपूज्य भक्तमाली पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी के सत्संग से मेरा आध्यात्मिक आनन्द अनन्तगुणित हो गया। श्रीभक्तमालकी भक्तिरस से सरावोर भक्तों की हृदयाह्लादिनी कथा तथा श्रीपण्डितजी की रसपद्धति से, कथा-विवेचन की शैली से मन ऐसा मन्त्रमुग्ध हुआ कि मैंने पुनः-पुनः श्रीपण्डितजी के श्रीमुख से श्रीभक्तमालजी की कथा सुनी। श्रीभक्तमाल-श्रवण से ही मुझे सन्त सेवा की प्रेरणा मिली। क्योंकि श्रीभक्तमालजी में आद्योपान्त प्राधान्येन सन्त-सेवा की महिमा ही वर्णन की गई है। फिर तो श्रीभक्तमाल मेरा जीवन बन गया। जहाँ कहीं भी श्रीपण्डितजीकी कथा होती, मैं वहीं जाकर सुनता। परन्तु आगे चलकर सन्त-सेवा का विस्तार हो जाने से, सेवा में अत्यन्त व्यस्त हो जाने के कारण मैं कथा-श्रवण के लिए जहाँ-तहाँ जाने में असमर्थता का अनुभव करने लगा। लेकिन मेरी श्रवण-पिपासा सच्ची थी, अतः दयामय प्रभु की प्रेरणा से रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी का कुटिया पर शुभागमन हुआ। आपके द्वारा उस अभाव की पूर्ति हो गई। आपके श्रीमुख से श्रीरामचरितमानस तथा श्रीभक्तमालजी की कथा सुनकर हृदय को अपार सुख मिला तथा साथ ही मन में यह अभिलाषा भी जागृत हुई कि जिस प्रकार से बड़े ही सरस एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से श्रीभक्तमालजी की कथा सुनने को मिली है उसी प्रकार से यदि श्रीभक्तमालजी की भाषा-टीका सहित विशद् एवं विस्तृत व्याख्या भी प्रकाशित हो जाय तो लोक का बड़ा ही उपकार होगा। भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीप्रभु ने मेरी इस इच्छा को भी अति शीघ्र पूर्ण कर दिया। अपने स्थान में ही स्थापित 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' श्रीसुदामाकुटी से श्रीभक्तमालजी की भाषा-टीका युक्त अभूतपूर्व व्याख्या प्रकाशित हो रही है। श्रीगणेशदासजी भक्तमाली (श्रीगोवर्धन) ने बड़ी ही सुन्दर भाषा-टीका की है, तथा रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी (चित्रकूटी) हैं इसके विशद् एवं विस्तृत व्याख्याकार। इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। द्वितीयखण्ड का भी यह नवीन संस्करण छपकर तैयार है। हम भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं कि इन दोनों महानुभावों की भक्त-भक्ति भगवन्त-गुरु में अपारनिष्ठा हो तथा ये सतत् श्रीभक्तमाल एवं सत्साहित्य प्रकाशन के द्वारा वैष्णवता के प्रचार-प्रसार तथा जनकल्याण में सफल हों।

'शुभमस्तु'

महन्त श्रीसुदामादास
सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन

♦ श्रीराम: शरणं मम ♦

श्रीवैष्णव दर्शन

श्रीभक्तमालका द्वितीय खण्ड चतु:सम्प्रदायाचार्यो के चरित्र से आरम्भ होता है। चरित्रों के साथ उनके सिद्धान्तों को देखने के लिये 'वैष्णव दर्शन' देखें ऐसा संकेत है। अत: यहाँ संक्षेप से उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान बुद्ध के उपदेशों को यथार्थ्येन ह्रदयंगम न कर पाने के कारण आगे चलकर उनके अनुयायियों ने जिस बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार किया, वह केवल पाखण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। (भगवान बुद्ध के उपदेशों के सम्बन्ध में देखिये श्री भक्तमाल प्रथमखण्ड, छप्पय 5,पृष्ठ 118, श्री बुद्ध अवतार की कथा।) लेकिन उस समय लोग भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व से परम आकर्षित थे अत: आँख मूँदकर उनके अनुयायियों के उपदेशों को मानकर बौद्धधर्म में दीक्षित होने लगे। फलस्वरुप बुद्धधर्म के अन्धाधुन्ध प्रचार से सनातन धर्म को बड़ा धक्का लगा। अधिकांश लोग वेद एवं वैदिक कर्मो से पराङ्मुख होकर पाखण्ड कर्म में प्रवृत्त होने लगे। सनातनधर्म का यह ह्रास श्रुति-सेतु-पालक भगवान से नहीं देखा गया। तब भगवदिच्छा से साक्षात् भगवान शङ्कर ही शङ्कराचार्यजी के रूप में प्रकट होकर अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं अकाट्य शास्त्रानुमोदित तर्कों द्वारा शास्त्रार्थ में बौद्धों को पराजित करके उन्होने पुन: सनातन धर्म की पताका फहराई। श्रीशंकराचार्यजी ने बौद्धधर्म को पाखण्ड प्रमाणित करके सबको वैदिक कर्मों एवं भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख किया। श्रीभक्तमाल जी के प्रणेता गोस्वामी श्रीनाभाजी, श्रीशंकराचार्यजी का स्मरण करते हुए लिखते हैं कि 'कलियुग धर्मपालक प्रगट आचारज शङ्कर सुभट' तथा श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'विमुख समूह लैकै किये सम्मुख श्याम' और 'भक्ति ही प्रचार' इससे मेरे उपर्युक्त कथन की भलीभाँति पुष्टि हो जाती है। इसी से तो श्रीनाभाजी ने इन्हें श्रीभक्तमाल जी में भक्तों के साथ स्मरण किया है। (विशेष देखिये इसी खण्ड में श्रीशङ्कराचार्यजी की कथा।) इतना अवश्य है कि आगे चलकर श्रीशङ्कराचार्यजी ने अद्वैतवाद का ही प्रबल प्रचार किया। (इस सम्बन्ध में विशेष देखिये इसी खण्ड में पृष्ठ १८६ 'पाछे मायावाद डारि दीन्हों' की व्याख्या।' अद्वैत दर्शन में ब्रह्म को निर्गुण, निर्विकार, निरवयव, नामरूपरहित, मन-वाणीको अगोचर अर्थात् अनिर्वचनीय माना जाता है। जीवसिन्धुबिन्दुवत् वा अग्नि स्फुलिंगवत् ब्रह्म का अंश है अत: अभिन्न है तथा जगत् रज्जु सर्पवत् मिथ्या है। जगत् के मिथ्यात्व के विषय में शुक्ति-रजत्, मृगजल आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं। इस मत में माया न सत् है और न असत् है, किन्तु सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीया है, निर्विशेष ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार से ही इसकी निवृत्ति होती है। जैसे शुक्ति का निश्चय होने पर रजत् का भ्रम मिट जाता है। माया-निवृत्तिपूर्वक अपने ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान को ही मोक्ष कहा जाता है। यह है अद्वैतवाद की अति संक्षिप्त रूपरेखा।

विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में ईश्वर, जीव, माया-ये तीन तत्व माने जाते हैं। ये तीनों तत्व नित्य हैं और साथ ही सत्य भी हैं। ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं, समस्त हेयगुणों से सर्वथा रहित एवं अनन्त कल्याण

गुणगण महार्णव है। ज्ञानानन्द स्वरूप है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। इसके प्रतिपादन के लिए मकड़ी के जाल की उत्पत्ति का दृष्टान्त दिया जाता है। जीव चित्स्वरूप, सुखस्वरूप, निर्मल, निर्विकार, अणु एवं अनन्त है। यह ईश्वर का नियम्य है, धार्य है, शेष है, सदा ईश्वर परतंत्र है तथा कर्मों का कर्ता-भोक्ता है। माया त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व, रज, तमोगुणमयी है। यह अनेक प्रकार से विकारों को उत्पन्न किया करती है। चिद्चिदात्मक यावत् प्रपञ्च ब्रह्म के शरीरभूत है। ब्रह्म से पृथक इनकी सिद्धि सत्ता नहीं है। इनका ब्रह्म के साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। शरीर में जीव की सत्ता से जैसे शरीर की स्थिति है, वैसे ही परमात्मा की सत्ता से ही चित् (जीव) अचित् (प्रकृति) की स्थिति है। परब्रह्म सब पदार्थों के अभ्यन्तर रहकर उनका नियमन करता है। ब्रह्म का शरीर होने से चिदचिद् ब्रह्म के विशेषण हैं और ब्रह्म इनका विशेष्य। इसी से ब्रह्म को चिदचिद् विशिष्ट भी कहते हैं। सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल में चित् 'जीव' और अचित् 'प्रकृति' दोनों ही सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं। इसी सूक्ष्मावस्था को कारणावस्था कहते हैं। सृष्टिकाल में दोनों स्थूल अवस्था को प्राप्त होते हैं। यही स्थूलावस्था कार्यावस्था कहलाती है। कारणावस्थापन्न सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म का कार्यावस्थापन्न स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म से अभेद है, अद्वैत है। इसी से इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इस सिद्धान्त में भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति है। भगवद्धाम में भगवान् के चिरदास के रूप में अनन्त आनन्द की प्राप्ति ही परम श्रेय है। इस सिद्धान्त के प्रथम विवृत्तिकार भगवान् बोधायनाचार्य जी हैं तथा प्रवर्तक आचार्य द्वय-श्रीस्वामी रामानुजाचार्य एवं श्री स्वामी रामानन्दाचार्यजी हैं। 'श्रीभाष्य' एवं 'आनन्दभाष्य' इनके भाष्यग्रन्थ हैं। इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्त एक होने से ही दोनों का एक ही सम्प्रदाय 'श्रीसम्प्रदाय' एवं एक ही सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी ने परमब्रह्म के रूप में श्रीबैकुण्ठाधिपति श्रीप्रति भगवान् श्रीमन्नारायण का प्रतिपादन किया है और श्री स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने श्रीसाकेताधिपति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का प्रतिपादन किया है।

द्वैतवाद

श्रीमन्माध्वाचार्यजी इस सिद्धान्त के प्रवर्तकाचार्य हैं। आपके मत से ब्रह्म सृष्टि स्थिति-प्रलयकर्ता, सर्वनियामक, अचिन्त्य, अनन्तैश्वर्यमय, परम स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्ववित्, सर्वशक्तिमान एवं अचिन्त्य शक्ति विशिष्ट है। वह साकार, सगुण एवं सर्वव्यापक है। जीव चेतनस्वरूप है, परतन्त्र तत्व है, सत्य है एवं संख्या में अनन्त तथा परिमाण में अणु है। जीव श्रीहरि का नित्य अनुचर है। ब्रह्म और जीव का भेद नित्य एवं सत्य है। जगत् तत्त्वतः सत्य है। क्योंकि यह परमसत्य परमात्मा के द्वारा सृष्ट है। ब्रह्म जीव और जगत् में परस्पर पाँच प्रकार के भेद नित्य वर्तमान हैं-(१) जीव और ईश्वर में भेद, (२) जड़ और ईश्वर में भेद, (३) जीव और जड़ में भेद, (४) जीव-जीव में परस्पर भेद, (५) जड़-जड़ में परस्पर भेद। इस भेद प्रतिपादन के कारण ही इस मत को 'भेदभाव' या 'द्वैतवाद' कहा जाता है। पुनः परमस्वतंत्र तत्व परब्रह्म एवं परब्रह्म परतंत्र जीव-जगत्, इन स्वतन्त्र परतन्त्र भेदों से दो तत्वों को स्वीकार करने से भी इस मत को 'द्वैतवाद' कहते हैं। जीव का अपने शुद्ध दासस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सेवा के द्वारा भगवान् की प्रसन्नता प्राप्तिपूर्वक परमसुख का अनुभव ही अन्तिम पुरुषार्थ है और पञ्चभेद परिज्ञानपूर्वक विशुद्धभक्ति ही सर्वोपरि साधन है।

द्वैताद्वैतवाद

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकाचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी हैं। आपके मत से ब्रह्म स्वाभाविक ही समस्त प्राकृत दोषों से रहित एवं अशेष कल्याणगुणैक राशि है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वह वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चारों व्यूहों के अंगी हैं। श्रीकृष्ण के वामांग में श्रीकृष्ण के अचिन्त्यानन्द सौन्दर्य माधुर्यादि गुणों के अनुरूप ही शुभ गुणों से युक्त सर्वेश्वरी श्रीराधाजी विराजमान है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने श्रीराधाकृष्ण-युगलस्वरूप के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। आपके मत से ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापक सबसे परे, सर्वाधार, सर्वगुणाधार, सर्वनियामक, सदा सच्चिदानन्दस्वरूप एवं जगज्जन्मादि कारणरूप है। चराचर विश्व ब्रह्म के अधीन है। जीव ईश्वर का अंश है, नित्य है, अनन्त है, प्रति देह में भिन्न-भिन्न है, अणुस्वरूप है, ज्ञान गुणवान एवं ज्ञानाश्रय है। कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है, तथा सर्वथा ईश्वराधीन है। यहाँ जीव को जो भगवान् का अंश कहा गया है इसका अर्थ यह नहीं कि वह अंगी ब्रह्म का कोई अवयव या विभाग हो, बल्कि अंश का अर्थ है शक्ति। यथा-अंशो हि शक्ति रूपोग्राह्यः। ब्रह्म शक्तिमान और जीव ब्रह्म की पराशक्ति है। जगत् ब्रह्म की अपराशक्ति प्रकृति का परिणाम है। सत्स्वरूप परमात्मा की शक्ति होने से जीव और प्रकृति भी सत् है, इसीलिए प्रकृति का कार्य जगत् भी सत्य है। श्रीआचार्यचरण के मत से ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक हैं। इस विषय में वृक्ष और शाखा-पल्लव दीपक और उसकी प्रभा, प्राण एवं इन्द्रियाँ-इन दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया जाता है। जैसे ये परस्पर अभिन्न भी हैं और भिन्न भी हैं। ब्रह्म जीव का सम्बन्ध भी ऐसा ही है। क्योंकि वेदों में दोनों प्रकार की श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं। उनकी संगति ऐसा मानने से ही ठीक से लगती है। इसी कारण से इस सिद्धान्त को द्वैताद्वैत (भेदाभेद) सिद्धान्त कहते हैं। आपने ब्रह्म और जीव-इन दो तत्वों के अतिरिक्त तीसरे अचित् तत्व को भी स्वीकार किया है और उसे तीन प्रकार का माना है। १. प्राकृत, २. अप्राकृत, ३. काल। परिदृश्यमान पांच भौतिक जगत् को 'प्राकृत अचित्' कहते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध से रहित भगवद्धाम को 'अप्राकृत अचित् कहते हैं। काल को भी आपने अचित् ही माना है, यद्यपि काल जगत् का नियामक है परन्तु परमात्मा का तो वह नियम्य ही है। कालस्वरूप से नित्य तथा कार्यरूप से अनित्य है। इस प्रकार श्रीआचार्यजी ने चित्, अचित् और ब्रह्म-इन तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है। इस मत में अर्थपंचक (उपास्यस्वरूप, स्वस्वरूप, विरोधी (माया) स्वरूप, भक्तिस्वरूप एवं कृपाफलस्वरूप) परिज्ञानपूर्वक अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अनाद्यविद्याग्रस्तजीव भगवत्कृपा से ही अर्थपंचक का ज्ञान प्राप्त कर प्रेमलक्षणाभक्ति को प्राप्त करता है।

शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैत के मूल प्रवर्तकाचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी हैं और विशेष प्रचारक तथा प्रसारक श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी हैं। आपके मत से ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। सर्वशक्तिमान, सर्वस्वतन्त्र और सर्वव्यापक है। वह ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सगुण एवं निराकार होते हुए भी साकार है, निधर्मक होते हुए भी सधर्मक, सर्वधर्म विशिष्ट है, आत्माराम होकर भी सर्वरमण है, शिशु होकर भी रसिकशेखर है। उसके समान या उससे बढ़कर कोई नहीं है, फिर भी सर्वमय है। वह अन्तर्यामी, अनन्त और मायाधीश है। अखिल रसामृतमूर्ति, अखिल लीला निकेतन भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। जीवात्मा चित्कण, सूक्ष्म, नित्य तथा आनन्दस्वरूप है। माया के प्रभाव से बँधा हुआ स्वयं आनन्दस्वरूप होकर भी सांसारिक दुःख पाता है। यह जीव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। अग्नि से स्फुलिंग के समान उस परब्रह्म से

जीवों का आविर्भाव होता है। ब्रह्मचित् और प्रकट आनन्द है और जीव तिरोहित (ढका हुआ) आनन्द है। परन्तु तिरोहित आनन्द होने पर भी शुद्ध, जीव और ब्रह्म दोनों वस्तुत: एक ही हैं। जगत् भगवान की लीला का विलास है अत: यह सत्य और नित्य है। साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। आपका मत है कि ईश्वर ने जो कुछ किया है वह माया के द्वारा नहीं किया है। वह तो स्वयं उसने अपनी अचिन्त्यशक्ति से किया है। आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक भगवच्छक्तियों के कारण इस जगत का विकास तथा लय होता है। शुद्ध सत्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का बनाया हुआ होने से, परब्रह्म का कार्य होने से जगत् ब्रह्मस्वरूप है, सत्य है, शुद्ध है, अविकारी है, अत: हेय नहीं है। ब्रह्म, जीव और जगत्-इन तीनों शुद्ध तत्वों का ऐक्य प्रतिपादन करने से इस सिद्धान्त को शुद्धाद्वैत कहते हैं। 'पोषणं तदनुग्रह:' उसका अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है। इस व्याख्या के अनुसार पुष्टि भक्ति अर्थात् भगवदनुग्रहैकसाध्या प्रेमाभक्ति के द्वारा ही परब्रह्म श्रीकृष्ण को प्राप्त किया जा सकता है। भगवत्सायुज्य प्राप्त करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

कलियुग पावन, प्रेमावतार श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु जी ने स्व-सिद्धान्त प्रतिपादनार्थ स्वतन्त्र रूप से गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचना न करके श्रीमद्भागवत महापुराण को ही अपना सिद्धान्त ग्रन्थ घोषित किया। परन्तु श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीमहाप्रभुजी ने अपने परिकरों को जो उपदेश दिया उसके आधार पर आपके अनुयायी गौड़ीय आचार्य, विशेषकर श्रीजीवगोस्वामीपादजी ने स्वरचित षट्सन्दर्भ में अचिन्त्य-भेदाभेदवाद का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप एवं सशक्तिक है। निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, निर्विशेष सविशेष ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतियों का तत्वार्थ निरुपण करते हुए आचार्यचरण कहते हैं कि प्राकृत रूप-गुण आदि से रहित होने से ही ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, निर्विशेष कहा गया है, और अप्राकृत रूप-गुणादि से सदैव संयुक्त होने से सगुण-साकार एवं सविशेष कहा है। ऐसा अर्थ करने से ही उभयविधि श्रुतियों की संगति लगती है। ब्रह्म अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। ब्रह्म में मूर्तत्व-अमूर्तत्व, परिछिन्नत्व-विभुत्व एक साथ वर्तमान रहते हैं। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, अद्वय ज्ञानतत्व हैं, निर्गुण-सगुण हैं, सर्वकारण-करण हैं, सर्वाश्रय हैं। श्रीकृष्ण यद्यपि अनन्त गुण-गण महार्णव हैं, परन्तु करुणा एवं भक्तवात्सल्यादि गुणों का आपमें सर्वाधिक विकास है।

संसार के त्रिताप तप्त जीवों के लिए श्रीकृष्ण की करुणा भक्तवत्सलता ही एकमात्र अवलम्ब है। अचिन्त्यानन्तशक्ति सम्पन्न ब्रह्म की अनन्त शक्तियों में तीन मुख्य हैं-१. स्वरूपशक्ति, २. तटस्थशक्ति, ३. मायाशक्ति। स्वरूपशक्ति को ही चित्शक्ति एवं अन्तरंगाशक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति की सहायता से ही श्रीकृष्ण अंतरङ्ग लीला-विलास करते हैं। तटस्थ शक्ति जीवशक्ति को कहते हैं। अनन्त कोटि जीव श्रीकृष्ण की जीवशक्ति में अंश हैं। जीवशक्ति को तटस्थशक्ति इसलिये कहते हैं कि वह शक्ति अंतरङ्गा चित्शक्ति एवं बहिरंगा मायाशक्ति दोनों में से किसी के अन्तर्भुक्त नहीं है। यह दोनों से एक पृथक शक्ति है। इतना अवश्य है कि जीव जब स्वीयस्वरूप की स्मृति को भूलकर श्रीकृष्ण से बहिर्मुख हो जाता है तब बहिरंगा मायाशक्ति के प्रभाव में आ जाता है और जब अपने स्वरूप की स्मृति को अक्षुण्ण रखते हुए श्रीकृष्णोन्मुख होता है तब अंतरङ्गा चित्शक्ति उसे स्वीकार कर लेती है। मायाशक्ति को बहिरंगाशक्ति इसलिये कहते हैं कि वह श्रीकृष्ण से एवं श्रीकृष्ण की अंतरंगा चित्शक्ति के कार्यक्षेत्र से सर्वदा बाहर ही रहती है। ब्रह्म की इस मायाशक्ति के द्वारा ही जगत् का निर्माण होता है। भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं अत: उनकी स्वरूपशक्ति एक होने पर भी तीन भागों में विभक्त है-१. सन्धिनी

२.संविद् ३. ह्लादिनी। उनकी सत् अंशशक्ति को सन्धिनी कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् स्वयं रूप की सत्ता धारण करते हैं तथा अन्य को सत्ता प्रदान करते हैं। चित् अंशशक्ति को संवित् कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् स्वयं को जानते हैं एवं दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। आनन्द अंशशक्ति को ह्लादिनी कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् स्वयं आनन्दपूर्ण रहते हैं एवं अन्य को आनन्द प्रदान करते हैं। ह्लादिनी का सार है प्रेम और प्रेम का परम सार है मादनाख्य महाभाव। श्रीराधा मादनाख्य महाभावस्वरूपिणी हैं, ये मूर्तिमती ह्लादिनीशक्ति हैं, प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं। जीव भगवान् का अंश है, परिमाण में अणु हैं, नित्य है, ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता है, कर्ता है, परन्तु जीव कर्तृत्व परमेश्वराधीन है। जीव में अणुस्वातन्त्र्य है, उसी से जीव का कर्तृत्व सम्पादित होता है। जीव स्वरूपत: श्रीकृष्ण का नित्य दास है तथा श्रीकृष्ण का भेदाभेद प्रकाश है अर्थात् ब्रह्म के साथ जीव का भेद और अभेद दोनों शाश्वत सिद्ध हैं। ब्रह्म तथा जीव स्वरूपत: चिद्वस्तु होने के कारण दोनों में अभेद है, साथ ही ब्रह्म विभुचित् है, जीव अणुचित् है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, जीव अल्पशक्तिमान है, ब्रह्म नियन्ता है, जीव नियम्य है, ब्रह्म मायातीत है, जीव माया कवलित है अत: ब्रह्म और जीव में भेद भी विद्यमान है। इस भेदाभेद की सिद्धि के लिये सूर्य एवं उसकी किरण, कस्तूरी एवं उसकी गन्ध का दृष्टान्त दिया जाता है। एक साथ भेद भी है और अभेद भी। यह बात अचिंत्य है अत: इस सिद्धान्त को अचिंत्य भेदाभेद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् भी सत्य है क्योंकि सत्स्वरूप, सत्यसंकल्प भगवान् की बहिरंगाशक्ति का विलास है। ब्रह्म एवं जीव का जगत् के साथ शक्तिमान एवं शक्ति का सम्बन्ध है। अनाद्यविद्याग्रस्त, मायाकवलित बहिर्मुख जीव भक्ति के द्वारा ही पुन: भगवान् को प्राप्त कर सकता है। श्रीकृष्ण प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मुख्य प्रयोजन है। भगवद्सेवा ही परमसाध्य है। संत, सद्गुरु एवं सच्छास्त्रों की कृपा से ही साधन-साध्य की सम्प्राप्ति सम्भव है।

इस प्रकार जीवों के अधिकार भेद से आचार्यों ने भिन्न-भिन्न वाद एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। सभी सिद्धान्त श्रुतिसम्मत होने से सत्य हैं एवं सबका अन्तिम लक्ष्य जीव को अविद्या, निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति कराना है। सभी वैष्णवाचार्यों का इस सम्बन्ध में मतैक्य है कि भगवान् ही परमतत्व हैं, उनका आश्रय ही परमहित है तथा उनकी प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। साथ ही जगत् सत्य है, वेद परम प्रमाण हैं, भगवत्छरणागति एवं भगवद्भक्ति से ही जीव का उद्धार होगा। सभी वैष्णवाचार्यों ने अद्वैत सम्मत जगन्मिथ्यात्ववाद का खण्डन किया है तथा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार अर्थ करते हुए अद्वैत वर्णित अर्थ का निराकरण किया है। यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि जब सबका लक्ष्य एक ही है एवं सिद्धान्त श्रुति-शास्त्रानुमोदित है तो फिर एक दूसरे के खण्डन-मण्डन की परम्परा क्यों ? इसका समाधान यह है कि स्वसिद्धान्त की स्थापना में जो अन्य मत का खण्डन किया गया है, उसका वास्तविक प्रयोजन, देश, काल, पात्र और परिस्थितियों को देखते हुए अधिक से अधिक अपने मत का स्पष्टीकरण करने में है। नहीं तो समस्त वेदान्त एवं ब्रह्मसूत्र पुरुषार्थरूप से एक ब्रह्म का ही निरुपण करते हुए जीव के लिये परमानन्द का विधान करते हैं। केवल अधिकारी भेद से सिद्धान्तों में भेदाभास है। सभी प्राणियों को अपने-अपने अधिकार के अनुसार किसी एक मार्ग को अपनाकर अपने कल्याण के साधन में प्रवृत्त होना चाहिये। विद्वद्वृन्द श्रीमद्भागवतजी को ब्रह्मसूत्र का भाष्य कहते हैं। हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से भगवान् ने त्रिविध अधिकारियों के लिये त्रिविध योग का अवलम्बन बतलाया है। यथा-

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायो ऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्ण चित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।
यदृच्छया मत्कथादौ जात श्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।

(११-२०-६, ७, ८)

अर्थ-भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र मनुष्यों का कल्याण करने के लिये अधिकारीभेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया। वे हैं-ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्य के परम-कल्याण के लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जो लोक, कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं, इसके विपरीत जिनके चित् में उनके कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुयी है, वे सकाम-व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्म के शुभ कर्म से सौभाग्यवश मेरी लीला कथा आदि में उनकी श्रद्धा हो गयी है वे भक्तियोग के अधिकारी हैं। उन्हें भक्तियोग के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। आचार्य पुष्पदन्त ने भी साधन वैविध्य का समन्वय इसी प्रकार से किया है। यथा-'रुचिनांवैचित्र्यादृजु कुटिल नाना पथजुषां, नृणामेको गम्य स्त्वमसि पयसामर्णवइव।।' अर्थ-जिस प्रकार सीधे-टेढ़े मार्ग से बहने वाली नदियों का आश्रय अन्त में समुद्र ही होता है उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि की विचित्रता से सरल-कुटिल मार्गानुयायी मानवों के लिये अन्त में आप (परमात्मा) ही आश्रय हैं। श्रीरामचरितमानस में भी यही समन्वय भावना यत्र-तत्र सर्वत्र परिलक्षित होती है। यथा-'ब्रह्म निरूपण धर्म विधि बरनहिं तत्व विभाग। कहहिं भगति भगवन्तकै संजुत ज्ञान विराग।।' (१।४४) 'सम जम नियम फूल-फल ज्ञाना। हरि पद रति रस वेद बखाना।।' (१।३७।१४) आदि। ब्रह्मसूत्र में भी इसी समन्वय पर ही बल दिया है। यथा-तत्तु समन्वयात्।। (१।१।४) अतः हमें विविधवाद एवं सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए ही साधन पथ पर अग्रसर होना चाहिए। किसी एक मत के प्रति आग्रह रखते हुए अन्य मत की अवहेलना अनुचित है। क्योंकि साध्य सभी मतों का एक है।

संत भगवन्त की असीम अनुकम्पा का ही परिणाम है कि गौ-सन्त-सेवी महन्त श्रीसुदामादासजी महाराज ने श्रीरामानन्द जयन्ती वि०सं० २०३३ को स्वस्थान श्रीसुदामाकुटी, वृन्दावन-धाम में 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' की स्थापना की। आपकी सत्प्रेरणा से एवं प्रेमियों के सहयोग से श्रीभक्तमाल का प्रकाशन हो रहा है। प्रथमखण्ड का द्वितीय संस्करण हो गया, उसके बाद अब द्वितीयखण्ड का यह चतुर्थ संस्करण प्रेमी पाठकों को समर्पित है। प्रूफ संशोधन में असावधानी एवं अल्पज्ञतावश जो भी त्रुटियाँ रह गईं हों, कृपालु पाठक उन्हें सुधारकर पढ़ें और ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें, जिससे अगले खण्ड प्रस्तुत करने में हम समर्थ हो सकें।

- रामायणी रामेश्वरदास 'चित्रकूटी'

सूची पत्र
श्रीभक्तमाल द्वितीयखण्ड

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
चतु:सम्प्रदायाचार्य	१	श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजी	१३३	वेषनिष्ठ हंसभक्त	४१३
श्रीरामानुजाचार्यजी	५	श्रीचरणदासजी	१४५	सदाव्रती महाजन	४२०
श्रीविष्णुस्वामीजी	७	श्रीहठीनारायणदासजी	१४५	श्रीभुवनसिंहजी	४२९
श्रीमध्वाचार्यजी	११	श्रीनारायणदासजी	१४८	पंडा श्रीदेवाजी	४३७
श्रीनिम्बार्काचार्यजी	१९	श्रीसूरजदासजी	१४८	श्रीकामध्वजजी	४४२
श्रीविष्वकसेनजी	२३	श्रीपयहारीजी के शिष्यगण	१४८	श्रीजयमलजी	४४८
श्रीशठकोपजी	२३	श्रीटीलाजी	१४९	श्रीग्वालभक्तजी	४५१
श्रीवोपदेवजी	२६	श्रीगंगादेवीजी	१५१	श्रीश्रीधरस्वामी	४५३
श्रीनाथमुनिजी	२७	श्रीविष्णुदासजी	१५२	श्रीहरिपालजी	४५६
श्रीपुण्डरीकांक्षजी	२८	श्रीरंगदासजी	१५२	श्रीसाक्षीगोपाल के भक्त	४६३
श्रीराममिश्रजी	२८	श्रीकील्हदेवजी	१५२	श्रीरामदासजी	४७१
श्रीयामुनाचार्यजी	२९	श्रीअग्रदासजी	१६१	श्रीजसूस्वामी	४८२
श्रीरामानुजाचार्यजी	३२	बत्तीस सेवापराध	१६५	श्रीनन्ददासजी	४८४
श्रीकूरेशाचार्यजी	५९	दस नामापराध	१६६	श्रीअल्हजी	४८६
चार दिग्गज महन्त	६३	श्रीराममन्त्र परम्परा	१७२	श्रीवारमुखीजी	४८८
श्रीश्रुतिप्रज्ञजी	६४	श्रीशंकराचार्यजी	१७५	ब्राह्मण दम्पति	४९६
श्रीश्रुतिदेवजी	६६	श्रीनामदेवजी	१९३	वेषनिष्ठ राजा	५०१
श्रीश्रुतिधामजी	६६	श्रीजयदेवजी	२४९	अन्तर्निष्ठ नरपाल	५०५
श्रीश्रुतिउदधिजी	६७	श्रीश्रीधरस्वामी	२८९	गुरुनिष्ठ भक्त	५१०
श्रीलालाचार्यजी	६९	श्रीविल्वमंगलजी	२९७	श्रीरैदासजी	५१५
श्रीपादपद्मजी	८३	श्रीविष्णुपुरीजी	३२९	श्रीकबीरदासजी	५४२
श्रीदेवाचार्यजी	८९	श्रीज्ञानदेवजी	३३४	श्रीपीपाजी	५८८
श्रीहर्यानन्दजी	९०	श्रीत्रिलोचनजी	३४२	श्रीधन्नाजी	६३७
श्रीराघवानन्दजी	९१	श्रीवल्लभाचार्यजी	३५२	श्रीसेनजी	६४६
श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी	९२	श्रीकुलशेखरजी	३६४	श्रीसुखानन्दजी	६५१
श्रीभावानन्दजी	११०	श्रीलीलानुकरणजी	३७०	श्रीसुरसुरानन्दजी	६५९
श्रीपद्मावतीजी	११२	श्रीरतिवन्तीजी	३७०	श्रीसुरसुरीजी	६६४
श्रीअनन्तानन्दजी	११३	प्रसादनिष्ठ पुरीनरेश	३७२	श्रीअरुन्धतीजी	६६५
श्रीयोगानन्दजी	१२१	श्रीकर्माबाईजी	३७७	श्रीअनसूयाजी	६६६
श्रीगयेशजी	१२४	श्रीसिलपिल्ले भक्ताबाई	३८०	श्रीलोपामुद्राजी	६६९
श्रीकर्मचन्दजी	१२५	भक्त-भक्ता दो बाई	३९१	श्रीपार्वतीजी	६६९
श्रीसारीरामदासजी	१२८	मामा भानजे	४०३	श्रीसीताजी	६७०
श्रीरंगजी	१२९	श्रीरंगनाथजी	४०४	श्रीसावित्रीजी	६७३

नाम	पृष्ठ
श्रीनरहरियानन्दजी	६७७
श्रीपद्मनाभजी	६८३
श्रीतत्वाजी, जीवाजी	६९६
श्रीमाधवदासजी	७०४
श्रीरघुनाथदास गो०	७३५
श्रीनित्यानन्दजी	७५०
श्रीकृष्णचैतन्यजी	७६३
श्रीसूरदासजी	७८९
श्रीपरमानन्ददासजी	८१६
श्रीकेशवभट्टजी	८२३
श्रीश्रीभट्टजी	८३३
श्रीहरिव्यासदेवजी	८३७
श्रीदिवाकरजी	८४३
अकारादि क्रम से छन्द-सूची	८४७
भक्तचरित्र एवं वाणी की-महिमा	८५२

❖

❖ जय जय भक्तमाल ❖

जय जय भक्तमाल सुखदायक। लोक ललित परलोक सहायक।।
जय जय भक्तमाल सुठि सोहर। महामोह तम तरणि मनोहर।।
जय जय भक्तमाल बहुरङ्गा। पाप परावन को पुनि गङ्गा।।
जय जय भक्तमाल रस रूरी। माधव मिलन सजीवन मूरी।।
जय जय भक्तमाल परिपूरन। भव भय रोग सोग हित चूरन।।
जय जय भक्तमाल जन तारन। राम अनूप रूप रुचि धारन।।
जय जय भक्तमाल सुठि शोभे। सरस सुगन्ध अलीगन लोभे।।
जय जय भक्तमाल सुरधेनू। सब जग को अभिमत फल देनू।।
जय जय भक्तमाल घन सरिसा। भगवत भजन वारि वर बरिसा।।
जय जय भक्तमाल शशि पावन। स्त्रवत सुधा सुठि ताप नसावन।।
जय जय भक्तमाल भगवाना। सब जग पोषन को मन माना।।
जय जय भक्तमाल वर बोहित। भव-सागर तारन सबको हित।।

भक्तमाल महिमा महत, कहत रहत जन जौन।
लहत चहत चित सो सुलभ, त्यहि दुर्लभ कहि कौन।।

दृष्टान्त-सूची

दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ	दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ
मन्त्री और बादशाह	भक्तप्रेम परवशता	३	लैला-मजनू	प्रेमी वे परवाह	३०३
श्रीरहीमजी	दोषमें, गुणदर्शन	८१	लालदासजी	यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः	३०४
श्रीरणजीतसिंह	"	८१	लैला-मजनू	रूपाशक्ति	३०५
दो सन्त	रामकृष्णकी एकता	११५	सती नारी	सतीमहिमा	३०६
मधुकरिया बाबा	प्रसादनिष्ठा	१३९	एक सन्त	आचरण से उपदेश	३०९
एक बूढ़ा	वृद्ध विडम्बना	१३९	सन्तकी कुतिया	विषयाभ्यास	३१५
चक्रिक भील	प्रसादनिष्ठा	१४०	विधवा ब्राह्मणी	रूपकी कुरूपता	३१८
सन्त निन्दक	बड़े की ओट में बचाव	१४१	साहूकार एक अन्धा	अंधेका अड़ंगा	३२१
श्रीगरुड़जी	"	१४१	दो मित्र	अन्योन्य मैत्री	३२७
बादशाहका गुलाम	मनोयोग महिमा	१५९	एक पुजारी	सेवानुराग	३५२
दो ब्राह्मण	समय का सदुपयोग	१६३	गुलाबका फूल	"	३५३
मूर्ख किसान	"	१६४	वृद्ध पुजारी	सेवा का स्वांग	३५४
श्रीमलूकदासजी	भक्तमहिमा	१६८	एक महात्मा	सरलता	३५५
एक सन्त	भय से भजनोन्मुख	१७७	एक बुढ़िया	"	३५६
एक राजा	हरयोनि में सुख	१८३	एक सेठ	कथा का प्रभाव	३७१
कौवे का पङ्ख	बात का बतंगड़	२००	एक पुजारी	सेवापराध	३७६
श्याम-सगाई	बालपने की त्वरा	२०५	एक सन्त	भक्त सर्वस्व भगवान	३८७
अकबर, खानखाना	अर्थ वैचित्र्य	२०६	भक्ता वधू	कुसङ्ग का प्रभाव	३९०
नाक में रुई ठूँसी	विश्वास	२११	गोपियाँ	हरिगुण गान	३९५
अढैया भक्त	भक्तवश्यता	२१२	युधिष्ठिर, दुर्योधन	आप भला तो जग भला	४००
दो फकीर	बाँटकर खाना, वैकुण्ठ जाना	२१६	एक बुढ़िया	समझने में भूल	४००
श्रीमोहिनीशरणजी	सङ्ग का रङ्ग	२२०	व्रज गोपियाँ	तत्सुख सुखित्व	४०९
राजा और सन्त	सङ्ग का गुण-दोष	२२१	एक रोगी	प्रारब्ध भोग	४१४
श्रीअङ्गदजी	दृढ़ता	२३१	नि० कोट के सन्त	बिगड़ी बात बनाना	४२२
नारद, सत्यभामा	नामी से नामश्रेष्ठ	२३२	लैला-मजनू	प्रेम में अदोष दर्शन	४२५
आपस्तम्ब ऋषि	गोद्विज श्रीविग्रह अनमोल	२३५	नरोत्तम ब्राह्मण	दुखदाई सिद्धि	४२६
कृपण वणिक	गोदान	२३५	एक खल	खलता	४३३
ठग साधु	करनी का फल	२७६	ईर्ष्यालु नर	"	४३३
एक सन्त	अपकारी के प्रति उपकार	२७८	मूर्ख पुरोहित	सम्बन्ध की महिमा	४३९
सन्त और बिच्छू	साधु, साधुता न तजै	२७९	झूठे भक्त	"	४४०
कालिदासजी	बिगड़ी बात बनाना	२७९	यवन बादशाह	"	४४०
कैकेयी को माता	स्त्री हठ	२८२	पूतना	"	४४१
सर्प और ब्राह्मण	मानसी-व्यथा	२८७	फूल	संस्कार पार्थक्य	४४३
गरीब ब्राह्मण	भजत कृपा करिहैं	२९८	शिला	"	४४४

दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ	दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ
राजा जैसिंह	भक्ति दौर्लभ्य	४४४	यजमान पुरोहित	बद्धो मुक्तिर्न दास्यति	५८९
समर्थश्री शिवाजी	योगक्षेमं वहाम्यम्	४४६	एक पटेल	असमर्थकी शरणागति	५९०
साधुसेवी सेठ	"	४४६	श्रीविभीषणजी	शरणागति	५९०
श्रीनारदजी	"	४४७	श्रीनागरीदासजी	दैन्य	५९५
एक साहूकार	सेवाधर्म कठोर	४५७	बलखका बादशाह	सच्चा वैराग्य	६०२
एक वैश्य	साँच को आँच नहीं	४६६	राजा क्वास	नारी हठ	६०३
त्रेता का सिद्ध	चतुर से चतुराई नहीं	४६७	एक रानी	अभयदान	६५२
एक महन्त	लोभ से सेवा	४७४	एक सन्त	जैसा अन्न वैसा मन	६६०
मास्टरजी	दर्शननिष्ठा	४७८	एक गंवार	हिसिषा	६६१
युधिष्ठिरजी	विश्वास	४८१	एक कुलटा	"	६७९
एक ब्राह्मण	जातिद्रोह	४८५	मारवाड़ी भक्त	नाम के वश नामी	६८६
एक पण्डित	लोभ पाप का मूल	४८९	श्रीअलीकिशोरीजी	"	६८७
हंस और कौवा	रमा विलास राम०	४९०	ब्राह्मण कुमार	नाम महिमा	६९३
एक सन्त	जैसा अन्न वैसा मन	४९२	गुरु चेला	"	६९५
राजा पृषध्र	गोरक्षा	४९२	एक वेश्या प्रेमी	नामाभास	६९६
भण्डारा	जैसा अन्न वैसा मन	४९२	एक पण्डितजी	सामयिकी भाषा	७०६
शिलोच्छ विप्र	राजधान्य त्याज्य	४९४	एक राहगीर	साईं के मन कछु और	७०८
राजा और सन्त	विषयों में दुर्गन्ध	५०४	एक पण्डित	योगक्षेमं वहाम्यहम्	७१०
घट ही में गङ्गा	मिथ्या ब्रह्मज्ञान	५०६	बेलमा फकीर	अपने पैर कुल्हाड़ी	७२१
मिथ्या ब्रह्मज्ञानी	"	५०७	एक महात्मा	साधु को स्वाद से क्या	७२४
भोला भक्त	गुरुनिष्ठा	५१२	अवैष्णवी नारी	अनमेल सम्बन्ध	७२६
गुरु भक्त राजकन्या	"	५१३	पण्डित-पण्डितानी	"	७२७
गुरु भक्त सन्त	"	५१४	वैद्यजी	नीम हकीम	७४८
श्रीविद्यारण्य	दीक्षा	५२३	एक ब्राह्मण	मानसी-सेवा	७४९
एक शेर	भूल से सङ्कट	५२३	कृपण वणिक	"	७४९
एक राजा	सेवा का महत्व	५२६	एक शेर	कृतज्ञता	७५२
एक भक्त	भाव के भूखे भगवान	५२७	एक श्वपच	कृतघ्नता	७५२
यवन	तुलसी की महिमा	५५१	एक पुजारी	गुप्तपाप	७५३
ग्वाला भक्त	जान न पहचान मैं०	५५२	ब्राह्मण कुमार	अध्ययन	८२६
बाबा का पैर धोना	श्रद्धा का दुरुपयोग	५५७	श्रीरामसखे	सेवानिष्ठा	८४३
बेलमा फकीर	यद्यपि शुद्ध लोक०	५६६			
फनन्य	अनन्यता	५७०			
सर्प शिष्य	सुधाई में भी दोष	५७०			
यवन हरिदास	माया	५८०			

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशहिं विघ्न अनेक।।

बिना भक्तमाल ● भक्तिरूप अति दूर है

लेखक-श्रीरामदासजी शास्त्री महामण्डलेश्वर, महन्त-चार सम्प्रदाय आश्रम वृन्दावन

कर्मवितान के मोहमय जाल में फँसा जीव स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए अथक् परिश्रम करते-करते जब थक जाता है और यह निर्णय नहीं कर पाता कि क्या कर्म है? और क्या अकर्म है? तब बुद्धि विकल हो जाती है। क्योंकि कर्म की ऊहापोह ऐसी ही है, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः। (गीता ४-१६)

इसी प्रकार ज्ञान की चर्चा करते-करते जब केवल शून्य ही हाथ रह जाता है और आत्मा अपने को अत्यन्त नीरस एवं शुष्क अनुभव करने लगती है, तब वह आनन्द की ओर दौड़ती है, क्योंकि-

आनन्दमयोऽयं पुरुषः, आनन्दमेवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।(उपनिषद)

यह आनन्द तभी प्राप्त होता है, जब यह जीव 'रसो वै सः' रसरूप परमात्मा की रसमयी लीलाओं का रसास्वादन करता है। इसका आस्वादन भी भगवान के परमप्रेमास्पद रसिक भक्तों के दिव्य चरित्रों का अध्ययन, अनुशीलन एवं मनन करने से ही मिलता है।

भक्त, भक्ति और भगवान तीनों की एकरूपता है, तीनों में ही अन्योन्याश्रयत्व है-एक दूसरे के बिना ठहर नहीं सकते। भगवान के बिना भक्त, भक्त के बिना भगवान नहीं रहते। भक्ति दोनों को जोड़ने वाली वह डोरी है-जिसके अवलम्बन पर भक्त और भगवान सघनलता निकुञ्जों में रसप्लावित होकर भाव-सागर की उर्मियों पर तैरते हैं।

भगवान को अन्य अवलम्बनों पर आश्रित साधकों-जैसे ज्ञानी, कर्मी, योगी, जपी, तपी आदि की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि उनका आश्रय तथा अवलम्बन भगवान न होकर उनकी अपनी साधना ही है किन्तु निष्किञ्चन भक्त का एकमात्र आश्रय उसके आराध्य प्रभु ही होते हैं। भगवान का मन भी भक्तों के बिना नहीं लगता, उन्हें अकेलापन अच्छा नहीं लगता, इसलिये वे-'एकोऽहं बहुस्यामः' अपने भक्तों के साथ बहुत रूपों में विहार करूँ? इस संकल्प के साथ नानारूपों में प्रकट होकर रसिक प्रियजनों के साथ विविध क्रीड़ायें करते हैं। भक्त और भगवान दोनों अनन्त रूपों से अनन्तलीला विहार करते हैं। भगवान के मानव रूप में प्रकट होने के दो ही उद्देश्य मुख्य हैं-१. भक्तों के साथ लीला-क्रीड़ा, २. लीलाविग्रह का दर्शन और श्रवण कराकर जगत् के जीवों का कल्याण। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है-

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।। (भा० १०।३३।३७)

भगवान भक्तों की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करते हैं, उनके साथ खेलकूद करते हैं तथा नाचते-गाते तो हैं ही, भक्तों के चरण भी दबाते हैं, चक्की भी चलाते हैं, चौका-बर्तन भी करते हैं, पानी भी भरते हैं, छान भी छबाते हैं, सभी प्रकार की मजदूरी करते हैं-क्योंकि वे भाववश्य हैं। बस, यही तो भक्तमाल है। भगवान इन भक्तों के ऋणी हैं, भक्तों

के चरणों की धूलि को अपने मस्तक पर धारण करते हैं, भक्तों के पीछे-पीछे चलते हैं ताकि उनकी पदधूलि के कण-किरीट को भी पवित्र कर दें-'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।' (भा० ११।१४।१६) इतना ही नहीं, भगवान कहते हैं कि-मैं तो भक्तों के पराधीन हूँ, अस्वतन्त्र हूँ अर्थात् बिना भक्त की इच्छा के मैं कुछ भी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ खूंटे पर बँधी रहती है, स्वामी जब खिलाता-पिलाता है तभी खाती-पीती है, क्योंकि स्वामी के बन्धन में अस्वतन्त्र है। इसी प्रकार भक्त जब जैसे चाहता है, अपने लाड़लेलाल को भाँति-भाँति से अपनी इच्छानुसार लाढ़-लड़ाता है।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।। (भा० ९।४।६३)

भगवान भक्त के बन्धन में प्रसन्न रहते हैं, प्रेमरज्जु के बन्धन में बँधे भगवान, बाँधने वाले भक्त का अहर्निश चिन्तन करते रहते हैं, ऐसा आत्म-समर्पणकारी एक भी भक्त जब भगवान को मिलता है, तब भगवान यह अनुभव करते हैं कि आज किसी ने मुझे दिव्य-कौतुभमणि की माला पहना दी है। एक भक्त की प्राप्ति भगवान को जब कौस्तुभमणिमाला पहनने के आनन्द में डुबो देती है, तब अनन्त भक्तों की प्राप्ति भक्तों की माला (भक्तमाल) के रूप में प्राप्त हो तो भगवान को कितना परमानन्द प्राप्त होता होगा-यह तो वे ही जानें।

परमपूज्य श्रीनाभाजी ने कितने अमूल्य और सौरभपूर्ण विविध रँग-विरंगे मलिन्द आघ्रायी भक्त पुष्प-गुच्छों की माला पिरोकर भक्तप्रिय श्रीगोविन्द के कण्ठ में पहनाई है? यह अनिर्वचनीय है। कहना पड़ेगा कि यह सौभाग्य गोस्वामी श्रीनाभाजी को ही प्राप्त है। इनके पश्चात् समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने भक्त-पुष्पों की मालायें गूंथी हैं, भक्तमालायें रची हैं, किन्तु नाभाजी के छप्पयों में जो वर्णनशैली, काव्यकला, कवित्व के प्रसादगुण, भाषा और भाव की मृदुलता तथा रुचिकर हार्द प्रकट हुआ है-वह अन्यत्र दुर्लभ है। क्योंकि यह एक लोकोत्तर सन्त की समाधि-भाषा है। ऐसा लगता है कि छप्पय का प्राकट्य प्रथमबार श्रीनाभाजी के मुखारविन्द से ही हुआ है।

श्रीप्रियादासजी महाराज ने श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा स्थापित प्रेमपद्धति का अनुसरणकर श्रीनाभाजी महाराज की आज्ञानुसार रस-पयोनिधि में गोते लगाकर अपनी दिव्य-कवित्त छन्दोबद्धवाणी द्वारा एक अनूठी अनुपम व्याख्या की है, वह भक्तों का पाथेय है। श्रीप्रियादासजी के कवित्तों के बिना छप्पयों का मर्म ही नहीं खुलता है। इस प्रकार भक्तमाल भक्ति और भक्तों के पौधारूपी जीवन को सिञ्चित् करने में अमृत-वर्षा का कार्य करती है।

श्रीरामचरितमानस की भाँति आज श्रीनाभाजी की भक्तमाल का भी व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है, बड़े-बड़े विद्वान्, साहित्यकार, इतिहासकार इसकी उपयोगिता को स्वीकारने लगे हैं। सन्तों-भक्तों रसिकों का तो भक्तमाल सर्वस्व है ही। श्रीनाभाजी के कोमल-कण्ठ से प्रकट होकर यह श्रीभक्तवैजयन्तीमाला रसिकशेखर श्यामसुन्दर के कण्ठ का हार बनी। तत्पश्चात् भावुक-भक्तों की सत्सङ्ग सभाओं में इसका कथन-श्रवण आरम्भ हुआ। इससे सत्सङ्ग सभाओं का आनन्द अनन्तगुणित हो गया। श्रीवृन्दावन में जब से श्रीभक्तमालजी पधारीं, तभी से यहाँ के बड़े-बड़े रसिक, सिद्ध-सन्तों ने इसके रस का आस्वादन किया। टोपीकुञ्ज के बाबा श्रीमाधवदासजी तथा वर्तमान में भक्तमाल के वेदव्यास पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमाली ने शत-शत सुयोग्य शिष्यों को श्रीभक्तमाल के अनुपम रस का पान कराया। इनके द्वारा भक्ति का प्रचुर प्रचार-प्रसार हो रहा है। सन्त-समाज पूज्य श्रीपण्डितजी का आभारी है। श्रीअयोध्या में भी अनेक भक्तमाल के प्रवक्ता हुए और हैं, अनेक स्थान-खालसे भी बने

तथा अध्ययन-अध्यापन की परम्परा है। सर्वप्रथम इसकी सरल हिन्दी भाषा-टीका श्रीअयोध्याधाम से श्रीरूपकला के द्वारा की गई। तत्पश्चात् श्रीभक्तमाल पर कुछ विवादास्पद टीकायें भी लिखी गईं किन्तु वे साहित्य इतिहास तथा रसिकों की दृष्टि में समुचित आदर का स्थान नहीं पा सकीं। फलतः भक्तचरितसुधा के पिपासुओं की एक जिज्ञासा निष्पक्ष भावपूर्ण सांगोपाङ्ग व्याख्या सुनने की बनी रही।

भगवान भक्त वाञ्छाकल्पतरु हैं, उनके भक्तों की इच्छापूर्ण हुई। सुदामाकुटी के संस्थापक श्रीसुदामादासजी महाराज भजनानन्दी सन्त हैं, इन पर श्रीभक्तमालजी की कृपा प्रत्यक्ष है। स्थान में सदा सन्त-भक्तों की सेवा होती है। इसी के प्रताप से रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी चित्रकूटी, श्रीगणेशदासजी गोवर्धन ये दो विभूतियाँ सुदामाकुटी में पधारीं। श्रीरामायणीजी ने श्रीरामचरितमानस एवं श्रीभक्तमाल की वर्षों तक अमृतमयी विशद् कथा सुधा की वर्षा की। श्रीरामायणीजी को शत-सहस्र, भक्ति-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन है। भक्तमाल की व्याख्या में वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा हिन्दी ग्रन्थों के प्रचुर प्रमाण दिये हैं, साथ ही जन-साधारण के लिए दृष्टान्तों से भरपूर है। अब यह ग्रन्थ प्रेमीजनों को रससागर में निमग्न करने वाला बन गया है। सुयोग्य विद्वान् श्रीगणेशदासजी महाराज ने गोवर्धन आदि स्थानों के कार्यों को छोड़कर श्रीभक्तमाल के लेखन, प्रकाशन में अपना सर्वस्व समर्पित किया है। इनके महान् प्रयास का ही फल है कि भक्तमाल के चार खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। भीषण-मँहगाई में ऐसा महान् ग्रन्थ प्रकाशित करना बिना श्रीप्रभुकृपा के सम्भव नहीं है। श्रीराघवेन्द्र सरकार और लीलाबिहारी श्रीगोविन्द के श्रीचरणों में प्रार्थना है कि ऐसे उपकारी सन्तों को दीर्घजीवी बनाकर सभी प्रकार का बल प्रदान करें, जिससे वे अन्य ग्रन्थों का प्रकाशनकर 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' सुदामाकुटी, श्रीवृन्दावन की श्रीवृद्धि करते रहें।

भक्तचरणरज-
रामदास शास्त्री

श्री भक्तवत्सलो जयति

सम्पादकीय

पूज्य चरण श्रीगणेशदासजी भक्तमाली (भक्तमाल भाष्यकार) के साकेत गमनोपरान्त भक्तमाल के प्रकाशन एवं श्रीरामानन्द पुस्तकालय का गुरुतर भार मुझ दास के कन्धों पर आया, यद्यपि मेरे राम सर्वथा अयोग्य एवं अनुभवहीन थे। श्रीभक्तमाल ग्रन्थ बड़ा दुरूह ग्रन्थ है, इसे कोई-कोई विद्वान ''पंडित पछाड़ ग्रन्थ'' कहते है। जिस भक्तमाल के विषय में श्रीनाभाजी महाराज कहते हैं कि- ''गाऊँ राम कृष्ण को न पाऊँ भक्ति दांव को'' ऐसे भक्तमाल का प्रकाशन बड़ा दुरूह कार्य है, तथापि पूज्य महन्त श्रीसुतीक्ष्णदासजी की सत्प्रेरणा एवं कुटिया बिहारी सरकार की असीम अनुकम्पा से दास इस पुनीत कार्य में लगा। जब भक्तमाल द्वितीय खण्ड का अवलोकन किया तो देखा कि प्रथम खण्ड की ही तरह इस खण्ड में भी प्रचुर मात्रा में अशुद्धि है, जो कि प्रूफ संशोधन की कमी थी। इस विषय को लेकर भक्तों की शिकायत भी आती रही, इन बातों को ध्यान में रखकर प्राचीन प्रति से मिलान करके प्रूफ संशोधन का कार्य किया गया। श्रीभागवतजी एवं श्रीगीताजी के श्लोकों का नम्बर कुछ रह गया था, अतः यथासम्भव नम्बर डालने का प्रयास किया गया है। अनुभव विहीन होने के कारण अनेक त्रुटिया सम्भव हैं, विज्ञ पाठकजन हमें क्षमा करते हुए सुधार कर पढ़ें।

सम्पादक
जगन्नाथदास शास्त्री

श्रीकुटिया विहारी भगवान्

श्रीकौशलकिशोर जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीगुरुदेव

श्रीश्री १०८ श्रीअग्रदास जी महाराज

श्रीभक्तमालकार

श्रीश्री १०८ श्रीनाभा जी महाराज

श्री वैष्णव कुलभूषण गौ सन्तसेवी

श्रीश्री १०८ श्रीसुदामादास जी महाराज

सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल गूढ़ार्थ प्रकाशक

भक्तमाली श्रीजगन्नाथदास जी महाराज

ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल के भाष्यकार

श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी (चित्रकूटी)

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल टीकाकार

भक्तमाली श्रीगणेशदास जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

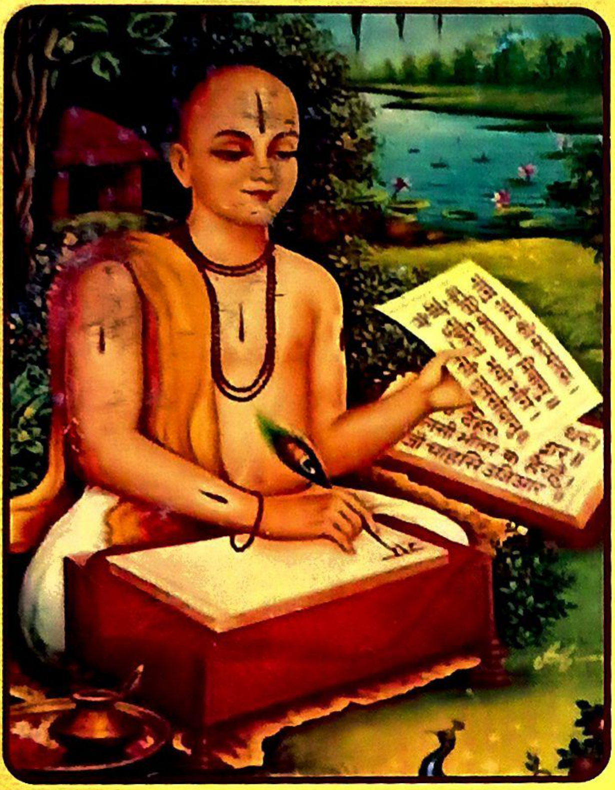
(भक्त) श्रीतुलसीदासजी

भक्ति

(भगवन्त) श्रीरामजी

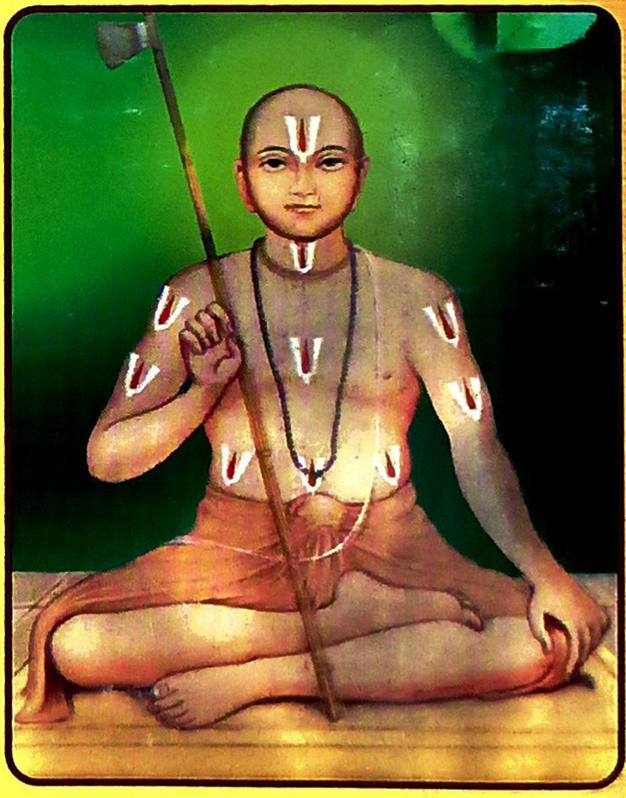
(गुरु) श्रीरामानन्दाचार्यजी

भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक।।

❖ श्रीराम: शरणं मम ❖

श्रीभक्तमाल

(द्वितीयखण्ड)

चतु:सम्प्रदायाचार्य

चौबीस प्रथम हरि वपु धरे, त्यौं चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट।।
'श्रीरामानुज' उदार, सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
'विष्णुस्वामी' बोहित्थ सिन्धु संसार पार करु।।
'मध्वाचारज' मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
'निम्बादित्य' आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया।।
जनम-करम भागवत धरम, सम्प्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि वपु धरे, त्यौं चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट।।२८।।

श्रीजानकीदासजी द्वारा संशोधित श्रीभक्तमाल जो ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर वाराणसी द्वारा सं० २०२२ वि० में प्रकाशित है उसमें क्रमश: द्वितीय एवं पंचमचरण का पाठ इस प्रकार है।

श्रीरामानन्द उदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
जग जनमि भागवत धर्म कर सम्प्रदाय थापी अघट।।

शब्दार्थ-वपुधरे=प्रगटे, अवतार लिए, शरीर धारण किये। चतुर=चार। व्यूह = समूह, देह, युद्ध में सेना का विभाग करके इस प्रकार स्थापित किया जाना जिसे कोई लांघ न सके। उदार = श्रेष्ठ-दानी, गम्भीर, सरल, शिष्ट। सुधानिधि = सुधा = अमृत, ज्ञान, भक्ति+निधि =समुद्र। अवनि = पृथ्वी। कल्पतरु = कल्पवृक्ष, इच्छित फल देने वाला। बोहित्थ = वोहित, जहाज। सिन्धु संसार = भवसागर। पार करु = उद्धारकर्ता,

पार करने वाले। सर = सरोवर, तालाब। ऊसर = ऊषर, नोनीभूमि, जिसमें कुछ पैदा न हो। भरिया=भरने वाले। आदित्य = सूर्य। कुहर = कुहासा अन्धकार, जल के सूक्ष्म कण जो जाड़े से जमकर धीरे-धीरे पृथ्वी पर उतरते हैं, उससे अँधेरा हो जाता है।

भावार्थ-जिस प्रकार पहले तीन युगों में भगवान ने चौबीस अवतार धारण किये उसी प्रकार कलियुग में आचार्यों का चतुर्व्यूह प्रकट हुआ। जैसे-श्रीसम्प्रदाय के सम्बर्धक दक्षिण भारत में श्रीरामानुजाचार्य, उत्तर भारत में श्रीरामानन्दाचार्यजी हुए। ये महान उदार थे, शरणागतों को अपनाने में इनका दृष्टिकोण संकुचित न था। ये प्रेमामृत और ज्ञानामृत के अगाध समुद्र थे और इस पृथ्वी पर भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए साक्षात् कल्पवृक्ष थे। रुद्रसम्प्रदाय के सम्बर्धक आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी भवसागर में डूबते हुए जीवों को पार करने के लिये जहाज थे। ब्रह्मसम्प्रदाय के सम्बर्धक श्रीमध्वाचार्यजी सरोवर (सरस) और ऊसर (नीरस) हृदय वाले लोगों के हृदयों को भक्ति से परिपूर्ण करने के लिए भक्ति की वर्षा करने वाले मेघ थे। सनकादि सम्प्रदाय के सम्बर्धक श्रीनिम्बार्काचार्यजी अज्ञानरूपी कुहर को नष्ट करने वाले और ज्ञान-भक्ति का प्रकाश करने वाले सूर्य थे। इन्होंने जन्म लेकर और सत्कर्मों का स्वयं आचरण करके वैष्णव धर्म के सम्प्रदायों की सर्वथा अक्षय एवं सुदृढ़ स्थापना की।।२८।।

व्याख्या- चौबीस...........वपु धरे- **वैसे तो भगवान के असंख्य अवतार हैं। यथा-**

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः।। **(भा० १।३।२६)**

अर्थ- शौनकादि ऋषियों! जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे जलस्त्रोत निकलते हैं वैसे ही सत्वनिधि भगवान श्रीहरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं। परन्तु चौबीस-अवतार मुख्य हैं, प्रसिद्ध हैं। देखिये छप्पय ५।

प्रश्न-अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का संङ्कल्प मात्र से उद्भव पालन, प्रलय करने वाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान भगवान को देह धारण करने की क्या आवश्यकता? समाधान- इसका बड़ा ही सुन्दर समाधान श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में किया हैं, यथा-

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।।
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।।
सो केवल भक्तन हित लागी। परम कृपालु प्रणत अनुरागी।।

स्वयं भगवान श्रीरामजी कहते हैं- तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे।। अपने भक्तो को आर्त देखकर भक्तवत्सल भगवान अत्यन्त अधीर हो उठते हैं, फिर तो वे अपनी सङ्कल्प शक्ति का प्रयोग न कर, अपने किसी दूत या पार्षद को न भेजकर भक्त प्रेम-परवश हो स्वयं ही अवत्तीर्ण होते हैं। इस पर-

दृष्टान्त- मन्त्री और बादशाह का- एक भक्त मन्त्री राजा को भगवान के अवतार का प्रसङ्ग सुना रहा था। बादशाह की समझ में नहीं आ रहा था कि अनेक समर्थ-पार्षदों के रहते हुए भी भगवान स्वयं क्यों धरा-धाम पर प्रकट होते हैं? यद्यपि मन्त्री ने उपर्युक्त समाधान किया परन्तु तो भी उसका समाधान नहीं हुआ। तब मन्त्री ने एक युक्ति विचारी। बादशाह के अत्यन्त लाड़ले राजकुमार के स्वरूपानुरूप एक पुतला बनवाकर एक दासी को दिया और उसे सिखा दिया कि जब बादशाह नदी में नौका-विहार कर रहे हों, उस समय तुम इस पुतले को लेकर आना और अत्यन्त प्यारवश जब वह इसे गोद में लेने के लिए हाथ बढ़ावें तो तुम इसे नदी में गिरा देना। दासी ने ऐसा ही किया। बालक को नदी में गिरते देखकर बादशाह भी उसे बचाने के लिए तुरन्त नदी में कूद पड़ा। जब रहस्य का उद्घाटन हुआ तो बादशाह ने मन्त्री से इसका जबाब तलब किया। मन्त्री ने कहा- हुजूर! अपराध क्षमा हो। आपके प्रश्न का समाधान करने के लिए मैंने यह लीला रची थी। मैं आपसे पूछ रहा हूँ, हजारों सेवकों के रहते हुए भी आप स्वयं नदी में क्यों कूद गए? बादशाह ने कहा मन्त्रीजी! उस समय हमें इतना धैर्य नहीं रह गया था कि मैं कुछ सोच विचार सकूँ। अतः स्वयं ही कूद गया। मन्त्री ने कहा- बस, इसी प्रकार परमात्मा भी भक्तों का दुःख देखकर स्वयं ही अवतार लेते हैं।

त्यो...प्रगट-का भाव यह कि जैसे भगवान का अवतार साधु परित्राण, दुष्ट-दमन, धर्म संस्थापनपूर्वक लोकमङ्गल के लिए होता है, वैसे ही आचार्यावतार भी अज्ञान निवृत्ति एवं ज्ञान, वैराग्य-भक्तियोग विधानपूर्वक सर्वजन-हिताय, सर्वजन-सुखाय होता है। जैसे भगवान अपने चतुर्व्यूहस्वरूप (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध) द्वारा विश्वब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार चतुःसम्प्रदायाचार्य व्यूह द्वारा अध्यात्म जगत् की सुरक्षा होती है। व्यूह का एक अर्थ सेना भी होता है। इसके अनुसार भाव यह होगा कि जब कलियुगरूप भूपति अपने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, दम्भ, कपट, पाखण्डादि सुभटों की सहायता से वैदिकधर्म मर्यादा का नाश करने लगा, तब श्रुति सिद्धान्त की रक्षा के लिए भगवान ने चतुःसम्प्रदायाचार्यरूप परम सुभटों को भेजा। ये आचार्य शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानादि ज्ञान साधन एवं श्रवण, कीर्तनादि भक्ति

साधनरूप सेना सजाकर कलिकाल से मोर्चा लिए। इनके ज्ञान-वैराग्य-भक्ति प्रचाररूप प्रहार से व्याकुल होकर कलियुग को भागना पड़ा। अर्थात् ऐसे कराल युग में भी इन आचार्यों ने जन-जन के मन में भवनिस्तारक ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-भाव भर दिया।

कलियुग प्रगट-**इसके दो हेतु हैं। प्रथम तो-**

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन निज मत कलपि कै, प्रगट किये बहु पन्थ।।
दम्भ सहित कलिधर्म लखि, छलहिं सहित व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, समै रुचित आचार।।
कलियुग काल कराल की, वरणि न जाय अनीति।
बैर बढ़्यो चारो बरन, आपस में भयभीति।।

विशेष देखिये कवित्त १६-कलि कुचालि। अतः कलियुगी जीवों पर दया करके ये आचार्य अवतार लेते हैं। दूसरा कारण है कलियुग में साधन सौलभ्य। अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग में भगवद्प्राप्ति के लिए बड़े ही सुगम साधन का निर्देश किया गया है। यथा-

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात्।। **(भा० १२।२।५२)**

इसी का भावार्थ तुलसीदासजी कहते हैं-

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।।

श्रीशुकदेवजी भा० १२।३।५१ में कहते हैं-

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।।

अर्थ-हे राजन्! यद्यपि कलियुग दोषों का भण्डार है तो भी उसमें एक महान गुण भी है। वह यह कि इस युग में प्राणि भगवान् का नाम-गुण-कीर्तन करके ही समस्त आसक्तियों से मुक्त होकर परम-पद को प्राप्त कर लेते हैं। यही कारण है कि सतयुग के लोग भी कलि में जन्म लेना चाहते हैं। यथा-

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाः।। (भा०११।५।३८)

अतः आचार्य भी कलियुग में प्रकट हुए। सबका परिचय देते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी

आदौ जगदाधारः शेषस्तदनु सुमित्रानन्दन वेषः।
तदुपरि धृतहल मुसल विशेषस्तदनन्तरमभवद्गुरुरेषः।। **(यतिराज स्तोत्रम्)**

भावार्थ-छ०- शेष सहस मुखनाम नित्य नव-नव उच्चारत।
शय्या बनि हरि सुखद शीश पर धरनी धारत।।
त्रेता लक्ष्मण भ्रात दासको धर्म सिखायौ।
द्वापर बनि बलदेव भक्त हित असुर नसायौ।।
कलि जीवन कल्याण हित प्रगटे भारतभूमि पर।
सम्बर्द्धक श्रीसम्प्रदा रामानुज आचार्य वर।। **(भक्तवल्लभा टि०)**

श्रीसम्प्रदाय में श्रीरामोपासना के प्रवर्तकाचार्य श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी का वर्णन आगे किया जायेगा।

उदार-**भगवद्गुण दर्पण में उदार गुण की व्याख्या इस प्रकार से है-**

पात्रापात्रविवेकेन देश कालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः।।

अर्थात् पात्र, अपात्र, देश और काल का कुछ भी विचार न करके निःस्वार्थ भाव से याचक मात्र को वाञ्छित से भी अधिक देना उदारता है। पुनः उदार का अर्थ महान् और सरल भी होता है। यथा-'उदारो दातृ महतो, दक्षिणे सरलोदारौ' (अमरकोश) श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी में ये समस्त सद्गुण हैं। शेषावतार होने से महान हैं, श्रीगुरुदेवजी के मना करने पर भी 'गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च स्वर मन्त्र उचारयौ' अतः महादानी हैं। बिना किसी भेद-भाव के सबसे प्रेमपूर्वक मिलने से सरल हैं अतः उदार कहा।

पुनः- तन शय्या मन ध्यान में बानि नाम सिर भार।
ऊँचे चढ़ि मन्त्रहिं दियो याते नाम उदार।। (भ०व०टि०)

सुधानिधि-**सुधा से तात्पर्य यहाँ भक्तिसुधासे है। श्रीहरि भक्तिसुधा ही सच्ची सुधा है। जिसे पाकर प्राणी शाश्वत अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। यथा-'यल्लब्ध्वा पुमानमृतो भवति' (ना० सू०) स्वर्गीय सुधा पीकर अमर कहाने वाले देवताओं**

के भी मरने की कथा आती है। परन्तु भक्तों के लिए भगवान् के श्रीमुख के वचन हैं- 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' (गी०) पुनः अमृत पीकर अमर होकर भी जीव यदि भगवद्विमुख हो गया तो ऐसा अमरत्व किस काम का। श्रीशुकदेवजी ने तो भक्ति-सुधा और स्वर्गीय सुधा में मणि कांचका अन्तर बतलाया है। यथा-'क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान।।' (भा० मा०) तभी तो कहा गया है कि-

सुधा पियै नहिं मरै परै हरि विमुख पाप में।
कहा भयौ ह्वै अमर रह्यौ जो अजा ताप में।।
शरणागति हरि भक्ति सुधा सो साँची जानौ।
जाते संसृतिनाश नित्य सुख सिन्धु समानौ।।
भगति हीनको सुधा हू सुरा सरिस यह बिधि कही।
याते रामानुज गुरू सुखद सुधानिधि हैं सही।। (भ०व०टि०)

अवनि कल्पतरु-कल्पतरु का प्रभाव वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं कि-'जाइ निकट पहिचानि तरु, छांह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जगराउ रङ्क भल पोच।।' (रामा०) उसी प्रकार से आप भी प्राणिमात्र के शोक-सन्ताप को दूरकर अभीष्ट पूर्ण करने वाले हुए। विशेषता यह है कि कल्पवृक्ष, अर्थ, धर्म और काम तक ही दे सकता है, मोक्ष, भक्ति तथा प्रेम, प्रदान करने तथा परमात्मा से मिलाने की शक्ति उसमें नहीं है। तभी तो देवता कहते हैं कि-'धिग् जीवन देव शरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।।' पुनः-भव प्रवाह सन्तत हम परे। अब प्रभु पाहि शरन अनुसरे।।' (रामा०) परन्तु आचार्यचरण तो चारों पुरुषार्थों से परे प्रेम प्रदान कर परमात्मा से भी मिलाने में समर्थ हैं। दूसरी बात यह कि कल्पवृक्ष स्वर्ग में है, वह केवल देवताओं को सुलभ है, सर्वसुलभ नहीं है और आप अवनि कल्पतरु हैं। अतः सबको सहज सुलभ हैं। तीसरी बात यह है कि कल्पतरु की महिमा सुनी तो जाती है परन्तु उसके स्वर्ग में रहने पर भी देवताओं का दुःख, शोक, अशेष, निःशेष नहीं होता देखा जाता है। परन्तु आचार्यपाद तो 'समन सकल भव रुज परिवारू' हैं, यथा-

कल्पतरु एक सुरलोक में सुन्यों परन्तु एकहू विशोक देव तासु ते नहीं भयौ।
नित्य राग द्वेष नित्य ईति भीति ताप तपैं दुष्ट दैत्य दुःख देय छीन पुण्य भय नयौ।।
ताते उपकार जब देख्यो नहीं जीवन को करुणा विवश अवतार शेष ह्वै गयौ।
पाद-पद्म छाँह पाइ जीवन आनन्द बहु रामानुज औनि माँझ कल्पवृक्ष ह्वै छयौ।।
(भ० व० टि०)

यहाँ श्रीरामानुजाचार्य जी के लिये तीन विशेषण दिये गये हैं-उदार, सुधानिधि, कल्पतरु। आप स्वयं सुधानिधि हैं, आश्रितजनों के लिये उदार हैं और प्राणिमात्र के लिए कल्पतरु हैं। आपका विशेष चरित्र देखिये छप्पय ३१ में।

श्रीविष्णुस्वामीजी

आपका प्रादुर्भाव महाराज विक्रमादित्य से ६०० वर्ष पूर्व दक्षिण में द्रविड़ देशान्तर्गत मदुरा नगर में हुआ था। आपके पिता का नाम देवस्वामी और माता का नाम यशोमति था। आपके पिता राजा पाड्यविजय के राजगुरु एवं मन्त्री भी थे। घर सब प्रकार की सुख-समृद्धि से परिपूर्ण था, परन्तु सन्तान नहीं थी। पति की आज्ञा से देवी यशोमति ने श्रीमद्भागवतोक्त पयोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के दिन भगवान् विष्णु ने प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दिया और स्वयं ही पुत्र रूप में अवतीर्ण होने का आश्वासन देकर अन्तर्ध्यान हो गये। उसी दिन से माता-पिता को आकाश में देवताओं के दर्शन एवं बहुत से दिव्यानुभव होने लगे। इससे मन में दृढ़ प्रतीति होती थी कि निश्चय ही मेरे घर किसी विशेष भगवद्विभूतिका आविर्भाव होने वाला है। उसके एक वर्ष बाद भाद्रपद, कृष्णपक्ष, सप्तमी तिथि अभिजित मुहूर्त, दिन गुरुवार की मध्याह्न बेला में माता ने परमसुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। राजगुरु तो थे ही, बड़ा-भारी उत्सव मनाये, दान- दक्षिणा बाँटे। यथा-समय शुभ-मुहूर्त में बालक के सभी जातकर्मादि संस्कार किये गये। श्रीविष्णुकृपा से बालक का जन्म हुआ था अतः नाम भी विष्णु रखा गया। अन्नप्रासन के दिन बालक की प्रवृत्ति परीक्षा के लिये सामने बहुत से धर्मग्रन्थ रखे गये तो उसने ब्रह्मसूत्र को उठाकर हृदय से लगा लिया। लोग समझ गये कि आगे चलकर यह बालक बहुत बड़ा विद्वान् होगा।

भगवदंश होने से बालक के शरीर में अद्भुत कान्ति थी, लोकोत्तर लावण्य था, अप्रतिम प्रतिभा थी, दिव्य आकर्षण था। बालक की अलौकिक शोभा, सुन्दरता, सद्गुण तथा शुभ-लक्षणों को देखकर लोग बड़े सुखी होते और आपस में चर्चा करते कि यह बालक तो कोई सिद्ध योगीश्वर-सा जान पड़ता है। किसी-किसी भावुक को तो बालक में साक्षात् भगवान् विष्णु के दर्शन होते थे। यथा-समय उपनयन संस्कारोपरान्त बालक विष्णु ने अध्ययन प्रारम्भ किया और थोड़े ही दिनों में सम्पूर्ण श्रुतिशास्त्र-पुराणादि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब इन्होंने पढ़-लिख लेने के बाद समस्त शास्त्रों के तात्पर्य पर विचार किया तो इन्हें श्रीकृष्ण ही सबके सार-तत्त्व समझ पड़े। अतः ज्ञान, वैराग्य, भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण की ही

आराधना में लग गये। दृढ़निष्ठा और परमविश्वास के साथ भगवदोपासना में दत्त चित्त विष्णु के मन में 'उर अभिलाष निरन्तर होइ। देखौं नयन परम प्रभु सोई।।' जब बहुत काल तक भजन-साधन करते रहने पर भी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई तो विष्णु अधीर हो गये। हृदय में प्रभु का विरह व्याप गया। एक-एक निमेष युग के समान बीतने लगे। आँखें सावन-भादों बनीं, रात-दिन अश्रुवर्षा करने लगीं। सम्पूर्ण जगत् सूना-सूना सा दिखाई देने लगा। अन्त में इन्होंने निश्चय कर लिया कि जब तक प्रभु के दर्शन नहीं होंगे तब तक अन्न-जल नहीं ग्रहण करूँगा।

इस प्रकार दर्शन के लिये कृतसङ्कल्प विष्णु को बिना कुछ खाये-पीये, परन्तु पूर्व से भी अधिक अनुराग एवं उत्साहपूर्वक भगवदाराधन करते हुए छः दिन बीत गये, लेकिन तब भी दर्शन नहीं हुआ। तब तो इन्हें अपना जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगा। विरह व्यथा का पारावार नहीं रहा। प्रेमी की दशमी दशा (मृत्यु) को प्राप्त होने ही वाले थे कि एकाएक अन्तःकर्ण अलौकिक आलोक से उत्फुल्ल हो उठा। नेत्र खुले तो आगे दिखाई पड़े, नील सरोरुह, नीलमणि, नीलनीरधर श्याम, कोटिकाम अभिराम, पीताम्बरधर, परमअनूपम श्रृङ्गाररस मूर्ति श्रीकृष्ण। उनकी तरुण-किशोर अवस्था है, माथे पर मोर-मुकुट सुशोभित हो रहा है। तिरछी चितवन से भक्त पर कृपादृष्टि की वृष्टि करते हुए, मन्द-मन्द मुस्क्यान के साथ-साथ मधुर-मधुर मुरली वादन कर रहे हैं। अगल-बगल दो सखियाँ चँवर ढुरा रही हैं। ऐसे त्रिभुवन-मोहन मदनमोहन स्वमनमोहन अपने परमाराध्य श्रीकृष्ण का देवदुर्लभ दर्शन पाकर विष्णु आनन्दविभोर हो गये। शरीर में पुनः पुनः पुलकावलि आँखों में प्रेमाश्रुओं की बाढ़, हृदय में परमानन्द रससार, सिन्धु की हिलोरें, यह है विष्णु की प्रेममयी अनिर्वचनीय दशा। ये लकुट की भाँति भगवान् के श्रीचरण-कमलों में लोटने लगे।

इनके अगाध भक्ति-भाव को देखकर करुणामय प्रभु भी आत्मविभोर हो इनके सिर पर अपना कर-कमल फिराने लगे। तत्पश्चात् अपनी आजानुभुजाओं में भरकर इन्हें हृदय से लगा लिये और वात्सल्य रस में सराबोर कर दिये। श्रीविष्णु की जन्म-जन्म की साध पूरी हो गयी। दर्शन से नेत्रों एवं आलिङ्गन से हृदय को परम शीतलता मिली, भक्त और भगवान दोनों को। इसके बाद विष्णु ने प्रभु की स्तुति की। भगवान् श्रीहरि ने प्रसन्न होकर इन्हें अविचल प्रेम-लक्षणा भक्ति का वरदान दिया। इन्होंने उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो सर्वज्ञ प्रभु ने सबका समाधान करते हुए इन्हें श्रुति-सिद्धान्त-सार का उपदेश दिया। यथा-

चौ०- जो तुम्हरे सम्मुख मैं अहऊँ। सोइ सदा सबमें मैं रहऊँ।।
मोहि तजि और तत्व है कोई। शङ्क-पङ्क यह डारौ धोई।।
निराकार साकार रूप मैं। भेदरहित शिव परम तत्व मैं।।
दो०- त्रिविध भेद ते शून्य मैं, सब कछु मेरे माहिं।
माया जगत प्रपञ्च सब हममें होहिं बिलाहिं।।
छ०- निराकार साकार औ निर्विशेष सविशेष हूं।।
धर्म बिपर्यय देख जो निर्गुण सगुण अशेष हूं।।
मोते भिन्न न और कछु जानि मानि शङ्का तजौ।
भक्त परम प्रिय मोर तुम सर्व भाव ते मोहिं भजौ।। **(भ० व० टि०)**

भगवान् के श्रीमुख से आत्म-परमात्म-यथात्म्य ज्ञान श्रवण कर विष्णु कृतार्थ हो गये और अत्यन्त मोद में भरकर बारम्बार चरणों में प्रणाम करके प्रार्थना किये कि प्रभो! मेरी यह अभिलाषा है कि अब आपका यह दिव्य श्रीविग्रह अन्तर्धान न हो। आप इसी रूप से मुझे सर्वदा दर्शन देते रहें। मैं भी इस स्वरूप को छोड़कर एक क्षण के लिये भी पृथक् न होऊँ। मैं राजोपचार विधि से सदैव आपकी सेवा करना चाहता हूँ। अथवा यदि आप अन्तर्हित ही होना चाहते हैं तो मुझे भी अपने साथ ले चलें। प्रभु ने कहा-भक्त शिरोमणे! आपसे मुझे भक्ति का प्रचार कराना है अतः आपको सङ्ग तो नहीं ले जा सकता रही बात दर्शन की, तो आप मेरी एक मूर्ति बनवाइये, मैं उसमें साक्षात् स्वरूप से प्रविष्ट हो जाऊँगा। आप उसी की सेवा-पूजा करते हुए शरणागत जीवों का उद्धार करना। इसके बाद भगवान् ने एक परम-भागवत मूर्ति-निर्माता को भी कृपा करके दर्शन दिया और उसे अपने स्वरूपानुरूप मूर्ति बनाने की आज्ञा दी। जब मूर्तिकार ने मूर्ति बनाकर तैयार की तो प्रभु स्वयं उसमें प्रवेश कर गये। श्रीविष्णुजी उस विग्रह का दर्शन कर साक्षात् दर्शन का ही सुख पाये। बड़े ही अनुरागपूर्वक भगवान् का अर्चन-वन्दन करते, जो भी जीव आपकी शरण में आया उसका आवागमन मिट गया।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के दिव्यादेश से माता-पिता की आज्ञा लेकर आपने उत्तराखण्ड की तैयारी की तो बदरिकाश्रम में साक्षात् भगवान् नर-नारायण के दर्शन हुए। व्यास गुफा में भगवान् वेदव्यास जी का दर्शन हुआ। श्रीव्यासजी ने आपको प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र) तथा समस्त शास्त्रों का रहस्य समझाया। श्रीव्यासजी की ही कृपा से आपको श्रीशुकदेवजी का दर्शन हुआ। श्रीशुकदेवजी से आपने श्रीमद्भागवत का अध्ययन

किया। फिर श्रीशुकदेवजी के साथ कलाप ग्राम गये। वहाँ रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य श्रीत्रिपुरारिजी के दर्शन हुए। श्रीत्रिपुरारिजी से ही आपने साम्प्रदायिक शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। मन्त्रोपदेश करके आचार्य श्रीत्रिपुरारि जी ने कहा-प्रथम गोलोकधाम में परात्परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीरुद्रदेव को यह गोपालमन्त्र प्रदान किया था, श्रीरुद्रदेवजीसे मुझे प्राप्त हुआ था और आज श्रीहरि के अनुग्रह से वह महामन्त्र मुझसे तुमको प्राप्त हुआ। अब तुम इसका प्रचार-प्रसार करो, जगत् के जीवों का कल्याण करो। अब तुम्हारा यह विष्णु नाम संसार में विष्णुस्वामी के रूप में विख्यात होगा। आचार्य का आदेश शिरोधार्य करके आप वहाँ से वापस लौटे। मार्ग में देवर्षि नारदजी का शुभ-दर्शन एवं भक्ति-प्रचारार्थ शुभादेश मिला। फिर श्रीब्रज एवं वृन्दावन का दर्शन करते हुए मथुरा पहुँचे। इसके बाद से आपके सहस्त्रों शिष्य-प्रशिष्य हुए।

एक बार श्रीविष्णुस्वामीजी अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन करने नीलाचल (जगदीशपुरी) गये। उस दिन श्रीठाकुरजी का फूल-डोल उत्सव था। प्रथम तो आप गरुड़स्तम्भ के समीप खड़े होकर भगवान का दर्शन करते रहे। परन्तु दर्शनार्थियों की अपार भीड़ देखकर मन्दिर के पिछवारे जाकर बैठकर, भगवान का ध्यान करने लगे। भक्त के भाव को विचारकर श्रीजगदीश भगवान ने उधर भी मन्दिर का द्वार कर दिया। प्रभु की कृपा विचारकर आप गद्‌गद हो गये। दर्शनार्थी लोग इस नवीन दरवाजे पर भी सहस्त्रों की संख्या में एकत्रित हो गये। यहाँ भी अत्यन्त भीड़-भाड़ देखकर श्रीविष्णुस्वामीजी दक्षिण ओर जाकर बैठे तो उधर भी एक द्वार हो गया। और वहाँ भी हजारों लोग जुट गये। तब आप उत्तर की ओर जा बैठे। वहाँ भी वैसे ही दरवाजा और दर्शनार्थियों की भीड़ हो गयी। जब लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि प्रभु ने इनके लिए मन्दिर में चारों ओर चार द्वार कर दिये, तब तो सभी लोग बड़े ही प्रभावित हुए और श्रीविष्णुस्वामीजी के चरणों में पड़कर दण्डवत् प्रणाम किये तथा भक्ति का उपदेश ग्रहण किये। (रामरसिकावली) तीर्थ पर्यटन के ब्याज से आपने समस्त भारत में परिभ्रमण किया तथा विमुख-वादीजनों को शास्त्रार्थ में पराभूत करके निज सिद्धान्त का बड़ा व्यापक प्रचार किया।

आप निरन्तर 'श्रीकृष्ण तवास्मि' इस महामन्त्र का जप करते रहते। आप इसी को परमज्ञान, परमध्यान तथा परमकल्याण मानते थे। आपने 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' का प्रचार-प्रसार किया। आपकी उपासना पद्धति में वात्सल्यरस प्रधान है। भगवान की

उत्तमोत्तम राग-भोग श्रृङ्गार-सेवा नित्य ही बड़े नेम और प्रेम से होती है। 'शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त' के सम्बन्ध में देखिये-वैष्णव दर्शन।। काञ्चीपुर मे आपने आचार्यपीठ की स्थापना की।

पूज्यपाद श्रीनाभाजी आपके सम्बन्ध में कहते हैं कि विष्णुस्वामि''''''पार करु-भाव यह है कि जैसे जहाज से लोग सहज ही समुद्र पारकर जाते हैं, वैसे ही आचार्य चरणों का अवलम्बन करके अगणित जीव भवसागर से पार हो गये। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि-'भवसागर कहँ नाव शुद्ध सन्तन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन।।' (वि०) 'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरञ्चि सङ्कर सम होई।।' (रामा०)

श्रीमध्वाचार्यजी

दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेश में धनुषतीर्थ के निकट 'पापनाशिनी' नदी के किनारे 'पाजिका' नामक क्षेत्र है। उसी क्षेत्र में श्रीमन्मध्वाचार्यजी के माता-पिता निवास करते थे। आपकी माताजी का नाम वेदवती तथा पिताजी का नाम पण्डित 'मध्यगेह भट्ट' था। ये सकल शास्त्र निष्णात् थे। रजतपीठपुराधिपति भगवान अनन्तेश्वर आपके आराध्यदेव थे। जगत् कल्याणकारी लोकोत्तर पुत्र की कामना से इन्होंने अपनी धर्मपत्नी के सहित बारह वर्ष तक तितिक्षापूर्वक भगवान की विधिवत् आराधना की। भगवदनुग्रह से स्वयं वायुदेव ही जगत् में भक्ति-ज्ञान-वैराग्य का प्रचार करने के लिए माता वेदवती के गर्भ से शाके ११६०, आश्विन शुक्ल, विजयादशमी की मध्याह्न बेला में श्रीमध्वाचार्यजी के रूप में प्रकट हुए। पिता ने पुत्र का जातकर्मादि संस्कार स्वयं ही किया, पश्चात् दश दिन के बाद आपने पुत्र का नाम वासुदेव रखा। यह बालक वासुदेव ही आगे चलकर श्रीमन्मध्वाचार्यजी के नाम से विख्यात् हुआ।

बाल्यावस्था से ही वासुदेव में अलौकिक चमत्कार दिखाई देने लगे। तीन साल की अवस्था में ही एक बैल के व्यापारी को बैल के दाम के बदले हँसकर एक मुट्ठी बीज दे दिये और वह व्यापारी कृतार्थ होकर घर चला गया। उसे ऐसा लगा मानों मुझे शक्ति का बीज मिल गया। फिर जो व्यापारी इनके पिताजी को बैल का मूल्य दिये बिना भोजन के लिए जाने नहीं देता था, वह बुलाने पर भी दाम लेने नहीं आया। इसलिए कि उसे परमार्थ जो प्राप्त हो चुका था। एक दिन घृतवल्ली-नामक ग्राम में शिव-नामक कोई पौराणिक पण्डित भक्ति के सिद्धान्त से विरुद्ध कथा कह रहा था, तब बालक वासुदेव ने भरी सभा में निर्भीकतापूर्वक भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना करके पाँच वर्ष की अवस्था में ही लोकोत्तर

चमत्कार दिखा दिया। आधि-व्याधियों को तो फूँक मारकर ही दूरकर देते थे। उपनयन-संस्कारोपरान्त अध्ययनार्थ गुरुकुल में प्रवेश किये और अत्यन्त अल्प काल में ही अध्ययन पूर्ण करके, श्रीगुरुजी को मोक्ष की हेतुभूता भक्ति को ही गुरुदक्षिणा के रूप में देकर श्रीगुरुदेवजीकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर घर आ गये।

श्रीवासुदेव ने जगत् में भगवान की विशुद्धा भक्ति के प्रचारार्थ ११ साल की अवस्था में ही संन्यास लेने का निश्चयकर अपना मनोभाव माता-पिता से प्रकट किया। परन्तु एक तो पुत्र स्नेह, दूसरे वृद्धावस्था के आधाररूप अन्य पुत्रों का अभाव होने से माता-पिता ने अनुमति नहीं दी। तब इन्होंने अत्यन्त मृदुल वाणी में उन लोगों को समझाया कि यदि आप लोग पुत्र-प्रेम-प्रमादवश मुझे रोकेंगे तो प्रथम तो मैं रुकने वाला नहीं। क्योंकि जैसे आँधी, वर्षा और नदी का वेग नहीं रोका जा सकता उसी प्रकार दृढ़ निश्चयी को अपने निश्चय से हटाना असम्भव है। दूसरी बात-यदि मैं रुका भी तो मुझसे किसी प्रकार के लौकिक लाभ की आशा व्यर्थ है और जन्म लेने का उद्देश्य सफल नहीं होने से मुझे सुख नहीं होगा, फिर आप लोग कैसे सुखी रह सकेंगे। रही बात आप लोगों को वृद्धावस्था के सहारा की तो विश्वास करें, यदि आप लोग मुझे सहर्ष संन्यास की अनुमति दे दें तो भगवत्कृपा से शीघ्र ही मेरे एक छोटे भाई का जन्म होगा। माता-पिता को अपने वचनों में प्रतीति न होते देखकर वासुदेव ने कहा-आप लोग जो यह सूखा वृक्ष और सूखा सरोवर देख रहे हैं, तो प्रातःकाल होते ही वृक्ष पल्लव, पुष्प, फलादि से युक्त हो जायेगा और सरोवर निर्मल जल से परिपूर्ण हो जायेगा। यदि मेरी यह बातें सत्य हो जायँ तो अनुज-जन्म की बात भी आप लोग सत्य समझिये। प्रातःकाल सचमुच दोनों बातें पूर्ण चरितार्थ हुईं। यह देखकर सबके मन में दृढ़विश्वास हो गया कि यह कोई अवतारी बालक है। माता-पिता ने स्वीकृति दे दी।

इन्होंने रजतपीठपुर में ही विराजमान श्रीअच्युतप्रेक्षजीसे विधिपूर्वक संन्यासकी दीक्षा ली। श्रीगुरुदेवजी ने आपका नाम रखा-पूर्णप्रज्ञजी। 'पूर्णा प्रज्ञा यस्य सः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्णप्रज्ञ सचमुच पूर्णप्रज्ञ ही थे। आप अपनी अलौकिक प्रतिभा से श्रीगुरुदेवजी के भी तत्त्व-बोध विषयक भ्रम का निवारण करते थे। कुछ काल तक श्रीगुरुजी की सेवा में रहने के पश्चात् एक दिन इन्होंने श्रीगङ्गास्नान एवं दिग्विजय करने के लिए जाने की अनुमति माँगी। श्रीगुरुदेव ऐसे सुयोग्य शिष्य के विरह की सम्भावना से विकल हो गये और श्रीअनन्तेश्वर भगवान से प्रार्थना किये। इनकी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर श्रीहरि

ने कहा-आज से तीसरे दिन सामने वाले 'मध्व सरोवर' में श्रीगङ्गाजी प्रकट होंगी, उसमें स्नानकर लेने से गङ्गा स्नान का पुण्य होगा। सचमुच अच्युतप्रेक्षजी एवं पूर्णप्रज्ञ ने देखा कि तीसरे दिन एकाएक उस सरोवर का जल धवल हो गया, उसमें तरंगें उठने लगीं तथा कमल भी खिल गये। पूर्णप्रज्ञ की यात्रा स्थगित हो गई। इनके लिए श्रीगङ्गाजी 'मध्व सरोवर' में प्रगटीं अतः आपका एक नाम 'मध्वाचार्यजी' भी पड़ गया और आगे चलकर यही नाम विशेष प्रसिद्ध हुआ। श्रीमन्मध्वाचार्यकी दिग्-दिगन्त व्यापिनी स्वतः सिद्ध कीर्ति को श्रवणकर बहुत से पण्डित-विद्वान् तार्किक-मायावादी शास्त्रार्थ करने के लिए आते, परन्तु सबको हारकर अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ता। कुछ काल तक आश्रम में वास करते हुए ही भक्ति का प्रचार-प्रसार करने के उपरान्त आचार्य ने दिग्विजय की। यात्रा का उद्देश्य शास्त्रानुमोदित रीति से सत्तर्कों द्वारा मायावाद का खण्डन करके भक्ति की प्रतिष्ठा करना था। अनेकों जगह शास्त्रार्थ हुए और सर्वत्र विजय आपकी रही। हारकर सभी लोग चरणों में नतमस्तक होकर आपका शिष्यत्व स्वीकार कर लेते।

वर्णन आया है कि एक जगह विद्वानों की सभा में आपने 'ऐतरेय सूक्त' की विशिष्ट व्याख्या की। परन्तु दूसरे पण्डितों ने उसी का दूसरा भावार्थ भी कह सुनाया। तब श्रीमध्वाचार्यजी बोले कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वेद के प्रत्येक मन्त्रों के तीन, महाभारत के प्रत्येक श्लोकों के दश तथा विष्णुसहस्रनाम के प्रत्येक नाम के सौ अर्थ होते हैं। विद्वानों की जिज्ञासा पर आपने अपने कथनानुसार व्याख्या करके भी दिखा दिया। पण्डित मण्डली इनकी देव-दुर्लभ प्रतिभा से बड़ी ही चमत्कृत हुई और इनको सर्वज्ञ स्वीकार कर अपनी चपलता के लिए क्षमा प्रार्थना किये। बदरिकाश्रम की यात्रा में आपको भगवान नर-नारायण एवं भगवान वेदव्यासजी के दर्शन हुए। उन्हें आपने स्वरचित 'गीताभाष्य' सुनाया तथा भगवान वेदव्यास से स्वयं भी समस्त वेदों के गूढ़तम तात्पर्य को श्रवण किया। श्रीव्यासजी ने प्रसन्न होकर इन्हें प्रसाद रूप में श्रीशालग्राम भगवान की मूर्ति प्रदान की तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य एवं और भी शास्त्रों के तात्पर्य निर्णायक ग्रन्थों की रचना तथा भक्तिप्रचार द्वारा जीवों के कल्याण के लिए आज्ञा और आशीर्वाद दिया।

ये लौटकर पुनः रजतपीठपुर आ गये। यहाँ आकर आपने बहुत से ग्रन्थों की रचना की और स्वयं तथा सुयोग्य शिष्यों द्वारा भक्ति का प्रचार किया। विमुखजनों को सन्मार्ग पर लाने के लिए आचार्यपाद ने उपदेश के साथ-साथ सिद्धियों के भी बहुत से चमत्कार दिखाये। जैसे उत्तर भारत की यात्रा में यवनराज के कर्मचारियों से विवाद होने पर बिना नाव के

ही गङ्गापार करना, चोरों से घिर जाने पर पत्थर की मूर्ति बन जाना, गोवा नामक ग्राम में भोजन के बाद भी एक व्यक्ति के द्वारा भेंट किये गये चार हजार केलों को खाकर तीस घड़े दूध पी जाना, सूखे वृक्षों को अपनी अपूर्व शक्ति से तत्काल पुष्पित और फलित कर देना, एक वेद विरोधी शूद्र राजा के वेद मन्त्रों की सफलता पर सन्देह करने पर उसका भ्रम दूर करने के लिए तुरन्त ही एक औषधि के बीज को अपने हाथ में लेकर वेद मन्त्रों के प्रभाव से अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित कर देना, एक हजार व्यक्तियों द्वारा न उठने वाली पाषाण शिला को एक हाथ से उठाकर तुङ्गभद्रा नदी के तीर रख देना आदि। आपकी अद्भुत शक्ति को देखकर लोग आप में श्रीहनुमानजी एवं भीमसेन की भावना करने लगते थे। जिनको शास्त्र वचनों पर प्रतीति नहीं होती, वे इन प्रत्यक्ष चमत्कारों से प्रभावित होकर भजन परायण हो जाते।

एक बार द्वारकापुरी से किसी व्यापारी का जहाज मलाबार को जा रहा था। संयोग की बात, वह जहाज तुलुब के समीप डूब गया। उसमें गोपीचन्दन से ढँकी हुई एक भगवान श्रीकृष्ण की सुन्दर मूर्ति थी। भगवान ने श्रीमध्वाचार्यजी को आज्ञा दी तो आपने उस मूर्ति को वहाँ से निकलवाकर उडूपी में उसकी स्थापना की। उडूपी में ही इन्होंने आठ और भी मन्दिर बनवाकर उनमें श्रीसीतारामजी, द्विभुज-कालियदमन, चतुर्भुज-कालियदमन, श्रीविट्ठलजी आदि आठ मूर्तियाँ स्थापित कीं। तभी से वह पुनीत स्थल मध्वमतानुयायियों का प्रसिद्ध तीर्थ हो गया। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपना जीवन सफल बनाते हैं। ऐसे ही एक बार एक धनी का माल से लदा हुआ जहाज डूबने लगा तो सबने आपका स्मरण किया। आचार्य कृपा से जहाज डूबने से बच गया तो धनी ने सब धन-रत्न लाकर इनके सामने रख दिया, परन्तु इन्होंने उसमें से एक भी वस्तु नहीं ली। क्योंकि 'रमाविलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।' (रामा०) कई बार आपके महान् उत्कर्ष को न सह सकने के कारण बहुत से विचारहीन लोगों ने आपका अनिष्ट करना चाहा, परन्तु आपकी अचिन्त्यशक्ति के सामने दुष्टों के सब उद्योग व्यर्थ हो गये। इतना ही नहीं, ऐसे जीव भी आचार्य के अनुग्रह से भक्तिलाभ करके जीवन-जन्म को सफल बना लिए। जिन लोगों ने आपका तिरस्कार किया, ग्रन्थ चुरा लिए, वे भी जब पकड़कर सम्मुख लाये गये, तो उनके साथ भी आपने बड़े प्रेम का व्यवहार किया।

एक बार श्रीमध्वाचार्यजी भक्ति का प्रचार करते हुए पंजाब देश में गये। सङ्ग में सहस्त्रों शिष्यगण थे। वायुदेव के अवतार आचार्यपाद के साथ शिष्य चल नहीं पाते थे। वे

बहुत पीछे रह जाते थे। एक दिन आचार्यचरण आगे निकल गये थे, देखे तो शिष्य बहुत दूर थे। अतः मार्ग में ही पड़ी एक सुन्दर शिला पर बैठकर भगवद्ध्यान करने लगे। उसी समय पाञ्चाल नरेश की सवारी निकली। सेना के सिपाहियों ने इन्हें रास्ते से हटने के लिए ललकारा, परन्तु ध्यान में मग्न आपको बाह्य जगत् का किञ्चित् भी भान नहीं था अतः नहीं उठे। राजा ने क्रोध में भरकर महावत को आज्ञा दी कि इस पाखण्डी को हाथी से कुचलवा दो। राजा का आदेश पाकर महावतों ने हाथियों को, घुड़सवारों ने घोड़े को, सारथियों ने रथों को श्रीमध्वाचार्यजी को कुचलने के लिए आगे बढ़ाया, परन्तु सबके-सब ऐसे स्तम्भित हुए कि एक कदम भी आगे पाँव नहीं रख सके। यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर राजा ने इन्हें महापुरुष माना और तुरन्त ही हाथी से कूदकर त्राहि-त्राहि कहते हुए आपके चरणों में गिर पड़ा और सम्पूर्ण समाजसहित आपका शिष्य बन गया। इस प्रकार श्रीमध्वाचार्यजी के अनन्त चरित्र हैं।

अवतार कार्य पूर्ण करके जब आपने परमधाम जाने का निश्चय किया तो अपने सुयोग्य शिष्य श्रीपद्मनाभजी को श्रीव्यासजी द्वारा प्राप्त श्रीशालग्राम शिला और श्रीरघुनाथजी की मूर्ति देकर अपने द्वारा प्रचारित द्वैत सिद्धान्त का रहस्य बोध कराकर उसके प्रचार-प्रसार का कार्य उन्हें सौंपा और स्वयं अपने अन्तिम समय में सरिदन्तर नामक स्थान में रहते हुए भगवच्चरणारबिन्दों का चिन्तन करते हुए इह लीला समाप्त की। श्रीमध्वाचार्यजी के सिद्धान्त के लिए देखिये वैष्णव-दर्शन।

मध्वाचारजमेघ-**पूज्यपाद श्रीनाभाजी आपके पुनीत संस्मरण में कहते हैं कि- 'मध्वाचारजमेघ'''। मेघ समस्त परोपकारियों में सार्वभौम सम्राट् माने जाते हैं। यथा-**

शैलेयेषु शिलातलेषु च गिरेः श्रृङ्गेषु गर्तेषु च,
श्रीखण्डेषु विभीतकेषु च तथा पूर्णेषु रिक्तेषु च।
स्निग्धेन ध्वनिनाऽखिलेऽपि जगतीचक्रे समं वर्षतो,
वन्दे वारिद सार्वभौम भवतो विश्वोपकारिव्रतम्।। **(सु०र०भा०)**

अर्थ-सैधव और शिला खण्ड में पर्वत के शिखरों और गड्ढों में चन्दन में और भिलावे में, परिपूर्ण में और जलरहित खाली जगहों में इत्यादि सारे भू-मण्डल में गम्भीर मधुर ध्वनि के साथ समान रूप से वर्षा करने वाले, हे सार्वभौम (चक्रवर्ती) मेघ! तुम्हारे इस विश्वोपकारि व्रत की मैं वन्दना करता हूँ।

सर ऊसर भरिया-में भी यह भाव है। यहाँ सर से तात्पर्य अधिकारीजनों से है। जिनका हृदय सरोवर के समान अगाध है, उपदेश धारण करने की पात्रता है और ऊसर से अनधिकारीजनों का सङ्केत किया गया है, जो सर्वथा शुष्क हृदय होते हैं। जहाँ उपदेश ही व्यर्थ जाता है। यथा-'ऊसर बरसै तृणनहिं जामा।' (रामा०) इसलिए लोग ऊसर भूमि की उपेक्षा करते हैं। परन्तु परमोदार मेघ उसे भी आप्लावित किये बिना नहीं रहता। कृषि वैज्ञानिकों का कथन है कि ऊसर भूमि में भी यदि हमेशा जल भरा रहे तो वह कुछ दिन में उपजाऊ हो जाती है। उसी प्रकार से निरन्तर उपदेश श्रवण करने से अनधिकारी भी अधिकारी हो जाते हैं। और निरन्तर उपदेश तभी सम्भव है जब आचार्य मेघवत् परमोदार हों मेघ से आचार्य की विशेषता यह है कि मेघ समय पर बरसता है परन्तु आचार्य निरन्तर उपदेशामृत की वर्षा करते रहते हैं। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास ने भी सन्तों को मेघ कहा है। यथा-'वेद पुराण उदधि घन साधू'। भाव यह है कि यद्यपि समुद्र अगाध है, अनन्त जल का अधिष्ठान है, परन्तु सबको प्राप्त नहीं है, प्राप्त भी हो तो उसका खारा जल पेय (पान करने योग्य) नहीं है। यदि कोई हठात् पीये तो उपादेय नहीं है। परन्तु मेघ सिन्धु में से मीठा जल निकाल लेते हैं और सर्वत्र उसी मीठे जल की वर्षा कर जगत् के प्राणियों को तृप्त करते हैं। इसी प्रकार वेद-पुराण सबको गम्य नहीं हैं, सन्त-सद्गुरु द्वारा ही उसका निचोड़ (सारभाग) ज्ञान-भक्ति-रूप-मधुर, मनोहर, मङ्गलकारी दिव्यरसामृत सबको सुलभ होता है। अतः मध्वाचारज मेघ० कहा। इन्होंने बिना किसी भेद-भाव के जीव मात्र को भक्ति प्रदान किया।

निम्बादित्य···हरिया-जैसे सूर्योदय से सहज ही अन्धकार एवं कुहरे का नाश हो जाता है। यथा-'उयेउ भानु बिनु श्रम तमनासा।' (रामा०)

पुनः- केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः।।

अर्थात् केवल-निष्काम-प्रेम-लक्षणा-भक्ति से वासना सहित सब पाप समूल नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्योदय से कुहरा नष्ट हो जाता है। बिना सूर्य के कोटि उपाय करने पर भी अन्धकार का समूल नाश असम्भव है। यथा-

दो०- राकापति षोडश उगहिं, तारागण समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि राति न जाइ।। (रामा०)

वैसे ही बिना सद्गुरु कृपा के अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश एवं ज्ञान का प्रकाश असम्भव है। यथा-'बिन गुरु होइ कि ज्ञान'

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।। **(गुरुगीता)**

श्रीनिम्बार्काचार्यजी अज्ञानरूपी कुहरे एवं अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य सदृश थे। आपका विशेष चरित्र देखिये कवित्त १०६ में।

एक बात स्मरण रखने की है कि पूर्व वर्णन में चारों आचार्यों के लिए अलग-अलग विशेषण दिये गये हैं। परन्तु उपर्युक्त सभी विशेषण सभी आचार्यों के साथ समझना चाहिए। सभी ही उदार (भक्ति) सुधानिधि, कल्पतरु, बोहित, मेघ एवं सूर्यरूप हुए हैं। छन्द रचना की दृष्टि से अलग-अलग नामों के साथ उनको संयुक्त कर दिया गया है। यहाँ चारों आचार्यों को चार परोपकारी उपमाओं से उपमित किया गया है-कल्पतरु, बोहित, मेघ और सूर्य। ये चारों ही प्राणी मात्र का समान रूप से हित करने वाले हैं। ऊँच-नीच, योग्य-अयोग्य का कोई भेद-भाव नहीं रखते। वैसे ही सभी आचार्य जीवमात्र पर दया करने वाले हुए।

जनम करम···अघट-**जन्म कर्म का एक अर्थ भावार्थ में दिया गया है। दूसरा भाव है-भगवान के दिव्यजन्म (अवतार) दिव्यकर्म (लीला) भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्म (भक्ति) और इन सबका सम्यक् बोध कराने वाले सम्प्रदायों की अचल स्थापना किये। भगवान के दिव्य जन्म-कर्मों का रहस्य जान लेने पर मनुष्य आवागमन से मुक्त होकर भगवत् पद को प्राप्त कर लेता है। इसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन श्रीगीताजी में किया गया है। यथा-**

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिसोऽर्जुन।।

अर्थ-मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यों के सदृश नहीं है। मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योग-माया से प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ। मैं साधु-पुरुषों का संरक्षण करने के लिए

और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापन के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ। हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्व से जानता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।

भागवत-धर्म-**भक्ति ही भागवत धर्म है भक्ति के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध मूल दोहा १, कवित्त ९, भक्तिरसरूप कौ स्वरूप, पृष्ठ ६७**

सम्प्रदाय- सम्यक् प्रकृष्टं दानं च मन्त्रादे: श्रुतिमूलकम्।
इत्यर्थ: सम्प्रदायेति शब्दस्योक्त: महर्षिभि:।।

जो वैदिक मन्त्रादि को विधिपूर्वक, सम्यक्तया, प्रकर्ष करके दान करे अर्थात् विधि पूर्वक उपदेश करे उसे सम्प्रदाय कहते हैं। सम्प्रदाय चार हैं। देखिये आगे मूल दोहा २९ चारों सम्प्रदायों का आशय एक है। यथा-

दोहा- आशय यह सम्प्रदाय को, भवसागर को पोत।
तापै चढ़ि उतरे केतिक, भव जल निधि को स्रोत।।

पुन:- कामधेनु श्रुति शास्त्र सब, सम्प्रदाय थन चारि।
प्रेम भक्तिपय एक है, मन में लखो विचारि।।
मन में लखो विचारि एक ते एक न कमती।
चहुँदिशि ते सोपान सुघर हरिपद पर चढ़ती।।
इक सम सेवा साधना चरित रूप पद नाम हैं।
चारो नित्य अनादि ये सेवत पूरत काम हैं।। **(भ०व०टि०)**

थापी अघट-**प्रश्न-सम्प्रदाय तो अनादि हैं, फिर थापी क्यों कहा? समाधान-कलिकाल के कराल चक्र से सभी सम्प्रदाय नष्ट प्राय: हो चले थे, वैदिक सिद्धान्त तमसाच्छन्न हो गये थे। इन आचार्यों ने अपने सदुपदेशों एवं सद्ग्रन्थों द्वारा देश के कोने-कोने में सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को पहुँचाकर, जन-मानस से विमुखता एवं बहिर्मुखता को बहिष्कृत कर, भक्ति-भावना का प्रचार-प्रसारकर, सम्प्रदायों को नव-जीवन देकर उनकी पुन: सुदृढ़ स्थापना की और ऐसी स्थापना की कि कभी शिथिल न हों अत: 'थापी अघट' कहा।**

**दोहा- रमा पद्धति रामानुज, विष्णुस्वामि त्रिपुरारि।
निम्बादित्य सनकादिका, मधुकर गुरुमुख चारि।।२९।।**

श्रीजानकीदासजी द्वारा संशोधित भक्तमाल में 'रामानन्द श्रीपद्धती' ऐसा पाठ है।

शब्दार्थ-पद्धति=प्रणाली, रीति, परिपाटी। त्रिपुरारि=त्रिपुर=एक राक्षस+अरि=शत्रु, महादेव, आचार्य त्रिपुरारि। मधुकर=श्रीमध्वाचार्यजी। मुखचारि=चतुर्मुख, ब्रह्मा।

भावार्थ-श्रीसम्प्रदाय के श्रीरामानुजाचार्य एवं श्रीरामानन्दाचार्य, रुद्रसम्प्रदाय के आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी, सनकादि सम्प्रदाय के श्रीनिम्बार्काचार्य और ब्रह्म सम्प्रदाय के श्रीमध्वाचार्यजी सम्बर्धक तथा संस्थापक हुए।।२९।।

व्याख्या-पूर्व छप्पय में कहा गया कि इन आचार्यों ने सम्प्रदायों की दृढ़ स्थापना की इस दोहे में बताते हैं कि सम्प्रदाय चार हैं। १. श्रीसम्प्रदाय। २. रुद्र सम्प्रदाय ३. सनकादिक सम्प्रदाय। ४. ब्रह्म सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में देखिये वैष्णव-दर्शन। चारों ही सम्प्रदाय अनादि हैं। भक्ति का प्रचार करना सबका मुख्य लक्ष्य है। संक्षेप में इनके उपदेश-

ज्ञान दियो शङ्कर आचारज रामानुज परपत्ती।
विष्णु स्वामि ने सेवा पूजा निम्बारक आसक्ती।।
सेवक सेव्य भाव दर्शायो मधुकर कैरव चन्द।
राम भजन और साधू सेवा स्वामी रामानन्द।। (भ०व०टि०)
रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे, मध्वाचार्य चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो, निम्बादित्यं चतुस्सनः।। (प्रमेयरत्नावली)

श्रीनिम्बार्काचार्यजी

निम्बादित्य नाम जाते भयो अभिराम कथा आयो एक दण्डी ग्राम न्यौतो करि आये हैं।
पाक कौ अबार भई सन्ध्या मानि लई जती रती हूं न पाऊँ वेद वचन सुनाये हैं।।
आँगन में नींब तापै आदित दिखायौ ताहि भोजन करायो पाछे निशि चिन्ह पाये हैं।
प्रगट प्रभाव देखि जान्यो भक्ति भाव जग दांव पाइ नांव पर्यो हर्यो मन गाये हैं।। १०६

शब्दार्थ-निम्बादित्य=निम्ब=नीम का वृक्ष+आदित्य=सूर्य। नीम के वृक्ष पर सूर्य का दर्शन कराने वाले श्रीनिम्बार्काचार्य। दण्डी=दण्डधारी संन्यासी। पाक=रसोई। अबार=देर, बिलम्ब। जती=संन्यासी। रती=रत्तीभर, थोड़ा। आदित=सूर्य। दाँव=अवसर, मौका।

भावार्थ-भगवान श्रीनिम्बार्काचार्यजी का यह नाम कैसे पड़ा, इसकी बड़ी सुन्दर कथा है। एक दिन उनके ग्राम में एक दण्डी संन्यासी आये। उन्हें भोजन करने के लिए आपने निमन्त्रण दिया। स्वामीजी भोजनार्थ पधारे परन्तु रसोई करते-करते इतनी देर हुई

कि सूर्य अस्त हो गये। संन्यासीजी ने शास्त्र वाक्य का प्रमाण देकर कहा कि-अब तो मैं रत्ती-भर भी नहीं खा सकता हूँ। तब श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने आश्रम में लगे नीम के वृक्ष के ऊपर चमकते हुए सूर्य को दिखा दिया और संन्यासीजी को भोजन कराया। जब वे भोजन कर चुके तो तारे चमकने लगे। रात्रि के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। तब सभी ने आपका यह प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर जान लिया कि-आपने ही सूर्य को नीम के वृक्ष पर प्रगट किया था वस्तुतः वहाँ सूर्य नहीं था इससे आपके भक्ति भाव की संसार में प्रसिद्धि हो गई और लीलानुकूल निम्बादित्य एवं निम्बार्काचार्य नाम पड़ गया। श्रीप्रियादासजी कहते है कि इनके गुणों पर मैं रीझ गया हूँ अतः मैंने चरित्र का गान किया है।।१०६।।

व्याख्या-**श्रीनिम्बार्काचार्यजी श्रीसुदर्शन चक्र के अवतार हैं। यथा-**

'निम्बादित्याय देवाय जगज्जन्मादिकारिणे। सुदर्शनावताराय नमस्ते चक्ररूपिणे।।'

(श्रीनिम्बार्कस्तोत्र)

पुनः-'सजयति नियमानन्दाख्ययाचार्यवर्यो यदुपति करगं तं चक्ररूपं प्रपद्ये।।' **(परम्परास्तोत्र)**

पुनः-'सुदर्शन महाबाहो कोटि सूर्य समप्रभ। अज्ञान तिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।।'

आदि।

निकुञ्ज के सखी परिकर में ये श्रीरङ्गदेवीजी के रूप में श्रीप्रिया-प्रियतम की सेवा में तत्पर रहते हैं। सम्प्रदाय के उपासना ग्रन्थों में आपके अष्टविध रूप का वर्णन पाया जाता है। १. सुदर्शनचक्र, २. श्रीरङ्गदेवी, ३. तोष सखा, ४. धूसरि गऊ, ५. लकुट, ६. आचार्य, ७. श्रीजी के श्रृङ्गार में नथ, ८. श्रीजी के अङ्ग में कान्ति। दक्षिण भारत में हैदराबाद राज्य में पुण्य-सलिला श्रीगोदावरीजी के तट पर स्थित एक वैदूर्यपत्तन नाम का परम पवित्र तीर्थ है। इसे दक्षिण काशी भी कहते हैं और आजकल पैठण नाम से प्रसिद्ध है। इसी पुण्य भूमि में पिता श्रीअरुणऋषि और माता श्रीजयन्तीदेवी के यहाँ कार्तिक की पूर्णिमा को आपका प्रादुर्भाव हुआ। बालक के परम तेजोमय एवं कान्तिमान स्वरूप को देखकर लोग सहज ही कह बैठते कि यह तो कोई अलौकिक शिशु है, मानो साक्षात् भगवान हों अथवा उनका कोई अभिन्न स्वरूप हो। ठीक भी है, श्रीचक्रसुदर्शनजी भगवान के आयुध भी हैं, परिकर भी हैं, पार्षद भी हैं और अभिन्नस्वरूप भी हैं। माता-पिता ने बालक का नाम रखा नियमानन्द।

श्रीब्रज-वृन्दावन के अगाध अनुराग से प्रेरित होकर महामना श्रीअरुण ऋषि एवं जयन्तीदेवी बालक नियमानन्द को लेकर वैदूर्यपत्तन से आकर ब्रज में श्रीगोवर्धन के समीप एक गाँव में निवास करने लगे। जिसे आजकल नीमगाँव कहते हैं देवर्षिवर्य श्रीनारदजी के

द्वारा नियमानन्द को मन्त्रोपदेश प्राप्त हुआ और इन्होंने आजीवन नैष्टिक-ब्रह्मचर्य ब्रत का पालन किया। श्रीनियमानन्दजी का निम्बादित्य एवं निम्बार्क नाम कैसे पड़ा-इस प्रसङ्ग का उल्लेख करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं-निम्बादित्य नाम०

दण्डी-संन्यास आश्रम में दण्ड धारण की बड़ी महिमा कही गई है। यथा-ज्ञान वैराग्य युक्तो यः समदृक् ब्रह्म परायणः। दण्डधारणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्।। 'सन्ध्या मानि...सुनाये हैं'-यथा-

सन्ध्याकाले च सम्प्राप्ते चतुष्कर्माणि वर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च विशेषतः।।
आहारे जायते व्याधि गर्भदुष्टिश्च मैथुने।
निद्रायां हरते लक्ष्मीः स्वाध्याये मरणं ध्रुवम्।।

अर्थ-सन्ध्या काल में चार कर्म नहीं करने चाहिए-१. भोजन, २. मैथुन, ३. निद्रा, ४. स्वाध्याय। सन्ध्या समय भोजन करने से रोग की उत्पत्ति, मैथुन करने से दुष्ट सन्तान, सोने से धन नाश एवं स्वाध्याय करने से मृत्यु होती है। यह कहकर दण्डी स्वामी जब अरुणाश्रम से चलने को उद्यत हुए तब श्रीनियमानन्दजी ने अपने आतिथ्य धर्म एवं संन्यासीजी के संन्यास धर्म की रक्षा के लिए आश्रम के आँगन में खड़े नीम के वृक्ष पर अपना ही एक तेजोमय स्वरूप स्थापित कर उन्हें सूर्य का दर्शन करा दिया। संन्यासीजी ने बड़े प्रेम से प्रसाद पाया। भोजनोपरान्त जब ये तेज का सम्बरण कर लिए तो मालूम हुआ कि दो घड़ी रात्रि व्यतीत हो गई है। इस प्रत्यक्ष चमत्कार से चमत्कृत होकर लोग आपको निम्बादित्य एवं श्रीनिम्बार्काचार्य कहने लगे।

एक बार श्रीनिम्बार्काचार्यजी जीवों को भक्तिदान देते हुए विचरते-विचरते विमुखों के देश में जा पहुँचे। आप वन में गूलर के वृक्ष के नीचे बैठकर भगवद् ध्यान कर रहे थे। आपको ध्यानावस्थित देखकर बहुत से दुष्ट आपके समीप आकर उपद्रव करने लगे। परन्तु आपने अपने साधु स्वभाव से उन सभी को कुछ भी नहीं कहा। भगवदिच्छा से अचानक उसी समय एक गूलर का फल टूटकर आपके चरणों पर गिरा और श्रीचरणों का स्पर्श होते ही वह फल सबके देखते-देखते नर रूप हो गया। वह दिव्य वपुधारी अयोनिज मानव आपकी बहुत-बहुत विनयकर चरणों में लिपट गया। तब आपने कृपा करके उसे अपना शिष्य बनाया और नाम रखा औदुम्बराचार्य। श्रीआचार्यचरण की आज्ञा एवं आशीर्वाद से श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने भी बहुत से विमुखों को हरि सम्मुख किया। आँखों के सामने प्रत्यक्ष घटी इस घटना से विमुख

लोग बड़े ही प्रभावित हुए और उत्पात छोड़कर आपकी शरण में आकर क्षमा-याचना की। श्रीआचार्यपाद ने कृपा करके उन्हें भक्ति का उपदेश दिया। ऐसे ही आपने अनेकों जीवों का उद्धार किया, भवसागर में डूबते जनों को पार किया, सूखे हृदयों में परम-प्रेममयी-भक्ति की गङ्गा बहायी।

सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति वित्तान।।
विष्वक्सेन मुनिवर्य सुपुनि शठकोप पुनीता।
वोपदेव भागवत लुप्त उधर्‌यो नवनीता।।
मङ्गल मुनि श्रीनाथ पुण्डरीकाक्ष परम जस।
राममिश्र रसरासि प्रगट परताप परांकुस।।
यामुनमुनि रामानुज तिमिर हरन उदय भान।
सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति वित्तान।।३०।।

शब्दार्थ-शिरोमणि=श्रेष्ठ। सिन्धुजा= समुद्र की पुत्री, श्रीलक्ष्मीजी। रच्यौ = रचना की, बनायौ। वित्तान=मण्डप। मुनिवर्य=मुनिश्रेष्ठ। लुप्त=अदृष्ट, नष्ट। उधर्‌यौ=उद्धार किया, प्रगट किया। नवनीता=मक्खन। तिमिर=अन्धकार। भान=भानु, सूर्य।

भावार्थ-समुद्रसुता श्रीलक्ष्मीजी ने सभी सम्प्रदायों में श्रेष्ठ श्रीसम्प्रदाय को भक्ति के मण्डप के समान बनाया जिसके नीचे (पास) आकर त्रय ताप से तपे प्राणियों ने शरण पाई। भगवान के पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी श्रीलक्ष्मीजी के अनुयायी हुए। पश्चात् मुनिश्रेष्ठ श्रीशठकोपजी जिनके द्वारा पवित्र श्रीसम्प्रदाय परिवर्धित हुआ। फिर श्रीवोपदेवजी हुए जिन्होंने श्रीमद्भागवतरूपी मक्खन को प्रगट किया। पश्चात् मङ्गलकारी श्रीनाथमुनि उसके बाद परमयशस्वी श्रीपुण्डरीकाक्षजी तदनन्तर भक्ति रस के समूह श्रीराममिश्रजी हुए। फिर परांकुशाचार्यजी जिनका प्रताप संसार में प्रगट है, उनके बाद श्रीयामुनाचार्यजी और फिर अज्ञानरूपी अन्धकार को हरने वाले सूर्य के समान श्रीरामानुजाचार्यजी हुए।।३०।।

व्याख्या-'सम्प्रदायशिरोमणि सिन्धुजा०' का एक अर्थ भावार्थ में आ गया है। दूसरा अर्थ यह भी होगा कि (चूँकि छप्पय में वर्णित सभी भक्त श्रीसम्प्रदाय के आचार्य हैं) अतः सम्प्रदाय अर्थात् श्रीसम्प्रदाय की शिरोमणि अर्थात् परमाचार्या श्रीलक्ष्मीजी ने सुन्दर भक्तिरूपी चँदोवाताना, जिसमें ये आचार्यवृन्द आधार स्तम्भ सदृश हुए। यहाँ भक्ति को चँदोवा कहा गया है जैसे चँदोवे में रंग-बिरंगे फूल-पत्ते बने होते हैं, जिससे कि वह परम सुहावना लगता है

उसी प्रकार पञ्चरसात्मिका (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्स, श्रृङ्गार) नवधा, दशधा, प्रेमा, परा आदि भक्तियाँ भक्तिरूपी चँदोवे के बेल-बूटे हैं। जैसे चँदोवा बल्लियों के आधार पर ताना जाता है वैसे ही श्रीलक्ष्मीजी आचार्यों द्वारा भक्ति का प्रचार-प्रसार करवाती हैं। जैसे बल्ली जितनी दृढ़ रहती है, चँदोवा भी उतना ही सुस्थिर रहता है, आँधी-बवण्डर आदि से चलायमान नहीं होता है, वैसे ही आचार्य जितने ही अधिक निष्ठावान् होंगे, भक्ति भी उतनी ही सुदृढ़ होगी। नास्तिकता, विमुखता एवं माया के विघ्नरूप झंझावात से शिथिल नहीं होगी। जैसे चँदोवा के नीचे आने पर प्राणी आतप वर्षा वातादि बाधाओं से मुक्त होकर परम विश्राम पाते हैं वैसे ही भक्ति की शरण ग्रहण करने से जीव दैहिक-दैविक, भौतिकादि तापों से मुक्त होकर परमानन्द लाभ करते हैं। यथा-'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रय ताप शोक भय हारी।।' (वि०) आगे इन आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

श्रीविष्वक्सेनजी-श्रीभगवान के प्रधान पार्षद हैं तथा पाञ्चरात्रादि आगमरूप भी कहे गये हैं। यथा-'विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।।' (भा०) श्रीलक्ष्मीजी ने सर्वप्रथम इन्हीं को श्रीनारायण मन्त्र की दीक्षा दी थी।

श्रीशठकोपजी-ये भगवान के प्रधान पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी के अवतार माने जाते हैं, कलियुग के प्रभाव से वैदिक धर्म एवं भक्तिज्ञान विरागादि को लुप्त होते देखकर भगवान ने अपने प्रिय वाहन वेदमय श्रीगरुड़जी एवं प्रिय पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी को आज्ञा दी कि तुम लोग भूतल में अवतार लेकर हमारी भक्ति-भागीरथी की पवित्र धारा को जन-साधारण के हृदय में बहाकर कलियुगजनित पाप-तापों का निवारणकर प्राणियों को परमानन्द प्रदान करो। भगवान की आज्ञा शिरोधार्यकर दोनों ही महानुभाव पाण्ड्य देश में कलियुग के १३ वर्ष बीतने पर उत्पन्न हुए। श्रीगरुड़जी ने तिरुक्कोलूर नामक स्थान में चैत्र मास की पूर्णिमा को मेष की संक्रान्ति में चित्रा नक्षत्र में एक सामवेदी ब्राह्मण कुल में जन्म लिया। ये अत्यन्त अल्प-अवस्था में ही सर्वशास्त्रों का पूर्ण अभ्यास करके अत्यन्त मधुर काव्य की रचना करने लगे थे अतः ये मधुर कवि के नाम से विख्यात हुए। एक दिन इनके मन में विचार आया कि प्रेमाभक्ति और तत्त्व बोध के बिना विद्या किसी काम की नहीं। शास्त्राध्ययन का फल है पराविद्या को जानना। अतएव अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए किसी सदआचार्य की खोज करनी चाहिए। ऐसा निश्चय करके इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और अकेले तीर्थाटन करने को निकल पड़े।

इधर श्रीविष्वक्सेनजी ने भी प्रभु आज्ञानुसार ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित तिरुक्कूरुकूर (कुरुकापुरी) नामक नगर में वृष की संक्रान्ति में विशाखा नक्षत्र, कर्क लग्न में

जन्म लिया। आपके जन्म के सम्बन्ध में कथा इस प्रकार से प्रचलित है-पाण्ड्य देश के राजा के ही अधीन एक कुरुगनाडु नामक छोटा-सा राज्य था। वहाँ के राजा थे करिमारन्। ये पहले पाण्ड्यदेशाधिपति के यहाँ ही किसी ऊँचे पद पर नियुक्त थे, इनकी योग्यता देखकर पाण्ड्य-नरेश ने कुरुगनाडु की शासन व्यवस्था इनको सौंप दी। राजा करिमारन् बड़े भक्त थे। भगवान् के नाम में इनकी बड़ी निष्ठा थी। आठोयाम श्रीराम-नाम रटा करते थे। वैसे ही इनकी पत्नी उड़यनंगै भी बड़ी भागवती थीं। यह भक्तिमती देवी एक दिन कहीं जा रही थीं। रास्ते में ही एक भगवान का मन्दिर था दूर से ही श्रीप्रभु के श्रीविग्रह को देखकर उन्होंने मनही मन में प्रणाम किया और भगवान के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रार्थना की कि-'पुत्र देहु निज सरिस ललामा।' उसी दिन रात्रि को भगवान ने स्वप्न दिया कि तुमने जो मुझसे पुत्र की अभिलाषा की है तो मेरे निजस्वरूप पार्षद प्रधान श्रीविष्वक्सेनजी तुम्हारे पुत्र होंगे। श्रीप्रभु की मङ्गलमयी वाणी को सुनकर उस भागवती को बड़ा हर्ष हुआ। कुछ ही काल बाद उस देवी के गर्भ से एक परम सुन्दर शिशु ने जन्म लिया।

यह बात तो सर्वशास्त्र प्रसिद्ध है कि जब जीव गर्भ में आता है तब उसको सैकड़ों जन्मों के पुण्य-पाप की स्मृति आती है। तब वह भगवान से प्रतिज्ञा करता है कि हे प्रभो! मुझे शीघ्र इस गर्भवास दु:ख से मुक्त करो, अब मैं जन्म लेकर निश्चय ही आपको भजूँगा, परन्तु होता यह है कि गर्भ से बाहर निकलते ही उसको माया लिपट जाती है यथा-'भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।।' (रामा०) फिर तो गर्भावस्था का सारा ज्ञान-ध्यान रफू-चक्कर हो जाता है और प्राणी फिर वही कर्म करने लगता है जिससे कि-'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं' की परम्परा बनी ही रह जाती है। कहते हैं कि जब श्रीविष्वक्सेनजी भी माता के गर्भ से बाहर आये तो इनके भी दिव्य ज्ञान को तिरोहित करने के लिए माया आई। परन्तु इन्होंने अपने दिव्य-ज्ञान-वैराग्य-भक्ति बल से उस माया को क्रोधपूर्वक ललकारा जिससे कि वह डर के मारे इनके समीप नहीं आ सकी। इन्होंने चूँकि शठ अर्थात् संसारी माया पर कोप किया था अत: विज्ञ जन इन्हें शठकोप नाम से पुकारने लगे।

इनका दूसरा नाम नम्मालवार भी है। सहज सिद्ध, दिव्य-ज्ञान सम्पन्न श्रीशठकोपजी ने दस दिन तक माता का स्तन-पान नहीं किया। जन्म से ही समाधि भाव में मग्न रहने लगे। इस रहस्य को बिना समझे-बूझे माता-पिता ने यथासम्भव हर प्रयत्न किया, जिससे बालक दुग्धपान करने लगे एवं अपनी शिशु-सुलभ चेष्टाओं से सबको आह्लादित करे, परन्तु कोई उपाय सफल नहीं हुआ। तब हारकर उन लोगों ने यही निश्चय किया

कि इसे भगवान के भरोसे समीप के मन्दिर में छोड़ दिया जाय। निश्चय के अनुसार माता-पिता बालक को भगवान के मन्दिर में छोड़कर चले आये। मन्दिर के पास ही इमली का एक बहुत पुराना वृक्ष था। उसके तने में भीतर पोल हो गई थी। श्रीशठकोपजी उसी इमली के कोटर में बैठकर सोलह वर्ष तक अखण्ड-समाधि में स्थित रहे। इनकी साधना से सन्तुष्ट होकर भगवान नारायण ने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया और 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र की दीक्षा दी। श्रीशठकोपजी अब निरन्तर साक्षात्कार सुख में निमग्न रहने लगे।

हम पूर्व में जिन मधुर कवि की चर्चा कर आये हैं, वे सभी तीर्थों का पर्यटन करते हुए श्रीअयोध्यापुरी आये। उन्हें सदाचार्य की खोज थी। एक दिन रात्रि के समय वे कुछ चिन्तित से होकर बाहर घूम रहे थे तो एकाएक उन्हें दक्षिण दिशा से एक परम-दिव्य तेज दिखाई पड़ा। इस तेज के सम्बन्ध में अनेक सङ्कल्प-विकल्प करने के अनन्तर मधुरकवि ने यह निश्चय किया कि इसका पता लगाना चाहिए। अतएव वे उस तेज को लक्ष्यकर श्रीअयोध्या से चल पड़े और अविश्रान्त भाव से निरन्तर चलकर वे उस इमली के पास पहुँच गये जिसके कोटर में श्रीशठकोपमुनि अखण्ड-समाधि लगाकर बैठे थे। मधुरकवि ने बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद ताली बजाई, जोर से आवाज लगाई, दीवाल पर पत्थर मारा जिससे बड़े जोर का शब्द हुआ, परन्तु तब भी समाधि नहीं छूटी। तब मधुरकवि साहस करके कोटर के पास गये और बोले-महाराज! मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। इनकी प्रश्नोत्कण्ठा को समाधि द्वारा जानकर आपने समाधि खोली। मुनि को सचेत जानकर मधुरकवि ने पाँच प्रश्न पूछे-१. मैं कौन हूँ? २. ईश्वर कौन है? ३. ईश्वर से मिलने का क्या उपाय है? ४. ईश्वर से मिलने में विरोधी कौन है? ५. ईश्वर से मिलकर हमको क्या फल मिलता है? ये पाँच बातें जीव को जाननी चाहिए। उपासना-ग्रन्थों में इसे 'अर्थ-पञ्चक' कहा गया है। सम्पूर्ण वेदशास्त्र-पुराण-इतिहास इसी अर्थ-पञ्चक का ही व्यास-समास से वर्णन करते हैं। यथा-

प्राप्यस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधि च।
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः।।

[वृद्धहारीतस्मृति]

इन्हीं अर्थ-पंचक सम्बन्धी पाँच प्रश्नों का उत्तर देने के लिए श्रीशठकोपमुनिजी ने एकसहस्त्र श्लोक वाले सहस्त्रगीतिका उपदेश दिया जो दक्षिण के वैष्णव-समाज में वेदतुल्य

माना जाता है। मधुरकवि ने अपने गुरु को पहचान लिया और मुनिराज ने भी अपने शिष्य को पा लिया, जिसकी इन्हें बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी। दोनों ही दोनों को पाकर पूर्ण मनोरथ हुए।

श्रीशठकोपजी अधिकतर राधाभाव में मग्न रहते थे। इनके पदों में विप्रलम्भन (वियोग) श्रृङ्गार की अनुपम छटा देखने में आती है। ये सदा भगवान के विरह में रोते, चिल्लाते, नाचते, गाते और मूर्छित हो जाते थे। एक बार तो श्रीकृष्णलीला का गान करते समय उलूक-बन्धन के प्रसङ्ग में आप छः महीने तक मूर्छावस्था में रहे। श्रीललिताजी ने आपको चैतन्य किया। कथा आती है कि एक बार ये भगवल्लीला चिन्तन करते हुए भावना में ही अयोध्या आये। इन्होंने देखा-राजाधिराज रघुनन्दन श्रीरामभद्रजी की सवारी निकली है। अपार जनसमुदाय सङ्ग में है। हाथी-घोड़ों की, सेना-फौज की अपार भीड़ है। समीप पहुँचना कठिन-सा हो रहा है। अतः ये दूर से ही दर्शन करने लगे। परन्तु दूर से दर्शन करने में भी बाधा यह पड़ती थी कि कभी चँवर मुख के सामने आ जाता था तो कभी व्यजन। जैसे-तैसे दर्शन करके फिर भावना में ही श्रीवृन्दावन आये। यहाँ आकर देखे कि एक गोपी टोकरी में गोबर भरे किसी उठवाने वाले की, विशेषकर प्यारे श्यामसुन्दर की प्रतीक्षा में है। तब तक श्रीश्यामसुन्दर भी गायों को 'हियो-हियो' करते आ गये। गोपी के नेत्र चमक उठे, मुख-कमल खिल गया, बड़े ही भाव में भरकर बोली-प्यारे! यह टोकरी मुझसे उठ नहीं रही है, नैक सहारा तो कर दो। गोपी की प्रार्थना सुनकर भगवान श्यामसुन्दर बड़ी सरलता से उसकी टोकरी उठवाने लगते हैं, संयोग की बात, गोपी थी लम्बे कद की, और श्यामसुन्दर थे अभी पाँच-सात साल के छोटे बालक। उधर गोबर भी कुछ ढीला था, अतः गोपी की ओर ऊँचा होने से टोकरी में से ढलककर श्रीश्यामसुन्दर के ऊपर गिर पड़ा। श्रीशठकोपजी भाव-विभोर हो गये और यह श्लोक पढ़ने लगे।

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाय यदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।। (भा० ३-२-२३)

ऐसे ही आपके अनेक भावमय चरित्र हैं। वर्णन आता है कि ये पैंतीस वर्ष की अवस्था तक इस लोक में रहे और इसके बाद इन्होंने अपने भौतिक विग्रह को त्यागकर भगवत्पद को प्राप्त कर लिया।

श्रीवोपदेवजी-वर्णन आता है कि बाल्यावस्था में इनकी बुद्धि अत्यन्त मन्द थी स्मरण-शक्ति अत्यन्त ही कमजोर थी। कुछ भी याद ही नहीं होता था और जो याद करते थे

वह भी भूल जाते थे। अध्यापक लोग पढ़ा-लिखाकर समझाकर हार गये। अन्त में इन्हें विद्यालय से बहिष्कृत कर दिया गया। ये अत्यन्त दु:खी मन से लक्ष्यहीन कहीं जा रहे थे। चलते-चलते थक जाने से एक कुएँ पर बैठकर विश्राम कर रहे थे। उसी समय कुछ माताएँ जल भरने आयीं। इन्होंने देखा-तिनकों की रस्सी से रगड़ खाते-खाते पत्थर की पटिया में दो-दो अंगुल गहरे निशान बन गये हैं। इससे इनको बड़ी प्रेरणा मिली। इन्होंने विचार किया क्या हमारा मस्तिष्क पाषाण से भी अधिक ठोस है? अर्थात् नहीं, फिर हम भी क्यों न अभ्यास करें। अवश्य ही सफलता मिलेगी। ये पुन: विद्यालय को लौट आये और बड़े ही मनोयोगपूर्वक स्मरण करने में जुट गये। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर इनकी मेधा ऐसी प्रखर हुई कि जिस भी ग्रन्थ को हाथ में लेते, उसे रट ही डालते। तभी से यह दोहा प्रसिद्ध है-

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जातते, सिल पर बनत निसान।।

अठारह हजार श्लोकों का श्रीमद्भागवत पुराण इनको सम्पूर्ण कण्ठस्थ था। श्रीनाभाजी महाराज कहते हैं कि-वोपदेव…नवनीता-बात यह हुई कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों को खोज-खोजकर जला दिया। कहते हैं कि काश्मीर के पुस्तकालय में छ: महीने तक आग बुझी ही नहीं। मुसलमान सिपाही पुस्तकों को जलाकर रसोई बनाते थे। इसी महाध्वंश में श्रीमद्भागवत पुराण तो एकदम विलीन ही हो गया। बहुत ढूँढ़ने पर भी जब इस महापुराण की कोई प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई तो वैष्णव-जगत् में हाहाकार मच गया। परन्तु श्रीवोपदेवजी को समग्र ग्रन्थ आद्योपान्त याद था अत: वैष्णवों के अनुरोध पर ये इस महापुराण को पुन: लिपिबद्ध करके प्रकाश में लाये। श्रीवोपदेवजी के इस उपकार के लिए हम सब वैष्णव ऋणी हैं। बहुत से लोग (विशेषकर आर्यसमाजी बन्धु) इस रहस्य को न जानकर भ्रमवश श्रीमद्भागवत महापुराण को श्रीवेदव्यासकृत न मानकर वोपदेव की रची हुई गप्पकी पोथी वा वोपदेव की पोपलीला कहते हैं। यह उनकी महान् भूल है। यहाँ श्रीभागवतजी को नवनीत कहा गया है। भाव यह है कि जैसे नवनीत दूध का सारभाग होता है उसी प्रकार श्रीमद्भागवत सभी पुराणों का सार है। यथा-'साधन साध्य सत्रह पुराण फलरूपी श्रीभागवत।' (भ०मा०) विशेष देखिये छप्पय १७ की व्याख्या।

श्रीनाथमुनिजी-ये श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी के पितामह थे। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर मदुरा में निवास करते थे। इनका भगवान में दृढ़ विश्वास था। सभी वेदशास्त्र

पुराणादि के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये बड़े ही सिद्ध एवं जीवन्मुक्त थे, यह बात सारा-संसार जानता है।

श्रीपुण्डरीकाक्षजी-ये श्रीमहापूर्ण स्वामी के पुत्र थे और श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी के शिष्य थे।

श्रीराममिश्रजी-ये श्रीनाथमुनि के शिष्य थे। ये बड़े ही विद्वान् एवं सदाचारी थे। विद्वान् शब्द का एक पर्याय 'दोषज्ञ' भी होता है परन्तु इस 'दोषज्ञ' शब्द का तात्पर्य अपने दोषों को देखना, अपने दोषों को जानना एवं जानकर उसे दूर करना होता है। श्रीराममिश्र को अपने में कोई दोष दीखते नहीं थे, ये अपनी दोषज्ञता का प्रयोग दूसरे के दोषों को देखने में करते। किसी के किञ्चितमात्र भी दोष को देख या सुनकर उसे डाँटना-फटकारना, भरी सभा में बदनामी करना इनका व्यसन बन गया था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लाख साधन करने पर भी इनके मन को शान्ति नहीं मिलती। अपने मन की इस उलझन को मिटाने के लिए ये जहाँ कहीं भी किसी विद्वान्, सिद्ध, साधक का नाम सुनते, वहीं जाते और जो भी जो कुछ साधन बताता वही बड़े मनोयोग से करते भी, परन्तु अशान्ति मिटने के बजाय बढ़ती ही गई।

एक दिन श्रीराममिश्रजी महात्मा पुण्डरीकाक्षजी की सेवा में गये। बोले-भगवन्! मेरे मन में स्थिरता नहीं है। इसका कारण मैंने यह निश्चय किया है कि मेरी निजधर्म में दृढ़ता नहीं है। इसलिए आप कृपापूर्वक बतायें कि धर्म में दृढ़ता किस प्रकार होती है, श्रीपुण्डरीकाक्षजी ने कहा-जिस उपाय से दृढ़ता प्राप्त होती है, उसे आप कर नहीं सकते हैं, इसलिए उसका बताना व्यर्थ ही है। श्रीमिश्रजी ने कहा-आप उसे बतायें, मैं अवश्य करूँगा। जिस किसी ने जो भी उपाय मुझे बताया है, उसे मैंने अवश्य किया है, आप निःसंकोच कहें, इसके लिए मैं सर्वस्वत्याग करने को भी तैयार हूँ। मिश्रजी के बहुत अनुनय-विनय करने पर श्रीपुण्डरीकाक्षजी ने उन्हें छः महीने पीछे बताने को कहा। जब निश्चित समय पर ये फिर आये तो आचार्य ने कहा-दूसरे के दोषों को छिपाने एवं अपने दोषों को प्रकट करने से जब मानसिक दुर्बलतायें दूर होती हैं तब निजधर्म में दृढ़ता होती है। श्रीराममिश्र की आँख खुलीं। आज उनको ज्ञान हुआ कि मैं गन्तव्य दिशा के ठीक विपरीत चल रहा था, फिर भला लक्ष्य तक कैसे पहुँचता? उसी दिन से श्रीराममिश्र का जीवन ही एकदम बदल गया। सबमें गुण देखते, सबके प्रति सद्भाव एवं सहानुभूति करते। सबमें उनको व्यापक

परमात्मा का दर्शन होने लगा। श्रीनाभाजी महाराज कहते हैं कि 'राममिश्र रसराशि।' अर्थात् रसस्वरूप जो परमात्मा हैं, उनके नित्य अनुभव एवं साक्षात्कारजन्य आनन्द की राशि थे।

श्रीयामुनाचार्यजी-श्रीनाथमुनिजी के पुत्र हुए ईश्वरमुनि। यही श्रीईश्वरमुनि श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी के पिता थे। श्रीयामुनाचार्यजी का प्रादुर्भाव विक्रम सम्वत् १०१० में मदुरा में हुआ था। ये भगवान के सिंहासन के अवतार कहे जाते हैं। पितामह श्रीनाथमुनिजी ने संन्यास ले लिया। तब उनकी दस वर्ष की अवस्था थी, उसी समय पिता भी परलोक सिधार गये। अतः इनका पालन-पोषण, विद्याध्ययन आदि दादी और माता की देख-रेख में हुआ। श्रीयामुनमुनि की अद्भुत अलौकिक प्रतिभा थी, मधुर, मिलनसार एवं स्नेहिल स्वभाव था। शील और सदाचार के तो मानो मूर्तिमानस्वरूप ही थे। विद्या और विनय का अद्भुत मणिकाञ्चनयोग था। उन दिनों राजा पाण्ड्य के यहाँ एक कोलाहल नाम के महापण्डित रहते थे। उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर राजा पाण्ड्य उनका बड़ा सम्मान करते थे। राजसम्मान प्राप्त पण्डित कोलाहल का शास्त्रार्थ करके पण्डितों को पराजित करके उनका अपमान करना व्यसन बन गया था। राजा को भी शास्त्रार्थ सुनने का चस्का लग गया था। इधर श्रीयामुनमुनि की प्रतिभा की ख्याति सर्वत्र फैल चुकी थी। जब पाण्ड्य नरेश को इनकी प्रसिद्धि का पता चला तो वे इन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित किये और स्वीकृति मिलने पर इन्हें आदरपूर्वक लाने के लिए पालकी भेजे।

श्रीयामुनाचार्यजी आये। जिस समय यह पालकी में बैठे आ रहे थे, उस समय राजा-रानी अपने महल से इन्हें देखे। पालकी में प्रकाश छा रहा था। श्रीआचार्यपाद के अलौकिक तेज को देखकर रानी ने कहा-महाराज! हमें तो ऐसा लगता है कि ये नये पण्डित आपके राज-पण्डित को हरा देंगे। राजा ने रानी के कथन का प्रतिवाद किया, अपने पण्डित का समर्थन किया। रानी ने दृढ़ता के स्वर में कहा कि नहीं, मुझे तो इनके तेज को देखकर ऐसा ही निश्चय हो रहा है कि ये अवश्य जीतेंगे। राजा ने अपनी बात पर जोर दिया। फिर तो दोनों में बाजी लग गई-यदि जीत गये तो? नहीं जीते तो? रानी ने कहा कि यदि हमारी बात सत्य हुई तो आपको इन्हें आधा राज्य देना पड़ेगा, और यदि आपकी बात सत्य हुई तो मैं आपकी रानी न रहकर दासी बनकर सेवा करूँगी। बात तय हो गई। नगर भर में शास्त्रार्थ की घोषणा हो गई। राजा का दरबार लगा। दोनों पण्डित अपने-अपने आसन पर विराजमान हुए। शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में ही कोलाहल पंडित ने अत्यन्त अभिमान में भरकर श्रीयामुनमुनि से कहा कि तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं उसका खण्डन कर दूँगा।

श्रीयामुनाचार्यजी ने तीन बातें कहीं-१. तुम्हारी माता काकबन्ध्या हैं। (जिसके एक ही सन्तान होकर फिर कोई सन्तान न हो उसे काकबन्ध्या कहते हैं)। २. राजा पाण्ड्य बड़े ही नीति निपुण एवं धर्मज्ञ हैं। ३. रानीजी बड़ी पतिव्रता हैं, साधु स्वभाव वाली हैं।

श्रीयामुनमुनि ने कहा-यदि तुम इन तीन बातों का खण्डन कर दो तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊँगा। कोलाहल पण्डित का मुँह सूख गया, एकदम श्रीहीन हो गये। क्योंकि तीनों बातें ही अकाट्य थीं। कोलाहल अपनी माँ की एक ही सन्तान था, उनकी माँ को कोई और सन्तान हुई ही नहीं। अतः वह सचमुच काकबन्ध्या थीं। राजा-रानी वास्तव में उपर्युक्त गुणों से युक्त थे और यदि न भी हों तो कोलाहल का इतना साहस नहीं कि वह उन्हें दूषित सिद्धकर सके अतः वह हारकर मौन हो गया। विजय श्रीयामुनमुनि की हुई। बात रानी की सत्य निकली। राजा ने श्रीयामुनाचार्यजी को आधा राज्य दे दिया। रानी ने श्रीआचार्यपाद को आलवन्दार कहा, जिसका तामिल भाषा में अर्थ विजयी होता है। आगे चलकर ये आलवन्दार ही कहे जाने लगे और इनके द्वारा रचा हुआ 'स्तोत्ररत्न' भी आलवन्दार स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा के अत्यन्त प्रीतिभाजन, आधे-राज्य के स्वामी, महाविद्वान् श्रीयामुनमुनि ने एक राजा की तरह राज्य-कार्य करते हुए राज्यसुख-भोगों में जीवन के पैंतीस साल व्यतीत किये।

जब इनके पितामह श्रीनाथमुनि का देहावसान होने लगा तो वे अपने श्रेष्ठ शिष्य श्रीराममिश्र से बोले-राम! कहीं ऐसा न हो कि यामुन राज्य-कार्य में ही अपना समस्त अमूल्य समय बिता दें। तुम इस बात का ध्यान रखना। जब श्रीनाथमुनि का देहावसान हो गया तो श्रीराममिश्र श्रीयामुनमुनि को उनकी सम्पत्ति का अधिकार सौंपने को ले जा रहे थे। मार्ग में श्रीरङ्गनाथ भगवान का मन्दिर पड़ता था। दोनों ही भगवान का दर्शन करने गये, दर्शन करते ही श्रीयामुनमुनि के हृदय में सहसा भक्ति का प्रवाह उमड़ पड़ा। एक क्षण में मायिक सुख-भोग-वासना का विनाश हो गया, तीव्रतम वैराग्य का उदय हो गया। अन्तःकरण में अनुराग सिन्धु हिलोरे लेने लगा। भाव गद्गद होकर भगवान की स्तुति करने लगे। इनकी विनती को सुनकर भगवान श्रीरङ्गनाथजी साक्षात् प्रगट होकर इन्हें हृदय से लगा लिए। ये अपना सर्वस्व श्रीरङ्गनाथ भगवान के चरणों में सौंपकर वहीं निवास करने लगे। सदा दैन्यभाव में पगे श्रीयामुनमुनि ने खूब भक्ति का प्रचार किया। शेषावतार श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने आपको अपना परमगुरु माना था, (देखिये अगले छप्पय में श्रीरामानुजाचार्य जी का चरित्र) श्रीमहापूर्णजी, श्रीशैलपूर्णजी, श्रीगोष्ठीपूर्णजी, श्रीकाञ्चीपूर्णजी और

श्रीमालाधरजी आदि आपके प्रमुख शिष्य थे। श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी की कार्पण्य-दैन्यपूर्वक शरणागति एवं आकांक्षा-

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।।

अर्थ- हे प्रभो! न तो मैं धर्मनिष्ठ हूँ, न मैं आत्मज्ञानी हूँ और न आपके पवित्र चरणों में मेरी भक्ति ही है। मैं अकिञ्चन हूँ और आपके सिवा मेरा कोई अवलम्ब नहीं है, अतः शरण लेने योग्य आपके चरणों में शरणागत हूँ।।

न निन्दतं कर्म तदस्तिलोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे।।

अर्थ-हे मुक्तिदाता मुकुन्द! संसार में ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है जिसे मैंने हजारों बार नहीं किया है। परन्तु वही मैं उन कर्मों के फल भोग का समय उपस्थित होने पर निःसहाय होकर आपके आगे व्याकुल होकर रो रहा हूँ।।

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु।।

अर्थ-हे नाथ! सहस्त्रों अपराधों के पात्र, भयानक भव-समुद्र में डूबते हुए उपाय शून्य तथा शरण में आये, मुझे दीन जानकर केवल अपनी दया से मेरे अपराधों को क्षमाकर मुझे अपना बनाइये अर्थात् निजदास कीजिये।।

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे।
इतरावसथेषु मास्मभूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना।।

अर्थ-हे भगवान्! आपके दास्य सुख का अनुभव करने वाले भक्तों के घर में यदि मेरा कीट-पतङ्ग योनि में भी जन्म हो तो अति उत्तम है परन्तु आपके दास्यभाव से विमुख दूसरों के घर में ब्रह्मा बनकर भी मैं जन्म लेना नहीं चाहता।। (आलवन्दार स्तोत्र) आपका कुछ चरित्र श्रीरामानुजाचार्यजी के प्रसङ्ग में भी है।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी का चरित्र देखिये अगले छप्पय में। 'तिमिर हरन उदय-भानु'-कहने का तात्पर्य यह कि जैसे-'उयेउ भानु बिनु श्रम तम नाशा।' अर्थात् सूर्योदय होते ही बिना प्रयास के अपने आप अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार ये आचार्य सूर्यवत् हुए, इनके वचनरूपी किरण का हृदय में प्रकाश होते ही अविद्यान्धकार का तत्क्षण

विनाश हो जाता है। गुरु शब्द का अर्थ ही होता है-अन्धकार मिटाने वाला। यथा-'गु शब्दस्त्वन्धकारः स्यादुरुकारस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।' विशेष देखिये २८-निम्बादित्य…हरिया।।

श्रीरामानुजाचार्यजी

सहस आस्य उपदेश करि जगत उधारन जतन कियो।।
गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च स्वर मन्त्र उचार्‌यो।
सूते नर परे जागि वहत्तरि श्रवननि धार्‌यो।।
तितनेई गुरुदेव पधति भई न्यारी-न्यारी।
कुरुतारक शिष्य प्रथम भक्ति वपु मङ्गलकारी।।
कृपणपाल करुणा समुद्र रामानुज सम नहिं बियो।
सहस आस्य उपदेश करि जगत उधारन जतन कियो।।३१।।

शब्दार्थ-सहस=हजार। आस्य=मुख। सहसआस्य=शेष भगवान। गोपुर=मन्दिर या किले का ऊँचा फाटक, दरवाजा। आरूढ़=चढ़े हुए, चढ़कर। कृपणपाल=कृपण=कंजूस, दीन। क्षुद्र+पाल=पालक। वियो=दूसरा।

भावार्थ-सहस्त्रमुख वाले शेषभगवान के अवतार श्रीरामानुजाचार्यजी ने भक्तिपथका उपदेश देकर संसार से उद्धार का महान् प्रयत्न किया। गुरुदेव ने मन्त्र देकर जिसे गुप्त रखने के लिए कहा था उसे श्रीरामानुजाचार्यजी ने मन्दिर द्वार के सबसे ऊँचे भाग पर चढ़कर ऊँचे स्वर से उच्चारण किया ताकि सभी लोग श्रवण कर सकें। मन्त्र ध्वनि को सुनकर सोये हुए लोग जाग पड़े और बहत्तर भक्तों ने उसे सुनकर हृदय में धारण कर लिया। इसलिए अलग-अलग बहत्तर पद्धतियाँ हुईं। इनके शिष्यों में कुरुतारकजी प्रधान थे जो जीवों का मङ्गल करने वाले और भक्ति के मूर्तिमानस्वरूप थे। दीन-शरणागतों का पालन करने वाले करुणा के समुद्र श्रीरामानुजाचार्य के समान दूसरा कोई नहीं हुआ।।३१।।

व्याख्या-सहस आस्य०-अकारणकरुण, करुणावरुणालय भगवान श्रीनारायण कलियुग के जीवों की दुर्दशा देखकर चिन्तित हो उठे और विचार करने लगे कि किस प्रकार इन विमुख जीवों को भक्तिपथ पर अग्रसर करके श्रेय का भागी बनाया जाय। प्रभु की चिन्ता श्रीशेषजी को असह्य हो गई। वे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक हाथ-जोड़कर जब चिन्ता का कारण पूछे तो भगवान ने कहा-शेषजी! मैं कलिहत जीवों के कल्याण की बात सोच रहा

हूँ और सच पूछें तो सिवा आपके मुझे ऐसा कोई दीखता नहीं है जिसको कि यह महानकार्य सौंपे। कहा भी गया है-'तुलसी छोटे नरन ते होत नहीं बड़ काम। मढ़त नगारा ना बनै सौ मूसे के चाम।।' इसलिए अब तुम्हीं पृथ्वी पर अवतार लेकर जीवों का उद्धार करो। श्रीशेषजी श्रीलक्ष्मणावतार में श्रीविभीषण शरणागति अपनी आँखों से देख चुके थे और शरणागति धर्म की महिमा श्रीप्रभु के श्रीमुख से सुन चुके थे। यथा-

सुग्रीव प्रति- सखा नीति तुम नीकि विचारी। मम पन सरनागत भय हारी।।
जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं।।

श्रीविभीषण प्रति-

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुण्डि सम्भु गिरिजाऊ।।
जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना।। **आदि।**

अतः तभी से उनका सङ्कल्प था कि अवसर मिलने पर शरणागति धर्म का प्रचार करूँगा। आज श्रीप्रभु ने स्वयं आदेश दिया है अतः श्रीशेषजी ने सहर्ष आज्ञा शिरोधार्यकी और श्रीरामानुजाचार्यजी के रूप में इस धराधाम पर अवतरित होकर वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसी बात को लक्ष्यकर श्रीनाभाजी कहते हैं कि सहस्र आस्य०।

सूते नर परे जागि-**इसके दो भाव-१-सामान्य निद्रा से जाग पड़े। २. मोह निद्रा से जागे। मोह निद्रा से जगने का लक्षण-'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।। होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।।' पुनः- 'जागिबो जो जीह जपै नीके राम नाम को।' (क०) 'बहत्तरि श्रवणनि धार्‍यो'-इसके भी दो अर्थ-१-बहत्तर लोगों ने सुना। २-श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी बहत्तर महावाक्यों में वैष्णव-सिद्धान्त समझाये थे। लोगों ने उसे श्रवण किया और धारण भी किया। छप्पय २८ में श्रीनाभाजी ने इनको उदार, सुधानिधि कल्पतरु कहा है। यहाँ कहते हैं कि ये कृपणपाल तथा करुणा के समुद्र थे। कृपण का प्रचलित अर्थ ऊपर शब्दार्थ में दिया गया है। श्रीगीताजी के 'कृपणाः फलहेतवः' की व्याख्या करते हुए श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं कि 'फलसङ्गादिना कर्म कुर्वाणाः कृपणाः संसारिणो भवेयुः।' अर्थात् कर्मों का माहात्म्य सुनकर भक्तिज्ञान को पीठ देकर निरन्तर कठिन कर्मजाल में उलझे हुए लोग कृपण हैं। ऐसे लोगों को भक्ति का सुलभ मार्ग दिखाकर आपने उनकी रक्षा की अतः कृपणपाल कहा और करुणा-**

निधान तो ऐसे थे कि गुरु की आज्ञा एवं शास्त्र विधि की परवाह न कर स्वयं तज्जन्य दोष को अपने ऊपर लेते हुए जगत् के प्राणियों का कल्याण करने के लिए 'गोपुर उचार्‌यौ।' विशेष देखिये अगले कवित्त में। इस छप्पय की टीका करते हुए श्रीप्रियादासजी लिखते हैं कि-

आस्य सो बदन नाम सहस हजार मुख शेष अवतार जानो वही सुधि आई है।
गुरु उपदेशि मन्त्र कह्यो नीके राखो अन्त्र जपतहि श्यामजू ने मूरति दिखाई है।।
करुणानिधान कही सब भगवान पावैं चढ़ि दरवाजे सो पुकार्‌यो धुनि छाई है।
सुनि सीखि लियो यों बहत्तर हि सिद्ध भये नये भक्ति चोज यह रीति लैकै गाई है।।

शब्दार्थ-वदन=मुख। अन्त्र=अन्तर, भीतर, गुप्त।

भावार्थ-उक्त छप्पय में आये हुए सहस आस्य का अर्थ है हजार मुख वाले शेष भगवान, श्रीरामानुजाचार्यजी शेष के अवतार हैं। इस बात का स्मरण-आभास होते ही आप लोक को कल्याणमय उपदेश देने के लिए आतुर हो उठे। गुरुदेव श्रीगोष्ठीपूर्णाचार्यजी ने मन्त्र का उपदेश देकर उसे अन्तःकरण में गुप्त रखने का आदेश दिया था। इस मन्त्र को जपते ही श्यामसुन्दर भगवान ने अपना प्रत्यक्ष दर्शन दिया। दयालु श्रीरामानुजाचार्यजी ने सोचा कि-जिस प्रकार मन्त्रजप करके मैंने दर्शन पाया उसी प्रकार सभी लोग भगवान का दर्शन प्राप्त करें। ऐसा विचारकर उसी समय रात में ही आप गोपुर द्वार पर चढ़ गये और वहीं से उच्च स्वर से आपने मन्त्र का उच्चारण किया। मन्त्रध्वनि चारों ओर फैल गई, उसे सुनकर बहत्तर या (चहोत्तर) भक्तों ने सीख करके धारण कर लिया। ये सभी सिद्धभक्त महापुरुष और आचार्य के प्रमुख शिष्य हुए। यह समाचार पाकर गुरुदेव ने फटकारकर कहा कि-तुमने मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन किया अतः तुम्हें नरक होगा। आपने हाथ-जोड़कर उत्तर दिया-भगवन्! अनेकों को भगवद्दर्शन का सुख मिले तो मुझ एक को नरक यातना सहर्ष स्वीकार है। ऐसी उदार भावना देखकर गुरुदेव परम प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया। इस नवीन एवं विचित्र भक्ति की रीति का मैंने गान किया है।।१०७।।

व्याख्या-शेष अवतार-श्रीरामानुजाचार्यजी के शिष्यवर्ग उनको शेष-अवतार कहते। बहुत से लोग इसे शिष्यों की भावुकता कहते, कोई-कोई तो कपोल-कल्पना ही कहते। एक बार कुछ शिष्यों ने श्रीस्वामीजी से यह बात कही तो उन्होंने कहा कि भक्तिमार्ग में चमत्कारादि दिखाना तो विघ्नरूप ही है परन्तु कहने वालों का जैसे भी सन्देह दूर हो,

वह कार्य हम कर सकते हैं। शिष्यों ने सन्देहकर्ताओं से कहा कि आप लोग श्रीस्वामीजी के पास जाकर किसी भी प्रकार से अपना सन्देह निवारण कर लीजिये। फिर तो सहस्त्रों लोग आये और बोले कि आपको लोग श्रीशेषजी का अवतार कहते हैं तो, शेषजी के तो एक हजार मुख हैं, क्या आप भी एक हजार मुख से, एक हजार प्रश्नों का एक साथ उत्तर दे सकते हैं? श्रीस्वामीजी ने कहा-कोई असम्भव नहीं है। आप लोग अपने और हमारे बीच में एक पर्दा डाल दीजिये और बाहर से आप सभी लोग प्रश्न करिये, मैं पर्दे के भीतर से सबका एक साथ उत्तर दूँगा। परन्तु ध्यान रखना-पर्दा हटाना नहीं। ऐसा ही किया गया। खूब प्रश्नोत्तर हुआ। चमत्कार देखकर किसी-किसी को भीतर देखने की इच्छा हुई तो पर्दे की ओट में ज्यों ही झाँके तो सचमुच सहस्त्रशीर्षा श्रीशेषजी को विराजमान देखे, परन्तु उनका तेज असह्य होने के कारण सबके-सब मूर्छित हो गये। श्रीस्वामीजी की कृपा से जब चैतन्य हुए तो सब लोग विनयावनत होकर उनके चरणों में पड़े और शेषरूप मानकर उन्होंने स्तुति किया। अतः कहा-'शेष अवतार जानो।'

वही सुधि आई है-**वही अर्थात् अपने शेष-स्वरूप की सुधि आ गई। श्रीशेषजी जीवों के आचार्य हैं। आचार्य स्वरूप का अनुसन्धान होते ही आप जीवों को उपदेश देने के लिए व्यग्र हो उठे।**

गुरु उपदेशि···अन्त्र-**श्रीरामानुजजी ने अठारह बार श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामीजी से श्रीनारायण मन्त्र का उपदेश करने की प्रार्थना की। परन्तु वे हर बार 'और दिन आना' यह कहकर टाल देते थे। इसी बहाने से वे श्रीरामानुज की सच्ची जिज्ञासा को जानना चाहते थे। अन्त में श्रीरङ्गनाथ भगवान ने जब इन्हें मन्त्र देने की प्रेरणा दी तब उपदेश करने के लिए राजी हुए। परन्तु रहस्य मन्त्रोपदेश देने के पूर्व ही श्रीरामानुजजी से प्रतिज्ञा करा ली कि वे और किसी को यह मन्त्र नहीं सुनावेंगे, तथा मन्त्र देने के बाद भी स्वयं आज्ञा किये कि यह किसी को मत बताना। यदि मेरी आज्ञा एवं अपनी प्रतिज्ञा का उल्लङ्घन करोगे तो नरक के भागी बनोगे।**

जपतहि···दिखाई है-**यदि यहाँ कोई शङ्का करे कि किसी-किसी को तो जप करते-करते जीवन बीत जाता है भगवान अनुभव में भी नहीं आते हैं, इनको अतिशीघ्र कैसे दर्शन हो गया? समाधान-साधन एक खेती है जैसे खेती में खेत बढ़िया हो, ऊसर बञ्जर न हो, बीज उत्तम हो, सड़ा-घुना न हो, किसान चतुर एवं भाग्यवान् हो, मूर्ख एवं अभागा न हो तो उसकी खेती में फसल अवश्य होती है और सबसे आगे होती है। उसी प्रकार यदि साधक**

का हृदय शुद्ध-सात्त्विक हो, विकारी एवं सवासनिक न हो, मन्त्र वैदिक एवं सदाचार्य द्वारा प्राप्त हो, अवैदिक अथवा अनधिकारी से प्राप्त न हो, गुरु-शिष्य कर्तव्य परायण हों, इनमें लोभ-लालच के दांव-घात न हों तो साधना शीघ्र सफल होती है। अन्यथा-'गुरु लोभी, शिष्य लालची, दोऊ खेलैं दांव। दोऊ डूबैं बापुरे, चढ़ि पाथर की नाव।।' पत्थर की नाव स्वयं डूबती है, उसका खेने वाला और उस पर चढ़ने वाला पथिक भी डूबता है, वैसे ही अनधिकारी द्वारा की गई मनमुखी साधना साधक को भी ले डूबती है। जैसे तूमा कठारी वा काठ की नाव स्वयं तैरती है, पार होती है, अपने लगे लोहे को भी पार करती है और अपने आश्रित लोगों को भी पार ले जाती है उसी प्रकार सद्गुरु द्वारा प्राप्त सन्मन्त्र का समाश्रय लेकर साधु-पुरुष अनेकों जीवों का उद्धार करने में समर्थ होते हैं।

करुणानिधान⋯छाई है-श्रीरामानुजजी को मन्त्र जपते ही भगवत् साक्षात्कार हो गया। मन्त्र का यह चमत्कार देखकर आपके हृदय में करुणा उमड़ी, क्यों न सभी जीव मेरे ही समान भगद्दर्शनकर कृतार्थ हो जायें। यह निश्चित करके आपने सबको मन्त्र सुना दिया। उस दिन श्रीनृसिंह चतुर्दशी थी। मन्त्र श्रवणकर सबको दिव्यानन्द प्राप्त हुआ। जब अन्य शिष्यों के द्वारा गोष्ठीपूर्णजी को यह समाचार मिला तो ये इन पर बड़े ही अप्रसन्न हुए और इन्हें बुलाकर अत्यन्त क्रोध में भरकर बोले-तुमने गुरु आज्ञा की अवज्ञा की है, अतः तुझे निश्चय ही नरक में निवास करना पड़ेगा। यह सुनकर श्रीरामानुजजी बड़ी ही विनम्रतापूर्वक बोले-गुरुदेव! मैंने यह जानकर ही उच्च स्वर से मन्त्रोच्चारण किया है। भगवन्! यदि केवल मैं नरक में गिरूँ और मेरे बदले अनेक नर-नारी भगवद्धाम को जायँ तो ऐसे नरक की मैं जन्म-जन्म याचना करता हूँ। श्रीरामानुजजी की यह जीवदया देखकर श्रीगोष्ठीपूर्णजी का हृदय भाव से भर गया और 'मन्नाथ, मन्नाथ' करते हुए उनको हृदय से लगाकर बोले-जहाँ इतनी अपार करुणा है प्राणियों के ऊपर, वे भला कभी नरक में जा सकते हैं। निश्चय ही आप मेरे शिष्य नहीं, मेरे नाथ हैं, मेरे ऊपर महान् अनुग्रह करके मुझे बड़ाई देने के लिए आपने मेरा शिष्यत्व स्वीकार किया है। आप तो मेरे नित्य गुरु हैं।

गये नीलाचल जगन्नाथ जू के देखिबे कों, देख्यो अनाचार सब पण्डा दूरि किये हैं।
सङ्ग लै हजार शिष्य रङ्ग भरि सेवा करैं, धरैं हिये भाव गूढ़ दरसाय दिये हैं।।
बोले प्रभु वेई आवैं करे अङ्गीकार मैं तो, प्यार ही को लेत कभूँ औगुन न लिये हैं।
तऊ दृढ़ कीनी फिरि कही नहीं कान दीनी, लीनी वेदवाणी विधि कैसे जात छिये हैं।।१०८।।

शब्दार्थ-**दरसाय=दिखाय। छिये=छोड़े।**

भावार्थ-**एक बार श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने के लिए नीलगिरि (उड़ीसा) गये। वहाँ आपने पण्डों को आचार-विचार से हीन देखा। तब सभी पण्डों को जगन्नाथजी की सेवा से हटा दिया और अपने एक हजार शिष्यों के साथ प्रेमपूर्वक उमङ्ग के साथ वेद विधि से सेवा-पूजा करने लगे। परन्तु भगवान तो गूढ़भाव को हृदय में छिपाकर रखते हैं। अब अपने पुराने पुजारियों को सेवा से वञ्चित दीन-दुःखी देखकर जगन्नाथजी ने उस गूढ़भाव को प्रकट करके दिखा दिया-श्रीरामानुजाचार्यजी से बोले कि-मैंने उन पुजारियों को अङ्गीकार कर लिया। अङ्गीकार करके त्याग करना उचित नहीं अब मैं उनका त्याग नहीं कर सकता। मैं तो केवल प्रेमभाव को ही ग्रहण करता हूँ। प्रेमीभक्त के तुच्छ नगण्य अवगुणों को नहीं देखता हूँ उन्हें ही सेवा सौंप दीजिये। श्रीरामानुजाचार्यजी नहीं माने। तब भगवान ने फिर कहा। परन्तु इन्होंने नहीं सुना और कहने लगे कि-मैं तो वेद वाक्यों से विधि समेत सेवा-पूजा कर रहा हूँ, उसे कैसे त्याग सकता हूँ।।१०८।।**

व्याख्या-पण्डा दूरि किये हैं-**पण्डा-पुजारियों का भ्रष्टाचार देखकर पुरी के राजा से मिले। क्योंकि मन्दिर की सब व्यवस्था राजा की ओर से ही होती थी। अतः राजा से मिलकर इन्होंने उसे वेद-धर्म समझाया और पुजारियों के अनाचार की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रकार राजा से कहकर पण्डा-पुजारियों को मन्दिर से हटवाया। 'धरैं हिये गूढ़भाव'- इसका एक अर्थ तो भावार्थ में आ गया है, दूसरा भाव यह है कि भगवान भक्तों के हृदय के गूढ़भाव को देखकर रीझते हैं, उनके बाह्य व्यवहार पर ध्यान नहीं देते। यथा-'रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की।। कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की।।' (रामा०) 'दरसाय दिये हैं'-भाव यह कि शास्त्रों में भगवान का जो यह स्वभाव वर्णन किया है, उसे जगन्नाथजी ने पण्डों के प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।**

बोले प्रभु वेई आवैं-**बेचारे पण्डा मन्दिर के पीछे बैठकर रोते-बिलखते थे, अपनी भूल के लिए बारम्बार क्षमा-याचना करते थे। करुणामय प्रभु से यह, सब देखा नहीं जाता था। अतः श्रीरामानुजजी से बोले-मुझे तो उन पण्डों की ही सेवा अच्छी लगती है, मैं तो उन्हीं को चाहता हूँ। इन्होंने प्रतिवाद किया कि वे तो सर्वथा शूद्रवत् आचरण वाले हैं, उनकी सेवा क्यों अच्छी लगती है? भगवान ने कहा-वे कुछ भी करते हों परन्तु जब वे हमारे सामने ताली बजा-बजाकर नृत्य करते हैं तो हमें बड़ा ही प्रिय लगता है, अतः**

सेवाकार्य उनको ही दे दिया जाय। परन्तु ये तो सेवा सौंपना तो दूर रहा, उन्हें मन्दिर के जगमोहन में भी घुसने नहीं देते थे, चिपिया लेकर मारने दौड़ते थे। भगवान ने फिर कहा, तब ये बोले-प्रभो! वे तो ऐसे आचरणहीन हैं कि स्पर्शयोग्य भी नहीं हैं, फिर आप उनके हाथ का भोग कैसे आरोगेंगे। भगवान ने कहा-

करे अङ्गीकार मैं तो-**भगवान जिसे अङ्गीकार कर लेते हैं, वह सब प्रकार से हीन होकर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाता है यथा-**

जाको हरि दृढ़ करि अङ्ग कर्‌यो।
सोइ सुशील पुनीत वेदविद विद्या गुननि भर्‌यो।।
उत्पति पाण्डु सुतन की करनी सुनि सतपन्थ डर्‌यो।
ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोक तर्‌यो।
जो निजधरम वेद बोधित सो करत न कछु विसर्‌यो।
बिनु अवगुन कृकलास कूप मज्जितकर गहि उधर्‌यो।।
ब्रह्म बिशिख ब्रह्माण्ड दहनछम गर्भ न नृपति जर्‌यो।
अजर अमर कुलिसहुँ नाहिन बध सो पुनि फेन मर्‌यो।।
विप्र अजामिल अरु सुरपतितें कहा जो नहिं विगर्‌यो।
उनको कियो सहाय बहुत उर को सन्तान हर्‌यो।।
गनिका अरु कन्दरपते जगमहँ अघ न करत उबर्‌यो।
तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हृदि भवन धर्‌यो।।
केहि आचरन भलौ मानै प्रभु सो तौ न जानि पर्‌यो।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा कों जोवत पन्थ खर्‌यो।। **(वि०)**

श्रीसूरदासजी कहते हैं कि-

जाको हरि अङ्गीकार कर्‌यो।
ताके कोटि विघ्न हरि हरिकै अभय प्रताप दियो।।
दुर्वासा अम्बरीष सतायो सो हरि शरण गयो।
परतिज्ञा राखी मन-मोहन फिर तापैं पठयो।।
निकसि खम्भ ते नाथ निरन्तर अपने राखि लियो।
बहु सासना दई प्रहलादहिं ताहि निसङ्क कियो।।
मृतक भये सब सखा जिवाये विष जल जाइ पियो।
सूरदास प्रभु भक्त-वछल हैं उपमा कौन बियो।।

पुनः भगवान जिसको स्वीकार कर लेते हैं उसका परित्याग नहीं करते। यथा-

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं कूर्मो बिभर्त्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे।
अम्भोनिधिर्वहति दुःसहवडवाग्निमङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।।

अर्थ-भगवान शिवजी ने कालकूट विष को अङ्गीकार किया तो अब तक उसे कण्ठ में धारण किये हैं, उसका त्याग नहीं करते, श्रीकच्छप भगवान अब तक पृथ्वी को पीठ पर धारण किये हैं, समुद्र ने दुःसह वडवाग्नि को अब तक धारण कर रखा है। इससे सिद्ध होता है कि सुकृतीजन जिसको स्वीकार करते हैं उसका ओर-छोर निर्वाह करते हैं। भगवान का भी यही स्वभाव है। दृष्टान्त-शेरगढ़ के आमिलका देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६५।

प्यार ही······न लिये हैं-**यथा-**

जन गुण अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि विलोकि विसारन।। **(वि०)**

चौ०- जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ।।
जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। फिरि सुकण्ठ सोइ कीन्ह कुचाली।।
सोइ करतूति विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।।
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुवीर बखाने।।
दो०- प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब शील निधान।।

लीनी वेदवाणी-**श्रीरामानुजाचार्यजी वेदवाक्यों के आधार पर पण्डा-पुजारियों को अयोग्य ठहराते हुए भगवान श्रीजगन्नाथजी को निरुत्तर कर देते। यथा-वेद में लिखा है- 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' अर्थात् देवता होकर (दैवी गुणों से युक्त होकर) देवता की पूजा करनी चाहिए आदि। भगवान ने कहा कि मुझे भी वेदों ने पतित-पावन कहा है। श्रीआचार्यजी ने कहा-आप उनके घर जाकर चाहे जैसे रहें, मन्दिर में तो आपको मर्यादा से ही रहना पड़ेगा। अन्त में भगवान ने कहा-आप तो भक्ति-प्रचारार्थ अवतार लिए हैं, और यहाँ पुजारी बन बैठे। यह ठीक नहीं। श्रीस्वामीजी ने कहा-हम जगत् में भक्ति का, धर्मका प्रचार करें और आपके यहाँ अनाचार हो, यह भी तो ठीक नहीं है। पहले मूल को ही सुधारना चाहिए। भगवान चुप लगा गये।**

जोरावर भक्त सों बसाइ नहीं कही किती रती हूँ न लावैं मन चोज दरसायौ है।
गरुड़ को आज्ञा दई सोई मानि लई उन शिष्यनि समेत निज देश छोड़ि आयौ है।।

जागिकै निहारे ठौर और ही मगन भये, दिये यों प्रकट करि गूढ़ भाव पायो है।
वेई सब सेवा करैं श्याम मन सदा हरैं, धरैं साँचो प्रेम हिये प्रभुजू दिखायो हैं।।१०९।।

शब्दार्थ-**जोरावर=जबरदस्त, बलवान। बसाय नहीं=चलै नहीं। निजदेश=दक्षिण में भूतपुरी।**

भावार्थ-**प्रतापी भक्त के सामने भगवान का भी वश नहीं चलता है। जगन्नाथजी ने कई बार कहा, पर श्रीरामानुजाचार्यजी ने रत्तीभर भी ध्यान नहीं दिया, तब भगवान ने एक कौतुक दिखाया, वह यह कि-गरुड़जी को आज्ञा दी कि-रात को सोते समय शिष्यों के समेत श्रीरामानुज को स्वदेश पहुँचा दो। गरुड़जी ने श्रीजगन्नाथजी की आज्ञा मान ली और सबको ले जाकर उनके अपने देश भूतपुरी में छोड़ आये। प्रातःकाल जागकर देखें तो जगन्नाथधाम नहीं है, यह तो दूसरी ठौर श्रीरङ्गनाथधाम है। श्रीरामानुजाचार्यजी ने अपना प्रेमहठ और भगवान की भक्तवत्सलता का गूढ़भाव अनुभव करके सभी शिष्यों को प्रकट बता दिया, उसे जानकर श्रीरामानुजाचार्यजी समेत सभी आनन्दमग्न हो गये। वे ही सब पुजारी पुनः जगन्नाथजी की सेवा करने लगे। सच्चे प्रेम को हृदय में रखकर श्यामसुन्दर के मन को रिझाने लगे। प्रभु ने अपना गूढ़-प्रेमभाव एवं मन्तव्य प्रकट कर दिया कि-मैं भक्तिविहीन वेद-विधि और आचार से उस प्रकार प्रसन्न नहीं होता हूँ जिस प्रकार कि सच्चे सहज प्रेम से।।१०९।।**

व्याख्या-जोरावर भक्त०-**यथा-'विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद-विदित यह लीख। बलिसों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख।।' (वि०) श्रीरामानुजाचार्यजी एक तो जोरावर भक्त थे दूसरे शेषावतार थे, अतः थे बड़े ही तेजतलब। इसका पग-पग पर अनुभव हो चुका था लक्ष्मणावतार में। श्रीरामजी महाराज शेषावतार श्रीलक्ष्मणजी के वचनों को बहुत महत्व देते थे। अतः श्रीजगन्नाथ भगवान भी श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी से अधिक बात करने में डरते थे। इसलिये 'नयो चोज दरसायो है।'**

गरुड़···आयो है-**बार-बार कहने पर भी जब श्रीरामानुजजी ने भगवान की बातों पर ध्यान नहीं दिया तो वे उदास हो गये। मन्दिर के द्वार पर श्रीगरुड़जी महाराज रहते हैं। उन्होंने जब भगवान को उदास देखा तो उदासी का कारण पूछा। दीनवत्सल भगवान के नेत्रों में आँसू भर आये। बार-बार पूछने पर प्रभु ने सब बातें गरुड़जी से कही। तब श्रीगरुड़जी ने कहा-जै-जै, प्रभो! दास के लिए आप आज्ञा करें, मैं सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ। श्रीप्रभु ने कहा-गरुड़जी! सेवा यही है कि इन लोगों को सोते हुए ही उठाकर आप**

भूतपुरी पहुँचा दीजिये। ये यहाँ रहेंगे तो मुझे प्रसन्नता नहीं होगी। श्रीगरुड़जी ने सबको उठाया और एक क्षण में ही भूतपुरी छोड़ आये।

मगन भये-**प्रभु की प्रीति रीति विचारकर मग्न हुए कि-**

ऐसी कौन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पांवरनि पर प्रीति।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहिं कृपालु जादवराइ।।
काम मोहित गोपिकन पर कृपा अतुलित कीन।
जगतपिता विरञ्चि जिनके चरण की रज लीन।।
नेम ते सिसुपाल दिन प्रति देइ गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आप में हरि राज सभा मँझारि।।
व्याध चित दै चरण मार्‍यौ मन्दमति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि।।
कौन तिनकी कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोय।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।। **(वि०)**

निष्कर्ष यह है कि जब भगवान पूतना, शिशुपाल आदि अपराधियों पर भी अनुग्रह किये तो यदि सेवा करने वाले पण्डा-पुजारियों पर कृपा करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? 'धरैं साँचो प्रेम हिये'-यथा-

साँचे मन के मीता रघुवर साँचे मन के मीता।
कब शबरी काशी को धाई कब पढ़ि आई गीता।।
जूठे फल ताके प्रभु खाये नेक लाज नहि कीता।
लङ्कापति को गर्व हर्‌यो है राज विभीषण दीता।।
किय सुग्रीव सखा रघुनन्दन वानर किये पुनीता।
सफल यज्ञ मुनिजन के कीने सब भूपन बल जीता।।
भसम रमाई कहाँ अहिल्या गनिका योग न कीता।
तुलसिदास प्रभु शुद्धचित्त लखि सबहिं मोक्षपद दीता।।

विशेष देखिये पूर्वार्द्ध, क० ९-'सन्त प्रीति को विचार करैं', पृष्ठ-७०।। भगवान को प्रसन्न करने के श्रुति-शास्त्र-पुराणोक्त विविध साधनों में प्रेम सर्वोपरि है। यथा-'सबसे ऊँची प्रेम

सगाई।' (सूरदास) पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।। (कागभुसुण्डि-वाक्य) 'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जस निष्केवल प्रेम।। (रा०शिव-वाक्य) रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा।। ज्ञान विराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हिलोरे।। (श्रीतुलसीदासजी) साधन आन प्रेम सम नाहीं। साँचहु याके सरि न मिलेउ कोउ भुवन चतुर्दश माहीं।।' (श्रीबियोगीहरिज़ी) आदि।

दक्षिण भारत, द्रविड़ देश में मद्रास से साढ़े तीन योजन दूर नैर्ऋत कोण में स्थित महाभूतपुरी नामक गाँव में आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व परम यज्ञनिष्ठ श्रीकेशवाचार्यजी विराजते थे। इनकी परम सुशीला, सती-साध्वी भागवती पत्नी थीं-देवी कान्तिमतीजी। ब्राह्मण दम्पति ने सुन्दर, सुयोग्य सन्तान की कामना से यज्ञ द्वारा यज्ञपुरुष भगवान विष्णु की आराधना की। भगवान ने स्वप्न में दर्शन देकर स्वांशभूत श्रीशेषजी को पुत्र रूप में प्रगट होने का वरदान दिया। फलतः विक्रम सम्वत् १०७४ में आर्द्रा नक्षत्रयुक्त चैत्रमास, शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि को श्रीशेषभगवान माता कान्तिमती की कोख से श्रीरामानुजजी के रूप में प्रगट हुए। पण्डित केशवाचार्यजी के घर पुत्र जन्म का महान् उत्सव मनाया गया। तदनन्तर यथा-समय बालक रामानुज के अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूड़ाकरण, उपनयनादि सभी शुभ-संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। गाँव की ही एक पाठशाला में विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ।

अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि होने के कारण अल्प समय में ही समग्र शास्त्रों का सम्यक् बोध हो गया। सोलह वर्ष की अवस्था में इनका एक सत्कुलोत्पन्ना, परम सुन्दरी तेजमाम्बा नाम की कन्या से विवाह सम्बन्ध हुआ। पुत्र का ब्याह हो जाने से मानो माता-पिता की सभी अभिलाषायें ही पूर्ण हो गईं। विधि के विधान के अनुसार कुछ काल बाद इनके पिताजी का वैकुण्ठवास हो गया। इन्होंने विधिपूर्वक पिता का और्ध्वदैहिक कृत्य किया। इसके बाद ये अपनी माता एवं पत्नी को लेकर काञ्चीपुरी में जाकर रहने लगे। जन्मस्थान भूतपुरी को छोड़कर काञ्चीपुरी में निवास के दो कारण थे। एक तो परम वैष्णव श्रीकाञ्चीपुरी स्वामी का सत्सङ्ग, दूसरा कारण था अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित श्रीयादवप्रकाशजी से ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन। परम प्रतिभाशाली श्रीरामानुजजी जैसा शिष्य पाकर यादवप्रकाश जी बड़े ही प्रसन्न हुए। श्रीरामानुजजी बड़े ही मनायोग से ब्रह्मसूत्रों के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने लगे।

एक दिन की बात है-श्रीरामानुजजी गुरु श्रीयादवप्रकाशजी को तेल लगा रहे थे, और एक विद्यार्थी छान्दोग्य उपनिषद् के 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'। इस

मन्त्र में आये हुए 'कप्यासं' शब्द का अर्थ पूछ रहा था। यादवप्रकाशजी ने 'कप्यासं' का अर्थ किया-कपि नितम्ब और मन्त्रार्थ यह बतलाया कि-उस परम तेजोमय पुरुष की दोनों आँखें कपिनितम्ब एवं पद्म के तुल्य हैं। इस विसदृश एवं हीनोपमायुक्त व्याख्या को सुनकर श्रीरामानुजजी के भावुक हृदय को बड़ी ही ठेस लगी और आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगा। जब यादवप्रकाशजी ने अश्रुविमोचन का हेतु पूछा तो इन्होंने कहा कि भगवन्! आप जैसे महानुभाव के मुख से इस प्रकार का हीन अर्थ सुनकर मैं बड़ा मर्माहत हुआ। भला निखिलसौन्दर्यसिन्धु भगवान के नेत्रों के लिए वानर के नितम्ब की उपमा देना कितना अन्याय और पापपूर्ण है। यादवप्रकाश ने झुँझलाकर कहा-यदि मेरा अर्थ अच्छा नहीं लगता है तो तुम्हीं इसका कोई बढ़िया अर्थ करो। तब इन्होंने अर्थ किया-'कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यः' एवं विकासवाची अस् धातु से आस शब्द सिद्ध होता है। इससे 'कप्यासं' का अर्थ हुआ-सूर्य विकासि और मन्त्रार्थ हुआ-उस परम तेजोमय पुरुष की आँखें सूर्य विकासि लाल कमल के समान शोभाशालिनी हैं।

ऐसे ही एक दिन 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' इस सूत्र की व्याख्या पर गुरु-शिष्य में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत परक अर्थों को लेकर विवाद हो गया। गुरुजी अद्वैत का प्रतिपादन करते और श्रीरामानुजजी उसका खण्डन करके विशिष्टाद्वैत का निरुपण करते। उसी दिन से यादवप्रकाशजी श्रीरामानुजजी से शङ्कित रहने लगे कि कहीं ऐसा न हो कि आगे चलकर यह बालक अद्वैत मत को सर्वथा निरस्त करके अपना सिद्धान्त स्थापन करने लगे। अतः इस कण्टक को अभी निकाल फेंकना चाहिए। इसके लिए यादवप्रकाश ने एक षड्यन्त्र रचा। उन्होंने अपने मन मिले विद्यार्थियों से सलाह किया कि यह रामानुज बात-बात में हमारा विरोध करता है, इसे अपनी प्रतिभा का बड़ा अभिमान है, जब यह हमारा अदब नहीं करता है तो तुम विद्यार्थियों को कब मानने लगा। निश्चय ही यह एक दिन हम लोगों का तिरस्कार करके एक नवीन पाठशाला खोलकर एक नये सिद्धान्त का प्रचार करेगा अतः मेरे विचार से तो पनपने से पूर्व इसका वध कर दिया जाय तो बड़ा अच्छा हो और इसके लिए मैंने उपाय भी सोच रखा है। वह यह कि हम लोग मिलकर गङ्गास्नान करने चलें। मार्ग में घोर जङ्गल में पहुँचकर उसको मार डालेंगे और फिर गङ्गास्नान करके उसके वध का प्रायश्चित्त कर लेंगे। बात तय हो गई। श्रीरामानुज भी इस प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं कर सके। सब लोग तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। विन्ध्याचल के घोर जङ्गल में पहुँचने पर जब परस्पर काना-फूँसी होने लगी तो श्रीरामानुज जी के मौसेरे भाई गोविन्द

को यादवप्रकाश के षड्यन्त्र का पता लगा गया। गोविन्द श्रीरामानुजजी को प्राणों से भी अधिक मानते थे। भला ऐसे अवसर पर वे कैसे चूक सकते थे। सब लोग अपनी दाँव घात विचारते हुए अपनी धुन में चले जा रहे थे, एकान्त पाकर गोविन्द ने श्रीरामानुजजी से इन नर-पिशाचों की सब बातें बता दीं और अनुरोध किया कि अब तुम इनकी आँख बचाकर शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से घर लौट जाओ।

साधु-हृदय श्रीरामानुजजी प्रथम तो यह अशुभ बात सुनकर काँप गये, परन्तु तत्काल ही सर्वरक्षक भगवान श्रीनारायण का स्मरण करते ही हृदय में अपूर्व धैर्य हो आया और प्रसिद्ध मार्ग छोड़कर विजन वन में प्रविष्ट होकर बहुत तेजी से घर की ओर चल पड़े और गोविन्द सहपाठियों में आ मिले। जब यादवप्रकाश ने विद्यार्थियों में श्रीरामानुजको नहीं देखा तो, पूछा, पता लगाया, बहुत ढुढ़वाया, परन्तु तब भी जब कुछ पता नहीं लगा तो निश्चय कर लिया कि उसे कोई हिंस्त्र जानवर खा गया। अतः भीतर से तो बड़े प्रसन्न हुए कि 'बिनु औषधि बिआधि बिधि खोई।' परन्तु ऊपर से समवेदना प्रकट करते हुए विद्यार्थियों को विशेषकर श्रीरामानुजजी के आत्मीय गोविन्द को ज्ञानोपदेश करने लगे। इसके बाद सब लोग काशी पहुँचे। कहते हैं कि वहाँ पहुँचते ही यादव प्रकाश रोगग्रस्त हो जाने के कारण न तो ठीक से गङ्गास्नान ही कर पाये न श्रीविश्वनाथजी का दर्शन ही। तभी तो कहा गया है-'विफल होइ सब उद्यम ताके। जिमि पर द्रोह निरत मनसा के।' एक दिन गोविन्द गङ्गास्नान करने गये; डुबकी लगाते ही सुन्दर शिवलिङ्ग हृदय से आ लगा। श्रीगङ्गा माता और भगवान शिव की कृपा विचारकर गोविन्द गद्गद हो गये। यादवप्रकाश ने भी गोविन्द के भाग्य को सराहा। फिर कुछ दिन काशी में रहकर सब लोग घर लौट आये।

इधर श्रीरामानुजजी दिनभर जङ्गल के कठिन मार्ग से चलने के कारण अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त, क्षुधित-तृषित एक वृक्ष के नीचे कुछ घड़ी तक विश्राम करने के अनन्तर यह विचार कर रहे थे 'किं करोमि' 'क्व गच्छामि।' इतने में एक व्याध दम्पति वहाँ आ गये। वस्तुतः वे स्वयं भगवान् श्रीलक्ष्मी-नारायणजी थे, जो कि अपने भक्त की रक्षा करने के लिए इस वेष में आये। परस्पर दोनों एक दूसरे का परिचय पाकर प्रसन्न हुए। क्योंकि दोनों का गन्तव्य स्थान एक ही दिशा में था। व्याध ने कहा-हम लोग तीर्थयात्रा करने निकले हैं, कांचीपुरी होते हुए सेतुतीर्थ जायेंगे। हम जङ्गल के मार्ग से परिचित हैं अतः तुम भी हमारे साथ चलो। फिर तो श्रीरामानुजजी इसे भगवदनुग्रह ही मानकर उनके सङ्ग चल पड़े। कुछ

दूर जाने पर अँधेरा हो गया। अतः एक वृक्ष के नीचे अग्नि जलाकर रात्रि मे विश्राम किये। रात्रि में व्याध पत्नी ने कहा-मुझे प्यास लगी है। कहीं जल का पता लगाओ। व्याध ने कहा- रात्रि में कहीं जाना ठीक नहीं है, अभी सोये रहो, पास में ही एक बावली है, सबेरे वहीं चलकर जलपान करेंगे। दूसरे दिन तीनों यात्री बावली के पास पहुँचे। व्याध-पत्नी प्यास के कारण अत्यन्त विकल हो रही थी, अतः श्रीरामानुजजी ने दया परवश हो अञ्जलि में जल भरकर पहले व्याध पत्नी एवं व्याध-इन दोनों को जल पिलाया। इसके बाद स्वयं जल पीकर जब ऊपर आये तो देखे कि वहाँ न व्याध है न व्याध-पत्नी। श्रीरामानुजजी समझ गये कि यह कोई और नहीं, स्वयं भगवान ही थे। मन ही मन प्रभु को प्रणामकर आगे चले तो कुछ ही दूर जाने पर एक नगर दिखाई पड़ा और पूछने पर मालूम हुआ कि यह कांचीपुरी है। मन में बड़ा विस्मय हुआ कि महीनों का रास्ता एक ही दिन में कैसे तय हो गया। निश्चय ही यह प्रभुकृपा है। घर आकर श्रीरामानुजजी माता के चरणों में प्रणाम कर यात्रा का विवरण-यादवप्रकाश की दुरभिसन्धि तथा भगवत्कृपा का प्रसङ्ग सुनाये। पुत्र को सकुशल देखकर माता ईश्वर की दया का स्मरणकर प्रेमविभोर हो गईं। श्रीरामानुजजी घर पर ही शास्त्राभ्यास करने लगे।

उधर कुछ दिन बाद यादवप्रकाश जी भी काँचीपुरी में आ गये। श्रीरामानुजजी का कुशलक्षेम सुनकर प्रथम तो बड़े लज्जित हुए, फिर बाद में यह विचारकर कि मेरे षड्यन्त्र की जानकारी तो किसी को है नहीं, ऊपर से बड़ा स्नेह दर्शाते हुए श्रीरामानुजजी को अपनी पाठशाला में ही पढ़ने का आग्रह किये। श्रीरामानुजजी पुनः यादवप्रकाश के यहाँ आने-जाने लगे। उन्हीं दिनों कांचीपुरी नरेश की राजकुमारी को ब्रह्मराक्षस की बाधा हुई। चारों ओर से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मन्त्रवेत्ता बुलाये गये। परन्तु किसी के द्वारा यह बाधा दूर नहीं हुई। तब एक दिन मन्त्राचार्य यादवप्रकाशजी बुलाये गये। उन्हें देखते ही ब्रह्म पिशाच ने बड़े जोर से अट्टहास किया और बोला-तुम्हारे मन्त्र तन्त्र से कुछ होने वाला नहीं है। तुम तो हमसे भी अधम हो। तुम्हें मालूम नहीं है, मैं जानता हूँ, तुम पूर्वजन्म में गोहर (विष-खोपड़ा) थे। एक सन्त ने भोजन करके पत्तल तुम्हारे बिल के समीप फेंक दिया था, तुमने सन्त की सीथ-प्रसादी पाई। उसी पुण्य से तुमको ब्राह्मण शरीर मिला। परन्तु मैं तो कई जन्मों से ब्राह्मण ही होता आया हूँ। पूर्वजन्म में मैं महान् याज्ञिक ब्राह्मण था। किंचित् प्रमादवश मन्त्र अशुद्ध उच्चारण करने के कारण मुझे ब्रह्म राक्षस होना पड़ा। तुम व्यर्थ प्रयत्न मत करो, यदि मुझे हटाना ही चाहते हो तो अपने शिष्य श्रीरामानुजजी को बुलवाओ वे यदि

अपना चरणोदक मुझे दे दें और अपना श्रीचरण मेरे मस्तक पर धर दें तो मैं तुरन्त छोड़कर चला जाऊँगा।

श्रीरामानुजजी बुलवाये गये। सचमुच इनका दर्शन करके, चरणोदक पान एवं चरण-स्पर्श करके ब्रह्मराक्षस ने राजकुमारी को छोड़ दिया। इतना ही नहीं, उस प्रेत का भी उद्धार हो गया। वह दिव्यरूप धारणकर स्वर्गलोक चला गया। काञ्ची नरेश ने श्रीरामानुजजी का बड़ा सत्कार किया। श्रीरामानुजजी ने राजा के द्वारा जो भी धन-द्रव्य मिला था, सब श्रीयादवप्रकाशजी को ही अर्पण कर दिया। इस घटना से श्रीरामानुजकी कीर्ति का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु यादवप्रकाशजी को इनका यह उत्कर्ष ईर्ष्या का विषय बन गया। वे पुनः पूर्ववत् ही श्रीरामानुज पर कुढ़ने लगे। इसी बीच एक दिन यादवप्रकाशजी उपनिषद् के 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इन मन्त्रों की अद्वैतपरक व्याख्या कर रहे थे, श्रीरामानुजजी ने बड़े ही शास्त्रानुमोदित रीति से इन्हीं मंत्रों की भक्तिपरक व्याख्या करके सबको चकित कर दिया। यादवप्रकाश ने क्रुद्ध होकर कहा-यदि तुम्हें हमारी व्याख्या नहीं अच्छी लगती है तो तुम अब मेरी पाठशाला में मत आना। 'जो आज्ञा' कहकर श्रीरामानुजजी उन्हें प्रणामकर घर चले आये और घर पर ही शास्त्र चिन्तन करने लगे।

पूर्व कहा जा चुका है कि रामानुजजी काञ्चीपुरी निवासी श्रीकाञ्चीपूर्णजी के सत्सङ्ग के लिए भूतपुरी छोड़कर काञ्चीपुरी में आकर रहने लगे। श्रीकाञ्चीपूर्णजी भी इनसे बड़ा स्नेह करते थे। वे एक दिन घर पर आये तो उनको साक्षात् श्रीरङ्गनाथ जानकर बड़ा स्वागत सत्कार करने के उपरान्त श्रीरामानुजजी ने उनको यादवप्रकाशजी का सब वृत्तान्त सुनाया और चरणों में पड़कर बोले-मैं तो अब सब प्रकार से आपके ही चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ। श्रीकाञ्चीपूर्णजी ने बड़े प्रेम से उनको उठाकर कहा-बेटा मैं तुम्हारी भगवद्भक्ति देखकर बड़ा प्रसन्न हूँ। तुम आज से प्रतिदिन शालकूप (जिसका, जल श्रीरामानुजजी ने व्याध दम्पत्ति के वेष में आये हुए श्रीलक्ष्मी-नारायण को पिलाया था) से श्रीवरदराज भगवान की सेवा के लिए एक घड़ा जल ले आया करो। बहुत शीघ्र ही तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण होंगे। श्रीरामानुजजी ने उसी दिन से सेवा प्रारम्भ कर दी।

श्रीयामुनाचार्यजी का चरित्र पूर्व आ चुका है। श्रीरङ्गनाथजी की सेवा में ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया था। अब उनका पाञ्चभौतिक शरीर शिथिल हो चुका था और कुछ रुग्ण भी रहने लगा था। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि श्रीरङ्गनाथजी

की सेवा एवं भक्ति प्रचार का उत्तराधिकार किसको सौंपूँ। इसके लिए उन्होंने वैष्णवों से परामर्श किया तो उन लोगों ने श्रीरामानुजजी को योग्य अधिकारी बताया। श्रीयामुनाचार्यजी स्वयं भी श्रीरामानुज की कीर्ति सुन चुके थे और एक बार काञ्चीपुरी में श्रीवरदराज भगवान का दर्शन करने गये थे तो श्रीरामानुज को देखे भी थे, जब वे यादवप्रकाशजी के यहाँ अध्ययन कर रहे थे। अतः उन्होंने वैष्णवों की बात मान ली। इसी समय काञ्चीपुरी से दो ब्राह्मण आये। उन ब्राह्मणों ने भी श्रीरामानुजजी का यशोगान किया और बताया कि इस समय यादवप्रकाशजी का विद्यालय छोड़कर श्रीवरदराजजी की सेवा में हैं। यह सुनकर श्रीयामुनाचार्यजी बहुत प्रसन्न हुए और उसी समय अपने प्रिय शिष्य महापूर्णजी को श्रीरामानुजजी को बुलाने के लिए भेजा। उधर श्रीरङ्गनाथजी ने विचार किया कि यदि ये दोनों विभूतियाँ मिल जायेंगी तो निश्चय ही सारे जगत् का उद्धार करने में समर्थ हो जायेंगे, फिर तो मेरी संसाररूपी फुलवारी ही उजड़ जायेगी, अतः ऐसा करूँ कि इनका मिलन न होने पावे।

आज जब श्रीयामुनमुनिजी सेवा में उपस्थित हुए तो भगवान ने कहा कि अब आप मेरे नित्य-धाम को चले आइये। इन्होंने कहा-जै-जै प्रभो! इतनी जल्दी क्या है, कुछ दिन और सेवा में रहने दीजिये। भगवान ने कहा-मुझे आपके बिना अच्छा नहीं लगता है। इन्होंने कहा-अभी तो शरीर रुग्ण है, इस रोग का कष्ट तो भोग लेने दीजिये, नहीं तो भोग शेष रह जाने पर दूसरे शरीर में फिर भोगना पड़ेगा। भगवान ने कहा-भोग चेलों को दे दीजिये, वे भोग लेंगे, आप तो चले आइये। तब इन्होंने कहा-अच्छा तो कम से कम आठ दिन की मुहलत दी जाय, जिसमें कि यहाँ का सब कार्य सुव्यवस्थित कर लूँ। फिर आ जाऊँगा। भगवान ने पहले तो इन्कार कर दिया फिर बाद में स्वीकृति दे दिया। श्रीयामुन मुनि ने आठ दिन का अवकाश इसलिए माँगा था कि चार दिन तो महापूर्णजी को कांचीपुरी पहुँचने में लगेगा और चार दिन आने में। प्रभु ने हामी तो भर ली परन्तु किया अपने मन का ही। श्रीमहापूर्णजी और श्रीरामानुजजी अभी श्रीरङ्गम् पहुँच नहीं पाये, इधर श्रीयामुनमुनि वैकुण्ठ सिधार गये। श्रीयामुनाचार्यजी के दर्शन के लिए अत्यन्त व्यग्र श्रीरामानुजजी कावेरी नदी पारकर आगे बढ़े तो इन्हें अपार जनसमुदाय की भीड़ दिखाई पड़ी। पूछने पर मालूम हुआ कि श्रीआलवन्दार (यामुनमुनि) परमपद पा गये। यह सुनते ही इनको मूर्छा आ गई। श्रीमहापूर्णजी ने समयोचित उपचार द्वारा मूर्छा दूर की और बहुत प्रकार से समझाया-बुझाया। इसके बाद दोनों ही महानुभाव श्रीयामुन मुनि के भक्तिपूत शरीर का दर्शन करने गये।

श्रीरामानुजजी ने बड़े गौर से शरीर का अवलोकन किया तो देखा कि महर्षि के दाहिने हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई हैं। साधारण जीव भला इस रहस्य को क्या समझे, श्रीरामानुजजी जान गये कि श्रीयामुनमुनि की तीन प्रबल अभिलाषायें थीं, जिसके लिए हमें बुलाये थे, परन्तु समय पर नहीं पहुँचने से वे उनको कह नहीं सके, निश्चय ही टेढ़ी अँगुलियों के ब्याज से आचार्यपाद ने उन्हीं का सङ्केत किया है। फिर सबको सुनाकर श्रीरामानुजजी ने कहा–मैं श्रीवैष्णव मत का प्रचार करके, जीवों को श्रीनारायण के शरणागत करके उनका संसार से उद्धार करूँगा। यह कहते ही मुनि की एक अँगुली सीधी हो गई। श्रीरामानुजजी ने पुनः कहा–मैं ब्रह्मसूत्र एवं विष्णुसहस्त्रनाम पर तत्वप्रतिपादक 'श्रीभाष्य' की रचना करूँगा। यह कहते ही दूसरी अँगुली भी सीधी हो गई। फिर बोले–द्रविड़भाषा में लिखे गये दिव्य प्रबन्धों को संस्कृत में अनूदित करके उनको तथा विष्णुपुराण को मैं वैष्णवों को पढ़ाऊँगा। यह सुनते ही तीसरी अँगुली भी सीधी हो गई। उस समय देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, सब लोगों ने श्रीयामुनमुनि एवं श्रीरामानुजजी का जै-जैकार किया। इसके बाद श्रीमुनिजी की विधिपूर्वक अन्त्येष्टि की गई। श्रीयामुनमुनि के शिष्यों ने श्रीरामानुजजी से श्रीरङ्गनाथजी का दर्शन करने के लिए कहा। परन्तु इन्होंने अश्रुविमोचन करते हुए कहा–जिस भगवान ने मेरा अभीष्ट पूरा नहीं किया, मैं ऐसे निष्ठुर भगवान का दर्शन नहीं करना चाहता। यह कहकर ये पुनः कांचीपुरी चले आये।

श्रीरामानुजजी की बड़ी अभिलाषा थी कि मैं वैष्णवदीक्षा श्रीयामुनाचार्यजी से लूँ। परन्तु भगवदिच्छा कुछ और ही थी, मुनि पहले ही परमधाम को प्रस्थान कर गये। तब श्रीरामानुजजी ने श्रीयामुनाचार्यजी के पाँच प्रमुख शिष्यों द्वारा पाँच उपदेश ग्रहण किये। श्रीकांचीपूर्णजी से श्रीवरदराज भगवान की सेवा-पूजा पद्धति, श्रीमहापूर्णजी से वैष्णव पंच-संस्कार तथा द्रविड़ प्रबन्धमाला का रहस्यार्थ, श्रीगोष्ठीपूर्णजी से श्रीनारायण मन्त्र की दीक्षा, श्रीशैलपूर्णजी से श्रीमद्वाल्मीकि रामायण तथा श्रीमालाधरजी से सहस्त्रगीतिका भावार्थ–इस प्रकार इन पाँचों आचार्यों द्वारा पंचोपदेश तत्व ग्रहण किये। श्रीरामानुजजी की इन आचार्यों में बड़ी निष्ठा थी। परन्तु संयोग की बात–इनकी पत्नी तंजमाम्बा में वैसा भक्ति-भाव नहीं था। एक दिन श्रीरामानुजजी ने श्रीकांचीपूर्णजी का निमन्त्रण किया। मन में उनका उच्छिष्ट प्रसाद पाने की लालसा थी। इन्होंने पत्नी से कहा कि बढ़िया सामान बनाओ, आज गुरुजी को भोजन कराना है। पत्नी ने भोजन तैयार किया, ये कांचीपूर्णजी को बुलाने गये, तब तक वे दूसरे रास्ते से इनके घर आ गये और तंजमाम्बा से बोले–मुझे

श्रीवरदराज भगवान की सेवा में शीघ्र पहुँचना है अतः जो कुछ प्रसाद तैयार हो वह जल्दी पवा दो। मैं अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। तञ्जमाम्बा ने उन्हें भोजन कराया। वे भोजन करके उच्छिष्ट दोने-पत्तल बाहर फेंककर जहाँ पाये थे वहाँ चौका भी लगा दिये और वहाँ से चलते बने। तञ्जमाम्बा शेष भोजन शूद्रों को देकर पुनः नहा-धोकर फिर रसोई बनाने लगीं। तब तक श्रीरामानुजजी आ गये, पता लगा कि वे प्रसाद पाकर चले गये, मैं सीथ-प्रसादी से वंचित रह गया-इस बात का इनको बड़ा दुःख हुआ और सबसे अधिक दुःख तो तब हुआ जब पत्नी से दुबारा रसोई बनाने का कारण पूछे और तंजमाम्बा ने कहा-हीन वर्ण का भुक्तावशिष्ट मैं आपको कैसे दे सकती हूँ। श्रीगुरु के प्रति अपमान-सूचक इन वचनों को सुनकर इनको मर्मान्तक पीड़ा हुई। मन मसोसकर रह गये। अभी यह दुःख बना ही था कि एक अप्रिय घटना और घट गई।

श्रीगुरुमहापूर्णाचार्यजी उन दिनों कांचीपुरी में ही रहकर इन्हें दिव्य प्रबन्ध-माला पढ़ा रहे थे। एक दिन गुरु-शिष्य दोनों किसी आवश्यक कार्यवश बाहर गये थे। तंजमाम्बा और महापूर्णाचार्यजी की पत्नी कुएँ पर जल भरने गईं। संयोग से आचार्य पत्नी के घड़े का जल छलककर तंजमाम्बा के घड़े पर पड़ गया। बस, इतने मात्र से ही वह लाल-पीली हो गईं। और आचार्य पत्नी को बहुत अवाच्य बचन बोल गईं। जब महापूर्णजी घर आये तो पत्नी ने रोकर तंजमाम्बा का सब हाल-हवाल कहा। श्रीमहापूर्णजी ने कहा-दुःख की कोई बात नहीं है, हम लोगों को यहाँ रहते बहुत दिन हो गये हैं, अब श्रीरङ्गनाथजी याद कर रहे हैं इसी से यह लीला भई है, अब हमें शीघ्र यहाँ से चल देना चाहिए। दोनों पति-पत्नी चुपके से श्रीरङ्गम को प्रस्थान कर दिये। जब श्रीरामानुजजी को यह दुःखद समाचार मिला तो उनको बड़ा ही सन्ताप हुआ। परन्तु घटनाक्रम यहीं समाप्त नहीं हुआ। एक दिन शरीर में तैलमर्दन के लिए आये हुए एक सेवक को भूखा जानकर श्रीरामानुजजी ने पत्नी से उसे भोजन देने को कहा तो वह तुरन्त इन्कार कर गईं कि घर में कोई खाने पीने की तैयार वस्तु नहीं है। यह कहकर वह स्नान करने चली गईं। तब इन्होंने घर में जाकर देखा तो प्रचुर सामान ताजा-बासी पड़ा था। ये सेवक को भरपेट भोजन कराये।

ऐसे ही एक दिन ये श्रीवरदराज भगवान की सेवा में गये थे, इधर घर पर एक भूखा ब्राह्मण आया। तंजमाम्बा ने सत्कार करना तो दूर रहा उसे बहुत फटकार लगाई। वह गरीब ब्राह्मण दुःखी होकर अपने भाग्य को ही कोसता हुआ लौटा जा रहा था कि मार्ग में श्रीरामानुजजी मिल गये। जब उन्हें सब बात मालूम हुई तो उनके दुःख का पारावार नहीं

रहा। ब्राह्मण को समझा-बुझाकर धैर्य दिये और बोले-ब्रह्मन्! एक बार आप फिर मेरे घर जाइये, अबकी बार आपका बहुत सत्कार होगा। यह कहकर श्रीरामानुजजी ने बाजार से कुछ वस्त्र एवं फल-फूल खरीदकर ब्राह्मण को दिये और एक पत्र भी लिखकर दिये और बोले कि घर जाकर कहना कि मैं आपके मायके से आया हूँ। आपके माता-पिता ने यह उपहार दिया है और यह पत्रिका भेजी है, आपकी बहिन का विवाह होने वाला है। ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। फिर तो तञ्जमाम्बा ने सचमुच ब्राह्मण को सिर-माथे पर ले लिया। तब तक श्रीरामानुजजी घर आ गये। पत्नी ने सब वार्ता सुनाई। इन्होंने कहा कि मुझे तो अभी अवकाश नहीं है, अतः आज तो तुम्हीं चली जाओ, आगे उत्सव पर मैं भी आ जाऊँगा। पत्नी खुशी-खुशी मायके को प्रस्थित हुई। इधर उन्होंने श्रीवरदराज भगवान की आज्ञा लेकर संन्यास ले लिया। श्रीकाञ्चीपूर्णजी ने इन्हें 'यतिराज' कहकर सम्बोधित किया और सभी वैष्णवों ने इनकी स्तुति की और अपना आचार्य माना।

संन्यास लेने के अनन्तर श्रीरामानुजजी का प्रभाव इतना बढ़ा कि और की तो बात ही क्या?-श्रीयादवप्रकाशजी भी (जो पूर्वाश्रम के इनके विद्यागुरु थे) इनसे संन्यास की दीक्षा लेकर शिष्यत्व ग्रहण किये। श्रीआचार्यपाद ने इनका नाम रखा-गोविन्ददास। श्रीगोविन्ददास ने 'यति धर्म समुच्चय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया और श्रीगुरुदेव श्रीरामानुजाचार्यजी के चरणों में अर्पणकर अपने को कृतार्थ माना।

श्रीयामुनाचार्यजी के लीला सम्बरण करने के बाद श्रीरङ्गपुर में सभी सन्त-वैष्णवों ने मिलकर यह गोष्ठी की कि यदि कांचीपुरी से आकर श्रीस्वामीरामानुजाचार्यजी इस आचार्यपीठ को सुशोभित करें तो हम सभी वैष्णव सनाथ हो जायेंगे। अन्य किसी के द्वारा श्रीमहापूर्णजी को साथ लेकर श्रीरङ्गनाथ भगवान के पास जाकर प्रार्थना-पूर्वक अपना अभीष्ट निवेदन किये। श्रीरङ्गनाथजी ने कहा कि आप लोग सङ्गीत विशारद श्रीवररङ्गजी (श्रीयामुनमुनि के पुत्र) को कांचीपुर भेजिये। भगवान श्रीवरदराजजी बड़े सङ्गीतप्रिय हैं।

श्रीवररङ्गजी उन्हें अपने सङ्गीत कौशल से प्रसन्न करके श्रीरामानुजाचार्यजी को ही वर रूप में माँगें। क्योंकि बिना श्रीवरदराजजी की आज्ञा के यतिराज उनका सान्निध्य नहीं छोड़ सकते हैं।

भगवदाज्ञा को शिरोधार्यकर कांचीपुरी आकर श्रीवररङ्गजी ने कांचीपुर पति श्रीवरदराजजी को सन्तुष्टकर श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी की याचना की। श्रीवरदराजजी

ने लोकहित विचारकर अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय रामानुजजी को श्रीवररंगजी के हाथ सौंप दिया। श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी को आते हुए जानकर श्रीरंगनाथ भगवान ने महापूर्ण आदि वैष्णवों को अगवानी के लिए भेजा और जब वे मन्दिर के समीप आ गये तो स्वयं श्रीरंगनाथ भगवान ने भी सातवीं ड्योढ़ी पर आकर आचार्यपाद का स्वागत किया। वैष्णवों के आनन्द की सीमा नहीं रही। श्रीरंगनाथजी ने स्वयं इन्हें आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्यपीठ पर बैठते ही सहस्त्रों श्रद्धालु लोग आपके शिष्य हुए तथा बहुत से विवादी लोग भी हारकर आपका शिष्यत्व ग्रहण किये। आपके शिष्यों में श्रीकूरेशजी प्रमुख हैं। जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। शिवसेवा परायण मौसेरे भाई गोविन्द भी वैष्णव हो गये।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी के हाथ में जब श्रीरंगनाथजी का सेवाकार्य आया तो इन्होंने सेवा-प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन किया, जिससे पूर्व के कैङ्कर्यकर्त्ता कुछ असन्तुष्ट रहने लगे। उनमें से एक ने तो श्रीआचार्यपाद के वध तक का दुःसङ्कल्प कर लिया और अपने सङ्कल्प की पूर्ति के लिए एक ब्राह्मण को कुछ प्रलोभन देकर स्वामीजी के भिक्षान्न में विष मिलाने को तैयार कर लिया। उन दिनों स्वामीजी प्रतिदिन सात घरों से भिक्षा कर लाते थे और उसे श्रीकावेरीजी के जल में धोकर पा लेते थे। आज जब स्वामीजी उस गृहस्थ के यहाँ भिक्षा करने गये तो उनकी पत्नी ने पति के दुराग्रहवश भिक्षा में विष मिला तो दिया परन्तु वह सती-साध्वी भिक्षा देकर स्वामीजी को प्रणामकर दूर खड़ी होकर रोने लगी। सर्वज्ञ श्रीस्वामीजी जान गये कि अवश्य ही कुछ दाल में काला है। अतः उस देवी को धन्यवाद देकर उन्होंने वह भिक्षान्न कावेरी में बहा दिया और स्वयं भूखे रहे।

इस दुःखद सम्वाद को सुनकर श्रीगोष्ठीपूर्णजी श्रीरंगम् पधारे। जब श्रीस्वामीजी को इनके शुभागमन का पता चला तो अगवानी के लिए कावेरी तट तक गये। गर्मी का दिन था, श्रीगोष्ठीपूर्णजी को देखते ही श्रीरामानुजाचार्यजी ने श्रीकावेरी की तप्त बालुका में साष्टांग दण्डवत् पड़कर प्रणाम किया। बहुत देर तक तप्त रेत में पड़े रहने पर भी श्रीगोष्ठीपूर्णजी ने इन्हें नहीं उठाया। यह दृश्य दूर से एक वैष्णव देख रहे थे, उनका नाम था किडाम्बियाच्चान्। उनसे रहा नहीं गया, वे समीप आकर क्रोध में भरकर श्रीगोष्ठीपूर्णजी को निर्दय, निष्ठुर, क्रूर आदि कहते हुए श्रीरामानुजजी के शरीर को अपने ऊपर कर लिए और स्वयं तप्त रेत में लेटे रहे। यह दृश्य देखकर श्रीगोष्ठीपूर्णजी पुलकायमान होकर बोले-मुझे ऐसे ही पुरुष की खोज

थी। दोनों ही महानुभावों को हृदय से लगाकर श्रीगोष्ठीपूर्णजी ने श्रीरामानुजजी से कहा कि आज से अब आप भिक्षा करने मत जाना, इन्हीं किडाम्बियाच्चान् के हाथ से रसोई बनवाकर भगवान को अर्पित कर प्रसाद पाना।

अपने इस प्रयोग को व्यर्थ हुआ देखकर उस सेवा-कर्मचारी ने दूसरा उपाय किया। उसने मन्दिर के पुजारी को फोड़ लिया और चरणामृत में विष मिलाकर देने की योजना बनाई। स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी ने यह जानकर भी कि इसमें विष मिला है- भगवच्चरणामृत के भाव से पी लिया। निष्ठा की विजय हुई, स्वामीजी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। विरोधी अपने पाप से भयभीत होकर श्रीस्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा। श्रीआचार्यचरण ने अपनी स्वाभाविकी करुणा से इतने बड़े अपराधी को भी क्षमा करके भक्ति का उपदेश दिया। सत्रह दिन के शास्त्रार्थ के बाद यज्ञमूर्ति नामक दिग्विजयी पण्डित ने श्रीस्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहणकर अपने को धन्य माना।

एक बार श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने श्रीशैलपूर्ण स्वामी का दर्शन करने के लिए श्रीशैल पर्वत की यात्रा की। मार्ग में अष्ट सहस्र नाम के गाँव में विश्राम किया। वहाँ श्रीस्वामीजी के दो शिष्य रहते थे , एक का नाम था यज्ञेश, दूसरे का नाम वरदाचार्य। यज्ञेश धनवान थे परन्तु वरदाचार्य तो परम अकिंचन थे। भिक्षावृत्ति से परिवार का पालन करते थे। श्रीरामानुजाचार्यजी ने धनी शिष्य के यहाँ अपने आने का सन्देश देने के लिए दो वैष्णवों को भेजा। आचार्य का शुभागमन सुनकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और स्वागत की तैयारी करने लगा। वैष्णवों ने लौटकर श्रीआचार्यजी को उसका हाल सुनाया। श्रीस्वामीजी ने पूछा- क्या उसने द्वार पर आये हुए आप वैष्णवों का कुछ भी सत्कार नहीं किया? जब इसका नकारात्मक उत्तर मिला तो इन्होंने उसके यहाँ न जाकर अपने दूसरे गरीब शिष्य के यहाँ पहुँच ही गये। उस समय गृहस्वामी वरदाचार्यजी भिक्षार्थ गाँव गये थे और गृहिणी घर में विदुरानी की भाँति स्नानकर रही थी। उसने पहनने की साड़ी धोकर सूखने के लिए फैला दी थी और शरीर में चिथड़ा लपेट रखा था अतः श्रीगुरुदेव का आगमन जानकर भी संकोचवश बाहर नहीं आ सकी।

श्रीस्वामीजी को परिस्थिति समझते देर नहीं लगी, अतः उन्होंने तुरन्त ही अपना उत्तरीय घर में फेंक दिया। ब्राह्मणी उसे धारण करके बाहर आई और बड़ी ही श्रद्धापूर्वक श्रीगुरुदेवजी तथा समागत सभी सन्तों को प्रणामकर, मधुरवाणी तृणासन और पवित्रजल से सबका सात्विक सत्कार कर अपना अहोभाग्य माना और प्रार्थना की कि आप लोग सुख

पूर्वक विराजिये, मैं अभी नैवेद्य तैयार करती हूँ। इस प्रकार सबको सुव्यवस्थितकर ब्राह्मणी घर में आकर विचार करने लगी कि मैंने इतने सन्तों को आमन्त्रित तो कर दिया परन्तु घर में एक दाना भी नहीं है, और किसी के यहाँ से उधार मिलने की आशा भी नहीं है, फिर मैं क्या करूँ? दूसरे ही क्षण विचार आया कि पड़ोस के कामी बनियाँ ने मेरे रूप पर मुग्ध होकर कई बार अपनी कुत्सित-कामना की पूर्ति के बदले मनमाना द्रव्य देने का संकेत किया था। आज क्यों न इस अस्थि माँस के पिण्डभूत शरीर को विक्रयकर सन्त-सद्गुरुदेव की सेवा करके जीवन को सफल बना लूँ। यह सती-साध्वी ब्राह्मणी ऐसा निश्चयकर उस बणिक के पास जाकर बोली-तुम मुझे वैष्णव-सेवा के लिए यथेष्ट सामिग्री दो, मैं तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करने का वचन देती हूँ। बणिक ने तत्काल अपने आदमियों से प्रचुर मात्रा में सब सामान भिजवा दिया। ब्राह्मणी ने बड़े भाव से भोजन बनाया, भगवान को अर्पित किया गया, वैष्णवों ने प्रसाद पाया और उसको कोटि-कोटि धन्यवाद दिया।

तब तक उसके पति वरदाचार्यजी भी भिक्षा लेकर घर आ गये। वह सन्त और सद्-गुरुदेवजी का दर्शन करके आनन्दोन्मत्त होकर नाचने लगे। सेवा-सत्कार के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर पत्नी ने सब वृत्तान्त सही-सही बता दिया। उसकी इस लोकोत्तर निष्ठा पर वरदाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और रहा नहीं गया तो आचार्यजी के पास जाकर पत्नी के भाव-भक्ति की सराहना किये। सुनकर श्रीस्वामीजी के नेत्र सजल हो गये और ब्राह्मण दम्पती को भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। इसके बाद वह ब्राह्मण और ब्राह्मणी-दोनों ही भगवत-भागवत अधरामृत-प्रसाद लेकर उस विषयी बणिक के घर गये। श्रीवरदाचार्यजी बाहर ही रहे, ब्राह्मणी ने भीतर जाकर उसे प्रसाद दिया। प्रसाद का दर्शन करते ही उस महाकामी की विषयवृत्ति नष्ट हो गई और जब उसने पाया तो हृदय सात्विकभाव से युक्त हो गया। फिर तो उसे अपनी करनी पर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और रोकर ब्राह्मणी को माता कहते हुए उसके चरणों पर गिर पड़ा तथा अपने अपराध के लिए बारम्बार क्षमा-याचना की। सन्त सेवा एवं भगवत्प्रसाद का यह अद्भुत चमत्कार देखकर ब्राह्मणी बड़ी ही विस्मित हुई और उसे लेकर दोनों ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी श्रीस्वामीजी के पास गये। श्रीयतिराज ने उस बणिक को भी शिष्य बनाकर कृतार्थ किया।

इसके बाद वहाँ से चलकर श्रीरामानुजाचार्यजी काञ्चीपुरी में श्रीकाञ्चीपूर्णजी एवं श्रीवरदराज भगवान का दर्शन करके आगे बढ़े और मार्गस्थ सभी तीर्थों का दर्शन-स्पर्श करते हुए श्रीशैलपर्वत पर पहुँचकर श्रीशैलपूर्णजी तथा श्रीवेङ्कटनाथ भगवान का दर्शन किये।

श्रीशैलपूर्ण स्वामीजी के अनुरोध को स्वीकारकर श्रीरामानुजजी एकवर्ष तक वहाँ रहते हुए श्रीस्वामीजी से श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का स्वाध्याय किये। तत्पश्चात् पुनः श्रीरङ्गम को लौट आये। अनन्तर श्रीस्वामी रामानुजजी ने अपने प्रमुख शिष्य श्रीकूरेशजी के सहयोग से ब्रह्मसूत्रों पर 'श्रीभाष्य' की रचना की। (विशेष देखिये आगे श्रीकूरेशजी का चरित्र) 'श्रीभाष्य' एवं 'गीताभाष्य' आदि कई सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना करने के बाद श्रीस्वामीजी ने दिग्विजय यात्रा की और सम्पूर्ण देश में अपने सिद्धान्त का प्रचारकर पुनः श्रीरङ्गम चले आये।

श्रीस्वामीजी के दिव्योपदेश से असंख्यों नर-नारी भगवत् सम्मुख हुए। बड़े-बड़े नास्तिकों एवं विषयासक्तों ने भी नारायण परायण होकर अपना लोक-परलोक सुधार लिया। धनुर्दासजी सरीखे स्त्रैणका भगवद्भक्त होना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त १४ दृष्टान्त धनुर्दासजी का, पृष्ठ १३५। श्रीस्वामीजी के द्वारा अनुगृहीत होने पर धनुर्दासजी ऐसे आचार्यनिष्ठ हुए जैसे श्रीरामभक्त हनुमान। फलस्वरूप धनुर्दासजी पर श्रीस्वामीजी का प्रेम दिनों-दिन बढ़ने लगा। यहाँ तक कि स्नान करने जाते तो धनुर्दासजी के कन्धे पर हाथ धरकर कावेरी तट पर जाते और लौटते तो इसी मुद्रा में श्रीरङ्गनाथजी का दर्शन करने के लिए भी जाते तो इसी भाव-भंगिमा से। नये एवं ब्राह्मणेतर शिष्य धनुर्दास पर श्रीस्वामीजी का ऐसा असीम अनुग्रह देखकर कुछ पुराने ब्राह्मण शिष्य मन में कुढ़ने लगे तथा श्रीस्वामीजी के ऊपर अनुचित पक्षपात का दोषारोपण करने लगे। दीनवत्सल श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने शिष्यों का सन्देह दूर करने के लिए एक लीला रची।

एक दिन रात्रि में सबके सो जाने पर यतिराज ने एक सेवक को बुलाया और कहा कि सभी वैष्णवों की लँगोटियों को थोड़ा-थोड़ा फाड़ दो और स्थानान्तरित कर दो। सेवक ने आज्ञा का पालन किया। प्रातःकाल जब सब लोगों ने लँगोटियों को अस्त-व्यस्त देखा तो आपस में बड़ा-भारी कलह किया। श्रीस्वामीजी ने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर शान्त किया। उसी दिन रात्रि को श्रीस्वामीजी ने अपने कई एक शिष्यों से पूछा-देखो, आज मैं धनुर्दास को बातों में भुलाकर बड़ी देर तक अपने पास रोक रखूंगा, उसी समय तुम लोग जाकर उनकी स्त्री का सब आभूषण उतार लाना। ऐसा ही किया गया। धनुर्दास की पत्नी हेमाम्बा बहुत काल तक पति की प्रतीक्षा करने के उपरान्त घर का किवाड़ बिना बन्द किये ही खाट पर लेट रहीं। चार वैष्णव सहज ही घर में प्रवेशकर हेमाम्बाजी को सोई हुई जानकर बड़ी सावधानी से उनके शरीर में से एक ओर के सब गहने निकाल लिए।

हेमाम्बा जगती हुई भी सोई-सी पड़ी रहीं। जब एक ओर के गहने निकाल लिए गये तो दूसरी ओर के भी निकलवाने के लिए हेमाम्बा ने करवट बदली। परन्तु उन्हें जगी हुई जानकर वैष्णव भाग गये।

इधर यतिराज ने धनुर्दासजी को घर जाने की आज्ञा दी। जब आचार्य चरणों में प्रणाम कर धनुर्दास घर को चले तो श्रीस्वामीजी ने पुनः उन वैष्णवों को भेजा, कि तुम लोग जाकर सुनो कि ये लोग आपस में क्या बातें करते हैं। शिष्यों ने वैसा ही किया। धनुर्दास के घर पहुँचते ही पत्नी पाँव धोने के लिए जल लेकर सामने आई तो एक ओर के अंगों को आभूषण-विहीन देखकर उन्होंने पूछा, तो हेमाम्बा ने सब बात सच-सच कह दिया। यह सुनकर धनुर्दासजी मन में बड़े दुःखी हुए और पत्नी पर नाराज हुए कि तुमने करवट क्यों ली। वे तो स्वयं बड़ी सावधानी से सब आभूषण उतार ले जाते। हमारा दुर्भाग्य है कि आधी सम्पत्ति ही वैष्णवों की सेवा में जा सकी। पूरी नहीं पहुँच पाई। यथा-'सम्पति है सन्तन की सिगरी। लगी न सन्त हेतु सो बिगरी।। जो तन धन सन्तन हित होई। परमारथ स्वारथ सत सोई।।।' दृष्टान्त-मोरध्वजजी का-देखिये पूर्वार्द्ध में इनकी कथा यह सब श्रवणकर वैष्णवों ने आकर श्रीस्वामीजी को सब वृत्तान्त सुनाया। दूसरे दिन प्रातःकाल होने पर श्रीस्वामीजी ने अपने सभी शिष्यों को बुलाया और कहा कि-देखो, तुम लोग तनिक-सी लँगोटी फटने वा इधर-उधर होने पर कितना कलह मचाये और धनुर्दास का हृदय देखो, पत्नी का आधा आभूषण उतार लिया गया तो मन में बड़े प्रसन्न हुए और पूरा नहीं उतारा गया, इसलिए दुःख माने। अब तुम्हीं लोग बताओ-वैष्णवता का उत्कर्ष किसमें है? सब लोग आचार्य चरणों में नतमस्तक हो गये। श्रीधनुर्दासजी का एक और प्रसंग देखिये-पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३१, छ०९, क० ३० में।

जिस समय श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी सम्पूर्ण देश में वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए कृत-सङ्कल्प थे उन्हीं दिनों चोलदेश का कट्टर शैव राजा कोलुत्तुंग शैव धर्म का प्रचार करने के लिए कटिबद्ध था। स्वमत प्रचार के सम्बन्ध में विचारकर उसने निश्चय किया कि यदि श्रीरामानुज शैव मत को स्वीकार कर लें तो सम्पूर्ण विश्व शैवमतावलम्बी हो जाय और यदि नहीं स्वीकार करते हैं तो उनका वध कराकर स्वच्छन्द रूप से अपने मत का प्रचार करूँगा। अतः उनको बुलवाने के लिए उसने अपने राज-कर्मचारी भेजे। राजा का सन्देश सुनकर साधु-हृदय श्रीरामानुजजी उसके यहाँ जाने को प्रस्तुत हो गये। जब यह समाचार श्रीकूरेशजी को मिला तो वे श्रीरामानुज स्वामीजी से निवेदन किये कि वह राजा

बड़ा दुष्ट है, अतः हम सबके एकमात्र आश्रय आपका वहाँ जाना किसी भी हालत में उचित नहीं है। हमारी तो प्रार्थना यह है कि कुछ समय के लिए आप श्रीरंगम् छोड़कर अन्यत्र चले जाइये। और आपके बदले, मैं उस दुष्ट के यहाँ जाऊँगा। श्रीरामानुजजी ने इनकी बात मान ली। श्रीकूरेशजी ने श्रीरामानुजजी का रूप धारण किया। स्नेहवश श्रीमहापूर्णजी भी श्रीकूरेशजी के साथ हो लिए। दोनों ही महानुभाव चोल-नरेश के दरबार में उपस्थित हुए।

शैव पण्डितों से इनका बड़ा-भारी शास्त्रार्थ हुआ। शैवों ने अपना पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए कहा-'शिवात् परतरं नास्ति' अर्थात् शिव से बढ़कर श्रेष्ठ और कोई नहीं है। श्रीकूरेशजी ने झट उत्तर दिया कि-'द्रोणमस्ति ततः परम्' अर्थात् शिव से द्रोण बड़ा है। वास्तविक बात यह थी कि यह शास्त्रार्थ तत्वबोध के लिए तो था नहीं। वे इन्हें निरुत्तर करके बलात् शैव बनाना चाहते थे अतः आपने शिव शब्द का अर्थ ब्रह्म शङ्कर ग्रहण नहीं किया। उसका कारण यह था कि शिव के साथ कोई विशेषण नहीं था अतः आपने शिव (रुद्र) एक नाप जो ग्यारह सेर का होता है यह अर्थ मानकर उत्तर दिया कि शिव से द्रोण अर्थात् एक नाप जो सोलह सेर का होता है, वह बड़ा है। शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो जाना ही हारना है। शिव अर्थात् ब्रह्म-शङ्कर इनसे बड़ा कोई नहीं है यह तो सत्य ही है। श्रीकूरेशजी को इसका खण्डन नहीं करना था अतः आपने अपने पाण्डित्यपूर्ण उत्तर से पूर्व पक्ष का खण्डन करके उसे परास्त कर दिया और उत्तर पक्ष का वे पुनः खण्डन नहीं कर सके। अतः उत्तरपक्ष विजयी हो गया। आपके प्रश्न का ऐसा उत्तर सुनकर वे सभी शैव आगबबूला हो गये। उन्होंने अनेक कुतर्क किये, आपने सबका मुँहतोड़ उत्तर दिया।

जब राजा ने देखा कि हमारे पण्डित शास्त्र की युक्तियों से इन्हें नहीं जीत सकते हैं, तब उसने राजभय देकर-'शिवात् परतरं नास्ति' यह मानने को बाध्य करने लगा। परन्तु जब ये किसी प्रकार भी राजा की बात मानने को प्रस्तुत नहीं हुए तो उस दुष्ट राजा ने कुपित होकर इन दोनों ही वैष्णवों की आँखों को निकलवा लिया। परमभागवत श्रीमहापूर्णजी एवं श्रीकूरेशजी ने राजा का इतना बड़ा अन्याय सह लिया, परन्तु क्रोधयुक्त नहीं हुए, बल्कि भगवान से उसकी मङ्गल-कामना की। तभी तो भगवान शिवजी कहते हैं-'उमा सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।।' कहा जाता है कि इस अनाचार के थोड़े ही दिनों के बाद चोल-राजा के कण्ठ में कण्ठमाला रोग हो गया और उसमें कृमि पड़ गये, इसी से लोग उसे कृमिकण्ठ भी कहने लगे थे। राजा अत्यन्त दुःख भोगकर अन्त में मर गया।

इधर महापूर्ण स्वामीजी श्रीरङ्गम को लौटते समय रास्ते में ही परमपद को प्राप्त हो गये। परन्तु श्रीकूरेशजी को श्रीवरदराज भगवान की कृपा से पुनः सुन्दर दिव्यनेत्र प्राप्त हो गये। विशेष देखिये आगे कूरेशजी का चरित्र। दुष्ट चोल-नरेश के कुचक्र से बचने के लिए श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी श्रीरङ्गम् छोड़कर मैसूर की ओर चले गये थे। इस यात्रा में भी आचार्यपाद ने खूब वैष्णवता का प्रचार किया। बौद्धों को हराकर बुद्ध-मतानुयायी राजा विट्ठलदेव को वैष्णव दीक्षा देकर उसका नाम विष्णुवर्द्धन रखा। वहाँ से चलकर श्रीगिरि पर आकर श्रीतुलसीवन में बहुत काल से भूमि में गड़ी श्रीयादवाद्रिपति भगवान की प्रतिमा निकालकर पुनः प्रतिष्ठापित की और कुछ दिन तक वहाँ निवास किया।

एक दिन स्वप्न में श्रीयादवाद्रिपति ने श्रीरामानुजाचार्यजी से कहा-हमारी उत्सवमूर्ति श्रीसम्पत्कुमार भगवान, दिल्लीश्वर के यहाँ हैं, आप उसे भी लाकर यहाँ पधराइये। भगवदादेश पाकर श्रीस्वामीजी अपने कतिपय शिष्यों को साथ लेकर दिल्ली को प्रस्थान किये। वहाँ पहुँचकर श्रीयमुनातट पर डेरा डाले और राजकर्मचारियों के द्वारा बादशाह के पास अपने आने का हेतु कहवाये। लेकिन किसी ने भी इनका सन्देश बादशाह तक पहुँचाया ही नहीं। तब ये सभी वैष्णवों को लेकर बादशाह के किले को घेर लिए। जब यह समाचार बादशाह को मिला तो उसने इनके आगमन का कारण जानना चाहा। इन्होंने कहा कि मैं अपने ठाकुर को लेने आया हूँ। बादशाह ने मन्त्री से कहा-इन्हें संग्रहालय में ले जाकर सब मूर्तियाँ दिखा दो, जो इनकी हो वह इन्हें सौंप दो। जब ये संग्रहालय में जाकर देखे तो इन्हें वह मूर्ति नहीं दिखाई पड़ी, जिसका संकेत श्रीयादवाद्रिपति ने दिया था। तब ये बड़े चिन्तित हुए तो भगवान ने स्वप्न में कहा कि मैं शाहजादी के पास हूँ। वह मुझसे बहुत ही स्नेह करती है, सदा अपने साथ रखती है। जब श्रीरामानुजाचार्यजी ने यह बात बादशाह से कही तो उसने शाहजादी से मूर्ति इनको दे देने को कहा और उसके बदले में मणि-निर्मित मूर्ति बनवाने को कहा। परन्तु वह इस बात पर राजी नहीं हुई।

तब अन्त में बादशाह ने यह निर्णय दिया कि मूर्ति अपने से चलकर जिसके पास चली जाय वही मूर्ति को रखने का अधिकारी है। बात तय हो गई। मूर्ति का खूब साज श्रृङ्गार करके उसे बीच में पधरा दिया गया और दोनों को अपने पास बुलाने की आज्ञा दी गई। प्रथम श्रीरामानुजजी ने मूर्ति को बुलाया, परन्तु मूर्ति टससे-मस नहीं हुई और जब शाहजादी ने विनय की तो मूर्ति रुन-झुन करती हुई कन्या की ओर चल पड़ी। यह देखकर लोग बड़े विस्मित हो गये। श्रीआचार्यजी बड़े ही कुपित होकर भगवान से बोले-यदि

सभा में मेरा अपमान ही कराना था तो मुझे स्वप्न देकर बुलाया ही क्यों? यदि आप यावनी के ही स्नेह सम्बन्ध से बँध गये हों तो मेरी भी प्रतिज्ञा सुनिये-मैं अभी कण्ठी-माला-तिलक को दूरकर त्रिदण्ड को तोड़कर फेंकता हूँ। यह कहकर श्रीरामानुजजी ने जोर से त्रिदण्ड को भूमि पर पटका। सभा में महान कोलाहल मच गया। भगवान की श्रीमूर्ति नृपकन्या की ओर से मुड़कर श्रीस्वामीजी की गोद में आकर विराजमान हो गई। सभी वैष्णव ठाकुर श्रीसम्पत्कुमार को लेकर वहाँ से चल दिये।

शाहजादी के दु:ख का पारावार नहीं रहा। बादशाह ने देखा कि मूर्ति के बिना शाहजादी प्राण दे देगी, तो उसने अपनी कन्या को भी राज-साज के साथ स्वामीजी के सङ्ग कर दिया। मार्ग में तो वह जब-तब श्रीठाकुरजी का दर्शन कर लेती थी। परन्तु यादवगिरि पर पहुँचने पर जब श्रीठाकुरजी मन्दिर में विराज गये तो आचारी वैष्णव उस यावनी को मन्दिर के जगमोहन में भी नहीं जाने देते थे, दूर से भी दर्शन करने में बाधा डालने लगे। तब तो वह बहुत ही दु:खी हुई। उसका दु:ख भक्तवत्सल भगवान से देखा नहीं गया। अतः प्रभु ने कृपा करके सबके देखते-देखते उसे सशरीर अपने में लीन कर लिया। शाहजादी के ऊपर भगवान का अतिशय प्रेम विचारकर उसकी एक सोने की प्रतिमा बनवाकर प्रभु के समीप पधरा दी गई। आज भी उसका दर्शन होता है।

उस नृपकन्या का प्रेमी एक यवन राजकुमार भी उसके साथ ही यादवगिरि चला आया। यद्यपि उसका भगवान के प्रति किंचित्मात्र भी भाव नहीं था, वह तो उस शाहजादी की ही उपासना करता था-वह भी उससे ब्याह करने के लिए। परन्तु जब उसने अपनी आँखों से देखा कि भगवान ने उस कन्या को अपने में लीन कर लिया तो वह बहुत ही सुखी हुआ और स्वयं भी भगवान की शरणाति ग्रहणकर श्रीरङ्गनाथ भगवान के द्वार पर जा डँटा। यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट यह यवन बहुत दिन तक श्रीरङ्गम् में ही रहा। एक दिन श्रीरङ्गनाथ भगवान ने कहा कि हमारा यह स्वरूप तो मर्यादास्वरूप है, मेरा जगन्नाथ-स्वरूप पतितपावन-स्वरूप है। यह सुनकर यवन ने श्रीजगन्नाथपुरी को प्रस्थान किया और वहाँ जाकर श्रीजगदीश भगवान का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गया। श्रीजगन्नाथजी की कृपा से, उसे प्राणीमात्र में भगवद्दर्शन होने लगा। वर्णन आया है कि वह एक दिन रोटी बना रहा था। इतने में एक कुत्ता आया और सब रोटियाँ मुँह में दबाकर भागा। तब वह घी लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़ा और कहने लगा-नारायण! थोड़ी देर ठहरो, रोटियों में घी लगाने दो, नहीं तो सूखी रोटी खाने में कष्ट होगा, उसकी इस भव्य-भावना

पर सन्तुष्ट होकर भगवान ने साक्षात् प्रकट होकर उसे दर्शन देकर अपना पतितपावन विरद चरितार्थ किया।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी कुछ काल तक यादवाद्रि पर रहकर भगवान के सेवा की सुव्यवस्था कर पुनः श्रीरङ्गम चले आये। बहुत दिन के बाद आचार्यचरणों का दर्शन हुआ अतः वैष्णवों ने बड़ा-भारी उत्सव मनाया। श्रीस्वामीजी और कूरेशजी-दोनों गुरु और शिष्य का स्नेह सम्मिलन देखकर लोग मुग्ध हो गये। इसके बाद श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीरङ्गम छोड़कर कहीं नहीं गये। वैष्णवों के प्रति श्रीरामानुज स्वामी की कैसी भक्ति थी, यह बात निम्नलिखित प्रसंग से सुस्पष्ट हो जाती है-

एक बार वैष्णव ब्राह्मण श्रीस्वामीजी के पास आकर बोला-महात्मन्! मैं आपका कैङ्कर्य कर अपनी आत्मा को पवित्र करने आया हूँ। श्रीरामानुजाचार्यजी ने कहा-आपने बहुत अच्छा निश्चय किया है। ब्राह्मण श्रेष्ठ! मैंने आज ही प्रतिज्ञा की है कि वैष्णव चरणोदक पान द्वारा शरीर और मन को पवित्र करके प्रतिदिन भगवदाराधन करूँगा। आप मेरे भाग्य से यहाँ पधारे हैं। अब आप यहाँ रहकर हम लोगों को अपना पवित्र चरणोदक देकर कृतार्थ किया करें, यही हमारी यथार्थ सेवा है। उस भोले ब्राह्मण ने स्वामीजी की बात मान ली और उसने भी यह प्रतिज्ञा की कि जब तक चरणोदक दानरूप आपका कैङ्कर्य कर नहीं लूंगा तब तक मैं कुछ खा-पी नहीं सकता। एक दिन श्रीस्वामीजी एक शिष्य के यहाँ भिक्षा करने चले गये थे। वहाँ सत्संग में देर हो जाने के कारण रात्रि के आठ बजे लौटे। वह निष्ठावान ब्राह्मण तब तक स्वामीजी की प्रतीक्षा में बैठा रहा। उस दिन श्रीआचार्यपाद ने उन वैष्णव का चरणोदक स्वयं तो लिया ही समस्त परिकरों को भी दिया और उनकी भक्ति की सराहना करते हुए बोले कि आपने तो अपनी भक्ति से भगवान को अपने हृदय में बाँध लिया। आप धन्य हैं।

इस प्रकार एक सौ बीस वर्ष तक इस धराधाम पर निवास कर श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने शिष्यों के सन्तोष के लिए अपने सामने ही अपनी मूर्ति की प्रतिष्ठा करके शाके १०५९, माघ शुक्ला, दशमी शनिवार के मध्याह्न में इह लीला विसर्जनकर परमपद को प्राप्त हुए। आपके दार्शनिक सिद्धान्त के लिए देखिये वैष्णव-दर्शन।

श्रीकूरेशाचार्यजी

काञ्चीपुर से दो कोस पश्चिम कूर आग्रहार (कूरपुर) नाम का एक देश था। श्रीकूरेशजी वहाँ के राजा थे। श्रीसरस्वती और लक्ष्मी-दोनों की ही इनके ऊपर अपार कृपा थी।

श्रीसरस्वतीजी की कृपा से अगाध पाण्डित्य प्राप्त था और श्रीलक्ष्मीजी की कृपा से अमित धन। उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म था। इस प्रकार अभिमान के अनेक हेतु होने पर भी सर्वथा निरभिमान एवं परमोदार थे। सन्त-वैष्णवों में बड़ी निष्ठा एवं दीन-दुःखियों के प्रति परम दया थी। सब समय धर्म-चिन्तन एवं धर्माचरण में ही व्यतीत होता था। प्रातःकाल राजद्वार खुलते ही याचकों की भीड़ लग जाती थी, फिर तो सबेरे से लेकर आधी-रात तक-लो, खाओ, पीओ-ये ही शब्द सुनाई पड़ते थे। जब रात्रि में फाटक बन्द होने को होता तो बड़े जोर से घण्टा ध्वनि होती और आवाज लगाई जाती कि जिसे भोजन, वस्त्र आदि जो भी कुछ चाहिए वह ले जाय। घण्टे की ध्वनि कांचीपुर तक सुनाई पड़ती थी। एक दिन मन्दिर में श्रीलक्ष्मीजी ने भगवान से इस सम्बन्ध में जिज्ञास की तो श्रीवरदराज भगवान ने श्रीकूरेशजी की मङ्गलकीर्ति का गान किया। तब श्रीलक्ष्मीजी ने ऐसे भागवत के दर्शन की इच्छा प्रकट की तो श्रीवरदराजजी ने कांचीपूर्णजी को बुला लाने की आज्ञा दी। श्रीकांचीपूर्णजी ने कूरपुर जाकर श्रीकूरेशजी को प्रभु की आज्ञा सुनाई। श्रीकूरेशजी प्रेम से गद्गद होकर बोले-

क्वाहं कृतघ्नः पापिष्ठो दुर्मनाः परवञ्चकः।
क्वासौ लक्ष्मीः जगन्माता ब्रह्मरुद्रादि वन्दिता।।

अर्थात् कहाँ तो मैं कृतघ्न, दुष्ट पापी और दूसरे को ठगने वाला और कहाँ ब्रह्मा, रुद्रादि द्वारा वन्दिता जगन्माता श्रीलक्ष्मीजी।। भला मुझे प्रभु ने याद किया है, निश्चय ही मुझ दीन-हीन पर भगवान ने परम दया की है। आदि कहते हुए अश्रुविसर्जन करने लगे। फिर कांचीपूर्ण से बोले कि विषय विष्ठा में अवलिप्त मैं नीच, कपटी, कुटिल प्रभु के सम्मुख जाने योग्य नहीं हूँ, परन्तु भगवान की आज्ञा भी नहीं टाल सकता हूँ, अतः मैं प्रथम श्रीगुरुचरण सरोवर में स्नानकर तब दर्शन करने चलूंगा। यह कहकर उसी क्षण श्रीकूरेशजी ने घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति लुटा दी और एक साधारण वस्त्र पहनकर सपत्नीक श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी से मन्त्र दीक्षा लेने श्रीरङ्गम् को प्रस्थान कर दिये। वन-मार्ग में पहुँचने पर इनकी पत्नी डरने लगीं। उसने अपने मन का भय पतिदेव से निवेदन किया। श्रीकूरेशजी ने कहा-निश्चय ही तुम्हारे पास कुछ धन है, अन्यथा अकिंचन को भय कहाँ? सचमुच इनकी पत्नी ने एक स्वर्णमात्र साथ में छिपा रखा था, श्रीकूरेशजी के ऐसा कहने पर उन्होंने तुरन्त उसे फेंक दिया। फिर तो परम निर्भय हो गईं, दूसरे दिन श्रीरङ्गम् पहुँचे।

इनको परम अधिकारी जानकर सहर्ष श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने श्रीनारायण मन्त्र की दीक्षा दी, और वहीं रहने की व्यवस्था कर दी। श्रीकूरेशजी, जो कल राजा थे, महादानी थे, अब भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करते और सदा-सर्वदा श्रीहरि-गुरु चरणों का चिन्तन करते हुए अपने को कृतार्थ समझने लगे। वर्णन आया है कि एक दिन अतिशय वृष्टि होने के कारण भिक्षार्थ कहीं नहीं जा सके। पति-पत्नी बिना कुछ खाये-पिये भगवत्-स्मरण करते रहे पति सेवा-परायणा पत्नी को अपनी तो कुछ भी चिन्ता नहीं थी, परन्तु पति को भूखा देखकर उसने मन ही मन श्रीरङ्गनाथ भगवान का स्मरण किया। दयालु प्रभु ने तुरन्त पुजारी को आज्ञा दी। पुजारी जी भगवान के भोग का थाल श्रीकूरेशजी के आगे धरकर प्रभु का आदेश सुनाकर चले गये। श्रीकूरेशजी ने विचार किया कि मैंने तो याचना की नहीं थी, फिर यह थाल कैसे आया? इनकी पत्नी ने कहा-नाथ! आपको भूखा देखकर मैंने ही प्रभु से प्रार्थना की थी। कूरेशजी का सन्देह मिट गया। दोनों पति-पत्नी ने प्रसाद पाया। कूरेशजी ने पत्नी को समझाया कि फिर कभी ऐसा नहीं करना। इस पर दृष्टान्त श्रीसनातन गोस्वामीजीका-क०-३०९।।

कहा जाता है कि उस प्रसाद के प्रभाव से कूरेशजी की पत्नी ने दशमें महीने में दो-जुड़वे पुत्रों को जन्म दिया। यह सुनकर श्रीरामानुजाचार्यजी बड़े प्रसन्न हुए और श्रीगोविन्दाचार्यजी के द्वारा उन बालकों का जातकर्मादि-संस्कार करवाया। बड़े का नाम पराशर भट्ट और छोटे का नाम श्रीराम रखा गया। दोनों ही पुत्र बड़े होनहार थे। श्रीआचार्य कृपा से सर्वशुभ गुणधाम थे। कथा आती है कि एक दिग्विजयी पण्डित जिसका नाम सर्वज्ञभट्ट था, श्रीरङ्गपुरी आया। उसने नगर में शास्त्रार्थ की घोषणा करवा दी। बालक पराशर की उस समय चार साल की अवस्था थी, वह अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल रहे थे, घोषणा सुनकर अंजुलि में धूल भरकर पण्डित के समीप जाकर पूछे-कहिये पण्डितजी! मेरी अंजुलि में कितने धूल-कण हैं? प्रश्न सुनकर पण्डितजी हक्का-बक्का हो गये। कुछ भी उत्तर नहीं दे सके तो पराशर ने कहा कि जब इतना भी नहीं जानते हैं तो सर्वज्ञ नाम क्यों धरा लिया? दिग्विजयी पण्डित बालक पराशर के चरणों में पड़ गया और बोला-आप मेरे गुरु हैं।

जब श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य लिखने का विचार किये तो उन्हें सर्वप्रथम पूर्वाचार्य श्रीबोधायनजी चरित 'बोधायन वृत्ति' की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु बहुत ढुंढ़वाने पर भी वह ग्रन्थ मिल नहीं सका, हाँ उसका पता लगा कि काश्मीर में शारदापीठ में वह दुर्लभग्रन्थ बड़े यत्न से रखा गया है। अतः श्रीस्वामीजी ने

कूरेशजी एवं और भी कतिपय वैष्णवों को साथ लेकर काश्मीर की यात्रा की। तीन महीने में शारदापीठ पहुँचे। वहाँ के विद्वानों से वार्ता हुई। अद्वैत के समर्थक काश्मीर के विद्वानों ने सोचा कि यदि वह 'वृत्ति-ग्रन्थ' इनको मिल जायगा तो ये अद्वैत का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत का प्रचा करेंगे अतः उन सभी ने बहाना कर दिया कि ग्रन्थ था तो अवश्य परन्तु हम लोगों की असावधानी से उसे दीमक खा गई। यह सुनकर स्वामीजी बड़े उदास एवं निराश हुए रात्रि में भगवती श्रीशारदादेवी ने स्वयं वह पुस्तक लाकर श्रीरामानुज को दिया और बोलीं कि तुम शीघ्र यहाँ से चल दो, नहीं तो ये लोग फिर पुस्तक को छीन लेंगे। श्रीसरस्वतीजी का परमानुग्रह एवं आदेश शिरोधार्यकर ये वहाँ से चल दिये।

इधर कुछ दिन बाद शारदापीठ के पण्डितों ने पुस्तकालय का निरीक्षण किया तो इन्हें 'बोधायनवृत्ति' नहीं दीख पड़ी। वे लोग निश्चय कर लिए कि दक्षिण से आये हुए महात्मा ही उस पुस्तक को चुरा ले गये अतः उन लोगों ने पीछा किया और दिन-रात बराबर चलकर एक महीने पश्चात् श्रीरामानुजजी तक पहुँचे। यद्यपि श्रीस्वामीजी ने बहुत कहा कि हम भाष्य लिखकर ग्रन्थ वापस कर देंगे परन्तु वे एक न माने, बलात् ग्रन्थ छीनकर ले गये। इससे श्रीरामानुजजी को बड़ा ही कष्ट हुआ। गुरुदेव को दुःखी देखकर श्रीकूरेशजी ने कहा-भगवन्! आप दुःख क्यों करते हैं। काश्मीर से चलने के समय से प्रत्येक रात्रि को आपके सो जाने पर मैं वृत्ति का पाठ किया करता था। ऐसा करने से मुझे समस्त पुस्तक कण्ठस्थ हो गई है, आप आज्ञा करें तो मैं यहीं ही उसे लिख डालूं। यह सुनकर श्रीरामानुजाचार्यजी बड़े प्रसन्न हुए और आनन्दोन्मत्त होकर उनको आलिङ्गन करते हुए बोले-बेटा! तुम चिरंजीवी होओ। आज हमारे नष्ट रत्न का उद्धार करके तुमने हमें सदा के लिए ऋणी बना लिया। श्रीकूरेशजी ने वहीं रहकर सम्पूर्ण पुस्तक पुनः अपनी स्मृति के आधार पर लिख डाली। इसके बाद वहाँ से चलकर श्रीरंगम् आये और उसी के आधार पर श्रीभाष्य की रचना हुई। इस प्रसंग से श्रीकूरेशजी की असाधारण एवं दिव्य मेधा का पता चलता है।

श्रीकूरेशजी की अलौकिक गुरु निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है, श्रीरामानुजजी के बदले स्वयं चोलनरेश कोलुतुङ्ग के दरबार में जाना। (देखिये श्रीरामानुजजी का चरित्र) जहाँ जाकर स्वयं नेत्र निकलवा लिए जाने का भीषण कष्ट सहे परन्तु आचार्यश्री पर आँच नहीं आने दिये। जब श्रीस्वामीजी ने यह समाचार सुना तो गद्गद होकर एक शिष्य से श्रीकूरेशजी के पास अपना प्रेमसन्देश भिजवाये कि वत्स कूरेश! जैसे तुमने मुझे सुखी करने

के लिए सहर्ष इतना बड़ा कष्ट स्वीकार किया उसी प्रकार से मेरे ही सुख सम्पादनार्थ तुम श्रीवरदराज भगवान से अपनी आँखें माँग लो। क्योंकि तुम यह जानते ही हो कि तुम स्वयं और तुम्हारे शरीर, मन, प्राण आदि सभी हमारे हैं, तुम्हारे नहीं। यह सन्देश सुनकर श्रीकूरेशजी के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे कि आज मुझे श्रीआचार्य प्रभु ने अपना मान लिया। इसके बाद श्रीकूरेशजी ने श्रीवरदराज भगवान के समीप जाकर प्रार्थना की कि-प्रभो! कुछ दिन हुए, मैंने अपने श्रीगुरुदेवजी की दो प्रिय वस्तुएँ खो दी हैं, आपकी कृपा से आज मैं पुनः उन्हें प्राप्त करना चाहता हूँ। श्रीप्रभु कृपा से तत्काल श्रीकूरेशजी को दिव्य नेत्र प्राप्त हो गये। श्रीकूरेशजी को नेत्र प्राप्ति सुनकर श्रीरामानुजजी नाचने लगे थे। चोलनरेश अपने ही अघ से थोड़े ही दिनों में यमलोक चला गया। श्रीरामानुजजी पुनः श्रीरङ्गम् आ गये। श्रीआचार्यपादजी सर्वप्रथम कूरेश से मिले इसके बाद सभी सन्त-वैष्णवों से मिलकर सबको परमानन्दित किये। परम प्रयाण के समय श्रीकूरेशजी श्रीगुरुदेवजी की पादुका द्वय को हृदय में धारणकर भगवद्गुणानुवाद सुनते हुए परमधाम को प्रस्थान किये। श्रीनाभाजी ने इन्हें भक्ति का मूर्तिमानस्वरूप और मङ्गलकारी कहा है। यथा-'कुरुतारक शिष्य प्रथम भक्ति वपु मंगलकारी।'

चार दिग्गज महन्त

चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं।।
श्रुतिप्रज्ञा, श्रुतिदेव ऋषभ पुहकर इभ जैसे।
श्रुतिधामा, श्रुति उदधि पराजित, वामन जैसे।।
श्रीरामानुज गुरुबन्धु विदित जगमङ्गल कारी।
शिव संहिता प्रणीत ज्ञान सनकादिक सारी।।
इन्दिरा पद्धति उदार धी सभा साखि सारङ्ग कहैं।
चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं।।३२।।

शब्दार्थ-दिग्गज=दिशाओं के हाथी। इभ=हाथी। गुरुबन्धु=गुरुभाई। प्रणीत= निर्मित, वर्णित, कथित। सारी=सरिस, समान। साखि=साक्षी, गवाह। सारङ्ग=दिग्गज, रसग्राही भ्रमर, हंस, चातक।

भावार्थ-ये चार महान् सन्त दिग्गजों के समान थे। ये भक्तिरूपी भूमि को अपने प्रभाव से अचल रखते थे अर्थात् कोई भी विधर्मी भक्ति का थोड़ा भी विरोध अथवा

खण्डन करने का साहस नहीं करता था। श्रीश्रुतिप्रज्ञजी और श्रीश्रुतिदेवजी दोनों, श्रीऋषभ और श्रीपुष्कर इन दो दिग्गजों के समान थे, श्रीश्रुतिधामजी और श्रीश्रुतिउदधिजी ये पराजित और वामन नामक दिग्गजों के सम थे। ये चारों श्रीरामानुजाचार्य के गुरुभाई थे। ये अपनी भक्तिनिष्ठा और विद्वता के कारण विश्व में विख्यात् थे और संसार का मङ्गल करने वाले थे। शिवसंहिता में वर्णित ज्ञान-विज्ञान के तत्व को जानने में सनकादिकों के समान थे। श्रीसम्प्रदाय में निष्ठावान् और उदार बुद्धिवाले थे। सन्त-सभा के दर्शक-सत्सङ्गी लोग इन्हें दिग्गज विद्वान कहते थे।।३२।।

व्याख्या-दिग्गज चतुर-पुराणों के अनुसार आठों दिशाओं में उन दिशाओं की रक्षा तथा पृथ्वी को स्थित करने के लिए आठ दिग्गज स्थापित हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं-पूर्व में ऐरावत, पूर्व दक्षिण के कोने में पुण्डरीक, दक्षिण में वामन, दक्षिण पश्चिम में कुमुद, पश्चिम में अञ्जन, पश्चिम उत्तर के कोने में पुष्पदन्त, उत्तर में सार्वभौम और उत्तर पूर्व के कोने में सुप्रतीक। यथा-ऐरावतः पुण्डरी को वामनः कुमुदोञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च-दिग्गजाः।। (अमरकोशः) श्रीवाल्मीकीय में सगर पुत्रों के पृथ्वी खोदने के प्रसङ्ग में सगरपुत्रों को चार दिग्गजों का दर्शन होना लिखा है। वहाँ चार दिशाओं के दिग्गजों के नाम क्रम से ये हैं-पूर्व में विरूपाक्ष, दक्षिण में महापद्म, पश्चिम में सौमनस, उत्तर में भद्र। ये चारों दिशाओं में पृथ्वी को धारण किये थे। श्रीभक्तमाल में श्रीनाभाजी ने ऋषभ पुष्कर, पराजित और वामन-ये चार नाम दिये हैं। कल्पभेद से सबकी सङ्गति लगाना चाहिए।

भक्ति भूमि-कहने का भाव यह है कि जैसे यह स्थूल-जगत् पृथ्वी के आधार से टिका हुआ है। पृथ्वी सम्पूर्ण विश्व को धारण करती है उसी प्रकार अध्यात्म-जगत् की आधारभूता भूमि भक्ति है। समस्त सद्गुण भक्ति के आधार से टिके रहते हैं। यथा-

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।भा० ५-१८-१२

देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४८-शोभित विशाल छाया।

श्रीश्रुतिप्रज्ञजी

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न श्रीश्रुतिप्रज्ञजी यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करते हुए सचमुच श्रुतिसिद्धान्त (श्रुति सिद्धान्त इहै उर गारी। भजिअ राम सब काम बिसारी।। रा०च०मा०)

के विशेष ज्ञाता थे। इन्होंने जब से होश सँभाला तब से श्रीनारायण नाम छोड़कर और कुछ जाना ही नहीं। रसना से निरन्तर भगवन्नाम रटते हुए, जगत् से सर्वथा असङ्ग रहते हुए ये प्रायः विचरण किया करते थे। जो भी इनके संसर्ग में आता उसे भगवन्नाम जपने का ही उपदेश देते थे। इन्होंने अपने हृदयस्पर्शी उपदेशों से असंख्य लोगों को विषय से विरतकर भगवत् सम्मुख किया। इनकी वैष्णवमात्र में समदृष्टि थी। सबको पूज्य मानते थे। हृदय में जाति-पाँति भेद जैसी सङ्कीर्णता छू नहीं गई थी। ये भक्ति को ही सबसे बड़ा आचार मानते थे।

एक बार ये श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने नीलाचल (जगदीशपुरी) जा रहे थे। पुरी कुछ ही दूर रह गई थी, उधर से एक श्वपच श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शनकर, हाथ में भगवत्प्रसाद लिए लौट रहा था। उसने श्रीश्रुतिप्रज्ञजी को देखा तो उनको भगवद्दर्शन का भी परम फलरूप समझकर बड़ी श्रद्धा से चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया। उसकी आँखों से झर-झर अश्रुपात हो रहा था। उसके भक्ति-भाव को देखकर श्रीश्रुतिप्रज्ञजी ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। थोड़ी देर बाद श्वपच को याद आई कि मैं तो चाण्डाल हूँ और ये ब्राह्मण हैं, भला मेरी तो छाया भी परम अपावन है, सो मैंने शरीर से इनका स्पर्शकर लिया, यह बड़ा ही अपराध बन गया। तब तो वह अपने को धिक्कारता हुआ, अपनी नीचता वर्णन करते हुए श्रीश्रुतिप्रज्ञजी से अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करने लगा। परन्तु श्रीश्रुतिप्रज्ञजी तो उसके इन वचनों पर किञ्चित् ध्यान न देते हुए बड़े ही आदरपूर्वक अपने वस्त्रों से उसके शरीर में लगी धूल झाड़ने लगे, और बड़े ही भाव में भरकर बोले-भैया! तुम निश्चय ही मुझसे श्रेष्ठ हो, क्योंकि मैं तो अभी भगवान का दर्शन करने जा रहा हूँ और तुम तो दर्शनकर आये और तुमने भगवान का महाप्रसाद भी पाया है। श्रीश्रुतिप्रज्ञजी ने देखा कि श्वपच भक्त के हाथ में श्रीजगदीश भगवान का प्रसाद है, कहावत है-'जगन्नाथका भात। जगत पसारे हाथ।' ये भी उसके आगे हाथ फैलाकर प्रसाद की याचना करने लगे। श्वपच प्रथम तो सकुचाया, परन्तु इनके प्रेमाग्रह को देखकर प्रसाद दिया। ये तुरन्त ही प्रसाद पाकर नृत्य करने लगे। उस दिन रात्रि-भर श्रीश्रुतिप्रज्ञजी उस श्वपच भक्त के साथ सत्सङ्ग करते रहे। प्रातः बड़े आदरपूर्वक विदा करके स्वयं जगदीशपुरी आये और भगवान का दर्शनकर परम कृतार्थ हुए।

ज्ञानी पण्डित वेद के, सुजसी श्रीश्रुतिप्रज्ञ।
अकथनीय महा महिमा, परम रसज्ञ कृतज्ञ।। **(भ०व०टि०)**

श्रीश्रुतिदेवजी

परम वैष्णव श्रीश्रुतिदेवजी सन्त-वैष्णवों की जमात सङ्ग में लेकर प्रायः विचरण ही किया करते थे। विचरण का उद्देश्य था-विमुख जीवों को भगवत् सम्मुख करना, नीरस हृदय को सरस बनाना, घर-घर में भक्ति का प्रचार करना। यथा-'जड़ जीवन को करैं सचेता। सन्त जगत विचरत एहि हेता।। (वैराग्य-सन्दीपनी) एक बार ये विचरते-विचरते एक अभक्त राजा के राज्य में पहुँच गये। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार वहाँ की प्रजा भी महा नास्तिक थी। राजा के बाग में जमात टिकी। वहाँ आस-पास कोई नदी, तालाब नहीं था। बाग में ही एक-दो कुएँ थे। स्नानार्थ जब साधु कुएँ से जल लेने लगे तो बाग के मालियों ने उन्हें स्नान नहीं करने दिया। बोले-यह कुँआ बाग सींचने के लिए है, न कि मुण्डी-वैरागियों के स्नान के लिए। बहुत कहने सुनने पर भी मालियों ने किसी भी कुएँ से जल नहीं लेने दिया। तब श्रीश्रुतिदेवजी ने सन्तों से कहा कि बिना स्नान किये ही सब लोग मिलकर भगवन्नाम सङ्कीर्तन कर लें फिर यहाँ से प्रस्थान करें। यहाँ रहने लायक नहीं हैं।

अभी सन्त कुछ ही दूर गये थे कि इधर नगर भर के कुएँ-बावलियाँ सूख गईं। नगर में जल के लिए हा-हाकार मच गया। प्रजा ने राजदरबार में आकर पुकार किया राजा मन्त्रियों के साथ बैठकर विचारकर ही रहे थे कि तब तक एक माली ने आकर बाग का वृत्तान्त निवेदन किया। सबकी आँखें खुलीं। राजा मन्त्रियों एवं प्रजाजनों को साथ लेकर श्रीश्रुतिदेवजी के चरणों में पड़ गया। 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए, 'लागि दया कोमल चित सन्ता'-श्रीश्रुतिदेवजी सभी सन्तों के साथ कीर्तन करते हुए पुनः नगर में आये। सन्तों के नगर में प्रवेश करते ही सभी जलाशय निर्मल जल से परिपूर्ण हो गये। राजा-प्रजा सभी श्रीश्रुतिदेवजी के शिष्य हो गये। श्रीश्रुतिदेवजी ने वहाँ कुछ दिन निवास करके वहाँ के निवासियों के हृदय को भी प्रेमामृत से पूर्णकर दिया। फिर आप आगे को प्रस्थान किये। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं।

श्रीश्रुतिधामजी

श्रीहरि और हरिभक्तों में सदा समभाव रखने वाले श्रीश्रुतिधामजी बड़े ही उदार सन्त थे। वैष्णववेष (कण्ठी, माला, तिलक, छाप) का बड़ा आदर करते थे। स्वयं तो इनको धारण करते ही थे, दूसरों को भी इन्हें धारण करने का उपदेश देते थे और जो कोई भी वैष्णववेष धारण करता, उसे पूज्यबुद्धि से प्रणाम करते एवं उसके साथ अत्यन्त प्रीति करते थे। सङ्ग में बहुत से सन्तों की जमात लेकर विचरते रहते थे। अविचल भक्ति के साथ-

साथ अगाध पाण्डित्य से परिपूर्ण श्रीश्रुतिधामजी बड़ी ही सरस पद्धति से भक्तजनों के सन्देह-मोह-भ्रम का निवारण करते थे। वेद-पुराण-इतिहास आदि के रहस्यों को समझाते थे।

एक बार ये सन्त-समाज को साथ लेकर तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। श्रद्धापूर्वक श्रीत्रिवेणीजी में स्नानकर श्रीत्रिवेणी तट पर ही भक्त-मण्डली के बीच विराजमान होकर ब्रह्म-निरूपण, धर्म-विधि एवं भक्ति रहस्यों का सुन्दर विवेचन करते हुए सभी श्रोताओं को कर्म ज्ञान उपासनामय कथा-त्रिवेणी में स्नान करा रहे थे। श्रीत्रिवेणीजी की व्याख्या सुनकर कुछ लोगों ने हाथ-जोड़कर कहा कि-महाराज! तीर्थराज प्रयाग में श्रीगङ्गा-यमुना और सरस्वती का सङ्गम कहा जाता है, तो यहाँ श्रीगङ्गाजी एवं श्रीयमुनाजी की श्वेत-श्याम-दो धाराएँ तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, परन्तु सरस्वतीजी की तो केवल कथामात्र ही है, प्रत्यक्ष दर्शन तो कभी होता ही नहीं। हम लोगों की अभिलाषा है कि आप कृपाकर श्रीत्रिवेणीजी का प्रत्यक्ष दर्शन करावें। यह सुनकर श्रीश्रुतिधामजी ध्यानस्थ हो गये। इनके ध्यान करते ही श्रीगंगा, यमुना, सरस्वतीजी ने प्रथम तो अपने दिव्य-देवरूप का दर्शन कराया। इसके बाद पुनः प्रवाहरूप का दर्शन कराया। श्रीत्रिवेणीजी का दिव्य-दर्शन पाकर एवं श्रीश्रुतिधामजी की महिमा विचारकर वहाँ के लोग बड़े ही भाव-विभोर हो गये। सबको शरीर की सुधि-बुधि भूल गई। आज श्रीगङ्गाजी की धवल-धारा एवं श्रीयमुनाजी की श्यामधारा के बीच श्रीसरस्वतीजी की अरुणिम धारा का प्रत्यक्ष दर्शनकर सबने श्रुतिशास्त्र को परम सत्य माना और फिर सबने अनुराग से उमड़कर सङ्गम में स्नान किया। सन्तों के निवेदन करने पर श्रीश्रुतिधामजी ने भी श्रीसरस्वतीजी का दर्शन किया और त्रिवेणी में स्नान किया। सर्वत्र 'श्रीत्रिवेणीजी की जय' एवं 'श्रीश्रुतिधामजी की जय' का स्वर गूँजने लगा।

एहि विधि जै जैकार करि लोग उचारत नाम।
चरण परत श्रुति धाम के, पूरे सबके काम।। (भ०व०टि०)

श्रीश्रुतिउदधिजी

सद्गुण सिन्धु श्रीश्रुतिउदधिजी अपना सर्वस्व सन्तों की सेवा में अर्पणकर स्वयं भगवच्चिन्तन करते हुए सदा एकाकी विचरण किया करते थे। एक बार मन में आया कि चलें, गंगास्नान कर आवें। एक दिन मार्ग में एक राजा की वाटिका में रात्रि में विश्राम किये। थोड़ी देर विश्राम करने के अनन्तर ये बैठकर भगवद्ध्यान करने लगे। संयोग की बात उसी रात को राजा के महल में चोरी हुई। चोर माल-मत्ता लेकर भगे जा रहे थे कि राज-कर्मचारियों ने उन्हें देख लिया। सिपाहियों ने तुरन्त पीछा किया तो चोर उसी

वाटिका से होकर भागे। कुछ ने तो डर के मारे चोरी का सामान वहीं फेंक दिया और एक ने एक मणियों की माला ध्यानस्थ श्रीश्रुतिउदधिजी के गले में डाल दी। इनको ध्यान में बाह्य जगत् का किञ्चित् भी ध्यान नहीं था, अतः चोर कब आये, कब गये, क्या किये, इसका कुछ भी पता नहीं था। परन्तु चोरी का सामान वहीं पड़ा मिला एवं मणिमाला इनके गले में थीं अतः सिपाहियों ने इन्हें चोर मानकर पकड़कर राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा ने बिना विचारे परम-भागवत को कारागार में बन्द कर दिया। इस पर दृष्टान्त श्रीमाण्डव्यजी का। देखिये पूर्वार्द्ध-विदुरजी की कथा।

श्रीश्रुतिउदधिजी जो-स्वर्ग नरक अपवर्ग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना।। की स्थिति को प्राप्त कर चुके थे, अतः बिना किसी खेद के कारागार में भी भगवच्चिन्तन में व्यवधान नहीं पड़ा। लेकिन भक्तवत्सल भगवान को राजा का यह अन्याय असह्य हो गया। फलस्वरूप राजा के सिर में अत्यन्त दारुण पीड़ा होने लगी। यद्यपि यथासम्भव-सभी प्रकार के उपचार किये गये परन्तु सब व्यर्थ रहे। भला दैवीकोप कहीं दवा-दारू से शान्त होता है। अन्त में मन्त्रियों ने सुझाव दिया कि आपने सन्त को सताया, यह उसी का परिणाम जान पड़ता है, अतः शीघ्रातिशीघ्र सन्त को कारागार से मुक्त किया जाय एवं चरणों में पड़कर अपराध क्षमा कराया जाय। राजा तत्काल 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए सन्त के चरण में अपना माथा टेक दिया। सन्त की कृपादृष्टि होते ही सभी आधि-व्याधि का तुरन्त शमन हो गया। राजा ने सपरिवार श्रीश्रुतिउदधिजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार ये चारों दिग्गज महन्त महानुभाव भक्ति के प्रचार-प्रसार द्वारा जगत् का मङ्गल करने वाले हुए इनका सुयश जगत् में प्रसिद्ध है।

शिव संहिता प्रणीत ज्ञान-**यथा शिव संहितायाम्**-

नान्यद्रामात्परं तत्वं कौशल्यानन्दवर्द्धनात्।
जानकी वल्लभात्कालत्रिके देशेषु दृश्यते।।
न श्रीरामव्रतादन्यद्व्रतं सर्वार्थ साधनम्।
न रामाराधनादन्यो यत्नो वेदेषु दृश्यते।।
नान्योमन्त्रः परो राममन्त्रात्षडक्षरादपि।।

अर्थ-**श्रीकौशल्यानन्दवर्द्धन, श्रीजानकीवल्लभ श्रीरामजी से भिन्न तीनों कालों में और सर्वदेशों में कभी भी कहीं भी दूसरा परतत्त्व नहीं है और श्रीरामजी के व्रत से अन्य सर्वार्थ साधक दूसरा व्रत भी नहीं है। वेदों में श्रीरामजी के आराधन के अतिरिक्त दूसरा**

यज्ञ भी नहीं है तथा षडक्षर श्रीराममन्त्र से श्रेष्ठ दूसरा मन्त्र भी नहीं है।। (श्रीअगस्त्य वचन श्रीहनुमानजी के प्रति।) 'उदार धी' कहने का भाव यह कि इन लोगों ने बिना किसी भेद-भाव के प्राणिमात्र को भक्तिदान दिया। विशेष देखिये-रामानुज उदार-छप्पय २८।

श्रीलालाचार्यजी

आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति।।
कोउ माला धारी मृतक बह्यो सरिता में आयौ।
दाह कृत्य ज्यौं बन्धु न्यौति सब कुटुम्ब बुलायौ।।
नाक सकोचहिं विप्र तबहिं हरिपुर जन आये।
जेंवत देखे सबनि जात काहू नहिं पाये।।
'लालाचारज' लक्षधा प्रचुर भई महिमा जगति।
आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति।।३३।।

शब्दार्थ-जामात=दामाद। मालाधारी=कण्ठी पहनने वाला। हरिपुर=वैकुण्ठ। जन=पार्षद, भक्त। लक्षधा=बहुत अधिक, लाखों प्रकार से। प्रचुर=अति अधिक। जगति= संसार में।

भावार्थ-श्रीरामानुजाचार्यजी के दामाद श्रीलालाचार्यजी की कथा सुनते ही भगवान में विशेष प्रीति होती है। एक बार कोई तुलसीकण्ठी धारण किये हुए मृतक-शरीर नदी में बहता हुआ आया। श्रीलालाचार्यजी ने उसे निकालकर उसका अपने भाई के समान दाह-संस्कार किया। तेरहवें दिन भोजन के लिए ब्राह्मणों को तथा कुटुम्बियों को निमन्त्रण देकर बुलाया। अज्ञात शव का भण्डारा जानकर ब्राह्मण लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगे और भोजन करने कोई नहीं आया। तब वैकुण्ठधाम से भगवान के पार्षद आये जिन्हें भोजन करते हुए तो सभी लोगों ने देखा परन्तु जाते समय वे आकाश मार्ग से चले गये। किसी को मिले नहीं, उन्हें किसी ने न पाया। इस चमत्कार से लालाचार्यजी की महिमा लाखों गुनी बढ़ गई।।३३।।

व्याख्या-आचारज... होइ रति-भगवद्रति (भक्ति) को सभी शास्त्रों एवं सदाचार्यों ने सुदुर्लभ कहा है। यथा-

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः। श्रेयः साधन साहस्रैर्हरिभक्तिश्च दुर्लभा।।

अर्थ-ज्ञान के द्वारा मुक्ति सुलभ हो जाती है, यज्ञादिक पुण्यों से लौकिक सुख एवं स्वर्ग सुलभ हो जाता है। परन्तु हजारों श्रेयस्साधन करने पर भी भगवान की भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। (पद्मपुराण) पुनः-श्रीरूपगोस्वामीजी कहते हैं-

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्ष लघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रान्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।। **(भ०र०सि०)**

इस श्लोक में भी भक्ति को सुदुर्लभ कहा गया है। श्रीपार्वतीजी कहती हैं-'सबते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया।।' (रा०च०मा०) परन्तु ऐसी परम दुर्लभ-भक्ति भी भागवतों के चरित्र का स्वाध्याय करने से सहज सुलभ हो जाती है। यथा- 'भक्त चरित नित नेम सों, कहैं सुनै जो कोइ। मुक्ति भुक्तिकी का कथा, भक्ति सुलभ तेहि होइ।।' (सन्तवाणी)

मालाधारी-**भक्तिग्रन्थों में तुलसी काष्ठ की माला धारण करने का बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है। यथा-**

मालाधारकमात्रोऽपि वैष्णवो भक्तिवर्जितः।
पूजनीयः प्रयत्नेन ब्रह्मणा किन्नु मानुषैः।।

(आदि पुराणे कृष्ण वाक्यम्)

अर्थ-भक्ति से रहित होने पर भी केवल तुलसी की माला धारण करने मात्र से वह वैष्णव ब्रह्माजी के द्वारा पूजने योग्य है, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या?

पुनः- तुलसी काष्ठजां मालां कण्ठस्थां वहते तु यः।
अशौचश्चाप्यनाचारो मामेवैति न संशयः।। **(विष्णुधर्मोत्तरे)**

अर्थ-भगवान कहते हैं कि-जो पुरुष तुलसी काष्ठ निर्मित माला कण्ठ देश में धारण करता है-वह अपवित्र हो वा आचार भ्रष्ट हो-मुझको प्राप्त करेगा-इसमें सन्देह नहीं है।

पुनः- त्रयो देवास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः सन्ध्यास्त्रयोऽग्नयः।
तुलसी काष्ठधृक् विप्रे सदा कुर्वन्ति मंगलम्।। **(पाद्मे)**

अर्थ-तीनों वेद, तीनों देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तीनों सन्ध्या एवं तीनों अग्नियाँ ये सब तुलसी काष्ठधारी विप्र के लिए निरन्तर मङ्गल करते हैं।

पुनः- सदाप्रीतमनास्तस्य कृष्णः देवकिनन्दनः।
तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः।। **(गारुड़े)**

अर्थ-तुलसी काष्ठ की माला धारण करने वाले पर श्रीकृष्ण सदा प्रसन्न रहते हैं। आदि। तथा देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८७ श्लोक-येकण्ठलग्न०।

आचारज को जामात बात ताकी सुनौ नीके पायो उपदेश सन्त बन्धु करि मानिये।
कीजै कोटि गुनी प्रीति ऐपै न बनति रीति तातें इति करौ याते घटती न आनिये।।
मालाधारी साधु तन सरिता में बह्यो आयो ल्यायो घर फेरिकै विमान शव जानिये।
गावत बज़ावत लै नीर तीर दाह कियो हियो दुख पायो सुख पायो समाधानिये।।११०

शब्दार्थ-बन्धुकरि=भाई के समान। इति=अन्त में, इतनी यही। घटती=कमी।

भावार्थ-आचार्य श्रीरामानुज के दामाद श्रीलालाचार्यजी की कथा अच्छी तरह सावधान होकर सुनिये। गुरुदेव ने उपदेश दिया कि-सन्तों मे भगवान से कोटिगुनी अधिक प्रीति करना, तब श्रीलालाचार्यजी ने प्रार्थना की कि-प्रभो! यह असम्भव है (तब उन्होंने कहा कि-मेरे अर्थात् गुरु के समान मानना, तब आपने कहा कि-यह भी कठिन है) तब गुरुदेव ने कहा कि-भाई के समान प्रीति करना, इससे कम कदापि न करना। यह आपने स्वीकार कर लिया और तभी से सन्तों को अपना भाई मानकर उनकी सेवा करने लगे। एक बार एक तुलसीकण्ठी धारण करने वाले सन्त का शव नदी में बहकर आया। (लालाचार्यजी की पत्नी जल भरने गई थी उससे उसकी सहेलियों ने व्यङ्ग किया कि-पहचान लो, तुम्हारे जेठ हैं या देवर। घर जाकर उसने यह बात लालाचार्यजी से कही।) तब वे उसे नदी से निकालकर घर लाये और विमान बनाकर बाजे बजाते हुए फिर नदी तट पर ले गये और विधिवत् दाह-संस्कार किया। भाई के वियोग में हृदय दुःखी हुआ। पुनः उन्होंने विचार किया कि-ये तो हमारे भाई भजनानन्दी सन्त थे, शरीर त्यागकर भगवद्धाम को गये, ऐसा विचारते ही मन ही मन में सुख और समाधान हुआ।।११०।।

व्याख्या-श्रीलालाचार्यजी श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी के जामात भी थे एवं शिष्य भी थे। दीक्षा के अनन्तर श्रीलालाचार्यजी ने जब श्रीस्वामीजी से शिक्षा के लिए प्रार्थना किया तो उन्होंने सर्वप्रथम यही उपदेश किया कि वैष्णवों के श्रीचरणों में प्रीति करो। यह पूछने पर कि कैसी प्रीति करूँ, श्रीस्वामीजी ने कहा-सन्तों में भगवान से बढ़कर भाव करना चाहिए। यथा-'मोते सन्त अधिक करि लेखा।' 'राम से अधिक राम कर दासा।' 'तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्।' आदि। श्रीलालाचार्यजी ने विचार किया कि यदि मैं इस समय यह शिक्षा स्वीकार कर लूँ और आगे निर्वाह न हो सके तो अपराध का भागी बनना पड़ेगा। अतः निवेदन किये कि-ऐसा भाव होना तो मेरे लिए असम्भव है। तब श्रीआचार्यपाद ने

भगवान के समान। यथा-सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपिमति विमल कह दास तुलसी। (वि०) भाव करने को कहा। इसे भी अस्वीकार करने पर अपने समान मानने को कहा। यथा-'सन्त सबै गुरुदेव हैं', 'सद्‌गुरु साँचे सन्त।' (सन्तवाणी) परन्तु जब यह नहीं स्वीकार किये तो बड़े भाई के समान मानने पर जोर दिये।

यथा-'देवताबान्धवाः सन्तः' (भा०) दृष्टान्त-सुदर्शन खत्री का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६६। घटती न आनिये-'प्रेम करैं ते बावरे, करि तोरैं ते क्रूर। ध्रुव निरबाहैं एक रस तेई प्रेमी सूर।।'

श्रीलालाचार्यजी ने यह भाव अङ्गीकार कर लिया। दक्षिण देश में जाति-पाँति का बड़ा विचार किया जाता है, परन्तु श्रीलालाचार्यजी इन भेद-भावों को भुलाकर वैष्णवमात्र में बन्धु-बुद्धि करके उनका बड़ा सत्कार करते। विमुख लोग इनके इस व्यवहार की बड़ी हँसी उड़ाते। एक बार किसी कण्ठी-मालाधारी मृतक को बहा जाता हुआ देखकर-श्रीकावेरीजी में जल भरने के लिए गई हुई लालाचार्यजी की पत्नी से किसी ने व्यङ्ग कर दिया-'तेरो देवर आवत बहतो। देखत सबै कोउ नहीं गहतो।। तब लालाचारज की नारी। चलि घर पति सों वचन उचारी।। कावेरी इक मृतक लखि, देवर मोर वनाय। कियो सकल हाँसी तिया, यह दुख सह्यो न जाय।।' यह सुनकर श्रीलालाचार्यजी ने उसका बन्धुवत् दाहकृत्यादि किया। 'हियो दुख पायो', लोक में लोग जैसे बन्धु वियोग में दुःख मानते हैं, दहाड़ मारकर रोते हैं, वैसे ही ये भी दुःखी हुए। तब सन्तों ने समाधान किया एवं स्वयं भी विचार किये, मृत्यु अमङ्गलरूप तो संसारी लोगों के लिए है। भक्तों के लिए तो यह आनन्दमूल है यथा-

> जा मरने से जग डरै सा मेरे आनन्द। कब मरिहौं कब भेटिहौं पूरण परमानन्द।।
>
> कियो सो महोच्छौ ज्ञाति विप्रनको न्योतो दियो लियो आये नाहिं कियो शंका दुखदाइये।
> भये इक ठौरे माया कीने सब बौरे कछु कहैं बात औरे मरी देह बही आइये।।
> याते नहीं खात वाकी जानत न जाति पाँति बड़ौ उतपात घर ल्याइ जाइ दाहिये।
> मग अवलोकि उत पर्‌यो सुनि शोक हिये जिये आइ पूछैं गुरु कैसे कै निबाहिये।।१११

शब्दार्थ-ज्ञाति=कुटुम्ब। बौरे=बावरे, पागल।

भावार्थ-तेरवहीं के दिन श्रीलालाचार्यजी ने धूमधाम से महोत्सव (भण्डारा) किया। अपने कुटुम्बियों को तथा अन्य ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया। सभी ने निमन्त्रण तो स्वीकार कर लिया, परन्तु समय पर भोजन करने नहीं आये। ब्राह्मणों के मन में दुःख देने वाली

शंका हुई। सभी एक स्थान पर एकत्र हो गये माया ने सबको पागल कर दिया। सब लोग कुछ और भी बात कहने लगे कि-मरा हुआ शरीर नदी में बहता आया था। उसकी जाति-पाँति को कोई भी नहीं जानता है, इसलिए हम लोग उसके भण्डारे में भोजन नहीं कर सकते, इस लालाचार्य ने तो बड़ा-भारी उत्पात ब्राह्मण समाज में खड़ा कर दिया। शव को उलटे घर ले आया और फिर उसका दाह-संस्कार किया। श्रीलालाचार्यजी ने बड़ी देर तक बाट देखी। ब्राह्मणों के न आने का कारण सुनकर बड़ा शोक हुआ। फिर जी में आया कि चलकर गुरुदेवजी से ही पूँछे कि-इस समय निष्ठा का निर्वाह कैसे किया जाय।।१११।।

व्याख्या-'कियो शंका दुखदाइये'-भाव यह कि विद्वान् ब्राह्मण शास्त्रों के गूढ़-रहस्यों को समझाने-समझने के लिए ऊहापोह, शंका-समाधान करते हैं। इससे परस्पर सुख संबर्द्धन होता है। परन्तु ये तो ऐसी शंका किये कि स्वयं को भी दुःख हुआ और परम भागवत लालाचार्यजी को भी। इससे जनाया गया कि ये शास्त्रों का मर्म समझने वाले नहीं हैं, ये तो शास्त्रों का भारमात्र ढोने वाले हैं। यथा-

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथा च विप्रा श्रुति शास्त्रयुक्ता मद्भक्तिहीनाः खरवद् वहन्ति।।

अर्थ-जैसे पीठ पर चन्दन का भार ढोने वाला गर्दभ भार को ही जानता है। चन्दन की शीतलता एवं सुगन्ध का मर्म वह नहीं जानता है, उसी प्रकार भक्तिहीन ब्राह्मण सर्व-शास्त्रों को पढ़-लिखकर भी केवल पोथी का भार ही ढोने वाले हैं।

'भये इक ठौरे०'-न्यौता फिरने के बाद परस्पर चर्चा-चबाव होने लगा। किसी ने कहा-अरे भाई! आज तो लालाचार्य के यहाँ खूब चकाचक है। सबेरे से ही न्यौता घूम रहा है। दूसरे ने कहा अजी, झरा-न्यौता है। तीसरे ने कहा-पूआ-तस्मई पर हाथ फिरेगा। ऐसे ही कई एक लोग इकट्ठे हो गये। बात आगे बढ़ी। किसी ने पूछा-कैसा न्यौता है? कोई उत्सव है, भागवत-सप्ताह, रामायण नवाह्न है, क्या है? एक ने कहा-अरे, यह सब कुछ नहीं है-'मरी देह बही आइये'"'आदि। तब तो सबके कान खड़े हुए। सबने मिलकर पंचायत की, और निर्णय किया कि अब तो इस भण्डारे में हम लोग कदापि नहीं जायेंगे।

'बड़ो उतपात०'-भाव यह कि रीति तो यह है कि घर में से शीघ्र मुर्दा को बाहर किया जाता है, चाहे वह अपना कितना ही सगा-सम्बन्धी क्यों न हो परन्तु यह तो मरे मुर्दे

को, जिसकी जाति-पाँति, कुल-गोत्र का कोई ठिकाना नहीं, नदी में से निकालकर घर लाये। यह ठीक नहीं है। 'सुनि शोक हिये'-ब्राह्मणों का निर्णय सुनकर श्रीलालाचार्यजी को बड़ा शोक हुआ। एक तो यह कि ब्राह्मणों ने न्योता लेकर धोखा दिया, नहीं आये। दूसरे बना-बनाया सब सामान नष्ट होगा। तीसरे बिना ब्रह्म-भोज के और्ध्वदेहिककृत्य अधूरा रह जायेगा, आदि। 'कैसे कै निबाहिये'-निष्ठा का ओर-छोर निर्वाह करना महाकठिन है। यथा-

गहिबो अकाश पुनि लहिबो अथाह थाह अति विकराल व्याल बालको खेलाइबो।
सेर समसेर-धार साहिबो प्रवाह बान गज मृगराज द्वै हथेरिन लराइबो।।
गिरि ते गिरिन ज्वाल-माल में जरन और काशी में करौट देह हिम में गराइबो।
पीबो विष विषम कबूल कवि 'नागर' पै कठिन कराल एक नेह को निबाहिबो।।

आपुहि ते सूली चढ़ि जैबो है सहज घनो सोऊ अति सहज सती कौ तन दाहिबो।
सीस पै सुमेर धारि धायबो सहज अरु सहज लगै है बहु सातो सिन्धु थाहिबो।।
सहज बड़ो है प्रीति करिबो बिचारौ जीय सहज दिखात चित्त दो दिन कौ चाहिबो।
'रसिकबिहारी' यही सहज नहीं है मीत एक सो सदा ही साँचो नेह को निबाहिबो।।

छल वञ्चक हीन चलै पथ याहि प्रतीति सुसम्बल चाहनो है।
तहँ सङ्कट वायु वियोग लुवैं दिल को दुःख दाव मैं दाहनो है।।
नदसोक विषाद कुसाग्र ग्रसैं खर धारिहि तौ अवगाहनो है।
हित 'दीनदयाल' महामृदु है कठिनै अति अन्त निबाहनो है।।

अतः श्रीलालाचार्यजी कहते हैं कि 'कैसे कै निबाहिये।।'

चले श्रीआचारज पै वारिज बदन देखि करि साष्टांग बात कहि सो जनाइयै।
जाओ निहशङ्क वे प्रसाद को न जानै रङ्क जानैं जे प्रभाव आवैं वेगि सुखदाइयै।।
देखे नभ भूमि द्वार ऐहैं निरधार जन वैकुण्ठ निवासी पाँति ढिग ह्वै कै आइयै।
इन्हैं अब जान देवौ जनि कछु कहो अहो गहो करौ हाँसी जब घर जाय खाइयै।।११२

शब्दार्थ-**रङ्क=दरिद्र, अभागे। निरधार=निश्चय।**

भावार्थ-**श्रीलालाचार्यजी, आचार्य श्रीरामानुज के पास गये और उनके मुखारविन्द का दर्शन करके तथा साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके सब बात कहकर बताई। आचार्यजी ने कहा कि-तुम निःशङ्क होकर जाओ, वे दरिद्र-अभागे प्रसाद की महिमा को नहीं जानते हैं। जो भक्त प्रसाद की महिमा को जानते हैं, वे तुम्हें सुख देने वाले भक्त बहुत शीघ्र आवेंगे। ऐसा कहकर आचार्यजी ने आकाश की ओर, और फिर पृथ्वी की ओर देखकर पार्षदों का**

आवाहन किया और बोले कि-तुम घर जाओ निश्चय ही वैकुण्ठवासीजन प्रसाद पाने आवेंगे। कुछ देर बाद (दिव्य ब्राह्मण रूपधारी) पार्षदों का झुण्ड उन ब्राह्मणों के निकट होकर श्रीलालाचार्यजी के घर आया। इन्हें देखकर वे ब्राह्मण आपस में कहने लगे कि-अभी इनको जाने दो, इनसे कुछ भी मत कहो। जब ये भोजन करके लौटें तब इन्हें रोको और (किसके भण्डारे में भोजन किया है, यह पूछकर) इनकी हँसी करो।।११२।।

व्याख्या-प्रसाद को न जानैं रङ्क-**जब जीव के सुकृत समूह का समुदय होता है तब भगवान के प्रसाद में, भगवन्नाम में, वैष्णवों में एवं ब्राह्मणों में श्रद्धा एवं विश्वास होता है। यथा-'महाप्रसादे गोविन्द नाम्नि ब्राह्मणवैष्णवे। स्वल्प पुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।।' उसमें भी भागवत के घर जाकर भगवत्प्रसाद पाना-यह तो बड़े ही सौभाग्य की बात है। भागवत के यहाँ का अन्न, गङ्गाजल, भगवद्ध्यान परायणचित्त एवं एकादशी व्रत ये चारों विशुद्ध कहे गये हैं। यथा-'शुद्धं भागवतस्यान्नं शुद्धं भागीरथी जलम्। शुद्धं विष्णु-परं चित्तं शुद्धमेकादशी व्रतम्।।' जब ब्रह्माजी भी प्रसाद की जूठी पत्तलों में से प्रसादकण लेने के लिए ललचाते रहते हैं, फिर साधारण प्राणी यदि उपेक्षा करता है तो निश्चय ही वह मन्दभागी है। यथा-'श्रीपतिके परसाद को बांभन विमुख घिनाइ। ब्रह्मा जूठे पात को बिन पाये पछिताइ।।' भगवत्प्रसाद में अभाव होना नारकी जीवों का लक्षण है। यथा-**

हरि प्रसाद क्यों लेत नार की।
व्याह सराध अधम जहँ जूठनि खात फिरत संसार की।।
जो मुख सलिता बहै निरन्तर विष लोहू कफ लार की।
तिहिं मुख सुखद जाइ क्यों जूठनि व्रज जुवतिन के जार की।। **(व्यासवाणी)**

पुनः- ऐसी चतुरता में छार।
करत वाद विवाद जित तित हित न नन्दकुमार।।
रूप कुल गुन कूप पण्डित बड़ौ गर्व अपार।
नहि न हम सम और कोऊ दूसरौ संसार।।
तात मरियौ मातु मरि पुनि मर्‌यौ सब परिवार।
यहौ जानत हमहु मरिहैं तउ न तजत विकार।।
हरत पर वित धरत रुचि सचि भरत भौन भण्डार।
नहि न रञ्चक प्रीति हरिपद विषय मन मञ्जार।।
लेत नहिन प्रसाद सादर लोक लाज विचार।
नारि मुख हित पाइ पीवत अधर लपटी लार।।

सन्त जन सों द्रोह मानत कुमत के आगार।
'जुगल' विमुखन परिहरौ सत्संग बारम्बार।।

शास्त्रों में तो लिखा है कि विद्वान् पुरुष को चाहिए कि सर्वपाप प्रशमनार्थ प्रयत्न-पूर्वक वैष्णव के अन्न की याचना करके लेवे, यदि अन्न का अभाव हो तो जल ही माँगकर पीवे यथा-

प्रार्थयेद्वैष्णवस्यान्नं प्रयत्नेन विचक्षणा। सर्व पाप विशुद्ध्यर्थं तदभावे जलं पिबेत्।।
पुनः- महापातक युक्तो यद् द्विजो वैष्णवमन्दिरे। याचयेदन्नममृतं तदभावे जलं पिबेत्।।
(पाद्मे)

जो द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) महापाप से युक्त हो, वह आत्म-शुद्ध्यर्थ वैष्णव के घर जाकर अमृतान्न (भगवत्प्रसाद) को माँगकर पावे, यदि अन्न शेष न हो तो जल ही माँगकर पीवे।। 'जानैं जे प्रभाव०'-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५७४, छप्पय १५, 'हरिप्रसाद रस-स्वाद के भक्त इते परमान।।'

ऐहैं निरधार···आइये-**श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी ने भगवान से प्रार्थना की। भगवान वैकुण्ठेश ने स्वीकृति दे दी। प्रभु ने अपने पार्षदों को बुलाया और हँसकर बोले- आज मर्त्यलोक से आप लोगों के लिए प्रसाद पाने का निमन्त्रण आया है, अतः आप लोगों को वहाँ जाना पड़ेगा। यह सुनकर प्रथम तो पार्षदों को बड़ा कुतूहल हुआ कि ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, परन्तु जब निश्चय समझे तो उन्हें बड़ी ही उत्सुकता हुई। एक तो भागवत का दर्शन करने की, जिसका निमन्त्रण वैकुण्ठ तक जाता है और स्वयं वैकुण्ठनाथ जहाँ जाने के लिए अनुरोध करते हैं। दूसरे प्रसाद का भी लोभ हुआ, बहुत दिन हो गया था मर्त्यलोक में वैष्णव के घर भगवत्प्रसाद पाये। पार्षदत्व प्राप्त करने के पूर्व जब ये पृथ्वी पर वैष्णव वेष में थे तो खूब प्रसाद का आस्वादन करते थे-आज उसकी याद आ गई। फिर क्या था, भगवान के पार्षद बढ़िया चौबन्दी पहने शिर पर पगड़ी बाँधे, हाथ में छड़ी और लोटा लिए, सुन्दर ब्राह्मण का-सा वेष बनाये हुए उन्हीं ब्राह्मणों के द्वार से होकर श्रीलालाचार्यजी के घर आये। ब्राह्मणों ने देखा परन्तु पहचाना नहीं और भगवत्प्रेरणा से पूछे भी नहीं कि आप लोग कौन हैं? कहाँ से आये हैं? अगर पूछते तो सच-सच बताना पड़ता। क्योंकि देवता हैं। देवता झूठ नहीं बोलते। अतः प्रभु ने मति फेर दी। लोगों ने सोचा कि कहीं दूर के दूसरे गाँव के ब्राह्मण होंगे।**

'करो हाँसी'-विमुख लोगों का स्वभाव होता है कि स्वयं तो कुछ शुभ-कर्म-धर्म करते बनता नहीं, स्वयं तो अशेष अशुभाचरण करते हैं, परन्तु यदि कोई शुभकर्म करता है तो उसका उपहास करते हैं। जबकि वास्तव में उपहास योग्य वे स्वयं ही हैं। श्रीकबीरदासजी कहते हैं कि-

ऐसे लोगन सों का कहिये।
हरिगुन सुनहिं न हरिगुन गावहिं। बातनही असमान गिरावहिं।
आप न देहिं चुरू भरि पानी। तिहिं निन्दहिं जो गंगा आनी।।

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं-

बाबुरे बहेरे को बनाइ बाग लाइयत रूँधिबे को सोइ सुरतरु काटियतु हैं।
गारी देत नीच हरिचन्दहू दधीचिहू को आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु हैं।।
आपु महापातकी हँसत हरि हरिहू को आपु हैं अभागी भूरि भागी डांटियतु हैं।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत मसक की पांसुरी पयोधि पाटियतु हैं।।

आये देखि पारषद गयो गिरि भूमि सद हद करी कृपा यह जानि निजजन को।
पायो लै प्रसाद स्वाद कहि अहलाद भयो नयो लयो मोद जान्यो साँचो सन्तपन को।।
विदा ह्वै पधारे नभ मग में सिधारे विप्र देखत विचारे द्वार व्यथा भई मन को।
गयो अभिमान आनि मन्दिर मगन भये नये दृग लाज बीनि-बीनि लेत कन को।।११३

शब्दार्थ=**सद=तुरत, शीघ्र। हद=सीमा। अहलाद=प्रसन्नता**

भावार्थ-**श्रीलालाचार्यजी ने पार्षदों को आया देखकर झट पृथ्वी पर पड़कर साष्टांग दण्डवत् करके प्रार्थना की कि प्रभो! आपने अपना दास जानकर मुझ पर अपार कृपा की। (पंक्ति बैठी प्रसाद परोसा गया) सभी प्रसाद पाने लगे। प्रसाद के अनुपम-स्वाद का वर्णन करके परम प्रसन्न हुए। सभी ने विचित्र आनन्द का अनुभव किया। श्रीलालाचार्यजी अति आनन्दित हुए। सन्तों में निष्ठा का क्या प्रभाव होता है तथा सन्तों का प्रण कैसा सच्चा होता है यह जाना। प्रसाद पाकर ये सभी पार्षद विदा होकर पधारे। आँगन से आकाशमार्ग होकर वैकुण्ठ को चले गये। वे बेचारे ब्राह्मण द्वार पर तथा मार्ग में खड़े होकर देख रहे थे। जब उन्होंने यह जाना कि यह तो आकाशचारी कोई दिव्य-पुरुष थे, तब उनके मन में बड़ा-भारी दुःख हुआ। उन सबका अभिमान चला गया। श्रीलालाचार्यजी के घर में आकर सभी प्रेममगन हो गये। लज्जावश उनकी आँखें ऊपर को नहीं उठती थीं।**

अब उन्हें प्रसाद की महिमा का ज्ञान हो गया था इसलिए पृथ्वी पर पड़े हुए कणों को बीन-बीनकर खाते हुए आनन्दमग्न हो गये।।११३।।

व्याख्या-आये देखि पारषद-भगवान के पार्षद ब्राह्मणों को तो ब्राह्मण दीखे परन्तु श्रीलालाचार्यजी को पार्षद रूप में ही दर्शन हुआ। जैसे श्रीनारदजी को सबने तो श्रीनारद रूप से देखा, परन्तु विश्वमोहिनी को मर्कटरूप दिखाई पड़े। कथा इस प्रकार है। विश्वमोहिनी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसे वरण करने की अभिलाषा से श्रीनारदजी ने भगवान से सुन्दर रूप की याचना की। परन्तु प्रभु ने श्रीनारदजी का हित विचारकर कुरूप (बन्दर का रूप) दिया। यथा-'मुनिहित कारन कृपा निधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना।।' परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान ने नारदजी का जगत् भर में उपहास कराया। नारदजी सबको नारद ही दिखाई पड़ते थे। यथा-'नारद जानि सबहिं सिर नावा।' परन्तु विश्वमोहिनी को वानररूप दीखते थे। यथा-'सो सरूप नृप कन्या देखा। मर्कट बदन भयङ्कर देही।'''।' अथवा हर गणों को उनका कपिरूप दिखाई पड़ता था। तभी तो-'करहिं कूट नारदहिं सुनाई।' (रा०च०मा०)

पुनः-मिथिला की रङ्गभूमि में श्रीरामजी को सभी ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार विविध रूपों में देखा। यथा-'जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।। देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ वीर रस धरे शरीरा।। डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।। रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।। पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषण लोचन सुखदाई। नारि विलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिङ्गार धरि मूरति परम अनूप।।' आदि। (रा०च०मा०) पुनः-श्रीकृष्ण भगवान को भी कंस की रङ्गशाला में लोगों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से अनेक रूपों में देखा था। यथा-

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरःस्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशु।
मृत्युर्भोजपते र्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगंगतः साग्रजः।।

गयो गिरि भूमि-श्रीलालाचार्यजी ने पार्षदों का षोडशोपचार पूजन किया और इनके इस अहैतुक अनुग्रह पर बार-बार बलिहार गये। यथा-

सन्त चरण पर शीस धर्‌यौ।
राखि लियो बहु भाँति कृपा करि मन ते संसय सूल हर्‌यौ।।
हमरे औगुन मेटि दूर घट में हरि रस अमृत भर्‌यौ।
कीट भृंग ज्यों मृतक जिवायौ जीव काग ते हंस कर्‌यौ।।
दूर कियौ अज्ञान अँधेरो ज्ञान रतन जब दीप बर्‌यौ।
हरिहि दिखाइ कियो हरि ही सों इहि सुख माया दुरित तर्‌यौ।।
प्रभु वश भये साधु की सेवा साधु संग ते काज सर्‌यौ।
रामराय के हित भगवानै साधु संग को अमल पर्‌यौ।।

हद कृपा करी-**यह कि मुझ दीन की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए, मुझे कृतार्थ करने के लिए आप लोग बैकुण्ठ छोड़कर मेरे घर आये। 'जानि निज जनको'-भगवान को निज-जन अत्यन्त प्यारे हैं। यथा-'तेहि ते पुनि मोहिं प्रिय निजदासा।। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।। निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाउ कपि कुल मन भावा।।' (रा०च०मा०) 'स्वाद कहि'-पार्षद प्रसाद पाते जाते और सराहते जाते थे कि अहा! कैसा अद्‌भुत स्वाद है। हम लोग वैकुण्ठ में नित्य ही श्रीनारायण भगवान का प्रसाद पाते हैं परन्तु इसमें तो कुछ और ही स्वाद है। इसके दो कारण हैं-एक तो वैष्णव महोत्सव का प्रसाद है, दूसरे परमानुरागी श्रीलालाचार्यजी की प्रीति से पगा है। तब क्यों न इतना स्वाद हो, आदि। 'नयो पायो मोद'-पार्षद और लालाचार्य-दोनों को ही नवीन आनन्द मिला। पार्षद इनके प्रेम पर मुग्ध हैं और ये उनकी कृपा पर बलिहार हैं।**

सांचो सन्तपन-**भगवान ने श्रीलालाचार्यजी के सन्त-सेवा प्रण को पूर्ण किया। यह कोई नई बात नहीं है। चारों युगों में भगवान ने भक्तों का प्रण निबाहा है। यथा-**

प्रभु सत्य करी प्रहलाद गिरा प्रगटे नर केहरि खम्भ महाँ।
झषराज ग्रस्यो गजराज कृपा तत्काल विलम्ब कियो न तहाँ।।
सुर साखी दै राखी है पाण्डु वधू पट लूटत कोटिन भूप जहाँ।
तुलसी भजु कोशलराजहिं रे जन को पन राम न राख्यो कहाँ।। **(क०)**

पुनः-'चारों जुग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।' (भक्तमाल छप्पय ५२)

व्यथा भई मन को-**अर्थात् बड़ा पश्चात्ताप हुआ। शास्त्रों में वर्णन आया है कि शुद्धान्तःकरण से किया गया पश्चात्ताप सबसे बड़ा प्रायश्चित्त होता है। ब्राह्मणों को**

पश्चात्ताप हुआ उससे उनके समस्त कल्मष नष्ट हो गये, हृदय शुद्ध हो गया अतः 'गयो अभिमान।' पुनः-गाँव में रहने के नाते उन ब्राह्मणों को नित्य श्रीलालाचार्यजी का दर्शन होता था, उस पुण्य के प्रभाव से ब्राह्मण वेषधारी भगवत्पार्षदों का दर्शन हुआ और उस पुण्य के प्रभाव से साक्षात् हरिरूप पार्षदों का दर्शन हुआ, अतः 'गयो अभिमान।' पुनः-ब्राह्मण लोग अपने ब्राह्मणपन के अभिमान में भक्ति का, भक्त का उपहास करते थे, आज 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु' की प्रत्यक्ष महिमा देखकर सबका अभिमान जाता रहा। फिर तो जो बुलाने पर भी नहीं आये थे वे बिना बुलाये आये और 'बीनि-बीनि लेत कनको।' यह निरभिमानता का प्रमाण है।।

पांइ लपटाइ अंग धूरि में लुटाय कहैं करो मनभायो और दीन बहु भाख्यो है।
कही भक्तराज तुम कृपा मैं समाज पायों गायौ जो पुराणन में रूप नैन चाख्यो है।।
छाड़ो उपहास अब करो निजदास हमैं पूजै हिये आस मन अति अभिलाख्यो है।
किये परशंस मानो हंस ये परम कोऊ ऐसे जस लाख भाँति घर-घर राख्यो है।।११४

शब्दार्थ-**नैन चाख्यो है**=नेत्रों से आस्वादन किया, दर्शन किया। **उपहास**=हँसी। **परशंस**=प्रशंसा के योग्य।

भावार्थ-श्रीलालाचार्यजी की महिमा जानकर ब्राह्मण लोग उनके पैरों में लिपट गये और आंगन की धूरि में लोटने लगे और प्रार्थना करने लगे कि-(हमारे ऊपर कृपा कीजिये या दण्ड दीजिये) जैसी आपकी इच्छा हो वैसा कीजिये। (अपराध क्षमाकर अपनी शरण में लीजिये) इस प्रकार से बहुत-सी दीनता-भरी बातें कहने लगे। तब भक्तराज श्रीलालाचार्यजी ने कहा-आप लोगों की कृपा से ही मैंने वैकुण्ठवासी पार्षदों का संग पाया। पुराणों में पार्षदों का जो (सुन्दर चतुर्भुजरूप) वर्णित है उसका दर्शन किया। यह सुनकर वे सब ब्राह्मण कहने लगे कि-अब आप हमारी हँसी न करें और मुझे अपना दास बनायें। यह मेरे मन में बड़ी-भारी अभिलाषा है इसे आप कृपाकर पूर्ण करें। तब श्रीलालाचार्यजी ने उन्हें वैष्णवी-दीक्षा दी और परम-विवेकी, भीतर-बाहर से निर्मल प्रशंसा के योग्य बना दिया। इस प्रकार श्रीलालाचार्यजी का सुयश लाखों प्रकार से घर-घर गाया जाने लगा।।११४।।

व्याख्या-'अंगधूरि में लुटाये'-यहाँ पार्षदों के श्रीचरण पड़े हैं, अतः धूरि में लोटते हैं। पुनः-भक्तचरण रज से अभिषेक किये बिना भक्ति नहीं मिलती। देखिये पूर्वार्द्ध रहूगण-प्रसङ्ग। अतः धूलि में लोटते हैं। 'दीन भाख्यो है'। यथा-

अब हम शरण तिहारी आये।
माया ठगिनी बहुत बिगोये फिरत रहे बौराये।।
तुम तो श्रीहरिजू के प्यारे दयानिधान गोसाईं।
सोई पन्थ दिखावो हमको जो सब दिन सुखदाई।।
श्वान धोयकै बछरा करिये खर को अश्व बनावो।
कागा को कोकिल गुन दीजै बकहिं हंस निरमावो।।
हरिहूँ ते समरथ हरि प्यारे आजु साँच हम जानी।
छमि अपराध कृपा अब कीजै लेहुदास मोहिं मानी।।
लियो नहीं परसाद ऊँच बनि नीच जानि अब दीजै।
विप्र बन्धु को दीनबन्धु अब जनम दूसरो कीजै।। **(भ०व०टि०)**

तुम कृपा०-**यद्यपि ब्राह्मणों ने किया था कोप, चाहते थे अनभल, परन्तु श्रीलालाचार्यजी उसे कृपा ही मानते हैं। यह साधु-स्वभाव है। दुष्ट-पुरुष दोष में तो दोष देखते ही हैं, गुण में भी दोष देखते हैं। सामान्य-पुरुष गुण में गुण और दोष में दोष देखते हैं। परन्तु साधु-पुरुष गुण में तो गुण देखते ही हैं, दोष में भी गुण देखते हैं।**

१-दृष्टान्त रहीम का-**एक बार खानखाना श्रीरहीमजी पालकी पर बैठे कहीं जा रहे थे। एक फकीर ने उनकी पालकी पर सोंटा मारा। सिपाहियों ने फकीर को पकड़ लिया और दण्ड देने का उपक्रम करने लगे। तब रहीमजी ने सबको मना करते हुए कहा कि आप लोग यह तो विचारिये कि इसने और किसी को सोंटा न मारकर मेरी पालकी पर ही क्यों मारा? बात यह है कि इन्होंने हमको कल्पवृक्ष जानकर सोंटा चलाया है। अतः वृक्ष के स्वभावानुसार इस फकीर को फलरूप में पचार मुहरें दी जायँ। इस प्रकार खानखाना रहीमजी ने दण्ड प्रहाररूप दुर्गुण में गुण ग्रहण किया।**

२-दृष्टान्त श्रीरणजीतसिंह का-**पंजाब केसरी महाराज रणजीत सिंह कहीं जा रहे थे। अकस्मात् एक ढेला आकर उनको लगा। महाराज तिलमिला गये। साथी इधर-उधर दौड़े और एक बुढ़िया को पकड़ लाये। बुढ़िया भय के मारे काँप रही थी। उसने हाथ-जोड़कर कहा-सरकार! अपने भूखे बच्चे की क्षुधानिवृत्ति के लिए पके बेल को देखकर ढेला मारा था। बच्चा तीन दिन से भूखा है, बेल मिल जाता तो मैं बच्चे को खिलाकर उसकी प्राण रक्षा करती। परन्तु मेरा दुर्भाग्य ढेला आपको जा लगा। अपराध क्षमा हो। बुढ़िया की बात सुनकर महाराज रणजीतसिंह जी ने अपने आदमियों से कहा-बुढ़िया**

को एक हजार रुपये और भोजन की प्रचुर सामग्री देकर आदरपूर्वक घर भेज दो। लोगों ने इस पर एतराज किया कि यह तो दण्ड की भागिनी है, फिर इतना बड़ा पुरस्कार क्यों? श्रीरणजीतसिंह जी बोले-जब जड़ वृक्ष ढेला मारने पर फल देता है तो फिर मैं मनुष्य होकर इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ (सत्कथाङ्क)

'गायो जो पुराणन में रूप'-यथा-(भा० २।९।११)

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशंगवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि प्रवेक निष्काभरणा सुवर्चसः।।
प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डल मौलिमालिनः।।

अर्थ-भगवान के पार्षदों का उज्जवल आभा से युक्त श्याम-शरीर पीले वस्त्रों से शोभित रहता है और शतदल कमल के समान सुन्दर कोमल करुणामय नेत्र हैं। उनके अंग-अंग से राशि-राशि सौन्दर्य बिखरता रहता है। वे कोमलता की मूर्ति हैं। सभी पार्षदों के चार-चार भुजाएँ हैं यद्यपि वे स्वयं अत्यन्त तेजस्वी हैं, तथापि मणिजटित सुवर्ण के प्रभामय आभूषण भी धारण किये रहते हैं। उनकी छवि, मूँगे, वैदूर्यमणि और कमल के उज्जवल तन्तु के समान है। उनके कानों में कुण्डल, मस्तक पर मुकुट और कण्ठ में मालायें शोभित रहती हैं।

नैन चाख्यो है-भाव यह है कि अब तक जिनकी कथा सुनता था, मन में ध्यान करता था, उन्हीं का आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। 'हंस ये परम कोऊ'-यह सत्संग की महिमा है, जो कि बकवद्दम्भी ब्राह्मण हंसवत् परम विवेकवान हो गये। यथा-'मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला।। सुनि आचरज करै जनि कोई। सत्संगति महिमा नहिं गोई।।' (रा०च०मा०) जैसे हंस जल मिले दूध को पी लेता है और जल को छोड़ देता है यथा-'खीर नीर विवरण गति हंसी।' (रामा०) उसी प्रकार साधुरूपी-हंस गुण-दोष मिश्रित जगत्प्रपञ्च में से गुण ग्रहण कर लेते हैं और दोष छोड़ देते हैं। यथा-'जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।।' जस लाख भाँति-ब्राह्मणों ने करना चाहा अपकर्ष परन्तु हुआ श्रीलालाचार्यजी का सुयश ही और वह भी लाख भाँति। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते हैं-'जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल याते सन्तन प्रभाव मणि कोठरी की तार्ली हैं।'

श्रीलालाचार्यजी रामरसिकावली के अनुसार श्रीरामानुजाचार्यजी के शिष्य थे, किन्हीं सज्जनों के मत से श्रीशैलपूर्णजी अथवा श्रीकूरेशजी के शिष्य थे।

गुरु और शिष्य (श्रीपादपद्मजी)

श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि।।
गुरु गमन कियो परदेश शिष्य सुरधुनी दृढ़ाई।
इक मज्जन इक पान एक हृदय वन्दना कराई।।
गुरु गङ्गा में प्रविशि शिष्य को वेगि बुलायो।
विष्णुपदी भयमानि कमल पत्रनि पर धायो।।
पादपद्म ता दिन प्रगट सब प्रसन्न मन परम रुचि।
श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि।।३४।।

शब्दार्थ-श्रीमारग=श्रीसम्प्रदाय। सुरधुनी=गङ्गाजी। दृढ़ाई =भाव पुष्ट किया। मज्जन=स्नान। विष्णुपदी=गंगाजी। भयमानि=अपराध मानकर। आख्यान=इतिहास। शुचि=पवित्र।

भावार्थ-श्रीसम्प्रदाय के अनुयायी गुरुदेव के उपदेश करने से गंगाजी में उत्पन्न निष्ठा का पवित्र इतिहास सुनिये। गुरुदेव अपनी अनुपस्थिति में अपने समान गंगाजी को मानने का उपदेश देकर चले गये। ये गुरुवत् गंगाजी की उपासना करने लगे। अन्य कोई शिष्य श्रद्धापूर्वक स्नान करते थे, कोई गंगाजल पान करते थे, परन्तु पादपद्मजी हृदय से ही गंगाजी की वन्दना-पूजा करते थे। कभी भी गंगाजी में स्नान-आचमन नहीं करते थे। इनके हृदय के भाव को न जानकर दूसरे लोग आलोचना करते थे। बाद में गुरुदेव लौटकर आये। और इनकी निष्ठा का परिचय प्रकट करने के लिए एक दिन स्नानार्थ गंगाजी में घुसे और पादपद्मजी को वहीं शीघ्र वस्त्र लेकर आने को कहा। गुरुआज्ञा उल्लङ्घन और गंगाजी में चरण-स्पर्श इन दोनों अपराधों से यह भयभीत हुए। भाव जानकर गङ्गाजीने तट से लेकर गुरुजी के समीप तक कमल-पत्र प्रकट कर दिये। उन्हीं पर पैर रखते हुए ये गुरुदेव के समीप दौड़कर गये। पादपद्मजी का जो प्रभाव गुप्त था वह उस दिन प्रकट हो गया। इस दिव्य चमत्कार को देखकर सभी के मन में गङ्गाजी और पादपद्मजी में अपार श्रद्धा हो गयी। उसी दिन से पादपद्माचार्य यह नाम पड़ गया।

व्याख्या-सुरधुनी (गङ्गाजी)-श्रीगंगाजी साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। यथा-

ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं गम नाहिं गिरा गुन-ग्यान-गुनी को।
जो करता, भरता, हरता, सुरसाहेबु साहेबु दीन दुनी को।।

सोइ भयो द्रव रूप सही जो है नाथ विरञ्चि महेश मुनि को।
मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को।। (क०)

पुनः-'करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी।।' (रामा०) ब्रहमवैवर्त पुराण में कथा आती है कि गोलोक में श्रीराधा-महोत्सव के शुभ-अवसर पर भगवान् शिवजी की अत्यन्त सुमधुर आलापचारी को श्रवण कर श्रीराधाकृष्ण द्रवरूप हो गये थे, वही श्रीगङ्गाजी हैं। श्रीब्रह्माजी ने उस द्रव को अपने कमण्डलु में रख लिया था। उसी से वामन भगवान का चरण धोया था।

इकमज्जन०-पुराणादिकों में श्रीगङ्गाजी की अनन्त महिमा वर्णन की गई है। यथा-'सर्वतीर्थमयी गङ्गा।' 'नास्ति गङ्गा समं तीर्थं नास्ति मातृसमोगुरुः। नास्ति विष्णुसमं दैवं नास्ति तत्वं गुरोः परम्।।' (ना० पु०) पुनः-गङ्गा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्व पापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।। दृष्ट्वा जन्मशतं पापं स्पृष्ट्वा जन्म शतद्वयम्। स्नात्वा पीत्वा सहस्राणि हन्ति गङ्गा कलौ युगे।। (हरिभक्तिविलास) अर्थ-सौ योजन (चार सौ कोस) दूर से भी जो गङ्गा का नाम लेता है वह समस्त पापों से छूट जाता है तथा विष्णुलोक को जाता है। दर्शनमात्र से सौ जन्मों का एवं स्पर्श से दो सौ जन्मों का एवं स्नान-पान से हजार जन्मों का पाप नष्ट होता है।

दृष्टान्त-भूत और सिद्ध का-एक सिद्ध सन्त पर्वत की गुफा में बैठे-बैठे ही अपनी दिव्यदृष्टि से सम्पूर्ण जगत् का तमाशा देखा करते थे, परन्तु उनको कोई नहीं देखता था। यह सिद्धि का चमत्कार है। दरिद्रता से सताया हुआ एक गरीब आदमी बाजार के चौराहे पर खड़ा होकर सभी आने-जाने वालों के सामने हाथ फैलाता, परन्तु कोई भी उधर ध्यान ही नहीं देता। उस समय उसने एक श्लोक कहा था-

भो दरिद्र नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं तव दर्शनात्।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन्।।

अर्थ-हे दरिद्र देव! तुमको नमस्कार है। तुम्हारे दर्शनमात्र से ही मैं सिद्ध हो गया हूँ। क्योंकि मैं तो सारे-जगत् को देखता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं देखता है। हाँ तो सिद्ध सन्त ने एक दिन भूतों का तमाशा देखा। उनके यहाँ जैसे कोई बड़ा-भारी उत्सव मनाया जा रहा हो। खूब नृत्य-गान-वाद्य आदि के राग-रंग हो रहे थे। फिर दूसरे दिन सिद्ध ने देखा कि भूतों के यहाँ रोना-धोना पड़ा है। सभी उदास, मन मारे बैठे रो रहे हैं।

साज-वाज सब अस्त-व्यस्त औंधे पड़े हैं तब सिद्ध को बड़ा कुतूहल हुआ और भूतों के समीप जाकर कल के हर्ष और आज की उदासी का कारण पूछा। भूतों ने कहा-महाराज! हमारे एक लड़की है उसका विवाह करना है। बंजारों के सरदार का एक लड़का बड़ा पापी था। कल एक बैल के सींग मारने से उसकी मृत्यु हो गई थी। हम लोगों ने सोचा था कि यह मरकर भूत होगा। तो इसी से अपनी कन्या ब्याहेंगे। परन्तु वह तो स्वर्ग चला गया। इसी से हम लोग रो रहे हैं। सिद्ध ने पूछा कि जब वह पापी था तो स्वर्ग कैसे गया? भूतों ने कहा कि मरने पर उसके घर वालों ने उसको गङ्गाजल से धोयी हुई चादर ओढ़ा दी। उसी के प्रभाव से उसके सब पाप नष्ट हो गये और वह चतुर्भुजरूप धारण कर स्वर्ग को चला गया। गङ्ग कवि ने एक कवित्त में इस कथा का संकेत किया है। यथा-

कारौ कुल कण्टक डरारौ बोल भारो ताको तीरथ के तीर पग कबहूं न लै गयो।
कहैं कवि गङ्ग कारे काग ते कुटिल आप जानि जम प्रेर्‌यौ तब खाट में कुपै गयो।।
गङ्गाजी की धोई धरी चादर सो घर माँझ डारत ही वाके अंग पारषद लै गयो।
चारो ओर चौरे ढोरैं देवता निहोरैं ताहि गङ्गाजी की चादर ते चत्रभुज ह्वै गयौ।।

ऐसी महामहिमा है श्रीगङ्गाजी की। तभी तो श्रीसूतजी कहते हैं कि-

या वै लसच्छ्रीतुलसी विमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्तान्न सेवेत मरिष्यमाणः।। **(भा०१।१९।६)**

अर्थ-गङ्गाजी का जल भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का वह पराग लेकर प्रवाहित होता है जो श्रीमती तुलसी की गन्ध से मिश्रित है। यही कारण है कि वे लोकपालों के सहित ऊपर नीचे के समस्त लोकों को पवित्र करती हैं। कौन ऐसा मरणासन्न पुरुष होगा जो उनका सेवन न करेगा। अतः 'इक मज्जन०' आदि कहा।

देवधुनी तीर सो कुटीर बहु साधु रहैं रहै गुरुभक्त एक न्यारो नहिं ह्वै सकै।
चले प्रभु गाँव जिनि तजो बलि जांव करौ कही दाससेवा गङ्गा में ही कैसे छ्वै सकै।।
क्रिया सब कूप करै 'विष्णुपदी' ध्यान धरै रोष भरै सन्तश्रेणी भाव नहीं भ्वै सकै।
आये ईश जानि दुख मानि सो बखान कियो आनि मन जानि बात अंग कैसे ध्वै सकै।।११५

शब्दार्थ-**देवधुनि=गङ्गाजी। कुटीर=कुटिया, आश्रम। क्रिया=स्नान आदि कार्य। श्रेणी=पंक्ति, समूह। विष्णुपदी=गङ्गाजी। भ्वै सकै=भोय=अनुभव कर सकै। ध्वै सकै= धो सकै।**

भावार्थ-गङ्गाजी के तट पर एक सन्तों का आश्रम था उसमें बहुत से सन्त रहते थे। उनमें से एक सन्त ऐसे गुरुभक्त थे (दिन-रात गुरुसेवा में तत्पर रहते थे, वे क्षण भर के लिए भी) गुरुदेव से अलग नहीं हो सकते थे। एक बार गुरुजी किसी गाँव को जाने लगे तो शिष्य ने प्रार्थना की कि-प्रभो आपकी बलिहारी जाऊँ, मुझे छोड़कर न जाइये। (साथ ले चलने की कृपा कीजिये)। गुरुदेव ने कहा-तुम यहीं आश्रम में रहकर भक्तों की सेवा करो और मुझमें जो भाव है उसे गङ्गाजी में रखो। (शिष्य ने स्वीकार कर लिया, गुरुदेव चले गये) अब भला वह अपने पैरों से गङ्गाजी को कैसे छू सकते थे। (दूसरे सन्त नित्यनियम से गङ्गा स्नान करते थे) ये स्नानादिक सब क्रियायें कुएँ पर करते थे और गङ्गाजी को दण्डवत् करके निरन्तर उनका ध्यान धरते थे। गङ्गाजी को छोड़कर कुँए पर स्नान करते देखकर दूसरे सन्त रोष से भर गये। कारण कि वे इनके हार्दिक भावों का अनुभव नहीं कर सकते थे। कुछ दिनों के बाद जब गुरुजी लौटकर आये तब सबने दुःख मानकर उनसे कहा कि-जब से आप गये तब से इसने गङ्गाजी का स्नान करना भी छोड़ दिया है। गुरुजी सब रहस्य जान गये कि-गङ्गा में गुरुभाव करके वह अपने अंगों को कैसे धो सकता है।।११५।।

व्याख्या-गुरुभक्त एक-

जे गुरुपद अम्बुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी।।
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

पुनः- मोह रूप तम मेटिकै दियौ ज्ञान परकाश।
हरि मूरति हिय में बसी, कियो दुराशा नाश।।
कियो दुराशा नाश पन्थ गुरु ने दरशायो।
जापै चलिकै इष्ट वस्तु अति सुख सों पायो।।
जिन गुरु ने असि कीन कृपा अनुपम सुख रूपा।
तिनके चरननि तजे फेरि परिहौं भवकूपा।। **(भ०व०टि०)**

न्यारो नहिं ह्वै सकै-

गुरु निर्मोही चाहिये, शिष्य न छोड़ै नेह।
बिलगाये बिलगै नहीं, एक प्राण द्वै देह।।

कैसे छ्वै सकैं-यथा-

वारि तिहारो निहारि मुरारि भये परसे पद पाप लहौंगो।
ईश ह्वै शीश धरौं पै डरौं प्रभु की समता बड़े दोष दहौंगो।।
बारहि बार शरीर धरौं रघुवीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी विनवौं कर-जोरि बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो।। **(कवितावली)**

'रोष भरै सन्तश्रेणी'-**सन्त लोग इनके भावों को समझे बिना अनेक प्रकार के वचन कहते। कोई कहता-यह तो नास्तिक हो गया है नास्तिक। कोई कहता-आलसी जोगी पृथ्वी का भार। कोई कहता-गुरुजी के जाते यह सिद्ध हो गया है सिद्ध, आदि।**

चले लैके न्हान संग गंग में प्रवेश कियो रंगभरि बोले सो अँगोछा वेगि ल्याइये।
करत विचार सोच सागर न वारापार गंगा जू प्रगट कह्यो कंजन पै आइये।।
चलेई अधर पग धरै सो मधुर जाइ प्रभु हाथ दियो लियो तीर भीर छाइये।
निकसत धाय चाय पग लपटाय गये बड़ौ परताप यह निशिदिन गाइये।।११६

शब्दार्थ-**रंग=उमंग, आनन्द। अधर=ऊपर ही ऊपर।**

भावार्थ-**शिष्य के प्रभाव को प्रकट करने के लिए एक दिन गुरुजी उस शिष्य को लेकर गङ्गा-स्नान करने गये और गङ्गाजी में प्रवेश करके बोले कि-वह मेरा अंगोछा शीघ्र लाकर दो। शिष्य धर्म-संकट में पड़कर सोचता-विचारता हुआ अपार शोक-सागर में मग्न हो गया। (इधर गुरुआज्ञा, उधर गङ्गा में भाव दोनों की रक्षा कैसे हो) इसी समय गङ्गाजी ने प्रकट होकर कहा कि-इन कमल-पत्रों पर पैर रखते हुए चले आओ। आज्ञा पाकर ये कमल-पत्रों के ऊपर ही ऊपर सुखपूर्वक पैर रखते हुए गुरुजी के पास गये और जाकर उन्हें अंगोछा दे दिया। गुरुजी ने उसे ले लिया। अब इस विचित्र चमत्कार को देखने के लिये गङ्गातट पर लोगों की भीड़ एकत्र हो गयी। ये उसी तरह बाहर निकले, तैसे ही दौड़कर लोग बड़ी श्रद्धा से इनके पैरों में लिपट गये। इनका महान प्रताप बहुत बढ़ गया। (जहाँ-तहाँ लोग) इनके चरित्र का दिन-रात गान (करने लगे) करना चाहिये।।११६।।**

व्याख्या-बड़ो परताप-**यह गुरुजी, गङ्गाजी एवं गुरुभक्त पादपद्मजी, तीनों में लगता है। श्रीगुरुजी का बड़ा प्रताप है, श्रीगङ्गाजी का बड़ा प्रताप है एवं श्रीपादपद्मजी का बड़ा प्रताप है।**

दृष्टव्य-इस छप्पय में मूल-ग्रन्थकार श्रीनाभाजी ने एक गुरु-शिष्य का आख्यान वर्णन किया है। गुरु-शिष्य का कोई नाम नहीं दिया है। श्रीजानकीदास श्रीवैष्णव द्वारा काशी से

प्रकाशित भक्तमाल में इस छप्पय के शीर्षक में लिखा है-श्रीसम्प्रदाय के उपदेष्टा भगवान बोधायन के शिष्य स्वामी श्रीगङ्गाधराचार्यजी की कथा।।

★रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्‌यो।।
देवाचारज द्वितीय महामहिमा हरियानन्द।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानद।।
पत्रावलम्ब पृथिवी करी व काशी स्थाई।
चारि बरन आश्रम सबही को भक्ति दृढ़ाई।।
तिनके रामानन्द प्रगट विश्वमङ्गल जिन्ह वपु धर्‌यो।
★रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वैं अनुसर्‌यो।।३५।।

श्रीजानकीदासजी के द्वारा संशोधित श्रीभक्तमाल में इस छप्पय के अन्तिम चरण का पाठ निम्नलिखित प्रकार से है।

★रामानन्द पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्‌यो।

शब्दार्थ-अमृत ह्वै =जीवन-मोक्ष-प्रेमदाता होकर। अनुसर्‌यो=फैल गया। तस्य= उनके। मानद=आदर करने वाले। पत्रावलम्ब=विजयपत्र के आश्रित, लेखका आधार। करी=की। स्थाई=स्थायी, निवासी, स्थित करने वाले।

भावार्थ-श्रीरामानुजाचार्यजी की पद्धति अर्थात् विशिष्टाद्वैत सम्मत श्रीसम्प्रदाय का प्रताप संसारी जीवों को भक्तिरूप जीवन देने के लिये अमृत के समान कल्याणकारी होकर पृथ्वी पर फैला। दूसरे देवाचार्य अर्थात् देवगुरु बृहस्पति के समान महामहिमा वाले श्रीहर्यानन्दजी हुए। उनके श्रीराघवानन्दजी हुए जो भक्तों को आदर देने वाले थे। जिन्होंने भारतभूमि को अपने विजय-पत्र के आश्रित कर लिया था। ये काशी में स्थायी रूप से निवास करते थे। इन्होंने चार वर्ण और चारों आश्रमों के लोगों में भगवान की भक्ति को सुदृढ़ रूप से स्थापित किया। उनके शिष्यरूप में भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी प्रकट हुए। जिन्होंने संसार का कल्याण करने के लिये ही शरीर धारण किया था।।३५।।

व्याख्या-श्रीरामानुज पद्धति-यहाँ श्रीरामानुज की पद्धति से तात्पर्य श्रीरामानुजजी की शिष्य परम्परा से नहीं है बल्कि उनके सिद्धान्त से है। श्रीसम्प्रदाय का सिद्धान्त विशिष्ट-द्वैत सिद्धान्त है और इस सम्प्रदाय में उपासना की दो धारायें हैं-श्रीरामोपासना और

श्रीनारायणोपासना। दोनों ही उपासनायें अनादि वैदिक हैं। वर्तमान कलियुग में श्रीस्वामी रामानुजाचार्य के द्वारा श्रीनारायणोपासना का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ और श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के द्वारा श्रीरामोपासना का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। दोनों ही आचार्यों का सिद्धान्त एक ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही था। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी चूंकि श्रीरामानन्दाचार्यजी से पहले हुए थे अतः श्रीनाभाजी लिखते हैं कि 'श्रीरामानुज... अनुसर्‌यो।' यह बात केवल सिद्धान्त-साम्य को ही लक्ष्यकर कही गई है। परम्परायें तो दोनों आचार्यों की पृथक-पृथक हैं। श्रीनाभाजी ने इस प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी किया है। जैसे-तेहि मारग वल्लभ विदित पृथु पद्धति परायन। (छ० ४८) पुनः-'श्रीरामानुज पद्धति प्रताप भट्ट लक्ष्मण अनुसर्‌यो।' (छ०१८४) इन छप्पयों में भी 'पद्धति' शब्द उपर्युक्त भाव में ही प्रयुक्त हुआ है। 'अमृत ह्वै अनुसर्‌यो'-अमृत का गुण है अमरत्व प्रदान करना। यथा-'सुधा सराहिय अमरता' (रामा०) उसी प्रकार भक्ति भी अमरत्वदायिनी है। यथा-'न मे भक्तः प्रणश्यति।' (गीता०) देवाचारज द्वितिय-यह पद श्लिष्ट है। देवाचार्य नाम के एक सन्त भी हो गये हैं एवं देवाचार्य श्रीबृहस्पतिजी को भी कहते हैं तब पूरी पंक्ति का अर्थ होगा-श्रीहर्यानन्दजी देवाचार्य द्वितीय अर्थात् दूसरे बृहस्पति के समान थे वा दूसरे बृहस्पति ही थे। द्वितीय शब्द का प्रयोग श्रीनाभाजी ने अन्यत्र भी इसी भाव में किया है। यथा-'अज्ञान ध्वान्त अन्तर्हि करन द्वितीय दिवाकर अवतर्‌यो।' (छ०७८) पुनः-'सोती श्लाघ्य सन्तनि सभा द्वितीय दिवाकर जानियो।' (छ० १६३) पुनः-'सम्प्रदाय शिर छत्र द्वितीय मनो मध्वाचारज।' (छ०८६)

श्रीदेवाचार्यजी

श्रीरामरसिकावली में श्रीदेवाचार्यजी का चरित्र इस प्रकार वर्णित है। ये बड़े ही प्रभावशाली सन्त थे। पृथ्वी पर विचरण करते हुए इन्होंने वैष्णव धर्म का खूब प्रचार किया। एक बार ये काशीपुरी को जा रहे थे। मार्ग में एक गाँव में विश्राम किये। भक्तों की रुचि देखकर श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध की कथा सुना रहे थे। श्रोतागण मंत्रमुग्ध होकर कथामृत का पान कर रहे थे। जब यमलार्जुन उद्धार का प्रसंग आया तो अचानक ही एक बहुत बड़ा पुराना वृक्ष जड़ से उखड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ा और 'जय-जय' की गम्भीर ध्वनि हुई। सबका ध्यान उधर आकृष्ट हुआ तो लोगों ने देखा कि उस वृक्ष से एक दिव्यपुरुष प्रकट हुआ और वह श्रीदेवाचार्यजी के चरणों में प्रणामकर हाथ-जोड़कर बोला-हे प्रभो! आपके

श्रीमुख से भगवान की मङ्गलमयी कथा सुनकर मेरा वृक्षयोनि से उद्धार हो गया। अब मैं भगवान के धाम को जा रहा हूँ। ऐसा कहकर वह दिव्य-पुरुष अदृश्य हो गया। उस समय सब लोगों ने आकाश में शङ्ख एवं घड़ियाल की मंगलध्वनि सुनी। इससे विश्वास हो गया कि निश्चय ही वह दिव्यात्मा श्रीहरिलोकवासी हुआ। आपकी महामहिमा जानकर वहाँ अनेक लोगों ने आपका शिष्यत्व स्वीकार किया।

श्रीहर्यानन्दजी

परमानन्दकन्द श्रीहरि के प्रेमानन्द में सदा लवलीन रहने के कारण इनके गुरुदेव श्रीश्रियानन्दाचार्यजी ने इनका नाम ही रख दिया हर्यानन्द। इनका बड़ा ही दिव्य भव्यस्वरूप था। बड़े-बड़े विमुख जीव इनका दर्शन करते ही भगवत-भागवत-परायण हो जाते थे। एक बार ये श्रीजगन्नाथ भगवान की रथ-यात्रा का दर्शन करने श्रीजगदीशपुरी गये। साथ में बहुत से वैष्णववृन्द भी थे। रथ-यात्रा के दिन देश-देश के कोने-कोने से असंख्य नर-नारी भगवान का दर्शन करने आते हैं। भगवान के विशाल, गगनचुम्बी रथ को भक्तजन हाथ से खींचकर गुण्डिचा नामक स्थान को ले जाते हैं। वर्णन आया है कि रथ चलते-चलते सहसा रुक गया। लोगों ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु रथ टस से-मस नहीं हुआ। किसी को कोई उपाय नहीं सूझ रहा है कि क्या किया जाय? तब भीड़ में से निकलकर श्रीहर्यानन्दजी ने सबको सुनाकर कहा कि आप सभी लोग रथ को छोड़कर दूर हट जायें। भगवान का रथ स्वयं चलेगा। सब लोगों ने ऐसा ही किया सचमुच सौ-कदम तक रथ अपने-आप चला। उपस्थित जनसमुदाय ने इसे श्रीहर्यानन्दजी की भक्ति का चमत्कार माना। भक्तवत्सल भगवान ने श्रीहर्यानन्दजी की महिमा बढ़ाने के लिए ही यह लीला की थी। सर्वत्र सब लोग श्रीहरि एवं हर्यानन्दजी की जै-जैकार करने लगे। बड़े-बड़े रागी-विरागी-अनुरागी-बड़भागीजन श्रीहर्यानन्दजी के चरणों में नतमस्तक हुए और शिष्य बन गये। श्रीरसिकप्रकाश भक्तमाल में आपका परिचय इन पंक्तियों में प्राप्त होता है-

चरण कमल वन्दौं कृपालु हरियानन्द स्वामी।
सर्वसु सीताराम रहसि दशधा अनुगामी।।
वालमीक वर शुद्ध सत्व माधुर्य रसालय।
दरसी रहसि अनादि पूर्व रसिकन की चालय।।
नित सदाचारमय रसिकता अति अद्भुत गति जानिये।
(श्री) जानकिवल्लभ कृपा लहि शिष प्रति शिष्य बखानिये।।

श्रीराघवानन्दजी

श्रीहर्यानन्दजी के कृपापात्र हुए श्रीराघवानन्दजी। ये 'सबहिं मानप्रद आपु अमानी।' के उज्जवल आदर्श थे। श्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने वैष्णव के तीन प्रधान गुणों में 'स्वयं अमानी एवं दूसरे को मानद'-इस गुण का भी स्मरण किया है। यथा-तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।। श्रीराघवानन्दजी वेदशास्त्र पुराणादि के प्रकाण्ड विद्वान् थे। श्रीनाभाजी ने 'पत्रावलम्ब पृथ्वी करी' कहकर इनकी अलौकिक प्रतिभा का संकेत किया है। ये अपने समय के निश्चय ही सार्वभौम विद्वान् थे। इन्होंने सम्पूर्ण निगमागम का मंथन करके भक्ति को ही साररूप में ग्रहण किया था एवं दूसरों को भी भक्ति का ही उपदेश देते थे। यथा-'चारि बरन०।'

वर्ण चार हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ब्राह्मण की उत्पत्ति भगवान के मुख से, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य की उरु (जङ्घा) से तथा शूद्र की उत्पत्ति चरण से कही गई है। यथा-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। **(पुरुषसूक्त)**

श्रीगीताजी में भी भगवान ने कहा है-'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।।' अर्थात् गुणकर्म विभाग से चारों-वर्ण मेरे द्वारा ही रचे गये हैं। आश्रम भी चार हैं-१-ब्रह्मचर्य २-गार्हस्थ्य, ३-वानप्रस्थ, ४-संन्यास। भगवान की भक्ति में सबका अधिकार है। यथा-

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोइ।।

पुनः- जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।। **(रामा०)**

अतः श्रीराघवानन्दजी ने 'सबहिं को भक्ति दृढ़ाई।।' कहते हैं कि एक बार तीन जगह से एक ही दिन मन्त्रोपदेश देने के लिए भक्तों ने आग्रह किया तो ये योगबल से तीन शरीर धारण करके एक ही समय सब जगह मन्त्रोपदेश किये। श्रीरसिकप्रकाश भक्तमाल में आपके सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ हैं।

रसिक राघवानन्द बसे कासी अस्थाना।
गुरू रूप शिव लये दये रसिकाई ध्याना।।
काल करालहिं जीति शिष्य किय रामानंदा।
प्रगटी भक्ति अनादि अवध गोपुर स्वच्छंदा।।

जो आचारज को रूप धरि जगत उधारण जतन किय।
महिमा महाप्रसाद की प्रगटि रसिक जन सुक्ख दिय।।

श्रीराघवानन्दजी श्रीवशिष्ठजी के अवतार थे, यथा-'गुरु वशिष्ठमुनि के अवतारा। स्वामि राघवानन्द उदारा।।' (रामानन्दचरितामृत) श्रीरामावतार श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी इन्हीं के शिष्य थे। श्रीरामानन्दजी के लिए श्रीनाभाजी 'प्रगट' शब्द का प्रयोग करते हैं। यथा-'तिनके रामानन्द प्रगट-प्रगट' कहकर अवतार सूचित किया। भगवान का प्राकृत जीवों की तरह जन्म नहीं होता है। वे तो प्रगट ही होते हैं। यथा-'भगतवछल प्रभु कृपा निधाना। विश्ववास प्रगटे भगवाना।।' 'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम।' 'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौशिल्या हितकारी।' आदि। वा प्रगट = विख्यात् हुए। वा प्रगट=प्रत्यक्ष अर्थात् आज भी जिनका प्रभाव-प्रताप प्रत्यक्ष है। विश्वमंगल के अर्थ-एक तो विश्व का मंगल करने के लिए। दूसरे विश्व का मंगल करने वाले स्वयं भगवान् श्रीरामानन्द रूप धारणकर प्रगट हुए।

यथा- पाखण्डेन विदूषितान्स्वविमुखाञ्ज्ञात्वा कलौ वै जनान्
तत्कल्याणपरः कृपापरवशः साकेतवासी स्वयम्।
रामानन्दसुसंज्ञया प्रयजने श्रीपुण्य सद्मद्विजा-
ज्जातस्तं विनमामि नारदयुतं श्रीरामचन्द्रं हरिम्।।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी

श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।।
अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसुर की घरहरि।।
ओरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर।
जग मङ्गल आधार भक्ति दशधा के आगर।।
बहुत काल बपु धारिकै प्रणत जनन को पार दियो।
श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।।३६।।

शब्दार्थ-**दुतिय=दूसरे। सेतु=पुल। घरहरि=स्त्री।**

भावार्थ- **जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी ने वानरों की सेना को पार करने के लिए समुद्र पर पुल बनवाया था उसी प्रकार श्रीरामानन्दाचार्यजी ने संसारी-जीवों को भवसागर से पार**

करने के लिए अपनी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से सेतु निर्माण कराया। श्रीअनन्तानन्दजी, श्रीकबीरदासजी, श्रीसुखानन्दजी, श्रीसुरसुरानन्दजी, श्रीपद्मावतीजी, श्रीनरहरियानन्दजी, श्रीपीपाजी, श्रीभावानन्दजी, श्रीरैदासजी, श्रीधनाजी, श्रीसेनजी और श्रीसुरसुरानन्दजी की पत्नी ये श्रीरामानन्दाचार्यजी के सर्वप्रधान द्वादश शिष्य थे। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से शिष्य-प्रशिष्य एक से एक प्रसिद्ध एवं प्रतापी हुए। ये संसार का कल्याण करने वाले भक्तों के आधार और प्रेमाभक्ति के खजाने थे। श्रीरामानन्दाचार्यजी ने बहुत काल तक शरीर को धारणकर शरणागत जीवों को संसार-सागर से पार किया।।३६।।

व्याख्या-श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों०-श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीहनुमान, अङ्गद, नल-नीलादि वानर-भालुओं की सहायता से समुद्र पर सेतु (पुल) बाँधा था। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने श्रीअनन्तानन्द, कबीर आदि शिष्यों की सहायता से भवसागर पर भक्तिसेतु बाँधा। यद्यपि समुद्र पर सेतु बाँधने में वानर-भालुओं का भी बड़ा-भारी योगदान रहा, परन्तु उनमें भी जो बल-पराक्रम था वह श्रीरामजी का ही था, अतः सुयश श्रीरामजी का ही हुआ उसी प्रकार श्रीस्वामीजी के शिष्यों द्वारा यद्यपि भक्ति का प्रचुर-प्रचार हुआ, परन्तु उनमें जो प्रताप-प्रभाव है वह श्रीस्वामीजी का ही है। अतः भक्तिसेतु निर्माता श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी को ही कहा गया है। श्रीराम से श्रीरामानन्दाचार्यजी की विशेषता यह है कि श्रीराम ने नपे-तुले सौ-योजन विस्तीर्ण समुद्र पर सौ योजन लम्बा और दश-योजन चौड़ा पुल बाँधा था। परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं हुआ। यथा-

सेतु बन्ध भइ भीर अति, कपि नभ पन्थ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्ह ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं।।

और जो बना भी, वह भी अब केवल कथा का विषय रह गया है। पृथ्वी पर एक तीर्थमात्र रह गया है, पुल तो श्रीरामजी ने विभीषणजी की प्रार्थना पर अपने राज्यकाल में ही तोड़ दिया था। परन्तु श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने भवसागर पर सेतु बाँधा, जो अनन्त विस्तार वाला है तथा भक्तिसेतु भी अनन्त विस्तार वाला है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीव एक साथ इस सेतु द्वारा सुखपूर्वक भवसागर को पार कर सकते हैं। यह शाश्वत सेतु है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीराम से बढ़कर श्रीरामानन्दजी की महिमा है। तभी तो कहा गया है- 'तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय जानी।।' जैसे समुद्र को पार करना अत्यन्त अगम है। श्रीरामजी भी समुद्र की अगाधता, अपारता, भीषणता को देखकर अधीर हो गये थे। यथा-'सुनु कपीस लङ्कापति बीरा। केहि विधि तरिय जलधि गम्भीरा। संकुल मकर उरग झष

जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती।।' परन्तु सेतु बँध जाने से सब सहज ही पार हो गये। तभी तो कहा गया है कि-'अति अपार जे सरित वर जो नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनुश्रम पारहिं जाहिं।'

उसी प्रकार भवसागर को पार करना अर्थात् आवागमन से छूटना, अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यथा-

या भव पारावार को उलँघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहिणी, ग्रसैं बीच ही आय।।

परन्तु आचार्य कृपा से भक्तिसेतु के बँध जाने से उसके अवलम्ब से असंख्यों पतित से पतित जीव भी जीवन्मुक्त हो गये, हो रहे हैं, और होते रहेंगे।

भवसागर-'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं।' **जन्म-मरण गर्भवास की अविच्छिन्न परम्परा ही भवसिन्धु है। बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है-**

जगत समुद्र अपार तासु के जनम मरन तट।
काम क्रोध मद लोभ तासु में लहरि महाभट।।
मोह ग्राह अति प्रबल निगल जावै संसारा।
तामें गोता खाइ नाहिं कहुँ तनक उबारा।।
दु:ख पाये बूड़न लगत हैं सुख पाये उछरत जानि।
दीनानाथ रघुनाथ बिन कौन छुटावै आनि।।

भक्ति सेतु-**भक्ति के विविध विधान ही भक्तिसेतु के स्तम्भ हैं। उनमें दृढ़ता ही स्तम्भ की मजबूती है। श्रद्धा ही उसकी पटरी है, सन्त-सद्गुरु कृपा ही छाया है। तात्पर्य गुरु कृपा का आश्रय लेकर श्रद्धापूर्वक श्रवण-कीर्तनादि करने से जीव सहज ही भव-बाधा से मुक्त हो जाता है।**

श्रीगीताजी में भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख के वचन हैं कि-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। **(गीता ४-७-८)**

भारत के इतिहास में तेरवहीं-चौदहवीं शताब्दी का समय ऐसा ही था। देश में यवनों का राज्य था। अधर्म-मित्र कलियुग का बल पाकर यवन देश पर मनमाना अत्याचार कर रहे थे। हिरण्यकशिपु, रावण और कंस की तरह दुष्ट, म्लेच्छ सनातन धर्म को निर्मूल करने का बीड़ा उठाये हुए थे। उन दिनों गोस्वामी तुलसीदासजी की यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ हो रही थी कि-

चौ०- जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।।

छन्द- अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा। धर्म सुनिय नहिं काना।
तेहिं बहुविधि त्रासइ देश निकासइ जो कह वेद पुराना।। **(रामा०)**

हिन्दू बलात् मुसलमान बनाये जा रहे थे और अस्वीकार करने पर तलवार के घाट उतारे जा रहे थे। यवनों की कूटनीति से हिन्दुओं में भारी फूट पड़ गई थी। कोई किसी का सहायक नहीं था। उन्हीं दिनों तीर्थराज प्रयाग के एक ब्राह्मण परिवार को मुस्लिम-धर्म अस्वीकार करने के कारण यवनों ने मार डाला। एक १४ वर्ष का किशोर, जिसका नाम मनसुख था, वह जैसे-तैसे प्राण बचाकर भाग गया। उससे हिन्दुओं एवं हिन्दू-धर्म की यह दुर्दशा देखी नहीं गई, अतः इस दुःख के निवारण के लिए वह गङ्गातट स्थित एक घोर वन में कठिन तप करने लगा। बालक की प्रबलनिष्ठा, पवित्र भावना तथा दर्शन की उत्कण्ठा को देखकर भक्तवत्सल भगवान श्रीराम उस पर कृपा करने के लिए एक बालक का रूप धरकर उसके पास आये। अत्यन्त सुघर, सलोने, साँवरे, समवयस्क बालक को देखकर मनसुख सब दुःख भूल गया और वह उसके साथ खेलने लगा। परन्तु थोड़ी ही देर बाद उसे अपने परमाराध्य श्रीराम की याद आ गई और बस 'हा राम! हा रघुनाथ! हा दीनबन्धु!' ऐसा कहकर क्रन्दन करने लगा। तब बालकरूपधारी श्रीराम ने पूछा-भैया! तुम इतने विकल क्यों हो रहे हो? तुम्हें क्या कष्ट है? मनसुख ने कहा-मित्र! तुम हमारा दुःख सुनकर क्या करोगे? उसे तो एकमात्र श्रीराम ही दूरकर सकते हैं यह कहकर वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। करुणावरुणालय प्रभु अब अधिक अपने को छिपा नहीं सके। मनसुख के सामने साक्षात् प्रकट होकर उसके सिर पर अपना वरदहस्त फेरने लगे। भगवान के श्रीकर-कमल का मृदुलसंस्पर्श पाकर मनसुख चैतन्य हुआ तो सामने देखा-'नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम' श्रीराम को। मनसुख ने अपने प्रभु के चरणों में माथा टेक दिया। प्रभु ने मनभावता वर माँगने को कहा। मनसुख ने देश की, देशवासियों की एवं सनातन-धर्म की दुर्दशा कहकर प्रभु से इनकी रक्षा की प्रार्थना की। भगवान मनसुख को मनोवाञ्छित

वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। इधर मनसुख भी कुछ दिन बाद शरीर त्यागकर भगवद्धाम को चले गये।

हृषीकेश के एक ब्राह्मण-दम्पति भगवद्दर्शनार्थ श्रीबदरिकाश्रम में कठिन तप कर रहे थे। भगवान ने कृपा करके दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। तब ब्राह्मण-ब्राह्मणी ने यही वर माँगा कि आप हमारे पुत्र बनकर हमें अपनी बाल-लीला का सुख प्रदान करें। 'एवमस्तु' कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। कालान्तर में वही ब्राह्मण तीर्थराज प्रयाग में जन्म लिए और पुण्यसदन नाम से विख्यात् हुए तथा वह ब्राह्मणी पुनः उनको पत्नीरूप में प्राप्त हुई। उसका नाम था सुशीला। श्रीपुण्यसदन और सुशीला-यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ कर रहे थे। घर में अपार सम्पत्ति थी। प्रतिदिन बड़ी श्रद्धा से विविध दान-पुण्य करते। ब्राह्मण-दम्पति के परमाराध्य थे भगवान वेणीमाधवजी। सब सुख-समृद्धि से परिपूर्ण घर में यदि अभाव था तो केवल एक पुत्र का। इसके लिए ब्राह्मण-ब्राह्मणी दोनों बड़ी निष्ठापूर्वक श्रीवेणीमाधवजी का पूजन करते। एक दिन श्रीसुशीलाजी भगवान की पूजा करके अंचल पसारकर पुत्र की कामना कर रहीं थी कि तभी दयालु प्रभु ने उनके अंचल में एक प्रसादी माला एवं दक्षिणावर्त शङ्ख डाल दिया और मेघ गम्भीर वाणी से बोले-हे माताजी! आपका मनोरथ पूर्ण हो। 'माता' सम्बोधन करके मानो भगवान ने संकेत किया कि मैं स्वयं पुत्र होऊँगा।

इसी वरदान के अनुसार विक्रम सम्वत् १२५६ माघ, कृष्ण सप्तमी तिथि, चित्रा नक्षत्र, सिद्धयोग, कुम्भ लग्न में, सात दण्ड दिन चढ़े स्वयं भगवान श्रीरामजी श्रीपुण्यसदन सुशीला के पुत्ररूप में प्रकट हुए। अत्यन्त अलौकिक सौन्दर्य-सिन्धु शिशु को देखकर माता-पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बड़े उत्साह से जन्मोत्सव मनाया गया। यथा-समय जातकर्मादि सब संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। नामकरण के शुभ-अवसर पर ज्योतिर्विद ब्राह्मणों ने बालक का नाम रखा-रामदत्त। शिशु रामदत्त अपनी नित्य-नवीन लोकोत्तर लीलाओं द्वारा माता-पिता, पुरजन-परिजन को परमानन्द प्रदान करते थे। भाद्रपद शुक्ल पक्ष की ऋषी-पंचमी को अन्नप्राशन का उत्सव मनाया गया। बालक रामदत्त ने खीर के कटोरे का स्पर्श किया। माता ने खीर के अतिरिक्त और भी बहुत-सी बनी मिठाई-नमकीन आदि को बालक के मुँह में डाला परन्तु आप केवल थोड़ी-सी खीर खाकर मचल गये और कोई वस्तु मुँह में लेते ही नहीं। उसी दिन से एकमात्र खीर ही आपका खाद्य रहा।

एक दिन आपके पिता पूजा-गृह में बैठे ध्यान कर रहे थे, आप घुटुवन चलकर चुपके से पिता के पास पहुँचकर पूजा में रखा हुआ दक्षिणावर्त शङ्ख बजाने लगे। पिताजी

ने चौंककर नेत्र खोला तो देखा बालक रामदत्त है। बालक की चपलता पर प्रथम तो हँस गये परन्तु बाद में विचार आया कि पूजनयोग्य शङ्ख को अनजान में बालक ने मुँह से फूँककर बजा दिया, कहीं ऐसा न हो कि भगवान अप्रसन्न हो जायँ, अतः वे प्रभु से क्षमा-प्रार्थना करने लगे। रात्रि में भगवान वेणीमाधव ने स्वप्न दिया कि बालक को मेरा ही स्वरूप समझकर शङ्ख उसे ही दे दो, उसे बजाने दो। प्रातःकाल पिताजी ने वह दक्षिणावर्त शङ्ख आपको ही सौंप दिया। आप दिन में चार-बार (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या एवं शयनकाल में) शङ्खध्वनि करते जिसे सुनकर लोगों को महान् आनन्द मिलता। पाँच वर्ष की अवस्था में पिताजी आपको श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, गीता, भागवत आदि के श्लोक कण्ठ कराने लगे। कोई भी श्लोक, श्लोकार्थ प्रसंग एक बार श्रवणमात्र से ही कण्ठस्थ हो जाता। आपकी इस अलौकिक प्रतिभा को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् आश्चर्यचकित हो जाते। प्रयाग कुम्भ के अवसर पर विद्वानों की विशाल-सभा में आपने सम्पूर्ण श्रीमद्वाल्मीकि रामायण मुखाग्र सुनाई और श्रीरामायण के रहस्यों को समझाया तथा जनता के आग्रह करने पर सबको सदुपदेश दिया। सब लोगों ने एक स्वर से स्वीकार किया कि यह तो कोई अवतारी बालक है और आगे चलकर निश्चय ही जगद्गुरु होगा। उस समय आपकी अवस्था सात वर्ष की थी।

आठवें वर्ष माघ शुक्ल द्वादशी को यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। उपनयन विधि के अनुसार ये पलाशदण्ड धारणकर काशी में पढ़ने के लिए चले गये। कुछ दूर जाने पर पुरोहित ने कहा-अब लौट आइये, विधि पूरी हो गई। आप बोले कि मुझे झूठी रीति पसन्द नहीं है, मैं तो अब विद्याध्ययन करने काशी जाऊँगा ही। सब लोग समझाते-समझाते हार गये, परन्तु आप अपने निश्चय पर अडिग रहे। अन्ततोगत्वा माता-पिता भी घर छोड़कर आपके पीछे-पीछे चल दिये। प्रयाग से पैदल चलकर काशी पहुँचे। काशी में आपके मामा पण्डित ओंकार शर्मा नैयायिक रहते थे। माता-पिता आपको लेकर उन्हीं के घर गये। श्रीओंकार शर्मा के संरक्षण में आपने अध्ययन प्रारम्भ किया और अत्यन्त अल्पकाल में ही सर्वशास्त्र निष्णात हो गये। विद्याध्ययन का फल है विवेक की प्राप्ति। नहीं तो 'विद्या विनु विवेक उपजाये। श्रमफल पढ़े किये अरु पाये।।' (रामा०) आपको विवेक प्राप्त हो चुका था।

पुत्र की वैराग्यवृत्ति को देखकर पिता-माता ने शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्ना माधवी नाम की सर्वगुणसम्पन्ना कन्या के साथ विवाह निश्चय कर दिया। आपने शास्त्रीय सत्तर्कों द्वारा भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने का अपना निश्चय पिता के सामने प्रस्तुत किया। उधर माधवी को स्वप्न में दिव्यादेश

मिला कि तुम श्रीरामानन्दजी को पतित्वेनवरण करने का निश्चय छोड़कर गुरु मानकर उनसे उपदेश ग्रहण करो, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। माधवी अपने परिवार वालों को साथ लेकर श्रीरामानन्दजी की शरण में आई और उसने मन्त्र दीक्षा की याचना की। श्रीरामानन्दजी ने उसके प्रेमानुग्रह को देखकर, उसकी सच्ची जिज्ञासा जानकर कृपा करके शङ्ख बजा दिया। दिव्य शङ्खध्वनि सुनते ही उसकी समाधि लग गई। कुछ देर बाद जब समाधि छूटी तो वह बोली-मुझे साक्षात् भगवान से दिव्य-दीक्षा मिल गयी, अब मैं अभी ही भगवद्धाम को जा रही हूँ। इसके बाद उसने ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का उत्क्रमण कर भगवत्पद को प्राप्त कर लिया।

श्रीरामानन्दजी का यह दिव्य प्रभाव क्षणमात्र में सम्पूर्ण काशीपुरी में व्याप्त हो गया। असंख्यों नर-नारी दीक्षार्थ पूजन की सामग्री ले-लेकर आपके पास आने लगे और की तो बात ही क्या-स्वयं माता-पिता भी आपसे दीक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। तब तो श्रीरामानन्दजी को बड़ा ही सङ्कोच हुआ और इस धर्म सङ्कट से बचने के लिए एकाएक सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। उस समय सबके शोक का पारावार नहीं रहा और माता-पिता तो पुत्र विरह में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। माता-पिता ने मूर्छित दशा में दिव्य-साकेत-धाम का दर्शन किया और वहाँ पुत्र रामानन्द को दिव्यासन पर बैठे देखा। वे किरीट-कुण्डल धारण किये हुए थे तथा नीलकमल के समान सुन्दर, श्याम-शरीर था। परन्तु दूसरे ही क्षण जब मूर्छा दूर हुई तो पुनः प्रबल पुत्रप्रेम उमड़ पड़ा और उस शोक के वेग को न सह सकने के कारण माता ने तत्काल शरीर त्याग दिया। इससे लोगों का दुःख और भी दूना हो गया। सब लोग 'हा रामानन्द, हा रामानन्द' की रट लगाये हुए थे। किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था कि अचानक सबके बीच श्रीवशिष्ठावतार स्वामी राघवानन्दजी प्रगट हो गये। 'लोग-पैरत थके थाह जनु पाई। सबने मुनि को अपनी दारुण व्यथा कह सुनाई।' सबकी अभिलाषा जानकर श्रीराघवानन्दजी ने श्रीरामानन्दजी के पुनः प्राकट्य हेतु 'श्रीराम-महायज्ञ' का अनुष्ठान करवाया। श्रीरामषडक्षर मन्त्र से विधिपूर्वक एक सहस्त्र सदाचारी ब्राह्मणों ने ६ करोड़ आहुतियाँ दीं। अन्तिम आहुति पड़ते ही श्रीरामानन्दजी अपनी अलौकिक कान्ति से सम्पूर्ण यज्ञमण्डप को उद्भासित करते हुए पुनः प्रकट हो गये।

इसी प्रसङ्ग को लक्ष्य करके श्रीनाभाजी ने पूर्व छप्पय में लिखा है-'तिनके रामानन्द प्रगट।' सर्वत्र हर्षोल्लास छा गया। लोग 'जय-जयकार' करने लगे। श्रीरामानन्दजी के अनुरोध पर श्रीराघवानन्दजी ने विधिपूर्वक श्रीराममन्त्र की दीक्षा देकर जगत् का कल्याण करने

को कहा। श्रीगुरुदेव श्रीराघवानन्दजी की आज्ञा लेकर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी पञ्चगङ्गा घाट पर नवनिर्मित कुटी में रहकर भजन-साधन करने लगे। आप यद्यपि भगवदावतार हैं तो भी लोगों को शिक्षा देने के लिए स्वयं भी नियमपूर्वक सभी भक्ति के साधनों का बड़े प्रेम से अनुष्ठान करते। वहाँ रहकर आप अपने दर्शन-स्पर्श-समागम से सबको सुख-शान्ति प्रदान करते। बड़े-बड़े योगी-यती, जपी-तपी, ज्ञानी-ध्यानी, पण्डित-विद्वान्, साधु-सन्त, संन्यासी आपके द्वारा अपनी जिज्ञासा का समाधान पाते। आपके द्वारा सबकी शास्त्र-ग्रन्थियों एवं हृदय-ग्रन्थियों का सहज ही विमोचन हो जाता। कुटिया में कथा-कीर्तन-सत्सङ्ग का अजस्त्र प्रवाह चलता रहता। आपकी दिव्य-शङ्खध्वनि को सुनकर असंख्य जीव रोग-शोक, दुःख द्वन्द्व से मुक्ति पाकर आनन्द लाभ करते। शङ्ख का अद्भुत प्रभाव था। उसकी ध्वनि से आर्तकी, आर्तिका निवारण, अर्थार्थी को अर्थलाभ, जिज्ञासु को तत्व निर्णय, ज्ञानी को आत्म-परमात्म का याथात्म्य ज्ञान एवं प्रेमी को प्रेम प्राप्त होता था।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की महिमा सुनकर सुधौली के राजा अपने क्षयरोगग्रस्त राजकुमार को लेकर आपकी शरण में आये और अत्यन्त दीन होकर राजकुमार की प्राण रक्षा के लिए प्रार्थना किये। श्रीस्वामीजी ने कहा-श्रीगङ्गाजी जगन्माता हैं, तुम अपने पुत्र को इन्हीं की गोद में डाल दो, आज से सातवें दिन ये तुम्हारे पुत्र को आरोग्य प्रदानपूर्वक वापस कर देंगी। मोहासक्त राजा-रानी को साहस नहीं हुआ कि जीवित कुमार को गङ्गा में बहा दें, परन्तु श्रीस्वामीजी के वचनों में विश्वासकर राजकुमार स्वयं माता-पिता की आँख बचाकर श्रीगङ्गाजी में कूद गया। सात दिन तक गङ्गा माता के दिव्य-धाम में निवास कर देवताओं के द्वारा परम प्यार पाकर राजकुमार फिर ऊपर आ गया। पुत्र-जीवन से सर्वथा निराश राजा-रानी, अपने राजकुमार की कञ्चन-सी दिव्यकाया देखकर अत्यन्त हर्षित हुए और बार-बार श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी एवं गङ्गा माता को प्रणाम किये तथा महान् उत्सव मनाये।

एक बार शिवरात्रि के दिन श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी दिन में अत्यन्त भीड़-भाड़ विचारकर अर्द्धरात्रि के समय श्रीविश्वनाथजी का दर्शन करने गये। परन्तु तब तक मन्दिर का द्वार बन्द हो चुका था अतः आप लौट चलने की बात सोच ही रहे थे कि उधर मन्दिर में श्रीपार्वतीजी ने श्रीशिवजी से कहा कि श्रीरामानन्दजी आपके दर्शनार्थ आये हैं परन्तु द्वार बन्द होने से बिना दर्शन किये ही लौटे जा रहे हैं। यह सुनकर श्रीशिवजी ने अपने प्रधानगण नन्दीश्वर को आज्ञा दी। उन्होंने तुरन्त मन्दिर का द्वार खोल दिया। श्रीस्वामीजी

साक्षात् श्रीगिरिजा-शङ्कर का दर्शनकर उन्हें प्रणाम करने के लिए झुके ही थे कि श्रीशिवजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और परम-दिव्य आसन पर बैठाकर बोले-अहो! आप तो साक्षात् हमारे परमाराध्य श्रीरामजी ही हैं। लोक-कल्याणार्थ आप अवतार लेकर संसारी जीवों को शिक्षा देने के लिए स्वयं भक्ति-साधना करते हैं। आपके द्वारा भक्ति का महान् प्रचार होगा। श्रीस्वामीजी ने कहा कि-आपका कथन सत्य है। परन्तु यह कराल-कलिकाल किसी को कुछ करने नहीं देता है। यदि कोई यत्किंचित् प्रयास करता भी है तो वह हठात् उसे अपने ही रंग में रँग लेता है। श्रीशिवजी बोले-आपके महाप्रभाव के सामने कलियुग की एक भी नही चलेगी, आप तो निशङ्क होकर धर्म-प्रचार करिये। कलियुग तो आपका चेला बन जायेगा। आप तो परम समर्थ हैं। इस प्रकार श्रीशिवजी और श्रीरामानन्दजी के बीच और भी बहुत-सी आनन्दमयी वार्तायें हुईं। दोनों ही परम दिव्य-विभूतियों का मिलन लोक-कल्याण की माङ्गलिक भूमिका है। जब श्रीस्वामीजी विदा होने लगे तो श्रीशिवजी बड़े ही भाव में भरकर बोले-जो कोई एकबार श्रीरामनाम लेता है मैं उसे तीन बार प्रणाम करता हूँ, परन्तु आप तो साक्षात् रामानन्द ही हैं, रामरूप ही हैं, श्रीराम में ही रमण करते हैं, अब आप ही बताइये-मैं कितनी बार प्रणाम करके आपका सत्कार करूँ। यथा-

चौ०- बोले शिवजी कह इक रामा। तीनि बार तेहिं करहुँ प्रनामा।।

दो०- आपु राम आनन्दमय, रामरूप रत राम।
कहहु कहा सत्कार करि, केती करौं प्रणाम।। **(श्रीरामानन्दाचार्य चरि०)**

श्रीस्वामीजी पुनः कुटी पर आ गये। इसके कुछ ही दिन बाद एक दिन श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ब्रह्ममुहूर्त में स्नानकर श्रीराम-मन्त्र का जप करने जा रहे थे कि इतने में कलियुग मूर्तिमान् होकर आपके पास आया। परन्तु आपके अप्रतिहत तेज से धर्षितचित्त कलियुग की हिम्मत नहीं पड़ी कि प्रत्यक्षतया कुछ विघ्नकर सके अतः उसने छल का आश्रय लिया और आपके स्वर्ण के पञ्चपात्र में सूक्ष्मरूप से जा बैठा। जब श्रीस्वामीजी ने आचमन किया तो उन्हें तत्काल कलि की-कुचाल का अनुभव हो गया। अतः डाँटकर पूछे-तुम कौन हो? तुम क्यों आये? कलियुग डर गया और तुरन्त प्रगट होकर बोला-प्रभो! मैं कलियुग हूँ, सब लोग मुझे बुरा कहते हैं अतः मैं अपने उद्धार के लिए आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिये। श्रीस्वामीजी ने कहा कि तुम आज तक किसी के शिष्य क्यों नहीं बने? श्रीवाल्मीकिजी, श्रीव्यासजी का शिष्यत्व क्यों न स्वीकार किये? यहाँ

क्यों आये? कलि ने कहा-नाथ! मैं गया तो सबके पास, परन्तु सबने हमें छली, कपटी, क्रूर-कुटिल कहकर ठुकरा दिया अतः अब आप अधम-उधारण, पतितपावन, दीनबन्धु की शरण में आया हूँ। श्रीरामरूप में आपने बड़े-बड़े अघी-अधमों को अपनाया है। निषाद, गीध, भिलनी पर अनुग्रह किया है। कपटरूप राक्षसों को भी सद्गति दी है अतः कहीं और नहीं भटककर आपकी ही शरण में आया हूँ। कलि की इस दीनता पर श्रीस्वामीजी रीझ गये और श्रीशिवजी के वचनों को यादकर कृपा करके उसे श्रीराम-मन्त्र की दीक्षा प्रदानकर बोले-

चौ०- साधु भये तुम्हरे गुरु भाई। इनको जनि बनियो दुखदाई।।
दोष सहित बहु गुनहू तुममें। ताते शिष्य बनायो हमने।।

कलियुग ने कहा-

सूधे साँचे सन्त सुजाना। करिहैं नाम रूप गुन गाना।
तिनको कबहुँ दुखी नहिं करिहौं। निश्चै तव आयसु अनुसरिहौं।।
साधू बनि माया को सँचिहैं। ते मोते एकौ नहिं बचिहैं।। **(भ.व.टि.)**

एक बार श्रृङ्गेरीमठ के आचार्य श्रीभारतीतीर्थजी एवं उनके अनुज श्रीमाधवाचार्यजी काशीपुरी आये हुए थे। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी का सुयश श्रवणकर उनके मन में दर्शन की इच्छा हुई। अतः रात्रि के समय छद्मवेष धारणकर कुटी पर आये। सर्वज्ञ श्रीस्वामीजी दोनों आचार्यों का शुभागमन जानकर अपना दक्षिणावर्त शङ्ख बजा दिये। शङ्ख ध्वनि सुनते ही वे समाधिस्थ हो गये और उस समाधिदशा में श्रीस्वामीजी के श्रीरामस्वरूप का दर्शनकर परम-आनन्दित हुए। फिर तो समाधि छूटने पर अपने सहजरूप से श्रीस्वामीजी के दर्शन किये। परस्पर शास्त्रालाप के अनन्तर श्रीभारतीतीर्थजी ने निवेदन किया कि-'अनुज मोर चाहत करन, वेदभाष्य महाराज। ऋषियन कर यह काज बड़, याहि करिय ऋषिराज।।' (रा०च०मृ०) श्रीस्वामीजी ने अपना वरदहस्त माधवाचार्यजी के मस्तक पर फेरकर पलमात्र में इन्हें ऋषित्व प्रदानकर दिया और थोड़े ही शब्दों में समस्त वेदों का सार समझा दिया। वे दोनों आचार्य श्रीस्वामीजी का गुण गाते हुए अपने स्थान को लौट गये।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के प्रभाव के साथ-साथ उनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा का भी बड़ा विस्तार हुआ। आपके असंख्यों-शिष्यों में से छप्पय में वर्णित श्रीअनन्तानन्दजी, श्रीकबीरदासजी आदि द्वादश-शिष्य प्रधान हैं। जिनका चरित्र आगे वर्णन किया जायेगा।

एकबार काशी में श्रावणी के पुण्यपर्व पर समस्त भारत के विद्वानों एवं धर्माचार्यों की सभा हुई। सभा में तत्कालीन यवनों के अत्याचार पर विचार-विमर्श हुआ और धर्म रक्षा का अन्य कोई उपाय न देखकर सब लोग मिलकर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के पास गये। श्रीस्वामीजी के दर्शनमात्र से सबको परमशान्ति मिली, अतः दृढ़ विश्वास हो गया कि अब निश्चय ही हमारे तिलक, जनेऊ, माला, चोटी की लाज रह जायेगी। सब लोगों ने श्रीस्वामीजी से देश की परिस्थिति निवेदन की-महाराज! यवनरूपी प्रचण्ड झंझावात में पड़कर धर्म का जहाज डूबना चाहता है। धर्मप्राण भारत की जनता महान् कष्ट पा रही है। स्वर्ग से भी श्रेष्ठ भारतभूमि को यवन-खल नरक तुल्य करने पर तुले हैं। हम सब आपकी शरण आये हैं। प्रभो! रक्षा करो, रक्षा करो। श्रीस्वामीजी ने सबको धैर्य बँधाया और 'मङ्गल-भवन, अमङ्गल हारी' भगवन्नाम का स्मरण करने को कहा। सब लोग आश्वस्त होकर श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन करते हुए अपने-अपने स्थान को गये।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने यवनों को शिक्षा देने के लिए काशीपुरी से ही अपनी अचिन्त्य-शक्ति को प्रेरित किया जिससे कि सभी मुल्ला, मौलवी जब नमाज पढ़ने जाते तो उनकी जिह्वा मे लकवा मार जाता। सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों में हा-हाकार मच गया। तब सभी फकीर, मुल्ला-मौलवी एकत्रित होकर आपस में विचार किये कि हम लोगों के ऊपर यह सङ्कट क्यों और कहाँ से आया है? मुस्लिम फकीरों में इबन्नूर और मीरतकी नाम के दो फकीर बोले कि यह सब करामात किसी सिद्ध हिन्दू फकीर की है। हमने सुना है कि काशीपुरी में स्वामी रामानन्दजी बड़े सिद्ध, चमत्कारी महापुरुष हैं और यह भी सुना है कि सभी हिन्दू मिलकर अपने धर्म की रक्षा के लिए उनकी शरण में गये थे। निश्चय ही हम लोगों को अपने कर्म का फल चखाने के लिए उन्होंने ही कुछ यन्त्र-मन्त्र किया है। अतः हम लोगों को भी उनके पास चलकर क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए। मुसलमानों को सीधे श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के पास जाने का साहस नहीं हुआ। अतः सभी पहले श्रीकबीरदासजी को अपना सजातीय जानकर उनके पास जाकर अपना दुखड़ा सुनाये। निष्पक्ष एवं स्पष्टवक्ता श्रीकबीरदासजी ने मुसलमानों को बहुत फटकारा। यथा-

दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय।। आदि।

जब वे अत्यन्त गिड़गिड़ाने लगे तो सबको श्रीस्वामीजी के पास भेजे। तब सभी मुल्ला-मौलवी आश्रम पर आकर दूर से ही खड़े होकर हाथ-जोड़कर विनती करने लगे।

श्रीस्वामीजी ने कुटी के भीतर से ही शङ्खध्वनि किया, बस सबके-सब मुसलमान मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। मूर्छावस्था में ही उनके पैगम्बर मुहम्मदसाहब ने उन लोगों से कहा कि यदि तुम लोग अपनी खैरियत चाहते हो तो श्रीस्वामी रामानन्दजी जो कहें, वह तुम लोग सहर्ष स्वीकार कर लो, अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। वे तुम लोगों के अन्याय के साथ-साथ तुम्हें और तुम्हारे इस्लाम धर्म को जड़-मूल से मिटा देने में समर्थ हैं। जब यवनों की मूर्छा भङ्ग हुई तो सबने एक स्वर से निवेदन किया कि आप जो कहें, वह हम लोग करने के लिए तैयार हैं तब श्रीस्वामीजी ने उनको समझाया कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही परमात्मा के द्वारा उत्पन्न है। ईश्वर ने सबको भजन-पूजन करने के लिए ही नर-शरीर दिया है। फिर तुम लोग क्यों दूसरे के धर्म में बाधा पहुँचाते हो। ईश्वर केवल तुम्हारे ही नहीं, वे तो प्राणीमात्र के पालक हैं। सारा-संसार उनमें और वे सबमें रमे हुए हैं। राम और रहीम, ईश्वर और अल्लाह-यह नाम का ही भेद है तत्वतः ईश्वर एक ही हैं। जब तक इस प्रकार का विवेक नहीं प्राप्त होगा तब तक चाहे कोई कितनी ही निज-धर्म में कट्टरता करे, वास्तविक सुखोपलब्धि नहीं हो सकती है। तुम लोगों के उपदेश से बादशाह अधर्म को ही धर्म मानकर हिन्दुओं पर मनमाना अत्याचार कर रहा है। याद रक्खो-दूसरे के धर्म का नाश करके तुम लोग अपना धर्म-निर्वाह नहीं कर सकते। धर्म स्वयं तुम्हें त्याग देगा। यह सुनकर सभी मुल्ला-मौलवियों ने हाथ-जोड़कर कहा कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। हम आपकी शरण में आये हैं। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हम लोग आपकी सब शर्तें स्वीकार करेंगे। तब श्रीस्वामीजी ने उनके सामने बारह शर्तें रक्खीं।

चौ०- १- जजिया कर को बेगि हटावो।
२- हिन्दू मन्दिर जनि गिरवावो।। मन्दिर बनत न बाधक बनहू।
३- बलकरि हिन्दुन यवन न करहू।।
४- गो-बध तुरत बन्द करवावो।
५- धर्म ग्रन्थ मत अगिनि जरावो।।
६- नारिन को अपहरण न कीजै।
७- शङ्ख घण्ट नित बाजन दीजै।।
८- कुम्भ आदि पर कर जनि लीजै।
९- कथा कीरतन रोक न कीजै।।
१०- सबहिं स्वधर्म करन नित दीजै।
११- उत्सव तिथि त्योहार अनन्दा। करत न रोके कोऊ मन्दा।।

दो०- १२- व्याह समय चढ़ि पालकी हिन्दू दूलह जाय।
मसजिद समुहें उतरिके चलै न अपने पाँय।।

इन बारह शर्तों को तुम लोग बादशाह गयासुद्दीन, तुगलक और तैमूरलङ्ग से मञ्जूर करा लाओ तब इस सङ्कट से बच सकते हो। यह सुनकर सभी मियाँ-मौलवी मिलकर बादशाह के पास गये और उसे समझा-बुझाकर उपर्युक्त शर्तों की मञ्जूरी का हुक्म लिखा लाये। सम्पूर्ण देश में इस हुक्मनामे की घोषणा करा दी गई। सर्वत्र श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की जय-जयकार होने लगी। सभी मुसलमानों की नमाज की बाधा दूर हो गई। सबके कण्ठ खुल गये। अब सब लोग अमन-चैन से स्व-स्वधर्म में स्थित रहते हुए परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने लगे।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी का सुयश श्रवणकर श्रीअयोध्या से गजसिंहदेवजी काशी आये और श्रीस्वामीजी का दर्शनकर परमसुख पाये। इसके बाद गजसिंहदेव ने अपनी करुण कहानी कही-महाराज! मैं सूर्यवंशी क्षत्रिय हूँ। तथा श्रीअयोध्या के राजा श्रीहरिसिंहदेव का भतीजा हूँ। जूनाखाँ तुगलक से भयभीत होकर हमारे चाचाजी राज्य छोड़कर वन में जाकर तप में प्रवृत्त हो गये। अन्य उत्तराधिकारी के अभाव में मैं राज्य की देख-रेख करता रहा। परन्तु यवनों ने बलपूर्वक मुझे हराकर अवध पर अधिकार तो कर ही लिया, मुझे धर्मभ्रष्ट भी कर दिया। गौ-ब्राह्मण विनाशक जूनाखाँ ने अयोध्या में महान् अत्याचार मचा रखा है। बीस हजार हिन्दू स्त्री-पुरुष बलात् यवन बना लिए गये हैं और जिसने मुस्लिम-धर्म नहीं स्वीकार किया वे बिना मौत मारे गये। अब भी वहाँ अत्याचार का क्रमटूटा नहीं है। हम असहायों को कोई उपाय नहीं सूझ रहा है कि इस दुरावस्था में कहाँ जायें, क्या करें? मैंने अपनी शुद्धि के लिए अनेकों पण्डितों की शरण ली, परन्तु सबने असमर्थता ही प्रकट की। आपका परमपावन यश सुनकर आपकी शरण में आया हूँ। अब तो आप ही हमारी, हमारी प्रजा की एवं श्रीअयोध्याजी की रक्षा कर सकते हैं। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने गजसिंहदेव को आश्वासन देकर श्रीअवध भेजा और स्वयं भी अपने शिष्य परिकर को साथ लेकर श्रीअवध गये। वहाँ की जनता आपके शुभागमन से परम आह्लादित हुई। सबने आ-आकर अपना दुखड़ा सुनाया। श्रीस्वामीजी ने अपने सामने सबको श्रीसरयूजी में स्नान कराया। आपकी कृपा से सबके सुन्नत के चिह्न मिट गये। सब लोग पूर्ववत् अपने हिन्दू-संस्कारों से युक्त हो गये। आप पुनः काशीपुरी को लौट आये।

एक दिन देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने आकर श्रीस्वामीजी से प्रस्थानत्रय (वेद, उपनिषद्, गीता) पर भाष्य लिखने का अनुरोध किया। श्रीनारदजी का आग्रह स्वीकारकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी ने 'आनन्द-भाष्य' की रचना की। जिसमें विशिष्टाद्वैत का बड़ी विलक्षणता से विवेचन किया गया है। (देखिये वैष्णव-दर्शन) भाष्य की रचना कर श्रीस्वामीजी ने सर्वप्रथम उसे अपने प्रधान शिष्य श्रीअनंतानंदजी को पढ़ाया। उनके सङ्ग सभी शिष्यों ने 'आनन्द-भाष्य' का रहस्य श्रवण किया। आचार्य कृपा से सबको परमतत्व का सम्यक्ज्ञान हो गया। तब श्रीस्वामीजी ने अपने सभी शिष्यों को भी भक्ति-प्रचार का आदेश दिया। फिर तो देश के कोने-कोने में श्रीआचार्य कृपा से वैष्णवता का बड़ा-भारी प्रचार हुआ।

एक बार काशी में ग्रहण के समय पर बड़े- बड़े विद्वानों एवं धमाचार्यो की महती सभा हुई। सभा में सिद्धान्त पक्ष को लेकर बड़ा वाद- विवाद हुआ। परन्तु सुनिश्चित निर्णय कुछ भी नहीं हो सका। तब सब लोग मिलकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी के पास गये। श्रीस्वामीजी ने अपने आनन्द-भाष्य में प्रतिपादित स्वसिद्धान्त (विशिष्टाद्वैत) का अद्भुत रीति से प्रतिपादन किया और अपने मत की प्रतिष्ठा करके यह कहा कि श्रीभगवान वेदव्यास जी का भी यही मत है। तर्कप्रधान पण्डितों ने कहा कि हम यह कैसे मानें कि आपका सिद्धान्त श्रीव्यास सम्मत है। तब श्रीआचार्यपाद ने भगवान वेदव्यास का स्मरण किया। स्मरण करते ही श्रीव्यासजी तत्काल प्रकट हो गये। सबकी शङ्का का समाधान तो श्रीव्यासजी के दर्शन से ही हो गया। सभी लोगों ने श्रीव्यासजी के चरणों में प्रणामकर हाथ-जोड़कर स्तुति की। इसके बाद श्रीव्यासजी बोले- आचार्य श्रीरामानंदजी ने जो भाष्य लिखा है, वह मुझे अत्यन्त ही प्रिय है। क्योंकि इसमें द्वैत- अद्वैतादि किसी भी सिद्धान्त का खण्डन न करके सबके समन्वय का सफल प्रयास किया गया है।आप सब लोग समस्त वाद- विवादों को छोड़कर गम्भीरता से विचार करेंगे तो 'आनन्द भाष्य' की यथार्थता में सन्देह नहीं रह जायेगा। इतना कहकर श्रीव्यास जी अन्तर्धान हो गये। सब लोंगो ने श्रीस्वामी जी की महामहिमा को श्रीव्यासजी के द्वारा प्रमाणित पाकर उनकी शरण ग्रहण की और श्रीचरणों में वन्दना कर अपने-अपने घर को गये।

भक्ति का व्यापक प्रचार करने के लिए श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी अपने शिष्य परिकर को साथ लेकर दिग्विजय यात्रा करते हुए सम्पूर्ण भारत के तीर्थो का परिभ्रमण किये। आप जहाँ भी गये, आपके सुयश सौरभ से आकृष्ट होकर सब लोगों ने आपका बड़ा सम्मान किया। आपके उपदेशों को श्रवण करके बड़े-बड़े विद्वान् तार्किक मंत्रमुग्ध होकर बिना

शास्त्रार्थ ही आपका सिद्धान्त स्वीकार कर लेते। यदि कदाचित् किसी ने शास्त्रार्थ किया भी तो शिष्यों से ही हारकर अन्त में शरणागत हो गया। आप काशी से प्रयाग होते हुए श्रीचित्रकूट गये। वहाँ भक्तों के आग्रह से आपने भगवान श्रीराम की वनवास लीला का दर्शन कराया। श्रीस्वामीजी की कृपा से सबने प्रत्यक्ष देखा कि श्रीसीताराम- लक्ष्मणजी पर्णकुटी में विराजमान हैं। प्रभु के दर्शन के लिए वहाँ मुनियों का समुदाय उपस्थित है। समस्त श्रीअयोध्यावासी श्रीभरतलालजी के नेतृत्व में श्रीरामजी को मनाने के लिए श्रीचित्रकूट आये हैं। सब लोग श्रीप्रभु से अयोध्या लौट चलने का आग्रह कर रहे हैं। कितने लोग प्रभु के वनवासी रूप को देखकर क्रन्दन कर रहे हैं। बड़ा- भारी करुणरस का साम्राज्य छाया हुआ है। सत्य-सन्ध, दृढ़व्रत श्रीराम बड़े सङ्कोच में पड़े हैं। श्रीभरत की दशा कही नहीं जा रही है। यह सब प्रेमपूर्ण चरित्र देखकर सङ्ग के सब सन्तों को झर-झर अश्रुपात होने लगा। तब श्रीस्वामी जी ने सबको सावधान किया। लीला का तिरोधान होने पर सब लोगों को अनुभव हुआ कि यह तो श्रीस्वामीजी की कृपा का चमत्कार रहा है जो हम लोग कलियुग में भी त्रेतायुग की लीला का प्रत्यक्ष-दर्शन किये।

चित्रकूट से चलकर श्रीमिथिलापुरी का दर्शन करते हुए श्रीआचार्यपाद श्रीजगदीशपुरी पहुँचे। श्रीजगन्नाथ भगवान की आज्ञा से पुरीनरेश ने श्रीआचार्यपाद का महान् सम्मान किया। जगत् के जीवों का कल्याण करने के लिए श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने 'श्रीकपिलतीर्थ' (गङ्गासागर) को प्रगट किया। यह अति प्राचीन, परमसिद्ध, प्रसिद्ध पुण्यस्थल काल के प्रभाव से लुप्त हो गया था। यहाँ पर श्री कपिलदेव भगवान तपस्या करते हैं, यहीं पर गङ्गाजी सहस्त्रधारा होकर समुद्र में मिली हैं और राजा सगर के साठ हजार पुत्रों का उद्धार की हैं। यह पुनीततीर्थ कलियुग के समस्त पापों एवं जीव के तीनों तापों को नष्ट करने वाला है। श्रीस्वामीजी इस तीर्थ का शोध करके शिष्यों सहित वहाँ पहुँचे। श्रीकपिलदेव भगवान ने साक्षात्- दर्शन दिया। श्रीस्वामीजी की प्रार्थना पर श्रीकपिलदेवजी श्रीविग्रहरूप में हो गये। तब श्रीस्वामीजी ने अपने कर-कमलों से विधिपूर्वक वेद-मन्त्रों से उनकी वहीं प्रतिष्ठा और पूजा की। असंख्यों जनसमुदाय के बीच श्रीस्वामीजी ने इस तीर्थ की महिमा कही कि-'सब तीर्थ बार-बार गंगासागर एकबार।।' उसी समय से आज तक प्रतिवर्ष मकर-संक्रान्ति के दिन वहाँ महान्मेला लगता है। इस शुभ - अवसर पर लोग स्नान- दान करके जीवन को सफल बनाते है।

श्रीजगदीशपुरी के राजा ने प्रार्थना किया कि - हे प्रभो! कभी-कभी समुद्र सीमा का अतिक्रमण करके बढ़कर नगर में आ जाता है जिससे कि बड़ी- क्षति होती है। लोगों को बड़ा

कष्ट होता है। कृपा करके आप इस दुःख को दूर कर दीजिये।श्रीस्वामीजी ने अपने शिष्य कबीरदासजी को भेजा। श्रीकबीरदासजी ने समुद्र को श्रीस्वामीजी की आज्ञा सुनाकर वहाँ एक चिमटा गाड़ दिया और कह दिया कि इससे आगे मत आना। तब से समुद्र तनिक भी वहाँ से आगे नहीं बढ़ा। जनता के अनुरोध पर चन्दन-तालाब का जीर्णोद्धार कराया। वहाँ से श्रीरामेश्वर को प्रस्थान किये। उन दिनों शैव-वैष्णवों में घोर-विरोध चल रहा था। अतः वहाँ पहुँचने पर पण्डा-पुजारियों ने कहा कि ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाले का मन्दिर में प्रवेश नहीं हो सकता है। यदि आप लोग दर्शन करना चाहें तो त्रिपुण्ड लगाकर आइये। यह सुनकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी ने अपना अद्भुत शङ्ख बजाया। जिससे पण्डे-पुजारियों की मति-गति हर गई। भगवान शिवजी ने आकाशवाणी की कि-हे पुजारियो! तुम लोग शीघ्र श्रीरामानंदाचार्यजी को आदरपूर्वक मन्दिर में लिवा लाओ। उनको मेरे ही समान समझो। श्रीशिवजी के आदेशानुसार पुजारियों ने बड़े ही आदर के साथ श्रीस्वामीजी को मन्दिर में लाकर पधरावनी की और पूजा-आरती-स्तुति की। तत्पश्चात् हाथ-जोड़कर बोले-आप हमें जो कुछ आज्ञा दें वह हम पालन करने के लिये प्रस्तुत हैं। श्रीस्वामीजी ने उन लोगों से कहा कि हमारी यही आज्ञा है कि किसी वैष्णव को श्रीशिवजी का दर्शन करने से न रोका जाये। सबने आपकी आज्ञा शिरोधार्य की। तब से अब तक श्रीशिवजी के दर्शन सबको समान रूप से होते हैं। वहाँ से चलकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी सेतुबन्ध तीर्थ का दर्शन किए। विजयनगर के राजा श्रीबुक्कारायने श्रीस्वामीजी का बड़ा सत्कार किया। राजा के भाव को देखकर श्रीस्वामीजी नौ-दिन तक वहाँ रहकर विविध हितोपदेश दिए।

विष्णुकाञ्ची में एक आचारी वैष्णव ने श्रीकबीरदासजी को जुलाहा कहकर अपमान किया कि पृथ्वी माता से यह भागवतापचार सहा नहीं गया। वे फट गईं और वह वैष्णव पृथ्वी में समा गया। श्रीरङ्गनाथ-धाम में पहुँचने पर कुछ लोगों के द्वारा महिमा के प्रति सन्देह किये जाने पर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी शङ्खध्वनि करके अन्तर्धान हो गये। और फिर श्रीरङ्गजी के निज-मन्दिर में, जहाँ पुजारी भगवान की पूजा कर रहे थे, वहाँ प्रकट हुए। श्रीआचार्यपाद को अपने समीप पाकर श्रीरङ्गनाथ भगवान बड़े ही प्रसन्न हुए और अपना श्रीकर-कमल बढ़ाकर हृदय से लगा लिये। श्रीरङ्गनाथजी ने श्रीस्वामीजी के अवतार-कार्य की सराहना की और अपनी दिव्य-प्रसूनमय माला उनके गले में डाल दी। इस प्रत्यक्ष प्रभाव को देख-सुनकर तत्रस्थ लोग विनयावनत होकर श्रीस्वामीजी के चरणों में पड़े। क्षण-भर में सम्पूर्ण

नगर में यह समाचार फैल गया। तब तो पूरे रङ्गनगर के लोग दौड़-दौड़कर आपके दर्शनार्थ आये और उपदेश पाकर कृतकृत्य हुए। एवं प्रकारेण गिरिनार, प्रभासक्षेत्र, द्वारकापुरी, आबू पर्वत, पुष्कर आदि सभी तीर्थों की यात्रा करते हुए श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी श्रीवृन्दावन आये।

श्रीब्रज-वृन्दावन के सभी रसिकसन्त दर्शन के लिए उमड़ पड़े। ब्रजवासियों के विशुद्ध प्रेम को देखकर श्रीयोगानन्दजी तो नृत्य करने लगे। श्रीस्वामीजी ने ब्रज के बालकों में श्रीकृष्ण की भावना करके प्रतिदिन बालकों का वृहद् भण्डारा किया। ब्रजवासी बालक बड़े आनन्द से प्रसाद पा रहे थे। श्रीस्वामीजी उनको देखकर पुलकायमान हो रहे थे। इतने में एक गौरवर्णा, रूप, लावण्य की राशि बालिका ने श्रीस्वामीजी के निकट आकर प्रणाम कर अमृतोपम वाणी में भोग-प्रसाद माँगा। बालिका के वचनों में अद्भुत माधुर्य था, अलौकिक आकर्षण था, अनुपम अनुराग था। श्रीस्वामीजी ने ध्यान में देखा तो मालूम पड़ा कि यह तो साक्षात् सर्वेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी, वृन्दावनेश्वरी, हृदयेश्वरी श्रीराधा हैं। फिर तो आप भाव-विह्वल होकर अपने लिए स्वर्णपात्र में रखा हुआ खीर-प्रसाद अपने हाथों से श्रीजी को गोद में बैठाकर बड़े प्यार से पवाये। श्री श्रीजी ने साक्षात् दर्शन दिया। दूसरे दिन श्रीस्वामीजी ने समस्त ब्रज की बालिकाओं का निमन्त्रण किया और फिर तीसरे दिन सम्पूर्ण ब्रजवासियों को वृहद् भण्डारा दिया। इस प्रकार ब्रजवासियों को परमानन्द प्रदान कर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी ने बदरिकाश्रम की यात्रा की। वहाँ भगवान् नर-नारायण के दर्शन हुए। वहाँ से काश्मीर को प्रस्थान किए। काश्मीर में दिग्विजयी देवेन्द्र पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित कर शिष्य बनाया और फिर वहाँ से चलकर नैमिषारण्य, अयोध्या होते हुए काशीपुरी को आ गये।

श्रीआचार्य भगवान दिग्विजय करके लौटे हैं-यह जानकर काशीवासियों के आनन्द का पारावार नहीं रहा। फिर तो जैसे मिथिला में श्रीरामजी का दर्शन करने के लिए मिथिलापुरवासी उमड़ पड़े थे। यथा-'देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरवासिन्ह पाए।। धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।।' वैसे ही काशीवासी आबाल-वृद्ध, नर-नारी दर्शनार्थ दौड़ पड़े। सबने आचार्यपाद की पूजा-आरती-स्तुति की, इस प्रकार अपने दर्शन-स्पर्श से सबको कृतार्थ करते हुए श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी अपने आश्रम में आकर सुखपूर्वक विराजमान हुए। आश्रम में कथावार्ता सत्संग का प्रवाह उमड़ता रहता। जिसमें अवगाहन कर नित्यप्रति सहस्त्रों-सहस्त्रों नर-नारी अपने जीवन को सफल बनाते। काशीवासियों के अनुरोध

पर श्रीस्वामीजी ने काशी में श्रीवृन्दावन की तरह विशाल भण्डारा किया, जिसमें साक्षात् श्रीअन्नपूर्णाजी ने ऋद्धि-सिद्धियों से भण्डार भर दिया और देवताओं ने भोजन बनाने, परसने और पवाने का कार्य संभाला था। इस प्रकार श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी भगवत्प्रसादान्न से प्राणियों के शरीर का एवं उपदेशामृत से आत्मा का पोषण एवं तोषण करते हुए बहुत काल तक इस धराधाम पर विराजमान रहे।

श्रीभक्तमालजी के रचयिता श्रीनाभाजी लिखते हैं कि-बहुत काल वपु धारिके प्रणत जनन को पार दियो। श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों०। **आपके अनन्त चरित्र हैं। यहाँ तो श्रीजयरामदेवजी रचित 'श्रीरामानन्दाचार्यचरितामृत' से कुछ प्रसङ्ग उद्धृत किये गए हैं। आपके अभी और भी चरित्र आगे शिष्य-परिकरों के चरित्र-वर्णन में कहे जायेंगे। आपकी परमोदारता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ऊँच-नीच का भेदभाव छोड़कर आपने प्राणीमात्र को भक्ति प्रदान किया श्रीरैदास, कबीर, सेन, धना आदि को अपनाकर आपने अपनी लोकोत्तर समदर्शिता का परिचय दिया, साथ ही भक्ति के गौरव को भी बढ़ाया। आपका कथन है कि-**

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा शक्ता अशक्ता अपि नित्यरंगिणः।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो न चापि कालो नहि शुद्धता च।।
दानं तपस्तीर्थं निषेवणं जपो न चास्त्यहिंसा सदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तांपरिवर्जयेज्जनः सुधर्मनिष्ठो दृढ़धर्मवृद्धये।।

(वैष्णवमताब्ज भास्कर)

अर्थ-शक्त, अशक्त, अच्छे, बुरे सभी भगवान की शरणागति के अधिकारी हैं। शरणागति में कुल, बल, समय और शुद्धि की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि जप, तप, तीर्थ-सेवन एवं दानादि को पुण्यरूप माना गया है। परन्तु कोई भी शुभकर्म-धर्म अहिंसा के समान नहीं है। अतः सुन्दर धर्म में निष्ठा रखने वाले जन दृढ़ धर्म की वृद्धि के लिए हिंसा को सर्वथा त्याग दें।

भगवान का दिव्य संकेत पाकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी वि०सं० १५१५ श्रीरामनवमी के दिन इह लीला संवरणकर अपने नित्यस्वरूप में स्थित हो गये। श्रीरसिकप्रकाश भक्तमाल में टीकाकार श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि-

रामानन्द स्वामी से भये न कोई और होने जिनको विदित तीनों लोक में प्रताप हैं।
काम क्रोध लोभ मोह मत्सरादि शुण्डा दण्ड मर्दन को केशरी ज्यों राजैं करि दाप हैं।।

विमुख पाषण्डी आनधर्मी तम तोम रवि अभिमान सागर को कुम्भज से आप हैं।
राम भक्ति शालि क्षेत्र पोषिवे को बारिद से आश्रित प्रपन्न के एक माई बाप हैं।।

श्रीरसरङ्गमणिजी कहते हैं कि-

मन्द कलिकाल के कुचालते अमन्द पाप फैले पन्थ निन्द वेद भक्त हूँ अमन्द के।
देखे रघुनन्द जब सबै दुख द्वन्द्वदले लीन्हे अवतार तब दायक अनन्द के।।
सेतु विसतारे मन्त्र तारक प्रचारे किये जीव भव पारे देह धारक सुछन्द के।
सन्त सिंधु चन्द ऐसे करुणा के कन्द 'रसरंगमणि' वन्द पद स्वामी रामानन्द के।।

वेदान्तभूषण पण्डित श्रीरामकुमारदासजी (मणिपर्वत श्रीअयोध्याजी) श्रीभक्तमाल भास्कर में श्रीस्वामी रामानन्दजी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि-

जब लहि यवन अनीति धरा व्याकुल भइ भारी।
अति कृपालु रघुनाथ तबहिं मुनि रूप सँवारी।।
जैन बौद्ध मत नाशि याविनी अनय विनासे।
भगवद्धर्म प्रचारि सुवैष्णव तत्व प्रकासे।।
शिष्य द्वादशादित्य सम ज्ञान किरण जगतम हरे।
रामानन्दाचार्य कर धर्म ध्वजा जग फरहरे।।

श्रीभावानन्दजी

ये श्रीजनकजी महाराज के अवतार थे। यथा- भावानन्दोऽथ जनको मूले परिघसंयुते। वैशाख कृष्ण षष्ठ्यां तु कर्के चन्द्रे जनिष्यति।। **(अगस्त्य संहिता) इनके पूर्वज मिथिलापुरी निवासी थे। इनके बाबा (पितामह) श्रीहरिनाथमिश्रजी तीर्थाटन करते हुए पण्ढरपुर आये तो भगवान श्रीपुण्डरीकनाथजी की नयनाभिराम झाँकी देखकर ऐसे मुग्ध हुए कि वहीं आलन्दी नाम के ग्राम में बस ही गये। इन्हीं श्रीहरिनाथमिश्रजी के पुत्र हुए श्रीरघुनाथमिश्रजी और उनके पुत्र हुए श्रीजनकजी के अवतार स्वनामधन्य श्रीभावानन्दजी। वर्णन आया है कि श्रीरघुनाथमिश्रजी ने पुत्र की कामना से भगवान श्रीविट्ठलनाथजी की आराधना की थी। अतः जब पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ तो उन्होंने बालक का नाम रखा विट्ठलपन्त। जो आगे चलकर श्रीस्वामी रामानन्दजी के शरणागत होकर भावानन्दजी के नाम से विख्यात् हुए।**

श्रीविट्ठलपन्तजी का जन्म वैशाख, कृष्णपक्ष, षष्ठी, चन्द्रवार, मूल नक्षत्र परिघयोग में हुआ था। बाल्यावस्था से ही विट्ठलपन्त को विद्वान् पिता के द्वारा वेदों एवं शास्त्रों की

अच्छी शिक्षा मिली थी। फलस्वरूप ज्ञान-वैराग्य-भक्ति के संस्कार इनमें बचपन से ही थे। इनका मन घर-गृहस्थी के कार्यों में बिल्कुल नहीं लगता था। भगवद्भक्ति, सत्सङ्ग, तीर्थाटन और सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय में इनकी विशेष अभिरुचि रहती थी। इनकी सद्वृत्ति और विमल-विवेक को देखकर सिद्धोपन्त नाम के एक परमकुलीन ब्राह्मण ने अपनी परम सुशीला कन्या रुक्मिणीबाई का विवाह श्रीविट्ठलपन्त से कर दिया। श्रीरुक्मिणीबाईजी परम पतिव्रता थीं और श्रीविट्ठलपन्तजी परम भगवन्निष्ठ। अतः गृहस्थ जीवन परम सुखमय था। एक दिन एक कर्कोटकवंशीय नाग दम्पत्ति ने इनसे आकर कहा कि यह घर तो हमारे पूर्वजों का निवास स्थान रहा है अतः तुम इसे छोड़कर किसी दूसरे घर में जाकर रहो। श्रीविट्ठलपन्तजी ने बड़ी सरलता से वह घर खाली कर दिया और स्वयं दूसरे मकान में जाकर रहने लगे। इनके इस साधु-व्यवहार से नाग बड़ा प्रभावित हुआ। अतः उसने इनके घर को अपार सम्पत्ति से भर दिया। श्रीविट्ठलपन्तजी बड़े विवेकपूर्वक उस प्राप्त धन का सदुपयोग भगवत-भागवत सेवा में करते। इनके यहाँ अतिथि-अभ्यागतों का समुचित सत्कार होता। यह दीन-दु:खियों की अन्न-द्रव्य से सहायता करते।

एक दिन इनके घर परम तेजस्वी एक ऐसे सन्त पधारे जो केवल वायु पीकर रहते थे। इन्होंने उनका अर्घ्य-पाद्यादि से समुचित सत्कार किया। उनका दर्शन और सत्संग कर इनको परम आनन्द मिला। तीसरे दिन सन्तजी जब जाने लगे तो इन्होंने अनुरोध किया कि कुछ काल तक यहीं निवास करें। सन्तजी बोले-एक तो मैं एक स्थान पर तीन दिन से अधिक ठहरता नहीं हूँ। दूसरे इस समय स्वयं भगवान श्रीरामजी श्रीरामानन्दाचार्यजी के रूप में प्रकट होकर काशीपुरी में विराज रहे हैं, मुझे उनके दर्शन की त्वरा है। यह सुनकर श्रीपंतजी भी काशी के लिए तैयार हो गये। पत्नी को भगवत-भागवत एवं अतिथि-अभ्यागतों की सेवा सौंपकर, श्रीविट्ठलपंतजी उन संत जी के साथ ही काशी के लिए प्रस्थान कर दिये। मार्ग में इन्होंने एक विचित्र चरित्र देखा। ये देखे कि संतजी के दाँये-बाँयें दो परम सुन्दर श्याम-गौरवर्ण के राजकुमार चल रहे हैं। कई दिन तक यह अलौकिक लीला देखने के बाद इन्होंने संतजी से कहा कि आप तो महर्षि विश्वामित्रजी प्रतीत होते हैं। श्रीसंतजी ने मुस्कराकर कहा कि आप भी तो महाराज जनकजी के अवतार हैं। इतना सुनते ही पंतजी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और वे संतजी अंतर्धान हो गये।

जब इनकी मूर्च्छा दूर हुई तो इन्होंने अपने को काशी के समीप एक वटवृक्ष के नीचे पड़ा पाया। उन संतजी एवं राजकुमारों को न देखकर इन्हें अत्यन्त विरह व्याप गया।

ये 'हा राम, हा रघुनाथ, हा लक्ष्मण' आदि पुकारकर करुण-क्रन्दन करने लगे। उसी समय दो बालक इनके समीप आये और इन्हें भूखा जानकर कुछ भगवत्प्रसाद खाने को दिये तथा मार्ग दिखाते हुए काशी, पञ्च-गङ्गाघाट तक पहुँचाकर अन्तर्धान हो गये। बालकों के अन्तर्हित होते ही श्रीविट्ठलपंतजी का विरह पुनः उदीप्त हो गया। उसी समय श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी की दिव्य शङ्खध्वनि हुई। उसे सुनकर श्रीविट्ठलपंतजी दौड़कर 'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं' कहते हुए श्रीस्वामीजी के चरणों में पड़ गये। इनको परम अधिकारी जानकर श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी ने वैष्णव पंच-संस्कारपूर्वक श्रीराममंत्र की दीक्षा देकर इनका नाम रखा-भावानंदजी। विशेष देखिये क० १७८-श्रीज्ञानदेवजी का प्रसङ्ग। आपके सम्बंध में वे० भू० मा० त० पं० श्रीरामकुमारदासजी लिखते हैं-

परम तीव्र वैराग्य त्यागि तिय यति वपु लीन्हों।
पुनि गुरु आयसु मानि जाइ गृह धर्म सु कीन्हों।।
त्रयकुमार हरिभक्त मुक्ति कन्या इन जाई।
पुनि गुरुपद महँ जाय योग जप धर्म कमाई।।
अनुभवानन्दहिं शिष्य करि कीन्ह तिन्हैं वैष्णवाधिपति।
रामानन्दाचार्य पद अनुगामी मिथिला नृपति।।

(भक्तमाल भास्कर)

श्रीपद्मावतीजी

त्रिपुरा नाम के एक नगर में श्रीप्रभाकरजी नाम के एक ब्राह्मण निवास करते थे। वह श्रीलक्ष्मीजी के उपासक थे। रात-दिन श्रीलक्ष्मीजी का पूजन छोड़कर दूसरा कोई कार्य नहीं करते थे। एक बार स्वप्न में श्रीलक्ष्मीजी ने दर्शन देकर वर माँगने को कहा तो इन्होंने अपनी आराध्या को पुत्रीरूप में प्रकट होने का वर माँगा। श्रीलक्ष्मीजी 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गईं। प्रातःकाल जब पण्डित प्रभाकरजी श्रीलक्ष्मीजी का पूजन करने आये तो वहाँ एक दिव्य-कमल देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अपनी पत्नी को बुलाकर वह कमल दिखाये। उनकी पतिव्रता पत्नी ने जब उस विलक्षण कमल को उठाया तो उससे सोने की-सी कान्ति वाली एक कन्या प्रकट हो गई। ब्राह्मण दम्पती ने श्रीलक्ष्मीजी के वचनों को स्मरण कर बड़े उत्साह से इस दिव्य-कन्या का जन्मोत्सव मनाया। साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी के ही पुत्री रूप में अवतीर्ण होने से ब्राह्मण का घर ऋद्धि-सिद्धियों से परिपूर्ण हो गया। माता-पिता ने

उस कन्या का नाम रखा-पद्मा। पद्मा अपनी अलौकिक बाल-लीलाओं द्वारा माता-पिता को अद्‌भुत, अभूत सुख प्रदान करती। जब वह पाँच वर्ष की हुई तो उसने माता-पिता से अपने को काशी में श्रीरामानन्दाचार्यजी के समीप ले चलने का अनुरोध किया। माता-पिता अपनी लाडिली बेटी का आग्रह स्वीकारकर उसे लेकर काशीपुरी आये और श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी से कन्या का दिव्य-जन्म-कर्म सुनाये।

पद्मा ने श्रीस्वामीजी का दर्शनकर चरणों में प्रणामकर, पुलकायमान होकर दीक्षा के लिए प्रार्थना किया। उसकी विनती मानकर श्रीआचार्य भगवान ने उसे मन्त्र-दीक्षा देकर उपासना रहस्य का बोध कराया। पद्मा के कहने पर उसके माता-पिता ने भी श्रीस्वामीजी से दीक्षा ले ली। पद्मा अपने माता-पिता के साथ काशी में ही रहकर भगवदाराधन करने लगीं। जब वह आठ साल की हुईं तो अन्न-जल का सर्वथा परित्यागकर महान् तप करने लगीं। काशी में सर्वत्र श्रीपद्‌माजी के तप की चर्चा होने लगी। एक दिन श्रीपद्‌मा श्रीगुरुदेव श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी का दर्शन करने आश्रम पर गईं। श्रीगुरुदेवजी ने कृपा करके दर्शन दिया और आज्ञा दी कि तुम्हारा तप पूर्ण हो गया। अब तुम अपने निजधाम को जाओ। पद्‌मा श्रीआचार्य चरणों में बार-बार प्रणामकर स्तुतिकर सबके देखते-देखते दिव्य-विमान पर बैठकर परमधाम को चली गईं। (श्रीरामानन्दाचार्यचरितामृत) छप्पय में वर्णित श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के अन्य शिष्यों का चरित्र श्रीनाभाजी ने एवं टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने आगे विस्तार से वर्णन किया है।

श्रीअनन्तानन्दजी

श्रीअनन्तानन्द पद परसिके लोकपाल से ते भये।।
योगानन्द गयेश करमचन्द अल्ह पैहारी।
सारी रामदास श्रीरंग अवधि गुण महिमा भारी।।
तिनके नरहरि उदित मुदित मेहा मंगल तन।
रघुबर यदुबर गाइ विमल कीरति संच्यो धन।।
हरिभक्ति सिन्धु बेला रचे पानि पद्मजा सिर दये।
श्रीअनन्तानन्द पद परसिके लोकपाल से ते भये।।३७।।

शब्दार्थ-परसिकै=स्पर्श=छू करके, आश्रय लेकर। से=समान। ते=वे। अवधिगुण=गुणों की सीमा, अनन्त गुण वाले। उदित =उदय, प्रकाशित। मुदित=प्रसन्न। मेहा=मेघ।

संच्यौ=संग्रह किया। बेला=किनारा, सीमा। पानि=हाथ। पद्मजा=लक्ष्मीजी, जानकीजी।

भावार्थ-श्रीस्वामी अनन्तानन्दाचार्यजी के पूज्य श्रीचरण-कमलों का स्पर्श करके अर्थात् उनके शिष्य बनकर लोकपालों के समान भक्तजनों का पालन करने वाले ये शिष्यगण हुए- योगानन्दजी, गयेशजी, कर्मचन्दजी, अल्हजी, पयहारीजी, रामदासजी और श्रीरङ्गजी उत्तम-गुणों की सीमा तथा महाप्रतापी हुए। उनके शिष्य के रूप में परमप्रसन्न श्रीनरहरिजी का उदय हुआ। ये निरन्तर भक्ति की वर्षा करने वाले मेघ के समान मङ्गलमय शरीर धारण करने वाले हुए। श्रीअनन्तानन्दजी एवं उनके शिष्यगण ने श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी का निर्मल यशगान करके पवित्र कीर्तिरूपी धन का संग्रह किया। श्रीअनन्तानन्दजी भगवद्भक्तिरूपी समुद्र की मर्यादा थे। (अथवा आपने हरिभक्ति सिन्धुबेला नामक ग्रन्थ की रचना की, पर वह अप्राप्त है) पद्मजा श्रीजानकीजी ने आपके शिर पर अपना वरदहस्त- कमल रखकर आशीर्वाद दिया (अथवा आपने पाणिपद्म= हस्तकमल। जा= जिसके शिर पर रख दिया वह हरिभक्ति सिन्धु की मर्यादा अर्थात् परमश्रेष्ठ भक्त हो गया)।

व्याख्या- 'लोकपाल'- पुराणों के अनुसार आठ दिशाओं के आठ लोकपाल हैं। कोश में इनकी स्थिति इस प्रकार वर्णन की गई है-

इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।।

अर्थ- पूर्वदिशा के स्वामी का नाम इन्द्र। पूर्व दक्षिणकोण अर्थात् अग्निकोण के स्वामी का नाम अग्नि, दक्षिणदिशा के स्वामी का नाम यमराज, दक्षिण- पश्चिमकोण अर्थात् नैर्ऋत्यकोण के स्वामी का नाम नैर्ऋत, पश्चिम दिशा के स्वामी का नाम वरुण, पश्चिम-उत्तरकोण अर्थात् वायव्यकोण के स्वामी का नाम वायु, उत्तर दिशा के स्वामी का नाम कुबेर है और उत्तर-पूर्वकोण के अर्थात् ईशान के स्वामी का नाम शिव है। इस प्रकार लोकपाल आठ हैं और ये लोग अपने प्रभाव से सृष्टि का पालन करते हैं। उसी प्रकार श्रीअनन्तानन्दजी के प्रमुख शिष्य, जिनका छप्पय में वर्णन किया गया है, आठ हैं और शिक्षा- दीक्षादि सदुपदेश देकर अपने भक्ति के प्रताप से सम्पूर्ण लोक का पालन करने वाले हुए।

मेहा मंगल तन-देखिये छप्पय २८-मध्वाचारज मेघ०। 'रघुवर-यदुवर गाइ'- यदि यहाँ कोई शङ्का करे कि ये श्रीरामभक्त होकर 'यदुवर -श्रीकृष्ण' का गुण कैसे गाये? तो इसका समाधान यह है कि तत्वतः श्रीराम-कृष्ण एक ही हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णन आया है कि जब स्यमन्तकमणि को खोजते हुए श्रीकृष्ण श्रीजाम्बवानजी की गुहा में प्रवेश किये और वहाँ पर उनसे घोर-संग्राम हुआ। तब श्रीकृष्ण के घूसे से विकल होने पर श्रीजाम्बवानजी

ने तुरन्त पहचान लिया था कि यह तो भगवान हैं। बिना भगवान के हमें कोई शिथिल करने वाला नहीं है। उसी समय उनको पूर्व वरदान की भी याद आ गई, जो त्रेतायुग में श्रीराम ने दिया था, अतः निश्चय हो गया कि मेरे प्रभु श्रीराम ही मेरे युद्ध के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए इस समय श्रीकृष्णरूप में यहाँ उपस्थित हुए हैं। अतः श्रीजाम्बवानजी ने हाथ-जोड़कर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए (भा० १०।५६।२८ में) कहा-

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिंगिलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिताच लङ्का रक्षः शिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि।।

अर्थ-प्रभो! मुझे स्मरण है, आपने अपने नेत्रों में तनिक-सा क्रोध का भाव लेकर तिरछी दृष्टि से समुद्र की ओर देखा था। उस समय समुद्र के अन्दर रहने वाले बड़े-बड़े नाक (घड़ियाल) और मगरमच्छ क्षुब्ध हो गये थे और तब समुद्र ने आपको मार्ग दिया था। तब आपने उस पर सेतु बाँधकर सुन्दर यश की स्थापना की तथा लङ्का का विध्वंस किया। आपके बाणों से कट-कटकर राक्षसों के सिर पृथ्वी पर लोट रहे थे। अवश्य ही आप मेरे वे ही 'श्रीरामजी' श्रीकृष्ण के रूप में आये हैं। श्रीहनुमानजी को श्रीद्वारकानाथजी ने श्रीरामरूप में दर्शन दिया था। (देखिये श्रीहनुमत्प्रसङ्ग) श्रीविल्वमङ्गलजी के लिए श्रीराम ने श्रीकृष्णरूप धारण किया था। यथा-

विहाय कोदण्ड शरौ मुहूर्त गृहाण पाणौ मणिचारुवेणुम्।
मयूरबर्हं च निजोत्तमांगे सीतापते राघव रामचन्द्र।।

(श्रीकृष्णकर्णामृत)

श्रीतुलसीदासजी के लिए प्रसिद्ध ही हैं कि-

दो०- मुरली लकुट दुराय के, धर्‌यो धनुष सर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की, कृष्ण भये रघुनाथ।।

श्रीनारायणस्वामीजी कहते हैं कि-

नन्द सुवन दशरथ कुँवर, उभै एक सरकार।
नारायण जो दो कहैं, सो अविवेक विचार।।

दृष्टान्त दो सन्तों का

दो सन्त साथ-साथ तीर्थयात्रा कर रहे थे। उनमें से एक तो थे श्रीरामोपासक और दूसरे थे श्रीकृष्णोपासक। विचरते-विचरते दोनों एक पहाड़ी की तराई में पहुँचे। वहाँ

हरी-हरी घास का एक बड़ा विस्तृत मैदान था। उसे देखकर श्रीरामोपासक ने कहा-अहो! कैसी बढ़िया घास है। इसे हमारे रामजी के घोड़े चरेंगे। श्रीकृष्णोपासक ने कहा-नहीं जी, ऐसा कैसे हो सकता है, इसे तो हमारे श्रीगोपालजी की गैया चरेंगी। बस, इसी को लेकर दोनों सन्तों में 'बातहिं बात करष बढ़ि आई।' घोड़ा और गैया का पता नहीं, दोनों आपस में झगड़ गये। परन्तु थे दोनों ही अपने-अपने इष्ट के अनुरागी। अतः भाववश्य भगवान प्रगट हो गये। एक ही भगवान दोनों सन्तों को अपने-अपने इष्ट-स्वरूप में दीखते। यथा-'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।।' (रामा०) प्रभु बोले-भाई, लड़ो मत। आधे में घोड़े चर लेंगे और आधे में गैया। दोनों सन्त प्रसन्न हो गये। कहने का तात्पर्य यह कि श्रीरघुवर और यदुवर तत्वतः एक ही हैं।

श्रीनन्ददासजी कहते हैं कि-

राम कृष्ण कहिये उठि भोर।
अवध ईश वे धनुष धरे हैं ब्रज माखन चोर।।
उनके छत्र चँवर सिंहासन भरत शत्रुहन लछिमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर नित गायन संग नन्दकिशोर।।
उन सागर में सिला तराई इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नन्ददास प्रभु सब तजि भजिये जैसे निरखत चन्द चकोर।।

श्रीभक्तमाल में ऐसे बहुत सन्तों के चरित्र आये हैं जो कि श्रीराम-कृष्ण की साथ-साथ सेवा करते थे। जैसे श्रीआशकरणजी-'सीतापति राधा सुवर भजन नेम कूरम धर्‍यो। मोहन मिश्रित पदकमल आसकरन जस विस्तर्‍यो।।' (छप्पय १७४) श्रीकिशोरसिंहजी-'पाँयनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यौ। राम कलश मन रली शीश ताते नहिं बाँच्यौ।' (छ० १२१) आदि। इन महापुरुषों के अन्तःकरण में भेद नाम की सङ्कीर्णता छू नहीं गई थी। अतः 'रघुवर यदुवर गाइ०।'

विमल कीरति संच्यो धन-इसके दो अर्थ होंगे। १-भगवान की निर्मल कीर्तिरूपी धन का सञ्चय किया। २-स्वकीय निर्मल कीर्तिरूपी धन सञ्चय किया। दूसरे अर्थ में यह आपत्ति हो सकती है कि सन्त तो कीर्ति से दूर रहते हैं यथा-'लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।' (रामा०) फिर इन लोगों ने कीर्ति क्यों कमाई? इसका समाधान यह है कि इन लोगों ने कीर्ति पाने के लिए कोई साधन व प्रयत्न नहीं किया। भगवत् सम्बन्ध

से सहज ही इनका भी निर्मलयश लोक-विख्यात् हो गया। तभी तो कहा है- 'परमारथ अनुसरत ही सहजहिं स्वारथ होय। खेती कीजै नाजको, घास सहज ही होय।।' श्रीराम के साथ-साथ वानर-भालुओं की कीर्ति लोक-विख्यात् हो गई। श्रीरामजी कहते हैं कि- 'मोहिं सहित शुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार सिन्धु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं।।' पुनः-भक्त भगवान की कीर्ति बढ़ाते हैं तो भगवान भक्त की कीर्ति बढ़ाते हैं। यथा-'सन्तत दासन्ह देहिं बड़ाई।' अतः इन महानुभावों की भी जगत् में पवित्र कीर्ति फैली। अतः 'विमल कीरति०।' 'हरिभक्ति सिन्धु बेला रचे'-श्रीअनन्तानन्दजी ने अपने शिष्यों पर ऐसी कृपा की कि वे हरिभक्तिरूपी समुद्र के बेला (मर्यादा) ही हुए। अर्थात् इन महात्माओं से भक्ति की इति है। विशेष देखिये भावार्थ में। 'पानि पद्मजा सिर दये'- यथा-'सिद्ध परम प्रेमी रघुनाथा। सियजू हाथ धरे जिन माथा।।' (रामानन्द यशावली) अब आगे इनका चरित्र वर्णन किया जाता है।

श्रीअनन्तानन्दजी-ये श्रीब्रह्माजी के अवतार थे। यथा-आयुष्मन् कृत्तिकायुक्त पूर्णिमायां धने शनौ। स्वयम्भूः कार्तिकस्याद्धाऽनन्तानन्दो भविष्यति।। (अगस्त्य-संहिता) अर्थ-श्रीअगस्त्यजी कहते हैं कि-कार्तिक मास की पूर्णिमा, कृत्तिका नक्षत्र, धन लग्न, शनिवार को श्रीब्रह्माजी ही श्रीअनन्तानन्दजी के रूप में प्रकट होंगे। 'महाभागवत चरित्र' के अनुसार आपका प्रादुर्भाव श्रीअयोध्या के समीप रामरेखा नदी के तट पर स्थित महेशपुर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम था पण्डित विश्वनाथमणि त्रिपाठी। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। श्रीविश्वनाथमणिजी प्रायः हर पुण्य-पर्वों, उत्सवों पर एवं वैसे भी समय निकालकर श्रीअयोध्या आया करते थे। इसी से इनका नाम अवधू पण्डित भी पड़ गया था।

एक बार श्रीअवधू पण्डित ने रामरेखा और सरयूजी के सङ्गम स्थल पर वाक्सिद्धि के लिए नववर्ष तक श्रीसरस्वतीजी की बड़ी लगन से आराधना की। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीसरस्वतीजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया और इन्हें वाक्सिद्धि का वरदान देने के साथ-साथ यह भी वर दिया कि आपके यहाँ पुत्ररूप में साक्षात् श्रीब्रह्माजी अंशरूप से अवतार लेंगे। इस वरदान के फलस्वरूप वि० सं० १३६३, कार्तिक पूर्णिमा को श्रीअवधू पण्डित के यहाँ एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। जो आगे चलकर श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी के नाम से विख्यात् हुआ। कहते हैं कि माता तो बालक को जन्म देकर ही अन्तर्धान हो गईं और कुछ ही दिन पीछे पिताजी का भी साकेतवास हो गया। तब बालक का पालन-पोषण श्रीअवधू पण्डित के यजमान ग्वालों ने किया। बालक को सब लोग छन्नू कहकर पुकारते थे।

जन्म से ही ग्वाल-बालों के बीच रहने से छन्नू भी अपने को ग्वाल-बाल ही समझते थे। जैसे सब ग्वालों के बालक गैया-बछड़ा चराते थे वैसे ही ये भी वन में गैया-बछड़ा चराने जाया करते थे।

एक दिन छन्नू वन में गायें चरा रहे थे। इतने में एक अत्यन्त सुघर, सलोना-साँवला बालक मधुर-मधुर वंशी बजाते हुए, अपनी गायों को चराते हुए इनके समीप आकर बैठ गया। ये बालक के अलौकिकरूप लावण्य को देखकर तथा वंशीध्वनि सुनकर मुग्ध हो गये। परिचय पूछने पर बालक ने अपना नाम 'सँवरू' बताया। छन्नू और सँवरू में परस्पर मित्रता हो गई। अब नित्यप्रति दिन-भर सङ्ग-सङ्ग गायें चराते। सायंकाल को अपने-अपने घर की राह लेते। छन्नू को मित्र का सङ्ग छोड़कर घर लौटने में बड़ी मानसिक व्यथा होती। मित्र का वियोग व्याप जाता, रात्रि बड़ी मुश्किल से बीतती। आखिर एक दिन छन्नू ने अपनी विरह-व्यथा मित्र सँवरू को सुनाई और आग्रह किया कि-तुम मुझे भी अपने घर लिवा ले चलो। तुम्हारे बिना घर पर मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता, मैं तुम्हें छोड़कर जाने में सर्वथा असमर्थ हूँ। सँवरू ने मित्र छन्नू का अनुरोध स्वीकार कर लिया और कहा कि यदि मेरे साथ मेरे घर पर चलना है तो आँखें बन्द करो। छन्नू ने वैसा ही किया और एकक्षण भी नहीं लगा, भगवान के नित्य-विहार स्थल श्रीगोवर्धनगिरि पर पहुँच गये। बात यह थी कि सँवरू कोई और नहीं, वह तो साक्षात् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही हैं। भगवान के संकेत से श्रीललिता, विशाखा आदि सखियों ने छन्नू का बड़ा सत्कार किया। भगवान ने कृपाकर छन्नू को अपनी विविध-लीलाओं का दर्शन कराया। जब वत्सहरण लीला का प्रसङ्ग आया तो छन्नू को अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होने लगा। अतः वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और जब नेत्र खुले तो उन्होंने अपने को घर के पास जङ्गल में पड़ा पाया।

उधर पण्डित श्यामकिशोरजी नाम के एक विद्वान्, भगवद्भक्त ब्राह्मण को ध्यानावस्था में भगवान ने आज्ञा दी कि वन में अपने मित्र सँवरू के वियोग में व्याकुल, श्रीब्रह्माजी के अंश से उत्पन्न छन्नू नाम के बालक को घर पर लाकर उसका पुत्रवत् पालन-पोषण करो और पढ़ाओ-लिखाओ। पं० श्रीश्यामकिशोरजी भगवान के संकेतानुसार छन्नू को दुलार-पुचकार कर, मित्र से मिलाने का आश्वासन देकर घर पर लिवा लाये। उन दिनों यवनों का बड़ा प्रबल अत्याचार हो रहा था। पं० श्यामकिशोरजी उनके उपद्रवों से अब घर छोड़कर काशीपुरी चले गये। उनके सन्तान तो कोई थी नहीं अतः सम्पूर्ण वात्सल्य छन्नू पर उड़ेलते

हुए बड़े मनोयोग से वेदादि का अध्ययन कराने लगे। भला जिनके चारों-मुखों से चारों-वेदों का प्रकाश हुआ है, उनका वेदाध्ययन कैसा? यह तो विनोदमात्र है। थोड़े ही दिनों में बालक छन्नू काशी के प्रसिद्ध वैदिक पण्डित छन्नूलाल के नाम से विख्यात हो गये। अपना कर्तव्य पूर्णकर पं० श्यामकिशोरजी भगवद्धाम को चले गये। पं० छन्नूलालजी निरन्तर शास्त्रचिन्तन एवं शिवाराधन में लगे रहते।

एक बार महाशिवरात्रि की रात्रि में श्रीविश्वनाथजी के मन्दिर में जागरण करते हुए श्रीछन्नूलाल को श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की शङ्खध्वनि सुनाई पड़ी। आपको वह अलौकिक शङ्खध्वनि उस वंशीध्वनि-सी प्रतीत हुई जो आपने बाल्यकाल में अपने मित्र सँवरू से सुनी थी। परिणाम यह हुआ कि आप पुनः उसी विरह दशा को प्राप्त हो गये जैसी पहले मित्र सँवरू के वियोग में हुई थी। लोगों से शङ्खध्वनि का पता पूछकर विश्वनाथ मन्दिर से सीधे पंचगङ्गा घाट श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के आश्रम पर आये और श्रीस्वामीजी का दर्शनकर ऐसे प्रभावित हुए कि फिर लौटकर घर गये ही नहीं। इनकी वैराग्यवृत्ति की परीक्षा के लिए श्रीआचार्यपाद ने इन्हें स्थान में बुहारी लगाने की सेवा सौंपी। वेद-वेदान्त के धुरन्धर विद्वान् श्रीछन्नूलालजी अपने पाण्डित्य एवं प्रतिष्ठा के अभिमान को तिलांजलि देकर, घर-द्वार, सुख-सम्पत्ति को तृणवत् त्यागकर बड़े प्रसन्न मन से आश्रम में सोहनी की सेवा करते और श्रीमदाचार्यचरण का दर्शनकर अपने को कृतार्थ मानते। पूरे एक वर्ष तक इस प्रकार सेवा में तत्पर देखकर, परीक्षा में उत्तीर्ण समझकर श्रीमदाचार्यपाद यतिराज सार्वभौम श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने इन्हें वैष्णव पंच-संस्कारपूर्वक श्रीराममन्त्र की दीक्षा देकर इनका नाम रखा-श्रीअनन्तानन्दजी। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के शिष्यों में ये पट्ट शिष्य थे। श्रीगुरुरूप में साक्षात् भगवान श्रीराम को ही पाकर इनके आनन्द की सीमा नहीं रही। दीक्षा के बाद तो आश्रम का समस्त दायित्व भगवद्-भागवत आराधन (पूजा-रसोई) आगुन्तकों का आदर-सत्कार और जिज्ञासुओं का समुचित समाधान आदि सभी कार्य इनके ही ऊपर आ गये।

एक बार धवलगिरि निवासी परमसिद्ध योगी श्रीकृपाशङ्करजी अपनी सिद्धों की जमात लेकर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी का दर्शन करने एवं प्रभाव देखने आकाश मार्ग से काशीपुरी आये। उस समय श्रीआचार्यपाद समाधिस्थ थे। ये लोग आश्रम के ऊपर आकाश में मँडराने लगे। जब श्रीअनन्तानन्दजी ने देखा कि योगी आकाश मार्ग से आकर ऊपर अधर में ही खड़े हैं तो ये भी योगबल से आकाश में जाकर सत्कारार्थ अधर में ही आसन बिछा

दिये। जब योगी लोग बैठ गये तो चूँकि गर्मी के दिन थे अतः तत्काल श्रीठाकुरजी को शर्बत का भोग लगाकर आकाश में ही योगियों को शर्बत पिलाये। धूप बड़ी तेज थी, दर्शन में विलम्ब था, योगी लोग तप्त हो रहे थे, अतः श्रीअनन्तानन्दजी ने एक वस्त्र ऊपर फेंक दिया। वह आकाश में चँदोवा की तरह तन गया। उससे योगियों पर छाया हो गई। यह सब चमत्कार देखकर योगी लोग चकित हो गये और आपस में कहने लगे कि जैसा सुयश सुनने को मिला था। उससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष देखा। जब श्रीस्वामीजी के शिष्य ऐसे प्रतापी हैं तो उनकी महिमा का तो कहना ही क्या है? आश्रमवासी भी श्रीअनन्तानन्दजी का यह अद्भुत प्रभाव देखकर विस्मित हो रहे थे। तत्पश्चात् योगी लोगों ने श्रीआचार्यपाद का दर्शनकर परमआनन्द पाया और कुछ देर तक सत्सङ्ग करके फिर आकाश मार्ग से ही वे लोग अपने स्थान को चले गये।

एक बार काश्मीर के एक दिग्विजयी पण्डित ने काशीपुरी में आकर पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। कई पण्डितों ने साहस करके शास्त्रार्थ किया तो उन सबको हारना ही पड़ा। तब सब काशी के विद्वान् मिलकर श्रीअनन्तानन्दजी के पास गये और अपनी तथा काशीपुरी की लाज बचाने की प्रार्थना की। श्रीअनन्तानन्दजी ने कहा-हम साधु शास्त्रार्थ से तो दूर रहते हैं, हाँ पण्डितजी आयेंगे तो यथा-सम्भव उनको सदुपदेश अवश्य देंगे। तब काशी के विद्वानों ने काश्मीरी पण्डित से आकर कहा-हम सबमें सबसे बड़े विद्वान् श्रीअनन्तानन्दजी हैं। आप उनके पास श्रीरामानन्द मठ पर जाइये। यदि वे हार गये तो हम सब अपनी पराजय स्वीकार कर लेंगे। वे पण्डितजी आश्रम पर आये। यद्यपि श्रीअनन्तानन्दजी की शास्त्रार्थ की कोई रुचि नहीं थी। परन्तु पण्डित का हठ देखकर शास्त्रार्थ करना ही पड़ा। आखिर वैष्णव-विवेक के सामने दिग्विजयी पण्डित को हारना पड़ा। श्रीअनन्तानन्दजी से मन्त्र-दीक्षा लेकर आश्रम में ही रहकर भजन-साधन करने लगे।

एक बार अशौच के कारण, जिस ग्वाले के यहाँ से नित्य-प्रति श्रीठाकुरजी के भोग के लिए दूध आया करता था, नहीं आया तब श्रीअनन्तानन्दजी ने अपने बाल-मित्र 'सँवरू' का स्मरण किया। सँवरू तत्काल दूध लेकर आ पहुँचे। इस प्रकार के आपके अनेकों अलौकिक चरित्र हैं। आपके सम्बन्ध में स्वामी श्रीयुगलप्रियाशरणजी महाराज लिखते हैं कि-

रामानन्द स्वामी जू के शिष्य श्रीअनन्तानन्द शीतल सुचन्दन से भक्तन आनन्द कर।
सन्तन के मानद परमानन्द मगन मन मानसी स्वरूप छबि सरसी मरालवर।।

जनकलली की कृपापात्र चारुशीला अली रूप में अभिन्न भुंजैं रंगभूमि लीला पर।
ऊपर समाधि उर अमित अगाध नैन अँसुवा श्रवत उमगत मानो सुधा सर।।
(रसिकप्रकाश)

शिशुपन धेनु चराइ कृष्ण संग बहु सुख लूटे।
पढ़ि श्रुति शास्त्र पुराण सु श्रीमठ गुरुपद जूटे।।
त्याग विराग प्रचारि धर्म हरिभक्ति दृढ़ायो।
जेहि सिर दिय कर-कमल लोकपति सदृश बनायो।।
हरिभक्ति सिन्धु बेला रच्यौ श्रौत ज्ञान हरि प्रीतिनद।
आचार्य अनन्तानन्द विधि सुमिरि लहै रघुनाथ पद।। **(भ०भा०)**

श्रीयोगानन्दजी

ये श्रीकपिलदेवजी के अवतार थे। यथा-वैशाख कृष्णसप्तम्यां मूले परिघसंयुते। बुधे कर्केऽथ कपिलो योगानन्दो जनिष्यति।। (अगस्त्य-संहिता) गुजरात प्रान्त के सिद्धपुर क्षेत्र में एक मणिशङ्कर नाम के परमयशस्वी वैदिक ब्राह्मण निवास करते थे। उन्होंने पुत्र की कामना से भगवान सूर्य की आराधना की थी। सूर्य भगवान ने प्रकट होकर उनको एक दिव्य-फल प्रदान किया और आज्ञा दी कि पति-पत्नी-तुम दोनों इसे आधा-आधा खा लेना। इसके प्रभाव से दिव्य-सन्तान होगी। श्रीमणिशङ्करजी ने ऐसा ही किया। फलस्वरूप वि०सं०१४५७ वैशाखकृष्ण, सप्तमी, बुधवार, मूल-नक्षत्र, परिघयोग, कर्क लग्न में उनके घर सांख्ययोग के आचार्य श्रीकपिल भगवान ही पुत्ररूप में प्रकट हुए। चूँकि बालक का जन्म मूल-नक्षत्र में हुआ था अतः विद्वान् ज्योतिषियों ने एक वर्ष तक पिताको पुत्र का मुख देखने का निषेध किया। द्विजश्रेष्ठ श्रीमणिशङ्करजी ने एक वर्ष का यह समय तीर्थयात्रा में पूरा किया। बालक का नाम यज्ञेशदत्त रखा गया। बालक यज्ञेश दीपक की लौ को देखता तो टकटकी लगाकर देखता ही रहता। जब घर के लोगों ने यह बात श्रीध्यानदेवजी नाम के एक परम ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध सन्त से निवेदन किया तो उन्होंने कहा कि तुम लोग इसकी चिन्ता मत करो, यह तो कोई अवतारी बालक है। पूर्वजन्म का इसे ध्यान का अभ्यास है। वही इस जन्म में भी बना हुआ है। चार साल के बाद यज्ञेश दीपक को देखना छोड़कर सहज ही सदा अर्धनिमीलित नेत्रों से रहने लगा। माता-पिता ने बहुत दवा-दारू, झाड़-फूँक भी करवाई, परन्तु बालक की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

एक दिन बगीचे में सन्तों की जमात टिकी हुई थी। अपने माता-पिता के साथ यज्ञेश भी सन्तों का दर्शन करने गये। उस बालक यज्ञेश ने पूरा नेत्र खोलकर सन्तों का दर्शन किया। तबसे नेत्रों का खुलना बन्द होना अपनी स्वाभाविकी गति से होने लगा। नौ साल की अवस्था में यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और पण्डित श्रीश्रीनाथजी की कर्मकाण्ड की पाठशाला में जाकर विद्याध्ययन करने लगे, यज्ञेश की विलक्षण प्रतिभा को देखकर श्रीश्रीनाथजी ने काशी जाकर पढ़ने की सलाह दी। गुरु का उपदेश शिरोधार्य कर यज्ञेशदत्त काशी आकर श्रीनारायणभट्टजी की पाठशाला में न्याय-वेदान्त आदि का अध्ययन करने लगे। यज्ञेश की योग्यता पर मुग्ध होकर काशी के ही एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण ने उनसे अपनी सुशीला कन्या का विवाह कर दिया और अपनी सब सम्पत्ति भी इनको सौंप दी। कुछ ही दिनों बाद यज्ञेशजी की काशी के प्रमुख विद्वानों में गिनती होने लगी। अध्ययन पूर्ण होने पर ये योग का अभ्यास करने लगे। योग मार्ग में भी इन्हें अद्‌भुत सफलता मिली। समाधि-सिद्धि होने पर इन्होंने तीन लम्बी समाधियाँ लगाईं। एक १३ महीन की रही, दूसरी ८ महीने की एवं तीसरी १७ महीने की रही। बहुत-सी यौगिक- सिद्धियाँ भी मिल गईं थीं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि इन्होंने अपने घर में रहकर सब साधन-सिद्धि की थी। इसका प्रधान कारण एक तो इनकी एकान्तिक निष्ठा थी, दूसरे इनकी पतिप्राणा पत्नी का सात्विक सहयोग। सती-साध्वी, पतिव्रता पत्नी को पाकर इनका गार्हस्थ जीवन भी पूर्ण सुखमय था। पति-पत्नी दोनों परस्पर सन्तुष्ट थे।

एक दिन श्रीयज्ञेशदत्तजी किसी आवश्यक कार्यवश श्रीगङ्गा के उस पार जा रहे थे। पत्नी ने पूछा लौटेंगे कब? इन्होंने विनोद में हँसकर कहा—पार जाकर लौटना क्या? अब हम नहीं लौटेंगे। यह कहकर ये चले गये। पत्नी ने दिन-भर पति की प्रतीक्षा की। सायंकाल हुआ, रात्रि हो गई, परन्तु नहीं आये। बात यह हुई कि एक सन्त के यहाँ सत्सङ्ग होने लगा, अतः आने की सुधि नहीं रही। इधर पत्नी ने पूर्वोक्त कथन को सत्य मानकर पति-विरह में शरीर छोड़ दिया। जब ये घर पर आये तो पत्नी को प्राणहीन देखकर बहुत दुःखी हुए। परन्तु 'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गईं खेत।' इन्होंने मन को समझा-बुझाकर पत्नी की अन्त्येष्टि क्रिया की और उसके आत्मा की शान्ति के लिए अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिया। यह सब कर-कराके ये उदास-मन श्रीविश्वनाथजी का दर्शन करने गये तो भगवान शिवजी ने आज्ञा दी कि तुम शोक छोड़कर श्रीरामानन्दाचार्यजी की शरण ग्रहण करो। तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। फिर तो ये वहीं से सीधे आश्रम को चल दिये और वहाँ पहुँचकर अपना समस्त वृत्तान्त निवेदन किये।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने परदे के भीतर से आज्ञा दी कि सौ-घड़ी (४० घण्टे) तक एक पैर से खड़े होकर श्रीराम नाम जपो। सावधान! पैर लड़खड़ाने न पावे। इसके बाद तुम्हें मन्त्र-दीक्षा दी जावेगी। श्रीस्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य करके ये एक पैर से खड़े होकर श्रीराम नाम का जप करने लगे। नियत-समय पूर्ण होने वाला था कि इनके पाँव शिथिल होकर डगमगाने लगे तो श्रीअनन्तानन्दजी ने इन्हें सँभाल लिया। निश्चित समय पर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने दर्शन दिया। ये 'त्राहि माम पाहि माम' कहते हुए चरणों में गिर पड़े। श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक वैष्णव-पंचसंस्कार कर श्रीराम-मन्त्र का उपदेश दिया और आज्ञा दी कि जिनने तुमको गिरने से बचाया है, उनमें सद्गुरुभाव करके उनसे शिक्षा ग्रहण करो तथा श्रीस्वामीजी ने श्रीअनन्तानन्दजी से भी कहा कि इन्हें परमतत्व का ज्ञानामृत पान कराओ। दीक्षित होने पर श्रीयज्ञेशदत्तजी का नाम पड़ा—योगानन्दजी। श्रीअनन्तानन्दजी ने इन्हें बड़े अनुरागपूर्वक उपासना रहस्य एवं श्रीस्वामीजी के द्वारा रचे हुए प्रस्थानत्रय पर आनन्दभाष्य का बोध भी कराया।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की दिग्विजय यात्रा में ये भगवान श्रीराघवेन्द्र सरकार की सेवा करते थे। जब श्रीस्वामीजी की पालकी चलती तो ये श्रीठाकुरजी का सिंहासन अपने मस्तक पर विराजमान करके पालकी के आगे-आगे उलटे पैरों चलते। उस समय इनकी ऐसी शोभा होती जैसे भगवान भास्कर (सूर्य) के आगे बालखिल्य ऋषि चल रहे हों। जब श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी अपने प्रिय-शिष्य, गागरौनगढ़ के राजा श्रीपीपाजी के यहाँ गये हुए थे और श्रीपीपाजी ने समस्त राज-पाट छोड़कर श्रीस्वामीजी के साथ चलने को प्रस्तुत हो गये थे। उस समय उनकी छोटी रानी श्रीसीता सहचरीजी भी साथ लग गईं थीं। श्रीपीपाजी ने उनकी परीक्षा के लिए उन्हें कम्बल के टुकड़े पहनने को दिये थे। रानीजी ने उन्हें सहर्ष धारणकर लिया था। रानी की यह अद्भुत निष्ठा देखकर श्रीयोगानन्दजी ने उनके कम्बल के टुकड़ों को अपने योगबल से रेशमी वस्त्र बना दिया था। श्रीजगदीशपुरी में श्रीस्वामीजी ने चन्दन तालाब का जीर्णोद्धार कराया। परन्तु उसमें जल तो था नहीं। तब श्रीयोगानन्दजी ने अपने सिद्धिबल से सरोवर को लबालब भर दिया था। विजयनगर में अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हुए शैव-वैष्णव विरोध को इन्होंने अपनी शास्त्रीय युक्तियों एवं सिद्धि बल से शान्त किया था। श्रीधाम वृन्दावन में साक्षात् श्रीश्रीजी ने इन्हें दूध दिया था। जिसे पीकर प्रेमोन्मत्त होकर ये बहुत दिन तक श्रीवृन्दावन में विचरते रहे। इस प्रकार की अनेकों चमत्कारपूर्ण घटनायें आपके जीवन में घटित हुईं। जीवन के अन्तिम दिनों में ये

गङ्गासागर सङ्गम पर निवास करते हुए भक्ति-प्रचार कार्य करते रहे एवं प्रकारेण सम्यक्रीत्या अपने अवतार का कार्य पूर्ण करके ये अपने आदिरूप श्रीकपिलदेव भगवान के श्रीविग्रह में विलीन हो गये।

श्रीगुरुपद रज सेइ सकल शास्त्रन मथि लीन्हे।
विजय नगर महँ जाइ चरक कहँ विजय जु कीन्हे।।
श्रीरङ्गम् पुरि जाइ वाद करि बरबर जीत्यौ।
चित्रकूट ब्रज अवध अनन्दहिं बहु दिन बीत्यौ।।
गुर्जर धर्म प्रचार करि कलिहिं धर्म सह जिन जये।
योग सुपथ उद्धार हित योगानन्द कपिल भये।। **(भ०भा०)**

श्रीयोगानन्दजी के उपदेश—

प्रीति कीजिये राम सों जिमि पतिवरता नारि।।
जिमि पतिवरता नारि न कछु मन में अभिलाषै।
तैसेइ भक्त अनन्य टेक चातक ज्यौं राखै।।
रामरूप रस त्यागि विषय रस स्वाद न चाखै।
योगानन्द सुजान आनको नाम न भाखै।।
नेकहिं में व्रत नासई आनकि ओर निहारि।
प्रीति कीजिये राम सों जिमि पतिवरता नारि।।१।।
रघुनन्दन की झलक लखि भूलि जात सब जोग।।
भूलि जात सब जोग लगै जब राम नयन सर।
पुण्य पाप सब जरै बढ़ै उर विरह निरन्तर।।
कोटि वर्ष तप करै विरह छिनको बढ़ि तासों।
योगानन्द बिन मीत हृदय की कहिये कासों।।
प्रेम रंग जेहि अंग लगै ताहि सुहात न भोग।
रघुनन्दन की झलक लखि भूलि जात सब जोग।।२।।

श्रीगयेशजी

ये श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी के शिष्य थे। निरन्तर भक्तिरस में सराबोर श्रीगयेशजी भगवान का नाम-गुण-कीर्तन करते हुए विचरते रहते थे। एकबार ये घूमते-फिरते किसी गाँव के समीप एक सूखे इमली के वृक्ष के नीचे बढ़िया स्वच्छ, समतल भूमि देखकर बैठकर

भगवान का ध्यान करने लगे। उसी समय उस गाँव का ही रहने वाला एक सिद्ध सेवड़ा (जैनी-साधु) आकर इनका उपहास करने लगा। उस मार्ग से कोई जाता—उसे बुलाकर कहता—कहो भाई! तुम्हें मालूम है-यह महात्मा यहाँ क्यों बैठे हैं? वह कहता—मैं तो नहीं जानता। तब वह सेवड़ा कहता—अरे, यह बड़े सिद्ध महात्मा हैं। यह इस सूखी इमली को हरी करने के लिए यहाँ समाधि लगाये हैं। जब तक इमली हरी नहीं हो जायेगी तब तक ये नहीं उठेंगे। तुम लोग सिद्धजी का दर्शन करो। ऐसे ही अनेकों व्यङ्ग वचन कहता। श्रीगयेशजी तो ध्यानमग्न थे। परन्तु उनके आराध्य भगवान श्रीसीतारामजी को अपने भक्त का उपहास नहीं सहा गया। प्रभु ने भक्त का विरद बढ़ाने के लिए सचमुच देखते-देखते उस ठूँठ इमली के वृक्ष को एकदम हरा-भरा कर दिया। फिर क्या था सन्त का प्रभाव देखकर गाँव के लोगों का ताँता लग गया—श्रीगयेशजी का दर्शन करने के लिए। सब लोग बड़ी श्रद्धा से अपनी शक्ति के अनुसार भेंट-पूजा की सामग्री लाते, दण्डवत्-प्रणाम करते जय-जयकार करते और परम आनन्दित होते। श्रीगयेशजी के इस बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर सेवड़ा को बड़ी ईर्ष्या हुई। कहाँ तो वह इनका उपहास करके इनके प्रभाव को उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा था, कहाँ उसे अपना ही प्रभाव उखड़ते नजर आने लगा। तब उसने अपने गुरु की आज्ञा लेकर श्रीगयेशजी के ऊपर मूठ (मारण प्रयोग) चलाया। परन्तु भला भगवद् भक्तों के ऊपर इन तुच्छ तन्त्र-मन्त्रों का प्रभाव ही कैसे पड़ सकता है? मूठ श्रीगयेशजी का तो कुछ बिगाड़ नहीं सकी, उल्टे जाकर उसने सेवड़ा के गुरु को ही मार डाला। तब सेवड़ा की आँखें खुलीं वह रोता-बिलखता हुआ आकर श्रीगयेशजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिए क्षमा-याचना करने लगा। कोमलचित्त सन्त श्रीगयेशजी ने कृपाकर उसे पुनः जीवित कर दिया। इससे इनका यश और भी बढ़ा असंख्यों लोग आ-आकर आपके शिष्य हो गये। इस प्रकार वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए ये सदा विचरते रहते थे।

श्रीकर्मचन्दजी

राजस्थान के देवासा ग्राम में एक धनचन्द नाम के वैश्य रहते थे। वह तो स्वभाव से बड़े ही कृपण थे, परन्तु उनकी पत्नी बड़ी उदार-हृदया एवं साधु-सेविका थीं। धनचन्द के लाख विरोध करने पर भी वह भागवती मुक्तहस्त से धन खर्च करती रहती थीं। भगवान की कृपा से घर में सम्पत्ति अपार थी, अतः धनचन्द सब खर्च बर्दाश्त कर जाते थे। लेकिन उनका साधु-सन्तों में सद्भाव बिल्कुल नहीं था और उसका प्रधान कारण यह था कि पत्नी के सन्त-सेवा करने पर भी उसके जो सन्तान होती, वह कुछ ही दिन जीकर मर-मर जाती।

अतः उनकी सन्त-सेवा व्यर्थ-सी प्रतीत होती। इसी बीच एक नास्तिक ब्राह्मण से उन्होंने अपनी सन्तान हानि का दुःख कहा तो उस अज्ञानी ने उनको और भड़का दिया कि भला इन भिखमङ्गों की सेवा से कभी सुख मिल सकता है। निश्चय समझो, जब तक तुम्हारे घर पर इनका स्वागत-सत्कार होता रहेगा तब तक स्वप्न में भी सुख नहीं मिलने का। अभी क्या? अभी तो बच्चे ही मरते हैं यदि ऐसा ही रहा तो तुम दोनों भी शीघ्र काल-कवलित हो जाओगे। यह सुनकर धनचन्द का हृदय काँप उठा। उन्होंने बहुत कड़ाई के साथ पत्नी को साधु-सेवा से विरत करना चाहा परन्तु वह तो अपनी निष्ठा में सुमेरुगिरि की तरह अडिग बनी रही। बल्कि वह और भी अधिक भावपूर्वक सन्त-सेवा में लग गईं। आखिर धनचन्द ने एक दिन अत्यन्त रोष में भरकर कहा कि यदि अबकी बार सन्तान जीवित नहीं रही तो मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। पत्नी सब सुन लेती, सह लेती, परन्तु सन्त-सेवा नहीं छोड़ती।

भगवान की बड़ी विचित्र लीला है और बार तो पुत्र कुछ दिन जीवित भी रहते, परन्तु इस बार तो छठी भी नहीं हुई और वह चल बसा। धनचन्द तो एकदम पागल हो गया। उसने निश्चय कर लिया कि आज पुत्र और पत्नी-दोनों को साथ ही श्मशान ले जाऊँगा। पत्नी ने पति का रुख समझ लिया। उसे अपने मरने का किञ्चित्मात्र भी दुःख नहीं था। दुःख इस बात का हो रहा था कि आज भक्ति, भक्त और भगवान के विरद में बट्टा लग रहा है। लोग यही कहेंगे कि सचमुच भक्ति-भाव में कुछ धरा नहीं है, केवल ढकोसलामात्र है, अतः वह भागवती अत्यन्त आर्त होकर भगवान से प्रार्थना करने लगीं। सामने पुत्र का शव पड़ा हुआ है और पत्नी इस अवस्था में भी भगवान से प्रार्थना कर रही है। यह देखकर धनचन्द आग-बबूला हो गये और पत्नी का केश पकड़कर खींचने ही वाले थे कि एक आदमी ने आकर कहा कि गाँव में श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य के पट्टशिष्य श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी आये हुए हैं। ये बड़े सिद्ध-सन्त हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं। यदि आप लोग उनसे अपना दुःख निवेदन करें तो उनकी कृपा से बालक पुनः जी सकता है। दुःख सागर में डूबती धनचन्द की पत्नी को मानो पोत (जहाज) मिल गया हो। वह तत्काल दौड़ी हुई गईं और श्रीअनन्तानन्दजी के चरणों में पड़कर अपने मन की व्यथा कह सुनाई। भागवती का दुःख दूर करने के लिए श्रीअनन्तानन्दजी धनचन्द के घर आये और सन्तों का चरणोदक मृतक बालक के मुख में डालकर सन्त-भगवन्त का जयघोष किये। बालक जीवित हो गया। पत्नी सन्तचरण में नतमस्तक थी। धनचन्द को अपने कृत्यों पर अत्यन्त पश्चात्ताप हो

रहा था। श्रीअनन्तानन्दजी ने दोनों को भगवद्भक्ति का उपदेश दिया। बालक का नाम रखा कर्मचन्द और उसी दिन गले में कण्ठी बाँधकर उसे श्रीराम नाम का उपदेश भी दे दिया।

सन्त कृपा से प्राप्त जीवन कर्मचन्दजी में भक्ति के शुभ-संस्कार बचपन से ही प्रकट दीखने लगे। द्वार पर कोई सन्त आ जाते तो ये बड़े प्रेम से प्रणाम करते और उनसे भगवान की कथा सुनते। भगवच्चरित्र श्रवण करते हुए बालक कर्मचन्द के अङ्गों में अश्रु, पुलकादि प्रेम के सात्त्विक अनुभाव प्रकट दिखाई देने लगते। यह देखकर सन्त समझ जाते कि यह तो कोई शुभ-संस्कारी बालक है। ये सन्तों का खूब सत्कार करते। सन्त जो कुछ माँगते, उन्हें स्वयं देते और अपनी माताजी से कहकर दिलाते। माता अपने साधु-बेटा की हर-अभिलाषा को पूर्ण करतीं। पिता धनचन्द अब सन्त-सेवा में कोई रोक तो नहीं लगाते, सेवा में जैसा औदार्य अपेक्षित है, वैसा उनको प्राप्त नहीं था। अतः कभी-कभी खीझ उठते। एक दिन कर्मचन्दजी अपने कपड़े की दुकान पर बैठे थे। धनचन्द कहीं गये हुए थे। सन्तों की जमात आई। जमात के महन्त ने आकर कर्मचन्द से कहा—हम लोग अमरनाथ की यात्रा करने जा रहे हैं। हमारे सङ्ग में कुछ साधुओं के पास शीत-निवारण का पर्याप्त साधन नहीं है। यदि हो सके तो तुम उनकी व्यवस्था करके पुण्य के भागी बनो। श्रीकर्मचन्दजी ने महन्त के निर्देशानुसार साधुओं को बढ़िया कम्बल भेंट किये। पड़ोस के एक दुकानदार ने धनचन्द से जाकर यह सब बात कही। धनचन्द दौड़ा-दौड़ा गया और सन्तों को लौटा लाया। उसका कहना था कि आप लोगों ने मेरे बालक को भुलावा देकर उससे जो कम्बल लिए हैं, उसे वापस करें। जब कर्मचन्दजी ने यह सुना तो उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ। उन्होंने पिता से कहा—पहले आप दुकान के कम्बलों को देखिये। यदि आपके कम्बल गिनती में एक भी कम हों तो सन्तों से वापस लाने की बात करें। धनचन्द ने गिनती किया तो स्टाक में कम्बल पूरे निकले। कर्मचन्द ने पिता के अभद्र व्यवहार के लिए सन्तों से क्षमा-याचना की।

माता-पिता के परलोकवासी होने पर कर्मचन्दजी खुले हाथ सन्त-सेवा करने लगे। धन का पानी की तरह से बहाना, कर्मचन्द की पत्नी को अच्छा नहीं लगता था अतः वह कभी-कभी इन्हें रोकने की चेष्टा करती। एक दिन सन्तों की बहुत-बड़ी जमात गाँव में आई। श्रीकर्मचन्दजी ने उनके भोजनादि की समस्त व्यवस्था अपनी ओर से की। पत्नी को यह बहुत ही अप्रिय लगा वह पति से कलह करने लगी कि आप इन भिक्षुकों को सब सम्पत्ति लुटा-

लुटाकर स्वयं भिक्षुक बनाना चाहते हैं, यह उचित नहीं। इन्होंने समझाने का प्रयत्न किया कि—

दो०— तुलसी पंछिन के पिये, घटे न सरिता नीर।
धरम किये धन ना घटे, जो सहाय रघुबीर।।

परन्तु भला इतना जल्दी उसे कब विश्वास होने लगा। तब श्रीकर्मचन्दजी ने आकाश की ओर दृष्टि करके भगवान का ध्यान किया। उसी समय एक दिव्य-पुरुष अपने तेज से सभी दिशाओं को दीप्त करते हुए पृथ्वी पर प्रकट हुआ। उनकी पत्नी ने देखा कि वह पुरुष पृथ्वी पर आते-आते एक पहाड़ रूप हो गया और उसकी कन्दराओं में अनेक बहुमूल्य मणिरत्न जगमगा रहे हैं। पत्नी को पति के वचनों में दृढ़-विश्वास हो गया। उसी दिन से वह भी तन-मन-धन से सन्त-सेवा में जुट गईं। एक पुत्र हो जाने के बाद श्रीकर्मचन्दजी ने गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी से ही विरक्त दीक्ष ले ली। इनका सम्पूर्ण जीवन भगवत-भागवत सेवा में ही व्यतीत हुआ। इनके पुत्र श्रीदिवाकरजी भी परम-भागवत हुए। देखिये छप्पय ७८।

श्रीअल्हजी का चरित्र देखिये छप्पय ५४, कवित्त २४९ में।
श्रीपयोहारीजी का चरित्र देखिये छप्पय ३८ एवं १८५ में।

श्रीसारी-रामदासजी

भक्ति-प्रचार के उद्देश्य से ये प्रायः विचरते रहते थे। एक बार ये घूमते-फिरते श्रीचित्रकूट पहुँचे। वहाँ किसी ने बताया कि इस क्षेत्र में एक त्वर्रा नामक ग्राम है। वहाँ के लोग बड़े ही विमुख हैं। सन्त-भगवन्त में नाम मात्र भी उन लोगों की श्रद्धा नहीं है। यह सुनकर सारी-रामदासजी उसी गाँव में पहुँचे और एक द्वार पर जाकर 'जय सीताराम' की आवाज लगाये। सुनकर गृहस्वामी घर से बाहर आया और उसने इन्हें बहुत ही अवाच्य वचन कहा। इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ तो इन्हें धक्का देकर द्वार से दूरकर दिया और बोला कि यदि गाँव में गये तो खैर नहीं। ये चुपचाप गाँव से निकलकर नदी के किनारे जा बैठे। संयोग की बात, उसी समय वहाँ के राजा का पुत्र मरा। लोग रोते-बिलखते उसका दाह-संस्कार करने के लिए नदी के किनारे वहीं ले गये जहाँ श्रीरामदासजी बैठे थे। लोगों के करुण-क्रन्दन को सुनकर सन्त का हृदय द्रवीभूत हो गया। ये उठकर उन लोगों के पास गये और बोले यदि राजा और प्रजा आज से यह प्रतिज्ञा करें कि हम लोग साधु,

ब्राह्मण अतिथि-अभ्यागतों की यथाशक्ति सेवा करेंगे, भगवान का भजन करेंगे, सबसे सद्भाव रखेंगे, तो मैं भगवान से प्रार्थना करके इस बालक को जीवन-दान दिला सकता हूँ। इतना सुनना था कि सब लोग इनके चरणों में पड़कर बारम्बार प्रार्थना करने लगे और सबने धर्म को साक्षी देकर भगवत्-भागवत सेवा का दृढ़पन लिया। इन्होंने—'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि विनाशनम्। विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' यह मन्त्र कहकर बालक के मुँह में चरणामृत डाला। राजकुमार तुरन्त उठ बैठा। सन्त की महामहिमा के सम्मुख सब लोग नतमस्तक हो गये। तब से वहाँ के लोग सन्त-वैष्णवों का बहुत ही आदर करते हैं। श्रीसारीरामदासजी ने इस प्रकार असंख्यों विमुख जीवों को भगवत् सम्मुख किया।

श्रीरंगजी

द्यौसा एक गाँव तहाँ श्रीरंग सुनाम हुतो बनिक सरावगी की कथा लै बखानिये।
रहतो गुलाम गयो धर्मराज धाम उहाँ भयो बड़ो दूत कही सुनु अरे बानिये।।
आये बनिजारे लैन देख तू दिखावैं चैन बैल शृङ्ग मध्य पैठि मारे पहिचानिये।
बिनु हरिभक्ति सब जगत की यही रीति भयो हरिभक्त श्रीअनन्त पद ध्यानिये।।११७

शब्दार्थ—**सरावगी = जैनी। गुलाम = नौकर। बनिजारे = व्यापारी, बनिया। बड़ो दूत = प्रधान यमदूत। शृङ्ग = सींग। चैन = मौज, कौतुक।**

भावार्थ—**जयपुर प्रान्त में द्यौसा नामक एक ग्राम है, वहाँ श्रीरङ्ग नामक एक सरावगी वैश्य रहते थे। अब यहाँ उनकी कथा का वर्णन करता हूँ। श्रीरङ्गजी के घर में एक नौकर रहता था, वह मर कर धर्मराज के धाम को गया। धर्मराज ने उसे प्रधान यमदूत बना दिया। एक बार वह यमराज की आज्ञा से द्यौसा आया और रङ्गजी के पास जाकर बोला—ए बनिये! सुन। (मैं तुम्हारा नौकर था अब यमदूत बन गया हूँ) इस गाँव के एक बंजारे को लेने आया हूँ। तू देख, मैं तुझे तमाशा दिखाता हूँ। (वह बीमार या मरने वाला नहीं है) मैं उसके बैल के सींगों पर बैठकर उसे मारकर ले जाऊँगा। तब तुम समझ जावोगे कि भगवान की भक्ति के बिना सारे संसार के जीवों की यही गति है। (यमदूत अन्तर्ध्यान हो गया और श्रीरङ्गजी के देखते-देखते उस बनजारे को मारकर ले गया। लोगों ने कहा कि—बैल ने सींग से पेट फाड़कर मार डाला) इस चरित्र को देखकर श्रीरङ्गजी उसी क्षण से भगवान के भक्त बन गये और श्रीअनन्तानन्दजी की शरण में जाकर उनके शिष्य बन गये। सदा गुरु चरणों का ध्यान करने लगे।।११७।।**

व्याख्या—रहतो गुलाम........दूत—**यह गुलाम एक तो जैनी का नौकर था, जहाँ आस्तिकता एवं भगवद्भक्ति का लेश नहीं था। सारा-जीवन ऐसे विमुख के यहाँ बिताया। दूसरे महान् छली, कपटी, विश्वासघाती तथा पर-अपकारी था। शुभ कर्म-धर्म में भूलकर भी इसकी कभी प्रवृत्ति नहीं हुई और इस जन्म में ही नहीं पिछले जन्मों में भी यह अपने दुराचरण के फलस्वरूप कई बार यमपुरी में जाकर दारुण यम-यातना भोग चुका था, परन्तु तब भी इसे ज्ञान नहीं हुआ अतः फिर मर कर यमलोक गया। श्रीधर्मराजजी ने इसको डाँटते-फटकारते हुए महामन्द, महानीच आदि कहा। तब इसने हाथ जोड़कर कहा— महाराज! मुझे नीच कहकर आप हमारा तिरस्कार न करें। अरे, आप धर्म के राजा हैं तो मैं पापों का राजा हूँ। इस प्रकार हम आप बराबर के हुए। फिर मेरी अवज्ञा क्यों? यह कहकर उस गुलाम ने अपने कर्मों का विवरण दिया। यथा—**

जागत के हम पाहरू हैं पुनि सोवत कै गठिया सरकावैं।
खटको न करैं परको धन चोरत दौरत चोर के शोर सुनावैं।।
हमहीं शिर भूत चढ़ाइ सुजाइकै पांइ धुवाइकै प्याइ छुड़ावैं।
याही ते नाथ बरोबर हौं कहु धर्म अधर्म की बात चलावैं।।

श्रीधर्मराजजी यह सुनकर रीझ गये और इसे अपने दूतों का मुखिया बना दिये। क्योंकि इसमें क्रूरता, करालता, निष्ठुरता, निर्दयता की पराकाष्ठा थी जो कि यमदूत के लिए परमावश्यक है।

कही सुन अरे बानिये—**एक बार उस गुलाम को द्यौसा गाँव में ही एक बनजारे को लेने के लिए आना पड़ा तो उसने पहचान लिया कि यह तो मेरा ही गाँव है। फिर उसे अपने मालिक रङ्गजी की याद आई तो विचार किया कि इनको भी चेतावनी देता चलूँ। नहीं तो, यदि ये ऐसे ही दुनियाँदारी में लगे रहे तो फिर इनको भी मेरे हाथ से डण्डे खाने पड़ेंगे, दुर्दशा भोगनी पड़ेगी। यह ठीक नहीं है। क्योंकि मैंने इनका नमक खाया है। अतः वह रंगजी के सामने प्रकट हो गया। इन्होंने पहचानकर कहा कि तू तो मर गया था, फिर यहाँ कैसे आया है? उसने सब बात बताई कि मैं अपने पापों के फलस्वरूप यमलोक को गया और चूँकि मैं महापापी था अतः यमराजजी ने मुझे अपने दूतों का सरदार बना दिया। जैसे जेल में बड़ा अपराध करके आये हुए बड़े कैदी को अन्य कैदियों का जमादार बना देते हैं। मैं तुम्हें चेतावनी देने आया हूँ। शेष जीवन में भगवान का भजन-पूजन कर लो अन्यथा**

तुम्हें भी दारुण-यम-यातना भोगनी पड़ेगी। देखो, मैं अमुक बनजारे को लेने आया हूँ। रङ्गजी ने कहा कि अभी तो वह भला चंगा हमारे यहाँ से ही माल लादकर ले गया है फिर इतनी जल्दी कैसे मरेगा? दूत ने कहा—

देखतूँ दिखावैं चैन—**रङ्गजी ने जाकर देखा—वह बनजारा अपने बैल को खली-भूसा चरा रहा था। बैल बारम्बार सिर हिला रहा था। बनजारे ने रंज में आकर बैल को हाथ से झटकारा। फिर तो बैल ने भी क्रोध में भरकर ऐसा सींग मारा कि उसकी आँतें निकल गईं और वह तुरन्त मर गया क्योंकि यमदूत कालरूप से उस बैल के सींग पर बैठा जो था। श्रीरङ्गजी की आँखे खुल गईं कि 'बिन हरिभक्ति ......रीति'—यथा—**

दो०— सदा नगारा कूचका बाजत आठोयाम। रहिमन या जग आइके, कोकरि रहा मुकाम।।
गहि शरणागति रामकी, भवसागर की नाव। रहिमन जगत उधारकर और न कछु उपाव।।

पद— भजन बिनु बैल बिराने ह्वै हौं।
पाँउ चारि सिर सींग गूँग मुख तब कैसे गुन गैहौं।।
चारि पहर दिन चरत फिरत बन तऊ न पेट अघैहौं।
टूटे कन्ध अरु फूटी नाकनि कौ लौं धौं भुस खैहौं।।
लादत जोतत लकुट बाजिहैं तब कहँ मूड़ दुरैहौं।
सीत घाम घन विपति बहुत विधि भार तरैं मरि जैहौं।।
हरि सन्तन को कह्यौ न मानत कियो आपुनो पैहौं।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जनम गवैहौं।।

पुनः— भजन बिन नर मरघट को भूत।
श्यामा श्याम रटैं रसना सों तिनको जान सपूत।।
बिनु हरि भजन करम सब अकरम आठो गांठ कपूत।
एक अनन्य भक्ति बिनु कीने धृग करनी करतूत।।
निशिदिन करत कपट छल बाजी समझे नहीं अऊत।
सरस माधुरी अन्तकाल में मारेंगे यमदूत।।

सुत को दिखाई देत भूत नित सूख्यो जात पूछें कही बात जाइ बाके ठौर सोयो है।
आयो निशि मारिबेको धायो यह रोष भर्‌यो देवोगति मोकों उन बोलिकै सुनायो है।।
जाति को सोनार पर नारि लगि प्रेत भयों लयों तेरी शरण मैं ढूँढ़ि जग पायो है।
दियो चरणामृत लै कियो दिव्यरूप बाको अति ही अनूप सुनो भक्तिभाव गायो है।।११८

भावार्थ—श्रीरङ्गजी के पुत्र को रात में भूत दिखाई देता था उसके भय से वह नित्य सूखता ही चला जा रहा था। श्रीरङ्गजी ने बालक से इसका कारण पूछा, तो उसने बताया कि—रात में भयङ्कर प्रेत के देखने से मैं दिन-रात चिन्तित रहता हूँ। तब श्रीरङ्गजी पुत्र के सोने के स्थान पर स्वयं सोये। रात होते ही वह प्रेत आया। श्रीरङ्गजी क्रोध करके उसे मारने के लिए दौड़े। प्रेत ने दैन्यतापूर्वक कहा कि आप कृपा करके मुझे इस पापयोनि से मुक्त करके सद्गति प्रदान कीजिये। मैं जाति का सुनार हूँ, पराई स्त्री से पाप-सम्बन्ध के कारण मैं प्रेत हो गया हूँ। अपने उद्धार का उपाय संसार में खोजने के बाद अब आपकी शरण ली है। प्रेत की आर्तवाणी सुनकर श्रीरङ्गजी ने उसे चरणामृत दिया और उसका अत्यन्त सुन्दर दिव्य रूप कर दिया। इस प्रकार श्रीरङ्गजी के भक्ति-भाव का गान किया गया है।।११८।।

व्याख्या-मारिबे को धायो-लुआठा (जलती हुई लकड़ी) लेकर मारने दौड़े। 'उन बोलिकै सुनायो है'-वह प्रेत बोलने में असमर्थ था। श्रीरङ्गजी ने हाथ में जल लेकर उसके ऊपर छींटा मारा। तब वह कुछ कहने में समर्थ हो सका। दृष्टान्त धुन्धुकारी का-गोकर्ण के पूछने पर जब वह कुछ बोल न सका तो गोकर्ण जी ने अंजलि में जल लेकर उसके ऊपर डाला तो उसने सब वृत्तान्त बताया। यथा-'एवं पृष्ठस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः। अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह।। ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत्। तत्सेक हत पापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे।।' (भा०मा०) ५-२५-२६

परनारि लगि प्रेत भयो-पराई स्त्री में आसक्त रहने वाले पुरुष मरने की तो बात ही क्या जीते-जी प्रेत हो जाते हैं। यथा-'परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद।' परस्त्रीगामी पुरुष को कभी भी शुभगति नहीं मिलती। यथा-'सुभ गति पाव कि परतियगामी।' (रामा०) सात दुर्व्यसन जीव को निश्चय ही नरक में ले जाते हैं। उनमें एक परदार-सेवा भी होती है। यथा-'द्यूतं मांसं च सुरा च वेश्या हिंसा हि चौर्यं परदार सेवा। एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोर नरकं नयन्ति। दृष्टान्त धुन्धुकारी का-गोकर्ण के यह पूछने पर कि तुम्हें प्रेतयोनि कैसे मिली? उसने कहा- 'लोकानां हिंसकः सोऽहंस्त्रीभिर्दुखेन मारितः।' अतः-'प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम्।।' (भा०मा०) ५-२८-२९ इसी से श्रीविभीषणजी रावण को समझाते हुए कहते हैं कि-'जो आपन चाहै कल्याना। सुजस सुमति शुभगति सुखनाना।। तौ पर नारि लिलार गोसाईं। तजहु चौथ के चन्द की नाईं।।' (रामा०)

महात्मा श्रीचरणदासजी कहते हैं कि-

अरे नर पर नारी मत तक रे।
जिन-जिन तको ओर डायन के तिन-तिनको गइ भख रे।।
दूध आक को पात कटैया झाल अगिनि को जानो।
सिंह मुछारे विष कारे को ऐसे ताहि पिछानो।।
खानि नरक की अति दुखदाई चौरासी भरमावै।
जनम-जनम को दाग लगावै हरि, गुरु तुरत छुड़ावै।।
जग फिरि-फिरि महिमा को खोवै राखै तन-मन मैला।
'चरनदास' 'शुकदेव' चेतावैं सुमिरौ राम सुहेला।।

दियो चरणामृत-**प्रेत ने श्रीरङ्गजी का चरणामृत माँगा। तब इन्होंने कृपा करके उसे अपना चरणामृत दिया। वह तत्काल प्रेतयोनि से छूटकर दिव्यरूप धारणकर भगवद्धाम को चला गया। शास्त्रों में सन्तों के चरणोदक की भी बड़ी महिमा लिखी है यथा- पाद्में-गङ्गासागर सहस्राणि द्वारकायां शतैरपि। सर्वतीर्थाधिकं पुण्यं सन्त पादोदकं पिबेत्।। पुनः-सर्वपाप विनिर्मुक्तो वैष्णवं चरणामृतम्। यः पिबेत् स भवेत्पृथ्व्यां पावनो नात्र संशयः।। श्रीरङ्गजीकी गुरुजनों में बड़ी निष्ठा थी। देखिये श्रीपीपाजी का प्रसङ्ग कवित्त ३०५-'श्रीरङ्गके चेत धर्यो।' श्रीनरहरिदासजी का चरित्र देखिये छ० ६७।**

पयहारी श्रीकृष्णदासजी

निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास अन्न परिहरि पयपान कियो।।
जाके सिर कर धर्यो तासु कर तर नहिं आड्यो।
अर्प्यो पद निर्वान सोक निर्भय करि छाड्यो।।
तेज पुञ्ज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरण सरोज राय राना भुविजेता।।
दाहिमावंश दिनकर उदय सन्त कमल हिय सुख दियो।
निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास अन्न परिहरि पयपान कियो।।३८।।

शब्दार्थ-**निर्वेद=वैराग्य। अवधि=सीमा। आड्यो=अड़ायौ, फैलायौ। अर्प्यो=दियौ। निर्वान=मोक्ष, शान्ति, विष्णु। तेजपुञ्ज=महाप्रतापशाली। ऊरधरेता=ऊद्र्ध्वरेता, जिसका**

वीर्य कभी न गिरा हो, बाल-ब्रह्मचारी। सरोज=कमल। रायराना=बड़े-बड़े राजा, सरदार। भुविजेता=भुवि=पृथ्वी में+जेता=जितने, पृथ्वी को जीतने वाले। दाहिमावंश= दधीचिवंशी ब्राह्मण। पयपान=दुग्धपान।

भावार्थ-इस कराल-कलिकाल में पयहारी श्रीकृष्णदासजी वैराग्य की सीमा हुए। आपने अन्न को त्यागकर केवल दुग्धपान करके भजन किया। इसीलिए आप पयहारी इस नाम से विशेष प्रसिद्ध हुए। आपने जिसके सिर पर अपना हाथ रखा-अर्थात् शिष्य करके अपनाया, उसके हाथ के नीचे अपना हाथ कभी नहीं फैलाया-अर्थात् उससे याचना नहीं की। वरन् उसे भगवत्पद मोक्ष का अधिकारी बना दिया और सांसारिक शोक-मोह से सदा के लिए छुड़ाकर अभयकर दिया। श्रीपयहारीजी भक्तिमय तेज के समूह थे और आप में अपार-भजन का बल था। बाल-ब्रह्मचारी योगी होने के कारण आप ऊर्द्ध्वरेता हो गये थे। भारतवर्ष के छोटे-बड़े जितने राजा-महाराजा थे वे सभी आपके चरणों की सेवा करते थे। दधीचिवंशी ब्राह्मणों के वंश में उदय (उत्पन्न) होकर आपने भक्ति-प्रताप से भक्तों के हृदय-कमलों को सुख दिया।

व्याख्या-निर्वेद-(वैराग्य)-'दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।' (पा०यो०) अर्थ-देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है। अर्थात् लौकिक एवं ब्रह्मलोक पर्यन्त दिव्य दोनों प्रकार के भोगों से चित्त का भली-प्रकार तृष्णारहित हो जाना, उनको प्राप्त करने की इच्छा का सर्वथा नाश हो जाना वैराग्य का लक्षण है। इसी भाव को श्रीतुलसीदासजी इन शब्दों में कहते हैं-'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।' (रामा०) इससे भी परे परम-वैराग्य होता है। यथा-तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् (पा०यो०) अर्थ-पुरुष (परमात्मा) के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना है वह परम-वैराग्य है। श्रीरामचरितमानस में भी कहा गया है-'कहिय तात सो परम विरागी। तृणसम सिद्धि तीन गुण त्यागी।।' नीतिकारों ने वैराग्य को 'अभयपद' माना है। यथा-

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काले कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।। (भर्तृहरि)

अर्थ-भोग में, रोग का। कुलीनता में, पतन का। धनवृद्धि में, राजा का। मौन में, दीनता का। बल में, शत्रु का। सौन्दर्य में, बुढ़ापे का। शास्त्र में, वाद-विवाद का। गुणों में, दुष्टों का और शरीर में, यमराज का भय है। इस प्रकार मनुष्यों के सभी पदार्थ भय से युक्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है। पुनश्च-'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः। यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्त वासिनः।।' अर्थ-एकान्तवासी वैराग्यवान को जो सुख होता है वह सुख न तो चक्रवर्ती राजा को ही और न देवराज इन्द्र को ही प्राप्त है। 'निर्वेद अवधिकलि'-कहने का भाव यह है कि इस कराल-कलिकाल में सामान्य-वैराग्य भी असम्भव है, परम-वैराग्य की तो बात ही क्या? यथा-'कलि न विराग योग याग तप त्याग रे।' (वि०) 'धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग विराग लै जीव पराने।' (क०) परन्तु श्रीकृष्णदासजी इस युग में भी परम-वैराग्यवान हुए।

अन्न परिहरि पयपान कियो-कारण यह कि सत्त्वस्वरूप परमात्मा की सात्त्विक उपासना करने वाले साधक को सात्त्विक-आहार भी आवश्यक है। दूध, फल आदि सात्त्विक भोजन है, अन्न राजस एवं मांसादि तामस है। कहावत है-जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन्न। अतः 'पयपान कियो।' 'जाके सिर०' 'सिर पर हाथ रखना' मुहावरा है। इसका तात्पर्य है सब प्रकार से अभय प्रदान करना। 'करतर नहिं०'-हाथ के नीचे हाथ करना याचनावृत्ति को सूचित करता है और याचकता को ग्रहण करते ही समस्त गुरुता तत्काल गल जाती है। यथा-

रहिमन याचकता गहे बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो बावन अंगुल गात।।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-'तुलसी कर पर कर धरो करतर कर न धरो। जा दिन करतर कर धरो, ता दिन मरन खरो।।' रहीमजी ने भी कहा है-'रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।।' भला परमार्थ का दान करने वाला अर्थ के लिए किसी के आगे क्यों हाथ फैलाने लगा? और यदि वह अर्थ के लिए हाथ फैलाता है तो परमार्थ का दान कैसे कर सकेगा? वह तो महादरिद्र है। श्रीबिहारीदासजी कहते हैं-'पैसन के भूखे फिरें परमारथ के दान। श्रीबिहारीदास धनधर्म बिन (सो) गुरु दारिद्री जान।' गुरु को सर्वथा निःस्पृही होना चाहिए और शिष्य को श्रद्धालु। फिर तो जैसे बछड़े को देखते ही गाय रँभाने लगती है और उसके थनों से दूध टपकने लगता है उसी प्रकार ऐसे शिष्य को देखते ही श्रीगुरुजी के हृदय से, मुख द्वारा सुन्दर-भावरस टपकने लगता है। यथा-

'निस्प्रेही उपकार गुरु शिष्य श्रद्धालु। राम्हत थन च्वै चलै ज्यों गो बच्छा प्रतिपाल।।' भगवान शङ्कराचार्यजी विवेक-प्रश्नोत्तरी में कहते हैं कि-

लघुत्वमूलं च किमर्थितैव गुरुत्व मूलं यदयाचनं च।
को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा शिष्यस्तु को यो गुरु भक्त एव।।

अर्थ-प्रश्न-लघुता का मूल क्या है? उत्तर-याचना। प्र० गुरुता का मूल क्या है? उ०-अयाचना। प्र०-गुरु कौन हैं? उ०-जो हित का उपदेश करें। प्र०-शिष्य कौन हैं? उ०-जो गुरुभक्त है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध क०९-गुरुगुरुताई की सचाई०-पृष्ठ ७२, ७३।

अर्प्योपद निर्वान-पूर्व कहे कि शिष्यों से कुछ लेते नहीं थे तो कोई समझे कि फिर कुछ देते भी नहीं होंगे, तो इस पर कहते हैं कि सो बात नहीं। यद्यपि लेते कुछ नहीं थे परन्तु-'अर्प्योपद निर्वान।' यह गुरु की परमोदारता है। 'पद निर्वाण' से तात्पर्य सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य, सार्ष्टि, कैवल्य आदि मुक्तियाँ एवं भगवद्धाम-दोनों से है। भगवद्धाम-'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।'(गीता) १५-६ अर्थ-उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा, न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है।

शोक…छाड्यौ-से जनाया गया है कि आपने-अपने आश्रितों को जीवन्मुक्त बना दिया। सन्त कमल०-आपके स्थान जयपुर गलतागादी में सहस्त्रों-सन्तों की नित्यप्रति सेवा होती थी। यथा-'सहसन सन्त करै तहँ वासा। सब कहँ सब विधि होत सुपासा।।' (रा० र०) श्रीकृष्णदासजी (पयोहारीजी) श्रीशत्रुघ्नजी के अवतार थे। श्रीशत्रुघ्नजी ने आजीवन भक्तशिरोमणि श्रीभरतलालजी की सेवा की थी। वर्णन आया है कि श्रीशत्रुघ्नजी की श्रीभरतलालजी की सेवा में ऐसी निष्ठा थी कि वे श्रीरामजी का नेत्र-भरकर दर्शन नहीं करते थे। वे डरते थे कि कहीं मैं श्रीरामजी की छवि देखकर सुधि-बुधि न खो बैठूं। फिर तो मेरे सेवा-धर्म में त्रुटि आ जायेगी। सन्त-सेवा में किञ्चित् अन्तराय न आ जाय, इस भयवश श्रीभगवद्दर्शन को भी गौण समझना-सन्त-सेवा, निष्ठा की पराकाष्ठा है। श्रीशत्रुघ्नजी इसके सर्वोच्च आदर्श हैं। श्रीकृष्णदासजी इन्हीं के अवतार हैं अतः स्वयं बड़े भाव से सन्तों की सेवा करते एवं शिष्यों को भी सन्त-सेवा का उपदेश देते थे। 'दाहिमा (दधीचि) वंश'-ये श्रीदधीचिजी के वंश में उत्पन्न होने के साथ-साथ श्रीदधीचि के गुणों से भी युक्त थे। यथा-'दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति।' छप्पय १८५ देखिये।

जाके सिर कर धर्‌यो तातर न आँड्‌यो हाथ दीनो बड़ोबर राजा कुल्हू को जु साखिये।
परबत कन्दरा में दरसन दीयो आनि दियो भाव साधु हरि सेवा अभिलाखिये।।
गिरी जो जिलेबी थारु मांझते उठाई बाल भयो हिये शाल बिन अरपित चाखिये।
लै करि खड़ग ताहि मारन उपाय कियो जियो सन्त ओट फिरि मोल करि राखिये।।११९

शब्दार्थ-**बिन अरपित=बिना भोग लगे। ओट=आड़, सहारा।**

भावार्थ-**पयहारी श्रीकृष्णदासजी ने जिस किसी के सिर पर हाथ रखा, उसके हाथ के नीचे अपना हाथ नहीं फैलाया अर्थात् उससे कुछ भी नहीं लिया, उसे बड़ा-भारी भक्ति का वरदान अवश्य दिया। कुल्हू देश का राजा इस बात का प्रमाण है। इसको आपने पर्वत की कन्दरा में जाकर दर्शन दिया और आपकी कृपा से उसे राज्य प्राप्त हुआ। राजा को आपने ऐसा प्रेम-भाव दिया कि-उसे सन्त-भगवन्त की सेवा करते हुए और अधिक करने की अभिलाषा बनी रहती थी। एक बार पुजारी मन्दिर में भगवान का भोग लगाने के लिए जलेबियों के थार ले जा रहे थे, उसमें से एक जलेबी गिर गई। राजा का छोटा-सा बालक उसे उठाकर खा गया। यह देखकर राजा के मन में बड़ा-भारी दुःख हुआ कि-बिना भोग लगे ही इसने खा लिया। तुरन्त हाथ में तलवार लेकर उसे मार डालने के लिए उठे। परन्तु समीप में उपस्थित सन्तों ने उसे बचा लिया और राजा से कहा कि-अब तो यह बालक हमारा हो गया। यदि आपको लेना है तो मूल्य देकर आप इसे रख लीजिये।।११९।।**

व्याख्या-परबत कन्दरा०-**एक बार श्रीकृष्णदासजी (पयहारीजी) विचरते हुए कुल्हू की पहाड़ियों की ओर जा निकले। गुफा, अनुकूल वातावरण तथा रमणीक स्थल देखकर वहाँ कुछ काल रहकर भजन करने की इच्छा जाग उठी। जैसे देवर्षि नारदजी को हिमालय की सुन्दर गुफा देखकर-यथा-'हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। वह समीप सुरसरी सुहावनि।। आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा।। निरखि सैल सरि विपिन विभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा।। सुमिरत हरिहि साप गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी।।, (रा० च० मा०) हाँ, तो ये एक कन्दरा में बैठ गये। समीप के गाँव वालों को कुछ मालूम नहीं कि आप यहाँ पधारे हैं जिससे कि कुछ सेवा कर सकें और आपका भजन में ऐसा मन लगा कि बस्ती में जाने की इच्छा नहीं हुई। आप केवल दूध पीते थे। भगवान के श्रीमुख का वचन है-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गी०)९-२२ प्रभु ने व्यवस्था**

कर दी। एक ग्वाले की एक गाय समूह छोड़कर गुफा के द्वार पर आकर खड़ी हो गई। गाय बड़ी ही सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं परम दर्शनीय थी। श्रीपयहारीजी ने उसे प्रणाम किया। उसके थनों से आप दूध झरने लगा। प्रथम तो गाय का उस गुफा तक आने का ही आश्चर्य था, फिर स्वतः दूध स्रवना, यह और भी आश्चर्य है। आपने इसे प्रभु का मङ्गल विधान माना। दूध की आवश्यकता थी ही, कमण्डलु में दूध रोप लिये। गाय वहाँ से चलकर फिर अपने झुंड में मिल गई और आपने दूध को वस्त्रपूत करके पी लिया। यही क्रम नित्यप्रति का हो गया।

एक दिन ग्वाले के मन में विचार आया कि देखें तो यह गाय कहाँ जाती है? वह गाय के पीछे-पीछे लग गया, गुफा तक आया। छिपकर सब दृश्य देखा। श्रीपयहारीजी का दिव्यदर्शन पाकर कृतार्थ हो गया और समीप आकर उसने श्रीचरणों में प्रणाम किया और अपना भाग्य सराहा-महाराज! मुझे इस गाय के बदौलत आपका दर्शन हो गया, मेरे धन्य भाग्य हैं। श्रीपयहारीजी ने पूछा-क्या यह गाय तुम्हारी है। ग्वाले ने कहा-जी हाँ। आपने कहा कि भैया! यह तो नित्य मेरी सेवा कर जाया करती है। अतः मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे कोई वर माँगो। ग्वाले ने सरल भाव से कहा-महाराज! आप साधु महात्माओं की सेवा करना तो हमारा परमधर्म है, भला इसके लिए क्या लेना-देना है। धन्य है यह गाय, जिसने हम लोगों को अधर्म से बचा लिया। नहीं तो हम लोग जानते नहीं थे, आप हमारे यहाँ आकर भूखे रहते तो हम लोगों को बड़ा भारी अपराध लगता। आप खूब भजन करिये, हम और भी दूध लाया करेंगे। हमारे और भी बहुत गाय हैं। श्रीमहाराज ने कहा-नहीं, तुम तो कुछ माँगो ही। उसने कहा-प्रभो! हमें कुछ भी नहीं चाहिए। आप सब सन्तों की कृपा से सब भरा-पूरा है। दूध की जगह दूध और पूत की जगह पूत। आप तो हमें कुछ सेवा की आज्ञा करें।

उसकी इस निःस्पृहता एवं सेवा की सद्भावना से महाराज का मन और भी आकृष्ट एवं उत्सुक हुआ कुछ देने को। अतः बार-बार माँगने का आग्रह करने लगे और तब उसने कहा-महाराज! और तो सब ठीक है। यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो हमारे राजा का राज्य दुष्टों ने छीन लिया है, इस समय वे बड़े दुःखी हैं। आप कृपा करके उनका राज्य दिलवा दें। आपने कहा-अरे भाई! मैंने तो तुम्हें देने को कहा है। मैं तुम्हारे राजा को तो जानता भी नहीं हूँ। तुम अपने लिए जो चाहो सो माँगो। परन्तु ग्वाला तो हठ पड़ गया राजा के लिए ही। उसने कहा-महाराज! यह कृपा तो राजा पर ही होनी चाहिए। आपने

विचार किया कि निश्चय ही वह राजा-प्रजावत्सल होगा, तब तो उनकी प्रजा उन्हें इतना चाहती है अतः आप बोले-अच्छा, जाओ, राजा को लिवा लाओ। वह तुरन्त गया और राजा को लिवा लाया। राजा अत्यन्त सादे वेष में आकर आपको दण्डवत् प्रणाम किये। श्रीमहाराजजी ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया 'जय हो'। राजा ने अपना दुःखड़ा सुनाया। तब आपने कहा कि तुम अपने घोड़े पर चढ़कर जहाँ तक तुम्हारी इच्छा हो घूमो, वह सब क्षेत्र तुम्हारा हो जायेगा। (ऐसा भी कहते हैं कि आपने कहा कि इस पहाड़ पर चढ़कर चारों ओर देखो, जहाँ तक तुम्हारी दृष्टि जायेगी वहाँ तक तुम्हारा राज्य हो जायेगा।) शत्रु हार जायेंगे। राजा ने आपकी आज्ञा का पालन किया। सचमुच, थोड़े से सिपाहियों को लेकर ही इन्होंने अपने विपक्षी पर आक्रमण किया और वह हार गया। सम्पूर्ण राज्य पर इनका आधिपत्य हो गया। राज्य दखल होने पर राजा पुनः आपकी शरण में आया तब आपने इन्हें सन्त-सेवा एवं भगवद्-भजन का उपदेश दिया। तब से राजा के यहाँ खूब हरि-साधु-सेवा होने लगी।

भयो हिये शाल...चाखिये-राजा के पुत्र ने अनिवेदित जलेबी खा ली तो इससे इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इस पर-

दृष्टान्त-मधुकरिया बाबाका-एक महात्मा थे। नित्य गाँव से मधुकरी माँगकर लाते, उसे नदी के जल में धोकर भगवान का भोग लगाकर पाते। एक दिन बड़े जोर की भूख लगी थी अतः भोग लगाना भूल गये। जब दो एक ग्रास खा लिए तब याद आई तो उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ। फिर तो वे अपने ही हाथों से अपने मुँह पर थप्पड़ मारने लगे कि तुमने अनिवेदित वस्तु क्यों खाई? मारते-मारते मुँह लोहू-लुहान हो गया। भगवान से देखा नहीं गया, प्रगट हो गये। पूँछे-क्यों मार रहे हो? इन्होंने बताया। तब भगवान ने कहा कि तो क्या बिगड़ गया, अब से भोग लगा दो। इन्होंने कहा कि प्रभो! अब तो जूठी हो गई हैं रोटियाँ, अब कैसे भोग लगाऊँ? भगवान ने कहा कि तो रोज की ही कौन अमनियाँ रहती थीं। गाँव के लोग तो खाने-पीने से जो बच गईं वह 'बाबा' के लिए रख देते हैं। इस पर-

दृष्टान्त एक बूढ़े का-वृद्धावस्था से विडम्बित् एक बूढ़े की, घर वाले अत्यन्त उपेक्षा करने लगे थे। उसके लिए अलग एक झोपड़ी डाल दिये और दो-एक फूटे-टूटे पात्र वहाँ रख दिये। उसी में दो-एक रोटी कुत्ते को देने जाते तो बूढ़े को भी डाल देते। घर में बालक दिन-भर खाया करते। जब बालकों से कोई वस्तु नहीं खाई जाती तो मैया बाबा से

पूछते कि इसको क्या करूँ? तो वे कहते-ले जा, रख दे बाबा की रोटी पर। इस तरह बाबा के लिए रोटियाँ रखी जातीं। अनिवेदित खा लेने पर दूसरा-

दृष्टान्त चक्रिक भील का-बात द्वापर की है चक्रिक नामक एक भील ने वन में एक टूटा मन्दिर देखा। उसमें भगवान का बड़ा-सुन्दर विग्रह विराजमान था। चक्रिक जाति का भील होकर भी सात्विक-संस्कार से युक्त था। उसके हृदय में भगवान के प्रति भक्ति थी। जीवों के प्रति दया थी। उसने जिस दिन से भगवान को देखा उसी दिन से वन्य फल-फूलों से भगवान की पूजा करने लगा। उसने आचार-संहिता तो पढ़ी नहीं थी। उसे केवल इतना ज्ञान था कि कोई भी अच्छी वस्तु भगवान को अर्पित करनी चाहिए। सरल हृदय चक्रिक को कोई फल मिलता तो पहले वह उसे स्वयं चखता। यदि मीठा होता तो भगवान को अर्पित करता और यदि मीठा न हुआ तो स्वयं खा लेता। ऐसे ही एक दिन यह एक फल चख रहा था। फल बहुत मीठा था, परन्तु किञ्चित् असावधानी से वह फल उसके मुख से सरक कर गले में चला गया। उसे बड़ा दुःख हुआ कि इतना बढ़िया फल बिना प्रभु को भोग लगाये मैं खा जाऊँ यह उचित नहीं। अतः उसने एक हाथ से अपना गला बड़े जोर से दबाया जिससे फल पेट में न जा पाये और वमन आदि की क्रिया करने पर भी जब फल बाहर नहीं निकला तो वह दूसरे हाथ से कुल्हाड़ी से अपना गला काटकर फल निकालकर भगवान को चढ़ा तो दिया परन्तु स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसके सरल भाव पर रीझकर भक्तवत्सल भगवान ने प्रगट होकर अपना श्रीकर-कमल उसके मस्तक पर फिराया। उसकी समस्त पीड़ा तत्काल दूर हो गई। शरीर स्वस्थ हो गया। वह भगवान का दर्शन कर निहाल हो गया। भगवान ने पिता की भाँति उसको बड़ा प्यार किया और अविचल भक्ति का वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गये।

बिन अरपित-विनार्पितं तु गोविन्दे भोजनं कुरुते यदि। श्वान विष्ठा समं चान्नं तोयं च सुरया समम्।। 'जियो सन्त ओट'-राजा जब राजकुमार को मारने के लिए तलवार लेकर चले तो एक सन्त देख रहे थे तो उन्होंने समझ लिया कि निष्ठा के आवेश में राजा निरपराध कुमार को मार ही डालेंगे अतः दौड़कर आये और राजकुमार को अपनी गोद में छिपाकर बोले-राजन्! आप यह क्या कर रहे हैं? आप हमारे लड़के को मारने जा रहे हैं। राजा ने कहा-यह लड़का आपका है? सन्तजी ने कहा-हाँ महाराज, हमारा तो है ही, जब आप सब कुछ सन्तों का समझते हैं, तो आप लड़के को अपना क्यों समझते हो। फिर मारने का भला आपको अधिकार ही कहाँ रहा। तब तो राजा के हाथ शिथिल हुए और

बोले-अच्छा महाराज! आपका है तो हम नहीं मारेंगे। राजा यह विचारकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए कि सन्तों ने हमारी वस्तु को अपनी मान ली है। इस पर दृष्टान्त श्रीचतुर्भुजदासजी का-देखिये कवित्त ४९६।

मोल करि राखिये-कुछ दिन बाद संतजी बोले कि मुझे तीर्थाटन करने जाना है। द्रव्य की आवश्यकता है अतः मैं अपने इस बालक को बेच रहा हूँ। आप ले लीजिये। राजा हँस गये। सन्तजी को इच्छित द्रव्य देकर विदा किए। सन्त की ओट से लड़के की जान बच गई। तभी तो श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी विनय-पत्रिका में कहते हैं-'बड़े ही की ओट बलि बाँचि आए छोटे हैं। चलत खरे के सङ्ग जहाँ-तहाँ खोटे हैं।'

१. दृष्टान्त-सन्त निन्दक का-एक भगवत्-भागवत विमुख मनुष्य ने जीवन-भर सन्तों की निन्दा की। अन्त में उसे यमदूत बाँधकर यमलोक को ले चले। रास्ते में एक साधु की कुटी थी। निन्दक ने कहा कि हम नित्य-नियम से साधु को दश गाली देते थे। तुम लोग मुझे कुटी के समीप रोको, गाली दे लूँ, तो चलूँ। यमदूत तनिक रुके, जब वह गाली दे लिया तो पुनः ले चलने लगे। सन्त ने पूछा-यह कौन है? यमदूतों ने कहा-'यह आपका निन्दक है, हम लोग इसे नरक ले जा रहे हैं। सन्त तो सदा गुण-ग्रहण करते हैं। यमदूतों ने कहा था-यह आपका…। सन्त ने यह सुनते ही कि यह मेरा है, झपटकर उस जीव को यमदूतों से छीन लिया और बोले-यह निन्दक ही है तो क्या-है तो हमारा। ऐसे दयालु सन्त होते हैं कि निन्दा करने वालों से भी सम्बन्ध मानकर उसकी रक्षा करते हैं। फिर सेवा करने वालों के लिए तो कहना ही क्या है?

२.दृष्टान्त-श्रीगरुड़जी का-ये एक बार कैलाश गये हुए थे तो इन्हें देखकर नागों ने फुफकारा। तब वे बोले-तुम लोग श्रीमहादेवजी की ओट लिए हो, इसी से बच रहे हो। यदि अलग होकर फुफकारो तो मैं अभी सबकी बोलती बन्द कर दूँ।

नृपसुत भक्त बड़ो अबलौं विराजमान साधु सनमान में न दूसरो बखानिये।
संत बधू गर्भ देखि उभै पनवारे दिये कही अर्भ इष्ट मेरो ऐसी उर आनिये।।
कोऊ भेषधारी सो व्योपारी पगदासिन को कही कृपा करो कहा जानैं और प्रानिये।
ऐपै तजि देवो क्रिया देखि जग बुरो होत जोति बहु दई दाम राम मति सानिये।।१२०

शब्दार्थ-पनवारे=प्रसाद समेत पत्तल। अर्भ=बालक। भेषधारी=वैष्णव चिह्नधारी। पगदासिन=जूतिन। बुरो=कुभाय। जोति=खेती करने योग्य भूमि, ज्ञान का प्रकाश।

भावार्थ-श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि कुल्हू के राजा का पुत्र मेरे इस टीका के लिखने के समय तक विराजमान है, वह बड़ा-भारी भगवद्भक्त है साधुओं की सेवा तथा उनका सम्मान करने में उसके समान दूसरा कोई नहीं है। एक बार अपने भण्डारे की पंक्ति में एक सन्त की पत्नी को गर्भवती देखकर उसे दो पत्तलें दीं और कहा-गर्भस्थ-बालक भक्त है और वह मेरा इष्टदेव है, मैं ऐसा मन में मानता हूँ।। कोई वैष्णव वेषधारी मनुष्य था वह जूतियों को बेचता और गाँठता था। उसे देखकर राजपुत्र ने उससे कहा-भगवन्! आप कृपा कीजिये, आप दूसरे लोगों को सन्त मानकर उनकी जूतियों की सेवा करते हैं पर आपके इस गुप्त भाव को तुच्छ प्राणी क्या जानें। इसलिए आप इस जूती-सेवा कार्य को छोड़ दीजिये। इस वेष को धारणकर और इस कार्य को देखकर लोगों के मन में कुभाव होता है ऐसा कहकर उसे वैष्णव-सेवा एवं स्वनिर्वाह के लिए बहुत-सी खेती करने योग्य भूमि और धन दिया, साथ ही उसे ज्ञान-प्रकाश भी दिया, उसकी बुद्धि राम में रम गयी।।१२०।।

व्याख्या-अर्भ इष्ट मेरो-जैसे- भक्त इष्ट अति व्यास के'। देखिये छप्पय ९२। पुनः-'जोवनेर गोपाल के भक्त इष्टता निर्वही'। छ० १०६, क० ४२०, ४२१ देखिये।

विशेष-आमेर के राजा पृथ्वीराजजी जयपुर गलिता नदी के तारानाथ नाम के एक सिद्ध कनफटा योगी के शिष्य थे और उनकी पत्नी बालाबाई पिता के घर से ही श्रीकृष्णदासजी पयहारी की शिष्या थीं। कनफटा श्रीरानीजी को भी अपनी शिष्या बनाना चाहता था। परन्तु रानीजी इन्कार कर गईं तब उसने राजा से कहलवाया तब भी इन्कार कर गईं। तब कनफटे ने राजा को उकसाया कि देखो तुम्हारी रानी होकर भी तुम्हारी बात नहीं मानती है, यह उचित नहीं है। तुम इन्हें जोर देकर शिष्या बनने के लिए बाध्य करो। गुरु की बात मानकर राजा ने रानी पर दबाब डाला तब रानीजी भी परमसिद्ध श्रीसद्गुरुदेव श्रीपयहारीजी का स्मरण कर हठ पकड़ गईं। ठीक भी है-'भक्तिपक्ष हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।' (रामा०) इसके बाद श्री बालाबाईजी ने पयहारीजी को पत्र लिखकर यहाँ की स्थिति सूचित करते हुए आने का अनुरोध किया। श्रीपयहारीजी महाराज रानी की प्रार्थना स्वीकार कर विचरते-विचरते जयपुर आए और गलिता गङ्गा में स्नानकर उस कनफटे के स्थान में गए।

कनफटे ने इनको वहाँ अपने स्थान में नहीं रहने दिया। तब ये उसके आश्रम से अलग समीप ही एक वृक्ष के नीचे धूनी लगाए। परन्तु कनफटे ने इनको वहाँ भी नहीं रहने दिया।

इसके दो कारण हैं-एक तो वह वैरागी साधुओं से स्वभाविक ही जलता था, दूसरे उसको भय था कि कहीं इनके परम तेज को देखकर प्रभावित होकर लोग इनको पूजने लगे तो फिर हमारी सिद्धाई फीकी पड़ जायेगी। अतः समीप आकर गरजकर बोला-तुम शीघ्र यहाँ से धूनी उठाकर भाग जाओ अन्यथा, कुशल न होगी। श्रीपयहारीजी बड़ी शान्तिपूर्वक जलती हुई धूनी की अग्नि को साफी में बाँधकर चुपके से वहाँ से चल दिये और वहाँ से दूर जाकर जङ्गल में धूनी लगा लिए। कनफटे ने देखा कि यह भी कोई भारी-सिद्ध मालूम पड़ता है, अगर कहीं जङ्गल में जम गया तो हम दो-कौड़ी के भी नहीं रह जायेंगे। अतः वह दुष्ट सिद्धिबल से बाघ बनकर श्रीपयहारीजी के समीप आकर गरज-गरजकर डरपाने लगा परन्तु जब गरजने से नहीं डरे तब उन पर बड़े जोर से गर्जन करके झपटा भी। तब श्रीपयहारीजी ने कहा-क्या गधे की तरह रेंक रहा है। भला द्वार पर आए अतिथि को एक दिन भी विश्राम नहीं करने देगा, बाहर वृक्ष के नीचे भी नहीं रहने देगा, यहाँ जङ्गल में भी आकर विघ्न करता है। इतने पर भी बाघ बनकर गरज रहा है। तूं बाघ बनने लायक नहीं है। तू गधा हो जा।

श्रीपयहारीजी के इतना कहते ही वह तुरन्त गधा बन गया। यह देखकर सभी कनफटे बड़े ही विस्मित हुए। इतने में क्या देखते हैं कि सबके कानों में से मुद्राएँ निकल-निकलकर श्रीपयहारीजी के पास इकट्ठी हो रही हैं। सभी सिद्ध कनफटे योगी, जोर लगाकर हार गए परन्तु वे न तो अपनी मुद्रा ही संभाल सके और न ही अपने गुरु को गदहा से मनुष्य ही बना सके। सर्वत्र शोहरत मच गई। आमेर नरेश पृथ्वीराजजी नित्यप्रति अपने गुरु का दर्शन करने एवं उपदेश सुनने आते थे। जब उन्होंने यह समाचार सुना तो वे बड़े ही दीन होकर श्रीपयहारीजी के चरणों में पड़कर अनुनय-विनय किए कि महाराज! और जो भी उचित दण्ड आप देना चाहें वह हमें स्वीकार है। परन्तु हमारे गुरुजी को गदहा से मनुष्य बना दीजिए। श्रीपयहारीजी ने कहा-अच्छा, जाओ उन्हें लिवा लाओ। कनफटों ने कहा-हम उन्हें कहाँ पावेंगे? आपने कहा-देखो, कहीं गदहों में मिलकर घास चर रहे होंगे। उन सबने पूछा-हम उन्हें पहचानेंगे कैसे कि ये हमारे गुरुजी हैं। आपने कहा-ध्यान से देखना कान फटे होंगे। कनफटे गये, खोजकर कान पकड़कर ले आये। श्रीपयहारी जी ने पुनः कृपा करके उसे मनुष्य बना दिया और आज्ञा दी कि आज से कनफटा हमारी धूनी में नित्यप्रति काष्ठ लाकर डालेंगे और मेरी धूनी चेतावेंगे। सबने आज्ञा शिरोधार्य की। आज तक कनफटा उस आज्ञा का पालन करते हुए श्रीपयहारीजी की धूनी में लकड़ी

डालते हैं। इस प्रकार श्रीपयहारीजी का परम-पावन सुयश आज तक जगमगा रहा है। श्रीपृथ्वीराजजी ने देखा कि जब हमारे कनफटा गुरु अपना ही उद्धार करने में असमर्थ हैं तो ये हमारा उद्धार क्या करेंगे। गुरु तो समर्थ होना चाहिए। अतः पृथ्वीराजजी भी सर्वतोभावेन सर्वस्व समर्पण पूर्वक, श्रीपयहारीजी के शिष्य बन गये। श्रीपयहारीजी ने भी इनके ऊपर खूब कृपा की। देखिये छप्पय ११६।। तथा श्रीपयहारीजी का और भी चरित्र। देखिये छप्पय १८५ में।

रीवां नरेश श्रीरघुराजसिंहजी स्वरचित श्रीरामरसिकावली में लिखते हैं कि- एक बार श्रीपयहारीजी ने एक वृहत् भण्डारे का आयोजन किया था। उसमें भारत के सभी प्रसिद्ध सिद्ध-सन्त-महन्तों को आमन्त्रित किया गया था। दो साधु कांचीपुरी के स्वामीजी को निमन्त्रण देने गये थे। श्रीस्वामीजी ने भण्डारे में सम्मिलित करने के लिए पाँच सौ रुपये दिए। जब वे दोनों साधु लौट रहे थे तो आमेर के बाजार में एक रुपवती वेश्या को देखकर मोहित हो गये। रुपये पास में थे ही। वेश्या के पास जाकर बोले-हम चार घड़ी रात गये आयेंगे और प्रचुर धनराशि देकर समागम सुख लेंगे। निश्चित समय पर साधु गये तो जरुर परन्तु उन्हें वेश्या का घर नहीं मिला और उधर विलम्ब होने पर वेश्या भी साधुओं को ढूँढ़ने निकली परन्तु न पा सकी। दोनों को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सवेरा हो गया। प्रातःकाल होते-होते उनकी मोहनिशा भी दूर हो गयी। विज्ञानरूपी सवेरा हो गया। अतः साधु और वेश्या दोनों श्रीपयहारीजी के शरणागत होकर सच्चे साधु बन गये।

श्रीनाभाजी ने कृष्णदासजी (पयहारीजी) का चरित्र दो बार वर्णन किया है। एक तो यहाँ छप्पय ३८ में और दूसरे आगे छप्पय १८५ में। श्रीअयोध्या, मणिपर्वत के विद्वन्मूर्धन्य वेदान्तभूषण पण्डित श्रीरामकुमारदासजी का भाव है कि श्रीभक्तमाल का सुमेर श्रीपयहारीजी को ही समझना चाहिए।

श्रीपयहारीजी के शिष्यगण

पैहारी परसाद ते शिष्य सबै भये पारकर।।
कील्ह, अगर, केवल, चरन व्रत हठीनारायन।
सूरज, पुरुषां पृथू, तिपुर हरिभक्ति पारायन।।
पद्मनाभ, गोपाल, टेक, टीला, गदाधारी।
देवा, हेम, कल्यान, गङ्गा गङ्गासम नारी।।

विष्णुदास, कन्हर, रंगा, चाँदन, सबीरी गोविंद पर।
पैहारी परसाद तें शिष्य सबै भये पारकर।।३९।।

शब्दार्थ–पैहारी=केवल दूध का आहार करने वाले। परसाद = प्रसाद, कृपा। पारकर=संसार से मुक्त कराने वाले। गोविन्द पर= भगवत् परायण, भक्त।

भावार्थ–पयहारी श्रीकृष्णदासजी की कृपा से उनके सभी शिष्य जीवों को भवसागर से पार करने वाले हुए–श्रीकील्हदेवजी, स्वामी श्रीअग्रदेवजी, केवलदासजी, चरणदासजी, हठीनारायणजी, सूरजदासजी, पुरुषाजी (पुरुषोत्तमदास) पृथुदासजी, त्रिपुरदासजी वे हरिभक्ति में रत थे। पद्मनाभजी, गोपालदासजी, टेकरामजी, टीलाजी, गदाधारी (गदाधरदासजी), देवापण्डाजी, हेमदासजी, कल्याणदासजी, गङ्गाजी के समान गङ्गाबाई, विष्णुदासजी, कान्हरदासजी, रंगारामजी, चाँदनजी और सबीरीजी ये सभी भक्त गोविन्द परायण थे। ३९

व्याख्या–श्रीकील्हदेवजी का चरित्र देखिये छप्पय ४० में तथा श्रीअग्रदेवजी का देखिये छ० ४१ में। श्रीकेवलदासजी (कूबाजी) का चरित्र देखिये छ० १४९ में।

श्रीचरणदासजी

ये बड़े ही सन्तसेवी थे। बिना किसी भेद-भाव के सन्तमात्र का धूप-दीप-नैवेद्यादि से विधिवत् पूजन करते थे तथा सन्तों की सीथ-प्रसादी पाते थे। एक बार एक पंगु-सन्त आश्रम में आये। इनको पूजा करने के लिए प्रस्तुत देखकर वे पंगु-सन्त बहुत संकुचित हुए और इन्हें निषेध किये। परन्तु अपनी निष्ठा के पक्के श्रीचरणदासजी ने अपने नित्य के नियमानुसार विधिपूर्वक उनका पाद प्रक्षालनादि करके पूजन किया। सन्त का सद्भाव, भगवत्कृपा, श्रीचरणदासजी के स्पर्श करते ही उन पंगु-सन्त का पंगुपन दूर हो गया। फिर तो वे पैदल चलकर सभी तीर्थों की यात्रा किये। सन्त-समाज में इनका बड़ा सुयश था।

श्रीहठीनारायणदासजी

आपके पिता का नाम था पंडित जयनारायण चतुर्वेदी और माता का नाम था गंगादेवी। उत्तर प्रदेश के जिला इटावा, ग्राम ईंगरी के रहने वाले थे। सन्तान की कामना से इन ब्राह्मण दम्पती ने बदरिकाश्रम में जाकर कठोर तप किया था और साक्षात् भगवान बद्रीनारायण ने इन्हें पुत्र-प्राप्ति का वरदान दिया था। जिसके फलस्वरूप वि०सं० १६०४, माघ मास की मौनी अमावस्या को पंडित जयनारायणजी के यहाँ एक बालक ने जन्म लिया।

श्रीनारायण की कृपा से पुत्र का जन्म हुआ था अतः बालक का नाम रखा गया नारायण। बालक नारायण जन्म से ही अत्यन्त शान्त-प्रकृति का था। जन्मते ही उसने रोने के बजाय रां-रां का उच्चारण किया था। घर के समीप में ही भगवान श्रीसीतारामजी का मन्दिर था। मन्दिर में जाकर भगवान का दर्शन करना एवं चरणामृत-प्रसाद लेना श्रीनारायण का नित्य का नियम था। भगवान का विधान बड़ा विचित्र होता है। वह जिसे अपनाना चाहते हैं, उसके समस्त बन्धन सहज ही टूट जाते हैं। सं० १६१९ में ईंगरी गाँव में बड़े जोर का हैजा पड़ा जिसमें गाँव के बहुत से लोग काल के ग्रास बन गये। उसी में नारायण के माता-पिता भी परलोक सिधार गये। नारायण का मन तो घर में वैसे ही नहीं लगता था, संसार की नश्वरता का यह नग्नचित्र देखकर इनका मन और भी उदास हो गया। परिणाम-स्वरूप माता-पिता के मरते ही वह घर छोड़कर श्रीवृन्दावन चले आये।

श्रीवृन्दावन में इन्होंने सुना कि श्रीकृष्णदासजी पयहारी बड़े उच्चकोटि के सन्त हैं। सुयश सुनकर ही इन्होंने अपना गुरु मान लिया और उनका पता लगाने लगे। किसी ने बताया कि इस समय अमरनाथ गये हुए हैं। ये भी सद्‌गुरु की खोज में अमरनाथ को चल पड़े। अनेक कठिनाइयों को सहते हुए ये अमरनाथ पहुँचे और यत्र-तत्र-सर्वत्र बहुत पता लगाये परन्तु कहीं भी गुरुदेव के दर्शन नहीं हुए। तब इन्होंने हठकर लिया कि जब तक श्रीगुरुजी का दर्शन नहीं होगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। इस प्रकार इनको छः दिन बीत गये। इनकी दृढ़-निष्ठा को देखकर श्रीकृष्णदासजी पयहारी इनके सामने सहसा प्रगट हो गये और अधिकारी जानकर श्रीराममन्त्र का उपदेश देकर इनका नाम रखे हठीनारायणदास। क्योंकि इन्होंने श्रीगुरु-दर्शन के लिए हठ किया था।

श्रीहठीनारायणदासजी स्वभाव से विचरणशील सन्त थे। एक बार ये तीर्थयात्रा करते हुए गुजरात प्रांत के नड़ियाद ग्राम में पहुँचे और वहाँ के लोगों का भाव देखकर कुछ काल तक वहीं रह गये। आपका परम-पुनीत दर्शन करके एवं उपदेशामृत श्रवण करके वहाँ के लोग बड़े प्रभावित हुए। दिनों दिन सुयश बढ़ने लगा। नड़ियाद ग्राम से कुछ दूर बसो नामक स्थान में एक बड़ा-भारी तान्त्रिक रहता था। उसको श्रीहठीजी की प्रसिद्धि असह्य हो गई। अतः उसने इनकी अप्रतिष्ठा का बहुत प्रयत्न किया, बहुत से तन्त्र-मन्त्रों का प्रयोग किया परन्तु सब व्यर्थ गये। श्रीरामभक्ति के सामने तन्त्र को एवं श्रीरामभक्ति के सामने उस तान्त्रिक को झुकना पड़ा। श्रीहठीनारायणदासजी की भक्ति का उसके ऊपर ऐसा प्रभाव

पड़ाकि वह अपना सम्पूर्ण स्थान इन्हें सौंपकर स्वयं कहीं अन्यत्र एकान्त में जाकर भगवान का भजन करने लगा। अब श्रीहठीनारायणदासजी बसो में ही रहने लगे।

एक बार ये विचरते-विचरते पंजाब प्रान्त में चले गये। श्रीराम प्रेम में मतवाले श्रीहठीजी को वहाँ के लोगों ने भंगेड़ी समझा। यदि किसी ने पूछा भी कि आप भाँग पीते हैं? तो ये भी मस्ती में कह देते-हाँ, मैं नामी नशेबाज हूँ। लोग यह तो समझते नहीं थे कि ये-'राम अमल माते रहैं पीवैं प्रेम निशंक।' जब ये आत्म-विभोर होकर कीर्तन करने लगते थे तो चैतन्य मनुष्यों की तो बात ही क्या जड़ वृक्ष तक आनन्द में झूमने लगते थे। धीरे-धीरे आपकी चर्चा राजदरबार में पहुँची। राजा ने बुलाकर सत्कार किया और धतूरा आदि बहुत-सी नशीली चीजें मिलाकर इनको प्रचुर मात्रा में भाँग पिलाकर कीर्तन करने की प्रार्थना की। इन्होंने खूब जमकर कीर्तन किया। भाँग का किंचित्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि जो भाँग इनको पिलाई गई थी, उसका कोई भी अंश यदि दूसरा पी ले तो सिवा मृत्यु के दूसरी गति नहीं थी। परीक्षा के लिए राजा ने इनके भोजन में तीव्र विष मिला दिया। परन्तु तब भी यह पूर्ण स्वस्थ बने रहे। कथा-कीर्तन में किंचित् भी अन्तराय नहीं पड़ा। तब तो राजा बहुत ही लज्जित होकर इनके चरणों में पड़ गया और अपराध के लिए क्षमा-याचना करते हुए बोला कि आप तो साक्षात् शिव जान पड़ते हैं। आजीवन विमुख जीवों को भगवत्सम्मुख करने का पवित्र कार्य करते हुए श्रीहठीनारायणदेवजी ने सं० १७०३, श्रावण शुक्ल सप्तमी को समाधि ले ली।

'श्रीरामरसिकावली' में श्रीरघुराजसिंह जी ने 'हठीदास' और 'नारायणदास' दो सन्त मानकर दोनों का पृथक्-पृथक् चरित्र लिखा है।

श्रीहठीदासजी-ये निरन्तर श्रीरामनाम रटते रहते थे। इनकी जिह्वा एक क्षण के लिए भी रामनाम नहीं छोड़ती थी। भोजन, जलपान, शयन के समय जब कोई दूसरा नाम रटता था। तब ये अन्न-जल ग्रहण करते थे। धीरे-धीरे लोग इनके नियम को जान गये थे अतः जब भोजन-पान का समय आता तो लोग स्वयं नाम रटते और ये भोजन विश्राम कर लेते थे। एक बार ये विचरते हुए एक ऐसे देश में जा पहुँचे, जहाँ के लोग इनके नियम को जानते ही नहीं थे। इनको बड़ी जोर की प्यास लगी थी। नाम छोड़कर न तो ये जल माँग सकते न पी सकते थे। सायंकाल होते-होते प्राण सङ्कट में पड़ गये परन्तु इन्होंने अपना नियम नहीं छोड़ा तब स्वयं भगवान श्रीरामजी ही कृपाकर एक ब्राह्मण का रूप धारणकर आये। श्रीहठीदासजी ने उनको देखकर 'श्रीराम-राम' कहा तो ब्राह्मण-वेषधारी भगवान भी

'श्रीराम-राम' कहने लगे। तब श्रीहठीदासजी ने जलपान किया। जब ये जल पी चुके तो भगवान अन्तर्धान हो गये। नामनिष्ठा हो तो ऐसी हो।

श्रीनारायणदासजी-इनको मानसी-भावना की सिद्धि थी। ये एक बार श्रीबद्रीनारायण का दर्शन करने जा रहे थे। मार्ग में एक झूले का पुल पार करना था। उस पर यात्रियों की बहुत भीड़ थी। सभी आगे जाने के प्रयत्न में थे। तब श्रीनारायणदासजी भीड़ से अलग हटकर मानसी में पुल पार करने की भावना करने लगे। मानसी में पुल पार करते ही जब ये नेत्र खोले तो सचमुच अपने को पुल के उस पार पाये। जो यात्रीगण इनको पीछे करके, स्वयं आगे चले थे, वे लोग अपने से भी पहले इन्हें पुल पार देखकर बड़े प्रभावित हुए, चरणों में पड़कर क्षमा माँगी। ये श्रीनर-नारायण भगवान का दर्शन कर कुछ काल तक वहीं निवास किये। फिर श्रीरामायणजी का पाठ करते-करते वहीं इस नश्वर-शरीर का त्याग किये।

श्रीसूरजदासजी-इनका यह दृढ़ नियम था कि नित्य-प्रति सूर्यमण्डल मध्यस्थ श्रीसीतारामजी का दर्शन-पूजन करके ही अन्न-जल ग्रहण करते थे। सन्तों की जमात लेकर विचरते रहते थे। एक बार भादौं के महीने में आकाश एकदम मेघाच्छन्न था। सूर्य का दर्शन परम दुर्लभ था। समस्या अपनी नहीं थी, संग के सन्तों की थी। जब तक हम कुछ खायेंगे नहीं तब तक संत-समुदाय कैसे कुछ खा सकता है? अतः श्रीसूरजदासजी बड़ी निष्ठा पूर्वक थाल में पूजा की सामग्री लेकर भगवान का पूजन करने चले। लोगों को बड़ा कुतूहल हुआ कि इतनी घनघोर घटा में सूर्य का दर्शन तो सम्भव है नहीं, फिर ये पूजन कैसे करेंगे? परन्तु भक्तवाञ्छा-कल्पतरु भगवान ने इनका नियम निबाहा। ज्यों ही ये पूजा का थाल पृथ्वी पर रखकर सूर्य की ओर दृष्टि किये त्यों ही मेघ-पटल को चीरकर तत्काल श्रीसूर्य भगवान प्रकट हो गये। इन्होंने बड़े ही आह्लादपूर्वक सूर्यमण्डल मध्यस्थ श्रीसीतारामजी का पूजन किया। यह देखकर सब लोग चकित हो गये और बारम्बार इनके चरणों में प्रणाम किये। इसी प्रकार से जब तक इनका शरीर रहा तब तक वह नियम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। ऐसे निष्ठावान थे श्रीसूरजदासजी।

श्रीपयहारीजी के सोलह शिष्यों की सम्मिलित कथा

एक बार श्रीपयहारीजी के पुरुषोत्तमदास, पृथुदास, पद्मनाभदासादि सोलह शिष्य संग-संग श्रीबदरिकाश्रम की यात्रा किये। ये लोग श्रीबद्रीनारायण भगवान का दर्शनकर लौट रहे थे। मार्ग में एक गाँव के समीप एक वटवृक्ष के नीचे रात्रि में विश्राम कर रहे थे। उस वट

पर सोलह हजार प्रेत अपने परिवार सहित निवास करते थे। भगवदिच्छा से आधी रात को बड़े जोर की आँधी आई। सन्तों की चरणरज उड़-उड़कर उन प्रेतों पर जा पड़ी। कल्पांत में भी जिनका उद्धार सम्भव नहीं था, वही प्रेत संत-चरणरज के प्रभाव से तत्काल प्रेतयोनि से मुक्त होकर दिव्यस्वरूप धारणकर दिव्य विमान पर आरूढ़ होकर सन्तों की जय-जयकार करते हुए भगवद्धाम को चले गये। यहाँ यह उपदेश है कि जब अकस्मात् सन्त-चरणरज पड़ जाने से महापापी प्रेतों का उद्धार हो गया तो यदि श्रद्धापूर्वक सन्तों की चरणरज का सेवन किया जाय तो उसकी महिमा कौन वर्णन कर सकता है।

इन्हीं सोलहों संतों की जमात एक बार साँभर के मेला को जा रही थी। मार्ग में एक अत्यन्त गहरी नदी पड़ती थी। सब लोग नाव पर बैठ गये। जब नौका बीच धारा में आई तो केवट सबसे उतराई माँगने लगा। इन लोगों के पास तो पैसे के नाम पर फूटी-कौड़ी भी नहीं थी। नाविक ने झुंझलाकर कहा-यदि आप लोगों के पास पैसे नहीं हैं तो मैं कदापि पार नहीं ले जाऊँगा। मैं तो नाव को लौटाकर पुनः उस पार ही ले जाऊँगा। सन्तों ने कहा-भैया! तुमको नाव लौटाने में कष्ट होगा अतः हम लोग यहीं उतर जाते हैं। ऐसा कहकर सोलह संत नदी के बीच धारा में थल की भाँति उतर गये। वहाँ तुरन्त ही बहुत बड़ा रेतीला टापू प्रगट हो गया। नाव भी जल के अभाव में रुक गई। यह चमत्कार देखकर सभी नाविक संतों के चरणों में पड़ गये और बहुत अनुनय-विनय करके पुनः नाव पर चढ़ाये। यह समाचार जब वहाँ के राजा को मिला तो उसने बड़े ही भावपूर्वक संतों को अपने घर ले जाकर उनकी खूब सेवा की।

श्रीटीलाजी

श्रीसाकेत निवासाचार्यजी-राजस्थान में किशनगढ़ राज्यान्तर्गत सलेमाबाद निवासी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पण्डित श्रीहरिरामजी की धर्मपत्नी श्रीमती शीलादेवी ने अतिथि, अभ्यागत, साधु-सन्तों की सेवा के फलस्वरूप आबूराज निवासी एक सिद्धसंत के शुभाशीर्वाद से वि०सं० १५१५, ज्येष्ठ शुक्ल, दशमी तिथि को एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस समय अद्भुत बात तो यह हुई कि जन्म के कुछ ही क्षण बाद बालक बोलने लगा। यथा-समय बालक के सब शुभ-संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। बालक को ऊँचे टीलों पर बैठने का बड़ा शौक था अतः उसे सब लोग टीला नाम से पुकारने लगे। यज्ञोपवीत-संस्कारोपरान्त बालक ने विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। पूर्व के दिव्य-संस्कारवश अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि होने के कारण बालक अत्यन्त अल्प समय में ही सर्वशास्त्र निष्णात हो गया। विद्या का फल है विवेक की

प्राप्ति। माता-पिता के पुण्यप्रताप एवं शास्त्रानुशीलन के प्रभाव से बालक को बाल्यावस्था से ही भगवान में प्रीति हो गई। विद्वद्वरिष्ठ पण्डित श्रीहरिरामजी भी अपने होनहार पुत्र को सुन्दर-सुन्दर पौराणिक कथायें सुनाया करते थे जिससे कि पुत्र की भगवन्निष्ठा को परम प्रोत्साहन मिले।

एक दिन पण्डितजी ने भक्तशिरोमणि श्रीध्रुवजी का चरित्र सुनाया, जिसे सुनकर बालक टीला ने भी मन में निश्चय किया कि मैं भी ध्रुवजी की तरह महान् तप करके भगवान का साक्षात्कार करूँगा । फिर तो माता-पिताजी की आज्ञा लेकर, श्रीहनुमानजी के दिव्यादेश से श्रीमथुरापुरी में आकर श्रीटीलाजी ध्रुवटीला पर ही तप करने लगे। भक्तवत्सल भगवान ने भक्त का मनोरथ पूर्ण किया। श्रीटीलाजी से भगवान ने वर माँगने को कहा। तब ये बोले- प्रभो! आपका दर्शन पा लेने पर तो कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है। अतः मैं आपसे क्या माँगू? मुझे और तो कुछ नहीं चाहिए, हाँ, एक अभाव मेरे मन में खटकता रहता है कि मैंने किसी सन्त-सद्गुरु से वैष्णवी-दीक्षा नहीं ली है। आज तक मैंने जो कुछ भजन-साधन किया है वह या तो ग्रन्थों के आधार पर या पूज्य पिताजी के द्वारा कुछ सुन-समझकर। अतः आपसे यही निवेदन करता हूँ कि आप मुझे श्रीसद्गुरु मिला दें। श्रीभगवान ने कहा-टीलाजी! जिस प्रकार सुयोग्य शिष्य परमयोग्य सद्गुरु का अन्वेषण करता है उसी प्रकार परमयोग्य सद्गुरु भी सुयोग्य शिष्य को खोजते रहते हैं। मैं वरदान देता हूँ कि तुमको घर बैठे परम सिद्धसन्त सद्गुरु की प्राप्ति हो जायेगी। यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। श्रीटीलाजी भगवान की उस भुवन-मोहिनी छवि का ध्यान करते हुए निरन्तर भजन-परायण रहते थे।

बड़े-बड़े सन्त-महन्त इनका दर्शन करने के लिए आते थे। ये भी सबका बड़ा स्वागत सत्कार करते थे। फलस्वरूप इनके यहाँ सन्तों की भीड़ लगी रहती थी। खूब सत्सङ्ग होता था। इनकी योग्यता देखकर वैष्णव-सन्त आपस में विचार करते कि यदि टीलाजी विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा ले लेते तो सोने में सुगन्ध हो जाती। परन्तु इनकी सिद्धाई देखकर किसी को यह कहने का साहस नहीं होता था। कोई-कोई वयोवृद्ध सन्त बड़ी युक्ति से हँसकर कहते-टीलाजी! आपकी सिद्धता में तो कोई सन्देह नहीं है, आप सत्सङ्ग की बात भी बड़ी अच्छी-अच्छी कहते हो, लेकिन न जाने क्यों, उनमें मिठास नहीं आती है क्या आपने अभी गुरु नहीं किया है क्या, क्योंकि मिठास तो गुरुमुख होने पर ही आती है। यथा-'गुरुमीठा संसार में (या) गुरुमुख मीठा होय।' श्रीटीलाजी कहते-महाराज! क्या करूँ, अब तक मेरे

ऊपर कृपा ही नहीं भई। जिस दिन कृपा होगी, उस दिन स्वयं भगवान मेरे गुरु बनकर आ जावेंगे और मुझे कृतार्थ कर देंगे। सन्त कहते कि आपके यहाँ तो नित्य अनेकों सन्त भगवान आते हैं किसी से दीक्षा ले लीजिये। ये हाथ-जोड़कर विनती करते कि, तो आप ही कृपा कर दीजिये, कण्ठी बाँधकर मन्त्र सुना दीजिये।

इतनी विनय सुनकर जब कोई कंठी बाँधने लगता तो ये सिद्धिबल से टीला सहित ऊँचे उठ जाते, उनका हाथ ही उनके कंठ तक नहीं पहुँचता। सन्त संकुचित हो जाते। धीर-धीरे यह बात सर्वत्र फैल गई। सन्तों ने मिलकर श्रीपयहारीजी से जाकर कहा कि आप परमसिद्ध हैं, यदि आप चाहें तो श्रीटीलाजी को कंठी बाँध सकते हैं। प्रथम तो श्रीपयहारीजी इन्कार कर गये कि हम उनको शिष्य नहीं बनायेंगे क्योंकि वह सन्तों को सिद्धाई दिखाकर संकुचित करते हैं। परन्तु जब सन्तों ने बहुत आग्रह किया तब श्रीपयहारीजी श्रीटीलाजी के यहाँ आये। श्रीपयहारीजी ने भी टीलाजी से वैष्णवी-दीक्षा लेने की बात चलाई तो टीलाजी ने पूर्वाभ्यास के अनुसार इनसे भी कण्ठी बाँधने को कहा। जब श्रीपयहारीजी कंठी बाँधने लगे तो ये टीला सहित ऊँचे उठे, तब श्रीपयहारीजी ने भी अपना हाथ बढ़ाया कुछ देर बाद तक यह बढ़ा-बढ़ी की क्रीड़ा होती रही। समुपस्थित संत-समुदाय बड़े ही कुतूहलपूर्वक दोनों सिद्धों का सिद्धिबल देख रहा था। इतने में श्रीपयहारीजी ने बड़ी स्फूर्ति से हाथ बढ़ाकर टीलाजी के गले में कंठी बाँध ही दी और उनके माथे पर हाथ धरकर बोले-बस, बस, देख लिया तुम्हारी सिद्धाई, अब नीचे हो जाओ। टीलाजी सद्गुरु पाकर कृतार्थ हो गये। टीले से उतरकर श्रीपयहारीजी के चरणों में पड़े। श्रीपयहारीजी ने उन्हें उपासना का रहस्य समझाया और उनका नाम रखा-श्रीसाकेत-निवासाचार्यजी।

श्रीगुरुदेव के द्वारा वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा पाकर श्रीटीलाजी ने अपने को परमधन्य माना। बहुत दिन तक श्रीगुरुदेवजी के साथ गलतागादी (जयपुर) में रहकर खूब आचार्य चरणों की सेवा की। इसके बाद श्रीगुरुजी से आज्ञा लेकर भारत के सम्पूर्ण तीर्थों का परिभ्रमण करने के उपरान्त जयपुर राज्यान्तर्गत अरणिया नामक गाँव में आप आचार्यपीठ का निर्माण कराकर बहुत काल तक वहाँ विराजकर वैष्णव-धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे। सं० १६४२ चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को साकेत लोकवास किया।

श्रीगङ्गादेवीजी-यह परमभागवती थीं। भगवत्प्रसाद, चरणामृत में इनकी बड़ी निष्ठा थी। कहते हैं कि इनके भाई को एक पिशाची लग गई थी जिससे वह दिनों-दिन

सूखता चला जा रहा था। उसके हटाने के अनेकों यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र किये गये, परन्तु सब व्यर्थ गये। तब एक दिन श्रीगङ्गादेवी ने विश्वासपूर्वक भगवच्चरणामृत लाकर भाई के ऊपर छिड़का। पिशाचनी तुरन्त ही उसे छोड़कर अलग हो गयी और अपने भी उद्धार की प्रार्थना करने लगी। तब गङ्गादेवी ने दया कर उस पिशाचनी का भी भगवच्चरणामृत द्वारा उद्धार किया।

श्रीविष्णुदासजी-ये विचरणशील सन्त थे। भगवच्चरणामृत का नियम था। अतः श्रीचरणामृत में भिगोकर बनी हुई रज की गुटिका हमेशा अपने साथ रखते। इन्होंने कुल-ग्रामवासियों की प्रेतबाधा दूरकर उनको परमसुख, शान्ति प्रदान की थी और उस प्रेत को भी श्रीराममन्त्र सुनाकर भगवत्पद प्रदान किया था। इस प्रभाव को देखकर बहुत से लोग आपके शिष्य हो गये थे।

श्रीरङ्गदासजी-ये बड़े ही गुरुनिष्ठ थे। श्रीगुरु को गोविन्द से भी बढ़कर मानते थे। इनके जीवन में श्रीवाल्मीकिजी की यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ थी कि-'तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकलभाय सेवहिं सनमानी।।' (रामा०) ये सिंहासन पर श्रीगुरुजी की चरणपादुका पधराकर उन्हीं की भगवान के समान सेवा-पूजा करते थे। बड़ी अकिंचनतापूर्वक रहते थे। एक बार एक चोर इनकी कुटिया में चोरी करने घुसा तो उसे और तो कुछ नहीं मिला, सिंहासन पर विराजमान श्रीगुरुजी की चरणपादुका थीं, उन्हें ही उठा ले गया। परन्तु कुछ ही दूर जाने पर उसे अत्यन्त व्याकुलता होने लगी वह घबड़ाकर पुनः पादुकाओं को वापिस ले आया और उसने चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा-प्रार्थना किया। इन्होंने कृपा करके उसे भी भगवद्भक्ति का उपदेश दिया।

श्रीकील्हदेवजी

गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं काल वश।।
रामचरण चिन्तवनि रहति निशिदिन लौ लागी।
सर्वभूत सिर नमित सूर भजनानन्द भागी।।
सांख्ययोग मत सुदृढ़ कियो अनुभव हस्तामल।
ब्रह्मरन्ध्र करि गौन भये हरितन करनी बल।।
सुमेर देव सुत जग विदित भुवि विस्तार्‍यो विमल यश।
गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं काल वश।।४०।।

शब्दार्थ–गांगेय=गङ्गाजी के पुत्र, भीष्मपितामह। गंज्यौ= तिरस्कार, विनाश। चिन्तवनि=ध्यान, चिन्तन। लौ=चित्तवृत्ति, आशा, चाह। सर्वभूत=सभी प्राणी। हस्तामल= हाथ में रखे आँवले के समान, अच्छी प्रकार जाना-समझा। ब्रह्मरन्ध्र=तालु मस्तक के मध्य ऊपर का गुप्त छिद्र। गौन=गमन, प्रस्थान। हरितन=भगवद्रूप, पार्षद। करनी बल= योगाभ्यास के द्वारा।

भावार्थ–जिस प्रकार गङ्गाजी के पुत्र श्रीभीष्मपितामहजी को मृत्यु ने नष्ट नहीं किया, उसी प्रकार स्वामी श्रीकील्हदेवजी भी साधारण जीवों की तरह मृत्यु के वश में नहीं हुए, बल्कि उन्होंने अपनी इच्छा से प्राणों का त्याग किया। कारण कि आपकी चित्तवृत्ति दिन-रात श्रीरामचन्द्रजी के चरणारबिन्दों का ध्यान करने में लगी रहती थी। आप माया के षड्विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले महान शूरवीर थे। सदा भगवद्भजन के आनन्द में मग्न रहते थे। सभी प्राणी आपको देखते ही नतमस्तक हो जाते थे और आप सभी प्राणियों में अपने इष्टदेव को देखकर उन्हें सिर झुकाते थे। सांख्य शास्त्र का तथा योग का आपको सुदृढ़ ज्ञान था और योग की क्रियाओं का आपको इतना सुन्दर अनुभव था कि-जैसे हाथ में रखे आँवले का होता है। ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से प्राणों को निकालकर आपने शरीर का त्याग किया और अपने योगाभ्यास के बल से भगवद्रूप पार्षदत्व प्राप्त किया। इस प्रकार श्रीसुमेरुदेवजी के सुपुत्र श्रीकील्हदेवजी ने अपने पवित्र यश को पृथ्वी पर फैलाया, आप विश्व-विख्यात संत हुए।।४०।।

व्याख्या–गांगेय०-देखिये पूर्वार्द्ध छ० ७, पृष्ठ १६३, श्रीभीष्मपितामहजी का प्रसङ्ग। 'कीलकरन नहिं कालवश'-देखिये कवित्त १२२। 'रामचरन चिन्तवनि'-देखिये पूर्वार्द्ध छ० ९, क० २७, पृष्ठ २०५ में श्रीअग्रदासजी की कुण्डलियाँ-'रामचरन तजि आन रति गज तजि नर गदहा चढ़ै।।' तथा-श्रीसुनीतिजी के वचन ध्रुव के प्रति-'इहै कह्यो सुत वेद चहूँ। श्रीरघुवीर चरन चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूँ।।' देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २६३।

पुनः- तुलसी सीतानाथ सों जो न भयो अनुराग।
तौ न करैगो काम कछु तप तीरथ वैराग।।
तप तीरथ वैराग भभरि विषयन ते भागै।
जैसे गुन बिनु दीन धनुष कौ तीर न लागै।।
तो पहिं शोच न जाय कबहुँ मूरख सुनि गीता।
प्रेम सहित ह्वै मगन अजहुँ भजु रघुवर सीता।।

पुनः- राम चरण अभिराम कामप्रद तीरथराज विराजै।
शंकर हृदय भक्ति भूतल पर प्रेम अछयवट भ्राजै।।
स्याम बरन पद पीठ अरुन तल लसति विशद नख श्रेनी।
जनु रवि सुता शारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिवेनी।।
अंकुश कुलिश कमल ध्वज सुन्दर भँवर तरंग विलासा।
मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा।।
बिनु विराग जप जोग जाग व्रत बिनु तप बिनु तन त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद प्रयाग अनुरागे।। **(गीतावली)**

लौ लागी-**साधना में ध्यान से भी बढ़कर लय को कहा गया है। यथा-'पूजा कोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटि समो जपः। जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटि समो लयः।' (अर्थ स्पष्ट है) लय का अर्थ है-बिना किसी प्रयत्न के सहज भाव से चित्त की वृत्तियों का सब ओर से हटकर भगवान् में लगना। इसी को सहजावृत्ति भी कहा गया है, जो कि सर्वोत्तम है। यथा-उत्तमा सहजावृत्तिर्ध्यानधारणमध्यमा।' ऐसी वृत्ति तब सम्भव है जब मन से सभी प्रकार की वासनायें दूर हो जायँ। यथा-'मनते सकल वासना भागी। केवल राम चरण लय लागी।'** (रामा०) **भगवान् में लौ लग जाने से जीव निर्भय हो जाता है। यथा-'लव लागी तब भय मिट्यौ निर्भय भजे जु प्रान। परशुराम या जीव को मिट गयौ आवाजान।।' अतः भगवान के चरणों में लवलीन रहने वाला ही परम चतुर है यथा-'तुलसी सोई चतुर नर रामचरण लवलीन। परधन परमन हरन को वेश्या परम प्रवीन।।'**

पूर्व कहे हैं कि श्रीभीष्मजी की तरह श्रीकील्हदेवजी काल के अधीन नहीं हुए। अब उसका कारण कहते हैं कि-'रामचरण चिन्तवनि।' भाव यह है कि अहर्निश भगवच्चिन्तन करने से काल की दाल नहीं गलती है। यथा-'कबहूँ काल न व्यापहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरन्तर मोहीं।।' पुनः-'नाम पाहरु दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जन्त्रित प्रान जाहिं केहि बाट।'

पुनः- सोच संकटनि संकट परत जर जरत प्रभाव नाम ललित ललाम को।
बूड़िऔ तरति बिगरियौ सुधरति बात होत देखि दाहिनो सुभाव विधि वाम को।।

भागत अभाग अनुरागत विराग भाग जागत आलसी तुलसीहूं से निकाम को।
धाई धारि फिरिकै गुहारि हितकारी होति आई मीच मिटति जपत राम नाम को।।

(कवितावली)

पुनः- ऐ हो हनू कह्यो श्रीरघुवीर कछू सुधि है सियकी छिति माहीं।
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाहीं।।
जावति हैं? कहिबेई को नाथ सु क्यों न मरीं हमते बिछुराहीं।
प्राण बसै पद पंकज में यम आवत है पर पावत नाहीं।।

पुनः- मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।। (भा० १०।३।२७)

अर्थ-**(देवकीजी कहती हैं) हे प्रभो! यह जीव मृत्युग्रस्त हो रहा है। यह मृत्युरूप कराल-व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों में भटकता रहा है परन्तु इसे कभी नहीं ऐसा स्थान मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे। आज बड़े भाग्य से इसे आपके चरणारविन्दों की शरण मिल गई है, अतः अब यह स्वस्थ होकर सुख की नींद सो रहा है। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गई है।**

श्रीराम काल के भी काल हैं। यथा-'तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला।।' श्रीराम से काल भी डरता है यथा-'ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला।।' अतः श्रीराम भक्तों को कालबाधा नहीं व्यापती है। अन्यथा काल इतना प्रबल है कि वह किसी को नहीं छोड़ता है। यथा-'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा।। अण्ड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी।।' (रामा०) 'सहसबाहु, दशवदन आदि नृप बचे न काल बली ते। हम हम करि धन धाम सँवारे अन्त चले उठि रीते।।' (वि०) परन्तु भगवत् स्मरण से काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है। यथा-'काल कर्म गुन स्वभाव सबके सीस तपत। रामनाम महिमा की चरचा चले चपत।।' (वि०) इसी से शास्त्रों में कहा गया है कि-'स्मर्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः।।'

सर्वभूत सिर नमित-**ये ऐसे तेजस्वी थे इन्हें देखकर सबका सिर बरबस इनके सामने झुक जाता था। तेजस्वी के सम्मुख झुकते ही बनता है। जैसे मिथिलापुरी में श्रीराम-लक्ष्मण को देखकर श्रीजनकजी आदि खड़े हो गये थे। 'उठे सकल जब रघुपति आए।'**

यह श्रीराम-लक्ष्मण के अपरमित तेज का स्वाभाविक सत्कार था। श्रीअङ्गदजी को देखकर उनके तेज से अभिभूत होकर रावण के सभासद उठ खड़े हुए थे। यथा-'उठे सभासद कपि कहुँ देखी।' श्रीशुकदेवजी को देखकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि खड़े हो गये थे। यथा-'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः।' (भा०) पुनः-दूसरा भाव यह भी कि ये अनन्यभाव से सबको प्रणाम करते थे। यथा-भागवते-'यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।' देखिये पूर्वार्द्ध छ० १३ पृष्ठ ५३६ श्लोक-'खं वायुमग्नि०।'

सूर-कायरों से भगवद्भजन नहीं हो सकता है। यथा-'कामी क्रोधी लालची इनसों भजन न होइ। भजन करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोइ।' भजन बल से संसार रिपु को जीतने वाला ही सच्चा शूरवीर है। यथा-'महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर।' (रामा०) इसी से सन्तों के लिए भी शूरवीर सुभट आदि शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। यथा-'कलियुग धर्म पालक प्रगट आचारज शङ्कर सुभट।।' छ० ४२। 'श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मनमोद धन।।' छ०७६।।

भजनानन्दभागी-यह भजनजन्य आनन्द के भागीदार थे। भजनानन्द इनके हिस्से में पड़ा हुआ था। जिसके हिस्से में जो वस्तु पड़ जाती है, वह उसे बरबस मिलती है। भजनानन्द का हिस्से में पड़ना बडे सौभाग्य की बात है। जैसे श्रीहरिरामव्यासजी के छोटे पुत्र श्रीकिशोरदासजी के भाग्य में तिलक, छाप, वंदनी पड़ी थी। (देखिये क० ३७३) यह भजनानन्द किसके हिस्से में पड़ता है, इस पर श्रीब्रह्माजी कहते हैं-'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष-माणो-स दायभाक्।।' (भा०) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४७। अन्यथा भजन करना बहुत ही कठिन है। यथा-

बड़ो ही कठिन है भजन ढिंग ढरिबो।
तमकि सिंदूर मेलि माथे पै साहस सिद्ध सती को सो जरिबो।।
रनके चाय घायल ज्यों घूमत मुरै न गरूर सूर को सो लरिबो।
नागरिदास सुगम जिनि जानो श्रीहरिवंश पन्थ पग धरिबो।।

श्रीसुमेर देव पिता सूबे गुजरात हुते भयो तनुपात सो विमान चढ़ि चले हैं।
बैठे मधुपुरी कील्ह मानसिंह राजा ढिंग देखे नभजात उठि कही भले भले हैं।।
पूछे नृप बोले कांसो? कैसे के प्रकासों कहौ कह्यौ हठ परे सुनि अचरज रले हैं।
मानुस पठाये सुधि ल्याए सांच आंच लागीकरी साष्टाङ्ग बात मानी भाग फलेहैं।।१२१

शब्दार्थ-सूबे=प्रान्त। तनुपात= मरण। कासों =किससे। प्रकासों = प्रकट करूँ। आँच लागी= पश्चात्ताप हुआ। रले = मिले, युक्त हुए।

भावार्थ- श्रीकील्हदेवजी के पिता गुजरात प्रान्त में थे वहीं उनका शरीर छूट गया। वे विमान पर बैठकर भगवान के धाम को जा रहे थे। उस समय श्रीकील्हदेव जी मथुरापुरी में विराजमान थे और समीप में ही राजा मानसिंह जी बैठे थे। आकाश में विमान पर पिताजी को जाते हुए देखकर आप उठ खड़े हुए (प्रणाम और स्वागत करते हुए) आपने कहा-बहुत अच्छा-बहुत अच्छा। (पिताजी ने आशीर्वाद देकर आभार प्रकट किया कि तुम्हारे पुण्य- प्रभाव से मैं भगवद्धाम को जा रहा हूँ) राजा मानसिंह ने पूछा कि प्रभो! आपने किससे वार्तालाप किया। आप बोले- कैसे बताऊँ, बताने की बात नहीं है। जब राजा ने हठ किया तो सब बात आपने बतला दी। सुनकर राजा आश्चर्य में पड़ गया। उसे विश्वास नहीं हुआ, उसने दूतों को भेजकर खबर मँगवाई। सच्ची बात सुनकर राजा को पश्चात्ताप हुआ कि- मुझे अविश्वास नहीं करना चाहिए था। राजा ने श्रीकील्हदेव जी को साष्टांङ्ग दण्डवत् करके उनके उपदेशों को स्वीकार किया। वह सन्तों में विश्वास करने लगा और माना कि- मेरे बड़े भाग्य फ़ले हैं जो ऐसा सत्सङ्ग प्राप्त हुआ।। १२१ ।।

व्याख्या- देखे नभ जात- श्रीकील्हदेवजी ने अपने पिता को दिव्यदेह धारणकर दिव्य विमान पर बैठकर आकाश मार्ग से भगवद्धाम जाते हुए देखा। इससे जनाया गया कि आपको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, अन्यथा प्राकृत नेत्रों से दिव्यदर्शन असम्भव है। यथा- 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।'(गी०)११-८ अर्थ- हे अर्जुन! तुम मुझको अपने प्राकृत नेत्रों से देखने में निःसन्देह समर्थ नहीं हो, अतः मैं तुमको दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ, उनसे तू मेरे स्वभाव को और योगशक्ति को देख। दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाने पर त्रिकाल एवं त्रिलोक करतलगत आमलक के समान सुस्पष्ट दिखाई देने लगता है अतः श्रीकील्हदेवजी ने देख लिया। परन्तु दिव्य नेत्रों के अभाव में मानसिंह को कुछ नहीं दिखाई पड़ा और जब श्रीकील्हदेवजी ने बताया तो उन्हें अत्यन्त आश्चर्य लगा और पता लगाने के लिए अपना आदमी भेजा। बात सत्य थी ही, अतः सन्त के वचन में सन्देह रूप अपराध हो जाने के कारण मानसिंह को बहुत पश्चात्ताप हुआ। इसलिए उन्होंने श्रीकील्हदेवजी के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर बार-बार क्षमा-याचना की। इस पर दृष्टान्त काशी नरेशका- इन्होंने श्रीकबीरदास जी के वचन में सन्देह किया था। बाद में बहुत पछताये और उसका बड़ा- भारी प्रायश्चित्त किया।

ऐसे प्रभु लीन नहिं काल के अधीन बात सुनिये नवीन चाहैं रामसेवा कीजिये।
धरी ही पिटारी फूलमाला हाथ डार्‌यो तहाँ व्यालकर काट्‌यो कह्यो फेरि काटि लीजिये।।
ऐसे ही कटायो बार तीनि हुलसायो हियो कियो न प्रभाव नेकु सदा रस पीजिये।
करिकैं समाज साधु मध्य यौं विराज प्रान तजे दशैं द्वार योगी थके सुनि जीजिये।।१२२।।

शब्दार्थ- **दशैं द्वार= ब्रह्मरन्ध्र, मस्तक के मध्य का वह छिद्र जहाँ से प्राण निकलने से मुक्ति होती है। थके = विह्वल, चकित हुए।**

भावार्थ- **श्रीकील्हदेवजी श्रीराघवेन्द्र सरकार के चरण- चिन्तन में इस प्रकार लीन रहते थे कि उनका मन एक क्षण के लिए भी इधर- उधर नहीं जाता था। इसी से आप मृत्यु के वश में नहीं थे। इनका एक नवीन चरित्र सुनिये, इनके मन में आया कि समय हो गया है। श्रीसीतारामजी की सेवा करूँ। पिटारी में फूलों की मालायें रखी थीं। माला निकालने के लिए जैसे ही आपने पिटारी में हाथ डाला तैसे ही एक महा-विषधर सर्प ने हाथ में काट लिया। दयावश आपने उसे भूखा जानकर उसके सामने फिर हाथ कर दिया कि फिर काट लीजिये। इसी प्रकार आपने तीन बार कटवाया। चौथी बार उसने काटा ही नहीं और पिटारी से निकल आया। अतिथि सर्प को सन्तुष्ट करके आपका हृदय आनन्दित हुआ। उस सर्प के विष का आपके ऊपर थोड़ा भी प्रभाव नहीं हुआ। कारण यह कि-आप सदा भगवद्रूपमाधुरी-रस का पान किया करते थे। जब आपको भगवद्धाम जाने की इच्छा हुई तब आपने सन्तों का समाज एकत्र किया। सभी नाम- संकीर्तन कर रहे थे। तब आपने साधु-मण्डली के बीच में विराजमान होकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों को त्यागा। योगी लोग यह देखकर तथा सुनकर आश्चर्य से चकित हो गये। इन चरित्रों को सुनकर भक्तिमय जीवन धारण कीजिये।।१२२।।**

व्याख्या-**चाहैं राम सेवा कीजिये-**

सेइये सुसाहिब राम सो।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुन्दर कोटिक काम सो।।
सारद सेस साधु महिमा कहैं गुनगन-गायक साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति चाहत चन्द्र ललाम सो।।
जाके भजे तिलोक तिलक भये त्रिजग जोनि तन तामसो।
तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि विधाता वामसो।। **(वि०)**

कियो न प्रभाव–**एक बार के विषधर सर्प के सूँघने मात्र से प्राण पखेरू उड़ जाते हैं, परन्तु यहाँ तो तीन-तीन बार काटने पर भी कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण श्रीकबीरदासजी बताते हैं–**

हमारे गुरु दीनी एक जरी।
कहा कहिये कछु कहत न आवै अमृत रसहिं भरी।।
याको मर्म न कोऊ पावै अतिहि अमोल खरी।
याही ते मुहिं प्यारी लागै लैकर गुप्त धरी।।
मन भुवङ्ग अरु पाँच नागिनी सूँघत तुरत मरी।
डाइन एक सकल जग खायो सोऊ देखि डरी।।
त्रिविध विकार ताप तन नासी दुरमति सकल हरी।
जा सुमिरन सौं मृत्यु परानी और कहा वपुरी।।
निसिवासर मैं कबहुँ न विसरौं पल छिन घरी घरी।
कहत कबीर भयो घर निर्मल सबही व्याधि टरी।। **(कबीरदास)**

भाव यह कि भगवद्भजन के प्रभाव से काल-व्याल का विष तो व्यापता ही नहीं फिर सामान्य सर्प की तो बात ही क्या? टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं–'सदा रस पीजिये'–भाव यह कि आप निरन्तर प्रभु ध्यान में मग्न रहते थे अतः सर्प के विष का प्रभाव नहीं पड़ा। यथा–'मन तहँ-जहँ रघुवर वैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।।' (रामा०)

दृष्टान्त–गुलाम का–**एक बार एक बादशाह ने अपने निजी हकीम से कहा कि विष की ऐसी गोलियाँ तैयार कीजिये, जिसके सूँघते ही प्राण निकल जायँ। हकीम ने वैसी ही सौ गोलियाँ तैयार कीं। बादशाह ने उन सब गोलियों को अपने निजी गुलाम (सेवक) को देकर कहा कि ये विष की गोलियाँ हैं, इन्हें यत्न से रखो। वही गुलाम एक दिन शाहजादी के अति सुन्दर स्वरूप को देखकर आसक्त हो गया। अब वह उसके विरह मे रात-दिन दुःखी रहने लगा। फिर एक दिन उसने विचार किया कि शाहजादी से मेरा मिलना तो त्रिकाल में असम्भव है और विरह दुःख सहा नहीं जाता है, अतः इससे अच्छा तो मर जाना ही है। यथा–'मरियेरी मरि जाइये, छूट परै संसार। अहमद ऐसो को मरे दिन में सौ-सौ बार।।' यह विचारकर उसने जहर की एक गोली खाली परन्तु नहीं मरा, तब दूसरी खाई फिर भी नहीं मरा, फिर एक-एक करके सभी गोलियाँ खा डालीं परन्तु तब भी वह मरा नहीं। कुछ दिन बाद बादशाह ने जब उस गुलाम से जहर की उस गोलियों को माँगा तब वह**

हाथ-जोड़कर बोला-हुजूर! वह तो मैंने सब खा डालीं। यह सुनकर बादशाह को बड़ा आश्चर्य हुआ तुरन्त हकीम को बुलवाकर गुलाम का वृत्तान्त कहकर पूछा कि तुमने कैसी गोलियाँ बनाईं? तब अनुभवी हकीम ने बहुत सोच-विचारकर कहा कि हुजूर! गोलियों में कोई कसर नहीं थी, इसका चित्त कहीं अटका हुआ है अतः इस पर उनका प्रभाव नहीं पड़ा। बादशाह ने कहा-इसका निश्चय कैसे किया जाय? तब हकीम ने कहा-सुन्दर चित्रकार को बुलाया जाय। चित्रकार आया, उससे कहा गया कि तुम बादशाह के सम्पूर्ण जनानखाने का चित्र बनाकर इसे दिखाओ। चित्रकार ने एक-एक करके सबके चित्र बनाकर उस गुलाम को दिखाये। जब उसने शाहजादी का चित्र दिखाया तो उसका चित्त स्वस्थ हो गया, बस, उसी क्षण उसका शरीर भस्म हो गया। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि जब लौकिकरूप में तन्मय होने से विष का प्रभाव नहीं व्यापता है तो भला जिनका मन निरन्तर अचिंत्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु भगवान श्यामसुन्दर के रूप में लगा है उनको कालबाधा व्याप्त ही कैसे सकती है? श्रीशिवजी, श्रीप्रहलादजी, श्रीमीराबाईजी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

एक समय की बात है, श्रीकील्हदेवजी मथुरापुरी में आये हुए थे। श्रीयमुना-स्नान करके एकान्त में भगवद् ध्यान कर रहे थे। उसी समय दिल्ली के बादशाह का मथुरा में आगमन हुआ। सेना-फौज व्यवस्था में लगी थी। रास्ता साफ किया जा रहा था। सब लोग तो हट गये, परन्तु ध्यानावस्थित होने के कारण श्रीकील्हदेवजी को कुछ खबर ही नहीं थी कि बाहर क्या हो रहा है? अतः वह समाधि में अचल ही बैठे रहे। किसी सिपाही ने जाकर बादशाह से शिकायत की कि हुजूर। एक हिन्दू फकीर रास्ते में बैठा है हम लोगों ने बहुत शोर-शराबा किया परन्तु वह तो सुनता ही नहीं। यवन बादशाह ने रंज में आकर कहा-उसके माथे में लोहे की कील ठोंक दो। अभी समाधि खुल जाती है। दुष्ट सेवकों ने वैसा ही किया। परन्तु आश्चर्य? श्रीप्रभु की कृपा से, भक्ति के तेज से वह लोहे की कील इनके सिर का स्पर्श होते ही गलकर पानी बनकर बह गई। यह चमत्कार देखकर सेवकों ने बादशाह से जाकर कहा। वह डरकर सवारी से उतरकर नंगे पाँव दौड़कर आपके चरणों में पड़कर बारम्बार क्षमा-याचना करने लगा। जब बहुत देर बाद इनकी समाधि छूटी और सब बात मालूम हुई तो आपने अपने साधु-स्वभाव से बादशाह को क्षमा कर दिया। परम समर्थ होकर भी ऐसे अद्भुत क्षमाशील थे श्रीकील्हदेवाचार्यजी। बादशाह ने आपको अपने यहाँ कभी पधारने का निवेदन किया। आपने कभी किसी समय आने की स्वीकृति दे दी।।

हठधर्मी यवन बादशाह बलात् 'हिन्दुओं को मुसलमान' बना रहा था। सभी हिन्दू मिलकर श्रीकील्हदेवजी की शरण में गये। श्रीकील्हदेवजी हिन्दुओं को आश्वासन देकर स्वयं योगबल से बादशाह के दरबार में उपस्थित हुए। बादशाह चूँकि आपके प्रभाव से परिचित था, अतः उसने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। भोजन के सम्बन्ध में बादशाह ने पूछा कि आप स्वयं बनायेंगे या मैं किसी ब्राह्मण रसोइया से बनवा दूँ। आपने कहा कि ठीक है, ब्राह्मण से ही पवित्रतापूर्वक बनवा दो। यह पूछे जाने पर कि आप क्या पाइयेगा, आपने कहा कि खिचरी बनवाओ। ब्राह्मण ने चूल्हा चेताया, चावल-दाल अमनियाँ किया और जब दोनों को मिलाकर जल में छोड़ने का विचार किया तो चावल-दाल दोनों अलग-अलग हो गये। और यह क्रिया एक बार नहीं, बारम्बार हुई तब ब्राह्मण ने हारकर बादशाह से यह हाल कहा। बादशाह समझ गया कि यह सन्त का चमत्कार है अतः श्रीकील्हदेवजी के पास आकर चरणों में प्रणाम कर चावल-दाल न मिलने का रहस्य पूछा। आपने कहा कि जब चावल-दाल नहीं एक हो रहे हैं तो हिन्दू-मुसलमानों को कैसे एक कर सकोगे? दोनों के गुण-स्वभाव, कर्म-धर्म अलग-अलग होते हैं। बादशाह समझ गया, अतः बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का आग्रह छोड़ दिया। श्रीकील्हदेवजी ने इस प्रकार हिन्दू-धर्म की रक्षा की। श्रीकील्हदेवजी की ही कृपा से श्रीभक्तमाल के रचयिता श्रीनाभाजी को नेत्र लाभ हुआ था। देखिये पूर्वार्द्ध, कवित्त १२, पृष्ठ ९२।

श्रीअग्रदासजी

श्रीअग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो।
सदाचार ज्यों सन्त प्राप्त जैसे करि आये।
सेवा सुमिरण सावधान चरण राघव चित लाये।।
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरन्तर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ वर्षत धाराधर।।
श्रीकृष्णदास कृपाकरि भक्तिदत्त मन वच क्रम करि अटल दयो।
श्रीअग्रदास हरि भजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो।।४१।।

शब्दार्थ-बित्तयो=बितायौ, गँवायौ। प्राप्त = भगवत्प्राप्त, पूर्वाचार्य। सुहथ=स्वहस्त, अपने हाथ से। कृत = काम, सेवा। धाराधर=मेघ। दत्त =दिया। दयो = दिया।

भावार्थ-श्रीस्वामी अग्रदासजी ने भगवद्भजन के बिना क्षणमात्र समय को भी व्यर्थ नहीं बिताया। आपका वैष्णव सदाचार पूर्ववर्त्ती (प्राचीन) आचार्यों के समान ही था। आप सदा मानसी-सेवा एवं प्रगट विग्रह-सेवा में तथा भगवन्नाम स्मरण में सावधान रहते थे। सदा राघवेन्द्र-सरकार के श्रीचरणों में मन को लगाये रहते थे। सीताराम विहार, प्रसिद्ध बाग में आपकी बड़ी प्रीति थी, उसे सींचने, बुहारने आदि की सब सेवायें सदा अपने हाथ से ही करते थे। आपकी जिह्वा से परम-पवित्र श्रीसीताराम-नाम की ध्वनि इस प्रकार होती रहती थी मानो मधुर गर्जन के साथ मन्द-मन्द वर्षा हो रही है गुरुदेव पयहारी श्रीकृष्णदासजी ने परमकृपा करके मन-वचन-कर्म से सम्बन्धित अचल भक्ति का भाव आपको प्रदान किया था।।४१।।

व्याख्या-हरिभजन-भगवान शिवजी कहते हैं-'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।।' श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं-'निज अनुभव मैं कहउँ खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा।।' श्रुति सिद्धान्त भी यही है। यथा-'श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। भजिय राम सब काम बिसारी।।' (रामा०) अतः तत्वज्ञ-पुरुष 'हरिभजन' के अतिरिक्त दूसरा काम ही नहीं करते। यथा-'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा।' यही नर देह धारण करने का वास्तविक फल है। यथा-'देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम विहाई। कूकर-सूकर करत हैं खान-पान रस भोग। तुलसी वृथा न खोइये, यह तन भजिबे जोग।।'

काल वृथा०-

श्वांस श्वांस प्रति नाम रट, श्वांस वृथा जनि खोय।
ना जानौं एहि श्वांस को, आवन होय न होय।।
तीन लोक की सम्पदा, श्वांस सम नहिं होय।
सो श्वांसा रघुनाथ बिन, तुलसी वृथा न खोय।।
कहता हूं कहि जात हौं, और बजाये ढोल।
श्वांस श्वांस में जात है, तीनि लोक को मोल।।
दो बातन को भूल मत, जो चाहै कल्यान।
नारायन एक मौत को, दूजे श्री भगवान।।

इस सम्बन्ध में श्रीअग्रदासजी स्वयं कहते हैं-

आगि लगंते झोपड़ा जो निकसै सो लाभ।।
जो निकसै सो लाभ न करु मानुष तन चोरी।
जे लेखे की श्वांस गई आवति न बहोरी।।
ज्यों कर अंजलि मांहिं घटत जल थिर न रहाई।
कर आरत हरि भजन साखि काया वध गाई।।
'अगर' कहाँ लगि थेगरी दीजै फाटे आभ।
आगि लगंते झोपड़ा जो निकसै सो लाभ।।

पुनः- नदी किनारे रूखड़ा जब तब होय विनाश।।
जब तब होय विनाश देह कागर की छागर।
आयु घटति दिन-रात सदा आगे को आगर।।
जरा जोरवर श्वान प्रान को काल सिकारी।
मूसक कहा निसंक मृत्यु ताकि रही मँजारी।।
'अगर भजन आतुर करौ जौं लौ या घट श्वांस।
नदी किनारे रूखड़ा जब तब होय विनाश।।

वृथा नहिं वित्तयो-**कहने का भाव यह है कि वैसे तो समय अपनी अबाध गति से सबका बीतता है, चाहे वह भजन-परायण हों चाहे व्यसन परायण। परन्तु भजन करने वालों का समय सार्थक हो जाता है और विषयोपभोग में ही लगे रहने वालों का समय व्यर्थ जाता है। यथा-**

मन तुम मोह में समोइबो करत सदा लोभ की लपेटन में रोइबो करत हौ।
काम बस होइ जोइबो करत होइ क्रोध बस जीवन बिगोइबो करत हौ।।
भनै अमरेश जैसो बोइबो करत बीज होइबो करत तैसो ढोइबो करत हौ।
ऊपर की देह यह धोइबो करत नित सोइबो करत दिन खोइबो करत हौ।।

दृष्टान्त-दो ब्राह्मणों का-**दो ब्राह्मण सौ-सौ रुपया लेकर तीर्थयात्रा करने चले। एक ब्राह्मण तो जहाँ जाता वहाँ मन्दिर में, देवालय में, साधु-सेवा में, दीन-दुःखियों की सहायता में अपना धन खर्च करता चलता और दूसरा एक पैसा भी खर्च नहीं करता। भोजन भी जहाँ कहीं सदाव्रत बँटता वहाँ जाकर कर लेता। कहीं दान-दक्षिणा बँटते देखता तो वहाँ भी पहुँचकर कुछ प्राप्त कर लेता। इस प्रकार उसने खर्च तो कुछ किया नहीं, बटोर और**

लिया। परन्तु मार्ग में लौटते समय चोरों ने उसके सब रुपये ले लिए। अब विचार कीजिये, रुपये तो दोनों के चले गये परन्तु एक का दान-पुण्य में खर्च होने से सार्थक हो गया और दूसरे का चोरी चले जाने से व्यर्थ गया। इसी प्रकार श्रीअग्रदासजी ने श्रीहरि-भजन करके अपने समय को सार्थक कर लिया। संसारी लोगों का समय व्यर्थ जाता है। समय बहुमूल्य है। व्यर्थ के सांसारिक चिन्तन में समय को बरबाद नहीं करना चाहिए। इस पर-

दृष्टान्त-मूर्ख किसान का-एक किसान था। उसका खेत था नदी के तट पर। खेत में ज्वार बोया था। एक दिन खेत की मेंड बनाते समय उसे खेत में गड़ी हुई मणियों से भरी एक हँड़िया मिली। उसे मणि की पहचान तो थी ही नहीं, उसने उसे पत्थर समझा और उससे चिड़ियों को भगाने लगा। चिड़ियाँ उसके ज्वार के खेत में बैठकर ज्वार खातीं। सम्पूर्ण खेत की ज्वार एक मणि के मोल के बराबर भी नहीं है, परन्तु उस मूर्ख ने ज्वार रखाने में एक-एक करके सभी मणियाँ चिड़ियों के ऊपर चलायीं और वे सबकी सब नदी में जा पड़ीं। किसान की पत्नी कांच का टुकड़ा समझकर पैसे के अभाव में उसी से नमक खरीदने के लिए एक दुकान पर गई। वहाँ एक जौहरी बैठा था। उसने पहचान लिया कि यह तो मणि है। उसे किसान की पत्नी के भोलेपन पर दया आई अतः मणि को स्वयं लेकर उसके बदले में जौहरी ने रुपयों की बोरियाँ उसके घर भेजवाया। जब किसान को यह रहस्य मालूम हुआ तो उसे अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ, वह शोक के मारे मूर्छित हो गया। परन्तु-'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गईं खेत।' इसी प्रकार जो समय भगवद्-भजन के लिए मिला है उसे विषय भोगों में लगाने वालों को अन्त समय में पछताना पड़ता है। अतः 'अग्रदास हरिभजन०।

सदाचार···आये-यथा-'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।' (गी०) अर्थ-श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार वर्तते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं। स्मृतिकारों ने आचार को प्रथमधर्म माना है। यथा-'आचारः प्रथमोधर्मः' अतः साधुपुरुष किसी भी परिस्थिति में सदाचार का परित्याग नहीं करते हैं। फिर आचार्य को तो आचरणशील होना ही चाहिए। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति ही है-'आचरति, आचारयतीति आचार्यः।'

सेवा सुमिरण सावधान-शास्त्रों में बत्तीस सेवापराध कहे गये हैं। उन बत्तीस अपराधों को बचाकर भगवान की सेवा करना ही सेवा में सावधानी है। बत्तीस अपराध ये हैं-

यानैर्वा पादुकाभिर्वा गमनं भगवद्गृहे। देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः।।
उच्छिष्टे वाप्यशौचे वा भगवद्दर्शनादिकम्। एक हस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात्प्रदक्षिणम्।।
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम्। शयनं भक्षणं चापि मिथ्या भाषण मेव च।।
उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः। निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूर भाषणम्।।
कम्बलावरणञ्चैव परनिन्दा परस्तुतिः। अश्लील भाषणञ्चैव अधोवायोर्विमोक्षणम्।।
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्। तत्तद्कालोद्भवानांच फलादीनामनर्पणम्।।
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके। पृष्ठी कृत्यासनं चैव परेषामभिवादनम्।।
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा। अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत्परिकीर्तिताः।।

अर्थ–१. सवारी पर चढ़कर अथवा पैरों में खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान के मन्दिर में जाना। २. रथयात्रा, जन्माष्टमी, श्रीरामनवमी आदि उत्सवों का न करना अथवा उनके दर्शन न करना। ३. श्रीमूर्ति का दर्शन करके प्रणाम न करना। ४. अशुचि अवस्था में प्रणाम करना। ५. एक हाथ से प्रणाम करना। ६. परिक्रमा करते समय भगवान के सामने आकर कुछ न रुककर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना। ७. भगवान के श्रीविग्रह के सामने पैर फैलाकर बैठना। ८. दोनों घुटनों को ऊँचा करके उनको हाथों से बाँधकर बैठना। ९. सोना। १०. भोजन करना। ११. झूठ बोलना। १२. जोर-जोर से बोलना। १३. आपसी बातचीत करना। १४. जोरों से चिल्लाना। १५. कलह करना। १६. किसी को पीड़ा देना। १७. किसी पर अनुग्रह करना। १८. कठोर वचन बोलना। १९. कम्बल से शरीर ढककर सेवा करना। २०. भगवान के सामने दूसरे की निन्दा करना। २१. दूसरे की स्तुति करना। २२. अश्लील शब्द बोलना। २३. अधोवायु का त्याग करना। २४. शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारों से पूजन करना। २५. भगवान को निवेदन किए बिना ही किसी वस्तु को खाना-पीना। २६. जिस ऋतु में जो फल हों, उन्हें सबसे पहले भगवान को अर्पण न करना। २७. किसी शाक या फल आदि के अगले भाग को तोड़कर भगवान के व्यंजनादि के लिए देना। २८. भगवान को पीठ देकर बैठना। २९. भगवान के सामने दूसरे किसी को प्रणाम करना। ३०. गुरुदेव की अभ्यर्थना, कुशल प्रश्न और उनका स्तवन न करना। ३१. अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना। ३२. किसी भी देवता की निन्दा करना।

दश नामापराध कहे गये हैं इन नामापराधों से अपने को बचाते हुए भगवत-स्मरण करना सुमिरन में सावधानी है। नामापराध ये हैं–श्रीसनत्कुमार उवाच–

सतां निन्दा नाम्नः प्रथममपराधं वितनुते,
यतः ख्याति यातां कथमुपसहते तद्विगर्हाम्।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं-
धियाभिन्नंपश्येत्स खलु हरिनामाहितकरः।।१।।

गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद् यस्य हि पाप बुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः।।२।।
धर्म व्रत त्याग हुतादि सर्व शुभ क्रिया साम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्धधानेऽप्यमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशं स नामापराधः।।३।।

श्रुत्वापि नाम माहात्म्यं यः प्रीति रहितोऽधमः।
अहं ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराध कृत्।।४।। **(पद्मपुराण)**

अर्थ-श्रीसनत्कुमारजी श्रीनारदजी से कहते हैं-सन्तों की निन्दा करना प्रथम नामापराध है क्योंकि सन्तों से ही नाम की ख्याति होती है अतः सन्तों की निन्दा को श्रीनाम महाराज कैसे सह सकते हैं? बुद्धि के द्वारा श्रीशिवजी के गुण, नाम आदि के महत्व को श्रीविष्णुजी से भिन्न मानना द्वितीय नामापराध है क्योंकि 'हरिहरयोर्भेदो नास्ति।' श्रीगुरुदेवजी की अवज्ञा करना तीसरा नामापराध है। चौथा अपराध है वेद-शास्त्रों की निन्दा करना। पांचवाँ अपराध है भगवान के नाम-माहात्म्य के विषय में अर्थवाद की कल्पना करना अर्थात् निष्ठा उत्पन्न करने के लिए इतना बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है वास्तव में इतनी महिमा नहीं है। नाम के बल पर पाप करना ही छठा नामापराध है। अर्थात् मैं तो नाम-जप करता हूँ, फिर यदि कुछ पाप जान-बूझकर भी हो जायेगा तो नाम प्रताप से उसकी शुद्धि हो जायेगी। ऐसा सोचना महापराध है। ऐसे पापी के विषय में, अन्य साधनों की तो बात ही क्या, यमराज के कराल शासनों से भी शुद्धि नहीं होगी। अन्य धर्म, व्रत त्याग और हवन आदि साधनों को नाम के तुल्य मानना सातवाँ नामापराध है। नाम जपते हुए भी प्रमाद का न त्यागना, असावधान रहना, सत्सङ्ग न करना आठवाँ नामापराध है। श्रद्धा, सम्मुखता एवं श्रवणाभिलाषा के बिना ही नाम रहस्य का उपदेश करना नवाँ नामापराध है। जो अधम नाम-माहात्म्य को सुनकर भी नाम-प्रीति रहित है और अहङ्कार ममकार से युक्त है, वह महान नामापराधी है। यह दशवाँ नामापराध है। श्रीअग्रदासजी सेवा-सुमिरन में बड़े सावधान थे। सेवा-सावधानी पर दृष्टान्त श्रीपीपाजी एवं टोड़ेके

राजा का-देखिये कवित्त ३००। सुमिरन की सावधानी पर श्रीकबीरदासजी की चेतावनी-'माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं। मनुवा तो चहुँदिशि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं।।'

बाग सों प्रीति-**क्योंकि बाग में श्रीजनकनन्दनी श्रीजानकीजी के दर्शन हुए थे। उस समय आपने यह पद गाया था-**

पद- ठुमुक ठुमुक चलत चाल जनकनन्दिनी।
अति मधुर वचन तोतरे त्रय ताप मोचिनी।।
शोभित नव नील वसन मन्दहासरुचिर दसन,
झलकत उर माल सकल देव-वन्दिनी।
नुपूर पग बजत मानो सामवेद करत गान,
छुद्र घण्टि रुचिर नाद उर-अनन्दिनी।।
जगत मातु सखिन संग विहरत बहु करत रंग,
(श्री) अग्रदास निरखत छवि भव-निकन्दिनी।।

उसी दिन से आपका यह भाव बन गया कि इस बाग में श्रीप्रिया-प्रियतम युगल सरकार श्रीसीतारामजी विहार करते हैं अतः इसकी समस्त सेवा अपने हाथ से करते। पुनः 'सुहथ कृत करत' का भाव यह भी कि भगवत्सेवा अपने ही हाथ से करनी चाहिए। श्रीअग्रदासजी आचार्य हैं अतः अपने आचरण से सबको शिक्षा देते हैं। दृष्टान्त-श्रीअम्बरीषजी का। देखिये पूर्वार्द्ध। दूसरा दृष्टान्त श्रीगदाधरभट्टजी का देखिये कवित्त-५३०। 'रसना निर्मल नाम'-यहाँ निर्मल शब्द दीपदेहली न्यास से रसना और नाम दोनों के साथ है। निर्मल रसना (जिह्वा) से ही भगवान का निर्मल नाम निकलता है। अन्यथा-'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहिं जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।।' (वि०) जिह्वा का मैल है परदोष, पर निन्दा कथन। यथा-'परनिन्दा सुनि श्रवण मलिन भये जीह दोष पर गाये।' (वि०) आपकी निर्मल रसना से निर्मल नाम की झड़ी लग जाती थी।

दरशन काज महाराज मानसिंह आयो, छायो बाग माँझ, बैठे द्वार द्वारपाल हैं।
झारिकै पतौवा गये बाहिर लै डारिबे को, देखी भीरभार, रहे बैठि ये रसाल हैं।।
आये देखि नाभाजू ने उठि साष्टांग करी, भरी जल आँखें, चले अँसुवनि जाल हैं।
राजा मग चाहि, हारि, आनिकै निहारै नैन, जानी आप जानी भये दासनि दयाल हैं।

शब्दार्थ-पतौवा=पत्ता। मग चाहि=बाट देखकर। जानी आप =आपने जाना। जानी भये=जानी=अन्तर्यामी, भीतर की जानने वाले+भये=प्रकट भये।

भावार्थ-एक बार जयपुर के राजा मानसिंह स्वामी श्रीअग्रदेवजी के दर्शन करने के लिए आये। उस समय स्वामीजी बाग में ही थे। बाग के द्वार पर राजा के द्वारपाल बैठ गये। अन्य कुछ व्यक्तियों के साथ राजा बाग के भीतर गये। इसी बीच स्वामीजी बाग के सूखे पत्तों को झाड़कर बाहर फेंकने गये। राजा के साथ आई हुई भीड़-भाड़ को देखकर स्वामीजी लौटकर नहीं आये। बाहर ही बैठ गये और माधुर्य रस-रूप श्रीस्वामीजी मधुर ध्यान-रस में लीन हो गये। स्वामीजी को न आया देखकर श्रीनाभाजी स्वामीजी के निकट आये और उनके प्रेममग्न स्वरूप का दर्शन करके उनको साष्टाङ्ग दण्डवत की। श्रीनाभाजी की आँखें भर आईं और नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। राजा ने बाग में देर तक बाट देखी, फिर उससे न रहा गया, हारकर वह भी वहीं आ गया और उसने स्वामीजी के दर्शन करके यह जाना कि-जान राय श्रीरामचन्द्रजी ने ही दासों पर दया की है, वे ही श्रीअग्रदेवजी के रूप में विराजमान हैं।।१२३।।

व्याख्या-'महाराज मानसिंह आयो'-तप, त्याग, वैराग्य, अनुराग में इतना आकर्षण है कि स्वयं भगवान ऐसे महानुभावों का दर्शन करने आते हैं। यथा-'सहस्त्र शीर्षापि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्य दिदृक्षयागतः।।' (भा०४-९-१) अर्थात् भगवान् विष्णु गरुड़जी के साथ मधुवन में अपने भक्त ध्रुवजी का दर्शन करने आये। फिर अन्य राजा-महाराजाओं की तो बात ही क्या है? ये लोग तो कुटी के द्वार पर खड़े ही रहते हैं-'नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आशा जासु कि।' (छ० ९१)

दृष्टान्त- श्रीमलूकदासजी का-ये बड़े अलमस्त थे। एक बार औरंगजेब बादशाह ने इन्हें कैद में डाल दिया था। जब ये कारागार में गये तो इन्हें चक्की पीसने का हुक्म हुआ। इन्होंने देखा कि बहुत से कैदी चक्की चला रहे हैं। सभी पसीने से तर-बतर हो रहे हैं। इन्होंने दया करके सबको चक्की चलाने से रोक दिया और इनके सिद्धिबल से सब चक्कियाँ अपने आप चलने लगीं। जब यह समाचार औरंगजेब के बेटा आजमशाह ने सुना तो वह अपने दीवान को श्रीमलूकदासजी के पास भेजा कि सन्त को लिवा लाओ मैं दर्शन करूँगा। दीवान ने जाकर शाहजादे का सन्देश सुनाया। श्रीमलूकदासजी ने कहा-शाहजादे को लिवा लाओ। संसारी पुरुष साधु के यहाँ दर्शन करने जाते हैं तो उन्हें सद्‌गति होती है और जब साधु पुरुष संसारी के यहाँ जाते हैं तो उन्हें अधःपतन का भय रहता है अतः मैं

भयोन्मुख क्यों-होऊँ, वही आकर दर्शन करके सद्गति का भागी बने। दीवान ने जाकर आजमशाह को श्रीमलूकदासजी का वक्तव्य सुनाया। सुनकर आजमशाह बहुत प्रसन्न हुआ और स्वयं ही आकर इनका दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना। उसी प्रकार श्रीमानसिंहजी स्वयं श्रीअग्रदासजी का दर्शन करने आये थे।

राजा मानसिंह के साथ दस हजार फौज थी। कहीं लड़ाई पर जा रहे थे। मार्ग में आश्रम पड़ता था, अतः दर्शनार्थ आये। श्रीअग्रदासजी ने श्रीनाभाजी से कहा कि सबको प्रसाद देने के लिए कुछ लाओ। श्रीनाभाजी दस केले लाये। अग्रदासजी ने कहा-सबको दस-दस केले दो। श्रीनाभाजी ने सबको दस-दस केले दिये और अन्त में दस केले बचे भी रहे। यह है सिद्ध-पुरुषों की लीला। दस केलों में ही दस हजार लोगों को दस-दस केले दिये और दस बचे भी रहे। श्रीगुरु और शिष्य-दोनों ही सिद्ध थे। श्रीअग्रदासजी श्रीरामोपासना में श्रृङ्गाररस के आचार्य माने गये हैं रसिक-महानुभावों ने आपको श्रीजानकीजी की प्रिय-सखी श्रीचन्द्रकलाजी का अवतार कहा है। भावुक भक्तों का कहना है कि पुष्पवाटिका में श्रीजानकीजी श्रीरामजी के दर्शनों के लिए अपनी जिस प्रिय सखी को आगे करके चली हैं (चली अग्रकरि प्रिय सखी सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई।।) वही अग्रगामिनी, प्रीति-स्वरूपा प्रिय सखी (श्रीचन्द्रकलाजी) श्रीअग्रदासजी (अग्रअली) के रूप में प्रकटीं। स्वयं भगवान श्रीराम ने श्रीरामानन्दाचार्यजी के रूप में अवतार लेकर श्रीअनन्तानन्दजी, कबीरजी रैदासजी आदि शिष्यों के द्वारा भक्ति का बड़ा व्यापक प्रचार किया और कराया। परन्तु शान्त-रसोपासना, दास्य-रसोपासना, सख्य-रसोपासना और वात्सल्य-रसोपासना की तरह मधुर-रसोपासना (श्रृङ्गार-रसोपासना) का यथेष्ट प्रचार न हुआ। तब श्रीजानकीजी की आज्ञा से सखियों में सिरमौर श्रीचन्द्रकलाजी ने श्रीअग्रदासजी के रूप में अवतार लिया।

श्रीअग्रदासजी का प्रादुर्भाव वि० सं० १५५३, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को राजस्थान के एक गाँव में पवित्र ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये अत्यन्त अल्पवय में ही घर छोड़कर जयपुर में, गालवाश्रम (गलतागादि) में विराजमान श्रीकृष्णदास पयहारीजी की शरण में आ गये। कहते हैं कि जिस दिन ये श्रीगुरुशरणागति हुए उस दिन श्रीगुरुदेव श्रीपयहारीजी को इन्हें मन्त्रोपदेश देकर उनका रहस्य एवं शरणागति माहात्म्य समझाकर बड़ा आनन्दानुभव हुआ। वस्तु-तस्तु सुयोग्य शिष्य पाकर गुरुदेव को हर्ष होता ही है अतः श्रीपयहारीजी के मन में उल्लास हो रहा था कि आज खूब उत्सव मनाया जाय। संयोग की बात, उसी

समय आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजी श्रीगुरुदेवजी का दर्शन करने आये। श्रीगुरुदेवजी को अत्यन्त प्रसन्न देखकर प्रसन्नता का कारण पूछे तो श्रीपयहारीजी ने मन की बात बता दी। फिर क्या था, राजाज्ञा हुई, मन्त्रियों ने बड़े भारी उत्सव का साज सजाया। मङ्गल वाद्यों की तुमुल ध्वनि से आकाश गूँज उठा। पयहारी श्रीकृष्णदासजी ने दशों-दिशाओं में सन्तों को निमन्त्रण भेजा। परम सिद्ध श्रीपयहारीजी के सङ्कल्प मात्र से समस्त दिशा-विदिशाओं में विराजमान गुप्त प्रकट सभी सन्तों को निमन्त्रण पहुँच गया। अनन्त-सन्तों के समूह से आश्रम छा गया। श्रीपयहारीजी ने सबको यथोचित सत्कार किया। यह उत्सव की घटा एक महीने तक छायी रही। सब सन्तों ने श्रीअग्रदासजी को भक्ति का आशीर्वाद दिया। इसके बाद सब लोग अपने-अपने आश्रम को प्रस्थान किये। श्रीअग्रदासजी की श्रीगुरुदेव श्रीपयहारीजी के श्रीचरणों में अपार-भक्ति थी। उसी का फल था कि-'श्रीकृष्णदास कृपा करि भक्ति दत्त मन वच क्रम करि अटल दयो।।'

श्रीपयहारीजी के परमधाम गमन के बाद आपके बड़े गुरुभाई श्रीकील्हदेवजी स्थान के महन्त बनाये गये। परन्तु वे प्रायः ध्यान-समाधि में स्थित रहते, अतः समस्त उत्तरदायित्व श्रीअग्रदासजी के ही ऊपर था। ये बड़े-भाव से सन्तों की सेवा करते थे। यथा-

चौ०- करत सन्त सेवा रसदाई। अमित सन्त नित रह सुख पाई।।
जिहि विधि सन्त परम सुख मानैं। तिहिं प्रकार सेवा विधि ठानैं।।
परिचर्या निजकर प्रभु करई। गत अभिमान रुची अनुसरई।।
अर्चा अरु मानस वसु काला। करहिं लड़ावहिं श्रीललि-लाला।।

श्रीभक्तमालजी के प्रणेता श्रीनाभाजी इन्हीं श्रीअग्रदासजी के ही कृपापात्र हैं। श्रीअग्रदासजी की आज्ञा से ही श्रीनाभाजी ने श्रीभक्तमाल की रचना की। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध मूल दोहा ४ एवं टीका कवित्त १० से १३।। एक बार श्रीअग्रदासजी सन्तों की जमात साथ लेकर विचरते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक वैश्य बड़ा ही भक्त था, तथा धनवान भी था। उसने बड़ी श्रद्धापूर्वक एक महीने तक जमात की सेवा की। संयोग की बात, जिस दिन जमात वहाँ से प्रस्थान करने को थी, उसी दिन उस वैश्य के पुत्र को सर्प ने काट खाया। वह तत्काल मर गया। वैश्य के घर बड़ा ही करुणक्रन्दन मच गया। बहुत से विमुख लोग अनेक प्रकार की ऊल-जलूल बातें करने लगे। सन्त-सेवा पर आक्षेप करने लगे कि देखा सन्त-सेवा का फल-एक पुत्र रहा उससे भी हाथ धो बैठे। भला इन निकम्मे मुण्डियों

को खिलाने से क्या होता है। आदि। श्रीअग्रदासजी को जब यह समाचार मिला तो वे बड़े ही दुःखी हुए फिर तो आप सन्तों एवं सन्त-सेवा की महिमा प्रकट करने के लिए तथा सन्त सेवा का त्रिकाल में अमङ्गल नहीं हो सकता है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए, सबके सामने ही सन्तों का चरणामृत, मृत-बालक के मुख में डाले, बालक तुरन्त जीवित हो गया। यह चमत्कार देखकर सब लोग आपके श्रीचरणों में नतमस्तक हुए। आपने सबको सन्त सेवा का उपदेश दिया।

पूर्व कहा जा चुका है कि श्रीकील्हदेवजी जयपुर गलतागद्दी के महन्त थे और आप भी वहीं विराजते हुए सुन्दर सन्त-सेवा करते थे। एक दिन श्रीकील्हदेवजी ने भूल से श्रीअग्रदेवजी की लँगोटी पहन ली। इससे श्रीअग्रदासजी के मन में बड़ा खेद हुआ। क्योंकि छोटे तो बड़ों की प्रयोग में लाई हुई वस्तु प्रसादरूप में ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु बड़े, छोटों की प्रयोग में लाई हुई वस्तु ग्रहण करें यह विधि नहीं है। श्रीअग्रदासजी बड़े टकसाली महात्मा थे। श्रीनाभाजी ने कहा ही है-'सदाचार''करि आये।' अतः ये वहाँ से चल दिये। विचरते हुए जयपुर से लगभग तीस मील दूर रेवासा नामक स्थान में पहुँचे। वहाँ के लोगों ने आपसे प्रार्थना की कि यहाँ पर जल की बड़ी तकलीफ है। प्रतिवर्ष कितने मनुष्य-पशु प्यास से मर जाते हैं। आप कृपा करके हम दुःखियों का यह दुःख दूर कर दें। श्रीअग्रदासजी को उन लोगों पर दया आयी अतः अपना चिमटा पृथ्वी में धँसाये तत्काल वहाँ से अत्यन्त निर्मल जल का स्रोत बह चला। वहीं पर एक विशाल कुआँ बनवाया गया, जो अद्यापि वर्तमान है। फिर तो सभी गाँव के लोगों ने आपसे वहीं रहने का अनुरोध किया। आपको भी स्थल की खोज थी ही, अतः लोगों का आग्रह स्वीकार कर वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे। रेवासा में ही आपने एक सुन्दर आम का बगीचा लगाया था और उस बाग में ही एक बड़ी ही मनोहर बाटिका लगा रखी थी। उसी बाटिका में श्रीरामजी का दर्शन हुआ था अतः उस बाटिका का नाम रखे थे, श्रीसियमनरंजिनी बाटिका और बाग का नाम था-'श्रीरामबाग।'

आपके द्वारा श्रीराम भक्ति में मधुर उपासना का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ। आपने उपासना सम्बन्धी 'ध्यान-मंजरी' 'अष्टयाम' आदि कई रहस्य ग्रन्थ लिखे हैं। आपके सम्बन्ध में 'श्रीरसिकप्रकाश भक्तमाल' में वर्णन आया है कि-

अग्रस्वामि श्रीअग्रसहचरी जनक लली की।
पुष्प बाटिका मिलन हेतु प्रिय भाँति भली की।।

चन्द्रकला प्रिय नाम श्याम सिय वस करि राखी।
प्रगटि स्वामि पद लही ध्यान रस मन-मन चाखी।।
ग्रन्थकार श्रृङ्गार- रस- सागर मंजरि ध्यानहीं।
भेदी अनभेदी पढ़ैं रसिक रास पथ जानहीं।।

बन्दौं पद कमल अमल अग्रस्वामी जू के आचारज रसिक शिरोमणि महान हैं।
रसबोध विपुल आनन्दघन शील दया क्षमा तोष धन जन मानद अमान हैं।।
मेटि रूक्षज्ञान महामाधुर्यप्रधान जिन कीन्हों अग्रसागर सो विदित महान हैं।
लीन्हों मथिसार ध्यान मञ्जरी श्रृङ्गार सबै भेदी अनभेदी पढ़ैं जानत सज्ञान हैं।।

जगद्गुरु श्रीअग्रदेवाचार्य विरचिता 'श्री राममन्त्रराज परम्परा'

श्री अग्रदास उवाच-

शुभासने समासीनमनन्तानन्दमच्युतम्। कृष्णदासो नमस्कृत्य पप्रच्छ गुरुसंततिम्।।

श्रीकृष्णदास उवाच-

भगवन् यमिनां श्रेष्ठ! प्रपन्नोस्मि दयां कुरु।
ज्ञातुमिच्छाम्यहं सर्वां पूर्वेषां सत्परम्पराम्।।
मन्त्रराजश्च केनादौ प्रोक्तः कस्मै पुरा विभो।
कथञ्च भुवि विख्यातो मन्त्रोऽयं मोक्षदायकः।।

श्रीअग्रदास उवाच-

कृष्णदासवचः श्रुत्वाऽनन्तानन्दो दयानिधिः।
उवाच श्रूयतां सौम्य! वक्ष्यामि तद् यथाक्रमम्।।

श्री अनन्तानन्द उवाच-

परधाम्नि स्थितो रामः पुण्डरीकायतेक्षणः।
सेवया परया जुष्टो जानक्यै तारकं ददौ।।
श्रियः श्रीरपि लोकानां दुःखोद्धरणहेतवे।
हनूमते ददो मन्त्रं सदा रामाङ्घ्रिसेविने।।
ततस्तु ब्रह्मणा प्राप्तो मुह्यमानेन मायया।
कल्पान्तरे तु रामो वै ब्रह्मणे दत्तवानिमम्।।

मन्त्रराजजपं कृत्वा धाता निर्मातृतां गतः।
त्रयीसारमिमं धातुर्वशिष्ठो लब्धवान् परम्।।
पराशरो वशिष्ठाच्च सर्वसंस्कारसंयुतम्।
मन्त्रराजं परं लब्ध्वा कृतकृत्यो बभूव ह।।
पराशरस्य सत्पुत्रो व्यासः सत्यवती सुतः।
पितुः षडक्षरं लब्धवा चक्रे वेदोपबृंहणम्।।
व्यासोऽपि वहुशिष्येषु मन्वानः शुभयोग्यताम्।
परम हंसवर्य्याय शुकदेवाय दत्तवान्।।
शुकदेव कृपापात्रो ब्रह्मचर्यव्रतेस्थितः।
नरोत्तमस्तु तच्छिष्यो निर्वाण पदवीं गतः।।
स चापि परमाचार्यो गङ्गाधराय सूरये।
मन्त्राणां परमं तत्वं राममन्त्रं प्रदत्तवान्।।
गङ्गाधरात् सदाचार्यस्ततो रामेश्वरो यतिः।
द्वारानन्दस्ततो लब्ध्वा परब्रह्मरतोऽभवत्।।
देवानन्दस्तु तच्छिष्यः श्यामानन्दस्ततोऽग्रहीत्।
तत्सेवया श्रुतानन्दश्चिदानन्दस्ततोऽभवत्।।
पूर्णानन्दस्ततो लब्ध्वा श्रियानन्दाय दत्तवान्।
हर्यानन्दो महायोगी श्रियानन्दाङ्घ्रि सेवकः।।
हर्यानन्दस्य शिष्यो हि राघवानन्ददेशिकः।
यस्य वै शिष्यतां प्राप्तो रामानन्दः स्वयं हरिः।।
तस्माद् गुरुवराल्लब्ध्वा देवानामपि दुर्लभम्।
प्रादात्तुभ्यमहं तात गुह्यं तारक संज्ञकम्।।
एवं परम्परा सौम्य प्रोक्त श्रीसम्प्रदायिनाम्।
मन्त्रराजस्य चाख्यातिर्भूम्यामेवमवातरत्।।

श्रीअग्रदास उवाच-

कृष्णदासस्तु तच्छ्रुत्वा लेभे परम हर्षताम्।
साष्टांगं प्रणतिं कृत्वा वचनं चेदमब्रवीत्।।

श्रीकृष्णदास उवाच-

पीत्वा श्रीमुखवाक्यजन्यममृतं तापत्रयोद्धारकं,
श्रुत्वा वेदनिगूढ तत्वजनिकां वाणीं सम्मुल्लासिनीम्।
हित्वा मोक्षद रामतारकमिमं जाने न सारं परं,
नीत्वा कालमहं सुसाधकधिया वक्तुं न शक्नोम्यलम्।।१२१।।

श्रीअग्रदास उवाच-

यः पठेच्छ्रद्धया नित्यं पूर्वाचार्य परम्पराम्।
मन्त्रराजरतिं प्राप्य सद्यो रामपदं व्रजेत्।।२२।।

अर्थ- श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि एकबार श्रीकृष्णदासजी ने सिहांसन पर विराजमान भगवान श्रीअनन्तानन्दजी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके गुरु- परम्परा पूछी। श्रीकृष्णदासजी ने कहा- भगवन्! आप यतियों में श्रेष्ठ हैं, मैं आपकी शरण में हूँ, आप मुझ पर कृपा करें। मैं पूर्वाचार्यो की परम्परा जानना चाहता हूँ। श्रीराममन्त्रराज को सर्वप्रथम किसने किसको प्रदान किया और मोक्षदायक यह मन्त्र पृथ्वी पर कैसे विख्यात हुआ। यह सुनकर दयानिधि श्रीअनन्तानन्दजी ने कहा- हे सौम्य! मन्त्रराज की परम्परा कहता हूँ सुनो, अपने परधाम में स्थित,अकारणकरुण, कमलनयन भगवान श्रीराम ने श्रीजानकी जी की सेवा से सन्तुष्ट होकर जीवों के कल्याण के लिए सर्वप्रथम उन्हें रामतारक-मन्त्र प्रदान किया, जीवों का दुःख दूर करने के लिए श्रीजानकीजी ने श्रीरामचरण- सेवक श्रीहनुमानजी को दिया। उनसे ब्रह्मा ने प्राप्त किया। कल्पान्तर में श्रीराम ने ही ब्रह्मा को दिया। उसका जप करके ब्रह्मा को सृष्टि रचने की शक्ति प्राप्त हुई।

यह मन्त्र वेदत्रयी का सार है, उसकी परम्परा इस प्रकार है। श्री ब्रह्माजी, श्रीवशिष्ठजी, श्रीपराशरजी, श्रीवेदव्यासजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी, श्रीगङ्गाधराचार्यजी, श्रीसदाचार्यजी, श्रीरामेश्वराचार्यजी, श्रीद्वारानन्दजी, श्रीदेवानन्दजी, श्रीश्यामानन्दजी, श्रीश्रुतानन्दजी, श्रीचिदानन्दजी, श्रीपूर्णानन्दजी, श्रीश्रियानन्दजी,श्रीहर्यानन्दजी, श्रीराघवानन्दजी, भगवान श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज। उसके बाद देवदुर्लभ, गोप्य श्रीरामतारक मन्त्र को अपने गुरुदेव से प्राप्त कर मैंने तुम्हें प्रदान किया। भगवान श्रीरामानन्दाचार्यजी से ही इस पृथ्वी पर श्रीराममन्त्र का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। श्री कृष्णदास जी श्रीसम्प्रदाय की गुरु परम्परा को सुनकर अति प्रसन्न हुए और श्री गुरु चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् करके बोले- भगवन्! रहस्यमयी

एवं त्रितापहारिणी आपकी अमृतमयी वाणी को सुनकर मैं कृतार्थ हुआ और यह समझ गया कि श्रीराममन्त्रराज से श्रेष्ठ दूसरा कोई सारतत्व नहीं है। श्रीअग्रदासजी महाराज का कथन है कि-जो लोग श्रद्धापूर्वक इस गुरु- परम्परा का नित्य पाठ करेंगे वे मन्त्रराज के प्रति प्रेम को प्राप्त कर शीघ्र ही रामधाम को जायेंगे।

श्रीशङ्कराचार्यजी

कलियुग धर्म पालक प्रगट आचारज शङ्कर सुभट।।
उतश्रृङ्खल अज्ञान जिते अन ईश्वरवादी।
बौद्ध कुतर्की जैन और पाखण्डहिं आदी।।
विमुखनि को दियो दण्ड ऐंचि सनमारग आने।
सदाचार की सींव विश्व कीरतिहिं बखाने।।
ईश्वरांश अवतार महि मर्यादा मांडी अघट।
कलियुग धर्म पालक प्रगट आचारज शङ्कर सुभट।।४२।।

शब्दार्थ- उतश्रृङ्खल = उद्दण्ड। जिते= जितने। आदी =आदि। ऐंचि= खींचकर। आने= लाये। सींव=सीमा।, हद्द। मांडी-मण्डन, समर्थन। अघट- कम न होने वाला, सम्पूर्ण। ईश्वरांश = शङ्करजी के अंश।

भावार्थ-अधर्म-प्रधान कलियुग में वैदिक धर्म के रक्षक श्रीशङ्कराचार्यजी का अवतार हुआ। आप विधर्मियों को शास्त्रार्थ में परास्त करने वाले वाक्वीर थे। वैदिक मर्यादा का उल्लंघन करने वाले उद्दण्ड, ईश्वर को न मानने वाले, बौद्ध ऊटपटांग तर्क करने वाले जैनी पाखंडी आदि जो लोग भगवान से विमुख थे, उन्हें आपने दण्ड दिया। भय दिखाकर शास्त्रार्थ में हराकर उन्हें बलात् खींचकर सनातन-धर्म के मार्ग पर ले आये। आप सदाचार की सीमा अर्थात् बड़े सदाचारी थे। सारा- संसार आपकी कीर्ति का वर्णन करता है आप भगवान शङ्कर के अंशावतार थे पृथ्वी पर प्रकट होकर आपने वेदशास्त्र की सम्पूर्ण मर्यादाओं का इस प्रकार समर्थन और स्थापन किया कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रही। वह अचल हो गई ।।४२।।

व्याख्या- कलियुग- कलियुग अधर्म का मित्र कहा गया है। यथा- 'कलिनाधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताऽधुना।' (भा० मा० १-३०) अर्थ- श्रीसनकादि ऋषि नारदजी से कहते हैं कि-

इस समय यह पृथ्वी अधर्म के मित्र कलियुग से अत्यन्त पीड़ित हो रही है। कलियुग धर्म की हानि करके अधर्म को बढ़ावा देता है। कलि की कुचालता का बड़ा ही मर्मभेदी वर्णन श्रीरामायण भागवतादि में पाया जाता है। एक कवि लिखते हैं कि-

दया स्वर्ग उठि गई धरम धँसि गयौ धरनि में।
पुण्य गयौ पाताल पाप भयौ बरन-बरन में।।
प्रीति रीति सब गई बैर भयो घर-घर भारी।
आपनि-आपनि परी जिते जग में नर -नारी।।
कविराज कहत सांची सबै निपट पलटि समयौ गयौ।
रे नर निरन्ध सुनु कान दै अब प्रतक्ष कलियुग भयौ।।

विशेष देखिये पूर्वार्द्ध १४२। 'कलिकी कुचालि।'

धर्मपालक प्रगट-भगवान के श्रीमुख का वचन है-'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।' (गीता) ४-७ अतः कलियुग में भी जब धर्म का ह्रास होने लगा तो उसकी रक्षा के लिए भगवान श्रीशिवजी, श्रीशङ्कराचार्यजी के रूप में प्रकट हुए।

आचारज शंकर सुभट-एक सन्त कहते हैं कि आचार्य रेलगाड़ी के इंजन की तरह होते हैं। जैसे एक इंजन अनेकों डिब्बों को खींचकर यथा-स्थान पहुँचा देता है, उसी प्रकार एक आचार्य अनेकों प्राणियों का उद्धार कर भगवद्धाम पहुँचा देते हैं। जैसे इंजन, अपने से जुड़े हुए सभी डिब्बों को, चाहे उसमें अच्छी वस्तु भरी हो या बुरी, सबको खींचकर निर्दिष्ट स्थान में पहुँचा देता है, उसी प्रकार आचार्य भी सभी भले-बुरे शरणागत प्राणियों को भव पार करने में समर्थ होते हैं। यहाँ एक बात यह स्मरण करने योग्य है कि वे ही डिब्बे इंजन द्वारा खींचकर ले जाये जाते हैं जो इंजन में जुड़े होते हैं अन्यथा कैसा भी बढ़िया डिब्बा हो, कैसा भी बढ़िया माल भरा हो, वह अपनी जगह पर ही धरा रह जाता है। उसी प्रकार वही प्राणी भव से पार होते हैं जो आचार्य-चरणों में प्रीति रखते हैं, अन्यथा वे कैसे भी सद्‌गुणवान हों, महिमावान हों, भवपार होना असम्भव है। यथा-'गुरु विनु भवनिधि तरइ न कोई। जो विरंचि संकर सम होई।।' (रामा०) सुभट-देखिये श्रीकील्हदेवजी के प्रसङ्ग में छप्पय में आये हुए 'सूर' शब्द की व्याख्या।

श्रीशङ्कराचार्यजी को वैदिकधर्म का प्रचार करने में बौद्धों, जैनियों आदि से बड़ा भारी शास्त्रार्थरूप वाक्‌युद्ध करना पड़ा था। इन्होंने सबको पराजित किया अतः सुभट

कहा। 'अनईश्वरवादी' (नास्तिक)-ये ईश्वर को न मानकर संसार के सुख भोगों को ही सर्वस्व समझते हैं यथा-'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।' (चार्वाक) मद्यं मासं च मीनञ्च मुद्रा मैथुन मेव च। एते पञ्चमकाराः स्युर्मोक्षदाहि युगेयुगे।। पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।। (वाममार्ग) बौद्ध-गौतम बुद्ध के द्वारा चलाये हुए मत के अनुयायी। जैन-'जिन' के द्वारा प्रवर्तित पन्थ के अनुयायी। 'जिन' को जैन धर्म का प्रथम तीर्थङ्कर कहते हैं और 'महावीर' को अन्तिम तीर्थङ्कर।

'कुतर्की'-शास्त्रविरुद्ध तर्कों द्वारा, केवल वागाडम्बर मात्र से श्रुति-शास्त्र सम्मत मार्ग का खंडन करके कल्पितपन्थ का प्रचार करने वाले। बुद्ध और जिन दोनों ने वेद एवं वैदिक सिद्धान्त का खंडन किया है। उनका कथन है कि-चौ०-वेद बनाय ब्राह्मणन लीने। उदर भरन हित धन्धा कीने।। होम यज्ञ नहिं करिये भाई। यामें हिंसा होति सदाई।। ईश नहीं कबहूँ अवतारी। मिथ्या बात जगत परचारी।। करिकै कर्म ईश बनि ज़ावो। देवी देवा मन जनि लावो।। ऐसे विमुखन के हित कारण। भये शंकराचार्य उधारण।। (भ०व०टि०) 'पाखंडी-वेद विरुद्ध आचरण करने वाले, ढोंगी। यथा-'पाखंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न सांच।' विमुखन को दियो दंड-से जनाया गया कि जो लोग आपके सिद्धान्त से सहमत नहीं हुए उन्हें आपने स्वयं दंड देकर, दंड का भय देकर वा तत्कालीन राजाओं को प्रभावित कर उनसे दंड दिलाकर जैसे हो तैसे सन्मार्ग पर लाये।

दृष्टान्त-एक सन्त का-एक सन्त ने नगर के सबसे बड़े सेठ की दुकान पर जाकर 'जैश्रीसीताराम' 'जैश्रीराधेश्याम' की आवाज लगाई। सेठजी गद्दी पर अपने कार्य में अत्यन्त व्यस्त थे, अतः सन्त की ओर ध्यान नहीं दिये। परन्तु सन्तजी अपनी धुन में मस्त भये भगवन्नाम की रट लगाते रहे। तब सेठजी ने झुंझलाकर मुनीम से कहा कि इन्हें दो पैसे देकर दुकान से हटाओ, कान फोड़े डाल रहे हैं। सन्तजी ने कहा-सेठजी! मैं अपने लिए पैसे-दो पैसे के वास्ते तुम्हारे कान नहीं फोड़ रहा हूँ। मैं तो तुम्हें चेतावनी देने आया हूँ। तुमको अपने काम-धन्धे से फुरसत नहीं है, तुमको मालूम नहीं है कि सात दिन के अन्दर तुम्हारी मृत्यु है। अपने लोक-परलोक के लिए जो कुछ करना हो सो कर लो। बस, यही कहने आया था। इतना सुनना था कि सेठजी के हाथ से बहीखाता छूट गया, कलम जमीन पर गिर पड़ी और स्वयं दौड़कर सन्तजी के चरणों में पड़ गये और गिड़गिड़ाकर पूछे-महाराज अभी तो मेरा बालक छोटा है, काम-धन्धा सँभालने लायक है नहीं। अतः आप

कुछ ऐसे उपाय बतावें जिससे अभी मृत्यु टल जाये। सन्तजी ने कहा-उपाय तो है, परन्तु तुम करो तब तो। सेठजी ने सौ-सौ सौगन्धें खाईं, जरूर करूँगा। सन्तजी ने कहा-तुम कैसे करोगे? तुम्हारा तो भगवन्नाम सुनने से कान फटता है। सेठजी ने अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना की। सन्तजी ने सात दिन तक अखण्ड श्रीहरिनाम संकीर्तन तथा साधु-ब्राह्मण, दीन-दुःखियों की सेवारूप महायज्ञ करवाया। सेठजी मरने से बच गये, साथ ही उन्हें श्रीहरिनामामृत का स्वाद मिला तथा माहात्म्य भी देखे अतः अब तो हर घड़ी नामजप में ही लगे रहते। साधु-ब्राह्मणों में उनकी प्रीति हो गई, दीन-दुःखियों के प्रति दया का बर्ताव करने लगे। इस प्रकार सन्तजी ने मृत्यु का भय देकर सेठजी को भगवद्-भजन में लगाया।

बिमुख समूह लैके क्रिये सनमुख स्याम अति अभिराम लीला जग विसतारी है।
सेवरा प्रबल वास केवरा ज्यौं फैलि रहे गहे नहीं जाहिं बादी सुचि बात धारी है।।
तजिकै शरीर काहू नृप में प्रवेश कियो दियौ करि ग्रन्थ मोह मुद्गर सुभारी है।
शिष्यनि सों कह्यौ कंभू देह में आवेश जानो तबही बखानो आप सुनि कीजै न्यारी है।।१२४

शब्दार्थ-विमुख=अभक्त। सेवरा=जैनी साधुओं का एक भेद। केवरा=केवड़ा, एक सुगन्धित फूल। बादी=शास्त्रार्थ करने वाले।

भावार्थ-भगवान श्रीशङ्कराचार्यजी ने अपने प्रभाव से नास्तिक भगवद् विमुखों को आस्तिक, हरिभक्त बना दिया। आपने नास्तिकवाद का खण्डन करके भगवान की सुन्दर लीलाओं का संसार में विस्तार किया। उस समय बौद्ध, जैन-सेवड़ा आदि नास्तिकों का प्रबल प्रभाव उसी प्रकार फैला था जैसे केवड़ा की उत्कट गन्ध चारों ओर फैल जाती है और उस ओर सभी लोग आकृष्ट हो जाते हैं। वे शास्त्रार्थ आदि से भी वश में नहीं होते थे। एक बार दिग्विजय करते हुए प्रतिपक्षी विद्वान् मण्डनमिश्र से आपका शास्त्रार्थ हुआ। मिश्रजी की पत्नी भारती परम विदुषी थीं। वह मध्यस्थ बनीं। शास्त्रार्थ में श्रीशङ्कराचार्यजी ने मिश्रजी को हरा दिया। तब भारती ने कहा-कि मुझ अर्द्धाङ्गिनी को हराये बिना आप विजयी नहीं हो सकते। तब आपने भारती से शास्त्रार्थ किया। उसने रतिशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न कर दिये। आप बाल-संन्यासी थे अतः आपको उसका अनुभव नहीं था। तब आपने छः मास की अवधि माँगी और प्रधान शिष्यों के साथ उत्तराखण्ड में जाकर कहा कि मैं इस शरीर को त्यागकर जाता हूँ, तेल में रखकर इसकी रक्षा करना। मैं अमरुक राजा जो अभी मर गया है, उसके शरीर में प्रवेश करके श्रृङ्गाररस का अध्ययन एवं अनुभव करूँगा।

मुझे वहाँ से आने में मोहवश यदि विलम्ब हो तो 'मोहमुद्गर' ग्रन्थ के श्लोकों को सुनाना। तब मैं उस देह के मोह को त्यागकर उसे छोड़ दूँगा। आपने ऐसा ही किया। मृतक राजा के जी जाने से रानी आदि सभी लोग प्रसन्न हुए। आप वहाँ रहकर कामशास्त्र का अध्ययन करने लगे।।१२४।।

व्याख्या–बादी शुचि बात धारी है–**महापण्डित श्रीकुमारिलभट्टजी, जिन्होंने शास्त्रार्थ में बौद्ध आचार्यों को पराजित किया था, उन्हीं के शिष्य मण्डनमिश्रजी पूर्व मीमांसा के बहुत बड़े प्रकाण्ड विद्वान् थे। श्रीकुमारिलभट्ट के द्वारा ही मण्डनमिश्र की चर्चा सुनकर श्रीशङ्कराचार्यजी उनसे मिलने महिष्मती नगरी को चल दिये। श्रीआचार्य ने नगर में पहुँचकर कुएँ पर पानी भरने वाली एक दासी से श्रीमण्डनमिश्र के घर का पता पूछा। वह दासी मण्डनमिश्र के घर की ही किङ्करी थी। उसने इस श्लोक में उत्तर दिया–**

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्र धाम।।

अर्थ–**जिसके द्वार पर पिंजरे में बैठे तोता और मैना यह चर्चा करते हों कि वेद स्वयं प्रमाण हैं अथवा दूसरे, प्रमाणों से प्रमाणित हैं उसी को आप मण्डनमिश्र का घर समझिये। इसी प्रकार के दासी ने लगातार तीन श्लोक कहे। यह सुनकर श्रीशङ्कराचार्यजी ऐसे महाविद्वान् से मिलने के लिए आतुर हो उठे, जिसकी दासी इतनी विदुषी हैं और जिसके यहाँ के पक्षी तत्वचर्चा करते हैं अब आप ही विचारिये कि कैसे उद्भटविद्वान् होंगे श्रीमंडनमिश्रजी।**

श्रीशङ्कराचार्यजी और श्रीमण्डनमिश्रजी का शास्त्रार्थ विश्व का सबसे बड़ा शास्त्रार्थ है। इसमें शर्त यह थी कि जो हारेगा वह विजयी पण्डित का शिष्य बन जायेगा। अन्ततोगत्वा श्रीमण्डनमिश्रजी हार गये तब उनकी अर्द्धाङ्गिनी महाविदुषी भारती ने शास्त्रार्थ किया। परन्तु जब वह भी परमार्थतत्व विवेचन में पराभूत होने लगीं तो व्यवहार में उत्तर कर कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न करने लगीं। इसके उत्तर के लिए शङ्कराचार्यजी छः महीने का अवकाश लेकर योग की परकाया प्रवेश सिद्धि के द्वारा अपने शरीर को छोड़कर राजा अमरुक के शरीर में प्रवेश कर गये। राजाजी उठे, राज्य में आनन्द छा गया। पूर्व सरीखे व्यावहारिक कौशल का अभाव देखकर रानी ने अनुभव किया कि यह शरीर तो राजा का ही है परन्तु आत्मा किसी योगी की है। अवश्य ही किसी सिद्ध महात्मा ने राजा के मृतदेह में प्रवेश किया है। अतः रानी ने सम्पूर्ण राज्य में यत्र-तत्र अपने आदमियों को भेजा कि जहाँ

कहीं भी कोई शव मिले, उसे तुरन्त जला दिया जाय। जिससे कि महात्मा की आत्मा फिर लौटकर अपने पूर्व शरीर में न जा सके। परन्तु श्रीशंकराचार्यजी ने अपने शिष्यों को बहुत सावधान कर दिया था अतः राजकर्मचारियों को बहुत ढूँढ़ने पर भी उनका शव नहीं मिल सका। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि रानी ने ढुँढ़वाकर शव का पता लगा ही लिया। राजकर्मचारियों ने शव को चिता पर चढ़ा दिया और चिता में अग्नि भी लगा दी। तब शिष्यगण व्याकुल हो दौड़कर कुछ तो राजा को मोहमुद्गर सुनाने गये और कुछ चिता के पास खड़े होकर श्रीजगन्नाथाष्टक का पाठ करने लगे जिससे कि अग्नि शीतल हो जाय। चिता जले ही नहीं। तब तक श्रीशंकराचार्यजी राजा के शरीर को छोड़कर पुनः अपने शरीर में आ गये। शिष्यों ने जै-जैकार किया।

मोहमुद्गर-**श्रीशंकराचार्यजी रचित मोह-मुद्गर ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक सांसारिक मोह ममता पर मुद्गरवत् प्रहार करते हैं। यथा-**

नारीस्तनभरनाभी देशं दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचिन्तय बारम्बारम्।।

अर्थ-**स्त्री के उन्नत उरोज (स्तन) एवं नाभिदेश को देखकर व्यामोहित मत हो। यह मांस-मज्जादि का घृणित विकारमात्र है। तू अपने मन में बारम्बार इस बात को विचार। 'बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।' देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १७५।।**

का ते कांता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्वं चिंतय तदिदं भ्रातः।।

अर्थ- **हे मित्र! यहाँ कौन तुम्हारी स्त्री है और कौन तुम्हारा पुत्र? यह संसार तो अत्यन्त विचित्र है। अर्थात् यहाँ कोई किसी का नहीं है। तुम किसके हो और कहाँ से आये हो? अर्थात् हम ईश्वर के अंश हैं, ईश्वर के समीप से आये हैं और ईश्वर भजन के लिए आये हैं, इस तत्व का सदा चिन्तन करो।**

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेशः।
पश्यन्नपि न च पश्यति लोकोह्युदरनिमित्तं बहुकृतशोकः।।

अर्थ-**कोई जटाधारी है, तो कोई मुण्डी है तथा कोई केशों को नोच-नोचकर सफाया करने वाले (जैनी) हैं, कोई गेरुआ वस्त्र पहनने वाले हैं तो कोई रेशमी। इस प्रकार अनेक भाँति के वेष बनाकर संसार को देखते हुए भी अर्थात् इसकी नश्वरता, दुःखरूपता आदि का**

अनुभव करते हुए भी मानो नहीं देखते हैं अर्थात् जान-बूझकर भी अज्ञान बने रहते हैं और पेट पालने के लिए नाना-प्रकार के शोक करते हैं। 'अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं......।' देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १०५।।

अग्रे बह्निः पृष्ठे भानु रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतल भिक्षस्तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशा पाशः।।

अर्थ-**आगे अग्नि जल रही है, पीछे सूर्य ताप दे रहे हैं, रात्रि में सर्दी के मारे ठुड्डी और घुटने एक हो जाते हैं। हाथ में ही भिक्षा लेकर पाते हैं और वृक्ष के नीचे निवास करते हैं। इतना कठोर तप करने पर भी आशापाश में बँधे हुए हैं।**

यावज्जननं तावन्मरणं तावज्जननी जठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः कथमिह मानव तव संतोषः।।

अर्थ-**इस जगत् में जब तक जन्मना है तब तक मरना है और तब तक माता के गर्भ में वास करना है। इन दोषों को प्रत्यक्षतया देखकर हे मानव! तुझे यहाँ कैसे सन्तोष होता है।**

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गंगाजललव कणिका पीता।
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा क्रियते तस्य यमेन न चर्चा।।

अर्थ-**जिसने श्रीमद्भगवद्गीता का किञ्चित्मात्र भी अध्ययन किया है, बिन्दुकण मात्र भी गङ्गाजल पान किया है, एक बार भी भगवान् की सम्यक् पूजा की है, यमराज उस प्राणि का नाम भी नहीं लेते हैं।**

गेयं गीता नामसहस्रं ध्येयं श्रीपति रूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्।।

अर्थ-**श्रीगीता और विष्णुसहस्रनाम का गान करना चाहिए, श्रीपतिभगवान के रूप का निरन्तर ध्यान करना चाहिए, सज्जनों के सत्सङ्ग में चित्त लगाना चाहिए और दीनजनों की धन से सेवा करनी चाहिए।**

गुरुचरणाम्बुजनिर्भर भक्तः संसारादचिराद् भव मुक्तः।
सेन्द्रिय मानसनियमादेवं द्रक्ष्यसि निज हृदस्थं देवम्।।

अर्थ-श्रीगुरुदेवजी के श्रीचरण-कमलों में पूर्णानुराग रखते हुए संसार से शीघ्र मुक्त हो जाओ, और इन्द्रियों के सहित मन को संयमित करके भगवान का चिन्तन करोगे तो शीघ्र ही हृदयस्थ भगवान का दर्शन कर लोगे। आदि।

जानिकै आवेश तन शिष्यनें प्रवेश कियो रावलेमें देखि सो श्लोक लै उचार्‌यौ है।
सुनत ही तज्यौ तन निज तन आय लियौ कियो यों प्रनाम दास पन पूरो पार्‌यौ है।।
सेवरा हराये बादी आये नृप पास ऊँचे छात पर बैठि एक माया फन्द डार्‌यौ है।
जल चढ़ि आयो नाव भाव लै दिखायौ कहैं चढ़ौ नहीं बूड़ौ आप कौतुक सो धार्‌यो है।।१२५

शब्दार्थ-आवेश=प्रेम, अहंकार। रावले=राजमहल।

भावार्थ-[शिष्यगण आचार्य के प्राणहीन शरीर की रक्षा करते हुए प्रतीक्षा करने लगे] निश्चित समय के बीतने पर भी जब आचार्य जी नहीं लौटे तो शिष्य लोगों ने राजभवन में प्रवेश किया और गायन के साथ मोहमुद्गर के श्लोक सुनाये। शिष्यों को विदाकर आपने राजदेह का त्यागकर दिया और आकर अपना शरीर फिर ग्रहण कर लिया। फिर भारती के पास जाकर उसे उत्तर दिया और शास्त्रार्थ में हराया। मण्डनमिश्र समेत उसे शिष्य बनाकर अद्वैत मतावलम्बी बनाया फिर मण्डनमिश्र ने आचार्य से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर ली और सुरेश्वरानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्यजी ने अपना प्रण पूरा किया। एक बार शास्त्रार्थ में आपने सभी सेवड़ों को परास्त कर दिया। पश्चात् राजा के पास आये। राजा भी शिष्य बनने को तैयार हो गया। तभी सेवड़ों के गुरु ने एक मायाजाल की रचना की। राजा और श्रीशङ्कराचार्यजी के साथ सेवड़े एक ऊँचे छत पर बैठे। चारों ओर से माया का जल चढ़ आया, ऐसा लगा कि अब छत भी डूब जाएगी। इतने में ही एक माया की नाव का दृश्य आ गया। सेवड़ों ने श्रीशङ्कराचार्यजी से कहा-आप इस नाव पर चढ़ जाइये, नहीं तो डूब जायेंगे। आप उस माया के कौतुक को समझ गये थे अतः नाव पर नहीं चढ़े।।१२५।।

व्याख्या-जानिकै आवेश तन-यहाँ माया-मोह की प्रबलता दिखाई गई है कि साक्षात् भगवान् शंकर के अवतार श्रीशंकराचार्यजी भी देह-गेह में आसक्त हो गये। तब भला अन्य पामर-प्राणियों की तो बात ही क्या है? तभी तो कहा है-'नारद भव विरंचि सनकादि। जे मुनिनायक आतमवादी।।' 'मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न

जेही। शिव विरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन। अस जिय जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान।।' (रा०च०मा०) श्रीकबीरदासजी कहते हैं-

चेत करो बाबा बिलैया मारै मटकी।
ब्रह्मा पै झपटी औ शंकर पै झपटी नारदजी को सभा बीच पटकी।।
श्रृंगी कै भृंगी करि डारी दुरबासा के मनहिं मन खाटकी।
ज्ञानी पै झपटी और ध्यानी पै झपटी पण्डितजी कै पुरान लै सटकी।।
कहत कबीर एक दिन मोहू पै झपटी कासी से लैकै मगह बीच पटकी।
सत्गुरु शरण नाम की आसा तिनकी ओर माया कबहुँ नहिं लटकी।।

दृष्टान्त-एक राजा का-**एक राजा ने अपने राज-ज्योतिषी से पूछा कि मैं मरने पर किस योनि में जन्म लूँगा? पण्डितजी ने खूब विचारकर कहा कि आपको सूकर की योनि में जन्म लेना पड़ेगा। राजा ने पूछा-उस समय हमारा रंग-रूप क्या होगा? पण्डितजी ने कहा-कुछ काला, कुछ सफेद। पण्डितजी ने राजा को अगले जन्म का पूरा पता बता दिया। राजा ने अपने पुत्र को बुलाकर अपना सब वृतान्त कहा और बोला कि अमुक शूद्र के यहाँ जब मैं सूकर रूप में जन्म लूँ तो तुम तुरन्त पता लगाकर मार डालना। कुछ दिन बाद राजा ने शरीर छोड़ा और सचमुच सूकर हुआ। राजकुमार पता लगाते-लगाते जब वहाँ पहुँचे और मारने के लिए तलवार उठाए, तो सूकर ने कहा- मुझे मारना नहीं, मैं बहुत सुखी हूँ। राजकुमार ने कहा-पहले आपने मारने को कहा था अब क्यों मना कर रहे हैं? सूकर ने कहा-पहले राजारूप में मैंने समझा था कि यह बहुत नारकीय योनि है, परन्तु अब मैंने समझा कि यहाँ तो स्वर्ग से भी बढ़कर सुख है अतः मुझे मत मारो। इसी प्रकार श्रीशंकराचार्यजी की राजा के शरीर में ही आसक्ति हो गई।**

शिष्यों ने महल में जाकर 'मोहमुद्गर के श्लोकों **को सुनाकर कहा-**'तत्त्वमसि तत्त्वमसि तत्त्वमसि राजन्।' तब राजा के शरीर में **आविष्ट श्रीशंकराचार्यजी ने कहा-**'**सोऽहमस्मि सोऽहमस्मि सोऽहमस्मि शिष्यः।।**'

कौतुक सो धार्‌यो है'-**इसका एक भाव तो यह कि आप समझ गये कि वस्तु-तस्तु न तो यहाँ जल है और न नाव। यह सब इनका मायाजाल है। दूसरा भाव यह है कि यद्यपि उस सेवरा ने अपनी समझ से बहुत बड़ी माया की थी। परन्तु परम समर्थ आचार्यश्री ने उसे खेल समझा, अर्थात् ईश्वरीय शक्ति के सामने वह माया कोई चीज नहीं थी।।**

आचारज कही यों चढ़ाओ इन सेवरानि राजा ने चढ़ाये गिरे टूक उड़ि गये हैं।
तब तौ प्रसन्न नृप पाँव पर्‌यौ भाव भर्‌यौ कह्यो जोई कर्‌यो धर्म भागवत लये हैं।।
भक्ति ही प्रचार पाछे मायावाद डारि दीनों कीनों प्रभु कह्यो किते विमुखहूं भये हैं।
ऐसे सो गँभीर सन्त धीर वह रीति जानें प्रीतिही में साने हरिरूप गुन नये हैं।।१२६

शब्दार्थ-**मायावाद=अद्वैतवाद, वह मत जिससे लोग वाममार्गी हुए।**

भावार्थ-**भयभीत राजा नाव पर चढ़ना ही चाहता था कि श्रीशंकराचार्यजी ने उसे मना करके कहा कि-पहले इन सेवड़ों को चढ़ाओ। राजा ने सबको चढ़ाने की आज्ञा दी और सबको हठ करके चढ़ा दिया। वहाँ जल और नाव तो थी ही नहीं सबके-सब सेवड़े छत से नीचे गिर गये और उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये। मायाजाल का नाश हो गया। तब तो राजा अति भक्ति के भाव में भरकर आपके चरणों में गिर गया। फिर शंकराचार्यजी ने उसे जो-जो आज्ञा दी, सब उसने स्वीकार किया। वह स्वयं भगवद्भक्त बना और अपनी समस्त प्रजा में धर्म का प्रचार करवाया। जो हठवश नहीं मानते थे, उन्हें दण्ड का भय देकर धार्मिक बनाया। इस प्रकार आपने सम्पूर्ण भारत में भक्ति का प्रचार किया। पश्चात् प्रभु की प्रेरणा से आपने कुछ शिष्यों को मायावाद का उपदेश दिया। उससे कितने ही लोग विमुख भी हो गये परन्तु जो गम्भीर, धीर-संन्यासी सन्त थे, वैदिक रीति का तत्व जानते थे वे भगवान् की प्रीति में ही मग्न रहे, क्योंकि वे जानते थे कि भगवान् के रूप और गुण नित्य-नित्य नवीन हैं। केवल निराकार और निर्गुण ही ईश्वर नहीं है।।१२६।।**

व्याख्या-भक्ति ही प्रचार-**श्रीशंकराचार्यजी को अधिकांश लोग केवल ज्ञानवादी मानते हैं परन्तु यह यथार्थ-सत्य नहीं है। निश्चय ही आपने अद्वैत दर्शन का खुलकर प्रचार-प्रसार किया। इसके लिए प्रचुर वाद-विवाद किया और इसकी प्रतिष्ठा की, परन्तु वह सब होते हुए भी आप परम भक्त थे। आपकी वाणियों में भक्ति और भगवान का प्रबल समर्थन इस बात का परम प्रमाण है। आचार्यपाद ने जहाँ ज्ञान-वैराग्य को मुक्ति का साधन बताया है वहाँ भक्ति को भी स्मरण करना नहीं भूले हैं। यथा-'वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम्। मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ता।।' अर्थ-'वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति'-ये तीन मुक्ति के साधन कहे गये हैं। इनमें से प्रथमोक्त वैराग्य का अर्थ है-वितृष्णा अर्थात् भोगों के प्रति राग का अभाव। भक्ति की श्रेष्ठता वर्णन करते हुए आप कहते हैं कि-'मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।।**

(विवेकचूड़ामणि) अर्थ-मुक्ति के जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। विद्वान् लोग कहते हैं कि स्वस्वरूप का अनुसन्धान ही भक्ति है, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' के प्रतिपादक श्रीशंकराचार्य भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा करते हैं। यथा-

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां,
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः,
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षि विषयः।। **(श्रीकृष्णाष्टक)**

अर्थ-जिसके ध्यान के बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियों को प्राप्त होता है, जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरण के महान् भयस्थान को प्राप्त होता है, तथा जिसके स्मरण के बिना सैकड़ों कुत्सित कीटयोनियों में प्राप्त होता है, वे परम-समर्थ, शरणदाता, लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।। यह तो रही श्रीशङ्कराचार्यजी की स्वयं की भक्ति और भगवान में निष्ठा। आपने दूसरों को भी भगवद्भजन का उपदेश दिया है। कहते हैं कि एक ब्राह्मण ने साठ वर्ष की आयु में ब्याह करने का निश्चय किया, परन्तु बिना धन के ब्याह कैसे हो और धन बिना विद्या कैसे मिले अतः उसने व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। 'डुकृञ् करणे' इस धातु को उच्चस्वर से रट रहा था। इतने में श्रीशङ्कराचार्यजी पहुँचे, और अभिप्राय जानकर बोले-

भजन गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।
सम्प्राप्ते सन्निहते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।।
अंग गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्।।

(चर्पटपञ्जरिका)

अर्थ-अरे मूढ़मते! गोविन्द को भजो। मृत्यु निकट आने पर यह 'डुकृञ् करणे' आदि व्याकरण के धातु-सूत्र तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं। तुम्हारे अङ्ग शिथिल हो गये हैं सिर के बाल सफेद हो गये हैं, मुँह कें सब दांत टूट गये हैं, तू अत्यन्त वृद्ध हो गया है, हाथ में पकड़ा हुआ दण्ड काँप रहा है, तब भी आशा-तृष्णा का परित्याग नहीं करता। ऐसे ही कभी भोगरत तपस्वी को देखकर तो कभी प्रपञ्चरत संन्यासी को देखकर आपने उनको चेतावनी दी है।

और भी देखिये कवित्त १२४ की व्याख्या में गोहमुद्गर के श्लोक।। यह सब प्रमाण आपके भक्तिभाव के पोषक हैं।

पाछे मायावाद डारि दीनो-भाव यह है कि प्रथम तो आपने भक्ति का ही प्रचार किया, भक्ति सम्बन्धी स्तोत्र-ग्रन्थों की रचना की, सभी देवी-देवताओं के प्रति भाव-भक्ति का उपदेश दिया, परन्तु बाद में केवल शुष्क ज्ञान का प्रचार करने लगे, जीव-ईश का भेद मिटाकर सबको ब्रह्म एवं जगत् को मिथ्या बताने लगे। इस प्रकार से भक्ति को आघात लगा, बहुत से लोग भक्ति से विमुख हो गये। यदि कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यों किये? तो श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'कीन्हों प्रभु कह्यो'-अर्थात् भगवान की ऐसी ही इच्छा थी। अब यहाँ यह जिज्ञासा होगी कि स्वयं भगवान ने कहकर मायावाद का प्रचार क्यों कराया? इसका यथार्थ हेतु तो भगवान ही जानें, हाँ, एक हेतु तो यह हो सकता है कि-'परोक्षो हि प्रभु प्रियः।' प्रभु को परोक्ष प्रिय है और ये भक्ति का खुला प्रचार करते थे अतः भगवान ने उसे गूढ़ रखने के लिये इस प्रकार की आज्ञा दी। दूसरा कारण यह भी कि भक्ति के रहस्य का सर्वथा उद्घाटन हो जाने से आगे लोग पोथियों द्वारा ही तत्व समझने लगेंगे, आचार्य की आवश्यकता को कम महत्व देंगे, जिससे आगे चलकर आचार्य परम्परा नहीं रह जावेगी, जबकि साधनों में आचार्य की परम आवश्यकता है। यथा-'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान। गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।' (रा०च०मा०) तीसरा कारण यह भी कि भक्ति भगवान को अति प्रिय है, भक्ति से भगवान वश में हो जाते हैं। यथा-भगति अवशहिं वश करी।' अतः प्रभु भी सहज किसी को भक्ति नहीं देते हैं। अरे भाई! पराधीनता तो किसी को अच्छी नहीं लगती है, पशु-पक्षी भी पराधीन रहना नहीं चाहते हैं, फिर भगवान तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ठहरे। भक्तिवश प्रभु को भी पराधीन होना पड़ता है। यथा-'अहं भक्त पराधीनो। (भा०) अतः प्रभु भक्ति को रहस्यमय ही रहने देना चाहते हैं। इसलिए ऐसी आज्ञा किये। इतना अवश्य है कि जब भक्ति एकदम निगूढ़ ही हो जाती है, फलस्वरूप जब उसका लोप होने लगता है तो आचार्यों को प्रेरित करके भक्ति का प्रचार भी करवाते हैं।

गँभीर सन्त-जिनका हृदय अगाध भक्तिभाव से भरा हुआ है। जो परम-ज्ञानवान है। 'धीर'-जो विकारों का हेतु उपस्थित होने पर भी मन में विकार नहीं आने देते। यथा-'ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।।' ऐसे गम्भीर-धीर सन्तों पर श्रीशङ्कराचार्यजी के मायावाद का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे तो भक्तिरस में ही डूबे रहे।

अथवा ये सब विशेषण श्रीशङ्कराचार्यजी के लिए भी युक्तियुक्त होंगे। अर्थ होगा- श्रीशङ्कराचार्यजी ऐसे गम्भीर-धीर सन्त थे। वे श्रीभगवान की एवं भक्ति (प्रीति) की रीति जानते थे अतः प्रभु के कहने से मायावाद का प्रचार करके भी स्वयं प्रीति में ही सने रहे क्योंकि 'हरिरूप गुण नये हैं।' यथा-'इत्थम्भूतगुणो हरिः। (भा०) अर्थात् भगवान के ऐसे हृदयाकर्षक रूप-गुण ही हैं कि बड़े-बड़े आत्माराम भी उनकी भक्ति करते हैं।

विशेष-श्रीशङ्कराचार्यजी का प्रादुर्भाव वि०सं० ८४५, तदनुसार सन् ७८८, वैशाख शु० ५ को दक्षिण भारत में, केरल प्रदेश में, पूर्णनदी के तट पर, स्थित कलान्दी (कालटी) नाम के गाँव में हुआ था, पिता का नाम था श्रीशिवगुरुजी एवं माता का नाम था श्रीमती सुभद्राजी (वा विशिष्टा) कहते हैं कि इन ब्राह्मण दम्पति की जब बहुत आयु व्यतीत हो गई और कोई सन्तान नहीं हुई तब इन लोगों ने सुन्दर-सुयोग्य सन्तान की कामना से आशुतोष भगवान शङ्कर की आराधना की। इनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर स्वयं श्रीशिवजी ही इनके यहाँ पुत्ररूप से प्रकट हुए। भगवान शङ्कर के वरदान का स्मरणकर श्रीशिवगुरु ने बालक का नाम 'शङ्कर' ही रखा। बालक शङ्कर की दिव्यज्योति से श्रीशिवगुरु का घर जगमगा उठा। यथा-समय सब शुभ-संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात', इस कहावत के अनुसार बालक शङ्कर एक वर्ष की आयु में ही माता-पिता की गोद में ही उनके मुख से पुराणादि के श्लोक सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन साल की अवस्था में इनके पिता ने इनका चूड़ाकरण-संस्कार करके पट्टी पूजवाकर अक्षराभ्यास प्रारम्भ करवा दिया। बालक की अलौकिक प्रतिभा को देखकर पिता शिवगुरु मन ही मन बड़े ही मुदित होते थे परन्तु विधि के कठोर विधान ने उनको अधिक दिन तक जीवित नहीं रहने दिया। बालक का तीसरा वर्ष पूरा होते-होते पिता स्वर्ग सिधार गये। पाँच साल की अवस्था में यज्ञोपवीत करके माता ने पढ़ने के लिए गुरुकुल में भेज दिया और सात वर्ष की अवस्था में ही सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन कर ये घर लौट आये।

गुरुकुल निवासकाल में ही श्रीशङ्कर की कृपालुता एवं अलौकिक शक्ति का परिचय लोगों को मिलने लगा था। वर्णन आया है कि ये एक दिन एक दरिद्र ब्राह्मणी के घर भिक्षा माँगने गये। परन्तु उसके पास घर में अन्न के नाम पर एक दाना भी नहीं था। परन्तु ब्रह्मचारी का खाली हाथ जानाभी उसे सह्य नहीं था, अतः उसने एक आंवले का फल ब्रह्मचारी के हाथ में देकर अपनी दरिद्रता की करुण कहानी भी कह सुनाई। इससे ब्रह्मचारी शंकर का हृदय सहानुभूति से भर गया। इन्होंने तुरन्त ही भगवती श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति की। उन्होंने

प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणी के घर को सोने के आँवलों से भर दिया। श्रीशंकरकृत उस स्तोत्र को श्रीलक्ष्मी-कनकधारा स्तोत्र कहते हैं। धन की कामना रखने वाले लोग आज भी उस स्तोत्र का जप-पाठ करके अभीष्ट लाभ करते हैं। शंकर माता-पिता के बड़े भक्त थे। आपने अपनी प्रश्नोत्तर-मालिका में लिखा है-प्रत्यक्ष देवता का? माता, पूज्यो गुरुश्च कस्तातः। वर्णन आया है कि पूर्णानदी घर से दूर पड़ती थी, इनकी माता वहाँ नित्य स्नान करने जाया करती थीं। एक दिन वे अत्यन्त वृद्ध होने के कारण तथा दोपहरी की कड़ी धूप के कारण मार्ग में मूर्छित हो गईं। शंकर उन्हें उठाकर घर लाये। फिर तो माता के श्रम को विचारकर इन्होंने प्रार्थना किया तो पूर्णानदी इनके घर के समीप बहने लगीं।

विद्या का फल है विवेक की प्राप्ति। यथा-'विद्या बिनु विवेक उपजाये। श्रम फल पढ़ें किये अरु पाये।।' अतः शंकर माता की सेवा से निवृत्त होकर हर-समय एकान्त में आत्म चिन्तन में लगे रहते थे। घर पर ही आपने 'तत्वबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनकी संसार से उपरति देखकर माता सुभद्रा शीघ्रातिशीघ्र इनका विवाह कर देना चाहती थीं, इधर इनके मन में संन्यास की इच्छा दिनोंदिन प्रबल होती जा रही थी। एक दिन शंकर ने माता के समक्ष अपनी संन्यास ग्रहण की इच्छा प्रकट की। परन्तु भला कौन माँ अपनी वृद्धावस्था के एकमात्र सहारे, इकलौते पुत्र को संन्यास की अनुमति दे सकती है? माता सुभद्रा ने शंकर की बात अनसुनी कर दी, तब शंकर ने एक युक्ति रची। एक दिन माता के साथ नदी में स्नान करते हुए शंकर को एक मगर ने पकड़ लिया। पुत्र का संकट देखकर माता विकल हो गयी और चिल्लाने लगी कि कोई मेरे लाल को बचाओ। तब श्रीशंकर ने कहा कि यदि तुम मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो यह मगर मुझे छोड़ देगा। माता ने तुरन्त आज्ञा दे दी और सचमुच मगर ने शंकर को छोड़ दिया। श्रीशंकर ने माता के चरणों में प्रणाम किया और आशीर्वाद से अभिषिक्त होकर जब संन्यास ग्रहण करने के लिये जाने लगे, तो माता की ममता एक बार फिर उमड़ी। वे बोलीं-'शंकर! तूँ संन्यासी हो जायेगा तो मैं मरुँगी तो मेरा अन्तिम संस्कार कौन करेगा, पितरों को पानी कौन देगा? मातृभक्त शंकर भी माता के इस ममत्व की उपेक्षा नहीं कर सके, बोले-माँ! मैं करूँगा तेरा संस्कार एवं मैं दूँगा पितरों को पानी। माँ ने कहा-अच्छा शंकर! एक बार फिर कभी बीच में भी अपनी वृद्धा जननी का दर्शन कर जाना। श्रीशंकर ने माँ का यह प्रेमानुरोध भी स्वीकार कर लिया और माँ से विदा होकर श्रीनर्मदातट पर निवास करने वाले श्रीगोविन्द भगवत्-पादाचार्यजी से विधिपूर्वक संन्यास की दीक्षा ले ली, श्रीगुरुजी ने आपका नाम रखा-भगवद्-पूज्यपादाचार्य।

कुछ काल तक श्रीगुरुदेव के सन्निधान में रहकर साधन करने के पश्चात् श्रीगुरुजी की आज्ञा से आप काशीपुरी में आकर रहने लगे। काशीवास करते हुए आपने वेदान्त सूत्रों पर भाष्य की रचना की। आपकी दिव्य प्रतिभा एवं अलौकिक ज्ञान से प्रभावित होकर काशी के बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् एवं मान्य लोग आपके शिष्य हो गये। आपका वेदान्तभाष्य विद्वत् समाज में चर्चा का विषय बन गया। एक दिन आप मणिकर्णिका घाट पर स्नान कर रहे थे। उसी समय भगवान वेदव्यास एक वयोवृद्ध ब्राह्मण के रूप में प्रकट होकर आपसे किसी सूत्र पर विचार-विमर्श करने लगे परन्तु प्रसङ्ग पाकर वह विचार-विमर्श शास्त्रार्थरूप में परिणत हो गया और आठ दिन तक लगातार गङ्गातट पर ही शास्त्रार्थ होता रहा। श्रीशङ्कराचार्यजी ने देखा कि यह ब्राह्मण देवता हमारे प्रश्नों का उचित समाधान तो कर पाते नहीं हैं, व्यर्थ वाद-विवाद में स्वयं उलझे हैं और मुझे भी उलझाये हैं तब आप क्रोध करके अपने शिष्य पदमाचार्यजी से बोले कि इनको यहाँ से हटाओ। श्रीपद्माचार्यजी पहुँचे हुए महापुरुष थे, उन्होंने पहचान लिया कि यह साधारण ब्राह्मण नहीं, स्वयं भगवान वेदव्यासजी हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है। तब वे बोले-'शंकरः शंकर साक्षात् व्यासो नारायणः स्वयम्। तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यम्।।' अर्थ-श्रीशंकराचार्यजी साक्षात् शंकर भगवान हैं और श्रीव्यासजी साक्षात् नारायण भगवान हैं। इनके विवाद में, हमारी समझ में नही आता है कि क्या करुँ? यह सुनकर श्रीव्यासजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया और आपके वेदान्तभाष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करके अन्तर्धान हो गये।

एक बार काशी की गली में आपके पीछे आपके विरोधी एक दुष्ट ने दो कुत्ते छोड़ दिये। आप कुत्तों से बचने के लिए श्रीगङ्गाजी की ओर भागे। तब उसने पुकारकर कहा स्वामीजी! जब यह शरीर अनित्य है तो फिर मरने के भय से आप भाग क्यों रहे हैं? आपने तुरन्त जबाब दिया-मेरा भयभीत होकर भागना भी तो अनित्य है। यह सुनकर वह चुप हो गया। वर्णन आया है कि एक दिन भगवान विश्वनाथ चाण्डालरूप में मार्ग में आपको दर्शन दिये। आप सहज भाव से उनके स्पर्श से अपने को बचाने लगे। तब चाण्डाल वेषधारी श्रीशिवजी ने कहा-'गंगा गड़ही वारिमें, चन्द्र बिम्ब दरसाय। उनमें ऊँचो नीच को, यह मोहिं देहु बताय।।' आप तुरन्त समझ गये कि यह कोई साधारण श्वपच नहीं हैं, यह तो साक्षात् परमज्ञान निधान भगवान शिव हैं, फिर तो ये श्रीशिवजी के चरणों में पड़ गये। श्रीशिवजी ने और भी उपदेश ग्रन्थ लिखने की तथा दिग्विजयपूर्वक धर्म-प्रचार की

आज्ञा दी। फलतः आपने समस्त भारत में भ्रमण करके अनेकानेक विधर्मियों को परास्त करके वैदिकधर्म की ध्वजा फहरायी।

दिग्विजय यात्रा में आपको अपनी माता की अस्वस्थता का समाचार मिला तो आप अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरणकर माँ का दर्शन करने घर गये। अपने लाड़ले शंकर को देखकर माता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वर्णन आया है कि आपकी माताजी ने आपसे एक दिन कहा-शंकर! तूने संसारभर को धर्म का उपदेश देने के लिए बड़ी-बड़ी पोथी लिखी हैं। सबको बड़े-बड़े उपदेश दिये हैं, मेरे लिए भी तूने कुछ लिखा है? तब शंकराचार्यजी ने माता को तत्वबोध नाम का ग्रन्थ सुनाया। सहज भोली-भाली माता ने कहा-शंकर! भला मैं इन बातों को क्या जानूं। तुम तो मुझे श्रीकृष्ण भगवान की कोई प्रार्थना सुनाओ। तब श्रीशंकराचार्यजी ने 'श्रीकृष्णाष्टक' की रचनाकर माँ को सुनाया। माता ने भगवान श्रीकृष्ण के श्रीचरणारविन्दों का ध्यान करते हुए इह-लीला संवरण की। श्रीशंकराचार्यजी ने अपने श्रीकर-कमलों से माता का वैदिक विधि से अन्तिम-संस्कार किया। यद्यपि संन्यास लेने के बाद संन्यासी का फिर लौटकर घर आना शास्त्र विरुद्ध है। परन्तु श्रीशंकराचार्यजी ने माता के मृत्युकाल में आकर स्वयं माता की और्ध्वदेहिक-क्रिया सम्पन्न करके मातृभक्ति का चरम एवं परम आदर्श स्थापित किया।

इसके बाद आप पुनः धर्म-प्रचारार्थ निकल पड़े। वैसे तो आपको अनेकों जगह शास्त्रार्थ करने पड़े, विमुख-विधर्मियों से संघर्ष करने पड़े परन्तु माहिष्मती नगरी में मीमांसकाचार्य श्रीमण्डनमिश्र से, प्रतिष्ठानपुर में श्रीप्रभाकराचार्य से, तक्षशिला में बौद्धाचार्यों से एवं कामरूप में शाक्तमतवादियों से जो शास्त्रार्थ हुआ, वह विश्व के इतिहास में अद्वितीय है। वर्णन आया है कि उग्रभैरव नाम के एक कापालिक ने श्रीशंकराचार्यजी को अपने यंत्र-मंत्र, तंत्र एवं षड्यन्त्रों से पराभूत करने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। तब उसने अपने समस्त पाषण्डाचार को कुछ समय के लिए दूर धरकर तन-मन से श्रीस्वामी शंकराचार्यजी की सेवा करने लगा। परम-साधुहृदय श्रीशंकराचार्यजी उसके इस स्वभाव परिवर्तन, सेवापरायणता तथा वेदान्त की ओर झुकाव को देखकर प्रसन्न हो गये और उसे अभीष्ट वर देने को प्रस्तुत हो गये। उग्रभैरव ने बड़ी विनम्रता से कहा-भगवन्! आप तो परम-तत्वज्ञ हैं, आपकी देह-गेहादि में तो कोई मोह-ममता है नहीं, मैं आपके अद्वैतवाद को समझने में असमर्थ हूँ, मुझे तो देवी की आराधना ही सर्वाभीष्टदायक समझ में आती है। अतः यदि आप अपना सिर मुझे दे दें तो मैं उसे देवी के चरणों में अर्पित कर सिद्धि प्राप्त कर लूँगा। इस

प्रकार आपके सिर के द्वारा मेरा बहुत बड़ा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा। परम उदार श्रीशंकराचार्यजी ने कहा कि देखो, संयोग से इस समय मेरे कोई शिष्य यहाँ नहीं हैं, मैं समाधि में स्थित हो जाता हूँ, तुम मेरा सिर काटकर अपना मनोरथ सिद्ध कर लो। यह कहकर श्रीआचार्यचरण ने समाधि लगा ली, कापालिक हाथ में तलवार लेकर सिर काटने को उद्यत ही हुआ था कि उस समय श्रीशंकराचार्यजी के पट्ट शिष्य श्रीपद्माचार्यजी को उनके इष्टदेव श्रीनृसिंह भगवान ने ध्यानावस्था में कापालिक के कुकृत्य की सूचना दे दी, बस फिर क्या था-नृसिंह भगवान के आवेश में श्रीपद्माचार्यजी ने तत्काल घटनास्थल पर आकर कापालिक के हाथ से तलवार छीनकर उसे तुरन्त मार डाला। श्रीशंकराचार्यजी बाल-बाल बच गये।

ऐसे अनेकों संकटों को पार करते हुए श्रीशंकराचार्यजी दिग्विजय करते हुए जब उत्तराखण्ड में पहुँचे तो पता चला कि भगवान श्रीबद्रीनारायणकी मूर्ति को तिब्बती लोग यहाँ से उठाकर अपने यहाँ ले गये हैं। तब आप अपनी शिष्यमण्डली को साथ लेकर तिब्बत पहुँचे और अपने अलौकिक प्रभाव से लोगों को धर्षितकर श्रीबद्रीनारायण भगवान को पुनः लाकर बदरिकाश्रम में स्थापित किये।

आपके सम्बन्ध में ऐसी भी किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि आपके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लोभ से बहुत से ऐसे लोग भी शिष्य बनकर संग लग गये थे जिनको न तो किंचित्मात्र भी अद्वैत-वेदान्त का ज्ञान ही था, न उनकी अद्वैत वेदान्त में निष्ठा ही थी। श्रीशंकराचार्यजी ने विचार किया कि ऐसे लोग आगे चलकर सम्प्रदाय को दूषित करने वाले होंगे, अनेकों लोगों को विभ्रम में डालकर आत्मा का हनन करने वाले होंगे, अतः इनका अभी से पृथक्करण कर दिया जाय तो अच्छा हो। संग में सहस्त्रों शिष्यों को साथ लिए हुए आप पैदल परिभ्रमण कर रहे थे, गर्मी का दिन था। सबको प्यास बड़े जोर की लगी हुई थी, सबका गला सूख रहा था, अतः आपने एक जगह जाकर, जहाँ मद्य-निर्माणशाला थी, पीने को जल माँगा। उसने ग्लास में भरकर मदिरा दे दिया, आपने विचार किया कि सबकी परीक्षा का यह अच्छा सुअवसर है। वेदान्त के अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त को मैं अच्छी तरह जानता और मानता भी हूँ, इसमें हमारी दृढ़ निष्ठा है अतः यदि हम इसे पी भी जाते हैं तो मुझे कोई दोष नहीं लगने का। परन्तु यदि कोरा-अन्धानुकरण करने वाले इस आचरण को अपनाते हैं तो वे भ्रष्ट समझे जायेंगे। ऐसा विचारकर आप मद्यपान कर आगे बढ़ गये।

आपके विवेकी शिष्यों ने जब यह देखा तो मन में यह विचार किया कि-'समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं।।' अतः हम लोगों को भूलकर भी श्रीगुरु की बराबरी नहीं करनी चाहिए, हमें तो श्रीगुरुदेवजी के उपदेश पथ पर ही चलना चाहिए। अतः वे लोग मन ही मन श्रीगुरुजी को प्रणामकर आगे बढ़ गये, मद्यशाला की ओर देखे भी नहीं। परन्तु जब केवल भेड़ी के धसन की तरह बिना समझे-बूझे अन्धानुकरणशील अविवेकियों का समूह आया तो यह विचारकर कि हमारे लिए वही परम-कर्तव्य है जो श्रीगुरुजी अपने आचरण द्वारा उपदेश देते हैं। हमको-'गुरू हमारे करिहैं जोई। बिना विचारे करिहौं सोई।।' यदि मद्यपान निन्द्य होता तो हमारे गुरुजी क्यों फिर पीते ही। ऐसा सोचकर अविवेकी शिष्यों ने जी-भरकर मद्यपान किया। श्रीशङ्कराचार्यजी आगे बढ़े तो एक जगह काँच की भट्ठी जलती देखे। आपने उसी ब्रह्मभाव से खौलते हुए काँच को भी पी लिया। आपकी इस परम-सामर्थ्य को देखकर विवेकी शिष्य चरणों में लिपट गये, अविवेकियों के होश-हवास गुम हो गये। श्रीशङ्कराचार्यजी उनसे बोले-यदि तुम लोगों की ब्रह्मज्ञान के द्वारा भेदबुद्धि दूर हो गई है तो जैसे मद्यपान में किंचित् विचार नहीं किया वैसे ही काँच भी बिना किसी हिचक के पी लेना चाहिए। अन्यथा तुम सब मिथ्याज्ञानी एवं मिथ्याचारी हो। भला बकुले को क्षीर-नीर विवेक कहाँ? तुम लोगों ने ब्रह्मज्ञान का स्वांग करके अति निषिद्ध मद्यपान किया है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। तुम सब वाममार्गी हो। तुम हमारे पथ पर चलने योग्य नहीं हो। ऐसा कहकर श्रीशङ्कराचार्यजी ने उन्हें अपने से अलग कर दिया। वे ही लोग आगे चलकर वाममार्गी कहे गये। वे पंचमकार सेवन को मुक्ति का द्वार मानते हैं। यथा-मद्यं मासं च मीनं च मुद्रा मैथुन मेव च। ऐते पंचमकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे।। पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थायवै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते। आदि। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्यजी ने सम्प्रदायगत दोष को दूर किया।

दिग्विजय यात्रा में आपने-जहाँ-तहाँ अनेकों मठ मन्दिरों की स्थापना की। उसमें चार मुख्य हैं (श्रीजगन्नाथपुरी में गोवर्धनमठ, दक्षिण में श्रृङ्गेरीमठ, द्वारका में शारदामठ, और उत्तर में ज्योर्तिमठ) यहाँ क्रमशः आपके शिष्य श्रीपद्माचार्य, श्रीसुरेश्वराचार्य, श्रीहस्तामलकाचार्य और श्रीतोटकाचार्य मठाधीश हुए। श्रीस्वामी शङ्कराचार्य रचित २७२ ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है। जिसमें प्रस्थान त्रय (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता) भाष्य, विवेक चूड़ामणि आदि प्रधान हैं। आपने बहुत से स्तोत्रों की रचना की है जिनमें आपके हृदय का भक्तिभाव उमड़ता हुआ दृग्गोचर होता है। आपके सिद्धान्त के सम्बन्ध में देखिये वैष्णव

दर्शन। श्रीशंकराचार्यजी के अनन्त चरित्र हैं। यहाँ कुछ मुख्य प्रसङ्गों का स्मरण किया गया है। गूंगे को वाणीदान, मृतक को जीवनदान, अज्ञानी को ज्ञानदान-आपके जीवन की सामान्य घटनायें हैं। आपने अपने ३२ वर्ष के अत्यल्प जीवन में जो लोक-कल्याण कार्य किया, वह कोई और सौ वर्षों में भी नहीं कर सकता था। अन्त में आप वि०सं० ८७७ में श्रीकेदारनाथ में ब्रह्मलीन हुए। आपका यशस्यकाय आज भी अमर है।

श्रीनामदेवजी

नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।।
बालदशा बीठल्ल पानि जाके पय पीयौ।
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरन को दीयौ।।
सेज सलिल ते काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यौ देखि सकुचि रहे सबही सोती।।
'पण्डुरनाथ' कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाइ घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।।४३।।

शब्दार्थ-बालदसा=बाल्यकाल, बचपन। बीठल्ल=विठ्ठल, श्रीकृष्ण, पंढरपुर के ठाकुर। पानि=हाथ। पय=दूध। काढि=निकालकर। होती=थी। देवल=मन्दिर। सोती=श्रोत्रिय ब्राह्मण। अनुग=सेवक।

भावार्थ- जल-थल और अग्नि आदि में सर्वत्र अपने इष्ट का ही दर्शन करूँगा। यह प्रतिज्ञा श्रीनामदेवजी की उसी प्रकार निभी, जैसे कि त्रेता युग में नरसिंह भगवान के दास श्रीप्रहलादजी की निभी थी। बचपन में ही उनके हाथ से विठ्ठलनाथ भगवान ने दूध पिया। एक मरी हुई गाय को आपने जीवित करके असुर-यवनों को अपने भजन बल का परिचय दिया। फिर उस यवनराज के द्वारा दी गई शय्या को नदी के अथाह जल में डाल दिया। उसके आग्रह पर उसी तरह की अनेक शय्याएँ निकाल कर दिखा दीं। पण्डरपुर में पण्डरीनाथ भगवान के मंदिर का द्वार उलटकर आपकी ओर हो गया, इस चमत्कार को देखकर मंदिर के पुजारी सभी श्रोत्रिय ब्राह्मण लोग संकुचित और लज्जित हो गये। प्रेम के प्रभाव से पण्डरनाथ भगवान आपके पीछे-पीछे चलने वाले सेवक की तरह कार्य करते थे। आग से जल जाने पर अपने हाथों से भगवान ने आपका छप्पर छाया।।४३।।

व्याख्या- श्रीनामदेवजी का प्रादुर्भाव दक्षिण हैदराबाद के नरसी ब्राह्मणी ग्राम में सं० १३२७ कार्तिक, शुक्ल, प्रतिपदा, रविवार को सूर्योदय के समय हुआ था। श्रीनाभाजी ने भक्त नामदेवजी की तुलना श्रीप्रहलादजी से की है। कारण यह है कि दोनों महानुभावों को बाल्यावस्था में ही भगवत्साक्षात्कार हो गया। दोनों ही-जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वत मस्तके। ज्वाला मालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।' इस पौराणिक वचन के अनुसार सर्वत्र भगवान का दर्शन करने वाले हुए। यथा-श्रीप्रहलादजी-' सुमिरन सांचो कियो लियो देखि सबही में एक भगवान कैसे काटै तरवार है।' (क०९९) श्रीनामदेवजी भी अग्नि में, भूत में, कुत्ते में, पत्थर के रोड़े में भगवद् दर्शन करते थे। आगे इन प्रसङ्गों की चर्चाकी जायेगी। श्रीप्रहलादजी ने प्रस्तर खम्भ से भगवान को प्रगट किया। यथा -'प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन पाहनते परमेश्वर काढ़े।'(क०)तो श्रीनामदेवजी ने पाषाण विग्रह से एवं रास्ते में पड़े एक प्रस्तर खण्ड से भगवान को प्रकट कर लिया। श्रीप्रहलादजी के लिए हिरण्यकशिपु के तरवार दिखाने पर प्रभु प्रगट हुए थे तो श्रीनामदेवजी के लिए भी स्वयं इनके छुरी दिखाने पर प्रगट हुए थे। श्रीनामदेवजी की विशेषता यह है कि श्रीप्रहलादजी ने सत्वप्रधान सतयुग में श्रीप्रभु को प्रगट किया था और ये तमः प्रधान कलियुग में। प्रश्न- जब श्रीनृसिंह भगवान का प्राकट्य सतयुग में हुआ था तो छप्पय में 'त्रेता नरहरिदास को' क्यों कहा? समाधान- इसलिए कि प्रहलादजी का कार्यकाल त्रेता था।

बालदशा-पाँच साल की अवस्था में। 'पानि जाके पय पीयो'- दो०-नामा के कर पय पियौ, व्रज की खाई छाक। व्यास कपट हरि ना मिलै नीरस अपरस पाक।। 'परचौ०'चौ०- 'कहैं कबीर मोहि अग्गम सूझै। बिनु परचै कोइ बात न बूझै।।' वैसे भक्ति मार्ग में चमत्कार दिखाने का बड़ा निषेध किया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, धन-मान की प्राप्ति के लिए चमत्कार दिखाना निषिद्ध है। यदि कोई विमुख जीव उपदेश द्वारा भक्तिपथ पर अग्रसर नहीं हो रहे हैं तो उन्हें भगवत् सम्मुख करने के पवित्र उद्देश्य से कुछ चमत्कार दिखाना वर्जित नहीं है। सन्तों के जीवन चरित्र में जो चमत्कार के प्रसङ्ग आये हैं,वह इसी भाव में आये हैं।

पण्डुरनाथ- (श्रीपुण्डरीकनाथजी)-मातृ-पितृ भक्त पुण्डरीक को दर्शन देने के लिए भगवान आये और भक्त की प्रार्थना पर वहीं अविचल रूप से रह गये अतः भगवान का नाम ही पड़ गया- श्रीपुण्डरीकनाथजी। कथा इस प्रकार है- श्रीपुण्डरीकजी का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। सभी शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान था। साधना में बड़ी अभिरुचि थी। निरन्तर

जप, तप, तीर्थाटनादि में लगे रहते थे। एकबार ये अपने वृद्ध माता-पिता को घर पर छोड़कर सपत्नीक तीर्थयात्रा करते हुए काशीपुरी पहुँचे। एक पण्डा के यहाँ रुके हुए थे। वे पण्डाजी बड़े ही मातृ-पितृ भक्त थे। रात्रि के समय श्रीपुण्डरीकजी ने देखा कि कुछ दिव्यस्वरूप वाले स्त्री-पुरुषों का समुदाय उन पण्डाजी के घर आया। प्रथम तो सबने उनका दर्शन किया, तत्पश्चात् सब लोग सेवा में लग गये। कोई जल छिड़कने लगा, कोई बुहारी लगाने लगा, कोई घर में जल भरने लगा, कोई कुछ एवं कोई कुछ कैङ्कर्य करने लगा। यह सब देखकर पुण्डरीकजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। अतः ये उनके समीप जाकरबड़ी विनम्रतापूर्वक पूछे यदि आप लोग मुझे अधिकारी समझें तो कृपा करके यह बतायें कि दिव्यरूपधारी आप लोग कौन हैं? और इतने तेजस्वी होकर भी आप लोग यहाँ सब कैङ्कर्य क्यों करते हैं? सबने अपना परिचय दिया- हम गङ्गा हैं, हम जमुना हैं, हम सरस्वती हैं, हम अमुक देवी हैं और हम अमुक देव हैं। हम लोग इन पण्डाजी की मातृ-पितृ भक्ति से प्रसन्न होकर इनका दर्शन करने आते हैं और इनकी सेवा कर अपने को कृतार्थ मानते हैं।

माता-पिता की सेवा की यह अद्‌भुत महिमा देखकर श्रीपुण्डरीकजी को बड़ी ही आत्म-ग्लानि हुई कि हमारी भूल तो देखो- हम अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा छोड़कर जप, तप, तीरथ- योग- यज्ञ में लगे हैं। फिर तो पुण्डरीकजी उन पण्डाजी को प्रणाम कर उसी रात्रि घर के लिए प्रस्थान कर लिए और घर आकर प्राण-प्रण से माता-पिता की सेवा में जुट गये। श्रीपुण्डरीकजी की मातृ-पितृ भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान ने इन्हें दर्शन देने एवं ऐसे माता-पिता के सेवक का दर्शन करने की इच्छा की। संयोग की बात उन्हीं दिनों श्रीद्वारिकापुरी में भगवान श्रीद्वारकानाथ श्रीकृष्णजी के रनिवास में कुछ कलह हो गया, जिसमें महारानी श्रीरुक्मिणीजी श्रीकृष्ण पर नाराज हो गईं कि आप श्रीसत्यभामाजी का पक्ष लेते हैं, आप उनको अधिक प्यार करते हैं। आदि। अतः वे चुपके से महल से निकलकर वन में चली गईं। मनाने में परम-प्रवीण प्रभु ने जैसे-तैसे उन्हें रिझाकर राजी कर लिया और बोले- देखो, भाग्य से हम लोग समीप आ गये हैं, यहाँ से कुछ दूर पर एक भक्तराज रहते हैं, हमारा विचार है कि पहले हम लोग उनका दर्शन कर लें फिर बाद में द्वारका चलेंगे। श्रीरुक्मिणीजी ने आज के कलह को शुभ-शकुन माना, जो कि उसके कारण से एक महाभागवत के दर्शन का सुयोग मिल गया। फिर तो श्रीकृष्ण-रुक्मिणी, दोनों ही भक्त श्रीपुण्डरीकजी के घर आये। उस समय भक्तजी दत्तचित्त होकर माता-पिता की सेवा कर रहे थे। भगवान ने पीछे खड़े होकर कहा कि हम तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर दर्शन देने आये हैं, हमारा दर्शन कर

लो। श्रीपुण्डरीकजी यह कहते हुए कि 'अभी मैं सावकाश नहीं हूँ, थोड़ी देर तक आप रुकें, मैं सेवा से फुरसत पाने पर आपका दर्शन करूँगा।' भगवान को बैठने के लिए पीछे ईंट खिसका दी। श्रीभगवान ईंट पर खड़े रहे। (इसी से श्रीपुण्डरीकनाथ भगवान का एक नाम 'इट्ठल' भी पड़ गया। महाराष्ट्रीय भक्तों के पदों में 'इट्ठल' नाम आया है। यह 'इट्ठल' शब्द ही अब 'विट्ठल' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। कोई-कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि 'विष्णु' शब्द ही जनभाषा में 'बिठू' रूप में और फिर 'विट्ठल' रूप में प्रचलित हो गया है।

माता-पिता की सेवा से अवकाश मिलने पर भक्त पुण्डरीक ने भगवान के श्रीचरण-कमलों में प्रणाम किया। भगवान श्रीकृष्ण-रुक्मिणीजी ने भक्त के सिर पर अपना वरदहस्त-कमल रख दिया और मनोवांछित वर मांगने को कहा। भक्त पुण्डरीक तो भगवान का दर्शन कर स्वयं कृतार्थ हो चुके थे। परन्तु 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भव्य-भावना से भावित होकर इन्होंने यही वर मांगा कि आप इस रूप से सदैव यहाँ विराजमान रहें। भक्तवत्सल भगवान ने 'एवमस्तु' कहा और आज तक उसी प्रकार ईंट पर खड़े होकर असंख्य-असंख्य भक्तों को अपने मङ्गलमय दर्शन से परमानन्द प्रदान कर रहे हैं। भगवान श्रीपुण्डरीकनाथजी ऐसे भक्तवत्सल हैं कि अपने श्रीकर-कमल से भक्त नामदेवजी का छप्पर छाये थे।

छानि सुकर छाई-**यहाँ यह जिज्ञासा होगी कि भगवान तो सत्य संकल्प हैं। संकल्प मात्र से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की रचना कर देते हैं। यथा-'उतपति पालन प्रलय समीहा।' फिर नामदेवजी का छप्पर अपने हाथ से क्यों छाये? समाधान-जैसे भक्त अपने हाथ से भगवान की सेवा करने में परमसुख मानते हैं। यही कारण है कि अम्बरीषजी आदि चक्रवर्ती राजा होकर भी समस्त भगवत्कैङ्कर्य स्वयं करते थे। उसी प्रकार भगवान भी अपने भक्तों की सेवा करने में परमसुख मानते हैं। प्रभु का तो विरद ही है-यथा-'ये मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।।' (गी० ४-११) अतः भक्तों की तरह भगवान भी सेवा का सुयोग ढूँढ़ा करते हैं। बड़े भाग्य से सेवा का अवसर मिला, अतः 'छानि सुकर छाई'''। श्रीभक्तमालजी में ऐसे कितने प्रसङ्ग हैं जिनमें भगवान ने भक्तों की सेवा की है। जैसे श्रीत्रिलोचनजी आदि के यहाँ।**

छीपा वामदेव हरिदेव जू को भक्त बड़ो ताकी एक बेटी पतिहीन भई जानिये।
द्वादश वरष मांझ भयो तब कही पिता सेवा सावधान मन नीके करि आनिये।।
तेरे जे मनोरथ हैं पूरन करन एई जो पै दत्तचित्त ह्वै कै मेरी बात मानिये।
करत टहल प्रभु वेगि ही प्रसन्न भये कीनी काम वासना सु पेखि उनमानिये।।१२७

शब्दार्थ=छीपा=कपड़े पर छींट छापने वाले, दर्जी। दत्तचित्त=मन लगाकर। उन=उन्होंने। मानिये = स्वीकार करिये वा स्वीकार कर लिया।

भावार्थ-छीपा जाति के श्रीवामदेवजी भगवान के बड़े-भारी भक्त थे। उनकी एक लड़की थोड़ी ही आयु में विधवा हो गई। जब वह बारह साल की हो गई तब वामदेवजी ने उससे कहा-तुम घर में विराजमान श्रीठाकुरजी की सेवा सावधान मन से अच्छी प्रकार किया करो। तुम्हारे जो मनोरथ हैं उनको पूर्ण करने वाले यही हैं, यदि मेरी बात को मन लगाकर (सुनेगी और) मानेगी तो शीघ्र ही तेरे सब मनोरथ पूर्ण होंगे। इस प्रकार पिताजी की आज्ञा पाकर वह भगवान की सेवा करने लगी, उस पर भगवान शीघ्र ही प्रसन्न हो गये और प्रत्यक्ष अपना दर्शन दिये। भगवान की सुन्दर छवि का दर्शन करके उसके मन में जो भावना उत्पन्न हुई उसे भगवान ने पूर्ण किया। यह बात पूर्ण सत्य है, आप लोग इस पर पूर्ण विश्वास करिये।।१२७।।

व्याख्या हरिदेव जी-श्रीवामदेवजी के श्रीठाकुरजी का नाम है। 'कही पिता'-एक दिन श्रीवामदेवजी श्रीठाकुरजी की सेवा कर रहे थे। उसी समय उनकी पुत्री भी वहीं पहुँच गई। श्रीवामदेवजी ने विचार किया कि यह पति विहीना होने के कारण सदा दुःखित रहती है अतः श्रीठाकुरजी के सामने ही समझाने लगे-बेटी! जीव के सच्चे पति तो भगवान ही हैं और तो सम्बन्ध लौकिक व्यवहार में केवल कल्पनामात्र हैं, अतः तू दुःख मत कर, भगवान ही में मन लगा। स्त्रियाँ पति के रूप में परमात्मा की ही सेवा करके परमगति पाती हैं, तो ये तो साक्षात् परमेश्वर हैं, सच्चे स्नेही हैं, इन्हीं से प्रीति कर। आदि। 'सेवा सावधान'-देखिये श्रीअग्रदासजी के प्रसङ्ग में 'सेवा सुमिरन सावधान।' छ० ४१।

मन नीके-'वचन वेष से जो बनै, सो बिगरै परिणाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम।।' (दो०) 'पूरन करन एई'-यथा-'राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण साधु सुर साखी।।' (रामा०) पुनः भगवद्वाक्यं-'यद् यद् वाञ्छति मद्भक्तस्तत्तत्कुर्यामतन्द्रितः। अर्थात् मेरा भक्त जो-जो इच्छा करता है, उसे मैं आलस्य रहित होकर पूर्ण करता हूँ। इसी से कहा गया है कि 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत पुरुषं परम्।।' (भा०२-३-१०) अर्थ-जो बुद्धिमान पुरुष है-वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो-उसे तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल

पुरुषोत्तम भगवान की ही आराधना करनी चाहिए। 'करत टहल'-इस पर दृष्टान्त रसायनी का-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८५।

कीनी काम वासना-'वामदेव कन्या गौणाई। तासु सहेली सखी सुहाई।। गोद लिये निज सुत तहँ आई।। वामदेव कन्या उठि धाई।। गोद राखि चूमत दुलराई। हर्षित भई परम सुख पाई। हे हरि होत जु पुत्र हमारे। तब खेलाइ लहत्यौं सुख भारे।। तासु मनोरथ पूरन हेतु। भयो गर्भ महँ कृपा निकेतू।।' (भ०व०टि०) भक्तवत्सल भगवान श्रीहरिदेवजी ने साक्षात् प्रकट होकर 'एवमस्तु' कहा। कवित्त में आये 'कीनी काम वासना' से यदि किसी का यह आग्रह हो कि इस शब्द से तो काम विषयक भोग वासना का ही भाव प्रकट होता है तो इसका समाधान यह है कि भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य को देखकर दण्डकारण्य के ऋषि ललक उठे कि यदि मैं स्त्री होता तो भगवान के साथ रमण करता, आदि। तो यह तो साक्षात् काम की पिटारी नारी ठहरी, यदि इसे प्रभु के साथ रमण करने की ही अभिलाषा हुई तो कोई आश्चर्य नहीं और कोई दोष भी नहीं है। क्योंकि भगवान में किसी भी सम्बन्ध से स्नेह होना कल्याणकारी ही है यथा-

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।। (भा०१०-२९-१५)

अर्थ-भगवान से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिए। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो-काम का हो, क्रोध का हो या भय का हो, स्नेह, नातेदारी या सौहार्द का हो। चाहे जिस भाव से भगवान में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दीं जायें, वे भगवान से ही जुड़ती हैं इसलिए वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं और फलस्वरूप उस जीव को भगवान की ही प्राप्ति होती है। इसके प्रमाण भी हैं। श्रीनारदजी कहते हैं-

कामाद्द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद् गतिं गताः।।
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयोनृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो।। (भा०७-१-२९-३०)

अर्थ-एक नहीं, अनेकों मनुष्य काम से, द्वेष से, भय से और स्नेह से अपने मन को भगवान में लगाकर एवं अपने सारे-पाप धोकर उसी प्रकार भगवान को प्राप्त हुए हैं जैसे भक्त भक्ति से। गोपियों ने भगवान से मिलने के लिए तीव्र काम अर्थात् प्रेम से, कंस ने भय से,

शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवार के सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से अपने मन को भगवान में लगाया है।

महारास की रात्रि में ब्रजदेवियाँ जब अपने-अपने पतियों को छोड़कर श्रीकृष्ण के पास आईं तो वे उन्हें पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देने लगे। इस पर एक गोपी ने पूछा था-'प्यारे! यह तो बताओ, किसी पतिव्रता का पति परदेश जाने लगा, तब वह पति से बोली कि मैं आपके बिना कैसे जीवन धारण कर सकूँगी? तब पति ने अपनी मिट्टी की मूर्ति उसको देते हुए कहा कि इसी में मेंरी प्रत्यक्ष भावना करते हुए कालक्षेप करना। वह सती-साध्वी नित्यप्रति उस पति की मूर्ति की पूजा-अर्चा आदि करती। कुछ दिन बाद उसका पति परदेस से घर आया, वह उस समय किवाड़ बन्द करके पति की मृत्तिका-मूर्ति की पूजा में लगी हुई थी। इतने में उसके साक्षात् पति ने द्वार खटखटाया। अब आप बताइये, वह मिट्टी की मूर्ति की सेवा करे कि साक्षात् पति की? भगवान ने कहा-अरी गोपियों! जब उसका साक्षात् पति आ गया तो भला मिट्टी की मूर्ति पूजने की क्या आवश्यकता? अब तो उसका परमधर्म यही है कि वह सब कुछ छोड़कर अपने पति की सेवा करे। गोपियों ने कहा-'प्यारे श्यामसुन्दर! आपके ही श्रीमुख का न्याय है, अब आप कहौ, जब हमारे सच्चे पति आप मिल गये हो तो हम आपको छोड़कर कल्पित, लौकिक पति की सेवा क्यों करने जायँ। अब तो हमारा परमधर्म सर्वतोभावेन आपकी ही सेवा करना है। प्रभु चुप हो गये। कहने का तात्पर्य यह कि यदि वामदेवजी की कन्या ने भगवान से कामवासना भी किया तो कोई अनुचित नहीं है।

विधवा को गर्भ ताकी बात चली ठौर-ठौर दुष्ट शिरमौरनि को भई मन भाइयै।
चलत चलत वामदेव जू के कान परी करी निराधार प्रभू आप अपनाइयै।।
भये जू प्रगट बाल नाम नामदेव धर्‌यौ कर्‌यौ मन भायो सब सम्पति लुटाइयै।
दिन दिन बढ्‌यो कछू और रंग चढ्‌यो भक्तिभाव अंग मढ्‌यो कढ्‌यो रूप सुखदाइयै।।१२८

शब्दार्थ-निराधार=निश्चय। मढ्‌यौ=घिर गया। कढ्‌यौ=प्रकट हुआ।

भावार्थ-वामदेवकी पुत्री के मन में एक भक्तपुत्र प्राप्त करने की इच्छा हुई। भगवान के आशीर्वाद से उसके गर्भ हो गया। उसके गर्भ की चर्चा स्थान-स्थान पर चलने लगी। पराई निन्दा करने वाले जो दुष्टराज थे, उनके मन की-सी हो गई। चलते-चलते यह बात वामदेवजी के कान में पड़ी, तब आपने लड़की से पूछा और उसका उत्तर सुनकर यह निश्चय

किया कि-भगवान ने ही पुत्री को अपनाया है, उनके आशीर्वाद से गर्भ हो गया है। समय पूर्ण होने पर बालक का जन्म हुआ और वामदेवजी ने उसका नाम 'नामदेव' रखा। पुत्रजन्म के उत्सव में अपना मनचीता किया। ब्राह्मणों को और निर्धनों को जी-भरकर आपने अपनी सारी-सम्पत्ति लुटाई। बालक नामदेव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा उसके ऊपर कुछ और ही अलौकिक रङ्ग चढ़ गया। उसके अङ्ग-अङ्ग में भगवद्भक्ति के भाव व्याप्त हो गये। अत्यन्त सुन्दर, सबको सुख देने वाला उसका दिव्य स्वरूप प्रकट हुआ।।१२८।।

व्याख्या-बात चली-**संसारी लोग बात का बतंगड़ बना देते हैं। इस पर-**

दृष्टान्त कौए के पंख का-**एक पत्नी ने पति से शिकायत की कि आप हमसे अपनी बात छिपाते हैं। पति ने कहा-मैंने कथा-वार्ता में सुना है कि स्त्रियों के पेट में बात नहीं पचती है, इसलिए कोई-कोई गुप्त रखने वाली बात जरुर मैं तुमसे नहीं कहता हूँ। पत्नी ने कहा-वाह! ऐसा भी कभी हो सकता है कि आप जिस बात को गुप्त रखना चाहें उसे मैं प्रकट कर दूँ। आपका मुझ पर इतना भी विश्वास नहीं है। पति ने कहा-अच्छा! अब कोई भी बात होगी, तो मैं तुमसे कह दिया करूँगा। कुछ दिन बीतने पर पति ने सोचा कि जरा देखूँ तो यह कितने पानी में है। अतः एक दिन सायंकाल को बहुत मन मारकर बैठ गया। पत्नी ताड़ गई अतः उसने झट समीप जाकर पूछा-आज क्या बात है? जो इतने उदास हो बैठे हैं? पति ने कहा-कुछ पूछो मत, देखो, किसी से कहना नहीं, आज मैं शौच गया था तो मेरे पेट से कौए की एक पांख निकली। पत्नी ने सुनते ही मुँह लटका लिया। उसी भंगिमा से वह पड़ोसिन के घर गई। उसकी सहेली ने पूछा-सखी! क्या बात है जो आज बहुत उदास सी लग रही हो। उसने कहा-बहिनजी, देखो किसी से कहना नहीं आज मेरे पतिदेव के पेट से तमाम पंख ही पंख निकले हैं। पति ने तो एक पंख कहा था, पत्नी ने असंख्यों बताया और जब उसकी सहेली दूसरे के घर गई तो उसने अपनी सखी से कहा-तुम्हें मालूम नहीं, अमुक के पति के पेट में से तो आज एक कौआ निकला है। इसने पंख का कौआ बना दिया। और जब वह अपनी सहेली से मिली तो उसने कहा कि अमुक के पति के पेट में से आज सहस्त्रों कौए निकले हैं। इस प्रकार एक पंख की बात बढ़ते-बढ़ते सहस्त्रों कौओं के रूप में फैली। यही हाल यहाँ भी हुआ। लोग एक में इग्यारह मिला-मिलाकर कहने लगे।**

दुष्ट सिरमौर-**दुष्टों को तो किसी की भी निन्दा की सामग्री मिलना अष्टसिद्धि, नवोनिधि मिलने के समान है। यथा-'जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी**

निधि पाई।।' (रामा०) यद्यपि निन्दा से बढ़कर पाप नहीं है। यथा-'परनिन्दा सम अघ न गरीसा।' (रामा०) उसमें भी सन्त की निन्दा तो महान् अनर्थकारी है। यथा-'सन्तन निन्दा अति बुरी, भूलि करो जनि कोय। जनम जनम के सुकृत को, पल में डारै खोय।।' परन्तु कहावत है-'जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।।' दुष्टों को दूसरे की निन्दा ही भाती है। अतः दुष्टों ने जी-भरकर श्रीवामदेवजी एवं उनकी कन्या की निन्दा की। एक बात स्मरण रखने की है कि दुष्टों द्वारा निन्दा किए जाने से साधु-पुरुषों की कुछ भी हानि नहीं होती बल्कि उनका लाभ ही होता है, पापों का प्रक्षालन होता है। यथा-

निन्दकाः शूकराश्चैव सफलाः निर्मिता हरेः।
निन्दकाः साधु शुद्धयन्ति ग्रामं शुद्धयन्तिशूकराः।।

पुनश्च- जग में हितुवा तीन हैं, निन्दक माई बाप।
मां मल धोवै हाथ से, खल जीवन से पाप।।

सुभाषित में भी आया है-

लोके गरीयसी माता मातृतोऽत्यधिकः खलः।
माता पुनाति हस्ताभ्यां खलास्तु जिह्वयामलम्।।

अर्थ-लोक में माता को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है परन्तु मेरी समझ से तो खल माता से भी बढ़कर जान पड़ते हैं। क्योंकि माता तो हाथ से मल धोकर बालक के शरीर को पवित्र करती है परन्तु खल तो जिह्वा से निन्दा करके पापों को धोते हैं। तभी तो श्रीकबीरदासजी कहते हैं-'निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।'

करी निरधार-श्रीवामदेवजी ने अपनी कन्या को सौगन्ध दिलाकर श्रीठाकुरजी के सामने जब पूछा तो कन्या ने सब बात सही-सही बता दी। वैसे वामदेवजी को कन्या के कथन पर ही विश्वास हो गया, क्योंकि भगवत्कृपा के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं उस पर भी रात्रि में श्रीठाकुरजी ने भी स्वप्न में आदेश दिया कि हे वामदेवजी! तुम्हारी पुत्री सर्वथा निर्दोष है। तुम्हारी कन्या के गर्भ में मेरा ही अंश है। तुम चिन्ता कुछ भी मत करो। फिर तो यह जानकर श्रीवामदेवजी बड़े ही प्रसन्न हुए कि धन्य हैं मेरे भाग्य, जो मेरी पुत्री को प्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर अपनाया है। परमधन्य हो गई मेरी बेटी। दुनिया आंय-वांय-सांय बकती है तो बकती रहे। यह तो उनका स्वभाव है। कहा भी है-'महिमा मृगी कौन सुकृति की खल बच विशिखन बांची।।' (गी०)

भये जू प्रगट-**कहकर श्रीनामदेवजी को अवतार जनाया। क्योंकि भगवान का प्राकट्य होता है। यथा-'भये प्रगट कृपाला…।' सन्तों की मान्यता के अनुसार ये उद्धवजी के अवतार कहे जाते हैं। 'नाम नामदेव धर्‌यो'-जब इनका नामकरण-संस्कार हो रहा था, तब ज्योतिषी ब्राह्मणों ने बालक के पिता का नाम पूछा। तब श्रीवामदेवजी ने कहा कि बालक के पिता स्वयं भगवान् हैं। ब्राह्मणों ने कहा-'भगवान तो जगत् के पिता हैं ही, इनके लौकिक पिता का क्या नाम है? श्रीवामदेवजी बारम्बार भगवान को ही बताते-पर ब्राह्मणों को विश्वास नहीं हो रहा था। तब उसी समय भगवान ने आकाशवाणी की-ब्राह्मणो! सचमुच इस बालक को मेरा ही पुत्र समझो और इसका नाम 'नामदेव' रखो। नामदेव नाम धरने का कारण-श्रीवामदेवजी एवं उनकी पुत्री गौणाई की श्रीहरिनाम में बड़ी ही निष्ठा थी। श्रीनाम-महाराज की कृपा से ही यह उत्तम रत्न प्राप्त हुआ है, अतः 'नाम नामदेव धर्‌यौ।' पुनः बालक की जन्म-कुण्डली में भी ऐसे योग पड़े थे जिसके अनुसार आगे चलकर बालक बड़ा ही नामनिष्ठ होगा, श्रीनाम-महाराज ही इसके परमाराध्य होंगे। अतः 'नाम नामदेव धर्‌यौ।'**

दिन दिन बढ्‌यौ-**जैसे शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा बढ़ते हैं। कुछ और रंग अर्थात् अलौकिक प्रेमरंग चढ़ने लगा। भक्ति भाव अंग मढ्‌यो का भाव यह कि श्रीनामदेवजी के हृदय की तो बात ही क्या उनके अंग-अंग, रोम रोम में भक्ति छाई हुई थी। 'कढ्‌यो रूप सुखदाइयै'-इसके दो अर्थ हैं। १. इनका रूप दिन-दिन बढ़ा सुन्दर एवं सर्व सुखदाई प्रकट हुआ, क्योंकि भगवदंश जो ठहरे। २. जब भक्तिभाव बढ़ा तो इनके निर्मल हृदय में भगवान का सुन्दर एवं सुखदाई रूप प्रगट हो गया, यथा-'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विशेषे।।' (रामा०)**

खेलत खिलौना प्रीति रीति सब सेवा ही की पट पहिरावैं पुनि भोग को लगावहीं।
घंटा लै बजावैं नीके ध्यान मन लावैं त्यों-त्यों अति सुख पावैं नैन नीर भरि आवहीं।।
बार-बार कहैं नामदेव वामदेव जू सों देवो मोहिं सेवा मांझ अति ही सुहावहीं।
जाऊँ एक गाँव फिरि आऊँ दिन तीन मध्य दूध को पिवावौ मत पीवौ मोहि भावहीं।।१२९

भावार्थ-**श्रीनामदेवजी बचपन में खिलौने से खेलते थे परन्तु उनके खेलने में प्रेम भक्ति तथा सेवा की रीति-भाँति होती थी। जिस प्रकार अपने नानाजी को ठाकुरजी की सेवा करते देखते थे, उसी प्रकार आप खेल में सेवा-पूजा करते थे, वे किसी काष्ठ या पाषाण**

को मूर्ति बना लेते और फिर उसे बड़े प्रेम से वस्त्र पहनाते, भोग लगाते, घण्टा बजाते तथा नेत्र बन्द करके मन में अच्छी तरह भगवान का ध्यान करते। वे जैसे-जैसे इन कार्यों को करते थे, वैसे-वैसे वे अत्यन्त सुख पाते थे। [भगवान ध्यान में आ जाते, रूपमाधुरी के दर्शन से] प्रेमवश उनके नेत्रों में जल भर जाता। नामदेवजी अपने नाना वामदेवजी से बार-बार कहते कि-(आप वृद्ध हो गये हैं) अतः भगवान की सेवा मुझे दे दीजिये। सेवा मुझे बहुत प्यारी लगती है अतः उसमें मुझे नियुक्त कर दीजिये। इस प्रकार नामदेवजी ने बार-बार कहा। कुछ समय बाद वामदेवजी ने नामदेवजी से कहा कि-मैं एक गाँव को जाऊँगा और तीन दिन में लौटकर आऊँगा। तुम भगवान की सेवा करना और भगवान को दूध पिलाना। स्वयं मत पी जाना, ये ठाकुरजी मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। (यदि अच्छी प्रकार से तीन दिन सेवा करोगे तो तुम्हें ही सेवा सौंप देंगे।)।।१२९।।

व्याख्या-खेलत खिलौना०-इस पर दृष्टांत श्रीचन्द्रहासजी का। उनके लिए भी लिखा है-'खेलैं रस ढुर हैं'-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३१७ तथा देखिये श्रीहितहरिवंशजी का चरित्र छप्पय ९०।

प्रीति रीति-प्रीति की रीति को प्रेमतत्वदर्शी आचार्यों ने अत्यन्त कठिन बताया हैं। यथा-

कठिन प्रीति की रीति कठिन तन मन वश करिबो।
कठिन हैं कर्म निकन्द कठिन भवसागर तरिबो।।
कठिन संकट में दान कठिन संभ्रम में समता।
कठिन है पर उपकार कठिन अति मारन ममता।।
वचन निबाहन अति कठिन निधन नेह पालन कठिन।
मुनि ईश्वर सिखवत चतुरनर ज्ञानयुद्ध करिबो कठिन।।

परन्तु श्रीनामदेवजी को बाल्यावस्था में ही प्रीति की रीति समझ में आ गई थी। यह विशेष भगवत् कृपा है, प्रीति की रीति यथार्थ में तो भगवान ही जानते हैं यथा-'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।।' (रामा०) 'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।।' (विनय)'प्रीति की रीति को पैडोई न्यारो। कै जानै वृषभानु नंदिनी कै जानै यह नन्द दुलारो।।' (सूरदास) 'प्रीति की रीति रंगीलोई जाने। यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै।। (श्रीहित चतुरासीजी) अथवा भगवान के कृपापात्र जानते हैं। यथा-'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।।' (रामा०)

घण्टा लै बजावै- **श्रीनामदेवजी कहीं बैल का एक घण्टा पा गये थे, वही बजाते थे। वैष्णव-सिद्धान्त के अनुसार गरुड़ घण्टी की आवाज वेदध्वनि की भावना की जाती है। भगवान का पूजन वेदमन्त्रों से करना चाहिए। परन्तु सर्वसाधारण के लिए यह सुलभ नहीं है। अतः पूजन में गरुड़ घण्टी के द्वारा इस भाव की पूर्ति हो जाती है क्योंकि पौराणिक मान्यता के अनुसार श्रीगरुड़जी के पंखों से निरन्तर वेदध्वनि होती रहती है। एक महात्मा भगवान की सेवा-पूजा में घण्टी बजाने का एक और बड़ा मधुर भाव कहते हैं। उनका कथन है कि भगवान ने जो यह श्रीमुख से कहा है कि 'अहं भक्त पराधीनो' इसका पूर्ण निर्वाह अर्चावतार में ही होता है। अर्चाविग्रह के रूप में भगवान एकदम अपने को भक्त के अधीन कर देते हैं। हमेशा भक्त की आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं कि भक्त आज्ञा दें तो मैं नहाऊँ, खाऊँ, सोऊँ आदि। परन्तु भक्त के सामने यह समस्या हो जाती है कि मैं अपने प्रभु को कैसे आज्ञा दूँ। भक्त आज्ञा दे नहीं सकता और भगवान बिना आज्ञा के कुछ कर नहीं सकते, तब निर्वाह कैसे हो? तब भगवान और भक्त के बीच घण्टी की प्रतिष्ठा की गई। भक्त घण्टी-वादन के ब्याज से भगवान को आज्ञात्मक संकेत करता है कि अब नहाओ, अब आरोगो अब विश्राम करो आदि। भोग लगाने के समय पहले घण्टी बजाने का भाव यह कि अब भोग आरोगिये। अन्त में बजाने का भाव यह कि सब मत पा जाइये, कुछ हम भक्तों के लिए भी छोड़ दीजिए। आदि। किसी ने श्रीनामदेवजी से पूछा- नामा! श्रीठाकुरजी के सामने घण्टी क्यों बजाते हो। श्रीनामदेवजी ने कहा- घण्टी की ध्वनि बड़ी प्रिय होती है। यदि कोई बालक रोता हो और उसके सामने घण्टी बजा दी जाय तो वह हँस पड़ेगा, प्रसन्न हो जायेगा, उसका मन लग जाएगा। इसीलिए मैं भी बजाता हूँ कि ठाकुरजी प्रसन्न होकर नैवेद्य आरोगें।**

बार बार कहैं- **श्रीनामदेवजी बहुत छोटे थे, तभी कभी- कभी प्यारवश श्रीवामदेवजी जब श्रीठाकुरजी की सेवा में जाते तो इनको भी लिवा जाते। श्रीनामदेवजी तोतली वाणी में कहते-नानाजी! मैं पूजा करूँगा। श्रीवामदेवजी हँसकर कहते-नामा! तू और बड़ा हो जाय, तब मैं तुझको श्रीठाकुरजी की सेवा सौपूँ। अब नामदेवजी कुछ बड़े हो गये हैं और अपने खिलौना ठाकुरजी की सेवा भी अच्छी तरह से कर लेते हैं अतः अब श्रीवामदेवजी से बार-बार कहते- नानाजी! देखो, अब मैं बड़ा हो गया हूँ और अपने छोटे श्रीठाकुरजी की सेवा भी अच्छी तरह कर लेता हूँ अतः अब तो आप अपने बड़े ठाकुरजी की सेवा-पूजा मुझे दीजिए। सेवा में मेरा मन खूब लगता है। श्रीवामदेवजी ने इसे इनका**

बाल-चापल्य समझकर टाल देते। संयोग की बात, श्रीवामदेवजी को दो तीन दिन बाद, दो तीन दिन के लिए कहीं बाहर जाने की जरूरत पड़ी तब उन्होंने विचार किया कि नामा सेवा-पूजा के लिए रोज हठ करता है अतः अब इसको ही सेवा सौप जाऊँ। अभी ये यह विचार ही कर रहे थे कि इतने में श्रीनामदेवजी आ गये और ठुनककर बाले-नानाजी मुझे सेवा कब दोगे? तब वे बोले देख, नामा! मैं दो-तीन दिन के लिए बाहर जा रहा हूँ। अतः अब तुम ही प्रेम से श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा करना। प्रेम से श्रीठाकुरजी को दूध पिलाना, भोग लगाना। देख, नामा! यदि तूने ठीक से सेवा पूजा की तो मैं तुम्हें सदा के लिए पुजारी बना दूँगा। मैं तो बूढ़ा हो चला हूँ, बैठकर राम-राम कहूँगा। अब तो सब तुम्हें ही संभालना है। यदि पूजा में गड़बड़ी करोगे तो श्रीठाकुरजी नाराज हो जायेंगे, फिर मैं तुम्हें कभी पूजा नहीं दूँगा।

पूजा का नाम सुनकर श्रीनामदेवजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बोले- नानाजी! आप कब जा रहे हैं? कब? अभी जा रहे हैं? शाम को जायेंगे? वामदेवजी ने कहा-? नहीं भाई, अभी दो- तीन दिन में जायेंगे, तुम जाओ खेल आओ। श्रीनामदेवजी खुशी-खुशी अपने बालसखा मण्डल में पहुँचे । बालकों ने पूछा- नामा! आज तू बहुत हँस रहा है, क्या बात है, कुछ मिल गया है क्या? नामदेव मुस्कुराते हुए बोले- अब तो मैं बड़े ठाकुरजी का पुजारी हो गया हूँ । नानाजी ने सब सेवा मुझे सौंप दी है। बच्चे ताली पीटकर हँसने लगे। ये बालकों के मुख से वाह रे पुजारी, नामा पुजारी आदि सुनकर बड़े आनन्दित होते। श्रीनामदेवजी थोड़ी ही देर में खेलकर आये तो पूछे नानाजी! अभी गये नहीं, जाओ बाहर। ऐसे ही खाकर, पीकर, सोकर, जब भी याद आ जाती पूछने लगते- नानाजी गये नहीं। श्रीवामदेवजी समझा- बुझाकर शान्त करते। श्रीनामदेवजी की त्वरा पर-

दृष्टान्त-श्याम-सगाई का- **श्रीयशोदा मैया बड़े प्रेम से लाला श्यामसुन्दर को समझा रहीं हैं- मेरे लाल! तू घर-घर माखन चोरी करता है, यह तेरा लड़कपन है तो ललित और सभी को अच्छा भी लगता है। परन्तु तेरा नाम बिगड़ रहा है। सब लोग तुझे चोर कहते हैं। बेटा! कल ही तुझे देखने वाले आयेंगे। क्योंकि तेरे बाबा ने तेरे ब्याह की बात चला रखी है। चोरी की बात सुनकर तेरे सास-ससुर डर जायेंगे। फिर तेरी सगाई नहीं करेंगे। तेरी नई दुलहिन भी हँसेगी, अतः तू इस टेव को छोड़ दे। आ, तेरे उबटन लगा दूँ, फिर तू नहाले, मैं तेरी चोटी गूँथ दूँगी। मैं तेरी बलिहारी हूँ। इस प्रकार जब तू**

सुन्दर बन जायेगा तो तुझे सुन्दर देखकर देखने वाले बड़ाई करेंगे। श्यामसुन्दर ने माता का कहना मान लिया, बोले- मैया! अब मैं चोरी नहीं करूँगा। फिर वे नहा धोकर चोटी गुँथवा कर तैयार हो गये तो पुकार कर बोले-मैया! बहुत देर हो गई, तूने कहा था कि कल तुझे देखने वाले आयेंगे, सो वह कल तो अभी आया नहीं। यशोदा बोलीं- बेटा! जब तू सोकर उठेगा, तब कल आयेगा। इतना सुनते ही श्रीकृष्ण अच्छा कहकर आँख मूँद कर सो गये। फिर तुरन्त ही उठकर बाले-मैया! सबेरा हो गया, झंगुली दे, पहन लूँ वे मुझे देखने वाले आते ही होंगे। श्रीयशोदाजी पुत्र के विवाह के लिए इतनी आतुरता देखकर प्रमुदित हो गईं। अन्य ग्वालिनें जोर से हँसने लगीं। यह देखकर श्रीश्यामसुन्दर लजाकर, दौड़कर अपनी माता के हृदय से चिपट गये। इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीकृष्ण गीतावली में किया है-

छाँड़ो मेरे ललन ललित लरिकाई।
ऐहैं सुत देखु बार कालि तेरे बबै ब्याह की बात चलाई।।
डरिहैं सास ससुर चोरी सुनि हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।
उबटौ न्हाहु गुहौं चुटिया बलि देखि भलो वर करिहिं बड़ाई।।
मातु कह्यौ करि कहत बोलि दै भइ बड़ि बार कालि तौ न आई।
जब सौइबौ तात यो 'हाँ' कहि नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई।।
उठि कहयौ भोर भयो झँगुली दै मुदित महरि लखि आतुरताई।
विहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु सकुचि लगे जननी उर धाई।।

बार बार कहै- **इसका दूसरा अर्थ यह है कि श्रीनामदेवजी रोम- रोम से कहते हैं कि ' देवो मोहिं सेवा मांझ।' इस पर -**

दृष्टान्त- अकबर और खानखाना का- **एकबार अकबर बादशाह के सामने तानसेन ने श्रीसूरदासजी का यह पद गाया- 'यशोदा बार-बार यों भाखै। है ब्रज में कोउ हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै।' यह पद सुनकर अकबर ने पूछा- इसका क्या अर्थ है। सबने अपनी मति के अनुसार उत्तर दिया। तानसेन- ब्रज में हमारा हितू कौन है जो गोपाल को रोके। यशोदा बार-बार यह कहती हैं। फैजी- यशोदा रो-रो यूँ कहती हैं। बीरबल- यशोदा द्वार-द्वार फिरकर यूँ कहती हैं। एक ज्योतिषी- यशोदा प्रतिदिन यूँ कहती हैं। खानखाना- यशोदा का रोम-रोम यह कहता है खानखाना का अर्थ सुनकर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और**

पूछा- खानखाना! इन लोंगो ने अन्य अर्थ क्यों किया? खानखाना ने कहा- तानसेन गवैया होने से बार-बार एक राग को गाते हैं अतः वही अर्थ लगाते हैं। फैजी शायर है, सदा रोते रहते हैं, अतः वहीं अर्थ लगाये। बीरबल ब्राह्मण होने से घर-घर फिरते हैं, सो वह अर्थ लगाते हैं। ज्योतिषी ने नक्षत्र बार की सदा गणना करने के कारण वह अर्थ लगाया परन्तु वास्तविक बात तो यही है कि अत्यन्त प्रेम के कारण यशोदा रोम- रोम से कहती हैं।

कौन वह बेर जेहिं बेर दिन फेर होय फेर फेर कहैं वह बेर नहीं आइये।
आई वह बेर लै कराहीं मांझ हेरि दूध डार्‌यो युग सेर मन नीके कै बनाइये।।
चोपनि के ढेर लागि निपट औसेर दृग आयो नीर घेरि जिनि गिरें घूँटि जाइये।
माता कहै टेरि करी बड़ी तैं अबेर अब करो मति झेर अजू चित्त दै औटाइये।।१३०

शब्दार्थ- बेर=समय। हेरि= देखकर। चोपनिके=चावों-रुचियों के, उमंगों के। औसेर=चिंता। घेरि=भरि। घूँटि=पी। टेरि= बुलाकर। अबेर=देर। झेर=प्रपंच, झंझट।

भावार्थ- [श्रीनामदेवजी के हृदय में सेवा प्राप्त करने की लालसा बढ़ी, वे नानाजी से बार-बार पूछते कि अभी आप गये नहीं] कौन-सा वह समय होगा जिस समय मेरे अच्छे दिन फिरेंगे। इस प्रकार वे बार-बार कहते कि क्या अभी वह आपके गाँव जाने का समय नहीं आया? नानाजी के बाहर गाँव जाने का समय आ गया, वे चले गये। नामदेवजी ने (प्रातःकाल उठकर स्नानादि करके सेवा-पूजा की, फिर) अच्छी तरह देखभाल कर कड़ाही में दो सेर दूध डाला और मन में निश्चय किया कि दूध को औटाकर अति उत्तम बनाऊँ जिससे प्रसन्न होकर प्रभु पी लें। श्रीनामदेवजी के हृदय में प्रेम की बड़ी-भारी उमंग थी, इसलिए उन्हें चिन्ता थी, (भय था कि कोई त्रुटि न हो जाये) प्रेमवश उनके नेत्रों में अश्रुजल छलक आया पर उन्होंने उसे वहीं रोक लिया कि कहीं ऐसा न हो कि कोई आँसू की बूँद दूध में गिर पड़े। उधर माताजी ने नामदेव को पुकारकर कहा कि-तुमने बड़ी देर की अभी तक भोग नहीं लगाया। नामदेवजी ने कहा कि-झंझट मत करो, मैं मन लगाकर अच्छी तरह दूध औटा रहा हूँ।।१३०।।

व्याख्या-कौन वह बेर... आइये-इसमें श्रीनामदेवजी के हृदय की उत्कट उत्कण्ठा का वर्णन किया गया है। इनको एक-एक क्षण कल्प के समान बीत रहा है। अतः कहते हैं- 'वह बेर नहिं आइये' प्रेमियों की यही दशा है। यथा-'युगायितं निमेषेण' (शिक्षाष्टक) श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी कहते हैं कि श्रीगोविन्द के विरह में मुझे एक-एक निमेष युग

के समान हो गया है। गोपियाँ कहती हैं कि हे प्यारे श्यामसुन्दर! तुम्हें देखे बिना हमें त्रुटिकाल (अत्यल्पकाल) भी युग के समान हो जाता है। यथा-त्रुटिर्युगायतेत्वामपश्यताम्। (भा०) पुनः-

दिन तौ न घटत घटत प्राण पल पल लाल मुखचन्द को विरोधी पल न टरै।
कबकी निहारि रही रवि न तजत ठौर बीते युग कोटि तऊ नेकहू नहीं टरै।।
तू तो री कही ही श्याम रजनी मिलाइ देहौं मिलबौ न मेरे बांट मरिबोऊ लै धरै।
जानियत वरुनी बनाई हुती विधि वाम फेरि मन आई मेरे राति दिन को करै।।

चोपनि के ढेर-श्रीनामदेवजी के भाव का पारावार नहीं है। सोचते हैं-अब तो मैं पुजारी हो गया हूँ। अब तो रोज-रोज पूजा करूँगा। भोग लगाऊँगा। बढ़िया-बढ़िया भोग लगाऊँगा। श्रीठाकुरजी दूध पियेंगे तो मैं पूछूँगा कि मिश्री कैसी है? केसर की सुगन्ध कैसी है? कुछ कम तो नहीं है? अधिक तो नहीं? श्रीठाकुरजी कहेंगे-सब ठीक है नामा! अब तुम ही रोज मेरी पूजा किया करो। अब तुम ही रोज मुझे दूध पिलाया करो। मुझे तुम्हारे हाथ से दूध पीने में बड़ा अच्छा लगता है। यह सुनकर मैं आनन्द-विभोर हो जाऊँगा। यह सब सोचते-सोचते श्रीनामदेवजी एकदम भावावेश में हो जाते। शरीर में अश्रु-पुलक आदि प्रेम के सात्विक भावों का उदय हो जाता, परन्तु तुरन्त ही सावधान भी हो जाते। आँसू कहीं दूध में न गिर जावें, नहीं तो फिर पीने लायक नहीं रह जायेगा। अतः उसे अन्दर ही घूँट जाते। फिर तो-'लोचन जल रह लोचन कोना।' 'अजू चित दै औटाइये'-दूध औटाने में देर होती देखकर माता झुंझलायी तो ये भी तुनककर बोले-'अजू चित दै औटाइये।' अर्थात् मैं तेरे सरीखा जैसा-तैसा थोड़े ही भोग लगाऊँगा। जब खूब औट जायेगा, तब भोग लगाऊँगा, जिससे कि पीकर श्रीठाकुरजी भी प्रसन्न हो जायेंगे।

चल्यो प्रभु पास लै कटोरा छबिरास तामें दूध सो सुवास मध्य मिसरी मिलाइयै।
हिये में हुलास निज अज्ञता को त्रास ऐपै करैं जो पै दास मोहि महा सुखदाइयै।।
देख्यो मृदुहांस कोटि चांदनी को भास कियो भाव को प्रकास मति अति सरसाइयै।
प्याइबे की आस करि ओट कछु भर्‌यो स्वास देखिकै निरास कह्यो पीवोजू अघाइयै।।१३१

शब्दार्थ-मृदु हास=मधुर मुस्क्यान। भास=प्रकाश।

भावार्थ-बालक नामदेवजी दूध औटाकर उसे एक सुन्दर कटोरा में भरकर भगवान के समीप ले आये। दूध में इलायची और मिश्री मिलाई। उस समय नामदेवजी के मन में

अत्यन्त प्रेमोल्लास था, परन्तु दूसरी ओर उन्हें अपनी अल्पज्ञता का भय भी था। मन ही मन कहते थे कि-यदि प्रभु मेरी सेवा स्वीकार कर अपना दास बना लें तो मुझे बड़ा-भारी सुख हो, यही सोचते-विचारते श्रीनामदेवजी ने भगवान की ओर देखा तो उन्हें मन्द मुस्क्यान के दर्शन हुए जिसमें करोड़ों चाँदनी के समान प्रकाश था। श्रीनामदेवजी के हार्दिक पवित्र-प्रेम से प्रभावित होकर और हँसकर भगवान ने अपना प्रेम-भाव प्रकाशित किया। इससे श्रीनामदेवजी की बुद्धि प्रेम से अत्यन्त सरस हो गई। दूध पिलाने की आशा से नामदेवजी ने परदा कर दिया। कुछ देर प्रेम की लम्बी श्वांसे भरते रहे फिर परदा हटाकर देखे तो दूध भरा कटोरा ज्यों का त्यों रखा था। इससे इनके मन में बड़ी निराशा हुई और भगवान से प्रार्थना करने लगे कि-प्रभो! आप दूध पीकर तृप्त हो जायें।।१३१।।

व्याख्या-छविरास-यह श्रीनामदेवजी का भी विशेषण है इससे जनाया गया कि उस समय श्रीनामदेवजी की बड़ी-शोभा हो रही थी। श्रीनामदेवजी एक तो बालक थे, पशु-पक्षियों के बालक सहज ही अच्छे लगते हैं। दूसरे माँ के दुलारे थे, माँ ने खूब श्रृंङ्गार किया था, तीसरे भगवदंश थे, चौथे भक्ति-छवि से अत्यन्त छविमान हो रहे थे। अतः छविरास कहा। 'अज्ञता त्रास' त्रास दो प्रकार से-१-मैं अबोध हूँ, मुझे मालूम नहीं कि कैसे क्या करना चाहिए? श्रीनानाजी विविध-विधान करते थे, परन्तु मैं तो कुछ जानता ही नहीं अतः श्रीठाकुरजी अप्रसन्न न हो जायें। दूध न पीवें। २. हमसे इनकी कोई जान-पहचान नहीं है, संकुचित न हों।

देखि मृदुहास०-भगवान नये पुजारी के नव्य-भव्य भाव को देखकर मुस्कुरा रहे थे। भगवान की मुस्क्यान देखकर श्रीनामदेवजी एकदम प्रेम में सराबोर हो गये। ठीक भी है।

लखी जिन लाल की मुस्क्यान।
तिनहिं बिसरी बेद विधि जप जोग संयम ध्यान।।
नेम ब्रत आचार पूजा पाठ गीता ज्ञान।
रसिक भगवत दृग दई असि खैचिकै मुख म्यान।।

श्रीनारायणस्वामीजी कहते हैं कि-'नारायण बिन मोल बिकी मैं याकी नेक हसन में।' पुनः'मृदु मुस्क्यान निहारि कै, धीर धरत है कौन। नारायण कै तन तजै, कै बौरा कै मौन।।'

ऐसे दिन बीते दोय राखी हिये बात गोय रह्यो निशि सोय ऐपै नींद नहीं आवहीं।
भयो जू सबारो फिरि वैसे ही सुधार लियौ हियौ कियौ गाढ़ौ जाय धर्‌यो पियौ भावहीं।।
बार बार पीवो कहूँ अब तुम पीवो नाहिं आवैं भोर नाना गरे छूरी दै दिखावहीं।
गहि लीनो कर जिनि करै ऐसो पीवौं मैं तो पीवे कौं लगेई नेकु राखो सदा पावहीं।।१३२

शब्दार्थ-**गोय=छिपाकर। सवारो=सवेरे। गाढौ=पुष्ट।**

भावार्थ-**श्रीनामदेवजी भगवान को दूध भोग लगाते और यह देखते कि भगवान ने दूध नहीं पिया है। इस प्रकार दो दिन बीत गये। स्वयं भी उन्होंने अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नही किया और इस बात को अपने मन में ही छिपाकर रखा। माताजी को भी नहीं बताया और भूखे-प्यासे ही रात को सो गये, पर चिन्ता के कारण निद्रा नहीं आई। तीसरे दिन का सबेरा हुआ फिर उसी प्रकार सावधानी से दूध को औटाया, इलायची, मिश्री मिलाई और आज प्रभु अवश्य ही दूध पी लेंगे इस भाव से मन को मजबूत करके भगवान के सामने दूध रखा और कहा-प्रभो! (नाना जी दूध पिलाने को कह गये थे) आप उस दूध को पीजिये तभी मैं प्रसन्न होऊँगा। (इतने पर भी जब भगवान ने दूध नहीं पिया) तब श्रीनामदेवजी बोले-'बारम्बार आपसे दूध पीने की विनती करता हूँ, परन्तु आप दूध नहीं पीते हैं। कल प्रातःकाल नानाजी आ जायेंगे और वे मुझ पर रुष्ट होंगे, फिर कभी सेवा मुझे नहीं देंगे। इसलिये ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है। ऐसा कहकर छुरी निकाली और भगवान को दिखाकर अपना गला काटने के लिए गले पर छुरी चलाना ही चाहते थे कि भगवान ने हाथ पकड़ लिया और कहा कि अरे! ऐसा मत करो, मैं अभी दूध पीता हूँ। यह कहकर भगवान दूध पीने लगे। (श्रीनामदेवजी ने देखा कि ये तो सब दूध पी जायेंगे, तब बोले कि) थोड़ा सा प्रसाद मेरे लिए भी रहने दीजियेगा, क्योंकि नानाजी के भोग लगाने पर मैं सदा दूध-प्रसाद पीता था।।१३२।।**

व्याख्या-ऐसे दिन बीते दोय-**श्रीनामदेवजी ने ठाकुरजी से दूध पीने की बहुत प्रार्थना की प्रभो! यदि मुझसे अज्ञानतावश भूल हो गई हो तो उसे क्षमा कीजिये। यदि मेरे रहने से आपको संकोच होता है तो मैं दूर चला जाऊँ आदि। परन्तु श्रीठाकुरजी ने दूध नहीं पिया। तब इन्होंने दूध उठाकर गइया को डाल दिया और अत्यन्त दुःखी होकर मन में विचार करने लगे कि मालूम पड़ता है कि मइया ने जल्दी करा दी, दूध ठीक से औटा नहीं था अतः शाम को दूध औटाकर और भी गाढ़ा किया। तो भी नहीं पिये। तो दूसरे**

सोचा-शायद मिश्री कुछ कम हो गई हो, इसलिए नहीं पिये। ऐसे ही कभी केसर की कभी इलायची की कमी, तथा कभी कम होने की कमी, कभी अधिक होने की आशंका करते, ऐसे ही करते दो दिन बीत गया। 'राखी हिये बात गोय'-मइया खाने को कहती तो यह कह देते कि मुझे भूख नहीं है। माता समझती कि दूध पी लिया होगा, नींद नहीं आवहीं'- इसके कई कारण १. श्रीठाकुरजी के दूध न पीने की चिन्ता। २. भूख ३. नानाजी के अप्रसन्न होने का भय। ४. सेवा छूटने का भय आदि। 'हियौ कियौ गाढ़ौ' आज हृदय में बड़ी दृढ़ता है, मन में दृढ़ संकल्प है कि या तो प्रभु दूध पीवें नहीं तो मैं छुरी मारकर मर जाऊँगा। नेकु राखो सदा पावहीं' श्रीनामदेवजी ने श्रीठाकुरजी का कटोरा पकड़ लिया और बोले- प्रभो! आपके ही साथ मैं भी भूखा हूँ, दूसरे श्रीनानाजी रोज प्रसाद देते थे अतः आज भी मिलना चाहिए। तब श्रीठाकुरजी ने अपने श्रीकर-कमल से नामदेवजी को भी दूध पिलाया। श्रीनामदेवजी की भूख -प्यास कृशता आदि तो क्षणमात्र में दूर हो गई, शरीर भी दिव्य हो गया। इसके बाद श्रीनामदेवजी की श्रीठाकुरजी से मधुर-मधुर दो- दो बातें हुई। श्रीनामदेवजी ने पूछा-क्यों प्रभो! आप छुरी दिखाने से ही रीझते हैं? मुझे क्या मालूम। इस पर-

दृष्टान्त-नाक में रुई ठूसने का-**एक ब्राह्मण धन की कामना से भगवान श्रीमुरली- मनोहरजी की सेवा करता था। परन्तु सेवा करते-करते धीरे-धीरे उसका रहा-सहा भी सब धन नष्ट हो गया। एक दिन किसी साहूकार से भेंट भई। प्रसङ्गवश उन्होंने अपनी परिस्थिति सेठजी से कही। सेठजी ने कहा-आप भूल गये। श्रीमुरलीमनोहर तो मुक्ति देते हैं, धन देने वाली तो श्रीदुर्गा माता हैं आप उनकी सेवा करिये। ब्राह्मण को बात जँच गई। उसने मुरलीमनोहर को उठाकर आलय में रख दिया और देवी को सिंहासन पर पधराकर पूजा करने लगा। एक दिन देवी को गूगुल की धूप दे रहा था। ब्राह्मण ने देखा कि धूप का धुँआ मुरलीमनोहरजी की ओर जा रहा है। उसके मन में बड़ा रंज आया कि देना-लेना कुछ नहीं, धूप सूँघने को तैयार बैठे हैं। देवी की धूप को सूँघकर जूठी कर रहे हैं। बस, उसने रुई लेकर भगवान मुरलीमनोहर की नाक में ठूँस दिया। भगवान उसी समय साक्षात् प्रकट होकर बोले-'वरं ब्रूहि' अर्थात् वर माँगो। ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर कहा-प्रभो! वरदान तो बाद में माँगूँगा, पहले तो यह बताइये कि जब मैं सेवा-पूजा कर रहा था तब तो आप प्रसन्न भये नहीं, अब कैसे प्रसन्न हो गये। भगवान ने कहा-पहले तुम मुझे जड़ पत्थर की मूर्ति समझते थे तो मैं भी जड़ बना रहा परन्तु अब तुमने मुझे साक्षात् भगवान समझा, तुम्हें यह विश्वास हो गया कि ये धूप सूँघ रहे हैं अतः मैं भी अब साक्षात् प्रकट हो**

गया। इसी से कहा गया है-'प्रतिमामन्त्रतीर्थेषु दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशीं भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।'

आये वामदेव पाछैं पूछें नामदेव जू सों दूधको प्रसंग अति रंग भरि भाखियै।
मोसौं न पिछानि दिनदोय हानि भई तब मानि डर प्रान तज्यो चाहौं अभिलाषियै।।
पायो सुख दीयो जब नेकु राखि लीयो मैं तो जीयो सुनि बातैं कही प्यायो कौन साखियै।
धर्‌यौ पै पीयैं अर्‌यौ प्यायौ सुख पायौ नाना यामें लै दिखायौ भक्तबस रस चाखियै।।१३३

शब्दार्थ-**प्रसंग=कथा। अतिरंग=अत्यन्त आनन्द। पिछानि=पहचान। अर्‌यौ=हठ कियौ।**

भावार्थ-**चौथे दिन वामदेवजी गाँव से लौटकर आये और नामदेवजी से (अच्छी प्रकार सेवा की या नहीं यह) पूछा, तो इन्होंने अत्यन्त प्रेमरंग में भरकर दुग्धपान चरित्र का वर्णन करते हुए कहा-कि-मेरी और भगवान की जान-पहचान नहीं थी, इसी कारण दो दिन तो बड़ी हानि हुई, भगवान ने दूध नहीं पिया। फिर तीसरे दिन आपका भय मानकर मैंने प्राण छोड़ना चाहा। तब भगवान ने दूध पीने की अभिलाषा की, (इससे मेरी इच्छा पूर्ण हुई) भगवान ने दूध पीकर मुझे सुख दिया। मेरे प्रार्थना करने पर जब थोड़ा दूध-प्रसाद उन्होंने रहने दिया, तब मैं उसे पीकर (इस प्रकार) जीवित रहा। (नहीं तो मर ही गया होता)। यह सुनकर वामदेवजी ने कहा कि-मेरे सामने फिर पिलाओ तब हम मानें। अभी कैसे विश्वास करें, कोई साक्षी नहीं हैं। तब श्रीनामदेवजी ने उसी प्रकार दूध तैयार करके भगवान के सामने रखा, पर भगवान ने नहीं पिया, तब अड़ गये (उसी प्रकार छुरी निकालकर गला काटने को तैयार हो गये कि कल पीकर आज नानाजी के सामने मुझे झूठा बनाना चाहते हो। आपको दूध पीना ही पड़ेगा। बालक के प्रेमहठ से प्रसन्न होकर भगवान ने वामदेवजी के देखते-देखते दूध पिया और प्रसाद नामदेव को पिलाया। वामदेवजी ने सोचा कि-मैंने जीवन-भर सेवा की, पर दर्शन नहीं हुए आज बालक के प्रभाव से दर्शन हुए इसलिए उन्होंने बड़ा सुख पाया। इस प्रसङ्ग के द्वारा भगवान ने यह दिखला दिया कि-मैं भक्त के वश में होकर उनके प्रेम के कारण अर्पित भोग को ग्रहण करता हूँ।।१३३।।**

व्याख्या-भक्त सब रस चाखिये-**इस पर**-दृष्टान्त-अढ़ैया भक्त का-

ढाईसेर भोजन करने के कारण उसका नाम ही लोगों ने अढ़ैया भक्त धर दिया था, नहीं तो उसका असली नाम था 'रामा'। रामा की खुराक बहुत बड़ी थी। पूरी ढाई

सेर। घर वालों ने जवाब दे दिया रामा को, कि हम तुम्हारा पेट भरने में असमर्थ हैं। अतः रामा उदास होकर घर से निकल पड़ा और घूमते-फिरते पहुँच गया भगवदिच्छा से समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी के आश्रम पर। श्रीरामदासजी सचमुच समर्थ थे। श्रीहनुमानजी के अवतार थे और छत्रपति श्रीशिवाजी के गुरु थे। उन्होंने रामा को अपने यहाँ आश्रय दिया। सेवा सौंपी, गाय चराने की और खाने-पीने की छूट कर दी। रामा के दिन बड़े आनन्द से बीतने लगे। इसी बीच एकादशी का दिन आया। श्रीसमर्थजी ने कहा-रामा! आज तो एकादशी है, हम लोग तो व्रत करेंगे, तुम्हारी क्या राय है। उसने हाथ-जोड़कर कहा-गुरुदेवजी! व्रत करना तो आप समर्थ पुरुषों का काम है, हमसे तो व्रत नहीं होने वाला है। श्रीसमर्थजी ने रामा को ढाई सेर चून और आलू दिलवा दिया और कह दिया कि जंगल में ही बाटी, भर्ता बना लेना। परन्तु देखना रामा, श्रीठाकुरजी को भोग लगाकर पाना। रामा ने स्वीकारात्मक सिर हिलाया और चल दिया गायों को लेकर जंगल को।

रामा को आज बड़ा हर्ष है कि मैं आज श्रीठाकुरजी को भोग लगाऊँगा। गायों को जङ्गल में चरने को छोड़ दिया और स्वयं लग गया भोजन बनाने में। बड़े ही प्रेम से बाटी, भर्ता बनाया और श्रीठाकुरजी को भोग लगाया। जब रामा ने भाव में भरकर श्रीठाकुरजी को पाने के लिए बुलाया तो सचमुच भगवान श्रीरामजी साक्षात् प्रकट होकर पाने लगे। आधा प्रभु ने पाया और आधा रामा के लिए छोड़ दिया। रामा को लगा कि भगवान तो बड़े अच्छे हैं बुलाते ही आ गये और मेरे लिए भी प्रसाद छोड़ दिये। परन्तु रामा को एक बात खटकी कि मैं सामान कम लाया था। ढाई सेर तो मुझे ही चाहिए और उतना ही भगवान के लिए भी। जब अगली एकादशी आई तो रामा ने कह दिया कि- दूना सामान मिलना चाहिए, क्योंकि पाने वाले हम और भगवान दो हैं। श्रीसमर्थजी ने हँसकर दूना सामान दिलवा दिया। कोठारी- भंडारी ने समझा, ढाई सेर से पूरा नहीं पड़ता है अतः भगवान का बहाना बनाकर अधिक सामान ले रहा है। अब की- बार जब भोग लगा तो श्रीरामजी श्रीजानकीजी को भी साथ लिवा लाये। रामा युगल सरकार का दर्शन कर बहुत प्रसन्न हुआ। मिल-बाँटकर सब लोग पाये। इसी क्रम से रामा सामान बढ़ाता गया और प्रभु भी हर बार अपना एक संगी बढ़ाते गये। कभी लक्ष्मणजी को ले आये तो कभी हनुमानजी को, और लोगों ने तो इसे रामा का खाने- पीने का स्वांग ही समझा परन्तु समर्थ स्वामी रामदासजी ने रामा की भक्ति एवं रामा के ऊपर भगवत् कृपा को पहचाना।

एक दिन जब कुछ काल के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता हुई तो श्रीसमर्थजी ने रामा से कहा- रामा! अब तुम श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा, राग-भोग आदि का कार्य सभालो। गैया और सेवक, चरा लायेंगे। हम कुछ दिन के लिए बाहर जा रहे हैं। रामा बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि उसे भी जङ्गल में प्रभु का जाना खटकता था। श्रीसमर्थजी गाँव के लोगों को कह गये कि रामा भोला- भाला है, उसकी खोज-खबर लेते रहना। अब रामा श्रीठाकुर-सेवा करने लगा। मंदिर में विराजमान श्रीठाकुरजी औरों के लिए मूर्ति थे, परन्तु रामा के लिए तो वे साक्षात् विराजमान प्रभु थे। रामा बड़े प्रेम से सेवा-पूजा करता, श्रीठाकुरजी से बात करता जाता। कभी -कभी दर्शन करने में इतना तन्मय हो जाता कि उसे शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती। जब कोई आकर चैतन्य करता तो फिर पूजा में लग जाता। आरती करने लगता तो आरती ही करते रह जाता, बत्ती बुझ जाती, घण्टा घड़ियाल बजाने वाले थक जाते, हार जाते और यह प्रेम विभोर हो जाता। लोगों ने रामा की इस भाव-दशा को उसका पागलपन समझा। धीरे-धीरे लोग मंदिर में आना-जाना बंद कर दिये बाहर ही से मंदिर की देख-रेख किया करते। जब यह भिक्षा के लिए गाँव में जाता, तो सब लोग भिक्षा देते, मंदिर का कुशल-मङ्गल पूछ लेते। रामा कह देता कि सब ठीक है। आश्रम पर आकर फाटक बन्द कर लेता। भीतर परमानन्द होता रहता। रामा सेवा-पूजा से निवृत्त होकर रसोई बनाता, और जब मंदिर में भोग धरता तो पाने वालों की भीड़ लग जाती। चारों भाई श्रीरामजी, श्रीजानकीजी आदि चारों महारानियाँ, श्रीहनुमानजी आदि सेवक- सखा इन सब की एक अच्छी खासी पंगति हो जाती। रामा ने अनुभव किया कि मैं करने वाला एक हूँ, और पाने वाले अनेक, और उसमें भी कोई सीमा नहीं है, रोज एक दो बढ़ते ही जाते हैं, तब उसने व्यवस्था बदली।

रामा ने एक दिन हाथ- जोड़कर कहा कि मैं तो मनमानी भिक्षा ला दिया करूँगा। दादा (लक्ष्मण) जल आदि की व्यवस्था करेंगे, भैया (हनुमान) लकड़ी आदि जुटा देंगे, मैया (श्रीजानकीजी रसोई बना दिया करेंगी, इस प्रकार सब लोग मिल-जुलकर सब कार्य कर लेंगे तो अच्छा रहेगा, मैं अकेला थक जाता हूँ। श्रीरामजी ने कहा कि मुझे तो तुमने कोई कार्य बताया ही नहीं। रामा ने हाथ-जोड़कर कहा- जै जै आप तो बस, सिंहासन पर विराजमान रहिये, आपकी कृपा से सब हो जायेगा। रामा की व्यवस्था को सबने माना। अब स्थान का कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से होने लगा। कुछ दिन बाद जब श्रीसमर्थ स्वामी रामदासजी आये तो पहले गाँव के लागों से मिले। सबने रामा की राम कहानी सुनाई।

श्रीसमर्थजी आश्रम पर आये तो देखे, सचमुच फाटक बन्द था, छिद्र से झाँके तो देखे- भीतर पंक्ति बैठी थी, सब लोग भोजन कर रहे थे, स्वयं श्रीजानकीजी परस रही थीं। श्रीरामदासजी दर्शन कर निहाल हो गये। भोजन के समय बीच में फाटक खोलवाने की छेड़छाड़ नहीं की, जब सब लोग पा चुके तो रामा सबकी पत्तलें लेकर बाहर निकला। देखा तो बाहर श्रीगुरुदेवजी खड़े हैं, तुरन्त उसने हाथ धोकर श्रीगुरुजी के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीसमर्थजी ने रामा को उठाकर हृदय से लगा लिया अपने को परमधन्य माना। अतः कहते हैं-' भक्तबस रस चाखिये।'

नृप सो मलेच्छ बोलि कही मिले साहिब को दीजिये मिलाय करामात दिखराइयै।
होय करामात तो पै काहे को कसब करैं? भरैं दिन एपै बाँटि सन्तन सों खाइयै।।
ताही के प्रताप आप इहाँ लों बुलायो हमें दीजिये जिवाय गाय घर चलि जाइयै।
दई लै जिवाय गाय सहज सुभाय ही में अति सुख पाय पाँय पर्‌यो मन भाइयै।।१३४

शब्दार्थ-**म्लेच्छ=मुसलमान। साहिब =ईश्वर। कसब=धन्धा। भरैं= बितावें, पूरे करें।**

भावार्थ-**एक बार मुसलमानों के राजा सिकन्दर लोदी ने श्रीनामदेवजी को बुलाकर कहा कि-आप साहब से मिले हैं, उनका दर्शन करते रहते हैं, ऐसा मैंने सुना है, तो हमें भी साहब से मिला दीजिये और कुछ विचित्र चमत्कार दिखलाइये। श्रीनामदेवजी ने कहा कि-यदि हममें कोई शक्ति या चमत्कार होता, तो फिर खाने के लिए दिनभर धन्धा ही क्यों करते। किसी प्रकार दिन पूरे कर रहे हैं। पर बात यह है कि-दिनभर धन्धा (सिलाई-छपाई) करने से जो भी कुछ हमें मिल जाता है उसे सन्तों के साथ बाँटकर खाता हूँ उन्हीं सन्तों की सेवा के प्रताप से (लोग मुझे भक्त कहते हैं और दूर-दूर तक मेरा नाम फैल गया है) तभी आपने भी हमे यहाँ अपने दरबार में बुलाया है। यह सुनकर बादशाह ने कहा-आप इस मरी हुई गाय को जीवित कर दीजिये और अपने घर को जाइये। (नहीं तो कारागार में रहना पड़ेगा। तुम झूठे भगत बनकर लोगों को ठगते हो) तब आपने सहज स्वभाव से एक प्रार्थना पद गाकर गाय को जीवित कर दिया और प्रभुकृपा का अनुभव करके सुखी हुए। यह देखकर बादशाह अति प्रसन्न हुआ और श्रीनामदेवजी के चरणों में पड़ गया।।१३४।।**

व्याख्या-**एक बार श्रीज्ञानदेवजी के मन में तीर्थयात्रा का विचार उदय हुआ। उन्होंने सोचा-कि नामदेवजी भी संग चलते तो बड़ा अच्छा होता। श्रीज्ञानदेवजी ने अपना मनोभाव**

श्रीनामदेवजी से कहा तो नामदेवजी ने कहा-मैंने तो मनसा, वाचा, कर्मणा अपने को श्रीविट्ठलनाथजी के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया है। आप इनसे पूछ लें। वे यदि आज्ञा दें तो मैं भले ही चल सकता हूँ, अन्यथा मुझे तो श्रीविट्ठलजी के श्रीचरण- कमलों को छोड़कर कहीं जाने की इच्छा नहीं होती। मेरे तो सर्वतीर्थ श्रीविट्ठल- चरण ही हैं। श्रीज्ञानदेवजी ने भगवान श्रीविट्ठलनाथजी से निवेदन किया। श्रीज्ञानदेवजी भी जोरावर भक्त थे, अतः श्रीविट्ठलनाथजी इन्कार तो नहीं कर सके परन्तु ज्ञानदेवजी से बोले- नामा मुझको अत्यन्त प्रिय है, मैं एक क्षण के लिए भी उसे पृथक नहीं करना चाहता, परन्तु तुम्हारी इच्छा है तो ले जाओ, परन्तु मेरे नामा को सँभालकर रखना। यह कहकर श्रीविट्ठलनाथजी ने अपने श्रीकर-कमल से नामदेवजी का हाथ पकड़कर श्रीज्ञानदेवजी के हाथ में दे दिया, तीर्थयात्रा करते हुए श्रीज्ञानदेवजी श्रीनामदेवजी आदि वैष्णव -सन्त-मण्डली श्रीधाम- वृन्दावन का दर्शन कर कुरुक्षेत्र को प्रस्थित हुई। सन्तों की यह जमात जहाँ ही पहुँचती आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ता। मगवासियों को अपने दर्शन, उपदेश, कथा-कीर्तनादि से अलौकिक सुख देते हुए ये लोग दिल्ली पहुँचे। कीर्तन की ध्वनि से दिल्ली नगर गूँज गया। यत्र-तत्र-सर्वत्र इन सन्तों की चर्चा होने लगी। बात बढ़ते-बढ़ते दिल्लीश्वर के दरबार में भी पहुँची। यवन बादशाह से यह प्रशंसा सही नहीं गयी। उसने परीक्षा लेने का विचार किया। अतः श्रीनामदेवजी को दरबार में बुलवाया। आगे का प्रसङ्ग श्रीप्रियादासजी वर्णन करते हैं।

बाँटि सन्तन सों खाइये- **'बाँटिके खाना, वैकुण्ठ जाना।'**

दृष्टान्त- दो फकीरोंका- **एक बार दो फकीर मिले। आपस में कुशल-प्रश्न हुए। एक फकीर ने पूछा- कहिये, आपकी कैसे चलती है? फकीर ने कहा- अच्छी चलती है खुदा देता है तो खूब-खाता पीता हूँ, नहीं देता है तो मन-मारकर सो रहता हूँ। दूसरे फकीर ने कहा- तब,यह कौन अच्छी बीतती है। अरे, यह तो कुत्ता भी कर लेता है। उसे भी तो खुदा देते हैं तो खाता है, गुर्राता है, नहीं देता है तो दुम दबाये पड़ा रहता है। फिर आपमें और कुत्ते में अंतर ही क्या रहा? उस फकीर ने पूछा- अच्छा, आपकी कैसे बीतती है? दूसरे फकीर ने कहा- हमारी अच्छी बीतती है खुदा देता है तो बाँटकर खाता हूँ, नहीं देता है तो धन्यवाद देकर उसके भजन-ध्यान में लग जाता हूँ अतः नामदेवजी कहते हैं- 'बाँटि''खाइये।'**

बादशाह को श्रीनामदेवजी के दैन्य पर विश्वास नहीं हुआ। क्योंकि उससे बड़े-बड़े अच्छे- अच्छे, सच्चे- सच्चे लोगों ने श्रीनामदेवजी की प्रशंसा की थी। अतः वह चमत्कार

दिखाने के लिए हठ कर गया। इधर नामदेवजी भी अपनी हठ पर अड़ गये। अरे भाई, यदि राजहठ प्रसिद्ध है, तो साधुहठ भी तो अति प्रसिद्ध है। भक्तिमार्ग में हठ का विधान है। यथा- 'भक्ति पक्ष हठ नहि शठताई।' (रामा०) जब नामदेवजी किसी प्रकार भी कहने से चमत्कार दिखाने को राजी नहीं हुए तो उस दुष्ट यवन बादशाह ने उन्हीं के सामने एक गाय को मँगाकर अपने हाथ से गो- हत्या करके श्रीनामदेवजी से बोला-यदि तुम सच्चे फकीर हो तो इस मरी हुई गाय को जिलाओ, अन्यथा इसी तलवार से तुम्हारा सिर भी उड़ा दूँगा। श्रीनामदेवजी का भावुक-हृदय आँख के सामने गो-बध देखकर सिहर उठा। अपनी सिद्धता दिखाने के लिए नहीं, अपना सिर बचाने के लिए नहीं, गो-माता को जीवन-दान देने के लिए श्रीनामदेवजी ने भगवान से प्रार्थना की।

विनती सुन जगदीश हमारी।
तेरो दास आस मोहिं तेरी इत करु कान मुरारी।।
दीनानाथ दीन ह्वै टेरूँ गाइहिं क्यों न जियावो।
आछे सबै अङ्ग हैं याके मेरे यशहि बढ़ावो।।
जो कहूँ याके कर्महिं में नहिं जीवन लिख्यो विधाता।
(ता) नामदेव की आयुरदा सों होहु तुमहिं प्रभुदाता।।

प्रभुकृपा से गाय तुरन्त जीवित हो गई।

लेवो देश गांव जाते मेरो कछु नांव होय चाहिये न कछु दई सेज मनिमई है।
धरि लई सीस देऊँ संग दस बीस नर नाहीं करि आये जल मांझ डारि दई है।।
भूप सुनि चौंकि पर्‌यौ ल्यावो फेरि आये कहौ कही नेकु आनिके दिखावो कीजै नई है।
जलतैं निकसि बहुभांति गहि डारी तट लीजिये पिछानि देखि सुधि-बुधि गई है।।१३५

शब्दार्थ-नाम=प्रसिद्धि, कीर्ति। मनिमई= मणियों से जड़ी हुई।

भावार्थ-यह विचित्र चमत्कार देखकर बादशाह ने श्रीनामदेवजी से कहा- आप कृपा करके कोई देश या गाँव ले लीजिए जिससे मेरा भी कुछ नाम हो जाय। आपने उत्तर दिया कि- हमें कुछ भी नहीं चाहिए। फिर बादशाह ने एक मणिजटित शय्या आपको दी। श्रीनामदेवजी उसे अपने सिर पर रखकर चलने लगे। तब उसने कहा कि- दस-बीस आदमी मैं आपके साथ भेजता हूँ, वे इस पलंग को ले जायेंगे, और आपको निवास स्थान तक पहुँचा देंगे, आपने बिल्कुल मना कर दिया। (इसलिए कि यह भगवान के शयन का पलंग है मैं

उनका सेवक हूँ अतः मुझे ही अपने सिर पर रखकर ले जाना चाहिए। फिर भी बादशाह ने कुछ रक्षक भेजे) आगे आपने विचारा कि- यह मूल्यवान वस्तु है, इससे अनेक सङ्कट आ सकते हैं। भजन में बाधा हो सकती है, इस कारण मार्ग में नदी के अथाह जल में उस पलङ्ग को डाल दिया। राजा को इसकी सूचना मिली तो वह चौंककर आश्चर्य में पड़ गया। सिपाहियों से कहा- उन्हें शीघ्र बुलाकर लाओ। श्रीनामदेवजी फिर आये और बोले कि- अब क्यों बुलाया। तब बादशाह ने कहा कि-जो पलंग मैंने आपको दिया है, जरा उसे यहाँ लाकर कारीगरों को दिखा दीजिए। उसी प्रकार का नया दूसरा बनवाना है। श्रीनामदेवजी बादशाह को लेकर नदी पर आये और जल में प्रवेश करके अनेक पलंग वैसे और उससे भी मूल्यवान निकाल-निकालकर डाल दिये और बादशाह से बोले-आप अपना पलंग पहचान लो। यह देखकर उसकी सुधि-बुधि जाती रही।।१३५।।

व्याख्या- चाहिये न कछु- **भगवान के भक्त एकमात्र श्रीप्रभु को छोड़कर कुछ नहीं चाहते। यथा-**

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन।। **(रामा०)**
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।। **(शिक्षाष्टक)**
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम् न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।। **(भा० ११।१४।१४)**

इन बादशाहों की बात ही क्या? ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी यदि इन्हें लुभाना चाहें तो नहीं लुभा सकते। यथा- 'विधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा।। माँगहु वर बहु भाँति लुभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये।।' (रामा०) **भक्ति के अतिरिक्त यदि भगवान भी इन्हें कुछ देना चाहें तो ये साफ इन्कार कर जाते हैं। यथा-**

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।। **(भा० ३।२९।१३)**

भक्त भी कम हठी नहीं होते हैं। इनकी एक टेक होती है-'बनै तो रघुवर ते बनै, कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते, ता बनिबे में धूर।।' (दो०) **अतः श्रीनामदेवजी ने कहा-'चाहिये न कछु।' इस पर दृष्टान्त- श्रीकुम्भनदासजी का देखिये छप्पय ९८। तब बादशाह ने एक मणिमयी शय्या यह कहकर दी कि इस पर अपने साहब को**

सुलाना। भगवान के नाते श्रीनामदेवजी पलंग को सिर पर धरकर ले चले। पलंग की सुरक्षा के लिए बादशाह ने दस-बीस आदमी सङ्ग कर ही दिये। श्रीनामदेवजी ने पूछा- आप लोग क्यों चल रहे हैं? सिपाहियों ने कहा- यह बहुमूल्य वस्तु है, रास्ते में कहीं चोर-डाकू न छीन लें, इसलिए हम साथ चल रहे हैं। घर पहुँचाकर लौट आयेंगे, इन्होंने विचार किया कि ये लोग तो पहुँचाकर चले आयेंगे, फिर कौन रखायेगा? हम भजन करेंगे कि पलंग का पहरा देंगे। चोर-डाकू आवेंगे, श्रीठाकुरजी को गिराकर पलंग उठा ले जावेंगे, बाद में दुःख होगा, आदि। (श्रीकुम्भनदासजी ने राजा मानसिंह को यही सुझाव दिया था। देखिये पूर्वोक्त दृष्टान्त) अतः श्रीयमुनाजी में डाल दिये।

जलते निकासि···गई है- **श्रीनामदेवजी समझ गये कि यह पुनः परीक्षा करना चाहता है। नहीं तो सेवकों ने तो बताया ही होगा, परन्तु यह फिर करामात देखना चाहता है। अतः रिसाकर बोले- वह पलंग तो मैंने भगवान को सौंप दिया है। मेरे साथ चलो, मैं वहीं से निकालकर दिये देता हूँ। बादशाह ने कहा- क्या वह अब तक वहीं धरी है? इन्होंने विश्वासपूर्वक कहा-भला भगवदर्पित वस्तु को कौन नष्ट कर सकता है? वह तो अक्षय एवं अविचल हो गई है। नदी तट पर पहुँचकर श्रीनामदेवजी ने बादशाह के सामने ही वैसी ही पचास पलंगें निकालकर रख दीं और बोले- इनमें से अपनी पहचान लीजिये। बादशाह का पहचान कर लेना तो दूर रहा उसकी सुधि- बुधि खो गई। वह तो हैरान हो गया यह देखकर कि लगता है कि मानो नदी में पलंग का कारखाना हो। उसने कहा- नामदेवजी! मैं नहीं जानता था कि आप इतने पहुँचे हुए हैं। सच्चे शाहंशाह तो आप ही हैं। यथा- 'चाह मिटी चिन्ता मिटी, मनुवां वे परवाह। जाको कछू न चाहिये सोई शाहंशाह।।'**

आनि पर्‌यो पांय प्रभु पास तें बचाय लीजै कीजै एक बात कभू साधु न दुखाइयै।
लई यही मानि फेरि कीजिये न सुधि मेरी लीजिये गुननि गाय मन्दिर लौं जाइयै।।
देखि द्वार भीर पगदासी कटि बांधी धर कर सों उछीर करि चाहैं पद गाइयै।
देखि लीनी वेई काहू दीनी पाँच सात चोट कीनी धका धकी रिस मन में न आइयै।।१३६

शब्दार्थ- **पास=पाश, फन्दा, फाँसी, समीप। उछीर= अवकाश, स्थान।**

भावार्थ-**नामदेवजी की करामात देखकर बादशाह भयवश उनके चरणों में आ गिरा और प्रार्थना करने लगा कि-मुझे ईश्वर के दण्ड से बचा लीजिये (मैंने आपकी परीक्षा की,**

ईश्वर उस महापाप से रुष्ट होकर कठोर दण्ड देगा, इस अपराध को आप ही क्षमा कर सकते हैं) श्रीनामदेवजी ने कहा-यदि क्षमा चाहते हो तो एक बात करो कि पुनः इस प्रकार कभी किसी साधु को दुःख मत देना। इसे बादशाह ने स्वीकार कर लिया। फिर उन्होंने कहा कि-फिर अब कभी मुझे मत बुलाना। ऐसा कहकर श्रीनामदेवजी वहाँ से चल दिये। उनकी इच्छा हुई कि-पहले पण्ढरीनाथजी के मन्दिर में चलूं। प्रभु के नाम-गुण-कीर्तन का नित्य-नियम पूरा कर लूँ। मन्दिर पर गये तो द्वार पर बहुत भीड़भाड़ दिखाई पड़ी। (जूतों की चोरी की शंका से शायद मन एकाग्र न हो, इसलिए कपड़े में लपेटकर) जूतों को कमर में बाँध लिया। हाथों से भीड़ को हटाकर भीतर गये। दर्शन करके पदगान आरम्भ करना ही चाहते थे कि किसी ने जूतों को देख लिया और रुष्ट होकर पाँच-सात चोटें लगाईं। फिर धक्का देकर मन्दिर से बाहर निकाल दिया परन्तु श्रीनामदेवजी के मन में (पंडों के इस व्यवहार से) थोड़ा भी क्रोध नहीं आया।।१३६।।

व्याख्या-साधु न दुखाइये-'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी।।' (रामा०) साधु सताये हानि त्रय, अर्थ, धर्म, अरु वंस। टीला नीके देखिले रावन कौरव कंस।। 'कीजिये न सुधि' इस पर-

दृष्टान्त-मोहनीशरणदेवजी (टाटी स्थान का)-बादशाह शाहजहाँ ने एक दिन महल में एक चित्रपट देखा, जिसमें उसके दादा (अकबर बादशाह) एक हिन्दू फकीर के सामने पृथ्वी पर साष्टांग पड़े हुए हैं। यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा महान् सम्राट किसके सामने दीन की भाँति पृथ्वी पर गिरा पड़ा है। मन्त्रियों से पूछा तो उन लोगों ने बताया कि ये हैं श्रीवृन्दावन के रसिक नरेश श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज। शाहजहाँ ने पूछा कि इनकी परम्परा में इस समय भी कोई है? मन्त्रियों ने श्रीमोहनीशरणदेवजी का नाम बताया। तब उसकी भी श्रद्धा उमड़ी कि हमारे बुजुर्ग जिसको पूजे हैं, हमें भी उनके वंशों का आदर करना चाहिए। अतः शाहजहाँ ने अपने शाहीलबाजमे के साथ श्रीवृन्दावन आकर श्रीमोहनीशरणदेवजी का दर्शन एवं सत्संग किया। चलते समय उसने निवेदन किया कि मेरे लायक कोई सेवा फरमाइये। तब श्रीमोहनीशरणदेवजी ने कहा-बस, अब फिर मेरे यहाँ कभी नहीं आइयेगा। यही मेरी सेवा है। यह सुनकर शाहजहाँ बड़ा उदास हुआ कि एक सन्त एक श्रद्धालु को, उसमें भी एक बादशाह को ऐसा क्यों कहते हैं? उसने बड़ी विनम्रतापूर्वक जब इसका कारण पूछा तो इन्होंने बताया कि देखो, बात यह है कि हमारा और तुम्हारा-दोनों का रंग जोरदार है और दोनों को दोनों से भय है। यदि कहीं मेरे यहाँ

आते-जाते रहने से मेरा रंग तुम पर चढ़ गया तो तुम्हारी बादशाहत छूट जायेगी और यदि कहीं मेरा ही मन विचलित हुआ और तुम्हारा रंग मुझ पर चढ़ गया तो हमारी फकीरी धूल में मिल जायेगी। अतः तुम अपने घर और हम अपने घर। सुनो-

दृष्टान्त-एक राजा और एक सन्त का-

एक बादशाह जंगल में शिकार खेलने गया तो उसे बड़े जोर की प्यास लगी। जल की खोज करते हुए राजा एक महात्मा के आश्रम पर जा पहुँचे। महात्मा ध्यानस्थ थे, उनका कमण्डलु जल से भरा हुआ था। प्यास से राजा ने वह कमण्डलु का जल पीकर अपनी तृषा शान्त की। इतने में राजा के सेवक सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित जल लेकर आये। राजा ने वह जल महात्मा के कमण्डलु में भरवा दिया और वहाँ से अपने देश को चला गया। इधर महात्माजी जब ध्यान से निवृत्त होकर उठे तो उस कमण्डलु के जल को पी लिए। महात्मा के तपःपूत कमण्डलु के जल को पीने से राजा को घर जाकर संसार से वैराग्य हो गया। इधर राजा के रजोगुणी जल को पीने से महात्मा को राजसुख भोग की वासना हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा राजपाट छोड़कर महात्माजी के पास जाकर विरक्त-दीक्षा लेकर साधु हो गये और महात्मा दक्षिणा में समस्त राज्य को लेकर राज्य सुख भोगने लगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि तुम फिर कभी यहाँ न आना। हम दोनों को दोनों से भय है। इसलिए श्रीनामदेवजी ने भी कहा-'कीजिये न सुधि मेरी।'

दिल्ली से श्रीज्ञानदेवजी, श्रीनामदेवजी आदि सन्तों की मण्डली तीर्थयात्रा करती हुई राजस्थान पहुँची। एक बार उस मरु-प्रदेश के तीर्थों की यात्रा के सिलसिले में सबको बड़े जोर की प्यास लगी। वहाँ जल का बड़ा संकट होता है। पता लगाने पर बहुत दूरी पर एक कुआँ का पता लगा। सब लोग जब वहाँ पहुँचे तो देखे कि कुँआ का जल इतना नीचे है कि हम लोग किसी साधन से उसे प्राप्त नहीं कर सकते। श्रीज्ञानदेवजी ने सिद्धिबल से कुएँ में प्रवेश कर जलपान किया। और श्रीनामदेवजी के लिए भी भरकर ले आये। परन्तु श्रीनामदेवजी ने वह जल नहीं पिया वे बोले-यह जल आप बड़े श्रम से लाये हैं, और लोगों को पिला दीजिये। क्या पाण्डुरंग को हमारी चिन्ता नहीं है। मैं तो पाण्डुरंग के हाथ से प्राप्त जल का पान करूँगा। श्रीनामदेवजी के इतना कहते ही वह कुआँ सहसा ऊपर तक जल से भर गया। यह देखकर सब लोग चकित हो गये। फिर श्रीनामदेवजी के साथ सबने वह दिव्य-जलपान किया। श्रीज्ञानदेवजी ने, श्रीनामदेवजी को हृदय से लगाकर बड़ी प्रशंसा की।

श्रीनामदेवजी ने कहा-प्रशंसा के वास्तविक पात्र तो पाण्डुरङ्ग हैं, जिनको भक्तों की इतनी चिन्ता रहती है। इस प्रकार ये लोग तीर्थयात्रा करके पुनः पण्ढरपुर लौट आये।

श्रीनामदेवजी ने विचार किया कि पहले श्रीपण्ढरीनाथजी का दर्शन कर लूँ, नित्य-नियम का पद सुना लूँ, तब घर चलूँ। मन्दिर पर पहुँचने पर भीड़ देखकर-'पगदासी कटि बाँधी'-इसके दो कारण-१. अकिंचन साधु थे, जैसे-तैसे कुछ पैसा बचाकर खरीदे थे। यदि भीड़-भाड़ में कोई पहनकर चल दिया तो मन में दुःख होगा। २. यदि कोई नहीं भी पहन जाय तो मन उसमें अटका रहेगा, तो यह भी ठीक नहीं है। किसी ने ठीक ही कहा है- 'देवालय को जात हैं, हरिदर्शन की आस। औंधे ह्वै दण्डवत् करैं, चित्त पनहियन पास।।' एक महात्मा विनोद करते हैं कि लोग नये जूते पहनकर मन्दिर को जाते हैं, तो जूता बाहर निकालकर भगवान के सामने पहुँचकर भगवान की स्तुति करते हैं कि पनहियों का ध्यान। भगवान की ओर देखकर कहते हैं कि 'त्वमेव माता' फिर पनहियों की ओर देखकर कहते हैं- 'च पिता त्वमेव। श्रीनामदेवजी को चित्त की यह हलचल पसन्द नहीं हैं अतः उन्हें कटि में बाँधकर भगवान के सामने प्रस्तुत हुए। श्रीनामदेवजी की साधुता से सब लोग परिचित थे अतः सबने मार्ग दे दिया। यह भगवान का दर्शन करते ही भाव-विभोर हो गये, हाथ ऊपर उठाकर, उछल-उछलकर भगवान का गुण गाने लगे। इसी उछल-कूद में पनहीं किसी पण्डे को दीख गईं।

कीनी धकाधकी-**प्रथम तो पण्डे-पुजारियों ने इन्हें बातों से कहकर मन्दिर के बाहर जाने को कहा, परन्तु प्रेम-विह्वल होने के कारण उनके कहने-सुनने का कुछ ध्यान ही नहीं रहा। तब उन लोगों ने पाँच-सात चोट देकर धक्का देकर बाहर निकाल दिया। 'रिस मन में न आइयै'-उन लोगों ने जो कटु वचन कहे, वा धक्का देकर बाहर निकाल दिये इसका श्रीनामदेवजी को कोई दुःख नहीं हुआ। दुःख तो तब हुआ जब पण्डे-पुजारियों ने कहा- खबरदार! आज से मन्दिर में पाँव नहीं धरना। तब तो इनके दुःख का पारावार नहीं रहा कि हाय! मैं प्रभु-दर्शन से भी वंचित हो गया।**

बैठे पिछवारे जाइ कीनी जू उचित यह लीनी जो लगाइ चोट मेरे मन भाइयै।
कान दैकैं सुनो अब चाहत न और कछु ठौर मोकों यहीं नित नेम पद गाइयै।।
सुनत ही आनि करि करुना विकल भये फेर्‌यो द्वार इत गहि मन्दिर फिराइयै।
जेतिक वे सोती मोती आब-सी उतरि गई भई हिये प्रीति गहे पाँव सुखदाइयै।।१३७

शब्दार्थ-**आब=पानी, चमक।**

भावार्थ-अब श्रीनामदेवजी मन्दिर के पिछवाड़े जाकर बैठ गये और भगवान से कहने लगे कि प्रभो! आपने यह बहुत ही अच्छा किया, जो मुझमें मार लगाई। (मेरे अपराध का दण्ड तुरन्त ही दे दिया) इसलिए मैं बुरा नहीं मानता हूँ, बल्कि यह मेरे मन को बहुत ही अच्छा लगा। परन्तु अब कान देकर (ध्यान से) सुनो, मैं आपसे और कुछ भी नहीं चाहता हूँ। मेरे लिए यह मन्दिर के पीछे का स्थान भी ठीक है। अब नित्य-नियम के अनुसार पद गाता हूँ, सुनो। यह कहकर नामदेवजी पद गाने लगे, जिसे सुनते ही भगवान का हृदय करुणा से भर गया। भक्त को विरह-व्यथित एवं दीन देखकर प्रभु व्याकुल हो गये। (श्रीनामदेवजी को दर्शन देने एवं भाव-विभोर भक्त का दर्शन करने के लिए) भगवान ने विशाल सम्पूर्ण मन्दिर को घुमाकर श्रीनामदेव की ओर द्वार कर दिया। (और भक्त-भगवान दोनों कृतार्थ हुए) यह देखकर जितने भी वेदपाठी पण्डा-पुजारी थे सबके मुख की कान्ति क्षीण हो गई, सब फीके पड़ गये। जैसे पानी उतरने से मोती फीका हो जाता है। अब उनके हृदय में श्रीनामदेवजी के प्रति बड़ी-भारी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो गई। सभी ने श्रीनामदेवजी के सुख देने वाले चरणों में गिरकर क्षमा-याचना की। उन्हें प्रसन्न देखकर सबको शान्ति प्राप्त हुई।।१३७।।

व्याख्या-ठौर मोकों यहीं-भाव यहाँ से मुझे मत हटाना। मेरे लायक यही स्थान ठीक भी है। मैं अधम-अघी-अपराधी आपके सम्मुख जाने लायक नहीं हूँ और अब यहाँ मुझे पनहियों का भी कोई सङ्कट नहीं रहेगा। उन्हें मैं चाहे कटि में बाँध रखूँ, चाहे पाग में रखूँ, चाहे गोद में रखूँ, कोई कहने वाला नहीं रहेगा। 'पद गाइये, उस समय श्रीनामदेवजी ने दीनता में भरकर यह पद गाया-

हीन है जाति मेरी जादवराइ। कलि में नामा इहां काहे को पठाय।।
ताल पखाउज बाजै पातुरि नाचे। हमरी भगति विठ्ठल काहे को राचे।।
पण्डर प्रभु जू वचन सुनीजै। नाम देव कहँ दरसन दीजै।।

कहते हैं कि श्रीनामदेवजी इस प्रकार अपना दुःख व्यक्त कर ही रहे थे कि इतने में उनके सान्त्वनार्थ श्रीकबीरजी प्रकट हो गये और बोले-भैया! भगवान के यहाँ हम गरीबों का गुजर नहीं है चलो यहाँ से। श्रीनामदेवजी कमरी उठाकर चलने को प्रस्तुत हो गये। यह देखकर भगवान श्रीपण्डरीनाथजी भयभीत हो गये कि दो-दो भक्त फूट रहे हैं। अतः तत्काल प्रकट होकर बोले-हमें तो आप लोगों सरीखे परम अकिंचन भक्त ही परम प्यारे हैं। मैं आप लोगों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता हूँ। परन्तु इतने पर भी

जब दोनों भक्त राजी नहीं हुए तब अपने वचन को चरितार्थ करते हुए भक्तवत्सल भगवान के हृदय में कृपा उमड़ी और प्रभु ने इनके देखते-देखते मन्दिर को घुमा दिया। भगवान की यह भक्तवत्सलता देखकर श्रीनामदेव प्रभु के चरणों में पड़ गये, भगवान ने उठाकर उन्हें हृदय से लगा लिया। यथा-

उठि भाई नामदेव परे ह्वै जाइ। इहां दूबे तिवारी बैठैं आइ।।
ब्राह्मण बनियां उत्तम लोग। इहां नहीं नामदेव तुम्हारो संयोग।।
नामदेव कमरी लई उठाय। मन्दिर पाछे बैठे जाइ।।
पांयनि घुंघुरू हाथनि ताल। नामदेव गावैं गुण गोपाल।।
मन्दिर ऊपर ध्वजा फरहरै। उलटि द्वार नामा तन करै।।
नामदेव हरि दरसन पाये। बांह पकरि ढिंग लै बैठाये।।
दोऊ हिलमिल एकै भये। दास कबीर अचम्भे रहे।।

वर्णन आया है कि मन्दिर घुमाने में परम सुकुमार श्रीपण्ढरीनाथजी की कमर चमक गई। अतः उपचार कराने के लिए परमभक्त श्रीरांका-बांकाजी के घर गये। (वस्तु-तस्तु उनके ऊपर कृपा करने के लिए भगवान ने यह नाट्य किया।) संयोग की बात, उस समय श्रीरांका-बांकाजी जंगल में काष्ठ लेने गये थे, घर पर उनकी भागवती बेटी थीं। भगवान ने आकर पूछा-भगतजी कहाँ हैं? उनकी पुत्री ने कहा-लकड़ी लेने गये हैं। भगवान ने कहा-बेटी! जल्दी से खाट बिछाओ, मैं लेटूँ, तुम थोड़ा हल्दी गरम करके मेरी कमर में सेंक लगाओ, और जल्दी से हलवा बनाकर मुझे खिलाओ। चोट में हलवा बड़ा फायदा करता है। मुझे इस समय बड़ी तकलीफ है। पूछने पर प्रभु ने सब विवरण बताया। भक्तराज की कन्या बड़े मनोयोग से भगवान की सेवा में लग गईं। उस समय प्रभु खाट पर पड़े-पड़े कराह रहे थे। उसी समय दैवयोग से श्रीनामदेवजी भी रांकाजी से मिलने उनके घर गये उन्हें कराहने की आवाज सुनाई पड़ी। श्रीनामदेवजी ने पूछा, तो भागवती कन्या ने सब कथा कह सुनाई। श्रीनामदेवजी का आना जानकर प्रभु चुप हो गये। श्रीनामदेवजी को बहुत पश्चात्ताप हुआ कि मेरे लिए मेरे प्रभु को इतना कष्ट उठाना पड़ा। धन्य तो हैं ये रांका-बांका और उनकी कन्या, जो प्रभु की पीड़ा हर रहे हैं, मैं अभागा तो प्रभु को सुख दे नहीं सका, अपराध और कर बैठा। श्रीनामदेवजी प्रभु के चरणों में पड़कर बारम्बार क्षमा-याचना किये।

औचक ही घर मांझ सांझ ही अगिनि लागी बड़ो अनुरागी रहि गई सोऊ डारियै।
कहैं अहो नाथ सब कीजिये जु अंगीकार हँसे सुकुमार हरि मोही को निहारियै।।
तुम्हरो भवन और सकै कौन आइ इहाँ भये यो प्रसन्न छानि छाई आप सारियै।
पूछे आनि लोग कौने छाई हो छवाइ दीजै लीजै जोई भावै तनमन प्राण वारियै।।१३८

शब्दार्थ-**औचक = एकाएक, सहसा। सारियै = अपने समान ही, अच्छी तरह सजाकर।**

भावार्थ-**एक बार अकस्मात् ही सायंकाल में श्रीनामदेवजी के घर में आग लग गई। पर आप तो बड़े-प्रेमी सन्त थे। (जल, थल और अग्नि में सर्वत्र अपने प्यारे प्रभु को ही देखते थे) अतः अपने दूसरे घर में जो सुन्दर पदार्थ घी, गुड़ आदि जलने से रह गये थे, उन्हें भी उठा-उठाकर जलती हुई आग में डालते हुए प्रार्थना करने लगे-हे नाथ! इन सब वस्तुओं को भी स्वीकार कीजिये। भक्त की ऐसी सुन्दर-भावना देखकर भगवान ने प्रकट होकर दर्शन दिया और हँसकर बोले कि-'अत्यन्त कोमल मुझ श्यामसुन्दर को तीक्ष्ण-असह्य अग्नि की ज्वाला में भी देखते हो। श्रीनामदेवजी ने कहा-प्रभो! यह आपका भवन है, आपके अतिरिक्त दूसरा कौन यहाँ आ सकता है। यह सुनकर प्रसन्न होकर प्रभु अन्तर्धान हो गये, अग्नि शीतल हो गई।**

दूसरे दिन भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणी सहित मजदूर का रूप धारण करके आये और केवल भोजन-प्रसाद पर श्रीनामदेव के छप्पर को वैसा ही सुन्दर छाया, जैसे कि आप स्वयं सुन्दर और अनुपम हैं। [रुक्मिणीजी ने मिट्टी और गोबर से घर को लीप और पोतकर स्वच्छ किया।] दूसरे गाँव के पड़ौसी लोग छप्पर की सुन्दरता देखकर आश्चर्यचकित हो गये और श्रीनामदेवजी से पूछने लगे कि-किस मजदूर ने यह छप्पर छाया है। हम भी ऐसा छप्पर छबावेंगे और मुँह माँगी जो उसे अच्छी लगे वह मजदूरी देंगे। श्रीनामदेवजी ने कहा-ऐसा छप्पर छवाने के लिए अपना तन-मन और प्राण सर्वस्व उस मजदूर पर न्यौछावर कीजिये, तब वह छप्पर छावेगा।।१३८।।

व्याख्या-बड़ो अनुरागी-**श्रीनामदेवजी उस समय भजन में तल्लीन थे। पास-पड़ौस के लोगों ने जाकर सुनाया कि घर में आग लगी है जल्दी चलो। परन्तु ये नहीं उठे। इसके दो कारण हैं-१. भजन में मन लगा था। २. घर एवं घर की वस्तु सब भगवान की ही है। यथा-'सम्पति सब रघुपति कै आही।' (रामा०) और अग्नि भी भगवत्स्वरूप ही**

हैं। यथा-'वसूनां पावकश्चास्मि' (गीता) अतः अपनी वस्तु प्रभु आत्मसात् कर रहे हैं। इसके लिए उद्वेग कैसा? तब पड़ोस वालों ने अपना कर्तव्य विचारकर जहाँ तक बना, वहाँ तक घर में से वस्तुएँ निकालकर बाहर कीं। जब नामदेवजी भजन का नियम प्रेमपूर्वक पूर्ण कर उठे तो-'रहि गई सोऊ डारिये'-अर्थात् लोगों ने जो बाहर कर दिया था उसे भी उठाकर प्रज्वलित अग्नि में डाल दिये और बोले-

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर।।

गाँव वालों ने कहा-नामदेवजी! यह क्या कर रहे हैं? ये बोले ठीक कर रहा हूँ। प्रभु की वस्तु प्रभु को समर्पित कर रहा हूँ। इससे लोग बड़े ही दुःखी हुए। क्योंकि बड़ी कठिनाई से कुछ बचा पाये थे, वह भी इन्होंने स्वाहा कर दिया। कुछ लोगों ने आगे बढ़कर इन्हें ऐसा करने से रोकने की चेष्टा की इन्होंने उन्हें धर्म की सौगन्ध दिला दी। गाँव वाले रुष्ट हो गये कि देखो तो, हम लोगों ने तो मानवता के नाते अपने प्राणों की बाजी लगाकर इनकी भलाई की, और यह उलटे हमें ही बेवकूफ बना रहे हैं। हम लोगों ने बचाया, सो तो गलत किया और यह जला रहे हैं सो ठीक कर रहे हैं। देखो-कैसी विपरीत बुद्धि हो गई है इनकी। इसके बाद गाँव वालों ने आपस में पंचायत की, कि देखो भाई। इन्होंने हम सबका तिरस्कार किया है, तो खबरदार! कोई भी न तो इनकी छान छावे, छबावे, न किसी प्रकार का सहयोग ही करे। फिर क्या था? सभी गाँव एक मत। कोई भी इनसे पूछता ही नहीं कि तुम कैसे रहोगे, कहाँ रहोगे? ठण्ड के दिन थे, ये बाहर ठिठुरते रहते और अन्य लोग अपने मकानों में मौज करते।

छानि छाई आप-भक्तवत्सल भगवान से भक्त का कष्ट नहीं देखा गया अतः प्रभु ने अपने पार्षदों से कहा-भाई, चलो अब तो नामदेवजी की छानि हम ही लोगों को छाना पड़ेगा। पार्षदों को बड़ा कुतूहल हुआ कि प्रभु क्या कर रहे हैं? इनके तो संकल्प मात्र से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते रहते हैं? फिर भी प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर चलने लगे तो महारानी श्रीरुक्मिणीजी भी साथ लग गईं। तब भगवान ने कहा-चलती हो तो वहाँ तुम्हें भी कुछ करना पड़ेगा। केवल तमाशा देखने के लिए मैं साथ नहीं ले चलूंगा। इन्होंने स्वीकार कर लिया तो इनको भी साथ ले लिए। पार्षदों ने सब सामान एकत्रित किया। भगवान छप्पर छाते, श्रीरुक्मिणीजी नीचे से आवश्यकता की वस्तु काष्ठ, तृण, रस्सी आदि थमातीं। जब छान छा गई तो भगवान ने श्रीरुक्मिणीजी से कहा-देखो, दीवाल काली हो रही है,

छान तो मैंने जैसे-तैसे छा दी है, अब पुताई करना आपका काम है। महारानी श्रीरुक्मिणीजी ने अपने श्रीकर-कमल से पूरे घर की पुताई की एवं आंगन के फर्श में चौका लगाया। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है प्रभु का छान, छाना एवं चौका लगाना कोई नई बात नहीं है। यह तो प्रभु का पुराना अभ्यास है। श्रीरामावतार में वनवासकाल में श्रीराम-लक्ष्मणजी ने अपने हाथ से कुटिया छाई थी। यथा-'गोदावरी के निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।।' और श्रीजानकीजी ने वटवृक्ष के नीचे एक विशालवेदी बनाई थी, उस पर रोज चौका लगाती थीं। क्योंकि वहाँ बैठकर श्रीरामजी मुनियों के साथ कथा-श्रवण करते थे। यथा-'बट छाया वेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई।। जहाँ बैठि मुनिगन सहित, नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान।।' (रामा०) भक्त के यहाँ भगवान के सेवा करने के अनेकों प्रसङ्ग श्रीभक्तमालजी में प्राप्त हैं। श्रीकृष्ण रुक्मिणी ने अपने को धन्य माना श्रीनामदेवजी की छान छायकर।

तन मन प्राण वारिये- श्रीनामदेवजी से लोग पूछते कि तुम्हारी छान जैसी, छान हम भी छबावेंगे, बताओ क्या मजदूरी लगेगी? श्रीनामदेवजी ने कहा-भैया! यह छान बहुत महँगी पड़ेगी। प्रथम तो उस छान छाने वाले पर अपने तन-मन-प्राण न्यौछावर करने पड़ेंगे, अपने सगे-सम्बन्धियों से नाता तोड़कर उससे नाता जोड़ना पड़ेगा, इसके बाद मुस्कुरा करके श्रीनामदेवजी ने कहा-अपने पहले वाले घर में आग लगानी होगी, और जो कुछ बाहर धरा हो उसे भी अग्नि में स्वाहा करना होगा, इसके बाद तब ऐसी छान छाई जा सकेगी। (घर में आग लगाने का गूढ़भाव यह है कि वैराग्यरूपी अग्नि में ममता को जलाना होगा।) लोगों ने कहा-सचमुच नामा, ऐसा करने से ऐसी छान छा जावेगी। श्रीनामदेवजी ने कहा-'बेशक, इसमें क्या सन्देह है। कुछ लोग तो हिम्मत हार गये, घर फूँकने का साहस नहीं हुआ परन्तु कुछ लोग विश्वास करके घर फूँकने को तैयार हो गये तब बड़े-बूढ़ों ने समझाया कि पागल मत बनो, सबके भाग्य में यह नहीं है कि भगवान सबकी छान छाते फिरें। ऐसा भाग्य तो श्रीनामदेवजी का ही है यदि देखा-देखी स्पर्धा करोगे तो दुःख पाओगे। कहावत है-देखा देखी साधे जोग। छीजे काया बाढ़ै रोग।।' देखिये छप्पय ६७ 'लगी परोसी हौंस भवानी भ्वैसों मारै।' लोग ठण्डे पड़ गये। श्रीनामदेवजी ने एक पद में इस प्रसङ्ग को स्मरण किया है। यथा-

लोग परोसी पूछैं रे नामा किन यह छानि छबाई।
तो ते अधिक मजूरी दैहौं बेगिहिं देहि बताई।।

बैठिया प्रीति मजूरी मांगे जो कोउ छानि छबावै।
भाई बन्धु सगे सों तोरै बैठिया आपुहि आवै।।
जूठे फल शबरी के खावै ऋषि स्थान विसरावै।
दुर्योधन की मेवा त्यागी साग विदुर घर खावै।।
कंचन छानि पद्मपट दीने प्रीति की गांठि जुराई।
गोविन्द के गुन भनै नामदेव जिन यह छानि छबाई।।

सुनौ और परचै जो आये न कवित्त मांझ बांझ भई माता क्यों न जौ न मति पागी है।
हुतो एक साह तुलादान को उछाह भयो दयो पुर सबै रह्यौ नामदेव रागी है।।
ल्यावो जु बुलाइ एक दोइ तौ फिराइ दिये तीसरे सों आये कहा कहो बड़भागी है।
कीजिये जु कछु अङ्गीकार मेरो भलो होय भयो भलो तेरो दीजै जौ पै आसा लागी है।।१३९

शब्दार्थ-कवित्त=मूल छप्पय। रागी=प्रेमी।

भावार्थ-श्रीनामदेवजी की प्रेमभक्ति का परिचय देने वाले अन्य चरित्र जो मूल छप्पय में नहीं आये, उन्हें सुनिये। इन भक्तचरित्रों को सुनकर जिसकी बुद्धि भक्त-भगवान में नहीं पगी उसकी माता बन्ध्या क्यों न हुई? अर्थात् उसका जन्म व्यर्थ है। पण्ढरपुर में एक बहुत बड़ा धनी सेठ रहता था उसके यहाँ तुलादान का उत्सव हुआ। उसने अपने को सोने से तौलकर नगर के सभी [ब्राह्मण साधु] लोगों को सोना दिया। (सेठ ने लोगों से पूछा कोई रह तो नहीं गया, तब लोगों ने कहा-) श्रीनामदेवजी भगवान के बड़े प्रेमी सन्त हैं वे रह गये हैं। सेठ ने कहा-उन्हें बुलाकर लाओ। [सेठ के नौकर, मुनीम बुलाने गये। दान ब्राह्मणों को दो, हमें कुछ भी नहीं चाहिये, यह कहकर (श्रीनामदेवजी ने पहली और फिर दूसरी बार लोगों को वापिस लौटा दिया, जाने से मना कर दिया। पर तीसरी बार अति आग्रह देखकर आप सेठ के घर पर आये और सेठ से बोले-तुम बड़े भाग्यशाली हो, कहो-हमसे क्या कहते हो? सेठजी ने कहा-'आप मेरे द्वारा दिये गये कुछ धन को स्वीकार कीजिये, जिससे मेरा कल्याण हो।' नामदेवजी ने कहा-तुम्हारा कल्याण तो हो गया, अब मुझे कुछ देने की आपकी प्रबल इच्छा है तो दीजिये।।१३९।।

व्याख्या-बांझ भई माता क्यों न-भगवत्-भागवत-भक्त पुत्र को जन्म देने से ही जननी का जननीत्व सफल होता है। यथा-

चौ०- पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भक्त जासु सुत होई।।
न तरु बांझ भलि बादि बिआनी। राम विमुख सुत ते हित जानी।।

दो०- जननी जनै तो भक्तजन, कै दाता कै सूर।
नाहीं तो तू बांझ रह, क्यों खोवै निज नूर।।

पुनः- बड़ेई विरक्त अनुरक्त रूप माधुरी में चातुरी विविध विधि भक्त अनुरागी हैं।
सबही के दाता अरु ज्ञाता सब वेदन के तिया सब जगत की मात सम लागी हैं।।
सन्तन को संग न प्रसंग 'अलबेली' अली सींचते हैं डार जर काटत अभागी हैं।
माता क्यों न तोय गई, राति क्यों न खोय गई रोय गई बुधि साधु जस सों न पागी हैं।।

नामदेव रागी है-**एक अनुरागी सन्त की सेवा करने से सौ-वैष्णवों की सेवा का फल प्राप्त होता है। एक बार श्रीमद्बल्लभाचार्यजी से एक भक्त ने कहा-मेरा विचार है सौ-ब्राह्मणों को भोजन कराने का। श्रीआचार्यजी ने कहा-एक-वैष्णव को भोजन करा दो। सौ-ब्राह्मण-भोजन का पुण्य हो जायेगा। भक्त ने कहा-यदि सौ-वैष्णवों को भोजन कराऊँ तो? श्रीआचार्यप्रभु ने कहा- एक अनुरागी संत को पवा दो, वह पुण्य तुम्हें एक अनुरागी संत को पवाने से प्राप्त हो जायेगा। भक्त ने कहा-यदि सौ-अनुरागियों को भोजन कराऊँ तो? श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु के नेत्र सजल हो गये। वे बोले-भैया! सौ-अनुरागी मिलेंगे ही नहीं। 'रह्यो नामदेव रागी' कहने में जहाँ एक ओर यह संकेत है कि उनको देना परमावश्यक है, परमपुण्यावह है, वहीं यह भी भाव है कि उनको कुछ देना सहज नहीं है। वे भला कब कुछ लेने ही लगे। देखिये कवित्त १३५ में। 'चाहिये न कछु' की व्याख्या। 'बड़भागी' यह श्रीनामदेवजी एवं साहूकार-दोनों पक्षों में लगता है। श्रीनामदेवजी भक्त होने के नाते बड़भागी हैं। यथा-'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।।' (रामा०) एवं श्रीनामदेवजी ने साहूकार को भी बड़भागी कहते हुए उसके दान-पुण्य की सराहना की। प्रशंसा सुनकर सेठ के मन में अपने पुण्यों का अभिमान हो गया। तब श्रीनामदेवजी ने उसके अभिमान को दूर करने के लिए आगे की लीला की।**

जाके तुलसी हैं ऐसे तुलसी के पत्र मांझ लिख्यो आधो राम नाम यासों तोल दीजियै।
कहा परिहास करो ढरो ह्वै दयाल देखि होत कैसो ख्याल याकों पूरो करो रीझियै।।
ल्यायो एक कांटो लै चढ़ायो पात सोना संग भयो बड़ो रंग सम होत नाहिं छीजियै।
लई सो तराजू जासों तुलै मन पांच सात जाति पांतिहू को धन धर्‌यो पै न धीजियै।।१४०

शब्दार्थ-छीजिये =दुःखी हुए। न धीजिये = ग्राह्य-पूरा नहीं हुआ।

भावार्थ-श्रीनामदेवजी का एकमात्र प्रिय सर्वस्व जो श्रीतुलसी हैं, ऐसे श्रीतुलसी के पत्ते में आधा राम-नाम अर्थात् केवल 'रा' लिखकर उसे दिया और कहा कि-'इसके बराबर तौलकर दे दीजिये।' सेठ ने कहा-महाराज! क्यों हँसी करते हो, इतने थोड़े से सोने से क्या होगा। कृपा करके कुछ अधिक लीजिये। (जिससे मुझ दाता की हँसी न हो) नामदेवजी ने कहा-इसके बराबर सोना तौलकर देखो तो सही, फिर देखो कि क्या विचित्र खेल होता है। यदि तुम इसके बराबर पूरा करके सोना दे दोगे, तो मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न होऊँगा। यह सुनकर सेठजी एक तौलने का काँटा ले आये और एक ओर तुलसीपत्र तथा दूसरी ओर सोना चढ़ाया। उस समय बड़ा विचित्र आश्चर्य हुआ, सोने का ढेला तुलसीपत्र के बराबर नहीं हुआ। सेठजी उदास हो गये, जिससे पाँच-सात मन तौला जा सके, ऐसा बड़ा तराजू मँगवाया। उस पर एक ओर तुलसीपत्र दूसरी ओर घर भर का सम्पूर्ण सोना-चाँदी आदि धन रखा। पूरा न पड़ने पर जाति-कुटुम्ब वालों के घर से ला-लाकर बहुत-सा धन रखा, परन्तु वह सब तुलसीपत्र के बराबर नहीं हुआ।।१४०।।

व्याख्या-जाके तुलसी हैं-श्रीतुलसीजी भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं। यथा-'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।' (रामा०) श्रीब्रजदेवियों ने श्रीतुलसीजी को 'श्रीगोविन्दचरण-प्रिय' कहा है। यथा-'कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरण प्रिये।' (भा०१०-३०-७) इसी कारण से श्रीतुलसीजी भक्तों की भी सर्वस्व-स्वरूपा हैं।। 'यासों तोल दीजिये'-साहूकार ने सबको तो तुलादान का सोना यथायोग्य बाँटा। परन्तु इनसे कहा कि आप जितना कहें, उतना दूँ। इन्होंने कहा कि अच्छा तो दे दो इसी तुलसीदल के बराबर। 'परिहास करो'-भाव यह कि आप सागर से सीकर (बिन्दुकण) का दान माँग रहे हैं। यह सागर का परिहास है। 'देखि'-यह सेठ की भी उक्ति है। सेठ ने कहा-मुझे देखकर, मेरी सम्पत्ति को देखकर, अर्थात् मैं कोई दीन-हीन-कंगाल थोड़े ही हूँ, जो आप इतना कम माँग रहे हैं। तथा यह श्रीनामदेवजी का भी कथन है-देखो, कैसा कौतुक होता है? अभी पता चल जाता है कि कौन सागर है, कौन सीकर? 'तुलैं मन पांच सात'-सेठजी प्रथम तो सोना तौलने वाली छोटी तराजू मँगवाये। परन्तु काम नहीं चला तो अन्न तोलने की बड़ी तराजू मँगवाये जिससे पाँच-सात सेर तौला जाता है। परन्तु जब उससे भी पूरा नहीं पड़ा तो बड़ा काँटा मँगवाये जिस पर बोरे तौले जाते हैं।

परयो सोच भारी दु:ख पावै नर-नारी नामदेवजू विचारी एक और काम कीजिये।
जिते व्रतदान औ स्नान किये तीरथ में करियै संकल्प यापै जल डारि दीजिये।।
करेऊ उपाय पात पला भूमि गाड़े पांय रहे वे खिसाय कह्यौ इतनोई लीजिये।
लैकै कहा करैं सरवरहू न करै भक्तिभाव सों लै भरैं हिये मति अति भीजिये।।१४१

शब्दार्थ-**सरबर=समानता। खिसाय = लज्जित।**

भावार्थ- **श्रीरामनाम लिखित तुलसीपत्र के महत्व को देखकर घर के सभी स्त्री-पुरुषों के समेत सेठजी को बड़ा शोक तथा दु:ख हुआ। श्रीनामदेवजी ने विचारा कि अभी इन्हें तुलसीपत्र एवं रामनाम की महिमा का पूरा अनुभव नहीं हुआ है, इसलिए वे बोले-आप सब दु:ख न मानें, एक काम और करें, शायद उससे पूरा पड़ जाय। वह यह कि आप लोगों ने जितने व्रत-दान और तीर्थस्नान आदि पुण्य-कर्म किये हों, उनका संकल्प करके जल डाल दीजिये। [लोगों के मन में आया हाँ, अवश्य ही इस पुण्य से तुलसीपत्र अधिक न होगा।] सभी लोगों ने पुण्यों का स्मरण कर-करके संकल्प पढ़कर जल डाला, पर इस उपाय के करने से भी काम न चला। जिधर तुलसीपत्र रखा था वह पलड़ा अपने पैर, भूमि में गाड़ रहा था। यह देखकर सभी लोग लज्जित हो गये और प्रार्थना करने लगे कि-इतना ही ले लीजिये। श्रीनामदेवजी ने कहा-हम इस तुच्छ धन को लेकर क्या करें। हमारे पास तो रामनाम-धन है, यह धन उसकी बराबरी नहीं कर सकता है। इस धन से कल्याण होना सम्भव नहीं है। नाम की और तुलसी की महिमा देखकर आज से इस धन को तुच्छ समझो और रामनामरूपी धन से प्रेम करो (गले में तुलसी धारण करो, रामनाम जपो।) यह कहकर श्रीनामदेवजी ने सबके हृदय में भक्ति का भाव-भर दिया। सबकी बुद्धि प्रेमरस में भीग गई।।१४१**

व्याख्या-श्रीनामदेवजू विचारी०-**आपने यह विचार किया कि सेठजी के धन-सम्पत्ति की तो तौल हो गई, वह सब मिलकर भी आधे नाम के भी बराबर नहीं हुई। अब इनके धर्म को भी तौल लेना चाहिए, जिसका इनको बड़ा अभिमान है। 'पातपला भूमि गाड़े पांव'-इस पर-**

दृष्टान्त-श्रीअङ्गदजी का-

अति कोप सों रोप्यो है पाउँ सभाँ सब लंक ससंकित सोर मचा।
तमके घननाद से वीर प्रचारिकै हारि निसाचर सैन्य पचा।।
न टरै पग मेरुहुँ ते गरु भो सो मनो महि संग बिरंचि रचा।
तुलसी सब सूर सराहत हैं जग में बलसालि है बालि बचा।। **(क०)**

सरवरहूं न करै- स्वर्ण, मणि, रत्न, कर्म, धर्म की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान भी नाम की बराबरी नहीं कर सकते। इस पर-

दृष्टान्त-श्रीनारद सत्यभामा का-एक बार देवर्षि श्रीनारदजी इन्द्रलोक से पारिजात का पुष्प लाकर द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण को भेंट किये। श्रीकृष्ण ने वह पुष्प महारानी श्रीरुक्मिणीजी को दे दिया। इसके बाद श्रीनारदजी सत्यभामाजी के महल में गये। कुशल-प्रश्नोपरान्त श्रीनारदजी ने कहा-मैं स्वर्ग से पारिजात का पुष्प लाया था, इस विचारधारा से कि यह पुष्प मैं श्रीकृष्ण को समर्पण करूँगा और श्रीकृष्ण इसे अपनी परमप्रिया श्रीसत्यभामाजी को देंगे। परन्तु मेरे देखते-देखते श्रीकृष्ण ने वह पुष्प श्रीरुक्मिणीजी को दे दिया। मालूम पड़ता है उनका अधिक प्रेम तुम्हारी अपेक्षा श्रीरुक्मिणी पर ही है यह सुनकर सत्यभामाजी मान कर गईं। जब श्रीकृष्ण को यह पता लगा तो वह समझ गये कि यह सब करतूति श्रीनारदजी की है। फिर मान मनाने में परम-प्रवीण श्रीकृष्ण जी ने सत्यभामाजी को यह आश्वासन देकर मान छुड़ाया कि श्रीरुक्मिणीजी को तो मैंने एक पारिजात पुष्प ही दिया है, आपको मैं पारिजात का वृक्ष ही ला दूंगा।

कुछ काल बाद जब भौमासुर का अत्याचार बढ़ा तो देवेन्द्र ने श्रीकृष्ण से सहायता माँगी। श्रीकृष्ण जब भौमासुर से संग्राम करने गये तो संग में श्रीसत्यभामाजी को ले गये। इनको संग ले जाने का कारण यह था कि भौमासुर पृथ्वी का पुत्र था। पृथ्वी ने भगवान से यह वरदान माँग लिया था कि जब मैं कहूँ तब इसे मारना। श्रीसत्यभामाजी भूदेवीजी का अवतार है अतः इनके कह देने से भी वरदान की रक्षा हो जायेगी। इसलिये इनको भी साथ ले गये। युद्ध में इन्हें अपने पीछे कर लिये थे। जब भौमासुर ने श्रीकृष्ण पर विविध अस्त्रों-शस्त्रों की वर्षा की तो दो-चार सत्यभामाजी को भी लगे। तब इन्होंने घबड़ाकर कहा कि-प्रभो! जल्दी इस दुष्ट को मार डालिये। बस, प्रभु ने उसे तुरन्त मार डाला। इसके बाद इन्द्रलोक को गये। देवताओं के सहित इन्द्र ने भगवान की बड़ी पूजा-स्तुति की। वहाँ से चलते समय भगवान ने इन्द्र से पारिजात के लिये कहा तो इन्द्र ने कहा-मैं जरा शचीदेवी (इन्द्राणी) से पूछ लूँ। पूछने पर इन्द्राणी साफ इन्कार कर गयीं कि एक तो वह मृत्युलोक की वस्तु नहीं है दूसरे उसके न रहने से मैं अपना फूल से श्रृंगार कैसे करुँगी? यह है देवताओं का शुद्ध स्वार्थ। (कैसे अविवेक की बात है-इन्द्राणी की समझ में द्वारिकापुरी, भगवान का धाम मृत्युलोक है और भगवान श्रीकृष्ण मर्त्यधर्मा प्राणी और स्वयं दिव्यलोक निवासी देवता है) यह सुनकर भगवान को रंज आया कि देखो तो हमारे ही बसाये तो बस रहा है स्वर्ग में, नहीं

तो अभी मारे-मारे फिरते थे भौमासुर के डर से और अब एक वृक्ष के लिये, माँगने पर भी इन्कार कर दिये। बस, भगवान श्रीकृष्ण जबरदस्ती पारिजात को उखाड़कर ले चले। इन्द्र भगवान श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानते हैं अतः कुछ नहीं बोले, परन्तु इन्द्र के मना करने पर भी भगवत्प्रभावानभिज्ञ देवता रोकना चाहे तो भगवान ने श्रीगरुड़जी को इशारा कर दिया। वे अपने पंखों से ही सबको ठोक-ठाककर ठीक कर दिये। पारिजात को पीठ पर धर लिये और भगवान से कहे-प्रभो! पारिजात तो मेरी पीठ पर है ही, आप युगल इस पर झूला झूलते हुए चलें, ऐसा ही हुआ।

पारिजात वृक्ष को पाकर सत्यभामा प्रसन्न हो गईं। कुछ काल बीतने पर श्रीनारदजी पुनः द्वारिकापुरी आये और श्रीकृष्ण से मिलकर श्रीसत्यभामाजी के महल में पहुँचे। कुशल प्रश्नोपरान्त श्रीनारदजी ने कहा-'पारिजात प्राप्ति की अभिलाषा तो आपकी पूर्ण हुई, अब कहिये, आपको क्या चाहिये? श्रीसत्यभामाजी ने कहा-देवर्षे! अब तो आप कृपा कर कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे जन्म-जन्म में हमें श्रीकृष्ण ही पतिरूप में मिलें। श्रीनारदजी ने कहा-'सिद्धान्त यह है कि-'बवासो लुनिय लहिय जो दीना।-' अतः यदि आप श्रीकृष्ण को ही हर जन्म में पाना चाहती हैं तो उन्हें किसी सत्पात्र को दान कर दीजिये। श्रीसत्यभामाजी ने जिज्ञासापूर्वक कहा-देवर्षे! आप ही बताइये, मैं किसे दान करूँ? श्रीनारदजी ने कहा कि और दान तो नहीं परन्तु यह सात्विक दान है, इसे तो मैं भी ले सकता हूँ। मुझे ही दान कर दो। श्रीसत्यभामाजी प्रसन्न हो गईं। कहावत है, 'घर के नाग को छोड़कर बांबी कौन पूजने जाये।' अतः उन्होंने सहर्ष श्रीनारदजी को श्रीकृष्ण का संकल्प कर दिया। तब भगवान भी वहाँ आ गये।

श्रीनारदजी ने सब बात बताकर अपनी वीणा श्रीकृष्ण को थमा दी। आगे-आगे श्रीनारदजी और पीछे-पीछे वीणा लिये श्रीकृष्ण दोनों महल से चल दिये। श्रीसत्यभामाजी ने पहले तो इसे विनोद ही समझा, परन्तु जब देखा कि प्रभु तो पीछे देख भी नहीं रहे हैं, चले ही जा रहे हैं तब श्रीसत्यभामाजी को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने यह क्या कर दिया। भला प्यारे के बिना हम सब कैसे जी सकेंगी? श्रीसत्यभामाजी ने दौड़कर श्रीकृष्ण के पीताम्बर का छोर पकड़ लिया और बोलीं-'नारदजी! हम तो अपने प्राण जीवन को किसी भी हालत में नहीं जाने देंगी। श्रीनारदजी ने समझाया महारानीजू! आप यह क्या कह रही हैं? आप बड़े घर की बहू-बेटी हैं। आप स्वयं सोचिए, कहीं दिया हुआ दान वापिस लिया जाता है। श्रीसत्यभामाजी ने कहा-'नारदजी आप तो सर्वज्ञ हैं, कोई

उपाय ही ऐसा बताइये जिससे हम प्यारे को पुनः प्राप्त कर सके। श्रीनारदजी ने कहा यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो श्रीकृष्ण के बराबर सुवर्ण तोलकर दे दीजिये, फिर मैं इन्हें वापिस कर दूँगा। स्वर्ण का नाम सुनकर सत्यभामाजी आश्वस्त हुईं क्योंकि पिता सत्राजित की स्यमन्तकमणि के प्रभाव से इनके पास सोने की कमी नहीं थी। बड़ा तराजू मँगवाया गया। एक पलड़े में श्रीकृष्ण विराजे दूसरे पर श्रीसत्यभामाजी के समस्त स्वर्ण के आभूषण रखे गये। परन्तु श्रीकृष्ण के बराबर न हो सके। तब सभी रानियों ने अपने-अपने आभूषण लाकर रखे, क्योंकि श्रीकृष्ण तो सबकें ही प्राण प्रियतम थे परन्तु तब भी श्रीकृष्ण का पलड़ा भारी ही रहा।

श्रीसत्यभामा को अत्यन्त व्याकुल जानकर श्रीकृष्ण ने एक दासी को संकेत किया कि तुम महारानी रुक्मिणी के पास जाओ और उनसे सब बात कहो। दासी ने जाकर निवेदन किया। उस समय श्रीरुक्मिणीजी श्रीतुलसी का पूजन कर परिक्रमा कर रही थीं। अतः दासी को एक तुलसी के पत्ते पर श्रीकृष्ण नाम लिखकर दे दिया और कहा कि सब सामान हटाकर इस पत्ते को पलड़े पर रख देना। मैं अभी आती हूँ। आश्चर्य! महान् आश्चर्य! श्रीकृष्ण नामाङ्कित तुलसी दल के रखते ही श्रीकृष्ण का पलड़ा ऊँचा उठ गया। अर्थात् हल्का हो गया और नाम का पलड़ा भारी पड़ गया। तब तक श्रीरुक्मिणीजी भी आ गयीं और मुस्कुराकर बोलीं-नारदजी! आप देख रहे हैं, नाम का पलड़ा तो बहुत भारी है अतः आप भी बैठ जाइये न, मेरे प्राणनाथ के साथ। श्रीनारदजी ने मुस्कुराकर वह श्रीनामाङ्कित तुलसी दल उठाया और मुँह में डाल लिया। फिर बोले, महारानीजी! हमें लेना-देना कुछ नहीं था, हमें तो श्रीनाम-महाराज की महिमा प्रकट करनी थी। सो आप लोगों ने आँखों से देख लिया। तभी तो श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि-'कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई।।' (रामा०) श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं-

व्यास नाम सम नाम है, ता सम और न कोइ।
नामी ते प्रगट्यो जदपि, तद्यपि गरुओ होइ।।

पुनः-पाद्मे- गोकोटि दानं ग्रहणेषु काशी माघ प्रयागे यदि कल्पवासी।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्ण दानं गोविन्द नाम्ना न भवेच्च तुल्यम्।।

अर्थ-ग्रहण काल में काशी में करोड़ों गौओं का दान, माघ महिने में कल्पवास, दस हजार यज्ञ तथा सुमेरु पर्वत के समान स्वर्ण का दान ये सब मिलकर भी श्रीभगवान के एक

नाम के बराबर भी नहीं हो सकते हैं। वेद शास्त्रों में गाय की अनन्त महिमा वर्णन की गयी है। गो, ब्राह्मण, एवं भगवद्-विग्रह को अनमोल कहा गया है। इस पर-

दृष्टान्त-श्रीआपस्तम्ब ऋषि का-एक बार आपस्तम्ब ऋषि श्रीनर्मदाजी के अगाध जल में समाधि लगाकर तप में निरत थे। संयोग से वे मछुओं के जाल में फँस गए। मछुए जब उनको बाहर निकाले तो इन परम तपस्वी को देखकर डर गये। ऋषि ने उन मछुओं को सान्त्वना दिया कि डरने का कोई कारण नहीं है, तुम लोगों की तो यह जीविका ही है। मछली की जगह मैं ही फँस गया तो तुम लोग मुझे बेचकर उचित मूल्य प्राप्त करो। मल्लाहों की समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें? उसी समय राजा नाभागजी यह समाचार पाकर वहाँ आये और मुनि की पूजा एवं प्रणाम कर हाथ जोड़कर बोले-'महाराज! कहिये, मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ? ऋषि ने कहा-आप हमारा उचित मूल्य इन मछुओं को देकर इनके परिश्रम को सफल करें। राजा ने कहा-'मैं इन्हें एक लाख स्वर्ण मुद्रा देता हूँ। ऋषि ने कहा-राजन! यह मेरा उचित मूल्य नहीं है। आप इन्हें उचित मूल्य अर्पण करो। राजा ने कहा-'मैं इन्हें एक करोड़ मुद्रा या अपना सारा राज्य देने को प्रस्तुत हूँ। ऋषि ने कहा-' यह भी हमारा उचित मूल्य नहीं है। तब तो राजा चिन्ता में पड़ गये। भगवदिच्छा से उसी समय महर्षि लोमशजी वहाँ आ गये। जब उनको समस्त वृतान्त मालूम हुआ तो वे बोले-'राजन! आप इनके बदले उन मछुओं को एक गाय प्रदान कर दो। साधु, ब्राह्मण और गाय तथा भगवद्विग्रह का कोई मोल नहीं होता। ये तो अनमोल होते हैं। यह निर्णय सुनकर श्रीआपस्तम्ब ऋषि भी प्रसन्न हो गये। कहने का तात्पर्य यह है कि गाय की अनन्त महिमा है गो-दान जीव के लिए लोक और परलोक दोनों में परम कल्याणकारी है। इस पर-

दृष्टान्त-कृपण वणिक का-स्वभाव से ही परम कृपण एक वणिक ने जीवन भर कभी दान-पुण्य नहीं किया। जब वह मरने लगा तो उसके पुरोहित ने उसके कल्याण-कामना से गो-दान करने का अनुरोध किया। बहुत समझाने-बुझाने पर वह तैयार हुआ और एक अत्यन्त वृद्ध, महादुर्बल, दूध एवं बछड़े से रहित गाय दान की। इसके बाद तत्काल उस वणिक का प्राणान्त हो गया। इधर पुरोहित भी गाय लेकर चले तो गाय का भी मार्ग में ही प्राणान्त हो गया। पण्डितजी को फायदा तो कुछ हुआ नहीं, चार टका गाँठ से देकर गाय की अन्तिम क्रिया की। उस वणिक को यमदूत श्रीधर्मराज के पास ले गये। श्रीधर्मराज ने श्रीचित्रगुप्तजी से उस वणिक के पाप-पुण्यों का निर्णय पूछा। उन्होंने कहा कि इसने जन्म-भर तो पाप ही किया

है, मरते समय एक महा-मरियल गऊ का दान किया है। श्रीधर्मराजजी ने उस वणिक से कहा तुम पहले पाप का फल भोगोगे अथवा पुण्य का। वणिक ने विचारकर कहा-महाराज! पाप तो कई जन्म भोगने होंगे, अतः मैं पहले पुण्य ही भोग करना चाहता हूँ, तब श्रीधर्मराजजी ने उसकी दान की हुई गाय उसके सामने खड़ी कर दी और बोले-दो घड़ी तक गाय तेरी है इससे तू जो कहेगा वह देगी। चतुर वणिक ने गाय से कहा कि तुम मुझे दो घड़ी में ही वैकुण्ठ पहुँचा दो। श्रीधर्मराजजी ने कहा कि यह महापापी सहज ही वैकुण्ठ पहुँच जाना चाहता है अतः वे गाय को रोकने के लिए आगे बढ़ें तब उस वणिक ने गाय से कहा कि धर्मराज को मारकर भगा दो, समीप मत आने दो। गाय ने ऐसा ही किया। धर्मराज भगे-भगे ब्रह्मलोक में गये और श्रीब्रह्माजी से यह बात कहे तो ब्रह्माजी ने भी गाय को रोकना चाहा, परन्तु वणिक के इशारे पर उन्हें भी भगाकर लोक-लोकान्तरों को पार करती हुई वैकुण्ठ द्वार पर पहुँचकर बोली-कि अब दो घड़ी हो गये, मैं जाती हूँ। वणिक ने कहा कि मेरा भी कार्य सिद्ध हो गया, अब तुम खुशी से चली जाओ। वणिक ने भगवान नारायण को प्रणाम कर वैकुण्ठ में प्रवेश किया। भगवत्पार्षदों ने इसे महापापी विचारकर वैकुण्ठ में प्रवेश करने से रोका तब यह गरजकर भगवान नारायण को सुनाते हुये बोला- तुम लोग वैकुण्ठ में रहकर ही वैकुण्ठ के नियम नहीं जानते हो। भला पापी कभी यहाँ तक आ सकता है? गौ-माता के प्रभाव से मेरे पाप नष्ट हो गये हैं तब मैं यहाँ तक आया हूँ। यह सुनकर भगवान ने पार्षदों को संकेत से मना कर दिया और इसने जाकर वैकुण्ठनाथ के चरणों में माथा टेककर प्रणाम किया और सुखपूर्वक बैकुण्ठ में निवास करने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि गाय की अनन्त महिमा है परन्तु इस महा-महिमामयी करोड़ों गायों का दान भी भगवन्नाम की बराबरी नहीं कर सकता है। ध्रुवदासजी ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है-

मेरुसम हेमदान रतन अनेकदान गजदान भूमिदान अन्नदान करहीं।
मोतिन के तुलादान मकर प्रयाग न्हान ग्रहण में काशीदान चित्तमांझ धरहीं।।
शय्यादान कन्यादान कोटि-कोटि गऊदान इति करि पाप कोऊ नेकु नहीं हरहीं।
कृष्ण को हरी को नाम एक बार लेत 'ध्रुव' पापी तीन लोकहूं के छन माँझ तरहीं।।

(ध्रुवदास)

कियौ रूप ब्राह्मण को दूबरो निपट अङ्ग भयो हिये रंग व्रत परिचै को लीजिये।
भई एकादशी अन्न मांगत बहुत भूखो आजु तौ न दैहौं भोर चाहौ जितौ दीजिये।।
कर्‌यो हठभारी मिलि दोऊ ताको शोर पर्‌यो समझावैं नामदेव याको कहा खीझिये।
बीते जाम चारि मरि रहे यों पसारि पांव भाव पै न जानै दई हत्या नहीं छीजिये।।१४२

भावार्थ-एक बार भगवान के मन में यह उमङ्ग उठी कि श्रीनामदेवजी की एकादशी व्रत-निष्ठा का परिचय लिया जाय। यह विचारकर उन्होंने एक अत्यन्त दुर्बल ब्राह्मण का रूप धारण किया। एकादशी-व्रत के दिन श्रीनामदेवजी के पास पहुँचकर बड़ी दीनता करके अन्न माँगने लगे कि मैं बहुत भूखा हूँ, कई दिन से भोजन प्राप्त नहीं हुआ है, कुछ अन्न दो। श्रीनामदेवजी ने कहा-आज तो एकादशी है, अतः अन्न न दूँगा। प्रातःकाल जितनी इच्छा हो, उतना अन्न लीजियेगा। दोनों अपनी-अपनी बात पर बड़ा-भारी हठ कर बैठे। इस बात का शोर चारों ओर फैल गया। लोग इकट्ठे हो गये श्रीनामदेवजी को समझाने लगे कि इस भूखे ब्राह्मण पर क्रोध क्या करें, तुम्हीं मान जाओ, इसे कुछ अन्न दे दो। श्रीनामदेवजी नहीं माने, दिन के चौथे प्रहर के बीतने पर उस भूखे ब्राह्मणदेव ने इस प्रकार पैर फैला दिये कि मानो मर गये। गाँव के लोग श्रीनामदेवजी के भाव को नहीं जानते थे अतः उन लोगों ने नामदेवजी के सिर ब्राह्मण हत्या लगा दी और उनका समाज से बहिष्कार कर दिया, पर नामदेवजी बिल्कुल चिन्तित नहीं हुए।।१४२।।

व्याख्या-अन्न माँगत०-वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी भगवान गाँव के लोगों से पूछते-फिरते कि अरे भाई! यहाँ कोई नामा भगत है? सुनता हूँ वह भूखे-दूखे साधु-ब्राह्मण की खूब सेवा करते हैं। लोगों ने श्रीनामदेवजी का घर दिखा दिया। ये पहुँचकर रट लगाने लगे कि मैं बहुत भूखा हूँ मुझे कुछ अन्न की भिक्षा मिलनी चाहिए। श्रीनामदेवजी ने कहा कि आज तो हम लोग व्रत हैं आइये, आप भी फलाहार कर लीजिये। ब्राह्मण देवता ने कहा-'आज व्रत है तो तुम फलाहार करो, चाहे निराहार करो, हमें तो तुम अन्न की भिक्षा दो। श्रीनामदेवजी ने हाथ जोड़कर कहा-महाराज! दूध पी लीजिये। ब्राह्मण-वादी करता है, गरिष्ठ होता है। नामदेव-तो दही पी लीजिये। ब्राह्मण-अरे! यह तो खाँसी, जुकाम करता है। नामदेव-तो आज अन्न तो मिलेगा नहीं। एकादशी के दिन अन्न देना और लेना दोनों पाप है। यह सुनकर ब्राह्मण देवता बिगड़े कि-मैं तुम्हारे यहाँ उपदेश सुनने थोड़े ही आया हूँ। मुझे तो जैसे हो तैसे दो मुट्ठी अन्न दो। नामदेव-तो आज मैं अन्न नहीं दे सकता हूँ ब्राह्मण-तो मैं भी आज तुम्हारे यहाँ से अन्न की भिक्षा लेकर ही जाऊँगा। इस प्रकार दोनों ही अपनी-अपनी बात पर डट गये। धीरे-धीरे गाँव एकत्रित हो गया। लोग ब्राह्मण देवता को समझाने लगे कि जब ये नहीं दे रहे हैं तो चलिये हमारे यहाँ से मनचाहे जितने अन्न की भिक्षा ले लीजिये। छोड़िये इनको, देख ली गई इनकी साधु-ब्राह्मण निष्ठा, अतिथि-अभ्यागत सेवा केवल ढोंग भर है। ब्राह्मण-भैया! अगर मैं सही ब्राह्मण हूँ तो लूँगा तो

इन्हीं से, नहीं तो इनके द्वार पर प्राण दे दूँगा। यह सुनकर लोग नामदेवजी को समझाने लगे कि भैया! क्यों सिर पर ब्रह्महत्या ले रहे हो। ब्राह्मण भूखा है, हठ पड़ गया है, दे न दो, दो मुट्ठी अन्न, इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ा जा रहा है। श्रीनामदेवजी ने कहा-'यदि मैं भी पक्का भक्त हूँ तो चाहे मर भले ही जायें, परन्तु आज हरिवासर के दिन मैं इन्हें अन्न नहीं ही दूँगा। लोग हारकर अपने-अपने घर चले गये। ब्राह्मणदेव मृतकवत् पड़ गये।।

रचिकै चिताकों विप्र गोद लैकै बैठे जाइ दियो मुसुकाइ मैं परीक्षा लीनी तेरी है।
देखि सो सचाई सुखदाई मन भाई मेरे भये अन्तर्धान परे पाँय प्रीति हेरी है।।
जागरन मांझ हरि भक्तन को प्यास लगी गये लैन जल प्रेत आनि कीनी फेरी है।
फेंट ते निकासि ताल गायो पद ततकाल बड़ेई कृपाल रूप धर्‌यो छबि ढेरी है।।१४३

शब्दार्थ-हेरी=देखी। जागरण=व्रत के उपलक्ष्य में रातभर जागकर कीर्तनादि करना। प्रेत=नारकीय प्राणी, तामसी देवयोनि, जो कामरूपधारी होकर भी कष्ट भोगते हैं। आनि= आकर। फेरी= भ्रमण, परिक्रमा। ताल=झाँझ, मजीरा।

भावार्थ-(अपने नियम के अनुसार जागरण और कीर्तन करते हुये श्रीनामदेवजी ने रात बिताई,) प्रात:काल चिता बनाकर उस ब्राह्मण के मृतक-शरीर को गोद में लेकर उस पर बैठ गये कि-हत्यारे शरीर को न रखकर प्रायश्चित्त स्वरूप उसे भस्म कर देना ही उत्तम है। [श्रीनामदेवजी ने चिता में अग्नि लगा दी] उसी समय भगवान प्रकट हो गये और मुस्कुराकर कहने लगे कि-'मैंने तो तुम्हारी परीक्षा ली थी, तुम्हारी एकादशी व्रत की सच्ची निष्ठा मैंने देख ली, वह मेरे मन को बहुत प्यारी लगी, मुझे बड़ा सुख हुआ। इस प्रकार दर्शन देकर भगवान अन्तर्ध्यान हो गये। लोगों ने जब यह लीला देखी तो श्रीनामदेवजी के चरणों में आकर गिरे और प्रीतिमय चरित्र देखकर सभी भक्त हो गये।

एक बार एकादशी की रात्रि को जागरण-कीर्तन हो रहा था। भगवद्भक्तों को बड़ी प्यास लगी। (सूखे कण्ठ से कीर्तन करते नहीं बनता था) तब श्रीनामदेवजी जल लाने के लिये नदी पर गये। (प्रेतभय से दूसरों को जाने का साहस न था) श्रीनामदेवजी को आया देखकर महाविकराल-रूपधारी प्रेतराज अपने साथियों समेत आकर चारों ओर फेरी लगाने लगा। उसका स्वरूप और माया देखकर श्रीनामदेवजी थोड़ा भी भयभीत न हुये। उसे अपना इष्ट का ही स्वरूप माना, और उन्होंने फेंट से झाँझ निकालकर तत्काल एक पद गाया और प्रणाम किया। भगवान तो बड़े ही दयालु हैं, प्रेतरूप न जाने कहाँ गया।

शोभाधाम-श्यामसुन्दर प्रकट हो गये जिनका दर्शन करके श्रीनामदेवजी परम प्रसन्न हुये और जल लाकर भक्तों को पिलाया।।१४३।।

व्याख्या-दियो मुसुकाय-भगवान ने हँसकर कहा-नामदेव! मैं हारा, तुम जीते। भगवान सदा भक्तों से हारते आये हैं। किसी कवि ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है- 'बलि, बाली काली निकट, हारे श्याम सुजान। का अचरज नित हारहीं भक्तन सों भगवान।।' श्रीभरतलालजी कहते हैं कि-'मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही।।'(रामा०)

गायो पद०-

ये आये मेरे लम्बक नाथ।
धरती पांव स्वर्ग लौं माथो योजन भरि भरि हाथ।।
सिव सनकादिक पार न पावैं तैसेइ सखा विराजत साथ।
नामदेव प्रभु अन्तर्यामी कीन्यो मोहिं सनाथ।।

भूत में भी श्रीभगवान को देखना 'यो मां पश्यति सर्वत्र' 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी०) का ज्वलन्त उदाहरण है। इनकी भावना पर रीझकर भक्तवत्सल भगवान तुरन्त प्रकट होकर दर्शन दिये और पूछे-नामदेव! भूतों में भी तुम मुझको देखते हो? श्रीनामदेवजी ने कहा-प्रभो! यदि आप नहीं होते तो दर्शन क्यों देते? ऐसे ही एक बार कहीं यात्रा में जा रहे थे। एक जगह एक ही रास्ते में से कई रास्ते निकलकर कई ओर गये थे। इनकी समझ में नहीं आ रहा था कि किस रास्ते से जाऊँ? तब वहीं पड़े एक पत्थर के रोड़े से हाथ जोड़कर पूछे कि-प्रभो! मैं किस रास्ते से जाऊँ? भगवान ने प्रकट होकर मार्ग बताया और पूर्ववत् ही प्रश्न किया तथा इन्होंने वही उत्तर भी दिया।

श्रीनामदेवजी बड़े हँसमुख तथा परम निर्भय सन्त थे। इनकी निर्भयता प्रसिद्ध थी। अभी पूर्व प्रसङ्ग में आपने देखा कि भूत के भय से प्यास लगने पर भी लोग स्वयं जल लेने नहीं गये। तब श्रीनामदेवजी गये। एक बार भगवान ने एकादशी की ही तरह इनकी निर्भयता की भी परीक्षा ली थी। एक बार श्रीनामदेवजी मन्दिर के पिछवारे बैठकर भजन कर रहे थे। उसी समय कुछ नीच-जाति के बालकों ने इनके समीप ही बड़ा शोरगुल मचाया। इनके मना करने पर भी नहीं माने तो ये सोचे कि बालकों के मुंह कौन लगे, ये वहाँ से उठकर नदी के किनारे चले गये। अब वहीं एकान्त में ये नित्य-भजन करने लगे। ठीक भी

है-'नदी किनारो गिरि शिखर बाग इकौसो देस। भगवत जन विलमें तहाँ बाढ़ै भजन विशेष।।' परन्तु वहाँ भी इन्होंने देखा कि एक दिन एक व्याध परिवार कुत्ता, भैंस, बकरी आदि को संग लेकर आया और वहीं डेरा डाल दिया। अब वह नित्यप्रति वहीं जाल बिछाता, पक्षियों को पकड़ता, कुत्तों द्वारा शिकार करता। यह सब देखकर ये पुनः बड़े असमञ्जस में पड़ गये। व्याध के आचरण को देखकर इनको बड़ी घृणा होती। इन्होंने उसको समझाने का प्रयत्न किया कि तुम लोग मनुष्य शरीर पाकर इतना नीचकर्म क्यों करते हो? तुम्हें नरक का भय नहीं है? परन्तु वह व्याध तो इनके समझाने पर समझना तो दूर रहा, उल्टे, बड़ा नाराज हुआ और इन्हें मारने को लपका। व्याधिनी ने ललकारा कि मारो इसको, मुझे मनुष्य का माँस खाने की इच्छा है। इसके शरीर का माँस खाऊँगी। हमारी जीविका में यह खलल डालता है। ये डर गये और चिल्ला पड़े-हे भगवान! रक्षा करो। इनको भय से कम्पित देखकर व्याध-व्याधिनी शांत हो गये। ये भगवान का नाम लेते हुए प्राण बचाकर वहाँ से भागे। सोचे कि आज प्रभुकृपा से ही प्राण बच पाया है, नहीं तो ये दुष्ट मार ही डालते, अतः चलूं दयामय भगवान का दर्शन करके तब घर चलूं। जब मन्दिर में दर्शन करने गये तो देखे-श्रीपण्ढरीनाथजी मुस्कुरा रहे थे। इन्होंने पूछा-जै जै प्रभो! आज क्या बात है जो आप हँस रहे हैं? श्रीठाकुरजी ने कहा-नामदेवजी! मैंने तुमको डरा दिया न? श्रीनामदेवजी बोले-तो प्रभो! क्या व्याध-व्याधिनी के रूप में आप ही थे? भगवान हँस दिये। श्रीनामदेवजी ने कहा-प्रभो! मैं कहाँ तक धैर्य धारण करूँ, आप बाना ही ऐसा बना लेते हैं, लीला ही ऐसी करते हैं कि डरना ही पड़ता है। दूसरी बात यह कि डरा भी तो आपसे ही न? आपसे तो डरता ही हूँ, तभी तो संसार से निर्भय हूँ। यथा-'तुलसिदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।।' (वि०) श्रीनामदेवजी ने पूछा-प्रभो! आपने ऐसी लीला क्यों की? भगवाने ने कहा कि मैंने इसलिए ऐसा किया कि तुम भले-बुरे ऊँच-नीच सबमें मुझी को देखो।

एक बार श्रीनामदेवजी बैठे भजन कर रहे थे। एक मुगल ने इन्हें बेगार में पकड़कर इनके सिर पर मोट रख दी और स्वयं घोड़े पर चढ़कर चला। कुछ दूर जाने पर इन्हें श्रीकबीरदासजी मिले और पूछे यह क्या? तब श्रीनामदेवजी ने यह पद गाया-

राम तजि और जानूँ हौं न। भगति करत बेठि पकरै कौन।
खूब प्रभु की तस्बीह खूब है सुगल। अयोध्या नगर में यही है मुगल।।

कालो घोरा जरद पलान। ताज कुलह सोहै रहमान।।
कहत नामदेव सुनो कबीर। चरन गहो एही रघुवीर।।

श्रीकबीरदास ने देखा तो सचमुच श्रीरामजी ही थे।

श्रीनामदेवजी ने श्रीज्ञानदेवजी से वैष्णवीय दीक्षा ली थी। परन्तु चूंकि श्रीनामदेवजी बचपन से ही सिद्ध थे अतः श्रीज्ञानदेवजी उनको उपदेश देने में सकुचाते थे। परन्तु गुरु का परम-कर्तव्य है शिष्य को हितोपदेश देना, अतः श्रीज्ञानदेवजी ने एक युक्ति विचारी। एक बार सन्त-मण्डली के साथ श्रीज्ञानदेवजी दर्शन और कथा-कीर्तन-सत्सङ्ग के निमित्त गोरा कुम्हार नामक परम-भागवत के यहाँ गये। संग में श्रीनामदेवजी भी थे। कहावत है-'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।' (रामा०) सन्तों का सम्मिलन बड़ा ही सुखावह रहा। खूब सत्संग का रङ्ग जमा। एक दिन गोरा के घर में पड़ी हुई थापी को देखकर श्रीज्ञानदेवजी की बहिन मुक्ताबाई ने पूछा-गोराई चाचा! यह थापी किस काम आती है? गोरा ने कहा-मैं इससे कच्चे-पक्के बरतनों की परख करता हूँ। मुक्ता ने मुक्तहास्य-पूर्वक कहा-चाचा! (सन्तों की ओर संकेत करते हुए) देखो, इन घड़ों में कितने कच्चे हैं और कितने पक्के हैं? गोरा ने थापी उठाई और सबके सिर पर ठोंकना शुरु किया। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह कौन-सा स्वागत है? सत्सङ्ग है? परन्तु कहा किसी ने कुछ भी नहीं। जब श्रीनामदेवजी का नम्बर आया तो वे बिगड़ पड़े और बोले-गोराई! तुम सन्तों का अपराध क्यों करते हो? गोरा ने हँसकर कहा-मुक्ता! यह घड़ा कच्चा निकला। यद्यपि इनको श्रीविट्ठल भगवान का साक्षात्कार हो गया है, परन्तु ज्ञान में ये परिपक्व नहीं हैं। अपनी कच्चाई सुनकर श्रीनामदेवजी मन में बड़े दुःखी हुए और सब सन्तों के बीच में गोरा द्वारा किये गये अपमान की उन्होंने शिकायत की श्रीपण्ढरीनाथजी से।

श्रीभगवान ने कहा-नामा! गोराई ने सत्य ही कहा। तुम किसी सिद्ध गुरु से परिपक्व ज्ञान प्राप्त करके सच्चे-सन्त बन जाओ। देखो, वन के शिवालय में विसोबा नाम के परमसन्त पड़े हुए हैं। तुम उन्हीं के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर श्रीनामदेवजी शिवालय में आये तो देखे कि विसोबा शिवलिंग पर ही पाँव धरे सो रहे हैं। यह देखकर श्रीनामदेवजी विचार करने लगे कि यह तो कोई नास्तिक मालूम पड़ता है। यह भक्त तो किसी प्रकार हो नहीं सकता। श्रीनामदेवजी से रहा नहीं गया। बोले-तुम शिवजी के ऊपर पाँव धरकर कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हो। आखिर तुम हो कौन?

श्रीविसोबाजी ने मुस्कुराकर कहा-भैया! मुझे पाप से बचालो, मैं बूढ़ा जर्जर हो गया हूँ, तुम्हीं मेरे पैर उठाकर उस जगह रख दो जहाँ श्रीशिवजी की पिण्डी नहीं हो। श्रीनामदेवजी ने उनके पैर पकड़कर अन्यत्र रख दिया। परन्तु वहाँ भी शिवलिंग प्रकट हो गया। वह जहाँ-जहाँ उनके पैर उठाकर रखते, वहीं-वहीं शिवलिंग प्रकट हो जाता। यह देखकर श्रीनामदेवजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। ये जान गये कि श्रीप्रभु ने जिनका संकेत किया है, वे श्रीविसोबाजी यही हैं। अतः ये उनके चरणों में प्रणाम कर दीक्षा के लिए प्रार्थना किये। श्रीविसोबाजी ने कहा-नामा! अब तो तुम्हारी दीक्षा हो चुकी। श्रीशिवजी ने यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट होकर दीक्षा-तत्त्व ही तो समझाया कि-'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।' (रामा०) यह कहकर श्रीविसोबाजी ने नामदेव के सिर पर अपना वरदहस्त रख दिया। श्रीगुरुकृपा से ब्रह्मतत्व का वास्तविक बोध पाकर श्रीनामदेवजी उनके चरणों में प्रणामकर पुनः पण्ढरपुर को चले आये। सन्त सभा के बीच श्रीपण्ढरीनाथजी ने मुस्कुराकर कहा-अब मेरा नामा भी पक्का पात्र हो गया। जिसका जी चाहे, वह परखकर देख ले।

श्रीनामदेवजी ने एकादशी का निर्जलव्रत करके रात्रि में श्रीपण्ढरीनाथजी के सामने जागरण किया। पूरा दिन एवं रात कथा, कीर्तन, सत्संग, भजन, ध्यान में बीती। प्रातःकाल द्वादशी में पारण करने के लिए श्रीनामदेवजी ने रोटियाँ बनाईं। रसोई बनकर तैयार थी, जल लेने गये थे। इतने में ही मौका पाकर एक कुत्ता आया और सब रोटियाँ मुँह में दबाकर भागा। इनको तो सबमें भगवद्दर्शन होता था। कुत्ते को भी उन्होंने भगवान के रूप में ही देखा, अतः तुरन्त ही घी की कटोरी लेकर पीछे-पीछे यह कहते हुए दौड़े कि-प्रभो! रोटियाँ रूखी हैं, मुझे घी चुपड़ लेने दो तब पावो, वैसे मत भोग लगावो। आदि। इनकी दृढ़-निष्ठा के फलस्वरूप श्वानरूप तिरोहित हो गया और उसकी जगह पर भगवान श्रीपण्ढरीनाथजी प्रकट हो गये। श्रीनामदेवजी प्रभु के श्रीचरण-कमलों में लोट-पोट हो गये। कुत्ते के पीछे भागते हुए श्रीनामदेवजी ने यह पद गाया था-

आये मेरे अँधेरे घर के मदनराय। चाकी चाटैं चून न खायँ।।
तुरुग रुरुग मेरे प्रभुजी की चाल। पूँछ हिलै ज्यों जौ की बाल।।
चूल्हे माँहि जु प्रभु जु की सेज। छींके कीनौ अधिकै तेज।।
कातिक में मेरे प्रभुजी को भोग। लै लै लकुट खिजावैं लोग।।
तीन ताप प्रभु मेटन जोग। नामदेव स्वामी बन्यो संयोग।।

दूसरा कोई होता तो कुत्ते के रोटी लेकर भागने पर लाठी-डण्डा, ईंट-पत्थर लेकर दौड़ता। एक महात्मा की तो कथा आती है कि एक बार सुनसान देखकर उनकी रोटी कुत्ता ले भागा तो उन्हें और कुछ न मिला तो वे अपने शालिग्राम को उठाकर ही कुत्ते को मारे। संयोग से निशाना कुत्ते के मुंह में लगा, रोटियाँ गिर गईं। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए कि आखिर मैंने रोटी छुड़ा ही लीं। फिर शालिग्राम भगवान को भी बहुत धन्यवाद दिये कि पूजा तो मैं बहुत दिन से कर रहा था। परन्तु ठाकुरजी आज मौके पर काम आये।

श्रीनामदेवजी के सत्सङ्ग में एक ब्राह्मणी आया करती थी। उसका पति भगवद्विमुख था, अतः ब्राह्मणी को कुलटा, कुचालिनी आदि कहकर उसे डराता-धमकाता और सत्सङ्ग में जाने से रोकता था। परन्तु ब्राह्मणी को सत्संग प्राणों से भी अधिक प्रिय था, अतः उसके लाख बरजने पर भी जाती रही। संयोग की बात, उसी बीच उसके पुत्र की मृत्यु हो गई। अब तो ब्राह्मण के क्रोध का पारावार नहीं रहा। उसने सन्तों एवं सत्सङ्ग की बहुत निन्दा की एवं ब्राह्मणी से कहा कि अब तुम इस मृतक-पुत्र को लेकर घर से निकल जाओ। दुःखी ब्राह्मणी पुत्र के शव को छाती से चिपटाये घर से निकली और जाकर श्रीनामदेवजी को अपना दुःख सुनाया। श्रीनामदेवजी ने बालक के ऊपर भगवच्चरणामृत छिड़का, वह तुरन्त जीवित हो गया। जब ब्राह्मण को इस बात का पता चला तो वह दौड़ा-दौड़ा आया और श्रीनामदेवजी के चरणों में पड़कर बारम्बार क्षमा-याचना की और स्वयं भी भक्त-भक्ति-भगवन्त गुरु में श्रद्धा रखते हुए परम-भागवत हो गया।

एक गरीब ब्राह्मण, जो श्रीनामदेवजी के सत्सङ्ग में आया करता था, अपने बेटे के ब्याह में खर्च करने के लिए रुपये की थैली श्रीनामदेवजी के हाथ में सौंपते हुए बोला-मेरे पास बस इतने ही रुपये हैं, खर्च अधिक है, लज्जा आपके हाथ में है। श्रीनामदेवजी ने ब्राह्मण को आश्वासन देते हुए कहा-चिन्ता की कोई बात नहीं है, श्रीपण्ढरीनाथजी सब पूर्ण करेंगे। ऐसा ही हुआ। एक की जगह चार खर्च करने पर भी थैली खाली नहीं हुई। रुपयों से भरी ही रही। श्रीनामदेवजी के प्रभाव से सब लोग परिचित थे। एक महानुभाव ने कहा कि आपने वर के पिता की ओर से तो बहुत खर्च किया। परन्तु अपनी ओर से तो कुछ दान-दक्षिणा दी नहीं। यह सुनकर श्रीनामदेवजी ने भगवान का स्मरण किया तो उस समय रुपये और मुहरों की वर्षा हुई थी। वर्णन आया है कि वही बारात जब लौट रही थी तो एक जगह सब लोग विश्राम कर रहे थे। उसी समय कुछ यवन वहाँ आ गये और एक गिरगिट को देखकर उसे मारने लगे। श्रीनामदेवजी ने उन्हें मना किया, परन्तु वे नहीं माने।

भगवदिच्छा से उस समय अनेकों विशाल गिरगिट प्रकट होकर उन यवनों को काटने लगे। तब वे 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए श्रीनामदेवजी के चरणों में पड़े तब प्राण रक्षा हो सकी।

एक बार एक जगह विशाल ब्रह्मभोज था। उसमें साधु और ब्राह्मण दोनों ही निमन्त्रित थे। साधुओं में श्रीनामदेवजी आदि तत्कालीन सभी सन्त आये थे। ब्राह्मणों ने एतराज किया कि हम लोग उन मुण्डी-वैरागियों के साथ पंक्ति नहीं करेंगे तथा हम लोग इनसे पहले पावेंगे। सन्तों ने सहर्ष ब्राह्मणों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। परन्तु ब्राह्मणों की ईर्ष्या यहीं समाप्त नहीं हुई। उनके मन में कुविचार आया कि हम लोग पहली पंक्ति में बैठकर सब सामान बरबाद कर दें जिससे कि वैरागियों के लिए कुछ रह ही न जाय। ऐसा विचारकर ब्राह्मण कुछ खाने और कुछ गिराने लगे। सामान को नष्ट करने लगे। भगवान से भक्तों का यह अपमान सहा नहीं गया। ब्राह्मणों के ऊपर पत्थरों की वर्षा होने लगी। सब लोग चिल्लपों मचाते हुए जहाँ के तहाँ भागे। परन्तु जहाँ ही जाते वहीं पत्थरों की बौछार पड़ती। तब सबकी आँखें खुलीं, सबने श्रीनामदेवजी के चरण पकड़े। सन्त-कृपा से पत्थरों की वर्षा बन्द हो गई। पुनः पंगति बैठी। बचे हुए स्वल्प-प्रसाद में ही सबने पूर्ण होकर पाया। दूसरे दिन ब्राह्मणों ने अपनी ओर से विशाल-भंडारा किया। जिसमें वैष्णवों का प्रथम सत्कार किया। सभी लोग भगवत्-भागवतों में परमश्रद्धा करने लगे।

एक बार एक गाड़ीवान के बैलगाड़ी में जुते हुए दोनों बैल भार अधिक होने के कारण लड़खड़ाकर गिर पड़े और मृत्यु को प्राप्त हो गये। इससे गाड़ीवान को बड़ा दुःख हुआ। वह छाती पीट-पीटकर रो रहा था। संयोग से उस मार्ग से श्रीनामदेवजी जा रहे थे। गाड़ीवान का दुःख देखकर इनको दया आ गई और कृपा करके उसके दोनों बैलों को जीवित कर दिये।

एक बार श्रीनामदेवजी की माता ने किसी औषधि में प्रयोग करने के लिए पलास की छाल मँगवायी। श्रीनामदेवजी ले तो आये माँ के कहने से, परन्तु उन्हें ध्यान आया कि इन वृक्षों में भी प्राण हैं, अतः इनकी छाल उतारने से इनको निश्चय ही महान् कष्ट होता होगा। फिर तो वृक्ष का कष्ट अनुभव करने के लिए नामदेवजी ने एक दिन अपने पैर की त्वचा को कुल्हाड़ी से छील डाला। तब श्रीनामदेवजी की माता ने उनकी धोती को रक्त में सनी हुई देखा तो वे घबड़ा गईं और पूछने लगीं। नामदेवजी ने सब बात बताई। माँ का हृदय उमड़ पड़ा। वह ललककर अपने नामा को हृदय से लगाकर बोलीं-बेटा! तूँ

महान् साधु है। माँ का आशीर्वाद सत्य हुआ। सचमुच श्रीनामदेवजी महान् साधु ही हुए। (सत्कथाङ्क)

श्रीनामदेवजी की पत्नी और परिसा भागवत की पत्नी-दोनों सहेली थीं। भगवद्-भजन में निरन्तर तल्लीन रहने के कारण श्रीनामदेवजी के घर में खाने-पीने का प्रायः अभाव-सा बना रहता था। एक दिन इनकी पत्नी ने अपनी सहेली से अपनी दीन-दशा कही। सहेली के पास माता रुक्मिणीजी की दी हुई पारसमणि थी। उसने दयाकर राजाई को वह पारसमणि दे दी और बोलीं-इससे जितना चाहो, उतना लोहे का स्पर्श कराके सोना बना लो, खूब मालोमाल हो जाओ, फिर तुरन्त हमारी मणि दे जाना। देखो, किसी को यह भेद नहीं बताना। राजाई ने ऐसा ही किया। फिर तो वह बाजार से खूब खाने-पीने की सामग्री ले आई। विविध-व्यंजन बने। जब श्रीनामदेवजी पाने बैठे तो चकित हो गये अनेकों सामग्रियों को देखकर। पूछने पर पत्नी ने सब हाल कह दिया। श्रीनामदेवजी ने पत्नी से पारसमणि लिया और ले जाकर चन्द्रभागा नदी में डाल दिया। जब बहुत देर होने पर भी राजाई पारसमणि लौटाने नहीं आईं तो परिसा भागवत की पत्नी स्वयं दौड़कर इनके घर आकर माँगने लगीं। राजाई ने श्रीनामदेवजी से पूछा तो उन्होंने कहा कि उसे तो मैंने चन्द्रभागा में डाल दिया। परन्तु भला इस बात पर कौन विश्वास करता। परिसा भागवत ने तो यही शोर मचाया कि श्रीनामदेवजी ने मेरी मणि चुरा ली है। जब चारों ओर इस घटना की चर्चा होने लगी तो श्रीनामदेवजी ने सबको विश्वास दिलाने के लिए सबके सामने ही चन्द्रभागा नदी में से एक अञ्जुली कङ्कर-पत्थर निकाला और कहा कि ये सब पारस हैं जितना चाहो, ले लो। लोगों को आश्चर्य हुआ, परन्तु जब लोहा का स्पर्श कराकर देखा तो सचमुच सब कङ्कर-पत्थर पारसमणि ही हो रहे थे। सभी ने भक्त के चरणों में सादर प्रणाम किया। (सत्कथाङ्क)

एक बार श्रीनामदेवजी के घर की दीनदशा को देखकर द्रवित होकर भगवान श्रीपंढरीनाथजी ने केशव सेठ का रूप धरकर और अपने को श्रीनामदेवजी का मित्र बताकर मुहरों की थैलियाँ घर पर दे गये। जब श्रीनामदेवजी को यह पता लगा तो वे भगवत्कृपा विचार कर गद्‌गद हो गये और सारे धन के द्वारा विशाल-भोज का आयोजन कर साधु-ब्राह्मणों को खिला दिया। (सत्कथाङ्क)

श्रीनामदेवजी के पुत्र का नाम था गोपाल और पुत्री का नाम था गोपाली। श्रीनामदेव सबको साथ लेकर कीर्तन करते। गोपाली श्रीठाकुरजी के सामने बहुत बढ़िया नृत्य करती

हुई कीर्तन में पद गाती। बड़ी होने पर श्रीनामदेवजी ने गाँव में ही उसका ब्याह कर दिया। ब्याह के बाद भी वह पूर्ववत् नृत्यपूर्वक भगवन्नाम-संकीर्तन करती। ससुराल वालों को यह अच्छा नहीं लगता। अतः वह गोपाली को विदा कराकर अपने घर ले गये और इतना ही नहीं, उस गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव में जाकर बस गये। श्रीनामदेवजी उत्सवादि के अवसर पर दो-एक बार गोपाली को लिवाने भी गये तो उन लोगों ने विदा नहीं किया। श्रीनामदेवजी ने सोचा-ठीक ही है, कन्या को तो पति के घर ही रहना चाहिए। परन्तु भगवान श्रीपंढ़रीनाथजी को गोपाली के नृत्य और कीर्तन की याद आती। उधर गोपाली का भी जी ललचाता, भगवान का दर्शन करने तथा कीर्तन करने के लिए। फिर तो एक दिन श्रीठाकुरजी ने श्रीनामदेवजी के पुत्र का रूप धारणकर और श्रीगरुड़जी को घोड़ा बनाकर उन पर आरूढ़ होकर चले गोपाली को विदा कराने। परन्तु वहाँ पहुँचने पर इनकी किसी ने कोई आवभगत नहीं की। कोई ने जल तक नहीं पूछा, तब ये किसी दूसरे के घर ठहरे। श्रीगरुड़जी को भूख लगी थी बड़े-जोर की। परन्तु घास-चारे का कोई इन्तजाम दीख नहीं रहा था, अतः बोले-जै-जै प्रभो! यह तो संसार है। यहाँ तो लोग चमत्कार को नमस्कार करते हैं। आप भी कुछ कौतुक कीजिये, तब काम चलेगा।

लीलामयप्रभु ने तत्काल एक बड़ी मंजूषा प्रकट की और उसमें से निकालकर बहुत-बहुत दिव्य-वस्त्राभूषण बहिन गोपाली तथा उसके परिवार वालों के लिए भेजा। फिर क्या था? स्वागत-सत्कार की बाढ़ आ गई। घर वाले तुरन्त लिवा ले गये अपने यहाँ। सबसे मिलना-जुलना हुआ। श्रीगरुड़जी तो दाने से ही पूर्ण हो गये। घास खाने की नौबत ही नहीं आई। आने का कारण पूछने पर भगवान ने बताया कि कल श्रीपंढरीनाथजी का महोत्सव है, अतः बहिन को लिवाने आया हूँ। गोपाली के ससुर ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक सबेरे ब्रह्ममुहूर्त में ही विदा कर दिया। विदा किया इस लालच से कि जब यहाँ पर इतना उपहार आया है तो वहाँ जाने पर हमारी पुत्र-वधू को कितना मिलेगा कौन वर्णन कर सकता है। उन सभी ने सोचा कि मालूम पड़ता है कि श्रीनामदेवजी को कहीं खजाना मिल गया है। श्रीठाकुरजी पालकी में बिठाकर गोपाली को घर लाये। जब गोपाली पालकी से उतरकर घर में गईं तो स्वयं भी मन्दिर में जा विराजे। उस समय श्रीनामदेवजी का पुत्र गोपाल बाजार गया था। आया तो बहिन को देखकर बड़ा चकित हुआ। पूछा-बहिन! तू कब आई, कैसे आई? गोपाली ने कहा-गोपाल तू कैसी बात करता है? तुम्हीं तो लिवा लाये हो। तब तक

श्रीनामदेवजी भी भगवान श्रीपण्ढरीनाथजी का दर्शन करके घर आये। गोपाली के मुख से सब विवरण सुनकर श्रीनामदेवजी समझ गये कि यह सब श्रीठाकुरजी की लीला है।

श्रीनामदेवजी की भक्ति का कौन वर्णन कर सकता है जबकि उनकी दासी जनाबाई की ही भक्ति अकथनीय है। श्रीनामदेवजी के सत्सङ्ग में जनाबाई के ऊपर ऐसा प्रेमरंग चढ़ा कि वह निरन्तर नाम जपती हुई विभोर ही रहा करती थीं और स्वयं भगवान श्रीपंढरीनाथजी उस महा-भागवती के साथ बैठकर चक्की चलाते थे, साथ-साथ कपड़े धोते थे। श्रीजनाबाई की भक्ति की प्रशंसा सुनकर परम-भागवत श्रीकबीरदासजी काशी से पैदल चलकर पण्ढरपुर गये। श्रीजनाबाई का पता लगाये तो पता चला कि वह कण्डे (उपले) लेने गई हैं। जब पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँचे तो श्रीकबीरदासजी ने देखा कि जनाबाई एक दूसरी औरत से झगड़ रही है। झगड़ा किसी और बात का नहीं, कण्डों का ही झगड़ा था। जना उस स्त्री से कहती थीं कि तुमने मेरे कण्डे चुराये हैं। वह कहती थी कि नहीं, ये तो मेरे ही कण्डे हैं। श्रीकबीरदासजी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह कैसी भक्त है, जो तुच्छ कण्डों के लिए इतना बखेड़ा किये हैं। पुनः-क्या पहचान है कि उसने इनके कंडे चुराये हैं, टोकरी में रखे हुए सभी कंडे एक से लगते थे। अन्त में श्रीकबीरदासजी ने पूछ ही लिया कि बाईजी! आपके कंडों की कुछ पहचान भी है? श्रीजनाबाईजी ने कहा-पहचान क्यों नहीं है। मेरे कंडों से 'विट्ठल' नाम की ध्वनि निकल रही होगी। यह सुनकर श्रीकबीरदासजी दंग रह गये और सचमुच जब एक कंडा कान से लगाकर सुने तो उससे आवाज निकल रही थी-'जै विट्ठल जै विट्ठल विट्ठल।' और जो स्त्री के कंडे थे, उनसे कोई ध्वनि नहीं हो रही थी, वह तो कंडे ही थे। श्रीकबीरदासजी नतमस्तक हो गये जनाबाई के सामने। धन्य हैं जनाबाई जिनके स्पर्श से जड़ भी चैतन्य की भाँति भगवन्नाम की रट लगा रहे हैं। इस प्रकार से जनाबाई के बहुत से चरित्र कहे-सुने जाते हैं। यह सब श्रीनामदेवजी की भक्ति का प्रभाव है।

ऐसे ही श्रीनामदेवजी के सत्सङ्ग से जाति के चमार चोखामेलाजी को भगवन्नाम में बड़ी निष्ठा हो गई थी। वे निरन्तर नाम रटा करते थे। उनके रोम-रोम में नाम रम गया था। वर्णन आया है कि एक बार एक मकान बनाने में घर की एक दीवाल के अचानक गिर जाने से चोखामेला आदि कई मजदूर उसके नीचे दबकर मर गये। जब श्रीज्ञानदेवजी, श्रीनामदेवजी आदि वैष्णवों को यह दुःखद समाचार मिला तो सब लोग घटनास्थल पर पहुँचे। यथा-समय मिट्टी न हटाये जाने से उसमें दबे हुए सभी शव सड़ जाने से पहचान में नहीं आ रहे थे कि इनमें कौन चोखामेला हैं, और कौन दूसरे हैं, लोग असमंजस में पड़े हुए थे कि कैसे

पहचाना जाय। तब श्रीनामदेवजी ने कहा कि मैं अभी पहचान करता हूँ। चोखामेला की हड्डियों से नाम-ध्वनि होती होगी। यह कहकर ये एक-एक करके सभी अस्थियों को कान से लगाकर सुनते। जब चोखामेला की अस्थियाँ हाथ में आईं तो श्रीनामदेवजी आनन्द में झूमने लगे। उन्होंने स्वयं तो सुना ही औरों को भी सुनाया-सचमुच चोखामेला की हड्डियाँ 'जै विट्ठल, जै विट्ठल विट्ठल' बोल रहीं थीं।

जब श्रीनामदेवजी को अपनी लीला-संवरण करने की इच्छा हुई तो वे एक दिन श्रीपण्ढरीनाथजी के सामने खड़े होकर हाथ-जोड़कर बोले-प्रभो! अब तो अपने नामा को अपनी पौरि पर ही स्थान दो। बहुत भटक चुका मैं दुनियाँ में। इसके बाद श्रीनामदेवजी ने उस समय उपस्थित सभी सन्त-वैष्णवों से हाथ-जोड़कर कहा कि आप लोग मुझको श्रीहरि की पौरि से हटाना नहीं। मुझे तो यहीं रहने देना। जिससे कि श्रीविट्ठलनाथ भगवान के दर्शनार्थ आने वाले भक्तों की चरणरज मुझे सदा प्राप्त होती रहे। यह कहकर श्रीनामदेवजी सबसे नीचे की सीढ़ी पर आकर खड़े होकर एक बार पुनः श्रीपाण्डुरङ्ग भगवान एवं सभी सन्तों को बार-बार प्रणाम कर बैठ गये और 'श्रीपाण्डुरङ्ग, श्रीविट्ठल' कहते हुए सदा-सदा के लिए श्रीप्रभुपाद-पद्मों में पहुँच गये। भक्तों में हाहाकार मच गया। सबने बड़ा-भारी क्रन्दन किया। अन्त में उसी सीढ़ी के नीचे श्रीनामदेवजी को समाधि दी गई उस सीढ़ी को श्रीनामदेवजी की पायरी कहा जाता है? आज भी दर्शनार्थी पहले श्रीनामदेवजी की पायरी को प्रणाम कर तब बाद में उस सीढ़ी पर, बिना पैर रखे श्रीविट्ठल भगवान का दर्शन करने जाते हैं।

श्रीनामदेवजी का मन को प्रबोध-

गोविन्द गुना गोपाल गुना गाय ले रे गोविन्द गुना।
ऐसो समय बहुरि नहिं पैहैं फिरि पछितैहैं मेरे मना।।
जिन तुमको तन मन धन दीन्हों नयन नासिका मुख रसना।
जाको रचत मास दस लागे ताहि न सुमिरे एक छिना।।
बालापन हँसि खेल गँवाये तरुण भये तब रूप घना।
वृद्ध भये पर आलस उपजै उठि गई हाट कछू न बना।।
अधम तरे अधिकार भजन ते जे जे आये हरि शरना।
ना मानो तो साखि बताऊँ अजामील गनिका सदना।।
धन यौवन अंजुलि के जलजस घटत जात पल छिनहिं छिना।
अस जिय जानि भजो रघुनन्दन नामदेव आयो हरि शरना।।

श्रीजयदेवजी

जयदेव कवि नृप चक्कवै खण्डमण्डलेश्वर आन कवि।।
प्रचुर भयो तिहुँलोक गीत-गोविन्द उजागर।
कोक काव्य नव रस सरस सिङ्गार को सागर।।
अष्टपदी अभ्यास करै तेहिं बुद्धि बढ़ावैं।
(श्री) राधारमण प्रसन्न सुनन निश्चय तहँ आवैं।।
सन्त सरोरुह खण्ड को पद्मापति सुखजनक रवि।
जयदेव कवि नृप चक्कवै खण्डमण्डलेश्वर आन कवि।।४४।।

शब्दार्थ- चक्कवै=चक्रवर्ती, सम्राट्। खंडमंडलेश्वर=खंड=छोटा देश+मंडल=बड़ा प्रदेश+ईश्वर=राजा, छोटे-बड़े राजा। आन=दूसरे। प्रचुर=प्रसिद्ध। उजागर= उत्तम। कोक=रतिशास्त्र प्रणेता ऋषि। काव्य= कविता, ग्रन्थ। नवरस=साहित्य के नवरस। यथा- श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। सिङ्गार= श्रृङ्गार= माधुर्य, साहित्य का एकरस जिसमें नायक,नायिका के मिलन-सुख का निदर्शन होता है। सरस=रसीला। आगर=घर,खजाना। अष्टपदी=आठ पदों का गीत। अभ्यास=बार-बार पाठ, अनुशीलन। सरोरुह-खण्ड=कमलवन।

भावार्थ- महाकवि श्रीजयदेवजी संस्कृत के कविराजों के राजा चक्रवर्ती- सम्राट् थे। शेष दूसरे सभी कवि आपके सामने छोटे-बड़े राजाओं के समान थे। आपके द्वारा रचित 'गीत गोविन्द' महाकाव्य तीनों लोकों में बहुत अधिक प्रसिद्ध एवं उत्तम सिद्ध हुआ। यह गीतगोविन्द कोकशास्त्र का, साहित्य के नवरसों का और विशेषकर उज्ज्वल एवं सरस श्रृङ्गार रस का सागर है। इसकी अष्टपदियों का जो कोई नित्य अध्ययन एवं गान करे उसकी बुद्धि पवित्र एवं प्रखर होकर दिन-प्रतिदिन बढ़ेगी। जहाँ अष्टपदियों का प्रेमपूर्वक गान होता है, वहाँ उन्हें सुनने के लिए भगवान श्रीराधारमणजी अवश्य आते हैं और सुनकर प्रसन्न होते हैं। श्री पद्मावतीजी के पति श्रीजयदेवजी सन्तरूपी कमलवन को आनन्दित करने वाले सूर्य के समान इस पृथ्वी पर अवतरित हुए।।४४।।

व्याख्या- प्रचुर भयो तिहुँलोक- एक बार परम धर्मात्मा राजा विक्रमादित्यजी के दरबार में श्रीगीतगोविन्द का पद गाया जा रहा था। सभा में स्वर्गवासी देवता एवं पातालवासी

नागदेवादि भी थे। उन लोगों ने कहा था कि यह तो हमारे यहाँ भी अप्सरायें देव-वधुयें नाग-कन्यायें एवं नाग-पत्नियां गाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'गीत गोविन्द' त्रैलोक्य प्रसिद्ध है। 'कोककाव्य'०- श्रीगीतगोविन्द में श्रीराधामाधव युगल की परमदिव्य केलि-विलास लीला का बड़ा रसमय वर्णन किया गया है। भक्ति में श्रृङ्गाररस का यह अद्वितीय ग्रन्थ भक्तिरस से परिपूर्ण होने के साथ-साथ काव्य के रसों से भी परिपूर्ण है। इस सम्बन्ध मे श्रीजयदेवजी कहते हैं कि-

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलीं श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।। **(गी०गो०)**

अर्थ- **यदि भगवान के स्मरण में तुम्हारे मन में अनुराग है, यदि श्रीकृष्ण की केलि-विलास कलाओं को जानने का कुतूहल है तो मधुर कोमल एवं मनोहर पदयुक्त श्रीजयदेवजी की वाणी का श्रवण करो। अपनी इस गरिमा से श्रीगीतगोविन्द भक्तजनों को तो अतिप्रिय है ही, भगवान को भी अतिप्रिय है। श्रीनाभाजी कहते हैं कि-'श्रीराधारमण०'। इस पद में आया हुआ 'निश्चय' शब्द पदों की महिमा और भी बढ़ा देता है। भाव यह है कि श्रीगीतगोविन्द के पदों को सुनकर भगवान के रीझने में कोई सन्देह नहीं है। अन्य साधनों की फलश्रुति में भले ही सन्देह हो। 'संत सरोरुह०' जैसे सूर्य का दर्शन कर, सूर्य की किरणों का संस्पर्श पाकर कमल प्रफुल्लित हो जाता है वैसे ही आपके दर्शन एवं आपके वचनरूपी किरण से सन्तों का हृदय प्रफुल्लित हो जाता था।**

किन्दु बिल्लु ग्राम तामे भये कविराज राज भर्‌यो रसराज हिये मन मन चाखियै।
दिन दिन प्रति रूख रूख तर जाइ रहैं गहैं एक गूदरी कमण्डल कों राखियै।।
कही देवै विप्र सुता जगन्नाथदेव जू कों भयो जब समै चल्यो दैन प्रभु भाखिये।
रसिक जैदेव नाम मेरोई सरूप ताहि देवो ततकाल अहो मेरी कहि साखिये।।

शब्दार्थ- **रसराज=माधुर्यरस।**

भावार्थ-**कवि सम्राट् श्रीजयदेवजी बङ्गाल प्रान्त के वीरभूमि जिले के अन्तर्गत किन्दुविल्व नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे। आपके हृदय में रसों का राजा श्रृङ्गार रस पूर्णरूप से भर गया था (उसमें दूसरे किसी विषय रस को स्थान पाने की कोई गुंजाइश न थी) वे उस माधुर्य-रस का मन ही मन आस्वादन करते रहते थे। आपका वैराग्य ऐसा प्रखर था कि एक वन वृक्ष के नीचे एक ही दिन निवास करते थे, दूसरे दिन दूसरे वृक्ष के नीचे। जीवन**

निर्वाह करने की अनेक सामग्रियों में से आप केवल एक गूदरी और एक कमण्डल ही अपने पास रखते थे और कुछ भी नहीं। एक ब्राह्मण के कोई सन्तान न थी, उसने श्रीजगन्नाथजी से प्रार्थना की कि-यदि मेरे सन्तान होगी तो पहली सन्तान आपको अर्पण कर दूँगा। कुछ समय के बाद उसके एक कन्या हुई और जब विवाह के योग्य हो गई, तो उस ब्राह्मण ने श्रीजगन्नाथजी के मंदिर में उस कन्या को लाकर प्रार्थना की- हे प्रभो! मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आपको भेंट करने के लिए यह कन्या लाया हूँ! उसी समय श्रीजगन्नाथजी ने आज्ञा दी कि- परमरसिक जयदेव नाम के जो भक्त हैं, वे मेरे ही स्वरूप हैं अतः इसे अभी ले जाकर उन्हें अर्पण कर दो और उनसे कह देना कि- जगन्नाथजी की ऐसी ही आज्ञा हुई है।।१४३।।

व्याख्या- श्रीजयदेवजी के पिता का नाम श्रीभोजदेवजी एवं माता का नाम वामादेवी था। (कहीं-कहीं 'राधा' नाम भी आया है।) माघ, शुक्ल, वसन्तपंचमी मकर-संक्रान्ति, अभिजित मुहूर्त, मध्याह्नकाल में साक्षात् श्रीजगन्नाथ भगवान ही भोजदेवजी की पत्नी वामादेवी की कोख से श्रीजयदेवजी के रूप में प्रकट हुए थे। वह समय लगभग बारहवीं शताब्दी का था। बाल्यावस्था में ही आपके माता-पिता परलोक सिधार गये। इस घटना से बालक जयदेव को संसार की असारता एवं नश्वरता का सहज ही ज्ञान हो गया। अतः ये जगत् से उदास रहकर भगवान के भजन में मन लगाये। इनके वैराग्य और भगवदनुराग को देखकर निरंजन नाम के एक ब्राह्मण ने छल-बल से उनके घर-धन को लेने का षड्यन्त्र रचा। उसने एक फर्जी दस्तावेज बनाकर एक दिन श्रीजयदेवजी से कहा कि तुम्हारे पिता ने मुझसे एक हजार रुपये कर्ज लिया था, परन्तु बिना चुकाये ही दिवंगत हो गये। अतः तुम या तो शीघ्र ब्याज सहित रुपया लौटावो, या तो घर और घर की सम्पत्ति सौंपकर जङ्गल की राह लो। इन्होंने मन में बिना किसी हर्ष-विषाद के अपनी सब सम्पत्ति और मकान भी निरंजन के नाम लिख दिया। निरंजन मन ही मन बड़ा प्रसन्न होकर इनके घर की सब वस्तुयें गाड़ी में भरकर अपने घर ले जाने की सोच ही रहा था कि इतने में उसकी लड़की चिल्लाती हुई दौड़ी आई कि पिताजी! घर में आग लग गई है वह बुझाने से भी नहीं बुझ रही है। इतना सुनते ही निरंजन से पहले श्रीजयदेवजी ही उसके घर पहुँचकर प्रज्वलित अग्नि की लपटों में प्रवेश करके घर की वस्तुयें बचाने एवं अग्नि बुझाने में लग गये। परम-भागवत श्रीजयदेवजी का दर्शन कर अग्निदेव अपने आप शान्त हो गये। श्रीजयदेवजी का यह सद्भाव देखकर निरंजन को अपने कुकृत्य पर, बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ। उसने दौड़कर उनके चरणों में पड़कर बारम्बार क्षमा माँगी और अपने कपट का भण्डाफोड़ करते हुए

उनका घर और धन वापिस कर दिया। अपकारी के प्रति भी उपकार करके श्रीजयदेवजी ने श्रीशिवजी के इस वचन को चरितार्थ कर दिया-' उमा सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।।' (रामा०)

भर्‌यो रसराज हिये- **श्रृङ्गाररस को रसराज इसलिए कहते हैं कि इस रस में सभी रसों का समावेश होता है। जबकि शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि में श्रृङ्गार सम्भव नहीं है। रसिक महानुभावों ने श्रृङ्गाररस की उपासना को अत्यन्त कठिन बताया है। यथा-**

सम्प्रदाय नवधा भगति वेद सुरसरी नीर।
ललिता सखी उपासना ज्यौं सिंहिनि को क्षीर।।
ज्यों सिंहिनि को क्षीर रहै कुन्दन के वासन।
कै बच्चा के पेट और घट करै विनाशन।।
भगवत नित्यविहार परे सबही को परदा।
रहै निरन्तर पास रसिकवर सखी सम्प्रदा।।

पुनः- सतन अतन करि ह्वै रहै, वितन आय फिरि जाय।
सखी भाव तब जानिये पुरुष भाव मिटि जाय।।

श्रीजयदेवजी इस रस के परम-अधिकारी हैं। अतः भर्‌यो०। 'मन मन चाखियै' अर्थात् रस को प्रकट नहीं करते थे। क्योंकि यह सर्वसाधारण के लिए सुगम नहीं है। यथा- 'प्रेमपन्थ अतिशै कठिन सब कोउ निबहत नाहिं। चढ़िकै मैन तुरङ्ग पै चलिबो पावक माहिं।।' दूसरे जैसे किसी भोजन के लोभी को अत्यन्त सुमधुर भोजन मिल जाय तो वह एकान्त में छिपाकर खाता है कि कोई आ न जाय, वैसे ही ये भी मन-मन चाखिये। तीसरे 'जो पै कृष्ण प्रेम धन पैये। राखि गुप्त नहिं प्रगट जनैये।। कृष्ण प्रेम धन पाय के प्रगट न कीजै बाल। राखिय उर यों गोयकै ज्यों मणि राखत व्याल।।' (व्रजविलास) प्रकट करने से वह क्षीण हो जाता है या नष्ट ही हो जाता है, यथा-'दीप बाति सम प्रेम है, राखो रहसि जुगाय। बाहर किये बिनाशि हैं, जब लगिहैं जगबाय।।'

प्रभु प्रेम में पगे श्रीजयदेवजी का मन घर में नहीं लगा अतः एक दिन सर्वस्व परित्याग कर पुरी के लिए प्रस्थान कर दिये। कहते हैं कि मार्ग में एक दिन अत्यन्त प्यास लगने पर श्रीजगन्नाथ भगवान ने स्वयं आकर जल पिलाया और भूख लगने पर दूध पिलाया।

इस प्रकार भगवत्कृपा का पग-पग पर अनुभव करते हुए आप पुरी पहुँचकर श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन किये और परम-वैराग्यपूर्वक वहीं निवास करने लगे। आपके वैराग्य के सम्बन्ध में श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-'दिन दिन०।' प्रेमपुरुषोत्तम श्रीगौराङ्गमहाप्रभुजी भी अपने परिकरों को ऐसा ही उपदेश देते थे। यथा-

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट,
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।
सम्मानं कलयातिघोर गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।।

अर्थ-हे भाई! व्रजभूमि में किसी वृक्ष के नीचे पड़े रहो, भूख लगे तो गाँव में से जाकर टुकड़े माँग लाओ, श्रीयमुनाजल तृप्त होकर पीओ, फटे चीथड़े वस्त्रों की गूदड़ी रखो, सम्मान को महाविष एवं अपमान को अमृत समझो और श्रीराधामाधव को भजते हुए वृन्दावन को मत छोड़ो। 'गूदरी'-द्वै कौपीन गूदरी करवा। विहारिनि दास इतने में सरवा।।

कही देवैं विप्र सुता-सुदेव नाम के एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होंने श्रीजगन्नाथ भगवान से प्रार्थना की कि-हे प्रभो! यदि मेरे सन्तान होगी तो पहली सन्तान आपके लिए भेंट करूँगा। भगवदिच्छा से सर्वप्रथम उनके कन्या हुई। उसका नाम रखा पद्मावती। 'भयो जब समै०'-जब पद्मावतीजी द्वादश वर्ष की हुईं तो उनके पिता सुदेवजी उन्हें लेकर भगवान को अर्पण करने आये। 'मेरी कहि साखिये'-भाव यह है कि वे सहज से पत्नी परिग्रह को नहीं स्वीकार करेंगे। तुम कहना कि श्रीजगन्नाथ भगवान ने कहा है, तब वे स्वीकार करेंगे।

चल्यो द्विज तहां जहां बैठे कविराजराज अहो महाराज मेरी सुता यह लीजियै।
कीजिये विचार अधिकार विस्तार जाके ताहिको निहारि सुकुमारि यह दीजियै।।
जगन्नाथदेव जू की आज्ञा प्रतिपाल करौ ढरो मति धरो हिये ना तो दोष भीजियै।
उनको हजार सोहैं हमको पहार एक ताते फिरि जावो तुम्हें कहा कहि खीजियै।।१४५

शब्दार्थ-अधिकार=स्वामित्व, सम्पत्ति। विस्तार=फैलाव, अधिकता। प्रतिपाल=पालन, स्वीकार। ढरो=कृपा करो। भीजियै=लिप्त, गीले होइये। पहार=पर्वत, अति भारी। फिरि=वापस।

भावार्थ-भगवान की आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण वन में वहाँ गया जहाँ कविराज राज भक्त श्रीजयदेवजी बैठे थे और उनसे बोला-हे महाराज! आप मेरी इस कन्या को पत्नीरूप से अपनी सेवा में लीजिये। श्रीजयदेवजी ने कहा-(अरे ब्राह्मणदेव! आप यह क्या कह रहे हैं) मन में कुछ थोड़ा विचार तो कीजिये। (मैं परम निष्किंचन एवं वनवासी हूँ) जिसको कन्यादान लेने का अधिकार हो तथा जिसके घर में धन-सम्पत्ति का विस्तार हो, ऐसे किसी योग्य ब्राह्मण को देखकर आप अपनी इस सुकुमारी कन्या को दीजिये। ब्राह्मण बोला मुझे जगन्नाथदेवजी की आज्ञा हुई है, (तब मैं आपको कन्या देने आया हूँ) आप उनकी आज्ञा का पालन कीजिये, यह आपका कर्तव्य है। उससे मत टलिये, इस कन्या को अङ्गीकार करने का निश्चय हृदय में धारण कीजिये। अन्यथा भगवदाज्ञा उल्लङ्घन करने के अपराध से आप लिप्त हो जायेंगे। जयदेवजी ने कहा-जगन्नाथजी की बात जाने दीजिये, वे यदि हजारों स्त्रियाँ सेवा में रखें तो उनकी शोभा है, परन्तु हमको तो एक ही पहाड़ के समान भारवाली हो जायेगी। (इसलिए हम तुम्हारी बात स्वीकार नहीं कर सकते) अतः अब तुम कन्या के साथ यहाँ से लौट जाओ। इससे अधिक तुमसे और क्या कहें और कैसे क्रोध करें। भगवान की आज्ञा को भी नहीं मान रहे हैं, इससे ब्राह्मण खीज गया।।१४५।।

व्याख्या-कीजिये विचार-भाव यह कि पत्नी परिग्रह गृहस्थ के लिए उचित है और गृहस्थ में भी जिसका, घर, वर, कुल श्रेष्ठ हो उसी को कन्यादान करना चाहिए। यथा-'जो घर वर कुल होइ अनूपा। करिय विवाह सुता अनुरूपा।।' (रामा०) मैं विरक्त हूँ, अधिकार विस्तार-विहीन हूँ।

जगन्नाथदेवजू की आज्ञा-यथा-

गुरु पितु मातु स्वामि हितबानी। सुनि मन मुदित करिय सुभ जानी।
उचित कि अनुचित किये विचारू। धर्म जाइ सिर पातक भारू।।
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खाले।।
मातु पिता गुरु प्रभु की बानी। विनहिं विचार करिय भल जानी।। (रामा०)

श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीशिवजी ने विवाह किया था देखिये रामचरितमानस। 'उनको हजार सोहैं'-यथा-'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कुछ करिहं उनहिं सब छाजा।।' (रामा०) 'हमको पहार एक'-'तन यौवन धन वसन जन अन्न और घर द्वार। जाके इतने होहिं नहिं नारी ताहि पहार।। जो अपनी देह को करि न सकै निरबाह। सो दुखिया कैसे करै अति ही दुखद विवाह।।' (भ०व०टि०)

सुता सों कहत तुम बैठि रहौ याही ठौर आज्ञा सिरमौर मोपै नाहीं जाति टारी है।
चल्यौ अनखाइ समझाइ हारे बातनि सों मन तूं समझ कहा कीजै सोच भारी है।।
बोले द्विज बालकी सों आपही विचार करो धरो हिये ज्ञान मोपै जाति न सँभारी है।
बोली करजोरि मेरो जोर न चलत कछू चाहौ सोई होहु यह वारि फेरि डारी है।।१४६

शब्दार्थ-**सिरमौर=सर्वोपरि, सबसे श्रेष्ठ। अनखाइ=नाराज होकर। वारिफेरि=न्यौछावर।**

भावार्थ-**तब वह ब्राह्मण अपनी लड़की से बोला-मुझे तो जगन्नाथजी की आज्ञा शिरोधार्य है, मैं उसे कदापि टाल नहीं सकता हूँ। [तुम इनके समीप स्थिर होकर रहो] श्रीजयदेवजी अनेक प्रकार की बातों से समझाकर हार गये, पर वह ब्राह्मण नहीं माना और अप्रसन्न होकर चला गया। तब वे अपने मन से कहने लगे-अरे मन! तू सोच और समझ, कि अब क्या करना चाहिए। इस प्रकार वे बड़े-भारी सोच में पड़ गये। फिर वे उस ब्राह्मण की कन्या से बोले-तुम अच्छी प्रकार से मन में विचार करो कि तुम्हारा अपना क्या कर्तव्य है। तुम अपने हृदय में अपने ज्ञान से निश्चय करो कि तुम्हारे योग्य कैसा पति होना चाहिए। हमसे तो तुम्हारा भार सँभाला न सँभलेगा। यह सुनकर उस कन्या ने हाथ जोड़कर कहा-मेरा वश तो कुछ भी नहीं चलता है। चाहे जो भी कुछ हो, (सुख हो या दुःख हो) यह शरीर तो मैंने आप पर न्यौछावर कर दिया है।।१४६।।**

व्याख्या-चल्यो अनखाइ-**ब्राह्मण बिगड़ता हुआ चला कि बड़े भगत बने हैं, भगवान की भी आज्ञा नहीं मानते। जबकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक उनकी आज्ञानुसार चलते हैं। यथा-**

विधि हरि हर ससि रबि दिसि पाला। माया जीव करम कुलि काला।।
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई।।
करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के।।
राम रजायसु सिर सबकी के। उतपति थिति लय विषहु अमी के।।
रामरजाइ मेटि मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं।। **(रामा०)**

श्रीजयदेवजी चुप ही रहे। मन तूं समझ, मन को समझाना ही वास्तविक समझाना है। यथा-'वचन वेष से जो बनै सो बिगरै परिनाम। तुलसी मनसे जो बनै बनी बनाई राम।।' (दो०) श्रीगीताजी में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। (गी० ३-६)

अर्थ-**जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का निग्रह करके, मन से विषयों को स्मरण करता है, वह महामूर्ख एवं मिथ्याचारी है। 'कहा कीजै०'-यदि अस्वीकार करता हूँ तो भगवान की आज्ञा का उल्लङ्घन होता है और यदि स्वीकार करता हूँ तो वैराग्य एवं भगवदनुराग में बाधा पड़ती है। सांसारिक मोह में फँस जाने का भय है। स्त्री को भगवान की प्रत्यक्ष माया कहा गया है। यथा-'सोउ मुनि ज्ञान निधान, मृगनयनी विधु मुख निरखि। विवस होहिं हरियान नारि विष्णु माया प्रगट।' (रामा०) पक्ष दोनों प्रबल हैं अतः 'पर्यो सोच भारी है।' 'बोली कर जोरि'-ब्राह्मण-कन्या पद्मावतीजी ने कहा-'कन्या सदा पिता आधीना। पितुने मोहिं तुमहिं दै दीना।।' 'याते तव पद तजि नहिं जाऊँ। चाहै कोटि कष्ट मैं पाऊँ।।' (भ०व०टि०) 'वारि फेरि डारी है'-यथा-पार्वती-वाक्य-'अब मैं जन्म सम्भु हित हारा। को गुन दूषन करइ बिचारा।।' (रामा०)**

जानी जब भई तिया कियो प्रभु जोर मोपै तो पै एक झोंपड़ी की छाया करि लीजिये।
भई तब छाया श्याम सेवा पधराइ लई नई एक पोथी मैं बनाऊँ मन कीजिये।।
भयो जू प्रगट गीत सरस गोविन्दजू को मान में प्रसंग सीसमण्डन सो दीजिये।
वही एक पद मुख निकसत सोच पर्यो धर्यो कैसे जात लाल लिख्यो मति रीझिये।।१४७

शब्दार्थ-**मान=स्त्री-पुरुष में परस्पर एक विशेष भाव, जिसमें वह अभिमानी एवं रुष्ट-सा लगता है। सीस मण्डन=सिर का गहना। मण्डन=आभूषण, समर्थन।**

भावार्थ-**श्रीपद्मावतीजी का भावपूर्ण निश्चय सुनकर श्रीजयदेवजी ने अपने मन में यह जान लिया कि श्रीजगन्नाथजी ने हमारे ऊपर अपने अधिकार बल का प्रयोग करके ही इन्हें हमारे पास भेजा है (अतः अब अस्वीकार कैसे करूँ) अब तो ये हमारी जीवन-सङ्गिनी बन चुकीं। तो अब यह उचित है कि निर्वाह के लिए झोंपड़ी बनाकर छाया कर ली जाय। जब छाया हो गई, तो उसमें भगवान श्यामसुन्दर की एक मूर्ति सेवा करने के लिए पधरा ली। पश्चात् मन में आया कि (परमप्रभु की ललित-लीलायें जिसमें वर्णित हों ऐसा) एक ग्रन्थ बनाऊँ। उनके इस निश्चय के अनुसार अति सरस 'गीतगोविन्द' महाकाव्य प्रकट हुआ। गीतगोविन्द लिखते समय एक बार श्रीकिशोरी राधिकाजी के मान का प्रसंग आया। उसमें भगवान श्यामसुन्दर ने अपनी प्रिया के चरण-कमलों को अपने मस्तक का भूषण बताकर प्रार्थना की कि-इसे मेरे मस्तक पर रख दीजिये। इस आशय का पद आपके हृदय में**

आया, पर उसे मुख से कहते तथा पद्मावती द्वारा ग्रन्थ में लिखाते समय सोच-विचार में पड़ गये कि इस गुप्त रहस्य को कैसे प्रकट किया जाय। आप स्नान करने चले गये, लौटकर आये तो देखा कि वह पद पोथी में श्यामसुन्दर ने लिख दिया है। इससे जयदेवजी अति प्रसन्न हुए और संकोच त्यागकर माधुर्यरस की लीलाओं का गान करने लगे।।१४७।।

व्याख्या-कियो प्रभु जोर मोपै-श्रीजयदेवजी मन ही मन सोच रहे थे कि मेरे कहने से यह ब्राह्मण-कन्या नहीं जा रही है तो रात्रि में, मैं ही चुपके से भाग जाऊँगा। साधु को तो संसार से हारकर भागने में ही कुशल है। यथा-'हारि चलो जग जूआरे।' (कबीर) दृष्टान्त श्रीकबीरदासजी का-देखिये आगे छप्पय ६० में इनका चरित्र। जब भी कोई कठिनाई आती, ये घर छोड़कर भाग जाते, तब श्रीठाकुरजी सब काम सँभालते। उसी समय आकाशवाणी हुई कि तुम इस ब्राह्मण-कन्या को स्वीकार कर लो। इससे भजन में बाधा नहीं पड़ेगी। यदि छोड़ोगे तो अपराध लगेगा। इसके सत्संग से आपकी भक्ति वृद्धि की प्राप्ति होगी। इसे आप मायारूपी नारि मत समझें, यह तो परम पावनी गंगा तुल्य हैं। जब यह आकाशवाणी सुने तो समझ गये कि प्रभु की भी यही इच्छा है अतः कहते हैं-'कियो प्रभु जोर०।' 'छाया करि लीजिये' गृहणी आते ही गृह की आवश्यकता पड़ी। अकेले थे तब तो एक दिन एक वृक्ष के नीचे रहते दूसरे दिन दूसरे। परन्तु पत्नी को साथ लेकर इस प्रकार रहना उचित नहीं है। पुनः-गृहेषु वसतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम्। मद्वार्ता यातयामानां न बन्धाय गृहा मताः।। (भा० ४-३०-१९) अर्थ-भगवान कहते हैं कि-घर में रहते हुए जो लोग मेरी कथा-वार्ता को कहने-सुनने में समय बिताते हैं और मेरे सेवारूप निष्काम कर्मों को करने में चतुर हैं, उन्हें वह गृहस्थाश्रम बन्धनकारक नहीं होता है।। अतः पुरी से लौटकर अपनी जन्मभूमि किन्दुविल्व ग्राम में आ गये। इनकी अनुमति से गाँव के लोगों ने गाँव के बाहर एक सुन्दर झोंपड़ी की व्यवस्था कर दी। 'श्यामसेवा पधराइ लई'-परम अकिंचनरूप से विचरणशील संत के लिए तो मानसी-सेवा का विधान है क्योंकि श्रीविग्रह की सेवा में बहुत-सी सेवा सामग्री का संग्रह करना पड़ता है जो कि परम-विरक्त से सम्भव नहीं है। परन्तु कुटी बनाकर रहने वाले सन्त के लिए चार प्रकार की सेवा का विधान किया गया है-१. संतसेवा, २. गुरुसेवा, ३. शास्त्रसेवा (कथा-सत्संगादि) ४. अतिथि-अभ्यागत सेवा। अतः उन्होंने भी सेवा पधरा ली। इनके श्रीठाकुरजी का नाम था-श्रीराधामाधव भगवान। श्रीजयदेवजी ने कैंड़िली गाँव (वीरभूमि) में गीतगोविन्द की रचना की। यहीं जयदेवी गङ्गा हैं। जहाँ प्रतिवर्ष संक्रान्ति के अवसर पर आज भी मेला लगता है। लाल लिख्यो-मान के प्रसंग में 'स्मर गरल खंडनं मम

शिरसि मण्डन देहि मे पद पल्लवमुदारम्।' अर्थात् (श्रीठाकुरजी श्रीप्रियाजी से प्रार्थना करते हैं कि) कामरूपी विष को शान्त करने वाले, मेरे सिर के भूषणस्वरूप अपने श्रीचरण-कमल को मेरे सिर पर धर दीजिये। श्रीजयदेवजी के हृदय में इस लीला-पद की स्फूर्ति तो हुई परन्तु लिखने का साहस नहीं हुआ। अतः लेखन बन्द करके उसी प्रसंग का हृदय में ध्यान करते हुए गंगा स्नान करने चले गये। उसी समय श्रीजयदेवजी का रूप धरकर स्वयं भगवान रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण आ गये। श्रीपद्मावतीजी ने पूछा-आज आप बहुत जल्दी स्नान करके कैसे आ गये? आपने कहा-एक पद लिखने में लेखनी रुक गई थी, अभी उसकी स्फूर्ति हुई है अतः शीघ्र चला आया हूँ, लाओ तो वह पोथी, पद को पूरा कर दूँ। श्रीपद्मावतीजी ने पोथी लाकर दी। आपने पद को श्रीजयदेवजी के भावानुसार ज्यों का त्यों लिख दिया। इसके बाद भोजन करके विश्राम करने लगे। श्रीपद्मावतीजी भी भोजन कर रही थीं, इतने में श्रीजयदेवजी स्नान करके आ गये। देखा, तो पद्मावतीजी प्रसाद पा रही थीं। श्रीजयदेवजी ने विस्मित होकर पूछा कि आज तो तुमने बहुत जल्दी भोग लगा दिया या कि हमें आने में ही आज विलम्ब हो गया? श्रीपद्मावतीजी ने कहा-नाथ! आप कैसी बात कर रहे हैं? आप तो कब के स्नान करके आ गये हैं। हमसे पोथी मँगाकर आपने पद लिखा फिर भोजन किया, तत्पश्चात् मुझे भी प्रसाद पाने की आज्ञा दी और स्वयं विश्राम कर रहे थे। अब ऐसी बात कर रहे हैं मानो कुछ हुआ ही नहीं। यह सुनकर श्रीजयदेवजी ने अत्यन्त आश्चर्य में भरकर पोथी देखी तो पद लिखा हुआ पाया और जब शयन-कक्ष में गये तो वहाँ कोई भी नहीं था। शयनागार दिव्य-सुगन्धि से पूरित हो रहा था। भगवत्कृपा विचारकर श्रीजयदेवजी का हृदय भर आया। बोले-प्रिये! तुम्हारे धन्य-भाग्य हैं जो कि तुमने प्रभु का दर्शन पाया। मुझ अभागे को प्रभु का दर्शन नहीं हो पाया। इसके बाद श्रीजयदेवजी ने हठ करके श्रीपद्मावतीजी की थाली में से प्रसाद लेकर पाया और यह विचारकर कि प्रभु को मेरे भावप्रिय लगते हैं, मुक्तकण्ठ से यशोगान किया। वह पूरा पद इस प्रकार है-

वदसि यदि किंचिदपि दन्तरुचिकौमुदी हरति दरतिमिरमतिघोरम्।
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा रोचयति लोचनचकोरम्।।१।।
प्रिये चारुशीले प्रिये चारुशीले मुञ्च मयि मानमनिदानम्।
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं देहि मुखकमलमधुपानम्।।ध्रु०
सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी देहि खरनखरशरघातम्।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं येन वा भवति सुखजातम्।।२।।

त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं त्वमसि मम भवजलधिरत्नम्।
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी तत्र मम हृदयमतियत्नम्।।३।।
नीलनलिनाभमपि तन्वि तव लोचनं धारयति कोकनदरूपम्।
कुसुमशरबाणभावेन यदि रञ्जयसि कृष्णमिदमेतदनुरूपम्।।४।।
स्फुरतु कुचकुम्भयोरुपरि मणि मञ्जरी रंजयतु तव हृदयदेशम्।
रसतु रसनापि तव घन जघनमण्डले घोषयतु मन्मथनिदेशम्।।५।।
स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं जनितरतिरङ्ग परभागम्।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसलसदलक्तकसुरागम्।।६।।
स्मरगरल खण्डनं मम शिरसि मण्डनं देहि पदपल्लवमुदारम्।
ज्वलति मयि दारुणो मदन कदनानलो हरतु तदुपहित विकारम्।।७।।
इति चटुलचाटुपटुचारु मुरवैरिणो राधिकामधिवचनजातम्।
जयति जयदेव कवि भारती भूषितं मानिनी जनजनितशातम्।।८।।

नीलाचल धाम तामै पण्डित नृपति एक करी यही नाम धरि पोथी सुखदाइयै।
द्विजन बुलाइ कही यही है प्रसिद्ध करो लिखि-लिखि पढ़ो देश देशनि चलाइयै।।
बोले मुसुकाइ विप्र छिप्रसों दिखाइ दई नई यह कोऊ मति अति भरमाइयै।
धरी दोऊ मन्दिर में जगन्नाथ देवजू के दीनी यह डारि वह हार लपटाइयै।।१४८

शब्दार्थ-छिप्र=जल्दी।

भावार्थ-जगन्नाथधाम में एक राजा पण्डित था। उसने भी एक उत्तम पुस्तक बनाई और उसका गीतगोविन्द नाम रखा। उसमें भी सुखद श्रीकृष्ण-चरित्रों का वर्णन था। राजा ने ब्राह्मणों को बुलाकर कहा कि-यही गीतगोविन्द है, इसे प्रसिद्ध करिये। इसकी प्रतिलिपियाँ करके पढ़िये और देश-देशान्तरों मे प्रचार करिये। इस बात को सुनकर विद्वान् ब्राह्मणों ने असली गीतगोविन्द को खोलकर दिखा दिया और मुस्कुराकर बोले कि-यह तो कोई नई दूसरी पुस्तक है। गीतगोविन्द नहीं है। (राजा का तथा राजभक्त विद्वानों का आग्रह था कि यही गीतगोविन्द है) इससे लोगों की बुद्धि भ्रमित हो गई। कौन-सी पुस्तक असली है यह निर्णय करने के लिए दोनों पुस्तकें श्रीजगन्नाथदेवजी के मन्दिर में रखी गईं। (बाद में जब पट खोले गये तो देखा गया कि) जगन्नाथजी ने राजा की पुस्तक को दूर फेंक दिया है और जयदेवकविकृत गीतगोविन्द को हार अर्पित कर उसे अपनी छाती से लगा लिया है।।१४८।।

व्याख्या-बोले मुसुकाइ-**ब्राह्मणों के मुस्क्याने का भाव यह कि वर्णन तो इस नये गीतगोविन्द में भी श्रीराधामाधव के केलि-विलास का ही किया गया है, पद भी बड़े ललित हैं। परन्तु वह प्रेम नहीं है जो श्रीजयदेव रचित गीतगोविन्द में पदे-पदे दिखलाई पड़ता है और बिना प्रेम के काव्य निर्जीव है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं- 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच।।' (दो०) और प्रेम को तो प्रेमी ही जान सकते हैं। यथा-'अकथ कहानी प्रेम की, कहि नहिं जाने कोय। सोई जाने खलक में, जा सिर बीती होय।।' 'धरी दोउ मन्दिर में-' जैसे श्रीरामचरितमानस की श्रेष्ठता का निर्णय कराने के लिए श्रीमानसजी को श्रीशिव मन्दिर में धरा गया था, तथा श्रीश्रीधरस्वामी की भागवत-टीका की श्रेष्ठता का निर्णय श्रीविन्दुमाधव भगवान ने किया। उसी प्रकार श्रीगीतगोविन्द की दोनों पोथियाँ श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में रखी गईं।**

परयो सोच भारी नृप निपट खिसानों भयो गयो उठि सागर मैं बूड़ों वही बात है।
अति अपमान कियो, कियो मैं बखान सोई गोई जात कैसे ? आंच लागी गात गात है।।
आज्ञा प्रभु दई मत बूड़ै तूँ समुद्र मांझ दूसरो न ग्रन्थ ऐसो वृथा तनु पात है।
द्वादश सुश्लोक लिखि दीजै सर्ग द्वादश मैं ताहि संग चलै जाकी ख्याति पात है।।१४९

शब्दार्थ- **खिसानों=लज्जित। गोई= छिपाई। आंचलागी=पश्चाताप, अतिकष्ट हुआ। तनु पात=मरण। सर्ग=अध्याय। ख्याति=प्रसिद्धि। पात पात=सब जगह।**

भावार्थ- **इस दृश्य को देखकर राजा अत्यन्त लज्जित हुआ। अपनी पुस्तक का अपमान जानकर बड़े-भारी शोक में पड़ गया और समुद्र की ओर चला। उसने इस बात का निश्चय किया कि अब मैं समुद्र में डूबकर मर जाऊँगा। मैंने भी उसी कृष्णलीला का वर्णन किया है जिसे जयदेवजी ने लिखा है, फिर भी श्रीजगन्नाथजी ने मेरा अत्यन्त अपमान किया, इसे मैं कैसे सहन करूँ और हृदय में कैसे छिपाऊँ। इस अपमान से मेरे अंग प्रत्यंग में आग-सी लग गई। जब राजा डूबने जा रहा था तो उस समय प्रभु ने दर्शन देकर आज्ञा दी कि तू समुद्र में मत डूब। श्रीजयदेव कविकृत गीतगोविन्द जैसा है वैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं हो सकता है। इसलिए तुम्हारा शरीर त्याग करना वृथा है। अब तुम ऐसा करो कि गीतगोविन्द के बारह सर्गों में बारह श्लोक मिलाकर लिख दो। इस प्रकार तुम्हारे बारह श्लोक उसके साथ प्रचलित हो जायेंगे जिसकी प्रसिद्धि पात- पात में अर्थात् सर्वत्र तीनों लोकों में है।।१४९।।**

व्याख्या- **'सागर में बूड़ौं- कहा गया है-' सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनम्।।' अर्थात् सज्जन पुरुष की मानहानि होने पर वह या तो मृत्यु को वरण करता है या तो देश छोड़कर बहुत दूर चला जाता है। अतः राजा ने भी डूबकर मरने का निश्चय किया। अति अपमान-भाव यह कि मेरे ग्रन्थ को चौकी पर भी नहीं रहने दिया, उठाकर फेक दिया, पन्ने-पन्ने बिखेर दिये। 'आंच लागी" सम्भावितस्य 'चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।' (गीता) 'सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।।' (रामा०)**

दूसरो न ग्रन्थ ऐसो यथा-

साध्वी माध्वीक चिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि,
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृतमृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते।
माकन्द क्रन्द कान्ताधर धरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावं,
यावच्छृङ्गारसारस्वतमिहजयदेवस्य विष्वग्वचांसि।। **(गी० गो०)**

अर्थ- **हे माध्वीक (शहद)! मैं मधुर हूँ, यह तेरी चिन्ता (विचार) तब तक ठीक नहीं है। हे शर्करे (मिश्री)! तू भी तब तक कठोर कंकड़ के समान है। हे द्राक्षे (दाख)! तब तक तुझे भी कौन देखेगा। हे अमृत! तब तक तू भी मृतक के समान है। हे क्षीर (दूध)! तब तक तेरा रस भी जलरूप है। हे हेमाकन्द (आम्र)! तब तक तू भी अपनी मधुरता का रोदन कर, और हे कान्ताधर (स्त्री के अधरोष्ठ)! तब तक तू पाताल में चला जा अर्थात अपनी- अपनी मधुरता के अभिमान को तब तक तुम सब त्याग दो, जब तक श्रीजयदेवजी की श्रृङ्गाररस सारसर्वस्वरूपा वाणी की सारभूता कोमलकान्त पद वाली वाणी साकल्येन वर्तमान है।**

वृथा तनु पात है- **भाव यह कि तू इस गीतगोविन्द को रचकर श्रीजयदेवजी की कीर्ति को मिटाकर अपनी कीर्ति चाहता है, यह तेरी कल्पना आकाश पुष्पवत् सर्वथा असम्भव है। यथा-' तुलसी निज कीरति चहैं, परकी कीरति खोय। कालो मोहड़ो होयगो, मुएहुँ न मिटिहैं धोय।।' (दोहा०) अतः कीर्ति जो मिलने से रही, डूबकर मरने से आत्म-हत्या का कलंक जो माथे पर चढ़ेगा। 'ताहि संग चले'- जैसे फूल के साथ पलाश का पत्ता भी भगवान के पास चला जाता है।**

सुता एक मालीकी जु बैगन की वारी मांझ तोरै वनमाली गावै कथा सर्ग पांच की।
डोलैं जगन्नाथ पांछे काछें अङ्ग मिहीझँगा आछे कहि घूमें सुधि आवै विरहांच की।।
फट्यो पट देखि नृप पूछी अहो भयो कहा? जानत न हम अब कहो बात सांच की।
प्रभु ही जनाई मनभाई मेरे वही गाथा ल्याये वही बालकी कौं पालकी में नांच की।।१५०

शब्दार्थ- **बारी=खेत, क्यारी। काछे = पहने। मिहीं=महीना। झँगा= बच्चों के पहनने का ढीला कपड़ा। विरहांच =वियोग दुःख। गाथा = गीत, कथा।**

भावार्थ-**एक बार एक माली की लड़की बैंगन के खेत में बैंगन तोड़ते समय गीतगोविन्द के पाँचवे सर्ग की 'धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली' इस अष्टपदी को गा रही थी उस मधुरगान को सुनने के लिए श्रीजगन्नाथजी जो उस समय अपने श्रीअङ्ग पर महीन एवं ढीली पोशाक धारण किये हुए थे, उसके पीछे-पीछे डोलने लगे। वे सुनते-सुनते बीच में बार-बार 'वाह-वाह' बहुत अच्छा, ऐसा कहते जाते थे। उस समय उन्हें यह स्मरण हो आया कि वे श्रीराधा के मान करने पर विरह की अग्नि से किस प्रकार तप्त हुआ करते थे। प्रेमवश बेसुध होकर लड़की के पीछे-पीछे घूमने से काँटों में उलझकर श्रीजगन्नाथजी के वस्त्र फट गये। उस लड़की के गान बन्द करने पर आप मन्दिर में पधारे। फटे वस्त्रों को देखकर पुरी के राजा ने आश्चर्यचकित होकर पुजारियों से पूछा-अरे! यह क्या हुआ, ठाकुरजी के वस्त्र कैसे फट गये। पुजारियों ने कहा कि-हमें तो कुछ भी मालूम नहीं है। तब स्वयं ठाकुरजी ने ही सब बात बता दी और कहा कि-गीतगोविन्द हमें अत्यन्त प्रिय लगता है। राजा ने प्रभु की रुचि जानकर पालकी भेजी, उसमें बिठाकर उस लड़की को बुलाया। उसने आकर ठाकुरजी के सामने नृत्य करते हुए उसी अष्टपदी को गाकर सुनाया। प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब से राजा ने मन्दिर में नित्य गीतगोविन्द गान की व्यवस्था की।।१५०।।**

व्याख्या-कथा सर्गपांच की-**वह अष्टपदी इस प्रकार है-**

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहर वेषम्।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्।।१।।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।
गोपी पीनपयोधरमर्दन चञ्चल करयुगशाली।।ध्रु०।
नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्।
बहु मनुतेऽतनुते तनुसङ्गतपवनचलितमपिरेणुम्।।२।।
पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्।।३।।
मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलि सुलोलम्।
चल सखि कुंज सतिमिरपुंज शीलय नीलनिचोलम्।।४।।

उरसि मुरारेरूपहित हारे घन इव तरल बलाके।
तडिदिव पीते रतिविपरीते राजसि सुकृतविपाके।।५।।
विगलितवसनं परिहृतरशनं घटय जघनमपिधानम्।
किसलयशयने पंकजनयने निधिमिव हर्ष निदानम्।।६।।
हरिरभिमानी रजनिरदानीमियमपि याति विरामम्।
कुरु मम वचनं सत्वररचनं पूरय मधुरिपु कामम्।।७।।
श्रीजयदेवे कृतहरिसेवे भणति परम रमणीयम्।
प्रमुदित हृदयं हरिमति सदयं नमत सुकृतकमनीयम्।।८।।

विरहांच-यथा-

चौ०- विरह अगिन तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन मांहि सरीरा।।
नैन स्त्रवहिं जल निज हित लागी। जरै न पाव देह विरहागी।। (रामा०)

पुनः- जियकी साध जु जियहिं रही री।
बहुरि गोपाल देखि नहिं पाये बिलपत कुंज अहीरी।।
एक दिन सौंज समीप ये मारग बेचन जाति दहीरी।
प्रीति के लिये दान मिस मोहन मेरी बांह गहीरी।।
बिनु देखे घड़ी जात कलप सम विरहा अनल दहीरी।
परमानन्द स्वामी विन दरसन नैनन नीर बहीरी।।

पुनः- बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजें।
जे वे लता लगति तनु शीतल अब भईं विषम अनल की पुंजें।
वृथा बहति जमुना तट खगरव वृथा कमल फूलन अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सुमन दै दधिसुत किरन भानु भैं भुंजें।।
ए ऊधो कहिये माधो सों मदन मारि कीन्ही हम लुंजें।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को जोवत अँखियन भईं धुंजें।।

नांच की- **पुरी नरेश की आज्ञा से उस माली की बेटी को श्रीठाकुरजी के वस्त्राभूषणों को धारण कराया। फिर उसने सुन्दर-नृत्य करके पद गया।**

फेरी नृप डौंड़ी यह औंड़ी बात जानि महा कही राजारंग पढ़ैं नीकी ठौर जानिकैं।
अक्षर मधुर और मधुर स्वरनि ही सों गावै जब लाल प्यारी ढिंग हिलैं आनिकैं।।

सुनि यह रीति एक मुगल ने धारि लई पढ़ै चढ़ै घोड़े आगे श्यामरूप ठानि कैं।
पोथी को प्रताप स्वर्गगावत हैं देवबधू आपही जु रीझि लिख्यो निजकर आनि कैं।।१५१।।

शब्दार्थ- **डौंड़ी= ढिढोरा, घोषणा। औड़ी= गहरी, गम्भीर। राजा रंक= बड़े- छोटे सभी। हिलैं= झूमें। देवबधू= अप्सरायें।**

भावार्थ- **उक्त घटना से गीतगोविन्द के गायन को अति गम्भीर रहस्य जानकर पुरी के राजा ने सर्वत्र यह ढिंढोरा पिटवाया कि -कोई राजा हो या निर्धन प्रजा हो, सभी को उचित है कि- इस गीतगोविन्द को अच्छे स्थान मन्दिर या वन- उपवन में स्थिर होकर पढ़े या गावें और उस समय अक्षरों को प्रेम से स्पष्ट उच्चारण करें तथा मधुर स्वरों से ही गान करें। उस समय ऐसी भावना रखें कि- प्रियाप्रियतम श्रीराधाश्यामसुन्दर समीप विराजकर श्रवण कर रहे हैं। गीतगोविन्द के महत्व को एक मुगल-सरदार ने सुन लिया। उसने घोषित रीति के अनुसार गान करने का निश्चय करके अष्टपदियों को कण्ठस्थ कर लिया। जब वह घोड़े पर चढ़कर चलता था तो उस समय घोड़े पर आगे भगवान विराजे हैं ऐसा ध्यान कर लेता था फिर गान करता था। एक दिन उसने घोड़े पर प्रभु को आसन नहीं दिया और गान करने लगा, फिर क्या देखा कि- मार्ग में घोड़े के आगे-आगे मेरी ओर मुख किये हुए श्यामसुन्दर पीछे को चलते हैं और गान सुन रहे हैं। (घोड़े से उतरकर प्रभु के चरण स्पर्श करके वह कृतार्थ हुआ।) गीतगोविन्द का अनन्त-प्रताप है उसे रसिकजन पृथ्वी पर तो गान करते ही हैं पर स्वर्ग में देवाङ्गनायें उसका गान करती हैं। इसकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है, जिस पर स्वयं रीझकर भगवान ने उसमें अपने हाथ से पद लिखा है।।१५१।।**

व्याख्या-एक मुगल ने धारिलई- **कथा इस प्रकार है- मुलतान के एक ब्राह्मण जगन्नाथपुरी आये थे। यहाँ इन्होंने श्रीगीतगोविन्द की प्रशंसा सुनी तो स्वयं भी उसकी एक प्रतिलिपि करके घर ले गये और नित्यप्रति नियम से श्रीगीतगोविन्द का गान करने लगे। मुलतान में मुसलमान बहुत हैं। पण्डितजी जिस मकान में रहते थे उसकी ऊपरी मञ्जिल में एक मुगल रहता था। सायंकाल को जिस समय पण्डितजी अत्यन्त भाव में भरकर गीत-गोविन्द को गाते थे, उसी समय वह मुगल, नबाब के दरबार में जाने के लिए नीचे उतरता था। परन्तु श्रीगीतगोविन्द के माधुर्य से आकृष्ट होकर बीच सीढ़ियों पर खड़ा होकर बड़ा ही तन्मय होकर वह पद सुनने लगता। नित्यप्रति का उसका यही क्रम रहा। एकदिन पण्डितजी ने**

उससे पूछा कि तुम सुनते तो बड़े प्रेम से हो, यह बताओ कि तुम्हारी समझ में भी कुछ आता है? मुगल ने हाथ-जोड़कर कहा-पण्डितजी! बिना समझ में आये ही आपका यह पाठ हमको बड़ा ही अच्छा लगता है। तब पण्डितजी ने प्रसन्न होकर कहा कि यह गीतगोविन्द है, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें इन पदों को पढ़ाकर कण्ठस्थ करा दूँ। मुगल को तो ऐसा लगा कि मानो बिल्ली के भाग्य से छींका टूट गया हो। उसकी तो बड़ी रुचि थी परन्तु श्रीपण्डितजी से कहने का साहस नहीं होता था। जब पण्डितजी ने आज स्वयं चर्चा की तो उसने बड़े ही मनोयोग से श्रीगीतगोविन्द को पढ़ा। तदुपरान्त श्रीपण्डितजी ने उसे समझाया कि जहाँ गीतगोविन्द का पद गाया जाता है वहाँ श्रीश्यामसुन्दर निश्चय ही सुनने को आते हैं। इसलिए तुम भी जब इसका गान करना तो श्रीठाकुरजी के लिए एक आसन बिछा दिया करना। मुगल ने कहा- महाराज! मैं तो दूसरे का चाकर हूँ। मैं आपकी तरह एक जगह स्थायी तो रह नहीं सकता। न जाने कब कहाँ जाने की आज्ञा हो जाय। हमारा अधिक समय घोड़े की सवारी पर ही बीतता है पद गाये बिना मुझसे रहा नहीं जायेगा। तब यह नियम मैं कैसे निभा सकूँगा? कृपा कर कोई युक्ति बताइये। श्रीपण्डितजी ने समझाया कि जब घर पर रहो तब तो कोई कठिनाई है ही नहीं, जब घोड़े पर रहो तो उन पर ही आगे श्रीठाकुरजी के लिए एक गद्दी लगा दिया करो और ठाकुरजी से निवेदन कर दिया करो-प्रभो! इस समय तो आप यहीं आकर विराजिये। उस दिन से मुगल ऐसा ही करता।

एक दिन मुगल को अत्यन्त आवश्यक कार्य से कहीं शीघ्र जाने का हुक्म हुआ। बस, त्वरा में वह श्रीठाकुरजी के लिए गद्दी लगाना भूल गया। परन्तु मार्ग में चला तो अभ्यासवश गीतगोविन्द गाने लगा। भाववश्य भगवान घोड़े के आगे-आगे मुगल की ओर मुख किये नृत्य करते हुए पीछे के बल चलने लगे। जब नूपुरों की ध्वनि कान में पड़ी तो मुगल ने देखा कोटि-काम-कमनीय किशोरमूर्ति भगवान श्रीश्यामसुन्दर को और वह तुरन्त ही घोड़े से उतरकर प्रभु के श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके हाथ- जोड़कर बोला-प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं? श्रीश्यामसुन्दर ने कहा कि तुम गद्दी लगाना भूल गये तो क्या मैं नृत्य करना और सुनना भी भूल जाऊँ? यह कैसे हो सकता है? मुगल गद्गद हो गया प्रभु की भाववश्यता को देखकर। उसने विचार किया कि मेरी भूल से प्रभु को कितना कष्ट उठाना पड़ा है और पराधीन रहने के कारण ऐसी भूलों की बारम्बार सम्भावना है। अतः उसने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और गृहस्थाश्रम का भी परित्याग कर विरक्त वेष धारण कर लिया।

पोथी की तो बात सब कही मैं सुहात हिये सुनो और बात जामें अति अधिकाइये।
गाँठि में मुहर मग चलत में ठग मिले कहो कहाँ जात जहाँ तुम चलि जाइये।।
जानि लई बात खोलि द्रव्य पकराय दियो लियो चाहो जोई-जोई सोइ मोकों ल्याइये।
दुष्टनि समुझि कही कीनी इन विद्या अहो आवै जो नगर इन्हें वेगि पकराइये।।१५२।।

शब्दार्थ-**अति अधिकाइये = बहुत विशेषता। विद्या=माया, छल, चालाकी।**

भावार्थ- **टीकाकार का कथन है कि- गीतगोविन्द के महत्व की बातों को मैंने पूर्वोक्त कवित्तों में कह दिया। अब उनके दूसरे चरित्रों के प्रसंग सुनिये, जिसमें उनके त्याग, वैराग्य एवं सहनशीलता आदि गुणों की अति- अधिकता प्रकट है। श्रीजयदेवजी को एक बार एक सेवक ने अपने घर बुलाया। दक्षिणा में आग्रह करके कुछ मुहरें देने लगा, आपके मना करने पर भी उसने आपकी चद्दर में मुहरें बाँध दीं। आप अपने आश्रम को चले, तब मार्ग में उन्हें ठग मिल गये। आपने उनसे पूछा कि तुम लोग कहाँ जावोगे। ठगों ने उत्तर दिया- जहाँ तुम जा रहे हो वहीं हम भी जायेंगे। श्रीजयदेवजी समझ गये कि ये ठग हैं। आपने गांठ खोलकर सब मुहरें उन्हें दे दीं और कहा कि- इन्हें लीजिये, इनमें से जितनी आप लेना चाहें लें। मुझे जो चाहिये सो ला देना। (अथवा दोंनो को एक ही स्थान पर जाना है, आप इन्हें रखिये। जब जो मैं लेना चाहूँगा तब मुझे दे देना) उन दुष्टों ने अपने मन में सोच-समझकर कहा कि-इन्होंने मेरे साथ चालाकी की है। अभी तो भयवश सब धन बिना माँगे ही हमें सौंप दिया है। परन्तु इनके मन में यही है कि- यहाँ से तो चलने दो, आगे जब नगर आवेगा तो शीघ्र ही इन सभी को पकड़वा दूँगा। (सभी ठग मार्ग में श्रीजयदेवजी से कुछ पिछड़कर आपस में विचार करने लगे कि अब क्या किया जाय।)।।१५२।।**

व्याख्या- ठग मिले- **चोर डाकू, ठगों को रुपयों की गन्ध आती है। कोई कैसे ही छिपाकर चले, यत्न से रखे, ये जान ही जाते हैं कि इसके पास रुपये हैं। 'जानि लई बात' जैसे ठगों ने यह जान लिया कि इनके पास मुहरें हैं वैसे ही श्रीजयदेवजी भी जान गये कि ये ठग हैं। जैसे रुपयों की परख ठगों को होती है वैसे ही पुरुष की परख साधुओं को होती है। यथा-'हीरा जानै जौहरी, पुरुष पिछानै साधु। गुनी गुनग्यहिं जानहीं, खल अनरथ अपराध।।' (सन्तवाणी) 'द्रव्य पकराइ दियो' श्रीजयदेवजी अर्थ की अनर्थरूपता से भलीभाँति परिचित हैं। श्रीमद्भागवतजी में धन के १५ दोष वर्णन किये गये हैं। यथा-**

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्।।
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च।।
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेम्।। (भा० ११।२३।१७)

अर्थ- **धन के उपार्जन में, उपार्जन कर लेने पर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करने में तथा उनके नाश और उपभोग में मनुष्य को निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण, पाषण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, बैर, अविश्वास, स्पर्धा (होड़, ईर्ष्या) और (स्त्री, द्यूत, मद्य) तीनों प्रकार के व्यसन ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों को धन के कारण होते हैं। अतः कल्याण कामी पुरुष को अर्थनामधारी इस अनर्थ को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। अतः श्रीजयदेवजी ने 'द्रव्य पकराइ दियो।' पुनः श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि- तावद्भयं····। तथा तावद्रागादयः। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४६) अतः 'द्रव्य पकराइ दियो।'**

पुनः- पैसा पापी परसि के साधु लगावै पाप।
विमुख करै गुरु इष्ट ते उपजावै सन्ताप।।
उपजावै सन्ताप ज्ञान वैराग बिगारै।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर श्रृङ्गारै।।
सब द्रोहिन ते सिरे भक्त द्रोही नहिं ऐसा।
भगवत रसिक अनन्य भूलि जनि परसो पैसा।।

अतः 'द्रव्य पकराइ दियो।' श्रीजयदेवजी ने तनिक भी धन का लोभ एवं मोह नहीं किया। क्योंकि समस्त पाप- दुःख के मूल लोभ और मोह ही हैं। यथा-

लोभ मूलानि पापानि रस मूलानि व्याधयः।
मोह मूलानि दुःखानि तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (नीतौ)

अतः आपने सर्वथा अनासक्त भाव से उन ठगों से कहा- भैया! मैं वृद्ध हूँ, दूर जाना है, मेरे पास ये मुहरें हैं, मुझे इनकी चिन्ता करनी पड़ती है। आप लोग भले मिल गये लीजिये, ये मुहरें आप सब संभालें। यह कहकर, 'द्रव्य पकराइ दियो।' यद्यपि श्रीजयदेवजी ने बड़ी सरलता से सहर्ष उन्हें सब धन दे दिया, परन्तु चोरों ने तो कुछ और ही समझा

तभी तो कहा गया है-'चोर की दाढ़ी में तिनका।' पुनः-'चलइ जोंक जल वक्रगति यद्यपि सलिल समान।' (रामा०) अर्थात् जलके समानरूपसे स्थिर होने पर भी जोंक स्वभाववश टेढ़ी चलती है, वैसे ही दुष्ट अपने स्वभाववश दुष्टता ही करते हैं। यथा-

भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।।

पुनः- सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच।
मरत सिखावन दे गये गीधराज मारीच।। **(दो०)**

पुनः-नीतौ- आराधितो वाप्यपराधितो वा खलः करोत्येव सदापकारम्।
पादस्थितो मूर्द्धनि संस्थितो वा दशत्यवश्यं खलु दन्दशूकः।।

अर्थ-**दुष्ट की आराधना करो चाहे विरोध करो, वह तो अपकार करेगा ही। जैसे सर्प पाँव-तले हो, चाहे सिर पर हो, वह तो डसेगा ही। अतः 'दुष्टनि समुझि कही०।'**

एक कहै डारो मार भलो है विचार यही एक कहै मारौ मत धन हाथ आयो है।
जो पै ले पिछान कहूं, कीजिये निदान कहा? हाथ पांव काटि बड़े गाढ़ पधरायो है।।
आयो तहाँ राजा एक देखिकै विवेक भयो उजियारो औ प्रसन्न दरसायो है।
बाहर निकासि मानो चन्द्रमा प्रकास राशि पूछ्यो इतिहास कह्यो ऐसो तनु पायो है।।१५३।।

शब्दार्थ-**निदान = आखिर। गाढ़=गड्ढा।**

भावार्थ-**उन ठगों में से एक ने कहा कि-इसे मार ही डालो, यही विचार सबसे ठीक है। तब दूसरे ने कहा जब सब धन हमारे हाथ में आ गया है, तब इसे मारना व्यर्थ है, अतः इसे मत मारो। तब तीसरे ने कहा कि-यदि बाद में कहीं हम लोगों को यह पहचान लेगा और फिर राजा से दण्ड दिलावेगा तब हम लोग आखिर क्या करेंगे? तब चौथे ने कहा कि-[इसे मारो भी मत और छोड़ो भी मत] इसके हाथ-पाँव काटकर किसी बड़े गड्ढे में डाल दो। इस बात से सभी सहमत हो गये और श्रीजयदेवजी के हाथ-पैर काटकर बड़े गड्ढे में डालकर अपने-अपने घरों को चले गये। थोड़े समय बाद ही वहाँ एक राजा [लक्ष्मणसेन] आया। जब उसने श्रीजयदेवजी को देखा तो उसे सद्बुद्धि हुई। उसने गड्ढे में दिव्य प्रकाश छाया देखा और हाथ-पैर कटने पर भी श्रीजयदेवजी परम प्रसन्न दिखाई पड़े। उन्हें गड्ढे से बाहर निकालकर बाहर पधराया तो ऐसा लगा कि मानो यह प्रकाशपुंज चन्द्रदेव हैं। राजा ने हाथ-पैर कटने का प्रसंग पूछा तो आपने उत्तर दिया कि-मुझे इस प्रकार का ही शरीर प्राप्त हुआ है।।१५३**

व्याख्या-हाथ पाँव काटि-यहाँ उपदेश है-'नेक वित्त संयोग ते, कटे हाथ अरु पांव। ह्वै विरक्त धन लोभ करि, करि नहिं सकै बचाव।।' (भ०व०टि०) पूर्व कवित्त १४४ में। जगन्नाथ भगवान ने ब्राह्मण से कहा था कि 'रसिक जैदेव नाम मेरोई स्वरूप' यह बात अब प्रत्यक्ष हो गई। श्रीजगन्नाथजी का श्रीविग्रह अपूर्ण हस्त-पाद युक्त है। श्रीजयदेवजी भी अब वैसे ही हो गये। यहाँ प्रसङ्गवश श्रीजगन्नाथ भगवान की थोड़ी चर्चा कर देते हैं-बात उस समय की है जब भगवान श्रीकृष्ण अपनी १६१०८ रानियों के साथ द्वारिकापुरी में विराजते थे। वे बार-बार गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करके विह्वल हो जाते थे।

यह देख-सुनकर रानियों को कुछ अमर्ष भी होता और कुछ उनकी प्रेम-कथा सुनने की उत्कंठा भी। तब एक दिन सभी रानियों ने श्रीरोहिणी माता से प्रार्थना की कि वे व्रज-गोपियों के प्रेम की चर्चा करें। श्रीरोहिणीजी ही ऐसी हैं जिन्हें श्रीकृष्ण की सब लीलाओं को देखने का सौभाग्य मिला है। यह सौभाग्य न तो श्रीदेवकीजी को ही मिला, न श्रीयशोदा को ही। श्रीयशोदा ने बाललीला देखी, परन्तु वह मथुरा-द्वारिका लीला न देख सकी। श्रीदेवकीजी ने मथुरा-द्वारिका लीला देखी, परन्तु श्रीकृष्ण की बाल-लीला न देख सकी थीं। हाँ तो, श्रीरोहिणीजी ने कहा कि व्रज की प्रेमकथा ऐसे नहीं कही जा सकती है। यदि कहीं श्रीकृष्ण-बलराम सुन लेंगे तो प्रेमाकुल हो जायेंगे, फिर तो उन्हें संभालना मुश्किल हो जायेगा। तब रानियों ने कहा कि द्वार पर कोई सेवक नियुक्त कर दिया जाय। श्रीरोहिणीजी ने कहा कि वे किसी सामान्य सेवक को नहीं मानेंगे, भीतर आ ही जायेंगे। तब सबने श्रीसुभद्राजी से प्रार्थना किए कि वह द्वार पर बैठकर पहरा दें। श्रीप्रभु उनका अदब करेंगे श्रीसुभद्राजी द्वार पर पहरे में बैठीं।

श्रीरोहिणीजी महल में कथा कहने लगीं और सब रानियाँ बड़े ही मनोयोग से सुनने लगीं। परन्तु हुआ क्या कि श्रीरोहिणीजी को कहते-कहते आवेश आ गया और वह जोर-जोर से (उच्च स्वर से) वर्णन करने लगीं। उनके शब्द श्रीकृष्ण-बलराम को कर्णगोचर हुए। फिर तो वे कथा से आकर्षित होकर उधर ही चले गये। देखें तो द्वार पर श्रीसुभद्राजी बैठीं थीं। भीतर जाने का प्रयत्न करने पर श्रीसुभद्राजी ने रोककर उन्हें परिस्थिति का परिचय कराया। तब दोनों भाई भीतर तो नहीं गये परन्तु वहीं बैठ गये। बीच में थीं श्रीसुभद्राजी। श्रीरोहिणीजी के शब्द द्वार से भी सुस्पष्ट सुनाई देते थे। अतः सुनते-सुनते दोनों भाइयों को विरह व्याप गया। अत्यन्त प्रेमाकुल होकर क्रन्दन करने लगे। शरीर में ऐंठन होने लगी। हाथ-पाँव सभी अंग संकुचित होकर भीतर धँस गये। बड़ी ही विवर्णदशा को प्राप्त

हो गये। (यह सब प्रेम की अत्युच्च दशा है। विशेष देखिये छप्पय ७२ में। श्रीगौराङ्गजी का चरित्र।)

संयोग की बात, उसी समय प्रभु के दर्शनार्थ देवर्षि नारदजी वहाँ आ गये तो उन्होंने श्रीप्रभु की यह प्रेमविह्वल दशा देखकर कहा-जै जै प्रभो! यह क्या हो रहा है? वैसे तो मैंने आपके अनेकों रूप देखे हैं, परन्तु यह झाँकी तो आज ही देखी है। भक्तों पर आपकी इतनी करुणा है कि उनके विरह में आपकी ये स्थिति हो रही है। तत्पश्चात् श्रीनारदजी ने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक महल में आकर डाँट-डपटकर रोहिणीजी का वक्तव्य बन्द कराया। फिर आकर श्रीप्रभु की स्तुति करके यह वर माँगा कि आपका यह करुणावतार सर्वसुलभ हो। आप इस रूप से नित्य भक्तों को दर्शन देकर उनका कल्याण करें। इसी वरदान के फलस्वरूप कालान्तर में उत्कल क्षेत्र (उड़ीसा) के राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा किये गये एक सहस्त्र अश्वमेध यज्ञ के पूर्ण होने पर भगवान यज्ञ की महावेदी पर दारु-विग्रह धारणकर प्रकट हुए। वह स्थान 'गुण्डिचा-क्षेत्र' कहा जाता है। फिर राजा ने भगवदादेश से विशाल-मन्दिर बनवाकर वेद-मंत्रों से भगवान् की प्रतिष्ठा कराई। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को भगवान प्रकट हुए थे। अतः उस दिन भगवान् मन्दिर से रथ पर आरूढ़ होकर गुण्डिचा क्षेत्र की यात्रा करते हैं जिसे 'रथ-यात्रा' का उत्सव कहा जाता है।

आयो तहाँ राजा एक-**गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेन की सवारी उधर से निकली। ये उच्च स्वर से श्रीकृष्णनाम संकीर्तन कर रहे थे। नामध्वनि सुनकर राजा का ध्यान आकृष्ट हुआ। (कोई-कोई कहते हैं कि राजा आखेट खेलने गये थे। प्यास लगी थी, सेवकों को जल की तलाश थी। वे जलाशय खोजते-खोजते उस सूखे कुएँ के पास पहुँच गये जिसमें श्रीजयदेवजी पड़े थे।) सेवकों के कहने पर जब श्रीलक्ष्मणसेनजी ने समीप जाकर देखा तो 'छायो उजियारो औ प्रसन्न दरसायो है।' प्रश्न-इतने कष्ट में भी प्रसन्न क्यों? समाधान-'मन तहँ जहँ रघुवर वैदेही। बिनु मन तनु दुःख सुख सुधि केही।।' (रामा०) पुनः श्रीविहारिनिदेव जी कहते हैं कि-'रोग भोग संयोग वियोगी आवत जात न रोकौ। तुम्हरे रस सब कछू न जानौं दुःख सुख हर्ष न सोकौ।।' अतः प्रसन्न थे तथा भक्ति का प्रकाश छा रहा था। यह सब देखकर राजा समझ गए कि ये कोई महापुरुष हैं, अतः तुरन्त बाहर निकालें।**

ऐसो तनु पायो है-**प्रश्न-श्रीजयदेवजी ने ऐसा क्यों कहा? समाधान-इसका एक समाधान तो यह है कि श्रीजगन्नाथ भगवान का ऐसा रूप ही है और यह जगदीश के अवतार हैं।**

अतः कहे -ऐसो तन०। पुनः-काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत कर्मभोग सब भ्राता।। (रामा०) अर्थात् यह तो मेरे ही कर्म का भोग है, अतः मुझे जो होना था वह तो हुआ ही, अब भेद बताकर दूसरों को क्यों कष्ट दिया जाय? यदि मैं सब विवरण बताऊँगा राजा निश्चय ही चोरों का पता लगवाकर उन्हें भारी दण्ड देंगे। परम साधु श्रीजयदेवजी को यह अभीष्ट नहीं है। दृष्टान्त-श्रीद्रौपदीजी का-अपने पुत्रों की हत्या करने वाले अश्वत्थामा को पशुवत बाँधकर लाये जाने पर इस महादेवी ने कहा-छोड़ दो, छोड़ दो इनको। मैं नहीं चाहती कि इनके मारे जाने पर इनकी माता कृपी भी मेरी तरह से रोवे। आदि। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६८। अतः कहे-ऐसो तन०। पुनः-निश्चितरूपसे यह कहना भी कठिन है कि सुख-दुःख का वास्तविक हेतु क्या है? वृषभरूपधारी धर्म को विकलांग देखकर जब श्रीपरीक्षितजी ने उसके दुःख का कारण पूछा तो धर्म ने यही कहा कि-

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेद विमोहिताः।।
केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्।।
अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया।। (भा० १।१७।१८ से २०)

अर्थ-हे राजन्! शास्त्रों के विभिन्न वचनों से मोहित होने के कारण हम उस पुरुष को नहीं जानते, जिससे क्लेशों के कारण उत्पन्न होते हैं। जो लोग किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको ही अपने दुःख का कारण बताते हैं। कोई प्रारब्ध को कारण बतलाते हैं, तो कोई कर्म को। कुछ लोग स्वभाव को, तो कुछ लोग ईश्वर को दुःख का कारण मानते हैं। किन्हीं-किन्हीं का ऐसा भी निश्चय है कि दुःख का कारण न तो तर्क द्वारा जाना जा सकता है और न वाणी द्वारा बतलाया जा सकता है। राजर्षे! अब इनमें कौन-सा मत ठीक है, यह आप अपनी बुद्धि द्वारा विचार लीजिये। अतः श्रीजयदेवजी भी और कुछ न कहकर कहे-ऐसो तनु०। पुनः-यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्। (भा०) अर्थात् अधर्म करने वाले को जो नरकादि प्राप्त होते हैं वे ही चुगली करने वालों को भी मिलते हैं अतः अपने दुःख देने वाले का नाम न बताकर कहे-ऐसो तनु०। पुनः-पापी अपने पाप ते मार्‌यो जाय तो जाय। तुम जनि छाँड़ो जन गोविन्द अपनो शील सुभाय।।' चार चिह्न हरिभगत के, प्रगट दिखाई देत। छमा दया अरु दीनता, पर औगुन

ढकि लेत।।' 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। वन्दनीय जेहि जग जस पावा।।' अतः कहे-ऐसो तनु०।

बड़ेई प्रभाववान सकै को बखान अहो मेरे कोऊ भूरि भाग दरशन कीजियै।
पालकी बिठाय लिये किये सब ठूठ नीके जीके भाये भये कछु आज्ञा मोहिं दीजियै।।
करौ हरि साधु सेवा नाना पकवान मेवा आवैं जोई सन्त तिन्हैं देखि देखि भीजियै।
आये वेई ठग माला तिलक चिलक किये किलकि के कही बड़े बन्धु लखि लीजियै।।१५४।।

शब्दार्थ-**भूरि=बहुत, बड़े। ठूठ=कटे हुए हाथ-पैर। भीजिये=प्रेमार्द्र होइये। चिलक=चिकने, चमकते। किलक= प्रसन्न होकर।**

भावार्थ-**श्रीजयदेवजी के दिव्य दर्शन एवं मधुर वचनामृत को श्रवण कर राजा ने मन में विचारा कि ये तो कोई बड़े ही प्रतापशाली महापुरुष हैं, इनके महत्व और गुणों का वर्णन कौन कर सकता है। मेरा बड़ा-भारी सौभाग्य है कि ऐसे सन्त के दर्शन प्राप्त हुए। राजा उन्हें पालकी में बिठाकर घर ले आया। चिकित्सा के द्वारा कटे हुए हाथ-पैरों के घाव ठीक करवाये। राजा ने श्रीजयदेवजी से प्रार्थना की कि- मेरे मन में किसी महापुरुष के सत्सङ्ग को प्राप्त करने की इच्छा थी, वह पूरी हो गई। अब आप मुझे आज्ञा दीजिए कि कौन-सी सेवा करुँ। (जिससे मेरा कल्याण हो।) श्रीजयदेवजी ने कहा कि- राजन्! अनेक प्रकार के मेवा और मिष्ठानों के द्वारा श्रद्धा समेत भगवान और भगवान के भक्तों की सेवा कीजिये। जो सन्त आवैं उनका दर्शन करके आनन्दमग्न हो जाया कीजिये। (ऐसी आज्ञा पाकर राजा हरि-साधु सेवा करने लगा इसकी ख्याति चारों ओर फैल गई।) एक दिन वे ही चारों ठग सुन्दर कण्ठी-माला धारण कर, और चमकते हुए विशाल तिलकों को लगाकर, आकर्षक सन्तवेष धारण किये हुए राजा के यहाँ आये। उन्हें देखते ही श्रीजयदेवजी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा- देखो, आज मेरे बड़े गुरुभाई लोग यहाँ आये हैं। ऐसा कहकर उन्होंने सबका बड़ा ही स्वागत किया।।१५४।।**

व्याख्या-करो हरि साधु सेवा- **क्योंकि-सब सन्तन निर्णय कियो, श्रुति पुराण इतिहास। भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास।। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध दोहा ३ की व्याख्या। पुनः- 'हरि साधु सेवा कर्णफूल' देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त ३ की व्याख्या। 'आवै जोई सन्त'- भाव यह कि वेषमात्र की सेवा करो। क्योंकि-'निपट अमोल यह सन्तन को भेष है।' यथा -'माला तिलकमुद्राभिः संयुक्तो यः प्रदृश्यते। चाण्डालोऽपिमहीपाल पूजनीयो**

न संशयः।।' अर्थ- कण्ठी, माला, तिलक छाप से युक्त चाण्डल भी पूजनीय है इसमें सन्देह नहीं है। 'आये वेई ठग'-उन ठगों ने सुना कि कोई भी साधु का वेषमात्र धारण करके जावे तो राजा उसका धन-वस्त्र आदि से बहुत सत्कार करते हैं अतः वे भी साधुवेष बनाकर आये। 'माला-तिलक चिलक किये'-'तोल बरोबर घोंघची मोल बरोबर नाहिं। वेष बरोबर परशुराम, भेद बरोबर नाहिं।।'' (तौल में घोंघची और सोना बराबर होने पर भी उनके मोल में महान् अन्तर होता है। वैसे ही वास्तविक सन्त और वेषधारी देखने में एक से प्रतीत होने पर भी उनके हार्दिक भावों में महदन्तर होता है। किलकि के कही-'घटि बढ़ि बातें वेष की कीजै नही बनाइ। गुरु को बानो परस राम लीजै कण्ठ लगाइ।।' 'बड़े बन्धु-सन्त का स्वभाव होता है-'सबहिं मानप्रद आपु अमानी।' (रामा०) अतः वेषधारी ठगों को भी बढ़ा करके माने। पुनः-'सपनेहुँ नहिं देखहिं पर दोषा।' तथा अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।' (रामा०) अतः श्रीजयदेवजी ने भी वेषगुन को ग्रहण कर ठगों को बड़े बन्धु करके माना।

नृपति बुलाय कही हिये हरि भाय भरि ढरे तेरे भाग अब सेवा फल लीजियै।
गयौ लै महल माँझ टहल लगाये लोग लागे होन भोग जिय शङ्का तन छीजियै।।
माँगै बार बार विदा राजा नहीं जान देत अति अकुलाये कही स्वामी धन दीजियै।
दैकै बहु भाँति सो पठाये संग मानुष हूं आवौ पहुँचाय तब तुम पर रीझियै।।१५५

शब्दार्थ-ढरे=फले, प्रसन्न हुए।

भावार्थ-श्रीजयदेवजी ने उन्हें हृदय से भगवत् के समान माना और शीघ्र राजा को बुलवाकर कहा कि-'ये बड़े-भारी सन्त हैं, इनके हृदय भगवत्प्रेम से परिपूर्ण हैं। आज तेरे बड़े भाग्य फले हैं, जो ये तेरे घर पर पधारे हैं। अब तुम इनकी प्रेम से यथोचित सेवा करके सन्त-सेवा का फल प्राप्त करलो। आज्ञा पाकर राजा उन्हें भीतर महल में ले गया। और अनेक सेवकों को उनकी सेवा में लगा दिया। बड़े सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजन होने लगे परन्तु उन चारों के मन अपने पाप से व्याकुल थे, उन्हें भय था कि यह हमें पहचान गया है, राजा से कहकर मरवा देगा। इस चिन्ता के कारण उनके शरीर सूखे जा रहे थे, वे राजा से बार-बार विदा माँगते थे, पर राजा उन्हें जाने नहीं देता था। जब वे अत्यन्त व्याकुल होने लगे, चले जाने का आग्रह करने लगे, तब स्वामी श्रीजयदेवजी ने राजा से कहा कि-इन्हें पर्याप्त धन देकर विदा कीजिये। राजा ने अनेक प्रकार के वस्त्र-रत्न आभूषणादि

उन्हें देकर विदा किया। सामान को ढोने के लिए साथ में कई मनुष्यों को भी भेजा और कहा कि-इनको अपने आश्रम में आदरपूर्वक पहुँचाकर आओ, तब हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होंगे और तुम्हें भी मुँह-माँगी वस्तु देंगे।।१५५

व्याख्या-ढरे तेरे भाग-'धन्यभाग या भूप के, सेवा ऐसी कीन। जाके शुभ परताप ते साधु रूप ठग कीन।।' (भ०व०टि०) सेवाफल-'सन्त की सेवा किये, हरि मानें परितोष।' (भगवतरसिकजी) 'मानत सुख सेवक सेवकाई।।' (रामा०) 'सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुवीर चरन लौ लागै।। देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।।' (विनय)

गयो लै महल-श्रीजयदेवजी ने आज्ञा दी कि इन सन्तों का महल में आसन लगवाइये। न तो अपने पास आसन लगवाया, न सन्त निवास में ही। अपने पास तो इसलिए नहीं लगवाया कि इन्हें अपने पूर्व के कुकृत्यों का स्मरण करके सोच-सङ्कोच होगा और सन्त निवास में आसन इसलिए नहीं लगवाया कि वहाँ इन लोगों की पोल-पट्टी खुल जायेगी। क्योंकि ये सन्तों की कोई टकसाल तो जानते नहीं हैं केवल वेष-भर बना लिए हैं। कोई सन्त कुछ पूछ लेगा तो ये अपना-सा मुँह लेकर रह जायेंगे।

जिय शङ्का तन छीजिये-ठग अपने पाप से गले जा रहे थे। राजा के सत्कार को वे बलि के बकरे के पूजन के समान समझते थे। वे सोचते थे कि अब खूब मन-माना खिला-पिलाकर अन्त में हम लोगों को फाँसी दे देंगे। तभी तो कहा गया है-'सपनेहुँ सुख न सन्त द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ विष फरनि फरै।' (विनय) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३३०। 'धन दीजिये-इसलिए कि ये धन के लोभवश ही अनेकों कुत्सित कर्म करते हैं, अपना लोक-परलोक बिगाड़ते हैं। यहाँ भी धन के लिये ही वैष्णव वेष धरकर आये हैं अतः इनको पर्याप्त धन दिया जाना चाहिये जिससे इनकी वृत्ति सुधर जाय। 'माँगै बार-बार विदा' आज, कल, अमावस, पूनो, एकादशी, प्रदोष, श्रीरामनवमी, श्रीकृष्णाष्टमी करते-करते इन्हें बहुत दिन तक राजा ने रोक रखा था।

पूछैं नृप नर कोऊ तुम्हरी न सरवर जिते आये साधु ऐसी सेवा नहीं भई है।
स्वामीजू सौं नातौ कहा? कहौ हम खाँइ हाहा राखियो दुराइ यह बात अति नई है।।
हुते एक ठौर नृप चाकरी में तहाँ इन कियोई बिगार 'मारि डारो' आज्ञा दई है।
राखे हम हितू जानि लै निदान हाथ-पाँव वाही के इसान अब हम भरि लई है।।१५६

शब्दार्थ-खाँय हाहा = गिड़गिड़ावें, अत्यन्त दीनता करें। चाकरी = नौकरी। बिगार=अपराध, चोरी। हितू=प्रेमी। इसान=अहसान, उपकार।

भावार्थ-(राजा के सिपाही लोग उनकी गठरियों को लेकर उन ठग-सन्तों को पहुँचाने के लिये उनके साथ-साथ चले, कुछ दूर जाने पर विश्राम के लिये एक ओर राजपुरुष दूसरी ओर वे सन्त बैठ गये) राजपुरुषों ने उन सन्तों से पूछा कि-भगवन्! आप लोगों के समान दूसरा कोई सन्त हमने नहीं देखा। राजा के यहाँ नित्य सन्त-महात्मा आते-जाते रहते हैं परन्तु आपकी जैसी सेवा हुई है, स्वामीजी ने जितना सत्कार आपका किया और राजा से करवाया है, ऐसा किसी दूसरे साधु को सत्कार, सेवा-सत्कार आज तक नहीं हुआ। इसलिए हम हा-हा खाते और अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आप बताइये कि-स्वामीजी से आपका क्या सम्बन्ध है। उन्होंने कहा-यह बात अत्यन्त नई तथा गोपनीय हैं, मैं तुम्हें बताता हूँ, पर तुम किसी से मत कहना। पहले तुम्हारे स्वामीजी और हम सब एक राजा के यहाँ नौकरी करते थे। वहाँ इन्होंने बड़ा भारी अपराध किया। राजा ने इन्हें मार डालने की आज्ञा दी परन्तु हमने अपना प्रेमी जानकर इनको मारा नहीं। केवल हाथ-पैर काटकर राजा को दिखा दिया और कह दिया कि हमने मार डाला। उस हमारे उपकार के बदले में हमारा सत्कार विशेष रूप से कराया गया है। हम लोगों ने अपने उपकार का बदला भर पाया।।१५६।।

व्याख्या-राखियो दुराइ बात-इसका बहिरङ्ग भाव तो यह कि कह देने से तुम्हारे स्वामीजी की हानि होगी। हम लोग साधु हैं, सबको सम्मान देने वाले हैं, किसी की मानहानि नहीं करते हैं, अतः 'राखियो दुराइ०।।' परन्तु अन्तरङ्ग भाव यह है कि ये ठग कहते सरासर झूंठ हैं, कहीं ये सिपाही जाकर कहें और जयदेवजी अपने ऊपर लगाये गये झूंठे आरोपों से अप्रसन्न होकर सब बात सही-सही कह देंगे तो हम लोगों की खैर नहीं, अतः कहते हैं-'राखियो दुराइ।' लै निदान हाथ पाँव-कहावत है-पाप सिर पर चढ़कर बोलता है। आखिर इन दुष्टों ने यह तो स्वयं स्वीकार कर ही लिया कि इनके हाथ-पाँव हम लोगों ने ही काटे हैं। पाप छिपता नहीं है।

फाटि गई भूमि सब ठग वे समाइ गये भये ये चकित दौरि स्वामी जू पै आये हैं।
कही जिती बात सुनि गात गात काँपि उठे हाथ-पाँव मीड़े भये ज्योंके त्यों सुहाये हैं।।
अचरज दोऊ नृप पास जा प्रकाश किये जिये 'एक सुनि आये वाही ठौर धाये हैं।
पूछैं बार-बार सीस पाँयनि पै धारि रहे कहिये उघारि कैसे मेरे मन भाये हैं।।१५७

शब्दार्थ-समाइ गये = घुसि, धँस गये। मीड़े=मले। उघारि=खोलकर।

भावार्थ-उन कृतघ्नी साधु-वेषधारियों के इस प्रकार झूँठ बोलते ही पृथ्वी फट गई और वे सब उसमें समा गये। इस दुर्घटना से राजपुरुष लोग आश्चर्यचकित हो गये। वे सबके-सब दौड़कर स्वामीजी के पास आये और जैसा हाल था कह सुनाया। उसके सुनते ही श्रीजयदेवजी का सम्पूर्ण शरीर काँप उठा, वे उन लोगों के धरती में समाने के दुःख से दुःखी होकर हाथ-पैर मलने लगे। उसी क्षण उनके हाथ-पैर बड़े सुन्दर जैसे थे वैसे ही फिर हो गये। राजपुरुषों ने दोनों आश्चर्यजनक घटनाओं को राजा से कह सुनाया। हाथ-पैर पूरे हो जाने की घटना सुनकर राजा अति प्रसन्न हुआ, उसके प्राणों में प्राण आ गये। उसी समय वह दौड़कर स्वामीजी के समीप आया। राजा अत्यन्त प्रेम से बार-बार श्रीजयदेवजी के चरणों में सिर रखकर पूछने लगा-प्रभो! कृपा करके इन दोनों चरित्रों का रहस्य खोलकर कहिये कि-क्यों धरती फटी और उसमें सब साधु कैसे समाये। आपके ये हाथ-पैर कैसे निकल आये। सुन्दर हाथ-पैरों को देखकर राजा ने फिर कहा कि- इन कर-कमल और चरण-कमलों के दर्शन मुझे अत्यन्त प्रिय लगे हैं।।१५७।।

व्याख्या फाटि गई भूमि- पृथ्वी इन दुष्टों का भार नहीं सह सकी। यथा- पृथ्वी वाक्य-'गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोही।। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही।।' (रामा०) अतः पृथ्वी फटी और ठग उसमें समा गये। ठगों ने अपनी करनी का फल पाया।

दृष्टान्त- एक ठग साधु का- एक वेषधारी राजमहल के समीप के मार्ग से जा रहा था। उसने महल की छत पर खड़ी राजकुमारी को देखा तो उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। फिर तो वह जाकर राजद्वार पर डट गया। राजा बड़े सन्तसेवी एवं उदार थे। अतः उन्होंने सेवकों से स्वर्णथाल में मणिरत्न की भेंट भेजी। परन्तु वेषधारी ने उन्हें नहीं लेकर राजा से मिलने की इच्छा प्रकट की। जब सेवकों ने उसे राजा से मिलाया तो वह बोला राजन! तुम्हारी यह लड़की महा-अमङ्गलरूपा हैं, तुम शीघ्र इसे काष्ठ की पेटी में बन्दकर नदी में बहा दो, फिर तो तुम्हारे यहाँ महामङ्गल होगा। राजा ने वेषधारी की बातों में आकर ऐसा ही किया। वह काष्ठ-पेटिका तैरते-तैरते एक दूसरे राजा के राज्य में जा पहुँची। संयोग से उस समय वहाँ के राजकुमार वहीं स्नान कर रहे थे। पेटी देखकर कुतूहलवश उसे पकड़ लिए। खोलकर देखे तो उसमें रमणीरत्न एक राजकुमारी थी। राजकुमार राजकुमारी को घर लाये और उस पेटी में एक भालू बन्द कर बहा दिये। घर आकर राजकुमार ने विधिपूर्वक राजकुमारी का पाणिग्रहण किया। उधर वेषधारी ने बड़ी उतावली

पूर्वक जाकर पेटी पकड़ी और ज्यों ही उसे खोला, भूखे भालू ने तुरन्त उसे मार डाला। इसी पर यह दोहा प्रसिद्ध है- 'जो जासों करता वदी, वदी ताहि धरि खाय। कन्या सोवे कुंवर घर बाबहि भालु चबाय।।'(भ०व०टि०)

प्रश्न- जब ठगों ने श्रीजयदेवजी का हाथ-पाँव काटा था, तब पृथ्वी क्यों न फट गई? समाधान- पाप-पुण्य एक प्रकार की खेती हैं, जैसी खेती समय पर फलवती होती है उसी प्रकार पाप-पुण्य भी समय पर फल देते हैं। यथा-' समय पाइ जनु सुकृत सुहाये।' (रामा०) पुनः-'तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान। पाप- पुण्य दोइ बीज हैं, बवै सो लुनै निदान।।' इसी से समय पर ही चारों को दण्ड भी मिला और समय पर ही श्रीजयदेवजी के हाथ-पाँव भी निकले। प्रश्न- भगवान ने इन्हें और किसी प्रकार का प्राणदण्ड न देकर यही दण्ड क्यों दिया? समाधान- ठग वैष्णव वेष बनाकर आये थे। अन्य दण्ड देने से वेष की बदनामी होती। ऐसे वेष की मर्यादा भी बनी रही और उन्हें उचित दण्ड भी मिल गया। 'भये ये चकित'- सिपाहियों ने समझा कि मालूम पड़ता है कि ये कोई महासिद्ध प्रसिद्ध थे, आकाश से आये, पाताल को चले गये। श्रीप्रह्लाद, बलि आदि रहे होंगे, वैकुण्ठ में भगवान का दर्शन करने गये थे, अब हम लोगों को दर्शन देकर अपने लोक (पाताल) चले गये।

राजा अति आरि गही कही सब बात खोलि निपट अमोल यह सन्तन को वेस है।
कैसो अपकार करै तऊ उपकार करैं ढरैं रीति आपनी ही सरस सुदेस है।।
साधुता न तजैं कभूँ, जैसे दुष्ट, दुष्टता न, यही जानि लीजै मिले रसिक नरेस है।
जान्यो जब नांव ठांव रहो इहाँ बलि जांव भयो मैं सनाथ प्रेम भक्ति भई देस है।।१५८

शब्दार्थ-आरि=हठ। अपकार= बुराई। ढरैं= चलैं। सरस=भक्तिरसपूर्ण। सुदेश=उत्तम देश, राज्य हृदय, उद्देश्य। साधुता=परोपकारी स्वभाव।

भावार्थ- राजा ने स्वामीजी से जब अत्यन्त हठ किया। तब उन्होंने सब बात खोलकर कह दी, फिर बोले कि- देखो, राजन्! यह सन्तों का वेष अत्यन्त अमूल्य है, इसकी बड़ी-भारी महिमा है। सन्तों के साथ कोई चाहे जैसी और चाहे जितनी बुराई करे तो भी वे उस बुराई करने वाले का बुरा न सोचकर बदले में उसके साथ भलाई ही करते हैं। संत सर्वदा सबके साथ उपकार करने वाली अपनी पद्धति पर ही चलते हैं, उनके हृदयदेश करुणापूर्ण होते हैं, उनके लक्ष्य भक्तिरस से परिपूर्ण और वे सरस तथा सुन्दर हैं। वे

सन्त, साधुता को उसी प्रकार कभी भी नहीं त्यागते, जिस प्रकार दुष्ट अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता है। इस परम गम्भीर रहस्य को जान लेने पर अर्थात् साधुता का त्याग न करने पर रसिकनरेश भगवान श्रीश्यामसुन्दर मिल जाते हैं। [राजा ने कवि सम्राट् श्रीजयदेवजी का नाम तो सुना था पर उसने कभी दर्शन नहीं किया था।] आज जब उसने श्रीजयदेवजी के नाम- गाँव को जाना तो प्रसन्न होकर कहने लगा कि- आप कृपा कर यहाँ विराजिये, मैं आप पर न्यौछावर हूँ। आपके यहाँ विराजमान होने से मैं सनाथ-कृतकृत्य हो गया हूँ। आपके यहाँ विराजने से मेरे पूरे देश में, घर-घर में, प्रेमभक्ति फैल गई है। [आप सर्वदा यहीं विराजे रहें]।।१५८।।

व्याख्या-निपट अमोल०-यथा-' लखि सुवेस जग बंचक जेऊ। वेस प्रताप पूजअहिं तेऊ।।' (रामा०) दृष्टान्त- हंस भक्तों का (देखिये छप्पय ५१, कवित्त २१६-२१७)'तऊ उपकार करैं'-यथा- 'पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया।। सन्त असन्तन की असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।।' पुनः- भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्।। (भा० ११-२-५) अर्थ- [श्रीवसुदेवजी नारदजी से कहते हैं कि] देवताओं का चरित्र प्राणियों के सुख और दुःख दोनों के लिये होता है परन्तु आप जैसे भगवत्- परायण सन्तों का चरित्र तो सबके मङ्गल के लिए ही होता है। दृष्टान्त- एक सन्त का। देखिये पूर्वार्द्ध २७४।।पुनः-

दृष्टान्त- दूसरा एक सन्त का- एक सन्त ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि कोई कुछ भी, कैसा भी अपने प्रतिकूल व्यवहार करे, उसे सह लेना चाहिए। उसका कुछ भी प्रतिकार करने की भावना मन में नहीं लानी चाहिए। सहिष्णुता साधु की शोभा है। शिष्य ने उपदेश को हृदयंगम कर लिया। एक बार नाव से यात्रा करते समय उस नाव पर एक मुगल घोड़ा सहित चढ़ा था। उसका घोड़ा बार-बार विचकता था। पर उसने समझा- सन्त को देखकर विचक रहा है। अतः उसने सन्त को वहाँ से हट जाने को कहा। परन्तु भीड़ के कारण सन्त हट न सके। तब उस दुष्ट ने सन्त को कोड़ा मारा। परन्तु वे कुछ भी नहीं बोले। फलस्वरूप भागवत-अपराध भगवान से सहा नहीं गया। उसका घोड़ा उसके सहित नदी में कूदकर मर गया। जब उनके गुरुदेव को यह मालूम हुआ तो वे शिष्य पर बड़े नाराज हुए कि तुम चुप क्यों रह गये। यदि तुम भी कुछ गाली-गलौजकर लेते तो बराबरी हो जाती फिर उस विचारे की इतनी हानि नहीं होती। यह है अपकारी के प्रति भी उपकार की भव्य-भावना।।' 'ढरै रीति आपनी'-यथा-'कोटि विघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।। सील

गहनि सबकी सहनि कहनि हीय मुख राम। तुलसी रहिये यहि रहनि सन्त जनन को काम।।' (वै० सं०)

साधुता न तजै०-इस पर दृष्टान्त-सन्त और बिच्छू का-**नदी के प्रवाह में बहे जाते हुए बिच्छू को देखकर सन्त ने दया करके उसे अपनी अंजुलि में लेकर बाहर निकालना चाहा, तब तक बिच्छू ने बड़े-जोर से डंक मारा। सन्त का हाथ काँप गया, बिच्छू गिर गया। फिर बहने लगा तो सन्त ने उसे अंजुलि में लिया। उसने फिर डंक मारा। यह क्रिया कई बार हुई। तट पर खड़े लोग यह तमाशा देख रहे थे। लोग चिल्ला पड़े-बाबाजी! आप उस दुष्ट बिच्छू को छोड़ दीजिये, बह जाने दीजिये। क्यों व्यर्थ में इतना कष्ट सह रहे हैं? सन्त ने बड़ी शान्ति से कहा-जब वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ रहा है तो हम अपना स्वभाव कैसे छोड़ दें?**

यही जानि लीजै-**भाव यह कि उन्होंने दुष्टता की, तो अपनी दुष्टता का फल पाया और मैंने साधुता की तो अपनी साधुता का फल पाया। 'रसिक नरेस हैं'-भाव यह कि उपर्युक्त गुणविशिष्ट संत साक्षात् भगवान के ही स्वरूप होते हैं। यथा-'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोधतम निसि जो जागा।। लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया।।' (रामा०) श्रीजयदेवजी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यथा-**

धन को न लोभ कियो मांगे बिन सौंपि दियो हाथ पांव काटे हू पै दुख को न लेस हैं।
आये लखि धाये अति आदर कराये धन वस्त्र दिलवाये औ पठाये निज देस हैं।।
भूमि में समाये सुनि अति पछिताये यह साधुता की सीम दिखराई सुविसेस हैं।
दुष्टता सही सम्हारि साधुता गही सुधारि ऐसे हरिरूप सन्त रसिक नरेस हैं।।

(भ० व० टि०)

इस प्रकार श्रीजयदेवजी ने बिगड़ी बात को भी ऐसा बनाकर, समझाकर कहा जिससे राजा की सन्त-वेष में अश्रद्धा नहीं हो। नहीं तो राजा को यदि यह शंका हो जाती कि साधुवेष में चोर ठग भी घूमते हैं तो वह साधु-सेवा ही बन्दकर देता। चतुर लोग बिगड़ती हुई बात भी बना लेते हैं।

दृष्टान्त-कालिदासजी का-**एक बार श्रीकालिदासजी एक गरीब गड़रिया को राजा से कुछ द्रव्य दिलाने के लिए ब्राह्मण की पोशाक पहनाकर राजदरबार मे ले गये और पूछने पर अपना गुरु बताये। राजा ने सिंहासन पर बैठाकर पूजन करके बहुत-बहुत भेंट-पूजा**

दी। थोड़ी देर बाद गड़रिया को भेड़ों की याद आई तो वह स्वभाववश 'तर्र-तर्र' कहने लगा। यह उसकी भेड़ों को हाँकने की बोली थी। राजा की समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या कह रहे हैं। तो कालिदासजी ने सोचा कि यदि कहीं पोल खुल जायगी तो बड़ी बदनामी होगी। अतः तुरन्त बात बनाकर बोले-महाराज! यह आपको आशीर्वाद दे रहे हैं कि अब आप कुल सहित तर गये। यह सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए।

गये जा लिवाय ल्याय कविराज राजतिया किया लै मिलाप आप रानी ढिंग आई हैं।
मर्‌यो एकभाई वाकी भई यों भौजाई सती कोऊ अंग काटि कोऊ कूदि परी धाई हैं।।
सुनत ही नृप बधू निपट अचम्भो भयो इनकैं न भयो फिरि कहि समुझाई हैं।
प्रीति की न रीति यह बड़ी विपरीत अहो छुटै तन जबै प्रिया प्रान छूटि जाई हैं।।१५९

शब्दार्थ-**औचक=अचानक, धोखे से। भीति =भय।**

भावार्थ-**श्रीजयदेवजी की आज्ञा से राजा किन्दुविल्व आश्रम से उनकी पत्नी श्रीपद्मावतीजी को लिवा लाया और दोनों का मिलाप कराया। श्रीपद्मावतीजी रानी के निकट रनिवास में रहने लगीं। एक दिन जबकि रानी भी पद्मावती के निकट बैठी थीं उसी समय किसी ने आकर रानी को सूचित किया कि-तुम्हारा एक भाई शरीर छोड़कर देवलोकवासी हुआ और तुम्हारी भावजों में से एक सती हो गई, किसी ने विरह दुःखवश अपने अङ्गों-हाथ-पैर आदि को काट डाला और कई दौड़कर चिता में कूद पड़ीं। यह सुनकर रानी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि हमारी भाभी कितनी बड़ी सती-साध्वी थीं। श्रीपद्मावती को कुछ भी आश्चर्य न हुआ। सब कुछ सुनकर फिर पद्मावतीजी ने रानी को समझाया कि (पति के स्वर्गवासी होने पर उनके मृतक-शरीर के साथ जल जाना उत्तम पतिव्रत-सूचक है, परन्तु) अनन्य प्रीति की यह रीति नहीं है, (इससे सच्चे प्रेम का परिचय नहीं मिलता है। इष्ट के वियोग में उसका भजन करके प्रेम पुष्ट करना अच्छा है,) पर जल जाना तो प्रेम के बिल्कुल विपरीत है। तब यदि पूछो कि सच्चे-प्रेम का क्या प्रमाण है, तो वह यह है कि-जब अपने प्रियतम के प्राण छूट जायें तो अपने प्राण भी उसी समय शरीर को छोड़कर साथ चले जायें।।१५९।।**

व्याख्या-प्रीति की न रीति यह-**मुख देखे की प्रीति, सब कोऊ ऐसी करैं। वे तो न्यारे मीत, जिये जियैं मूये मरैं।। प्राण छूटि जाई हैं-दृष्टान्त श्रीकुन्तीजी का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६०-पृथाप्युनुश्रुत्य···संसृतेः।। (भा०१-१५-३३)**

'ऐसी एक आप' कहि राजा सूँ यूँ बात कही लैके जाओ बाग स्वामी नेकु देखौं प्रीतिकों।
निपट बिचारी बुरी देत मेरे गरे छुरी तिया हठ मानि करी वैसे ही प्रतीति कों।।
आनि कहैं आपु पाये कही यही भांति आय बैठी ढिंग तिया देखि लोटि गई रीतिकों।
बोलीं भक्तबधू अजू वे तो हैं बहुत नीके तुम कहा औचक ही पावति हो भीति कों।।१६०।।

शब्दार्थ- **औचक =अचानक, धोखे से।**

भावार्थ- **पद्मावतीजी ने रानी की भाभी की प्रशंसा नहीं की, इससे रानी ने व्यङ्ग करते हुए कहा कि-आपने जैसी बताई ऐसी पतिव्रता हमने तो आज तक नहीं सुनी, ऐसी तो केवल आप ही हो। समय पाकर सब बात रानी ने राजा से कहकर फिर यों कहा-आप स्वामीजी को थोड़ी देर के लिये बाग में ले जाओ, तब मैं यह देखूँगी कि इनकी पति में कैसी प्रीति है? राजा ने रानी का विचार सुनकर कहा कि-तुमने यह बात बहुत ही बुरी विचारी है, उनकी परीक्षा क्या लेगी मेरे गले पर छुरी चलावेगी। जब रानी ने बड़ा हठ किया तब राजा ने उसकी बात मानकर वैसा ही किया, जिससे रानी को पद्मावती के वाक्यों में विश्वास हो जाय। राजा के साथ स्वामीजी के बाग में चले जाने पर रानी की सिखाई हुई एक दासी ने आकर पद्मावती को सुनाया कि-स्वामीजी! भगवान के धाम को चले गये। यह सुनते ही रानी और समीप बैठी हुई स्त्रियाँ दुःख प्रकट करने के ढोंग को रचकर धरती पर लोटने और रोने लगीं। थोड़ी देर बाद भक्त-बधू श्रीपद्मावती बोलीं-अजी रानीजी! मेरे स्वामीजी तो बहुत अच्छी तरह से हैं, उन्हें कुछ नहीं हुआ है। तुम अचानक ही इस प्रकार क्यों धोखे में आकर डर रही हो।।१६०**

व्याख्या-निपट विचारी``छुरी-

चौ०- नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया।। **(रामा०)**

पुनः-दो०- काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह की धारि।
तिन महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।। **(रामा०)**

तिया हठ- राजा जोगी बाल हठ, सकल लोक ये ख्यात।
पै नारी हठ अति कठिन, चले प्राण हू जात।।
पति सो हठ नारी करै, होय धरम की हानि।
दुख कलंक लहि लोक में, मेट कुल की कानि।। **(भ० व० टि०)**

जौ हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम दुख पाउब परिनामा।।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस।। (रामा०)

दृष्टान्त-श्रीकैकेयीजी तथा उनकी माता का-**श्री कैकेयीजी ने अपने प्रेमपाश में महाराज श्रीदशरथजी को फँसाकर यह वरदान माँगा कि-'सुनहु प्राणपति भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका।। माँगऊँ दूसर बर कर जोरि। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।। तापस वेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी।।' श्रीभरत-राज्य पर तो किसी को कोई आपत्ति नहीं थी परन्तु राम वनवास सबको सर्वथा निष्कारण एवं निष्प्रयोजन लग रहा था। अतः सभी ने कैकेयी को समझाया। परन्तु स्त्री स्वभाववश वह ऐसी हठ कर गई कि किसी की कुछ भी नहीं सुनी। पति (दशरथ) ने त्याग दिया पुत्र (श्रीभरत) ने त्याग दिया, प्रजा, परिजन पुरजन ने त्याग दिया कैकेयी को, परन्तु कैकेयी ने अपना हठ नहीं त्यागा। अक्षय अपयश स्वीकार कर लिया, परन्तु हठ छोड़ना स्वीकार नहीं किया। श्रीरामचरितमानस में यह प्रसङ्ग बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। कैकेयी जी की माता के हठ के सम्बन्ध में कथा इस प्रकार से कही जाती है कि कैकेयी के पिता कैकेय नरेश महाराज अश्वपतिजी एक महात्मा के प्रसाद से सभी प्राणियों की बोली-भाषा को जानते थे। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के अनुसार राजा एक बार जिरम्भ नाम के पक्षी की बोली समझकर हँसे थे। (परन्तु किंवदन्ति यह है कि राजा भोजन कर रहे थे, रानी परस रहीं थीं अतः वह बैठी थीं। उस समय एक चींटी राजा के थाल से चावल का कण लेकर जा रही थी। मार्ग में एक चींटा मिला। उसने चींटी से कहा कि तुम यह कण मुझे दे दो और स्वयं दूसरा ले आओ। चींटी ने कहा-तुम्हीं दूसरा क्यों नही ले आते? चींटा ने कहा-बात यह है कि मैं हूँ शूद्र और तुम हो ब्राह्मणी। राजा सनातन धर्मी हैं, मेरे द्वारा थाल में से कण निकाले जाने पर वह मुझ शूद्र का जूठा हो जाने से राजा के खाने योग्य नहीं रह जायेगा। परन्तु तुम्हारा उच्छिष्ट खाने में कोई दोष नहीं है। चींटी और चींटा की यह बात सुनकर राजा हँस गये कि देखो, इन क्षुद्र जन्तुओं में कितना धर्म-विवेक है।) यह देखकर रानी ने हँसने का कारण पूछा। राजा बोले कि हमें बताने की आज्ञा नहीं है। बताने से हमारी मृत्यु हो जायेगी। रानी ने क्रुद्ध होकर कहा चाहे मरो चाहे जियो, परन्तु हँसने का रहस्य हमें तो बता ही दो। राजा बड़े संकट में पड़ गये। उनकी 'भई गति साँप छछुंदर केरी।'**

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के अनुसार तो संयोग से वही महात्मा आ गये, जिनका इन्हें वरदान था और इन्होंने राजा को समझाया कि स्त्री के हठ की परवाह नहीं

करना, वह मरे चाहे जिये, खुश रहे चाहे रञ्ज रहे, बताना कदापि नहीं। राजा ने महात्मा की बात मानकर पत्नी का परित्याग कर दिया परन्तु बताया नहीं। परन्तु जनश्रुति यह है कि राजा अश्वपति पत्नी के हठ को ठुकरा न सके और बताने से मृत्यु निश्चित है अतः विचार किये कि किसी तीर्थ में मरुँ तो अच्छा हो। फिर, काश्यां हि मरणान्मुक्तिः' का स्मरण कर अपने समाज सहित काशी को प्रस्थान किये। मार्ग में एक जगह जङ्गल में पड़ाव पड़ा हुआ था उसके समीप ही एक ध्वस्त कुँआ था। बकरियों का झुण्ड चरता-चरता कुँए के समीप आया। एक मनचली बकरी ने जमात के बकरे से कहा कि देखो, कुँए में घास का कैसा बढ़िया लच्छा लटक रहा है? तुम उसे मेरे लिए ला दो। बकरे ने स्थिति का अध्ययन करके कहा कि उस घास के लाने से प्राण सङ्कट में पड़ सकते हैं अतः तुम उसके लिए आग्रह मत करो। परन्तु बकरी जिद्दपूर्वक बोली कि चाहे जो भी हो तुम तो उसे ले ही आओ। तब तो मैं समझूँगी कि तुम मुझ पर प्रेम करते हो अन्यथा मैं तुमसे अलग हो जाऊँगी। बकरे ने दो-चार बार समझाया परन्तु जब बकरी नहीं मानी तो बकरे ने रोष में भरकर बकरी को चार-छः सींग मारा। वह चें-में बोलने लगी। बकरे ने तमककर कहा कि मैं राजा अश्वपति थोड़े ही हूँ, जो स्त्री के कहने में आकर काशी मरने जा रहे हैं। यह कहकर बकरे ने फिर दो-चार सींग मारा। बकरी मिमियाने लगी कि अब मुझे मत मारो, अब मैं कभी ऐसा नहीं कहूँगी। राजा यह सब देख-सुन रहे थे। उन्हें इस प्रसङ्ग से प्रेरणा मिली। वे भी रिस में भरकर हाथ में कोड़ा लिए और चार कोड़े रानी को लगाये। एक ही बार की मार में रानी की अक्ल ठिकाने आ गई। राजा घर लौट आये।

कहने का तात्पर्य यह कि स्त्रियों का हठ बड़ा ही दुर्निवार होता है। गोस्वामीजी ने लिखा है कि-' काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाय। का न करै अबला प्रबल केहि जग काल न खाय।।' (रामा०) श्रीकबीरदास तो स्त्रियों से इतना डरते थे कि लिखते हैं कि- जहाँ जरावै कामिनी, तहाँ न जाउ कबीर। खेह उड़ै अंगहि लगै, दाहै सकल सरीर।।' इनसे तो भगवान ही बचावैं। एक भक्त कहते हैं कि-

साधो जग कामिनि ऐसी रे।
राजा रंक सभी के घर में बाघिनि ह्वै के बैठी रे।।
बस्ती छाँड़ि करै वनवासा चाबत सूखे पाता रे।
दांव परे तिनहूं को मारै छाती पर दै लाता रे।।

ग्यानी गुनी सूर औ पण्डित ये तो सबै सयाने रे।
सूधे होय परैं फांसी में युवती हाथ बिकाने रे।।
तीनलोक महँ काहु न छांडो दाबि दाढ़ तर मारै रे।
हरीदास हरि सुमिरन लागे तब भगवन्त उबारे रे।।

बोली भक्तबधू०- **श्रीपद्मावतीजी उस समय श्रीस्वामीजी का ध्यान कर रही थीं। ध्यान में श्रीस्वामीजी पूर्ण-स्वस्थ और प्रसन्न दिखाई दे रहे थे और राजा से सत्संगवार्ता कर रहे थे अतः वे बोलीं कि वे तो हैं बहुत नीके०। परिणामस्वरूप पद्मावतीजी के सामने रानी की यह जाल-साजी व्यर्थ गयी। जैसे किसी बड़े सिद्ध के सामने किसी सामान्य चेटकी का चेटक नहीं चलता। इस पर दृष्टान्त श्रीमथुरादासजी का। देखिये कवित्त ५५९, ५६० ।।**

भई लाज भारी पुनि फेरि कै सँवारी दिन बीति गये कोऊ जब तब वही कीनी है।
जानि गई भक्त वधू चाहति परीछा लियो कही अजू पाये सुनि तजी देह भीनी है।।
भयो मुख स्वेत रानी राजा आये जानी यह रची चिता जरौं मति भई मेरी हीनी है।
भई सुधि आपकौं सु आये बेगि दौरि इहां देखि मृत्यु प्राय नृप कह्यो मेरी दीनी है।।१६१।।

शब्दार्थ -**सँवारी=रची, तैयार की। पाये = प्रभु को प्राप्त हुए, मर गये। भीनी= सुन्दर। स्वेत= सफेद, कान्तिहीन। हीनी=भ्रष्ट, नीच। मृत्यु प्राय=मरी हुई-सी।**

भावार्थ- **रानी की माया का श्रीपद्मावती पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ, भेद खुल गया, इससे रानी को बड़ी-भारी लज्जा हुई। जब कुछ दिन बीत गये तो फिर दूसरी बार रानी ने उसी प्रकार की तैयारी करके माया जाल रचा। श्रीपद्मावतीजी अपने मन में समझ गईं कि-राजा भक्त है, उसकी यह रानी मेरी परीक्षा लेना चाहती है (तो परीक्षा दे ही देना चाहिए)। इस बार जैसे ही किसी दासी ने आकर कहा कि- अजी! स्वामीजी तो प्राप्त हो गये। वैसे ही झट पति -प्रेम से परिपूर्ण होकर श्रीपद्मावतीजी ने अपना शरीर छोड़ दिया। इनके मृतक-शरीर को देखकर रानी का मुख कान्तिहीन सफेद हो गया। राजा आये और उन्होंने जब यह सब जाना तो कहने लगे कि-इस स्त्री के चक्कर में आकर मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई, (इस पाप का यही प्रायश्चित्त है कि) अब मैं भी जल जाऊँ राजा ने जलने के लिए चिता तैयार कर ली। श्रीजयदेवजी को जब यह सब समाचार मिला तो वे**

दौड़कर वहाँ पर आये और मरी हुई पद्मावती को तथा मरने के लिए तैयार राजा को देखा। राजा ने कहा कि-इनको मृत्यु मैंने ही दी है। जयदेवजी ने कहा-तो अब तुम्हारे जलने से ये जीवित नहीं हो सकती है। अतः तुम मत जलो।।१६१।।

व्याख्या-सुनि तजी देह०-यह है सत्य प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण। 'भई मेरी मति हीनी है'- स्त्रैण पुरुष की बुद्धि मारी जाती है। यथा- बुधि बल शील सत्य सब मीना। वंशी सम तिय कहहिं प्रबीना।।' (रामा०) 'भई सुधि०'-राजा के अन्तरंग अनुचरों ने जब राजा का अभिप्राय समझ लिया, तो उन्होंने जाकर श्रीस्वामीजी को सूचना दी। क्योंकि जैसे स्त्रीहठ प्रसिद्ध है, वैसे ही राजहठ भी अति प्रसिद्ध है। अब राजा भी यदि मान सकते हैं तो केवल स्वामीजी की ही बात। अन्यथा और किसी की नहीं मानेंगे। अतः स्वामीजी को शीघ्र सूचना दी।

बोल्यो नृप अजू मोहिं जरेई बनत अब सब उपदेश लैके धूरि में मिलायौ है।
कह्यौ बहु भांति ऐपै आवति न शांति किहूं गाई अष्टपदी सुर दियौ तन ज्यायौ है।।
लाजनि को मार्‌यो राजा चहै अपघात कियौ जियो नहिं जात भक्ति लेसहूं न आयौ है।
करि समाधान निज ग्राम किंदुबिल्लु जैसो कछु सुन्यौ यह परचै लै गायौ है।।१६२

शब्दार्थ- अपघात= आत्महत्या।

भावार्थ- राजा ने कहा- महाराज! अब तो मुझे जल ही जाना चाहिए, मुझसे जीवित नहीं रहा जायेगा,क्योंकि मैंने आपके सभी उपदेशों को धूल में मिला दिया (नष्ट कर दिया, हृदय में धारण नहीं किया उनसे कुछ भी लाभ नहीं उठाया।) श्रीजयदेवजी ने राजा को अनेक प्रकार से समझाया परन्तु उसके मन को कुछ भी शान्ति नहीं मिली, तब आपने गीतगोविन्द की एक अष्टपदी का गान आरम्भ किया। संगीतविधि से अलाप करते ही पद्मावतीजी जीवित हो गईं। इतने पर भी राजा लज्जा के मारे मरा जा रहा था और अपनी आत्महत्या कर लेना चाहता था। उससे जीवित नहीं रहा जाता था। वह बार-बार मन में सोचता था कि- ऐसे महापुरुष का संग पाकर भी मेरे मन में भक्ति का लेशमात्र भी नहीं आया (अतः मुझे धिक्कार है)। श्रीजयदेवजी ने समझा-बुझाकर राजा को शान्त किया और किन्दुबिल्लु ग्राम को चले आये। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि सन्तों से जैसा कुछ मैंने सुना था वैसा इस चरित्र का गान किया।।१६२।।

व्याख्या-कह्यो बहुभाँति-**यथा-**

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (गी० २-२०)

अर्थ- **यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा होकर के फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।।**

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (गी० २-२२)

अर्थ- **जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।**

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (गी० २-२७)

अर्थ- **जन्मने वाले की मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म होता है। अतः इस अपरिहार्य विषय में शोच करना उचित नहीं है। 'गाई अष्टपदी'-**

वहति मलय समीरे मदनमुपनिधाय।
स्फुटति कुसुम निकरे विरहि हृदय दलनाय।।
तव विरहे वनमाली सखि सीदति।। (गी०गो०पं०स०)

सुर दियो- **का एक भाव यह भी कि श्रीपद्मावतीजी ने भी जीवित होकर श्रीजयदेवजी के स्वर में स्वर मिलाकर गाया।'भक्तिलेशहूँ न आयो है- प्रश्न-अहर्निश श्रीजयदेवजी का सत्संङ्ग करते रहने पर भी राजा को भक्तिलेश भी क्यों न मिला? समाधान-'मन तो रम्यो संसार में , तन है साधुन संग। तुलसी यही वियोगते, लागत नहिं हरि रंग।।' पुनः- कहा भयो इकसंग रहे जड़ सुभाउ नहिं जाय। फूल पात इक डार में, कस नहि पात बसाय।।' करि समाधान- श्रीजयदेवजी ने जैसे- तैसे राजा को समझा-बुझाकर अपघात से रोका और स्वयं विचार किया कि-**

श्वान कहा जाने वास फुलेल को काक कहा जाने काको दही है।
कूर कहा जाने कामिनि को रस अन्ध कहा जाने रूप सही है।।
मीच कहा जाने रांड को पूत औ अग्नि कहा जाने छानि नई है।
मेघ कहा जाने ठौर कुठौरहिं, ओछे की प्रीति कहां निबही है।।

अतः निजग्राम किन्दुबिल्लु आये-यदि यहाँ कोई शंका करे कि राजा की तो श्रीजयदेवजी में बड़ी प्रीति थी और रानी के कहने से जो भूल की थी उसका उसे बड़ा पश्चात्ताप था और श्रीजयदेवजी सन्त थे, फिर राजा को छोड़कर क्यों चले गये? समाधान-सब कुछ होने पर भी यह जो महा-अशुभ घटना घट गई, यह न राजा को भूल सकती है न श्रीजयदेवजी को ही और इसकी स्मृति बनी रहने में सत्संग में रस नहीं आ सकता है अतः चले गये। इस पर-

दृष्टान्त सर्प और ब्राह्मण का- एक शास्त्र-पुराण के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण थे। एक बार धन के अभाव में उन्होंने कई जगह कथा के प्रस्ताव भेजे। परन्तु कहीं से सन्तोषजनक उत्तर न मिला। तब उन्होंने एकान्त में बैठकर भगवान को ही कथा सुनाने का निश्चय किया और पोथी लेकर जंगल में जाकर एक परम रमणीय स्थान देखकर वहीं कथा कहना प्रारम्भ कर दिया। कथा-स्थल के समीप ही एक सर्प की बाँबी थी। कथा प्रारम्भ होते ही सर्प ने बाँबी से निकलकर बड़े प्रेम से कथा सुनी और चलते समय पंडितजी को एक मुहर भेंट करके प्रार्थना की कि आप नित्य आकर कथा सुनाया करिये। आपको रोज दक्षिणा मिलेगी और मुझे कथा का आनन्द। लेकिन यह बात कोई तीसरा प्राणी न जान पावे, नहीं तो अनिष्ट हो जायगा। श्रीपंडितजी ने स्वीकार कर लिया। अब पण्डितजी के दिन आनन्द से बीतने लगे। कुछ दिन तक यह क्रम लगातार चलता रहा। तदुपरांत श्रीपण्डितजी कुछ अस्वस्थ से हो गये। तब वे विचार करने लगे कि मैं तो अब वहाँ जाने में असमर्थ हूँ और यदि नहीं जाता हूँ तो एक मुहर का रोज घाटा लगता है। अतः लोभवश पण्डितजी ने सर्प के मना करने पर भी अपने पुत्र को सब बात समझाकर कथा कहने भेजा और सावधान कर दिया कि खबरदार! तुम यह बात किसी को नहीं बताना। अब पंडितजी की जगह पर पुत्र कथा कहने जाने लगा। सर्प पूर्ववत् कथा सुनता और दक्षिणा देता रहा। एक दिन ब्राह्मण-पुत्र कथा कहने जा रहा था । रास्ते में उसका मित्र मिला। उसने हठ करके इससे जाने की बात पूछी तो इसने मित्र के दबाब में आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया। मित्र ने कहा तुम रोज व्यर्थ में आने-जाने का कष्ट क्यों करते हो और सर्प का क्या भरोसा? वे कालरूप होते हैं। तुम तो सर्प को मारकर सब मुहरें एक ही बार खोद लावो। मूर्ख ब्राह्मण-पुत्र, मित्र की बातों में आ गया। दूसरे दिन जब कथा कहने गया तो साथ में एक डण्डा लेता गया और जब सर्प भेंट करके जाने लगा तो उस पर बड़े-जोर से प्रहार किया। संयोग से सर्प की पूँछ में चोट आई अतः वह मरा नहीं। सर्प ने क्रोध करके ब्राह्मण-पुत्र को डँस लिया वह तत्काल मर

गया। ब्राह्मण देवता अपनी भूल पर बहुत ही पछताये। जब वह स्वस्थ हो गये तो फिर पहले की तरह कथा कहने गये। तब सर्प बांबी से निकलकर पाँच मुहर देकर बोला-

गई मित्र की मित्रता, गयो कथा को भाव।
तोहिं न बेटा भूलहिं, मोहि पूंछ को घाव।।

अतः पंडितजी अब कथा सुनाने नहीं आना। ऐसे ही श्रीजयदेवजी भी सोच विचारकर अपने गाँव चले गये।

देवधुनी सोत हो अठारै कोस आश्रम तैं सदाई स्नान करैं धरैं जोग्यताई कौं।
भयो तन वृद्ध तऊँ छोड़ें नहीं नित्य नेम प्रेम देखि भारी निशि कही सुखदाई कौं।।
आवौ जिनि ध्यान करौ करौ मत हठ ऐसो मानी नही आऊँ मैं ही जानौं कैसे आई कौं।
फूले देखौ कंज तब कीजियो प्रतीति मेरी भई वही भांति सेवैं अबलौं सुहाई कौं।।१६३

शब्दार्थ- जोग्यताई= योगियों की सामर्थ्य, योग्यता।

भावार्थ- श्रीजयदेवजी का जहाँ पर आश्रम था वहाँ से गङ्गाजी की धारा अठारह कोस दूर थी। परन्तु आप नित्य स्नान करते थे, आप अपने में योग की शक्ति रखते थे। जब आपका शरीर अत्यन्त वृद्ध हो गया तब भी आप अपने गंगा-स्नान के नित्य-नियम को कभी नहीं छोड़ते थे। इनके बड़े-भारी प्रेम को देखकर इन्हें सुख देने के लिये रात को स्वप्न में श्रीगंगाजी ने कहा-अब तुम स्नानार्थ इतनी दूर मत आया करो, केवल मेरा ध्यान और ध्यान में ही स्नान कर लिया करो। धारा में जाकर स्नान करने का हठ मत करो। श्रीजयदेवजी ने इस आज्ञा को स्वीकार नहीं किया। तब फिर गंगाजी ने स्वप्न में कहा- तुम नहीं मानते हो तो मैं ही तुम्हारे आश्रम के निकट सरोवर में आ जाऊँगी। तब आपने कहा-मैं कैसे विश्वास करूँगा कि आप आ गई हैं। गंगाजी ने कहा-जब आश्रम के समीप जलाशय में कमल खिले देखना तब विश्वास करना कि-गंगाजी आ गईं। ऐसा ही हुआ, खिले हुए कमलों को देखकर श्रीजयदेवजी ने वहीं स्नान करना आरम्भ कर दिया। अब भी लोग जयदेई गंगा में स्नान करते हैं।।१६३।।

व्याख्या-देवधुनी-ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं······(क०) देखिये छप्पय ३४।।) नित्यनेम-सच्चे नियमनिष्ठ के यहाँ गंगाजी स्वयं पधारीं और जो झूठ-मूठ के प्रनधारी हैं, वे गंगाजी के तट पर भी प्यासे मरते हैं यथा-'सुरसरि तीर बिनु नीर दुख पाइ हैं।' (वि०) इस पर दृष्टान्त छप्पन भोगों का एवं एक साधु का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६। एक सन्त की

उक्ति है-'साईं शक्कर खोर को शक्कर पहुँचावै। वे विश्वासी जीव कायर ज्यौं घिघियावै।' 'प्रेम देखि भारी'-प्रेमी और बैरी तीन प्रकार के होते हैं-'उत्तम मध्यम अधम नर, पाहन सिकत्ता पानि। प्रीति अनुक्रम जानिये बैर व्यक्तिक्रम मानि।।' सुखदाई-यह श्रीजयदेवजी का विशेषण भी है। श्रीजयदेवजी ने श्रीगीतगोविन्द के द्वारा, कथा-वार्ता, सत्सङ्ग-उपदेश के द्वारा सबको सुख दिया। स्वयं असह्य कष्ट सह करके अपने को कष्ट पहुँचाने वाले चोरों को भी सुख दिया।

वर्णन आया है कि जीवन के अन्तकाल में श्रीजयदेवजी अपनी परम साध्वी पत्नी श्रीपद्मावतीजी एवं कुछ सत्सङ्गियों को साथ लेकर श्रीवृन्दावन चले आये और भगवान के नित्य-विहार का अवलोकन करते हुए दम्पत्ति इस पाँच-भौतिक देह को त्यागकर श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्य-लीला में लीन हो गये।

श्रीश्रीधर स्वामीजी

श्रीधर श्रीभागौत में परम धरम निरनै कियो।।
तीनि कांड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।।
परमहंस संहिता विदित टीका बिसतार्‍यो।
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध-वेद संमतहिं विचार्‍यो।।
परमानन्द प्रसाद ते माधो सुकर सुधारि दियो।
श्रीधर श्रीभागौत में परम धरम निरनै कियो।।४५।।

शब्दार्थ-निरनै=निर्णय, स्पष्ट, विवेचन। तीनि काण्ड=कर्म-ज्ञान-उपासना काण्ड। एकत्व=एकता, बराबरी, अभिन्नता। सानि=मिलाकर। अज्ञ=अज्ञानी, मूर्ख। कर्मठ= कर्मकाण्डी, कठोर। ऐंचि=खींचातानी करके। बानत=वर्णन करते, बनाते थे। षट् शास्त्रनि= छः शास्त्र, यथा-सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा। परमहंस संहिता=श्रीभागवत। विदित=प्रसिद्ध। विसतार्‍यो=बनायो। माधो=विन्दुमाधव। सुकर= स्वकर, अपने हाथ से।

भावार्थ-श्रीश्रीधरस्वामी ने श्रीमद्भागवत में (भगवान वेदव्यास और शुकदेव द्वारा मान्य) परमधर्म का निर्णय किया। श्रीभागवतधर्म के रहस्यों के ठीक प्रकार से न जानने के

कारण कुछ विद्वानों ने तीनों काण्डों को एक में मिश्रित करके श्रीमद्भागवत की व्याख्या की। कर्मकाण्डी और शुष्कज्ञानी लोग खींचातानी एवं कठिन कल्पनायें करके अर्थ को विपरीत अर्थ (अनर्थ) करते थे। जिज्ञासु भक्तगण शङ्कित हो जाते थे, वास्तविक तात्पर्य ओझल हो जाता था। ऐसी स्थिति में विश्वविख्यात् 'परमहंस-संहिता' की विद्वानों में प्रसिद्ध टीका 'भावार्थ-दीपिका' की रचना स्वामी श्रीधराचार्यजी ने की। उसमें षट्शास्त्र एवं षड्दर्शनों के सर्वदा अनुकूल तथा वेदोपनिषद् सम्मत सिद्धान्त का समर्थन किया। श्रीधरस्वामी के गुरुदेव श्रीपरमानन्द सरस्वती की कृपा से भगवान विन्दुमाधव ने श्रीधरकृत टीका को अपने हस्त-कमल से सुधार दिया, हस्ताक्षरित करके सर्वोत्तम सिद्ध किया।।४५।।

व्याख्या-परमधर्म-**यथा-**

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।। (भा० १-२-६)

अर्थ-**मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवान श्रीहरि में भक्ति हो-भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति करके कृतकृत्य हो जाता।। एक बार धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी ने पितामह श्रीभीष्मजी से पूछा था कि-**

को धर्मः सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्ष स्तवैरर्चेन्नरः सदा।। (महा०)

अर्थात् सभी धर्मों में परमश्रेष्ठ धर्म कौन है? जिसके द्वारा मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीकमललोचन भगवान का अर्चन-वन्दन कर सके। तब श्रीभीष्मजी ने कहा-

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः।।
नृणामयं परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।। (महा०)

अर्थात् भगवन्नाम अधिग्रहणपूर्वक भगवान में भक्ति करना ही मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

ऐंचि अर्थ०-**अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए या वाणी का विलास प्रदर्शित करने के लिए अर्थ करने में खींचातानी करना दोष है। श्रीदेवतीर्थ स्वामी (काष्ठ जिह्वाजी) कहते हैं कि-**

चीखि चीखि चषकन सों रामसुधा पीजिये।
रामचरित सागर में रोम रोम भीजिये।।
राग द्वेष जग बढ़ाय काहे को छीजिये।
पर दुःखहिं देखत ही आपसों पसीजिये।।
तोरि तारि खैंचि खैंचि श्रुतिको न गीजिये।
जामें रस बनो रहै सोइ अर्थ कीजिये।।
बहुत काल सन्तन के दोऊ चरन मीजिये।
दिव्यदृष्टि पाय 'देव' जुग जुग लौं जीजिये।।

परमहंस संहिता-**श्रीव्यासजी ने श्रीमद्भागवत की रचना करके उसे सर्व प्रथम परमहंसाचार्य श्रीशुकदेवजी को परम अधिकारी जानकर पढ़ाया अतः इस पुराण को परमहंस संहिता कहते हैं। पुनः इसका मुख्य उद्देश्य है जीव को परमहंसों के पथ पर अग्रसर करके उसे परमानन्द का भागी बनाना, अतः इसे परमहंस-संहिता कहते हैं।**

षट्शास्त्र-**(१) सांख्यशास्त्र-इसके आचार्य श्रीकपिलदेवजी हैं, विषय-प्रकृति पुरुष विवेक और दुःख निवृत्ति प्रयोजन है। (२) योग-इसके आचार्य श्रीपतंजलि मुनि हैं और इसका विषय यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका साङ्गोपाङ्ग विवेचन है तथा चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक ईश्वर साक्षात्कार इसका प्रयोजन है। (३)वैशेषिक- इसके आचार्य श्रीकणाद ऋषि हैं। पदार्थ विषय और उसका ज्ञान प्रयोजन है। (४) न्याय-इसके आचार्य महर्षि गौतम हैं। पदार्थ ज्ञान प्रयोजन है। तर्क और लक्षणों से पदार्थ सिद्धि न्याय का विषय है। (५) पूर्वमीमांसा-इसके आचार्य महर्षि जैमिनी हैं। कर्मकाण्ड धर्म विषय और धर्म का सम्यक् ज्ञान प्रयोजन है। (६) उत्तर मीमांसा [वेदान्त] -इसके आचार्य भगवान वेदव्यास हैं ब्रह्मज्ञान निरूपण विषय और अज्ञान की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति इसका प्रयोजन है।**

शास्त्रनि अविरुद्ध०-**कहने का भाव यह है कि किसी भी निर्णय के औचित्य एवं अनौचित्य में शास्त्र ही प्रमाण हैं अतः शास्त्रविधि से नियत कार्य को ही करना योग्य है। यथा-**

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (गी० १६-२४)

पंडित समाज बड़े बड़े भक्तराज जिते भागवत टीका करि आपस में रीझिये।
भयो जू विचार काशीपुरी अविनाशी मांझ सभा अनुसार जोई सोई लिखि दीजिये।।
ताको तो प्रमान भगवान बिन्दुमाधौजी हैं साधौ यही बात धरि मन्दिर में लीजिये।
धरे सब जाय प्रभु सुकर बनाय दियो कियो सर्व ऊपर लै चल्यो मति धीजिये।।१६४

शब्दार्थ-समाज = सभा। अविनाशी=जिसका प्रलय में भी नाश न हो। विचार=विवाद, शास्त्रार्थ।

भावार्थ-स्वामी श्रीधराचार्यजी के समकालीन पण्डित समाज में जितने बड़े-बड़े भक्तराज पण्डित थे, प्रायः उन सभी ने श्रीमद्भागवत की टीका की और अपनी-अपनी टीका को सर्वश्रेष्ठ समझकर सब अपने-अपने मन में फूल रहे थे। अविनाशी काशीपुरी में एक बार सभी टीकाकार एकत्र हुए और इस बात पर विचार हुआ कि कौन-सी टीका सर्वोत्तमा है। विद्वानों की सभा में जो सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो जाय उसे ही लिखकर मान्यता दे दी जाय। (इस सम्बन्ध में परस्पर शास्त्रार्थ हुआ पर सर्वसम्मत कोई निर्णय नहीं हो सका।) तब सब लोगों ने यह स्वीकार किया कि-इसमें श्रीविन्दुमाधव भगवान को प्रमाण माना जाय और सब टीकाओं को उनके मन्दिर में रखकर जान लिया जाय कि कौन-सी टीका श्रेष्ठ है। यही किया गया, सभी टीकायें मन्दिर में रखी गईं। उसके बाद जब मन्दिर के पट खोले गये तो दिखाई पड़ा कि-श्रीश्रीधरस्वामीकृत भावार्थ-दीपिका टीका ग्रन्थ पर अपने कर-कमल से लिखकर उसे सर्वोपरि कर दिया (तभी से सभी विद्वानों ने उसका अध्ययन आरम्भ कर दिया) टीका में वर्णित परमधर्म पथ पर लोग चले, उनकी बुद्धि विकसित, आनन्दमग्न हो गई।।१६४।।

व्याख्या-भक्तराज०-भाव यह कि श्रीमद्भागवत महापुराण भगवत्स्वरूप हैं और भगवान भक्ति प्रिय हैं, भक्ति से ही सुलभ हैं। इसलिए श्रीमद्भागवत का रहस्य भी भक्ति से ही जाना-समझा जा सकता है। कोरा-पाण्डित्यमात्र भागवत-तत्वबोध के लिए पर्याप्त नहीं है। यथा-'भक्त्या भागवतं शास्त्रं न च बुद्ध्या न च टीकया।।' 'भागवत-टीका'-उस समय श्रीमद्भागवत की बावन टीकायें उपलब्ध थीं। यथा-'बावन तिलक जुरे तेहिं काला।।' (रघुराज०) काशीपुरी में काशीनरेश के यहाँ विद्वानों की गोष्ठी हुई थी। 'अविनाशी'-'मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर। जहँ बस सम्भु भवानि सो का[illegible] सेइय कस न।। (रामा०)

प्रभु सुकर बनाय दियो-भगवान श्रीबिन्दुमाधवजी ने अपने श्रीकर-कमल से श्रीश्रीधरस्वामीजी की टीका के मुख पृष्ठ पर यह श्लोक लिख दिया-

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः।।

(कहीं-कहीं 'परमानन्द प्रसादतः' पाठ भी मिलता है।) अर्थ-श्रीमद्भागवत के रहस्य को श्रीव्यासजी जानते हैं तथा श्रीशुकदेवजी जानते हैं। राजा परीक्षित जानते हैं या नहीं, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। परन्तु श्रीनृसिंह भगवान की कृपा से श्रीश्रीधरस्वामीजी समस्त रहस्यों को सम्यक्तया जानते हैं। पुनः-

आदि पत्र कनकाक्षर दोई। सही लिखी देख्यो सब कोई।।
सब पण्डित कीन्ह्यो अस टीको। श्रीधर टीको टीकन टीको।।
श्रीधर तिलक तिलक तिलकन को। कठिन कठिन कोमल कोमल को।।
श्रीधर स्वामी तो मनो श्रीधर प्रगटे आनि।
तिलक किये भागवत को, सब तिलकन परमान।।

ऐसे ही श्रीजगन्नाथ भगवान ने श्रीगीतगोविन्द को एवं श्रीविश्वनाथ भगवान ने श्रीरामचरितमानस को प्रमाणित किया था। देखिये श्रीजयदेवजी एवं तुलसीदासजी का प्रसङ्ग।

विशेष-ऐसी प्रसिद्धि है कि श्रीधर स्वामीजी का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में हुआ था। इनकी माता बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार गईं और पिताजी ने संन्यास ले लिया। माता-पिता के अभाव में बचपन में इनकी समुचित शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो सकी। अतः ये कुछ भी पढ़ लिख न सके। गायें-भैसें चराया करते थे। कहते हैं कि एक बार श्रीपरमानन्दजी नाम के संन्यासी (जो आगे चलकर इनके दीक्षा गुरु हुए हैं।) इनके गाँव में आये। इन्होंने उनको प्रणाम किया। इन्हें देखते ही वे जान गये कि आगे चलकर बालक महान् पुरुष होगा। वे इनसे पूछे कि बालक! यह तो बताओ कि तुम्हारी प्रीति किस वस्तु में है? इन्होंने कहा-मुझे अपनी भैंस बहुत प्यारी लगती है। वे बोले-अच्छा, तुम इसी की खूब सेवा करना, तुम्हें भगवान का दर्शन हो जायेगा।

एक बार की बात है-एक राजा और मन्त्री आपस में वार्ता करते चले जा रहे थे। मन्त्री कह रहा था कि जो कुछ सिद्धि-सफलता है वह सब भगवत्कृपा से ही होती है। बिना भगवान की कृपा से कुछ भी होने जाने का नहीं। यथा-'तात बात फुरि राम कृपा हीं। राम

विमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।' (रामा०) भगवान की कृपा से निर्धन धनवान हो जाता है, निर्बल बलवान हो जाता है। मूढ़ भी महाविद्वान् हो जाता है। उसी समय बालक श्रीधर आते हुए दिखाई पड़े। देखते ही राजा जान गया कि यह निपट निरक्षर है। काला अक्षर भैंस बराबर' की कहावत को चरितार्थ करने वाले बालक श्रीधर एक फूटे पात्र में दुकान से तेल लिए जा रहे थे। तेल चू रहा था, इन्हें खबर नहीं थी। राजा ने उस बालक को महामूर्ख मानकर मन्त्री से कहा कि क्या भगवान की कृपा से यह बालक भी विद्वान् हो सकता है? मन्त्री ने बिना किसी हिचक के कहा-वेशक, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। फिर तो राजा उस बालक को बुलाकर पूछ-तांछकर, उसे माता-पिता से रहित जानकर अपने संग लिवा गये। मन्त्री ने किसी योग्य विद्वान् ब्राह्मण से बालक श्रीधर को श्रीनृसिंह मन्त्र की दीक्षा दिलवा दी। सरल एवं शुद्ध हृदय बालक श्रीधर गुरु की बताई हुई विधि से श्रीनृसिंह भगवान की उपासना में तन्मय हो गये। बालक की निश्चल भक्ति को देखकर श्रीनृसिंह भगवान शीघ्र ही प्रसन्न होकर दर्शन दिये और समस्त वेद-वेदाङ्गों, शास्त्र-पुराणों में पारङ्गत होने तथा अविरल, अविचल प्रेमलक्षणा भक्ति का वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। श्रीश्रीधरजी की वाणी में उनकी श्रीनृसिंह उपासना का प्रमाण मिलता है। यथा-

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य तु वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे।।

यही बालक श्रीधर आगे चलकर श्रीधरस्वामी कहलाये। श्रीमद्भागवत की टीका इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रमाण है।

श्रीश्रीधर स्वामीजी के संन्यास ग्रहण करने के सम्बन्ध में कथा प्रसिद्ध है कि इनकी विद्वता को देखकर एक ब्राह्मण ने अपनी सुशील कन्या का विवाह इनसे कर दिया। यद्यपि इन्होंने स्वजनों के आग्रहवश गार्हस्थ धर्म को स्वीकार तो कर लिया था परन्तु इनकी गृह अथवा गृहिणी में किंचित् भी आसक्ति नहीं थी। यह निरन्तर संसार की असारता को भलीभाँति समझते हुए भगवच्चिन्तन में मग्न रहा करते थे। इनके मन में बार-बार संन्यास लेने की बलवती इच्छा होती रहती थी। कुछ कालोपरान्त इनकी पत्नी एक पुत्र को जन्म देकर परलोक सिधार गईं। इस घटना से इनके वैराग्य को प्रोत्साहन मिला। परन्तु नवजात शिशु को किस पर छोड़कर जायें, यह बात समझ में नहीं आती थी। घर में मन लग नहीं रहा था और पुत्र के पालन-पोषण का कोई मार्ग दीख नहीं रहा था। इसी उधेड़बुन में ये एकदिन बैठे हुए थे कि देखते हैं कि ऊपर घर की छत से एक पक्षी का अण्डा गिरा

और फूट गया। अण्डा पूर्णावस्था को प्राप्त कर चुका था अतः उसके फूटते ही उसमें से पक्षीशावक बाहर निकल आया और अपने छोटे से चंचुपुट को खोलकर इतस्ततः गर्दन घुमाने लगा। पक्षीशावक की यह चेष्टा देखकर इन्होंने अनुमान किया कि यह भूखा है और यदि शीघ्र ही इसे कुछ खाने को नहीं मिला तो वह मर जायेगा। ठीक उसी समय ऊपर से एक कीड़ा गिरा और वह अण्डे में से निकले द्रव में चिपक गया पक्षीशावक ने उसे खा लिया। यह देखकर श्रीश्रीधरजी का विवेक जाग पड़ा। वे बोल पड़े- अहो! चराचर जगत् का पालन-पोषण विश्वम्भर भगवान करते हैं, फिर एक बालक के पालन-पोषण की चिन्ता व्यर्थ में मैं क्यों कर रहा हूँ। फिर तो ये बालक को भगवान के भरोसे छोड़कर स्वयं काशी चले आये। श्रीपरमानन्द सरस्वतीपादजी से सन्यास की दीक्षा ले लिया।

पूर्व कहा जा चुका है कि इनके पिताजी इन्हें बाल्यावस्था में ही छोड़कर संन्यासी हो गये थे। जब ये भी संन्यास लिये तो उस समय इनके पिता काशीजी में ही रहते हुए मुमुक्षुओं को वेदान्त पढ़ाया करते थे। प्रसिद्धि सुनकर ये भी वहाँ पढ़ने गये तो इनके पिता ने इनको पहचान लिया और उन्हें अतीत का स्मरण हो आया उनके मन में यह जानने की बड़ी इच्छा हुई कि मेरे चले आने के बाद वहाँ क्या हुआ। अतः वेदान्त चर्चा करते हुए बीच-बीच में बोल पड़ते-'ततः किम्?' विद्यार्थियों की समझ में नहीं आ रहा था कि आज गुरुजी यह बारम्बार क्यों कहते हैं। जैसे-तैसे जब पाठ समाप्त हुआ तो वे इन्हें अपने समीप बुलाकर घर का हाल पूछे। श्रीश्रीधर स्वामीजी ने इन्हें सब वृत्तान्त बताया। पुत्र के शुभ निश्चय को सुनकर पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। श्रीश्रीधरस्वामीजी भी काशी में ही रहने लगे।

वर्णन आया है कि एकबार ये अत्यन्त अस्वस्थ हो गये। उस समय माधव नाम का एक विद्यार्थी इनकी सेवा में रह रहा था। संयोग की बात, उसी बीच उसके पिता भी अस्वस्थ हो गये। घर से बुलाने के लिये आदमी आया। यद्यपि माधव श्रीस्वामीजी को छोड़कर घर नहीं जाना चाहता था परन्तु स्वामीजी की आज्ञा से विवश होकर जाना पड़ा। इधर स्वामीजी को बड़े-जोर से भूख लगी। माधव यद्यपि घर चला गया था परन्तु भूख की धुन में इन्हें इस बात का स्मरण नहीं रहा। अतः ये बुलाने लगे- माधव! माधव! कुछ भोजन तो बनाओ। मुझे बड़े-जोर की भूख लगी है। उस समय भगवान विन्धुमाधवजी इनकी भक्ति-भावना पर रीझकर माधव विद्यार्थी का रूप धारण करके आये और सब सेवा करने लगे। इधर इस विद्यार्थी के पिता स्वस्थ हो गये तो वह पिताजी की आज्ञा लेकर श्रीस्वामीजी की सेवा में आ गया। आकर देखा तो चूल्हा चेता हुआ था, खिचड़ी बन रही थी। उसने

श्रीस्वामीजी को प्रणाम कर घर का सब समाचार कहा और आश्रम का समाचार पूछते हुए माधव विद्यार्थी ने पूछा- गुरुजी! मेरी अनुपस्थिति में आपकी सेवा में कौन रहा? यह चूल्हा किसने चेताया है? आदि। यह सुनकर श्रीश्रीधरस्वामीजी ने विस्मित होकर कहा कि तुम्हीं तो सब सेवा करते हो और तुम्हीं पूछते हो कि कौन सेवा करता है? जब उसने अपनी बात पुनःस्पष्ट की कि मैं तो कई दिनों के बाद आज घर से आया हूँ। तब श्रीश्रीधरस्वामीजी जान गये कि यह तो प्रभु ने लीला की है। प्रभुकृपा विचारकर श्रीस्वामीजी गद्गद हो गये। बाद में माधव विद्यार्थी भी जान गया कि मेरे रूप में स्वयं भगवान श्रीस्वामीजी की सार-सम्भाल की है।

कुछ काल तक काशीवास करने के पश्चात् श्रीश्रीधरस्वामीजी श्रीधाम श्रीवृन्दावन चले आये। धीर-समीर घाट पर रुके थे। इनके संन्यास की बात सुनकर इनके संग के बहुत से पण्डित-विद्वान् तथा इनके पढ़ाये हुए विद्यार्थी एवं गाँव के लोग इन्हें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते श्रीवृन्दावन आये। परस्पर मिलना-जुलना हुआ। उन लोगों ने इन्हें पुनः घर चलने का अनुरोध किया। विद्यार्थियों ने बहुत दुःख प्रकट किया। गाँव के लोगों ने बड़ी अनुनय विनय की। परन्तु ये अपने पक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए घर जाने से इन्कार कर दिये। बातचीत करते-करते दोपहर हो गया। मध्याह्न-कालिक स्नान करने के लिए श्रीयमुनाजी चले गये। इनके मन में यह चिन्ता हो रही थी कि इन लोगों के लिए भोजनादि की व्यवस्था कैसे होगी? भक्त की चिन्ता से भगवान चिन्तित हो गये फिर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी ग्वारिया का रूपधारण करके एवं ग्वालवालों को साथ लेकर बहुत-सा सीधा सामान ले आये और कुटिया पर धरकर पूछे कि श्रीस्वामीजी कहाँ हैं? लोगों ने कहा-स्नान करने गये हैं। भगवान बोले-आवें तो हमारी दण्डवत् कह देना और कह देना कि सामान साधु-सेवा के लिए है। खूब साधु-ब्राह्मणों को भोजन कराना और यह भी कह देना कि जब अपनी ही चिन्ता करनी थी तो घर क्यों छोड़ें? भगवान के कहने का भाव यह था कि मेरी शरण में आकर फिर योगक्षेम की चिन्ता स्वयं करना ठीक नहीं है। मैं तो स्वयं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ। यथा-'योगक्षेमं वहाम्यहम्।।' (गीता) जब श्रीस्वामीजी स्नान करके आये तो लोगों ने उनसे सब बातें कहीं। सुनकर एवं प्रभु की भक्तवत्सलता विचारकर श्रीस्वामीजी रोने लगे। सब लोगों ने बड़े ही आग्रहपूर्वक पूछा तो आपने सब रहस्य बताया। लोग श्रीस्वामीजी के चरणों में प्रणामकर यह विचारकर कि इन्हें तो श्रीप्रभु ने अपना लिया है घर ले चलने का आग्रह छोड़कर स्वयं लौट गये। श्रीश्रीधरस्वामीजी

के ऊपर श्रीप्रभुकृपा का एक प्रसङ्ग श्रीभक्तमालकार श्रीनाभाजी ने आगे छप्पय ५२ में 'श्रीधर संग सायक धरन।' कहकर वर्णन किया है। जिसकी व्याख्या श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने कवित्त २३४ में की है। विशेष वहीं देखिये।

श्रीधरस्वामीजी के उपदेश-

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वताद्, अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति।।

अर्थ-कोई चाहे कितना ही तप से तपे, पर्वत से गिरे, तीर्थाटन करे, वेद पाठ करे, यज्ञ करे अथवा शास्त्रार्थ करे परन्तु बिना भगवत् शरणागति के भवसागर से पार नहीं हो सकता है। पुनः-

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्।।

अर्थ-हे भगवन्! कोई-कोई पुण्यात्मा एवं सारासार विवेकीजन आनन्दपूर्वक आपके कथामृतरूप समुद्र में विहार करते हुए चतुर्वर्ग अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों को तृण के समान समझते हैं।

श्रीविल्वमङ्गलजी

(श्री) कृष्ण कृपा कोपर प्रगट विल्वमंगल मंगलस्वरूप।।
'करणामृत' सुकवित्त युक्ति अनुछिष्ट उचारी।
रसिक जनन जीवन हृदय जै हारावलि धारी।।
हरि पकरायौ हाथ बहुरि तहँ लियौ छुटाई।
कहा भयो कर छुटे बदौं जौ हिय ते जाई।।
चिन्तामणि संग पाइकैं व्रजवधू केलि बरनी अनूप।
(श्री) कृष्ण कृपा कोपर प्रगट विल्वमंगल मंगलस्वरूप।।४६।।

शब्दार्थ-कोपर = बड़ा पात्र, परात। विल्वमंगल=विल्व=वेल का वृक्ष, शिव+मंगल= कल्याण, विल्ववृक्ष एवं शिव समान कल्याणकारी। सुकवित्त=सुन्दर निर्दोष काव्य।

युक्ति=काव्योक्ति, एक अलंकार जिसमें अर्थयुक्त वाक्य का निश्चय होता है। अनुछिष्ट= अनुच्छिष्ट, जो जूठा न हो, अपूर्व, छाया रहित। उचारी=उच्चारण की, कही। जै हारावलि= जयमाल पंक्ति। धारी=धारण-कंठस्थ की। बदौं=होड़ या बाजी लगाऊँ, गिनती में लाऊँ मानूँ। केलि=विहार, क्रीड़ा।

भावार्थ-भगवान श्रीकृष्ण के परम कृपापात्र श्रीविल्वमङ्गलजी इस संसार में प्रत्यक्ष मंगल-कल्याण के स्वरूप थे। विश्व का मंगल ही विल्वमंगल के रूप में प्रकट हुआ। आपने 'कृष्णकर्णामृत' नामक सुन्दर काव्य का निर्माण किया, जिसकी उक्तियाँ सर्वथा नई हैं, दूसरे कवियों की जूठी नहीं हैं। प्रेमाभक्ति से प्रकट सहज एवं दिव्य-उद्‌गार हैं। कृष्णकर्णामृत रसिक-भक्तों का जीवन-प्राण हैं, उन्होंने इसे कई लड़ियों के हार के समान अपने हृदय में धारण किया है। एक बार भगवान श्यामसुन्दर ने मार्ग दिखाते हुए अपना हाथ पकड़ाया और फिर उसे छुड़ा लिया। उस समय आपने उनसे कहा-हाथ छुड़ाकर चले जाने से क्या हुआ, मैं तुम्हें वीर पुरुष तब समझूँ, जब मेरे हृदय के बन्धन से छूटकर चले जाओ। आपने चिन्तामणि का संग पाकर ब्रजगोपियों के साथ हुई श्रीकृष्ण की रहस्यलीलाओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उसके द्वारा सभी भक्तों का मंगल हुआ अतः आप मंगल की मूर्ति ही थे।।४६।।

व्याख्या-कृष्णकृपा-भगवद्गुण-दर्पण में भगवत्कृपा का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-'रक्षणे सर्वभूतानां अहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्य सन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी।।' अर्थात् समस्त प्राणियों के संरक्षण में एकमात्र मैं ही परम समर्थ हूँ। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का अनुसन्धान करते हुए निरन्तर जीवों के लिये मंगल-विधान करना भगवत्कृपा कहलाती है। भगवत्कृपा का फल असीम है, अनन्त है। यथा-'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।' (रामा०) कृपापात्र कोई एक होता है। यथा-'कृपा कृपा सब कोइ कहै, कृपापात्र नहिं कोय। कृपापात्र सोइ जानिये, (जो) आज्ञाकारी होय।।' श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं- 'मनक्रम वचन छांड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहैं रघुराई।। अर्थात् लौकिक चातुर्य छोड़कर सरल भाव से भजन करने से अवश्य कृपा होती है।

दृष्टान्त-एक गरीब ब्राह्मण का-एक गाँव में एक ब्राह्मण रहते थे। कर्मवशात् वे विद्या और धन दोनों से ही रहित थे। भिक्षामात्र ही उनकी जीविका थी परन्तु परिवार बड़ा होने से केवल भिक्षा से निर्वाह कठिनता से हो रहा था। एक दिन उन्होंने अपने यहाँ के राजा

की उदारता की प्रशंसा सुनी। फिर तो ये कुछ धन प्राप्त करने की लालसा से राजा के यहाँ जाने की इच्छा किये। मन में विचार आया कि राजा के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। यथा-'रिक्तपाणिर्नपश्येत राजानं भिषजंगुरुम्।।' परन्तु क्या लेकर जाऊँ, यह बात वे सोच नहीं पा रहे थे तब तक उनकी दृष्टि अपने आँगन में लगे नींबू के पेड़ पर गई। वह फलों से लदा था। पण्डितजी पाँच नीबू ही उपहारस्वरूप राजा को जाकर भेंट किये और सरल भाव से अपनी स्थिति निवेदन किये। राजा ने पण्डितजी के सरल भाव पर प्रसन्न होकर पाँच गाँव का उनके नाम पट्टा कर दिया। जब यह बात गाँव के और लोग सुने तो सबके सब डलिया भर-भरकर नींबू राजा को भेंट करने के लिये लाये। मन्त्री ने निवेदन किया तो राजा ने आदेश दिया कि सबको पाँच-पाँच रुपये देकर विदा करो, ऐसा ही किया गया। दृष्टान्त का तात्पर्य यह कि प्रथम ब्राह्मण ने सरल भाव से राजा को भेजा तो उसे पाँच नींबू में ही पाँच गाँव मिल गये और चतुराई करने के कारण अन्य लोगों को डलिया-भर के बदले केवल पाँच रुपया ही मिला। इसी प्रकार विल्वमंगल ने सरल भाव से भगवान को भजा तो भगवान ने उन पर बड़ी कृपा की। बड़ी कृपा यह कि जो वेश्या का हाथ पकड़ने वाले थे, उनको भगवान ने अपना हाथ पकड़ाया।

युक्ति अनुच्छिष्ट-**इस पर दृष्टान्त श्रीसूरदासजी और श्रीकृष्णदासजी का (देखिये कवित्त ३४६) 'व्रजवधूकेलि'-यथा-**

अंगनामंगनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः।।
क्वापि वीणाभिराराविणा कम्पितः क्वापि वीणाभिराकिङ्किणी नर्तितः।
क्वापि वीणाभिरामान्तरं गापतिः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः।।

(कृष्णकर्णामृत)

छप्पय में आये हुए कथा-प्रसंगों का वर्णन आगे किया गया है।

कृष्ण वेना तीर एक द्विज मतिधीर रहै ह्वै गयो अधीर संग चिन्तामनि पाइकै।
तजी लोकलाज हिये वाहीको जु राज भयौ निशिदिन काज वहै रहै घर जाइकै।।
पिताको सराध नेकु रह्यौ मन साधि दिन शेष में आवेश चल्यौ अति अकुलाइकै।
नदी चढ़ी रही भारी पैये न अवारी नाव भाव भर्‌यौ हियौ जियौ जात न धिजाइकै।।१६५

शब्दार्थ-कृष्णवेना=दक्षिण भारत की एक नदी। चिन्तामणि=विल्वमंगल की प्रेमिका, एक रत्न जो मन की कामनायें पूरी करता है। शेष =बाकी, बीतने पर। आवेश = उत्कण्ठा सहित मन का वेग, बेहोशी। अवारी=नदी के इस पार का किनारा, बिलम्ब।

भावार्थ-दक्षिण भारत की कृष्णवेना नामक पवित्र नदी के तट पर एक ग्राम में श्रीविल्वमंगल नामक ब्राह्मण रहते थे जो बड़े गम्भीर एवं धैर्यवान थे। लेकिन चिन्तामणि नाम की वेश्या का संग पाकर उसमें आसक्त होकर बिल्कुल अधीर (चंचलचित्त) हो गये। उसके प्रेमफंद में फँसकर इन्होंने लोक-लज्जा एवं कुल की सभी मर्यादाओं का त्याग कर दिया। इनके हृदय पर उसका पूरा-पूरा अधिकार हो गया। सब कुछ छोड़कर बस यही एक आपका काम रह गया था कि दिन-रात उसी के घर में जाकर रहते थे। एक बार पिताजी के श्राद्ध के समय किसी प्रकार अपने मन को रोककर कुछ देर घर में रहे। परन्तु सायंकाल होते ही आप उसके प्रेम के आवेश में आ गये। दिनभर के विरह से अत्यन्त व्याकुल होकर उसके घर की ओर चल पड़े। चिन्तामणि का घर नदी के उस पार था। उस दिन नदी में बड़ी-भारी बाढ़ आ गई थी। विलम्ब हो जाने के कारण इस पार नाव नहीं मिली। इधर इनके मन में चिन्तामणि से मिलने की उत्कट उत्कंठा हुई। इससे विल्वमंगलजी को जीवन धारण करना अति असम्भव हो रहा था।।१६५।।

व्याख्या-द्विज मतिधीर-इससे जनाया गया कि श्रीविल्वमंगलजी समस्त ब्राह्मणोचित-संस्कार और सद्गुणों से युक्त थे। परन्तु वेश्या को देखते ही इनका समस्त ज्ञान, ध्यान, धैर्य जाता रहा। तभी तो कहा गया है-

तावन्महत्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता।
यावज्ज्वलति नांगेषु हन्त पञ्चेषु पावकः।। (भर्तृहरि)

अर्थ-तभी तक मनुष्य में पण्डिताई, कुलीनता और विवेक है, जब तक उसके अंगों में काम की अग्नि नहीं जलती।

पुनः- मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्प दर्पदलने विरला मनुष्याः।। (भर्तृहरि)

अर्थ-इस पृथ्वी पर मतवाले हाथियों के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने वाले शूरवीर हैं तथा कोई-कोई बलवान सिंह को मारने में भी चतुर होते हैं। किन्तु बलवानों के सामने मैं

हठपूर्वक कहता हूँ कि कामदेव के दर्प को नष्ट करने वाले विरले ही मनुष्य होते हैं। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६९, श्रीअजामिलजी का प्रसंग।

संग चिन्तामणि०-श्रीविल्वमंगलजी का घर नदी के इस पार था, चिन्तामणि का उस पार नगर में। एक बार ये किसी कार्यवशात् उस नगर में गये थे। वहाँ किसी उत्सव में चिन्तामणि वेश्या का नृत्यगान हो रहा था ये उसके सुन्दररूप, हाव-भाव, नृत्य-गान को देखकर मुग्ध हो गये, वशीभूत हो गये। और ये भी चूँकि, ब्राह्मण थे, ब्रह्मतेज सम्पन्न थे और सुन्दर भी थे अतः वेश्या भी इन्हें देखकर काममोहित हो गई। दोनों का दोनों पर अनन्य-प्रेम हो गया। एक बार चिन्तामणि के अनन्य-प्रेम की परीक्षा के लिए भगवान श्रीकृष्ण राजा बने और श्रीनारदजी मन्त्री बने। चिन्तामणि को राजदरबार में नृत्य-गान करने के लिए बुलाया गया। वह नहीं गई तो बहुत-बहुत धन का लोभ दिखाये, उसकी माता ने बहुत समझाया। परन्तु वह तो विल्वमंगल की अनन्या हो चुकी थी अतः नहीं ही गई। भगवान उसकी इस निष्ठा से बहुत ही प्रसन्न हुए। यहाँ 'संगात्संजायते कामः' (गी० २।६२) अर्थात् संग से काम की उत्पत्ति होती है, यह चरितार्थ हुआ। यहाँ उपदेश है कि जब 'मतिधीर ह्वै गये अधीर' तो और की तो बात ही क्या। 'तजी लोकलाज'-कामी पुरुष सर्वथा निर्लज्ज होता है। यथा-'कामातुराणां न भयं न लज्जा।।' 'हिये वाहिको जु राज'- हृदय भगवान का भवन है यथा-'मम हृदय भवन प्रभु तोरा।'(वि०)'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।(गी०१८।६१) उसमें इन्होंने वेश्या को बसा लिया।'निशदिन काज' जहाँ 'तजि हरि भजन काज नहिं दूजा'था। वहाँ वेश्या को रिझानामात्र काज रह गया। 'रहें घर जाइकै' पिता-माता, विवाहिता पत्नी,कुटुम्ब परिवार, घर-बार छोड़कर उसी के यहाँ रहने लगे।

पिता को सराध- इनके पिता का नाम रामदास था। वे बड़े कुलीन और सदाचारी थे। विल्वमंगल के इस कदाचरण से उनको महान् क्लेश होता था। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया-बुझाया परन्तु जब ये राह पर नहीं आये तो बहुत दुःखी रहने लगे। इसी दुःख में उन्होंने शरीर छोड़ दिया। एक ही पुत्र थे विल्वमंगल, वह भी वेश्या के घर रहते थे। पिता का श्राद्ध कौन करे? गाँव के लोगों ने विल्वमंगल को बुलाने को कहा। परन्तु कोई जाने को तैयार नहीं हुआ। तब विल्वमंगल की परमसाध्वी पत्नी ही बुलाने गईं। पत्नी ने मन में विचार किया कि वे हमारा कहना तो मानेंगे नहीं, अतः उसने चिन्तामणि से ही अनुनय-विनय किया। एक दिन के लिए पति की भीख माँगी। वेश्या इस साध्वी के विनम्र व्यवहार से

बड़ी प्रभावित हुई। यद्यपि वह वेश्या है तो भी सतीधर्म से सर्वथा अपरिचित हो, सो बात नहीं। अतः उसने विल्वमंगल को पत्नी के साथ कर दिया।

करत विचार वारिधार में न रहै प्राण ताते भली धार मित्र सनमुख जाइयै।
परे कूदि नीर कछु सुधि न शरीर की है वही एक पीर कब दरसन पाइयै।।
पैयत न पार तन हारि भयो बूड़िबे कों मृतक निहारि मानी नाव मन भाइयै।
लगेई किनारे जाय चले पग धाय चाय आये पट लागे निशि आधी सो विहाइयै।।१६६

शब्दार्थ-चाय=लालसा, उमंग। पट = किवाड़, पर्दा।

भावार्थ-श्रीविल्वमंगलजी ने अपने मन में विचारा कि-नदी की इस तीव्र धारा में पार जाने की इच्छा से कूदने पर डूब जाऊँगा और बिना चिन्तामणि के समीप पहुँचे यहाँ इस पार उसके वियोग में प्राण नहीं रहेंगे। यहाँ मरने की अपेक्षा नदी की धारा में अपनी प्रियतमा की ओर जाकर मरना ही अच्छा है। सम्भव है कि धारा में न डूबकर पहुँच ही जाऊँ। ऐसा विचारकर आप नदी की धारा में कूद पड़े। प्रेमविवश आपको अपने शरीर की कुछ भी खबर नहीं है, प्रियतमा का ध्यान है। मन में एकमात्र यही लालसा है कि अपनी प्रेयसी के दर्शन कब प्राप्त हों। धारा में तैरते-तैरते अधिक समय के बाद भी वह किनारा अभी बहुत दूर था। आप बहुत थक गये, शरीर शिथिल हो गया, ये डूब ही रहे थे कि एक बहता हुआ मुर्दा पास में देखकर उसे मनचाही नाव माना और उसका सहारा लेकर किनारे पर जा लगे। अब ये बड़ी उमंग के साथ दौड़कर चिन्तामणि के द्वार पर पहुँचे, परन्तु उस समय आधी-रात बीत रही थी अतः घर का द्वार बन्द था।।१६६।।

व्याख्या-मित्र सनमुख-कहावत है-'हरि से, अरि से, मित्र से सनमुख ही को काम।' अर्थात् श्रीहरि (भगवान), अरि (शत्रु) और मित्र के सदा सम्मुख ही रहना चाहिए। यथा-हरि से सम्मुख-'सनमुख होई जीव मोहिं जबहीं। जन्मकोटि अघ नाशहिं तबहीं।।' (रामा०) 'हरि सम्मुख सुख पाइये विमुख भये दुख होय।' (सन्तवाणी) अरि से सम्मुख यथा-गर्जत तर्जत सम्मुख धावा।। पुनः-सनमुख मरन वीर कै शोभा।। (रामा०) मित्र से सम्मुख का प्रसङ्ग ही चल रहा है।

पर्यौ कूदि नीर-प्रेमियों को प्रेम के नशे में-प्रियतम से मिलन की उत्कण्ठा में आग-पानी कुछ भी नहीं सूझता है। वे किसी की भी परवाह नहीं करते हैं।

दृष्टान्त-लैला-मजनूं का-लैला ने अपने प्रेम-दीवाने मजनूं के लिए नगर-भर में यह व्यवस्था करा दी थी कि वह जहाँ भी जाय उसे सब प्रकार की खाने-सोने की सुविधा की जाय। यह देखकर बहुत से नकली मजनूं 'हा लैला, हा लैला' करते हुए गली-गली में डोलने लगे और जहाँ-तहाँ पहुँचकर खूब खाने-पीने मौज करने लगे। जब यह समाचार लैला को मिला तो उसने असली और नकली मजनूं की परीक्षा के लिए एक उपाय किया। वह स्वयं एक मंच पर बैठ गई और अपने चारों ओर कुछ दूरी पर आग बिछवा दी तथा नगर में घोषणा करा दी कि लैला-मजनूं से मिलना चाहती है। यह सुनकर सबके सब दौड़ पड़े। परन्तु आग देखकर उनके होश गुम हो गये। वे चुपचाप दूर से ही लौट गये। लेकिन असली मजनूं आग को रौंदता-खौंदता हुआ अपनी लैला के पास पहुँच ही गया। उसी प्रकार विल्वमङ्गल भी जैसे-तैसे नदी को पार करके चिन्तामणि के पास पहुँच ही गये।

मृतक निहारि०-श्रीविल्वमङ्गलजी की पत्नी परमसाध्वी एवं पतिव्रता थीं। ये चिन्तामणि के यहाँ रहने लगे। पतिविरहकर्शिता वह बेचारी अपने श्वसुर के संरक्षण में रहकर पति-परमेश्वर का चिन्तन करती हुई समय बिताती रही। श्वसुर के मरने के बाद अब उसे किसी का सहारा नहीं रहा। पिता का श्राद्ध करके प्रेमावेश में आकर जब विल्वमङ्गलजी घर से भागे तो वह भी पीछे-पीछे दौड़ी। परन्तु पीछा न कर सकी। संयोगवश विल्वमङ्गल नीचे नदी पर पहुँचे और वह ऊपर पहुँची। वहाँ पतिदेव को न पाकर वह निराश हुई और नदी में कूदकर डूब गई, बह चली। उधर श्रीविल्वमङ्गलजी भी कुछ देर सोच-विचार करते रहे फिर ये भी नदी में कूद पड़े। थककर डूब ही रहे थे कि इतने में इन्हें अपनी पत्नी के शव का सहारा मिला। उसे इन्होंने चिन्तामणि द्वारा भेजी गई नाव माना। उसके सहारे से ये पार हुए। उस पतिव्रता ने मरकर भी पति की सेवा की, मरने से बचाया, पार किया और स्वयं पार हुई। पश्चात् उसके शव को देखकर चिंतामणि को एवं उसके द्वारा विल्वमंगलजी को भी परम-वैराग्य प्राप्त हुआ।

श्रीविल्वमंगलजी भगवदीय जीव हैं। जिसका आगे वर्णन किया जायेगा। उस पूर्वजन्म के संस्कारवश माया से मोहित होकर वेश्या के प्रेम में प्राणों की परवाह न करके नदी में कूद पड़े और थककर डूबने जा ही रहे थे कि भगवान श्रीश्यामसुन्दर इनके सच्चे प्रेम को देखकर विचार करने लगे कि अहो! ऐसा आशिक (प्रेमी) तो मैं ढूँढ़ता हूँ। ऐसे अनुरागीजनों की तो मुझे बड़ी चाह रहती है अतः इस जीव को तो जैसे हो तैसे बचाकर अपनी ओर आकृष्ट करना चाहिए। फिर तो भगवान ने इन्हें मृतक का सहारा देकर बचा

लिया। यहाँ उपदेश है-जीव पर जब भगवान स्वयं कृपादृष्टि करके अपनी ओर आकर्षित करते हैं तभी वह माया से मुँह मोड़कर भगवान की ओर उन्मुख होता है। श्रुति भगवती भी कहती हैं-'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' अर्थात् यह परमात्मा जिसको वरण करता है अर्थात् जिसकी इच्छा करता है, वही इसको प्राप्त करता है। इस पर—

दृष्टान्त-श्रीलालदास बाबा का-**एक बार दाराशिकोह राजा ने श्रीलाल बाबा से पूछा कि साहब से कैसे मिलना हो सकता है। उन्होंने कहा-जब वे चाहें तभी मिलना सम्भव है। यह सुनकर दाराशिकोह चुप हो गया परन्तु उसकी जिज्ञासा का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। कुछ दिन बाद एक बार रात्रि में अपने महल में विविध वार्ता करते हुए दाराशिकोह ने अपनी बेगम से श्रीलाल बाबा की बड़ी बढ़ाई की। सन्त की प्रशंसा सुनकर बेगम ने उनके दर्शन की इच्छा प्रकट की। दाराशिकोह ने कहा-अच्छा, कल सवेरे दर्शन हो जायेगा परन्तु बेगम तो हठ कर गई कि ऐसे फकीर का दर्शन तो मैं अभी करुँगी। भला इस क्षण-भंगुर जीवन का क्या ठिकाना है? बेगम की चाह समझकर दाराशिकोह ने विचार किया कि दिन में बुलवाता तो बाजे-गाजे और जुलूस के साथ बुलवाता। परन्तु इस समय रात्रि है, सब लोग सो रहे हैं। शोरगुल होगा तो जागकर आपस में चर्चा-चबाव करेंगे कि इस समय लाल बाबा को महल में क्यों बुलाया गया है? अतः गुप्त मार्ग से उनको महल में लाना चाहिये। फिर तो उसने मल्लाहों को बुलाकर आज्ञा दी कि इसी समय जाकर श्रीलालबाबा को मेरी प्रार्थना सुनाकर उन्हें नाव पर बैठाकर ले आओ। मल्लाहों ने ऐसा ही किया। जब नाव महल के समीप आ गयीं तो बाबा को कन्धे पर बिठाकर महल में ले गये। दाराशिकोह और उसकी बेगम ने बाबा का बड़ा सत्कार किया। जब बाबा सुखपूर्वक गद्दी पर विराज गये तो बोले कि उस दिन की जिज्ञासा का अब पूर्णतः समाधान हुआ कि नहीं? दाराशिकोह बोला-अभी तो मैंने नहीं समझा। तब श्रीलाल बाबा ने कहा कि देखो, इस समय यदि हम महल में आना चाहते तो किसी तरह नहीं आ सकते थे, परन्तु जब तुमने चाहा तो मैं बे-खटक आ गया। इसी प्रकार भगवान जिस जीव को चाहते हैं वह समस्त विघ्नों पर पाँव देकर भगवान के पास पहुँच जाता है। अतः विल्वमंगल पर भी अपनी असीम अहैतुकी कृपा करके भगवान ने उनको नदी से पार लगाकर चिन्तामणि से उपदेश दिलाकर अपनी ओर खींच लिया। एक प्रश्न यहाँ और होगा कि भगवान जब इन्हें इतना चाहते हैं तो स्वयं ही क्यों न उपदेश दिये? चिन्तामणि से क्यों उपदेश दिलाये? समाधान-भगवान ने विचार किया कि इस समय इनका मन चिन्तामणि में अत्यन्त आसक्त हो रहा है, वही**

इनकी सर्वस्वरूपा हो रही है। अतः ये उसके अतिरिक्त किसी की भी बात नहीं मानेंगे। चाहे हम ही प्रत्यक्ष होकर क्यों न कहें इस पर-

दृष्टान्त-लैला मजनूं का-विल्वमङ्गल की ही तरह भगवान मजनूं के भी प्रेम पर प्रसन्न होकर उसे दर्शन देने गये। उस समय वह चद्दर से मुख ढके सो रहा था। भगवान ने कहा-उठ मेरा दर्शन कर। मजनूं ने पूछा-तुम कौन हो? भगवान-मैं खुदा हूँ। मजूनं-तुम खुदा नहीं हो। यदि तुम खुदा होते तो मेरे हृदय की जानकर लैला बनकर ही मेरे सामने आते क्योंकि मैं लैला को छोड़कर और किसी को नहीं देखना चाहता। यदि तुमको दर्शन देना हो तो लैला बनकर आओ। ऐसा कहकर मजनूं फिर सो गया। मुँह उघारकर भगवान का दर्शन नहीं किया। इसलिये भगवान को विल्वमङ्गल को चिन्तामणि के द्वारा ही उपदेश दिलाया। कहावत भी है-प्यारे की नीकी लगै, गारि मार मनुहार।।

चले पग धाय-इसके तीन कारण-१. मिलनोत्कण्ठा, यथा-'कब दर्शन पाइये।' जैसे सुतीक्ष्णजी-'प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।।' श्रीअगस्त्यजी-'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये।' श्रीअत्रिजी-'पुलकित गात अत्रि उठि धाये।' २.रात्रि बहुत बीत गयी थी। ३. नदी के तीव्र प्रवाह में बहकर बहुत दूर जाकर लगे थे।

अजगर घूमि झूमि भूमिको परस कियो लियोई सहारो चढ्यो छात पर जायकै।
ऊपर किवार लगे पर्‌यो कूदि आंगन में गिर्‌यो यों गरत रागी जागी सोर पायकै।।
दीपक बराई जो पै देखै विल्वमंगल है बड़ोई अमंगल तूं कियो कहा आय कै।
जन अन्हवाय सूखे पट पहिराय हाय! कैसें करि आयो जल पार द्वार धाय कै।।१६७

शब्दार्थ-झूमि=लटककर। रागी=प्रेमी, प्रेमिका। सोर=कोलाहल। पट=वस्त्र। गरत=गड्ढा

भावार्थ-उस समय एक मोटा, लम्बा-सा साँप छत से नीचे की ओर घूमकर लटका हुआ धरती को छू रहा था। विल्वमंगल प्रेमावेश में थे अतः उन्होंने साँप को रस्सी मानकर उसका सहारा लिया और छत पर जा चढ़े, ऊपर भी जीने के किवाड़ बन्द थे। नीचे उतरने का रास्ता न पाकर आँगन में गढ्ढे में कूद पड़े। प्रेमी के गिरने से जो धमाका हुआ उसे सुनकर प्रेमिका जग गयी। उसने दीपक जलाकर देखा तो विल्वमंगलजी दिखलाई पड़े। चिन्तामणि ने कहा- तुम्हारा नाम तो विल्वमंगल है पर तुम बड़े ही अमंगल (बुरे) हो तुमने इस समय यहाँ आकर क्या किया? विल्वमंगल का शरीर कीच से सना था अतः उन्हें जल से स्नान

करवाकर उन्हें सूखे वस्त्र पहनाये। पश्चात् शोक करती हुई बोली-अब तुम यह तो बताओ कि तुमने नदी को कैसे पार किया और कैसे छत पर चढ़े।।१६७।।

व्याख्या-पर्यो कूदि-किवाड़ खोलने के लिए जगाये नहीं, कूदि ही पड़े। इसलिए कि जगाने से शोरगुल होगा। कहीं लोग चोर की आशंका न कर ले। पुनः जगाने, जगने में देर होगी। इन्हें एक-एक क्षण कल्प के समान बीत रहा था। अतः अविलम्ब कूद पड़े। 'गिर्यो यों गरत' नाबदान के गढ्ढे में गिरे। जान-बूझकर उसी में कूदे थे जिससे चोट कम लगे। 'कियो कहा आयके'-अर्थात् तुमने यह क्या किया? तुम क्यों आये? क्या तुम्हारी पत्नी ने तुम्हें रोका नहीं, जो तूँ इतनी रात को चला आया? इन्होंने कहा कि भला तुम्हारे सामने वह क्या चीज है, जो कि हमें रोकने का साहस करे। चिन्तामणि ने कहा-सच तो यह है कि उसके सामने मैं कोई चीज नहीं हूँ। कहाँ परम सती-साध्वी वह पतिव्रता। कहाँ मैं कुलटा, कुलकलंकिनी, कदाचारिणी। अरे! मैं धर्माचरण कर, भले ही नहीं पाती हूँ, परन्तु जानती हूँ पातिव्रत्य के महत्व को मैं समझ गयी। निश्चय ही वह महान पतिव्रता हैं, उसने तुम्हारे सुख में सुख मानकर तुमको रोका नहीं।

दृष्टान्त-एक सती का-एक पतिव्रता स्त्री का पति कोढ़ी था परन्तु था वह महान् दुष्ट दुराचारी। बेचारी पतिव्रता जी-जान लगाकर उसकी सेवा करती परन्तु इतने पर भी वह उसे मारता-पीटता, गाली देता रहता था। परन्तु वह साध्वी सब कुछ सहकर प्राणप्रण से सेवा करती रहती थी। एक दिन उसके कुष्ट पति ने नगर की परम सुन्दरी वेश्या को देखा तो वह उस पर आसक्त हो गया। अब तो वह खाना-पीना छोड़कर उससे मिलने के लिए छटपटाने लगा। जब उसकी पत्नी को उसका मनोभाव मालूम पड़ा तो वह बड़े सोच-विचारों में पड़ गयी कि वेश्या तो धन की और रूप की आशिक होती हैं। परन्तु मेरे पति के पास न तो धन ही है और न तो रूप ही है। कुष्ट से उसका शरीर अत्यन्त विकृत हो गया था। लेकिन इस दशा में भी वह वेश्या से मिले बिना जी नहीं सकता था। अतः पति का मनोरथपूर्ण करने के लिए साध्वी वेश्या को प्रसन्न करने के लिए, पति की सेवा से अवकाश मिलने पर उसके घर जाकर उसकी सेवा करती थीं। वेश्या ने इसकी सेवा से प्रसन्न होकर पूछा-आपने हमारी बहुत सेवा की है, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ। तब उस पतिव्रता ने अपने पति की इच्छा सुनाई। वेश्या राजी हो गई। तब वह पति-परायणा अपने पति को कन्धे पर बैठाकर वेश्या के घर ले जाती। जब वह वेश्या के घर में चला जाता तो स्वयं बाहर खड़ी रहती और पुनः कन्धे पर बैठाकर घर ले आती। यह है पतिव्रता का पति के सुख में सुख मानने का

ज्वलन्त उदाहरण। आगे का प्रसङ्ग संक्षेप में इस प्रकार है कि एकदिन वह बाहर खड़ी थी। सर्दी का समय था। बड़े जोर की वर्षा हुई एवं ओले भी गिरे। जिससे कि ठिठुरकर पतिव्रता ने प्राण छोड़ दिये। उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर भगवान ने उसको अपने लोक में बुलाने के लिए दिव्य-विमान भेजा। परन्तु वह अपने पति को छोड़कर अकेली भगवद्धाम जाने को राजी नहीं हुई। तब पार्षदों ने जाकर भगवान से कहा तो भगवान ने कहा कि उसके पति को भी ले आओ। हमें तो उस पतिव्रता को अपने धाम में बसाना है, चाहे जैसे भी सम्भव हो। परन्तु उसका पति वेश्या के बिना एवं वेश्या ने नगर-निवासियों के बिना (क्योंकि वेश्या नगरबधु अर्थात् सबकी भोग्या होती है।) जाना अस्वीकार कर दिया। तब भगवान ने आज्ञा दी कि सबको ले आओ। फिर तो एक सती के प्रताप से पूर्ण नगर भगवद्धाम को गया।

नौका पठवाई द्वार लाव लटकाई देखि मेरे मन भाई मैं तो तबैं लई जानि कै।
चलो देखौं अहो, यह कहा धौं प्रलाप करै देख्यो विषधर महा खीजी अपमानि कै।।
जैसो मन मेरे हाड़ चाम सौं लगायो तैसो स्याम सों लगावो तौ पै जानिये सयानिकै।
मैं तो भये भोर भजौं युगल किशोर अब तेरी तुही जानै चाहौ करौ मन मानिकै।।१६८

शब्दार्थ-लाव=मोटा रस्सा। प्रलाप=बकवाद, व्यर्थ की बात। 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' (अमरकोश)।

भावार्थ-कैसे आये-इसका उत्तर देते हुए विल्वमङ्गल ने कहा—नदी पार करने के लिए तुमने ही तो नाव भेजी और छत्त पर चढ़ने के लिए रस्सी लटकाई। यह देखकर मेरा मन अति प्रसन्न हुआ और तभी मैंने जान लिया कि तुम्हारा मुझ पर कितना अधिक प्रेम है। फिर आप क्यों पूछती हो कि कैसे आये। यह सोचकर चिन्तामणि ने मन में सोचा कि-अरे! यह कैसी मिथ्या बात कर रहे हैं, चलकर देखूँ। जाकर उसने देखा कि रस्सी के स्थान पर महाविषधर सर्प लटक रहा है। तब वह विल्वमङ्गल का अपमान करती हुई, खीजकर बोली कि-तुमने जिस प्रकार अपना मन मेरे हांड-चाम के शरीर में लगाया, उस प्रकार यदि भगवान श्यामसुन्दर से लगाते, तब मैं तुम्हें बड़ा चतुर जानती। नश्वर वस्तु से मोह दोनों लोकों में दुःखदायक है अतः मैं तो प्रातःकाल होते ही अब केवल युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण का भजन करूँगी। तुम क्या करोगे, उसे तुम जानो। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम भी मेरी बात मानकर प्रभु का भजन करो।।१६८।।

व्याख्या-खीजी०-'**धिक् तोहिं धिक् तोहिं धिक् तोहिं कामी। तो सम कोउ न विषय पथ गामी।।**' '**हाड़ चाम०**' वास्तव में विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो यह शरीर **अस्थि-चर्म, मांस-मज्जा, मल-मूत्र का भाण्डागार ही तो है। परन्तु अविवेकवश लोग इसे ही आत्मा-परमात्मा मानकर इसके पीछे अपना लोक-परलोक बिगाड़ लेते हैं। श्रीभर्तृहरिजी कामिनी की काया का कुत्सित रूप वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—**

मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितं,
स्तनौ मांस ग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।
क्षरन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्शजघने,
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजन विशेषैर्गुरुकृतम्।

अर्थ-**मुख कफ का घर है। उसकी चन्द्रमा से तुलना की गई है, स्तन माँस के लोथड़े हैं जिनकी स्वर्ण कलश से उपमा दी गई है, टपकते मूत्र से भीजे हुए जघन्यस्थल को हाथी की सूंड से स्पर्धा करने वाला बताया गया है। अहा, स्त्री के अत्यन्त निन्दनीय रूप को कविजनों ने किस तरह चढ़ा-बढ़ाकर कहा है।**

जानिये सयानिकै-**भगवान को भजना ही वास्तविक सयानपन है।** यथा-'**नीति निपुण सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।। सोइ कवि कोविद सोइ रणधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।।'' पुनः-परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर।।' (रामा०) पुनः-विषय त्यागि हरि को भजे सोई चतुर सयान। सुख स्वरूप हरि तजि विषय सेवैं मूढ़ अयान।। (भ०व०टि०) 'भजों युगलकिशोर'—**

युगलकिशोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम हैं उनके जनम-जनम घर जाये चाकर।।
चूक परै परिहरैं न कबहूं सबहीं भांति दया के आगर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रणतनि पोषक परम सुधाकर।।

कूकर शूकर करत हैं विष विषयाको भोग।
तुलसी वृथा न खोइये, यह तन भजिबे जोग।।

मन मानिके-**मनको मनाने पर श्रीनिर्भयानन्दजी ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है। यथा-**

मान मान रे मान मूढ़ मन मानि ले।
सुपना है संसार बात यह जानि ले।।

गुरु चरनन की धूरि सीस पर धारि ले।
शुद्धनीर सों मलि मलि पांव पखारि ले।।
विषय भोग में सुख नहिं खूब बिचारि ले।
दैवी सम्पत्ति शुद्ध श्याम हिय धारि ले।।

इस प्रकार चिन्तामणि ने स्वयं विषयासक्ति त्यागकर भजन करने का प्रण लेकर विल्वमंगल को भी इसी प्रकार की सत्प्रेरणा दी। इस पर—

दृष्टान्त-एक सन्त का-**एक सन्तजी की कुटिया पर एक माताजी अपने लड़के को लेकर आई और प्रार्थना की कि आप इसे ऐसा उपदेश दें जिससे यह गुड़ खाना छोड़ दे। यह गुड़ बहुत खाता है। संयोग की बात सन्तजी भी गुड़ के प्रेमी थे और जब वह कह रही थी तो वे उस समय स्वयं गुड़ खा रहे थे अतः बोले कि कल बालक को लेकर आना। दूसरे सन्त ने अपना एक दाँत तोड़ लिया और जब वह लड़के को लेकर आई तो उन्होंने बालक को अपना दाँत दिखाकर कहा कि—देखो, गुड़ खाने से हमारा दाँत टूट गया, अब तुम भी गुड़ मत खाना। लड़का तुरन्त मान गया।**

खुलि गईं आँखैं अभिलाषैं रूपमाधुरी कौं चाखैं रसरंग औ उमंग अंग न्यारियै।
बीन लै बजाई गाई विपिन निकुंजक्रीड़ा भयो सुख पुंज जापै कोटि विषै वारियै।।
बीति गई राति प्रात चले आप आप कों जू हिये वही जाप दृग नीर भरि डारियै।
सोमगिरि नाम अभिराम गुरु कियो आनि सकै को बखानि लाल भुवन निहारियै।।१६९

शब्दार्थ-**चाखें=आस्वादन करें। उमङ्ग=उत्साह। बीन-वीणा। विपिन=वृन्दावन। निकुंज=लता-भवन। क्रीड़ा=विहार, केलि। विषै=इन्द्रियों के संसारी भोग। लाल=श्रीकृष्ण। भुवन=संसार।**

भावार्थ-**चिन्तामणि की इस उपदेश भरी फटकार से श्रीविल्वमङ्गलजी के हृदय के नेत्र खुल गये-विवेक का उदय हो गया और वे नश्वररूप के बजाय अविनाशी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य के आस्वादन की अभिलाषा करने लगे। उनके हृदय में विलक्षण प्रेमानन्द का अनुभव होने लगा और अंग-अंग में अद्भुत एवं अपार-उत्साह भर गया। दोनों के जीवन में परिवर्तन हो गया। चिन्तामणि ने अपनी वीणा ली (और विल्वमंगल ने मृदंग सँभाला) दोनों श्रीवृन्दावन की कुञ्जों में की गई श्रीराधाकृष्ण की मधुर लीला का गान करने लगे। उसमें तन्मय हो जाने से दोनों को अपार आनन्द हुआ जिस पर करोड़ों सांसारिक**

भोग-विषय सुख न्यौछावर किये जा सकते हैं। इस प्रकार प्रेम से ही हरिगुण गाते हुए जब सारी-रात बीत गई, तब प्रातःकाल दोनों ने अपने पूर्व निश्चय के अनुसार अपनी-अपनी राह अपनाई। अर्थात् साधना आरम्भ कर दी। दोनों के हृदय में वही भगवद्ध्यान और नामजप था। उनके नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की धारा बह रही थी। श्रीविल्वमङ्गलजी ने परम प्रेमी सोमगिरि नामक सन्त को गुरु बनाया, उनसे दीक्षा ली। उनके प्रेमभाव का वर्णन कौन कर सकता है? आप सम्पूर्ण संसार में श्रीकृष्ण को देखते थे। उनकी दृष्टि में संसार प्रेमरङ्ग में रँगा था।।१६९।।

व्याख्या-खुलि गईं आँखें—**इसके पूर्व ये मोहरात्रि में वेश्यासक्तिरूपी प्रगाढ़ निद्रा के वश होकर सो रहे थे, जिससे कि इनके हृदय के विवेक विलोचन बन्द थे। परन्तु जब चिन्तामणि के उपदेश से हृदयाकाश में ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने से मोहान्धकार दूर हुआ, आसक्ति मिटी तब हृदय के नेत्र खुल गये। पुनः—**

गोला मारै ज्ञान का संत सिपाही कोय।
नाशै तमका किला झट अजब उजाला होय।।
अजब उजाला होय हिये की अँखियाँ खूटैं।
काम क्रोध मद लोभ बेरियां सहजहिं छूटैं।।
हिय में भासैं श्यामरूप सुन्दर अनमोला।
सन्त सिपाही कोय ज्ञान का मारै गोला।। **(भ०व०टि०)**

आँख खुलने का भाव यह कि इनको बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि जीवन व्यर्थ बीत गया कुछ परमार्थ साधन नहीं कर पाया। यथा—

जनम गयो बादिही बर बीति।
परमारथ पाले न पर्‌यौ कछु अनुदिन अधिक अनीति।।
खेलत खात लरिकपन गोचलि जौवन जुवतिन लियो जीति।
रोग वियोग सोग श्रम संकुल बड़ि बय वृथहिं अतीति।।
राग रोग ईर्षा विमोह बस रुची न साधु समीति।
कहे न सुने गुनगन रघुवर के भइ न राम पद प्रीति।।
हृदय दहत पछिताय अनल अब सुनत दुसह भव भीति।
तुलसी प्रभु ते होइ सो कीजिय समुझि विरद की रीति।। **(वि०)**

अभिलाषैं रूपमाधुरीको—जो पहले वेश्या के दर्शन के लिए अत्यन्त आकुल थे। यथा—'कब दरसन पाइये।' वही अब भगवान की रूपमाधुरी का अवलोकन करने के लिए आकुल हो रहे हैं। यथा—'कबहिं देखिबे नयन भरि सुन्दर स्याम सरीर।।' (रामा०)

निकुञ्ज क्रीड़ा-यथा—बैठे लाल निकुञ्ज भवन। रजनी रुचिर मल्लिका मुकुलित त्रिविध पवन।। तू सखी कामकेलि मनमोहन मदन धवन। वृथा गहर कत करति कृशोदरि कारन कवन।। चपल चली तनकी सुधि बिसरी सुनत श्रवन। जै श्रीहितहरिवंश मिले रस लम्पट राधिका रवन।। (श्रीहित चौरासी) 'कोटिविषै वारिये'—विषयसुख की तो बात ही क्या, इस सुखलेश पर ब्रह्मानन्द भी न्यौछावर हैं। यथा—'सोई सुख लवलेश, बारेक जिन सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेश, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति।।' (रामा०) 'बीति गई राति' से जनाया गया कि रात्रि की बेला एवं मोहरात्रि—दोनों ही व्यतीत हो गईं। 'चले आप आपको जू'—श्रीविल्वमङ्गलजी श्रीगुरु आश्रम की ओर चले और चिन्तामणि हरिद्वार की ओर चली।

लाल भुवन निहारिये—प्रेम की परमोच्च दशा में जब प्रियतम और प्राण एक हो जाते हैं, तब चराचर जगत् प्रियतममय भासने लगता है। यथा—

सांवरो रूप वस्यौ उरमें सिगरो जग साँवर साँवर सूझै।

पुनः— जित देखों तित श्याम मई है।
श्याम कुञ्जवन जमुना श्यामा श्याम गगन घन घटा छई है।।

पुनः— घाटनमें बाटनमें बीथिनमें बागनमें वृच्छनमें बेलिनमें बाटिका में बनमें।
दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचिनमें हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें।।
कानन में कुञ्जनमें गोपिनमें गायनमें गोकुलमें गोधनमें दामिनिमें घनमें।
जहां जहां देखौं तहां श्यामही दिखाई देत 'शालिगराम' छाइ रह्यौ नैनन में मनमें।।

पुनः— कहि न जाय मुखसों कछू, श्याम प्रेम की बात।
नभ जल थल चर अचर में, श्यामहिं श्याम लखात।।
ब्रह्म नहीं माया नहीं, नहीं जीव नहिं काल।
हरि हेरत हिय हरि गयौ, रह्यौ एक नन्दलाल।।
को कासों केहि विधि कहा, कहै हृदय की बात।
हरि हेरत हिय हरि गयौ, हरि सर्वत्र लखात।।

पुनः:- नैननमें बसिगे गिरधारी।
जित देखौं तित वह ही दीखै, मोहन कुञ्ज विहारी।।
खोले आंखि सामुहे दीखै, मूंदे हृदय मँझारी।
गति मति स्याममयी सखि मोरी, जानत मदनमुरारी।।
सासु ननंद भय अब न रह्यौ री, देहु कितेकहु गारी।
जानि श्याम अपनी अपनाई विगरी मोरि सुधारी।। **(भ०व०टि०)**

रहे सो बरस रस सागर मगन भये, नये नये चोज के श्लोक पढ़ि जीजिये।
चले वृन्दावन मन कहै कब देखौं जाय आय मग मांझ एक ठौर मति भीजिये।।
पर्‍यो बड़ो सोर दृगकोर कै न चाहैं काहू तहां सर तिया न्हाति देखि आंखैं रीझिये।
लगे वाके पाछे कांछे कांछकी न सुधि कछू गई घर आछे रहे द्वार तन छीजिये।।१७०

शब्दार्थ-**सोर=शोरगुल, हल्ला। कांछे=निकट। काछ=लांग, लँगोटी, ब्रह्मचर्य। आछे=अच्छी तरह।**

भावार्थ-**श्रीविल्वमंगलजी एक वर्ष तक गुरुदेव की सेवा में रहकर प्रेमरस के समुद्र में गोते लगाते रहे। नित्य नये-नये भक्तिरसमय काव्यों का अध्ययन करते थे और भावपूर्ण नवीन श्लोकों की रचना भी करते थे, उससे श्रीवृन्दावन के दर्शन की लालसा जग गई और आप मन ही मन विचारने लगे कि-वह दिन कब आयेगा जब मैं श्रीवृन्दावन का दर्शन करूँगा। आप चल पड़े और चलते-चलते मार्ग में एक स्थान पर आपका मन रम गया। रमणीक सरोवर था, वहाँ आप विराजे। प्रेम में विभोर होने के कारण दूसरे की ओर देखते भी न थे। इनकी इस प्रेमावस्था का हल्ला गाँव-भर में मच गया। कुछ समय बाद सरोवर में स्नान करती हुई एक स्त्री को देखकर दैववश इनकी आँखें रीझ गईं। जब वह स्नान करके घर को चली, तो आसक्तिवश आप भी उसके पीछे लग गये। उस समय आपको यह भी ध्यान न रहा कि—मैंने संसारी सुखों को त्यागकर विरक्त-भक्तवेश धारणकर रखा है, लोग मुझे देखकर क्या कहेंगे? वह अपने घर के भीतर चली गई, आप द्वार पर खड़े रह गये। आसक्तिवश हृदय जल रहा था, शरीर क्षीण हो रहा था।।१७०।।**

व्याख्या-चोज के श्लोक—**(कृ० क०)**

राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता मन्थानमाकलयती दधिरिक्त पात्रे।
तस्याः स्तनस्तबक चञ्चललोलदृष्टिर्देवोऽपि दोहन धिया वृषभं निरुन्धन्।।

अर्थ— अच्युत में मन दिये राधिका दधि मन्थन को चाली।
प्रेम भरी रीति मटुकी में मथत मथनियाँ डाली।।
फहरत अञ्चल कनक कलश कुच देखि श्याम अनुरागे।
गो-दोहन हित गये खिरक महँ वृषभ दुहन तहँ लागे।। **(भ०व०टि०)**

बालोऽपिशैलोद्धरणाग्रपाणिर्नीलोऽपि नीरन्ध्रतमः प्रदीपः।
धीरोऽपि राधा नयनावबद्धो जारोऽपि संसारहरः कुतस्त्वम्।।

अर्थ— बालक होकर सात दिनों तक नख पर गिरिवर धारा।
काले होकर अन्धकार में करते तुम उँजियारा।।
धीर वीर ह्वै श्रीराधा के नयनों से अकुलाते।
हौ संसार हरैया प्यारे फिर भी जार कहाते।। **(भ०व०टि०)**

कालिन्दीपुलिनोदरेषु मुसली यावद्गतः खेलितुं,
तावत्कर्बुरिकापयः पिब हरे वर्धिष्यते तव शिखा।
इत्थं बालतया प्रतारणपराः श्रुत्वा यशोदा गिरः,
पायान्नः स्वशिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्धपीते हरिः।।

अर्थ— कालिन्दी तट खेलिबे हित गयो बलदेव जौ लौं हरे।
तौ लौं कबरी गायकौ पय पियौ बढ़ जायगी तव शिखा।।
यों ही सुनि के श्याम मातु बानी पीने लगे दूध को।
टोवैं चोटी बढ़ि गई या नहीं ये श्याम प्रमुदित द्रवैं।।

चले वृन्दावन— चलौ मन वृन्दावन को धाय।
जमुना नदी जहाँ सुखदानी रति रस रही बहाय।।
कूल कुञ्ज फूली द्रुमवल्ली रही महँक तहँ छाय।
मोर चकोर सारिका कोयल गुप्त केलि रहे गाय।।
राधारमण सखी परिकर संग विहरत सहज सुभाय।
तहाँ गये बिन चैन न आवै विरहानल न बुझाय।।
जा रस को कनहू यहँ दुर्लभ सोऊ तहँ उमड़ाय।
व्यर्थ काल इत उत बहु खोयो अब नहिं सकौं गँवाय।। **(भ०व०टि०)**

देखि आँखैं रीझिये-**प्रश्न-अभी कहा गया है कि 'दृगकोर कै न चाहैं काहू' और अभी कहते हैं कि 'देखि आंखैं रीझिये' ऐसा क्यों हुआ? समाधान—इनके मन में भगवद्-**

दर्शन की अत्यन्त अकुण्ठ उत्कण्ठा थी। इन्होंने प्रण कर लिया था कि इन आँखों से सिवाय भगवान के, और को देखूँगा ही नहीं। आपने इस भाव को दृढ़ किये उसी दर्शनोत्कण्ठा में अत्यन्त आतुर भये चले जा रहे थे। किसी की ओर आँख उठाकर देखते ही नहीं थे। इस बात का चारों ओर शोर मच गया। लोक की 'वाहवाही' सुनकर इनको अभिमान हो गया। इसी से तो कहा गया है कि 'लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाह' (रामा०) फिर तो ये अपने को महान् प्रेमी मानकर दर्शन में विलम्ब का कारण भगवान की निष्ठुरता मानने लगे और 'वेदरदी तोहिं दरद न आवै' 'निष्ठुर' 'निर्मोही' आदि कहकर भगवान को ही दोष देने लगे।

वस्तुतस्तु भगवान तो अत्यन्त कोमल हैं। दर्शन में विलम्ब का कारण इनकी अपरिपक्वता है। जब तक विरहांच में तप घट पक नहीं जायगा तब तक रूपनीर ठहर ही नहीं सकता। ये अपने प्रेमाभिमानवश कच्चे घड़े में ही उसे भरने के लिए उत्सुक थे। अतः इनके अभिमान को दूरकर प्रेम को परिपक्व करने के लिए प्रभु ने इनकी परीक्षा ली। ये परीक्षा में फेल हो गये। वैसे तो श्रीमोरध्वजजी ने भगवान से यह वर माँग लिया है कि कलिकाल में भक्तों की परीक्षा नहीं लेना। भगवान भी साधारण तौर पर परीक्षा नहीं लेते हैं। परन्तु जब किसी को सर्वथा अपनाना होता है तो थोड़ा ठोंक-बजा लेते हैं, कमी रहती है तो स्वयं ही पूरी भी कर देते हैं। अरे भाई, लोक रीति है-दो पैसे ही हँड़िया लेते हैं तो उसे ठोंकते-बजाते हैं, फिर यहाँ तो जीवन का समस्त दायित्व अपने सिर पर लेना है, अतः भगवान भी थोड़ा टटोलते हैं। दूसरी बात यह है कि इस प्रसंग के द्वारा माया, इन्द्रिय एवं विषयों की प्रबलता दिखाई गई है। देखिये श्रीअजामिलजी का प्रसंग, पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६९, १७०।। तीसरे विषयाभ्यास-यथा—

कूकर चौक चढ़ाइये चाकी चाटन जाइ।।
चाकी चाटन जाइ आदि अभ्यास न छांड़ै।।
बरजत वेद पुरान विषय पकरत हठि हाड़ै।।
बच्छ पयोधर पान कहौ तेहि कौन सिखावै।
अनुभौ जनम अनेक अविद्या ही को धावै।।
अग्रदास को वश कहा परै कूप तन धाइ।
कूकर चौक चढ़ाइये चाकी चाटन जाइ।।

दृष्टान्त-कुतिया का—**एक महात्मा के आश्रम में एक कुतिया रहती थी। महात्मा बड़े सिद्ध थे। उन्होंने दया करके कुतिया को परम सुन्दरी राजकुमारी बना दिया। एकदिन राजा शिकार खेलने गये थे तो वे राजकुमारी को देखकर मोहित हो गये। महात्मा से उन्होंने याचना की। महात्मा ने वह कन्या राजा को प्रदान कर दी। राजा ने उसे अपनी रानी बनाया। वह सब प्रकार का सुख भोगने लगी परन्तु स्वभाव नहीं छूटा, अपने पुराने अभ्यासवश वह रात्रि में दीपक का घी चाट जाया करती थी। पहले तो किसी की समझ में नहीं आया कि यह कौन चाट जाता है। परन्तु एकदिन राजा ने देख लिया तो वह बड़े चकित हुए कि आखिर रानी को यह कुटेव कैसे पड़ गई है? राजा ने महात्माजी से पूछा तो उन्होंने बताया कि यह पहले कुतिया थी, वही अभ्यास है। फिर सन्त ने कृपा-करके रानी को सद्बुद्धि भी प्रदान कर दी, जिससे वह मानवोचित व्यवहार करने लगी।**

पुनः—'विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे।।' (रामा०) पुनः— 'मैं जानौ मन मरि गयौ, मरिके भयौ सो भूत। पैंड़े में ते उड़ि लगो, ऐसो मेरो पूत।।' 'देखि'—कहने का भाव यह है कि स्त्री के रूप को देखना ही सब अनर्थों की जड़ है। यथा- 'देखि रूप मुनि विरति विसारी।।' (रामा०) श्रीरामचरितमानस में श्रीनारद-मोह प्रसिद्ध ही है। 'काछे काछ की न सुधि'-अर्थात् स्वरूप की विस्मृति हो गई। यहाँ श्रीगीताजी का-'संमोहात् स्मृति विभ्रमः' अर्थात् संमोह से स्मृति का नाश हो जाता है, यह चरितार्थ है आँख से रूप देखते ही मन सुधि-बुधि खो बैठा। तभी तो कहा गया है-'मनसों नहीं रहीम नृप, दृगसों नहीं दिवान। दृग दिवान जेहिं आदरे मन तेहिं हाथ बिकान।।' पुनः-श्रीसुन्दरदासजी लिखते हैं कि-

कामिनी को तनु मानु कहिये सघनवन वहाँ कोऊ जाय सो तो भूलि ही परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरी को भय जामें वेनी काली नागिनिऊँ फनको धरतु है।।
कुच है पहार जहाँ काम चोर बसै तहाँ साधिके कटाक्ष बान प्रानकूँ हरतु है।
'सुन्दर' कहत एक और डर जामें अति राक्षसी वदन खाउँ-खाउँ ही करतु है।।

आयो वाको पति द्वार देखै भागवत ठाढ़े बड़े भागवत पूछी वधू सों जनाइयें।
कही जू पधारौ पांव धारो गृह पावनकों पांवन पखारौं जल ढारौं सीस भाइयें।।
चले भौन मांझ मन आरति मिटायबे कौं गायबे कौं पाँवन जोई रीति सोई कें बताइयें।
नारि से कह्यौ है तू सिंगार करि सेवा कीजै लीजैहौं सुहाग जामें बेगि प्रभु पाइयें।।१७१

शब्दार्थ-ढारौं=चढ़ाऊँ। भाइये =रुचि है। आरति = आर्ति, पीड़ा। सुहाग = सौभाग्य, स्त्री की सधवा रहने की अवस्था।

भावार्थ-बाहर से स्त्री का पति आया तो उसने देखा कि द्वार पर वैष्णव-सन्त खड़े हैं। वह स्वयं परम-वैष्णव था। भीतर जाकर उसने अपनी स्त्री से पूछा कि-सन्त क्यों खड़े हैं, तूने भिक्षा देकर उनका स्वागत क्यों नहीं किया? तब उसने सब बात कह सुनाई। इसने बाहर जाकर सत्कारपूर्वक श्रीविल्वमङ्गलजी से कहा कि आप भीतर पधारिये, मेरा घर पवित्र करने के लिए अपने श्रीचरणों को उसमें रखिये। मैं आपके श्रीचरणों को प्रक्षालन करके चरणामृत को सिर पर चढ़ाऊँ, यही मुझे अभीष्ट है। श्रीविल्वमङ्गलजी अपने मन की व्यथा को मिटाने के लिए उसके घर में गये। अपने सर्वस्व द्वारा वैष्णव-सेवा कर्तव्य है, यह जो कहने सुनने की प्रथा है उसे उस भक्त ने करके बता दिया। स्त्री से कहा कि-तुम सोलह श्रृङ्गार से सुसज्जित होकर इनकी सेवा करो। इनको प्रसन्न करके ऐसा सुहाग सौभाग्य प्राप्त करो जिससे शीघ्र ही प्रभु की प्राप्ति हो जाय।।१७१।।

व्याख्या-देखै भागवत-इनके कण्ठी, माला, तिलक आदि वैष्णववेष को देखकर भागवत समझा। 'बड़े भागवत'-भगवान की सेवा करने वाले भागवत कहे जाते हैं और भक्तों की सेवा करने वाले बड़े भागवत होते हैं। क्योंकि 'राम ते अधिक रामकर दासा।' 'गृहपावन'-यथा-'भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो। तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त स्थेनगदाभृता।। (भा० १।१३।१०) अर्थ-(श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीविदुरजी से कहते हैं कि-) हे विभो! आप सरीखे भागवत स्वयं तीर्थस्वरूप होते हैं। वे अपने अन्तःकरण में विराजमान भगवान के द्वारा तीर्थों को भी पवित्र कर देते हैं। पुनः-'येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः। किं पुनर्दर्शनस्पर्श पादशौचासनादिभिः।।' (भा० १।१९।३३) अर्थ-जिन सन्तों के स्मरणमात्र से गृह-पवित्र हो जाता है फिर उनके घर में आने पर दर्शन, स्पर्श, पादोदक पान एवं आसनादि द्वारा सत्कार करने पर पवित्रता में सन्देह ही क्या है।

सेवा कीजै०-उस महाभागवत ने स्त्री के मुख से सब बात सुनकर विल्वमंगल के प्रति कोई दोष दृष्टि नहीं की। क्योंकि भगवान के श्रीमुख का वचन है-'विपर्याचारकारी च मद् भक्त सर्वदा शुचिः। तद्दोषं दर्शनं प्रोचुस्ते वै निरयगामिनः।' (आदिपुराण) अर्थ-कदाचित् शास्त्र विरुद्ध आचरण बन जाने पर भी मेरा भक्त सदा पवित्र ही रहता है। मेरे भक्तों में जो दोष देखते हैं एवं उनकी निन्दा करते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

भक्तों में दीखने वाले दोषों के सम्बन्ध में श्रीप्रियादासजी ने बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है। यथा—

सन्त हैं अनन्त गुन अन्त कौन पावै जाकौ जानै रतिवन्त कोऊ रीझे पहिचानि कै।
औगुन न दीठि परै देखत ही नैन भरैं ढरैं पग ओर उर प्रेम भर आनि कै।।
जो पै घट क्रिया कछु देखियत इन माँझ करि ले विचार हरि ही की इच्छा मानि कै।
बालक सिंगारि कै निहारि नेहवती माता देत जो डिठौना कारौ दीठि डर जानि कै।।

इसी से कहा गया है कि-'कामी साधुहिं कृष्ण कहि, लोभिहिं वामन जानि। क्रोधी कौ नरसिंह कहि, नहीं भक्ति की हानि।' अतः उन्होंने पत्नी को श्रीविल्वमङ्गल का मनोरथ पूर्ण करने के लिए कहा। पत्नी ने प्रथम तो इस प्रस्ताव को पातिव्रत्य-धर्म के विरुद्ध समझकर अस्वीकार कर दिया। तब पति ने कहा-देखो, मेरी आज्ञा पालन करने से दोष नहीं लगेगा। यथा-'गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले।।' ऐसा करने से मैं प्रसन्न होऊँ, उधर सन्त प्रसन्न होंगे, पति और सन्त की प्रसन्नता से भगवन्त प्रसन्न होंगे। फलतः 'वेगि प्रभु पाइये।' एक बात स्मरण रखने की है कि कहने-सुनने को तो 'भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक' बहुतेरे हैं परन्तु कसौटी पर खरा तो कोई विरला ही उतरता है। ये महाभागवत जैसा कि सन्तों में भगवद्बुद्धि रखते हुए उनकी सेवा करते थे, कसौटी पर वैसे ही खरे उतरे। परिणामस्वरूप भगवान ने इसकी सेवा-निष्ठा के साथ-साथ धर्मरक्षा भी की है।

चलीये सिंगार करि थार मैं प्रसाद लैके ऊँची चित्रसारी जहाँ बैठे अनुरागी हैं।
झनक मनक जाइ जोरि कर ठाढ़ी रही गही मति देखि नून वृत्ति भागी हैं।।
कही युगसूई ल्यावो, ल्याई, दई, लई, हाथ, फोरि डारी आंखैं अहो बड़ी ये अभागी हैं।
गई पति पास स्वास भरत न बोलि आवै बोली दुखपाय आय पांय परे रागी हैं।।१७२

शब्दार्थ—**चित्रसारी=वह कमरा जिसमें चित्र हों, विलास भवन। झनक मनक= नूपुर या गहनों का शब्द। गही=रोकी, स्थिर की। नून=न्यून, तुच्छ। वृत्ति=चित्त की विशेष अवस्था, लगन। स्वास भरत=लम्बी श्वास लेते हुए। रागी=प्रेमी।**

भावार्थ—**पतिदेव की आज्ञा के अनुसार वह अच्छी प्रकार से श्रृङ्गार करके और थाल में भगवान का प्रसाद लेकर वहाँ पहुँची, जहाँ ऊपर के सुसज्जित कमरे में परमप्रेमी श्रीविल्वमङ्गलजी बैठे थे। नूपुर एवं गहनों की मधुर ध्वनि करती हुई उनके आगे हाथ-जोड़कर**

खड़ी हो गईं। उसे देखकर (उसे परम-भक्ता जानकर) तथा स्वयं अपने विरक्तवेष को देखकर उन्होंने अपनी बुद्धि को स्थिर किया। तब तुच्छ विषयवासना मन से सर्वथा दूर हो गई। फिर मन में पश्चात्ताप करते हुए आँखों का अपराध मानकर उस भक्ता से बोले-देवि! दो सुइयां ले आओ। वह ले आई। विल्वमङ्गलजी ने सुइयों से अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं और कहा—अहो! यह बड़ी अभागिनी हैं। वह बेचारी व्याकुल हो गई, लम्बी-लम्बी श्वासें लेने लगी, उससे बोला नहीं जाता था। अत्यन्त दुःख पाकर उसने पति से आँख फोड़ने की बात कही। वह भक्त आया और अति व्यथित होकर उनके पैरों में गिर गया।।१७२।।

व्याख्या—गही मति-**विषय के प्रबल-प्रवाह में बही जाती हुई बुद्धि को पकड़े अर्थात् विवेक द्वारा स्थिर किये। 'देखि नून वृत्ति भागी है'-इस पर दृष्टान्त श्रीसीता सहचरीजी का। इनका दर्शन कर वणिक की विषयबुद्धि जाती रही। मातृभाव का उदय हो गया। देखिये कवित्त २९९। वैसे ही इनको भी उस भागवती, पतिव्रता स्त्री का दर्शन करते ही विषय असार दीखने लगे। जैसा कि श्रीशङ्कराचार्यजी ने कहा है। 'नारीस्तनभर०।' देखिये कवित्त १२४। इस पर—**

दृष्टान्त-विधवा ब्राह्मणी का—**एक गांव में एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। वह स्वरूप से बहुत सुन्दर थी। उस गांव का जमींदार बड़ा दुराचारी था। उसने ब्राह्मणी को देखा, तो उसके रूप पर मोहित होकर उससे कामवासना का प्रस्ताव किया। ब्राह्मणी अपने धर्म रक्षा का कोई दूसरा उपाय न देखकर बोली-बाबूजी! अभी मैं मासिकधर्म से हूँ अतः आप चार दिन बाद आइयेगा। जमींदार चला गया। ब्राह्मणी ने जमालघोटा मँगाकर खा लिया। इससे उसको दिन-भर में सैंकड़ों दस्त होने लगे। उसने मल को एक नाँद में एकत्रित कर लिया। चार-दिन में तो वह एकदम कुरूपा अस्थिपञ्जर मात्र रह गई। उसे उठने बैठने की शक्ति भी नहीं रह गई। जब वह जमींदार आया तो उसे पहचान भी नहीं सका। उसने पूछा कि-तुम्हारा रूप कहाँ गया? उसने कहा कि-रूप देखना हो तो जाकर उस नांद में देख लो। जब वह वहाँ गया, तो मारे दुर्गन्ध के नाक फटने लगी। वहाँ से तुरन्त भागा। तब उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई। रूप की असारता का ज्ञान हो गया। यहाँ भी भगवान ने अपनी अहैतुकी कृपा से इनकी रक्षा की। पुनः देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४५ दृष्टान्त सेठ के लड़के का।**

फोरि डारी आँखैं-**यह षड्विधा शरणागति में 'प्रातिकूलस्य वर्जनम्' अर्थात् प्रतिकूल का त्याग नामक दूसरी शरणागति है। शरणागति के सम्बन्ध में देखिये श्रीविभीषणजी का**

प्रसङ्ग। 'बड़ी ये अभागी हैं'-श्रीविल्वमंगलजी यह कहते हुए कि-प्यारे! इन आंखों के कारण ही मैं आज तक आपसे विमुख रहा और अब भी ये मुझे धोखा देती ही जाती हैं। चूँकि ये आपसे विमुख कराने वाली हैं अतः अभागी हैं। इसलिए इनका न रहना ही अच्छा है। ऐसा कहते हुए आँखें फोड़ लीं। 'गई स्वास भरत'-एक तो इनकी दशा देखकर, दूसरे इस डर से कि कहीं पतिदेव यह न समझ लें कि इसने ही कुछ अपराध किया होगा।

कियो अपराध हम साधु कौं दुखायों अहो बड़े तुम साधु हम नाम साधु धर्‌यो है।
रहौ अजू सेवा करौं करी तुम सेवा ऐसी जैसी नहीं काहू मांझ मेरौ मन भर्‌यो है।।
चले सुख पाय दृगभूत से छुटाइ दिये हिये ही की आंखिन सों अबै काम पर्‌यो है।
बैठे बन मध्य जाइ भूखे जानि आप आइ भोजन कराइ चलौ छाया दिन ढर्‌यौ है।।१७३

भावार्थ-**उस भक्त ने व्याकुल होकर कहा-भगवन्! हमने बड़ा-भारी अपराध किया जो एक सन्त को दुःख पहुँचाया। श्रीविल्वमंगलजी ने कहा-ओह! सच्चे साधु तो आप ही हैं हम तो केवल नामधारी साधु हैं वास्तव में साधु नहीं हैं। उस भक्त ने कहा-आप यहीं मेरे घर पर रहिये, हम आपकी सेवा करेंगे। श्रीविल्वमंगलजी ने कहा-आपने जैसी सेवा की है वैसी आज तक किसी ने भी नहीं की है। सेवा का ऐसा भाव किसी दूसरे में नहीं दिखाई पड़ता है मेरा हृदय आपकी सेवा से अति सन्तुष्ट हो गया है। यह कहकर सुखपूर्वक वे वृन्दावन की ओर चल पड़े। भूत के समान दुखदायी आँखों को आपने फोड़कर छुड़ा दिया। अब हृदय की आँखों से काम पड़ा। चलते-चलते मार्ग में जंगल आया, वहीं आप बैठ गये। इन्हें भूखा जानकर भगवान स्वयं इनके पास आये और भोजन कराकर बोले कि-अब दिन बीत गया है, कहीं छाया में चलकर आराम कीजिये।।१७३।।**

व्याख्या-**हम नाम साधु—**

गलियन में हर्षत फिरैं, साधु कहै सब कोय।
श्वान नाम बाघा धर्‌यौ, खोजी बाघ न होय।।

करी तुम सेवा ऐसी०—

मैं तुम्हरे सत्संग से, जान्यों सन्तस्वरूप।
हिय के नैना खुलि गये, अब दीखै हरिरूप।।
निज बल अब नाहीं रह्यौ, श्याम सहारा मोर।
कृपा करी मुख पतित पर, मैं कृतज्ञ अति तोर।। **(भ०व०टि०)**

दृगभूत—**भगवद् विमुख नेत्रों को इन्होंने भूत कहा है जैसे श्रीजगदीशपुरी के राजा ने अपनी दाहिनी बाँह को भूत कहा था। देखिये कवित्त १९५।। भूत कहने का भाव यह है कि जैसे भूत-प्रेत-पिशाच महादुःखदायी होते हैं वैसे ही विमुखजन भी। नेत्र फूटने से श्रीविल्वमंगलजी बड़े प्रसन्न हुए। जैसे कोई भूत से छुटकारा पाने पर, छुटाने वाले का बड़ा उपकार मानता है वैसे ही बड़े कृतज्ञ हुए। 'बैठे बनमध्य'-आँखें फूट ही गईं थीं, अकेले चल रहे थे, घोर-जंगल में जा फँसे। रास्ता समझ में नहीं आ रहा था, अतः हैरान होकर बैठ गये कि कोई आयेगा तो पूछ लेंगे। परन्तु इतने घने-जंगल में जाता ही कौन है? तीन दिन बीत गये, कोई आया नहीं। तब करुणानिधान भक्तवत्सल भगवान स्वयं आये और पूछे-बाबा! यहाँ क्यों बैठे हो? इन्होंने अपनी विपत्ति सुनाई और पूछा कि आप कौन हैं? भगवान ने अपने को ग्वारिया बताया और कहा कि छाक आई है लो तुम भी खा लो। ये भूखे तो थे ही, खाये तो भोजन में दिव्य-स्वाद आया। प्रेम का नशा-सा छा गया। ये विचारने लगे कि कहीं मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए मेरे प्रभु ही तो नहीं आये हैं। फिर यह विचारकर कि हो सकता है, मैं बहुत भूखा था इसलिए स्वाद अधिक मिला हो, अतः विशेष उधेड़-बुन में नहीं पड़े।**

चले लै गहाइ कर छाया घन तरुतर चाहत छुटायो हाथ छोड़ैं कैसे? नीको है।
ज्यों-ज्यों बल करैं त्यों-त्यों तजत न एऊ अरे लियोई छुटाइ गह्यो गाढ़ो रूप हीको है।।
ऐसे ही करत वृन्दावन घन आइ लियो पियो चाहैं रस स़ब जग लाग्यो फीको है।
भई उतकण्ठा भारी आये श्रीबिहारीलाल मुरली बजाइकै सुकियो भायो जीको है।।१७४

शब्दार्थ-**गहाई=पकराइ। गाढ़ो=दृढ़ता से। अरैं=अड़ैं। हीको=हृदय का। फीको=नीरस। उत्कण्ठा=मिलने की लालसा। जीको=मन का।**

भावार्थ—**भगवान अपना हाथ पकड़ाकर श्रीविल्वमङ्गलजी को सघन-वृक्ष की छाया में ले गये। इन्हें बैठाकर भगवान अपना हाथ छुड़ाना चाहते थे पर श्रीविल्वमङ्गलजी हाथ क्यों छोड़ दें। उन्हें तो उसका स्पर्श अत्यन्त सुखप्रद लग रहा था। अब वे ज्यों-ज्यों हाथ छुड़ाने के लिए जोर से खींचते थे, त्यों-त्यों ये भी पकड़ को कड़ी करके नहीं छोड़ते थे। अन्त में भगवान ने अपना हाथ छुड़ा ही लिया। तब श्रीविल्वमङ्गलजी ने कहा—**

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।।

दो०— बाँह छुड़ाये जात हौं निबल जानकै मोहिं।
हिरदय ते जब जाउगे सबल बदौंगो तोहिं।।

हाथ छुड़ा लेने के बाद हृदयस्थ श्रीकृष्ण के स्वरूप को उन्होंने अति दृढ़ता से हृदय में पकड़ रखा। इस प्रकार अनेक भगवल्लीलाओं का अनुभव करते हुए श्रीवृन्दावन में आ गये। वे केवल वृन्दावन-रस का पान करना चाहते थे। उन्हें संसार के सभी रस नीरस लगने लगे। श्रीविल्वमङ्गलजी के हृदय में प्रभु से मिलने की लालसा अति तीव्र हो गई। तब इनकी अनन्य-भक्ति पर रीझकर श्रीवृन्दावनबिहारीलाल आये और मधुर मुरली बजाकर सुनाई। अपने भक्त के सभी मनोरथों को पूर्ण किया।।१७४।।

व्याख्या—नीको है—श्रीविल्वमङ्गल को जब प्रभु हाथ पकड़ाकर चले तो श्रीप्रभु के कर-कमल का संस्पर्श होते ही इन्हें अलौकिक सुख मिला। पूर्वप्रसाद में दिव्य-स्वाद पाये ही थे, अब स्पर्शसुख का अनुभव करके निश्चय कर लिए कि ये कोई और नहीं, निश्चय ही भगवान ही हैं। भगवान के वचनामृत को सुनकर श्रीमनुजी ने पहचाना था। (देखिये श्रीरामचरितमानस) खीर प्रसाद पाकर श्रीसनातनजी ने पहचाना था। देखिये कवित्त ३५९। स्पर्श करके निषादराज गुहने पहचाना था, देखिये क० ९६। श्रीविल्वमङ्गल ने वचनामृत, प्रसाद एवं स्पर्श—तीनों प्रकार से भगवान को पहचाना। बस इन्होंने अपनी पकड़ कड़ी की। अन्धे की पकड़ प्रसिद्ध है ये जिसको पकड़ते हैं उसे जल्दी छोड़ते नहीं। अन्धों से पिण्ड छुड़ाना बड़ा कठिन होता है।

दृष्टान्त-एक साहूकार का-एक साहूकार अपनी स्त्री को बैलगाड़ी में बैठाकर घर से जा रहा था। मार्ग में एक अन्धा थका-मांदा बैठा था। स्त्रियों का स्वभाव कोमल होता है। सेठ की स्त्री ने कहा कि यह दुःखी हैं, इन्हें भी कुछ दूर तक गाड़ी पर बैठाकर लेते चलो। सेठने कहा-अन्धे बड़े विकट होते हैं। इनका कोई विश्वास नहीं। अतः मत बैठाओ। परन्तु सेठानी के हठ करने पर बैठाना पड़ा। अन्धे ने गाड़ी में बैठकर प्रथम तो अपनी दीनदशा कह सुनाई, फिर धीरे-धीरे सेठानी से उसके मायके, ससुराल, घर-गृहस्थी का पूरा-पूरा विवरण पूछ लिया। एक गाँव में पहुँचने पर साहूकार ने कहा-सूरदासजी! अब तुम उतरो और अपना रास्ता लो। सूर ने कड़क कर कहा-हम क्यों रास्ता लें? तुम रास्ता लो। स्त्री हमारी, गाड़ी हमारी, हम क्यों कहीं जायँ? तुम अपने घर जाओ। इस प्रकार परस्पर साहूकार और अन्धे में बड़ा विवाद हुआ। गाँव के लोग एकत्रित हो गये। पूछने पर

सूर भी सब बात सही-सही बताता। जब गाँव वाले कुछ निर्णय न कर सके तब यह मामला राजा के पास गया। राजा ने नौकरों को हुक्म दिया कि सेठ-सेठानी को एक कमरे में एवं अन्धे को एक कमरे में बन्द कर दो, निर्णय कल सुनाया जायेगा। दोनों को बन्दकर दिये जाने पर राजा ने गुप्तचर लगा दिया कि ये लोग जो वार्ता करें, वह सुनकर तुम लोग मुझे बताओ। गुप्तचर पहले साहूकार की कोठरी के समीप कान लगाकर सुनने लगे तो सुने कि साहूकार अपनी पत्नी को डाँट रहा है कि-रांड, मैंने कितना मना किया, पर तू नहीं मानी उसका परिणाम देखा, यह अन्धा सर्वस्व पर ही हाथ लगा बैठा। उधर जब सूर की कोठरी के समीप गये तो सुने कि सूर रट लगा रहा है कि-'लग्ना एक लगाया है। जोरू-गाड़ी पाया है। राजा साहब आवेंगे। दोनों में एक दिलावेंगे।' गुप्तचरों ने राजा को यह सब बात बताई। राजा समझ गये। प्रातःकाल साहूकार को बुलाकर कह दिये कि तुम अपनी पत्नी को लेकर घर जाओ और अन्धे को डाँट-फटकार कर भगा दिया। इसलिए श्रीश्यामसुन्दरजी भी डरकर श्रीविल्वमङ्गलजी से अपना हाथ छुड़ा ही लिए।

ऐसे ही करत—

हाथ छुड़ाने के बाद श्रीश्यामसुन्दर फिर विल्वमङ्गलजी की पकड़ में नहीं आये। दूर-दूर से रास्ता बता दिया करते। 'पियो चाहैं रस'—

कोइ रसिक श्यामरस पीवैगो। पीवैगो सोइ जीवैगो।।
पीवैगो सोइ फूलैगो। तन मन देख न भूलैगो।।
पीवैगो सोइ नाचैगो। साधु संग मिलि राचैगो।।
चाखैगो सोइ जानैगो। कहने कान पत्यानैगो।।
व्यास दास जिय भावैगो। तब अंग खवासी पावैगो।। **(श्रीव्यासवाणी)**

जग लाग्यो फीको-**श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-'जो मोहिं राम लागते मीठे। तौ नवरस, षट्रस, रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।।' (वि०) 'उतकण्ठा'—यथा—**

दोहा— एकबार इन लोचननि, देखौं नवल विहार।
इनहीं हाथन दुहुन को, करौं बैठि सिंगार।।
इनहीं पायन प्रगट ही, वन-वन डोलौं संग।
सैननि में ही समुझिहौं, कछुक बात रस रंग।। **(उत्कण्ठा-माधुरी)**

खुलि गये नैन ज्यौं कमल रवि उदै भये देखि रूपराशि बाढ़ी कोटि गुनी प्यास है।
मुरली मधुरसुर राख्यो मदभरि मनो ढरि आयो कानन मैं आनन मैं भास है।।
मानिकै प्रताप चिन्तामनि मन मांझ भई 'चिन्तामनि जैति' आदि बोले रसरास है।
'करनामृत' ग्रन्थ हृदय ग्रन्थिको विदारि डारै बांधै रस ग्रन्थ पन्थ युगल प्रकास है।।१७५

शब्दार्थ—**मद=आनन्द। ढरि=बहकर। कानन में=कानों में। भास=प्रकाश। जैति=जयति, जय हो। करनामृत=कृष्णकर्णामृत, कानों को प्रिय। ग्रन्थि=गाँठ, सन्देह। विदारि=खोलि, फारि, दूर। पन्थ युगल=युगलकिशोर राधाकृष्ण की प्राप्ति का मार्ग।**

भावार्थ—**जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्ण की मुरली का मधुर-स्वर सुनकर श्रीविल्वमङ्गलजी के नेत्र खुल गये। (भगवान का दर्शन करके) उनकी अनन्त-रूपमाधुरी के दर्शन करने की अभिलाषा करोड़ों गुनी बढ़ गई। मुरली के मधुर-स्वर ने इन्हें प्रेमोन्मत्तता से परिपूर्ण कर दिया। ऐसा लगा कि स्वर की रसधारा कानों में प्रवेश कर रही है और उसके दिव्य-प्रभाव से मुखमण्डल चमक रहा है। श्रीविल्वमङ्गलजी ने अपने मन में माना कि हमें जो यह दुर्लभ-लाभ हुआ है वह सब चिन्तामणि के प्रताप से ही हुआ है। अतः उन्होंने कृष्णकर्णामृत के मंगलाचरण में 'चिन्तामणिर्जयति' यह महाभाव-रसपूर्ण श्लोक लिखा। [चिन्तामणि को गुरुतुल्य माना] आपने 'कृष्णकर्णामृत' नामक ग्रन्थ रचा जो प्रेमरस की राशि है। इसके पठन-पाठन एवं मनन से हृदय की सन्देह-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और रसग्रन्थि बँध जाती है अर्थात् श्रीकृष्ण से मधुर-रसमय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और प्रिया-प्रियतम की प्राप्ति का मार्ग प्रकाशित हो जाता है।।१७५।।**

व्याख्या- खुलि गये नैन- **मुरली की मधुर-ध्वनि सुनकर अपने परम प्यारे प्रभु को पहचान कर विल्वमङ्गलजी का मन, दर्शन करने के लिए तड़प उठा। नेत्रों का अभाव आज बहुत ही खटका। मन में बहुत पश्चात्ताप होने लगा कि मैंने व्यर्थ ही नेत्र फोड़ डाले सर्वान्तर्यामी प्रभु श्रीविल्वमंगलजी के अन्तर्भाव को जानकर कृपादृष्टि से देखे, बस तुरन्त ही 'खुलि गये नैन०।' 'देखि रूपराशि'-भगवान रूप की राशि हैं और समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का सौन्दर्य इसी रूपराशि के छिटके दाने के समान है। यथा-'रूपरासि विरची विरंचि मानो सिला-लवनि रति काम लही री।।' (गीतावली) 'बढ़ी प्यास है' वर्णन आया है कि सन्निपात ज्वर के रोगी को शीतल जल की बड़ी तृषा होती है। परन्तु जब उसे पीने को शीतल जल दिया जाता है तो उसकी प्यास बुझने के बजाय और अधिक बढ़ जाती है। यही हाल अनुरागी भक्तों का भी है।**

प्रथम तो उन्हें दर्शन की बड़ी चाह होती है और जब दर्शन होता है तो उनकी दर्शन-लालसा और भी प्रबल हो जाती है। तृप्ति तो उन्हें होती ही नहीं है। यथा-'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहि मनु शतरूपा।। दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम-पियासे नैन।।' (रामा०) पुनः

जनम अवधि हम रूप निहारनु नयन न तिरपित भैल।
लाख-लाख जुग हियाय राखनु तबू हिय जुड़न ना गैल।।
बचन अमिय अनुछिन सुनलूं पै श्रुतिपथ परस न भैल।
कत मधुयामिनि रभसे गोड़ाइनि ना बुझनू कै जिन गैल।। **(विद्यापति)**

पुनः- कमल मुख देखत कौन अघाय।
ज्यौं-ज्यौं पियत रूपरस लोचन त्यों-त्यों तृषा बढ़ाय।।
अद्भुत बात कहत नहिं आवै सो जानैं जो पाय।
सुनरी सखी लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय।।
मुक्तामाल लाल उर ऊपर जनु फूली वनराय।
गोवर्धन धर अंग-अंग पर कृष्णदास बलि जाय।।

मुरली मधुर स्वर- **यथा- मुरहर! रंधन समये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्। नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतनुताम्।। अर्थ-(गोपियाँ कहतीं हैं-) हे श्यामसुन्दर! तुम कम से कम हमारी रसोई के समय तो वंशीध्वनि मत किया करो। क्योंकि इसकी ध्वनि से हमारे चूल्हे की आग बुझ जाती है। फिर हम रसोई नहीं बना पाती हैं। पुनः-**

जाको सुर प्रबल प्रवाह को झकोर तोरि सुर मुनिवृन्द धीर विपट बहावै। हैं।
कहैं रतनाकर पतिव्रत परायन के लाज कुलकानि को करार बिनसावै हैं।।
कर गहि चिबुक कपोल कल चूमि चाहि मन्द मुसक्याय जो मयंकहिं लजावै हैं।
ग्वालिनि गोपाल सों कहित इठलाइ कान्ह ऐसी भला कहूं कोऊ बांसुरी बजावै हैं।।

चिन्तामनि जैति-**यह श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थ के मंगलाचरण का श्लोक है। यथा-**

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे, शिक्षागुरुश्च भगवाञ्छिखिपिच्छमौलिः।
यत्पारकल्पतरुपल्लवशेखरेषु, लीला स्वयंवररसं लभते जयश्रीः।।

अर्थ- **चिन्तामणि की जय हो, मेरे दीक्षा गुरु श्रीसोमगिरिजी की जय हो एवं शिक्षा गुरु मोरमुकुटधारी भगवान श्रीकृष्ण की जय हो, जिन श्रीकृष्ण के चरण-कल्पतरु-नखशिखर**

पर जय श्री (श्रीराधा) लीला स्वयम्बर रस का आस्वादन करती हैं। 'करनामृत ग्रन्थ'- श्रीकृष्णकर्णामृत रस ग्रन्थ है। इसमें सर्वश्रेष्ठ प्रेमरस का आद्योपान्त निरूपण किया गया है। प्रत्येक श्लोक का प्रत्येक पद प्रेमरस से परिपूर्ण है। यथा-

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो, हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम, हा हा कदा नु भवितास्मि पदं दृशोर्मे।।

अर्थ- **(इस श्लोक में दर्शनोत्कण्ठा का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन है) हे देव! हे प्रियतम! हे त्रिभुवन के एकमात्र आत्मीय बन्धु! हे कृष्ण! हे करुणा के सागर! हे प्राणाधार! हे आत्मा में रमण करने वाले! हे नयनाभिराम! आह! पता नहीं आप कब मेरे दृष्टिपथ में आओगे।**

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि, हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो, हा हन्त हा हन्त कथं नयामि।।

अर्थ- **हे दीनबन्धु! हे करुणा के सागर! हे हरि! आप ही बतलाइये कि बिना आपके दर्शन किये वे निस्सार दिन-रात और अभागे घड़ी-पल, हाय-हाय मैं कैसे व्यतीत करूँ।**

मयि प्रसादं मधुरैः कटाक्षैर्वंशीनिनादानुचरैर्विधेहि।
त्वयि प्रसन्ने किमिहापरैर्नस्त्वय्यप्रसन्ने किमिहापरैर्नः।।

अर्थ- **हे पुण्डरीकाक्ष! वंशीनिनादरूप अपने अनुचरों से तथा अपने मधुर कटाक्षों से अब तो हमारे ऊपर कृपा कर दीजिये। हे नाथ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो फिर हमें दूसरों से क्या मतलब और यदि आप अप्रसन्न हैं तो भी दूसरे लोग हमारे किस काम के?**

प्रेमदं च मे कामदं च मे, वेदनं च मे वैभवं च मे।
जीवनं च मे जीवितं च मे, दैवतं च मे देव नापरम्।।

अर्थ-**मुझे प्रेम दान करने वाले, कामनाओं को पूर्ण करने वाले, मेरे ज्ञान और ऐश्वर्य स्वरूप, मेरे जीवन, मेरे जीवन के अवलम्ब तथा मेरी आत्मा के अधिदैव-आप ही मेरे सर्वस्व हैं। आपके अतिरिक्त मेरा अपना और कोई नहीं है।**

विचित्रपत्राङ्कुरशालिबालास्तनान्तरं याम वनान्तरं वा।
अपास्य वृन्दावनपादलास्यमुपास्यमन्यं न विलोकयामः।।

अर्थ-हे प्रभो! चाहे मैं किसी रमणी के केशर-कस्तूरी-चन्दन आदि से चित्रित पत्र-पुष्पादि से युक्त स्तन-युगल के बीच में रहूँ अर्थात् विषयी बन जाऊँ, चाहे लता-पत्रांकुरों से युक्त वन के बीच पड़ा रहूँ अर्थात् महात्यागी बन जाऊँ किन्तु श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की भाव-भरी थिरकन को त्यागकर दूसरे किसी उपास्यदेव को मैं देखना भी नहीं चाहता हूँ। ऐसे ही आपके बहुत से भाव-भरे हृदयोद्गार हैं।

हृदय ग्रन्थि-'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी। सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।। जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।' (रामा०) जीव के हृदय की यह अविद्यारूप गाँठ श्रुति-शास्त्र-पुराणोक्त विविध साधनों से सुलझने के बजाय और अधिक उलझ जाती है। यथा-'श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।' (रामा०) इसके विमोचन का एकमात्र उपाय है उस परमात्मा को तत्व से जानना। यथा-'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।' (मुण्डकोपनिषद्) अर्थ-कार्य कारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को तत्व से जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थ भगवत्स्वरूप बोधपूर्वक जीव की हृदयग्रन्थि छुड़ाने वाला है।

बांधै रस ग्रन्थ-'बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुदृढबन्धनमाहुः। दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियोभवति पंकजकोशे।।' अर्थ-बन्धन तो बहुतेरे हैं परन्तु प्रेमबन्धन अत्यन्त दृढ़बन्धन है। देखिये, कठोर काठ को कुरेदने-काटने वाला भौंरा कोमल कमलकोश में बँधकर एकदम निष्क्रिय हो जाता है। श्रीकृष्णकर्णामृत स्वाध्याय से भगवान के साथ प्रेम-सम्बन्ध हो जाता है।

चिन्तामनि सुनी वनमांझ रूप देख्यौ लाल ह्वै गई निहाल आई नेह नातो जानिकै।
उठि बहु मान कियौ दियौ दूध भात दोना दै पठावैं नित हरि हितू जन मानिकै।।
लियौ कैसे आय तुम्हें भायसों दियो जो प्रभु लैहौं नाथ हाथसौं जो देहैं सनमानिकै।
बैठे दोऊ जन कोऊ पावै नहीं एक कन रीझे श्यामघन दीनो दूसरो हु आनिकै।।१७६

शब्दार्थ-निहाल=कृतार्थ, पूर्णकाम, सर्वप्रकार से सन्तुष्ट। नेहनातो = प्रेम सम्बन्ध। आनिकै=लाकर, आकर।

भावार्थ- जब चिन्तामणि ने यह सुना कि श्रीविल्वमंगलजी को वृन्दावन में श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त हो गये हैं तब तो वे निहाल हो गईं और उनसे अपना प्रेम-सम्बन्ध जानकर वृन्दावन को आईं। श्रीविल्वमङ्गलजी उन्हें देखकर खड़े हो गये और उनका बहुत स्वागत सत्कार किया और उन्हें दूधभात (क्षीर) का दोना दिया। चिन्तामणि ने पूछा- यह तुम्हें कहाँ से मिला? तब उन्हें बताया कि- भगवान मुझे अपना प्रेमी-मानकर नित्य इसी प्रकार का प्रसाद मेरे लिये भेजते हैं। चिन्तामणि ने कहा-प्रभु ने प्रेमपूर्वक जो तुम्हें दिया है, उसे मैं कैसे ले लूँ। मैं तो श्यामसुन्दर के हाथों से ही प्रसाद लूँगी, यदि वे कृपा करके आदरपूर्वक मुझे देंगे। ऐसा निश्चय करके दोनों प्रेमी बैठे ही रहे। किसी ने भी कणमात्र भी प्रसाद नहीं पाया। दोनों की प्रेमनिष्ठा देखकर घनश्याम-प्रभु रीझ गये और दूसरा दूधभात का दोना लाकर अपने हाथ से चिन्तामणि को भी दिया। दोनों ने एक साथ प्रभु का दर्शन करके तब प्रसाद पाया।।१७६।।

व्याख्या-चिन्तामणि सुनी-अनुरागवती चिन्तामणि श्रीविल्वमंगलजी का चित्रपट साथ रखतीं थीं और बड़े भाव से पूजा करती थीं। कहते हैं कि जिस दिन इन्होंने अपने नेत्र फोड़े उस दिन इनके चित्रपट के नेत्रों से भी रक्त की धार बही थी। (यह चिन्तामणि के भाव की सच्चाई का प्रमाण है।) श्री चिन्तामणिजी जान गईं कि उन्होंने अपने नेत्र फोड़ लिए। फिर जिस दिन प्रभु का साक्षात्कार हुआ, इनके नेत्र खुले और मुख पर प्रकाश छा गया उस दिन चित्रपट के नेत्र भी दिव्य हो गये और मुख पर दिव्यकान्ति छा गई। चिन्तामणिजी समझ गईं कि उनके ऊपर श्री प्रभु की कृपा हो गई है फिर उन्होंने सन्तों से पता लगाया तो सन्तों ने भी सुनाया। 'ह्वै गई निहाल'- अपने उपदेश की सफलता देखकर तथा श्रीविल्वमंगलजी के जीवन की कृतार्थता समझकर तथा इस विश्वास पर कि जब दयामय प्रभु ने उन पर कृपा की है तो मेरे ऊपर भी अश्वमेव कृपा करेंगे, श्रीचिन्तामणि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। 'नेहनातो'-'नातो नेह राम के मनिअत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। अञ्जन कहा आँखि जेहिं फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।।' (वि०) चिन्तामणिजी भगवान के नेह नाते को स्मरण करती हुई आईं। 'बहुमान'-गुरुवत् आदर किये।''पावैं नहीं एक कन'-इस पर-

दृष्टान्त-दो मित्रों का-दो घनिष्ठ मित्र थे। कहीं जा रहे थे। गर्मी का दिन था। दोनों को बड़े-जोर की प्यास लगी थी। प्रयत्न करने पर थोड़ा-सा जल मिला, जो मुश्किल से एक आदमी की प्यास बुझा सकता था। अतः दोनों मित्र एक दूसरे की प्राण रक्षा के लिए

'तू पी, तू पी' कहते-कहते प्राण छोड़ दिये। एक स्त्री इन दोनों के प्रेम का दर्शनकर रही थी, थोड़ी देर बाद उसकी सखी आई। उसने दोनों को मृतक देखकर पूछा-'दुरे न देख्यौं पारधी, लग्यो न देख्यौं बान। मैं तोहि पूछौं हे सखी, केहि विधि निकसे प्रान।।' उसने उत्तर दिया-'जल थोरो नेहाघनो, लगे प्रीति के बान। तू पी तू पी कहि मरे, इहि विधि निकसे प्रान।।'

रीझे श्यामघन-चिंतामणि का प्रेमहठ देखकर श्रीश्यामसुन्दरजी ने श्रीराधाजी से कहा कि परमरसिक श्रीविल्वमंगलजी की प्रेमिका एवं प्रेरिका आई हैं, आप जाकर उनका सत्कार करें। श्रीश्रीजी ने कहा कि वह तो आपके हाथ से प्रसाद लेना चाहती हैं अतः केवल मेरे चलने से काम नहीं चलेगा आप भी साथ चलिये। तब श्रीयुगल प्रिया-प्रियतमजी ने आकर चिंतामणि को भी दर्शन दिया एवं प्रसाद दिया।

परमभक्त श्रीविल्वमंगलजी की प्रार्थना पर एक बार भगवान श्रीरामजी ने धनुष-बाण की जगह पर मुरली एवं क्रीट के मुकुट के स्थान पर मोर-मुकुट धारण किया था। यथा-विहाय कोदण्ड शरौ मुहूर्तं गृहाण पाणौ मणिचारु वेणुम्। मयूरवर्हञ्च निजोत्तमांगे सीतापते राघव रामचन्द्र।। (श्रीकृष्णकर्णामृत)

विशेष-कहते हैं कि चिंतामणि पूर्वजन्म में किसी राजा की बेटी थी। राजा का उस पर अत्यन्त ममत्व था। दैवदुर्विपाकवश वह राजकुमारी अल्पवय में ही मृत्यु को प्राप्त हो गई। प्राचीन प्रथा एवं पुत्री के मोहवश राजा ने बहुत से बहुमूल्य मणिरत्नजटित आभूषणों से समलंकृत कर राजकुमारी के शव को पृथ्वी में गड़वा दिया। एक संन्यासी दूर से खड़े-खड़े यह सब दृश्य देख रहे थे। उन्हें एक विशाल-भण्डारा करने के लिए धन की आवश्यकता थी। अतः जब सब लोग राजकुमारी को गाड़कर चले गये तो संन्यासी ने विचार किया कि यदि मुझे राजकुमारी के सभी आभूषण मिल जायँ तो कहीं भी मुझे धन माँगने के लिए जाना नहीं पड़ेगा। आखिर मृतक के साथ भूमि में गड़े गहने व्यर्थ ही तो जायेंगे। अतः रात्रि के अँधेरे में संन्यासी ने समाधि की मिट्टी हटाकर आभूषण उतारने के लिए हाथ बढ़ाया तो एक-दिव्य आवाज सुनाई पड़ी-मेरे आभूषण क्यों उतार रहे हो? संन्यासी ने कहा-मुझे सन्तों का भण्डारा करना है, उसके लिए धन चाहिए। पुनः आवाज सुनाई पड़ी-तो मुझे मत स्पर्श करो, मेरे पिता के पास जाकर मेरी पलंग के सिराहने के दोनों पायों के नीचे दो सोने की ईंटें गड़ी हैं, उन्हें माँग लो, वह दे देंगे। सचमुच संन्यासी ने जब राजा से यह बात कही तो राजा ने सहर्ष उन दोनों स्वर्ण की ईंटों को संन्यासी को दे दिया। परन्तु संन्यासी के विशाल

आयोजन के लिए ईंटें पर्याप्त नहीं हुईं। अतः उसने फिर राजकुमारी की समाधि से मिट्टी हटाकर उसके सभी आभूषण उतार लिए। जब चलने लगे तो पुनः दिव्यवाणी सुनाई पड़ी-संन्यासी होकर तुमने धन के लोभ में स्त्री का स्पर्श किया है। संन्यासी को कंचन और कामिनी का स्पर्श महानिषिद्ध है। इस अपराध के फलस्वरूप अगले जन्म में तुम ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर भी वेश्यागामी होओगे। संन्यासी ने कहा-परन्तु यह कार्य तो मैंने साधु-सेवा के लिए किया है। प्रत्युत्तर मिला-तुम्हारी साधु-सेवा व्यर्थ नहीं जायेगी। इसी साधु सेवा के फलस्वरूप महापतन के बाद भी तुम्हें ईश्वर साक्षात्कार का सुख मिलेगा। संन्यासी ने कहा-कृपया इस रहस्य का भी स्पष्टीकरण कर दीजिये कि मुझ पतित को ईश्वर-दर्शन कैसे होगा? आवाज हुई कि अगले जन्ममें मैं वेश्या बनूँगी और तुम होगे मेरे अनन्यप्रेमी। कालान्तर में मेरी ही प्रेरणा से तुम भगवत्पथ पर अग्रसर होओगे। साथ ही मैं भी विषय-वासना से मुंह मोड़कर भगवद्-भजन में ही मन लगाऊँगी, जिससे कि हमारा और तुम्हारा दोनों का उद्धार हो जायेगा। संन्यासी ने कहा-एक बात मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम से कौन-सा अपराध हुआ है जो तुम वेश्या होओगी। तुम तो अभी क्वारी-कन्या हो, गंगा-जमुना के समान निर्मल हो। आवाज सुनाई पड़ी-तुम धर्मभ्रष्ट संन्यासी का स्पर्श जो मुझको हुआ है। इसका फल मुझे भी भोगना पड़ेगा। संन्यासी चुपचाप वहाँ से चल दिये। वही संन्यासी आगे चलकर विल्वमङ्गल हुए।

श्रीविष्णुपुरीजी

कलि जीव जंजाली कारने विष्णुपुरी बड़िनिधि सँची।।
भगवत धर्म उतंग आन धर्म आन न देखा।
पीतर पटतर विगत निकष ज्यौं कुन्दन रेखा।।
कृष्णकृपा कहि बेलि फलित सतसंग दिखायो।
कोटि ग्रन्थ को अर्थ तेरह विरचन में गायो।।
महासमुद्र भागौत ते भक्ति रतन राजी रची।
कलि जीव जंजाली कारने विष्णुपुरी बड़िनिधि सँची।।४७।।

शब्दार्थ-जंजाली=प्रपंची, झंझट=सङ्कट में फँसे, अज्ञानी। कारने=कारण, वास्ते। सँची=संग्रह की। उतंग = ऊँचा, श्रेष्ठ। आनधर्म=दूसरा मत-सम्प्रदाय। आन न = दूसरा नहीं।

पीतर=पीतल। पटतर=उपमा। विगत=रहित। निकष=कसौटी। कुन्दन=सोना, स्वर्ण। बेलि =लता। विरचन = निर्माण, अध्याय, लड़ी। राजी=पंक्ति, माला।

भावार्थ-श्रीविष्णुपुरीजी ने कलियुग के प्रपंची जीवों के कल्याण के लिए बड़े-भारी खजाने को इकट्ठा किया। उन्होंने वैष्णव-धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माना। (पर दूसरे धर्मों को दूसरा नहीं माना। अर्थात् वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत ही माना) अन्य अवैदिक धर्मों की ओर देखा भी नहीं अर्थात् उन्हें धर्म ही नहीं माना। जिस प्रकार कसौटी पर सोने की रेखा के सामने पीतल की रेखा चमकती ही नहीं है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी बुद्धि की कसौटी पर वैष्णव-धर्म को कसकर सच्चा-खरा पाया और अन्य धर्मों को तुच्छ देखा। आपने सत्सङ्ग को श्रीकृष्ण की कृपारूपी लता का फल बताया। करोड़ों ग्रन्थों का तात्पर्य केवल तेरह विरचनों में गाया। श्रीमद्भागवतरूपी महासमुद्र से रत्नरूपी श्लोकों को निकालकर 'भक्तिरत्नावली' की रचना की।।४७।।

व्याख्या-जंजाली-'गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल विशाला।।' (रामा०) बड़िनिधि-नवों निधियाँ (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४०) सामान्य प्राकृत सुखदायी होने से छोटी निधि है और परमानन्द प्रदायिनी होने से भक्ति बड़ी निधि है। 'श्रीकृष्ण कृपा...सत्सङ्ग'-अर्थात् भगवत्कृपा से ही सत्सङ्ग मिलता है। यथा-'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।।' (रामा०) पुनः-'जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधुसङ्गति पाइये। जेहिं दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये।।' (वि०) सत्सङ्ग की प्राप्ति भगवत्कृपा का प्रमाण-पत्र है। 'कोटि ग्रन्थ को अर्थ-'आगम निगम पुराण अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।। 'तब पद पङ्कज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर।।' (रामा०)

जगन्नाथ क्षेत्र मांझ बैठे महाप्रभूजू वै चहूं ओर भक्त भूप भीर अति छाई है।
बोले विष्णुपुरी पुरीकाशी मध्य रहैं याते जानियत मोक्ष चाह नीकी मन आई है।।
लिखी प्रभु चीठी आपु मणिगण माला एक दीजिये पठाइ मोहिं लागती सुहाई है।
जानि लई बात निधि भागवत रत्नदाम दई पठै आदि मुक्ति खोदिकै बहाई है।।१७७

शब्दार्थ-क्षेत्र = तीर्थ। निधि = समुद्र। रत्न = नग, मनि। दाम = माला। खोदिकै = उखारिकै, खण्डन करके।

भावार्थ-एक बार श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी जगन्नाथजी में बैठे हुए थे। आपके चारों ओर बड़े-बड़े भक्तराजों की भीड़ लगी हुई थी। किसी भक्त ने कहा-विष्णुपुरीजी काशी में

ही निवास कर रहे हैं। इससे मालूम होता है कि उनके मन में मुक्ति पाने की कामना अच्छी प्रकार से दृढ़ हो गई है। वे भक्ति की अपेक्षा मुक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने समझाया कि ऐसा उनके मन में कदापि नहीं है। वे भक्ति के आगे मुक्ति को अति तुच्छ मानते हैं। सबके विश्वास के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीविष्णुपुरीजी को एक पत्र लिखा कि-आप एक रत्नों की माला मेरे लिए भेजिये, वह मुझे अत्यन्त प्रिय लगती है। श्रीविष्णुपुरी ने पत्र पाकर श्रीमहाप्रभु के भाव को जान लिया और श्रीभागवत-महासमुद्र से रत्नरूप श्लोकों को छांटकर 'भक्ति-रत्नावली' नाम का संग्रह-ग्रन्थ बनाया, फिर उसे श्रीमहाप्रभुजी के समीप भेज दिया। उसके देखने से ऐसा लगता है कि भक्ति की सर्वोपरि मान्यता है और मुक्ति को तो मानों जड़ से खोदकर बहा दिया गया है अर्थात् उसको तुच्छ बताया गया है।।१७७।।

व्याख्या-मोक्ष चाह०-'काश्यां हि मरणान्मुक्तिः।' (श्रुति) काशी में मरने से मुक्ति होती है। 'जोग कोटि करि जो गति हरिसों मांगत मुनि सकुचाहीं। वेद विदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाहीं।।' पुनः-'जो गति अगम महामुनि दुर्लभ कहत सन्त श्रुति सकल पुरान। सो गति मरन काल अपने पुर देत सदाशिव सबहिं समान।। जो गति अगम महामुनि गावैं। तव पुर पतंगहु पावैं।।' (वि०)

जानि लई बात-श्रीविष्णुपुरीजी प्रथम तो बड़े असमंजस में पड़े कि श्रीमहाप्रभुजी तो संन्यासी हैं, उन्हें तो धातु का स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। वे स्पर्श करते भी नहीं हैं। अपरिग्रह पर इतना जोर देते हैं कि आप अपनी तो बात ही क्या, सेवकों के पास भी आधी हर्र तक बँधी नहीं रहने देते। फिर मैं भी तो विरक्त ही हूँ, वे इस बात को भी जानते हैं। भला मुझ अकिंचन के पास मणियों का संग्रह कहाँ है? तब फिर ऐसा क्यों लिखे? प्रभु का क्या अभिप्राय है? श्रीविष्णुपुरीजी ने मन ही मन श्रीहरि-स्मरण किया तो स्फूर्ति हुई कि-'राम भक्ति चिन्तामणि सुन्दर।' (रामा०) फिर तो श्रीविष्णुपुरीजी ने श्रीमद्भागवतरूपी महासमुद्र को विचाररूपी मन्दराचल से मथकर भक्तिप्रतिपादक श्लोकरूपी रत्नों को संग्रहीत करके तेरह विरचन (अध्यायो) वाली 'श्रीभक्तिरत्नावली' नाम की पोथी तैयार की और आदरपूर्वक एक वैष्णव के हाथ श्रीमहाप्रभुजी के पास भेज दिया। श्रीभक्तिरत्नावली में प्रथम विरचन में भक्त-महिमा, द्वितीय विरचन में सत्सङ्ग महिमा, तृतीय में नवधाभक्ति महिमा, चतुर्थ में श्रवणभक्ति, पंचम में कीर्तनभक्ति, षष्ठम में स्मरणभक्ति, सप्तम में पादसेवनभक्ति, अष्टम में अर्चनभक्ति, नवम में वन्दनभक्ति, दशम में

दास्यभक्ति एकादश में सख्यभक्ति, द्वादश में आत्मनिवेदनभक्ति एवं त्रयोदश विरचन में भगवत् शरणागति का वर्णन है।

मुक्ति खोदिकै बहाई है-**भगवान के भक्त सेवासुख के समक्ष मुक्ति को कोई महत्व नहीं देते हैं। यथा-सालोक्य सार्ष्टि०। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८१। सेवा ही···जोरिकै) पुनः देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २९५। बड़ो निसकाम व्याख्या। पुनः-**

सगुनउपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं।।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआई।।
जिमि थल बिनु जल रहिं न सकाई। कोटि भाँति कोउ करैं उपाई।।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई।।
अस विचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।। **(रामा.)**

दृष्टान्त-श्रीनारदजी का-**एक बार नारदजी विचरते-विचरते श्रीविन्ध्याचल की ओर जा निकले। वहाँ उन्होंने देखा कि सात तपस्वी हड्डियों के पर्वत के ऊपर बैठे तप कर रहे हैं। श्रीनारदजी ने पूछा कि आप लोग हड्डियों के पहाड़ पर क्यों बैठे हैं? उन्होंने कहा कि ये हड्डियाँ हमारी ही हैं। तप करते-करते इतने जन्म हमारे बीत गये परन्तु अभीष्ट की सिद्धि नहीं हुई। श्रीनारदजी ने पूछा-आप लोगों का अभीष्ट क्या है? हम लोग श्रीधाम श्रीवृन्दावन की निकुँजलीला का दर्शन करना चाहते हैं। उन तपस्वियों की बात सुनकर श्रीनारदजी को भी निकुंज-दर्शन की इच्छा हो गई। अतः वैकुण्ठ में जाकर भगवान विष्णु से निवेदन किये। भगवान विष्णु ने कहा-वहाँ तो हमारा भी प्रवेश नहीं है। हाँ, मैं उपाय बताये देता हूँ आप श्रीवृन्दावन जाकर वहाँ के पवित्र तीर्थों में स्नान करें, ब्रजरज से अपना अभिषेक करें। जब आपको श्रीकृष्णकृपा प्राप्त होगी तब आप वहाँ की निगूढ़ लीलाओं का दर्शन कर सकते हैं। श्रीनारदजी ने ऐसा ही किया। एक दिन ब्रज में घूमते-घूमते श्रीनन्दबाबा के महल की ओर जा निकले तो वहाँ उन्होंने देखा कि श्रीबालकृष्ण घुटरुअन चलकर देहरी को पार कर रहे हैं। देहरी ऊँची होने से उस पर चढ़ तो गये परन्तु उतर नहीं सके अतः देहरी पर ही लटक गये। अब न इस पार आ पा रहे थे न उस पार जा पा रहे थे। यह दृश्य देखकर श्रीनारदजी को हँसी आ गई। उस समय नारदजी ने यह पद गाया-**

सो बल कहां गयो भगवान।
जिहिं बल मीनरूप जल थाह्यो लियो निगम हति असुर पुरान।।

जिहिं बल कमठ पीठ पर गिरिधरि सजल सिन्धु मथि कियो विमान।
जिहिं बल रूप वराह दशन पर राखी पुहुमी पुहुप समान।।
जिहिं बल हिरनकशिपु तनु फार्‌यो भये भगत कौं कृपानिधान।
जिहिं बल बलि बन्धन करि पठयौ वसुधा त्रैपद करी प्रमान।।
जिहिं बल विप्र तिलक दै थाप्यो रक्षा करी आप विदमान।
जिहिं बल रावन के सिर काटे कियो विभीषण नृपति निदान।।
जिहिं बल जामवन्त मद मेट्‌यो जिहिं बल भू विनती सुनि कान।
सूरदास अब धाम देहरी चढ़ि न सकत हरि खरेइ अयान।।

यह पद गाने के बाद श्रीनारदजी एकाएक रोने लगे। भगवान श्रीकृष्ण ने रोने का कारण पूछा तो श्रीनारदजी ने कहा-'जो लोग मुक्त हो गये हैं, मैं उन लोगों के लिए रो रहा हूँ। भगवान ने कहा-भला मुक्त-पुरुषों के लिए क्या रोना है? जो लोग संसारासक्त हैं, विषयों में फँसे हैं अथवा नरक की यंत्रणा भोग रहे हैं, रोना तो उनके लिये चाहिये। श्रीनारदजी ने कहा-प्रभो! जो संसार में फँसे हैं अथवा जो नरक भोग रहे हैं उनके लिए तो आशा है कि वे कभी न कभी आप में मन लगाकर इस दिव्य-सुख का रसास्वादन करेंगे परन्तु जो मुक्त हो गये हैं वे तो सर्वथा इस रस से वंचित ही हो गये। इसलिए मैं उनके लिए रो रहा हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति-सुख के सामने मुक्ति का कोई महत्व नहीं है। विष्णुपुरीजी महाराज कहते हैं कि-

ये मुक्तावपि निस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददा,
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि ताञ्च भक्तिमपि तं भक्ति प्रियं श्रीहरिं,
वन्दे संततमर्थयेऽनु दिवसं नित्यं शरण्यं भजे।।

अर्थ-जो मुक्ति की इच्छा न रखकर प्रतिक्षण नवीन आनन्द देने वाली भक्ति का आश्रय लेकर सब देवों के शिरोमणि श्रीहरि को अपने वश में कर लेते हैं, उन भक्तों को मैं नमस्कार करता हूँ, उस भक्ति की कामना करता हूँ और शरणागतों के प्रतिपालक उन श्रीहरि की उपासना करता हूँ।।

श्रीज्ञानदेवजी

विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति।।
नाम 'तिलोचन' शिष्य सूर शशि सदृश उजागर।
गिरा गंग उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर।।
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्ददायन।
तेहिं मारग 'बल्लभ' विदित पृथु पधति परायन।।
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन वच क्रम हरिचरण रति।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति।।४८।।

शब्दार्थ-सूर = सूर्य। शशि=चन्द्रमा। सदृश= समान। उजागर = प्रसिद्ध, श्रेष्ठ। गिरा=वाणी। उनहारि=समान। प्रेमाकर = प्रेम+आकर=खानि, खजाना।

भावार्थ-श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी सुदृढ़ विचार एवं गम्भीर मति वाले श्रीज्ञानदेवजी हुए। श्रीनामदेवजी और श्रीत्रिलोचनजी उनके शिष्य थे। जो सूर्य और चन्द्र के समान भक्त जगत् को प्रकाशित करने वाले थे। श्रीज्ञानदेवजी की वाणी गंगाजी के समान पवित्र थी। उनकी काव्य रचना तो मानो भगवद्प्रेम की खानि थी। आचार्यों तथा हरिभक्तों का आपमें अपार बल था। आप सभी को आनन्दित करने वाले थे। श्रीपृथुजी की पद्धति के अनुसार उपासना करने वाले परम प्रसिद्ध श्रीवल्लभाचार्यजी इसी सम्प्रदाय में हुए। वे नवधाभक्ति को प्रधान मानकर सुदृढ़ भाव से भगवत्सेवा करते थे। उन्हें मन-वाणी और कर्म से भगवान के चरणों में प्रीति थी।।४८।।

व्याख्या-गिरा गंग उनहारि-'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।' (रामा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७। सुखदाई और निपट सुहाई की व्याख्या।

काव्यरचना०-आपने अपनी ज्ञानेश्वरी (गीता की टीका) में श्रीविट्ठलनाथजी की बड़ी-सुन्दर स्तुति की है। यथा-

जय जय देव निर्मल। निजजनालिलमंगल।।
जन्म जरा जलद जाल। प्रभंजन।।१।।

जय जय देव प्रबल। विदलितामंगल कुल।
निगमागम द्रुमफल। फलप्रद ।।२।।
जय जय देव निश्छल। चलित चित्तपान तुन्दिल।
जगदुन्मीलना-विरल। केलि - प्रिय।।३।।
जय जय देव निष्फल। स्फुरदमन्दानन्द बहल।
नित्यनिरस्ताखिलमल। मूलभूत।।४।।

मराठी भाषा में आपके अभंग अति प्रसिद्ध हैं। यथा-पुण्डलीकाच्या भावार्था गोकुलीहुनीं जाला येता। निज प्रेम भक्ति भक्तां। ध्या ज्या आतां म्हणतसे।। अर्थात् भक्त पुण्डलीक के लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ने श्रीविट्ठलरूप को उसी प्रकार धारण किया, जिस प्रकार भक्त-प्रहलाद के लिए भगवान नृसिंहरूप। अपने प्रेमी भक्तों की भक्ति के अधीन हैं श्रीविट्ठलदेव।।

अतुल बल-**मुण्डकोपनिषद् में वर्णन आया है कि, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् यह परमात्मा बलहीन मनुष्य के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ बल से तात्पर्य भगवत्कृपाबल, भजनबल, सिद्धिबल, आत्मबल, प्राणायामबल, शरीरबल आदि सभी बलों से है। अतुल बल कहकर आनन्ददायन कहने का तात्पर्य यह है कि भगवद्विमुख जीव बल पाकर उन्मत्त हो जाते हैं और उनका प्रयोग दूसरों को पीड़ित करने में, करने लगते हैं परन्तु साधु-पुरुषों का बल सर्वसुखकारी होता है। यथा-'विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोः विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।' अर्थ-खलों की विद्या विवाद के लिए, धन अभिमान के लिए एवं शक्ति दूसरों के दुःख देने के लिए होती है। परन्तु इसके विपरीत साधु-पुरुषों की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए एवं शक्ति दुःखीजनों की रक्षा के लिए होती है। 'पृथुपधति'-श्रीपृथुजी नवधाभक्ति में अर्चनभक्ति के आचार्य कहे गये हैं। यथा-'पृथुपूजा' छप्पय १४। श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने श्रीपृथुजी के समान भगवान की विधिपूर्वक सेवा-पूजा को अपनाया।**

विष्णुस्वामि सम्प्रदाई बड़ोई गम्भीर मति ज्ञानदेव नाम ताकी बात सुनि लीजियै।
पिता गृह त्यागि आइ ग्रहण संन्यास कियो दियो बोलि झूठ तिया नहीं गुरु कीजियै।।
आई सुनि बधू पांछें कह्यो जान्यो मिथ्यावाद भुजनि पकरि मेरे संग करि दीजियै।
ल्याई सो लिवाइ जाति अतिही रिसाइ दियो पंक्ति मैं ते डारि रहैं दूरि नहीं छीजियै।।१७८।।

भावार्थ-श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी अति ही गम्भीर बुद्धि वाले श्रीज्ञानदेवजी नामक सन्त थे, उनकी कथा सुनिये। इनके पिताजी ने गृहस्थाश्रम को त्यागकर संन्यास ले लिया और श्रीगुरुदेव से झूठ बोल दिया कि-'मेरे स्त्री नहीं है, मैं गुरु करना चाहता हूँ। बाद में स्त्री ने संन्यासी होने की बात सुनी, तब वह आई और उसने उनके गुरु से सब बात कही। तब गुरुजी ने जाना कि इसने मिथ्या बोलकर मुझसे संन्यास लिया है। स्त्री ने कहा कि प्रभो! आप इनका हाथ पकड़कर मेरे साथ कर दीजिये। इस प्रकार वह उन्हें घर ले आई। इससे कुटुम्बी लोग अत्यन्त रुष्ट हुये और इन लोगों ने जाति-पाति से बाहर निकाल दिया। अब ये समाज से अलग रहने लगे परन्तु इनके मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं था क्योंकि इन्होंने गुरु की आज्ञा से पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था।।१७८।।

व्याख्या-श्रीज्ञानदेवजी के पिता का नाम श्रीविट्ठलपंतजी एवं माता का नाम श्रीरुक्मिणीबाई था। श्रीविट्ठलपंतजी ने श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी से संन्यास की दीक्षा ली थी। इस सम्बन्ध में देखिये छप्पय ३६ में। श्रीभावानन्दजी की कथा।

एक बार श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी अपने अनेकों शिष्य-परिकरों को साथ लेकर श्रीरामेश्वर की यात्रा को प्रस्थान किये। मार्ग में अनेकों जगह विश्राम करते हुए श्रीस्वामीजी पण्ढरपुर पधारे। एक दिन आलन्दी ग्राम में भी ठहरे। श्रीस्वामीजी का शुभागमन सुनकर वहाँ के सभी आबाल, वृद्ध नर-नारी श्रीस्वामीजी का दर्शन करने आये। सबके साथ श्रीविट्ठलपंतजी की परम साध्वी पत्नी रुक्मिणीबाई ने भी श्रीस्वामीजी का दर्शन कर श्रीचरणों में प्रणाम किया। श्रीस्वामीजी ने सहज भाव से आशीर्वाद दे दिया-'पुत्रवती भव।' यह सुनकर रुक्मिणीबाई ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि-प्रभो! मेरे पतिदेव तो आपसे ही संन्यास की दीक्षा ले चुके हैं, फिर आपका आशीर्वाद कैसे सफल होगा? आपने जैसे इतनी कृपा की, वैसे ही और कृपा करें कि मेरे पति का हाथ पकड़कर मेरे साथ कर दीजिये। संयोग की बात-श्रीभावानन्दजी (विट्ठलपंतजी) भी सङ्ग में थे। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने उनको बुलाया और पत्नी के साथ घर जाने को कहा परन्तु श्रीभावानन्दजी पुनः गृहस्थाश्रम में नहीं जाना चाहते थे। तब श्रीस्वामीजी ने उनको आज्ञा के साथ आशीर्वाद दिया, तुम्हें लोक-कल्याणकारी परम भागवत सन्तान होगी अतः तुम लोक निन्दा एवं पतन का भय छोड़कर घर चले जाओ। फलस्वरूप श्रीभावानन्दजी (श्रीविट्ठलपन्तजी)

पुनः गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके पत्नी के साथ आलन्दी में रहने लगे। श्रीस्वामीजी सन्तों की जमात को लेकर आगे बढ़ गये।

श्रीविट्ठलपन्तजी के समय पर तीन पुत्र १. श्रीनिवृत्तिनाथजी २. श्रीज्ञानदेवजी (सं० १३३२, भाद्रपद, कृष्णाष्टमी) ३. श्रीसोपानदेवजी एवं एक कन्या श्रीमुक्ताबाईजी ये चार सन्तानें हुईं। श्रीनिवृत्तिनाथजी श्रीशिव के अंश से, श्रीज्ञानदेवजी श्रीविष्णुके अंश से, श्रीसोपानदेवजी श्रीब्रह्माजी के अंश से प्रकट हुए थे एवं श्रीमुक्ताबाईजी योगमाया के अंश से अवतरित हुईं थीं। बालकों के बड़े होने पर श्रीविट्ठलपन्तजी ने उनके यज्ञोपवीत-संस्कार के लिए वहाँ के ब्राह्मणों से व्यवस्था चाही। परन्तु ब्राह्मणों ने कोरा जवाब दिया कि जब तक तुम अपना प्रायश्चित्त नहीं कर लोगे तब तक तुम्हारे पुत्रों का कोई वैदिक-संस्कार सम्भव नहीं है। अपने पुत्रों की मङ्गलकामना के लिए श्रीविट्ठलपन्तजी ने अपनी पत्नी रुक्मिणीबाई को साथ लेकर ब्राह्मणों के निर्देशानुसार श्रीतीर्थराज प्रयाग में आकर श्रीत्रिवेणी-संगम में जल-समाधि ले ली। श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीज्ञानदेवजी का एक प्रसङ्ग लिखते हैं कि-

भये पुत्र तीन तामें सुख्य बड़ो ज्ञानदेव जाकी कृष्णदेवजू सों हिये की सचाई है।
वेद न पढ़ावै कोऊ कहैं सब जाति गई लई करि सभा अहो कहा मन आई है।।
बिनस्यो ब्रह्मत्व कही श्रुति अधिकार नाहिं बोल्यो यों निहारि पढ़ै भैंसा लै दिखाई है।
देखि भक्तिभाव चाव भयो आनि गहैं पांव कियोई सुभाव वही गही दीनताई है।।१७९

शब्दार्थ-**ब्रह्मत्व=ब्राह्मणता।**

भावार्थ-**संन्यास आश्रम त्यागकर घर में रहने पर उनके तीन पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़े ज्ञानदेव थे। इनकी श्रीकृष्ण भगवान में सच्ची प्रीति थी। जब वे पढ़ने के लिए गुरुकुल में गये तो उनको किसी ने वेद नहीं पढ़ाया। सब यही कहने लगे कि तुम संन्यासी के पुत्र हो तुम्हारी जाति नष्ट हो गई। फिर ब्राह्मण विद्वानों की एक सभा हुई। उसमें ज्ञानदेवजी ने प्रश्न किया कि आपके मन में क्या विचार है, मैं वेद पढ़ सकता हूँ या नहीं? पण्डितों ने कहा-तुम्हारा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है अतः तुम्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। यह सुनकर ज्ञानदेवजी ने समीप के एक भैंसे को देखकर कहा कि वेद तो यह भैंसा भी बिना किसी के पढ़ाये पढ़ सकता है। ज्ञानदेवजी ने आज्ञा दी और भैंसा वेदपाठ करने लगा। ज्ञानदेवजी ने यह भक्ति का प्रताप दिखाया, जिससे उन पण्डितों में भी भक्ति प्राप्त करने की रुचि जाग गई। उनका अहङ्कार दूर हो गया। उन्होंने आकर श्रीज्ञानदेवजी**

के चरण पकड़ लिए। भक्तों-का-सा सरल-स्वभाव अपनाकर उन्होंने दीनता ग्रहण की।।१७९।।

व्याख्या-पिता-माता के परलोक गमन के बाद श्रीनिवृत्तिनाथजी एवं ज्ञानदेवजी आदि ने पुनः आलन्दी के ब्राह्मणों से अपने उपनयन एवं वेदाध्ययन के लिए व्यवस्था की मांग की। वहाँ के ब्राह्मणों ने कहा-यदि आप लोगों को पैठण के ब्राह्मण शुद्धिपत्र दे दें तो हम लोग भी उसे स्वीकार कर लेंगे। तब सब लोग पैठण आये। वहाँ के ब्राह्मणों ने सभा करके इन लोगों के लिए यही निर्णय दिया कि-'विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च लौकिकीम्। प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्।।' (भा० ११।२९।१६) अर्थात् अपने ऊपर हँसने वाले लोगों को और देहदृष्टि तथा लोकलाज को त्यागकर ये लोग कुत्ते, चाण्डाल और गौ समेत सब को भूमि पर लेटकर प्रणाम करें तथा भगवान की अनन्य-भक्ति करें। स्वभाव से ही सर्वभूतात्मदर्शी, परमभक्त श्रीज्ञानदेवादि ने ब्राह्मणों के इस निर्णय को सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसी समय एक दुष्ट ने एक भैंसे को लक्ष्य करके इन बाल-तपस्वियों का उपहास करते हुए कहा कि क्या तुम लोग इस भैंसे में भी अपनी आत्मा का दर्शन करते हो? श्रीज्ञानदेवजी ने कहा-निःसन्देह यह तो मेरी आत्मा है ही। भला, इसमें और मुझमें भेद ही क्या है? इतना सुनते ही उस दुष्ट ने भैंसे को दो सांटे मारे। परन्तु आश्चर्य, सांटे लगे भैंसे के पीठ पर और सांटे के चिह्न उबटे श्रीज्ञानदेवजी की पीठ पर। सर्वभूतात्म दर्शिता का यह ज्वलन्त उदाहरण देखकर लोगों ने दाँतों तले अँगुली दबा लिया। लेकिन भला दुष्ट इतने मात्र से कहाँ सन्तुष्ट होने वाले हैं? कुतर्कियों ने कहा-हम मानते हैं कि तुममें समदर्शिता का भाव परिपक्व है। परन्तु संन्यासी की सन्तान होने से तुम्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। तब श्रीज्ञानदेवजी ने भैंसे से वेदपाठ करवाया। तब सब लोग नत-मस्तक हो गये।

पैठण में ही श्रीज्ञानदेवजी ने एक और चमत्कार दिखलाया। एक ब्राह्मण के घर श्राद्ध के अवसर पर श्रीज्ञानदेव के आह्वान करने पर पितृगणों ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर भोजन किया। फिर तो वहाँ के विद्वान् ब्राह्मणों ने स्वतः ही इनकी भक्ति से प्रभावित होकर इन्हें शुद्धिपत्र लिखकर दे दिया। कुछ दिन तक पैठण रहने के बाद श्रीज्ञानदेवजी आदि वहाँ से प्रस्थान कर दिये। मार्ग में नेवासे नाम का गाँव पड़ा। वहाँ एक स्त्री को अपने मृतक पति के शव के समीप बैठकर रोते देखकर श्रीज्ञानदेवजी ने पूछताछ की तो मालूम हुआ कि उस व्यक्ति का नाम सच्चिदानन्द था। श्रीज्ञानदेवजी ने कहा-भला सच्चिदानन्द को मृत्यु कैसे स्पर्श कर सकती है? यह कहते हुए इन्होंने ज्योंही उसके मस्तक पर हाथ फेरा, वह व्यक्ति जीवित होकर

उठ बैठा। परन्तु संतकृपा से जीवन प्राप्त सच्चिदानन्द पुनः संसार में प्रवृत्त न होकर सर्वतोभावेन श्रीज्ञानदेवजी के शरणागत हो गये। आगे चलकर यह सच्चिदानन्द बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्रीज्ञानदेवजीकृत श्रीगीता की ज्ञानेश्वरी टीका का लेखनकार्य इन्होंने ही किया। श्रीज्ञानदेवजी ने पन्द्रह साल की अवस्था में ही गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका लिखी थी।

आलन्दी में भी इन्होंने एक चमत्कार दिखाया। दीवाली के अवसर पर माण्डे (एक प्रकार का महाराष्ट्रीय भोजन) बनाने के लिए माण्डेरान्धन (मिट्टी का खप्पर) न मिलने पर मुक्ताबाई के उदास होने पर श्रीज्ञानदेवजी ने योग के द्वारा अग्नि की धारणा करके अपनी पीठ को ही अत्यन्त तप्त करके उसी पर माण्डे बनाने के लिए कहा। मुक्ता ने उनकी पीठ पर माण्डे बनाया। यह अद्भुत-चमत्कार देखकर लोग दंग रह गये। श्रीज्ञानदेवजी पण्ढरपुर में भगवान श्रीपण्ढरीनाथजी का दर्शन किये।

तीर्थयात्रा का विचार उठने पर श्रीपण्ढरीनाथजी से श्रीनामदेवजी को माँगकर साथ लेकर सभी तीर्थों का परिभ्रमण किये। तीर्थयात्रा के ब्याज से अपने सत्संग से असंख्यों जीवों का उद्धार करते हुए श्रीज्ञानदेवजी अपनी संत-मण्डली को साथ लिए काशी पहुँचे। काशी में श्रीमुद्गलाचार्य नाम के एक वैदिक-विद्वान् ब्राह्मण मणिकर्णिका घाट पर एक महान् यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में अग्रपूजा पर विचार-विमर्श हो रहा था। निर्णय यह किया गया कि एक हथिनी की सूँड में एक पुष्पमाला थमा दी जाय, वह जिसके गले में माला डाल दे उसी की प्रथम पूजा की जायगी। हथिनी ने यज्ञ भगवान का दर्शन करने के लिए आये हुए श्रीज्ञानदेवजी के गले में वह माला डाल दी। फिर तो सबने सोल्लास श्रीज्ञानदेवजी का सभी ने अग्रपूजन किया। ठीक भी था ये श्रीविष्णु भगवान के अंशावतार जो थे। काशी से चलकर श्रीवृन्दावन आये। यहाँ श्रीविष्णुस्वामीजी ने प्रकट होकर इन्हें साम्प्रदायिक रहस्य की शिक्षा-दीक्षा दी। इस प्रकार बड़े आनन्द के साथ तीर्थयात्रा करके श्रीज्ञानदेवजी पुनः पंढरपुर आकर श्रीपण्ढरीनाथजी का दर्शन किये और आलन्दी गाँव में निवास करने लगे।

बात उन्हीं दिनों की है श्रीचाँगदेव नाम के एक सिद्ध योगिराज ताप्ती नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहते थे। उनकी आयु १४०० साल की थी। सहस्त्रों शिष्य थे। बड़ी-भारी प्रतिष्ठा थी। इन सब बातों का उनको अभिमान भी था। परन्तु जब वे एक ब्राह्मण के द्वारा श्रीज्ञानदेवजी की महिमा सुने तो उनकी इच्छा हुई श्रीज्ञानदेवजी से मिलने की। लेकिन उनके शिष्यों ने उनको भड़काया कि आप जैसे वयोवृद्ध, परमसिद्ध का उन बालकों से मिलने के लिए जाना ठीक नहीं है। तब श्रीचाँगदेवजी ने इनको एक पत्र लिखने का

निश्चय किया। परन्तु जब पत्र लिखने बैठे तो उनकी समझ में नहीं आया कि मैं इन्हें प्रणाम लिखूं कि आशीर्वाद। प्रणाम करता हूँ तो अपनी सिद्धता, वृद्धता में बट्टा लगता है और आशीर्वाद लिखने का साहस नहीं होता है क्योंकि उनकी भी महिमा महान् है। तब चाँगदेव ने कोरा कागज ही अपने एक शिष्य द्वारा श्रीज्ञानदेवजी के पास भेज दिया।

पत्र देखकर श्रीज्ञानदेवजी कुछ सोच ही रहे थे कि छोटी बहिन मुक्ता ने सहजभाव से कहा-क्या चौदहसौ वर्ष तक योगसाधन करने के बाद भी चाँगदेव अभी कोरे ही रह गये? बात कहने को तो सामान्य थी परन्तु थी बड़ी गम्भीर। श्रीज्ञानदेवजी ने पत्रोत्तर में पैंसठ अभंगों में श्रीभक्ति-ज्ञान की महिमा लिखकर चाँगदेव के पास भेज दिया। उसे 'चाँगदेव पैंसठी कहते हैं। उसे पढ़कर चाँगदेव श्रीज्ञानदेवजी से मिलने के लिए चले तो अवश्य परन्तु अभिमान को साथ लेकर। उन्होंने साथ में सहस्त्रों शिष्यों को लिया। सिंह पर सवार होकर एक हाथ में सर्प का कोड़ा और दूसरे हाथ में त्रिशूल लेकर बड़ी तैयारी के साथ आलन्दी को प्रस्थान किया। जबकि विधि यह है कि-'सन्त मिलन को जाइये, तजि ममता अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे बढ़ैं, कोटिन यज्ञ समान।।' जब आलन्दी समीप आ गया तो चाँगदेव के शिष्यों ने श्रीज्ञानदेवजी को अपने गुरुदेव के आगमन की सूचना दी। उस समय ठण्ड के दिन थे, प्रातःकाल की बेला थी। चारों भाई बहिन एक टूटी दीवाल पर बैठकर धूप सेवन कर रहे थे। बड़े भाई श्रीनिवृत्तिनाथ ने कहा कि चाँगदेव का स्वागत करना चाहिए। फिर तो श्रीज्ञानदेवजी ने भीत पर ही हाथ ठोककर कहा 'चल' दीवाल तुरन्त चल पड़ी।

यह अद्भुत चमत्कार देखकर चाँगदेव का अभिमान चूर्ण हो गया। उन्होंने सोचा कि मैंने सिंह को वश में किया तो क्या हुआ, आखिर वह है तो चेतन। इन्होंने तो जड़ को चेतन बना दिया। यह तो ईश्वरीय सामर्थ्य है। यथा-'जो चेतन कहँ जड़ करहिं, जड़हिं करहिं चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य।।' (रामा०) बस, तुरन्त चाँगदेव सिंह से उतरकर श्रीज्ञानदेवजी के चरणों में पड़ गये। श्रीज्ञानदेवजी की कृपावलोकन से चाँगदेवजी के हृदय में भक्ति का संचार हो गया। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये, शरीर में रोमाञ्च हो गया। श्रीचाँगदेवजी अत्यन्त विनयावनत होकर पत्रोत्तर में लिखी गई पैंसठी का तात्पर्य पूछने लगे। श्रीज्ञानदेवजी ने देखा कि इनमें वास्तविक जिज्ञासा का अभी अभाव है, क्योंकि यह सब होने पर भी इनके सहस्त्रों शिष्य इनके साथ थे अतः इनमें स्वयं गुरुत्वाभिमान एवं हजार शिष्यों का अभिमान अभी बना ही है तब श्रीज्ञानदेवजी ने

इस अभिमान को दूर करने के लिए एक युक्ति निकाली। आपने कहा कि यदि तुम पैंसठी का तात्पर्य जानना चाहते हो तो इसके लिए तुम्हें एक जीव की बलि देनी होगी। चाँगदेव ने शिष्यों की ओर देखा, पूछा भी कि क्या तुम लोगों में से कोई एक मेरे लिए अपनी बलि दे सकता है? सब शिष्यों ने सिर नीचा कर लिया और अन्त में आँख बचाकर एक-एक करके सब खिसक गये। तब चाँगदेव का यह अभिमान भी जाता रहा। उन्होंने हाथ-जोड़कर श्रीज्ञानदेवजी से कहा-महाराज! मैं अपनी बलि स्वयं दूंगा। श्रीज्ञानदेवजी ने कहा-मैं भी यही चाहता था। तुम अपने अहं की बलि दे दो, 'पैंसठी' का भावार्थ समझ में आ जावेगा। इसके बाद श्रीज्ञानदेवजी के संकेत पर श्रीमुक्ताबाई ने उन्हें 'पैंसठी' का तात्पर्य समझाया।

श्रीज्ञानदेवजी ने अभी जीवन के कुल इक्कीस वर्ष पूर्ण कर बाइसवें वर्ष में प्रवेश किया था। परन्तु इतनी अल्पायु में ही अनेकों अद्‌भुत-चमत्कार देखकर संसारी लोग अपनी विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए इनको हर-घड़ी घेरे रहते थे। तब लोकमान्यता के झंझावात से बचने के लिए श्रीज्ञानदेवजी ने समाधि लेने का निश्चय किया। उस समय ये श्रीनामदेवजी आदि वैष्णवों को साथ लेकर श्रीपण्ढरीनाथ भगवान का दर्शन एवं उनकी अनुमति लेने के लिए पण्ढरपुर गये। प्रभु का दर्शनकर श्रीज्ञानदेवजी ने अपनी इच्छा प्रकट की। जिसे सुनकर भगवान के नेत्र सजल हो उठे और हृदय भर आया अतः मौन स्वीकृति ही दे सके। आलन्दी में अजान वृक्ष के नीचे एक सुन्दर गुफा तैयार की गई। समाधि लेने के समय वैष्णवों ने श्रीविट्ठल भगवान एवं श्रीज्ञानदेवजी का नाम-संकीर्तन और जय-जयकार किया। भगवान विट्ठलनाथजी ने प्रकट होकर श्रीज्ञानदेवजी को तिलक लगाया और अपनी प्रसादी माला पहनाई। श्रीज्ञानदेवजी ने श्रीप्रभु-चरणों में प्रणाम किया। श्रीविट्ठलनाथ भगवान ने कहा-इनके पिता धन्य हैं। महारानी श्रीरुक्मिणीजी ने कहा-इनकी माता धन्य हैं। यह बात श्रीनामदेवजी ने अपने एक अभंग में कही है। समाधि में प्रवेश करते समय सभी सन्त अत्यन्त आर्त होकर करुण-क्रन्दन करने लगे। श्रीनामदेवजी ने भगवान श्रीपण्ढरीनाथजी से कहा कि जल के बिना मछली नहीं जी सकती है तो फिर श्रीज्ञानदेवजी के बिना नामदेव कैसे जी सकता है। गुफा में जाते समय श्रीज्ञानदेवजी का एक हाथ श्रीपण्ढरीनाथजी पकड़े हुए थे और एक हाथ ज्येष्ठ भ्राता श्रीनिवृत्तिनाथ पकड़े थे। अनन्त सन्त-वैष्णवों के बीच नाम-संकीर्तन ध्वनि श्रवण करते हुए, भगवान के श्रीमुखकमल का दर्शन करते हुए, प्रभुपाद-पद्मों में पुनः-पुनः नमन करते हुए, श्रीज्ञानदेवजी ने शाश्वत समाधि ली। श्रीज्ञानदेवजी के समाधिस्थ होने के पाँच-छः महीने के अनन्तर ही श्रीनिवृत्तिनाथजी

श्रीसोपानदेवजी, श्रीमुक्ताबाई एवं श्रीचाँगदेवजी आदि भी वियोग न सह सकने के कारण अपनी इहलीला समाप्त कर भगवत्पद को प्राप्त कर गये।

श्रीनामदेवजी भगवान की इच्छा से शरीर धारण कर रहे थे। परन्तु श्रीज्ञानदेवजी का वियोग इन्हें प्रतिपल बेचैन किये रहता था। एक बार अत्यन्त विरहाकुल होकर श्रीनामदेवजी ने श्रीपण्ढरीनाथजी से श्रीज्ञानदेवजी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। भगवान ने कहा-नामदेव! ज्ञानदेव को मेरी आत्मा ही समझो अतः मुझमें ही मन लगाकर व्याकुलता छोड़ दो। नामदेवजी ने कहा-प्रभो! मैं ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं हूँ। मुझे तो आप मेरे परमगुरु श्रीज्ञानदेवजी का दर्शन कराइये। श्रीनामदेवजी की प्रार्थना सुनकर माता श्रीरुक्मिणीजी ने भगवान से कहा कि मेरे नामा को 'नाहीं' मत कर देना। इसकी इच्छा अवश्य पूर्ण करिये। तब भगवत्प्रेरणा से श्रीज्ञानदेवजी ने प्रकट होकर श्रीनामदेवजी को दर्शन दिया। श्रीनामदेवजी ने श्रीज्ञानदेवजी के चरणों में प्रणाम करके अपने को भी संग-संग रखने की प्रार्थना की। श्रीज्ञानदेवजी श्रीनामदेवजी की प्रीति की प्रशंसा करके बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये। श्रीज्ञानदेवजी के तिरोभाव के लगभग तीन सौ वर्ष बाद महाराष्ट्र में श्रीएकनाथजी नाम के महान् सन्त हुए। एक बार श्रीएकनाथजी के कण्ठ में बड़ी असह्य पीड़ा होने लगी। विविध-उपचार कराने पर भी वह दूर नहीं हुई। एक दिन रात्रि में श्रीज्ञानदेवजी ने स्वप्न दिया कि अजान वृक्ष की जड़ मेरे कण्ठ से लगी हुई है। आप इसे दूरकर दो, आपकी पीड़ा दूर हो जायेगी। श्रीएकनाथजी ने ऐसा ही किया और सचमुच उनकी समस्त व्यथा शान्त हो गई। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानदेवजी अद्यापि वर्तमान हैं। अधिकारी भक्तों को आज भी दर्शन होता है। उनका समाधि-स्थल आज भी वहाँ का एक प्रधानतीर्थ है।

श्रीत्रिलोचनजी

भये उभै शिष्य नामदेव श्रीतिलोचन जू सूर शशि नाईं कियो जग में प्रकाश है।
नामा की तो बात कहि आये सुनो दूसरे की सुनेई बनत भक्त कथा रसरास है।।
उपजे बनिक कुल सेवैं कुल अच्युत कौं ऐपैं नहिं बनै एक तिया रहैं पास है।
टहलू न कोई साधु मनही की जानि लेत ये ही अभिलाष सदा दासनि को दास है।।१८०

शब्दार्थ-सूर = सूरज। नामा = नामदेवजी। कुल अच्युत = वैष्णव।

भावार्थ-श्रीज्ञानदेवजी के श्रीनामदेवजी और त्रिलोचनजी ये दो प्रधानशिष्य हुए। जिन्होंने भक्तजगत् में सूर्य और चन्द्र की तरह अपना प्रकाश फैलाया। श्रीनामदेवजी का चरित्र तो पहले ही छप्पय ४३ में पढ़ चुके हैं अब यहाँ दूसरे श्रीत्रिलोचनजी का चरित्र सुनिये। इस भक्त-महापुरुष की कथा ऐसी प्रेमरस से परिपूर्ण है कि सुनते ही बनती है अर्थात् सुनने में अति प्रिय है। भक्तवर श्रीत्रिलोचनजी वैश्य कुल में उत्पन्न हुए पर उस कुल की सेवा न करके अच्युतकुलीय वैष्णवों की सेवा करते थे। परन्तु वे जैसी सेवा करना चाहते थे वैसी बन नहीं पाती थी, क्योंकि उनकी पत्नी के अतिरिक्त घर में और कोई सेवा में सहयोग देने वाला ही न था। उनके मन में एक यह बड़ी अभिलाषा थी कि-कोई एक ऐसा नौकर मिल जाय जो साधुओं के मन की बात जानकर अच्छी प्रकार से उनकी सेवा किया करे। मैं तो सदा भगवान के दासों का दास हूँ, पर क्या करूँ कोई अच्छा-सा नौकर नहीं मिलता है। वे यही सोचा करते थे।।१८०।।

व्याख्या-'सूर-शशि नाईं'-चन्द्रमा और सूर्य के समान स्वयं प्रकाशपुंज, जगत् प्रकाशक, परम विख्यात् तथा लोक-कल्याणकारी हुए। यथा-'जग हित हेतु विमल विधु पूषन।।' (रामा०) भक्तकथा०-भगवान की तरह भक्तों की कथा भी परमानन्दमयी होती है। इसी से श्रीशौनकजी कहते हैं-'तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्। अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्। किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।।' (भा० १-१६-६) हे महाभाग! यह प्रसंग यदि कृष्ण की अथवा उनके श्रीचरण-कमलों के मकरन्द का आस्वादन करने वाले प्रेमी-भक्तों की कथा से सम्बन्धित है, तो उसे अवश्य ही कहिये। दूसरी संसारी झूठी कथा-वार्ताओं के कहने-सुनने से क्या लाभ? उसमें तो व्यर्थ ही आयु क्षीण होती है अर्थात् भगवान और उसके भक्तों की कथा ही कहने-सुनने योग्य है। 'सेवैं कुल अच्युत'- देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३७२, 'मोसे बाढ़ पाँव लीजिये।' पुनः-'हरिजन सेवत हरि बस होई। ताकी साख तिलोचन कहिये यह जानत सब कोई।' मनही की जानि लेत-यह उत्तम सेवक का लक्षण है। यथा-'रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहिये सोय।' दासनि को दास- मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे मत्प्रार्थनीय मदनुग्रह एष एव।। त्वद् भृत्य-भृत्य परिचारक भृत्य-भृत्य भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।।' (पाण्डवगीता) अर्थ-हे मधु और कैटभ दैत्य के शत्रु! हे लोकनाथ! मेरे जन्म का यही फल है, मेरा अभीष्ट है, मेरे ऊपर आपका यही परमानुग्रह है कि आप मुझे अपने दासों का दासानुदास समझकर स्मरण करें।

आये प्रभु टहलुवा रूपधरि द्वार पर फटी एक कामरी पन्हैयां टूटी पांय हैं।
निकसत पूछे अहो! कहां ते पधारे आप बाप महतारी और देखिये न गाय हैं।।
बाप महतारी मेरे कोऊ नाहिं सांची कहौं गहौं मैं टहल जो पै मिलत सुभाय हैं।
अनमिल बात कौन? दीजियै जनाय बहू पाऊँ पांच सात सेर उठत रिसाय हैं।।१८१

भावार्थ-अपने भक्त का मनोरथ पूरा करने के लिए एक दिन स्वयं भगवान ने ही नौकर का रूप धारण किया और त्रिलोचनजी के द्वार पर आये। आपके शरीर पर एक फटा-सा कम्बल था और पैरों में फटे-टूटे जूते थे। श्रीत्रिलोचनजी ने घर से निकलते ही उन्हें देखा और उनसे पूछा-अजी! आप कहाँ से पधारे हैं मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि आपके घर में पिता-माता आदि कोई भी नहीं है। नौकर रूपधारी भगवान ने कहा-आप सच कहते हैं मेरे पिता-माता आदि कोई नहीं हैं। त्रिलोचनजी ने कहा-क्या नौकरी करोगे, मुझे सन्तों की सेवा के लिए एक नौकर चाहिए। तब आपने कहा कि-यदि मेरे स्वभाव से स्वामीका स्वभाव मिल जाय तो मैं सेवा टहल कर सकता हूँ, यह मैं सत्य कहता हूँ श्रीत्रिलोचनजी ने पूछा-आपके स्वभाव से औरों का मेल क्यों नहीं हो पाता है, वह बात भी बता दीजिये। तब आपने कहा कि-मैं पाँच सात सेर अन्न नित्य खाता हूँ इसी से लोग नाराज हो जाते हैं और मुझे रख नहीं पाते हैं।।१८१।।

व्याख्या-आये प्रभु-'राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी।।' (रामा०) 'तुलसी रामहिं आपु ते, सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहिं, कैसे दीजै पीठि।।' (दो०) आप-श्रीत्रिलोचनजी ने बड़ी सभ्यता से पूछा-आप कहाँ से पधारे हैं? जैसे किसी अपने से बड़े से बात कर रहे हों। इसके दो कारण हैं। १. श्रीत्रिलोचनजी का साधु स्वभाव-'सबहिं मानप्रद आप अमानी।' (रामा०) २. भगवत्प्रेरणा, जिससे कि बाद में परिचय प्राप्त होने पर इन्हें पश्चात्ताप न हो कि मैंने भगवान को 'रे, तू' कहा। 'बाप महतारी०'-श्रीत्रिलोचनजी ने टहलू रूपधारी भगवान की जो दीनदशा देखी, फटे-चीथड़े वस्त्र, शरीर पर मैल की जमावट देखी, उससे यही अनुमान लगाया कि यह कोई मातृ-पितृहीन अनाथ बालक-सा जान पड़ता है। भगवान ने भी उनके अनुमान का ही समर्थन किया कि माता-पिता को मैंने न तो देखा और न किसी ने बताया ही कि अमुक तुम्हारे माता-पिता हैं। (इसका वास्तविक तात्पर्य तो यह कि चराचर जगत् के माता-पिता स्वयं भगवान हैं और उनका माता-पिता कोई नहीं अतः वह किसको बतावें। यह तो कहने-कहाने की बात है कि वे यशोदानन्दन, देवकीनन्दन हैं। यथा-'जयति जननिवासो, देवकी जन्मवादो।' (भा० १०।९।८४) इन्होंने

समझा कि बचपन में ही इनके माता-पिता मर गये होंगे अतः इन्होंने देखा नहीं और अनाथ होने पर इतस्ततः भटकने लगे होंगे अतः दूसरा बताये ही कौन?

पाऊँ पाँच सात सेर-सात सेर राजभोग, पाँच सेर व्यारू, [कम से कम दो सेर बालभोग भी समझना चाहिए] प्रश्न-भगवान ने इतनी खुराक क्यों बताई? समाधान-भगवान भक्तों के ऋणियाँ बने रहना चाहते हैं, उनको ऋणी नहीं रखना चाहते। यदि सेवा करते और तनखाह-भोजन कुछ भी नहीं लेते वा कम लेते तो भक्त पर ऋण होता। ऐसे भोजन में ही भोजन और तनखाह दोनों हो गईं। भोजन का ब्यौरा सुनकर श्रीत्रिलोचनजी ने पूछा कि आप केवल खाते भर हैं कि कुछ करतूति भी करते हैं। तब नौकर रूपधारी भगवान बोले-

चारिहू बरन की जु रीति सब मेरे हाथ साथ हू न चाहौं करौं नीके मन लाइकै।
भक्तन की सेवा सो तो करत जनम गयो नयौ कछु नाहिं डारे बरस बिताइकै।।
अंत्रजामी नाम मेरो चेरो भयो तेरो हौं तो बोल्यो भक्तभावै खावो निशक अघाइकै।
कामरी पन्हैयां सब नई करि दई और मीड़िकै न्हवायो तन मैलकों छुटाइकै।।१८२

शब्दार्थ-अन्त्रजामी = अन्तर्यामी, अन्तःकरण में व्याप्त परमेश्वर, सर्वज्ञ। कामरी=कमरी, कम्बल।

भावार्थ- उस नौकर ने फिर कहा-चार वर्णों की रीतियाँ मेरे हाथ में हैं अर्थात् मैं उनका ज्ञाता हूँ। सभी कार्यों को मैं अच्छी प्रकार से मन लगाकर करता हूँ। उनमें किसी से सहायता भी नहीं लेना चाहता हूँ। रही भक्तों की सेवा-टहल उसे तो करते-करते मेरा सब जीवन ही बीता है। मेरे लिए वह कुछ नई नहीं है, इसमें कई वर्षों को मैंने बिता दिया है। 'अन्तर्यामी' मेरा नाम है। मैं तो अब आपका दास हो गया। भक्त त्रिलोचन ने कहा-इच्छानुसार खूब भर-पेट खाओ, किसी प्रकार का सङ्कोच मत करो। ऐसे निश्चय के बाद त्रिलोचनजी ने अन्तर्यामी को नये जूते और नया कम्बल दिया और मल-मलकर मैल छुड़ाकर उन्हें भलीभाँति से स्नान कराया।।१८२।।

व्याख्या-चारिहू बरन०-यथा-चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।। (गीता-४-१३) अर्थात् गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-ये चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं। माधुर्य में भाव यह है कि मैं सभी वर्णों की सेवा करना चाहता हूँ। 'साथ हूँ

न चाहौं'-यथा-'जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई सङ्ग सहाय न दूजा।' (रामा०) माधुर्य में भाव यह कि मैं अत्यन्त परिश्रमी हूँ अकेले ही सब सेवा कर लेता हूँ। खाता हूँ तो करके भी दिखाता हूँ और बेगार भी नहीं टालता हूँ-'करौं नीके मन लायके।' श्रीत्रिलोचनजी ने कहा-'चारि बरन की चातुरी सरै न मेरो काम। सन्त सेवा जो जानहू, रहौ हमारे धाम।।' भगवान ने कहा-सन्तसेवा में ही तो मेरा जन्म बीता है। यथा-'चौबिस रूप धरे भक्तन हित सब विधि सेवा कीनी। भक्तन सेवा में रुचि मेरी यह कछु नहीं नवीनी।।' (भ०व०टि०) बात भी सही है, सन्तसेवा वस्तुतस्तु स्वयं भगवान ही करते हैं, निमित्त किसी को बना देते हैं। श्रीत्रिलोचनजी ने कहा-भैया! सेवाधर्म बड़ा कठिन है। यथा-'सबते सेवक धर्म कठोरा।' (रामा०) 'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।' अर्थात् सेवाधर्म अत्यन्त कठिन है, योगियों के लिए भी अगम्य है (भर्तृहरि) तो कहीं चार दिन चमक-दमक दिखाकर फिर भाग तो नहीं जाओगे? भगवान ने कहा-हम भगेला नहीं हैं। हम जहाँ रहते हैं, वर्षों पड़े रहते हैं। अन्त्रजामी नाम-प्रश्न-भगवान के तो अनेक नाम हैं, फिर यही नाम क्यों बताया? समाधान-श्रीत्रिलोचनजी को अन्तर्यामी सेवक की ही जरूरत थी जो सन्तों के मन की जानकर सेवा करने वाला हो।

चेरो भयो तेरो-का भाव यह कि मैं हूँ तो जगत् का स्वामी परन्तु भक्तों का तो दास हूँ। पुनः ज्ञानियों के लिए ब्रह्म हूँ, कर्मकाण्डियों के लिये परमात्मा हूँ परन्तु भक्तों का तो दास हूँ। 'कामरी...नई करि दई'-जैसे प्रायः लोग नौकर-चाकरों को पुराना ही देते हैं, परन्तु इन्होंने तो सब नई वस्तु ही दी। यह भी भगवत्प्रेरणा ही समझना चाहिए। ये पुरानी देते तो भगवान ले तो सहर्ष लेते परन्तु बाद में परिचय प्राप्त होने पर ये पश्चात्ताप करते। अतः भगवान ने पहले ही बचा लिया 'मीड़िके न्हवायो'-भगवान के शरीर पर तमाम मैल जमा था। उसे देखकर त्रिलोचनजी ने पूछा-अन्तर्यामी? तुम कभी स्नान नहीं करते हो? भगवान बोले-मालिक! साल छः महीने में कभी अमावस-पूनो को, ग्रहण-संक्रान्ति को नहा लेता हूँ। प्रश्न-भगवान के शरीर पर मैल कैसा? समाधान-शरणागतवत्सल प्रभु अपने आश्रितों का दोष स्वयं अपने स्वीकार कर उन्हें शुद्ध-बुद्ध बना देते हैं। दृष्टान्त-श्रीविभीषणजी का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २२४, भृत्यापराधे...। जब सब बात तय हो गई तो भगवान ने कहा-भाई! एक बात और यह है कि मैं आपके ही घर खाऊँगा। आपकी ही पत्नी मेरे लिए आटा, चावल, दाल तैयार करे, रसोई बनावे और खिलावे और यदि कभी मेरे भोजन की शिकायत हुई तो मैं तत्काल चला जाऊँगा। इसका भी ध्यान रखना।

बोल्यो घर दासी सों तू रहै याकी दासी होइ देखियो उदासी देत ऐसो नहीं पावनौ।
खाय सो खबावो सुखपावो नित-नित कियै जियै जग माहिं जौलौं मिलि गुन गावनौ।।
आवत अनेक साधु भावत टहल हिये लिये चाव दाबैं पांव सबनि लड़ावनौ।
ऐसे ही करत मास तेरह बितीत भये गये उठि आपु नेकु बात को चलावनौ।।१८३

शब्दार्थ- **घरदासी = स्त्री, पत्नी। उदासी= उपेक्षा, खिन्नता, अफसोस। लड़ावनौ= प्यार करना।**

भावार्थ-**भक्त त्रिलोचनजी ने अपनी स्त्री से कहा-तुम इस अन्तर्यामी की दासी बनकर रहना और देखो, इसे भोजन देते समय थोड़ी-सी भी खिन्नता मन में मत लाना। नहीं तो यह कहीं भाग जायेगा। फिर ऐसा नौकर कभी न मिलेगा। जो कुछ यह खाये, वही इसे खिलाओ। यह नित्यप्रति सन्तसेवा करेगा, तुम इसकी नित्य-सेवा करो और नित्य-नवीन सुख को प्राप्त करो। अपना कर्तव्य यही है कि हम लोग जब तक जीवित रहें तब तक हिल-मिलकर हरिगुण गावैं और सन्तसेवा करें। श्रीत्रिलोचनजी के यहाँ अनेक साधु-सन्त नित्यप्रति आते ही रहते थे। सन्तसेवा अन्तर्यामी को हृदय से प्रिय थी। सन्तों की इच्छा के अनुसार रुचिपूर्वक अन्तर्यामी उनके पैर दबाते और उन सबका लाड़-प्यार करते। इस प्रकार सेवा करते-करते तेरह महीने बीत गये। जरा-सी बात चली कि अन्तर्यामी अन्तर्धान हो गये।।१८३।।**

व्याख्या-तू रहै याकी दासी होइ-**भाव यह कि मालिकाना रौब नहीं दिखाना। लायक सेवक है। सन्तों की सेवा करेगा। साधु की सेवा करने वाला तो परमसाधु होता है। अतः तू इनमें सेवकभाव न रखकर परमसाधु का भाव रखना और भावपूर्वक सेवा करना। श्रीहरिरामव्यासजी तो हरिसेवा से बढ़कर हरिदासों की सेवा को महत्व देते हैं। यथा-पद-'करौ भैया साधुन ही सों सङ्ग। पति गति जाइ असाधु सङ्ग ते काम करत चित भङ्ग।।' हरिते हरिदासन की सेवा परम भक्ति को अङ्ग। जिनके पदते तीरथ पावन उपजावत रस रङ्ग।। तिनके बस दशरथ सुत मार्‌यो माया कनक कुरङ्ग। तिनके कहत व्यासप्रभु सुमिर्‌यो सत्वर धनुष निषङ्ग।।' 'खाय सो खबावो'-भाव यह कि यह जो खायें रोटी-दाल, पूआ-पूरी एवं जितना खायें, पाँच, सात, दस, बारह सेर, उतना खिलाओ। 'मिलि गुन गावनो'- यथा-पद-'आवो साधो हिलमिल हरिजस गावैं। प्रेमभक्ति की रीति समुझि के हित सों राम रिझावैं।। गोविन्द के कौतुक गुन लीला ताको ध्यान लगावैं। सेवा सुमिरन वन्दन अर्चन**

नवधा सो चित लावैं। अबकी औसर भलो बनो है बहुरि दांव कब पावैं। भजन प्रताप तरैं भवसागर उर आनन्द बढ़ावैं। मनको धोय परम उज्जवल करि मगनरूप हो जावैं। ताल पखावज झाँझ मजीरी मुरली शङ्ख बजावैं। चरनदास सुखदेव दया सों आवागमन मिटावैं।।'

लिये चाव दाबै पाँव-अर्थात् रुचिपूर्वक सेवा करते। पाँव दबाना बढ़िया जानते हैं। पुराना अभ्यास है। यथा-'ते दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते।। मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई।।' (रामा०) संतों की चरणसेवा करते समय सुन्दर सत्सङ्ग की चर्चा करते। पूछते-महाराज! यह प्रसङ्ग कैसे है? वह प्रसङ्ग कैसे है? यदि सन्त भूलते तो स्वयं ही बता भी देते कि-महाराज! यह प्रसङ्ग तो मैंने इस प्रकार सुना है। कथा के प्रधान श्रोता तो भगवान ही हैं। यथा-'वेद पुरान वशिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं।। वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।।' (रामा०) सन्त प्रशंसा करते-अन्तर्यामी तुम तो बड़े पण्डित मालूम पड़ते हो। अन्तर्यामीप्रभु हाथ-जोड़कर कहते-महाराज! यह सब आप संतों की कृपा से ही प्राप्त हुआ है। संत बड़े प्रसन्न होते और अन्तर्यामी की बड़ी बड़ाई श्रीत्रिलोचनजी से करते। 'सबनि लड़ावनो'-अन्तर्यामी संतों से बड़ा लाड़ लड़ाते। अन्तर्यामी हैं ही, सबके मन की जान लेते। संत किसी बात को कहने में सकुचाते तो स्वयं ही उसकी चर्चा करने लगते-पूछते क्यों महाराज! आज ठाकुरजी को रबड़ी का भोग लगाते तो क्या हर्ज है? संत कहते-भैया! मन तो मेरा भी था परन्तु सङ्कोचवश मैं कह नहीं सकता। इसी प्रकार संतों की इच्छानुसार पूआ-पकवान, मेवा-मिष्ठान्न, शाक-फल आदि की सुव्यवस्था करते रहते।

इसी प्रकार अँचला, लँगोटी, कौपीन-कमण्डलु, लोटा आदि पूछ-पूछकर दिलाते रहते। किसी संत को थका देखते तो लाख मना करने पर भी चरण दबाने लगते। तब संतजी दिल खोलकर कहते-भैया अन्तर्यामी! तेरा संत-भगवन्त में खूब प्रीति हो अन्तर्यामी आशीर्वाद पाकर कृतार्थ हो जाते। सबनि लड़ावनों का दूसरा भाव यह कि संत भी इनसे खूब लाड़-लड़ाते। संतों के तो ये खिलौने ही बन गये थे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को लाड़-लड़ाते और परम सुख पाते। यथा-'मुनि रघुवीर परस्पर नवहीं। वचन अगोचर सुख अनुभवहीं।।' (रामा०) 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।' (गीता० ३।११) इधर त्रिलोचनजी की पत्नी भी इनसे खूब लाड़-लड़ाती थी बड़े प्रेम से इन्हें खिलाती-पिलाती थी। यह भी जब भोजन करने बैठते तो इन्कार करते ही न थे। जब पूछो तब और लाओ। अरे भाई गिरिराज कर जो ठहरे। जेट की जेट रोटियाँ खतम हो जातीं पर ये पाना बन्द

नहीं करते। चौका साफ हो जाने पर चाहे भले बन्द हो जायँ, नहीं तो पूछने पर तो यही कहते कि और लाओ।

एकदिन गई ही परोसिनके भक्तबधू पूछि लई बात अहो काहेको मलीन है।
बोली मुसुकाय वे टहलुवा लिवाय ल्याये क्योंहू न अघायं खोट पीसि तनछीन है।।
काहू सौं न कहौ यह गहौ मन मांझ एरी तेरी सौं सुनैगो जोपै जात रहे भीन है।
सुनि लई यही नेकु गये उठि हुती टेक दुखहूं अनेक जैसे जल बिन मीन है।।१८४

शब्दार्थ- **मलीन = उदास, दुर्लभ। खोट = खोटा, बुरा। भीन = सबेरा, सुन्दर।**

भावार्थ- **श्रीत्रिलोचनजी की स्त्री एक दिन पड़ोसिन के घर गई तब उसने पूछा कि-तुम इतनी कमजोर एवं उदास क्यों हो गई हो? भक्तजी की स्त्री ने मुस्कुराकर उत्तर दिया कि क्या कहूँ? मेरे पतिदेव कहीं से एक नौकर लिवाकर लाये हैं, वह ऐसा खोटा है कि बहुत-सा भोजन करने पर भी उसका पेट नहीं भरता है। इसलिए मुझे अधिक आटा पीसना पड़ता है उसी से मेरा शरीर अति दुर्बल हो गया है। देखो, बहिन! मैंने जो यह बात तुमसे कही है, उसे तुम किसी दूसरे से मत कहना। इसे अपने मन में ही रखना। मैं तेरी शपथ खाकर सत्य कहती हूँ कि यदि कहीं उसने सुन लिया तो सबेरे ही चला जायेगा। वे तो अन्तर्यामी थे उन्होंने सुन लिया और तुरन्त उठकर चले गये। क्योंकि उनकी तो यही प्रतिज्ञा ही थी। इनके चले जाने से श्रीत्रिलोचनजी अनेक प्रकार से दुःखी हुए। जिस प्रकार जल के बिना मछली व्याकुल होती है उसी प्रकार से व्याकुल हो गये।**

व्याख्या-एक दिन गई- **भाव यह कि अन्तर्यामी इन्हीं के हाथ का कूटा-पीसा और बनाया हुआ भोजन करते थे इसलिए कूटने-पीसने, बनाने-खिलाने में ही इनका सारा-समय निकल जाता था अतः पास-पड़ोस में आना-जाना भी बन्द हो गया था। जैसे-तैसे समय निकालकर एक दिन गईं। 'क्यों हू न अघात खोट'-यद्यपि अन्तर्यामी ने यह चेतावनी पहले ही दे दी थी कि मेरे भोजन की शिकायत होगी तो मैं चला जाऊँगा। श्रीत्रिलोचनजी ने भी पत्नी को सावधान कर दिया था तो भी इनकी पत्नी ने पड़ोसिन से शिकायत कर ही दी। इसका कारण यह है कि स्त्रियों को श्रीयुधिष्ठिरजी का शाप है कि कोई बात गुप्त नहीं रख सकती हैं। शाप का कारण यह है कि कुन्ती ने महावीर कर्ण के सम्बन्ध में कभी नहीं यह कहा कि यह मेरा पुत्र है। महाभारत के युद्ध में जब वह मार डाला गया, जब सब लोग अपने मृतक सगे-सम्बन्धियों का तर्पण करने लगे। तब कुन्ती ने श्रीयुधिष्ठिरजी से कहा कि**

तुम अपने बड़े भाई कर्ण को जल-दान दो। जब यह बात युधिष्ठिरजी को मालूम हुई तो बड़े पछताये कि तूने अब तक क्यों नहीं बताया। यदि बता देती तो इतना बड़ा रक्तपात नहीं होता। कर्ण को तो दुर्योधन भी चाहता था। बड़े भाई के नाते हम भी चाहते, फिर वही राजा बना दिये जाते। वहीं झगड़ा समाप्त हो जाता। फिर युधिष्ठिरजी ने उपर्युक्त शाप दे दिया। दुखहू अनेक-श्रीत्रिलोचनजी की पत्नी को बड़ा दुःख हुआ-१. अन्तर्यामी के जाने का। २. श्रीत्रिलोचनजी के रिसाने का। ३. सन्तसेवा में कमी आ जाने का, श्रीत्रिलोचनजी के दुःख का तो पारावार नहीं रहा। ये तो घर-घर पूछते डोले कि भैया! मेरे अन्तर्यामी को देखे हो तो बताओ। परन्तु कौन बताये। इस पर दृष्टान्त-श्रीसनातन गोस्वामी-श्रीहरदेव, बलदेव, केशवदेव, गोविन्ददेव-इन चार भाइयों को खोजने का। देखिये कवित्त ३६२।

बीते दिन तीन अन्नजल करि हीन भये ऐसो सो प्रवीन अहो फेरि कहाँ पाइये।
बड़ी तू अभागी बात काहे को कहन लागी रागी साधु सेवा मैं जु कैसे करि ल्याइये।।
भई नभवानी तुम खावो पीवो पानी यह मैं ही ठानी मोकौं प्रीति रीति भाइये।
मैं तो अधीन तेरे घर ही में रहौं लीन जोपै कहौ सदा सेवा करिवे को आइये।।१८५

शब्दार्थ-**अधीन = आधीन, वश। लीन = व्याप्त, विराजमान।**

भावार्थ-**अन्तर्यामी के चले जाने के बाद तीन दिन बीत जाने पर भी श्रीत्रिलोचनजी ने अन्न-जल नहीं लिया वे दुःखी होकर स्त्री से कहने लगे-हाय! अब ऐसा चतुर सेवक मुझे कहाँ मिलेगा? तू तो बड़ी अभागिनी है, ऐसी बात क्यों कही? वह सन्त-सेवा का बड़ा प्रेमी था। किस उपाय से अब उसे लाऊँ? जब त्रिलोचनजी इस प्रकार अपने मन में पछताने लगे। तब आकाशवाणी हुई कि-तुम अन्न प्रसाद पावो और जल पियो। सन्तों के प्रति जो तुम्हारी प्रीति की रीति है वह मुझे अति प्रिय लगी इसी से तुम्हारा सेवक बनकर सन्तसेवा करने की बात मैंने अपने मन में निश्चित की थी। मैं तुम्हारे अधीन तुम्हारा दास हूँ, और सदा तुम्हारे मन में ही लीन रहता हूँ। यदि तुम कहो तो पहले की तरह मैं तुम्हारे यहाँ आकर रहूँ और सदा सेवा करूँ।।१८५।।**

व्याख्या-अन्नजल करि हीन भये-**श्रीत्रिलोचनजी अन्तर्यामी के साथ बैठकर प्रसाद पाते थे। अन्तर्यामी के चले जाने से इन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया। 'कहाँ पाइये'-'कहाँ गये मेरे अन्तर्यामी राम। काहे कौ तूं कहन लगी री अरी अभागिन बाम।। अब ये प्रान कढ़त नहिं तन ते जरत नहीं ये चाम। कलप अलप सी घरी जात है बीतन लागे जाम।।**

हा-हाकार होत दस दिसि ते हाय-हाय करि राम। निसिवासर वे खड़े रहत हे करत रहे सब काम। दास तिलोचन दीन जानिके उत्तर दीनों राम।। 'प्रीतिरीति भाइये'-'मानत सुख सेवक सेवकाई।' (रामा०) 'मैं तो हौं अधीन'-यथा-अहं भक्त पराधीनो''' (भा० ९।४।६३) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २७२।।

कीने हरिदास मैं तो दासहू न भयौं नेकु बड़ो उपहास मुख जग में दिखाइयै।
कहैं जन भक्त कहा भक्ति हम करी कहो अहो अज्ञताई रीति मन में न आइयै।।
उनकी तो बात बनि आवै सब उनहीं सों गुनही कौं लेत मेरे औगुन छिपाइयै।
आये घर माँझ तऊ मूढ़ मैं न जानि सक्यों आवैं अब क्यों हू धाय पांय लपटाइयै।।१८६

शब्दार्थ-अज्ञताई = मूर्खता।

भावार्थ-आकाशवाणी सुनकर श्रीत्रिलोचनजी ने जब रहस्य जाना, तो उन्हें और अधिक कष्ट हुआ, वे पछताते हुए कहने लगे कि-मुझे धिक्कार है, मैंने भगवान को अपना दास करके माना। मैं उनका दास नहीं बना, वे रहे, मैंने थोड़ी भी उनकी सेवा नहीं की। मेरे लिए यह शर्म और हँसी की बात है। भक्तों के सामने संसार में, मैं मुख दिखाने योग्य नहीं रहा। लोग मुझे भक्त कहते हैं, पर कहो तो हमने कौन-सी भक्ति की है? अहो! मेरी मूर्खता को तो देखो, मैं उन्हें जान न सका। अपने भक्तों से प्रेम करने की उनकी रीति ऐसी गुप्त है कि मेरे मन में भी नहीं आ सकती है। प्रभु ने मेरी तुच्छता की ओर जरा-सा भी ध्यान नहीं दिया। उनकी भक्तवत्सलता की बात तो उन्हीं से बन पड़ती है, उन्होंने मेरे नाममात्र के गुणों की ओर ध्यान दिया परन्तु मेरे अवगुणों को छिपाया। प्रभु मेरे घर में आये, इतने दिन रहे पर मैं ऐसा मूढ़ था कि उनको नहीं जान सका। अब वे किसी प्रकार आ जायें तो मैं दौड़कर उनके पैरों में लिपट जाऊँ। इस प्रकार त्रिलोचनजी अंतर्यामी के ध्यान में सदा मग्न रहने लगे। (प्रभु की आज्ञा से प्रसाद ग्रहण किये)।।१८६।।

व्याख्या-गुनही को लेत०-यथा-'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम विपति निवारन। काको सहज सुभाउ सेवक बस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन।। जन गुण अलप गनत सुमेर करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन। परम कृपालु भगत चिंतामनि बिरद पुनीत पतित जन तारन।। सुमिरत सुलभ दास दुःख सुनि हरि चलत तुरत पट पीत सँभारन। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन। जाको जस

गावत कवि कोविद जिन्हके लोभ मोह मद मार न। तुलसिदास तजि आस सकल भजु कोसलपति मुनि बधू उधारन।।' (वि०)

श्रीबल्लभाचार्यजी

हिये में सरूप सेवा करि अनुराग भरे ढरे और जीवनि की जीवनि को दीजिये।
सोई लै प्रकास घर-घर में विलास कियो अति ही हुलास फल नैननि को लीजिये।।
चातुरी अवधि नेकु आतुरी न होति किहूं चहुँदिसि नाना राग भोग सुख कीजिये।
बल्लभजू नाम लियो पृथु अभिराम रीति गोकुल में धाम जानि सुनि मन रीझिये।।१८७

शब्दार्थ- ढरे = झुके, दयालु हुए। और = दूसरे। जीवनि की = जीवों की। जीवनि=संञ्जीवनी बूटी, प्राणाधार, प्राण-प्रिय। विलास= आनन्द। चातुरी=चतुरता। आतुरी= शीघ्रता, घबड़ाहट।

भावार्थ- भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का सुन्दरस्वरूप श्रीबल्लभाचार्यजी के हृदय में विराजमान था। उसकी मानसी सेवा करके आपका हृदय अनुराग से परिपूर्ण हो गया था। संसारी जावों के कल्याण की ओर आपका झुकाव हुआ। तब आपने विचारा कि जीवों की सच्ची जीवनी जो भगवान की भक्ति है उसे दूसरे जीवों को भी देना चाहिए। तभी आपने अपने हृदयस्थ प्रेम-ज्ञान के प्रकाश को शरणागत जीवों के हृदय में प्रकाशित किया। जहाँ-तहाँ घर-घर में श्यामसुन्दर की सेवा का आनन्द फैल गया। इससे लोक में जीवों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इनके प्रेम से प्रकट प्रभु के दर्शन करके आज भी नेत्र प्राप्त करने का फल लीजिए। श्रीबल्लभाचार्यजी श्रीनाथजी (जतीपुरा गोवर्धन) की सेवा में बड़े ही चतुर थे। सेवा के समय आपको कभी-जरा सी भी आतुरता नहीं होती थी। अनेक प्रकार के भोग-राग अर्पण किये जाते थे। उससे सभी लोगों को चारों ओर सुख प्राप्त हो रहे थे। श्रीनाभाजी ने उन्हें पृथुजी की सुन्दर पूजा-पद्धति का उपासक कहा वह पूर्ण सत्य है। गोकुल में उनका धाम है, वहाँ की पूजा-सेवा जानकर (प्रत्यक्ष देखकर) तथा सुनकर मन रीझ जाता है।।१८७।।

व्याख्या-सेवा करि अनुराग भरे- दृष्टान्त एक पुजारी का- एक परम धर्मात्मा, परम-भागवत सेठ जी का मन्दिर था। मन्दिर में श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा के लिए इन्होंने एक ब्राह्मण को नियुक्त कर रखा था। श्री पण्डितजी भी बड़े भावुक थे। सेठ जी ने कह रखा था कि भगवान के राग-भोग में पैसे का सङ्कोच नहीं करना, जो इच्छा हो, वह वस्तु अवश्य भोग लगाना, मैं पैसा दे दिया करूँगा। एक दिन श्रीपण्डितजी बाजार में फल

बेचने वाले की दुकान पर एक बढ़िया खरबूजा देखा। मन में आया कि यह बढ़िया ऋतुफल है, इसका श्रीठाकुरजी को भोग लगाना चाहिए। दाम पूछे तो फल वाले ने उसका दो आने दाम बताया। तब तक एक सिपाही भी उसी दुकान पर आया और खरबूज देखकर उसका भी मन ललचाया। उसने लेने के लिए दाम बढ़ाया तो पण्डितजी कब पीछे हटने वाले थे। उन्होंने भी दाम बढ़ाया। अन्ततोगत्वा दाम बढ़ा-बढ़ी की होड़ में श्रीपण्डितजी ने दो आने के खरबूजे का सौ रुपया दाम लगा दिया। तब तो उस सिपाही ने अपने बाल-बच्चे याद आने लगे। मामूली पच्चीस रुपये माहवार का नौकर था। दुम दबाकर भागा। पण्डितजी सौ रुपये में एक खरबूज ले आये। फल को रखकर स्नान करने गये। सोच रहे थे कि जल्दी स्नान कर श्रीठाकुरजी को खरबूजा का भोग लगाऊँ। इधर क्या हुआ कि जब तक पण्डितजी स्नान करके आवें, उसके पहले ही श्रीठाकुरजी खरबूजे को मन्दिर में उठा ले गये। जब पण्डितजी आये तो देखें खरबूजा नदारद। बहुत खोजने पूछने पर भी नहीं मिला। तब तो इन्हें बड़ा दुःख हुआ कि इतना पैसा भी लगा और श्रीठाकुरजी को भोग भी नहीं लग पाया। परन्तु किया ही क्या जा सकता है? मन मसोसकर पण्डितजी ने श्रीठाकुरजी का पट खोला तो देखे कि श्रीप्रभु उस फल को छाती से चिपटाये हैं। पंडितजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा फिर तो बड़े उल्लास के साथ उसका भोग लगाये। प्रसाद श्रीसेठजी को भी ले जाकर दिये। आज के प्रसाद में अलौकिक स्वाद था, एक तो पुजारीजी का प्रेम एवं दूसरे श्रीप्रभु का साक्षात् अधरामृत प्रसाद। श्रीसेठजी पूछ ही बैठे कि पंडितजी! खरबूजा तो जिन्दगी में बहुत खाया परन्तु ऐसा स्वाद तो आज तक नहीं मिला था, बात क्या है? तब पंडितजी ने सब वृत्तान्त बताया। सुनकर सेठजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले- बहुत अच्छा किया आपने। यदि आप हजार रुपये भी लगा देते तो मैं सहर्ष दे देता। भाववश भगवान की जय। प्रेम पुजारी की जय।

दूसरा दृष्टान्त- गुलाब के फूल का- बात मथुरा की है। एक श्रीबल्लभकुल के वैष्णव श्रीपण्डितजी यमुना स्नान करके आ रहे थे। मार्ग में फूलवाले के यहाँ एक डलिया में बहुत बढ़िया तथा बहुत बड़े-बड़े गुलाब के फूल देखे, मन में आया कि इन्हें श्रीठाकुरजी के लिए ले चलूँ। एक रुपये में तय हो गया। संयोग की बात, उस समय मथुरा में नवाब का पड़ाव पड़ा हुआ था। नवाब का नौकर भी फूलों की तलाश करते-करते वहीं पहुँचा। उसने फूलों का दाम बढ़ाया, तब पंडितजी भी आगे बढ़े। बढ़ाबढ़ी में पंडितजी को भावावेश हो गया कि यह तो मामूली मुल्कपति का नौकर है और मैं अनन्तकोटि ब्रह्मांडनायक का सेवक हूँ फिर यह

मेरी बराबरी कैसे कर सकता है? पण्डितजी ने फूल का दाम १०००) रु० लगा दिया। तब तो नवाब का नौकर ढीला पड़ गया। क्योंकि न तो उसके पास इतने पैसे ही थे और न नवाब इतना उदार ही था। अत: वह लौट आया। पण्डितजी घर का सब सामान बेचकर जैसे-तैसे १०००) रु० एकत्रित कर फूल खरीद ले गये। श्रीपण्डितजी ने बड़े-प्रेम से श्रीठाकुरजी का फूलों से श्रृङ्गार किया। श्रीठाकुरजी ने सिर झुकाकर हार धारण किया। परन्तु भाव-विभोर ब्राह्मण का भगवान के सिर नवाने पर ध्यान नहीं गया। इसका अनुभव तो यतीपुरा (गोवर्धन) में विराजमान श्रीविट्ठलनाथजी को हुआ। बात यह हुई कि उसी समय श्रीविट्ठलनाथजी भी श्रीनाथजी की सेवा कर रहे थे तो आज श्रीश्रीनाथजी का भी सिर झुक-झुक जा रहा था। श्रीगुसाईंजी ने पूछा- जै-जै प्रभो! आज क्या बात? तब श्रीश्रीनाथजी ने मथुरा के उन वैष्णव ब्राह्मण की कथा सुनाई। तब श्रीगुसाईंजी ने मथुरा आकर उस वैष्णव के दर्शन किये। श्रीठाकुरजी के इस विनोद से यह भी तथ्य प्रकट हुआ कि- ठाकुर-ठाकुर एक हैं। तभी तो मथुरा में श्रृङ्गार हुआ और यतीपुरा में श्रीठाकुरजी का सिर झुका।

जीवनि=संजीवनी- **यथा-'रघुपति भक्ति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।' (रामा०) 'चातुरी अवधि'- नीति निपुण सोई परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।। सोई कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छांड़ि भजै रघुवीरा।।' (रामा०) 'चहुँदिशि नाना राग-भोग' -भाव यह कि आपने ऐसा भक्ति का प्रचार किया कि चारों दिशाओं में राग-भोग, सेवा-पूजा की धूम मच गई। वा आप जहाँ विराजते वहाँ चारों ओर राग-भोग, सेवा-पूजा की धूम रहती। कहीं रागसेवा, कहीं भोगसेवा, कहीं अमनियां की सेवा तो कहीं पुष्प की सेवा आदि-आदि। यह है अनुरागपूर्वक की जाने वाली सेवा का स्वरूप। सेवा के स्वांग पर-**

दृष्टान्त- एक पुजारी का- **एक बूढ़े ब्राह्मण थे। चार मन्दिरों की अकेले सेवा-पूजा सँभालते। तीन जगह तो जल छिड़ककर पत्र-पुष्प फेंक आते, एक जगह कुछ ठीक से पूजा कर देते। भोग के लिए तीन मन्दिरों के लिए एक ही दिन शक्करपारे महीने दो महीने के लिए बना लेते। एक-दो भोग लगा दिया करते। एक मन्दिर में रसोई बनाकर भोग लगाते। ऐसे सेवा करने वाले थे। एक दिन उन्होंने एक मन्दिर में श्रीठाकुरजी को शक्कर पारे भोग धरा तो श्रीठाकुरजी चक्र-सुदर्शन की ओर देखने लगे। श्रीचक्रराज ने पूछा- जै-जै प्रभो! आप आरोगते क्यों नहीं हैं? श्रीठाकुरजी ने कहा- शक्करपारे बहुत कड़े हैं, आप फोड़ दें**

तो मैं पाऊँ। श्रीचक्रजी ने उन्हें टटोलकर कहा कि-प्रभो! मैं इन्हें फोड़ तो दूँगा परन्तु फिर आपके किसी और काम लायक नहीं रह जाऊँगा। भगवान ने कहा- सो क्यों? श्रीचक्रजी ने कहा कि मेरी धार गोठिल हो जायेगी। भगवान ने हँसकर कहा कि- तो भला मेरे दाँतों से यह कैसे फूट सकते हैं। ऐसे भोग से तो उपवास ही ठीक है। श्रीबल्लभकुल में भगवान की सेवा-पूजा बड़े लाड़-चावपूर्वक की जाती है। विशेष देखिये श्रीविट्ठलनाथजी का प्रसङ्ग।

गोकुल के देखिबै कौं गयो एक साधु सूधो गोकुल मगन भयो रीति कछु न्यारिये।
छोंकर के वृक्ष पर बटुवा झुलाय दियो कियो जाय दरशन सुख भयो भारिये।।
देखै आइ नाहीं प्रभु फेरि आप पास आयो चिंता सो मलीन देखि कही जा निहारिये।
वैसेई सरूप कई गई सुधि बोल्यो आनि लीजिये पिछानि कह्यो सेवा नित धारिये।।१८८।।

शब्दार्थ- **बटुवा =थैला, ठाकुरजी का डिब्बा। झुलाय= लटकाय।**

भावार्थ- **एकबार एक सीधे-साधे सन्त दर्शन करने के लिए गोकुल को गये। वहाँ जाकर गोष्ठ में गायों के झुण्ड का, गोपाल का तथा मन्दिरों में बालकृष्ण की सेवा-पूजा और उत्सवों का दर्शन करके प्रेम में मग्न हो गये। क्योंकि वहाँ की प्रीति-रीति निराली थी। फिर उन सन्त ने एक छोंकरे के पेड़ पर अपना ठाकुर-बटुवा लटका दिया और जाकर श्रीबल्लभाचार्यजी के दर्शन किये जिससे उन्हें बड़ा-भारी सुख हुआ। फिर आकर देखा तो ठाकुर बटुवा नहीं था। तब वे सन्त फिर श्रीबल्लभाचार्य के निकट गये और बटुवा न मिलने की बात सुनाई। सन्त को चिन्तित एवं उदास देखकर आचार्य ने कहा कि-वहीं जाकर देखिये। सन्त ने आकर देखा तो छोंकरे के पेड़ पर अनेकों बटुवे लटके हैं। उनका होश-हवाश उड़ गया फिर आचार्य के पास आकर बोले-प्रभो! वहाँ तो अनेक बटुवे हैं। इन्होंने कहा-आप अपना बटुवा पहचान लीजिये, आप तो नित्य सेवा-पूजा करते हैं फिर भी अपने ठाकुरजी को नहीं पहचान सकते हैं।।१८८।।**

व्याख्या-गोकुल के देखिबे को-**'नारायण ब्रजभूमि को सुरपति नावत माथ। जहाँ आय गोपी बने श्रीगोपीश्वरनाथ।।''साधु सूधो'-इस पर-**

दृष्टान्त-एक महात्मा का-**एक बड़े ही भोले-भाले महात्मा जङ्गल में एक झोंपड़ी बनाकर भजन करते थे। बड़े अकिञ्चन थे। संग्रह के नाम पर श्रीठाकुरजी की सेवा के कुछ पार्षदों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रखते थे। एक दिन रात में इनकी कुटिया पर चोर आये।**

इन्होंने समझा कि कोई महात्मा आये हैं अतः बड़े प्रेम से दण्डवत् किये और पूछे कि आप लोग कहाँ से पधारे हैं? चोर समझ गये कि यह कोई सीधे-साधे महात्मा हैं। अतः उन सबको भी विनोद सूझा। वे बोले-हम लोग द्वारिका से आ रहे हैं और श्रीबद्रीनारायण जा रहे हैं। महात्मा ने कहा-महाराज! चलना तो हमको भी है। क्या आप लोग मुझे भी अपने साथ ले चलेंगे? चोरों ने स्वीकृति दे दी। फिर तो सन्त ने अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा का सब साज-सामान समेटा और रातों-रात चोरों के साथ चल दिये। कुछ दूर जाकर चोर एक घर में घुसे और महात्मा को भी घुसा लिए और बोले-बाबाजी! तुम भी अपने मतलब की कोई वस्तु ढूँढ लो सन्तजी को बढ़िया जमी हुई दही की मटकी हाथ लग गई। फिर तो इन्होंने श्रीठाकुरजी का बटुआ खोला और सेवा का विस्तार किया, भोग लगाया, शंख बजाया। शंखध्वनि सुनकर घरवाले जग गये। चोरों के साथ महात्मा भी पकड़े गये। पूछने पर संतजी ने सब बात सही-सही बता दी। घरवाले बड़े प्रसन्न हुए कि इन सन्तजी की कृपा से ही मेरा सब सामान बच गया। न्यायालय में न्यायाधीश ने भी इनके सही बयान पर इन्हें छोड़ दिया और चोरों को दण्डित किया।

दृष्टान्त-एक बुढ़िया का-मारवाड़ देश में एक गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। एक दिन उसके घर पर उसके गुरुजी आये। बुढ़िया ने गुरुजी का प्रेमपूर्वक बड़ा स्वागत सत्कार किया। सुन्दर आसन पर बैठाकर, पूजा का साज-सामान ले आई और बोली-आओ गुरुजी तुम्हारे खुर (पैर) पूजूँ। यह सुनकर श्रीगुरुजी मन ही मन बड़े नाराज भये और उसको समझाये कि ऐसे नहीं कहना चाहिए। कहो कि आओ गुरुजी तुम्हारे चरणारविन्द की पूजा करूँ। बुढ़िया ने दो-चार बार कहने का प्रयत्न किया, परन्तु नहीं कहने आया तो झुँझलाकर बोली-आग लगे ऐसे चनारविन में। गुरुजी और बिगड़े और कहे कि भला तू ऐसा कहती है इससे तो तुझे घोर नरक की प्राप्ति होगी। बुढ़िया ने हाथ जोड़कर कहा-महाराज! यह भला मुझ गरीबिनी के भाग्य में कहाँ है? यह तो आप जैसे महात्माओं को मिलता है। यह सुनकर गुरुजी समझ गये कि यह एकदम सूधी है, अतः इससे कुछ मत कहो, जो करे सो करने दो।

गोकुल मग्न भयो-गोकुल=समस्त इन्द्रियगण। उन सन्त की सभी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो गईं। क्योंकि भगवान इन्द्रियों के स्वामी हैं। भगवान का एक नाम ही है 'हृषीकेश!' अतः इन्द्रियाँ अपने प्रभु को पाकर प्रसन्न हो गईं। 'छोंकर के वृक्ष पर'०-साधु के सूधेपन का यह परम प्रमाण है कि श्रीठाकुरजी के बटुवा को वृक्ष पर झुला दिया। 'सुखभयो भारियै'-श्रीगोकुल

का दर्शन कर सुख हुआ और श्रीआचार्यप्रभु का दर्शन कर भारी सुख हुआ। 'फेरि आप पास आयो'-सन्तजी सुन रखे थे कि श्रीआचार्यचरण बड़े सिद्ध महापुरुष हैं अतः उन्हीं के पास आये। 'फेरि' से जनाया गया कि पहले भी दर्शन कर गये थे। सच पूछें तो सर्वज्ञ श्रीबल्लभाचार्यजी ने ही प्रथम बार ही साधु का सीधापन देखकर उन्हें श्रीठाकुर सेवा में सावधान करने के लिये यह लीला रची थी। 'सेवा नित धारिये'-भाव यह कि आप नित्य सेवा करते हैं और अपने श्रीठाकुरजी को नहीं पहचानते हैं, यह ठीक नहीं है। श्रीठाकुरजी से प्रीति-पहचान होनी चाहिए। भला पशु (गाय) हजारों बछड़ों में अपने बछड़े को पहचान लेती है, बछड़ा हजारों गायों में अपनी माता को पहचान लेता है और आप अपने ठाकुर को नहीं पहचान सकते?

खुलि गईं आंखैं अभिलाखैं पहिचानि कीजै दीजै जू बताइ मोहिं पाउँ निजरूप है।
कही जावो वाही ठौर देखो प्रेम लेखौ हिये लिये भाव सेवा करौ मारग अनूप है।।
देखिकै मगन भयो लयो उर धारि हरि नैन भरि आये जान्यो भक्ति को स्वरूप है।
निसिदिन लग्यौ पग्यौ जग्यौ भाग पूरन हो पूरन चमत्कार कृपा अनुरूप है।।१८९

शब्दार्थ-**अनुरूप= समान रूप का, योग्य , मिलता-जुलता।**

भावार्थ-**इस घटना से वे संत समझ गये कि सब श्रीबल्लभाचार्यजी का ही प्रभाव है, उनकी आँखें खुल गईं। अपने ठाकुर को पहचानने की अभिलाषा करने लगे। उन्होंने आचार्यजी से प्रार्थना की कि-मुझे वह उपाय बता दीजिये जिससे मैं अपने सेव्य प्रभु के रूप को प्राप्त कर सकूँ। आचार्य ने कहा कि हृदय से प्रेम करो, भाव भक्तिपूर्वक सेवा किया करो, क्योंकि यह प्रेममार्ग अति विचित्र और सुन्दर है। अब आप वहीं छोंकर के वृक्ष पर जाकर देखो। इस बार आकर उन्होंने देखा तो केवल अपने ही ठाकुरजी दिखाई पड़े, तब तो ये अति आनन्दित हुए। उन्होंने ठाकुरजी को हृदय से लगा लिया। उनकी आँखों में आँसू भर आये। आचार्य की कृपा से उन्होंने भक्ति के स्वरूप को जान लिया तभी से वे दिन-रात सेवा में लग गये और मनसा, वाचा, कर्मणा प्रभु में तल्लीन हो गये। उनके भाग्य पूर्ण रूप से जग गये थे। साधकों को चमत्कारपूर्ण अनुभव कराकर उनकी भक्ति दृढ़ करना, ऐसी कृपा श्रीबल्लभाचार्यजी के स्वरूप के अनुरूप ही है।।१८९।।**

व्याख्या-प्रेम लेखौ हिये-**श्रीमद्बल्लभाचार्य जी ने उन सन्त जी को समझाया कि-**

श्रीठाकुरजी में प्रेम होना चाहिए, ममता होनी चाहिए, अपनपौ होना चाहिए। बताइये, यदि आपके पास पैसों की थैली होती तो क्या आप उसे यों ही वृक्ष में झुला देते? यदि नहीं तो श्रीठाकुरजी को यों ही जहाँ-तहाँ झुला देना, रख देना क्या उचित है? अब ऐसा नहीं करना। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी कहते हैं कि-'बिना प्रेम निर्गुण न कछु, और सगुण बेकाम। 'परसा' मानत प्रीति की सेवा शालग्राम।।' पुनः-'प्रीतम प्रीति ही ते पैये।' (परमानन्ददासजी)

विशेष-श्रीबल्लभाचार्य महाप्रभु के पूर्वज दक्षिण भारत में कांकरवाड नामक ग्राम में निवास करते थे। वे जाति के तैलंग ब्राह्मण थे। आचार्य प्रभु के पूर्व की सातवीं पीढ़ी में एक महान यज्ञनिष्ठ महापुरुष ने जन्म लिया था। उन्होंने सौ सोमयज्ञ करने का संकल्प किया और सम्पूर्ण जीवन यज्ञानुष्ठान में ही बिताया। यद्यपि उनके जीवन में सौ यज्ञों का संकल्प पूरा नहीं हो सका, परन्तु उनके आदेशानुसार उनके आगे की पीढ़ियाँ अपने पूर्व पुरुष का संकल्प पूर्ण करने में सतत प्रयत्नशील रहीं। फलतः सातवीं पीढ़ी में श्रीलक्ष्मणभट्टजी के द्वारा सौवाँ सोमयज्ञ पूर्ण हुआ। इन श्रीलक्ष्मणभट्टजी को ही श्रीआचार्यमहाप्रभुजी का पिता बनने का सौभाग्य मिला और मातृपद पाया श्रीइलम्मागारुदेवी ने। पूर्व पुरुषों का ऐसा विश्वास था कि सौ सोमयज्ञ पूर्ण होने पर घर में किसी महापुरुष का प्रादुर्भाव होगा, तो वह महापुरुष श्रीवैश्वानरावतार श्रीमद्बल्लभाचार्यजी प्रकट हुए। आपके प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कथा आती है कि सौवाँ सोमयज्ञ पूर्ण होने पर श्रीलक्ष्मणभट्टजी काशी में एक वृहद-ब्रह्मभोज कराने की इच्छा से सपत्नीक काशी जा रहे थे। वहाँ पहुँचने पर उन्हें पता चला कि यहाँ यवनों का आक्रमण होने वाला है। अतः तुरन्त ही वे वहाँ से लौट पड़े अपने देश को। उस समय उनकी पत्नी इलम्मागारु गर्भवती थीं। मार्ग में चम्पारण्य नामक वन में श्रीमती इलम्मागारु ने एक शमी वृक्ष के नीचे पुत्ररत्न को जन्म दिया।

सम्वत् १५३५, वैशाख कृष्ण एकादशी तिथि को श्रीआचार्यप्रभु का प्रादुर्भाव हुआ था। सात महीने में ही पुत्र प्रसव होने के कारण नवजात शिशु एकदम निश्चेष्ट था। वन के भय से आतंकित माता-पिता ने उसे मृतक समझकर उसी शमी वृक्ष के नीचे पत्तों की शैय्या पर बालक को लिटाकर स्वयं शीघ्रतापूर्वक वहाँ से चल दिये। परन्तु अगले पड़ाव पर पहुँचने पर पता चला कि काशी पर यवनों के आक्रमण का भय समाप्त हो गया है। अतः श्रीलक्ष्मणभट्टजी ने पुनः पत्नी के साथ काशी को लौट पड़े। दूसरे दिन जब भट्ट-दम्पत्ति पुनः उस शमी वृक्ष के नीचे पहुँचे तो देखे कि उनका शिशु चरणांगुष्ठ मुख में डालकर चूस रहा है और

किलकारियाँ भर रहा है। उसके चारों ओर अग्नि प्रज्जवलित है (अग्नि के अवतार ही हैं) श्रीलक्ष्मणभट्टजी ने अग्निसूक्त का पाठ किया, जिससे अग्नि ज्वाला शान्त हो गयी। माता इलम्मागारु के हृदय में वात्सल्य उमड़ा, उन्होंने ललककर पुत्र को उठाकर हृदय से लगा लिया। अब तो बड़े ही हर्षित मना वे ब्राह्मण-दम्पत्ति काशी आये और हनुमानघाट पर रहने लगे। यथा समय बालक के सब शुभ-संस्कार किये गये। बालक का नाम रखा गया-बल्लभ। अपने अलौकिक रूप, गुण और लीला-विलासों से बल्लभ सबको बल्लभ लगने लगे। पाँच वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और तेरह साल की अवस्था में ही सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पुराण आदि में पूर्ण निष्णात हो गये। इनकी अप्रतिम-प्रतिभा से चमत्कृत होकर लोग इन्हें बाल्यावस्था में ही 'बाल-सरस्वती' एवं 'वाक्पति' कहने लगे थे।

श्रीविष्णुचित्त प्रभृति वैष्णवाचार्यों से इन्होंने भक्तिशास्त्र का गहन अध्ययन किया। भगवद्भक्ति के प्रति इनका सहज आकर्षण एवं अनुराग था। कुछ काल तक भगवदाराधन करते हुए काशी निवास करने के अनन्तर श्रीबल्लभ ने तीर्थाटन का विचार किया। इस तीर्थयात्रा के सिलसिले में विचरण करते हुए आप विजयनगर पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि यहाँ के विद्याव्यसनी राजा ने समस्त वेद-शास्त्रादि का तात्पर्य निर्णय कराने के लिये देश के परम प्रसिद्ध धर्माचार्यों एवं विद्वानों की महासभा का आयोजन किया है। श्रीबल्लभ भी उस सभा में जाने को समुत्सुक हुए। इधर जब राजा कृष्णदेव को इनके शुभागमन का पता चला तो उन्होंने बड़े आदरपूर्वक इन्हें अपनी सभा में बुलाया। श्रीबल्लभ ने बड़े ही शास्त्रानुमोदित सत्तर्कों द्वारा विपक्षियों के मत का खण्डन करके भक्ति सिद्धान्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। विजय आपकी हुई। वहीं सर्वसम्मति से आपको विद्वानों ने जगद्गुरु, आचार्य, महाप्रभु आदि उपाधियों से सम्मानित किया। राजा कृष्णदेव ने इस विजयोपलक्ष्य में आपको स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान कराकर आपका कनकाभिषेक कराया और अपार स्वर्ण-मणि-रत्न-राशि भेंट में दी। परन्तु परमोदार श्रीआचार्य महाप्रभु ने समस्त धन, समभाव से सभी विद्वानों में वितरण कर दिया। इससे विद्वान मण्डली बहुत ही प्रभावित हुई। श्रीआचार्यप्रभु कुछ दिन तक विजयनगर में निवास किये। उस निवासकाल में ही राजा कृष्णदेव के तुलादान में आपको पुनः प्रचुर धनराशि प्राप्त हुई जिसके अर्द्धभाग से तो आपने भगवान श्रीविट्ठलनाथजी के लिये रत्नजटित स्वर्णमेखला बनवायी और अर्द्धांश यज्ञ में खर्च कर दिया। यहीं श्रीरुद्र सम्प्रदाय के आचार्य श्रीविल्वमंगलाचार्यजी (यह श्रीकृष्णकर्णामृतकार श्रीविल्वमंगल से पृथक है) ने प्रकट होकर श्रीबल्लभाचार्यजी को अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमन्त्र की दीक्षा देकर साम्प्रदायिक रहस्य

एवं श्रीविष्णुस्वामीजी के सिद्धान्त का उपदेश दिया तथा अनुग्रह मार्ग (पुष्टिमार्ग) की भक्ति के प्रचार-प्रसार का आदेश दिया।

इस प्रकार श्रीविल्वमंगलाचार्यजी से शिक्षित एवं दीक्षित होकर श्रीबल्लभाचार्यजी विजयनगर से चले और प्रयाग होते हुए काशी पहुँचे। कुछ काल तक काशी रहकर आपने भाष्यग्रन्थों का अनुशीलन किया, फिर उत्तराखण्ड की यात्रा के लिये चल पड़े। श्रीबदरिकाश्रम में आपको श्रीउद्धवजी तथा भगवान वेदव्यासजी का दर्शन हुआ। इन दोनों ही दिव्य विभूतियों के द्वारा आपको अपने सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त के सम्बन्ध में बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार आप अपनी यह यात्रा भी पूर्ण कर पुनः काशी लौट आये। वर्णन आया है कि आप एक बार श्रीपंढरीनाथजी का दर्शन करने गये। वहाँ आपने श्रीमद्भागवतजी का एक सप्ताह-पारायण भी किया। श्रीपंढरीनाथजी के त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य को देखकर आपके मन में भगवान के समान पुत्र की कामना जाग्रत हो गयी। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि आचार्यपाद के परम निर्वासिक हृदय में इस कामना का अंकुर होना भगवदिच्छा ही समझना चाहिए। भगवान स्वयं श्रीआचार्यप्रभु का पुत्र बनकर उनको अपनी परम मधुर बाल-लीला का सुख देने के लिये तथा उनके हृदय में उमड़ते हुए अगाध वात्सल्य स्नेह का सुख लूटने के लिये लालायित हैं। अतः एक दिन स्वयं श्रीपण्ढरीनाथजी ने श्रीआचार्यप्रभु से कहा कि आप व्याह कर लीजिये। यह सुनकर प्रथम तो आप कुछ संकुचित से हुए परन्तु श्रीप्रभु के वचन के महत्व को विचारकर कि-'राम कीन्ह चाहैं सोइ होइ। करै अन्यथा अस नहिं कोई।।' (रामा०) अर्थात् यदि भगवान की ऐसी ही इच्छा है तो मेरे नहीं करने से भी कुछ होने का नहीं, अतः आचार्यजी ने कुछ सोचकर कहा कि प्रभो! मैं ब्याह तो कर लूँगा परन्तु पुत्र आपको ही बनना पड़ेगा। भगवान ने पूछा सो क्यों? श्रीआचार्यपाद ने कहा-बात यह है कि विवाह होने पर आज जो प्रीति, ममत्व आपमें है, वह आपसे हटकर स्त्री, पुत्र, परिवार में चला जायेगा। व्यावहारिक जीवन में सर्वाधिक पुत्र में प्रीति होती है, यथा-'सुत की प्रीति प्रतीत मीति की नृप ज्यों डर डरिहैं।' (वि०) अतः जब आप पुत्र होंगे तो आपमें लौकिक पुत्रभाव से भी प्रीति करने से मेरा पतन नहीं होगा अन्यथा पतन अवश्य सम्भावी है।

भगवान ने आचार्यश्री का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तब आपने काशी आकर पंडित श्रीदेवभट्टजी की कन्या से विधिवत विवाह सम्बन्ध किया। कुछ दिन बाद भगवान का दिव्यादेश पाकर आचार्यपाद ने काशी से ब्रज को प्रस्थान किया, मार्ग में कुछ दिन तक चरणाद्रि (चुनारगढ़) तथा कुछ समय तक प्रयाग के सन्निकट यमुनापार अड़ैल में निवास कर

फिर सपरिवार ब्रज में आकर गोकुल में निवास किये। एक दिन श्रीमद्‌बल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने देखा कि यमुना तट पर खड़े श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण मुझे श्रीकर-कमल के संकेत से अपनी ओर बुला रहे हैं। श्रीआचार्यपाद जब समीप गये तो श्रीकृष्ण श्रीगोवर्धन की ओर चल पड़े, पीछे-पीछे आप भी चलते गये। श्रीगिरिराज के शिखर पर पहुँचकर श्रीश्यामसुन्दर ने कहा कि अब मैं जन-कल्याण हेतु श्रीविग्रहरूप धारण करता हूँ। आप मेरी यहीं पर प्रतिष्ठा कर सेवा का विस्तार करें। श्रीआचार्यप्रभु ने ऐसा ही किया और श्रीठाकुरजी का नाम रखा-'श्रीश्रीनाथजी।' वर्तमान में श्रीश्रीनाथजी नाथद्वारा में विराजमान हैं।

एक बार आप श्रीजगन्नाथपुरी में गये हुए थे। आपके निवास स्थान पर एक दिन अचानक प्रेम-पुरुषोत्तम श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी जा पहुँचे। आपने बड़े भावपूर्वक श्रीचैतन्यचन्द्रजी का स्वागत सत्कार किया और पत्नी से प्रसाद लाने को कहा। संयोग की बात उस समय भगवदर्पित नैवेद्य था नहीं और श्रीठाकुरजी शयन कर गये थे अतः आपकी पत्नी बड़ी असमंजस में पड़ी, स्थिति समझकर श्रीबल्लभाचार्यजी ने कहा- श्रीकृष्णचैतन्यजी तो साक्षात् श्रीजगन्नाथजी ही हैं, इनको तो अमनियाँ ही अर्पित करो। आपने इसी ब्याज से श्रीचैतन्य-तत्व का निरूपण किया। युगल महाप्रभुओं का मिलन बड़ा ही मनोहर एवं परमानन्ददायी रहा। दूसरे दिन श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जब अपने परिकरों के बीच विराजमान होकर भगवच्चर्चा कर रहे थे तो प्रसङ्गवश बोले कि श्रीमद्‌बल्लभाचार्यजी आचार्य एवं गुरु तो हैं ही, वस्तुतस्तु वे साक्षात् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं। कितने ही लोगों ने आपको श्रीकृष्णरूप में, श्रीजगन्नाथरूप में तथा परम तेजोमयरूप में देखा था। एक सज्जन श्री शालिग्रामजी एवं श्रीविग्रह-दोनों स्वरूपों की सेवा करते थे परन्तु वे श्रीशालिग्रामजी को श्रेष्ठ एवं श्रीविग्रह को कनिष्ठ मानते थे। श्रीआचार्यप्रभु को यह पता चला तो आपने उन्हें बहुत समझाया कि इस प्रकार भेदभाव ठीक नहीं है। जहाँ प्राणिमात्र में समान भाव रखना चाहिए वहाँ भला भगवत्स्वरूपों में ही भेद रखना-यह तो महान् अनुचित होगा। यह शिक्षा उन सज्जन को बिल्कुल अच्छी नहीं लगी। उसी दिन, रात में वे श्रीविग्रह की छाती पर श्रीशालिग्राम को पधराकर शयन कराये। प्रातःकाल जब सेवा-पूजा में गये तो देखें कि श्रीशालिग्राम-शिला एकदम चूर-चूर हो गई है। तब तो वे रोते-बिलखते श्रीआचार्यपाद के पास आये, बहुत क्षमा माँगे, अनुनय-विनय किये तो आपने कहा कि उस चूर्ण को भगवच्चरणामृत में भिगोकर गोली बना दो पुनः पूर्ववत् हो जायेगें। उन सज्जन ने ऐसा ही किया और उसी दिन से भेदभाव का सर्वथा त्याग कर दिया।

एक बार ऐसा हुआ कि श्रीश्रीनाथजी के भोग के लिये कुछ अर्थाभाव-सा हो गया तब श्रीमहाप्रभु ने श्रीठाकुरजी की सोने की कटोरी गिरवी रखकर भोग की व्यवस्था की। परन्तु स्वयं प्रसाद नहीं लिया। दो दिन बाद जब किसी भक्त ने सेवार्थ द्रव्य भेजा तब आपने भोग लगाकर प्रसाद लिया। जब वैष्णवों ने इसका हेतु जानना चाहा तो आपने कहा कि कटोरी श्रीठाकुरजी को पहले से ही समर्पित थी, उसका अपने शरीर के लिये उपयोग करना महापातक है। कैसी लोकोत्तर निष्ठा है, आपकी? उसी दिन से आगे के लिए भी घोषणा कर दी कि-'मेरे वंश में या मेरा कहलाकर जो कोई भगवद्-द्रव्य का उपयोग करेगा उसका नाश हो जायेगा। भगवदाज्ञा से गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके भी आचार्यपाद ने भक्ति का ओर-छोर निर्बाह किया एवं अनेकों जीवों को ब्रह्म-सम्बन्ध कराकर भव से मुक्त किया। यथा समय आपके श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीविट्ठलनाथजी-ये दो पुत्र रत्न हुए। आपने ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य एवं भागवत दशमस्कन्ध पर सुबोधिनी टीका लिखी थी। आपकी और भी बहुत सी रचनायें उपलब्ध हैं। भक्ति-प्रचारार्थ आपने पूरे भारतवर्ष की तीन बार यात्रा की थी। आपकी चौरासी बैठकें प्रसिद्ध हैं जहाँ आपने भागवत, बाल्मीकि रामायण, गीतादि का पारायण एवं परमार्थोपदेश किया था।

बरसाने में गहवर वन में जब आचार्यचरण अपने परिकरों के साथ पहुँचे तो वहाँ देखा गया कि एक अजगर को असंख्यों चींटे-चींटियाँ खा रही हैं। आपने कृपा कर उस जीव का उद्धार किया और सेवकों के पूछने पर बताया कि यह एक धनी-मानी सन्त थे। अनेकों शिष्य बना-बनाकर उनसे खूब धन ऐंठते थे, वही अब अजगर हुए हैं और वे शिष्य ही चींटे-चींटियाँ बने हैं। तभी तो कहा गया है।-हरै शिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई।।' (रामा०) श्रीचित्रकूट में आपने श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का पारायण किया था। भगवान श्रीरामजी ने साक्षात् प्रकट होकर आपके द्वारा अर्पित केले का भोग आरोगा। एक बैठक आपकी ताम्रपर्णी नदी के तट पर है। वहाँ पर वहाँ के राजा ने अपनी अकाल-मृत्यु निवारणार्थ विद्वान् ब्राह्मणों की सलाह से स्वर्णपुरुष का तुलादान कर रहे थे, परन्तु डर के मारे कोई भी ब्राह्मण उस प्रतिग्रह को लेने को प्रस्तुत नहीं हो रहा था। राजा का ब्राह्मणों के प्रति अभाव हो रहा था। उसी समय आचार्यचरण वहाँ पहुँचे और राजा की प्रार्थना पर तथा ब्राह्मत्व की मर्यादा रखने के लिए आपने वह दान लेना स्वीकार कर लिया। वर्णन आया है कि उस स्वर्णपुरुष ने आपको देखकर एक अँगुली उठाई तो आपने तीन अँगुलियाँ उठाकर उसको जवाब दिया। स्वर्णपुरुष चरणों में गिर पड़ा। आपने उसके टुकड़े-टुकड़े करके ब्राह्मणों में वितरित कर दिया। आपके हाथ से ब्राह्मणों ने सहर्ष

वह दान ले लिया। अँगुली उठाने का रहस्य पूछने पर आपने बताया कि उसने एक अँगुली उठाकर पूछा था कि ब्राह्मण बनते हो तो एक बार भी सन्ध्या-वन्दन करते हो? मैंने तीन उठाकर जवाब दिया कि एक बार की क्या बात है, मैं त्रिकाल-संध्या-वन्दन करता हूँ। वह परास्त हो गया।

आपके अनेक शिष्यों में श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीकृष्णदासजी एवं श्रीकुम्भनदासजी प्रभृति बड़े ही प्रसिद्ध भागवत हुए। श्रीअवधूतदासजी नामक आपके एक परमहंस शिष्य थे। वे सदा भगवान के ध्यान में तल्लीन रहा करते थे। उनकी स्थिति समझकर श्रीआचार्यप्रभु ने रसोइयां-भण्डारी से कह दिया था कि अवधूतदास जब कभी खाने-पीने की इच्छा प्रकट करें उन्हें तत्काल दिया जाय। यह प्रतीक्षा न की जाय कि अभी श्रीठाकुरजी का भोग नहीं लगा है। यह भगवान से अभिन्न हो गये हैं। एक दिन ऐसा संयोग बना कि श्रीठाकुरजी को भोग के लिए थाल गया नहीं था और श्रीअवधूतदासजी आकर भोजन माँगने लगे। श्रीआचार्यजी के आज्ञानुसार रसोइयां ने उन्हें भोजन करा दिया। वे प्रसाद पाकर तृप्त होकर चले गये। इसके बाद जब भगवान को भोग लगा तो वे भोग आरोगे ही नहीं। श्रीबल्लभाचार्यजी ने पूछा-जै-जै प्रभो! आज आप आरोगते क्यों नहीं हैं? भगवान ने कहा-पा तो लिया। आचार्य ने पूछा-कब! भगवान ने कहा-जब अवधूतदासजी पाये तो उनके पाने से मैं भी तृप्त हो गया। तब लोगों ने श्रीअवधूतदासजी की महिमा जानी। ऐसे अनेकोंजन आचार्यश्री के समाश्रय से जीवन्मुक्तभाव को प्राप्त हुए थे बहुत दिन तक ब्रज में गोकुल-गोवर्धन में निवास करके आप पुनः प्रयाग में अडैल में जाकर रहने लगे थे।

जीवन की अवधि अत्यन्त अल्प जानकर आपने संन्यास लेने की इच्छा की और इसके लिए शास्त्रानुसार आपने पत्नी से अनुमति माँगी। परन्तु प्रेमवश उन्होंने अनुमति नहीं दी। भगवदिच्छावशात् एक दिन अचानक घर में आग लग गई। आपकी पत्नी ने चिल्लाकर कहा-'जल्दी घर से निकल जाइये।' इन्होंने इसी को अनुमति मान ली और घर से निकल पड़े। गङ्गातट पर आकर श्रीनारायणेन्द्रतीर्थ स्वामी से विधिवत् त्रिदण्ड-संन्यास की दीक्षा लेकर श्रीगंगाजी के तीरे-तीरे चलते हुए श्रीकाशी आकर श्रीहनुमान घाट पर निवास करने लगे। कुछ दिन तक काशीवास करने के अनन्तर सं० १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ के दिन श्रीहनुमान घाट पर श्रीगंगा स्नानकर भगवद्ध्यान करते हुए आप सदेह गोलोकधाम को प्रस्थान किये। यथा-'गंगा में स्नान करि कीन्यो ध्यान सनेह। दिव्यतेज प्रगट्यो तहाँ गे गोलोक सदेह।।' (भ०व०टि०)

आपके उपदेश-'गृहं सर्वात्मनात्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत

कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः।।' अर्थ-कल्याणकामी पुरुष को गृह का सर्वथा त्यागकर देना चाहिए परन्तु यदि वह नहीं छोड़ा जा सके तो श्रीकृष्ण की सेवा में ही उसका उपयोग करना चाहिए। क्योंकि श्रीकृष्ण सर्वानर्थों को दूर करने वाले हैं। 'कृष्ण-सेवा सदाकार्या मानसी सा परामता। चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।।' अर्थ-श्रीकृष्ण की सेवा सदा करनी चाहिए। मानसी-सेवा सर्वश्रेष्ठ कही गई है। चित्त का श्रीकृष्ण में अत्यन्त तन्मय होना ही वास्तविक सेवा है। इसी की सेवा के लिए तनुजा और वित्तजा सेवा की जाती है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८१।।

श्रीकुलशेखरजी

सन्त साखि जानैं सबै प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान।।
भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनौं।
'मार-मार' कर खड़्ग बाजि सागर में दीनौं।।
नरसिंह को अनुकरण होइ हिरनाकुस मार्यौ।
वहै भयौ दसरत्थ राम बिछुरत तन छार्यौ।।
कृष्ण दाम बांधे सुने तिहि छन दीयो प्रान।
सन्त साखि जानैं सबै प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान।।४९।।

शब्दार्थ-साखि=साक्षी, गवाह। अनुकरण = लीला, नाटक, सदृश। छार्‌यो= छोड़ दिया। दाम = रस्सी।

भावार्थ-सभी लोग जानते हैं और सन्तजन इस बात के साक्षी हैं कि कलियुग में केवल प्रेम से ही भगवान प्रकट होते हैं अतः प्रेम ही प्रधान है। (हरिप्राप्ति के साधन-साध्यों में अन्य ज्ञानादि गौण हैं) भक्तों का दास कुलशेखर नाम का एक राजा था। उसने रामायण की कथा में रावण द्वारा श्रीसीताजी का हरण सुना। सुनते ही उसे आवेश आ गया और वह तुरन्त हाथ में तलवार लेकर घोड़े पर चढ़कर 'मारो-मारो' चिल्लाता हुआ दौड़ा और घोड़े को समुद्र में कुदा दिया। (इस प्रेम को देखकर प्रभु श्रीराम ने सीता समेत उसे दर्शन देकर समुद्र से निकाला) दूसरे एक प्रेमीभक्त ने नृसिंहलीला के अनुकरण में नृसिंह बनकर हिरण्यकशिपु बने हुए व्यक्ति को सचमुच मार डाला पुनः रामलीला में उसी भक्त ने दशरथ बनकर श्रीरामजी के वियोग में अपने शरीर को त्याग दिया। श्रीरतिवन्तीबाई ने श्रीभागवत

की कथा में सुना कि-माता यशोदा ने रस्सी से श्रीकृष्ण को बाँध दिया। सुनते ही अपने प्राण त्याग दिये। इन भक्तचरित्रों से कलियुग में प्रेम की प्रधानता प्रकट एवं सिद्ध हुई।।४९।।

व्याख्या-सन्त साखि-इसलिए कि सन्त झूठ नहीं बोलते हैं। यथा-'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं।।' (श्रीभरद्वाज-वाक्य रामा०) प्रगट प्रेम······ प्रधान-प्रेम सर्वोपरि साधन है। बिना प्रेम के सब साधन व्यर्थ हैं। यथा-'ज्ञान विराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग जल जलधि हिलोरे।।' (वि०) पुनः-

मीनस्नानपरः फणिपवनभुक् मेषस्तुपर्णाशनः,
नीराशी विटपस्तथा प्रतिदिनं शेते विले मूषकः।
नित्यं धूली धूसर खरगतः ध्यानानुरक्तो बकः,
नैतेषां फलमस्ति किञ्चिद् ध्रुव प्रेम प्रधानं तपः।।

अर्थ-मछली नित्य निरन्तर स्नान ही करती रहती है, सर्प केवल वायु का आहार करता है। भेड़-बकरियां केवल पत्ते ही खाती हैं, वृक्ष केवल जल को ही ग्रहण करते हैं, चूहा हमेशा बिल (गुफा) में ही सोता है, गदहा हमेशा धूल लपेटे रहता है, बकुला बड़ा ही ध्यान परायण है, परन्तु इन साधनों को करने से भी इन सभी को कोई भी श्रेय-प्रेय प्राप्त होता नहीं देखा जाता है अतः प्रेम को ही सबसे श्रेष्ठ जप-तपादि साधन कहा गया है।। यही कारण है कि भगवान प्रेम से रीझकर जैसी कृपा करते हैं वैसी अन्य साधनों से नहीं। यथा-'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जस निष्केवल प्रेम।।' क्योंकि-'रामहिं केवल प्रेम पियारा।।' (रामा०) प्रेम की प्रधानता पर पहले भी कई बार लिखा जा चुका है। 'भक्तदास इक भूप'-यह बड़ी विशेष बात है। नहीं तो राजा का तो भगवद्भक्त होना ही दुर्लभ है यथा-दुर्लभो वैष्णवो राजा (नीतौ) फिर भगवान के भक्तों का दास अर्थात् दासानुदास होना तो अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु कुलशेखरजी राजा होकर भी भक्तदास थे। उपर्युक्त छप्पय में आई कथाओं का स्पष्टीकरण आगे की टीका कवित्तों से हो जाता है।

सन्त साखि जानै कलिकाल में प्रगट प्रेम बड़ोई असन्त जाके भक्ति में अभाव है।
हुतो एक भूप रामरूप ततपर महा राम ही की लीला गुन सुनै करि भाव है।।
विप्र सों सुनावै सीता चोरी कौ न गावै हियो खरो भरि आवै वह जानत सुभाव है।
पर्यो द्विज दुखी निज सुवन पठाइ दियो जानै न सुनायौ भरमायौ कियो घाव है।।१९०

शब्दार्थ-असंत = दुष्ट, विमुख। ततपर = तत्पर, उसमें लगा हुआ, उद्यत्। खरो=खरा, विशुद्ध, तीक्ष्ण। भरि आवै = भाव से भर जाता।

भावार्थ-सन्तजन इस बात को जानते हैं और उनके चरित्र साक्षी हैं कि इस कलिकाल में प्रेम से भगवान प्रकट हो जाते हैं, प्रेम ही भगवान का प्रकटस्वरूप है। वह मनुष्य बड़ा ही अभागी मूर्ख है जिसके हृदय में भक्ति का अभाव है। दक्षिण देश का एक राजा था, जो श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अत्यन्त तल्लीन रहता था। वह श्रीरामचन्द्रजी की लीला और उनके गुणों को सर्वदा प्रेमपूर्वक सुनता था। एक ब्राह्मणदेव इन्हें रामायण की कथा सुनाया करते थे। वे जानते थे कि राजा का स्वभाव अत्यन्त खरा है, भाव से भर जाता है इसलिए सीता-हरण सरीखे प्रसङ्गों को उन्हें कदापि नहीं सुनाते थे। एक बार वे ब्राह्मणव्यास बीमार हो गये उन्होंने अपने पुत्र को कथा सुनाने के लिए भेज दिया। वह राजा के स्वभाव को नहीं जानता था। उसने सीता-हरण प्रसंग पढ़कर सुना दिया। सुनते ही राजा को यह आभास हुआ कि सचमुच रावण सीताजी को हरण करके लिए जा रहा है। उनके हृदय को बड़ी-भारी चोट पहुँची।।१९०।।

व्याख्या-बड़ोई असन्त-'हरि हरिजन से हित नहीं, मिथ्याचरण करन्त। विषयावश द्विज देव गुरु, निन्दक जान असन्त।।' (सन्तवाणी) 'एक भूप'-केरल देश के राजा श्रीकुलशेखरजी। 'रामरूप ततपरमहा'-यथा-

बैर बढ़्यौ सुबढ़्यौ अतिही अबको कहि को लरि कौन पै बूझै।
जैसी भई हरि हेरत ही हिय की जिय की गति काहू न सूझै।।
बाहरहू घरहू में सखी अँखियान वही छबि आनि अरूझै।
साँवरो रूप बस्यौ उरमें सिगरो जग साँवरो साँवरो सूझै।।

जानत सुभाव है-एक दिन श्रीपण्डितजी पंचवटी का प्रसंग वर्णन कर रहे थे। श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी को श्रीसीताजी की रक्षा में नियुक्त कर स्वयं अकेले ही खर-दूषणादि चौदह हजार राक्षसों का मुकाबला करने को सन्नद्ध खड़े हैं। राक्षसों की विशाल सेना 'धरो, पकड़ो, मारो' कहते हुए श्रीरामजी को घेर लेती है। पंडितजी कह रहे हैं-'चतुर्दश सहस्त्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्। एकश्चरामो धर्मात्मा कथं युद्धो भविष्यति।।' अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसों से युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्ध का परिणाम क्या होगा? परम भावुक भक्तनरेस श्रीकुलशेखरजी को यह ध्यान नहीं रहा कि हम कथा सुन रहे हैं।

उन्होंने तो समझा कि अभी-अभी खरदूषादि अकेले श्रीराम से लड़ने आये हैं अतः उन्होंने भावावेश में तत्काल शंख बजाकर सेनापति को आज्ञा दी कि शीघ्र सेना सजाकर पंचवटी को प्रस्थान करो। हमें शीघ्र श्रीराम की सहायता के लिये पहुँचना है, दुष्टों को मारकर श्रीराम की विजय पताका फहरानी है। कथावाचक पंडितजी समझ गये कि राजा परम भाव में पड़ गये हैं, इन्हें अतीत की घटना प्रत्यक्षवत् भास रही है अतः राजा का समाधान करने के लिए उन्होंने तुरन्त ही कहा कि श्रीराम ने एक ही क्षण में समस्त राक्षसों का संहार कर दिया। अब वे सुखपूर्वक श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी के सहित विराजमान हैं। तब राजा का आवेश शान्त हुआ।

श्रीरघुराजसिंहजी ने तो लिखा है कि राजा सेना सजाकर तीन कोस तक गये। तब मन्त्रियों ने विचारा कि हम लोगों के कहने से तो घर लौट नहीं सकते अतः सन्तों को भेजा। सन्तो ने जाकर राजा से कहा कि हमें श्रीरामजी ने भेजा है। आपको हम श्रीरामजी का सन्देश सुनाते हैं। प्रभु ने कहा है कि हमने अकेले ही सभी राक्षसों को क्षणमात्र में मार डाला है। अब आपको सहायतार्थ यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप सुखपूर्वक लौट जाओ। सन्तों की बात मानकर श्रीकुलशेखरजी विजय का डंका बजाते हुए पुनः नगर को लौट आये। उसी दिन से पंडितजी राजा के भाव को जानकर ऐसे प्रसंगों को नहीं सुनाते थे।

'मार-मार' करि कर खड्ग निकासि लियौ दियौ घोरौ सागर में सो आवेस आयो है।
मारौं याहि काल दुष्ट रावन बिहाल करौं पांवन को देखौं सीता भाव दृग छायो है।।
जानकीरवन दोऊ दरशन दियो आनि बोले बिन प्रान कियौ नीच फल पायो है।
सुनि सुख भयौ गयौ शोक हृदै दारुन जो रूपको निहारि नयो फेरिकै जिवायो है।।१९१

भावार्थ-राजा ने सीता हरण सुनते ही म्यान से तलवार निकाल ली। मारो, मारो ऐसा पुकारते हुए घोड़े पर चढ़कर दौड़े, शरीर में ऐसा प्रेमावेश आ गया कि लङ्का पर आक्रमण करने के लिए घोड़े पर चढ़कर यह कहते हुए समुद्र में कूद पड़े कि उस दुष्ट रावण को हाल-बेहाल कर दूँगा। इसी समय उसे मार डालूँगा और सीताजी के श्रीचरणों का दर्शन करूँगा, चरणों के दर्शन का भाव आँखों में भर गया था। अश्रुपात हो रहा था। राजा की ऐसी प्रेम-विभोर अवस्था को देखकर श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनों ने आकर दर्शन दिया और राजा से बोले कि-'उसे तो मैंने मार डाला, उस नीच ने जैसा कर्म किया था, वैसा ही वह फल पा गया। अब घर लौट चलो। श्रीरामजी के ऐसे वाक्य सुनकर राजा को बड़ा सुख हुआ। हृदय में

जो दारुण कष्ट था वह दूर हो गया। इष्टरूप के दर्शनों ने राजा को मानो पुनः नया जीवन प्रदान किया। वे फिर अपने घर आ गये।।१९१

व्याख्या-जानकी रवन दोऊ०-राजा ने जब घोड़ा समुद्र में कुदा दिया तो श्रीप्रभु ने तत्काल प्रकट होकर घोड़े की रास थाम ली और बोले-मैं उस दुष्ट रावन को मार आया हूँ। राजा बोले कि माताजी कहाँ हैं? तब तो श्रीप्रभु को श्रीयुगलस्वरूप में प्रकट होकर दर्शन देना पड़ा। अपने सखा-परिकरों के सहित पुष्पक-विमानारूढ़ श्रीयुगल-सरकार का दर्शन कर राजा कुलशेखर कृत-कृत्य हो गये।

विशेष-श्रीकुलशेखरजी भगवान की कौस्तुभमणि के अवतार कहे जाते हैं। यथा-'कुम्भे पुनर्वसौ जातं केरले चोलपट्टने।। कौस्तुभाशं धराधीश कुलशेखरमाश्रये।।' आपका प्रादुर्भाव कुम्भ राशि पर सूर्य के स्थित होने पर शुक्लपक्ष, द्वादशी तिथि पुनर्वसु नक्षत्र दिन शुक्रवार को हुआ था। आपके पिता परमधर्मात्मा राजा दृढ़व्रत ने संतान की कामना से श्रीनारायण की आराधना की थी। भगवान ने कुल की कीर्ति को उज्जवल करने वाले स्वांशभूत पुत्र को उत्पन्न होने का वरदान दिया इसी से इनका नाम कुलशेखर रखा गया। अल्पकाल और अल्पप्रयास में ही इनको सभी विद्यायें प्राप्त हो गईं। इनको सब प्रकार से सब लायक देखकर राजा दृढ़वत ने राज्यकाल इनको सौंपकर स्वयं संन्यास ले लिया। श्रीकुलशेखरजी श्रीरामजी के उपासक थे। अतः अपने राज्य में इन्होंने श्रीरामराज्य का आदर्श उपस्थित किया। श्रीरामराजा के ही समान इनके राज्यकाल में भी प्रजा को परम सुख था। यथा-'वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।' (रामा०) जैसे श्रीराम जी की साधु-ब्राह्मणों में बड़ी भक्ति थी उसी प्रकार राजा कुलशेखर भी साधु-ब्राह्मणों को भगवान के समान मानकर उनके लिए सदा सर्वदा अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहते थे। जो भी आता उसके लिए खजाना खोल देते। संसार को ही सत्य मानने वाले मन्त्रियों एवं राजदरबारियों को यह बात खलती। वह सोचते रहते थे कि कौन सा उपाय करें जिससे राजा का सन्त-वैष्णवों के प्रति अभाव हो जाय।

एक बार रत्न-भण्डार से एक बहुमूल्य हीरों का हार गायब हो गया। बहुत तलाश करने पर भी उसका पता नहीं चला तब सबने मिलकर यह षड्यंत्र रचा कि हम सभी लोग मिलकर कहें कि हार इन्हीं मुण्डी-वैरागियों ने चुराया है। मौका अच्छा है, इस प्रसंग से राजा का मन साधुओं की ओर से अवश्य फिर जायेगा। फिर क्या था-सब लोगों ने एक साथ राजा से साधुओं की चुगली की। इन्हीं लोगों ने हार को चुराया है। दृढ़ निष्ठावान राजा ने

कहा ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। मैं अपने कथन एवं साधुओं की सत्यता की प्रमाणिकता के लिए शपथ करूँगा। ऐसा कहकर राजा ने एक कलश मँगवाया और उसमें स्वर्णमुद्रा तथा एक अत्यन्त विषधर काला नाग बन्द कराकर कहा कि अब मैं कलश में हाथ डालकर स्वर्णमुद्रा निकालता हूँ। यदि साधुओं ने हार चुराया होगा तो वह नाग मुझे डस लेगा और यदि नहीं चुराया है तो मेरा बाल भी बाँका नहीं होगा। यह कहकर राजा ने सबके सामने मोहर निकाल लीं, साँप हिला भी नहीं, काटना तो बहुत दूर रहा। इसके बाद राजा ने चुगलखोरों से कहा कि अब तुम लोग अपने वचन को प्रमाणित करने के लिये कलश में से मुद्रा निकालो। षड्यंत्रकारियों के होश उड़ गये। उनका मुँह काला हो गया, वे लोग अपनी करनी पर बड़े लज्जित हुए, किसी का साहस नहीं हुआ मोहर निकालने का। संयोग की बात इसी हलचल में वह हार भी मिल गया। तब राजा इन षड्यंत्रकारियों पर बड़े ही कुपित हुए और सम्पूर्ण राज्य में घोषणा करवा दी कि जो कोई सन्तों में अभाव करेगा उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा। राजा की इसी निष्ठा को लक्ष्यकर श्रीनाभाजी ने इन्हें भक्तदास कहा है।

वर्णन आया है कि राजा कुलशेखरजी नित्यप्रति षोडशोपचार पूजन का साज सजाकर बड़े समारोह के साथ श्रीरङ्गनाथ भगवान का पूजन करने जाया करते थे परन्तु मार्ग में यदि कोई सन्त मिल जाता तो उस सामग्री से उन सन्त का ही सविधि पूजन करते और पालकी में बैठाकर घर लिवा लाते और बड़ा उत्सव मनाते, मानो साक्षात् श्रीरामजी ही घर पर पधारे हों। इन्होंने आजीवन इस व्रत का निर्बाह किया। श्रीकुलशेखर जी ने 'मुकुन्दमाला स्तोत्र रत्न' की रचना की है, जो भक्तों का सर्वस्व है। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलांगो जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः।।
कृष्ण त्वदीय पदपङ्कजपञ्जरान्तमद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।।
इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं पतत्यवश्यं परिणामपेशलम्।
किमौषधं पृच्छसि मूढदुर्मते निरामयं कृष्णरसायनं पिब।।
जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं,
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं श्रृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं,
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाधोक्षजम्।।

श्रीलीलानुकरण एवं श्रीरतिवन्तीजी

नीलाचल धाम तहाँ लीला अनुकर्न भयो नरसिंहरूप धरि साँचै मारि डार्यौ है।।
कोऊ कहैं द्वेष कोउ कहत आवेस तो पै करौ दशरथ कियो भाव पूरो पार्यो है।।
हुती एक बाई कृष्णरूप सों लगाई मति कथा में न आई सुत सुनी कह्यो धार्यो है।
बाँधे जसुमति सुनि औरै भई गति करि दई साँची रति तन तज्यो मन वार्यो है।।१९२

शब्दार्थ-पूरो पार्यौ = पूरा कर दिया। धार्यौ = धारण कियौ, मान्यौ।

भावार्थ-एक बार जगन्नाथधाम में नृसिंह लीला हुई उसमें एक प्रेमी भक्त ने नृसिंह का वेष धारणकर लीला का अनुकरण किया और आवेश में आकर उन्होंने हिरण्यकशिपु को सचमुच ही मार डाला। (लोगों में हल्ला मच गया) कुछ लोग कहते थे कि-इसने द्वेषवश मारकर बदला चुकाया है, तो कुछ लोग कहते थे कि-इसने आवेश में आकर मारा है। अंत में परीक्षा करने के लिए लोगों ने कहा कि इन्हें रामलीला में दशरथ बनाओ तब पता लग जायेगा। रामलीला की तैयारी हुई। इन्हें दशरथ बनाया गया। श्रीरामजी के वन चले जाने पर उनके वियोग में व्याकुल होकर विलाप करते-करते इन्होंने अपना शरीर त्यागकर भाव को पूरा कर दिया।

श्रीरतिवन्तीजी नाम की एक बाई थीं। वह बड़ी भक्ता थीं। उसने बालकृष्ण के स्वरूप में अपनी बुद्धि लगा दी। नित्यप्रति वात्सल्य-भाव से उपासना करती और कथा श्रवण करती थीं। किसी कारणवश एक दिन वह कथा में न गईं। अपने पुत्र को कथा सुनने के लिए भेज दिया। कथा सुनकर आने पर पुत्र से पूछा कि-कथा सुनी ही कि सुनी है, उसे धारण भी किया है? सुनाओ, आज कौन-सी कथा हुई है? पुत्र ने कहा-आज तो माता यशोदा ने बालकृष्ण की कमर में रस्सी बाँधकर उसे ऊखल में बाँध दिया, यह कथा हुई है। (नवनीत से भी कोमल कलेवर में कड़ी रस्सी अति कष्टदायक हुई होगी) अतः बन्धन प्रसङ्ग सुनते ही बाईजी की और ही दशा हो गई। बालकृष्ण के कष्ट का अनुभव करके इन्होंने अपनी प्रीति को सच्ची करके दिखा दिया और अपने शरीर को मानो न्यौछावर कर दिया हो।।१९२।।

व्याख्या-लीला अनुकरण-लीलानुकरण की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। सतयुग में महाराज इक्ष्वाकुजी का श्रीरामलीलानुकरण करना पाया जाता है। देखिये पूर्वार्द्ध में श्रीइक्ष्वाकुजी की कथा। त्रेतायुग में श्रीरामजी का बाल्यावस्था में राजाओं के चरित्र का अनुकरण करना

पाया जाता है। यथा-'विद्या विनय निपुन गुन सीला। खेलहिं खेल सकल नृप लीला।।' (रामा०) श्रीकागभुसुण्डिजी भी ब्राह्मण शरीर में बालपन में श्रीरामलीलानुकरण करते। यथा-'खेलौं तहूँ बालकन मीला। करौं सकल रघुनायक लीला।।' (रामा०) द्वापर में ब्रजदेवियों का श्रीकृष्णलीलानुकरण करना पाया जाता है। यथा-'इत्युन्मत्त वचो गोप्यः कृष्णान्वेषण कातराः। लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।।' (भा० १०।३०।१४) अर्थ-(महारास के समय श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर बहुत अन्वेषण करने पर भी जब श्रीकृष्ण नहीं मिले तो) इस प्रकार प्रेम-मतवाली गोपियाँ प्रेम-प्रलाप करती हुई भगवान श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो रही थीं। इससे और भी अधिक प्रेमावेश हो जाने के कारण वे भगवन्मय होकर भगवान की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। लीलानुकरण की इस शाश्वत परम्परा को लक्ष्यकर कलियुग में भी रसिकभक्तों ने श्रीरामलीला एवं श्रीरासलीलानुकरण का प्रचुर-प्रसार किया है। इससे रसिकजनों को तो साक्षात् सुख का अनुभव होता है और संसारीजनों के हृदय में भक्ति के संस्कार बनते हैं। (खेद है कि आधुनिक अश्लील चल-चित्रों ने लीलानुकरण के पवित्र उद्देश्य को लाञ्छित कर दिया है।)

परम भागवती श्रीरतिवन्ती बाईजी स्वयं कथा सुनने न जा सकीं तो अपने लड़के को कथा सुनने के लिए भेजीं। लड़के से उन्होंने कहा कि यदि तूँ ध्यानपूर्वक कथा सुनकर ज्यों की त्यों मुझे सुनायेगा तो मैं तुझे लड्डू दूंगी और यदि ठीक से नहीं सुनेगा तो मैं मारूँगी। इसी प्रकार प्रत्येक माता-पिता को स्वयं सात्विक-जीवन व्यतीत करते हुए अपने बालकों को भी शुभाचरण की ओर प्रेरित करना चाहिए। किशोरों के कोमल-हृदय में संस्कार शीघ्र घर कर जाते हैं अतः बाल्यावस्था से ही शुभ-संस्कार डालने चाहिए। बहुत से लोग ऐसा मान लेते हैं कि कथा सुनने से बालक बिगड़ जाते हैं अतः उन्हें कथा-सत्सङ्ग में जाने ही नहीं देते हैं। इस पर-

दृष्टान्त-एक सेठजी का-सेठजी नित्यप्रति कथा सुनने जाया करते थे। एक दिन कथा में देर से पहुँचे। जब कथावाचक श्रीपण्डितजी ने विलम्ब का कारण पूछा तो सेठजी ने कहा कि पण्डितजी! आज आने लगा तो लड़का भी कथा सुनने के लिए मचल गया। उसी को समझाने-बुझाने में देर हुई। पंडितजी ने कहा-तो क्या हर्ज था? लड़के को भी लिवा लाते। सेठ-नहीं महाराज, बालकों का हृदय कोमल होता है, अगर कहीं कथा उसको लग गई तो घर चौपट हो जायेगा। मैं तो छाती कर्री करके आता हूँ, जिससे कोई बात हृदय में बैठे नहीं और जो सुनता हूँ सब यहीं का यहीं छोड़ जाता हूँ। भला बालक की इतनी बुद्धि

कहाँ? पण्डितजी ने हँसकर कहा कि आप इतने दिन से कथा सुन रहे हैं, परन्तु आपको नहीं लगी तो एक-दो दिन सुनने से बालक को इतनी जल्दी नहीं लग जायेगी, कभी-कभी उसे भी लाया करिये। जब कथा लगने लगे तो मत लाना। पण्डितजी की बात मानकर एक दिन सेठजी बालक को भी साथ लिवा लाये। संयोग की बात उस दिन कथा में यह प्रसङ्ग आया कि गौ-ब्राह्मण का खाया हुआ व्यर्थ नहीं जाता है। बालक ने इस बात को धारण कर लिया। दूसरे दिन सेठजी कथा में आये, बालक दुकान पर बैठा रहा। परचून की दुकान थी। एक गाय आई और दाल के टीन में मुंह डाली। बालक ने पीठ फेर ली। गैया पूरी दाल खा गई। कथा सुनकर सेठजी आये तो देखे दाल का टीन खाली पड़ा था। बोले-बेटा! आज तो दाल की खूब बिक्री हुई है? बालक ने कहा-पिताजी! बिक्री तो एक छटाँक की भी नहीं हुई। सेठ-तो दाल क्या हुई? बालक-गैया खा गई? सेठ-तूं कहाँ था? बालक-यहीं था। सेठ-तो गाय को भगाया क्यों नहीं। बालक-कल कथा में सुना था कि गाय और ब्राह्मण का खाया व्यर्थ नहीं जाता है अतः मैंने नहीं भगाया। यह सुनकर सेठजी ने माथा ठोका कि एक दिन की कथा में ही दुकान चौपट हो गई। सेठजी को यह खबर नहीं कि इससे पारमार्थिक लाभ कितना हुआ? गोमाता के आशीर्वाद से आगे चलकर वह बालक महान् भक्त हुआ।

प्रसाद अवज्ञा जानिके पाणि तज्यौ एकै नृपति।।
हौं कहा कहौं बनाइ बात सबही जग जानै।
करतें दौना भयो स्याम सौरभ मन मानै।।
छपन भोग ते पहिल खीच 'करमा' की भावै।
सिलपिल्ले के कहत कुंअरि पै हरि चलि आवै।।
भक्तन हित सुत विषदियौ भूप नारि प्रभु राखि पति।
प्रसाद अवज्ञा जानिके पाणि तज्यौ एकै नृपति।।५०।।

शब्दार्थ-अवज्ञा = अनादर, अपमान। तज्यौ = त्यागा, कटाया। दौना= एक सुगन्धित पौधा, दँवना। सौरभ = सुगन्ध। खीच = खिचड़ी। पति = लज्जा, प्रतिष्ठा।

भावार्थ-श्रीनाभाजी कहते हैं कि-जगन्नाथपुरी के एक राजा ने अपने दाहिने हाथ से प्रसाद का अपमान हुआ जानकर उसे त्याग दिया अर्थात् कटवा डाला। इस बात को मैं अपनी ओर से बनाकर क्या कहूँ? (अर्थात् बनाकर नहीं कहता हूँ) इसे तो सारा-संसार जानता है कि-उस भक्तराजा के कटे हुए हाथ से दौना का वृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसके पुष्प

एवं पत्रों की सुगन्ध श्यामसुन्दर को अत्यन्त प्रिय लगती है। श्रीजगन्नाथजी को छप्पन राजभोग से पहले श्रीकर्माबाई की खिचड़ी अति ही स्वादिष्ट लगती है अतः अब तक नित्य उसका भोग लगता है। हे सिल्लपिल्ले प्रभो! ऐसा कहते ही दोनों कन्याओं के पास भगवान चले आये। दो राजरानियों ने भक्तों के लिए अपने-अपने पुत्रों को विष दिया। प्रभु ने उन रानियों की लज्जा रखी उनके पुत्रों को जीवित किया।।५०।।

व्याख्या-प्रसाद-**भगवत्प्रसाद की महिमा के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५७४, छप्पय १५-हरिप्रसाद रसास्वाद के भक्त इते परमान।। एकै नृपति-भाव यह कि प्रसादनिष्ठा में यह राजा अद्वितीय हुए। प्रभु राखि पति-रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार। जो पति राखनहार हैं, माखन चाखनहार।**

प्रसाद की अवज्ञा तै तज्यो नृप कर एक करिकै विवेक सुनौ जैसे बात भई है।
खेलै भूप चौपरि कौं आयौ प्रभु भुक्त शेष दाहिने मैं पासे बाएँ छुयौ मति गई है।।
लै गये रिसायकैं फिराय महा दुखपाय उठ्यो नरदेव गृह गयो सुनी नई है।
लियो अनसन हाथ तजौं याही छन तब सांचौ मेरोपन बोलि विप्र पूछि लई है।।१९३

शब्दार्थ-**चौपरि = चौपड़, चौसर, एक खेल जो बिसात पर चार रङ्ग की गोटों से खेला जाता है। प्रभु शेष = भगवान का प्रसाद। पासे = पासा, गोट।**

भावार्थ-**भगवान के प्रसाद का अपमान हो जाने से श्रीजगन्नाथपुरी के एक राजा ने अच्छी तरह सोच-विचारकर अपना हाथ कटवाया, यह बात श्रीनाभाजी ने संक्षेप में लिखी है, यह घटना कैसे घटी सो सुनिये। एक दिन राजा चौपड़ खेल रहा था, इसी बीच श्रीजगन्नाथजी के पण्डाजी प्रसाद लेकर आये। राजा के दाहिने हाथ में पासा था क्रीडारत होने के कारण उसमें बुद्धि नहीं रह गई थी अतः उसने बायें हाथ से प्रसाद को छूकर उसे स्वीकार किया इस प्रकार प्रसाद का अपमान जानकर पण्डाजी रुष्ट हो गये। प्रसाद राजमहल में न पहुँचाकर उसे वापस ले गये और अपने मन में बहुत दुःखी हुए। चौपड़ खेलकर राजा उठे और अपने महल में गये। वहाँ उन्होंने नई बात सुनी कि मेरे अपराध के कारण अब मेरे पास प्रसाद कभी नहीं आयेगा। राजा ने अपना अपराध स्वीकार कर अन्न-जल त्याग दिया। उसने मन में विचारा कि जिस दाहिने हाथ ने प्रसाद का अपमान किया है उसे अब मैं अभी काट डालूंगा, यह मेरी सच्ची प्रतिज्ञा है। ब्राह्मणों की सम्मति लेना उचित समझ कर राजा ने उन्हें बुलाकर पूछा कि-यदि कोई भगवान के प्रसाद का अपमान करे तो चाहे**

वह कोई अपना प्रिय अंग ही क्यों न हो, उसका त्याग करना उचित है या नहीं। ब्राह्मणों ने उत्तर दिया कि राजन्! अपराधी का तो सर्वथा त्याग ही उचित है।।१९३

व्याख्या-मति गई है-इसके दो कारण हैं-१-हाथ में पासा लिये थे। पासे में कलियुग का वास है अतः मति मारी गई। २- पासा खेलने वाले (जुआरी) का कुसंग। कहा गया है-'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहै न नीचमते चतुराई।। (रा०) वसि कुसंग चाहत कुशल तुलसी यह अफसोस। महिमा घटी समुद्र की, रावन बसा परोस।। पुनः-ह्रीयते हि मतिस्तात हीनैस्सह समागमात्। समैस्तु समतां याति विशिष्टैस्तु विशिष्टताम्।। (नीतौ) अर्थ-नीच पुरुष का संग करने से बुद्धि नीचता को प्राप्त करती है, समान का संग करने से समानता को एवं विशिष्ट-पुरुष का संग करने से विशिष्टता को प्राप्त होती है। 'गृह गयो'-जब राजा की बुद्धि ठिकाने भई तो अपनी करनी पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह शीघ्र ही प्रसाद लेने घर को गये क्योंकि नित्य का नियम था कि पुजारी महल में भी प्रसाद देते थे। 'हाथ तजौ'-यथा-'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।।' 'साँचो मेरोपन' यथा-

हरिते विमुख संग नहिं करऊँ संत संग सुख पाऊँ।
मन समेत सबही इन्द्रिन को हरि के भजन लगाऊँ।।
जो अपराध करै मेरो अंग ताको काटि बहाऊँ।
हरि तजि कबहु आनकी आशा मन में नाहिन लाऊँ।।
करिकै शपथ कहत 'हरिदासा' यह पन नाहिं भुलाऊँ।।

विप्र पूछि लई-राजा ने पूछा कि यदि किसी अङ्ग से भगवत अपराध हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित्त है? ब्राह्मणों ने समझा कि किसी और के लिये पूछते हैं अतः उन लोगों ने सहज भाव से कह दिया-'प्रतिकूलस्य वर्जनम्। अर्थात् उस अङ्ग को तो काटकर फेंक देना चाहिए। जैसे दक्ष के यज्ञ में श्रीशिवजी के गणों ने श्रीशिवजी का अपमान करने वालों को दण्ड दिया था। वहाँ भी जिसने जिस अंग से श्रीशिवजी का अपराध किया था उसे ही दण्ड दिया गया था। जैसे भृगुजी ने दाढ़ी हिलाई तो उनकी दाढ़ी उखाड़ ली गई। भग देवता एवं कई एक सदस्यगणों ने नेत्रों से इशारा किया था तो उनके नेत्र निकाल लिए गये। पूषा देवता ने उपहास करते हुए दांत दिखाये थे तो उनके दांत तोड़ दिये गये। अध्वर्युगणों ने हाथ से संकेत किया था तो उनके हाथ तोड़ दिये थे। दक्ष का तो सिर ही धड़ से अलग कर दिया गया था।

ज्ञातव्य-**यहाँ ब्राह्मणों ने सामान्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था बताई है। ऐसे अपराधों का वास्तविक प्रायश्चित्त तो यह है कि उस अङ्ग से पुनः वैसा अपराध न करने का संङ्कल्प करके उससे अधिकाधिक भगवद्-भागवत सेवा की जाय। त्याग असद्भाव का ही करना चाहिए।।**

काटै हाथ कौन मेरो? रह्यो गहि मौन यातै पूछत सचिव कथा विथा सो विचारियै।
आवै एक प्रेत मो दिखाई नित देत निशि डारिकै झरोसा कर शोर करै भारियै।।
सोऊँ ढिग आइ रहौं आपुकौं छिपाइ जब डारै पानि आनि तबही सुकाटि डारियै।
कही नृप भलै चौकी देत मैं घुमायो भूप डार्‌यो उठि आइ छेद न्यारो कियो वारियै।।१९४

शब्दार्थ-**चौकी = पहरा। छेद = काटकर।**

भावार्थ-**राजा ने अपने मन में हाथ कटाना निश्चित कर लिया। परन्तु मेरे हाथ को अब कौन काटे? यह सोचकर मौन और अत्यन्त खिन्न हो गया। राजा को उदास देखकर मन्त्री ने उदासी का कारण पूछा-आपको कौन सी पीड़ा है उसे बताइये, जिससे उसे दूर करने का उपाय विचारा जाय। राजा ने कहा-नित्य रात के समय एक प्रेत आता है और वह मुझे दिखायी भी देता है। कमरे की खिड़की में हाथ डालकर वह बड़ा शोर करता है। उसी के भय से मैं दुःखी हूँ। मन्त्री ने कहा-आज मैं आपके पलंग के पास सोऊँगा और आप अपने को दूसरी जगह छिपाकर रखिये, जब वह प्रेत झरोखे में हाथ डालकर शोर मचावेगा तभी मैं उसका हाथ काट दूँगा। सुनकर राजा ने कहा-बहुत अच्छा! ऐसा ही करो। रात होने पर मन्त्रीजी के पहरा देते समय राजा ने अपने पलंग से उठकर झरोखे में हाथ डालकर शोर मचाया। मन्त्री ने उसे प्रेत का हाथ जानकर तलवार से काट डाला। मानो राजा ने अपना ही नहीं अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। राजा की ऐसी भक्ति पर स्वयं को न्यौछावर करता हूँ।।१९४।।**

देखिकै लजानौ कहा कियौं मैं अजानौ नृप कही प्रेत मानौं यही हरि सों बिगारियै।
कही जगन्नाथदेव लै प्रसाद जावौ उहाँ ल्यावो हाथ बोबो बाग सोई उर धारियै।।
चले तहाँ धाइ भूप आगे मिल्यो आइ हाथ निकस्यो लगाइ हियैं भयो सुख भारियै।
ल्याये कर फूल ताके भये फूल दौना के जु नितहीं चढ़त अंग गन्ध हरि प्यारियै।।१९५

शब्दार्थ-**अजानौ=अन्जान, मूर्ख**

भावार्थ-राजा का हाथ कटा देखकर मन्त्रीजी अति लज्जित हुए और पछताते हुए कहने लगे कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ, मैंने यह क्या कर डाला? राजा ने कहा तुम निर्दोष हो, मैं ही प्रेत था क्योंकि मैंने प्रभु से बिगाड़ किया था। राजा की ऐसी प्रसाद निष्ठा देखकर अपने पण्डों से श्रीजगन्नाथजी ने कहा कि-अभी-अभी मेरा प्रसाद ले जाकर राजा को दो और उसके कटे हुए हाथ को मेरे बाग में लगा दो। भगवान की आज्ञानुसार पण्डे लोग प्रसाद को लेकर दौड़े, उन्हें आते देखकर राजा आगे आकर मिले! दोनों हाथों को फैलाकर प्रसाद लेते समय राजा का कटा हुआ हाथ पूरा निकल आया। जैसा था वैसा ही हो गया। राजा ने प्रसाद को मस्तक और हृदय से लगाया। उससे भगवत्कृपा का अनुभव करके बड़ा भारी सुख हुआ। पण्डे लोग राजा का कटा हुआ वह हाथरूपी फूल ले आये। उसे बाग में लगा दिया गया। उससे दौना के वृक्ष हो गये। उसके पत्र-पुष्प नित्य ही जगन्नाथजी के श्रीअङ्ग पर चढ़ते हैं। उनकी सुगन्ध भगवान को बहुत प्रिय लगती है।।१९५।।

व्याख्या-प्रेत मानौं यही०-**भगवदपराधी ही वास्तविक प्रेत हैं।**

दृष्टान्त-एक पुजारी का-**एक राजा ने मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीयुगल सरकार श्रीसीतारामजी की प्रतिष्ठा कराई थी। भक्तराजा ने भगवान के लिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण बनवाये थे। एक ब्राह्मण पुजारी नियुक्त कर रखा था। श्रीजानकीजी के आभूषणों को देखकर पुजारी को लोभ आया। उसने श्रीजानकीजी के सभी आभूषण अपनी पत्नी को लाकर पहना दिये और नकली बनवाकर श्रीजानकीजी को धारण करा दिये। उस अपराध के फलस्वरूप वह पुजारी मरकर प्रेत हुआ। एक बार एक संत को दिखाई पड़ा। पूछने पर सब विवरण बताया और प्रार्थना की कि अमुक जगह मैंने दो सौ रुपया पृथ्वी में गाड़ रखा है। उस रुपये के द्वारा आप भागवत-सप्ताह करा दो तो मेरा उद्धार हो जायेगा। महात्मा ने ऐसा ही किया 'सोई उर धारिये-का दूसरा अर्थ यह कि श्रीजगन्नाथ भगवान ने कहा कि मैं उसे उर पर धारण करूँगा। 'हाथ निकस्यो'-इस पर दृष्टान्त-श्रीशङ्ख और लिखित का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४५२। तथा आगे देखिये छप्पय ९६ में श्रीसदनजी का प्रसङ्ग। ऐसा भी कहा जाता है कि राजा ने प्रसाद के लिये हाथ बढ़ाया तो पुनः बायाँ ही हाथ बढ़ा क्योंकि दाहिना तो कट ही गया था। तब राजा फिर बड़े सोच में पड़ गये कि यह तो पुनः अपराध बन गया। अतः मारे ग्लानि के अबकी बार शरीर त्याग करने का निश्चय किये तब तक 'हाथ निकस्यो'-भयौ सुख भारियै'। हाथ निकलने का सुख हुआ और प्रसाद पाने का भारी सुख हुआ।**

श्रीकर्माबाईजी

हुती एक बाई ताको 'करमा' सुनाम जानि बिना रीति भाँति भोग खिचरी लगावहीं।
जगन्नाथ देव आपु भोजन करत नीकैं जिते लगैं भोग तामैं यह अति भावहीं।।
गयो तहाँ साधु मानि बड़ो अपराध करै भरै बहु स्वांस सदाचार लै सिखावहीं।
भई यों अबार देखैं खोलिकैं किवार जोपै जूठन लगी है मुख धोये बिनु आवहीं।।१९६

शब्दार्थ-रीति भाँति = नियम, आचार-विचार। भरै बहु स्वांस = हाँफे, लम्बी श्वांस ले, शोक करै। अबार =देर।

भावार्थ-एक भक्ताबाई थी। उसका नाम कर्मा यह सुन्दर नाम था। वह आचार-विचार की रीति-भाँति को नहीं जानती थीं परन्तु अपने अपार वात्सल्य-प्रेमवश नित्य प्रातःकाल खिचड़ी बनाकर श्रीजगन्नाथजी को भोग लगाती थीं। श्रीजगन्नाथजी स्वयं प्रकट होकर बड़े प्रेम से भोजन करते थे। मन्दिर में जितने भोग लगते थे, उनमें ऐसा स्वाद नहीं आता था जैसा कि श्रीकर्माबाई की खिचड़ी में था। एक दिन वहाँ कोई सन्त पहुँच गये (उन्होंने देखा कि बिना स्नान किये, बिना चौका-बर्तन किये ही खिचड़ी बना रही है) संत ने इसे अपराध माना और दुःखी होकर लम्बी श्वांसे लेकर श्रीकर्माबाई को आचार-विचार के अनुसार पवित्रतापूर्वक खिचड़ी बनाने का उपदेश दिया। दूसरे दिन संत की बताई विधि के अनुसार श्रीकर्माबाई ने खिचड़ी बनायी तो बड़ी देर हो गई। श्रीजगन्नाथजी खिचड़ी खा रहे थे उधर मन्दिर में पण्डों ने पट खोले, शीघ्रता से भगवान बिना मुख धोये चले आये। उनके मुख पर जूठन लगी थी। उसे पण्डों ने देखा।।१९६

व्याख्या-करमा-सुनाम-इन बाईजी का माता-पिता का रखा हुआ नाम तो कुछ और था परन्तु भक्तप्रेम-परवश श्रीजगन्नाथ भगवान जब खिचड़ी बनने में देर देखते तो मचलने लगते और ठुनककर कहते-'जल्दी कर माँ, जल्दी कर माँ।' बार-बार कहने से इनका नाम ही पड़ गया-करमा। सुनाम-इसलिए कहा कि यह भगवान का रखा हुआ नाम है। दिव्य नाम है, प्रेम का नाम है। यह जगदीशपुरी में रहती थीं, गयो तहाँ साधु, - इससे जनाया गया कि कर्माबाई साधु-सेवा भी करती थीं। श्रीजगन्नाथ भगवान जो इतना रीझे हैं, वह इनकी साधु-सेवा का ही प्रताप है। भगवान का विरद् है-'मानत सुख सेवक सेवकाई।।' (रामा०) संत-सेवा की महिमा के सम्बन्ध में पूर्व प्रसङ्गों में लिखा जा चुका है। ये दक्षिण के आचारी वैष्णव थे। 'सदाचार लै सिखावहीं'-साधुजी आचार-विचार की महिमा

बताकर कर्मा को सिखलाने लगे कि देखो प्रातःकाल उठकर पहले शौचादि से निवृत्त होकर स्नान करना चाहिए, फिर चौका-बर्तन साफ करना चाहिये। चौका हाथ, दो हाथ ऊपर दीवाल तक लगाना चाहिये क्योंकि रोटी बनाने में सँड़सी, चिमटा से वहाँ तक छू जाता है जिससे सखरा हो जाता है। लकड़ियों को धोकर, सुखाकर तब भण्डार घर में ले जाना चाहिए आदि।

भई यो अबार-दूसरे दिन महात्मा वहीं थे। कर्माबाई सवेरे से ही उनके निर्देशानुसार षट्कर्म में लग गईं। समय पर श्रीठाकुरजी आये, देखा तो अभी वह स्नान कर रही थीं। साधु बाबा उपदेश छाँट रहे थे अतः चले गये। कुछ देर बाद फिर आये तो देखें कि यह चौका लगा रही थीं। एक घंटे बाद पुनः आये तो इसे बर्तन साफ करते पाये। अभी खिचड़ी का नामोनिशान नहीं था। घूम-फिरकर पुनः आये तो देखें कि अब बनाने जा रही हैं। श्रीठाकुरजी साधु को कर्री दृष्टि से देखते हुए लौट गये। अबकी बार आये तो खिचड़ी तैयार तो मिली परन्तु समय अधिक हो गया था, उधर मन्दिर में भी भोग की तैयारी हो रही थी अतः मन ही मन साधु पर बहुत चिढ़े, बहुत कुढ़े। जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे खिचड़ी खा तो लिए परन्तु आचमन नहीं कर पाये थे कि मन्दिर में भोग की घंटी बज गई। अतः त्वरा में जूठे हाथ-मुँह से ही मन्दिर में जा विराजे।

पूछी प्रभु भयो कहा कहिये प्रगट खोलि बोलिहू न आवै हमें देखि नई रीति है।
करमा सुनाम एक खिचरी खवाबै मोहिं मैं हूं नित पाऊँ जाइ जानि साँची प्रीति है।।
गयौ मेरो सन्त रीति भाँतिसों सिखाइ आयो मत मो अनन्त बिनु जाने यों अनीति है।
कही वही साधुसों जु साधि आवौ वही बात जाइकै सिखाई हिय आई बड़ी भीति है।।१९७

शब्दार्थ-साधि आवौ = समझाय आवौ, प्रमाणित कर आओ।

भावार्थ-पुजारियों ने श्रीजगन्नाथजी से पूछा-प्रभो! कहिये, यह क्या हुआ। आपके मुखारविन्द पर खिचड़ी की जूठन कैसे लगी। आप कहाँ से खिचड़ी खाकर आये हैं सो कृपा करके प्रकट कीजिये। इस दृश्य को देखकर हमारी वाणी अवरुद्ध हो गई है, हमसे कुछ कहा नहीं जाता। आज हमने यह नई बात देखी है। श्रीजगन्नाथजी बोले-कर्मा नाम की एक भक्ताबाई हैं वह नित्य प्रातःकाल खिचड़ी का भोग अर्पण करती हैं, उसकी सच्ची भक्ति देखकर मैं भी नित्य उसके घर जाकर खाता हूँ। मेरे एक सन्त वहाँ पहुँचे और उसे बनाने की शास्त्रीय रीति-भाँति सिखा आये। मेरे अनेक मत हैं, उपासना की विधियाँ अनन्त हैं। इस रहस्य को जाने बिना जो एक विधि को उपासक की निष्ठा के विपरीत अमान्य कर देते हैं

वे अन्याय करते हैं। ठाकुरजी की इच्छा जानकर पुजारियों ने उस साधु को बुलाकर सब वृत्तान्त बताते हुए कहा कि आप श्रीकर्माबाई के पास जाकर उसे समझा आइये कि-वह अपनी विधि से ही खिचड़ी-भोग बनाया करे, वही विधि श्रेष्ठ है। उस सन्त ने कर्माबाई के पास जाकर उसे समझा दिया। सन्त के मन में बड़ा-भारी भय हुआ कि इस अपराध से प्रभु कहीं रुष्ट न हो जायें। (जब तक कर्माबाई जीवित रहीं, भोग लगाती रहीं, उसके बाद अब भी नित्य प्रातःकाल श्रीजगन्नाथजी को कर्माबाई की खिचड़ी का भोग लगाया जाता है)।।१९७।।

व्याख्या-देखि नई रीति है-नई रीति यह है कि यहाँ मन्दिर में नित्य छप्पन भोग लगता है, उसे छोड़कर न जाने किसके घर खिचड़ी खाने गये थे। खाये भी तो जूठे हाथ-मुंह क्यों आये। खिलाने वाले ने खिचड़ी तो खिलाई परन्तु आचमन क्यों नहीं कराया? आदि। 'सांची प्रीति' सांचे मन के मीता रघुवर सांचे मनके मीता।। पूरा पद देखिये पृष्ठ ४१ में रामानुजाचार्यजी के प्रसङ्ग में। 'जाइकै सिखाई'-साधुजी ने जाकर कहा-अरे कर्मा! जब मैंने घर जाकर पोथी देखी तो उसमें पाया कि यह सब आचार-विचार मुझ सरीखे ब्राह्मणों के लिए हैं तेरे लिए (अर्थात् तुझ सरीखे प्रेमियों के लिए) नहीं। तुम तो जैसे पहले करती-धरती थीं वैसे ही किया करो। 'हिय आई बड़ी भीति है'-यह दोनों के साथ लगता है। महात्माजी को भय हुआ प्रभु के नाराज होने का एवं कर्माबाई को भय हुआ कि हे भगवान्! ये एक बार आये तो दुनिया-भर का टिटिम्मा सिखा गये, पता नहीं अबकी बार क्या सिखाने आये हैं। परन्तु जब पंडितजी ने पहले की तरह ही खिचड़ी बनाने की छूट दे दी तो कर्माबाई बहुत ही प्रसन्न हुईं और बोलीं कि महाराजजी! आज आपका नेवता है, आज तो आप हमारे श्रीठाकुरजी के यहाँ ही प्रसाद पाइयेगा। आचारी बाबा ने कहा-कर्मा! तू तो श्रीठाकुरजी को ही पवाया कर। उनके पा लेने से समस्त विश्वभर का नेवता हो जाता है तथा साथ ही एक बात यह भी है कि मैं श्रीठाकुरजी की बराबरी नहीं कर सकता। वे तो समर्थ हैं। जो कुछ करें उन्हें सब शोभा देता है। यथा-'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कुछ करहिं उनहिं सब छाजा।।' (रामा०) हम लोगों के लिए तो आचार-विचार अनिवार्य है यह कहकर आचारीजी ने अपना रास्ता लिया। (कोई-कोई यह भी कहते हैं कि न्योते की बात सुनकर आचारी जी बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि कर्मा! सोच तो मैं भी रहा था कि अपने हाथ से बहुत दिन बनाया पाया, एक दिन कर्मा के हाथ की बनी खिचड़ी का भोग पाकर अपना परम सौभाग्य माना)।

वर्णन आया है कि श्रीकर्माबाई जब तक जीवित रहीं, श्रीजगन्नाथ भगवान को खिचड़ी का भोग लगाती रहीं। जिस दिन श्रीकर्माबाईजी ने शरीर छोड़ा उस दिन श्रीठाकुरजी बहुत रोए और मारे दुःख के भोग नहीं आरोगे, पण्डा-पुजारियों ने राजा से जाकर कहा। राजा भी रोने लगे और आकर पूछे-जय-जय प्रभो! आज आप इतने उदास क्यों हैं? नैवेद्य क्यों नहीं आरोगते हैं? श्रीठाकुरजी का प्रथम तो बोल ही नहीं निकला, पहले सिसकियां भर रहे थे, पूछने पर जोर से रोने लगे, हिचकियां बँध गई। बार-बार पूछने पर बोले कि आज मेरी मैया नहीं रही। अब मुझे खिचड़ी कौन खिलायेगा? राजा ने कहा कि तो आप उसे अपने धाम क्यों भेज दिये? यहीं रखते। भगवान बोले- मैं अपने भक्तों को मृत्युलोक में बहुत दिन तक नहीं रखना चाहता क्योंकि यहाँ बड़ा कष्ट होता है। राजा ने हाथ-जोड़कर कहा-प्रभो! श्रीकर्माबाई का सा प्रेम तो हम लोगों को नहीं हो सकता है परन्तु उनके नाम से खिचड़ी का भोग तो आपको सदा-सर्वदा लगता रहेगा। कहते हैं कि आज तक श्रीजगन्नाथ भगवान को छप्पनभोग से पहले खिचड़ी का भोग लगता है, और भोग लगाते समय कहा जाता है कि यह कर्माबाई की खिचड़ी है।

'बोलिये भक्तवत्सल भगवान की जय'

श्रीसिलपिल्ले भक्ता उभयबाई

सिलपिल्ले भक्ता उभैबाई सोई कथा सुनौ एक नृप सुता एक सुता जिमींदार की।
आये गुरु घर देखि सेवा ढिंग बैठी जाइ कही ललचाय पूजा कीजै सुकुमार की।।
दियो सिलाटूक लैकै नाम कहि दियो वही कीजिये लगाइ मन मति भव पार की।
करत-करत अनुराग बढ़ि गयो भारी बड़ी ये विचित्र रीति यही सोभा सार की।।१९८

शब्दार्थ- **शिलाटूक=पत्थर का टुकड़ा। सोभा सार= शोभा =छवि+ सार =तत्व भगवान।**

भावार्थ- ठाकुर श्रीसिलपिल्लेजी की भक्ता दोनों बाइयों की कथा सुनिये। इनमें एक तो राजा की कन्या थी और दूसरी एक जमींदार की। एक दिन इनके घर में श्रीगुरुजी महाराज पधारे और जब वे शालिग्राम भगवान की सेवा करने लगे तब उसे देखकर ये दोनों उनके समीप जाकर बैठ गईं। (सेवा दर्शन और प्रसाद ग्रहण कर इनके मन में भी सेवा करने की उत्कण्ठा हुई)। इन्होंने ललचाकर कहा कि- हम भी सुकुमार श्याम-सुन्दर की पूजा किया करेंगी, हमें आप ठाकुरजी की मूर्ति दे दीजिये। श्रीगुरुजी ने इन्हें

बच्चा परन्तु सच्चा प्रेमी जानकर दोनों को एक-एक पत्थर का टुकड़ा दे दिया। जब इन्होंने ठाकुरजी का नाम पूछा तो कह दिया कि- इनका नाम सिलपिल्ले है और तुम अपना मन लगाकर नित्य इनकी सेवा किया करना। तुम दोनों की बुद्धि में जो सेवा करने की बात आई यह भवसागर से पार करने वाली है। गुरुदेव की आज्ञानुसार दोनों प्रेम से पूजा करने लगीं। सेवा करते-करते उनके हृदय में बड़ा भारी अनुराग बढ़ गया। उस शिलाटूक में भगवान अपनी झलक दिखाकर सेवा स्वीकार करने लगे। सम्पूर्ण शोभा के सार भगवान की यह बड़ी विचित्र रीति है कि जो कोई शुद्ध-सरलभाव से उनकी पूजा करता है उसे वे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं।।१९८।।

व्याख्या- देखि सेवा सुकुमार की- **यहाँ दोनों कन्याओं को भगवान की सेवा-पूजा का दर्शन करने से प्रेम की प्राप्ति कही गई है, श्रीमद्भागवतजी में भी प्रेम की इस पद्धति का निरूपण किया गया है। यथा-'श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्। न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्।।' (१०।२९।२७) अर्थ-(भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि) हे गोपियो! मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सबके कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्यप्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती। इसलिए तुम लोग अभी अपने-अपने घर को लौट जाओ। दियो सिलाटूक- इस पर दृष्टान्त श्रीधनाजी का। देखिये कवित्त ३०६। 'अनुराग बढ़ि गयो'-प्रेम का स्वभाव है निरन्तर बढ़ना। यथा-'प्रेम सदा बढ़िबो करै ज्यों ससिकला सुवेष। पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न शेष।।' श्रीनारदजी ने प्रेम को 'प्रतिक्षण वर्द्धमान' कहा है। 'विचित्र रीति'-**

नेह निगोड़े को पैंड़ो ही न्यारो।
जो कोइ होयके आँधो चलै सुलहै प्रिय वस्तु चहूँधा ऊजारो।।
सो तो इतै उत भूल्यौ परै न लहै कछु जो कोउ होय अँख्यारो।
वृन्दावन सोइ याको पथिक है जापै कृपा करै कान्हर कारो।।

पाछिले कवित्त माँझ दुहुँन की एक रीति अब सुनौ न्यारी-न्यारी नीके मन दीजियै।
जिमींदार सुता ताके भये उभै भाई रहै आपुस में बैर गांव मार्‌यो सब छीजियै।।
तामैं गई सेवा इन बड़ोई कलेश कियौ जियौ नाहिं जात खान पान कैसैं कीजियै।
रहे समुझाय याहि कछु न सुहाय तब कही जाय ल्यावौ तेरे दोऊ सम धीजियै।।१९९

शब्दार्थ- सेवा=ठाकुर बटुवा। कलेश=दु:ख। धीजियै=विश्वास-धैर्य धारण कीजिये।

भावार्थ-पिछले कवित्त में दोनों बाइयों की (ठाकुर प्राप्ति तथा सेवा में प्रेम की) कथा एक-सी है। इसके बाद अब उनकी अलग-अलग कथा मन लगाकर सुनिये। जो जमीदार की लड़की थी उसके दो भाई थे, दोनों मे बैर था। एक बार दूसरे भाई ने (जिसके पास यह रहती थी) उस भाई पर आक्रमण किया। उसके साथी गाँव वालों ने इस गाँव वालों को लूटा और मारा। इससे सभी को कष्ट हुआ। इस भाई का सामान लूटा गया उसमें इस लड़की का ठाकुर बटुवा भी चला गया। इससे उस भक्ता को महान कष्ट हुआ। सिलपिल्ले की सेवा किये बिना उनके वियोग में इससे जीवित नहीं रहा जाता था। प्राण ही निकले जा रहे थे तब भोजन-जलपान आदि कौन और कैसे करे। लोग इसे समझा रहे थे, पर बिना ठाकुरजी के इसे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। तब लोगों ने कहा कि-तेरे लिए तो दोनों भाई एक-से हैं, शत्रुता भाई से है, परन्तु तुमसे उसका प्रेम ही है। तू वहाँ जाकर अपने ठाकुर को ले आ। विश्वास एवं धैर्य धारण करो, ठाकुरजी भी मिल जायेंगे।।१९९।।

व्याख्या-तामें गई सेवा-प्रश्न-जब भगवान स्वयं ही लूट लिये गये, वे अपनी ही रक्षा नहीं कर सके तो भक्त की रक्षा कैसे कर सकेंगे? समाधान-भगवान अपनी इच्छा से गये हैं, ऐसी इच्छा का कारण यह है कि प्रभु अपने भक्त की भक्ति एवं अपनी भक्तवत्सलता को प्रकट करना चाहते हैं, इसलिए ऐसी लीला की। 'बड़ोई क्लेश कियो'-यथा-'प्राणधन खोये कस सुख होय। मनि छीने पन्नग किमि जीवै ऐसो दुख अब मोय।।' पति बिन सती तिया किमि हुलसै बीतत निसि दिन रोय। आनि मिलावो वेगि पीय सों उन बिन मोर न कोय।। (भ०व०टि०) 'याहि कछु न सुहाय'-नारायण हरि भजन में ये पाँचों न सुहात। विषय भोग निद्रा हँसी, जगत प्रीत बहु बात।। तथा विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २८०, जाको मन लागो, गुपाल सो ताहि और नहिं भावै।।

गई वाही गाँव जहाँ दूसरो जू भाई रहै बैठ्यौ हो अथाई माँझ कही वही बात है।
लेवोजू पिछानि तहाँ बैठे एक ठौर प्रभु बोलि उठ्यौ कोऊ बोलि लीजै प्रीति गात है।।
भई आँखि राती लागी फाटिबेकौं छातीसों पुकारी सुर आरत सौं मानो तन पात है।
हिये आई लागे सब दुख दूर भागे कोऊ बड़े भाग जागे घर आई न समात है।।२००

शब्दार्थ-अथाई = घर के सामने की बैठक, पंचायत करने का स्थान। राती = अनुराग-युक्त, लाल। सुर = स्वर। आरत = आर्त, दु:खित। तनपात =मरण

भावार्थ-तब वह भक्ता लड़की उस गाँव में गई जहाँ दूसरा भाई रहता था। उस समय वह द्वार पर बैठक में बैठा था। उस लड़की ने अपने कष्ट की सब बात कही और अपने ठाकुरजी को माँगा। तब उस भाई ने कहा-तुम घर में जाओ, वहाँ एक स्थान पर सभी ठाकुर विराजमान हैं, उनमें से अपने ठाकुर को पहचानकर ले आओ। वहाँ बैठा हुआ कोई मनुष्य बोल उठा कि-यदि तुम्हारे में ऐसी भक्ति है तो यहीं से बुला लो। घर में जाने और पहचानने की क्या आवश्यकता है। यह सुनते ही उस लड़की की आँखें अनुरागयुक्त लाल हो गईं। वियोग से छाती फटने लगी। (प्रीति पर किये गये व्यङ्ग से भारी कष्ट हुआ) उसने ऐसे दुःखित स्वर से अपने भगवान को पुकारा कि मानो शरीर छूट रहा है। उसकी प्रेम-पुकार सुनकर उसके भगवान वहीं आकर हृदय से लग गये। उसके सभी दुःख दूर भाग गये। उसने अनुभव किया कि मेरे भाग्य उदय हुए जो प्रभु प्राप्त हो गये। उसके भाई एवं अन्य सज्जनों ने कहा कि-'हमारे बड़े भाग्य हैं जो भक्ता बहिन घर आई और उनके दुर्लभ प्रेम के दर्शन हमें हुए। (उन सबों के मन में भक्ति जग गई) वे फूले नहीं समा रहे थे। इधर वह अपने ठाकुर समेत घर आई उनकी सेवा करके फूली नहीं समा रही थीं।।२००।।

व्याख्या-बोलि लीजै०-उसने कहा कि जिस भगवान के लिये तू दस कोस से आई है, क्या वह तुम्हारे लिए दस पग भी नहीं चल सकता। 'पुकारी सुर आरत'-

यथा- नेह की नाव कुदाव लगी बल नाहिं लगै वह जात बहेरी।
लाज को लंगर टूट गयो अब बूड़ति है वृन्दावन चेरी।।
मल्लाहहू हाथ ते डारि दई इक आश बड़ी गोविन्दजू तेरी।
जौ पै सहाय करौ तो करौ नहिं लोग हँसेंगे बजाय हथेरी।।

पुनः- सिलपिल्ले हमें तुम देत बड़ो सुख लाड़ लड़ाइ के पूजत प्यारे।
कौन-सी चूक भई हमसौं प्रभु जो तुम ह्वै रहे आजु नियारे।।
दुष्टन को विश्वास बढ़े सोइ कीजिय नाथजू मैं यौं विचारे।
'कुँवरि हठीली' विनै सुनिकै करुना करिकै प्रभु आनि पधारे।।

पुनः- दरस बिन दूखन लागे नैंन।
जबसे तुम बिछुरे मेरे प्यारे कबहूं न पायो चैन।।
शबद सुनत मेरी छतिया काँपै मीठे-मीठे बैन।
विरह विथा कासों कहौं सजनी बह गई करवत ऐन।।

कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटन सुख दैन।।

हिये आइ लागे-**इससे भक्त की प्रीति और भगवान की भक्तवत्सलता दोनों ही प्रकट हो गईं। भक्ति का यह चमत्कार देखकर भाई ने उपदेश की प्रार्थन की तो उसने बैर विरोध छोड़कर भगवद्भजन का उपदेश दिया।**

सुनौ नृपसुता बात भक्ति गात-गात पगी भगी सब विषैवृत्ति सेवा अनुरागी है।
व्याही ही विमुख घर आयो लैंन बहै बरखरी अरबरी कोऊ चित चिन्ता लागी है।।
करि दई संग भरी अपने ही रंग चली अलीहूं न कोई एक वही जासौं रागी है।
आयो ढिंग पति बोलि कियो चाहै रति वाकी औरै भई गति मति आवौ विथा पागी है।।२०१

शब्दार्थ-**पगी = व्याप गई। विषै = विषय, इन्द्रियों के सुख। वृत्ति = व्यवहार। खरी = विशुद्ध, प्रेमपवित्रा। अरबरी=घबड़ाई, अतुराई। अली = सखी। रागी = प्रीति, प्रेमिका। रति= प्रेम, कामक्रीड़ा। गति = अवस्था, हालत।**

भावार्थ-**अब उस राजपुत्री की कथा सुनिये। उसके अङ्ग-अङ्ग में अर्थात् मन, वाणी और कर्म में भक्ति भर गई थी। संसार के विषयसुखों को भोगने की इच्छा दूर हो गयी थी, उनसे पूर्ण-वैराग्य हो गया था। उसके चित्त की वृत्तियाँ भगवान श्रीसिलपिल्लेजी की सेवा में ही लगीं रहती थीं। दैवयोग से उसका ब्याह जिससे हुआ वह और उसके घर के सभी लोग भक्ति से विमुख थे। वही अभक्त पति उसे जब विदा कराने आया तो वह भक्ता बहुत व्याकुल हुई और चित्त में सोचने लगी कि इसकी विमुखता कैसे दूर हो। घरवालों ने उस पति के साथ विदा कर दिया। वह अपने ही प्रेम रङ्ग में रंगी हुई उसके साथ चली। वह अकेली ही थी। उसके साथ उसकी कोई सखी भी नहीं थी। अब विमुख सम्पर्क से बचने का एकमात्र सहारा भगवान ही थे जिनसे वह प्रेम करती थी। रास्ते में उसका पति उसके पास आया और उस भक्ता से वार्तालाप करके उससे प्रेम करना चाहा, परन्तु इसकी हालत ठीक न थी, घबड़ाकर बोली-आप मेरे समीप मत आइये, मुझे अत्यन्त कष्ट है।।२०१**

व्याख्या-भक्ति गात-गात पगी-**जैसे श्रीअम्बरीषजी के लिये कहा गया है-स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो''। (भ० ९।४।१८) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २६७।।** '**भगी सब विषैवृत्ति**'-**यथा- रमाविलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।। पुनः-सुमिरत रामहि तजहि जन तृण सम विषय विलास। (रामा०) जो रघुवीर चरण अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग**

सम त्यागे।। अङ्ग अङ्ग में भक्ति पगी होने से, सेवा में अनुराग होने से, विषयवृत्तियों को अवकाश नहीं मिलने से वे पलायन कर गईं एवं विषयवृत्तियों के भागने से दृढ़-अनुराग हो गया। 'व्याही ही विमुख घर'-बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। जैसे श्रीप्रहलादजी और श्रीविभीषणजी सरीखे भागवतों को हिरण्यकशिपु और रावण का कुसंग प्राप्त हो गया था। 'चित चिन्ता लागी है'-यह कि इन विमुखों के साथ कैसे धर्म का निर्बाह होगा। यथा-'खल मण्डली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती। बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट सङ्ग जनि देइ विधाता।।' (रामा०) विमुख लोगों का तो मुँख ही नहीं देखना चाहिए। यथा-'भक्ति सों विमुख ताको मुख न दिखाइबी'।। श्रीभक्तमाल कवित्त ६३४।।

समर में लर्यौ जाय गिरिहू ते गिर्यौ जाय गगन में फिर्यौ जाय पावक को दहिबो।
कानन में रह्यौ जाय व्याल कर गह्यौ जाय विरहहु सह्यौ जाय और कहा कहिबो।।
हालाहल पियो जाय सरबस दियो जाय करवत लियो जाय बारिधि को बहिबो।
और दु:ख याहु ते जु दुसह कठिन ऐसो जैसौ है विमुख संग एक छन रहिबो।।

पुन:- गिरिये गिरि कूप तड़ागन में तन पैठि दावानल में दहिये।
गजदन्त झपट्टनि नाहर की उर लात तुरंगन की सहिये।।
बहिये सरिता सर धारन में पुनि जीभ भुजंगन की गहिये।
तुलसी जो कहैं भल सज्जन सों यह क्रूरसे दूर सदा रहिये।।

पुन:- वरं हुतवहज्वालपिञ्जरान्तर्व्यवस्थिति:।
न शौरिचिन्ताविमुखजन संवास वैशसम्।।

अर्थ-**अग्नि की ज्वाला के पिंजरे में रहना श्रेष्ठ है, परन्तु श्रीहरि के चिन्तवन से विमुखजनों के साथ निवास करना ठीक नहीं है।। 'औरे भई गति'-यथा-जो रांची हरि रंगमें, साँची सहज सुभाय। ताहि न भावत जगत सुख रही अनन्द अघाय।। (भ०व०टि०) मति आवौ विथा पागी है'-उसने कहा कि मेरे पास मत आवो, मुझे नौ रोग (नवधा भक्ति) है, कहीं तुम्हें भी न लग जायँ।**

कौन वह विथा ताकौं कीजिये जतन वेगि बड़ो उद्वेग नेकु बोलि सुख दीजिये।
बोलिबौ जौ चाहौ तौपै चाहौ हरिभक्ति हिये बिन हरिभक्ति मेरो अंग नहीं छीजिये।।
आयो रोषभारी अब मन में विचारी वा पिटारी में जु कछु सोई लैकै न्यारो कीजिये।
करी वही बात मूसि जल मांझ डारि दई नई भई ज्वाला जियो जात नहीं खीजिये।।२०२

शब्दार्थ- जतन = यत्न, उपाय। उद्वेग = मन की घबड़ाहट। छीजिये = अपवित्र या नष्ट करिये, छुइये। मूसि = चुराकर। ज्वाला = दाह, मनोव्यथा

भावार्थ- उस राजपुत्री के पति ने पूछा-तुम्हें कौन सा कष्ट है? उसे मुझे बताओ। जिसे दूर करने का उपाय शीघ्र ही किया जाय। तुमसे मिलने की मुझे बड़ी इच्छा है, मैं घबड़ा रहा हूँ। मुझसे कुछ वार्तालाप करो और मुझे सुख दो। उस भक्ता ने कहा-यदि आप मुझसे बातचीत करना चाहते हो तो पहले अपने हृदय में भगवद्भक्ति की चाहना करो। बिना भक्ति को किये मुझसे दूर रहो। मेरे शरीर का स्पर्श भी मत करो। यह सुनकर उसको बड़ा क्रोध आया और उसने अपने मन में सोचा कि-इसके पास जो पूजा-पाठ की पिटारी है और इसमें जो कुछ है, उसी में इसका मन लगा है, उसे लेकर इससे अलग कर देना चाहिए। अवसर पाकर उसने ऐसा ही किया। पिटारी को चुराकर नदी में फेंक दिया। इससे उस राजकन्या के हृदय में दूसरा नया दुःख-दाह उत्पन्न हो गया। अब उससे जीवित नहीं रहा जा सकता था। क्रोधवश खीझ रही थी।।२०२।।

व्याख्या-बड़ो उद्वेग- दो कारणों से १. कामजन्य। २. व्यथाजन्य। बिनु हरि भक्ति, भक्तिहीन के सम्बन्ध में श्रीहरिरामव्यासजी कहते हैं-हरि की भगति बिन तन मन मैलो। जैसे बिन लादो बिन जोतो गायनि मांझ फिरत खल खैलौ।। आपु न जानत कही न मानत अजहुँ गुरुहिं न करत असैलो। आपुन बिगरि बिगारत औरहिं ज्यौ जल नाये कांचो घैलौ।। जुग-जुग जनम-जनम याही ते अजहुँ न भरो विषय को थैलौ। व्यास वचन माने बिन जाने नरक परैगो ऐलो पैलो।। अंग जनि छीजिये-क्योंकि भक्तिहीन मुर्दे के समान होता है। यथा-जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत शव समान तेइ प्रानी।।'(रामा०) पुनः-जीवञ्छवो (भा० २।३।२३) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३८१।। पुनः-साकत सगो न भेटिये, व्यास सुकण्ठ लगाय। जन्म सुकृत लै जायगो पाप रहैगो छाय।। 'न्यारो कीजिये'- उसने विचारा कि यह पिटारी ही हमारे प्रेम में बाधक बनी है, इसी में कोई भूत है, (वस्तुतस्तु-भूत नही यामे नन्दको पूत है। यह निर्मलचित्त वालों को लगता है उसे छोड़ता नही)। अतः इसे पृथक् कर देना चाहिए। 'नईज्वाला'-प्रथम तो विमुख संगवास की ज्वाला थी, अब श्रीठाकुरजी के विरह की ज्वाला प्रज्वलित हो गई। 'खीजिये' 'जरउ सो सम्पत्ति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।।' (रामा०)

तज्यो जल अन्न अब चाहत प्रसन्न कियो होत क्यों प्रसन्न जाको सरबस लियौ है।
पहुँचे भवन आइ दई सो जताइ बात गात अति छीन देखि कहा हठ कियौ है।।

सासु समझावै कछु हाथ सों खबावै याकौं बोलिहू न भावै तब धरकत हियौ है।
कहै सोई करैं अब पांय तेरे परैं हम बोली जब वेई आवैं तौ ही जात जियौ है।।२०३

भावार्थ–उस राजकन्या ने अन्न-जल का त्याग कर दिया, तब उसके पति ने उसे अनेक प्रकार से प्रसन्न करना चाहा, परन्तु जिसके सर्वस्व भगवान छीन लिए गये हों वह भला कैसे प्रसन्न हो? इसके बाद जब वे सब घर पर आये तब उसके पति ने मार्ग में घटी घटना का विवरण सुनाया। राजकन्या का शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होते देखकर घर के लोगों ने कहा-तुमने ऐसा हठ क्यों ठाना है। उसकी सासु ने उसे बहुत समझाया और उसे अपने हाथ से खिलाने लगी, पर उसने कुछ भी न खाया। खाने की क्या चले, उसे उन लोगों से बोलना भी अच्छा नहीं लग रहा था। भगवान के वियोग की व्यथा से उसका हृदय धड़क रहा था (उसे दिन-रात चैन नहीं था)। घर वालों ने कहा-हम सब तेरे पाँवों में पड़ते हैं, अब जो तू कहे, उसे ही करेंगे। तब उस भक्ता ने कहा-वे ही मेरे सिलपिल्ले भगवान जब आवें तभी मैं जीवित रह सकती हूँ।।२०३।।

व्याख्या-होत क्यों प्रसन्न- इसके दो कारण हैं। एक तो संसारी लोगों का प्रेम भयदायक होता है। यथा-'सठ सनेह सों डरपिये, नन्द और भय नाहिं। सांपिनि सुत हित जानिकै, गिलै पेट पचि जाहिं।।' अर्थात् सर्पिणी के स्नेह की तरह संसारी लोगों का शठ स्नेह है अतः उसे समझने वाला उससे क्यों प्रसन्न होने लगा। दूसरा कारण-'सरबस लियो है'।

दृष्टान्त-एक सन्त का- श्रीपण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी 'भक्तमाली' एक बार श्रीहरि बाबा के बाँध पर कथा कहने गये। साथ में एक संत को भी लिवा ले गये थे। जब बाँध पर पहुँच गये तो उन संतजी को याद आई कि मेरे श्रीठाकुरजी तो गाड़ी में ही रह गये। वे बड़े विकल हुए। स्टेशन वहाँ से आठ कोस था। लोगों ने समझाया कि सेवा-पूजा के लिए दूसरे ठाकुरजी ले लीजिये। स्वयं श्रीपण्डितजी एवं श्रीहरिबाबा ने भी समझाया। परन्तु वे तो रोने लगे। लोगों ने कहा-भाई! रोने-विलखने से अब क्या होने वाला है? गाड़ी तो न जाने कहाँ चली गई होगी। परन्तु उनकी विकलता बढ़ती ही गई। तब श्रीहरिबाबा ने कहा कि इन्हें जाने दो, ये स्टेशन तक हो आवें, इससे इन्हें सन्तोष हो जायेगा, नहीं तो ये रोते-रोते प्राण छोड़ देंगे। यज्ञ में विघ्न हो जायेगा। संयोग की बात, जब संतजी स्टेशन पर गये तो वह गाड़ी अभी स्टेशन पर ही खड़ी थी। पूछने पर वहाँ के लोगों ने कहा कि किसी

डिब्बे में आग लग गई थी, अतः यह आगे नहीं जा सकी। सन्तीजी ने अपने श्रीठाकुरजी को खोजा तो वे यथास्थान मिल गये। वे खुशी-खुशी फिर बाँध पर लौट आये।

भगवान भक्तों के सर्वस्व हैं। यथा-'मुनिजन धन सरबस शिव प्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना।।' (रामा०) पुनः-

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।

(रामरक्षास्तोत्र)

पुनः- त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

सासु समझावै-यह कि तुम दूसरा सुन्दर से सुन्दर रत्नमणिमय सेवाविग्रह पधरा कर सेवा करो, अब कोई नहीं रोकेगा। 'धरकत हियो है'-इसका एक अर्थ तो भावार्थ में आ गया है। दूसरा भाव यह भी होगा कि परिवार वालों का हृदय धड़कने लगा कि कहीं मर न जाय। फिर हम लोग इसके माता-पिता को क्या जवाब देंगे? 'बोली जब वेई आवैं०'-जैसे श्रीमीराबाईजी कहती हैं-प्रभु बिन ना सरै माई। मेरा प्राण निकसा जात हरि बिनु ना सरै माई।। मीन दादुर बसत जल में जल से उपजाई। मीन जल से बाहर कीन्हें तुरत मरि जाई।। पात जिमि पीरी परी अरु विपति तनु छाई। दासि मीरा लाल गिरिधर मिल्या सुख छाई।।

आये वाही ठौर भौंर आई तनु भूमि गिर्‌यो ढर्‌यौ जल नैन सुर आरत पुकारी है।
भक्तिवस श्याम जैसे कामवस कामी नर धाइ लागे छातीसों जु संग सो पिटारी है।।
देखि पति सासु आदि जगत विवाद मिट्यो बाद ही जनम गयो नेकु न सँभारी है।
किये सब भक्त हरि साधु सेवा माँझ पगे जगे कोऊ भाग घर वधू यों पधारी है।।२०४

शब्दार्थ- भौंर = चक्कर। विवाद = झगड़े। बाद ही = व्यर्थ ही। सँभारी = सँभाली, सुधारी।

भावार्थ- तब वह भक्ता घर वालों के साथ उसी नदी पर आई जहाँ जल में पिटारी फेंकी गई थी। प्रभु का स्मरण आते ही उसे चक्कर-सा आ गया और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी फिर वह अत्यन्त दुःखित स्वर से अपने प्राणनाथ सिलपिल्ले भगवान को पुकारने लगी। जिस प्रकार कामी-मनुष्य कामनाओं के वश में रहता है उसी प्रकार भगवान श्यामसुन्दर भक्ति के वश में रहते हैं। दीन

पुकार सुनते ही सिलपिल्ले भगवान दौड़कर उसकी छाती से आ लगे, उनके-साथ वह पिटारी भी आ गई। उस भक्ता के पति, सासु और ससुर आदि लोगों ने जब ऐसा चमत्कार देखा तो उनके मन से संसार के सभी झगड़े दूर हो गये। ईश्वर-भक्ति सत्य या असत्य है, यह विवाद समाप्त हो गया। उन लोगों ने अपने मन में यह अनुभव किया कि भक्ति बिना हमारा इतना जीवन व्यर्थ ही बीता। कभी थोड़ा-सा भी भगवत्स्मरण नहीं किया, जीवन को नहीं सुधारा। उस राजकन्या ने अपनी भक्ति से सबको भक्त बना दिया। वे सभी भक्त और भगवान की सेवा में लग गये। वे कहने लगे कि हम सभी के भाग्य जग गये जो ऐसी बहू घर आई।।२०४।।

व्याख्या- सुर आरत पुकारी है-**यथा**-

तलफत तलफत बहु दिन बीता परी विरह की पासड़ियां।
अब तो बेगि दया कर प्यारे मैं तो तुम्हारी दासड़ियां।।
नैन दुखी दरसन को तरसैं नाभि न बैठे सासड़ियां।
राति दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखैं पासड़ियां।।
लगी लगन छूटन की नाहीं अब क्यों कीजै आटड़ियां।
मीरा के प्रभु कब रे मिलौगे पूरौ मन की आसड़ियां।।

पुनः- व्याकुल होय पुकार करी अति आतुर सौं करुणा करि टेरी।
हौ गज के द्विज के तुम रक्षक क्यों न सहाय करौ अब मेरी।।
छाती फटै उलटै उर अन्तर नाथ कहां विसरी निज चेरी।
आय मिलौ जु कृपा करिकै प्रभु हौं बलिहौं बलिहौं बलि तेरी।।

पुनः- दीनदयाल सुने जबते तबते मन में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाइ कै जाऊँ कहां अब तेरे ही नाम की फेंट कसी है।।
तेरो ही आसरो एक 'मलूक' नहीं प्रभु सों काउ दूजो जसी है।
ऐहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।।

भक्ति बस श्याम-**यथा-भक्ति प्रियो माधवः। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३७, भक्ति कौ प्रताप। 'धाइ लागे छाती सों'**-**यथा**-

लाल बिना दृग लाल भये जल जाल छये उर में भरिकै।
हरि हाय कहां तुम छाय रहे प्रभु रोय उठे करुणा करिकै।।

भरि भूमि परी विरही तन कौ जन कौ जनि त्याग करौ बरिकै।
तब छैल छली निकसैं जलतैं हँसि आय मिले छतियां धरिकै।।

जगत विवाद मिट्यो- **यही कि -'जोग वियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा।। जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपति विपति करम अरु कालू।। धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू।। देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं।। सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।।' (रामा०) 'वादि ही जनम गयो'-यथा-जनम गयो वादहीं वर बीति। परमारथ पाले न पर्‌यो कछु अनुदिन अधिक अनीति।। खेलत खात लरिकपन गो चलि जौवन जुवतिन लियो जीति। रोग वियोग सोग स्रम संकुल बड़िबय वृथहिं अतीति। राग रोग ईर्षा विमोह बस रुची न साधू समीति। कहे न सुने गुनगन रघुवरके भइ न रामप्रद प्रीति।। हृदय दहत पछिताय अनल अब सुनत दुसह भव भीति। तुलसी प्रभु ते होइ सो कीजिय समुझि विरद की रीति।। (वि०)**

किये सब भक्त-**यदि भक्त कच्चा हुआ तो उस पर जगत् का रङ्ग चढ़ जाता है और यदि पक्का हुआ तो असंख्यों लोगों को अपना रंग देकर भक्त बनाने में समर्थ होता है। कहते हैं कि काश्मीर में एक 'सरदा' नाम का फल होता है। उसकी यह विशेषता है कि एक पका हुआ सरदा यदि सैकड़ों कच्चे सरदों में धर दिया जाय तो रात-भर में सबके सब पक जाते हैं। यही हाल पक्के भक्तों का है। राजकन्या की सच्ची प्रीति ने घर ही नहीं पूरे नगर-भर को भक्त बना दिया। भक्ति के चमत्कार के समक्ष बरबस सबको झुकना पड़ा। 'वधू यों पधारी है'-शुभलक्षणा, परम भागवती वधू के घर आने से सबने शुभाचरण की शिक्षा पाई। इस पर-**

दृष्टान्त-नववधू का-**एक बड़े धनीमानी सेठ थे। परन्तु थे बड़े कंजूस। उनके यहाँ अतिथि-अभ्यागत, साधु-ब्राह्मण, दीन-दुःखियों को सिवा फटकार के फूटी-कौड़ी भी नहीं मिलती थी। उनके पुत्र का विवाह हुआ। पुत्रवधू घर में आई। वह धर्मशील परिवार की थीं। उसे श्वसुर का यह व्यवहार देखकर बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने मन में निश्चय किया कि इन्हें समझाना चाहिए, अतः एक दिन जब एक महात्मा ने भिक्षा के लिए आवाज लगाई तो उस पुत्रवधू ने सास-ससुर को सुनाकर महात्मा से कहा कि-बाबा! हमारे घर तो नित्य बासी अन्न खाया जाता है, आप कहीं और जगह पधारें। महात्मा तो चले गये। उनके लिए तो श्रीकबीरदासजी के शब्दों में 'चारों मुलुक जगीरी में।' परन्तु सेठ-सेठानी अपनी पुत्रवधू से बहुत**

नाराज हुए उसने ऐसा क्यों कहा? घर में तो नित्य नये-नये पकवान बनते रहते हैं। बात बढ़ने लगी तो बहू ने समझाया कि मैंने ऐसा इसलिए कहा कि आप लोगों ने पूर्वजन्म में कुछ दान-पुण्य किये हैं जिससे इस जन्म में धन-सम्पत्ति मिली है, परन्तु अब तो आप लोग कुछ धर्म-कर्म करते नहीं हैं, वही पूर्वजन्मार्जित कमाई का ही भोग कर रहे हैं। नई कमाई का पकवान ताजा होता है। जब तक आप लोग कुछ नवीन दान-पुण्य नहीं करते हैं तब तक बासी खाना ही समझा जायेगा। पुत्रवधू की बात सेठजी की समझ में आ गई। अतः उन्होंने तत्काल ही गरीबों के लिये अन्न-सत्र खोल दिया। उनके यहाँ गल्ले का थोक-व्यापार होता था। आढ़त में जो ज्वार-बाजरा-चने आदि सड़-घुन जाते वह अन्न-सत्र के लिये भिजवा देते। अब सेठजी पुत्रवधू के सामने दान-पुण्य की बड़ी-बड़ी बातें करने लगे।

बहू ने एक दिन एक नौकर से अन्न-क्षेत्र के अन्न एवं आटे को मँगाकर देखा तो वे एकदम सड़े हुए थे। दूसरे दिन बहू ने उसी सड़े आटे की रोटी बनाकर (जब सेठजी भोजन करने बैठे तो) दूसरी भोजन सामग्रियों के साथ उनकी थाली में वह रोटी भी परोस दी। काली, मोटी रोटी देखकर सेठजी ने कोई नया पकवान समझकर कुतूहलवश पहला ग्रास उसी का मुँह में डाला और तुरन्त ही थू-थू करके थूकते हुए बोले-बेटी! तूने आज यह क्या किया? सड़े आटे की रोटियाँ क्यों बनाईं? पुत्रवधू ने कहा-पिताजी! आपके अन्नक्षेत्र में इसी आटे की रोटी भूखों को दी जाती हैं परलोक में तो वही मिलता है जो यहाँ दिया जाता है। इसलिये मैंने सोचा कि अभी से इसे खाने का अभ्यास आपको धीरे-धीरे हो जाय तो वहाँ कम कष्ट उठाना पड़ेगा। अब सेठजी की आँखें खुलीं। उसी दिन से अन्नक्षेत्र का सड़ा अन्न और आटा फिकवा दिया गया और अच्छे अन्न का प्रबन्ध कर दिया गया। इस प्रकार पुत्रवधू ने परिवार को शुभाचरण करना सिखलाया।

इन दोनों बाईयों के प्रसङ्ग में यह दिखाया गया कि जब भावना की सच्चाई से भगवान पत्थर के टुकड़ों में से भी साक्षात् प्रकट हो गये तब भला अर्चावतार श्रीशालिग्राम-शिला एवं श्रीविग्रह की सेवा से प्रकट होने में आश्चर्य ही क्या है? इन सिलपिल्ले भक्तबाईयों की ही तरह एक श्रीविट्ठलनाथजी के सेवक को भी प्रभुकृपा प्राप्त हुई थी। देखिये छप्पय ७८ में। श्रीविट्ठलनाथजी के प्रसङ्ग में 'जापरे की कथा'।

❖ भक्तों के हित जिन्होंने सुतों को विष दिया वे दो बाई ❖

भक्तन के हित सुत विष दियौ उभै बाई कथा सरसाई बात खोलिकै बताइयै।
भयो एक भूप ताके भक्तहूं अनेक आवैं आयो भक्तभूप तासौं लगन लगाइयै।।

नित हीं चलत ए पै चलन न देत राजा बितयो बरष मास कहैं भोर जाइयै।
गई आस टूटि तन छूटिबे की रीति भई लई बात पूछि रानी सबै लै जनाइयै।।२०५

शब्दार्थ-**सरसाई= सुन्दर, भक्तिरस भरी।**

भावार्थ-**जिन्होंने भक्तों का दर्शन-सत्सङ्ग पाने के लिए अपने पुत्रों को विष दिया, उन दो बाईयों की कथा अत्यन्त रसमयी है, उसे विस्तार करके बताते हैं। एक राजा बड़ा भक्त था। उसके यहाँ बहुत से साधु-सन्त आते-रहते थे। राजा उनकी सप्रेम सेवा करता था। एक बार एक महान सन्त अपने साथियों समेत पधारे। राजा का उनसे बड़ा प्रेम हो गया। वे सन्त राजा के यहाँ नित्य ही चलने के लिये तैयार होते, परन्तु राजा एक न एक बात कहकर प्रार्थना करके उन्हें रोकता और कहता कि-प्रभो! आज रुक जाइये, कल चले जाइयेगा। इस प्रकार उनको एक वर्ष और कुछ मास बीत गये। एक दिन उन सन्तों ने निश्चय कर लिया कि-कल हम अवश्य ही चले जायेंगे। राजा के रोकने पर किसी भी प्रकार से नहीं रुकेंगे। यह जानकर राजा की आशा टूट गयी, वह इस प्रकार से व्याकुल हुआ कि उसका शरीर छूटने लगा। रानी ने राजा से पूछकर सब जान लिया कि-राजा भक्त वियोग से जीवित न रहेगा।।२०५।।**

व्याख्या-भक्त भूप-**भगवान श्रीकपिलदेवजी कहते हैं-'तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्। अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः। मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्। मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः। मदाश्रयाः कथामृष्टाः श्रृण्वन्ति कथयन्ति च। तपन्ति विविधास्तापानतान्मद्गतचेतसाम्। त एते साधवः साध्वि सर्वसंग विवर्जिताः। संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते। (भा० ३।२५।२१।२३) अर्थ-जो शीत-उष्णादि सहन करते हैं, तथा जो दुःखियों पर करुणा करने वाले हैं। देहधारियों पर जो स्वार्थरहित प्रेम करते हैं तथा जो मन से भी किसी से द्वेष नहीं करते तथा बाह्याभ्यन्तर की इन्द्रियों को वश में रखने वाले होते हैं और जो सदाचारी हैं। सुन्दर स्वभाव ही जिनका भूषण है तथा जो साधुओं को अपना भूषण समझते हैं। जो मुझमें निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति करते हैं। जिन्होंने मेरी प्रसन्नता के लिए सभी कार्यों का त्याग कर दिया है तथा अपने सगे सम्बन्धियों को जिन्होंने त्याग दिया है तथा जो मेरी पवित्र सुधामयी कथाओं का श्रवण-कीर्तन करते हैं, इन भक्तों को त्रिताप नहीं तापित कर सकते हैं, क्योंकि उनका चित्त मेरे मन में लीन है। हे माताजी! पूर्वोक्त लक्षण जिनमें सङ्घटित हों वे ही सच्चे साधु हैं, उन भीतर-बाहर**

सर्वसंगशून्य साधुओं के संग की आप प्रार्थना करो। वे कारुणिक-साधु संसारी संग से उत्पन्न दोषों को नष्ट कर देते हैं।।

लगन लगाइये-**क्योंकि-'बिनु सतसङ्ग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।। मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये कोटि जप जोग विरागा।।' (रामा०) पुनः-'बिना सतसङ्ग ना कथा हरिनाम की, बिना हरिनाम ना मोह भागै। मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी मुक्ति बिन नाहिं अनुराग लागै।। बिना अनुराग के भक्ति ना होयगी भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं जागै। प्रेम बिनु राम ना राम बिनु सन्त ना पलटू सत्सङ्ग वरदान माँगै।।' पुनः-'नैन निकट काजर बसै पै दरपन दरसाइ। त्यों साधुन के सङ्ग बिनु, हरि छबि हिय न लखाइ।।' (पुरानी टिप्पणी)** नितहीं चलत-**क्योंकि-'बहता पानी निर्मला, बँधा गँदला होय। साधू तो रमता भला, दाग न लागै कोय।।' कहावत है-रमता योगी बहता पानी।। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-सन्त सुखी विचरन्त मही।।' (रामा०)**

बितयो बरस मास-**आज, कल, परसों, एकादशी, अमावस, पूनो, झूला, होरी, दिवाली का बहाना करते-करते वर्षों बिता दिये। 'तन छूटिबे की रीति भई'-यहाँ-बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। (रामा०) चरितार्थ हुआ।।**

दियो सुत विष रानी जानी नृप जीवै नाहिं सन्त है स्वतन्त्र सो इन्हैहि कैसे राखियै।
भये बिन भोर बधू शोर करि रोय उठी भोय गई रावले में सुनि साधु भाखियै।।
खोलि डारि कटिपट भवन प्रवेश कियो लियो देखि बालक कौं नील तनु साखियै।
पूछ्यौ भूप तियासौं जू सांचे कहि कियो कहा? कही तुम चल्यौ चाहौ नैन अभिलाखियै।।२०६

शब्दार्थ- **स्वतन्त्र = अपने अधीन। भोय गई = अति प्रेमयुक्त हुई। रावले = रनिवास। कटिपट = कमरबन्द।**

भावार्थ- **रानी ने विचार करके जब यह जान लिया कि-अब राजा जीवित नहीं रह सकेंगे। तब उसने पुत्र को विष दे दिया। क्योंकि सन्त तो स्वतन्त्र हैं, इन्हें कैसे रोककर रखा जाय, इसका और कोई उपाय नहीं है। प्रातःकाल होने से पहले ही रानी रो उठी, अन्य दासियाँ भी रोने लगीं, राजपुत्र के मरने की बात फैल गई। राजमहल में बड़ा कोलाहल मच गया। सन्त ने सुना तो शीघ्र ही वह कटि वस्त्र कमर से खोल डाला जो कि जाने की तैयारी में बाँधा था। महात्माजी ने राजभवन में प्रवेश किया और जाकर बालक को देखा।**

उसका शरीर विष के प्रभाव से नीला पड़ गया था जो इस बात का साक्षी था कि बालक को विष दिया गया है। महात्माजी ने रानी से पूछा कि-सत्य कहो, तुमने यह क्या किया? रानी ने कहा-आप आज निश्चय ही चले जाना चाहते थे और हमारे नेत्रों को आपके दर्शनों की अभिलाषा है। आपको रोकने के लिए ही यह उपाय किया गया है ।।२०६।।

व्याख्या-दियो सुत विष-राजा को सन्तवियोग का दुःख था और रानी को संतवियोग एवं पतिवियोग-दोनों का ही दुःख था। शास्त्रों में वर्णन आया है कि स्त्री को पुत्र से सौगुनी प्रीति पति में करनी चाहिए। यथा-पुत्राच्छतगुणं स्नेहाद्राजानां च भयादथ। आराधयेत्पतिं शौरिं या पश्येत् सा पतिव्रता।। (प० पु० सृष्टि ४७-५५) अर्थ-जो स्त्री पुत्र की अपेक्षा सौगुने स्नेह से पति की आराधना करती हैं, राजा के समान उसका भय मानती हैं और पति को ही परमात्मा समझती हैं वह पतिव्रता हैं। तथा सन्तों में तो अनन्त गुनी प्रीति करनी चाहिए। यथा-'कीजै कोटि गुनी प्रीति।' (श्रीभक्तमाल कवित्त ११०) कोटि शब्द यहाँ अनन्तवाची हैं अतः रानी ने सन्त और पति-दोनों के ही प्रेम में पुत्र को विष दे दिया। जिससे कि सन्त मरणाशौच विचारकर कम से कम पन्द्रह दिन तक तो रुकेंगे ही, फिर देखा जायगा। सन्तसेवा एवं सत्संग सुख के लिए व्यावहारिक जीवन में प्रेम की परमावधि पुत्र को विष देना सन्तनिष्ठा की पराकाष्ठा है।

भये बिन भोर- सन्तजी ने कहा था कि मैं प्रातःकाल निश्चय ही चला जाऊँगा तो यह भोर होने के पहले आधी रात को ही चिल्ला उठी।

छाती खोलि रोये किहूं बोलिहूं न आवै मुख सुख भयो भारी भक्ति रीति कछु न्यारियै।
जानीऊँ न जाति, जाति पाँति को विचार कहा अहो रससागर सो सदा उर धारियै।।
हरिगुन गाय साखी सन्तनि बताय दियौ बालक जिवाय लागी ठौर वह प्यारियै।
संगके पठाय दिये रहे वे जे भींजे हिये बोले आप जाऊँ जौ न मारिकै विडारियै।।२०७।।

शब्दार्थ- छाती खोलि= उच्च स्वर से, अति दुःखित होकर। विडारियै = भगाइये।

भावार्थ- राजा और रानी की ऐसी अद्भुत भक्ति देखकर वे महात्मा छाती खोलकर जोर-जोर से रोने लगे। मुझे रोकने के लिए पुत्र को विष दे दिया, कैसा विलक्षण भक्त-प्रेम है यह समझकर उनके मुख से बात नहीं निकल रही थी। उनका कण्ठ गद्गद हो गया, उन्हें भक्ति की इस विलक्षण रीति से भारी सुख हुआ। भक्ति की रीति साधारणतया जानी ही नहीं जा सकती है। प्रेमाभक्ति के उदय होने पर उनके शरीर भी दिव्य हो जाते हैं अतः

ऊँची या नीची जाति का विचार वहाँ कहाँ रह सकता है। जाति के भेदभाव को त्यागकर उस प्रेमरस सागर को ही सदा हृदय में धारण करना चाहिए। राजा निम्नजाति का क्षत्रिय है यह भेद महात्माजी के मन में नहीं रह गया। इसके बाद महात्माजी ने भगवान के गुणों का वर्णन किया और उसके साक्षी सन्त हैं यह बताकर उस बालक को जीवित कर दिया। उन्हें वह स्थान अत्यन्त प्रिय लगा। अपने साथियों को जो जाना चाहते थे उन्हे विदा कर दिया और जो प्रेमरस में मग्न सन्त थे वे उनके साथ ही रह गये। इस घटना के बाद महात्माजी ने कहा कि-अब यदि हमें आप मारकर भगायेंगे तो भी हम यहाँ से न जायेंगे।।२०७।।

व्याख्या-भक्ति रीति कछु न्यारियै-**भक्ति की रीति लोक विलक्षण है। रानी ने पुत्र को विष देकर भक्तिभाव को सुरक्षित रखा, बढ़ाया। जैसे श्रीशिवजी ने पत्नी सती का त्यागकर भक्ति को दृढ़ रखा था। पुरी के राजा ने अपना दाहिना हाथ कटाकर भक्तिप्रण का निर्वाह किया। जबकि व्यवहार में पुत्र, पत्नी, शरीर अत्यन्त प्रिय हैं। यथा-सुत, वित, नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। (वि०) पुनः-'देह प्राण ते प्रिय कछु नाहीं।।' (रामा०) पुत्र-कलत्र, देह-गेहादि की मङ्गल कामना के लिए लोग क्या नहीं करते हैं। परन्तु जिन्होंने 'सत हरि भजन जगत सब सपना' का अनुसन्धान किया है वे भक्ति पर सब कुछ न्यौछावर कर देते हैं।**

जाति पांति को विचार कहा-**भगवान की ही जब कोई जाति नहीं है तो उनके भक्त की कौन जाति होगी। यथा-'जाति नहीं जगदीश की, उनकी कहां ते होय। सांभर में जो कोइ परै, सोई सांभर होय।।' पुनः-सोई नारि सतेवरी जाकी कोठी ज्वारि।। जाकी कोठी ज्वारि जाहि यादवपति भावै। श्रवण सुने हरिकथा रसन गोविन्द गुण गावै।। आरज, विदुष, उदार, सुमति सकुलीनी लोई। हृदय वसत हरिचरण जगत डारै करि छोई।। अगर कहैं ता दास पर तन मन दीजै वारि। सोई नारि सतेवरी जाकी कोठी ज्वारि।। पुनः-यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सुगुनौ दीपक देह। तऊ प्रकाश करै तितौ भरियै जितौ सनेह।। भाव यह कि संत प्रेम देखकर ढरते हैं, जाति-पांति का विचार नहीं करते। रस सागर सो उर धारिये-राजा और सन्त दोनों ही अपार प्रेमसागर को धारण करते थे। 'हरिगुण गाय'-क्योंकि भगवान के श्रीमुख का वचन है-नाहं बसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।। (अर्थ स्पष्ट है।)**

दृष्टान्त-गोपियों का- **रास में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर विरह विकल व्रजांगनायें जब ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गईं तो पुनः श्रीयमुनापुलिन पर आकर श्रीकृष्ण का गुनगान करने**

लगीं। यथा-पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः। समवेता जगुः कृष्णं तदागमन-कांक्षिताः।। (भा. १०।३०।४५) अर्थ-श्रीकृष्ण के आगमन की आकांक्षा एवं प्रतीक्षा करने वाली, कृष्णप्रेम में तन्मय गोपियाँ श्रीयमुनाजी के पावन पुलिन पर आकर एकत्रित होकर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगीं। ठीक उसी समय उनके बीच भगवान श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुस्क्यान से खिला हुआ, गले में वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये थे, उनका रूप साक्षात् कामदेव के भी मन को मथ डालने वाला था।

साखी सन्तनि बताय-इसके दो भाव-१. सन्तों को साक्षी देने की देखो राजा और रानी कितने सन्त प्रेमी हैं कि राजा सन्त वियोग में शरीर ही छोड़ने को उद्यत् थे और रानी ने पुत्र को ही विष दे दिया। पुनः-२. जो सन्तों में भाव रखते हैं उनका कोई अमङ्गल नहीं हो सकता। देखो, राजा का मृतक पुत्र जीवित हो गया। 'जाऊँ जौ न०' इसलिए कि ऐसे भावुक भक्त का संग मिलना दुर्लभ है। यथा-मुक्तानामपिसिद्धानां''' (भा० ६।१४।५) गिरौ गिरौ न माणिक्यं'''''' । (नीतौ) आदि। इनके लिए देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८९, हरिके'''''' भुवन माँझ।।

दूसरी बाईजी

सुनौ चितलाई बात दूसरी सुहाई हिये जिये जग माहिं जौलौं सन्त संग कीजियै।
भक्त नृप एकसुता व्याही सो अभक्त महा जाके घर मांझ जन नाम नहीं लीजियै।।
पल्यौ साधु सीथ सौं शरीर दृगरूप पले जीभ चरणामृत के स्वाद ही सों भीजियै।
रह्यौ कैसे जाय अकुलाय न बसाय कछु आवैं पुर प्यारे तब विष सुत दीजियै।।२०८

शब्दार्थ-सीथ = जूंठन। बसाय = वश चले। प्यारे = भक्त।

भावार्थ- आप लोग अब मन लगाकर दूसरी भक्ताबाई की कथा सुनिये, जो कि मन को प्रिय लगने वाली है। इस प्रकार की कथाओं को सुनकर यही शिक्षा मिलती है कि-संसार में जब तक हैं, सत्संग अवश्य कीजिये। एक राजा परमभक्त था। उनकी कन्या ऐसे घर में व्याही थी, जहाँ के सभी लोग महा-अभक्त थे। उनके यहाँ भगवद्भक्ति-संबंधी कोई कार्य कभी नहीं होता था। वहाँ साधु-सन्तों के आने की बात तो दूर रही, उनका नाम भी कोई कभी नहीं लेता था। पिता के यहाँ उस राजकन्या का शरीर सन्तों की सीथ-प्रसाद से और नेत्र उनके दर्शनों से पले थे। उसकी जिह्वा सन्त-चरणामृत के स्वाद-विशेष के रस को जानने वाली थी, भक्तिमय वातावरण में पलने वाली उस राजपुत्री का मन घबड़ाने लगा। भक्तिविमुख

लोगों के बीच में भला उससे कैसे रहा जा सकता था। वहाँ उसका कुछ भी वश नहीं चलता था। अन्त में जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा तो उसने अपनी एक दासी से कह दिया कि-इस नगर में जब कभी भगवान के प्यारे भक्त आवें तो मुझे बताना। घर के विमुखों को भगवद्भक्त बनाने के लिए उसने मन में निश्चय कर लिया कि-प्रेमी भक्तों के आने पर अपने पुत्र को विष दे दूँगी।।२०८।।

व्याख्या-सन्त संग कीजिये-**क्योंकि-'संत सङ्ग अपवर्ग कर कामी भव कर पन्थ। कहहिं सन्त कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ।। (रा०च०मा० ७-३३) पुनः-तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः (भा० १-१८-१३) इसी का भाषानुवाद करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अङ्ग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग।। (रा०च०मा० ५-४) पुनः-सोई दिन शुभ लेखिये जा दिन सन्त मिलाहिं। सन्त के चरन कमल की महिमा मोते बरनि न जाहिं। जल तरङ्ग जलहीते उपजै फिरि जल माहिं समाहिं। हरि में साधु, साधु में हरि हैं साधु से अन्तर नाहिं।। ब्रह्मा विष्णु महेश साधु सङ्ग पाछे लागे जाहिं। 'दास गुलाल' साधु की सङ्गति नीच परमपद पाहिं।।**

भक्त नृप एक०-**उनका नाम महीपति राव था। ये महाराष्ट्र के एक गाँव के राजा थे। इनकी कन्या का नाम श्रीसीतादेवी था यह कह्लाढ़ के राजा रामराय से व्याही थी। यह राजा महा-अभक्त था। इसकी आज्ञा थी कि मेरे गाँव में कोई साधु-संत न घुसने पायें। 'पल्यो साधु सीथसों'-सन्तों की सीथप्रसादी की महिमा का स्वयं का अनुभव वर्णन करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं-उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः......(भा०१।५।२५) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४८।। 'दृगरूप पले'-नयनन्हि सन्त दरस नहिं देखा। लोचन मोरपङ्ख कर लेखा।। (रा०च०मा० १।११३।३) 'जीभ चरणामृत के स्वाद०-'दृष्टान्त श्रीरसिकमुरारिजीका, कवित्त ३८५।। 'रह्यौ कैसे जाय'-यथा-**

दूनौ भलौ सुपथ पै कुपथ पै ऊनौ भलौ सूनौ भलौ गृह पै न खल साथ करिये।
अनल की लपट औ नाहर झपट भली कपटी के कपट ते दूर अनुसरिये।।
यहै जग-जीवन परम पुरुषारथ है पर घर जाय फिरि रस सौं निकरिये।
हार मानि लीजै पै न कीजै वाद नीचन सों सरबस दीजै पै न परबस परिये।।

(पुरानी टिप्पणी)

सुत विष दीजिये-**उस राजकुमारी ने सन्तों की महिमा सुनी थी, दृढ़ विश्वास भी था कि सन्त समर्थ होते हैं, मरे हुए को भी जिला देते हैं तथा नेवासे ग्राम में मृतक सच्चिदानन्द नाम के व्यक्ति को श्रीज्ञानदेवजी द्वारा जीवित करने का प्रसंग उसने आँखों से देखा भी था। देखिये श्रीज्ञानदेवजी की कथा। अतः उसने पुत्र को विष देने का निश्चय किया कि सन्त जीवित कर देंगे और इस चमत्कार से घर वालों को भक्ति हो जायेगी।**

आये पुर सन्त आइ दासी ने जनाइ कही सही कैसे जाइ सुत विष लैकै दियो है।
गये वाके प्रान रोय उठी किलकानि सब भूमि गिरे आनि टूक भयो जात हियो है।।
बोली अकुलाय एक जीबे को उपाय जोपै कियो जाय पिता मेरे कैयो बार कियो है।
कहै सोई करैं दृग भरैं ल्यावो सन्तनिकौ कैसे होत सन्त पूछ्यो चेरी नाम लियो है।।२०९

शब्दार्थ-**किलकानि = कोलाहल।**

भावार्थ-**एक दिन दैवयोग से उस नगर में साधुओं की जमात आई। उनके आने का समाचार दासी ने उस राजपुत्री को दिया। अब उस भक्ता से सन्त-अदर्शन कैसे सहन होता। उसने अपने पुत्र को विष दे दिया। वह मर गया, अब वह राजकन्या तथा दूसरे घर के लोग रोने तथा विलाप करने लगे। लोग पछाड़ खा-खाकर धरती पर गिरने लगे। दुःख से उनके हृदय फटे जा रहे थे। तब उस भक्ता ने व्याकुल होकर उन लोगों से कहा कि-अब इसके जीवित होने का केवल एक ही उपाय है। यदि वह किया जाय तो पुत्र अवश्य जीवित हो सकता है। इस उपाय को मेरे पिता कई बार कर चुके हैं। रोते-रोते सभी ने कहा-जो भी उपाय बताओगी, उसे हम करेंगे। तब उस बाई ने कहा कि-सन्तों को बुला लाइये। उन लोगों ने पूछा कि सन्त कैसे होते हैं। इस पर भक्ता ने कहा कि-यह दासी मेरे पिता के घर में सन्तों को देख चुकी है, कैसे होते हैं, कहाँ मिलेंगे आदि बातों को यह बतायेगी। पूछने पर दासी ने लोगों को सन्तों के लक्षण बताये और कहा कि-आज इस नगर में कुछ सन्त पधारे हैं और अमुक स्थान पर ठहरे हैं।।२०९।।**

व्याख्या-आये पुर सन्त-**क्योंकि कहा गया है कि-जेहिके जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कुछ संदेहू।। (रा.च.मा. १।२५९) नहीं तो भला ऐसे विमुख के राज्य में सन्त जाने ही क्यों लगे? यथा-संत तहाँ हीं संचरैं, जहाँ भक्ति कौ सीर। सूखे सरवर परसराम, हंस न विलमैं तीर।। (श्रीपरशुरामसागर) राजारामराय के कठोर आदेश से संत भूलकर भी उस गाँव में नहीं जाते थे। परमसाध्वी, परमभागवती, संतनिष्ठ श्रीसीताबाई इससे बहुत दुःखी**

रहा करती थीं। इन्होंने अपने पिताजी को पत्र द्वारा अपना दुःख निवेदन किया। तब श्रीमहीपति रावजी ने जन्मजात सिद्ध श्रीज्ञानदेवजी से प्रार्थना की कि आप एक बार उस गांव में पधारें और उन विमुखों को सन्मार्ग पर लावें। इनकी प्रार्थना पर श्रीज्ञानदेवजी अपनी पूरी जमात को लेकर उस गाँव में गये। साथ में श्रीनिवृत्तिनाथजी, श्रीसोपानदेवजी, श्रीमुक्ताबाईजी, श्रीचोखामेलाजी, श्रीसावन्तामालीजी, श्रीगोरा कुम्हारजी, श्रीनरहरि सोनारजी और श्रीबिसोवा खेचर आदि उच्चकोटि के गृहस्थ विरक्त सन्त थे। उस समय राजा रामराय शिकार खेलने गया था।

दासी ने जनाय कही–**यह मायके की दासी थी। राजकुमारी ने इसको इसलिए नियुक्त कर रखा था कि सन्त आवें तो सूचना देना। दासी के द्वारा सूचना पाकर श्रीसीताबाई उसे सङ्ग लेकर सन्तों का दर्शन करने गईं। संयोग से उस समय श्रीनामदेवजी इस आशय का पद गा रहे थे कि जो सच्चे साधुओं को एक ग्रास भी भोजन कराता है तो भगवान तृप्त होकर डकार लेते हैं। फिर तो सीता ने उसी समय मन में सङ्कल्प किया कि आज जैसे हो वैसे सन्तों को घर पर बुलाऊँगी और भगवत्प्रसाद पवाऊँगी तथा सन्तों की सीथ-प्रसादी लूंगी।** 'कैसे होत सन्त'–**यह जानते ही नहीं थे कि सन्त क्या होते हैं। समझे कि सन्त नाम की कोई औषधि, जड़ी-बूटी होगी अथवा कोई मन्त्र-तन्त्र होगा। बोले कि सन्त यदि बाजार में मिलते हों तो अभी हजार, दो हजार देकर मँगवा लिया जाय। यदि जङ्गल की कोई जड़ी-बूटी हो तो अभी खोदवाकर मँगा लें।**

चली लै लिवाइ चेरी बोलिबौ सिखाय दियो देखिकै धरनि परि पांय गहि लीजियै।
कीनी वही रीति दृगधारा मानौ प्रीति सन्त करी यौं प्रतीति गृह पावन कौ कीजियै।।
चले सुख पाय दासी आगे ही जनाई जाय आय ठाढ़ी पौरि पांय गहे मति भीजियै।
कही हरे बात मेरे जानौ पिता-मात मैं तो अङ्ग में न माति आज प्राण वारि दीजियै।।२१०

शब्दार्थ–**हरे = धीरे। माति = समाति।**

भावार्थ–**वह दासी राजा को साथ लेकर चली और सन्तों से बोलना सिखा दिया और कहा कि-देखते ही पृथ्वी पर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करते हुए उनके चरणों को पकड़ लीजियेगा। राजा ने दासी के कथनानुसार ही कार्य किया। शोकवश राजा की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी परन्तु उस समय ऐसा लगा कि-मानो ये सन्त प्रेमवश रो रहे हैं। सहज विश्वासी उन सन्तों ने भी विश्वास किया कि-ये लोग प्रेम से**

रुदन कर रहे हैं। राजा ने प्रार्थना की कि-प्रभो! मेरे घर पधारकर उसे पवित्र कीजिये। राजा की विनती स्वीकार कर सन्तजन प्रसन्नतापूर्वक उसके साथ चले। दासी ने आगे ही आकर भक्तारानी को साधुओं के शुभागमन की सूचना दे दी। वह रानी पौरी में आकर खड़ी हो गई। सन्तों को देखते ही वह उनके चरणों में गिर पड़ी और प्रेमवश गद्‌गद हो गई। आँखों में आँसू भरकर धीरे से बोली-मेरे पिता-माता तो सन्तजन ही हैं, इसे सत्य जानो। आज मैं अपने अङ्ग में फूली नहीं समा रही हूँ। आप लोगों का दर्शन पाकर आज ऐसा मन में आता है कि-अपने प्राणों को आपके श्रीचरणों में न्यौछावर कर दूँ।।२१०।।

व्याख्या-बोलिवो सिखाय दियो-**यही कि सन्तों के समीप चलकर उन्हें प्रणाम करके कहना कि हम पतित आप लोग पतितपावन हैं, हम दीन हैं आप लोग दीनबन्धु हैं आदि। सिखाना इसलिए पड़ा कि राजा लोगों की तो अबे-तबे की बोली होती है। हमेशा सेवकों के साथ तड़प-झड़प की ही बात करते हैं अतः सन्तों से भी यदि वैसे ही बोलेंगे तो बना-बनाया काम भी बिगड़ जायगा। इस पर दृष्टान्त श्रीअजामिलजी का। देखिये पूर्वार्द्ध १७२। तथा दासी ने यह भी कह दिया कि यदि इस प्रकार न कह सको तो प्रणाम करके मौन ही रहना। इस पर दृष्टान्त अकबर बीरबल का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १७३। मानो प्रीति··· प्रतीति-भाव यह कि वस्तुतस्तु राजा की सन्तों में प्रीति है नहीं, प्रेम तो है पुत्र में, आँसू बहा रहे हैं पुत्रप्रेम में, परन्तु भोले-भाले सन्तों ने यही समझा कि राजा सन्त प्रेम में रो रहे हैं। सन्त अपने समान ही सबको समझते हैं। यथा-नाथ सुहृद सुठि सरल चित्त, सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान।। (रा०च०मा०२।२२७) कहावत है-आप भला तो जग भला।।**

दृष्टान्त श्रीयुधिष्ठिरजी एवं दुर्योधन का-**एक बार भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीयुधिष्ठिरजी से खलों की खोज करने को कहा। परमभागवत धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी को कोई खल नहीं मिला। ऐसे ही एक बार दुर्योधन से साधु की तलाश करने को कहा तो उसे कोई साधु नहीं मिला। ऐसे ही सन्तों ने यहाँ भी पुत्र-प्रेमासक्त राजा को परम सन्तसेवी समझा। यहाँ समझने में भूल हुई। इस पर-**

दृष्टान्त बुढ़िया का-**एक गाँव में एक पण्डितजी कथा कह रहे थे। गाँव के लोग बड़े प्रेम से कथा सुनते थे। श्रोताओं में एक वृद्ध माई थीं। उनकी तो यह हालत थी कि जब पण्डितजी पोथी खोलते तभी से उनकी आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगता था और कथा के अन्त तक रोती रहती थीं। पण्डितजी यह देखकर मुग्ध हो जाते थे कि यह**

वृद्धा कितनी प्रेममयी है। दक्षिणा के लोभी पण्डितजी मन ही मन विचारते कि निश्चय ही पूर्णाहुति के दिन यह विशेष दक्षिणा चढ़ायेगी। परन्तु हुआ ठीक इसके विपरीत। जिस दिन पूर्णाहुति थी उस दिन बुढ़िया कथा में नहीं आई। पण्डितजी ने बहुत प्रतीक्षा की, ताका-झाँका परन्तु वह तो नहीं ही आई। दूसरे दिन श्रीपण्डितजी कोई बहाना बनाकर बुढ़िया के घर ही पहुँच गये। उन्होंने सोचा कि किसी आवश्यक कार्यवश अथवा शरीर के सुख-दुःख से नहीं आ सकी हो तो यदि उसके घर चला जाऊँगा तो वह प्रसन्न होकर और अधिक भेंट करेगी। लेकिन बुढ़िया तो पण्डितीजी को देखकर हाथ-जोड़कर प्रणाम करके अपने गृह-कार्य में लग गई। तब पण्डितजी ने ही प्रसङ्ग छेड़ा, उसके प्रेम की प्रशंसा किये। तब बुढ़िया बोली-पण्डितजी! मैं आपकी कथा के लिए थोड़े ही रोती हूँ। मैं तो रोती हूँ अपनी धेवती (बेटी की बेटी) के लिए। वह अब नहीं रही। बड़ी प्यारी थी। उसकी याद में रोती हूँ। पण्डितजी ने पूछा कि तो तुम्हें कथा के समय ही उसकी कैसे याद आती थी? उसने कहा कि आपकी पोथी का वेष्टन छींट का है, वह ऐसे ही वस्त्र पहनती थी। अतः जब आप पोथी खोलते हैं तो उसके वेष्टन को देखकर मेरी आँखें बरबस बरस पड़ती हैं। पण्डितजी ने माथा ठोका कि बड़ी भूल हुई, मैंने तो इसे कथा प्रेम समझा था।

कही हरे बात पिता-मात-**यथा-'मेरे भक्त हैं देई देऊ। भक्तनि जानौं भक्तनि मानौं निज जन मोहिं बतेऊ। मातु पिता भैया मेरे भक्तै भक्त दमाद सजन बहनेऊ। सुख संपति परमेश्वर मेरे हरिजन जाति जनेऊ।। भवसागर को बेरौ भक्तै केवट बड़ हरि खेऊ। बूड़े बहुत उबारे भक्तन लियो उबारि जरेऊ।। महिमा कृष्ण कपिल कहि हारे सर्वोपरि हैं बेऊ। व्यासदास के प्राण जीवन धन हरिजन बाल बड़ेऊ।।' (व्यासवाणी)**

अंग में न माति- **क्योंकि- सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।। गिरिजा सन्त समागम सम न लाभ कछु आन।। श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं- सुनु मुनि आज समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे।। श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं- आजु धन्य मैं धन्य अति, यद्यपि सब विधि हीन। निज जन जानि राम मोहिं सन्त समागम दीन्ह।। (रामा०) 'प्राण वारि दीजिये'- परमभक्त श्रीरैदासजी कहते हैं-आज दिवस लेऊँ बलिहारा। मेरे घर आया राम का प्यारा।। श्रीनागरीदासजी कहते हैं- क०- लोचन सजल लाल घूमत विशाल छके चलनि मरालकीसी ठाढे रोम तन मैं। उज्ज्वल रस भीने ताकै दीन्हें गरबाही रहैं श्यामा श्याम दोऊ हिये सुन्दर सदन मैं।। पुलकित गात गिरा गद्गद रोमांचनित धारैं छाप कंठी**

औ तिलक निज पन मैं। कहा भयो नागर किये ते जप तप दान जौ पै सन्त माधुरी बसी न ऐसी मन मैं।। (नागर समुच्चय)

रीझि गये सन्त प्रीति देखिकैं अनन्त कह्यो होयगी जु वही सो प्रतिज्ञा तैं जो करी है।
बालक निहारि जानी विष निरधार दियो दियो चरनामृत कौं प्रान संज्ञा धरी है।।
देखत विमुख जाय पाँय ततकाल लिये किये तब शिष्य साधु सेवा मति हरी है।
ऐसे भूप नारि पति राखी सब साखी जन रहैं अभिलाखी जोपै देखौ याही घरी है।।२११

शब्दार्थ- **निरधार=निर्धार, निश्चय, निर्णय। रीझ = प्रसन्न। संज्ञा = चेतना। साखी = साक्षी, प्रमाण।**

भावार्थ- **उस भक्तारानी की अति विशेष प्रीति देखकर सन्तजन अति प्रसन्न हो गये और बोले कि-तुमने जो प्रतिज्ञा की है, वह पूरी होगी। राजमहल में जाकर सन्तों ने मरे हुए बालक को देखकर जान लिया कि-इसे निश्चय ही विष दिया गया है। उन्होंने सन्त-भगवन्त चरणामृत उसके मुख में डाला। वह तुरन्त जीवित हो गया। इस विलक्षण चमत्कार को देखते ही राजा एवं उसके परिवार के सभी लोग जो भक्ति से विमुख थे, सभी ने संतों के चरण पकड़ लिए और प्रार्थना की कि-हम लोग आपकी शरण में हैं। तब सन्तों ने उन सभी को दीक्षा देकर शिष्य बनाया। उन लोगों ने वैष्णव बनकर सन्तों की ऐसे प्रेम से सेवा करना आरम्भ कर दिया जिसे देखकर लोग प्रेम-विभोर हो जाते थे। इस प्रकार प्रभु ने उस रानी की लज्जा रखी। जिसके साक्षी संतजन हैं। इस प्रकार का उत्कट दर्शनाभिलाषी यदि कोई हो तो आज भी संतों के दर्शनकर अपनी इच्छा-प्रतिज्ञा को पूर्ण कर सकता है।।२११।।**

व्याख्या-रीझि गये संत-**श्रीज्ञानेश्वरजी ने इसे पहचान लिया। बोले-बेटी! तुम तो श्रीमहीपतिराव की पुत्री हो न? हमने तुमको वहाँ देखा है। तुम खूब सन्तों की सेवा करती थीं। प्रसाद-चरणामृत के लिए मचल जाती थीं। राजकुमारी अतीत का स्मरण कर फफककर रोने लगी। श्रीज्ञानेश्वरजी ने धैर्य बँधाया। 'प्रतिज्ञा तैं जो करी है'-राजकुमारी ने प्रतिज्ञा की थी कि या तो सन्त मेरे मरे हुए पुत्र को जीवित करके, भक्ति का चमत्कार दिखाकर घर वालों को भी भक्त बना दें, नहीं तो मैं भी देह-त्याग दूँगी परन्तु इन विमुखों के संग अब नहीं रहूँगी। उसने अपना यह निश्चय श्रीज्ञानदेवजी को भी सुना दिया था 'दियो चरणामृत०'-भगवच्चरणामृत की अनन्त महिमा है। यथा-अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि विनाशनम्। विष्णोःपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।। (अर्थस्पष्ट है।) देखत विमुख०-भाव**

यह कि नास्तिक लोग शास्त्र के वचनों पर विश्वास नहीं करते, वे तो प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। अतः इन सभी को भी प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर ही भक्ति हुई। सब लोग कहने लगे- धन्य सन्त जहँ-जहँ फिरैं, तहँ-तहँ करैं निहाल। चरणामृत मुख डारिके फिरि ज्यायो नृप बाल।। (पु० टि०)

आशै अगाध दुहुँ भक्त को हरि तोषन अतिशै कियौ।।
'रङ्गनाथ' को सदन करन बहु बुद्धि विचारी।
कपट धर्म रचि जैन-द्रव्य-हित देह विसारी।।
हंस पकरनै काज बधिक बानौं धरि आये।
तिलक दाम की सकुच जानि तिन आप बँधाये।।
सुत बध हरिजन देखिकै दै कन्या आदर दियौ।
आशै अगाध दुहुँ भक्त को हरि तोषन अतिशै कियौ।।५१।।

शब्दार्थ-आशै= आशय, उद्‌देश्य, अभिप्राय। अगाध = अथाह, गम्भीर। तोषन = सन्तुष्ट करने की क्रिया, प्रसन्न। सदन = मन्दिर। रचि = बनाकर। विसारी = विस्मृत की। काज = कार्य, प्रयोजन, मतलब। बानौ = वेष, भेष।

भावार्थ-मामा और भानजे इन दोनों भक्तों के अभिप्राय अत्यन्त ही गम्भीर थे। इन्होंने अपनी लोक-वेद से विलक्षण भक्ति के द्वारा भगवान को अत्यन्त प्रसन्न किया। इन्होंने श्रीरङ्गनाथजी का मन्दिर बनवाने के लिए धन प्राप्त करने के अनेक उपाय सोचे परन्तु धन प्राप्ति न हुई तब छल करके जैनी बन गये। धन हेतु अपने शरीर का भी त्याग किये। मानसरोवर निवासी हंसभक्तों को पकड़ने के लिए बहेलिये लोग वैष्णव-सन्तों का वेष बनाकर आये। उन हंसभक्तों ने तिलक और कंठी का आदरकर उसके संकोचवश जानबूझकर स्वयं बँध गये। वेषधारी भगवद्भक्त द्वारा अपने लड़के की हत्या हुई जानकर भी सदाव्रती भक्त ने उस वैष्णव-भक्त को अपनी कन्या व्याह कर उसका बहुत अधिक आदर किया।।५१।।

व्याख्या- आशै अगाध- संतों के भाव बड़े गम्भीर एवं विलक्षण होते हैं। तभी तो श्रीनाभाजी ने कहा है-' गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्ति दांव को।' विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८९।। ये दोनों भक्त वैष्णव होकर भी श्रीरङ्गनाथ भगवान का मन्दिर बनवाने के लिये धन प्राप्ति हेतु सरावगी के शिष्य हो गये। जबकि जैन धर्म को पाखण्डधर्म कहा गया है।

यह है इनके आशय की अगाधता। हरितोषन०-इसके दो अर्थ हैं। एक तो भावार्थ में दिया गया है।दूसरा यह कि इनके भाव पर रीझकर श्रीहरि ने भी इनका अत्यन्त तोषण किया। जैसा कि आगे की कथा से सुस्पष्ट है।

श्रीरङ्गनाथ-श्रीरंगक्षेत्र-महात्म्य में श्रीरङ्गजी का विस्तृत वर्णन है। जब सृष्टि के आदि में भगवान ने चतुर्भुजरूप होकर जल में शयन किया और उनके नाभिकमल से श्रीब्रह्माजी उत्पन्न हुए एवं श्रीब्रह्माजी को सृष्टि रचने की आज्ञा हुई तब उन्होंने प्रार्थना की कि इसमें पड़कर मैं संसार में लिप्त न हो जाऊँ। भगवान ने आज्ञा दी कि हमारा स्मरण भजन करते रहना, इससे संसार बन्धन में नहीं पड़ोगे। उस समय श्रीब्रह्माजी ने भगवदाराधन की विधि पूछकर फिर प्रार्थना की कि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है इसी स्वरूप का ध्यान मुझे दीजिये। भगवान ने उस समय उनको 'श्रीरङ्ग' नामका प्रणवाकार विमान दिया। उसी में भगवान का चतुर्भुजरूप का अर्चाविग्रह भी विराजमान था। श्रीरङ्गनामक विमान में विराजने के कारण भगवान को श्रीरङ्गनाथजी कहा जाता है।भगवान ने जो ध्यान और आराधन श्रीब्रह्माजी को बताया है वही 'पंचरात्र' नाम से ख्यात है। राजा इक्ष्वाकुने जब श्रीमनुजी महाराज से इसे पढ़ा तब उनको इसका पता लगा। तब उनकी भी लालसा हुई कि भगवदाराधन के लिये हम भी उस विग्रह को प्राप्त करें। अतः तप करके श्रीब्रह्माजी को प्रसन्न करके वे उस विग्रह को माँग लाये। श्रीइक्ष्वाकुजी से लेकर चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी के समय तक श्रीरङ्गनाथ भगवान सूर्यवंश के राजाओं द्वारा पूजित होते रहे। श्रीरामजी के राज्यकाल में श्रीविभीषणजी ने इन्हें श्रीप्रभुकृपा से प्राप्त किया। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ।।२२२।।

सदन करन०-भगवान का मन्दिर बनवाने से त्रैलोक्य का अधिपतित्व प्राप्त होता है। यथा-प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्। पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्।। (भा०११।२७।५२) अर्थ-भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी मूर्ति की प्रतिष्ठा करने से पृथ्वी का एकछत्र राज्य, मन्दिर निर्माण से त्रिलोकी का राज्य, पूजा आदि की व्यवस्था करने से ब्रह्मलोक और तीनों के द्वारा मेरी समानता प्राप्त होती है। 'कपट धर्म रचि'-भाव यह कि ये अन्तःकरण से तो वैष्णव थे, ऊपर से जैन द्रव्य हित जैनी बने थे।

मामा-भानजे

आशय अगाध दोऊ भक्त मामा भानजे कौं दियौ प्रभुतोष ताकी बात चित धारियै।
घर ते निकसि चले बन कौं विवेकरूप मूरति अनूप बिन मन्दिर निहारियै।।

दक्षिण में रंगनाथ नाम अभिराम जाकौ ताकौ लै बनावै धाम काम सब टारियै।
धन के जतन फिरे भूमि पै न पायौ कहूं, चहुँदिशि हेरि देख्यो भयौ सुख भारियै।।२१२

शब्दार्थ-तोष = सन्तोष, तृप्ति, प्रसन्नता । विवेकरूप = ज्ञानस्वरूप। अनूप = उपमा रहित। धाम = मन्दिर। टारियै = टालिये, छोड़िये। भूमि पै = बहुत स्थानों में, जहाँ-तहाँ। हेरि = ढूँढ़ि।

भावार्थ-दो भक्त थे, उनमें एक मामा और दूसरा भानजा था, इन दोनों की भक्ति का मर्म अत्यन्त गम्भीर है। इन्होंने अपनी दृढ़भक्ति से प्रभु को कैसे सन्तुष्ट किया, इस बात को सुनकर चित्त में धारण कीजिये। मामा-भानजे दोनों ज्ञान-भक्ति के स्वरूप अर्थात् परमभक्त थे। उन्हें संसार से पूर्ण वैराग्य हो गया और वे घर छोड़कर एकान्त में भगवान का भजन करने के लिए वन को चले गये। वहाँ उन्होंने ठाकुर श्रीरङ्गनाथजी की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति देखी। परन्तु मन्दिर नहीं था। दोनों भक्तों ने निर्णय किया कि-हम लोग अब सब कामों को छोड़कर भगवान श्रीरङ्गनाथजी का सुन्दर मन्दिर बनावेंगे। मन्दिर बनाने के लिए धन को ढूँढ़ने लगे, बहुत घूमे, परन्तु अनेक उपाय करने पर भी पर्याप्त धन नहीं मिला। पश्चात् एक स्थान पर ध्यानपूर्वक देखा तो वहाँ धन मिलने की आशा हुई अतः दोनों को बड़ा सुख हुआ।।२१२।।

व्याख्या-घरते निकसि चले०-इसलिए कि घर अहन्ता और ममता का केन्द्र है। अतः घर में रहकर आसक्तियों से छुटकारा पाना तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि में प्रवृत्ति असम्भव ही है। यथा-'होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भक्ति बिनु।। यही कारण है कि श्रीमनुजी-बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा।। (रामा०) श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-तुलसी घर के घेर में, घरी घरी तन छीन। कबहूँ बन बन ना फिरे कर करवा कौपीन।। पुनः-गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला।। काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूपा।। (रामा०) इसीलिए श्रीप्रहलादजी कहते हैं कि-तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्। हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।। (भा० ७।५।५) अर्थ-पिताजी! संसार के प्राणी 'मैं' 'मोर' 'तै' के झूठे आग्रह में पड़कर सदा ही अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। ऐसे प्राणियों के लिए मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने अधःपतन के मूल कारण,

घास से ढके हुए अँधेरे कुएँ के समान इस घर को छोड़कर वन में चले जायें और भगवान श्रीहरि की शरण ग्रहण करें।। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३३, श्रीशबरीजी का प्रसङ्ग-'वनमें रहति।'

यहाँ यदि कोई शंका करे कि क्या घर में रहकर साधन-भजन करने से मुक्ति नहीं हो सकती? तो इसका समाधान सन्तों ने यह किया है कि घर में रहकर साधन करते हुए मुक्ति को प्राप्त करना बैलगाड़ी पर चढ़कर मंजिल पार करने के समान है। तात्पर्य यह कि बैलगाड़ी से भी मंजिल तक पहुँचा तो जा सकता है परन्तु उसमें झटके बहुत लगते हैं। उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में खटके बहुत हैं। अतः साधन हो तो सकता है परन्तु कठिनाईयाँ बहुत उठानी पड़ती हैं। परन्तु गृहासक्ति परित्यागपूर्वक वन में रहकर साधन-भजन करते हुए सहज ही मुक्तिपद प्राप्त किया जा सकता है। अतः वन में रहकर साधन करते हुए मुक्ति की मंजिल तक पहुँचना नाव की सवारी से यात्रा करने के समान है जिससे खटका एवं झटका का लेश नहीं होता है। विवेकरूप कहने का भाव यह कि कोई यह न समझे कि नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाइ भये संन्यासी।। बल्कि ये लोग विवेकपूर्वक एवं संसार के भोगों का मिथ्यात्व तथा हरिभजन की साररूपता समझकर घर से निकले थे। दोनों मामा-भानजे एक दिन चौपाल में बैठे-बैठे यह विचार किये कि-एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई। नर तनु पाइ विषय मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।। ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई। देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम विहाई। (रामा०) बस, चौपाल से ही वन को चल दिये।

काम सब टारियै-भाव यह है कि उस समय मन में जप, तप, व्रत-संयम, तीर्थाटन आदि करने का संकल्प था। परन्तु ऐसी लगन लगी कि अब तो सब कार्य छोड़कर पहले मन्दिर बनाना चाहिए। धन के जतन फिरे-इसलिए कि हाथ पर हाथ धरकर बैठने से धन नहीं मिल सकता। धन तो उद्योग से ही प्राप्त होता है। यथा-चलो कबीर उद्यम करें, बैठे देगा कौन। उद्यम के सिर लक्ष्मी, पङ्गु के सिर पौन।। श्रीभर्तृहरिजी ने भी लिखा है-उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मीः।' अर्थात् उद्योगी पुरुष श्रेष्ठ को लक्ष्मी प्राप्त होती है। दृष्टान्त-टिटिहरी का-टिटिहरी ने साहसपूर्वक समुद्र सुखाने का यत्न किया तो श्रीअगस्त्यजी की कृपा से समुद्र का शोषण होकर रहा। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५७९। प्रश्न-जब विवेक पूर्वक घर छोड़कर वन में भजन करने आये तो धन के लिये यत्न क्यों? समाधान-ये धन के

लिये यत्न अपने भोग-विलास के लिये नहीं कर रहे हैं बल्कि भगवान का मन्दिर बनवाने के लिए। मन्दिर बनवाना भी भजन ही है। भगवत्सेवा परमार्थ है। परमार्थ के लिये धन का प्रयत्न बुरा नहीं है। यथा-मर जाऊँ मागूँ नहीं, अपने तन के काज। परमारथ के कारन मोहि न आवै लाज।। (कबीरजी) 'देख्यो-ये लोग हारकर एक वृक्ष के नीचे थके-मांदे बैठे थे। दोपहरी का समय था। सामने दृष्टि गई तो एक चमकता हुआ स्थल नजर आया। संयोग से उधर से ही एक आदमी आ रहा था। उससे पूछे तो उसने बताया कि यह जैनियों का मन्दिर है, इसमें मणियाँ जड़ी हैं, पारसमणि की मूर्ति है। सूर्य की किरणें पड़ने से उसकी चमक बढ़ गई है। यह सुनकर ये लोग मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए।

मन्दिर सरावगी कौ प्रतिमा सो पारस की आरस न कियो वेद न्यूनहूं बतायो है।
पावैं प्रभु सुख हम नर्कहूं गये तौ कहा? धरक न आई तब कान लै फुकायो है।।
ऐसी करी सेवा जासों हरी मति केवरा ज्यों सेवरा समाज सबै नीके कै रिझायो है।
दियो सौंपि भार तब लैबै को विचार करै हरैं कौंन राह? भेद राजनि पै पायो है।।२१३

शब्दार्थ-सरावगी = जैनी । प्रतिमा = मूर्ति। पारस = एक पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, पारसनाथ, पार्श्वनाथ, जैनियों के तेइसवें तीर्थङ्कर। आरस = आलस्य, देर। न्यून =तुच्छ, खोटा। धरक = धड़क, शङ्का। कान फुकायो = मंत्र लियो। केवरा = केवड़ा सेवरा = जैनी। रिझायो = प्रसन्न कियौ। भार = कार्यभार। राजनि पै = मिस्त्री-कारीगरों से।

भावार्थ-मामा-भानजे दोनों भक्तों ने देखा कि एक सरावगियों का मन्दिर है और वहाँ प्रतिमा पारस की है। जैनी मन्दिरों में जाना पापकर्म है। ऐसा वेदों ने बताया है परन्तु इन दोनों भक्तों ने विचार किया कि-हमारे प्रभु श्रीरङ्गनाथ सुख पावें, हमें वही कार्य करना चाहिए। प्रभु निमित्त अनुचित कर्म करके यदि हम नरक में गये तो भी हमें कोई चिन्ता नहीं है। उनके मन में जरा सी भी शङ्का नहीं हुई और उन्होंने विलम्ब किये बिना ही जैन सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली। मन्दिर में रहकर उन दोनों ने ऐसी सेवा की, जिससे सभी लोगों का मन इनकी ओर खिंचा, जैसे कि केवड़ा के फूल की उत्कट गन्ध की ओर खिंचता है। सम्पूर्ण जैन समाज को अच्छी प्रकार प्रसन्न कर लिया। सब लोगों ने मन्दिर का सारा भार इनको सौंप दिया। तब ये विचार करने लगे कि-मूर्ति की चोरी किस प्रकार करें। अन्त में पता लगाते-लगाते इन्होंने मन्दिर बनाने वाले कारीगरों से भेद पाया।

उन्होंने बताया कि मन्दिर के शिखर को खोलकर मार्ग बनाया जा सकता है। (मन्दिर में जाने का मार्ग न था, केवल इतना छिद्र था कि हाथ डालकर पूजन हो सके।) ।।२१३।।

व्याख्या-प्रतिमा सो पारस की-यह जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर पारसनाथ की ही पारसमणि की प्रतिमा थी। यहाँ यथा नाम तथा गुण चरितार्थ हुआ। यह नहीं कि नाम तो शीतलदास हो और काम करते हों ज्वालादास का अर्थात् क्रोध से भरे रहते हों, सबसे लड़ते-झगड़ते रहते हों। वेद न्यूनहुँ बतायो है-यथा-यस्य किला नु चरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्य माणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते।। येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमाया विमोहिताः स्वविधिनियोग शौचचारित्र विहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौच केशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुले नोपहतधियो ब्रह्म ब्राह्मण यज्ञपुरुष लोक विदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति।। (भा० ५।६।९।१०) अर्थ-जिस समय कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी उस समय कोङ्क वेङ्क और कुटक देश का मन्दमति राजा अर्हत् वहाँ के लोगों से श्रीऋषभदेवजी के आश्रमातीत आचरण का वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहण कर लोगों के पूर्व सञ्चित् पाप फलरूप होनहार के वशीभूत हो भयरहित स्वधर्म पथ का परित्याग करके अपनी बुद्धि से अनुचित और पाखण्डपूर्ण कुमार्ग का प्रचार करेगा। उससे कलियुग में देवमाया से मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्रविहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे। अधर्मबहुल कलियुग के प्रभाव से बुद्धिहीन हो जाने के कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना केश नुचवाना आदि ईश्वर का तिरस्कार करने वाले पाखण्ड धर्मों को मनमाने ढङ्ग से स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान यज्ञपुरुष की निन्दा करने लगेंगे। फलतः वे अपनी इस नवीन अवैदिक, स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति में अन्ध परम्परा से विश्वास करके मतवाले रहने के कारण स्वयं ही घोर नरक में गिरेंगे।

पुनः-न वदेत् यावनी भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।। गजैरापीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्। (धर्माचार्यः) अर्थात् प्राण संकट उपस्थित होने पर भी म्लेच्छ भाषा नहीं बोलना चाहिए तथा हाथी के द्वारा कुचल जाने का भय उपस्थित होने पर भी प्राण बचाने के लिए जैन मंदिर में नहीं जाना चाहिए।। नर्कहू गये तो कहा-भगवद्भक्तों को स्वर्ग नरक का भय नहीं होता। यथा-नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः (भा० ६।१७।२८) विशेष देखिये पू० पृष्ठ ३३९ पुनः-नर्क स्वर्ग अपवर्ग आस नहिं त्रास

है। जहँ राखौ तहँ रहौं मानि सुखरास है।। देहु दया करि दान न भूलौं केलि को। भगवत बलित तमाल विलोकौं बेलि को।। पुनः-करै स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई।। (रामा०) इस पर-

दृष्टान्त-गोपियों का-भगवान श्रीकृष्ण प्रायः ब्रज की विशेषकर ब्रज-गोपियों की प्रेम चर्चा करते रहते। जिसे सुनकर महारानियों को अनख होता कि उन अहीरिनियों के प्रेम में ऐसी कौन-सी विशेषता है जो श्रीद्वारिकानाथजी हम लोगों के प्रेम की चर्चा न करके उनके ही भाव में डूबे रहते हैं। सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण ने रानियों के इस अनावश्यक अनख एवं अहङ्कार को दूर करने के लिए एक बार एक लीला रची। एक दिन महारानियों से वार्ता-विनोद करते-करते पेट-दर्द का बहाना करके लेट गये। रानियों की विकलता का वारापार नहीं रहा। इतने में श्रीनारदजी आ गये। औषधि के सम्बन्ध में पूछने पर श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि किसी प्रेमीभक्त की चरणरज मिल जाय तो मैं तत्काल अच्छा हो सकता हूँ। फिर क्या था-श्रीनारदजी चल पड़े चरणरज की तलाश में। पहले रानियों से ही माँगे। परन्तु सबकी सब इन्कार कर गईं, यह कहकर कि यदि हम ऐसा करेंगी तो हमें घोर पाप लगेगा, हम नरक की भागिनी बनेंगी। अतः यह महान् अनुचित कार्य हमसे नहीं हो सकता। श्रीनारदजी ने यह बात श्रीकृष्ण को सुनाई तो आपने ब्रज जाने का संकेत किया। श्रीनारदजी ब्रज आये। श्रीकृष्ण के पेद दर्द की बात सुनकर गोपियों के प्राण सूख गये। वे घबड़ाकर बोलीं-नारदजी! कोई वैद्य? कोई औषधि? श्रीनारदजी ने कहा-ब्रजदेवियो! है तो सब कुछ, परन्तु उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। आश्चर्य तो यह है कि वह वस्तु है सबके पास, परन्तु मैं सम्पूर्ण संसार का चक्कर लगा आया लेकिन कोई उसे देना नहीं चाहता है। गोपियों ने अधीर होकर कहा-नारदजी! यदि वह वस्तु हम लोगों के पास भी है तो आप शीघ्र बतावें, हम अभी उसे देने के लिए तैयार हैं। भला, प्यारे के लिए ऐसी कौन वस्तु है, जो हम न दे सकें। श्रीनारदजी ने कहा-यदि ऐसी बात है तो तुम लोग श्रीकृष्ण के लिए अपनी चरणरज प्रदान करो। यह सुनते ही सबकी-सब गोपियों ने अपने पैर बढ़ाकर कहा कि आप जितनी चाहो उतनी धूल ले जाओ। श्रीनारदजी ने उनको समझाते हुए कहा कि अरी बावरी गोपियो! क्या तुम यह नहीं जानती हो कि श्रीकृष्ण भगवान हैं? भला, उनको खाने के लिए तुम अपने पैरों की धूलि देती हो। क्या तुम्हें नरक का भय नहीं है? गोपियों ने कहा-नारदजी! श्रीकृष्ण हमारे परम-प्रियतम हैं, सर्वस्व हैं, हमें उनको स्वस्थ करने में, सुखी करने में यदि अनन्त-नरक भोगने पड़ें तो सहर्ष स्वीकार है। गोपियों का यह दिव्य

प्रेम देखकर श्रीनारदजी विह्वल हो गये। श्रीराधिकाजी एवं ब्रजगोपियों की चरणरज से स्वयं अभिषिक्त होकर श्रीकृष्ण के लिए भी उनकी परमपावन चरणरज की पोटली बाँधकर ले आये। श्रीकृष्ण ने वह महौषधि सेवन की। तत्काल स्वस्थ हो गये। यह सब सुन-देखकर रानियों का अभिमान गल गया। उन्होंने मन ही मन इन परमानुरागिणी ब्रजदेवियों को प्रणाम किया।

कान लै फुकायो है-इससे जनाया गया कि जैनगुरु का मन्त्र केवल कान तक ही रहा, हृदय में तो श्रीरङ्गनाथजी विराजमान हैं। 'नीके कै रिझायो है'-यह सब सेवा की महिमा है। तभी तो कहा गया है-तन करि मन करि वचन करि, सेवा जानै कोय। नर को वश करिबो कहा नारायण वश होय।। भेद राजनि पै पायो है-इन लोगों ने मन्दिर बनाने वाले राज-मिस्त्रियों से पूछा कि यदि सङ्कटकाल में हम मूर्ति की रक्षा करना चाहें तो कैसे कर सकते हैं? तब उन लोगों ने रहस्य बताया।

मामा रह्यो भीतर औ ऊपर सो भानजो हो कलस भँवरकली हाथ सौं फिरायो है।
जेवरी लै फाँसि दियो मूरति सो खैंचि लई और बार वह आप नीकैं चढ़ि आयो है।।
कियो हो जो द्वार तामें फूलि तन फँसि बैठ्यो अति सुखपाय तब बोलिकै सुनायो है।
काटि लेवो सीस ईष भेष की न निन्दा करैं भरैं अँकवारि मन कीजियो सवायो है।।२१४

शब्दार्थ-भँवरकली = पेंच, लोहे या पीतल की वह कड़ी जो कील में इस प्रकार लगी रहती है कि चारों ओर घूम सके। जेवरी = रस्सी। फाँसि = बाँधि। और बार = दूसरी बार। भेष = वैष्णव वेष। अँकवारि = गोद, दोनों भुजाओं में कसना।

भावार्थ-एक दिन अवसर पाकर उन दोनों भक्तों ने कलश के पेंच को घुमाया, वह खुल गया। तब मामाजी रस्सी के सहारे भीतर घुस गये और भानजा ऊपर ही रहा आया। मामा ने रस्सी में मूर्ति बांध दी भानजे ने उसे ऊपर खींच लिया। फिर रस्सी के सहारे मामाजी आराम से चढ़ गये। परन्तु शिखर के छेद से जब निकलने लगे तब उसमें शरीर फँस गया। अब मन्दिर बन जायगा, इस अति सुख से फूली देह के फँस जाने पर मामाभक्त को दुःख न हुआ। उन्होंने कहा कि मेरा सिर काट लो, जिससे लोग वैष्णववेष की निन्दा न करें। तब भानजे ने अपनी भुजाओं से पकड़कर मामाजी को खींचकर निकालना चाहा परन्तु उनका शरीर न निकल सका। कारण कि-वह आनंदवश और फूलकर सवाया हो गया था।।२१४

व्याख्या-काटि लेवो सीस-इसका एक कारण, आगे स्वयं बताते हैं कि 'ईस भेष की न निन्दा करैं।' भाव यह है कि मेरे पकड़े जाने पर पूँछे पहचाने जाने पर लोग वैष्णववेष की निन्दा करेंगे कि देखो वैष्णव होकर धन के लोभ से जैनी बन गये थे। वैष्णव ऐसे ही होते हैं। वेषनिन्दा का भाव यह कि मुझे अपनी निन्दा अथवा सजा का भय नहीं है, मैं वेष की निन्दा से डरता हूँ। यह मामाजी की वेषनिष्ठा है। सीस काट लेने पर पूछना, पहचानना असम्भव हो जायगा अतः वैष्णववेष निन्दा से बच जायेगा। दूसरा कारण यह कि यदि मोहवश मेरे एक सिर का लोभ करोगे तो मेरे पकड़े और पूछे जाने पर तुम्हारा भी भेद खुलेगा तो मेरे और तुम्हारे दोनों के सिर काटे जायेंगे। होगा क्या कि धर्म तो गया ही, धन भी न मिला, भगवान का कार्य भी न हुआ, व्यर्थ ही प्राण जायेंगे और यदि सिर काट लोगे तो केवल मेरे प्राण जायेंगे।। तुम बच जाओगे और प्रभु का कार्य भी सिद्ध हो जायगा। भगवत्कार्य में प्राण जाने को मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। दृष्टान्त-श्रीजटायुजी का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २५९, पद-फिरत न बारहिं बार प्रचार्‌यो।। (गी०) मन कीजियो सवायो है-इसका एक भाव यह कि तुम अपने मन को उदास मत करना। सवाये उत्साह से भगवान का मन्दिर बनवाना।

काटि लियो सीस ईस इच्छा कौ विचार कियौ जियौ नहीं जाय तऊ चाह मति पागी है।
जो पै तन त्यागकरौं कैसे आस सिन्धु तरौं ढरौं बाही ओर आयो नींव खुदै लागी है।।
भयो शोक भारी हमैं ह्वै गई अबारी काहू औरनैं विचारी देखैं वही बड़भागी है।
भरि अँकवार मिले मन्दिर सँवारि झिले खिले सुख पाइ नैंन जानै जोई रागी है।।२१५

शब्दार्थ-चाह = चाव, इच्छा। ढरौं = चलौं। अबारी = देर। सँवारि = बनाकर, सजाकर। झिले = सन्तुष्ट हुए। रागी = प्रेमी।

भावार्थ- ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है, ऐसा विचारकर भानजे ने मामा की आज्ञा का पालन किया अर्थात् उनका सिर काट लिया और कटा हुआ सिर तथा पारस की मूर्ति लेकर वहाँ से चल दिया। मामा के बिना भानजे से जीवित नहीं रहा जाता था। परन्तु श्रीरंगनाथजी का मंदिन बनाने की उत्कट अभिलाषा में मन मग्न था अतः भानजे ने विचारा कि-यदि मामा के वियोग में , मैं भी अपना शरीर छोड़ दूँ तो मन्दिर के निर्माण के आशारूपी समुद्र को कैसे पार कर सकूंगा। इसलिए उचित यही है कि जहाँ मंदिर बनाना है उसी ओर चलूँ और मन्दिर बनवाऊँ, मामा की आज्ञा का पालन करूँ। यह निश्चय करके कावेरी द्वीप में

जहाँ श्रीरङ्गनाथजी की प्रतिमा थी और जहाँ पर दोनों ने मन्दिर बनाने का निश्चय किया था उस भूमि पर भानजे ने आकर देखा तो वहाँ मन्दिर की नींव खुद रही है। यह देखकर भानजे को बड़ा दुःख हुआ उसने अपने मन में विचारा कि-निर्माण कार्य आरम्भ करने में मुझे बिलम्ब हो गया, यहाँ किसी दूसरे ने मन्दिर बनवाना प्रारम्भ कर दिया है। आगे जाकर देखा तो वही परम-भाग्यशाली मामाजी हैं जिनका सिर अपने हाथों से काटा था। वे ही नींव खुदवा रहे हैं। परस्पर प्रसन्न होकर एक दूसरे के गले से लिपट गये और एक दूसरे को प्रेम से देखकर उनके नेत्र खिल गये। इस भक्तमिलन के सुख को वही जान सकता है जो भक्त और भगवान का परम-अनुरागी हो। दोनों ने परम-विशाल मन्दिर बनवाया और उसमें श्रीरङ्गनाथजी को पधराया जो कि अद्यावधि दर्शनीय है।।२१५।।

व्याख्या-ईस इच्छा०-यथा-जो कुछ इच्छा राम की, तुलसी सोई होय। मन माने आनन्द करो, मन, मानै रहौ सोय।। पुनः-राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।। हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय विचारत सम्भु सुजाना।। (रामा०) यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि भगवान ने ऐसे निष्ठावान् भक्त के शिरच्छेद की क्यों इच्छा की? तो इसका समाधान यह है कि मामा ने वैष्णव होकर भी जो जैनधर्म की दीक्षा ली थी इससे उनको यह बड़ी-भारी ग्लानि थी कि मेरा यह शरीर अपावन हो गया है। वे स्वयं इस शरीर को नहीं रखना चाहते थे। यथा-सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा।। (रामा०) पुनः-इस शरीर से उन्होंने चोरी भी की थी अतः प्रभु ने शीश कटवाकर उनकी ग्लानि भी दूरकर दी और चोरी का दण्ड भी दे दिया तथा मन्दिर बनवाने की अभिलाषा थी तो इसके लिए दिव्यदेह दे दिया। भगवान ने श्रुति नीति भी रखी और भक्त की रुचि भी। यथा-चोरी को भी फल मिल्यो, कठिन परीक्षा लीन। भावपूर्ण प्रभु ने कियो धन की शुद्धी कीन।। (भ०व०टि०)

भयो शोक भारी-यह सोचकर कि धर्म भी गया, प्राण भी गया और भगवत्कार्य भी न हुआ। 'देखै वही'-इससे जनाया गया कि सिर काट लेने से पांचभौतिक शरीर नष्ट होने पर मामा ने दिव्य-शरीर से भानजे से पहले ही आकर मन्दिर का कार्य प्रारम्भ करा दिया था। मामा ने भगवत्सेवा में अपना प्राकृत-शरीर अर्पण किया तो भगवान ने भक्त-मनोरथ पूर्ण करने के लिए दिव्य-शरीर दे दिया। 'बड़भागी हैं' यथा-सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।। (रामा०) जानै जोई रागी है-भाव यह है कि जिसको जिस कार्य को करने की लगन लगी है वही उसकी पूर्ति का सुख भी जानता है यथा-जो अति

आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई। (रामा०) पुनः-प्रेमी ही प्रेम का सुख जानते हैं। यथा-सुनु सिवा सो सुख वचन मनते भिन्न जान जो पावई।। (रामा०) वर्णन आया है कि मन्दिर बन जाने पर श्रीरङ्गनाथ भगवान ने इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर प्रत्यक्ष होकर मामा-भानजे को दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। तब इन बड़भागियों ने यही वरदान मांगा कि जिन-जिन लोगों ने भी तन-मन-धन से इस पवित्र कार्य में सहयोग दिया है अथवा जो भी आपका दर्शन करें वह आपके धाम को प्राप्त करें। प्रभु ने 'एवमस्तु' कहा।

वेषनिष्ठ हंसभक्त

कोढ़ी भयो राजा कियो जतन अनेक ऐपै एकहू न लागै कह्यो हंसनि मँगाइयै।
बधिक बुलाय कही वेग ही उपाय करौ जहाँ तहाँ ढूंढ़ि अहो इहाँ लगि ल्याइयै।।
कैसे करि ल्यावैं वे तो रहैं मानसर माँझ ल्यावोगे छुटौगे तब जनै चारि जाइयै।
देखत ही उड़ि जात जाति को पिछानि लेत साधु सों न डरैं जानि भेष लै बनाइयै।।२१६

शब्दार्थ-**लागै = लाभ करै। हंसनि = हंसों को।**

भावार्थ-**एक राजा था, वह कोढ़ी हो गया। बड़े-बड़े वैद्यों ने अनेकों उपाय किये परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। हारकर वैद्यों ने कहा कि-कहीं से हंसों को मँगवाइये। हंसों को मारकर बनाई हुई औषधि से आपके देह का कुष्ठ अवश्य अच्छा हो जायेगा। राजा ने बधिकों को बुलाकर कहा-हंसों को पकड़कर लाने का उपाय शीघ्र ही करो। जहाँ भी कहीं मिलें उन्हें ढूँढ़कर मेरे पास लाओ। बधिकों ने कहा-हंस तो केवल मानसरोवर में रहते हैं, उन्हें हम यहाँ कैसे लायें। राजा ने कहा कि-बिना हंसों को लाये तुम छूट नहीं सकते हो, तुम बाँधे और मारे जाओगे, लाने पर मुँहमाँगा इनाम पाओगे। तब चार बधिक किसी प्रकार मानसरोवर पर गये परन्तु हंसों को पकड़ न सके, वे पहचान गये कि ये लोग बधिक जाति के हैं इसलिये इन्हें देखकर ही उड़ जाते थे। बधिकों ने देखा कि-कोई साधु-संत जब उनकी ओर जाते हैं, तब वे नहीं डरते हैं। इस रहस्य को जानकर बधिकों ने कण्ठी माला धारण कर वैष्णवों का सा वेष बना लिया।।२१६**

व्याख्या-एकहू न लागै-**दुःख, रोग, शोकादि पाप के फल हैं। यथा-करहि पाप पावहि दुखहि, भय, रुज, शोक वियोग।। पुनः-काहू न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।। (रामा०) और पाप-पुण्य के फल भोगने ही पड़ते हैं। यथा-अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम।। (स्मृति) यही कारण है कि ऐसे समय पर**

दवा-दारु कुछ काम नहीं करती। जब भोग समाप्त हो जाता है तभी औषधि-उपाय भी काम करते हैं।

दृष्टान्त-एक रोगी का-किसी व्यक्ति को कोई असाध्य रोग हो गया था। लाख प्रयत्न करने पर भी अच्छा नहीं हुआ। सब डाक्टर वैद्यों ने जवाब दे दिया था। वह निराश हो गया था। एक दिन स्नान करने जा रहा था तो मार्ग में एक जड़ी के पौधे से आवाज आई कि तुम मुझे घोटकर पी लो अच्छे हो जाओगे। उसने कहा- मैं तो इसी मार्ग से रोज स्नान करने जाता हूँ, तुमने अब तक क्यों नहीं कहा? जड़ी ने कहा-अब तक तुम्हारा भोग शेष था अब समाप्त हो गया है। इसलिये अब कहती हूँ उसने कहा-यदि भोग ही समाप्त हो गया है तब तो मैं बिना औषधि के भी अच्छा हो जाऊँगा अतः मैं तुम्हें नहीं पीऊँगा। सचमुच वह अपनेआप अच्छा हो गया।

अब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब कर्मभोग ही प्रधान हैं तो क्या औषधि उपचार करना व्यर्थ है? समाधान-औषधि उपचार से सन्तोष, धैर्य, सांत्वना होती है जिससे दुःख में न्यूनता आ जाती है। मनुष्य को यथाशक्ति कर्तव्य कर्म करना चाहिए। अकर्मण्य बनकर बैठना ठीक नहीं है। पुनः सामान्य भूलों से, मिथ्या आहार-विहार से प्राप्त रोग, दवा-दारु से सहज ही अच्छे हो जाते हैं, परन्तु भोग तो समय की प्रतीक्षा करता है। पर हमें क्या मालूम कि यह भूल है कि भोग, अतः अपनी ओर से यथासम्भव प्रयत्न करना ही चाहिए। आकाशवाणी के द्वारा देवकीपुत्र से अपने वध की बात सुनकर देवकी का वध करने के लिए प्रस्तुत कंस को समझाते हुए श्रीवसुदेवजी के विचार इस भाव का पोषण करते हैं। यथा- मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद् बुद्धिबलोदयम्। यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः।। (भा० १०-१-४८) अर्थ-बुद्धिमान पुरुष को जहाँ तक उसकी बुद्धि और बल साथ दे, मृत्यु को टालने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने पर भी वह न टल सके तो फिर प्रयत्न करने वाले का कोई दोष नहीं रहता।। हाँ उन महापुरुषों की बात अलग है, जिनका-रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।। एहि विधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिंत जतन कोटि नहिं जाहीं।। (रामा०) ऐसा दृढ़ विश्वास है और सच पूछें तो वास्तविक तथ्य भी यही है।

कह्यो हंसनि मँगाइयै-बात यह हुई कि राजा ने राजवैद्यों को डाँट लगाई कि तुम लोग बैठे-बैठे खाते हो, धन लेते हो, परन्तु एक रोग हो गया तो उसे अच्छा नहीं कर सकते। अरे, मृत्यु से भले न बचाया जा सके परन्तु रोग का निवारण तो होना ही चाहिए। यदि

मेरी व्याधि दूर नहीं किए तो तुम लोगों को जीवित ही पृथ्वी में गड़वा दिया जायेगा। तब वैद्यों ने आपस में सलाह की और अपने बचाव के लिए हंसों को मँगाने के लिए कहा। वे सोचे कि न हंस मिलेंगे, न औषधि बनेगी, हम लोग कह देंगे कि जब सामग्री ही नहीं मिल रही है तो हम लोग क्या करें? 'ल्यावोगे छुटौगे तब'-राजा ने क्रोध में भरकर कहा कि यदि हंस नहीं लाये तो तुम लोगों को ही कोल्हू में पेरकर तेल निकाला जायेगा। व्याध डर के मारे मानसरोवर को गये परन्तु उन्हें न मानसरोवर दिखाई देता था न हंस ही। भला इन दुष्ट प्राणियों को यह दिव्यदर्शन हो ही कैसे सकता है? इसके लिए तो दिव्यचक्षु चाहिए। उधर राजा की आज्ञा और प्राणदण्ड का भय था और इधर हंस मिल नहीं रहे थे अतः व्याध बड़े-खिन्न से इतस्ततः भटक रहे थे। एक सिद्ध संत को व्याधों पर दया आई। उन्होंने व्याधों को एक सिद्ध-गुटिका बताई जिससे कि ये मानसरोवर पर पहुँच सकें, वहाँ का दर्शन कर सकें। उस गुटिका के प्रभाव से ही व्याध मानसरोवर पहुँचे।। 'देखत ही उड़ि जात' यथा-मुनिगन निकट विहंग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं।। हित अनहित पशु पच्छिउ जाना।। (रा०च०मा०)

गये जहाँ हंस सन्त बानो सो प्रशंस देखि जानिकै बँधाये राजा पास लैकै आये हैं।
मानि मतिसार प्रभु वैद को स्वरूप धारि पूछिकैं बाजार लोग भूप ढिग ल्याये हैं।।
काहे को मँगाये पच्छी ? अच्छी हम करैं देह छोड़ि दीजै इन्हें कहीं नीठि करि पाये हैं।
औषधी पिसाये अंग-अंगनि मलाये किये नीके सुख पाये कहि उनको छुटाये हैं।।२१७

शब्दार्थ-**प्रशंस =प्रशंसा, बड़ाई के योग्य। मत सार = मतों का तत्व, सिद्धान्तों का रहस्य (वैष्णववेष मात्र में इष्टबुद्धि यह सब मतों का सार है।) नीठि = बड़ी कठिनाई से, किसी न किसी प्रकार।**

भावार्थ-**चारों बधिक वैष्णववेष बनाकर फिर मानसरोवर पर गये जहाँ हंसगण थे। हंसों ने प्रशंसनीय वैष्णववेष देखकर वह जान लिए कि ये बधिक ही हैं। वेष बनावटी है, फिर भी वेषनिष्ठा से अपने को बँधा लिया। बधिक हंसों को लेकर राजा के पास आये। हंसों को सभी मतों का तत्वज्ञ परमभक्त जानकर उन्हें बंधन से मुक्त करने के लिए भगवान ने वैद्य का स्वरूप धारण किया और उसी राजा के नगर में जाकर यह घोषणा की कि-मैं कुष्ठ आदि सभी असाध्य रोगों की सफल चिकित्सा करता हूँ। लोग इन्हें राजा के समीप ले गये। भगवान ने कहा-आपने इन पक्षियों को क्यों मँगाया है? राजा ने कहा-इन्हें मारकर औषधि**

बनाने के लिये मँगाया है। भगवान ने कहा-इन्हें छोड़ दो, मैं आपके शरीर को अभी-अभी बिल्कुल निरोग किये देता हूँ। राजा ने कहा-ये तो बड़ी कठिनता से हमें मिले हैं। कुष्ठ रोग के ठीक हुए बिना हम इन्हें कैसे छोड़ देंगे? यह सुनकर वैद्यजी ने अपनी झोली से औषधि निकाली और उसे पिसवाकर राजा के शरीर पर मलवाई। राजा का कुष्ठ दूर हो गया। राजा अत्यन्त प्रसन्न एवं सुखी हुआ। वैद्य ने कहा-अब इन हंसों को छोड़ दो। राजा ने हंसों को छोड़ दिया।।२१७।।

व्याख्या-हंस-ये गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य थे। वर्णन आया है कि श्रीविट्ठलनाथजी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं नित्यप्रति जीवों को उपदेश देकर, ब्रह्मसम्बन्ध कराकर भव से पार उतारूँगा। यदि किसी दिन ऐसा न हो सका तो उस दिन मैं अन्न-जल नहीं ग्रहण करूँगा। इस प्रकार आप प्रणपूर्वक जीवों का उद्धार करते। एक बार की बात है कि ये उत्तराखण्ड की यात्रा करते-करते मानसरोवर पहुँचे। संयोग से उस दिन कोई शरणागत नहीं हुआ। अतः पूर्व प्रतिज्ञानुसार श्रीगोसाईंजी ने कुछ भी खाया-पीया नहीं। सङ्ग के सेवकों को चिन्ता हुई कि कौन-सा उपाय किया जाय। तब तक श्रीगोसाईंजी की दृष्टि मानसरोवर में विहार करते हुए हंसों पर पड़ी। उन्होंने सेवकों से कहा कि इन्हीं को घेर लाओ, आज इन्हें ही उपदेश करेंगे। सेवकों ने ऐसा ही किया। श्रीगोसाईंजी हंसों को उपदेश देकर बड़े प्रसन्न हुए। हंस भी आज परमहंस श्रीगोसाईंजी को गुरुरूप में पाकर कृतार्थ हो गये। अब तक वे दूध और जल को अलग-अलग करने वाले थे परन्तु अब तो सदसत् का निर्णय करने वाले हो गये। पहले मुक्ता चुगते थे, अब स्वयं जीवन्मुक्त हो गये और भगवान के यशरूपी मानसरोवर में गुणगणरूपी मुक्ता चुगने लगे। संतकृपा से हंसों को यह परम-दिव्य सुख मिला अतः उनकी संत-वेष में बड़ी निष्ठा हो गई यही कारण है कि-जानिकै बँधायो है।

वर्णन आया है कि हंसिनी ने हंस को रोका कि ये साधु नहीं हैं, ये तो बधिक हैं। इनका विश्वास करना उचित नहीं है। तब हंस ने समझाया-कहै हंस सुनु हंसिनी, सुनी पुरातन साख। बधिक भेद जानैं नहीं, पति बाने की राख।। यह संतबाना अर्थात् वैष्णववेष अत्यन्त प्रशंसनीय है, पूज्य है, आदरणीय है, विश्वसनीय है। इनकी बड़ी महिमा है। यथा-बानो बड़ो दयालु को, तिलक छाप अरु माल। यम डरपैं कालू कहै भय मानै भूपाल।। दृष्टान्त राजकन्या और श्वपच का तथा कालू धीमर का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २८८ यह भगवान का बाना है इसका आदर करने से त्रिकाल में हानि नहीं हो सकती।

परन्तु यदि प्राणों के लोभवश होकर अनादर करेंगे तो लोक और परलोक दोनों बिगड़ेंगे। शरीर तो नाशवान है ही। यदि वेषनिष्ठा में यह न्यौछावर हो जाय तो हमें अपना बड़ा भाग्य समझना चाहिए। अतः जानिकै⋯।

मत सार-भगवान में निष्ठा रखना-यह सबका मत है। यथा-सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार विशारद।। सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पदपङ्कज नेहा।। (रामा०) और सन्तों में निष्ठा होना-यह सब मतों का सार है। क्योंकि-राम ते अधिक राम कर दासा।। (रामा०) 'प्रभु वैद को स्वरूप धारि'-शास्त्रों में भगवान को वैद्य भी कहा गया है। यथा-सनत्कुमार संहितायाम्-

भवाब्धिपोतं भरताग्रजं तं भक्तप्रियं भानुकुल प्रदीपम्।
भूतत्रिनाथं भुवनाधिपत्यं भजामि रामं भव रोगवैद्यम्।।

आयुर्वेद प्रवर्तकाचार्य श्रीधन्वन्तरिजी भगवदावतार ही हैं। श्रीमीराजी के भी दिल का दर्द सांवलिया वैद्य से ही दूर होता है। यथा-मीरा की तब पीर मिटै जब वैद सँवलिया होय।। अतः वैद रूप धारि...।

पूछिकै बजार०-वैद्यरूपधारी भगवान ने अपना प्रचार करने के लिए 'वैद-वैद' की आवाज लगाई। सारा-संसार ही तो रोगी है। यथा-एहि विधि सकल जीव जग रोगी। (रामा०) सुनते ही सब लोग दौड़े। जो कोई, जो भी रोग बताता, जरा-सी दवा खिलाते, पिलाते, छुवाते ही रोग छू-मन्तर हो जाता। लोग रोते आते और हँसते जाते। नगर भर में हल्ला मच गया। तब नगर के विशिष्ट व्यक्तियों ने इन अनोखे वैद्यजी से अपने राजा के रोग की चर्चा की। आपने एक खुराक में अच्छा करने का वचन दिया। तब सब लोग राजा के पास लिवा ले गये। राजा ने वैद्यजी का बड़ा स्वागत-सत्कार किया। यहाँ एक बात बड़े महत्व की यह है कि इस नगर में कैसे भी प्रथम परमसाधु, सुकृति हंसों का शुभागमन हुआ तो इसके बाद स्वयं ही भगवान भी पधारे। भगवान के श्रीमुख का वचन है कि मेरे भक्त जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ मैं भी जाता हूँ तथा समस्त भुक्तियाँ और मुक्तियाँ भी भक्तों का अनुगमन करती हैं। यथा-मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव। भक्तानामनुगच्छन्ति भुक्तयो मुक्तिभिः सह।। (आदिपुराण) पुनः- नगरवासियों ने हंसरूप में प्रथम संतों का दर्शन किया तो इसके फलस्वरूप उन्हें भगवान का भी दर्शन हुआ। संत भी हंसरूप में परोक्ष थे, तो भगवान भी वैद्यरूप में परोक्ष हो आये। संत-भगवन्त के परोक्ष

दर्शन का फल यह हुआ कि सबकी जन्म-जन्म की व्याधि दूर हो गई। भगवान ने दवा देकर शारीरिक व्याधि तो दूर किया ही सबकी भवव्याधि भी दूर कर दी। वैद्यजी के चमत्कार को देखकर जिन लोगों को कोई रोग नहीं भी था, उन लोगों ने कुछ न कुछ गोली, चूरन ले ही लिया।

लेवो भूमि गाउँ बलि जाउँ या दयालताकी भाल भाग ताकै जाकौं दरसन दीजियै।
पायो हम सब अब करौ हरि साधु सेवा मानुष जनम ताकी सफलता कीजियै।।
करी लै निदेस देस भक्ति विसतार भयो हंस हितसार जानि हिये धारि लीजियै।
बधिकनि जानी जासों खगनि प्रतीति कीनी ऐसो भेष छोड़िये न राख्यौ मति भीजियै।।२१८

शब्दार्थ-**निदेश = शासन, आज्ञा। हितसार = प्रेमी या कल्याण का तत्व।**

भावार्थ-**राजा ने वैद्य-भगवान से विनती करते हुए कहा-आपकी इस दयालुता पर मैं अपने आपको न्यौछावर करता हूँ। आप कुछ भूमि या गाँव मुझसे ले लीजिये। वह बड़ा ही सौभाग्यशाली है, जिसे आप अपना दर्शन दें। वैद्य-भगवान ने कहा-हंसों के प्राण बचे, आपका कुष्ठ अच्छा हो गया इसी में हमने सब कुछ पा लिया। अब यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो भगवान और भगवान के भक्तों की सेवा करो। ऐसा करके परम दुर्लभ मनुष्य-जन्म की सफलता प्राप्त करो। राजा ने वैद्यरूपधारी प्रभु की आज्ञा स्वीकार की और सम्पूर्ण अपने राज्य में यह आदेश लागू कर दिया कि सभी हरि-साधु सेवा करें। इस प्रकार सारे देश में भक्ति का विस्तार हुआ। हंसों की सी वैष्णवता ही सार तत्व है और यही जीवों का कल्याण करने वाली है अतः इसे सभी जन हृदय में धारण कर लें। इस चरित्र को देखकर बधिकों ने अपने मन में विचारा कि-जिस वैष्णववेष का पक्षियों ने ऐसा विश्वास किया और उसी के फलस्वरूप उनके प्राण भी बच गये, ऐसे वेष को हम मनुष्य होकर अब कैसे छोड़ दें। इस प्रकार वे बधिक सच्चे-संत बन गये, उन्होंने वेष का त्याग नहीं किया, उनकी मति भगवान की भक्ति में मग्न हो गई।**

व्याख्या-भाल भाग ताके०-**यथा-हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई।। अहोभाग्य मम अमित अति रामकृपा सुख पुञ्ज। देखेउँ नयन विरञ्चि सिव सेव्य जुगल पद कञ्ज।। (रामा०) मानुष जनम०-मानव शरीर को देव-दुर्लभ कहा गया है। यथा-श्रीप्रहलाद वाक्य-दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।। (भा० ७-६-१) श्रीविदेह वाक्य-दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः (भा० ११-२-२९) पुनः-बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।। साधनधाम मोक्षकर द्वारा। पाइ न जेहिं**

परलोक सँवारा।। सो परत्र दुख पावई सिर धुनि-धुनि पछिताइ। कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ। पुनः-नर तन भव बारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।। करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।। जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ।। (रामा०) ठीक यही बात श्रीमद्भागवतजी में भी कही गयी है। यथा-

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।

(भा० ११-२०-१७)

अर्थ-मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है, सबसे श्रेष्ठ है और दुर्लभ होते हुए भी (भगवत्कृपा) सुलभ हो गया है। भवसागर पार जाने के लिए यह एक अत्यन्त दृढ़ नौका है। शरण ग्रहण मात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं। भगवान कहते हैं कि मेरे कृपारूपी अनुकूल पवन से प्रेरित होकर यह लक्ष्य की ओर बढ़ता है। इसे पाकर भी जो संसार से पार नहीं होता है वह आत्मघाती है। यदि मनुष्य शरीर पाकर भी विषयभोगों में ही लगा रहा तो उसमें और पशु में अन्तर ही क्या रहा? यथा-

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि एको तेषां विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

मनुष्य शरीर का परमधर्म, चरम लक्ष्य है-भगवद्भक्ति। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-सियराम स्वरूप अगाध अनूप विलोचन मीननिको जलु है। श्रुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिंको थलु है।। मति रामहिं सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहि को बल है। सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।। (क०)

भगवान ने राजा को साक्षात् दर्शन देकर बताया कि हंस तुम्हारे पूर्वज हैं, ये भक्त थे। इन्होंने एक बार भूल से एक निरपराध वैश्य को कारागार में बन्द कर दिया था। फलतः राजा के मूर्ख पुत्र ने राजा को भी कैद में डाल दिया और वे वहीं मरकर फिर हंस हुए। अधर्मी पुत्र के कुत्सित आचरण के कारण वंश में कुष्ठ होता चला आया है। वह कलङ्क अब मैंने सदा-सर्वदा के लिए दूर कर दिया परन्तु देखो, अब कभी हंसों को, मत सताना, नहीं तो धृतराष्ट्र की सी गति होगी। राजा के पूछने पर भगवान ने धृतराष्ट्र के पूर्वजन्म का इतिहास बताया कि वे राजा ही थे। एक बार उनके बाग में हंस-हंसिनी आकर बस गये।

समय पर हंसिनी ने सौ अण्डे दिये। एक बार राजा की आँख में पीड़ा हुई तो वैद्यों ने औषधि के लिये हंस के अण्डे लाने को कहा। राजकर्मचारियों ने वही अण्डे लाकर दिये उससे औषधि तैयार की गई। राजा की नेत्र पीड़ा दूर हो गई परन्तु जब राजा को इसका पता लगा तो वे बड़े पछताये। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत। उसी अपराध के फलस्वरूप राजा दूसरे जन्म में अन्धे हुए। वे सब अण्डे ही धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के रूप में जन्म लिये। जैसे हंस-हंसिनी को अपने सौ अण्डे के नष्ट होने का दुःख हुआ वैसे ही धृतराष्ट्र-गान्धारी को भी अपने सभी पुत्रों के मारे जाने का दुःख भोगना पड़ा। (राम रसिकावली)।

ऐसो भेष छोड़िये न-**व्याधों ने साधुवेष का चमत्कार देखा कि पशु-पक्षी तक इस वेष का आदर करते हैं। पुनः हंसभक्तों एवं वैद्यरूपधारी भगवान के दर्शन का भी प्रभाव है कि उन दुष्ट व्याधों को भी सात्त्विकी बुद्धि आ गई। यथा-भये सब साधु किरात किरातिनि राम दरश मिटि गई कलुषाई।। (गी०) दृष्टान्त श्रीअजामिलजी का-साधु आये घर देखि बुद्धि आइ गई सातिकी।। (भक्तमाल पूर्वार्द्ध क० २३) भगवान ने राजा को भला-चंगा करके फिर आकर हंसभक्तों को साक्षात् दर्शन दिया। राजा के बन्धन से छूटने पर वे विचारे हंस घबराये से एक वृक्ष पर बैठे थे। भगवान ने हंसों से पूछा-कैसे पकड़ में आये? हंसों ने कहा-प्रभो! जान-बूझकर भी आपका बाना देखकर उसकी लाज रखने के लिए स्वयं बन्धन में आ गये। भगवान-अरे भाई! इस तरह जान-बूझकर भी बँध जाना ठीक नहीं है। हंस-प्रभो! यदि हम लोग वेष का आदर करने के लिए नहीं बँधते तो आपके दर्शन कैसे होते? हम तो ऐसे बन्धन की जन्म-जन्म याचना करते हैं। भगवान उनकी इस वेषनिष्ठा पर बड़े ही प्रसन्न हुए।**

सदाव्रती महाजन

महाजन सुनो सदाव्रती ताको भक्तिपन मन में विचार सेवा कीजै चित लायकै।
आवत अनेक साधु निपट अगाध मति साधि लेत जैसी आवै सुबुधि मिलायकै।।
सन्त सुख मानि रहि गयो घर माँझ सदा सुत सो सनेह नित खेलै संग जायकै।
इच्छा भगवान मुख्य गौन लोभ जानि मारि डार्‌यौ धूरि गाड़ि गृह आयो पछितायकै।।२१९

शब्दार्थ- **महाजन = वैश्य सेठ, महान् पुरुष। सदाव्रती = सदा नियम निभाने वाला सदावर्ती, सदावर्त बांटने वाला, नित्य भोजन-वस्त्र दान करने वाला। निपट = बिल्कुल,**

अत्यन्त। साधि लेते = सम्हाल लेते, प्रमाणित कर लेते। मुख्य =प्रधान। गौन = गौण, अप्रधान।

भावार्थ-श्रोतृवृन्द! अब सदाव्रती महाजन की भक्तों में भक्ति करने की निष्ठा की कथा सुनिये। ये नित्य मन लगाकर अपने सर्वस्व के द्वारा सन्त-सेवा करते थे, इतने पर भी नित्य अपने मन में सोच-विचारकर यह निश्चय करते थे कि-मन लगाकर भलीभाँति साधु सेवा किया करूँगा। इनकी सेवा के प्रभाव से अनेक साधु-सन्त इनके घर पर आते रहते थे। सदाव्रतीजी अत्यन्त गम्भीर श्रद्धाबुद्धि वाले थे। जो भी जैसे भी सन्त आते, सावधानी से उनकी सेवा करते, उनकी इच्छा में अपनी बुद्धि लगाकर सब प्रकार से उन्हें सन्तुष्ट रखते थे। एक बार एक सन्त आये, इनके यहाँ मनमाना सुख पाकर सदा घर पर ही रहने लगे। सदाव्रतीजी के पुत्र से उनका प्रेम हो गया। नित्य उसी के साथ खेला करते। एक दिन उस सन्त की मति भ्रष्ट हो गई। इसमें मुख्य तो भगवान की इच्छा को ही समझिये और आभूषणों के लोभ को गौण। एक दिन खेलते-खेलते दोनों गाँव के बाहर गये, वहाँ सन्त ने महाजन भक्त के पुत्र को गहनों के लोभ में आकर मार डाला और उसके शव को धरती में गाड़कर अपने कुकर्म पर पछताता हुआ घर को आया।।२१९।।

व्याख्या-महाजन-इनके लिए सेठ, साहूकार, वैश्य, वणिक आदि शब्दों का प्रयोग न करके महाजन कहने का भाव यह है कि इनकी रहनी, आदर्श अनुकरणीय हैं। क्योंकि नीति में ऐसा कहा गया है कि-महाजनो येन गतः स पन्थाः।। 'सदाव्रती-सदावर्त की महिमा वर्णन करते हुए भक्त कवि 'वाजिन्दजी' लिखते हैं कि-भूखो दुर्बल देखि नहीं मुख मोड़िये। जो हरि सारी देय तो आधी तोड़िये।। दे आधी की अर्ध-अर्ध की कोर रे। अन्न सरीखा पुण्य नहीं कोउ और रे। माया बेटी बढ़ै सूम घर मांय रे। छिनमें उलझ जाय सो रहती नांय रे।। अपने हाथों हाथ विदा करि दीजिये। बनिकै सहज उदार बड़ो यश लीजिये।। पुनश्च-जो जल बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम। दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।। भक्तिपन प्रणपूर्वक भक्ति करने से भक्ति दृढ़ होती है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५, 'पनसोधो'। 'मन में विचार'-समस्त क्रियाओं का मूल मन ही है। इसीलिए कहा गया है कि-मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। अर्थात् मनुष्यों का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। पुनश्च-तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम।। (दो०) 'सेवा कीजै'-इसलिए कि-संतन्ह की सेवा किये हरि मानैं पारितोष। (भगवतरसिकजी) तथा-मानत सुख सेवक सेवकाई।। (रामा०) चित लायकै-यथा-श्रीअग्रदासजी-सेवा सुमिरन सावधान चरन राघव चित लाये। (छ० ४१)

तनिक-सी भी असावधानी होने पर डिगने का भय रहता है। जैसे बहुत बड़ा शिलाखण्ड ऊपर चढ़ाने में बहुत श्रम होता है और जरा-सी भी असावधानी में बे-सँभाल होकर गिर जाता है। फिर सेवाधर्म को तो सुमेरगिरि और कैलाश से भी गुरु कहा गया है। यथा- हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू।। (रामा०) आवत अनेक साधु-अनेक गुण, शील, स्वभाव के, अनेक मत, पन्थ, सम्प्रदाय के, विचित्र वेषभूषा के साधु आते। 'साधि लेत'-इस पर दृष्टान्त श्रीसन्तजीका। देखिये कवित्त ४०५। पुनः-

दृष्टान्त-श्रीनिम्बार्ककोटके बाबाजी महाराजका-**श्रीनिम्बार्ककोट में श्रीमद्भागवत सप्ताह महायज्ञ हो रहा था। श्रीपण्डित जगन्नाथप्रसादजी 'भक्तमाली' कथा व्यास थे। पांचवें दिन नन्दोत्सव के उपलक्ष्य में विशेष भण्डारा था। तस्मई की विशेषता थी। एक सन्तजी ने रसोइयां से तस्मई के लिए एक बड़ा-सा कटोरा मांगा। रसोइयांजी तेज मिजाज के थे। झुंझलाकर बोले कि चाहे कटोरा लो चाहे थाली-दूंगा तो मैं उतना ही जितना सबको दूंगा। इस पर वे सन्त भी बिगड़ पड़े। दोनों में खूब तड़प-झड़प हुई। हल्ला-गुल्ला मच गया। पंक्ति का समय था। किसी ने श्रीबाबाजी महाराज से कहा तो वे मुस्कुराते हुए आये और श्रीपण्डितजी भक्तमालीजी को सम्बोधन करके बोले-पण्डितजी! इतने दिन से कथा हो रही है, परन्तु जान ही नहीं पड़ता था। आज मालूम पड़ा कि यहाँ कुछ हो रहा है। गृहस्थी के यहाँ व्याह-शादी में, महात्माओं के यहाँ भोज-भण्डारे में जब तक कुछ हल्ला-गुल्ला न हो तब तक उत्सव का आनन्द ही नहीं आता है। बाबाजी की यह विनोद की बात सुनकर सब लोग हँस गये और फिर बड़ी शान्ति से पंगति हुई। इच्छा भगवान मुख्य-भक्त की सेवा निष्ठा तथा धैर्य की परीक्षा करके उसके सुयश का विस्तार करने के लिए भगवान ने ही यह लीला की थी। यह बात आगे कवित्त २२३ से सिद्ध होती है।**

देखै महतारी मग बेटा कहां पगि रह्यौ बीते चारि जाम तऊ धाम में न आयो है।
फेरी पुर डौंड़ी ताके संग संत आप लौंड़ी कह्यौ यों पुकारि सुत कौने बिरमायो है।।
बेगि दै बताय दीजै आभरन दिये लीजै कही सो संन्यासी येही मार्‌यो मन लायो है।
दई लै दिखाय देह बोल्यो याको गहि लेहु याही ने हमारौ पुत्र हत्यौ नीके पायो है।।२२०

शब्दार्थ-**पगि रह्यौ = फँसि गयौ। जाम = पहर, तीन घण्टे का समय। डौंड़ी = ढिंढोरा। लौंड़ी = दासी। बिरमायो =रोक्यौ, मोहित कियौ। गहि = पकरि।**

भावार्थ-**घर में पिता-माता बाट देख रहे थे कि बालक कहाँ जाकर फँस गया। बाट देखते-देखते चार पहर बीत गये, फिर भी लड़का घर न आया। तब भक्त सदाव्रती ने**

उस सन्त को और घर की एक दासी को साथ लेकर गांव में ढिंढोरा पिटवाया कि-मेरे लड़के को किसने रोक रखा है, इस बात को जो कोई शीघ्र बता देगा, उसे उस लड़के के सभी आभूषण दे दिये जायेंगे। यह घोषणा सुनकर घटना देखने वाले एक संन्यासी ने आकर कहा कि तुम्हारे पुत्र को इसी सन्त ने मारकर धरती में गाड़ दिया है। यह कहकर भक्त महाजन को साथ ले गया और वह स्थान दिखा दिया, जहाँ लड़का गड़ा था। भक्त सदाव्रती ने कहा-इस संन्यासी को पकड़ लो, इसी ने हमारे लड़के को मारा है, ठीक ही हुआ जो हत्यारा मिल गया। (यह झूठी धमकी केवल इसलिए दी गई कि-सन्त का नाम न ले, लोगों ने संन्यासी को पकड़ लिया)।।२२०।।

बोल्यौ अकुलाय मैं तौ दियौ है बताय मोंको देहु जु छुटाय नहीं झूठ कछु भाखियै।
लेवो मति नाम साधु जो उपाधि मेट्यो चाहौ जावौ उठि और कहूं मानि छोरि नाखियै।।
आयकै विचार कियौ जानी सकुचायौ संत बोलि उठी तिया सुता दैकै नीके राखियै।
पर्‌यो बधू पाँय तेरी लीजियै बलाय पुत्र शोक को मिटाय और खरी अभिलाषियै।।२२१

शब्दार्थ-उपाधि = उत्पात, सङ्कट। मानी = मान लिया। छोरि नाखियै = छोड़कर दूर कीजिये। खरी = अच्छी, निखालिस। अभिलाषिये = इच्छा की।

भावार्थ-तब घबड़ाकर संन्यासी ने कहा-मैंने देखा था, इसलिए बता दिया। मुझे छुड़ा दीजिए, मैं बिल्कुल झूठ नहीं बोल रहा हूँ। तब महाजन भक्त ने कहा-यदि तुम इस सङ्कट से बचना चाहते हो, तो साधु का नाम कदापि मत लो और इस गाँव को छोड़कर कहीं दूसरी जगह पर चले जाओ, अन्यथा तुम बच नहीं सकते। संन्यासी ने यह बात मान ली। तब उसे छोड़ दिया गया। वह वहाँ से चला गया। लड़के का अन्तिम संस्कार करके सदाव्रतीजी घर आये। उन्होंने देखा कि-सन्तजी कुछ उदास हो रहे हैं। सन्त के सङ्कोच को दूर करने का उपाय सोच ही रहे थे कि-उनके मन का भाव जानकर उनकी स्त्री बोल उठी कि-इन्हें अपनी कन्या देकर आदर सहित घर में रखिये। उसकी भक्ति-भरी इस बात को सुनकर सदाव्रती भक्त उसके पैरों में गिर गये और बोले-मैं तेरी बलायें लेता हूँ तुमने पुत्रशोक को मिटाकर बहुत अच्छी इच्छा प्रकट की, सच्ची संत-भक्ति को प्राप्त करने की चाहना की।।२२१

व्याख्या-जावो उठि और कहूं-ऐसा इसलिए कहा कि यदि ये यहाँ रहेंगे तो थाना पुलिस में धर-पकड़ होगी तो बात खुल जायेगी और इनके चले जाने से सबूत के अभाव में

पुलिस भी कुछ नहीं कर सकती। 'विचार कियो-विचार यही कि संसार तो नश्वर है ही यथा-नश्वर रूप जगत सब देखहु हृदय विचारि। (रामा०) पुनः-जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (गीता) अतः पुत्र की मृत्यु में शोक करना व्यर्थ है। रही बात यह कि इन सन्तों ने ही मारा है तो इतने मात्र अपराध से प्रीति तोड़ना उचित नहीं है। क्योंकि-'न कनिश्न्नापराध्यति' (वा० रामा०) अर्थात् ऐसा कोई नहीं है जिससे कुछ अपराध नहीं बनते हों। पुनश्च-भला सन्त किसी को क्यों मारने लगे? यह तो भगवान की ही कोई लीला जान पड़ती है और भगवान जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं अतः हमें तो पूर्ववत् अपनी निष्ठा में दृढ़ रहना चाहिए। कहा भी है-कुञ्जर मन मद मत्त मरै तो मारिये। कामिनि कनक कलेश टरै तो टारियै।। हरिभक्तन सों नेह पलै तो पालिये। रामभजन में देह गलै तो गालिये।। 'पर्यो वधू पांय'-इसलिए कि माता में तो पिता से अधिक पुत्र में ममता होती है परन्तु यह तो हमसे भी पहले पुत्रशोक को मिटाकर सन्त-सेवा में दत्तचित्त हो गई और सन्त को प्रसन्न करने के लिए इसने जो परम उदार विचार प्रकट किया है वह तो मेरी कल्पना से भी परे हैं अतः यह निश्चय ही भक्तिभाव में मुझसे बढ़कर है अतः वन्दनीय है।

बोलि लियो सन्त सुता कीजिये जू अंगीकार दुख सो अपार काहू विमुख कौं दीजियै।
बोल्यो मुरझाय मैं तो मार्‌यौ सुत हाय मोपै जियौ हू न जाय मेरो नाम नहीं लीजियै।।
देखौ साधुताई धरी सीस पै बुराई जहाँ राई हूं न दोष कियो मेरु सम रीझियै।
दई बेटी ब्याहि कहि मेरो उर दाह मिटै कीजियै निवाह जग मांहि जौलौं जीजियै।।२२२

शब्दार्थ-**विमुख= अभक्त। मुरझाय = उदास होकर। राई = थोड़ा। मेरु सम = पहाड़ के बराबर, बहुत अधिक। रीझिये = प्रसन्न होइये।**

भावार्थ-**सदाव्रतीजी ने अपनी स्त्री के कथनानुसार सन्तजी को बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि-आप मेरी लड़की को अपनी धर्मपत्नी के रूप में अङ्गीकार कीजिये, कदाचित् यह किसी ऐसे पुरुष के साथ ब्याही गई जो भक्ति से विमुख है तो मुझे बड़ा-भारी दुःख होगा। ऐसी प्रेम-भरी बात सुनकर सन्त तो सूख गये और बोले-हाय! मैंने ही तो आपके लड़के को मारा है, मेरे हृदय में इतना दुःख हो रहा है कि मुझसे जीवित नहीं रहा जा रहा है। आप मुझ जैसे पापी का नाम भी मत लीजिये। महाजन भक्त ने स्त्री से कहा-देखो, इनकी साधुता। सारी बुराई अपने सिर पर ले रहे हैं। जहाँ राई-भर भी इनका दोष नहीं है, वहाँ पहाड़ के समान दोष को अपने ऊपर ले रहे हैं। मैं इनकी इस सज्जनता पर रीझ गया हूँ। फिर सदाव्रतीजी ने यह कहकर अनुरोध किया कि-आप कृपया मेरे हृदय का दुःख मिट**

जाय, केवल इसलिए मेरी पुत्री से ब्याह कीजिये और जब तक मेरा जीवन है आप मेरे साथ रहकर प्रेम का निर्वाह कीजिये। ऐसा कहकर सन्त के साथ बेटी ब्याह दी।।२२२।।

व्याख्या-'देखौ साधुताई'''रीझियै-पुत्र की हत्या करने वाले में भी साधुता का दर्शन करना-यह श्रीसदाव्रतीजी की साधुता एवं सन्तनिष्ठा का परिचायक है। इनकी सन्तों में सच्ची प्रीति है अतः उनमें दोष दीखता ही नहीं। प्रेम में दोष दर्शन का सर्वथा अभाव होता है। यथा-चढ़त न चातक चित्त कबहुँ, प्रियपयोद के दोष। तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख।। (दो०)

दृष्टान्त-लैला मजनूंका-लैला के अनुरोध से उसके पिता द्वारा मजनूँ के लिए नगर भर में घोषणा कर दी गई थी कि मजनूँ जहाँ भी चला जाय उसे सब प्रकार का सब खाने-पीने, सोने का सुपास प्रदान किया जाय। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि खाने-पीने के लोभ से अनेकों लोग मजनूँ का स्वाँग करके गली-गली डोलने लगे। किसी ने लैला से इस बात की शिकायत की तो उसने असली मजनूँ की पहिचान के लिए एक युक्ति विचारी। नगर में डुग्गी पिटवा दी कि आज लैला अपने हाथ से खैरात बाँटेगी। जिसको लेना हो वह वहाँ जाय। उस दिन लैला खिचड़ी बाँट रही थी। लेने वालों की भीड़ लग गई। सभी नकली मजनूँ भी अपनी-अपनी तश्तरी लेकर दौड़े। तब उन लोगों से असली मजनूँ ने पूछा-आज लैला की गली में भीड़ कैसे हो रही है। सबने बताया, तब असली मजनूँ भी इसी बहाने लैला को देखने के लिए तश्तरी लेकर दौड़ा। नकली मजनूँ तो खिचड़ी पाकर ही कृतार्थ हो गये। परन्तु असली मजनूँ जब लैला के सामने पहुँचा तो टकटकी लगाकर लैला को देखने लगा। लैला समझ गई कि यही मेरा प्रेमी मजनूँ है। क्योंकि अन्य तो खिचड़ी को देख रहे थे परन्तु यह तो मुझे ही निहार रहा है। लैला ने अपने प्रेमी मजनूँ को खिचड़ी नहीं दी। बल्कि छड़ी मारकर उसकी तश्तरी फोड़ दी। मजनूँ प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगा। यह देखकर किसी ने कहा-मूर्ख! तुझे खैरात तो मिली नहीं तश्तरी भी फूट गई, फिर तू किस खुशी में नाच रहा है? मजनूँ ने कहा-तुम सब इस रहस्य को क्या जानो? लैला ने तुम सभी को खिचड़ी का भूखा जानकर खिचड़ी दी और मुझे प्रेम का भूखा जानकर उसने हमारी तश्तरी फोड़ने के ब्याज से हमें प्रेम प्रदान किया है। यह सुनकर सब चुप हो गये। तात्पर्य यह कि लैला में प्रेम होने के नाते मजनूँ ने खिचड़ी न देने, तश्तरी फोड़ने में भी गुण ही देखा।

मेरुसम-कहने का भाव यह है कि बालकवध बहुत बड़ा पाप है। तभी तो

श्रीभरतलालजी कहते हैं कि-जे अघ तिय बालक बध कीन्हें...। ते पातक मोहिं होउ विधाता। जौं यह होइ मोर मत माता।। (रामा०)

आये गुरु घर सुनि दीजै कौन सर बड़े सिद्ध सुखदाई साधु सेवा लै बताई है।
कह्यो सुत कहाँ? अजू पायो, कही कैसी भाँति? कैसे कै बखानैं जग मीच लपटाई है।।
प्रभु ने परीक्षा लई सोई हमैं आज्ञा दई चलियै दिखावौ जहाँ देह कौं जराई है।
गये वाही ठौर सिरमौर हरि ध्यान कियो जियो चल्यो आयो दास कीरति बढ़ाई है।।२२३

शब्दार्थ-सर = उपमा, पटतर। सिद्ध = समर्थ, भगवत्प्राप्त। अजू = अजी, एजी। पायौ = भगवत्प्राप्त हो गया, मर गया। सिरमौर = सर्वश्रेष्ठ।

भावार्थ-भक्त सदाव्रतीजी के पुत्र मृत्यु की बात सुनकर एक दिन उनके श्रीगुरुदेवजी घर पर पधारे। इनकी उपमा कौन से दूँ, ये महान् सिद्ध एवं सबको सुख देने वाले थे। इन्होंने ही महाजन भक्त को सन्त-सेवा की महिमा बताई और सेवा करने की आज्ञा दी थी। श्रीगुरुदेवजी सदाव्रतीजी से कुशल पूछते हुए कहा कि बालक कहाँ है? इन्होंने उत्तर दिया-अजी! वह तो भगवान को प्राप्त हो गया। तब उन्होंने पूछा-किस प्रकार? भक्त ने कहा-किस प्रकार मरा यह कैसे बताऊँ, क्योंकि सारे-संसार को मौत लिपटी है। यह सुनकर गुरुदेव ने कहा-प्रभु ने तुम्हारी परीक्षा ली है, तुम्हारा पुत्र मरा नहीं, इसी से प्रभु ने मुझे तुम्हारे पास आने की आज्ञा दी है। जहाँ उसके शरीर का दाह-संस्कार हुआ है, चलकर वह स्थान हमें दिखाओ। सन्त शिरोमणि गुरुदेव वहाँ गये और उन्होंने भगवान का ध्यान किया। उसी क्षण बालक जीवित होकर आ गया। इस प्रकार भगवान ने भक्त की परीक्षा लेकर उसकी कीर्ति का विस्तार किया।।२२३।।

व्याख्या-आये गुरु घर सुनि-औरों से सुने एवं स्वयं भगवान ने भी कहा। जैसा कि आगे स्पष्ट है-सोई हमें आज्ञा दई। 'बड़े सिद्ध'-इसलिए कि इन्होंने मृतक पुत्र, जिसका दाह-संस्कार हो चुका था, राख भी नहीं बची थी, उसे पुनः प्रकट कर दिया। इतना बड़ा चमत्कार सामान्य सिद्धि से सम्भव नहीं।। 'सिद्ध सुखदाई'-कहने का भाव यह है कि कोई-कोई दुःखदाई सिद्ध भी होते हैं।

दृष्टान्त-नरोत्तम ब्राह्मण का-तप-तीर्थाटन आदि करने से इनको कुछ सिद्धियाँ मिल गई थीं। ये स्नान करके अपना गीला वस्त्र आकाश में फेंक देते। वस्त्र निरालम्ब आकाश में उड़ता और सूखता रहता। अपनी सिद्धियों का नरोत्तम को अहङ्कार हो गया। अब ये

किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। एक दिन एक बकुले ने इनके सिर पर बीट कर दिया तो इन्होंने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि जिससे कि बकुला तत्काल जलकर भस्म हो गया। परन्तु इसके बाद से उनकी सब सिद्धि समाप्त हो गई।

साधु सेवा लै बताई है-गुरु वही जो साधु सेवावै। गुरु वही जो विपिन बसावै।। सुत कहाँ-गुरुजी ने कहा कि तुम्हारा लड़का तो हर बार पहले ही प्रणाम करने आ जाता था। अबकी-बार नहीं आया, कहाँ गया है? प्रश्न-गुरुजी तो जानते हैं कि मर गया है, फिर क्यों पूछ रहे हैं। समाधान-एक तो रीति है-बात चलाकर सदाव्रतीजी के मुख से उसके मरण का विवरण जानना चाहते हैं। दूसरे इसी ब्याज से यह भी जानना चाहते हैं कि देखें इनकी पुत्र में विशेष ममता है कि सन्त में। सदाव्रतीजी के उत्तर से बोध हो गया कि पुत्र की अपेक्षा सन्त में विशेष प्रेम है। जग मीच लपटाई है-श्रीकबीरदासजी ने संसार को मुर्दों का गाँव कहा है-साधो ई मुर्दन को गाँव। श्रीसदाव्रतीजी ने किसी को दोष नहीं दिया। इस पर दृष्टान्त-श्रीपरीक्षित-धर्म संवाद का। देखिये श्रीजयदेवजी के प्रसंग में कवित्त १५३ में व्याख्या 'ऐसो तनु पायो है' की।

जियो चल्यो आयो-इस पर दृष्टान्त बाजीगर का-एक ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) ने एक बादशाह के आगे बहुत तमाशे दिखाये। बादशाह ने कहा कि कोई नवीन कौतुक दिखाओ। बाजीगर हामी भरकर नये खेल का उपक्रम कर ही रहा था कि इतने में मारू बाजे बजने लगे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि ये बाजे कहाँ बज रहे हैं? तब बाजीगर ने बादशाह से कहा कि ये बाजे आकाश में बज रहे हैं। देवताओं और असुरों में युद्ध हो रहा है। यदि आप आज्ञा करें तो मैं भी देवताओं की सहायता करने जाऊँ। फिर आकर खेल दिखा ऊँगा। आप कृपा करके मेरे आने तक मेरी स्त्री को सुरक्षित रखेंगे। यह कहकर उसने कच्चे धागे का एक छोर पृथ्वी में गाड़ दिया और दूसरा छोर आकाश में फेंक दिया और स्वयं अस्त्र-शस्त्र धारणकर सूत के सहारे आकाश में चढ़ गया। कुछ देर बाद उसका हाथ कटकर गिरा, फिर अङ्ग-प्रत्यङ्ग कट-कटकर गिरने लगे। अन्त में सिर भी गिरा। तब उसकी पत्नी भानुमती राजा से अर्ज करके पति के शव के साथ सती हो गई। इसके बाद वह बाजीगर सकुशल हथियार बाँधे प्रकट हो गया और आते ही बादशाह से कहा-मेरी पत्नी मुझे मिलनी चाहिये। बादशाह हैरान था। उसने कहा कि वह तो तुम्हारे साथ सती हो गई। तू तो मर गया था फिर कैसे प्रकट हुआ? बाजीगर ने कहा-महाराज! आप मेरी सुन्दरी स्त्री को हड़पना चाहते हैं इसलिए बहानाबाजी कर रहे हैं। घर में छिपा

रखे हैं और कहते हैं कि वह सती हो गई। राजा सकपकाये। कितना हूँ कहें वह माने ही नहीं। उसने समाज को सम्बोधित करके कहा कि आप लोग देखें, मेरी स्त्री राजा के महल में ही है, मैं अभी बुलाता हूँ। यद्यपि सब लोग उसे समझा रहे थे, साखी-गवाही दे रहे थे कि सचमुच वह सती हो गई है परन्तु उसने किसी की एक न सुनी और स्त्री का नाम लेकर पुकारा। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। तब बाजीगर की स्त्री महल से ही झम-झम करती हुई आई। बाजीगर ने बादशाह से हाथ जोड़कर कहा कि आपने नया खेल दिखाने को कहा था तो मैंने यह खेल दिखाया। बादशाह उसकी कला पर बहुत प्रसन्न हुआ और बहुत-बहुत इनाम देकर विदा किया। ऐसे ही गुरुजी ने बुलाया तो मृत बालक चला आया।।

श्रीसदाव्रतीजी ने उस बालक को लाकर उस साधु को सौंप दिया और कहा कि आपकी कृपा से मुझे पुनः पुत्र की प्राप्ति हो गई। इसे आप लोगों की सेवा में समर्पित करता हूँ। ''दास कीरति बढ़ाई है'- भगवान का स्वभाव है-संतत दासन्ह देहिं बड़ाई।। (रामा०) हंसभक्त और सदाव्रतीजी वेषनिष्ठ हैं। गुण, शील, स्वभाव देखकर निष्ठा होना आसान है, परन्तु वेषमात्र में निष्ठा होना तो लोकोत्तर प्रीति का परिचायक है। यह सबसे सम्भव नहीं है।

चारौ युग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।
दारुमई तरवार सारमय रची 'भुवन' की।
देवा हित सितकेश प्रतिज्ञा राखी जनकी।।
'कमधुज' के कपि चारु चिता पर काष्ठ जु ल्याये।
'जैमल' के जुधि माँहिं अश्व चढ़ि आपुन धाये।।
घृत सहित भैंस चौगुनी श्रीधर सङ्ग सायक धरन।
चारौ युग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।५२।।

शब्दार्थ-सांचीकरन = सत्य करने वाले। दारुमई = काष्ठमयी, लकड़ी की। सारमय = लोहे की, फौलादी। सितकेश = सफेद बाल। सायकधरन = बाणधारी, श्रीराम।

भावार्थ-चतुर्भुज भगवान चारों युगों में सदा ही अपने भक्तों की वाणी को सत्य करते हैं। १. श्रीभुवनसिंहजी चौहान की लकड़ी की तलवार को भगवान ने लोहे की बना दी।

२. श्रीदेवाजी पण्डा के लिये भगवान ने अपने सिर के बाल सफेद करके अपने भक्त की वाणी को सत्य किया। ३. मरने पर तुम्हें कौन जलायेगा, भाई के ऐसा कहने पर भक्त कामध्वजजी ने कहा था कि-मैं जिसका चाकर हूँ, वही जलायेगा, भक्त की इस वाणी को सत्य करने के लिए उसके मरने पर हनुमानजी आये और लकड़ी लाकर सुन्दर चिता बनाई, दाह संस्कार किया। ४. भक्त जयमलजी के युद्ध में भगवान स्वयं घोड़े पर चढ़कर दौड़े और उन्होंने लड़कर शत्रु को हराया। ५. ग्वालभक्त की भैंसे खो गईं, इन्होंने घर आकर माता से कह दिया कि-भैंसे मैंने एक ब्राह्मण को दे दी हैं, कुछ दिन बाद वह घी के समेत भैंसे लौटा जायेगा। तब भगवान ने चौगुनी भैंसे लाकर भक्त की बात को सत्य कर दिया। ६. श्रीधर भक्त की वाणी को सत्य करने के लिये भगवान श्रीराम उनकी रक्षा करते हुए उनके साथ घर तक गये। इस प्रकार प्रभु सदा भक्तों के कथन को सत्य करते हैं।।५२।।

श्रीभुवनसिंहजी

सुनौं कलिकाल बात और हैं पुराण ख्यात 'भुवन चौहान' जहां राना की दुहाई है।
पट्टा युग लाख खात सेवा अभिलाष साधु चल्यो सो सिकार नृप संग भीर धाई है।।
मृगी पाछे परे करे टूक हुती गाभिन यौं आइ गई दया कही काहे को लगाई है।
कहैं मोको भक्त क्रिया करौं मैं अभक्तन की दारु तरवार धरों यहै मन भाई है।।२२४

शब्दार्थ-**ख्यात = प्रसिद्ध। भुवन = श्रीभुवनसिंहजी। चौहान = वीर क्षत्रियों की एक प्रसिद्ध शाखा। राना = चित्तौरगढ़ के राजा, राजपूताने के क्षत्रिय सरदार। पट्टा = भूमि का अधिकार (पत्र) जो मालिक की ओर से आसामी को दिया जाता है। लगाई = चोट पहुँचायी।**

भावार्थ-**सतयुग, त्रेता और द्वापर में भक्तों की वाणी को भगवान ने जिस प्रकार सत्य किया, वे कथाएँ पुराणों में लिखी हैं और लोक में प्रसिद्ध हैं। यहाँ अब कलिकाल की कथायें सुनिये। जहाँ उदयपुर के राणा का राज्य था, वहाँ भुवनसिंहजी चौहान नाम के एक भक्त रहते थे। इन्हें खाने-खर्चे के लिये राणा ने दो लाख रुपये वार्षिक आय वाली धरती का पट्टा दे रखा था। उसकी आय से ये खूब अच्छी संत-सेवा करते थे। एक बार राणा साहब शिकार खेलने के लिये वन को गये, उनके साथ सैनिक, मंत्री और नौकरों की भीड़ गई और भुवनसिंहजी भी गये। वहाँ राणा साहब ने एक हिरनी के पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया पर वे उसे मार न सके। शिकार हाथ से जाता देखकर भुवनसिंहजी ने अपना घोड़ा बढ़ाया और तलवार से हिरनी के दो टूक कर दिये। यह गर्भिणी थीं। बच्चे समेत उसे तड़पते-मरते**

देखकर इनके मन में बड़ी दया आई, यह मन में पछताने लगे कि-मैंने इसे मारने का पाप क्यों किया, लोग मुझे भक्त कहते हैं, परन्तु मैं तो अभक्त-दुष्टों का सा कर्म करता हूँ। भविष्य में चाहूँ भी तो इस प्रकार के अनाथ-जीवों की व्यर्थ हत्या न कर सकूँ, इसलिए मुझे अब उचित है कि-मैं अब काठ की तलवार धारण करूँ। ऐसा विचार उनके मन में आया और उन्होंने लोहे की हटाकर लकड़ी की तलवार म्यान में रख ली।।२२४।।

व्याख्या-पुराणख्यात-देखिये श्रीलालाचार्यजी के प्रसङ्ग में कवित्त ११३ में सांचो सन्तपन की व्याख्या पृष्ठ ७९। पट्टा युग लाख- कहते हैं कि इनके पिता प्रथम पाँच रुपया मासिक पर राणा की नौकरी करते थे परन्तु एक बार जंगल में शेर की दहाड़ सुनकर अकेले ही जाकर शेर के कान पकड़कर दरबार में लाये। उनके इस अदम्य साहस और परम्पराक्रम पर प्रसन्न होकर राणा ने उन्हें फौज का अफसर बना दिया और दो लाख का पट्टा कर दिया।

भुवन चौहान-श्रीभुवनसिंह जी के पिता बड़े शूरवीर और परम धर्मात्मा थे। श्रीराधाबल्लभलालजी के अनन्य भक्त थे। उनकी योग्यता से प्रसन्न होकर राणासाहब उन्हें अपने बड़े भाई के समान मानते थे। भुवनसिंह अभी बालक ही थे कि पिता परलोक सिधार गये। बारह साल की अवस्था से ही भुवनसिंह राणा के दरबार में अपने पिता के पद पर कार्य करने लगे। इनको आखेट खेलने का बड़ा शौक था परन्तु इनकी माता परम भागवती थीं। उनको पुत्र का शिकार के व्यसन के वशीभूत होकर निरीह जीवों का वध करना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। वे नित्यप्रति भगवान से प्रार्थना करतीं कि कृपा करके बालक की बुद्धि सुधार दीजिये। वह हरि, हरिजन की सेवा में लग जाये, आदि। इतना ही नहीं माता ने पुत्र को विमुख विचारकर उसकी ओर से अपना ममत्व तथा वात्सल्य भी हटा लिया। भगवदिच्छा से एक दिन रात्रि में चूहे ने इनके तरकस की डोरी काट दी जिससे कि खूँटी पर टंगा हुआ तरकस झनझनाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उनमें से तीर निकल बाहर बिखर गये। अस्त्रागार के समीप में ही भुवनसिंह का शयनकक्ष था, तीरों की झनझनाहट सुनकर ये बड़ी उतावलीपूर्वक अस्त्रागार में गये तो अन्धेरे के कारण एक तीर की अनी दो अंगुल के लगभग इनके पाँव में घुस गई। ये 'हाय मैया' कहकर चिल्ला पड़े। माँ ने तुरन्त आकर तीर निकाला एवं पट्टी बाँध दी जिससे वेदना कम हो गई। इसके बाद माता ने इनको बहुत धिक्कारा कि तू क्षत्रिय होकर भी कुल-कलङ्क निकला। तुम में पिता के रंच-मात्र भी गुण-स्वभाव नहीं आ सके। वे शूरवीर और धर्मात्मा, भगवद्भक्त दोनों थे। परन्तु तुम एक

भी नहीं हुए। जरा सा तीर चुभ जाने से तुम हाय-हाय करने लगे अतः तुममें शौर्य का अभाव है और नित्य निरीह जीवों का वध करते हो अतः तुममें दया का अभाव है। दया में ही सब धर्म निवास करते हैं। यथा-दया में बसत देव सकल धरम।। (वि०) अतः दया न होने से तुममें धर्म का भी सर्वथा अभाव है फिर भगवद्भक्ति तो तुममें हो ही कैसे सकती है? तुम्हें सोचना चाहिए कि जब तनिक सा तीर लगने से हमें इतनी पीड़ा होती है तो हम नित्यप्रति तीरों से हत्या करते हैं उन्हें कितना क्लेश होता है। मैं तुझ सरीखे कपूत को जन्म देकर निपूती ही रह गई। क्योंकि-पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई।। नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम विमुख सुत ते हित जानी।। (रामा०) माता के इन वचनों का भुवनसिंह के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। उसी दिन इन्होंने निश्चय किया कि अब आज से हिंसा नहीं करूँगा। परन्तु राज-कर्मचारी थे। सैनिक थे अतः हथियार बाँधते। राजा के साथ-साथ रहते।

क्रिया करौं मैं अभक्तन की- **प्रश्न- भक्त होकर अभक्त की क्रिया क्यो? हिंसा न करने का** निश्चय करने पर भी हिंसा में प्रवृत्ति क्यों? समाधान- यह संग दोष का कुपरिणाम है। एक तो हिंसा प्रिय शिकारियों के साथ रहते थे। दूसरे हिंसक अस्त्र- शास्त्रों को धारण करते थे। इसका भी वृत्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आया है कि जब दण्डकारण्यवासी मुनियों के दुःख को सुनकर श्रीरामजी ने निशिचर वध की प्रतिज्ञा की तो श्रीजानकीजी ने कहा कि आप कैसे तो मुनिवेष धारण किए हुए हैं और राक्षसों से आपका कोई बैर भी नहीं है, फिर भी आपने जो उनके वध की प्रतिज्ञा कर ली है, इसका कारण मुझे यही जान पड़ता है कि मुनिवेष में भी आपने जो धनुष-बाण धारण कर रखा है उसी से आपकी बिना बैर राक्षस वध में प्रवृत्ति हुई है। अस्त्र-शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय के बल से वैसे ही उत्तेजना होती है जैसे सूखे तृण के संयोग से अग्नि उद्दीप्त होता है। यथा- क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानिच। समीपतः स्थितं तेजोबलमुच्छ्यते भृशम्।। (वा०रा० ३-९-१५) यह कहकर श्रीजानकीजी ने एक इतिहास भी सुनाया-पूर्वकाल के एक परम तपस्वी ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के लिए देवराज इन्द्र एक दिन एक योद्धा का रूप धारण कर आश्रम में आये और धरोहर रूप में एक खड्ग उनके पास रख गये। धरोहर की रक्षा के लिये वे ऋषि हमेशा तलवार को साथ रखते। परन्तु प्रतिदिन शस्त्र ढोते रहने के कारण वे मुनि प्रमादवश रौद्र कर्म में तत्पर हो गये और उस शस्त्र के सहवास से अन्तोगत्वा उन्हें नरक जाना पड़ा।

इसी प्रकार भुवनसिंह के द्वारा भी यह सर्वथा अयोग्य कर्म बन गया परन्तु बाद में इन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। इन्हें तीन महान् मानसिक दुःख प्राप्त हुये-१. जीव हिंसा, २. माता की आज्ञा का उल्लङ्घन, ३. स्वयं की प्रतिज्ञा भ्रष्टता। अत्यन्त ग्लानि में इन्होंने अपने सभी अस्त्र-शस्त्र कुएँ में डाल दिये और माता के चरणों में पड़कर फूट-फूटकर रोते हुए आखेट का सब वृत्तान्त कह सुनाया। माता का चरण पकड़कर इन्होंने पुनः सौगन्ध खाई कि अब मैं निश्चय ही हिंसा नहीं करूँगा और प्रार्थना किए कि अब मुझे श्रीवृन्दावन ले जाकर दीक्षा दिलवा दो। पुत्र की इस पवित्र भावना को सुनकर माताजी बड़ी ही प्रसन्न हुईं और श्रीवृन्दावन आकर श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्रजी से दीक्षा दिलवा दी। ये कुछ दिन तक श्रीवृन्दावन में रहकर ठाकुर श्रीराधाबल्लभजी का दर्शन, संतों का सत्सङ्ग एवं श्रीधाम की परिक्रमा एवं पर्यटन आदि करके बहुत सुख पाये। फिर घर चले आये। घर आकर माता से परामर्श किये कि राणा साहब की सेवा करना जरूरी है, क्योंकि उनके द्वारा प्राप्त द्रव्य से भली-भाँति सन्त-सेवा हो जाती है। यदि उनकी चाकरी छोड़ दूँ तो द्रव्याभाव में साधु-सेवा में कठिनाई पड़ेगी और राजा की सेवा में रहने पर अस्त्र- शस्त्र धारण करना भी अनिवार्य है, और शस्त्र धारण करने का दुष्परिणाम मैंने आँख से देख लिया, न धारण करने का संङ्कल्प भी कर लिया और श्रीगुरुदेव जी ने भी मना किया है। ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? तब इनकी माताजी ने सुनहली मूठवाली काष्ठ की तलवार और मखमली म्यान बनवाकर दिया। इन्होंने उस दिन से वही धारण करने का निश्चय किया।

और एक भाई तानै देखी तरवार दारु सक्यो न सँभार जाय राना कौं जनाई है।
नृप न प्रतीति करै करै यह सौह नाना बाना प्रभु देखि तेज बात न चलाई है।।
ऐसे ही बरस एक कहत बितीत भयो कह्यो मोहिं मारि डारौ जौ पै मैं बनाई है।
करी गोठ कुण्ड जाय पायकै प्रसाद बैठे प्रथम निकासि आप सबनि दिखाई है।।२२५

शब्दार्थ- **जनाई= बताई। सौंह = शपथ, कसम। बाना प्रभु=वैष्णववेष। बनाई = झूठी कही। गोठ= गोष्ठी, सभा।**

भावार्थ- **भक्त भुवनसिंहजी का एक भाई था, उसने देख लिया कि- इनकी तलवार तो लकड़ी की है। इस बात को वह अपने पेट में पचा न सका और चौहान साहब की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाने के लक्ष्य से जाकर राणा साहब से कह दिया। राणा जी ने उसकी बात का विश्वास नहीं किया। तब उसने सैकड़ों कसमें खाईं। परन्तु भुवनसिंह जी का तेजस्वी वैष्णव-वेष देखकर राणाजी को इस बात की चर्चा करने का साहस नहीं हुआ। वह बार-बार**

राणाजी से कहता था, पर वे अनसुनी कर देते थे, ऐसे ही कहते-कहते एक वर्ष बीत गया। अन्त में उसने जोर देकर कहा कि-उनकी लकड़ी की तलवार न हो, मैं झूठ कहता हूँ तो आप मुझे मार डालियेगा। तब राणाजी ने राजभवन के बगीचे में एक कुण्ड के ऊपर एक राज-गोष्ठी की और उसमें मन्त्री, सेनापति आदि मुख्य-मुख्य लोग एकत्र हुए। भोजन के उपरान्त सभी लोग सभा-भवन में बैठे। (तब राजा साहब ने कहा कि देखें, किसकी तलवार सबसे अधिक चमकीली है, सर्वश्रेष्ठ को सम्मानित किया जायेगा। यह कहते हुए) उन्होंने अपनी तलवार निकालकर सबको दिखलाई।।२२५।।

व्याख्या-और एक भाई-यह श्रीभुवनसिंहजी से द्वेष करता था। देखी तलवार दारु-साथ-साथ सरोवर पर स्नान करने गया था। वहीं बीच पाकर देख लिया। रानासों जनाई-यह कि आपके सेनापति हैं और तलवार रखते हैं काष्ठ की। भला ये क्या आपकी और क्या राष्ट्र की रक्षा करेंगे। मोहिं मारि डारो-यह दुष्टों का स्वभाव है कि वे अपना सर्वस्व नष्ट करके भी दूसरों के हित की हानि करते हैं। यथा-पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।। (रामा०) श्रीभर्तृहरिजी ने ऐसे लोगों को नर-राक्षस से भी बदतर (अत्यन्त बुरा) कहा है। यथा-ऐते सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यम भृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।। अर्थ-स्वार्थ को छोड़कर जो परार्थ के लिए यत्न करते हैं वे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ का ध्यान रखते हुए जो दूसरों की भलाई के लिए उद्यम करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हित की हानि करते हैं वे नर-राक्षस हैं और जो व्यर्थ ही दूसरों के हित की हानि करते हैं वे कौन हैं, सो हम नहीं जानते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उन्हें मैं बताता हूँ। यथा-खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।। (रामा०) अर्थात् वे खल हैं।

दृष्टान्त-खल का-एक खल स्वभाव का आदमी हमेशा दूसरों का अनिष्ट चिन्तन करता रहता था। एक दिन उसका पड़ोसी किसी मंगलमय कार्य के लिए कहीं यात्रा करने वाला था। उसने बहुत प्रयत्न किया कि इसके प्रस्थान के समय कुछ न कुछ अपशकुन हो जाय परन्तु कोई अपशकुन नहीं हुआ। तब उसने स्वयं अपनी नाक कटाकर उसके आगे आकर अपना वीभत्सरूप दिखाते हुए पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो। ऐसे होते हैं खल।

दूसरा दृष्टान्त-एक ईर्ष्यालु का-एक गाँव में सभी लोग बड़े धर्मशील एवं धन-धान्य से

सम्पन्न थे। केवल एक व्यक्ति ऐसा था जिसको सब प्रकार का अभाव था अतः वह दूसरों के सुख को देखकर रात-दिन जला करता था। एक दिन उसके मन में आई कि सुना है कि भगवान शंकर बड़े ही शीघ्र प्रसन्न होने वाले एवं इच्छित वरदान देने वाले हैं अतः मैं क्यों न उनकी आराधना करके सबसे अधिक धन-धान्य वाला हो जाऊँ। फिर तो उसने बड़ी लगन से श्रीशिवजी की आराधना की। श्रीशिवजी ने अपना आशुतोष नाम चरितार्थ करते हुए शीघ्र ही उस पर प्रसन्न होकर, प्रकट होकर दर्शन दिया और उसे एक घंटा देकर बोले-लो, तुम इस घण्टे का विधिपूर्वक पूजनकर इससे जो भी मांगोगे वह तुम्हें प्राप्त होगा। परन्तु तुम्हारे गाँव वालों को तुमसे दूना मिलेगा। यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। तब उसने विचार किया कि यह तो ठीक नहीं कि तपस्या किया मैंने और मालोमाल हों गाँव वाले। मैं चाहे भले भूखा मर जाऊँगा परन्तु गाँव वालों को दूना-दून कदापि नहीं होने दूँगा। फिर तो वह घर आकर पत्नी को सब बात बताकर उसे घण्टा देकर अपने धन कमाने परदेश चला गया। परन्तु दुर्भाग्य तो सब जगह साथ रहता है। परदेश में कहीं नौकरी नहीं लगी। इधर स्त्री-बच्चे भूखे मरने लगे तब उसकी पत्नी ने विचार किया कि क्यों न शिवजी के घण्टे से कुछ याचना करूँ। उसने विधिपूर्वक पूजन करके घण्टे से जो कुछ माँगा वह तत्काल प्राप्त हो गया। इतना अवश्य हुआ कि गाँव वालों को उससे दूना मिला। परन्तु मिले, इससे अपनी हानि ही क्या है? अब स्त्री-बच्चे सुख से जीवन बिताने लगे। कुछ दिन बाद उसकी पत्नी ने पति को पत्र देकर घर बुला लिया। घर आकर उसने देखा तो गाँव का नक्शा ही बदल गया था। पहले जो सुख-समृद्धि थी, सो थी ही, घण्टे के प्रभाव से और भी दूना-दून वृद्धि हुई थी। यह देखकर वह ईर्ष्यालु व्यक्ति जल-भुन गया। और सबका अनिष्ट करने का उपाय सोचने लगा। दूसरे दिन उसने घण्टा का पूजन करके यह माँगा कि हमारे घर वाले लोगों की एक-एक आँख फूट जाय परिणामस्वरूप इसकी तो एक-एक फूटी, गाँव के लोगों की दोनों फूट गई। तीसरे दिन उसने यह माँगा कि हमारे घर के लोगों की एक-एक टाँग (पैर) टूट जाय। गाँव के लोगों की दोनों टाँगें टूट गईं। चौथे दिन यह माँगा कि हमारे घर के दरवाजे पर एक कुआँ हो जाय तो गाँव भर में सबके घर के आगे दो-दो कुएँ हो गये। सबकी आँखें फूटी हुई थीं सबेरे उठे तो सबके सब कुएँ में गिर गये। भगवान शिवजी से उस दुष्ट की दुष्टता नहीं सही गई। वे तुरन्त प्रकट होकर गाँव वालों को पूर्ववत सुखी कर दिये और उस दुष्ट से घण्टा लेकर उसे फिर ज्यों का त्यों कर दिये। दुष्टों की दुष्टता का वर्णन करते हुए संत सुन्दरदासजी लिखते हैं कि-

आपन काज सँवारन के हित और को काज बिगारत जाई।
आपन कारज होउ न होउ बुरो करि और को डारत भाई।।
आपहुँ खोवत औरहुँ खोवत खोय दुवौ घर देत बहाई।
'सुन्दर' देखत ही बनि आवत दुष्ट करैं नहिं कौन बुराई।।

सबनि दिखाई है-**राणा साहब ने कहा कि भाइयों! ब्राह्मण के लिए शास्त्र, क्षत्रिय के लिए अस्त्र-शस्त्र, वैश्य के लिये धन और शूद्र के लिये सेवा ही परम धन है। अतः आज हम लोग अपनी-अपनी तलवार देखेंगे और दिखावेंगे। यह कहकर प्रथम राणा ने दिखाया।**

क्रम सौं निहारि कही भुवन विचार कहा? कहौ चाहैं दार मुख निकसत सार है।
काढ़िकै दिखाई मानौ विजुरी चमचमाई आई मन माँझ बोल्यौ याकौ मारो भार है।।
भक्त कर जोरिकै बचायौ अजू मारियै क्यों? कही बात झूठ नहीं करी करतार है।
पट्टा दूना-दून पावौ आवो मत मुजरा कौं मैं ही घर आऊँ होय मेरो निस्तार है।।२२६

शब्दार्थ- **क्रमसों=क्रमशः, नम्बरबार। सार = लोहा, फौलाद, तलवार। भार है = व्यर्थ, बोझा, पृथ्वी का भार**

भावार्थ- राणा जी ने अपनी तलवार दिखाकर क्रमशः सभी सरदारों की तलवारें देखीं और जब भुवनसिंहजी की बारी आई तब राणा साहब ने कहा- कहिये, भुवनसिंहजी! आपका क्या विचार है। इसके उत्तर में ये-'मेरी तो दार (लकड़ी) की है।' यह कहना चाहते थे परन्तु 'मेरी तो सार (उत्तम लोहे) की है' यह उनके मुख से निकल गया। (तदनुसार ही भगवान ने तलवार लोहे की कर दी, भक्त की वाणी सत्य हो गई।) और भक्त भुवनसिंहजी ने अपनी तलवार निकालकर दिखलाई, तब सभी की आँखों में चकाचौंध हो गया। सभी सभासदों को ऐसा लगा कि तलवार नहीं, यह तो बिजली चमक रही है। उसी क्षण राणाजी के मन में उस चुगलखोर के ऊपर क्रोध आया और उन्होंने उसे फटकारते हुए अपने सिपाहियों को आज्ञा दी कि-इसे पकड़ लो और शूली पर चढ़ाकर मार डालो, यह पृथ्वी का भार है। उसके प्राणों का संकट देखकर भक्त भुवनसिंहजी ने हाथ-जोड़कर राणाजी से कहा कि-इसे क्यों मरवा रहे हैं, यह तो निर्दोष है। इसने झूठी बात नहीं कही है। गर्भिणी हिरनी जब मेरी तलवार से मरी थी, उसी दिन से मैंने म्यान में लकड़ी की तलवार रख ली थी। उसे आज भगवान ने लोहे की कर दी है। इस विचित्र चमत्कार को

देखकर राणाजी ने प्रभावित होकर कहा-अब आज से आप दरबार में हाजिरी बजाने मत आया करिये। दो लाख के स्थान पर चार लाख का पट्टा लीजिये। मैं कभी-कभी दर्शन करने के लिए आपके घर पर ही आ जाया करूँगा। जिससे मेरा भी इस संसार-सागर से उद्धार हो जायेगा।।२२६।।

व्याख्या-भार है-पापी, निन्दक, परद्रोही पृथ्वी के भार होते हैं। यथा-गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोहीं। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही। (रामा०) 'भक्त...बचायो'-यही साधु की पहचान है, गौरव गरिमा है। यथा-उमा सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।। (रामा०) अतः श्रीभुवनसिंहजी ने विचार किया कि किसी जीव की हिंसा न हो, इसलिए तो मैंने काष्ठ की तलवार धारण की। परन्तु यह भी चल गई। इसी के कारण यह मारा जा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि अस्त्र-शस्त्र चाहे नकली ही क्यों न हों, उनसे हिंसारूप दोष हो ही जाते हैं। अतः अब मैं काष्ठ की तलवार भी नहीं धारण करूँगा। फिर हाथ-जोड़कर उसे बचाये। तब राणा ने कहा-आपकी जीवों पर इतनी अपार दया है, तब भला भगवान आपकी क्यों न लज्जा रखे? आप परम भागवत हैं। आपका दर्शन करने मैं अवश्य आऊँगा क्योंकि-सन्त मिलन को जाइये तजि ममता अभिमान। ज्यों ज्यों पग आगे बढ़ै कोटिन यज्ञ समान।। दृष्टान्त द्रौपदी का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४२४।। करी करतार है-पद-सदा हरि निज भक्तन रखवार। गिरत उठावत जरत बचावत बूड़त लेत उबार।। भोजन पान समय पर दैकै बिगरी लेत सुधार। मरन न देत अकाल मौत ते राखि लेत करि प्यार।। मात पिता हू ते बढ़ि जोगवत साँचे हरि भरतार। कियो दारको सार भुवन हित कृपासिन्धु करतार।। (भ०व०टि०) दृष्टान्त श्रीघाटमजीका-श्याम वर्ण का घोड़ा श्वेत हो गया। देखिये छप्पय ९९।। श्रीचतुर्भुजदासजी की कथा सुनकर दीक्षा लेने वाले चोर के लिए तप्त लोहे का फाल शीतल हो गया। देखिये कवित्त ४९५।।

श्रीभुवनसिंहजी के इस कथा-प्रसङ्ग को एक चारण ने अरिल्ल छन्द में बड़ा सुन्दर कहा है। यथा-भई तलाया गोठ जुरे जहँ चक्कवै।। परचौ लीजै आज खात द्वै लक्खवै।। परमेश्वर पति राखि बात नहिं कहन की। बिजुली ज्यों तरवार चमंकी भुवन की। उदैपुरी को भूप कुपित अतिशै भयौ। काटन लाग्यो सीस भुवन दाया कियौ। चुगुलखोर निज पाप ताप ते गरि गयो। भक्त भागवत सुयश भूमि पर छइ गयौ। पर अपकारी जीव कृतघ्न जघन्य हैं। मन्द करत भल करैं साधु ते धन्य हैं।। इन सम हरि को और न प्यारे अन्य हैं। येई साँचे सन्त कृतज्ञ अनन्य हैं।।

पण्डा श्रीदेवाजी

दरसन आयो राना रूप चतुर्भुज जू कैं रहे प्रभु पौढ़ि हार सीस लपटाये हैं।
वेगि ही उतारि कर लैकै गरे डारि दियो देखि धौरौ बार कही धौरे आये? आये हैं।।
कहत तो कही गई सही नहीं जात अब महीपति डारै मारि हरिपद ध्याये हैं।
अहो हृषीकेश करौ मेरे लिये सेतकेस लेसहूं न भक्ति कही किये देखो छाये हैं।।२२७

शब्दार्थ-हार = **माला। धौरौं= सफेद। डारै = डाल दे, पद से हटा दे। हृषीकेश = हृषीक = इन्द्रियाँ +ईश-स्वामी, भगवान। सेतकेस = सफेद बाल। लेश = थोड़ी, नाममात्र। छाये = लगे, सुशोभित।**

भावार्थ-**भगवान श्रीचतुर्भुजजी का दर्शन करने के लिए राणाजी आये परन्तु नित्य की अपेक्षा आज देर से आये। समय हो गया था इसलिए पुजारी श्रीदेवाजी ने भगवान को शयन करा दिया और प्रसादी माला जो राणाजी को पहनाने के लिये रखी थी उसे उन्होंने अपने सिर पर धारण कर लिया। इतने में ही राणाजी आ रहे हैं यह समाचार मिला। श्रीदेवापण्डाजी ने प्रसादी माला अपने सिर से उतारकर रख ली और राणाजी के आने पर उसे उनके गले में पहना दिया। संयोगवश पण्डाजी के सिर का एक सफेद बाल माला में लिपटा चला गया। उसे देखकर राणाजी ने कहा-क्या ठाकुरजी के बाल सफेद हो गये हैं। पण्डाजी के मुख से निकला-हाँ, (राणाजी ने कहा-मैं प्रातःकाल देखूँगा) पण्डाजी हाँ-ऐसा कह तो गये परन्तु अब वह बात उनसे सहन नहीं हो रही थी, वे घबड़ाये कि-अब राणाजी हमें अवश्य ही मरवा डालेंगे क्योंकि मैंने झूठी बात कही है। उन्हें और कोई उपाय नहीं सूझा, वे भगवान के श्रीचरणों का ध्यान करने लगे। उन्होंने प्रार्थना की कि-हे हृषीकेश भगवान! मेरे प्राणों की रक्षा के लिये कृपा करके आप अपने बालों को सफेद कर लीजिये। आप भक्तरक्षक हैं परन्तु मेरे मन में तो आपके प्रति नाममात्र भी भक्ति नहीं है। चिन्तामग्न श्रीपण्डाजी से ठाकुरजी ने कहा कि-मैंने सफेद बाल धारण कर लिए हैं, न मानो तो आकर देख लो।।२२७।।**

व्याख्या-कहीं धौरे आये-**तीन बार राणा ने पूछा और तीनों बार उन्होंने कह दिया कि हाँ, श्रीठाकुरजी के केश श्वेत हो गये हैं। 'महीपति डारै मारि'-कहा भी गया है- नखीनांच नदीनांच श्रृङ्गिणां शस्त्रपाणिनाम्। विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।। (चाणक्यनीति) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २७९।। पुनः-भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ। (रामा०)**

हरिपद ध्याइये-इसलिए कि संकट में सहायक तो एकमात्र भगवान ही हैं और लोग तो सम्पत्ति के सगे हैं। बड़ा ही सुन्दर श्रीअग्रदासजी ने लिखा है-अगर आसरो और तजि राम नाम दृढ़ सींव। खटिया टूटे भ्वैं सरन, भुजा भगन भये ग्रींव।। भुजा भगन भय ग्रींव दण्ड यमराज धरैगो। तहाँ धराहर और राम बिन कौन करैगो।। तात मात सुत सुता प्रीय परिजन कहा चारौ। सबसों पर्‍यो विछोह सुदिन हरिनाम सँभारौ।। अगर आसरौ०।।

अहो हृषीकेश-यथा-उर प्रेरक रघुवंश विभूषण। अर्थात् मैं जो कुछ किया और कहा है वह सब आपकी ही प्रेरणा से। अतः मेरी भूल क्षमा करके मेरी रक्षा कीजिये। यथा-यन्त्रस्य गुण दोषांस्त्वं क्षमस्व पुरुषोत्तम। अहं यन्त्रं भवान् यन्त्री न मे दोषो न मे गुणः।। अर्थ- (कोई भक्त कहता है कि) हे पुरुषोत्तम! यन्त्र के गुण-दोष क्षमा कीजिये। मैं यन्त्र हूँ और आप ही उसके संचालक हैं। अतः मेरा न तो दोष ही है और न मेरा गुण ही है। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि कर्माभिमानी जीव को तो उसके कर्मप्रेरक होते हैं और जिसने सर्वतोभावेन भगवान की शरण ले ली है। उसके एकमात्र प्रेरक भगवान होते हैं। सुकृती अरु पापी जनन्ह प्रेरत पुण्य रु पाप। भक्त हृदयमें बसि सदा करत प्रेरणा आप।। (भ०व०टि०) 'लेसहूँ न भक्ति'-यथा-प्रभो मैं झूठो अहौं पुजारी। सदा सत्य त्रय-कालनाथ तुम भक्तवछल अविकारी।। पूजाके मिस उदर भरत हौं अति लोलुप अविचारी।। प्रेम नेम एकौ नहिं हममें दीनानाथ खरारी।। हौ किशोर कच कुंचित मेचक शोभासिंधु मुरारी। कैसे कहौं वृद्ध बनि जावो सेत केस सिर धारी।। देवा देव चतुरभुज चरननि परि कै कहत पुकारी। जैसी चहौ करो करुनानिधि सर्वोपरि अधिकारी।। पुनः-नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खरचनको दाम। मोसे पतित अपंग की तुम पति राखो राम।। 'किये देखो छाये हैं'-भगवान ने देवाजी की बात रख ली। तभी तो श्रीहरिरामव्यासजी कहते हैं-खरो खरो सब लेत हैं, परखि पारखी सार। खोटे व्यास अनन्य को गाहक नन्दकुमार।।

मानि राजा त्रास दुखरासि सिंधु बूड्यो हुतो सुनिकै मिठास बानी मानौं फेरि जियौ है।
देखे सेत बार जानी कृपा मो अपार करी भरी आँखैं नीर सेवा लेस मैं न कियौ है।।
बड़ेई दयाल सदा भक्त प्रतिपाल करैं मैं तो हौं अभक्त ऐपै सकुचायो हियौ है।
झूठे सनबन्धहूं तै नाम लाजै मेरोई जू तातैं सुख साजैं यह दरसाय दियौ है।।२२८

शब्दार्थ- त्रास = भय। सनबन्ध = सम्बन्ध। साजै = सजावैं, बनावैं। दरसाय = दिखाय।

भावार्थ-कल सबेरे राणाजी आवेंगे, भगवान के सफेद बाल नहीं देखेंगे तो मुझे मिथ्यावादी मानकर प्राणदण्ड दे देंगे, इस भय से श्रीदेवापण्डाजी दुःख के महासागर में डूबे थे, तब भगवान की मधुर वाणी सुनकर उनकी जान में जान आई। मन्दिर में जाकर जब उन्होंने दर्शन किया तो सफेद बाल दिखायी पड़े। तब पण्डाजी ने अपने मन के अनभुव से यह जाना कि-ठाकुरजी ने हमारे ऊपर बहुत बड़ी कृपा की है। उनकी आँखों में आँसू भर आये, विचारने लगे कि-मैंने तो नाममात्र की भी कभी प्रेम से सेवा नहीं की है। परन्तु भगवान तो बड़े ही दयालु हैं, सदा अपने भक्तों की रक्षा तथा पालन करते हैं। यह विचारकर श्रीदेवाजी के हृदय मे बड़ा संकोच हुआ कि-मैं तो भक्त भी नहीं हूँ, फिर भगवान ने मुझ पर कैसे कृपा की। ठीक है, अब समझ में आया-प्रभु सोचते हैं कि-झूठे सम्बन्ध से ही सही, नाम तो मेरा ही लेता है। (यदि रक्षा नहीं करूँगा तो मेरा नाम बदनाम होगा) इसलिए झूठे भक्त के भी सुख सजाते हैं, आज अपना रहस्य भगवान ने प्रत्यक्ष करके दिखला दिया।।२२८

व्याख्या-सुनिकै मिठास बानी०-भगवान की वाणी में अद्भुत माधुर्यामृत भरा रहता है। यथा-श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं-प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ।। सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहि जाइ बखाना।। (रामा०) श्रीविभीषणजी-सुनत विभीषण प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी।। श्रीमनुजी-मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवणरन्ध्र होइ उर जब आई। हृष्ट-पुष्ट तनु भये सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए।। 'मैं तो हौं अभक्त'-यह श्रीदेवाजी का कार्पण्य है। नीचानुसंधान है नहीं तो भला क्या बिना प्रेम के भगवान ने इनकी बात रखी है? ये महान भक्त थे। प्रसङ्ग ही चल रहा है-'भक्त गिरा साँची करन' का।

झूठे सनबन्धहू ते-यथा-तुलसी झूठे भगतकी पति राखत भगवान। जस मूरख उपरोहितहिं देत दान जजमान।। (मूल गोस्वामीचरित) १. दृष्टान्त धनीदासजी का। देखिये श्रीतुलसीदासजी का चरित।

दृष्टान्त-मूर्ख उपरोहित का-एक पण्डितजी थे। पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं थे। जैसे तैसे उन्होंने अमरकोश का एक श्लोक रट लिया था। बस उसी एक श्लोक से यजमानों के यहाँ सम्पूर्ण कर्मकाण्ड करवाते थे। एक बार किसी विशेष अवसर पर बहुत से विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। उनको अमरकोश के श्लोक से कर्मकाण्ड करवाते देखकर लोग समझ गये कि यह तो मूर्ख मालूम पड़ता है। फिर तो विद्वान् ब्राह्मणों ने यजमान को भड़काया कि तुम्हारा पुरोहित कुछ नहीं जानता है, इसे छोड़कर किसी विद्वान् से कर्मकाण्ड करवाओ।

तब उन पण्डितजी ने यजमान से कहा कि भाई देखो, हमारे पिताजी ने हमको अमरकोश पढ़ाया है। मैं तुम लोगों को अमर बनाने के लिए अमरकोश के श्लोक से सब कर्म करवाता हूँ। अब तुम्हीं कहो, क्या अमरकोश को छोड़कर हम मरणकोश का श्लोक बोलें? यजमान हँस गये, बोले-महाराज! आप कुछ भी न कहो तो भी आप हमारे पुरोहित हैं, हम तो आपको ही जानें और मानेंगे। दान-दक्षिणा देंगे। आपके आशीर्वाद से ही हम लोगों का सदा मङ्गल होता रहेगा।

३. दृष्टान्त-झूठे भक्त का-किसी गाँव में एक दम्भी ने कुछ ढोंग-पाखण्ड करके अपने को 'भगतजी' के नाम से विख्यात कर रखा था। एक बार दैवसंयोग से वह कुएँ में गिर पड़ा। तब गाँव के लोग उसे निकालने के लिए एकत्र हुए तो उस पाखण्डी ने कुएँ में भी ढोंग फैलाया। लगा नाचने, कूदने और कहने लगा-अहो! भगवान की कैसी मधुर-मनोहर झाँकी का यहाँ दर्शन हो रहा है। अब तो मैं यहीं रहूँगा। मुझे कोई भी बाहर मत निकालो। गाँव के कुछ भोले-भाले सरल हृदय लोगों ने समझा कि भगतजी ठीक ही कह रहे हैं। भला ये झूठ क्यों कहेंगे? फिर तो विश्वास में पड़कर कई और लोग भी भगवान के दर्शन के लोभ से कुएँ में कूद गये परन्तु वहाँ पहुँचने पर उन लोगों को श्यामगौर, मधुर-मनोहर कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ा परन्तु वह पाखण्डी तो पूर्ववत् ही नाचता-कूदता और कहता रहा। तब उन लोगों को हृदय से बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि देखो, भगतजी को भगवान का दर्शन हो रहा है और हम अभागे एकदम वंचित रहे। सच्चे हृदय की आत्मग्लानि ने उनके जन्म-जन्म के पापों को क्षणमात्र में नष्ट कर दिया। भगवान द्रवीभूत होकर सचमुच ही कुएँ में प्रकट हो गये। सब लोग भगवान का दर्शन कर कृतार्थ हो गये। इस प्रकार भगवान ने झूठे भक्त की बात भी रख दी।

४. दृष्टान्त-एक यवन बादशाह का-पूर्वजन्म के किसी शुभ-संस्कारवश बादशाह यवन होकर भी श्रीकृष्ण भगवान में प्रीति करता था। श्रीकृष्ण का 'कन्हैया' नाम उसे बहुत प्रिय लगता था। हमेशा 'कन्हैया' 'कन्हैया' रटा करता था और कन्हैया के नाते, कन्हैया के भक्तों को भी बहुत मानता था, बड़ी सेवा करता था। इस बात की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई थी। फिर तो एक ब्राह्मण ने कन्हैया के नाम की नकली चिट्ठी आपने ही लिखकर उस पर कन्हैया का हस्ताक्षर कर दिया। उसमें लिखा था कि इन पण्डितजी को कन्या का विवाह करने के लिए १०००) एक हजार रुपया दे दिया जाय। ब्राह्मण वह फर्जी पत्र लेकर बादशाह के पास आया। पत्र पढ़कर बादशाह ने वजीर को हुक्म दे दिया कि इन्हें पत्र में लिखित द्रव्य

दे दिया जाय। वजीर ब्राह्मण को लिवाकर गया और एक जगह बैठाकर फिर बादशाह के पास आकर बोला-हजूर! यह तो फर्जी चिट्ठी है। भला कन्हैया के पास में क्या धनमाल की कमी है जो उसने इन्हें आपके पास भेजा है। आप भी अच्छे भोले भाले हैं। यह तो पक्का धूर्त है। बादशाह ने कहा-वजीरजी! यह तो मैं भी जानता हूँ कि झूठा पत्र है। परन्तु मुझे विश्वास है कि आज कन्हैया की झूठी चिट्ठी आई है तो कल सच्ची भी आयेगी। कहा गया है-झूठ मूठ करत साँच ह्वै जाय। झुठमुठ खेलै सचमुच होय। सचमुच खेलै विरला कोय।।

५. दृष्टान्त-पूतना का-**लोक बालघ्नी, रुधिराशना, पिशाचिनी पूतना ने यद्यपि कुचों में कालकूट (विष) लगाकर वध की दुर्भावना से मातृभाव का कोरा-स्वांग करती हुई श्रीकृष्ण को स्तनपान कराया तो भी उसे माता की गति प्रदान की। यथा-गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ। मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ।। (वि०)**

आयो भोर राना सेत बार सो निहारि रह्यो कह्यो केस काहूके लै पंडाने लगाये हैं।
ऐंचि लियो एक तामैं खैंचिकै चढ़ाई नाक रुधिरकी धार नृप अंग छिरकाये हैं।।
गिर्‌यो भूमि मुरछा ह्वै तनकी न सुधि कछू जाग्यो जाम बीते अपराध कोटि गाये हैं।
यही अब दण्डराज बैठे सो न आवै इहां अबलौं हूं आनि मानि करैं जो सिखाये हैं।।२२९

शब्दार्थ-**आनि = मर्यादा, प्रतिज्ञा।**

भावार्थ- **प्रातःकाल शीघ्र ही चतुर्भुजजी के सफेद बाल देखने के लिए राणाजी मन्दिर में आये और सफेद बालों को देखकर कुछ देर तो देखते ही रह गये। फिर उन्होंने मन में कहा कि-निश्चय ही पण्डाजी ने कहीं से सफेद बाल लाकर भगवान के सिर पर लगा दिये हैं। परीक्षा लेने के लिए राणाजी ने उनमें से एक बाल को खींचा। बाल के खींचे जाने पर पीड़ावश ठाकुरजी ने अपनी नाक चढ़ा ली। बाल उखड़ गया और उस बाल के छिद्र से रक्त की धारा बह निकली। उसके छींटे राणाजी के शरीर पर पड़े। इससे राणाजी को मूर्छा आ गई और वे पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्हें अपने शरीर का कुछ भी होश न रहा। एक पहर बाद जब होश आया। तब वे इसे करोड़ों अपराधों के समान मानकर क्षमा-प्रार्थना करने लगे। श्रीचतुर्भुजजी ने आज्ञा की-तुम्हारे लिये यही दण्ड है कि-जो भी राजगद्दी पर बैठे, वह दर्शनों के लिए मेरे मन्दिर में न आवे। इस आज्ञा के अनुसार उनकी आन मानकर जो भी राजा उदयपुर की राजगद्दी पर बैठते हैं वे दर्शन करने मन्दिर में नहीं आते हैं। राजा अपने उत्तराधिकारियों को भक्तों के अपराध से बचने की शिक्षा देते हैं।।२२९।।**

व्याख्या-कह्यो केस काहूके०-राणा ने मन में विचार किया कि पण्डाजी ने एक अपराध तो यह किया झूठ बोले कि श्रीठाकुरजी के केश श्वेत हो गये हैं और अब दूसरा अपराध यह कर डाले कि न जाने किसके श्वेत केश लाकर श्रीठाकुरजी के लगा दिये। अतः परीक्षा के लिए राणा ने श्रीदेवाजी से कहा कि पण्डितजी! मैं स्नान करके रेशमी वस्त्र धारण करके आया हूँ। यदि आप कहें तो मैं समीप से श्रीठाकुरजी का दर्शन करूँ। श्रीदेवाजी ने कहा-महाराज! मन्दिर आपका है, श्रीठाकुरजी आपके हैं आप खूब समीप से दर्शन करें। 'अपराध कोटि गाये हैं।'-राणा ने भक्ति, भक्त और भगवान-तीनों का अपराध किया है। यदि राणा ने यह जान भी लिया कि पण्डाजी ने अपनी पहिनी हुई माला हमें पहनाई है तो इस पर तर्क नहीं करना चाहिए था कि इन्होंने ऐसा क्यों किया? अरे देवाजी! एक तो ब्राह्मण है, दूसरे श्रीठाकुरजी के पुजारी हैं तीसरे परमभक्त हैं अतः सब विधि पूज्य हैं। तर्क करने से भक्ति का अपराध हुआ। पण्डाजी ने किसी और का केश श्रीठाकुरजी को लगा दिया है, इस प्रकार श्रीदेवाजी में छल-कपट का आरोप भक्तापराध है। तथा भगवान को पत्थर की मूर्ति मानकर उसका केश ऐंचना-यह भगवदापराध है यह तीनों अपराध ही महापराध हैं। यथा-गुरुनविषे नर बुद्धि शिलासम गनै विष्णु तन। चरणोदक जल जान मन्त्र वन्दै वानी सम।। महा प्रसादहिं अन्न साधुकी जाति पिछाने। ते नर नरके जायँ वेद स्मृति बखाने।। अगर कहैं यह पाप घट अति मोटो दुर्घट विकट। और पाप सब छुटैं पै ये न मिटैं हरिनाम रट।। राज बैठे सो न आवै- भाव यह कि अन्य पारिवारिकजन आ सकते हैं और राजा भी सिंहासन पर बैठने के पूर्व तक आ सकता है। भगवान ने यह बहुत बड़ा दण्ड दिया है। यथा-लखन राम सिय बिनुपद देखे। सोक समाज राज केहि लेखे।। (रामा०)।

श्रीकामध्वजजी

भये चारि भाई करैं चाकरी वै रानाजूकी तामैं एक भक्त करैं बन में बसेरो है।
आयकै प्रसाद पावै फेरि उठि जाय तहीं कहैं नेकु चलौ तौ महीना लीजै तेरो है।।
जाके हम चाकर हैं रहत हजूर सदा मरै तौ जरावै कौन? वही जाको चेरो है।
छूट्यौ तन वन राम आज्ञा हनुमान आये कियो दाह धुआँ लगे प्रेतपार नेरो है।।२३०

शब्दार्थ-चाकरी = नौकरी, सेवा। बसेरो = वास, निवास। महीना = महिनवारी, मासिक वेतन। चाकर हजूर = बड़ों की समीपता, नजर के सामने। प्रेतपार = प्रेत का प्रेतयोनि से उद्धार। नेरो = कियौ, निकट।

भावार्थ-उदयपुर राज्य के एक सेवक परिवार में चार भाई थे। इनमें तीन भाई राणा के यहाँ नौकरी करते थे। एक श्री कामध्वज भक्त थे। वह वन में रहकर भगवद्भजन करते थे। समय पर घर आकर प्रसाद पा लेते थे और फिर शीघ्र ही वहीं वन को चले जाते थे। तीनों भाई बार-बार इस भक्त से कहते थे-तुम जरा सी देर के लिये चलकर राणाजी के दरबार में हाजिरी बजा दिया करो, इससे तुम्हारा भी मासिक वेतन ले लिया जाया करे। श्रीकामध्वजजी इनको उत्तर देते थे कि हम ज़िसके सेवक हैं, उसकी सेवा करते हैं और उसी की हाजिरी बजाते हैं, दूसरे से हमें क्या काम? एक दिन भाईयों ने कहा कि-जब तुम मर जाओगे तो तुम्हें कौन जलावेगा। इन्होंने उत्तर दिया-जिसके हम सेवक हैं, वही हमें जलावेगा। भजन करते हुए वन में ही एक दिन श्रीकामध्वजजी का शरीर छूट गया। भक्तों के स्वामी भगवान श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीहनुमानजी आये, चन्दन की लकड़ियों को एकत्र करके चिता बनायी और दाह-संस्कार किया। उसके परम पावन धूम के लगने से अनेक प्रेत-प्रेतयोनि से छूट गये, उनका उद्धार हो गया।।२३०।।

व्याख्या-करैं चाकरी वै रानाजूकी-**भजने योग्य भगवान को छोड़कर अन्य को भजना जीव का अज्ञान है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्यकर श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-ऐसेहिं जनम समूह सिराने। प्राणनाथ रघुनाथसे प्रभु तजि सेवत चरन विराने।। जे जड़ जीव कुटिल कायर खल केवल कलिमल साने। सूखत बदन प्रसंसत तिन कहँ हरिते अधिक करि माने।। सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पांय पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।। यह दीनता दूर करिबे को विविध जतन उर आने। तुलसी चित चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामणि पहिचाने।। (वि०)**

तामें एक भक्त-**सबके संस्कार अलग-अलग होते हैं। यथा-एक पिता के विपुल कुमारा। होहि पृथक गुण सील अचारा।। कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता।। कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई।। (रा०च०मा०)**

दृष्टान्त-फूलका-

इक जाय चढ़्यौ हरिके सिर पै महिमा छबि तासु अनन्त भई।
इक को विषयी नर तोरि लियौ परि पातुरि हाथ कुभांति भई।।
इक सूखि रह्यौ तरुमें लगिकै इक की मगमें पग धूरि भई।
शुभ चारि प्रसून खिले तरुमें सबकी गति औरहिं और भई।।

(भ०व०टि०)

दृष्टान्त-शिलाका-

तुल्यं भूभृति जन्म तुल्यमुभयोस्तुल्यं च मूल्यं वपु-
स्तुल्यं दार्ढ्यमुदग्रटङ्क खननं तुल्यं च पाषाणयोः।
एकस्याखिल वन्दनाय विधिना देवत्वमारोपितं,
तद् द्वारे विहिता परस्पर पदाघातास्पदं देहली।

दुइ पाथर ते इक साथ खुदे सम नाप सुतौल समै खुदवाई।
इककी हरि मूरति दिव्य भई त्यहिं पूजत प्रेम सनेम सदाई।।
बनिकै इक चौखट मांझ लग्यो नित पाद प्रहार सहै सबकाई।
इकही घरमें जनमें जुग हैं इक दुष्ट भयो एक भक्त कहाई।।

(भ०व०टि०)

पुनः- **भगवान की भक्ति कोई एक ही पाते हैं। यथा-कहुँ-कहुँ वृष्टि शारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।। (रामा०) तुलसी रामहि सो भजै, जो भजि आयो होय। बीघा चालिस छाँड़िके, अनत न केशर होय।।**

दृष्टान्त-राजा जयसिंहका-**एक बार जयपुर नरेश सवाई जयसिंह ने अजमेर में केशर की खेती करवाई। परन्तु वह [illegible] ही नहीं। मन्त्रियों से पूछे-तब उन लोगों ने कहा कि हुजूर! काश्मीर से मिट्टी मँगवाई जाय तब होगी। यह तो वहाँ की मिट्टी में ही होती है। मिट्टी मँगाई गई परन्तु फिर भी नहीं हुई। तब मन्त्रियों ने कहा कि वहाँ से जल मँगवाया जाय। जल भी मँगवाया गया, तब भी नहीं हुई। तब मन्त्रियों ने कहा कि वहाँ से हवा मँगवायी जाय। राजा ने कहा कि यह तो असम्भव है। मन्त्रियों ने कहा-हुजूर! केशर तो काश्मीर में ही होती है। उसी प्रकार स्वाभाविक भक्ति भी उन भक्तों से होती है जो पहले से भक्ति कर आये हैं। अतः भयो एक भक्त०।**

करै बनमें बसेरो है- **देखिये पूर्वार्द्ध शबरीजी का प्रसङ्ग एवं मामा-भानजे का प्रसंग। क० २१२। 'आयके प्रसाद पावै-श्रीकबीरदासजी कहते हैं-क्षुधारूपिणी कूकरी हरि ने दई लगाय। कबिरा टुकड़ा डारि के गोविन्द के गुन गाय।। छुधा की बाधा से झुँझलाकर एक सन्त ने लिखा-**

पाइँ दियो चलिबे फिरिबे कहँ हाथ दिये हरि कर्म कमायो।
कान दिये सुनिबे हरिको यश नैन दिये हरि दर्श दिखायो।।

नासिका दीनी हुती रस सूँघन जीभ दई हरिको यश गायो।
ये सब साज दिये अति सुन्दर पेट दियो कैंधो पाप लगायो।।

भूख की शिकायत श्रीकृष्ण के सखा ग्वालवालों को भी थी। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३९० यज्ञपत्नियों का प्रसङ्ग। पुनः-हरि भक्तन को संग करै, हरि प्रसाद को खाय।। नाम रटै सो भक्तजन यमको देत भगाय।। (भ०व०टि०) जाके हम चाकर हैं-यथा-हम चाकर रघुवीर के पटो लिखो दरबार। तुलसी अबका होहिंगे नरके मनसबदार।। पुनः-जाति गोत सब परिहरै, प्रभु सेवाकी आस। इक हरिहीं को ह्वै रहै सो कहिये निज दास।।

कहैं नेकु चलौ०-**भाई ने ताना मारा कि बैठे-बैठे तुमको कोई कब तक खिलावेगा। अरे, भाई, बिना हाथ हिलाये तो पङ्खा भी हवा नहीं देता है। अतः हाथ तो हिलाना ही चाहिए अर्थात् कुछ तो करना ही चाहिए। यदि कुछ काम नहीं कर सको तो कम से कम वहाँ चलकर हाजिरी तो दे दिया करो। 'मरै तो जरावै कौन'-जब भाइयों ने भोजन का ताना मारा तो श्रीकामध्वजजी ने कहा कि कहो तो हम भोजन करने भी न आवें। तब उन लोगों ने कहा कि भोजन की कोई बात नहीं है। परन्तु वन में रहते हो, यदि वहीं मर गये तो तुम्हें फूंकेगा कौन? घर पर मरते तो कम से कम हम भाई बन्धु तुम्हें जला तो देते।**

वही जाको चेरो है- **भाव यह कि शरणागत जीव का योगक्षेम भगवान स्वयं वहन करते हैं। यथा-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गीता० ९-२२) पुनश्च-नातो नेह रामसों करि सब नातो नेह बहैहौं। यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। (वि०) भगवान की शरण ग्रहण करने के बाद अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार का सोच करना भूल है। यथा-**

आगम वेद पुरान बखानत मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहिं आपके ईस कहावत सिद्ध सयाने।।
धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग विराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै तुलसी हम जानकीनाथके हाथ बिकाने।। **(क०)**

होइ निचिन्त करै मत चिन्तहिं चोंच दई वह चिन्त करैगो।
पाउँ पसारि पर्‌यो किन सोवत पेट दियो वह पेट भरैगो।।
जीव जिते जल के थल के पुनि पाहनमें पहुँचाइ धरैगो।
भूखहिं भूख पुकारत है नर सुन्दर तू कहा भूख मरैगो।।

भाजन आप गढ़े जितने भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत हो जिनके गुनको ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं जू।।
आदिहुँ अन्तहुँ मध्यसदा हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू।
सुन्दरदास सहाय सही करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू।। **(सुन्दर विलास)**

पुनः-**तुलसी निकसौ उदर ते, पहिले निकसौ छीर। यह अपने अज्ञान तै धीरज तजत अधीर।। पुनः-यह तौ गलौ गुपाल बनायो सो खाली क्यों रहसी। सो खाली क्यों रहसी सन्तो गलो गुपाल बनायो। पाँच महीना पीछे जनम्यो दूध अगाऊ आयो।। निरधन के घर चाकी होती अन्न कहूँ नहिं दीसे। ताहू को हरि विमुख न राखे आनि परोसिन पीसे।। कृष्णा यह दृष्टान्त बतायो धृक मन माहीं वैसी। यह तो गलौ गुपाल बनायो सो क्यों खाली रहसी।। (पु० टि०)**

जब दांत न थे तब दूध दियो जब दांत दियो कहा अन्न न दैहैं।
जीव बसैं जगमें जितने सबकी सुधि लेत सो तेरी हू लैहैं।।
जानको देत अजान को देत जहान को देत सो तोहुं को दैहैं।
काहे को सोच करै मन मूरख सोच किये कछु हाथ न ऐहैं।।

श्रीशौनकजी कहते हैं-भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरो देवः कथं भक्तानुपेक्षते। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृ० ३८० श्रीशौनकजी की कथा।

दृष्टान्त-समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी और शिवाजीका-**एक बार घोर अकाल के समय छत्रपति महाराज शिवाजी ने प्रजा के लिये राज्य की ओर से बहुत से निर्माण कार्य प्रारम्भ करवा दिये जिससे लाखों लोग मेहनत-मजदूरी करके जीवन यापन करने लगे। एक दिन सहस्त्रों-सहस्त्रों नर-नारियों को काम पर लगे देखकर शिवाजी के मन में अभिमान हो गया कि इतने जीवों का पालन-पोषण मेरे द्वारा हो रहा है। शिवाजी के मन में अभी अभिमान अंकुरित ही हुआ था कि तत्काल उनके गुरुदेव समर्थ स्वामी रामदासजी वहाँ प्रकट हो गये और बहुत बड़ी शिला की ओर संकेत करते हुए आज्ञा दिये कि इसको बीच से तुड़वाया जाय। शिवाजी का आदेश पाकर मजदूरों ने थोड़ी देर में शिला के दो टुकड़े कर दिये। उसमें से एक मेंढ़क निकलकर बाहर उछलने लगा। श्रीसमर्थ स्वामीजी ने कहा-क्यों शिवा! इस मेंढ़क का भी पालन-पोषण तू ही करता है? शिवाजी का अभिमान दूर हो गया।**

दृष्टान्त-सेठजीका-**एक सेठजी बड़े साधुसेवी थे। उनका नियम था कि बिना किसी सन्त-वैष्णव को भोजन कराये स्वयं अन्न-जल नहीं ग्रहण करते थे। उनके यहाँ कई**

नौकर-चाकर केवल इसलिए नियुक्त थे कि वे साधु-महात्माओं को खोज-खोजकर घर लिवा लायें। एक दिन की बात है, संयोग से कोई महात्मा नहीं आये और तलाश करने पर भी नहीं मिले। समस्या यह थी कि बिना संत को भोजन कराये सेठजी कुछ खा-पी नहीं सकते थे। अतः सबको बड़ी चटपटी थी इतने में एक नौकर एक व्यक्ति को लिवा लाया। वह देखने में साधु-सा ही प्रतीत होता था क्योंकि उसके भी दाढ़ी-बाल बढ़े थे। अतः सेठजी ने उसे ही भोजन कराकर भोजन करने का निश्चय किया। भोजन परोसा गया। वह व्यक्ति बिना कुछ राम-श्याम कहे खाने लगा। सेठजी नित्य संतों को भोजन कराते थे अतः उन्हें साधुओं की भोजन करने की पद्धति मालूम थी। सन्त पहले भगवान को अर्पित करते, फिर सीताराम, राधेश्याम कहते, फिर चार धाम, चार सम्प्रदाय एवं दाता-भोक्ता की जय बोलते फिर भोजन करना प्रारम्भ करते परन्तु इस नवागन्तुक व्यक्ति ने यह सब कुछ नहीं किया। जब सेठजी ने कहा भी तो उसने कह दिया कि हम नहीं मानते हैं-भक्त-भगवान को, धाम-सम्प्रदाय को, राम-श्याम को। कौन होते हैं-ब्रह्म-परमात्मा? आदि। सेठजी समझ गये कि यह तो कोई नास्तिक मालूम होता है। मैंने नास्तिक को खिलाने का थोड़े ही व्रत लिया है। उन्होंने नौकरों को आदेश दिया कि इस व्यक्ति को धक्का देकर चौके से बाहर करो। नौकरों ने उसे निकाल बाहर किया। रात में जब सेठजी सोये तो भगवान ने स्वप्न में कहा-सेठजी! मैं इस नास्तिक को आज चालीस वर्षों तक खिला-पिला रहा हूँ और आप मेरे भक्त होकर भी एक दिन भी नहीं खिला सके। सेठजी भगवान की सर्वभूत हितैषिता विचारकर गद्‌गद्‌ हो गये।

दृष्टान्त-श्रीनारदजी का-श्रीनारदजी नित्यप्रति विचरण करते हुए जगत् के जीवों को भक्ति का उपदेश देते ही रहते हैं परन्तु इतने पर भी यह संसारी जीव जगदीश को छोड़कर जगत को ही भजता है। एक बार श्रीनारदजी के मन में आया कि ये लोग साधारण रीति से कहने से भजनोन्मुख नहीं होते हैं तो इन्हें शासनपूर्वक भजन के लिये प्रेरित करना चाहिए। यह विचारकर श्रीनारदजी ने भगवान से प्रार्थना किये कि प्रभो! कुछ दिनों के लिये सृष्टि के पालन का अधिकार हमें दिया जाय। भगवान ने सहज भाव से अपना अधिकार श्रीनारदजी को सौंप दिया। अधिकार मिलते ही श्रीनारदजी ने ब्रह्माण्ड-भर में आदेश जारी कर दिया कि जो भगवान का भजन करेंगे उन्हें ही अन्न-वस्त्र दिया जायेगा, अन्य को नहीं। परिणाम यह हुआ कि आस्तिक लोग तो खूब मौज करने लगे, नास्तिक भूखे चिल्लाने लगे। करुणा-वरुणालय भगवान से उनकी आह सही नहीं गई। भगवान ने श्रीनारदजी से कहा-नारदजी! हमसे तो यह 'त्राहि-त्राहि' सुना-सहा नहीं जा रहा है। श्रीनारदजी की आँखों में आँसू छलछला आये

और बोले-प्रभो! वस्तुतस्तु यह कार्य तो आपके ही लायक है। भला आप सा दयालु दूसरा कौन हो सकता है, जिनकी नास्तिकों पर भी इतनी कृपा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब परम कृपालु प्रभु आस्तिक-नास्तिक सभी का पालन-पोषण करते हैं तो भला अपने निज-भक्तों को भुला देंगे? कदापि नहीं। यदि कदाचित् कहीं ऐसा प्रसङ्ग देखने में आता है तो समझना चाहिए कि भूल भगवान की नहीं है, अपनी चाकरी में ही चूक है। यथा-तुलसी प्रभु दरबार में कमी काहु की नाहिं। बिना भक्ति भटकत फिरैं चूक चाकरी माहिं।।

राम आज्ञा हनुमान आये-प्रथम तो श्रीरामजी ही आने की तैयारी कर रहे थे तब श्रीहनुमानजी ने पूछा तो प्रभु ने सब बात बताई। तब श्रीहनुमानजी दस हजार बन्दरों को लेकर आये और चन्दनकाष्ठ से श्रीकामध्वजजी का दाह-संस्कार किये। 'प्रेतपार नेरो है-एक तो परमभक्त श्रीकामध्वजजी, दूसरे श्रीहनुमानजी के हाथ से दाह-संस्कार हुआ अतः उनके मृतक शरीर का धुंआ लगने से वहाँ के समीप में रहने वाले सभी प्रेत मुक्त होकर भगवद्धाम को चले गये। दैवयोग से एक प्रेत उस समय कहीं चला गया था। जब आया तो देखा-उसके संगी-साथी वहाँ कोई नहीं थे। वह दुःखित होकर रोने लगा। वहीं एक बड़े सिद्ध संत रहते थे, उनसे उसने पूछा तो उन्होंने सब वृत्तान्त बताया। तब तो इसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ कि हाय! मैं नहीं रहा, नहीं तो मैं भी इस दुःख मय योनि से छूट गया होता। फिर तो उसने उस महात्माजी से प्रार्थना किया कि अभी चिता में अग्नि है, आप कृपा करके कुछ सूखे तृण-काष्ठ डाल दें तो उसके धूम से मेरा भी उद्धार हो जायेगा। संत जी ने ऐसा ही किया और वह प्रेत भी मुक्त हो गया।

श्रीजयमलजी

'मेरतै' प्रथमबास 'जैमल' नृपति ताकौं सेवा अनुराग नेकु खटकौ न भावहीं।
करै घरी दस तामैं कोऊ जो खबरि देत लेत नहीं कान और ठौर मरबावहीं।।
हुतो एक भाई बैरी भेद यह पाइ लियौ कियो आनि घेरौ माता जाइकै सुनावहीं।
'करैं हरि भली' प्रभु घोरा असवार भये मारी फौज सब कहैं लोग सचु पावहीं।।२३१

शब्दार्थ-खटकौ = खट-खट शब्द, आशंका, चिन्ता। न भावहीं = अच्छा न लगता। घरी = घड़ी, चौबीस मिनट का समय। घरीदस = चार घण्टा। खबरि = समाचार, सूचना। लेत नहीं कान = सुनते नहीं। ठौर = उसी समय। पाइ लियौ = जान गया। आनि =आकर के। घेरौ = चारों ओर से फौज का घेरा। असवार = सवार। सचु = सुख।

भावार्थ-राजा भक्त श्रीजयमलसिंहजी का निवास पहले मेड़ते नगर में था। श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा में उनका बड़ा-भारी अनुराग था। उसमें उन्हें जरा सा भी खुटका अच्छा नहीं लगता था। वे नित्य अपने मन्दिर में नियम से दस घड़ी सेवा करते थे। उनका नियम यह था कि-सेवा के समय में यदि कोई किसी भी प्रकार का समाचार आकर देता तो वे उसे सुनते नहीं थे और समाचार देने वाले को मरवा डालते थे। (इस भय से कोई भी उनके पास नहीं जाता था।) जयमलजी का एक भाई था वह उनका बैरी था। इस भेद को पाकर उसने पूजा के समय बड़ी-भारी सेना लाकर नगर को चारों ओर से घेर लिया। किसी को ऐसा साहस नहीं हुआ कि यह समाचार उन्हें सुनावे। तब श्रीजयमलजी की माता ने जाकर सब बात सुनाई। सुनकर इन्होंने केवल यही कहा कि-'भगवान सब भली करेंगे।' वे ज्यों के त्यों सेवा में लगे रहे। अपने भक्त का सङ्कट दूर करने के लिये स्वयं प्रभु पधारे और घोड़े पर चढ़कर रणभूमि में गये। उन्होंने अकेले ही शत्रु की सेना को मार भगाया। घोड़े को घुड़साल में बाँधकर अन्तर्धान हो गये। सब लोग शत्रु के पराजय की चर्चा करके सुखी हुए।।२३१

व्याख्या-मेरतै प्रथमवास-भाव यह कि पहले मेड़ते में निवास करते थे। बाद में जोधपुर नगर बसाए और वहाँ निवास करने लगे। जयमल नृपति-ये श्रीहितहरिवंशजी के शिष्य थे। सेवा अनुराग-दृष्टान्त-श्रीअम्बरीषजी का। देखिये पूर्वार्द्ध, पृष्ठ २६७। नेकु खटको न भावहीं-दृष्टान्त सिद्ध-साधक का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४। तथा दृष्टान्त खटके का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३३। 'हुतो एक भाई बैरी'-यह मंडोवर का राजा था। 'माता जाइकै सुनावहीं' इसलिए कि और की बात ये सुनते ही नहीं थे, उल्टे उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। अतः मन्त्रियों ने सलाह करके राजमाता को भेजा। इसलिए कि पूज्य होने से इनकी बात सुनेंगे भी और दण्ड भी नहीं दे सकते। 'करै हरि भली'- इस पर दृष्टान्त गन्ने से राजा का हाथ कटने का। देखिये पूर्वार्द्ध ३२१। श्रीसूरदासजी कहते हैं- हरिसों मीत न देख्यो कोई। विपति काल सुमिरत त्यहिं औसर आनि तिरीछो होई। ग्राह गहे गजपति मुकरायो हाथ चक्र लै धायौ। तजि वैकुण्ठ गरुड़ तजि श्री तजि निकट दास के आयौ। दुर्वासा को शाप निबार्‌यौ अम्बरीष पति राखी। ब्रह्मलोक पर्यन्त फिर्‌यौ तहँ देव मुनीजन साखी।। लाखा गृहते जरत पाण्डु सुत बुधिबलनाथ उबारे। सूरदास प्रभु अपने जनकी नाना त्रास निवारे।।

देखैं हाँफै घोरा अहो कौन असवार भयौ? गयो आगे जबै देख्यो वही बैरी पर्‌यो है।
बोल्यो सुखपाय अजू साँवरो सिपाही को है? एकले ही फौज मारी मेरो मन हर्‌यौ है।।
तोही को दिखाई दई मेरे तरकस नैन वैनन सो जानी वही स्याम प्रभु ढर्‌यौ है।
पूंछिकैं पठाय दियौ वानै पन यहै लियौ कियौ इन दुःख 'करै भली' बुरो कर्‌यौ है।। २३२

शब्दार्थ- **हाँफै = थकावट से जल्दी-जल्दी श्वास ले। घोरा = घोड़ा। ढर्‌यौ है = कृपा की है।**

भावार्थ-**सेवा-पूजा समाप्त करके भक्त श्रीजयमलजी ने युद्धभूमि में जाने का विचार किया। वे घुड़सार में गये, वहाँ उन्होंने अपनी सवारी के घोड़े को हाँफते देखकर लोगों से पूछा कि-'अरे! इस मेरे घोड़े पर किसने सवारी की है? सभी लोग चुप रहे क्योंकि किसी को इसका पता न था। आगे जाकर इन्होंने देखा कि सेना घायल होकर पड़ी है। और वह बैरी भी पड़ा है। उसने श्रीजयमलजी से प्रसन्न एवं सुखी होते हुए पूछा-आपकी सेना का वह साँवला सा सिपाही कौन है? जिसने अकेले ही मेरी सारी सेना को मार भगाया, यद्यपि उसने मुझे भी घायल कर दिया है किन्तु उसकी सुन्दर आकृति ने मेरा मन हरण कर लिया है। यह सुनते ही श्रीजयमलजी प्रेम-विभोर होकर बोले-'तुम्हें तो वह दिखाई पड़ गया पर मेरे नैन तो तरस रहे हैं, मुझे नहीं दिखाई पड़ता है। इनकी प्रेमभरी बातों से वह समझ गया कि-उन्हीं श्यामसुन्दर भगवान ने कृपा की है (उन्होंने अपने भक्त की रक्षा की और मुझे भी दर्शन दिया)। श्रीजयमलजी ने उसकी कुशल पूछी और उसे उसके घर पठा दिया। उसने भी नित्य भगवान की सेवा करने की प्रतिज्ञा की। उस जयमल के शत्रु के मन में यह वेदना हुई कि, मैंने भक्त के साथ बुरा किया, उसे धोखा दिया परन्तु भगवान ने मुझे दर्शन दिया, उनके भक्त ने मेरे साथ भला व्यवहार किया, धन्य है। इस प्रकार भक्तवाणी को प्रभु ने सत्य किया।।२३२**

व्याख्या-देखैं हाँफै घोरा- **श्रीजयमलजी ने युद्ध में जाने का निश्चय करके सईस से घोड़ा सजाने को कहा। तब उसने आकर घोड़े की दशा बताई कि वह हाँफ रहा है और उसके शरीर से पसीना चुचा रहा है। मालूम पड़ता है किसी कुशल सवार ने सवारी की है। श्रीजयमलजी ने भी जाकर देखा तो बात ठीक थी। फिर वह दूसरे घोड़े पर चढ़कर गये 'बैरी पर्‌यौ है' -श्रीजयमलजी ने राजा से पूछा-तुम्हें किसने घायल किया? उसने कहा-हमें तुम्हारे सिपाही के सूरत ने घायल किया है। मैं तो उसे देखते ही बेसुध होकर घोड़े से**

गिर गया। तभी तो श्रीनारायण स्वामी जी कहते हैं-श्याम की निरखी जिन मुस्कान। सो तो भई घायल ताही छिन बिन बरछी बिन बान।। कल नहिं परत धरत नहिं धीरज तरफत मीन समान। नारायन भूली सुधि तनकी विसरि गयो सब ज्ञान।। 'मेरे तरसत नैन'-यथा-

पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम-रोम रस भीन्यौ सुधि भूली गेह गातकी।
लोक-परलोक छोड़ि लाजसों बदन मोड़ि उघरि नचीहौं तजि शंक तात-मातकी।।
हरीचन्द एतेहू पै दरस दिखावै क्यों न तरसत रैन दिना प्यासे प्रान पातकी।
ऐरे व्रजचन्द तेरे मुख की चकोरी हूं मैं ऐरे घनश्याम तेरे रूप की हौं चातकी।।
मेरी मति बावरी ह्वै जाय जानराय प्यारे रावरे सुभायके रसीले गुन गाय-गाय।
देखनि के चाय प्रान आँखिनमें झाँकैं आय राखौ परचाय पै निगोड़े चले धाय-धाय।।
विरह विषाद छाय आँसुन की झरी लाय मारैं मुरझाय मैन रैन द्यौस ताय-ताय।
ऐसे घन आनन्द बिहाय न बसाय हाय धीरज विलाय विललाय कहौं हाय-हाय।।

कियौ इन दुःख करै भली-बुरी कर्‌यौ-**इसका एक अर्थ तो भावार्थ में आ गया है। दूसरा अर्थ यह भी होगा कि श्रीजयमलजी ने मन में दुःख किया कि मैंने जो माता से यह कह दिया कि 'हरि भली करैं' यह बुरा किया। क्योंकि मेरे इस कहने से भगवान को इतना कष्ट उठाना पड़ा। जयमलजी की वाणी-राम खजानौ खूटै नाहीं। आदि अन्त केते पचि जाहीं।। राम खजाने जे रङ्ग लागा। जनम-मरण दुख दोऊ भागा।। सायर राम खजाना जैसे। अंजलि नीर घटे वह कैसे।। काया मांझ खजाना पावै। रोम-रोम में राम रमावै।। जैमलदास भक्तिरस भावै। खानाजाद गुलाम कहावै।।**

श्रीग्वालभक्तजी

भयो एक ग्वाल साधुसेवा सो रसाल करै परै जोई हाथ लेकै सन्तन खबावहीं।
पायो पकवान वन मध्य गयो ख्वाइबे कौं आइबे की ढील चोर भैंस सो चुरावहीं।।
जानिकै छिपाई बात माता सौं बनाइ कही दई विप्र भूखौ धृत संग फेरि आवहीं।
दिन हो दिवारी कौ सु उन्हि पहिरायौ हाँस आइ घर जाम लिये रांभकै सुनावहीं।।२३३

शब्दार्थ- **ग्वाल = भक्त का नाम, गोप अहीर। रसाल = प्रेमरसीला। परै जोई हाथ = जो भी मिल जाय। ढील = सुस्ती, देर। हांस = हँसुली, गले में पहनने का गहना। जाम = जामि, जामा, भैंसों की पंडिया व भैंसे। राँभकै = रँभाकर, बोलकर।**

भावार्थ-किसी ग्राम में एक ग्वाल थे, वे बड़े भारी भक्त थे और वे बड़े प्रेम के साथ साधुओं की सेवा किया करते थे, जो भी कुछ उत्तम सामग्री हाथ पड़ जाती उसे ले जाकर साधुओं को खिलाया करते थे। किसी त्यौहार के दिन ग्वाल भक्त की माता ने इन्हें अच्छे-अच्छे पकवान दिये, उन्हें लेकर वन में भैंसें चराने गये। भैंसों को चरती छोड़कर साधुओं को पकवान खिलाने वन में उनके आश्रम में चले गये। साधुओं के समीप बैठे रहे, आने में देर हो गई। इसी बीच अवसर पाकर चोर भैंसों को चुरा ले गये। लौटकर आपने देखा तो भैंसें नहीं थीं, शाम को घर आये। माता ने पूछा-भैंसें कहाँ हैं? माता को दुःख होगा, यह जानकर आपने सच्ची बात छिपा ली और झूठी बात बनाकर माताजी से कहा कि-एक गरीब ब्राह्मण भूखों मर रहा था, मैंने सब भैंसें उसे दे दी हैं। वह भैंसों को चरायेगा और छाछ से अपना पेट भरेगा, उसके बाद घी के समेत मेरी भैंसें वापिस कर जायेगा। कुछ समय बाद दीवाली का त्यौहार आया चोरों ने भैंसों को नहलाकर उनका श्रृंगार किया। चाँदी की हंसुलिया पहनाई। (चोर लोग मत्त होकर नाच गाने में लग गये) भगवान की इच्छा से सब भैंसों को साथ लिये चुरायी गई भैंसें वहाँ से भगीं और ग्वाल भक्त के द्वार पर आकर रंभाने लगीं। ग्वाल भक्त ने अपनी माता से कहा-देखो, ब्राह्मण भैंसें वापस कर गया, घी बेचकर चाँदी की हंसुलिया भैसों को पहना दी हैं। इस प्रकार भक्त के मुख से निकली बातों को प्रभु ने सत्य किया।।२३३।।

व्याख्या-पायो पकवान-उत्सव का दिन था। खूब पूआ-पकवान बना देखकर इन्होंने मन में संकल्प किया कि यह तो किसी युक्ति से सन्तों को खिलाना चाहिए। फिर तो इन्होंने मैया से कहा-माँ! तू तो मुझे खाने-भर मेरी अंगौछी में बांध दे, मैं तो वन में ही जाकर खाऊँगा। माँ ने बड़े प्यार से सब सामान की एक अच्छी-खासी पोट बांध दी और कुछ इन्होंने माँ की आंख बचाकर स्वयं भी बांध लिया। सब लाद-फांदकर चले बाबा के मठ पर। इस पर दृष्टान्त-श्रीहरिराम व्यासजी का देखिये कवित्त ३७०। तथा दृष्टान्त श्रीरामदासजीका। देखिये कवित्त ६२५।। 'आइबे की ढील'-ढील इसलिए हुई कि कुछ देर तो भगवान को भोग लगाने में हुई। फिर पंक्ति बैठी तो कुछ देर तक 'सिय हरि नारायण गोविन्दे' हुआ। फिर बड़ी जय बोली गई। फिर सबने धीरे-धीरे पाया। इसके बाद समस्त पात्र भी तो इन्हें ही धोने पड़े। इसी में देर हो गई।

छिपाई बात-इसलिए कि यदि मां जान जायेगी तो हजार गाली रोज मुझे तो देगी ही सन्तों को भी दस खोटी-खरी सुनायेगी। नित्य का क्लेश बन जायेगा। ऐसा

विश्वास होना कि साधु-सेवा से हमारी हानि कदापि नहीं हो सकती है, यह साधारण बात नहीं है। अतः छिपाये। 'दिन हो दिवारी को'-उस दिन चोरों ने खूब भैंसों को सजाया, बाजे-बजाये, आतिशबाजियाँ छूटीं। एक बालक ने भैंसों के पास जाकर पठाका छोड़ दिया। भैंसें बिडरकर भाग चलीं। पशुओं को भी घर का ज्ञान होता है। वे अपने तो आईं ही चोरों की घर की भी भैंसें लिवा लाईं।

रांभकै सुनावहीं-प्रातःकाल अभी माँ-बेटे सो ही रहे थे कि भैंसों के रँभाने की आवाज आई। सुनकर माँ बोली-बेटा! मेरी भैंस की-सी आवाज है। ग्वालभक्त बाहर आकर देखे तो सचमुच अपनी ही भैंसें थीं। ग्वालभक्त ने कहा-देख मैया, मेरी बात सच निकली न। माँ को प्रतीति नहीं हो रही थी कि जिसके घर छाछ का ठिकाना नहीं है उसके घर इतने आभूषण कहाँ से आवेंगे? घी का दाम इतना नहीं हो सकता है। कोई रहस्य है। जब बार-बार माता ने पूछा तो ग्वालभक्त ने सब सही-सही वृत्तान्त बता दिया। सुनकर माँ गद्गद हो गई। बोली-बेटा! सन्तों की कृपा से मेरी भैंसें मुझे मिल गईं। हमें तो इतने से ही सन्तोष है। जो अधिक आई हैं और जो गहने हैं, सबको बेचकर सन्तों का भंडारा करा दो। ग्वालभक्त ने ऐसा ही किया। तभी तो कहा गया है-छल करि बल करि बुद्धि करि साधुन के मुख देहिं। हुण्डी के से दाम को हरिजू सों गनि लेहिं। परन्तु एक बात ध्यान रखने की है कि यह छल-बल केवल शुद्धभाव से साधु-सेवा निमित्त ही होना चाहिए। अन्यथा-छल-बल वर्जित ही है। भगवान श्रीरामजी कहते हैं-निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।। (रामा०)

श्रीश्रीधर स्वामीजी

भागवत टीका करी 'श्रीधर' सुजानि लेहु गेह में रहत करैं जगत व्यवहार हैं।
चले जात मग ठग लगे कहैं कौन सङ्ग? सङ्ग रघुनाथ मेरो जीवन अधार हैं।।
जानी इन कोऊ नाहिं मारिबो उपाय करें धरे चाप बान आवै वही सुकुमार हैं।
आये घर ल्याये पूछैं स्यामसों सरूप कहाँ? जानी वेतौ पार किये आपु डार्‌यौ भार हैं।।२३४

शब्दार्थ-ठग लगे = लुटेरे साथ-साथ, पीछे-पीछे चले। अधार = आधार, सहारा। पार किये= रक्षा करते हुए संकट-वन से पार किये। डार्‌यौ भार = गृहस्थी के बोझ को त्यागा।

भावार्थ-जिन भक्तवर श्रीश्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत की टीका की है, उन्हीं का एक दूसरा चरित्र कहा जाता है सो जानिये। प्रथम आप गृहस्थ-आश्रम में थे और वहाँ के सब व्यवहारों को यथावत् करते थे। एक बार आप रास्ते में चले आ रहे थे। ठगों ने आपसे

पूछा-तुम्हारे साथ और भी कोई है क्या? आपने कहा-'मेरे प्राणों के आधार श्रीरघुनाथजी मेरे साथ हैं।' ठगों ने साथ चलकर किसी को न देखकर यह समझ लिया कि-इनके साथ कोई भी नहीं है। तब वे इन्हें मारने और लूटने का उपाय करने लगे। इसी बीच ठगों ने देखा कि-धनुष-बाण धारण किये हुए परम सुकुमार प्रभु श्रीधरजी के साथ-साथ चल रहे हैं। (बीच-बीच में भगवान ठगों को नहीं दिखाई देते, तब वे फिर मारने का प्रयत्न करते, तैसे ही बाण तानकर डराते हुए दिखाई पड़ते) ठग लोग साथ-साथ लगे चले ही आये। जब वे अपने घर आ पहुँचे तब ठगों को श्रीरघुनाथजी कहीं भी नहीं दिखाई पड़े। तब वे श्री श्रीधरस्वामीजी से पूछने लगे-सांवले से धनुषबाणधारी जो आपके साथ थे वे कहाँ हैं। श्रीधरस्वामीजी समझ गये कि-रघुनाथजी ने ही वन में साथ रहकर पार किया। प्रभुकी कृपा का अनुभव करके आपने गृहस्थाश्रम का भार अपने सिर से उतार फेंका और भजन करने लगे। (चोरों ने रहस्य जानकर स्वामीजी की शिष्यता स्वीकार की)।।२३४।।

व्याख्या-मग ठग लगे-किसी यजमान के यहाँ कथा कहने गये थे। भेंट-विदाई लेकर आ रहे थे। ठगों को धन की सुगन्ध मिली, बस पीछे लग गये। 'सङ्ग रघुनाथ मेरे'-मार्ग दुर्गम था, अतः श्रीश्रीधरस्वामीजी 'श्रीरामरक्षा-स्तोत्र' का पाठ करते हुए आ रहे थे। जिसमें इस आशय का श्लोक है कि मार्ग में चलते हुए श्रीराम-लक्ष्मण मेरी रक्षा करें। यथा-आत्तसज्ज धनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ। रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम्।। (रामरक्षा-स्तोत्र) अतः आपने बड़े ही विश्वासपूर्वक कहा कि मेरे साथ श्रीरघुनाथजी हैं। 'जानी इन कोऊ नाहिं'-आगे-पीछे देखे। कोई दिखाई नहीं पड़ा तब समझे कि कोई साथ नहीं है केवल धोखा दे रहे हैं। 'आये घर'-तभी तो कहा गया है - कोटि विघ्न सङ्कट विकट, कोटि दुष्ट इक साथ। तुलसी कछु नहिं करि सकैं ज्यौं सुदीठि रघुनाथ। श्रीश्रीधरस्वामीजी का विशेष चरित्र देखिये छप्पय ४५, क० १६४ में।।

भक्तनि सङ्ग भगवान नित ज्यौं गऊबच्छ गोहन फिरैं।।
'निहकिंचन' इक दास तासु के हरिजन आये।
विदित बटोही रूप भये हरि आपु लुटाये।।
साषि देन कौ स्याम खुरदहा प्रभुहि पधारे।
'रामदास' के सदन राय रनछोर सिधारे।।
आयुध छत तन अनुग के बलिबन्धन अपु बपु धरैं।
भक्तनि सङ्ग भगवान नित ज्यौं गऊबच्छ गोहन फिरैं।।५३।।

शब्दार्थ-गोहन = पीछे-पीछे। निहकिंचन = निष्किंचन, अन्न-धनहीन। बटोही = रास्तागीर, यात्री। आयुध = हथियार। छत = क्षत, घाव। बलिबन्धन = बलि को बाँधने वाले वामन भगवान। अपु = छोटा, हल्का, अपना।

भावार्थ-भगवान सर्वदा अपने भक्तों के साथ-साथ इस प्रकार घूमा करते हैं जैसे बछड़े के पीछे-पीछे गाय। एक भगवान के भक्त अति निष्किंचन थे, उनके यहाँ भक्तजन पधारे। घर में सेवायोग्य कुछ भी नहीं था। स्वयं भगवान लक्ष्मीजी को साथ लेकर यात्री बनकर आये और उस निष्किंचन भक्त के हाथों से लुटे। साक्षी देने के लिए भगवान वृन्दावन से एक भक्त के साथ खुर्दहा ग्राम को पधारे। श्रीरड़छोड़रायजी द्वारिका से श्रीरामदासजी के घर डाकौर को आये और अपने सेवक रामदासजी के ऊपर बड़ी हथियारों की चोट को अपने शरीर पर ले लिया। राजा बलि को बाँधने वाले भगवान ने अपने श्रीविग्रह को कान की सोने की बाली से भी हल्का कर लिया। ये चरित्र सर्वविदित हैं।।५३।।

व्याख्या-भक्तनि संग…फिरैं-यथा-निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।। (भा० ११-१४-१६) अर्थ-जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तन में तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है। उस महात्मा के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणों की धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।। पुनः-भक्तसंगे भ्रमत्येवच्छायेव सततं हरिः। चक्रेण रक्षते भक्तान् भक्त्या भक्तजनप्रियः।। (ब्रह्मवैवर्त-पुराण) अर्थ-भगवान छाया की तरह सदा-सर्वदा भक्तों के सङ्ग घूमा करते हैं और भक्ति के कारण भक्तजनों के जो अत्यन्त प्यारे हैं एवं भक्त हैं जिनको अत्यन्त प्यारे, ऐसे भगवान चक्रसुदर्शन द्वारा सदा भक्तों की रक्षा करते हैं। पुनः-कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति सम्प्रयाति वदन् नरः। पश्चाद् मद्गमनं पार्थ सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।। (आदिपुराण) अर्थ-'श्रीकृष्ण-कृष्ण' इस प्रकार कहता हुआ मनुष्य जब चलता है तो हे अर्जुन! मैं उसके पीछे-पीछे चलता हूँ, मेरा यह वचन सत्य है, सत्य है।।

नारद! मेरो साधु सों अन्तर नाहीं।
साधुन से अन्तर जो राखैं तेउ नरक में जाहीं।।
लक्ष्मी मेरी अर्ध शरीरी सोउ भक्त की दासी।
सब तीरथ साधुन के चरणन कोटि गङ्ग अरु कासी।।

जहँ ये जेवैं तहँ मैं जेऊँ जहँ सोवैं तहँ सोऊँ।
जो मेरे भक्तन दुख देवे कुल समेत तेहिं खोऊँ।।
जहँ ये मेरो करैं कीरतन तहाँ करूँ मैं वासा।
इनहीं के पीछे उठि धाऊँ मोहिं इनहिं की आसा।।
तजि अभिमान प्रेम सों सेवैं सोई मोकूं पावै।
कहत कबीर भक्त की महिमा हरि अपने मुख गावैं।।

छप्पय में आये हुए भक्तों की कथा आगे दी जाती है-

निष्किञ्चन भक्त श्रीहरिपाल

भक्तनि के सङ्ग भगवान ऐसे फिर्‌यो करैं जैसे बच्छ सङ्ग फिरै नेहवती गाइ हैं।
हरिपाल नाम विप्रधाम में जनम लियो कियो अनुराग साधु दई श्री लुटाइ है।।
केतिक हजार लै बजार के करज ख्वाये गरज न सरैं कियो चोरी को उपाइ है।
विमुख को लेत हरिदास को न दुःख देत आये सन्तद्वार तिया सङ्ग बतराइ है।।२३५

शब्दार्थ-**बच्छ =वत्स, बछड़ा। नेहवती = स्नेह वाली। विप्रधाम = ब्राह्मणवंश। श्री = सम्पत्ति, धन। लुटाइ = सेवा में लगाई। केतिक = कितने ही, बहुत। ख्वाये = खवाये, खिलाये। गरज = गर्ज, प्रयोजन। सरैं = पूरा हो, चलै, बनै।**

भावार्थ-**अपने प्यारे भक्त के साथ-साथ भगवान इसी प्रकार से घूमा करते हैं जैसे बछड़े के साथ स्नेहभरी गाय। श्रीहरिपाल नामक एक भक्त थे, उनका जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ था। आप साधुओं से बड़ा-प्रेम करते थे। आपने अपनी सारी-सम्पत्ति उन्हीं की सेवा में लुटा दी। जब घर में कुछ भी नहीं रहा तब बाजार से कर्ज ले-लेकर कई हजार रुपये साधुओं को खिला दिये परन्तु साधु-सेवा बन्द नहीं की। जब कर्ज नहीं मिलने लगा, तब साधु-सेवा न चलती देखकर चोरी का सहारा लिया। पर चोरी करते समय यह ध्यान में रखते थे कि भगवान से विमुख धनिकों का धन ही लें भगवान के भक्तों को आप भी कष्ट नहीं देते थे। एक दिन द्वार पर बड़ी-सी सन्त-मण्डली आ पहुँची। अब सन्तों का सत्कार कैसे करें, अपनी स्त्री से यही बातचीत करने लगे। (घर में कुछ भी सामग्री न थी)।।२३५।।**

व्याख्या-दई श्रीलुटाइ है-**यह है साधु-सेवानुराग का सच्चास्वरूप। यह नहीं कि चार दिन खिला-पिलाकर साधुसेवी कहाने का डंका बजवाकर फिर धन-माल की बरवादी विचारकर साधुओं में अभाव कर ले, उन्हें धक्का देकर निकाल दे। इस पर-**

दृष्टान्त-एक साहूकार का- पूर्वके किसी सुकृतवश तथा कहीं कथा सत्सङ्ग में संत-सेवा की महिमा सुनकर एक साहूकार ने सन्त-सेवा का व्रत लिया जो कोई साधु उसके यहाँ जाते, उनका वह बड़ा-सत्कार करता। बगीचे में बढ़िया संत-निवास बनवा दिया था। सन्तों का जमघट वहाँ बना ही रहता था। एक बार हरिदास, माधवदास, गोविन्ददास और राघवदास नाम के चार साधु उसके यहाँ गये। चूँकि ये लोग कथा-कीर्तन में बड़े निपुण थे अतः साहूकार ने इन लोगों की विशेष व्यवस्था की। नित्यप्रति हलवा-पूरी, पूआ-तस्मई घुटती रहती। एक विमुख को सन्तों का यह सुख-सुपास देखा नहीं गया। उसने वणिक का कान-भरना शुरु किया। उसने कहा-भला इन भिखमंगों को खिलाने से क्या पुण्य होगा, यदि पुण्य ही कमाना है तो ब्राह्मणों को खिलाइये, कुआं, बावली, तालाब, धर्मशाला, पाठशाला बनवाइये। व्यर्थ इन मुण्डी-वैरागियों के चक्कर में न पड़िये आदि। उस विमुख की बातों में आकर उस साहूकार ने साधुओं में अभाव कर लिया। साधु तो भाव के भूखे होते हैं। यथा-सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जल अंजलि दिये। (रामा०) अभाव देखकर चारों सन्त आगे-पीछे बाग से आसन उठाये चल दिये। किसी तीर्थ में चारों पुनः मिले। वार्ता चलने पर चारों ने अपने-अपने हटने का कारण बताया। श्रीहरिदासजी ने कहा-मेरे स्थान में उसने उपद्रवी लोगों से अशान्ति करवायी अतः मैं हट गया। श्रीमाधवदासजी ने कहा-मेरे स्थान में प्रकाश के लिए दीपक की व्यवस्था न की, इससे मैं चला आया। श्रीगोविन्ददासजी ने कहा-मेरे यहाँ जो ठाकुरजी के लिए भोग के वास्ते घी आता था, उसमें तेल मिलाकर भेजने लगा अतः मैं भी चल दिया। श्रीराघवदासजी ने कहा-मैं तो यह सब दुःख सहकर भी डँटा रह गया तब उसने मुझे धक्का देकर बाहर निकलवा दिया। इन चारों साधुओं की बातें एक पंडितजी सुन रहे थे। उन्होंने उस समय यह श्लोक कहा-स्थाने भ्रष्टे हरिर्भ्रष्टो, दीपे भ्रष्टे च माधवः। तैले मिश्रे च गोविन्द अर्द्धचन्द्रेण राघवः।। ऐसी साधु-सेवा ठीक नहीं है।

विमुख को लेत-कहा भी गया है-छल करि बल करि लीजिये, महा कृपिन को दाम। साधुन के मुख बोइये, यही सयानो काम।। (छल-बल के सम्बन्ध में विशेष विचार देखिये ग्वालभक्त के प्रसङ्ग में।) 'हरिदासको न दुःख देत'-एक बार ये एक वैश्य के घर में घुसे। सामान समेटने में कुछ खटपट हुई। वैश्य की बेटी जाग गई। उसने कहा-पिताजी! घर में कोई खटपटकर रहा है मालूम पड़ता है कोई चोर है। वैश्य ने कहा-हमारे गाँव में तो कोई चोर है नहीं और न कभी किसी की चोरी ही होती है। अगर होंगे भी तो हरिपाल होंगे।

बेटी! चुप लगा जा, ले जाने दे, वे तो ले जाकर साधु-सेवा में लगायेंगे। श्रीहरिपालजी पिता-पुत्री की वार्ता सुनकर समझ गये कि यह तो भक्त मालूम पड़ता है अतः इसका नहीं लेना चाहिए। फिर तो हरिपालजी उसका सामान तो छोड़ ही दिये, जिस चद्दर में सामान बांधे थे वह चद्दर भी छोड़कर चले आये। उसी दिन से इनको यह भय समा गया कि कहीं मैं धोखे से रात में भक्तों के घर से कुछ चुरा लाया तो बड़ा-अपराध लगेगा। अतः इन्होंने दिन-दहाड़े लूटने का निश्चय किया। जंगल में चले जाते, खूब जांच-परताल कर लेते तब किसी को लूटते।

तिया संग बतराइ है-**इन्होंने पत्नी से कहा-देवि! आज हमारे बड़े-भाग्य हैं जो सन्त घर पर आये हैं। तुम इनके भोजन का कुछ उपाय करो। पत्नी ने कहा-देव! घर में एक दाना भी नहीं है, मैं क्या इन्तजाम करूँ। हरिपाल-तो पास-पड़ोस से ही मांग लाओ। पत्नी-कोई कुछ भी नहीं देता, मुझे देखते ही लोग द्वार बन्द कर लेते हैं। बिना कहे ही लोग समझ जाते हैं कि कुछ मांगने आ रही है। देने पर पुनः मिलने की सम्भावना तो है नहीं, अतः कोई सूधे मुंह बात भी नहीं करता है। अतः अब तो एकमात्र भगवान का ही सहारा है। मैं तो यही कहती हूँ कि अब हम दोनों भगवान का ही स्मरण करें। फिर तो भक्तदम्पती दीन होकर मन ही मन भगवान की शरण गये।**

बैठे कृष्ण रुक्मिणी महल तहां शोच पर्‌यो हर्‌यो मन साधुसेवा साहूरूप कियो है।
पूछी चले कहाँ? कही भक्त है हमारो एक मैं हूं आऊँ? आओ, आये जहां पूछि लियो है।।
अजू मग चल्यौ जात बड़ो उतपात मधि कोऊ पहुँचावै देवौ लै रुपैया दियो है।
करो समाधान संत मैं लिवाय जाऊँ इन्हें लाइ वन मांझ देखि वहुधन जियो है।।२३६

शब्दार्थ- **महल = रनिवास। साहरूप = धनी सेठ का वेष। मधि = मध्य, बीच। समाधान = सन्तुष्ट। जियो = प्रसन्न भयौ।**

भावार्थ-**निष्किंचन भक्त श्रीहरिपालजी को चिन्तित जानकर द्वारिका में श्रीरुक्मिणी के महल में विराजमान भगवान श्रीकृष्ण सोच में पड़ गये। उनकी साधु-सेवा की निष्ठा ने भगवान का मन हर लिया था, अतः भगवान ने मूल्यवान वस्त्र-आभूषण धारण करके सेठ का रूप बनाया और चलने लगे। तब श्रीरुक्मिणीजी ने पूछा-'प्रभो! सेठ बनकर आज कहाँ जा रहे हो।' प्रभु बोले-हमारा एक प्रेमीभक्त है, उसी के पास जा रहा हूँ। रुक्मिणीजी ने कहा-मैं भी चलूँ क्या? भगवान ने कहा-आओ चलो। दोनों सेठ और सेठानी श्रीहरिपाल भक्त के द्वार पर आये और पूछने पर श्रीहरिपाल से कहने लगे कि-अजी? मैं अमुक**

गाँव को जा रहा हूँ, मार्ग में अकेले जाने पर अनेक संकट हैं, यदि हमें कोई पहुँचा दे, तो हम उसे मजदूरी के रुपये दे देंगे। भक्त ने कहा कि-मेहमान लोग द्वार पर खड़े हैं, मजदूरी के रुपये पहले दे दो। सेठ ने रुपये दे दिये। उन रुपयों को आपने अपनी स्त्री को देकर कहा कि-इन रुपयों से सन्तों को बालभोग कराओ। मैं इन्हें पहुँचाकर अभी आता हूँ। जंगल में जाकर उसके पास बहुत-सा धन देखकर श्रीहरिपालजी मन ही मन अति प्रसन्न हुए। उनके शरीर में मानों नवीन प्राणों का संचार हो गया।।२३६।।

व्याख्या-हर्‌यो मन साधुसेवा- **क्योंकि-मानत सुख सेवक सेवकाई।। (रामा०) 'चले कहाँ'-श्रीरुक्मिणीजी की समझ में नहीं आ रहा था कि प्रभु कौन-सी लीला करने जा रहे हैं, अतः पूछ ही बैठीं-चले कहाँ? श्रीद्वारिकानाथ भगवान ने कहा-चल तो रहा हूँ एक भक्त के घर, परन्तु आपने टोक-टाक कर दी, कुशल नहीं दीखती। (यात्रा में 'कहाँ जा रहे हैं' ऐसा नहीं कहना चाहिए। श्रीठाकुरजी ने पहले ही संकेत कर दिया जिसमें लुट जाने पर ये उलाहना न दें।) एक भक्त है, उसके यहाँ उत्सव है। कुछ मदद की जरूरत पड़ेगी तो मदद करेंगे, उत्सव का आनन्द लेंगे। श्रीरुक्मिणीजी ने तुनककर कहा-आप तो अकेले ही जहाँ चाहते हो चले जाते हो। कहीं-कहीं हमें भी तो साथ ले लिया करिये। भगवान ने मुस्कराकर कहा-चलो। खूब साज-श्रृङ्गार कर लो। देखो, मैंने भी अपना खूब ठाट-ठटा है। बड़ा-भारी भक्त है। उसके घर चलना है। (श्रीरुक्मिणीजी ने बड़ा-भारी का अर्थ बड़ा धनी समझा। भगवान के मुस्कराने का तात्पर्य यह था कि-'भइ सहाय सारद मैं जाना।' भाव यह कि भक्त को दूनादून लाभ होगा।) फिर क्या था-स्त्रियों को तो श्रृङ्गार सहज ही प्रिय है, आज्ञा मिलने पर श्रीरुक्मिणीजी नख से शिखा तक मणिरत्नों के आभूषणों से लद गईं। मायके और ससुराल के सब धराऊ गहने पहन लिए। भगवान भी याद दिला-दिलाकर पहनने को प्रेरित करते। प्रोत्साहन पाकर श्रीरुक्मिणीजी गहनों से लरझर हो गईं।**

देखैं जो निहार माला तिलक न सदाचार होयेंगे भण्डार जो पै धन इतो लायो है।
लीजियै छिनाइ यह वारि कहै डारि देवौ दियौ सब डारि छला छिगुनी में छायो है।।
अँगुरी मरोरि कही बड़ौ तूं कठोर अहो तोको कैसे छोड़ौं सन्त जेवैं मोको भायो है।
प्रगट दिखायो रूप सुन्दर अनूप वह मेरे भक्तभूप लैकै छाती सों लगायो है।।२३७

शब्दार्थ- **निहार = ध्यानपूर्वक देखकर। भण्डार = खजाने। इतो = इतना। वारि= न्यौछावर। छला = छल्ला, उँगली में पहनने की सादा अँगूठी। छिगुनी = छोटी उँगली, कनिष्ठिका।**

भावार्थ-श्रीहरिपालजी ने ध्यान देकर देखा, कि-उनके गले में माला और मस्तक में तिलक नहीं हैं, ये वैष्णवका-सा आचार, नाम उच्चारण आदि भी नहीं कर रहे हैं, इनके शरीरों पर अति मूल्यवान इतने आभूषण हैं तो घर में सोना-चांदी, जवाहरात के भण्डार भरे होंगे, तब तो ये अपने साथ इतना लाये हैं। यदि मैं यह सब छीन भी लूं, तो कोई विशेष हानि नहीं होगी। ऐसा मन में विचारकर श्रीहरिपालजी दोनों से बोले-तुम्हारे पास जितना सामान है, सब साधु-सेवा के निमित्त-न्यौछावर कर अपने शरीर से उतारकर डाल दो। (नहीं तो पिटोगे) उन दोनों ने सब कुछ उतारकर डाल दिया। श्रीरुक्मिणीजी की उँगली में एक छल्ला था, वह उनसे नहीं निकला। तब श्रीहरिपालजी उँगली मरोड़कर उसे निकालने लगे। तब वे बोलीं-अरे! तू तो बड़ा ही कठोर है, मेरी उँगली टूट जायेगी, इस छल्ले को छोड़ दे। भक्तजी ने कहा-छोड़ कैसे दूँ? इससे तो कई सन्तों का भोजन होगा, इसलिए यह कार्य हमें अच्छा लग रहा है। इस साधु-सेवा निष्ठा की बात सुनकर भगवान ने सेठरूप को त्याग दिया और श्यामसुन्दर अनूपरूप धारणकर अपने भक्त को दर्शन दिया। मेरे प्यारे हो, भक्तों में श्रेष्ठ हो।' ऐसा कहते हुए भगवान ने हरिपालजी को छाती से लगा लिया।।

व्याख्या-देखैं सदाचार- जंगल में पहुँचने पर श्रीहरिपालजी ने परखना प्रारम्भ कर दिया कि सेठजी भगवद्भक्त तो नहीं हैं? देखे तो वैष्णवचिह्न कण्ठी, माला, तिलक कुछ भी नहीं धारण किये थे। कोई आचार-विचार भी नहीं था। लघुशंका करते, न हाथ धोते, न पांव धोते, न कुल्ला ही करते। पूरे जैनी बने थे। इस पर यदि कहा जाय कि 'पथि शूद्रवदाचरेत्' अर्थात् मार्ग में शूद्र के समान आचरण करे इसलिए साधु सदाचार न करते हों तो यदि वैष्णवता के ये सब लक्षण न भी प्रकट दीखते हों, परन्तु यदि भगवत्-भागवत चर्चा ही करने वाला हो तो उसे भक्त ही समझना चाहिए लेकिन श्रीठाकुरजी महारानी श्रीरुक्मिणीजी से बात भी करते तो पूरी दुनियादारी की। बहीखाता, रोजनामचा, रोकड़ जमा-खर्च, घाटा-मुनाफा आदि की चर्चा करते। अमुक के यहाँ इतना पाना है-अमुक को इतना देना है। अमुक ने इतना लिया, दिया नहीं। अमुक ने दिया तो कहाँ रखा है? अमुक जगह इतनी मुहरें धरी हैं। अमुक जगह का तहखाना तो मुहरों से भर गया है, अब दूसरा बनवाना होगा। हीरे-जवाहरातों से जड़े आभूषण झोले में से निकालकर दिखाते उनकी कीमत बताते। लाख के हैं। करोड़ के हैं आदि। रुक्मिणीजी सुनती जातीं और हूँ-हूँ करती जातीं, उनकी समझ में नहीं आता कि आज कौन-सी लीला करने वाले हैं।

श्रीहरिपालजी आगे-आगे चलते और पीछे-पीछे सेठ-सेठानी। ये बार-बार पीछे

मुड़कर देखते तो श्रीरुक्मिणीजी डर जातीं। क्योंकि ये थे बड़े हट्टे-कट्टे, वीर-बलवान तथा परम तेजस्वी और देखते सेठानीजी के गहनों को अतः उन्हें शङ्का हो जाती कि कहीं यह लूटने की घात तो नहीं लगा रहा है। दो एक बार श्रीरुक्मिणीजी ने पूछा भी कि तुम मेरी ओर मुड़-मुड़कर क्या देख रहे हो? अपना रास्ता चलो। ये कहते-हां-हां चल रहा हूँ, चले आओ। परन्तु ये फिर देखते, फिर देखते। सेठानी कांप जाती कि आज न जाने क्या होने वाला है। जब खूब सुनसान में पहुँचे तो श्रीहरिपालजी ने धर दिया भाला सेठ-सेठानी के गर्दन पर और गरजकर बोले-जो कुछ भी तुम लोगों के पास हो उसे धर दो नहीं तो मारे जाओगे। तुम लोगों को मालूम नहीं है-मेरा नाम हरिपाल है। भगवान ने कांपते हुए जल्दी-जल्दी सब आभूषण उतार दिये। वे तो इसीलिए आये ही थे और श्रीरुक्मिणीजी से भी बोले-देर मत करो, नहीं तो विपत्ति में पड़ जाओगी। धर देने में ही कुशल दीखती है। श्रीरुक्मिणीजी भगवान का मुँह ताक रही थीं कि सर्वसमर्थ होकर भी यह क्या कह रहे हैं? इतना डर क्यों रहे? जबकि इनसे काल भी डरता है। आखिर कोई उपाय क्यों नहीं करते हैं? आज अच्छा धोखा हुआ। मैंने मायके-ससुराल के सब गहने इनके कहने से पहन लिया था। अब सबके-सब गये। इधर भगवान हिल रहे थे और बार-बार शीघ्र उतारने के लिए कह रहे थे। तब श्रीरुक्मिणीजी ने भी अपने सब गहने उतार दिये। एक छल्ला रह गया था। वह जल्दी में उँगली से निकल नहीं रहा था तब उन्होंने विचार किया कि जाने दो, इसे नहीं ही उतारूँगी तो क्या हो जायेगा, और सब तो दे ही दिया। परन्तु श्रीहरिपालजी ने तो बड़ी निष्ठुरतापूर्वक अँगुली मरोड़कर उसे भी निकाल ही लिया। तब श्रीरुक्मिणीजी शाप देने के लिए उद्यत हुईं तो भगवान ने झट उनके कान में कहा कि खबरदार! कुछ कहना नहीं, यही वह मेरे भक्त हैं जिसके लिए हम आये हैं। श्रीरुक्मिणीजी हैरान थीं। भगवान इनकी इस लोकोत्तर सन्त-सेवा-निष्ठा पर रीझ करके प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये।

जब श्रीहरिपालजी को यह पता चला कि सेठ-सेठानी के रूप में तो मेरे परमाराध्य ही हैं तब तो उनको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह बारम्बार चरणों में पड़कर क्षमा मांगे और सब धन वापस करने लगे। तब भगवान ने कहा-नहीं भैया! मैं तो इसीलिए ही लाया था। तुम सोच मत करो, ले जाओ, खूब संत-सेवा करो। मैं तुम्हारी संत-सेवा से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। श्रीहरिपालजी ने कहा-प्रभो! यदि सन्तों को इस बात का पता लग जायेगा तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे और हमसे रुष्ट भी हो जायेंगे कि इसने हमारे भगवान को कष्ट दिया है,

लूटा है। भगवान ने कहा-डरो मत, मैं किसी से नहीं कहूँगा। इस प्रकार मधुर-वार्तालाप के अनन्तर जब भगवान इन्हें दर्शन देकर जाने को उद्यत हुए तो श्रीहरिपालजी ने प्रार्थना किया कि प्रभो! आप कहते हैं कि मैंने तुम्हारी साधु-सेवा से सन्तुष्ट होकर, प्रकट होकर दर्शन दिया है तो यह सेवा तो मैंने पत्नी की प्रेरणा से सीखी है। अतः आप उसको भी कृपा करके दर्शन दें। श्रीभगवान तैयार हो गये। तब श्रीहरिपालजी युगल-सरकार को कन्धे पर बैठाकर घर लाये। सिंहासन पर पधारकर खूब पूजा-आरती हुई। तत्पश्चात् सन्तों का वृहद्भण्डारा हुआ। श्रीरुक्मिणीजी और श्रीहरिपालजी की पत्नी ने भोजन बनाया और भक्त तथा भगवान ने परोसकर सन्तों को पवाया। सभी लोग परम कृतार्थ हो गये। श्रीभगवान ने श्रीहरिपालजी को अपने श्रीमुख से 'भक्तभूप' कहा। इसका तात्पर्य यह कि जो भगवान में प्रीति करे वह भक्त है और जो भगवद्भक्तों में प्रीति करे वह भक्तभूप होता है। क्योंकि-रामते अधिक राम कर दासा।। (रामा०) ऐसे ही श्रीनाभाजी ने परमभागवती श्रीरत्नावतीजी को भी भक्तभूप कहा है। यथा-'पृथ्वीराज नृप कुलबधू भक्तभूप रतनावती।' छ० १४२।।

रीवा नरेश श्रीरघुराजसिंहजी ने श्रीरामरसिकावली में इसी प्रकार की श्रीपरकाल स्वामी की कथा लिखी। श्रीपरकालजी परिरम्भपुरी के राजा थे। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। परिम्भपुरी के समीप ही नागपुर नाम का नगर था। वहाँ एक वैद्य जी बड़े साधु-स्वभाव के सज्जन-पुरुष थे। वे नित्य के नियमानुसार एक दिन नगर के बाहर के तालाब पर स्नान करने गये तो वहाँ उन्होंने एक नवजात बालिका देखी। (यह एक अप्सरा की कन्या थी, एक ऋषि के वीर्य से उत्पन्न हुई थी। अप्सरा ऋषि को तप से विच्युत करने आई थी।) वैद्य जी के कोई सन्तान नहीं थी अतः उस बालिका को घर उठा लाये और अपनी पत्नी की गोद में डाल दिये। वैद्यदम्पति उसका पुत्री के समान लालन-पालन करने लगे। धीरे-धीरे बढ़कर उस बालिका ने युवावस्था में प्रवेश किया। उसके रूपगुण शीलादिकी प्रशंसा सुनकर राजा परकाल ने वैद्यजी को बुलाकर उससे विवाह का प्रस्ताव किया। वैद्यजी ने कहा कन्या की यह प्रतिज्ञा है कि जो वैष्णव होगा,शङ्ख-चक्राङ्कित होगा तथा एक सहस्त्र साधुओं को नित्य भोजन करायेगा मैं उसके साथ विवाह करूँगी। राजा परकाल ने तत्काल शङ्ख-चक्राङ्कित होकर नित्य सहस्त्र साधु-भोजन की प्रतिज्ञा की। वैद्यजी ने अग्नि को साक्षी देकर कन्या ब्याह दी। राजा परकाल के यहाँ खूब-साधु ब्राह्मणों की सेवा होने लगी । यह सुनकर वहाँ का राजा,जिसके अधीन परकाल का राज्य था, धन के लोभ से उसने इनके ऊपर आक्रमण कर दिया। उस समय साक्षात् भगवान श्रीराम ने धनुषबाण धारणकर

श्रीपरकाल जी की ओर से युद्ध किया। विजय श्रीपरकालजी की हुई। जब श्रीपरकालजी को इस रहस्य का ज्ञान हुआ तो उनको संसार से बड़ा-भारी वैराग्य एवं प्रभुपाद-पद्मों में अनुराग हुआ। वे अपना सर्वस्व साधु-ब्राह्मणों को लुटाकर पत्नी सहित वन में जाकर रहने लगे। चूँकि ये पहले खूब सन्त-सेवा करते थे अतः साधु पता लगाकर वन में भी इनके पास पहुँचने लगे। परन्तु सम्पत्ति के अभाव में कैसे सेवा करें? तब इन्होने चोरी का आश्रय लिया। परन्तु विमुखों का ही चुराते थे, भक्तों का तृण भी नहीं उठाते थे। एक बार एक गाँव में चोरी करने गये थे। एक धनिक वणिक की स्त्री सोने का कटोरा लेकर बाहर निकली। इन्होंने झपटकर छीन लिया। उसने घबड़ाकर जयगुरु कहा। इन्होंने भक्त समझकर तुरन्त कटोरा फेंक दिया। उसी दिन से इन्होंने चोरी छोड़कर दिन-दहाड़े राह लूटने का निश्चय किया। आगे भगवान को लूटने की कथा आती है।

भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण नवदूलह-दुलहिन के वेष में, तथा पार्षद सेवक रूप में वन में आये। विशेष बात यह है कि जब परकालजी ने सब आभूषणों की पोट बाँध ली तो वह भारी होने से उठी नहीं। तब इन्होंने गरजकर कहा कि तुम लोग इस पोट को अपने सिर पर धरकर मेरे घर पहुँचाओ। तब भगवान ने मुस्कराकर कहा कि मैं तुम्हें एक मन्त्र बताये देता हूँ जिसके प्रभाव से तुम्हें अनन्तशक्ति प्राप्त हो जायेगी। परकाल की अनुमति पाकर भगवान ने इन्हें अष्टाक्षर श्रीनारायण-मन्त्र का उपदेश दिया। कृपा करके साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिया। प्रभु को पहचान कर श्रीपरकालजी बार-बार चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना किये। भगवान इनको समझा-बुझाकर भक्ति का वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। एक बार इनको भूखा जानकर श्रीनृसिंह भगवान ने ब्राह्मण का रूप धरकर भोजन करवाया था और अन्त में दर्शन भी दिया था। जो धन इन्होंने भगवान से छीना था उससे श्रीरङ्गनाथजी का मंदिर बनवाया । कुछ महानुभावों के मत से श्रीपरकालजी और श्रीहरिपालजी एक ही भक्त हैं। क्योंकि दोनों के चरित्र बहुत मिलते-जुलते हैं। परन्तु श्रीरघुराजसिंहजी ने दानों को दो -भक्त मानकर दोनों के अलग-अलग चरित्र लिखे हैं।

श्रीसाक्षीगोपालजी के भक्त

गौड़देश वासी उभै विप्र ताकी कथा सुनौ एक वैस वृद्ध जाति वृद्ध छोटो संग है।
और-और ठौर फिरि आये फिरि आये बन तन भयो दुखी कीनी टहल अभंग है।।
रीझो बड़ो द्विज निज सुता तोको दई अहो रहो नहीं चाह मेरे लई बिनै रंग है।
साखी दै गोपाल अब बात प्रतिपाल करौ ढरौ कुल ग्राम भाम पूछ्यो सो प्रसंग है।।२३८

शब्दार्थ- वैस = वयस्, आयु। वृद्ध = बूढ़ा। जातिवृद्ध = जाति में श्रेष्ठ, कुलीन ब्राह्मण। छोटो = आयु तथा कुल में छोटा। और ठौर = दूसरे तीर्थ-स्थानों में। फिरि = घूम। फिरि आये = बाद में आये। वन = वृन्दावन। दुखी = बीमार। अभङ्ग = निरन्तर। रहो = रुको। टरो = टलो, हटो। भाम = स्त्री। प्रसङ्ग = बात, हाल।

भावार्थ-अब गौड़देश में निवास करने वाले दो ब्राह्मणों की कथा सुनिये। इन दोनों में एक कुल और आयु दोनों में बड़ा था और दूसरा नई अवस्था वाला साधारण कुल का था। दोनों तीर्थयात्रा करने के लिये घर से चले। अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए दोनों वृन्दावन धाम में आये। दैवयोग से बूढ़ा-ब्राह्मण बीमार हो गया। तब उस युवक ने बड़े प्रेम से खूब सेवा की। स्वस्थ हो जाने पर उसने अति प्रसन्न होकर कहा-'मैंने अपनी लड़की तुम्हें दे दी।' तब उस युवक ने कहा कि-अरे! आप यह क्या कह रहे हैं, मेरे मन में ब्याह की चाह नहीं है। उस वृद्ध ने नम्रतापूर्वक आग्रह किया और मंदिर में विराजमान श्रीगोपालजी को साक्षी बनाकर कन्या देने की प्रतिज्ञा की, तब उस युवक ने भी स्वीकार कर लिया। दोनों वृन्दावन से चले और घूमते-घामते घर को पहुँचे। तब उस युवक ने वृद्ध से कहा कि-अब आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन कीजिये और अपनी लड़की का ब्याह मेरे साथ कर दीजिये। वृद्ध ने अपनी स्त्री तथा कुटुम्ब वालों से पूछा, उनकी सम्मति न पाकर अपनी प्रतिज्ञा से टल गया।।२३८।।

व्याख्या-फिरि आये वन-'फिरि' शब्द के दो अर्थ-१. बाद में, २. दुबारा। दुबारा से जनाया गया कि प्रथम वृन्दावन होते हुए उत्तराखण्ड गये थे, वे लौटकर फिर वृन्दावन आये। यह है श्रीवृन्दावनका दिव्य-आकर्षण। तभी तो कहा गया है-व्रजभूमि मोहिनी मैं जानी। मोहनि कुञ्ज मोहन श्रीवृन्दावन मोहन यमुना पानी।। मोहन नारि सकल गोकुल की बोलत अमृत बानी। जै श्रीभट्ट के प्रभु मोहन नागर मोहनि राधारानी।।

भयो तन दुखी-वृद्ध ब्राह्मण को पहाड़ का पानी लग गया। यथा लागइ अति पहार कर पानी।। (रामा०) एक सन्त विनोद में कहते कि लोग जब उत्तराखण्ड तीर्थ करने जाते हैं तो पहले से ही खूब दूध-घी खाते हैं। शरीर को पुष्ट बलिष्ट करते हैं। जब कोई पूछता है तो गरजकर कहते हैं कि बद्रीनारायण जाना है और जब उधर से लौटकर पानी के मारे आते हैं, तब जब काई पूछता है कि कहाँ गये थे तो बहुत धीमे से कहते हैं-बद्रीनारायण। देश-देश की जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। एक वकील साहब कहते कि

पंजाब के स्टेशनों पर पावरोटी बेचने वाले पंजाबी गरजते हुए बोलते-चलते हैं और बंगाल के स्टेशनों पर बङ्गाली बहुत मरी आवाज में बोलते हैं।

बोल्यौ छोटो विप्र छिप्र दीजियै कही जो बात तिया सुत कहैं अहो सुता याके जोग है।
द्विज कहै 'नाहीं कैसे करौं? मैं तौ दैन कही' कही कहौ भूलि भयो विथाको प्रयोग है।।
भई सभा भारी पूछ्यो साखी नर नारी श्रीगोपाल बनवारी और कौन तुच्छ लोग है।
लेवोजू लिखाइ जोपै साखी भरैं आइ तो पै व्याहि बेटी दीजै लीजै करौ सुख भोग है।।२३९

शब्दार्थ-**छिप्र = जल्दी। विथाको = कष्ट में बेहोशी का। प्रयोग = कथन, कहना। साखी भरैं = गवाही दें।**

भावार्थ-**कुछ दिन बाद उस युवक ने पुनः वृद्ध ब्राह्मण से कहा- आप अब शीघ्र ही अपनी कन्या मुझे दीजिये, जैसी बात वृन्दावन में कही थी, वैसा ही काम कीजिये। उस वृद्ध-ब्राह्मण की स्त्री और पुत्र को जब सब बात मालूम हुई तो वे कहने लगे-अरे! यह क्या? हमारी लड़की क्या उस कुलहीन वाले ब्राह्मण के योग्य है? हम उसके साथ ब्याह नहीं करेंगे। ब्राह्मण बोला- मैंने तो उसे लड़की देने की प्रतिज्ञा की है, अब नाहीं कैसे करूँ। लोगों ने उसे समझाया कि- तुम यह कह दो कि- मैं उस समय होश में नहीं था, कष्ट के कारण भूल से कह दिया था। इस उत्तर को सुनकर युवक ने पंचायत जोड़ी। पंचों ने पूछा कि कोई स्त्री या पुरुष तुम्हारा गवाह है। उसने कहा-इन्होंने श्रीगोपालजी को साक्षी बनाया था अतः वे साक्षी हैं कोई तुच्छ मनुष्य साक्षी नहीं है। तब सब पंच बोले- इस सभा में आज लिखा-पढ़ी करवा लो। यदि श्रीगोपालजी आकर साक्षी देंगे तो तुम्हारे साथ बेटी का ब्याह कर दिया जायेगा और तुम लड़की को घर ले जाकर गृहस्थाश्रम के सुख भोग करना।।२३९।।**

व्याख्या-अहो सुता याके जोग है?- **भाव यह कि कन्या का ब्याह योग्यवर के साथ करना चाहिए। यथा-मैना वचन-जो घर बर कुल होइ अनूपा। करिय विवाह सुता अनुरूपा।। (रामा०) और यह तो जाति से, कुल से, गोत्र से, धनमान से सब प्रकार से हीन है। 'नाहीं कैसे करौं'-भाव यह कि देने की प्रतिज्ञा करके न देने से निश्चय ही नरक में निवास होता है। यथा-निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।। (भा० ८-१९-३५) 'श्रीगोपाल वनवारी'-इससे युवक ब्राह्मण का भक्ति और भगवान में विश्वास जनाया गया। उसकी दृष्टि में श्रीगोपालजी मूर्तिरूप में नहीं, बल्कि साक्षात्स्वरूप से विराजमान हैं। 'तुच्छ लोग**

हैं'-ऐसा इसलिए कहा कि संसारी लोगों का कोई विश्वास नहीं है। वे क्षणमात्र में तनिक से भय अथवा लोभ से विचलित हो जाते हैं। इस पर-

दृष्टान्त-एक वैश्य का- **एक भक्त मुसलमान हज करने गया था। वह एक हजार रुपया एक वैश्य के यहाँ थाती रख गया था। जब हज से लौटा तो अपनी थाती वैश्य से माँगने लगा। परन्तु धन के लोभ में वैश्य ने एकदम इन्कार कर दिया कि तुमने हमारे यहाँ कुछ नहीं रखा था, झूठ बोल रहे हो। तब मुसलमान ने पंचायत की। पंचों ने निर्णय किया कि घी गरम करके उसमें दोनों का हाथ डलवाया जाय। जो झूठा होगा उसका हाथ जल जायेगा। साँचे को आँच नहीं आयेगी। मुसलमान ने हाथ-जोड़कर कहा कि पञ्चो! गरम घी की तो बात ही क्या है, झूठे का तो ठण्डे-घी में ही हाथ जल जायेगा। सचमुच ठण्डे-घी में ही झूठे वैश्य का हाथ जल गया। मुसलमान की बात सही निकली। वैश्य को उसका रुपया देना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि युवक ब्राह्मण ने इसीलिए किसी अन्य को साक्षी न देकर साक्षात् श्रीगोपाल भगवान को ही साक्षी बताया। पञ्चों ने इसे युवक का आवेशमात्र समझा। उन लोगों को यह कल्पना भी नहीं थी कि भला भगवान भी कहीं गवाही देने जाते हैं। अतः लोगों ने लिखा-पढ़ी कराकर श्रीगोपालजी को गवाही के लिए लाने का आदेश दिया। एक तरह से पञ्चों ने वृद्ध-ब्राह्मण के ही अनुकूल फैसला दिया। क्योंकि उन्हें विश्वास था कि न भगवान आयेंगे न विवाह होगा।**

आयौ वृन्दावन वनवासी श्रीगोपालजू सों बोल्यौं चलौ साखी देवो लई है लिखायकै।
बीते कैयौ याम तब बोले श्यामसुन्दरजू 'प्रतिमा न चलै' 'तो पै बोलै क्यों जू भायकै।।
लागे जब संग युग सेर भोग धरौ रंग आधे आध पावौं चलौं नूपुर बजायकै।
धुनि तेरे कान परै पाछैं जिनि दीठि करै करै रहौं वाही ठौर कही मैं सुनायकै।।२४०

शब्दार्थ-**कैयौ = कई, अनेक। याम = प्रहर। भायकै = प्रसन्न होकर, कृपा करके। लागे = चले। नूपुर = घुंघरू। दीठि = दृष्टि, निगाह।**

भावार्थ- **तब वह युवक ब्राह्मण वृन्दावन को आया और वृन्दावनवासी श्रीगोपालजी से बोला-आप मेरे साथ मेरे गांव को चलिये और साक्षी दीजिये, ऐसी लिखा-पढ़ी मैंने करवा ली है। उत्तर की प्रतीक्षा में वह गोपालजी के सामने बैठा रहा, बैठे-बैठे कई पहर बीत गये। उसने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। तब भगवान श्यामसुन्दर बोले- 'प्रतिमा चलती नहीं है।' तब उसने कहा-फिर बोलती क्यों है। यदि भाव में भरकर**

बोल सकती है तो चल भी सकती है। भावपूर्ण उत्तर सुनकर श्रीगोपालजी साथ चलने को तैयार हो गये और बोले-मैं तुम्हारे साथ चलूँगा, पर नित्य दो सेर उत्तमभोग मुझे अर्पण किया करना हम दोनों उसमें से आधा-आधा खा लिया करेंगे। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि-मैं तुम्हारे पीछे-पीछे अपने पैरों के नुपूरों को बजाता चलूँगा। उनकी ध्वनि तुम्हारे कानों में पड़ती रहेगी, जिससे तुम मन में विश्वास रखना कि गोपालजी आ रहे हैं। पर पीछे घूमकर मत देखना। जहाँ घूमकर मुझे देखोगे बस, मैं वही रह जाऊँगा। सारी बातें मैंने तुम्हें सुना-समझाकर पहले ही कह दीं। ऐसा ही करना।।२४०।।

व्याख्या-तो बोलै क्यों जू-भक्त के सामने भगवान की चालाकी नहीं चली चतुर से चतुराई नहीं चलती है इस पर-

दृष्टान्त-त्रेता के सिद्ध का-एक संन्यासी थे। वह जहाँ जाते वहाँ प्रसङ्गवश अपने को बहुत दीर्घायु बताते। कोई बहुत पूछता तो कहते कि हमें सन्-संवत् तो नहीं याद है, परन्तु इतना याद है कि मैंने श्रीरामजी के विवाह में पंक्ति में बैठकर खूब मिठाई खाई। इस प्रकार वे अपने को त्रेताकालीन सिद्ध करते। इससे उनकी सर्वत्र बड़ी पूजा-प्रतिष्ठा होती। एक बार वे घूमते-फिरते श्रीमथुरापुरी में आये। मथुरा के चौबों ने बड़ा आदर-सत्कार किया। संन्यासीजी अपने पूर्वाभ्यासवश चौबों से भी वही बात कहने लगे। उसे सुनकर एक चौबे ने संन्यासीजी के गाल पर एक तमाचा मारा और कहा कि तुम झूठ कह रहे हो। उस समय परसने वालों में तो मैं भी था। तुम तो पंक्ति में दिखाई नहीं पड़े थे। चौबे की बात सुनकर संन्यासीजी चुप लगा गये। उन्हें कोई जवाब नहीं आया। उनके पाखण्ड का भण्डाफोड़ हो गया। चौबे की युक्ति पर सब लोग हँस गये। सब लोगों ने संन्यासीजी से कहा कि व्यर्थ का ढोंग करके अपना लोक-परलोक मत बिगाड़ो, सच्चाई से भजन करो। तात्पर्य यह है कि जब चतुरों से काम पड़ जाता है तो चतुराई नहीं चलती।

युग सेर भोग धरौ-भगवान ने कहा कि गवाही के लिए लिवा चल रहे हो तो खूब खिलाना-पिलाना पड़ेगा। (लोकोक्ति है कि गवाहों की दामाद के समान खातिर की जाती है।) ब्राह्मण ने कहा-प्रभो! इसकी बिल्कुल चिन्ता नहीं करना। मैं खूब रुपया लाया हूँ। भगवान-(हँसकर) तो मैं ऐसी-वैसी चीज नहीं खाऊँगा। मुझे माल खिलाना होगा। ब्राह्मण-हाँ-हाँ, प्रभो! खूब माल छनाऊँगा। भ०-तो थोड़े-मोड़े से काम नहीं चलने का। पूरे दो सेर भोग लगाने होंगे। ब्राह्मण-आप बिल्कुल निश्चिन्त रहें, दो सेर की जगह चार

सेर भोग लगाऊँगा। तब श्रीवृन्दावन के ठाकुर चलने को तैयार हुए। खवैया ठाकुर हैं, पहले खाने-पीने का सौदा कर लिए तब चलने को प्रस्तुत हुए।।

गये ढिग गांव कही नेकु तौ चितांव रहे चितये ते ठाढ़े दियो मृदु मुसकायकै।
ल्यावौ जू बुलाय कह्यो आय देखौ आये आप सुनतहिं चौंकि सब ग्राम आयो धायकै।।
बोलिकै सुनाई साष पूजी हिये अभिलाष लाख-लाख भाँति रंग भर्‌यो उर भायकै।
आयो न सरूप फेरि विनै करि राख्यो घेरि भूप सुख ढेरि दियो अब लौं बजायकै।।२४१

शब्दार्थ-चितांव = चितऊँ, देखूँ। चितये ते = देखने से। चौंकि = आश्चर्यचकित होकर। सब ग्राम = गाँव के सभी लोग। साष = साक्षी। अभिलाष = इच्छा। सरूप = साक्षीगोपाल। ढेरि = अधिक, ढेरी। बजायकै = प्रकट, प्रसिद्ध करके।

भावार्थ-आगे-आगे भक्त पीछे-पीछे भगवान वृन्दावन से चले, जैसे ही गाँव के निकट पहुँचे, तैसे ही उस भक्त के मन में आया कि-जरा चलते हुए ठाकुर की शोभा देख लूँ। घूमकर देखते ही श्रीगोपालजी खड़े हो गये और मन्द-मन्द मुस्कराने लगे। (भक्त ने कहा-क्यों थक गये क्या? अब तो बस थोड़ी ही दूर चलना है। भगवान ने कहा-मैंने तो पहले ही कह दिया था, अब मैं यहाँ से आगे न जाऊँगा।) पञ्चों को यहाँ ही बुलाकर ले आओ। वह युवक विप्र गाँव में आया और सबसे बोला कि-'चलकर देखो, स्वयं श्रीगोपालजी साक्षी देने पधारे हैं। यह सुनते ही सब लोग आश्चर्यचकित रह गये। गांव के सभी लोग दौड़कर आये। पञ्चों के सामने श्रीगोपालजी ने श्रीमुख से बोलकर साक्षी दी। दोनों भक्तों की तथा अन्यों की अभिलाषायें लाख-लाख प्रकार से पूर्ण हो गईं। अनेक प्रकार के प्रेमभावों के रङ्ग लोगों के हृदय में भर गये। फिर वह श्रीगोपालजी का श्रीविग्रह लौटकर वृन्दावन नहीं आया। लोगों ने विनय की और घेर करके वहीं रख लिया। राजा ने श्रीगोपालजी के लिए प्रेम से अनेक सुख-समूह अर्पण किये। पर्याप्त भोगराग का प्रबन्ध किया। अब तक वहीं उड़ीसा में साक्षीगोपाल विराज रहे हैं।।२४१।।

व्याख्या-बोलिकै सुनाई साख- युवक ब्राह्मण के लिए भगवान का श्रीवृन्दावन से आना और बोलकर साक्षी देना देखकर लोग बड़े ही प्रभावित हुए। सभी ब्राह्मण कहने लगे कि इनसे मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा। तब कुछ वृद्ध लोगों ने कहा-भाई! जिस कन्या के विवाह-निमित्त भगवान-साक्षी बनकर आये हैं, विवाह तो उसी के साथ होगा। क्योंकि इस विवाह में प्रभु की इच्छा जान पड़ती है नहीं तो भला वृन्दावन छोड़कर यहाँ आते ही

क्यों? फिर तो बड़े-आनन्द से उस कुलीन वृद्ध-ब्राह्मण ने अपनी कन्या उस युवक के साथ ब्याह दी। जब यह समाचार वहाँ के राजा को मिला तो उस भक्त राजा ने श्रीगोपालजी के लिए विशाल-भव्य मन्दिर बनवा दिया और नित्य के रागभोग की समुचित व्यवस्था कर दी। साक्षी देने के लिए आने के कारण भगवान श्रीसाक्षीगोपालजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक बार श्रीसाक्षीगोपाल भगवान का दर्शन करने के लिए श्रीजगदीशपुरी के राजा आये। दर्शन करके बड़ा-सुख पाये। फिर तो राजा ने श्रीसाक्षीगोपाल भगवान को पुरी पधारने का निमन्त्रण दिया। राजा के भाव को देखकर श्रीसाक्षीगोपालजी ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और राजा के साथ ही पुरी पधारे। राजा ने इन्हें मन्दिर में श्रीजगन्नाथजी के बगल में पधरा दिया। खूब दूना-दून रागभोग लगने लगा। परन्तु श्रीसाक्षीगोपालजी तो श्रीवृन्दावन के खवैया ठाकुर ठहरे। बढ़िया-बढ़िया माल छानने वाले अतः भोग में जो अच्छे-अच्छे पदार्थ होते वह स्वयं खा जाते और कढ़ी-भात श्रीजगन्नाथजी के लिये छोड़ देते। एक दो दिन तो श्रीजगन्नाथजी इन्हें मेहमान जानकर कुछ नहीं कहे। परन्तु रोज-रोज का यही रवैया देखकर वे उदास हो गये। कहा भी गया है-कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारे।। (रामा०) इसी बीच उदासी का एक और भी प्रबल कारण उपस्थित हो गया। वह यह कि जितने भी दर्शनार्थी आते, सभी एकाध-बार तो श्रीजगन्नाथजी को देखते फिर टकटकी लगाकर श्रीसाक्षीगोपालजी का ही दर्शन करते। श्रीजगन्नाथजी का करुणाविग्रह लोगों को उतना आकृष्ट नहीं कर पाता, जितना श्रीसाक्षीगोपालजी का छैल-छबीला विग्रह, अतः श्रीजगन्नाथजी की उदासी बढ़ती गई। पुरी नरेश ने श्रीजगन्नाथजी का मुख म्लान देखकर पूछा-जै-जै प्रभो! इतने उदासीन क्यों? श्रीजगन्नाथजी ने मुँह बिचकाकर कहा-तीन दिन हो गया, एक भी पूआ खाने को नहीं मिला। राजा ने कहा-फिर इसके लिये खिन्न होने की क्या बात है? कल से और अधिक भोग लगेगा। परन्तु श्रीगोपालजी तो श्रीगिरिराज ठाकुर ठहरे। श्रीगोवर्धन पूजा के समय अमित अतोल भोग आरोगने वाले। अतः इस बार भी खा गये केवल कढ़ी-भात ही बच पाया। अब तो श्रीजगन्नाथजी का धैर्य छूट गया। श्रीगोपालजी से हँसना-बोलना बन्द कर दिये। श्रीगोपालजी ने जब श्रीजगन्नाथजी को मन मारे देखा तो समझ गये कि इनको मेरे रहने से तकलीफ होती है अतः एक दिन रात्रि में चुपके से वहाँ से चल पड़े। तब जगन्नाथजी ने राजा को स्वप्न दिया कि श्रीगोपालजी रुठकर जा रहे हैं, उन्हें मनाओ। राजा-रानी रात में दौड़े आये और चरणों में पड़कर बहुत अनुनय-विनय किए लौट चलने के लिए। भगवान ने कहा-मैं वहाँ तो जा नहीं सकता, मन हो तो

यहीं मन्दिर बनवा दो। हाँ, एक बात और है-मैं दाल-भात खाने के लिये यहाँ नहीं रहूँगा। राजा ने कहा-आप इसकी चिन्ता नहीं करिये। नित्य कढ़ाही चढ़ी ही रहेगी, रोज पूआ पकवान का ही भोग लगेगा। दाल-भात कभी बनेगा ही नहीं। हाँ, जब कभी आप स्वयं कहेंगे तो भले बन जायेगा। तब तो श्रीगोपालजी राजी हो गये। राजा ने वहीं मन्दिर बनवा दिया और उत्तमोत्तम राग-भोग की व्यवस्था कर दी।

एक बार पुरी नरेश की महारानी श्रीसाक्षीगोपालजी का दर्शन करने पधारीं। दर्शन करने पर उनकी इच्छा हुई कि यदि गोपालजी की नाक छिदी होती तो मैं इनको सुन्दर बहुमूल्य नासामणि धारण करवाती। पुजारियों से पूछवायी तो उन्होंने कहा कि नासिका में कोई छिद्र नहीं है। रानी उदास होकर घर चली गईं। दूसरे दिन रात्रि में महारानी को स्वप्न हुआ। मानो साक्षीगोपाल सामने खड़े हुए कह रहे हैं-रानीजू! श्रीयशोदा मईया ने बचपन में मेरे नाक और कान दोनों छेदवाये थे। पुजारियों को इसका पता नहीं है। तुम नासामणि ले आओ। कल पुजारियों से ध्यानपूर्वक देखवाना, छिद्र दीख जावेगा। फिर तुम सहर्ष मुझे नासामणि पहनाकर अपना मनोरथ पूर्ण कर सकती हो। रानी जान गईं कि श्रीसाक्षीगोपालजी मूर्ति नहीं साक्षात् यशोदानन्दन हैं। प्रातःकाल बड़े समारोह के साथ आकर उन्होंने श्रीगोपालजी को नासामणि धारण कराया और बहुत बड़ा उत्सव मनाया।

श्रीगोपालजी को राधाजी के बिना अच्छा नहीं लगता था और उधर श्रीराधाजी को भी श्रीगोपालजी के बिना अच्छा नहीं लग रहा था। अतः वह श्रीसाक्षीगोपाल के विल्वेश्वर नाम के पुजारी के घर पुत्री रूप में प्रकट हुईं। पुजारी ने पुत्री का नाम लक्ष्मी रखा। जब वह बड़ी हो गई तो श्रीगोपालजी उसके साथ साक्षात् विविध-विनोद करते। कई बार ऐसा हुआ कि श्रीगोपालजी के कुछ आभूषण नहीं मिल रहे थे। जब उनकी खोजबीन हुई तो लक्ष्मी की शैय्या पर मिले। इसी प्रकार कभी-कभी लक्ष्मी के भी वस्त्राभूषण श्रीगोपालजी की शैय्या पर मिलते। धीरे-धीरे यह बात सर्वत्र विदित हो गई। तब राजा-रानी ने लक्ष्मी में श्रीराधाजी की भावना करके श्रीराधा का एक सुन्दर विग्रह तैयार करवाकर विधिपूर्वक श्रीगोपालजी के वामपार्श्व में पधरा दिया। वर्णन आया है कि जब इधर मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई उसी समय लक्ष्मी ने शरीर छोड़ दिया और श्रीविग्रह में प्रविष्ट हो गईं। श्रीसाक्षीगोपालजी अब तक वहीं विराजमान हैं। 'बोलिये भक्तवत्सल भगवान की जय।'

श्रीरामदासजी

द्वारिका के ढिंग ही डाकौर एक गाँव रहै रहैं रामदास भक्त भक्ति याको प्यारियै।
जागरन एकादशी करैं रनछोरजू के भयौ तन वृद्ध आज्ञा दई नहीं धारियै।।
बोले भरिभाय तेरौ आयबौ सह्यौ न जाय चलौं घर धाय तेरे ल्यावो गाड़ी भारियै।
खिरकी जु मन्दिर के पाछे तहाँ ठाढ़ी करौ भरौ अँकवारी मोकों बेग ही पधारियै।।२४२

शब्दार्थ-**नहीं धारिये = धारण नहीं की, मानी नहीं।**

भावार्थ- **द्वारिकापुरी के समीप ही डाकौर नाम का एक गाँव है, वहाँ श्रीरामदासजी नाम के एक भक्त रहते थे। उन्हें भक्ति अत्यन्त ही प्यारी लगती थी। वे प्रति एकादशी को द्वारिका में जाकर श्रीरणछोरजी के मन्दिर में जागरण-कीर्तन करते थे। जब आपका शरीर वृद्ध हो गया तब भगवान ने आज्ञा दी कि-अब एकादशी की रात का जागरण करने यहाँ मत आया करो, घर पर ही कर लिया करो, पर आपने श्रीठाकुरजी की यह बात नहीं मानी। भक्त का दृढ़ नियम देखकर भाव में भरकर भगवान बोले-अब तुम्हारे घर चलूँगा। अगली एकादशी को गाड़ी ले आना और उसे मन्दिर के पीछे खिड़की की ओर खड़ी कर देना। (मैं खिड़की खोल दूँगा) तुम मुझे गोद में भरकर उठा ले जाना और गाड़ी में पधराकर शीघ्र ही चल देना।।२४२।।**

व्याख्या-द्वारिका के ढिंग डाकौर-**वैसे द्वारिकापुरी से डाकौर बहुत दूर है परन्तु प्रेम में दूरी नहीं रह जाती। यथा-कुमुदिनी जल महँ बसैं, चन्दा बसैं अकास। जो जाही को भावता सो ताही के पास।। अतः ढिंग कहा। (ऐसा भी कहा जाता है कि श्रीरामदासजी द्वारिका से तीस मील दूर किसी डाकौरा नाम के गाँव में रहते थे। यहाँ डाकौर से तात्पर्य डाकौरा गाँव से है। अतः ढिंग कहा। बहुत दिन बाद श्रीरणछोर भगवान डाकौरा गाँव से डाकौर आये।)**

जागरण एकादशी-**एकादशी महात्म्य में लिखा है कि-उपोष्यैकादशीं विधिवत् करोति जागरणं निशि। नृत्यं सङ्कीर्तनं भक्त्या हरिस्तस्य वशे भवेत्।। अर्थ-एकादशी के दिन उपवास करके जो रात्रि में जागरण करते हुए भगवान के सामने नृत्य-सङ्कीर्तन करते हैं, भगवान उनके वश में हो जाते हैं। 'आज्ञा दई नहीं धारियै'-इन्होंने भगवान के सामने तो दबाव में पड़कर हामी भर लिया परन्तु घर आकर बदल गये। कारण यह है कि जब**

आने का दिन नजदीक आया तो इनको विरह-व्याप गया। दर्शन के लिए मन तड़पने लगा। मन में सोचे-भगवान का दयालु स्वभाव है वे माता-पिता हैं, प्यार-दुलार करते हैं। परन्तु हमें तो अपनी निष्ठा में दृढ़ ही रहना चाहिए। बस, फिर क्या था, चल पड़े श्रीद्वारिकाजी को। श्रीरामदासजी हाथ में नव-तुलसी का गमला लेकर श्रीरणछोर भगवान का दर्शन करने जाते और नवीन-मंजरी श्रीठाकुरजी को चढ़ाते थे। यह उनका हर एकादशी का नियम था। इन्हें पुनः आया देखकर भगवान ने झुँझलाकर कहा कि मैंने तो मना किया था फिर क्यों आ गये? इन्होंने कहा-प्रभो! क्या करूँ? आपके दर्शन के बिना रहा नहीं जाता। भगवान ने कहा-तुम्हें हमारे बिना रहा नहीं जाता तो हमें भी तो तुम्हारा दुःख सहा नहीं जाता। फिर हमारी-तुम्हारी कैसे निभेगी? इन्होंने कहा-प्रभो! अपने नेत्रों को बहुत समझाया। परन्तु ये लोभी-लालची नेत्र मेरी एक नहीं माने। यथा-

सखि यह दृग वहि रूप लुभाने।
मचलि रह्यो शशि मुख निरखनको जा बिधि बाल अयाने।।
लोक लाज कुल कानि खिलौना दियो तऊ नहिं माने।
नारायण सोऊ इन फोर्‌यो ऐसे निपट सयाने।।

श्रीमीराजी कहती हैं-ए दोउ नैन कह्यो नहिं मानत नदियाँ बहैं जैसे सावन की।। अतः मुझे भी इनसे हारकर, विवश होकर आना ही पड़ा। 'बोले भरि भाय' इनकी इस दृढ़निष्ठा और अविचलभक्ति पर भगवान रीझ गये और बोले-रामदासजी! सत्य तो यह है कि जैसे मुझे बिना देखे तुम्हें नहीं रहा जाता, वैसे ही तुमको बिना देखे मुझे भी नहीं रहा जाता। अतः 'चलौं घर धाय।' गाड़ी भारिये-भाव यह कि मजबूत गाड़ी और बैल ले आना। खिरकी जु मन्दिर के पाछे०-जब भगवान ने चलने की बात कही तो श्रीरामदासजी ने कहा-प्रभो! मन्दिर के द्वार की तो बड़ी सावधानी से रक्षा की जाती है, फिर कैसे चलेंगे? भगवान ने कहा कि यह विद्या तो हमें आती है। जब हम श्रीरुक्मिणीजी का हरण करने गये थे तो हमें जब कोई रास्ता नहीं मिला तो खिरकी की राह से हरण किये थे अतः तुम भी खिरकी के समीप ही गाड़ी लगाना। श्रीरामदासजी ने हँसकर कहा-चोरी का अभ्यास आपको जन्म से ही है वही अब आप मुझे भी बुढ़ापे में सिखा रहे हैं। अच्छा, जैसी आज्ञा।

करी वाही भाँति आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि जानी सब वृद्ध भयो थकी पांव गति है।
द्वादशी की आधी रात लैकै चले मोद गात भूषण उतारि धरे जाकी साँची रति है।।
मन्दिर उघारि देखैं परो है उजारि तहाँ दौरे पाछे जानि देखि कही कौन मति है।
बापी पधराय हाँकि जाय सुख पाय रह्यो गह्यो चल्यो जात आनि मार्‌यो घाव अति है।।२४३

शब्दार्थ-**थकी = शिथिल हुई, कम हुई। पांव गति = चलने की शक्ति। उघारि = खोलकर। उजारि = उजड़ा हुआ। कौन मति = कौन-सा उपाय। वापी = सीढ़ियों वाला बड़ा कुआं, बावली।**

भावार्थ-**भक्त श्रीरामदासजी ने वैसा ही किया। जागरण करने के लिए गाड़ी पर चढ़कर आये। सभी लोगों ने समझा कि-भक्तजी अब वृद्ध हो गये हैं, पैर थक गये हैं, चलने की शक्ति नहीं रह गई है अतः गाड़ी पर चढ़कर आये हैं। एकादशी की रात-भर जागरण हुआ, द्वादशी की आधी-रात को खिड़की के मार्ग से मन्दिर में गये। आपने तन-मन में भारी उत्साह था। ठाकुरजी के श्रीविग्रह पर से सभी आभूषण उतारकर वहीं मन्दिर में रख दिये। आपका सच्चा-प्रेम भगवान से था, आभूषणों से क्या प्रयोजन? श्रीरणछोरजी को गाड़ी में पधराकर चल दिये। प्रातःकाल पुजारियों ने मन्दिर खोला तो देखा कि मन्दिर सूना उजड़ा पड़ा है। लोग समझ गये कि रामदास गाड़ी लाये थे, वही ले गये। पुजारियों ने पीछा किया। उन्हें आते देखकर श्रीरामदासजी ने कहा कि-अब कौन उपाय करना चाहिए? भगवान ने कहा-मुझे बावली में पधरा दो भक्त ने ऐसा ही किया और सुखपूर्वक गाड़ी हाँक दी। पुजारियों ने श्रीरामदासजी को पकड़ा और खूब मार लगाई। इनके शरीर में बहुत से घाव हो गये।।२४३।।**

व्याख्या-आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि-**यह देखकर पण्डा-पुजारियों एवं और भी लोगों को तर्क तो हुआ कि भक्तजी कभी गाड़ी पर चढ़कर तो आते नहीं थे अबकी बार गाड़ी क्यों लाये? परन्तु भगवत्प्रेरणा से किसी ने उनसे नहीं पूछा। अपने ही समाधान कर लिए। यदि पूछते तो इनको बड़ा असमंजस होता। झूठ बोल नहीं सकते थे क्योंकि 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।।' और सत्य कहने पर पण्डा-पुजारी सावधान हो जाते। फिर भगवान हाथ से जाते।** द्वादशी की आधी-रात-**वैसे ये एकादशी की रात को जागरण कर द्वादशी को प्रातःकाल दर्शनकर चल देते थे। परन्तु अबकी बार द्वादशी को भी रह गये। लोगों को पुनः शङ्का हुई परन्तु फिर प्रभु-प्रेरणा से किसी ने नहीं पूछा। सबने स्वयं ही समाधान कर लिया कि वृद्ध हैं, विशेष थक गये होंगे अतः नहीं गये।** 'भूषण उतारि धरे'-**पुजारी लोग**

जब भगवान को शयन कराकर चले गये तो भगवान उठे और सभी आलमारी तथा पेटी खोलकर बढ़िया एवं बहुमूल्य वस्त्राभूषण निकाले। खूब नख से शिखा पर्यन्त अपना साज-श्रृंङ्गार किये। प्रभु श्रीरामदासजी के साथ जाने के लिए उतावले हो रहे थे। जब आधी-रात हुई, सब लोग प्रगाढ़-निद्रा में सो गये। तब ये गाड़ी खिड़की के नीचे लगाये। भगवान बड़े नाराज हुए कि मैं कब से प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। तुमने इतनी देर लगाई। श्रीरामदासजी बोले-प्रभो! सबके सोने पर ही तो आ सकता था। अच्छा अब जल्दी कीजिये। फिर तो झम-झम करते हुए भगवान चल पड़े। तब श्रीरामदासजी ने कहा-जै-जै, आप आभूषणों को तो यहीं उतारकर रख दें। मैं इनके सहित आपको नहीं ले जा सकता। यद्यपि भगवान ने बहुत-जोर लगाया, परन्तु ये तो एकदम इन्कार कर गये कि आपके इन पण्डा-पुजारियों को आपके चले जाने का तो दुःख होगा ही, यदि गहने भी चले गये तो इन्हें दारुण-दुःख होगा। फिर हमारी प्रीति भी तो आपमें है न कि गहनों में। इस पर-

दृष्टान्त-एक महन्तका-एक गाँव में एक अत्यन्त गरीब वृद्धा बाई थीं। वह चरखा कातकर अपनी जीविका चलाती थीं। घर में श्रीगोपालजी की सेवा पधरा रखी थीं। जैसे-तैसे कुछ पैसे बचाकर वह श्रीगोपालजी के लिए स्वर्ण के आभूषण बनवायी थीं। श्रीठाकुरजी को वह बड़ा लाड़-लड़ाती थीं। जब उनका शरीर अत्यन्त वृद्ध हो गया। सेवा में कठिनाई पड़ने लगी तो वह मन में विचार करने लगीं कि सेवा बनती नहीं है अतः श्रीगोपालजी को किसी साधु-महात्मा को सौंप देना चाहिए इसी बीच एक महन्तजी उस गाँव में आये। एक दिन श्रीमहन्तजी उस बुढ़िया के घर गये तो स्वर्ण के आभूषणों से सजे-धजे श्रीगोपालजी का दर्शनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीगोपालजी की बड़ी-बड़ाई की। बुढ़िया ने श्रीमहन्तजी से अपनी स्थिति निवेदन की। आभूषणों के लोभ से महन्तजी ने श्रीगोपालजी की सेवा स्वीकार कर ली। परन्तु प्रातःकाल बुढ़िया जब गहनों को अपने पास रखकर श्रीगोपालजी को देने लगी तो श्रीमहन्तजी ने अस्वीकार कर दिया। तब बुढ़िया बोली-बाबाजी! मैं समझ गई, तुमको ठाकुर से स्नेह नहीं है, तुम्हारा स्नेह तो गहनों में है, अतः तुम रहने दो, मैं जैसी बनेगी वैसी सेवा कर लिया करूँगी।

श्रीरामदासजी की तो श्रीठाकुरजी में सच्ची प्रीति थी अतः आभूषणों का लोभ नहीं किये। तब तो भगवान ने जल्दी-जल्दी सब आभूषण निकालकर इधर-उधर फेंक-फाँक दिये और साधारण वस्त्रमात्र धारण करके चल दिये। 'दौरे पीछे जानि'-अब लोगों को श्रीरामदासजी को बैलगाड़ी लाने एवं द्वादशी रहने का भेद मालूम पड़ा। 'कौन मति है'-पंडा-

पुजारियों को आते हुए देखकर श्रीरामदासजी घबराये और भगवान से झगड़ने लगे कि देखो तुम्हारे नाना लोग आ गये। मैं तो वृद्ध हूँ लड़ाई-झगड़ा तो कर नहीं सकता, कहिये तो आपको वापस करके इनसे माँफी माँग लूं। यह सुनकर भगवान ने झुंझलाकर कहा-देखो भगतजी! हमसे प्रेम भी करो और नाना का डर भी करो। यह दोनों एकसाथ नहीं निभ सकते हैं। हमसे प्रेम करने वाले तो हमेशा प्राणों की बाजी लगाये रहते हैं। सिर हथेली पर धरे रहते हैं। यथा-जब लगि सीस न सौंपिये, तब लगि इश्क न होय। आशिक मरने ना डरै, पियै पियाला सोय।। (दादू) जीते जी मर जाय करै ना तन की आसा। आशिक का दिन रात रहैं सूली पर बासा।। (पलटू) जब लगि मरने से डरै, तब लगि जीवन नाहिं। बड़ी दूर है प्रेमघर, समझि लेहु मन माहिं।। पुनः-प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय। राजा परजा जेहिं रुचै सीस देइ लै जाय।। (कबीर) भगवान के वचन सुनकर श्रीरामदासजी बड़े सकुचाये। प्रभु ने उपाय बता दिया। इससे जनाया गया कि भगवान का बीसोंबिस्वा मन है श्रीरामदासजी के साथ जाने का।

देखे चहुँदिशि गाड़ी कहु पै न पाये हरि करि पछितावो कहैं भक्त कै लगाई है।
बोलि उठ्यो एक यहि ओर यह गयो हुतो जाय देखैं बावरी को लोहू लपटाई है।।
दास कों जु डारी चोट ओट लई अंग मैं ही नहीं मैं तो जाऊँ बिजै मूरति बताई है।
मेरी सम सोनो लेहु, कही जन तोलि देहु, मेरे कहाँ बोल्यो बारी तिया कै जताई है।।२४४

शब्दार्थ-लगाई = चोट दी, कलङ्क लगाया, प्रीति। लोहू लपटाई = खून से सनी। डारी = डाली, दो। ओट = रोक। बिजै = बीजी, बीजा, दूसरी। जब = मन्दिर के पुजारीगण। बारी = बाली, कान में पहनने का तार से बना गोल गहना। जताई = जनाई, बताई।

भावार्थ-भक्त को मार-पीटकर पुजारी लोगों ने गाड़ी में तथा गाड़ी के चारों ओर भगवान को ढूंढ़ा, पर वे कहीं नहीं मिले। तब सब पछताकर कहने लगे कि-इस भक्त को हम लोगों ने बेकार ही मारा। इसी बीच उनमें से एक बोल उठा-मैंने इस रामदास को इस ओर से आता देखा था, इस ओर यह गया था। चलो, वहाँ देखो। सभी लोगों ने जाकर बावली में देखा तो भगवान मिल गये। उसका जल खून से लाल हो गया। भगवान ने कहा-तुम लोगों ने जो मेरे भक्त को मारा है, उस चोट को मैंने अपने शरीर पर लिया है, इसी से मेरे शरीर से यह खून बह रहा है अब मैं तुम लोगों के साथ कदापि नहीं जाऊँगा। यह कहकर श्रीठाकुरजी ने उन्हें दूसरी मूर्ति एक स्थान में थी सो बता दी। और कहा कि-उसे ले जाकर मन्दिर में पधराओ, अपनी जीविका के लिए मेरी इस मूर्ति के बराबर सोना ले लो और

वापस जाओ। पुजारी लोग लोभवश राजी हो गये और बोले-तौल दीजिये। रामदासजी के घर पर आकर भगवान ने कहा-रामदास! तराजू बांधकर मेरी बराबर सोना तौल दो। रामदासजी ने कहा-मेरे पास सोना कहाँ है? भगवान ने कहा-तुम्हारी स्त्री के कान में एक सोने की बाली है उसी से तोल दो।।२४४।।

व्याख्या-देखे चहुँदिशि गाड़ी- श्रीरामदासजी के शरीर पर अत्यन्त घाव देखकर एक वृद्ध-पण्डा से नहीं रहा गया। उसने सबको फटकारते हुए कहा कि तुम लोग बुड्ढे को मार ही डालोगे क्या? अरे भाई! पहले मालकी तलाशी लो। हमें तो श्रीठाकुरजी से काम है न कि किसी जान मारने से। तब सबने गाड़ी देखी। 'ओट लई अंग मैं ही'-भगवान को जब बावली में से निकालने लगे तो उठाते समय भगवान अत्यन्त कराहने लगे। पण्डा-पुजारी जिस भी अंग पर हाथ लगाते, भगवान चीखने लगते और कहते कि इसे मत छूओ यहाँ बड़े-जोर की चोट लगी है। उन लोगों ने भी देखा तो भगवान के श्रीअङ्ग पर घाव के चिह्न हो रहे थे। तब लोगों ने पूछा तो भगवान ने बताया। इस पर दृष्टान्त श्रीविभीषणजी का-लङ्का के युद्ध में रावण ने श्रीविभीषणजी के ऊपर शक्ति का प्रहार किया तो उसे श्रीरामजी ने अपने ऊपर ले लिया। यथा-पुनि दसकण्ठ क्रुद्ध होइ छाँड़ी शक्ति प्रचण्ड। चली विभीषन सन्मुख मनहुँ काल कर दण्ड।। आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन प्रन मोरा।। तुरत विभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।। (रामा०) दूसरा दृष्टान्त श्रीचैतन्यमहाप्रभुका-श्रीहरिदासजी की चोट को अपने ऊपर लिए थे। देखिये छप्पय ७२ में श्रीचैतन्य चरित्र।

मैं तो नहीं जाऊँ-भगवान ने पण्डों को फटकारा कि तुम लोगों ने बिना बिचारे भक्त को कष्ट दिया है। तुम लोगों को यह विचारना चाहिए था कि यह मेरी इच्छा के बिना इतने सुरक्षित स्थान से कैसे ले जा सकते हैं? मेरा मन है श्रीरामदासजी के यहाँ जाने का, अतः तुम लोगों के साथ नहीं जाऊँगा। ब्राह्मणों ने भगवान को धमकी दी कि यदि आप हमारे संग नहीं चलेंगे तो हम लोग कुटुम्ब सहित आपके ऊपर प्राण दे देंगे। भगवान ने हँसकर कहा कि हम प्रलय करते हैं तो न जाने कितने ब्राह्मण मरते हैं परन्तु हमको किसी की हत्या नहीं लगती है फिर तुम लोग तो बहुत कम हो और उसमें भी तुम लोगों ने भागवत अपराध किया है फिर तुम्हारे मरने का दोष कैसे छू सकेगा? भले मर जाओ परन्तु मैं तो नहीं ही जाऊँगा! 'मेरी सम सोनो लेहु'-ब्राह्मण तो धन के लोभी थे अतः भगवान ने उन्हें धन का लोभ दिया। ये चक्कर में आ गये कि पुजाने-खाने के लिए दूसरी मूर्ति बता ही दिये, धन भी

मिल जायेगा। ऊपर से -तो जाने दो इनको रामदास के ही यहाँ। इनको फुसलाकर तब भगवान श्रीरामदासजी से बोले-तोलि देहुँ·····।

लगे जब तौलिबे कों बारी पाछे डारि दई नई गति भई पल उठै नहीं बारी कौ।
तब तो खिसाने भये सबै उठि घर गये कैसैं सुख पावैं फिर्‌यो मत ही मुरारी कौ।।
घर ही विराजे आप कह्यौ भक्तिकौ प्रताप जाप करै जो पै फुरैं रूप लाल प्यारी कौ।
बलिबन्ध नाम प्रभु बाँध बलि भयो तब आयुधको छत सुनि आये चोट मारी कौ।।२४५

शब्दार्थ-पल = पलड़ा, तराजू का पल्ला। फुरैं = प्रकाशै, सत्य हो। बलिबन्ध = वामन भगवान। आयुध = हथियार, शस्त्र। छत = घाव, घायल।

भावार्थ-लोग तोलने लगे, एक ओर पलड़े में ठाकुरजी पधराये गये। भक्त ने बाली लाकर पलड़े में रख दी। तब यह एक नया आश्चर्य हुआ कि बाली-वाला पलड़ा पृथ्वी में टिक गया (तब लोगों न पलड़ा बदला, फिर भी बाली वाला पलड़ा नहीं उठा)। तब सभी पुजारीगण अत्यन्त लज्जित हुए और वहाँ से उठकर चले आये। आपस में कहने लगे-वहाँ उस कङ्गाल के घर ठाकुरजी को कौन सा सुख मिलेगा? क्या किया जाय? उनकी तो बुद्धि ही भ्रमित हो गई है। श्रीरणछोरजी श्रीरामदासजी के घर में ही विराजे। इस प्रसङ्ग में भक्ति का प्रकट प्रताप कहा गया है। जो लोग जप, ध्यान आदि द्वारा भक्ति की आराधना करते हैं, उनके हृदय में रणछोरलालजी की प्रिय भक्ति का रूप और प्रिया-प्रियतम का रूप प्रकट हो जाता है। जब भगवान ने बलि को बाँधा तब 'बलिबन्ध' यह प्रभु का नाम पड़ा। अब यहाँ भक्त के शरीर पर पड़ी चोट को जब प्रभु ने अपने ऊपर ले लिया, तब उनका 'आयुध-छत' यह नाम हुआ। इस नाम को सुनकर भावुक भक्तों के हृदय पर असह्य आघात पहुँचता है पर भगवान ने भक्त से अपनी एकरूपता दिखलाने के लिए ही चोट सही, अन्यथा उन्हें भला कौन मार सकता है।।२४५।।

व्याख्या-घर पहुँचने पर श्रीरामदासजी ने ब्राह्मणों से भोजन-जलपान की प्रार्थना की। तो पण्डा बोले पहले सोना तोल दो फिर खान-पान बाद में होगा। तब श्रीरामदासजी ने कहा कि अच्छा, पहले सोना ही तौलवा लीजिये। फिर पण्डा लोग पाँच-सात मन तोलने वाला तराजू ले आये 'पल उठै नहीं बारी कौ'-भगवान की बड़ी विचित्र लीला है, कहाँ तो द्वारिकापुरी में सम्पूर्ण रनिवास की रानियों के समस्त आभूषण मिलकर भी श्रीकृष्ण की बराबरी में नहीं हो सकते थे (देखिये श्रीनामदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त १४१) कहाँ

श्रीरामदासजी के यहाँ वही श्रीकृष्ण कान की बाली के बराबर नहीं हो सके। भक्तराज श्रीरामदासजी ने कहा-बाली है तो वजन में अधिक, लेकिन ले जाइये, आप लोग ब्राह्मण हैं साधु-ब्राह्मण का खाया व्यर्थ नहीं जाता है। आप लोग प्रसन्न रहेंगे, प्रभु भी प्रसन्न रहेंगे। 'बलिबन्धन'-भगवान ने बलिजी को तो थोड़ी देर के लिये बाँधा था परन्तु स्वयं श्रीबलिजी के यहाँ सदा के लिये बँध गये। (देखिये पूर्वार्द्ध श्रीबलिजी का प्रसङ्ग पृष्ठ ५७३) वैसे ही यहाँ श्रीरामदासजी को तो अल्पकालिक घाव का कष्ट भोगना पड़ा और श्रीरणछोर भगवान को आज तक पट्टी बाँधी जाती है। श्रीरणछोर भगवान के भक्तों पर कृपा करने के विविध प्रसङ्ग पाये जाते हैं।

कथा एक मास्टर साहब की-इनका नियम था-हर अमावस्या एवं पूर्णमासी को श्रीरणछोर भगवान का दर्शन करने आते थे। एक बार विद्यार्थियों की परीक्षा चल रही थी और मास्टर साहब अपने नियमों के अनुसार भगवान का दर्शन करने गये थे। उसी समय विद्यालय निरीक्षण करने के लिये इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स आ गये। तब भगवान ने ही मास्टर साहब का रूप धारण करके विद्यालय का मुआयना करवाया। जब मास्टर साहब दर्शन करके लौट रहे थे मार्ग में इंस्पेक्टर मिले। मास्टरजी तो मन में बहुत डरे कि मेरे अनुपस्थित रहने से हाकिम नाराज होगा परन्तु जब इंस्पेक्टर ने इनके कार्य की सराहना की तो भौंचक्के रह गये। स्थिति स्पष्ट होने पर मास्टर साहब ने मार्ग में ही त्यागपत्र लिखकर इंस्पेक्टर को दे दिया और स्वयं सदा-सदा के लिये श्रीरणछोर भगवान के हो गये।

श्रीजसूस्वामी आदि

बच्छ हरन पाछैं बिदित सुनौ सन्त अचरज भयो।।
जसूस्वामि के वृषभ चोरि व्रजवासी लाये।
तैसेई दिये श्याम बरष दिन खेत जुताये।।
नामा ज्यौं नन्ददास मुई इक बच्छि जिवाई।
अम्ब अल्ह को नये प्रसिद्ध जग गाथा गाई।।
बारमुखी के मुकुट कौं श्रीरङ्गनाथ को शिर नयो।
बच्छ हरन पाछैं बिदित सुनौ सन्त अचरज भयो।।५४।।

शब्दार्थ-वृषभ = बैल। मुई = मरी। बच्छि = बछिया। अम्ब = आम। नये = झुके। बारमुखी = वेश्या।

भावार्थ-जैसे द्वापर में ब्रह्मा ने गोवत्स-हरण किया और सभी ब्रजवासियों ने अपने घरों में अपने गो-वत्स जैसे के तैसे देखे, उसी प्रकार कलियुग में एक प्रसिद्ध एवं विचित्र आश्चर्य हुआ। उसे संतजन ध्यानपूर्वक सुनें। भक्त श्रीजसूस्वामी के बैलों को ब्रजवासी चोर चुरा लाये, तब श्यामसुन्दर ने वैसे ही बैल उन्हें दिये। उनसे एक साल तक खेतों की जोताई हुई। श्रीनामदेवजी की तरह श्रीनन्ददासजी ने भी एक मरी हुई बछिया को जीवित किया। श्रीअल्हजी के लिये फलवान आम के वृक्ष जिस प्रकार झुके यह कथा संसार में प्रसिद्ध है और अब भी गाई जाती है। एक भक्ता वेश्या के हाथ से मुकुट धारण करने के लिये श्रीरङ्गनाथजी का सिर झुक गया।।५४

व्याख्या-बच्छ हरन- अघासुर का वध करने के उपरान्त श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ यमुनापुलिन पर आये। बछड़े पानी पीकर समीप ही हरी-हरी घास चरने लगे। श्रीकृष्ण ने अपने बालसखाओं को श्रीयमुनाजी की परम-शोभा दिखलाते हुए वहीं पुलिन पर ही भोजन करने का अनुरोध किया। ग्वाल वालों ने एक स्वर से स्वीकृति प्रदान की। फिर तो श्रीकृष्ण अपने सखाओं को मण्डलाकार बैठाकर स्वयं उनके बीच में विराजमान हो गये। मण्डल में क्रम यह था कि सबसे छोटे-छोटे बालकों का मण्डल प्रथम था जो श्रीकृष्ण के अत्यन्त समीप था। उनके पीछे उनसे बड़े एवं उनके पीछे उनसे बड़े, इस प्रकार क्रमशः सभी बालकों का मण्डल बना था। मण्डल में सबसे छोटे बालक श्रीकृष्ण के सबसे अधिक समीप थे और बड़े-बड़े बालक दूर थे। यहाँ उपदेश है-प्रभु के समीप पहुँचना हो तो छोटे बनो, दीन बनो। बड़े तो दूर पड़ जाते हैं तभी तो कहा गया है-राई ते बीसों, बिसें, ता बीसे पुनि बीस। ताते नान्हें ह्वै रहो, तब मिलिहैं जगदीश।। हाँ, तो मण्डल बैठ जाने पर बड़े ही आनन्द-विनोद के साथ पुलिन-भोजन प्रारम्भ हुआ। बीच-बीच में हास-परिहास के फौवारे छूट रहे थे।

भगवान श्यामसुन्दर अपने भक्तों को सुख देने के लिए अतिशय माधर्युलीला कर रहे थे। कुछ देर तक तो सबने अपने-अपने भोजन खाये फिर बाद में छीना-झपटी शुरु हुई। एक दूसरे के हाथ से छुड़ाकर स्वयं खा जाते। औरों की तो बात ही क्या, जो समस्त यज्ञों के एकमात्र भोक्ता हैं वे ही भगवान श्रीकृष्ण भी अत्यन्त प्रेमवश सखाओं के मुँह से कौर छुड़ाकर खा रहे थे। यथा-श्याम सबै मिलि खात हैं लै लै कौर छुड़ाइ। और न देत बुलाइ कै डहकि आपु मुख नाइ।। (सूरसागर) भगवान की यह ललित नरलीला देखकर श्रीब्रह्माजी को मोह हो गया। फिर तो श्रीकृष्ण की मंजु-महिमा देखने के लिये उन्होंने प्रथम तो बछड़ों

का अपहरण किया और जब श्रीकृष्ण बछड़ों का पता लगाने गये तो ग्वालबालों का भी अपहरण, अन्यत्र ले जाकर रख दिया। बछड़ों के न मिलने पर श्रीकृष्ण पुनः श्रीयमुना पुलिन पर लौटकर आये तो यहाँ क्या देखते हैं कि ग्वालबाल भी नहीं हैं। बहुत ढूँढ़ने पर भी जब ग्वाल बाल और बछड़े नहीं मिले तब वे तुरन्त जान गये कि यह सब ब्रह्मा की करतूत है। फिर तो सर्वसमर्थ भगवान ने बछड़ों तथा ग्वालबालों की माताओं को तथा ब्रह्माजी को भी आनन्दित करने के लिए अपने आपको ही बछड़ों और ग्वाल बालों-दोनों के रूप में बना लिया।

वर्णन आया है कि श्रीयशोदा माता को श्रीकृष्ण को स्तनपान कराते देखकर गोपियों के मन में वात्सल्य उमड़ता और वे मन ही मन श्रीकृष्ण को स्तनपान कराने की अभिलाषा करने लगतीं। इसी प्रकार जब श्रीश्यामसुन्दर अपनी श्यामा गाय के थनों को मुँह में डालकर दूध पीते तो यह देखकर अन्य गायों को भी मनोरथ होता श्रीकृष्ण को दूध पिलाने का। आज भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं बालक और वत्स बनकर गोपियों और गायों का चिरसंचित मनोरथ पूर्ण किया। आज जब बालक और बछड़े घर पर आये तो गोपियों और गायों ने उन पर पूर्व की अपेक्षा सौ गुना अधिक स्नेह किया। सत्य तो यह है कि पहले श्रीकृष्ण में उनका जैसा असीम और अपूर्व प्रेम था वैसा ही अपने इन बालकों के प्रति भी हो गया। इस प्रकार श्रीकृष्ण ग्वाल बाल और बछड़ों के रूप में पूरे एक वर्ष तक घर, वन और गोष्ठ में क्रीड़ा करते रहे। व्रजवासी लोगों, ग्वालिनों और गायों का बालकों और बछड़ों के प्रति क्षण-प्रतिक्षण बढ़ते हुए प्रेम को देखकर मन में संदेह होने पर श्रीबलरामजी ने जब उन्हें ज्ञान दृष्टि से देखा तो सबके सब श्रीकृष्ण रूप दिखायी पड़े। तब श्रीबलरामजी ने श्रीकृष्ण से इसका रहस्य पूछा तो भगवान ने ब्रह्माजी की सारी करतूति कह सुनाई।

उधर ब्रह्माजी बालकों और बछड़ों को मोहितकर मायामयी शय्या पर सुलाकर जब पुनः वज्र में आये तो उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण ग्वालबाल और बछड़ों के साथ पहले की भाँति ही क्रीड़ा कर रहे हैं तब तो बड़े विस्मय में पड़ गये कि ये दूसरे बालक और बछड़े कहाँ से आ गये। ब्रह्माजी ने दोनों स्थानों पर दोनों को देखा और बहुत देर तक ध्यानपूर्वक अपनी ज्ञानदृष्टि से उनका रहस्य समझना चाहा परन्तु नहीं समझ सके। अभी वह सोच ही रहे थे कि उसी क्षण सभी ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णरूप में दिखाई देने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने जब भगवान का अनन्तैश्वर्य देखा तो वे भगवान के तेज से निस्तेज होकर मौन हो गये उनकी आँखें मुँद गईं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ क्षुब्ध एवं स्तब्ध हो गईं। उनकी इस बेबसी को जानकर भगवान श्रीकृष्ण ने तुरन्त अपनी माया का परदा हटा दिया। तब ब्रह्माजी को बाह्य

ज्ञान हुआ और जब उन्होंने पुनः आंखें खोलीं तो देखा कि श्रीकृष्ण पहले जैसे अपने हाथ में दही-भात का कौर लिए हुए ग्वालबाल और बछड़ों को ढूँढ़ रहे हैं। अब ब्रह्माजी को श्रीकृष्ण की भगवत्ता में रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह गया था। वे तुरन्त अपने वाहन हंस पर से कूदकर पृथ्वी पर दण्ड की भाँति गिरकर भगवान के श्रीचरण-कमलों में पुनः-पुनः प्रणाम किये और अत्यन्त दीनतापूर्वक बद्धाञ्जलि होकर गद्गद वाणी से भगवान की स्तुति करने लगे। भगवान को प्रसन्न करने में श्रीब्रह्माजी को बहुत-बड़ी स्तुति करनी पड़ी। जबकि इन्द्र की थोड़ी ही स्तुति पर प्रसन्न हो गये। यदि अपराध की तुलना की जाय तो इन्द्र का अपराध ब्रह्माजी से बड़ा प्रतीत होता है। क्योंकि ब्रह्माजी ने तो कुछ ही बालकों और बछड़ों का अपहरणमात्र किया था और इन्द्र तो सम्पूर्ण व्रज को ही नष्ट करने पर तुले थे। फिर इन्द्र पर शीघ्र प्रसन्न क्यों? इसका समाधान यह है कि इन्द्र ने जो कुछ किया उसके परिणामस्वरूप समस्त व्रजवासी श्रीगोवर्धन की छत्रछाया में सात दिन-रात तक भगवान के संग-संग रहे। इस प्रकार इन्द्र ने सबका संयोग कराया था और ब्रह्माजी ने एक तो भोजन में बाधा डाली थी, दूसरे बालक-वत्सों का अपहरण करके वियोग कराया था। अतः परिणाम पर दृष्टि डालने से ब्रह्माजी का अपराध बड़ा है। अतः इन्हें बड़ी स्तुति करनी पड़ी।

भगवान की प्रसन्नता पाकर श्रीब्रह्माजी ने भगवान श्रीकृष्ण की परिक्रमा की और उनके चरणों में प्रणाम करके सत्यलोक को चले गये। बालक और वत्स तो ब्रह्माजी ने पहले ही यथा-स्थान पहुँचा दिये थे। यह है वत्स-हरन के प्रसङ्ग की संक्षिप्त कथा। तात्पर्य यह कि जैसे ब्रह्माजी ने बालकों और बछड़ों का अपहरण किया था तो भगवान ने वैसे ही दूसरे बालक और बछड़े बना दिये थे, उसी प्रकार श्रीजसूस्वामी के बैल चोरों ने चुराया तो भगवान ने वैसे दूसरे बैल भी उसी समय दिये थे। जैसे एक साल बाद ब्रह्माजी ने पुनः उन्हें लौटा दिया उसी प्रकार एक साल बाद चोर भी बैलों को लौटा गये। 'सुनौ सन्त'- सन्तों को सुनाने का भाव यह है कि अन्य लोग इस परमाश्चर्यमय प्रसङ्ग पर सहसा विश्वास नहीं करेंगे। परन्तु संत तो नित्य ही भगवान की महामहिमा एवं कृपा का अनुभव करते रहते हैं अतः उन्हें कोई सन्देह नहीं होगा। इस पर-

दृष्टान्त-युधिष्ठिरजी का-एक बार श्रीनारदजी द्वारिकापुरी में द्वारिकानाथ भगवान श्रीकृष्ण का दर्शनकर हस्तिनापुर गये। पहले दुर्योधन से मिले। यह जानकर कि श्रीनारदजी द्वारिका से आये हैं, दुर्योधन ने पूछा-नारदजी! आजकल श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं? श्रीनारदजी ने कहा-राजन्! श्रीकृष्ण तो आजकल सुई के छिद्र से हाथी को निकाल रहे हैं। यह

सुनकर दुर्योधन खूब ठहाका मारकर हँसा और बोला-नारदजी! जैसे श्रीकृष्ण महाधूर्त है वैसे ही आप भी पूरे गप्पी मालूम पड़ते हैं। भला सुई के छिद्र से हाथी को कैसे निकाला जा सकता है? यह तो सर्वथा असम्भव है। तदुपरान्त श्रीनारदजी धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी के पास गये। श्रीयुधिष्ठिरजी ने श्रीनारदजी का बड़ा स्वागत किया और अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण का कुशल समाचार पूछा। इनसे भी श्रीनारद ने वही बात कही जो दुर्योधन से कही थी। उसे सुनकर श्रीयुधिष्ठिरजी ने कहा-नारदजी! श्रीकृष्ण तो परम-समर्थ हैं। वह चाहें तो समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को सुई के छिद्र से बाहर निकाल सकते हैं, फिर हाथी की तो बात ही क्या? श्रीयुधिष्ठिरजी का विश्वास देखकर श्रीनारदजी की आंखों में प्रेमाश्रु छलछला आये और बोले-राजन्! आप धन्य हैं, आप श्रीकृष्ण की महिमा जानते हैं। श्रीकृष्ण में आपकी सच्ची प्रीति और विश्वास है।

श्रीजसूस्वामी

जसू नाम स्वामी गंगा जमुना के मध्य रहैं गहैं साधु सेवा ताको खेती उपजावहीं।
चोरी गये बैल ताकी इनकौं न सुधि कछु तैसे दिये श्याम हल जुतैं मनभावहीं।।
आये व्रजवासी पैंठ वृषभ निहारि कही 'इन्हें कौन ल्यायो?' घर जाय देखि आवहीं।
ऐसे बार दोय चारि फिरेउ न ठीक होत पूछी पुनि ल्याये आये उन्हें पै न पावहीं।।२४६

शब्दार्थ-**गहैं = करैं, पकड़ैं। पैंठ = बाजार।**

भावार्थ-**गङ्गा और यमुना के बीच के देश में श्रीजसूस्वामी नाम के एक भक्त रहते थे। वे प्रेमपूर्वक सदा साधु-सेवा किया करते थे और उसके लिए खेती करके अन्न पैदा कर लिया करते थे। एक बार व्रजवासी चोरों ने इनके बैल चुरा लिए, परन्तु इन्हें यह बात मालूम ही नहीं हुई क्योंकि उसी प्रकार के बैल श्रीश्यामसुन्दर ने दे दिये। यह बैल पहले बैलों की अपेक्षा बहुत ही अच्छी प्रकार हल में जुतकर चलते थे अतः स्वामीजी को बहुत ही प्यारे लगते थे। एक वर्ष बाद एक दिन वे ही व्रजवासी पैंठ में आये। आश्रम के निकट होकर निकले और बैलों को देखकर मन ही मन कहने लगे कि-इन्हें यहाँ कौन ले आया। उन्होंने घर जाकर देखा तो बैल वहाँ बँधे थे। वे लोग फिर आश्रम में आये तो देखते हैं कि बैल बँधे हैं। ऐसे दो-चार बार चक्कर लगाने पर भी वे लोग वास्तविकता का निर्णय न कर सके। अन्त में हारकर उन्होंने स्वामीजी से पूछा, तब उन्हें मालूम पड़ा कि-हम भी ले गये और यहाँ भी वैसे ही बैल निरन्तर काम कर रहे हैं। चोर लोग घर से उन बैलों को ले आये। उनके आते ही आश्रम के बैल अन्तर्धान हो गये।।२४६।।**

व्याख्या-गङ्गा जमुना के मध्य-गङ्गा यमुनयोर्मध्ये या भूमिः सा परा स्मृता। सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं तीर्थमुत्तमम्।। अर्थ-श्रीगङ्गा-यमुना के मध्य की भूमि परम-महिमामय है, समस्त पापों को हरने वाली है, समस्त पुण्यों का सम्पादन करने वाली है, परम-पवित्र है तथा श्रेष्ठ तीर्थस्वरूप है। 'खेती उपजावहीं'-जीविकोपार्जन के विविध साधनों में खेती को सर्वोत्तम कहा गया है। यथा- उत्तम खेती मध्यम बान। अधम चाकरी भीख निदान।। 'चोरी गये बैल'-इनके बैल खेत में थे, हलवाहा कहीं गया हुआ था, सुनसान तथा सुन्दर जोड़ी देखकर चोरों ने चोरी से खेत में से ही बैलों को हाँक दिया और घर ले आये। खेत के जोतने-बोने का समय था, श्रीजसूस्वामीजी के पास धन का इतना संग्रह था नहीं कि तुरन्त एक जोड़ी बैल खरीद सकें और यदि खेती बिगड़ती है तो साधु-सेवा में कमी आ जायेगी अतः भगवान ने तत्काल वैसे ही एक जोड़ी-बैल प्रकट कर दिये। 'मन भावहीं'-जैसे ब्रह्माजी के द्वारा बालक-वत्सों के हरे जाने पर जब भगवान स्वयं बालक-वत्स बने थे तो ये ग्वालिनों, गोपों और गायों को अति प्यारे लगते थे। वैसे ही ये बैल श्रीजसूस्वामी को पहले वाले बैलों की अपेक्षा अधिक प्यारे लगते थे। ऐसे बार दोय चार फिरेउ-श्रीब्रह्माजी भी ऐसे ही दो-चार बार फिर-फिरकर देखे थे। 'उन्हें पै न पावहीं'-जैसे ब्रह्माजी जब बालक-वत्सों को लाये तो भगवान ने अपने स्वरूपभूत बालक-वत्सों को तिरोहित कर दिया था। वैसे ही यहाँ भी जब पहले वाले बैल चोर लाये तो-श्रीश्यामसुन्दर ने जो दिये थे वे तिरोहित हो गये।

बड़ोई प्रभाव देख्यो तैसे प्रभु बैल दिये भयो हिये भाय जाय पांयनि में परे हैं।
निपट अधीन दीन भाषि अभिलाष जानि दया के निधान स्वामी शिष्य लैकै करे हैं।।
चोरी त्यागि दई अति शुद्ध बुद्धि भई नई रीति गहि लई साधुपन्थ अनुसरे हैं।
अन्न पहुँचावै दूध दही दै लड़ावैं आवैं सन्त गुण गावैं वे अनन्त सुख भरे हैं।।२४७

शब्दार्थ-अनुसरे =चले, अनुसरण किये। लड़ावैं = प्रेम करैं।

भावार्थ-उन चोरों ने श्रीजसूस्वामी का यह बड़ा-भारी प्रभाव देखा कि-इन्हें वैसे ही बैल देखकर प्रभु ने चिन्ता से बचाया। उनके मन में स्वामी के प्रति प्रेम-भाव हो गया। जाकर उनके चरणों में पड़ गये। बिल्कुल स्वामीजी के अधीन होकर अपनी दीनता दिखाई। स्वामीजी ने उनके हृदय की शुद्ध अभिलाषा देखी, तो द्रवित हो गये क्योंकि यह सहज ही दया के सागर थे। इन सबको मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लिया। इन्होंने भी चोरी छोड़ दी, इनकी बुद्धि स्वामीजी की कृपा से शुद्ध हो गई। इन लोगों ने अब सेवा-भजन की नवीन

रीति स्वीकार कर ली। साधुओं के मार्ग पर चलने लगे। साधु-सेवा के लिए अन्न पहुँचाने लगे। दूध और दही देकर साधुओं को प्यार करने लगे। सन्तजन अनन्त सुखों के समुद्र हैं। ऐसा कह-कहकर सन्तों के गुण गाने लगे और सुखपूर्वक आये सन्तों की सेवा कर-करके कृतार्थ हो गये।।२४७।।

व्याख्या-बड़ोई प्रभाव देख्यो-**श्रीसूरदासजी ने एक पद में भक्तों के प्रभाव का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। यथा-हरिजू के जनकी अति ठकुराई। महाराज ऋषिराज मुनीजन देखत रहे लजाई।। निस्पृह देशको राज करत ते याते रहत अचाह। काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि भये चोर ते साह।। दृढ़ विश्वास कियो सिंहासन ता पर बैठ्यो भूप हरि जस विमल छत्र सिर सोभित राजत परम अनूप।। हरिपद पङ्कज प्रीति प्रिया अति ताही ते रंग राते। मन्त्री ज्ञान न औसर पावत कहत बात सकुचाते।। अर्थ काम द्वौ भाजि गये दुरि धर्म मोक्ष सिर नायो। विनय विवेक विचित्र पौरिया समय न काहू पायो।। अष्ट महासिद्धि आगे ठाढ़ी कर जोरे लौ लीन। छरीदार वैराग विनोदी झरकि बाहिरी दीन।। माया छल व्यापै नहिं कबहूँ जो या रीतिहिं जानै। सूरदास प्रभु नर तन यह फल गुरु प्रताप पहिचानै।।**

साधु पन्थ-**से तात्पर्य साधुओं की रहनी से है। इसका बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने विनय-पत्रिका के एक पद में किया है। यथा-कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो। श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते संत स्वभाव गहौंगो।। जथा लाभ सन्तोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो। पर हित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।। पुरुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।। विगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो।। परिहरि देह जनित चिन्ता दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो। तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरिभक्ति लहौंगो।।**

श्रीनन्ददासजी वैष्णवसेवी

निकट बरेली गांव तामैं सो हवेली रहैं नन्ददास विप्र भक्त साधु सेवा रागी है।
करैं द्विज द्वेष तासों मुई एक बछिया लै डारि दई खेत माँझ गारी जक लागी है।।
हत्या कौ प्रसङ्ग करैं सन्तजनहूं सों लरैं हिन्दू सो न मारै यह बड़ोई अभागी है।
खेत पर जाय वाहि लियो है जिवाय देखि द्वेषी परे पांय भक्ति भाय मति पागी है।।२४८

शब्दार्थ-**द्वेष = बैर। मुई = मरी। जक = जिद, हठ।**

भावार्थ-बरेली के निकट हवेली नाम का एक गांव है, उसमें श्रीनन्ददासजी नाम के ब्राह्मण भगवान के भक्त निवास करते थे। साधु-सेवा के बड़े-प्रेमी थे इसी से एक उसी गांव का ब्राह्मण इनसे बड़ा-भारी द्वेष रखता था। उसने एक बार एक मरी हुई बछिया लाकर श्रीनन्ददासजी के खेत में डाल दी और इन्हें गाली देने लगा। सर्वत्र वह प्रचार करने लगा कि-नन्ददास ने अपने खेत में चरती हुई बछिया को मार डाला है, अब तक उसके खेत में पड़ी है। श्रीनन्ददासजी के समीप रहने एवं आने-जाने वाले साधुओं से भी लड़ने लगा कि-तुम कैसे वैष्णव हो, गाय के हत्यारे के यहाँ रहते-खाते हो, जो हिन्दू होगा वह गाय को कभी भी नहीं मारेगा। यह तो मुसलमान से भी गया बीता बड़ा ही अभागी है। श्रीनन्ददासजी को अब यह बात मालूम हुई तो संतों को साथ लेकर अपने खेत पर गये और उस बछिया को जीवित कर लिया। यह देखकर उनसे द्वेष करने वाले सभी उनके चरणों में आ पड़े। श्रीनन्ददासजी ने शरणागतों को भक्तिभाव देकर कृतार्थ किया। उन सभी की बुद्धि साधु-सेवा और भगवद्-भजन में लग गई।।२४८।।

व्याख्या-करैं द्विज द्वेष-साधुसेवा करने से संत-भगवन्त कृपा से इनका बड़ा वैभव विस्तार हो गया था। उसे देखकर ब्राह्मण द्वेष करते थे। पुनः नीतिग्रन्थों में लिखा है कि-काककुक्कुटकायस्थाः स्वजातिपरिपोषकाः। स्वजाति परिहन्तारः श्वानसिंहगजद्विजाः। अर्थ-कौआ, कुक्कुट और कायस्थ ये अपनी जाति के पोषक होते हैं तथा कुत्ता, सिंह, हाथी और ब्राह्मण ये अपनी जाति के नाशक होते हैं।

दृष्टान्त-एक ब्राह्मण का- एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण एक गाय लिए हुए आ रहे थे। मार्ग में किसी ने पूछा-पंडितजी! यह गाय कहाँ मिली है? पंडितजी ने कहा-आज यजमान ने गौदान किया है, परन्तु उसने दो ही गायें दान की हैं। तब उस व्यक्ति ने पूछा कि आप तो एक ही लिए जा रहे हैं, दूसरी गाय कहाँ है? पंडितजी ने कहा-दूसरी गाय यजमान ने दूसरे ब्राह्मण को दी थी, परन्तु मैंने लड़-झगड़कर उसे नहीं देने दिया है, सो अब उसे भी आप हमारी ही समझिये। इस प्रकार ब्राह्मणों में परस्पर बड़ा विरोध देखा जाता है। महाभारत में श्रीवृहस्पतिजी और श्रीसंवर्तजी की स्पर्धा का प्रसङ्ग आया है। श्रीवृहस्पतिजी ने राजा मरुत्त का यज्ञ नहीं कराया तो राजा मरुत्त ने श्रीनारदजी की प्रेरणा से ब्रह्मर्षि संवर्त से अपना यज्ञ कराया। बाद में वृहस्पतिजी श्रीसंवर्तजी को हटाकर स्वयं यज्ञ का आचार्यत्व प्राप्त करने का बहुत प्रयत्न किये परन्तु सफल नहीं हो सके। अतः करैं द्विज द्वेष……।

मुई एक बछिया-वास्तविक बात यह थी कि वह बछिया उस द्वेषी के खेत में ही

खा रही थी। उसने क्रोध में भरकर उसे लाठी मारा, संयोग से बछिया मर गई। तब तो उसे बड़ी चिन्ता हुई कि लोग मेरा नाम बदनाम करेंगे। मेरे ऊपर गो-हत्या का दोष लगायेंगे फिर उसने इस कलङ्क से बचने के लिए उस मृतक-बछिया को अपने खेत से सटे हुए श्रीनन्ददासजी के खेत में रख दिया और इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ तब गाँव में आकर झूठे ही शोरगुल मचाना शुरु किया। 'बड़ोई अभागी है'-कहने का भाव यह है कि हिन्दूधर्म शास्त्रों में गाय की बड़ी महिमा कही गई है। यथा- मातरः सर्व भूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः। अर्थात् गौएँ प्राणिमात्र की माता हैं और सर्वसुख-प्रदायिनी हैं। पुनः-गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः। गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् परं स्मृतः।। (म०भा०) अर्थ-गाएँ स्वर्ग की सीढ़ी हैं और स्वर्ग में भी उनका पूजन होता है वे समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवियाँ हैं। उनसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। ऐसी परम पूजनीया गायों को जो लाठी-डण्डे से ताड़ित करते हैं वे मूर्ख प्राणी निश्चय ही करहीन होकर यमलोक को जाते हैं। यथा-यो वै ताडयते यष्ट्र्या धेनु मर्त्यो विमूढधीः। यमराजस्य नगरे स याति करवर्जितः।। पुनः-यो वै गां प्रतिषिध्येत चरन्तीं स्वं तृणं नरः। तस्य पूर्वे च पितरः कम्पन्ते पतनोन्मुखाः।। अर्थ-जो मनुष्य अपने ही खेत में चरती हुई गाय को निवारण करता है। उसके पितृ लोग कम्पित होकर नरक में गिर जाते हैं। अतः गाय को मारने वाले को बड़ा-अभागी कहा गया है। 'लियो हैं जिवाय'-इस पर दृष्टान्त श्रीनामदेवजी का देखिये कवित्त।।१३५।।

श्रीअल्हजी

चले जात अल्ह मग लाग बाग दीठि पर्‌यो करि अनुराग हरि सेवा विसतारियै।
पकि रहे आम मांगे माली पास भोग लिये कह्यो लीजै कही झुकि आई सब डारियै।।
चल्यौ दौरि राजा जहाँ जायकै सुनाई बात गात भई प्रीति आषुतट पांय धारियै।
आवत ही लोटि गयो मैं तो जू सनाथ भयो, देवो लै प्रसाद भक्तिभाव ही सँभारियै।।२४९

शब्दार्थ-**मग लाग = रास्ते में लगा हुआ। डारिये = डालें। आषु = आशु, शीघ्र। तट = समीप।**

भावार्थ-**भक्तवर श्रीअल्हजी तीर्थयात्रा करते हुए जा रहे थे, मार्ग में एक बाग दिखाई पड़ा। सुन्दर स्थान देखकर वे वहाँ ठहर गये और प्रेम से भगवान की सेवा-पूजा करने लगे। पेड़ों में आम पक रहे थे। श्रीअल्हजी ने भगवान के भोग के लिए माली से आम माँगे उसने उपेक्षापूर्वक कह दिया कि-ले लो। श्रीअल्हजी ने आमों की ओर देखा तो डालियाँ**

झुक आईं। आपने आम तोड़कर भोग लगाया। इस चमत्कार को देखकर माली दौड़ता हुआ राजा के पास गया और समाचार सुनाया। सुनते ही राजा के मन में बड़ी-भारी प्रीति उत्पन्न हो गई। राजा शीघ्र ही आया और आते ही पृथ्वी पर लोटकर साष्टाङ्ग-प्रणाम करके कहने लगा-भगवन्! आज मैं आपके दर्शनों से सनाथ हो गया, मुझे अपना कृपामय प्रसाद दीजिये। अल्हजी ने कहा-राजन्! भक्तिभाव का ही सावधान होकर आश्रय लीजिये। इस प्रकार श्रीअल्हजी ने उसे भक्ति देकर कृतार्थ किया।।२४९।।

व्याख्या-चले जात अल्ह- **श्रीअल्हजी श्रीस्वामी अनन्तानन्दजी के शिष्य थे। ये प्रायः विचरते रहते थे। एक बार विचरते हुए ये एक विमुख राजा के राज्य में जा पहुँचे। वह राजा महा-नास्तिक था। यदि कोई सन्त भूले-भटके उसके राज्य में चले जाते तो वह उन्हें गुलेल से मारता। सन्तों के तिलक को लक्ष्य करके गुलेल चलाता। जिससे कितने सन्तों के सिर फूटे, कितनों के नेत्र फूट गये। जैसा राजा था वैसी ही उसकी प्रजा भी थी। यदि कहीं किसी सन्त को देख लेते तो राजा से पहले उसके नगर के लोग ही अनेक प्रकार से तिरस्कृत करके उन्हें भगा देते थे। जब श्रीअल्हजी उस राज्य में जाने लगे तो बहुत से लोगों ने उस राजा की दुष्टता कहकर वहाँ जाने से मना किया। तब श्रीअल्हजी ने कहा-भाइयो! मैंने जीवन में सन्त तो बहुत देखे हैं। परन्तु नास्तिक कोई नहीं देखा। (बात यह थी कि अल्हजी के सन्मुख जाते ही नास्तिक भी आस्तिक हो जाता था।) आज मेरे मन में ऐसे नास्तिक को भी देखने का कौतूहल हो रहा है। अतः मैं अवश्य जाऊँगा। आप लोग चिन्ता न करें, भगवान सब मङ्गल करेंगे। यह कहकर श्रीअल्हजी उस राज्य में गये और जल-थल का सुपास देखकर राजबाग में ही श्रीठाकुर-सेवा करने का विचारकर वहीं आसन लगाये।**

मांगे माली पास०-**प्रथम तो माली ने बहुत फटकारा कि यहाँ से भाग जाओ, नहीं तो राजा सुन लेगा तो वह साधु-महात्मा कुछ नहीं विचारेगा, बहुत मार लगायेगा। परन्तु जब इन्होंने कहा कि हम तो श्रीठाकुर-सेवा करके ही यहाँ से जायेंगे अतः तुम तो हमारे श्रीठाकुरजी के लिए कुछ पके आम दे सको तो दे दो। माली ने कहा-राजा की आज्ञा के विरुद्ध हम तो आपको एक आम भी नहीं दे सकते, हाँ यदि आपको चाहिए ही तो बिना लाठी-डण्डा, ढेला-पत्थर चलाये वृक्ष से फल ले सको तो ले लो और जल्दी भोग लगाकर खा-पीकर यहां से भाग जाओ। तब श्रीअल्हजी ने वृक्ष से कहा-हे तरुवर! तुम तो परोपकारियों में गिने जाते हो। यथा-सन्त विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबनि कै करनी।।**

(रामा०) पुनः-परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः। तुम अपनी शाखा-पल्लव, फल-फूल आदि सर्वस्व देकर लोकोपकार करते रहते हो अतः आज तुम मेरे ठाकुरजी के लिए फल भिक्षा में दो। आम की डालें तुरन्त झुक गईं। 'चल्यौ दौरि राजा'-प्रभाव विचारकर कि इन्होंने चेतन की कौन कहे, जड़ तक को झुका दिया अतः ये निश्चय ही परम-समर्थ हैं। राजा आकर बड़े ही भावपूर्वक, चरणों में लोट-पोट हो गया और अपने अपराधों के लिए उसने क्षमा-प्रार्थना की। श्रीअल्हजी ने कहा-राजन्! तुम तो बड़े-भक्त जान पड़ते हो, लोग झूठे ही तुम्हें नास्तिक कहते हैं। इस पर राजा ने कहा-जै-जै, मैं था तो वस्तुतस्तु परम नास्तिक ही, परन्तु यह तो आपके दर्शन का प्रभाव है जो मुझ जैसे विमुख के हृदय में भी भक्ति-भाव का सञ्चार हो गया है। इस पर दृष्टान्त-श्रीचित्रकूट के कोलभीलों का-यथा-हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।। पाप करत निसिवासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।। सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।। जबते प्रभुपद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे। (रामा०)

श्रीबारमुखीजी

वेश्या को प्रसङ्ग सुनौ अति रसरङ्ग भर्‌यो भर्‌यो घर धन अहो ऐपै कौन काम कौ।
चले मग जात जन ठौर स्वच्छ आई मन छाई भूमि आसन सो लोभ नहीं दाम कौ।।
निकसी झमकि द्वार हंससे निहारि सब कौन भाग जागे भेद नहीं मेरे नाम कौ।
मुहरनि पात्र भरिलै महन्त आगे धर्‌यो ढर्‌यो दृग नीर कही भोग करौ श्याम कौ।।२५०

शब्दार्थ-रसरंग = प्रेमानन्दमय। झमकि = गहनों का शब्द करती हुई।

भावार्थ-एक वेश्या भक्ता का चरित्र सुनिये जो अति ही रसीला और रँगीला है। उसका घर धन-सम्पत्ति से भरा था परन्तु वह किसी काम का न था, क्योंकि भक्त-भगवान की सेवा में नहीं आ रहा था। एक दिन एक विशाल संत-मण्डली रास्ते-रास्ते जा रही थी। (सायंकाल हो रहा था, विश्रामयोग्य स्थान की आवश्यकता थी) वेश्या के घर के सामने छायायुक्त, स्वच्छ सुन्दर स्थान देखकर संतों के मन को अच्छा लगा। सभी ने यत्र-तत्र अपने ठाकुर पधरा दिए, आसन लगा लिए। अच्छी ठौर देखकर ठहर गये, उनके मन में धन का लोभ कदापि न था। इतने में ही वह वेश्या आभूषणों से लदी हुई बाहर द्वार पर आई। हंसो के समान स्वच्छचित्त वाले दर्शनीय संत को देखकर वह मन में विचारने लगी-आज मेरे कौन-से भाग्य उदय हो गये? जो ये सन्तजन मेरे द्वार पर विराज गये। निश्चय ही इन्हें

मेरे नाम या जाति का पता नहीं है। इस प्रकार सोच-विचारकर वह घर में गई और एक थाल में मुहरें भरकर ले आई। उसे महन्तजी के आगे रखकर बोली-'प्रभो! इस धन से आप अपने भगवान का भोग लगाइये।' प्रेमवश उसकी आंखों में आंसू आ गये।।२५०।।

व्याख्या-वेश्या को प्रसङ्ग सुनो-प्रश्न-भक्तिग्रन्थों में तो विषयीजनों की चर्चा करने का अत्यन्त निषेध किया गया है, फिर वेश्याएँ तो विषयाशक्ति की पराकाष्ठा होती हैं। अतः भक्तों के कथा के बीच वेश्या की कथा क्यों? समाधान-श्रीप्रियादासजी स्वयं कहते हैं-अति रसरङ्ग भर्‍यो। भाव यह कि यह अत्यन्त प्रेम का चरित्र है। भक्ति में सबका अधिकार है। यथा-पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।। वेश्या की कथा भक्तिभाव से ओत-प्रोत है अतः उसे भी वर्णन करते हैं। पुराणों में पिङ्गला, जीवन्ती आदि वेश्याओं की कथाएँ आयी हैं। पिङ्गला को श्रीदत्तात्रेय जी का दर्शन और सत्सङ्ग प्राप्त हुआ, जिससे वह विषयों से विरक्त होकर भगवद्-भजन में लग गई थी। जीवन्ती नाम की वेश्या तोते को श्रीरामनाम पढ़ाती हुई परमपद प्राप्त कर गयी।।

भर्‍यो घर धन-वेश्या का धन अत्यन्त त्याज्य कहा गया है। यथा-अन्त्यजा गणिका राज्ञो यवनाः पापिनश्च ये। तेषामन्नं धनं त्याज्यं व्यवहारे तमो भवेत्।। अर्थात् चाण्डाल वेश्या, राजा, यवन और पापी-इन लोगों का अन्न और धन त्याज्य है। व्यवहार में लेने पर अज्ञान को उत्पन्न करता है। धन की तीन ही गतियाँ हैं-दान, भोग और नाश। जो न देता है और न भोग ही करता है उसके धन का नाश निश्चय है। यथा-दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीयागतिर्भवेत्। वेश्या का धन भी दान और भोग के अभाव में तीसरी कोटि (नाश) का ही था। दान उसका कोई लेता नहीं था और भोग से अधिक था अतः अवशिष्ट को नाश होना था। अतः कहा -ऐपै कौन काम को।। 'चले मग जात जन'-श्रीस्वामीजी रामानन्दाचार्यजी सन्तों की जमात लेकर दक्षिण भारत की यात्रा कर रहे थे। 'ठौर स्वच्छ आई मन'-जल-थल का सुपास पूछने पर कुछ मसखरे लोगों ने वेश्या का बगीचा बता दिया। संतों ने जाकर देखा कि वहाँ की स्वच्छता को देखकर स्थान पसन्द आ गया। 'लोभ नहीं दाम को'-देखिये श्रीजयदेवजी का प्रसङ्ग, कवित्त १५२, 'द्रव्य पकराइ दियो' की व्याख्या। पुनः-लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान। लोभ कभी नहिं कीजिये यामैं नरक निदान।। विद्वानों ने पाप के बाप का नाम लोभ ही बताया है।

दृष्टान्त-एक पण्डितजी का-एक पण्डितजी काशी में पढ़कर आये हुए थे। उन्हें

अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था। एक दिन उनके पिताजी ने पूछा तुमने बहुत वेद-पुराण पढ़ा है, बताओ पाप के बाप का क्या नाम है? पण्डितजी इसका ठोस उत्तर नहीं दे सके तब पिताजी से मोहलत लेकर इस प्रश्न का उत्तर का पता लगाने चले। जितने भी लोगों से पूछते, लोग उतनी ही बातें बताते। प्रश्न सुलझने की जगह उलझता ही गया। एक दिन श्रान्त, क्लान्त, निराश, उदास पण्डितजी एक कुएँ पर बैठे हुए थे। समीप में ही एक वेश्या का मकान था। वेश्या ने झरोखे से देखा एक तेजस्वी ब्राह्मण कुएँ पर उदास बैठा है। उसने नीचे उतरकर उदासी का कारण पूछा-पण्डितजी ने अपना प्रश्न सुनाया वेश्या ने कहा-इसका उत्तर तो मैं दे सकती हूँ लेकिन इसके लिये आपको कुछ दिन रुकना होगा। पण्डितजी ने स्वीकार कर लिया। एक दिन वेश्या ने पंडितजी को प्रचुर-धन का लोभ देकर अपने घर पर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। स्वयं पाकी, परम सदाचारी, कर्मकाण्डी ब्राह्मण ने धन के लोभ में आकर सदाचार को तिलांजलि देकर वेश्या के घर भोजन करना स्वीकार कर लिया। वेश्या का पंडितजी को धर्म से भ्रष्ट करना अभीष्ट नहीं था। उसे तो केवल उनके प्रश्न का उत्तर देना था। अतः उसने हाथ जोड़कर पंडितजी से कहा-महाराज! यही आपके प्रश्न का उत्तर है। देखिये, आप कितने बड़े आचार-विचार वाले ब्राह्मण हैं परन्तु लोभवश आपने अपने चिरसंचित सदाचार को सहज में त्याग दिया। इससे सिद्ध हुआ कि पाप के बाप का नाम है लोभ। अतः लोभ नहीं दाम को। पुनः जिनका मन राम में रमा हुआ है वे भला तुच्छ दाम का क्यों लोभ करने लगे? यथा-रमाविलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।। (रामा०)

दृष्टान्त-हंस और कौओं का-एक जगह बहुत से कौए मांस के टुकड़े खा रहे थे इतने में उन्हें आकाश में उड़ता हुआ हंसों का समुदाय दिखायी पड़ा। वे डर गये। सभी कौए अपने-अपने चंचुपुट में मांस के टुकड़े दबाकर भागने लगे। उनका भय और दुःख देखकर हंसों ने कहा-भाइयों! हम लोग मानसरोवर निवासी हैं, कमलवन में विहार करते हैं, मोती चुगते हैं, नीर-क्षीर विवेक से युक्त है, हमें मांस की किंचित तृष्णा नहीं है। तुम लोग स्वस्थ चित्त से अपना भोजन करो, हम जाते हैं। यह कहकर हंस मांस की ओर देखे भी नहीं, अपने लक्ष्य की ओर उड़ चले। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द में निरन्तर निमग्न रहने वाले संतों-हंसों को भला दाम का क्या लोभ।।

हंस से निहारि सब-संतों को हंस कहा गया है। यथा-जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।। पुनश्च-भरत हंस

रवि वंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष विभागा।। श्रीभरतजी साधु हैं। यथा-तात भरत तुम सब विधि साधु।। (रामा०) 'कौन भाग जागे'-भाव यह कि बड़े-भाग्य से संतों का दर्शन मिलता है। यथा-बड़े भाग पाइय सतसङ्गा। बिनहिं प्रयास होइ भव भङ्गा।। पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सत संगति संसृति कर अन्ता।। (रामा०) 'मुहरनि पात्र भरि'-सन्तों के दर्शन से वेश्या को सात्विक-बुद्धि आ गई। उसने विचार किया कि जाने-अनजाने कैसे भी संत मेरे बाग में आसन लगाये हैं तो उनकी सेवा करना मेरा परम-कर्तव्य है। दृष्टान्त श्रीअजामिलजी का। देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त २३।। 'ढर्‍यो दृग नीर'-अपनी हीनता और सन्तों की कृपा विचारकर।।

पूछी तुम कौन काके भौनमें जनम लियो? कियो सुनि मौन महाचिन्ता चित्त धरी है।
'खोलिकै निसङ्क कहौ सङ्का जिनि मानौ मन, कही 'वारमुखी' ऐपै पांय आय परी है।।
भरो है भण्डार धन करो अंगीकार अजू करिये विचार जोपै तोपै यह मरी है।
एक है उपाय हाथ रंगनाथ जू को अहो कीजिये मुकुट जामें जाति मति हरी है।।२५१

शब्दार्थ-काके = किसके। भौन =घर, कुल। जाति मति = ऊँची-नीची जाति की भेद-बुद्धि। हरी = हरण की, दूर की।

भावार्थ-मुहरें भेंट करती देखकर श्रीमहन्तजी ने पूछा-तुम कौन हो, तुम्हारा जन्म किस कुल में हुआ है? इस प्रश्न को सुनकर वह वेश्या चुप हो गई। उसके चित्त में बड़ी भारी चिन्ता व्याप्त हो गयी। उसे चिन्तित देखकर श्रीमहन्तजी ने कहा कि तुम निःशंक होकर सच्ची बात खोलकर कह दो, मन में किसी प्रकार की शंका न करो। तब मैं वेश्या हूँ ऐसा कहकर वह श्रीमहन्तजी के चरणों में आ पड़ी। फिर संभलकर प्रार्थना की-प्रभो! धन से भंडार भरा हुआ है, आप कृपाकर इसे स्वीकार कीजिये। यदि आप मेरी जाति का विचार करेंगे और धन को नहीं लेंगे, तब तो मुझे मरी हुई समझिये। मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। तब श्रीमहन्तजी ने कहा-इस धन को भगवान की सेवा में लगाने का बस यही एक उपाय मेरे हाथ में है और वह यह है कि-इस धन के द्वारा श्रीरङ्गनाथजी का मुकुट बनवाकर उन्हें अर्पण कर दो। इसमें जाति बुद्धि दूर हो जायेगी। श्रीरङ्गनाथजी उसे स्वीकार करेंगे।।२५१।।

व्याख्या-पूछी तुम कौन-इसलिए कि शास्त्रों में बहुत से लोगों का अन्न, धन त्याज्य कहा गया है। (श्लोक पूर्व आ चुका है।) अतः साधु-पुरुष जाँच-परखकर ही किसी की कोई वस्तु स्वीकार करते हैं अन्यथा बड़ी हानि है। इस पर-

दृष्टान्त-एक सन्त का-एक दिन एक आदमी एक संतजी के यहाँ मिठाई-भोग लगाने के लिए लाया। जब मिठाई को भोग में धरकर भगवान का ध्यान किये तो उन्हें वह गो-मांस दिखाई पड़ा। तब संतजी उस मिठाई लाने वाले को बुलाकर पूछे, तो उसने बताया कि बात यह है कि अनजान में एक गाय की हिंसारूप महापराध के प्रायश्चित्त में एक सोने की गौ एक रहीस ने दान की थी। यह मिठाई उसी के बेच की है। संत समझ गये कि सोने में गाय की भावना करके दान दिया गया था। अतः मिठाई में यह महादोष प्राप्त हुआ है। धोखे में गौवध रूप महापराध पर-

दृष्टान्त-राजा पृषध्रका-यह वैवस्वत मनु के पुत्र थे। इनकी गौसेवा में बड़ी निष्ठा थी। एक दिन रात्रि के समय वीरासन में बैठकर गायों की रक्षा में सावधानीपूर्वक पहरा दे रहे थे। इतने में अचानक गायों के झुण्ड में एक बाघ आ गया। इससे गौशाला में गाय इधर-उधर भागने लगीं। बाघ ने एक गाय को पकड़ लिया। वह बड़े जोर से डकराई। राजा पृषध्र गाय का क्रन्दन सुनकर दौड़कर उसके पास आये। एक तो रात का समय था, दूसरे घनघोर घटा छाई हुई थी अतः स्पष्ट न दिखने के कारण धोखे में पृषध्र ने हाथ में तलवार लेकर गाय का ही सिर काट दिया। बाद में उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। श्रीवशिष्ठजी ने अनजान में हुए इस महापराध के फलस्वरूप राजा को शूद्र हो जाने का शाप दे दिया। राजा ने गुरु का शाप शिरोधार्य करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुए भगवान के श्रीचरण कमलों के चिन्तन में अपना सम्पूर्ण जीवन बिताया और अंत में भगवत्पद को प्राप्त किया।

दूसरा दृष्टान्त-भण्डारा पाने का- बात श्रीवृन्दावन की है। एक बड़े अच्छे संत बड़े ही सदाचारपूर्वक रहते हुए निरन्तर भजन-साधन में लगे रहते थे। भोज-भण्डारों से बहुत दूर रहते थे। एक दिन अपने गुरुतुल्य एक संत ने उनको अपने यहाँ भण्डारे में प्रसाद पाने का आग्रह किया। इच्छा न होने पर भी 'गुरोराज्ञा गरीयसी' को ध्यान में रखकर उनके यहाँ जाकर प्रसाद पाये। परन्तु जब प्रसाद पाकर कुटी में आकर श्रीप्रिया-प्रियतम का ध्यान करने लगे तो उन्हें ध्यान में युगल का साक्षात्कार तो नहीं हुआ उल्टे मांस का लोथड़ा दिखाई पड़ा। कई बार चित्तवृत्ति को स्वस्थ, सावधान करके ध्यान किये परन्तु हर-बार वही बात हुई। तब उनको बड़ी ग्लानि हुई और मन में निश्चय किये कि अब श्रीयमुना में डूबकर शरीर-विसर्जन कर दूँगा। फिर तो वह अनमने से हुए श्रीयमुनाजी की ओर चल ही पड़े। संयोग से मार्ग में उन्हें वे ही संत मिल गये जिनके यहाँ प्रसाद पाये थे। इनको उदास देखकर उन्होंने पूछा। प्रथम तो वे बात को टालमटोल कर दिये परन्तु जब उन्होंने

सौगन्ध दिलाई तो वे सत्य-सत्य सब कह दिये। फिर तो वे संत-भण्डारा देने वाले को बुलाकर डांटकर पूछे तो वे डरकर सब हाल-हवाल कह गये। उन्होंने बताया कि मैं वैद्य हूँ। एक बड़े आदमी की कन्या को अनुचित रीति से गर्भ रह गया था, उसको गिराने में मुझे एक बड़ी धनराशि मिली, उसी का चौथाई भाग मैंने यहाँ भण्डारे में खर्च किया था। तब संत की आँखें खुलीं। उन्होंने उन संतजी को जैसे-तैसे अनुनय-विनय करके मना लिया और वैद्य को बहुत फटकारा। इसी से कहा गया है-जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न। जैसा पीवे पानी। वैसी बोले बानी।। 'अतः पूछी तुम कौन?'

कियो सुनि मौन- इसलिए कि वेश्या की जाति नहीं होती है।यथा-हरिजन, हिजरा, हुरकनी (वेश्या), सती सूरमा सोय। भगवतरसिक अनन्य की, इनकी जाति न होय।। 'महाचिन्ता०'-इसलिए कि बात स्पष्ट होने पर यह मेरा धन तो नहीं ही लेंगे, कहीं मेरी धृष्टता विचारकर क्रुद्ध होकर मुझे शाप न दे दें, फिर तो मेरा उद्धार असम्भव ही हो जायेगा क्योंकि 'विप्रशाप अति घोर।' 'सङ्का जनि मानो मन'-भाव यह कि साधु से कहने में तुम्हारी हानि नहीं होगी। यथा-साधु ते होय न कारज हानी। (रामा०) अतः निशङ्क कहो। ऐ पै आय पाँय परी है-भाव यह कि अब तक तो मैं वेश्या थी परन्तु अब तो मैं आपकी शरण में आ गई हूँ। शरणागत की रक्षा करना परम धर्म कहा गया है। शरणागत का परित्याग महापाप है। यथा-सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पांवर पापमय, तिनहिं विलोकत हानि।। (रामा०) 'एक है उपाय०'-सन्त बड़े असमञ्जस में पड़ गये कि यदि इसका धन नहीं लेते हैं तो इसको मर्मान्तक कष्ट होगा और यदि लेते हैं तो साधु-सदाचार की परिपाटी बिगड़ती है फिर बहुत सोच-विचारकर बोले कि एक उपाय है, परन्तु उसकी सफलता श्रीरङ्गनाथजी के हाथ में है।

विप्रहू न छूये जाको रंगनाथ कैसे लेत? देत हम हाथ तो कौ रहैं इह कीजियै।
कियोई बनाय सब घर कौ लगाय धन बनि ठनि चली थार मधि धरि लीजियै।।
सन्त आज्ञा पाइकै निसङ्क गई मन्दिर में फिरी यौं ससङ्क धिक् तिया धर्म भीजियै।
बोले आप याकों ल्याय आप पहिराय जाय, दियौ पहिराय नयौ सीस मति रीझियै।।२५२

शब्दार्थ-छुये= स्वीकार करें, लें। देत हाथ = आश्वासन और वचन देते हैं। इह = यहाँ। कीजिये = मुकुट बनवाइये। बनि ठनि = श्रृङ्गार से सजकर। धिक् = धिक्कार है। तियाधर्म = स्त्री का मासिकधर्म, रजस्वला। नयौ = झुका।

भावार्थ-वेश्या बोली-भगवन्! जिसके धन को ब्राह्मण छूते तक नहीं हैं, उसके द्वारा अर्पित मुकुट को श्रीरङ्गनाथजी कैसे स्वीकार करेंगे? महन्तजी ने कहा-हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि वे अवश्य ही तुम्हारी सेवा स्वीकार करेंगे। इस कार्य के लिये हम तब तक यहीं रहेंगे, तुम मुकुट बनाओ। वेश्या ने अपने घर का सब धन लगाकर सुन्दर मुकुट बनाया। अपना श्रृङ्गार करके थाल में मुकुट को रखकर वह चली। संतों की आज्ञा पाकर वह वेश्या निःसङ्कोच श्रीरङ्गनाथजी के मन्दिर में गई, पर अचानक ही सशङ्कित होकर लौट पड़ी, अपने को धिक्कारने लगी क्योंकि उससे संयोगवश मासिक धर्म हो गया। वह अपवित्र हो गयी थी, संतों ने सङ्कोच का कारण पूछा-उसने बता दिया कि-मैं अब जाने योग्य नहीं हूँ। श्रीरङ्गनाथजी ने वेश्या की दैन्यता देखकर अपने पुजारियों से कहा-इसे ले आओ और यह अपने हाथ से हमें मुकुट पहनावे। ऐसा ही किया गया, जैसे ही उसने हाथ से मुकुट लेकर पहनाना चाहा, वैसे ही श्रीरङ्गनाथजी ने अपना सिर झुका दिया और मुकुट को धारण कर लिया। इस चरित्र से भक्त-भगवान की मति रीझ गयी। लोग भक्त-भगवान की जय-जयकार करने लगे।।२५२।।

व्याख्या-विप्रहू न छूये-सदाचारी ब्राह्मण बड़े से बड़े कष्ट को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं परन्तु निषिद्ध वस्तु का स्पर्श भी नहीं करते, चाहे वह कैसी ही महत्व की हो, मोल की हो।

दृष्टान्त-शिलोञ्छ वृत्तिवाले ब्राह्मणका- एक बार धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी ने श्रीअर्जुनजी से कहा कि-देखो, राज्य में कोई दीन-दुःखी तो नहीं है? यदि कहीं भी किसी प्रकार का अभाव देखने में आये तो उसे शीघ्र दूर किया जाय। श्री अर्जुनजी राज्य का पर्यटन करने निकले। राज्य में सब लोग सुखी थे। कहीं भी दुःख एवं अभाव का लेश नहीं था। एक जगह श्रीअर्जुनजी ने एक कृशकाय ब्राह्मण को खेत में अन्न के कण बीनते देखा तो उन्हें ब्राह्मण पर बड़ी दया आई। वे उसके समीप जाकर हाथ जोड़कर बोले-हे द्विजश्रेष्ठ! इस समय मेरे बड़े भाई मूर्तिमान धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी राजा हैं। वे बड़े धर्मात्मा हैं, साधु ब्राह्मणों के भक्त हैं। फिर आप इतना कष्ट क्यों उठा रहे हैं? आप राजकोष से इच्छित अन्न-द्रव्यादि आवश्यकता की समस्त सामग्री ले आइये और सुखपूर्वक भजन-साधन कीजिये। इतना सुनते ही वे ब्राह्मण पुङ्गव रोने लगे। बहुत पूछने पर भी रोने का कुछ भी कारण नहीं बताये, केवल रोते ही रहे। तब श्रीअर्जुनजी घबड़ाकर आकर श्रीयुधिष्ठिरजी को समस्त वृतान्त सुनाये। तो वे भी दहाड़ मारकर रोने लगे। तब अर्जुन और घबड़ाये। समस्या सुलझाने के बजाय

और भी उलझ गई। जब बहुत जिज्ञासा करने पर भी श्रीयुधिष्ठिरजी भी कुछ नहीं कहे तब श्रीअर्जुनजी ने भगवान श्रीकृष्ण की शरण ली, परन्तु आश्चर्य! पूर्वोक्त प्रसङ्ग सुनकर श्रीकृष्ण भी रोने लगे। अब अर्जुन की व्याकुलता का पारावार नहीं रहा। वे अत्यन्त दीन होकर भगवान श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने लगे। बहुत देर बाद जब श्रीकृष्ण स्वस्थ हुए तो श्रीअर्जुनजी ने ब्राह्मण के, श्रीयुधिष्ठिरजी के और स्वयं के भी रोने का कारण पूछा। तब श्रीकृष्ण ने कहा-अर्जुन! ब्राह्मण देवता तो इसलिए रोये कि अहो! क्या मैं ऐसा तप से हीन हो गया हूँ कि अब राजा के अन्न पर जीवन निर्बाह करूँ? उन तपोधन को तुम्हारे कथन से बड़ी ग्लानि हुई अतः रोने लगे। श्रीयुधिष्ठिरजी इसलिए रोये कि धिक्कार है राजपने को। जिसका अन्न-द्रव्य साधु-ब्राह्मण स्वीकार ही नहीं करते हैं। मैं व्यर्थ ही राजा हुआ। मैं इसलिए रोया कि आज ऐसा समय है कि राजा के देने पर भी साधु-ब्राह्मण उनका प्रतिग्रह नहीं लेना चाहते हैं और आगे (कलियुग में) ऐसा समय आने वाला है कि राजा रईस लोग याचना करने पर भी नहीं देंगे और साधु-ब्राह्मण धक्का खाने पर भी माँगना नहीं छोड़ेंगे। कथा का तात्पर्य यह है कि विचारवान लोग अग्राह्य को ग्रहण करना तो दूर रहा, छूते भी नहीं, उसकी ओर देखते भी नहीं।

सब घरको लगाय धन- तीन लाख रुपये का मणिजटित स्वर्ण का मुकुट बनवाया 'तियाधर्म'-यथा-प्रथमे चाण्डालिनी ज्ञेया द्वितीये रजका स्मृता। तृतीयस्मिन्दिने शूद्रा स्नात्वा शुद्धा ततो भवेत्।। अर्थ-रजोधर्म होने पर स्त्रियाँ पहले दिन चाण्डालिनी के समान दूसरे दिन धोबिन के समान और तीसरे दिन शूद्र के समान अपवित्र रहती हैं। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होती हैं। वेश्या को अपने दुर्भाग्य पर अत्यन्त आत्मग्लानि हुई। सच्चे हृदय के पश्चात्ताप ने उसके जन्म-जन्म के पाप-पुंज को क्षणमात्र में भस्मसात कर दिया। फलस्वरूप वेश्या को मासिक धर्म होने पर जब पुजारीगण भगवान को मुकुट पहनाने को ले गये तो श्रीरङ्गनाथ भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उसे ही भेजो, हम तो उसी के हाथ से मुकुट धारण करेंगे। यद्यपि पुजारियों ने बहुत कहा कि बड़ी अनीति होगी। एक तो वह वैसे ही वेश्या है उसमें भी रजस्वला, वह किसी भी हालत में आपको स्पर्श करने योग्य नहीं है परन्तु भगवान ने पुजारियों की एक नहीं सुनी। तब पुजारियों ने कहा-अहो भगवान के यहाँ भी बड़ा अन्धेर है। इसी को लक्ष्य करके एक भक्तकवि ने कहा है-मोहिं तो भरोसो एक रावरी अन्धेर को। 'नयो सीस०'-भगवान ने मुकुटके मिस वारमुखी के प्रेम के समक्ष अपना सिर झुकाया। इस प्रसङ्ग में भगवान ने यह भी प्रत्यक्ष दिखा दिया कि कोरा आचार-विचार, बिना

प्रेम के मुझे रिझाने में असमर्थ है। मैं तो प्रेम के आधीन हूँ। वारमुखी की यह कथा संत और भगवन्त की पतित-पावनता का ज्वलन्त उदाहरण है। पतितों के ऊपर इस प्रकार के परमानुग्रह का प्रमाण पुराणों में भी ढूँढ़ने पर मुश्किल से ही मिलेगा। इसी से श्रीनाभाजी अगले छप्पय में कहते हैं कि-और युगन तें कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।।

ब्राह्मण दम्पति

और युगन तें कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।।
बीच दिये रघुनाथ भक्त सङ्ग ठगिया लागे।
निर्जन वन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे।।
बीच दियो सो कहाँ? राम! कहि नारि पुकारी।
आये सारँग पानि शोक सागर ते तारी।।
दुष्ट किये निर्जीव सब दास प्राण संज्ञा धरी।
और युगन तें कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।।५५।।

शब्दार्थ-बीच दिये =मध्यस्थ-साक्षी किये। सारँग पानि = शार्ङ्ग-धनुषधारी श्रीराम। निर्जीव = निष्प्राण, श्वासहीन। प्राण संज्ञा = जीवन, होश।

भावार्थ-सतयुग, त्रेता और द्वापर इन तीनों युगों की अपेक्षा कलियुग में कमलनयन भगवान श्रीराम ने अपने भक्तों पर विशेष-कृपा की है, यह बात इस प्रकार के भक्त-चरित्रों से सिद्ध होती है जैसे कि-एक ब्राह्मणभक्त अपनी पत्नी के साथ ससुराल से आ रहे थे भक्त-दम्पत्ति के साथ ठग लग गये। इन्हें वन के मार्ग से ले चलते समय ठगों ने कहा कि हमारे तुम्हारे बीच में श्रीरघुनाथजी हैं। यदि कोई विश्वासघात करेगा तो वे रक्षा करेंगे। निर्जन वन में जाकर उन अभागे दुष्टों ने यह बड़ा ही बुरा कर्म किया कि-भक्त ब्राह्मण को मार डाला। भक्ता ब्राह्मणी ने रोते हुए पुकारा-जिन श्रीराम को बीच में रखा गया था वे कहाँ हैं, वे ही श्रीराम! रक्षा करें। भक्ता की दीन-पुकार सुनते ही शार्ङ्गधनुषधारी श्रीराम आ गये और शोक-सागर में डूबती हुई भक्ता को उन्होंने उबार लिया। इस प्रकार की कृपा भगवान इस कलियुग में करते हैं।।५५

व्याख्या-कलियुग बहुत कृपा करी-इसलिए कि अन्य युगों के भक्तों की भक्ति की

अपेक्षा कलियुग के भक्तों की भक्ति विशेष है। इसका एक कारण तो यह है कि अन्य युग सत्वयुक्त होने के कारण भक्ति के अनुकूल थे अतः उन युगों में भक्ति करना सुलभ था, परन्तु कलियुग में तो पदे-पदे विघ्न, भय है। इस युग में सत्व का लेश नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।। (रामा०) अतः ऐसे करालकाल में भक्ति करना अति ही कठिन है परन्तु इस विपरीत वातावरण में भी यदि कोई भक्तिभाव कर लेता है तो वह निश्चय ही अन्य युगों के भक्तों से श्रेष्ठ है। दूसरा कारण यह कि अन्य युगों में तो लोग भगवान के रूप-गुण-स्वभाव-प्रभावादि को प्रत्यक्ष देखकर भगवान में प्रीति करते थे, जो कि स्वाभाविक है। परन्तु कलियुग के भक्त तो सन्तों एवं सद्ग्रन्थों के द्वारा भगवान के नाम, रूप, लीला, धर्मादि के तत्व-परत्व को केवल सुनकर केवल चित्रमात्र देखकर ही सर्वस्व परित्यागपूर्वक अनन्यानुराग कर लेते हैं। अतः इनकी भक्ति विशेष है। पुनः अन्य युगों में लोग योग-यज्ञादि का आश्रय लेकर भवसागर से पार होते थे परन्तु कलियुग के भक्त भगवन्नाम के सहारे रहते हैं और श्रीनाम महाराज की ऐसी महिमा है कि सतयुग में दस वर्ष तक जप, तप ब्रह्मचर्यादि साधन करने पर जो फल प्राप्त होता है, वही फल त्रेता में एक वर्ष तक साधन करने पर प्राप्त होता है और वही फल द्वापर में एक मास के साधन से ही प्राप्त हो जाता है। अतः कलियुग के भक्तों पर भगवान विशेष कृपा करते देखे जाते हैं।

श्रीविष्णुपुराण में एक कथा है कि एक बार मुनि-महात्माओं में इस विषय को लेकर विवाद उपस्थित हो गया था कि चारों युगों में कौन युगश्रेष्ठ है और क्यों? नाना मुनियों के नाना मत। श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है-बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो। (वि०) सभी ने अपने-अपने मत प्रकट किये। किसी ने सतयुग को श्रेष्ठ बताया तो किसी ने त्रेता को। किसी ने द्वापर को किसी ने कलियुग को। ऐसे ही साधनों के सम्बन्ध में भी यही विवाद बना रहा। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सभी ने योग, यज्ञ, जप, तप आदि की प्रशंसा की परन्तु निश्चित निर्णय कुछ भी न कर सके। तब सभी मुनि मिलकर इसका निर्णय कराने के लिये भगवान वेदव्यासजी के पास गये। उस समय श्रीव्यासजी पुण्य सलिला गङ्गा में स्नान कर रहे थे। मुनिगण निकट के एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर प्रतीक्षा करने लगे। परम ज्ञानवान श्रीव्यासजी मुनियों के आगमन का कारण जानकर श्रीगङ्गाजी में डुबकी लगाते और कहते जाते कि, हे कलियुग! तुम धन्य हो। हे कलियुग! तुम भले हो।' श्रीव्यासजी का कलियुग के प्रति यह साधुवाद सुनकर सभी मुनि बड़े ही

विस्मित हुए। जब स्नान करके श्रीव्यासजी आश्रम पहुँचे तो मुनिगण भी वहाँ आकर उपस्थित हुए। यथोचित अभिनन्दन-अभिवादनोपरान्त सभी ने आसन ग्रहण किया।

श्रीव्यासजी ने उन लोगों से आगमन का कारण पूछा। आगन्तुक ऋषि बड़े ही विनम्र स्वर में बोले-हे महाज्ञानी महर्षि प्रवर! एक सन्देह की निवृत्ति के लिए हम लोग आपके श्रीचरणों में उपस्थित हुए हैं। परन्तु उस विषय को तो हम बाद में आपके सामने प्रस्तुत करेंगे। पहले हमें यह जानने की प्रबल इच्छा है कि आप स्नान करते समय कलियुग को साधुवाद क्यों दे रहे थे? यदि आप हम लोगों को अधिकारी समझें तो कृपा करके इसका रहस्य समझाकर हमें कृतार्थ करें। तब श्रीव्यासजी ने कहा-यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन च। द्वापरे यच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ।। तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः। प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्।। (वि०पु०) अर्थ-हे ब्राह्मणों! जो फल सतयुग में दस वर्ष तक, त्रेता में एक वर्ष तक और द्वापर में एक मास तक जप-तप-ब्रह्मचर्यादि से मिलता है वही कलियुग में एक दिन-रात में प्राप्त हो जाता है। अतः मैंने कलियुग को साधुवाद दिया। मुनियों ने पूछा-हे प्रभो! सतयुग, त्रेता, द्वापर में इतने दिन परिश्रम करके पूर्वोक्त साधनों द्वारा अति कष्ट पूर्वक जो फल प्राप्त होता है, वही कलियुग में एक दिन-रात्रि में किस साधन द्वारा प्राप्त होता है? तब श्रीव्यासजी बोले-ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चनम्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् (वि.पु.) यही बात श्रीमद्भागवतजी में भी कही गयी है। यथा-कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।। (भा०१२-२-५२) अर्थात् सतयुग में ध्यान द्वारा, त्रेता में यज्ञ के द्वारा, द्वापर में अर्चन (पूजा) के द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुग में वही फल केवल श्रीनाम-सङ्कीर्तन द्वारा प्राप्त होता है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं कि-कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।। (रामा०) इसलिए कलियुग के भक्त भगवन्नाम का ही विशेष आश्रय लेते हैं और इसी से भगवान भी और युगों की अपेक्षा कलियुग के भक्तों पर विशेष कृपा करते हैं।

छप्पय में वर्णित कथा का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-

विप्र हरिभक्त करि गौनो चल्यो तिया संग जाके दूनौ रंग ताकी बात लै जनाइयै।
मग ठग मिले द्विज पूछैं अहो! कहाँ जात? 'जहाँ तुम जात' या मैं मन पत्याइयै।।

पन्थ को छुटाय चाहैं वन में लिवाय जायँ कहैं अति सूधो पैंड़ो उरमें न आइयै।
बोले 'बीच राम' तऊ हिये नेकु धकधकी कहै वह बाम 'श्याम नाम' कहाँ पाइयै।।२५३

भावार्थ-एक भगवद्भक्त ब्राह्मण गौना कराकर अपनी ससुराल से घर को जा रहे थे। साथ में उनकी स्त्री थी जो अपने पति की अपेक्षा दूने प्रेमरंग में रँगी थी, उसी की एक कथा कहते हैं। चलते-चलते रास्ते में इन्हें ठग मिल गये। उनसे ब्राह्मण ने पूछा- तुम लोग कहाँ जा रहे हो? ठगों ने कहा- जहाँ तुम जा रहे हो वहीं हम जा रहे हैं। यह सुनकर ब्राह्मण के मन में उन पर विश्वास नहीं हुआ। ठग लोग रास्ते को छुड़ाकर इन्हें जंगल में ले जाना चाहते थे। इसलिए ब्राह्मण से बोले- इस रास्ते से चलो, यह बिल्कुल सीधा है। ब्राह्मण के मन में यह बात नहीं आई। ठगों के बताये मार्ग से जाने को राजी न हुए। तब ठगों ने कहा आप डरिये मत, हम पर विश्वास कीजिये। हमारे और तुम्हारे बीच में श्रीरामजी हैं। इस प्रकार ठगों के विश्वास दिलाने पर भी ब्राह्मण के हृदय में कुछ शंका रही ही आई। तब उसकी स्त्री ने कहा- इनके साथ ही चलिये, श्रीश्यामसुन्दर का नाम जल्दी कहाँ मिलता है। (नाम और नाम लेने वाले पर विश्वास करना चाहिए।।२५३।।

व्याख्या-जाके दूनो रंग-इसका एक अर्थ तो भावार्थ में आ गया है। दूसरा अर्थ यह भी होगा कि-दूनौ अर्थात पति और परमात्मा- इन दोनों के प्रति परम अनुराग था। मग ठग मिले-जैसे श्रीजयदेव जी एवं श्रीश्रीधरस्वामीजी को मिले थे। देखिये कवित्त १५२, २३४। मन न पत्याइयै-ठग चोर की सौगन्ध पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यथा- बैरी बँधुवा, बा बानिया, ज्वारी चोर लवार। व्यभिचारी रोगी ऋणी नगर नारिको यार।। नगर नारिको यार भूलि परतीति न कीजै। सोहैं सौ-सौ खाइ चित्त में एक न लीजै।। कह गिरिधर कविराय न्यायमें भाख्यो ऐसे। मुखसों हित की कहैं पेट में बैरी जैसे।। अतः ब्राह्मण को विश्वास नहीं हो रहा था उरमें न आइये इसलिए कि ब्राह्मण इस मार्ग से बहुत बार आया गया था। वह जानता था कि ये लोग मुझे गलत मार्ग बता रहे हैं। श्याम नाम कहाँ पाइये-भाव यह कि इन लोगों ने भगवान के नाम को मध्यस्थ बनाया है। भला ऐसा विश्वसनीय और परम-समर्थ संरक्षक कहाँ मिलेगा। चाहे ये कैसे भी हों, भगवान का नाम लिए हैं। अतः हमें शंका-भय छोड़ देना चाहिए। यथा- नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।। (रामा०)

चले लागि संग अब रंग कै कुरंग करौ तिया पर रीझे भक्ति सांची इन जानी है।
गये वन मध्य ठग लोभ लागि मार्‌यो विप्र छिप्र लैकै चले वधू अति विलखानी है।।

देखै फिरि फिरि पाछै, कहै कहा देखै? मार्‍यो तब तो उचार्‍यो देखौं वाही बीच प्रानी है।
आये राम प्यारे सब दुष्ट मारि डारे साधु प्रान दै उबारे हित रीति यों बखानी है।।२५४

शब्दार्थ-रंगकै कुरङ्ग= अच्छा या बुरा। छिप्र = शीघ्र। विलखानी = दुःखी होकर विलाप करना। हित रीति = प्रीतिकी रीति।

भावार्थ-ब्राह्मणी की श्याम-नाम निष्ठा को देखकर ब्राह्मणदेव उस पर अति प्रसन्न हुए और बीच में श्रीराम की उपस्थिति की शपथ रखने वालों पर विश्वास करके उनके साथ चल दिये। इन्होंने मन में निश्चय किया कि-अब ये लोग हमारे साथ चाहे बुरा करें या भला करें, हमें इनसे भय नहीं है, क्योंकि रक्षक श्रीराम बीच में हैं। फिर भक्ति का सच्चा आचरण करना और भक्ति ही सत्य है, इस रहस्य को इसी ने भली-भाँति जाना है। सच्ची भक्ति इस देवी में है, ऐसा विचारकर अपनी पत्नी पर न्यौछावर हो गये। वन के बीच में पहुँचते ही ठगों ने स्त्री के तथा गहनों के लोभ से उस ब्राह्मण को मार डाला और शीघ्र ही उसकी पत्नी को बलात् पकड़कर ले चले। सती-साध्वी-पतिव्रता ब्राह्मणी अपने पति के दुःखद वियोग में विलख-विलखकर रोती जा रही थी।ब्राह्मणी बार-बार पीछे की ओर घूम-घूमकर देख रही थी। ठगों ने फटकार कर पूछा-अब पीछे किसको देख रही हो, तुम्हारे पति को तो हमने मार डाला है, उसकी आशा छोड़ो। यह सुनकर वह भक्ता बोली- मैं उसे ही देख रही हूँ, जिसे तुमने अपने और हमारे बीच में रखा था। इसी बीच सहसा धनुष-बाण धारी प्राण प्यारे श्रीराम आ गये। दुष्टदलन प्रभु ने सभी ठगों को मार डाला और उस ब्राह्मण भक्त को जीवित कर दिया। सङ्कट-सागर में डूबते हुए ब्राह्मण दम्पति को बचा लिया। इस कथा में प्रभु ने प्रेम करने की रीति और भक्त-भगवान की आपसी प्रीति करने की रीति का वर्णन किया गया है।।२५४।।

व्याख्या-चले लागि संग-भगवान के नाम पर विश्वास करके चले कि श्रीनाम महाराज हमारी रक्षा करेंगे। कहा भी गया है-जो है जाके आसरे, ताही के सिर भार। करुई हरुई तोमरी, खेइ लगावै पार।। अर्थात् अत्यन्त हल्की कड़वी तूँबी भी आश्रित को खेकर पार लगा देती है तो परम-समर्थ श्रीराम-नाम जरूर इस विपत्ति वारिधि से पार लगावेंगे। 'आये राम प्यारे'-ब्राह्मणी ने आर्तस्वर से श्रीराम को पुकारा-' महाराज बलि जाउँ राम सेवक-सुखदायक। महाराज बलिजाउँ राम सुन्दर सब लायक।। महाराज बलि जाउँ राम सब सङ्कटमोचन। महाराज बलिजाउँ राम राजीव विलोचन।। बलि जाउँ राम करुणायतन प्रनतपाल पातक हरन। बलिजाउँ राम कलिभय विकल तुलसिदास राखिय सरन।।

(क०) फिर तो जैसे गज और द्रौपदी की पुकार पर तत्काल दौड़े आये थे वैसे ही ब्राह्मणी की टेर सुनकर श्रीराम जी तत्काल आये। इसी से कहा गया है-रहिमन कोऊका करै ज्वारी चोर लवार। जो पति राखनहार हैं, माखन-चाखनहार।। पुनः-कोटि विघ्न सिर पर रहैं, कोटि दुष्टको साथ। तुलसी कछु नहिं करि सकैं, जो सहाय रघुनाथ।। 'दुष्ट मारि डारे' भक्त द्रोही को भगवान क्षमा नहीं करते हैं-जो अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई।। (रामा०) पुनः-रामचरण जो सन्त संग, करै बैर परिहास। त्रिभुवन नृप प्रह्लाद पितु बेगि कीन्ह प्रभु नास।।

वेषनिष्ठ एक राजा

एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति।।
तिलक दाम धरि कोय ताहि गुरु गोविन्द जानै।
षट्दर्शनी अभाव सर्वथा घट करि मानै।।
भांड़ भक्त कौ भेष हांसि हित भड़कुट ल्याये।
नरपति कै दृढ़ नेम ताहि ये पांव धुवाये।।
भांड़भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति।
एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति।।५६

शब्दार्थ-षट्दर्शनी =षड्दर्शन शास्त्र यथा-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसा और योग, इनका ज्ञाता, ज्ञानी। अभाव = अनुरागरहित, अनादर। घट = कम, न्यून। हांसि हित = हँसी करने के लिए। भँड़कुट = भांड़ों की जमात।

भावार्थ-एक राजा परम-भागवत था, उसकी कथा सुनते ही भगवान में भक्ति होती है वह ऐसा वेषनिष्ठ था कि-जो कोई भी तिलक और कण्ठी धारण करता, उसे गुरुदेव और भगवान के समान मानता था। कोई कैसा भी षट्दर्शन का ज्ञाता क्यों न हो पर राजा उसे वैष्णव-भक्त से छोटा ही मानता था। एक बार भांड़ों ने हँसी करने के लिए तिलक कण्ठी पहनकर भक्तों का-सा वेष बनाया। जमात लेकर राजा के यहाँ पहुँचे। राजा का यह पक्का नियम था कि-वैष्णवों की भगवान के समान पूजा करना। उसी के अनुसार राजा ने भांड़ों के चरण धोये। उन्होंने भी सहर्ष धुलवाया। राजा की भक्ति का दर्शन और स्पर्श पाकर इन सब के हृदय में भक्ति उत्पन्न हो गई। भांड़ों ने दृढ़तापूर्वक वैष्णववेष को धारणकर

लिया, फिर कभी उसका त्याग नहीं किया। मनोरञ्जन में भक्त के दर्शन-स्पर्श का यह फल प्राप्त हुआ।।५६।।

व्याख्या-एक भूप'''हरि होय रति-देखिये पृष्ठ ६९, छप्पय ३३, आचारज जामातकी कथा सुनत हरि होय रति।। 'तिलकदाम'''गुरुगोविन्द जानै'-वैसे सभी सन्तों को गुरु और गोविन्दरूप कहा गया है। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५८, दोहा १, 'चतुरनाम वपु एक' की व्याख्या। परन्तु सबमें गुरु-गोविन्दवत् प्रीति होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। देखिये कवित्त ११० में श्रीलालाचार्यजीका प्रसङ्ग। फिर केवल वेषमात्र को देखकर उनमें गुरु-गोविन्दवत् प्रीति करना तो बहुत ही कठिन है। परन्तु उन भागवत राजा की वेषमात्र में ऐसी प्रीति थी। यह उनकी विशेष-भक्ति है। 'षट्दर्शनी अभाव' -भाव यह कि राजा केवल विद्या को महत्व नहीं देते थे। षड्दर्शनाचार्य होने पर भी यदि वह भक्तिरहित है तो राजा उसे उतना मान नहीं देते थे जितना कि एक वैष्णववेषधारी को। चाहे वह अति नीच एवं एकदम अपठित ही क्यों न हो। शास्त्रसम्मत भी यही है। यथा-माला-तिलक संचिह्नैः संयुक्तो यः प्रदृश्यते। चाण्डालोऽपि महीपाल पूजनीयो न संशयः।। (अर्थ स्पष्ट है) हांसि हित- इसलिए कि राजा इन सभी को कुछ भी नहीं मानता-जानता था। 'भांड़भेष गाढ़ो गह्यो'-इस पर दृष्टान्त कालू धीमर का तथा राजकन्या और श्वपच का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २८८ 'दरस परस उपजी भगति'-भक्तों के दर्शन-स्पर्श से भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। यथा-रघुपति भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रय ताप सोक भयहारी।। बिनु सत्सङ्ग भक्ति नहिं होई। ते तब मिलै द्रवैं जब सोई।। जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु सङ्गति पाइयै । जेहिं दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइयै।। जिनके मिले दुख-सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोधते सहजहिं गये।। सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुवीर चरन लव लागै।। देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निजस्वरूप अनुरागै।। (वि०)

राजा भक्तराज डोम भांड़ कौ न काज होय भोय गई याको धन हरीको न दीजियै।
आये भेष धारि लै पुजाय नाचैं दैकै तारि नृपति निहारि कही यों निहाल कीजियै।।
भोजन कराये भरि मुहरनि थार ल्याये आगे धरि विनय करी अजू यह लीजियै।
भई भक्ति रासि बोले आवै बास भावै नाहिं बाहिं गहि रहैं कैसै चले मति भीजियै।।२५५

शब्दार्थ-डोम =राजपूताने के एक नाचने-गाने वाली जाति के लोग। भांड़ =विदूषक,

नकलची। भेष = साधुवेष। पुजाय = अपनी पूजा करवाकर। तारि = ताली। बास = दुर्गन्ध, बदबू।

भावार्थ-एक राजा भगवान का बहुत बड़ा भक्त था। इसलिए वह नाचने-गाने वालों और विदूषकों को धन नहीं देता था। उसके मन में यह बात जम गई थी कि -सम्पत्ति सब भगवान की है (और मेरी सम्पत्ति तो भगवान ही हैं)इसलिए भक्ति विमुख को धन नहीं दे सकता हूँ। भांड़ों ने राजा को ठगने का विचार किया, साधुओं का-सा वेष बनाकर राजा के यहाँ आये। उन्होंने राजा से अपनी पूजा कराई। उसके बाद तालियाँ बजा-बजाकर (कीर्तन करते हुए श्रीठाकुरजी के सामने) नाचने लगे। वेषभक्त राजा ने इन्हें प्रेममग्न देखकर कहा-धन्य है? आप लोगों ने आज हमें दर्शन देकर निहाल कर दिया। राजा ने वेषधारी भांड़ों को प्रेम से भोजन करवाया और मुहरों से भरा थाल लाकर उनके सामने रख दिया। प्रेम से राजा ने प्रार्थना की-भगवन! यह भेंट स्वीकार कीजिये। राजा की वेषनिष्ठा और भक्ति को देखकर उन भांड़ों के हृदय में भी भक्ति उत्पन्न हो गई।वे बोले- इस धन में से दुर्गन्ध आ रही है यह हमें अच्छा नहीं लगता है, वास्तव में सच्चा धन तो भगवत्प्रेम है। यह कहकर वे चलने लगे, राजा ने उनकी बाँह पकड़कर पूछा-क्यों चल दिये और ठहरिये। इन्होंने कहा-अब हमारी बुद्धि भक्तिरस से भीग गई है अतः हमें जाने दीजिये (कहीं एकांत में भजन करेंगे)।।२५५।।

व्याख्या-राजा भक्तराज-राजा का तो भक्त होना ही दुर्लभ है। यथा-'दुर्लभो वैष्णवो राजा' और यह तो भक्तराज थे। यह विशेष बात है। जो भगवान में प्रीति करे वह भक्त कहा जाता है और जो भगवान के भक्तों में प्रीति करे वह भक्तराज। 'डोम भांड़ को न काज'-भाव यह कि राजा लोग अपनी रजोगुणीवृत्ति के कारण प्रायः प्रशंसा-प्रिय होते हैं। अतः अपने प्रशंसक डोम-भाड़ों का बड़ा सम्मान करते हैं, उन्हें बहुत-बहुत धनमान प्रदान करते हैं। परन्तु ये तो महाभागवत थे। साधु-पुरुष अपनी बड़ाई सुनना भी नहीं चाहते। यथा-निजगुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।। (रामा०) अतः ये खुशामदी लोगों से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। 'धन हरी को'-भाव यह कि ये निरन्तर यह अनुसन्धान करते रहते थे कि-सम्पति सब रघुपति कै आही।। (रामा०) मैं तो भगवान का एक मुनीममात्र हूँ। जैसे मुनीम मालिक की सम्पूर्ण धनराशि का हिसाब-किताब, संवर्द्धन-संरक्षण अपने हाथ में रखता है, व्यापार करता है, मुनाफा कमाता है। परन्तु यह सब करके भी उस धन को अपना नहीं मानता है। केवल वेतनमात्र को अपना समझता है। धन को तो मालिक का

ही समझता है। उसी प्रकार राजा भी सब राजकाज सँभालते हुए भी सब सम्पत्ति श्रीरघुनाथजी की ही समझते थे अतः अपने तो केवल जीवन-निर्वाहमात्र प्रयोजन रखते हुए समस्त धन भगवान और भगवान के भक्तों की सेवा में लगाते थे।

नाचैं देकै तारि- **यद्यपि भांड़ों ने साधुवेष धारण किया था। राजा ने पूजा भी की। परन्तु राज-दरबार में पहुँचते ही उन्हें साधु-स्वांग की सुधि नहीं रह गई। वे अपने भांड़पने में भूलकर ताली बजा-बजाकर नाचते हुए राजा का गुनगान करने लगे। राजा समझ गये कि ये साधु नहीं हैं, ये तो भांड़ हैं। तभी तो कहा गया है-लखि सुवेष जग वंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजअहिं तेऊ।। उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू।। (रामा०)परन्तु राजा चूँकि वेषनिष्ठ थे अतः साधुओं की ही तरह उनका भी सम्मान किये। आवै बास-राजा परम भागवत था अतः उसके दर्शन और स्पर्श से भांड़ों में ज्ञान-वैराग्य और भक्ति का उदय हो गया। हृदय में भक्ति का अभ्युदय होते ही भाड़ों को मुहरों में दुर्गन्ध आने लगी। इस पर-**

दृष्टान्त-राजा और सन्त का-**कोई भक्तराज एक महात्मा की पर्णकुटी पर जाया करते थे। किसी उत्सव विशेष पर राजा ने सोने के थाल में मुहरें भरकर सन्तजी को भेंट किया। महात्मा ने तुरन्त नाक बन्दकर लिया और बोले-राजन्! तुमने ये क्या बला मेरे सामने रख दी। इसमें से तो बड़ी दुर्गन्ध आती है। जल्दी इसे यहाँ से हटाओ। राजा ने कहा महाराज! यह तो द्रव्य (स्वर्ण) है भला इसमें दुर्गन्ध कहाँ? सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण सुगन्धियां धन में निवास करती हैं। इसके बाद राजा ने अपने सङ्ग के मनुष्यों से पूछा कि क्या तुम लोगों को भी इसमें से दुर्गन्ध आती है? सबने कहा-हमें तो कोई दुर्गन्ध नहीं आती है। फिर तो राजा ने महात्माजी से इसका रहस्य समझाने की प्रार्थना की। महात्माजी ने कहा-कल आना समझा देंगे। दूसरे दिन राजा जब कुटी पर आये तो पता चला कि संतजी तो चमारों के गांव में गये हैं। राजा ने विचार किया कि महात्मा हैं, न जाने किस मौज में हैं, चलो वहीं चलें। राजा भी वहीं चले गये। इत्र-फुलेलों की महँकती दुनिया में रहने वाले राजा के वहाँ पहुँचते ही मारे दुर्गन्ध के उसकी नाक फटने लगी। उन्होंने महात्मा से कहा-महाराज! आप यहाँ कहाँ आ गये। यहाँ तो दुर्गन्ध के मारे एकक्षण भी खड़ा नहीं रहा जाता। जल्दी चलिये। महात्माजी बोले-तुम्हीं को दुर्गन्ध आती है? देखो चमारों के घरों की ओर। सब लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने काम कर रहे हैं, खा-पी रहे हैं, हँस-खेल रहे हैं। उन्हें किंचित् मात्र भी दुर्गन्ध नहीं आ रही है फिर तुम क्यों इतना नाक-भौंह सिकोड़ते हो। इसके बाद**

महात्माजी ने दो-चार चमारों को बुलाकर राजा के सामने ही पूछा-कि तुम लोगों को दुर्गन्ध नहीं आती है? चमारों ने कहा-महाराज! हमें तो कुछ भी मालूम नहीं पड़ती है। राजा ने कहा-भगवन्! चमड़ा कमाते-कमाते तथा चमड़े में रहते-रहते इनका अभ्यास हो गया है। इनकी नाक ही ऐसी हो गई है कि इन्हें चमड़े की दुर्गन्ध नहीं आती है। महात्मा ने हँसकर कहा-राजन्! यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार रात-दिन विषय-भोगों में सने रहने से तुम लोगों को भी उनमें दुर्गन्ध नहीं आती, तुम्हारा अभ्यास हो गया है। परन्तु मुझको तो उन्हें देखते ही उल्टी-सी आती है इसी से मैं तुम्हारे इस द्रव्य को देखना भी नहीं चाहता। राजा ने रहस्य समझ लिया। इसी प्रकार भांड़ों को भी मुहरों में वास आने लगी। मति भीजिये-यह वैष्णव-वेष एवं भागवत राजा के सत्सङ्ग का प्रभाव है। ऐसे ही हंस-भक्तों को पकड़कर लाने वाले व्याधों ने भी सदा के लिए वैष्णव-वेष को धारण कर लिया। उनकी भी मति भाव-भक्ति में भीज गई। देखिये कवित्त २१८।।

अन्तर्निष्ठ नृपाल

अन्तरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिंन धुजी।।
हरि सुमिरन हरि ध्यान आन काहू न जनावै।
अलग न इहि विधि रहै अङ्गना मरम न पावै।।
निद्रावस सो भूप बदन तें नाम उचार्‌यो।
रानी पति पर रीझि बहुत बसु तापर वार्‌यो।।
ऋषिराज सोचि कह्यो नारिसों आज भक्ति मेरी कुजी।
अन्तरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिंन धुजी।।५७।।

शब्दार्थ-अन्तरनिष्ठ =अन्तर=भीतर, हृदयमें + निष्ठा = श्रद्धाभक्ति है जिसके। धुजी = ध्वजी, निशान-चिह्न वाला। अंगना = स्त्री। मरम = मर्म, भेद। वसु = धन। सोचि= शोच-विचार करके। कुजी = लुटी जाती रही।

भावार्थ-एक राजा अन्तर्निष्ठ (गुप्त भक्त) था। उसने हरिभक्ति की ध्वजा नहीं रखी थी अर्थात् बाह्य चिह्न कंठी-तिलक आदि को नहीं धारण करता था। भगवान का स्मरण और ध्यान निरन्तर करता था। पर किसी को जनाता न था। कोई नहीं जानता था कि-राजा भक्त है। वह अपनी पत्नी-परिवार या कर्मचारियों से अलग नहीं रहता था।

किन्तु नाम-जप-ध्यान आदि इस प्रकार करता था कि-उसकी स्त्री भी नहीं जान पाती थी। (अतः वह राजा को अभक्त जानकर मन-ही-मन दुःखी रहती थी) एक दिन शयन करते हुए राजा ने मुख से अचानक ही भगवान के नाम का उच्चारण किया। इससे राजा को परमभक्त मानकर रानी बहुत प्रसन्न हुई। बहुत-सा धन राजा पर न्यौछावर कर दिया। राजा ने रानी से इस प्रसन्नता का कारण पूछा, तो रानी ने बताया-आपने सोते समय नाम लिया, इसी से प्रसन्नता हुई। इस पर उस राजर्षि ने शोक करते हुए अपनी रानी से कहा-आज मेरी भक्ति प्रगट हो गई अतः लुट गई। (अब मैं जीवित नहीं रह सकता हूँ)।।५७।।

व्याख्या-अन्तरनिष्ठ-महारामायण में लिखा है कि-अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते।। अर्थात् जो अन्तर (मन में) भगवान का नाम जपते हैं वह जीवन्मुक्त हो जाते हैं। अतः राजा अन्तर्निष्ठ थे। पुनः-श्रीभगवन्नाम को सारातिसार जानकर प्रकट नहीं करते थे। शास्त्रों की ऐसी ही आज्ञा भी है। यथा-गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा।। अर्थात् भगवद्-तत्त्व सर्वदा परमगोपनीय है। इसी से श्रीशुकदेवजी ने इतने बड़े भागवत पुराण में एक बार भी स्पष्टतया श्रीराधानाम नहीं लिया है। यथा-श्रीशुक प्रकट कह्यो नहीं याते जानि सारको सार।। (व्यासवाणी) अतः अन्तर्निष्ठ…। 'नाहिंन धुजी'-भाव यह कि राजा अपनी परम गुह्यतम भक्ति को प्रकट होने के भय से किसी प्रकार का भक्ति का बाह्य चिह्न नहीं धारण करते थे। कुछ अभाव वा अविश्वासवश न धारण करते हों सो बात नहीं। पुनः दूसरी बात यह भी कि आंतरिक भक्ति के अभाव में केवल भक्ति-ज्ञान की दिखावटी ध्वजामात्र धारण करना श्रेयस्कर भी नहीं है, बल्कि उपहासास्पद है। इस पर-

दृष्टान्त-घट ही में गङ्गा का- एक गाँव में एक वैष्णव संत के सत्सङ्ग से सब लोग वैष्णव हो गये थे। वहाँ एक बार एक कोरे ब्रह्मज्ञानी पहुँच गये। वहाँ के लोगों को भगवान की सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन में मग्न देखकर ज्ञानीजी ने उनको उपदेश देना प्रारम्भ किया कि आप लोग क्यों व्यर्थ के प्रपञ्च में पड़ते हैं, अरे घट में ही गङ्गा हैं, घट में ही यमुना हैं, घट में ही राम-कृष्ण हैं, अतः इन बाह्य उपचारों की कोई आवश्यकता नहीं। आत्मा को जानो पहचानो और उसी का चिन्तन करो। फिर हमारी तरह जीवन्मुक्त हो जाओ। कतिपय वैष्णवों ने ज्ञानी जी से भक्ति की महिमा का भी वर्णन किया। परन्तु वे तो जबरदस्ती अपना ही सिद्धान्त सबके मत्थे थोप रहे थे तब एक वैष्णव ने ज्ञानीजी को उपदेश देने की ठानी। गर्मी का दिन था। उनको अपने घर पर भिक्षा के लिये आमंत्रित किया। खूब खारा, चरपरा

सामान बनवाया। मकान की दूसरी मंजिल पर पाने के लिये ज्ञानीजी का आसन लगाया और भोजन तो परोस दिया परन्तु जल नहीं परोसा। ज्ञानीजी जब खाने में जुट गये तो वह ऊपर की सांकल लगाकर नीचे चला आया। थोड़ी देर बाद ज्ञानीजी को प्यास लगी, जल नदारद था, अतः चिल्ल पों मचाने लगे। जब बहुत ही व्याकुल होने लगे तब उस वैष्णव ने नीचे से आवाज दी-महाराज! आपके तो घट में ही गङ्गा-यमुना हैं, आप उसी में से जल पी लीजिये, क्यों इतना क्लेश कर रहे हैं। तब ज्ञानीजी ने कहा-अरे भइया! वह तो केवल कहने की बात रही, उससे प्यास नहीं बुझने वाली है। जल्दी से जल पिलाओं नहीं तो मेरे प्राण निकल जायेंगे। तब वैष्णव ने उनको जल पिलाया और उपदेश दिया कि केवल ज्ञान का विज्ञापन छोड़कर हृदय से भगवान की भक्ति कीजिये, इसी में जीव का कल्याण है।

दूसरा दृष्टान्त-वैष्णव वणिक और मिथ्या ब्रह्मज्ञानी का-**एक बार ये दोनों गङ्गा स्नान करने को चले। वणिक तो वैष्णव था अतः उसने सङ्ग में श्रीठाकुरजी को लिया और श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा का, राग-भोग का सामान संग में लिया और ज्ञानीजी तो स्वयं ब्रह्म थे। अतः हाथ हिलाते हुए साथ-साथ चल रहे थे। रास्ते में ज्ञानीजी ने उपदेश झाड़ना प्रारम्भ किया कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड के अंदर ही सब कुछ है अतः बाह्य संग्रह-परिग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम क्यों इतना भार ढो रहे हो। आत्मा का चिन्तन करो, आदि। कुछ दूर जाने पर ज्ञानीजी को भूख लगी तो उन्होंने वणिक से खाने-पीने का सामान लाने को कहा-तब वणिक ने कहा-महाराज! आपके तो पिण्ड-ब्रह्माण्ड में ही सब भरा है। फिर बाहर से कुछ क्यों मँगा रहे हैं। तब ब्रह्मज्ञानी जी बोले-अरे बाबा, यह तो केवल ऊपर फट्टू कहने की बात थी, भूख तो अन्न से ही जायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्निष्ठ राजा इस प्रकार से केवल भक्तिज्ञान का दिखावा मात्र करने वाले नहीं थे। अतः कहा-'नाहिंन धुजी।'**

काहू न जनावै-**राजा ने अपने प्रेम को ऐसा छिपाया कि अन्य की कौन कहे, अपनी अर्द्धांगिनी भी नहीं जान पाई। प्रेम-तत्त्वदर्शी आचार्यों का आदेश भी यही है। यथा-जो पै कृष्ण प्रेम धन पैयै। राखि गुप्त नहिं प्रकट जनैयै।। कृष्ण प्रेम धन पाइकै, प्रगट न कीजै बाल। राखिय उर यों गोइ कै, ज्यों मणि राखत व्याल।। (व्रजविलास) जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि कहि न सुनाव। अन्तर्यामी जानिहैं, अन्तर्गतका भाव।। सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय। ओठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय।। पुनः-प्रभु तो बिना जनाय ही जान जाते हैं और लोक को जानने से हानि ही हानि है। यथा-प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये।। लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन**

दाहु।। (रामा०) इसलिए साधु पुरुष सदा अपने को छिपाये रहते हैं, इसी में इनकी कुशल भी है। यथा-सदा रहहिं अपनपौ दुराये। सब विधि कुसल कुवेष बनाये।। जानने वाले तो वस्तुतः अनजान होते हैं। यथा-डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।। (प्रेम सरोवर) 'अलग न इहि विधि रहैं' इसके दो अर्थ-१. पत्नी से अलग नहीं रहते थे, भाव यह है कि जैसे पत्नी भक्त थीं, वैसे ही ये भी भक्त थे परन्तु वह इस मर्म को नहीं जानती थी। २. आंतरिक स्मरणपूर्वक भगवान से अलग नहीं रहते थे। कथा का स्पष्टीकरण आगे के कवित्तों में है।

तिया हरिभक्त कहै 'पति पै न भक्त पायो' रहै मुरझायो मन सोच बढ्यो भारी है।
मरम न जान्यो निशि सोवत पिछान्यो भाव विरह प्रभाव नाम निकस्यो बिहारी है।।
सुनत ही रानी प्रेमसागर समानी भोर सम्पति लुटाई मानो नृपति जियारी है।
देखि उत्साह भूप पूछ्यो सो निबाह कह्यो रह्यो तन ठौर नाम जीव यों विचारी है।।२५६

शब्दार्थ-मुरझायो = उदास भयौ। मरम = भेद, रहस्य। जियारी = जीना, जीवन। उत्साह = मङ्गल उत्सव। निबाह = निर्वाह, कार्यसम्पादन, पालन।

भावार्थ-राजा (अन्तर्निष्ठ) की स्त्री बड़ी भक्तिमती थीं, पर उसका मन सदा उदास ही रहता था कि-मैंने भक्तपति नहीं पाया। उसका यह शोक बहुत बढ़ गया। रानी अपने पति की भक्ति के भेद को नहीं जानती थी। एक दिन रात में राजा को स्वप्न में विरह-वेदना का अनुभव हुआ और आर्त स्वर से 'हा विहारी!' ऐसा नाम मुख से निकला। तब रानी ने राजा के प्रभाव को पहचाना। (और मन में कहा-अरे! ये तो परमभक्त हैं) राजा के मुख से भगवान का नाम सुनते ही रानी प्रेमसागर में डूब गईं। प्रातःकाल होते ही बड़ा भारी उत्सव मनाया, बहुत सी सम्पत्ति लुटा दी। रानी ऐसी प्रसन्न हुई थीं, मानो राजा को नया जीवन प्राप्त हो। महलों में उत्सव देखकर राजा ने रानी से पूछा-तो सब बात कह सुनाई। राजा का शरीर उसी स्थान पर गिर गया। राजा ने विचारा कि-भगवन्नाम ही हमारे प्राण और जीवन थे वे जब मुख से निकल गये, मेरी भक्ति प्रकट हो गई तो अब रह ही क्या गया। यह विचारकर उन्होंने प्राण त्याग दिये।।२५६

व्याख्या-मन सोच बढ्यो०- रानी को यह भ्रम था कि राजा अभक्त हैं अतः वह बहुत चिन्तित रहती थीं। क्योंकि भक्त नरक का निवास सहर्ष स्वीकार कर लेता है, सभी दुःसह दुःख भोगने को सदा तैयार रहता है परन्तु अभक्त का तो वह सङ्ग करने की कौन कहे, मुख भी नहीं देखना चाहता। देखिये कवित्त ६३४। अतः सोच बढ्यो। 'भाव विरह प्रभाव

नाम निकस्यो'-यथा-हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज। दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।। (भा० १०-३०-४०)अर्थ-(महारास में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर श्रीराधिकाजी अत्यन्त विरह-व्याकुल होकर क्रन्दन करती हैं-) हा नाथ! हा रमण! हा महाभुज! तुम कहाँ हो? मेरे सखा! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्य का अनुभव कराओ-मुझे दर्शन दो। ऐसे ही राजा भी विरह में विलाप कर उठे। मानों नृपति जियारी है-भगवद् विमुख को मृतकवत् कहा गया है। यथा-जिन्ह हरि भक्ति हृदय नहिं आनी। जीवत शव समान तेइ प्रानी।। कौल कामबस कृपन विमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।। सदा रोगबस सन्तत क्रोधी। विष्णु विमुख श्रुति सन्त विरोधी।। तनु पोषक निन्दक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी।। पुनः-राम हैं मातु पिता सुत बन्धु औ सङ्गि सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौंह भरोसो है रामको राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही।। जीअत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही। सोई जियै जगमें तुलसी न तु डोलत और मुए धरि देही।। (क०)

रानी राजा को विमुख समझती थीं अतः मृतकवत् मानती थीं। आज राजा के मुख से भगवन्नाम सुनी तो उन्हें ऐसा लगा मानो राजा ने नया जन्म पाया हो। अतः जन्म के समय जैसे उत्सव मनाया जाता है, बधाई बाँटी जाती है, वैसा ही उत्सव रानी ने मनाया। 'रह्यो तन ठौर'-राजा ने तीन बार पूछा कि मेरे मुख से भगवान का नाम निकल गया? रानी ने तीनों बार-हाँ कहा। राजा ने 'हा विहारीजी' कहकर तत्काल शरीर छोड़ दिया। 'नामजीव यौं विचारी है' -राजा श्रीभगवन्नाम को ही अपना प्राण-जीवन समझते थे, जैसे श्रीशिवजी। यथा-श्रीरामनामाखिल मन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्।। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५१) अतः नाम का निकलना उन्होंने प्राणों का ही निकलना समझा। श्रीदशरथजी महाराज ने तो श्रीराम के वियोग में शरीर छोड़ा था परन्तु इन्होंने तो श्रीनाम के वियोग में प्राण छोड़ दिया।

देखि तन त्याग पति भई और गति याकी ऐसे रतिवान मैं न भेद कछु पायो है।
भयो दुःख भारी सुधि-बुधि सब टारी तब नेकु न बिचारी भावराशि हिये छायो है।।
निशिदिन ध्यान तजे विरह प्रबल प्रान भक्ति रसखान रूप कापै जात गायो है।
जाके यह होय सोई जानै रस भोय सब डारै मति खोय यामैं प्रगट दिखायो है।।२५७

भावार्थ-पतिदेव ने शरीर त्याग दिया, यह देखकर रानी की दशा अति विह्वल हो गई। वह अपने मन में बार-बार यह विचार कर शोक करने लगी कि-ऐसे महान् प्रेमी

मेरे पतिदेव थे, उनके प्रेम के रहस्य को मैं थोड़ा भी कभी न पहचान-जान सकी। रानी को महान् दुःख हुआ। उसकी सुध-बुध खो गई । उसके संसारी विचार समाप्त हो गये। प्रेम के भाव की राशि हृदय में भर गई। अन्न-जल का परित्याग कर दिन-रात अपने पतिदेव के ध्यान में रहने लगीं। पति भगवान के महाविरह में रानी ने भी प्राण त्याग दिये। भक्ति का स्वरूप रस की खानि है, उसका वर्णन कोई कैसे कर सकता है। जिस भाग्यशाली के हृदय में यह प्रकट हो जाती है, वही रस में सराबोर होकर इसे जान सकता है। प्रेमाभक्ति के सामने बुद्धि का विलास जाने कहाँ खो जाता है। यह बात इन भक्तों के चरित्रों को पढ़ने-सुनने एवं मनन करने से स्पष्ट दिखाई पड़ती है।।२५७।।

व्याख्या-भक्ति रसखान-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६७, भक्ति रसरूपको स्वरूप। रूप कापै जात गायो है देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८९, गाऊँ राम-कृष्ण नहिं पाऊँ भक्ति दावँ को। जाके यह होय सोई जानै-यथा-भगवतरसिक रसिक की बातैं रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।। पुनः-मारग प्रेमको को समझै 'हरिचन्द' यथारथ होत यथा है। लाभ कछु न पुकारन में बदनाम ही होने की सारी कथा है।। जानत है जिय मेरो भली विधि और उपाय सबै बिरथा है। बावरे हैं व्रजके सिगरे मोहिं नाहक पूछत कौन विथा है।।

गुरु गदित वचन शिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो।।
अनुचर आज्ञा मांगि कह्यो कारज को जैहौं।
आचारज इक बात तोहिं आये तैं कहिहौं।।
स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयौ।
गुरु की गिरा विश्वास फेरि शव घर मैं ल्यायौ।।
शिषपन साँचो करन कों विभु सबै सुनत सोई कह्यौ।
गुरु गदित वचन शिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यौ।।५८।।

शब्दार्थ-गदित =कथित, कहा हुआ। गाढ़ो = दृढ़ता (से) गह्यौ = धारण किया। अनुचर = शिष्य। आचार्य = गुरुदेव। समाय = भगवत् प्राप्तभे, मर गये। शिषपन = शिष्य प्रतिज्ञा। विभु =सर्वव्याप्त।

भावार्थ-श्रीगुरुदेव के द्वारा कहे हुए वाक्यों को शिष्य ने पूर्ण सत्य माना और उनमें दृढ़ विश्वास किया। गुरुदेव की आज्ञा को दृढ़ता से स्वीकार कर जीवन-भर पालन किया। एक बार शिष्य ने गुरुदेव से आज्ञा माँगी, कहा कि कार्यवश मैं दूसरे गाँव को जाऊँगा।

आचार्य-श्रीगुरुजी ने कहा-जाओ, एक बात तुमसे तब कहूँगा जब लौटकर आओगे। शिष्य बाहर चला गया, श्रीगुरुदेव भगवान के धाम को चले गये। लौटकर शिष्य जब दर्शन करने आया, उस समय लोग अंतिम-संस्कार करने के लिए गुरुदेव के शरीर को ले जा रहे थे। शिष्य को गुरुदेवजी की वाणी में विश्वास था, इसलिए शव को लौटाकर फिर घर में ले आये। (शिष्य ने प्रार्थना की-प्रभो! आपने कहा था कि-लौटकर आओगे तो एक बात कहूँगा अब कृपा करके वही बात कहिये) अपने विश्वासी शिष्य की बात को सत्य करने के लिए गुरुदेव पुनः जीवित हो गये और सर्व-समर्थ गुरुदेव ने सबके सामने शिष्य से कहा कि-संतों की मेरे समान ही सेवा किया करो। सभी ने सुना और शिष्य ने इस आज्ञा का भली-भाँति पालन किया। ।५८

व्याख्या-गुरु गदित वचन···गाढ़ो गह्यौ-**यथा-मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं विचार करिय सुभ जानी।। गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भल जानी।। उचित कि अनुचित किये विचारू। धर्म जाइ सिर पातक भारू।। मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू। गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें।। गुरुके वचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।। (रामा०) शिष्य को गुरु के वचन में ऐसा दृढ़ रहना चाहिए कि स्वयं गोविन्द भी अर्थात् आराध्यदेव भी यदि डिगाना चाहें तो न डिगे। यथा-श्रीपार्वती वचन तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू।। (रामा०) कथा का स्पष्टीकरण आगे कवित्त में है।**

बड़ो गुरुनिष्ठ कछु घटी साधु इष्ट जाने स्वामी सन्त पूज्य मानैं कैसे समझाइयै।
नितही विचारे पुनि टारे पै उचारे नाहिं चल्यो जब रामती कों कही फिरि आइयै।।
सपथ दिवाई न जराइबें को दियो तन ल्यायो यों फिराइ वहे बात जू जनाइयै।
साँचो भाव जानि प्रान आये सो बखान कियो 'करो भक्तसेवा' करी वर्षलौं दिखाइयै।।२५८

शब्दार्थ-**गुरुनिष्ठ = गुरुभक्त। घटी = कम। टारे = टाल देते। रामती = भिक्षार्थ, भ्रमण।**

भावार्थ-**एक शिष्य अपने गुरुदेव में बड़ी भारी भक्ति रखते थे। साधुओं को गुरुदेव से कुछ कम मानते थे, परन्तु गुरु महाराज सन्तों को अपना इष्ट और परमपूज्य मानते थे। इसलिए उनके मन में समझाने की इच्छा होती थी, पर शिष्य का दृढ़ भाव देखकर मन**

में कहते थे कि-इसे कैसे समझाऊँ। नित्य ही विचारते थे कि-आज कहूँगा, पर टाल देते थे। कर नहीं पाते थे। एक बार जब शिष्य रामत करने के लिये बाहर जाने लगा तो गुरुदेव ने कहा कि-जाओ, लौटकर आओगे तब एक रहस्य की बात बताऊँगा। जब तक शिष्य आवे-आवे, इसी बीच गुरुदेव समाय गये। लोग उनको ले जा रहे थे (शिष्य ने कहा-गुरुदेव जब तक वह बात हमसे कह न दें, तब तक कहीं जा नहीं सकते। अभी इन्होंने शरीर नहीं छोड़ा है। लोग नहीं मान रहे थे।) तब शिष्य ने न जलाने की शपथ दिलाई और गुरुदेव के शरीर को नहीं जलाने दिया। लौटाकर स्थान में ले आये। शिष्य ने प्रार्थना की-'भगवन! वह बात कहकर समझाइये।' शिष्य का सच्चा भाव जानकर गुरुदेव के शरीर में फिर से प्राण आ गये। गुरुदेव ने संतों की तथा उनकी सेवा की महिमा का वर्णन किया और कहा कि-संतों को मेरे ही समान मानकर उनकी सेवा किया करो। शिष्य ने कहा-आप विराजो आपके सामने संत-सेवा करूँ। गुरु महाराज एक वर्ष तक रहकर शिष्य की संत-सेवा देखते रहे, फिर शरीर त्यागकर भगवान के धाम को गये।।२५८

व्याख्या-बड़ो गुरुनिष्ठ-अर्थात् श्रीगुरु को श्रीगोविन्द से भी अधिक मानते थे। कहा भी है-तुम्हते अधिक गुरुहिं जियजानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।। (रामा०) इस पर-

दृष्टान्त-एक भोले भक्तका-कथा-वार्ता में भगवान के त्रिभुवन मोहन रूप का वर्णन सुनकर एक भक्त के मन में भगवद्दर्शन की चटपटी लगी। उसने सुना कि श्रीवृन्दावन में आज भी भक्तों को साक्षात् भगवान का दर्शन होता है। अतः वह श्रीवृन्दावन आकर सबसे पूछता फिरता कि मुझे भगवान का दर्शन करना है, वह कहाँ मिलेंगे? आप मुझे भगवान का दर्शन करा दीजिये, आदि इस प्रकार वह प्रभु-प्रेम में बावला हुआ इधर-उधर घूम रहा था। एक ठग ने देखा इसके पास कीमती वस्त्रादि हैं, बड़े घर का जान पड़ता है, भगवान के दर्शन के लिए जिस-तिससे पूछ रहा है, भोला-भाला जान पड़ता है अतः इसे ठगने में मुझे कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। बस, वह ज्योंही किसी मन्दिर से बाहर निकला, त्यों ही ठग ने उससे कहा कि तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें अभी हाल भगवान का दर्शन करा देता हूँ। वह भक्त बड़ा ही प्रसन्न हुआ और बिना कुछ ननु-नच किये उसके साथ चल दिया। ठग उसे श्रीयमुनाजी के तट पर लिवा लाया और बोला-पहले वस्त्र उतारकर स्नान करो फिर एक लंगोटी मात्र लगाकर बैठ जाओ फिर मैं जैसा ध्यान बताऊँ वैसा ही आँख बन्दकर भगवान का ध्यान करो और जब तक मैं कहूँ नहीं, तब तक आँखें नहीं खोलना। ठग के निर्देशानुसार वह भक्त आँख बंदकर ध्यान करने लगा। और इधर वह धूर्त उसके वस्त्रादि लेकर

नौ-दो ग्यारह हो गया। उस भोले भक्त को ध्यान करते कई दिन-रात बीत गये। करुणा-वरुणालय प्रभु की करुणा उमड़ी। प्रभु ने श्रीनारदजी से कहा-देवर्षे! देखिये, हमारे भक्त कैसे भोले हाते हैं कि एक ठग की बात पर भी विश्वास कर लेते हैं (वस्तुतस्तु विश्वास ही भक्ति का प्राण है। यथा-विनु विश्वास भगति नहिं, तेहिं विनु द्रवहिं न राम। राम कृपा विनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम।। (रामा०) ठग के कहने से कई दिन से यह भक्त बिना कुछ खाये-पीये मेरे चिंतन में मग्न है। अब इसको चलकर दर्शन देना चाहिए। यह कहकर भगवान श्रीनारदजी के साथ वहाँ आये। वह तो आँखें बंद किये बैठा था। श्रीनारदजी ने कहा-भक्तजी! भगवान आये हैं, आँखें खोलकर दर्शन कर लो। भक्त ने पूछा-आप कौन हैं? वे बोले-हम नारद हैं। भक्त ने कहा-हमारे श्रीगुरुदेवजी कहाँ हैं? नारद-अरे, वे तेरे गुरु नहीं थे, वह तो धूर्त था। तुम्हें बहकाकर तुम्हारे वस्त्रादि लेकर चम्पत हो गया। भक्त-महाराज! आप मेरे श्रीगुरुदेवजी को ऐसा नहीं कहें, उन्हीं की कृपा से तो आप लोग दर्शन देने यहाँ पधारे हैं। परन्तु जब तक वे नहीं कहेंगे तब तक मैं आँखें नहीं खोल सकता हूँ। उसकी दृढ़निष्ठा को देखकर भगवान ने श्रीनारदजी से उस ठग को खोज लाने को कहा। श्रीनारदजी खोजने चले तो वह कहीं इसी प्रकार से धूर्तता करता हुआ मिला। श्रीनारदजी ने कहा-भइया! तूँ चल, जिसको दर्शन की विधि बताकर, श्रीयमुनातट पर बैठा आया है, उसको दर्शन देने भगवान आये हैं, परन्तु तुम्हारे बिना कहे वह आँखें ही नहीं खोल रहा है। ठग आया और बोला-अब मैं कह रहा हूँ, तुम आँखें खोलकर भगवान का दर्शन करो। उसने स्वर पहचानकर जान लिया कि ये मेरे गुरुदेवजी ही हैं। अतः नेत्र खोला तो देखा कि गुरु-गोविन्द दोऊ खड़े विचार में पड़ गया कि पहले -काके लागूँ पांय। फिर सोचा कि -बलिहारी वा गुरुकी, जिन गोविन्द दियो बताय।। अतः उसने पहले श्रीगुरुजी को प्रणाम किया फिर भगवान को।

दूसरा दृष्टान्त-राजकुमारी का-एक रुपवती भंगिन थी। उसने प्रण किया था कि जो मेरे हाथ से पाँच जूती रोज मार खायेगा उसी से अपना व्याह करुँगी। एक भंगी ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ब्याह तो कर लिया परन्तु नित्यप्रति की बात थी, कहाँ तक सहता आखिर उसे बड़ी ग्लानि हुई और स्त्री-बच्चों को छोड़कर जंगल में भाग गया। और खाक भभूत लगाकर बाबाजी बन गया। एक बार एक राजा शिकार खेलते हुए उधर ही जा निकले तो घोर जंगल में एकान्त में बैठे देखकर महात्मा समझकर उन्हें श्रद्धा हो गई। अपनी पालकी में बैठाकर उसे घर ले आये। राजकुमारी ने उसमें गुरुभाव कर लिया। संयोग

की बात, एक दिन राजा की सवारी के साथ वह भंगी भी पालकी में बैठा हुआ जा रहा था, उसके स्त्री-बच्चों ने उसे पहचान लिया। वे सब जब हल्ला-गुल्ला मचाने लगे तो भंगी डर के मारे पालकी से कूदकर भाग गया। जब राजा को सब विवरण ज्ञात हुआ तो वे अपनी भूल पर बहुत पछताये। उधर जब राजकुमारी को यह पता चला कि उसके गुरुदेव कहीं भाग गये तो उसने गुरु वियोग में अन्न जल का परित्याग कर दिया। राजा ने उसे बहुत समझाया कि बेटी! वह तो भंगी था, कोई साधु-महात्मा थोड़े ही था अतः वह गुरु मानने योग्य नहीं है, तुम हठ छोड़कर खाओ-पिओ। राजकुमारी हाथ जोड़कर बोली-पिताजी! आप मेरे गुरुजी को ऐसा नहीं कहें। वह तो मेरे सच्चे गुरु हैं। राजकुमारी की इस गुरुनिष्ठा पर प्रसन्न होकर भगवान ने दर्शन दिया और उसका भ्रम निवारण करने के लिए भगवान ने भी बहुत कहा कि वह भंगी था, परन्तु राजकुमारी ने भगवान से भी वही बात कही जो पिता से कही थी। फिर भगवान ने भंगी को सचमुच साधु बनाकर समझा-बुझाकर राजकुमारी को दर्शन देने का अनुरोध किया। राजकुमारी गुरु दर्शन कर कृतार्थ हो गई।

तीसरा दृष्टान्त-एक गुरु भक्तका-**एक सन्त की गुरुभक्ति पर प्रसन्न होकर भगवान ने प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दिया। सन्तजी ने भगवान को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। भगवान ने कृपा करके अपना श्रीचरण-कमल संतजी के सिर पर धर दिया। परन्तु संतजी तो एकदम नाराज हो गये। पूछ बैठे-प्रभो! आपने मेरे सिर पर चरण क्यों रख दिया आपका स्थान तो हृदय है। यथा-मम हृदय भवन प्रभु तोरा। (वि०) अतः आपको हृदय में चरण रखना चाहिए। भगवान ने मुस्कुराकर पूछा-सिर किसको सौंप रखा है? सन्तजी ने कहा-यह तो श्रीगुरुदेवजी का है। आप इतना बढ़ गये कि सिर पर चढ़ गये। श्रीगुरुदेवजी का स्थान भी दखलकर रहे हैं। भगवान उनकी इस निष्ठा पर एकदम न्यौछावर हो गये। श्रीभक्तमालजी में गुरुनिष्ठा के ज्वलन्त उदाहरण के लिए देखिये श्रीविट्ठलविपुलदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त ३७७।।**

साधु-इष्ट-**इसके दो अर्थ-१. साधु और इष्ट (भगवान) २. साधुरूपी इष्ट। 'कैसे समझाइये'- श्रीगुरुदेवजी को इतनी चिन्ता इसलिए थी कि वैष्णवापराधी को श्रीहरि-गुरु भी नहीं बचा सकते हैं। जैसे श्रीदुर्वासाजी को गुरु शिव, दादागुरु ब्रह्मा, और परमगुरु भगवान विष्णु भी श्रीअम्बरीष के अपराध से नहीं बचा सके। तुलसीदासजी ने लिखा है-सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै।। (वि०) 'प्रान आये'-शिष्य की सच्ची निष्ठा देखकर श्रीगुरुदेवजी प्रभु की आज्ञा से भगवद्धाम से आकर पुनः अपने पूर्व शरीर में**

अवस्थित हो गये। शिष्य को सन्त-सेवा का उपदेश किये। शिष्य ने कहा कि यदि आप उपदेश देकर अभी ही पुनः परमधाम चले जायेंगे तो मेरी सेवा को कैसे देखेंगे? कैसे आप जानेंगे कि शिष्य ने मेरे उपदेश को माना या नहीं। अतः कृपा करके कुछ काल तक और यहाँ रहकर फिर भगवद्धाम को जाइयेगा। शिष्य की प्रार्थना पर गुरुजी एकवर्ष तक और धराधाम पर रहे। इस प्रसंग में गुरु और शिष्य दोनों ही, आदर्श गुरु-शिष्य के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

श्रीरैदासजी

सन्देह ग्रन्थि खंडन निपुन बानि बिमल रैदास की।।
सदाचार श्रुति शास्त्र वचन अविरुद्ध उचार्‌यो।
नीर खीर विवरन परम हंसनि उर धार्‌यो।।
भगवत कृपा प्रसाद परमगति इह तन पाई।
राज सिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई।।
वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज बंदहिं जासुकी।
संदेह ग्रन्थि खंडन निपुन बानि बिमल रैदास की।।५९।।

शब्दार्थ-सन्देह ग्रन्थि = शंकाकी गांठें। बानि = वानी, उपदेश। विमल = निर्दोष, शुद्ध। नीर खीर = जल-दूध, सत-असत, सार -असार। विवरन = सविस्तार वर्णन, व्याख्या, अलगाना। ज्ञाति = कुटुम्ब।

भावार्थ-सन्त शिरोमणि श्रीरैदासजी की निर्मल वाणी सन्देह की ग्रन्थियों को खोलने में पूर्ण समर्थ हैं। श्रीरैदासजी ने जो भी कहा है वह सदाचार (स्मृति)वेद शास्त्रों के अनुकूल ही है।उन्होंने नीर-क्षीर अर्थात् सत् और असत् का विवरण करने वाला परमहंसों का भाव अपने हृदय में धारण किया तथा सार असार का निर्णय करने वाली उनकी वाणी को परम हंसों ने अपने हृदय में धारण किया।आपने इसी चमार जाति के मर्त्य-शरीर से भगवान की कृपा और परम श्रेष्ठ गति प्राप्त की राज्य सिंहासन पर बैठकर अपने शरीर में सोने का यज्ञोपवीत दिखाकर अपने पूर्व जन्म की ब्राह्मण जाति का विश्वास लोगों को दिलाया। महान् पुरुषों ने अपने ऊँचेवर्ण एवं आश्रम के अभिमान को छोड़कर जिनकी चरण-धूलि की वन्दना की। उन श्रीरैदास जी की वाणी शंकाओंको खण्डन करने में अति ही चतुर है।।५९।।

व्याख्या-सन्देह- एक विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान को संदेह कहते है।

अर्थात् ऐसा है अथवा ऐसा, मन की इस द्विविधा वृत्ति को संदेह कहते हैं। यथा-'इदमेव भवति न वा इति सन्देहः।' संशयात्मा यह निर्णय नहीं कर सकता है कि ठीक क्या है। 'सन्देहग्रन्थि' आत्मा परमात्मा विषयक, सगुण-निर्गुण विषयक, साधन साध्य विषयक उलझन। खण्डन निपुन-यह गुण सब में नहीं होता है। कभी-कभी बड़े-बड़े विद्वान् भी जानते हुए भी संदेह दूर करने में, खण्डन-मण्डन करने में असमर्थ देखे जाते हैं। परन्तु श्रीरैदास जी इस कला में परम-प्रवीण थे। बानी विमल रैदास की- यथा-राम विन संसय गाँठ न छूटै। काम किरोध लोभ मद माया इन पंचनि मिलि लूटै।। हम बड़ कवि कुलीन बड़ पण्डित हम जोगी संन्यासी। ग्यानी गुनी सूर हम दाता याहु कहे मति नासी।। पढ़े गुने कछु समुझि न परई जौ लौं भाव न दरसै। लोहा हिरन होइ धौं कैसे जौं पारस नहिं परसै।। कह रैदास और असमुझसी चालि परे भ्रम भोरे। एक अधार नाम नरहरिको जिवन प्रानधन मोरे।।१।। धन्य हरिभक्ति त्रैलोक्य यश पावनी। करौ सत्सङ्ग इहि विमल यश गावनी। वेद ते पुराण, पुराण ते भागवत, भागवत ते भक्ति प्रकट कीनी। भक्ति ते प्रेम, प्रेम ते लक्षणा बिना सत्संग नहिं जात चीनी।। गङ्गा पाप हरैं ससि ताप अरु कल्पतरु दीनता दूरि खोवै। पाप अरु ताप सब तुच्छ मति दूर करि अमीकी दृष्टि जब सन्त जोवैं।। विष्णु भक्ता जिते चित्त मैं धरे तिते मन वच करम करि दृढ़ विश्वासा। संत धरनी धरी कीर्ति जग विस्तरी प्रणत जन चरण रैदास दासा।।२।।

जब राम नाम कहि गावैगा। तब भेद अभेद समावैगा। जे सुख हैं या रसके परसे, सो सुख का कह्रि गावैगा।। गुरु परसाद भई अनुभौ मति विष अमृत सम धावैगा। कह रैदास मेटि आपा पर तब वा ठौरहिं पावैगा।।३।। जो तुम तोरो राम मैं नहिं तोरौं। तुमसे तोरि कवनसे जोरौं।। तीरथ बरत न करौं अँदेसा। तुम्हरे चरणकमल को भरोसा। जहँ-जहँ जाओं तुम्हरी पूजा। तुमसा देव और नहिं दूजा।। मैं अपनो मन हरिसों जोर्‌यों। हरि सों जोरि सबनि सों तोर्‌यों।। सबही पहर तुम्हारी आसा। मन क्रम वचन कहै रैदासा।।४।। अब कैसे छुटै नाम रट लागी।। प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग अंग वास समानी।। प्रभुजी, तुम घनवन हम मोरा। जैसे चितवन चन्द चकोरा।। प्रभुजी, तुम दीपक हम वाती। जाकी जोति बरै दिन राती।। प्रभुजी, तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सोहागा। प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा।।५।।

उपर्युक्त पदों में श्रीरैदासजी ने वेद-पुराण प्रमाण पुरस्सर भक्ति, सत्संग श्रीरामनाम अनन्य भगवदाश्रय तथा श्रीप्रभु से अभिन्न सम्बन्धों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया

है यही उनकी वाणी की विमलता है। तथा आगे कहते हैं कि-श्रुतिशास्त्र···उचार्‌यो'- किसी भी कार्याकार्य विवेक में, तथा तत्व-तात्पर्य निर्णय में श्रुति-शास्त्र ही परम प्रमाण हैं। यथा-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि (गी० १६-२४) अतः श्रीरैदासजी ने जो भी कुछ कहा है वह श्रुतिशास्त्र सम्मत कहा है। कलियुग में ऐसे प्रामाणिक वक्ता बहुत कम होते हैं। इस युग में तो साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलि भगत निंदहिं वेद पुरान।। (दो० ५५४) ऐसे लोगों की बहुतायत होती है। 'परमहंस'-मिले हुए दूध और जल को अलग करके जल को त्याग कर दूध को ग्रहण करने वाले हंस होते हैं। सत् और असत् का चित् और जड़ का, सामान्य और विशेष का पृथक्‌करण करके असत् परित्याग पूर्वक सत् का ग्रहण करने वाले परमहंस कहे जाते हैं।

परमगति इहि तन पाई- इससे जनाया गया कि श्रीरैदास जी जीवन्मुक्त हो गये थे। देह रहते विदेह हो गये थे। इहि तन- का भाव यह है कि ब्राह्मण शरीर में परम गति न पाये, शूद्र (चर्मकार) शरीर में पाये। इससे जनाया गया कि केवल शरीर की योग्यता-अयोग्यता, भगवत्कृपा प्राप्त करने में परमगति पाने में साधक-बाधक नहीं है। भक्ति के द्वारा किसी भी जाति एवं योनि में परम गति को प्राप्त किया जा सकता है-यथा-न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोष हेतुः। तैर्यद् विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्येवत लक्ष्मणाग्रजः।। (भा०-५-१९-७) - अर्थ- (श्रीहनुमान जी कहते हैं-) हे लक्ष्मणाग्रज! उत्तम कुल में जन्म, सुन्दरता, वाक्‌चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि-इनमें से कोई भी गुण आपकी प्रसन्नता का कारण नहीं हो सकता है, यह बात दिखाने के लिये ही आपने इन सब गुणों से रहित हम वनवासी वानरों से मित्रता की है 'राजसिंहासन बैठि'-यह भक्ति का प्रभाव है, संत-सद्‌गुरुजनों की कृपा का प्रभाव है कि एक नीच कुल में उत्पन्न हुए श्रीरैदासजी राजाओं महाराजाओं के द्वारा सम्मान प्राप्त किये। श्रीतुलसीदासजी ने भी लिखा है-घर-घर मांगे टूक पुनि, भूपति पूजे पांय। जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय।। (दो० १०९) 'ज्ञाति परतीति दिखाई'-ये पिछले सात जन्मों से ब्राह्मण होते आये थे। विशेष देखिये आये क०२६७ में 'वर्णाश्रम···बंदहिं जासु की' -श्रीरैदासजी ने स्वयं अपने एक पद में इस विषय की चर्चा की है और इसे श्रीरामनाम की महिमा माना है। यथा-मेरी जाति कुटवां ढलाढोर ढोवंता नितहिं बानारसी आस पासा।। अब विप्र परधान तिहिं करहिं डंडउति तेरे नाम सरनाई रविदास दासा।।एक दूसरे पद में कहते हैं- प्रभुजी संगति सरन तुम्हारी। जग

जीवन राम मुरारी।। गली-गलीको जल बहि आयौ सुरसरि जाय समायौ। संगतिके परताप महातम नाम गंगोदक पायौ।। स्वाति बूँद बरसै फनि ऊपर सोऊ विष ह्वै जाई। वही बूंद से मोती उपजैं संगति अधिकाई।। तुम चन्दन हम रेड़ बापुरे निकट तुम्हारे आसा। संगतिके परताप महातम आवै बास सुबासा।। जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा। नीचे ते प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा।।

रामानन्दजू को शिष्य ब्रह्मचारी रहे एक गहे वृत्ति चूटकी की कहे तासों वानियों।
करो अंगीकार सीधो कहि दस बीस बार बरषे प्रबल धार तामें वापि आनियों।।
भोगको लगाव प्रभु ध्यान नहिं आवै अरे कैसे करि ल्यावै जाइ पूछि नीच मानियों।
दियो शाप भारी बात सुनी न हमारी घटि कुल में उतारी देह सोई याकों जानियों।।२५९

शब्दार्थ-वृत्ति=जीविका। चूटकी = चुटकी, थोड़ा अन्न घर-घर से लाना। सीधो= सीधा, आटा, दाल, चावल आदि सामान। घटिकुल=नीचवंश। (पाठान्तर-गहे ब्रह्मचूटकी)

भावार्थ-आचार्य श्रीस्वामी रामानन्दजी का एक ब्रह्मचारी शिष्य था। वह नित्य आटे की चुटकी ब्राह्मणों के यहाँ से माँगकर लाता था। उसी से ठाकुरजी का भोग लगता था, और साधु-सेवा होती थी। मार्ग में एक बनियां की दुकान थी, वह बनियां प्रायः नित्य ही ब्रह्मचारी से कहता था कि-आप मेरा सीधा सामान स्वीकार करो। इस प्रकार उसने दस-बीस बार कहा, परन्तु नियम के विरुद्ध उस बनिये से सामान लेना ब्रह्मचारी ने स्वीकार नहीं किया। एक दिन बड़े जोर की वर्षा हो रही थी। चुटकी माँगकर लाना सम्भव नहीं था अतः उस बनिये से ब्रह्मचारी ने जो आवश्यक था सीधा सामान ले लिया। जब श्रीआचार्यजी ने ठाकुरजी को भोग लगाया तो उस दिन प्रभु भोग आरोगते हुए ध्यान में नहीं आये। तब उन्होंने ब्रह्मचारी से पूछा-कहो, आज भिक्षा कहाँ-कहाँ से लाये हो। उसने उत्तर दिया-एक बनिये से। श्रीस्वामीजी ने कहा-जाओ, पता लगाओ। पूछने से मालूम पड़ा कि बनिये ने चमार की प्रेरणा से अन्न दिया है। तब श्रीस्वामीजी ने बड़ा भारी शाप दिया कि-तूने मेरी बात नहीं मानी, नीच की भिक्षा ली, अतः जाकर चमार घर में जन्म ले, वही दूसरे जन्म में श्रीरैदास-भक्त हुए ऐसा जानिये।।२५९।।

व्याख्या-बरषे प्रबल धार०-ब्रह्मचारी जी चुटकी लेने के लिए निकले तो रास्ते में ही बड़े जोर की वर्षा होने लगी। ये खुलने की प्रतीक्षा में उस बनिये की दुकान के छज्जा के नीचे खड़े हो गये। वर्षा बंद नहीं हुई, उधर भोजन बनाने का समय हो गया। तब बनिये ने मौका

देखकर आज फिर बड़ी प्रार्थना की, तो इन्होंने भी होनहारवश, परिस्थिति की जटिलता देखकर स्वीकार कर लिया। आश्रम पर आकर ब्रह्मचारीजी ने रसोई बनाई। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने भोग लगाया, परन्तु प्रभु ने नहीं आरोगा, तब श्रीस्वामीजी समझ गये कि अन्न में कोई दोष है। अतः तुरन्त ही जोर से आवाज लगाई-ब्रह्मचारी! ब्रह्मचारी! रोष सम्पुटित वाणी सुनकर ब्रह्मचारी अत्यन्त डरकर श्रीस्वामी जी के निकट आकर भिक्षा का विवरण बताये। तब श्रीस्वामीजी ने विचार किया कि वैश्य का अन्न तो निषिद्ध है नहीं, कुछ और ही रहस्य है। तब आपने ध्यान धरकर देखा तो पता चला कि यह तो शूद्र का अन्न है, परन्तु यदि शूद्र भी वैष्णव हो और श्रद्धा भक्तिपूर्वक देता हो तो कोई निषेध नहीं है। अतः फिर ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि वह वैष्णव भी नहीं, संत सेवी भी नहीं है, उसने तो पुत्र की कामना से दान किया है। बात यह थी कि उस शूद्र के कोई संतान नहीं थी। घर धन-धान्य से भरा था। उसने पुत्रोत्पत्ति के लिए बहुतेरा प्रयत्न भी किया, परन्तु सफल नहीं हुआ।

किसी सज्जन ने उसे श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की महिमा सुनाकर कहा कि यदि श्रीस्वामीजी तुम्हारी कोई सेवा स्वीकार कर लें तो निश्चय ही तुम्हें सन्तान लाभ हो जायेगा। परन्तु समस्या यह थी कि श्रीस्वामीजी सीधे-सीधे चर्मकार के हाथ से तो कुछ लेने से रहे, वह तो शूद्र की कौन कहे वैश्य और क्षत्रिय के घर का भी कुछ नहीं लेते थे। पूर्व कहा जा चुका है कि 'गहे ब्रह्म चुटकी को।' तब वह शूद्र उस बनिया के पीछे पड़ा कि जैसे हो तैसे वह कुछ सीधा सामान श्रीस्वामीजी के यहाँ पहुँचा दे, उस वस्तु के दाम के अतिरिक्त पुरस्कार स्वरूप और भी द्रव्य दिया जायेगा। इसीलिए तो वह बनियां इतनी सिफारिश करता था, नहीं तो भला उसे क्या पड़ी थी? हाँ तो यह सब बातें श्रीस्वामीजी ने ध्यान द्वारा देखीं। पुनः उस वणिक से पूछा भी गया तो सब बात सत्य निकली। तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी ने पुनः ध्यान किया तो मालूम किया कि इसके तो सात जन्म तक पुत्र का कोई योग ही नहीं है। तब तो आप बड़े असमंजस में पड़े। इधर पुत्र का योग नहीं है और उधर उसका दृढ़ विश्वास है कि श्रीस्वामीजी की कृपा से अवश्य पुत्र होगा। अन्त में विश्वास की विजय हुई। श्रीस्वामीजी ने ब्रह्मचारी को ही उसका पुत्र होने का विधान कर दिया। यहाँ दो बात दिखाई गईं-एक तो यह कि सात-जन्म से ब्राह्मण शरीर पाने वाले श्रीब्रह्मचारीजी गुरुआज्ञा की अवज्ञा करने से नीच कुल में जन्म लेने को विवश हुए। अतः भूलकर भी गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दूसरी बात यह कि श्रीस्वामीजी ने उस शूद्र को पुत्र का योग

न होने पर भी पुत्र का योग बना दिया। यह आपकी अचिन्त्य सामर्थ्य है। इस पर-देखिये श्रीनाभाजी के चरित्र में 'हनुमानवंश' की व्याख्या, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ९२।। तथा दृष्टान्त संत मस्ताने का देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ।।९३।।

माता दूध प्यावे याकों छुयोऊ न भावे सुधि आवे सब पाछिली सुसेवाको प्रताप है।
भई नभवानी रामानन्द मन जानी बड़ो दण्ड दियो मानी बेगि आये चल्यो आप है।।
दुखी पिता माता देखि धाय लपटाय पाय कीजिये उपाय कियो शिष्य गयो पाप है।
स्तन पान कियो जियो उन ईस जानि निपट अजानि फेरि भूले भयो ताप है।।२६०

शब्दार्थ-**नभवानी =आकाशवाणी। मानी = मानकर।**

भावार्थ- **माता अपने बालक रैदास को दूध पिलाना चाहती थी, पर बालक रैदास दूध नहीं पीते थे। दूध पीने की कौन कहे, इन्हें माता का छूना भी अच्छा नहीं लगता था। क्योंकि गुरुदेव की उत्तम-सेवा के प्रताप से इन्हें सब पूर्वजन्म की बातें याद थीं। (ये मन में सोचते थे कि एक बार चमार का अन्न ग्रहण करने से यह गति हुई, अब यदि यहाँ जीऊँगा और खान-पान करुँगा तो न जाने कौन सा दण्ड मिले।) इसी समय श्रीस्वामीजी के लिए आकाशवाणी हुई, (कि-आपके शाप से आपके शिष्य का जन्म रघु चमार के घर में हुआ है और वह दूध नहीं पी रहा है, उस पर कृपा कीजिये) उसे सुनकर स्वामीजी ने मन में विचारा कि मैंने उसे थोड़े अपराध का बड़ा भारी दण्ड दिया। दयावश श्रीस्वामीजी शीघ्र ही स्वयं चलकर वहाँ आये। बालक के दूध न पीने से पिता-माता बड़े दुःखी थे। स्वामीजी को देखते ही वे दौड़कर इनके चरणों में लिपट गये और प्रार्थना करने लगे कि-कोई उपाय करके बालक को बचाइये। तब स्वामीजी ने बालक को दीक्षा देकर शिष्य बनाया और दूध पीने की आज्ञा दी। बालक के सब पाप दूर हो गये और वह दूध पीने लगा। इस प्रकार मृतकप्राय बालक जीवित हो गया। श्रीरैदासजी आचार्य को ईश्वर के समान जान-मान कर मन में पछताने लगे कि-मैं बिल्कुल ही अज्ञानी और अपराधी था पर स्वामीजी ने मेरे अपराधों को भुलाकर इतनी कृपा की कि स्वयं पधारे। इस प्रकार अपनी चूक पर श्रीरैदासजी मन में दुःखी हुए।।२६०।।**

व्याख्या-**श्रीरैदासजी का प्रादुर्भाव काशीपुरी में वि०सं० १३७१, माघ पूर्णिमा को हुआ था। इनके पिता का नाम रघु और माता का नाम घुरबिनियाँ था। 'माता दूध प्यावे'० वात्सल्यवश माता दूध पिलाना चाहती परन्तु ये दूर हट जाते। उसे छूना भी नहीं चाहते थे।**

कारण कि पूर्वजन्म में एक बार नीच की (इन्हीं माता-पिता की) वस्तु ग्रहण भर किये थे, खाये-पिये नहीं थे। क्योंकि श्रीठाकुरजी ने ही नहीं पाया तो ये लोग कैसे पाते? उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण से शूद्र हुए। यदि कहीं कुछ खा लिए होते तो न जाने कौन सी गति होती। अतः अबकी बार अत्यन्त सावधान हैं। 'सेवा को प्रताप है'- श्रीरैदासजी की पूर्वजन्म की स्मृति यथावत बनी थी। इसका कारण निर्देश करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यह सद्‌गुरु-संत-भगवन्त की सेवा का प्रताप है। सेवा से जिनका अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो जाता है, उन्हें भूत, भविष्य भी वर्तमानवत् ही भासने लगता है, उनकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती। यथा-श्रीजड़भरतजी कहते हैं-अहं पुरा भरतो नाम राजा विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः। आराधनं भगवत ईहमानो मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः।। सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।। (भा० ५-१२-१४, १५) अर्थ-पूर्व जन्म में मैं भरत नाम का राजा था, ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों से विरक्त होकर भगवान की आराधना में ही लगा रहता था, तो भी एक मृग की आसक्तिवश परमार्थ से भ्रष्ट होने पर अगले जन्म में मृग बनना पड़ा। किन्तु श्रीकृष्ण की सेवा के प्रभाव से उस मृगयोनि में भी मेरी पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त नहीं हुई।

श्रीनारदजी के लिए भगवान कहते हैं कि-सत्सेवया दीर्घयापि याता मयि दृढ़ामतिः। हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि।। मतिर्मयिनिबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्। प्रजा सर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्।। (भा० १-६-२४-२५) अर्थ- अल्पकालीन संत-सेवा के प्रताप से तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गई। अब तुम इस प्राकृत शरीर को छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे। मुझे प्राप्त करने का तुम्हारा यह दृढ़-निश्चय कभी किसी प्रकार नहीं छूटेगा। समस्त सृष्टि का प्रलय हो जाने पर भी संतों की सेवा से तथा मेरी कृपा से तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी। ऐसे ही राजा इन्द्रद्युम्न श्रीअगस्त्यजी के शाप से गज-योनि को प्राप्त हो गये। (इनकी कथा देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३४४ पर) यद्यपि गजयोनि आत्मस्वरूप की स्मृति को नष्ट करने वाली है परन्तु भगवत्सेवा के प्रभाव से उन्हें गज-योनि में भी पूर्व की स्मृति बनी रही, अतः ग्राह के द्वारा ग्रसे जाने पर पूर्वजन्म में सीखे हुए स्तोत्र के द्वारा भगवान की स्तुति करने लगे। यथा-आपन्न कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृति विनाशिनीम्। हर्यर्चनानुभावेन यद् गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः।। (भा० ८-४-१२) जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनु-शिक्षितम्।। (भा० ८-३-१) श्रीकागभुसुण्डिजी को भी श्रीगुरुसेवा एवं शिवसेवा के प्रताप से बहुत जन्मों की याद थी। यथा-सुधि मोहिं नाथ जनम बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न

घेरी। (रामा० उ० ९६-१०) सेवा की महिमा पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८१, सेवा ही'''जोरिकै।'

वेगि आये चल्यो आप हैं-श्रीस्वामी रामानंदाचार्यजी जब आश्रम से चले तो काशीपुरी में हल्ला पड़ गया। क्योंकि इस समय तो वे ध्यान-समाधि में रहते, लोगों को उनका दर्शन दुर्लभ था, परन्तु आज सहज सुलभ हो गया। लोग दर्शन कर कृतार्थ हो गये। परन्तु जब चमारों की बस्ती की ओर बढ़े तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा क्योंकि यह बात सर्व विदित थी कि श्रीस्वामीजी नीच का मुख नहीं देखते हैं। आज क्या बात है जो रघु चमार के घर की ओर जा रहे हैं? श्रीस्वामीजी अपने पतितपावन विरद को चरितार्थ करते हुए रघु चमार के आँगन में जा पहुँचे। शिष्य ने कुशासन बिछाया, आप उस पर विराजमान हो गये। 'कीजिये उपाय'-पिता-माता ने बालक का प्राण बचाने की प्रार्थना की। श्रीस्वामीजी ने कहा-बालक को मेरे पास लाइये और आप सब लोग यहाँ से हट जाइये। क्योंकि मेरा मंत्र एकान्त में ही काम करता है। ऐसा ही हुआ 'कियो शिष्य'-भक्ति में प्राणीमात्र का अधिकार है, चाहे वह किसी वर्णाश्रम का हो। जैमिनीयाश्वमेध में वर्णन आया है कि मोरध्वजजी के राज्य में अन्त्यज भी भक्ति करते थे। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४६७।। श्रीरैदासजी ने स्वामीजी का दर्शन किया तो उनकी आँखें भर आईं। श्रीस्वामीजी ने रैदासजी को श्रीराममंत्र सुनाकर उपदेश दिया कि आत्मा तो असङ्ग है, वह न तो ब्राह्मण हैं और न शूद्र। वह तो ईश्वर का अंश, अविनाशी, चेतन, अमल और सहज सुख की राशि हैं। यथा-ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी।। (रामा०) शरीर परमार्थ में साधक ही है, बाधक नहीं। यथा-तन बिनु वेद भजन नहिं बरना।। (रामा०) अतः स्वरूप का स्मरण करते हुए शरीर की रक्षा के लिए माता का स्तनपान करो, कोई दोष नहीं है। माता का दूध कोई ऐसा प्रतिग्रह नहीं है जिसमें पतन की सम्भावना हो। वह तो उसका विशुद्ध वात्सल्य प्रेम है और उस पर शिशु का अधिकार है। श्रीरैदासजी ने प्रार्थना की कि -मेरी माता वैष्णवी तो नहीं हैं, कैसे उसका स्तनपान करूँ? तब श्रीस्वामीजी परमोदार्यपूर्वक इनकी माता को भी वैष्णवी दीक्षा दी।

गयो पाप है-दीक्षा से पाप का नाश होता है। यथा-दिव्यं भावं यतो दद्यात् क्षिणुयाद् दुरितानि च। अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वागमविशारदैः।। (वृहन्नारदीय पूर्वभाग अ०६४) अर्थ-चूंकि वह प्रसन्नजनों को दिव्य भाव प्रदान करती है तथा उसके समस्त पापों को नाश करती है। अतः सर्वशास्त्र निष्णातजन उसे दीक्षा कहते हैं।

दृष्टान्त-श्रीविद्यारण्य मुनिका-वर्णन आया है कि-इन्होंने बड़ी लगन के साथ विधिपूर्वक श्रीगायत्री मन्त्र के तेईस पुरश्चरण किये। परन्तु कोई अलौकिक लाभ दृष्टिगोचर न हुआ। तब ये खीझकर श्रीगायत्री मन्त्र का जप छोड़कर संन्यास की दीक्षा ले लिए। दीक्षित होते ही श्रीवेदमाता गायत्री ने तुरन्त प्रकट होकर दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। इन्होंने प्रणाम करके पूछा-माताजी! इतने दिनों तक आराधना करने पर तो आपने दर्शन नहीं दिया और जब मैंने आपकी आराधना से उपरत होकर संन्यास ले लिया तब आपने कैसे कृपा की? श्रीगायत्री माता ने कहा-तुम्हारे पूर्वजन्म के चौबीस बहुत बड़े प्रतिबन्धक पाप थे। उनमें से तेईस तो तुम्हारे, तेईस पुरश्चरणों से नष्ट हो गये थे, एक शेष रह गया था। तुमने उकताकर साधना छोड़ दी। यदि एक पुरश्चरण और करते तो मैं अवश्य दर्शन देती। परन्तु तुमने जो संन्यास की दीक्षा ले ली, इस दीक्षा के प्रभाव से तुम्हारा वह एक प्रतिबन्धक पाप भी तत्काल नष्ट हो गया। अतः मैंने दर्शन दिया। श्रीविद्यारण्यजी ने आत्मस्वरूप में निष्ठा का वरदान माँगा। 'भूले भयो ताप है'-जीव अपनी भूल से ही सङ्कट में पड़ता है। इस पर-

दृष्टान्त-एक शेर का-जंगल के एक शेर को मनुष्यों का मांस खाने का चस्का लग गया था। वह पास पड़ोस के गाँवों पर आक्रमण करने लगा। अत्यन्त हैरान होकर गाँव वालों ने शेर को फँसाने की युक्ति बिचारी। एक बहुत बड़ा लोहे का पिंजड़ा बनवाकर उसमें एक बकरे को बांध दिया। पिंजड़े का द्वार खुला रखा और उसको बंद करने का साधन सूत्र ऐसी जगह पर था जहाँ से पिंजड़ा बंद करने वाले को कोई संकट न आये। लोग इस युक्ति से शेर को पिंजड़े में बंद कर पाये। शेर भूखा प्यासा कई दिन तक उस पिंजड़े में पड़ा रहा। एक दिन एक राहगीर उसी रास्ते से जा रहा था। शेर ने अत्यन्त दीन होकर उससे अपने को मुक्त करने की प्रार्थना की। राहगीर ने कहा-तुम हिंसक हो, उसमें भी भूखे हो, अगर मैं तुम्हें खोलूँगा तो मुझे ही खा जाओगे। शेर ने सौगन्ध खाई कि ऐसा नहीं करुँगा। उसके विश्वास में आकर राहगीर ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। शेर उसको ही खाने को लपका। राहगीर ने पूछा यह कहाँ का न्याय है? तुम अपने वचन से विचलित हो रहे हो। शेर ने गरजकर कहा-हमारे जंगल का ऐसा ही न्याय है। तुम्हें विश्वास न हो तो चलो पूछ लो। बेचारा राहगीर जिस ही पशु से पूछता वह शेर के डर के मारे हाँ कर देता। संयोग से मार्ग में एक सियार मिला। वह बड़ा चतुर था। उसने कहा कि मैं ऐसे कुछ नहीं कहूँगा। पहले मौके की निगरानी करके तब अपनी सम्मति दूँगा। राहगीर और शेर दोनों ही पुनः पिंजड़े

के पास आये। सियार ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए शेर से कहा कि हमें तो यह विश्वास ही नहीं हो रहा है कि आप इसमें बन्द रहे। उसको विश्वास दिलाने के लिये शेर पुनः उस पिंजड़े में घुसा तो सियार ने राहगीर को ललकारा कि जल्दी से पिंजड़े का द्वार बन्द कर दो। राहगीर ने ऐसा ही किया। फिर तो वह शेर अपनी भूख से तड़प-तड़पकर पिंजड़े में ही मर गया। ठीक यही हाल जीव का भी है। सन्त सदगुरु दया करके उसे संसाररूपी पिंजड़े से बाहर निकालते हैं। परन्तु वह अपने ही अविवेक से पुनः-पुनः आवागमन में पड़ा रहता है। अतः-'भूले भयो ताप है।'

बड़ेई रैदास हरिदासनि सों प्रीति करी पिता न सुहाई दई ठौर पिछवारहीं।
हुतो धनमाल कन दियो हू न हाल तिया पति सुख जाल अहो किये जब न्यारहीं।।
गाठैं पगदासी कहूं बात न प्रकासी ल्यावें खाल करें जूती साधु सन्त को सँभारहीं।
डारी एक छानि कियो सेवाको सुस्थान रहें चौंड़े आप जानि बाँटि पावें यहि धारहीं।।२६१

शब्दार्थ-**कन = थोड़ा भी। हाल = घर से अलग करते समय। पगदासी = जूती। प्रकासी = फैलाई। सम्हारहीं = सम्हालते, सेवा करते।**

भावार्थ-**रैदासजी महान् सन्त थे। ये भगवान के भक्तों से बड़ा प्रेम करते थे। (संत सेवा में धन का सदुपयोग करते थे) इनका यह आचरण पिताजी को अच्छा न लगा। अतः उन्होंने इन्हें अलग कर दिया और घर के पीछे की जमीन रहने के लिए दे दी। यद्यपि घर में बहुत सा धन-माल था पर उसमें से पिताजी ने अलग करते समय एक कन भी नहीं दिया। इससे रैदासजी और उनकी स्त्री को बड़ा सुख हुआ। रैदासजी जूतियों को गाँठते थे और पक्का चमड़ा लाकर जूते बनाते थे। साधु संतों को पहनाते थे। अपनी इस सेवा को प्रकट न करके गुप्त ही रखते थे। आपने एक छप्पर डालकर उसमें भगवान की सेवा के योग्य स्थान बनाया। (उसी में संतजन भी निवास करते थे) पर स्वयं आप चौड़े में ही रहते थे। मजदूरी से प्राप्त धन को अतिथियों को बाँटकर खाते थे। ऐसी दैनिक जीवनचर्या से आप रहते थे।।२६१।।**

व्याख्या-हरिदासनि सों प्रीति-**भक्त की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसे भगवान के समान ही, बल्कि भगवान से भी बढ़कर भक्त प्रिय लगते हैं। यथा-रामभगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही।। (रामा०) श्रीहरिरामव्यासजी कहते हैं-भावत हरि प्यारेके प्यारे। जिनके दरस परस हरि पाये उघरे भाग हमारे।। दूरि भये दुख दोष हृदय के कपट-कपाट**

उघारे। भवसरि में डूबत हमसे अपराधी बहुत उबारे। भूत पितर देई देवा सों झगरे सकल निवारे। सुख मुख वचन रचन कहि कोटिक विगरे 'व्यास' सुधारे।। (व्यासवानी) अतः श्रीरैदासजी भी सन्तों में बड़ा सद्भाव रखते थे। उनकी खूब सेवा करते थे। इनके पिता बड़े धनवान थे। इन्हें तिजोरी की कुंजी हाथ लग गई थी। यह चुपके से तिजोरी खोलकर मुहरें मुट्ठी में भर लेते फिर तिजोरी ज्यों की त्यों बंद कर कुंजी यथास्थान रख देते और स्वयं साधु-सन्तों के स्थान में जाकर कभी भण्डारा करते कभी किसी को लोटा, कमण्डल खरीदकर देते, कभी वस्त्र की सेवा करते। इस प्रकार इन्होंने चोरी-चोरी पिता की बहुत सम्पत्ति साधु-सेवा में खर्च कर दी। इनके पिता तो जानते ही नहीं थे, माता पहले तो इन्हें मुट्ठी भरे हुए घर में से निकलते देखती तो समझतीं कि बालभोग, मेवा-मिठाई लिए होगा, परन्तु बाद में वह समझ गईं कि वह मुहरें चुरा कर ले जाता है। परन्तु पुत्र प्यारवश कुछ कहती न थीं। एक दिन जब पिता ने तिजोरी की रकम संभाली तो उन्हें बहुत कम मालूम पड़ी। पूछ-ताछ करने पर माता ने बता दिया। फिर तो-

पिता न सुहाई-यह है जगत् का स्वारथ सहित स्नेह। जिस पुत्र के लिए इतना प्रयत्न किया था, वही अब एकदम अप्रिय हो गया। वस्तु तस्तु स्वारथी पिता को पुत्र नहीं प्यारा है, प्यारा तो है पैसा। इसी पर एक कवि ने कहा-पैसा बिन बाप कहै पूत तो कपूत भयो पैसे बिन भाई कहै जीको दुखदाई है। पैसे बिन यार कहै मेरो यह यार नहीं पैसे बिन ससुर कहै कौन को जमाई है।। पैसे बिन बन्दे की प्रतीति नहीं पञ्चन में पैसे बिन आई घर रोइ रोटी खाई है। कहैं अलमस्त सजे बजे रहो आठोयाम आज के जमाने में तो पैसे की बड़ाई है। 'हुतो धनमाल'-धनवान थे तभी तो पुत्र के लिए इतनी चटपटी थी। यदि निहङ्ग लाड़ले होते तो क्यों इतने आतुर होते। 'तिया पति सुख जाल'-रैदासजी भक्त थे और इनकी पत्नी बड़ी ही पतिव्रता एवं पति की आज्ञाकारिणी थी। इस सम्बन्ध में एक कथा आगे वर्णन की जायेगी। 'गाँठें पगदासी'-बाजार के चौराहे पर बैठकर जूते बनाने लगे, आवश्यकता भर पैसे मिल जाते उससे निर्वाह हो जाता। 'कहूँ बात न प्रकासी'-भाव यह कि पिता ने अलग कर दिया है, रहने को एक घर, भोजन बनाने के लिए एक फूटा बर्तन एवं एक सेर चून भी नहीं दिया है। श्रीरैदासजी यह सब बात किसी से नहीं कहे। जबकि लोक में लोग हक हिस्से के लिए कितना बैर बाँध लेते हैं। इसलिए कि इन्हें विश्वास था कि परम कृपालु प्रभु मेरा सब योगक्षेम वहन करेगें ही, फिर मैं चिन्ता क्यों करूँ? दूसरे साधु का सबसे बड़ा गुण सन्तोष इनमें था। अतः कुछ न मिलने का मन में किञ्चित्मात्र भी

क्षोभ नहीं था, अतः 'कहूँ बात न प्रकासी'। बाँटि पावें-देखिये श्रीनामदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त १३४।।

सहे अति कष्ट अंग हिये सुख सील रंग आये हरि प्यारे लियो भक्त भेष धारिकै।
किये बहुमान खान-पान सों प्रसन्न ह्वै कै दीनों कह्यो पारस है राखियो सँभारिकै।।
मेरे धन राम कछु पाथर न सरै काम दाम मैं न चाहौं चाहौं डारौं तन वारिकै।
रांपी एक सोना कियो दियो करि कृपा राखो-राखो यहु छानि मांझ लैहो जु निकारिकै।।२६२

शब्दार्थ-**सरै = बनैं, पूरा हो। रांपी = चमड़ा काटने और खुरचने का औजार।**

भावार्थ-**चौड़े में रहकर उन दोनों ने जाड़ा, गर्मी और वर्षा के बड़े-बड़े कष्ट अपने शरीर पर सहन किये परन्तु हृदय में उनके सुख था। वे सहज-स्वभाव से प्रेमरङ्ग में रँगे थे अतः सदा आनन्द-मग्न ही रहते थे। एक दिन स्वयं भगवान भक्त का वेष बनाकर श्रीरैदासजी के यहाँ पधारे। श्रीरैदासजी ने उनका बहुत सत्कार किया। खान-पान से प्रसन्न होकर साधुवेषधारी भगवान ने श्रीरैदासजी को पारसमणि देते हुए कहा कि-'इसे सँभालकर रखना'। श्रीरैदासजी ने कहा, मेरे धन तो श्रीरामजी हैं इस पत्थर से मेरा काम नहीं चलेगा। मैं धन-सम्पत्ति को नहीं चाहता हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि संत भगवन्त की सेवा में अपना यह शरीर न्यौछावर कर दूँ। संत-भगवान ने पारस का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाने के लिए उसे लोहे की राँपी से छुवा दिया, वह सोने की हो गई। फिर पारस देकर श्रीरैदासजी से बोले कि-आप कृपा करके इसे रख लो और आवश्यकता पड़ने पर इसे निकाल लेना तब श्रीरैदासजी ने कहा-यदि आप नहीं मानते हो तो इसे ठाकुरजी के छप्पर में रख दो, जब इच्छा हो तब निकाल ले जाना।**

व्याख्या-आये हरि प्यारे-**श्रीरैदासजी संतों की सेवा करते थे। अतः उनके यहाँ संत तो आया ही करते थे आज भगवान भी आ गये। इस पर-**

दृष्टान्त-एक राजाका-**राजा चिड़ियों को चुगा देते थे। अतः उनके महल के सामने के विशाल प्राङ्गण में चिड़ियों का समुदाय सदैव कलरव गान करता ही रहता था। एक दिन आकाश मार्ग में उड़ते हुए हंसों ने जब वहाँ सभी दिशा-विदिशाओं से चिड़ियों को आते हुए देखा तो उनका मन हो गया कि हम भी जरा उतरकर यहाँ का आनन्द देखें। चिड़ियों की सेवा के प्रताप से राजा को हंसों का दर्शन हो गया। उसी प्रकार संतों की सेवा के प्रताप से श्रीरैदासजी को भगवान का दर्शन हो गया। पुनः-भगवान का माता का-सा स्वभाव**

है। जैसे माता पुत्र का कष्ट नहीं देख सकती, उसी प्रकार भगवान से भी भक्तों का कष्ट नहीं देखा जाता है। अतः 'आये हरि०।' भगवान के श्रीमुख का वचन है-सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा।। करउँ सदा तिन कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (रामा०)

किये बहुमान-श्रीरैदासजी ने जब सन्त वेषधारी भगवान का दर्शन किया तो अत्यन्त आनन्द में भरकर नृत्य किया और यह पद गाया-आज के दिवस को जाउँ बलिहारा। मेरे घर आयो राजा रामजी का प्यारा।। करौं दण्डवत् चरन पखारूँ। तन मन धन सन्तन पर वारूँ।। आँगन भवन भयो अति पावन। हरिजन बैठे हरि जस गावन।। कहैं कथा अरु अरथ विचारैं। आप तरैं औरन को तारैं।। कह रैदास मिले हरिदासा। जनम-जनम की पूरी आसा।।

खान-पान सों प्रसन्न०-साधुवेषधारी भगवान को भोजन के लिए श्रीरैदासजी सीधा-सामान देने लगे तो भगवान इन्कार कर गये कि हम चूल्हा-चक्की, नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर में नहीं पड़ेंगे। तब इन्होंने विचार किया कि सम्भवतः हमारी जाति विचारकर हमारे घर का सामान नहीं लेना चाहते हैं, अतः ऐसा कहते हैं। तब ये पैसा देने लगे कि बाजार में जाकर कुछ खा पी लीजियेगा। परन्तु प्रभु ने पैसा लेना भी नहीं स्वीकार किया। तब ये बड़ी ही विनम्रतापूर्वक पूछे कि आखिर आप भोजन कैसे करेंगे और क्या करेंगे? भगवान ने कहा कि हम तो आपके यहाँ ही प्रसाद पावेंगे। मैंने सुना है कि आपकी घर वाली कढ़ी-पकौड़ी बढ़िया बनाती हैं, अतः' आपकी यदि बहुत श्रद्धा हो तो आज आपके श्रीठाकुरजी को इसी का भोग लगे। मेरा मन भी यही पाने का है। तब श्रीरैदासजी ने कहा कि महाराज मै तो चमार हूँ, मेरे घर कैसे पायेंगे? भगवान ने कहा-रैदासजी आप काहे को झूठ बोल रहे हैं। अरे! जो जाति हमारी है, वही जाति आपकी भी है। हम दोनों तो अच्युत गोत्रीय हैं। फिर आपके यहाँ प्रसाद पाने में क्या हर्ज है। श्रीरैदासजी ने कहा-भगवन! आपको यहाँ भले न हर्ज हो परन्तु यदि सन्त सुन लेंगे तो आपको अपनी पंक्ति में नहीं बैठने देंगे। संत भगवान ने कहा कि कोई चिंता की बात नहीं है। अपने राम तो रमते राम ठहरे। किसी की पंक्ति में आयेंगे ही नहीं । तब श्रीरैदासजी ने पत्नी से बढ़िया कढ़ी-भात बनाने को कहा। भगवान ने खूब पाया। इस पर-

दृष्टान्त-एक भक्तका-वह मालवा में रहता था। जाति का बढ़ई था। वहीं एक पहाड़ पर राजा का बनवाया हुआ श्रीठाकुरजी का एक विशाल मन्दिर था। बढ़ई रोज दर्शन

करने जाया करता था। एक दिन बढ़ई के प्रेमवश श्रीठाकुरजी उसके घर जाकर ज्वार की रोटी माँगकर खाये और एक रोटी बचाकर मन्दिर में भी लाये। प्रातःकाल जब पट खुले तो पुजारियों ने देखा। पूछने पर भगवान ने स्वप्न में बढ़ई के प्रेम की प्रशंसा की। चोखामेला भी जाति के चमार ही थे। उनके घर जाकर भी भगवान ने केला माँगकर खाया था। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २५३। ऐसे ही अनेकों प्रमाण हैं। इसी को लक्ष्य करके एक सन्त ने लिखा है-याकी जाति न जानी जाय बलम मेरा सतजतिया।। मेरे धन राम-भक्तों की सम्पत्ति भगवान का नाम, रूप, लीला, धाम है। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४४।।

पाथर न सरे काम- **नामनिष्ठ श्रीकबीरदासजी कहते हैं-निर्धन को धन राम हमारो निर्धन को धन राम। चोर न लेवै घटि नहिं जावै कष्ट में आवै काम।। सोवत जागत उठत बैठत जपौं निरन्तर राम। दिन-दिन होत सवाई दौलत खूटत नहीं छदाम।। अन्तकाल में छोड़ि चलत सब पास न एक बदाम। कहत कबीर ये धन के आगे पारसको क्या काम।। 'दाम मैं न चाहौं'- क्योंकि द्रव्य में अनेकों अनर्थ निवास करते हैं। देखिये श्रीजयदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त १५२। किसी कवि ने लिखा है-बात करैं निर्लोभ की मन में राखैं लोभ। युगल प्रेमरस रीतिको, कैसे उपजै गोभ।।' 'रांपी एक सोनो कर्‌यो'-भगवान ने विचार किया कि ये इस पारस का चमत्कार नहीं जानते हैं इसलिए अभी ऐसा कह रहे हैं, यदि प्रत्यक्ष देख लेंगे तो लपककर लेंगे। अतः रांपी को देखते-देखते सोना बना दिया। 'राखो यह छानि माँझ' श्रीरैदासजी ने सोचा कि सन्तों से तकरार करना ठीक नहीं है। अतः कहे कि झोंपड़ी में खोंस दीजिये। जब जी चाहे तब ले जाना। भगवान भी यह सोचकर धर दिये कि अभी वैराग्य चढ़ा है अतः उपेक्षा कर रहे हैं, जब आवश्यकता पड़ेगी तो काम में लेंगे ही। क्योंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी कही गयी है।**

आये फिरि श्याम मास तेरह वितीत भये प्रीति करि बोले कहो पारसकी रीतिकौ।
वाही ठौर लीजै मेरो मन न पतीजै अब चाहो सोई कीजै मैं तो पावत हौं भीतिकौ।।
लैकै उठि गये नये कौतुक सो सुनो पावैं सेवत मुहर पाँच नित ही प्रतीतिकौ।
सेवहु करत डर लाग्यो निसि कह्यो हरि छोड़ो अर अपनी औ राखो मेरी जीतिकौ।।२६३

शब्दार्थ-**पतीजै =विश्वास करै। अर = हठ। जीति = जीत।**

भावार्थ-साधुवेषधारी भगवान श्यामसुन्दर तेरह मास बीत जाने के बाद फिर श्रीरैदासजी के यहाँ आये और बड़े प्रेम से बोले-कहिये, रैदासजी! पारस का प्रयोग करके क्या

सेवा की। श्रीरैदासजी बोले-जहाँ आप रख गये थे, वहाँ ही रखा होगा। आप उसे ले लीजिये। उससे काम लेने का मन नहीं है, क्योंकि उस धन में विश्वास नहीं है। आप उसे ले जाइये और जैसी इच्छा हो वैसा कीजिये। मुझे तो उस पारस से तथा उससे हुए सोने से डर लगता है। श्रीरैदासजी की ऐसी बात सुनकर पारस को लेकर वे चले गये। अब इसके बाद भगवान ने जो नई लीला रची, उसे सुनिये। प्रातःकाल जब श्रीरैदासजी ठाकुर सेवा करने जाते तो नित्य पाँच मुहरें वहाँ मिलतीं। (उन्हें चिमटे से पकड़कर रैदासजी नित्य गङ्गा में डाल आते) अब तो रैदासजी को ठाकुरजी की सेवा से भी भय लगने लगा। तब भगवान ने स्वप्न में श्रीरैदासजी से कहा-'तुम अपना हठ छोड़ दो और मेरी जीत होने दो अर्थात् मैं जैसा चाहता हूँ वैसा करो।।२६३।।

व्याख्या-मेरो मन न पतीजै-श्रीरैदासजी अब दूसरे की वस्तु लेने से इतने डर गये थे कि अन्य की तो बात ही क्या स्वयं संत-भगवन्त का दिया हुआ भी लेने में भय खाने लगे थे। तभी तो कहा है कि-दूध से जली बिल्ली छाछ फूँककर पीती है। 'पावैं सेवत मुहर पांच'-ये उन मुहरों को हाथ से छूते भी नहीं थे। क्योंकि द्रव्य का स्पर्श भी अनर्थकारी होता है। यथा-पैसा पापी साधुको परसि लगावे पाप। (भ०र०) श्रीव्यासजी कहते हैं- व्यास कनक अरु कामिनी, ये लम्बी तलवारि। आये थे हरि भजनको, बीचै लीने मारि।। अर्थ की अनर्थ रूपता को लक्ष्य करके श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं-अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्तिततः सुखलेशः सत्यम्। पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः।। अर्थ- अर्थ (धन) को हमेशा अनर्थ रूप समझना चाहिए। इससे जीव को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता है। धनवान को पुत्रादि परिवारीजनों से भी भय रहता है। धन के सम्बन्ध में नीति में सर्वत्र ऐसा ही कहा गया है। अतः ये चिमटा से उठाकर (मानो बिच्छू हो) गङ्गा में फेंक आते। 'सेवहु करत डर लाग्यो'-श्रीरैदासजी अपनी पत्नी से बोले-देखो, अब तो घोर कलियुग आ गया है। कैसी विचित्र बात है कि अब तो सन्त पारस देने लगे हैं और भगवान मुहरें। जब ये माया से छुड़ाने वाले माया देंगे तो जीव का कैसे कल्याण होगा। हम तो ऐसे सन्त और ऐसे भगवन्त और इनकी ऐसी कृपा-तीनों को दूर से दण्डवत् करते हैं अब तो कहीं एकान्त में चलकर श्रीरामनाम जपूँगा। बाज आया इनकी सेवा से। क्योंकि माया का संग्रह भी और सेवा भी दोनों का एक साथ निर्वाह असम्भव है। यथा-कै माया कै हरिगुन गावै दोनों से दोनों चलि जावै।। पुनः-जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम। तुलसी कबहूँ कि रहि सकैं रवि रजनी इक ठाम।। (दो०) 'मेरी जीत को'-भाव यह कि मुझे

देने की जक लगी है और तुम्हें न लेने की जक लगी है, तो मेरी ही बात रह जाने दो। इस पर दृष्टान्त-राँका-बाँका का। देखिये कवित्त ४०१, ४०२, ४०३।

मानि लई बात नई ठौर लै बनाय चाय सन्तनि बसाय हरि मन्दिर चिनायो है।
विविध वितान तान गनौं जो प्रमान होइ भोइ गई भक्ति पुरी जग जस गायो है।।
दरसन आवै लोग नाना विधि राग भोग रोग भयो विप्रनि कौं तन सब छायो है।
बड़ेई खिलारी वे रहे हैं छानि डारि करी घर पै अँटारी फेरि द्विजन सिखायो है।।२६४

शब्दार्थ-वितान =मण्डप, चँदोवा। प्रमान = गिनती, नाप।

भावार्थ-अन्त में श्रीरैदासजी ने भगवान की बात मान ली। नित्य प्राप्त मुहरों से नई जगह लेकर विशाल सन्त-निवास और भगवान का भव्य-मन्दिर बनवाया। उसमें अनेक प्रकार के मण्डप तने हुए थे। उनकी गणना करके वर्णन तो तब किया जाय जब उनकी संख्या निश्चित हो (नित्य नवीन श्रृङ्गार दिखलाई देते थे) दिन-रात सेवा और भजन कीर्तन से ऐसा लगता था कि श्रीभक्तिदेवी यहीं रम गई हैं, दूसरी जगह जाना भूल गईं। श्रीरैदासजी का स्थान भक्ति नगरी बन गया था। इस प्रकार श्रीरैदासजी का सुयश संसार भर में फैल गया। अनेकों लोग दर्शन करने आते थे। नित्य अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर भोग-राग होते थे। यह देखकर ब्राह्मणों को ईर्ष्या का रोग हो गया। उससे उन लोगों के शरीर जलने लगे। भगवान बड़े ही विचित्र खेल-खेलने वाले खिलाड़ी हैं। कहाँ तो बेचारे श्रीरैदासजी छप्पर में सेवा करके स्वयं चौड़े में रहते थे और जब भगवान ने अटा-अटारी बनवाकर उन्हें ऐश्वर्य दे दिया। फिर अब ब्राह्मणों को सिखा दिया कि-श्रीरैदासजी का विरोध करो।।२६४।।

व्याख्या-मानि लई बात-भगवान की आज्ञा अनुल्लंघ्य है। यथा-प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।। (रामा०) अतः सब लोग मानते हैं। देखिये क० १४६, आज्ञा सिरमौर। पुनः-आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा।। (रामा०) अतः मानि लई०। 'सन्तनि बसाय हरि मन्दिर चिनायो है'-श्रीरैदासजी ने पहले सन्त-निवास बनवाया इसके बाद भगवान का मन्दिर। इससे इनकी विशेष सन्तनिष्ठा प्रकट होती है। भगवान की आज्ञा भी है-मोते सन्त अधिक करि लेखा।। श्रीरैदासजी के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने भगवान के पार्षद आये थे। जैसे श्रीलालाचार्यजी के भण्डारे में आये थे। देखिये छप्पय ३३।

'बड़ेई खिलारी'-भगवान बड़े ही क्रीड़ाप्रिय हैं। यह संसार भगवान की क्रीड़ा ही तो है। श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में भगवान श्रीरामको कौतुकी कहा है। यथा-बहु विधि विनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटे प्रभु कौतुकी कृपाला।। (बा० का०) पुनि-पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा।। हँसे राम श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता।। (लं० का०) भगवान भक्तों के साथ विविध कौतुक करते हैं। यथा-मुनिकर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करब मैं सोई।। (बा० का०) प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी।। (उ०का०) यहाँ श्रीरैदासजी के साथ भगवान ने कौतुक किया। एक बात स्मरण रखने की है कि भगवान जो कुछ करते हैं, वह भक्तों के हित के लिए ही, उनका सुयश बढ़ाने के लिए ही। यहाँ भी श्रीरैदासजी का हित ही हुआ है, सुयश ही बढ़ा है।

प्रीति रस रास सो रैदास हरि सेवत हे घर में दुराय लोक रञ्जनादि टारी है।
प्रेरि दिये हृदै जाय द्विजनि पुकार करी भरी सभा नृप आगे कह्यो मुख गारी है।।
जनकौं बुलाय समझाय न्याय प्रभु सौंपि कीनों जग जस साधु लीला मनुहारी है।
जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल याते सन्तनि प्रभाव मनि कोठरी की तारी है।।२६५

शब्दार्थ-लोक = लोग, संसार। रञ्जनादि = रिझाना आदि। टारी = त्याग दिया। प्रेरि दिये=उभाड़ दिये, उत्तेजित किये। मनुहारी = मनहारी, मनुहार, खुशामद। प्रतिकूल= विरोधी। अनुकूल =सहायक। तारी =ताली, चाभी।

भावार्थ-श्रीराम प्रेमरस की विशालमूर्ति श्रीरैदासजी चुपचाप अपने घर में भगवान की सेवा पूजा किया करते थे। लोगों को रिझाने की भावना का आपने सर्वथा त्यागकर दिया था। उसी समय उर प्रेरक रघुवंश विभूषण ने ब्राह्मणों के हृदय में प्रेरणा की कि-'रैदास की सेवा का विरोध करो, उसे बंद करा दो।' तब बहुत से ब्राह्मणों ने एकत्र होकर राजा के आगे भरी सभा में श्रीरैदासजी को गालियाँ देते हुए पुकार की, उन पर आरोप लगाया (कि वह शुद्र होकर पूजा करता है। यह अन्याय है, इसे रोका जाय, अन्यथा आपका राज्य नष्ट हो जायेगा) तब राजा ने श्रीरैदासजी को बुलवाया तथा उनका चमत्कार देखकर न्याय किया और श्रीरैदासजी को सेवा का अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार इनका सुयश सारे संसार में फैल गया। ये भक्तों की लीलाएँ मन को हरने वाली-अतिसुन्दर हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-जितने भक्त विरोधी दुष्ट हैं, उनको मैं विरोधी न मानकर उन्हें अनुकूल मानता हूँ, क्योंकि ऐसे दुष्ट-विरोधी लोग ही सन्त-प्रतापरूपी मणियों की कोठरी की ताली हैं

अर्थात् जब दुष्ट लोग भक्तों का विरोध करते हैं तब उनके चमत्कार देखने में आते हैं और भक्ति का प्रचार बढ़ता है।।२६५।।

व्याख्या-प्रीति रस रास०-यथा-तेरी प्रीति गोपाल सो जनि घटै हो। मैं मोल महँगे लई तन सटै हो। हृदय सुमिरन करूँ नैन अवलोकनो स्त्रवनों हरिकथा पूरि राखूँ। मन मधुकर करुँ चित्त चरना धरूँ राम रसायन रसना चाखूँ।। साधु संगत विना भाव न ऊपजै भाव विन भगती क्यों होय तेरी। बदत रैदास रघुनाथ सुन बीनती गुरु परसाद कृपा करौ मेरी।। 'लोकरंजनादि टारी'-यथा-रैदास राति न सोइये, दिवस न करिये स्वाद। अहनिसि हरिजन सुमिरिये छांड़ि सकल प्रतिवाद। उपहासी जग वार्ता तजिये खोटेकाम। हरि सन्तन गुन सुमिरिये, जपिये सीताराम।। विशेष देखिये छ० ५७ में 'काहू न जनावैं'-की व्याख्या। द्विजनिपुकार करी-यह कि-अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजा व्यतिक्रमात्। तत्र स्तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्।। (स्मृतौ) अर्थ-जहाँ पर पूजनीयों की पूजा का व्यतिक्रम करके अर्थात् जो पूजने योग्य हैं उनकी पूजा न करके अपूज्यों की पूजा होती है वहाँ दुर्भिक्ष मरण और भय-ये तीनों सदा बने रहते हैं। ऐसे ही ब्राह्मणों ने अनेकों शिकायतें की।

जनको बुलाय०-राजा ने श्रीरैदासजी को बुलाकर प्रथम बहुत आँख दिखाया कि तुम भगवान की सेवा-पूजा मत करो। तुम्हारा यह आचरण वेद विरुद्ध है। तब श्रीरैदासजी ने कहा कि वेद तो भगवान के ही श्रीमुख की वाणी हैं और जब भगवान ही सेवा चाहते हैं तब वह वेद विरुद्ध कैसे हुआ? राजा ने झुंझलाकर कहा कि हम यह कैसे विश्वास करें कि भगवान को तुम्हारी सेवा प्रिय है। श्रीरैदासजी ने कहा कि इसकी परीक्षा कर ली जाय। हम अपने भगवान को सिंहासन पर विराजमान कराकर सभा में लाते हैं। फिर उन्हें ब्राह्मण लोग भी बुलावें और हम भी बुलावें। भगवान जिसके पास चले जायँ उसकी सेवा प्रिय मानी जायेगी। राजा को यह सुझाव पसन्द आ गया। ब्राह्मणों ने भी श्रीरैदासजी के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्हें इस बात का अभिमान था कि उत्तमवर्ण ब्राह्मणों को छोड़कर भगवान हीन वर्णवाले शूद्र के पास कदापि नहीं जायेंगे। इधर श्रीरैदासजी को यह दृढ़-विश्वास था कि जो भगवान ऋषियों के आश्रमों को छोड़कर निषाद और शबरी के घर गये थे, वे मेरे यहाँ भी अवश्य आयेंगे और अपने पतितपावन विरद को चरितार्थ करेंगे। फिर तो ऐसा ही किया गया। (श्रीरघुराजसिंहजी ने श्रीशालिग्राम भगवान को श्रीगङ्गाजी में फेंकना और बुलाना लिखा है।) पहले ब्राह्मणों को आदेश दिया गया कि वे बुलावें। ब्राह्मण लोग कुशासन मृगचर्म, बाघम्बर आदि पर बैठ-बैठकर हवन, जप स्तोत्र पाठ करते-करते हार गये, परन्तु

भगवान तो हिले भी नहीं, आना तो बहुत दूर रहा। तदुपरांत श्रीरैदासजीको आज्ञा हुई। उस समय श्रीरैदासजी ने अत्यन्त उल्लास में भरकर यह पद गाया-हे हरि आवहु वेगि हमारे। जैसे आये द्रुपुद सुता के गजके काज सिधारे।। ज्यों प्रहलाद हेतु नरहरि ह्वै प्रगटे बज्र खम्भ को फारे। पति राखो रैदास पतित की दशरथ राजदुलारे।। पद पूरा होते-होते भगवान सिंहासन सहित आकर श्रीरैदासजी के हृदय से लग गये। सब ब्राह्मण नतमस्तक हो गये। श्रीरैदासजी को राजा की ओर से भी भगवान की सेवा का अधिकार मिल गया।

जिते प्रतिकूल०-यदि विरोधी लोग न हों तो सन्तों का महत्व ही न प्रकट हो प्रथम तो विरोधियों के भय से साधु बड़ी सावधानीपूर्वक अपनी साधुता बनाये रखते हैं, दोषदुर्गुणों से अपने को बचाये रखते हैं। यदि कदाचित् कोई दोष आ गया तो विरोधी उसे बिना कहे चूकने वाले नहीं हैं, फलतः उन्हें सुनकर सन्त तुरन्त सँभल जाते हैं। बहुत से ऐसे दोष हैं जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि अपने देखने में नहीं आते हैं परन्तु विरोधियों की बारीक दृष्टि तो उन्हें देख ही लेती है। यथा-जे पर दोष लखहिं सहसाखी।। (रामा०) सन्त सजग हो जाते हैं। अपना लोक-परलोक बिगाड़कर, कोटि-कोटि यम-यातना को स्वीकार कर विरोधी जी-भरकर सन्तों की निन्दा करते हैं, इससे इनके पापों का प्रक्षालन हो जाता है। देखिये श्रीनामदेवजीका प्रसङ्ग, कवित्त १२८। विरोधियों के निरन्तर विरोध करने से साधु सहज ही सहनशीलता गुण को प्राप्त कर लेते हैं। निरन्तर सहते-सहते उन्हें सहिष्णुता, क्षमा आदि गुण सिद्ध हो जाते हैं। तथा विरोधियों के द्वारा संसार में सन्तों का बिना प्रचार किये ही प्रचार भी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विरोधीजन सन्तों के शोधकर्ता, शुद्धिकर्ता, सिद्धकर्ता एवं प्रसिद्धकर्ता हैं। अतः श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल। 'मैं माने' में भाव यह है कि और कोई इन्हें प्रतिकूल समझे तो भले समझे, मैं तो अनुकूल ही समझता हूँ। मैं अपना विचार कहता हूँ।

कोठरीकी तारी हैं-भाव यह है कि जैसे ताली टेढ़ी होती है, कठोर होती है, वैसे ही दुष्टों का मन भी टेढ़ा होता है, क्रूर-कठोर होता है। जैसे ताली उल्टी घूमती है तो ताला खुलता है वैसे ही दुष्ट प्रतिकूल आचरण करते हैं तो सन्तों की महिमा प्रकट होती है। जैसे ताली के सीधे घूमने से ताला बन्द होता है उसी प्रकार दुष्ट लोग यदि अनुकूल व्यवहार करते हैं तो लोगों को संतों के प्रति भी कभी-कभी सन्देह होने लगता है, जिससे उनकी महिमा पर पर्दा पड़ जाता है। अतः दुष्टों का प्रतिकूल रहना ही सन्तों के हित में है। विमाता के प्रतिकूल आचरण से श्रीध्रुवजी की महिमा बढ़ी। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २६२। हिरण्यकशिपु

के प्रतिकूलाचरण से श्रीप्रहलादजी की महिमा बढ़ी। देखिये पूर्वार्द्ध ५५५। भावज के प्रतिकूल आचरण से श्रीनरसीजी की महिमा प्रकटी। देखिये आगे कवित्त ४२९। आगे के कवित्त में काशी के ब्राह्मणों के विरोध से श्रीकबीरदास जी का सुयश बढ़ा, आदि। इसी से विघ्न आने पर भक्तों को प्रेमोल्लास होता है। यथा-ज्यों-ज्यों आवै विघ्न डर त्यों-त्यों प्रेम हुलास। जैसे दीपक तम बढ़े, सतगुन करत प्रकास।

बसत चित्तौर मांझ रानी एक झाली नाम, नाम बिन कान खाली आनि शिष्य भई है।
संग हुते बिप्र सुनि छिप्र तन आंच लागी भागी मति नृप आगे भीर सब गई है।।
वैसेहि सिंहासन पै आनि कै विराजे प्रभु पढ़े वेद वानी पै न आये यह नई है।
पतितपावन नाम कीजिये प्रगट आजु गायो पद गोद आइ बैठे भक्ति लई है।।२६६

शब्दार्थ- आगि लागि = क्रोधमय, दुःख हुआ। भागी मति = बुद्धि मोहित या नष्ट हो गई। भीर सब = सब विप्रसमूह।

भावार्थ-चित्तौड़ नगर में झाली नाम की एक रानी रहती थी। उसके कान भगवान के नाम से खाली थे-अर्थात् किसी गुरु से उसने कान में मन्त्र नहीं लिया था। वह काशी आई, और श्रीरैदासजी के सुयश को सुनकर वह उनकी शिष्या हो गई। उसके साथ बहुत-से ब्राह्मण थे, यह समाचार सुनते ही द्वेषवश उनके शरीर में आग-सी लग गई। उनकी बुद्धि नष्ट हो गई। वे सब और लोगों की भीड़ को लेकर राजा के पास गये। (रैदास को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है, उन्होंने अनधिकार चेष्टा की है। आप न्याय करें, ब्राह्मणों ने यह मांग की) तब राजा ने श्रीरैदासजी को बुलवाया और भगवान की मूर्ति को सिंहासन पर विराजमान कराकर कहा-'बुलाने से भगवान जिसके पास चले जायेंगे वही उनकी सेवा का तथा उनके मन्त्रों को देने का अधिकारी समझा जायेगा।' ब्राह्मणों ने सस्वर वेदपाठ करके भगवान का आवाहन किया, किन्तु भगवान उनके पास नहीं गये। पश्चात् श्रीरैदासजी 'पतित पावन नाम आज प्रकट कीजै' यह पद गाया। तब भगवान श्रीरैदासजी की गोद में आकर विराजमान हो गये। यह एक नई घटना घटी। इसे देखकर लोगों ने भक्ति करना स्वीकार किया।।२६६

व्याख्या-नाम बिन कान खाली-सद्गुरु के द्वारा भगवन्नाम-मन्त्र श्रवण किये बिना कोई भी सिद्धि सम्भव नहीं है। यथा-यावद् गुरुर्न क्रियते सिद्धिस्तावन्न लभ्यते। तस्माद् गुरुर्हि कर्तव्यो नैव सिद्धिर्गुरुर्विना।। पुनः-देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः। तस्मात्

सर्वप्रयत्नेन, गुरुणा दीक्षितो भवेत्।। अर्थ-मन्त्रदीक्षा रहित प्राणी को न सिद्धि मिलती है न सद्गति ही। अतः सब उपाय करके गुरु द्वारा मन्त्र प्राप्त करना चाहिए। अतः रानी को मन्त्रोपदेश श्रवण करने की बड़ी त्वरा थी। 'आनि शिष्य भई है'-रानी की यह प्रतिज्ञा थी कि जिन्हें देखते ही उनमें मेरी गुरुबुद्धि हो जायेगी, उन्हें ही गुरु बनाऊँगी। इस प्रकार उन्होंने तीर्थाटन के व्याज से गुरुकी खोज में बहुत से सन्तों का दर्शन किया, परन्तु कहीं भी मन टिका नहीं। ऐसे ही काशी में भी आई। पण्डा-पुजारियों ने रानी को सभी स्थानीय सन्त-महन्तों का दर्शन कराया। परन्तु श्रीरैदासजी के यहाँ नहीं ले गये। रानी ने श्रीरैदासजी का सुयश पहले से ही सुन रखा था, अतः वहाँ भी जाने की इच्छा प्रकट की, तब तो पण्डा-पुजारी विवश होकर उन्हें वहाँ भी ले गये। दर्शन करते ही रानी की श्रीरैदासजी में गुरुबुद्धि हो गई अतः उन्होंने उपदेश के लिए प्रार्थना की। श्रीरैदासजी ने प्रथम तो टाल-मटोल किया, पुनः अपनी जाति पर उनका ध्यान आकृष्ट किया। परन्तु रानी ने स्पष्ट कह दिया कि आपमें मेरी जातिबुद्धि नहीं है, आपको तो मैं ईश्वररूप, गुरुरूप देखती हूँ। अधिकारी जानकर श्रीकबीरदासजी ने श्रीरैदासजी से अनुरोध किया तब उन्होंने रानी को उपदेश दिया।

नृप आगे भीर गई है- ब्राह्मणों ने जाकर हल्ला मचाया कि अब तक तो रैदासजी श्रीठाकुरजी की सेवा करते थे अब गुरु भी बनने लगे। इसका न्याय कीजिये। राजा ने कहा कि एक बार तो परीक्षा हो चुकी है, बार-बार भागवत की परीक्षा लेना ठीक नहीं है। तब ब्राह्मणों ने कहा महाराज! पहली बार उनके ही ठाकुरजी थे। उनके पास चले गये। अपने ठाकुर को बुलाने का होगा कोई चेटक-चमत्कार उनके पास। अबकी बार हमारे ठाकुरजी द्वारा परीक्षा होगी। राजा ने स्वीकार कर लिया। पुनः पूर्ववत् परीक्षा हुई। 'पढ़े बेद बानी पै न आये'-वेद-पाठ करते-करते ब्राह्मणों के गले सूख गये, परन्तु भगवान नहीं आये। इसका कारण ब्राह्मणों का जातिय अभिमान तथा भक्त के प्रति न्यून बुद्धि का होना है। भगवान को अभिमान से बड़ी चिढ़ है। यथा-अवनीस अनेक भये अवनी जिनके डर ते सुर सोच सुखाहीं। मानव-दानव-देव सतावन रावन घाटि रच्यो जगमाहीं।। ते मिलये धरि धूरि सुजोधन जे चलते वहु छत्रकी छाहीं। वेद-पुरान कहैं जग जान गुमान गोविंदहिं भावत नाहीं।। (क०) पुनः-सुनहु रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखैं काऊ।। (रामा०) दृष्टान्त-गरुड़, सत्यभामा एवं चक्र के अभिमान भङ्गका। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २०९ पर ७वाँ प्रसङ्ग। और भागवत अपराध भगवान क्षमा नहीं करते। यथा-जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।। (रामा०)

यह नई है-नई बात यह है कि बुलाने वाले ब्राह्मण हैं और प्रभु भी ब्रह्मण्यदेव हैं। यथा-प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना। मोहिं निति पिता तजेउ भगवाना।। (रामा०) पुनः नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण हिताय च।। तो भी नहीं आये। इसका एक कारण पूर्व कहा जा चुका है। दूसरा कारण प्रभु की भक्तवत्सलता है। श्रीअम्बरीष-दुर्वासाजी के प्रसङ्ग में प्रभु ने स्वयं कहा है-मैं तो हूँ अधीन तीन गुनको न मान मेरे भक्त वात्सल्यगुन सबही को टारे हैं।।क० ४०। एक बात स्मरण रखने की है कि यहाँ ब्रह्मण्यदेव प्रभु का ब्राह्मणों के प्रति अभाव नहीं समझना चाहिए, बल्कि कृपा समझनी चाहिए। कृपालु प्रभु ने उनका अभिमान दूर करके उन्हें सन्त का स्वरूप समझाया। एक बड़े अच्छे सन्त कहते हैं कि संत का और श्रीश्रीजी का स्वरूप भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है। श्रीब्रह्माजी और शिवजी ने श्रीदुर्वासाजी से कहा था कि-'सन्तन को भेद नहीं जान्यो वेद धारे हैं।' भाव यह है कि वेद समझ लेना सरल है परन्तु सन्त का स्वरूप समझना सहज नहीं । 'गायो पद'-तत्पश्चात् श्रीरैदासजी ने यह पद गाया-आयौं आयौं हौं देवाधिदेव तव शरण आयौं। सकल सुखको मूल जाके नाहिं समतूल सो चरणमूल पायौं।। कियो विविध जोनि वास जमकी अगमत्रास तुम्हरे भजन बिन भ्रमत फिर्‌यौ। मायामोह विषय रसलम्पट यह दुस्तर दुःख तर्‌यौ। तुम्हरे नाम विश्वास छांड़ि आन आस संसारी धर्म मेरो मन न पतीजै। रैदासदासकी सेवा मानहु देवा पतितपावन नाम आज प्रगट कीजै।। पुनः-सदा कृपानिधान हौ कहा कहौं सुजान हौ अमान मान दान हौ समान काहि कीजियै। रसालसिन्धु प्रीति के भरे खरे प्रतीति के निकेत रीति नीतिके सुदृष्टि देखि जीजियैं। टकी लगी तिहारिये सुआप यौं निहारिये। समीपकै विहारियै उमंग रङ्ग भीजियै। पयोद मोद दाइयै विनोदको बढ़ाइयै विलम्ब छांड़ि आइयै कितौ बुलाइ लीजियै।। पुनः-प्रमान करौ प्रभु प्रन अपना। दीनबन्धु दीन दया करना।। हिरनाकुस उदर विदारना। प्रहलाद विषाद निवारना।। ग्राह ग्रसौ गज कारना। तेरो सुमिरन जसु बड़ धारना।। रैदास भनै भव तारना। प्रभु अब बिलम्ब केहि कारना।।

गोद आइ बैठे-अत्यन्त प्रेमवश होकर भगवान श्रीरैदासजी की गोद में आकर विराजमान हो गये। श्रीरैदासजी के एक पद से तो भगवान का सिंहासन सहित उनके सिर पर विराजना पाया जाता है। यथा-देवाधिदेव आयौं तव सरना। कृपा कीजै जानि अपनो जना। जाति न कुल विद्या नहिं समुझौ घाटि रच्यो बिधिना। या जग मो समान नहिं कोऊ विना एक सधना। सीस सिंहासन आय विराजे सुनि राम करुणा। कहैं रैदास दास मैं तेरो, राजा

आदि परे चरणा। श्रीलालदासजी ने इसी आशय का एक पद गाया है। यथा-मृतक ढोर ढोवत कुल जाको हरि मूरति त्यहिं नैननि परकी। लेवन लग्यो जग्यो जग ऊपर निंदक जन भूसन कूकर की।। प्रभु प्रसन्न सिर चढ्यो सिंहासन जैति-जैति धुनि काशि नगरकी। लाल कृपाल प्रेम रस बन्धन निर्भय भक्ति राधिकावर की।।

गई घर झाली पुनि बोलिकै पठाये अहो जैसे प्रतिपाली अब तैसे प्रतिपारियै।
आपुहू पधारे उन बहु धन पट वारे विप्र सुनि पांव धारे सीधो दै निवारियै।।
करिकैं रसोई द्विज भोजन करन बैठे द्वै-द्वै मधि एक यों रैदासको निहारियै।
देखि भई आखें दीन भाषैं सिखलाखैं भये स्वर्णको जनेऊ काढ़्यो त्वचा कीनी न्यारियै।।२६७

शब्दार्थ-बोलिकै पठाये =बुला भेजा। प्रतिपाली = पालन पोषण किया। प्रतिपारिये = प्रतिपाल कीजिये। वारे = न्यौछावर किये। पांव धारे= आये। निवारियै= निबटाइये, अलग कीजिये। मधि = बीच। भईं आंखैं = ज्ञान हुआ, होश आया। सिख = शिष्य। लाखैं = लाखों। त्वचा = खाल। न्यारिये = अलग।

भावार्थ-झालीरानी काशी से अपने घर को गईं तब कुछ दिन बाद वहाँ से रानी ने श्रीरैदासजी को इस प्रकार प्रार्थना करके बुलावा भेजा कि-'प्रभो! जिस प्रकार काशी में मंत्र प्रदान कर आपने मेरा प्रति पालन किया था उसी प्रकार चित्तौड़ पधारकर मेरे ऊपर कृपा कीजिये।' रानी के बुलाने पर श्रीरैदासजी चित्तौड़ को पधारे। रानी ने बड़ा-भारी स्वागत किया और बहुत-सा धन तथा वस्त्र न्यौछावर किये। साधुओं के विशाल भण्डारे हुए। यह सुनकर बहुत से ब्राह्मण भी पधारे। उन्होंने भण्डारे में भोजन करना स्वीकार नहीं किया इसलिए उन्हें सीधा-सामान दिया गया। ब्राह्मणों ने रसोई की और जब भोजन करने के लिए बैठे, तो उन्हें पंक्ति में दो-दो ब्राह्मणों के बीच में एक-एक रैदास दिखाई पड़े। यह चमत्कार देखकर उनकी आँखें खुल गईं। अर्थात् भक्ति की महिमा का ज्ञान हो गया। तब वे दीनवाणी से अपराध क्षमा करने की प्रार्थना करने लगे। लाखों ब्राह्मण भी उनके शिष्य हो गये। श्रीरैदासजी ने अपने शरीर की त्वचा को चीरकर सोने का यज्ञोपवीत सबको दिखाया। इससे सबको विश्वास हो गया कि 'ये दिव्यपुरुष हैं'।।२६७।।

व्याख्या-सीधो दै निवारियै-काशी के ब्राह्मण तो श्रीरैदासजी की भक्ति का चमत्कार बार-बार देख चुके हैं अतः वे तो अब नतमस्तक हैं, परन्तु चित्तौड़ के ब्राह्मण अभी अपरिचित थे अतः उन लोगों ने भण्डारे में पाने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि यहाँ शूद्र

की प्रधानता है अतः उन लोगों को अलग से सीधा दे दिया गया। 'द्वै-द्वै मधि एक रैदास'- जैसे महारास के समय-द्वै-द्वै गोपिन बिच-बिच नन्दलाला' प्रकट हो गये थे। ब्राह्मणों के भोजन कर चुकने पर श्रीरैदासजी उनके बीच सहसा प्रकटे, जिससे उनके भोजन में विघ्न न हो। तथा यह चमत्कार भी जो दिखाया वह कुछ अपनी विशेषता प्रकट करने के लिये नहीं, बल्कि भक्ति की महिमा दिखाने के लिए। श्रीरैदासजी की अचिन्त्य शक्ति को देखकर ब्राह्मणों ने इन्हें साक्षात् भगवत्स्वरूप समझा।

विशेष-काशीनरेश श्रीकबीरदासजी के शिष्य थे। परन्तु श्रीरैदासजी में भी भाव रखते थे। क्योंकि एक तो ये भी परमसिद्ध थे, दूसरे श्रीगुरुजी (कबीरदासजी) के गुरु भाई थे श्रीकबीरदासजी भी इनका बड़ा आदर करते थे। एक दिन राजा श्रीरैदासजीका दर्शन करने आये तो ये उस समय तत्काल ही भगवान की मानसी पूजा करके निवृत्त हुए थे। भाववेष में इन्होंने राजा को प्रणाम करते देखकर कहा-राजन्! लो भगवान का चरणामृत। राजा ने हाथ बढ़ाया तो इन्होंने जो कठौती में चमड़ा भिगोने का जल था वही दे दिया। राजा ने डर के मारे ले तो लिया परन्तु पीने का साहस नहीं हुआ। लेकिन फेंकने की भी हिम्मत नहीं पड़ी। अतः पीने का स्वांग करते हुए उसे अपनी कोट की बाहों में ढरका दिया। उससे कोट की बांहों में कुछ लालसा दाग पड़ गया। राजा मन मारे घर आये और विचार करने लगे कि रैदासजी को ऐसा नहीं करना चाहिए था। आखिर हैं तो चमार ही न। फिर कोट को धोने के लिए धोबी को दे दिया। धोबी ने अनेक यत्न किये परन्तु वह दाग नहीं छूटा। तब वह उसे दाँतों से रगड़कर छुड़ाने लगा। इससे उस दाग का स्वरस उसके मुंह में चला गया। तत्काल उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। सारा संसार उसे राममय दिखने लगा वह प्रेमोन्मत्त हो गया। अब वस्त्र कौन धोता है। वह तो देह की सुधि-बुधि भूले भगवान का नाम रटने लगा। तब जैसे-तैसे वह वस्त्र सहित राजा के पास लाया गया तो सब बात विदित होने पर राजा बहुत ही पछताये कि यदि मैंने पी लिया होता तो मुझे भी तत्त्व साक्षात्कार हो जाता। फिर तो काशीनरेश तुरन्त दौड़े-दौड़े श्रीरैदासजी के पास आये और चरणामृत की याचना करने लगे। श्रीरैदासजी ने विनम्रतापूर्वक कहा राजन् चरणामृत तो यह तब ही रहा, अब तो यह सचमुच चमड़ा भिगोने का जल ही है। राजा अपनी भूल पर बड़े लज्जित हुए।

एक दिन गुरु गोरखनाथजी श्रीरैदासजी से मिलने गये। प्यास लगने पर उन्होंने जल मांगा तो श्रीरैदासजी ने उनके खप्पर में वही कठौती का पानी भर दिया। परन्तु जब

गोरखनाथजी को यह ध्यान आया कि यह तो एक तो चमार हैं, दूसरे चमड़ा भिगोने वाला कठौती का ही जल दे दिया, तब उस पानी को नहीं पिये, परन्तु गिराये भी नहीं। वैसे ही खप्पर भरे श्रीकबीरदासजी के पास गये। श्रीकबीरदासजी ने खप्पर को भरा देखकर पूछा कि इसमें क्या है तो उन्होंने सब हाल कह सुनाया। श्रीकबीरदासजी की पुत्री कमाली, जो पास ही बैठी थी और रैदासजी की भक्ति से परिचित थी, वह उस पानी को पी गई। पानी पीते ही उसके हृदय में दिव्य ज्ञान हो गया। श्रीगोरखनाथजी कुछ देर तक श्रीकबीरजी का सत्संग करके अपना रास्ता लिए। इसी बीच कमाली का विवाह हो गया। तब वह अपने पति के साथ मुल्तान चली गई। कुछ काल बाद श्रीगोरखनाथ जी अपने मत का प्रचार करने के लिए तीर्थाटन को निकले। वे अपनी योगसिद्धि से सबको प्रभावित करते थे। उनके पास एक खप्पर था जो सिद्धिबल से कभी भरता ही नहीं था। उनका कहना था कि जो मेरे खप्पर को भर देगा उसी के यहाँ भोजन करूँगा। परन्तु बहुत देश घूमे, कोई भी राजा-रईस उनके खप्पर को नहीं भर सका। ऐसे ही विचरते हुए वे संयोग से मुल्तान आ पहुँचे। कमाली को पता चला कि यहाँ गोरखनाथजी आये हैं तो उसने पति से प्रार्थना किया कि आज घर पर उनका निमंत्रण किया जाय। पति ने कहा- 'कैसी पागल की सी बात कर रही हो? भला उनका खप्पर हम कैसे भर सकेंगे? और बिना खप्पर भरे वह कुछ खा नहीं सकते हैं। परन्तु कमाली के आग्रह पर श्रीगोरखनाथजी का निमन्त्रण हो गया। निश्चित समय पर वे घर पर आये। कमाली ने परदे की आड़ से उनके सामने थाल परोसकर खिसका दिया। उन्होंने अपना खप्पर भरने को कहा, कमाली ने चम्मच से चावल उठाकर उनके खप्पर में डाल दिया। उनका खप्पर उतने में ही भर गया। श्रीगोरथनाथजी ने विस्मित होकर पूछा-तुम कौन हो? उत्तर मिला-बेटी कमाली। श्री गोरखनाथजी ने पूछा बेटी कमाली तुमने यह कमाल कहाँ से सीखा? उसने कहा-यह उस खप्पर के जल का प्रभाव है। तब गोरखनाथजी की आँखें खुलीं और वे यहाँ से सीधे काशी आकर श्रीरैदासजी की कठौती का जल पीने लगे। तब श्रीरैदासजी ने कहा-प्याते थे तब पिया नहीं जिन पिया, पिया को जान लिया। भूला जोगी फिरे दिवाना वह पानी मुल्तान गया।। गोरखनाथजी हाथ मलकर रह गये।

एक ब्राह्मण नित्यप्रति राजा की ओर से श्रीगङ्गाजी को पुष्प चढ़ाने जाया करते थे। श्रीरैदासजी का घर मार्ग में ही पड़ता था अतः पण्डितजी रोज ही श्रीरैदासजी को भी गंगा स्नान के लिए उकसाते और ये अपनी असमर्थता, विवशता, दीनता आदि दिखाते हुए घर से ही श्रीगङ्गाजी को प्रणाम कर लेते थे। एक बार कोई पुण्यपर्व था। ब्राह्मण ने आज

श्रीरैदासजी को गङ्गा स्नान के लिए बहुत ही झकझोरा। श्रीरैदासजी जा तो नहीं सके। परन्तु श्रीगङ्गाजी की भेंट के लिए दो केले श्रीपंडितजी को देकर बोले कि आप राजा साहब की ओर से तो पुष्प चढ़ाते ही हैं, ये मेरे दो केले भी श्रीगंगा मैया को भेंटकर दीजियेगा। श्रीगङ्गाजी जो कुछ आशीर्वाद या प्रसाद दें वह कृपाकर लेते आइयेगा। पंडितजी केले लेकर चल दिये। तट पर पहुँचकर पहले पुष्प चढ़ाये फिर रैदासजी के केले। तो क्या आश्चर्य देखते हैं कि एक दिव्य हाथ प्रवाह से ऊपर उठकर श्रीरैदासजी की भेंट लेकर अदृश्य हो गया, पुनः वही हाथ फिर प्रकट हुआ और उसमें एक दिव्य कंकण था। आकाशवाणी हुई कि यह कंकण श्रीरैदासजी को दे देना। ब्राह्मण देवता कंकण लेकर चल दिये। रास्ते में उन्हें लोभ आया और विचार करने लगे कि रैदास तो इसे जानते नहीं हैं, फिर उन्हें क्यों दूं। फिर तो पण्डितजी कंकण लेकर सीधे अपने घर को चल दिये। परन्तु भगवान ने ऐसी लीलाकी कि वह किसी मार्ग से जाते, घूम-फिरकर पुनः श्रीरैदासकी कुटी पर ही आ जाते। कई बार गये और कई बार आये। अन्ततोगत्वा हारकर पण्डितजी ने वह कंकण श्रीरैदासजी को दे दिया और सब वृत्तान्त कहा। परम अकिंचन श्रीरैदासजी ने वह कंकण पण्डितजीको ही दे दिया। श्रीपण्डितजी ने उसे एक सुनार के हाथ बेच दिया और सुनार के यहाँ से नगर सेठ ने खरीद लिया। नगर सेठ की काशी नरेश से मित्रता थी।

एक दिन सेठ की स्त्री उस कंकण को पहनकर रानी से मिलने गई तो रानी को वह कंकण बहुत पसन्द आया। फिर तो सेठानी ने उसे रानी को ही भेंट कर दिया। रानी ने वह कंकण राजा को दिखाया और वैसा ही दूसरा बनवाने को कहा। राजा ने सुनारों को बुलाकर बनाने को कहा तो वे जवाब दिये कि महाराज! यह हमारी कारीगरी से बाहर है। यह तो ईश्वर के हाथ का बनाया मालूम होता है। तब राजा ने यह खोज कराई कि यह कंकण आया कहाँ से? निदान सूत्रों से पता चला कि आपके पुरोहित ने सुनार को बेचा था। फिर पुरोहित जी बुलाये गये। पूछने पर प्रथम तो वे सिटपिटाये परन्तु बाद में सब बात बता दिये। तब सब लोग श्रीरैदासजी के पास आये और चरणों में पड़कर एक और कंकण के लिये प्रार्थना किये। श्रीरैदासजी ने पहले टालमटोल किया, परन्तु अत्यधिक आग्रह करने पर- 'मन चंगा तो कठौती में गङ्गा' ऐसा कहकर श्रीगङ्गाजी से प्रार्थना की कि माताजी! कृपा करके एक कंकण और दीजिये। सबके देखते-देखते कठौती में ही एक दिव्य हाथ प्रकट हुआ। वैसा ही कंकण देकर अदृश्य हो गया। श्रीरैदासजी का यह चमत्कार देखकर सब दंग रह गये। सबने विनयावनत होकर प्रणाम किया।

सबके चले जाने पर एकान्त में पंडितजी ने श्रीरैदासजी से पूछा-भक्तजी! आखिर यह सब चमत्कार आपमें कहाँ से आया, कैसे प्राप्त हुआ, श्रीगङ्गाजी आपको इतना क्यों मानती हैं? श्रीरैदासजी ने मुस्कुराकर कहा-'पंडितजी! इसमें मेरी करामात कुछ भी नहीं है, मेरी पत्नी बड़ी पतिव्रता है, परम आज्ञाकारिणी है, अतः यह सब उसी का पुण्य-प्रताप है। पंडितजी ने कहा कि हम यह कैसे समझें कि आपकी पत्नी ऐसी हैं। तब श्रीरैदासजी ने कहा कि अच्छा, आप मेरे घर जाकर मेरी पत्नी से कहिये कि तुम्हारे पति ने कहा है कि कल मैं जो संतसेवा के लिये पांच सेर घी लाया हूँ उसे पात्र सहित आँगन में पटक दो। ब्राह्मण ने ऐसा ही जाकर कहा और उस साध्वी ने भी बिना कुछ ननु-नच किये वैसा ही किया। तब ब्राह्मण के मन में आई कि जरा मैं भी अपनी पत्नी की परीक्षा लूँ, देखूँ वह कितनी आज्ञाकारिणी है। अतः अपने घर आकर ब्राह्मणीसे बोले कि मैं जो कल यजमान के यहाँ से एक पाव घी लाया हूँ उसे पात्र सहित आँगन में फेंक दो। यह सुनकर ब्राह्मणी बिगड़कर बोली-भाँग अधिक पी लिये हो क्या? पंडितजी ने कहा-नहीं, भांग तो नेक भी नहीं पी है। पंडितानीजी ने कहा तो क्या दिमाग खराब हो गया है। पंडितजी ने कहा-नहीं, मैं बिल्कुल होश-हवास में कह रहा हूँ तुम शीघ्र मेरी आज्ञा का पालन करो। तब पंडितानी झुंझलाकर बुहारी लेकर मारने को दौड़ी। पंडितजी ने माथा ठोका कि हम कहाँ तक विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ करेंगे और गङ्गा मइया को मनायेंगे, जब घर में ही कुलक्षणी नारि का कुसङ्ग है। उसी दिन से पंडिजी ने ऐसी पत्नी से हाथ जोड़ लिया और वैराग्यपूर्वक रहने लगे। नित्य श्रीरैदासजी का सत्संग करते और रामनाम रटते।

श्रीरैदासजी के भक्ति-भाव से प्रभावित होकर श्रीमीराबाई जी ने भी इनसे उपदेश लिया था। यह बात श्रीमीराजी के ही पदों से प्रमाणित होती है। यथा-मीरा मेरे सन्त हैं, मैं सन्तनकी दास। चेतन सन्ता सेन थे दीसत गुरु रैदास।। मीरा सद्‌गुरु की करै वन्दना आस। चित चेतन आतम महा धन्य भगत रैदास।। नहिं मैं पीहर सासरे नहीं पिया के पास। मीरा को गोविन्द मिले गुरु मिले रैदास।। 'गुरु मिलिया रैदासजी दीन्ही 'ज्ञान की गुटकी। रैदास संत मिले मोहि सद्‌गुरु दीन्हा सुरत सहिदानी आदि। श्रीरैदासजी साक्षात् धर्म के अवतार थे। यथा-वन्दौं यम जिन भक्ति दृढ़ाई। श्रीरैदास रूप जग आई।। (श्रीरामानन्दाचार्य-चरितामृत)।

श्रीकबीरदासजी

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।।
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी शबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी।।
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।।६०।।

शब्दार्थ-कानि =मर्यादा, सीमा। तुरक = तुर्क, मुसलमान। रमैनी = कबीरदास के बीजक का एक भाग, जिसमें दोहे और चौपाइयाँ हैं। शबदी = बीजक का एक भाग। साखी = साक्षी, ज्ञान सम्बन्धी कविता। आरूढ़दशा = (आरूढ़ = चढ़ा हुआ, दृढ़)-भक्ति की ऊँची अवस्था। जगत पर =संसार से परे अर्थात् अलग। भनी = कही।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी ने भक्तिहीन षड्दर्शन एवं वर्णाश्रम धर्म को मान्यता नहीं दी, उनकी मर्यादा नहीं रखी।। वे भक्ति से विरुद्ध धर्म को अधर्म ही कहते थे। उन्होंने बिना भजन के योग, यज्ञ, व्रत और दानादि को व्यर्थ सिद्ध किया। उन्होंने अपने बीजक रमैनी, शब्दी और साखियों में किसी मत विशेष का पक्षपात न करके सभी के कल्याण के लिये उपदेश दिया। हिन्दू, मुसलमान सभी के लिये उनके वाक्य प्रमाण हैं। ज्ञान एवं पराभक्ति की आनन्दमयी अवस्था में सर्वदा स्थित रहते थे। श्रीकबीरदासजी ने किसी के प्रभाव में आकर मुँह देखी (उसके मन की सी झूठी) बात नहीं कही। वे जगत् के प्रपञ्चों से सर्वथा दूर रहे।।६०।।

व्याख्या-कबीर कानि राखि नहीं०-श्रीकबीरदासजी की वाणियों में यत्र-तत्र वर्णाश्रम धर्म वा षड्दर्शनादि पर आक्षेप-सा पाया जाता है। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि इन प्रसङ्गों में जब वे हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों की बातें कहते हैं तो उनका लक्ष्य दोनों धर्मों की संकीर्णताओं पर ही प्रमुख रूप से पाया जाता है। षड्दर्शन-ज्ञान के भी उसी रूप का बहिष्कार करते हैं जिसमें केवल कोरा कथन मात्र है, आचरण की गंध भी नहीं है। इसी प्रकार योग-यज्ञ, जप-तप, व्रत-दानादि साधनों पर भी जो कहीं-कहीं करारा व्यंग्य करते पाये

जाते हैं, वह भक्तिरहित एवं भक्तिविमुख साधनों पर ही। भक्तियुक्त धर्म-ज्ञान-तप-जोग आदि के तो प्रबल समर्थक हैं। श्रीनाभाजी ने छप्पय में यह बात स्पष्ट कर दी है कि-भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो। तथा -जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।। साथ ही श्रीकबीरदासजी ने जो कुछ भी कहा है, उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में पुनः-पुनः श्रीनारद, व्यास और शुकदेवजी का स्मरण किया है। यथा-'कबीर विचारा क्या करे, जाकी सुखदेव बोलैं साखि।।' नारद कहैं व्यास यों भाखै सुखदेव पूछौ जाई।' 'कहैं कबीर हूँ कहता करुँ। सुखदेव कहैं तो मैं क्या करुँ।।' (माताप्रसाद गुप्तजी द्वारा सम्पादित कबीर ग्रन्थावली-साखी-२९-११, गौड़ी ३९, गौड़ी १२५।) वस्तुतः श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में भी तो भक्ति के प्रतिपादन में इस प्रकार के वचन प्राप्त ही होते हैं। यथा-नालं द्विजत्वं देवत्व···(भा०) अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्···। (भा०) नाहं वेदैर्नतपसा···(गीता) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८२, ४२०, २७०।।

श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है-सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।। नर विविध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू। विस्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू।। (रामा०) ज्ञान विराग जोग जप तप मख जग मुदमग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हलोरे।। (वि०) नाम रामको अंक है सब साधन हैं सून। अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहें दस गून।। (दो०) अतः कबीर कानि राखी नहीं। भक्ति विरहित वर्णाश्रम धर्मको लक्ष्य करके श्रीकबीरदासजी कहते हैं-कबीर सब जग भूलिया, आस्त्रम बरन अचार। राम नाम नहिं सुमिरिया, जासूँ हों भव पार। भगति हीन अस जीवयां जनम मरन बहु काल। आस्त्रम अनेक कर सिरे जियरा, राम बिना कोइ करे न प्रतिपाल।। खण्डन-मण्डन की खटपट में पड़े षड्दर्शनियों को देखकर श्रीकबीरदासजी कहते हैं-कबीर धरती अरु आसमान विचि दोइत (द्वैत) बड़ा अबद्ध। षटदर्शन संसै षड्या, अरु चौरासी सिद्ध।। पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पण्डित भया न कोय। एकै आखर पीव का पढ़ै सो पण्डित होय।। कबीर पढ़िवा दूरकर पोथी देइ बहाइ। बावन आखर सोधि करि ररै ममै चितलाइ।। (साखी)

भक्ति विमुख···अधरम करि गायो- यथा-पांडे कौन कुमति तोहिं लागी। तू राम न जपहिं अभागी।। वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दनको भारा। राम नाम तत समझत नाहीं अन्त पड़ै मुखि छारा।। वेद पढ्यां का यह फल पांडे सब घटि देखै रामा।

जनम मरन थै तौ तूं छूटै सुफल होहिं सब कामां।। जीव बधत अरु धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई। आपन तौ मुनि जन ह्वै बैठे कासनि कहौं कसाई।। नारद कहैं व्यास यूं भाखैं सुखदेव पूछो जाई। कहैं कबीर कुमति तब छूटै जे रहौ राम लवलाई।। पुनः-पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा। आप न पावै नाना भेदा।। संध्या तरपन अरु षट करमा। लागि रहे इनकै आश्रममां।। गायत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछौ जाइ मुक्ति किन पाई।। करम का बांध्या जीयरा, अहनिसि आवै जाइ। मनिषा देही पाइ करि हरि विसरै तौ फिरि पछताइ।। (रमैनी) 'जोग जज्ञ···तुच्छ दिखायो'-यथा-कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत विसवास। सूवा सेमल सेइया, यूं जग चल्या निरास।। (साखी) मन रे जब तैं राम कह्यौ। पीछे कहिबे को कछु न रह्यौ।। का जप जोग तप दानां। जौं तैं राम नाम नहिं जाना।। (राग सोरठि ४) हिन्दू तुरक प्रमान०-यथा-हमारे राम रहीम करीमा केसौ अलह राम सति सोई। विसमिलि मेटि विसम्भर एकैं और न दूजो कोई।। इनके काजी मुलां पीर पैगम्बर रोजा पछिम नेवजा। इनके पूरब दिसा सेव दिज पूजा ग्यारसि गंग दिवाजा।। तुरक मसीति, देहुरे हिन्दू दुहु ठां राम खुदाई। जहाँ मसीति देहुरा नाहीं तहाँ काकी ठकुराई।। हिन्दू तुरक दोऊ राह तूटी फूटी अरु अनराई।। अरध उरध दसौं दिसि जित तित पूरि रह्या राम राई।। कहै कबीरा दास फकीरा अपनी राह चलि भाई। हिन्दू तुरक का कर्ता एकैं ता गति लखी न जाई।। (राम गोड़ी ५८)।

पक्षपात नहिं वचन०-यथा-कंकड़ पत्थर जोरि कै मस्जिद लई चिनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दै, क्या बहरा भया खुदाय।। (चींटी के पग नूपुर बाजे सोऊ साहब सुनता है।) कबीर जग बौरा भया पाथर पूजे जाय।। घर की चाकी ना पुजे जाका पीसा खाय।। पुनः-सन्तो राह दोऊ हम दीठा। हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै स्वाद सबहिंको मीठा।। हिन्दू बरत एकादसि राखै दूध सिंघाड़ा सेती। अन्नको त्यागै मन नहिं हटकै पारन करै सगोती। रोजा तुर्क नमाज गुजारै विसमिल बांग पुकारै। उनको मुकुति कहा ते होई सांझैं मुरगो मारैं।। हिन्दू तुरक की एक राह है सतगुरु इहै बताई। कहैं कबीर सुनो भाई सन्तौ राम न कहेउ खुदाई।। दिनभर रोजा रहत हैं रात हनत हैं गाय। यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुशी खोदाय। पुनः-पांडे भली कथा कहि जानै। औरनि परमारथ उपदेशैं आपु स्वार्थ लपटाने।। ज्यों दीपक घर करैं उजारो निज तन मन सन ठानै। महिषी क्षीर स्त्रवै औरनिको आपु भुसहिं रुचि मानै।। श्रोता गोता क्यों न खाय आचारज फिरै भुलाने। यह कलि छलि सबकी मति नाठी समुझत लाभ न हाने।। हितकी कहत लगत अनहितकी रज राजस में सानैं। कहत कबीर बिना रघुवीरहिं यहि पीरहिं को जानैं।।

हितकी भाखी-भाव यह कि यह सब जो श्रीकबीरदासजी ने कहा है, वह ईर्ष्या-द्वेषवश नहीं, बल्कि हित की कामना से और वह भी भगवान की आज्ञा से। यथा-हरिजी यहै विचारिया साखी कहौ कबीर। भौसागर में जीव है, जे कोइ पकड़े तीर।। मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि काहुको समझाइ। कहैं कबीर मैं कहि हार्‌यो अब मोहि दोष न लाइ।। श्रीकबीरजी चाहते थे कि-सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।। 'आरूढ़ दशा'-भाव यह कि श्रीकबीरजी कोरे उपदेशक मात्र नहीं थे, आचरणशील भी थे। वे बिना करनी के कथनी मात्र को कोई महत्व नहीं देते थे। यथा-कबीर कथनी कथी तौ का भया, जे करनी ना ठहराइ। कालबूत के कोट ज्यों देखत ही ढहि जाइ।। (साखी) (कालबूत=महराब आदि बनाने के लिए वह लाग या भराव जो उस महराब आदि के पोख्ता होने पर ढहा दिया जाता है।) अन्यत्र भी कहा गया है-कहते हैं करते नहीं मुँह के बड़े लवार। कारो मोहड़ो होयगो, साईं के दरबार।। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं-पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।। श्रीकबीरदासजी ने स्वयं आचरण करते हुए, सत्पथ पर आरूढ़ रहते हुए दूसरों को सन्मार्ग दर्शन किया है। 'जगत-पर'-भाव यह कि ये जगत् में रहते हुए भी जगत् से बाह्य थे जैसे-पद्मपत्र। यथा-जे विरञ्चि निर्लेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये।। (रामा०) पुनः-ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। (गी० ५-१०) अर्थ-जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा को अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमल के पत्ते की भाँति पापसे लिपायमान नहीं होता।। 'मुख देखी नाहिन भनी'-अर्थात् सत्य एवं सुस्पष्ट वक्ता थे। ये ठकुरसोहाती के पक्षपाती नहीं थे। इसके दो कारण थे-१. समर्थ थे, अतः निर्भय थे। असमर्थ को दो टूक बात करने का साहस नहीं होता है। २. गुरु थे। गुरु यदि उपदेश में मुख देखी कहेंगे तो धर्म का नाश निश्चित है। यथा-सचिव वैद्य गुरु तीन जौं, प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनि कर होइ वेगि ही नास।। (रामा०)

अति ही गम्भीर मति सरस कबीर हियो लियो भक्ति भाव जाति पांति सब टारियै।
भई नभ बानी देह तिलक रमानी करौ करौ गुरु रामानन्द गरैं माल धारियै।।
देखैं नहिं मुख मेरो मानिकै मलेछ मोंको जात न्हान गंगा कही मग तन डारियै।
रजनी के शेष में आवेश सों चलत आप परै पग राम कहै मन्त्र सो विचारियै।।२६८

शब्दार्थ-गम्भीर = गहरे ज्ञानी, दुर्बोध, भावुक। तिलक रमानी = तिलकों से युक्त

सुशोभित वा रामानन्दी तिलक। मलेछ = म्लेच्छ, मुसलमान। रजनी के शेष =थोड़ी रात रहे, ब्राह्ममुहूर्त। आवेश सों = प्रेम प्रेरणा से।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी की बुद्धि अत्यन्त गम्भीर थी और उनका हृदय प्रेमाभक्ति से सर्वथा परिपूर्ण एवं अति सरस था। उन्होंने भक्ति-भाव को अपनाकर जाति-पांति में विवाद समझकर उसे बिल्कुल त्याग दिया था। इसी समय एक दिन आकाशवाणी हुई कि-'अपने शरीर में तिलक रमाओ, आचार्य श्रीरामानन्दको अपना गुरु बनाओ, गले में तुलसी माला धारण करो।' यह सुनकर कबीरदास ने कहा कि-मैं उनसे मन्त्र-दीक्षा कैसे लूंगा, वे मुझे म्लेच्छ मानकर मेरा मुख भी नहीं देखना चाहेंगे।' पुनः आकाशवाणी ने कहा-'वे गङ्गा स्नान करने जाते हैं उस समय मार्ग में अपने को उनके चरणों में डाल देना।' नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में ध्यानमग्न-प्रेमावेश से आप गङ्गा स्नान करने जाते थे। श्रीकबीरदासजी गङ्गा घाट की सीढ़ी पर लेट गये।यथा-समय श्रीस्वामीजी पधारे। उनका श्रीचरण कबीरजी के शिर पर पड़ गया। सहसा उनके मुख से निकला 'राम! राम! कहो।' श्रीकबीरदासजी ने राम-नाम को मंत्र-दीक्षा के रूप में ग्रहण कर लिया। इस प्रकार श्रीस्वामीजी के शिष्य बनकर घर को चले आये।।२६८।।

व्याख्या-श्रीकबीरदासजी भक्त शिरोमणि श्रीप्रह्लादजी के अवतार हैं। यथा-वन्दौं श्रीप्रह्लाद जिन, धार्‍यो रूप कबीर। कलिमद मर्दन वीरवर सिद्धि समर रणधीर।। (श्रीरामानन्दाचार्य-चरितामृत) आपके प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में यह पद प्रसिद्ध है-चौदहसौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाट ठये। जेठ सुदी वर सायेतको, पूरनमासी प्रगट भये। (कबीर-चरित्रबोध) इसके अनुसार सं०१४५५, ज्येष्ठ पूर्णमासी, सोमवार आपकी प्रादुर्भाव तिथि है । पद में आये वरसाएत का अर्थ श्रेष्ठ मुहूर्त है।भगवान की तरह भक्तों का भी जन्म-कर्म दिव्य होता है। श्रीकबीरदासजी के भी जन्म सम्बन्ध में कई अलौकिक कथायें प्रसिद्ध हैं। वर्णन आया है कि श्रीरामानन्दाचार्यजी की सेवा में एक ब्राह्मण रहते थे। एक दिन उन्हें किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना था अतः अपनी पुत्री को श्रीस्वामीजी की सेवा में भेजा। उस ब्राह्मण कन्या ने बड़े भावपूर्वक समस्त कैङ्कर्य किया, जब घर जाने लगी तो श्रीस्वामीजी के चरण-कमलों में प्रणाम किया। श्रीस्वामीजी ने सहज भाव से आशीर्वाद दिया- पुत्रवती भव।' यह सुनकर वह ब्राह्मण-पुत्री संकुचित हो गई और हाथ-जोड़कर बोली-महाराज! मैं तो अभी क्वांरी हूँ। (किसी-किसी ने विधवा लिखा है।)तब तो श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य भी किञ्चित् विचार में पड़ गये।

इसी बीच भगवान श्रीमन्नारायण का आदेश लेकर करुणामयी भगवती श्रीलक्ष्मीजी कलियुग के जीवों की दारुण-दयनीय दशा का अवलोकन करने के लिए भू-लोक में आईं। जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजी का वात्सल्यपूर्ण कोमल हृदय जीवों की दुर्दशा देखकर द्रवित हो उठा। और वे सबका दुःख दूर करने के लिये व्यग्र हो उठीं।। उन्होंने विचारा कि इस समय जीवों का कल्याण तभी सम्भव है जब किसी समर्थ भक्त का अवतार हो। इसी चिन्ता में विनिमग्न श्रीलक्ष्मीजी घूमती-फिरती काशी में श्रीरामानन्दाचार्यजी के पास आईं। यहाँ आने पर देखा तो श्रीस्वामीजी भी ब्राह्मण कन्या को आशीर्वाद देकर विचारमग्न ही थे। तब श्रीलक्ष्मीजी ने उस ब्राह्मण-कन्या को कुछ तुलसी-पत्र देते हुए कहा कि तुम इसे लो, इससे श्रीस्वामीजी का वरदान भी व्यर्थ नहीं होगा और तुम्हारा कन्यात्व भी सुरक्षित रहेगा। किन्हीं-किन्ही के मत से श्रीस्वामीजी ने ही उसे कुछ पत्र-पुष्प प्रसादी दी थी। उसने उसे अञ्चल में ले लिया। कुछ दूर चलने पर उसे वजन सा मालूम हुआ तो विचार करने लगी कि स्वामीजी ने (वा लक्ष्मीजी ने) तो फूल ही दिया था, फिर यह इतना भारी क्यों लग रहा है? जब उसने देखा तो यह तो पुष्पों के स्थान पर एक परमदिव्य सुन्दर शिशु प्रकट हो गया है। लोक-लज्जावश वह ब्राह्मण-कन्या उस शिशु को लहरतारा तालाब के तटपर रखकर चली गई। दैवयोगवश नीरू-नीमा नाम के जुलाहा दम्पति उस मार्ग से कहीं जा रहे थे। नीमा को प्यास लगी थी। वह जब लहरतारा में जल पीने गई तो उसने इस परम सुन्दर शिशु को कमल पत्रों पर खेलते देखा। उसके हृदय में मातृत्व जागा, वात्सल्य उमड़ा, उसने शिशु को गोद में उठा लिया। अब तक उसकी गोद भी पुत्र से खाली ही थी। उसने उस शिशु को लाकर नीरू को दिखाया। नीरू ने प्रथम तो आनाकानी की परन्तु बाद में पत्नी का अनुग्रह देखकर घर ले चलने की अनुमति दे दी। इस प्रकार श्रीकबीरदासजी का पालन-पोषण इन्हीं नीरू-नीमा के द्वारा हुआ।

कहीं ऐसा भी वर्णन आया है कि किसी सिद्धयोगी के तप में विघ्न डालने के लिये देवराज इन्द्र ने प्रतीची नाम की अप्सरा को भेजा। महात्मा उस पर मोहित हो गये और उसके साथ यथेष्ट विहार और रति-क्रीड़ा की। अप्सरा ने भगवदिच्छा से भक्त प्रह्लाद को गर्भ में धारण किया उसने दिव्य शिशु को जन्म देकर उसे लहरतारा तालाब में कमल-पत्रों पर रख दिया। जुलाहा-दम्पति नीरू-नीमा के आने तक वह उस नवजात शिशु की अलक्ष्य रूप से रक्षा करती रही। नीरू-नीमा के स्पर्श से उस बालक की द्युति मलीन हो गई। नीरू और नीमा ने बालक के पालन-पोषण के लिये धाय और गाय की व्यवस्था की परन्तु शिशु

ने किसी के दूध को ग्रहण नहीं किया। तीसरे दिन शिशु की रक्षा और माता-पिता की चिन्ता दूर करने के लिए श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने अपने प्रिय शिष्य श्रीअनन्तानन्दजी के द्वारा 'सुचामुची' नाम की जड़ी भेजी जिसे शिशु मुख में डालकर चूसने लगा। आगे चलकर यह बूटी 'कबीर-बूटी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इससे श्रीकबीरदासजी की कान्ति पुनः ज्यों की त्यों हो गई।। (भागवत-सम्प्रदाय)

कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि कबीरदासजी का प्रादुर्भाव काशी के लहरतारा तालाब में कमल के एक परम-मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुआ था। ये स्वयं प्रकट हैं। यथा-काशी माहिं सरोवर एका। विमल सलिल अरविन्द अनेका।। तहँ विकस्या एक कमल अनूपा। प्रकटे दलन मध्य शिशु रूपा।।(श्रीरामानन्दाचार्य-चरितामृत) नीरू और नीमा के द्वारा पालन-पोषण प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। श्रीकबीरदासजी की राम-नाम निष्ठा जन्मजात थी। इनमें लोगों को बचपन से ही लोकोत्तर दिव्य गुणों के दर्शन होने लगे थे। इनमें अलौकिक प्रतिभा थी, विमल विवेक था, साधु-सन्तों में प्रीति थी और एक सहज फक्कड़पना था। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं- 'अति ही गम्भीर मति' '-बुद्धि की गम्भीरता यह है कि गूढ़ से गूढ़ विषय को सहज में समझकर उसे धारण कर ले। हर्ष-विषादादि के प्रबल हेतुओं के उपस्थित होने पर भी उनसे जो प्रभावित हुए बिना जो अपने लक्ष्य में दृढ़ रहे। गम्भीर हृदय में भक्तिरस ठहरता है। अतः कहते हैं- 'सरस कबीर हियो'-श्रीकबीरदासजी बड़े ही सरस हृदय थे। वास्तविक तथ्य से अनभिज्ञ लोग प्रायः कह देते हैं कि कबीरदासजी तो निर्गुनियाँ सन्त थे, शुष्कज्ञानी थे, आदि। परन्तु बात ऐसी नहीं है। भक्ति प्रवर्तक श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के शिष्य थे, फिर शुष्क-ज्ञान का प्रवेश कैसे सम्भव हो सकता है। कथा आई है कि-

एक बार श्रीहरिरामव्यासजी ने सत्सङ्ग के सिलसिले में कह दिया कि श्रीकबीरदासजी तो ज्ञानी थे, भला वे निकुञ्ज लीला का रहस्य क्या जाने? इसी से तो उन्होंने केवल सिद्धान्त के पद कहे हैं, उनकी वाणियों में लीला का नाम भी नहीं है। श्रीव्यासजी ने यह सब बात कहने को तो कह दी, परन्तु बाद में जब वे श्रीप्रिया-प्रियतम राधा-माधव का ध्यान करने लगे तो युगल उनके ध्यान में ही नहीं आये। यद्यपि उन्होंने बहुत प्रयास किया, पुनः स्नान किया आसन बदला, स्थान बदला, मन को एकाग्र किया, परन्तु सब व्यर्थ रहा। यद्यपि उन्हें श्रीहितहरिवंशजी का आशीर्वाद था कि श्रीलाडिलीलाल नित्य आपकी गोद में विराजेंगे। परन्तु आज अद्भुत बात हुई। जब किसी प्रकार भी ध्यान नहीं संभला तब हारकर

श्रीहरिवंशजी के पास जाकर कहे। आपने बहुत विचारकर कहा कि निश्चित ही कोई महदपराध हो गया है, अन्यथा श्रीप्रिया-प्रियतम इतना मान नहीं करते। तब उन्होंने श्रीकबीरदासजी के सम्बन्ध में कही हुई बात बताई। श्रीहरिवंशजी ने कहा-बस, इसी अपराध से आपको युगल के दर्शन नहीं हो रहे हैं। आपने यह सर्वथा गलत कहा। भला श्रीकबीरजी से बढ़कर रसिक कौन हो सकता है, अब आप श्रीयमुनातट पर जाकर, बैठकर श्रीकबीरजी का ध्यान करते हुए उनका नाम जपो, वे प्रकट होकर दर्शन देंगे, उनसे क्षमा माँगो तब कल्याण सम्भव है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्योंकि भागवतापराध तो भगवान भी क्षमा नहीं करते हैं। दृष्टान्त-अम्बरीष-दुर्वासा का देखिये पूर्वार्द्ध। तब श्रीव्यासदेवजी ने श्रीयमुनातट पर जाकर श्रीकबीरजी की स्तुति की। यथा-कलिमें सांचो भक्त कबीर। जबते हरि चरनन रति उपजी तबते बुन्यो न चीर।। दीनो लेहि न जांचै काहू ऐसो मनको धीर। जोगी जती तपी संन्यासी इनकी मिटी न पीर। पांचतत्व ते जन्म न पायो काल न ग्रस्यो सरीर। 'व्यास' भक्तको खेत जु लाहो हरि करुणामय नीर।। (व्यासवाणी) यह पद पूरा होते ही श्रीकबीरदासजी श्रीयमुनाजी में से ही प्रकट हो गये।। श्रीव्यासजी ने दौड़कर उनके चरण पकड़ लिये और बारम्बार दण्डवत प्रणाम करके उनसे क्षमा माँगी। श्रीकबीरदासजी ने कहा कि आपने ठीक ही कहा था कि मेरी रचनाओं में लीला-रस नहीं है, केवल सिद्धान्त है परन्तु हम क्या करें, प्रभु की जो आज्ञा होगी, वही तो हम करेंगे। मैंने तो प्रभु के आदेश का पालन किया (इस आशय का पद छप्पय की व्याख्या में आ चुका है।) यह सुनकर श्रीव्यासजी की भ्रान्ति मिट गई। अतः कहा-'सरस कबीर हियो'।

श्रीकबीरदासजी की वाणियों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाये तो उनमें भक्ति के सभी रसों के प्रतिपादक वचन मिलते हैं। यथा-शान्तरस-हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ। बूंद समानी समंदमें सो कत हेरी जाइ।। (साखी) दास्यरस-मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसाईं। तन मन मेरा रामजीके ताईं।। (गौड़ी ११२) सख्यरस-कहैं कबीर यह हेत विचारा। या रब या रब यार हमारा।। (गौड़ी ६३) वात्सल्यरस-पूत पियारो बाप कौ गौहनि लागा धाइ। लोभ मिठाई हाथ दै, आपन गया भुलाइ। हरि जननी मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बकसहु मेरा।। कहै कबीर बुधि एक विचारी। बालक दुखी-दुखी महतारी।। (गौड़ी ११०) श्रृङ्गाररस-हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया। (गौड़ी) सम्भोग श्रृङ्गार-दुलहिन गावहु मंगल चार। हम घरि आए हो राजा राम भरतार।। बहुत दिनन थैं मैं पीतम पाये। भाग बड़े घरि बैठे आये।। मंगलचार

माहिं राखौं। राम रसाइन रसना चाखौं।। कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा। सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा। (गौड़ी २) विप्रलम्भश्रृङ्गार-विरहिनि फिरैं है नाथ अधीरा। उपजे विन कछु समझि न परई बांझ न जानै पीरा।। दीन भई बूझ सखियनको कोइ मोहिं राम मिलावै। दास कबीर मीन ज्यूं तलपै मिलें भले सचु पावै (सोरठि २३) अतः कहा-सरस कबीर हियो।। पुनः-श्रीकबीरदासजी ने अपना दीक्षा गुरु तो श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जी को स्वीकार किया है और प्रेमगुरु गोपियों को। यथा-कबीरा तालिब तोरा। तहां गोपि हरि गुरु मोरा।। (गौड़ी ३१) वर्णन आया है कि एक बार श्रीकबीरजी श्रीगङ्गाजी के किनारे एकान्त में बैठकर 'राम-राम' रट रहे थे। उधर भगवान भी एक वृक्ष की ओट में छिपकर 'कबीर-कबीर' कह रहे थे। जब श्रीकबीरदास जी ने सुना तो पूछा-अरे भाई, कौन कबीर-कबीर कह रहा है और क्यों? तब भगवान ने उत्तर दिया-मन ऐसा निरमल भया, जैसे गङ्गा नीर। पीछे-पीछे हरि फिरैं कहत कबीर-कबीर।। यह सुनकर श्रीकबीरदासजी ने कहा-कबिरा कबिरा क्यूं कहे, जा जमुना के तीर। एक गोपी के प्रेम में बहि गये कोटि कबीर।। कैसी प्रेमरस भीनी उक्ति। अतः कहा-सरस कबीर हियौ।

लियो भक्ति भाव-यथा-भाव भगति विश्वास बिन, कटै न संसै मूल। कहै कबीर हरि भक्ति बिन, मुकुति नहीं रे भूल।। (रमैनी) पुनः-कबीर मन तो एक हैं, चाहे जहाँ लगाय। चाहे हरिका भजन कर चाहे विषय कमाय।। (सा०) 'जाति-पांति सब टारिये' -यथा-कहै कबीर एक राम भजहुरे हिन्दू तुरुक न कोई।। (गौड़ी ५७) पुनः-जाति-पांति पूछै नहीं कोई। हरिको भजै सो हरि को होई। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-जाति-पांति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई सब तजि तुम्हहि रहै उर लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई।। (रामा०) श्रीरामजी कहते हैं-जाति-पांति कुल धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।। भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिअ जैसा।। (रामा०) अतः जाति टारिये। 'करौ गुरु रामानन्द'-यद्यपि श्रीकबीर बड़े ही भक्तिभावपूर्वक श्रीरामनाम का आराधन करते थे परन्तु अभी किसी से मन्त्रदीक्षा नहीं लिए थे। और बिना गुरु-दीक्षा लिए भक्ति-साधना में मिठास नहीं आती है। यथा-गुर मीठा संसार में, गुरुमुख मीठा होय। रस ही रस गुर सेइये, रसते मिश्री होय।।ऐसे ही श्रीधनाजी को भी आज्ञा हुई थी। देखिये क० ३०८। श्रीरामानन्दजी से ही उपदेश लेने का आदेश क्यों हुआ? समाधान-ये सच्चे सद्गुरु हैं यथा- 'सही रामानन्द गुरु' क० २८३। गरे माल धारिये-तुलसी की माला धारण करने की बड़ी महिमा है। देखिये छ० ३३ में मालाधारी की व्याख्या।

दृष्टान्त-एक यवनका-एक गाड़ीवान जङ्गल के मार्ग से अपनी बैलगाड़ी लिए जा रहा था। उसकी मृत्यु का समय आ गया। गाड़ीवान ने दण्ड और पाश लिए महाभयङ्कर यमदूतों को अपनी ओर आते हुए देखा तो वह डर के मारे बैलगाड़ी से कूद पड़ा। संयोग से वह तुलसी के वृक्ष पर जा गिरा। फिर तो तुरन्त ही भगवान के पार्षद आ गये और उसको दिव्य विमान पर बैठाकर भगवद्धाम को ले गये। यमदूत अपना सा मुँह लेकर लौट गये। यह सब दृश्य एक यवन देख रहा था। श्रीतुलसीजी की यह प्रत्यक्ष महामहिमा देखकर वह भी घर आकर तुलसी की माला पहनने लगा। श्रीरसखानजी के लिए वर्णन आया है कि वे दो सौ माला पहनते थे। एक बार किसी ने पूछा कि हिन्दू लोग तो एक-दो अथवा अधिक से अधिक पञ्चमाला धारण करते हैं, जबकि उनके धर्म में तुलसीमाला धारण करना लिखा है, फिर आप मुसलमान होकर इतनी मालाएँ क्यों धारण करते हैं? श्रीरसखानजी ने कहा-जैसे थोड़ा माल ले जाने के लिये छोटी नौका और अधिक माल ले जाने के लिये बड़ी नौका चाहिए। उसी प्रकार पुण्यात्मा हिन्दू तो एक-दो माला के प्रभाव से ही भवपार हो जायेंगे क्योंकि उनका पाप बहुत कम है। परन्तु मैं तो बहुत बड़ा पापी हूँ अतः मुझे तो भवपार होने के लिए बहुत माला ही चाहिए।

रजनी के शेष...... विचारिये - यह वाक्य आकाशवाणी और श्रीकबीरजी-दोनों के सम्बन्ध में सङ्गत है। आकाशवाणी ने समझाते हुए ऐसा कहा तो श्रीकबीरजी ने भी ऐसा ही किया। हाँ, श्रीकबीरदासजी ने एक बात विशेष की। वह यह कि आकाशवाणी ने तो ब्राह्ममुहूर्त में गङ्गाघाट पर जाकर लेटने को कहा था परन्तु ये तो शाम को ही जाकर सीढ़ी पर लेट रहे। कारण-१. उत्सुकता, २. सो जाने का भय।

कीनी वही बात माला तिलक बनाय गात मानि उतपात मात सोर कियो भारियै।
पहुँची पुकार रामानन्दजू कैं पास आनि कही कोऊ पूछे तुम नाम लै उचारियै।।
ल्यावौ जू पकरि बाको कब हम शिष्य कियो ? ल्याये करि परदामें पूछी कहि डारियै।
राम नाम मन्त्र यही लिखो सब तन्त्रनि में खोलि पट मिले सांचो मत उर धारियै।।२६९

शब्दार्थ-मात = माता। पट = परदा।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी ने वही किया जैसा कि आकाशवाणी ने कहा था। अर्थात्-अपने शरीर पर रामानन्दीय तिलक लगाया और गले में तुलसी-कण्ठी पहन ली। अपने लड़के का साधुवेष देखकर एवं उसे रात-दिन राम-नाम जपते देखकर माता ने इसे बड़ा

उत्पात माना और बड़ा हल्ला मचाने लगी कि-मेरे लड़के को किसी ने हिन्दू-बाबाजी बना दिया। धीरे-धीरे यह बात श्रीरामानन्दजी के पास तक पहुँच गई, फिर किसी ने आकर यह भी बताया कि जब कोई उससे पूछता है कि-तुम किसके शिष्य बन गये हो? तब वह आपका ही नाम लेता है। यह सुनकर श्रीस्वामीजी ने आज्ञा दी कि-'उसे पकड़कर मेरे पास ले आओ।' आज्ञानुसार लोग कबीरदासजी को बुला लाये। परदे के पीछे बैठकर श्रीस्वामीजी ने पूछा-हमने तुमको कब शिष्य बनाया? तब श्रीकबीरदासजी ने गङ्गाघाट की सब घटना स्मरण कराई और बोले-श्रीराम-नाम ही महामंत्र है। यह बात सभी तंत्र शास्त्रों में लिखी है। वही प्रदान कर आपने मुझे शिष्य बनाया। यह सुनकर श्रीस्वामीजी अति प्रसन्न हुए और परदा खोलकर बाहर आये तथा कबीरदासजी को छाती से लगाकर मिलते हुए बोले-वत्स! तुम्हारा सिद्धान्त सत्य है। श्रीराम-नाम को ही हृदय में धारण करो।।२६१।।

व्याख्या-मालातिलक बनाय गात- श्रीकबीरदासजी द्वादश तिलक लगाकर, पंचमाला पहनकर श्रीरामनामाङ्कित चद्दर ओढ़कर तथा शरीर पर श्रीरामनाम लिखकर (यथा-हरिका नाम, लिख लियो शरीर) बाजार में निकलते और जो भी वैष्णव मिलते, उनसे कहते-गुरुभाई! दण्डवत। लोग पूछते-अरे कबीर! यह सब कबसे पहन रखा है? तब श्रीकबीरदासजी विधिवत श्रीगुरुजी का नाम बताते-श्री श्री एक सौ आठ श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी। तथा अपने को उन्हीं का कृपापात्र बताते। 'मानि उतपात माता सोर कियो' यह बात श्रीकबीरजी ने स्वयं एक पद में कही है-यथा-नित उठि कोरी गागरि आनै लीपत जीउ गइओ। ताना-बाना कछू न सूझै हरि हरि रस लपटइओ। हमारे कुल कउने राम कहिओ। जबते माला लई निपूते तबते सुखु न भइओ।। सुनहु जिठानी सुनहु दिरानी अचरज एक भइओ। सात सूत इन मुड़िए खोए इह मुड़िआ किउ न मुइओ।। सरब सुखाका एक हरिस्वामी सो गुरु नाम दइओ। सन्त प्रहलाद की पैज जिनि राखी हरनाकुस नख विदरिओ।। घरके देव पितरको छोड़ी गुरुको सबद लइओ। कहत कबीर सकल पाप खण्डत संतन्ह लै उधारिओ।। श्रीकबीरदासजी की माता कहतीं कि मेरे कुल में किसी ने राम-नाम नहीं जपा। यह तो काफरों (हिन्दुओं) के मजहब में है। हम लोग तो ऐसा करेंगे तो दोजक (नरक) में जाना पड़ेगा। इस पर-

दृष्टान्त-ग्वालेका-एक महात्मा विचरते हुए अहीर-गूजरों के गाँव के निकट से होकर जा रहे थे। वह एक तो वृद्ध थे, दूसरे थके हुए थे, तीसरे प्यास बड़ी जोर की

लगी थी अतः एक वृक्ष की छाया में बैठकर सुस्ताने लगे। तब तक एक ग्वारिया आया संतजी ने उससे जल लाने को कहा। वह जब कमण्डलु लेकर चला तो सन्तजी को ध्यान आया कि कहीं यह निगुरा न हो। अतः उसे बुलाकर पूछे-बच्चा! क्या तुमने मंत्र लिया है? वह नहीं बोला। फिर पूछे-क्या दीक्षा ली है? वह पुनः कुछ नहीं बोला। संत ने फिर पूछा-क्या तुमने गुरुमुख से राम-नाम सुना है? तब उसने हाथ जोड़कर कहा-महाराज! हम लोग गँवार हैं हम न मन्त्र जाने न दीक्षा और न राम-नाम ही। हम लोग भला-गुरु-गोविन्द को क्या जानें? संत ने कहा-तब तो बच्चा! तुम्हारे हाथ का अन्न-जल हम कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकते हैं। लाओ मेरा कमण्डलु, मैं स्वयं जल लेने जाऊँगा। यह कहकर महात्मा जी आप ही जल भर लाये। इससे उस ग्वारिये को बड़ा दुःख हुआ कि हाय! हम किसी साधु-महात्मा की सेवा करने लायक ही नहीं है। फिर तो वह साधुजी से अत्यन्त अनुनय-विनय करने लगा कि महाराज! आप कृपा करके हमें राम-नाम सुना दो। उसकी निष्ठा देखकर संतजी ने उसे श्रीराम मंत्र सुना दिया और जप करने के लिये एक तुलसी की माला दे दिया तथा कुछ विधि-विधान बता दिया। ग्वारिया गले में कंठी बांधे माथे पर तिलक लगाये और माला लिये हुए घर पर आया। उसकी यह अद्भुत वेशभूषा देखकर घरवालों ने पूछा कि तुमने यह सब क्या किया है? तो उसने कहा कि गुरुजी से श्रीराम भजन की माला ले आया हूँ। यह सुनते ही घर के सभी बड़े-बूढ़े बड़बड़ाने लगे कि हम न राम को जानें न राम हमको जानें यह छोरा नयो-नयो नातो बनावतो डोलै है। जा, लौटा आ माला को, हमारे कुल में किसी ने राम-भजन नहीं किया है, परन्तु वह इन लोगों की बातें अनसुनी करके अपने भजन में लगा रहा। संयोग की बात-कुछ दिन बाद उसकी एक भैंस मर गई। अब तो घरभर उस पर टूट पड़ा कि इसने माला फेर-फेरकर भैंस मार डाली। जा, अब भी महात्मा को माला लौटा आ। अंत में लोगों के विवश करने पर वह महात्माजी के पास गया और घरवालों की सब बात कही। महात्माजी समझ गये कि यह सब भजन भाव से एकदम अपरिचित हैं अतः इनको किसी तरह भजनोन्मुख करना चाहिए। फिर तो उन्होंने उस ग्वारिया से पूछा कि तेरी क्या राय है? उसको तो श्रीरामनाम का चस्का लग चुका था अतः उसने कहा कि हमारा मन तो भजन करने का ही है, तब महात्माजी ने कहा कि देखोजी, जब माला ली जाती है तो घर में कोई एक मरता ही है। क्योंकि सभी अलाय-बलाय किसी के ऊपर चढ़ती है तो तुम्हारे घर तो कोई और नहीं मरा भैंस ही मरकर रह गई, भगवान की बहुत कृपा समझो, आगे मङ्गल ही मङ्गल है। परन्तु जब माला लौटाई जाती

है तो घर भर मर जाता है, अतः जाओ घरवालों से पूछ आओ, अगर उन्हें सबका मरना मंजूर हो तो मैं माला ले लूँ। ग्वारिया ने घर जाकर जब बाबाजी की बात सुनाई तो सबके होश उड़ गये। सबने कहा कि यदि ऐसी बात है तो तू माला मत लौटा, भजन किया कर। आगे चलकर उसकी देखा-देखी सभी भजन-परायण हो गये। (संतजी ने जो गूढ़वाणी कही थी उसका तात्पर्य यह है कि माला लेने पर माया मरती है और यदि घरवाले भजन में बाधा डालते हैं तो भगवद्विमुख होने के नाते सब मृतक तुल्य हैं)।

ल्यावो जू पकरि०-**श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी सकुचाये कि लोग कहेंगे कि वैसे तो ये म्लेच्छ-नीच का मुख नहीं देखते हैं परन्तु चेला बनाने का ऐसा चस्का है कि-जुलाहा तक बचने नहीं पाता है। इनको कोई अन्य जाति का चेला नहीं मिलता है, आदि।** 'राम नाम मन्त्र'-यथा-महामन्त्र जोइ जपत महेसू। काशी मुकुति हेतु उपदेसू।। (रामा०) 'लिख्यो सब तन्त्रनि में'-यथा-एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।। विधि हरिहर मय वेद प्रानसो। अगुन अनूपम गुन निधान सो।। (रामा०) पुनः- श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्म संज्ञकम्। ब्रह्महत्यादि पापघ्नमिति वेदविदो विदुः। **(सनत्कुमार संहितायां) अर्थ-श्रीरामनाम परम जप करने योग्य है, ब्रह्मस्वरूप है, संसारसागर से पार करने वाला है तथा ब्रह्महत्यादि महापापों का नाश करने वाला है। इस रहस्य को वेदज्ञ लोग जानते हैं। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २०३, 'राम बिन काम कौन' की व्याख्या।**

खोलि पट मिले- **श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने श्रीकबीरदासजी को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे हृदय में सदा-सर्वदा श्रीरामजी एवं जिह्वा पर श्रीराम-नाम विराजमान रहेंगे। यह सुनकर श्रीकबीरदासजी प्रेम में सराबोर हो गये। यथा- कबीर सतगुरु हमसों रीझि करि, कह्या एक प्रसङ्ग। बरसा बादर प्रेमका, भीजि गया सब अङ्ग।। (साखी)** 'सांचो मत उर धारिये'-यथा-उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।। शिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार विसारद।। सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पङ्कज नेहा।। (रामा०) **श्रीकबीरदासजी ने अपने पदों में बारम्बार दुहराया है कि मेरे सद्गुरु श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य जी हैं-यथा-सतगुरु के परताप ते मिटि गये सब दुख द्वन्द। कहैं कबीर दुविधा मिटी जब गुरु मिलिया रामानन्द।। कबीर रामानन्द का सतगुर मिले सहाय। जगमें जुगति अनूप है सोई दई बताय।। भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द। कबीर ने परगट करी, सात दीप नव खण्ड।। आदि।।**

बीनै तानौ बानौ हिये राम मडरानौ कहि कैसें कै बखानौं वह रीति कछु न्यारियै।
उतनोई करैं जामैं तन निरवाह होय भोय गई औरै बात भक्ति लागी प्यारियै।।
ठाढ़े मण्डा माँझ पट बेचन लै जन कोऊ आयो मोकों देहु देह मेरी है उघारियै।
लग्यौ देन आधो फारि आधे सों न काम होत दियो सब लियौ जौपैं यहै उर धारियै।।२७०

शब्दार्थ-**बीनै = बुनै। तानौ = कपड़ा बुनने में लम्बाई में लगे सूत। बानौ = बाना, आड़े चौड़ाई के सूत। मड़रानौ = छायौ, लीला करते। तन-निरबाह = भोजन वस्त्र से गुजर मात्र। भोय गई = भूल गई।**

भावार्थ- **श्रीकबीरदासजी निर्वाह के लिए ताने-बाने से कपड़ा बुनते थे किन्तु उनके हृदय में श्रीरामजी का नाम रूप मँड़राया करता था। सदा श्रीरामजी उसमें लीला करते रहते थे। उनकी उपासना की रीति बड़ी विचित्र एवं सबसे न्यारी ही थी। उसका वर्णन कैसे करूँ अर्थात् वह वाणी से वर्णन का विषय नहीं है अनुभव की चीज है। कपड़ा उतना ही बुनते थे जितने में परिवार का खर्चा चल जाय। जगत् की दूसरी बातों को वे भूल गये। भगवद्भक्ति ही उन्हें प्रिय लगी। निरन्तर उसी की आराधना में लगे रहते थे। एकबार बाजार में कपड़ा बेचने के लिए आप खड़े थे कि एक साधु आपके पास आकर बोला कि- मुझे कपड़ा दीजिये मेरे पास पहनने के लिए कुछ नहीं है, मेरा शरीर उघारा है। तब आप उसे आधा थान फाड़कर देने लगे। तो उसने कहा-इस आधे थान से मेरा काम नहीं चलेगा। तब श्रीकबीरदासजी ने कहा- यदि पूरा थान लेने का निश्चय आपने अपने मन में किया है तो लीजिये, यह पूरा थान ही लीजिये।।२७०।।**

व्याख्या-बीनै तानो-बानो- **वस्त्र बुनते समय श्रीकबीरजी यह अनुसंधान करते थे कि जैसे ताने में बाना व्याप्त है ओत-प्रोत है, इसी प्रकार चराचर जगत् में परमात्मा व्याप्त हैं। 'हिये राम मँडरानो' -यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि बुनना और ध्यान करना संग-संग यह दोनों काम कैसे करते थे तो इसका समाधान यह है कि जब अभ्यास सिद्ध हो जाता है तो संग-संग इन्द्रियाँ अपना व्यापार करती हैं और मन अपना व्यापार। यह तो नित्य के अनुभव में भी देखने में आता है कि हम तन से कुछ काम करते हैं और मन से कुछ सोचते रहते हैं। अथवा-श्रीकबीरदासजी के परम भावुक, सरस, सुन्दर स्वच्छ हृदय में भगवान स्वयं ही मँडराते थे। जैसे कमल के फूल पर भ्रमर मँडराता है। भ्रमर को सुबास, पराग और मकरन्द का लोभ होता है और भगवान को भक्तों की सुरुचिरूपी सुबास और प्रेमरूपी मकरन्द का लोभ होता है। श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में भक्तों के सुन्दर**

मन को सुन्दर कमल एवं भगवान को मंजुल मधुकर कहा है। यथा-जन मन मंजु कंज मधुकर से।। श्रीशिवजी के हृदयकमल में भगवान भ्रमर बनकर नित्य निवास करते हैं। यथा-शङ्कर हृदि पुण्डरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानसगृह संतत रहे छाई।। (गीतावली) भक्तों के निर्मल हृदय में रहने को भगवान का भी मन ललचाता है। वर्णन आया है श्रीतुलसीदासजी श्रीधाम-वृन्दावन में आये तो उनके हृदय में बलात् श्रीब्रजेन्द्रनंदन, श्यामसुन्दर-मदनमोहन-आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की स्फूर्ति होने लगी। तब श्रीतुलसीदासजी ने प्रार्थना किया कि जै-जै यहाँ तो श्रीरामजी पहले से निवास कर ही रहे हैं फिर आप इतना जबरदस्ती क्यों करते हैं? श्रीठाकुरजी ने कहा-तुलसीदासजी! मैं भक्तों का सुन्दर मन देखकर मोहित हो जाता हूँ। इसी से हमारा एक नाम 'मनमोहन' भी पड़ गया है। भक्त लोग मेरे इस नाम का अर्थ यह लगाते हैं कि- भक्तों के मन को मोहने वाला। परन्तु इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि- भक्तों के सुन्दर मन को देखकर मोहित होने वाला। श्रीतुलसीदासजी ने श्रीनन्दनन्दनजी का भी स्वागत किया। फिर इन्हीं के बल पर गोस्वामीजी ने संसार को चुनौती दी। यथा-मैं तोहिं अब जान्यों संसार। बाँधि न सकहिं मोहिं हरिके बल प्रकट कपट आगार।। सुनु खल छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार। सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहिं हृदय न नन्दकुमार।। (वि०)इसी से कहा गया है-कारो सुत नन्दराय को जाकी लीला नित्त। ताही कूं वह डसत है, जाको निर्मल चित्त।। श्रीकबीरजी का भी चित्त गङ्गाजल के समान परम निर्मल था।(कथा पहले आ चुकी है) अतः 'हिये राम मँडराने।'

रीति कछु न्यारियै-वस्तुतस्तु-प्रीतिकी रीतिको पैड़ोई न्यारो।। (सूरदास)भक्तों की रीति पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १९१।। 'जामें तन निरबाह होय'-शास्त्र की आज्ञा है कि-यावद् भ्रियेत उदरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। अर्थ-जितने से उदरपूर्ति हो जाय उतने पर ही प्राणियों का अपना अधिकार है। जो इससे अधिक को अपना मानता है, वह चोर है और दण्ड के योग्य है 'भोय गई औरै बात'-भगवान में मन लगने पर संसार की बातें भूल जाते हैं श्रीकबीरदासजी कहते हैं- मन के मोहन मीठुला यहु मन लाग्यो तोहिरे। चरन कँवल मन मानिया और न भावै मोहिरे।। (गौड़ी ४) 'भक्ति लागी प्यारिये'-यथा-मन लागो मेरो यार फकीरीमें। जो सुख पावौं राम भजनमें सो सुख नाहीं अमीरीमें।। भली बुरी सबकी सुनि लीजै करि गुजरान गरीबीमें। प्रेम नगरमें रहनि हमारी भलि बनि आई सबूरीमें।। हाथमें कुण्डी बगलमें सोंटा चारो दिसा

जगीरी में। आखिर यह तन खाक मिलेगा काहे फिरत मगरूरी में।। कहत कबीर सुनो भाई साधो साहब मिलै सबूरी में।। 'जन कोऊ आयो'-वह एक वैष्णव महात्मा थे। श्रीकबीरदासजी ने साधु देखकर प्रेम से दण्डवत् प्रणाम किया तो साधुजी ने भी कबीरजी को साधु प्रेमी समझकर सोचा कि इनसे कुछ वसूल करना चाहिए। किसी-किसी का ऐसा ही स्वभाव होता है। एक महात्मा का ऐसा स्वभाव था कि यदि उन्हें कोई दण्डवत् करता तो उससे कहते कि आज तुम्हारे यहाँ ही भोजन करेंगे। एक पंडितजी प्रणाम करने पर चाय के लिए पैसे माँगते। यद्यपि यह संत और पंडितजी दोनों ही परम निस्पृह थे। हाँ, तो श्रीकबीरजी ने भी प्रणाम किया तो महात्मा ने एक सवाल लगा ही दिया। 'आधे सो न काम होत'- श्रीकबीरजी की सरलता देखकर संत को लोभ हो आया। बोले- आधे से काम नहीं चलेगा। पूरा थान दे दो अँचला, लँगोटी, चौबन्दी, दुपट्टा, खोली आदि सब हो जायेगा। इस तरह साधुजी ने कबीरजी की उदारता का अनुचित लाभ लेना चाहा। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। कोई श्रद्धा करे तो उसे एकदम नहीं मूड़ लेना चाहिए। ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिसमें दाता की श्रद्धा बनी रहे। इस पर-

दृष्टान्त-बाबाके पाँव धोनेका-एक रमते बाबाजी एक दिन दोपहरी को भोजन के समय एक गृहस्थ के घर पहुँच गये। धर्म विचारकर उसने सन्तजी को भोजन के लिए आमंत्रित किया। महात्माजी हाथ-पाँव धोकर खाने बैठे तो धीरे-धीरे पूरा चौका साफ कर गये। घर के बालक भूखे थे, वे टुकर-टुकर बाबा की ओर देख रहे थे। इधर बाबाजी घर के लिए जो सामान बना था सब खा गये। मुश्किल से दो-चार रोटियाँ बची थीं। खा-पीकर साधुजी ने आचमन करके पुनः हाथ-पाँव धोया। यह देखकर एक बालक बड़े जोर से चिल्लाकर रोने लगा। माता ने दौड़कर आकर पूछा कि क्या हुआ? तो बालक ने कहा-मैया! बाबा फिर पाँव धो रहा। इसका तात्पर्य यह था कि एक बार धोया, तो सब रोटी खा गया अब दूसरी बार धोकर कहीं लोटा-थाली न खा जाय। ऐसे ही साधुजी ने पूरा थान ही ले लिया। श्रीकबीरजी ने सोचा-चलो अच्छा हुआ। वैसे न जाने कब तक बाजार में खड़ा रहना पड़ता- 'कपड़ा लो कपड़ा लो' चिल्लाना पड़ता। सन्त कृपा से सहज ही छुट्टी मिल गई। अब कहीं एकांत में चलकर राम-राम करेंगे।

तियासुत मात मग देखैं भूखे आवैं कब? दबि रहे हाटनि में ल्यावैं कहा धाम को।
साँचो भक्तिभाव जानि निपट सुजान वे तौ कृपाके निधान गृह शोच पर्‌यो श्याम को।।

बालद लै धाये दिन तीन यों बिताये जब आये घर डारी दई दई हौं अराम कों।
माता करै सोर कोऊ हाकिम मरोरि बाँधे डारो बिन जानै सुत लेत नहीं दाम कों।।२७१

शब्दार्थ-दबि = छिप। हाटनि =बाजार। सुजान = सर्वज्ञ। बालद= सामान से लदा बैल। दई = देव, देने वाला। अराम = आराम, सुख। डारौ =सामान डालते हो।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी के घर पर उनकी स्त्री, माता और पुत्र ये सभी रास्ता देख रहे थे। घर में भोजन सामग्री का अभाव था अतः सभी भूखे थे। (कपड़ा बेचकर मूल धन से सूत और मुनाफे से सामान खरीदकर आता था उसी से निर्वाह होता था। दूसरे दिन के लिए कुछ बचता ही न था।) श्रीकबीरदासजी ने विचार किया कि घर में सभी भूखे होंगे। खाली हाथ चलकर क्या करूँ। वे बाजार में इधर-उधर कहीं छिप गये। घर को क्या लेकर आते? पूरा थान का थान तो दान कर चुके थे। लेकिन भगवान तो घट-घट वासी हैं, परम सुजान हैं और करुणा के निधान हैं। श्रीकबीरदासजी के सच्चे भक्तिभाव को जानकर घर के लोगों को दुःखी देखकर, श्यामसुन्दर श्रीराम को बड़ी चिन्ता हुई। जब तीन दिन बीत गये और श्रीकबीरदासजी घर को नहीं लौटे तब भगवान व्यापारी का रूप धारण कर बैलों के ऊपर बहुत-सा आवश्यक सामान लादकर लाये। सब सामान उन्होंने कबीरदासजी के घर में रख दिया और कहा-यह सामान सुविधा के लिए है। इससे आराम से निर्वाह करो। श्रीकबीरदासजी की माता शोर करने लगीं-कोई हाकिम इतना सामान देखकर हमें चोर समझेगा और पकड़कर कैदखाने में डाल देगा। इसे यहाँ से ले जाओ। मेरा लड़का किसी से कुछ भी नहीं लेता है। भूल से बिना जाने सामान को यहाँ डाल रहे हो, यह किसी दूसरे का होगा।।२७१।।

व्याख्या-तिया सुत मात- श्रीकबीरदासजी की पत्नी का नाम था 'लोई' और कमाल नाम का एक पुत्र तथा कमाली नाम की एक कन्या थी। माता का नाम नीमा था। पिता नीरु का स्वर्गवास हो गया था। 'सांचो भक्तिभाव जानि'-यथा-करुना निधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।। (रामा.) 'शोच पर्‌यो श्याम को'-क्योंकि भगवान का विरद है कि-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गी०९-२२) अर्थात् अनन्य भाव से भजन करने वाले जनों का समस्त योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। अतः भगवान को श्रीकबीरदासजी के योगक्षेम अर्थात् भूखे परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता हुई। 'बालदलै धाये'-पाँचसौ बैलों पर विविध सामान लादकर ले आये। आटा, दाल, चावल, घी, शक्कर, काजू, किशमिश, चिरौंजी, बादाम, अंजीर, अखरोट, पिस्ता

और मुहरों आदि के बोरे के बोरे भरे थे। भगवान ने खूब बंजारा का वेश बनाया था और अपना नाम रखा था केशव बंजारा। मार्ग में कोई पूछता तो गरजकर कहते कि श्रीकबीर साहब का माल है। लोगों को आश्चर्य होता कि कबीर ने इतनी कमाई कैसे कर ली? तो भगवान बताते कि आज उनका माल बहुत अच्छी कीमत में बिका है। सचमुच संतसेवा की कोई कीमत नहीं है। वह तो अमोल है।

माता करै सोर-माता कहती कि कोई सेठ-साहूकार कबीर होंगे, उसका माल होगा। बहुत बड़ी नगरी काशीपुरी है, आप भूल गये मालूम पड़ते हैं। तब भगवान ने कहा-नहीं, सब उन्हीं श्रीकबीर का माल है जो श्रीस्वामी रामानन्दजी के चेला हैं। माता चिल्लाती रह गई पर भगवान उसकी एक नहीं सुने, सब माल उतारकर रमते राम हुए। तब कुटुम्ब परिवार वाले बड़ी सहानुभूतिपूर्वक आकर सब मालमत्ता संभालने लगे। तुरन्त एक नया मकान खरीदकर सब माल उसमें धरा गया। प्रश्न- परिवार को तीन दिन भूखे बीता तब तो किसी ने बात नहीं पूछी और अब सब लोग सार-संभाल में लगे हैं। कारण क्या है? समाधान-१. संसारी लोगों की यही रीति है, स्वार्थी लोग सुख-सम्पत्ति में सगे होते हैं। यथा-सुनु रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीति। विपति कसौटी जे कसे, सोई, साँचे मीत।। पुनः-'सुख सम्पत्ति में सबको सब कोऊ।।' देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ९५।। २. जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करै सब कोई।। ' अतः सब लोगों ने बड़ी सहानुभूति दिखाई।। सुत लेत नहीं दाम को'-अर्थात् मेरा बेटा परायी वस्तु को नहीं लेता है। क्योंकि- सौ पापन को मूल है, एक रुपैया रोक। साधू ह्वै संग्रह करै हारै हरि सा थोक।। (भ०व०टि०)

गये जन दोय चार ढूँढि कै लिवाय ल्याये आये घर सुनी बात जानी प्रभु पीर कौं।
रहे सुख पाय कृपा करी रघुराय दई छिन मैं लुटाय सब बोलि भक्त भीर कौं।।
दियो छोड़ि तानौ बानौ सुख सरसानौ हिये किये रोष धाये सुनि विप्र तजि धीर कौं।
क्यों रे तूं जुलाहे धन पाये न बुलाये हमें, शूद्रनिकों दियो जावौ कहैं यों कबीर कौं।।२७२

शब्दार्थ-सरसानौ = सरस हुआ, बाढ़ा।

भावार्थ-तीन दिन बाद भी जब श्रीकबीरदासजी लौटकर घर नहीं आये तब दो-चार आदमी गये और ढूँढ़कर उन्हें लिवा लाये। घर आकर कबीरदासजी ने सब बात सुनी कि एक व्यापारी बहुत सा सामान लाकर डाल गया। उन्होंने जान लिया कि मेरे कष्ट

को देखकर स्वयं भगवान को कष्ट हुआ तभी उन्होंने सामान पहुँचाने का कष्ट उठाया। यह विचार कर कि श्रीराम रघुवीर ने मुझ पर अत्यन्त कृपा की। आप परमानन्द में मग्न हो गये। उसी समय भक्तों की भीड़ को बुलाकर श्रीकबीरदासजी ने सारा सामान लुटा दिया। ताना-बाना, कपड़ा बुनना सब आपने छोड़ दिया। हृदय में आनन्द की बाढ़ आ गई। यह सुनकर ब्राह्मणों का धैर्य छूट गया, वे क्रोधित होकर दौड़ते हुए कबीरदासजी के यहाँ आये और बोले क्यों रे जुलाहे! तूने इतना धन पाया और हम लोगों को नहीं बुलाया। शूद्रों को बुलाकर सब धन उन्हें दे दिया। या तो हमें भी धन दो, नहीं तो यहाँ से बाहर भाग जाओ।।२७२।।

व्याख्या-गये जन दोय चार-**श्रीकबीरदासजी की माता ने खोजकर लाने वाले को पाँच पाँच रुपया देने को कहा, अतः कई लोग श्रीकबीरजी को ढूँढ़ने निकले। जगत में सब पैसे का ही खेल है। 'जानी प्रभु पीरको'-भगवान का अत्यन्त करुणामय स्वभाव है अतः बहुत ही शीघ्र, पर दुःख से द्रवीभूत हो जाते हैं फिर भक्त के दुःख को भला कैसे देख सकते हैं। यथा-करुणामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई।। (रामा०) बड़ा ही सुन्दर किसी भक्त ने कहा है-अपने-अपने घरनि की सब काहू को पीर। तुमहिं पीर पर घरनिकी धन्य धन्य रघुवीर।। श्रीकबीरदासजी का कहना है कि पराई पीर को जानने वाला ही वास्तव में पीर (धर्माचार्य) है। यथा-कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर। जो परपीर न जानई सो काफर बेपीर।। 'दई छिनमें लुटाय'-नीति में लिखा है कि-दोहा-जो जल बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम। दोऊ हाथ उलीचिये यही सयानो काम।। रही न काहू भूप घर गई न काहू साथ। ताते मित्र पखारिये बहता पानी हाथ।। रही नहीं रहिहैं नहीं याको यही सुभाय। मेरे कर पर चरण दे परमारथमें जाय।। आदि संग आई नहीं, अन्त संग नहिं जाइ। बीच मिली बिच ही गई तुलसी फकत बलाइ।। मीत न नीति गलीत है जो धरिये धन जोर। खाये खरचे जो जुरै तो जोरिये करोर।। आदि। अतः दई छिनमें लुटाय। तथा पूर्व कवित्त में देखिये 'सुत लेत नहीं दाम' की व्याख्या 'बोलि भक्तभीरको'-इसलिए कि यह भगवदीय धन है, इसके अधिकारी तदीयजन ही हैं, अतः इसे संतों में ही बाँटना चाहिए। दूसरी बात यह भी विचारे कि भक्त भगवान को इतने प्रिय हैं कि मैंने एक भक्त को रुपये बीस आने का एक थान वस्त्र सेवा में दिया तो उस पर रीझकर भगवान ने इतनी अपार सम्पत्ति दी, तो क्यों न यह सब भी उन्हीं प्रभु-प्यारे संतों को ही लुटा दूँ, प्रभु और भी अधिक प्रसन्न होंगे। इस पर दृष्टान्त श्रीबलिजी के पूर्वजन्म का-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५७२।**

दियो छोड़ि तानो बानो-**प्रभु की यह कृपालुता देखकर श्रीकबीरजी पूर्णरूप से प्रभु**

पर निर्भर हो गये। पहले जीवन निर्वाह के लिए ताना-बाना बुनते थे, अब वह भी छोड़ दिये। यथा-तनना बुनना तज्या कबीर। राम नाम लिखि लिया शरीर।। जब लग भरौं नलीका बेह। तब लग टूटै राम सनेह। ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ। ए लरिका क्यों जीवै खुदाइ।। कहै कबीर सुनहु री माइ। पूरनहारा त्रिभुवन राइ।। पुनः-को बीनै प्रेम लाग्यो री माई को बीनै। राम रसाइन माते री माई को बीनै।। आदि। उस समय उन्होंने भाव में भरकर यह पद भी गाया था-तन गुदड़ी मन धागा हरी रँग लागा। हंसाकी गति हंसा जानै कहा जानैगो कागा।। हरि भक्तन सों ऐसे मिलिये जो सोने में सुहागा। कहत कबीर सुनो भाई साधो दिल का सन्देह भागा। सन्देह यह है कि बिना कुछ उद्यम किये निर्वाह कैसे होगा? यथा-चलो कबीर उद्यम करै बैठे देगा कौन। उद्यम के शिर लच्छिमी पङ्गा के सिर पौन।। अब यह सन्देह नहीं रहा। अब तो श्रीमलूकदासजी का दोहा याद आया-अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सबके दाता राम।। अतः दियो छोड़ि०। 'कियो रोस धाये सुनि०'-श्रीकबीरदासजी ने पाँच-सौ बालदों की सामग्री लुटा दी, यह हल्ला सुनकर ब्राह्मण रोष में भरकर दौड़े आये। 'न बुलाये हमें'-भाव यह कि दान के अधिकारी तो हम ब्राह्मण ही हैं, सो उनको न देकर अन्य अनाधिकारियों को दिया। जाति-विद्या महत्त्वादि के अभिमानी ब्राह्मण, संत-वैष्णवों को हीन दृष्टि से देखते थे। 'जावौ'-काशी में ब्राह्मणों का बोलबाला है। जिसको चाहें उजाड़ दें। जिसको चाहें बसा दें; अतः श्रीकबीरदासजी को भी डाँट बताये।

क्यों जू उठि जाऊँ? कछु चोरी धन ल्याऊँ नित हरिगुन गाऊँ कोऊ राह मैं न मारी है।
उनिकौं लै मान कियो याहि मैं अमान भयौ दयो जौपै जाय हमैं तौ ही तौ जियारी है।।
घरमें तौ नाहीं मण्डी जाहि तुम रहौ बैठे नीठिकै छुटायो पैड़ौं छिपे व्याधि टारी है।
आये प्रभु आप द्रव्य ल्याये समाधान कियो लियो सुख होय भक्त कीरति उजारी है।।२७३

शब्दार्थ-राह-मारी =रास्तागीरकी लूट। मान = सम्मान, आदर। अमान = अपमान, निरादर। जियारी = जीवन। नीठिकै =कठिनता से। पैंडो =रास्ता। व्याधि = झंझट। टारी = दूर की। उजारी = प्रकाशी, फैलाई।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी ने कहा-क्योंजी! मैं यहाँ से उठकर दूसरी जगह क्यों जाऊँ? मैं आप लोगों के लिये क्या चोरी करके धन लाऊँ? मैंने किसी की चोरी नहीं की है, किसी रास्तागीर को लूटा भी नहीं है। मैं तो भगवद्गुणानुवाद गाता हूँ और उसी में मग्न रहता हूँ। यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा-तुमने साधुओं को अन्न, धन देकर उनका

सम्मान किया और हम लोगों को कुछ न देकर हमारा बड़ा-भारी अपमान किया है। अब यदि हम लोगों को तुम अन्न, धन दो तभी हमारा-तुम्हारा जीवन है (अन्यथा अनशन करके मरेंगे-मारेंगे) तब श्रीकबीरदासजी ने कहा-अब मेरे घर में तो कुछ भी नहीं है, आप लोग घर में घुसकर देख लीजिये। यदि आप नहीं मानते हैं तो यहीं बैठें मण्डी में जाता हूँ, कुछ मिलेगा तो लाकर दे दूँगा। यह कहकर श्रीकबीरदासजी ने बड़ी कठिनाई से अपना पीछा छुड़ाया और मण्डी में जाकर छिप गये, इस प्रकार उन्होंने संकट को टाला। इसी समय भगवान श्रीकबीरदासजी का रूप धारण करके आये और बहुत सा धन लाये। उन्होंने आदरपूर्वक ब्राह्मणों को धन देकर उनका समाधान किया। वे लोग धन लेकर बड़े सुखी हुए। इस प्रकार भगवान ने अपने भक्त की उज्ज्वल कीर्ति को सम्पूर्ण जगत में प्रकाशित किया।।२७३।।

व्याख्या-क्यों जू उठि जाऊँ-इससे जनाया गया कि श्रीकबीरदासजी ब्राह्मणों की धमकी से नहीं डरे। भगवान के भक्त निर्भय होते हैं। यथा-तुलसिदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।। (वि०) श्रीगीताजी में दैवी-सम्पत्ति में पहली सम्पत्ति निर्भयता को कहा गया है। यथा-अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः।। भगवान श्रीराम जी ने श्रीमुख से कहा है कि मैं अपने शरणागत को सबसे अभय कर देता हूँ। यथा-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। (वा०रा०) अतः श्रीकबीरजी भी नहीं डरे। 'तौ ही तो जियारी है'-जब श्रीकबीरदासजी ने अकड़कर कहा कि मैं क्यों यहाँ से जाऊँ। तब ब्राह्मणों ने कहा कि यदि नहीं जाते हो तो हम लोगों का दान-मान से सम्मान करो अन्यथा तुम जीने ही नहीं पाओगे। बिना कुछ दिये यहाँ रहोगे तो हम लोग तुमको मार ही डालेंगे। यहाँ रहने पर तो देने पर ही जीवित रह सकते हो। 'घर में तो नाहीं।'-श्रीकबीरदासजी ने झाड़-पोंछकर सब धन लुटा दिया था। इनकी मैया बड़ी चालाक थीं, उसने दस-पाँच बोरे अलग धरा लिये थे, नहीं तो फिर वहीं फाँके मस्ती होने लगती। परन्तु श्रीकबीरदासजी को इसका पता नहीं था। अतः बोले-घर में तो नाहीं। 'तुम रहो बैठे'-यह सुनकर ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए और बोले-हाँ, कबीर! जल्दी जाओ और हम लोगों को सन्तुष्ट करो। भगवान तुम्हारा भला करें। ब्राह्मण कितने दयालु होते हैं कि अभी कुछ मिला नहीं है, केवल मिलने की आशा बंधी है और आशीर्वाद देना शुरु कर दिये।

द्रव्य ल्यायें०-बोरी की बोरी मुहरें लाये थे। सीधा सामान देने के बाद एक-एक मुहर

सभी ब्राह्मणों को देते। मुहर के नाम पर तो काशी के बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वी ब्राह्मण भी श्रीकबीरदासजी के यहाँ सीधा लेने आये। ब्राह्मणों ने श्रीकबीर-रूपधारी भगवान के हाथ से खूब दान-दक्षिणा पाया। धन्य हैं इनके भाग्य, आखिर हैं तो काशीपुरी के निवासी। ब्राह्मणों ने खूब दिल खोलकर श्रीकबीरदासजी को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी भगवान के श्रीचरण कमलों में प्रीति हो तथा साधु-ब्राह्मणों में निष्ठा हो। इस प्रकार भगवान ने ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। भगवान ने विचार किया कि श्रीकबीरजी मेरे भक्त हैं, ब्राह्मणों को आशा दे आये हैं अतः इनकी बात भी रहनी चाहिये और ब्राह्मण भी मुझको अत्यन्त प्रिय हैं, सत्य तो यह है कि मेरे रूप ही हैं अतः सत्कार के योग्य हैं। इसलिए इनको भी प्रसन्न करना आवश्यक है। अतः प्रभु ने स्वयं आकर सबका समाधान किया। पुनः जैसे माता-पिता, पुत्र की कल्याण कामना से विविध दान-पुण्य, व्रत-अनुष्ठान करते हैं उसी प्रकार श्रीकबीरजी की कल्याण कामना से भगवान ने ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया जिसमें श्रीकबीरजी की भक्ति बढ़े। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद भी दिया। पुनः भक्त की कीर्ति बढ़ाने के लिये भगवान ने सबका समाधान किया। प्रभु का स्वभाव है-संतत दासन्ह देहिं बड़ाई। प्रसङ्गवश एक बात निवेदन कर दूँ, यदि आशीर्वाद लेना हो तो ब्राह्मणों से लीजिये। भोजन-भर इनको खूब चकाचक करा दो, आशीर्वाद से घर भर लो। ये अपने आशीर्वाद द्वारा दूसरों का घर धन-धान्य से भर देते हैं। कोई कह दे कि पण्डितजी! व्यापार में फायदा नहीं हो रहा है तो ब्राह्मण कहेंगे अनुष्ठान कराओ, श्रीसूक्त, लक्ष्मीसूक्त का जप कराओ, मालोमाल हो जाओगे। सचमुच वे मालोमाल हो भी जाते हैं। परन्तु ये तो धोती-लोटा और कुछ द्रव्य पर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। विचित्र बात यह है कि अपना घर भरने के लिए ये कभी प्रयत्न नहीं करते हैं। यही इनकी शोभा है।

ब्राह्मनकौ रूप धारि आये छिपि बैठे जहाँ काहे को मरत भौन जावौ जू कबीर के।
कोउ जाय द्वार ताहिं देत हैं अढ़ाई सेर बेर जिनि लावौ चले जावौ यों बहीर के।।
आये घर माँझ देखि निपट मगन भये नये-नये कौतुक ये कैसे रहैं धीर के।
वारमुखी लई संग मानौ वाही रंग रँगे जानौ यह बात करी डर अति भीर के।।२७४

शब्दार्थ-**बहीर के = उसी के यहाँ। रंग रँगे = आसक्त हुए।**

भावार्थ-**ब्राह्मणों को संतुष्ट करके भगवान ने ब्राह्मण का रूप धारण किया और वहाँ पहुँचे, जहाँ श्रीकबीरदासजी छिपकर बैठे थे। भगवान ने श्रीकबीरदासजी से कहा-तू यहाँ पर पड़ा हुआ, भूखों क्यों मरता है? श्रीकबीरदासजी के घर पर जा। जो भी कोई**

वहाँ जाता है, उसे वे ढ़ाई सेर अन्न देते हैं, इसलिए अब तू देर मत कर, वहीं चला जा, जल्दी से जा। श्रीकबीरदासजी घर को आये और सब समाचार देख-सुनकर प्रेमानन्द में पूर्णरूप से मग्न हो गये। भगवान के द्वारा किये गये नये-नये कौतुकों से तथा वैभव की वृद्धि से परम अकिंचन भक्त श्रीकबीरदासजी का धैर्य कैसे रहे। बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को घटाने के लिए श्रीकबीरदासजी ने नये-नये कौतुकों की रचना प्रारम्भ कर दी। एक दिन आपने एक वेश्या को अपने साथ में ले लिया। उस समय ऐसा मालूम होता था, कि भजन-भाव को छोड़कर ये उसी के रंग में रँग गए हैं। परन्तु सच्ची बात तो यह थी कि- अपने पास अनेक कामनाओं से आने-जाने वालों की भीड़ से डरकर इन्होंने यह लीला दिखाई थी, कि मुझे कुमार्गी समझकर लोग मेरे पास न आवें। मेरे भजन में बाधा न हो।।२७४।।

व्याख्या-आये छिपि बैठे जहाँ-सबको बाँटकर भगवान स्वयं भी ब्राह्मण का रूप धरकर सीधा-सामान की गठरी बाँधे श्रीकबीरजी को सूचित करने चले। श्रीकबीरजी गङ्गाजी के किनारे झाउओं की झुरमुट में छिपे थे। किसी को अपनी ओर आते देखकर और दुबक गए। परन्तु भगवान तो उधर ही बढ़े चले जा रहे थे। श्रीकबीरजी पृथ्वी में सिमिटते जा रहे थे। इतने में भगवान समीप आ गये। बढ़िया ब्राह्मण का वेष था। देखकर श्रीकबीरजी ने सोचा कि मालूम पड़ता है कि इन ब्राह्मणों को यजमान की सुगन्ध आती है देखो तो, यहाँ छिपे तो यहाँ भी सूँघते-सूँघते आ गये। फिर तो लगे भगवान से प्रार्थना करने। 'देत हैं अढ़ाई सेर'- भगवान ने विवरण दिया कि श्रीकबीरजी प्रत्येक ब्राह्मण को एक सेर आटा, एक सेर चावल, आधा सेर दाल, एक लोटा घी और एक-एक मुहर देते हैं। घी और मुहर के नाम पर बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वी डोल गये। 'बहीर के'- इसका एक अर्थ शब्दार्थ भावार्थ में दिया गया है। पुनः बहीरके = बाहर-बाहर, वा कहता हूँ तुम उठते नहीं, जाते नहीं, क्या सुनाई नहीं पड़ता, बहरे हो। 'वारमुखी लई संग०' -श्रीकबीरदासजी की भक्ति का प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर लोग बड़ी श्रद्धा करने लगे। दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ने लगी। कुछ लोगों ने तो श्रीकबीरजी के दर्शन का नियम ही बना लिया था। रात-दिन जय-जयकार से आकाश गूँजता रहता था। सन्तों एवं सच्छास्त्रों ने लौकिक मान-प्रतिष्ठा को साधु के लिए बड़ा घातक बताया है। यथा-लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।। (रा०) 'व्यास' बड़ाई जगतकी कूकुर की पहचान। प्रात किए मुख चाटै, वैर किये तन हानि।। व्यास बड़ाई औरकी मेरे मन धिक्कार। (व्यासवाणी) प्रतिष्ठा शूकरी बिष्ठा…। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४१५) अतः श्रीकबीरजी ने बड़ाई से बचने के लिए-वारमुखी लई संग।

वेश्या को कुछ पैसों पर ठीक करके उसको साथ लेकर, बोतल में गङ्गाजल भरकर उनमें कुछ रंग-वंग डालकर, एक बोतल उसे तथा एक आपने लेकर, पीते हुए, लड़खड़ाते हुए, कभी अपनी बोतल उसकी ओर बढ़ाकर फिर अपनी पीते हुए, इस प्रकार पूरे शराबी और वेश्यागामी का स्वांग करते हुए बीच बाजार से निकले। ऐसे ही श्रीमाधवदास बड़ाई से बचने के लिए भीख माँगना शुरू किये थे। देखिये कवित्त ३०२।

सन्त देखि डरे सुख भयोई असन्तनिके तब तौ विचार मन मांझ और आयो है।
बैठी नृपसभा जहाँ गये पै न मान कियौ कियौ एक चोज उठि जल ढरकायो है।।
राजा जिय शोच पर्‌यो कर्‌यौ कहा? कह्यो तब जगन्नाथ पण्डा पांव जरत बचायो है।
सुनि अचरज भरे नृपने पठाये नर ल्याये सुधि कही अजू सांच ही सुनायो है।।२७५

शब्दार्थ-**चोज = कौतुक, खेल। पण्डा =ब्राह्मण रसोइया।**

भावार्थ-**श्रीकबीरदासजी को वेश्या के साथ देखकर सन्तजन डर गये (मन में सोचने लगे कि ऐसे सन्त यदि माया से मोहित हो सकते हैं, तो हम सरीखे साधारण लोग कैसे बचेंगे) और दुष्टों के मन में बड़ा-भारी सुख हुआ। (वे कहने लगे, हम तो कहते ही थे कि यह ढोंगी है, हमारी बात सच निकली।) श्रीकबीरदासजी ने सन्त और असन्तों के ऐसे भाव जानें तब उनके मन में कुछ दूसरा विचार आया। (कि सन्तों के भय को दूर करना चाहिए) वे वेश्या को साथ लिए हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ काशी के राजा की सभा लगी हुई थी। राजा ने शिष्य होते हुए भी इनका कुछ भी सम्मान नहीं किया। फिर भी ये वहाँ बैठ गये और थोड़ी देर बाद इन्होंने एक अद्‌भुत लीला दिखाई, उठकर वहीं अपने पात्र से जल गिरा दिया। यह देखकर राजा के मन में कुछ चिन्ता हुई और उसने पूछा-'आपने यह क्या किया, जल क्यों गिराया?' श्रीकबीरदासजी ने कहा- श्रीजगन्नाथपुरी में श्रीजगन्नाथजी के रसोइया का पैर जलने वाला था, इसलिए आग को बुझाकर मैंने उसकी रक्षा की है। यह सुनकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने इसकी जाँच करने के लिए आदमी भेजे। उन्होंने लौटकर समाचार दिया कि श्रीकबीरदासजी की बात सत्य है- बिल्कुल सत्य है।।२७५।।**

व्याख्या-सन्त देखि डरे-**इसका एक भाव भावार्थ में आ गया है और दूसरा भय सन्तों को यह भी हुआ कि कहीं यह लीला देखकर हम लोगों की श्रीकबीरदासजी में दोष बुद्धि न आ जाय। नहीं तो भागवत अपराध बन जायेगा, जिसे ईश्वर भी क्षमा नहीं करेंगे। श्रीकबीरदासजी तो समर्थ पुरुष हैं। भला वे इन दोषों से कैसे लिपायमान हो सकते हैं। यथा-**

समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं।। (रामा०) पुनः तीसरा भय कि श्रीकबीरदासजी के नाम के साथ श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी का नाम जुड़ा हुआ था। कोई चमत्कार की बात होती कि श्रीकबीरदासजी ने यह किया, तो कोई यदि पूछता कि कौन कबीर? तो बताने वाला झट कहता कि वही श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी के शिष्य। बात-बात में सब लोग यही कहते। सन्त लोग डरे कि अब अपयश की बात भी चलेगी और साथ-साथ श्रीस्वामीजी का भी नाम धरा जायेगा। 'सुख भयोई असन्तनिके'- दुष्टों ने दिल खोलकर निन्दा की, बड़ा-भारी अपयश हुआ। विशेष देखिये श्रीनामदेवजी के प्रसङ्ग में कवित्त १२८में 'दुष्ट सिरमौर' की व्याख्या। यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि यद्यपि श्रीकबीरदासजी का हृदय शुद्ध है, इन्होंने वेश्या के साथ कोई कुत्सित कर्म नहीं किया है, न किंचित्मात्र भी वेश्या में आसक्ति है, प्रतिष्ठा से बचने के लिए केवल संग लेकर घूमे मात्र हैं, परन्तु अपयश तो हो गया। वह कुसंग का दुष्परिणाम है। शराब की दुकान पर बैठने वाला कैसा भी सदाचारी क्यों न हो लोग शराबी ही समझेंगे। यह संग दोष है। इसी से कहा गया है- बसि कुसंग चाहत कुसल, तुलसी यह अफसोस। महिमा घटी समुद्र की रावन बसा परोस।। दूसरी बात यह भी कि संसारी लोग अन्तर्भाव को न देखकर बाह्य आचरण पर ही विशेष दृष्टि देते हैं। अतः लोक में अपयश से बचने के लिए अन्तःशुद्धि के साथ-साथ बाह्यशुद्धि भी अपेक्षित है। कहावत है- यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नहि करणीयं नहि करणीयं।।

दृष्टान्त-बेलमा फकीर और तुलसी खत्रानीका-**कहते हैं कि बेलमाफकीर बड़े परमहंस सन्त थे। तुलसी नाम की एक खत्रानी उनमें बड़ा भाव रखती थी। वह नित्यप्रति उनका दर्शन करने जाती और देर-देर तक उनका सत्सङ्ग करती। चूंकि तुलसी खत्रानी विधवा थीं और रूपवती थीं अतः कुछ लोग संदेह करने लगे कि इसका फकीर के साथ अनुचित सम्बन्ध है। दुष्ट लोगों ने बात का बतंगड़ बनाकर बेलमा तुलसी की जी-भरकर निन्दा की। धीरे-धीरे बात बेलमा तक पहुँची तो उन्होंने बड़े खेदपूर्वक कहा कि मैं तो उन्हें अपनी माता के तुल्य समझता हूँ और मुझे विश्वास है कि वह भी मुझे अपना पुत्र ही समझती हैं, कुछ भगवच्चर्चा सुनने के लिए आती हैं, फिर भी संसार ने कितना गलत सोच लिया? कुछ मनचले लोगों ने कहा कि यदि आप दोनों का इतना पवित्र भाव है तो आप बालकवत् उनका स्तन पान करें, यदि वात्सल्यवश उनके स्तनों में दूध आ जाय तो हम लोग आपके भाव को सच मानेंगे। दूसरे दिन बेलमा ने सचमुच ऐसा ही किया**

तुलसी के आते ही उनकी गोद में बैठकर स्तन-पान करने लगे और उनके हृदय में भी ऐसा वात्सल्य उमड़ा की स्तनों से दूध की धार बह चली। यह दिव्य भाव देखकर लोग दङ्ग रह गये।

तब तो विचार और आयो है- **विचार यह कि मेरा अपयश हुआ सो तो ठीक, परन्तु साथ-साथ वेष की भी बदनामी हुई, सन्तों को डर हुआ और सबसे बड़ी बात यह कि श्रीगुरुजी का भी नाम धरा जा रहा है अतः इनकी प्रतिष्ठा भी बढ़नी चाहिए। पुनः निन्दकों के सिर पर भी निष्कारण निन्दारूपी पाप का भार बढ़ रहा है, अतः उनको भी इस दोष से बचाने के लिए और बातें सोचे। सोच-विचारकर प्रथम राजा को ही चमत्कार दिखाने का निश्चय किये। क्योंकि राजा के प्रभावित होते ही और लोग स्वतः प्रभावित होकर पुनः सन्त-वैष्णवों का सम्मान करने लगेंगे। 'गये पै न मान कियो' श्रीकबीरजी मन ही मन मुस्कुराये कि मेरा उपाय तो सफल रहा। कहाँ तो राजा घर जाकर लम्बी दण्डवत् करता था, कहाँ अब आने पर भी मुख फेर लिया। 'जल ढरकायो है'-श्रीकबीरजी सभा में बैठे थे। बैठे-बैठे ही जगन्नाथ भगवान का ध्यान हो आया। मानसी में वहाँ पहुँच गये। वहाँ इन्होंने देखा कि रसोइया थाल सजाकर श्रीठाकुरजी के यहाँ ले जा रहे हैं, मार्ग में अग्नि का दहकता अँगारा पड़ा है, उन्हें दीख नही रहा है, यदि पाँव पड़ जायेगा तो थाल गिर जायेगा, भोग बिखर जायगा। अतः पाँव पड़ने ही वाला था कि इन्होंने तुरन्त बोतल का जल गिरा दिया। आग बुझ गई, रसोइया, बाल-बाल बच गये। 'साँच ही सुनायो है'- राजा के गुप्तचर पुरी गये तो वहाँ शोर मचा पड़ा था कि यदि श्रीकबीरदासजी नहीं रहे होते तो श्रीपण्डाजी अवश्य जल जाते।**

कही राजा रानी सों जु बात वह साँची भई आँच लागी हिये अब कहो कहा कीजियै।
'चले ही बनत' चले सीस तृण बोझ भारी गरेसों कुल्हारी बाँधि तिया संग भीजियै।।
निकसे बाजार ह्वै कै डारि दई लोकलाज कियो मैं अकाज छिन छिन तन छीजियै।
दूरि ते कबीर देखि ह्वै गये अधीर महा आये उठि आगे कह्यौ डारि मति रीझियै।।२७६

शब्दार्थ-**भीजिये = भावमग्न हुए। डारि दई = त्याग दी। अकाज = अनुचित काम।**

भावार्थ- **(लोगों को दिखाने के लिए श्रीकबीरदासजी ने उस वेश्या को थोड़े से समय के लिए पास रक्खा फिर हटा दिया। यह बात भी राजा ने सुनी और मन में अपना अपराध मानकर) राजा ने रानी से कहा- श्रीकबीरदासजी की वह बात तो सत्य निकली। राजसभा में कृपा करके पधारे, मैंने उनका अपमान किया, इसलिए मेरे मन में बड़ा-भारी दुःख है।**

इस अपराध से बचने के लिए मैं कौन सा उपाय करूँ, यह बताओ? रानी ने कहा कि- उन्हीं की शरण में जाने से काम बनेगा। तब राजा ने घास का एक बड़ा-भारी बोझ शिर पर रख लिया और गले में कुल्हाड़ी बाँध ली। इस प्रकार भाव में भीगा हुआ राजा रानी को साथ में लेकर श्रीकबीरदासजी की शरण में चला। राजा-रानी ने लोक-लज्जा का सर्वथा परित्याग कर दिया था। दोनों बाजार होकर निकले। हमने बड़ा अनुचित कार्य किया है ऐसा सोच-सोचकर उनके शरीर क्षण-प्रतिक्षण क्षीण हो रहे थे। श्रीकबीरदासजी ने दूर से राजा को आते देखा, तो अत्यन्त व्याकुल हो गये। वे उठकर राजा के पास आये और उन्होंने घास का बोझ उतरवा दिया, गले से कुल्हाड़ी खुलवा दी। राजा-रानी के भाव से श्रीकबीरदासजी अत्यन्त संतुष्ट हो गये। मैं तुम्हारे ऊपर रुष्ट नहीं हूँ, ऐसा कहते हुए उन्होंने उपदेश देकर उन्हें आनन्दित किया।।२७६।।

व्याख्या-आँच लागी हिये-**क्योंकि भागवत-अपराध हो गया था। इसे ईश्वर भी क्षमा नहीं करेंगे।सीस तृण बोझ भारी- यह दैन्य की मुद्रा है और शरणागति की एक विधि है, इसका तात्पर्य यह है कि मैंने आपही पापका बोझ सिर पर धर लिया, अब आपके ही अतारे उतर सकता है। अथवा तृणवत् तुच्छ हूँ, आप वास्तव में महान हैं। 'गरेसों कुल्हारी बाँधि'-भाव यह कि मैंने अपने आप गले पर कुल्हाड़ी मार ली है, अब तो जीवन आपके हाथ में है।श्रीअङ्गदजी ने रावण को यही शरणागति की विधि बताई थी। यथा-दसन गहहु तृण कण्ठ कुठारी। परिजन सहित सङ्ग निज नारी।। सादर जनकसुता करि आगे। एहि विधि चलहु सकल भय त्यागे।। (रामा०) 'दूर ते कबीर देखि'-किसी ने आकर श्रीकबीरदासजी से बता दिया तो वह दूर से देखकर दौड़ पड़े। सोचे कि राजा तो ईश्वर का अंश होता है, यदि हमारा मान नहीं किया तो क्या बिगड़ गया, परन्तु राजा का इतना दीन होना ठीक नहीं है। 'मति रीझिये'- यह दोनों पक्षों में लगता है। दोनों के सद्व्यवहार को देखकर दोनों की मति रीझ गई।**

देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यौ अभाव द्विज आयौ पादसाह सो सिकन्दर सुनांव है।
विमुख समूह संग माता हूँ मिलाय लई जाय कै पुकारे जू दुखायो सब गांव है।।
ल्यावो रे पकर वाके देखौं मैं मकर कैसो अकर मिटाउँ गाढ़े जकर तनांव है।
आनि ठाढ़े किये काजी कहत सलाम करौ जाने न सलाम जानै राम गाढ़े पांव है।।२७७

शब्दार्थ-**अभाव = द्वेष-डाह। पादशाह = बादशाह। मकर = छल, मक्कार, कपटी। अकर =अकड़, ऐंठन, मस्ती। गाढ़े = कड़े। जकर = जकड़, बन्धन, दबाव। तनाव =कमाव,**

कसने का भाव। काजी = हाकिम। सलाम = प्रणाम। गाढ़े पांव = सङ्कट में पैर फँसने पर, दृढ़ता से आश्रय देने वाले चरण।

भावार्थ- इस प्रकार श्रीकबीरदासजी की बढ़ती हुई महिमा को देखकर ब्राह्मणों के हृदय में ईर्ष्या पैदा हो गई। उस समय भारत का तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी काशी आया हुआ था। भक्ति विमुख ब्राह्मणों ने श्रीकबीरदासजी की माता को भी अपने पक्ष में कर लिया और इकट्ठे होकर सिकन्दर लोदी के दरबार में गये। सभी ने पुकार की कि-'इस कबीरदास ने सारे गाँव को दुःखी कर दिया है।' (मुसलमान होकर हिन्दू बाबाजी बन गया है, किसी धर्म को न मानकर ढ़ोंग फैलाता रहता है।) बादशाह ने तुरन्त आज्ञा दे दी कि-'उसे अभी पकड़कर मेरे पास ले आओ, मैं उसे देखूँगा कि वह कैसा मक्कार है, मेरा कठोर शासन है, कड़े बंधन में कसकर बँधवा दूँगा और उसकी सारी अकड़, सारा घमण्ड मिटा दूँगा।' बादशाह की आज्ञा पाकर सिपाही लोग श्रीकबीरदासजी को ले आये और बादशाह के सामने खड़ा कर दिये। तब किसी काजी ने श्रीकबीरदासजी से कहा-'ये बादशाह सलामत है, इन्हें सलाम करो।' इन्होंने उत्तर दिया कि-'हम श्रीराम के अतिरिक्त दूसरे किसी को सलाम करना जानते ही नहीं हैं। हम केवल यह जानते हैं कि संकटकाल में श्रीराम के चरण-कमल ही सबके लिए दृढ़ आश्रय हैं। हम इस निश्चय पर दृढ़ हैं'।।२७७।।

व्याख्या-देखिकै प्रभाव-ब्राह्मणों ने देखा कि श्रीकबीरजी ने तो राजा को भी अत्यन्त दीन बना दिया, नहीं तो भला ये राजा-रईस किसको मानने लगे। लगता है कि इनके पास कोई यन्त्र-मन्त्र है। श्रीकबीरदासजी का बढ़ता हुआ उत्कर्ष ब्राह्मणों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया। 'माता हू मिलाय लई'-ब्राह्मणों के सिखाने-पढ़ाने से श्रीकबीरदासजी की माता दिन में मसाल जलाकर बादशाह के पास गई। बादशाह ने पूछा-तुमने ऐसा क्यों किया? उसने कहा-हुजूर! आपके राज्य में बड़ा अन्धेर है। देखो, मेरे बेटा को बैरागियों ने वैरागी बना लिया है। वह अपना मजहब छोड़कर 'राम-राम' कहने लगा है। 'जानै राम' अनन्य भक्त एकमात्र अपने परमाराध्य को छोड़कर और किसी को जानता ही नहीं, फिर माने किसे? यथा-श्रीलक्ष्मण वचन-गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।। जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।। मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी।। (रामा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५ 'पन-सोधों' की व्याख्या तथा पृष्ठ २२, दृष्टान्त श्रीपति एवं एक धर्मनिष्ठ भक्तकवि का। पुनः-

दृष्टान्त-फनन्यका-ब्रज के एक गाँव में पंडितों की गोष्ठी हो रही थी। सभी लोग अपनी-अपनी अनन्यता का वर्णन कर रहे थे कि हम अपने इष्टदेव को छोड़कर और किसी भी देवी-देवता को नहीं मानते हैं (कोई-कोई कहते हैं कि श्रीमद्‌बल्लभाचार्य महाप्रभुजी अनन्यता का वर्णन कर रहे थे) इतने में एक ग्वाल-बाल आया। उसने कहा कि आप लोग अनन्य हैं परन्तु मैं तो फनन्य हूँ। सुनकर पंडित लोग बड़े चकराये कि 'अनन्य' तो सब लोग जानते हैं परन्तु 'फनन्य' क्या होता है? अंत में सब लोगों ने उस बालक से ही फनन्य की परिभाषा पूछी। उसने कहा-सुनो, तुम लोग अनन्य हो इष्ट के अलावा और किसी देवी-देवता को नहीं मानते हो परन्तु जानते तो हो और मैं तो एकमात्र नन्द के लाला दादा कन्हैया को छोड़कर और किसी को जानता ही नहीं, फिर मानना-न मानना बहुत दूर की बात रही। उस बालक की यह परम तथ्यपूर्ण वार्ता सुनकर ब्राह्मण लोग उसके समक्ष नतमस्तक हो गये और बोले, 'भैया! हम अनन्यों से तो तू फनन्य ही श्रेष्ठ है।। श्रीकबीरदासजी के इस प्रसङ्ग का एक और कवि ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। यथा-विमुखन मुख निन्दा सुनिकै सिकन्दर नै पकरि मँगाये आप आये तिहि ठाम हैं। कही काजी पाजी सुनौ ऐ महा मिजाजी करौ सिरको झुकाय बादशाहको प्रनाम हैं।। बोले श्रीकबीर रसराम कहैं धीर उन ध्याय रघुवीर जन पीर हारी नाम हैं। जानों न सलाम कहौं सांची मैं कलाम बात दूसरी हराम जग जानौ एक राम हैं।। गाढ़े पाँव है-एवं प्रकारेण 'श्रीकबीरदासजी बादशाह से अकड़ गये। बादशाह ने अकड़ मिटाने की धमकी दी थी तो ये और भी अधिक अकड़े। यद्यपि संत को नम्र रहना चाहिये, परन्तु 'कतहुँ सुधाइहूँ ते बड़ दोषू' इस न्याय से कभी-कभी कड़ा भी पड़ जाना चाहिये। इस पर-

दृष्टान्त-सर्प शिष्यका-एक बार श्रीनारदजी जंगल के मार्ग से कहीं जा रहे थे। एक गाँव के कुछ लोगों ने उस रास्ते से जाने के लिए मना किया, क्योंकि उसमें एक महाविषधर सर्प रहता था। जो न जाने कितने राहगीरों को काट चुका था। श्रीनारदजी उस सर्प को उपदेश देने का निश्चय कर मना करने पर भी उसी मार्ग से गये। सर्प अपने पूर्वाभ्यासवश श्रीनारदजी की ओर भी लपका। श्रीनारदजी ने मंत्रबल से सर्प को स्तम्भित करके उपदेश दिया कि तुमने न जाने कौन सा ऐसा पाप किया है जो तुम्हें यह महातमोमयी सर्पयोनि मिली है, फिर भी तुम अपना अभ्यास नहीं छोड़ते हो। अरे अब से तो चेत जाओ। श्रीनारदजी की बात सर्प को लग गई, फिर तो वह नतमस्तक होकर दीक्षा के लिए प्रार्थना करने लगा। दयालु हृदय श्रीनारदजी ने सर्प को भगवन्नाम की दीक्षा देकर आज्ञापूर्वक कहा कि आज से

किसी को नहीं काटना और जहाँ कहीं कथा-वार्ता सत्सङ्ग हो, वहाँ जाकर नित्यकथा सुनना। सर्प गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर समीप के गाँव में नित्य कथा सुनने जाने लगा। उसको शांत देखकर शरारती लड़कों ने उस पर कंकड़-पत्थर फेंकना शुरु किया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिन में वह सर्प इतना घायल हो गया कि अब कथा में भी जाने योग्य नहीं रहा। कुछ दिन बाद श्रीनारदजी अपने शिष्य की खोज-खबर लेने, पुनःउसी मार्ग से निकले। सर्प की दुर्दशा देखकर बड़े ही विस्मयपूर्वक पूछे कि तुम्हारा यह हाल कैसे हुआ? तो सर्प ने सब वृतान्त कह सुनाया। तब श्रीनारदजी ने कहा-अरे भाई, मैंने तो काटने को मना किया था तुम किसी को काटो मत, परन्तु कभी-कभी फुफकारा तो करो। वैसे ही श्रीकबीरदासजी भी थोड़ा फुफकारने लगे।

बाँधिकै जंजीर गंगानीर मांझ बोरि दिये जिये तीर ठाड़े कहैं जन्त्रमन्त्र आवहीं।
लकरीन मांझ डारि अगिनि प्रजारि दई नई मानो भई देह कंचन लजावहीं।।
विफल उपाय भये तऊ नहीं आय नये तब मतवारो हाथी आनि कै झुकावहीं।
कावत न ढिग औ चिघारि हारि भाजि जाय आप आगे सिंह रूप बैठे सो भगावहीं।।२७८

शब्दार्थ-**जिये = जीवित रहे। जन्त्र-मन्त्र = जादू टोना। प्रजारि =जलाय। विफल = व्यर्थ, बेकार। नये = झुके, नम्र हुए। झुकावहीं=झपटाया। चिघारि = जोर से चिल्लाकर। हारि = हारकर, थककर।**

भावार्थ-**श्रीकबीरदासजी की बातें सुनकर बादशाह ने समझा कि वस्तुतः यह घमण्डी है। मार डालने के विचार से उसने इन्हें लोहे की जंजीरों से बँधवाकर गङ्गाजी की धारा में डुबो दिया परन्तु ये जीवित ही रहे, लोहे की जंजीरें न जाने कहाँ गईं। ये गङ्गाजी की धार से निकलकर तट पर खड़े हो गये। तब सभी लोग कहने लगे कि यह कोई यन्त्र-मन्त्र जानता है, इसलिए डूबा नहीं। पश्चात् बादशाह की आज्ञा से बहुत-सी लकड़ियों में इन्हें दबाकर आग लगा दी गई। उस समय नया आश्चर्य हुआ, सभी लकड़ियाँ जलकर भस्म हो गईं और इनका शरीर इस प्रकार चमकने लगा जिसे देखकर तपे हुए सोने की चमक भी लज्जित हो गई। श्रीकबीरदासजी को मारने के उपाय व्यर्थ हो गये फिर भी वे लोग इनके सामने नहीं झुके, महिमा देखकर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। तब एक मतवाला हाथी लाकर उनके ऊपर झपटाया गया परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी हाथी श्रीकबीरदासजी के पास नहीं आया। बड़ी जोर से चिग्घाड़कर वह दूर भाग जाता था।**

महावत हार गये। इनके समीप में हाथी के न आने का कारण यह था कि स्वयं श्रीरामजी सिंह का रूप धारण कर श्रीकबीरदासजी के आगे बैठे थे। वे ही हाथी को भगा देते थे।।२७८

व्याख्या-नई मानो भई देह०-जल में डुबाने एवं अग्नि में जलाने से भी श्रीकबीरदासजी का बाल भी बाँका नहीं हुआ, बल्कि उनकी अङ्गकान्ति और भी दिव्य हो गई। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध में श्रीप्रह्लादजी का प्रसङ्ग कवित्त, ९९, १००। 'विफल उपाय भये'-अर्थात् श्रीकबीरदासजी न तो जल में डुबे और न अग्नि में जले ही। कारण यह कि जल-और अग्नि जिनसे उत्पन्न हैं, उन्हीं के परम भक्त श्रीकबीरदासजी हैं, तो भला वे कैसे इनका अनिष्ट कर सकते हैं। लङ्का-दहन के समय श्रीहनुमानजी को भी अग्निदेव ने नहीं जलाया, सारी लङ्का जल गई। इसका कारण बताते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहिं कारण गिरिजा।। (रामा०)पुनः ये सब भगवान की आज्ञा के अधीन हैं। किसी के जलाने, डुबाने में स्वतंत्र नहीं हैं। यथा-मद्भयाद्वाति वातोऽय सूर्य-स्तपति मद् भयात् वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्।। (भा० ३।२५।४२) अर्थ-श्रीकपिल भगवान माता देवहुति से कहते हैं कि मेरे ही डर से वायु चलता है, सूर्य तपते हैं, इन्द्र वर्षा करते हैं, अग्नि जलाते हैं और मृत्यु अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। उपनिषद में भी इस आशय का एक मंत्र है। यथा-भीषाष्माद्वातः पर्वते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाष्मा-दग्निश्चेन्द्रश्च मृत्यु र्धावति पञ्चम इति।। (तैत्ति० वल्ली २।८) अर्थ-परमात्मा के डर से वायु चलता है, सूर्य भ्रमण करते हैं, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौड़ते रहते हैं। ऐसी स्थिति में ये भला उन्हीं परमात्मा के उपासक का अमङ्गल कैसे कर सकते हैं? पुनः- श्रीअम्बरीषजी को जब श्रीदुर्वासा प्रेरित, कृत्या अग्नि जलाने चली तो श्रीचक्रसुदर्शन ने तत्काल उसे राख कर दिया। देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त ३९। तथा जब दावानल ग्वाल-बालों एवं गायों को जलाने लगा तब उनकी करुण पुकार सुनकर तत्काल स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने उसे पी ही डाला। अतः ये हमेशा भगवदीयजनों का अमङ्गल करने में डरते हैं। अतः विफल उपाय भये। किसी कवि ने लिखा है-जगदीश निदेशमंतराद् दहनो नैव दहेत किंचन। यदसौ निज तन्त्रको भवेत् जठरस्थो दहते न किं वपुः।। अर्थात् बिना भगवान की आज्ञा के अग्नि किसी को नहीं जलाते हैं। यदि वे स्वतंत्र होते तो जठराग्नि के रूप में उदर में स्थित रहकर शरीर को ही क्यों न जला देते? पुनः साधु के प्रति किये गये दुष्टों के उद्योग विफल हो ही जाते हैं। यथा-विफल होहिं रावन सर कैसे। खलके सकल मनोरथ जैसे।। विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसाके।। (रामा०) अत यहाँ भी विफल उपाय भये।

यदि दुष्टों का मनचीता होने लगे तो संसार में साधु-पुरुष जीने ही नहीं पायें। यथा-बधिक बाज अरु दुष्ट नर जो इन चीतो होइ। तौ तुलसी संसारमें साधु न जीवै कोइ।। मतवारो हाथी- एक तो वह स्वयं मदोन्मत्त था ही उस पर भी उसे मदिरा पिला दी गई थी।

देख्यो बादशाह भाव कूदि परे गहे पांव देखि करामात मात भये सब लोग हैं।
प्रभु पै बचाय लीजै हमें न गजब कीजै दीजै जोई चाहौ गांव देस नाना भोग हैं।।
चाहैं एक राम जाकौं जपै आठो जाम और दामसों न काम जामैं भरे कोटि रोग हैं।
आये घर जीति साधु मिले करि प्रीति जिन्हैं हरिकी प्रतीति वेई गायबेको जोग हैं।।२७९

शब्दार्थ-**करामात = चमत्कार। मात भये = हार गये। गजब = जुल्म, क्रोध, विलक्षण बात।**

भावार्थ-**बादशाह सिकन्दर लोदी ने श्रीकबीरदासजी का ऐसा अद्भुत प्रभाव देखा तो वह सिंहासन से कूदकर इनके चरणों में गिर पड़ा। इनके इस चमत्मकार को देखकर विमुख विरोधी लोग हार गये। बादशाह हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा कि-अब आप कृपा करके ईश्वर के कोप से मुझे बचा लीजिये।' श्रीकबीरदासजी ने कहा-अब कभी भी किसी साधु-संत के ऊपर ऐसा गजब न करना।' बादशाह ने कहा-प्रभो! गाँव, देश तथा अनेक सुख-सुविधा के सभी सामान जो-जो आप चाहें, वह सब मैं आपको दूँगा।' तब आपने उत्तर दिया-हम तो केवल श्रीरामजी को चाहते हैं और उन्हीं को अष्ट-प्रहर जपते हैं। दूसरे उस धन से हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं जिसमें करोड़ों रोग-दोष भरे हैं। इस प्रकार बादशाह से सम्मानित होकर आप अपने घर आये। आपकी विजय हुई अतः अनेक साधु संत बड़े प्रेम से आकर मिले। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-श्रीकबीरदासजी को यह विश्वास था कि-'राम गाढ़े पांव हैं' इसी से इनकी जीत हुई। जिन्हें इस प्रकार का भगवान में विश्वास है, उन्हीं की कीर्ति गान करने योग्य है ।।२७९।।**

व्याख्या-देख्यो बादशाह-**जब महावतों के लाख प्रयत्न करने पर भी वह मतवाला हाथी श्रीकबीरदासजी की ओर नहीं बढ़ा, बल्कि सिंह को देखकर उल्टे चिग्घाड़ मारकर भागा। तब बादशाह ने महावतों से पूछा कि हाथी आगे क्यों नहीं बढ़ रहा है? महावतों ने कहा-सामने सिंह बैठा है। बादशाह ने कहा हमें क्यों नहीं दिखाई पड़ रहा है? महावत -हमारी तरह आप भी सामने आइये, तब दीखेगा। तब बादशाह स्वयं हाथी पर बैठकर उसे आगे बढ़ाने लगा तब उसने देखा कि सामने महाभङ्कर सिंह गम्भीर गर्जना करता हुआ आ रहा है। तत्काल उसके दिमाग में बात कौंध गई कि यह वही नरसिंह हैं जिन्होंने प्रह्लाद**

की रक्षा की थी और हिरण्यकशिपु को मारा था। बस, कूदकर चरणों में पड़ गया।'जपैं आठो जाम' यथा-आठ पहर चौंसठ घड़ी मेरे और न कोय। नैना माहीं तू बसै, नीदहिं ठौर न होय।। 'दाम सों न काम'- एक शायर ने लिखा है- आराम चाहता है तो आ राम की तरफ। फन्दे में फँसा चाहे तो जा दामकी तरफ।। विशेष देखिये श्रीरैदासजी का प्रंसङ्ग कवित्त २६२ तथा श्रीनामदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त '१३५ चाहिये न कछुकी' व्याख्या। जामे भरे कोटि रोग हैं- देखिये श्रीजयदेवजी का प्रसङ्ग कवित्त १५२।। श्रीमद्भागवतजी' में अर्थ में पन्द्रह अनर्थ कहे गये हैं और यहाँ कहते हैं कि 'जामे भरे कोटि रोग हैं '। भाव यह कि पन्द्रह तो प्रधान हैं फिर एक-एक के पीछे करोड़ो-करोड़ों अनर्थ हैं। श्रीकबीरदासजी ने अर्थ की अनर्थरूपता का अनुभव किया है।

इस सम्बन्ध में रीवां नरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी 'श्रीराम-रसिकावली' में लिखते हैं कि एकबार श्रीकबीरदासजी अपनी माता के साथ कहीं जा रहे थे। जंगल में एक जगह मुहरों की चार थैलियाँ पड़ी दिखाई दीं। इनकी माता दौड़कर उठाने लगीं तब श्रीकबीरदासजी ने माता को रोककर कहा कि माताजी! शास्त्रों में 'धन पराव विष ते विष भारी।' कहा गया है, अतः आप भूलकर भी इनकी इच्छा मत करो। माता ने इनके कथन का विरोध किया। तब श्रीकबीरदासजी ने कहा कि यदि तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है तो यहीं-कहीं बैठकर तू देख ले इसका तमाशा। फिर तो माँ-बेटे एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। इतने में चार सिपाही उधर ही जाते दिखाई पड़े। (यद्यपि श्रीकबीरदासजी ने उन्हें मना किया कि उधर मत जाओ, नहीं तो तुम लोगों को डाइन खा जायेगी। परन्तु सिपाहियों ने उसे अनसुना कर दिया।) मुहरों की थैलियाँ देखकर चारों ही लपककर उन्हें उठा लिए। (और आपस में कहने लगे कि देखो, वह बाबाजी अपने लेने की ताक में बैठा था अतः हम लोगों को धोखा दे रहा था।) श्रीकबीरदासजी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। चारों एक शहर में पहुँचकर एक वणिक की धर्मशाला में रुके। फिर दो तो कुछ खाने-पीने का सामान लेने के लिये बाजार चले गये और दो वहीं मुकाम पर ही रहे। जो बाजार गये थे, उनके मन में पाप समाया। धन के लोभ ने उनकी बुद्धि को मलिन कर दिया अतः उन दोनों ने सलाह किया कि हम लोग यहीं खा-पी लें और उन दोनों के भोजन में विष मिला लें जिसको खाकर वे मर जायेंगे तो सब धन हमें ही मिल जायेगा, नहीं तो चार भाग होने पर मिलेगा ही कितना। उधर जो मुकाम पर थे उनके मन में भी पाप आया। उन्होंने सलाह की कि उन दोनों को यदि मार डाला जाय तो सब धन हमारा हो जायेगा। परिणाम यह हुआ कि जो लोग बाजार

गये थे वे मिठाई में विष मिलाकर ले आये और इन दोनों को देकर स्वयं थकने का बहाना बनाकर सो गये। मौका देखकर उन दोनों ने सोये हुए इन दोनों को मार डाला और थोड़ी ही देर बाद मिठाई खाकर स्वयं भी मर गये। श्रीकबीरदासजी ने माता से कहा कि देखा तूने यह अनर्थ। माता ने भयभीत होकर कहा कि बेटा! तेरी ही बात सत्य निकली, अब तो शीघ्र यहाँ से चल देना चाहिए। श्रीकबीरदासजी ने कहा- अभी और देख लो, तब चलें। प्रातःकाल हुआ। वणिक की धर्मशाला में चार-चार हत्याएँ हुई थी। खबर मिलने पर थाना कोतवाल ने हत्या का आरोप वणिक पर लगाकर उसे तो कैद में डाल दिया और सभी मुहरें तथा वणिक का पूरा मालमत्ता जब्त करके राजकोश में जमा कर दिया गया। प्रसंग यहीं नहीं समाप्त हुआ। मुहरों की थेलियाँ जहाँ पड़ी थीं, वह दूसरे राजा की भूमि थी। जब उसको यह समाचार मिला तो उसने इस राजा के पास कहला भेजा कि वह धन हमारे राज्य में था, अतः आप उसे हमको वापिस कर दें, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जायें। इस राजा ने स्वाभिमानवश धन देना नहीं स्वीकार किया। फलस्वरूप घोर युद्ध हुआ और दोनों राजा आपस में लड़ते हुए मारे गये। ऐसे अनेकों दृष्टान्त देखे सुने जाते हैं। तब श्रीकबीरदासजी ने पुनः माता को सचेत कर वहाँ से प्रस्थान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकबीरदासजी का स्वयं का अनुभव है अतः बोले-'जामे भरे कोटि रोग हैं।'

आये घर जीति-सन्त, सद्गुरु एवं भगवान की कृपा से श्रीकबीरदासजी बादशाह को जीतकर एवं उसके द्वारा उपस्थित किये गये बड़े से बड़े प्रलोभनों को जीतकर घर आ गये। इसी से कहा गया है-कोटि विघ्न सिर पर परै, कोटि दुष्टको साथ। तुलसी कछू न करि सकै जो सहाय रघुनाथ।। रहिमन कोउ का करै, ज्वारी चोर लबार। जो पति राखनहार है माखन चाखन हार।। गुरु मेहरबान तो चेला पहलवान। पुनः-राम बढ़ायें सो बढ़ैं कल बल बढ़ैं न कोय। कल बलते रावन बढ्यो, छनमें डारे खोय।। पुनः, साईं साथ बड़ाइयाँ, जिसको चाहैं देयँ। पुनः-'जो बड़ होत सो राम बड़ाई।' 'संतत दासन्ह देहिं बड़ाई।' अतः आये घर जीति। 'साधु मिले करि प्रीति'-जैसे किसी गाँव का कोई पहलवान बड़ी कुश्ती जीतकर आये तो गाँव भर उससे मिलने आता है, लोग यथाशक्ति भेंट उपहार देते हैं, बड़ी बड़ाई करते हैं और गाँव का जमींदार तो प्रसन्न होकर उसे दूध पीने के लिये भैंस तक दे देता है। क्योंकि उसने गाँव की नाक रख दी, प्रतिष्ठा बढ़ाई है, उसी प्रकार श्रीकबीरदासजी ने सन्त-वेष की मर्यादा बढ़ाई है, अतः सभी बड़े-बूढ़े सन्त-महन्त श्रीकबीरदासजी से मिलने आये और आशीर्वाद दिये। गायबे के जोग हैं- ऐसे भक्तों का सुयश भगवान

स्वयं गाते हैं और गवाते भी हैं। यथा-सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिर गाउ।। (विनय)।

वर्णन आया है कि इसी बादशाह सिकन्दर लोदी ने एक बार श्रीकबीरदासजी के पास एक पत्र भेजकर प्रार्थना किया कि आप महान् ज्ञानवान पुरुष हैं, साक्षात साहब के स्वरूप हैं। साहब के यहाँ सभी मत-मजहबों का आदर है अतः आप मेरे लिये एक ऐसा ग्रन्थ लिखकर भेजें जिसमें सभी मतों-मजहबों के सिद्धान्त की बातें लिखी हों, तब श्रीकबीरदासजी ने लिख भेजा कि तुम एक हजार गाड़ी कागज भेजो, मैं सब लिखकर तुम्हारे पास भेज दूँगा।यह सुनकर बादशाह बड़ा विस्मित हुआ और सचमुच एक हजार गाड़ी कोरा कागज कबीरदासजी के पास भेजवा दिया। श्रीकबीरदासजी ने भगवान का स्मरण कर श्रीराम-नाम लिखकर एक गाड़ी पर धर दिया। श्रीरामनाम के प्रताप तथा श्रीकबीरदासजी के विश्वास से तत्काल सभी कागज लिख गये और विशेषता यह थी कि जो कोई जिस मत-मजहब का सिद्धान्त ग्रन्थ खोजते उसे वही मिल जाता। इससे बादशाह बहुत ही प्रभावित हुआ और यदा-कदा इनके दर्शन के लिए आया करता था। (राम-रसिकावली)

होय के खिसाने द्विज निज चारि विप्रनके मूड़न मुड़ायो भेष सुन्दर बनाये हैं।
दूर-दूर गांवनि में नांवनिको पूंछि पूंछि नाम लै कबीरजूकौ झूठै न्यौति आये हैं।।
आये सब साधु सुनि ए तो दूरि गये किहूँ चहुँदिसि सन्तनके फिरैं हरि धाये हैं।
इनहींको रूपधरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे ऐऊ मिलि गये नीके पोषिकै रिझाये हैं।।२८०

शब्दार्थ- **खिसाने = लजाने । पोषिकै = खिला-पिलाकर।**

भावार्थ-**श्रीकबीरदासजी की विजय से विरोधी ब्राह्मण लोग अत्यन्त लज्जित हुए। साधुओं से शाप दिलाकर इन्हें परास्त करने के विचार से उन्होंने अपने में चार ब्राह्मणों के मूड़ मुड़वाये। तिलक,कंठी आदि से सजाकर उनके सुन्दर वैरागी साधुओं के-से वेष बनाये। उन चारों को चारों दिशाओं में भेज दिया। वे लोग दूर-दूर तक गाँव में साधुओं के स्थानों और नामों को पूछ-पूछकर सब जगह सब को न्यौता दे आये। (सबसे आग्रह पूर्वक कह आये कि-अमुक दिन श्रीकबीरदासजी के यहाँ भंडारा है, वस्त्र और दक्षिणा का भी प्रबन्ध है, आप पधारें।) भण्डारा सुनकर अगणित साधु-सन्त श्रीकबीरदासजी के यहाँ आये। तब आप घर से अलग कहीं दूर जाकर छिप गये। अपने भक्त की प्रतिष्ठा रखने के लिए भगवान स्वयं श्रीकबीरदासजी का रूप धारण करके आ गये। क्योंकि भगवान तो सदा अपने भक्तों की**

रक्षा के लिये उनके चारों ओर दौड़ते रहते हैं। श्रीकबीरदासजी के अनेक रूप धारण करके भगवान अलग-अलग स्थानों पर चारों ओर बैठकर-दौड़कर सबका स्वागत और भण्डारें का प्रबन्ध करने लगे। बड़ी-बड़ी पंगतें बैठ गई। अब सच्चे कबीरदासजी भी आकर इन्हीं में मिल गये। भगवान ने खिला-पिलाकर और दान-सम्मान से सभी साधु-सन्तों को तथा श्रीकबीरदासजी को भी अच्छी प्रकार से प्रसन्न किया।।२८०।।

व्याख्या-होयके खिसाने द्विज-ब्राह्मणों ने सोचा कि हम लोगों ने चाल तो बहुत चली, उपाय तो बहुत किये, परन्तु निष्फल गये तो अब कबीर को साधु-ब्राह्मणों का शाप दिलाकर गिराना चाहिए। जैसे कपटी मुनि ने ब्राह्मणों से शाप दिलाकर राजा भानुप्रताप का सर्वनाश किया। श्रीरामचरितमानस में यह कथा विस्तार से वर्णित है'मूड़नि मुड़ायो'-वैरागी साधु दो प्रकार के होते हैं। एक तो जटाधारी दूसरे मुण्डी। तो ये ब्राह्मण मुण्डी बने। क्योंकि जटा बढ़ाने में तो वर्षो का वारा-न्यारा है मूड़ मुड़ाने में कुछ देर नहीं लगती। अतः 'मूड़नि मुड़ायो'। 'न्योति आये हैं'- सबसे जाकर कहते हैं कि श्रीकबीरदासजी ने बादशाह को जीता है, बादशाह ने उन्हें बहुत-बहुत भेंट दिया है। खूब मालमत्ता लाये हैं।अतः झरा भण्डारा कर रहे हैं, खूब घोंट-छान होगी।'सुनि एतो दूरि गये कहूँ'-चारों दिशाओं से 'जै जै सीताराम' 'जै जै राधेश्याम' 'हर हर महादेव' 'जै जै गुरु रामानन्दजी' की ध्वनि करते हुए, अपने-अपने ठाकुरों के विमान सजाकर आते हुए सन्तों के समुदाय को देखकर श्रीकबीरदासजी ने सबको दण्डवत प्रणाम करके पूछा-आप लोग आज कहाँ पधार रहे हैं? कहीं कुम्भ तो नहीं लगा है? आज्ञा हो तो मैं भी साथ चलूँ। सन्त बोले-कबीरजी! हँसी क्यों कर रहे हो? हम लोग तो आपके ही यहाँ आये हैं। आपका निमंत्रण गया था झरा भण्डारा का। अभी तो और भी बहुत जमातें आ रही हैं। कहिये पंक्ति में कितनी देर है? तब श्रीकबीरजी समझ गये कि मालूम पड़ता है कि ब्राह्मणों ने छल किया है। बस, श्रीकबीरदासजी बात बनाकर कि-गुरुभाईजी! बैठिये आप लोग। सामान सब तैयार है केवल रायते में दही कम पड़ गया है, हमारी राय है कि रायता खूब गाढ़ा हो, क्योंकि पक्की रसोई है, गर्मी का दिन है। अतः मैं अभी बाजार से दही लेकर आता हूँ। ऐसा कहकर श्रीकबीरदासजी वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गये।सन्तों की दृष्टि बचाकर इस गली से उस गली गये, ऐसे ही बहुत दूर चले गये।

'हरि धाये हैं'- श्रीकबीरदासजी की भक्ति का चमत्कार सर्व विदित हो चुका था। अतः उनका दर्शन करने एवं उनके यहाँ भण्डारें में प्रसाद पाने के लिए बड़े-बड़े सन्त-महन्त

जो कहीं भी नही जाते थे, बड़ी श्रद्धापूर्वक आये। जहाँ-तहाँ सबने अपना पड़ाव डाल दिये। परन्तु वहाँ तो धुँआं-धुक्कुर कुछ दीखता ही नहीं था, न कहीं पक्वान्नों की सुगन्ध ही आ रही थी जिससे कि समझा जाय कि सब सामान बनकर तैयार है। सब सन्त हैरान थे। लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। अनेक प्रकार की बातें होने लगीं। तब भगवान ने विचार किया कि ब्राह्मणों ने खूब चाल चली। अब यदि नहीं चलता हूँ तो आज तक का करा कराया सब मिट्टी में मिल जायेगा। जब दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते हैं तो मैं अपनी भक्तवत्सलता क्यों छोड़ूँ? अतः तुरन्त ही श्रीकबीरदासजी का रूप धारणकर तथा संग में मनुष्य रूप में श्रीहनुमानजी, अंगदजी नल-नीलादि को लेकर, बाजार से भण्डारे की समस्त सामग्री बड़े-बड़े गाड़ों में भरकर ले आये। एक ही साथ सब सामान बनने लगा। थोड़ी ही देर में सत्य-संकल्प प्रभु की इच्छा मात्र से ही नाना व्यञ्नों के पहाड़ लग गये।सवा-सवा सेर के एक-एक लड्डू बने थे पंक्ति बैठी पाने को। बहुत बड़ी पंक्ति थी, अलग-अलग सबकी जमातें बैठी थीं, अतः व्यवस्था के लिए भगवान ने श्रीकबीरजी के कई रूप धारण कर सबकी सार-सँभाल की।

एऊ मिलि गये- श्रीकबीरदासजी ने जब जय-जयकार की गगनभेदी ध्वनि सुनी तो समझ गये कि मालूम पड़ता है पंक्ति हो रही है, प्रभु ने मेरी लाज रख ली। श्रीकबीरदासजी के मन में भगवान के दर्शन की बड़ी अभिलाषा थी। प्रभु दो बार पहले इनके रूप में आये परन्तु ये दर्शन नहीं कर सके थे अतः अबकी बार ये नहीं चूके। दबे पांव घर आये तो देखे- बहुत बड़ी पंक्ति बैठी थी कहीं पर साधु पा रहे थे, कहीं परोसा जा रहा था। कहीं लोग दोना-पत्तल फेर रहे थे, तो यह भी जहाँ अभी दोना-पत्तलें ही फेरी जा रही थीं दुबककर बैठ गये। इनको भी परोसने वालों ने सब सामान परोस दिया और ये सबके साथ भोजन करने लगे। इतने में पंक्ति का निरीक्षण करते हुए श्रीकबीर वेषधारी भगवान घूमते-घूमते उधर ही आने लगे। अब तो श्रीकबीरजी को मुश्किल पड़ी। ये मारे संकोच के पृथ्वी में धँसे जा रहे थे और मन ही मन देवता-पितृ मना रहे थे, जिसमें भगवान इधर न आवें। परन्तु भगवान भी खूब रहे, आखिर आ ही गये और आकर चुप भी नहीं रहे। बोले-क्यों जी, पहले तो भाग गये और अब आकर पहले खाने भी बैठ गये।आप तो मालिक हो। मालिक को तो सबके बाद में पाना चाहिए। श्रीकबीरदासजी अपने रूप में प्रभु का दर्शन करके कृतार्थ हो गये।संकोचवश सिर झुका लिये। भगवान भी आगे बढ़ गये। खूब पंक्ति हुई। साधु-ब्राह्मण भोजन करके प्रसन्न हुए। अन्त में सबको एक-एक अचला और एक-एक मुहर

दक्षिणा में दी गई। साधु-ब्राह्मणों ने भी भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया। उल्टा हो गया। काशी के ब्राह्मणों ने शाप दिलाने का षड्यन्त्र किया, मिला वरदान। जैसे दुष्ट दुर्योधन ने पांडवों को शाप दिलाने के लिए श्रीदुर्वासाजी को चार महीना पूआ-तस्मई खिलाया, परन्तु उन्हें मिला परम दुर्लभ वरदान। यह है भगवत्कृपा का चमत्कार। तभी तो कहा गया है-जोपै कृपा रघुपति कृपालुकी बैर औरके कहा सरै। (वि०) कथा के लिए देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६१ श्रीद्रोपदीजी का प्रसङ्ग और पद के लिए देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३३०।।

आई अपछरा छरिबे के लिये वेस किये हिये देखि गाढ़े फिरि गई नहीं लागी है।
चतुर्भुज रूप प्रभु आनिकै प्रगट कियो लियो फल नैननि कौं बड़ौ बड़भागी है।।
सीस धरैं हाथ तन साथ मेरे धाम आवौ गावौ गुण रहो जौलौं तेरी मति पागी है।
मगह में जाय भक्ति भावको दिखाय बहु फूलनि मँगाय पोढ़ि मिल्यौ हरि रागी है।।२८१

शब्दार्थ- **अपछरा = अप्सरा, स्वर्गकी परी। छरिबे = छलिबे, छलने। वेस = वेषभूषा बनाये। नहीं लागी = लाग न लागी, घात न लागी। मगह=मगहर, मगधराज्य, त्रिशंकुकी छाया से दूषित देश, जहाँ मरने वालों की गति मुक्ति नहीं होती है।**

भावार्थ-**श्रीकबीरदासजी को मोहित करने के लिए स्वर्गलोक से एक अप्सरा सुन्दर वेशभूषा बनाकर आई। लेकिन इनके हृदय में दृढ़ भक्तिभाव को देखकर वह वापस चली गई। क्योंकि उसकी लाग नहीं लगी। श्रीकबीरदासजी के सम्मुख आकर भगवान ने अपना चतुर्भुज रूप प्रकट कर दिया। उनके दर्शन करके इनके नेत्र सफल हो गये। ऐसे परम सौभाग्यशाली सन्त श्रीकबीरदासजी थे। भगवान ने अपना कर-कमल इनके मस्तक पर रखकर कहा-तुम धन्य हो तुम्हारी बुद्धि मेरे नाम-रूपादि में पग गई है। अपनी इच्छानुसार जब तक चाहो इस मर्त्यलोक में रहो और मेरे गुणों का गान करो। उसके बाद अपने इस शरीर के सहित मेरे परम धाम वैकुण्ठ में चले आना। मगहर में जाकर आपने भगवद्भक्ति का प्रताप दिखाया। भक्ति का प्रचार किया। अन्त समय में आपने बहुत से पुष्प मँगाये, उन्हें बिछाकर लेट गये और भगवान से जा मिले। ये ऐसे अनुरागी सन्त थे।।२८१।।**

व्याख्या-आई अपछरा०-**पुराणों में ऐसी कितनी कथायें हैं जिनमें अप्सराओं के द्वारा बड़े-बड़े ऋषियों के छले जाने का प्रसङ्ग आता है, यह भगवान की प्रत्यक्ष माया है। ये बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानियों को क्षणमात्र में क्षुभित कर देती हैं। यथा-जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई।। सोउ मुनि ज्ञाननिधान, मृगनयनी विधु मुख**

निरखि। बिबस होहिं हरिजान, नारि विष्णु माया प्रगट।। (रामा०) परन्तु भक्तिमान के समक्ष इनकी दाल नहीं गलती है। वहाँ इन्हें मुँह की खानी पड़ती है। श्रीकबीरदासजी से भी अप्सरा को हार खानी पड़ी। यथा-तुम घर जाओ हमारी बहना। यहाँ तिहारो लेना न देना राम बिना विष लागैं ये बयना।। जगमगात पट भूषण सारी उर मोतिन के हार। इन्द्रलोक ते मोहन आईं मोहिं करन भरतार।। इन बातन को छाँड़ि देहु री गुन गोविन्द के गाओ। तुलसीमाला उर में पहिरो बेगि परमपद पाओ। इन्द्रलोक में टोट परो है हम सम और न कोई। तुम तौ हमें डिगावन आईं जाहु दई की खोई।। बहुतै तपसी बाँधि बिगोये कच्चे सूतके धागे। जो तुम जतन करो बहुतेरा जलमें आगि न लागे।। हौं तो केवल हरि की शरनै तुम हौ झूठी माया। गुरु परताप साधु की संगति मैं जु परमपद पाया।। नाम कबीरा जाति जुलाहा घर बन रहौं उदासी। जो तुम मान महत करि आईं तौ इक माय दुजी मासी।। श्रीकबीरदासजी जगन्मात्र की स्त्रियों को मातृवत् मानते थे। क्योंकि शास्त्र की आज्ञा है-मातृवत्परदारेषु। अतः अप्सरा को भी माता कहे? पुनः मौसी इसलिए कहे कि श्रीलक्ष्मीजी एवं रम्भा अप्सरा दोनों ही समुद्र से प्रकट होने के नाते परस्पर बहिन हैं और श्रीलक्ष्मीजी को माता मानते हैं अतः माता की बहिन अप्सरा को मौसी मानें। पुनः किसी-किसी की मान्यता के अनुसार श्रीकबीरदासजी का जन्म प्रतीची अप्सरा से हुआ है। अतः उसके सम्बन्ध से भी श्रीकबीरदासजी ने इसे मौसी कहा। इस पर दृष्टान्त श्रीनारद-उर्वशी का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४३५। फिरि गई-अप्सरा श्रीकबीरदासजी का परम पुनीत दर्शन पाकर शुद्ध चित्त हो भगवद्-भजन का उपदेश लेकर लौट गई। इस पर-

दृष्टान्त-यवन हरिदासका-ये महाभागवत प्रेमपुरुषोत्तम श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी के परिकरों में प्रमुख थे। जाति के यवन होते हुए भी ये तीन लाख भगवन्नाम नित्यप्रति जपते थे और वह भी उच्च स्वर से। इससे इनका बड़ा भारी यश फैलने लगा। फलस्वरूप रामचन्द्रखां नाम का एक ईर्ष्यालु व्यक्ति, जो वहाँ का एक बड़ा जमींदार था, इनकी कीर्ति को धूमिल करने के लिए एक रूपवती वेश्या को इनके पास भेजा। वह दिनभर इनसे प्रणय वार्ता की प्रतीक्षा में बैठी रही। परन्तु इन्हें नामजप से अवकाश मिले तब तो। वह भी इनके साथ पूरे दिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।। रटती रही। ऐसे ही चार दिन लगातार वह आती रही और इन महाभागवत के श्रीमुख से नामध्वनि सुनती एवं स्वयं भी करती रही। फलस्वरूप उसके समस्त पाप नष्ट हो गये, बुद्धि शुद्ध हो गई। वह अपने को धिक्कारती हुई श्रीहरिदासजी के चरणों में पड़ गई। श्रीहरिदासजी ने दया

करके उसे 'हरे राम' महामन्त्र का उपदेश दिया। यह है महत्पुरुषों के सङ्ग की महिमा। चतुर्भुज रूप प्रगट कियो-वह अप्सरा भगवान की ही प्रेरणा से श्रीकबीरदासजी के प्रेम की परीक्षा लेने आई थी। भगवान का स्वभाव है-सो प्रभु जन कर प्रीति परिच्छा।। (रामा०) श्रीकबीरदासजी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये, तब प्रभु ने स्वयं प्रगट होकर दर्शन दिया। क्योंकि जब तक मन में कषाय बना रहता है तब तक भगवान का साक्षात् दर्शन नहीं होता है। यथा-अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।। (भा० १।६।२२)

लियो फल नैननि को-नेत्रों का फल है-संत-भगवन्त का दर्शन करना। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २४६, 'दृग पावैं निज भोग हैं' की व्याख्या। 'बड़ौ बड़भागी' -भगवच्चरणानुरागी को बड़भागी कहा गया है। देखिये कवित्त १३९, 'बड़भागी' की व्याख्या। और स्वयं भगवान ही जिस पर अनुराग करें वह बड़ा बड़भागी है। यथा-जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी।। राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकै भरत कर भागू।। (रामा.) 'सीस धरे हाथ'-इससे अत्यन्त प्रीति एवं वात्सल्य दिखाया गया। श्रीकबीरदासजी श्रीप्रह्लादजी के अवतार हैं और प्रह्लादजी भगवान के अत्यन्त प्यारे थे। अतः इन पर भी प्रभु का वैसा ही प्यार है। मेरे धाम आवौ-यह सुनकर श्रीकबीरदासजी रोने लगे। प्रभु पूछें-क्यों रो रहे हो? इन्होंने कहा-प्रभो! सत्सङ्ग छूट जायेगा। भला यह सुख वैकुण्ठ में कहाँ मिलेगा? यथा-राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय। जो सुख यहँ सत्सङ्ग में सो वैकुण्ठ न होय।। भगवान ने कहा-अच्छा, जब तक जी चाहे यहाँ रहकर भगवत-भागवत गुण गाओ।

मगह-अयोध्या के एक राजा थे त्रिशंकु। उन्होंने इच्छा किया था कि हम यज्ञ करके इसी शरीर से स्वर्ग को जायें। इसके लिए उन्होंने गुरु वशिष्ठ से अपनी कामना प्रकट कर यज्ञ कराने की प्रार्थना की। उन्होंने समझाया कि सशरीर स्वर्ग की प्राप्ति विधि-विधान के प्रतिकूल है। भगवान भी विधिकृत मर्यादा को रखते हैं। यथा-प्रभु विधि वचन कीन्ह चह साँचा। (रामा०) अतः मैं ऐसा यज्ञ नहीं करा सकता। वह श्रीवशिष्ठजी के पुत्रों के पास गया और उनसे यज्ञ कराने की प्रार्थना की। वे बोले कि जब पिताजी ने मना कर दिया तब हम लोग ऐसा यज्ञ कैसे करा सकते हैं? इस पर राजा ने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे। यह सुनकर श्रीवशिष्ठ पुत्रों ने शाप दे दिया कि तू चाण्डाल हो जा। तदनुसार राजा चाण्डाल हो गया। फिर वह श्रीविश्वामित्रजी की शरण में गया और हाथ-जोड़कर अपनी अभिलाषा प्रकट की। उन दिनों श्रीविश्वामित्रजी का श्रीवशिष्ठजी से घोर विरोध चल रहा था। अतः उन्होंने हामी भर ली और त्रिशंकु का मनोरथ पूर्ण करने के लिए यज्ञ कराया। परन्तु

देवताओं ने अपना हविर्भाव नहीं लिया। तब विश्वामित्रजी केवल अपनी तपस्या के बल से उनको सशरीर स्वर्ग भेजने लगे। यह देखकर इन्द्र ने उन्हें मर्त्यलोक की ओर ढकेल दिया। फलस्वरूप वह उल्टा (सिर नीचे पैर ऊपर) त्राहि-त्राहि करता हुआ नीचे गिरा। श्रीविश्वामित्रजी ने अपने तपबल से उन्हें आकाश में ही रोककर दक्षिण की ओर दूसरे स्वर्ग की रचना प्रारम्भ कर दी। फिर देवताओं की प्रार्थना पर श्रीविश्वामित्रजी ने सप्तर्षि और नक्षत्र जो बनाये थे उतने ही रहने दिये और कहा कि त्रिशंकु जहाँ हैं वहीं रहेंगे। उन्हीं त्रिशंकु के रथ की छाया जहाँ पड़ती है उस देश का नाम मगह है। कहते हैं कि यहाँ मरने से सद्गति नहीं होती है। यह गुरुद्रोह का फल है। उनके शरीर से जो पसीना और मुख से जो लार गिरी वही कर्मनासा नदी हुई।

मगह में जाय-श्रीकबीरदासजी का कहना था कि-जो कबिरा काशी मरै, रामहिं कौन निहोर। अविनाशी की गोद में, बिहँसत दास कबीर।। भाव यह कि काशी में तो सब मुक्ति पाते हैं मैं मगह में मुक्ति पाऊँ तो श्रीराम का निहोरा समझूँ। पाँच भौतिक देह त्यागकर दिव्य-देह से तो सब धाम जाते हैं, मैं इसी शरीर से भगवद्धाम जाऊँ तो श्रीराम का निहोरा समझूँ। मगह में जाकर सदेह भगवद्धाम प्राप्तकर श्रीकबीरदासजी ने दिखाया कि देख लो, यज्ञादि साधन-बल से सदेह स्वर्ग जाने की कामना रखने वाला त्रिशंकु आज भी अधर में लटका है और भगवन्नाम के प्रभाव से मैं स्वर्ग की कौन कहे, भगवद्धाम जा रहा हूँ। बोलो-श्रीनाम महाराज की जय। 'बहु फूलनि मिले'-फूल से ही प्रकट हुए थे और अंत में फूलों में ही विलीन हो गये। कहते हैं कि महाप्रयाण के समय श्रीकबीरदासजी ने मगध नरेश और काशी नरेश-दोनों को बुलवाया और कह दिया कि अब हमारा निर्वाण होने वाला है। हमको हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपना मानते थे अतः शरीर छोड़ने पर किसी प्रकार का विवाद न होने पाये। मैं पुष्पों में पौढ़ रहा हूँ। जब शङ्खध्वनि हो तब जानना कि महाप्रयाण हो गया। तब मेरे ऊपर से चादर उठाना। ऐसा ही हुआ 'मिल्यो हरि रागी है-श्रीकबीरदासजी तो सदेह भगवान के धाम को गये। वहाँ केवल पुष्पमात्र रह गये थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उन्हें बाँटकर ले गये और अपने-अपने धर्म के अनुसार उनकी प्रतिष्ठा की।

विशेष-श्रीकबीरदासजी के सम्बन्ध में और भी बहुत सी कथायें प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ मुख्य प्रसङ्गों की यहाँ चर्चा की जाती है। पूर्व कहा जा चुका है कि श्रीकबीरदासजी के

कमाल और कमाली नाम की दो संतानें थीं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि एक बार प्रयाग कुम्भ के अवसर पर श्रीकबीरदासजी भी वहाँ गये थे तथा तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी भी मुसलमान फकीर शेखतकी को साथ लेकर गया हुआ था। बादशाह कबीरदासजी से प्रभावित तो था ही, एक दिन श्रीकबीरदासजी के साथ श्रीत्रिवेणी स्नान करने गया तो उसी समय एक बालक का मृत शव बहा चला आ रहा था। शेखतकी ने बादशाह को दिखाकर कहा-हुजूर! देखिये कैसा सुन्दर बालक है, दुनिया से चल बसा। बादशाह ने श्रीकबीरदासजी की ओर संकेत करते हुए शेखतकी से कहा कि ये साहब से मिले हैं। चाहे तो जिवा सकते हैं। श्रीकबीरदासजी बादशाह का अभिप्राय समझ गये कि यह चमत्कार देखना चाहता है अतः पुकारकर कहें-ऐ बालक! तू कहाँ बहा जा रहा है, आ मेरे पास। इतना कहते ही वह शव जीवित होकर लौट पड़ा और आकर उसने कबीरदासजी के चरणों में प्रणाम किया। यह अद्‌भुत चमत्कार देखकर बादशाह के मुख से बरबस निकल पड़ा-कमाल है। श्रीकबीरजी ने उस बालक का नाम ही कमाल रख दिया और अपना पुत्र करके उसे माना। आगे चलकर कमालजी भी बड़े सिद्ध संत हुए।

बचपन में कमालजी बड़ी ढीली-ढाली लंगोटी लगाते थे। एक दिन कबीरदासजी ने डाँटकर कहा-लंगोटी कसकर लगा ले। बात श्रीकमालजी को लग गई। उन्होंने लंगोटी कसने के साथ-साथ श्रीकबीरजी के भाव को समझकर आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का निश्चय कर लिया और ऐसा ही किया भी। श्रीकमालजी एक बार ग्वालियर गये हुए थे। वहाँ एक धनिक सेठ ने उपदेश लिया और भेंट में बहुत सा धन देना चाहा परन्तु इन्होंने अस्वीकार कर दिया। लेकिन जब ये सो रहे थे तो उक्त महाजन ने एक हीरा इनकी पगड़ी के पेंच में बाँध दिया। ये ध्यान नहीं दिये, वहाँ से चल पड़े। जब काशी आये तो श्रीकबीरजी की दृष्टि पगड़ी के पेंच पर गई। जब खोला गया तो उसमें से हीरा निकला। उस समय श्रीकबीरदासजी ने कमाल को फटकारते हुए यह दोहा कहा-बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल। हरिका सुमिरन छांड़िके घर ले आया माल।। श्रीकमालजी ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर कामिनी के बाधा से तो मुक्त हो ही चुके थे आज की फटकार ने इन्हें कंचन की बाधा से भी सर्वथा मुक्त कर दिया। यह ही तो दो परमार्थ पथ के विशेष विघ्न हैं। यथा-नरहरि कंचन कामिनी, इनते रहिये दूर। जो चाहिये कल्यान निज राम दरस भरपूर।। फिर तो इसके बाद श्रीकमालजी का तप-त्याग वैराग्य-अनुराग ऐसा निखरा कि लोग यह कहने लगे कि-कौड़ी ते हीरा भयो, हीरा ते भयो लाल। आधे भक्त कबीर थे पूरे भक्त कमाल।।

ऐसे ही कमाली के सम्बन्ध में कथा आई है कि यह एक राजा की कन्या थीं। छोटी उम्र में ही मृत्यु हो गई। राजा ने अपनी कुल की प्रथा के अनुसार उसे पृथ्वी में समाधि दे दी। फिर उसे पता चला कि श्रीकबीरदासजी परमसिद्ध संत हैं, वे मरे हुए को भी जिवाने में समर्थ हैं। कमाल की घटना सर्वविदित हो चुकी थी अतः राजा ने श्रीकबीरदासजी को बुलवाया। ये गये, राजा की प्रार्थना पर श्रीकबीरदासजी ने यह कहकर पुकारा कि बेटी! तुम्हारे पिता बुला रहे हैं, जीवित होकर चली आ। परन्तु वह नहीं जीवित हुई। तब श्रीकबीरजी ने पुनः कहा कि अच्छा बेटी! तुम्हारे पिता कबीर बुला रहे हैं, जीवित होकर चली आ। इतना कहते ही वह समाधि में से जीवित निकलकर बाहर आ गई। उसके पिता-माता अत्यन्त प्यारपूर्वक उसे गोद में लेकर घर ले जाने लगे, तब उसने कहा कि मैं जिस पिता के नाम पर जीवित हुई हूँ उन्हीं के साथ जाऊँगी। फिर उसके माता-पिता ने श्रीकबीरदासजी के ही चरणों में डाल दिया। श्रीकबीरदासजी ने उसका नाम कमाली रक्खा। यह भी सिद्ध थीं। इसका एक प्रसङ्ग श्रीरैदासजी की कथा में आ चुका है।

कहते हैं कि काशी के ब्राह्मण जब सब उपाय करके हार गये तब गुरु गोरखनाथजी को श्रीकबीरदासजी से शास्त्रार्थ करने के लिए काशी लिवा लाये। श्रीगोरखनाथजी ने प्रथम श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। तब श्रीस्वामीजी ने श्रीअनन्तानन्दजी से कहलवाया कि प्रथम श्रीकबीरजी से निबट लो तब मेरे पास आना। श्रीगोरखनाथजी ने श्रीकबीरदासजी को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। बात तय हो गई। तब श्रीगोरखनाथजी पृथ्वी में त्रिशूल गाड़कर योगबल से उसकी नोंक पर बैठकर कहें कि यहाँ से शास्त्रार्थ होगा। श्रीकबीरदासजी ने कच्चे सूत का एक बहुत लम्बा धागा आकाश में उछाला। वह अधर में स्थित हो गया। आप उस पर जाकर बैठ गये और बोले-यहाँ से शास्त्रार्थ होगा। श्रीगोरखनाथजी ने विचारा कि हमारा त्रिशूल पृथ्वी पर टिका है और मैं त्रिशूल पर स्थित हूँ और यह तो अधर में कच्चे धागे पर बैठे हैं और हमसे बहुत ऊँचे पर हैं अतः मालूम होता है कि इस प्रकार की सिद्धि इनमें हमारी अपेक्षा अधिक है। अतः बोले कि अच्छा अब कल शास्त्रार्थ होगा। दूसरे दिन वह सिंह पर चढ़कर आये तो ये एक मृग को ही सिंह बनाकर उस पर चले। उनका सिंह भाग खड़ा हुआ। बोले-अच्छा, अब कल शास्त्रार्थ होगा। तीसरे दिन सहज भाव से आये और बोले कि आज हम छिपेंगे आप ढूँढ़ना और फिर आप छिपेंगे, हम ढूँढ़ेंगे। श्रीकबीरदासजी ने कहा-पहले आप छिपो श्रीगोरखनाथजी तुरन्त अन्तर्धान होकर श्रीगङ्गाजी में एक मेंढ़क बनकर छिप गये।

श्रीकबीरदासजी ने ध्यान धरकर देखा तो जान गये। फिर तो जाकर उन्हें पकड़ लिया और बोले कि प्रकटो, नहीं तो मसलता हूँ। श्रीगोरखनाथजी डरकर तुरन्त प्रकट हो गये। इसके बाद श्रीकबीरदासजी छिपे। ये अन्तर्धान होकर जलरूप होकर अपने कमण्डलु में स्थित हो गये। श्रीगोरखनाथजी ने श्रीगङ्गाजी में एवं अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ बहुत तलाश किया, कमण्डलु में भी हाथ डालकर देखा परन्तु श्रीकबीरदासजी का पता नहीं लगा। तब वे उदास होकर श्रीकमालजी की ओर देखने लगे। श्रीकमालजी को दया आ गई। उन्होंने कहा कि-अंगीठी जलाकर कमण्डल का जल गर्म कीजिये अभी प्रकट हो जायेंगे। श्रीगोरखनाथजी ने ऐसा ही किया। तब श्रीकबीरदासजी प्रकट हो गये। श्रीगोरखनाथ जी ने कहा कि मैंने भी आपको खोज लिया न? श्रीकबीरदासजी ने मुस्कुराकर कहा-खोजे तो जरूर, परन्तु अपनी सिद्धाई से नहीं, मेरे चेले का चेला बनकर। यह सुनकर गोरखनाथजी झेंप गये।

एक बार श्रीकबीरदासजी श्रीजगन्नाथपुरी गये हुए थे। रथयात्रा के समय वहाँ संतों का खूब जमघट था। सत्सङ्ग हो रहा था। इसी बीच एक संत ने श्रीकबीरदासजी से कहा कि आपने काशी में तो बहुत चमत्कार दिखाया, कुछ यहाँ भी दिखाइये। उसी समय श्रीकबीरदासजी एक रूप से तो सत्सङ्ग में बैठे थे ही, एक रूप से श्रीजगन्नाथ भगवान को चँवर करते हुए भी देखे गये। संत नतमस्तक हो गये। एक बार ये चने खा रहे थे और राम राम कह रहे थे। एक आदमी ने टोका कि आप इतने बड़े महात्मा होकर जूठे मुँह से ही भगवान का नाम ले रहे हैं। तब ये दो-चार बार जल से कुल्ला करके एक कुल्ला जल उसके ऊपर भी डाल दिये। वह बड़बड़ाया कि आपने जूठा जल मेरे ऊपर डाल दिया। इन्होंने कहा-मैंने आचमन तो कर लिया था। उसने कहा-इससे क्या हुआ, मुँह में पहुँचने पर कोई भी वस्तु जूठी हो ही जाती है। तब श्रीकबीरदासजी ने समझाया कि-भैया! मुख की आत्यन्तिक शुद्धि तो श्रीरामनाम लेने से ही होती है, इससे हमेशा राम-नाम रटना चाहिए।

एक बार बलखबुखारा के बादशाह का लाड़ला बेटा मर गया। उसने सुन रक्खा था कि भारतवर्ष में बड़े-बड़े सिद्ध-फकीर हैं जो मरे हुए को भी जिन्दा कर देते हैं। अतः अपने पुत्र को जीवित करने के लिये संत को लाने के लिये अपने मंत्री को भेजा। मंत्री ने भारत आकर पता लगाया तो उन दिनों ऐसे संत तो बहुत थे। वह भक्ति का युग था। परन्तु कोई भी संत बलखबुखारा जाने को प्रस्तुत नहीं हुए। तब अंत में उसने श्रीकबीरदासजी से प्रार्थना की। ये तैयार हो गये। मंत्री इन्हें बड़े आदर के साथ लिवा गया।

वहाँ पहुँचने पर इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया गया। फिर ये बालक के मृत शव के पास जाकर बोले-उठ बादशाह के हुक्म से! परन्तु वह नहीं उठा। पुनः बोले-उठ, खुदा के हुक्म से। फिर भी नहीं उठा। तब बोले-उठ मेरे हुक्म से। यह कहते ही वह बालक तुरन्त जीवित होकर उठ बैठा।

एक बार श्रीकबीरदासजी के यहाँ संतों की जमात आई। संयोग से उस दिन घर में कुछ नहीं था। श्रीकबीरदासजी को कौतुक सूझा। कमाल से बोले-बेटा! चलो कहीं से कुछ चोरी कर लायें। निश्चय करके दोनों बाप-बेटा चल पड़े चोरी करने। एक घर में सेंध लगाकर घुसे। श्रीकबीरदासजी मालमत्ता की पोट बाँधकर बाहर आ गये। कमालजी निकल ही रहे थे कि घरवाले जाग गये। वे श्रीकमालजी का पाँव पकड़ लिए। श्रीकबीरजी ने विचार किया कि पहचान लिये जाने पर वैष्णव की निन्दा होगी। अतः उन्होंने कमाल का सिर काट लिया। घर आये संतों ने भोजन बनाया, पाया। प्रातःकाल जब संत जाने लगे श्रीकबीरदासजी उन्हें पहुँचाने चले। मार्ग में ही श्रीकमालजी का प्रबन्ध (सिर विहीन मृत शव) पड़ा हुआ था। संतों को देखकर उस कबंध ने हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया। यह देखकर संतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे पूछे कि यह कौन है, जिसकी मरने पर भी संतों में इतनी श्रद्धा है। श्रीकबीरदासजी के नेत्र सजल हो गये कमाल का संत प्रेम देखकर। वे बोले-यह आप सभी का पुत्र कमाल है। फिर सब वृतान्त बताये। संतों ने मस्तक मँगाकर श्रीकमालजी के कबंध से जोड़कर भगवच्चरणामृत ऊपर छिड़का, वह तुरन्त जीवित हो गये।

श्रीकबीरदासजी कभी-कभी समाधिस्थ होकर योगक्रिया द्वारा अपने शरीर को वहीं छोड़कर भाव शरीर से अन्य तीर्थों का दर्शन-परिभ्रमण करने चले जाया करते थे। फिर आ जाते थे। उस समय ये अपने शरीर के चारों ओर अभिमंत्रित जल से रक्षा-रेखा खींच देते थे जिसमें कोई अवाञ्छनीय तत्व उस पर अधिकार न कर ले। संयोग की बात, एक बार ये शरीर को बिना सुरक्षित किये ही उसे छोड़कर भाव तन से दक्षिण के तीर्थों का पर्यटन करने चले गये। इसी बीच मौका पाकर एक भूत उनके शरीर में प्रविष्ट हो गया और उसने श्रीकबीरदासजी के शिष्यों को मन-माना उल्टा-सीधा उपदेश दिया। श्रीकबीर दासजी के शिष्य प्रथम तो चकित हुए कि श्रीगुरुजी आज कैसा उपदेश दे रहे हैं परन्तु कुछ कह नहीं सके। इतना अवश्य हुआ कि उन्हें प्रथम की अपेक्षा अबके उपदेश कुछ सरल से प्रतीत हुए। उसमें किसी प्रकार का विशेष विधि-निषेध नहीं था। कुछ दिन बाद जब

श्रीकबीरदासजी आये तो भूत उनके शरीर को छोड़कर चला गया। ये पुनः अपने शरीर में स्थित हो गये। श्रीकबीरदासजी ने देखा कि शिष्यों का सब रहन-सहन ही बदल गया है। वे वैष्णवता से बहुत दूर चले गये हैं। पूछे कि तुम लोगों ने ऐसा क्यों किया तो शिष्यों ने बताया कि आपने ही तो ऐसा उपदेश दिया है। तब श्रीकबीरदासजी को शङ्का हुई तो उन्होंने ध्यान धरकर देखा तो जान गये कि यह सब भूत की करामात है। अतः उन्होंने शिष्यों को पुनः पूर्ववत आचरण करने पर जोर दिया। कुछ लोग तो आज्ञा मानकर फिर पूर्ववत् वैष्णवों जैसी ही रहनी रहने लगे। परन्तु कुछ लोग उस भूत के उपदेश को ही सरल मानकर उसी पर दृढ़ रहे। फलस्वरूप आज भी कबीरपंथियों में दो प्रकार के सिद्धान्त एवं पन्थानुयायी पाये जाते हैं।

श्रीकबीरजी के महानिर्वाण के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है-पन्द्रह सौ उनचास में, मगहर कीनों गौन। अगहन सुदी एकादशी, मिल्यौ पौन में पौन। वर्णन आया है कि-श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी को बहुत पश्चात्ताप होता था कि मैंने श्रीकबीरदासजी का दर्शन नहीं कर पाया। यदि मैं भी उस समय होता तो श्रीकबीरदासजी के सत्सङ्ग से खूब लाभ उठाता। उनके मन में श्रीकबीरदासजी के दर्शन की बड़ी लालसा थी। एक दिन उन्होंने अपने मन का यह क्षोभ कमालजी से कहा। श्रीकमालजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो आप विराजिये मैं अभी स्मरण करता हूँ, वे प्रकट हो जायेंगे। फिर तो श्रीकमालजी ने श्रीकबीरदासजी का इस प्रकार आह्वान किया-बाबा! बाबा! आपका दर्शन करने के लिये बड़े बाबा श्रीतुलसीदासजी आये हैं। इतना कहते ही श्रीकबीरदासजी आकाश मार्ग से नीचे उतरे। श्रीतुलसीदासजी ने उनको साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। उन्होंने उठाकर हृदय से लगा लिया। बहुत देर तक सत्सङ्ग होता रहा फिर वे अदृश्य हो गये। ऐसे ही श्रीहरिरामव्यासजी को श्रीयमुनाजी से प्रकट होकर दर्शन दिये थे। प्रसङ्ग पूर्व आ चुका है। इससे सिद्ध होता है कि ये नित्य हैं एवं भगवान की तरह सर्वव्याप्त हैं। श्रद्धालुजनों को अब भी इन महान विभूतियों का दर्शन समय-समय पर होता रहता है। श्रीकबीरदासजी ने स्वयं आजीवन श्रीराम-नाम की आराधना की और दूसरों को भी यही उपदेश दिया। यथा-भजो रे भैया राम गोविन्द हरी। जप तप साधन कछु नहिं लागत खरचत नहिं गठरी।। सन्तति सम्पति सुखके कारन जासों भूल परी। कहत कबीर जा मुखमें राम नहिं ता मुख धूर परी।।

श्रीपीपाजी

पीपा प्रताप जग वासना नाहर कौं उपदेश दियो।।
प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायो।
सत्य कह्यो तिहि शक्ति सुदृढ़ हरि शरण बतायो।।
श्रीरामानन्द पद पाइ भयौ अति भक्ति की सीवां।
गुण असंख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवां।।
परसि प्रणाली सरस भई सकल विश्व मङ्गल कियो।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर कौं उपदेश दियो।।६१।।

शब्दार्थ-प्रताप =पराक्रम, तेज, सूर्य, प्रभाव जिसमें विरोधी दबे रहें। वासना = घृत, इच्छा। वास+ना =गन्ध, निवास+ना=नहीं। नाहर = व्याघ्र सिंह। धायौ =ध्यायौ। निर्मोल = अमूल्य। ग्रीवा =कण्ठ। परसि = स्पर्श-ग्रहण करके। प्रणाली = परिपाटी, रीति।

भावार्थ-भक्तवर श्रीपीपा प्रतापजी का प्रताप सम्पूर्ण जगत् के लिए घृत के समान शक्तिप्रद और हितकारी है। आपके मन में संसार की वासनायें कदापि न थीं। मायामय जग में आपका निवास नहीं था, आप दिव्य जगत के जीव थे। आपके दिव्य प्रभाव की गन्ध से आज भी जगत सुवासित है। पहले आप भवानी देवी के भक्त थे। मुक्ति माँगने के लिए आपने देवी का ध्यान किया, देवी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर सत्य बात कही, कि-'मुक्ति देने की शक्ति मुझमें नहीं है, वह शक्ति तो भगवान में है। उनकी शरण में जाना ही सुदृढ़ साधन है। यही वेद-शास्त्र और संतों ने बताया है।' देवी जी के उपदेशानुसार आचार्य श्रीरामानन्दजी के चरण-कमलों का आश्रय पाकर श्रीपीपाजी अति भक्ति की अंतिम सीमा हुए। गुरु-कृपा एवं अति भक्ति के प्रभाव से आपमें असंख्य-अमूल्य सद्गुण थे। उन्हें सन्तों ने अपने कण्ठ का हार बना रक्खा है। अर्थात् सदा गाते रहते हैं एवं असंख्य-अमूल्य संतों के गुण गणों को आप अपने कण्ठ में धारण किये रहते थे। भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरुदेव की आपने ऐसी आराधना की कि उसका स्पर्श करके अर्थात् देख-सुन और समझ करके सम्पूर्ण वैष्णवों की आराधना प्रणाली अत्यन्त सरस हो गई। आपने अपने प्रभाव से सम्पूर्ण संसार का कल्याण किया। इसका प्रमाण यह है कि-सूंघकर मानव को मारने वाले परम-हिंसक

सिंह को उपदेश दिया, अपना शिष्य बनाया और उसे अहिंसक विनीत बनाकर उसका कल्याण किया।।६१

व्याख्या-सत्य कह्यो तिहि शक्ति-भाव यह कि शक्ति ने दम्भवश अपनी असमर्थता प्रकट करने में संकोच नहीं किया, जैसा कि प्रायः पूजाने-खाने वाले लोग अपने पूजकों के समक्ष अपनी असमर्थता नहीं व्यक्त करते हैं। उन्हें अपनी मान-हानि का बहुत भय रहता है। परन्तु यहाँ यह बात नहीं हुई। शक्ति ने सत्य-सत्य कह दिया कि संसार-सुख, स्वर्ग-सुख मैं दे सकती हूँ, परन्तु मोक्ष देना मेरे वश की बात नहीं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है। यथा-नाहं कैवल्यदो राजन् परतन्त्रस्वभावतः। स्वतन्त्रः सर्वभूतात्मा परमात्मा रमापतिः।। (ना०पं०) अर्थ-हे राजन्! स्वभाव से ही परतन्त्र हम देवी-देवता मोक्ष देने में समर्थ नहीं हैं। एकमात्र स्वतन्त्र तो समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप परमात्मा श्रीलक्ष्मीपति हैं। श्रीमुचुकुन्दजी को वर देते समय देवता कहते हैं-वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः। एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः। (भा० १०-५२-२०) अर्थ-हे राजन्! आपका कल्याण हो। आपकी जो इच्छा हो, हमसे माँग लीजिये। हम कैवल्य मोक्ष के अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं, क्योंकि कैवल्य मोक्ष देने की सामर्थ्य तो केवल अविनाशी भगवान विष्णु में ही है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं-देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया विवस विचारे। तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।। (वि०) भला जो स्वयं मायाबद्ध है, वह दूसरों को क्या मुक्त कर सकता है। इस पर-

दृष्टान्त-एक यजमान और पुरोहित का-एक यजमान ने अपने पुरोहित से कहा कि-महाराज! श्रीशुकदेवजी ने जैसे सात दिन तक भगवान की कथा सुनाकर परीक्षित को मुक्त कर दिया, श्रीगोकर्णजी ने सात दिन में ही धुन्धकारी की भागवत की कथा सुनाकर मुक्त कर दिया, वैसे ही आप भी कोई ऐसा उपाय करिये जिससे मैं भी शीघ्र इस संसार से मुक्त हो जाऊँ। पुरोहित ने कहा कि तुम भी मुझसे श्रीभागवत का सप्ताह परायण सुन लो तो मुक्त हो जाओगे। यजमान ने बड़ी तैयारी से श्रीभागवतजी का सप्ताह यज्ञ कराया। पुरोहित को खूब दान-दक्षिणा दिया, ब्रह्मभोज कराया परन्तु उसने अनुभव किया कि मुझमें परिवर्तन तो कुछ भी नहीं हुआ। जैसे पहले मेरा मन सांसारिकता, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरादि में फँसा था, वैसे ही अब भी है। उस गाँव के बाहर एक महात्मा की कुटी थी। एक दिन उस यजमान ने संतजी से जाकर अपने मन की व्यथा कह सुनाई। संतजी ने कहा कि अच्छा, कभी तुम अपने पुरोहितजी को भी लिवाकर मेरे पास आना, तब मैं इसका रहस्य

समझाऊँगा। एक दिन यजमान-पुरोहित दोनों ही संतजी के पास गये। संतजी ने दोनों को खूब कसकर रस्सी से बाँध दिया फिर पुरोहितजी से कहा कि आप अपने यजमान का बंधन छोड़ दो। पुरोहितजी ने बेवसी के स्वर में कहा-महाराज! मैं तो खुद बंध रहा हूँ मैं कैसे इन्हें छोड़ सकता हूँ? संतजी ने यजमान से कहा-यही तुम्हारी समस्या का समाधान है जो स्वयं माया के बंधन से जकड़ा है, वह दूसरों को क्या माया-मुक्त कर सकता है। श्रीशुकदेवजी और गोकर्णजी स्वयं जीवन्मुक्त थे। तब परीक्षित एवं धुन्धकारी को मुक्त कर पाये थे।

दूसरा दृष्टान्त-एक पटेल का- एक पटेल ने देवी शीतला की आराधना की। उन्होंने प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देकर वर माँगने को कहा। पटेल ने देवी से घोड़ा माँगा। देवी ने कहा-यदि मैं घोड़ा देने में समर्थ होती तो स्वयं गदहा की सवारी क्यों करती? इसी से श्रीऋषभदेवजी ने कहा है-गुरुर्न स स्यात्‍''मृत्युम्।। (भा० ५-५-१८) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १२९।। अतः सत्य कह्यौ तेहि शक्ति। अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या शक्ति की उपासना व्यर्थ रही? तो इस पर कहते हैं कि-सुदृढ़ हरि शरण बतायो।' भाव यह कि शक्ति मोक्ष तो नहीं दे सकी परन्तु मार्ग निर्देश तो कर ही दिया।

हरि शरन बतायो-जीव को आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का एक मात्र सुलभ मार्ग है भगवच्छरणागति। यथा-सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा। चाहे कैसा भी पापी क्यों न हो, शरण में आने पर भगवान उसका परित्याग नहीं करते। यथा-सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। विश्वद्रोह कृत अघ जेहिं लागा।। स्वयं श्रीरामजी कहते हैं-जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोहीं।। तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।। शरणागत भगवान को प्राणों से भी अधिक प्रिय है। यथा-जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं।। (रामा०)

दृष्टान्त-श्रीविभीषणजीका-लङ्का के युद्धक्षेत्र में जब रावण ने क्रुद्ध होकर श्रीविभीषण के ऊपर प्राणघातिनी शक्ति चलाई तो श्रीरामजी ने उसे अपने ऊपर लेकर श्रीविभीषणजी की रक्षा की। यथा-आवत देखि शक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा।। तुरत विभीषण पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।। (रामा०) भक्त जैसे भगवान को भजते हैं वैसे ही भगवान शरणागत को भजते हैं। यथा- सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तेहिं यह जानत रिषिराउँ।। (गी०) भगवान शरणागत को सब प्रकार से अभय कर देते हैं। यथा-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति

च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।। (वा.रा.) सखा नीति तुम नीकि विचारी। मम पन सरनागत भय हारी।। (रामा०) शरणागत पर भगवान पुत्रवत प्यार करते हैं। यथा-सुनि प्रभु वचन हरष हनुमाना। सरनागत वत्सल भगवाना।। (रामा०) श्रीकागभुसुण्डिजी कहते हैं-सरन गये मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अविनासी।। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आज। होहिं रामको नाम जपु तुलसी तजि कुसमाज।। (दो०) अतः सुदृढ़ हरिशरण…। पुनः भगवान की शरणागति छोड़कर अन्य साधनों द्वारा भवसागर पार जाने की इच्छा करना वैसे ही है, जैसे कोई जहाज को छोड़कर कुत्ते की पूंछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहता हो। यथा-यथा धृत्वा शुनः पुच्छं तर्तुमिच्छेत्सरित्पतिम्। तथा त्यक्त्वा हरेः सेवामन्योपासनया भवेत्। (भ०व०टि०) पुनः-भुस ऊपर को लीपनो अरु बारू की भीति।। अरु बारू की भीति भूतकी मनो मिठाई। बाजीगर को बाग स्वप्न में नव निधि पाई। अजा स्तन ज्यों कण्ठ तुच्छ बादर की छाया। पूरब वस्तु विसारि पछिम दिसि ढूंढ़न धाया।। आन उपासक राम बिनु अगर सु ऐसी रीति। भुस ऊपरको लीपनो अरु बारूकी भीति।। अतः सुदृढ़ हरिशरण०। यही कारण है कि मुमुक्षुजन घोररूप भूत-प्रेतादि को छोड़कर भगवान की ही उपासना करते हैं। यथा-मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायण कलाः शान्ताः भजन्ति ह्यनसूयवः।। (भा०) गुण असंख्य-भक्ति के आते ही समस्त सद्गुण अपने आप आ जाते हैं। यथा-यस्यास्ति भक्ति...। (भा० ५-१-१३) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४८, 'शोभित विशाल छाया' की व्याख्या।

गागरौन गढ़ बढ़ पीपा नाम राजा भयो लयो पन देवी सेवा रंग चढ्यो भारियै।
आये पुर साधु सीधो दियो जोई लियो कियो मन माँझ प्रभु बुद्धि फेरि डारियै।।
सोयो निशि रोयो देखि सुपनो बेहाल अति प्रेत विकराल देह धरिकै पछारियै।
अब न सुहाय कछू वहू पायँ परि गई नई रीति भई वाहि भक्ति लागी प्यारियै।।२८२

शब्दार्थ-गढ़ = किला। बढ़= बड़ा। बेहाल = बेचैन, व्याकुल। पछारिये = पटका, पछाड़ा।

भावार्थ-गागरौनगढ़ नामक एक विशाल किला एवं नगर है। वहाँ पीपा नामक एक राजा हुए। वे देवी के भक्त थे, उन्होंने देवी की सेवा-पूजा करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उनके ऊपर देवी की भक्ति का पक्का रङ्ग चढ़ गया था। एक बार उस नगर में साधुओं की जमात आई। (राजा ने जमात का स्वागत करके कहा-देवीजी को चालीस मन अन्न का भोग लगता है, सभी लोग प्रसाद लेते हैं। आप लोग भी देवीजी का प्रसाद

ग्रहण कीजिये। साधुओं ने कहा-हमारे साथ श्रीठाकुरजी हैं, हम उन्हीं का भोग लगाकर प्रसाद लेते हैं, दूसरे देवी-देवता का नहीं। तब राजा ने उन्हें सीधा-सामान दिया। जो कुछ दिया, साधुओं ने उसे ही सादर स्वीकार कर लिया। (और अधिक लेने की इच्छा नहीं की)। साधुओं ने रसोई करके भगवान का भोग लगाया और मन ही मन प्रार्थना की-'हे प्रभो! इस राजा की बुद्धि को बदल दीजिये-इसे अपना भक्त बना लीजिये।' रात को जब राजा अपने महल में सोया, तो उसने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा कि एक विकराल देह धारी प्रेत ने मुझे उठाकर पटक दिया है मैं भयभीत होकर रोने लगा। जागते ही राजा ने स्वप्न की घटना पर विचार किया तब उसे वैराग्य हो गया। अब उसे संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा। राजा का यह भाव देखकर देवी उसके पैरों में पड़ गई। अब राजा के सोचने-विचारने की रीति दूसरी हो गई। उसे भगवान की भक्ति विशेष प्रिय लगने लगी।।२८२।।

व्याख्या-गागरौनगढ़- राजस्थान में कोटा बूँदी के निकट है। वहाँ 'पीपा नाम राजा भयो'- श्रीपीपाजी के पिता का नाम कड़वाराव (कोधसिंह) चौहान था। परन्तु समाज में सन्तबप्पा के नाम से विख्यात थे। श्रीपीपाजी का पूर्व का नाम रावबप्पा था। आपका प्रादुर्भाव सं० १४१७ चैत्र पूर्णिमा को हुआ था। राज्यारोहण सं० १४४२ में हुआ था। 'जोई दियो सोई लियो'- भाव यह कि देवी को तो खूब बढ़िया-बढ़िया भोग लगता, परन्तु सन्त वैष्णवों में चूंकि उनकी वैसी आस्था नहीं थी अतः उन्हें साधारण सीधा-सामान दिलवा दिया तो साधुओं ने भी घी शक्कर की इच्छा नहीं की। साधु तो भाव के भूखे होते हैं, वस्तु के नहीं यथा-सुर साधु चाहत भाव सिन्धु की तोष जल अंजलि दिये।। (रामा०) साधु भूखे भाव के अन्न के भूखे नाहिं। जो हैं भूखे अन्न के वे तौ साधू नाहिं।। साधु आये पाहुना माँगै चारि रतन्न। धूनी पानि साथरा सरधा सेती अन्न। उनका तो प्रण होता है- यथा लाभ सन्तोष सदा काहु सों कछु न चहौंगो।। (वि०) शास्त्रवचन भी है-वैराग्यं परमं भाग्यं सन्तोषं परमं धनम्। विश्वासं परमं मित्रं निर्द्वन्द्वं परमं सुखम्।। अतः जोई दियो। 'कियो मनमांझ'०- सन्त समझ गये कि राजा की शक्ति एवं शाक्तों में प्रबल निष्ठा है। उनके मन में आया कि, काश, राजा की ऐसी निष्ठा भगवान में एवं भक्तों में हो जाती तो क्या ही अच्छा होता। राजा आस्थावान थे, यह विचारकर सन्तों ने, जो भी राजा ने दिया उसे ही प्रेमपूर्वक बनाकर भगवान को अर्पण करके प्रार्थना किया कि प्रभो! इनकी बुद्धि फेर दीजिये। यहाँ तो आपको केवल आरोगने मात्र से काम नहीं चलेगा, यहाँ तो कुछ परिश्रम भी करना होगा। भोजन का मूल्य चुकाना होगा, राजा को

भक्ति देनी होगी। कैसे दयालु सन्त होते हैं कि यद्यपि राजा ने यथोचित सम्मान भी नहीं किया परन्तु उसके कल्याण के लिये भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं।

प्रेत विकराल०- देवी को समय-समय पर जो बलि देते, वे जीव राजा को स्वप्न में भय दिये। इस पर दृष्टान्त-राजा प्राचीनबर्हि का देखिये पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ४०६। वा सन्तों के प्रार्थना करने पर भगवत्प्रेरणा से कोई भूत ही आकर राजा को पछाड़ दिया। श्रीपीपाजी चौंक गये। जागकर सोचने लगे कि अच्छा हुआ जो नींद खुल गई, नहीं तो न जाने कितनी पटक लगाता। 'वहू पायँ परि गई'- भाव यह कि प्रेत भय से बिल्कुल बेहाल राजा ने अपनी आराध्या देवी का ध्यान किया। वह आई तो राजा ने उनसे मुक्ति की प्रार्थना की तो यह सुनकर 'वहू पायँ परि गई' अर्थात् हार मान गई, विवशता प्रकट की, इसमें अपने को असमर्थ बताई। 'पांव पड़ना' मुहावरा है, यह अत्यन्त दीनता से प्रार्थना करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा- मैं पाँ परौं कहइ जगदम्बा। (रामा०) इतना अवश्य है कि देवी ने यह बता दिया कि मुक्ति तो भगवान के ही हाथ में है अतः भगवान की महिमा सुनकर राजा को भक्ति प्रिय लगने लगी। अथवा-सन्तों की प्रार्थना से श्रीपीपाजी का भक्ति की ओर झुकाव देखकर देवी इनके पाँव पड़ी अर्थात् प्रणाम किया। यह भक्ति की महिमा है। देवी देवता भी भक्तिमान की वन्दना करते हैं। श्रीभक्तमालजी में तो कितनी देवियों के शिष्य होने की बात आई है। जैसे श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी ने देवी को दीक्षा दई। देखिये छप्पय ७७। श्रीचतुर्भुजजी-तहाँ जाय देवताके मंत्र लै सुनायो कान। देखिये क० ४९३। पुनः निपट नरहरियानन्द को कर दाता दुर्गा भई।। छप्पय ६७।। श्रीलड्डू भक्तजी-देखिये क० ४०४। श्रीजड़भरतजी के आगे भी देवी ने नृत्य किया था।देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४५८।। 'नई रीति'- यह कि जो पहले देवी के कट्टर भक्त थे वही अब श्रीराम भक्त हो गये।

पूछ्यो हरि पायबे कौ मग जब देवी कही सही रामानन्द गुरु करि प्रभु पाइयै।
लोग जानै बौरौ भयौ गयौ यह काशीपुरी फुरी मति अति आये जहाँ हरि गाइयै।।
द्वार मैं न जान देत आज्ञा ईश लेत कही राज सों न हेतु सुनि सबही लुटाइयै।
कह्यौ कुवाँ गिरौ चले गिरन प्रसन्न हिये जिये सुख पायौ ल्याय दरस दिखाइयै।।२८३

शब्दार्थ-बौरौ = बावला, पागल। फुरी = उदय हुई, उत्पन्न भई। लुटाइये = लुटाय, त्याग दिया। हेत = प्रेम।

भावार्थ- विरक्त भाव में अनुरक्त होकर राजा ने जब माया मुक्ति एवं भगवत्प्राप्ति का मार्ग पूछा, तब देवीजी ने सही बात कही कि-'काशी में विराजमान श्रीस्वामी

रामानन्दजी को अपना गुरु बनाओ, और उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर भगवान को प्राप्त करो। देवी जी की आज्ञा पाकर राजा ने काशी को प्रस्थान किया। इस प्रकार सब काम-काज त्यागकर सहसा चल देने से लोगों ने समझा कि राजा पागल हो गया है। गुरुदर्शन की उत्कण्ठा से राजा की बुद्धि विकसित हो गई। श्रीपीपाजी उस आश्रम में आये जहाँ निरन्तर भगवान के नाम और गुणों का गान होता रहता है। श्रीस्वामी जी के दर्शनों की इच्छा से राजा ने जब श्रीमठ में प्रवेश करना चाहा तो द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया, अन्दर नहीं जाने दिया। उन्होंने कहा कि-आचार्यश्री की आज्ञा के बिना कोई भी भीतर नहीं जा सकता है। (ठहरो) हम पूछकर आवें। आप अपना परिचय दें। इन्होंने कहा-हम गागरौनगढ़ के राजा हैं।) द्वारपालों से श्रीस्वामीजी ने कहा कि-हम लोग तो विरक्त हैं, राजाओं से हमें क्या प्रयोजन? यह सुनकर पीपाजी ने राज्य का त्याग करके फिर शरणागति की प्रार्थना कहला भेजी। श्रीस्वामीजी ने आदेश दिया-' कुएँ में गिर पड़ो।' आज्ञा सुनते ही मन में अत्यन्त प्रसन्न होकर पीपा कुएँ में गिरने चले। परन्तु श्रीस्वामीजी के सेवकों ने पकड़ लिया। इनकी दृढ़ निष्ठा देखकर श्रीस्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें बुलाकर दर्शन दिया। श्रीपीपाजी को नव-जीवन प्राप्त हुआ।

व्याख्या-देवी कही सही रामानन्द गुरु- यहाँ 'सही' शब्द दीप देहली न्याय से 'कही' और 'रामानन्द गुरु' दोनों के साथ हैं। अर्थात् देवी ने सत्य कहा कि सच्चे गुरु श्रीरामानन्दजी हैं। गुरु की सच्ची गुरुता पर देखिये पृष्ठ ७३, गुरु गुरुताई की सच्चाई.... रंग भरी है।' की व्याख्या। गुरु करि- भाव यह कि बिना गुरु किये सिद्धि सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में पहले ही कई बार लिखा जा चुका है। पुनः-अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वं निरर्थकम्। पशु-योनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो नरोत्तमः।। अर्थ- हे वामोरु! दीक्षा हीन प्राणी के किये कराये सर्वकर्म व्यर्थ जाते हैं। वह चाहे कितना हूँ श्रेष्ठ मनुष्य है, यदि दीक्षा रहित है तो उसे अन्त में पशुयोनि प्राप्त होती है। विना श्रीवैष्णवीं दीक्षां प्रसादं श्रीगुरुं विना। विना श्रीवैष्णवं धर्मं कथं भागवतो भवेत्।। अर्थ- बिना वैष्णवी दीक्षा लिये बिना श्रीगुरुकृपा प्राप्त किये, बिना श्रीवैष्णवधर्म का आचरण किये कोई कैसे भगवद्भक्त हो सकता है। अतः गुरु करि........। प्रभु पाइये- देवदुर्लभ मानव शरीर का चरम लक्ष्य भगवत प्राप्ति ही है। यथा- पायो है मनुष्य देह अवसर बनो है यह ऐसी देह बार-बार कहो कहाँ पाइये। भूलत है बावरे तूं अबके सयानों होय रतन अमोल सो तो काहे को ठगाइये। समुझि विचार करि ठगन को संग त्यागि ठगबाजी देखि करि मन न डुलाइये। 'सुन्दर' कहत ताते सावधान क्यों न होय

हरि को भजन करि हरि ही को पाइये।'लोग जानै बौरौ भयो'- प्रभु मिलन की अत्यन्त उत्कण्ठावश श्रीपीपाजी दिन-रात 'हा राम, हा रघुनाथ' करते रहते। लोग समझते कि ये पागल हो गये हैं। वस्तुतस्तु ऐसा समझने वाले ही पागल हैं। यथा- मारग प्रेमको को समुझै 'हरिचन्द' यथारथ होत यथा है। लाभ कछू न पुकारन में बदनाम ही होने की सारी कथा है।। जानत है जिय मेरो भली विधि और उपाय सबै बिरथा है। बावरे हैं व्रज के सिगरे मोहिं नाहक पूछत कौन विथा है।। पुनः बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोहिं, बावरी कहे ते मैं काहू न बरजिहौं। (पूरा पद देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६७) दूसरा भाव यह कि श्रीपीपाजी भये तो हैं बावरे ही, परन्तु दिमागी पागल नहीं दिलीदिवाने, प्रेम दिवाने भये हैं। 'जहां हरि गाइये'-काशी पहुँचकर इन्होंने श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के आश्रम का पता पूछा तो लोगों ने बताया कि-'जहां हरि गाइये।'

सबही लुटाइयै- श्रीपीपाजी राजशाही शान के साथ आये। उनके साथ बड़ा भारी साज-सामान, हाथी, घोड़े, सेना-फौज, सूर-सामन्त थे। इन्होंने हाथी घोड़े सब काशी नरेश के यहाँ भेजवा दिया, धन गरीबों को लुटा दिया और सेना-समाज को घर वापस कर दिया। केवल एक धोती धारणकर, आधी कमर में लपेट, आधी ऊपर डाले हुए आकर निवेदन किये-पतित नृपति पीपा श्रीस्वामीजी का दर्शन करना चाहता है इस पर-

दृष्टान्त-श्रीनागरीदासजी का- ये पहले कृष्णगढ़ के राजा थे। महाराज सावंतसिंह के नाम से विख्यात् थे। जगत् के भोगों से वैराग्य का उदय होने पर ये राजपाट छोड़कर श्रीधाम श्रीवृन्दावन चले आये। हृदय में सन्त दर्शन की प्रबल लालसा थी। परन्तु आश्चर्य जहाँ भी जिस भी सन्त के यहाँ जाते, वहीं उनका परिचय सुनकर वह मुँह फेर लेता, झोंपड़ी का द्वार बन्द कर लेता। वे बड़े हैरान थे कि आखिर मुझमें दोष क्या है, जो सन्त मुझसे इतनी घृणा करते हैं। बहुत विचार करने पर बात समझ में आई कि ब्रह्मपद का परित्याग करने वाले ये राधा-राधा नाम रटने वाले परम अकिंचन भला मुझसे क्यों मिलने लगे। निश्चय ही मेरा राजसी ठाट ही इसमें विघ्न रूप हो रहा। फिर तो वे भी सब कुछ लुटाकर एक लँगोटी मात्र लगाकर, शरीर में ब्रजरज लपेटकर बद्धांजलि होकर सन्तों के पास जाकर कहते- नागरीदास आपकी शरण में आया। इतना सुनते ही सन्त दौड़-दौड़कर इन्हें हृदय से लगा लेते। फिर ये ब्रज छोड़कर घर नहीं गये।

कह्यो कुवां गिरौ- राजा ने धन लुटा दिया इससे उनकी गेहाशक्ति का निराकरण हो गया। परन्तु अभी देहाशक्ति का निराकरण बाकी है, जो कि भजन में बहुत ही बाधक

है और होती है बड़ी सूक्ष्म! श्रीस्वामीजी ने देहाशक्ति की परीक्षा के लिये कुएँ में गिरने को कहा। राजा इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गये। श्रीस्वामीजी ने सेवकों को संकेत कर दिया कि राजा को पकड़ लो।सेवकों ने दौड़कर राजा को कुएँ में गिरने से रोका, परन्तु ये नहीं मान रहे थे। जब श्रीस्वामीजी ने स्वयं लौट आने को कहा तब लौटे। यह देहाशक्ति की परीक्षा थी, नहीं तो भला कहीं गुरुजी शिष्य को कुएँ में गिराते हैं। वे तो भवकूप में पड़े जीवों को बाहर निकालने वाले होते हैं।

किये शिष्य कृपा करी धरी हरिभक्ति हृदै कही अब जावौ गृह सेवा साधु कीजियै।
बितये बरस जब सरस टहल जानि संत सुखमानि आवैं घर मधि लीजियै।।
आये आज्ञा पाय धाम कीन्ही अभिराम रीति प्रीतिकौ न पारावार चीठी लिखि दीजियै।
हूजिये कृपाल वही बात प्रतिपाल करौ चले जुग बीस जन संग मति रीजियै।।२८४

शब्दार्थ-**बितये बरस =एक साल बीतने पर। पारावार = वार पार सीमा, हद। हूजिये =होइये। जुगबीस = चालीस। अतीत = विरक्त।**

भावार्थ-**आचार्य श्रीस्वामी रामानन्दचार्यजी ने भक्त पीपा को मंत्र-दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और इनके ऊपर विशेष कृपा की। गुरुदेव के अनुग्रह से पीपाजी ने भगवद्भक्ति को दृढ़तापूर्वक अपने हृदय में धारण किया। श्रीस्वामीजी ने इन्हें आज्ञा दी कि-अब तुम अपनी राजधानी गागरौनगढ़ को जाओ और वहीं घर में रहकर साधु-संतों की सेवा करो। (श्रीपापीजी घर जाना पसंद नहीं करेंगे अतः स्वामीजी ने फिर कहा-) एक वर्ष बीतने पर जब हम तुम्हारी सेवा को सरस जानेंगे और यह देख लेंगे कि तुम संतों की सेवा में सुख मानते हो और तुम्हारी सेवा से सुखी होकर संत तुम्हारे यहाँ से विदा होते हैं, तब हम तुम्हारे घर को आवेंगे। वहीं हमारा दर्शन करना। श्रीस्वामीजी की ऐसी आज्ञा पाकर श्रीपीपाजी घर को लौट आये और बड़ी सुन्दर रीति से सन्त सेवा करने लगे। साधुओं में आपका अपार प्रेम था। जब वर्ष पूरा होने लगा तब आपने गुरुदेव भगवान को एक पत्र में लिखकर भेजा कि-'दास पर आप कृपा कीजिये, अपने वचनों का पालन कीजिये। पत्र पाकर श्रीस्वामीजी अपने प्रिय चालीस भक्तों को साथ लेकर गागरौनगढ़ को चले। श्रीपीपाजी की दृढ़निष्ठा से श्रीस्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न थे।।२८४।।**

व्याख्या-धरी हरि भक्ति हृदै-**इसका एक भाव तो भावार्थ में आ गया है। दूसरा भाव यह है कि श्रीस्वामीजी ने कृपा करके श्रीपीपाजी के हृदय में भक्ति धर दी, रख दी।**

जैसे कोई वस्तु कहीं से उठाकर कहीं धर दी जाती है। तात्पर्य यह कि श्रीआचार्यप्रभु ने एकदम इनका हृदय भक्ति से भर दिया। इनकी भक्ति का कुछ धीरे-धीरे क्रमिक विकास हुआ हो सो बात नहीं। 'सेवा साधु कीजिये' साधु सेवा सद्यः फलदायी है। यथा-साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः। तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः।। अर्थ-साधुओं का दर्शन ही महामङ्गलकारी है। वे तीर्थस्वरूप अर्थात् परम पावन होते हैं। तीर्थ तो कालान्तर में फल देते हैं परन्तु संत समागम का फल तो तत्काल प्राप्त हो जाता है-यथा-मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला।। सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई।। दृष्टान्त-श्रीवाल्मीकिजी, नारदजी अगस्त्यजी का। देखिये पूर्वार्द्ध।। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी मुख्यतया अपने शिष्यों को दो उपदेश देते थे-१.भगवद्भजन, २. साधु सेवा। यथा-राम भजन औ साधू-सेवा स्वामी रामानन्द। (भ०व०टि०) श्रीपीपाजी घर जाने का नाम सुनकर बोले-प्रभो! मैंने तो राजपाट को मन से त्याग दिया है फिर घर कैसे जाऊँ? श्रीस्वामीजी ने कहा-राजन्! अपना मानकर त्यागे हो, अब भगवान की सम्पत्ति मानकर मेरी आज्ञा से उसे संभालो और भगवत-भागवतों की सेवा करो।क्योंकि-सम्पति सब रघुपति कै आही।। (रामा०) 'सरस टहल…घर मधि लीजिये-इसमें श्रीस्वामीजी ने राजा को संत-सेवा की विधि भी बता दिया कि संतों की सेवा को भगवद्सेवा से भी सरस अर्थात् बढ़कर जानना और सेवा करना कि संतसुख मानें और जब संत घर आवें तो आप भी सुख मानकर उनको आदर पूर्वक महल में वास दीजिये।

प्रीति कौ न पारावार-यह महत्पुरुषों के उपदेश एवं सत्संग का प्रभाव है तथा इससे श्रीपीपाजी के हृदय की सरसता भी सूचित होती है। निष्ठुर हृदय में सत्संग का प्रभाव भी नहीं पड़ता है। यथा-संगति भई तो का भई, हिरदय भया कठोर। नव नेजा पानी चढ़्यो तबहुं न भीजी कोर।। 'चीठी लिखि दीजिये'-यथा-जयति जय गुरुवर श्रीहरिरूप। चरणकमल में कोटि दण्डवत यतिपति वैष्णवभूप।। बिनु दर्शन अब कैसे उबरै परे भवन भवकूप। निज परिकर संग वेगि पधारौ टारौ त्रयविधि धूप।। पीपा पतित नृपतिकी आसा पुरवौ सुखद सुरूप। अब कृपाल प्रतिपाल करौ निज दर्शन देहु अनूप।। (भ०व०टि०) ऐसे ही एक गोपी ने श्रीश्यामसुन्दरजी के पास अपना संदेश भेजा था। यथा-जब ते तुम आवन आसदई तबते तरफौं कब आइहौ जू। मन आतुरता मनही में लखौ मनभावन जान सुभाइ हौ जू।। विधि के दिन लौ छिन बाट परो यह जानि वियोग बिताइहौ जू। सरसौ

घन आनन्द वारस सो सुमहारस को बरसाइहौ जू।। पुनः-प्रीतम सुजान मेरे हितके निधान कहौ कैसे रहैं प्रान जो अनख अलसाइहौ। तुम तौ उदार दीन हीन आय पर्‌यौं द्वार सुनिये पुकार याहि कौ लौं तरसाइहौ।। चातकि हौ रावरो कियो है मोहिं बावरो सुजान रूप सांवरो वदन दरसाइहौ।। विरद नसाय दया हियेमें बसाय हाय आय कब आनन्दको मेह बरसाइहौ।।

कबीर रैदास आदि दास सब संग लिये आये पुरपास पीपा पालकी लै आयौ है।
करी साष्टांग न्यारी-न्यारी बिनै साधुनको धनको लुटाय सो समाज पधरायौ है।।
जैसी कीन्हीं सेवा बहु मेवा नाना राग भोग बानीके न जोग भाग कापै जात गायौ है।
जानी भक्ति रीति घर रहौ कै अतीत होहु करिकै प्रतीति गुरु पग लगि धायौ है।।२८५

भावार्थ-आचार्य श्रीरामानन्दजी महाराज कबीरदास, रैदास आदि अपने शिष्य सेवकों को साथ लेकर गागरौनगढ़ के निकट पहुँचे। श्रीगुरुदेव के शुभागमन का समाचार पाते ही पीपाजी पालकी लेकर आये। आपने स्तुति करके गुरुदेव को तथा सभी साधुओं को अलग-अलग दण्डवत प्रणाम किया। उत्साहपूर्वक बहुत सा धन (मुहरें) न्यौछावर करके, लुटा करके समस्त समाज को अपने राजभवन में पधराया। श्रीपीपाजी ने उस समाज की जैसी सेवा की, नाना प्रकार के मेवा-पक्वान्नों के जैसे भोग-राग अर्पण किये, उसका वर्णन करना सरस्वतीजी के भी वश की बात नहीं है। गुरुदेव भगवान एवं दिव्य-सिद्ध संत समाज की सेवा का जो शुभ अवसर मिला, इनके इस भाग्य का वर्णन कौन कर सकता है? श्रीस्वामीजी ने पीपाजी की भक्त-भगवन्त में दृढ़ भक्ति तथा सेवा की सुन्दर रीति देखकर उनसे कहा-तुम्हारी इच्छा हो तो घर पर रहकर सेवा करो अथवा विरक्त होकर भजन करो, दोनों ही तुम्हारे लिये समान हैं। श्रीगुरुदेव में तथा उनकी आज्ञा में विश्वास करके उनके श्रीचरणों में पड़कर पीपाजी ने प्रार्थना की कि-अपने चरणों में ही रखिये। श्रीपीपाजी गुरुदेव के साथ चलने को तैयार हो गये।।२८५।।

व्याख्या-पीपा पालकी लै आयौ-श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी पालकी पर ही काशी से गागरौनगढ़ आये थे। यह जानकर श्रीपीपाजी भी पालकी ले आये और अत्यन्त भक्तिवश स्वयं भी पालकी में लगे थे। 'करि साष्टांग न्यारी न्यारी'-चूंकि ये श्रीस्वामीजी की आज्ञा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक संत-सेवा करते थे अतः सभी संतों का भी बहुत सत्कार किये। यह नहीं कि गुरुजी के स्वागत में संतों को भूल गये हों। इस पर दृष्टान्त-श्रीश्रुतदेवजी का।

देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३७०। दूसरा दृष्टान्त-श्रीरामानुजजी का-देखिये पृष्ठ ५२। श्रीशैलपूर्ण-स्वामीजी के दर्शनार्थ श्रीशैल की यात्रा का प्रसंग। 'भाग कापै जात गायौ है'-एक संत का भी पदार्पण परम भाग्य से होता है और यहाँ तो चालीस संत आये हैं। उसमें भी सभी सिद्ध और उसमें श्रीसद्गुरुदेव पधारे हैं और वह भी हैं साक्षात् भगवद्‌वतार। अतः भाग्य कापै ....। 'घर रहौ कै अतीत होहु'- शास्त्र चेतावनी देते हैं कि-वनेऽपि दोषा-प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः। अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।। अर्थ- भोगासक्त पुरुष में वन में भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। सच तो यह है कि समस्त इन्द्रियों का निग्रह ही वास्तविक तप है। जो हमेशा इन्द्रिय निग्रहपूर्वक शुभकर्म धर्मों का आचरण करता है, ऐसे वीतराग पुरुष के लिये घर ही तपोवन के तुल्य है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३४, पद-निसिवासर वस्तु विचारो करै........। पुनः-दोहा- जे जन रूखे विषयरस. ....।। तथा-यथा लाभ सन्तोष सुख...।। पुनः जिनके उपजी सत्य प्रतीति। मौन रहैं भावै गावै गीत।। भावै बस्तर पहिरै अंग। भावै नांगो फिरै असंग।। कहै कबीर सती की नाई। तन सिंगार मन मरता भाई।। अतः घर रहौ कै अतीत होहु।। अतीत की व्याख्या करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-अति शीतल अति ही अमल, सकल कामना हीन। तुलसी ताहि अतीत गनि वृत्ति शांति लयलीन।। (वै०सं०) गुरु पग लगि धातो है- श्रीपीपाजी अपने भाई कल्याणराव के पुत्र भोजराव को राज्य देकर श्रीस्वामीजी के साथ चल दिये। यह प्रसंग वि० सं० १४५४ का है।

लागी संग रानी दस दोय कही मानी नहीं कष्टको बतावैं डरपावैं मन लावहीं।
कामरीन फारि मधि मेखला पहिरि लेवो देवो डारि आभरन जो पै नहीं भावहीं।।
काहू पै न होय दियो रोय भोय भक्ति आई छोटी नाम सीता गरें डारी न लजावहीं।
यहू दूर डारौ करौ तनकौ उघारो कियौ दया रामानन्द हियौ पीपा न सुहावहीं।।२८६

शब्दार्थ-दस दोय = बीस। कामरीन = कमरियों को। मेखला = साधुओं के पहनने का बिना सिला हुआ वस्त्र जिसमें गला डालने का छेद होता है, अलफी। भोय = भीगकर, द्रवित होकर।

भावार्थ- श्रीपीपाजी जब घर छोड़कर श्रीस्वामीजी के साथ चलने को तैयार हुए तब उनकी सभी बीसों रानियाँ भी उनके साथ चलने के लिये तैयार हो गईं। श्रीपीपाजी ने उन्हें बहुत समझाया कि- वन में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हें अनेक प्रकार से डराया-धमकाया भी, परन्तु उन्होंने इनकी एक न मानी। साथ चलने की ही इच्छा करने लगीं। तब

श्रीपीपाजी ने कहा- यदि तुम सबको मेरे साथ ही चलना है, यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता है, तो कमरी को फाड़कर उसकी अलफी पहन लो और मूल्यवान वस्त्र तथा सभी गहने उतारकर फेंक दो।(साधुवेष धारण करके चलो) ऐसा त्याग वे नहीं कर सकीं, सभी रोने लगीं। परन्तु उनमें से जो सबसे छोटी रानी सीता सहचरीजी थीं, वे इसके लिये तैयार हो गईं। उन्होंने अलफी गले में डाल ली, सभी आभूषण उतार दिये, साधुवेष धारण करने में उन्हें लज्जा नहीं आई। तब राजा ने दूसरी आज्ञा दी कि-अधोवस्त्र मात्र रखो, इस अलफी को भी उतार कर फेंक दो।सुनते ही सीता सहचरी अलफी उतारकर फेंकने लगीं। यह देखकर श्रीस्वामीजी को दया आ गई। उन्होंने श्रीपीपाजी को आज्ञा दी कि-इनको साथ में ही रक्खो। परन्तु श्रीपीपाजी को रानी साथ में रखना अच्छा नहीं लगता था।।२८६।।

व्याख्या-कष्ट को बतावैं- जैसे श्रीरामजी ने वनगमन के समय श्रीजानकीजी को वन का कष्ट बताया था। यथा-कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी। कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना।। चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे।। कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे।। भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा।। भूमि सयन बलकल बसन, असन कन्द फल मूल। ते कि सदा सबदिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल।। (रामा०) पुनः- इन क्लेशों के सहने के बाद भी बैराग्य ज्ञान खाँड़े की धार है, भक्ति करना अत्यन्त कठिन है। यथा- रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार सोइ जानै जेहिं बनि आई।। (वि०) भक्ति की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए श्रीचरणदासजी कहते हैं-जीवत मरि जाय उलटि आपु में समाय रहे कहीं नहीं जाय मन शुद्ध दिलगीरी है। करै विपिन वास इन्द्रिय जीति तजै भूखप्यास मेटै पर आस खास पूरन सबूरी है।। परतत्व को विचार चिंता को बिसार सबै टार मतवाद हरि भजले अमीरी है। कहैं चरनदास दीन दुनियाँ में पुकार अस सबही सरल यार मुश्किल फकीरी है।। किसी कवि ने लिखा है- मन मारे तन बस करे, साधे सकल सरीर। फिकिर फारि कफनी करै वाको नाम फकीर।। फिकिर सभी को खा गई, फिकिर सभी की पीर। फिकिर की फाँकी जो करै ताको नाम फकीर।। अतः कष्ट को बतावैं।

छोटी नाम सीता- इनका व्यवहार का नाम रानी सोलंखड़ी पद्मावती था। श्रीपीपाजी इन्हें 'रानी स्मृति' कहा करते थे। श्रीआचार्य चरण ने इनका वैराग्य देखकर श्रीसीता

नाम रखा था। इनका सीता नाम था तो श्रीसीता (श्रीजानकीजी) का भावावेश भी आ गया। जैसे श्रीजानकीजी लाख भय बताने पर, कष्ट समझाने पर भी पातिव्रत्य धर्म को विचारकर प्रभु के साथ गईं वैसे ही यह भी तैयार हो गईं। पुनः-श्रीपीपाजी श्रीमनुजी के अवतार हैं। यथा- वन्दौ मनु मनुष्य मतिदानी। पीपारूप प्रगट गुणखानी।। (श्रीरामानन्दाचार्य चरितामृत) और श्रीसीताजी महारानी सतरूपाजी की अंशभूता हैं अतः जैसे श्रीमनुजी-नारि समेत गमन वन कीन्हा, वैसे श्रीसीता सहचरीजी भी तैयार हो गईं। जैसे-श्रीजानकीजी श्रीरामजी के साथ तपस्विनी वेष को धारण करके रहती थीं। यथा-तापस वेष जानकी देखी।। (रामा०) वैसे ही यह भी अलफी को गले में डाल लीं। 'कियौ'- श्रीपीपाजी ने कहा- इसे भी उतारकर फेंक दो। तब सीता सहचरीजी ने 'कियौ' अर्थात् आपकी इस आज्ञा का भी पालन मैंने किया, ऐसा कहकर अलफी उतारने लगीं।, उसी समय श्रीस्वामीजी ने उन्हें रोक दिया।

जोपै यापै कृपा करी दीजै काहू सँग करि मेरे नहीं रंग यामैं कही बार बार है।
सौंह को दिवाय दई लई तब कर धरि चले ढरि विप्र एक छोड़ैं न बिचार है।।
खायौ विष ज्यायौ पुनि फेरिकै पठायौ सब आयौ यों समाज द्वारावती सुखसार है।
रहे कोऊ दिन आज्ञा माँगी इन रहिबे की कूदे सिन्धु माँझ चाह उपजी अपार है।।२८७

शब्दार्थ-**द्वारावती = द्वारकापुरी, (द्वार =मुख, दरवाजा, उपाय। वती = वाली। गति-मुक्तिका द्वार) सुखसार = परमानन्दका तत्वरूप सन्त-समाज अथवा द्वारका धाम।**

भावार्थ-**श्रीस्वामीजी के अधिक आग्रह करने पर श्रीपीपाजी ने उनसे बार-बार यह प्रार्थना की, कि-मेरा इस (सीता सहचरी) में बिल्कुल प्रेम नहीं है, इसे मैं अपने साथ नहीं ले जाना चाहता हूँ। यदि आपने इस पर कृपा ही की है, तो किसी दूसरे के साथ इसे कर दीजिये। फिर जब गुरुदेव ने शपथ दिलाई, तब श्रीपीपाजी ने सीता सहचरी का हाथ पकड़ लिया और उन्हें अपने साथ ले चलने के लिये तैयार हो गये। रानियों ने एक ब्राह्मण को बहुत-सा धन देकर उसे प्रेरित किया, उसने कहा मैं राजा को कदापि न जाने दूँगा। श्रीपीपाजी के समझाने पर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। ये भी रुकने को नहीं तैयार हुए, तब उस ब्राह्मण ने विष खा लिया और मर गया। तब श्रीस्वामीजी ने उसे जीवित करके उसे और सभी रानियों को लौटा दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण सुखों का सार-तत्त्व है जिसमें ऐसा वह समाज आनन्ददायिनी श्रीद्वारिकापुरी को पहुँचा। कुछ दिनों तक सभी लोग वहाँ**

रहे। जब श्रीस्वामीजी ने अपने शिष्य-सेवकों को लेकर वहाँ से काशीपुरी को चले, तब श्रीपीपाजी ने प्रार्थना करके कुछ दिन द्वारिका में रहने की आज्ञा माँगी और आज्ञा पाकर वहीं रह गये। रहते-रहते इन्हें भगवान के दर्शनों की ऐसी उत्कट उत्कण्ठा हुई कि-आप समुद्र में कूद पड़े।।२८७।।

व्याख्या-दीजै काहू संग करि-यह सुनकर श्रीरामानन्दाचार्यजी ने कहा-मुझे अन्य किसी और का भरोसा नहीं है। तुम्हारे मन को सर्वथा अनासक्त समझकर ही मैं तुम्हें कह रहा हूँ। इस पर-

दृष्टान्त-बलखके बादशाहका-कहते हैं कि सत्संग के प्रभाव से बलख के बादशाह ने युवावस्था में ही अपना समस्त राजपाट और एक लाख रानियों को छोड़कर वैराग ले लिया। घर-घर टुकड़ा माँगकर खाता। उसके संग-संग एक बूढ़ा फकीर भी लगा रहता। उसे भी बादशाह के साथ सुविधापूर्वक रोटियाँ मिल जातीं। एक दिन दोनों भिक्षा करते हुए एक बाई के यहाँ पहुँचे। रोटी का सवाल करने पर बाई ने बादशाह से कहा-बाबाजी! मैं कार्य में लगी हूँ, देखो, ताख में रोटी रखी है, एक तुम ले लो और एक उस बूढ़े फकीर को दे दो। यह सुन बूढ़े फकीर को बड़ा क्रोध आया कि इसने युवा फकीर को तो घर में बुलाकर रोटी दिया और मुझ बूढ़े को बाहर ही देने को कहती है। बूढ़ा बर्राने लगा। तब बाई ने कहा कि इस युवा फकीर के मन का मुझे विश्वास है। यह एक लाख स्त्री और राजसुख छोड़कर विरक्त हुआ है। परन्तु तुमको, भगवान जाने एक भी मिली कि नहीं अतः तुम्हारा मुझे विश्वास नहीं है। श्रीस्वामीजी ने भी यही कहा।

मेरे नहीं रंग यामें-इसके दो कारण हैं-१. भगवान में प्रेम होने पर अन्य रस फीके लगते हैं। यथा-जो मोहिं राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।। (वि०) २. शास्त्र की आज्ञा भी है कि कल्याणकामी पुरुष दूर से ही स्त्रियों एवं स्त्रैणों का सङ्ग त्याग कर दे। यथा-स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्। क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः।। न तथास्य भवेत् क्लेशोबन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो तथा तत्सङ्गिसङ्गतः।। (भा० ११।१४।२९-३०) अर्थ-(भगवान श्रीकृष्ण-उद्धवजी से कहते हैं) संयमी पुरुष स्त्रियों एवं उनके प्रेमियों का सङ्ग दूर से ही छोड़कर पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा ही चिन्तन करे। प्यारे उद्धव! स्त्रियों के सङ्ग से और स्त्री संगियों के-लम्पटों के संग से पुरुष को जैसा क्लेश और बन्धन में पड़ना पड़ता है वैसा क्लेश और बन्धन अन्य किसी के भी संग से नहीं होता। यही

बात श्रीकपिलदेवजी ने भी कही। यथा-न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रङ्गतः। योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगसंगितः।। (भा० ३।३१।३५) पुनः श्रीरामचरितमानस में कहा गया है -अवगुन मूल सूल प्रद प्रमादा सब दुख खानि।। मेरे नहीं रंग यामें। कही बार-बार है' -विश्वास दिलाने के लिये। उस समय श्रीपीपाजी की अवस्था तीस साल की और श्रीसीता सहचरीजी की अवस्था पन्द्रह साल की थी। इस अवस्था में स्वाभाविक तरुण को तरुणी प्रिय होती है। यथा-ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को। (वि०) अतः सहसा कोई विश्वास नहीं करेगा, इसीलिये श्रीपीपाजी ने-कही बार-बार है।

सौंहको दिवाइ दई-श्रीस्वामीजी ने समझाया कि यह तुम्हारी साधना में बाधक नहीं होंगी, सहायता ही करेंगी, अतः सङ्ग ले चलो। सती-स्त्री का त्याग उचित नहीं है। यथा-खरिया खरी कपूर सब, उचित, न पिय तियत्याग। कै खरिया मोहिं मेलिकै विमल विवेक विराग।। (दो०) 'विप्र छोड़ै न विचार है' -श्रीसीताजी को छोड़कर अन्य उन्नीस रानियों ने ब्राह्मण को एक-एक हजार स्वर्ण मुद्रा का लोभ देकर श्रीपीपाजी को रोकने के लिये भेजा। यथा-सहस-सहस मुद्रा दियो नृप बारणके हेतु। पीपै बरज्यो चहत द्विज, नहिं मान्यौ नृप केतु।। (रा०र०) श्रीपीपाजी के पंथ में रानियों के विघ्न डालने पर-

दृष्टान्त-राजा क्वासका-एक बार श्रीनारदजी घूमते हुए श्रीयमराजजी की पुरी में पहुँचे। वहाँ उन्होंने राजा क्वास के पितरों को अत्यन्त दुःखी देखा। कोमल चित्त परम साधु श्रीनारदजी ने उनके पास जाकर उनकी दुःख की निवृत्ति के लिए पूछा कि आप लोग बताइये-किस कर्म से आप लोगों की यह दुर्दशा हो रही है और कैसे इससे छूटेंगे? पितरों ने कहा-हमारे वंश में इस समय क्वास नाम का राजा हुआ है। वह कुलोचित धर्म एवं श्रीहरिभक्ति को छोड़कर विषयों में आसक्त हो गया है, उसी पाप से हम लोग यह दारुण दुःख भोग रहे हैं। यदि क्वास वैष्णव हो जाय तो तत्काल हम लोगों का उद्धार हो जायेगा। श्रीनारदजी ने पितरों का दुःख एवं उनका सन्देश राजा क्वास से कहा एवं स्वयं भी उन्हें वैष्णव होने का अनुरोध किया। राजा क्वास तैयार हो गये। उनके वैष्णव बनने के संकल्प करते ही उनके पितर यमयातना से मुक्त हो गये, श्रीनारदजी पुनः वहाँ गये तो देखे-सभी प्रसन्न थे। और क्वास को बहुत आशीर्वाद दे रहे थे। इधर राजा के पुरोहितों को पता चला कि वह तो वैष्णव होने जा रहे हैं तो वे सब सोचने लगे कि वैष्णव हो जाने पर राजा की कर्मकाण्ड में रुचि कम हो जायेगी, विष्णु भक्तों से प्रीति करने लगेंगे, फिर तो हम लोगों की जीविका मारी जायेगी। अतः ब्राह्मणों ने आकर रानी को भड़काया कि देखो, राजा वैष्णव होने जा

रहे हैं। यदि सचमुच हो गये तो वह तुमसे हँसना-बोलना छोड़कर रात-दिन राम-राम करेंगे, साधु-संतों का सत्सङ्ग करेंगे। राज-काज से भी उदासीन हो जायेंगे। सारा सुख-भोग चौपट हो जायेगा। अतः तुम जैसे हो, तैसे उन्हें वैष्णव न बनने दो। यह बात रानी के मन में बैठ गई। अतः उसने राजा से अत्यन्त हठ करके, मरने का भय देकर उन्हें अपने संकल्प से विरत कर दिया। राजा का सङ्कल्प भङ्ग होते ही पितर पुनः पूर्ववत् दुःख सागर में पड़ गये। श्रीनारदजी फिर गये तो उन्हें अबकी बार अत्यन्त दुःखी देखे। पूछने पर पितरों ने सब बात बताई तब श्रीनारदजी पुनः आकर राजा क्वास से पितरों का सब वृत्तान्त सुनाये। सुनकर राजा ने अपनी विवशता बताई। तब श्रीनारदजी ने राजा को दृढ़ किया और कहा कि रानी यदि पुनः कुछ चूँ कहे तो उसे चार कोड़े लगाना, उसकी अक्ल तुरन्त ठिकाने आ जायेगी। श्रीनारदजी के उपदेश से दृढ़ सङ्कल्प राजा ने ऐसा ही किया। तब इस विघ्न से बच पाये।

खायो विष-**प्रथम तो ब्राह्मण ने लौटाने का प्रयत्न किया। जब नहीं लौटे तो ब्रह्महत्या की धमकी दी। फिर भी नहीं लौटे तो विष खाकर सचमुच ही मर गया। नब्बे पिच्यानबे वर्ष का बूढ़ा था। उसने रानियों से प्रचुर धन पाया था अतः लोभवश जान दे दी। परन्तु परमसमर्थ श्रीस्वामीजी ने जिला दिया और उसे फटकारा कि पैसे के लोभ में आत्म-हत्या करता है स्वयं नरक का भागी बनता है और दूसरों के सिर पर पाप चढ़ाता है। परन्तु तुम्हारे मरने का हमें किञ्चित डर नहीं है, तुम खूब मरो। ब्राह्मण ने विचार किया कि वस्तुतस्तु हमें मरने में तो अपार कष्ट उठाना पड़ता है और इन्हें जिलाने में कुछ नहीं लगता है अतः मरना भी बेकार है। फिर वह हठ छोड़कर लौट गया। 'आज्ञा माँगी इन रहिबे की'-इसलिये कि साथ में श्रीसीताजी हैं। स्त्री को साथ लेकर विरक्तों के साथ रहना अच्छा नहीं है। अतः द्वारिका में ही रह गये। कूदे सिन्धु मांझ०'-श्रीपीपाजी के मन में भगवद्दर्श की प्रबल लालसा जागृत हुई तो सब लोगों से पूछते फिरते कि मुझे भगवान का दर्शन कैसे और कहाँ होगा। तब किसी ने कह दिया कि दिव्य द्वारिकापुरी तो समुद्र में लीन हो गई है, भगवान वहीं विराजते हैं, यदि दर्शन करना है तो वहीं जाओ। बस, कूदे सिन्धु मांझ०।**

आये आगे लैन आप दिये हैं पठाय जन देखि द्वारावती कृष्ण मिले बहु भाय कै।
महल महल माँझ चहल पहल लखी रहे दिन सात सुख सकै कोन गाय कै।।

आज्ञा दई जाइबे की जाइवौ न चाहैं दिये पिये वह रूप देखौ मोहीं को जु जाइकै।
भक्त बूड़ि गयो यह बड़ोई कलङ्क भयौ मेटौ तम अङ्क अङ्क गही अकुलाइकै।।२८८

शब्दार्थ-**बहुभाय = बड़े प्रेम-भाव से। चहल-पहल = अनेकों भक्त लोगों ने आने-जाने और परमानन्दकी धूम। तम =कलङ्क, अन्धकार। अङ्क =अक्षर, छाप, चिह्न, दुःख।**

भावार्थ-**सपत्नीक श्रीपीपाजी जब समुद्र में कूदे, तो पहले उसी क्षण श्रीकृष्ण ने अपने कुछ सेवकों को इन्हें लिवा लाने के लिए भेजा, वे इन्हें सादर लिवा लाये। (महल से निकलकर भगवान भी इन्हें लेने आ गये) श्रीपीपाजी ने दिव्य द्वारका का दर्शन किया। भगवान श्रीकृष्ण बड़े प्रेम से मिले। (भक्त भगवन्त भाव विभोर होकर मिले) और फिर सीता सहचरी समेत श्रीपीपाजी सानन्द सात दिन तक वहाँ रहे। वहाँ इन्होंने सोलह हजार एक सौ आठ महलों की चहल-पहल देखी। इन्हें वहाँ जिस परमानन्द का अनुभव हुआ, उसे कौन कह सकता है। सात दिन बाद भगवान श्रीकृष्ण ने इन लोगों को इस द्वारका से उस द्वारका को जाने की आज्ञा दी। परन्तु ये वहाँ से जाना नहीं चाहते थे। तब श्रीश्यामसुन्दर ने बड़े प्रेम से कहा- मेरे जिस रूप के दर्शन तुमने किये हैं उसी में मन को दिये हुए तथा उसी रूप माधुरी का पान किये हुए, वहाँ जाकर भी उसे ही देखो, (देखते रहोगे अतः विरह व्यथा न व्यापेगी) यदि तुम लोग नहीं जाओगे तो संसार में 'भक्त और ऐसे भक्त डूब गये' यह जो कलंक लग गया है कैसे मिटेगा। आप यहाँ से जाइये और लोगों की शंका, कलंक तथा अज्ञान को मिटाइये। (अन्यथा मैं स्वयं यहाँ से आप लोगों को भेजना नहीं चाहता था।) इसके पश्चात् भगवान के द्वारा दी गई शङ्ख-चक्र की छाप को तथा विरह-व्यथा से व्याकुल आपने भगवान की आज्ञा को स्वीकार किया।।२८८।।**

व्याख्या-**आये आगे लैन-भगवान का विरद है-ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।। (गी०)अर्थ- जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ। अतः आये०। मिले बहु भायकै-श्रीपीपाजी की तरह भगवान को भी इनसे मिलने की उत्कण्ठा थी, अतः मिले० 'चहल पहल लखी'-श्रीपीपाजी सेवकों से पूछते और वे सबके महलों का परिचय देते हुए दर्शन कराते। 'जाइबो न चाहैं-यथा-नाथ द्वारकाके अहो, विनय करूँ कर जोर। जाउँ द्वारकाके कहो, हौं सबही विधि तोर। 'भक्त बूड़ि गयो कलंक भयो'-कलंक यह है कि मेरी यह प्रतिज्ञा है कि-- न मे भक्तः प्रणश्यति। (गी०)अर्थात् मेरे भक्त का नाश नहीं होता है। फिर आपके नहीं जाने से लोग कहेंगे कि बड़े भारी भक्त रहे, देखो**

डूब गये। पुनः-जिस पर मेरी कृपा-दृष्टि होती है उसके लिए तो समुद्र गौ-खुर के समान हो जाता है एवं प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाते हैं। यथा-गरल सुधा रिपु करइ, मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई।। गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। रामकृपा करि चितवा जाही।। (रामा०) आपके न जाने से मेरी कृपा भी कलङ्कित हो जायगी। 'गही अकुलायकै- इसके तीन कारण हैं-१ प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।(रामा०) २ यदि नहीं मानूँगा तो उधर प्रभु के विरद में बट्टा लगेगा और इधर प्रेम में कलङ्क लग जायगा। प्रेमी तो प्रियतम की हर इच्छा में प्रसन्न रहता है। यथा- जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुणा सागर कीजिय सोई।। (रामा०) ३ दियो सो सीस चढ़ायलै, साँची कहौं अहेर। जासौं सुख चाहत लह्यो, ताके दुखहिं न फेर।। अतः गह्यो०। श्रीकृष्ण ने पीपाजी को शङ्ख-चक्र की छाप दी और श्रीरुक्मिणीजी ने श्रीसीता सहचरी को एक साड़ी भेंट में दी थी।

चले पहुँचायबे को प्रीति के अधीन आप बिन जल मीन जैसे ऐसे फिरि आये हैं।
देखि नई बात गात सूखे पट भीजे हिये लिये पहिचानि आनि पग लपटाये हैं।।
दई लै कै छाप पाप जगत के दूरि करौ ढरौ कहूँ और कहि सीता समझाये हैं।
छठेई मिलान बन मैं पठान भेंट भई लई छीनि तिया कियो चैन प्रभु धाये हैं।।२८९

शब्दार्थ-छाप = शङ्ख-चक्र के चिह्न। छठेई = छठवें। मिलान = मुकाम, विश्राम। पठान = मुसलमान, सीमाप्रान्तवासी मुसलमानों की एक जाति।

भावार्थ-भगवान सदा भक्तों की भक्ति के अधीन हैं अतः स्वयं आप भक्तवर श्रीपीपा और सीता सहचरी को पहुँचाने के लिये चले। समुद्र के बाहर तक पहुँचाकर आप लौट आये, जैसे जल के बिना मछली व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार भक्त-विरह से भगवान व्याकुल हो गये।सपत्नीक श्रीपीपाजी जब समुद्र से निकलकर तट पर आये तो लोगों ने एक विचित्र बात देखी कि आप दोनों के वस्त्र सूखे हैं परन्तु हृदय प्रेम से सराबोर हैं। जिन लोगों ने समुद्र में कूदते हुए देखा था उन्होंने पहचान लिया और सभी लोग आकर आप दोनों के पैरों में लिपट गये। श्रीपीपाजी ने भगवान की दी हुई शङ्ख-चक्र की छाप लोगों के शरीर पर लगाई (और महत्व बताया । पुजारियों को छाप देकर कहा-आप सभी द्वारका आने वालों को छाप देकर कृतार्थ करें, उनके पाप दूर करें यह भगवान की आज्ञा है।) द्वारका में आपके दर्शनों के लिए नित्य भारी भीड़ होने लगी, तब श्रीसीता सहचरीजी ने श्रीपीपाजी को समझाकर कहा कि-'अब यहाँ से कहीं अन्यत्र चलो, यहाँ भजन में बाधा हो रही है।' दोनों

द्वारका से चल दिये। छठे मुकाम पर पहुँचते ही इन्हें पठान मुसलमान मिल गया। उन्होंने सीता सहचरी को छीन लिया। उसी समय भगवान दौड़कर आ गये और दुष्टों को मारकर सीता सहचरी को ले आये। इस प्रकार इनकी रक्षा करके और दर्शन देकर प्रभु ने इन्हें आनन्दित किया।। २८९।।

व्याख्या-चले पहुँचायबेको-यह शिष्टाचार है। यथा-चले सङ्ग हिमवन्त तब पहुँचावन अति हेतु। विविध भाँति परितोषु करि विदा कीन्ह वृषकेतु।। पुनः- राम सप्रेम सङ्ग सब भाई। आयसु पाए फिरे पहुँचाई।। पुनः- अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये।। (रामा०)'प्रीति के अधीन'- यथा-हरि के सब अधीन हैं हरी प्रेम आधीन। याही ते हरि आपु ही याहि बड़प्पन दीन।। (रसखानि) 'भीजे हिये'- इसका एक भाव तो पूर्व भावार्थ में आ गया है, दूसरा भाव यह भी कि शरीर एवं शरीर पर के सब वस्त्र सूखे थे, केवल हृदय पर के वस्त्र भीजे थे। भगवान के विरह में इतने आँसू बहे थे कि पूरा वक्षःस्थल भीग गया था।'दई लैकै छाप पाप जगत के दूर करौ'-यथा-अनाचारोऽशुचिर्नित्यं सर्वधर्म बहिष्कृतः। प्रतप्तशङ्खचक्राभ्यामङ्कितः पङ्क्तिपावनः। शङ्ख-चक्राङ्कितो यस्तु श्मशाने म्रियते नरः। प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद।। चक्रादिधारणं पुंसां परसम्बन्ध वेदनम्। पातिव्रत निमित्तं हि बलयादि विभूषणम्।। 'सीता समुझाये हैं'-श्रीस्वामीजी का कथन चरितार्थ हुआ। श्रीसीता सहचरीजी ने श्रीपीपाजीको लोक-मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।' आदि शास्त्र सम्मत वचनों को कहकर कहीं अन्यत्र चलने के लिये प्रेरित किया। 'लई छीनि तिया०'-श्रीपीपाजी इसे भगवान का मङ्गल विधान मानकर मनमें किञ्चित् भी क्षुब्ध नहीं हुए। सोचे कि चलो, अब अकेले में बढ़िया भजन साधन बनेगा। अतः पत्नी का अपहरण होने पर भी प्रसन्न ही रहे। श्रीसीता सहचरीजी ने देखा कि ये तो माला फेर रहे हैं। तब उन्होंने भगवान को पुकारा। जैसे श्रीद्रौपदीजी ने चीरहरण के समय पुकारा था। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६३, ३६४। तथा देखिये गजेन्द्रकी पुकार पर भगवान के दौड़कर आने का प्रसङ्ग पूर्वार्द्ध पृष्ठ १२५, हरि अवतार कथा एवं पृष्ठ ३४४, गज-ग्राह की कथा। भगवान ने तत्काल ही श्रीनृसिंहरूप में प्रकट होकर दुष्टों को मारकर भक्त की रक्षा की। यथा-छन्द-बैठे मौन पठान आय सीता हरी। करी न छनकी देर प्रगट भे नर हरी।। दुष्टनको संहारि दूरि विपदा करी। सीता पीपा भक्ति सही उतरी खरी। (भ०व०टि०)

अभू लगि जावो घर कैसे आवै डर बोली हरि जानियै न भाव पै न आयो है।
लेत हौं परिच्छा मैं तो जानौं तेरो सिच्छा ऐपै सुनि दृढ़ बात कान अति सुख पायो है।।
चले मग दूसरे सु तामें एक सिंह रहै आओ वास लेत शिष्य कियो समझायो है।
काये और गाँव सेषसाई प्रभु नांव रहै करे बाँस हरे ढरें चीधर सुहायो है।।२९०

शब्दार्थ-**अभू लगि = अब तक।**

भावार्थ-**श्रीपीपाजी ने श्रीसीता सहचरी से कहा-देखो, यहाँ कैसे-कैसे सङ्कट आते हैं, आगे भी आते ही रहेंगे अतः अच्छा होगा कि अब भी घर को चली जाओ और वहाँ सानन्द रहो। श्रीसीता सहचरी ने उत्तर दिया-भगवन्! हरि ही भय को हरने वाले हैं, रक्षक हैं, यह मैंने नहीं जान पाया, अथवा मेरे हृदय में दृढ़ विश्वास भाव अभी तक नहीं आया है, इसीलिए आप ऐसी बात कहते हैं। यह सुनकर श्रीपीपाजी ने कहा-मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था, इसी से ऐसी बात कही। यदि तुम्हारा भाव दृढ़ न होता तो भगवान आकर रक्षा कैसे करते? मैं तुम्हारी बलवती निष्ठा को जानता हूँ, तुम्हारे द्वारा सबको शिक्षायें प्राप्त हो रही हैं। दृढ़ विश्वास की तुम्हारी बातें कानों से सुनकर मुझे अत्यन्त सुख हुआ है। इसके उपरान्त दोनों दूसरे उसी मार्ग से चले, जिसमें एक सिंह रहता था। (जो बहुतों को मारकर खा चुका था, लोगों ने उस रास्ते से चलना बंद कर दिया था।) वह मानव की गंध पाकर समीप आ जाता था। परन्तु इनकी सुगन्ध एवं इनके दर्शन से उसका अन्तःकरण पवित्र हो गया, वह विनीत भाव से इनके निकट बैठ गया। तब इन्होंने उसे शिष्य करके समझाया कि अब तुम वैष्णव हो गये, अतः किसी की हिंसा न करना। (वह साधारण मृग के समान आचरण करने लगा, इनके वरदहस्त के स्पर्श से वह भक्त बन गया।) इसके बाद वे दूसरे गाँव में पहुँचे। वहाँ आपने शेषशायी भगवान के दर्शन किये और सूखे बाँसों को हरे करके एक हरा बाँस भगवान को अर्पण किया। वहाँ से चलकर आप परम प्रेमी भक्त श्रीचीधरजी के यहाँ पहुँचे।।२९०**

व्याख्या-हरि जानिये न०-**श्रीसीता सहचरीजी का यह कथन श्रीपीपाजी के लिये भी हो सकता है। अर्थात् इतना चमत्कार होने पर भी आपने भगवान को तथा भगवान के स्वभाव को नहीं जाना अथवा जानते भी हो तो आपके हृदय में अभी दृढ़ भाव नहीं आया है। नहीं तो आपको समझना चाहिये कि भगवान जब सदा-सर्वदा भक्त की रक्षा करते ही हैं, तब भला मैं जब आपको कोई भार रूप नहीं होती हूँ तो आप यह कहकर कि, 'अभू लगि जावो घर' क्यों मेरा तिरस्कार करते हैं? 'लेत हौं परिच्छा'-श्रीपीपाजी ने तुरन्त पैंतरा बदल दिया**

बोले, मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा हूँ। भक्त बड़े चतुर होते हैं। यथा-रामहिं भजहिं ते चतुर नर। (रामा०) श्रीपीपाजी चतुराई कर गये 'चले मग दूसरे'''समझायो है'-इस रास्ते पर सरकारी पहरा था। कोई भी मनुष्य इससे आने-जाने नहीं पाता था। पहरेदारों ने इन्हें भी रोका। परन्तु ये नहीं माने। महात्मा की मौज। कहावत है-सिंह और साधु का मुख जिधर उठ जाता है उधर ही चल देते हैं, पुनः दूसरा रास्ता दो कोस के अंतर से जाता था और इन्हें श्रीचीधर भक्त के यहाँ पहुँचने की त्वरा थी अतः उसी रास्ते से हठ करके गये। पुनः सिंह के ऊपर भी कृपा करनी थी, उसका उद्धार करना था अतः उसी मार्ग से गये। पहरेदारों ने सोचा-साधु संत हैं, हठ करते हैं तो कौन पीछे पड़े, जाने दो। ये चले पहरेदार पेड़ पर चढ़कर देखने लगे कि देखें, आगे क्या होता है? सिंह मनुष्य की गंध पाकर गर्जता हुआ आया तो इन्होंने भी श्रीरामनाम की गर्जना करके मुँहतोड़ जवाब दिया तथा यह भी जनाया कि हम भी गर्जने वाले हैं तुमसे कुछ कम नहीं हैं। हम भी सिंह के बच्चे हैं, श्रीराम सिंह एवं श्रीरामानन्दसिंह के बच्चे हैं। समीप आने पर इन्होंने उसे कृपा-दृष्टि से देखा। वह स्वभाव छोड़कर इनके चरणों में झुक गया। जैसे श्रीरसिकमुरारीजी के चरणों में मतवाला हाथी नतमस्तक हुआ था। देखिये कवित्त ३९०।

इन्होंने सिंह को हिंसा के दोष समझाये। यथा-हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति।। (रामा०) सिंह की आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगे। इन्होंने उसे शिष्य बनाकर श्रीरामनाम का उपदेश दिया। श्रीपीपाजी के उपदेश से सिंह ने मांसाहार का परित्याग करके सात दिन तक उपवास पूर्वक अहर्निश भगवन्नाम का जप करते हुए अपना शरीर छोड़ दिया। दूसरे जन्म में वही जूनागढ़ का परम भक्त श्रीनरसीजी बना (भक्तिविजय) सिंह के पूर्वजन्म की कथा इस प्रकार है-वह पहले जन्म में राजा था। नित्यप्रति पक्षियों को चुगा डालता था। वहीं पास में एक महात्मा भजन करते थे। पक्षी चुगा-चुगकर महात्माजी के मस्तक पर बैठकर उन्हें चोंच मारते थे। राजा ताली बजाकर ठहाका मारकर हँसता था। संतजी ने क्रुद्ध होकर राजा को सिंह होने का शाप दे दिया। जो लोग पेड़ पर चढ़कर देख रहे थे उन लोगों ने जब देखा कि इन्होंने तो परम हिंसक सिंह को भी परमहंस बना दिया तो सबके सब दौड़कर श्रीपीपाजी के चरणों में पड़कर उपदेश के लिये प्रार्थना करने लगे। थोड़ी ही देर में वहाँ अपार भीड़ एकत्र हो गई। श्रीपीपाजी ने सबको भक्ति का उपेदश दिया और कहा कि सिंह अब साधु हो गया है। उससे अब किसी को कोई भय नहीं है। 'करे बाँस हरे'-जैसे श्रीजगन्नाथ भगवान एवं बद्रीनाथ भगवान को बेंत चढ़ते हैं वैसे ही वहाँ

भगवान को लठियाँ भेंट की जाती हैं अतः इन्होंने भी दुकानदार से एक लठिया माँगी। उसने पैसा माँगा। इन्होंने विवशता प्रकट की, तब उसने झुँझलाकर कहा कि बाबाजी! 'याते मन नहिं रुकै कहा लै कीजिये। धन बिन मिलै न वस्तु राम रस पीजिये। (भ०व०टि०) बहुत जरूरत हो तो जाकर बँसवारी में से काट लो, यहाँ बिना पैसे के नहीं मिलेगी। तब इन्होंने दुकान पर रक्खी हुई सभी लाठियों को हरी कर दिया। वे सबकी सब वहीं जम गईं, उनमें शाखा पल्लव फूट आये। यह चमत्कार देखकर दुकानदार तुरन्त चरणों में पड़ गया और प्रार्थना की कि आप जितनी चाहे, जो चाहें सो लाठी ले लें, परन्तु लाठियों को फिर जैसी की तैसी कर दीजिये। श्रीपीपाजी ने कहा कि यह शर्त करो कि साधु-संतों को बिना पैसे के ही दिया करूँगा तब तो तुम्हारी लाठियाँ पूर्ववत होंगी अन्यथा अब तो बँसवार हो ही गईं। उसने स्वीकार कर लिया तथा श्रीपीपाजी का शिष्य हो गया। श्रीपीपाजी ने बाँस हरा करने के साथ ही उसका शुष्क हृदय भी हरा कर दिया।

दोऊ तिया पति देखै आये भागवत ऐपै घरकी कुगति रति साँची लै दिखाई है।
लहँगा उतारि बेचि दियौ ताकौ सीधौ लियौ करो अजू पाक बधू कोठीमें दुराई है।।
करी लै रसोई सोई भोग लगि बैठे कह्यो आवौ मिलि दोई कही पाछे सीथ भाई है।
वाहू को बुलावौ ल्यावौ आनिकै जिमावौ तब सीता गई ठौर जाइ नगन लखाई है।।२९१

शब्दार्थ-कुगति = दुर्दशा, अन्न वस्त्र का अभाव। पाक = रसोई। कोठी = कोठरी, अन्न रखने की मिट्टी से बनी कोठी, कुठीला, डहरी।

भावार्थ-भक्त चीधरजी और उनकी धर्मपत्नी ने देखा कि-परमभागवत श्रीपीपाजी अपनी स्त्री समेत पधारे हैं। वे स्वागत करके परम प्रसन्न हुए परन्तु घर की हालत बहुत खराब थी। घर में खाने-पीने का कुछ भी सामान नहीं था। इन्होंने अपनी सच्ची संत-प्रीति का परिचय दिया। श्रीचीधरजी की स्त्री ने एकमात्र अपना वस्त्र-लहंगा उतारकर दे दिया। श्रीचीधरजी उसे बेचकर सीधा सामान ले आये और उसे श्रीपीपाजी के सामने रखकर बोले-'महाराज! रसोई कीजिये और भगवान का भोग लगाइये।' लहगां के अतिरिक्त दूसरा वस्त्र पहनने के लिये नहीं था, उसके बिक जाने के कारण भक्तिन का शरीर नग्न हो गया था अतः श्रीचीधरजी ने उसे कोठरी म छिपा दिया। श्रीसीता सहचरी जी ने रसोई तैयार कर दी, भगवान का भोग लग गया। श्रीपीपाजी ने श्रीचीधर भक्त से कहा भक्तिनको बुला लाइये, आप और हम सब एक साथ ही बैठकर प्रसाद पायेंगे'।

श्रीचीधरजी ने कहा-'आप लोग प्रसाद पावें, उसे सीथ-प्रसाद प्रिय है। वह बाद में पा लेगी।' तब श्रीपीपाजी ने सीता सहचरी से कहा-'तुम भीतर जाकर उन्हें बुला लाओ और उन्हें भी साथ ही प्रसाद पवावो।' तब वे भीतर गईं तो उन्होंने जाकर देखा कि वह नग्न बैठी हैं।।२९१

व्याख्या-दोऊ तिया पति देखैं०-**श्रीचीधरजी और उनकी पत्नी-दोनों ही बड़े संत-सेवी थे। इनका यह नियम था कि जब घर पर संत आते थे तब ही रसोई बनातीं थीं, यदि किसी दिन संत नहीं आये तो ये लोग भूखे ही रह जाते थे। ऐसे ही पलटूदासजी ने भी नियम ले रखा था। यथा-पलटू धुनियाँ जातिका निशिदिन धुनै कपास। जेहिं दिन सन्त मिलैं नहीं तेहि दिन करै उपास।। ऐसे निष्ठावानों के यहाँ संत भी आते ही रहते हैं। श्रीचीधरजी के यहाँ नित्यप्रति संतों का आवागमन बना रहता। इधर कुछ दिनों से जो भी संत द्वारिका से आते, सबके बाहुमूल पर शङ्ख-चक्र की छाप दिखाई पड़ती। ये बड़े ही उत्सुक होकर संतों से पूछते तो संत इन्हें बताते कि एक श्रीपीपाजी नाम के भक्त हैं। उनके साथ श्रीसीतानाम की पत्नी हैं, वह भी परम भागवती हैं। दोनों ही द्वारिकानाथ जी का दर्शन करने के लिये समुद्र में कूद गये थे। भगवान ने उन्हें दर्शन दिया, सात दिन तक दिव्य द्वारिका में रक्खा और चलते समय शंङ्ख-चक्र की छाप दी है। भगवान ने कहा है कि जो शंङ्ख-चक्र की छाप लगवा लेगा वह समस्त पापों से रहित होकर मेरे धाम को आवेगा। सो वही छाप हम लोग लगवाये हैं। संतों ने यह भी बताया कि वे भक्त दम्पति भी आपका दर्शन करने के लिये आने वाले हैं। फिर संतों ने श्रीपीपाजी और सीता सहचरी का स्वरूप वर्णन किया और कहा कि उनका दर्शन तो साक्षात् श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का ही दर्शन है। यह सब सुनकर श्रीचीधर-चिधरानी उसी दिन से श्रीपीपाजी की बाट देखते थे।**

पूछैं कहो बात ए उघारे क्यों हैं गात कही ऐसे ही बिहात साधु सेवा मन भाई है।
आवैं जब सन्त सुख होत है अनन्त तन ढँक्यो कै उघारौ कहा चरचा चलाई है।।
जानि गई रीति प्रीति देखी एक इनही में हमहूँ कहावैं ऐ पै छटा हू न पाई है।
दियौ पट आधौ फारि गहि कै निकारि लई भई सुखसैल पाछे पीपा सों सुनाई है।।२९२

शब्दार्थ-**बिहात = बीतता है। छटा = झलक। सुख = आत्मा या मनोवृत्ति का वह गुण जिसको पाने की इच्छा सबको होती है। शैल = समूह, पर्वत। सुखशैल = अद्‌भुत मनोरञ्जक बात।**

भावार्थ-सीता सहचरीजी ने जब भगतिन को नग्न देखा तो पूछा-'कहिये, क्या बात है, आपका शरीर उघारा क्यों है।' तब श्रीचीधरजी की स्त्री ने कहा-हम लोगों को संत-सेवा हृदय से अत्यन्त प्रिय लगती है, अतः हमारा समय इसी प्रकार बीतता है, जब संत भगवान पधारते हैं, तब उनका दर्शन-सत्सङ्ग एवं स्वागत करके हमें अपार सुख होता है। उस परमानन्द के सामने यह नश्वर शरीर ढका है अथवा उघारा है, इसकी क्या चर्चा की जाय। सीता सहचरीजी ने जब यह बातें सुनीं, तो वे जान गईं, सब रहस्य उनकी समझ में आ गया। वे मन में विचारने लगीं कि ऐसी निष्किञ्चनता और संत-सेवा की ऐसी रीति, ऐसा विचित्र प्रेम तो केवल इन्हीं भक्तों में दिखाई पड़ा। यों तो हम लोग भी साधु-संतोंके प्रेमी एवं सेवक कहे जाते हैं। परन्तु इनकी सेवा-निष्ठा की जरा-सी झलक भी हममें नहीं आ पाई है। इसके उपरान्त सीता सहचरीजी ने अपनी धोती में से आधी फाड़कर उन्हें दिया। उसे उन्होंने पहन लिया, तब उनका हाथ पकड़कर उन्हें घर से वहाँ लिवा लाईं। सभी ने एक साथ बैठकर प्रसाद पाया। हृदय परिवर्तन कर देने वाली जो यह अनोखी घटना घटी, यह सुखमयी शैल (बात) थी, इसे सीता सहचरी ने बाद में शयन करते समय पीपाजी को सुनाया।।२९२।।

व्याख्या-सुख होत है अनन्त-यथा-जो सुख होत भक्त घर आयै। सो सुख होत नहीं बहु संपति बाँझहिं बेटा जायैं। जो सुख भक्तन कौ चरनोदक पीवत गात लगायैं। सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयत कोटिक तीरथ न्हायै। जो सुख भक्तनको मुख देखत उपजत दुःख विसरायै। सो सुख होत न कामिहि कबहूँ कामिनि उर लपटायैं। जो सुख होत भक्तवचननि सुनि नैननि नीर बहायैं। सो सुख कबहुँ न पैयत पितुघर पूतकौ पूत खिलायै।। जो सुख होत मिलत साधुन कै छिन छिन रंग बढ़ायै। सो सुख होत न रंक व्यास को लंकसुमेरहिं पाये। (व्यासवाणी) 'कहा चरचा चलाई है'-श्री सीता सहचरीजी के शरीर के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर श्रीचिधरानीजी अनमनी सी होकर बोलीं-आपने यह कौन सी बात चलाई मैं तो सोचती थी कि आप श्रीकृष्ण का दर्शन करके आई हैं अतः कुछ श्रीकृष्ण सम्बन्धी वार्ता करेंगी, हमें भी श्रीकृष्ण दर्शन करावेंगी। अतः हम आपकी प्रतीक्षा कर रही थीं, आपके दर्शन के लिये लालायित थीं। परन्तु आपने भी लौकिक वार्ता ही चलायी। अरे, यह जीव चौरासी लक्ष योनियों में न जाने कितनी बार जन्म ले चुका है। उन-उन योनियों में तो यह उघारा ही रहा, फिर यदि इस योनि में भी उघारा रहे तो इसमें क्या हर्ज है? और फिर यदि साधु-सेवा निमित्त उघार भी रहना पड़े तो कौड़ी देकर अनमोल हीरा

लेने के समान है। कहाँ अधम शरीर और कहाँ लोक-परलोक साधिका साधू-सेवा। कुत्ते और स्यार के भक्ष्य इस शरीर के बदले और संत और भगवन्त की प्राप्ति यह तो जीवन के लिये परम दुर्लभ संयोग है। भगवान श्रीकृष्णजी श्रीउद्धवजी से कहते हैं कि-एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्। (भा०११-२९-२२) अर्थ-विवेकियों के विवेक की और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीर के द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्व को प्राप्त कर लें। अतः इसकी क्या चर्चा? 'पीपा सों सुनाई हैं'-रात्रि में श्रीसीता सहचरीजी जब पति की चरण सेवा में उपस्थित हुईं तो श्रीपीपाजी ने कहा कि आज तो श्रीचीधर भक्त के प्रसाद पाकर बड़ा सुख मिला, भजन-ध्यान में भी खूब मन लगा, प्रेम का जैसे नशा सा छा गया। ऐसा सुख तो कभी नहीं मिला था यदि मिला था तो श्रीद्वारिकानाथजी के यहाँ माता श्रीरुक्मिणी के हाथ का प्रसाद पाकर, या तो आज यहाँ मिला। तब श्रीसीताजी ने उनकी सेवा-निष्ठा का वृत्तान्त सुनाया। यह कहते-सुनते श्रीसीताजी एवं श्रीपीपाजी को भक्ति का आवेश आ गया। जैसे रण के बाजे को सुनकर वीरों को जोश आ जाता है। श्रीसीताजी ने कहा कि श्रीचीधरजी की पत्नी ने निष्ठापूर्वक संत-सेवा की है, वैसी ही निष्ठा से हम भी इनकी सेवा करेंगी, तब हम उनसे उऋण हो सकती हैं। तब श्रीपीपाजी ने कहा-उन्होंने तो साधु-सेवा की जो सीमा है, उस भाव को सम्यक्तया प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। अब इससे आगे क्या शेष रहा, जो आप करके दिखाओगी। तब श्रीसीताजी ने कहा-

करैं वेश्या कर्म है हमारो यही कही जाय बैठी जहाँ नाजनि की ढेरी है।
घिरि आये लोग जिन्हें नैननिकौ रोग लखि दूर भयो सोग नेकु नीके हू न हेरी है।।
कहैं तुम कौन? 'वारमुखी नहीं भौन संग भरुवा' सु गहैं मौन सुनि परी बेरी है।
करी अन्नरासि आगे मुहर रुपैया पागे पठै दई चीधर के तब ही निबेरी है।।२९३

शब्दार्थ-भरुवा = भँडूवा, विदूषक। बेरी = बेड़ी पैर में डालने की कड़ी या जंजीर जिससे चलने में कष्ट होता है। परी बेरी = गतिहीनता-स्तब्धता हुई। निबेरी = निबटा दी, सेवा में व्यय कर दिया।

भावार्थ-सपत्नीक भक्त श्रीचीधरजी की संत-सेवा निष्ठा से प्रभावित होकर सीता सहचरीजी ने अपने पतिदेव से कहा-अब तो हमारा धर्म यह है कि हम वेश्यावृत्ति अपनाकर अपना शरीर बेचकर संत-सेवा करें। ऐसा निश्चय कर वे दोनों वहाँ जाकर बैठे जहाँ अनाज की बड़ी मण्डी थी (उस समय उन्होंने अपने साधु-वेष छिपा लिया था) श्रीसीता

सहचरीजी की अपार सुन्दरता से आकृष्ट होकरके वे लोग एकत्र हो गये जो आँखों के रोगी रूप निरखने के लोभी थे। समीप आकर जब उन लोगों ने उनको देखा तो उनके नेत्रों का रोग-शोग अर्थात् उनकी विषयदृष्टि नष्ट हो गयी। वे लोग इनकी ओर जरा अच्छी तरह देखने में भी समर्थ नहीं हुए। लोगों ने श्रीसीता सहचरीजी से पूछा कि-आप कौन हैं? आपके साथ ये सज्जन कौन हैं? इन्होंने उत्तर दिया-हम वेश्या हैं, हमारे घर-द्वार कुछ भी नहीं है और हमारे साथ में यह हमारा भड़ुवा है। यह सुनकर वे सब स्तब्ध होकर खड़े के खड़े ही रह गये। उनके तन-मन गतिहीन हो गये (फिर जिन लोगों ने उन्हें द्वारिका में देखा था उन्होंने पहचान कर बताया। अरे! ये परमभक्त श्रीपीपाजी और ये उनकी धर्मपत्नी सीता सहचरीजी हैं।) तब तो लोगों ने उनके आगे अन्न-वस्त्र और मुहरों के ढेर लगा दिये। श्रीपीपाजी ने वह सब सामान भक्त श्रीचीधर के यहाँ भेज दिया। श्रीचीधरजी ने साधु और ब्राह्मणों को खिला-पिलाकर एवं दक्षिणा देकर सर्वस्व समाप्त कर दिया।।२९३

व्याख्या-करैं वेश्या कर्म०-भाव यह है कि श्रीचीधर-चिधरानी ने हमारी सेवा के लिये अपने तन का वस्त्र बेचा तो हम उनकी सेवा के लिये सहर्ष अपना तन बेचेंगी। भला-यह शरीर और कौन काम आवेगा। अरे, अन्य जीवों का शरीर तो मरने पर भी कुछ काम देता है परन्तु मनुष्य शरीर तो किसी काम नहीं आता है। यथा-हाथिनके दांतके खिलौना बनै भाँति-भाँति बाघनकी खाल तपसीन मन भाई है। मृगनकी खालनको ओढ़त हैं जोगी जती, अजाहूकी खालनमें पानी भरि लाई है।। साँभरकी खालनको बाँधत सिपाही लोग गैडन की खाल राजा रावहिं सुहाई है। कहैं कवि दयाराम रामके भजन बिनु मानुषकी खाल कछु काम नहिं आई है।। पुनः-गोरे-गोरे अंगको गुमान काहे कीजै आली रङ्ग तो पतंगको सो काल्हि उड़ि जायगो। धुवाँको सौ धौरहर उड़त न लागै बेर नदीके किनारे रुख कौलौ ठहरायगो।। बालूकी सी भीति ऐसे ओछेकी सी प्रीति जैसे चोरीके से माल तैसे हाड़ ही बिकायगो। कहैं भगवन्त ऐसे जीवनकी थोरी आस जौवनके गये माँस कूकरौ न खायगो।। अतः करै वेश्या कर्म०।

श्रीपीपाजी ने कहा-परन्तु लोकदृष्टि से यह शोभनीय नहीं है। श्रीसीताजी ने कहा हमको जिस भी उपाय से संत-सेवा हो वही शोभनीय है। संत-सेवा में लोक-लाज कैसी? कहा है-सिंघलद्वीपकी पद्मिनी, सन्तन देखि लजाय। सो मरिके कुतिया भई, घर-घर धक्का खाय।। श्रीपीपाजी ने कहा-तुमने ठीक कहा। अब तो यदि हमें भी कोई ले तो मैं अपने को भी बेच दूँ। श्रीसीताजी ने कहा कि मेरे पीछे लग जाओ। वेश्या के साथ एक भड़ुवा भी तो

चाहिये। यहाँ एक जिज्ञासा होगी कि स्त्री को तो भगवान की प्रत्यक्ष माया कहा गया है फिर सीताजी में इतनी परमार्थ बुद्धि कहाँ से आई? समाधान-यह सत्सङ्ग का प्रभाव है। कहावत है-वस्त्रों पर तीन पुटमें रङ्ग चटकीला चढ़ता है। यथा-प्रान पियारो मिल्यो सपने मैं परो जब नैकसु नींद निहारै। कन्तको आइबौ त्यों ही जगाइ कह्यौ सखि बैन पियूष निचोरै।। त्यौं 'मतिराम' भयौ हिय मैं सुख बालको बालम सों दृग जोरै। ज्यौं पटमें अति ही चटकीलौ चढ़ै रङ्ग तीसरी बेरको बोरै।। श्रीसीताजी को भी प्रथम श्रीपीपाजी के सत्सङ्ग का रङ्ग चढ़ा, फिर दूसरी बार श्रीचीधरजी के सत्सङ्ग का रङ्ग चढ़ा, फिर तीसरी बार श्रीचीधरानीजी के सत्सङ्ग का रङ्ग चढ़ा, इस प्रकार इन पर पक्का प्रेमरङ्ग चढ़ गया है। अतः इतनी परमार्थ पटु हो गई हैं 'दूर भयो सोग'-यह भागवत दर्शन का प्रभाव है। यद्यपि श्रीसीताजी ने वेश्या का-स्वाङ्ग कर रखा है परन्तु इन्हें देखकर किसी के मन में भी काम विकार नहीं हुआ। कारण कि- 'जहाँ राम तहँ काम नहिं।' इनके तो मन में, तन में, रोम-रोम में श्रीराम रम रहे हैं। काम तो कामिनी को देखकर उद्दीप्त होता है। भगवत्प्रेरणा से उसी समय श्रीद्वारिका से कुछ लोग वहाँ आये थे। भीड़ देखकर कौतुहलवश वे भी समीप आये तो देखते ही इन्हें पहचान लिया। उन लोगों ने श्रीद्वारिका में इन्हें एवं इनकी भक्ति के प्रताप को देखा था। अतः सबने इनको साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम किया और फिर सबको इन परम भागवतों का परिचय दिया। सुनकर सब लोग स्तब्ध रह गये। फिर तो सबकी श्रद्धा उमड़ी। सभी लोगों ने यथाशक्ति अन्न-द्रव्य की सेवा की। वहाँ राशि लग गई अन्न की एवं मुहरों की। 'तब ही निबेरी है'-क्योंकि उन्हें तो अपनी कमाई से प्राप्त धन में ही सन्तोष है तथा प्राप्त को भी संत-सेवा में लुटा देने में ही सुख मानते हैं। इस प्रकार श्रीपीपा दम्पति एवं श्रीचीधर दम्पति-दोनों की ही संत-सेवा निष्ठा अनुपम है।

आज्ञा माँगि टोंड़े आये कभूं भूखे कभूं घाये औचक ही दाम पाये गयो हों स्नानको।
मुहरनि भाँड़ौ भूमि गाड़ो देखि छांड़ि आयौ कही निसितिया बोली जावौ सर आनको।।
चोर चाहैं चोरी करैं ढरे सुनि वाही ओर देखै जो उघारि साँप डारैं हतै प्रान को।
ऐसे आय परी गनी सात सत बीस भईं तोलै पाँच बाँट करैं एक के प्रमान को।।२९४

शब्दार्थ-घाये =छके, भोजन से तृप्त। भांड़ो = बर्तन, घड़ा। सर =तालाब। आन=दूसरे। ढरे = गये। सात सत बीस=सात सौ बीस। प्रमान =तौल।

भावार्थ-श्रीचीधर भक्त से आज्ञा माँगकर-उनसे विदा लेकर सीता सहचरी समेत श्रीपीपाजी टोंड़े ग्राम को आये। मार्ग में जब कोई प्रेमी भक्त नहीं मिलते थे तो आप भूखे ही

रह जाते थे यदि मिल जाते तो प्रसाद पाकर तृप्त हो जाते थे। टोंड़े में आप गाँव से बाहर कुटी बनाकर रहने लगे। एक दिन आप स्नान करने के लिये गये थे तो वहाँ एकाएक आपको मुहरों से भरे हुए कई मटके दिखाई पड़े। उस मिले हुए धन को त्यागकर आप चले आये। रात में सीता सहचरीजी से आपने बताया कि-उस सरोवर पर स्वर्णमुद्राओं से भरे मटके मैं छोड़ आया हूँ। सुनकर उन्होंने कहा-अब आप उस तालाब पर स्नान करने मत जाइयेगा, दूसरे पर जाया कीजिये। संयोगवश चोरी करने की इच्छा से वहीं कहीं कुटी के ओर पास छिपे हुए चोरों ने यह बात सुन ली। वे तुरन्त उसी सरोवर पर गये और जाकर देखा-तो उन पात्रों में साँप भरे हुए हैं। चोरों ने समझा कि-वे हमें साँपों से कटवाकर मरवा डालने के लिये ही ऐसी बातचीत आपस में कर रहे थे। बदला लेने की भावना से उन चोरों ने मुहर भरे सभी माँट उखाड़े और श्रीपीपाजी की कुटी में पटककर भाग गये। संत-सेवा के लिये भगवान के द्वारा दिये हुए धन को जब श्रीपीपाजी ने संभाला तब मालूम पड़ा कि सात सौ बीस सोने की मुहरें हैं और एक-एक मुहर तोल में पाँच-पाँच तोले की है।।२९४

व्याख्या-'कभूं भूखे कभूं घाये'-साधु समाज में प्रसिद्ध कहावत है-कभी घी घना, कभी मुट्ठीभर चना, कभी वह भी मना। अर्थात् कभी तो खूब घी से तर चकाचक माल घुटते-छनते हैं, कभी एक मुट्ठी चने पर ही दिन बिता देना पड़ता है, कभी वह भी नहीं मिलता है। ऐसी परिस्थितियों के बीच श्रीपीपाजी भी गुजरे। जिस दिन कोई प्रेमी संत वैष्णव मिल जाते उस दिन तो खूब तृप्त होकर प्रसाद पाते। जिस दिन ऐसा संयोग नहीं बनता, उस दिन भूखे रह जाते, परन्तु विमुख के यहाँ का अन्न नहीं ग्रहण करते। इस तरह 'कभूं भूखे कभूं घाये'। पुनः-'भूखे घाये' से तात्पर्य कभी सम्मान पाते और कभी अपमान। औचक ही दाम पाये'-हाथ-पाँव की शुद्धि के लिये मिट्टी खोद रहे थे। वहीं उन्हें मुहरों से भरा पात्र दिखाई पड़ा। 'जावौ सर आनको'-इसलिये कि कल्याण कामी पुरुष को अर्थनामधारी अनर्थ को दूसरे से ही परित्याग करने की शास्त्राज्ञा है। यथा-तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।। (भा०) यह माया का विघ्न है इसकी ओर तो देखना भी महान अनर्थकारी है। अतः श्रीतुलसीदासजी तो कहते हैं-छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करैं तब माया।। रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहिं लोभ दिखावहीं आई।। होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी। (रामा०) 'ऐसे आय परीं' कहावत है-भगवान देते हैं तो छप्पर फाड़कर देते हैं। अभागे चोरों को वह मुहरें सर्प दिखीं। इसी से कहा गया है-कर्म हीन को ना मिले भली वस्तुको

भोग। असुरन उद्यम बहु कियो भो न सुधा संयोग। इस पर दृष्टान्त-ब्राह्मण का-स्वर्ण मणिमयी लङ्का से लोहा और चिथड़ा ले आया। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २२३।।

जोई आवै द्वार ताहि देत हैं अहार और बोलिकै अनंत संत भोजन करायो है।
बीते दिन तीन धन खाय प्याय छीन कियौ लियौ सुनि नाम नृप देखिबेको आयो है।।
देखिकै प्रसन्न भयौ, नयौ, देवौ दीक्षा मोहि, दीक्षा है अतीत करैं आप सो सुहायो है।
चाहो सोई करौं ह्वै कृपाल मोको ढरौ, अजू धरौ आनि संपति औ रानीजाइ ल्यायौ है।।२९५

भावार्थ-श्रीपीपाजी ने विचारा कि अर्थ तो अनर्थों का मूल है। अतः उसका सदुपयोग करने लगे। जो भी द्वार पर आता आप उसे सादर भोजन कराते। साधु-महात्माओं को निमंत्रण देकर बड़े-बड़े विशाल भण्डारे करने लगे। असंख्य संत प्रसाद पाने लगे। इस प्रकार खिला-पिलाकर सम्पूर्ण धन को श्रीपीपाजी ने तीन दिन में समाप्त कर दिया। आपकी इस विशाल कीर्ति को टोंड़े के राजा सूर्यसेनमल ने सुना, तो वह दर्शन करने के लिये आया और दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुआ। फिर बड़ी नम्रता से राजा ने प्रार्थना की और कहा-'आप मुझे शिष्य बना लीजिये।' श्रीपीपाजी ने कहा-'पहले संसार की वासनाओं को त्यागकर अतीत हो जाओ। विषयासक्त को दीक्षा देना व्यर्थ है। जिसमें विरक्त भाव दृढ़ है उसे हम लोग दीक्षा-शिक्षा देकर अपने समान सुन्दर बना लेते हैं।' राजा ने कहा-'आप जो चाहेंगे, जैसी आज्ञा मुझे देंगे, मैं वही करुँगा। आप कृपालु होकर मुझ पर कृपा करें।' तब आपने आज्ञा दी कि यदि ऐसा है तो आप अपनी सब सम्पत्ति और रानियों को यहाँ लाकर मुझको अर्पण कर दो। राजा ने राज्य और रानियाँ लाकर अर्पण कर दीं।।२९५।।

व्याख्या-दीक्षा है अतीत-अतीत शब्द की व्याख्या पहले कवित्त २८५ में हो चुकी है। श्रीपीपाजी कहते हैं कि दीक्षा का प्रथम सोपान तो है अतीत होना अर्थात् वैराग्यवान होना। बिना वैराग्य के ब्रह्म विचार व्यर्थ है। यथा-वादि विरति बिनु ब्रह्म विचारू।। पुनः ज्ञान कि होइ विराग बिनु।। (रामा०) पुनः-ब्रह्मलोक पर्यन्त सुख तजिकै बनै अतीत। वैष्णव दीक्षा पात्र सो, हरिकी जाहि प्रतीति। (भ०व०टि०) 'करै आप सो०'-यथा-निज सङ्गी निज सम करत, दुरजन मन दुख दून। मलयाचल हैं सन्त जन, तुलसी दोष बिहून।। (वै०सं०) पुनः-आपु सरिस सबही चह कीन्हा।। (रामा०) 'धरौ आनि सम्पति औ रानी'-यहाँ सम्पति से तात्पर्य अहंता से है और रानी से तात्पर्य ममता से है। बिना अहंता-ममता का त्याग किए भगवत्पथ पर चलना असम्भव है। श्रीपीपाजी को भी यह परीक्षा देनी पड़ी थी। देखिये

कवित्त २८३। जाइ ल्यायो है-कहा गया है-धन दै नीके राखि तन, तन दै राखै लाज। लाज, प्राण, धन दीजिये, एक प्रेमके काज।

करिकै परीक्षा दई दीक्षा संग रानी दई भईं ए हमारी करौ परदा न संतसों।
दीयौ धन घोरा कछू राख्यौ दै निहोरा भूप मान तन छोरा बड़ौ मान्यौ जीव, जंतसों।।
सुनि जरि बरि गये भाई सेनसूरज के ऊरज प्रताप कहा कहैं सीता कंतसों।
आयो बनिजारौ मोल लियो चाहै खैलनिकौं दियो बहकाय कहौ पीपाजू अनंतसों।।२९६

शब्दार्थ-परदा = कपट। घोरा =घोड़ा। छोरा = छोड़ा। निहोरा = प्रार्थना, उपकार। ऊरज = ऊर्ज, महान, बलिष्ठ, बल, शक्ति। खैलनि को = बैलों को।

भावार्थ-इस प्रकार श्रीपीपाजी ने राजा की परीक्षा लेकर उसको मंत्र-दीक्षा दी। फिर सम्पत्ति और रानियों को लौटाकर कहा कि-सम्पूर्ण राज्य तथा ये रानियाँ आज से अब हमारी हैं, इनमें अब ममता न रखना। मेरी आज्ञा से इनका पालन-पोषण करना। (तन-मन-धन से संत-सेवा करना।) रानियों को आज्ञा दी कि संतों से पर्दा न करके उनकी सेवा करना। इसके बाद राजा ने बहुत अनुनय-विनय करके गुरुदेव को एक घोड़ा और संत-सेवार्थ बहुत सा धन भेंट किया। आपने उसमें से कुछ धन रख लिया। शेष लौटा दिया। गुरुदेव के उपदेशानुसार राजा ने अहङ्कार को त्याग दिया और सभी जीव-जन्तुओं को अपने से बड़ा माँनने लगा। यह समाचार सुनकर राजा के भाई-बन्धु जल-भुन गये परन्तु महान प्रतापी सीतापति श्रीपीपाजी से वे कुछ भी न कह सके। इसी बीच एक व्यापारी बैलों को खरीदने के लिये टोंड़े गाँव को आया। राजा के भाइयों ने उसे बहकाया कि पीपा भगत बैलों के बहुत बड़े व्यापारी हैं उनके पास बहुत अच्छे-अच्छे बैल हैं, वहीं चले जाओ। उन्हीं से कहो, तुम्हें बैल मिल जायेंगे।

व्याख्या-करिकै परीक्षा०-श्रीपीपाजी ने तो राजा की परीक्षा के लिये धन और रानियों को भेंट करने को कहा था, परन्तु विमुख लोगों ने और ही अर्थ लगाया। वे आपस में कानाफूसी करने लगे कि देखो तो, यह जार विद्या में कैसे निपुण हैं। प्रथम तो खूब त्याग, वैराग्य दिखाकर राजा को प्रभावित किये, फिर ज्ञानोपदेश दिए, इस तरह राजा को सब प्रकार से अपनाकर उसका धन और धर्म-दोनों लूट लिये। ऐसे ही बहुत से जबाब लोगों ने किये। परन्तु राजा ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया। लाकर सब पीपाजी को समर्पण कर दिया। तब श्रीपीपाजी ने राजा को अधिकारी जानकर दीक्षा दी और सम्पत्ति एवं

रानियों को लौटा दिया। 'करो परदा न सन्तसों' श्रीखोजीजी ने कहा है कि- संतनसों परदा करैं, देखत तिन्हैं लजात। खौजी सो बनि कूतिया, फिरैं उघारे गात।। यहाँ कपट को ही पर्दा कहा गया है। यथा-कपट भाव पर्दा तजौ, हियो प्रगट करि देहु। संतन ते व्यवहार अस, करिकै हरिको लेहु।। (भ०व०टि०) 'भूप मान तन छोरा०' यह संत लक्षण है। यथा-सबहिं मानप्रद आपु अमानी।। (रामा०) 'सुनि जरि बरि गये०' किसी संत ने लिखा है- सन्त चरित वर्षा सुखद, फूलत सब संसार। आक जवासे विमुखजन, होत हृदय जरि छार।। ऐसे ही राजा सूर्यसेन के भाई -बन्धु भी जल-भुन गये कि इन्होंने मेरे भाई पर न जाने कौन-सा यन्त्र-मन्त्र चला दिया कि परम प्रतापी राजा होकर भी वह एकदम दीन हो गया है। सबको हाथ जोड़ता फिरता है। कोई भी मुण्डी वैरागी आ जाये तो उसके चरणों में पड़ जाता है, चरणामृत लेता है। एकदम सत्ता को ही खो दिया है। उसका सब प्रताप ही न जाने कहाँ चला गया? 'दियो बहकाय'-दुष्टों ने उस बंजारे को समझा दिया कि पीपाजी बड़े विलक्षण व्यापारी हैं। आप जायेंगे तो वे पहले तो स्वीकार ही नहीं करेंगे कि हम बैलों का व्यापार करते हैं। परन्तु ध्यान रखना, वे कितना हूँ नहीं करें, दीन-हीन बनें, आप लोग अपना हठ छोड़ना नहीं, उनके आगे रुपया धर देना। बनजारे ने ऐसा ही किया।

बोल्यो बनिजारो दाम खोलि खैला दीजियै जू, लीजियै जू आय गांव चरन पठाये हैं।
गये उठि पाछे बोलि संतनि महोच्छौ कियौ आयौ वाही समैं कही लेहु मन भाये हैं।।
दरसन करि हिये भक्ति भाव भर्‌यौ आनि आनिकै बसन सब साधु पहिराये हैं।
और दिन न्हान गये घोड़ा चढ़ि छोड़ि दियौ लियौ बांध्यौ दुष्टननि आयौ मानौ ल्याये हैं।।२९७

भावार्थ-लोगों के बहकाने में आकर वह व्यापारी श्रीपीपाजी के पास आया और थैली खोलकर रुपये इनके सामने रखते हुए बोला-मैं बैल लेने आया हूँ मुझे बैल दीजिये।' श्रीपीपाजी ने कहा-आपको जितने बैल चाहिये उतने मिल जायेंगे। परन्तु आज अभी यहाँ नहीं हैं। गाँव में चरने के लिये भेज दिये गये हैं। कल दोपहर को आकर आप ले लीजियेगा। इसके बाद वह व्यापारी तो रुपये देकर चला गया। आपने संतों को बुलवाकर भण्डारा महोत्सव कर दिया। उसी में सब रुपये खर्च कर दिये। वह बनजारा निर्धारित समय पर आ गया और बोला-'मुझे बैल दीजिये। बैल कहाँ हैं?' उस समय पङ्गत हो रही थी, सैकड़ों संत बैठे प्रसाद पा रहे थे। श्रीपीपाजी ने पङ्गत की ओर हाथ से संकेत करके कहा- 'यही सब मेरे बैल हैं, मैं इन्हीं का व्यापार करता हूँ। इतने में से जितने आपको चाहिये, आप उतने ले जाइये।' उस व्यापारी ने संतों के दर्शन किये, उसके हृदय में भक्ति का भाव भर

गया। वह उसी समय बाजार को गया और वस्त्र लाकर उसने सभी साधुओं को पहनाया। एक दिन श्रीपीपाजी घोड़े पर चढ़कर स्नान करने के लिये सरोवर पर गये। घोड़े को वहीं छोड़कर आप स्नान करने लगे। इतने में ही दुष्ट चोरों ने आकर घोड़ा पकड़ लिया और उसे छिपाकर बाँध दिया। आप जब स्नान करके आये तो घोड़ा ज्यों का त्यों वहीं खड़ा मिला। मानो उसी को ले आये हों। घोड़े पर चढ़कर आप अपने आश्रम आ गये। जब चोरों ने यह चमत्कार देखा तो वह डर गये और घोड़े को ले आये। तब वह घोड़ा नहीं दिखाई पड़ा। उन्होंने चोरी छोड़कर शिष्यता स्वीकार की।।२९७।।

व्याख्या-गांव चरन पठाये हैं-**श्रीपीपाजी समझ गये कि किसी ने उपहास किया है, तो इन्होंने भी वैसी ही बात की। बोले-आज तो अभी हमारे बैल चरने गये हैं। बात यह थी कि उस दिन कहीं भण्डारा था। सब संत वहीं गये थे। श्रीपीपाजी ने संतों को बैल कहा। इसमें भाव यह है कि बैल धर्म का स्वरूप हैं, यथा-धर्म ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्। (भा० १-१७-२२) अर्थ-राजा परीक्षित ने कहा तुम धर्म को जानने वाले हो और धर्म की बात कहते हो अतः वृषरूपधारी तुम धर्म ही हो। संत भी परमधर्म के ज्ञाता वक्ता होने के कारण परम धर्म के प्रगट स्वरूप हैं। पुनः-जैसे बनजारों के बैल एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाते हैं, उसी प्रकार संत भी इस लोक से परलोक को पहुँचाते हैं। अर्थात् इस लोक में जो संत-सेवार्थ खर्च किया जाता है वह परलोक में अनन्त गुना होकर सुखदायी होता है। संत को दिया हुआ अनन्त हो जाता है। यथा-सन्त हमारे कोष हैं, धनको तहँ धरि देव। दिन दूनो निशि चौगुनो जब चाहो तब लेव।। (भ०व०टि०)**

गये हे बुलाये आप पाछे घर संत आये अन्न कछू नाहिं कहूं जाय करि ल्याइयै।
विषयी बनिक एक देखि कै बुलाइ लई दई सब सौंज कही सही निसि आइयै।।
भोजन करत मांझ पीपा जू पधारे पूछी वारे तन प्रान जब कहि कै सुनाइयै।
करि कै सिंगार सीता चली झुकि मेह आयो कांधे पै चढ़ायौ बपु बनिया रिझाइयै।।२९८

शब्दार्थ-**विषयी = कामी। सौंज = सामग्री। वपु = शरीर, चेतनहीन, बेचारा, बपुरा।**

भावार्थ-**एक बार श्रीपीपाजी राजा सूर्यसेनमल के यहाँ एक झगड़े का फैसला करने के लिये गये थे। आपके चले जाने के बाद कुटी पर कुछ संतजन पधारे। संयोगवश उस दिन कुटी में अन्न-धन कुछ भी नहीं था। संत-सेवा के लिये कहीं जाकर कुछ ले आऊँ, ऐसा विचारकर श्रीसीता सहचरीजी बाजार को गईं। वहाँ इन्हें देखकर एक दुराचारी बनिये ने**

बुलाकर पूछा, आपने सामान की आवश्यकता बताई। तब उसने सब सीधा सामान देकर कहा-'आप रात को मेरे पास अवश्य आइये।' सब सामग्री लेकर आप कुटी पर आईं। रसोई हुई और भोग लगाकर जब महात्मा लोग भोजन कर रहे थे, उसी समय श्रीपीपाजी पधारे। उन्होंने पूछा कि-सामान कहाँ से आया? तो श्रीसीता सहचरीजी ने सब बात बतला दी। उसे सुनकर श्रीपीपाजी ने उनकी संत-सेवानिष्ठा पर अपना शरीर और प्राणों को न्यौछावर कर दिया। सायंकाल को श्रृङ्गार करके श्रीसीता सहचरी बनिये के पास जब जाने को तैयार हुईं तो उसी समय पानी बरसने लगा। कीचड़ हो गई, कैसे जायें श्रृङ्गार बिगड़ेगा। तब श्रीपीपाजी ने उन्हें कंधे पर चढ़ा लिया और उस बनिये को प्रसन्न करने के लिए चले।।२९८।।

व्याख्या-गये हे बुलाये आप-वह प्रसङ्ग इस प्रकार है-एक स्त्री के साथ एक से रंग-रूप, आकार-प्रकार, डील-डौल, वय-बोल-चाल चलने के दो पुरुष आपस में झगड़ते हुए राजा सूर्यसेन के पास आये। दोनों ही स्त्री को अपनी कह रहे थे। समान रूप होने से बेचारी स्त्री भी अपने वास्तविक पति को पहचानने में असमर्थ हो रही थी। एक व्यक्ति कह रहा था कि यह स्त्री मेरी है, मैं इसे संग लेकर आ रहा था। नदी के तट पर इसे बैठाकर मैं स्नान करने लगा, उसी समय यह कोई बहरुपिया मेरा ही वेष बनाकर इसके समीप बैठ गया और मेरी स्त्री को अपनी कहने लगा। यही बयान दूसरा व्यक्ति भी दे रहा था। राजा और उनके मन्त्री वास्तविकता को समझने में असमर्थ हो रहे थे। अतः परम समर्थ सर्वश्री गुरुदेव श्रीपीपाजी को बुलाये। श्रीपीपाजी दोनों को देखकर उनकी बातें सुनकर समझ गये कि इनमें से एक कोई कामरूप है अतः उसके पहचानने की आपने एक युक्ति की। एक बोतल मँगाकर आपने कहा कि इस बोतल में जो तीन घंटे तक रह सकेगा, वही इस स्त्री का सच्चा पति समझा जायेगा। यह सुनकर उसका सच्चा पति तो इस प्रकार की सामर्थ्य के अभाव में रोने लगा। परन्तु दूसरा, जो वस्तुतस्तु प्रेत था, तुरन्त ही वायुरूप होकर बोतल में घुस गया। श्रीपीपाजी ने तुरन्त बोतल की डाँट बंद करके प्रेत को मंत्र से कीलकरके पृथ्वी में गड़वा दिया। विवश होकर वह प्रेत इनसे गिड़गिड़ाकर अपने उद्धार की प्रार्थना करने लगा। तब श्रीपीपाजी ने कृपा करके उसका उद्धार कर दिया। स्त्री उसके सच्चे पति को दे दी गई। 'कहूँ जाय करि ल्याइये'-इस पर दृष्टान्त श्रीवरदाचार्यजी की पत्नी का। देखिये पृष्ठ ५२। झुकि मेह आयो-वह मेह नहीं था, वस्तुतस्तु श्रीपीपाजी एवं श्रीसीतासहचरीजी का नेह था। 'कांधे पै चढ़ायो'-श्रीपीपाजी ने श्रीसीता सहचरीजी से निवेदन किया-देवि!

अपनी संत-सेवा में तुम मुझे भी शामिल कर लो। तुमने अपनी लोकोत्तर सेवा-निष्ठा से स्वयं को तो कृतार्थ कर लिया, मुझे भी अपने शरीर को सफल कर लेने दो। अतः तुम मेरे कंधे पर बैठकर चलो। ऐसा सेवाव्रती सिर-माथे पर रखने लायक है। श्रीपीपाजी ने अनुभव किया कि निश्चय ही श्रीसीताजी हमसे भी आगे निकल गईं। इस पर दृष्टान्त-श्रीरांका-बांकाजी का।।क०४०२।।

हाट पै उतारि दई द्वार आप बैठे रहे चहे सूके पग माता कैसे करि आई हौ।
स्वामीजू लिवाय ल्याये, कहाँ है? निहारौ जाय आय पांय पर्‌यो डर्‌यो राखौ सुखदाई हौ।।
मानौ जिनि संक काज कीजिये निसंक धन दियौ बिन अंक जापै लरैं मरैं भाई हौ।
मर्‌यौ लाज भार चाहै धसौं भूमि फार दृग बहै नीरधार देखि दीक्षा पाई हौ।।२९९

शब्दार्थ-**बिन अङ्क = बिना प्रोनोट लिखाये।**

भावार्थ-**श्रीपीपाजी ने सीता सहचरीजी को ले जाकर बनिये के द्वार पर उतार दिया। वे भीतर चली गईं। आप बाहर द्वार पर बैठ गये (इनके दर्शन-चिंतन से एवं अन्न के संत-भगवन्त की सेवा में लगने से उसकी बुद्धि शुद्ध हो चुकी थी अतः मुख पर दृष्टि न पड़कर उस बनिये की दृष्टि इनके चरणों पर पड़ी। इनके सूखे श्रीचरणों को देखकर उसने पूछा-माताजी! आप यहाँ तक कैसे आई हैं। इन्होंने उत्तर दिया-स्वयं श्रीस्वामीजी अपने कंधे पर बिठाकर लाये हैं।' फिर उसने पूछा-'वे कहाँ हैं?' आपने कहा-'तुम जाकर देखो, वे बाहर ही होंगे।' वह बाहर आकर श्रीपीपाजी के चरणों में गिर गया और बोला-'आप कृपा करके हमारी रक्षा करो, आप तो जीवमात्र को सुख देने वाले संत हैं।' श्रीपीपाजी ने कहा-'आप अपने मन में किसी प्रकार शङ्का व भय न करें। निःसङ्कोच एवं निडर होकर अपना काम करें। आपने हम लोगों के साथ बड़ा भारी उपकार किया। जिस धन के वास्ते सहोदर भाई भी परस्पर लड़ते और मरते-मारते हैं। वह धन आपने बिना रुक्का लिखाये ही संतों की सेवा के लिए दे दिया'। वह बनिया लज्जा और ग्लानि के मारे दबा-मरा जा रहा था। वह चाहता था कि धरती फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ तो अच्छा है। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। श्रीपीपाजी ने उसे इस प्रकार दुःखी देखा तो उन्हें बड़ी दया आई, उसे दीक्षा दी, वह भगवद्भक्ति पाकर कृतार्थ हुआ।।२९९।।**

व्याख्या-चहे सूके पग माता कैसे करि आई हौ-**इससे सिद्ध होता है कि वणिक की विषय बुद्धि एकदम दूर हो गई है। तब तो इस प्रकार सम्भाषण कर रहा है। इसका**

एक कारण तो यह है कि इसने परम भागवती श्रीसीता सहचरीजी का दर्शन किया है और उनका चिंतन किया है तथा जब उसके अन्न का भगवान को भोग लगा तो श्रीसीताजी ने भगवान से प्रार्थना की कि प्रभो! इस जीव पर कृपा करके इसे अपना लो, यह विषयों में बहा जा रहा है। अतः भागवती की प्रार्थना पर भगवान ने भी कृपा की, फिर संतों ने प्रसाद पाया, उससे भी उसके अशेष कल्मष नष्ट हो गये। अतः बुद्धि शुद्ध हो गई। जैसे तीसरे पुट में वस्त्र पर रङ्ग चटकीला चढ़ता है वैसे ही अबकी बार के दर्शन में इनका हृदय भक्तिभाव से भर गया। 'सुखदाई हौ'-यह संत-लक्षण है। यथा-सब सुख पावै जासु ते सो हरिजूको दास। कोउ जासों दुख पावहीं सो न दास रैदास।। 'लरैं मरै भाई हैं'-देखिये श्रीकबीरजी के प्रसङ्ग में क० २७९, 'जामें भरे कोटि रोग हैं।' की व्याख्या, तथा क० ३४७ में श्रीविट्ठलदासजी माथुर का प्रसङ्ग।।

चलत चलत बात नृपति श्रवन परी भरी सभा विप्र कहैं बड़ी विपरीत है।
भूप मन आई यह निपट घटाई होत भक्ति सरसाई नहीं जानै घटी प्रीति है।।
चले पीपा बोध दैन द्वारही ते सुधि दई लई सुनि कही आवौं करौं सेवारीति है।
बड़ौ मूढ़ राजा मोजा गाठै बैठ्योमोची घर, सुनि दौरि आयो रहे ठाढ़े कौन नीति है।।३००

शब्दार्थ-विपरीति =उलटी-अनुचित रीति। निपट = अत्यन्त। घटाई = हीनता। बोध = ज्ञान। दैन = देने। मोजा = पैर में पहनने का पांयताबा। मोची = चमार, जूता गाँठने वाला।

भावार्थ-श्रीपीपाजी के सीता सहचरी को कंधे पर चढ़ाकर बनिये के यहाँ पहुँचने की बात चलते-चलते राजा सूर्यसेनमल के कानों में पड़ी। राजा की भरी सभा में भक्तिविमुख ब्राह्मणों ने श्रीपीपाजी की निन्दा करते हुए कहा-'उनका यह आचरण धर्मशास्त्र के बिल्कुल विरुद्ध है।' राजा के मन में भी यही आया कि वस्तुतः इससे प्रतिष्ठा में हानि हुई और यह अनुचित कार्य है। वस्तुतः अब तक भक्ति का रहस्य राजा की समझ में नहीं आया था। उसका हृदय विशुद्ध भक्ति के रस से सरस नहीं हो पाया था। इसलिये गुरुदेव के श्रीचरणों में भी उसकी प्रीति घट गई। यह जानकर समर्थ श्रीपीपाजी उसे समझाने एवं उसके हृदय में भक्ति सुस्थिर करने चले। राजद्वार पर पहुँचकर द्वारपालों के द्वारा अपने आगमन की सूचना भेजी। भीतर से राजा ने कहला भेजा कि-इस समय पूजा कर रहे हैं कुछ देर बाद आवेंगे।' यह सुनकर श्रीपीपाजी ने कहा-'राजा बड़ा मूर्ख है, मोची के घर पर बैठकर जूते गाँठ रहा है और कहता है कि-मैं सेवा-पूजा कर रहा हूँ।' राजा ने द्वारपालों के मुख से जब यह बात

सुनी तो दौड़कर आया और चरणों में गिर गया। (वह आश्चर्यचकित था वस्तुतः मन से मोची के घर पर पहुँच गया था।) पुनः श्रीपीपाजी ने कहा–'मैं यहाँ खड़ा रहूँ और तुम मोची के घर जाकर जूता गाँठो, यह कौन सा न्याय है।।३००।।

व्याख्या–चलत चलत बात–देखिये श्रीनामदेवजी के प्रसङ्ग में 'बात चली' पर दृष्टान्त–कौए के पंख का। 'भूप मन आई…होत'––भाव यह कि यदि उन्हें सीधा सामान की ही आवश्यकता थी तो मेरे यहाँ सन्देश भिजवा देतीं ऐसा निन्द्यकार्य करने की क्यों सोची? 'भक्ति सरसाई नहीं जानै'–यह कि भक्ति के समक्ष लोकधर्म गौण होता है। इसी से भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गी० १८।६५) अर्थ–सर्व धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की अनन्य शरण को ग्रहण कर मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं–नर विविधकर्म अधर्म बहुमत शोकप्रद सब त्यागहू। विश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू।। (रामा०) श्रीकबीरदासजी ने भी–भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।। (छप्पय ६०) राजा इस रहस्य को नहीं जानता था। 'चले पीपा बोध देन'–जैसे अंधे पुरुष को अपने गाँव का रास्ता मालूम रहता है, परन्तु यदि दूसरे गाँव ले जाना हो तो केवल रास्ता बताने से काम नहीं चलता है, उसे तो लठिया पकड़कर गाँव तक पहुँचाना पड़ता है। उसी प्रकार संसारी लोगों को तो संसार की ही राह मालूम है, उन्हें यदि परधाम पहुँचाना हो तो केवल साधन–संकेत से काम नहीं चलने का। उन्हें तो पग–पग पर संभालना होगा। तब वह लक्ष्य तक पहुँच पायेंगे अन्यथा बीच में ही भटक जायेंगे। श्रीपीपाजी ने विचार किया कि यदि हम उसे नहीं संभालते हैं तो गुरु–धर्म से च्युत होते हैं क्योंकि कहा गया है–गुरुर्न स स्यात्...(भा० ५–५–१८) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १२९। आखिर शिष्य ही तो है, सम्बन्ध से स्नेह होता है। अतः चले पीपा बोध देन। 'कौन नीति है'–भाव यह कि भगवान की, इष्ट की सेवा करना तो ठीक है, परन्तु तन को सेवा में रखना और मन को अन्यत्र रखना कौन नीति है। पुनः- गुरु द्वारपर खड़े रहें और तुम हरिसेवा का स्वांग करके बैठे रहो यह कौन नीति है। श्रीकागभुसुण्डिजी ने गुरु के आगमन पर उठकर प्रणाम नहीं किया, जप और ध्यान का स्वांग बनाये बैठे रहे तो उनके इष्टदेव श्रीशिवजी को यह महदपराध सह्य नहीं हुआ, घोर शाप दे डाले। तुम्हें यदि कोई बात समझ में नहीं आये तो उसे पूछना चाहिये, न कि गुरुजनों में अभाव कर लेना चाहिये। यह कौन नीति है?

हुती घर मांझ बांझ रानी एक रूपवती मांगी वही ल्यावौ बेगि चल्यौ सोच भारी है।
डग मग पांव धरै, पीपा सिंह रूप करै ठाढ़ौ देखि डरै इत आवै आप ख्वारी है।।
जाय तौ बिलाय गयो तिया ढिग सुत नयौ-नयौ भूमि पर कला जानी न तिहारी है।
प्रगट्यौ सरूप निज खीझिकै प्रसंग कह्यौ, कहां वह रंग? शिष्य भयौ लाज टारी है।।३०१

शब्दार्थ-**ख्वारी =बुराई। बिलाय गयौ = लुप्त हो गया। कला = विद्या, माया। खीझिकै = डाट फटकारकर। प्रसंग = प्रकरण, बात या अर्थकी संगति।**

भावार्थ-**उस राजा के महल में एक अत्यंत रूपवती परन्तु बन्ध्या रानी थी। उसमें राजा की विशेष आसक्ति जानकर श्रीपीपाजी ने कहा-'तुम शीघ्र उस रानी को मेरे पास ले आओ।' राजा महल की ओर चला परन्तु उसे बड़ा शोक और संकोच हो रहा था कि मैं रानी को कैसे लाऊँ। चलते समय उसके पैर डगमगा रहे थे। रानीवास में घुसते ही उसे भयंकर सिंह दिखाई पड़ा। उसे देखकर राजा डर गया और वहीं खड़ा हो गया। पीछे लौटने में बुराई और आगे जाने का साहस नहीं रहा। फिर वह सिंह गायब हो गया। राजा किसी प्रकार रानी के पास पहुँचा तो उसके पास अभी का जन्मा हुआ एक बालक दिखाई पड़ा। अब राजा की समझ में आया कि गुरुदेव भगवान में कितनी सामर्थ्य है। वहीं पृथ्वी पर साष्टांग दण्डवत-प्रणाम करके राजा ने स्तुति की-'हे प्रभो! हम आपकी माया को नहीं जान सकते हैं। आपके सिंह एवं शिशु दोनों ही रूप वन्दनीय हैं।' राजा की प्रार्थना से प्रसन्न होकर निजस्वरूप से श्रीपीपाजी वहीं प्रकट हो गये और फटकारते हुए बोले-कहो, वह पहले वाला रंग कहाँ गया, जब तुमने लोकलज्जा और मोह का त्याग करके सारा राज्य और रानियाँ मुझे अर्पण की थीं और मेरे शिष्य हुए थे।**

व्याख्या-'पीपा सिंह रूप करै'-**राजा के अविवेकजन्य अभावरूप हाथी को मारने के लिये श्रीपीपाजी सिंह बने थे। भाव यह कि प्रताप देखकर अविवेक, दूर हो जायेगा। 'ख्वारि है-श्रीगुरुदेवजी के अप्रसन्न होने का भय है। 'तिया ढिग सुत नयौ'-श्रीपीपाजी ने दिखाया कि तू मन में न जाने क्या-क्या सोचता है। मेरा जो जगतमात्र की स्त्रियों में मातृभाव है। 'खीझिकै प्रसङ्ग कह्यौ'-गुरुजनों की खीझ में भी कृपा होती है। यथा-सतगुरु मार कुम्हार जिमि गढ़ि-गढ़ि करत सुढार। भीतर से रक्षा करत, बाहर से फटकार।। कहाँ वह रङ्ग-अर्थात् पहले वाला भाव कहाँ गया? संसारी लोगों के ऊपर बहुत कठिनाई से श्रीहरि रंग चढ़ता है। यथा-नितप्रति दरसन साधुको, नितप्रति उत्तम संग। तुलसी कारन कौन है, लगत न हरि कौ रंग।। मन तौ रमे संसार में तन है साधुन संग। तुलसी याही**

कारने, लगत न हरिको रङ्ग।। राजा लोग वैसे ही रजोगुणी होते हैं उसमें भी ये महत्पुरुष के चरित्र में शङ्का किये (पहले श्रीसीताजी के विषय में, अबकी बार श्रीपीपाजी के विषय में अभाव हुआ।) फिर विमुख ब्राह्मणों ने राजा के कान भर दिये अतः पहले वाला भाव जाता रहा।

किया उपदेश नृप हृदै में प्रवेश कियौ लियौ वही पन आप आये निज धाम है।
बोल्यौ एक नाम साधु एक निसि देहु तिया, लेहु, कही भागौ, संग भागी सीता वाम हैं।।
प्रात भये चलै नाहिं, रैन ही की आज्ञा प्रभु चल्यौ हारि आगे घर-घर देखो ग्राम है।
आयौ वाही ठौर चलो माता पहुँचाय आवौं, आय गहे पाँव भाव भयौ गयौ काम है।।३०२

शब्दार्थ-नाम साधु =नाम मात्रका साधु, हृदय से दुष्ट।

भावार्थ-अब जब राजा का अन्तःकरण पवित्र हो गया तब श्रीपीपाजी ने उसे अनन्य भक्ति का उपदेश दिया। वह राजा के हृदय में प्रविष्ट हो गया अर्थात् राजा ने सम्यक् प्रकार से धारण कर लिया। उसने वही पहले वाला अपना प्रण जिसे कि शिष्य होते समय अपनाया था फिर से धारण कर लिया। गुरु, सन्त और भगवन्त को एक रूप मान लिया। श्रीपीपाजी अपने आश्रम (गागरौनगढ़) को लौट आये। एक साधुरूपधारी (नामका साधु) दुराचारी श्रीपीपाजी के पास आकर बोला-'आप अपनी स्त्री को मुझे एक रात के लिये दे दें।'आपने कहा-'ले जाओ।' उसने सीता सहचरीजी से कहा-'आप मेरे सङ्ग दौड़कर चलो।' आज्ञा के अनुसार ये उसके साथ दौड़ती हुई चलने लगीं। परन्तु दौड़ते-दौड़ते सारी रात बीत गई फिर भी उसका घर नहीं आया। प्रातःकाल हो गया। ये बैठ गईं और बोलीं कि-'अब मैं आपके साथ एक पग भी नहीं चल सकती हूँ, क्योंकि मेरे स्वामीजी की यह आज्ञा थी कि इनके साथ एक रात रहना। सो वह रात बीत गई।' उसने सोचा कि-थक गई हैं पालकी या गाड़ी ले आऊँ, उसमें बिठाकर ले चलूं। वह गाँव में गया तो उसे घर-घर में सर्वत्र श्रीसीता सहचरी के दर्शन हुए। तब उसकी आँखें खुलीं। वहीं आकर बोला-'माताजी! चलो, आपको स्वामीजी के पास पहुँचा आवें। आश्रम में आकर वह श्रीपीपाजी के और श्रीसीता सहचरीजी के पैरों में गिर पड़ा, उसके मन से कामवासना दूर हो गई और सन्त-भगवन्त की भक्ति में दृढ़ भाव हो गया।।३०२।।

व्याख्या-कियो उपदेश-यही कि साधक को अपनी निष्ठा में दृढ़ रहना चाहिये। देखो, और की तो बात ही क्या, श्रीगुरु शुक्राचार्यजी के कहने से भी श्रीबलिजी अपने निश्चय से नहीं

डिगे। श्रीपार्वतीजी कहती हैं-तजौं न नारद कर उपदेशू। आपु कहहिं सत बार महेशू। (रामा०) श्रीशिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव आदि ने कितना त्याग करके, कष्ट सह करके अपने व्रत, विरद एवं निष्ठा की रक्षा की। देखिये पूर्वार्द्ध में इनके प्रसङ्ग। 'लयो वही पन'- इस पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५। 'पन सोधो' की व्याख्या तथा पृष्ठ ६२ 'गही एक टेक' की व्याख्या। इस प्रसङ्ग में श्रीपीपाजी की शिष्य वत्सलता दिखाई गई है तथा इसमें आदर्श गुरुधर्म का दर्शन होता है। आदर्श गुरुधर्म पर देखिये प्रसंग ऋभु एवं निदाघ का पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४८६।। 'आये निज धाम हैं'-श्रीपीपाजी सं० १४७२ में लौटकर गागरौनगढ़ आ गये। नगर के बाहर कुटी बनाकर पाँच वर्ष तक वहीं रहे। फिर सं० १४७७ में काशी गये और श्रीआचार्यचरण के साकेतवास तक काशी में ही रहे। 'बोल्यो एकनाम साधू०'-इस प्रसंग से श्रीपीपाजी की वेषनिष्ठा एवं भगवान की भक्तवत्सलता प्रगट होती है। भगवान ने उस नाम-धारी साधु की मति फेरकर श्रीसीताजी के धर्म की रक्षा की। 'गयो काम है'-क्योंकि-मन पंछी तब लगि उड़े विषय वासना माहिं। प्रेम बाजकी झपट में जब लगि आवत नाहिं।।

विषयी कुटिल चारि साधु भेष लियो धारि कीनी मनोहारि कही तिया निज दीजियै।
करिकै सिंगार सीता कोठे मांझ बैठी जाय चाहैं मग आतुर ह्वै आजू जाहु लीजियै।।
गये जब द्वार उठी नाहरी सुफारिबे कौं फारैं नहीं बानौ जानि आय अति खीजियै।
अपनौ विचारौ हियौ कियौ भोग भावनाकौ मानि सांच भये शिष्य प्रभु मति धीजियै।।३०३

शब्दार्थ-चाहैं मग =बाट देखैं। आतुर =कामातुर, व्याकुल। नाहरी = सिंहिनी।

भावार्थ-एक बार चार कामी-कुटिल दुष्टों ने सुन्दर माला-तिलक आदि धारण कर लिया और श्रीपीपाजी के निकट आकर बड़ी नम्रता से बोले-'आप सच्चे संतसेवी हैं, आज अपनी स्त्री हमें दे दीजिये।' (आप बोले-यहाँ तो सर्वस्व आपका है ही, बिना माँगे ही ले सकते है) श्रीस्वामीजी की आज्ञानुसार श्रीसीता सहचरी श्रृङ्गार करके कोठे में जा बैठीं। श्रीपीपाजी ने उन्हें कामभाव से व्याकुल होकर प्रतीक्षा करते देखा, तो कहा-'आप लोग कोठे में जाइये।' जैसे ही ये लोग कोठे के द्वार पर गये वैसे ही एक सिंहनी इन सबके ऊपर इन्हें फाड़ डालने के लिये झपटी परन्तु उसने साधु-वेष जानकर फाड़ा नहीं। वे चारों भयभीत होकर भागे और श्रीपीपाजी से नाराज होकर बोले-'तुमने तो वहाँ हम लोगों को मरवाने के लिये सिंहिनी बैठा रक्खी है, तुम साधु नहीं दुष्ट मालूम पड़ते हो।' हँसकर आपने कहा-'आप लोग अपने हृदय की कुत्सित भावनाओं को देखिये। अनधिकार भोग भावना ही सिंहिनी है, वह तुम्हें छोड़ नहीं सकती है। सद्भाव से पुनः जाकर देखिये। उन लोगों ने

फिर जाकर देखा तो श्रीसीता सहचरी जी विराजमान हैं। वे सब चरणों में पड़कर रोने एवं अपराध क्षमा करने की प्रार्थना करने लगे। श्रीपीपाजी की बात को सत्य मानकर वे सब उनके शिष्य हो गये। उनकी वह बुद्धि नष्ट हो गई। सभी भक्त बन गये।

व्याख्या-विषयी कुटिल०-ऐसे लोगों की भर्त्सना करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-वेष विसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइये, भये विषय जल मीन।। वचन वेष क्यों जानिये मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना दस मुख प्रमुख विचारि।। वचन विचार आचर तन मन करतब छल छूति। तुलसी क्यों सुख पाइये अन्तर जामिहिं धूति।। सारदूलको स्वांग करि कूकरकी करतूति। तुलसी तापर चाहिये कीरति विजय विभूति।। सिंह खाल गाडर पहिरि भेष सिंहको धारि। बोलनि बोली भेड़की, कुत्तन डारी फारि।।

गूजरी को धन दियौ पियौ दही संतनि नै ब्राह्मनकौ भक्त कियौ देवी दी निकारिकै।
तेली कों जिवायो भैंसि चोरनिपै फेरिल्यायौ गाड़ी भरि आयौ तन पाँचठौर जारिकै।।
कागद लै कोरो कर्‌यो बनियांको सोक हर्‌यौ भर्‌यौ घर त्याग डारी हत्या हूँ उतारिकै।
राजा कौ औसेर भई सन्त कौ जु विभौ दई लई चीठी मानि गये श्रीरंग उदारिकै।।३०४

शब्दार्थ-गूजरी = ग्वालिन, गूजर जाति की स्त्री। कोरो= सादा। औसेर=चिन्ता। विभौ = धन। उदारिकै = उदारके यहाँ।

भावार्थ-'गूजरी को धन०'-श्रीपीपाजी के यहाँ विराजमान साधु-सन्तों ने एक दिन दही पाने की इच्छा प्रगटकी कि आज तो श्रीरघुनाथजी का दही-भोग आरोगने का मन है। उसी समय एक ग्वालिन दही बेचती हुई उधर आई। इससे यह जाना गया कि भगवान अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण करते हैं। श्रीपीपाजी ने दही का मूल्य पूछा-तो उस ग्वालिन ने तीन आना बताया परन्तु उस समय श्रीपीपाजी के पास एक भी पैसा नहीं था। उन्होंने उससे कहा-तू दही दे दे, पैसे अभी नहीं है, आज जो भी कुछ भेंट में आ जायेगा वही तुझको मिल जायेगा। यदि कुछ न आया, तो तुम्हारा दही ही भेंट समझा जायेगा। ग्वालिन ने स्वीकार कर लिया। दही का भोग लगा, साधुओं ने शक्कर मिलाकर भोग लगाया और बड़े प्रेम से दही पिया। उसी समय श्रीपीपाजी का एक शिष्य आया और उसने एक मोती माला के समेत बहुत-सा धन भेंट किया। इन्होंने मोती माला और सम्पूर्ण धन ग्वालिन को दे दिया। इससे यह प्रकट हुआ कि संत जैसा कहते हैं वैसा ही करते हैं। वह बेचारी ग्वालिन

इतना धन लेने में डरी कि सुनते ही राजा छीन लेगा। वह उस धन को घर लाई उसमें से कुछ थोड़ा अपने पास रक्खा, शेष को भक्त भगवन्त-सेवा में खर्च करके श्रीपीपाजी की शिष्या बन गई। भक्ति करने लग गई।

२. देवी दी निकारिकै-एक ब्राह्मण था। वह देवी का बड़ा भारी भक्त था। एक बार उसने एक बड़ा भारी भण्डारा-महोत्सव किया। उसमें भोजन करने के लिये उसने गाँव भर को निमंत्रण दिया, तो सभी लोगों ने स्वीकार किया, परन्तु श्रीपीपाजी ने इन्कार कर दिया। यह जानकर वह उनके पास पहुँचा और शीश झुकाकर बड़ी विनती की और हठ करने लगा कि आप भी चलिये। भक्तराज श्रीपीपाजी ने कहा-'जहाँ श्रीसीताजी को भोग नहीं लगता है वहाँ हमारा क्या काम, हम वहाँ नहीं जा सकते हैं और न भोजन कर सकते हैं। बाद में उसकी दीनता देखकर आपने कहा-यदि तुम सभी पक्वान्न, शाक जितने बने हैं सबमें से थोड़ा-थोड़ा अमनिया ले आओ। मैं अपने भगवान को भोग लगाऊँगा और प्रसाद पा लूँगा। उसने स्वीकार किया और वैसा ही किया। तब आपने भी प्रसाद पाया। सबको खिलाने-पिलाने के बाद जब रात में वह ब्राह्मण सोया तो स्वप्न में देवीजी ने आकर उससे कहा-तुमने इतना बड़ा भण्डारा किया परन्तु मुझे तो खाने को ही नहीं मिला। मैं तो भूखी मर गई। ब्राह्मण ने कहा-क्यों? देवी ने कहा-जब पीपाजी ने भोग लगाया तो उसी समय भगवान के पार्षदों ने मुझे मन्दिर से बाहर निकाल दिया। अब तक मैं उनके भय से काँप रही हूँ। जब ब्राह्मण की आँखें खुलीं तो उसने सोचा, जब पार्षदों से देवी डर गई तो मेरा क्या कल्याण करेगी। अतः अब मैं प्रातः होते ही श्रीपीपाजी का शिष्य बन जाऊँगा। कब सवेरा हो कब मैं श्रीपीपाजी से जाकर सब बात कहूँ। इसी अभिलाषा से प्रातः होते ही वह उनके पास गया और सब समाचार बताकर शिष्य बन गया। गाँव के दूसरे देवी भक्तों ने जब यह समाचार सुना तो सब श्रीपीपाजी के शिष्य हो गये। वैष्णव बनकर भगवान की उपासना करने लगे।

३. तेलीको जिवायो-एक दिन एक रूपवती तेलिन 'तेल लो, तेल लो, तेल लो, 'जोर-जोर से कहकर तेल बेचती घूम रही थी। श्रीपीपाजी ने उससे कहा-'तेल लो, कह-कह कर चिल्लाती हो, इस सुन्दर मुख से कभी-कभी 'सीताराम, सीताराम' भी कह दिया करो, तो तुम्हारा कल्याण हो जाये। उसने क्रोधित होकर कहा-सीताराम-सीताराम तो विधवायें जपती हैं अथवा जब कोई मर जाता है तब श्मशान घाट पर ले जाते समय 'राम-राम सत्य' कहते हैं, मैं क्यों कहूँ? इसके बाद तेल बेचकर जब वह घर पहुँची ही थी कि उसके पति

की नाक में चौखट की टक्कर से चोट लगी और वह गिरकर मर गया। अब तो आर्तस्वर से हाय राम-हाय राम कहकर विलाप करने लगी। लोग उसे लेकर श्मशान घाट की ओर चले। श्रीपीपाजी के आश्रम के समीप होकर निकले वह तेलिन रो-रोकर 'रामनाम सत्य' कह रही थी। सबसे बोली कि इन्हीं के कहने से मेरा पति मरा है। सबों ने श्रीपीपाजी से प्रार्थना की और आजन्म नित्यनाम जपने की प्रतिज्ञा की। तब श्रीपीपाजी ने उसे जीवित कर दिया। वह तेली तो भगवान के नाम का उपदेश लेकर विरक्त हो गया। तेलिन समेत घर के सभी लोग भक्त हो गये।

४. भैंस फेरि लायौ-एक भक्त की दी हुई एक दूध देने वाली भैंस श्रीपीपाजी के आश्रम में बँधी थी। रात को चोर लोग आये और भैंस को खोलकर ले चले। श्रीपीपाजी जग रहे थे। अभी वे लोग थोड़ी ही दूर पहुँचे थे कि ये उसकी पड़िया लेकर चोरों के पीछे चले और उन्हें जोर-जोर से पुकारकर उनसे कहने लगे कि इस पड़िया को भी ले जाओ, बिना पड़िया के भैंस दूध कैसे देगी? इनकी उदारता से प्रभावित होकर वे सब लौट आये और शिष्य बन गये। उन्होंने चोरी करना छोड़ दिया।

५. गाड़ी भरि आयौ-आश्रम में विशेष भीड़भाड़ देखकर श्रीपीपाजी ने श्रीसीता सहचरीजी से कहा-यहाँ भजन में बाधा होती है। चलो, कहीं अन्यत्र एकान्त वन में बैठकर श्रीरामनाम का स्मरण करेंगे। ऐसा कहकर सीता सहचरी समेत आप आश्रम से चल दिये और एकान्त वन में जाकर भजन करने लगे। किन्हीं आने-जाने वाले लोगों ने आपको पहचान लिया और संतों ने भी आकर अनुरोध किया कि आश्रम में ही चलिये, वहीं रहकर हमें आनन्दित कीजिये। उसी समय एक महाजन आया। उसने एक गाड़ी जिसमें बहुत-सा अन्न-धन भरा था आपको भेंट की। आप उसे लेकर चले। रास्ते में कई डाकू मिले और श्रीपीपाजी ने सहर्ष उन्हें भरी-भराई गाड़ी भेंट कर दी। ये गाड़ी लेकर चले। थोड़ी देर बाद जब वे कुछ दूर निकल गये तब श्रीपीपाजी को गांठ में बंधी मुहरों का ध्यान आया। तब ये दौड़े उन्हें पुकारकर बोले-'रुक जाओ, ये मुहरें और ले जाओ।' मुहरें पाकर ये आश्चर्य में पड़ गये। डाकुओं ने पूछा-'आप कौन हैं? कहाँ रहते हैं' तब आपने नाम-पता बताया सुनते ही वे चरणों में गिर पड़े और विनती करने लगे। गाड़ी हाँककर आश्रम में लाये। शिष्य बनकर सन्मार्ग पर चलने लगे। इस प्रकार आपने उनके जीवन का सुधार किया।

६. तन पांच ठौर जारिकै-एक दिन श्रीपीपाजी के पास पाँच गाँव से सन्तों के निमन्त्रण आये। इन्होंने विचारा-थोड़ी-थोड़ी देर के लिये सभी संतों के यहाँ चला जाऊँगा। इतने

में इनके आश्रम में ही कई संत पधारे। आप प्रसन्नतापूर्वक उनकी सेवा में लग गये। आदर पूर्वक जिन्होंने बुलाया है वहाँ जाना चाहिये। इस विचार से आप पाँच शरीर धारण कर पाँचों संतों के स्थानों में गये। वहाँ आप दिन के बाद रात में भी उत्सव-कीर्तन में सम्मिलित रहे और पाँचों गाँवों में आपने शरीर त्याग दिया और पाँचों गाँवों में आपका दाह-संस्कार कर दिया गया। एक गाँव में आपकी दो शिष्यायें थीं। वे समाचार देने को चलीं तो मार्ग में भी उन्हें दाह-संस्कार के उत्सव दिखाई पड़े। सर्वत्र से समाचार लाने वालों ने आश्रम में आकर देखा तो संत-मण्डली में बैठे श्रीपीपाजी कीर्तन कर रहे हैं। इस दिव्य चमत्कार को जानकर सभी लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया कि ये सामान्य मनुष्य नहीं हैं, ये तो कोई दिव्य महापुरुष हैं।

७. कागद लै कोरो कर्‌यौ-**श्रीपीपाजीके यहाँ एक बार एक संत-मण्डली आई। कई दिन तक श्रीपीपाजी ने उनकी खूब सेवा की। चलते समय उन संतों ने कहा-हमें द्वारका जाना है, हमारे पास खर्चा नहीं है। तब आप एक महाजन के पास गये और रुक्का लिख कर इस शर्त पर रुपये लाये कि तुम तगादा मत करना। जब मेरे पास रुपये होंगे तब अपने आप हम ब्याज समेत दे जायेंगे। कुछ दिनों बाद वह अपने रुपये माँगने लगा। श्रीपीपाजी ने उसे शर्त की याद दिलाई कि आप माँगे नहीं, हम बिना माँगे ही दे देंगे। रुपये अभी नहीं हैं। उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने पंचायत में दावा कर दिया। पंच लोगों ने इन्हें बुलाया और कहा कि आप रुपये क्यों नहीं देते हैं? आपने कहा-सेठजी वह कागज लावे, हिसाब बतावे हम रुपया देने को तैयार हैं। सेठजी ने घर से लाकर कागज पंचों में पेश किया तो वह बिल्कुल कोरा था। पंचों ने सेठ को दण्ड दिया कि इसका जाति से बहिष्कार करो। इसने संत का अपमान किया है। श्रीपीपाजी ने कहा इसे दण्ड न दिया जाय, इससे हमने साधुओं को देने के निमित्त रुपये लिये थे पर तय यह था, कि यह माँगेंगे नहीं। इन्होंने रुपये माँगकर प्रतिज्ञा भंग की। अतः भगवदिच्छा से कागज कोरा हो गया है। इस चमत्कार से प्रभावित होकर वहीं उपस्थित किसी दूसरे धनी ने उसके रुपये चुका दिये। वह महाजन पछताया और श्रीपीपाजी की शरण में आया।**

८. भर्‌यौ घर त्यागि-**संतसेवी श्रीपीपाजी के आश्रम में कभी-कभी तो अन्न-धन का सर्वथा अभाव हो जाता था तो कभी-कभी अन्न-धन से भण्डार भर जाता, परन्तु आपको निष्किञ्चनता ही प्रिय थी। एक बार आपके आश्रम में बहुत-सा अन्न-धन तथा और भी विविध सामग्रियों का संग्रह हो गया तथा आदर-सत्कार बहुत बढ़ गया। इससे उबकर**

आपने श्रीसीता सहचरीजी से कहा-यहाँ विघ्न होने लगा, चलो अन्यत्र चलें। आप दोनों (टोंड़े से) चले तो चलते-चलते अस्सी कोस दूर एक नगर में पहुँचे जहाँ बाजार था। आप जाकर वहाँ बैठ गये, किसी ने आकर आपको बहुत फटकारा और कई धक्के लगाये। आप दूसरी जगह जा बैठे। वहाँ के दुकानदार ने भी गालियाँ दीं और आपको भगाया। तब आपने श्रीसीता सहचरी से कहा-'अब जाकर कुछ शान्ति आई। आदर-सम्मान एक रोग है, उसके बढ़ जाने पर यही उत्तम उपचार है।'

९. डारी हत्या हू उतारि-किसी ने इनको बताया कि तुम आगे चले जाओ, वहाँ ठहरना। आप उठकर चल दिये, जाकर देखा तो उजार दिखाई पड़ा। आपने झाड़-बुहार कर चौका लगाया। स्थिर चित्त बैठकर आनन्दमग्न होकर नाम-संकीर्तन करने लगे। उसकी ध्वनि चारों ओर फैल गई। उसे सुनकर सैंकड़ों सेवक-शिष्यों समेत एक महन्तजी आये। उनके आने से सत्संग तथा कीर्तन का आनन्द और अधिक बढ़ गया। वहीं पर एक ब्राह्मण रहता था, उसने भी सत्सङ्ग-कीर्तन का आनन्द लिया। इसके बाद उसने दण्डवत प्रणाम करके प्रार्थना की कि-मुझसे अन्जान में गो-हत्या हो गई थी। मैंने सभी तीर्थ कर लिये, अनेक प्रकार के दान भी किये, फिर भी लोगों ने मुझे जाति में नहीं मिलाया। मेरा बहिष्कार करते हैं। भक्त और भगवान दोनों ही पतित-पावन हैं, सो आप मुझे पवित्र कीजिये। श्रीपीपाजी ने कहा-तुमने सत्सङ्ग-कीर्तन में भाग लिया। अतः अब तुम पवित्र हो। ब्राह्मण अपने घर से सामान लाया। अनेक पक्वान्न बने, उधर कीर्तन की धूम मची थी। सारा गाँव उमड़कर आया और दर्शन करने लगा। पंगत में उस ब्राह्मण को परोसते देखकर लोगों ने श्रीपीपाजी से कहा-इस ब्राह्मण को तो हत्या के अपराध से हमने अलग कर दिया है आपने इसे कैसे मिला लिया। आपने कहा-यह संतों के बीच सत्संग और कीर्तन करके शुद्ध हो गया। लोगों ने कहा-हम तो तब मानेंगे जब इसके हाथ से श्रीहनुमानजी भोग आरोगें। श्रीपीपाजी की आज्ञा से उसने हनुमानजी को भोग धरा, उसे हनुमानजी ने स्वीकार किया। प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर सभी लोगों को संतों में और भगवन्नाम में दृढ़ विश्वास हो गया।

१०.राजाको औसेर-टोंड़े से श्रीपीपाजी के चले जाने पर राजा सूर्यसेनमल को बड़ी चिन्ता हुई। बिना दर्शनों के बेचैन होकर उसने दूत भेजे। दूतों ने पत्र दिया, प्रार्थना की आप अपनी अलौकिक शक्ति से तत्क्षण टोंड़े में आ गये। घुड़सवार दूत कई दिन बाद पहुँचे।

११. संतको विभव दई-आपके आते ही टोंड़े में आनन्द की लहर फैल गई। राजा प्रजा सभी दर्शनों के लिये दौड़ पड़े। राजा ने बहुत-सा धन भेंट किया। इतने में ही एक

संयोगी वैरागी ने आकर प्रार्थना की कि-मेरी एक लड़की विवाह के योग्य है, मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। श्रीपीपाजी ने सहर्ष सम्पूर्ण धन उठाकर उसे दे दिया। वह बहुत प्रसन्न हुआ। आप ऐसे उपकारी और त्यागी थे।

१२. गये श्रीरंग उदार कै-पूर्व कवित्त ११७-११८ में द्यौसा (जयपुर) निवासी श्रीरङ्गजी का चरित्र वर्णन किया जा चुका है। वे श्री अनन्तानन्दाचार्यजी के शिष्य एवं श्रीपीपाजी के भतीजा चेला लगते थे। उनके मन में श्रीपीपाजी के दर्शन की प्रबल अभिलाषा थी। इसके लिये उन्होंने बीसों पत्र श्रीपीपाजी के पास भेजे थे। परन्तु संयोगवश ये वहाँ नहीं पहुँच सके। तब श्रीरङ्गजी ने अत्यन्त दीनता से भरकर एक पत्र लिखकर अपने एक आदमी द्वारा आपके पास भेजा। पत्र पढ़कर तथा पत्रवाहक के मुख से भी उनकी अति दैन्यपूर्ण प्रार्थना सुनकर श्रीपीपाजी का हृदय भर आया। अतः उनकी प्रार्थना मानकर उनके यहाँ गये।।३०४।।

श्रीरङ्गके चेत धर्‌यौ तिया हिय भाव भर्‌यौ ब्राह्मणको शोक हर्‌यौ राजा पै पुजाय कै।
चँदवा बुझाय दियौ तेली को लै बैल दियौ, दियौ पुन घर मांझ भयौ सुख आय कै।।
बड़ोई अकाल पर्‌यो जीव दुख दूरि कर्‌यौ पर्‌यौ भूमि गर्भ धन पायौ दै लुटाय कै।
अति विसतार लियौ कियौ है विचार यह सुनै एकबार फेरि भूलै नहीं गाय कै।।३०५।।

शब्दार्थ-चेत = धर्‌यो=सावधान किया, बोध दिया। चँदवा = मण्डप, सिंहासन या गद्दी के ऊपर तना हुआ वस्त्र। भूमिगर्भ = धरतीके अन्दर।

भावार्थ-'श्रीरङ्ग के चेत धर्‌यौ'-पूर्व कवित्त में आ चुका है कि-'गये श्रीरङ्ग उदारि कै। जिस समय श्रीपीपाजी श्रीरङ्गजी के यहाँ पहुँचे, उस समय वे भगवान का मानसी पूजन कर रहे थे। श्रीपीपाजी उनकी पौर पर ही बैठे रहे। श्रीरङ्गजी में मानसी में भगवान का श्रृंगार कर रहे थे। पहले मुकुट धारण कराकर तब फूलों की माला पहना रहे थे। वह किञ्चित् छोटी होने से मुकुट में अटक रही थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे पहनाऊँ? श्रीपीपाजी का मानसी में प्रवेश था अतः बाहर से ही कहे कि गाँठ खोलकर धारण करा दीजिये, श्रीरङ्गजी ने ऐसा ही किया। फिर तुरन्त ही विस्मित होकर आँख खोलकर इधर-उधर देखने लगे कि किसने गुप्त भगवान को प्रत्यक्ष देखकर मुझे उपाय बताया है। जब वहाँ कोई नहीं दिखाई पड़ा तो उत्सुकतावश बाहर आये। परम तेजोमय दिव्य भव्य, प्रसन्न मुख श्रीपीपाजी को देखकर श्रीरङ्गनाथजी ने पूछा-आप कौन हैं, जो चुपचाप

यहाँ आकर बैठे हैं। आप कृपा करके अपना नाम बताइये। श्रीपीपाजी ने मुस्कुराकर कहा- संतों से इस प्रकार कुछ पूछने की विधि नहीं है। यदि आपको किसी साधु पुरुष से कुछ तत्त्व जिज्ञासा करनी हो तो श्रीगीताजी में बताई हुई विधि का अनुसरण करना चाहिये। ' यथा- तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।। (४-३४) अर्थात् भली प्रकार दण्डवत्प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से उस ज्ञान को जानो। जब इस प्रकार का भाव होगा तब ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। यह सुनकर श्रीरङ्गजी बड़े लज्जित हुए और समझ गये कि यह कोई परम ज्ञानवान सिद्ध पुरुष हैं। अतः गीतोक्त विधि से पुनः परिचय पूछे। जब श्रीपीपाजी ने अपना नाम, ग्राम बताया तो सुनते ही वह इनके श्रीचरण-कमलों में लोट-पोट हो गये। आज इनका चिर संचित मनोरथ पूर्ण हो गया। इसके बाद वे हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता पूर्वक बोले-प्रभो! मेरा मन तो यह था कि जब आप आवेंगे तो मैं बाजे-गाजे के साथ चलकर आपकी अगवानी करूँगा, परन्तु आप तो बिना किसी पूर्व की सूचना के एकदम द्वार पर ही आ गये। आप तो कृपा करके बाग में पधारें, मैं आपकी अगवानी करने चलूँगा। श्रीपीपाजी ने कहा-अरे भाई! अब तो हम घर पर ही आ गये, अब अगवानी की क्या जरुरत रह गई? उन्होंने कहा-फिर तो महाराज, मेरी अभिलाषा अपूर्ण ही रह जायेगी। अंत में उनके प्रेम से हारकर श्रीपीपाजी घर से एक कोस दूर बाग में जाकर विराजे। श्रीरङ्गजी खूब बाजे बजवाते हुए मुहरें लुटाते हुये प्रेमोन्मत्त होकर नृत्यगान करते हुए, पालकी लेकर इनको लिवाने चले। श्रीपीपाजी ने कहा कि पालकी पर तो हमारे श्रीसद्गुरुदेव श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी चलते हैं। भला मैं पालकी पर कैसे चल सकता हूँ। यदि आपका ऐसा ही भाव है तो श्रीस्वामीजी की छवि को पालकी पर पधराकर ले चलें, मैं पैदल चलूँगा। ऐसा ही हुआ। श्रीपीपाजी उनके प्रेम को देखकर एक महीने तक उनके घर रहे। श्रीपीपाजी के सत्संग से सम्पूर्ण देवसा गाँव श्रीरामरङ्ग में रङ्ग गया। पूरे गाँव में भक्तिभाव छा गया।

तिय हिय भाव भर्‌यो-जब आप द्यौसा में श्रीरङ्गजी के ही यहाँ थे, तब एक दिन एक सरोवर पर आप दोनों बैठे थे। उसी समय दो स्त्रियाँ कंडा बीनती हुईं उधर आ निकलीं। देखकर श्रीपीपाजी ने उन्हें अपने समीप बुलाया। श्रीरङ्गजी को श्रीपीपाजी का यह कार्य अच्छा नहीं लगा। वे मन में सोचने लगे कि ये पराई स्त्रियों को क्यों बुलाते हैं? साधु को तो पर स्त्री का मुँह भी नहीं देखना चाहिये। सर्वज्ञ श्रीपीपाजी ने उनका मनोभाव जानकर

समझाया कि अपने किसी स्वार्थवश बुलाना, वार्तालाप करना अनुचित है, परन्तु परमार्थ दान के लिये बुलाना अनुचित नहीं है। तब श्रीरङ्गजी का समाधान हुआ फिर आपने उन बाईयों से कहा कि इतना सुघर स्वरूप पाकर गोबर बीनना अच्छा नहीं लगता है। यह शरीर तो भगवान को भजने योग्य है। तुम लोग कौड़ी (गोबर) के लिये चिन्तामणि (देवदुर्लभ मानव तन) का दुरुपयोग कर रही हो। अपना तन-मन भगवान को अर्पण करके क्यों नहीं अपने जीवन को धन्य बना लेती हो। अरे, तुम सब तो भगवान की नित्य प्रेयसी गोपी हो। किसी लौकिक पति की पत्नी नहीं हो। अतः सब कुछ छोड़कर उन श्रीराधाकान्त ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर के श्रीचरण-कमलों में अनुराग करो। श्रीपीपाजी के मार्मिक उपदेश को श्रवण कर वे दोनों बाईयाँ जगत् से विरक्त होकर श्रीश्यामानुरागिणी बन गईं और घर छोड़कर श्रीद्वारकापुरी में जा बसीं।

ब्राह्मणको शोक हर्‌यो-श्रीरङ्गजी के यहाँ से विदा होकर श्रीपीपाजी जब टोंड़े को आ रहे थे तो मार्ग में इन्हें एक रोता-विलखता ब्राह्मण दिखाई पड़ा। दुःख का कारण पूछने पर ब्राह्मण ने बताया कि मेरी बेटी विवाह योग्य हो गई है। पास में पैसा है नहीं। यजमान के यहाँ गया था, वहाँ भी कुछ नहीं मिला इसी चिन्ता से मैं व्याकुल हूँ। ब्राह्मण की बात सुनकर श्रीपीपाजी को दया आ गई। तत्काल उनके पास जो कुछ था, वह ब्राह्मण को देकर बोले कि यदि आप कुछ देर के लिये साधुवेष धारण कर सकें तो आपको और भी बहुत सा द्रव्य दिलवा सकता हूँ। ब्राह्मण देवता तैयार हो गये। श्रीपीपाजी उन्हें आश्रम पर लिवा लाये। उनका सिर मुड़ाकर बढ़िया अचला पहनाये, द्वादश तिलक किये, गले में कण्ठी बाँधी और ऊँचे तख्ते पर गद्दी लगाकर उनको बैठाया तथा स्वयं उनके समीप ही नीचे बैठ गये। टोंड़े के राजा सूर्यसेन जब इनका दर्शन करने आये तो ऊँचे तख्त पर विराजमान नवीन महात्मा को देखकर पूछे कि-ये कौन हैं? श्रीपीपाजी ने कहा-ये मेरे काका गुरु हैं। तुम्हारे भाग्य हैं जो इनका दर्शन कर लिया। यह सुनकर राजा को बड़ी श्रद्धा हुई और बहुत सा धन भेंट किया। जब राजा चला गया तो श्रीपीपाजी ने पण्डित से हाथ जोड़कर कहा-महाराज! मुझे क्षमा करना, मैंने आपका मूड़ मुड़वाया है। इसको फिर रख लेना। अब जाइये, खूब आनन्द से बेटी का विवाह करिये। वेष का प्रताप देखकर ब्राह्मण देवता प्रभावित हुये। उन्होंने पुनः उस वैष्णव वेष को दूर नहीं किया उसको जगत से वैराग्य हो गया। घर आकर आनन-फानन में बेटी का व्याह करके, सब कुछ

उसे सौंपकर स्वयं पीपाजी के शिष्य हो गये। इस प्रकार वे अपने तो भव पार हुए ही उन्होंने अपनी अनेक पीढ़ियों को भी पार कर दिया।

चँदवा बुझा दियौ-**एक दिन टोंड़े में ही एकादशी की रात्रि को जागरण हो रहा था। खूब सन्तों का समुदाय एकत्र होकर भावपूर्वक पदगान एवं नाम-संकीर्तन में विभोर हो रहा था। इतने में ही श्रीपीपाजी एकाएक उठकर हाथों को ऊपर उठाकर मलने लगे। इनका यह कौतुक किसी की समझ में नहीं आया। राजा सूर्यसेन ने बड़ी विनम्रता पूर्वक पूछा, तब आपने बताया कि श्रीद्वारकापुरी में कीर्तन हो रहा है। मशालची की तनिक असावधानी से उसका हाथ ऊपर उठ गया। मशाल चँदोवे से जा लगी। अतः चँदोवे में आग लग गई थी, मैंने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक उसे ही बुझाया है। यह सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने वास्तविकता का पता लगाने के लिये तुरन्त ही अपना एक खास आदमी द्वारका को भेजा। उस समय आदमी ने जाकर देखा तो चँदोवे में थेगरी लग रही थी। पूछने पर सब लोगों ने कहा कि यदि श्रीपीपाजी नहीं रहे होते तो आज न जाने कौन सा अनर्थ हो जाता। उन्होंने ही आग बुझाकर सबको बचा लिया। आँखों से देखकर तथा लोगों के मुख से सुनकर राजकर्मचारी ने आकर राजा से सब वृत्तान्त कहा। उस दिन से राजा की श्रीपीपाजी में और अधिक श्रद्धा हो गई। भला संतों की अनन्त महिमा को कौन जान सकता है?**

तेली को लै बैल दियौ-**श्रीपीपाजी सरोवर पर स्नान करने गये थे। उसी समय एक ब्राह्मण आकर रोकर कहने लगा कि मेरा एक बैल मर गया है, उसके बिना मेरी सारी खेती नष्ट हो रही है अतः आप कृपा करके मेरे लिए एक बैल की व्यवस्था कर दीजिये। आप उसे समझा रहे थे कि मेरे पास बैल कहाँ हैं जो मैं आपको दूँ और इस समय संयोग से द्रव्य भी नहीं है जिससे बैल खरीदवा दूँ। ब्राह्मण गिड़गिड़ा रहा था। इतने में एक तेली का लड़का अपने बैल को जल पिलाने के लिये लाया। श्रीपीपाजी ने उसके हाथ से बैल लेकर ब्राह्मण को पकड़ा दिया। 'दियौ पुनि घर माँझ'-तेली का लड़का रोता हुआ घर जाकर अपने पिता से सब बात बताई। उसके पिता ने राजा सूर्यसेन के पास जाकर फरियाद किया। राजा ने कहा-तू उनके पास ही जाकर विनय कर। वे बड़े दयालु हैं, तुम्हारा सब दुःख-द्वन्द्व दूर कर देंगे। तेली ने जाकर पीपाजी से कहा-महाराज! आपने हमारा बैल ब्राह्मण को क्यों दे दिया? श्रीपीपाजी उसे उपदेश देने लगे कि भइया! दान-पुण्य की बड़ी महिमा है फिर उसमें भी ब्राह्मण को मैंने दिया है। ब्राह्मण का खाया व्यर्थ नहीं जाता है। ब्राह्मण**

भगवत्स्वरूप होते हैं अतः तुम्हें इसके लिये सोच नहीं करना चाहिये। तेली ने झुँझलाकर कहा-आपको अगर दान करना था तो अपना बैल देते, पास नहीं था तो खरीदकर देते, भला दूसरे की वस्तु का दान कैसा? आदि। श्रीपीपाजी तेली की बात सुनते रहे और हँसते रहे। परन्तु जब बात बढ़ने लगी तब आपने कहा कि अरे! यहाँ क्यों झगड़ रहे हो? पहले घर जाकर देख तो। तुम्हारा बैल तो तुम्हारे घर पर बँधा है, व्यर्थ में हमसे तकरार कर रहे हो। तेली ने घर जाकर देखा तो सचमुच उसका बैल उसके खूंटे से बँधा था। अब तेली की आँखें खुलीं। श्रीपीपाजी की प्रत्यक्ष महिमा देखकर उसने आकर चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा माँगी और शिष्य बन गया।

बड़ोई अकाल पर्यौ०-एक बार उस देश में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा में हा-हाकार मच गया। राजा सूर्यसेन किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो गये कि इस भीषण सङ्कट से प्रजा को कैसे बचाया जाय। अंत में उन्होंने अपने परम समर्थ श्रीसद्गुरुदेव श्रीपीपाजी की शरण ली। परम दयालु श्रीपीपाजी ने राजा को आश्वासन दिया और पूरे अकाल भर सबको अन्न-वस्त्र देकर रक्षा की। अपनी दिव्य दृष्टि से पृथ्वी में गढ़े हुए धनों को देखकर उन्हें निकालकर प्रजा के हित में मुक्तहस्त से लुटाया। इस प्रकार आपके अनन्त चरित्र हैं। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि आपका चरित्र वर्णन करने में पहले ही अति विस्तार हो गया है, यह विचार कर मैंने अन्त के चरित्रों को अति प्रसिद्ध जानकर संक्षेप में ही वर्णन किया है। आपका चरित्र इतना मनोहर एवं प्रेरणाप्रद है कि एक बार भी सुन लेने पर कभी भूलेगा नहीं, फिर तो आपका ही चरित्र कहता और सुनता रहेगा।।३०५।।

श्रीधन्नाजी

धन्य धना के भजन को बिनहिं बीज अंकुर भयो।।
घर आये हरिदास तिनहिं गोधूम खवाये।
तात मात डर खेत थोथ लांगूल चलाये।।
आस पास कृषिकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई।।
अचरज मानत जगत में कहुँ निपुज्यौ कहुँवै बयौ।
धन्य धना के भजन को बिनहिं बीज अंकुर भयौ।।६२।।

शब्दार्थ-धन्य = पुण्यवान, श्लाघ्य, बड़ाईके योग्य, जो अपने नाम-यश आदिके कारण प्रसिद्ध हो। यहाँ धन्य शब्द धन्यवाद अर्थ में भी प्रयुक्त है। धन्यवाद =साधुवाद, प्रशंसा। गोधूम = गेहूँ। थोथ=खाली। लाँगूल=खेत जोतने का हल। कृषिकार =कृषक, किसान, खेतिहर। भजे की= सेवा करने की। निपुज्यौ = उत्पन्न हुआ। बयौ = बोया।

भावार्थ-परम पुण्यवान, प्रशंसनीय भक्त श्रीधन्नाजी की भगवद्-भागवत सेवा की हम सराहना करते हैं, जिनके खेत में बिना बीज बोये ही अंकुर जमा। घर पर वैष्णवों के आने पर बोने के लिये रक्खा हुआ बीज का गेहूँ उन्हें खिला दिये और माता-पिता के डर से खेत में खाली-खाली हल चला दिये (परन्तु संत-सेवा के प्रताप से बिना बोये भी खेत में गेहूँ बढ़िया जमा अतः) पास-पड़ोस के किसान इनके खेत की बहुत बढ़ाई करते थे। (जब श्रीधन्नाजी ने जाकर देखा तो) साधु-सेवा की प्रीति-रीति एवं प्रतीति को प्रत्यक्ष पाया। इस बात को सुनकर संसार के लोग आश्चर्य मानते हैं कि बोया कहीं अन्यत्र गया और उपजा कहीं अन्यत्र।६२।

व्याख्या-धन्य धना-श्रीधन्नाजी महाभागवत श्रीबलिजी के अवतार हैं। यथा-वन्दौं बलि जिन कलि तन धार्यौ। धनारूप हरि प्रेम प्रचार्यौ।। (श्रीरामानन्दाचार्य चरितामृत) इनका प्रादुर्भाव राजस्थान के टौंक इलाके के धुवन गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम पन्ना एवं माता का नाम रेखा था। ये जाति के जाट थे। भक्ति-संस्कार इनमें जन्म-जात थे। श्रीभक्तमालजी के प्रणेता श्रीनाभा गोस्वामीजी इनका एक चरित्र वर्णन करते हैं। 'घर आये हरिदास'-श्रीधनाजी खेत बोने के लिये बीज, हल, बैल आदि लिये खेत पर जा रहे थे। मार्ग में संत मिल गये। इन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक सन्तों को दण्डवत-प्रणाम किया। संत बोले-भगतजी! हम लोग तो आपके ही घर जा रहे हैं और आप उधर जा रहे हैं। श्रीधन्नाजी ने कहा-महाराज! आज तो श्रीठाकुरजी की इच्छा है कि खेत पर ही रसोई बने और भोग लगे। अतः आप लोग भी वहाँ चलिये। इस प्रकार कहकर श्रीधन्नाजी सब संतों को अपने साथ लिवा ले गये। एक वृक्ष के नीचे सबका आसन लगवा दिये, बैलों को खेत में खड़ा कर दिये और स्वयं बोने का (बीज का) गेहूँ लेकर बाजार गये। उसे बेचकर सब सीधा सामान लाये। खूब ठाट से रसोई बनी। भगवान को भोग लगाया गया। संतों ने प्रसाद पाया और श्रीधन्नाजी को भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया। 'तात-मात डर०'-इन्होंने उस समय माता-पिता के भय से खेत बोने का स्वांग कर दिया। सोचे नहीं जमेगा तो कह देंगे कि खेत में नमी कुछ कम रही इसलिये नहीं जमा। परन्तु संत-सेवा के प्रताप से, संतों के आशीर्वाद से इनके खेत में बिना बोये ही सबसे अच्छा गेहूँ जमा। लोगों के मुख से बड़ाई सुनकर श्रीधन्नाजी ने प्रथम

उसे व्यङ्ग समझा, परन्तु जब भले-भले लोग कहने लगे तो जाकर देखा तो सचमुच खेत में गेहूँ लहलहा रहा था। ये संत-कृपा विचारकर गद्‌गद हो गये।

अब आगे भगवन्तकृपा का वर्णन करते हैं। खेत में खूब गेहूँ उपजा परन्तु श्रीधन्नाजी तो साधु सेवा एवं भगवद्‌भजन में इतने मस्त एवं व्यस्त रहते कि इन्हें यह परवाह ही नहीं रही कि यदि खेत की रखवाली नहीं की जायेगी तो खेती नष्ट हो जायेगी, पशु-पक्षी खा जायेंगे। फिर यह भी सोचे होंगे कि श्रीरामजी की चिरैया और श्रीरामजी का ही खेत है अतः ये खेत की ओर से एकदम बेफिक्र थे। इनकी बेफिक्री देखकर भगवान को खेत की (रक्षा की) फिक्र लगी। भगवान को भक्त एवं भक्त की वस्तुओं से बड़ा मोह होता है। भगवान ने सोचा-यदि रक्षा नहीं की जायेगी तो संत-सेवा कैसे होगी? मेरा भी राग-भोग कहाँ से लगेगा? कुटुम्ब का भरण-पोषण कैसे होगा? आदि। फिर तो भक्तवत्सल भगवान कन्धे पर लाठी रखे नौकरी की तलाश करते हुए आ गये श्रीधन्नाजी के पास। परस्पर श्रीसीताराम श्रीराधेश्याम करने के बाद भगवान ने चर्चा चलाई-भगतजी! मुझे भी कोई सेवा बताइये। मैं आपके यहाँ नौकरी करना चाहता हूँ। श्रीधन्ना-आप कौन सा काम कर सकते हैं? भगवान-वैसे तो मैं सब काम कर सकता हूँ परन्तु रखवाली करना बढ़िया जानता हूँ। ध०-भैया! मेरे घर में इतना मालमत्ता तो है नहीं, जो मैं पहरेदार रक्खूँ, दस-पाँच सेर चून, ढोलक, झाँझ, करताल-यही तो मेरी सम्पत्ति है। भ०-घर में नहीं तो बाहर की कोई रखवारी बताइये, खेत हो, खलिहान हो या कोई और हो। तब श्रीधन्नाजी को याद आई कि सब लोग रोज मुझसे गेहूँ के खेत की रखवाली करने को कहते हैं क्योंकि फसल बहुत अच्छी है अतः इन्होंने कहा-अच्छा, खेत की रखवारी करना हो तो रह जाओ। अमुक जगह गेहूँ बोया है, मुझे रखाने की फुर्सत है नहीं, भले आये। भ०-क्या वह आपका ही खेत है, अरे उसमें फसल तो बड़ी आलीशान खड़ी है। ध०-भैया! सब श्रीठाकुरजी का है। जिस दिन से बोकर आया हूँ, उस दिन से बस, एक दिन खेत पर गया था। फिर मौका ही नहीं मिला कि उसकी देख-रेख करूँ। भ०-तो किसी और को बटाई पर क्यों न दे दिया रखाने को। ध०-किसको दूँ कोई ऐसा मेहनती नजर नहीं आया। भैया, खेत रखाने में बड़ी मेहनत पड़ती है। दिन-रात लगा रहना पड़ता है। दिन में पशु-पक्षी और रात में साही, खरगोश, हिरन आदि भगाने पड़ते हैं। जरा सी नजर चूक जाये तो ये फसल को नुकसान कर देते हैं। भ०-तो भगतजी, आप हमें ही दे दो। मैं खूब सावधानी पूर्वक रखाऊँगा। मजाल क्या कि एक बाल टेढ़ी हो जाय। मेरा तो यही धन्धा है। जन्म बीत गया यही

करते-करते। हमारी तो जीविका ही इसी से चलती है, अतः आप मुझे सौंपकर एकदम निश्चिन्त हो जाइये (सचमुच भगवान सदा-सर्वदा भक्तों की रखवारी में ही तो लगे रहते हैं यथा-सुनि मुनि तोहिं कहउँ सहरोषा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा।। करउँ सदा तिनकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (रामा०) ध०-तो भाई ठीक है, अच्छा बताओ क्या लोगे। भ०-एक तिहाई हमारा, दो भाग आपका। ध०-अरे भाई, इतना अधिक मत लो, हमें भी तो कुछ मिलना चाहिये। देखो खेत हमारा, हल-बैल हमारे, मेहनत हमारी, बीज हमारा...। भ०-देखो भगतजी? बीज-ऊज तो आपका नहीं है, आपको तो खेत, हल-बैल मेहनत को ही अपना कहना चाहिये। यह सुनकर श्रीधन्नाजी थोड़ा झेंप गये। सोचे कि मालूम पड़ता है कि गाँव वालों ने सब बात बता दी है।) आपके ही मुख का न्याय है। आपने सही कहा है खेत रखाने में बड़ा परिश्रम होता है तो हम भी जब रात-दिन एक करेंगे तो हमें भी कुछ मिलना चाहिये। आपकी मर्जी हो तो इतने पर रखाऊँ नहीं तो अपनी राह लूँ। न जाने क्यों धन्नाजी का मन बरबस खिंचा चला जा रहा था उस रखवाले की ओर। अरे भाई, आखिर भगवान ही तो हैं, चाहे किसी वेष में हों। 'साकेत' महाकाव्य में राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त जी लिखते हैं कि-(वनवासी श्रीरामजी को देखकर श्रीनिषादराज जी कहते हैं-) किसी वेष में रहें, रूप ही धन्य यह। जय आभरणावरण मुक्त लावण्य यह।।

इतनी देर तक भगवान के दर्शन, वार्तालाप, वचनामृत श्रवण से श्रीधन्नाजी का मन ऐसा मुग्ध हो चुका था कि उन्हें छोड़ने का जी ही नहीं करता था। अतः विशेष बतबढ़ाव न करके खेत दे दिया रखाने को। फिर श्रीधन्नाजी ने पूछा-अरे भाई अपना नाम तो बताओ। भ०-मेरा नाम है सौंझिया। यह सब तय होने पर फिर भगवान ने कहा-भगतजी! भोजन, वस्त्र भी आपको ही देना पड़ेगा। श्रीधन्नाजी यह कहना चाहकर भी कि एक तिहाई तो तुम वैसे ही ले रहे हो फिर भोजन-वस्त्र भी हम ही क्यों दें, न कह सके। इसे भी स्वीकार कर लिये। फिर भगवान ने कहा-हम खेत पर ही रहेंगे, घर पर नहीं आयेंगे, आपको वहीं खाना-पीना पहुँचाना पड़ेगा। श्रीधन्नाजी ने यह भी स्वीकार कर लिया। अब भगवान बड़ी तत्परता से श्रीधन्नाजी का खेत रखाने लगे। श्रीधन्नाजी भी नित्य नियम से पहले सौंझिया को भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करते (भगवदिच्छा से बिना जाने भी उपासना का निर्वाह अपने आप होता रहा। पहले भगवान को पवाकर ही भक्त पाते हैं।) संयोग की बात, एक दिन घर पर संतों की जमात आ गई। श्रीधन्नाजी को देर हो गई। संतों

की सेवा से अवकाश मिलने पर जल्दी-जल्दी भोजन लेकर आये तो देखें सौंझिया सो रहा है। प्रथम तो सोचे कि सोने दो, रातभर का जगा होगा, अतः जगाना ठीक नहीं है। परन्तु भूखे को जगाकर खिलाना दोष नहीं है, यह विचारकर जब सौंझिया के मैले चद्दर को हटाये तो देखें-नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम भगवान श्रीरामको। श्रीधन्नाजी की आँखें खुली की खुली रह गईं। टकटकी लग गई, खूब जी भरकर दर्शन किया, निहाल हो गये परमप्रभु का दर्शन पाकर। जीवन-जन्म सफल हो गया धन्ना का। जब ये खूब दर्शन कर लिये तब भगवान अंगड़ाई लेते हुए उठे और झट सौंझिया का रूप धर लिये। श्रीधन्नाजी स्तुति करने लगे। भगवान बोले-भगतजी आज क्या हो रहा है? धन्ना-प्रभो! मैंने आपको जान लिया, पहचान लिया, आप तो साक्षात् भगवान हैं। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की जो दर्शन दिया परन्तु मेरे नाथ! मैंने आपसे खेत रखवाया है, मेरे इस अपराध को क्षमा करना। अनजान में मुझसे यह भूल हो गई। यह सब सुनकर भगवान झुंझलाकर बोले-देखो, धन्नाजी! अब खेती पककर तैयार है, बाँटने का समय आया है तो आप हमें भगवान, परमेश्वर कहकर टालना चाहते हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता है। हम तो भैया! पंचायत कर देंगे और पंचों से न्याय कराकर अपना भाग लेकर रहेंगे। आपकी ठग विद्या हमसे नहीं चलने की। इस प्रकार से भगवान से कुछ उल्टी-सीधी सुनाई परन्तु श्रीधन्नाजी ने तो प्रत्यक्ष दर्शन किया था, मन में किसी प्रकार की भ्रान्ति का लेश भी नहीं था, अतः बार-बार रोते हुए स्तुति करते और क्षमा माँगते। तब अंत में भगवान को हारकर पुनः दर्शन देना पड़ा। श्रीधन्नाजी की भक्ति से प्रभु परम प्रसन्न थे। प्रभु कहते-'धन्य धना।' श्रीधन्नाजी कहते-'धन्य प्रभु! कहुँ निपुज्यौ कहुँवै बयो-भाव यह कि बोया तो गया संतों के मुखमें और जमा भूमिमें।

खेत की तो बात कही प्रगट कवित्त मांझ और एक सुनौ भई प्रथम जू रीति है।
आयौ साधु बिप्रधाम सेवा अभिराम करै ढर्‌यौ ढिंग आप कही मोहूं दीजै प्रीति है।।
पाथर लै दियो, अति सावधान कियौ, छाती महँ लाय जियो सेवै जैसी नेह नीति है।
रोटी धरि आगे आंखि मूँदि लियौ परदाकै छियौ नहिं टूक देखि भई बड़ी भीति है।।३०६

शब्दार्थ-**प्रगट = खोलकर, स्पष्ट। कवित्त = काव्य, छप्पय। ढर्‌यौ = आयौ।**

भावार्थ-**(श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-) खेत की बात तो (श्रीनाभाजी ने) छप्पय में ही खोलकर कह दिया है, अब एक और बात सुनो जो इससे पहले श्रीधन्नाजी के बाल्यकाल में हुई। एक बार एक वैष्णव ब्राह्मण इनके घर आये। वह**

श्रीठाकुरजी की सेवा बड़ी सुन्दर विधि से करते थे। सेवा के समय बालक धन्ना भी वहीं आ गया और बोला कि मुझे भी श्रीठाकुरजी की सेवा दीजिये, मेरी भी श्रीठाकुर सेवा में बड़ी प्रीति है। पंडितजी ने एक गोल पत्थर देकर अत्यंत सावधान किया कि खूब प्रेम से सेवा करना। बालक धन्ना ने पत्थर को ही श्रीठाकुरजी समझकर हृदय से लगा लिया। उसे मानो नवजीवन प्राप्त हो गया। वह नेह की नीति से अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान की सेवा करने लगा। भगवान के आगे भोग के लिये रोटी रखकर पर्दा करके आँखें बंद कर लिया। थोड़ी देर बाद पर्दा खोलकर देखा तो भगवान ने एक टुकड़ा भी रोटी नहीं खाई थी। तब धन्ना को बड़ा भय हुआ।।३०६।।

व्याख्या-आयो साधु विप्र-यह श्रीधन्नाजी के पिता के गुरु थे। 'पाथर लै दियौ'-ब्राह्मण देवता ने प्रथम तो बड़ी आनाकानी की। भला पाँच साल के बालक को भगवान की मूर्ति कौन देगा सेवा करने के लिये। परन्तु बालहठ जो ठहरा। धन्ना मचलकर रो रहे थे। तब पंडितजी ने विचार किया कि यह बालक है बहुत हठी, यदि नहीं देता हूँ तो अपने भी रोकर परेशान होगा और हमको भी परेशान करता रहेगा, यदि देता हूँ तो इससे सेवा पूजा ठीक से बनेगी नहीं, तो वह भी अपराध होगा। अतः किसी प्रकार से इसे बहकाना चाहिये। इसलिये पंडितजी ने कहा-अच्छा धन्ना, मैं कल तुम्हें बढ़िया ठाकुर दूँगा। जब कल हुआ तो श्रीपंडितजी कहीं से एक गोल पत्थर ले आये और उसे ऊँचे सिंहासन पर पधराकर अपने श्रीशालिग्राम भगवान को नीचे पधराये। फिर धन्ना को बुलाकर कहे-बताओ, तुम राजा ठाकुर लोगे कि सिपाही ठाकुर। इन्होंने कहा-महाराज! राजा और सिपाही ठाकुर का अर्थ मेरी समझ में नहीं आ रहा है, आप कृपा करके समझाइये। तब पंडितजी ने कहा-राजा ठाकुर बड़े होते हैं ऊँचे पर विराजते हैं और सिपाही ठाकुर छोटे होते हैं नीचे विराजते हैं, बताओ तुम्हें कौन पसंद है? भोले बालक धन्ना ने बालस्वभाव वश कहा कि हम तो राजा ठाकुर लेंगे। पंडितजी ने वही गोल पत्थर इनको दे दिया।

सेवैं जैसे नेह नीति है-भाव यह कि भगवान की सेवा करने की कई रीतियाँ हैं यथा-वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार, आत्मवत्, राजवत्, जारवत, विधिवत आदि अनेक रीतियाँ हैं। श्रीधन्नाजी भगवान की प्रेमरीति से आत्मवत् सेवा करते थे। पूर्व वर्णित सभी रीतियों में भी प्रेम की आवश्यकता है, बिना प्रेम के सब रीतियाँ अनरीति हैं। परन्तु प्रेमरीति में अन्य की अपेक्षा नही है, क्योंकि 'रामहिं केवल प्रेमपियारा।' (रामा०) अतः 'सेवै नेह नीति है।' बालक धन्ना को भगवान की सेवा की ऐसी

उत्कण्ठा थी कि जिस दिन श्रीपंडितजी ने इन्हें राजा ठाकुर दिया, उस दिन इनको अत्यंत उत्सुकतावश रात में नींद नहीं आई। माँ की गोद में सोये थे, नन्हे से तो थे ही, चौंककर उठ बैठते और पूछते-माँ! क्या सवेरा हो गया? मुझे श्रीठाकुरजी की सेवा करनी है। माँ इन्हें थपकी देकर सुलाती, ये फिर जाग जाते। ऐसे ही करते सारी रात बीत गई। 'भई बड़ी भीति है'-डर यह कि न जाने हमसे कौन सी भूल हो गई, जिससे श्रीठाकुर जी नहीं पा रहे हैं। कहीं नाराज होकर चले न जायें। फिर श्रीपंडितजी पूछेंगे तो मैं उनको क्या बताऊँगा? ऐसे ही मन में अनेक संकल्प-विकल्प करके भयभीत होते। इस पर दृष्टान्त श्रीनामदेवजीका।

बार बार पांव परै अरै भूख प्यास तजी धरै हिये साँचौ भाव पाई प्रभु प्यारियै।
छाक नित आवै नीकै भोगको लगावै जोई छोड़ैं सोई पावैं प्रीति रीति कछु न्यारियै।।
जाकौ कोऊ खाय ताकी टहल बनाय करै ल्यावत चराय गाय हरि उर धारियै।
आयौ फिरि विप्र नेह खोजहू न पायौ कहू सरसायौ बातैं लै दिखायौ स्याम ज्यारियै।।३०७

शब्दार्थ-**अरै = अर, हठ। पाई = खाई। छाक= कलेवा, काम करने वालों का दोपहर का भोजन। टहल = सेवा। ज्यारियै = जीवित कर दिया।**

भावार्थ-**(जब भगवान ने रोटी नहीं खाई) श्रीधन्नाजी बारम्बार भगवान के पाँवों में पड़कर अनुनय-विनय करने लगे। इतने पर भी जब नहीं पाये तो अड़ गये कि आप नहीं खायेंगे तो मैं भी नहीं खाऊँगा। फिर भी नहीं पाये तो ये भी भूख-प्यास भूल गये अर्थात् अन्न-जल कुछ भी नहीं ग्रहण किये। धन्नाजी के हृदय का भाव सच्चा था अतः प्रभु ने इनके द्वारा अर्पित रोटियाँ पाईं। भगवान को रोटियाँ बहुत ही प्यारी लगीं। श्रीधन्नाजी नित्यप्रति जङ्गल में गायें चराने जाते थे। इनको वहीं छाक आती तो ये बड़े प्रेम से भगवान को भोग लगाते। भगवान पाकर के छोड़ देते थे वही यह भी पाते थे। प्रीति की रीति कुछ ऐसी ही विलक्षण होती है। एक दिन भगवान ने श्रीधन्नाजी से कहा-देखो धन्ना! जो कोई जिसका खाता है वह उसकी सेवा भी अच्छी तरह करता है अतः मुझे भी कोई सेवा बताओ। श्रीधन्नाजी के मना करने पर भी श्रीठाकुरजी इनकी गायें रोज चराने लगे। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि इस बात को हृदय में धारण करो अर्थात् विश्वास करो। कुछ दिन बाद वह ब्राह्मण फिर इनके यहाँ आये, परन्तु घर में सेवा पूजा की प्रीति-रीति कहीं खोजने पर भी नहीं पाये। पूछने पर श्रीधन्नाजी ने भगवान की रसमयी बातों को सुनाकर**

श्रीपंडितजी के हृदय को भी रस से सराबोर कर दिया। फिर पंडितजी की प्रार्थना पर श्रीधन्नाजी ने उन्हें भगवान श्यामसुन्दर का दर्शन करा दिया। भगवान का दर्शन करके पंडितजी को मानो नया जीवन मिल गया।।३०७।।

व्याख्या-धरै हियो साँचो भाव-भगवान सच्चे भाव से ही प्रसन्न होते हैं। यथा-सांचे मनके मीता रघुवर सांचे मनके मीता।। (देखिये पृष्ठ ४१) 'पाई प्रभु प्यारियै'-प्रथम तो भगवान थोड़ा ही पाकर रह गये। तब श्रीधन्नाजी ने पुनः मचलकर और पाने की प्रार्थना की। फिर तो भगवान भी खूब दिल खोलकर पाने लगे। भगवान को बेझर की रोटियों में इतना स्वाद आता कि आठ-आठ रोटी पा जाते। 'प्रीतिरीति कछु न्यारियै'-यह कि भगवान अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक होकर भी, चराचर जगत् के स्वामी होकर भी, यज्ञभोक्ता होकर भी, श्रीधन्नाजी के परमाराध्य होकर भी, इनके प्रेम से विवश होकर इनकी रोटियाँ खाने और बदले में गायें चराते। 'ल्यावत चराय गाय'-श्रीधन्नाजी ने बहुत कहा कि नहीं प्रभो! आपकी यही अपार कृपा है कि जो कि नित्य साक्षात् दर्शन देते हो, मेरी सेवा स्वीकार करते हो, साथ-साथ रहकर आनन्द देते हो। परन्तु भगवान नहीं माने। 'हरि उर धारियै'-इसका एक भाव यह भी कि भगवान ने हृदय में यह धारण ही कर लिया था अर्थात् निश्चय कर लिया था कि मैं श्रीधन्नाजी की कुछ सेवा करूँ ही। पुनः दूसरा भाव-जब भगवान गाय चराने चले जाते तो श्रीधन्नाजी भगवान का हृदय में ध्यान रखते। 'आयौ फिर विप्र'०। एक वर्ष बाद आये। घर में देखे तो न कहीं ठाकुर दीखे, न कहीं ठाकुर सेवा का साज सामान ही। श्रीधन्नाजी ने सब प्रसङ्ग सुनाया। सुनकर पंडितजी को प्रथम तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि हमें पूजा करते, विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ करते जन्म बीत गया, दर्शन ही नहीं हुआ और इस बालक को दर्शन की कौन कहे इसकी गाय तक चराने लगे। परन्तु जब धन्नाजी ने दृढ़तापूर्वक जोर देकर कहा तो श्रीपंडितजी का भी हृदय भाव से भर गया और श्रीधन्नाजी की भक्ति की सराहना करते हुए अपने को भी भगवान का दर्शन करने की प्रार्थना किये। तब श्रीधन्नाजी उनको जंगल में लिवा गये, जहाँ भगवान गाय चरा रहे थे। धन्नाजी ने दूर से ही श्रीपंडितजी को दिखाया कि देखो, वह भगवान गायों के पीछे घूम रहे हैं। परन्तु पंडितजी को गायें तो दिखतीं पर भगवान का दर्शन नहीं होता। तब वे रोकर श्रीधन्नाजी के चरणों में पड़ गये। तब श्रीधन्नाजी ने भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभो! इनकी कृपा से ही तो आपसे मेरी जान-पहचान हुई है, आप मुझे मिले हो, अतः आप इन पर भी अवश्य कृपा करें। तब भगवान ने श्रीपंडितजी को भी दर्शन दिया।

द्विज लखि गायनि में चायनि समात नाहिं भायनिकी चोट दृग लागी नीर झरी है।
जायकै भवन सीता रँवन प्रसन्न करैं बड़े भाग मानि प्रीति देखी जैसी करी है।।
धनाको दयाल ह्वै कै आज्ञा प्रभु दई ढरौ करौ गुरु रामानन्द भक्ति मति हरी है।
भए शिष्य जाय आप छातीसों लगाय लिये किये गृह काम सबै सुनी जैसी धरी है।।३०८

शब्दार्थ-**चायनि =उत्साहों में, आनन्द में। भायनि = भावों की। धरी है = लिखी है।**

भावार्थ-**वे ब्राह्मण गायों के बीच भगवान का दर्शन कर आनन्द में फूले नहीं समाते थे। भावों की चोट अर्थात् प्रेमाधिक्य के कारण उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उन्होंने अपना बड़ा भाग्य माना और मन में निश्चय किया कि घर जाकर मैं प्रीति-रीति से सेवा करके श्रीसीतारमण भगवान श्रीराम को प्रसन्न करुँगा। फिर घर आकर उन्होंने श्रीधन्नाजी की जैसी प्रीति-रीति देखी थी, वैसी ही स्वयं भी भगवान की सेवा-पूजा करने लगे। श्रीधन्नाजी पर कृपा करके श्रीभगवान ने आज्ञा दी कि तुम श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के पास जाओ और उन्हें अपना गुरु बनाओ अर्थात् उनसे विधिपूर्वक मंत्र-दीक्षा ले लो। तुम्हारी भक्ति ने मेरी मति को हर लिया है, अर्थात् मैं तुम्हारी भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। श्रीधन्ना जी जाकर श्रीस्वामीजी के शिष्य हो गये। शिष्य होने पर भगवान ने उन्हें हृदय से लगा लिया। फिर श्रीधन्नाजी घर के सब काम-काज करते हुए भगवदराधन करते रहे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने संतों के श्रीमुख से श्रीधन्नाजी का चरित्र जैसा सुना वैसा वर्णन किया है।।३०८।।**

व्याख्या-द्विज लखि गायनि में-**गोचारण करते हुए श्रीगोपालजी की त्रिभुवन मोहिनी छवि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन श्रीरसखानजी ने किया है। यथा-गोरज विराजै भाल लहलही वनमाल आगे गाय पाछे ग्वाल गावै मृदुबानि री। जैसी धुनि बांसुरीकी, मधुर-मधुर तैसी बंक चितवनि मंद-मंद मुसकानि री। कदम विटपके निकट तटिनीके तट अटा चढ़ि वाकी पीतपट फहरानि री। रस बरसावैं तन तपन बुझावैं नैन बैननि रिझावैं यह आवैं रसखानि री।। 'चायनि समात नाहिं'-यथा-प्रभु पहिचान परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।। पुनः-सुनु सिवा सो सुख वचन मनते भिन्न जान जो पावई।। (रामा०) आदि। 'बड़ै भाग मानि'-श्रीधन्नाजी के दर्शन तथा श्रीधन्नाजी की कृपा से, भगवान के दर्शन से अपना बड़ा भाग्य माना। बड़े भाग्य से संत-भगवन्त दर्शन होता है। यथा-संत दर्शन-बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा।। पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता।। भगवंत दर्शन-नाहिंत हम कहुँ सुनहु सखि इनकर दरसन**

दूरि। यह संघट तब होइ जब पुण्य पुराकृत भूरि।। पुनः-अब हम नाथ सनाथ सब भये देखि प्रभु पाय। भाग हमारे आगमन राउर कोसलराय।। अतः बड़े भाग मानि।।

धनाको दयाल ह्वै कै०-श्रीधन्नाजी की भक्ति पर रीझकर भगवान उन्हें साक्षात् दर्शन देते, वार्तालाप करते, सङ्ग-सङ्ग रहते, गाय चराते। इस प्रकार परम सुख प्रदान करते। श्रीधन्नाजी की इच्छा होती कि प्रभु जैसे यह सब सुख दे रहे हैं वैसे ही मुझे हृदय से लगाकर आलिंगन का सुख भी प्रदान करते तो मैं परम धन्य हो जाता, परन्तु श्रीप्रभु धन्नाजी को कभी हृदय से नहीं लगाते। कभी-कभी श्रीधन्नाजी इस आशा से समीप भी गये तो प्रभु ने बातों में ही बहका दिया, आलिङ्गन नहीं किया। तब एक दिन श्रीधन्नाजी साहस बटोरकर हाथ जोड़कर श्रीप्रभु से अपना मनोरथ प्रकट किये और आज तक इस परम लाभ से वंचित रहने का कारण पूछे। तब श्रीप्रभु ने कृपा करके बताया कि वैसे तो आपकी स्वाभाविकी भक्ति से मैं परम सन्तुष्ट हूँ, परन्तु आपकी उपासना में अभी इतनी त्रुटि है कि आपने अभी गुरु नहीं किया है। बिना गुरु द्वारा विधिपूर्वक मंत्रोपदेश लिये भक्ति-ज्ञान-वैराग्य परिपक्व नहीं होते हैं। (देखिये श्रीनामदेवजी का प्रसङ्ग पृष्ठ २४१) श्रीधन्नाजी ने कहा-प्रभो! जब आप मिल ही गये तब अब गुरु करने की क्या आवश्यकता रही? भगवान ने कहा-धन्ना! यह एक मेरी ही स्थापित की हुई मर्यादा है, इसे पालन करना चाहिए। तब श्रीधन्नाजी ने पूछा-तो प्रभो! आप ही बताइये, किसकी शरण में जाऊँ? तब श्रीभगवान ने कहा-आप श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की शरण ग्रहण करो, वे हमारे ही स्वरूप हैं। फिर मैं बे खटके आपको हृदय से लगा लूँगा। इधर श्रीधन्नाजी से इस प्रकार कहकर भगवान ने उधर श्रीस्वामीजी से भी कहा कि धन्नाजी आपके शिष्य बनने आ रहे हैं, स्वीकार कर लीजियेगा, अधिकारी भक्त हैं। श्रीप्रभु के श्रीमुख से श्रीधन्नाजी की भक्ति की प्रशंसा सुनकर श्रीस्वामीजी को बड़ा हर्ष हुआ और बड़े प्रेम से इनको शिष्य बनाकर उपासना का रहस्य समझाये। गुरुपदिष्ट होकर श्रीधन्नाजी जब घर गये तो प्रभु ने ललक कर इनको हृदय से लगा लिया।

श्रीसेनजी

बिदित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेनके।।
प्रभू दासके काज रूप नापित कौ कीनौ।
छिप्र छुड़हरी गही पानि दर्पन तहँ लीनौ।।

तादृश ह्वै तिहि काल भूप के तेल लगायौ।
उलटि राव भयो शिष्य प्रगट परचौ जब पायौ।।
स्याम रहत सनमुख सदा ज्यों बच्छा हित धैन के।
बिदित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेनके।।६३।।

शब्दार्थ–विदित =प्रसिद्ध। नापित = नाई, नाऊ। छिप्र=क्षिप्र, जल्दीसे। छुड़हरी = नाइयों का छुरा, कैंची आदि हजामत बनाने की सामग्री रखने की पेटी। पानि = पाणि, हाथ। दर्पण = आइना, आरसी। तादृश = उसके समान। बच्छा = बछड़ा। हित = प्रेम, लिये। धेन = धेनु, गाय।

भावार्थ–यह बात सर्वप्रसिद्ध है, सारा संसार जानता है कि श्रीभगवान परम-भागवत श्रीसेनजी के सहायक हुए। भक्तवत्सल प्रभु ने अपने भक्त (सेनजी) के लिये नाई का रूप बनाया और अत्यन्त शीघ्र बगल में छुड़हरी लटकाए हाथ में दर्पण लिये ठीक सेनजी के समान ही रूप धारण करके जाकर राजा को तेल की मालिश की। जब राजा ने यह रहस्य जाना तो वह उल्टे श्रीसेनजी का ही शिष्य बन गया। जैसे नवीन व्याई हुई गाय हमेशा अपने बछड़े के हित के लिये सामने ही रहती है उसी प्रकार भगवान श्यामसुन्दर श्रीसेनजी के हित के लिये सदा सन्मुख ही बने रहते।६३।।

व्याख्या–हरि भये सहायक–भगवान सदा सर्वदा भक्तों की सहायता करते हैं। यथा–कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाविष, व्याधि, दवा-अरि घेरें। संकट कोटि जहां 'तुलसी' सुत मातु पिता हित बन्धु न नेरें।। राखि हैं रामकृपालु तहाँ हनुमानसे सेवक हैं जेहिं केरे। नाक रसातल, भूतलमें रघुनायक एक सहायक मेरे।। (क०) 'प्रभुदासके काज०'- भाव यह कि समस्त चराचर जगत के स्वामी होकर भी भक्तप्रेम परवश हो भक्तानुग्रहकातर भगवान जैसे मीन, कमठ, सूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि विविध रूप धारण किये, वैसे ही एक रूप नाई का भी धर लिये। 'भूपके तेल लगायो'-भगवान ने अपना समस्त ऐश्वर्य भुलाकर राजा की मालिश की। इसी से कहा गया है-ऐसी हरि करत दासपर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति। (वि०)पुन:-श्रीप्रियादासजी, 'भगवन्त' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि -'वही भगवन्त सन्त प्रीतिको विचार करैं धरै दूरि ईशता हू पाण्डुन सों करी है।।' (क० ९, देखिये पूर्वार्द्ध ६९, ७०, ७१) 'स्याम रहत सनमुख'-जहाँ अन्य जीवों को भगवान के सन्मुख होने की विधि है, शास्त्राज्ञा है। यथा–

हरि सन्मुख सुख पाइये विमुख भये दुःख होइ।। वहाँ प्रेमी के सन्मुख स्वयं भगवान होते हैं। यह प्रेम की महामहिमा है।

'बांधौगढ़' बास हरि साधु सेवा आस लगी पगी मति अति प्रभु परचौ दिखायौ है।
करि नित्त नेम चल्यौ भूपकौ लगाऊँ तेल भयो मग मेल सन्त फिरि घर आयौ है।।
टहल बनाय करी नृपकी न संक करी धरी उर श्याम जाय भूपति रिझायौ है।
पाछे सेन गयौ पंथ पूछै हिये रङ्ग छायौ भयौ अचरज राजा बचन सुनायौ है।।३०९

शब्दार्थ-मग = मार्ग, रास्ता। मेल = मिलाप।

भावार्थ-श्रीसेनजी बांधौगढ़ के निवासी थे। इनके मन में सदा संत-भगवन्त की सेवा करने की अभिलाषा बनी ही रहती थी। इनकी बुद्धि भगवत-भागवत सेवा में एकदम पग गई थी। इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर श्रीभगवान ने भी इनकी सेवा का चमत्कार दिखाया। एक दिन श्रीसेनजी अपना नित्य का भजन-पूजन का नियम पूर्ण करके राजा को तेल लगाने के लिए चले। रास्ते में संतों से मिलाप हो गया। अतः ये पुनः संतों को साथ लेकर घर को लौट आये। घर आकर बड़े प्रेम से सन्तों की सेवा की। इन्होंने मन में राजा की किंचित् मात्र भी शंका नहीं की कि देर हो जाने पर राजा अप्रसन्न होकर मुझे दण्ड देंगे। फिर तो यह विचारकर कि हमारे भक्त को राजा का कोपभाजन न बनना पड़े, स्वयं भगवान ने श्रीसेनजी का रूप धारण करके जाकर सेवा करके राजा को अत्यन्त प्रसन्न कर लिया। इधर संत सेवा से अवकाश मिलने पर पीछे श्रीसेनजी भी गये। रास्ते में राजकर्मचारियों से राजा की तेल मालिश के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने पर जब इन्हें लोगों ने बताया कि आपने ही तो तेल लगाया है, तो यह सुनकर प्रथम तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, फिर श्रीप्रभु-कृपा विचारकर इनके हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ा। फिर जब ये राजा के सम्मुख उपस्थित हुए तो इन्हें दुबारा आया देखकर राजा को भी आश्चर्य हुआ और वे यह वचन बोले।।३०९।।

व्याख्या-बांधौगढ़-मध्यप्रदेश में बघेल राजपूतों के राज्य बघेलखण्ड के अन्तर्गत एक नगर। श्रीसेन भक्त यहीं के निवासी थे। ये जाति के नाई थे तथा श्रीभीष्मजी के अवतार थे। यथा-बन्दौ सेन भगत गत माया। भीष्म स्वरूप जगत जस छाया। (श्रीरामानन्दाचार्य चरितामृत) उस समय श्रीराजाराम बघेला वहाँ के राजा थे, जिनकी सेवा में श्रीसेनजी नित्य जाया करते थे। परन्तु संत-सेवा में ऐसे पगे थे कि एक दिन रास्ते में संतों के मिल जाने से राजा की सेवा छोड़कर संत-सेवा में ही रह गये। 'नृपकी न शंक करी'-भाव यह कि यद्यपि

सेवा, समय का अतिक्रमण होने पर राजा के द्वारा बड़े से बड़ा दण्ड मिलने की पूर्ण आशंका थी। क्योंकि श्रीमद से मतवाले रजोगुणी लोगों को अपने सुख के सामने दूसरों के सुख-दुःख की किंचित् परवाह नहीं होती। एक कवि ने बड़ा ही सुन्दर व्यङ्ग किया है-लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम्। शेषे धराभराक्रांते शेते लक्ष्मीपतिस्स्वयम्।। अर्थ-लक्ष्मीवान (धनवान) लोग प्रायः करके दूसरों की वेदना को नहीं जानते हैं औरों की तो बात ही क्या स्वयं लक्ष्मीपति भगवान भी श्रीशेषजी के पृथ्वी के भार से भारायमान होने पर भी उन्हीं के ऊपर शयन करते हैं। अतः भला राजा श्रीसेनजी पर कब रियायत करने लगा, परन्तु इन्होंने इस बात की किंचित् परवाह नहीं की। वस्तुतस्तु प्रेम का सौदा ही ऐसा है जो जग व्यवहार छोड़कर सिर देकर लिया जाता है। यथा-मोहन जग व्यवहार तजि बनिज करौ येहि हाट। पीय पदारथ पाइयें जब दीजै सिर सांटि।। 'धरी उर श्याम'-भगवान ने हृदय में विचार किया कि समय पर सेवा में न पहुँचने पर राजा अप्रसन्न होकर इन्हें दण्ड देंगे, नौकरी से अलग कर देंगे, फिर कुटुम्ब का पालन कैसे होगा, संत-सेवा कैसे होगी, मेरे भी राग भोग की व्यवस्था में बाधा पड़ेगी अतः जाय''।

भूपति रिझायौ है-श्रीसेनवेषधारी भगवान ने जाकर सेनजी की भाँति बड़े अदब से राजा को जुहार किया, परन्तु आज की जुहार में राजा को नवीनता का अनुभव हुआ। वाणी में अद्भुत रस था। सुनते ही राजा का मन हर गया। फिर भगवान ने कटोरी में तेल लेकर राजा के सम्मुख रख दिया और स्वयं पीठ में मालिश करने लगे। मालिश भी आज और ढंग से की गई। मालिश करके भगवान ने राजा की कमर चटकाई। राजा को बड़ा सुख मिला। उन्होंने श्रीसेनजी की बड़ी सराहना की। तब श्रीसेनवेषधारी भगवान बोले-हुजूर! मैंने एक बड़े ही निपुण एवं बूढ़े नाई से मालिश करने एवं कमर चटकाने की कला सीखी है। आपको सुख मिला अतः हमारा सीखना सफल हो गया। वर्णन आया है कि पीठ में मालिश करते समय कभी-कभी भगवान आगे को झुक जाते तो राजा के सामने रखी हुई कटोरी के तेल में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता, उसमें राजा को किरीट मुकुट धारण किये हुए भगवान की झाँकी दिखाई पड़ती। राजा चौंककर पीछे देखते तो सेनजी दिखाई पड़ते, कटोरी में प्रतिबिम्ब देखते तो भगवान का स्वरूप दिखाई पड़ता। राजा की समझ में नहीं आता कि यह क्या रहस्य है? उसने इसे अपना ही मतिभ्रम समझा। पंथ पूछे-इसके दो भाव-एक तो भावार्थ में आ गया। श्रीसेनजी रास्ते में ड्यौढ़ीवान आदि से पूछते। दूसरा भाव यह भी कि इन्हें देखकर ड्यौढ़ीवान आदि इनसे भी पूछते कि आज दुबारा क्यों आये? सेनजी की समझ में नहीं आता। चकपकाये से राजा के पास गये तो वहाँ भी यही प्रश्न।

फेरि कैसे आये? सुनि अति ही लजाये कही सदन पधारे सन्त भई यों अबार है।
आवन न पायों वाही सेवा अरुझायो राजा दौरि सिर नायो देखि महिमा अपार है।।
भीजि गयो हियौ दास भाव दृढ़लियौ पियौ भक्तिरस शिष्य ह्वै के जान्यो सोई सार है।
अबलौं हूं प्रीति सुत नाती वही रीति चलैं होय जौं प्रतीति प्रभु पावै निरधार है।।३१०

शब्दार्थ-**सदन = घर। अबार = देर। अरुझायौ = अटक गया, रुक गया। निरधार = निश्चय।**

भावार्थ-**(राजा ने पूछा-) तुम पुनः कैसे आये? यह सुनकर श्रीसेनजी अत्यन्त लज्जित हो गये और बोले-घर पर सन्त आ गये थे अतः सेवा में आने में देर हुई। मैं उन सन्तों की सेवा में अटक गया अतःनहीं आ सका। श्रीसेनजी की अपार महिमा देखकर राजा ने दौड़कर इनके चरणों में सिर नवाकर प्रणाम किया। उनका हृदय प्रेम रस से भीग गया। उन्होंने राजत्व का अभिमान छोड़कर मन में दास्य भाव को दृढ़ करके ग्रहण किया और श्रीसेनजी के शिष्य होकर भक्तिरस का पान किया। राजा ने सन्त-भगवन्त की सेवा को ही सार समझा। श्रीसेनजी तथा राजा दोनों की प्रीति अब तक प्रख्यात है, उनके बेटा और नाती भी उसी रीति से चलते हैं। यदि भगवत्-भागवत सेवा में विश्वास हो तो निश्चय ही प्रभु की प्राप्ति हो जायेगी। इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है।।३१०।।**

व्याख्या-राजा दौरि सिर नायौ०-**राजा ने अब कटोरी में दीखने वाले प्रतिबिम्ब का रहस्य समझा कि वह वस्तुतस्तु सेनजी नहीं थे, सेनजी के रूप में स्वयं भगवान थे और भगवान का ही प्रतिबिम्ब कटोरी में पड़ता था। अतः किरीट-मुकुट के दर्शन होते थे। अहो! धन्य है श्रीसेनजी, जिनके लिये भगवान ने नाई का कृत्य किया। श्रीसेनजी श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के शिष्य थे। इनके शिष्य होने का प्रसङ्ग इस प्रकार से वर्णन किया गया है-श्रीधन्नाजी की तरह भगवान ने श्रीसेनजी को आदेश दिया कि तुम काशी जाकर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के शिष्य बन जाओ। ये प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर काशी आये। नाई तो थे ही, हजामत बनाने का अपना सब साज-सामान भी संग लाये थे। सोचे थे कि श्रीस्वामीजी से दीक्षा लेकर वहीं काशी में ही रहकर भगवद्भजन करते हुए कुछ जीविकोपार्जन भी कर लिया करुँगा। कहते हैं कि श्रीजङ्गमस्वामी नाम के एक संन्यासी इनको सज्जन समझकर इनसे अपना मुण्डन कराने लगे। ये भी बड़े प्रेम से उनके पूरे सिर का मुण्डन किये परन्तु शिखा के यहाँ के केश छोड़ दिये। श्रीस्वामीजी ने शिखा को भी मूड़ देने को कहा तो इन्होंने बड़ी सरलता से कहा-महाराज! मैं इतना बड़ा पाप कैसे कर**

सकता हूँ? भला मैं शिखा हटाकर आपको हिन्दू से मुसलमान बनाने का निन्द्य कर्म कैसे कर सकता हूँ? यदि आपको शिखा दूर ही करवानी हो तो किसी अन्य मूर्ख नाई से करवा लेना, मैं यह कार्य कदापि नहीं कर सकता हूँ। नाई की यह भोली-भाली बात सुनकर श्रीस्वामीजी ने मुस्कुराकर कहा-अरे भाई! शिखासूत्र हटाना हम संन्यासियों की मुक्ति की निशानी है, इससे हम मुसलमान नहीं हो जायेंगे। सेनजी ने कहा-स्वामीजी! भला कहीं शिखासूत्र मात्र दूर करने से कोई मुक्त हो सकता है। मैं इस बात को कदापि नहीं मान सकता। धीरे-धीरे बात ने विवाद का रूप ले लिया। श्रीसेनजी को श्री स्वामी रामानन्दाचार्यजी के पास आना ही था अतः बोले कि यदि आप हमारी बात नहीं मानते हैं तो चलिये श्रीस्वामीजी के पास इसका निर्णय करा लीजिये। फिर श्रीसेनजी और श्रीजंगमस्वामीजी दोनों ही आश्रम पर आये। श्रीसेनजी ने श्रीस्वामीजी की कुटी के द्वार पर जाकर अपना परिचय एवं अपना मनोरथ निवेदन करते हुए श्रीजंगम स्वामीजी का प्रसंग भी कह सुनाया। वर्णन आया है कि श्रीसेनजी की प्रार्थना पर कुटी का किवाड़ अपने आप खुल गया। दो एक बार श्रीस्वामीजी ने बन्द भी किया, परन्तु वह बार-बार खुल जाता। तब आप समझ गये कि यह कोई परम अधिकारी जीव है। अतः कुटी से बाहर आकर श्रीसेनजी को दर्शन दिये और श्रीराममंत्र की दीक्षा देकर कृतार्थ किये तथा श्रीजंगमस्वामीजी को भी मुक्ति का तत्त्व समझाये। फिर श्रीस्वामीजी का आदेश पाकर श्रीसेनजी पुनः घर चले आये और सम्पूर्ण जीवन भगवत् भागवत सेवा में ही बिताये।

श्रीसुखानन्दजी

भक्तिदान भै हरन भुज सुखानन्द पारस परस।।
'सुखसागर' की छाप राग गौरी रुचि न्यारी।
पद रचना गुरु मंत्र मनो आगमन अनुहारी।।
निसि दिन प्रेम प्रवाह द्रवत भूधर ज्यौं निर्झर।
हरि गुन कथा अगाध भाल राजत लीला भर।।
संत कंज पोषण विमल अति पियूष सरसी सरस।
भक्ति दान भै हरन भुज सुखानन्द पारस परस।।६४।।

शब्दार्थ-भै = भय, डर। पारस = एकमणि, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। परस =स्पर्श। छाप = कविका नाम, उपनाम। आगम = शास्त्र। द्रवत= पसीजत, बहत।

भूधर = पहाड़। निर्झर = झरना। राजत = शोभित। लीलाभर = चरित्रों से भरा। पोषण= पूषण, सूर्य, पोषने वाला। पियूष = अमृत। सरसी = पुष्करिणी, बावली। यहां तात्पर्य सरोवर से है। सरस = सरिस, समान, रसयुक्त, स्वादिष्ट, मधुर, मनोहर।

भावार्थ-श्रीसुखानन्दजी की भुजा आश्रितजनों को भक्ति का दान देने वाली और संसार का भय हरने वाली थी और इनका स्पर्श लौहवत् विमुख, दुष्टजनों को स्वर्णवत् साधु सदाचारी बनाने के लिये पारसमणि के समान था। ये अपने पदों में 'सुखसागर' की छाप लगाते थे। राग गौरी में इनकी विलक्षण रुचि थी। इनके द्वारा रचे गये पद मानो गुरुमन्त्र तुल्य होते थे तथा इनकी रचना शास्त्रसम्मत होती थी। इनके हृदय में निरन्तर प्रेमका प्रवाह उमड़ता रहता था और इनकी आंखों से ऐसा अविरल अश्रुपात होता रहता था जैसे पहाड़ से झरना झर रहा हो। भगवान के अनन्त गुण, कथा तथा लीला से परिपूर्ण इनका उन्नत ललाट अत्यन्त सुशोभित लगता था। ये संत समुदायरूपी कमलवन का पोषण करने के लिए सूर्य तथा अत्यन्त निर्मल, सरस अमृत के सरोवर के समान थे।।६४।।

व्याख्या-भक्तिदान०- भाव यह कि आप कृपा करके जिसके सिर पर हाथ रख देते उसको भगवान की अविरल, अविचल प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती। उसका भव-भय अर्थात् आवागमन छूट जाता और वह असाधु से साधु हो जाता। पहले भक्तिदान, इसके बाद में 'भै हरन' कहने का भाव यह है कि भक्ति से ही भव-भय दूर होता है। यथा-देहु भगति रघुपति अति पावन। त्रिविध ताप भवदाप नसावनि।। (रामा०) 'भै हरन' अर्थात् अभय दानं। भगवान भी अपने शरणागत को अभय दान ही देते हैं। यथा-अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। (वा०रा०) दैवी सम्पत्ति में अभयत्व की सर्वप्रथम गणना की गई है। यथा-अभयं सत्वसंशुद्धि र्ज्ञान योगव्यवस्थितिः।। (गी० १६-१) अभयदान सबसे बड़ा दान है। यथा-न गो प्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं न सुवर्णदानम्। यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् (नीतौ) अर्थ-बुधजन ऐसा कहते हैं कि सभी दानों में अभयदान जैसा श्रेष्ठ है वैसा गौ, पृथ्वी, अन्न और सुवर्ण का दान भी नहीं है।

दृष्टान्त-एक रानी का-एक राजा के चार रानियाँ थीं। एक दिन राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें एक-एक वरदान माँगने को कहा। रानियों ने कहा-फिर किसी समय माँग लेंगी। कुछ दिन बाद राजा ने एक बहुत बड़े अपराधी को प्राण दण्ड की सजा दी। रानियों को यह पता चला तो उनके मन में आया कि राजा के पास धरोहर रक्खे हुए वरदान में इस अपराधी के लिये एक-एक दिन का जीवन दान माँग करके इसे उत्तम भोगों से सन्तुष्ट करना चाहिये।

फिर तो रानियों ने प्रार्थना की और राजा ने स्वीकृति दे दी। तीन रानियों ने तीन दिन उस अपराधी को उत्तमोत्तम भोजन, वस्त्र, नृत्य-गान आदि से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। परन्तु चूंकि उसके मन में मृत्यु का भय समाया हुआ था अतः उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगा। उसने न तो कुछ खाया-पिया न उसने कुछ देखा-सुना ही। चौथे दिन राजा की छोटी रानी ने अपने वरदान में अपराधी के लिये अभयदान माँगा। पूर्व से वचनबद्ध राजा ने अपराधी को क्षमा करके उसे मृत्युदण्ड से अभय कर दिया। फिर तो उस रानी ने उस दिन अपराधी को खूब मोटे-मोटे रुखे-सूखे टिक्कर और साग खिलाया और उसने भी खूब पेट भरकर पाया, उसे आज ग्रास-ग्रास में अमृत का स्वाद मिल रहा था। इसके बाद रानियों में विवाद उठा कि अपराधी का सबसे अधिक सत्कार किसने किया? जब स्वयं कुछ निर्णय नहीं हो सका तो बात राजा के पास पहुँची। राजा ने इसका निर्णय स्वयं न करके उस अपराधी को ही बुलाकर पूछा तो उसने बताया कि मुझे तो सबसे अधिक मीठी लगी छोटी रानी माताजी की रुखी रोटियाँ क्योंकि मैं उस समय अभय हो गया था। जब तक मृत्यु का भय था तब तक मुझे कुछ नहीं सुहाता था। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चय ही अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है।

पारस परस-भाव यह है कि जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है। वैसे ही इनके दर्शन-स्पर्श एवं सत्सङ्ग से विमुख जीव भी भगवद्भक्त बन जाते थे। इसी से अन्यत्र भी संत महिमा के प्रसंग में इस प्रकार के वचन मिलते हैं। यथा-सठ सुधरहिं सत्सङ्गति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।। (रामा०) परन्तु संत में पारस से विशेष गुण होता है। यथा-पारसमें अरु सन्तमें बहुत अन्तरो जान। वह लोहा सोना करै यह करै आपु समान।।

सुखसागर की छाप- प्रायः सभी कविजन अपने-अपने पदों में अपने नाम, उपनाम गुरु और इष्ट की छाप लगाते हैं। जैसे-श्रीमीराजी 'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर' श्रीकुम्भदासजी 'कुम्भनदास लाल गिरधर।' श्रीछीतस्वामीजी 'छीतस्वामि गिरधरन श्री विट्ठल' श्रीकेशवाचार्यजी 'जय श्रीकेशव 'नन्द सुवन' तथा श्रीचतुर्भुजदासजी (श्रीराधावल्लभी) के पदों में 'मुरलीधर' की छाप पाई जाती है। उसी प्रकार इनके पदों में 'सुखानन्द स्वामी सुखसागर' की छाप होती थी। 'राग गौरी-प्रत्येक कवि की छन्द एवं रागों के प्रति भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी विशेष रुचि होती है। जैसे-श्रीनरसीजी की केदारा राग के प्रति तथा श्रीकृष्णदास चालक की 'चरचरी' एवं श्रीजनगोपालजी की 'जकरी' छन्द के प्रति रुचि थी। वैसे ही इनकी गौरी राग के प्रति विशेष रुचि थी। 'पद रचना गुरु मंत्र'-जैसे श्रीतुलसीदासजी

की रचना को आस्तिक जगत मंत्र ही मानता है। वर्णन आया है कि एक बार अकबर बादशाह ने श्रीसूरदासजी से कहा कि कविता आपकी श्रेष्ठ है कि श्रीतुलसीदासजी की। श्रीसूरदासजी ने कहा-कविता मेरी श्रेष्ठ है। अकबर ने कहा-बहुत से लोग तो श्रीतुलसीदासजी की कविता की भी बहुत बड़ाई करते हैं। श्रीसूरदासजी ने कहा-श्रीतुलसीदासजी की कविता को कविता कहना ही भूल है। वह तो मंत्र हैं मंत्र। यह सुनकर अकबर बहुत प्रभावित हुआ और बोला-श्रीतुलसीदासजी की कविता को वास्तव में आपने ही पहचाना है। वैसे ही श्रीसुखानन्दजी की भी रचनायें गुरुमंत्र तुल्य प्रभावशालिनी होती थीं। जैसे मंत्र जप से देवता अधीन होकर भक्त के भावानुसार लीला करते हैं उसी प्रकार इनके पदों का प्रभाव भी प्रत्यक्ष देखा गया।

एक बार ये श्रीद्वारकापुरी गये थे। भगवान श्रीद्वारकानाथजी का दर्शन करके आपने यह पद गाया-मधपुरी क्यों न चलो तुम स्याम। बलि जाऊँ राजधानी कैसे छांड़ी गोकुल ग्राम।। नन्द जसोदा की रट मेटौ वेगि चलौ उठि धाम। निसि बासर कहुँ कल न परति है सुमिरत तेरो नाम।। तब तुम बेनु बजाय बुलाईं कालिन्दी के तीर। अब वे बातें क्यों बिसरेंगी हरि हलधर द्वौ वीर।। गोपबधू ब्रजमण्डल मण्डन सब मिलि जोरैं हाथ। सुखानन्द स्वामी सुख सागर बेगि चलौ उठि साथ।। यह पद सुनते ही श्रीठाकुरजी इनके साथ ब्रज को चलने के लिये उद्यत हो गये। तब फिर आपने अनुनय-विनय करके वहीं रहने को राजी किया। 'निशिदिन…ज्यों निर्झर' वाग्गद्गदा…भुवनं पुनाति। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६९। 'हरि गुन लीलाभर' भाव यह कि इनको भगवान के गुन, कथा, लील का अपार ज्ञान था। लगता था कि भगवान के सम्पूर्ण चरित्र इनके मस्तिष्क में भरे हुए हैं। 'सन्तकंज सरसी सरस'-ये संतों का उभयविधि पोषण करते थे। भगवदधरामृत प्रसादान्न से शरीर का एवं कथामृत, उपदेशामृत से आत्मा का पोषण करते थे।

विशेष-श्रीसुखानन्दजी भगवान शंकर के अवतार थे। यथा-वन्दौं सुखानन्द सुख रासी। शिवस्वरूप भव हर अविनासी।। (श्रीरामानन्दाचार्य चरितामृत) उज्जैन के समीप किरीटपुर निवासी पं० श्रीत्रिपुरारिभट्टजी की धर्मपत्नी गोदावरी बाईजी के गर्भ से श्रीजानकी नवमी (वैशाख शुक्ल ९) को आपका प्रादुर्भाव हुआ था। बचपन का नाम चन्द्रहरि था। आप जन्म से अर्ध निमीलित नेत्र रहते थे। माता-पिता ने इसे कोई नेत्ररोग समझकर अनेक प्रकार औषधि उपचार करवाये परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। एक दिन गाँव में आये हुए एक सिद्ध संत ने कहा कि यह रोग नहीं है, योग है। चिंता मत करो। एक दिन माता

आपको गोद में लेकर अपने घर के समीप के बगीचे में गई, उनकी किंचित असावधानी से ये घुटरुवन चलकर एक वृक्ष की ओट में चले गये। जब माता को ध्यान आया तो उन्होंने बहुत खोजा परन्तु ये नहीं मिले। तब वे रोती हुई इनके पिताजी से जाकर कही। पिता ने आकर देखा कि एक विशाल विषधर सर्प बालक के सिर पर फन फैलाये बैठा है। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की तो सर्प अदृश्य हो गया। फिर इन्हें घर लाकर बड़ा उत्सव मनाया गया। घर के समीप ही भगवान का एक मन्दिर था। ये नित्यप्रति माता के साथ भगवान की आरती का दर्शन करने जाते थे। माता आलस्य करतीं तो ये बलात् उनकी अंगुली पकड़कर मंदिर को चलने का अनुरोध करते। भगवान का दर्शन कर, चरणामृत पान कर बहुत आनन्दित होते। जब थोड़ा बड़े हो गये तो अकेले ही चले जाते। एक दिन तो सो रहे थे, आरती की घंटी सुनाई पड़ी तो तुरन्त जगकर दौड़ पड़े मन्दिर को। मार्ग में गिर गये तो एक परम सुन्दर सुकुमार इनको उठाकर मन्दिर ले गया और दर्शन कराकर घर पहुँचाकर अदृश्य हो गया। वस्तुतस्तु वे स्वयं भगवान ही थे। यथा समय बालक चन्द्रहरिका उपनयन संस्कार हुआ। जब ये पाठशाला में पढ़ते तो श्रीअध्यापकजी से प्रार्थना किये कि हमें तो वह अक्षर पढ़ाइये जो अक्षरातीत की प्राप्ति कराने वाला हो। इनके वचन को सुनकर अध्यापकजी चकित हो गये और मन ही मन विचार किये कि यह तो कोई अवतारी बालक है। अत्यन्त अल्पकाल में ही इन्होंने सम्पूर्ण श्रुतिशास्त्रों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक दिन एक ज्योतिषी ने इनका दर्शन कर इनके माता-पिता से कहा कि आपका बालक अलौकिक विभूति है। परन्तु ध्यान रखना अठारह साल तक इसे जल अथवा दपर्ण में मुँह नहीं देखने देना। नहीं तो यह उसी क्षण विरक्त हो जायेगा। उसी दिन से इनके माता-पिता इन्हें स्नानार्थ भी जलाशय के पास नहीं जाने देते। इनके सामने दपर्ण नहीं उपस्थित करते। एक दिन इनके पिताजी श्रीक्षिप्रा नदी में स्नान करने गये थे। घर पर केवल ये ही थे। उसी समय पं० श्रीरङ्गराज दीक्षित का एक दूत आकर इनसे वार्षिक कर माँगने लगा। जब इन्होंने कर के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो उसने बताया कि आपके पितामह पं०रंगराजजी से शास्त्रार्थ में हार गये थे। अतः उन्हें श्रीरंगराजजी को निश्चित धनराशि करके रूप में देनी पड़ती थी। आपके पिताजी भी उस कर को हर साल भरते हैं। मैं वही लेने आया हूँ। तब इन्होंने दूत से पं०श्रीरंगराजजी को यह संदेश भिजवाया कि आज से चौथे दिन आकर मैं आपसे शास्त्रार्थ करूँगा और आपको परास्त करके इस कुप्रथा का अन्त करूँगा। फिर निश्चित समय पर पहुँचकर श्रीचन्द्रहरि ने पं० श्रीरङ्गराजजी को हराकर

सभी पण्डितों का संकट दूर कर दिया। जब इनके पिताजी ने यह शुभ समाचार सुना तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए और इस उपलक्ष्य में उन्होंने बड़ा भारी उत्सव मनाया। संयोग की बात, उसी दिन चन्द्रहरि ने जल में अपना मुख देख लिया। अतः तत्काल जगत से उदासीन होकर एक एकान्त कोठरी में बैठकर भीतर से साँकल लगाकर भगवान का ध्यान करने लगे। माता पिता ने भोजन के लिये कहा तो इन्कार कर गये और उसी रात घर छोड़कर ईश्वराराधन के लिये निकल पड़े । प्रातःकाल होने पर जब इनको कोठरी में नहीं देखे तो माता-पिता की व्याकुलता का ठिकाना नहीं रहा। खोजने के लिये चारों ओर आदमी दौड़ाये गये। ये दिन भर चलने के उपरान्त सायंकाल को एक अमराई में विश्राम करते हुए मिले। बहुत-बहुत आग्रह-अनुरोध करने पर भी जब नहीं लौटे तो इनके पिताजी ने अपने एक परम विश्वासी श्रीपंचोलीजी को इनके साथ कर दिया। मार्ग में माया की प्रेरणा से एक तरुणीस्त्री द्वारा कुछ भोजन खिलाये जाने पर मन में कुछ विक्षेप हुआ परन्तु श्रीपंचोलीजी ने तुरन्त भगवच्चरणामृत पिला दिया जिससे तुरन्त ही पुनः मन स्वस्थ हो गया। फिर आगे बढ़े। एक रात को स्वप्न में एक सिद्ध मुनि का दिव्यादेश प्राप्त हुआ कि काशी जाओ। जब इन्होंने स्वप्न की बात श्रीपंचोलीजी से कही तो उन्होंने श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी की चर्चा की। श्रीआचार्य चरण की चर्चा सुनकर आपका मन श्रीस्वामीजी के दर्शन के लिये ललक उठा। श्रीगंगाजी के तीरे-तीरे चलते हुए काशी आ रहे थे। मार्ग में ही काशी के एक सन्यासी श्रीरामभारतीजी से भेंट हुई। उन्होंने तेजपुंज मुखमण्डल को देखकर, परम अधिकारी जानकर इनको अष्टांग योग अभ्यास करने की प्रेरणा दी तथा अपने सङ्ग इनको अपने आश्रम पर लिवा लाये। वहाँ इन्होंने अल्पकाल में ही समस्त यौगिक क्रियायें सिद्ध कर लीं।

एक दिन महर्षि ऋचीक ने प्रातःकाल इनका दर्शन कर अविलम्ब श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की शरण ग्रहण करने को कहा। इन्होंने ऋषि का आदेश श्रीरामभारतीजी को सुनाया तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए। दूसरे दिन प्रातः दोनों ही श्रीस्वामीजी के चरणों में उपस्थित हुए। श्रीस्वामीजी ने ब्राह्मणकुमार चन्द्रहरि को कृपा करके विधिपूर्वक पंच संस्कार करके श्रीराममंत्र की दीक्षा दी और इनका नाम रक्खा-सुखानन्दजी। श्रीराम भारतीजी भी श्रीस्वामीजी के द्वारा तत्वज्ञान का उपदेश पाकर कृतार्थ हो गये। कुछ काल तक श्रीस्वामीजी के चरणों की सेवा करते हुए काशी में ही रहकर भजन साधन करते रहे फिर श्रीआचार्य चरण के आदेश से आप श्रीचित्रकूट में श्रीरामशय्या नामक स्थान पर रहकर बहुत काल तक भजन किये। (द्वादश भागवत चरित्र)

आपके दर्शन-स्पर्श-समागम से न जाने कितने विमुख जीव भगवत्सम्मुख हो गये। कथा आई है, एक भगवत-भागवत विमुख वणिक था। उसके पास अपार धन था। परन्तु वह धन का उपयोग भूलकर भी सत्कार्य में नहीं करता था। वह न तो कभी साधु-ब्राह्मणों की सेवा करता, न समाज वा देश के हित का ही कोई कार्य करता, न अपने ही लोक-परलोक के लिये कुछ करता। उसे परस्त्री गमन की अत्यन्त कुत्सित कुटेव पड़ गई थी। बस, उसी में सारा धन पानी की तरह बहाता रहता। कुछ संभ्रात लोगों ने राजा से उसकी शिकायत की। राजा ने तत्काल सिपाहियों को भेजा उसे पकड़ लाने के लिये। जब यह समाचार उस वणिक को मिला तो वह डरकर श्रीसुखानन्दजी की शरण में गया और चरणों में पड़कर प्रार्थना करने लगा कि अब मैं भूलकर भी कुमार्ग पर नहीं चलूँगा, आप जैसे हो तैसे हमें राजदण्ड से बचा लीजिये। अब मैं सदा संतो की सेवा करूँगा और सत्कार्य में धन व्यय करूँगा तथा आपकी आज्ञनुसार सब कार्य करूँगा। उसका गिड़गिड़ाना सुनकर कोमलचित्त सन्त श्रीसुखानन्दजी को दया आ गई। आपने अपनी अभयदायिनी भुजा उसके सिर पर फेरकर उसे राजभय से मुक्त तो कर ही दिया, क्षणमात्र में सुदुर्लभा भक्ति भी प्रदान कर दी। भला पारसमणि का स्पर्श होने पर लोहे को सोना होने में क्या देर लगती है? इतने में राजदूत उस वणिक को खोजते हुए वहाँ आ गये। यद्यपि इन्होंने उन्हें बहुत मना किया कि अब इसे मत ले जाओ, अब यह सच्चे हृदय से साधु हो गया है। परन्तु वे नहीं माने उसे पकड़कर ले ही गये। राजा ने कठोर कारागार की सजा दी और रोज प्रातःकाल चार बेंत मारने का हुक्म दे दिया। वणिक के दुःख का पारावार नहीं रहा। वह अत्यन्त चिन्ता करता हुआ नेत्र-मूँदकर मन ही मन श्रीगुरुजी के चरणों का ध्यान करने लगा और जब उसने नेत्र खोले तो अपने को गुरुजी के पास पाया। श्रीसद्गुरुदेव स्वामीसुखानन्दजी की कृपा और महिमा विचारकर गद्गद हो गया।अब उसका भाव और भी शुद्ध एवं दृढ़ हो गया।उधर जब प्रातःकाल हुआ तो राजदूत उसे बेंत मारने के लिये कारागारगृह में गये तो देखे कि ताला तो बाहर से बंद है परन्तु बन्दी नहीं है। उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ और पुनः उसे पकड़ने के लिये आये। अब की बार भी श्रीस्वामीजी ने उन लोगों को समझाया परन्तु वे फिर नहीं माने। लेकिन हुआ क्या कि वणिक को लेकर अभी कुछ ही दूर गये थे कि श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर राजदूतों को मार भगाया और वणिक को श्रीसुखानन्द जी के पास कर दिया। राजदूत बहुत देर तक मूर्छित पड़े रहे फिर होश आने पर जाकर राजा से सब हाल हवाल कहे। आपकी इस महा महिमा को सुनते ही राजा सिंहासन छोड़कर नंगे पाँव दौड़कर आया और

चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना की। श्रीसुखानन्दजी के चरणकमलों का स्पर्श करके एवं उपदेशामृत श्रवणकर राजा भी निहाल हो गया।

एक बार आप एकांत वन में बैठकर बड़े ही अनुरागपूर्वक गौरी राग गा रहे थे। आपकी अमृत ध्वनि को सुनकर वन के समस्त मृग मुग्ध होकर सिमिटकर वहाँ आ गये तथा प्रेम विह्वल होने के कारण जैसे इनकी आँखों से गङ्गा-जमुना की भाँति अविरल अश्रुप्रवाह चल रहा था उसी प्रकार मृगों की आँखें भी सावन भादों की तरह बरस रहीं थीं।इसी बीच एक राजकुमार शिकार खेलता हुआ वहीं आ गया और एकत्रित मृगों को देखकर उन्हें मारने का उपक्रम करने लगा। श्रीसुखानन्दजी ने उसे रोका परन्तु उसने परवाह नहीं की। फल यह हुआ कि वे सभी मृग सिंह बनकर उस राजकुमार पर झपटे। डर के मारे राजकुमार के हाथ से अस्त्र-शस्त्र सब छूटकर भूमि पर गिर पड़े और स्वयं भी मूर्च्छित हो गया। जब मूर्च्छा दूर हुई तो उसने आपके चरणों में पड़कर क्षमा याचना किया और भक्ति का अलभ्य लाभ लेकर घर गया।

एक बार सन्तों की जमात लेकर विचर रहे थे। आपका नियम था कि किसी से कुछ याचना नहीं करना। भगवत्कृपा से अपने आप सब व्यवस्था हो जाया करती थी। एक गांव में जमात पहुँची। गांव के बाहर एक विशाल वट वृक्ष के नीचे संत विराज गये। भोजन का समय हो गया, परन्तु गांव वालों की ओर से कुछ भी सीधा-सामान नहीं आया। संतों को भूखा देखकर आपने सबको श्रीहरिनाम आहार का परिवेषण किया अर्थात अत्यन्त सुमधुर स्वर में श्रीभगवन्नाम का संकीर्तन करना प्रारम्भ किया। सङ्ग-सङ्ग संत समाज भी आनन्द विभोर होकर कीर्तन करने लगा। कीर्तन की ध्वनि सुनकर गांव के लोग एकदम मंत्र-मुग्ध हो गये, और आबाल वृद्ध नर-नारी सभी लोग एकत्रित होकर दो घड़ी तक अपनी सुधि-बुधि बिसराये,प्रेम रंग मे रंगे तालियाँ बजा-बजाकर नृत्य करते हुए कीर्तन करते रहे। ऐसा सुख आज तक लोगों को नहीं मिला था।जो सुख श्रीसुखानन्दजी के सत्सङ्ग से प्राप्त हुआ वह सर्वथा अवर्णनीय था। फिर तो लोगों की श्रद्धा उमड़ी। सामानों का पहाड़ लग गया। पूरा गांव वैष्णव हो गया। ऐसे ही आपके अनेकों अद्भुत चरित्र हैं। लीला संवरण-काल में आपके समक्ष श्रीहनुमन्तलालजी प्रगट हुए और आपने अपने को उनमें ही लीनकर अखण्ड साकेतवास प्राप्त किया।

श्रीसुरसुरानन्दजी

महिमा महा प्रसाद की 'सुरसुरानन्द' सांची करी।
एक समय अध्वा चलत बरा वाक् छल पाये।
देखा देखी शिष्य तिनहुँ पाछे ते खाये।।
तिन पर स्वामी खिजे वमन करि बिन विस्वासी।
तिन तैसे परतच्छ भूमि पर कीनी रासी।।
'सुरसुरी सुवर' पुनि उदगले पुहुप रेणु तुलसी हरी।
महिमा महा प्रसादकी 'सुरसुरानन्द' सांची करी।।६५।।

शब्दार्थ-अध्वा=मार्ग। बरा = एक प्रकार का पकवान, जो उड़द की दाल पीसकर बनाया जाता है। वाक्छल=वह कथन जिसमें वास्तविकता पर पर्दा डाला जाता है। खिजे=झुंझलाये, नाराज भये। वमन = उल्टी, कै। रासी = राशि, ढेर। सुरसुरी सुवर = सुरसुरानन्दजी। उद्गले = वमन द्वारा भीतर से बाहर निकाले। पुहुप = पुष्प, फूल। रेणु = धूल, बालू, कणिका। यहाँ पुष्प के सम्बन्ध से पराग अर्थ होगा।

भावार्थ-श्रीसुरसुरानन्दजी ने भगवान के महाप्रसाद की शास्त्रोक्त महिमा को सत्य करके दिखा दिया। एक बार मार्ग में चलते समय एक दुष्ट के वाक्छल से बरा पालिये। आपकी देखा-देखी शिष्यों ने भी पीछे से खूब पेट भर पाया। तब उन लोगों पर श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी नाराज भये और बोले कि तुम लोगों ने प्रसाद में बिना विश्वास के ही स्वाद बुद्धि से बरा खाया अतः वमन करो। उन लोगों ने वमन करके जैसा का तैसा पृथ्वी पर प्रत्यक्ष बरा का ढेर लगा दिया। इसके बाद परम साधु श्रीसुरसुरीजी के पति ने वमन किया तो उनके उदर से हरी तुलसी, फूल और रेणु निकली। प्रसाद बुद्धि से पाने से उड़द का बरा 'पुहुप रेन तुलसी, हरी' हो गया था।।६५।।

व्याख्या-महिमा महाप्रसादकी-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५७४, 'हरिप्रसाद की व्याख्या'। बरा वाक्छलपाये-एकबार श्रीसुरसुरानन्दजी शिष्य मण्डली सहित कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक वैष्णव द्वेषी यवन रहता था। वह वैष्णवों का-सा वेष बनाकर, मांस मिश्रित उड़द का बरा बनाकर, उस पर तुलसीदल रख देता और जो कोई भी वैष्णव उस मार्ग से जाते, उनको बड़े प्रेम से बुलाकर प्रसाद कहकर उन्हें खिला देता। इस प्रकार वह न जाने कितने वैष्णवों को धर्मभ्रष्ट एवं बुद्धिभ्रष्ट कर चुका था। इसी से शास्त्रों में आहार शुद्धि पर बड़ा जोर

दिया गया है। यथा-खानपान तौ कीजिये रसिक मण्डली माहिं। जिनके अन्य उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाहिं। गौने व्याह उछाहको अन्न सन्त नहिं खाँय। जहाँ तहाँ-के पायबे भजन तेज घटि जाय। कहावत है-जैसा खाय अन्न। वैसा बने मन्न।

दृष्टान्त-एक सन्तका-एक जंगल में एक बड़े ही त्यागी-तपस्वी सिद्ध महात्मा रहते थे। वहाँ का राजा उनका शिष्य था। वह नित्य महात्माजी का दर्शन एवं सत्सङ्ग करने जाया करता था। एक दिन राजा ने महात्माजी का अपने यहाँ निमंत्रण किया। महात्माजी ने राजा के यहाँ जाकर भोजन किया और चलते समय सबकी आँख बचाकर खूंटी पर टंगा हुआ राजा का नवलखा हार चुराकर झोली में धरकर कुटी पर आ गये। महात्माजी के चले आने पर हार की जब खोज हुई तो बहुत जासूस लगाने पर भी उसका कहीं पता नहीं चला। कीमती हार था अतः उसके चोरी चले जाने से राजा ने रंज में आकर अपने सभी कर्मचारियों को पकड़ मँगवाया और सबको नाना प्रकार का दण्ड दिया। महात्मा हार ले गये हैं, भला यह कोई सोच ही कैसे सकता था। सन्देह कर्मचारियों पर हुआ और वे बेचारे निरपराध दण्डित हुए। उधर जब महात्माजी कुटी पर पहुँचे तो वहाँ पहुँचते ही उन्हें संग्रहणी का रोग हो गया। तीन दिन तक लगातार दस्त होते रहे। जब दस्तों के द्वारा समस्त राजधान्य शरीर से बाहर निकल गया, उसका असर समाप्त हो गया तो महात्माजी की बुद्धि शुद्ध हो गई। फिर तो उन्हें अपने कर्म पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि हाय! मेरे कारण कितने निरपराध लोग सजा पाये होंगे। फिर तो वे तुरन्त लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते हार लेकर दौड़े आये और उन्होंने राजा को हार देकर कर्मचारियों को बन्धन से मुक्त कराया और अपना अपराध स्वीकार किया। किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था। बहुत से लोगों ने यह अनुमान किया कि चोर ने ही महात्माजी को हार देकर अपने को बचाने की प्रार्थना की होगी। इसी से महात्माजी ऐसा कह रहे हैं। परन्तु महात्माजी तो सौ-सौ सौगन्ध खाकर कह रहे थे कि हार मैंने चुराया था। साथ ही महात्माजी ने यह भी कहा कि यह अन्न का दोष था। जिसने मेरी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया था। फिर पता लगाया गया कि अन्न कहाँ से आया था तो पता चला कि एक चोर के यहाँ से जब्त किया गया था। चोर भी सुनार के यहाँ से चोरी करके लाया था। एक तो राजा का धन वैसे ही निषिद्ध है, उसमें चोर के घर से आया और उसमें भी सुनार के घर से चुराया हुआ था। निषेध की पराकाष्ठा को प्राप्त दूषित अन्न ने तपोधन ऋषि की मति मलिन कर दी। फिर अन्य की तो बात ही क्या? पुनः देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६६, श्रीभीष्मजी का प्रसङ्ग।

यह यवन भी इसी उद्देश्य से छलपूर्वक संतों को अभक्ष्य भक्षण कराता था। श्रीसुरसुरानन्दजी के साथ भी उसने ऐसा ही किया। संत-वैष्णवों तथा भगवत्प्रसाद में परम निष्ठा रखने वाले श्रीसुरसुरानन्दजी ने उसके वैष्णव-वेष को देखकर उसे वैष्णव ही मानकर और बड़े के ऊपर रक्खी हुई हरी तुलसी को देखकर उसे भगवत् प्रसाद ही समझकर बिना कुछ-ननु नच किये श्रीतुलसी के साथ बरा का भी किनका प्रसाद ले लिया। परन्तु शिष्यों ने इस प्रकार की निष्ठा के बिना ही गुरु का अंधानुकरण करते हुये खूब भरपेट बरा पाया और आचार-भ्रष्ट हो गये। इसी से कहा गया है कि गुरुजनों के उपदेश का ही पालन करना चाहिये। इनके सभी आचरणों का अनुकरण नहीं करना चाहिये। शिष्य को तो शिष्य ही बनकर रहना चाहिये, गुरु नहीं बनना चाहिये। इस पर-

दृष्टान्त-एक गंवारका-घर के काम-धंधे को लेकर खटपट होने पर एक गंवार घर छोड़कर एक मठ पर गया विरक्त बनने। वहाँ के साधुओं ने कहा कि यहाँ तो घर से भी अधिक काम करने पड़ते हैं। तब उसने महन्तजी की ओर हाथ उठाकर कहा कि ये तो कुछ नहीं करते हैं। साधु बोले कि ये तो सबके गुरु हैं अतः सबको आज्ञा देते हैं और सब शिष्य लोग सब कार्य करते हैं। तब उसने कहा कि तो मुझे भी गुरु ही बना लो, शिष्य मत बनाओ। साधुओं ने उसे फटकारकर भगा दिया। ऐसे ही गुरु बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। त्रिभुवन गुरु श्रीशिव ने विष पी लिया। भला यह सामर्थ्य और किसमें है? शिष्यों ने इन बातों पर विचार नहीं किया। इस पर दृष्टान्त-श्रीशङ्कराचार्यजी के शिष्यों का देखिये पृष्ठ १९१। 'तिन पर स्वामी खिझे'-श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी शिष्यों पर नाराज हुए कि दृढ़ निष्ठा और विश्वास के अभाव में बिना समझे-बूझे प्रसाद के नाम पर जिस किसी का दिया हुआ कुछ भी खाना-पीना और वह भी कण मात्र नहीं पूर्ण तृप्त होकर खाना वैष्णव सदाचार के विरुद्ध है। यदि यह कहो कि हमने भी निष्ठापूर्वक ही पाया है तो उसको प्रमाणित करो। भगवत्प्रसाद भगवान के समान ही दिव्य एवं निर्विकार होता है, वह उदर में जाकर भी दिव्य ही बना रहता है, प्राकृत अन्न की तरह उसमें किसी प्रकार की भी विकृति नहीं आती है। अतः तुम लोग वमन करो, यदि प्रसादबुद्धि से पाये होंगे तो वह निर्विकार होगा और यदि पदार्थ बुद्धि से खाये होंगे तो वह विकृत हो गया होगा। सबने वमन क्रिया किया तो बरा का ढेर लग गया और उसमें से वमन की दुर्गन्ध आ रही थी। फिर निष्ठा का चमत्कार दिखाने के लिए श्रीस्वामीजी ने वमन किया तो आपके उदर से हरी तुलसी, पुष्प-पराग निकला। बरा नाम की कोई वस्तु नहीं रही, और जो रही वह दिव्य थी। उदर में पहुँचकर जठराग्नि

में पड़कर भी हरी तुलसी पुष्प-पराग में किंचितमात्र भी मलिनता नहीं आने पाई थी। उससे दिव्य सुगन्ध निकल रही थी। अब शिष्यों की आँख खुली, अपनी भूल मालूम हुई, करनी पर पश्चात्ताप हुआ। सबके सब 'त्राहि, त्राहि' कहकर श्रीगुरुदेवजी के चरणों में पड़ गये और अपनी शुद्धि के लिये प्रार्थना करने लगे। तब श्रीसुरसुरानन्दजी ने कृपा करके कहा कि तुम लोगों को यह मेरे उदर से निकला हुआ दिव्य प्रसाद ही शुद्ध कर देगा। फिर तो सबने बड़े आदरपूर्वक उस प्रसादभूत पुष्परेणु की दिव्य सुगन्ध को सूंघा और तुलसीदल पाया और शुद्धि लाभ किया।

विशेष-श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी देवर्षि नारदजी के अवतार हैं। यथा-बन्दौं मुनि नारद अवतारा। सुखद सुर सुरानन्द उदारा। (श्रीरामानन्दाचार्य चरितामृत) आपका प्रादुर्भाव लखनऊ के समीप परखम नामक ग्राम निवासी पं० श्रीसुरेश्वरजी शर्मा जी की धर्मपत्नी श्रीमती देवीजी की कोख से वैशाख कृष्ण ९ गुरुवार को हुआ था। आपका बालपन का नाम भायणकुमार था। उपनयन संस्कार के समय गायत्री मंत्र की दीक्षा मिली। मंत्र के प्रति आपके मन में ऐसा आकर्षण हुआ कि दीक्षोपरान्त ही गायत्री पुरश्चरण का संकल्प लेकर एकान्त में बैठकर श्रीगायत्री माता की आराधना में लग गये। पुरश्चरण निर्विघ्न पूर्ण हुआ, हृदय में वैराग्य जागा, अतः घर छोड़कर काशी के लिये प्रस्थान कर दिये। वर्णन आया है कि आपके सभी संस्कारों के शुभ अवसरों पर एक नारायण नाम के ब्राह्मण आते जो अपने को भायणकुमार का मामा बताते और कुमार को नारद नाम से सम्बोधित करते थे। कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, यह तो किसी ने नहीं जाना। परन्तु प्रत्येक उत्सवों में उनको सम्मिलित देखा गया। काशी जाते समय भी ये कुमार के साथ दिखाई पड़े थे और इन्होंने कान में कुछ कहा था। (वस्तुतस्तु श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की शरण में जाने का संकेत किया था) भायणकुमार के पड़ोस में ही एक मातृ-पितृ हीना दरिद्र ब्राह्मण कन्या रहती थी। उसने मनसा अपने को भायणकुमार के प्रति समर्पित कर दिया था। यही कारण है कि भायणकुमार के काशी जाने का समाचार सुनकर यह भी काशी के लिये रवाना हो गई और इनसे पहले पहुँच गई। भायणकुमार ने काशी पहुँचकर श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी के श्रीचरणों का दर्शन कर अपना परम सौभाग्य माना। अपना परिचय तथा अपना मनोऽभीष्ट निवेदन किया तथा समय-समय पर आकर मार्ग दर्शन कराने वाले नारायण ब्राह्मण का परिचय भी जानना चाहा। श्रीस्वामीजी ने कहा कि धैर्य धरो, समय पर स्वयं सब रहस्योद्‌घाटन हो जायेगा।

दूसरे दिन सत्संग के समय श्रीरामानन्दाचार्यजी ने शंख ध्वनि किया, उसे सुनकर

ये मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छावस्था में इनको अव्यक्त वाणी सुनाई पड़ी कि एक समय तुमने विवाह की इच्छा की थी। परन्तु तुम्हारा हित विचार कर ही मैंने विवाह नहीं होने दिया, बल्कि और कोई भक्त इस चक्कर में न पड़ जायँ, इसलिये मैंने स्वयं ही उस मायारूपी विश्वमोहिनी को अंगीकार कर लिया था। तब तुमने क्षुभित होकर मुझे शाप दे डाला। जिसको चरितार्थ करने के लिये मैंने श्रीरामावतार धारण किया। तुम्हारे मन का तीव्र क्षोभ शाप देने पर भी शान्त नहीं हुआ था। तुमने श्रीरामावतार काल में भी उपालम्भ दिया था कि-तब विवाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारण करै न दीन्हा।। (रामा०) तब मैंने सब रहस्य खोलकर समझाया था कि-अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।। (रामा०) उसी का परिणाम यह तुम्हारा पुनर्जन्म है और यद्यपि बाद में तुम्हारी विवाह की इच्छा समूल समाप्त हो गई थी परन्तु बहुत दिनों तक उसके संस्कार मन में बने रहे। अतः इस जन्म में तुम्हारी वह इच्छा भी पूर्ण की जायेगी। तुम पतन का भय नहीं करना। तुम मेरे सदा-सदा के शरणागत हो अतः अल्पकाल में ही सब कर्मभोग समाप्त करके तुम्हें पुनः पूर्व स्वरूप प्राप्त करा दूँगा। इतना सुनने के अनन्तर श्रीसुरसुरानन्दजी पुनः स्वस्थ हो गये। इनके मस्तिष्क में दिव्य वाणी के भाव अभी गूँज ही रहे थे कि उसी समय ब्राह्मण कन्या सुरसुरी ने भी आकर श्रीस्वामीजी के चरणों में प्रणाम किया और आपने उसे 'सौभाग्यवती भव' ऐसा आशीर्वाद दिया। उसने परमार्थ की भिक्षा माँगी। तब श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने भायणकुमार और सुरसुरी-दोनों को सविधि वैष्णवी दीक्षा दी। भायणकुमार का नाम रक्खा-श्रीसुरसुरानन्दजी। श्रीसुरसुरीजी का नाम पूर्ववत ही रहने दिया। दीक्षान्त में दिव्य शंखध्वनि की, जिसे श्रवण करके दोनों के अन्तश्चक्षु खुल गये। अपने पूर्व स्वरूप का बोध हो गया। साधन-साध्य सम्बन्धी समस्त विवेक प्राप्त हो गया। पुनः श्रीस्वामीजी ने दोनों को परस्पर परिणयसूत्र में सम्बद्ध होकर भजन करने का आदेश दिया। श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के पट्ट शिष्य श्रीअनन्तानन्दजी ने एक भगवत्प्रसादी माला श्रीसुरसुरीजी को दी और उन्होंने श्रीस्वामीजी का आदेश पाकर उस माला को श्रीसुरसुरानन्दजी के गले में डाल दिया। फिर दोनों श्रीगुरुजी की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर अपने जन्मस्थान को चले आये। इनके आगमन से माता-पिता और गाँव वालों को अपार हर्ष हुआ। लोगों ने वेदविधि से, बड़ी धूमधाम से इनका विवाहोत्सव किया। परन्तु ये भागवत दम्पति तो भजन करने के लिये सम्बन्धसूत्र में बँधे थे अतः सबसे मिल-जुलकर, विदा लेकर वन को प्रस्थान कर दिये। वर्णन आया है कि पूर्व श्रीनारदरूप में काम इनसे हार गया था। अतः उसका बदला चुकाने के लिये उसने पुनः अपना प्रभाव फैलाया परन्तु भक्ति के सामने पुनः

काम को लज्जित होना पड़ा। कुछ ही दिन के बाद श्रीसुरसुरीजी भगवद्धाम को पधार गईं। अतः श्रीसुरसुरानन्दजी पुनः काशी चले आये और शेष जीवन श्रीआचार्यचरण की सेवा में ही व्यतीत करने का निश्चय किये।

एक बार आपने श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी से जीवों के कल्याण की कामना से साधन-साध्य निर्णय के सम्बन्ध में विविध प्रश्न किये थे। जिनका समाधान श्रीस्वामीजी के द्वारा रचित 'वैष्णव मताब्जभाष्कर' नामक ग्रन्थ में किया गया है। श्रीअनन्तानन्दजी से आपने भाष्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। कुछ दिन तक श्रीमदाचार्य चरणों की सेवा में रहने के पश्चात आपने श्रीस्वामीजी की आज्ञा से दक्षिण के तीर्थों को यवनों के आतंक से बचाने के लिये दक्षिण भारत की यात्रा की और अपने सिद्धिबल से वहाँ के यवन शासक मलिक काफूर को रात में, सोते समय स्वप्न में उसके पैगम्बर मोहम्मद साहब के द्वारा उसको उपदेश दिलवाया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का खुद एक है। जो मुसलमान होकर किसी हिन्दू का दिल दुखाता है उसे खुदा कभी माफ नहीं करता है, अतः तुम उपद्रव बंद करो और श्रीसुरसुरानन्दजी जो कहें वह करो। जब मलिक काफूर की नींद खुली तो स्वप्न में भये पैगम्बर साहब के दर्शन और उपदेश को श्रीसुरसुरानन्दजी का ही चमत्कार माना। अतः तुरन्त ही नंगे पाँव दौड़कर आपके पास आया और स्वप्न का वृत्तान्त सुनाकर अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। उसकी प्रार्थना पर आपने उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। जिसे सुनकर वह बड़ा प्रभावित हुआ और उसी क्षण दक्षिण भारत के समस्त उपद्रवों को बंद कर देने की घोषणा कर दी। इस प्रकार दक्षिण भारत में अमन चैन स्थापित कर आप अन्य जगहों पर भी जाकर लोगों का सङ्कट दूर किये। एक जगह आपने व्याह करके लौटते समय मार्ग में ही दूल्हे के निधन से अत्यन्त व्याकुल बराती लोगों के करुण क्रन्दन को सुनकर उन पर दया करके भगवच्चरणामृत मुख में डालकर मृतक दूल्हे को जीवित कर दिया था। फिर सब को भगवद्भजन का उपदेश दिया। जीवन के अंतिम समय में आप श्रीअयोध्या चले आये। और श्रीसरयू पुलिन में चारों सरकारों का दर्शन करते हुए आपने अपनी इहलीला संवरण की, दिव्यधाम श्रीसाकेत वैकुण्ठ प्राप्त किया।

श्रीसुरसुरीजी

महासती सत ऊपमा त्यों सत सुरसुरी को रह्यौ।।
अति उदार दम्पती त्यागि गृह बन को गमने।

अचरज भयौ तहँ एक सन्त सुनि जिनि हो विमने।।
बैठे हुते एकान्त आय असुरनि दुख दीयौ।
सुमिरे सारंगपानि रूप नरहरि कौ कीयौ।।
सुरसुरानन्दकी घरनिकौ सत राख्यौ नरसिंह जह्यौ।
महासती सत ऊपमा त्यों सत सुरसुरी को रह्यो।।६६

शब्दार्थ-महासती=परम पतिब्रता। सत्त = सतीत्व, सत्य। ऊपमा = उपमा, तुलना। दम्पती = स्त्री-पुरुष। विमने = उदास, खिन्न, अन्यमनस्क। असुरनि = मुसलमानों ने। सारंग, पानि = भगवान श्रीरामजी। नरहरि = श्रीनृसिंह भगवान। घरनि = स्त्री। जह्यो =मार डाले।

भावार्थ-महासतियोंके सतीत्व के सदृश ही श्रीसुरसुरीजी का पातिव्रत्य भी प्रभु कृपा से अक्षुण्ण रहा। अत्यन्त उदार दम्पति श्रीसुरसुरानन्दजी एवं श्रीसुरसुरीजी वैराग्यपूर्वक गृहत्याग करके भगवद्भजन के लिये वन को प्रस्थान किये। वहाँ वन में एक आश्चर्यजनक घटना घटी। श्रीनाभाजी कहते हैं कि-हे संतों! उसे सुनकर आप लोग उदास नहीं होना (वह घटना इस प्रकार है-) एक दिन ये दोनों एकान्त में बैठे हुए भगवान का भजन कर रहे थे, उसी समय दुष्ट म्लेच्छों ने श्रीसुरसुरीजी का अपहरण करने के लिये अनेक प्रकार का उपद्रव किया। उस समय दम्पति ने श्रीशार्ङ्गपाणि भगवान श्रीरामजी का स्मरण किया। भक्त के स्मरण करते ही श्रीरामजी ने श्रीनृसिंहरूप धारण कर असुरों को मार डाला और श्रीसुरसुरानन्दजी की पत्नी श्रीसुरसुरीजी का पातिव्रत्य बचा लिया।।६६

व्याख्या-महासती-जैसे श्रीअरुन्धतीजी, श्रीअनुसूयाजी, श्रीलोपामुद्राजी, श्रीपार्वतीजी श्रीसीताजी, श्रीसावित्रीजी, श्रीसुकलाजी आदि। प्रसङ्गवश इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

श्रीअरुन्धतीजी-ये महर्षि वशिष्ठजी की धर्मपत्नी हैं। इनके अनुपम पातिव्रत्य की तुलना त्रैलोक्य में नहीं है। ये सदा और सर्वत्र अपने पति के साथ ही रहती हैं। सप्तर्षिमण्डल में देवी अरुन्धतीजी के अतिरिक्त किसी ऋषिपत्नी ने स्थान नहीं पाया है। विवाह के समय वर और वधू को अरुन्धतीजी का दर्शन कराया जाता है। इसलिये कि वधू में इनके गुणों का विकास हो, उसका अखण्ड सौभाग्य हो। एक बार श्रीवशिष्ठादि ब्रह्मर्षि,देवर्षि एक यज्ञ कर रहे थे जिसमें देवता आ-आकर अपना भाग ले रहे थे। आवाहन करने पर अग्निदेव भी वहाँ आ

गये। ऋषि पत्नियों को देखकर अग्निदेव की इन्द्रियाँ चंचल हो गईं। परन्तु ऋषिपत्नियाँ बड़ी पतिव्रता और शुद्ध हृदया थीं अतः उनके मन में अपने पतियों के अतिरिक्त पर-पुरुष की कल्पना नहीं थी। अग्निदेव कामविवश हो वन को चले गये। जब उनकी पत्नी स्वाहा को यह मालूम हुआ तो उसने एक ही दिन एक-एक कर सप्तर्षियों में से छः की पत्नियों का रूप धारण कर अग्नि की तथा अपनी कामाग्नि को शांत किया। परन्तु श्रीअरुन्धती के तप और पातिव्रत्य के प्रभाव से वह उनका रूप धारण न कर सकीं। एकबार पातिव्रत्य धर्म के तत्व को जानने की इच्छा से सूर्य, चन्द्र और अग्नि-तीनों देवता श्रीअरुन्धतीजी के पास गये। उस समय वे घड़े में जल लाने के लिये जा रही थीं। देवताओं को देखकर श्रीअरुन्धतीजी ने अपना घड़ा शुद्ध भूमि पर रखकर उनकी परिक्रमा और प्रणाम कर उनके आगमन का कारण पूछा। जब देवताओं ने अपना अभीष्ट बताया तो श्रीअरुन्धतीजी ने कहा-कि आप लोग थोड़ी देर विराजिये, मैं अभी जल भरकर ले आती हूँ, फिर आप लोगों की जिज्ञासा का समाधान करती हूँ। तब देवताओं ने कहा कि हम लोग अपने प्रभाव से ही घड़ा भर देते हैं। फिर तीनों देवताओं ने अपनी सारी शक्ति लगाकर घड़े का एक-एक चौथाई अर्थात् कुल मिलाकर घड़े का तीन भाग भर पाया, एक भाग खाली ही रहा। वह एक भाग जब श्रीअरुन्धतीजी ने सतीधर्म का वर्णन किया तो उसके प्रभाव से स्वयं भर गया। ऐसे आपके अनेकों चरित्र पुराणों में विख्यात हैं।

श्रीअनसूयाजी-यह श्रीब्रह्माजी के मानस पुत्र परम तपस्वी श्रीअत्रि मुनिजी की धर्मपत्नी हैं। पुराणों में पतिव्रता शिरोमणि के रूप में विख्यात हैं। एक बार भगवती उमा, रमा ब्रह्माणी इन तीनों महादेवियों को अपने पातिव्रत्य का अभिमान हो गया। भगवान को अभिमान से चिढ़ है अतः गर्वप्रहारी प्रभु ने इनका गर्व दूर करने के लिये श्रीनारदजी को प्रेरित किया। श्रीनारदजी वीणा बजाते हरिगुण गाते पहुँचे इन देवियों के पास, और कुशल-प्रश्नोपरान्त उन्होंने श्री अनुसूयाजी के पातिव्रत्य की परम प्रशंसा की। श्रीनारदजी की यह बात उन देवियों को सर्वथा अरुचि कर लगी, अतः उनके चले जाने पर इन्होंने श्रीअनसूयाजी का पातिव्रत्य भंग करने का षड्यंत्र किया। जैसे-तैसे हाव-भाव करके इन देवियों ने अपने-अपने पतियों को श्रीअनसूयाजी का सतीत्व नष्ट करने के लिये राजी कर लिया। त्रिदेव मंदाकिनी तट पर एक दूसरे से मिले। सब एक ही व्याधि से ग्रस्त थे। अन्ततोगत्वा तीनों देवता विरक्त मुनि का वेष धारण कर कमण्डलु में बालू भरे हुए श्रीअत्रिजी के आश्रम पर पहुँचे। श्रीअत्रिजी आश्रम पर नहीं थे। श्रीअनसूयाजी ने उनका कंद-मूल, फल, फूल के द्वारा आतिथ्य-सत्कार किया।

तब उन मुनियों ने कहा कि देवि! यदि तुम हम लोगों का आतिथ्य करना चाहती हो तो हम जैसे कहें वैसे हमारा सत्कार करो। देखो, यह सिकता हमारे पास है, यदि तुम इसे पका सको तो हमारे लिये यह परम प्रीतिकर होगा। परन्तु पकाने की विधि भी जैसे हम बतावें वैसे सम्पन्न की जाय। इस सिकता को अपनी अंजुलि में लो और बिना अग्नि तथा जल के इसे पकाओ। फिर नग्न होकर अपने हाथ से हमें खिलाओ, तब तो हम तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार करेंगे अन्यथा, भूखे चले जायेंगे। मुनियों के ये वचन सुनकर श्रीअनसूयाजी बड़े विचार में पड़ गईं कि भला सिकता कैसे पकाया जा सकता है और उनमें भी अग्नि जल का संयोग न हो, फिर पाक कैसे होगा, फिर सबसे कठिन शर्त है नग्न होकर अपने हाथ से भोजन कराने की, यह कैसे हो सकेगा? और यदि यह सब नहीं करती हूँ तो अतिथि भूखे जाते हैं। फिर ये अतिथि भी कैसे अनोखे हैं, श्रीअनसूयाजी ने ध्यान धरकर देखा तो एक क्षण में सब रहस्य स्पष्ट हो गया। फिर तो उन्होंने अपने पातिव्रत्य का स्मरण कर मुनियों की सब बातें स्वीकार कर लीं और भगवान को साक्षी देकर बोलीं कि यदि मैं सच्ची पतिव्रता होउँ तो ये त्रिदेव छः-छः महीने के बालक बन जायें। पतिव्रता का इतना कहना था कि तत्काल त्रिदेव छः-छः महीने के बालक हो गये। श्रीअनसूयाजी ने उन्हें पालने में पौढ़ा दिया और पातिव्रत्य के बल से ही सिकता को अंजुलि में पक्व करके नग्न होकर अपने हाथ से खिलाया और अपना स्तनपान भी कराया। इतने में श्रीअत्रिजी आ गये। पूछे-देवि! ये कौन के बालक हैं? इन्होंने कहा-देव! यह आपके ही पुत्र हैं। फिर सब विवरण मुनि को बताया। मुनि आनन्द में भर गये।

उधर बहुत दिन होने पर भी जब त्रिदेव घर पर नहीं लौटे तो उनकी देवियाँ चिन्तित हुईं। तीनों आपस में मिलकर विचार ही कर रही थीं कि इतने में श्रीनारदजी आ गये। आज श्रीनारदजी दूर से ही, राम, राम करके जाने लगे तब देवियों ने बड़े आग्रह पूर्वक उन्हें बुलाकर अपने-अपने पति का पता पूछा। श्रीनारदजी ने मुस्कुराकर कहा कि अब आप लोग उनकी आशा छोड़ें। वे तो श्रीअनसूयाजी के यहाँ छः-छः महीने के बालक बनकर बिल्ली के बच्चे की तरह म्याऊँ-म्याऊँ कर रहे हैं। अभी तो वे पन्द्रह-बीस वर्ष में बड़े होंगे, फिर माता उनका विवाह करेंगी। अब तो आप लोग भस्म रमाकर राम-राम रटो। अब देवियों की आँखें खुलीं। वे श्रीनारदजी से गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगीं कि जैसे हो तैसे हमारे पति हमें मिल जायँ। श्रीनारदजी ने कहा-बस, एक उपाय है, आप लोग उन सती शिरोमणि की शरण में जायँ तभी कल्याण सम्भव है। तब देवियाँ समस्त मान-गुमान

छोड़कर श्रीअनसूयाजी के आश्रम पर गईं और अंचल के छोर से चरणस्पर्श पूर्वक प्रणाम कीं। श्रीअनसूयाजी ने 'पतिप्रिया हो', सौभाग्यवती हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। संयोग से उस दिन भी अत्रिजी कहीं बाहर से ही आये और इन देवियों को देखकर पूछे-ये कौन हैं? श्रीअनसूयाजी ने कहा-ये आपकी पुत्रवधूयें हैं। अत्रिजी ने कहा-देवि! तुम भी खूब कौतुक करती हो, अभी बालक छः महीने के भी नहीं भये कि वधुयें भी मँगा लीं। और उसमें भी बालक एक-एक हाथ के और बहुयें पाँच-पाँच हाथ की। परस्पर की यह विनोद वार्ता सुनकर देवियाँ लाज के मारे गड़ गईं। फिर उन्होंने अनसूयाजी के चरण पड़कर अपने अपने पति की याचना की। अनसूयाजी ने हँसकर कहा-ले जाओ, मैं कब मना करती हूँ, उठा लो गोदी में और ले जाओ घर, देवियाँ मारे शर्म के कुछ कह नहीं सकती थी, पैर के अंगुठे से पृथ्वी कुरेद रही थीं। तब श्रीअनसूयाजी ने दया करके त्रिदेवों को पुनः पूर्वरूप प्रदान कर दिया। अब आश्रम में बालक नहीं थे, विरक्त महात्मा भी नहीं थे। अब तो अपनी-अपनी शक्तियों के सहित साक्षात ब्रह्मा, विष्णु, महेश उपस्थित थे। श्रीअत्रि अनसूयाजी ने उनका विधिवत पूजन-वन्दन किया। त्रिदेवों ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। तब श्रीअनसूयाजी ने यही वर माँगा कि यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही वर माँगती हूँ कि आप लोग मेरे पुत्र बनें। त्रिदेवों ने एवमस्तु कहा। फिर कालान्तर में श्रीब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा, श्रीविष्णु के अंश से दत्तात्रेय, श्रीशिवजी के अंश से दुर्वासाजी इनके पुत्ररूप में प्रकट हुये।

श्रीअनसूयाजी, श्रीजानकीजी को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश दिया था। यथा-कह रिषि वधू सरस मृदुबानी। नारि धरम कछु व्याज बखानी।। अमित दानि भर्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही।। धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी।। वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अतिदीना।। ऐसेहु पतिकर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।। एकइ धर्म एकव्रत नेमा। कायँ वचन मन पति पद प्रेमा।। जग पतिब्रता चारि विधि अहहीं। वेद पुरान संत सब कहहीं।। उत्तमके अस बस मनमाहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।। मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।। धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।। बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।। पति वंचक परपति रति करइ। रौरव नरक कल्पसत परई। छन सुख लागि जनम शतकोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी।। बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छांड़ि छल गहई।। पति प्रतिकूल जनम

जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई। सहज अपावनि नारि पति सेवत शुभ गति लहइ। जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय। सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहिं प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित।। (रामा०)

लोपामुद्राजी-यह महर्षि अगस्त्य की धर्मपत्नी हैं। ये भी अपने पातिव्रत्य, संयम, तपस्या और त्याग के लिये संसार में विख्यात हैं। श्रीलोपामुद्राजी अपने सदाचार, सतीत्व और धर्म परायणता आदि सद्‌गुणों द्वारा पति को बहुत ही प्रिय थीं। महर्षि ने स्वयं कहा था- तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने। अर्थात् हे कल्याणि! मैं तुम्हारे सदाचार से तुम पर बहुत संतुष्ट हूँ। एकबार देवगण महर्षि अगस्त्य जी के आश्रम पर पधारे। महर्षि ने उनका विधिपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् श्रीवृहस्पतिजी ने देवताओं की ओर से महर्षि का अभिनन्दन करते हुए उनकी धर्मपत्नी श्रीलोपामुद्राजी के सदाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह पतिव्रताओं के लिये प्रातः स्मरणीया हैं।

श्रीपार्वतीजी-भगवान् शिवजी की परमप्रिया श्रीपार्वतीजी पतिव्रताओं में शिरोमणि हैं। इनके अनन्यानुराग को देखकर श्रीशिवजी ने इन्हें सदा-सर्वदा के लिये अपने अर्द्धाङ्ग में बसा लिया है और अपना एक नाम 'अर्द्धनारीनटेश्वर' रख लिया । श्रीजानकीजी ने इनकी महा-महिमा का गान किया है। यथा-जय जय गिरिवर राज किशोरी। जय महेश मुख चन्द चकोरी। जय गजबदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता।। नहिं तब आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।। भव भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि स्वबस विहारिनि।। पति देवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।। सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी पुरारि पियारी।। देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहिं सुखारे।। श्रीपार्वतीजी बाल्यावस्था में ही श्रीनारदजी के श्रीमुख से भगवान शिवजी का प्रसङ्ग सुनकर उनके प्रति अनुरागवती हो गईं। यथा-उपजेउ शिव पद कमल सनेहू।। (रामा०) फिर तो श्रीशिवजी की प्राप्ति के लिये इन्होंने ऐसा कठोर तप किया जैसा आज तक किसी ने नहीं किया, यथा-अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी।। (रामा०) तपकाल में श्री-शिवजी के भेजे हुए सप्तर्षियों ने इनकी प्रेम परीक्षा के लिये श्रीनारदजी एवं श्रीशिवजी के प्रति बहुत से अविश्वास और अयोग्यता के वचन कहकर इनको तप से विचलित करना चाहा तथा विष्णु की बड़ाई करके इनको उधर आकृष्ट करना चाहा। परन्तु श्रीपार्वतीजी ने इसके प्रत्युत्तर में जो कुछ कहा वह इनकी गुरुनिष्ठा एवं पातिव्रत्य निष्ठा का ज्वलंत उदाहरण है।

यथा-नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ।। गुरुके वचन प्रतीति न जेही। सपेनहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।। महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुनधाम। जेहिकर मन रम जाहिसन तेहि तेहीसन काम।। अब मैं जन्म संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा। जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न तु रहौं कुआँरी।। तजउँ न नारदकर उपदेसू। आपु कहहिं सतबार महेसू।।

श्रीपार्वतीजी की इस अनन्य निष्ठा को देखकर सप्तर्षियों को बड़ा ही सुख मिला और वे बारम्बार भगवती के चरणों में प्रणाम कर सहर्ष विदा हुए। यथा-देखि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी। जय-जय जगदम्बिके भवानी।। तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मात। नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि-पुनि हरषित गात।। (रामा०)ऐसे ही मदन-दहन के बाद भी सप्तर्षि श्रीपार्वतीजी की प्रेमनिष्ठा का दर्शन करने के लिये इनके समक्ष पुनः उपस्थित हुए और व्यङ्ग करते हुए बोले- कहा हमार न सुनेहु तब नारदके उपदेश। अब भा झूंठ तुम्हार प्रण, जारेउ काम महेश।।श्रीपार्वतीजी ने पुनः वैसा ही मुँह तोड़ उत्तर दिया। यथा-सुनि बोली मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिवर विज्ञानी।। तुम्हरें जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहेउ सविकारा।। हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।। जौं मैं सिव सोये अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी।। तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपा निधि ईसा।। तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोई अति बड़ अविवेक तुम्हारा।। तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहिं निकट जाइ नहिं काऊ। गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेसकी नाई।। हियँ हरषे, मुनि वचन सुनि देखि प्रीति विस्वास। चले भवानिहिं नाइ सिर गये हिमाचल पास।। (रामा०)

सती शिरोमणि श्रीसीताजी-जगत की समस्त पतिव्रताएँ जिनका नाम स्मरण करके अपने असिधार व्रत पातिव्रत्य का ओर-छोर निर्वाह करती हैं उन जगज्जननी श्रीजानकीजी के अनन्य पातिव्रत्य का वर्णन कौन कर सकता है। श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्दकन्द कौशलचन्द्र श्रीरामभद्रजू की परमानन्या श्रीजानकीजी भी श्रीपार्वतीजी की तरह श्रीनारदजी के वचनों का स्मरण करके पुष्प वाटिका में श्रीरामजी के चरणों में आत्म समर्पण कर देती हैं। यथा-सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत।। (रामा०) फिर श्रीभवानीजी से अपने अभीष्ट सिद्धि का वरदान पाकर मुदित मन घर आती हैं। स्वयम्बर में श्रीरामजी ने शिव धनु को तोड़ा और श्रीजानकीजी ने मंगलमुहूर्त में श्रीरामजी को जयमाला पहिनाया। फिर, वेदविधि से

बड़े ही आनन्दमय वातावरण में विवाहोत्सव समपन्न हुआ। श्रीसीताजी की दैनिक दिनचर्या का वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि- पति अनुकूल सदा रह सीता। शोभा खानि सुशील विनीता। जानति कृपासिन्धु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मनलाई।। जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी।। निजकर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई। जेहि विधि कृपासिन्धु सुख मानइ।। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ। कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।। उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदम्बा संततमनिंदिता।। जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारविन्द रति करति सुभावहिं खोइ।। (रामा०)श्रीजानकीजी की यह पुनीत रहनि सभी पतिव्रताओं के लिये परम आदर्श हैं।

वन गमन के समय श्रीजानकीजी ने जो कुछ कहा है उसे पातिव्रत्य धर्म की व्याख्या ही समझना चाहिये। यथा-प्रान नाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान। तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान।। मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई।। सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई।। जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते।। तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति विहीन सबु सोक समाजू।। भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू।। प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मोकहु सुखद कतहुँ कछु नाहीं।। जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।। नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद बिमल बिधु बदन निहारे।। बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे। प्रभु वियोग लव लेश समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना।। आदि। पुनः गङ्गा तट पर श्रीसुमंत्रजी के द्वारा पिताश्री का सन्देश सुनकर जब श्रीरामजी ने लौटने का अनुरोध किया तो पतिव्रता शिरोमणि श्रीजानकीजी ने फिर जो कुछ कहा, वह पातिव्रत्य धर्म का मर्म ही है। यथा-सुनि पति वचन कहति वैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही। प्रभु करुनामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छांह किमि छेकी।। प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई। श्रीरामजी से इतना कहकर श्रीजानकीजी ने श्रीसुमन्तजी से कहा- आरति बस सनमुख भयउँ बिलग न मानब तात। आरज सुत पदकमल बिनु बादि जहाँ लगि नात।। पितु वैभव विलास मैं डीठा। नृपमनि मुकुट मिलित पद पीठा। सुख निधान अस पितु गृह मोरे। पिय विहीन मनभाव न भोरें।। ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ। आगे होइ जेहिं सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई। ससुर एतादृस अवध

निवासू। प्रिय परिवार मातु सम सासू।। बिनु रघुपति पद पदुप परागा। मोहिं केउ सपनेहुँ सुखद न लागा। अगम पंथ वन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा।। कोल किरात कुरङ्ग विहंगा। मोहिं सब सुखद प्रानपति सङ्गा।। आदि।।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आया है कि जिस समय श्रीजानकीजी ने राक्षसियों के द्वारा श्रीहनुमानजी की पूँछ में आग लगाये जाने का समाचार सुना तो अपने परम लाड़ले श्रीहनुमन्तलालजी की मङ्गल कामना करते हुए आपने कहा था-यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः। यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः (५-५३-२७) अर्थ-अग्निदेव! यदि मैंने पति की सेवा की है और यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्य का बल है तो तुम हनुमानजी के लिये शीतल हो जाओ। सचमुच श्रीजानकीजी के इतना कहते ही अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला बर्फ के समान शीतल हो गई। यथा-शिशिरस्येव सम्पातो लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितः।। (५-५३-३४) अर्थात् श्रीहनुमानजी को ऐसा अनुभव हुआ कि मेरी पूंछ के अग्रभाग में बर्फ का ढेर सा रख दिया गया है।

ऐसे ही एक सती के प्रसङ्ग में वर्णन आया है कि उसका पति उसकी जांघ पर सिर रखकर सो रहा था। उसी समय उसका छोटा अबोध बालक घुटुरुवन चलकर अग्निकुण्ड की ओर बढ़ने लगा। वह अग्निकुण्ड में गिरने वाला है परन्तु पतिव्रता ने पति की निद्रा भङ्गकर पुत्र को बचाना उचित नहीं समझा क्योंकि शास्त्र का आदेश है कि पतिव्रता को पुत्र से शत-गुणित स्नेह पति में करना चाहिये। अतः उसने पति की सुखनिद्रा को भङ्ग नहीं किया। उधर बालक अग्निकुण्ड में गिर ही गया परन्तु आश्चर्य, बालक के ऊपर तनिक भी आँच नहीं आई। पतिव्रता के शाप भय से अग्निदेव चन्दन की कीच के समान शीतल हो गये। यथा-सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता। पतिव्रताशाप भयेन राजन् हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः।।

रावण वधोपरान्त आत्मशुद्धि की प्रामाणिकता के लिये अग्निपरीक्षा देने के लिये उद्यत श्रीजानकीजी के लिये अग्निदेव का चन्दनपङ्क होना भी उनकी पातिव्रत्य की महिमा को प्रगट करता है। यथा-पावक प्रबल देखि वैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही।। जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं। तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना। श्रीखंड सम पावक प्रवेश कियो सुमिरि प्रभु मैथिली। जय कोसलेस महेश बंदित चरन रति अति निर्मली।। (रा०च०मा०) अग्निदेव ने मूर्तिमान होकर

श्रीजानकीजी की पवित्रता को प्रमाणित करके श्रीरामजी के कर-कमलों में सौंपा। इस परीक्षा से श्रीजानकीजी का पातिव्रत्य त्रैलोक्य में चमक उठा।

इसी प्रकार से श्रीजानकीजी ने एक बार और अपने पातिव्रत्य की परीक्षा दी थी। जब श्रीरामजी ने लोकापवाद के भय से इन्हें श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा श्रीवाल्मीकि आश्रम में भिजवा दिया था। पुनः श्रीरामजी के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर महर्षि वाल्मीकिजी, श्रीसीताजी एवं इनके जुड़वें पुत्रों को लेकर आये और स्वयं तो उन्होंने शपथपूर्वक अनेक प्रकार से इनके पातिव्रत्य निष्ठा की प्रशंसा की ही, पतिव्रता प्रमाणित की ही, श्रीजानकीजी ने भी शपथपूर्वक कहा-यथाहं राघावादन्यं मनसापि न चिन्तये। तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।। मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये। तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।। (वा० ९७-१४, १५) अर्थ-मैं श्रीरघुनाथजी के सिवा दूसरे किसी पुरुष का स्पर्श तो दूर रहा, मन से भी चिंतन नहीं करती। यदि यह बात सत्य है तो भगवती पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोद में स्थान दें। यदि मैं मन, वाणी और क्रिया द्वारा केवल श्रीराम की ही आराधना करती हूँ तो भगवती पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोद में स्थान दे दें। विदेह कुमारी श्रीसीता के इतना कहते ही भूतल से एक अद्भुत दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ। सिंहासन के साथ ही पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी भी दिव्यरूप से प्रकट हुई। उन्होंने श्रीमिथिलेशकुमारी को अपनी दोनों भुजाओं से गोद में उठा लिया और उन्हें उस सिंहासन पर बैठा दिया। इस प्रकार सबके देखते-देखते अपने नित्यधाम में प्रविष्ट हो गईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीजगज्जननी श्रीजानकीजी का समस्त जीवन एवं समग्र आचरण पातिव्रत्य धर्म का परमोच्च आदर्शस्वरूप हैं। आपके सम्बन्ध में आपकी यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ रही।

'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।।' (बा रामा०)

श्रीसावित्रीजी-मद्रदेश के परम धर्मात्मा राजा अश्वपति ने संतान की कामना से अठारह वर्षों तक श्रीसावित्रीदेवी की आराधना की। फलस्वरूप श्रीसावित्रीदेवी ने प्रकट होकर दर्शन दिया और एक परम तेजस्विनी कन्या होने का वरदान देकर अन्तर्धान हो गयी। यथा समय राजा अश्वपति के एक कन्या हुई और विद्वान् ब्राह्मणों ने उसका नाम 'सावित्री' रखा। इसलिये कि वह श्रीसावित्रीदेवी के ही प्रसाद से प्रादुर्भूत हुई थी। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वह कन्या नित्यप्रति अपने वय के साथ रुप-लावण्य, शील-सद्गुणों से भी वृद्धि को प्राप्त करती हुई तरुणावस्था में पहुँच गई। उसके लोकोत्तर तेज को देखकर सब लोग उसे देवी मानते और इसी कारण से किसी राजा या राजकुमार को उसका वरण करने का साहस नहीं होता था। तब एक दिन सावित्री के पिता ने उससे कहा-बेटी! तेरे लोकोत्तर

लावण्य और तेज से धर्षित हो जाने के कारण कोई राजकुमार तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं करते हैं और तू विवाह योग्य हो गई है। अतः अब तू अपने लिये स्वयं योग्य वर की खोज कर। इसके बाद यात्रा के लिये पिता के द्वारा सब प्रकार की सुव्यवस्था हो जाने पर श्रीसावित्री पिता-माता को प्रणाम कर वृद्ध मंत्रियों के संरक्षण में स्वर्णरथ पर आरूढ़ होकर ऋषि-मुनियों के आश्रमों का दर्शन करती हुई, उन्हें दान-मान से संतुष्ट करती हुई अपने अभीष्ट का अन्वेषण करने लगी। इसी ब्याज से वह भिन्न-भिन्न तीर्थों और देशों में घूमती रही।

एक दिन देवर्षि नारद राजा अश्वपति के यहाँ आये हुये थे। उसी समय सावित्री भी अपनी यात्रा एवं मनोरथों को पूर्ण करके आ गयी। प्रणामाशीर्वादोपरान्त श्रीनारदजी के जिज्ञासा करने पर श्रीसावित्रीजी ने संक्षेप में अपना वृत्तान्त सुनाया कि शाल्व देश के परम यशस्वी राजा द्युमत्सेन, जिनकी किसी कारणवश आँखें अंधी हो गई थी। और उस समय उनका पुत्र सत्यवान छोटा था, शत्रुओं के द्वारा राज्य छिन जाने से पत्नी और पुत्र के सहित जङ्गल में चले गये और वहाँ जाकर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए भगवदाराधन में लग गये। मैंने उनके परम सुयोग्य पुत्र सत्यवान को अपने मन से पति के रूप में वरण किया है। यह सुनकर श्रीनारदजी सहसा बोल पड़े-हा! खेद है। सावित्री ने अंजान में अपने लिये स्वतः सदा के लिये दुःख को वरण कर लिया। फिर मद्रनरेश अश्वपति के पूछने पर श्रीनारदजी ने अपने कथन को स्पष्ट किया कि निश्चय ही सत्यवान तो सत्यवान ही है। उसके समान लोक की तो बात ही क्या स्वर्ग में भी कोई देवता नजर नहीं आता है। परन्तु एक ही दोष ने उसके समस्त सद्‌गुणों को आच्छादित कर रक्खा है। वह यह कि उसकी आयु बहुत थोड़ी है, बस एक वर्ष के बाद ही उसकी मृत्यु हो जायेगी। यह सुनकर अश्वपति ने कहा- बेटी! अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, तू फिर से यात्रा करके और दूसरे किसी योग्य वर का वरण कर। सावित्री सती थी। उसने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया-पिताजी! सत्यवान दीर्घायु हों अथवा अल्पायु, निर्गुण हों अथवा गुणवान। मैंने एक बार उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। अब दूसरे पुरुष को मैं नहीं वरण कर सकती।

श्रीसावित्रीजी के इस दृढ़ निश्चय को सुनकर श्रीनारदजी बड़े प्रभावित हुए और राजा को समझाते हुए बोले-राजन! सावित्री ने धर्म का आश्रय लिया है। अतः इसे अपने निश्चय से विचलित करना उचित नहीं है। घबड़ाओ मत, परिणाम मङ्गलमय होगा। इसके लिये मैं भी यथासाध्य प्रयत्न करूँगा। इतना कहकर श्रीनारदजी वहाँ से प्रस्थान कर गये। सावित्री सत्यवान को व्याही गई। यद्यपि पिता-माता ने अपनी लाड़ली पुत्री को

बहुत कुछ वस्त्राभूषण आदि सुख-साधन दहेज में दिया। परन्तु परम सती-सावित्री ने आँख उठाकर उन सामग्रियों की ओर देखा भी नहीं। वह तो अपने तपस्वी सास-ससुर और पति को देखती हुई स्वयं भी तपस्विनी वेष धारण कर प्राण-प्रण से उनकी सेवा में जुट गई। अपनी सेवा-परायणता से सावित्री अपने सास-ससुर एवं पति को प्राणों से भी अधिक प्रिय हो गई। सेवा के साथ श्रीसावित्री अहर्निश सास-ससुर एवं पति के कल्याण के लिये विविध व्रतोपवासादि करती रहती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे एक वर्ष व्यतीत हो गया और दुर्दैव प्रेरित वह दिन आ गया जिस दिन श्रीनारदजी ने सत्यवान की मृत्यु बतायी थी। उस दिन जब सत्यवान वन में कन्दमूल, फल-फूल, पुष्प-समिधा आदि लेने के लिये जाने लगे तो श्रीसावित्री जी भी सास-ससुर को प्रणाम कर आज्ञा और आशीर्वाद लेकर उनके साथ गईं। भावी आपत्ति से सत्यवान सर्वदा अपरिचित थे परन्तु श्रीसावित्रीजी जानती थीं अतः आज एक क्षण के लिये भी वह पति से पृथक नहीं हो रही थी। श्रीसत्यवानजी आवश्यकीय सब वस्तुयें संग्रह करके अंत में लकड़ियों को काट-काटकर एकत्र कर रहे थे। इतने में उनके सिर में अत्यन्त वेदना होने लगी, शरीर टूटने लगा, कलेजे में धड़कन तीव्र गति से होने लगी। उन्होंने अपनी स्थिति सावित्री से निवेदन की। श्रीसावित्री ने उन्हें संभाला और उनका मस्तक गोद में लेकर पृथ्वी पर बैठ गईं।

इतने में इन्होंने सूर्य के समान तेजस्वी, श्यामवर्ण, लाल नेत्र एवं लाल वस्त्र पहने हाथ में पाश लिये, अत्यन्त भयङ्कर आकृति वाले एक दिव्य पुरुष को श्रीसत्यवान जी के समीप खड़ा देखा। पति के मस्तक को धीरे से पृथ्वी पर रखकर खड़े होकर प्रणाम करके श्रीसावित्रीजी ने जब परिचय की जिज्ञासा की तो उस पुरुष ने अपने को साक्षात् धर्मराज बताया तथा यह भी कहा कि तेरे पति की आयु पूर्ण हो गई है अतः मैं इसे ही लेने आया हूँ। श्रीसावित्री ने कहा-भगवन्! मैंने तो सुना है कि जीवों के लेने के लिये आपके दूत आते हैं, फिर यहाँ आप कैसे पधारे हैं? श्रीधर्मराजजी ने कहा-सत्यवान परम धर्मात्मा है। यह दूतों द्वारा ले जाने योग्य नहीं है। अतः मैं आया हूँ। इतना कहकर श्रीधर्मराजजी सत्यवान के अंगुष्ठ प्रमाण अतिवाहित शरीर को पाश में आबद्ध करके दक्षिण दिशा की ओर ले चले। पतिप्राणा श्रीसावित्रीजी भी धर्मराजजी के पीछे-पीछे चल पड़ीं। कुछ दूर जाने पर श्रीधर्मराजजी ने कहा-सावित्री! तू लौट जा, तू अब पतिसेवा के ऋण से मुक्त हो चुकी है और पति के पीछे जहाँ तक आना चाहिये वहाँ तक आ चुकी है, अब जाकर अपने पति के शरीर का दाहकृत्य करो। श्रीसावित्रीजी ने कहा-भगवन्! नारी के लिये पति का अनुसरण ही सनातन धर्म है।

अतः जहाँ मेरे पतिदेव जायें वहीं मुझे भी चलना चाहिये। आपकी दया से पतिसेवा के प्रभाव से मेरी गति कुण्ठित नहीं हो सकती।

श्रीसावित्रीजी के इस धर्ममय वचन को सुनकर प्रसन्न होकर श्रीधर्मराजजी ने सत्यवान के जीवन के अतिरिक्त कोई एक वर माँगने को कहा। तब इन्होंने कहा-देव! मेरे श्वसुर नेत्रज्योति से युक्त हो जायें तथा बलवान-तेजस्वी हो जायें। श्रीधर्मराजजी ने 'एवमस्तु' कहकर श्रीसावित्रीजी को लौट जाने को कहा। परन्तु वह पुनः पति के गौरव एवं पतिव्रता के कर्तव्य का निरुपण करती हुई संग-संग चलीं। तब श्रीधर्मराजजी ने पुनः वर माँगने को कहा। ऐसे ही उन्होंने प्रसन्न होकर पाँच बार में पाँच वर दिये। दूसरे वर में श्रीसावित्रीजी ने अपने श्वसुर के खोये हुए राज्य की पुनः प्राप्ति माँगी। तीसरे वर में अपने पिता के लिये सौ औरस पुत्रों की याचना की और चौथे वर में अपने लिये सौ औरस पुत्र माँगे। पाँचवें वर में श्रीसावित्रीजी ने कहा-भगवन! आपने जो मुझे सौ औरस पुत्रों का वर दिया है, उसकी सिद्धि पति के बिना कैसे सम्भव है? अतः अब तो आप इस वरदान में मुझे कृपा करके मेरे पति का जीवन ही प्रदान कीजिये। श्रीधर्मराजजी प्रसन्न थे एवं वचनबद्ध भी थे अतः उन्होंने सत्यवान को मृत्युपाश से मुक्त कर दिया और चार सौ वर्ष की नवीन आयु प्रदान की। इस प्रकार परम सती सावित्री ने अपने पति को मृत्यु के मुख से लौटाया। आज भी इनका यह दिव्य यश बड़े आदर के साथ गाया जाता है। स्त्रियों को 'सावित्री भव' का आशीर्वाद दिया जाता है। ऐसी ही सती थीं श्रीसुरसुरीजी। आपके सम्बन्ध में श्रीनाभाजी कहते हैं-'अति उदार'-भगवान के भक्त बड़े उदार होते हैं। यथा-राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।। उदार की व्याख्या के लिये देखिये छप्पय २८ पृष्ठ ५। पुनः-महि गज धन अरु अन्नके दानी अहैं उदार। भक्ति ज्ञान हरि कथाके दानी महा उदार। (भ०व०टि०) त्यागि गृह वनको गमने-इस सम्बन्ध में देखिये श्रीसुरसुरानन्दजी का चरित्र।

अचरज भयो-भक्त प्रह्लाद का सङ्कट दूर करने के लिये भगवान ने जैसे त्रेता में श्रीनृसिंह रूप धारणकर हिरण्यकशिपु को मारा था, वैसे ही आज कलियुग में श्रीसुरसुरीजी के सतीत्व की रक्षा के लिये श्रीनृसिंह रूप धारण किया। यह आश्चर्य है। पुनः श्रीनृसिंहरूप भी आश्चर्यमय है-नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो…। (भा० ७-८-१९)अर्थात् यह न तो पशु (सिंह) ही हैं न तो मनुष्य ही हैं, यह तो कोई आश्चर्यमय विलक्षण प्राणी है। 'जिन हो विमने'-भाव यह कि आगे 'असुरनि दुख दीयो' यह सुनकर विमन होने का प्रसंग है, अतः पहले ही सावधान करते हैं कि आप लोग उदास नहीं होना, भगवान ने

तत्काल रक्षा की। 'असुरनि दुख दीयो'-श्रीसुरसुरीजी के रूप पर मोहित होकर, इन्हें निरी अबला जानकर, संत और सती के प्रभाव से सर्वथा अनभिज्ञ दुष्ट यवनों ने इनका अपहरण करना चाहा। भक्त भयहारी भगवान ने गजेन्द्र और द्रौपदी की तरह इनकी भी रक्षा की। पूर्व श्रीपीपाजी की परमसाध्वी पत्नी श्रीसीता सहचरी की भी भगवान ने कई बार रक्षा की थी। ऐसे ही पुराणों में एवं भक्त गाथाओं में बहुत सी सतियों का प्रसङ्ग आता है, जिनकी लाज भगवान ने बचाई है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान को पतिव्रतायें परमप्रिय होती हैं। तभी तो श्रीअनसूयाजी कहती हैं-जसु गावत श्रुतिचार, अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय।। (रामा०)

श्रीनरहरियानन्दजी

निपट नरहरियानन्द को कर दाता दुर्गा भई।।
घर झर लकरी नाहिं शक्तिको सदन उदारैं।
शक्ति भक्त सों बौलि दिनहिं प्रति बरही डारैं।।
लगी परोसी हौंस भवानी भ्वैं सों मारैं।
बदले की बेगारि मूड़ वाके सिर डारैं।।
भरत प्रसंग ज्यौं कालिका लडू देखि तन में तई।
निपट नरहरियानन्द को कर दाता दुर्गा भई।।६७।।

शब्दार्थ-निपट =नितान्त, बिलकुल, एकदम अतिशय, बहुत अधिक, सर्वथा। कर= महसूल, मालगुजारी। झर = वर्षाकी झड़ी, चूना, चुचाना। शक्तिको =देवी का। घर = मन्दिर। उदारैं = उजारैं। बरही = ईंधनका बोझ। हौंस = चाह, इच्छा, अभिलाषा। भवानी = दुर्गा। भ्वैं = भूमि। भ्वैं सो मारै = भूमि पर दे मारा अर्थात् पटक दिया। बेगारि = विवशता वश बिना मजदूरी के काम करना। मूड़ = सिर। प्रसङ्ग = प्रकरण। तई = तप्त हुई, क्रोधित हुई।

भावार्थ-श्रीनरहरियानन्दजी को देवी-दुर्गा अत्यन्त भली-भाँति से कर देने वाली हुई अर्थात् कर दीं (कथा इस प्रकार है-) एक बार वर्षा की झड़ी लग जाने से घर में ईंधन के लिये सूखी लकड़ी न होने से श्रीठाकुरजी का भोग लगने में बाधा होते देखकर श्रीनरहरियानन्दजी ने समीप के श्रीदुर्गाजी के मन्दिर को ही उजाड़ना शुरु किया। तब श्रीदुर्गाजी ने प्रकट होकर भक्त से कहा कि मेरे मन्दिर को न उजाड़ें, मैं प्रतिदिन सूखी लकड़ी का एक बड़ा

बोझ रख आया करुँगी। उसी दिन से श्रीदुर्गाजी श्रीनरहरियानन्दजी के यहाँ लकड़ी पहुँचाने लगीं। यह देखकर आश्रम के पड़ोस में रहने वाले एक व्यक्ति को भी इच्छा हुई कि मैं भी इसी प्रकार से दुर्गाजी से लकड़ियाँ लूँ। वह भी श्रीनरहरियानन्दजी की तरह भवानी का मन्दिर उजाड़ने लगा। तब भवानी ने उसे पृथ्वी पर पटककर बहुत मार लगाई और अपने सिर की बेगार उसके सिर पर सौंपकर तब उसको छोड़ा। जैसे श्रीजड़भरतजी तथा श्रीलड्डूभक्तजी के प्रसङ्ग में भक्त की भक्ति के तेज से श्रीकालिकाजी तप्त हो गईं थी। उसी प्रकार श्रीनरहरियानन्दजी के भक्ति तेज से तप्त होकर देवी ने कर दिया।।६७।।

व्याख्या-शक्तिको सदन उदारैं-**श्रीनरहरियानन्दजी बड़े ही संतसेवी थे। वर्षा का दिन था, घर में सूखी लकड़ी नहीं थीं, कुल्हाड़ी लेकर जङ्गल में गये तो वहाँ भी नहीं मिलीं। बड़े असमंजस में पड़े कि कैसे श्रीठाकुरजी को भोग लगेगा और कैसे संत पावेंगे? इतने में इनकी दृष्टि देवी के मन्दिर पर पड़ी, दरवाजे-खिड़की सूखे नजर आये। ये संत-सेवा को परमधर्म विचारकर देवी के मन्दिर का दरवाजा खिड़की तोड़ना शुरू किये। तब देवी ने प्रकट होकर लकड़ी पहुँचाने का कार्यभार अपने सिर लिया। इसी से श्रीनरहरियानन्दजी की भक्ति एवं संतसेवा का गौरव प्रकट होता है। 'लागी परोसी हौंस'-श्रीनरहरियानन्दजी के समीप ही एक जाट का घर था। एक दिन जाटिन ने इनसे पूछा कि आजकल तो सूखे ईंधन के बिना भोजन बनना मुश्किल हो गया है, आपको सूखी लकड़ियाँ कहाँ मिलती हैं। इन्होंने सब बात सही-सही बता दी। बस, जाटिन को मानो सूखी लकड़ी का मंत्र मालूम हो गया। उसने अपने पति से तुनककर कहा-देखो, एक पुरुष श्रीनरहरियानन्दजी हैं जिनके डर के मारे देवी लकड़ी पहुँचाती हैं, और एक तुम हो जो किसी लायक नहीं हो। यदि तुममें कुछ भी पुरुषार्थ हो तो तुम भी उनकी तरह से ही देवी से ही लकड़ी क्यों नहीं मँगा लेते? पत्नी की बात सुनकर जाट को अमर्ष हुआ और वह भी कुल्हाड़ी लेकर मन्दिर को उजाड़ने लगा। देवी ने रुष्ट होकर उसे एक थप्पड़ मारा। वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उसकी जाटनी भी देखने को आई कि वहाँ क्या हो रहा है? उसे देख कर देवी को भी बहुत क्रोध आया, क्योंकि इसी ने प्रेरित किया था। अतः उसे भी एक लात मारी और जाट के ऊपर उसे ला पटका। देवी ने जाटनी को बहुत त्रास दिया और कहा कि तू साधु की होड़ करने चली है। भला कहीं सिंह की होड़ सियार कर सकता है? यदि कदाचित् करे भी तो वह हाथी को तो मार सकता नहीं, उल्टे स्वयं ही मारा जायेगा। अरे हरिभक्तों की बराबरी तो मैं देवता होकर भी नहीं कर सकती फिर तुझ तुच्छ संसारी**

जीव की तो बात ही क्या है? भगवान के भक्त बड़े समर्थ होते हैं। चराचर जगत के स्वामी भगवान भी भक्तों की हुकूमत बजाते हैं, उनकी सेवा करते हैं, फिर हम देवता किस गिनती में हैं। तुमने ऐसे भक्त की स्पर्धा करके महान अपराध किया है। अब उसका फल भोगो। देवीजी के इन त्रास भरे वचनों को सुनकर जाटनी रोकर देवी के चरणों में पड़ गई और अपने पति के प्राण रक्षा की भीख माँगने लगी। तब देवीजी ने कहा कि यदि तू अपने पति के प्राण बचाना चाहती है तो श्रीनरहरियानन्दजी के आश्रम में जितने संत हैं सबको भोजन कराओ और उनकी सीथ-प्रसादी लो, साथ ही आज से सूखी लकड़ियों का एक भारी गट्ठर नित्यप्रति उनके आश्रम में पहुँचाओ। यदि इतना कर सको तो हम तुम्हारे पति को छोड़ दें अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश कर डालूँगी। जाट-जाटनी ने श्रीदेवीजी की सभी शर्तें स्वीकार कर लीं। तब जान बची। इसी से कहा गया है कि बड़ों की बराबरी नहीं करनी चाहिए। यथा-देखा-देखी जो करै अवसि मरै नर सोय। सन्त विमुख, कुलटा-सती, इनकी होड़ न होय।। इस पर-

दृष्टान्त-एक कुलटाका-एक गांव में एक बड़ी ही पति-परायणा, सति-साध्वी स्त्री रहती थी। एक दिन वह धान कूट रही थी। इतने में उसका पति आया और उसने पीने के लिये पानी माँगा। वह साध्वी हाथ का मूसर ऊपर उठाये थी तो उसे ऊपर ही छोड़कर तत्काल पति की आज्ञा पालन में तत्पर हो गई। उसके सतीत्व के बल से मूसर अधर में ही लटका रह गया। नीचे नहीं गिरा। फिर वह पति का परितोष करके आई और पुनः अपने काम में लग गई। यह सब दृश्य एक कुलटा देख रही थी। उसके मन में भी आई कि मैं भी ऐसा ही करूँ। अतः घर आकर उसने अपने पति से कहा कि देखोजी, मैं धान कूटने जा रही हूँ। जब मैं कूटने लगूँ तो तुम आकर मुझसे पीने के लिये पानी माँगना। तब मैं तुमको पानी दूँगी। पति की समझ में नहीं आ रहा था कि रोज तो प्यास लगने पर मैं पानी के लिये चिल्ला-चिल्लाकर हार जाता था, इसके कान पर जूं नहीं रेंगती थी, आज इतनी श्रद्धा कहाँ से आ गई। खैर जो कुछ भी हो, आज यह कह रही है तो इसका कहा करना ही होगा। यह सब सोच-विचारकर उस कुलटा के पति ने उसके डर के मारे जाकर पानी माँगा। सती की देखा-देखी उसने अपना मूसर भी ऊपर को उछाल दिया। फिर उसके मन में आया कि जरा देखूँ तो मेरा मूसर अधर में लटकता है कि नहीं, यह विचारकर ऊपर देखने लगी। तो संयोग की बात मूसर ऊपर तो लटका नहीं, उसकी नाक पर गिरा, नाक टूट गई, वह

लोहू-लुहान हो गई। संत की प्रतिस्पर्धा करने से यही हाल जाट-जाटनी का हुआ। भरत प्रसङ्ग-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४५७। लड़ू देखि तनमें तई-देखिये कवित्त ४०४।।

विशेष-श्रीनरहरियानन्दजी, श्रीसनत्कुमारजी के अवतार हैं। यथा-व्यतीपातेऽनुराधाभे शुक्रेमेषे गुणाकरे। वैशाख कृष्णपक्षस्य तृतीयायां महामतिः।। कुमारो नरहरियानंदा जातः धीरः उदारधीः। श्रीवैष्णव धर्मनिष्ठः शुभकर्मरतः सदा।। (अगस्त्य संहिता, उत्तरार्द्ध अध्याय ३२) इनके पिता का नाम श्रीमहेश्वर मिश्र और माता का नाम श्रीमती अम्बिका देवी था। वे श्रीवृन्दावन के समीप के किसी गाँव के रहने वाले थे। एक बार वे पत्नी सहित विन्ध्यवासिनी भगवती का दर्शन करने गये तो स्थान की रमणीयता एवं दिव्यता देखकर वहीं श्रीगङ्गाजी के किनारे कुटिया बनाकर बस गये। वहाँ रहकर श्रीमहेश्वर मिश्रजी ने श्रीभगवतीजी के दर्शन की अभिलाषा से कठिन तप किया। भगवती ने प्रकट होकर दर्शन दिया और अभीप्सित वर माँगने को कहा। उन्होंने देवी के दिव्य लावण्य को देखकर, मोहित होकर तथा भगवदिच्छा से प्रेरित होकर यह वर माँगा कि आप मेरी पत्नी बनें। एक क्षण के लिये देवी विचार में पड़ गईं, परन्तु जब स्वयं कुछ नहीं समझ में आया तो वे भगवान का ध्यान करने लगीं। तत्काल उरप्रेरक रघुवंशविभूषण ने प्रेरणा की कि श्री सनत्कुमारजी अवतार लेना चाहते हैं, उन्हें गर्भ में धारण करने के लिये कोई प्राकृत माता नहीं समर्थ हो सकती है। अतः आप महेश्वरतुल्य महेश्वर का मनोरथ पूर्ण करो और पृथक रूप न धारण कर अदृश्य रूप से उनकी पत्नी मे प्रविष्ट होकर भगवद्स्वरूप श्रीसनत्कुमारजी को अपने उदर में धारण करो। देवी ने ऐसा ही किया। उसी दिन से श्रीअम्बिका देवी औरों को तो पूर्ववत ही प्रतीत होती थी परन्तु श्रीमहेश्वरजी को श्रीविन्ध्यवासिनी रूप में दिखाई देती थीं।

सम्वत् १४९१ को, वैशाख कृष्ण तृतीया को श्रीअम्बिकादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। बालक का नाम नरहरि रक्खा गया। तीन वर्ष बाद जब बालक नरहरि ने अपनी माँ का स्तनपान करना छोड़ दिया तब देवी विन्ध्यवासिनी ने श्रीमहेश्वरमिश्र से कहा कि अब मैं अपने आदिरूप में विलीन होने जा रही हूँ। आप बालक का उपनयन संस्कार कराकर उसे काशी में विराजमान श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के पास पहुँचा दीजियेगा। इतना कहकर देवी आत्मस्वरूप में स्थित हो गईं। उनका आवेश हटते ही अम्बिका देवी ने तत्काल शरीर छोड़ दिया। श्रीमहेश्वर मिश्र ने बड़े धैर्यपूर्वक उनका अंत्येष्टि संस्कार किया। फिर यथा-समय बालक नरहरि का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। श्रीमहेश्वर मिश्रजी देवी के वचनों को स्मरण कर अपने कुछ विद्यार्थियों के साथ नरहरि को काशी भेज दिये और स्वयं तप करने

बदरिकाश्रम चले गये। काशी पहुँचकर नरहरि ने प्रथम श्रीस्वामी जी के पट्ट शिष्य श्रीअनन्तानन्दजी का दर्शन किया और दीक्षा के लिये प्रार्थना की। श्रीअनन्तानन्दजी श्रीआचार्य चरणों में बालक का वृत्त निवेदन करने ही वाले थे कि इतने में श्रीआचार्यप्रभु का दिव्य शंख बजा। उसे सुनते ही श्रीनरहरि की समाधि-सी लग गई। तदनन्तर श्रीमदाचार्यचरण भजन कुटी से बाहर आये। सबने आपका मंगलमय दर्शन करके अपने को परम धन्य माना। नरहरि ने भी, जब शरीर की सुधि हुई तो श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत-प्रणामपूर्वक स्ववृत्त निवेदन किया। तब श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी ने श्रीअनन्तानन्दजी से कहा कि बालक की दिव्य दीक्षा हो चुकी है। अब पंच संस्कारों द्वारा संस्कृत करके इसे वैष्णवी दीक्षा प्रदान करो और उपासना रहस्य का बोध कराओ। श्रीअनन्तानन्दजी ने नरहरि को सविधि श्रीराममंत्र का उपदेश दिया। और नाम रक्खा-नरहर्यानन्द। फिर अपने पास रखकर समस्त वेदशास्त्र, पुराणादिकों का निगूढ़ तत्व समझाया तथा श्री स्वामी रामानन्दाचार्य विरचित 'आनन्द-भाष्य' पढ़ाया। श्रीनरहर्यानन्दजी की भगवद्भजन में रुचि देखकर श्रीअनन्तानन्दजी ने पंचगङ्गा घाट पर श्रीगंगाजी के किनारे एकान्त में एक कोठरी दे दी। ये वहाँ रहकर बड़े मनोयोग से श्रीगुरुदेवजी की कृपा से प्राप्त 'श्रीविजयराघव भगवान' (शालिग्राम) की सेवा-पूजा तथा श्रीराममंत्र की आराधना में लग गये। सावन-भादों में श्रीगंगाजी इनकी कुटिया के द्वार तक बढ़कर आ जाती थीं।

एक बार ऐसे ही श्रीगङ्गाजी बढ़ी हुई थी। एक दिन प्रातःकाल ये ज्यों ही अपनी कुटी का द्वार खोले तो इन्हें ऐसा लगा कि कोई व्यक्ति किवाड़ से धक्का खाकर गङ्गाजी में गिर पड़ा (कुटी का किवाड़ बाहर की ओर खुलता था) ये भी उसे बचाने के लिये तुरन्त कूद पड़े। और बड़े प्रयत्न से उसे पकड़कर किनारे लाये। वह एक सेठ की कन्या थी। कालान्तर में जब उस कन्या के विवाह की बात चली तो उसने कहा कि जिस संत ने भरी गङ्गा में मेरा हाथ पकड़कर मुझे बचाया था, मैं उससे ही विवाह करूँगी, अन्यथा आजन्म बाल ब्रह्मचारिणी रहूँगी। बात चलते-चलते स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी के पास पहुँची। तब आचार्यचरण ने श्रीअनन्तानन्दजी से कहा कि उस सेठ कन्या की आयु अब केवल चार वर्ष शेष है, अतः कुछ दिन के लिये नरहर्यानन्द को तीर्थाटन के लिये भेज दीजिये। श्रीआचार्यचरण के आदेश से ये तीर्थाटन करते हुए प्रयाग पहुँचे। श्रीत्रिवेणी सङ्गम में स्नान कर ये आलोपी बाग पहुँचे। अब चातुर्मास्य प्रारम्भ होने वाला था, अतः ये वहीं रहकर चातुर्मास्य व्रत करने का निश्चय किये। यहीं श्रीअलोपी देवी का मन्दिर है। छप्पय में वर्णित 'घर झर लकरी नाहिं शक्तिको सदन उदारैं' वाला प्रसङ्ग यहीं का है। आपका यहाँ रहकर

चातुर्मास्यव्रत करने का निश्चय जानकर श्रद्धालु लोगों ने वहीं एक कुटी बना दी। आप बड़े आनन्द से वहाँ रहकर भजन-साधन करने लगे। भक्तों के अनुरोध पर आप श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण एवं श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। ये दोनों ग्रन्थ आपको एकदम कण्ठस्थ थे। आप समान भाव से श्रीराम-कृष्ण का गुणगान करते थे। यथा-तिनके नरहरिउदित मुदित मेहा मङ्गल तन। रघुवर यदुवर गाय विमल कीरतिसंच्योधन। (छ० ३७) वहीं का एक दिन का प्रसङ्ग यह भी है कि-

एक दिन श्रीठाकुरजी के भोग के लिये घी नहीं था और तत्काल कहीं से लाने का अवकाश नहीं था अतः जब देवीजी लकड़ी लेकर आई तो आपने उन्हें घी का पात्र पकड़ा दिया। सन्त-भगवन्त की सेवा में परममुख मिलने से देवीजी तत्काल घी के साथ-साथ शक्कर भी ले आईं। खूब सन्तों का भण्डारा हुआ। कहते हैं कि पहले श्रीअलोपी देवी को प्रसन्न करने के लिये पशुओं की बलि दी जाती थी। परन्तु श्रीनरहर्यानन्दजी के सत्संग से देवीजी सात्त्विक भावापन्न हो गईं अतः गांव के मुखिया को स्वप्न में आदेश दिया था कि अब मैं वैष्णवी हो गई हूँ अब मेरे स्थान पर पशुबलि नहीं दी जायेगी। यदि कोई मेरे कथन के विरुद्ध मद्य-मांस द्वारा मुझे सन्तुष्ट करना चाहेगा तो उसका सर्वनाश हो जायेगा। तब से वहाँ अब तक देवी की सात्त्विक पूजा होती है। चातुर्मास्य व्रतपूर्ण करके आप चित्रकूट प्रस्थान किये। वहाँ आपको युगल सरकार श्रीसीतारामजी, श्रीअत्रि-अनुसूयाजी, श्रीदत्तात्रेयजी आदि के परमपुनीत दर्शन हुए और उपदेश भी प्राप्त हुए, आप नित्य कामतानाथजी (कामदगिरि) की परिक्रमा करते। एकबार आपको श्रीकामदगिरि के दिव्य स्वरूप का भी दर्शन प्राप्त हुआ था। श्रीनरहर्यानन्दजी की मुख्य साधन स्थली श्रीचित्रकूट ही है। यहीं पर आपको श्रीशिवजी ने दर्शन देकर श्रीरामचरितमानस का रहस्यबोध कराया था और आज्ञा दिया था कि हरिपुर जाकर 'रामबोला' नामक अनाथ ब्राह्मण कुमार को श्रीअयोध्या ले जाकर विधिवत् श्रीराममंत्र का उपदेश देकर मेरे द्वारा कही हुई श्रीरामचरितमानस की कथा उसे सुनाओ-समझाओ। वह बालक आगे चलकर महान् सन्त होगा, युगपुरुष होगा, जगदाचार्य होगा और श्रीराम कथा के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को मार्गदर्शन करायेगा। श्रीशिवजी के वचनानुसार अनाथ बालक रामबोला ही आगे चलकर सन्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी हुए। (विशेष देखिये श्रीतुलसीचरित)

एकबार आपने पुरुषोत्तम पुरी (नीलाचल) में चातुर्मास्य किया था। वहीं पर गढ़खला (राजस्थान) के ठाकुर श्रीविजयबहादुर सिंहजी आपके उपदेश से अत्यन्त प्रभावित

होकर चातुर्मास्य पूर्ण होने पर अपने यहाँ लिवा ले गये।उस क्षेत्र में लगभग पैंतीसवर्ष तक आपने भक्ति का प्रचार किया। वहीं आपकी द्वारा गद्दी है। फिर आप चित्रकूट चले आये और जीवन का शेष समय यहीं व्यतीत किये। 'श्रीअनन्ततत्त्वामृत'एवं श्रीनाम-प्रताप' ये दो आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आपके उपदेश बड़े ही हृदयस्पर्शी होते थे। आपका यह अति प्रसिद्ध दोहा वैष्णवों का कण्ठाहार है-नर हरि कंचन कामिनी, इनते रहिये दूर। जौं चाहिये कल्यान निज राम दरस भरिपूर।। (मू०गो० च०)

श्रीपद्मनाभजी

कबीर कृपा ते परमतत्व पद्मनाभ परचौ लह्यौ।।
नाम महा निधि मन्त्र नाम ही सेवा पूजा।
जप तप तीरथ नाम नाम बिन और न दूजा।।
नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामी बोलै।
नाम अजामिल साखि नाम बन्धन ते खोलै।।
नाम अधिक रघुनाथ तें राम निकट हनुमत कह्यो।
कबीर कृपा ते परमतत्व पद्मनाभ परचौ लह्यौ।।६८।।

शब्दार्थ-परमतत्व=सर्वोपरि सारवस्तु। महानिधि = परमधन, सबसे बड़ा खजाना, नवोंनिधियों से भी बढ़कर। नामी = नाम वाला, नामधारी, प्रसिद्ध। लह्यौ = पायौ।

भावार्थ-श्रीकबीरदासजी की कृपा से श्रीपद्मनाभजी ने परमतत्व श्रीनाम महाराज के माहात्म्य को भली प्रकार से जाना। श्रीभगवन्नाम ही आपका परम धन था, श्रीनाम को ही महामंत्र मानते थे। श्रीनाम की ही आप सेवा पूजा करते थे और नाम जप को ही भगवान की सेवा-पूजा समझते थे तथा नाम-जप को ही समस्त जप,तप, तीर्थादि साधन समझते थे। श्रीनाम के अतिरिक्त अन्य साधन-साध्य कुछ भी नहीं जानते थे। नाम के आधार पर ही उनका व्यावहारिक प्रेम-बैर भी आधारित था। अर्थात् नामानुरागियों से प्रीति करते थे तथा नाम से विमुखजनों एवं विरोधियों से बैर करते थे। एवं व्यावहारिक जीवन में जब किसी से विशेष प्रीति वा बैर-विरोध ही हो जाता था तो दोनों स्थितियों में नाम का ही स्मरण करते थे। अथवा इनका विश्वास था कि भगवान का नाम चाहे प्रेमपूर्वक लिया जाय चाहे बैरपूर्वक-दोनों प्रकार से नाम लेने पर श्रीनाम महाराज उसका कल्याण ही करते है। ये श्रीनाम को ही नामी अर्थात् परब्रह्म परमात्मा कहते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि

श्रीभगवन्नाम ही जीव को भव-बन्धन से छुड़ाने वाला है। श्रीनाम महाराज के इस परत्व के साक्षी श्रीअजामिलजी हैं। श्रीरामनाम तो श्रीरामजी से बड़ा है, यह बात श्रीहनुमानजी ने श्रीराम के सम्मुख ही कही है।।६८।।

व्याख्या-कबीर कृपा-श्रीकबीरदासजी पद्मनाभजी के गुरु थे। इनके शिष्य होने का प्रसङ्ग आगे वर्णन किया जायेगा। गुरुकृपा से ही भगवत्तत्व जाना जा सकता है। यथा-श्रुति भगवती कहती हैं-आचार्यवान् पुरुषो वेद। अर्थात् आचार्यनिष्ठ ही उस परमात्मा को जानता है। पुनः-यस्यदेवे पराभक्तिः। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६२।। तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्…। पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७३।। तद्विद्धि प्रणिपातेन…। पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८५।। 'परमतत्व'- तत्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड,अद्वितीय, सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान को ही तत्व कहते हैं। उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान के नाम से पुकारते हैं। यथा-वन्दति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। (भा० १-२-११) पुनः श्रीमिथिलापुरी की रङ्गभूमि में श्रीरामजी को तथा मथुरापुरी की रङ्गभूमि में श्रीकृष्ण जी को योगियों ने परमतत्व रूप में अनुभव किया यथा-जेगिन्ह परम तत्वमय भासा। सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा।। (रामा०) तथा-तत्वं परं योगिनाम्। (भा० १०-४३-१७) पुनः श्रीयुधिष्ठिरजी ने भगवान वेदव्यासजी से पूछा कि- भगवन् योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्र विशारद। किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्।। श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं ब्रूहिमे मुनिसत्तम।। (सनत्कुमार-संहितायां) अर्थ-भगवन्! योगिश्रेष्ठ! सर्वशास्त्रविशारद! मुक्ति साधनभूत परमतत्व, परम जाप्य (जपने योग्य) तथा परम ध्यान क्या है? यह मैं सुनना चाहता हूँ तब श्रीवेदव्यासजी ने कहा-यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम्। तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम्। श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।। (सनत्कुमारसंहिता) अर्थ- जो सबसे परे, गुणातीत परमप्रकाश स्वरूप निर्मल और करुणारूप तारक और ब्रह्म संज्ञक श्रीरामजी हैं, वही परमतत्व हैं, वही कैवल्यपद प्रदान करने वाले हैं और वही परम जाप्य हैं। पुनः-रामनाम समं तत्वं नास्ति वेदान्तगोचरम्। यत्प्रसादात्परां सिद्धिं सम्प्राप्ता मुनयोऽमलाः।। (केदारखण्ड) अर्थ- श्रीरामनाम के समान दूसरा कोई परमतत्व वेद-वेदान्त में भी नहीं है। जिस श्रीरामनाम के प्रताप से बड़े-बड़े मुनीश्वर परम सिद्धि प्राप्त किये हैं। पुनः-इदमेकं परं तत्वं निर्णीतं ब्रह्मवादिभिः। नामव्याहरणं शुद्धं सर्वकालेषु प्रेमतः।। (काशीखण्ड) अर्थ-ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा निर्णीत परम तत्व एकमात्र यही है कि सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक

निष्काम भाव से भगवान का नाम उच्चारण करता रहे। श्रीपद्मनाभजी ने श्रीसद्गुरु कबीरदास जी की कृपा से इस परमतत्व का साक्षात्कार किया था।

नाम महानिधि-यथा-कल्याणानां निधानं'''राम नाम। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५८) तथा देखिये कवित्त २६२। 'मन्त्र'-यथा-महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।। (रामा०) पुनः-सर्वेषां मन्त्रवर्गाणां रामनाम परं स्मृतम्। गोप्यं श्रीपार्वतीशस्य जीवनं चित्तशोधकम्।। अर्थ-समस्त मंत्रसमूहों में श्रीराम-नाम सर्वश्रेष्ठ है, परम गोपनीय हैं, श्रीमहादेवजी के जीवनधन हैं तथा चित्त के परम संशोधक हैं। पुनः-सप्तकोटि महामंत्राश्चित्तविभ्रमकारकाः। एकएव परोमंत्रः श्रीरामेत्यक्षरद्वयम्।। (सारस्वत तन्त्र) अर्थ-मंत्रसंहिताओं में सात करोड़ महामन्त्र कहे गये हैं परन्तु ये सब चित्त को भ्रम में ही डालने वाले हैं। एक मात्र 'श्रीराम' यह दो अक्षर भगवान का नाम ही वास्तव में महामन्त्र हैं। 'नाम ही सेवा-पूजा'-नामनिष्ठ, नाम-जप को ही सेवा-पूजा समझने के साथ-साथ श्रीरामनाम-महाराज को विधिपूर्वक पधराकर श्रीविग्रह की तरह षोडशोपचार विधि से पूजन भी करते थे।

जपतपतीरथ नाम-यथा-तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिल तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्।। (वि०) अर्थ-जिसने काल को देखकर निरन्तर रात-दिन निर्विकार श्रीरामनामामृत का पान किया उसने सब प्रकार के तप कर लिये, उसने निश्चय ही सब प्रकार के दान दे लिये, उसने सारा वेदविहित कर्मकाण्ड कर लिया।। पुनः-नाम लियो जिन सब कियो, योग यज्ञ आचार। जप तप तीरथ परशुराम सर्व नाम की लार।। पुनश्च-कोटि तीर्थानि दानानि कोटि योगव्रतानि च। कोटि यज्ञ जपाश्चैव तपसः कोटि कोटयः।। कोटि ज्ञानैश्च विज्ञानैः कोटि ध्यान समाधिभिः। सत्यं वदामि तैस्तुल्यं रामनाम न वर्तते।। (महारामायण) अर्थ-करोड़ों तीर्थ, दान, योग, व्रत, यज्ञ, जप, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि मिलकर भी श्रीराम नाम के तुल्य नहीं हो सकते हैं। यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ। पुनश्च-अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानुचुर्नामगृणान्ति ये ते।। (भा०३-३३-७) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५२०। 'नाम बिन और न दूजा'-अर्थात् भगवन्नाम ही आपका सर्वस्व था। यथा-रामनाम मात पितु स्वामी समरथ हितु आस राम नामकी भरोसो रामनामको। प्रेम रामनाम ही सों नेम रामनाम ही को जानौं ना मरम पद दाहिनो न वाम को।। स्वारथ सकल परमारथको रामनाम रामनाम हीन तुलसी न काहू काम को। रामकी सपथ सरबस

मेरे रामनाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन काम को।। (क०) ' 'नाम प्रीति नाम बैर, कहा भी गया है-पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं रामके नाते।। (रामा०) पुनः-नातो नेह रामके०।-अतः ये भी नामानुरागियों से प्रीति एवं विमुखों से बैर रखते थे। यहाँ बैर से तात्पर्य सम्बन्ध त्याग से समझना चाहिये। जैसा कि श्रीतुलसीदासजी ने लिखा है-जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।। तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी। बलि गुरु तज्यौ कन्त व्रजवनितनि भयो मुद मङ्गलकारी।। नातो नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। अंजन कहा आँख जेहिं फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।। तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो। जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो।। (वि० १४७) पुनः-नाम प्रीति नाम बैरका भाव -प्रत्येक परिस्थिति में नामोच्चारण करना यथा-सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठ नामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।। (भा० ६-२-१४) देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १७७।। पुनः- प्रेम से या बैर से कैसे भी नाम लिया जाय कल्याण ही होता है। यथा-भाव कुभाव अनख आलस हूँ। नाम जपत मङ्गल दिसि दसहूँ।। (रामा०) भाव सहित सङ्कर जपे, कहि कुभाव मुनि बाल। कुम्भ करन आलस जप्यो अनख जप्यो दस भाल।। (विजय दोहावली)

नाम कहि नामी बोलै-अर्थात् नाम और नामी में अभेद मानते थे। श्रुति-शास्त्र सिद्धान्त भी यही है। यथा-न भेदो नामनामिनः। पुनश्च-समुझत सरिस नाम अरु नामी।। पुनः- नाम को ही नामी इसलिये कहते हैं कि नामी नाम के अधीन है। यथा-देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना।। रूप विशेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परत पहिचाने।। सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विसेषे।। (रामा०) व्यवहार में भी यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है जैसे किसी का श्याम नाम है तो श्याम नाम लेकर बुलाने पर श्याम को बोलना पड़ता है, समीप आना पड़ता है। इस स्थिति में नामी और नाम में अभेद होने पर नामी को नाम का अनुसरण करना पड़ता है। इसी से श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं-समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी।। (रामा०)

दृष्टान्त-एक मारवाड़ी भक्तका-मारवाड़ में एक रामचन्द्र नाम के व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम सीता था और संयोग से घर में सेवा भी श्रीसीताराम जी की ही थी। एक दिन उनके वृद्ध पिता बीमार पड़े। रात्रि में प्यास लगने पर पुत्रवधू से जल माँगा-बेटी सीता! पानी! वह सो गई थी। अतः वृद्ध ने दो-चार बार कहा-सीता! पानी। तब श्री

रामजी ने श्रीजानकीजी से कहा कि आप जाकर वृद्ध को जल पिला आइये। श्रीजानकीजी ने कहा कि वह मुझे थोड़े ही बुला रहे हैं, वह तो अपनी पुत्रवधू को बुला रहे हैं। श्रीरामजी ने कहा कि चाहे कुछ भी हो, नाम तो आपका भी यही है, अतः आपको अपने नाम का अनुगमन करना चाहिये। तब श्रीजानकीजी ने मन्दिर की चाँदी की झारी में जल भरकर वृद्ध को जल पिलाया। प्रातःकाल रहस्योद्घाटन हुआ।

दूसरा दृष्टान्त श्रीअलीकिशोरीजी का-कहते हैं कि इनकी पत्नी का नाम किशोरी था और पत्नी में इनका बड़ा अनुराग था। दैव दुर्विपाकवश इनकी पत्नी की मृत्यु हो गई जिससे कि इन्हें बड़ा भारी वियोग व्याप गया। लोगों ने बहुत समझाया-बुझाया परन्तु इनका विरह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अन्ततोगत्वा ये इसी विरह में घर से निकल पड़े। रात दिन 'हा किशोरी, हा किशोरी, हा किशोरी' रटते रहते थे। इसी प्रेमोन्माद में घूमते-फिरते ये वरसाने आ गये। रात्रि में श्री श्रीजी के मन्दिर के पिछवारे बैठकर पत्नी के नाम की रट लगा रहे थे। जब अर्द्धरात्रि हुई तो श्रीठाकुरजी, श्रीकिशोरीजी (श्रीराधाजी) से कहा कि देखो कोई आपका नाम लेकर पुकार रहा है। श्रीराधाजी ने कहा कि वह तो अपनी पत्नी के विरह में उसी का नाम ले रहा है। श्रीठाकुरजी ने कहा कि आप भी तो 'श्रीकिशोरी' नाम से पुकारी जाती हो और यह आपके समीप आकर आपका नाम ले रहा है तो नाम की लाज तो आपको रखनी ही पड़ेगी। तब श्रीजी ने आकर इनको दर्शन दिया। श्रीवृषभानु किशोरीजी का दर्शन करते ही ये अपनी पत्नी किशोरी को भूल गये और शेष जीवन लाड़ली वृषभानु किशोरीजी के चरणों में ही बिताया। यह है नाम लेने पर नामी के बोलने, प्रगट होने, दर्शन देने का ज्वलन्त दृष्टान्त। अतः-नाम कहि नामी बोलै।।

नाम अजामिल साखि-ग्रन्थों में नाम-महिमा का जैसा वर्णन किया गया है। श्रीअजामिलजी ने अपने जीवन में उसका साक्षात्कार किया है। देखिये पूर्वार्द्ध श्रीअजामिलजी का प्रसङ्ग। नामाभास मात्र से अजामिल का उद्धार हो गया और भगवत्पार्षदों से श्रीनाममाहात्म्य को श्रवण किये। अतः नाम अजामिल०। 'नाम बन्धन ते खोले' यथा-जाको नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार।। (वि० ९८) पुनः-सुपच खलभिल्ल यमनादि हरिलोकगत नाम बल विपुल मति मल न परसी। त्यागि सब आस सन्त्रास भव पास असि निसित हरिनाम जपु दास तुलसी।। (वि० १६) श्रीनाम महाराज की कृपा से ही अजामिलजी यम पाश एवं भवपाश से मुक्त हुये थे। इसके साक्षी भी श्रीअजामिलजी हैं।

नाम अधिक रघुनाथ ते०-एक बार श्रीहनुमानजी श्रीनाम महाराज की महामहिमा विचारकर मन ही मन बहुत प्रसन्न हो रहे थे। श्रीरामजी ने प्रसन्नता का कारण पूछा तो श्रीहनुमानजी ने कहा-प्रभो! आज तक तो वेद-शास्त्र-पुराणादि सभी आपको ही सर्वश्रेष्ठ कहते रहे हैं और मेरा भी ऐसा ही विश्वास था, परन्तु विचार-विमर्श के बाद आज मैंने निश्चय किया है कि आपसे भी बढ़कर आपका नाम है। श्रीरामजी ने पूछा-सो कैसे? तब श्रीहनुमानजी ने कहा कि आप तो केवल अयोध्या की प्रजामात्र को अपने साथ परमधाम ले जाते हैं, परन्तु श्रीनाम महाराज तो तीनों लोकों के जीवों को परमधाम पहुँचाने वाले हैं। यथा-राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चिता मतिः। त्वयैका तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्।। श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में डङ्के की चोट पर श्रीनाम महाराज को श्रीराम से बड़ा कहा है। यथा-ब्रह्मराम ते नाम बड़ बरदायक बरदानि। रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।। (रामा०) और विविध प्रमाणों से अपने कथन को सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड में नाम-वन्दना प्रकरण का तेइसवाँ, चौबीसवाँ, पच्चीसवाँ दोहा दृष्टव्य है।

श्रीपद्मनाभजी दिग्गज दिग्विजयी पण्डित थे। इनका सभी वेद, शास्त्र, पुराणादिकों पर पूर्ण अधिकार था। कोई भी पण्डित शास्त्रार्थ में इनके सामने नहीं टिक पाते थे। जब ये शास्त्रार्थ के लिये चलते तो इनके साथ बैलगाड़ियों पर पोथियाँ लदकर चलतीं और सङ्ग में बहुत से बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण भी सहायक रूपमें चलते थे। इनके पाण्डित्य की ऐसी धूम मची थी कि बड़े-बड़े शास्त्रार्थ महारथी इनका नाम सुनकर घबड़ाते थे और ये भी जहाँ कहीं किसी पण्डित का नाम सुन लेते, तुरन्त सदल बल वहाँ पहुँच जाते। विजयश्री इनके चरण चूमती थी। बहुत से पण्डितों ने बिना शास्त्रार्थ किए ही विजय-पत्र लिख दिया और जिसने शास्त्रार्थ किया भी उसे अविलम्ब हारकर विजय-पत्र लिखने के लिये विवश होना पड़ा। इस प्रकार देश के कोने-कोने से पण्डितों द्वारा विजय-पत्र लिखवाते हुए श्रीपद्मनाभ जी काशी आये। यहाँ भी इन्होंने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। काशी में मुनादी फिरवा दी कि यहाँ के विद्वान मुझसे शास्त्रार्थ करें या विजय-पत्र लिखकर दें। काशी के पण्डित इनकी प्रख्याति सुन चुके थे। वे जानते थे कि इस समय इनका नक्षत्र बलवान है अतः केवल पाण्डित्य बल से इन्हें पराजित करना असम्भव है। यदि ये कदाचित् हार सकते हैं तो सिद्धिबल से, अतः सब पण्डितों ने मिलकर अपने परमाराध्य भगवान शिवजी के पास जाकर प्रार्थना की। श्रीशिवजी ने पण्डितों को परामर्श दिया कि तुम लोग दिग्विजयी को

श्रीकबीरदासजी के पास भेजो। वहाँ उनकी सारी पण्डिताई हवा हो जायेगी और विवश होकर उन्हें श्रीकबीरदासजी का चेला बनना पड़ेगा। काशी के ब्राह्मण भी श्रीकबीरदासजी की सिद्धि एवं प्रसिद्धि से परिचित थे। (देखिये श्रीकबीरदासजी का प्रसंग।) अतः श्रीशिवजी की सलाह सबके मन में बैठ गई। फिर तो सब पण्डित मिलकर श्रीपद्मनाभजी के पास गये और बोले कि देखिये, यह काशीपुरी है, यहाँ एक से एक धुरन्धर विद्वान हैं और अनेकों हैं। आप एक से शास्त्रार्थ करेंगे और यदि जीतेंगे भी तो दूसरा तैयार हो जायेगा। इस प्रकार आपको काशी विजय में बहुत समय और श्रम लगाना पड़ेगा। अतः हम लोगों ने यह निर्णय किया है कि यदि आप हम लोगों के गुरु श्रीकबीरदासजी को शास्त्रार्थ में पराजित कर दें तो हम सब अपनी हार मान लेंगे। इससे आप भी समय और श्रम से बचेंगे और हम लोग भी माथापच्ची से बच जायेंगे। श्रीपद्मनाभजी को काशी के पण्डितों की यह बात पसन्द आ गई। इन्होंने कहा कि यदि ऐसी बात है तो आप लोग उन्हें मेरे पास ले आइये। पण्डितों ने कहा कि वे बड़े फक्कड़ संत हैं, वे यहाँ आ नहीं सकते क्योंकि उन्हें कोई शास्त्रार्थ की गरज है नही। अतः उनके यहाँ तो आपको ही चलना पड़ेगा। श्रीपद्मनाभजी तैयार हो गये। तब काशी के पण्डितों ने श्रीकबीरदासजी से जाकर समस्त वृत्तान्त निवेदन किया। जब श्रीकबीरदासजी ने सुना कि श्रीशिवजी ने कहा है कि दिग्विजयी को कबीर के पास भेजो तो वे प्रेमविभोर हो गये। अहो! श्रीशिवजी ने मेरा नाम लिया मुझे स्मरण किया, मेरे धन्य भाग्य हैं। साथ ही श्रीकबीरदासजी निश्चिन्त भी हो गये कि जब श्रीशिवजी की आज्ञा है तो वे मुझे संभालेंगे भी, मेरे मुख से बोलेंगे भी। फिर तो श्रीकबीरदासजी ने भी स्वीकृति दे दी।

काशी के ब्राह्मण श्रीपद्मनाभजी को लेकर श्रीकबीरदासजी के पास गये। श्रीकबीरदासजी ने बड़ी विनम्रता पूर्वक इनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। फिर शास्त्र चर्चा चली तो श्रीकबीरदासजी ने अपने को शास्त्रार्थ एवं शास्त्रज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ बताया। श्रीपद्मनाभजी ने इसे इनकी शालीनता समझी अतः बारम्बार उनसे प्रश्न पूछने का आग्रह किया। तब श्रीकबीरदासजी ने कहा-पण्डितजी! मैंने तो 'मसि कागद छुयौ नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ।' भला मैं आपसे शास्त्र चर्चा कैसे कर सकता हूँ। आपने बड़ी कृपा की जो दर्शन दिया। मैं प्रश्न के रूप में नहीं, जिज्ञासा के रूप में यह जानना चाहता हूँ कि-समुझि पढ़े कि पढ़ि समुझि, अहो कहो कविराय। सुनि यह बात कबीर की, पण्डित गयो हेराय।। श्रीकबीरदासजी ने श्रीपद्मनाभजी को अधिकारी जानकर जो कुछ पूछा वह कृपा करके पूछा। परम संत की कृपा किरण पड़ते ही श्रीपद्मनाभजी के अन्तश्चक्षु खुल गये। उन्होंने बड़ी विनम्रता

पूर्वक कहा-महाराज! मैंने न तो समझकर पढ़ा न पढ़कर ही समझा, अब आपकी कृपा से समझा कि हमारा सब पढ़ना-लिखना व्यर्थ रहा। पढ़ने का जो वास्तविक तात्पर्य है उसे तो मैंने समझा नहीं, केवल वाद-विवाद में उलझकर स्वयं सन्तप्त हुआ और दूसरों को संतप्त किया। विद्या का फल है-विवेक की प्राप्ति। यथा-विद्या बिन विवेक उपजाये। श्रमफल पढ़े किये अरुपाये।। पुनः-आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।। तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर।। (रामा०) पुनः-कीबे कहा पढ़िबे को कहा फल बूझिना वेदके भेद विचारै। स्वारथको परमारथको कलि कामद रामको नाम विसारै।। वाद विवाद विषाद बढ़ाइकै छाती पराई औ आपन जारै। चारिहुको छवको नवको दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यों फारैं।। (क०) (चारिहु=चारों वेद, छय = छओ शास्त्र, नव = नवो व्याकरण, दस आठ = अठारहो पुराण।)

श्रीपद्मनाभजी को अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। उसी समय इन्होंने निश्चय किया कि अब मैं भी किसी से शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। फिर तो इन्होंने साथ के पण्डितों को पुस्तक के सहित लौटा दिया और सबसे हाथ जोड़ लिया। फिर श्रीकबीरदासजी के चरणों में पड़कर मंत्र-दीक्षा के लिये प्रार्थना किये। इनकी योग्यता और पात्रता में किंचित भी सन्देह नहीं था। अतः श्रीकबीरदासजी ने इन्हें श्रीरामनाम का उपदेश दे दिया। इन्होंने श्रीसद्गुरुदेव श्रीकबीरदासजी की कृपा से श्रीनाम-महिमा का साक्षात्कार किया। श्रीनाभाजी महाराज कहते हैं-कबीर कृपाते…लह्यौ। कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन आया है कि जब श्रीकबीरदासजी ने इनसे पूछा कि समुझि पढ़े कि पढ़ि समुझि आहे कहो कविराय। तो इन्हें तत्काल कुछ उत्तर नहीं आया। बोले कि कल मैं इसका जवाब दूँगा। सायंकाल को यह श्रीगङ्गाजी के किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर विचार कर रहे थे। उस पीपल पर साठ हजार प्रेत रहते थे। एक बीच की ऊँची डाली खाली थी। एक ब्राह्मण मरकर प्रेत बनकर उस पर बैठने आया तो अन्य प्रेतों ने मना किया कि इस पर मत बैठो। इस पर तो पद्मनाभजी जब मरकर ब्रह्म पिशाच होंगे तो वे आकर बैठेंगे। यदि तुम्हें बैठना हो तो पहले उनसे पूछ आओ। तब उस ब्रह्मराक्षस ने इनसे आकर सब बात बताई। सुनकर पद्मनाभजी डर गये और उससे पूछे कि क्या मेरे उद्धार का कोई उपाय है? जिससे कि ब्रह्मपिशाच होने से बच सकूँ। तब उस प्रेत ने कहा कि यदि आप श्रीकबीरदासजी के शरणागत हो जायें तो आपका उद्धार हो जायेगा। तब श्रीपद्मनाभजी दूसरे दिन आकर श्रीकबीरदासजी के शिष्य हो गये। 'समुझि पढ़े कि पढ़ि समुझि' इसका

स्पष्टीकरण! श्रीप्रह्लादजी एवं श्रीशुकदेवजी ने समझकर पढ़ा था। श्रीप्रह्लादजी ने माता के गर्भ में ही श्रीनारदजी के श्रीमुख से परमतत्व को समझ लिया था। अतः जन्म लेने पर फिर और विद्या न पढ़कर वही (ब्रह्मविद्या) पढ़ें। ऐसे ही श्रीशुकदेवजी ने भी श्रीव्यासजी के शिष्यों के मुख से भगवान के रूप, गुणों को समझकर तब श्रीव्यासजी से श्रीमद्‌भागवत महापुराण को पढ़ा।। श्रीयुधिष्ठिरजी ने पढ़कर समझा था। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३४६, श्रीयुधिष्ठिरजी की कथा।

काशीबासी साहु भयो कोढ़ी सो निबाह कैसे परि गये कृमि चल्यौ बूड़िबेको, भीर है।
निकसे पदम आय पूछी ढिग जाय, कही गही देह खोलौ गुन न्हाय गंगा नीर है।।
रामनाम कहै बेर तीन मैं नवीन होत भयौई नवीन कियौ भक्ति मति धीर है।
गयौ गुरु पास तुम महिमा न जानी अहो नाम भास काम करै कही यौं कबीर है।।३११

शब्दार्थ–साहु = सेठ। निबाह = निर्वाह, गुजारा। कृमि = कीड़े। भीर = भीड़। गुन= रस्सी। नामभास = नामाभास (नाम+आभास = प्रतिबिम्ब, परछाईं, झलक, संकेत, झूठा दिखावा, तुल्यता, प्रकाश, मिथ्याज्ञान) अर्थात् बिना माहात्म्यज्ञान के भगवद्‌बुद्धि बिनाभी, अन्य व्याज से भी येन केन प्रकारेण नामोच्चारण।

भावार्थ–काशीपुरी में निवास करने वाले एक सेठ को गलित कुष्ठरोग हो गया था। उसके शरीर में कीड़े पड़ गये थे। ऐसी स्थिति में भला उसके जीवन का तथा पारिवारिक जनों का एवं पास-पड़ोस के लोगों के साथ रहन-सहन का निर्वाह कैसे हो सकता था? अतः वह श्रीगङ्गाजीमें डूबकर मर जाने का संकल्प करके डूबने को चला। उस समय उसके साथ लोगों की बहुत बड़ी भीड़ गङ्गातट पर एकत्रित हो गई थी। संयोगवश श्रीपद्मनाभजी उधर ही जा निकले। भीड़ देखकर समीप जाकर पूछे। लोगों ने बताया तब इन्होंने कहा कि उसे पकड़ो, डूबने मत दो और उसके शरीर से बन्धन खोल दो तथा उससे कहो कि वह गङ्गाजल में स्नान करे। स्नान करते समय तीन बार श्रीरामनाम कहने मात्र से ही उसका शरीर नवीन हो जायेगा। उसने वैसा ही किया तो सचमुच उसका शरीर नवीन हो गया। फिर तो उसने जीवनपर्यन्त बुद्धि को स्थिर करके भगवान की भक्ति किया। इसके बाद श्रीपद्मनाभजी श्रीगुरुदेव श्रीकबीरदासजी से जाकर सब वृतान्त कहे तो उन्होंने कहा कि अहो! तुमने श्रीनाम महाराज की यथार्थ महिमा नहीं जानी, तब तो तुच्छ रोग के लिये तीन बार भगवन्नाम उच्चारण कराया। अरे, यह कार्य तो नामाभास मात्र से हो सकता है।।३११।।

व्याख्या-चल्यो बूड़िबे को-बात यह हुई कि एक दिन प्रातःकाल जब भंगिन झाड़ू लगाने आई तो सर्वप्रथम उसे सेठ का ही दर्शन हुआ। देखते ही उसने मुँह फेर लिया और नाक बंद कर ली तथा बड़बड़ाई कि राम, राम! आज सबेरे-सबेरे मैंने कोढ़ी का मुख देखा है, देखें तो आज का दिन कैसे बीतता है? रोटी मिलती है कि नहीं? भगवान ही आज का दिन पार लगावें। आदि। सेठ ने भंगिन की बातें सुन लीं। उसे मन में बड़ी ग्लानि हुई कि मुझे ऐसा रोग हुआ कि उससे मैं तो दुःखी हूँ ही, दूसरे भी दुःख पा रहे हैं। भला, भंगिन भी मेरा मुख देखना अशुभ मानती है तथा उसे भी मेरे शरीर की दुर्गन्ध इतनी तीव्र लग रही है कि उसने नाक बंद कर ली तो और लोगों पर क्या बीतती होगी? तथा वे लोग मेरे प्रति क्या-क्या सोचते होंगे, कौन वर्णन कर सकता है? अतः ऐसे जीने से तो मर जाना ही अच्छा है। फिर तो सेठजी ने अपने मन में श्रीगङ्गा में डूबकर शरीर छोड़ने का निश्चय कर लिया तथा अपना निश्चय सबको सुना भी दिया। यद्यपि सब लोगों ने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु वे किसी की नहीं माने। चल्यो बूड़िबे को। निकसे पदम आय-यद्यपि श्रीपद्मनाभजी ब्राह्मण थे, विद्वान थे, दिग्विजयी थे, परन्तु श्रीकबीरदासजी से हार गये थे, तथा उनकी कृपा से विमल-विवेक भी प्राप्त हो गया था। अतः श्रीकबीरदासजी के शिष्य बन गये थे, लेकिन श्रीकबीरदासजी इनकी योग्यता विचारकर इनका बड़ा आदर करते थे। इनके साथ आत्मवत् व्यवहार करते थे। अन्य सेवक-शिष्यों से तो कुछ सेवा ले भी लेते थे परन्तु इनसे कभी भी कोई कैंकर्य करने को नहीं कहते थे। लेकिन ये तो श्रीकबीरदासजी को गुरु ही मानते थे। अतः जब कभी सेवक-शिष्यों की अनुपस्थिति में श्रीकबीरदासजी कोई कैंकर्य करने लगते तो ये स्वयं उसे कर देते थे। आज भी संयोग से कोई अन्य शिष्य पास में नहीं था, अतः श्रीकबीरदासजी स्वयं ही गङ्गाजल लाने के लिये चल दिये। तब श्रीपद्मनाभजी ने बड़ी अनुनय-विनय करके श्रीकबीरदासजी के हाथ से कलश लेकर स्वयं जल लेने गङ्गाजी पर पहुँचे।

खोलौ गुन-उस समय उस सेठ के शरीर में पत्थर-वत्थर बाँधकर डुबाने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। अतः इन्होंने सब खोलवाया 'भयोई नवीन'-भला भव को छुड़ाने में परम समर्थ श्रीनाम महाराज के लिये शारीरिक रोग दूर करना कौन बड़ी बात है? पहली डुबकी में रोगनाश हुआ, दूसरी डुबकी में सब गलित अंग पूर्ण हो गये और तीसरी डुबकी में कंचन-सी काया हो गई। 'कियो भक्ति'-श्रीरामनाम का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर सेठ को श्रद्धा हो गई। अतः उसने शेष जीवन भगद्भक्ति में ही बिताया। उसके साथ-साथ

अन्य लोग भी भक्त बन गये। 'गयौ गुरुपास'-श्रीपद्मनाभजी बड़े ही प्रसन्न मन, हँसते हुए श्रीकबीरदासजी के पास पहुँचे। इनको आज बड़े गौरव की अनुभूति हो रही थी कि मैंने खूब श्रीराम-नाम की महिमा को जाना और दूसरों को भी जनाया। आज मैंने निश्चय ही बहुत बड़ा काम कर दिखाया। श्रीगुरुजी सुनेंगे तो बहुत प्रसन्न होंगे, मेरी पीठ थप-थपायेंगे, बड़ाई देंगे। आदि। परन्तु हुआ सब सोचे हुए के विपरीत, जब श्रीकबीरदासजी ने इनसे देर का कारण पूछा और इन्होंने विस्तार से सब विवरण सुनाया तो वे बड़े ही झुंझलाये कि तुमने तुच्छ कार्य के लिये तीन बार श्रीराम-नाम लिवाया। उन्होंने कहा-तुम महिमा न जानी अहो-भाव यह कि श्रीराम-नाम की अनन्त महिमा है। यथा-राम नाम कर अमित प्रभावा। सन्त पुरान उपनिषद गावा।। कहौं कहा लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई।। (रामा०) इस पर-

दृष्टान्त-ब्राह्मणकुमार का-एक पण्डितजी बड़े धर्मात्मा एवं भगवद्भक्त थे। उनके सभी पुत्र भी पिता के समान शील-गुण वाले थे। केवल एक पुत्र भगवद्विमुख था। इस बात की पण्डितजी को बड़ी चिन्ता रहती थी। इन्होंने बहुतेरा पुत्र को समझाने का प्रयत्न किया परन्तु सब व्यर्थ गया। तब वे एक संतजी से अपना दुःख निवेदन किये। संतजी ने कहा कि समय-समय घर पर अखण्ड भगवन्नाम संकीर्तन का आयोजन कराइये। यदि वह भगवान का नाम लेता नहीं है तो यदि सुनेगा तो भी कल्याण हो जायेगा। पण्डितजी ने ऐसा भी किया। परन्तु वह तो कीर्तन के दिन घर छोड़कर कहीं दूर चला जाता, जिससे कीर्तन की ध्वनि उसके कान में न पड़े। श्रीपण्डितजी ने संत को जाकर जब यह बात सुनाई तो संतजी ने कहा कि अच्छा एक दिन उसे जैसे हो तैसे घर पर रोक रखिये और हम लोगों को बाजे-गाजे के साथ आमंत्रित करिये, फिर हम आगे सब कार्य कर लेंगे। पण्डितजी ने लड़के की बहू से कहा कि आज वह अपने पति को घर पर रोक रक्खे। उधर संत बाजे बजाते आ गये। ब्राह्मणकुमार पत्नी के कहने से कहीं गया तो नहीं परन्तु भीतर से सांकल लगा लिया। जिसमें कोई उसके पास आकर 'राम-राम' कहने का अनुरोध न करे। संतों ने प्रसाद पाया और पुनः बाजे-गाजे के साथ आश्रम को लौट गये। केवल महंतजी रह गये। ब्राह्मणकुमार ने समझा कि सब लोग चले गये अतः किवाड़ खोलकर बाहर निकला तो तुरन्त श्रीमहन्तजी ने उसे पकड़ लिया और श्रीराम-नाम कहने का अनुरोध करने लगे। परन्तु वह तो किसी हालत में भी भगवान का नाम लेने को राजी नहीं था। तब श्रीमहन्तजी ने बल का प्रयोग किया। वे बाल ब्रह्मचारी थे, शरीर में खूब ताकत थी। अतः जोर से उस ब्राह्मण

कुमार को दबोचे। उसका दम घुटने लगा। तब उसने चिल्लाकर कहा कि आप हमें मार भले डालें, ''परन्तु मैं राम-नाम नहीं' ले सकता, श्रीमहन्तजी ने उसे छोड़ दिया और बोले-बेटा! अब तो तुमने नाम ले ही लिया। अब चाहे जीवन में कभी मत लेना परन्तु एक बात याद रखना, जब तुम धर्मराज के सम्मुख पहुँचना तो उनसे पूछना कि धोखे में एक बार श्रीराम-नाम लेने का क्या फल होता है? संत ने यहाँ बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। उधर कह रहे हैं कि अब तुम चाहे कभी राम-नाम नहीं लेना और इधर कह रहे हैं कि धर्मराज से पूछना भूलना मत। अब इसी ब्याज से उसे निरन्तर नाम की स्मृति बनी रहेगी। सचमुच ब्राह्मणकुमार अब बड़ी सावधानी से यह बात याद रखने लगा क्योंकि मृत्यु का तो कोई ठिकाना नहीं, कब आ जाय। इसलिये तनिक भी सिर दूखै तो सजग हो जाता कि धर्मराज से पूछना है। ऐसे ही भगवत्स्मृति में उसकी आयु पूर्ण हो गई।

यथा समय जब वह मर कर धर्मराज के सम्मुख पहुँचा तो उसने अपना प्रश्न उनके सम्मुख प्रस्तुत किया। सुनकर श्रीधर्मराजजी मौन हो गये, मन ही मन प्रणाम किये और बोले-भइया! नाम की कीमत आँकने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मेरे यहाँ तो कर्मों का हिसाब-किताब होता है। वही हम जानते हैं अतः इसके लिये तो तुम्हें देवराज इन्द्र के पास चलना पड़ेगा। उसने समझ लिया कि नाम की महिमा अचिन्त्य मालूम पड़ती है, तब तो धर्मराज मूक हो रहे हैं। अतः अब मैं निश्चय ही इनके अधिकार से बाहर हो गया हूँ। फिर तो उसने गरजकर कहा कि मैं ऐसे इन्द्र के पास नहीं जाऊँगा। मेरे लिये पालकी मँगाई जाय तथा उसमें कहारों के साथ आप भी लगें। श्रीधर्मराजजी ने बिना ननु नच किये पालकी मँगाया और उस महाभाग ब्राह्मण कुमार को उसमें बैठाकर स्वयं भी कन्धे पर पालकी उठाकर देवेन्द्र के पास पहुँचे। धर्मराज को पालकी में लगा देखकर उसे श्रीनाम-महिमा में और भी अधिक विश्वास हो गया। देवराज इन्द्र ने सबका बड़ा स्वागत किया। परन्तु उन्होंने भी धर्मराज की तरह असमर्थता ही प्रकट की और श्रीब्रह्माजी के पास चलने की सलाह दी। अब तो देवराज भी पालकी में लगे। सब लोग श्रीब्रह्माजी के पास पहुँचे। वहाँ भी स्थिति पहले की सी ही रही। तब सब लोग सलाह करके श्रीशिवजी के पास गये। ब्रह्माजी ने भी पालकी में कंधा लगाया। श्रीशिवजी ने सबका यथोचित सत्कार करने के बाद कहा कि श्रीराम नाम में मेरी निष्ठा तो अवश्य ही अपार है परन्तु पूर्ण माहात्म्य तो मैं भी नहीं जानता हूँ। अतः इसके निर्णय के लिये हमें श्रीविष्णु भगवान के पास चलना चाहिये। अब धर्मराज, देवराज इन्द्र, लोकपितामह ब्रह्मा और महादेव शिव-ये चारों कंधे पर पालकी लिये हुये

भगवान विष्णु के पास पहुँचे। भगवान विष्णु ने सबका बड़ा आदर किया और कहा कि इस जीव को उठाकर आप लोग मेरी गोद में रख दें। अब यह मेरी गोद का नित्य अधिकारी हो गया। नाम का पूरा मूल्य (माहात्म्य) तो मैं भी नहीं कह सकता, अब इतने से ही अनुमान करके आप लोग अपने-अपने धाम को लौट जाइये। यह है श्रीनाम-महाराज की महामहिमा।

रोग निवारण के लिये श्रीनाम-महाराज का प्रयोग करना मानो श्वान को मारने के लिये सिंह छोड़ने तथा मच्छर को मारने के लिये तोप चलाने के समान है। भाव यह कि अत्यन्त लघु कार्य के लिये महती शक्ति का प्रयोग करना, शक्ति का उपहास करना है। तुमने श्रीनाम-महाराज की महिमा नहीं प्रकट की बल्कि उनका उपहास कराया है। यह तुम्हारे द्वारा नामापराध हो गया। अतः इसके प्रायश्चित्त के लिये तुम्हें उत्तराखण्ड जाकर नामाराधन करना पड़ेगा। इस पर-

दृष्टान्त-गुरु-चेला का-एक महात्मा नदी में स्नान कर रहे थे। उसी समय एक भंगिन भी जल भरने गई। उससे जल भरा कलश नहीं उठा तो उसने महात्माजी से प्रार्थना की कि कृपा करके मेरा कलश उठवा दें। महात्माजी ने विचार किया कि यह अत्यन्त नीच है, इसे हम कैसे स्पर्श करें। परन्तु उधर दीन होकर प्रार्थना कर रही है, अतः घड़ा उठाना भी अनिवार्य है। तब उन्होंने यह युक्ति निकाली कि इसे पहले श्रीराम-नाम के द्वारा शुद्ध कर लूँ फिर घड़ा उठाऊँ। ऐसा करने से हमें स्पर्श जन्य दोष भी नहीं लगेगा और इसका कार्य भी हो जायेगा। अतः महात्माजी ने उससे तीन बार श्रीराम-नाम उच्चारण कराया फिर घड़ा उठवा दिया। उधर महात्माजी के गुरुदेव मानसी में भगवान का ध्यान कर रहे थे तो उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि प्रभु का प्रसन्न मुख-कमल एकाएक रूखा हो गया। तब पूछा जै-जै प्रभु! आपके श्रीमुखारविन्द पर रुखाई क्यों आ गई? तब भगवान ने कहा कि आपका चेला आज तक मेरे नाम की कुछ भी महिमा नहीं समझा। उसने एक भंगिन को शुद्ध करने में तीन बार मेरे नाम का उच्चारण कराया है। मेरा तो एक नाम ही अनन्त पापियों के पापों को नष्ट करके उन्हें परम पावन बनाने में समर्थ है। यथा-पाई न केहि गति पतित पावन राम भजु सुनु सठ मना। गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।। आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते (रामा० उ० का०) तब श्रीगुरुजी ने चेला को बुलाकर नाम का माहात्म्य समझाया, वैसे ही श्रीकबीरदासजी ने कहा-नामभास काम करै-इस पर-

दृष्टान्त–एक वेश्या प्रेमी का–किसी नगर में एक धनवान व्यक्ति की किसी वेश्या से अत्यन्त प्रीति हो गई थी। वह बूढ़ा हो गया था। उसके पोते का विवाह था। घर में मिठाईयाँ खूब बनी हुई थीं। उस बूढ़े ने जैसे-तैसे युक्ति करके एक पोटली मिठाई की बाँधी और उसे लेकर वह वेश्या के पास चला। सीढ़ियों पर चढ़ा नहीं गया तो उसने नीचे से ही बुलाया। एरी, पोटली थामले। परन्तु बूढ़ा होने से आवाज स्पष्ट नहीं निकली। एरी की जगह उसके मुख से 'हे हरी' निकल गया। इतने में उसका शरीर छूट गया तो तत्काल विष्णुपार्षद आ गये और उसे भगवद्धाम ले गये। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १७८, श्रीअजामिलजी के प्रसङ्ग में नामाभास पर दृष्टान्त चार किरातों का, चार चोरों का, यवन का।

आज पद्मनाभजी ने भगवन्नाम का महत्व परत्व जाना। उस दिन से श्रीनाम-महाराज के प्रति इनका अनुराग और भी अधिक हो गया। निरन्तर नाम जपते थे तथा भगवान की मानसी सेवा करते थे। परम अकिंचन के लिये शास्त्र में मानसी सेवा की विधि भी है। वर्णन आया है कि एक दिन ये मानसी में भगवान का भोग लगा रहे थे। भावावेश में ये प्रभु के सम्मुख विविध नैवेद्य प्रस्तुत करते हुए मुख से कहते भी जा रहे थे कि प्रभो! यह पूआ है, यह तस्मई है, यह लड्डू है, यह कढ़ी-भात है, आदि। उसी समय एक सज्जन वहीं पास खड़े-खड़े सुन रहे थे। उनके मन में बड़ा कुतूहल हो रहा था कि देखने को तो चना-चबैना भी दिखाई नहीं पड़ता है और बाबाजी नाम ले रहे हैं विविध व्यंजनों का। कहीं दिमाग तो नहीं फिर गया है इनका? थोड़ी देर बाद उन्होंने श्रीपद्मनाभ जी को प्रणाम किया तो इन्होंने उसी भावावेश में उन्हें प्रसाद दिया। प्रसाद में लगभग वह सब वस्तुयें थीं, जिनका इन्होंने नाम लिया था। तब वे सज्जन अपनी भूल पर बहुत पछताये और बार-बार चरणों में पड़कर प्रणाम किये। श्रीपद्मनाभजी की निष्ठा परम आदर्श है।

श्रीतत्वाजी, जीवाजी

'तत्वा' 'जीवा' दक्षिण देस वंसोद्धर राजत बिदित।।
भक्ति सुधा जल समुद्र भये बेलावलि गाढ़ी।
पूरबजा ज्यों रीति प्रीति उत्तरोत्तर बाढ़ी।।
रघुकुल सदृश सुभाव सिष्ट गुण सदा धर्मरत।
सूर, धीर, उदार, दयापर, दक्ष, अनन्य व्रत।।

पदम खण्ड 'पदमापद्धति' प्रफुलित कर सविता उदित।
'तत्वा' 'जीवा' दक्षिण देस वंसोद्धर राजत विदित।।६९।।

शब्दार्थ-वंसोद्धर = वंशका उद्धार करने वाले। राजत = सुशोभित। विदित = प्रसिद्ध। बेलावलि= समुद्र का किनारा। गाढ़ी = दृढ़। पूरबजा =पूर्वाचार्यगण, पूर्व को जाने वाली छाया। उत्तरोत्तर = दिन-प्रतिदिन, क्रमशः अधिक से अधिक। सिष्ट = सज्जन, श्रेष्ठ। सूर = वीर। धीर = धैर्यवान अर्थात् जो शीघ्र घबड़ाता न हो, विनम्र, गम्भीर। दयापर = दयालु। दक्ष= चतुर, प्रवीण। पदमखण्ड = कमलवन। पदमापद्धति = श्रीसम्प्रदाय। प्रफुलित कर = विकसित करने-खिलाने वाले। सविता = सूर्य। उदित = उदय हुए।

भावार्थ-परम भक्त श्रीतत्त्वाजी एवं श्रीजीवाजी दक्षिण देश के निवासी थे। ये अपने वंश का उद्धार करने वाले तथा जगत प्रसिद्ध संत हुये। इनका सुयश आज भी संत समाज में सुशोभित है। ये दोनों भक्तिरूपी अमृतमय जल के समुद्र के दो दृढ़ किनारे थे। पूर्वाचार्यों की भाँति श्रीसंत-भगवन्त के प्रति इनकी प्रीति-रीति भी दोपहर के बाद पूर्व दिशा की ओर जाने वाली छाया की तरह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली थी। इनका स्वभाव रघुवंशियों के समान था। ये सज्जनों के गुणों को धारण करते थे तथा बड़े ही शूर, धीर, उदार, दयालु, प्रवीण तथा इष्ट में अनन्य निष्ठा रखने वाले थे। ये श्रीसम्प्रदायरूपी कमलवन को प्रफुल्लित करने के लिये वैष्णव जगत में सूर्यरूप उदित हुए।।६९।।

व्याख्या-वंसोद्धर-वैष्णव की इक्कीस पीढ़ियों का अपने आप उद्धार हो जाता है। यथा-त्रिःसप्तभिः पितापूतः पितृभिः सहतेऽनघ। यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः।। (भा० ७।१०।१८) अर्थ-(श्रीनृसिंहभगवान भक्त प्रहलाद से कहते हैं कि-) निष्पाप प्रहलाद! तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये, इसकी तो बात ही क्या है, यदि उनकी इक्कीस पीढ़ियों के पितर होते तो उन सबके साथ ही वे भी तर जाते क्योंकि तुम्हारे जैसा कुल को पवित्र करने वाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ।। पुनः-कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। स्वर्गेस्थितास्ते पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्।। अर्थ-जिस कुल में कोई वैष्णव हो जाता है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है, पृथ्वी भी उसके जन्म से अपने को सौभाग्यशालिनी मानती है तथा स्वर्ग में स्थित उसके पितृगण भी अपने को धन्य मानते हैं। पुनः-तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डतत्पराः। यावत्कुले भक्तियुक्तो सुतो नैव प्रजायते।। (पाद्मे) अर्थ-जब तक कुल में कोई भक्तिमान पुत्र नहीं

उत्पन्न होता है तभी तक पितृगण पिण्ड की आशा लगाये संसार में भ्रमते रहते हैं। पुनः- जिहिं कुल साधु भागवत होई। गनिय न वर्ण अवर्ण तासुको आप तरै तारै कुल दोई। (संत वाणी) पुनः-सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुवीर परायण जेहि नर उपज विनीत।। (रामा०) भक्तिसुधा-देखिये छप्पय २८, सुधानिधि की व्याख्या पृष्ठ ५।

बेलावलि गाढ़ी-कहने का भाव यह कि जब किनारा सुदृढ़ (पक्का) होता है तभी जल सुरक्षित रहता है अन्यथा कमजोर किनारा होने पर तो जल उसे तोड़कर बह जाता है, निकल जाता है। उसी प्रकार अपनी निष्ठा में दृढ़ रहने वाले के हृदय में ही भक्ति अचल रहती है और तभी भक्ति का सुख एवं भगवत्प्राप्ति रूप लक्ष्यकी सिद्धि होती है अन्यथा निष्ठा में शिथिलता होने पर भक्ति-भाव रुकता नहीं। फलस्वरूप साधक न घर का रह जाता है, न घाट का। महत्व भक्ति के स्थिर रहने का ही है। क्षणिक भावावेश तो यदाकदा सबके ही हृदय में आता-जाता रहता है। सन्तों ने इस विषय को रबड़ी मलाई आदि पौष्टिक पदार्थों के दृष्टान्त से समझाया है जैसे रबड़ी-मलाई आदि पौष्टिक पदार्थ खाकर पचा जाने पर ही शरीर में शक्ति बढ़ती है। यदि किसी ने खा तो लिया परन्तु पचा नहीं सका, दिन भर लोटा लिये डोलडाल को ही दौड़ता रहा तो उसकी शक्ति बढ़ने के बजाय और क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार भक्तिभाव को सुस्थिर रखने, उसके पचाने में ही कल्याण है। यहाँ भक्ति करके भी अभिमान का लेश भी नहीं होना, नम्रता, सुशीलता आदि सद्गुणों का होना ही भक्ति का पाचन है। इससे दिनों दिन प्रेम बढ़ता है। थोड़ी सी भक्ति करके अभिमान बड़ा करना, दूसरों का तिरस्कार करना, वरदान-शापादि देना-यह भक्ति का अपच होना है। इससे थोड़े ही दिनों में भक्तिभाव का ह्रास हो जाता है और फिर तो आत्मशक्ति क्षीण होने से साधन में अरुचि हो जाने से साधक का सँभलना मुश्किल हो जाता है। अतः अपनी उपासना में दृढ़ होना चाहिये। श्रीतत्वा-जीवाजी के लिये श्रीनाभाजी कहते हैं कि भक्ति सुधा…वेलावलि गाढ़ी। भाव यह कि इनके हृदय में समुद्रवत् अपार भक्तिभाव था और उसको धारण करने के लिये ये दृढ़ बेला के समान थे। भाव यह कि उस भाव को सँभाले रहे। इनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ़ थी अतः बड़ी से बड़ी विषम परिस्थिति में भी भाव अचल बना रहा। पुनः इन दोनों भाइयों की रहनी-सहनी भक्ति समुद्र के दो सुदृढ़ किनारों के समान थी। जैसे किनारों के बीच जल सुरक्षित रहता है उसी प्रकार इनके बीच भक्ति सुरक्षित रही।

पूरबजा…बाढ़ी-शास्त्रकारों ने सज्जनों की प्रीति को दोपहर पीछे पूर्व दिशा की ओर जाने वाली छाया के समान कहा है। जो प्रारम्भ में लघु रहती है परन्तु धीरे-धीरे उत्तरोत्तर बढ़ती

जाती है और दुर्जनों की प्रीति को दोपहर पूर्व की भाँति कहा है जो प्रारम्भ में तो बहुत बड़ी होती है परन्तु धीरे-धीरे घटते-घटते दोपहर के समय एकदम छोटी हो जाती है। यथा-आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लध्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्। दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्।। (भर्तृहरि) श्रीतत्वा-जीवाजी का भगवत्-भागवत प्रेम पूर्वगामिनी छाया की भाँति उत्तरोत्तर सम्बर्द्धनशील था। यही प्रेम का सच्चा स्वरूप है। यथा-गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।। (नारद भक्ति सूत्र) पुनः-प्रेम सदा बढ़िबो करै ज्यों ससि कला सुवेष। पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न शेष।। छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होय। अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय।।

'रघुकुल सदृश सुभाव'-यथा-रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपन्थ पग धरइ न काऊ।। मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ पर नारि न हेरी।। जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन डीठी।। मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं। ते नर वर थोरे जग माहीं।। (रामा०) पुनः-कहौं सुभाउ न कुलहिं प्रसंसी। कालहुँ डरहि न रन रघुवंसी। रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाइ बरु वचन न जाई। (रामा०) 'शिष्ट गुण' देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६२-इतने गुन जामे सो संत।। पुनः देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८८, संतगुण की व्याख्या। 'सदा धर्मरत'-धर्माचरण से विषयों से वैराग्य एवं प्रभुपादपद्मों में अनुराग होता है। यथा-निज निज धर्म निरत श्रुति रीती। एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।। पुनः-जप जोग धर्म समूह ते नर भक्ति अनुपम पावई।। (रामा०)सूर-देखिये पृष्ठ १५६। धीर-देखिये पृष्ठ १८६। उदार-देखिये पृष्ठ ५। 'दयापर-बिना किसी स्वारथके परहित साधक। यथा-दया दयवतां ज्ञेयः स्वार्थस्तत्र न कारणम्।। (भगवद्गुण दर्पण)विशेष देखिये पूर्वार्द्ध १२। 'अंगुछाइ दया' की व्याख्या। दक्ष-यथा-श्रीवशिष्ठ वचन-दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई।। (रामा०) अनन्य व्रत-यथा- सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।। (रामा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५, 'पन सोधो' की व्याख्या। तथा पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६२, 'गही एक टेक' की व्याख्या। पदमखंड… सविता उदित-भाव यह कि इनके द्वारा श्रीसम्प्रदाय का खूब विकास हुआ।

तत्वा जीवा भाई उभै विप्र साधु सेवा पन मन धरी बात ताते शिष्य नहीं भए हैं।
गाड्यो एक ठूँठ द्वार होय अहो हरी डार संत चरणामृत को लैकै डारि दए हैं।।

जब ही हरित देखैं ताको गुरु करि लेखै आये श्रीकबीर पूजी आस पांव लए हैं।
नीठ नीठ नाम दियौ परिचाय धाम काम कोऊ होय जोपै आवौ कहि गए हैं।।३१२

शब्दार्थ-ठूँठ = **शाखा तथा पत्रहीन सूखा वृक्ष। हरति = हरी। लेखैं = मानैं। नीठ-नीठ = बड़ी कठिनाई से। परिचाय = बताय।**

भावार्थ-**श्रीतत्वाजी और श्रीजीवाजी दोनों भाई-भाई थे, जाति के ब्राह्मण थे। इन दोनों ने साधु-सेवा का प्रण लिया था, परन्तु मन में एक बात सोच रक्खे थे अतः किसी के शिष्य नहीं हुए थे। वह बात यह थी कि जिस सन्त के चरणामृत के सिञ्चन करने से सूखा वृक्ष हरा-भरा हो जायेगा, उसी से मन्त्र-दीक्षा लेंगे। अपने इस निश्चय के अनुसार इन्होंने द्वार पर एक ठूँठ गाड़ रखा था और जो भी संत आते उनकी सेवा करते और उनका चरणामृत लेकर उस ठूँठ पर डाल देते और बड़े कुतूहल पूर्वक देखते कि उसकी डाल हरी हुई कि नहीं। ऐसे ही करते बहुत दिन बीत गये। संयोग से एक बार इनके यहाँ श्रीकबीरदासजी आये। इन लोगों की आशा पूर्ण हो गई। दोनों ने श्रीकबीरदासजी के चरणों में पड़कर प्रणाम किया और दीक्षा के लिये प्रार्थना की। श्रीकबीरदासजी ने बड़ी कठिनाई से इन्हें भगवन्नाम का उपदेश दिया, साथ ही अपने निवास-स्थान काशी का पता बताया और कहा कि यदि कोई आवश्यक काम पड़े तो आकर हमें सूचित करना। यह कहकर श्रीकबीरदासजी वहाँ से चले आये।।३१२।।**

व्याख्या-मन धरी बात-**कहावत है-गुरु कीजै जानकर, पानी पीजै छानकर। अतः ये भी मन में निश्चय किये थे कि खूब सोच-समझकर किसी सुयोग्य गुरु से मंत्र-दीक्षा लेंगे जिससे कि भाव उत्तरोत्तर बढ़े अन्यथा किसी से सहसा उपदेश ले लिया जाय और बाद में अभाव हो जाय, तो यह अच्छा नहीं है महदपराध होगा। इसलिये ये सूखे वृक्ष को परीक्षा का माध्यम बनाकर सबकी परख करते। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि इनके मन में वैष्णवों के प्रति कुछ अभाव रहता हो व अपनी योग्यता का अभिमान रहता हो इसलिये संतों की परीक्षा लेते रहे हों, सो बात नहीं। केवल पवित्र उद्देश्य था-सद्गुरु की खोज। इनके हृदय में यह दृढ़ विश्वास था कि सच्चे संत सूखे वृक्ष को भी हरा कर सकते हैं और जो शुष्क वृक्ष में रस का संचार करने में समर्थ होंगे वही नीरस हृदय को भी सरस बना सकते हैं। 'आये श्रीकबीर'-इनके मन का निश्चय धीरे-धीरे संतों को विदित हो गया। तब कुछ संत मिलकर श्रीकबीरदासजी के पास गये और इन ब्राह्मणों को चमत्कार दिखाकर शिष्य बनाने का अनुरोध किये। प्रथम तो श्रीकबीरदासजी ने अस्वीकार कर दिया कि वह संतों**

की परीक्षा लेते हैं, भला ऐसे के यहाँ क्या जाना है? परन्तु संतों ने समझाया कि वे अधिकारी हैं क्योंकि संत-सेवा खूब करते हैं, यदि वैष्णव हो जायेंगे तो और भी अधिक भाव से सेवा करेंगे। इससे जगत में वैष्णवता की प्रतिष्ठा होगी। वेष की मर्यादा बनी रहेगी। नहीं तो लोग अभाव कर लेंगे कि वैष्णवों एवं वैष्णवता में कुछ नहीं है, सब पोलपट्टी है। वैष्णवता प्रतिपादक शास्त्र भी लाञ्छित होंगे अतः आपको यह कार्य अवश्य करना चाहिये। तब श्रीकबीरदासजी तीर्थयात्रा का व्याज बनाकर वहाँ पहुँचे। 'पूजी आस'-इससे जनाया गया कि श्रीतत्वा-जीवाजी ने श्रीकबीरदासजी का भी चरणामृत उस ठूँठ पर छिड़का और वह केवल हरा ही नहीं हुआ, तुरन्त ही शाखा-पल्लव, पुष्प और फलों से युक्त हो गया। तब वे लोग इनके चरणों में पड़ गये। 'नीठ-नीठ नाम दियो'-इसलिये कि अनधिकारी को नामोपदेश करना नामापराध माना गया है। देखिये पृष्ठ १६६। शास्त्रों ने इसे परम गोप्य तत्व कहा है। यथा-गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा। आत्मा देयं शिरो देयं न देयं रामतत्वकम्।। (ह० सं०) अतः श्रीकबीरदासजी ने भी जब खूब जाँच परख लिया, तब उपदेश दिया। 'दियो परिचाय धाम'-क्योंकि वे जानते थे कि आगे चलकर जिनके जाति-विरादरी के लोग आपत्ति करेंगे अतः उसके समाधान के लिये अपना पता बता दिया।

काना कानी भई द्विज जानी जाति गई पाँति न्यारी करि दई कोऊ बेटी नहीं लेत है।
चल्यो एक काशी जहाँ बसत कबीर धीर जाय कही पीर जब पूछ्यो कौन हेत है।।
दोऊ तुम भाई करौ आपु में सगाई होय भक्ति सरसाई न घटाई चित चेत है।
आय वहै करी परी ज्ञाति खरभरी कहैं कहा उर धरी कछू मति हूँ अचेत है।।३१३

शब्दार्थ-**काना कानी = गुप्त वार्ता, कानाफूसी। हेत =प्रयोजन। ज्ञाति = जाति। खरभरी = खलबली।**

भावार्थ-**श्रीतत्वाजी-जीवाजी के श्रीकबीरदासजी से दीक्षा लेने के अनन्तर गाँव के ब्राह्मणों में काना-फूसी प्रारम्भ हो गई। उन ब्राह्मणों ने यही समझा कि इनकी तो जाति ही नष्ट हो गई। फिर तो सबने सलाह करके इनको अपने खान-पान की पंक्ति से बहिष्कृत कर दिया। और इनकी कन्या का अपने पुत्र से विवाह करने को तैयार कोई नहीं हुआ। तब दोनों भाईयों में से एक काशी को गया, जहाँ पर कि परमधीर संत श्रीकबीरदासजी निवास करते थे। वहाँ पहुँचने पर जब श्रीकबीरदासजी ने पूछा कि किस कारण से आये हो? तब इन्होंने सब बात कही। श्रीकबीरदासजी ने सोच-विचारकर कहा कि तुम दोनों भाई आपस में ही सगाई करो अर्थात् तुम दोनों के एक-एक कन्या और एक-एक पुत्र विवाह के योग्य हुये हैं तो आपस में**

ही विवाह कर लो। इससे तुम्हारी न्यूनता नहीं होगी बल्कि भक्ति की वृद्धि ही होगी। फिर तो घर आकर उन्होंने वैसा ही विचार व्यक्त किया। यह देख-सुनकर जाति-विरादरी वालों में बड़ी खलबली पड़ गई। लोग आपस में कहने लगे कि इन लोगों ने मन में क्या विचारा है? जान पड़ता है कि इनकी बुद्धि भ्रमित हो गई है।।३१३।।

व्याख्या-कानाकानी भई- श्रीकबीरदासजी के चले आने पर ब्राह्मण लोग आप में कहने सुनने लगे कि 'अरे भाई जानते हो कबीर कौन जाति के हैं? दूसरे ने कहा-खूब जानता हूँ, पक्के जुलाहा हैं। तीसरे ने कहा-यदि ऐसी बात है, तब तो तत्वा-जीवाजी जाति से भ्रष्ट हो गये, उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया। भला ब्राह्मण होकर नीच जुलाहे के शिष्य बने। कैसी विपरीत बात है, आदि। 'कोऊ बेटी नहीं लेत है' ब्राह्मणों ने इन्हें जाति से अलग किया तो इसकी तो इन्होंने कोई परवाह नहीं की क्योंकि विमुखजनों से सम्बन्ध रहने से भक्ति में अन्तराय ही पड़ता है। अतः इनसे तो न्यारे ही रहना चाहिये। यथा-हमसों इन साधुन सों पंगति। जिनको नाम लेत दुख छूटत सुख लूटत नित संगति।। भूत भविष्य लोक चौदह में भये होहिं हरि प्यारे। तिन तिनसों व्यवहार हमारो अभिमानिन ते न्यारे।। भगवतरसिक रसिक परिकर कर सादर भोजन पावैं। ऊँचो कुल आचार अनादर देखि ध्यान नहिं लावैं।। परन्तु जब कन्या विवाह योग्य हुई और कोई उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ तब चिन्ता हुई। ब्राह्मण ऐसे पीछे पड़े थे कि प्रथम तो वे लोग स्वयं ही इन्कार कर जाते, और यदि वे दूर देश, कहीं अज्ञात जगह पर आकर विवाह की बातचीत चलाते और कोई तैयार भी हो जाते तो ब्राह्मण पता लगाकर वहाँ जाकर उसे उल्टा-सीधा पढ़ाकर भड़का देते। तब ये हारकर एक भाई को काशी भेजे।

करौ आपुमें सगाई-वैसे हिन्दूओं में इस प्रकार परस्पर भाई-बहिन में विवाह की प्रथा नहीं है परन्तु श्रीकबीरदासजी ने ऐसी ही आज्ञा दी कारण यह कि वे जानते थे कि वहाँ के परम कट्टर ब्राह्मण परस्पर विवाह की बात सुनकर कुलकानि नष्ट होने के भय से झुक जायेंगे और विवाह अपनी पद्धति से करने को राजी हो जायेंगे। आगे हुआ भी ऐसा ही। श्रीकबीरदासजी का अनुमान सत्य निकला। 'होय भक्ति सरसाई'-वैष्णव से सम्बन्ध होने से भक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यथा-वाद विवाद भुलाइकै, करु साधुन सो सङ्ग। मायाबल घटि है अवसि, बढ़ै प्रेम कौ रंग।। (सन्तवाणी) 'न घटाई होत' यथा-देखी सुनी न आज लौं हौं यह अद्भुत बात। सतसंगति से जस घटै, विमुख संग बढ़ि जात (संतवाणी) अर्थात् आज तक जिसने भी सुयश पाया है वह साधु सम्बन्ध से ही और विमुखों से सम्पर्क होते ही

बड़े-बड़े यशस्वियों का यश धूल में मिल गया। 'आय वहै करी०'-अर्थात् घर आकर श्रीकबीरदासजी के निर्देशानुसार दोनों भाईयों ने विवाह की तैयारी शुरु कर दी। जिसे देख सुनकर लोगों ने पता लगाया तो आपस में ही विवाह की बात सुनकर बड़े बौखलाये और इन लोगों के पास आकर कहने लगे कि- 'कहा उर धरी कछु मति हूँ अचेत है।' तब इन्होंने उत्तर दिया-

करैं यही बात हमैं और न सुहात आये सबै हा हा खात यह छांड़ि हठ दीजियै।
पूछिबेकों फेरि गये करौ ब्याह जौ पै नये दण्डकरि नाना भाँति भक्ति दृढ़ कीजियै।।
तब दई सुता लई पांतिमें प्रसन्न ह्वै कै पांति हरि भक्तनिसों सदा मति भीजियै।
विमुख समूह देखि संमुख बड़ाई करैं धरैं हिय मांझ कहैं पन पर रीझियै।।३१४

भावार्थ-श्रीतत्वा-जीवाजी ने कहा कि- हम तो ऐसा ही करेंगे, हमें अब और दूसरी बात अच्छी ही नहीं लगती है। इन लोगों को अपने निश्चय में दृढ़ देखकर जाति बिरादरी के सभी लोग इनके पास आकर हा-हा खाकर (अनुनय विनयपूर्वक) कहने लगे कि आप लोग अपना हठ छोड़ दीजिये। हम आपको अपनी पंक्ति में लेने तथा पुत्र और पुत्रियों का अपने कुल-गोत्र में विवाह करने-कराने का वचन देते हैं। तब एक भाई पुनः श्रीकबीरदासजी से पूछने को काशी गया। तब श्रीकबीरदासजी ने कहा कि यदि वे लोग झुक रहे हैं तो उन्हें अपनी करनी के लिये अनेक प्रकार से दण्डित करो। दण्ड यह कि प्रतिज्ञा पूर्वक शर्तनामा लिखवाकर सबको भक्तिपथ में दृढ़ कीजिये फिर वे जैसे कहें वैसा ही विवाह कीजिये। श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार सभी कुल कुटुम्बियों को भक्तिमें आरूढ़ करके तब इन्होंने अपनी कन्याएँ उन्हें दीं और उनकी कन्याओं से अपने पुत्रों का विवाह किया। उन लोगों ने भी प्रसन्न होकर इन्हें अपनी पंक्ति में मिला लिया। परन्तु ये लोग तो व्यवहारिक दृष्टि से जाति-बिरादरी वालों की पंक्ति में मिल जाने पर भी हृदय से हरि भक्तों से ही अपना जाति-पांति का सम्बन्ध रखते थे और उन्हीं के प्रेम में उनकी बुद्धि सदा सराबोर रहती थी। श्रीतत्वा-जीवाजी की दृढ़ गुरुनिष्ठा एवं सन्तों के प्रति सद्‌भाव देखकर विमुख लोग भी इनके सम्मुख ही बड़ी बड़ाई करते थे और कहते कि हम लोग आपके दृढ़ प्रण पर रीझ गये हैं और अब हम लोग भी इसी प्रकार का दृढ़ भाव हृदय में धारण करेंगे।।३१४।।

विशेष-श्रीतत्वाजी तथा जीवाजी के औदार्य को उद्‌घाटित करने वाला एक प्रसङ्ग 'भक्तदामगुण चित्रणी' में इस प्रकार उद्‌धृत किया गया है- एक बार एक मौनव्रतधारी सन्त इनके यहाँ आये। इन्होंने बड़े ही सद्भाव पूर्वक उनकी सेवा की। फिर उन सन्त ने इनसे

अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं अपने मौन व्रत को खोलना चाहता हूँ। व्रत की पूर्णाहूति पर संतों का एक विशाल भण्डारा करना चाहता हूँ। इसके लिये पाँच हजार रुपयों की आवश्यकता है। आप जैसे हो तैसे इसकी व्यवस्था कर दीजिये। परमोदार श्रीतत्वा-जीवाजी ने संत की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये अपने घर की सारी सम्पत्ति एवं पत्नी का आभूषण बेचकर चार हजार रुपये एकत्रित किये और एक हजार कर्ज लेकर उन्हें पाँच हजार रुपये सहर्ष प्रदान किये। कुछ दिन बाद कन्या की विदाई का अवसर आया। घर में धन के नाम पर एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। भक्त परिवार अत्यन्त चिन्तित हो उठा कि बिना धन के कैसे लज्जा रहेगी। भक्त की चिन्ता से भगवान का चित्त चंचल हो उठा। रात्रि में प्रभु ने स्वप्न दिया कि अमुक जगह पर बहुत-सा धन भूगर्भ में गड़ा पड़ा है उसे निकालकर कन्या की विदाई एवं सन्त-सेवा करिये। प्रातःकाल सचमुच जब निर्दिष्ट स्थान पर खोदा गया तो प्रभूत धन प्राप्त हुआ। फिर सब कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। इनकी अनन्यता के सम्बन्ध में कथा आई है कि एकबार एक शैव राजा ने श्रीशिवजी को संतुष्ट करने के लिये बहुत बड़ा यज्ञ किया और उसमें ब्राह्मणों को लाखों रुपयों का दान किया। राजा मंत्री श्रीतत्वा-जीवाजी की भक्ति से परिचित थे अतः उसने इनके लिये भी दान देने को राजा को प्रेरित किया। राजा ने इन दोनों भाइयों को बुलवाकर बड़ा आदर सम्मान किया और यज्ञावशिष्ट लाखों की सम्पत्ति देनी चाही। परन्तु परमानन्य इन दोनों महाभागवतों ने दो टूक जवाब दिया कि-दयो राम को लेहि हम, आशा करैं न अन्य। लाख-खाख सम देयँ तजि राखैं भक्ति अनन्य।।

श्रीमाधवदासजी

बिनै व्यास मनो प्रगट ह्वै जगको हित माधौ कियो।।
पहिले वेद विभाग कथित पुराण अष्टादस।
भारतादि भागौत मथित उद्धार्‍यौ हरिजस।।
अब सोधे सब ग्रन्थ अर्थ भाषा विस्तार्‍यौ।
लीला जै जै जैति गाय भव पार उतार्‍यौ।।
जगन्नाथ इष्ट वैराग्य सींव करुणारस भीज्यौ हियौ।
बिनै व्यास मनो प्रगट ह्वै जगको हित माधौ कियौ।।६८।।

शब्दार्थ-विनैं = विनययुक्त। मनो = मानों। विभाग = बांट। कथित = कहा। सींव = सीमा।

भावार्थ-विनय की मूर्ति भगवान वेदव्यासजी ही मानो श्रीमाधवदासजी के रूप में प्रगट होकर जगत का कल्याण किये। श्रीवेदव्यासजी ने पहले (द्वापर में) वेद का विभाजन किया तथा अठारह पुराणों का गान किया फिर महाभारत की रचना की। चारों वेद, सत्रह पुराण एवं महाभारत का मन्थन करके नवनीत रूप में श्रीहरि सुयश प्रधान श्रीमद्भागवत नामक अठारहवें पुराण की रचना की। अब श्रीमाधवदासजी के रूप में प्रकट होकर पुनः आपने सब ग्रंथों के तात्पर्य को खोज-खोजकर उनका अर्थ बोलचाल की भाषा में विस्तार से वर्णन किया। 'जय जय' शब्दसंयुक्त भगवान की लीला का गान कर जगत में प्रचुर प्रचार करके असंख्य जीवों को संसार-सागर से पार किया। इनके इष्ट श्रीजगन्नाथ भगवान थे, ये वैराग्य की सीमा थे, इनका हृदय करुणा रस से सदा सराबोर रहता था।।७०।।

व्याख्या-विनै व्यास-श्रीव्यासजी भगवान के अवतार हैं। भगवान अनन्त दिव्य गुणगणमहार्णव हैं, परन्तु विनय-शील-करुणा-गुण प्रभु में विशेष हैं। यथा-विनय शील करुना गुण सागर।। (रामा०) श्रीव्यासावतार में ये गुण विशेष उत्कर्ष के साथ दर्शित होते हैं। भगवान होकर भी श्रीवेदव्यासजी ने कहीं भी अपनी भगवत्ता नहीं प्रकट की है। उन्होंने सदैव अपने को भक्तरूप में ही प्रस्तुत किया है, जबकि अन्य अवतारों का ऐश्वर्य समय-समय पर प्रकट होता हुआ देखा गया है। श्रीव्यासजी अपने आश्रम में आने पर श्रीनारदजी की पूजा तो करते ही हैं, श्रीपरीक्षितजी को कथा सुनाने के लिये श्रीशुकदेवजी के आने पर पिता होकर भी उनके स्वागतार्थ आसन से उठकर खड़े हो जाते हैं, यह है इनकी विनम्रता का स्वरूप, अतः श्रीनाभाजी इन्हें वेदव्यास न कहकर 'विनै व्यास" कहते हैं। पहले वेद विभाग'-कलियुग के जीवों को अल्पायु, अल्पबुद्धि तथा नाना विघ्नों से उपद्रुत देखकर एवं उन्हें स्वश्रेय साधन के ठीक-ठीक निर्णय में असमर्थ विचारकर श्रीव्यासजी ने एक ही वेद के चार भाग किये। यथा-व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।। ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः। इतिहास पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।। (भा० १-४-१९, २०) अर्थ-लोक कल्याणार्थ यज्ञों का विस्तार करने के लिये उन्होंने वेद के चार विभाग कर दिये। श्रीव्यासजी के द्वारा ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-इन चारों वेदों का उद्धार (पृथक्करण) हुआ है। इतिहास और पुराणों को पाँचवां वेद कहा जाता है। त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा। एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः।। (भा० १-४-२४) अर्थ-कम समझने वाले पुरुषों पर कृपा करके भगवान वेदव्यास ने इसलिये ऐसा विभाग कर दिया कि जिन लोगों की स्मरण शक्ति नहीं है या कम है, वे भी वेदों को धारण कर सकें। 'कथित पुराण अष्टादश'-वेदों के

अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये श्रीव्यासजी ने अठारह पुराण एवं महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ की रचना की। यथा-इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपवृंहयेत्।। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध छप्पय।।१७।।

भारतादि-स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति-तीनों ही वेदश्रवण के अधिकारी नहीं हैं। इसलिये वे शास्त्रोक्त कर्मों के आचरण में भूल कर बैठते हैं। इनके कल्याणार्थ महामुनि श्रीव्यासजी ने बड़ी कृपा करके महाभारत इतिहास की रचना की। यथा-स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचराः। कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।। (भा० १-४-२५) 'भागवत मथित उद्धारयौ हरिजस' -देखिये पूर्वार्द्ध श्रीव्यासावतार की कथा छप्पय १७। 'अब अर्थ भाषा विस्तारयौ''-भाव यह कि प्रथम की रचनाएँ इतिहास, (महाभारत) पुराणादि देववाणी में थीं, परन्तु अब अर्थात् वर्तमान कलियुग के जीव चूंकि देववाणी [संस्कृत] समझने में असमर्थ हैं अतः सर्व साधारण के लिये साधन सौलभ्य प्रस्तुत करने के लिये वेद-शास्त्र-पुराणादि के तात्पर्य को भाषा में वर्णन किया। यह सामयिक सयानपन है। चतुर लोग समय विचारकर कार्य करते हैं और समयानुसार किया गया कार्य ही सराहनीय होता है अन्यथा कैसा भी उत्तम कार्य हो असमय में अशोभित लगता है। जैसे 'श्रीराम नाम सत्य है' यह सिद्धान्त वाक्य है, परन्तु संसार में चूंकि मरने पर मुर्दे को उठाते-ले चलते समय लोग कहते हैं, अतः यही यदि किसी विवाह की पालकी उठाते समय कहा जाय तो परम अशुभ समझा जायेगा। उसी प्रकार सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में भी गिने-चुने विद्वानों के समक्ष देववाणी का राग अलापना तो उत्तम है, परन्तु अज्ञ, अनभिज्ञ समाज में तो तदनुकूल भाषा-व्यवहार ही समीचीन समझा जायेगा।

दृष्टान्त-एक पण्डितजीका-एक पण्डितजी किसी संस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यालय में प्रतिबन्ध लगा रखा था कि प्रत्येक विद्यार्थी संस्कृत में ही वार्तालाप करें। आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाला दण्ड का भागी होता। एक दिन पण्डितजी विद्यार्थियों के साथ कहीं जा रहे थे। अंधेरे में न दिखने के कारण वे एक कुएं में गिर गये। विद्यार्थी देववाणी में ग्रामीणों को बुलाते, परन्तु कोई समझा ही नहीं। अतः लाख बुलाने पर भी कोई पण्डितजी को कुएं से बाहर निकालने नहीं आया। उधर पण्डितजी का कुएं में बुरा हाल हुआ जा रहा था। तब खीझकर वे विद्यार्थियों से बोले कि-मूर्ख कहीं का 'भाषा भसक'-अर्थात् भाषा में बोलो, तब वे समझेंगे। जब विद्यार्थियों ने ग्रामीण

भाषा में लोगों को श्रीगुरुजी के कुएँ में गिरने की बात कही तो तुरन्त लोग दौड़े आये और पण्डितजी को बाहर निकाले। दूसरा दृष्टान्त श्रीतुलसीदासजी का-ये भी पहले संस्कृत में ही श्रीरामचरितमानस लिख रहे थे तब श्रीशिवजी ने साक्षात प्रकट होकर भाषा में ग्रन्थ रचना का आदेश दिया। विशेष देखिये श्रीतुलसीदासजी का चरित्र। पुनः-का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच। काम जो आवै कामरी का लै करिय कुमाच।। हरि हर जस सुर नर गिरन वरनत साधु समाज। हांडी हाटक घटिल चरु रांधे स्वाद सुयाज।। अतः श्रीव्यासावतार श्रीमाधवदासजी ने भी भाषा में ही शास्त्रों का तात्पर्य वर्णन किया।

लीला जै जै जैति०-यथा-जै जै श्रीजगन्नाथ नीलगिरि वासी। आदि अन्त जे सेवैं प्राणी चरनकमल सुख पासी।। जै जै जै श्रीजगन्नाथ व्रजनाथ मुरारी। दिविदिवि करिकरि करम सकल कलिमलके हारी।। जै जै जै श्रीजगन्नाथ यदुनाथ मुरारी। द्वारावति प्रति श्रीकृष्ण विजै रुकमिनि रतिकारी।। जै जै जै श्रीजगन्नाथ रघुनाथ उदारा। तारक ब्रह्म श्रीराम नाम तिहुँ लोक पियारा।। जै जै जै श्रीजगन्नाथ नारायण स्वामी। ब्रह्म आदि कीटान्त जीव सब अन्तरजामी।। इसी शैली से इन्होंने भगवान की बाललीला, जानरायलीला जनम-करम लीला, रथलीला, ध्यानलीला, स्वयंवर लीला, रघुनाथ लीला, रामायण लीला आदि का बड़े ही मधुर पदों में गान किया गया है। 'भवपार उतार्‍यौ'-भगवान के लीला-गुण आदि के कथन-श्रवण-अनुमोदन से जीव सहज ही संसार सागर से पार होकर प्रभुपद को प्राप्त कर लेता है। यथा-जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई। रघुबीर पदपाथोज मधुकर दास तुलसी गावई।। (रामा०) पुनः-हरि पद रचना रुचिर बनैयै। आपनि पढ़ि पढ़वैयै औरहि हरिपद सुनिय सुनैयै।। हरिपद गावत परिपद पावत हरिपद रति उरझैये। नागरिया पद परम पदारथ हरि पद रस सरसैये।। 'जगन्नाथ इष्ट'-यथा-श्रीजगन्नाथ जगत् गुरुगाइयै। जगन्नाथ बलभद्र सहोद्रा इन तजि और न जाइयै।। इन्द्रवदन अरु मारकंडे तीरथ सेत गङ्गाजी नहाइयै। मालपूआ औ मनोहर अटका महाप्रसाद जो पाइयै। माधौदास आस चरननकी चरन कमल चित लाइयै।। 'वैराग्य सींव'-अर्थात् परम वैराग्यवान थे। परम वैराग्यवान की व्याख्या करते हुए श्रीरामजी कहते हैं -'कहिय तात सो परम विरागी तृणसम सिद्धि तीन गुण त्यागी।।' (रामा०) श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजी महाराज कहते हैं- क्या मतलब दुनियादारी से जब हो गया फकीरा। कौड़ीसाथ काम क्या उसको मिला असल जब हीरा।। रङ्क शङ्क तद कौन करै जब मिला महीप अमीरा। युगलानन्य शरण हरदम जब अभय रहा कर वीरा।। 'करुणारस भीज्यो हियो'-इससे जनाया गया कि जीवों के प्रति

आपके हृदय में अपार दया थी। जैसा कि आगे के चरित्र से स्पष्ट होता है।

माधौदास द्विज निज तिया तन त्याग कियौ लियौ इन जानि जग ऐसोई व्यौहार है।
सुत की बढ़नि जोग लिये चित चाहत हो भई यह औरै लै दिखाई करतार है।।
ताते तजि दियौ गेह वेई सब पालै देह करै अभिमान सोई जानिये गँवार है।
आए नीलगिरिधाम रहे गिरि सिन्धुतीर अति मतिधीर भूख प्यास न विचार है।।३१५

भावार्थ-**श्रीमाधवदासजी का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। जब इनकी प्राणप्रिया पत्नी ने शरीर छोड़ा तो इन्हें ज्ञात हो गया कि संसार का ऐसा ही व्यवहार है। ये पुत्र के बड़े होने पर परिवार का भार उसके ऊपर सौंपकर गृह त्यागकर वैराग्यपूर्वक भक्ति योग साधन करना चाहते थे परन्तु बीच में ही ईश्वर ने यह और ही बात दिखा दी। फिर इन्होंने मन में यह निश्चय करके कि सबका पालन-पोषण एकमात्र भगवान ही करते हैं जो स्वयं को किसी का पालन-पोषण कर्ता मानता है वह पूरा गँवार (मूर्ख) है। अतः ईश्वर के ऊपर ही पुत्र एवं परिवार के संरक्षण का भार छोड़कर स्वयं गृह त्यागकर दिया और नीलाचल धाम (जगन्नाथपुरी) चले आये। अत्यन्त धीरबुद्धि श्रीमाधवदासजी समुद्र के किनारे नीलाचल की उपत्यका में रहने लगे। भगवान के प्रेम में भूख-प्यास का विचार नहीं रह गया।।३१५।।**

व्याख्या-माधवदासजी-**ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'जग ऐसोई व्यौहार है'- अर्थात् सब नश्वर है, क्षणभंगुर है आदि। 'भई यह औरै'-ये सोच तो यह रहे थे कि अभी बालक छोटा है, कुछ बड़ा हो जाय तो इसके ऊपर परिवार का भार छोडूंगा और हुआ यह कि स्त्री के मर जाने से बालक का ही भार इनके ऊपर आ गया। उल्टा हो गया। इस पर-**

दृष्टान्त-राहगीरका-**एक पथिक बहुत दूर से पैदल आ रहा था। अभी उसका गन्तव्य स्थान भी बहुत दूर था। वह अत्यन्त थक गया था। अतः मन में सोचने लगा कि ऐसे समय में तो यदि कोई घोड़ा मिल जाय तो उस पर चढ़कर घर पहुँच जाता। इतने में एक पठान ने पथिक के पास आकर कड़ककर कहा-देखो, मेरी घोड़ी ने अभी-अभी बछेड़ा दिया है। यह बछेड़ा घोड़ी के साथ चलने में असमर्थ है अतः इसे तुम अपने कंधे पर उठाकर अगली सराय तक पहुँचाओ। पथिक ने बिना कुछ ननु-नच किये बछेड़े को कंधे पर लाद**

लिया और पठान के पीछे-पीछे चल पड़ा तथा साथ ही मन में विचार करता जा रहा था कि देखो, भगवान का कैसा विचित्र विधान है कि कहाँ तो मैं घोड़े पर चढ़ने की सोच रहा था, कहाँ घोड़ा ही मुझ पर सवार हो गया। ऐसी ही घटना श्रीमाधवदासजी के साथ भी घट गई। 'तजि दियो गेह'-विवेक का उदय होने पर इन्होंने विचार किया कि समस्यायें तो एक न एक बनी ही रहेंगी। अभी बालक छोटा है, तो कल ब्याह-गौने की बात चलेगी, फिर नाति-पोते की चिन्ता लग जायेगी। इनका तांता तो टूटता ही नहीं है। ये तो श्रीबद्रीनाथ के मार्ग की पर्वत श्रृङ्खलाओं के समान एक के बाद एक आते जायेंगे। यथा-गृह कारज नाना जञ्जाला। ते अति दुर्गम सैल विसाला।। (रामा०) बीच में ही जीवन समाप्त हो जायेगा, दम घुट जायेगा, न घर के रह जायेंगे न घाट के। अतः सब तजि हरि भजबो भलो। श्रीबिहारिनदेवजी कहते हैं-ज्यों जग मरता देखिये त्यों ही आपुनु देख। श्रीबिहारीदास आलस तजौ, भजौ भक्त कौ भेख। अतः तजि दियो गेह। 'जानिये गँवार है'-अहङ्कार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (गी०) अर्थ-अहङ्कारसे व्यामोहित चित्त अज्ञ प्राणी अपनेको कर्ता मानता है।

भए दिन तीन ए तो भूख के अधीन नाहिं रहै हरिलीन प्रभु शोच पर्‌यौ भारियै।
दियो सैन भोग आप लक्ष्मीजू लै पधारीं हाटक की थारी झन झन पाँव धारियै।।
बैठे हैं कुटी में पीठ दिये हिये रूप रँगे बीजुरी सो कौंधि गई नीके न निहारियै।
देखि सो प्रसाद बड़ौ मन अहलाद भयौ लयौ भाग मानि पात्र धर्‌योई विचारियै।।३१६

शब्दार्थ-हरिलीन = भगवान के ध्यान में मग्न। सैन = शयन। हाटक = सोना। बीजुरी = बिजली। कौंधि = चमकि। अहलाद = आह्लाद, प्रसन्नता।

भावार्थ-यद्यपि बिना कुछ खाये-पिये तीन दिन बीत गये तो भी ये भूख-प्यास के अधीन नहीं हुए, हमेशा भगवान के ध्यान में तल्लीन रहते। भगवान को अपने भक्त का भारी शोच हुआ। तब श्रीप्रभु ने अपने लिए रखा हुआ शयन-भोग का पदार्थ प्रसादी करके श्रीमाधवदासजी के लिये दिया और स्वयं श्रीलक्ष्मीजी स्वर्णथाल में लेकर चलीं। वह अपने श्रीचरण-कमल के नुपूरों की झंकार करती हुई कुटीद्वार पर आईं। उस समय ये बाहर की ओर पीठ दिए कुटी में बैठे हुए थे। हृदय में श्रीयुगल-सरकार का रूप समाया हुआ था। श्रीलक्ष्मीजी के वहाँ पहुँचते ही कुटिया में ऐसा लगा मानो बिजली सी चमक गयी हो। ये पीछे फिरकर देखे तो अवश्य परन्तु ठीक से दर्शन नहीं कर पाये। थाल में प्रसाद देखकर

इनके मन में बहुत ही प्रसन्नता हुई। श्रीप्रभु की कृपा विचारकर अपना बड़ा सौभाग्य माने और प्रसाद पाकर थाल वहीं रख दिये।।३१६

व्याख्या-प्रभु शोच पर्‌यो-**यथा-गाँठी में बाँधै नहीं, माँगतमें सकुचाहिं। पीछे-पीछे हरि फिरै भूखे ना रहि जाहिं।। पुनः-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।** (गी० ९।२२)

दृष्टान्त-एक पण्डितजीका-**श्रीजगन्नाथपुरी में एक बड़े ही सरल हृदय सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उनका श्रीगीताजी के प्रति अपार विश्वास था। एक दिन पाठ करते-करते जब उपर्युक्त श्लोक आया तो श्रीपण्डितजी उसके अर्थ को विचारकर गम्भीर हो गये। सोचे कि जब प्रभु अपने भक्त का इतना ध्यान करते हैं तो क्यों न मैं भी अनन्य भाव से प्रभु का चिन्तन ही करूँ। फिर तो पण्डितजी लग गये गीता-पाठ और नाम-जप में। भिक्षावृति से जीविका चलती थी। पण्डितजी के बैठ जाने से पूरा परिवार परमात्मा की बाट देख रहा था। एक पहर बीता, दो पहर बीता, तीन पहर बीता, कहीं से कुछ भी सीधा-सामान नहीं आया। स्त्री, बच्चे भूख से अत्यन्त कातर हो रहे थे। पण्डितजी का भी धैर्य छूट गया। उन्होंने गीता के इस श्लोक पर हरताल फेर दिया और स्वयं उन्मने से होकर सायं-सन्ध्या करने चले गये। इतने में एक श्यामवर्ण बालक एक बड़े थाल में भोजन-सामग्री लेकर आया और पण्डितजी को देखकर बोला कि मैं नित्य-नियम से श्रीपण्डितजी के श्रीमुख से श्रीगीताजी का पाठ सुनता हूँ। मेरी मैया ने यह सीधा भेजा है। बालक के अपार सौन्दर्य और परम मधुर वाणी को सुनकर पण्डितानीजी उसके मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगीं। एकाएक उनका ध्यान बालक के मुख पर लगी खरोंच पर गया। उससे खून चुचा रहा था। पण्डितानी उसे देखकर विकल हो गईं और पूछा कि-बेटा! यह तुम्हारे मुख पर खरोंच किसने लगा दी है? बालक ने कहा-आपके पण्डितजी ने ही कलम से मेरे मुख पर घावकर दिया। इतना कहकर बालक चलता भया। पण्डितानीजी मन ही मन पण्डितजी पर बहुत झुंझलाईं और जब वे संन्ध्या वन्दन करके घर आये तो उन पर बरस पड़ीं। जब पण्डितजी को सब बात मालूम हुई तो उन्होंने गम्भीरता पूर्वक विचार किया। तब तो सब तथ्य सामने आ गया। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि वह बालक कोई और नहीं स्वयं भगवान थे और मैंने किसी बालक को कलम से मारा नहीं है। हाँ श्रीगीताजी पर अवश्य मैंने कलम फेर दी है। अहो! आज मैंने जाना कि श्रीगीताजी श्रीप्रभु का श्रीविग्रह हैं। श्रीपण्डितजी अपनी भूल पर बहुत पछताये और पुनः-पुनः-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां⋯। का उच्चारण**

किया। इसी प्रकार श्रीप्रभु ने श्रीमाधवदासजी की अनन्यता देखकर स्वयं श्रीलक्ष्मीजी को प्रसाद देकर भेजा।

बैठे···पीठ दिये-संसार से पीठ देकर प्रभु के सम्मुख बैठे थे। कहा भी है-जग ते रहु छत्तीस ह्वै रामचरन छै तीन।। 'बीजुरी-सी कौंधि गई'-श्रीलक्ष्मीजी के अनन्त तेज से इनकी कुटी सहसा उद्‌भासित हो उठी। लगा कि जैसे बिजली चमकी हो। नीके न निहारिये-इसके दो कारण-१. आँख चौंधिया गईं, २. श्रीलक्ष्मीजी शीघ्र अन्तर्धान हो गईं। 'मन अहलाद भयो'-यह विचारकर कि श्रीप्रभु अपने भक्तों का कितना ध्यान रखते हैं। ठीक ही कागभुसुण्डिजी ने कहा है- अस प्रभु छाँड़ि भजिअ कहु काही। मोसे सठ पर ममता जाही।। (रामा०)

खोलैं जो किवार थार देखियै न सोच पर्‌यौ कर्‌यौ लै जतन ढूंढ़ि वाही ठौर पायौ है।
ल्याये बाँधि मारी बेंत धारी जगन्नाथ देव भेव जब जान्यौ पीठ चिह्न दरसायौ है।।
कही पुनि आप मैं ही दियौ जब लियौ याने माने अपराध पाँव गहि कै छिमायौ है।
भई यों प्रसिद्ध बात कीरति न मात किहूँ सुनि कै लजात साधु सील यह गायौ है।।३१७

शब्दार्थ-**भेव = भेद। छिमायौ = क्षमा कराया। मात = समात।**

भावार्थ-प्रातःकाल जब पण्डा-पुजारियों ने भगवान की सेवा-पूजा करने के लिये मन्दिर का किवाड़ खोला तो शयन-भोग का थाल नहीं दिखाई पड़ा। तब सबको बड़ा सोच हुआ। फिर सबने थाल को ढूँढ़ने का यत्न किया। खोज करने पर थाल श्रीमाधवदासजी की कुटी में मिला। पण्डा लोग इन्हें बाँधकर ले आये और बेंतों से मारे। इनकी चोट को श्रीजगन्नाथ भगवान ने अपने ऊपर लिया। इसका रहस्य तो पुजारियों ने तब जाना, जब सेवा करते समय भगवान के अङ्ग में फुलेल लगा रहे थे। उस समय भगवान की पीठ में चोट के चिह्न प्रत्यक्ष देखने में आये। पुनः-श्रीजगन्नाथ भगवान ने कहा भी कि मैंने स्वयं इनको थाल भेजवाया था तब इन्होंने लिया था। तब तो पण्डा-पुजारियों ने अपना बड़ा अपराध माना और श्रीजगन्नाथजी तथा श्रीमाधवदासजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। क्षणभर में यह पूरा प्रसङ्ग पुरी-भर में फैल गया। तब तो इनकी महान कीर्ति चारों ओर छा गई। वह पुरी में अमाती नहीं थी अर्थात् पुरी के बाहर भी इनका यश-सौरभ फैलने लगा। सबके मुख से अपना यश श्रवण करके यह बड़े लज्जित होते थे। उचित भी है, क्योंकि शास्त्रों में संत का ऐसा ही शील स्वभाव कहा गया है।।३१७।।

व्याख्या-धारीजगन्नाथदेव-इसके दो कारण है-१. भक्तवत्सलता। जैसे वात्सल्यवश माता पुत्र की चोट को अपने ऊपर लेकर पुत्र की रक्षा करती है। २. श्रीमाधवदासजी की सिद्धाई प्रकट करने के लिये। भगवान ने विचार किया कि वैसे हम कहाँ तक इनको थाल पहुँचायेंगे। ऐसी व्यवस्था कर दूँ कि अपने आप सब लोग थाल पहुँचाने लगें। अतः पण्डों द्वारा किये गये प्रहार को अपने ऊपर ले लिये। यह प्रभु का सनातन विरद है। जैसे श्रीरामदासजी की चोट को श्रीरणछोर भगवान ने अपने ऊपर ओट लिया था। देखिये कवित्त २४४।। जैसे यवन हरिदासजी की चोट को श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने ऊपर ले लिया था। (वहीं देखिये) तथा जैसे श्रीलक्ष्मण शक्ति की पीड़ा को श्रीरामजी ने स्वयं झेला था।यथा-हृदय घाउ मेरे पीर रघुबीरैं। पाइ सजीवनि जागि कहत यों प्रेम पुलकि विसराय शरीरैं।। मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ अरथ चर्चा कीरै। सोभा-सुख, छति-लाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरै।। तुलसी सुनि सौमित्रि वचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै। उपमा रामलखनके प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै नीरै।। (गी०) पुनः-रावण द्वारा विभीषण के ऊपर चलाई गई शक्ति को श्रीराम ने अपने ऊपर ले लिया था। 'पीठ चिह्न दरसायो है'-जब पुजारी लोग भगवान के श्रीअङ्ग में फुलेल-मर्दन करने लगे तो भगवान कराह-कराह उठते। तब पुजारियों ने पूछा तो प्रभु ने सब बात बताई। 'पाँव गहिकै छिमायो है'-प्रथम भगवान के चरण पकड़कर क्षमा माँगे। भगवान ने कहा कि तुम लोगों ने भागवतापराध किया है, उसे मैं क्षमा नहीं कर सकता। इसके लिये तो तुम लोगों को श्रीमाधवदासजी से ही क्षमा माँगनी होगी। तब सबने श्रीमाधवदासजी के पाँव पकड़े। श्रीमाधवदासजी ने अपने साधु स्वभाव के अनुसार उन्हें क्षमा कर दिया।

भई यौं प्रसिद्ध बात-यत्र-तत्र-सर्वत्र इसकी चर्चा होने लगी कि भगवान ने श्रीमाधवदासजी के लिये अपना भोग-प्रसाद भेजा एवं उनकी चोट अपने ऊपर ओट ली। 'सुनिकै लजात'-लोग जिसे श्रीमाधवदासजी की प्रशंसा समझते थे तथा भक्ति की महिमा समझते थे, श्रीमाधवदासजी उसे अपनी भक्ति में कलङ्क समझते थे। ये तो अपनी बड़ाई सुनकर अत्यन्त लज्जित होते थे कि मैं प्रभु को कुछ सुख तो दे नहीं सका, उल्टे मेरे लिये प्रभु को कष्ट उठाना पड़ा। धिक्कार है मुझे। अहो! जिनके ऊपर पुष्प चढ़ाने चाहिये उनके ऊपर मेरे कारण बेंत पड़े। इससे अधिक मेरा कुनाम और कुख्याति और क्या हो सकती है। इसी प्रकार जब श्रीद्वारिकानाथजी ने श्रीसुदामाजी को अपार ऐश्वर्य देकर उनका दारिद्र दूर किया तो यह बात भी संसार में प्रसिद्ध हुई। उसे सुनकर श्रीसुदामाजी भी बड़े लज्जित

होते थे कि भगवान ने मेरा दारिद्र्य दूर नहीं किया बल्कि मेरी दरिद्रता का प्रचार किया है। अब तो जो लोग नहीं जानते वह भी जान गये कि सुदामा दरिद्र था। अतः- सुनिकै लजात। साधु-सील यह गायो है-यथा-निजगुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।। (रामा०)

देखत सरूप सुधि तन की बिसरि जात रहि जात मन्दिर में जानै नहीं कोई है।
लग्यो सीत गात सुनो बात प्रभु काँपि उठे दई सकलात आनि प्रीति हिये भोई है।।
लागे जब बेग-बेग जाय परे सिन्धु तीर चाहैं जब नीर लिये ठाढ़े देह धोई है।
करिकैं विचार औ निहारि कही 'जानौं मैं तो देत हो अपार दुःख ईशता लै खोई है'।।३१८

शब्दार्थ-**सकलात** = रजाई। **भोई है**=व्याप्त हो गई है। **बेग** = अतिसार। **खोई** = दूर की, त्याग दी।

भावार्थ-मन्दिर में भगवान की छबि देखते ही श्रीमाधवदासजी को शरीर की सुधि-बुधि नहीं रह जाती थी। कभी-कभी ये रात को भी मन्दिर में ही रह जाते थे, परन्तु कोई इस बात को नहीं जानता था। सर्दी के दिनों में एक बार इनके शरीर में रात्रि में बड़ी ठण्ड लगी। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि उस समय जो अद्‌भुत बात हुई वह सुनो। ठण्ड माधवदासजी को लग रही थी और मन्दिर में काँपने लगे श्रीठाकुरजी। श्रीजगन्नाथ भगवान ने अपनी रजाई लाकर श्रीमाधवदासजी को ओढ़ा दी। श्रीप्रभु की यह अहैतुकी कृपा देखकर श्रीमाधवदासजी का हृदय प्रेम से भीग गया। एक बार जब उन्हें अतिसार का बेग लगने लगा तो ये तुरन्त ही समुद्र के किनारे जाकर पड़ गये। शरीर अत्यन्त, शिथिल होने पर जब स्वयं शौच करने में असमर्थ हो गये तो उस समय ये जब चाहना करते तो स्वयं भगवान जल लिये खड़े रहते और इनके शरीर को धोकर शुद्ध करते। जब इनको किंचित सुधि हुई तो भगवान को देखकर एवं मन में विचार कर कि ये तो साक्षात श्रीजगन्नाथ भगवान ही हैं, बड़े दुःखी होकर बोले कि-मैं तो आपको जान गया। मुझ अधम प्राणी के लिये इतना लघुकृत्य करके आप मुझे अपार कष्ट दे रहे हैं। अहो! आपने एकदम ईश्वरता को खो दिया है।।३१८

व्याख्या-देखत सरूप-यथा-आज सफल सखी जनम हमारो। देख्यो री दृगनि भरि नन्द दुलारौ।। वाम कपोल वाम भुज दीयैं। अधर मधुर मुरली कर लीयै।। नाद वेद संगीत सुनावै। श्रवण चलत सिर सिखर डुलावैं।। नैन तरंग रंग रस पेखै। अब हरि हम अपने करि लेखै।। पूजो मेरी जन्म जन्मकी आसा। श्रीजगन्नाथ मुख देखै माधवदासा।। 'सुधि तनकी

'बिसरि जात'-यथा-मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह विशेषी।। भए मगन सब देखन हारे। जनक समान अपान बिसारे।। केहरि कटि पट पीतधर, सुषमा सील निधान। देखि भानुकुल भूषनहिं विसरा सखिन्ह अपान। (रामा०) तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की, कहाँ ते आई, कौन काज, काके ढिंग, कौन ठाऊँ कोहै।। (गी०) 'रहि जात मन्दिर में,-दिनभर भगवान का दर्शन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती तो रात में भी रह जाते। पुनः दिन में दर्शन तो हो जाता परन्तु भीड़-भाड़ में प्रभु से दो-दो बातें नहीं हो पातीं, अतः रात में एकान्त में श्रीप्रभु से वार्ता-विनोद करने के लिये रह जाते। 'जानै नहीं कोई है'-यद्यपि रात्रि में शयन के बाद पुजारी लोग सबको मन्दिर से बाहर निकालकर ताला बन्द करते थे, परन्तु ये वहीं बैठे रहते थे, भगवत्कृपा से इन्हें कोई देखता ही नहीं था। भगवान ही तो सबको देखने-दिखाने वाले हैं। उनका मन है कि श्रीमाधवदासजी न जायें तो भला उन्हें कौन हटा सकता है। 'प्रभु काँपि उठे-यहाँ भक्त और भगवान की एकता दर्शायी गई है। शीत श्रीमाधवदासजी को लग रहा है और काँप रहे हैं श्रीप्रभु। तभी तो कहा गया है-सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी।। (वि०) 'दई सकलात'-भगवान ने अपनी रजाई इनको ओढ़ा दी। इन्हें रजाई ओढ़ाने पर गर्मी लगी, अतः खूब लम्बी तानकर सो गये। प्रातःकाल हो गया। सबेरे पुजारी लोग जब पूजा करने आये तो देखें कि ये प्रभु की रजाई ओढ़े खर्राटे ले रहे हैं। परन्तु किसी ने कुछ भी नहीं कहा क्योंकि पूर्व कई चमत्कार देख चुके हैं। 'देह धोई है'-सब लोग तो श्रीजगन्नाथ भगवान की सेवा करते हैं और भगवान श्रीमाधवदासजी की सेवा कर रहे हैं। भगवान का विरद है- ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।। (गी०) 'ईशता लै खोई है,-यही भगवान की भक्तवत्सलता है। यथा-वही भगवन्त संत प्रीति को विचार करैं, धरैं दूरि ईशता हू पाँडुन सों करी है।। क०९।

कहाकरौं अहो! मोपै रहो नहीं जात नेकु 'मेटौ विथा गात' मोकौं विथा वह भारी है।
रहै भोग शेष और तन में प्रवेश करै तातै नहीं दूर करौ ईशता लैं टारी है।।
वहू बात सांच याकी गांस एक और सुनौ साधु को न हँसै कोऊ यह मैं विचारी है।
देखत ही देखत में पीड़ा सो बिलाय गई नई नई कथा कहि भक्ति विसतारी है।।३१९

शब्दार्थ-बिथा = व्यथा, दुःख। भोग = कर्म भोग। शेष = बाकी। गांस = हृदय की गुप्त बात।

भावार्थ-श्रीमाधवदासजी के वचन सुनकर श्रीजगन्नाथ भगवान ने कहा-मैं

क्या करूँ? अहो! भक्तों का दुःख देखकर मुझसे तनिक भी नहीं रहा जाता है। तब श्रीमाधवदासजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो फिर आप मेरी व्यथा को दूर ही कर दीजिये। क्योंकि मुझे जो शारीरिक दुःख प्राप्त हुआ है इसकी अपेक्षा आपको जब मैं अपनी सेवा करते देखता हूँ तो वह दुःख मुझे बहुत कष्ट देता है। तब भगवान ने कहा कि व्यथा दूर कर देने में मुझे भी यह भारी सङ्कट है कि यदि कर्मफल भोग शेष रह जायेगा तो वह अन्य जन्मों में और शरीरों में भी प्रवेश करेगा अर्थात् अवश्यमेव भोगना पड़ेगा, इसलिए मैं उसे नहीं दूर करके अपनी ईश्वरता को ही दूर करके आपकी सेवा में लग गया। व्यथा दूर न करने का यह कारण जो मैंने बताया वह तो सत्य है ही, इसका एक रहस्य और सुनो। वह यह कि मैंने मन में यह विचार किया है कि मेरे साधु का कोई उपहास न करे कि दुःख में इनका कोई सहायक नहीं है। इस प्रकार प्रभु का दर्शन करते और वार्तालाप करते हुये देखते-देखते में उनकी समस्त पीड़ा दूर हो गई। श्रीमाधवदासजी भगवान की नई-नई कथाएँ कहकर संसार में भक्ति का विस्तार किये।।३१९।।

व्याख्या-मोपै रहो नहीं जात-यथा-सुमिरत सुलभ दासदुख सुनि हरि चलत तुरत पट पीत सँभार न।। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन।। (वि०) 'मेटो विथागात' भाव यह कि आप तो 'कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं फिर आपके लिए मेरी व्यथा मिटाना कौन बड़ी बात है। 'रहै भोग शेष'-कर्म का फल भोगना ही पड़ता है यथा-नहि कर्माणि छिद्यन्ति जन्म कोटि शतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।। अर्थात् करोड़ों जन्म बीत जाने पर भी बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता है। अपने द्वारा किए गये शुभाशुभकर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है। पुनः-कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।। (रामा०) 'ताते नहीं दूर करौं-भोग शेष रहने पर अन्य शरीर धारण करना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे भक्तों का बारम्बार जन्म-मरण हो। यद्यपि भक्त तो मुझसे यही प्रार्थना करते हैं कि 'जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन। परन्तु मैं तो उन्हें मुक्त की कर देता हूँ। इसलिये कि देह धारण करने पर कर्म होना आवश्यक है और देह का धर्म भी बना रहना आवश्यक है और कभी-कभी भक्तों से भी काल-कर्म-गुण-स्वभाव वश ऐसे कर्म बन जाते हैं कि उन्हें जन्म भर पछताना पड़ता है। जैसे श्रीनिमिजी महाराज ने आवेश में आकर अपने गुरुदेव श्रीवशिष्ठजी को ही शाप दे दिया। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५२२।) फिर जब देवताओं ने उन्हें पुनः शरीर ग्रहण करने को कहा तो उन्होंने यही कहकर अस्वीकार कर दिया कि शरीर धारण करने में अनेक दोष हैं। देहाभिनिवेश वश ही मैंने श्रीगुरुजी को शाप दे डाला। भला, गुरुजी शाप देने योग्य हैं? अतः मैं अपने भक्तों

का सम्पूर्ण भोग एक ही शरीर में भोगकर समाप्त करा देता हूँ। दूसरी बात यह भी कि- साधु को न हँसे कोई-अर्थात् कोई यह नहीं कहे कि देखो, भगवद्भक्ति का कुछ फल नहीं है। यह सन्त कैसे दुःख में पड़े हैं परन्तु इन्हें कोई एक लोटा जल देने वाला नहीं है अतः मैं स्वयं साधु की सेवा के लिये कटिबद्ध रहता हूँ। पीड़ा सो बिलाय गई-इसके दो कारण- १. भोग समाप्त हो गया। २. भगवान का परमानन्दमय दर्शन-स्पर्श-सम्भाषण आदि प्राप्त होने पर दुःख रह ही नहीं जाता है। यथा-निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर।। (जटायुजी) कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा।। (सुग्रीव) दुख कि रहहिं रघुपतिहिं बिलोकत।। (गी०) पुनः-यहाँ दोनों बातें दिखाई गई हैं। विधि के अनुसार कर्म फल भोगना ही पड़ता है। साथ ही प्रभु चाहें तो कृपा करके छुड़ा भी सकते हैं। भगवान परम समर्थ हैं। जैसे न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार किसी को फाँसी की सजा होने पर भी राष्ट्रपति अपने विशेषाधिकार से उसे क्षमाकर सकते हैं। 'नई-नई कथा'-श्रीमाधवदासजी की वाणियों में वर्णित सभी अवतारों के कथा-प्रसङ्ग तो हैं ही, कुछ नवीन लीलाओं का भी वर्णन पाया जाता है। जैसे राधाप्रेम परतीति परीक्षा लीला। ग्वालिनी झगरो लीला।।

कीरति अभंग देखि भिक्षाकौ अरम्भ कियौ दियौ काहू बाई पोता खीझत चलायकै।
देबौ गुण लियौ नीके जल सों प्रच्छल करि करी दिव्य बाती दई दिये में बरायकै।।
मन्दिर उँजारौ भयौ हियेको अन्ध्यारौ गयौ गयैं फेरि देखन कौं परी पांय आयकै।
ऐसे हैं दयाल दुःख देत में निहाल करैं करै लै जे सेवा ताकौ सकै कौन गायकै।।३२०

शब्दार्थ- **अभङ्ग = अखण्ड, स्थायी। पोता = चूल्हा पोतने का कपड़ा। देबो = देना। प्रछाल करि = धोकर। दिव्य = सुन्दर, देवता योग्य।**

भावार्थ-**श्रीमाधवदासजी ने अपनी बढ़ती हुई अखण्ड, स्थायी कीर्ति को देखकर (उसे कम करने के लिये) घर-घर भिक्षा मांगना आरम्भ किया। एक दिन किसी बाई ने खीझकर इनके ऊपर पोता चला दिया अर्थात् पोतने से मारा। परन्तु ये नाराज नहीं हुए बल्कि उसके इस व्यवहार में भी यह गुण लिया कि इसने कुछ दिया तो। ये उस पोते को उठा लिए और अच्छी प्रकार से उसे जल में धोकर दिव्य बत्ती बनाये। फिर उन बत्तियों को दीपक में जलाये। मन्दिर में जब उन बत्तियों का प्रकाश हुआ तो उसी क्षण उस बाई के हृदय का भी अज्ञानकृत अन्धकार दूर हो गया। दूसरे दिन ये फिर बुढ़िया के घर यह देखने गये कि उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन हुआ है या नहीं। तो बुढ़िया इन्हें देखते ही इनके पैरों पर**

पड़ गई। इन्होंने उसे भक्ति का उपदेश दिया था। श्रीमाधवदासजी ऐसे दयालु सन्त थे कि यद्यपि बाई ने उन्हें पोता मारकर दुःख दिया परन्तु इन्होंने उस पर कृपा ही किया। उसे उपदेश देकर कृत-कृत्य कर दिया। फिर जो इनकी सेवा करेंगे उसका फल कौन वर्णन कर सकता है।।३२०।।

व्याख्या-कीरति अभंग-अपने पुरुषार्थ एवं पुण्य के द्वारा प्राप्त कीर्ति पुरुषार्थ के शिथिल होने पर वा पुण्य के क्षीण होने पर स्वयं नष्ट भी हो जाती है, परन्तु श्रीप्रभु कृपा से बढ़ी हुई कीर्ति अक्षुण्ण, अखण्ड एवं स्थायी होती है। यथा-'न घटै जन जो रघुवीर बढ़ाये। (क०) श्रीमाधवदासजी की कीर्ति पताका स्वयं भगवान ने फहराई थी अतः अमल कीर्ति फैली। परन्तु ये तो कीर्ति को भजन में कलंक समझते थे। क्योंकि 'लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।।' (रामा०) श्रीसुन्दरदासजी कहते है कि ऐसे लोग वन्दनीय होते हैं। यथा-धूलि जैसो धन जाके, शूलि सो संसार सुख भूलि जैसो भाग देखैं अन्तकसी यारी है। पाप जैसी प्रभुताई शाप जैसो सनमान बीछूसी बड़ाई और नागिनिसी नारी है। अग्नि जैसो इन्द्र लोक विघ्न जैसी विधि लोक कीरति कलंक जैसी सिद्धिसी ठगारी है। वासना न कोई वाकी ऐसी मति सदा जाकी सुन्दर कहत ताहि वन्दना हमारी है।। 'भिक्षाकौ अरम्भ कियौ'-भिक्षावृत्तिको अत्यन्त निन्द्य कहा गया है। यथा-उत्तम खेती, मध्यम बान। अधम चाकरी भीख निदान।। इसमें मान का सर्वथा खण्डन होता है। यथा-सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी। लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी (रामा०) श्रीमाधवदासजी की भी भिक्षा से मानहानि हुई। पहले तो चमत्कार देखकर कुछ लोग श्रीजगन्नाथ भगवान की तरह श्रीमाधवदासजी के भी दर्शन का नियम बना लिये थे। खाने-पीने के सामान का तो ढेर लगा रहता था। परन्तु भिक्षा का आरम्भ करते ही सबका नियम टूट गया, छूट गया। लोग आपस में कहने लगे कि बाबा तो घर-घर घूमने लगे, मालूम पड़ता है सिद्धाई खत्म हो गई तब तो जहां तहां भीख मांगते डोलते हैं। वस्तुतस्तु याचना के ब्याज से साधु-याचक अपने अहंकार का दमन करते हुए दूसरों को शिक्षा देते हैं- यथा-कुवचन औ अपमान सहि साधू मांगे भीख। अहंकार खोवैं अपुन परको देवैं सीख। (भ०व०टि०) पुनः-उपदिशन्ति न याचन्ति भिक्षुकाश्च गृहे गृहे। दीयतां दीयतामन्नमदातुः फलमीदृशाम्।। अर्थ-भिक्षुक माँगै भीख नहिं, सबको देवै सीख। बिना दानके मांगिहौ हमहिं सरीखे भीख।। (भ०व०टि०)

दियो काहू बाई पोता-कुटिया से निकलते तो प्रथम इस बाई का ही घर पड़ता।

यह स्वभाव से बड़ी चिड़चिड़ी एवं परम कृपण थी। श्रीमाधवदासजी सबसे पहले इसके द्वार पर ही जाकर 'जय जगदीश' कहते और यह भी दो-चार जली-कटी बाबा को सुनाती। 'निकल पड़े झोली लेकर, कमाकर धर गये हैं, जो वसूल करने आये हैं। सण्डे मुसण्डे हैं, कमाते-खाते नहीं बनता, आलसी जोगी पृथ्वी का भार।' आदि विविध प्रलाप करती। परन्तु ये कुछ भी बुरा नहीं मानते। नित्य मङ्गलाचरण यहीं से करते। दो-तीन दिन तो उस बाई ने बाबाजी को वचन मारा, चौथे दिन पोता मारा। 'दैवो गुण नीके'-यह कि आज पोता दिया तो कल आटा-दाल भी देगी। 'दई दियेमें बरायकै-श्रीमाधवदासजी ने उस बाई के कुछ पापों को तो पोता धोने में धो दिया, शेष दीपक जलाने के ब्याज से जला दिया, अन्धकार तो प्रकाश से दूर हो गया। परी पाँय आयकै-बुढ़िया ने प्रणाम किया, अपराध के लिए क्षमा-याचना की और बोली कि-महाराज! आज आपका न्यौता है। श्रीमाधवदासजी बड़े प्रसन्न हुए कि बाईजी तो एकदम बदल गई हैं। इसी से कहा गया है- एक घरी आधी घरी आधीमें पुनि आध। तुलसी सङ्गति साधुकी कटै कोटि अपराध।। मुख देखत पातक हरै परसत कर्म बिलाहिं। वचन सुनत मन मोह गत पूरब भाग मिलाहिं।। (दो०) 'दुख देतमें निहाल करैं,-यह साधु-स्वभाव की विशेषता है। यथा-साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।। जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। वन्दनीय जेहिं जग जसु पावा।। सन्त असन्तनि की असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।। काटै परसु मलय सुन भाई।। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।। (रामा०) तुलसी सन्त अरु अम्ब तरु फूलि फलैं परहेत। ए इत तै पाहन हनैं वे उत तै फल देत।। (दोहा०) पुनः-अगिनि कनक जारै चन्दन खण्डित आरै सिला घसै सीतलता वास न घटात है। छीर मथे माखन बटुरि आवै भेद लहौ मुकुर मलिन माँजे मूरति दिखात है। तोरेहूँ सरस रस मोरेहूँ सरस रस छीलै छाटै काटे औटे अधिक मिठात है। रचिबेकी कहा कहौं विरचे सहस गुन सज्जन सनेह कहूँ बातन सिठात है।।

पण्डित प्रबल दिग बिजै करि आयौ आय बचन सुनायौ जू! विचार मोसों कीजियै।
दई लिखि हारिकाशी जायकै निहारि पत्र भयो अतिख्वार लिखी जीति वाकी कीजियै।।
फेरि मिलि माधौ जू कौं वैसे ही हरायौ एक खर कौ मँगायौ कही चढ़ौ तब धीजियै।
बोल्यौ जूती बाँधौ कान गयौ सुनि न्हान आन जगन्नाथजी ते लै चढ़ायौ वाकौ रीझियै।।३२१

शब्दार्थ-विचार = शास्त्र-विचार अर्थात् शास्त्रार्थ! ख्वार = परेशान, लज्जामिश्रित रोष युक्त। खर = गदहा। धीजियै = सन्तोष हो, विश्वास हो। आन = आकर।

भावार्थ-एक बार एक बहुत बड़े पण्डित दिग्विजय करते हुए श्रीजगन्नाथपुरी आये और आकर श्रीमाधवदासजी से बोले कि आप मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये। श्रीमाधवदासजी ने तुरन्त अपनी हार लिख दी। काशी जाकर जब उन पण्डितजी ने उस विजयपत्र को देखा तो उसमें श्रीमाधवदासजी की जीत लिखी थी। तब तो मन में बड़े लज्जित हुए तथा श्रीमाधवदासजी पर बड़े रुष्ट हुए। दिग्विजयी पण्डित पुनः श्रीजगन्नाथपुरी आये और श्रीमाधवदासजी से मिलकर फिर उन्हें वैसे ही हराये। अबकी बार दिग्विजयी ने एक गदहा मँगाया और कहा कि कान में जूतियां लटकाकर गदहे पर चढ़कर नगर में घूमो तब हमें सन्तोष होगा। श्रीमाधवदासजी ने कहा-मैं स्नान कर आऊँ फिर आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा। इसी बीच श्रीजगन्नाथ भगवान ने आकर पण्डितजी को हरा दिया और गदहे पर चढ़ाकर नगर में घुमाने लगे। कौतुकी प्रभु को इस कौतुक से बड़ी प्रसन्नता हुई एवं भक्त के ऊपर भगवान का परमानुग्रह विचारकर भक्तजन बड़े प्रसन्न हुए और श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैं भी श्रीप्रभु की इस भक्तवत्सलता पर रीझ गया।।३२१।।

व्याख्या-विचार मोसों कीजिये-दिग्विजयी ने प्रथम श्रीजगन्नाथपुरी के ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। तब ब्राह्मणों ने कहा कि हम लोगों के गुरु श्रीमाधवदासजी हैं आप उनको हरा दीजिये तो हम सब लोग अपनी हार मान लेंगे। ऐसा भी कहते हैं कि दिग्विजयी पहले काशी गये। वहाँ के पण्डितों ने पूछा कि क्या आप सब जगह जीत आये हैं। उन्होंने कहा-हाँ! पण्डितों ने पूछा-क्या-जगन्नाथपुरी के श्रीमाधवदासजी को भी जीत आए। उन्होंने कहा कि अभी तो वहाँ मैं गया ही नहीं। तब पण्डितों ने कहा कि पहले पुरी के माधवदासजी को हराइये इसके बाद काशी आइये। यहाँ तो अन्तिम निर्णय होता है। यह पण्डितों की खानि है। तब वे पुरी गये। 'दई लिखि हार'-नारद भक्ति सूत्र में लिखा है कि भक्त को वाद-विवाद नहीं करना चाहिये। यथा-वादो नावलम्ब्यः।।७४।। विद्या का वास्तविक तात्पर्य भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति में है न कि विवाद में। यथा-'श्रीकृष्ण भक्ति बिना विद्या नहिं आर।।' (चै०च०) सा विद्या या विमुक्तये। (भा०) विद्या बिनु विवेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये।। (रामा०) केवल विवाद प्रयोजिनी विद्या विद्या नहीं वह तो अविद्या है। यथा-विद्या पढ़ि करते फिरैं औरनको अपमान। नारायण विद्या नहीं ताहि अविद्या जान।। साधुकी विद्या विवाद के लिये न होकर ज्ञानदान के लिये होती है। यथा-विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय। विद्या पढ़कर भी यदि भक्ति नहीं आई तो उस विद्या के पढ़ने से

लाभ ही क्या? यथा-विद्या रूपमहत्व कुल धन यौवन अभिमान। षट कंटक देखै जहां रहे न भक्ति निदान।। रहै न भक्ति निदान स्वाँग सब नगर नारिके। विषयिन हाथ विकाय नहीं रिझावन भतार के।। जग वंचनके हेतु सर्व गुण सीखै जिद्या। भगवत भक्ति विहाय कहा कीनो पढ़ि विद्या।। अतः श्रीमाधवदासजी शास्त्रार्थ के झमेले में न पड़कर हार लिख दिये। कहा भी गया है-हारें तो हरिजन भले जीतन दो संसार। हारे हरि पै जायँगे जीते जमके द्वार।। पण्डित ने समझा कि कुछ कम पढ़े लिखे होंगे अतः लिख दिये। यदि विशेष पढ़े लिखे होते तो जरूर शास्त्रार्थ करते।

काशी जायके निहारि०-दिग्विजयी पण्डित ने काशी जाकर पण्डितों की सभा में बड़ी शेखी बघारा और अत्यन्त अभिमान में भरकर अपना विजय पत्र खोलकर दिखाया। परन्तु आश्चर्य! जब पण्डितों ने विजयपत्र पढ़ा तो उसमें लिखा था-'माधवदासजी जीते, दिग्विजयी हारे। स्वयं दिग्विजयी ने भी पढ़ा-एक बार-दो बार, बार-बार, चश्मा पोंछकर पढ़ा, आंख मुँह धोकर पढ़ा, परन्तु हर बार यही लिखा पाया। तब तो वह माधवदासजी पर अत्यन्त झल्लाया। 'फेरि मिलि···हरायो'-दिग्विजयी ने आकर श्रीमाधवदासजी को बहुत उलाहना दिया कि तुमने मेरे साथ छल किया। मुझसे तो कहा कि मैं हार लिख रहा हूँ और लिख दिया तुमने अपनी जीत। माधवदासजी ने मुस्कुराकर कहा कि आपने ध्यान से पढ़ा नहीं। पुनः पढ़िये। तब दिग्विजयी ने फिर विजयपत्र को पढ़ा तो उसमें लिखा पाया कि 'माधवदासजी हारे दिग्विजयी जीते।' तब तो पण्डित के झुंझलाहट का पारावार नहीं रहा। उन्हें शंका हो गई कि ये तो कोई चेटकी मालूम पड़ते हैं। यहाँ यह लिखा है और वहां वह लिखा मिला अतः उन्होंने सोचा कि लिखित पत्र का कोई विश्वास नहीं है। इसलिये अपनी जीत और माधवदासजी की हार को जगत में प्रमाणित करने के लिये उन्होंने श्रीमाधवदासजी को मुँह काला करके, कान में जूतियां लटकाकर, गदहे पर चढ़ाकर नगर में घुमाने का आयोजन किया। 'सबहि मानप्रद आपु अमानी'-श्रीमाधवदासजी स्वीकृति देकर स्नान करने चले गये। 'आन जगन्नाथ जीते'-श्रीजगन्नाथ भगवान एक विद्यार्थी का रूप धरकर आये और दिग्विजयी पण्डित से बोले कि-पण्डितजी! बिना शास्त्रार्थ के हार-जीत कैसी। यदि आप अपनी विजय का प्रमाणपत्र लेना चाहते हैं तो शास्त्रार्थ कीजिये और शास्त्रार्थ भी पहले महाराज के शिष्यों से कीजिये तब श्रीमहाराजजी से करना। पण्डितजी ने पूछा-आप कौन हैं? भगवान ने कहा मैं श्रीश्री१०८ श्रीमाधवदासजी महाराज का शिष्य हूँ। भगवत्प्रेरणा से पण्डितजी शास्त्रार्थ के लिये तैयार हो गए। भगवान ने प्रथम उनकी स्मरण

शक्ति अपहरण कर ली, फिर बहुत सामान्य प्रश्न पूछा। पण्डित को उसका उत्तर नहीं आया। फिर तो पण्डितजी का न्याय पण्डितजी के ही माथे पड़ा। उन्हीं के द्वारा लाये गए कालिख से उनका मुँह काला किया गया, उन्हीं के द्वारा बनाई गई जूतों की माला उन्हें पहनाई गई और उन्हीं के द्वारा लाए गये गदहे पर उन्हें चढ़ाया गया। इस पर-

दृष्टाँत-बेलमा फकीर और काजीका-एक बार एक नाई बेलमा फकीर की हजामत बना रहा था। किञ्चित् असावधानीवश छुरे से तनिक खाल कट गई तो बेलमा ने उसे एक जूता मारा। नाई ने काजी के पास जाकर फरियाद की। काजी ने बेलमा को बुलाकर कहा कि तुमने अनीति की है अतः नाई को राजी करने के लिये तुमको आठ आने पैसे देने पड़ेंगे। बेलमा ने कहा कि यदि एक जूता मारने का आठ आना दंड हुआ तो यह लो एक रुपया, मेरे पास खुले पैसे नहीं हैं, तुम दोनों आठ-आठ आने बाँट लेना। यह कहकर बेलमा ने काजी के सिर पर भी एक जूता मारा और यह कहते हुए कि-'तुम्हारे ही मुख का न्याय है।' फकीर वहाँ से चल दिये। वैसे ही यहाँ भी हुआ। पंडित को गधे पर चढ़ाकर नगर में घुमाया जा रहा था। स्वयं श्रीजगन्नाथ भगवान बहुत से बालकों को सङ्ग लेकर पीछे-पीछे ताली बजाते हुए 'हुरूं-कुरूं' बोलते जा रहे थे। यथा-धूसर धूरि भरे सब गात सुजात पुकारत डोलत हैं। अलकावलि राजति हैं विथुरी सुथरी बर गोल कलोलत हैं।। अंबुज लोचन चारु चितौन सुभाल विशाल विलोलत हैं। लरिकान में डोलत हैं जगन्नाथ हुरू-कुरूरू करि बोलत हैं।। इतने में श्रीमाधवदासजी स्नान करके आ गए। पंडित को गधा पर चढ़े देखकर बोले कि-महाराज! आपको इतनी उतावली थी कि जब तक मैं आऊँ तब तक स्वयं ही बैठ गए। पंडित ने झुँझलाकर कहा कि मुझे गधा पर चढ़ने की हौंस थोड़े ही थी। तुम्हारे शिष्य ने मुझे हराकर बैठने को विवश कर दिया। श्रीमाधवदासजी ने पूछा-कौन शिष्य? तब पंडितजी ने पीछे फिरकर अंगुली से संकेत किया। श्रीमाधवदासजी ने देखा तो वे तो साक्षात् श्रीजगन्नाथ भगवान थे। तब तो ये मन ही मन बड़े नाराज हुए कि इस बेचारे की सब दिग्विजय धूल में मिला दिये। भला यदि मैं गधे पर चढ़कर नगर में घूम लेता तो मेरा क्या बिगड़ जाता। मैं तो साधु ठहरा। परन्तु यह तो सम्मान प्राप्त प्रतिष्ठित पंडित थे। इनका तो मरण हो गया।

श्रीमाधवदासजी की दृष्टि पड़ते ही भगवान संकुचित होकर भाग गये। इन्होंने पंडित को गधे से उतारा, जूतों की माला निकाल फेंकी और अपने लोटे के जल से उनके मुख का कालिख धोया। दिग्विजयी पंडित को श्रीमाधवदासजी सरीखे संत का दर्शन-स्पर्श-समागम

प्राप्त हुआ। उनके जन्म-जन्म के कल्मष दूर हो गये। अभिमान तो पहले ही नष्ट हो चुका था। अब सन्त स्वभाव देखकर श्रीमाधवदासजी के चरणों में पड़कर रोने लगे। अपनी भूल पर उन्हें बहुत पश्चात्ताप हो रहा था। श्रीमाधवदासजी ने उन्हें परमतत्व का उपदेश दिया। कि- हरि हरि वचन उचारिए, हरिजस सुनिए कान। हरि कौं सीस नवाइयै, हरि हैं रूप निधान।। हाथन हरिके कर्मकर, पाइन परिकर्मा दीजै। नैन निरखि जगन्नाथको आत्मसमर्पन कीजै।। कोटि ग्रन्थको यह अरथ, श्रुति स्मृति पुकारा। वासुदेवकी भक्ति बिनु नहिं नरको निस्तारा। व्यास न कथनी कामकी करनी है इकसार। भक्ति बिना पण्डित वृथा ज्यों खर चन्दन भार। भक्ति बिना श्रीभागवत कहैं सुनैं जे नन्द। ज्यौं दर्वी व्यञ्जननिमें स्वाद न जानै मन्द।। पण्डित पढ़ि भागवत भक्ति भक्तनजु सिखावत। महिषी ज्यों पयस्त्रवत आप सो स्वाद न पावत।। मृग सुनाभि नहिं लखै लेत तृण शिल मधि घ्रानै। ऊँट अगर कर्पूर बहै पर मरम न जानै।। दर्विनी न्याय चत्रभुज सुगुन भक्ति बिना मंडूक धुनि। दर्पण दिया जु नैन विन दियौ आँधरे डारि पुनि।। इस प्रकार थोड़े शब्दों में ही श्रीमाधवदासजी ने सब शास्त्रों का सार समझा दिया। वे मन-वचन-कर्म से सच्चे वैष्णव बन गये। श्रीमाधवदासजी ने मन्दिर में आकर भगवान से पूछा कि आपने मेरे बदले उस ब्राह्मण को क्यों गधे पर चढ़ाया। भगवान ने कहा-वह तो मैं अपने बदले चढ़ाया था। शास्त्रार्थ तो मुझसे हुआ था। इस प्रकार भगवान ने श्रीमाधवदासजी की मर्यादा बढ़ाई। इसी से कहा गया है कि- जाको आदर हरि करैं तासु अनादर कौन। जासु अनादर हरि करै ताको आदर कौन।। ताकौ आदर कौन इन्द्र अद्यांपिजु देखौ। गोबरधन गिरिराज भयो जू पूज्य विशेषौ।। भगवत रसिक अनन्य पाणि गहि लीनौ जाको। सुर जन सब अनुकूल करै दुर्जन कह ताको।

ब्रज ही की लीला सब गावैं नीलाचल माँझ मन भई चाह जाइ नैननि निहारियै।
चले वृन्दावन मग लग एक गाँव जहाँ बाई भक्त भोजन को ल्याई चाव भारियै।।
बैठे ये प्रसाद लेत, लेत दृग भरि अहौ! कहौ कहा बात दुख हिये को उघारियै।
साँवरो कुवँर यह कौनको भुराय ल्याये? माय कैसे जीवै? सुनि मति लै बिसारियै।।३२२

शब्दार्थ- लग = लगा, समीप। भुराय = भुलाय, वहकाय, फुसलाय। माय = माता।

भावार्थ-श्रीमाधवदासजी श्रीनीलाचल (श्रीजगन्नाथपुरी) में निवास करते हुए श्रीव्रजधाम की श्रीकृष्ण-लीलाओं का गान करते रहते थे। एक बार इनके मन में इच्छा हुई कि श्रीव्रज-वृन्दावन का दर्शन करना चाहिये। फिर तो ये श्रीवृन्दावन को चल पड़े। मार्ग में

एक गाँव था, उसमें एक बाईजी बड़ी भागवती थीं। वह श्रीमाधवदासजी को प्रसाद पाने के लिए बड़े प्रेम से अपने घर लिवा लाईं। ये बैठकर प्रसाद पा रहे थे। उस बाईजी के नेत्रों में आँसू भर आए। यह देखकर उन्होंने पूछा कि-अहो! क्या बात है? आपके नेत्रों में आँसू क्यों भरे हैं? आप निःसङ्कोच अपने हृदय का दुःख हमसे खोलकर कहिए। तब उन बाईजी ने कहा कि-बाबाजी! यह श्यामल किशोरकुमार आप किसका फुसला लाए हैं? भला इसके बिना इसकी माता कैसे जीती होगी? यह सुनकर श्रीमाधवदासजी अपनी सुधि-बुधि खो बैठे।।३२२।।

व्याख्या-चले वृन्दावन-जब ये श्रीवृन्दावन आने लगे तो श्रीजगन्नाथ भगवान से जाकर अपना अभीष्ट निवेदन किये। श्रीभगवान ने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूंगा। तब इन्होंने कहा कि आप तो यहीं विराजिये। दूर की यात्रा है, रास्ते में कष्ट होगा। हम तो साधु ठहरे, भूख-प्यास, सुख-दुःख सब सहने वाले। रास्ते में खाने-पीने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती है। कहावत है-कभी घी घना, कभी मुट्ठीभर चना, कभी वह भी मना। अतः आप जाने का हठ नहीं करें। यह कहकर श्रीमाधवदासजी चल दिये। चुपके से पीछे-पीछे प्रभु भी सङ्ग लग गये। कुछ दूर जाने पर रास्ते में दस बजे ही श्रीमाधवदासजी को बड़े जोर की भूख लगी। वे बड़े विचार में पड़ गये कि क्या बात है जो इतनी जल्दी भूख लग आई। हमें तो इतने सबेरे कभी भूख नहीं लगती थी। बात यह थी कि भूख तो लगी थी श्रीजगन्नाथ भगवान को, परन्तु कहें तो किससे कहें। यदि माधवदासजी से कहते हैं तो वे नाराज होंगे कि मैंने तो पहले ही कहा था, फिर साथ क्यों लग गये। अतः सर्वव्यापक प्रभु ने श्रीमाधवदासजी को ही क्षुधित कर दिया। फिर तो ये उस बुढ़िया बाई के अतिथि हुए। 'बैठे ये प्रसाद लेत०-जब ये प्रसाद पा रहे थे, तो भगवान भी दस साल के बालक के रूप में इनकी ही थाली में बैठकर पा रहे थे, जैसे बाप-बेटा एक ही थाली में पा रहे हों। बुढ़िया बाई जी को भगवान का दर्शन हुआ अतः उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। 'माय कैसे जीवै'-भाव यह कि ऐसे सुघर-सलोने बालक के वियोग में माता का जीवित रहना असम्भव है। श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी को वन-पथ में देखकर मार्गवासी भी ऐसा ही कहते थे यथा-रानी मैं जानी अयानी महा पवि पाहनहू ते कठोर हियो है। राजहुँ काज अकाज न जान्यौ कह्यौ तियको जेहि कान कियो है।। ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है। आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमिकै वनवास दियो है।। (क०) मति लै विसारियै-अपने तथा उन बाईजी के ऊपर भगवान का परमानुग्रह विचारकर श्रीमाधवदासजी प्रेम में मग्न हो गये।

चले और गांव जहां महाजन भक्त रहै गहे मन मांझ आगे विनती हू करी है।
गये वाके घर वह गयौ काहू और घर भाय भरी तिया आनि पांयन में परी है।।
ऊपर महन्त कही 'अजू एक सन्त आये' 'इहां तो समाई नाहिं' आई अरबरी है।
कीजिये रसोई 'जोई सिद्ध सोई ल्यावो' दूध नीके कैं पिवायो नाम माधौ आस भरी है।।३२३

शब्दार्थ-**महाजन = सेठ, श्रेष्ठ। समाई = गुञ्जाइश। अरबरी = जल्दी, घबड़ाई। सिद्ध =पका हुआ, भोगयोग्य तैयार।**

भावार्थ-**श्रीमाधवदासजी वहाँ से आगे चले गये और एक दूसरे गाँव में पहुँचे जहाँ पर एक वैश्य भक्त रहता था। उसने पहले किसी समय जब वह श्रीजगन्नाथपुरी गया था तो इनसे विनती की थी कि कभी कृपा करके मेरे घर पधारें। तो इन्होंने मन में सोचा कि जब कभी श्रीवृन्दावन चलूंगा तो इनके घर होता चलूँगा। अतः आज उस भक्त के घर गये। परन्तु संयोग की बात, वह भक्त किसी और के घर गया था। घर में उसकी परम-भागवती पत्नी थी। उसने आकर श्रीमाधवदासजी के चरणों में प्रणाम किया और प्रसाद पाने का अनुरोध किया। उस दिन उसके यहाँ एक महन्तजी आये थे, उनका आसन मकान की ऊपरी मंजिल पर था। भक्त पत्नी ने ऊपर महन्तजी से जाकर कहा कि एक सन्त और आ गए हैं। महन्तजी ने कहा कि यहाँ तो किसी की गुञ्जाइश नहीं है तब तो वह घबड़ाई हुई नीचे आई और श्रीमाधवदासजी से बोली कि मैं सीधा सामान दिए देती हूँ आप कृपा करके रसोई बना लीजिए। इन्होंने कहा कि यदि तुम्हें कुछ खिलाने का ही आग्रह है तो जो भी बना बनाया सामान हो वही लाओ। तब उस भक्ता ने इन्हें खूब अच्छी तरह से औटाया हुआ दूध पिलाया। इस प्रकार उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई। चलते समय इन्होंने कहा कि भक्तजी आवें तो कह देना कि 'जगन्नाथी श्रीमाधवदासजी' आये थे।।३२३।।**

व्याख्या-दूध नीके कै पिवायो है-**श्रीमाधवदासजी ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी सिद्ध सामान हो वही लाओ। उसने कहा कि-महाराज! और तो कुछ नहीं है, दूध औटाया धरा है, कहिये तो ले आऊँ। इन्होंने कहा कि वही ले आओ। नहीं रोटी-दाल पाया, दूध ही सही। इस पर-**

दृष्टान्त-एक महात्माका-**व्रज के एक गांव में एक महात्माजी एक व्रजवासी के घर छाछ माँगने गए। घर की मालकिन ने कहा-बाबाजी! छाछ तो नहीं है, कहिये तो दूध दे दूँ। महात्माजी ने कहा-छाछ नहीं तो दूध ही दे दे, साधु को स्वाद से क्या? माताजी दूध**

देने लगीं तो उसकी मलाई भी गिरने लगी तो उन्होंने अँगुली के इशारे से मलाई को रोकना चाहा। तब महात्माजी ने कहा-मैया! रोकती क्यों है? गिर जाने दे सब अलाय-बलाय, साधु को स्वाद से क्या? व्रजवासिन मैया ताड़ गई बाबा की ताल-पट्टी। बोली-देखो, निपूते बाबा को, छाछ की जगह दूध ले रहा है और मलाई को अलाय-बलाय कह रहा है। ऊपर से वैराग्य दिखा रहा है कि साधु को स्वाद से क्या।

गये उठि पाछे भक्त आयौ सो सुनायौ नाम सुनि अभिराम दौरे सङ्ग ही महन्त है।
लिये जाय पांय लपटाय सुख पाय मिले झिले घर मांझ तिया धन्य तोसों कन्त है।।
सन्त पति बोले मैं अनन्त अपराध किये जिये अब कही सेवो सीत मानि जन्त हैं।
आवत मिलाप होय यही राखौ बात गोय आये वृन्दावन जहाँ सदाई बसन्त है।।३२४

शब्दार्थ-अभिराम = सुन्दर, शुभ, प्रिय, प्रसन्न करने वाला। झिले = सन्तुष्ट हुए। धन्य = सुकृती, पुण्यवान, साधुवाद के योग्य। कंत = पति। संतपति =महन्त। जंत = यन्त्र, यत्न, उपाय। गोय = छिपाकर।

भावार्थ-भक्तपत्नी को अपना परिचय देकर श्रीमाधवदासजी वहाँ से उठकर चल दिये। इनके जाने के थोड़ी ही देर बाद वह महाजन भक्त घर पर आया तब उसकी पत्नी ने श्रीमाधवदासजी का नाम सुनाया। यह सुन्दर एवं शुभ समाचार सुनते ही महाजन भक्त दौड़ पड़े। उनके साथ ही वे महन्तजी भी दौड़े। दोनों ही जाकर श्रीमाधवदासजी के चरणों में लिपट गए। श्रीमाधवदासजी भी उनसे बड़े सुखपूर्वक मिले। इस प्रकार मिलकर परस्पर बड़े सन्तुष्ट हुए। श्रीमाधवदासजी ने भक्त की बड़ाई की कि आपके घर में जो आपकी पत्नी है, वह धन्य है, जिसे आप सरीखे पति मिले हैं एवं ऐसी भागवती पत्नी के आप पति भी धन्य हैं। महंतजी ने अत्यन्त दीन होकर कहा कि मैंने आपका अनन्त अपराध किया है, वह कैसे दूर होगा? श्रीमाधवदासजी ने कहा कि जब तक जीओ तब तक सन्तों की सीथ-प्रसादी सेवन करो। अपराध छूटने का यही अमोघ उपाय समझो। घर चलने का आग्रह करने पर श्रीमाधवदासजी ने महाजन भक्त से कहा कि लौटते समय पुनः मिलूँगा। अब इस बात को हृदय में धारण करो। फिर श्रीमाधवदासजी वहाँ से चलकर श्रीवृन्दावन आए, जहाँ पर सदा ही बसन्त ऋतु की वासन्तिकला बनी रहती है।।३२४।।

व्याख्या-दौरे संगही महन्त-इससे जनाया गया कि महन्तजी भी श्रीमाधवदासजी की महिमा से परिचित थे। पहले कोई साधारण बाबाजी जानकर कह दिये थे कि 'इहाँ

तो समाई नाहिं।' परन्तु अब परिचय मिलने पर भूल मालूम हुई तो प्रायश्चित्तार्थ दौड़े। तिया धन्य तोसो कन्त है-स्त्री को धन्य तो इससे कहा कि बिना किसी पूर्व की जान-पहचान के केवल सन्तवेष देखकर सेवा की। इससे इनकी वेषनिष्ठा विदित होती है। वेषमात्र में निष्ठा होना बहुत बड़ी बात है। भक्तजी सेवा करते तो उनकी सेवा तो जान-पहचान की सेवा होती। 'धन्यकन्त' इससे कहा कि ऐसी भागवती पत्नी बड़े पुण्य से मिलती है। ऐसे पति-पत्नी से गृहस्थाश्रम धन्य हो जाता है। पति-पत्नी के स्वभाव में विरोध होने पर घर नरकतुल्य हो जाता है। पदे-पदे सङ्कट उपस्थित होता रहता है। कहावत है-वैष्णव कन्त अवैष्णव नारी। ऊँट बैलकी जोती गारी।। इस पर-

दृष्टान्त-एक अवैष्णवी नारी का-किसी गांव में एक भक्तजी रहते थे। वे सन्तों की खूब सेवा करते थे। अतः उनके यहाँ सन्तों का आवागमन बना ही रहता था। परन्तु उनकी पत्नी बड़ी ही कर्कश थी। वह सन्तों को देखकर जला करती थी, पति से झगड़ती थी। नित्यप्रति नये-नये उपद्रव खड़े किये रहती थी, जिससे सन्तसेवा बन्द हो जाय। एक दिन उसने ऐसा त्रियाचरित्र किया कि भक्तजी कहीं बाहर गए हुए थे, इतने में संतों की जमात घर पर आ गई। संतों को देखकर वह कुटिला स्त्री रस्सी और मूसर को घर के कोने में छिपाने लगी। कभी इस कोने में रखती तो कभी उस कोने में। एक संतजी ने पूछा कि माताजी! आप रस्सी और मूसर छिपाने में इतनी व्यस्त क्यों हैं? उसने मुँह उदास करके कहा-महाराज! मेरे पतिदेव का दिमाग खराब हो गया है। घर पर जब कोई सन्त आते हैं तो उसे रस्सी से बांधकर मूसर से मारते हैं। आप लोगों पर तरस खाकर मैं इसे छिपा रही हूँ। वे अब आने ही वाले हैं। यह सुनकर सन्त डर के मारे वहाँ से भाग चले। थोड़ी ही देर में उसका पति घर पर आया तो देखा कि सन्त हमारे घर से लौटे जा रहे हैं। उसने पत्नी से पूछा कि संतों को तुमने रोका क्यों नहीं? उसने झल्लाकर कहा-तुम्हारे संत भी खूब रहे। वे हमसे रस्सी और मूसल माँग रहे थे। भला मैं यह उनको दे दूँगी तो अपने घर का काम कैसे चलेगा? भक्तजी ने कहा कि यदि सन्त माँग रहे थे तो तुमने क्यों नही दिया? मैं घर के काम के लिये दूसरा ला देता। अच्छा, ला, अभी सन्त थोड़ी ही दूर गये हैं, मैं उनको दे आऊँ। फिर भक्तजी रस्सी और मूसल लेकर सन्तों के पीछे दौड़े। दूर से आवाज लगाई-महाराज! यह रस्सी और मूसर लेते जाइये। सन्तों ने देखा कि यह सचमुच रस्सी और मूसर लिए दौड़ा आ रहा है, निश्चय ही उसकी पत्नी ने ठीक कहा था। फिर तो सभी संत अपना आसन-बासन फेंककर जी लेकर भागे। भक्तजी बड़ी मुश्किल से सन्तों का समाधान

कर पाये। जब उन्हें पत्नी का व्यवहार मालूम हुआ तो घर आकर उसी रस्सी से पत्नी को बांधकर उसकी उसी मूसर से पूजा की। वह घर छोड़कर मायके चली गई और लौटकर आई ही नहीं। बोली, उनका दिमाग खराब है।

दूसरा दृष्टान्त-पण्डितजी का-एक पण्डितजी बड़े सीधे सादे सरल स्वभाव के थे परन्तु उनकी पत्नी सर्वथा प्रतिकूल आचरण वाली थीं। पण्डितजी जो कुछ कहते, वह ठीक उसका उल्टा करतीं। पत्नी के व्यवहार से हैरान होकर पण्डितजी एक महात्मा की शरण में गये। उनसे अपना दुःख निवेदन किये। महात्माजी ने सलाह दी कि जब वह उल्टा करती है तो आप भी उल्टे कहने का अभ्यास करिये, बस, सीधा हो जायेगा। अब तो पण्डितजी को कुछ राहत मिली। पण्डितजी कहते-देखो, पण्डितानी! आज त्यौहार है, सबके घर पूआ-पकवान बन रहे हैं, परन्तु तुम तो आज बाजरे की रोटी बनाना। पण्डितानी कहतीं कि आज तो जरूर पूआ-तस्मई बनाऊँगी। फिर तो उस दिन खूब चकाचक छनती। इसी प्रकार भूख-प्यास लगने पर पण्डितजी कहते कि मैं भोजन-पानी मागूँ तो भी नहीं देना, परन्तु हठ की पक्की पण्डितानी जरूर भोजन कराती, पानी पिलाती, लेकिन यदि तनिक-सा पण्डितजी कहने में चूक जायें तो उल्टा पड़ जाता। अंत में पण्डितजी ने यह निश्चय किया कि ऐसी पत्नी से पिण्ड छूट जाय तो अच्छा है। संयोग की बात, एक दिन पंडितानीका भाई घर पर आया। पण्डितजी ने कहा-देखो पण्डितानी, कहीं भाई के साथ मायके नहीं चली जाना। पण्डितानी ने कहा-मैं जरूर जाऊँगी। पं०-अच्छा, तो खूब वस्त्राभूषण साथ में ले लेना। पण्डितानी-मैं कुछ भी नहीं ले जाऊँगी। पं०-अच्छा, देखो नदी में बाढ़ आई है, नौका से पार जाना, तैरकर पार करने की इच्छा नहीं करना। पण्डितानी-मैं तो तैरकर ही पार जाऊँगी। परिणाम यह हुआ कि नदी की तेज धारा में पण्डितानी बह गईं। पण्डितजी ने चैन की साँस ली। ऐसा गार्हस्थ्य महादुःखदायी होता है। तीसरा दृष्टान्त सुदर्शन खत्री का-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६६। चौथा दृष्टान्त श्रीकूबाजी का देखिये कवित्त ५७२, ४७३। पांचवां दृष्टान्त संतजी का देखिये कवित्त ४०५।

संतपति सेवो मानि जन्त-श्रीमाधवदासजी ने कहा कि आपने तो मेरा बहुत सम्मान किया। मेरा नाम सुनकर आप कोसों दौड़े आये। आपने अपमान तो सन्त का किया है। संत का नाम सुनकर आपने कहा कि इहाँ तो समाई नाहिं।' अतः आजीवन संत-सेवा करो और संतो की सीत-प्रसादी पाओ, तभी यह अपराध दूर हो सकता है। 'आवत मिलाप होय'- महाजन भक्त ने इनको लौटाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु ये पुनः घर को नहीं लौटे। इसी से

कहा गया है कि साधु और सिंह का मुंह जिधर घूम गया उधर ही चल देते हैं, पीछे नहीं लौटते। 'जहाँ सदाई बसन्त है' यथा-व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया। ग्रीष्मो नामर्तुर-भवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम्।। स च वृन्दावनगुणैर्वसंत इव लक्षितः। यत्रास्ते भगवान साक्षाद् रामेण सह केशवः।। (भा० १०-१८-२-३) अर्थ-इस प्रकार अपनी योगमाया से ग्वाल का सा वेष बनाकर राम और श्याम व्रज में क्रीड़ा कर रहे थे। उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। यह शरीरधारियों को बहुत प्रिय नहीं है, परन्तु वृन्दावन के स्वाभाविक गुणों से यहाँ बसन्त की ही छटा छिटक रही थी। इसका कारण था-वृन्दावन में परम मधुर भगवान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और बलराम जी निवास जो करते हैं। पुनः-कूलनमें केलिमें कछारनमें कुञ्जनमें क्यारिनमें कलिन-कलिन किलकन्त हैं। कहैं पदमाकर परागनमें पौनहूमें पातनमें पिकमें पलासमें पगन्त है।। द्वारमें दिसानमें दुनीमें देस देसनमें देखौ दीप दीपनमें दीपत दिगन्त है। बीथिनमें व्रजमें नवेलिनमें बेलिनमें बननमें बागनमें बगरौ बसन्त है।।

देखि देखि वृन्दावन मन मगन भए गए श्रीविहारीजू के चना तहां पाये हैं।
कहि रह्यो द्वारपाल नेकु में प्रसाद लाल यमुना रसाल तट भोग सो लगाये हैं।।
नाना विधि पाक धरै स्वामी आप ध्यान करैं बोलै हरि भावैं नाहिं वेई लै खवाये हैं।
पूछ्यो सो जनायौ ढूँढ़ि ल्यायौ आगे गायौ सब तुम तौ उदास हास रस समझाये हैं।।३२५

भावार्थ-श्रीमाधवदासजी श्रीवृन्दावन की शोभा देख-देखकर मन में परमानन्द में डूब गये। पुनः जब आप श्रीबांकेबिहारीजी के दर्शनार्थ गये तो वहाँ आपको चना मिले। यद्यपि द्वारपाल कह ही रहा था कि थोड़ी ही देर में श्रीबांकेबिहारीलाल जी का प्रसाद मिलेगा। आप उसे पाइयेगा, परन्तु ये तो चनों को ही ले जाकर श्रीयमुनाजी के परम-पावन पुलिन पर रस स्वरूप श्रीठाकुरजी को भोग लगाये और स्वयं भी चना-प्रसाद पाये। इधर स्वामी श्रीहरिदासजी श्रीबाँकेबिहारीजी के भोग के लिये अनेक प्रकार के व्यंजन थाल में सजाकर सम्मुख रखकर जब भोग आरोगने की भावना करने लगे तो ध्यान में देखें कि श्रीठाकुरजी भोग नहीं आरोग रहे हैं। तब श्रीस्वामीजी ने पूछा कि जै, जै आज आप भोग क्यों नहीं आरोग रहे हैं? तब श्रीबिहारीजी ने कहा कि आज मुझे पाने की रुचि नहीं है। श्रीस्वामीजी ने पूछा-सो क्यों? श्रीबिहारीजी ने कहा कि श्रीमाधवदासजी ने चने खिला दिये हैं। श्रीस्वामीजी ने पूछा-वे कहाँ हैं? तब श्रीबिहारीजी ने उन्हें बताया कि वे इस समय श्रीयमुनाजी के किनारे हैं। तब श्रीस्वामीजी की आज्ञा से शिष्य-सेवकगण श्रीमाधवदासजी को खोज लाये। पूछने पर श्रीमाधवदासजी ने चना भोग लगाने का प्रसङ्ग वर्णन किया। तब श्रीस्वामीजी ने हँसकर

श्रीमाधवदासजी को समझाया कि आप जगत से उदासीन हैं, यह तो ठीक है परन्तु श्रीठाकुरजी से एवं श्रीठाकुरजी के प्रसाद से विरक्त होना ठीक नहीं है। फिर श्रीस्वामीजी ने श्रीमाधवदासजी को श्रीवृन्दावन की सरस उपासना पद्धति समझाई।।३२५।।

व्याख्या-देखि देखि वृन्दावन०-यथा-श्रीवृन्दावनकी शोभा देखत मेरे नैन सिरात। कुंज निकुंज पुंज सुख बरसत हरषत सबके गात।। राधामोहनके निज मन्दिर महाप्रलय नहिं जात। ब्रह्मातें उपज्यों न अण्ड ते कमल सिखण्ड नसात। फनपर रवितर नहिं विराट महँ कमलापुर ते तात। मायाकाल रहित नित नूतन सदा फूल फल पात।। निर्गुन सगुन ब्रह्मते न्यारौ विहरत सदा संघात। व्यास विलास रास अद्भूत गति निगम अगोचर बात।। पुनः-श्रीवृन्दावन देखत नैन सिरात। इनि मेरे लोभी नैनमें सोभा सिंधु न मात।। सन्तत सरद बसंत बेलिद्रुम झूलत फूलत घात। नंदनंदन वृषभानुनंदिनी मानहुँ मिलि मुसुकात।। ताल तमाल रसाल साल पग-पग चमकत फल पात। मनहु गौर मुख विधुकर रंजित शोभित साँवल गात।। किंसुक नवल नवीन माधुरी विगसित हित उरझात। मनहुँ अबीर गुलाल भरे तन दम्पति रति अकुलात।। बैठे अलि अरविंदबिम्ब पर मुखमकरन्द चुचात। मानहु स्याम कंचु कुच कर गहि अधर सुधा पीवत बलि जात।। नाचत मोर कोकिला गावत कीर चकोर सुहात। मनहु रास रस नाचै दोऊ विछुर न जानत प्रात।। त्रिभुवन के कवि कहि न सकत कछु अदभुत गतिकी बात। व्यास बात नहिं मुख कहि आवै ज्यों गूँगहि गुर खात।। 'चना तहाँ पाये हैं'-उस समय श्रीबिहारीजी के यहाँ ऐसी व्यवस्था थी कि मोर बन्दरों को चना दिया ही जाता था, जो कोई भी दर्शन करने जाता उसे भी चना मिलता और संत-वैष्णवों के लिये तो श्रीबिहारीजी का छप्पन भोग प्रसाद मिलता। चना बंट रहा था, तो श्रीमाधवदासजी ने भी हाथ बढ़ाकर ले लिया। द्वारपाल ने देख लिया, वह जान गया कि ये तो संत-वैष्णव हैं अतः उसने अनुरोध किया कि अब हाल ही में भोग-प्रसाद वितरण होगा परन्तु ये तो उसकी अनसुनी करके श्रीयमुनापुलिन पर जाकर चनों का ही भोग लगाये। इसके दो कारण हैं-१. उस समय इन्हें बड़े जोर की भूख लग रही थी, साथ में श्रीजगन्नाथजी जो थे, इन्हें जल्दी-जल्दी भूख लग जाया करती थी। २. अन्नों में चना एक ऐसा अन्न है कि उसे देखकर सहज ही खाने का मन हो जाता है इस पर-

दृष्टान्त-ब्रह्माजीका-एक बार चने ने श्रीब्रह्माजी से जाकर शिकायत की कि दुनिया के लोग मुझे जन्मते ही खाने लग जाते हैं। श्रीब्रह्माजी ने कहा कि भाई, मैं न्याय क्या करूँ, तुम्हें देखकर तो मेरा भी मन खाने को करता है। चना वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गया। दूसरा

दृष्टान्त- गेहूँ और चने का-एक बार गेहूँ और चने में अपनी-अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया। कोई निश्चित निर्णय न होने पर दोनों न्याय कराने श्रीब्रह्माजी के पास गये। श्रीब्रह्माजी ने गेहूँ की बड़ाई तो बहुत की परन्तु डिग्री चने को ही दी। ब्रह्माजी ने कहा कि भोजन में जितना अधिकाधिक उपयोग चनों का होता है उतना गेहूँ का नहीं। खेत में बोया जाता है तो जमने पर उसका साग बनाया जाता है, हरा खाया जाता है, सेंककर खाया जाता है, कच्चा-पक्का खाया जाता है, सत्तू बनाकर खाया जाता है। इससे अनेक प्रकार के नमकीन और मिष्ठान्न बनाये जाते हैं। अतः गेहूँ से चना श्रेष्ठ है। कहते हैं कि उस दिन से मारे अभिमान के चना के नाक निकल आई और गेहूँ का मारे ग्लानि के पेट फट गया। 'आगे गायौ सब'-श्रीमाधवदासजी ने कहा कि हमें देखना था कि आपके ठाकुर ग्वारिया ठाकुर हैं कि महली ठाकुर। इस परीक्षा के लिये मैंने चना भोग लगाया है। मैंने सोचा था कि यदि ग्वारिया ठाकुर होंगे तो चना पचा जायेंगे और यदि महली ठाकुर होंगे तो नहीं पचा पायेंगे। सो मालूम हो गया कि ये महली ठाकुर हैं तभी तो चना पाने से भूख मारी गई, पेट दुःखने लगा। हासरस समझाये हैं-श्रीस्वामीजी ने हंसकर कहा कि आप तो श्रीजगन्नाथजी के उपासक हैं अतः आपको उन्हीं का भोग लगाना चाहिये। हमारे श्रीठाकुरजी तो अत्यन्त कोमल हैं, अत्यन्त सरस हैं, अत्यन्त सुकुमार हैं। इनकी प्रीति-रीति, भोग-विलास सब परम सुकोमल है। यथा-अति कोमल अति ही सरस श्रीठाकुर सुकुमार। प्रीतिरीति कोमल सकल कोमल भोग विहार।। (भ०-व०टि०)

गये व्रज देखिबे को भाण्डीर में खेम रहै निसिकौ दुराय खाय क्रिमि लै दिखाये हैं।
लीला सुनिबे को हरियाने गांव रहे जाय गोबरहू पाथि पुनि नीलाचल आये हैं।।
घरहूँ को आये सुत सुखी सुनि माता बानी मारग में स्वप्न दैके बनिक मिलाये हैं।
याही विधि नाना भाँति चरित अपार जानौ जिते कछु जाने तिते गानके सुनाये हैं।।३२६

शब्दार्थ-**भाण्डीर = भाण्डीर वट, व्रज का एक तीर्थ। क्रिमि =कीड़े।**

भावार्थ-श्रीमाधवदासजी व्रज के तीर्थों का दर्शन करने गये। भाण्डीरवट नामक तीर्थ में पहुँचे। वहाँ 'खेमदास' नाम के एक वैरागी रहते थे। वह रात्रि में श्रीमाधवदासजी से छिपाकर खीर खाने लगे तो इन्होंने उन्हें शिक्षा देने के लिये चमत्कारपूर्वक खीर में कीड़े दिखाये फिर उपदेश भी दिया। भगवान की लीला-कथा सुनने के लिये हरियाने के एक गाँव में जाकर कुछ दिन रहे। वहाँ एक संत के आश्रम में गोबर पाथने की सेवा करते थे। पुनः ये श्रीजगन्नाथपुरी को लौट चले। मार्ग में इनकी जन्मभूमि का गाँव पड़ा। लोगों के मुख से अपनी

माता और पुत्र का कुशल समाचार सुनकर घर को आये। फिर माता की उपदेशपरक वाणी सुनकर वहाँ से तत्काल चल दिये। मार्ग में भगवान ने महाजन भक्त को स्वप्न देकर श्रीमाधवदासजी से मिलाया। इसी प्रकार से आपके अनेक भाँति के अपार चरित्र हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने श्रीमाधवदासजी के जितने चरित्र जाने-समझे थे वह सब कवित्तों में विस्तारपूर्वक गाकर सुनाये हैं।।३२६।।

व्याख्या-भाण्डीरमें खेम रहै०-भाण्डीरवन में भाण्डीरवट एवं भाण्डीरकूप है। यह बहुत पवित्र तीर्थ है। जब श्रीकृष्ण ने वत्सासुर को मारा था तब ग्वाल-बालों ने वत्सवध का दोष लगाते हुये श्रीकृष्ण को तीर्थ स्थान का सुझाव दिया था। प्रथम तो भगवान श्रीकृष्ण ने इधर-उधर की बात की कि हमने बछड़ा थोड़े ही मारा है। हमने तो असुर को मारकर जगत का कल्याण किया है, फिर हमें पाप क्यों लगेगा? परन्तु सखाओं ने जोर देकर कहा कि चाहे कुछ भी हो, था तो वह बना बछड़ा। अतः उसके वध का प्रायश्चित्त करना ही होगा। तब श्रीकृष्ण ने भाण्डीरकूप को प्रकट किया था। इसमें समस्त तीर्थों का आवाहन किया गया था। श्रीकृष्ण ने इसमें स्नान किया था। यहाँ श्रीदाऊजी एवं श्रीकृष्ण का मन्दिर है। यहाँ पर श्रीबलदाऊजी ने प्रलम्बासुर को मारा था। ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्गसंहिता के अनुसार ब्रह्माजी ने श्रीराधाकृष्ण का विवाह यहीं कराया था।

श्रीमाधवदासजी व्रज के तीर्थों का दर्शन करते हुए भाण्डीरवट पहुँचे। सन्ध्या का समय हो गया था। अतः खेमदास के आश्रम के निकट ही वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। इतने में श्रीखेमदास जी कहीं से आये और नवागन्तुक साधु को देखकर मन में बहुत कुढ़े। फिर इनको फटकारकर भगाने लगे कि तुम यहाँ क्यों पड़े हो? भाग जाओ यहाँ से। यहाँ साधु सेवा थोड़े ही होती है और न सदाव्रत ही बंटता है। 'जान न पहचान मैं तेरा मेहमान'। बिना पूछे-जाँचे आकर डँट गये आदि। श्रीमाधवदासजी ने प्रार्थना की कि केवल रात्रि भर इस वृक्ष के नीचे पड़ा रहूँगा। प्रातःकाल होते ही चला जाऊँगा। खेमदासजी ने झुंझलाकर कहा कि मैं साधुओं का लटका जानता हूँ। तुम अभी तो भीगी बिल्ली बने हो फिर बाद में प्रपंच फैलाओगे कि आटा लाओ, घी लाओ, शक्कर लाओ। यह लाओ, वह लाओ तो मैं यह सब कहाँ से लाऊँगा? मैं तो जंगल में परम अकिञ्चनता पूर्वक निवास करते हुए भगवान का भजन करता हूँ। श्रीमाधवदासजी ने कहा कि आप विश्वास करें, मैं आपसे नमक की डली भी नहीं मागूँगा। तब खेमदासजी आश्वस्त होकर अपनी कुटी में जाकर चुपके से खीर बनाये और श्रीमाधवदासजी को न देकर चोरी से खाने लगे।

सर्वज्ञ संत से खेमदास की चोरी छिपी नहीं रही। इन्होंने उन्हें उपदेश देने के लिये ऐसी लीला की कि खीर के सब चावल कीड़े हो गये और खेमदासजी के हाथ में चढ़कर रेंगने लगे। तब खेमदास की आँखें खुलीं। जान गये यह सब इन्हीं संतजी का चमत्कार है। फिर तो तुरन्त दौड़े आये और चरणों में पड़कर क्षमा प्रार्थना करने लगे। तब श्रीमाधवदासजी ने समझाया कि कुटी बनाकर रहते हो और अतिथि-अभ्यागतों को फटकारते हो, यह महान अधर्म है। साधु की तो टकसाल है-बांटकर खाना, वैकुण्ठ जाना। तुम अकेले चुराकर खाते हो। केवल अपने लिये बनाने-खाने वाला पाप खाता है। यथा-यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुंजते ते त्वघं पाप ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (गी० ३-१३) अर्थ-यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर के पोषण के लिये ही पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं। तुम्हें भी निश्चय ही अपने कर्म से नरक जाना पड़ेगा। खीर में कीड़े नरक की ही सूचना देते हैं। यह सब सुनकर खेमदास के होश उड़ गये। वे अत्यन्त दीन होकर श्रीमाधवदासजी से अपने उद्धार का उपाय पूछे। तब इन्होंने आज्ञा दी कि तुमने आज तक जो कुछ भी संग्रह किया है वह सब संत सेवा में लगा दो और मथुरा विश्रामघाट पर जाकर झाडू-बुहारू लगाओ तथा नित्यप्रति संतों की सीथ-प्रसादी का सेवन करो। तब तुम्हारा कल्याण होगा। आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर खेमदास ने ऐसा ही किया।

लीला सुनिबेको०-**श्रीमाधवदासजी** ने सुना कि हरियाना प्रान्त के गोली नामक गाँव में मेरे द्वारा रचित 'जै जै लीला' की कथा हो रही है तो इनके मन में बड़ा कुतूहल हुआ कि चलकर देखें कि भावुकजन किस भाव से उस लीला का रसास्वादन करते हैं। यदि रसिकों ने प्रेमपूर्वक अपनाया हो तब तो मैं परिश्रम को सफल समझूँगा, साथ ही लीला को, श्रवण करने का आनन्द भी लूँगा। अतः गोली गाँव गये। वहाँ कथा एक संत के आश्रम में होती थी। ये भी उसी आश्रम में रहने लगे। रीत है कि जिस आश्रम में रहा जाये वहाँ की कुछ सेवा-टहल करनी चाहिये। अतः श्रीमाधवदासजी ने गायों का गोबर उठाने और उसके कण्डे पाथने का कैङ्कर्य अपने जिम्मे ले लिया। कैसा अद्भुत कार्पण्य है श्रीमाधवदासजी का। इतने बड़े सिद्ध पुरुष होकर भी गोबर पाथने में कुछ हिचक नहीं। पुनः यह भी भाव है कि भगवान का कोई भी कैङ्कर्य छोटा नहीं होता है। अतः बड़े प्रेम से ये गोबर पाथने की सेवा करते थे। कुछ दिन बाद श्रीजगन्नाथपुरी के एक परिचित साधु उस आश्रम में आये, उन्होंने इन्हें गोबर पाथते देखा तो जाकर श्रीमहन्तजी से इनका परिचय दिया। बेचारे महन्तजी के ऊपर मानो

सौ घड़ा पानी पड़ गया हो। उन्हें अपनी अनभिज्ञता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और फिर तो उन्होंने श्रीमाधवदासजी को सिंहासन पर पधराकर षोडशोपचार विधि से पूजन किया और अपनी भूल के लिये बार-बार क्षमा-याचना की। श्रीमाधवदासजी ने देखा कि अब यहाँ विशेष मान-प्रतिष्ठा होने लगी तो वहाँ से श्रीजगन्नाथपुरी को प्रस्थान कर दिये।

घरहूको आये०-श्रीमाधवदासजी को घर छोड़े बहुत दिन हो गये थे। अतः गाँव के लोग अब इन्हें नहीं पहचान पा रहे थे। इन्होंने अन्य पुरुष की भाँति गाँव के लोगों से अपनी माँ एवं बेटे का समाचार पूछा, फिर जी में आया कि चलकर माता के दर्शन कर आऊँ। अतः घर पर आये। माता भी नहीं पहचान पाई। एक साधु समझकर इन्हें भोजन कराईं। भोजन करते समय माताजी ने पूछा कि बेटा! तुम कहाँ रहते हो? इन्होंने कहा कि मैं श्रीजगन्नाथपुरी में रहता हूँ। माता ने पूछा-पुरी में मेरा मधुवा भी रहता है। क्या तुम उसे जानते हो? इन्होंने कहा-माँ! तेरा मधुवा मैं ही हूँ। तब इनकी माता ने अनखना कर कहा कि तू मेरा मधवा नहीं हो सकता है, मैंने सुना है कि श्रीजगन्नाथ भगवान मेरे मधुवा के ऊपर बड़ी कृपा करते हैं, साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देते हैं और वार्तालाप करते हैं। तो फिर वह ऐसे परम करुणा-वरुणालय स्वामी को पीठ देकर माता-पुत्रादि के स्नेह से आकर्षित होकर घर क्यों आने लगा? और यदि तू ही सचमुच मेरा मधुवा है तो मुझे धिक्कार है, जिसके ऐसा पुत्र हुआ जो प्राणप्यारे प्रभु को पीठ देकर देश-देशान्तर में डोल रहा है। श्रीमाताजी के इन वचनों को सुनकर श्रीमाधवदासजी ने माँ के चरणों में प्रणाम किया और मन में यह निश्चय किया कि बिना श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन किये अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। वहाँ से तुरन्त चल दिये। तीन दिन बिना कुछ खाये-पिये बीत गये, तब श्रीजगन्नाथ भगवान ने महाजन भक्त को स्वप्न दिया कि तुम माधवदासजी को मेरी आज्ञा की साखी देकर प्रसाद पवाओ। इन्होंने तीन दिन से भोजन नहीं किया है, अतः मैंने भी तीन दिन से कुछ खाया-पिया नहीं है। जब वे भोजन करेंगे तभी मैं भी कुछ पाऊँगा। तब उस महाजन भक्त ने श्रीमाधवदासजी को अपने घर लिवा ले जाकर प्रसाद पवाया। श्रीमाधवदासजी पुरी पहुँचकर श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन किये और शेष जीवन पुरी में ही व्यतीत किये।

श्रीजगन्नाथ भगवान इनके साथ बड़ा विनोद करते थे। एक दिन ये भगवान का दर्शन करने गये तो इन्हें प्रभु उदास दिखाई पड़े। ये हाथ जोड़कर पूछे-जै-जै प्रभु! आज आप कुछ उदास से प्रतीत हो रहे हैं, क्या बात है? श्रीठाकुरजी ने कहा-माधवदासजी! क्या

बतायें, साल बीता जा रहा है और पका कटहल खाने को नहीं मिला। राजा के बाग में कटहल खूब फले हैं और पके भी हैं, आप अगर, सहयोग दें तो बाग में चलकर आज कटहल खाया जाय। श्रीमाधवदासजी ने कहा कि मुझे बचपन में तो पेड़ पर चढ़ने का अभ्यास था, परन्तु अब तो बूढ़ा हो गया हूँ, पेड़ पर चढ़ने में हाथ-पाँव हिलते हैं, अब तो मुश्किल है। श्रीबलरामजी ने कहा कि हम चढ़ने में सहायता कर देंगे आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर तो आधी रात को श्रीकृष्ण-बलराम जी श्रीमाधवदासजी को साथ लेकर कटहल खाने राजा के बाग में गये। श्रीबलरामजी ने माधवदासजी को पेड़ पर चढ़ा दिया। ये खूब पके-पके बड़े-बड़े फल तोड़-तोड़कर नीचे गिराये। दोनों भाइयों ने खूब पेट भरकर कटहल खाया। इतने में फलों के गिरने की आवाज सुनकर बाग के माली जाग गये। वे लाठी लेकर दौड़े। श्रीकृष्ण-बलरामजी तो भाग गये। इन लोगों को बचपन से चोरी करने एवं बचने की कला मालूम है, बेचारे माधवदासजी पकड़े गये। मालियों ने रात्रि के अंधेरे में पहचाना नहीं अतः श्रीमाधवदासजी को खूब मार लगाई और रात-भर बांधकर रक्खा। प्रातःकाल होते ही राजा के सामने पेश किये। राजा इन्हें देखते ही पहचान गये, तुरन्त पृथ्वी पर गिरकर साष्टांग दण्डवत्प्रणाम किये। यह देखकर मालियों को मानो सांप सूंघ गया हो। राजा ने कुपित होकर मालियों को दण्ड देना चाहा तो श्रीमाधवदासजी ने उनकी बड़ी बड़ाई की कि ये बड़े सावधान संरक्षक हैं, इन्होंने अपने कर्तव्य धर्म का बहुत अच्छा पालन किया है अतः इन्हें दण्ड नहीं, पुरस्कार मिलना चाहिये। तब श्रीमाधवदासजी के कहने से राजा ने मालियों को बारह बीघे जमीन पट्टा कर दी। तत्पश्चात् राजा को यह सुनकर बड़ा भाव आया कि श्रीठाकुरजी मेरे बाग में फल खाने आये थे। अतः परम भागवत राजा ने अपना पूरा बाग ताम्रपत्र पर लिखकर श्रीठाकुरजी के श्रीचरणों में भेंट कर दिया।

मूल गोस्वामीचरित (बाबा वेणीमाधवदासजी रचित) में श्रीमाधवदासजी एवं श्रीतुलसीदासजी के मिलन का प्रसंग आया है। श्रीमाधवदासजी के अनुरोध पर श्रीतुलसीदासजी ने यह पद गाया था- मैं हरि पतित पावन सुने। मैं पतित तू पतित पावन दोउ बानक बने।। व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने। और पतित अनेक तारे जात कापै गने। जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने। दास तुलसी सरन आयो राखिए अपने।। (वि०)यह पद सुनकर श्रीमाधवदासजी ने भी एक पद गाया। यथा-तब ते कहां पतित नर रह्यौ। जब ते गुरु उपदेश दीन्हों नाम नौका गह्यौ।। लोह जैसे परसि पारस नाम कंचन लह्यौ। कस न कसि कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यौ। उभरि आयौ

विरह वानी मोलमहँगे कह्यौ। खीर नीरते भयो न्यारो नर्क ते निर्बह्यौ।। मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यौ। अनन्य माधो दास तुलसी भव जलधि निर्बह्यौ।। श्रीवृन्दावनके अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यासजी ने आपके सम्बन्ध में यह पद लिखा है-माधौदास सरन मैं आयौ। हौं अजान ज्यौं नारद ध्रुवसों कृपा करी सन्देह भगायौ।। जिनहिं चाहि गुरु सकल तज्यो वपु फिरि कै दर्शन पायौ। यों सिर हाथ धरौ करुना करि प्रेम भक्ति फल पायौ।। हरिवंशी हरिदासी सों मिल कुंजकेलि रस गाय सुनायौ। हरि गुरु साधु नाम वन जमुना महाप्रसाद रसायन भायौ।। जाते सहज प्रिया प्रीतम बस कलिजुग वृथा गँवायौ। मनसा वाचा और कर्मणा व्यासहिं स्याम बतायौ।।

श्रीरघुनाथ गोस्वामी

श्रीरघुनाथ गोसाईं गरुड़ ज्यौं सिंह पौरि ठाढ़े रहैं।।
सीत लगत सकलात विदित पुरुषोत्तम दीनी।
सौच गये हरि सङ्ग कृत्य सेवक की कीनी।।
जगन्नाथ पद प्रीति निरन्तर करत खवासी।
भगवत् धर्म प्रधान प्रसन्न नीलाचल वासी।।
उतकल देश उड़ीसा नगर वैनतेय सब कोउ कहैं।
श्रीरघुनाथ गोसाईं गरुड़ ज्यौं सिंह पौरि ठाढ़े रहैं।।७१।।

शब्दार्थ-सिंहपौरि = महल, मन्दिरका प्रधान द्वार, जहाँ सिंह की मूर्ति बनी हो। सीत = शीत, ठण्डक। पुरुषोत्तम = जगन्नाथ भगवान। सौच = शौच, डोलडाल। कृत्य = कार्य, काम। खवासी = टहल, सेवा। भगवत् धर्म = वैष्णवधर्म। उतकल देस = उड़ीसा देश। वैनतेय = गरुड़।

भावार्थ-श्रीरघुनाथ गोस्वामीजी श्रीगरुड़जी की तरह श्रीजगन्नाथ भगवान के सम्मुख सिंहपौरि पर खड़े रहते थे। यह बात सर्व प्रसिद्ध है कि इन्हें ठण्डक लगने पर श्रीजगन्नाथ भगवान ने अपनी रजाई ओढ़ाई थी। अतिसार के कारण बारम्बार दस्त का वेग लगने पर स्वयं भगवान ने सेवकका-सा कृत्य किया अर्थात् अपने श्रीकरकमल से इनके शरीर एवं वस्त्रादि को धोया, सेवा-सुश्रूषा की। इनका श्रीजगन्नाथ भगवान के श्रीचरण-कमलों में परम अनुराग था। ये निरन्तर भगवान की सेवा में लगे रहते थे। ये वैष्णव धर्म को

सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे अथवा भगवद्धर्म करने-कराने वालों में प्रधान थे। सर्वदा सुप्रसन्न मन रहते थे। श्रीनीलाचल धाम (श्रीजगदीशपुरी में) निवास करते थे। उत्कल प्रांत में उड़ीसा नगर के रहने वाले सब लोग इन्हें 'श्रीगरुड़जी' कहा करते थे।।७१।।

व्याख्या-गरुड़ ज्यों-**भाव यह कि जैसे भगवत्सेवापरायण श्रीगरुड़जी सेवा की प्रतीक्षा में भगवान के श्रीमुख की ओर देखते हुए वैकुण्ठद्वार पर खड़े रहते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथ गोस्वामी, श्रीजगन्नाथ भगवान के सम्मुख खड़े रहते थे। जगन्नाथ पद प्रीति-यथा-जगन्नाथ मन मोह लियो रे। घर अंगना मोहिं कछु नहिं भावै लोक लाज सब छोड़ि दियो रे। नील चक्रपर ध्वजा विराजै परसत ही आनन्द भयो रे। सांवरि सूरत रज लपटानी लाल दुशाला ओढ़ि लियो रे।। श्रीबलभद्र सहोद्रा संगहि कृष्णदास बलिहार कियो रे।।**

अति अनुराग घर सम्पति सों भर्‍यो पागि ताहू करि त्याग कियौ नीलाचल वास है।
धनको पठावै पिता ऐ पै नहीं भावै कछु देखिबो सुहावै महाप्रभुजी कौ पास है।।
मन्दिरके द्वार रूप सुन्दर निहार्‍यौ करैं लाग्यौ सीत गात सकलात दई दास है।
सौच संग जायबे की रीति को प्रमान वहै वैसे सब जानौ माधोदास सुखरास है।।३२७

भावार्थ-**श्रीरघुनाथ गोस्वामी का घर सम्पत्ति से भरा-पूरा था परन्तु श्रीकृष्ण चरणों में अत्यन्त अनुराग होने के कारण ऐसे वैभवपूर्ण घर को भी त्यागकर श्रीजगन्नाथपुरी में निवास किया। इनके पिताजी इनके लिये बहुत-सा धन भेजते परन्तु इन्हें तो वह धन किंचित् मात्र भी अच्छा नहीं लगता। इन्हें तो श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी का दर्शन तथा उनके समीप निवास प्रिय लगता था। ये श्रीजगन्नाथ भगवान के मन्दिर के द्वार पर खड़े होकर भगवान के त्रिभुवन मोहन सौन्दर्य को देखा करते थे। एक बार ठण्ड के दिनों में इन्हें बड़े जोर की सर्दी लगी तो जगन्नाथ भगवान ने अपने निजदास श्रीरघुनाथदास गोस्वामी को अपनी रजाई ओढ़ाई थी। शौच के समय साथ जाकर सेवा करने की रीति का प्रमाण तो वैसा ही समझना चाहिए जैसा कि सुखराशि श्रीप्रभु ने श्रीमाधवदासजी के साथ किया था।।३२७।।**

व्याख्या-अति अनुराग करि त्याग-**कहने का भाव यह है कि कोई यह न समझ ले कि श्रीरामचरितमानस में जैसा कहा गया है कि कलियुग में-'नारि मुई गृह संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ भये सन्यासी'।। (रामा०) श्रीरघुनाथदासजी का वैराग्य भी ऐसा ही रहा।**

ये तो सम्पत्ति से भरे घर एवं परम रूपवती पत्नी को छोड़कर विरक्त हुये थे। कथा-इस प्रकार है-श्रीरघुनाथदास के पिता बंगाल प्रान्त के सप्तनाम नामक ग्राम में जमींदार थे। नाम था श्रीगोवर्धनदास मजूमदार। इनके एक ताऊजी भी थे। उनका नाम हिरण्यदास था। ताऊजी निःसन्तान थे। पिता श्रीगोवर्धनदासजी के ये एकमात्र इकलौते पुत्र थे। घर में अपार सम्पत्ति थी। बंगाल नबाब की ओर से श्रीगोवर्धनदासजी उस इलाके की राजकर की वसूली करते थे। बीस लाख की बसूली थी जिसमें बारह लाख नबाब को देने पड़ते थे। आठ लाख की प्रतिवर्ष की इनकी बचत थी। उस जमाने का आठ लाख आज के आठ करोड़ से भी अधिक होता है। इतनी सम्पत्ति के बीच केवल एक लड़का था। अब आप स्वयं अनुमान कर लें कि उसे माता-पिता का कितना लाड़-प्यार मिला होगा। इन्हें सब प्रकार का सुख भोग सहज सुलभ था परन्तु यह सब होते हुए भी ये बचपन से ही सांसारिक सुख-भोगों की ओर से एकदम उदासीन रहते थे। जब ये शिक्षागुरु श्रीबलरामाचार्यजी की पाठशाला में पढ़ते थे तो वहीं इन्हें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी के परमप्रिय पार्षद श्रीहरिदास ठाकुर का दर्शन एवं सत्संग प्राप्त हुआ था। उनके मुख से भगवान की नामध्वनि सुनकर ये आत्मविभोर हो जाते थे। इससे इनके वैराग्य एवं श्रीहरिचरणानुराग को बड़ा प्रोत्साहन मिला। समय-समय पर इन्हें श्रीगौरचरित भी सुनने का सौभाग्य मिलता रहा। श्रीगौरनाम, श्रीगौररूप, श्रीगौरलीला के प्रति इनके हृदय में सहज आकर्षण था। अतः इनका हृदय श्रीगौर दर्शन के लिये तड़पने लगा। अतः ये जैसे हो तैसे घर से भाग निकलने की चेष्टा करने लगे। धीरे-धीरे माता-पिता को इनकी मनोवृत्ति का पता चल गया तो वे लोग इन पर कड़ा शासन रखने लगे। इधर श्रीरघुनाथदासजी की विकलता बढ़ने लगी।

जिस दिन इन्होंने सुना कि श्रीगौरचन्द्र ने संन्यास ले लिया, इस दुःखद संवाद को सुनते ही इन्हें मूर्च्छा आ गई। तीसरे दिन पता चला कि श्रीमहाप्रभुजी शान्तिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के घर पधारे हैं तो इन्हें माता-पिता से श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन की इच्छा प्रकट की। इनकी तीव्र आकांक्षा जानकर माता-पिता ने बहुत से ब्राह्मणों एवं सेवको के साथ शान्तिपुर भेजने की व्यवस्था कर दी। श्रीरघुनाथदासजी ने शान्तिपुर में असंख्य भक्तवृन्दों के बीच विराजमान श्रीमहाप्रभु का दर्शन कर परम शान्ति का अनुभव किया। 'त्राहि माम' कहते हुए श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में गिर पड़े। श्रीमहाप्रभुजी ने उठाकर हृदय से लगा लिया। भक्त और भगवान का यह महामधुर मिलन सबके लिये बड़ा ही सुखावह रहा। श्रीरघुनाथदासजी सात दिन तक श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन, सत्संग एवं अधरामृत का रसास्वादन करते रहे। फिर श्रीमहाप्रभुजी

की आज्ञा से इच्छा न होने पर भी विवश होकर घर चले आये। ये शरीर से घर आ गये परन्तु मन तो श्रीगौर चरणों में ही अटका रह गया। पुत्र की अनमनी दशा देखकर पिता माता ने उसे संसार में फंसाने के लिए अतिशीघ्र एक परम रूपवती कुलीना कन्या से विवाह कर दिया। परन्तु इससे श्रीरघुनाथदासजी के वैराग्य एवं अनुराग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रत्युत वह और भी प्रबल होता गया। चार-पाँच वर्ष के श्रीगौर वियोग के बाद एक बार पुनः यह सुखद संवाद मिला कि श्रीगौराङ्ग महाप्रभु पुनः शान्तिपुर पधारे हैं। श्रीरघुनाथदासजी ने पिता से कहा-पिताजी! श्रीगौरचरणारविन्द को जाकर देखने की आज्ञा दीजिये अन्यथा मेरा जीवन असम्भव है। पिता ने वास्तविकता को समझा और पूर्ववत व्यवस्था करके शांतिपुर भेज दिया। चलते समय पिता श्रीगोवर्धनदासजी ने बारम्बार कहा था-रघु! शीघ्र चले आना और इन्होंने भी आश्वासन में 'हाँ, हाँ' कहा था। अतः कुछ दिन तक महाप्रभुजी की सेवा में रहने के अनन्तर श्रीरघुनाथदास को पुनः घर आने के लिये बाध्य होना पड़ा। परन्तु अबकी बार महाप्रभुजी ने कृपा करके इन्हें वैराग्य एवं अनुराग का रहस्य समझा दिया था और आदेश दे दिया था कि-रघु! निष्ठा का हृदय में पोषण करते हुए अनासक्त भाव से बाहर से लोक व्यवहार का भी यथोचित पालन करते रहना। अतः घर आने पर श्रीरघुनाथदासजी का पहले जैसा उद्वेग नहीं था। अब वे प्रसन्नतापूर्वक सबसे मिलते-जुलते, बात-व्यवहार करते। इससे माता-पिता को बड़ा सन्तोष हुआ।

अपने कुल की प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए श्रीरघुनाथदासजी ने अपने गुरु श्रीयदुनन्दनाचार्यजी से श्रीकृष्ण मंत्र की दीक्षा ले ली। संसारी लोग सुख भोग, सुत-वित-कलत्रादिकी प्राप्ति के लिए विविध यत्न करते हैं, परन्तु श्रीरघुनाथदासजी ने इन सबको नरक तुल्य मानकर इनसे छूटने के लिए तथा श्रीगौरचरणों की प्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण मंत्र का पुरश्चरण प्रारम्भ कर दिया। लगभग दो वर्ष बाद, एक दिन यह समाचार सप्तग्राम में जन-जन के मुख से सुनने को मिला कि अभिन्न श्रीचैतन्यविग्रह, करुणावतार श्रीमन्नित्यानन्दजी पानिहाटि ग्राम में परम भाग्यवान श्रीराघव पण्डित के घर पधारे हैं, श्रीरघुनाथदासजी का मन मचल उठा इन महानुभावों का दर्शन करने के लिये। माता-पिता की आज्ञा भी सहज ही मिल गई। फिर तो उपहार की विविध सामग्रियों को संग में लेकर बहुत से ब्राह्मणों एवं सेवकों के साथ ही श्रीरघुनाथदासजी पानिहाटि ग्राम पहुँचे और श्रीगङ्गाजी के परम-पावन पुलिन पर विशाल वटवृक्ष के नीचे एक ऊँचे चबूतरे पर विराजमान श्रीनित्यानन्दजी का दर्शन कर अपने को परम धन्य माना। श्रीरघुनाथदासजी ने दूर से ही दण्डवत प्रणाम किया। श्रीनित्यानन्दजी ने

देखते ही दौड़कर इन्हें अपनी भुजाओं में भर लिया और आनंदोन्मत्त होकर बोले-अरे चोर! तू अब तक कहाँ छिपा रहा? आज तू अच्छा पकड़ में आया, ला, शीघ्र चोरी का उचित दण्ड अदाकर। श्रीनित्यानंदजी की यह रहस्यमयी वाणी भक्तों की समझ में नहीं आई। सर्वांतर्यामी श्रीनित्यानंदजी ने भक्त के मन का असमंजस दूर करने के लिये सबको सुनाकर कहा-मेरे धन (गौरचंद) को मुझसे मिले बिना, मेरे पूछे बिना रघुनाथ! तू भोग करना चाहता है, दो बार तू ऐसा कर भी चुका है, अतः तू चोर है। (इसका तात्पर्य यह है कि श्रीनित्यानंदजी का आनुगत्य स्वीकार किये बिना श्रीगौरचरणों की प्राप्ति की चेष्टा सर्वथा अनुपयुक्त है, चोरी तुल्य है।) उसका दण्ड तुम्हें आज भोगना पड़ेगा। दण्ड यह है कि मेरे भक्तों को भरपेट दधि-चूड़ाका भोजन कराओ। इस दण्ड को सुनकर श्रीरघुनाथजी बड़े प्रसन्न हुए और तत्काल दण्ड महोत्सव का विशाल आयोजन किया।

श्रीनित्यानंदजी की प्रेम-पुकार पर श्रीगौरचंद्र भी प्रकट होकर भक्तों को दर्शन दिये। अनेक अधिकारी भक्तों ने देखा-श्रीनित्यानंदजी श्रीगौरचन्द्र को और श्रीगौरचंद्रजी श्रीनित्यानन्द को दधिचूड़ा खिला रहे हैं। तत्पश्चात् सबने प्रसाद ग्रहण किया। श्रीनित्यानन्दजी का अधरामृत प्रसाद पाकर श्रीरघुनाथदास के मानो समस्त बंधन कट गये। दूसरे दिन श्रीरघुनाथदासजी ने अत्यन्त दीन होकर श्रीनित्यानन्दजी के चरणों में पड़कर कृपा की भीख माँगी। परमोदार श्रीनित्यानन्दजी ने कहा-रघु! अब तुम अधीर मत होओ, तुम्हें शीघ्र ही चैतन्य चरणों की प्राप्ति होगी। श्रीरघुनाथदासजी 'हा निताई, हा गौर' कहते हुए घर को लौट आये, परन्तु अबकी बार ये घर में न जाकर दुर्गा-मण्डप में निवास करने का निश्चय किये। अहर्निश श्रीगौरदर्शन के लिए बेचैन श्रीरघुनाथदासजी की उन्मत्त दशा को देखकर माता-पिता को भय हो गया कि अब उनका रघु हाथ से निकल जायेगा। अतः उन्होंने इनकी देख-रेख की बड़ी सुदृढ़ व्यवस्था की, जिसमें ये कहीं भाग न सकें। परन्तु श्रीप्रभु की कृपा जिसको खींच रही हो, उसे कौन रोक सकता है? हजार पहरेदारों के रहने के बावजूद भी रघुनाथदासजी को घर से भाग निकालने का मौका मिल ही गया। एक दिन इनके दीक्षागुरु श्रीयदुनन्दनाचार्यजी ने ब्राह्ममुहूर्त में आकर इनसे कहा कि मेरा पुजारी कई दिनों से श्रीठाकुरजी की सेवा में नहीं आ रहा है, यदि तुम कह दो तो वह पुनः पूर्ववत सेवा में प्रवृत्त हो जायेगा। इन्होंने कहा-मैं अभी चलता हूँ। पहरेदार किंकर्तव्यविमूढ़ देखते ही रहे, श्रीरघुनाथदासजी दुर्गा-मण्डप से बाहर निकले, श्रीगुरुजी को घर भेजकर स्वयं पुजारी के घर की ओर चले। परन्तु ये पुजारी के घर न जाकर अपने ठाकुर के घर, नीलाचल की ओर भाग चले। अविश्रान्त

भाव से पन्द्रह कोस भागने के बाद रात्रि में एक ग्वाले के घर विश्राम किये। ग्वाले ने बड़े ही प्रेमाग्रहपूर्वक इनको गाय का दूध पिलाया एवं प्रकारेण खाने, पीने, सोने की सुधि-बुधि भुलाये नंगे पांव, पैदल भागते-दौड़ते ये बारह दिन में श्रीजगन्नाथपुरी पहुँचे। दूर से ही भगवान के मन्दिर की ध्वजा का दर्शन करके पुलकायमान हो गये। हा गौर! हा करुणामय प्रभु! पुकारते हुए सिंहपौर पर पहुँचे। पुनः पता लगाते हुए श्रीमहाप्रभु के निवास स्थान पर पहुँचे। वहाँ अपने परिकरों से निवृत्त श्रीगौरचन्द्र का दर्शन किये तो हृदय में उमड़ पड़ा प्रेम का समुद्र और आँखों में बह चली श्रीगङ्गा-यमुना की धारा।

श्रीरघुनाथदासजी गिर पड़े श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में और श्रीमहाप्रभु ने परम कृपा पूर्वक भक्त सर्वस्व अपना गाढ़ालिङ्गन प्रदान किया अपने प्रिय रघु को। हर्ष विभोर हो रहे थे भक्तगण इस अद्भुत प्रेम मिलन को देखकर। श्रीगौरांग महाप्रभु ने कहा-तुम पर श्रीकृष्ण की बड़ी कृपा है। श्रीरघुनाथदासजी ने मन में कहा-मैं तो आपकी ही कृपा को जानता और मानता हूँ। तत्पश्चात श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीरघुनाथदासजी का हाथ पकड़कर अपने परमप्रिय परिकर श्रीस्वरूपदामोदरजी को सौंप दिया। उसी दिन से श्रीमहाप्रभुजी अत्यन्त प्रेम में इन्हें 'स्वरूप के रघु' कहते थे। श्रीमन्महाप्रभु ने इन्हें कई दिनों का अत्यन्त भूखा-प्यास जानकर अपने सेवक गोविन्द से इनके लिये प्रसाद की विशेष व्यवस्था का आदेश दिया। श्रीरघुनाथ दास जी ने पाँच दिन तक गोविन्द के हाथ से महाप्रभु का अधरामृत प्रसाद लिया। फिर विचार किया कि मेरे लिए प्रसाद की व्यवस्था करने में गोविन्द को श्रम करना पड़ता है, यह उचित नहीं है। अतः छठे दिन से ये दिनभर श्रीस्वरूपदामोदरजी की सेवा करने के अनन्तर रात्रि में श्रीजगन्नाथ मन्दिर के सिंहद्वार पर जाकर खड़े होने लगे। भगवान को शयन करने के बाद मन्दिर के पुजारी एवं श्रद्धालु लोग भी वहाँ बैठे भिक्षुकों को प्रसाद वितरण करते। उसी में श्रीरघुनाथदासजी को भी जो कुछ मिल जाता, उसी से अपना निर्वाह करने लगे। एक दिन श्रीमहाप्रभुजी ने गोविन्द से पूछा-आजकल रघु कहाँ प्रसाद पाता है? यहाँ से तो कुछ लेता नहीं है। गोविन्दजी ने कहा-प्रभो! वे अब स्वयं सिंहपौर पर खड़े होकर अपनी भिक्षा स्वयं कर लेते हैं। यह सुनकर महाप्रभु बड़े प्रसन्न हुए और बोले-रघु सच्चा विरक्त है। वैराग्यवान को परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिये। विरक्त के लिये भिक्षा माँगकर उदर भरण एवं सदा नाम संकीर्तन करना ही भूषण है। रघु सही मार्ग पर है। सचमुच श्रीरघुनाथदासजी को भी अब पहले की अपेक्षा विशेष शान्ति का अनुभव हो रहा था।

एक दिन श्रीरघुनाथदासजी ने श्रीस्वरूपदामोदरजी से अपने कर्तव्य-कर्म के सम्बन्ध में

जिज्ञासा की। श्रीस्वरूपदामोदरजी ने इनकी जिज्ञासा को श्रीमहाप्रभुजी के सम्मुख प्रस्तुत किया। तब श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें यह उपदेश-सार-सर्वस्व समझाया था-१. ग्राम्य कथा (सांसारिक चर्चा) नहीं सुनना चाहिये। २. ग्राम्य वार्ता भी नहीं कहना चाहिये। ३. जिह्वा के वशीभूत होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ नहीं खाने चाहिये। ४. चमकीले वस्त्र नहीं पहनने चाहिये। ५. स्वयं अमानी रहना चाहिये। ६. दूसरों को मान देना चाहिये। ७. सदा श्रीकृष्ण नामोच्चारण करना चाहिये। ८. श्रीकृष्ण राधा की मानसी सेवा सर्वदा करनी चाहिये। श्रीमहाप्रभुजी के श्रीमुख से उपदेशामृत पान कर श्रीरघुनाथदासजी ने अपने को परम धन्य माना। भिक्षा का क्रम कुछ दिन तक तो ठीक चला परन्तु धीरे-धीरे जब सब लोग श्रीरघुनाथ दासजी से परिचित हो गये तो इन्हें अधिक एवं सुन्दर-सुन्दर पदार्थ देने लगे। यह बात इन्हें वैराग्य एवं श्रीमहाप्रभुजी के उपदेश के प्रतिकूल जान पड़ी। अतः सिंहद्वार की भिक्षा छोड़कर, भिक्षुकों के साथ क्षेत्रों से जाकर भिक्षा कर लाते। जब कई दिनों तक ये सिंहद्वार पर नहीं दिखाई पड़े तो पुनः श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा कि रघु अब भिक्षा कहाँ करता है? गोविन्द ने कहा-क्षेत्रों से। यह सुनकर श्रीमहाप्रभुजी बोले-'सिंहद्वारे भिक्षावृत्ति वेश्यार आचार।' अर्थात् सिंहद्वार पर भिक्षा की आशा से जो खड़ा रहना है, वह वेश्या की विषयी पुरुष की इंतजार में खड़े रहने के समान है। रघु ने यह बहुत ही अच्छा किया जो उसे त्याग दिया।

श्रीरघुनाथदासजी के तीव्र वैराग्य एवं प्रबल अनुराग से प्रसन्न होकर श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें अपनी अत्यन्त प्राणप्रिय गोवर्धनशिला और गुंजा की माला प्रदान की और इनका सात्विक पूजन करने का आदेश दिया। श्रीरघुनाथदासजी श्रीमहाप्रभुजी की इस असीम अहैतुकी कृपा को विचारकर गद्गद हो गये और अत्यन्त आदरपूर्वक ये दोनों महादिव्य प्रसाद शिरोधार्य किये। श्रीस्वरूपदामोदरजी ने इन्हें एक काष्ठ का आसन, एक सुराही और एक-एक बालिस्त के दो वस्त्र सेवार्थ प्रदान किये। क्योंकि सात्विक पूजा में बस, एक कमण्डल जल और तुलसीदल-केवल इतनी ही वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि यह भी न हो तो श्रद्धा सहित प्रणाम कर लेने से भी सात्विक सेवा सम्पन्न हो जाती है। परन्तु यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि इस प्रकार की सात्विक पूजा का विधान परम अकिंचनों के लिये ही है। समर्थ पुरुषों को तो यथा-शक्ति यथा-वित्त-षोडशोपचार एवं राजोपचार से ही भगवत्सेवा करनी चाहिये। श्रीरघुनाथदासजी नित्य नियम से प्रेमपूर्वक श्रीगोविन्दस्वरूप श्रीगिरिराज शिला का पूजन करते और शेष समय में भगवन्नाम स्मरण करते। दिन-रात के चौबीस घण्टों में साढ़े बाइस घण्टा ये भजन-पूजन में लगाते और केवल डेढ़ घण्टे में भोजन

शयन आदि करते। इतने पर भी अपने को कोसते रहते कि शरीर से कुछ भजन साधन नहीं हो रहा है। कुछ दिन बाद इन्होंने क्षेत्रों से भी भिक्षा लाना बन्द कर दिया। क्योंकि क्षेत्रों के भण्डारी लोग इन्हें अधिक भिक्षा देने लगे थे। अब इन्होंने उदरपूर्तिका एक नया रास्ता निकाला। दुकानदारों की दुकान पर जब दो-तीन दिन भात नहीं बिकता तो वह सड़ जाता। दुकानदार उस सड़े हुए भात को सड़क पर फेंक देते। उसी भात को रात्रि के अँधेरे में उसमें से कुछ उठा ले जाते और उसे जल में खूब धोते। धोने से सड़ा हुआ अंश निकल जाता, कुछ अच्छे चावल के कण शेष रह जाते, उन्हें ही नमक मिलाकर खाकर जल पी लेते। इस प्रकार जीवन धारण करते हुए सदा अपनी साधना में लगे रहते। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी को जब यह पता चला तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसी दिन सायंकाल को प्रभु श्रीरघुनाथदासजी की भजनकुटी पर गये। उस समय ये धीरे-धीरे चावल के धोए हुए कणों को पा रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी ने धीरे से यह कहते हुए कि-क्यों जी रघु! तुम मुझे बिना खिलाये ही इतना सुस्वादु वस्तु अकेले ही खा रहे हो, उनके पात्र में से एक मुट्ठी चावल जल्दी से उठाकर अपने मुँह में डाल लिया। श्रीरघुनाथदासजी 'हाय-हाय' करते हुए प्रभु का हाथ पकड़ लिए और बोले-प्रभो! इस गले हुए उच्छिष्ट अन्न को खाकर मुझे पाप का भागी नहीं बनाइये। इतने में हल्ला-गुल्ला सुनकर श्रीस्वरूपदामोदरजी वहाँ आ गये। श्रीमहाप्रभुजी बोले-स्वरूप मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इतना स्वाद आज तक मुझे किसी पदार्थ में नहीं मिला। धन्य प्रभु। इस प्रकार अत्यन्त उत्कट वैराग्य एवं प्रबल अनुरागपूर्वक श्रीरघुनाथदासजी श्रीजगन्नाथपुरी में निवास कर रहे थे।

धनको पठावैं पिता०-श्रीरघुनाथदासजी के गृहत्याग से घर में कुहराम मच गया। माता-पिता, कुल-कुटुम्ब की व्याकुलता की सीमा नहीं रही। बहुत खोज-बीन कराई गई परन्तु कहीं भी पता नहीं चला। अन्त में हारकर सब लोग बैठ गये। जब रथयात्रा का उत्सव देखकर वैष्णववृन्द श्रीजगन्नाथपुरी से लौटे तो उनके द्वारा इनके पिता श्रीगोवर्धनदासजी को इनकी रहनी सहनी का पता चला। पिता हाय-हाय करने लगे, माता पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। परन्तु अब यह सब करने से क्या होता है। सबने धैर्य धारण किया। फिर इनके पिता ने दूसरे साल चार सौ रुपया, एक ब्राह्मण रसोइया, दो नौकर श्रीशिवानन्दसेन के साथ नीलाचल भेज दिया। परन्तु श्रीरघुनाथदासजी ने कुछ भी अङ्गीकार नहीं किया। लेकिन जब वे लोग बहुत आग्रह करने लगे तो उन्होंने सोचा कि जब द्रव्य आ ही गया है तो इससे श्रीमहाप्रभुजी की सेवा ही क्यों न की जाय। फिर तो ये प्रति मास में दो दिन

श्रीमहाप्रभुजी को सानुरोध भिक्षा कराने लगे। जिसमें कुल आठ आने खर्च होते थे। स्वयं उसमें से कुछ भी नहीं लेते थे। इस प्रकार दो वर्ष तक निमन्त्रण का क्रम चलता रहा। फिर इनके मन में विचार आया कि प्रभु तो मेरे प्रेमवश आकर निमन्त्रण पा जाते हैं, परन्तु सांसारिक लोगों के धन से निमन्त्रण करने से प्रभु प्रसन्न थोड़े ही होते होंगे। फिर मेरा मन भी तो नहीं प्रसन्न होता है। उन्होंने निमन्त्रण करना बन्द कर दिया। एक दिन श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीस्वरूपदामोदरदासजी से पूछा-न जाने क्यों, रघु ने अब मेरा निमन्त्रण करना बन्द कर दिया है। कहीं मुझसे नाराज तो नहीं हो गया है। तब श्रीस्वरूपदामोदरजी ने श्रीरघुनाथदासजी को उपर्युक्त विचार निवेदन किया। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-अच्छा हुआ, रघु ने स्वयं समझ लिया, मुझे कुछ भी नहीं कहना पड़ा। वस्तुतस्तु विषयी लोगों के सम्पर्क से तो दूर ही रहना चाहिये।

महाप्रभु कृष्णचैतन्यजू की आज्ञा पाइ आये वृन्दावन राधाकुण्ड बास कियो है।
रहनि कहनि रूप चहनि न कहि सकै थकै सुनि तन भाव रूप करि लियो है।।
मानसी मैं पायो दूध भात सरसात हिये लिये रस नारी देखि वैद कहि दियो है।
कहां लौं प्रताप कहौं आप ही समझि लेहु देहु वही रीझि जासों आगे पाय जियो है।।३२८

शब्दार्थ-रहनि = रहनी, आचरण। कहनि = कथनी, कहने की शैली। थकै = हारे, विकल होय। नारी = नाड़ी।

भावार्थ-महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी की आज्ञा पाकर श्रीरघुनाथदासजी श्रीजगन्नाथपुरी से श्रीवृन्दावन चले आए और राधाकुण्ड पर निवास किये। इनकी रहन-सहन भगवन्नाम गुण की रटन, उपदेश एवं उपदेश पद्धति, भगवान के रूपावलोकन की लोकोत्तर चाह वर्णन नहीं की जा सकती, सुनकर बुद्धि स्तब्ध रह जाती है। इन्होंने श्रीप्रिया-प्रियतम के प्रबल चिन्तन द्वारा अपने शरीर को भाव रूप कर लिया था। एक दिन भगवान की मानसी पूजा करते समय दूध-भात का भोग लगाए और स्वयं भी इन्होंने प्रभु के अनुरोध से भावपूरित हृदय से प्रसादी दूध-भात पा लिया। इससे हृदय में प्रेम तो खूब उमड़ा परन्तु साथ की उस दूध-भात का रस शरीर की नाड़ियों में व्याप्त हो गया, जिससे ज्वर हो गया। नाड़ी देखकर वैद्य ने स्पष्ट कह दिया कि इन्होंने दूध-भात पाया है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैं श्रीरघुनाथदासजी की महिमा कहाँ तक वर्णन करूँ, जो कुछ वर्णन किया है, आप लोग इतने में ही स्वयं समझ लें। मैं तो श्रीरघुनाथदासजी से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ पर

प्रसन्न होकर अपना-सा ही भाव प्रदान करें जिस भाव को पाकर आपने पूर्व जीवन धारण किया था॥३२८॥

व्यांख्या-राधाकुण्ड वास कियो है-**श्रीरघुनाथदासजी गोस्वामी ने सोलह वर्ष तक श्रीमहाप्रभुजी की अन्तरङ्ग सेवा की। जब श्रीमहाप्रभुजी लीलावेश में अत्यन्त बेसुध हो जाते थे तब श्रीरघुनाथदासजी ही उनकी देखभाल करते थे। श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें श्रीवृन्दावनवास की आज्ञा दी थी। परन्तु जब तक श्रीमहाप्रभुजी नीलाचलधाम में निवास करते रहे, तब तक इन्हें श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरणकमलों को छोड़कर कहीं भी जाने की इच्छा नहीं हुई। श्रीप्रियादासजी ने पूर्व कवित्त में लिखा है- 'सुहावै महाप्रभुजीको पास है।' परन्तु श्रीमहाप्रभुजी के लीला संवरण करने पर अत्यन्त व्याकुल हो गये। किन्तु श्रीस्वरूपदामोदरजी के आश्रय से किसी प्रकार जीवन धारण करते रहे। परन्तु जब उनका भी तिरोधान हो गया तो विरह-व्यथा असह्य हो जाने के कारण श्रीगिरिराजजी से गिरकर अपना शरीर छोड़ देने का निश्चय करके ये श्रीवृन्दावन चले आये। श्रीवृन्दावन में श्रीरूप तथा श्रीसनातन गोस्वामीजी का दर्शन हुआ। इन दोनों महानुभावों ने समझा-बुझाकर इन्हें प्राण त्याग करने के निश्चय से निवृत्त किया। ये उन लोगों का उपदेश शिरोधार्य कर श्रीराधाकुण्ड पर निवास करने लगे।**

श्रीराधाकुण्ड-**श्रीश्यामसुन्दरजी वृषभरूपधारी अरिष्टासुर का वध करने के अनन्तर श्रीराधाजी के पास खेलने आये और खेल-खेल से उन्हें स्पर्श करने लगे। श्रीराधाजी तत्क्षण पीछे हट गईं और बोलीं-आप हमसे दूर ही रहिये, आपने बैल को मारा है। श्रीश्यामसुन्दर ने कहा-राधेजू! आप कैसी बात कर रही हो, वह तो असुर था। श्रीराधा ने कहा-चाहे वह कुछ भी रहा हो, था तो बैल के रूप में। अतः उसके वध का पाप तो आपको लगा ही। अतः आप पहले समस्त तीर्थों में स्नान करके पवित्र होकर आओ, फिर हमारे साथ खेलो। श्रीराधिकाजी के इन वचनों को सुनकर श्रीश्यामसुन्दर ने मुस्कुराकर कहा-मैं यहाँ ही समस्त तीर्थों को बुलाता हूँ और आपके सामने ही स्नान करता हूँ। इतना कहकर भगवान ने कौतुक में ही अपनी मुरली से पृथ्वी पर स्पर्श किया और एक दिव्य कुण्ड तैयार हो गया। उसका नाम पड़ा श्रीकृष्णकुण्ड। उसमें समस्त तीर्थों का आह्वान किया। सभी तीर्थों के परम-पुनीत जलसे परिपूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने उसमें स्नानकर प्रायश्चित्त किया और उस कुण्ड को वरदान दिया कि जो भी इसमें स्नान करेगा उसके समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे। इसी व्याज से भगवान ने भविष्य में जीवों के कल्याण के लिये एक तीर्थ की स्थापना की, नहीं तो भला भगवान को कहीं कर्म लिपायमान होते हैं? अर्थात् नहीं। यथा-कर्म शुभाशुभ तुमहिं न**

बाधा। (रामा०) न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मभलेस्पृहा।। (गी० ४।१४)अर्थ-कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है अतः मेरे को कर्म लिपायमान नहीं होते॥ पुनः-क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।। (पा० यो० १।२४) अर्थ-जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के सम्बन्ध से रहित तथा समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह ईश्वर है। पुनः लोक संग्रहार्थ भी पाप-पुण्य की प्रतिष्ठा करने के लिये भगवान अत्यन्त सावधानी पूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। यथा-न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। (गी० ३।२२।२३) अर्थ-हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही बर्तता हूँ। क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्म में न बर्तू तो हे अर्जुन! सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार ही बर्तने लग जायँ। क्योंकि-यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्त-देवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। (गी० ३।२१) अर्थ-श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके अनुसार ही बर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी वैसा ही करने लग जाते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने भगवान होकर भी प्रायश्चित्त किया।

एकदिन श्रीललिताजी ने श्रीराधिकाजी से कहा-हे स्वामिनीजू! आपको मालूम ही है कि श्रीश्यामसुन्दर ने एक कुण्ड तैयार किया है। यदि कदाचित् हम लोग भी कभी उसमें स्नानादि के लिये जायेंगी तो वे बड़ी ठसक दिखायेंगे। अतः आप भी एक कुण्ड तैयार करो। तब श्रीराधाजी ने अपने कंकण द्वारा श्रीकृष्णकुण्ड के समीप ही एक नवीन कुण्ड का निर्माण किया। उसका नाम श्रीराधाकुण्ड रखा गया। कंकण द्वारा निर्मित होने से उसे कंकण कुण्ड भी कहते हैं। श्रीश्यामसुन्दर ने अनुरोध किया कि मेरे कुण्ड के जल से ही इसे भर लिया जाय। परन्तु सखियों ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि आपने इस कुण्ड में हत्या धोई है अतः हम इस जल से अपने कुण्ड का सम्बन्ध नहीं होने देंगी। फिर सखियों की सलाह से श्रीराधिका जी ने अपने कुण्ड को मानसी गङ्गा के जल से आपूरित किया। फिर श्रीकृष्ण ने सखियों से कहा कि-सखियों! तुम सबों ने हमारे कुण्ड के जल का तिरस्कार कर दिया है। अतः आगे चलकर इसमें कोई स्नान ही नहीं करेगा। फिर तो हमारा सब परिश्रम एवं वरदान व्यर्थ हो जायेगा। लोग यही कहेंगे कि जब श्रुति स्वरूपा गोपियों ने इसे अङ्गीकार नहीं किया तो हम लोग कैसे प्रयोग में ला सकते हैं। अतः कृपा करके तुम लोग हमारे कुण्ड को अपने

कुण्ड में ही मिला लो, जिससे मर्यादा बनी रहे। सखियों ने श्रीकृष्ण के प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार किया कि मिलने पर दोनों का सम्मिलित नाम श्रीराधाकुण्ड ही होगा। श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि आज भी सभी लोग श्रीराधाकुण्ड के नाम से ही उस तीर्थ का स्मरण करते हैं। श्रीराधाकुण्ड के सम्बन्ध में किसी कवि ने लिखा है-रतन जटित नग खचित घाट सिढ़ियनकी शोभा।। गुंजत भौंर मराल भरी आनन्दकी शोभा।। माध-विताल तमाल वृक्ष सबही झुकि झूमे। छबि की उठत तरंग जहाँ व्रजराज जू घूमे।। महारानी श्रीराधिका, अष्ट सखिनको झुंड' डगर बुहारब सांवरी, जय जय राधाकुण्ड।।

रहनि कहनि०-श्रीरघुनाथ गोस्वामी भोजन के नाम पर केवल दो-तीन पल (छटांक-आधपाव) छाछ मात्र पीकर जीवन धारण करते थे। इनके विषय में यह दोहा अति प्रसिद्ध है-भजनरसिक रघुनाथजी, राधाकुंड निवास। नोन तक्र व्रजको लियो, और नहीं कुछ आस।। यह नित्य श्रीभगवान को एक हजार दण्डवत् प्रणाम करते थे एवं वैष्णवों को नित्य दो हजार दण्डवत् प्रणाम करते थे तथा नित्य एक लाख श्रीहरिनाम का जप किया करते थे। अहर्निश श्रीराधाकृष्ण की मानसी सेवा में लगे रहते थे। एक पहर श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की लीलाओं का वर्णन करते, तीनों समय श्रीराधाकुण्ड में नित्य स्नान करते और व्रजवासियों का आलिंगन द्वारा सत्कार करते थे। वर्णन आया है कि वृद्धावस्था के कारण यद्यपि इनका शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया था तो भी दण्डवत् के नियम में शिथिलता नहीं आने दी। परिणाम यह हुआ कि जब ये दण्डवत् करते तो इनसे उठा नहीं जाता। बड़ी मुश्किल से सम्हलकर उठते फिर दूसरी दण्डवत् करते। इनकी यह दशा देखकर वैष्णवों तथा व्रजवासियों को अत्यन्त तरस आता। ये इनसे बहुत-बहुत अनुरोध करते कि अब आप दण्डवत् का नियम छोड़ दीजिये अथवा कमकर दीजिये। तब ये अत्यन्त दीन होकर कहते कि भैया! यदि आप लोगों का मुझ पर ऐसा भाव है तो जब हम दण्डवत् करें और मुझसे उठा न जाय तब आप लोग कृपा करके मुझे उठाकर खड़ा कर दिया करिये परन्तु नियम छोड़ने वा घटाने की बात मुझसे भूलकर भी न कहिये। ऐसी अद्भुत थी आपकी नियम निष्ठा। महत्पुरुषों की यही रीति है कि प्राण चाहे भले चले जायें परन्तु वे निष्ठा से च्युत नहीं होते। उनकी निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। यथा-सन्त सनेही स्त्रोत जल घरी-घरी सरसाइ। नीच नेह खर शब्द ज्यों घटत घटत घटि थाइ।।

इनकी अनन्यता ऐसी थी कि एक बार श्रीराधाकुण्ड का एक व्रजवासी रीठौरे गाँव गया हुआ था। वहाँ उसने एक कदम्ब के बहुत बड़े-बड़े पत्ते देखे तो विचार किया कि मेरा

बाबा (रघुनाथदासजी) तो केवल कदम्ब के एक पत्ते से बने दौने भर छाछ लेता है तो इस कदम्ब के कुछ पत्ते मैं क्यों न लेते चलूँ, इसमें छाछ कुछ अधिक आ जायेगा। फिर तो वह सैंकड़ों पत्ते तोड़कर घर लाया और दूसरे दिन उसी के दोने में इनके लिये छाँछ लाया। इन्होंने छाँछ पीकर दोने को गौर से देखा तो बहुत बड़ा पत्ता देखकर व्रजवासी से पूछा कि भैया! इतने बड़े-बड़े पत्ते तो यहाँ के कदम्बों में हैं नहीं, तुम यह पत्ता कहाँ से लाये हो? उसने कहा-बाबा! मैं कल रीठौरे गया था, वहीं मुझे ये दिख गये तो कुछ पत्ते लेता आया। इन्होंने अत्यन्त खिन्न मन होकर कहा-अरे, तूने रीठौरे के कदम्ब-पत्र में मुझे छाँछ पिला दिया, यह अच्छा नहीं किया। रीठौरे में तो चन्द्रावली रहती हैं, वह मेरी प्राण सर्वस्वा श्रीश्रीजी से सौत भाव रखती हैं। यह कहकर इन्होंने मुँह में उंगली डालकर वह छाँछ वमन कर दी। इनकी इस अनन्यता को देखकर लोग चकित रह गये। ये श्रीप्रिया-प्रियतम की भावना में कभी-कभी कई-कई दिनों तक भावावेश में डूबे रह जाते थे। खाना-पीना-सोना सब भूल जाता था। एक बार तो श्रीसनातन गोस्वामीजी ने देखा कि ये भावावेश में बाह्य ज्ञान शून्य श्रीराधाकुण्ड पर बैठे हैं और दो व्याघ्र इनके समीप से पानी पीकर जा रहे हैं। तब श्रीगोस्वामीपाद ने इनसे कुटी में बैठकर भजन करने का अनुरोध किया। तब से ये कुटिया में रहने लगे। तन भावरूप कियो है-यह विशेष बात है। अत्यन्त सूक्ष्म मन को ही भावरूप कर लेना अत्यन्त कठिन है। फिर अत्यन्त स्थूल और पाँच भौतिक शरीर को भावरूप बना लेना तो बहुत कठिन है, परन्तु इनके परम प्रबल चिंतन के प्रभाव से 'कीट-भृङ्ग' न्याय से इनका शरीर भी भावरूप हो गया था। कहा भी गया है-भृङ्गी भयते भृङ्ग होइ जब कीट महाजड़। कृष्ण प्रेमते कृष्ण होइ यह नहिं अचरज बड़।। (श्रीनन्ददासजी)

मानसीमें पायो दूध-भात-इनको मानसी सेवा सिद्ध थी। इन्होंने मानसी में श्रीठाकुरजी को दूध भात का भोग लगाया। स्वयं आरोगने के बाद श्रीप्रिया-प्रियतमजी ने दूध भात का वह कटोरा इनके मुँह से लगा दिया और पाने का अनुरोध किया। यद्यपि इनका नियम था कि ये केवल छाँछ मात्र लेते थे। परन्तु श्रीयुगल सरकार का आग्रह टाल नहीं सके, प्रेमवश पा लिये। परिणाम यह हुआ कि शरीर में ज्वर हो आया। इनकी अवस्था का समाचार क्षणमात्र में सर्वत्र फैल गया। उन दिनों गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी जतीपुरा में विराजते थे। उन्होंने जब यह समाचार सुना तो तत्काल अपने निजी वैद्य एवं शिष्य श्रीब्रह्मदासजी को श्रीरघुनाथदासजी की चिकित्सा के लिये भेजा। वैद्यजी भी बड़े अनुभव सिद्ध थे। अटकल पच्चू दवा करने वाले नहीं थे।

दृष्टान्त-एक वैद्यका-किसी गाँव में एक वैद्य जी रहते थे। किसी पोथी से दवाओं के दस-पाँच नुस्खे सीख लिये थे, नाड़ी आदि का ज्ञान कुछ भी नहीं था, केवल अटकल से दवा करते थे। रोगी अपने भाग्य से मरे अथवा जिये उनके साथ एक सेवक सेवा में रहता था। एक दिन वैद्यजी किसी के घर इलाज करने गये। रोगी की नाड़ी देखकर बताये कि इसने सन्तरा खा लिया है। बात सत्य थी। अतः श्रीवैद्यजी का निदान सुनकर लोग दंग रह गये, बड़ी प्रशंसा किये। फिर तो वैद्यजी ने खूब पैसा ऐंठा। रास्ते में सेवक ने भी सराहना करते हुए पूछा-वैद्यजी! इतना अनुभव आपको कैसे प्राप्त हुआ है? वैद्यजी ने कहा-अरे भाई, वहीं खाट के नीचे संतरे के छिलके पड़े देखे, बस अंदाज लगाकर कह दिया। नाड़ी-वाड़ी हम कुछ नहीं जानते हैं। सेवक ने सोचा कि इस प्रकार से अंदाज से दवा तो हम भी कर सकते हैं। दवाएं तो हमें सब मालूम ही हैं फिर मैं क्यों वैद्य की झोली ढोऊँ। बस घर जाकर उस सेवक ने भी अपनी वैदगी का ताना-बाना फैलाया। उसे भी जहाँ-तहाँ लोग ले जाने लगे। उसने भी अटकल से ही दवा देना शुरु किया। एक जगह बुलाया गया तो रोगी की खाट के नीचे भूसा पड़ा देखकर उसने नाड़ी देखकर झट कह दिया कि इसने भूसा खाया है। यह सुनकर लोगों ने उसका बड़ा उपहास किया। उस दिन से उसकी पोल खुल जाने से सब लोग उसे-'नीम हकीम खतरे जान।' कहने लगे।

श्रीविट्ठलनाथजी के वैद्यजी सही अर्थों में वैद्य थे। उन्होंने नाड़ी देखकर बता दिया कि इन्होंने दूध-भात खाया है। यह सुनकर वहाँ पर बैठे ब्रजवासियों ने वैद्यजी की बड़ी हँसी किया। वे बोले-वैद्यजी! हमारा बाबा तो केवल छाँछ पीता है, वह भी नेक सी। फिर आपने दूध-भात का अंदाज कैसे लगाया? जान पड़ता है कि ठाकुर श्रीनाथजी एवं गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी चूंकि रोज दूध-भात पाते हैं और आप नित्यप्रति उनकी नाड़ी देखते रहते हैं, आपको वही अभ्यास पड़ा है, अतः यहाँ भी आपको वही सूझ रहा है। तब श्रीवैद्यजी आवेश में आकर बोले-यदि आप लोगों को मेरे कहने का विश्वास नहीं हो रहा है तो कहिये मैं दवा देकर इनको वमन करा दूँ, इनके पेट में से प्रत्यक्ष दूध-भात निकलेगा, वह अभी पचा नहीं है, इसी से तो ज्वर हो गया है। यदि मेरी बात झूठ निकलेगी तो मैं वैद्य वृत्ति छोड़ दूँगा। यह सुनकर कोई-कोई मनचले व्रजवासी आपस में कहने लगे-आज बाबा की पोल खुली। बाबा हम लोगों को दिखाने के लिये तो छाँछ पीता है और चोरी-चोरी से रात्रि में खीर बनाकर खाता है परन्तु आज भण्डाफोड़ हो गया। भला चोरी कहीं छिपती है। श्रीरघुनाथदासजी ने हँसकर वैद्यजी को हृदय से लगा लिया और बोले-वैद्यजी! आज

मैंने माना, आपका शारीरिक विषयों में ही नहीं मानसिक विषयों में भी प्रवेश है। लगता है, जिस (भाव) देश में मैंने दूध-भात पाया है उसी देश के आप भी रहने वाले हैं। क्यों न ऐसा हो, आप श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र जो ठहरे। इसके बाद श्रीरघुनाथदास गोस्वामी ने अपनी मानसी की बात सबको खोलकर बताई। तब सब लोग इनकी मानसी सेवा की सराहना करने लगे कि इन्होंने मानसी को भी प्रत्यक्ष कर लिया। इस पर-

दृष्टान्त-एक ब्राह्मणका-एक ब्राह्मण को पुत्र होते, मर-मर जाते। इससे वह बहुत दुःखित रहता। एक बार उस गाँव में संतों की जमात आई। ब्राह्मण ने संतों के चरणों में गिर कर अपना दुःख कह सुनाया। संतों ने कहा-तू पानी के बबूले के समान जन्मने-मरने वाले जीव के लिये क्यों रो रहा है, श्रीकृष्ण से प्रेम कर, लाड़ लड़ा। ब्राह्मण को संतो का उपदेश बैठ गया। उसने संतों से भगवान की सेवा की विधि पूछी। संतों ने ब्राह्मण की दीन-दशा देखकर मानसी सेवा का उपदेश दिया। अब वह ब्राह्मण नित्यप्रति प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक भगवान की मानसी सेवा करने लगा। एक दिन वह मानसी में खीर बना रहा था। खीर गाढ़ी होते देख जल्दी के मारे मानसी में ही उसने बिना ततगहना के हाथ से ही कढ़ाही उतारी। कढ़ाही अत्यन्त तप्त होने के कारण अंगुलियों में प्रत्यक्ष छाले पड़ गये। जल्दी से रखने में थोड़ी खीर छलक पड़ी ।भगवान विष्णु हँस गये। श्रीलक्ष्मीजी ने हँसने का कारण पूछा तो भगवान ने ब्राह्मण की खीर का वृत्तान्त बताया। श्रीलक्ष्मीजी को आश्चर्य हुआ। तब उनके विश्वास के लिये भगवान ने अपने पार्षदों से कहा कि अत्यन्त शीघ्र उस ब्राह्मण को सदेह बैकुण्ठ लिवा लाओ। पार्षद तुरन्त ही ब्राह्मण को भगवान के सम्मुख उपस्थित कर दिये। भगवान ने श्रीलक्ष्मीजी को ब्राह्मण का हाथ दिखाया। श्रीलक्ष्मीजी ने देखा, सचमुच ब्राह्मण का हाथ जल गया था। फिर तो उसकी सच्ची मानसी भावना पर रीझकर सदा-सदा के लिये बैकुण्ठ में ही बसा लिया। मानसी सेवा के सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १७, क०३ 'मानसी सुनथ' की व्याख्या पृष्ठ ८१, क०१० की व्याख्या। मानसी सेवा में केवल मनोमय उपकरणों से ही भगवान की अर्चा की जाती है। अतः सर्वसाधनहीन एवं व्यय के भय से सेवा से दूर रहने वाले लोगों के लिए मानसी सेवा सर्वोत्तम साधन है। साधन सर्वश्रेष्ठ और व्यय कुछ नहीं। अतः मानसी सेवा में कृपणता नहीं करनी चाहिये।

दृष्टान्त-कृपण वणिकका-एक बनिया बड़ा ही कंजूस था। उसके जीवन में चमड़ी चली जाय पर दमड़ी न जाय' यह कहावत अक्षरशः चरितार्थ होती थी। जीवन के अन्तिम दिनों में उसे अपने परलोक की सुधि आई। इसके लिये वह बहुत से पण्डितों को, संतों, महंतों

के पास गया और सबसे पूछा कि महाराज! आप लोग कृपा करके मेरे उद्धार का कोई उपाय बतावें। धनवान जानकर सब लोग उसे दान-पुण्य, यज्ञ-सदाव्रत, धर्मशाला-पाठशाला आदि की सलाह देते। परन्तु ये सब साधन अर्थसाध्य होने से उसे पसंद नहीं आते। एक संत ने वणिक के स्वभाव को पहचाना, अतः उसे प्रथम तो भगवान की श्रीविग्रह की अति संक्षिप्त सेवा-पूजा की सलाह दी, परन्तु जब इससे भी कतराता नजर आया तो संत ने कृपा करके उसे मानसी सेवा की विधि बताई। यह साधन उसे पसन्द आ गया परन्तु उसकी कृपणता मानसी सेवा में भी नहीं छूटी। एक दिन वह मानसी में खीर बना रहा था। बूरा डालना था, तो मुट्ठी में बूरा लेकर कढ़ाही के पास ले जाता और फिर लौटा लाता। कई बार उसने ऐसा किया। संयोग की बात, वे संत उस समय वहीं थे। उसकी स्थिति समझ गये, अत पास जाकर उसको दो थप्पड़ मारे और डांटकर कहे-मूर्ख कहीं का, मानसी में भी तुम्हारे बाप का कुछ लगता है जो बूरा डालने में संकोच कर रहा है। बनियाँ बहुत लज्जित हुआ। उस दिन से उसकी कृपणता छूट गई। कहने का तात्पर्य यह कि मानसी में तो श्रीठाकुरजी को खूब बढ़िया भोग लगाना चाहिये।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी नित्यलीला में श्रीरतिमञ्जरी हैं। जिनकी विद्युत वर्ण-सी अङ्गकान्ति है, बन्धूक (लाल) पुष्प के समान वस्त्र धारण करती हैं। श्रीराधा-गोविन्द के चरण सम्वाहन करना इनकी प्रधान सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के अग्निकोण में इनकी स्थिति है।

श्रीनित्यानन्दजी, श्रीकृष्णचैतन्यजी

श्रीनित्यानन्द कृष्णचैतन्यकी भक्ति दसोंदिसि विस्तरी।।
गौड़ देस पाखण्ड मेटि कियो भजन परायन।
करुणासिन्धु कृतज्ञ भये अगतिन गति दायन।।
दसधा रस आक्रान्ति महत जन चरण उपासे।
नाम लेत निहपाप दुरित तेहिं नरके नासे।।
अवतार विदित पूरब मही उभै देही धरी।
श्रीनित्यानन्द कृष्णचैतन्यकी भक्ति दसोंदिसि विस्तरी।।७२।।

शब्दार्थ-गौड़देश = पश्चिम बङ्गालका एक भाग विशेष। पाखंड = वेद विरुद्ध आचरण। कृतज्ञ = किये हुए उपकारको मानने वाला। अगतिन = जिनका उद्धार असम्भव हो। गतिदायन

= उद्धार करने वाले। दसधारस = प्रेमरस। आक्रान्ति = विवशता। महतजन = महापुरुष। उपासे = उपासनाकी। निहपाप = पापरहित। दुरित = पाप। महन्त = परम महान्। पूरबमही= पूर्वी भारत की भूमि, बङ्गाल, उड़ीसा आदि।।

भावार्थ-श्रीनित्यानन्दजी तथा श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी की भक्ति का प्रकाश दशों दिशाओं में फैला। आप दोनों महानुभावों ने गौड़देश में फैले हुए पाखण्ड को मिटाकर वहाँ के लोगों को भगवद्भजन में प्रवृत्त किया। आप दोनों करुणा के समुद्र, कृतज्ञ तथा अगणित अगतिक जीवों को गति देने वाले हुये। आप दोनों सदा ही प्रेमरस विवश बने रहते थे। बड़े-बड़े महापुरुषों ने आपके श्रीचरणाकमलों की उपासना की। आपका नाम लेते ही प्राणी निष्पाप हो जाते हैं, तत्काल उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। पूर्वदेश की भूमि में श्रीबलराम और श्रीकृष्ण ही श्रीनित्यानन्दजी एवं श्रीकृष्णचैतन्य-इन दोनों महापुरुषों के रूप में प्रादुर्भूत हुए थे। इनके अवतार की बात सर्वप्रसिद्ध है।।७२।।

व्याख्या-भक्ति दसों दिसि विस्तरी-इससे जनाया गया कि आपकी भक्ति भूमण्डल पर तो चारों दिशाओं (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर) और चारों विदिशाओं (आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान) में फैली ही थी, ऊर्ध्व दिशा (भुर्भुवः स्वः महः जन तप सत आदि ऊपर के लोकों) एवं अधोदिशा (अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल आदि नीचे के लोकों) में भी आपकी भक्ति का प्रकाश जगमगा रहा था। अर्थात् सर्वत्र लोग आपकी भक्ति की चर्चा करते एवं उससे प्रेरणा प्राप्त करते थे। 'गौड़देश पाखण्ड'०-उन दिनों देशभर में मुसलमानों का आतंक छाया हुआ था और बङ्गाल में तो उनका विशेष बोलबाला था। सभी लोग सनातन धर्म से पराङ्मुख होकर पाखण्ड धर्मों का आश्रय लिये हुए थे। वाममार्ग जोरों पर था जिसमें पंचमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) ही मुक्त साधन समझे जाते थे। शाक्त धर्म भी अत्यन्त प्रबल हो गया था। जिसमें बकरे-भैंसे की बलि की तो बात ही क्या मनुष्यों तक की बलि दी जाती थी। प्रतिवर्ष करोड़ों की संख्या में निरीह पशु बलि वेदी पर चढ़ा दिये जाते थे। ब्राह्मण लोग अपने हाथों में खड़ग लेकर बलिदान करते। वैष्णव धर्म की खिल्लियाँ उड़ाई जाती थीं। श्रीनित्यानन्दजी एवं श्रीकृष्णचैतन्यजी ने इन समस्त कुप्रथाओं को मिटाकर लोगों को भजन में लगाया। 'करुणा सिन्धु'- यथा-आजानुलम्बितभुजौ कनकावदातौ सङ्कीर्त्तनैक पितरौ कमलायताक्षौ। विश्वम्भरौ द्विजवरौ युगधर्मपालौ वन्दे जगत्प्रियकरौ करुणावतारौ।। (श्रीनिताई-गौरवन्दना) इनकी जीवों पर अपार करुणा थी। यह बात आगे, वर्णित इनके चरित्रों से स्पष्ट हो जायेगी।

'कृतज्ञ-आपके चरित्र में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आये हैं जिनमें भक्तों की सामान्य सेवा से भी सन्तुष्ट होकर उन्हें अपने आप तक को देकर भी उनके ऋणी ही बने रहे, यह आपकी परम कृतज्ञता है। कृतज्ञता बहुत बड़ा सद्‌गुण है। मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी कृतज्ञता को महत्व देते हैं अर्थात् उपकारी के उपकार को मानते हैं।

दृष्टान्त एक शेरका-एक बार एक शेर के पंजे में बहुत बड़ी फाँस लग गई जिससे वह बेचैन हो गया। मारे पीड़ा के उससे चला-फिरा नहीं जाता था। भूख-प्यास के मारे वह शेर छटपटा रहा था तथा बारम्बार पृथ्वी पर अपना पाँव पटक रहा था। एक व्याध ने शेर की व्याधि को पहचाना और साहस करके उसके समीप जाकर बाण की अनी से उसके पाँव में लगी फाँस को निकाल दिया। शेर को आराम मिल गया। वह तुरन्त कृतज्ञता भरी दृष्टि से व्याध को देखता हुआ अपने आहार की खोज में जङ्गल में चला गया। कुछ दिन बाद उसी व्याध को किसी बहुत बड़े अपराध में प्राणदण्ड की सजा दी गई और आदेश हुआ कि उसे जीवित ही जङ्गल में शेर के आगे छोड़ दिया जाय। संयोग की बात, जल्लादों ने उसे उसी शेर के आगे छोड़ा, जिसकी उसने पहले फाँस निकाली थी। शेर ने व्याध को पहचान लिया और उसे सूंघकर बिना कुछ क्षति पहुँचाये जङ्गल की ओर चला गया। इससे सिद्ध होता है कि पशुओं में भी कृतज्ञता का भाव होता है। फिर श्रीनित्यानन्दजी एवं श्रीकृष्णचैतन्यजी तो भगवान हैं। भगवान तो अतिकृतज्ञ हैं। यथा-हरषि राम भेंटउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना।। (रामा०) एक बात स्मरण रखने की है कि जैसे कृतज्ञता महान गुण है वैसे ही कृतघ्नता (किये गये उपकार को न मानना) महान दोष है। इस पर-

दृष्टांत एक श्वपचका-एक बार एक श्वपच मनुष्य की खोपड़ी में कुत्ते का माँस ले जा रहा था और आगे-आगे पानी छिड़कता जा रहा था। एक सज्जन ने देख लिया तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि अपावनता की अवधि तो यह स्वयं है-एक तो चाण्डाल, उसमें भी मनुष्य की खोपड़ी हाथ में लिये, उसमें कुत्ते का माँस रखे हुए फिर उसकी शुद्धि के लिये जल छिड़क रहा है। उससे रहा नहीं गया। चाण्डाल से पूछ ही बैठे। तब उसने कहा कि मैं इस डर से जल छिड़क रहा हूँ कि कहीं इसी रास्ते से कोई कृतघ्न अथवा गुरुद्रोही अथवा विश्वासघाती न गया हो। इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि ये तीनों महदपराध हैं।

अगतिन गतिदायन-जगाई-मधाई जैसे महापापियों को भी प्रेम प्रदान करना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अन्य अवतारों में जहाँ दुष्टों को मारकर मुक्ति दी गई वहाँ इस

अवतार में दुष्टों को न मारकर उनकी दुष्टता का नाश कर उन्हें भागवत बनाया गया, यही इस अवतार की सबसे बड़ी विशेषता है। 'दसधारस आक्रान्ति'-एक पल के लिए भी प्रेम में मग्न होना करोड़ों वर्ष की योगसाधना से भी बढ़कर है। यथा-प्रेम भक्ति एकहुँ पलक, कोटि वर्षको जोग। प्रेमभक्ति सब जोग है, प्रेमभक्ति बिनु रोग।। और ये तो सदा प्रेम रसावेश में रहते थे। यह बहुत बड़ी बात है। 'महत जन चरण उपासे'-श्रीप्रकाशानन्दजी, सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्य एवं राजा प्रतापरुद्र आदि अनेक महानुभावों ने आपके श्रीचरण कमलों की उपासना की। विशेष आगे इनके चरित्र में देखिये। 'दुरित तेहिं नरके नासे'-एक महात्माजी का मत है कि दुरित का अर्थ दुराकर अर्थात् छिपाकर किया गया पाप होता है। इस पर-

दृष्टान्त-एक पुजारीका- **पुजारी ने श्रीश्रीजी की नथ का बहुमूल्य मोती अपनी पत्नी की नथ में लगा दिया और श्रीश्रीजी की नथ में नकली मोती लगा दिया। इस अपराध से उसे प्रेत होना पड़ा। एक महात्मा जी ने श्रीमद्भागवत सुनाकर उसका उद्धार किया। 'अवतार विदित'-श्रीनित्यानन्दजी श्रीबलरामजी एवं श्रीकृष्णचैतन्यजी साक्षात् श्रीकृष्णजी के अवतार हैं। देखिये आगे कवित्त ३२९ और ३३०। 'महन्त देही धरी'-यथा-जीवे साक्षात् नाहिं ताते गुरु चैत्य रूपे। शिक्षा गुरु हय कृष्ण महान्त स्वरूपे।। (श्रीचैतन्य-चरितामृत) अर्थ-श्रीभगवान के अन्तर्यामी रूप को जीव साक्षात् नहीं देख सकता। अतः भक्त श्रेष्ठरूप से श्रीकृष्ण शिक्षा गुरु का रूप धारण करते हैं।**

श्रीनित्यानन्दजी

आप बलदेव सदा वारुणी सों मत्त रहैं चहैं मन मानौ प्रेम मत्तताई चाखियै।
सोई नित्यानन्द प्रभु महँत की देह धरी भरी सब आनि तऊ पुनि अभिलाखियै।।
भयो बोझ भारी किहूं जात न सँभारी तब ठौर ठौर पारषद मांझ धरि राखियै।
कहत-कहत और सुनत-सुनत जाके भये मतवारे बहु ग्रन्थ ताकी साखियै।।३२९

शब्दार्थ-**वारुणी = वरुण द्वारा दी गई सुरा। कदम्बके फलों से बनी सुरा। मत्त ताई = उन्मत्तता।**

भावार्थ-**श्रीनित्यानन्दजी श्रीबलरामजी के अवतार हैं। श्रीबलरामजी वारुणी पानकर सदा मतवाले बने रहते थे। एक बार उनके मन में यह चाह उत्पन्न हुई कि अब प्रेमोन्मत्तता का रसास्वादन करना चाहिये अतः वही श्रीबलरामजी महान्त श्रीनित्यानन्द महाप्रभुजी के रूप में प्रकट हुये। आपके अगाध हृदय में सम्पूर्ण प्रेमराशि आकर परिपूर्ण रूप से**

भर गई परन्तु तो भी आपको प्रेम-तृष्णा बनी रहती थी। आपका प्रेम ऐसा बढ़ा कि उस का भार आपसे संभालते नहीं बनता था। तब आपने उसे पार्षदों (शिष्यों) में यथायोग्य यथास्थान स्थापित कर दिया। आपके प्रेम की कथा कहते-कहते और सुनते-सुनते अनेकों जन प्रेम मतवाले हो गये। अनेकों ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।।३२९।।

व्याख्या-आपु बलदेव-यथा-सेई कृष्ण नवद्वीपे श्रीचैतन्य चन्द्र। सेइ बलराम सङ्ग श्रीनित्यानन्द।। (श्री चै० च०) अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण ही नवद्वीप में चैतन्य रूप से अवतीर्ण हुए और श्रीकृष्णलीला के सहायक वही श्रीबलरामजी श्रीनित्यानन्दरूप में अवतीर्ण हुए। 'वारुणी सों मत्त रहैं-यथा-वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात्। पतन्ती तद् वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्।। तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः। आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ।। (भा० १०-६५-१९, २०)अर्थ-वरुण देव ने अपनी पुत्री वारुणी देवी को वहाँ भेज दिया। वह एक वृक्ष के खोड़र से बह निकली। उसने अपनी सुगन्ध से सारे वन को सुगन्धित कर दिया। मधुधार की वह सुगन्ध वायु ने बलरामजी के पास में पहुँचाई मानो उसने उन्हें उपहार दिया हो। उसकी महक से आकृष्ट होकर श्रीबलरामजी गोपियों को लेकर वहाँ पहुँचे गये और उनके साथ उसका पान किया। पुनश्च-गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वल लोचनम्। विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम्।। (भा० १०-६६-१०) अर्थ-वे मधुपान करके मधुर सङ्गीत गा रहे थे और उनके नेत्र आनन्दोन्माद से विह्वल हो रहे थे। उनका शरीर इस प्रकार शोभायमान हो रहा था, मानो कोई मदमत्त गजराज हो।

प्रेम मत्तताई-मदिरा से अधिक उन्माद प्रेम में होता है। मदिरा का मद तो कुछ घड़ी में शान्त हो जाता है परन्तु प्रेम का मद तो हर घड़ी चढ़ा ही रहता है। यथा-भूत लगे मदिरा पिये, सबकाहू सुधि होइ। प्रेम सुधारस जिन पियो, तिहि न रहै सुधि कोइ।। प्रेम दीवानों का वर्णन करते हुए श्रीसहजोबाईजी कहती हैं-प्रेमदिवाने जे भये मनभे चकना चूर। छके रहैं घूमत रहैं, 'सहजो, देखि हुजूर।। प्रेम दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन। 'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन।। प्रेम दिवाने जे भये, जाति बरन गइ छूट। 'सहजो जग बौरा कहै, लोग गये सब फूट।। प्रेम दिवाने जे भये, 'सहजो' डगमग देह। पाँव परै कितकौ कहूँ, हरि सँवारि तब लेह। कबहूँ हक धक ह्वै रहैं, उठैं प्रेमहित गाय। 'सहजो' आंख मुदी रहैं, कबहूँ सुधि ह्वै जाय।। मनमें तो आनन्द रहै, तन बोरा सब अङ्ग। ना काहूके सङ्ग हैं, 'सहजो' ना कोइ सङ्ग।।श्रीदयाबाईजी का भी ऐसा ही अनुभव है।

यथा-'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तन की तनि सुधि नाहिं। झुके रहैं हरि रस छके, थके नेम व्रत माहिं।। प्रेम मगन जे साधुजन, तिन गति कही न जात। रोय रोय गावत हँसत 'दया' अटपटी बात।। प्रेम मगन गदगद वचन, पुलक रोम सब अङ्ग। पुलक रह्यौ मन रूप में, 'दया' न ह्वै चित भङ्ग।। बाबा मलूकदासजी भी यही कहते हैं। यथा-प्यारे तेरा मैं दीदार दिवाना। घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ सुन साहब रहमाना।। हूँ अलमस्त खबर नहिं तन की पीया प्रेम पियाला। ठाढ़ होउँ तो गिर-गिर परता तेरे रङ्ग मतवाला।। पुनः- दरद दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा। एक अकीदा लै रहे ऐसे मन धीरा।। प्रेम पियाला पीवते बिसरे सब साथी। आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी।। उनकी नजर न आवते कोई राजा रंक। बन्धन तोड़ि मोह के फिरते निहशंक। श्रीतुलसीदासजी ने भी प्रेमोन्मत्त श्रीसुतीक्ष्णजी की भावदशा का वर्णन करते हुए इसी तथ्य को पुष्ट किया है। यथा-निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।। दिसि अरु विदिस पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।। कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुण गाई।। (रामा०)

महाकवि 'देव' एक व्रजगोपी का प्रेमोन्माद वर्णन करते हुए लिखते हैं-जबतें कुंवर कान्ह रावरी कलानिधान, कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी। तब ही ते 'देव' देखी देवता सी, हँसति सी, खीझति सी, रीझति सी, रूसति-रिसानी सी।। छोही सी, छली सी, छीनि लीनी सी, छकी सी, छीन, जकी सी, टकी सी, लगी थकी, थहरानी सी, बीधी सी, बँधी सी, विष बूड़ी सी, विमोहित सी, बैठी वह बकति विलोकति बिकानी सी।। भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी ने भी इसी भाव को इस प्रकार वर्णन किया है-भूली सी, भ्रमी सी, चौकी, जकी सी, थकी सी, गोपी, दुखी सी रहित, कछु नाहिं सुधि देहकी। मोही सी, लुभाई, कछु मोदक सी खायें सदा, विसरी सी रहै नेकु खबर न गेह की।। रिस भरी रहै कबौं फूलि न समाति अङ्ग, हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की। पूँछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि, जानी हम जानी हैं निसानी या सनेह की।। बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानी इस प्रेमोन्मत्तता की लालसा करते हैं। 'तऊ पुनि अभिलाखिये'-प्रेम का यही स्वरूप है कि इसमें तृप्ति का अनुभव नहीं होता। नित्य नव-नव अनुराग की आकांक्षा बनी रहती है। श्रीराम प्रेम का साकार विग्रह श्रीभरतलालजी श्रीतीर्थराज से यह वरदान माँगते है कि- सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।। (रामा०) 'भयो बोझ भारी०'-इस पर दृष्टान्त श्रीशुकदेवजी का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५४६, कवित्त ९८।। कहत-कहत...भये मतवारे

प्रेमियों का चरित्र कहने-सुनने से प्रेम की प्राप्ति होती है। यथा-भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय राम पद प्रेम, अवसि होई भव रस विरति।। बहुग्रंथ-जैसे श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीचैतन्य-भागवत, श्रीचैतन्यमंगल, श्रीचैतन्यचन्द्रोदय (नाटक) आदि।

विशेष-श्रीमन्नित्यानन्दजी महाप्रभुजी का प्रादुर्भाव शाके सं० १३९५, माघ शुक्ल, त्रयोदशी को, बंगाल प्रान्त के वीरभूमि जिले में 'एकचाका' नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था। पिता का नाम पं० हाड़ाई ओझा एवं माता का नाम पद्मावती देवी था। बालक नित्यानन्द की विद्युत वर्णा गौरकान्ति बड़ी ही जन-मन-मोहिनी थी। पाँच साल की अवस्था में विद्यारम्भ कराया गया। कुशाग्र बुद्धि होने से अत्यन्त अल्पकाल में ही संस्कृत, व्याकरण तथा साहित्य का सम्यक बोध हो गया। बचपन में इन्हें खेलकूद बहुत प्रिय था परन्तु इनके खेल साधारण प्राकृतिक बालकों की भाँति नहीं होते थे। ये तो खेल में भी श्रीराम-कृष्ण की ही लीलाओं का अभिनय करते थे। लीलाभिनय काल में इन्हें भावावेश हो जाता था। एक बार ये श्रीरामलीला में श्रीलक्ष्मण शक्ति का अभिनय कर रहे थे। स्वयं लक्ष्मण बने हुये थे। मेघनाथ की शक्ति लगने से बेहोश होकर पृथ्वी पर पड़े हुये थे। एक बालक हनुमान बना हुआ संजीवनी लाने के लिये भेजा गया परन्तु वह बालक अबोध था। अतः अपना लीलाभिनय भूलकर घर चला गया। जब बहुत देर होने लगी तो लोग इन्हें जगाने लगे परन्तु ये तो सचमुच मूर्च्छित थे, जगें तो कैसे जगें। अनुभवी लोगों ने इनकी नाड़ी देखी तो वह बहुत मन्द-मन्द चल रही थी। तब तो समाज में बड़ी खलबली पड़ी। इनके माता-पिता भी इनकी मूर्च्छा सुनकर दौड़े आये और इनकी दशा देखकर माथा पीट-पीटकर रोने लगे। इतने में जो बालक श्रीरामजी का अभिनय करते हुए अपनी गोद में इनका सिर लेकर रुदन कर रहा था, उसे याद आई कि हनुमान संजीवनी लेकर नहीं आये। फिर तो तत्काल श्रीहनुमानजी का अभिनय करने वाले बालक को बुलाया गया। वह संजीवनी लेकर आया, इन्हें संजीवनी सुंघाई गई, ये तुरन्त उठ बैठे। अपने अलौकिक रूप एवं गुणों से अपने पिता-माता को अत्यन्त प्रिय थे।

एक बार इनके घर पर 'श्रीशङ्करारण्य नाम के संन्यासी आये। (वस्तुतः ये श्रीगौरांग महाप्रभुजी के ज्येष्ठ भ्राता श्रीविश्वरूपजी थे, संन्यास लेने पर उनका श्रीशंकरारण्य नाम पड़ा था) पण्डित हाड़ाई ओझा जी बड़े साधुसेवी थे। अतः इन्होंने इन नवागत संन्यासी जी की खूब सेवा की। कई दिन तक वहाँ रहने के अनन्तर जब संन्यासीजी जाने लगे तो उन्होंने पण्डित हाड़ाई ओझा से एकान्त में कहा कि मैं सभी तीर्थों की यात्रा करना

चाहता हूँ। इसके लिये मुझे एक साथी की आवश्यकता है। आपका यह पुत्र नित्यानन्द मुझे बड़ा होनहार लग रहा है, अतः आप अपने इस पुत्र को मुझे दे दो। इससे इसका भी कल्याण होगा और मेरा भी काम बन जायेगा। यह सुनकर श्रीहाड़ाईजी की वही दशा हुई जो दशा श्रीदशरथजी की श्रीविश्वामित्रजी के द्वारा श्रीराम-लक्ष्मण को माँगने पर हुई थी। परन्तु श्रीदशरथजी ने भी जैसे धैर्य धारण करके अपने प्राणप्रिय पुत्रों को मुनि विश्वामित्र जी के हाथ सौंप दिया था, उसी प्रकार श्रीहाड़ाई ओझा ने भी अपनी धर्मपत्नी से परामर्श करके अपने प्राणप्रिय पुत्र श्रीनित्यानन्द को संन्यासीजी के कर-कमलों में सौंप दिया। श्रीशंकरारण्यजी ने इनको साथ लेकर भारत के सभी तीर्थों का परिभ्रमण किया। इसी यात्रा के सिलसिले में इनका श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजी से साक्षात्कार हुआ। उनसे इन्होंने श्रीकृष्णभक्ति की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। एक दिन श्रीशंकरारण्यजी ने श्रीनित्यानन्दजी को अपने से अभिन्न समझकर आलिङ्गन के व्याज से अपने स्वरूपको श्रीनित्यानन्दजी के स्वरूप में लीन कर दिया। (वस्तुतस्तु श्रीविश्वरूपजी एवं श्रीनित्यानन्दजी-दोनों ही श्रीबलरामजी के अवतार थे। अतः दोनों रूप एक हो गये) इसके बाद तो श्रीनित्यानन्दजी की दशा और ही हो गई। ये हमेशा प्रेमोन्मद में मत्त रहने लगे।

प्रेमोन्माद में उन्मत्त भये श्रीनित्यानन्दजी श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते श्रीवृन्दावन आये। ये सर्वत्र 'कन्हैया भैया', कन्हैया भैया' पुकारते हुए पागल की भाँति अपने चितचोर को खोज रहे थे। भगवद्दिच्छा से इन्हें श्रीईश्वरपुरीजी मिल गये। उन्होंने बताया कि तुम्हारे श्रीकृष्ण तो इस समय नवद्वीप में प्रकट होकर परम प्रेममय लीला विनोद कर रहे हैं। तुम यहाँ क्यों भटक रहे हो, वहीं जाओ। फिर तो ये तुरन्त नवद्वीप के लिये प्रस्थान कर दिये। नवद्वीप पहुँचकर श्रीनित्यानन्दजी परम भागवत श्रीनन्दनाचार्यजी के घर रुके। उधर श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से इनका नदिया में शुभागमन जानकर अपने प्रिय पार्षद पण्डित श्रीनिवासजी एवं श्रीहरिदासजी को इनका पता लगाने के लिये भेजा। परन्तु सारा दिन खोज-बीन करने पर भी कहीं पता नहीं चला। अन्ततोगत्वा निराश होकर दोनों महानुभाव लौट आये। तब श्रीमहाप्रभुजी स्वयं इनकी खोज में चले। पीछे-पीछे समस्त परिकर चल रहा था। श्रीमहाप्रभुजी सीधे श्रीनन्दनाचार्य जी के घर गये और उनके आँगन में पद्मासन से विराजमान एक परम तेजोमय महापुरुष का दर्शन किये। सबने विनयावनत होकर उस महापुरुष के श्रीचरण-कमलों में सादर वन्दन किया। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी निर्निमेष दृष्टि से इन महापुरुष की ओर और महापुरुष भी अपलक नेत्रों से श्रीमहाप्रभुजी की ओर देख रहे थे। पाठक समझ गये होंगे, ये महापुरुष श्रीनित्यानन्दजी ही हैं।

श्रीनित्यानन्दजी के प्रेम को प्रकाशित करने की इच्छा से श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीवासपण्डित से श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के 'बर्हापीडं नटवर वपुः'-श्लोक को उच्च स्वर से गायन करने को कहा। इस श्लोक को सुनते ही श्रीनित्यानन्दजी हुंकार मारकर मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। श्रीमहाप्रभुजी के संकेत पर श्रीवास जी ने पुनः-पुनः इस श्लोक का गायन किया। श्रीनित्यानन्दजी की मूर्च्छा भङ्ग हुई तो प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें अपनी गोद में ले लिया। जब ये कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो श्रीमहाप्रभुजी ने अत्यन्त दीनतापूर्वक कहा-श्रीपाद! आज आपका दर्शन करके हम लोग धन्य हुए। आपकी यह अहैतुकी कृपा ही हम दीनजनों के लिये परम सम्बल है। निश्चय ही आज हम लोगों के किसी महान पुण्य का उदय हुआ है। श्रीमहाप्रभुजी के इन अमृतमय वचनों को सुनकर श्रीनित्यानन्दजी का हृदय प्रेम से उमड़ पड़ा और आप अनुराग विह्वल होकर गद्‌गद वाणी से कहने लगे-अहो! जिनके लिये मैंने सारा संसार छान डाला, वे श्रीकृष्ण आज कृपा करके मुझे स्वयं ही दर्शन दिये। अब मुझे विश्वास हो गया कि निश्चय ही परम दयालु श्रीकृष्ण ने जैसे कृपा कर दर्शन दिया है, वैसे ही मुझ दीन को अपनी शरण में भी रखेंगे। भक्तजन इन उभय महाभूतियों का प्रेम मिलन देखकर एवं भावमय वार्तालाप सुनकर आत्मविभोर हो रहे थे। फिर श्रीवास पण्डित के घर आकर सब लोगों ने श्रीनित्यानन्दजी के शुभागमन के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाया, जिसमें श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीनित्यानंदजी का हाथ पकड़कर महान् उद्दाम नृत्य किया। उस दिन भक्तों ने कीर्तन में अलौकिक आनन्द का अनुभव किया। श्रीनित्यानन्दजी के लिए श्रीवासजी के घर ही रहने की व्यवस्था की गई। फिर महाप्रभुजी इनको लेकर श्रीशचीमाताजी के पास पहुँचे और बोले-मैया! देख, तेरा विश्वरूप लौट आया, जिसके लिए तू रात-दिन रोया करती है। सचमुच श्रीशचीमाता ने इनमें विश्वरूप की ही अनुभूति की और अन्त तक इसी भाव से प्यार करती रहीं।

व्यासपूर्णिमा के दिन श्रीव्यास पूजा का उत्सव श्रीवास पण्डित के घर मनाया गया। सबने श्रीव्यासजी की पूजा की परन्तु श्रीनित्यानन्दजी ने तो अपने सर्वस्व श्रीगौरांग महाप्रभु में ही श्रीव्यासजी का दर्शन किया और उन्हीं की पूजा की। उस समय श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें अपने षडभुज स्वरूप का दर्शन कराया था। चार हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म थे और दो हाथों में थे हल और मूसल। पूजनोपरांत श्रीहरिनाम संकीर्तन करके सबने प्रसाद लिया और सानन्द अपने-अपने घर गये। श्रीनित्यानन्दजी पण्डित श्रीवास जी के घर रहते। इनकी समस्त चेष्टाएें बालकों की सी होतीं। श्रीवास एवं उनकी पत्नी मालिनीदेवी भी

इनके प्रति वात्सल्य स्नेह रखती। श्रीमालिनीदेवी अपने हाथ से इन्हें भोजन करातीं। ये भी कभी-कभी उनकी गोद में बैठकर उनके स्तनों को अपने मुँह में डालकर बालकों की भाँति पीने लगते। कभी-कभी खाते-खाते बीच में ही उठ जाते और दाल-भात अपने सारे शरीर में लपेटकर भाग जाते। ऐसे ही अनेक चरित्र करते। एक दिन श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीवासजी की प्रेम परीक्षा लेने के लिये उनसे एकान्त में कहा-पण्डितजी! श्रीनित्यानन्दजी का कुल-गोत्र कुछ मालूम नहीं है, आचरण भी इनका अवधूतों का सा है, अतः इनको घर में रखना उचित नही है। श्रीवासजी ने हाथ जोड़कर दृढ़ता के स्वर में कहा-प्रभो! आपके वचनों का रहस्य तो हम समझने में असमर्थ हैं, परन्तु इतना हम खूब जानते हैं कि श्रीनित्यानन्दजी आपके अभिन्न विग्रह अत्यन्त प्रिय हैं। अतः वे यदि शराब पीकर अगम्यागमन भी करें और मुझे धर्म से भ्रष्ट भी कर दें तो भी उनके प्रति मेरे मन में अभाव नहीं हो सकता। श्रीवासजी के इन वचनों को सुनकर श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले-आपने श्रीनित्यानन्द तत्व को समझ लिया है, आपकी इस निष्ठा से मैं आपका क्रीत दास हो गया।

एक दिन श्रीमहाप्रभुजी श्रीनित्यानन्दजी को अपने घर भोजन कराने के लिये लिवा ले गये। श्रीशची माता ने अनेक व्यंजन बनाये। श्रीनिताई और निमाई को अपने हाथ से परोस कर भोजन कराते हुए माता शची को वैसा ही आनन्दानुभव हो रहा था जैसे श्रीकृष्ण-बलराम को भोजन कराते समय माता यशोदा आनंदित होती थीं। श्रीनित्यानन्दजी ने वहाँ भी श्रीमहाप्रभुजी के लाख मना करने पर भी बहुत चंचलता की। खाते-खाते दोनों आपस में उलझ गये। श्रीनित्यानन्दजी, श्रीमहाप्रभुजी के थाल का प्रसाद मुट्ठी में भरकर खाना चाहते थे, श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें रोकने की चेष्टा कर रहे थे। अंत में इन्होंने प्रसाद पा ही लिया। माता शची इनका बाल विनोद देखकर बहुत ही प्रसन्न हुईं। एक दिन तो श्रीनित्यानन्दजी नङ्ग-धड़ङ्ग होकर श्रीमहाप्रभुजी के घर पहुँचे। उस समय इनकी अद्भुत स्थिति हो रही थी। हुंकारते हुए ताण्डव नृत्य कर रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी इनकी महाभाव दशा को पहचानकर सभी भक्तों को बुलाकर दर्शन कराया एवं इनकी चरण-पूजा कर सबको चरणामृत दिया। तथा स्वयं भी पान करते हुए बोले-श्रीपाद चरणामृत पान से आज हम धन्य हुए हैं। फिर होश आने पर इन्होंने शची माता से भोजन माँगा। शची माता ने इन्हें खाने को मिठाई दी। ऐसे ही नित्यप्रति अनेकों लीलाएं होती रहतीं।

श्रीमहाप्रभुजी ने नवद्वीप में घर-घर में श्रीहरिनाम-प्रचार का कार्य इन्हें और श्रीहरिदासजी को सौंपा था। इनके प्रचार के प्रभाव से यत्र-तत्र-सर्वत्र आबाल वृद्ध नर-नारी

सभी लोग नाम-ध्वनि में मग्न दिखाई पड़ने लगे। महाक्रूर कर्मा, पापाचार की पराकाष्ठा जगाई (जगन्नाथ) और मधाई (माधव को भी भक्तिदान देकर श्रीनित्यानन्दजी ने अपने अगतिन गति दायन विरदको चरितार्थ किया। जगाई और मधाई नबाब की ओर से नदिया के कोतवाल नियुक्त किये गये थे। वे जाति के तो ब्राह्मण थे परन्तु अपने अत्याचार से हिरण्यकशिपु, रावण और कंस को भी मात कर रहे थे। जगत उनको अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखता था। परन्तु श्रीनित्यानन्दजी को उन पर दया आई। आपका मन उनके उद्धार के लिये आकुल हो उठा। फिर तो एक दिन रात्रि के समय आप उनके उद्धार का शुभ संकल्प कर उधर से ही निकले, जिधर इन नर-राक्षसों का पड़ाव पड़ा हुआ था। इन्हें देखकर उन दुष्टों ने टोका-तुम कौन हो? कहाँ जा रहे हो? इन्होंने मधुर स्वर से कहा-भैया! मुझे पूछकर क्या करोगे, मैं तो अवधूत हूँ, तुम लोग तो-'श्रीकृष्ण कहो, कृष्ण भजो, लेहु कृष्णनाम। कृष्ण माता कृष्ण पिता कृष्ण धन प्राण।।' यह सुनकर मधाई चिढ़ गया और उस दुष्ट ने पास में पड़े हुए एक घड़े के टुकड़े को उठाकर श्रीनित्यानन्दजी के सिर में जोर से मारा। मस्तक से रक्त की धार बह चली। सारा शरीर खून से भीग गया। इतने पर भी ये उनके ऊपर दया करके रो-रोकर प्रभु से प्रार्थना करने लगे-'दयामय प्रभो! अब तो इनका उद्धार करो। मुझे अपनी चोट की किंचित परवाह नहीं है। इन ब्राह्मणकुमारों की दुर्दशा देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। नाथ! शीघ्र इनका कल्याण करो।' इनकी इस करुण-प्रार्थना को सुनकर मधाई चिढ़कर पुनः मारने ही वाला था कि जगाई ने उसे रोक दिया।

किसी ने यह वृत्तान्त जाकर श्रीमहाप्रभुजी को सुना दिया। श्रीमहाप्रभुजी तत्काल घटनास्थल पर पहुँचे। श्रीनित्यानन्दजी के सिर से बहते हुए रक्त प्रवाह को देखकर श्रीमहाप्रभुजी का खून खौलने लगा। वे क्रोधाभिभूत होकर दुष्टों का संहार करने के लिये हुंकार मारते हुए चक्र सुदर्शन का आवाहन करने लगे। श्रीचक्र सुदर्शन को आकाश से नीचे उतरते देखकर तथा श्रीमहाप्रभुजी को अत्यन्त क्रोधाविष्ट देखकर श्रीनित्यानन्दजी श्रीचक्रजी को आकाश में ही रुके रहने की प्रार्थना करके श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरण-कमलों में पड़कर दीन भाव से प्रार्थना करने लगे-प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं? आप अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करिये। आपने तो कहा था कि मैं पापियों का नहीं पाप का संहार करूँगा, पापियों पर तो दया ही करूँगा। फिर आज इन पर कोप क्यों? श्रीगौर दया के मुख्य पात्र तो ये ही हैं। फिर प्रभो! जगाई ने तो मेरी रक्षा ही की है, इसने मधाई को दूसरी बार प्रहार करने से रोका है। यह तो आपकी कृपा का परम अधिकारी हो चुका है। इतना सुनना था कि श्रीमहाप्रभुजी

का सारा क्रोध विलुप्त हो गया। वे तत्काल जगाई को हृदय से लगा लिये। प्रभु का प्रेमालिङ्गन पाते ही जगाई मूर्च्छित हो गया। उसके जन्म-जन्म के पाप क्षणमात्र में नष्ट हो गये। वह प्रभु के चरणों में पड़कर फूट-फूटकर रोने लगा।

भाई की यह दशा देखकर मधाई की आत्म-ग्लानि का ठिकाना नहीं रहा। वह आँखों में आँसू भरकर गद्गद कण्ठ से कहने लगा-प्रभो! हम दोनों भाईयों ने समान पाप किया है, अतः हम दोनों पर समान कृपा कीजिये। हम दोनों को अपनाइये, दोनों की रक्षा कीजिये। यह कहकर मधाई भी प्रभु चरणों में पड़ गया। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी का मधाई के प्रति रोष अभी शान्त नहीं हुआ था। वे मेघ के समान गम्भीर वाणी में बोले-मधाई! तूने मेरा अपराध किया होता तो मैंने कब का तुम्हें क्षमा कर दिया होता, परन्तु तूने श्रीपाद नित्यानन्दजी का अपराध किया है। यदि वे तुम्हें क्षमा कर दें तो तू भले मेरा अनुग्रह भाजन हो सकता है। अन्यथा तेरा कल्याण असम्भव है। यह सुनकर मधाई श्रीनित्यानन्दजी के चरणों में जा पड़ा। उसके आँसुओं से वहाँ की पृथ्वी भीग गई। लोग विस्मित थे इस कल्पनातीत दृश्य को देखकर। परन्तु सबसे अधिक आश्चर्य तो लोगों को उस समय हुआ जब श्रीनित्यानन्दजी मधाई के ऊपर अनुग्रह की वर्षा करते हुए श्रीमहाप्रभुजी से बोले-प्रभो! मैं सत्य कहता हूँ, इन दोनों भाईयों के प्रति मेरे मन में किञ्चित् मात्र भी द्वेष नहीं है। यदि मैंने जन्म-जन्मान्तरों में कुछ भी सुकृत किया है तो वह आज मैं इन दोनों भाइयों को प्रदान करता हूँ। इतना सुनते ही श्रीमहाप्रभुजी ने मधाई को भी हृदय से लगा लिया। श्रीमहाप्रभुजी की भक्तवत्सलता, श्रीनित्यानन्दजी की करुणा एवं जगाई-मधाई का पश्चात्ताप लोगों को मंत्रमुग्ध कर रहा था। अन्ततोगत्वा अपने पैरों पर पड़े दोनों भाईयों को श्रीमहाप्रभुजी ने उठाया और भक्तों को सङ्कीर्तन करने की आज्ञा दी।

दो ही घड़ी पहले लोग जिन्हें पापरूप कहते थे, उन्हीं जगाई-मधाई को अश्रुपूरित-नेत्र, गद्गद कण्ठ से हाथ उठाकर कीर्तन करते हुये देखकर सबने इसे कृपा का चमत्कार माना। कीर्तन के अनन्तर सब लोग श्रीमहाप्रभुजी के घर पहुँचे। जब सभी भक्त यथास्थान अपने-अपने आसन पर बैठ गये तो श्रीमहाप्रभुजी ने जगाई-मधाई को संबोधित करके कहा-भाइयो! तुम लागों पर श्रीपाद श्रीनित्यानंदजी की कृपा हो गई है, अतः तुम लोग अपने उद्धार के लिये सब शोक मोह छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ। यह सुनकर दोनों भाई फफककर रो पड़े और अत्यन्त कातर स्वर में बोले-प्रभो! वेदों में वर्णित आपका पतित-पावन, अधम उद्धारण नाम तो आज ही चरितार्थ हुआ है प्रभो! हम तो आपकी कृपा से दबे जा रहे हैं। श्रीमहाप्रभुजी

ने उन्हें समस्त भक्तों की पद-वन्दना एवं उनकी चरणधूलि सिर पर धारण करने का आदेश दिया।जगाई-मधाई ने पृथक्-पृथक् सबकी वन्दना की और उनकी चरणरज सिर पर धारण की। सबने उन्हें भक्ति का आशीर्वाद दिया। तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी ने उनके चित्त को शान्ति प्रदान करने के लिये एक और लीला की। यद्यपि उस समय रात्रि हो चली थी परन्तु गर्मी का समय था अतः श्रीमहाप्रभुजी ने सबको गङ्गा स्नान के लिये चलने का आदेश दिया।फिर क्या था नगर के सहस्त्रों-सहस्त्रों लोग कीर्तन करते हुये स्नानार्थ चल पड़े। अद्भुत दृश्य था वह। जो जैसहिं तैसहिं उठि धावहि। बाल वृद्ध कहँ सङ्ग न लावहिं।। (रामा०) गङ्गा की धारा में पहुँचकर श्रीमहाप्रभुजी ने जगाई-मधाई से कहा- तुम दोनों हाथों में गङ्गाजल लेकर अपने समस्त पाप आज मुझे संकल्प कर दो। यह सुनकर दोनों भाई श्रीमहाप्रभुजी के चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे। उनकी हिचकियाँ बँध गईं। वे अत्यन्त कातर स्वर में बोले-प्रभो! हम पामर इतनी कृपा को सहन नहीं कर सकेंगे। संसार हमें थूकेगा कि जिनके चरणों में तुलसी-पुष्प चढ़ाना चाहिये उनको इन्होंने अपने पाप-पुञ्ज अर्पण किये। अतः प्रभो! हमसे यह काम तो नहीं हो सकता है।

जब श्रीनित्यानंदजी ने उन्हें श्रीमहाप्रभुजी की महा-महिमा समझाई तब वे जैसे-तैसे पाप-संकल्प करने को उद्यत हुए। उन्होंने रोते-रोते अपने पाप प्रभु को समर्पण किये। करुणा का कैसा लोकोत्तर अपूर्व आदर्श है। श्रीमहाप्रभुजी ने सहर्ष हाथ फैलाकर उनके पापों को स्वीकार किया और बोले-आज से तुम लोग परम वैष्णव हो गये। अब तुम लोग सर्वथा निष्पाप हो। आज से जो भी तुम लोगों को पापी कहकर तिरस्कार करेगा, वा मन में भी तुम्हारे प्रति घृणा का भाव रखेगा, वह वैष्णव-द्रोही समझा जायेगा। यह कहकर प्रभु ने उन्हें पुनः गले से लगा लिया। कहते हैं कि बहुत से अन्तरङ्ग परिकरों ने अनुभव किया कि पाप को ग्रहण करते ही श्रीमहाप्रभुजी का गौरवर्ण किंचित श्याम -सा प्रतीत होने लगा था। पुनः पूर्ववत् हो गया। ऐसे पापराशि थे वे। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी की असीम अहैतु की करुणा ने उनका भी उद्धार कर दिया। दोनों भाई जगाई-मधाई का शेष जीवन बड़ा ही भक्तिमय रहा। मधाई तो श्रीनित्यानन्दजी के आदेश से श्रीगंगाजी का एक सुन्दर घाट बनवाकर वहीं झोंपड़ी डालकर रहने लगा। वहाँ जो भी स्नान करने आता, वह सबकी चरण वन्दना करता, अपने अपराधों के लिये क्षमा-याचना करता और निरन्तर नाम रटता था। नवद्वीप में 'मधाई-घाट' आज भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार श्रीनित्यानन्दजी ने अनेकों अधमों का उद्धार किया। जब श्रीमहाप्रभुजी श्रीजगन्नाथपुरी में निवास करने लगे तो गौड़देश में नाम-प्रचार का कार्य

श्रीनित्यानन्दजी को ही सौंपे थे। आगे चलकर श्रीनित्यानन्दजी ने श्रीमहाप्रभुजी के आदेश से विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम को स्वीकार किया। आपके श्रीवसुधा एवं जाह्नवी नाम की दो पत्नियाँ थीं। श्रीवसुधाजी के गर्भ से श्रीवीरचन्द्र नाम के एक सुपुत्र हुए, जो आगे चलकर वैष्णवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये।।

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुजी

गोपिन के अनुराग आगै आप हारे श्याम जान्यो यह लाल रंग कैसे आवै तन में।
ये तौ सब गौर तनी नख सिख बनी ठनी खुल्यौ यो सुरंग अंग अंग रंगे बन में।।
श्यामताई माँझ सों ललाई हूं समाई जोही ताते मेरे जान फिरि आई यहै मन में।
'जसुमति सुत' सोई 'शची सुत' गौर भये नये नये नेह चोज नाचैं निज गन में।।३३०

शब्दार्थ-**गौर तनी = गौर शरीर वाली। बनी ठनी = वेष भूषा से सुसज्जित। नेह चोज = प्रेमके अनोखे भाव।**

भावार्थ-**श्रीब्रजगोपियों के अपार प्रेम के आगे भगवान श्यामसुन्दर हार गये। तब आपने विचार किया कि इनका यह प्रेम का लालरङ्ग मेरे शरीर में भी किस प्रकार आवेगा? ये सब तो गौर वर्ण शरीर वाली है, उस पर भी नख से लेकर शिखापर्यन्त श्रृङ्गार से सजी-धजी रहती हैं, अतः इनके शरीर में तो अंग-अंग में प्रेम रंग खूब खिलता है। फिर उनके उस प्रेम को प्राप्त करने के लिये श्रीश्यामसुन्दर ने उनको सङ्ग लेकर श्रीवृन्दावन में खूब बिहार किया। इससे उनके प्रेम की ललिमा श्रीश्यामसुन्दर के श्रीअंग की श्यामलता में समा तो गई परन्तु आपने गौर से देखा तो श्यामलता में प्रेम की ललिमा ठीक से उभरी नहीं दिखाई दी। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मेरी समझ में तो ऐसा आता है कि तब श्रीश्यामसुन्दरजी के मन में यह आया कि अब मैं भी गौरकान्ति को धारण करूँ तब यह प्रेमरङ्ग उभर सकता है अतः वही श्रीयशोदानंदन श्रीकृष्णचन्द्र ही श्री शचीनन्दन श्रीगौरचन्द्र के रूप में प्रकट हुए और अपने भक्तगणों के बीच में नृत्य करते हुए प्रेम के नये-नये अनोखे भावों को दिखलाये।।३३०।।**

व्याख्या-**गोपियनके अनुराग आगे आप हारे श्याम-श्रीमद्भागवतजी में वर्णन आया है कि महारास में अन्तर्धान होने के अनन्तर जब गोपियों की विरह व्याकुलता को देखकर भगवान श्रीश्यामसुन्दर पुनः उनके बीच में प्रकट हो गये। तब गोपियों ने अपने प्राण-प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर का जी भरकर दर्शन करके अपने विरह संतप्त नेत्रों एवं हृदय को**

शीतल करने के बाद प्यारे के बैठने के लिये अपनी-अपनी ओढ़नी बिछा दी। जब श्रीश्यामसुन्दर सुखपूर्वक विराजमान हो गये। तब गोपियाँ उनसे कहने लगीं-

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांच भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः।। (१०।३२।१६)

अर्थ-प्यारे! (हम आपसे एक बात पूछती हैं-) कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो प्रेम करने वालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं परन्तु कोई-कोई दोनों से ही प्रेम नहीं करते हैं। प्यारे! इन तीनों में तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है। श्रीकृष्ण ने कहा-मिथोभजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते। न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धिनान्यथा।। भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा। धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः।। भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः। आत्मारामा ह्याप्तकामा। अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।। (भा० १०।३२।१७, १८, १९)अर्थ-'मेरी प्रिय सखियो! जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं उनका तो सारा उद्योग स्वार्थ को लेकर है। लेन-देन मात्र है। न तो उनमें सौहार्द है न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थ के लिये ही है। इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है। सुन्दरियो! जो लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं-जैसे स्वभाव से ही करुणाशील, सज्जन और माता-पिता उनका हृदय सौहार्द, हितैषिता से भरा रहता है। और सच पूछो तो उनके व्यवहार में निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रेम करने वालों से भी प्रेम नहीं करते हैं, प्रेम न करने वालों का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो अपने स्वरूप में मस्त रहते हैं, जिनकी दृष्टि में द्वैत नाम की कोई चीज है ही नहीं। दूसरे वे, जिन्हें द्वैत भासता तो है, परन्तु जो कृत-कृत्य हो चुके हैं, उनका किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है और चौथे वे हैं जो जान-बूझकर अपना हित करने वाले परोपकारी गुरु-तुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते हैं। गोपियों ने पूछा-प्यारे! इन चारों में से आप कौन हैं, जो हम भजने वाली गोपियों को भी छोड़कर जहाँ तहाँ चले जाते हों, तड़पाते रहते हों।

गोपियों की प्रेमभरी खीझ का आस्वादन करने के लिये श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर कहा-सखियो! तुम सब भी तो समझदार हो, तुम्हीं बताओ, इन चारों में से हम कौन हो सकते हैं? गोपियों ने कहा-प्यारे! आप आत्माराम तो नहीं हो सकते हो, क्योंकि आप

हम गोपियों के साथ रमण करते हो। यथा-नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालुकम्। रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना।। (भा० १०।२९।४५) अर्थ-इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ पावन पुलिन पर, जो कर्पूर के समान चमकीली बालू से जगमगा रहा था, पदार्पण किया वह यमुनाजी की तरल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल और कुमुदिनी की सहज सुगन्ध से सुवासित वायु द्वारा सेवित हो रहा था। उस आनन्दप्रद पुलिन पर भगवान ने गोपियों के साथ क्रीड़ा की। पुनः आप आप्तकाम भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि आप सदा हम लोगों के साथ रमण की अभिलाषा करते हैं। यथा-भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।। (भा० १०।२९।१) अर्थ-शरद ऋतु थी। उसके कारण बेला-चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर महँ-महँ महक रहे थे। भगवान ने चीरहरण के समय जिन रात्रियों का संकेत किया था, वे सबकी सब पुंजीभूत होकर एक ही रात्रि के रूप में उल्लसित हो रही थीं। भगवान ने उन्हें देखा, देखकर दिव्य बनाया। गोपियाँ तो चाहती ही थीं, अब भगवान ने भी अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के सहारे उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रासक्रीड़ा करने की इच्छा की। प्यारे! हमें तो आप तीसरे और चौथे प्रकार के ही प्रतीत होते हो। क्योंकि हम गोपियाँ तो सर्वस्व परित्याग पूर्वक आपको भजती हैं और आप हमारी किंचित् परवाह ही नहीं करते हो।

यथा-अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः। अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्।। (भा० १०।३०।१) अर्थ-भगवान सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर व्रजयुवतियों की वैसी ही दशा हो गई जैसे यूथपति गजराज के बिना हथिनियों की होती है। उनका हृदय विरह ज्वाला से जलने लगा। अतः हम असंदिग्ध रूप में कह सकती हैं कि आप अकृतज्ञ हैं। पुनः हम सब हमेशा आपका हित करने में तत्पर रहती हैं और आपने भी अपने श्रीमुख से इस बात को स्वीकार किया है कि गोपियाँ हमारी परमहितू हैं, सर्वस्व स्वरूपा हैं। यथा-सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्याबान्धवाः स्त्रियः। सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न।। अर्थ-हे अर्जुन! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, गोपियाँ हमारी सहायक, गुरु, शिष्य, दासी, बन्धु एवं स्त्री-सभी प्रकार से हित करने वाली हैं। वे हमारी क्या नहीं हैं? अर्थात् सब कुछ हैं। फिर भी आप हम लोगों को तड़पाने में कसर नहीं रखते हैं। यथा-इतिगोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा। रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसः।। (भा० १०।३२।१) अर्थ-हे राजन्! भगवान की प्यारी गोपियाँ विरह

के आवेश में इस प्रकार भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने कृष्ण प्यारे के दर्शन की लालसा से वे अपने को रोक नहीं सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वर से फूट-फूटकर रोने लगीं। यह आपका गुरु-द्रोह ही तो है अतः हम तो आपको अकृतज्ञ एवं गुरुद्रोही ही मानती हैं।

दृष्टान्त-(यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि गोपियों के साथ रमण करने से वा रमण की अभिलाषा करने से श्रीकृष्ण का आत्मारामत्व एवं आप्तकामत्व बाधित नहीं होता है। क्योंकि गोपियाँ श्रीकृष्ण की आत्मा ही हैं और गोपियों ने जो श्रीकृष्ण को अकृतज्ञ एवं गुरुद्रोही कहा है, वह केवल खीझ भरा उपालम्भ मात्र है। वस्तुतस्तु श्रीभगवान तो परम कृतज्ञ हैं एवं परम गुरुभक्त हैं। जैसे श्रीकृष्ण प्रेमवर्धन के लिये अन्तर्धान हुये थे वैसे ही गोपियाँ भी रसबर्द्धन के लिये ही अटपटे वचन कह रही हैं। तथ्य तो यह है कि न भगवान में ये दोष हैं न गोपियों का अभाव है। जैसा कि आगे के श्रीकृष्ण कथन से सिद्ध होता है।)

गोपियों के इन वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण डर गये कि इन सबों ने तो हमारे सारे सुयश पर ही पानी फेर दिया। यदि इनकी यह बात कायम रह गई तो हमारा कोई नाम भी नहीं लेगा। अतः श्रीकृष्ण बड़ी मृदुलतापूर्वक अपने अन्तर्धान होने का हेतु स्पष्ट करते हुए अपने ऊपर दोषारोपण न करने की प्रार्थना करते हैं और सदा-सदा के लिये अपने को गोपियों का ऋणी घोषित करते हैं। यथा-नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषानुवृत्तिवृत्तये। यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद।। एवं मदर्थोज्झितलोकवेद स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः। मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः।। न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं बिबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेह श्रृङ्खलाः सम्वृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।। (भा० १०।३२।२०, २१, २२) अर्थ-गोपियों! मैं तो प्रेम करने वालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिए। मैं ऐसा केवल इसलिए करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे , निरन्तर लगी ही रहे। जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिन्ता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ। गोपियों! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगों ने मेरे लिए लोक-मर्यादा, वेदमार्ग, अपने सगे-सम्बन्धियों को भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य-सुहाग की चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे-इसलिए परोक्षरूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ भी मैं छिप गया था। इसलिए तुम लोग मेरे

प्रेम में दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम लोगों का प्यारा हूँ। मेरी प्यारी गोपियों! तुमने मेरे लिए घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी यति भी नहीं तोड़ पाते हैं। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से अमर जीवन से अनन्तकाल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो, मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

जिस प्रकार ऋणी जब महाजन का ऋण देने में असमर्थ हो जाता है तो वह महाजन से प्रार्थना करता है कि आप कृपा करके मुझे मुक्त कर दीजिये, नहीं तो मेरा परलोक बिगड़ जायेगा। तब यदि महाजन साधु स्वभाव का हुआ तो ऋणी की वास्तविक स्थिति समझकर उसके ऋणपत्र पर लाल स्याही फेर देता है और अपनी बही से उस पन्ने को निकाल देता है तथा ऋणी की पीठ ठोंक देता है। तब वह ऋणी भी उस फटे हुए बही के पन्ने को लेकर, सिर पर रखकर उस महाजन का गली-गली में गुण गाता फिरता है, उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण भी गौरांग रूप धारण करके गोपियों के गुण गली-गली में गाते फिरते थे। इस अवतार में गोपी-प्रेम का परमोत्कर्ष गाया गया है।

इस प्रकार भगवान श्यामसुन्दर ने गोपियों के प्रेम के समक्ष हार मानी है। गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३९४, ब्रजनारि (प्रेमस्वरूपा ब्रजगोपियों का) प्रसङ्ग। 'जसुमति' सोई 'शचीसुत' गौरभये-श्रीकृष्ण ने ही श्रीकृष्णचैतन्य रूप में अवतार लिया है। इसका हेतु निरूपण करते हुए श्रीप्रियादासजी इस कवित्त में कहते हैं कि गोपियों के प्रेम को देखकर श्रीकृष्ण का मन ललचाया। अतः उसको प्राप्त करने के लिये वे गोपियों के साथ श्रीवृन्दावन में नित्यविहार किये। फलस्वरूप प्रेम की प्राप्ति तो हुई अवश्य परन्तु जैसे श्यामरङ्ग में अन्य रङ्गों की रङ्गत नहीं व्यक्त हो पाती है, उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के श्याम शरीर में गोपी प्रेम का प्रकाश नहीं हो पाया। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय श्रीकृष्ण स्वयं भगवान थे, प्रेष्ठ थे, प्रेमास्पद थे, अतः प्रेमियों के, गोपियों के श्रीराधा के भाव को, प्रेम को नहीं प्रकाशित कर सके। जैसे कोई बादशाह फकीरी का आनन्द लेना चाहे तो वह सिंहासन पर बैठकर बादशाहत करते हुए नहीं ले सकता है, इसके लिये तो फकीर बनना पड़ेगा। उसी प्रकार भक्तों के भाव का रसास्वादन बिना भक्त बने नहीं प्राप्त हो सकता, अतः श्रीकृष्ण ने श्रीकृष्णचैतन्य रूप में अवतार लिया।

श्रीस्वरूप गोस्वामीजी श्रीचैतन्यावतार का हेतु वर्णन करते हैं कि-श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशं वानयैवास्वाद्यो येनाद्‌भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः। सौख्यं चास्यामदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः।। अर्थ-श्रीराधा के प्रेम की महिमा कैसी है, उस प्रेम के द्वारा श्रीराधा मेरे जिस अद्‌भुत माधुर्य का आस्वादन करती हैं, वह मेरा माधुर्य कैसा है, एवं उस मेरे माधुर्य के आस्वादन से श्रीराधा जिस सुख का अनुभव करती हैं-वह सुख कैसा है-इन समस्त रहस्यों को जानने के लिये श्रीकृष्णचन्द्र राधाभाव से युक्त होकर शची माता के गर्भरूप सिन्धु से चैतन्यचन्द्र के रूप में अवतरित हुए। श्रीरूपगोस्वामीपादजी कहते हैं कि-अनर्पितचरींचिरात् करुणयावतीर्णः कलौ, समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्। हरि पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु व शचीनन्दनः।। अर्थ-अनन्त काल से जिसको प्रदान नहीं किया गया, परम उज्ज्वल रसमयी अपनी उस भक्ति सम्पत्ति को प्रदान करने के लिये जो (भगवान अपनी करुणा से कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं, स्वर्णद्युतिराशिवत् समुद्भासित वे श्रीशचीनन्दन हरि सर्वथा तुम्हारी हृदय कन्दरा में स्फुरित हों। श्रीराधाभाव को हृदय में धारण करके तथा श्रीराधा की अङ्गकान्ति को शरीर में धारण करके अवतार लेने से श्रीकृष्ण श्रीचैतन्यावतार में गौरसुन्दर कहाये अर्थात् गौरकान्तियुक्त हुये।

श्रीमीराबाई जी के एक पद से भी 'जसुमति सुत' सोई 'शचीसुत' गौर भये-इस अवतार रहस्य का स्पष्टीकरण होता है। यथा-अबतौ हरी नाम लौ लागी। सब जगको यह माखन चोरा नाम धर्‍यो वैरागी।। कहँ छोड़ी वह मोहन मुरली कहँ छोड़ी सब गोपी। मूड़ मुड़ाय डोर कटि बांधी माथे मोहन टोपी।। मात जसोमति माखन कारन बांध्यो जाको पांव। श्याम किशोर भये नव गौरा चैतन्य जाको नांव। पीताम्बरको भाव दिखावै कटि कौपीन कसे। श्रीगौरकृष्ण की दासी मीरा रसना कृष्ण बसे।। 'नये नये नेह चोज'-अगले कवित्त में श्रीमहाप्रभुजी की भावदशा का किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है। इस सम्बन्ध में वहीं देखिये। नाचै निज गन में-श्रीकृष्णावतार में गोपियों के साथ नृत्य करते रहे वैसे ही श्रीचैतन्यावतार में अपने पार्षदों के साथ प्रेम विभोर होकर नृत्य करते थे। यथा-रासमण्डल बन्यौ नृत्य नीकी बनी। गौरगोविन्द के नैन अरविन्दसों झरत आनन्द मकरन्द चहुँदिशि घनी।। ताल वश मृदुचरन धरत धरनी हुलसि हस्तके भेद सङ्ग चलति लोयन अनी। पुलक सङ्ग देह सब कम्प भरि थरहरनि परस प्रस्वेद सुरभेद भारी बनी।। निपट अवसन्न जब तबहिं छिति झुकि परत अङ्ग नहिं हलत गत श्वासकी निगमनी। ता

समै जगतमें जीव जेतिक बसत प्रेम आनन्दके होत सबही धनी।। चकृत सब पार्षद शब्द मुखमें मिलत लग गई टकटकी सुख 'मनोहर' भनी।। (श्रीमनोहरदासजी की वाणी)

आवै कभू प्रेम हेमपिण्डवत तन होत कभूं संधिसंधि छूटि अंग बढ़ि जात है।
और एक न्यारीरीति आंसू पिचकारी मानों उभै लालप्यारी भावसागर समात है।।
ईशता बखान करौ सो प्रमान याकों काह? जगन्नाथ क्षेत्र नेत्र निरखिसाक्षात है।
चतुर्भुज षटभुज रूप लै दिखाय दियो, दियो जो अनुपहित बात पात पात है।।३३१

शब्दार्थ-**पिण्ड = गोलमटोल। सन्धि = शरीरके जोड़। न्यारी = लोकसे भिन्न। अनुपहित =अद्भुत सुन्दर प्रेम। पात-पात= पन्ने-पन्ने में, सर्वत्र, सभी लोगों में।**

भावार्थ-**जब कभी प्रेमावेश आता तो श्रीमहाप्रभुजी का शरीर द्रवीभूत होकर अंग-अंग सिमिट कर सोने के पिण्ड के समान हो जाता और कभी-कभी शरीर के जोड़ अपने स्थानों को छोड़कर अलग हट जाते, जिससे सभी अंग बहुत बड़े-बड़े हो जाते। आपकी एक लोक विलक्षण रीति यह भी थी कि आपकी आँखों से ऐसा अश्रुप्रवाह चलता था मानो पिचकारी छूट रही हों। इस प्रकार आप सदैव युगल सरकार श्रीप्रिया-प्रियतमजी के भाव सागर में डूबे रहते थे। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने पूर्व कवित्त में जो श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी की ईश्वरता का वर्णन किया है अर्थात् इनको साक्षात् स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का अवतार कहा है, तो यदि कोई जिज्ञासा करे कि इसका प्रमाण क्या है? तो मैं कहता हूँ कि श्रीजगन्नाथ क्षेत्र में आपकी ईश्वरता साक्षात देखी गई है। आपने अधिकारीजनों को अपना चतुर्भुज-षड्भुज स्वरूप दिखलाया था तथा आपने जो लोकोत्तर प्रेम दान किया वह तो अनेकों ग्रन्थों के पन्ने-पन्ने में है एवं सर्वविदित है।।३३१**

व्याख्या- आवैकभूं प्रेम हेमपिण्डवत तन होत- **यथा-पेटेर भिरत हस्त-पादकूर्मेर आकार। मुखे फेन पुलकाङ्ग नेत्रे अश्रुधार।। अचेतन पड़िआछे येन कुष्माण्डफल। बाहिरे जड़िया अन्तरे आनन्दविह्वल। गाभि सब चौदिके शुङ्खे प्रभुर श्रीअंग। दूर कैले नाहिं छाड़े प्रभुर अंग संग।। (श्री चै० च०) अर्थ-(एक बार श्रीमहाप्रभुजी विरहोन्माद में अर्धरात्रि के समय गम्भीरा मन्दिर से निकलकर भाग चले और श्रीजगन्नाथजी के सिंहद्वार के समीप जाकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उस समय की आपके शरीर की दशा का वर्णन करते हुए कविराज श्रीकृष्णदासजी कहते हैं-) श्रीमहाप्रभुजी के हाथ-पांव पेट के भीतर धँसे हुए थे। उनकी आकृति कछुए की सी बन गई थी। मुख से निरन्तर फेन निकल**

रहा था। उनके अङ्ग पुलकित हो रहे थे, एवं नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित हो रही थी। वे कूष्माण्ड फल की भाँति अचेतन पड़े हुए थे। बाहर से जड़ता प्रतीत हो रही थी किन्तु भीतर ही भीतर वे आनन्द से विह्वल हो रहे थे। गौएँ चारों ओर खड़ी होकर प्रभु के श्रीअङ्ग को सूंघ रही थीं। हटाने पर भी वे गौएँ प्रभु के श्रीअङ्गों का सान्निध्य छोड़ना ही नहीं चाहती थीं। फिर-फिरकर वहीं आ जाती थीं। जब सभी भक्तों ने उच्च स्वर से श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन किया, तब कहीं बहुत देर बाद श्रीमहाप्रभुजी को चेतना आई एवं उनका शरीर भी पूर्ववत् हो गया।

कभूं संधि संधि छूटि अंग बढ़ि जात हैं-**यथा-प्रभुर पड़ि आछे दीर्घ हात पाँच छय अचेतन देह नासाय श्वास नाहिं बय। एक-एक हस्तपद दीर्घ तिन हात। अस्थि ग्रन्थि भिन्न चर्म आछे मात्र तात।। हस्तपद ग्रीवा कटि अस्थि सन्धि यत। यकेक वितस्ति भिन्न हइयाछे। चर्म मात्र उपरे सन्धिर आछे दीर्घ हया। दुखित हइलासभे प्रभुके देखिया।। मुखे लालाफेन प्रभर उत्तान नयन। देखितेइ सब भक्तेर देह छाड़े प्राण।। (श्री चै० च०) अर्थ-(भक्तों ने देखा-) श्रीमहाप्रभुजी मिट्टी में पड़े हुए हैं, और उनका शरीर पांच-छः हाथ लम्बा हो गया है। वे अचेतन अवस्था में पड़े हुए हैं एवं श्वांस का आना-जाना बन्द है। प्रभु के हाथ-पांव तीन-तीन हाथ लम्बे हो गये हैं, उनकी अस्थि-ग्रन्थियाँ भिन्न-भिन्न हो गई हैं। जोड़ों में केवल चमड़ा दिखता है। हाथ, पांव, ग्रीवा और कटि इन अंङ्गों में अस्थियों के जितने जोड़ हैं वे एक-एक बालिस्त दूर हट गये हैं। जोड़ों पर केवल चमड़ा ही चमड़ा दिख रहा है। प्रभु की ऐसी अवस्था देखकर सभी लोग अत्यन्त दुखित हुए। उस समय श्रीप्रभु के मुख से फेन मिश्रित लाल स्राव हो रहा था और उनके नेत्र ऊपर को चढ़े हुए थे।**

आंसू पिचकारी मानो-**यथा-दुइ नेत्र भरि अश्रु बहये अपार। समुद्रेमिलिल येन गङ्गा-यमुना धार।। (श्री चै० च०) अर्थ-श्रीमहाप्रभुजी के दोनों नेत्रों से ऐसी अपार अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं जैसे गङ्गा और यमुना की धाराएँ वेग से प्रवाहित होकर समुद्र से आकर मिलती हों। पुनः-गरुड़ खम्भके निकट खड़े प्रभु दर्शनभाव समाये हैं। प्रेम पुलकित हिय द्रवित भयौ चख मारग जल बनि आये हैं। थम्भ तरे इक निम्न गर्त था तहाँ अश्रु जलकुण्ड भयौ। देखत सबही गौरभक्त हिय रंग उमंग विचित्र छयौ।। (भ०व०टि०)** 'उभैलाल प्यारी भावसागर समात हैं' **यथा-राधिकाभावे प्रभु र सदा**

अभिमान। सेइभाव आपनाके हय राधाज्ञान।। (श्री चै० च०) अर्थ-श्रीमहाप्रभुजी सदा श्रीराधाभाव में मग्न रहते थे, वे अपने को श्रीराधा ही जानते थे। कभी-कभी कृष्ण भाव का भी अनुसन्धान हो जाता था। यथा-आवेशे श्रीवासे प्रभु वंशिका मागिल। श्रीवास कहे गोपीगण वंशी हरि निल।। (श्री चै० च०) अर्थ-एक बार श्रीकृष्ण-भाव के आवेश में श्रीमहाप्रभु श्रीवासजी से अपनी वंशी माँग उठे। श्रीवासजी ने भी रसपुष्टि करते हुए कहा-आपकी वंशी तो गोपियों ने चुरा ली है। अतः उभैलाल प्यारी०।

ईशता बखान…रूपलै दिखाय दियो-श्रीजगन्नाथपुरी के नव्य-न्याय, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य आदि के प्रकाण्ड पण्डित सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी श्रीमहाप्रभुजी को ईश्वर मानने के पक्ष में नहीं थे, वे श्रीमहाप्रभुजी को एक भक्त विशेष मानते थे। महान तार्किक पण्डित वासुदेवजी अपने तर्कों के सामने किसी को टिकने नहीं देते थे। तब श्रीमहाप्रभुजी के पार्षदों ने श्रीमहाप्रभुजी से विनती की कि-प्रभो! सार्वभौमजी पर कृपा होनी चाहिये। सब प्रकार से सुयोग्य विद्वान ब्राह्मण होकर भी तर्क-जाल में उलझे हुए हैं अतः जीवन के चरम लक्ष्य से बहुत दूर होते जा रहे हैं और यदि कृपापूर्वक उनको वैष्णव बना लिया जाय तो उनके द्वारा निश्चय ही वैष्णवता का खूब प्रचार-प्रसार होगा। भक्तों की प्रार्थना पर श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी वेदान्त श्रवण का ब्याज बनाकर उनके निवास स्थान पर गये और कृपा करके शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन कराया परन्तु परम तार्किक श्रीसार्वभौमजी श्रीमहाप्रभुजी को विष्णुरूप में देखकर भी कोई चमत्कार नहीं माने। वे बोले-श्रीजगन्नाथपुरी के तो सभी नर-नारी विष्णुरूप ही हैं अतः इतने मात्र से इनका कौन विशेष गौरव सिद्ध होता है? तब श्रीगौरांग महाप्रभुजी ने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष-बाण और मुरली धारण किये हुए षड्भुज रूप का दर्शन कराया, जिसमें एक ही रूप में श्रीविष्णु राम-कृष्ण-सभी भगवद्स्वरूपों का, दर्शन होता था। तब तो श्रीसार्वभौमजी तत्काल अपनी विद्या का गर्व छोड़कर 'पाहिमाम्, रक्षमाम्' कहते हुए श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में पड़ गये। श्रीमहाप्रभुजी ने प्रेमपूर्वक उठाकर उन्हें हृदय से लगा लिया। प्रभु का आलिङ्गन पाते ही वे प्रेम-मूर्च्छित हो गये। उसी दिन से श्रीसार्वभौमजी परम भक्त बन गये। श्रीप्रियादासजी इसी प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि मैंने जो श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की ईश्वरता वर्णन की है उसका प्रमाण यह प्रसङ्ग है-

कृष्णचैतन्यनाम जगत प्रगट भयौ अति अभिराम लै महन्त देह करी है।
जितौ गौड़ देश भक्ति लेसहूं न जानै कोई सोऊ प्रेमसागर में बोर्‌यो कहि 'हरी' है।।

भए सिरमौर एक एक जग तारिबे कों धारिबेकों कौन साखि पोथिन में धरी है।
कोटि कोटि अजामिल वारि डारैदुष्टता पै ऐसेहूँ मगन किये भक्ति भूमि भरी है।।३३२

भावार्थ-**इस प्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ही अत्यन्त सुन्दर, परम महान श्रीगौरचन्द्र के रूप में अवतरित हुए तथा संन्यास लेने के उपरान्त 'श्रीकृष्णचैतन्य' इस नाम से जगत में विख्यात हुए। श्रीमहाप्रभुजी के अवतार के पूर्व सम्पूर्ण गौड़ देश के लोग भक्ति का लेश-मात्र भी नहीं जानते थे। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने 'हरिबोल, हरिबोल' की मङ्गलमय नाम-ध्वनि सुनाकर सबको प्रेम सागर में डुबा दिया। आपके एक-एक पार्षद वैष्णव शिरोमणि एवं जगत् के समस्त प्राणियों का उद्धार करने में समर्थ हुए। उनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है? मैं कुछ अतिशयोक्तिपूर्वक नहीं कहता हूँ, इनकी महिमा एवं मेरे कथन के साक्षीभूत अनेकों ग्रन्थ हैं। करोड़ों-करोड़ों अजामिल भी जिनकी दुष्टता पर न्यौछावर हैं, ऐसे जगाई मधाई सरीखे पापियों को भी आपने प्रेम में मग्न कर दिया। सम्पूर्ण पृथ्वी आपके भक्तिभाव से परिपूर्ण है।।३३२।।**

व्याख्या-श्रीकृष्णचैतन्यनाम-**यथा-कृष्णनाम दिया जीवे कराय चैतन्य। ताकारने नाम तार श्रीकृष्णचैतन्य।। (श्री चै० च०) 'भक्तिलेशहूँ न जानै कोऊ'-इस पर दृष्टान्त श्रीचतुर्भुजजी का देखिये कवित्त ४९३।। 'भये सिरमौर एक-एक'-श्रीमहाप्रभुजी के कुछ पार्षदों का चरित्र आगे वर्णन किया गया है। जैसे श्रीरूपसनातनजी (छ० ८९) श्रीजीव गुसाईंजी (छ० ९३) श्रीगोपालभट्टजी (क० ३७५) श्रीलोकनाथ गुसाईंजी (क० ३७९) श्रीथानेश्वरी जगन्नाथजी (क० ३७८) श्रीकाशीश्वरजी (क० ३९८) आदि। 'कोटि-कोटि अजामिल०'-जगाई-मधाई अजामिल से भी बढ़कर अधम थे। अजामिल तो शापवश पतित हुए थे, ये अपने दुष्कर्म से पतित थे। अजामिल भी पूर्व जन्म के तपस्वी थे एवं इस जन्म में भी उनका प्रारम्भिक जीवन बहुत अच्छा था (देखिये पूर्वार्द्ध श्रीअजामिलजी की कथा) परन्तु जगाई-मधाई तो अनन्त जन्मों से पापाचाररत थे। अतः इन्हें अजामिल से भी बढ़कर अधम कहा गया है। परन्तु ऐसे महाअधमों को भी प्रभु ने प्रेमदान दिया। देखिये श्रीनित्यानन्दजी के प्रसंग में इनके उद्धार की कथा।**

विशेष-**प्रेम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी का प्रादुर्भाव शक सं० १४०७, फाल्गुन पूर्णिमा को संध्या की शुभबेला में नवद्वीप (बंगाल) निवासी श्रीजगन्नाथ मिश्रजी की पत्नी श्रीमती शचीदेवी के गर्भ से हुआ था। उस समय चन्द्रग्रहण का स्पर्शकाल था। कविराज**

श्रीकृष्णदासजी कहते हैं कि-अकलङ्क गौरचंद्र दिला दरशन। सकलङ्क चन्द्रे आर कोन् प्रयोजन।। एत जानि राहु कैल चन्द्रेर ग्रहण।। (श्रीचै०च०) अर्थात् उस समय निष्कलङ्क श्रीगौरचन्द्र ने दर्शन दिया फिर सकलङ्क चन्द्र का क्या प्रयोजन था, यह बात जानकर राहु ने उस चन्द्र को ग्रस लिया। उस दिन सबके हृदय में होली का हर्षोल्लास तो था ही परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के गौरचन्द्र के रूप में आविर्भूत होने से सबका आनन्द अनन्त गुणा बढ़ गया था। श्रीशची माता की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है। अद्भुत अनुपम बालक की गौरछवि को देखकर, पिता श्रीजगन्नाथ मिश्र ने बड़े उत्साह से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। यथा समय सब संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। श्रीशचीमाता के पिता पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्ती ने योग-लग्न-ग्रह-वारादि विचारकर बालक का नाम 'विश्वम्भर' रक्खा, साथ ही यह भविष्यवाणी भी कर दी कि आगे चलकर यह बालक 'यथा नाम-तथा गुण' को चरितार्थ करता हुआ सचमुच विश्व का भरण-पोषण करने वाला होगा। परन्तु प्रसव गृह के समीप एक विशाल नीम का वृक्ष था अतः कुटुम्ब के स्त्री-पुरुषों ने अत्यन्त प्यारवश बालक का नाम 'निमाई' रख दिया। गौरवर्ण होने से लोग गौर, गौरांग एवं गौरचन्द्र नाम से पुकारते थे तथा श्रीहरिनाम ध्वनि सुनकर किलकारी मारने से बालक निमाई को लोग 'गौरहरि' भी कहते थे।

बालक निमाई के दिव्य अलौकिक भाव जन्म से ही प्रत्यक्ष दिखने लगे थे। प्रथम अलौकिकता तो यह थी कि माता के गर्भ में १३ महीना रहने के अनन्तर प्रकट हुए। स्वरूप इतना सुन्दर था कि जो भी देख लेता, न्यौछावर हो जाता। मचलते तो खेल-खिलौने से सन्तुष्ट न होकर 'हरिबोल' की ध्वनि सुनकर प्रसन्न होते। फलस्वरूप घर में अखण्ड हरि, हरिबोल, बोल हरि बोल। मुकुन्दमाधव गोविन्द बोल' की ध्वनि होती रहती। कभी-कभी बड़ी चमत्कारपूर्ण घटनायें देखने में आतीं। कभी तो निमाई के पालने को घेरे हुए दिव्य पुरुषों के दर्शन होते, कभी दिव्य संगीत नृत्य की ध्वनि सुनाई पड़ती, कभी दिव्य सुगन्ध से घर महक उठता। एक बार तो माता-पिता को भूमि पर वज्राकुशध्वजाम्भोजादि चिह्न युक्त छोटे-छोटे चरणों के चिह्न आँगन में अङ्कित दिखाई पड़े थे तथा एक बार रात्रि में बालक के खाली पाँव चलने पर भी नुपूरों की मधुर झंकार सुनाई पड़ी थी। जब घुटुरुवन चलने लगे तो एक बार एक विषधर सर्प के ऊपर बैठे हँस रहे थे। देखने वालों के होश उड़ गये, परन्तु निमाई एकदम निर्भय। कुछ बड़े होने पर जब घर से बाहर खेलने लगे तो एक बार गहनों के लोभ से दो चोर इन्हें उठा ले गये, परन्तु कैसे भी सही उनको प्रभु का दर्शन-स्पर्श प्राप्त हुआ, अतः उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई,

अतः कुछ देर बार चोर अपने आप इन्हें घर पहुँचा गये और स्वयं सदा के लिये चोरी छोड़कर भगवद्भक्त बन गये।

एक बार माता की दी हुई मिठाईयों को फेंककर मिट्टी खाने लगे और जब माता डाँटने लगीं तो उसे समझाने लगे कि मिठाई और मिट्टी में भेद ही क्या है? दोनों पृथ्वी के ही विकार तो हैं। माता यह तत्वज्ञान की बात सुनकर चकित हो गई। एक बार अपने पड़ौसी हिरण्य और जगदीश नाम के दो ब्राह्मणों के घर श्रीठाकुरजी के लिये बनाये गये नैवेद्य को खाने के लिये मचल गये तो दोनों ब्राह्मणों ने निमाई को ही गोपालजी मानकर अमनिया नैवेद्य इन्हीं को अर्पण किया। इन्होंने थोड़ा-थोड़ा खाकर पुनःअपना अधरामृत प्रदान कर कृतार्थ किया। एक बार घर आये एक तीर्थयात्री ब्राह्मण के द्वारा अपने भगवान के लिये अर्पित भोग को दो-तीन बार निमाई ही खा गये और अंत में उसे गोपालकृष्ण के रूप में दर्शन देकर कृतार्थ किया। पाँच वर्ष की अवस्था में पिता ने इनका अक्षरारम्भ कराया। अक्षर ब्रह्म का अक्षराभ्यास एक कौतुक मात्र है। यह पढ़ते तो कम थे उधम अधिक करते थे। कभी-कभी खड़िया मिट्टी शरीर में मलकर उसी से ललाट पर तिलक सा लगाकर वैष्णव का स्वांग करते हुए माता के सम्मुख जाकर भिक्षा माँगते। माँ इन्हें देखकर हँस जातीं। कभी बालकों को साथ लेकर 'हरि बोल, हरि बोल' कहकर हाथ उठाकर नृत्य करते। एक दिन तो घूरे पर फेंकी हुई हाड़ियों को सकेलकर उस पर बैठ गये और उसके कालिख से अपने पूरे शरीर पर बिन्दी एवं लम्बी-लम्बी रेखायें खींच लीं। ऊपर से धूल भी लपेट लिया और एक फूटी हांडी को बजाने लगे। देखने वालों की भीड़ लग गई। किसी ने जाकर शची माता से कह दिया। उन्होंने आकर इन्हें बहुत डाँट लगाई कि तूँ ब्राह्मण का बेटा होकर ऐसे अपवित्र स्थान में बैठता है इन्होंने कहा-माँ! इन हाड़ियों में तो भगवान का प्रसाद बनाया गया है फिर ये अपवित्र कैसे हैं? अपवित्र तो वे वस्तुएं हैं जो भगवद् सम्बन्ध शून्य हैं। ऐसे सारगर्भित वचन को सुनकर माता भौचक्की सी रह गई। कुत्तों के बच्चों एवं गाय के बछड़ों के साथ तो निमाई का कौतुक होता ही रहता। जब कुछ और बढ़े हो गये तो अवस्था के साथ चंचलता भी बढ़ी। फिर तो गङ्गातट तक पहुँचने लगे और वहाँ स्नान-ध्यान, पूजा पाठ करने वालों के साथ उधम मचाने लगे।

कभी किसी को पूजा करते देख उसे चिढ़ाने के लिये स्वयं भी वैसा ही स्वांग करने लगते। कभी-कभी छोटी-छोटी बालिकायें जब गंगा पूजन करने लगतीं तो स्वयं उनके सामने देवता बनकर बैठ जाते, नैवेद्य खाते, आशीर्वाद देते। जो पूजा न करतीं उनको शाप की

धमकी देते। उन बालिकाओं में एक लक्ष्मी नाम की बड़ी सरला, सुशीला बालिका थी, उसने एक दिन निमाई की बड़ी श्रद्धापूर्वक पूजा की तो उसे वरदान दिये कि तुम्हें देवतुल्य रूपवान तथा गुणवान पति प्राप्त हो। आगे चलकर यह लक्ष्मीदेवी ही निमाई की प्रथम धर्मपत्नी हुई। ऐसे ही अनेकों प्रकार की चंचलता करते दस-पाँच उलाहने रोज आते। स्त्रियाँ शची माता के पास एवं पुरुष श्रीजगन्नाथ मिश्रजी के पास जा-जाकर इनका उधम सुनाते। लोगों को बड़ा क्रोध आता, परन्तु निमाई को देखते ही सब क्रोध रफूचक्कर हो जाता। वस्तुतस्तु बड़े बड़भागियों को उनकी साधना का परमफल देने के लिये निमाई उनसे छेड़खानी करते। तत्वज्ञ लोग तो लीला के इस रहस्य को जानकर परमानन्दित होते।

श्रीनिमाई के ज्येष्ठ भ्राता थे श्रीविश्वरूपजी। वे निमाई से अवस्था में ११-१२ वर्ष बड़े थे। वे श्रीअद्वैताचार्यजी की पाठशाला में पढ़ते थे। एक दिन श्रीशचीमाता ने निमाई को अपने बड़े भाई को भोजन करने के लिये बुलाने को पाठशाला भेजा। श्रीविश्वरूप के कहने से निमाई ने श्रीअद्वैताचार्यजी को प्रणाम किया। निमाई को देखते ही आचार्यपाद अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। आगे चलकर श्रीअद्वैताचार्यजी श्रीमहाप्रभुजी के प्रधान पार्षद हुए। सत्य तो यह है कि इन्हीं की उपासना पर सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने श्रीगौर अवतार धारण किया है। प्रथम श्रीअैद्वताचार्यजी ने ही श्रीगौर तत्व को पहचाना और ईश्वरत्व का प्रकाश किया।

श्रीनिमाई जैसे परमचञ्चल थे वैसे ही इनके अग्रज श्रीविश्वरूपजी परमशान्त, दांत, धीर, गम्भीर थे। वे हमेशा संसार की असारता को समझते हुए आत्मा-परमात्मा के चिन्तन में मग्न रहा करते थे। पुत्र की यह गम्भीरता माता-पिता को खटकी अतः उन लोगों ने शीघ्र इनका विवाह कर देने का निश्चय किया। परन्तु जब विश्वरूप को इसका पता लगा तो उनके विवेक ने उन्हें ऐसा झकझोरा कि फिर वे घर पर नहीं रह सके। उन्होंने संसार की समस्त ममता को त्यागकर संन्यास ले लिया। माता-पिता की समस्त अभिलाषाओं पर सहसा वज्रपात हो गया। उनके शोक का पारावार नहीं रहा। उस समय अपने अत्यन्त शोकार्त माता-पिता को समझाते हुए निमाई ने कहा-माँ! भैया ने उत्तम कार्य ही किया है। आप लोग चिन्ता न करें, मैं बड़ा होकर आप लोगों की खूब सेवा शुश्रूषा करूँगा। इससे माता-पिता के हृदय का बोझ कुछ हल्का तो हुआ परन्तु उनके मन में यह भय समा गया कि कहीं पढ़-लिखकर निमाई भी हमें छोड़कर न चला जाय अतः उन लोगों ने निमाई की पढ़ाई बन्द करा दी। निमाई को यह बात पसन्द नहीं आई। अतः इन्होंने पहले से भी अधिक ऊधम मचाना शुरु किया। एक दिन तो एक अंधे का स्वांग करते हुए एक लड़के के कन्धे पर हाथ रख

कर घर-घर भीख माँगते हुए अपने द्वार पर भी जाकर आवाज लगाये-माताजी! अंधे को भीख दे दो। भगवान तुम्हारा भला करेंगे। सुनकर शचीमाता बाहर आईं तो देखीं कि यह तो निमाई है। फिर तो उन्होंने इन्हें बहुत डाँटा कि तू ब्राह्मण का बालक होकर यह क्या कर रहा है? तब इन्होंने कहा-मैया! ठीक ही तो कर रहा हूँ, शास्त्रज्ञान बिना ब्राह्मण अंधा ही तो है, फिर वह भीख नहीं माँगेगा तो और क्या करेगा। ऐसे ही नित्य प्रति अनेकों उपद्रव करने लगे तब हारकर माता-पिता ने इनको पुनः पढ़ने के लिये भेजना प्रारम्भ कर दिया। फिर तो निमाई सब चंचलता को छोड़कर मन लगाकर पढ़ने लगे।

एकादश वर्ष की अवस्था में निमाई का यज्ञोपवीत संस्कार बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ। इसके कुछ ही दिन बाद पिता श्रीजगन्नाथमिश्र का परलोक बास हो गया। माता का करुणचीत्कार सुनकर निमाई भी पितृ वियोग में बहुत रोये और फिर धैर्य धारणकर माता को समझा बुझाकर शान्त किये। अपनी प्रखर प्रतिभा के प्रभाव से निमाई अल्पकाल में ही साहित्य-व्याकरण-न्याय आदि के पारङ्गत विद्वान हो गये। अध्ययन काल में ही इन्होंने व्याकरण पर 'विद्या सागरी' नाम की टिप्पणी लिखी थी तथा न्याय पर भी एक ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इनके एक घनिष्ठ मित्र श्रीरघुनाथजी भी न्याय पर एक 'दीधिति' नामक ग्रन्थ लिख रहे थे और उनकी यह अभिलाषा थी कि इस ग्रंथ के द्वारा मैं विश्व का सर्वश्रेष्ठ नैयायिक समझा जाऊँगा। मेरा यह ग्रंथ आज तक के समस्त न्याय ग्रंथों में श्रेष्ठ होगा। परंतु जब उन्होंने निमाई का ग्रंथ देखा तो उनकी आशा पर पानी फिर गया। निमाई ने देखा-रघुनाथ रो रहे हैं। जब इन्होंने रोने का कारण पूछा तो उन्होंने सही-सही कह दिया कि भैया! मैं तो संसार का सबसे बड़ा नैयायिक कहाने की लालसा से ग्रंथ लिख रहा था परंतु तुम्हारे ग्रंथ के सामने तो मेरा ग्रंथ कुछ भी नहीं है अतः मैं विफल मनोरथ होने के कारण रो रहा हूँ। निमाई को अपने मित्र की यह ग्लानि सही नहीं गई। इन्होंने तुरंत अपने ग्रंथ को रघुनाथ के देखते-देखते श्रीगङ्गाजी के तीव्रप्रवाह में फेंक दिया और बोले-मैं अपने मित्र को सुखी करने के लिये अग्नि में प्रवेश कर सकता हूँ, समुद्र में कूद सकता हूँ फिर यह ग्रंथ कौन सी चीज है। यह दृश्य देखकर रघुनाथ श्रीनिमाई की मित्रवत्सलता पर न्यौछावर हो गए।

सोलह साल की अवस्था में ही अध्ययन समाप्तकर निमाई ने श्रीमुकुन्द संजयजी के चण्डीमण्डप में एक संस्कृत पाठशाला खोल ली। इनकी पढ़ाने की शैली से आकृष्ट होकर अन्य विद्यालयों के विद्यार्थी भी पढ़ने आते थे। इस प्रकार इनकी पाठशाला नवद्वीप की

श्रेष्ठ पाठशालाओं में गिनी जाने लगी। अठारह वर्ष की अवस्था में नवद्वीप के ही एक परम वैष्णव पण्डित बल्लभजी की परम सुशीला कन्या श्रीलक्ष्मीदेवीजी के साथ इनका विवाह सम्पन्न हुआ। परंतु यह सब होने पर भी निमाई का बालपन अभी नहीं गया था। ये अब भी कुछ न कुछ विनोद किया ही करते थे। कभी विद्यार्थियों से तो कभी अध्यापकों तथा कभी राह चलते वैष्णवों से भी कुछ न कुछ छेड़-छाड़ करते रहते थे। बहुत से लोग तो इनको देखकर रास्ता छोड़ देते थे। वैष्णवगण भगवान से प्रार्थना करते कि हे प्रभो! जैसे आपने निमाई को इतना धुरंधर पण्डित बनाया वैसे ही इनको वैष्णव भी बना दो। लोग अपनी मनोव्यथा श्रीअद्वैताचार्यजी से कहते तो वे वैष्णवों को सान्त्वना देते कि धैर्य धरो, कुछ ही दिनों में तुम निमाई पण्डित को और रूप में देखोगे। कभी-कभी निमाई भी वैष्णवों से कहते कि आज आप लोग हमें देख हँस रहे हैं, देखना मैं आगे चलकर ऐसा वैष्णव बनूँगा कि आप सब हमारे पीछे-पीछे चलोगे। ब्रह्मादिक देवता भी हमारे चरण चूमेंगे। वैष्णवगण निमाई के कथन को केवल चंचलता समझते थे।

इस प्रकार निमाई पण्डित का अध्यापकीय जीवन भी बड़ा आनन्दमय रहा। ये चंचलता चाहे जितनी करते रहे हों, धर्म-कर्म में प्रमाद कभी नहीं करते थे। नित्यप्रति अपने गृहस्थोचित कर्म करते हुए दीन-दुखियों, अतिथि-अभ्यागतों की खूब सेवा करते थे। घर पर ही इन्हें एक बार श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजी के कृपापात्र श्रीईश्वरपुरीजी का सत्सङ्ग प्राप्त हुआ। आगे चलकर इनसे इन्होंने मंत्र-दीक्षा ली थी। उस समय की प्रथा के अनुसार श्रीनिमाई पण्डित ने भी अपने कुछ विद्यार्थियों को साथ लेकर शास्त्र-चर्चा के उद्देश्य से पूर्व बंगाल की यात्रा की थी। इसी यात्रा के सिलसिले में इन्होंने श्रीतपनमिश्र पर कृपा करके श्रीहरिनाम का उपदेश दिया था तथा काशीवास की आज्ञा दी थी एवं कालान्तर में वहीं मिलने का आश्वासन दिया था। तीन महीने के बाद यात्रा से लौटे तो घर पर पता चला कि परम पतिव्रता श्रीलक्ष्मी देवी ने प्रभु के वियोग में शरीर छोड़ दिया। इन्होंने अपनी दुःखिनी माता को समझा-बुझाकर धैर्य बँधाया, फिर अपने अध्यापन कार्य में लग गये। इसी बीच नवद्वीप में एक दिग्विजयी पण्डित आये, जिनको इन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से चमत्कृत करके सहज में वाद-विवाद के प्रपंच से मुक्त कर भगवद्भक्ति की प्रेरणा दी।

अपने अलौकिक रूप, दिव्य गुण एवं सुशील स्वभाव से श्रीनिमाई पण्डित पूरे नवद्वीप में सर्वप्रिय हो गये। अगर इनका कुछ झगड़ा था तो केवल दो व्यक्तियों से। एक तो एक पान वाला था और दूसरा था केले के पत्ते, थोड़ (केले के पेड़ का गूदा) एवं मोचा (केले

का फूल) बेचने वाला भोला-भाला भक्त दुकानदार श्रीधर। इन दोनों के पास निमाई पण्डित का पान और थोड़-मोचा को लेकर प्रणय-कलह नित्यप्रति होता ही रहता था। आपको आश्चर्य होगा-इन दोनों बड़भागियों ने जब श्रीमहाप्रभु को पहचाना तो यही वरदान माँगा कि आप हमसे नित्य प्रणय-कलह करते रहें। श्रीशचीमाता का मन रखने के लिये श्रीनिमाई पण्डित ने अपना दूसरा विवाह नवद्वीप निवासी राजपण्डित श्रीसनातन मिश्र की सर्व शुभलक्षण सम्पन्न कन्या श्रीविष्णुप्रिया के साथ किया। श्रीविष्णुप्रिया और निमाई पण्डित की जोड़ी साक्षात् श्रीलक्ष्मीनारायण के समान लगती थी। इसके बाद से श्रीनिमाई पण्डित के स्वभाव में भी बहुत परिवर्तन आ गया। अब ये पहले की चंचलता को छोड़कर सभी कार्य बड़ी गम्भीरता से करते। अधिक समय भगवान की पूजा-सेवा में लगाते। दूसरों को भी भगवद्भजन की प्रेरणा देते।

गया तीर्थ में पितरों का श्राद्ध करने की आकांक्षा से श्रीनिमाई पण्डित ने अपने कुछ छात्रों को साथ लेकर गया धाम की यात्रा की।मार्ग में भगवान मधुसूदन देव का दर्शन करते हुए गया पहुँचे। वहाँ पर यथाविधि स्नान-पिण्डदानादि कार्य सम्पन्न करके श्रीगदाधर भगवान के 'श्रीपादपद्म तीर्थ' के दर्शन किये। उनका दर्शन तथा माहात्म्य श्रवण करते-करते श्रीनिमाई पण्डित के हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ा। शरीर में अष्टसात्विक भावों का उदय हो गया। ये मूर्च्छित होकर गिरने ही वाले थे कि सहसा श्रीईश्वरपुरीजी ने आकर सँभाल लिया। इनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। होश आने पर श्रीनिमाई पण्डित श्रीईश्वरपुरीजी का दर्शन कर अपने को परम धन्य माने। उनका चरण पकड़कर इन्होंने श्रीकृष्ण भक्ति की भिक्षा माँगी। इनके प्रेमानुरोध को श्रीईश्वरपुरी टाल नहीं सके, अतः उन्होंने विधि पूर्वक इन्हें 'श्रीकृष्ण मंत्र' की दीक्षा दी। मन्त्रोपदेश श्रवण करते ही ये प्रेमोन्मत्त होकर श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा से श्रीवृन्दावन को भाग चले। जैसे तैसे संग के लोग समझा-बुझाकर नवद्वीप लौट आये परन्तु पण्डितराज निमाई अब भक्तराज होकर लौटे। अपने इष्ट मित्रों से यात्रा का वृत्तान्त वर्णन करते-करते प्रेम विह्वल हो जाते, मूर्च्छित हो जाते। हमेशा 'हा कृष्ण, प्राण कृष्ण' पुकारते रहते। श्रीनिमाई पण्डित के स्वभाव परिवर्तन एवं भक्ति भाव के प्रकाश से वैष्णव समाज में बड़ा हर्ष हुआ कि अब पृथ्वी का उद्धार हो जायेगा। श्रीनिमाई पण्डित ने अपने शिक्षा गुरु श्रीगङ्गादासजी एवं विद्यार्थियों के अनुरोध से पुनः पाठशाला में पढ़ाना प्रारम्भ किया, परन्तु हमेशा भावाविष्ट रहने के कारण पोथी का पाठ न पढ़ाकर विद्यार्थियों को भी श्रीकृष्ण भक्ति का ही पाठ पढ़ाते। कुछ दिन तक तो जैसे-तैसे

विद्यालय जाते रहे परन्तु अन्ततोगत्वा पोथी को बांधकर सदा के लिये धर दिये और सर्वप्रथम विद्यालय में ही विद्यार्थियों के साथ ही श्रीहरिनाम संकीर्तन किये।

इस प्रकार श्रीनिमाई पण्डित की अध्यापकी का अंत एवं वैष्णवता का श्रीगणेश हुआ। अब तो सभी वैष्णवों के चरणों में लोट-पोट हो जाते, अपने अश्रुओं से उनके चरण धोते और अत्यन्त दीन होकर भक्ति की भीख माँगते। वृद्धों के चरण दबाते, वस्त्र धोते और बड़े प्रेम से उनका उपदेश श्रवण करते। वैष्णव भी मुक्त कण्ठ से श्रीनिमाई पण्डित को भक्ति का आशीर्वाद देते। आशीर्वाद सुनकर ये प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगते। कभी हँसते, कभी रोते, कभी मूर्च्छित हो जाते। रात-दिन अश्रुपात होता रहता। एक क्षण के लिये भी जिह्वा से श्रीकृष्णनाम नहीं छूटता। तत्वज्ञ लोग तो जानते कि श्रीनिमाई प्रेम की परमोच्च दशा को प्राप्त हो गये हैं परन्तु अज्ञानी लोग इसे पागलपन, भूत-प्रेत बाधा एवं बात-व्याधि आदि कहते। जिसे सुन-सुनकर श्रीशचीमाता और श्रीविष्णुप्रियाजी अत्यन्त दुःखित होतीं। श्रीनिमाईजी के पिता पण्डित जगन्नाथ मिश्रजी के मित्र परम वैष्णव श्री श्रीवास पण्डितजी ने एक दिन श्रीशचीमाता को समझाया कि यह कोई रोग नहीं है, यह तो भगवत्प्रेम है, जिसके लिये श्रीशिव, सनकादिक भी इच्छा करते हैं। यह सुनकर श्रीशचीमाता कुछ आश्वस्त तो हुईं परन्तु उनके मन में एक नवीन चिन्ता उत्पन्न हो गई कि कहीं निमाई भी विश्वरूप की तरह संन्यासी न हो जाय।

एक दिन गौरसुन्दर श्रीनिमाई अपने सुहृद पण्डित श्रीगदाधरजी को साथ लेकर परम वैष्णव श्रीअद्वैताचार्यजी का दर्शन करने गये। दर्शन करते ही श्रीमहाप्रभुजी को भावावेश आ गया। और उसी आवेश में बोले-अद्वैत! जिनकी तुमने इतने दिन से श्रीगङ्गाजल और तुलसीदल से आराधना की है, वह मैं आ गया। अब तुम्हारे सब मनोरथ शीघ्र पूर्ण होंगे। इतना कहते-कहते श्रीमहाप्रभुजी मूर्च्छित हो गये। श्रीअद्वैताचार्यजी ने जब गौर से श्रीगौरसुन्दर को देखा तो उन्हें साक्षात् श्रीकृष्ण दिखाई पड़े। फिर तो वे मारे आनन्द के उछल पड़े कि देश की दुर्दशा देखकर जीवों का उद्धार करने के लिये मैंने जिन श्रीहरि की आराधना की थी वे अब प्रकट हो गये हैं। फिर तो उन्होंने 'नमो ब्रह्मण्य देवाय'··· आदि कहकर श्रीमहाप्रभुजी की विधिपूर्वक पूजा की। यद्यपि श्रीगदाधर पण्डित ने उन्हें ऐसा करते देखकर कहा भी कि आप इतने वयोवृद्ध होकर एवं आचार्य होकर अपने विद्यार्थी बालक की पूजा करते हैं, यह उचित नहीं। श्रीअद्वैतजी ने मुस्कुराकर कहा-अब थोड़े ही दिन में हमारे औचित्य का पता सबको लग जायेगा। मूर्च्छा दूर होने पर महाप्रभुजी ने आचार्यपाद की स्तुति की और

श्रीकृष्ण प्रेम का आशीर्वाद लेकर पुनः अपने घर चले आये। इसके बाद श्रीअद्वैतजी ने अपने मन में यह संकल्प किया कि यदि श्रीमहाप्रभुजी की मेरे ऊपर कृपा है तो ये स्वयं मुझे बुलाकर अपने परिकरों में शामिल कर लेंगे। अतः वे नवद्वीप छोड़कर अपने गाँव शान्तिपुर चले गये।

इधर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीहरिनाम का प्रचार करने के लिये श्रीवास पण्डित के घर पर संकीर्तन का शुभारम्भ किया। उसमें नवद्वीप के चुने-चुने वैष्णव सम्मिलित होते थे। संकीर्तन में अनधिकारियों का प्रवेश नहीं था अतः कुछ अवाञ्छित लोगों ने कीर्तन के विरुद्ध बहुत गलत प्रचार किया और जब इससे भी कुछ नहीं हुआ तो लोगों ने वहाँ के काजी और यहाँ तक कि नबाब हुसेनशाह तक कीर्तन की शिकायत की। तब तो कुछ वैष्णवों को भय हो गया कि पता नहीं काजी वा नबाब हमें क्या दण्ड दें। तब श्रीमहाप्रभुजी ने अपने भक्तों को आश्वासन देते हुए उन्हें ऐश्वर्य स्वरूप का दर्शन कराया। श्रीवासजी के यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीनृसिंह रूप का एवं श्रीमुरारीगुप्तजी के यहाँ वराह रूप का दर्शन कराया और गम्भीर गर्जना करते हुए कहा कि तुम लोग किंचित् भय मत करो, मैं सबको 'कृष्ण-कृष्ण' कहाकर नचाऊँगा और यदि कोई-कोई मेरे कार्य में अवरोध करेगा तो मैं उसका संहार कर डालूंगा। इससे भक्तों को बड़ा विश्वास हो गया। फिर तो कीर्तन और भी उत्साह से होने लगा। धीरे-धीरे श्रीमहाप्रभुजी के परिकर जहाँ-तहाँ से एकत्रित होकर नवद्वीप में आने लगे। जिनमें श्रीमन्नित्यानन्दजी, श्रीहरिदासजी, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधिजी, सार्वभौम वासुदेवजी, श्रीमुकुन्द माधवजी, श्रीगदाधरजी आदि प्रमुख हैं। परन्तु अभी श्रीअद्वैताचार्यजी नहीं आये थे। श्रीमहाप्रभुजी भावावेश में उनका स्मरण करते थे। आखिर श्रीमहाप्रभु ने बुलाने के लिये श्रीवास पण्डित के भाई श्रीरमाई पण्डित को भेजा। श्रीमहाप्रभु का संदेश सुनकर श्रीअद्वैत गद्गद हो गये और तुरंत पूजा की सामिग्री सजाकर नवद्वीप के लिये प्रस्थान कर दिये। नवद्वीप आकर आचार्यपाद सीधे महाप्रभु के पास न आकर श्रीनंदनाचार्यजी के यहाँ रुके और श्रीरमाई से कहलवा दिया कि कह देना कि वे नहीं आये परंतु श्रीमहाप्रभुजी से उनका आगमन छिपा नहीं रहा। इन्होंने आवेश में आकर कहा-देखो! नाड़ा, शांतिपुर से आ गया है परंतु हमारी परीक्षा लेने के लिये श्रीनन्दनाचार्यजी के घर रुका है। श्रीरमाई पंडित ने श्रीअद्वैताचार्य से जाकर यह वृत्तांत कहा तो वे धैर्य नहीं धारण कर सके। तुरंत श्रीवास पण्डित के घर आकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में लोट-पोट हो गये। फिर विधिवत् पूजन किया। श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। श्रीअद्वैताचार्यजी को तत्काल प्रेमावेश हो गया और वे दोनों हाथ उठाकर खूब नृत्य एवं संकीर्तन किये।

एक दिन श्रीवास पण्डित के घर श्रीमहाप्रभुजी को पूरे सात पहर (२१ घण्टे) तक भगवदावेश बना रहा। उस दिन भक्तों ने राजोपचार से श्रीमहाप्रभुजी का महापूजन किया। अन्त में भक्तों की प्रार्थना पर श्रीमहाप्रभुजी ने अपने महाप्रकाश को संवरण किया। तेज संवरण करते ही श्रीमहाप्रभुजी मूर्च्छित हो गये। फिर भक्तों ने मिलकर महासङ्कीर्तन किया तब प्रभु चैतन्य हुए। इस प्रकार इस दिन तीस घण्टे तक लगातार परमानन्द का सिंधु उमड़ता रहा। इस लीला को 'महाप्रकाश लीला' कहते हैं। इसके बाद श्रीमहाप्रभुजी ने अपने परिकरों के सहयोग से घर-घर में श्रीहरिनाम का प्रचार किया। जगाई-मधाई सरीखे पतितों का उद्धार किया। (देखिये श्रीनित्यानंदजीका प्रसङ्ग।) कुछ विदेशी ब्राह्मणों को श्रीमहाप्रभुजी का परमोत्कर्ष सहन नहीं हुआ, अतः उन सबों ने वहाँ के काजी चाँदखाँ को भड़काया। बस, उसने एक दिन कुछ यवनों को लेकर संकीर्तन भवन में घुसकर कीर्तनकारियों के मृदङ्ग, खोल, करताल आदि को तोड़-फोड़ डाला तथा भविष्य के लिये कठोर चेतावनी दी। तब श्रीमहाप्रभुजी ने वैष्णवों की प्रार्थना पर काजी का उद्धार करने का संकल्प करके विशाल नगर कीर्तन का आयोजन किया। सहस्त्रों-लक्षों लोग साथ हुए। नवद्वीप में ऐसा नगर कीर्तन कभी नहीं हुआ था। कीर्तन की तुमुल ध्वनि सुनकर काजी घर में घुस गया। श्रीमहाप्रभुजी ने काजी के द्वार पर जाकर समस्त समुदाय को शांत करके काजी को बुलवाया और बड़ी भद्रतापूर्वक पूछा-तुमने कीर्तन को बन्द करने का आदेश क्यों दिया? काजी ने कहा-आपकी ही बिरादरी के बहुत से लोगों ने एवं कुछ मेरे मुल्लाओं ने भी कहा था कि निमाई पण्डित शास्त्र विरुद्ध काम करते हैं, इससे देश में दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिये मैंने कीर्तन पर प्रतिबन्ध लगाया था और कीर्तनकारियों के ढोल-मृदंग फोड़े थे। श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा कि आज क्यों नहीं कीर्तन को रोकते हो, घर में क्यों घुस गये? तब काजी ने कहा-देखो गौरहरि! मैंने जिस दिन एक भक्त के घर में घुसकर ढोल खोल फोड़ा था, उसी दिन रात्रि में मुझे स्वप्न में एक बड़ा भयंकर सिंह दिखाई पड़ा और वह मेरे समीप आकर कह रहा था कि यदि अब तूने कीर्तन का विरोध किया तो उसी खोल की तरह मैं तुम्हारा पेट फाड़ डालूँगा। इतना कहकर उस सिंह ने मेरे पेट पर अपना पंजा लगा दिया। इतने में मैं चीखकर जाग पड़ा। स्वप्न का वह भय मेरे मन में अभी तक समाया हुआ है अतः अब मैं कीर्तन का विरोध नहीं करूँगा और देखो गौरहरि! अब मैं जान गया, तुम साक्षात् नारायण हो, मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम मेरी रक्षा करो। इतना कहकर काजी श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में पड़ गया। श्रीमहाप्रभुजी ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। श्रीप्रभु का प्रेमालिंगन पाकर काजी

प्रेमोन्मत्त हो गया और वह भी दोनों हाथ उठाकर कीर्तन करने लगा। लोग इस दृश्य को देखकर दङ्ग रह गये। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने काजी का उद्धार किया।

श्रीमहाप्रभुजी ने अपने भक्तों के साथ भी खूब मनमाना विनोद किया। कभी तो सबको एकत्रित करके श्रीकृष्ण लीला का अभिनय करते। स्वयं श्रीरुक्मिणी तथा श्रीराधा का पाठ करते, पाठ में आपको सदा ही भावावेश आ जाया करता था। एक दिन भक्तों ने श्रीमहाप्रभुजी के समक्ष आम्र-महोत्सव का प्रस्ताव रक्खा। श्रीमहाप्रभुजी ने सबके सामने ही आम की एक गुठली पृथ्वी में गाड़ दी। वह तत्काल सबके देखते-देखते अंकुरित होकर मुहूर्त मात्र में वृक्ष रूप हो गया और उसमें तुरन्त ही फल भी लगे और बात की बात में फल पक गये। फिर तो सबने जी भरकर आम खाया। एक दिन श्रीवासपण्डित के घर कीर्तन हो रहा था। संयोग से उनका एकलौता पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया। माता क्रन्दन करने लगी। उस समय श्रीवासजी ने पत्नी से कहा कि यदि तुम लोगों ने रो-चिल्लाकर श्रीमहाप्रभुजी के कीर्तन में विघ्न डाला तो मैं गङ्गाजी में कूदकर प्राण दे दूँगा। माता हृदय पर वज्र रखकर चुप हो गई। परन्तु यह महाविषाद का प्रसङ्ग श्रीमहाप्रभुजी से अधिक देर तक छिपा नहीं रहा। कीर्तन में मन में उच्चाटन होने पर श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा कि कोई अप्रिय घटना तो नहीं घट गई है? श्रीवासजी ने तो कुछ नहीं कहा परन्तु एक भक्त ने धीरे से यह दुःखद समाचार सुना ही दिया। श्रीमहाप्रभुजी को समस्त वृत्तांत मालूम हुआ तो आँसुओं की धारा बहाते हुए श्रीवासजी से बोले-पंडितजी! आपने अपनी अपूर्व कीर्तन निष्ठा से श्रीकृष्ण को खरीद लिया। आप धन्य हैं, आपकी भक्ति धन्य है। आप जैसे भक्तों के दर्शनमात्र से ही करोड़ों जन्मों के पाप क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। फिर श्रीमहाप्रभुजी ने मृत बालक की आत्मा को बुलाकर उससे आत्मकथा कहलवायी एवं सबको ज्ञानोपदेश दिलवाया। तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीवास पंडित से कहा कि आज से आप मुझको एवं श्रीनित्यानन्दजी को अपना पुत्र समझना।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी ने अपने भक्तों को कभी अपना ऐश्वर्य दिखाकर तो कभी अपना अचिंत्यमाधुर्य दिखाकर परम आनन्द प्रदान किया। यह सब लीलाएँ श्रीमहाप्रभुजी ने चौबीस वर्ष के अन्दर की हैं, जिसे भक्तगण आदि लीला कहते हैं। इसके बाद श्रीमहाप्रभुजी की मध्यस्थलीला प्रारम्भ होती है। इसमें श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकृष्ण भक्ति के अधिकाधिक प्रचार के लिये घर छोड़कर संन्यास लिया है, श्रीमहाप्रभुजी ने अपने संन्यास का निश्चय श्रीनित्यानन्दजी, श्रीगदाधरजी आदि कुछ अन्तरङ्ग व्यक्तियों को जब बताया तो सबके हृदय

पर मानो वज्रपात हो गया हो। धीरे-धीरे यह संन्यास की वार्ता श्रीशचीमाता एवं पति प्राणा श्रीविष्णुप्रिया के कानों में पहुँच गई। सर्वत्र हाहाकार मच गया। परन्तु कोई भी श्रीमहाप्रभुजी को अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सका। अपनी माता, पत्नी और भक्तवृन्दों को नाना प्रकार से सान्त्वना देकर उन सबकी अनुमति प्राप्त कर ली। अन्त में माघ महीने में संक्रान्ति के दिन श्रीमहाप्रभुजी माता, पत्नी एवं प्रिय परिकरों की अपार मोह-ममता को छोड़कर दो घड़ी रात्रि शेष रहे घर से निकल पड़े। माघ की ठण्डी रात में एक वस्त्र पहिने गङ्गा में कूदकर पार हो गये। आज भी गङ्गा का वह घाट 'निर्दय घाट' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीगौरसुन्दर के दृढ़संकल्प, उत्कट वैराग्य और उमड़ते अनुराग के आगे संन्यास की समस्त प्रतिकूलताएँ अपने आप दूर हो गईं। कटवानिवासी श्रीकेशवभारतीजी ने आपको विधिपूर्वक संन्यास की दीक्षा दी और आपका नवीन नामकरण किया-श्रीकृष्णचैतन्य। संन्यास ग्रहण की रात्रि गुरु आश्रम में ही संकीर्तनानन्द में व्यतीत कर दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु श्रीगुरुदेव की आज्ञा लेकर श्रीवृन्दावन के लिये चल दिये। परन्तु प्रेमावेश हो जाने के कारण तीन दिन तक राढ़ देश में ही उन्मत्त होकर घूमते रहे, साथ में श्रीनित्यानंदजी थे। इसके बाद श्रीमहाप्रभुजी श्रीनित्यानंदजी को नवद्वीप भेजकर चौथे दिन शांतिपुर में श्रीअद्वैताचार्यजी के घर आये।

श्रीनित्यानंदजी के द्वारा नवद्वीप वासियों को श्रीमहाप्रभुजी का पता मिला तो लाखों नदियावासी अपने गौरसुन्दर का दर्शन करने के लिये शांतिपुर पहुँचे। श्रीशचीमाता तो पुत्र वियोग में पाँच दिन से कुछ खाई नहीं थी। श्रीनित्यानंदजी ने श्रीमहाप्रभु का समाचार सुना कर माता को कुछ भोजन कराया फिर उनको पालकी में बैठाकर भक्तमंडली सहित शांतिपुर पहुँचे। पहले जो लोग कुछ विरोध मानते थे, वे भी वैर-भाव भुलाकर वहाँ गये और श्रीमहाप्रभु के चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा याचना किये। माता-पुत्र का मिलन अत्यंत हृदय विदारक था। श्रीमहाप्रभुजी ने माता के चरणों में प्रणाम करके कहा-माँ! मैं तो सदा तुम्हारा ही रहूँगा। मैंने संन्यास ले लिया है, तब भी तू जहाँ कहेगी वहीं रहूँगा और जैसे रक्खेगी वैसे ही रहूँगा। यह सुनकर माता को कुछ धैर्य हुआ। फिर शचीमाता ने अपने हाथ से भोजन बनाकर अपने निमाई को भोजन कराया। दस दिन तक शांतिपुर में रहकर माता के हाथ का भोजनकर माँ को परम सन्तोष प्रदान करने के उपरांत श्रीमहाप्रभुजी माता की आज्ञा लेकर श्रीजगन्नाथपुरी की यात्रा किये। श्रीनित्यानंदजी, जगदानन्दादि पांच महानुभाव श्रीमहाप्रभुजी के सङ्ग लग गये। मार्ग में असंख्य लोगों को अपने दर्शन, स्पर्श, आलिंगन, नामोच्चारण आदि से कृतार्थ करते हुये अनेकों ग्रामों, नगरों को पार करते हुए, श्रीमहाप्रभुजी रेमुना

क्षेत्र में 'श्रीक्षीरचोरा गोपीनाथजी' एवं कटक में 'श्रीसाक्षीगोपालजी' का दर्शन करते हुए भुवनेश्वर पहुँचे। वहाँ श्रीमहादेवजी का दर्शनकर भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए आगे चले तो श्रीनित्यानन्दजी ने प्रेमावतार श्रीमहाप्रभुजी के लिये दण्ड की आवश्यकता न समझकर उसे तोड़कर फेंक दिया और जब महाप्रभुजी ने कुछ क्षोभ प्रकट किया तो उन्होंने कहा कि आप मुझे ही अपना दण्ड समझें। आगे जब अठारह नाला नामक स्थान पर पहुँचे और दूर से जब श्रीजगन्नाथ भगवान के मन्दिर का शिखर दिखलाई देने लगा तो महाप्रभुजी वहाँ से तीर की भाँति छूटे। सब सङ्गी पीछे रह गये। श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन करके महाप्रभुजी प्रेमावेश में मूर्च्छित हो गये। दैवयोग से उस समय सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी वहाँ उपस्थित थे, वे सेवकों द्वारा महाप्रभुजी को उठवाकर अपने घर ले गये। इतने में आपके साथी भी वहाँ पहुँच गये। सबने उच्च स्वर से श्रीकृष्ण नाम का संकीर्तन किया। तब महाप्रभुजी की मूर्च्छा दूर हुई।

श्रीमहाप्रभुजी ने कृपा करके श्रीसार्वभौमजी को परम वैष्णव बना दिया। इस प्रसंग की चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं। श्रीसार्वभौमजी के वैष्णव होते ही अनेकों लोग महाप्रभुजी के भक्त हो गये। पुरी नरेश राजा प्रतापरुद्र भी महाप्रभुजी के अनुयायी हो गये। श्री नीलाचलवासी महाप्रभुजी को सचल जगन्नाथ कहते थे। लगभग तीन महीने तक पुरी में विराजने के उपरान्त महाप्रभुजी ने दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की। साथ में सेवा में श्रीकृष्णदास नामक एक विप्र थे। कूर्माचलम् में श्रीकूर्म भगवान का दर्शन किये। एक कूर्म नामक ब्राह्मण के अनुरोध पर उसके ही घर भिक्षा एवं रात्रि में निवास किये तथा वासुदेव नामक ब्राह्मण, जो परम वैष्णव था, यद्यपि उसे गलित कुष्ठ हो गया था तो भी महाप्रभु ने उसे हृदय से लगाकर कृतार्थ किया। प्रभु का स्पर्श होते ही वासुदेव का शरीर दिव्य हो गया। उसका कुष्ठ न जाने कहाँ चला गया। आगे चलने पर विद्यानगर में राज्याधिकारी, परम वैष्णव विद्वान श्रीरामानन्दराय से मिलन हुआ। महाप्रभु ने लोक कल्याणार्थ श्रीरामानन्द राय के मुख से साध्य-साधन तत्त्व का अत्यन्त सुन्दर निरुपण करवाया और अंत में अपने श्रीराधाकृष्ण मिलित रूप का दर्शन कराया तथा राजकाज का प्रपंच छोड़कर श्रीजगन्नाथपुरी में रहने का आदेश दिया। अक्षयवट तीर्थ में एक वेश्याप्रेमी सेठ धनीराम तथा उसके समस्त साथियों को उपदेश देकर वैष्णव बनाया। श्रीरंग क्षेत्र में वैंकटभट्ट नामक ब्राह्मण के घर चातुर्यमास किया। श्रीवैंकटभट्टजी के ही पुत्र श्रीगोपालभट्टजी थे। इनकी कथा आगे लिखी जायेगी। इन पर श्रीमहाप्रभुजी की विशेष कृपा थी। सेतुबन्ध तीर्थ में श्रीरामेश्वर

महादेव का दर्शन किये। त्रिबांकुर राज्य में पहुँचकर श्री आदिकेशव भगवान के दर्शन किये। वहाँ इनको वैष्णव सिद्धान्तों के अपूर्व ग्रन्थ 'श्रीब्रह्मसंहिता' की उपलब्धि हुई। श्रीकृष्ण वीणा नदी के तट पर निवास करने वाले ब्राह्मणों के यहाँ से श्री विल्वमंगल कृत 'श्रीकृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ की प्राप्ति हुई। इन दोनों ग्रन्थों को बड़े यत्न से श्रीमहाप्रभु साथ लाये। पंढ़रपुर में पुण्डरीकनाथ भगवान का दर्शन एवं उनके सामने नृत्य किये। चोरानन्दी वन में नौरोजी डाकू को उसके दल सहित उपदेश देकर वैष्णव बनाया। नौरोजी बड़ौदा तक श्रीमहाप्रभुजी के साथ सेवा में रहा। वहाँ ही उसने श्रीमहाप्रभुजी के सामने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया। श्रीद्वारिकापुरी में भगवान श्रीद्वारिकाधीश का दर्शन किये एवं पन्द्रह दिन तक वहाँ निवास किये।

इसी प्रकार दक्षिण के समस्त तीर्थों का दर्शन करके महाप्रभुजी पुनः श्रीजगन्नाथपुरी के लिये लौट पड़े। मार्ग में पुनः विद्यानगर के रायरामानन्दजी से मिलकर उन्हें शीघ्र पुरी आने का आदेश देकर पुरी के समीप श्रीअलालनाथ में आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभुजी के शुभागमन का शुभ समाचार सुनते ही अलालनाथ में ही भक्तों की भीड़ लग गई। फिर सब लोगों ने श्रीमहाप्रभुजी के साथ आकर श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन किया। पुरी नरेश के पुरोहित श्रीकाशीमिश्र के घर श्रीमहाप्रभुजी के रहने की व्यवस्था हुई। समाचार पाकर नवद्वीप के भक्तगण भी श्रीपुरी आ पहुँचे। बड़ा आनन्दमय वातावरण बना। रथयात्रा के अवसर पर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीपुरी नरेश के ऊपर परमानुग्रह किया (देखिये क० ४०९) रथयात्रा, जन्माष्टमी, दीपावली आदि उत्सवों को श्रीमहाप्रभुजी ने बड़े ही उल्लास के साथ मनाया फिर नवद्वीप आदि जहाँ-तहाँ से आये हुए भक्तों को विदा किया। श्रीवास पण्डित के हाथ श्रीशचीमाता के लिये श्रीजगन्नाथजी का प्रसाद एवं प्रसादी वस्त्र भेजा।

एक दिन श्रीसार्वभौम वासुदेव के दामाद अमोघ ने श्रीमहाप्रभुजी के सम्मुख विविध प्रकार के प्रसादान्न को देखकर उपेक्षापूर्वक उनको भोगी संन्यासी कह दिया। इस महदपराध के फलस्वरूप उसे दूसरे ही दिन हैजा हो गया। जब श्रीमहाप्रभुजी को इसका पता चला तो तत्काल उसके घर गये और कृपा करके उसे रोगमुक्त ही नहीं समस्त दोषों से भी मुक्त कर परम वैष्णव बना दिया। कुछ कालोपरान्त श्रीमहाप्रभुजी पुरी से श्रीवृन्दावन जाने के विचार से गौड़देश पधारे। इस यात्रा में आप अपनी जन्मभूमि श्रीनवद्वीप भी आये। माता शची का दर्शन किये और पति वियोगिनी श्रीविष्णुप्रियाजी को कृपा करके अपनी चरण पादुका प्रदान की। फिर माता की आज्ञा से श्रीवृन्दावन के लिये प्रस्थान किये, परन्तु संग में असंख्यों लोगों के लग जाने से श्रीमहाप्रभुजी रामकेलि गाँव से ही लौटकर शांतिपुर में श्रीअद्वैताचार्यजी के घर

आकर दस दिन तक रुके रहे। फिर पुरी को ही लौट आये। रामकेलि ग्राम में श्रीरूप-सनातनजी पर कृपा की। देखिये छ० ८९।। श्रीअद्वैताचार्यजी के घर पर श्रीरघुनाथदासजी पर कृपा का प्रसङ्ग पूर्व वर्णन किया जा चुका है। छ०७१।। तीन-चार मास पुरी में बिताकर श्रीमहाप्रभुजी ने पुनः श्रीवृन्दावन की यात्रा की। साथ में बलभद्र भट्टाचार्य नाम के एक सेवक थे। राजपथ छोड़कर झारिखण्ड के वनपथ से होते हुए श्रीमहाप्रभुजी काशी पहुँचे।श्रीमहाप्रभुजी अपने अनुपम प्रभाव से पथ के पशु-पक्षियों और हिंसक जीव-जन्तुओं को भी प्रेम प्रदान करते हुए आगे बढ़ रहे थे। काशी में श्रीतपनमिश्र के घर ठहरे और चन्द्रशेखर वैद्य के घर भिक्षा करते। श्रीतपनमिश्र का स्मरण हम पूर्व कर चुके हैं। दस-बारह दिन काशी वास कर श्रीमहाप्रभुजी प्रयाग होते हुए मथुरा मण्डल में आ पहुँचे।

मथुरा में एक श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी के शिष्य सनाढ्य ब्राह्मण श्रीकृष्णदासजी से भेंट हो गई। उनके साथ श्रीमहाप्रभुजी ने भाव-विभोर होकर व्रज के समस्त तीर्थों का दर्शन किया। श्रीधाम वृन्दावन में एक बार फिर यह ध्वनि गूंज गई कि वृन्दावन में पुनः श्रीकृष्ण का प्राकट्य हो गया है। व्रज के परिभ्रमण काल में श्रीमहाप्रभुजी का विशेष भावोन्माद देखकर सेवक लोग आपको पुनः पुरी लौटा लाने के उद्देश्य से बड़े कौशल से मथुरा लिवा लाये। फिर यमुना पार होकर प्रयाग की ओर चल पड़े। मार्ग में पठानों को प्रेम-दान देकर तथा असंख्य लोगों को दर्शन, सत्संग आदि से कृतार्थ करते हुए श्रीमहाप्रभु प्रयाग पहुँचे। वहाँ श्रीरूपजी से मिलन हुआ। उनको आध्यात्मिक शिक्षा दी तथा श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु से मिलन हुआ। श्रीमद्बल्लभाचार्यजी के प्रेमानुरोध पर श्रीमहाप्रभुजी उनके निवास स्थान अरैल (प्रयाग के समीप) आकर उनका आतिथ्य सत्कार स्वीकार किए। सुन्दर शास्त्र चर्चा हुई। पुनः प्रयाग चले आये, फिर वहाँ से काशी आये तो श्रीसनातनजी मिले, उनको भी आध्यात्मिक शिक्षा दिए तथा काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान संन्यासी श्रीप्रकाशानन्दजी को परमानुग्रह करके भक्ति प्रदान किया। देखिये क०६१२। काशी में दो मास रहकर श्रीमहाप्रभुजी पुनः पहले वाले मार्ग से पुरी को लौट आये।

इस प्रकार संन्यास लेने के बाद श्रीमहाप्रभुजी को दक्षिण भ्रमण, पुरी निवास, वृन्दावन की यात्रा में लगभग छःसाल का समय लगा। परन्तु वृन्दावन से लौटने के बाद श्रीमहाप्रभुजी ने अठारह वर्षों तक अखण्ड पुरी में ही निवास किया। इस पुरी निवास काल की लीलाओं को भक्तगण 'अन्त्य लीला' कहते हैं। इन अठारह वर्षों में प्रथम के छः वर्षों तक तो श्रीमहाप्रभुजी पूर्ववत् अपने भक्तों के साथ सम्भाषण, संकीर्तन, उत्सवादि करते रहे तथा भक्ति

प्रेम-करुणा-वात्सल्य-शिक्षा उपदेशादि से पूर्ण शत शत चरित्रों का प्रकाश करते रहे। एक बार छोटे हरिदासजी माधवीदेवी के घर से महाप्रभु के लिये चावल की भिक्षा लाये। जब आपको यह पता चला तो उनका परित्याग कर दिया। आपका कहना था कि विरक्त होकर स्त्रियों के साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क उचित नहीं है। छोटे हरिदासजी ने तीर्थराज प्रयाग में जाकर त्रिवेणी में जल-समाधि ले ली। फिर दिव्यरूप धारण करके अदृश्य रहकर श्रीमहाप्रभुजी की कीर्तन-सेवा करते रहे। श्रीअद्वैताचार्यजी के एक सेवक ने पुरी नरेश से आचार्य के घर की दीन-दशा निवेदन करते हुए आर्थिक सहयोग की प्रार्थना की थी। जब श्रीमहाप्रभुजी को यह मालूम हुआ तो आपने उसे प्रथम तो अपने दर्शन के लिये आने में रोक लगा दिया। फिर आचार्य की प्रार्थना पर उसे क्षमा भी कर दिया। आपका कथन है कि भक्ति की आड़ में अर्थोपार्जन अत्यन्त निन्दनीय है।

राय रामानन्दजी के छोटे भाई गोपीनाथ पट्टनायक, जो पुरी नरेश की ओर से एक देश के शासक नियुक्त थे, उन्हें एक निश्चित धनराशि सालाना राजा को देना पड़ता था। परन्तु विषयासक्त होने के कारण कभी भी ठीक से राजा का भुगतान नहीं किये फलस्वरूप धीरे-धीरे दो लाख रुपया राजा का इनके यहाँ बकाया हो गया। राजा ने राजकुमारों को रुपया लेने के लिये भेजा तो उन्होंने प्रमादवश राजकुमार का अपमान कर दिया। राजकुमार ने पिता से शिकायत करके गोपीनाथ पट्टनायक को प्राणदण्ड का आदेश करा दिया। परमभागवत राय रामानन्दजी एवं उनके भक्त पिता श्रीभावानन्दजी के नाते भक्तों ने श्रीमहाप्रभुजी से गोपीनाथ के प्राण रक्षा की प्रार्थना की। श्रीमहाप्रभुजी की प्रेरणा से, मंत्री के कहने से राजा का हृदय पलटा। उन्होंने गोपीनाथ को छोड़ दिया, रुपये भी माफ कर दिये और वेतन दूना-दून कर दिया। श्रीमन्महाप्रभुजी की कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव करके गोपीनाथजी भी विषयासक्ति छोड़कर भक्त बन गये। श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से भक्त शिवानन्द सेन के पुत्र पुरीदास को सात वर्ष की अवस्था में ही कवित्व शक्ति प्राप्त हो गई। आगे चलकर वे 'कविकर्णपूर' के नाम से विख्यात हुये और 'आनन्दवृन्दावन चम्पू, अलङ्कार कौस्तुभ' आदि बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रणेता हुये। श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीरामचन्द्रपुरीजी, श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीप्रभु के भक्तों की बड़ी आलोचना करते थे कि ये सब पेटू हैं। एक बार तो इन्होंने श्रीमहाप्रभुजी से कह दिया कि संन्यासी होकर अधिक आहार उचित नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने उनकी बात मानकर अपना आहार कम कर दिया परन्तु उनमें किसी प्रकार का अभाव नहीं किया, उनका सम्मान ही करते रहे।

श्रीजगदानन्द पण्डित श्रीमहाप्रभु के सुख सुपास का बहुत ध्यान रखते थे। वे चाहते थे कि प्रभु अच्छा खायें, अच्छा पहिनें, सुगन्धित तेल लगावें, कोमल आसन पर विराजें। परन्तु इन सब बातों को संन्यास धर्म के विरुद्ध जानकर श्रीमहाप्रभुजी इन्हें नहीं सेवन करना चाहते थे। फलस्वरूप श्रीजगदानन्दजी से श्रीमहाप्रभुजी का प्रणय कलह होता ही रहता था। इस प्रकार लीलाविलास करते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने भक्तों के साथ छः वर्ष व्यतीत किये। शेष बारह वर्षों तक श्रीमहाप्रभुजी दिव्योन्माद में रहे जिसे भक्तगण गम्भीरा लीला कहते हैं। पुरी नरेश के राज्यगुरु पं० काशीनाथ मिश्र के विशाल भवन में गुफा की भाँति एक छोटा सा एकान्त स्थान था-इसी का नाम गम्भीरा है। श्रीमहाप्रभुजी जब सबसे पृथक होकर एकान्त की इच्छा करते तब इसी में आकर विश्राम करते। बस इसी गम्भीरा मन्दिर में श्रीमहाप्रभुजी के अंतिम बारह वर्ष श्रीकृष्ण के विरह में रोते-विलखते बीते। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहिणी ब्रज-बालाओं की, विशेषतः श्रीराधाजी की जो अनिर्वचनीय दिव्योन्माद दशा थी वही दशा श्रीगौरचन्द्रजी की गम्भीरा लीला में अभिव्यक्त हुई है। कभी पुष्पवाटिका को ही वृन्दावन समझकर वहाँ के तरु-लता, पशु-पक्षियों से गोपियों की भाँति प्राणनाथ श्रीकृष्ण को पूछते हुए उन्मत्त घूमा करते थे, कभी विरह की असह्य तीव्र ज्वाला से अधीर होकर गम्भीरा को दीवालों पर श्रीमुख को रगड़-रगड़कर क्षत-विक्षत कर डालते, कभी सागर स्नान जाते तो बालुका के ऊँचे-ऊँचे टीलों को गिरिराज पर्वत समझकर उन्मत्त होकर उनकी ओर दौड़ते और दौड़ते-दौड़ते मूर्च्छित हो जाते तथा घंटों तक तप्त बालुका में पड़े रहते। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने कवित्त ३३१ में भी श्रीमहाप्रभुजी की लोकोत्तर प्रेम की कुछ दिव्य दशाओं का वर्णन किया है, जिसकी चर्चा पूर्व हो चुकी है।

एक दिन भगवान की कालिन्दीकूल की जल क्रीड़ाओं का स्मरण कर भावावेश में रात्रि के समय गम्भीरा मन्दिर से भागकर समुद्र में कूद पड़े। उसी भावावेश में सारी रात समुद्र के अगाध जल में डूबते-उछलते रहे। मछुओं के जाल में पड़कर आपका शरीर बाहर निकला। जिस मछुवे को आपके श्रीअङ्ग का स्पर्श हो गया था वह भी प्रेमोन्मत्त हो गया। उसी मछुवे के द्वारा पता लगने पर भक्तों ने श्रीमहाप्रभु के कानों में जब श्रीहरिनाम सुनाया तब कुछ-कुछ बाह्य दशा में आकर उसी लीला विरह का वर्णन करने लगे। दिनों-दिन श्रीमहाप्रभुजी की उन्माद-अवस्था तीव्र से तीव्रतर होती गई। तन्मयता और विरहासक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई। अन्ततोगत्वा शाके १४५५, सं० १५९० का आषाढ़ मास था। एक दिन दिन के तीसरे पहर श्रीमहाप्रभुजी श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर की ओर दौड़ पड़े। उस दिन

आप अपने नित्य नियम से खड़े होकर दर्शन करने के स्थान गरुड़-स्तम्भ के समीप न रुककर सीधे मन्दिर के द्वार पर जा पहुँचे और सबके देखते-देखते मन्दिर में प्रवेश कर गये। उस समय मन्दिर के सभी किवाड़ अपने आप बन्द हो गये। श्रीमहाप्रभुजी रूप सचल जगन्नाथ और अचल जगन्नाथ एक हो गये। 'श्रीचैतन्यमङ्गल' ग्रन्थ के रचयिता श्रीलोचनदास ठाकुर कहते हैं-तृतीय पहर बेला रविवार दिने। जगन्नाथे लीन होइला प्रभु आपने।।

श्रीमहाप्रभुजी द्वारा विरचित शिक्षा सार-सर्वस्व शिक्षाष्टक भक्तों का प्राण सर्वस्व है। व्याख्या में जहाँ-तहाँ प्रसङ्गानुसार शिक्षाष्टक के श्लोकों को उद्धृत किया गया है। नामानुरागियों पर अनुग्रह करते हुए श्रीमहाप्रभुजी अनुरागपूर्वक नाम-जप की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए अभिलाषा करते हैं कि-नयनं गलदश्रु धारया वदनं गद्‌गद रुद्धया गिरा। पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति।। अर्थ-हे भगवन्! ऐसा दिन कब आयेगा जब तुम्हारा नाम ग्रहण करने पर विगलित अश्रुधारा से मेरे नयन परिव्याप्त होंगे, मुख-कण्ठ गद्‌गद वाक्यों से रुद्ध होगा तथा समस्त शरीर पुलक द्वारा परिव्याप्त होगा। इष्ट निष्ठा के सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभुजी अनुग्रह करते है कि-आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु माम-दर्शनान्मर्महतां करोतु वा। यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः।। अर्थ-श्रीकृष्ण अपनी पद-दासी समझ मुझको आलिङ्गन द्वारा वक्षःस्थल से आत्मसात ही कर लें अथवा वे बहुबल्लभ चाहे श्रीचरणों से ठुकरा देवें वा वे चाहें दर्शन न देकर मुझे मर्माहत कर डालें, जैसी उनकी इच्छा हो वैसा ही करें। तथापि मेरे प्राणनाथ वे ही हैं। दूसरा कोई नहीं है।

श्रीसूरदासजी

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।।
उक्ति चोज, अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह, अर्थ अद्‌भुत तुक धारी।।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।।
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरैं।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।।७३

शब्दार्थ-उक्ति = काव्योक्ति, कथन, एक अलङ्कार जिसमें मर्म की बात छिपाई जाती है। चोज = अनोखाभाव, व्यंगपूर्ण उपहास, सुभाषित। अनुप्रास = एक अलंकार, जिसमें किसी वाक्य में एक ही पद अथवा एक ही अक्षर का बारम्बार प्रयोग किया जाता है। बरन अस्थिति = अक्षरों का यथा स्थान रहना। वचनप्रीति = मैत्री युक्त शब्दों का प्रयोग, वचन में प्रीति अर्थात् प्रीतियुक्त वचन। तुक = पद्य के दोनों चरणों के अन्तिम अक्षर का परस्पर मेल, अन्त्यानुप्रास, कड़ी। प्रतिबिम्बित = जिसकी परछाईं पड़ती हो, जो परछाईं पड़ने के कारण दीखता हो। दिवि = दिव्य। भासी = प्रकासी।

भावार्थ-श्रीसूरदासजी की कविता को सुनकर ऐसा कौन कवि है जो आनन्द में भर कर सिर नहीं हिलाने लगता हो। इनकी कविता में सुन्दर, सरस उक्तियाँ, मधुर व्यङ्गपूर्ण सुभाषित, अनूठे अनुप्रास और ललित वर्ण-मैत्री अत्यन्त प्रचुरता के साथ वर्तमान हैं। इनकी वाणी में प्रेम का ओर-छोर निर्वाह देखा जाता है तथा कविता में प्रयुक्त शब्दों के सम्बन्ध का पूर्णरूपेण निर्वाह पाया जाता है अर्थात् परस्पर मैत्रीयुक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। पदों में अन्त्यानुप्रास बड़ा ही मनोरम है तथा प्रत्येक पद में विलक्षण भावार्थ निहित है। दिव्यदृष्टि होने से इनके हृदय में भगवान की सम्पूर्ण लीलायें प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशित होती थीं अतः इन्होंने भगवान के जन्म, कर्म, गुण और रूप इन सबका अपनी रसना (जिह्वा) से बड़ा ही सरस वर्णन किया है। श्रीसूरदासजी द्वारा वर्णित भगवान के जन्म, कर्म, रूप, गुणादि को प्रेमपूर्वक श्रवण करने से और लोगों की भी बुद्धि निर्मल हो जाती है तथा निर्मल गुणों से युक्त हो जाती है। अर्थात् उन्हें भी भगवान की लीलायें भासने लगती हैं।।७३।।

व्याख्या-सूर कवित्त-श्रीसूरदासजी जन्म सिद्ध भक्त और कवि-दोनों हैं। यही कारण है कि कविता में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों ही अत्यन्त आकर्षक है। यथा-भाव पक्ष-श्रीसूरदासजी ने अपने पदों में भगवान के निर्गुण और सगुण दोनों ही स्वरूपों का निरूपण किया है, परन्तु उपासना सगुण ब्रह्म की करते हैं। यथा-अविगत गति कछु कहत न आवै। ज्यों गूँगें मीठे फलको रस अन्तर्गत ही भावै।। परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै। मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।। रूपरेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चक्रित धावै। सब बिधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै। सगुणब्रह्मोपासना में भी इन्हें लीला पुरुषोत्तम, स्वयं भगवान श्रीकृष्ण की उपासना अच्छी लगी। यथा-नन्दनंदन हैं मेरे ठाकुर और जगत सब फीको। वैसे

इन्होंने भगवान के सभी अवतारों की लीलाओं का गान किया है, परन्तु इनका प्रधान वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण लीला-गान ही है। चारों ओर से घूम फिरकर इनका मन श्रीकृष्ण लीला में ही विश्राम पाता है। यथा-मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै। जैसे उड़ि जहाजको पंछी फिर जहाज पै आवै।। श्रीकृष्ण के साथ इनका सख्यभाव है। यही कारण है कि जहाँ ये श्रीकृष्ण को भगवान मानकर विविध स्तुति प्रार्थना करते हैं वहीं कभी-कभी सख्यरसावेश में अटपटे वचन कहने में भी नहीं चूकते हैं। जैसे-सूर परेखो काको भगवानको बाप कियौ जिन दूजो। लेकिन सब कुछ होने पर भी दैन्य को नहीं भूलते हैं। क्योंकि भगवान को दैन्य अत्यंत प्रिय है। अतः लीला पदों के साथ-साथ विनय के भी बहुत पद बनाये हैं। विनय के पदों में सूरदासजी के भक्त हृदय की प्रिय मिलन की आकुलता विविध रूप में प्रकट हुई है। इन्हें श्रीकृष्ण की सामर्थ्य पर पूरा भरोसा है। यथा-चरण कमल बन्दौं हरिराई। जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे कौं सब कुछ दरसाई।। बहिरौ सुनै गूंग पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई। सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बन्दौं तिहिं पाई।।

श्रीसूरदासजी की वाणी में भक्ति के पाँचों रस एवं साहित्य के नवो रस यथास्थान साकार हो, उठे हैं। इनका वात्सल्य वर्णन तथा श्रृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन अद्वितीय है। सत्य तो यह है कि साहित्य जगत् में इन रसों पर ऐसा साधिकार वर्णन करने वाला न भूतो न भविष्यति। नीचे संक्षेप में इनका दिग्दर्शन कराया जाता है। भक्ति के पांच रस हैं-१. शांत, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य, ५. श्रृङ्गार।

शान्तरस का उदाहरण-चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग। जहँ भ्रम निशा होति नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।। जहाँ सनक शिव हंस मीन मुनि नख-रवि प्रभा प्रकास। प्रफुलित कमल निमिष नहिं शशि डर गुंजत निगम सुबास। जेहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल-सुकृत-अमृतरस पीजै। सोरस छांडि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ कहा रहि कीजै। लछिमी सहित होति नित क्रीड़ा शोभित सूरजदास। अब न सुहात विषय सर छीलर वा समुद्र की आस।

दास्य रस-जो हम भले बुरे तौ तेरे। तुम्हें हमारी लाज बड़ाई विनती सुनि प्रभु मेरे।। सब तजि तुम सरनागत आयौ दृढ़ करि चरन गहेरे। तुम प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे।। और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे। सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा ते पाए सुख जु घनेरे।

सख्यरस-आजु हौं एक एक करि टरिहौं। कै हम हीं कै तुमही माधो अपुन भरोसे लरिहौं।। हौं तो पतितसात पीढ़ीको पतितै ह्वै निस्तरिहौं। अब हौं उघरि-नचन चाहतहौं तुम्हैं विरद बिन करिहौं। कत अपनी परतीति नशावत मैं पायो हरि हीरा। सूर पतित तबहीं लै उठिहै जब हँसि देहौ बीरा।।

वात्सल्यरस-मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो। मोसो कहत मोल कौ लीनों तोहि जसुमत कब जायो।। कहा कहौं या रिसके मारे खेलन हौं नहिं जात। पुनि-पुनि कहत कौन तव माता को है तुम्हरो तात।। गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम शरीर। चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर।। तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहूँ न खीझै। मोहनको मुख रिस समेत लखि जसुमति मन अति रीझै।। सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत। सूरस्याम मोहि गोधनकी सौं हौं जननी तूं पूत।।

श्रृंगार रस-(संयोग) मोहन मोहिनी अंग श्रृङ्गारत। बेनी ललित करि गूंथन निरखत सुन्दर मांग सँवारत।। शीशफूल धरि पाटी पोंछत फूँदनि झर्वा निहारत। बन्दन विंद जराइ की बेंदी तापर बनै सुधारत।। तरिवन श्रवण नैन दोउ आँजत नासा वेसरि साजत। बीरी मुख भरि चिबुक डिठौना निरखि कपोलनि लाजत।। नखसिख सजत श्रृंगार भाव सों जाबक चरणन सोहत। सूर स्याम तिय अंग सँवारत निरखि आप मन मौहत।। वियोग-बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजै। तब वे लता लगति अति शीतल अब भई विषम अनल की पुंजै। वृथा बहति जमुना खग बोल वृथा कमल फूलनि अलिगुंजैं। पवन पानि घनसार सुमन दै दधि सुत किरन भानु भइ भूंजैं। ए ऊधो कहियो माधव सों मदन मारि कीन्हीं हम लुंजै। सूरदास प्रभु तुम्हारे दरसको मग जोवत अँखिया भएँ धुंजै।। साहित्य के नवरस-१. श्रृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. वीभत्स, ८. अद्भुत, ९. शांत। इनमें से शांत और श्रृङ्गार के उदाहरण पूर्व आ चुके हैं।

हास्यरस-यथा-भृगुको कुटैला औ जुठैला भीलनी को पुनि। भयो दास चेरी को याहि कहा कहौं दैया।। चोरनको यार पुनि चोरी करै ठौर-ठौर। निपट गवाँर कारी कामर को औढैया।। धेनुको चरैया औ चवैया सूखे चाउरको, राजनीति कहा जानैं भीख को मंगैया। सूरदास वाके गुन गन बरनौ कहांलौ, जैसी याकी माई बाप तैसो याकौ भैया।।

करुण रस-सखि इन नैनन ते घन हारे। बिनही रितु बरसत निसि वासर सदा मलिन दोउ तारे।। ऊरधश्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे। वदन सदन करि वसे वचन खग दुख पावसके मारे।। ढुरि ढुरि बूंद परत कंचुकि पर मिलि अंजन

सों कारे। मानो परन कुटी शिव कीन्हीं विवि मूरति धरि न्यारे।। सुमिरि सुमिरि गर्जत जल छांडत अंसु सलिलके धारे। बूड़त व्रजहिं सूरको राख बिन गिरवर धर प्यारे।।

रौद्र रस–गोविन्द कोपि चक्र कर लीन्हों। छाँड़ि आपनो प्रण यादव पति जनको भायो कीनो।। रथते उतरि अवनि आतुर ह्वै चले चरण अति धाये। मनु शंकित भूभार उतारन चलत भये अकुलाये।। कछुक अंग ते उड़त पीत पट उन्नत बाहु विशाल। स्वेद स्रोत तनु शोभा कन छबि घन वर्षत जनु लाल।। सूर सुभुजा समेत सुदर्शन देखि विरंचि भ्रम्यो। मानो आन सृष्टि करिबे को अम्बुज नाभ भयौ।।

वीर रस–आज जौं हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौं गंगा जननी को शन्तनुसुत न कहाऊँ।। स्यन्दन खण्डि महारथ खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ। इती न करौं शपथ मोहिं हरिकी छत्रिय गतिहिं न पाऊँ।। पाण्डव दल सन्मुख होइ धावौं सरिता रुधिर बहाऊँ। सूरदास रणभूमि विजय बिन जियत न पीठ दिखाऊँ।।

भयानक रस–महाराज क्यों आज ही स्वप्ने झझकाने। पौढ़े जबहीं आनिकै देखे विलखाने।। कहा सोच ऐसो पर्‍यो ऐसे भूमी को। काकी सुधि मनमें रही कहिये अपजीको।। रानी सब व्याकुल भईं भेद न पावै। तब आपुन सहज ही कह्यो वह नहीं जनावै।। सावधान करि पौरिआ प्रतिहार जगायो। सूर त्रास बल श्याम के नहिं पलक लगायो।।

वीभत्स रस–गहि तन हिरनकशिपु को चीरों फारि उदर तब रुधिर नहैहौं। पुनश्चशोणित छिंछ उछारि आकाशहिं गज बाजिन शर लागी। फिरत श्रृगाल सच्यो सो काटत चलत विसरि लै भागी।। (राम रावण युद्ध)

अद्भूत रस–अद्भुत एक अनूपम बाग। युगल कमल पर गज क्रीडत हैं तापर सिंह करत अनुराग।। हरि पर सरवर सरपर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग। रुचित कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृतफल लाग।। फलपर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर शुक पिक मृग मद काग। खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग। अंग अंग प्रति और और छबि उपमा ताको करत न त्याग। सूरदास पियहु सुधारस मानो अधरनि के बड़ भाग।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदासजी के पदों में पदे-पदे रसात्मकता एवं भावुकता की सफल अभिव्यंजना है। 'कला पक्ष' सूरदासजी ने अपनी रचनाएँ विशेषकर ब्रजभाषा में

की हैं। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर अन्य भाषा, जैसे-संस्कृत, अरबी, फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, प्रचलितठेठ, अपभ्रंश, आदि का भी निःसंकोच प्रयोग किया है। कविता विशेषकर माधुर्य एवं प्रसाद गुण से युक्त है। जहाँ-तहाँ रुढ़ोक्तियों, मुहावरों, कहावतों के सफल प्रयोग से कविता अत्यन्त ही चमत्कृत हो उठी है। लगभग शतावधि रागों में पदों की रचना सूरदास की संगीतज्ञता का भी उद्‌घोष करती है। इन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचना गेय-पदों में की है। वर्णन शैली बड़ी ही सरल, सरस, प्रवाहपूर्ण तथा माधुर्यमयी है। इनके पदों में कहीं-कहीं कूट के पद भी पाये जाते हैं, जो निश्चय ही विद्वानों के लिये एक चुनौती है तथा इनकी लोकोत्तर प्रतिभा के प्रतिपादक हैं। जैसे-कहत कत परदेशी की बात। मन्दिर अरध अवधि बदी हमसों हरि अहार टरि जात।। शशिरिपु वरष सूर रिपु युगवर हररिपु किये फिरै घात। मघपंचम लै गये स्यामघन ताते जिय अकुलात।। नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि बनि आवै सोई खात। सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलनको कर मींडत पछितात।। (स्पष्टीकरण-मन्दिर अर्ध = पाख, तात्पर्य एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिन। हरि आहार = मांस, अर्थात् महीना। शशिरिपु = दिन। सूर रिपु = रात। हर रिपु = कामदेव। मघ पंचम = मघा नक्षत्र से पाचवाँ अर्थात् चित्रा तात्पर्य चित्र। नखत = नक्षत्र, जो गणना में सत्ताइस हैं। वेद चार हैं। ग्रह नव हैं। सबका योग चालीस हुआ। चालिस का आधा बीस हुआ। यहाँ तात्पर्य विष से है।)

इनकी दिव्य वाणी के साहचर्य से सभी रस सरस हो उठे हैं और सभी अलङ्कार अलंकृत हो उठे हैं। भक्ति, साहित्य और संगीत की अद्‌भुत त्रिवेणी का संगम इनके पदों में देखा जाता है। निष्कर्ष यह है कि सूरदासजी की कविता में भावपक्ष और कलापक्ष का बड़ा ही सुन्दर मणिकांचनयोग हुआ है। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि-सूर कवित्त… चालन करै। कहावत है-'जादू वह जो सिर चढ़कर बोले' वैसे ही कविता वह, जो कवियों को भी झूमने के लिये विवश कर दे। पूज्यपाद श्रीमद्‌गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं। श्रीसूरदासजी की कविता ऐसी ही चमत्कारपूर्ण है। यथा-किधौं सूरको सर लग्यो, किधौं सूरकी पीर। किधौं सूरको पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर।।यदि कविता में यह गुण नहीं आया तो फिर उस कविता से क्या? यथा-किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः। परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति तच्छिरम्।।

सूरदासजी के पदों में प्रयुक्त उक्तियों के उदाहरण-रुढ़ोक्तियाँ जैसे-'दई प्रेम की

फाँसी' 'मुह सँभारि तूं बोलत नाहीं' 'अँगुरी गहत गह्यो पहुँचो' 'काहे को द्वै नाव चढ़ावत' 'दूध को दूध पानी को पानी' 'दाई आगे पेट दुरावत' 'एक पंथ दो काज' आदि।

लोकोक्तियां–जैसे–'काटहु अम्ब बबूर लगावहु चन्दनकी करि बारि' 'धोखे ही बिरवा लगाइकै काटत नाहिं बहोरी' 'स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधो कहुँ न करो' 'जोबन रूप दिवस दसही को ज्यों अँजुरीको पानी' मूर सूर अकरू लै गये ब्याज निबेरत ऊधो।' 'प्रेम कथा सोई पै जाने जापै बीती होइ।'

चोज–अर्थ करो पण्डित अरु ज्ञानी। रबिके अन्त दधि सुतके आगम द्वैषट चारि अधिक छबि वानी।। नहिं व्रज वनिता नहिं सुर वनिता नहिं राधा सहचरि यह जानी। नहिं नर नारि भरम जनि भूलौ ब्रह्म सृष्टिमें यह न उपानी।। सारङ्गसुत सारङ्ग चखु दीने सारङ्ग सुता देखि विलखानी। कनक सहोदर वश करि लीने सूर गूढ़निज सन्तनजानी।।

अनुप्रास–'जन्म जन्म जब जब जिहिं जिहिं जुग जहाँ जहाँ जन जाइ। तहाँ तहाँ हरि चरण कमल रति जो दृग होइ रहाइ।।' अटलशक्ति अविनाश अधिक बल एक अनादि अनूप। आदि अव्यक्त अम्बिकापूरण अखिल लोक लव रूप।' आदि। वर्णमैत्री, शब्दमैत्री, पद लालित्य, प्रेम प्रवाह सम्पूर्ण पदों में एक रस वर्तमान हैं। अतः 'बरन अस्थिति अति भारी' एवं 'वचन प्रीति निर्वाह' कहा। अर्थ अद्‌भुत–अर्थ गौरव की दृष्टि से सूरदास की रचना 'गागर में सागर' के समान है। इनका सूरसागर केवल पद–प्राचुर्य से ही नहीं अपने अर्थानन्त्य से भी वास्तव में सागर ही है। रसिक महानुभावों एवं मनीषीजनों को नित्य नवीन अर्थ की अनुभूति होती रहती है। देखिये चोज के पद का अर्थ वैलक्षण्य। प्रतिबिंबित··· भासी–देखिये श्रीमद्‌बल्लभाचार्यजी से मिलने का प्रसङ्ग। जनम···परकासी–यह सूरदासजी का प्रमुख वर्ण्य विषय है। इन्होंने भगवानके दिव्यजन्म, लीला, गुन, स्वरूप, सौन्दर्य का बड़ा विशद वर्णन किया है। यथा– श्रीवल्लभसों मन्त्र लै, सागर रच्यौ अपार। सूर सिद्ध कविने कियो, हरि लीला विस्तार।। विमल बुद्धि···धरै–यह श्रीसूरदासजी के पदों की तथा भगवान के जन्म, लीलादि के श्रवण करने की फलश्रुति हैं। श्रीसूरदासजी के सम्बन्ध में रीवाँ नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंह जी लिखते हैं कि–

अखिल अनूठी उक्ति युक्ति नहिं झूठी नेकु, सुधा हूते सरस सरस को सुनावतो।
उद्‌धृत विराग भाग सहित अनेक राग, हरिको अदाग अनुराग को सिखावतो।।

जगत उजागर अमल पद आगर सुनट नागरध्याय सूरसागर को गावतो।
भाषैं रघुराज राधामाधव को रस रस कौन प्रगटातो जो पै सूर नाहिं आवतो।।

श्रीसूरदासजी के सम्बन्ध में भावुक भक्तों की ऐसी मान्यता है कि ये भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय सखा श्रीउद्धवजी के अवतार थे। यथा-सूरदासजी जग विदित श्रीउद्धव अवतार। कथा पुराणांतर कथित वर्णन करौं उदार।। (श्रीरघुराजसिंहजी) ''वाल्मीकि तुलसी भए ऊधव सूर शरीर।'' ''विरहानल उरमें जरै बहै नैन जलधार।। अचरन कौन जु सूर को ऊधो को अवतार।'' आदि।। (सूरसागर की भूमिका, श्रीराधाकृष्णदास लिखित) रसिक महानुभावों के समाज में श्रीउद्धवजी के सूरदास के रूप में अवतीर्ण होने की पृष्ठभूमि में बड़ी सुन्दर कथायें कही-सुनी जाती हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

(१) एक बार गोलोक में श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीराधाश्यामसुन्दरजी निभृत निकुञ्ज में विराजमान होकर परस्पर यह विचार कर रहे थे कि हमारी प्रकटाप्रकट सभी लीलाओं का जगत् में प्रचार कर प्राणियों का उद्धार करने के लिए किसी कुशल परिकर को धराधाम पर भेजना चाहिये। इस सम्बन्ध में श्रीयुगल अपनी प्रिय सखी श्रीललिताजी से वार्तालाप कर ही रहे थे कि इसकी भूमिका यह बनी कि कुञ्जद्वार पर श्रीउद्धवजी उपस्थित हुए। आहट पाकर श्रीललिताजी ने जाकर देखा तो श्रीउद्धवजी थे। उन्होंने सहज भाव से कहा- उद्धवजी! इस समय श्रीप्रिया-प्रियतमजी किसी विशेष विचार में निमग्न हैं, अतः आप अभी जाइये, फिर मिलियेगा। परन्तु उद्धवजी भी किसी विशेष कार्य के लिये अपना आना बतलाते हुए श्रीललिताजी की बातों पर ध्यान न देते हुए हठपूर्वक अन्दर जाने लगे। श्रीललिताजी को उद्धवजी का यह आग्रह पसन्द नहीं आया। अतः वे कुञ्जद्वार का रास्ता रोक कर खड़ी हो गईं। श्रीउद्धवजी को अपनी यह अवज्ञा असह्य हो गई और उन्होंने कुपित होकर शाप दे दिया कि 'तू पृथ्वी तल पर चली जा और यवन के घर तेरा पालन-पोषण हो।' श्रीललिताजी पर भी इस शाप की कठोर प्रतिक्रिया हुई। वे बोलीं-'मूढ़! तू भी पृथ्वीतल पर जन्म लेकर अंधा होकर विचर।' इस प्रकार श्रीप्रिया-प्रियतम जिस कार्य के लिए शुभ चिन्तवन कर रहे थे वह सहज ही सम्पन्न हो गया और श्रीउद्धवजी ने श्रीसूरदासजी के रूप में अवतार लिया। (अष्टसखा भक्तमाल)

(२) जिस समय श्रीउद्धवजी भगवान श्रीकृष्ण के कहने से गोपियों को समझाने के लिये गये थे, उस समय वे एक दिन किसी निकुञ्ज की ओर बिना किसी से पूछे ही चल पड़े। सहसा वहाँ श्रीललिताजी आ गईं और उनको उधर जाने से रोक दिया। इससे उद्धवजी को बड़ा

दुःख हुआ और उन्होंने श्रीललिताजी को शाप दे दिया। श्रीललिताजी ने भी उद्धव को शाप दे दिया। शाप का प्रसंग पूर्ववत् ही है। (सत्कथाङ्क)

(३) ऐसा भी कहते हैं कि एक बार श्रीउद्धवजी सखा श्यामसुन्दर से मिलने के लिये आये हुए थे। तब श्रीउद्धवजी को बड़ी जोर की प्यास लगी। अतः वे निकुंज भवन में जाकर एक पात्र में जल लेकर पीने ही जा रहे थे कि इतने में श्रीललिताजी आ गईं और बोलीं- 'उद्धवजी! पात्र जूठा है, उसमें जल मत पीना।' श्रीउद्धवजी को रोष आ गया और बोले- 'तुमने जूठे जलपात्र को बिना धोये यों ही रखकर यवनों का-सा कार्य किया है, अतः मृत्युलोक में जन्म लेकर यवन के घर निवास करो।' श्रीललिताजी भी रुष्ट होकर बोलीं-'मैं किसी अन्य कार्य की त्वरा में पात्र बिना शुद्ध किए ही रखकर चली गई थी, कुछ मैंने जानबूझकर प्रमाद किया हो सो बात नहीं। परन्तु तुमको तो देख लेना चाहिये था कि पात्र जूठे स्थल-पर रखा है। तुमने भी तो अंधों का-सा कार्य किया है, अतः तुम भी अंधे होकर मर्त्यलोक में जन्म लो। श्रीहरि इच्छा से प्रेरित होकर, एक-दूसरे को शाप देकर अन्त में दोनों ही रोते हुए श्रीठाकुरजी के पास पहुँचे। परिस्थिति से अवगत होने पर प्रभु ने कहा-जब तुम दोनों का मिलन होगा तो शाप छूट जायेगा, फिर मेरे समीप चले आना। आगे चलकर ऐसा ही हुआ। श्रीसूरदासजी का दर्शन कर श्रीललिताजी तो तुरन्त तन त्यागकर प्रभु की नित्यलीला में जा मिलीं, परन्तु सूरदासजी भगवान का गुण गाने की लालसा से बहुत काल तक शरीर धारण किये रहे। फिर भगवान ने इन्हें भी बुला लिया।

(४) क०- गोकुल में रास होत राधाजुने मान कीन्ह्यो हरीमान मोरिबेको उद्धवै पठायो है।
जानि गरुमान कह्यो नेकसु कटुक बैन, दीन्ह वृषभानु सुता शाप कोप जायौ है।।
धारिये मनुज तनु तारिये जगत जाय सकल सुनाइये जो रास रस भायौ है।
भनैं रघुराज सोई ऊधव अवनीमें आय रसिक शिरोमणि सो सूर कहवायौ है।।

पुनश्च-**श्रीब्रजगोपियों के प्रेम को देखकर महामुग्ध श्रीउद्धवजी के मन में यह कामना हुई थी कि मैं पुनः जन्म लेकर इन महाभागवती व्रजाङ्गनाओं के प्रेम-विलास का वर्णन करूँ। अतः उन्होंने श्रीसूरदासजी के रूप में जन्म लेकर अपनी उस वाञ्छा को पूर्ण किया। यथा-**

यह सुबासना उद्धव के तब। रही आय ब्रज एक बार कब।।
गोपिन कौ अनूप अनुरागा। हरि-लीला जो व्रज सब जागा।।
सो रसनाते वर्णन करहूँ। बर सन्तोष हिये पर धरहूँ।।

कीन्हें यही वासना काहीं। उद्धव प्रगट भये कलि माहीं।।
सूरदास ते सन्त शिरोमणि। विरचे सवा लाख पदको गुणि।।
(श्रीरघुराजसिंह)

नेत्रहीन होने का कारण बताते हैं कि-

महाघोर कलि कालमहँ, जन्म लेब दुख दूर।
दृगविकार गुणि याहिते, सूरदास भे सूर।। (श्रीरघुराजसिंह)

श्रीसूरदासजी का प्रादुर्भाव वि० सं० १५३५, वैशाख शुक्ल ५, मङ्गलवार को दिल्ली के समीप सीही ग्राम में (जहाँ श्रीजनमेजयजी ने नागयज्ञ किया था) परम अकिंचन सारस्वत ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम अज्ञात है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के मत से मथुरा से आगरा जाने वाले मार्ग में रुनकता नामक ग्राम में सूरदासजी का जन्म हुआ था। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। सूरदासजी रुनकता ग्राम के पास गौघाट पर बाद में काफी समय तक रहे थे, जैसा कि हम आगे लिखेंगे। इसलिये विद्वानों ने यह धारण बना ली थी, जो अब सत्य की कसौटी पर सही नहीं उतरी। श्रीसूरदासजी जन्मान्ध थे। पिता-माता के लिये पुत्र का जन्म जितना हर्षोत्पादक हुआ उतना ही उसका अन्धत्व उदासीनता का भी कारण बना। परिणामस्वरूप सूरदासजी को जैसा माता-पिता का प्यार मिलना चाहिये वैसा न मिल सका। तभी तो कहा गया है-स्वारथ मीत सकल जगमाहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं। मातु पिता स्वारथरत ओऊ।। और जब जननी-जनक ही उपेक्षा करते हैं तो और की तो बात ही क्या? परन्तु इस उपेक्षा से एक महान लाभ यह हुआ कि सूरदासजी ने जब से होश संभाला तब से ही निरन्तर भगवान का स्मरण करने लगे। पूर्वजन्म का अभ्यास जो ठहरा। 'निरबल के बल राम' की अनुभूति सूरदासजी के जीवन के प्रथम चरण में ही हो गई थी। श्रीसूर किशोरजी का यह अतिप्रसिद्ध पद आज भी असंख्यों असहायों का परम सहारा बना हुआ है। पूरा पद इस प्रकार है-सुनेरी मैंने निरबल के बलराम। पिछली साख भरूँ संतनकी अड़े सँवारे काम।। जब लगि गज बल आपनो बरत्यो नेकु सर्‌यौ नहिं काम। निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यौ आये आधे नाम।। द्रुपदसुता निरबल भइ तादिन तजि आये निजधाम। दु:शासन की भुजा थकित भइ वसन रूप भये श्याम। अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम। ''सूर किशोर'' कृपाते सब बल हारेको हरिनाम।।

गृहत्याग-जब सूरदासजी छ: साल के हुये तब इनके पिता को एक धनवान यजमान ने दो मुहरें दान में दीं। वे बड़े ही प्रसन्न हुये और आकर समस्त परिवार को मुहरें दिखाकर

बोले-"मेरी दीनता पर तरस खाकर भगवान ने जजमान से दो मुहरें दिलवाई हैं, अब कल इनसे सीधा सामान लाऊँगा, फिर तो दो-चार महीने खूब आनन्द से बीत जायेंगे। ऐसा कहकर उस ब्राह्मण ने मुहरों को एक कपड़े में लपेटकर ताख में रख दिया। संयोग की बात, रात्रि में मूसे इन मुहरों को घर की छत में एक बिल में रख आये। प्रातः जब पिता ने उनको ताखमें नहीं देखा तो वे बहुत दुःखी हुये। परिवार के सब लोग छाती पीटकर क्रन्दन करने लगे। तब सूरदासजी ने सबको समझाया "इतना विलाप क्यों करते हो, भगवान का भजन करो, प्रभु सब मंगल करेंगे।" सूरदासजी का यह उपदेश माता-पिता को जले पर नमक छिड़कने के समान लगा। वे बरस पड़े सूरदास के ऊपर। बोले-"तू ऐसा अभागा है कि जिस दिन से तूने जन्म लिया है उसी दिन से हम सब दुःख ही दुःख पा रहे हैं। हम लोगों को पेट के लाले पड़ गये हैं। भगवान ने कृपा करके दो मुहरें दीं वह भी जाती रहीं।" तब सूरदासजी ने कहा-"मैं मुहरें तो अभी बता दूँ परन्तु शर्त यह है कि फिर मैं घर में नहीं रहूँगा। आप लोग फिर मेरा पीछा नहीं करना।" माता-पिता ने शर्त स्वीकार कर ली। मुहरें मिल गईं, सूरदासजी घर से चलने लगे तो माता-पिता को अब अपने अंधे बेटे में भी बड़ा मोह हो गया। संसार चमत्कार को नमस्कार करता है। वे जैसे तैसे सूरदास को रोकने का प्रयत्न करने लगे। तब सूरदासजी ने कहा-तुम लोग अब मुझे रोकोगे तो तुम्हारी मुहरें फिर खो जायेंगी और अबकी बार मिलेंगी भी नहीं। यह मंजूर हो तो मुझे रोको। माता-पिता ढीले पड़ गये।

श्रीसूरदासजी घर से चलकर चार कोस की दूरी पर एक गाँव के बाहर तालाब के तट पर एक पीपर के वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। सायंकाल के समय उसी गाँव का एक ब्राह्मण जमींदार अपनी गायों को खोजता हुआ इनके समीप आकर कहने लगा कि "मेरी दस गायें खोई हैं, यदि कोई पता बता दे तो उसे मैं दो गायें भेंट कर दूँगा।" सूरदासजी ने कहा-"मुझे तुम्हारी भेंट पूजा तो लेनी नहीं है, परन्तु पूछ रहे हो तो बता रहा हूँ-यहाँ से एक कोस दूर अमुक गाँव के अमुक जमींदार की घुड़साल में घोड़ों के बीच में तुम्हारी गायें बँधी हैं। गायों के मिल जाने पर वह ब्राह्मण इन्हें दो गायें देने लगा, परन्तु इन्होंने उन्हें सर्वथा अस्वीकार कर दिया। ब्राह्मण इनका त्याग और भगवन्निष्ठा देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसी पीपल के वृक्ष के नीचे एक झोपड़ी बनवा दी, सूरदासजी के खाने-पीने की सब व्यवस्था कर दी और सेवा में एक नौकर भी नियुक्त कर दिया। सूरदास के सगुन की बहुत ख्याति फैल गई हमेशा लोगों की भीड़ लगी रहती। बहुत से लोग शिष्य भी बन गये। ये बड़े

सुन्दर-सुन्दर उपदेश के पद गाते। इस प्रकार बड़े मान-सम्मान के बीच रहते हुये सूरदासजी को बारह वर्ष बीत गये। एक दिन रात्रि में सहसा सूरदासजी के मन में विचार आया कि 'आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।' देखो तो हमारी मूढ़ता कि मैंने भगवान से मिलने के लिये घर छोड़ा और यहाँ आकर मान-प्रतिष्ठा में पड़कर अपने लक्ष्य को ही भूल गया, फिर तो ये सब कुछ त्याग कर केवल एक वस्त्रमात्र शरीर पर धारणकर वहाँ से चल पड़े और कुछ दिन मथुरा में विश्राम घाट पर रहकर फिर वहाँ से भी चलकर रुनकता ग्राम के निकट यमुना तट पर स्थित गऊघाट नामक स्थान पर रहने लगे।

श्रीसूरदासजी के सुन्दर गान, सगुन विचार और भगद्भक्ति से आकृष्ट होकर यहाँ पर भी बहुत से लोगों ने इनका शिष्यत्व ग्रहणकर लिया। ये जन-समाज में 'स्वामीजी' कहे जाने लगे। जिन दिनों श्रीसूर ने गौघाट पर अपना निवास बनाया उसी काल में श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु के भक्तिमार्ग की धूम सर्वत्र फैल गई थी। दक्षिण के शास्त्रार्थ में विजय के कारण सभी उनका लोहा मानते थे। सं० १५६७ में श्रीवल्लभाचार्यजी जब अपने बहुत से सेवकों को साथ लिये हुये (प्रयाग के पास एक स्थान) से व्रज आ रहे थे तब श्रीमहाप्रभुजी का भी गऊघाट पर ही पड़ाव पड़ा। सब लोग श्रीयमुना स्नान करके नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर रसोई बनाने में लग गये। एक सेवक ने श्रीसूरदासजी को यह सब वृत्तान्त सुनाया तो वे श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी के दर्शन की इच्छा प्रगट करते हुए बोले कि जब श्रीआचार्यजी भोजन करके सुखपूर्वक सावकाश विराजमान हों तब मुझे उनके पास लिवा ले चलना। सेवक ने ऐसा ही किया। सूरदासजी अपने बहुत से सेवकों के साथ आकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर हाथ जोड़कर सामने बैठ गये। महाप्रभुजी सुन चुके थे कि सूरदास पद बढ़िया गाते हैं अतः आज्ञा की कि सूरदासजी! कुछ भगवान का यश तो गाओ। तब इन्होंने यह पद गाया-हरि हौं सब पतितनको नायक। कौ करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।। जैसी अजामीलकौं दीनौ सो पाटी लिखि पाऊँ। तो विश्वास होइ मन मेरे औरौं पतित बुलाऊँ।। यह मारग चौगुनौ चलाऊँ तौ पूरौ व्यौपारी। बचन बाँह लै चलौ' गाँठि दै पाऊं सुख अति भारी।। पतित उधारन नाम सुन्यौ जब शरन गही तकि दौर। अबकै तौ अपनी लै आयौं वेर बहर की और।। होड़ा होड़ी मनहिं भावते किये पाप भरि पेटि। सबै पतित पाइन तर डारौं इहै हमारी भेंट।। बहुत भरोसो जानि तुम्हारौ अघ कीनो भरि भाँड़ौ। लीजै बेगि निबेरि तुरन्तहिं सुर पतित कौ टांड़ौ।। पुनः दूसरा पद गाया-हरि हौं सब पतितन कौ टीकौ। और

पतित सब दिवस चारि के हौं तौ जनमत ही कौ।। बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ। मोहिं छांड़ि तुम और उधारे मिटे सूल क्यों जीकौ।। कोउ न समरथ अघ करिबे कौ खैंचि कहत हौं लीकौ। मरियत लाज सूर पतितन में मोहू ते को नीकौ।।

यह सुनकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-'अरे तुम तो सूर (अर्थात् भजन करने में वीर) हो, फिर क्यों इतना घिघियाते हो, दीन बन रहे हो, श्रीहरि की लीला का गान करो।' तब सूरदासजी ने कहा कि 'लीला का कुछ अनुभव तो है नहीं फिर कैसे गाऊँ? श्रीमहाप्रभुजी ने विचार किया कि यदि इनकी प्रतिभा के साथ दिव्य दृष्टि का संयोग हो जाय तो ये खूब लीला पद गायेंगे अत: बोले-श्रीयमुना स्नानकर मेरे समीप आवो, हम लीला का अनुभव करा देंगे।' सूरदासजी तत्काल स्नानकर श्रीआचार्य चरणों में उपस्थित हुए। श्रीमहाप्रभुजी ने विधिपूर्वक अष्टाक्षर मन्त्र की दीक्षा देकर ब्रह्म सम्बन्ध कराया। तत्पश्चात् श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध की अनुक्रमणिका सुनाई। श्रीगुरुकृपा से सूरदासजी के हृदय में प्रेम लक्षणा भक्ति का संचार होते ही भगवान की समस्त लीलाएँ स्फुरित होने लगीं। श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा-सूरदासजी! अब तुमको कुछ दिखाई पड़ रहा है। सूरदासजी बोले-जै, जै मैं देख रहा हूँ आपकी गोद में एक नील सरोरुह श्याम बालक बैठा है। तब श्रीमहाप्रभुजी ने मुस्कराकर कहा कि अब लीला पद गाओ। फिर तो श्रीसूरदासजी ने प्रथम-'चकई री चलि प्रेम सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।' यह पद गाकर तदुपरांत-'ब्रज भयो महरके पूत जब यह बात सुनी।' बधाई का यह पद गाया। इस पद में श्रीकृष्ण-जन्म समय पर भये नन्दोत्सव का ऐसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया कि महाप्रभुजी सुनकर प्रसन्न होकर बोले कि सूरदास ने तो ऐसा कीर्तन किया, मानो यह नन्दालय के निकट से लीलावलोकन कर रहे हों। इसके बाद आचार्य प्रभु ने इन्हें ३ दिवस गौघाट पर रुककर सुबोधिनी और 'पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम' सुनाया, जिससे इन्हें सम्पूर्ण भागवत के रहस्य का परिज्ञान हो गया। सूर-सागर में सूरदासजी ने भागवत के द्वादशों स्कन्धों का तात्पर्य तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि' प्रसङ्ग भी वर्णन किया है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने सूरदासजी को भी साथ लेकर व्रज को प्रस्थान किया। सर्वप्रथम महाप्रभुजी गोकुल आये और कृपा करके सूरदासजी को दिव्य गोकुल का दर्शन कराया। सूरदासजी ने श्रीगोकुल को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। प्रणाम करते ही गोकुल की समस्त लीलाएँ हृदय में स्फुरित होने लगीं। तब इन्होंने यह पद गाया-सोभित कर नवनीत लिये। घुटुरुन चलत रेनु तनु मण्डित मुख दधि लेप किये।। चारु कपोल लोल लोचन

गोरोचन तिलक किये।। लट लटकानि मनोमत्त मधुपगन मादक मधुहिं पिये।। कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिये। धन्य सूर एकौ पल इहि सुख का सत कल्प जिये।। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से बाल लीला के पद गाये।

इनके पदों पर प्रसन्न होकर श्रीमहाप्रभुजी ने उनको ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में रखने का निश्चय किया और इन्हें लेकर श्रीगोवर्धन आये। श्रीश्रीनाथजी का दर्शन कर सूरदासजी ने यह पद गाया-अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल। काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषयकी माल।। महा मोहको नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल। भ्रम भोयो मन भयो पखावज चलत कुसङ्गत चाल।। तृष्णा नाद करति घट भीतर नाना विधि दै ताल। मायाको कटि फेंटा बांध्यो लोभतिलक दियो भाल।। कोटिक कला काछि देखराई जलथल सुधि नहिं काल। सूरदासकी सबै अविद्या दूरि करो नंदलाल।। श्रीसूरदासजी के इस दैन्य से द्रवित होकर महाप्रभुजी ने कहा-'सूरदासजी! तुम्हारी तो जन्म-जन्म की अविद्या को श्री श्रीनाथजी ने पहले ही हर लिया, तभी तो प्रभु के दर्शन हुये। अब तो तुम दीनता त्यागकर भगवान की लीला का ही गान किया करो।' उसी दिन से सूरदासजी प्रातःकाल श्रीठाकुरजी के जागरण से लेकर शयन पर्यन्त तक की कीर्तन सेवा करने लगे।

कभी-कभी ये उपदेश के पद भी गाते। एक बार ये कुछ वैष्णवों के साथ जा रहे थे। मार्ग में कुछ लोग चौपड़ खेलने में अत्यन्त तन्मय हो रहे थे। उन पर तरस खाकर अपने मन को लक्ष्य करके सूरदासजी ने यह मार्मिक पद गाया था-मन तूं समझ सोच विचार। भक्ति बिन भगवन्त दुर्लभ कहत निगम पुकार।। साधु सङ्गति डारि पासा फेरि रसना सार। दांव अबकै परयौ पूरौ उतरि पल्लीपार।। छांड़ि सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मार। दूरि ते तजि तीन काने चमकि चोक विचार।। काम क्रोध जंजाल भूल्यो-ठग्यौ ठगिनी नार। सूर हरिके पद भजन बिन चल्यौ दोऊ कर झार।। (स्पष्टीकरण-समझ, सोच, विचार-ईश्वरके स्वरूपको समझो, अपना कल्याण सोचो, ईश्वर प्राप्ति का साधन विचारो। सत्रह से तात्पर्य सत्रह पुराण। अठारह से तात्पर्य अठारहवां श्रीमद्भागवत पुराण। पंच से तात्पर्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पाँचों विषय। तीन से तात्पर्य सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण से है। चौक समस्त संसार है।)

सङ्गीत सम्राट तानसेन के मुख से श्रीसूरदासजी का एक पद सुनकर दिल्लीश्वर अकबर का मन मचल उठा पदकर्ता के श्रीमुख से इस पद को सुनने के लिए। संयोग से सं० १६१३ में जब भगवान श्रीनाथजी मथुरा में विराज रहे थे और सूरदासजी भी वहीं उनकी

कीर्तन सेवा कर रहे थे उसी समय दिल्ली यात्रा के प्रसङ्ग में अकबर भी मथुरा पधारे। अकबर को जब यह मालूम हुआ कि श्रीसूरदासजी मथुरा में ही हैं तो उसने बड़े आदर के साथ इनको बुलवाया और पद सुनने का अनुरोध किया। तब श्रीसूरदासजी ने यह पद गाया मनरे माधवसों कर प्रीति।। इस पद को सुनकर अकबर ने इनकी भावनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिये कहा-'सूरदासजी! परमात्मा ने मुझे बादशाहत बक्शी है। सब लोग हमारा यश गाते हैं। मैं भी उन लोगों को दान-मान से सत्कृत करता हूँ, अतः आप भी मेरा कुछ यश गाओ तथा जो इच्छा हो माँग लो।' तब श्रीसूरदासजी ने यह पद गाया-नाहिन रह्यो मनमें ठौर। नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।। चलत चितवत द्यौस जागत सपन सोवत राति। हृदय ते वह मधुर मूरति छिन न इत उत जाति।। कहत कथा अनेक ऊधो लोक लोभ दिखाय। कहा कहौं मन प्रेम पूरन घट न सिंधु समाय।। स्यामगात सरोज लोचन ललित गति मृदु हास। सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास।। श्रीसूरदासजी की इस अनन्यता पर बादशाह अकबर बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु पद की अन्तिम तुक पर अकबर को सन्देह हुआ कि इनके नेत्र तो हैं नहीं, फिर ये कैसे कह रहे हैं कि 'मरत लोचन प्यास' जब बादशाह ने श्रीसूरदासजी से इस संबंध में जिज्ञासा की तो इन्होंने कहा कि-नेत्र तो सबके हैं, परन्तु सभी के नेत्रों को कहाँ भगवान के दर्शन की प्यास है? वस्तुतस्तु बात यह है कि भगवान का दर्शन करने वाले नेत्र और होते हैं और उन्हीं नेत्रों से मैं भगवान का दर्शन करके भी अतृप्त बना रहता हूँ। अतः मैंने यह कहा-'सूर···प्यास।' अकबर ने बहुत प्रलोभन दिया सूरदास को कि हम आपके नाम कई गांवों की जागीर लिख देते हैं, परन्तु भला, जिसको श्रीठाकुरजी की सेवा की जागीर मिली है वह भला दो चार गांवों की जागीर पर क्यों लुभाने लगा। अपने आराध्य का स्मरण करते हुए श्रीसूरदास वापस आ गए। अकबर के आग्रह पर श्रीसूरदासजी एक बार उससे फिर मिले वह प्रसङ्ग इस प्रकार के हैं-अकबर की बहुत-सी वेगमों में एक हिन्दू बेगम थीं जोधाबाई।

एक दिन जोधाबाई श्रीयमुना स्नान करने गई थीं। वहाँ उन्होंने देखा कि तट पर कोमल बिछोने पर पड़ी हुई एक छोटी-सी सुकुमार लड़की अपने नन्हें-नन्हें हाथों और पांवों को उछालती हुई किलकारियां भर रही हैं। जोधाबाई के हृदय में वात्सल्य उमड़ा और उस लड़की को उठाकर हृदय से लगा लिया तथा घर ले आकर अपनी गर्भ जात कन्या की भाँति बड़े स्नेह से उसका लालन-पालन करने लगीं। जब लड़की ग्यारह-बारह वर्ष की हो गई तब जोधाबाई ने एक दिन देखा कि वह उनकी श्रृङ्गार पेटी खोल रही है। जोधाबाई

छिपकर देखने लगीं कि देखूँ वह क्या करती है। लड़की ने पेटी खोलकर एक सुन्दर सी साड़ी पहनी और अपना पूर्ण श्रृङ्गार किया। सजकर वह ऊपर छत पर जाकर खड़ी हो गई। वह रोज ऐसा ही करती। एक दिन जोधाबाई ने पूछा-बेटी! तू ऐसा क्यों करती है? प्रथम तो लड़की चुप रही, परन्तु बार-बार आग्रह करने पर बोली-माँ! उस समय मेरा प्रियतम गाय चराकर लौटा करता है, उसके दर्शन के लिये मैं ऊपर जाती हूँ। और उसके सामने मलिन वेष में रहना ठीक नहीं, इसलिए मैं अपना साज-श्रृङ्गार कर लेती हूँ। जोधाबाई ने कहा-क्या तुम मुझे भी दिखा दोगी? लड़की ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु दूसरे दिन जोधाबाई भी ऊपर चली गईं। कहते हैं इन्हें दर्शन तो नहीं हुआ परन्तु मुरली की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी थी।

एक दिन जोधाबाई कुछ चिन्तित सी बैठी थीं। लड़की ने अपनी धर्म माता से इसका कारण पूछा। माँ ने कहा-बेटी! मैं बूढ़ी हो गई हूँ, इसलिए तेरा पिता मुझे प्यार नहीं करता, क्या तू मुझे एक दिन अपने हाथ से सजा देगी? लड़की ने अपने हाथ से माँ का श्रृंगार कर दिया। उस दिन अकबर जोधाबाई का सौन्दर्य देखकर चकित रह गया। आखिर उसने पूछा कि आज इतनी सुन्दर कैसे हो गई हो? जोधाबाई ने टालने की बहुत चेष्टा की, परन्तु अकबर पीछे पड़ गया। तब जोधाबाई ने बताया कि मेरी धर्म की बेटी ने मुझे इतना सुन्दर बनाया है। अकबर के मन में आया कि मैं उस लड़की से विवाह कर लूँ। किन्तु ज्यों ही यह विचार आया त्यों ही उसके शरीर में बड़ी तीव्र जलन होने लगी। अनेक औषधि उपचार करने पर भी मिटना तो दूर रहा, जलन पीड़ा बढ़ती ही गई। अन्त में उसने बीरबल से इसका निदान पूछा। उसने कहा कि आपके द्वारा कोई महदपराध हो गया है, वह महत्पुरुषों की कृपा से ही छूट सकता है। यदि श्रीतुलसीदास अथवा सूरदासजी चाहें तो आपको ठीक कर सकते हैं। तब अकबर ने बहुत अनुनय-विनय करके श्रीसूरदासजी को बुलाया। उनके आते ही उसकी जलन मिटने लगी। अकबर स्वस्थ हो गया, साथ ही इस चमत्कार से बड़ा चमत्कृत भी हुआ। अचानक उत्पन्न व्यथा का कारण पूछने पर श्रीसूरदासजी ने उसके मानसिक दुर्भाव को ही हेतु बताते हुए यह भी कहा कि तुम्हें मालूम नहीं है, वह कन्या भगवान श्रीकृष्ण की प्रियसखी श्रीललिताजी हैं। अकबर ने कहा-'आपके इस कथन का कोई ठोस प्रमाण भी है या केवल कोरी भावुकता ही है।' श्रीसूरदासजी ने कहा-'यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो मैं बता रहा हूँ, कन्या की जाँघ पर तिल का चिह्न है।' एक बार श्रीश्यामसुन्दर ने अपनी बाँसुरी वहाँ रख दी थी, उसी से वह तिल का निशान बन गया है

तथा उनके नेत्रों में एवं श्रीमुखारविंद पर निरन्तर भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रतिबिंबित होता रहता है। अकबर ने जब जोधाबाई द्वारा इसका निरीक्षण कराया तो बात सत्य निकली। बादशाह के मन में श्रद्धा उमड़ी इस देवी का दर्शन करने के लिए। उसने कन्या को दरबार में उपस्थित करने का आदेश दिया। जोधाबाई उसे सङ्ग लेकर आईं। श्रीसूरदासजी ने कहा-'ललिते! तोहिं बूझत शाहजहाँ।' उस कन्या ने कहा-'उद्धव! तजि श्याम तुम आये कहाँ?' बस इतना कहकर उस कन्या ने योगाग्नि से अपने शरीर को भस्मकर दिया। श्रीसूरदासजी ने वह भस्म बटोरकर अपने सिर पर चढ़ा ली और वहाँ से चलते हुये।

एक बार श्रीसूरदासजी से अकबर ने पूछा कि 'कविता सर्वोत्तम किसकी है?' इन्होंने कहा-कविता मेरी उत्तम है। इस पर बादशाह ने कहा-मैंने तो गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता की बहुत तारीफ सुनी है। श्रीसूरदासजी ने हँसकर कहा-गोस्वामीजी की कविता तो कविता है ही नहीं, मैं तो उसे महामन्त्र मानता हूँ। इसके बाद सूरदासजी ने श्रीतुलसीदासजी की बड़ी बड़ाई की। वैसे तो श्रीसूरदासजी स्थायी रूप से श्रीश्रीनाथजी की ही कीर्तन-सेवा करते थे, परन्तु बीच-बीच में कभी-कभी श्रीगोकुल में ठाकुर श्रीनवनीत प्रियजी के भी दर्शन करने जाया करते थे। एक बार ये श्रीगोकुल आये हुए थे तब श्रीठाकुरजी की बाललीला के बहुत पद गाये। इनके पदों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी ने संस्कृत में एक पालने का कीर्तन पद बनाकर सूरदासजी को सिखाया और श्रीठाकुरजी के सामने गाने को कहा-सूरदासजी ने उस पद को गाकर पुनः अपनी अलौकिक प्रतिभा से तुरंत ही उसी भाव के अनुसार स्वयं भी पद बनाकर, गाकर सुनाया। यथा-प्रेंख पर्यंक गिरिधरन सोहै। प्रेम आनन्द भरी गोपिका कर धरैं देत झोटा तहाँ काम मोहै।। मदनमोहन हँसत दन्त कान्ती लसत बजत नूपूर मधुर रुनन कारी। भाल मसि बिन्दु केसर तिलक लसै नैन अंजन मनसिज बान मारी।। अलक राजतमुख भुज पसारत सुख हरत गोपांगना मान तिहि समय तहाँ। देत सुख सिंधु अति गोपिका जननको सूर सोभा निरखि बारै तन मन जहाँ। इसके बाद सूरदासजी ने और भी बहुत से पद गाये। चमत्कारी की बात तो यह थी कि जब-जब जैसे-जैसे श्रीठाकुरजी के श्रृङ्गार किये जाते, सूरदासजी हुबहू वैसा ही वर्णन करते। चाहे आँख वाले के देखने में कोई श्रृङ्गार भले ही शेष रह जाय, परन्तु प्रज्ञाचक्षु सूरदास की पैनी दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म श्रृंगार को भी देखने में नहीं चूकती थी और जब वे उस अनुपम शोभा को अद्‌भुत अभूत उपमादि अलंकारों से अलंकृतकर वर्णन करते थे तो और की तो बात ही क्या, स्वयं गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी भी चकित हो जाते

थे। एक पद में श्रीबालकृष्ण की शोभा का वर्णन करते हुये श्रीसूरदासजी कहते हैं कि–कहाँ लौ बरनौ सुन्दरताई। खेलत कुँवर कनक आंगन में नैन निरखि छबि पाई।। कुलही लसति सिर स्यामसुन्दर कै बहुविधि सुरङ्ग बनाई। मानौं घन उपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।। अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई। मानौं प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई।। नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुराई। सनि, गुरु-असुर, देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।। दूध दन्त दुति कहि न जाति कछु अद्‌भुत उपमा पाई। किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु घनमें बिज्जु छटाई।। खण्डित वचन देत पूरन सुख अलप-अलप जल पाई। घुटुरुनि चलत रेनु तन मण्डित सूरदास बलि जाई।

एक बार गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्रों के मन में सूरदासजी की परीक्षा करने की सूझी। सूरदास गोकुल आये हुए थे, कुछ दिन रहकर जब वे श्रीगुसाईंजी के साथ गोवर्धन को जाने लगे तो बालक स्वरूपों ने इन्हें आग्रह करके रोक लिया। फिर तो श्रीगोविंदरायजी श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी आदि बालकों ने अपने श्रेष्ठ भ्राता श्रीगिरिधरजी से निवेदन किया कि नित्यप्रति सूरदासजी श्रीठाकुरजी का श्रृङ्गार वर्णन करते हैं, वह तो नियमित रूप से सदा ही रहता है। हर दिन की अलग-अलग पोशाकें, अलङ्कार आदि निश्चित ही हैं, अतः वह तो अटकल से भी वर्णन कर सकते हैं। एक दिन आप अद्‌भुत श्रृंगार करिये, जो कभी नहीं किया गया हो तब यदि यह वर्णन कर दें तो हम लोग समझें कि इन्हें श्रीठाकुरजी का साक्षात् दर्शन होता है। श्रीगिरिधरजी को सूरदासजी के स्वरूपानुभव के सम्बन्ध में कुछ सन्देह नहीं था, अतः उन्होंने प्रथम तो बालकों को परीक्षा के लिये मना किया कि भगवदीयजनों की परीक्षा नहीं करनी चाहिये। परन्तु जब बालक मचल गये कि हम लोग कुछ अभाववश परीक्षा नहीं करना चाहते हैं, बल्कि सूरदासजी के अनुभव का रसास्वादन करने के लिए ही परीक्षा की बात सोची है। तब श्रीगिरिधरजी ने हामी भर ली और दूसरे दिन वस्तुतस्तु अद्‌भुत श्रृङ्गार ही किया। आषाढ़ का महीना था, गर्मी बहुत पड़ रही थी। अतः श्रीनवनीत प्रियजी को कोई भी वस्त्र नहीं धारण कराया, केवल मोतियों का ही श्रृङ्गार किया। श्रीसूरदासजी जगमोहन में बैठे-बैठे मन ही मन मुस्कुरा रहे थे श्रीठाकुरजी के इस अनोखे श्रृङ्गार का अनुभव करके। जब श्रृङ्गार के दर्शन खुले तो श्रीगिरिधरजी ने सूरदासजी को श्रीठाकुरजी के श्रृङ्गार का पद कीर्तन करने को कहा। उस समय सूरदासजी ने यह पद गाया-देखेरी हरि नंगम नंगा। जलसुत भूषण अङ्ग विराजत वसन हीन छबि

उठत तरंगा।। अंग-अंग प्रति अमित माधुरी निरखत लज्जित कोटि अनङ्गा। किलकत दधि सुत मुख लै मन भरि सूर हँसत व्रज जुवतिन संगा।। यह पद सुनकर सभी बालक स्वरूप बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले-सूरदासजी! आज आपने यह क्या गाया? सूरदासजी ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहा-जै, जै आज आपने जैसा अद्भुत श्रृङ्गार किया वैसा ही मैंने अद्भुत पद भी गाया। तदुपरान्त श्रीगिरिधरजी सूरदासजी को साथ लेकर श्रीगोवर्धन आये और आज का समस्त वृत्तान्त गुसाईंजी से निवेदन किये। तब श्रीगुसाईंजी ने सूरदासजी की बहुत बड़ाई की और कहा कि इसमें आश्चर्य ही क्या है, सूरदासजी पुष्टिमार्ग के जहाज हैं। इनको तो अष्ट प्रहर भगवान की लीलाओं का अनुभव होता रहता है।

एक बार श्रीसूरदासजी अपनी मस्ती में कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक जलहीन कुआँ था। वे उसमें गिर गये। सात दिन हो गये। प्रथम तो इन्होंने भगवान की बड़े ही करुण कण्ठ से प्रार्थना की, तत्पश्चात् प्रेम भरा मधुर उपालम्भ भी दिया। यथा-कहावत ऐसे त्यागी दानि। चारि पदारथ दिये सुदामा गुरुके सुत दिये आनि। विभीषण निज लंका दीनी प्रेमप्रीति पहिचानि। रावणके दस मस्तक छेदे दृढ़ गहि सारङ्ग पानि।। प्रह्लादहुँ की रक्षा कीनी सुर पति कियो निधानि।। सूरदासपर बहुत निठुरता नैनहूँ की हानि। भगवान ने आकर इन्हें हाथ पकड़कर कुएँ से बाहर निकाल दिया। प्रार्थना एवं उपालम्भ सुनकर तुरन्त आकर निकालने तथा प्रभु के परम सुकोमल श्रीकरकमल के मृदुल संस्पर्श से प्राप्त परमानन्द से श्रीसूरदासजी यह जान गये कि ये तो भगवान ही हैं। फिर तो प्रभु की अमित कृपा विचारकर इन्हें बड़ा हर्ष हुआ परन्तु साथ ही पश्चात्ताप भी बहुत हुआ कि मैं पास आने पर भी भगवान का दर्शन नहीं कर सका। भक्तवत्सल भगवान से भक्त की अन्तर्व्यथा सही नहीं गई और दर्शन देने का निश्चय करके श्रीराधा माधव युगल सूरदासजी के समीप आकर इन्हें सुनाते हुए आपस में वार्ता करने लगे। श्रीकृष्ण-प्रियाजू! आगे मत जाइयेगा, नहीं तो ये अन्धा आपके पांव पकड़ लेगा। श्रीराधा-(कृपा से प्रेरित होकर) मैं तो जाऊँगी, मुझे इनसे कोई भय नहीं है। यह कहकर सूरदासजी के समीप जाकर श्रीश्रीजी ने पूछा-क्यों सूरदासजी! यदि मैं तुम्हारे समीप आउँ तो क्या तुम मेरे चरण पकड़ लोगे? सूरदासजी ने कहा-भला, मैं अन्धा आपके चरण कैसे पकड़ सकता हूँ? तब श्रीराधिकाजी सूरदासजी के आगे अपने चरणों को बढ़ाकर बोलीं-तो अच्छा लो, मेरे चरण स्पर्श कर लो। श्रीकृष्णजी ने कहा-सावधान, सूरदासजी जरूर चरण पकड़ लेंगे। श्रीसूरदासजी ने प्रभु के इस कथन को पाँव पकड़ने का संकेत समझा और फिर तो सावधान होकर

बैठ गये। जैसे ही श्रीश्रीजी ने चरण स्पर्श कराया कि सूरदास ने पकड़ ही लिया। परन्तु श्रीराधा भी सावधान थीं अतः तुरन्त ही पाँव छुड़ाकर भाग गईं। लेकिन अंधे की पकड़ व्यर्थ नहीं जा सकती है। श्रीश्रीजी के पाँव का नूपुर खुलकर सूरदासजी के हाथ में आ गया। श्रीराधिकाजी ने कहा-सूरदासजी! तुम मेरी पैंजनी मुझे दे दो, मुझे रास करने जाना है। सूरदास-मैं अन्धा क्या जानूँ, किसकी है? मैं आपको दे दूँ और फिर कोई दूसरा मुझसे माँगे तो मैं क्या करूँगा? हाँ मैं आपको देख लूँ, और आपकी दूसरे पाँव की पैंजनी से मिला लूँ, यदि मिल जायगी तो आपको दे दूँगा। श्रीसूरदासजी के इस कौशल पर युगल हँस गये और रीझकर इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये। सूरदासजी श्रीप्रिया-प्रियतम का दर्शनकर कृतकृत्य हो गये। तदन्तर युगल ने प्रसन्न होकर कहा-सूरदासजी! तुम्हारी जो इच्छा हो सो मांग लो। सूरदास-आप देंगे। युगल-तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है। याद रक्खो-जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अतः अवश्य देंगे। सूरदास तो आप त्रिवाचा पूर्वक कहें-मैं अवश्य दूंगा। युगल-मैंने वचन दिया, तुम शीघ्र मांगो। सूरदास ने कहा-जिन आँखों से मैंने आपको देखा है, उनसे मैं संसार नहीं देखना चाहता। अतः मेरी आँखें पुनः फूट जायँ। श्रीराधा और श्रीकृष्ण की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। वचन देने से विवश थे, अतः सूरदासजी की दृष्टि पुनः पूर्ववत् हो गई।

श्रीसूरदासजी परासौली चन्द्रसरोवर पर रहते थे। इनकी सेवा में गोपाल नाम का एक व्रजवासी बालक रहता था। एक दिन दोपहर को भोजन के समय सूरदासजी ने उससे कहा-गोपाल! मैं महाप्रसाद पाने जा रहा हूँ, तू एक लोटा जल भरकर समीप रख देना। गोपाल ने हामी तो भर ली, परन्तु बालस्वभाव बस जल देना भूल गया, चला गया गोबर उठाने और संयोग से वहाँ दो-चार वैष्णव मिल गये तो उनसे बात करने में लग गया। इधर सूरदासजी के गले में ग्रास अटक गया। बायें हाथ से इधर-उधर बहुत टटोले, परन्तु लोटा मिला नहीं, समीप में और कोई था नहीं, गले में ग्रास अटकने से बोला जा नहीं रहा था, प्राण संकट में पड़ गये। तब भक्तवत्सल भगवान श्रीश्रीनाथजी अपनी सोने की झारी में जल भरकर सूरदासजी के पास रख गये। झारी सूरदासजी के हाथ लगी तुरन्त जल पीये तब शांति हुई। उधर बहुत देर बाद गोपाल को याद आई कि मैंने बाबा को जल नहीं दिया। वह दौड़ा-दौड़ा आया उसने देखा कि सूरदासजी प्रसाद पाकर आचमन कर लिये हैं। उसे अपनी भूल पर बहुत पश्चात्ताप हो रहा था। उसने अपनी सब बात बतायी और पूछा कि आपको जल किसने दिया? सूरदासजी तो समझते थे कि गोपाल ही रख गया होगा, परंतु

जब उसने इस प्रकार से कहा तो जान गये कि मन्दिर के गोपाल ने जल दिया है। तब उससे बोले-अरे, तूने गोपाल नाम क्यों धराया? सच्चे गोपाल तो एक श्री श्रीनाथजी हैं। उन्होंने ही आज मेरे प्राण बचाये हैं, नहीं तो अब तक तो मेरा शरीर छूट गया होता। अच्छा, देख तो, यह झारी कैसी है। गोपाल ने देखा तो वह श्रीठाकुरजी की सेवा की सोने की झारी थी। निश्चय हो जाने पर सूरदासजी के मन में बहुत दुःख हुआ कि मेरे लिए श्रीप्रभु को इतना श्रम करना पड़ा और गोपाल पर नाराज भी हुए कि तेरी असावधानी के कारण आज भगवान को दौड़कर आना पड़ा। अच्छा, झारी को यत्न से रखना और जब श्रीगुसाईंजी उत्थापन सेवा में जायँ तो उन्हें दे आना। गोपाल झारी लेकर श्रीविट्ठलनाथजी के पास पहुँचा और दण्डवत् प्रणाम करके आज का समस्त वृत्तान्त निवेदन किया तथा अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना भी की। श्रीगुसाईंजी जब मन्दिर में उत्थापन सेवा के लिए प्रस्तुत हुए तो प्रभु को भक्तवत्सलता की बधाई देते हुए बोले-जै, जै आज तो आपने सूरदासजी पर बड़ी कृपा की। सचमुच, तुम बिन कौन भक्त प्रतिपालै।' श्रीठाकुरजी ने कहा-गुसाईंजी! सूरदासजी के गले में कौर अटका था, सो जब वह व्याकुल हुए तो मुझे भी बड़ी व्याकुलता हुई, अतः मैं स्वयं जल लेकर गया। तत्पश्चात् श्रीसूरदासजी उत्थापन का दर्शन करने आये, तब श्रीगुसाईंजी ने सूरदासजी के भाग्य की सराहना की कि तुमको तो श्रीठाकुरजी ने अपना लिया है। तब सूरदासजी ने बड़ी विनम्रता पूर्वक कहा-महाराजजी! यह तो आपकी कृपा का सुफल है, नहीं तो हम सरीखे अधमों को कौन पूछता। श्रीठाकुरजी तो आप गुरुजनों की कानि मानकर पतित जीवों को अङ्गीकार करते हैं। श्रीगुसाईंजी सूरदासजी की इस दीनता से बड़े ही प्रभावित हुए और इन्हें प्रभु का परम अनुग्रह भाजन समझा।

श्रीश्रीनाथजी का मन्दिर तो गिरिराजजी (गोवर्धन) के ऊपर है नीचे गोपालपुर नाम का गाँव बसा हुआ है। जिसे अब जतीपुरा कहते हैं, उसमें एक परमलोभी वणिक रहता था। उसकी आयु लगभग साठ वर्ष की हो चुकी थी, परन्तु उसने न तो श्रीगुसाईंजी से वा किसी संत-वैष्णव से दीक्षा ही ली थी और न कभी अपने समीप में ही विराजमान श्रीश्रीनाथजी का दर्शन ही करने जाता था। परन्तु चालाकी यह करता कि जब कोई वैष्णव श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करके आता तो उससे श्रीठाकुरजी का समस्त श्रृङ्गार पूछ लेता और इसके बाद जो कोई उसकी दुकान पर आता तो वह खूब प्रशंसा करता श्रीठाकुरजी के श्रृङ्गार की। अहा हा! आज कैसा अद्भुत श्रृङ्गार भया है। श्रीठाकुरजी का आज कैसा अलौकिक दर्शन है। आदि। इतना ही नहीं, लोगों को दिखाने के लिए गले में माला

और माथे पर तिलक भी धारण करता, जिससे कि लोग मुझे वैष्णव समझें। सरल हृदय संत-वैष्णव बनियां की प्रेम लपेटी वार्ता एवं वैष्णव वेष देखकर उसे सत्य ही परम वैष्णव जानकर उसी की दुकान से सीधा-सामान आदि आवश्यक वस्तुएँ लेते। बनियां भी अपने पाखण्ड से लोगों को मोहित करके खूब ठगता। इस प्रकार उसने बहुत धन कमा लिया था। एक दिन जब सूरदासजी उसकी दुकान से होकर निकले तो उसने इनसे भी वही माया की। लगा श्रीठाकुरजी के शोभा-श्रृङ्गार का वर्णन करने और अंत में कहा कि सूरदासजी! सभी संत-वैष्णव हमारे यहाँ से सीधा-सामान ले जाते हैं, परन्तु आप तो कुछ लेना-देना तो दूर रहा कभी भी हमारी दुकान पर आते ही नहीं हो। महाराज! यह दुकान तो आपकी ही है। मैं भी आप सब संतों का दास हूँ, फिर मेरा क्या अपराध है? जो आप मेरे यहाँ से कभी कुछ सौदा नहीं लेते हैं। मेरे ऊपर भी तो कभी-कभी कृपा किया करिये।

सर्वज्ञ सूरदासजी बनियाँ के इन वचनों को सुनकर मन में विचार करने लगे कि देखो तो, यह बनियाँ मुझे निरा अंधा ही समझता है और चिकनी-चुपड़ी बात बनाकर के मुझे भी फँसा रहा है। यह समझता है कि मैं इसकी बगुला-भक्ति को जानता ही नहीं हूँ। इसको 'मुख में राम बगल में छुरी' की कुटेव पड़ी है। अच्छा हुआ, जो आज इसने स्वयं ही मुझे छेड़ा है, तो अब इसका कपट दूर कर देना चाहिये, और इसे श्रीगुसाईंजी का सेवक और श्रीश्रीनाथजी का दर्शन भी कराना चाहिये। यह सब सोचकर सूरदासजी ने कहा-देखोजी, मैं तुम्हें अच्छी तरह से जानता हूँ, तुम न वैष्णव हो, न कभी श्रीठाकुरजी का दर्शन करने जाते हो, तुमने सबको ठगने के लिये वैष्णवता का स्वांग बना रक्खा है, इसलिये मैं तुम्हारी दुकान पर कभी नहीं आता हूँ। तुम्हीं बताओ, मैं सत्य कह रहा हूँ न? सूरदासजी के यह वचन सुनकर बनियाँ मन में बहुत लज्जित हुआ और हाथ जोड़कर बोला-महाराज! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यह बात और किसी के आगे मत कहना। मेरे मन में तो दर्शन की बहुत उत्कण्ठा रहती है, परन्तु एक तो यह है कि मैं उधर दर्शन करने जाऊँ, और इधर कोई ग्राहक दुकान से लौट जाये और दूसरी दुकान से सौदा लेने लगे तो मेरी रोजी मारी जायेगी। दूसरे मेरे पास ऐसा कोई आदमी नहीं है जो दर्शन खुलते ही मुझे सूचना दे और मैं दौड़कर दर्शन कर आऊँ। इसलिये मैं दर्शन करने नहीं पहुँच पाता हूँ। तब श्रीसूरदासजी ने कहा कि अच्छा, जब मैं दर्शन खुलने के समय आकर सूचना दूँ तो क्या तुम दर्शन करने चलोगे? बनियाँ ने हामी भर ली। तत्पश्चात् जब उत्थापन के समय शङ्खनाद हुआ तो सूरदासजी ने आकर बनियाँ को चेतावनी दी कि दर्शन खुलने वाला है, शीघ्र चलो। बनियाँ

बोला-सूरदासजी! इस समय तो गाँव के लोग सामान खरीदने आते हैं, अतः अभी तो अवकाश नहीं है, जब भोग के दर्शन खुलें तो आप कृपा करना। सूरदासजी भोग-दर्शन के समय आये तो बनियाँ ने फिर बात बनाई कि महाराज! इस समय तो गायें वन से चरकर घर लौटती हैं, यदि मैं दर्शन करने चला जाऊँगा तो वह हमारे सब अनाज को खा जायेंगी। अतः शयन आरती के समय आप आना। सूरदासजी शयन आरती के समय भी आये तो वह बनियाँ बहुत ही नम्र होकर बोला-महाराज! आज आपको बहुत परिश्रम हुआ उसके लिये हम क्षमा-याचना करते हैं और निवेदन यह कि यह दिया-बत्ती जलाने का समय है, इस समय घर में लक्ष्मीजी आती हैं, यदि दीपक नहीं होगा तो वे लौट जायेंगी, और फिर अंधेरा भी हो गया है, यदि दुकान को खुली छोड़कर चला जाऊँगा तो कोई कुछ सामान ही चुरा लेगा, अतः अब प्रातःकाल प्रथम मङ्गला का दर्शन करके ही दुकान खोलूँगा। आप उस समय मुझे सूचित करने की कृपा कीजियेगा। सूरदासजी ने प्रातःकाल भी बनियाँ को चैतन्य किया तो वह बोला-महाराज अभी तो बौहनी का समय है, यदि इस समय कोई ग्राहक आकर लौट जाये तो पूरा दिन खाली जायेगा। अतः दुकान खोल लूँ, फिर श्रृङ्गार दर्शन के समय चलूँगा। सूरदासजी श्रृङ्गार दर्शन के समय भी आये तो इसने पुनः बढ़िया बौहनी न होने तथा गायों के इधर-उधर डोलने का बहाना बनाकर फिर राजभोग का दर्शन करने के लिए चलने को कहा। सूरदासजी फिर आये तो वह बोला-महाराज!, इस समय तो वैष्णव लोग श्रीठाकुरजी का दर्शन करके लौटते हैं तो दुकान पर सीधा-सामान लेने के लिये आते हैं, यदि मैं नहीं रहूँगा तो वे और जगह चले जायेंगे और मैं बूढ़ा हूँ, इतनी जल्दी पर्वत पर से दौड़कर आ नहीं सकता हूँ, इसलिये उत्थापन के समय चलूँगा। इस प्रकार श्रीसूरदासजी ने तीन दिन तक उस बनियाँ को दर्शन कराने का प्रयत्न किया परन्तु वह महालोभी कोई न कोई बहाना बनाकर नहीं ही गया। तब चौथे दिन सूरदासजी ने 'भय बिनु होइ न प्रीति' का सिद्धान्त अपनाया। अतः मङ्गला के समय ही इसे दर्शन करने के लिये इसे चलने को कहें परन्तु इसने जब फिर इधर-उधर की बात बनाना शुरु किया तो सूरदासजी कड़े पड़ गये और बोले-देखो, यदि आज दर्शनार्थ नहीं चलते हो तो मैं तुम्हारा सब भण्डाफोड़ कर दूँगा। तुम जानते हो, मैं कवि हूँ, कविता में तुम्हारी कपट-कुटिलता को कह करके तुम्हारा जगत में उपहास कराऊँगा। इतना ही नहीं, जो भी तुम्हारी दुकान पर आवेंगे, उनको ऐसा भड़काऊँगा कि वे जन्म भर तुम्हारे यहाँ झाँकेंगे ही नहीं। तब तो वह बनियाँ बहुत ही डरा और चरणों में पड़कर प्रार्थना करने लगा कि महाराज! आप कुछ मत करो, मैं अभी आपके साथ ही दर्शन करने चलता हूँ। यह कहकर वह सूरदासजी के साथ चल पड़ा।

जब मंगला का दर्शन खुला तो सूरदासजी ने श्रीश्रीनाथजी से प्रार्थना किया कि, प्रभो! यह जीव आपकी ध्वजा के नीचे निवास करता है अतः निश्चय ही यह भगवदीय है। परन्तु माया-मोहवश होकर आपको भूल गया है, इसलिये इसके चित्त का आकर्षण करके इसका उद्धार कीजिये। श्रीठाकुरजी ने कहा-सूरदासजी! जब आप सदृश महाभागवत इसके उद्धार की चिन्ता कर रहे हैं तो अब उद्धार में सन्देह ही क्या है? जिस जीव पर संतों की कृपादृष्टि हो जाती है वह तो निश्चय ही मुझे पा लेता है। यह कहकर श्रीठाकुरजी ने उस बनियाँ को अपने परम सौन्दर्य-माधुर्यमय रूप का दर्शन कराया। भगवान की उस त्रिभुवन मोहिनी छवि का दर्शनकर बनियाँ का मन हर गया और उसका हृदय पुकार उठा- जे दिन गये तुमहिं बिनु देखे। ते विरंचि जनि पारहिं लेखे।। (रामा०)जब मंगला का दर्शन हो चुका तब उस वणिक ने श्रीसूरदासजी के चरणों को पकड़कर बहुत विनती किया कि मेरा समस्त जीवन व्यर्थ ही धन-संग्रह में बीत गया, परमार्थ कुछ भी हाथ नहीं लगा। अतः महाराज! आप कृपा करके जैसे हो तैसे मुझे श्रीगुसाईंजी का सेवक करा दो, वैष्णव बनवा दो और मेरे पास बहुत-बहुत धन इकट्ठा हो गया है, आप जहाँ चाहें वहाँ उसे खर्च करा दें। तब श्रीसूरदासजी ने उससे कहा कि तू स्नान करके अपरस में श्रीगुसाईंजी के पास आ, मैं चलता हूँ वहाँ। सूरदासजी ने श्रीगुसाईंजी से प्रार्थना की कि महाराज! इस बनियाँ को आप अपनी शरण में ले लीजिये। तब श्रीगुसाईंजी मुस्कुराकर बोले-सूरदासजी! तुमने तो अच्छा साठ बरस का बूढ़ा बैल नाथा है. तुम यदि इस पर कृपा नहीं करते तो इसका सम्पूर्ण जीवन निरर्थक ही चला जाता। तत्पश्चात् श्रीगुसाईंजी ने श्रीश्रीनाथजी के सन्निधान में बैठाकर उसका ब्रह्मसम्बन्ध कराया। उसने श्रीगुसाईंजी को बहुत-बहुत भेंट अर्पण की और श्रीठाकुरजी के लिये भी बहुत सुन्दर वस्त्राभूषण बनवाये। उसी दिन से वह बनियाँ नित्यप्रति श्रीठाकुरजी की सभी झाँकियों का दर्शन करता। उसने श्रीसूरदासजी का बहुत उपकार माना।

एक बार उस बनियाँ ने श्रीसूरदासजी से प्रार्थना किया कि महाराज! अब तो आप कुछ ऐसी कृपा करें कि इस जन्म में ठाकुरजी मुझे अपना लें। मुझे पुनः पुनः जन्म-मरण का क्लेश नहीं भोगना पड़े। तब सूरदासजी ने उसे एक साठ तुकों का उपदेशात्मक पद सुनाया, जिसको सुनते ही उसकी समस्त देह-गेहासक्ति दूर हो गई, भगवान के श्रीचरणों में अविचल भक्ति हो गई। उसने तुरन्त ही साठ हजार रुपया लाकर श्रीठाकुरजी को अर्पण कर दिया, जो कि उसने आज तक बड़े यत्न से संग्रह किया था। उसे भगवान की लीलाओं का अनुभव होने लगा। वह निरन्तर स्वरूपानन्द में मग्न रहने लगा। इस प्रकार श्रीसूरदासजी ने ऐसे मायामोहित जीव का कल्याण किया।

एक बार संतों का समुदाय श्रीसूरदासजी से मिलने के लिये गया तो इन्होंने वैष्णवों का बड़ा सत्कार किया और आनन्दातिरेक में उस समय यह पद गाया-जा दिन सन्त पाहुने आवत। तीरथ कोटि सनान करे फल जैसो दरसन पावत। नयो नेह दिन दिन प्रति उनकै चरण कमल चितलावत। मन वच कर्म और नहिं जानत सुमिरत औ सुमिरावत।। मिथ्या वाद उपाधि रहित ह्वै विमल विमल यश गावत। बन्धन कर्म कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत।। संगति रहै साधुकी अनुदिन भव दुख दूरि नशावत। सूरदास संगति करि तिनकी जे हरि सुरति करावत।। पुनश्च-हरिजन संग छिनक जो होई। कोटि स्वर्ग सुख कोटि मुक्ति सुख वा सम लहै न कोई। अति बड़ भाग पुण्य संचित फल कृष्ण कृपा ह्वै जाके। सूरदास हरिजन पद महिमा कहत भागवत ताके।। इस प्रकार इन्होंने संत-महिमा के बहुत पद गाकर सुनाये। तब वैष्णवजन इन पर बहुत ही प्रसन्न हुये और बोले-सूरदासजी की भगवन्निष्ठा को तो हम लोग जानते थे, परन्तु भक्तों में भी इनका इतना भाव है, यह तो आज जानने में आया है।

श्रीसूरदासजी अपने नित्य नवीन पदों द्वारा श्रीठाकुरजी की कीर्तन-सेवा करते। एक बार इनके भावुक मन में सहज ही विचार हो आया कि मैं सवा लाख कीर्तन पद रचना करके श्रीठाकुरजी को भेंट करूँ। फिर तो नित्यप्रति नवीन लीलापदों का सृजन एवं संग्रह प्रारम्भ हो गया। लगभग एक लाख पद संग्रहित भी हो गये, परन्तु अभी पच्चीस हजार पद शेष थे, इधर श्रीसूरदासजी को ऐसा अनुभव होने लगा कि प्यारे सखा श्रीकृष्ण मुझे अपनी नित्य लीला में बुला रहे हैं। एक ओर तो पद रचना की प्रतिज्ञा, दूसरी ओर प्यारे का प्रेम भरा आह्वान। सूरदासजी एक क्षण के लिये विचार में पड़ गये, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने निश्चय कर लिया कि पद पूर्ण करके ही प्रभु के पास चलूँगा। उधर श्रीगोवर्धननाथजी अपने प्रिय सखा को समीप बुलाने के लिये आतुर हो रहे थे। सूरदासजी के निश्चय को जानकर भगवान से रहा नहीं गया। वे तुरन्त प्रकट हो गये और बोले-सूरदासजी! आपका सवा लाख पद रचना का संकल्प तो पूर्ण हो गया है। सूरदास-परन्तु मैंने तो अभी एक लाख ही पद बनाये हैं। श्रीकृष्ण-पच्चीस हजार मैंने रचकर उसमें शामिल कर दिये हैं। नहीं मानो तो अपना संग्रह देख लो। पद पूरे निकलेंगे। मेरे पदों में 'सूरश्याम' की छाप है। वस्तुतस्तु जब श्रीसूरदासजी ने एक वैष्णव से इसकी जांच कराई तो बात सत्य निकली। तब श्रीसूरदासजी ने भगवान को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके कहा-मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। बन्दउँ तव पद बारहिं बारा। (रामा०) श्रीठाकुरजी सूरदास से अपनी नित्यलीला में

सम्मिलित होने का अनुरोध करके अन्तर्धान हो गये। प्रभु की कृपा विचारकर श्रीसूरदासजी मन ही मन बहुत प्रसन्न हुये।

श्रीसूरदासजी के पदों का संग्रह करने के विचार से सम्राट अकबर ने देशभर में यह घोषणा करवा दी थी कि जो कोई सूरदासजी के जितने पद लावेंगे उन्हें उतनी मुहरें दी जावेंगी। फिर तो मुहरों के लोभ से लोग स्वयं भी पद बना-बनाकर उसमें सूरदास की छाप लगाकर लाने लगे। परिणाम यह हुआ कि सवा लाख की जगह ढाई लाख पद एकत्रित हो गये। बादशाह को समझते देर नहीं लगी कि लोग लोभवश फर्जी पद लाते हैं। अतः उसने पद लाने वालों से इस बात की शिकायत की, परन्तु सभी लोग दावे के साथ कहते कि यह सूरदास का ही पद है, आपके पास क्या प्रमाण है कि ये सूरदास के नहीं हैं। तब बादशाह ने यह कहते हुए कि 'यदि ईश्वर सच्चे न्यायकारी हैं तो हमारा न्याय करें' सभी पदों को जल में डाल दिया। हुआ यह कि जो सूरदासजी के पद थे उनको तो जल का स्पर्श भी नहीं हुआ और जो फर्जी थे वे भीग गये, धुल गये एवं जल में घुल गये। यह देखकर झूठा दावा करने वाले लोग लज्जित हो अपना सा मुँह लेकर घर लौट गये। इस प्रसङ्ग से श्रीसूरदासजी के पदों की दिव्यता सिद्ध होती है।

गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी श्रीठाकुरजी का श्रृङ्गार कर रहे थे। सहसा उनका ध्यान सूरदासजी की ओर आकृष्ट हुआ। श्रृङ्गार के समय सूरदासजी नित्यप्रति श्रृङ्गार के पद गाया करते थे। परन्तु आज वे नहीं दिखाई दे रहे थे। श्रीगुसाईंजी ने सेवकों से पूछा-क्या आज सूरदासजी नहीं आये? तब एक वैष्णव ने निवेदन किया-महाराज! सूरदासजी तो आज मंगला आरती का दर्शन करके, सभी वैष्णवों से श्रीहरि स्मरण करके पारासौली चले गये। श्रीविट्ठलनाथजी ने श्रीठाकुरजी की ओर देखा तो प्रभु के नेत्र सजल दिखाई पड़े। तब आप समझ गये कि सूरदासजी ऐहिक लीला संवरण कर नित्यलीला में प्रवेश करना चाहते हैं। अतः समस्त वैष्णवों को बुलाकर श्रीगुसाईंजी ने आज्ञा की कि-देखो, आज पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है, अतः जिसको जो कुछ लेना हो वह ले ले और आप सभी लोग पारासौली जाकर उन्हें संभालो, हम भी राजभोग आरती के उपरान्त शीघ्र आयेंगे। सब लोग श्रीगुसाईंजी को प्रणाम कर वहाँ से प्रस्थान किये।

इधर श्रीसूरदासजी श्रीश्रीनाथजी की ध्वजा को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके ध्वजा के सन्मुख मुख करके लेट गये। मन में सोच रहे थे कि आचार्य महाप्रभु एवं श्रीगुसाईंजी ने मेरे ऊपर ऐसी महती कृपा की कि इसी शरीर से भगवान की लीलाओं का अनुभव होने लगा।

यदि आज अन्तिम समय में भी श्रीगुसाईंजी कृपा करके मुझे दर्शन दे देते तो मैं धन्य-धन्य हो जाता। सूरदासजी को हृदय में दृढ़ विश्वास हो रहा था कि गुसाईंजी तो कृपासिंधु हैं। अतः अवश्य ही मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे, मेरे मनोरथ को पूर्ण करेंगे। उधर श्री गुसाईंजी कुछ वैष्णवों को तो सूरदासजी के पास भेज दिये और कुछ को यह कार्य सौंपे कि वे मुझे घड़ी-घड़ी का समाचार दिया करें। राजभोग की आरती होते-होते एक वैष्णव ने आकर कहा कि महाराज! अब तो सूरदासजी ने भगवान में मन लगाकर सबसे बोलना भी बंद कर दिया है। तब श्रीगुसाईंजी, रामदास, कुम्भनदास, गोविन्ददासजी आदि वैष्णवों को संग लेकर पारासौली पहुँचे। वहाँ जाकर देखे तो सूरदासजी अचेत से हो रहे थे। तब श्रीगुसाईंजी सूरदासजी का सिर अपनी गोद में लेकर उनका हाथ पकड़कर बोले-सूरदासजी! कैसी तबियत है? श्रीगुसाईंजी के स्वर को पहचानकर श्रीसूरदासजी ने तत्काल प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले-महाराज! मैं तो आपकी बाट ही देख रहा था। आपका ही चिन्तन कर रहा था। आपने बड़ी कृपा की जो इस समय आकर दर्शन दिये। यह कहकर सूरदासजी ने यह पद गाया-देखौ देखौ हरिजूको एक सुभाव। अति गम्भीर उदार उदधि प्रभु जान शिरोमणि राव।। राई जितनी सेवाको फल मानत मेरु समान। समुझि दास अपराध सिन्धु सम बूँद न एकौ जान।। बदन प्रसन्न कमलपद सन्मुख दीखत ही हैं ऐसे। विमुखहु भये कृपा या मुखको जब देखौं तब तैसे।। भक्त विरहकातर करुणामय डोलत पाछे लागे। सूरदास ऐसे प्रभुको कत दीजै पीठ अभागे।। यह पद सुनकर श्रीगुसाईंजी ने समस्त वैष्णवों को सम्बोधित करके कहा जिस जीव पर भगवान का परम अनुग्रह होता है उसी को यह दीनतारूपी सम्पत्ति मिलती है। सूरदासजी पूर्ण भगवदीय हैं, अतः इनको यह महानिधि मिली है।

श्रीचतुर्भुजदासजी ने सूरदासजी के चरणों में प्रणाम करके विनती की कि महाराज! अपने श्रीठाकुरजी का नाम, रूप, लीला, गुण-गान में तो लक्षाविधि पद बनाया, परन्तु श्रीआचार्य यश वर्णन सम्बन्धी पद तो आपने एक भी नहीं रचा। तब श्रीसूरदासजी ने कहा-मैंने तो सम्पूर्ण यश श्रीआचार्यजी का ही वर्णन किया है। यदि मैं श्रीआचार्य महाप्रभु को भगवान से पृथक देखता तो पृथक वर्णन भी करता। परन्तु तुम्हारी इच्छा है तो सुनो-भरोसो दृढ़ इन चरणनि केरौ। श्रीबल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माहिं अंधेरौ।। साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।। सूर कहा कहै दुविधि आंधरौ बिना मोलको चेरौ। श्रीसूरदासजी के इस पद में उनकी अगाध गुरुनिष्ठा का दर्शन होता है। तभी तो श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु इन्हें सागर कहते थे। जिसका तात्पर्य यह कि जैसे

कि समुद्र अगाध है वैसे ही सूरदासजी का हृदय अगाध है। यही कारण है कि इनके ग्रन्थ का नाम सूरसागर पड़ गया।

श्रीचतुर्भुजदासजी की जिज्ञासा पर श्रीसूरदासजी ने संक्षेप में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का वर्णन किया। फिर मौन हो गये। कुछ देर बाद श्रीगुसाईंजी ने पूछा-सूरदासजी! इस समय चित्तवृत्ति कहाँ है? तब सूरदासजी ने यह पद गाया-बलि बलि बलि हौं कुंवरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी। वे अति चतुर तुम चतुर शिरोमणि प्रीति करी कैसे होत हैं छानी।। वे जु धरत तन कनक पीतपट सो तो सब तेरी गति ठानी। ते पुनि श्याम सहज वे शोभा अम्बरमिस अपने उर आनी। पुलकित अंग अबहिं ह्वै आयो निरखि देखि निज देह सयानी। सूर सुजान सखी के बूझे प्रेम प्रकाश भयो विहँसानी।। यह पद गाकर सूरदासजी श्रीठाकुरजी के मुखारविन्द का अवलोकन करने लगे। तब श्रीगुसाईंजी ने पुनः पूछा-सूरदासजी! आपकी नेत्र की वृत्ति इस समय कहाँ है? तब सूरदासजी ने यह पद गाया-खंजन नैन रूपरस माते। अतिशय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।। चलि चलि जात निकट श्रवननि के उलटि पलटि ताटंक फंदाते। सूरदास अंजनगुन अटके न तरु अबहिं उड़ि जाते।। कहते हैं कि महाप्रयाण के क्षणों में सूरदासजी के नेत्रों में आँसू छलछला आये। वैष्णवों ने पूछा-सूरदासजी! आप तो अभी-अभी बहुत प्रसन्न थे, फिर सहसा आपका मुखारविन्द उदास-सा दीखने लगा है, क्या बात है? सूरदासजी ने खेद प्रगट करते हुए कहा-भैया! मैं उदास इसलिए हो गया कि जीवन भर तो मैंने ब्रजभूमि की ओर मुँह किया था, परन्तु अंतिम समय पीठ दे दिया। तब इनके हार्दिक भाव को समझकर वैष्णवों ने इन्हें मुँह के बल लिटा दिया। सूरदासजी युगल-स्वरूप का ध्यान करते-करते इहलीला संवरण कर नित्यलीला में प्रवेश कर गये। सभी वैष्णवों ने विधिपूर्वक इनके शरीर का अंत्येष्टि संस्कार किया।

श्रीपरमानन्ददासजी

ब्रज बधू रीति कलियुग बिषै 'परमानन्द' भयो प्रेम केत।।
पौगण्ड, बाल, कैशोर गोप लीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात हुतो पहिलो जु सखाई।।
नैननि नीर प्रवाह रहत रोमाञ्च रैन दिन।
गद गद गिरा उदार श्याम शोभा भोज्यौ तन।।
'सारङ्ग' छाप ताकी भई श्रवन सुनत आवेश देत।
ब्रज बधू रीति कलियुग बिषै 'परमानन्द' भयो प्रेम केत।।७४।।

शब्दार्थ-विषैं = में, समय में, सम्बन्ध में। प्रेमकेत = प्रेमकी ध्वजा। पौगण्ड = पाँच से दस वर्ष तक की अवस्था। कैशोर = किशोर अवस्था, ग्यारह से पन्द्रह वर्ष तक का बालक। आवेस = मूर्च्छा, प्रेम विकलता।

भावार्थ-द्वापर युग की श्रीकृष्णानुरागिणी व्रजगोपियों की तरह इस कलियुग में भी आप श्रीपरमानन्ददासजी प्रेम की ध्वजा हुए। इन्होंने श्रीकृष्ण की पौगण्डावस्था, बाल्यावस्था एवं कैशोरावस्था आदि की समस्त लीलाओं का पदों में गान किया। इस बात का आश्चर्य ही क्या है? ये पहले (द्वापर युग) के श्रीकृष्ण के सखा ही तो हैं। इनके नेत्रों से रात-दिन प्रेमाश्रुओं का प्रवाह चलता रहता था और इनके शरीर में सदा रोमांच बना रहता था। इनकी उदार वाणी सदैव प्रेम के कारण गद्गद बनी रहती थी। ये बड़े उदार थे तथा इनका भाव-तन उदार श्रीश्यामसुन्दर की शोभा से सराबोर रहता था। सारङ्ग राग में विशेष पद रचना करने के कारण इनकी 'सारंग' छाप पड़ गई थी। इनके द्वारा रचे हुए पदों को कानों से सुनते ही प्रेमावेश आ जाता है।।७४।।

व्याख्या-व्रजवधू रीति-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३९४, व्रजनारियों का प्रसंग।। कलियुग विषै-कहने का भाव यह है कि कराल कलिकाल में प्रेम-निर्वाह अत्यन्त ही कठिन है। यथा-जोग जग्य व्रत दान तप, सबहिं लियो कलि जीति।। सरसत स्वारथ दम्भ छल, सीदति प्रीति प्रतीति।। (सन्त वाणी) उसमें भी गोपियों का सा प्रेम। यह अत्यन्त ही कठिन है। गोपियों ने द्वापर युग में, श्रीश्यामसुन्दर के त्रिभुवन मोहन, मदनमोहन, स्वमन मोहन रूपको प्रत्यक्ष देखकर प्रीति किया था और इन्होंने तो कलियुग में केवल संत, सद्गुरु एवं सद्ग्रन्थों में सुनकर वैसा प्रेम किया था। यह विशेष बात है। कलि की कुचाल एवं करालता के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४२, तथा इसी खण्ड में पृष्ठ १७५ 'कलियुग की व्याख्या'। प्रेम केतु-श्रीव्रजगोपियाँ प्रेम की ध्वजा थीं। यथा-गोपी प्रेमकी धुजा।। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४०५) पुनः-गेह की कहै को सुधि देह की न राखी जिन गौर सम्भु साखी नयो नेह दिन रात है। स्यामके सरूपमें स्वरूप स्याम रूप कियो सागर समानो घट सागर लखात है।। कहत बिहारी ज्ञान ऊधौ को तथा ही रह्यौ नेह में न ऐसौ कोऊ दूसरो दिखात है।। चारि जुग भक्तन के भक्ति रूपी भौन पर गोपिनके प्रेम की पताका फहरात है।। पुनः-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १९०, मीन की प्रीति जथा जल में व्रजगोपिन प्रीति गुपाल में तैसी।।

पौगण्ड...लीला सब गाई-यथा-बाल विनोद खरे जिय भावत मुख प्रतिबिम्ब पकरिबेकों हरि हुलसि घुटुरुवन धावत।। कमल नयन माखन माँगत हैं ग्वालिन सैन बतावत।

सबद जोरि बोल्यो चाहत है प्रगट वचन नहिं आवत।। कोटि ब्रह्माण्ड खण्डकी शोभा सिसुता नाहिं दिखावत। परमानन्द स्वामी मनमोहन जसुमति प्रीति बढ़ावत।। पुनः-भली यह खेलबेकी बानि। मदन गोपाललाल काहूकी राखत नाहिन कानि।। सुनहु जसोदा करतब सिसुके इह ले माटु मथानि। ढारि फोरि दधि डारि अजिर में कौन सहै नित हानि।। अपने हाथ लै देत वनचरनि दूध भात घृत सानि। जो बरजौ तो आँख दिखावत पर घर कूदन दानि। ठाढी हँसति नन्दजूकी रानी मूँदि कमल मुख पानि।। 'परमानन्ददास' इह जानै बोलि बूझि धौं आनि।।

पुनश्च-तुम मेरी मोतिन लर क्यों तोरी। रहे ढोटा तोसों नन्द महर कहा करन कही है जोरी।। मैं जान्यौं मेरी गेंद चुराई लै कंचुकि बिच होरी। परमानन्द मुसिकाइ चली तब पूरन चन्द चकोरी।। आलीरी रासमंडल मध्य निर्तत मदनमोहन अधिक प्यारौ लाडिली रूप निधान। चरन चालहस्त भेद मिलवत आछी जति भांति सो लेत नैनन ही में मान।। दोऊ मिलि राग अलापत गावत होड़ा होड़ी उघटित बिकट तान। परमानन्द स्वामी निरखि और रीझि रहीं गोपीजन बारति हैं नित तनमन प्रान। सोभित नव कुंजनि छबि भारी। अद्‌भुत रूप तमाल सों लिपटी कनक बेलि सुकुमारी। मदन सरोज डह-डहे लोचन छबि-छबि सुखकारी। परमानन्द प्रभु मत्त मधुप तें श्रीवृषभानु सुता फुलवारी। धनि ए राधिका के चरन। सुभग सीतल अति सुकोमल कमलके से बरन।। नख चन्द्र चारु अनूप राजित विविध सोभा धरन। कुनित नूपुर कुंज विहरत परम कौतुक करन।। नन्द सुत मन मोद कारी बिरह सागर तरन। दास परमानन्द छिनु-छिनु स्याम जाके सरन।।

पहिलो जो सखाई-**यह नित्यलीला में तोक सखा हैं (भावप्रकाश) अवतार काल में भगवान श्रीकृष्ण ने केवल ग्यारह वर्ष तक ही सखाओं के साथ क्रीड़ायें कीं। इससे इनकी तृप्ति नहीं हुई। अतः कलियुग में अवतार लेकर वे बाल सखा पुनः श्रीकृष्ण के साथ सख्य प्रीति करते हुए आजीवन लीलाओं का गान किये।**

नैनन नीर प्रवाह…भीज्यो तन-**श्रीपरमानन्ददासजी के पदों में विरह के पद बहुत हैं और अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी हैं। सत्य तो यह है कि जब तक ये श्रीमद्‌बल्लभाचार्य महाप्रभुजी के शरणागत नहीं हुये थे तब तक इनको नित्य विरह का अनुभव होता था अतः रात-दिन 'नैनन नीर प्रवाह। और जब श्रीआचार्य महाप्रभुजी की कृपा प्राप्त हुई तो श्रीठाकुरजी ने नित्य संयोग सुख भी ऐसा दिया कि ये सदा उस रूप-माधुरी में ही निमग्न रहते थे। अतः कहे श्याम सोभा भीज्यो तन।। 'सारङ्गछाप' -श्रीपरमानन्ददासजी ने तो अपने पदों में तो**

अपने नाम की ही छाप दी है, लेकिन इन्होंने 'सारङ्ग' राग में विशेष पद बनाये हैं अतः लोग इन्हें 'सारङ्गजी' भी कहते थे। 'श्रवण सुनत आवेश देत' -एक बार श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी के समक्ष इन्होंने एक विरह का पद गाया। उसे सुनकर श्रीआचार्य प्रभु तीन दिन तक लीला में मग्न होकर मूर्च्छित रहे। वह पद इस प्रकार है- हरि तेरी लीलाकी सुधि आवति।। कमल नयन मोहन मूरति के मन मन चित्र बनावति।। एक बार जेहि मिलत मयाकरि सो कैसे बिसरावति। मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावति।। कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगति कबहुँक पिक स्वर गावति। कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि सङ्गहीन उठि धावति।। कबहुँक नयन मूँदि अंतरगति बनमाला पहिरावति। परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान धरि ऐसे विरह गँवावति।।

श्रीपरमानन्ददासजी का प्रादुर्भाव कन्नौज में कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में वि०सं० १५५० मार्गशीर्ष, शुक्लपक्ष, सप्तमी तिथि को हुआ था। जिस दिन इनका जन्म हुआ उसी दिन एक सेठ ने इनके पिता को बहुत-सा द्रव्य दान में दिया, जिससे उनको परम आनन्द हुआ। अतः उन्होंने निश्चय किया कि मैं इस पुत्र का नाम परमानन्ददास रक्खूँगा। संयोग की बात, नामकरण संस्कार के दिन जन्मपत्रिका के अनुसार भी यही नाम निश्चित किया गया। यथासमय इन्हें यज्ञोपवीतादि सभी संस्कार सानन्द सम्पन्न हुये। पिता ने इनको साहित्य और संगीत की अच्छी शिक्षा दिलाई। ये घर पर ही बड़े सुन्दर-सुन्दर पद बनाते और सुमधुर स्वर से गाते थे। जन समाज में 'स्वामीजी' के नाम से इनकी ख्याति थी। एक समय कन्नौज में बड़ा भीषण अकाल पड़ा। इनके पिता के पास प्रचुर धन था। वहाँ के राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने पिता का सब धन लूट लिया। पिता-माता बड़े दुःखी हुये। वे इनसे बोले कि हम तुम्हारा विवाह भी न कर पाये और धन सब चला गया। अतः तुम कुछ धन का संग्रह करो। तुम गुनी गायक हो, तुम्हारे पास द्रव्य आता रहता है। इन्होंने पिता को समझाया कि मुझे ब्याह नहीं करना है और धन का संग्रह करना ठीक नहीं है। आपने जन्मभर जोर-बटोरके धन इकट्ठा किया परन्तु अंत में यों ही चला गया, केवल क्लेशमात्र हाथ लगा। अतः हम तो धन संग्रह करने से बाज आये। अपने आप जो कुछ मिल जायेगा उसे साधु-ब्राह्मणों की सेवा में लगाऊँगा, आप लोग भी धन का मोह छोड़कर चुपचाप भगवान का भजन कीजिये। भगवान सब योग-क्षेम स्वयं वहन करेंगे, परन्तु पिता को इतना धैर्य नहीं था, अतः वह तो धन कमाने परदेश चले गये। इधर श्रीपरमानन्दजी ने कीर्तनकारों का समाज एकत्रित किया और रात-दिन भगवान के नाम गुणगान में मग्न रहने लगे।

एक बार श्रीपरमानन्ददासजी मकर संक्रान्ति के समय तीर्थराज प्रयाग आये हुए थे। इनके निवास स्थान पर पद-कीर्तन का बड़ा सुन्दर समाज होता था। उन दिनों श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी उस पार अड़ैल में विराजते थे। अड़ैल के भी बहुत से भक्त प्रयाग आते तो श्रीपरमानन्ददासजी का कीर्तन अवश्य सुनते और जाकर श्रीआचार्यप्रभु से इनकी बड़ी बड़ाई करते। श्रीमहाप्रभुजी कहते कि, वह दैवीय जीव है, उसकी ख्याति तो होनी ही चाहिये।' श्रीमहाप्रभुजी के एक सेवक थे-कपूर क्षत्रिय जलघड़िया। उनकी राग में बड़ी प्रीति थी। अतः एक दिन जब श्रीपरमानन्ददासजी एकादशी की रात्रि में जागरण कर कीर्तन कर रहे थे तब रात्रि में ही अड़ैल से कपूर क्षत्रिय ने आचार्यचरण की सेवा कर, उनके शयन करने के बाद प्रयाग जाने की तैयारी की। रात्रि में तैरकर श्रीयमुनाजी को पार कर प्रयाग पहुँचकर श्रीपरमानन्ददासजी के समाज में सम्मिलित हो गये। वहाँ आचार्यजी के अन्य सेवकों ने इन्हें पहचान कर आगे बैठाया। श्रीपरमानन्ददासजी के द्वारा गाये गये विरह के पदों को सुनकर इनको बड़ा आनन्द आया। कीर्तन समाप्त होने पर कपूर क्षत्रिय श्रीपरमानन्ददासजी से सप्रेम हरि स्मरण कर पुनः श्रीआचार्यजी की सेवा में अड़ैल आ गये। इधर जागरण के उपरान्त श्रीपरमानन्ददासजी को तनिक नींद आ गई तो इन्होंने स्वप्न में देखा कि समाज में कपूर क्षत्रिय की गोद में श्रीनवनीत प्रिय ठाकुरजी विराज रहे हैं और मुस्कुराकर कह रहे हैं कि आज मैंने तुम्हारा कीर्तन सुना है।' इस स्वप्न का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जगने पर ये कपूर क्षत्रिय तथा श्रीनवनीतप्रियजी के दर्शन के लिये व्यग्र हो उठे। प्रातःकाल होते ही ये अड़ैल आये। उस समय श्रीआचार्य महाप्रभुजी यमुना स्नान कर प्रातः संन्ध्या कर रहे थे। श्रीपरमानन्ददासजी को प्रभु साक्षात् श्रीकृष्णरूप दिखलाई पड़े। इन्होंने उसी समय मन में श्रीआचार्यचरणों की शरण ग्रहण करने का निश्चय किया, परन्तु कहने का साहस नहीं हुआ। इतने में श्रीआचार्य महाप्रभुजी ने स्वयं कृपा करके इनको भगवल्लीला का पद गाने को कहा तो इन्होंने विरह के पद गाये। तब श्रीमहाप्रभुजी ने इनसे बाललीला के पद गाने को कहा तो इन्होंने उसमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। तब आचार्यश्री ने आज्ञा दी कि तुम श्रीयमुना स्नान कर आओ, हम तुम्हें समझा देंगे। श्रीयमुनास्नान के समय ही इन्हें कपूर क्षत्रिय भी मिल गये। इन्होंने उनसे रात्रि के स्वप्न का वृतान्त बताकर बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। कपूर क्षत्रिय ने इसे श्रीआचार्यप्रभु की कृपा बताई और शीघ्र शरणागति के लिए प्रोत्साहित किया। ये स्नान कर श्रीआचार्यचरणों में उपस्थित हुये। उन्होंने श्रीनवनीतप्रियजी के सम्मुख इन्हें भगवन्नाम सुनाकर ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा दी और भगवान की बाललीला की स्फूर्ति के लिए श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका सुनाई। तब श्रीपरमानन्ददासजी ने बाललीला के बहुत

से पद गाये। जिन्हें सुनकर श्रीआचार्यप्रभु बहुत ही प्रसन्न हुये और श्रीपरमानन्ददासजी को श्रीनवनीतप्रियजी के सेवा समय के पद सुनाने की सेवा सौंप दी।।

कुछ काल तक अड़ैल में श्रीआचार्य चरणों के सन्निधान में रहने के अनन्तर श्रीपरमानन्ददासजी को श्रीब्रजदर्शन की इच्छा हुई तो इन्होंने श्रीआचार्यप्रभु के सम्मुख यह पद गाया- यह माँगौं गोपीजन बल्लभ। मानुष जनम और हरिसेवा व्रज बसिबो दीजो मोहि सुल्लभ।। संयोग की बात उस समय श्रीआचार्यप्रभु भी श्रीविट्ठलनाथजी के उपनयन संस्कार करने के अनन्तर उन्हें श्रीश्रीनाथजी के चरण स्पर्श आदि कराने के लिये व्रज आने का उपक्रम कर रहे थे। अतः इनकी अभिलाषा जानकर इन्हें भी अपने सङ्ग ले लिये। मार्ग में श्रीपरमानन्ददासजी की जन्मभूमि कन्नौज पड़ी। तब इन्होंने श्रीआचार्यप्रभु को अपने घर पर लाकर पधरावनी की और बड़े भावपूर्वक समस्त वैष्णवों की बड़ी सेवा की। भोजन करने के बाद जब श्रीआचार्यप्रभुजी गद्दी पर विराजे और सब वैष्णवों ने भी प्रसाद पा लिया तब आपने परमानन्ददासजी से भगवल्लीला पद गाने को कहा। तब इन्होंने श्रीप्रभुजी का हार्दिक अभिप्राय जानकर यह पद गाया-हरि तेरी लीला की सुधि आवै।। (विशेष देखिये छप्पय में 'श्रवण सुनत आवेश देत' की व्याख्या।) श्रीआचार्यप्रभु तीन दिन तक मूर्च्छित रहे। चौथे दिन सावधान हुये। उसी दिन से ये श्रीमहाप्रभुजी के समक्ष ऐसे विरह के पद नहीं गाते थे। श्रीपरमानन्ददासजी ने पूर्वाश्रम में कन्नौज में जितने शिष्य-सेवक बनाये थे, सबको श्रीआचार्यचरण का शिष्य बनवाया। इसी समय से ये अपना स्वामीपना छोड़कर सदा के लिये अनन्य दास बन गये।

इसके बाद श्रीपरमानन्ददासजी श्रीआचार्यप्रभु के साथ श्रीगोकुल आये। श्रीगोकुल का दर्शन करके इन्हें बहुत ही सुख मिला। कुछ दिन तक गोकुल में रहकर श्रीनवनीत प्रियजी की कीर्तन सेवा करने के उपरांत, एक बार ये श्रीआचार्यमहाप्रभुजी के साथ श्रीगोवर्धन पधारे। वहाँ श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करके ये एकदम आसक्त हो गये। रात्रि में शयन आरती के बाद श्रीआचार्यजी ने इन्हें श्रीठाकुरजी का दूध-प्रसाद दिलवाया। जिसके पीने से इन्हें सारी रात भगवान की लीलाओं का अनुभव हुआ अतः उस रात्रि में कीर्तन के बहुत पद गाये। इनके भाव को देखकर आचार्यश्री ने इन्हें श्रीश्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा सौंप दी। फिर तो ये सुरभिकुण्ड पर निवास करते हुए नित्य नवीन पदों के द्वारा श्रीश्रीनाथजी की सेवा करने लगे। एक बार एक राजा-रानी श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करने आये। रानी के आग्रह पर दर्शन करने के समय उसके लिए परदे की व्यवस्था की गई। श्रीठाकुरजी को रानी का यह परदा पसंद नहीं आया। भला, भगवान और भक्तों से पर्दा क्या? अतः जब रानी परदे के भीतर से दर्शन

कर रही थी उसी समय श्रीठाकुरजी ने मन्दिर का प्रधान द्वार खोल दिया, फलस्वरूप दर्शनार्थियों की अपार भीड़ दर्शन के लिये एक साथ टूट पड़ी, जिससे रानी का पर्दा अस्त-व्यस्त हो गया, रानी भी भीड़ में कुचल गई। जैसे-तैसे प्राण बचाकर वहाँ से निकल पाई। श्रीपरमानन्ददासजी यह सब लीला देख रहे थे अतः इन्होंने उस समय यह पद गाया-कौन यह खेलबे की बानि। उस समय श्रीमहाप्रभुजी भी वहीं विराजमान थे, उन्होंने मुस्कुराकर कहा-इस पद को इस प्रकार गाओ-भली यह खेलिबे की बानि।। (पूरा पद पहले आ चुका है। देखिये छप्पय में 'पौगण्डबाल··गोपलीला सब गाई' की व्याख्या।)

एक बार श्रीसूरदासजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीरामदासजी आदि वैष्णव श्रीपरमानन्ददासजी के निवास स्थान पर गये। वैष्णवों का दर्शनकर श्रीपरमानन्ददासजी बहुत प्रसन्न हुए और उस समय यह पद गाये-आप मेरे नन्दनन्दन के प्यारे। माला तिलक मनोहर बानौ त्रिभुवन के उजियारे।। फिर यह पद गाया-हरिजन संग छिनक जो होई।। इससे श्रीपरमानन्ददासजी की वैष्णवनिष्ठा प्रकट होती है। वैष्णवों के यह पूछने पर कि सबसे श्रेष्ठ प्रेम किसका है? इन्होंने यह पद गाया-गोपी प्रेम की धुजा। व्रजजन सम धरपर कोउ नाहीं। समय-समय पर श्रीपरमानन्ददासजी श्रीनवनीत प्रियजी का दर्शन करने गोकुल भी जाया करते थे। परन्तु श्रीगोकुल और गोवर्धन छोड़कर जीवन भर अन्यत्र कहीं नहीं गये। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के लीला-संवरण के अनन्तर श्रीपरमानन्ददासजी का श्रीगोसाईं विट्ठलनाथजी के प्रति भी वैसा ही पूज्य भाव रहा। श्रीगोसाईंजी भी इन पर परम अनुग्रह करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन भगवान की सेवा में समर्पणकर श्रीपरमानन्ददासजी ने सं०१६४१ भाद्रपद, कृष्णपक्ष, नवमी तिथि को मध्याह्न के समय लीला सम्वरण किया।

वर्णन आया है कि श्रीपरमानन्ददासजी उस दिन श्रीनन्दमहोत्सव का आनन्द लेकर अपना अन्तिम समय आया हुआ जानकर श्रीठाकुरजी को प्रणामकर सुरभी कुण्ड पर आकर लेट रहे। इधर जब श्रीगोसाईंजी राजभोग के समय इनको नहीं देखे तो वैष्णवों से पूछे। तब एक वैष्णव ने इनकी स्थिति निवेदन की। फिर तो श्रीगोसाईंजी शीघ्रतापूर्वक वैष्णवों को साथ लेकर इनके समीप पधारे और इनका सिर अपनी गोद में लेकर अपना श्रीकरकमल इनके सिर पर फेरने लगे। श्रीपरमानन्ददासजी श्रीगोसाईंजी की इस अकारण भक्तवत्सलता को देखकर एकदम द्रवीभूत होकर श्रीगोसाईंजी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और उन्हें साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूप मानकर भावविभोर होकर यह पद गाये-प्रीति तो नन्दनन्दन सो कीजै। सम्पति विपति परैं प्रतिपालै कृपावलोकनि जीजै।। परम उदार चतुर चिन्तामणि

सुमिरन सेवा मानें। हस्तकमल की छाया राखै अन्तर गति की जानें।। वेद भागवत हीं जसु गायो कियो भगत कौ भायो। परमानन्द इन्द्र कौ वैभव विप्र सुदामा पायौ।। एक वैष्णव ने श्रीपरमानन्ददास से साधन-सम्बन्धी जिज्ञासा की, तब इन्होंने यह पद गाया-प्रात समय उठि करिये श्रीलच्छमन सुतगान। प्रगट भए श्रीवल्लभप्रभु देत भगतनि दान।। श्रीविट्ठलेशप्रभु रूपके निधान। श्रीगिरिधर उदै भयो भान।। आदि। तदुपरान्त श्रीगोसाईंजी ने पूछा-परमानन्ददासजी! इस समय चित्तवृत्ति कहाँ है? तब इन्होंने यह पद गाया-राधा बैठी तिलकुसँवारति। मृगनैनी कुसुमायुध के डरु सुभग नन्दसुत रूप विचारति।। दरपन हाथ सिंगार बनावति बास-जाम जुगुतियों डारति। अन्तर प्रीति स्यामसुन्दर सों प्रथम समागम केलि सँभारति।। वासरगत रजनी व्रज आवत मिलत लाल गोवरधनधारी। परमानन्द स्वामीके सङ्गम रतिरस मगन मुदित व्रजनारी। इस प्रकार श्रीपरमानन्ददासजी श्रीयुगलस्वरूप की लीला का अनुसंधान करते हुए नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये। श्रीपरमानन्ददासजी की व्रजनिष्ठा-कहा करौं वैकुण्ठहिं जाइ। जहाँ नहिं नन्द जसोदा गोपी जहाँ नहिं बच्छ ग्वाल अरु गाइ।। जहाँ नहिं निर्मल जल जमुनाको जहाँ नहिं वृच्छ कदम की छाँइ। परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी व्रजरज तजि मेरी जाइ बलाइ।।

श्रीकेशवभट्टजी

'केशौभट' नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता बिस्तरी।।
'काश्मीरि' की छाप पाप तापनि जग मण्डन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आनधर्म बिटप बिहण्डन।।
मथुरा मध्य मलेच्छ बाद करि बरबट जीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते।।
बिदित बात संसार सब सन्त साखि नाहिन दुरी।
'केशौभट' नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता बिस्तरी।।७५।।

शब्दार्थ-प्रभुता=महत्व, बड़ाई, वैभव, हुकूमत। पाप तापनि =पापों के नाशक। जगमण्डन=संसार को आनन्दित-सुशोभित करने वाले। कुठार=कुल्हाड़ी, फरसा। विटप = वृक्ष। विहण्डन=विहनन, विशेष रूप से नाशक। बाद=विवाद, संघर्ष। बरबट=बरबस, जबर्दस्ती, उद्दण्ड। काजी=यवन समाज का विचारपति, न्यायकर्ता। अजित=अजेय, दुर्जय। दुरी=छिपी।।

भावार्थ-**श्रीकेशवभट्टजी मनुष्यों में मुकुटमणि हुये। जिनकी महामहिमा सारे संसार में फैल गई। आपकी 'काश्मीरि' की छाप थी। अर्थात् आपके नाम के साथ 'काश्मीरि' यह विशेषण अति प्रसिद्ध हो गया था। आप पापों एवं पापरूप लोगों को ताप देने वाले तथा जगत् के आभूषण स्वरूप थे। आप परम सुदृढ़ श्रीहरिभक्तिरूपी कुठार से अन्य अर्थात् पाषण्ड धर्मरूपी वृक्षों का समूलोच्छेद करने वाले हुये। आपने मथुरापुरी में यवनों के बढ़ते हुए आतंक को देखकर उनसे वाद-विवाद कर उन परम उद्दण्ड यवनों को बलपूर्वक हराया। अनेकों अजेय काजी आपकी सिद्धि का चमत्कार देखकर एकदम भयभीत हो गये। आपका उपर्युक्त सुयश सारे संसार में प्रसिद्ध है, छिपा नहीं है, सब सन्त इसके साक्षी हैं।।७५।।**

व्याख्या-श्रीकेशवभटनर मुकुट मणि-**मनुष्यों में शिरोमणि कौन है-इसका बड़ा ही समीचीन समाधान श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'कवितावली' के एक पद में किया है। यथा-सो सुकृती सुचिमन्त सुसन्त सुजान सुसील शिरोमणि स्वै। सुर तीरथ तासु मनावत आवन पावन होत हैं ता तनं छ्वै।। गुन गेह सनेह को भाजन सों सबही सों उठाइ कहौं भुज द्वै। सतिभाय सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुवीर को ह्वै। श्रीकेशवभट्टजी इन समस्त सद्गुणों से विभूषित थे अतः 'नरमुकुटमणि' का। 'काश्मीरिकी छाप'-बहुत काल तक काश्मीर देश में निवास करने के कारण आपकी 'काश्मीरि' की छाप पड़ गई थी। 'दृढ़ हरिभक्ति कुठार'-यथा-व्यास विषै बन बढ़ि रह्यौ, नीच सङ्ग जलधार। हरि कुठार सो प्रीति करि, कटत न लागै बार।। 'मथुरा मध्य मलेच्छ०'-इस प्रसंग को श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी आगे कवित्त ३३७ में वर्णन करते हैं, वहीं देखिये। सन्त-साखि-इसलिए कि सन्त झूठ नहीं बोलते हैं। यथा-श्रीभरद्वाज वाक्य-सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं।। (रामा०)**

करि दिगविजै सब पण्डित हराय दिये लिये बड़े बड़े जीति भीति उपजाई है।
फिरत चौडोल चढ़े गज बाजि लोग संग प्रतिभा कौ रंग आए नदिया प्रभाई है।।
डरे द्विज भारी महाप्रभु जू विचारी तब लीला बिस्तारी गंगा तीर सुखदाई है।
बैठे ढिंग आय बोले नम्रता जनाय रह्यो जग जसु छाय नेकु सुनै मन भाई है।।३३३

शब्दार्थ-**चौडोल=पालकी। प्रतिभा=असाधारण बुद्धिमानी, चमक। नदिया= नवद्वीप। प्रभाई=प्रभावित की।।**

भावार्थ-**श्रीकेशवभट्टजी ने दिग्विजय किया था, आपने अपने पाण्डित्य बल से देश**

देशान्तरों में जाकर सब पंडितों को पराभूत करके अपना मत-महत्व स्थापित किया था। बड़े बड़े विद्वानों को सहज में जीतकर आपने विद्वानों के हृदय में पराजय का भय उत्पन्न कर दिया था। आप पालकी पर चढ़कर चलते। साथ के बहुत से विद्वान् तथा सेवक-शिष्य, हाथी-घोड़े पर चलते थे। यत्र-तत्र-सर्वत्र आपकी प्रतिभा का बड़ा प्रभाव फैल गया था। दिग्विजय निमित्त पर्यटन करते हुए आप नवद्वीप में आये। वहाँ भी आपने अपना प्रभाव जमाया। वहाँ का विद्वद्वर्ग आपसे भयभीत हो गया। तब श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी ने यह विचारकर कि ब्राह्मणों का भय कैसे दूर हो एवं दिग्विजयी पण्डित को किस प्रकार वाद-विवाद के प्रपंच से मुक्त करके भक्तिरसामृतास्वादन की ओर उन्मुख किया जाय, अपनी सुखदाई लीला का विस्तार करने का विचार किया और शिष्यवर्ग को साथ लेकर श्रीगङ्गाजी के परम सुखद पुलिन पर जाकर बैठकर शास्त्रचर्चा करने लगे। उसी समय टहलते हुए श्रीकेशवभट्टजी भी आकर श्रीमहाप्रभुजी के समीप बैठ गये। तब श्रीमहाप्रभु अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोले-सारे संसार में आपका सुयश छा रहा है, अतः मेरे मन में यह अभिलाषा हो रही है कि मैं भी आपके श्रीमुख से कुछ शास्त्र सम्बन्धी वार्ता सुनूँ।।३३३।।

लरिकान संग पढ़ौ बातैं बड़ी बड़ी गढ़ौ ऐपैं रढ़ौ कहौं सोई सीलता पै रीझियै।
'गंगा कौ सरूप कहौ' 'चाहौ दृग आगे सोई' नये सौ श्लोक किये सुनि मति भीजियै।।
तामैं एककण्ठ करि पढ़िकै सुनायौ अहो बड़ो अभिलाष याकी व्याख्या करि दीजियै।
अचरज भारी भयो कैसे तुम सीखि लयो? दयौ लै प्रभाव तुम्हैं ताने दयौ जीजियै।।

शब्दार्थ-रढ़ौ = हठ करौ। सीलतापै=सरल कोमल स्वभाव पर।

भावार्थ-श्रीकृष्णचैतन्य के इन वचनों को सुनकर श्रीकेशवभट्टजी बोले कि तुम तो अभी बालक हो और बालकों के साथ पढ़ते हो परन्तु बातें बड़ों की तरह बहुत बड़ी-बड़ी करते हो। (यद्यपि छोटे मुँह बड़ी बात ठीक नहीं है) परन्तु तुम्हारी नम्रता-सुशीलता आदि देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ अतः तुम्हारा जो भी सुनने का आग्रह हो वह कहो, हम वही सुनायेंगे। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-आप श्रीगङ्गाजी का स्वरूप वर्णन करिये। तब श्रीकेशवभट्टजी बोले-अपनी आँखों के सामने जो देख रहे हो, यही श्रीगङ्गाजी का स्वरूप है। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि इसी को हम आपके श्रीमुख से आपके ही शब्दों में सुनना चाहते हैं। तब श्रीकेशवभट्टजी ने तत्काल स्वरचित नवीन सौ श्लोक धाराप्रवाह कह सुनाया। उन्हें सुनकर श्रीमहाप्रभुजी की बुद्धि भाव विभोर हो गई। तत्पश्चात् उन्हीं सौ श्लोकों में से एक श्लोक कंठस्थ करके श्रीमहाप्रभुजी ने भी श्रीकेशवभट्टजी को सुनाया और निवेदन किया कि अहो! मेरी बड़ी

अभिलाषा है कि आप इस श्लोक की व्याख्या भी करके सुनाइये। श्रीमहाप्रभुजी की असाधारण स्मृति शक्ति पर श्रीकेशवभट्टजी को बढ़ा आश्चर्य हुआ और पूछे कि तुमने इतनी शीघ्रतापूर्वक कैसे श्लोक को कण्ठस्थ कर लिया? तब श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि जिसने आपको श्लोकों की रचना की अद्‌भुत शक्ति दी है उसी ने मुझे स्मरण करने की भी अलौकिक सामर्थ्य दी है। उसी की कृपा से तो हम, आप और सब लोग जी रहे हैं।।३३४।।

व्याख्या-लरिकान संग पढ़ौ-**यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी उस समय विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ा रहे थे, परन्तु पढ़ाना न कहकर 'पढ़ौ' कहने में व्यङ्ग्य यह है कि अभी तुम्हें व्याकरण का भी पूर्ण बोध नहीं है, बालकों को पढ़ाने के ब्याज से अभी तुम भी वस्तुतस्तु पढ़ ही रहे हो। इस पर-**

दृष्टान्त-एक ब्राह्मणकुमारका-**एक ब्राह्मण बालक काशीपुरी पढ़ने गया। कुछ दिन बाद उसके पिता ने पत्र द्वारा उसकी पढ़ाई का समाचार पूछा तो उसने लिखा कि पिताजी! अभी तो मैं पढ़ नहीं रहा हूँ, अभी तो मैं गुरुजी को पढ़ा रहा हूँ। पिता ने इसका तात्पर्य कुछ नहीं समझा। कुछ दिन तक इसी प्रकार से पत्र-व्यवहार होता रहा। जब ब्राह्मण कुमार अपनी शिक्षा समाप्त करके स्वयं भी किसी विद्यालय में अध्यापक होकर विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा, तब उसने पिता को पत्र लिखा कि अब मैं पढ़ रहा हूँ। इसी बीच उसके पिता उससे मिलने आये तो देखें कि मेरा पुत्र तो अब आचार्य हो गया है। तब उन्होंने पत्र का रहस्य पूछा तो पुत्र ने बताया-पिताजी! वस्तुतस्तु अध्ययनकाल में हम तो कम पढ़ते थे हम लोगों को पढ़ाने के लिये श्रीगुरुजी बहुत पढ़ते थे, वही हाल अब हमारा है, हमें भी विद्यार्थियों को अच्छी तरह समझाने के लिये खूब पढ़ना पढ़ता है तो वास्तविक पढ़ाई तो हमारी अब हो रही है। ऐसा ही व्यंगात्मक संकेत दिग्विजयी का भी रहा।**

तामें एक कण्ठकरि पढ़िके सुनायो-**वह श्लोक इस प्रकार है-महत्वंगङ्गायाः सततमिदमाभाति नितरां, यदेषा श्रीविष्णोश्चरणकमलोत्पत्ति सुभगा। द्वितीय श्रीलक्ष्मीरिवसुरनरैरर्च्यचरणा, भवानीभर्त्तुर्या शिरसि विभवत्यद्‌भुतगुणा।। अर्थ-श्रीगङ्गाजी का यह महत्व निरन्तर जगत् में प्रकाशित है। ये श्रीविष्णु के श्रीचरणकमलों से उत्पन्न होने से अत्यन्त सौभाग्यवती है। दूसरी श्रीलक्ष्मी के समान देवता और मनुष्यों के द्वारा इनके चरण पूजे जाते हैं एवं ये भवानी के पति महादेव के मस्तक पर विराजमान हैं तथा अद्‌भुत गुणों से परिपूर्ण हैं।**

दूषन औ भूषन हूँ कीजिये बखान याके सुनि दुखमानि कही दोष कहां पाइयै।
कविता प्रबन्ध मध्य रहैं खोटि गंध अहो आज्ञा मोको देउ कह्यो कहिकै सुनाइयै।।
व्याख्या करि दई नई औगुन सुगुन मई आए निजधाम भोर मिले समुझाइयै।
सरस्वती ध्यान कियौ आई तत्काल बाल बाल पै हरायो सब जग जितवाइयै।।३३५।।

शब्दार्थ-**दूषन** =दोष। **भूषण** =गुण। **कविता प्रबन्ध** = काव्यरचना। **खोटि**=त्रुटि, दोष। **गन्ध** = नाममात्र, लेश। **औगुन** = अवगुण, दोष। **सुगुन** = सुन्दर गुण। **बाल** =बालिका, सरस्वती। **बाल** =बालक।

भावार्थ-**पुनः श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि आप इस श्लोक के दोष और गुणों का भी वर्णन करिये। सुनकर श्रीकेशवभट्टजी ने दुःख मानकर कहा कि भला मेरी रचना में दोष कहाँ? श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-काव्यरचना में दोष का लेश रहना स्वभाविक ही है। यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं इसके गुण-दोष कह सुनाऊँ। तब आपने कहा-अच्छा, तुम्हीं कहो। तब श्रीमहाप्रभुजी ने सब कह सुनाया। श्रीमहाप्रभुजी ने उस श्लोक की गुण-दोषमयी एक नवीन ही प्रकार की व्याख्या कर दी। श्रीकेशवभट्टजी ने कहा-अच्छा, अब हम प्रातः काल तुमसे फिर मिलेंगे और इस पर अपना विचार व्यक्त करेंगे। ऐसा कहकर आप अपने निवास स्थान पर चले आये और एकान्त में श्रीसरस्वतीजी का ध्यान किये। श्रीसरस्वतीजी तत्काल एक बालक के रूप में इनके सम्मुख आ उपस्थित हुईं। आपने उपालम्भ भरे स्वर में कहा कि सारे संसार को जितवा करके आपने एक बालक से मुझे हरा दिया।।३३५।।**

व्याख्या-व्याख्या करि दई नई-**श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-इस श्लोक में पाँच तो दोष हैं और पाँच (गुण) अलङ्कार हैं, मैं उन्हें क्रम से कहता हूँ। इस श्लोक में अविमृष्ट विधेयांश दोष दो स्थानों पर है एवं विरुद्ध मति, भग्न क्रम तथा पुनरोक्त-ये तीन दोष और हैं। इस प्रकार दोषों की संख्या पाँच होती है। प्रथम हम दोषों का विवेचन करते हैं। 'अविमृष्ट विधेयांश-इस दोष की रूपरेखा के सम्बन्ध में साहित्य मनीषियों का मन्तव्य है कि ज्ञात वस्तु को अनुवाद कहते हैं और अज्ञात वस्तु को विधेय कहते हैं। साहित्य का ऐसा नियम है कि वाक्य रचना में अनुवाद वाचक शब्द पहले रखा जाता है और विधेयवाचक शब्द पीछे। यदि किसी वाक्य में अनुवाद से पहले विधेय का वर्णन किया जाता है तो उस वाक्य में अविमृष्ट विधेयांश दोष माना जाता है। इस श्लोक में 'इदं' शब्द अनुवादवाचक है और 'गङ्गायाःमहत्वं' विधेयवाचक है। नियम के अनुसार 'गङ्गायाःमहत्वं' शब्द से पहले 'इदं' शब्द आना चाहिये, परन्तु यहाँ 'इदं' शब्द से पहले 'गङ्गायाःमहत्वं' शब्द आया है। इससे**

श्लोक का वास्तविक तात्पर्य जानने में बाधा होती है। यह एक अविमृष्ट विधेयांश दोष है। दूसरे अविमृष्ट विधेयांश दोष का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-आपके इस श्लोक में 'द्वितीय श्रीलक्ष्मीरिव' जो पद है इसमें भी पूर्वोक्त दोष है। वह इस प्रकार से कि 'श्रीलक्ष्मी' ज्ञातवस्तु अर्थात् अनुवाद वाचक शब्द है और 'द्वितीय' शब्द विधेय वाचक है। यहाँ भी अनुवाद वाचक 'श्रीलक्ष्मी' शब्द से पहले विधेय वाचक 'द्वितीय' शब्द का प्रयोग किया गया है जो नियम के विरुद्ध है तथा इस प्रकार के समस्त पद के प्रयोग से पद का मुख्य अर्थ भी नष्ट हो गया है। इस पद के कहने में दिग्विजयी का उद्देश्य था कि श्रीगङ्गाजी भी श्रीलक्ष्मीजी के समान मनुष्यों एवं देवताओं द्वारा पूजने योग्य है, परन्तु द्वितीय शब्द से यह अर्थ निकलता है कि गंगाजी दूसरी लक्ष्मी के समान पूजने योग्य हैं अर्थात् श्रीनारायण की पटरानी (प्रसिद्ध) श्रीलक्ष्मी के समान पूजनीय नहीं है बल्कि किसी दूसरी लक्ष्मी के समान पूजनीय है। इसलिये जो श्रीलक्ष्मी के साथ गंगाजी के समानता का उद्देश्य था वह नष्ट हो गया। श्लोक में आये 'भवानीभर्त्तुः' शब्दों में विरुद्धमति नाम का तीसरा महादोष है। 'भवानी' शब्द के कहने से महादेव की पत्नी का बोध होता है। उनका पति अर्थात् महादेव की पत्नी का पति कहने से ऐसा ज्ञात होता है कि उनका कोई दूसरा पति भी है। 'शिवपत्नी का पति' ऐसा सुनने से वास्तविक अर्थ का विरोध दीखता है। जिस शब्द को सुनने से सहज अर्थ का प्रतिकूल अर्थ मन में उदित हो वह शब्द शास्त्र में शुद्ध नहीं माना गया है। इसी को विरुद्ध मति दोष कहते हैं। श्लोक के 'विभवत्यद्भुतगुणा' पद में चौथा पुनरोक्तं दोष है। क्रिया कारक विशेषण का एक दूसरे के साथ अन्वय युक्त कोई एक वाक्य समाप्त हो जाने पर उसी वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के सहित अन्वय युक्त किसी एक पद का पुनः प्रयोग करना पुनरोक्त दोष कहलाता है। इस श्लोक में 'विभवति' क्रिया पर वाक्य समाप्त होता है, परन्तु पुनः 'या' शब्द के विशेषण 'अद्भुतगुणा' का प्रयोग किया गया है, यह पुनरोक्तं दोष है। श्लोक के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ-इन तीन चरणों में शब्दालङ्कार है परन्तु द्वितीय चरणों में कोई अलङ्कार नहीं है, अतः यहाँ भग्न क्रम दोष प्राप्त होता है।

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-अब पंचअलङ्कारों का विवरण सुनिये। इस श्लोक में दो शब्दालङ्कार एवं तीन अर्थालङ्कार हैं। प्रथम चरण में पाँच तकार, तृतीय चरण में पाँच रकार और चतुर्थ चरण में चार भकार हैं। इसलिये यह अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार हैं। 'श्रीलक्ष्मी' शब्द से पुनुरुक्तिवदाभासालंकार है। 'श्री' तथा 'लक्ष्मी' दोनों शब्द पर्यायवाची होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु पुनरुक्ति है नहीं। यहाँ पर 'श्री' शब्द आदरसूचक है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है बल्कि कविता का भूषण ही है। यह दो शब्दालंकार हुये। अब

तीन अर्थालंकारों को कहते हैं-'लक्ष्मीरिव' में 'उपमा' नामक अर्थालंकार है। भगवान विष्णु के श्रीचरणकमलों से गंगा की उत्पत्ति कहने में विरोधाभास नामक अर्थालंकार है। इसमें विरोधाभास यह है कि जल से कमल की उत्पत्ति तो सर्वविदित है परन्तु यहाँ तो चरणकमल से जल रूप गंगा की उत्पत्ति कही गई है। यह ईश्वर की अचिंत्य शक्तिमत्ता है तथा वर्णन भी चमत्कारपूर्ण है। इस श्लोक में तीसरा 'अनुमान' नामक अर्थालंकार है। श्लोक में साध्य वस्तु श्रीगंगाजी का महत्व वर्णन करना है, परन्तु साथ ही उस महिमा का साधन भगवान विष्णु के श्रीचरणकमलों से उत्पन्न होना भी कह दिया गया है अर्थात् श्रीविष्णु के श्रीचरणकमलों से उत्पन्न होने से श्रीगङ्गाजी की ऐसी महिमा है। इस प्रकार साध्य और साधन दोनों का एक श्लोक में कथन हुआ है, इसी को अनुमानालंकार कहते हैं। श्रीमहाप्रभुजी के द्वारा श्लोक के गुण-दोषों की ऐसी सूक्ष्म व्याख्या सुनकर दिग्विजयी पण्डित विस्मित हो गये।

बोली सरस्वती मेरे ईस भगवान वे तौ मान मेरौ कितौ सन्मुख बतराइयै।
भयौ दरसन तुम्हैं मन परसन होत सुनि सुख सोत बानी आए प्रभु पाइयै।।
बिनै बहु करी कृपा आप बोले अजू भक्तिफल लीजै काहू भूलि न हराइयै।।
हियै धरि लई भीर भार छोड़ि दई पुनि नई यह भई सुनि दुष्ट मरवाइयै।।३३६

शब्दार्थ-**मान = सामर्थ्य, शक्ति। बतराइयै = विवाद करूँ। परसन = प्रसन्न वा परस+न अर्थात् स्पर्श भी नहीं करते। सोत = स्त्रोत, झरना।**

भावार्थ-**श्रीसरस्वतीजी ने कहा-वे बालक नहीं हैं, वे तो साक्षात् लोकपालक भगवान हैं और मेरे स्वामी हैं। भला मेरी सामर्थ्य ही कितनी है जो मैं उनके सम्मुख खड़ी होकर वाद-विवाद कर सकूँ। अहो! जिस प्रभु को मन, वाणी आदि इन्द्रियाँ स्पर्श भी नहीं कर सकतीं हैं तथा जिनके स्मरण मात्र से मन आनन्दित हो जाता है, उन्हीं प्रभु का आपको साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ, यह बड़े सौभाग्य की बात है। श्रीसरस्वतीजी की यह सुखस्त्रोतमयी वाणी सुनकर श्रीकेशवभट्टजी मन में बड़े हर्षित हुये और वाद-विवाद के भाव का परित्याग करके श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुजी के पास आये तथा बहुत प्रकार से विनय प्रार्थना किये। तब श्रीमहाप्रभुजी ने कृपापूर्वक कहा कि वाद-विवाद के प्रपंच को छोड़कर फलस्वरूपा भक्ति का रसास्वादन कीजिये, अब आज से किसी को भूलकर भी नहीं हराइये। श्रीकेशवभट्टजी ने श्रीमहाप्रभुजी की यह बात हृदय में धारण कर ली और शास्त्रार्थ तथा दिग्विजय की भीड़-भाड़ को छोड़कर एकान्तिक भक्ति सुख में निमग्न रहने लगे। फिर कुछ काल बाद नई बात यह हुई कि मथुरापुरी में म्लेच्छों का आतंक सुनकर आपने सनातन वैष्णव धर्म की रक्षा करने के लिये उन दुष्टों को दण्डित किया।।३३६।।**

द्रष्टव्य-श्रीसर्वेश्वर प्रेस से प्रकाशित श्रीभक्तमाल के अनुसार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी से पराजित होने वाले दिग्विजयी पण्डित श्रीकेशवभट्टजी 'काश्मीरि' नहीं थे, बल्कि वे और कोई थे। श्रीकेशवभट्टजी 'काश्मीरि' एवं श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुजी के काल में अंतर हैं। अतः यहाँ पर श्रीकेशव काश्मीरिजी के प्रसङ्ग में आये हुए कवित्त ३३३, ३३४, ३३५, ३३६ यहाँ पर न होकर श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुजी के प्रसङ्ग में होने चाहिये। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये पाठकगण श्रीसर्वेश्वर प्रेस से प्रकाशित श्रीभक्तमाल में पृष्ठ ५०८ पर 'विशेष समीक्षा' शीर्षक लेख देखें परन्तु अधिकांश प्रचलित प्रतियों में ये चारों कवित्त श्रीकेशवकाश्मीरिजी के ही प्रसङ्ग में पाये जाते हैं।

आपु काश्मीर सुनी बसत विश्रान्त तीर तुरक समूह द्वार जन्त्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोऊ निकसत आय ताको पकरत जाय ताके सुन्नत निहारियै।।
संग लै हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा अरे वही ठौर बोले नीच पट टारियै।
क्रोध भरि झारे आय सूबापै पुकारे वे तौ देखि सबै हारे मारे जलबोरि डारियै।।३३७

शब्दार्थ-सुन्नत= मुसलमानी, मूतेन्द्रिय के आगे की खाल का कटना। सूबा=सूबेदार, काजी।

भावार्थ-श्रीकेशवभट्टजी काश्मीर में विराजते थे। वहीं आपने सुना कि 'मथुरापुरी में विश्रामघाट पर यवनों का समूह निवास कर रहा है और उन दुष्ट यवनों ने वहाँ के मुख्य मार्ग के प्रवेशद्वार पर एक ऐसा यन्त्र लगा रक्खा है कि जो कोई भी सहज स्वभाव से उसके नीचे से निकलता है तो उसकी सुन्नत हो जाती है। फिर तो मुसलमान दौड़कर उस व्यक्ति को पकड़ लेते हैं और कहने लगते हैं कि देखो, तुम्हारी तो मुसलमानी हो गई है। वह व्यक्ति सचमुच अपनी सुन्नत देखकर संकुचित हो जाता है और फिर मुसलमान बलात् उसे अपनी जाति में मिला लेते हैं।' हिन्दुत्व एंव हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अगाध भक्तिरस में सराबोर श्रीकेशवभट्टजी एक हजार शिष्यों को साथ लेकर श्रीमथुरापुरी आये और उस यंत्र के नीचे आकर डट गये। नीच यवनों ने आपसे भी कहा कि आप लोग अपना वस्त्र हटाकर देखिये, आप लोगों की भी मुसलमानी हो गई है। तब आपने अत्यन्त क्रोध में भरकर उन दुष्टों को बहुत फटकारा। आपके द्वारा प्रताड़ित यवनों के समुदाय ने जाकर सूबेदार के यहाँ पुकार की। सूबेदार ने यवनों की सहायता के लिये बहुत सी सेना भेजी। परन्तु सेना के सिपाही आपके तेज प्रभाव को देखकर ही एकदम हार गये। फिर आपके आदेश से आपके शिष्यों ने उन्हें खूब मार लगाई और बहुतों को तो मारकर श्रीयमुना जल में डुबो दिया।।३३७।।

व्याख्या-आपु काश्मीर०-एक बार श्रीकेशवभट्टजी साथ में सहस्त्रों शिष्यों की जमात लेकर तीर्थ पर्यटन के ब्याज से वैष्णवधर्म का प्रचार करते हुए विमुखवादी जनों को शास्त्रार्थ में पराजित कर वैष्णवधर्म पर आरुढ़ करते हुए, असंख्य-असंख्य जनों को अपने दर्शन-स्पर्श-समागम सदुपदेशादि के द्वारा कृतार्थ करते हुए रमते-रमते काश्मीर पहुँचे। वहाँ यवनों का बोलबाला था परन्तु ये उनकी कुछ भी परवाह न करते हुए यवन बादशाह के महल के समीप ही जमात को रुकने का आदेश दिये। संतों ने जल-थल का सुपास देखकर स्वेच्छानुसार जहाँ-तहाँ आसन लगा लिया। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में ही सभी संत स्नानादि करके श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा में प्रवृत्त हो गये। एक साथ सहस्त्रों शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि बजने लगे। बादशाह की नींद खुल गई। वह बिगड़कर दीवान से बोला कि देखो कौन हैं, अनावश्यक शोर मचा रहे हैं, मेरी नींद हराम कर दिये। दीवान ने पता लगाकर बताया कि हजूर! ये हिन्दू फकीर हैं, उन्हीं का कोलाहल है, वे अपने पीर-पैगम्बर की पूजा में शंख, घड़ियाल बजा रहे हैं। बादशाह ने हुक्म दिया कि सबके शंख-घड़ियाल आदि छीनकर नदी में फेंक दो। हुक्म पाते ही राजकर्मचारियों ने ऐसा ही किया तो भी घंटे, घड़ियाल आदि का बजना बंद नहीं हुआ। तब बादशाह ने फिर पूछा कि अब क्यों बज रहे हैं? तब लोगों ने बताया कि हुजूर! अब तो वे बिना किसी के बजाये स्वयं अपने आप ही बज रहे हैं। यह सुनकर बादशाह तुरन्त समझ गया कि ये तो कोई सिद्ध फकीर मालूम पड़ते हैं। फिर तो वह तत्काल महल से नीचे उतरकर नंगे पांव दौड़ा आया और श्रीकेशवभट्टजी के श्रीचरणकमलों में साष्टांग पड़ गया तथा अपने अपराध के लिये पुनः-पुनः क्षमा-याचना करने लगा। आपने बादशाह से यह शर्त लिखवायी कि वह हिन्दूओं के धर्म में किसी प्रकार का दखल न दें तथा शंख-घड़ियाल आदि के बजने पर कभी रोक न लगावें। बादशाह ने दोनों बातें तत्क्षण स्वीकार कर लीं और महल के समीप की सब जमीन आपको अर्पण कर दी। बादशाह के प्रेमाग्रह से श्रीकेशवभट्टजी वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। इस प्रकार यवनों को प्रभावित करने के बाद श्रीकेशवभट्टजी ने काश्मीर के ही शाक्त आचार्य श्रीविद्याधराचार्यजी को शास्त्रार्थ में पराजित करके वैष्णव धर्म का उपदेश दिया और उनका नया नाम रखा-ब्रजेशाचार्य। काश्मीर में भक्ति प्रचार का कार्य श्रीआचार्यचरण ने उन्हीं को सौंपा था। 'अरे वाही ठौर'-आपको श्रीचक्रसुदर्शनजी की सिद्धि थी अतः आपने श्रीचक्रजी के द्वारा यवनों के यन्त्र के प्रभाव को प्रथम ही नष्ट कर दिया था। अतः अब किसी प्रकार का भय न होने से उस यंत्र के नीचे जाकर डटकर खड़े हो गये। उनका यंत्र संतों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका।

क्रोध भरि झारे…बोरि डारिये-यथा-

गये सब दौरि जहाँ काजी की जु पौरि हती कियो तिन शोर अजू लीजिये पुकार है।
आजु कोऊ ऐसो एक है जु मथुरा में संग हैं हजार शिष्य तेज को न पार है।।
लै कै झरकारे धरकारे भाँति भाँति कह्यौ क्यों रे तूँ अधर्मी हिन्दू धर्म कियो ख्वार है।
होहु तुम रांड कियो पुरुषारथ भांड़ जोई हरिसों विमुख ताको नहीं पारावार है।।१
काजी अति डर्‌यौ हिए खरो अरबर्‌यो यह कौन आइ अर्‌यो अब करौं को उपाइ मैं।
रचे भूत बयताल मूठि दीठि मायाजाल सुदर्शन किए ख्याल सहज सुभाइ मैं।।
असुर के तन में सो अगिनि लगाइ दई, दई दई कहै दई कहा कियो हाइ मैं।
ये तो हैं बड़े प्रतापी मैं तो अहौ महापापी यह मन थापि आइ पर्‌यो झट पाइ मैं।।२
आय पांय पर्‌यौ नीर नैननि ते ढर्‌यौ बैन कहैं मर्‌यो मर्‌यो प्रभु मेरी रक्षा कीजियै।
तब स्वामी कह्यौ तुम निजकृत्य लह्यो तोहि लैहौं मैं बचाय एक सीख सुन लीजियै।।
फेरि जो अधर्म ऐसो करोगे न कर्म अब मेटो सब गर्व सदा शीतल ह्वै जीजियै।
और जिते बादी हरि विमुख प्रमादी तिन्हैं ल्याय सतमारग मैं नौधारस भीजियै।।३
जिते हिन्दू तुरकनि तुरक सो कहि डारे भरे दुःख भारे वै तौ स्वामी जूपै आये हैं।
प्रभु कहे आवो अब दुःख जिनि पावो केशोराय गुनगावो जल यमुना में न्हाये हैं।
मिहिन ये वस्त्र लाय तिन्हकौ लै पहिराय हिन्दुन के चिन्ह पाय जग जस गाये हैं।
तुरकनि तिय धाइ आइ सब पायँ परीं करीं प्रभु दया नर नारी दरसाये हैं।।४

विशेष-श्रीमथुरा में आप ध्रुव टीले पर विराजते थे। मथुरा में ही श्रीनारद टीला पर आपकी श्रीचरण पादुकाएँ स्थापित हैं श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्यजी का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में, तैलङ्ग देशान्तर्गत वैदूर्यपत्तन नामक नगर में श्रीनिम्बार्क भगवान की ही वंश परम्परा में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम श्रीमुकुन्दभट्टाचार्य था। इस वंश में सदा सर्वदा से वेदशास्त्र निष्णात महापुरुष होते आये हैं। इस कुल में भगवती सरस्वती का वरदान तो सबको ही प्राप्त था, परन्तु श्रीकेशवभट्टजी को तो समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री विद्वानों की सर्वस्वरूपा, कवियों की इष्ट देवता माता सरस्वती साक्षात् प्रकट होकर तत्वबोध कराती थीं। फलस्वरूप उपनयनोपरान्त अत्यन्त अल्पकाल में ही आप समस्त वेद-वेदान्तों के पारंगत विद्वान हो गये। विद्या ने विवेक को जन्म दिया, अतः जग की असारता विचारकर आप संसार से विरक्त होकर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीगांगलभट्टाचार्यजी से वैष्णवी दीक्षा लेकर भगवदाराधन में लग गये। पुनः धर्मप्राण भारतदेश में म्लेच्छों का आतंक

एवं पाखण्डियों का प्राबल्य देखकर आपने वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिये अपने सहस्त्रों शिष्यों को साथ लेकर कई बार भारत के समस्त तीर्थों का परिभ्रमण किया। समय समय पर वादियों से आपको कठोर संघर्ष करना पड़ा, परन्तु अंततोगत्वा आपके शास्त्रबल शस्त्रबल एवं सिद्धिबल के समक्ष सबको हार ही खानी पड़ी। आपने ब्रह्मसूत्र, गीता, भागवतादि की बड़ी सारगर्भित व्याख्याएँ लिखी हैं, जिनका विद्वद्वर्ग में बड़ा आदर है। आपके जीवन में बहुत-सी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन पाया जाता है। कहते हैं कि एक ब्राह्मण के महाजड़ पुत्र को पलमात्र में आपने सर्वशास्त्र निष्णात बना दिया था। यथा-एक विप्र विद्वान के भये चारि सुत अज्ञ। शरन आय विनती करी नाथ होय इक विज्ञ।। सुतहिं लाय एकान्त में श्रीशारदहिं बुलाय। आशीर्वाद दिवाय कै दीन्हौं विज्ञ बनाय।। एक पुत्र वाने इन्हें अर्पण कियो सप्रेम शिष्य कियो त्यहि सीख दै भक्ति पंथके नेम।। (भ०व०टि०)

श्रीश्रीभट्टजी

श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन।।
मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुबलित छवि।
निरखत हरखत हृदै प्रेम बरसत सुकलित कवि।।
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित।।
आनन्दकन्द श्रीनन्दसुत श्रीवृषभानु सुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन।।७६

शब्दार्थ-सुभट=महान् वीर। अघट = पूर्ण, अन्यून। वलित = आवेष्टित, लिपटा हुआ, युक्त। कलित=सुन्दर, विदित, प्राप्त। तम=अज्ञान, अन्धकार, तमोगुण। भ्रम= विपरीत ज्ञान। श्रम=थकावट, परिश्रम, अभ्यास।

भावार्थ-महा अजय संसाररिपु को जीतने में महावीर श्रीभट्टजी ने अपार उज्ज्वल श्रृङ्गाररस पारावार प्रकट किया। आप अपनी सरस रचनाओं के द्वारा रस की बरसा करके रसिक महानुभावों के मन को आनन्द प्रदान करने के लिए मानो मेघ के समान (विश्व-व्योममें) प्रकट हुए। आपके पदों में माधुर्य भावमयी तथा भक्तों को सुख देने वाली ललित लीलाओं से सुष्ठु प्रकारेण संयुक्त श्रीप्रिया-प्रियतम की मनोहारिणी छवि का साक्षात् दर्शन होता है।

जिसे देखते ही रसिकजनों का हृदय हर्षित हो उठता है तथा हृदय में प्रेम की वर्षा सी होने लगती है। आप ऐसे जगद्विदित कवि हुए। जीवों को संसारबन्धन से मुक्त करने के लिये व संसार सागर से पार करने के लिये आप अत्यन्त उदारतापूर्वक सबको अविचल अनपायिनी भक्ति प्रदान करते थे। आपका सुयशरूपी चन्द्रमा अपने अभ्युदय से आज भी जीवों के हृदय में स्थिति अज्ञानरूपी अंधकार, विपरीत ज्ञान एवं अनादिकाल से भवाटवी में भटकने से संजात श्रम को दूर कर रहा है। आप सदा-सर्वदा आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी के भजन में निमग्न रहा करते थे।।७६।।

व्याख्या-सुभट-देखिये पृष्ठ १५६ में 'सूर' शब्द की व्याख्या। पुनः भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार-इन पांचों रसों में श्रृङ्गार रस को झेलना सर्वसाधारण का काम नहीं है। इसे यों कोई सुभट ही धारण कर सकते हैं। रसिक महानुभावों ने श्रृङ्गार रसोपासना को सिंहिनी का दूध कहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे सिंहिनी का दूध या तो सिंह शावक के उदर में रह सकता है या स्वर्णपात्र में। अन्यत्र वह टिक ही नहीं सकता। पात्र का भेदन कर बह जायेगा। उसी प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय श्रृङ्गार रस भी श्रीप्रिया-प्रियतम अथवा इनके अत्यन्त आत्मीय अंतरंगजनों के हृदय में ही उल्लसित हो सकता है। अन्यत्र तो कल्पना भी व्यर्थ है। श्रीश्रीभट्टजी ने इस रस को धारण करने में परम समर्थ थे, अतः सुभट कहा। प्रगट्यो-कहने का भाव यह है कि श्रृङ्गार रस को अत्यन्त गोपनीय समझकर आचार्यों ने इसे सदा-सर्वदा से छिपाया ही। फलस्वरूप जो अनाधिकारी है, उनके लिये तो वह अगम रहा ही, अधिकारीजन भी अत्यन्त गोपनीयता के कारण वंचित रहने लगे। अतः श्रीभट्टजी ने इसको प्रकट कर सुलभ किया।

'अघट-रस'-कहने का भाव यह कि अनादि काल से अनन्त-अनन्त रसिकजन इस भगवद्रस का पान कर रहे हैं, परन्तु फिर भी यह घटता नहीं, प्रत्युत नित-नूतन-परिपूर्ण ही बना रहता है। 'रसिकन मनमोद'-कहने का भाव यह है कि रसिकजन ही रस का यथार्थ आस्वादन करते हैं। अरसिकजन तो रस-रहस्य को समझने में सर्वथा असमर्थ होते हैं, अतः वे उल्टे उपहास करते हैं। यथा-भगवत रसिक रसिक की बातैं रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना। पुनः-कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहुँ सुखद हास रस एहू।। (रामा०) इसी से एक कवि ने बहुत ही दुःखी होकर विधाता से प्रार्थना किया है कि-अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख। एक भाषा कवि ने भी इसी भाव को एक सवैया में बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है। यथा-जगदीश यही विनती तुमसे चाहे

निरधन जन्म बिताने पड़े। सुख शब्द मिलें सुनने को नहीं यमलोक भी अन्त में जाना पड़े।। 'हरे कृष्ण' भले इस भूतल में दुःख घोर से घोर उठाना पड़े। रसहीन नरों में परन्तु मुझे कविता न कदापि सुनाना पड़े।भगवान वेदव्यासजी भी निगम कल्पतरु के निर्गलित फल भागवत का रसपान करने के लिये रसिकजनों को ही निमंत्रित करते हैं। यथा-निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृत द्रव संयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।। (भा. १-१-३) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६०४।।

घन-श्रीतुलसीदासजी ने भी सन्तों को मेघ कहा है। यथा-सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू।। बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी।। पुनः-रामसिंधु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि संत समीरा।। (रामा०) विशेष देखिये पृष्ठ १५, माध्वाचारज मेघकी व्याख्या।। 'मधुरभाव…सुकलित कवि-यथा-राधिका आज आनन्द में डोलैं। साँवरे चन्द गोविन्दके रसभरी दूसरी कोकिला मधुर सुर बोलैं।। कटि छुद्र घंटिका कनक हीरामई हाथलै आरसी रूप तोलै। जै श्रीभट्ट आजु नागरी नीकी बनी कृष्ण के सोल की ग्रन्थि खोलैं।। 'भव निस्तारन…सबनिनित'- एकमात्र भगवद्भक्ति से ही संसार सागर से पार पाना सम्भव है। अन्य कोई उपाय नहीं है। यथा-बारिमथें घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल।। (रामा.) अतः भक्ति प्रदान करते सबको भक्ति देते थे, यह आचार्य चरण का परमौदार्य है। 'जासु सुजस…श्रमचित'-जैसे चन्द्रोदय से तम (अंधकार) भ्रम (दिग्भ्रम) श्रम (थकावट, तापादि) दूर होते हैं वैसे ही आपके सुयश-शशि द्वारा जीवों के तम, भ्रम, श्रम का निवारण होता है। तम-यथा-जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी।। (रामा०) भ्रम-यथा-झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।। जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।। (रामा०) पुनः-रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर वारि। जदपि मृषा तिहुँकाल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।। एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुःख अहई। जौं सपने सिर कटाइ कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।। जासु कृपा असभ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।। (रामा.) 'श्रम'-यथा-भव श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा। (रामा.) 'आनन्दकन्द वृषभानुसुता भजन'-सेव्य हमारे श्रीप्रिय प्यारी वृन्दाविपिन विलासी। नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी चरन अनन्य उपासी।। मत्त प्रनय वस सदा एक रस विविध निकुंज निवासी। जै श्रीभट्ट युगल वंसीवट सेवत सब सुखरासी।। पुनः-बसो मेरे नैनन में

दोऊ चन्द। गौर बरनि वृषभानुनन्दिनी स्याम बरन नंदनंद।। गोलक रहे लुभाय रूपमें निरखत आनंदकन्द। जै श्रीभट्ट प्रेमरस बन्धन क्यों छूटै दृढ़फन्द।। भगवान श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने 'वेदान्त कामधेनु' में आराध्य तत्व का निरुपण करते हुए श्रीराधिकाकृष्ण को ही अपना ध्येयस्वरूप माना है। यथा-अंगे तुम वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्। सखी सहस्त्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।

विशेष-श्रीश्रीभट्टदेवाचार्यजी श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यजी के परम कृपापात्र थे। कहते हैं कि यवनों के आतंक के कारण सनातन धर्म में शिथिलता आ जाने से तत्कालीन देश की दुरवस्था को देखकर श्रीकेशव काश्मीरिजी जीवन पर्यन्त भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु के ऐश्वर्य प्रकाश एवं सिद्धान्त सम्पादन में ही लगे रहे। इसके लिये आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की एवं कई बार सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। फलस्वरूप वैष्णवता का तो खूब प्रचार-प्रसार हुआ परन्तु आपके मन की एक लालसा शेष ही रह गई। वह यह कि आप प्रचार कार्य में ही अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण श्रीब्रजरस का यथेष्ट वर्णन न कर सके। यद्यपि आपने अपने ग्रन्थों में प्रसंग आने पर यत्र-तत्र-सर्वत्र इस रस की बड़ी मधुर विवेचना की है, परन्तु स्वतंत्रतया व्रजरस का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ न लिख सके। इसका एक कारण यह भी था कि आपको यह अन्देशा था कि यदि व्रज का प्रेम वर्णन करने में मैं आत्मविभोर हो गया तो फिर उस प्रेम प्रवाह से बाहर निकलना मुश्किल हो जायेगा। फलस्वरूप यह प्रचार कार्य रुक जायेगा। अतः आपने स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ न लिखकर अपने अंतरङ्ग शिष्य श्रीभट्टजी को प्रेरणा कर इस रस का प्रकाश कराया। वर्णन आया है कि श्रीश्रीभट्टजी जब अत्यन्त तन्मय होकर व्रजलीला का वर्णन करने लगे तो उस प्रवाह में आप श्रीयुगलकिशोर की कुंज क्रीड़ा के सौ शतक रच डाले और सबको ले जाकर श्रीगुरुदेवजी के श्रीकर-कमलों में अर्पित कर दिया। श्रीगुरुदेव श्रीकेशवकाश्मीरिजी ने जब उन पदों को देखा तो विचार किया कि इन्होंने तो प्रेमावेश में श्रृङ्गार रस की परम गोपनीय से भी गोपनीय लीला को एकदम प्रकट कर दिया है। भला इस कराल कालिकाल में इस रस के ऐसे अधिकारी ही कहाँ हैं, जो यथावत इसको समझ सकें। अतः आपने सबका सब श्रीयमुनाजी को भेंट कर दिया और कहा कि श्रीयमुनाजी जो कृपा करके प्रसाद रूप में दें, वही प्रकाशित किया जाय। श्रीयमुनाजी ने सौ पदों को छोड़कर शेष सबको स्वयं आत्मसात् कर लिया। श्रीयमुनाजी की कृपा से प्राप्त वे सौ पद ही 'श्रीयुगलशतक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। रसिक उपासकों के समाज में ये पद मन्त्रतुल्य माने जाते हैं। वस्तुतस्तु इन पदों की रचना तथा इनमें वर्णित उपासना, निष्ठा एवं लीला-विलास सभी एकदम अलौकिक हैं भी।

भगवत्शरणागति की महिमा वर्णन करते हुए आप लिखते हैं कि-मदनगुपाल सरन तेरी आयो। चरन कमल की सेवा दीजे चेरो करि राखौ घर जाये। धनि धनि मात पिता सुत बन्धू धनि जननी जिन गोद खिलायो। धनि धनि चरन चलत तीरथ को धनि गुरु जिन हरिनाम सुनायो। जे नर विमुख भए गोविन्दसों जनम अनेक महादुःख पायो। श्रीभट्ट के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो जब दास कहायो।। धाम निष्ठाके सम्बन्ध में आपका यह पद बड़ा ही बेजोड़ है। यथा-रे मन वृन्दाविपिन निहार। विपिनराज सीमाके बाहर हरिहूँ को न निहार। जद्यपि मिलै कोटि चिन्तामणि तऊ न हाथ पसार। 'जैश्रीभट्ट धूलि धूसर तन यह आसा उरधार।। श्रीब्रजधाम की मनमोहनता का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं कि-व्रज भूमि मोहिनी मैं जानी।। (पूरा पद देखिये पृष्ठ ४६४) श्रीयुगलकिशोर जी आपके ऐसे प्रेमरस वश हुए थे कि आप लीला की जैसी भावना करते, श्रीप्रिया-प्रियतम प्रत्यक्ष होकर वैसी ही लीला करते थे। एक बार आपने जेठ की दोपहरी में यह पद गाया-भीजत कब देखौं इन नैना। श्यामाजू की सुरङ्ग चूनरी मोहनको उपरैना।। जुगलकिशोर कुंजतर ठाढ़े जतन कियो कछु मैं ना। उमड़ी घटा चहुँ दिसिते जै श्रीभट घिरि आईं जल सैना।। इस पद के पूरा होते ही तत्काल आकाश बादलों से छा गया, रिमझिम-रिमझिम फुहारें पड़ने लगीं और एक कुंज के नीचे भीगते हुये श्रीयुगलकिशोर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। एक बार आपके मन में श्रीप्रिया-प्रियतम के एकान्तिक निकुंज लीला के दर्शन की अत्यन्त उत्कण्ठा हुई। शरीर की सुधि-बुधि भूले, खान-पान बिसराये, अविरल अश्रु प्रवाह से मण्डित मुख आप कुंज-कुंज में जाकर, सतृष्ण नेत्रों से, देखते, वहाँ की रज में लोट-पोट होते। अंत में 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' चरितार्थ हुआ। आपने एक निभृत निकुंज में श्रीप्रियाजू के श्रीचरणकमल पलोटते हुए श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन किया। उस समय आपने यह पद गाया-श्रीप्यारीजू के चरण पलोटत मोहन। श्याम कमल के दलन लपेटे अरुन कमलदल सोहन।। कबहुंक लै लै नयननि लावत अलि धावत ज्यों मोहन। जय श्रीभट्ट छबीली राधे होत जगेते छोहन।। ऐसे ही आपके समस्त पद अपार रस पारावार से भरे हुए हैं।

श्रीहरिव्यासदेवजी

हरि व्यास तेज हरि भजन बल देवी को दीक्षा दई।।
खेचरि नर की शिष्य निपट अचरज यह आवैं।
विदित बात संसार सन्त मुख कीरति गावैं।।

बैरागिनके बृन्द रहत संग श्याम सनेही।
ज्यों जोगेश्वर मध्य मनो शोभित वैदेही।।
श्रीभट्ट चरण रज परसतें सकल सृष्टि जाकों नई।
हरिव्यास तेज हरि भजन बल देवीको दीक्षा दई।।७७

शब्दार्थ-खेचरि=आकाश में चलने वाली। वृन्द = समूह। जोगेश्वर = नव योगेश्वर, जिनकी चर्चा मू० छ० १३ में की गई है। वैदेही =श्रीजनकजी। नई =नम्र हुई, झुकी।

भावार्थ-श्रीहरिव्यासजी ने भगवद्भजन के तेज और बल से देवी को भी मन्त्रोपदेश किया था। (श्रीभक्तमालकार श्रीनाभाजी कहते हैं कि-) अपनी दिव्यगति से आकाश में विचरण करने वाली देवी मनुष्य की शिष्या बनी, यह सुनकर नितान्त ही आश्चर्य होता है, किन्तु यह सत्य है, सारे संसार में यह बात प्रसिद्ध है एवं संतजन श्रीमुख से श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी की इस कीर्ति का गान करते हैं। परम स्नेही श्रीसर्वेश्वर भगवान का डोला एवं संसार से वैराग्यपूर्वक भगवान श्रीश्यामसुन्दर के श्रीचरणकमलों में अनुराग करने वाले विरक्त महात्माओं का समूह सदा ही आपके साथ बना रहता था। विरक्तों के बीच में आपकी ऐसी शोभा होती थी जैसे नवयोगेश्वरों के बीच श्री विदेहराज जनक शोभा पाते थे। अपने सद्गुरुदेव श्रीभट्टदेवाचार्यजी के श्रीचरणकमल रज के स्पर्श से प्रताप से श्रीहरि व्यासदेवाचार्यजी के सम्मुख समस्त सृष्टि के लोग सिर झुकाते थे।।७७।।

चटथावल गांव बाग देखि अनुराग भयौ लयौ नित्त नेम करि चाहैं पाक कीजियै।
देवीको स्थान काहू बकरा लै मार्‍यौ आनि देखत गलानि इहाँ पानी नहिं पीजियै।।
भूख निसि भई भक्ति तेज मिड़ गई नई देह धरि लई आय लखि मति भीजियै।
'करौ जू रसोई' 'कौन करै कछु और भई' 'सोई मोकों दीजै दान शिष्य करि लीजियै।।३३८

शब्दार्थ-गलानि=ग्लानि, खिन्नता, अरुचि। मिड़गई = मसलगई, दब गई।

भावार्थ-एक बार श्रीहरिव्यासदेवजी साथ में संतों की जमात लिये हुए विचरते-विचरते 'चटथाइल' नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ एक बाग में जल, थ्रल का सब सुपास देखकर आप बड़े प्रसन्न हुये और उस बाग में ही उतरकर स्नान, भजन, पूजन आदि नित्य कृत्य करके रसोई करने का विचार किये। उस बाग में ही एक देवी का मन्दिर था। उसी समय किसी ने देवी की प्रसन्नता के लिए एक बकरे को लाकर देवी के सम्मुख बध किया। यह

वीभत्स दृश्य देखकर आपके मन में बड़ा ही खेद हुआ और आपने मन में यह निश्चय किया कि ऐसे स्थान पर प्रसाद की तो बात ही क्या, जल तक नहीं पीना चाहिये। फलस्वरूप सब संत भूखे ही रह गये। दिन बीता, रात्रि आ गई। उपवास पूर्वक श्रीहरिस्मरण से भक्ति का तेज तो बढ़ा और भागवतापराध के कारण देवी का तेज नष्ट हो गया। अतः देवी भक्ति के तेज से एकदम अभिभूत हो गई। उन्होंने घबड़ाकर तुरन्त नवीन देह धारणकर आकर आपका एवं सब संतों का दर्शन किया। आपके दर्शन मात्र से ही देवी भक्तिभाव से भर गई और अत्यन्त नम्रता पूर्वक बोली-आप लोग रसोई बनाइये। भूखे क्यों बैठे हैं? आपने उत्तर दिया-अब रसोई कौन करे? पहले करने का विचार तो था, परन्तु यहाँ की स्थिति देखकर मन की और ही दशा हो गई। देवी ने कहा-जिसके निमित्त से आप लोगों को ऐसी खिन्नता हुई कि पूरे दिन भूखे ही रह गये, जल तक नहीं पिये, वह देवी मैं ही हूँ। आज मैंने भक्ति का तेज देखा, अतः अब तो कृपा करके मुझे भी भक्ति का दान दीजिये और अपनी शिष्या बना लीजिये।।३३८।।

करी देवी शिष्य सुनि नगरको सटकी यों पटकी लै खाट जाकी बड़ौ सरदार है।
चढ़ी मुख बोलै हौं तो भई हरिव्यासदासी जौ न दास होहु तौ पै अभी डारौं मार है।।
आये सब भृत्य भए मानौ नए तन लए गए दुःख पाप ताप किए भव पार है।
कोऊ दिन रहे नाना भोग सुख लहे एक श्रद्धाकै स्वपच आयो पायौ भक्तिसार है।।३३९

शब्दार्थ-**सटकी=शीघ्र-चुपचाप गई। भृत्य = शिष्य, सेवक।**

भावार्थ-**देवी की प्रार्थना सुनकर श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी ने उन्हें शिष्य बनाया। मंत्रोपदेश श्रवण करने के उपरान्त देवीजी अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक नगर को दौड़ी गईं और वहाँ जाकर, जो उस नगर का प्रमुख था, उसको खाट समेत भूमि पर पटक दिया। तत्पश्चात् उसकी छाती पर चढ़कर सूक्ष्म रूप से उसकी जिह्वा पर बैठकर उसके ही मुख से कहने लगीं कि मैं तो श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शिष्या हो गई हूँ। तुम लोग भी शीघ्र उनका शिष्यत्व ग्रहण करो। यदि तुम लोग उनका शिष्यत्व नहीं स्वीकार करोगे तो मैं अभी-अभी सबको मार डालूँगी। देवी का उग्र आदेश सुनकर, डरकर सबके सब आकर आपके शिष्य हो गये। मानो सबने नया जन्म, नया शरीर धारण किया हो। श्रीगुरुकृपा तथा दीक्षा के प्रभाव से सहज में ही सबके दुःख एवं पाप, तापादि दूर हो गये। इस प्रकार आपने उन परम हिंसकों को भी भक्ति का उपदेश देकर संसार सागर से पार कर दिया, वे लोग भगवद्भजन करके संसार से पार हो गये। आपने कुछ दिन तक वहाँ रहकर सबको भक्ति का महत्व एवं**

उपासना का तत्व तथा महात्माओं की रहनी-सहनी समझाया। श्रीठाकुरजी को खूब राग-भोग लगते एवं सब संतों को भी खूब भगवद्भोग प्रसाद सुख प्राप्त हुये। एक दिन एक परम श्रद्धालु श्वपच ने आकर आपसे अपने उद्धार की प्रार्थना की और आपकी कृपा से उसने समस्त साधनों का सार भक्ति (अथवा भक्ति का भी सार) प्राप्त किया।।३३९।।

व्याख्या-श्रद्धा कै श्वपच आयौ-भाव यह है कि और लोग तो देवी के धमकाने से डर के मारे शिष्य बने परन्तु श्वपच तो वास्तविक श्रद्धापूर्वक आपका शिष्य बनना चाहता था। जिस दिन गाँव के सभी लोगों ने वैष्णव दीक्षा ली थी उस दिन संयोग से यह श्वपच किसी दूसरे गाँव में चला गया था। दो-चार दिन बाद घर आया और जब गाँव में झाड़ू बुहारी लगाने गया तो घर-घर में श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन की धूम देखी। सभी लोग कण्ठी, माला, तिलक, शङ्ख, चक्र की छाप से विभूषित दिखाई पड़ते थे। सबकी रहन-सहन ही एकदम बदल गई थी। सबके मुख से श्रीहरिनाम की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। यह सब देख-सुनकर श्वपच को बड़ा आश्चर्य हुआ। साथ ही उसे मन में बड़ा पश्चात्ताप भी हुआ कि हाय! केवल एक मैं ही अभागा इस परम लाभ से वंचित रह गया। अब मुझे श्रीआचार्य के दर्शन कैसे होंगे? पता नहीं, वे मुझे अपनायेंगे कि नहीं। मैं तो अत्यन्त नीच, अघी, अधम हूँ। भला मैं सुदुर्लभा भगवद्भक्ति का अधिकारी ही कैसे होसकता हूँ? परन्तु मेरा उद्धार कैसे होगा? मुझे तो अब केवल आचार्य कृपा का ही भरोसा है। इस प्रकार मन में विचार कर वह श्वपच बगीचे के पास जाकर अत्यन्त आर्त्त होकर उच्च स्वर से रोने लगा। उसका करुण क्रन्दन सुनकर आचार्यश्री ने पूछा कि यह कौन है? और क्यों रो रहा है? जब लोगों ने बताया तो आपने परम कृपा करके उसे एक शिष्य के द्वारा अपना अधरामृत प्रसाद प्रदान किया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'पायो-भक्तिसार है'-वस्तुतस्तु संत की सीथ-प्रसादी ही भक्ति सर्वस्व है। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ९९, 'सन्त-सीथ की व्याख्या' सीथ-प्रसाद पाते ही उस श्वपच का हृदय एकदम निर्मल हो गया। उसे चराचर जगत् भगवन्मय दिखाई देने लगा। इससे जनाया गया कि गुरुकृपा एवं भगवान की भक्ति-इसमें प्राणीमात्र का अधिकार है। भक्ति में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। भक्ति देश में सब समान है। प्रसिद्ध कहावत है-जांति पांति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई।। जातिभेद को लेकर भक्तों में ऊँच-नीच भाव करना महदपराध है। यथा-जाति भेद जो करै भक्त सों सुतौ परम अति पापी। तातें भलो बधिक पर निन्दक गुरुतल्पी मदिरापी।। बायसकी बिष्ठा सों उपजै पीपर नाम कहावै। परिकर्मा दण्डवत् करैं

द्विज सब जग पूजन आवै। तुलसी जो घूरे पर उपजै दोष न कोऊ धरई। ता तुलसीके पात फलदल हरिपूजन को रहई।। कूकर मरै गोमती संगम अस्थि चक्र ह्वै रहई। तिन चक्रन को सब जग बन्दै दोष न कोऊ कहई। ज्यों जल बरषै पुर बीथिनमें गंगामें बहि आवै। सो जल परसि महाअपराधी कलमष सबै नसावै। सेन धना रैदास कबीरा और किते परवाना। इनकौ दरसन दीन्हौ है हरि प्रगट सबै जग जाना। जोग जग्य जप तप व्रत संयम इनमें तौ हरिनाहीं। गङ्गाराम सु नवल जुगलवर बसत भक्त उरमाहीं।।

जब आप चटथावल से चलने लगे तो देवीजी ने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूँगी। परन्तु आपने उन्हें वहीं रहकर भक्ति का प्रचार करने का आदेश दिया। वहाँ से चलकर आप विचरते-विचरते एक विमुखों के गांव में जा पहुँचे। दो दिन तक सन्तों की जमात उस गाँव में पड़ी रही, परन्तु किसी ने उनके भोजनादि की कुछ भी व्यवस्था नहीं की। संयोग की बात, उसी समय चटथावल वाली देवी आपका दर्शन करने आई। जब उन्हें यह समाचार मिला तो उन्होंने कुपित होकर गाँव वालों को सीख देने के लिए पत्थरों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। सब लोगों को प्राणों के लाले पड़ गये भगवत्प्रेरणा से कुछ लोगों का ध्यान साधुओं की जमात की ओर गया। उन्होंने देखा कि जितने क्षेत्र में साधुओं का आसन है वहाँ एक रोड़ा भी नहीं गिर रहा है। सबकी आँखें खुलीं। समझ गये कि यह सब इन महात्माजी का ही चमत्कार है। अतः सब लोग श्रद्धांजलि होकर आपकी शरण में आये और चरणों में पड़कर 'त्राहि-त्राहि' करने लगे। परमदयालु श्रीहरिव्यासदेवजी को उनकी दीनता देखकर दया आ गई। आपने देवी को शांत किया और गाँव वालों को चेतावनी दी कि तुम लोगों ने साधु अवज्ञा का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष देख लिया कि-साधु अवग्या तुरन्त भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी।। (रामा०) अतः अब भूलकर भी संतों का निरादर नहीं करना। अपना तन-मन-धन एवं सर्वस्व लगाकर सन्तों की सेवा करनी चाहिये। सब लोगों ने अपनी भूल के लिए क्षमा, प्रार्थना की। तथा श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी का शिष्यत्व ग्रहणकर वैष्णव हो गये। तभी से वहाँ के लोग बड़ी ही निष्ठापूर्वक संतसेवा करने लगे।

विशेष-श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी ने अपने जन्म से गौड़ ब्राह्मण कुल को अलंकृत किया था। वैष्णव दीक्षा आपने श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीश्रीभट्टदेवाचार्यजी से ली थी। वर्णन आया है कि जब आप दीक्षा निमित्त श्रीभट्टजी के पास आये और मंत्रोपदेश के लिये प्रार्थना किये तो श्रीभट्टजी ने पूछा कि क्या तुमको मेरी गोद में कोई दिखाई पड़ता है? आपने सहज भाव से उत्तर दिया कि हमें तो कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है। तब श्रीभट्टजी

ने आज्ञा दी जाकर बारह वर्ष तक श्रीगिरिराजजी की परिक्रमा करो और भगवान का नाम रटो, फिर हमारे पास आना। श्रीहरिव्यासजी ने बारह वर्ष तक यथावत गुरु की आज्ञा के अनुसार श्रीगिरिराजजी की आराधन की। तदुपरान्त पुनः वहीं पहले वाला प्रश्न और वही उत्तर मिलने पर श्रीश्रीभट्टजी ने पुनः बारह वर्ष तक के लिये वही पहले वाला ही नियम बताया। आपने पुनः सहर्ष गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर बारह वर्ष तक श्रीगिरिराजजी की सेवा की। अबकी बार आने पर जब श्रीगुरुदेवजी ने अपना प्रश्न दोहराया तो आपने कहा-जै जै, आज तो आपकी गोद में विराजमान श्रीप्रिया-प्रियतम के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। अब आपको परम अधिकारी जानकर श्रीश्रीभट्टजी ने मंत्र दीक्षा देकर उपासना का रहस्य समझाया और श्रीराधा-सर्वेश्वर भगवान की अति मधुर केलिविलासमयी लीलाओं का गान करने का आदेश दिया।

आपके द्वारा रचित पद संग्रह 'श्रीमहावाणीजी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रीमहावाणी के समस्त पद पाँच सुखों में विरक्त हैं-१. सेवा सुख, २. उत्सव सुख, ३. सुरत सुख, ४. सहज सुख, ५. सिद्धान्त सुख। सभी पदों में श्रीयुगल सरकार की नित्यलीला एवं विहार का अपार रस पारावार उमड़ता हुआ दिखाई देता है। यथा-पूरन प्रेम प्रकाशके परी पयोनिधि पूरि। जय श्रीराधा रस भरी स्याम सजीवनि मूरि।। जय श्रीराधिका रस भरी। रसिक सुन्दर साँवरेकी प्रान जीवनि जरी।। गौर अङ्ग अनङ्ग अद्भुत सुरतिरंगनि ररी। सहज अङ्ग अभङ्ग जोरी सुभग साँचे ढरी।। परम प्रेम प्रकाश पूरन पर पयोनिधि परी। हित श्रीहरिप्रिया निरखति निकट निज सहचरी।।१।। जयति जय राधिका रसिक रस मंजरी रसिक मौर मोहन विराजैं। रसिकिनी रहसि रसधाम वृन्दाविपिन रसिक रस रसी सहचरि समाजैं।। रसिक रस प्रेमसिंगार रंग रंगि रहे रूप आगार सुखसार साजैं। मधुर माधुर्य सौन्दर्यतावर्यपर कोटि ऐश्वर्यकी कला लाजैं।। चातकी कृष्ण की स्वाति की बारिदा बारिधा रूप गुन गर्विता जै।। मदन मदमोचिनी रोचिनी रतिकला रतन मनि कुण्डला जगमगा जै।

आप श्रीसनकादिकजी के सेव्य श्रीशालिग्राम भगवान की सेवा करते थे। एक दिन आपके मन में यह बात आई कि श्रीठाकुरजी को श्रीयमुना स्नान कराना चाहिये। फिर तो आप बड़े समारोहपूर्वक श्रीसर्वेश्वर भगवान को श्रीयमुना स्नान कराने ले गये। संयोग की बात, स्नान कराते समय श्रीशालिग्राम भगवान हाथ से खिसल गये और श्रीयमुनाजी के प्रवाह में बह गये। जब बहुत खोज करने पर भी नहीं मिले तो आपने भगवान के विरह में

अन्न-जल त्याग दिया। आपकी दृढ़निष्ठा को देखकर तीसरे दिन प्रभु ने स्वप्न में कहा कि हम मथुरा में स्वामीघाट के पास एक कदम्ब के वृक्ष के नीचे गुलाब के फूल में हैं। आपने तत्काल वहाँ जाकर देखा तो सचमुच भगवान वहीं थे। प्रभु के मिल जाने पर ही आपने अन्न-जल ग्रहण किया। इस पर-

दृष्टान्त श्रीराम सखेजीका-आप अपने श्रीशालिग्राम भगवान का बटुआ ग्रीवा में झुलाये रहते थे। एक बार कुएँ से जल निकालते समय किंचित असावधानीवश श्रीठाकुरजी कुएँ में गिर गये। आपको बड़ा दु:ख हुआ। उस समय आपने भगवान के विरह में बहुत से पद गाये हैं। कहते हैं कि जब आपने अत्यन्त व्यथित होकर यह दोहा कहा कि-अरे सिकारी निर्दयी, करिया नृपति किसोर। क्यों तरसावत हौ जिया, राम सखे चित चोर।। कुआँ तुरन्त जल से लबालब भर गया और श्रीशालिग्राम भगवान जल पर उतराकर तैरने लगे, आपने उठाकर हृदय से लगा लिया।

एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण श्रीरूप रसिकजी ने श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी का प्रभाव सुना तो मन में निश्चय किया कि मैं इन्हीं से वैष्णव दीक्षा लूँगा। परन्तु जब ये अपने देश से मथुरा-वृन्दावन आये तो यहाँ आने पर पता चला कि आप नित्य-लीला में प्रवेश कर गये। तब उन्होंने अनशन करके शरीर छोड़ देने का विचार किया। तीन दिन तक मथुरा विश्रामघाट पर बिना कुछ खाये-पीये पड़े रहे। उनकी दृढ़निष्ठा देखकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी नित्यधाम से आकर दर्शन दिये और कहे कि हमको श्रीश्रीजी ने तुम्हें उपदेश देने के लिये भेजा है। श्रीरुपरसिकजी आचार्यचरणों का दर्शन कर एवं श्रीश्रीजी की कृपा विचारकर आत्मविभोर हो गये। तत्पश्चात् श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने उन्हें पंच-संस्कार पूर्वक वैष्णवी दीक्षा दी एवं लीला का अनुचिंतन करने के लिये श्रीमहावाणीजी सौंपी और आदेश दिया कि इसका प्रचार करना। आगे चलकर श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी के द्वारा खूब भक्ति का प्रचार हुआ।

श्रीदिवाकरजी

अज्ञान ध्वान्त अन्तहिं करन दुतिय दिवाकर अवतर्‍यौ।।
उपदेशे नृप सिंह रहत नित आज्ञा कारी।
पक्व वृक्ष ज्यौं नांय सन्त पोषक उपकारी।।
बानी 'भोलाराम' सुहृद सबहिन पर छाया।
भक्त चरण रज जांचि विशद राघौ गुन गाया।।

'करमचन्द' 'कस्यप' सदन बहुरि आय मनो बपु धर्‍यो।
अज्ञान ध्वान्त अन्तहिं करन दुतिय दिवाकर अवतर्‍यौ।।७८

शब्दार्थ-ध्वान्त = अन्धकार। अन्तहिं करन =दूर करने के लिए। दुतिय = द्वितीय, दूसरे। दिवाकर = सूर्य। नाँय = नम्र, झुके। छाया =कृपा।

भावार्थ-जीवों के हृदय के अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने के लिये श्रीदिवाकर भक्तजी मानो दूसरे सूर्य के समान हुये। आपने बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को उपदेश देकर भक्तिपथ पर आरुढ़ किया। वे सब सदा-सर्वदा आपकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते थे। जिस प्रकार परिपक्व फलों के भार से वृक्ष नम्र हो जाते हैं, उसी प्रकार आप अपने सद्‌गुणों के कारण अत्यन्त विनयशील थे। बड़े ही सद्भावपूर्वक संतों का पालन-पोषण करते थे तथा प्राणिमात्र के उपकार में तत्पर रहते थे। आप बात-बात में 'भोलाराम' इस प्रकार का उच्चारण करते थे। सबके शुभचिन्तक (व सुन्दर हृदय वाले) थे। तथा सब पर कृपा रखते थे। भक्तों की चरण रज को ही अपना सर्वस्व समझकर उसी की कामना, याचना करते थे। आपने आजीवन भगवान श्रीरामचन्द्रजी के परमोज्ज्वल गुणों का गान किया। आपके पिता श्रीकर्मचन्दजी मानो साक्षात् प्रजापति श्रीकश्यपजी थे, उनके घर मानो साक्षात् सूर्य भगवान ही पुनः भक्त श्रीदिवाकर जी के रूप में प्रकट हुये।।७८।।

व्याख्या-अज्ञान ध्वांत-अज्ञान को अंधकार कहने का भाव यह है कि जैसे घोर अंधकार में अपना ही शरीर अपने को नहीं सूझता है। यथा-बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा। (रामा०) उसी प्रकार अज्ञान दशा में जीव को आत्मस्वरूप नहीं सूझता। साथ ही जिस प्रकार अंधकार में मार्गभ्रंश, सर्प, बिच्छू, चोर, डाकू आदि अनेकों भय दुःखों की पद-पद पर प्राप्ति होती है उसी प्रकार अज्ञान दशा में अपने श्रेयस्साधनों के निर्णय में भूल, साधनच्युत, काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सरादि रूपी बिच्छू, चोर, डाकूओं का भय पद-पद पर रहता है। ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ इन विकारों को ही पूर्वोक्त प्रकार से स्मरण किया गया है। यथा-मत्सर मान मोह मद चोरा।। (रामा०) 'रागादि सर्पगान पन्नगारि।' 'काम भुजङ्ग डसत जब जेही। विषय निंब कटु लगत न तेही।।' (विनय) 'भोगौघवृश्चिक विकारं।' (वि०) आदि। जिस प्रकार सूर्य से ही अंधकार की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है उसी प्रकार संत कृपा से ही अज्ञान का समूलोच्छेद होता है। विशेष देखिये पृष्ठ १६ 'निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जुहरिया।' की व्याख्या। उपदेसे नृप सिंह-रजोगुणी बुद्धि वाले लोगों पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता है। राजा लोग तो रजोगुण के पुतले ही होते हैं। परंतु

आपने उन्हें भी अपने उपदेश से प्रभावित किया था। नृप सिंह के दो अर्थ-राजाओं में श्रेष्ठ अर्थात् बड़े-बड़े राजा-महाराजा। २. सिंहवत क्रूर प्रकृति, उग्र कर्मा राजा। ऐसे लोगों को भी उपदेश देकर सद्पथ का पथिक बनाऐं। 'रहत नित आज्ञाकारी'-यह आपकी भक्ति का प्रभाव है। नहीं तो भला सबके ऊपर हुकूमत करने वाले राजा लोग किसकी आज्ञा मानने लगे। 'पक्ववृक्ष०'- यथा-फल भारन नमि विटप सब रहे भूमि निअराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ।। दैवी सम्पत्ति ही सुसम्पत्ति है ऐसे गुणों को ही दैवी सम्पत्ति कहा गया है। यथा-सदगुन सुरगन अम्ब अदितिसी।। (रामा०) 'सन्तपोषक'-दोनों प्रकार से सन्तों का पोषण करते। भगवत्प्रसादान्न से शरीर का पोषण करते एवं उपदेशामृत से आत्मा का पोषण करते। 'उपकारी'=यह सन्त का सहज स्वभाव है। यथा-पर उपकार बचन मन काया। सन्त सहज सुभाउ खगराया।। (रामा०)

बानी भोलाराम-सन्तों का स्वभाव होता है कि वे भगवान के किसी नाम को अपने अत्यन्त अभ्यास में ले लेते हैं। श्रीविट्ठलदास के लिये श्रीनाभाजी ने लिखा है कि-'हरि गोविन्द जै, जै गोविन्द गिरा सदा आनन्ददा।। (छ० ८४) 'सुहृद...छाया'- यह सन्तों का शील है। यथा-सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती।। (रामा०) भक्तचरणरज-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८७, 'जिन चरणरेणु आसाधरी' 'विशदराघव गुण गाया'-इससे जनाया गया कि भगवान श्रीसीतारामजी इनके इष्ट थे। श्रीसीताराम शरण भगवानप्रसाद रूपकलाजी ने आपको श्रीरामजी के श्रृङ्गारोपासना के आचार्य श्रीअग्रदेवाचार्यजी का शिष्य लिखा है। 'राघवगुण'-यथा-महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनन्त रघुनाथा।। निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं।। राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।। सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा।। मरुत कोटि सत विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास। ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भवत्रास।। काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरन्त। धूम केतु सत कोटि सम दुराधरष भगवन्त।। प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला।। तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।। हिमगिरि कोटि अचल रघुवीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।। कामधेनु सतकोटि समाना। सकल काम दायक भगवाना। सारद कोटि अमित चतुराई। विधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई।। विष्णु कोटिसम पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता।। धनद कोटि सत सम धन वाना। माया कोटि प्रपंच निधाना। भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु

जगदीसा।। निरूपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै। एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं। प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ। सन्तन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनायउँ सोइ।। (रामा०)
कर्मचन्द-ये श्रीदिवाकरजी के पिता थे। इनका चरित्र देखिये पृष्ठ १२५ पर।।

विशेष-आपकी संतसेवा में बड़ी निष्ठा थी। आपके यहाँ संतों का आवागमन बना ही रहता था। जब कभी घर में सीधा-सामग्री का अभाव होता तो आप अपनी गुदड़ी किसी वणिक के यहाँ गिरवी रखकर सामान लाते और जब पैसे आ जाते तो पुनः उसे छुड़ा लाते। एक बार घर पर बीस संतों की जमात आई। आपने गुदड़ी को गिरवी रखकर सीधा-सामान लाकर संतों का सत्कार किया। संयोग की बात, पैसे के अभाव में गुदड़ी छुड़ा नहीं पाये और सर्दी की ऋतु आई। जब कड़ाके की सर्दी पड़ी तो ये काँपते हुए वणिक के पास जाकर गुदड़ी माँगने लगे। परन्तु उसने तो बिना पैसे के इनसे बात भी नहीं किया। ये भगवदिच्छा विचारकर विवश होकर लौट आये। मारे ठण्ड के रात्रि में नींद नहीं आ रही थी। थर-थर कांप रहे थे। बैठे-बैठे भगवन्नाम संकीर्तन कर रहे थे। भक्त का क्लेश भगवान से देखा नहीं गया। भगवान श्रीराम ने स्वयं एक रजाई लाकर इन्हें ओढ़ा दी। जब वणिक ने इन्हें रजाई ओढ़े देखा तो अत्यन्त क्रोध में भरकर बोला कि मेरे पैसे तो तुमने दिये नहीं और स्वयं नई रजाई बनवा ली। इतना कहकर उस महालोभी तथा निर्दयी वणिक ने इनकी रजाई छीन ली। दूसरे दिन श्रीरामजी ने पुनः दूसरी रजाई इनको ओढ़ने को दी। जब वणिक ने फिर इन्हें दूसरी रजाई ओढ़े देखा और पूछने पर जब उसे भवगत्कृपा का प्रत्यक्ष चमत्कार मालूम हुआ तो वह अपनी करनी पर लज्जित हुआ और तुरन्त ही श्रीदिवाकरजी की गुदड़ी एवं रजाई लाकर वापस कर दिया और चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा माँगी। इसके बाद तो श्रीदिवाकरजी की ऐसी महिमा बढ़ी कि गांव के सभी लोग शिष्य हो गये और सभी लोगों के सहयोग से इनके यहाँ खूब संतों की सेवा होने लगी। ऐसे ही आपके बहुत से चरित्र कहे-सुने जाते हैं।

अकारादि क्रम से श्लोकानुक्रमणिका

नाम	पृष्ठ
अ	
अकालमृत्युहरणं	४०२
अग्रे वह्नि पृष्ठे	१८१
अङ्गं गलितं	१८५
अङ्गनामङ्गना	२९९
अङ्गेतु वामे	८३६
अजोऽपि सन्न	१७
अज्ञानतिमिरा	१७
अदीक्षितस्य	५९४
अद्यापिनोज्झति	३९
अनन्याश्चिन्त	५५८
अनर्पितचरीचि	७६८
अनाचारोऽशुचिः	६०७
अन्तिर्हिते भगवति	७६५
अन्त्यजा गणिका	४८९
अपराध सहस्र	३१
अपूज्या यत्र	५३२
अप्रतर्क्यादनि	२७१
अम्भोनिधिवै	३९
अर्थस्य साधने	२७६
अर्थमनर्थ भावय	५२९
अवताराह्यसं	२
अहं पुरा भरतो	५२१
अहोवकीयं स्तन	२६
अहोबतश्वपचो	६८५
आ	
आत्तसज्जंधनुषा	४५४
आदौ जगदाधारः	५
आपन्नकौञ्जरीं	५२१
आरम्भगुर्वी	६९९
आराधनं भग	५२१
आराधितोवाप्य	२६८
आश्लिष्य वा	७८९
आहार निद्रा	४१९
आहारे जायते	२१
इ	
इति गोप्यः प्रगा	७६५
इदं शरीरं शत	२६९
इदमेकं परं तत्वं	६८४
इन्द्रोवह्निः पितृ	११४
उ	
उपदिशन्ति न	७१७
उपोष्यैकादशीं	४७१
ए	
एतावानेवलोके	२९०
एते सत्पुरुषाः	४३३
एवं मरर्थोज्झित	७६६
एषा बुद्धिमतां बुद्धिः	६१३
क	
कर्मेन्द्रियाणि सं	२५६
कलेर्दोषनिधे	४
काते कान्ता	१८०
कामं क्रोध भय	१९८
कामात् द्वेषात्	१९८
कालिन्दी पुलिनो	३१३
किं कवेस्तस्य	७९४
कुलं पवित्रं	६९७
कृतादिषु प्रजा	५
कृते यद् ध्यायतो	४
कृष्णत्वदीय	३६९
केचित्केवलया	१६
केचित्विकल्प	२७१
क्लेशघ्नी शुभदा	७०
कोटि तीर्थानि	६८५
कोधर्मः सर्व	२९०
क्वापिवीणाभि	२९९
क्वाहं कृतघ्नः	६०
क्ष	
क्षत्रियाणामिह	४३१
ग	
गङ्गायमुनयोः	४८३
गावः स्वर्गस्य	४८६
गुणरहितं का	६९९
गुरुचरणाम्बुज	१८१
गुरोरवज्ञा	१६६
गेयं गीतानाम	१८१
गोकोटिदानं	२३४
गोपनीयं गोप	७०१
गोप्यःकामाद्	१९८
च	
चक्रारिधारणं	६०७
चिन्तामणिर्जयति	३२४
ज	
जटिलोमुण्डी	१८०
जन्मकर्मचमे	१७
जयतु जयतु	३६९
जातस्य हि ध्रुवो	२८६

नाम	पृष्ठ
जिह्वेकीर्तय	३६९
त	
त एव वेदा	७०५
तत्साधुमन्ये	४०५
तपन्तुतापैः	२९७
तपसो ब्रह्मचर्यस्य	४९८
तव दास्यसुखैक	३१
तस्माच्छास्त्रं	२९१
तावद् भ्रमति	६९७
तावन्महत्वं	३००
तुलयामलवेन	३९७
तुलसीकाष्ठजां	७०
तुल्यं भूभृति	४४४
तेन तत्तं हुतं	६८५
त्वत्कथामृत	२९७
त्वदीयं वस्तु	२२६
त्वमेव माता	३८८
त्रयोदेवात्रयो	७०
द	
दानं भोगनाशः	४८९
दिव्यं भावं यतो	५२२
ध	
ध्यानमूलं	८६
ध्यायन् कृते	४९८
न	
नखीनां च नदी	४३७
न जन्म नूनं	५१७
न जायते म्रियते	२८६
न तथास्य भवेत्	६०३
न तथा क्लेशो	६०२
नद्याः पुलिन	७६५
न धनं न जनं	२१८
न धर्म निष्ठो	३१
न निन्दतं कर्म	३१
न पारमेष्ठ्यं	२१८
न पारयेऽहं	७६६
नयन गलदश्रु	७८९
न वदेत् यावनीं	४०८
न वयं क्लेश	२७१
न श्रीरामव्रतात्	६८
नाहि कर्माणि छि	७१५
नान्तद् रामात्	६८
नारायण पराः	४०८
नारीस्तनभर	१८०
नाहं तु सख्यो	७६६
नाहं वसामि	३९५
निगम कल्पतरोः	८३५
निन्दकाः शूकरा	२०१
निरपेक्षं मुर्निं	४५५
नृदेहमाद्यं	४१९
प	
परि[illegible]य	१७
,,	
पाखण्डेन वि	९२
पात्रापात्रा वि	५
पुत्राच्छतगुणं	३९४
प्रतिष्ठया सार्व	४०४
प्रथमे चाण्डालि	४९५
प्राप्यस्य ब्रह्मणः	२५
प्रार्थयेद् वैष्णव	७६
प्रेमदञ्च मे	३२५
ब	
बालोऽपि शैलो	३१३
ब्रह्मण्याधाय	५४५
ब्राह्मणोऽस्य	९०
भ	
भक्तसंगे भ्रम	४५५
भगवन् यामिनां	६८४
भगवान पिता	७६५
भज गोविंद	१८५
भजतोऽनुभज	७६४
भवाब्धिपोत	४१७
भोगे रोगभयं	१३४
भोजनाच्छादने	४४६
म	
मत्तेभकुम्भद	३००
मद्भक्ता यत्र	४१७
मद् भयात् वाति	५७२
मयि प्रसादं	३२५
मर्त्योमृत्युव्याल	१५५
मल्लानामशनि	७८
महत्वं गङ्गायाः	८२६
महापातकयुक्तो	७६
तात रामो मत्	३८८
मालातिलक	५००
मालाधारक	७००
मिथो भजन्ति	७६४
मीन स्नानपरः	३६५
मुखं श्लेष्मा	३०८
मुमुक्षवी घोर	५९१
मृत्युर्बुद्धिमता	४१४
य	
यज्ञशिष्टाशिनः	७३२
यत्कृते दशभिः	४९८
यत्परं यद्गुणा	६८४
यथा खरश्चन्दन	७३
यथा धृत्वा शुनः	५९१
यदा तदाहि	१७
,, ,,	९४
यद्यदाचरति	७४५
यदि हरिस्मरणे	२५०
यन्त्रस्य गुण	४३८

नाम	पृष्ठ
यस्यास्ति भक्तिः	६४
यस्येषदुत्कलित	११५
यानैर्वापादुकाभिः	१६५
यावज्जननं तावत्	१८१
यावद्भ्रियेत	५५६
या वै लसच्छ्री	८५
ये मुक्तावपि निस्पृहा	३३३
यो वै गां प्रति	४८६
यो वै ताडयते	४८६
रतिसुखसारे (र)	२६२
राधापुनातु	३१२
रामत्वत्तोऽधिकं	६८६
राम नाम समं	६८४
रामानुजं श्रीः	१९
लघुत्व मूलंच (ल)	१३६
लोके गरीयसी	२०१
लोभमूलानि	२६७
व्रजे विक्रीडितो (व)	७२८
वदसि यदि किञ्चिद	२५८
वदन्ति तत्तत्वविदः	६८४
वदन्ति सकलाः	२५
वनेऽपि दोषाः	५९६
वरं वृणीश्व	३८५
वरं हुतवह	३८५
वागीशा यस्य	२९४
वासांसि जीर्णानि	२८६
विचित्र पत्रांकुर	३२५
विद्याविवादाय	७१९
विना यस्य ध्यानं	१८५
विना श्रीवैष्णवीं	५९४
विहाय कोदण्ड	११५
व्यधाद् यज्ञ	७०५
व्यासो वेत्ति	२९३
शङ्ख चक्राङ्कितो (श)	६०७
शैलेयेषु शिला	१५
श्यामावदाताः	८२
श्रीराधायाः प्रणय	७६८
श्रुत्वाऽपिनाम	१६६
सकृदेव प्रपन्ना (स)	५६२
सजयति नियमा	२०
सतां निन्दा	१६६
सत्सेवयादी	५२१
सन्ध्याकाले	२१
सप्तकोटी महा	६८५
सम्यक्प्रकृष्ट	१८
सर्व धर्मान्परि	६२४
सर्वे प्रपत्तेरधि	१०९
सर्वे भवन्तु	५४४
सर्वेषां मन्त्र	६८५
स वै पुंसां परो	२९०
सहाय गुरवः	७६५
साङ्केत्यं पारि	६८६
साध्वी माध्वीक	२६१
सालोक्य सार्ष्टि	२१८
सुदर्शन महाबाहो	२०
स्त्री शूद्रद्विज	६
स्त्रीणां स्त्री सङ्गि	६०२
स्वतः प्रमाणं	१७९
हस्तमुत्क्षिप्य (ह)	३२०
हे देव दे दयित	३२५

❖

अकारादि क्रम से मुख्य हिन्दी पद्यानुक्रमणिका

नाम	पृष्ठ
अखिल अनूठी (अ)	७९५
अगिनि कनक	७१८
अच्युत में मन	३१३
अवि कोर सों	२३१
अद्भुत एक	७९३
अब कैसे छूटै	५१६
अब हम शरन	८१
अब तौ हरीनाम	७६८
अरे नर परनारी	१३३
अर्थ करौ पण्डित	७९५
अवनीश अनेक	५३५

नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ
आये मेरे अँधेरे	(आ)	२४२	गुरुन विषे नर		४४२	जो तुम तोरो		५१६
आये मेरे नन्द		८२२	गेह की कहै को		८१७	जो सुख होत		६१२
आगम वेद पु		४४५	गोकुल में रास		७९७	जो हम भले		७९१
आगि लगन्ते		१६३	गोला मारै ज्ञान		३१०	ठुमुक ठुमुक	(ठ)	१६७
आजु जौ हरिहिं		७९३	गोरे गोर अङ्ग		६१४	तनना बुनना	(त)	५६१
आज हौं एक		७९२	गोरज विराजै		६४५	तब ते कहाँ		७३२
आपन काज		४३५	गोविन्द कोपि		७९३	तलफत तलफत		३८९
आपुहिं ते शूली		७४	गोविन्द गुना		२४८	तुम घर जाओ		५८०
आयौ आयौ हौं		५३६	घाटन में बाटनि	(घ)	३११	तुम मोरी मीति		८१८
इक जाय चढ्यौ	(इ)	४४३	चकई री चलि	(च)	७९१	दरस बिन दूख	(द)	३८३
उठि भाई नाम	(उ)	२१४	चरण कमल		७९१	दीनदयाल सुने		३८९
ऐसी कौन प्रभु	(ए)	४१	चलौ मन वृन्द		३१३	दुइ पाथर ते		४४४
ऐसी चतुरता		७५	चीखि चीखि चसक		२९१	दुलहिनि गाव		५४९
ऐसे लोगन सों		७७	चेत करौ बाबा		१८३	दूनौ भलौ सुपथ		३९७
ऐसे ही जनम		४४३	छल वंचक हीन	(छ)	७४	देखे री हरि		८०६
ऐ हौं हनू कह्यौ		१५५	छाड़ो मेरे ललित		२०६	देवाधिदेव आ		५३६
कठिन प्रीति की	(क)	२०३	जगत समुद्र अपार	(ज)	९४	धनको न लोभ	(ध)	२७९
कमल मुख देखत		३२४	जगन्नाथ मन		७३६	धन्य हरिभक्ति		५१६
कलप तरु एक		६	जनम अवधि हम		३२४	धूसरि धूरि भरे		७२१
कलि में सांची		५४९	जनम गयौ बादि		३१०	नदी किनारे रूख	(न)	१६३
कहत कत परदेशी		७९४	जन्म जन्म जब		७९५	नारद मेरो साधु		४५५
कहाँ लौ बरनौं		८०६	जब ते तुम आ		५९७	नाहिंन रह्यौ मन		८०३
कहावत ऐसे त्यागी		८०७	जब दांत न थे		४४६	नित उठि कोरी		५५२
कामिनी को तनु		३१५	जब राम नाम		५१६	निरधन को		५२८
कारौ कुल कंटक		८५	जयति जय		५९७	नेह की नाव		३८३
कालिन्दी तट		३१३	जय श्रीराधिका		८४२	नेह निगोड़े को		३८१
कीबेको कहा		६८६	जाके प्रिय न		६८६	नैनन में बसिगे		३१२
कूकर चौक चढ़ा		३१४	जाको आदर		७२२	पण्डित पढ़ि	(प)	७२
कूलनि में केलि		७२८	जाको सुर प्रबल		३२४	पण्डित भूले		५४४
कोई रसिक स्याम		३२२	जाको हरि दृढ़		३८	पांड़े कौन कुमति		५४३
खंजन नैन रूप	(ख)	८१६	जाको हरि अङ्गी		३८	पांड़े भली कथा		५४४
गहितन हिरन	(ग)	७९३	जागत के हम		१३०	पाप जैसी प्रभु		७१७
गहिवो अकाश		७४	जाजि भेद जो		८४०	पांय दियौ चलि		४४४
गिरिये गिरि कूप		३८५	जिय की साध		२६३	पूरन पियूष		४५१

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
पैसा पापी साधु	२१७	मन तुम मोह में	१६३	लोचन सजल	४०१
प्याते थे तब	५३९	मन तू समझ	८०२	शेष सहस मुख (श)	५
प्यारी जू के	८३७	मन लागो मेरो	५५६	शोभित नभ	८१८
प्रभुजी संगति	५१७	महाराज बलि	५००	शोभित कर नव	८०१
प्रभु सत्य करी	७९	महाराज क्यों	७९२	सखि इन नैनन (स)	७९२
प्रभु मैं झूठो	४३८	माधवदास शरन	७३५	सखि यह हम	४७२
प्रान पियारो	६१५	मान मान रे	३०८	सगुनोपासक	३३३
प्रेंख परयंक	८०५	मेरी मति बाबरी	४५१	सदा कृपानिधान	५३६
बड़ो ही कठिन (ब)	१५६	मृतक ढोर	५३६	सदा हरिनिज	४३६
बड़ेई विरक्त	२२९	मेरु सम हेमदान	२३६	सन्त चरन पर	७९
बलि बलि बलि	८१६	मेरे घर आया	५२७	सन्तो राह दोऊ	५४४
बाबुरे बहेरेको	७७	मेरे भक्त हैं	४०१	समर में लर्‍यौ	३८५
बारि तिहारो	८७	मेरो मन अनत	७९१	सम्प्रदाय नवधा	२५२
बालक होकर	३१३	मैया मोहिं दाऊ	७९२	सांचे मनके	४१
बावरो भयौ है	५९५	मैं हरि पतिति	७३४	साधो जग में	२८३
विनती सुनु	२१७	मोहन मोहिनी	७९२	सिलपिल्ले हमें	३८३
विनु गोपाल	२६३	युगल किशोर (य)	३०८	सुधा पियै नहिं	६
विनु गोपाल	७९२	ये आए मेरे	२३७	सुने री मैंने	७९८
विमुखन मुख	५७०	रघुपति भगत (र)	५०२	सेइये सुसाहिब	१५८
वृन्दावन की शोभा	७२९	राधा बैठी तिलक	८२३	सेव्य हमारे हैं	८३५
वृन्दावन देखत	७२९	रामकृष्ण कहिये	११६	सोई दिन शुभ	३९७
बैश्र बढ्यौ सु	३६६	राम खजानो	४५१	सोई नारि सते	३९५
बैरी बँधुवा	४९९	राम चरन अ	१५४	सोच संकटनि	१४५
भजन बिन बैल (भ)	१३१	राम तजि और	२४०	सोभित कर नव	८०१
भजन बिन नर	१३१	रामनाम मात पितु	६८५	सो सुकृति	८२४
भजोरे भैया	५८७	राम बिन संशय	५१६	सो बल कहाँ	३३२
भरोसो दृढ़ इन	८१५	राम हैं मातु	५०९	हमारे राम (ह)	५४४
भाजन आप गढ़े	४४६	रानी मैं जानी	७२३	हरि तेरी लीला	८१९
भीजत कब	८३७	रासमण्डल बन्यौ	७६८	हरि ते विमुख	३७४
भूखो दुर्बल	४२१	रे मन वृन्दा	८३७	हरि हरि वचन	७२२
भृगुको कुटैला	७९२	लखी जिन लाल (ल)	२०९	हाथिन के दांत	६१४
मदन गुपाल (म)	८३७	लाल विना दृग	३८९	हीन हैं जाति	२२३
मधुपुरी क्यों न	६५४	लोग परोसिन	२२६		

❖

❖ जय जय भक्तमाल ❖

जय जय भक्तमाल सुखदायक। लोक ललित परलोक सहायक।।
जय जय भक्तमाल सुठि सोहर। महामोह तम तरणि मनोहर।।
जय जय भक्तमाल बहुरङ्गा। पाप परावन को पुनि गङ्गा।।
जय जय भक्तमाल रस रूरी। माधव मिलन सजीवन मूरी।।
जय जय भक्तमाल परिपूरन। भव भय रोग सोग हित चूरन।।
जय जय भक्तमाल जन तारन। राम अनूप रूप रुचि धारन।।
जय जय भक्तमाल सुठि शोभे। सरस सुगन्ध अलीगन लोभे।।
जय जय भक्तमाल सुरधेनू। सब जग को अभिमत फल देनू।।
जय जय भक्तमाल घन सरिसा। भगवत भजन वारि वर बरिसा।।
जय जय भक्तमाल शशि पावन। स्त्रवत सुधा सुठि ताप नसावन।।
जय जय भक्तमाल भगवाना। सब जग पोषन को मन माना।।
जय जय भक्तमाल वर बोहित। भव सागर तारन सबको हित।।

भक्तमाल महिमा महत, कहत रहत जन जौन।
लहत चहत चित सो सुलभ, त्यहि दुर्लभ कहि कौन।।

।। नमामि भक्तमाल को।।

पढ़ै जो आदि अन्त लौं, बढ़ै जो पर्म तन्त लौं। दहै अनंत साल को नमामि भक्तमालको।।
कथा करै जो याहि की, व्यथा रहै न ताहि की। मिलै सो रामलला को, नमामि०।।
प्रकार नौ कि भक्ति जो, सो अङ्ग होत शक्ति सों। कहै गिरा रसाल को, नमामि०।।
गहै अनन्य भाव है, लहै सुभक्ति भाव है। यही प्रमाण भाल को, नमामि भक्तमाल०।।
अभक्त भक्ति को लहै, न भूलि मुक्ति को चहै। गनै सो तुच्छ काल को, नमामि०।।
करै जो पाठ प्रात में, सरैं सुकाज गात में। हरै हि कर्मजाल को, नमामि भक्तमाल०।।
मिलाय दुग्ध तक्र ते, जु होत सर्पि चक्र ते। तथा सुबुद्धि बाल को, नमामि भक्तमाल०।।
बहूपमा कहौं कहा, कहे न पार को लहा। बखान सूर्य ख्याल को, नमामि भक्तमाल०।।

❖

ISBN 938483605-2

मूल्य : 370/- रुपये

गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

(तृतीय खण्ड)

प्रकाशक : श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

❁ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ❁

श्रीरामानन्द पुस्तकालय प्रकाशनमाला का नवम पुष्प-

श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

तृतीय-खण्ड

श्रीमत् प्रियादास जी कृत कवित्तमयी

भक्तिरस-बोधिनी

(टीका सहित)

मूल छप्पय ७९ से १२८ तक - टीका कवित्त ३४० से ५०७ तक

●

टीकाकार :

श्रीगणेशदासजी 'भक्तमाली' (गोवर्धन)

●

भाष्यकार :

रामायणी श्रीरामेश्वरदास जी (चित्रकूटी)

●

सम्पादक :

जगन्नाथदास शास्त्री

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)

मूल्य ३५०/- रुपये

ISBN : 978-93-84836-05-4

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

नवम संस्करण : ४००० प्रतियाँ

सर्वाधिकार-प्रकाशकाधीन

●

प्रकाशन तिथि :

श्रीसीताराम विवाहोत्सव सम्वत् २०७७

●

मूल्य-३५०/- रुपये

●

प्राप्ति-स्थान :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन, पिनकोड-२८११२१ (जिला-मथुरा)

मोबाइल : ०९२१९८८०१११

●

खण्डेलवाल ग्रन्थालय

अठखम्बा, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-२८११२१

♦ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ♦

पुरोवाक्

डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव 'प्रियादास'
एम.ए., बी.एस.सी., पी-एच.डी., रिसर्च फेलो ऑफ् डी. लिट्., प्रोफेसर तथा शोध निदेशक,
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, इंस्टीट्यूट ऑफ् ओरियण्टल फिलॉसफी, वृन्दावन

गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।।

जहाँ भक्तों ने "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।।' कहकर भगवान् और उनकी कथा को अनन्त कहा है, वहाँ भगवान् ने "न मे भक्तः प्रणश्यति।" कहकर अपने भक्तों को भी अजर-अमर माना है। भगवान् और उनके भक्तों का यह अन्योन्याश्रित भाव है, जिसकी पुष्टि भगवान् के "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" इस वाक्य से होती है। इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि जब से भगवान् हैं, तभी से उनके भक्त हैं और जब से भगवान् की कथा है, तभी से भक्तों की भी कथा है। यहाँ यह कह देना भी अत्युक्ति न होगी कि भक्तों के बिना भगवान् की कोई लीला बन ही नहीं सकती। भक्तवर अम्बरीषजी न होते तो भगवान् की दशावतार लीला कैसे बनती? ऐसे ही भक्त प्रह्लादजी न होते तो भगवान् का नृसिंह अवतार भी क्यों होता आदि। यही कारण है कि भक्तवत्सल भगवान् अपने दीन-हीन निष्किंचन भक्तों को अपने से भी बड़ा मानते हैं-"सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते अधिक सन्त करि लेखा।" बात ठीक भी है। यदि भक्त भगवान् से बड़े न होते तो वे अपने छोटे से हृदय में भगवान् के विराट्-स्वरूप को भला कैसे बन्द कर पाते?

दूसरी बात यह है कि भगवान् अपने भक्त को उतना महत्व नहीं देते, जितना कि अपने भक्त के भक्तों को देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं-"मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः।" तब भक्तमाल के टीकाकार वैष्णवरत्न श्रीप्रियादासजी ने जो यह लिखा है कि-गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।।" ठीक ही लिखा है, अर्थात् भगवान् राम और कृष्ण का अहर्निश गुणगान करने पर भी भक्त का स्वरूप एवं रहस्य भली प्रकार समझ में नहीं आता भला ऐसा क्यों? तब फिर भगवद्-भक्ति के स्वरूप-ज्ञान का और उसकी प्राप्ति का अन्य क्या उपाय है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं-"शोभित तिलक भाल माल उर राजै ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।।" इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कण्ठी-मन्त्र, तिलक-छाप आदि वैष्णव-स्वरूप धारण करके अहर्निश भगवान् का गुणानुवाद करते रहने पर भी बिना

सन्तों-भक्तों के कथा-श्रवण एवं सत्संग आदि के भगवद्-भक्ति की प्राप्ति एवं उसके स्वरूप का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं कहा जा सकता। भागवतकार ने भी जड़भरत-रहूगण प्रसंग में "विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।" कहकर उक्त बात की पुष्टि की है।

भक्तवत्सल भगवान् सदैव अपने भक्तों के वशीभूत रहते हैं। अम्बरीष-दुर्वासा प्रसंग में द्विज श्रेष्ठ दुर्वासा ऋषि के प्रति भगवान् के श्रीमुख से प्रस्फुटित यह वाणी कितनी मार्मिक है-"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" इसी प्रसंग में भगवान् ने यह भी कहा है कि सन्तजन मेरे हृदय हैं और मैं सन्तों का हृदय हूँ-"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।" इतना ही नहीं अपने निष्किंचन प्रेमीजनों के पीछे भगवान् निरन्तर गो-वत्स की भाँति घूमते ही रहते हैं-"अनुव्रजाम्यहं नित्यम्।" तब श्रीप्रियादासजी ने "गाऊँ राम कृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।" कहकर निश्चय ही भक्त और भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया है। अर्थात् भगवद्-भक्ति के स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति का एकमात्र अमोघ साधन भगवद् गुणानुवाद और नाम-संकीर्तन के साथ-साथ भगवद्-भक्तों का संग एवं भक्तचरितावली अथवा श्रीभक्तमाल का निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना ही है। इसके अतिरिक्त भगवद्-भक्ति प्राप्ति एवं उसके स्वरूप ज्ञान का अन्य कोई साधन नहीं है, नहीं है, नहीं है।

प्रसन्नता की बात है कि श्रीभक्तमाल के तृतीयखण्ड का प्रथम संस्करण भी भक्तवत्सल भगवान् के श्रीचरण-कमलों में समर्पित होने जा रहा है। श्रीभक्तमाल के लेखन एवं प्रकाशन का श्रेय "बाबा श्रीगणेशदासजी "भक्तमाली" एवं रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी" को ही है। जिनका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीभक्तमाल के लिए समर्पित है इसके प्रकाशन से "श्रीरामानन्द पुस्तकालय" सुदामाकुटी, वृन्दावन का संस्थापन सार्थक हो गया। यह भी परम हर्ष का विषय है कि अनन्य गो-सन्तसेवी महन्त श्रीसुदामादासजी महाराज के संरक्षकत्व में एवं श्रीभक्तमाल के अमर-गायक परम सन्त ब्रजरजलीन पंडित श्रीजगन्नाथप्रसादजी की अध्यक्षता में श्रीवृन्दावन में यमुनापुलिन की परम पुनीत स्थली सुदामाकुटी के विशाल प्रांगण में "श्रीभक्तमाल सचित्र-शिलालेख मन्दिर" का निर्माण कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है। निश्चय ही इस महत् कार्य से भक्ति का चतुर्दिक् प्रचार-प्रसार होगा-ऐसी पूर्ण आशा है।

भक्तकिंकर :

प्रियादास

श्रीभक्तमाल सचित्र शिलालेख मन्दिर समिति (रजि०)

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन

श्रीभक्तमाल-जयन्ती

फाल्गुन कृष्ण सप्तमी

वि. सं. २०३७

♦ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ♦

श्रीरामचरितमानस में-

भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु

लेखक - गो-सन्तसेवी, महामहिम महन्त श्रीनृत्यगोपालदासजी शास्त्री)

श्रीमणिरामदासजी की छावनी, श्रीअयोध्या

उपासनासार सर्वस्व "भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु" को "चतुर नाम वपु एक" कहकर श्रीनाभाजी (श्रीनारायणदासजी) ने श्रीभक्तमाल में जिस सार्वभौम सिद्धान्त का उद्घाटन किया है, वह सर्वथा श्रुति, शास्त्र सम्मत है तथा उसके सार्वभौमत्व के सम्बन्ध में सन्तों एवं सदाचार्यों का मतैक्य है। कलिपावनावतार, प्रातःस्मरणीय, भक्त शिरोमणि, कविकुलकुमुदकलाधर, कविताकानन केशरी पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने "नाना पुराणनिगमागम सम्मत" श्रीरामचरितमानस में किस आदर के साथ इस सिद्धान्त का अभिनन्दन किया है? प्रस्तुत निबन्ध में इसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। श्रीरामचरितमानस का श्रीगणेश ही "भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु" की वन्दना से होता है। यथा-

भक्त-वन्दना

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्।।
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।।

सोरठा- **जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर वदन।**
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुण सदन।।
कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मर्दन मयन।।

दोहा- **वन्दउँ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोइ।**
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोइ।।
सन्त सरल चित जगत् हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु।।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीश समाजा।।
वन्दउँ सबके चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये।।
रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते।।
वन्दउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे।।
सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर विग्यान विसारद।।
प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा।।

भक्ति-वन्दना

उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।
जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की।
ताके युग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ।।

भगवन्त-वन्दना

यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा-
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।।

पुनः- मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन।।
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।।

चौपाई- पुनि मन वचन कर्म रघुनायक। चरण कमल वन्दउँ सब लायक।।
राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत विपति भंजन सुखदायक।।

गुरु-वन्दना

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।

पुनः- वन्दउँ गुरुपद कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर।।

चौपाई- वन्दउँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।। आदि

वाणी- (सरस्वती), विनायक (गणेश), भवानी-शंकर और कवीश्वर (बाल्मीकि), कपीश्वर (हनुमानजी) आदि सभी भक्त हैं। यथा-

(वाणी)- **भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।।**
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये।।

(विनायक)- **महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।।**

(भवानी)- **सहस नाम सम सुनि शिव वानी। अपि जेईं पिय संग भवानी।।**

(शंकर)- **'वैष्णवानां यथा शम्भुः'** (श्रीभागवत)
रामहिं भजहिं तात शिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता।।

(कवीश्वर)- **वन्दउँ मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ।**
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।।

(कपीश्वर)- **अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं, दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।**
सकल गुणनिधानं वानराणामधीशं, रघुपति प्रियभक्तं वातजातं नमामि।।

श्रीजानकीजी भक्ति हैं। यथा-

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर।।

श्रीराम भगवान् हैं। यथा-

धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा राम स्वबस भगवानू।।
निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।। आदि

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं' में तो गुरु-वन्दना स्पष्ट रूप से है ही।

इस प्रकार जैसे श्रीभक्तमाल में सर्वप्रथम 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की वन्दना की गयी है। उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी सर्वप्रथम 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की वन्दना की गयी है। पुनः जैसे श्रीनाभाजी ने 'चतुर नाम वपु एक' कहकर चारों की एकता का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी इनका तत्वैक्य प्रतिपादित है।

यथा-भक्त और भगवन्त की एकता-'जानेसु सन्त अनन्त समाना।' भगवान् और भक्ति की एकता-यथा-

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दउँ सीताराम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

भगवान् और गुरु की एकता-यथा-**वन्दउँ............नर रूप हरि।**

श्रीभक्तमाल की ही भाँति श्रीरामचरितमानस में आद्योपान्त 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की महिमा ओत-प्रोत है-यथा-

भक्त-महिमा

मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।।
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा।।
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।।
भक्तन कै महिमा रघुराई। बहुविधि वेद पुराणन गाई।।

भक्ति-महिमा

प्रेम भक्ति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई।।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।
जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।

भगवन्त-महिमा

मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई।।
राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण साधु सुर साखी।।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।
कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू।।

गुरु-महिमा

गुरु बिन भवनिधि तरइ न कोई। जौ विरंचि शंकर सम होई।।
गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।।
जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं।।
जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी।।

तथ्य तो यह है कि जैसे श्रीभक्तमाल में 'भक्त' का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी भक्तों को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यथा-

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते सन्त अधिक करि लेखा।।

जैसे श्रीनाभाजी ने भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु में सर्वप्रथम भक्त का ही स्मरण किया है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने सर्वप्रथम वाणी विनायक भक्त की वन्दना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामचरितमानस और श्रीभक्तमाल का हृदय एक है। विस्तार भय से यहाँ अति संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है।

गो-सन्तसेवी : **महन्त नृत्यगोपालदास शास्त्री**

।।श्रीराम।।

सम्पादकीय निवेदन

भक्त-भगवान् की विशेष प्रेरणा एवं अनुकम्पा से विशद् व्याख्या सहित प्रकाशित होने वाले श्रीभक्तमाल के चार खण्ड हैं- प्रथम जिसे पूर्वार्द्ध कहा जाता है, जिसमें सतयुग, त्रेता, द्वापर पर्यन्त के भक्तों के चरित्र हैं। इसमें मूल २७ छन्द हैं एवं भक्तिरसबोधिनी टीका के १०५ कवित्त हैं। दूसरे खण्ड में जिसे उत्तरार्द्ध का प्रथम कहा जाता है, उसमें चतु:सम्प्रदायाचार्यों के अतिरिक्त श्रीनामदेवजी, श्रीजयदेवजी, श्रीकबीरजी, श्रीरैदासजी, श्रीपीपाजी, श्रीनित्यानन्दजी, श्रीचैतन्य महाप्रभुजी, श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीहरिव्यासदेवजी आदि लगभग १०० विशिष्ट सन्तों के चरित्र हैं। इसमें मूल छन्द २८ से ७८ तक अर्थात् ५१ छन्द हैं एवं टीका १०६ से ३३९ तक २३४ कवित्त हैं। तृतीय खण्ड में जिसे उत्तरार्द्ध का द्वितीय कहते हैं जो पाठकों के हाथों में है। इसमें मूल ७९ से १२८ तक अर्थात् ५० छन्द हैं और टीका ३४० से ५०७ तक १६८ कवित्त हैं। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीरूप-सनातनजी, श्रीहितहरिवंशजी, श्रीस्वामीहरिदासजी, श्रीहरिरामव्यासजी, श्रीजीवगोस्वामीजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीनन्ददासजी, श्रीगोविन्दस्वामीजी, श्रीमीराबाईजी, श्रीनरसीजी आदि लगभग १२५ भक्तों के पावन-चरित्र इसमें हैं। चतुर्थ खण्ड जिसे उत्तरार्द्ध का तृतीय कहेंगे। यह खण्ड श्रीभक्तमाल के सुमेरु श्रीतुलसीदासजी से आरम्भ हुआ। इसमें श्रीगदाधरभट्टजी, श्रीरत्नावतीजी, श्रीछीतस्वामीजी, श्रीचतुरोनगन (श्रीनागाजी), श्रीकरमैतीजी, श्रीप्रेमनिधिजी, आदि लगभग १०० प्रेमी भक्तों के विशद् चरित्रों का वर्णन है। इसमें १२९ छन्द से २१४ तक ८६ मूल छन्द हैं एवं टीका ५०८ से ६३४ अंत तक १२७ कवित्त हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में मूल २१४ एवं टीका-कवित्त ६३४ हैं। एवं यह चार खण्डों में विभक्त है।

नि:संदेह परम पवित्र श्रीभक्तमाल साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। इसमें भक्ति रस की सभी उपासनाओं की विधियाँ हैं एवं उनका पोषण है। सभी सम्प्रदायों में समन्वय एवं उन्हें एक सूत्र में बाँधना उनका लक्ष्य है। इसमें वर्णित साम्प्रदायिकता परस्पर सद्भाव को उत्पन्न कर जोड़ने वाली है। वस्तुत: सम्प्रदाय शब्द का एवं सम्प्रदायों का वास्तविक रहस्य प्रकट करने वाला यही ग्रन्थ है। मूल एवं टीकाकार ने पक्षपात अथवा द्वेषवश एक शब्द भी नहीं लिखा है। उन्हीं की भावनाओं का आदर करते हुए इसकी व्याख्या में भी पक्षपात एवं द्वेष का लेश नहीं है। भक्त-चरित्रों का संग्रह करते समय तत्तत् सम्प्रदायों के ग्रन्थों का ही सहारा लेना पड़ता है अर्थात् उन्हीं के अनुसार उन-उनके चरित्रों को लिखना पड़ता है। प्रेमी पाठकजन इसकी व्याख्या का अध्ययन कर उक्त विषय को समझेंगे और मेरी अल्पज्ञतावश हुई अनेक त्रुटियों को सुधारकर पढ़ेंगे। यदि सूचना देने की कृपा करेंगे तो आगे के संस्करणों में यथासम्भव सुधार का प्रयत्न किया जा सकेगा। भक्त-भगवन्त से ऐसे सभी सहयोगों की कामना है, जिससे लक्ष्य की पूर्ति हो।

दासानुदास - गणेशदास

।। रामः सर्वत्र राजते।।

हर्षोद्गार

(लेखक-श्रीभगीरथरामजी ब्रह्मचारी, शान्तिकुटी, वशिष्ठकुण्ड, श्रीअयोध्याजी)

धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद् भवपाशमोचिनी।
तद्भक्तसंगौऽप्यति दुर्लभो मे प्रसीदताम् दाशरथिः सदा हृदि।।

श्रीभगवत्कृपा से संविभूषित श्रीभक्तमालजी की विशद् व्याख्या प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। जिसका लेखन-प्रकाशन बड़े सौहार्द एवं उत्साह के साथ लेखक और प्रकाशक ने किया है। इसके पूर्व प्रकाशित टीका-टिप्पणियों से भी भक्तजन श्रीभक्तमाल के स्वाध्याय का लाभ उठाते रहे हैं, परन्तु इस ग्रन्थ की विशद् व्याख्या की अपेक्षा सभी भक्तमाल प्रेमियों के हृदय में बनी थी। प्रस्तुत प्रकाशन से वह स्वप्न अब साकार हुआ। भक्त-भगवन्त की सहकारिता इसे अलंकृत करने में सहायक हुई।

आज चारों दिशाओं से यह हर्षध्वनि सुनाई दे रही है कि भक्त-जगत् में नवजीवन संचार के लिये यह प्रकाशन संजीवनी का कार्य कर रहा है। इस सम्बन्ध में गो-सन्तसेवी महन्त श्रीसुदामादासजी द्वारा संस्थापित 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' का प्रकाशन विभाग बधाई का पात्र है। आशा है कि वह इसी प्रकार चिरकाल तक ऐसे ही महत्वपूर्ण सद्ग्रन्थों का प्रकाशन करके भक्ति का प्रचार-प्रसार करता रहेगा।

श्रीभक्तमाल की विशेषताओं में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अन्यान्य भक्ति साहित्यों में वैधी-भक्ति का निरुपण विस्तार के साथ किया गया है। प्रेमा-भक्ति जो कि भक्तों का चरम लक्ष्य है, उसे आवरण के साथ ही वर्णन किया है जैसे कि-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (गीता ७-१६)

गीताकार ने चार प्रकार के भक्तों का प्रतिपादन करके पुनः 'च' कहकर प्रेमा-भक्ति का ही संकेत किया है। उसी को सुस्पष्ट करने में प्रयत्नशील भक्ति-सूत्रकार श्रीनारदजी ने 'अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम्।' कहकर विराम लिया। उसी गम्भीर तत्व को श्रीभक्तमालकार ने सरल, सरस, सुन्दर एवं रहस्यमय विविध भक्त-चरित्रों को आधार बनाकर प्रेमा-भक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसके पठन-पाठन से मनुष्य का हृदय सरल एवं सरस बनेगा और वह सर्वदा अहंकार शून्य होकर विनम्रता का पुजारी बनेगा एवं सभी सद्गुण उसमें आकर विराजेंगे। उसका हृदय 'भक्त-भक्ति-भगवन्त-गुरु' का निज-निकेतन होगा। ऐसा ही यह आशीर्वाद 'ग्रंथरत्न' है। जिसका लाभ मानव मात्र को उठाना चाहिए। सम्पूर्ण भक्त-जगत् की तथा मेरी शुभ-कामनायें इस प्रकाशन के साथ हैं।

विनीत : **भगीरथराम ब्रह्मचारी**

सूची पत्र

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
गो० श्रीविट्ठलनाथजी	१	श्रीसोझाजी	२२३	श्रीध्यानदासजी	२७७
श्रीत्रिपुरदासजी	११	श्रीसींवाजी	२२५	श्रीमुकुन्दजी	२७७
श्रीविट्ठलेश सुत	२०	श्रीआधारजी	२२५	श्रीवृद्धव्यासजी	२७७
श्रीकृष्णदासजी	२२	श्रीहरिनाभजी	२२५	श्रीजगनजी	२७८
श्रीवर्द्धमानजी	३३	श्रीस्वभूदेवाचार्यजी	२२६	श्रीबाहुबलजी	२७८
श्रीगंगलजी	३३	श्रीऊदारामजी	२२८	श्रीकपूरजी	२७८
श्रीक्षेमगुसाईंजी	३५	श्रीडूंगरजी	२२९	श्रीघाटमजी	२७९
श्रीविट्ठलदासजी	३९	श्रीपदारथजी	२३०	श्रीदेवानन्दजी	२८२
श्रीहरिरामजी हठीले	५२	श्रीविमलानन्दजी	२३०	श्रीखेमजी	२८२
श्रीकमलाकरजी भट्ट	५६	श्रीकलिककल्पवृक्ष भक्तजी	२३१	श्रीरूपाजी	२८३
श्रीनारायणजी भट्ट	६०	श्रीखोजीजी	२३३	श्रीरुद्रप्रतापजी गजपति	२८५
श्रीव्रजवल्लभजी भट्ट	६५	श्रीराँका-बाँकाजी	२३९	श्रीहरिनाथजी	२८९
श्रीरूप-सनातनजी	६७	श्रीयतीरामजी	२४६	श्रीगोविन्द ब्रह्मचारी	२८९
श्रीहितहरिवंशजी	९८	श्रीरामरावलजी	२४६	श्रीगोविन्द स्वामी	२९०
श्रीस्वामी हरिदासजी	११२	श्रीसीहाजी	२४७	श्रीविद्यापतिजी	३०३
श्रीहरिरामजी व्यास	१२९	श्रीदलहासिंहजी	२४७	श्रीब्रह्मदासजी	३०५
श्रीजीव गोस्वामीजी	१५०	श्रीपद्मजी	२४८	श्रीकेशवाचार्यजी	३०६
श्रीगोपाल भट्टजी	१६२	श्रीमनोरथजी	२४८	श्रीपूर्णसिंहजी	३११
श्रीअलि भगवानजी	१७०	श्रीद्योगूजी	२४९	श्रीगुंजामालीजी	३१३
श्रीवीठलविपुलदेवजी	१७३	श्रीचाचागुरुजी	२४९	श्रीगुंजामालीजी की पुत्रबधू	३१३
श्रीजगन्नाथजी थानेश्वरी	१७५	श्रीसवाईसिंहजी	२५१	श्रीकेशवजी दण्डौती	३१४
श्रीलोकनाथजी	१७७	श्रीनापाजी	२५१	श्रीचतुर्भुजदासजी	३१५
श्रीमधुगोसाईंजी	१८०	श्रीकीताजी	२५३	श्रीबेनीजी	३१९
श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी	१८२	श्रीलड्डूजी	२५४	रानी श्रीगणेशदेईजी	३२०
श्रीकृष्णदासजी पण्डित	१८३	श्रीसन्तजी	२५६	श्रीझालीरानीजी	३२४
श्रीभूगर्भगोसाईंजी	१८४	श्रीतिलोकजी सुनार	२५८	श्रीशोभाजी	३२५
श्रीहृषीकेशजी	१८६	श्रीलक्ष्मणजी	२६३	श्रीप्रभुताजी	३२६
श्रीरंगजी	१८७	श्रीलफराजी	२६३	श्रीउमा भटियानीजी	३२७
श्रीघमण्डीजी	१८७	श्रीकुम्भनदासजी	२६४	श्रीगौराबाईजी	३२७
श्रीरसिकमुरारिजी	१८८	श्रीखेमदासजी	२७२	श्रीकलाबाईजी	३२८
खल-वन्दना	२००	श्रीहरिदासजी	२७३	श्रीजीवाबाईजी	३२९
दुष्ट लक्षण	२०१	श्रीउद्धवजी	२७४	श्रीजेवाजी	३२९
श्रीसदनजी	२१२	श्रीसोमजी	२७६	श्रीगंगाजी	३३०
श्रीशालग्राम प्रा०	२१५	श्रीभीमजी	२७६	श्रीनरवाहनजी	३३२
श्रीकाशीश्वरजी	२२२			श्रीजापूजी	३३७

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
श्रीरूपाजी	३३७	श्रीनन्ददासजी	४५९	श्रीखेमालरत्नजी	५६२
श्रीअर्जुनजी	३३८	श्रीजनगोपालजी	४७९	राजा श्रीरामरयनजी	५६४
श्रीदामोदरजी	३३८	श्रीमाधवदासजी	४८५	श्रीरामरयनजी की रानी	५६९
श्रीमयानन्दजी	३३९	श्रीअंगदजी	४९१	श्रीकिशोरसिंहजी	५७१
श्रीदासजी	३४१	राजा चतुर्भुजजी	५१०	श्रीहरिदासजी	५७६
श्रीबनियारामजी	३४१	श्रीमीराजी	५२०	श्रीचतुर्भुजदासजी	५७८
श्रीरामदासजी	३४२	श्रीपृथ्वीराजजी	५४०	श्रीकृष्णदासजी चालक	५९०
श्रीलक्ष्मणजी	३४४	श्रीबैजनाथजी	५४८	श्रीसन्तदासजी	५९२
श्रीगोपालजी जो०	३४४	भक्त राजागण	५५१	श्रीसूरदास मदनमोहनजी	५९४
श्रीलाखाजी	३५०	श्रीजयमलजी	५५३	श्रीकात्यायनीजी	६०३
श्रीनरसीजी	३७१	श्रीरामचन्द्रजी	५५५	श्रीमुरारिदासजी	६०६
वृकासुर	३८२	श्रीरायमलजी	५५६	❖	
श्रीयशोधरजी	४५३	श्रीमधुकरशाहजी	५५७		

छन्द

इस धन्य नाभा भारती की आरती आरति हरै।
यह भक्त भगवत् की कथा सब विश्व का मंगल करै।।
नर जाति जब माया विवश अज्ञान तम में पग गई।
जन भारती आभा तभी जग, जग गई जगमग गई।।
अज्ञान माया मोह तम की कालिमा कलई धुली।
सत्प्रेम समता सत्य सुख सुचि कंज कलिकायें खिलीं।।
उल्लूक खल कलिमल सकल उड़गन प्रभाहत हो गये।
तब सब पथिक सुन्दर सुखद हरिभक्ति पथ को पा गये।।
इस भक्तमाला के सकल हरि भक्तगण दाया करो।
सच्ची अहिंसा भक्तिमय विज्ञान दै माया हरो।।

❖

दृष्टान्त-सूची

नाम	विषय	पृष्ठ
पण्डित उमापतिजी	सम्बन्ध महिमा	४
एक कायस्थ	चालाकी	११
श्रीरहीमजी	रीझ	१६
एक स्त्री	प्रशंसेच्छा	१९
एक चौबे	निमन्त्रण	४६
दो किसान	कलि प्रभाव	४७
श्रीभीमजी	लोकलज्जा	५१
एक पण्डितजी	सम्बन्ध	५५
कालिदासजी	पाण्डित्य	५८
बादशाह बलखबुखारा	त्याग	७०
गीता का गुटका	विषय वृद्धि	९२
कथावाचक	पुजवाना	९४
दो सन्त	माया से मुक्ति का उपाय	१३६
श्रीगोपालदासजी	त्याग	१३९
एक सन्त	ठाकुर काम आये	१४५
एक ब्राह्मण	माया से मोह	१५६
अकबर बीरबल	मीठी वाणी	१५८
चित्रकार	हृदय की शुद्धता	१६५
तपस्वीजी	प्रभु प्राकट्य	१६७
एक राजा	दोष में गुण दर्शन	१६८
एक सन्त	सन्त-निष्ठा	१९७
एक चौबे	अनुकूलार्थ	१९८
एक बंगाली	अपना भाव	१९८
दो स्त्रियाँ	पातिव्रत	२००
कण्ठीबन्द	कठोरता	२०६
पुण्यात्मा	सुकृति संग रक्षा	२१०
मस्तराम	सुकृति संग रक्षा	२१०
एक डाकू	प्राणिहित श्रेष्ठ्य	२१३
श्रीलालबाबा	सच्चे भक्त के प्रभु	२१६
एक कुलटा	त्रिया चरित्र	२१९
फकीर की बेटी	निष्कामता	२४५

नाम	विषय	पृष्ठ
सन्तसेवी	सन्त-सेवा	२५७
एक बुढ़िया	सुनार की चालाकी	२५८
एक सुनार	सुनार की चालाकी	२५९
राजा साहब	सुनार की चालाकी	२५९
एक ग्वारिया	सख्य	२९२
एक सेठ	सन्त-सेवा	३३०
चित्रकेतु	सन्त-परत्व	३३१
भक्ता क्षत्राणी	गुरु-नाम	३३४
महन्त लालदासजी	सन्त-सेवा	३४१
राज सेवक	स्वामि-भक्ति	३४५
एक विप्र	गंगा महिमा	३५३
कोतवाल साधु	वेषनिष्ठा	३५६
नाम महिमा	नाम महिमा	३७३
कबूतर	शरणागति	३८०
राजकुमार/कुमारी	नेति-नेति	३८१
शेखचिल्ली और काजी	भोलापन	३८३
पटना का सेठ	सन्त-सेवा	३९६
निपटजी और बादशाह	स्वपक्षपोषण	४०७
ब्रजो भंगिन	नाक बचाओ	४११
एक सन्त	निरभिमानता	४४९
चन्द्रमा	अचला भक्ति	४५४
निर्धन विप्र	मतैक्य	४५८
खानखाना	विश्वास	४८९
गीदड़	कुटिल नीति	४९२
दो चोर	दृढ़ निश्चय	४९४
रघुराजसिंहजी	नाम-स्मरण	५१८
शेखचिल्ली	घर का बिगाड़	५१९
कथावाचक	विमुख देश	५८०
श्रीकांचीपूर्णजी	लीन्हों अपनाय	५८६
अफीमची	भावुकता	५९७

❖

अकारादि क्रम से पद-सूची

पद	पृष्ठ
अ	
अगर श्याम के	४२४
अति सूधो सनेह	४२५
अति जर्जर जीरन	४२२
अधर बन्धूक औ	४७७
अनन्य व्रत खाड़े	५६९
अनन्यन कौन की	२४५
अनन्य नृपति स्वामी	११४
अब नहिं मानूं राणा	५३४
अब मैं नाच्यौं	२३३
अब मैं नाच्यौं	५७४
अब सुख मानति	३११
अमानै तौ तुमना	४२६
अरगजा कुमकुम	२९९
अरी सुन आतम	४८०
अहो पथिक अति	४६५
आ	
आओ मेरे गोविन्द	३०३
आचारज ललिता	१२२
आजु अति राजत	१०१
आजु अति राजत	१३३
आजु गोपाल रास	३८४
आजु वन नीकौ	३८५
आठ गाँठ कौपीन	२४१
आनि हरि पाये	३१६
आप गये बनिजी	३४२
आली म्हाने लागै	५३३
आली री मेरे	५४०
आवत बने कान्ह	३०
इ	
इक दिन राधे	४६६
इक द्यौस केशव	३१०
इतनो है सब	१५०
उ	
उगना मोर कतये	३०५
ए	
एक ओर गैयर	४४३
एक सनेही साँच	१६
ऐ	
ऐसेहि बसिये	१५०
ऐसे ही देखत	११४
ऐसौ कब करिहौ	७१
क	
कखन हरब दुख	३०४
कमलदल नैननि	१७
कमलमुख देखत	२३
कम्बु कण्ठ मंजु	१२१
कबिरो थारो	४२७
करत भजन इक	११०
कहा भयौ जोपै	२१७
कहा भयौ जोपै	४२५
कहूँ बिन्दु कहुँ	७८
काम से रूप	६८
काम से रूप	५७३
काहु लियौ जप	१०२
काहू को वश	१२९
कितेक दिन ह्वै	२६९
किशोरी तेरे	१५०
की मुख पट	५४
कुंज भवन ते	३०४
कुंजविहारी एक	११४
कुँवरि गणेश	३२१
कुँवरि राधिका	२६९
कोई कहियो रे	५३९
कोउ कहै री	४६६
कोउ कहै रे	४६६
ख	
खण्डन मण्डन की	५८
खेलिबे को खग	२७५
ग	
गज बाजि घटा	६८
गोपाल लालको	४७६
गोवरधनवासी	३१९
गोरे तन की जोति	४६२
गौर श्याम वदना	२६
च	
चन्दन पंक गुलाब	५२०
चलहि राधिके	३३५
चहुँदिशि टपकन	४६७
चाँपत चरन मोहन	४६७
चित्र सराहति	४६३
चोर चुप्प ह्वै रहै	५३
छ	
छबि आवन मोहन	१७
छिन में प्रवीन छिन	५७४
ज	
जदपि कहूँ के कहूँ	४६२
जबलौं न कोऊ	१८
जमुना पुलिन कुंज	२७५
जयति रुक्मिणीनाथ	४७५
जाकी उपासना	४९
जाके प्रिय न राम	५३५
जाको मनमोहन	१०३
जाको जथा सुभाव	४२२
जा दिन ते निरख्यो	४२६
जानकी जीवन की	३७
जा पथ को पथ	१२२
जाहि लगन लगी	१८१
जाहि लगन लगी	५२५

पद	पृष्ठ
जूठनि जे न भक्त	१४६
झ	
झूमत द्वार मतंग	६९
झूला झूलैं मेरे	१४९
ढ	
ढाक चढ़त वारी	२२२
त	
तजि माखन खाते	२४
तरवा ललाई नख	५०९
तिनका बयारिके	१२९
द	
दरश बिन दूखन	५३९
दुख मोर नहीं	१५
देखो देखो री	४६३
दे री माई अब	५२४
देव औ दानव	३८९
द्योसा द्योजी राज	४३२
ध	
धनि धनि मथुरा	३१२
ध्यान धरे बक	४२३
न	
नचत दोउ रास में	३८५
नन्दक नन्दन कदम्ब	३०४
नन्द भवन को भूषन	४६७
नव कुँवर चक्र	१४८
नव रंग ललन	१९
नाचत ही निशि	५७४
नारायण नूं नाम	४१२
नारी तजै न	४१३
ना मैं पूजा गौरजा	५२५
नित्य दिव्य लीला	११३
निन्दक जीवे जुग	५६५
नैननि देखौ और	३७५
नैना प्रकृति गही	२८४
नैना मेरे अटके	५२३
प	
पल काटौं सही	५२५

पद	पृष्ठ
पहले तो मैं यों	२८०
पहिले तो देखौ	४६१
पारस सो धन	१२५
पावन पाणि धर्यौ	१२९
पिता वचन प्रह्लाद	४११
पूरन सरद ससि	५६८
पोत लैके आयो	२९४
प्यारी नेक निरखौ	१७५
प्यारे तेरो सो मुख	४४५
प्रथम यह विचारैं	२८०
प्रात समय श्रीवल्लभ	४७५
प्रिया पिताम्बर मुरली	१७५
प्रीतम प्रीति ही ते	३०३
प्रीति न काहू की	१०३
ब	
बधिर भये लौं देवा	४२६
बकुला बनिकै हंस	५१५
वन की कुंजन कुंज	१०१
वन्दौं राधिका पद	९९
बसौ मेरे नैननि में	५४०
बरजी मैं काहु की	५२७
बहिनी बेटा हरि	१५०
बारी जाऊँ रे श्याम	४०८
बिछे हैं बिछौना	५५३
विनती सुनिये	१४०
वृन्दावन के रूख	१३५
वैष्णवजन तो	४५२
भ	
भक्त पर करि कृपा	४७४
भगत के अपराधी	५४
भगत को कहा	२६६
भरोसो नाम को	३५२
भूतल भक्ति पदारथ	४१४
भोरहिं ते लरजे	३७८
म	
मंजुल कल कुंज	३३५
मन भावत भूषन	४२२

पद	पृष्ठ
मन पछितैहैं अब	५७४
मन मन्दिर में राधा	१८६
मन लगाइ प्रीति	७१
मरें वे जिन मेरे	१४१
माथे पै लपेटि	३९८
मानुस हौं तो वही	२७५
माई री सहज जोरी	१२६
माई म्हानें सुपने	५२३
मीरा के रंग लग्यौ	५३७
मीरा मगन भई	५३०
मेरे तो गिरिधर	५३९
मेरे भक्त हैं देई	१३०
मैं तो अति ही	२१६
मैदा मिश्री मुहरें	१४९
मो मन गिरिधर	२९
मोहिं तौ लै चल	४६५
य	
यह जु एक मन	१३४
र	
रतन सुदेशमयी	११५
रसिक अनन्य	१४९
रसिकिनी रस में	२७२
रहौ कोउ काहू	१००
राजन राम लखन	४५६
राज सुरेश पचास	६९
रामकृष्ण कहिये	४७८
राम मातु पितु	३६
राम हैं मात-पिता	३६
राय श्रीरणछोड़	५३५
राणाजी मैं तौ	५२९
ल	
लाल तोहिं भावै	२६६
लाल लटकन्ता	१४८
लोचन धायल	३०४
लोभ है सर्वपाप	४१
व	
वे देखौ बरत	३१८

पद	पृष्ठ	पद	पृष्ठ	पद	पृष्ठ
श		सहज सनेही राम	१६	हम सबै मन्द भाग	४२०
श्रीवल्लभ की बलि	२६५	सहज सुमेर फेर	२३६	हमारे माई श्यामा	१७५
श्रीमत्तुलसीदास	४६९	साधु शिरोमणि रूप	७३	हमारे राम भक्तिधन	५६३
श्रीरघुवीर की यह	३६४	सियाराम स्वरूप	५७७	हमारे प्रभु अवगुन	३५२
श्रीवृन्दावन के रूख	१३५	सिद्धि श्रीजूनागढ़	३९८	हरि के जन की अति	३५१
श्रीराधारमण हमारे	१६८	सीखे व्याकरण	१५८	हरि के नाम कौ	१२९
श्रीवृषभानुनन्दिनी	२३	सुधारो हरि मेरौ	१३५	हरि को वदन रूप	३९२
श्रीहरिवंश सुरीति	९८	सुभग सिंगार	३१८	हरि भक्तन ते	१४१
स		सुमिरन हरि का	५३१	हरि तुम हरो जन की	५३६
संसार नो भय	४३१	सुरराज सो राज	६६	हरि भज हरि भज	१२९
सखी चहुँओर	११५	सो जननी सो	५३५	हरि हरि रटण कर	४१४
सखीन की गति	११५	सो नर इक छत	२४०	हरि सों मीत न	३५८
सखी मेरी नींद	५३९	सोहत सुरंग	४७६	हाँसी में विषाद बसै	१८५
सजन सुधि ज्यौं	५३६	स्वस्ति श्रीतुलसी	५३४	हित हरिवंश बिन	१०४
सजनी नव-निकुंज	१७५	ह		हुतौं रस रसिकन	११२
सन्तों हमारे बेपारिया	४५१	हँसत बोलत मिलत	११५	हे आज सखी री	३७६
सबु तजि भज	४८०	हम कब होहिंगे	१३५	हे री मैं तो प्रेम	५३९
सरल सों सठ कहैं	५१३	हम तो भैया वृन्दावन	१६४		

पद

साँचे सन्त हमारे संगी।
और सबै स्वारथ के लोभी चंचल मति बहुरंगी।।
मन काया माया सरिता में बहते आनि उछंगी।
'नागरिया' राख्यौ वृन्दावन जिहि ठाँ ललित त्रिभंगी।।

भक्त-भक्ति-भगवन्त-गुरु

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।।
(भक्त)- **ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।**
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।। (भा. ११-२-४५, ४६)

सभी प्राणियों में सर्वत्र जो अपने इष्टदेव भगवान् को एवं भगवान् में सभी चराचर को देखता है, वह उत्तम भागवत (भक्त) है। ईश्वर में प्रेम, भगवद्-भक्तों में मैत्री, अज्ञानियों पर कृपा, अपने से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करने वाले मध्यम श्रेणी के भक्त हैं।

पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया।।

(भक्ति)-"सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।" (नारद भ०), भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है। श्रीनारदजी के मत से अपने समस्त कर्मों को श्रीभगवदर्पण करना और उनके विस्मरण में अत्यन्त व्याकुलता होना ही भक्ति है। "द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।' (भक्तिरसायन), श्रीभगवद्गुण श्रवण से प्रवाहिता श्रीभगवद्विषयिणी धारावाहिकवृत्ति को ही भक्ति कहते हैं। "अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।' (भ०र०सि०) अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत श्रीकृष्ण प्रीति के अनुकूल आचरण करना भक्ति है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
(भगवन्त)- **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग इतीरणा।।**
उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव, भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च, स वाच्यो भगवानिति।। (वि०पु०)

ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य-इन छहों को 'भग' कहते हैं। ये सम्यक् सम्पूर्ण रूप से सर्वदा जिनमें रहें, उन्हें भगवान् कहते हैं। 'भगः अस्यास्ति इति भगवान्।' जो जीवों की उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्या को जानते हैं तथा इनके मूल कारण स्वामी हैं, उन्हें भगवान् कहते हैं। 'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्।।' (महारामायण) भरणकर्ता, पोषणकर्ता, शरणागत रक्षक, सर्वव्यापक, सबके आधार, करुणापूर्ण-इन छहों से पूर्ण भगवान श्रीरामजी हैं।

'गु' शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
(गुरु) - **अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।** (गुरु गीता)
सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकः तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः।। (प०पु०)

'गु' शब्द अन्धकारवाची है और 'रु' शब्द अन्धकार का नाशक है। अज्ञानरूपी अंधकार के नाशक को गुरु कहते हैं, जैसे सूर्य सभी को प्रकाश देते हैं इसी प्रकार से ही शिष्यों को विद्या-बुद्धि प्रदान कर 'गुरु' प्रकाशित करते हैं।

❖

भक्तों से विनय

जय जय सन्त अनन्त महाप्रभु जय जय जन हितकारी।
जय जय भक्त भक्ति सुखसागर विनती सुनहु हमारी।।
महा भयंकर समय देखकर भारत जन अकुलाये।
विविध भाँति करि विनय साधना तुमको यहाँ बुलाये।।
अमित रूप से भक्तवृन्द आचार्यवर्य तुम आये।
रुचि अनुरूप श्रेय साधन के सरल सुपन्थ बताये।।
चहुँदिशि ते उन ऊपर चलकर चलना हमें सिखाये।
जड़ चैतन्य सकल जग भीतर प्रभु को प्रगटि दिखाये।।
कालचक्र गति विवश भये हम तव उपदेश भुलाये।
चलकर भी नहिं चल पाते हैं अटकि रहे अकुलाये।।
अन्धकार में अन्ध बने हम रवि समान तुम आओ।
हमें दृष्टि दै पन्थ प्रकाशो चलना फेरि सिखाओ।।
प्रलयकाल के अस्त्र-शस्त्र सब चलन चहत हैं धाये।
ज्वालामुख के सम्मुख हम तब विमुख तूल सम आये।।
असद् भावना बढ़ी परस्पर बन्धु मित्र भे बैरी।
महा मोह सागर में डूबे पार न पावत पैरी।।
रक्षक बनकर भक्षि रहे हैं नीति सेतु को तोरी।
ऊपर ते उपकारी दीखैं भीतर मोरी मोरी।।
बार बार पद बन्दि नाथ हम विनय करैं कर जोरी।
मेटि देहु मानव के मन से हिंसा मिथ्या चोरी।।
आओ फेरि प्रगट ह्वै आओ न्याय नीति सिखलावो।
प्राणिमात्र में परमेश्वर के दर्शन हमें करावो।।
आज आप यदि इसी तरह से तम को बढ़ने दोगे।
तो राग, द्वेष के दावानल में जलता विश्व लखोगे।।
होने कभी न दोगे यह तब विश्व वाटिका प्यारी।
प्रभु प्रेरित मम विनय सुनत ही करिहौ अब रखवारी।।
महामहिम उपकारी करुणासागर जग दु:ख हारी।
पाहि पाहि तव चरण शरण हम रक्षा करहु हमारी।।

अकारादिक्रमेण श्लोक-सूची

श्लोक	पृष्ठ
अ	
अत्याहारा: प्रयासश्च	३६४
अथापि ह्युत्तमश्लोके	४१९
अद्य मे सफलं जन्म	३९५
अदेशकाले यद्दानं	५१३
अनन्याश्चिन्तयन्तो	४८७
अनृतं साहसं	५०५
अनेकजन्मार्जित	४५६
अन्याभिलाषिता	१५१
अपिचेत्सुदुरा	४२१
अमरेण वृथाप्रोक्तं	४६
अयोध्या च परं	२७३
अयोध्या दर्शनात्	२७३
अर्थोभिधात्म	४८४
अलं विषयवार्तया	१००
अहो पश्यत	४१९
अहो मधुपुरी	३१२
आ	
आदर: परिचर्यायां	३४०
आसीनो दूरं	३८०
इ	
इदं शरीरं शत	४५५
उ	
उत्तम: पुरुष	४९२
उत्पन्ना द्रविड़े	३७२
उरसा शिरसा	३६०
ए	
एकमाहु वैश्य	५१
एकोऽपि कृष्णस्य	३६१
क	
कर्तुम कर्तु	४२९
केचित्यज्ञप	५९
कौमार आचरेत्	५२३
क्वचिद्रुदन्त्य	४८९
ग	
गावो पश्यन्ति	४१७
गुणातीतं परब्रह्म	७४
गोपीमधुरा	१६३
च	
चक्रांकितभुजा	५९
चंचलं हि मन:	२३६
ज	
जनन्यपहृतं	३
जन्मन्यनन्तरे	३७२
जले विष्णु: स्थले	४९५
जाड्यं ह्रीमति	५१३
जीवितं कृष्ण	५७२
ज्ञानं यदा प्रति	४५७
ज्ञान वृद्धास्तपो	३९३
त	
तत्कथ्यतां महा	४५५
तदोडुराज:	५६८
ताम्बूल क्वचि	१०२
तावत्पापानि	४८१
तेन तप्तं हुतं	१०३
त्वमसि हि हरि	१०७
द	
दातव्यमिति यद्	५१३
दुर्लभो मानुषो	३९५
दूरे सृष्ट्यादि	१०१
दृष्ट्वा कुमुद्वन्त	५६८
दृष्ट्वा भागवतं	५११
दृष्टै:स्वभाव	१९४
द्वारकावासिनं	५४५
द्वाविमौ पुरुषौ	४९२
देवर्षिभूताप्त	४८४
ध	
धनधान्यप्रयोगे	४२९
धिग्जन्मनस्त्रि	४१९
न	
न तथास्य भवेत्	४१८
नव गोरोचनाम्	८२
न हृद्भुतंत्व	३५२
नाग्निर्न सूर्यो	३६९
नात: परतरं	१९३
नासां द्विजाति	४१९
निमज्योन्मज्जतां	२१२
निवृत्ततर्षैरु	४९८
नैनमूर्ध्व न	३८१
प	
पांसवो द्वारकाया:	४४५
पितृगोत्रीयथा	५८३
पुन: पुलिनमा	३९२
प्रतिश्रुत्यकरि	५०४
प्रवृत्तिं च	२३२
प्रसंगमजरं	४२०
प्राय: श्रुतप्रिय	३८७
प्रियतमस्यली	४५६
फ	
फुल्लेन्दीवर	३८४
ब	
ब्राह्मणो वासुदेव	४२२
ब्राह्मणेष्वपि	४८२
भ	
भकार: कुम्भकर्णे	५८
भक्ताय चित्रा	४४६

श्लोक	पृष्ठ
भक्ते तुष्टे हरि:	५११
भुक्तिमुक्ति स्पृहा	२४०
म	
मज्जन्मन: फल	५६३
मतिर्न कृष्णे	४३३
मर्त्योयदा त्यक्त	४४५
मथुरायां कल्प	२७४
मन्त्रतस्तन्त्रत:	३७३
मन्मुद्रांकित	५९
मन्वन्तरसहस्रै:	२७४
महाप्रसादे गोविन्द	३५२
माता रामो मत्	३६
माता रामो मत्	५४१
मातृवत्पर	२४२
मुखबाहूरु	३५१
य	
यत्प्रादुरस्ति	१०२
यत्र भागवतो	५५२
यत्तु प्रत्युपकारा	५१३
यथा भागवतानां	५११
यथा प्रयान्ति	३७०
यथा धानासु	३७०
यथोपश्रयमाण	३५५
यदि तुष्टोऽसि	१०
यदि स्नेहाद्राधे	१००
यद् दैन्यंत्वत्	१०
यद् यदिष्टतमं	४९६
यस्मात्क्षरम	४९२
यस्माद्यस्मात्	३५२
यस्य नास्तिस्वयं	४१९
यस्यास्ति वित्तं	४३५
यस्यदेवे परा	५०३
यस्यात्म बुद्धि:	३६९
यस्याहमनु	१३
यस्याहमनु	४४९
य: स्वानुभाव	४८१
यावन्ति पशु	२५५
यावन्ति भगवद्	४८४
यावत्स्वस्थमिदं	६९
युगायितं निमिषेण	३६२
यैर्नश्रुतं भागवतं	४८१
यो न हृष्यति	४४८
र	
रहो दास्यं तस्या:	१०३
राधादास्यमया	१०२
राममन्त्रोपदेशेन	५८३
राम: सत्यं परं	५४१
ल	
लिखिता चित्रगुप्तेन	४२७
व	
वंशीविभूषित	३८४
वंशीविभूषित	५४१
वदन्ति तत्तत्व	५४१
वयंचत्वंच	३७०
वरं हुतवह	३९२
बलयानां नूपुरा	३८६
वांछाकल्पतरु	२३१
वासे बहूनां कलहो	१६४
विवेक: सहसं	५५२
विविध गोपचर	३८६
विश्वामित्र पराशर	३४७
विसृजित हृदयं	३७४
वैकुण्ठाज्जनि	७५
वृन्दावनं सखि	७४
वृन्दावन तरूद्	३७३
श	
शंखचक्रांक	५९
शमो दमस्तप:	१३१
शृणुतं दत्तचित्तौ	७४
श्रवणं कीर्तनं	४८३
श्रवणाद् दर्शनाद्	३८९
श्रीकृष्णचरणौ	१६२
श्रीराधाया:	१०३
श्रीमद्भागवतं	४८०
श्रुति वागदृष्टि	१५६
श्लाघ्य: स	३४६
श्लोकार्धंश्लोक	४८१
ष	
षष्टिवर्ष सहस्रा	२७४
षष्टिवर्ष सहस्रा	३४०
स	
संवत्सरं वा	५४५
सकृदेव प्रपन्नाय	४८६
सकृदेव प्रपन्नाय	५२१
संगं न कुर्यात्	४१८
संगो य: ससृते:	४२०
सभायां पण्डिता:	५९
सम दु:ख सुख:	२४२
स यदा वितथो	१३
सर्वसाधन	१०
सर्वेषामाश्रमाणां	५१४
सवनशस्तदुप	३८६
स वै पतिस्यात्	३१३
स्तीषु नर्मवि	२१३
स्मर्तव्य: सततम्	१०३
स्मेरां भगीत्रय	७९
स्वशक्त्या	५११
ह	
हन्तायमद्रिरबला	२५
हा नाथरमण	३८९

❖

।।श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः।।

श्रीभक्तमाल-परम्परा

(लेखक-दीनबन्धुदासजी, टटियास्थान, श्रीधाम वृन्दावन)

(श्री)'नाभा'कृत भक्तमाल 'गोविन्द' ने लई धारि, 'प्रियादास' पाय 'राधाकृष्ण कूं सुनाई है।
'भगवत रसिक' 'श्रीबिहारीबल्लभ' गही, 'दम्पति' 'सम्पति' शरन नीकी भाँति गाई है।।
'श्रीगोपालदास' धारी 'माधोदास' सुखराम, 'जगन्नाथ परसाद' गंगा सी बहाई है।
इनके अपार शिष्य 'दीनबन्धु' हू कों मिली, भक्तमाल परम्परा या विधि चलि आई है।।

श्रीअग्रदेवजी के कृपापात्र गोस्वामी १-श्रीनाभाजी महाराज ने श्रीभक्तमाल की रचना करिकैं अपने शिष्य २- श्रीगोविन्ददासजी कूं पढ़ायौ। यथा-'भक्तरत्नमाला सुधन गोविन्द कण्ठ विकास किय। (छ०१९२) इनसे प्राप्त कर ३-श्रीप्रियादासजी ने भक्तिरसबोधिनी टीका की। उनसे ४- श्रीराधाकृष्णदासजी ने अध्ययन किया। (ये स्वामी श्रीहरिदासजी की परम्परा के छठवें आचार्य श्रीरसिकदेवजी के शिष्य थे।) इनके सम्बन्ध में निजमत सिद्धान्त अवसान खण्ड में लिखा है कि 'भक्तमाल ऐसी मुख गाई। नर नरेन्द्र सुनि करत बड़ाई।।' इनसे ५-श्रीभगवतरसिकदेवजू को मिली। इनसे उनके शिष्य ६-श्रीविहारीबल्लभजू ने प्राप्त कर 'श्रीभक्त-नामावली' की रचना की। इनके बाद ७-श्रीदम्पतिशरणजी एवं ८-श्रीसम्पतिशरणजी हुए। ये श्रीललितमोहिनीदेवजू के शिष्य, श्रीराधाशरणजू के शिष्य थे) उनसे उत्सवी ९-श्रीगोपालदासजी ने अध्ययन किया। इनसे टोपी वाली कुंज के महन्त १०- श्रीमाधवदासजी ने पढ़ी। इनसे पंडित ११-श्रीजगन्नाथ प्रसादजी भक्तमाली, बाबाश्रीयुगलदासजी वृन्दावन तथा श्रीरामशरणदासजी वैद्य अयोध्या आदि ने अध्ययन किया। पं० श्रीजगन्नाथ प्रसादजी ने श्रीभक्तमाल के माध्यम से ऐसी भक्ति-भागीरथी प्रवाहित की जिसमें भावुक भक्तजन निमग्न हो गए। वर्तमान भक्तमालियों में अधिकांश ने श्रीपंडितजी से ही अध्ययन किया है। उनमें श्रीगर्वीलीशरणजी महाराज वृन्दावन, श्रीगिरिधारीदासजी वृन्दावन, श्रीमथुरादासजी, श्रीश्रीमन्नारायणदासजी बक्सर, श्रीरामकृपालदासजी अयोध्या श्री रामकृपाल दासजी शिष्य श्रीशालग्रामाचार्यजी रैवासा, श्रीरामकृपालदासजी बाल-तपस्वी। श्रीरामगंगाशरणजी, श्रीरेवतीशरणजी, श्रीगणेशदासजी, श्रीवैष्णवदासजी (गोरेदाऊजी), श्रीरामसेवकदासजी आदि प्रसिद्ध हैं। चतुःसम्प्रदाय ही नहीं, षड्वेष गृहस्थ विरक्त सभी ने श्रीपंडितजी से कथा श्रवण कर भागवत, रामायण एवं भक्तमाल पर प्रवचन एवं सन्त-सेवा को महत्व दिया। मुझ दास को भी श्रीपंडितजी से ही अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

-दीनबन्धुदास

श्रीविहारीवल्लभजी कृत-

श्रीभगवद् भक्त-नामावली

दोहा

(जै श्री)रसिकाचार्य नरेश गुरु, भगवत रसिक अनन्य। जिनकी कृपा बिहारी बल्लभ होहु सन्त परसन्न।।१।। श्रीगुरु नाभा भक्तमाल जन, वंदि नाम गुन गाइ लड़ाऊँ। जीवन जुगल बिहारी बल्लभ, श्रीभगवतरसिक अनन्य रति पाऊँ।।२।। वेद पुरान महान् सत् गुरु उपदेश विचार। भक्त भक्ति भगवंत गुरु, सनेत सबको सार।।३।। जै जै मीन बराह आदि कच्छप हरि बामन। नरसिंह परशुराम रघुनाथ जू पावन।। श्रीकृष्ण बौध कलिकी ऋषि व्यास। पृथु हरि हंस मन्वन्तर आस।।४।। ध्रुववर जग्यदत्त कपिलादि। हयग्रीव बद्री धन्वन्तर सनकादि।। धरि अवतार भक्त हित सारे। ए निज चिह्न चरन में धारे।।५।। अंकुश अंबर कुलिश कमल जव धुजा धेनु पद। शंख चक्र स्वस्तिक जम्बूफल कलश सुधाह्रद।। अर्धचन्द्र षटकोण मीन बिन्दु ऊरधरेखा जानौ। पुरुष कोंन त्रै-कोंन अष्ट धनु इन्द्र सु मानौ।।६।। प्रथमहिं अन्तरंग विधि नारद शंकर सनक कपिल मनु भूप। श्रीप्रह्लाद जनक बलि भीषम शुक मुनि धर्म स्वरूप।। अजामेल विष्वक्सेन जय विजय नन्द सुनन्द सुभद्र भद्र पुनीत चण्ड प्रचण्ड कुमुद कुमुदाक्ष सील सुशील विनीत।।७।। कमला गरुड़ हनू जामवंत सुग्रीव विभीषन शिवरी खग उद्धव प्यारे। अक्रूर अंबरीष विदुर सुदामा ग्राह गज पांडव चन्द्रहास चित्रकेतु मैत्रेय कुन्तीबधू सम्हारे।। जोगेश्वर श्रुतिदेव अंग मुचकुन्द प्रियव्रत पृथु परीक्षित सूत सौनक हरि गाये। परचेता सतरूप सुता सुनीति सती मन्दालस यज्ञपत्नी ब्रज-नारिन हरि पाये।।८।। प्राचीन वरहि सत्तव्रत भागीरथ सगर रहुगण हरिचन्द धर्मधुज धारी। बाल्मीकि मिथलेश भरत दधीचि रुक्मांगद सुरथ सुधन्वा शिविर विन्ध्यावलि महिमा भारी। नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक रिभ इक्ष्वाकु ऐलशुचि शतधन्वा। गाधि रघु रन्ति अमूर्ति नहुष उतंग भूरि देवल वैवस्वत मन्वा।।९।। नहुष जजाति दिलीप पुरु यदु गुह मान्धाता। पिप्पल निमि भारद्वाज दक्ष शरभंग शँघाता।। संजय समीक उत्तानपाद याज्ञवल्क्य जश साजा। निमि कवि हरि करभाजन अन्तरिक्ष अरु चमस प्रबुध आविर्होता पिपल द्रुमिल जयन्तीसुत सुक साजा।।१०।। अगस्त्य पुलस्त्य पुलह चिमन वशिष्ठ सौभरि कर्दम जानौ। अत्रि रिचीक गौतम गर्ग व्यास लोमश भृगु दालभ्य अंगिरा मानौ।। श्रृंगि माण्डव विश्वामित्र दुर्वासा जावालि यमदग्नि उजागर। मायादर्श कश्यप पर्वत पाराशर सुख सागर।।११।। ब्रह्मा विष्णु शिव लिंग पद्म स्कन्द बामन मीन बराह उदारा। अग्नि कूरम गरुड़ नारद भविष्य ब्रह्मवैवर्त

मार्कण्डेय ब्रह्माण्ड भागवत सारा।। मनुस्मृति अत्रवी हार्तिक सामर्तक जाग्यवलिक अंगिरा शनैश्चर वैष्णवी नामी। कात्यायिनी शांखिल्य गौतमी वशिष्ठी दाछी सुरगुरु आतातापि पाराशर क्रतु मुनि साखी।।१२।। जयन्त विजयी सुराष्टर राष्टरवर्द्धन जानौ। अशोक धर्मपालक तत्त्ववेत्ता वरज सुमन्त बखानौ।। दधिमुख दुबिध मयन्द उलका नील नल कुमुद दरीमुख सुभट रीछपति। शरभंग गवाच्छ सुखेन गंधमादन अंगद सुग्रीव सेनापति।।१३।। ब्रज बड़े गोप परजन्य नन्दध्रुव धरानन्द नन्द अभिनन्द सुख सिन्धुहि मानौ। कर्मा धर्मानन्द सुनन्द उपनन्द आदि सब गोप बखानौ।। जसुधा कीरति भानुनन्द सब गोप दुलारी। सखा श्याम के संग सखी पल होत न न्यारी।।१४।। मधुमंगल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा। ललितादिक सब सखी भानु सुत संग सुखधामा।। रक्तक पत्रक पत्री मधुकण्ठ मधुवर्त रसाल विशाला। प्रेमकंद मकरंद चन्द्रहास रसदान पयद वकुल रसाला।।१५।। जम्बू खार समुद्र पलास ईष सालमलि मदिरा समुद्र है। कुस घीव क्रौंच दूध साक दधि पुहकर जलमय है।। पर्वत लोकालोक भूमि कंचन हरिजन जहाँ जो हैं। तिनको करैं प्रनाम खण्ड नव मध्य बसत जो जो हैं।।१६।। इलावर्त संकर्षण सदाशिव रमनक मछ मनु हिरण्य कूर्म अर्जम इव सोहै। कुरु बराह भू वर्ष हरि सिंह प्रह्लाद किंपुरुष राम कपि भरत नारायण वीणाधर मोहै।। भद्रासु ग्रीवहय भद्रश्रव केत काम श्री जानि। तिनको करत प्रनाम मैं सदा जोरि जुगि पानि।।१७।। श्वेतद्वीप में बसत भक्त सबै नारायण रूप उपासी। बामन पुहकर ऋषभ पराजित दिग्गज सुखरासी।। भू अरु भूवरलोक स्वह महर्जन तप सत लोकै गाऊँ। शिव अरु विष्णुलोक के ऊपर श्री गोलोकै ध्याऊँ।।१८।। तल अरु अतल सुतल के नीचे वितल तलातल जानौं। वन्द रसातल शेषनाग जहँ सो पातालहँ बखानौं।। सर्प अष्टकुल इलापत्र पदम संकू वासुकि हरि प्यारे। अंसु कंवल तच्छक करिकोटक अनन्त हरि नाम उचारे।।१९।। रामानुज माध्वाचारज विष्णुस्वामि प्रगटे निम्बादित्य आचारज। विश्वक्सेन सठकोप मंगल मुनि वोपदेव श्रीनाथ पुंडरीकाक्ष सम्हारे कारज।। राममिश्र परांकुश यामुन मुनि रामानुज श्रुति वेद धर। श्रुतिधामा श्रुति उदधि श्रुतिप्रज्ञा श्रीलालाचारज सुघर वर।।२०।। गुरुनिष्ठी देवाचारज हरियानंद राघवानन्द रामानन्द अनन्तानन्द सज। नरहरियानन्द भावानन्द जोगानन्द गयेश सदानन्द कर्मचन्द भज।। पैहारी कृष्णदास श्रीरंग रामदास व्रतहठी नारायन। सूरज पुरुषा प्रथू तिपुर टीला पद्म गोपाल जुगयन देवा हेम कल्यान।।२१।। विष्णुदास कान्हर चाँदन गंगा गंगा सम नारी। सविरी रंगा गदाधारी बाई कील सुमेर देव श्रीअग्रदास सुखकारी।। शंकराचारज नामदेव जयदेव रसिक दु:ख मोचन। पद्मावति श्रीधर विलमंगल चिन्तामणि ज्ञानदेव विष्णुपुरी तिलोचन।।२२।। वल्लभाचारज भक्तदास नरसिंह वन दशरथ तन त्यागौ।

बँधे कृष्णगढ़ि आन छोड़ि गई करी अवज्ञा पानि काटि नृप लै प्रसाद जस जागौ।। करमा सिलपिल्ले सुत विष दै प्रेम पदारथ पायो। भावुक मामा संग भाँनजो हंस महाजन को जस छायो।।२३।। कमध्वज देवा भुवन जस जैमल श्रीधर संग सिधारे। निशकंचन संग श्याम खुरदहां रायदास के सदन पधारे।। जसू स्वामि अरु बारमुखी ठग बीच राम दै तिय पर रीझे। अल्हनन्द जनभूप भागवत अंतरनेष्टी गुरु रस भीजे।।२४।। श्रीरैदास कबीरा पीपा धना सेन सुखानन्द धीर। सुरसुरानन्द नारी पति राखी नरहरियानन्द पदम मति धीर।। तत्वा जीवा दास सु माधौ श्रीरघुनाथ गुसाईं आप। नित्यानन्द चैतन्य महाप्रभु कृष्ण रूप धरि मेटि ताप।।२५।। सूरदास परमानन्द केशव भट्ट श्रीभट्ट श्रीहरिव्यास। दास दिवाकर विट्ठलेश श्रीगिरिधर गोविन्ददास।। बालकृष्ण रघुनाथ जू गोकुल श्रीयदुनाथ पगे घनश्याम।। कृष्णदास वर्धमान जू गंगल भीषम रामदास खेम सुखधाम।।२६।। विट्ठलदास हरीराम कमलाकर श्रीनारायण भट्ट सुजान। ब्रजवल्लभ अरु रूप सनातन श्रीहरिवंश गुसाईं मान।। श्रीस्वामी हरिदास रसिकवर व्यास गुसाईं जीव सुजान। भट्ट गोपाल ऋषिकेश भगवान विपुलवीठल रसखान।।२७।। श्रीरंग थानेश्वरी लोकनाथ जगन्नाथ महामुनि सो हैं। मधु घमण्डी जुगलकिशोर भूगर्भ गुसाईं कृष्णदास पुजारी दो हैं।। रसिकमुरारि गुरु श्यामानन्द हरिनाभ तिलोचन धीर। आसाधर सोझा सींवा द्योराज अधार गंभीर।।२८।। काशीश्वर अरु सदन कसाई नीर पदारथ नाम। कृष्णदास कटहरिया डूंगर सोभू ऊदाराम।। जतीराम रावल विमलानन्द रामदास सन्त सीहा। खोजी श्याम मनोरथ दाला पद्मा राँका द्योगू जप जीहा।।२९।। चाचागुरु सवाई जाड़ा चाँदा नाप पुजई आस। लछिमन लफरा खेम विमानी लाडू सूरज कुंभनदास।। भावन विरही भरत फरत हरिकेश लुटेरा झाँझू जगन विठलाचारज। हरिदास तिलोक पुखरदी चक्रपानि लाला हरिभू राघो लाखा आरज।।३०।। उद्धव बिजली सोम भीम महदा मुकुन्द सोमनाथ विको विसाखा। लमध्याना अरु बाल्मीकि वृद्ध व्यास गनेश त्रिविक्रम जश लाखा।। छीतर उद्धव घाटम घूरी देवानन्द कपूरी खेम सुमाधौ जानि। श्रीमुकुन्द नरहरिया बींदा विष्णु महीपत सन्तराम हैं मानि।।३१।। बाजू सुत छीतम माधव श्रीरंग द्वारकादास दामोदर रूप। नरहरि कान्हर सुन्दर केशव श्रीभगवान गोपाल अनूप।। नागू सुत प्रयाग पुनि केशव हरिनाथ भीमगोविन्द ब्रह्मचारी। गजपिय मुकुन्द गोपीनाथ पंडा खेता गोपाल बड़भरत बिचारी।।३२।। बालकृष्ण अच्युत विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन घूमन गोविन्ददास। रघुनाथ चिंतु गंगाराम बिहारी चतुर केशव परशुराम बरसानियाँ लालदास।। प्रियादास दयाल पूरन नृप भीषम रामभट्ट मरहठा बिठल निहकामी। गोपीनाथ रघुनाथ और नृप आसकरन गुँजामाली जदुनन्दन दासू स्वामी।।३३।। हरिदासमिश्र भगवान् मुरली सोती बीदा रामानन्द। विष्णुदास

बेंनी जू चतुर्भुज मुकुन्द केशव दण्डौती आनन्द।। सीता झाली प्रभुता कुँवरि उमा भटियानी शोभा गनेशदेई रानी जानौ। गंगा गौरा गोपाली कृत कला लखा सती भाँमा मानमती शुचि मानौ।।३४।। गढ़ौ रामा जमुना कोली मृगा देवा जुग जेवा कमला हीरा हरिचेरी देवकी मया मानौ। नरबाहन जापू बीदावत धारा अनुभई ऊदरावत जयंत रूपा अर्जुन गोविन्द जानौ।। जर्नादन हेम गदा दामोदर ईश्वर साँपिले मयानन्द भावै। तुलसीदास जटयानै भाऊ मोहनवारी दाऊ बनियाँ रामदास लछमन भगवान सुगावै।।३५।। जगदीश उभै गोपाल लाखा नरसी देवदास वंश नन्ददास गिरिधर जश गायौ। गोपाल माधौ अंगद नृपति चतुर्भुज मीराबाई पृथ्वीराज नृप को जश छायौ।। रामचन्द्र नीमा अभैराम वीरम करमसी सुल्तान ईश्वर अभैराम भगवान। रायमल मधुकर कान्हर नृप खेमाल रामनृप धरनीसुत किशोर हरिदास सुजान।।३६।। चतुर्भुज कृष्णदास जाड़ा प्रबोधा विमलानन्द अरु सन्तदास। सूरदास कात्यायनी मुरारि तुलसीदास वनमाली श्याम हेमानदास।। नारायण मिश्र राघो परशुराम गुननिकर गदाधर भट्टहिं जान। ईश्वर चौमुख चौरा चण्ड जगत् अरु कोल अल्ह चारन सुजान।।३७।। माधव मांडन करमानन्द अरु दूदा नारायण जीवानन्द। भीखा नरेश नृप पृथ्वीराज भयो कावापति लड़ावै रतनावती मुकुन्द।। जगन्नाथ मथुरादास भयो नृतक नारायण रामगोपाल कुँवरवर। गोविन्द माँडिल छीतस्वामी जसमन्त गदाधर कान्हर अनन्तानन्द सुघरवर।।३८।। दीनदास श्याम हरिनाभि मये वछ् पालक गोसू रामदास। भगवान दासविहारिनि कृष्णजीवन श्यामदास हरिनारायण ऊधौदास।। रामरेनु गंगा परशुराम किंकर-कुंडा कृष्णदास गोपाल खेम अरु कृष्णदास। सोठा जैदेव राघौ विदुर दामोदर मोहन परमानन्द उद्धव सोहन नागाचतुरदास।।३९।। गोमा परमानन्द उद्धव प्रधान द्वारका मथुरा खोरा बीठल अरु दो भगवान। चीधर श्याम खेम गोपाल केवल कूवा प्रयाग जंगी पूरन वनवारी भगवान।। जगत् विनोदी नरसिंह किशोर जगन्नाथ दिवाकर खीची खेम। सुमति सलूधो उद्धव परमानन्द केशव जोगीदास त्यौला खेम।।४०।। हरिदास कान्हर भगवान नीवा खेतसी जसवंत भीम जैमाल विष्णुदास हरिदास। गोपाल नाथभट्ट करमैती खरगसैनि गंगग्वाल।। लालदास दिवाकर माधौग्वाल राघौ प्रेमनिधि हरिनारायण नृपतिवर। उद्धव पद्मकल्याण वोहित रामदास सुहेले परमानन्द तुलसीदास घर।।४१।। दमा रमा वीरा हीरामनि नीराँ लाली लच्छी गोमती प्रभु मन भाई। जुगल पारवती केशी जेवा हरखा हरिदेवी बाँदररानी गंगा जमुना रैदासी बाई।। नंद कुँवर कान्हरदास परशा केशव नाम लटेरा केवलराम। हरिवंश कल्याण क्वाहब बीठलदास सदानन्द परशवंशी नारायण नाम।।४२।। श्रीरंग श्यामदास अरु लाखा मारू मुदित कल्याण निहार। शंकर चेता ग्वाल गोपाल लालन गायक कृष्णदास हरिदास उदार।। चितमुख तीरथराम दामोदर नरसिंघारन्य

मधुसूदन मानौ।। माधौ प्रबोधानन्द जगदानन्द रामभद्र संन्यासी जानौ।।४३।। पूरन द्वारकादास भट्टलछिमन कृष्णदास गदाधरदास।। श्रीनारायणदास भगवानदास कल्याणदास श्रीमाधवदास श्रीकन्हर गोविन्ददास जगत्सिंह ग्वालगिरिधर गोपाली बाई। रामदास हैं रामराय श्रीभगवंतमुदित रसिक माधौ मिलि लालमती निधि पाई।।४४।। मन वच कर्म धर्म धरि नेष्ठा भक्त नाम गुन जो कोउ गावैं। वेद पुराण महान् साखि सद्ग्रन्थनि सौं निश्चय श्रीभगवत पावै।। एक हजार नाम भक्तनि के भक्तमाल मुख नाभा गायौ। लोक अनन्त दीप खण्डनि में तिन प्रति मस्तक नायौ।।४५।। श्रीभगवान् रसिक अनन्य गुरु भक्तमाल नारायणदास। जीवन जुगल विहारीवल्लभ उर बस करौ निवास।।४६।। भक्तमाल नाभा करी ताके मनिया बीनि। नाम मंत्र निज पठन को मैं लिखि रची नवीन।।४७।।

।। श्रीभगवद् भक्त-नामावली सम्पूर्णम्।।

सम्पर्क सूत्र :-६०/२० पुरानी दालमण्डी, कानपुर-१

श्रीविहारीवल्लभजी और उनकी "श्रीभगवद् भक्त-नामावली"

श्रीराधामोहनदास गुप्त
संस्थापक-स्वामी श्रीहरिदास शोध-संस्थान, कानपुर

गोस्वामी श्रीनाभादासजी की भक्तमाल के आधार पर अनेक परवर्ती भक्त-कवियों ने भक्त-सुमिरिनी, भक्त-नामावली आदि कई रचनायें की हैं। कहीं-कहीं, किसी-किसी भक्त का वैशिष्ट्य भी वर्णित हो गया है किन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त है। बड़े दु:ख की बात है कि अभी तक अनेक हिन्दी साहित्यसेवी कवियों का परिचय विशिष्ट अन्वेषक विद्वानों को भी प्राप्त नहीं हो सका है। श्रीविहारीवल्लभजी के सम्बन्ध में भी यही बात है। इनकी रचनायें इस प्रकार प्राप्त होती हैं-

(१) श्रीसखी-सुखसार सिद्धान्त, (२) होरी धमारि, (३) श्रीभगवतरसिक नाम-प्रताप (४) श्रीभगवतरसिक अनन्य-नाम-प्रभाव, (५) श्रीभगवद् भक्त-नामावली इस कलेवर में ये सब पाँचों छोटी-छोटी ही कृतियाँ हैं। जिनकी संख्या लगभग ९०० अनुष्टुप् छन्दों की है और अपने नामानुसार ही इनके विषय हैं। जब श्रीविहारीवल्लभजी के नाम से ही इतिहास लेखक अपरिचित हैं तब उनकी जीवनी के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? उनकी रचनाओं से यह निश्चय है कि वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत रसिक अनन्य शिरोमणि

स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज की परम्परा में प्रसिद्ध भक्तकवि स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजी के शिष्य थे और उनकी जन्मभूमि कालिंजर (गढ़) नामक ग्राम (मध्यप्रदेश) था। वहीं ये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे और इनके पिता का नाम श्रीजीवनयुगल था। ये वैराग्य जागृत होने पर घर छोड़कर पत्नी सहित वृन्दावन आ गये थे और स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजी से दीक्षा लेकर भक्तमाल आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

छप्पय-**गढ़ कालिंजर मध्य बसत द्विजवर सुख सानौ।**
तिन सुत जीवन जुगल विहारीवल्लभ जानौ।।
उर उपज्यौ वैराग त्यागि गृह दम्पति आये।
'भगवतरसिक' अनन्य शरन निर्भय तिन पाये।।
बाजीगर के खेल सम लख्यौ जगत् व्यवहार जिय।
तोरि शृंखला कुटुम की श्रीवृन्दावन को गमन किय।।१।।

अनन्य-रसिकता, निस्पृहता और वाणी वैभव की दृष्टि से श्रीभगवतरसिकदेवजी की प्रसिद्धि समस्त संसार में थी। आपका सत्संग प्राप्त करने के लिए श्रीवृन्दावन में और भी कई स्थानों के श्रीभगवद्भक्तगण आया करते थे। बहुत से राम-भक्त भी काशी, अयोध्या, जनकपुर आदि धामों से श्रीवृन्दावन आकर उनसे ज्ञान, ध्यान, उपासना आदि पर गहन चर्चा किया करते थे।।२।।

मोहन रसिक मुरारिदेव वंश भये बैठ ग्राम गुरुकुल बसे सुख पाइकै।
उठी उत्कण्ठा वृन्दावन भूमि देखिवे की ललितविहारी छबि ठौर-ठौर जाइकै।।
'भगवतरसिक' समीप रास ध्यान पाये हिय हुलसाने जैसे रंक निधि पाइकै।
जनकललीजू स्वप्न चूरा पहिरायौ उर अति सुख पायौ दुहूँ ओर पद गाइकै।।३।।

श्रीभगवतरसिकदेवजी के गुरु स्वामी श्रीललितमोहनदेवजी का समय वि० सं० १७८० से वि०सं० १८५८ तक माना जाता है।।१।।

---

(१) श्रीभगवतरसिक अनन्य नाम, प्रताप, श्रीविहारीवल्लभजी रचित, छप्पय सं०१, पृष्ठ सं० २१
(२) श्रीराम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, लेखक-डॉ० श्रीभगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ सं० १३७, १३८
(३) रसिकप्रकाश भक्तमाल, श्रीजीवारामजी 'युगलप्रिया' रचित, पृष्ठ सं० ११६

इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वामी श्रीभगवत रसिकदेवजी का जन्म वि०सं० १७९५ और रचनाकाल वि०सं० १८३० से १८५० के मध्य में अनुमानित किया है।।२।। तदनुसार श्रीबिहारीवल्लभजी की रचनाकाल वि०सं० १८६५ के लगभग सिद्ध होता है। बम्बई निवासी डॉ० श्रीगोपालदासजी शर्मा को अनुसन्धान करते समय श्री विहारीवल्लभजी की पाँचों कृतियों की एक हस्तलिखित प्रति 'टटिया-संस्थान' वृन्दावन (मथुरा) में देखने को मिली थी।।३।। उस प्रति को लेखक ने भी वहीं देखा था लेकिन उसमें लिपिकाल नहीं दिया है, तथापि कागज और लेखन आदि से ज्ञात होता है कि वह लगभग १२५ वर्ष पूर्व ही लिखी होगी। अनुसन्धान के पूर्व श्रीविहारीवल्लभ जी कुछ रचनायें श्रीभगवद्रसिकदेव की रचना मानकर उनकी वाणी में प्रकाशित भी कर दी गईं थीं।।४।। किन्तु अनुसन्धान द्वारा अब भ्रम की निवृत्ति हो चुकी है। कारण उन रचनाओं में स्पष्ट श्रीविहारीवल्लभजी के नाम का उल्लेख मिलता है-'भगवतरसिक प्रसाद विहारी वल्लभ पायौ'।।५।। और वह है 'होरी धमारि'।

वृन्दावनस्थ ज्ञानगुदड़ी मौहल्ले में आपकी बनवायी हुई 'वल्लभ वाली कुंज' है जिसमें आप निवास करते थे। वर्तमान काल में यह कुंज अब 'टटिया-संस्थान' के संरक्षण में है। इनके ये समस्त पाँचों रचनायें मेरे द्वारा संकलित और सम्पादित होकर 'श्रीविहारीवल्लभजी की वाणी' के नाम से वि०सं० २०२३ अ०भा० श्रीनिम्बार्क शोध मण्डल, वृन्दावन (मथुरा) द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। यहाँ पर उनकी कृतियों में से 'श्रीभगवद्भक्त-नामावली' प्रकाशित की गयी है।

---

(१) श्रीअष्टाचार्योत्सव-सूचनिका-स्वामी श्रीसहचरिशरणदेवजी रचित, वि०सं०१९७१ में मुद्रित श्रीभगवतरसिकदेवजी की वाणी के साथ प्रकाशित) पृष्ठ सं० १३६, १३७

(२) हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य श्रीरामचन्द्रजी शुक्ल, पृष्ठ सं० ३२९

(३) स्वामी श्रीहरिदासजी का सम्प्रदाय और उनकी वाणी-साहित्य-डॉ० श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, पृष्ठ सं० ७८

(४) श्रीभगवतरसिकजी की वाणी, प्रकाशक-लाला श्रीकेदारनाथजी वैश्य, वि०सं० १९७२, पृष्ठ सं० ९०

(५) वही पृष्ठ संख्या-९२

❖

श्रीकुटिया विहारी भगवान्

श्रीकौशलकिशोर जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीगुरुदेव

श्रीश्री १०८ श्रीअग्रदास जी महाराज

श्रीभक्तमालकार

श्रीश्री १०८ श्रीनाभा जी महाराज

श्री वैष्णव कुलभूषण गौ सन्तसेवी

श्रीश्री १०८ श्रीसुदामादास जी महाराज

सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल गूढ़ार्थ प्रकाशक

भक्तमाली श्रीजगन्नाथदास जी महाराज

ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल के भाष्यकार

श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी (चित्रकूटी)

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल टीकाकार

भक्तमाली श्रीगणेशदास जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

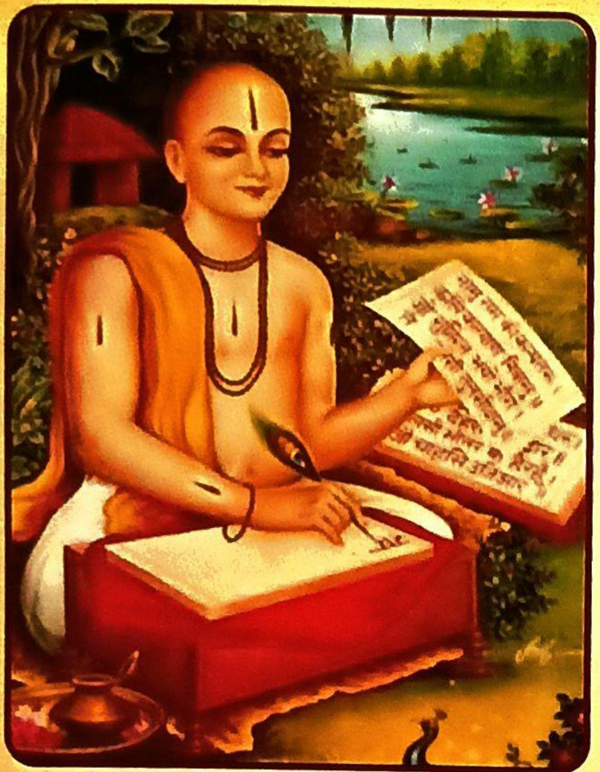

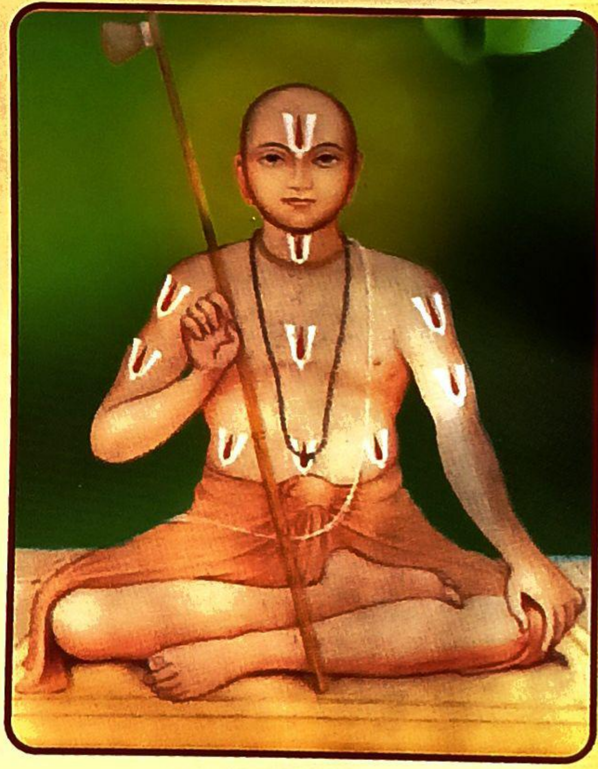

भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक।।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

श्रीभक्तमाल

(तृतीय खण्ड)

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी

बिट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यौं लाल लड़ायकै सुख लियौ।।
राग भोग नित बिबिध रहत परिचर्या तत्पर।
सज्या भूषन बसन रचित रचना अपने कर।।
वह गोकुल वह नन्द सदन दीच्छित को सोहै।
प्रगट बिभौ जहाँ घोष देखि सुरपति मन मोहै।।
बल्लभसुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियौ।
बिट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यौं लाल लड़ायकै सुख लियौ।।७९।।

शब्दार्थ—लाल=नन्दलाल। लड़ायकै =प्यार करके। राग=गान, अष्टयाम-सेवा में समय-समय के पदों का गान, प्रेम। भोग=नैवेद्य। परिचर्या= सेवा। सज्या=शय्या, पलंग। दीच्छित=दीक्षित ब्राह्मणों की एक उपाधि, श्रीविट्ठलनाथजी दीक्षित ब्राह्मण थे। विभौ=वैभव, ऐश्वर्य। घोष=गोकुल, गोपों का ग्राम। बल्लभ = श्रीवल्लभाचार्यजी।

भावार्थ—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने व्रजेश्वर श्रीनन्दबाबाजी की ही तरह श्रीबालकृष्ण भगवान् को वात्सल्यभाव से अत्यन्त लाड़-प्यार करके परम सुख प्राप्त किया। आप नित्यप्रति श्रीठाकुरजी की सेवा में अनेक प्रकार के सामयिक पदों का गायन एवं उत्तमोत्तम-नैवेद्य समर्पण पूर्वक अष्टयाम-सेवा में ही तल्लीन रहते थे। आप अपने हाथ से ही श्रीठाकुरजी का वस्त्राभूषणों से श्रृंगार करते एवं शयन के लिए शय्या सजाते थे अर्थात् समस्त सेवा स्वयं ही

करते थे। द्वापरयुग में श्रीगोकुल एवं श्रीनन्दबाबा के महल की जो शोभा थी वही शोभा दाक्षिणात्य-दीक्षित ब्राह्मण श्रीविट्ठलनाथजी के समय में भी श्रीगोकुल एवं उनके भवन की थी। जिस प्रकार से द्वापर युग में श्रीगोकुल के गोपों का ऐश्वर्य देखकर देवराज इन्द्र मोहित हो जाते थे, उसी प्रकार का वैभव श्रीविट्ठलनाथजी के समय में भी श्रीगोकुल में था। सारांश यह है कि श्रीमद्बल्लभाचार्यजी के सुपुत्र श्रीविट्ठलनाथजी ने श्रीभगवद्-भजन के बल से कलियुग में भी द्वापर युग जैसा कर दिया था।।७९।।

व्याख्या—विट्ठलनाथ...सुख लियौ—व्रजेश्वर श्रीनन्दबाबा के वात्सल्य सुख के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६१७, श्रीनन्दजी की कथा, पृष्ठ-६१९, श्रीयशोदाजी की कथा। श्रीविट्ठलनाथजी का श्रीठाकुरजी के प्रति जैसा भाव था तो श्रीठाकुरजी भी इनके प्रति वैसा ही बाल-विनोद करते थे। एक बार आप श्रीठाकुरजी को दूध पिला रहे थे, श्रीठाकुरजी ने एक घूंट पीकर दूध का कटोरा मुख से हटा दिया। आपने पूछा क्यों! आप पीते क्यों नहीं हैं? श्रीठाकुरजी ने कहा-'दूध में मिश्री इतनी अधिक है कि वह मुझसे पिया ही नहीं जा रहा है, तब बड़ी मनुहार करके श्रीगोसाँईंजी ने जैसे-तैसे थोड़ा दूध पिलाया। दूसरी बार के भोग में आपने दूध में कम मिश्री डाली, परन्तु यह क्या? श्रीठाकुरजी ने फिर पूर्ववत् ही एक घूंट लेकर अपने मुख से कटोरा हटा दिया और जब पुनः श्रीगोसाँईंजी ने पूछा तो कह दिया कि अबकी बार तो एकदम सीठा-सीठा लग रहा है, भला इतना सीठा दूध कोई कैसे पी सकता है? श्रीगोसाँईंजी के बड़े मनावन करने के पश्चात् थोड़ा-सा दूध पीये। पुनः जब भोग का अवसर आया तो श्रीगोसाँईंजी ने दूध और मिश्री अलग-अलग रखकर भोग लगाया, श्रीठाकुरजी ने पूछा ऐसा क्यों? ऐसा तो आप कभी नहीं करते थे, आपने कहा कि जब मेरे द्वारा मिश्री मिलाया हुआ दूध आपको पसन्द नहीं आता है तो आज आप स्वयं ही मिश्री मिलाकर पी लीजिये। श्रीठाकुरजी ने कहा-परन्तु मुझे तो मिश्री मिलाना आता ही नहीं है, मैं कैसे मिलाऊँगा? आप ही मिलाकर पिलाइये। तब गोसाँईंजी ने झुंझलाकर कहा कि जब आप दूध में मिश्री मिलाना जानते ही नहीं हो तो इतनी बात क्यों बनाते हो? जैसा दूँ, वैसा ही पी लिया करो। श्रीठाकुरजी संकुचित होकर श्रीगोसाँईंजी के हृदय से चिपक गये, श्रीगोसाँईंजी श्रीठाकुरजी को हृदय से लगाकर सुख-सिन्धु में डूब गये।

ऐसे ही एक दिन शयन के समय श्रीठाकुरजी मचल गये, कभी तो कहते यह शय्या ठीक नहीं है, कभी कहते यह बिछौना ठीक नहीं है, कभी कहते यह बिछाओ, कभी कहते वह बिछाओ, कभी कहते ऐसे बिछाओ, कभी कहते वैसे बिछाओ, उस दिन श्रीगोसाँईंजी को न जाने कितनी

शय्यायें और कितने बिछौने कितनी बार बिछाने पड़े। श्रीगोसाँईंजी के विशेष परिश्रम करने के पश्चात् श्रीठाकुरजी शयन करने के लिये तैयार तो हुए परन्तु श्रीगोसाँईंजी का हाथ पकड़कर बोले कि आप भी इसी शय्या पर शयन कीजिये, श्रीगोसाँईंजी ने कहा कि–ऐसा क्यों? श्रीठाकुरजी ने कहा कि आपकी गोद में शयन करता हूँ तो मुझे नींद अच्छी आती है, मैं सुखपूर्वक सोता हूँ मुझे अकेलेपन में नींद नहीं आती है। वस्तुतस्तु श्रीबालकृष्ण भगवान श्रीनन्द–यशोदाजी की गोदी में ही शयन करते थे। यथा–''जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ। संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे।।'' (श्रीमद्भा० १०–१५–४६) दोनों भाइयों ने माताओं का परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न ग्रहण किया। इसके पश्चात् अति लाड़–प्यार से दुलार–दुलारकर श्रीयशोदा और रोहिणी ने इन्हें सुन्दर शय्या पर सुलाया। माताओं की गोद में भगवान श्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीबलरामजी ने बड़े आराम से सो गये।

एक दिन श्रीठाकुरजी एक बन्दर को देखकर भयभीत हो श्रीगोसाँईंजी की गोद में छिप गये। यह देखकर श्रीगोसाँईंजी के मन में बड़ी शंका हुई कि जब ये एक छोटे से बन्दर को देखकर इतना भय कर रहे हैं तो भला त्रेता युग में इन्होंने पर्वताकार वानर–भालुओं को साथ में लेकर महाभयानक रावणादि राक्षसों से संग्राम कैसे किया होगा? तब स्वप्न में श्रीठाकुरजी ने इनसे कहा कि–''देखो आप या तो मुझसे माधुर्यमय वात्सल्य–प्रेम ही कीजिये या ऐश्वर्य भाव ही रखिये, एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, क्योंकि आप इधर तो मुझे बालक मानते हैं और उधर ऐश्वर्य भी देखना चाहते हैं।'' यह ठीक नहीं इसी मध्य आपकी निद्रा भंग हो गयी और आप जाग गये तथा श्रीठाकुरजी के द्वारा स्वप्न में उद्बोधन प्राप्त कर उनकी कृपा विचारकर गद्गद हो गये। आपके वात्सल्यभाव को श्रीठाकुरजी ने तो स्वीकार किया ही था, सर्वेश्वरी श्रीराधिकाजी ने भी आपके भाव को अंगीकार किया था।

वर्णन आया है कि एक चूड़ी पहनाने वाली आई तो श्रीगोसाँईंजी ने उससे कहा कि घर में जाकर सभी बधुओं को चूड़ी पहना दो तथा पैसा मुझसे ले लेना। आपके सात पुत्र थे और सातों विवाहित थे, अतः बहुयें भी सात थीं। लेकिन आपने यह नहीं कहा कि सातों बधुओं को, बल्कि यह कहा कि सभी बहुओं को चूड़ी पहनाना, अतः श्रीराधिकाजी को भी चूड़ी पहनने का अवसर मिल गया, क्योंकि श्रीठाकुरजी में वात्सल्यभाव रखने से यह भी तो इनकी पुत्रवधू ही हुईं। यदि सातों का नाम लिया होता तो कदाचित् श्रीश्रीजी को चूड़ी पहनने का अवसर नहीं मिलता। सातों बधूयें घूँघट करके आयीं और चूड़ी पहनकर चली गयीं। जब श्रीश्रीजी ने अपना हाथ बढ़ाया तो चूड़ीहारिन श्रीश्रीजी के श्रीकर–कमलों को देखते ही शिथिल

हो गयी, उसके हाथ से चूड़ियाँ छूटकर गिर गईं। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि इतने सुन्दर-सुकोमल हाथों में मैं कौन-सी एवं कैसे चूड़ी पहनाऊँ। वह बहुत देर तक श्रीश्रीजी का हाथ अपने हाथ में लिये चकित एवं विथकित-सी बनी रही, फिर वह मुश्किल से जैसे-तैसे करके चूड़ी पहना पाई। तत्पश्चात् वह चूड़ियों के पैसे लेने श्रीगोसाँईंजी के पास पहुँची, तो आप सातों बधुओं के चूड़ी पहनने के दाम देते और वह आठ के पैसे माँगती। श्रीगोसाँईंजी की समझ में यह नहीं आ रहा था कि "पुत्रबधुयें तो सात ही हैं फिर इसने आठवीं किस बधू को चूड़ी पहनाई? ऐसा ज्ञात होता है कि यह पैसा लेने के लिये झूठ बोल रही है।" परन्तु चूड़ीहारिन सौ-सौ सौगन्धें खाकर कहती कि-"मैंने आठ बधुओं को चूड़ियाँ पहनाईं है। यदि मेरी बात असत्य निकले तो मैं सब दाम छोड़ दूँगी, एक पैसा भी नहीं लूँगी।" श्रीगोसाँईंजी ने अधिक विवाद में न पड़कर उसे आठ के ही पैसे तो दे दिए, परन्तु मन से वह बात निकली नहीं थी और न उसका समुचित समाधान ही हो रहा था। तब रात्रि में श्रीश्रीजी ने कहा कि उस चूड़ी वाली ने मुझको भी चूड़ियाँ पहनायीं हैं। क्या आप मुझे अपनी पुत्रवधू नहीं मानते हैं? और यदि आप अपनी पुत्रबधू मानते हैं तो आठ का दाम देने में दु:ख क्यों मानते हैं? आपने ही तो कहा था कि सब बधुओं को चूड़ी पहना दो, तभी तो मैं भी पहनने का साहस कर सकी थी। श्रीश्रीजी के इन वचनों को श्रवणकर श्रीगोसाँईंजी भाव-विभोर हो गये, परमानन्दसिन्धु में निमग्न हो गये। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं जिससे आपके वात्सल्यभाव से भावित होकर श्रीठाकुरजी ने आपको अपार सुख प्रदान किया है।

एक बात यहाँ बड़े महत्व की है कि इन प्रसंगों से यह प्रमाणित होता है कि श्रीठाकुरजी ने भी इनके भाव को स्वीकार कर लिया था। वैसे तो सभी लोग निजभावनानुसार कोई न कोई अपना सम्बन्ध श्रीठाकुरजी से रखते ही हैं, परन्तु सही सम्बन्ध तो उन्हीं का समझना चाहिये जिसको श्रीप्रभु भी स्वीकार कर लें, इस पर-

दृष्टान्त—पण्डित उमापतिजी का—श्रीअयोध्या निवासी पण्डित श्रीउमापतिजी स्वयं को श्रीवशिष्ठजी के रूप में मानते हुए सपरिवार, सपरिकर श्रीरामजी को अपना शिष्य मानते थे। ये नित्यप्रति अपनी प्रसादी माला, श्रीकनकभवनबिहारी श्रीरामजी को पहनाते थे। एक बार कुछ लोगों ने एतराज किया कि आप यह ठीक नहीं करते हैं। तब दूसरे दिन आप नवीन माला खरीदकर ले गये, परन्तु जब वह माला श्रीरामजी को धारण कराई गई तो वह तत्काल ही टूटकर गिर पड़ी। पुनः-पुनः उस माला को जोड़कर श्रीठाकुरजी को पहनाई गई, परन्तु प्रत्येक बार वह टूट-टूटकर गिर-गिर पड़ती। वे लोग

समझ गये कि श्रीप्रभु को यह अमनियां माला स्वीकार नहीं है, तब सभी लोग अपनी भूल पर अति संकुचित हुये और उन्होंने श्रीपण्डितजी से प्रार्थना की कि "अब आप माला अपनी प्रसादी करके श्रीठाकुरजी को धारण कराइये।" सभी के समक्ष जब इन्होंने अपनी प्रसादी-माला श्रीरामजी को पहनाई तो श्रीप्रभु ने सहर्ष धारण कर ली।

श्रीजानकीजी में आपका पुत्रबधू का भाव था क्योंकि शिष्य भी तो पुत्र ही होता है। अतः आप श्रीसीताजी की ओर दृष्टि नहीं करते थे क्योंकि वह भी आपके भावनानुसार आपसे संकोच करतीं थीं। आपने पुजारियों से कह रखा था कि "जब मैं दर्शन करने आऊँ तो श्रीजानकीजी की ओर परदा कर दिया करना।" पुजारीजी भी विशेष सावधानी पूर्वक सर्वदा ऐसा ही करते थे। एक बार संयोग से श्रीपण्डितजी आये तो पुजारीजी परदा करना भूल गये। फलस्वरूप मन्दिर की एक ओर की किवाड़ स्वयं ही धड़ाके के साथ बन्द हो गयी। श्रीपण्डितजी समझ गये कि पुजारीजी की विस्मृति से स्वयं श्रीजानकीजी को किवाड़ बन्द करनी पड़ी है अतः आपने बहुत ही खिन्न होकर कहा पुजारीजी! अब हम मन्दिर में दर्शन करने नहीं आयेंगे, क्योंकि आप लोग असावधानी करते हैं जिससे श्रीजानकीजी को कष्ट करना पड़ता है। पुजारीजी ने अपनी भूल स्वीकार की और उसके लिये क्षमा-प्रार्थना की तथा भविष्य में ऐसी भूल न होने की शपथ ली, तब आप पुनः मन्दिर में जाने लगे। कहते हैं कि एक बार श्रीअयोध्या के राजा श्रीददुआजी महाराज की इच्छा हुई कि मेरे राज-सदन का शिलान्यास पण्डित श्रीउमापतिजी के द्वारा ही सम्पन्न हो। राजा साहब ने भेंट में सवा लाख रुपया देने का निश्चय किया था। राजा साहब ने विशेष आग्रह तथा अनुरोध किया, परन्तु आपने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। आपने कहा कि जब श्रीराम और लक्ष्मण मेरे शिष्य हैं तो मैं किसलिए और क्यों किसी के द्वार पर जाऊँ? मैं अपना नियम नहीं छोडूँगा, मैं महाराजा साहब को यहीं से हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूँ। ऐसे निष्ठावान थे पण्डित श्रीउमापतिजी। इसी से तो श्रीरामजी ने इनके भाव को स्वीकार लिया था। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीविट्ठलनाथजी के भाव को श्रीश्रीनाथजी ने स्वीकार कर लिया था। अतः कहते हैं कि-"विट्ठलनाथ..सुख लियौ।।"

राग भोग नित बिबिध—श्रीगोसाँईंजी स्वयं बड़े कुशल पद रचनाकार एवं गायक थे, तब भी आपने श्रीठाकुरजी की अष्टयाम राग (पद-कीर्तन) सेवा के लिए आठ परम प्रवीण कीर्तनकार नियुक्त कर रखे थे। श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकुम्भनदासजी एवं श्रीकृष्ण दासजी- ये चार कीर्तनियाँ तो श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के कृपापात्र थे तथा श्रीगोविन्ददासजी, श्रीचतुर्भुजदासजी, श्रीछीतस्वामीजी एवं श्रीनन्ददासजी-ये चार कीर्तनियाँ श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईंजी

के कृपापात्र थे। ये लोग नित्य नवीन-नवीन पदों के द्वारा श्रीठाकुरजी की राग-सेवा करते थे। इसी प्रकार नित्यप्रति के लिए नये-नये उत्तमोत्तम भोग की भी बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। यह नहीं कि एक दिन बनाकर रख लिया और छः महीने तक भोग लगता रहा। इस पर दृष्टान्त-एक पुजारीजी का देखिये उ०प्र०ख० पृष्ठ ३५४।।

एक बार की बात है कि श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीठाकुरजी को भोग लगा रहे थे, उस समय आपको शाक में कोई तृण दिखायी पड़ा तो आपको विशेष मानसिक क्लेश हुआ और विचार करने लगे कि हमारे रहते ही परिचारक लोग इतनी असावधानी करते हैं तो हमारी अनुपस्थिति में तो ये लोग न जाने क्या करेंगे? फिर तो आपने अत्यन्त खिन्न होकर सभी स्थानीय लोगों को बुलाकर कहा कि-"अब आप लोग श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा एवं मन्दिर का कार्य सँभालिये, मैं तो अब संन्यास ले लूँगा। हमसे सेवा में असावधानी देखी नहीं जाती है।" आपके इतना कहते ही सभी लोग अति दु:खी हो गये जैसे कि मानो उन्हें मूर्च्छा-सी आ गयी हो, सभी ने आपसे बहुत अनुनय-विनय की तथा इस अपराध के लिए क्षमा-याचना की एवं भविष्य में ऐसी भूल कभी नहीं होगी, इसके लिए शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की। परन्तु आप अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए। जब आप ठाकुर श्रीश्रीनाथजी से आज्ञा लेने गये तो श्रीठाकुरजी ने अत्यन्त उदास होकर कहा-"गोसाँईजी! आप मेरे लिए भी काषाय (गेरुआ) वस्त्र मँगवा दें।" आपने कहा कि-"जै-जै, आपके लिए तो एक से एक बढ़िया पोशाकें रक्खीं हैं फिर आप काषाय वस्त्र धारण करने की क्यों इच्छा कर रहे हैं।" श्रीठाकुरजी ने कहा-"जब आप संन्यास लेंगे तो मैं भी संन्यास ले लूँगा। मैं आपको छोड़कर यहाँ नहीं रह सकता।" श्रीविट्ठलनाथजी ने कहा-"मुझसे आपकी सेवा में त्रुटि सहन नहीं हो रही है, अत: मैं तो इस दु:ख के कारण ही संन्यास ले रहा हूँ।" श्रीठाकुरजी ने कहा-"जब मैं दु:ख नहीं मान रहा हूँ तो आप क्यों दु:खी हो रहे हैं। आपसे तो मैं सदा ही प्रसन्न हूँ एवं प्रसन्न ही रहूँगा।" तब श्री विट्ठलनाथजी ने अपना निश्चय छोड़ा। ऐसी अपूर्व निष्ठा थी आपकी श्रीभगवद्-सेवा में।

सज्या भूषन... अपने कर—इसका भाव यह है कि श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी पण्डा-पुजारियों के ऊपर भगवान् की सेवा नहीं छोड़ते थे, स्वयं समस्त सेवायें बड़ी तत्परता के साथ करते थे। श्रीनाभाजी कहते हैं कि-"रहत परिचर्या ततपर।" सेवा में ऐसी लगन थी कि आप विराजते तो थे श्रीगोकुल में परन्तु नित्यप्रति श्रीश्रीनाथजी की सेवा करने हेतु घोड़े पर चढ़कर श्रीयतीपुरा (श्रीगोवर्धन) आते थे, किसी कारणवश यदि आने में कुछ विलम्ब

हुआ तो अन्य सेवा चाहें कोई दूसरा पुजारी कर ले, परन्तु श्रीठाकुरजी की आरती तो स्वयं ही आकर करते थे। श्रीवल्लभकुल में यह नियम आज भी अक्षुण्ण चला आ रहा है। श्रीठाकुरजी की आरती-सेवा श्रीगोसाँई स्वरूप ही करते हैं। ''कलियुग में द्वापर कियौ।'' श्रीभगवन्निष्ठ सदाचारी पुरुष अपने सदाचार बल से कुकाल को भी सुकाल बना देते हैं एवं श्रीभगवद्विमुख दुराचारी पुरुष अपने अनाचार-दुराचार-पापाचार से सुकाल को भी कुकाल बना देते हैं। देखिये अत्याचारी रावण के राज्यकाल में सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग से भी बुरा हो रहा था। यथा-''अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना। तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकसइ जो कह वेद पुराना।।'' (रामा०), जैसे मूर्तिमान धर्म मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजी के राज्यकाल में त्रेतायुग में भी सतयुग हो रहा था। यथा-''त्रेता भइ कृतजुग की करनी।। चारिउ चरन धर्म जग माहिं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहिं।।'' (रामा०), उसी प्रकार से ही श्रीविट्ठलनाथजी के भजन के प्रताप से कलियुग में द्वापर युग हो रहा था। एक प्रश्न यहाँ होगा कि सतयुग, त्रेतायुग न कहकर ''द्वापर कियौ'' क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि ''श्रीभगवद्सेवा-पूजा'' यह द्वापर युग का ही धर्म है। यथा-''ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।।'' (रामा०) ''द्वापरे परिचर्यायां'' भा०। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५५४। श्रीविट्ठलनाथजी ने भगवान की सेवा-पूजा का ही विस्तार तथा प्रचार-प्रसार किया, अतः कहा-''कलियुग में द्वापर कियौ।।'' सभी सम्प्रदायों की अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं। श्रीवल्लभ सम्प्रदाय में सेवा-पूजा की प्रधानता है। विशेष देखिये द्वितीय खण्ड पृष्ठ-१९, पद-''ज्ञान दियौ शंकर...स्वामी रामानन्द।।''

विशेष—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी श्रीपण्ढरीनाथजी के अवतार हैं। इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए देखिये द्वितीय खण्ड पृष्ठ-३६०। आप श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र हैं। आपका प्रादुर्भाव विक्रमाब्द १५७२ में, काशी के निकट चरणाद्रि (चुनारगढ़) में हुआ था। श्रीआचार्य महाप्रभुजी ने अड़ैल (प्रयाग के निकट) आकर आपका जन्मोत्सव मनाया और यथासमय आपके समस्त शुभ-संस्कार किये। पिता श्रीआचार्य महाप्रभुजी के देखरेख में आपने समस्त श्रुति-शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया। तदुपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। आपकी श्रीरुक्मिणीजी एवं श्रीपद्मावतीजी नाम की दो पत्नियाँ थीं। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के गोलोक-गमन के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी को आचार्य गादी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ परन्तु अल्पकाल में ही उनके भी गोलोकवासी हो जाने के कारण तथा उनके सुपुत्र पुरुषोत्तमजी की बाल्यावस्था होने के कारण

श्रीविट्ठलनाथजी ने ही समस्त कार्यभार संभाला। आपने भगवान की सेवा-पूजा में स्वयं विशेष रुचि ली, फलस्वरूप सेवा-पूजा का विशेष विस्तार हुआ। इसी मध्य किसी बात को लेकर श्रीविट्ठलनाथजी और अधिकारी श्रीकृष्णदासजी इन दोनों में कुछ मन-मुटाव-सा हो गया। परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्णदासजी ने गोलोकवासी श्रीगोपीनाथजी की पत्नी को अपने पक्ष में करके उनके पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी को गद्दी का अधिकार दिलाया और श्रीविट्ठलनाथजी के लिये श्रीठाकुरजी के दर्शन की ड्यौढ़ी बन्द करा दी। श्रीगोसाँईजी को अधिकार छिन जाने का कोई कष्ट नहीं हुआ, परन्तु इन्हें जो दर्शन से वंचित रखा गया इसका इनके मन में अपार क्लेश हुआ और ये खिन्न होकर पारासौली ग्राम चले गये। वहीं से आप श्रीश्रीनाथजी के मन्दिर के ऊपर फहराती हुई ध्वजा को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर लेते और मन्दिर के झरोखे की ओर अपलक दृष्टि से देखते हुए अपने मन में संतोष करते थे।

श्रीरामदासजी भीतरिया (ये श्रीठाकुरजी की रसोई-सेवा करते थे), इनका श्रीगोसाँईजी से विशेष स्नेह था, अतः अधिकारी श्रीकृष्णदासजी के मना करने पर भी ये नित्यप्रति सेवा से अवकाश मिलने पर श्रीठाकुरजी का वीड़ा-प्रसाद लेकर श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी का दर्शन करने अवश्य ही जाते थे। श्रीगोसाँईजी भी इनको श्रीठाकुरजी के लिये फूलों का एक हार तथा विनय का एक श्लोक अर्पण करते थे। श्रीरामदासजी नित्यप्रति आकर वह फूलों का हार श्रीठाकुरजी को धारण कराते और श्लोक श्रीचरणों में रख देते। श्रीठाकुरजी श्लोक पढ़कर गद्गद हो जाते और श्रीरामदासजी के द्वारा श्रीगोसाँईजी के लिये सांत्वनात्मक सन्देश भेजते। एक दिन श्रीठाकुरजी ने सन्देश में कहा कि-"मेघ तो समय पर बरसेगा ही आप क्यों इतनी चिन्ता करते हैं? अर्थात् कुछ समय प्रतीक्षा कीजिये, फिर पूर्ववत सभी बात बन जायेगी।" इसके प्रत्युत्तर में श्रीविट्ठलनाथजी ने इस आशय का श्लोक लिखकर भेजा कि-"यह सत्य है कि मेघ समय पर ही बरसता है, परन्तु चातक अपनी रटन को कहाँ छोड़ देता है? अर्थात् मेरी रटन तो घटने वाली नहीं है।" क्योंकि-"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई।।" (रामा०), श्रीविट्ठलनाथजी के प्रभाव से दिल्लीश्वर अकबर बादशाह एवं उनके कर्मचारीगण परिचित थे अतः जब उन लोगों को श्रीगोसाँईजी के विरुद्ध श्रीकृष्णदासजी की इस प्रकार की हरकत मालूम हुई तो तत्काल उन्हें कारागार में बन्द कर दिया गया, परन्तु धन्य श्रीगोसाँईजी! जब आपको यह समाचार ज्ञात हुआ तो आपने बहुत दु:ख प्रकट किया और प्रतिज्ञा की कि जब तक श्रीकृष्णदास अधिकारीजी कारागार से मुक्त होकर नहीं आ जायेंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करुँगा। फलस्वरूप

श्रीकृष्णदासजी को तुरन्त छोड़ दिया गया। श्रीगोसाँईजी के इस साधु व्यवहार से श्रीकृष्णदासजी एवं शासक वर्ग भी विशेष प्रभावित हुआ। श्रीकृष्णदासजी ने पारसौली आकर श्रीगोसाँईजी के चरणों में पड़कर निज अपराध के लिये क्षमा-याचना की और भाव-विभोर होकर आपका गुणगान किया। यथा-"परम कृपालु श्रीवल्लभनन्दन करत कृपा निज हाथ दे माथे।।" फिर तो श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी को सेवा का अधिकार पूर्ववत् पुनः प्राप्त हो गया। कहते हैं कि इसी महद् अपराध के कारण श्रीकृष्णदासजी के देहान्त होने पर इनको प्रेतयोनि प्राप्त हुई और फिर उनका उद्धार भी श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी की कृपा से ही हुआ था।

पूर्व कहा जा चुका है कि अकबर प्रभृति शासक वर्ग श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी से विशेष प्रभावित थे। इस सम्बन्ध में कथा इस प्रकार से है-"एक बार अकबर अपनी बेगमों के सहित मथुरा आया हुआ था। एक दिन उसकी एक हिन्दू बेगम (सम्भवतः जोधाबाई) नौका पर बैठकर श्रीयमुनाजी एवं श्रीमथुराजी की शोभा का निरीक्षण कर रही थी। धीरे-धीरे चलते-चलते नाव श्रीगोकुल पहुँच गयी। संयोग से उस समय श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी श्रीयमुना स्नान करके संन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। आपके अपूर्व तेज को देखकर वह बेगम आकृष्ट हुई और नाव को वहीं पर रुकवाकर सेवकों से आपका परिचय प्राप्त कर आपके समीप आईं और हाथ जोड़कर खड़ीं हुईं। जब श्रीगोसाँईजी ने बेगम से आगमन का कारण पूछा तो उसने कहा कि-"आप कृपा करके मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे हमारे पति बादशाह सलामत सदा हमारे वश में रहे।" आपने एक दोहा लिखकर उसकी भुजा में बाँध दिया। वह दोहा इस प्रकार है-"यन्त्र मन्त्र अरु तन्त्र को भूलि करो जनि कोय। पति कहै सो कीजिये वह आपहि वश होय।।" सेवकों की कानाफूसी से बात बादशाह तक पहुँची, उसके मन में इस बात का विशेष रंज हुआ कि हमारी बेगम को इन्होंने न जाने क्या उल्टा-सीधा पढ़ा दिया। फलतः बादशाह ने बलपूर्वक बेगम के हाथ में बँधे हुए उस यन्त्र को तोड़ लिया और जब उसे खोलकर पढ़ा तो पूर्वोक्त दोहा लिखा पाया, जिसमें पति की आज्ञा-पालनरूप-सेवा पर ही विशेष बल दिया गया था, फिर तो बादशाह इस शास्त्रसम्मत उपदेश को पढ़कर विशेष प्रभावित हुआ और स्वयं भी श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी के दर्शन करने आया। श्रीगोकुल तथा श्रीगोवर्धन में बहुत सी भूमि भेंट में दी।

श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने जिस पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया था उसका व्यापक प्रचार-प्रसार श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी के द्वारा ही हुआ। आपने वैष्णवता का प्रचार करने के लिये बहुत से ग्रन्थों की रचना की एवं वैष्णवों को अपने साथ में लेकर सम्पूर्ण भारत का भ्रमण

किया तथा भक्ति-जगत् में साहित्य, संगीत का प्रचार करने के लिये आपने आठ महाकवियों का एक मण्डल स्थापित किया। जिसे "अष्टछाप" कहते हैं। उनमें चार (श्रीसूरदासजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकृष्णदासजी) ये श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी के शिष्य थे एवं चा (श्रीनन्ददासजी, श्रीचतुर्भुजदासजी, श्रीगोविन्ददासजी श्रीछीतस्वामीजी) ये आपके शिष्य थे। आपके सात पुत्र थे, जिनका स्मरण छप्पय-८० में किया गया है। आपके सभी पुत्रों में जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था तक श्रीभगवद्-आवेश रहता था, इस प्रकार भगवान ने आपको अपने पुत्र के रूप में भी दिव्य वात्सल्य सुख प्रदान किया था। महाप्रयाण का समय सन्निकट जानकर आपने अपने सातों सुपुत्रों को सेवा करने के लिये एक-एक श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह प्रदान किया एवं चल-अचल सम्पत्ति का बंटवारा भी कर दिया तथा सभी को यथायोग्य सेवा सौंप दी। फिर आपने समस्त वैष्णवों को आमंत्रित कर अन्तिम बार पुष्टिमार्ग का सार-सिद्धान्त समझाया और इसके प्रचार-प्रसार का आदेश देकर स्वयं श्रीगोवर्धनजी के गुहाद्वार पर आये, आपके पीछे-पीछे सभी सुपुत्रजन एवं परिकरवृन्द थे, आपने अपने कण्ठ की माला अपने चतुर्थ पुत्र श्रीगोकुलनाथजी के गले में पहनायी और स्वयं गुफा में प्रविष्ट हो गये। प्रवेश करते समय ज्येष्ठ पुत्र श्रीगिरधरजी ने आपका उत्तरीय खींच लिया, तब अन्दर से आवाज आयी कि इसी उत्तरीय के द्वारा ही उत्तर-क्रिया सम्पन्न करना। इस प्रकार आपने सम्वत् १६४२ में इहलीला संवरण की।

श्रीविट्ठलनाथजी की वाणी—"यद्दैन्यंत्वत्कृपा हेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि। तां कृपां कुरु राधेश यया तद्दैन्यमाप्नुयाम्।।" अर्थ-हे राधापति! जो दैन्य आपकी कृपा का हेतु है, वह तो मुझमें अणुमात्र भी नहीं है अतः अब तो आप ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे वह दैन्य प्राप्त हो।। "सर्वसाधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान् भवान्। श्रीगोकुलप्राणनाथ न त्याज्योऽहं कदापि वै।।" अर्थ-हे गोकुल के स्वामी! मैं सर्वथा सर्वसाधनहीन हूँ, परन्तु आप सर्वसामर्थ्यवान हैं। अतः मैं किसी भी स्थिति में आपके द्वारा त्याज्य नहीं हूँ।।" "यदि तुष्टोऽसि रुष्टो वा त्वमेव शरणं मम। मारणे धारणे वापि दीनानां नः प्रभुर्गतिः।।" अर्थ-हे प्रभो! आप चाहें मुझ पर सन्तुष्ट हों अथवा असन्तुष्ट हों मेरे लिये तो एकमात्र आप ही अवलम्ब हैं। हम दीनों को मारने वाले अथवा जिलाने वाले तथा पोषण एवं अंगीकार करने वाले एकमात्र आप ही हमारे सहायी हैं।

श्रीत्रिपुरदासजी

कायथ त्रिपुरदास भक्ति सुखरासि भर्‌यो कर्‌यौ ऐसो पन सीत दगला पठाइयै।
निपट अमोल पट हियें हित जटि आवै तातें अति भावै नाथ अंग पहिराइयै।।
आयो कोऊ काल नरपति नैं बिहाल कियौ भयौ ईश ख्याल नेकु घर में न खाइयै।
वही ऋतु आई सुधि आई आँखि पानी भरि आई एक द्वाति दीठि आई बेंचि ल्याइयै।।३४०।।

शब्दार्थ—दगला=रुईदार अथवा मोटे कपड़े का बना अँगरखा। हियें हित=हार्दिक प्रेम। जटि=जड़कर, गोटा आदि से सुसज्जित। द्वाति=दावात।

भावार्थ—श्रीत्रिपुरदासजी जाति के कायस्थ थे। इनके हृदय में राशि-राशि भक्तिसुख भरा हुआ था। आपने ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि मैं प्रतिवर्ष शीतकाल में श्रीश्रीनाथजी के लिये दगला भेजा करुँगा। तदनुसार ये अत्यन्त ही बहुमूल्य वस्त्र का दगला सिलवाते थे, फिर उसमें सुनहरे गोटे लगवाते थे और सबसे विशेष बात यह होती कि वह दगला आपके हार्दिक प्रेम से जड़ा हुआ होता था, ऐसा दिव्य दगला ये भेजते थे। यही कारण है कि आपका भेजा हुआ दगला ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को अत्यन्त ही प्रिय लगता था और गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी भी उसे बड़े प्रेम से श्रीठाकुरजी को धारण कराते थे। कुछ कालोपरान्त आपका ऐसा समय आया कि राजा ने आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया तथा ईश्वर ने भी आपके प्रति ऐसी ही लीला की कि आप एक-एक पैसा और एक-एक अन्न के दाने को मोहताज हो गये। घर में खाने-पीने तक का कोई साधन नहीं रहा। इसी मध्य शीतकाल की ऋतु आ गई। तब इन्हें श्रीठाकुरजी के लिये दगला भेजने का स्मरण हो आया। परन्तु धन का सर्वथा अभाव हो जाने से श्रीठाकुरजी की सेवा से वंचित होने तथा प्रतिज्ञा भंग होने के दुःख से आपके नेत्रों में आँसू छलछला आये। आप मन ही मन विचार कर ही रहे थे कि ऐसे असमय में प्रतिज्ञा का किस प्रकार से पालन हो और किस प्रकार से श्रीठाकुरजी की सेवा करूँ, कि एकाएक पीतल की एक दावात आपकी दृष्टि में आयी। फिर तो मानो डूबते को तिनके का सहारा मिल गया हो। आपने मन में निश्चय किया कि इसी को बेच करके श्रीठाकुरजी की सेवा करूँगा।।३४०।।

व्याख्या—कायस्थ त्रिपुरदास०—यहाँ पर जाति का संकेत करने का भाव यह है कि व्यवहार-जगत में कायस्थ जाति विशेष ही चतुर होती है। इस पर-

दृष्टान्त—कायस्थ का—एक बार एक हाथी ने यमराज से जाकर शिकायत किया कि मनुष्य हम लोगों को अपने आधीन करके बहुत कष्ट पहुँचाते हैं। यमराज की समझ में यह

बात नहीं आयी कि इतने बड़े जानवर को नन्हा-सा मनुष्य किस प्रकार से अपने वश में कर लेता है? अतः उन्होंने हाथी के कथन पर विश्वास नहीं किया। हाथी ने मनुष्य की चातुर्यता की प्रशंसा करते हुए बहुत प्रकार से विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया। फिर भी यमराज नहीं माने, तब हाथी ने कहा-''आपके यहाँ तो मनुष्य मरकर ही आते हैं, यदि आपको जीवित मनुष्य से पाला पड़ जाये तो आप स्वयं ही समझ जायेंगे।'' यह सुनकर यमराज को कौतुहल हुआ और उन्होंने अपने दूतों से कहा कि किसी जीवित मनुष्य को मेरे यहाँ ले आओ। संयोग से यमदूत एक कायस्थ जाति के मनुष्य को चारपाई सहित सोते हुए को उठा ले चले, मार्ग में उसकी नींद खुली तो उसने यमदूतों से पूछा कि-''मुझे कहाँ लिये जा रहे हो?'' यमदूतों ने बताया-''यमपुरी, यमराजजी के पास।'' उसकी चारपाई पर ही कागज, कलम और दावात रखी हुई थी अतः उसने एक बनावटी (काल्पनिक) फर्जी चिट्ठी यमराज के नाम लिखी। उसमें लिखा था-''धर्मराज को मेरा आशीर्वाद, आप अपना अधिकार इस व्यक्ति को सौंप दें, अब यही आपका समस्त कार्यभार संभालेगा, हस्ताक्षर-विष्णु।'' कायस्थ ने वह बनावटी फर्जी पत्र यमराजजी को दे दिया। यमराजजी ने भक्तिवश उस पत्र को सचमुच में ही भगवान श्रीविष्णु का ही भेजा हुआ समझा और तत्काल ही उस कायस्थ को अपनी गद्दी सौंप दी। परन्तु उस कायस्थ से लोक-व्यवस्था ठीक से संभल न सकी, चारों ओर अराजकता फैलने लगी। भगवान ने जब यमराज से अराजकता का कारण पूछा तो वे बोले-''प्रभो! आजकल तो मैं छुट्टी पर हूँ और मेरा कार्य तो एक मृत्युलोक का प्राणी कर रहा है, वह जाति का कायस्थ है।'' भगवान ने पूछा-''इतने उच्च पद पर उसे किसने और कैसे बैठा दिया?'' यमराज ने उत्तर दिया-''प्रभो! आपने ही तो उसके हाथ अपना हस्ताक्षरयुक्त आदेश-पत्र भेजा था।'' यह सुनकर भगवान अचम्भित हो गये। तुरन्त उसे हटाकर यमराज को उनका अधिकार सौंपा गया। इस प्रकार से मनुष्यों में, उसमें भी विशेषकर कायस्थ जाति की चतुराई प्रकट हो ही गयी।

प्रायः देखा गया है कि ऐसे लौकिक-व्यवहार में निपुण लोगों की परमार्थ की ओर कम ही प्रवृत्ति होती है। लेकिन श्रीत्रिपुरदासजी तो कायस्थ होकर भी परम परमार्थ प्रवीण हुये, यह विशेष बात है। अतः श्रीप्रियादासजी कहते हैं-''कायथ त्रिपुरदास।'' ब्रजमण्डलान्तर्गत आप शेरगढ़ के निवासी थे, आपके पिता राज्यमंत्री थे। आप एक बार अपने पिता के साथ आगरा से आ रहे थे। मार्ग में श्रीगोवर्धन में ठाकुर श्रीश्रीनाथजी का दर्शन कर आपका मन ऐसा लुभाया कि आपने पिताजी के साथ घर चलने से मना कर दिया। आपके पिताजी ने आपको श्रीगोवर्धनजी में श्रीश्रीनाथजी की सन्निधि में ही छोड़कर स्वयं घर के लिये गमन किया। दैवयोग से मार्ग में दुष्टों

ने आपके पिताजी को मार डाला। जब यह समाचार आपको प्राप्त हुआ तो आपने इसे भगवान का ही मंगल-विधान मानकर बड़े प्रसन्न हुये। अब तो ये एकदम से निश्चिन्त होकर यहीं रहने लगे। आप अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान का दिव्य दर्शन कर आत्मविभोर हो जाते। इनकी प्रेममयी दशा देखकर श्रीबल्लभाचार्यजी ने इनका परिचय पूछा तो ये श्रीआचार्य चरणों में साष्टांग दण्डवत-प्रणिपातपूर्वक बोले-"प्रभो! मैं मातृ-पितृहीन, सर्वथा अनाथ बालक हूँ, कृपा करके आप मुझे अपने श्रीचरणों में आश्रय दें, मुझ दीन-हीन को सभी प्रकार से अपनाकर सनाथ करें।" अधिकारी समझकर श्रीआचार्य प्रभु ने आपको विधिपूर्वक दीक्षा देकर ब्रह्म-सम्बन्ध कराया। कुछ दिन तक श्रीमहाप्रभुजी की सेवा में रहकर फिर आप श्रीआचार्य-चरणों की आज्ञा मानकर पुनः घर को वापिस आ गये और यहीं पर ही भक्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए रहने लगे। इनकी योग्यता पर रीझकर यवनराज ने आपको अपना मंत्री बना लिया।

नरपति नैं बिहाल कियौ—इसका कारण यह था कि आप अन्यायी यवनराज की हाँ में हाँ नहीं मिलाते थे। आप नीति, धर्मानुसार ही राज्य कार्य करते थे, इस कारण आपसे खीझ कर यवनराज ने आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया और आपको कैद करके कारागार में बन्द कर दिया। रात्रि में भगवान् ने यवनराज को स्वप्न में दण्ड देकर आदेश दिया कि त्रिपुरदास को शीघ्र कारागार से मुक्त कर दो, अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। तब डर के मारे उसने आपको तत्काल ही मुक्त कर दिया। "भयौ ईश ख्याल०"-स्थूल दृष्टि से तो राजा के द्वारा श्रीत्रिपुरदासजी का सर्वस्व ही हरण कर लिया गया, आपके घर में खाने तक का ठिकाना नहीं रहा। परन्तु श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि -"भयौ ईश ख्याल" अर्थात् ईश्वर ने ही ऐसी लीला की। यहाँ प्रश्न होगा कि भगवान् तो भक्तवत्सल हैं फिर अपने भक्त के साथ ऐसी लीला क्यों की? तो इसका बड़ा मार्मिक समाधान स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है। यथा-"यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः। ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना: दु:खदु:खितम्। स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया। मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।।" (श्रीमद्भा०१०-८८-८९) अर्थ-स्वयं भगवान के वचन हैं कि जिस पर मैं कृपा करता हूँ उसका समस्त धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है तब उसके सगे-सम्बन्धी उस दु:खाकुल चित्त की परवाह नहीं करते हैं, प्रत्युत उसे छोड़ देते हैं। फिर वह धन के लिये उद्योग करने लगता है, तब मैं उसका वह प्रयत्न भी निष्फल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होने के कारण जब धन उपार्जन से उसका मन विरक्त हो जाता है, उसे

दुःखरूप समझकर वह उधर से अपना मुख मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी-भक्तों का आश्रय लेकर उनसे घनिष्ठता तथा अपनापन रखता है, तब मैं उस पर अहैतुक अनुग्रह की वर्षा करता हूँ।'' पुनः-दूसरा भाव यह भी है कि भगवान् ने विचार किया कि श्रीत्रिपुरदासजी की भक्ति की तो संसार में बहुत बड़ाई होती है। सभी लोग इनकी मेरे प्रति जो प्रीति है, उसे जानते हैं, परन्तु मैं इन पर कैसा स्नेह करता हूँ। इस बात को कोई भी नहीं जानता है, अतः मेरी बड़ाई कोई नहीं करता है, सभी लोग त्रिपुरदासभक्तजी की ही प्रशंसा करते हैं, अतः श्रीत्रिपुरदासजी के प्रति अपने स्नेह को प्रकट करने के लिये ही ऐसी लीला की। आगे की कथा में इनके प्रति प्रभु का प्रेम दिखलाया गया है।

बेंचिकै बजार यों रुपैया एक पायौ ताकौ ल्यायौ मोटौ थान मात्र रंग लाल गाइयै।
भीज्यो अनुराग पुनि नैंन जल धार भीज्यो, भीज्यो दीनताई धरि राख्यौ और आइयै।।
कोऊ प्रभुजन आय सहज दिखाई दई भई मन दियौ लै 'भण्डारी पकराइयै'।
काहू दास दासी के न काम कौ पै जाउँ लैकै विनती हमारी जू गुसाँई न सुनाइयै।।३४१।।

शब्दार्थ—मात्र=केवल, सिर्फ, एकमात्र।

भावार्थ—श्रीत्रिपुरदासजी ने उस दावात को बाजार में बेच दिया, उससे आपको एक रुपया मिला, उस रुपया से आपने केवल मोटे कपड़े का एक थान खरीदा। फिर उस कपड़े को लाल रंग में रँगा, कहने को वह वस्त्र केवल लाल रंग में रंगा था, परन्तु वस्तुतस्तु वह प्रथम तो आपके अनुराग रंग में भीगा, फिर् आपके नेत्रों के प्रेमाश्रु धार में भीगा, फिर वह कपड़ा आपकी दीनता में सराबोर हुआ, इस प्रकार वह निपट अनमोल हो गया था। परन्तु फिर भी आपका साहस नहीं हुआ कि ऐसे साधारण वस्त्र को लेकर हम कैसे श्रीगोसाँईजी के पास जायें, अतः उसे घर में ही रख लिया। आपने विचार किया कि श्रीगिरिराजजी की ओर से कोई आवेगा तो उसके द्वारा भेजवा दूँगा। इसी बीच श्रीगोसाँईजी का कोई सेवक आपके ग्राम में आया हुआ था, वह सहज ही आपको मिल गया तो आपने मन में विचार किया कि वह वस्त्र इन्हीं के हाथ से ही क्यों न भेजवा दूँ। फिर तो आपने वह वस्त्र उस सेवक को ही देकर कहा कि-''आप इस वस्त्र को भण्डारीजी को दे देना, यद्यपि यह वस्त्र श्रीगोसाँईजी के किसी दास-दासी के भी पहनने योग्य नहीं है तो भी मुझ दीन-हीन की यह तुच्छ भेंट आप लेते जाइये, परन्तु एक बात का ध्यान रखियेगा, मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि इस वस्त्र के विषय में श्रीगोसाँईजी को नहीं सुनाइयेगा।।३४१।।

व्याख्या—बेंचिकै बजार—श्रीत्रिपुरदासजी ने अपने एक सोनार मित्र के यहाँ उस दावात को बेचा। ''मात्र रंग लाल''-इसके दो अर्थ होंगे-एक तो भावार्थ में दिया गया

है। दूसरा अर्थ-लाल अर्थात् श्रीनन्दलाल श्रीठाकुरजी के प्रेम रंग में रंगा था। वस्त्र रंगते समय आपके हृदय में अपार प्रेमसागर उमड़ रहा था। अतः वस्त्र अनुराग के रंग में भीगा, फिर यह विचार किया कि, कहाँ तो मैं प्रतिवर्ष उत्तम से उत्तम वस्त्र श्रीठाकुरजी की सेवा में भेजता था, कहाँ अब हमारी ऐसी दीन दशा हो गई है कि आज मैं मोटा थान भेजने को विवश हूँ, आपके नेत्रों में झर-झर अश्रुपात हो रहा था, अतः वह वस्त्र आपकी अश्रुधार से भीगा, फिर भक्ति का भूषण जो भक्त का सहज दैन्य होता है-यथा-"नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खरचन को दाम। मोसे पतित अपंग की तुम पति राखो राम।।" श्रीत्रिपुरदासजी भी दैन्यभाव से परिपूर्ण थे। इनके मन में अपनी पूर्वकृत सेवाओं का लेशमात्र भी अहंकार नहीं था, हमेशा यही अनुसन्धान करते थे कि मुझ दीन-हीन से श्रीप्रभुजी की कुछ भी सेवा नहीं बनी, वह वस्त्र आपके इस दैन्य से भी भीगकर अमूल्य एवं भगवान् को अति प्रिय हो गया, क्योंकि भगवान् को ये तीन वस्तुयें ही अति प्रिय हैं। यथा-"अनुराग"-रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननि हारा।।" (रामा०), "आँसू"-भक्तों के जो प्रेम के आँसू वाको जग में मोल न तोल।।" (रसिया)। "दैन्य"-देखिये श्रीविट्ठलनाथजी की वाणी। पुनः-"जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना।। (रामा०), एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।। (वि०), दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति। (वि०), "कोऊ प्रभुजन-"श्रीविट्ठलनाथजी का एक सेवक राजा को प्रसाद देने गया था, वैसे जब कभी वह शेरगढ़ जाता तो श्रीत्रिपुरदासजी से अवश्य ही मिलकर आता था, परन्तु अबकी-बार उसने आपकी दीन-दशा विचारकर आपके निकट नहीं जाने का निश्चय किया, क्योंकि प्रत्येक बार जाने पर ये अश्वयमेव श्रीगोसाँईजी के लिये एवं श्रीठाकुरजी के लिये कुछ न कुछ भेंट देते ही थे, परन्तु अब आपके पास कुछ देने को रहा नहीं, अतः जाने पर संकोच होगा। लेकिन श्रीभगवद् प्रेरणा से फिर उस सेवक के मन में यह विचार आया कि यदि ऐसे समय में हम नहीं जायेंगे तो यह बात सदा के लिये कहने को हो जायेगी कि जब हमारे पास भेंट देने को धन था तब तो श्रीगोसाँईजी के सेवक हमको दर्शन एवं भगवद्-प्रसाद देने आते थे, परन्तु अब हमारे पास कुछ भी नहीं रहा तो उन्होंने भी हमें त्याग दिया, अतः श्रीत्रिपुरदासजी से अवश्य ही मिलना चाहिये। फिर तो वह सेवक श्रीत्रिपुरदासजी के भी घर गया। "न सुनाइयै"-इसके दो कारण हैं-(१) "जेहिं रहीम तन मन दियो कियो हिये बिच भौन। तासौं दुःख सुख कहन की रही बात अब कौन।। दुःख मोर नहीं उनते कहियो सुनिके वह भी दुःख पावहिंगे। हम भोगत हैं अपने कृत को कब लौं प्रभु जू तरसावहिंगे। इक द्योस दया करिकै ढरिहैं पद प्रेमहिं दै अपनावहिंगे। हम गावहिंगे वह आवहिंगे दुःख द्वन्द्व हमार मिटावहिंगे।। (भ०व०टि०)

दियौ लै भण्डारी कर राखे धरि पट वापै निपट सनेही नाथ बोले अकुलायकै।
भये हैं जड़ाये कोऊ वेगि ही उपाय करौ बिबिध उढ़ाये अंग बसन सुहायकै।।
आज्ञा पुनि दई यों अँगीठी बारि दई फेर वही भई सुनि रहे अति ही लजायकै।
सेवक बुलाय कही कौन की कबाय आई? सबै की सुनाई एक वही ली बचायकै।।३४२

शब्दार्थ—कबाय=पोशाक, जड़ावर।

भावार्थ—उस सेवक ने श्रीत्रिपुरदासजी के वस्त्र को लाकर भण्डारी के हाथ में दे दिया और उस भण्डारी ने उस वस्त्र को बिछाकर उसके ऊपर श्रीठाकुरजी के शृंगार के और बढ़िया वस्त्र रख दिये। परन्तु परमस्नेही ठाकुर श्रीश्रीनाथजी से भक्त के इस प्रेमोपहार की उपेक्षा सहन नहीं हुयी। तब वे व्याकुल होकर बोले-''मुझे बड़े जोर की ठण्ड लग रही है, शीघ्र इसको दूर करने का कोई उपाय करो। तब श्रीगोसाँईजी ने बहुत से सुन्दर-सुन्दर वस्त्र श्रीअंग पर धारण कराये, परन्तु ठण्ड नहीं गयी। तब फिर आज्ञा दिये कि कोई और उपाय कीजिये। तब श्रीगोसाँईजी ने अंगीठी जलायी, फिर भी ठण्ड दूर नहीं हुयी, तो ठाकुरजी ने पुनः वही बात कही। तब यह सुनकर श्रीगोसाँईजी बड़े लज्जित हुए कि अब कौन सा उपाय करें? फिर आपके ध्यान में आया कि किसी भक्त पर अनुग्रह करने के लिये प्रभु यह लीला कर रहे हैं, अतः तत्काल ही सेवक को बुलाकर पूछे कि इस वर्ष किस-किसकी पोशाकें आयीं हैं। बही (खाता) खोलकर सेवक ने सभी भक्तों का नाम सुनाया, परन्तु एक श्रीत्रिपुरदासजी का नाम नहीं सुनाया।।३४२।।

व्याख्या—निपट सनेही नाथ—जीव के सच्चे स्नेही, सहज स्नेही, निपट स्नेही तो एकमात्र भगवान् ही हैं। यथा-''एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम कनौड़ो राम सौं नहिं दूसरो दयालु।। तन साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान। आरत अधम अनाथ हित को रघुवीर समान।।' (वि०) पुनः-''सहज सनेही राम सौं तैं कियो न सहज सनेह। तातें भव भाजन भयो सुन अजहुँ सिखावन एह।। वेद कह्यौ बुध कहत हैं अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि। तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिये की आँखिन हेरि।।'' (वि०)

दृष्टान्त—श्रीरहीमजी का—श्रीरहीमजी ने सुना कि ठाकुर श्रीश्रीनाथजी? बड़े ही सुन्दर हैं एवं बड़े रिझावर हैं। फिर तो वह सब कुछ त्यागकर फकीरी वेष धारणकर श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करने यतीपुरा (श्रीगोवर्धन) आये। परन्तु जब दर्शनार्थ मन्दिर के जगमोहन में प्रवेश करने लगे तो द्वारपाल ने इन्हें रोक दिया। उन्होंने मन ही मन बहुत झुंझलाकर कहा-''ऐसी साहिबी और ऐसी बेवकूफी।'' इसका आशय यह था कि यदि दर्शन की ऐसी चाह दी तो फिर म्लेच्छ शरीर

नहीं देना था और यदि म्लेच्छ शरीर दिया तो दर्शन की ऐसी चाह नहीं देना था। इतनी दूर से तो मैं इनकी प्रशंसा सुनकर राजसुख त्यागकर फकीर बनकर दर्शन करने यहाँ आया और ये मुझे पास फटकने भी नहीं देते हैं। उस समय रहीमजी ने यह दोहा कहा–"हरि रहीम ऐसी करी ज्यौं कमानसर पूर। खैंचि आपनी ओर को छौंड़ि दियौ अति दूर।।" श्रीरहीमजी यह कहकर मन्दिर के द्वार पर (श्रीगोविन्द कुण्ड की छत्री पर) जाकर बैठ गये। गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने सुना कि एक अलमस्त फकीर आये हैं तो आपने सेवक के द्वारा इनके लिए प्रसाद भेजा, लेकिन इन्होंने लेने से मना कर दिया, तब स्वयं ही ठाकुर श्रीश्रीनाथजी प्रसाद लेकर आये। उस समय इन्होंने यह दोहा कहा–"खैंचि चढ़नि ढीली ढरनि कहौ कौन यह रीति। आज काल्हि मोहन गही वंश दिया की रीति।।" इतना कहकर श्रीरहीमजी ने श्रीठाकुरजी से मान करके पीठ फेर लिया। तब श्रीठाकुरजी वहीं प्रसाद का थाल रखकर अन्तर्धान हो गये। श्रीठाकुरजी के अन्तर्धान होते ही इनको विरह व्याप गया, तब आपने यह पद गाया–

छबि आवन मोहनलाल की।
काछें काछनि कलित मुरलि कर पीत पिछौरी साल की।।
बंक तिलक केशर को कीने दुति मानो बिधु बाल की।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते चितवनि नयन विशाल की।।
नीकी हँसनि अधर सधरनि की छबि छीनी सुमन गुलाल की।
जल सौं डारि दियौं पुरइनि पर डोलनि मुकता माल की।।
आप मोल बिन मोलनि डोलनि बोलनि मदनगुपाल की।
यह सरूप निरखै सोइ जानै इस रहीम के हाल की।।१।।

कमल दल नैंननि की उनमानि।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते मन्द मन्द मुसकानि।।
यह दसननि दुति चपलाहूँ ते महाचपल चमकानि।
वसुधा की बस करी मधुरता सुधा पगी बतरानि।।
चढ़ी रहै चित उर विशाल की मुकुतमाल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की फहरि फहरि फहरानि।।
अनुदिन श्रीवृन्दावन ब्रज तें आवन आवन जानि।
वे रहीम चित ते न टरति हैं सकल स्याम की बानि।।२।।

पुनः- **मोहन छबि नैंननि बसी पर छबि कहाँ समाय।**
भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय।।
अन्तर दाब लगी रहै धुवाँ न प्रगटै कोय।
कै जिय जानै आपनौ कै जा सिर बीती होय।।

श्रीचतुर कवि ने भी इसी आशय का एक बड़ा बढ़िया कवित्त लिखा है। यथा- ''जब लौं न कोऊ पीर लागति है अपने उर तब लौं पराई पीर कैसे पहिचानिहौ। आजु लौं न जानत हौ लग्यौ नेह काहू सों है जब नेह लगिहैं तो हित उन मानिहौ।। कहत चतुर कवि मेरे कहिबे की तो पै एकौ न रहैगी तू समुझि जिय आनिहौ। जैसे नीके मोहिं तुम लागत हो प्यारे लाल तैसो नीको तुम्हें कोऊ लागिहै तौ जानिहौ।।'' श्रीरहीमजी के भाव भरे पदों को सुनकर ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिया।

सुनी न त्रिपुरदास!, बोल्यौ धन नास भयौ मोटो एक थान आयौ राख्यौ है बिछायकै।
ल्यावौ वेगि याही छिन मन की प्रवीन जानि ल्यायो दुख मानि ब्यौंति लई सो सिंवायकै।।
अँग पहिराई सुखदाई कापै गाई जात कही तब बात जाड़ौ गयौ भरि भायकै।
नेह सरसाई लै दिखाई उर आई सबै ऐसी रसिकाई हृदै राखी है बसायकै।।३४३।।

शब्दार्थ—ब्यौंति=पहनावा बनाने के लिए, कपड़े को नापकर काट-छाँट करके।

भावार्थ—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने कहा कि मैंने भक्त श्रीत्रिपुरदासजी का नाम तो सुना नहीं, क्या इस वर्ष इनके यहाँ से पोशाक नहीं आयी है? सेवक ने कहा कि-उनका समस्त धन नष्ट हो गया है, अतः उनके यहाँ से मोटे कपड़े का एक थान ही आया है, मैंने उसे और पोशाकों के नीचे बिछा दिया है। प्रेम में परम प्रवीण (चतुर) श्रीगोसाँईजी ने श्रीठाकुरजी के मन की बात जानकर, कि प्रेम-प्रवीण प्रभु तो भक्तों के हृदय के भाव को देखकर भक्तों के प्रेमोपहार को सहर्ष स्वीकार करते हैं, आपने आज्ञा दी कि उस कपड़े को शीघ्र लाओ। सेवक अनमना-सा होकर उस कपड़े को ले आया। (जो कि बिछाने से कुछ मैला हो गया था।) तुरन्त ही श्रीठाकुरजी के दर्जी को बुलाकर उस कपड़े का नाप लेकर तथा उसको कटवाकर अँगरखा सिलवाया गया। श्रीगोसाँईजी ने तुरन्त उस अँगरखे को श्रीठाकुरजी के अंग में धारण कराया, उससे श्रीठाकुरजी को जो सुख हुआ उसे कौन वर्णन कर सकता है? तब श्रीठाकुरजी ने बड़े भाव में भरकर कहा कि अब हमारा जाड़ा दूर हो गया। इस प्रसंग में श्रीप्रभु ने प्रेम की सरसता को प्रत्यक्ष करके दिखाया है। भगवान् की यह लीला देखकर सबके हृदय में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि-अहो! ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने अपने हृदय में भक्तों के प्रति ऐसा अगाध-प्रेम बसा रखा है।।३४३।।

व्याख्या—नेह सरसाई लै दिखाई—ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने प्रथम श्रीत्रिपुरदासजी का सर्वस्व नाश करके फिर उनके मोटे कपड़े का अँगरखा प्रेमपूर्वक धारण करके भक्त के प्रति अपने प्रेम को प्रत्यक्ष करके दिखाया। इस पर-

दृष्टान्त—एक स्त्री का—एक स्त्री ने जैसे-तैसे कुछ रुपये इकट्ठे किये उससे उसने अपने हाथ में पहनने के लिये स्वर्ण का चूड़ा बनवाया। चूड़ा पहनकर वह सबके घर घूमी, परन्तु किसी ने उसके चूड़े की बड़ाई नहीं की। तब उसने बरवश अपने चूड़े की बड़ाई के लिए एक युक्ति विचारी और उसने अपने ही घर में आग लगा ली और अपने हाथ को उठा-उठाकर सभी को चूड़ा दिखाते हुये, आग बुझाने के लिये हो-हल्ला करने लगी। किसी की दृष्टि उसके चूड़े पर पड़ी तो उसने चूड़े की बड़ी बड़ाई की। तब उस स्त्री ने झुँझलाकर कहा कि-यदि तुम पहले ही इस चूड़े की बड़ाई कर देते तो मुझे अपने घर में क्यों आग लगानी पड़ती? ठीक इसी प्रकार ही श्रीश्रीनाथजी ने भी किया, अपने प्रेम की प्रशंसा करवाने के लिए श्रीत्रिपुरदासजी के साथ ऐसी ही लीला की।

ऐसी रसिकाई....बसायकै—यथा-''ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।'' (वि०) सम्पूर्ण पद के लिये देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७१। श्रीठाकुरजी ने मेरे भेजे हुए वस्त्र की पोशाक धारण की, यह प्रसंग सुनकर श्रीत्रिपुरदासजी ने भाव-विभोर होकर यह पद गाया था-''नवरंग ललन बिहारी मेरो कहे जाड़ो मोहि अधिक सुहाय। पहिरि कबाय ओढ़ि लइ फरगुल तौहू सीत सतावत आय।। अचरज भये सुनि वल्लभनन्दन कनक अँगीठी धरी मँगाय। पुनि जिय सोचि मँगाय ओढ़ाई भजि गई सीत हँसे यदुराय।। ऐसे परम कृपालु दयानिधि बिसरत नहिं सुधि करत सहाय। त्रिपुरदास गिरिधर की बातैं का जानै कोउ देउ बताय।।''

श्रीत्रिपुरदास जी की श्रीआचार्य महाप्रभु तथा ठाकुर श्रीश्रीनाथजी के चरणामृत- प्रसाद में बड़ी निष्ठा थी। आपके यहाँ हमेशा ही चरणामृत-प्रसाद रखा रहता था, आप बिना चरणामृत-प्रसाद लिए अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे। एक दिन संयोग की बात कि जब आप भोजन करने गये तो रसोईया ने बताया कि आज चरणामृत-प्रसाद समाप्त हो गया है, तब आपने कहा कि पहले क्यों नहीं बताया? आप पहले बताते तो हम व्यवस्था कर लेते, अब तो मैं दरबार में जा रहा हूँ। अब तुम लोग श्रीठाकुरजी को भोग लगाकर प्रसाद पा लेना, मेरी प्रतीक्षा नहीं करना, अब मेरा आना सम्भव नहीं है। फिर इन्होंने मन में निश्चय किया कि जब तक शरीर चलेगा तब तक कार्य करूँगा, जब शिथिल हो जायेगा तो कहीं पड़ा रहूँगा, परन्तु बिना चरणामृत-प्रसाद लिये तो कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। आप दरबार में चले गये, उधर रसोईया रसोई के कार्य में लग गया। इतने

में एक दस वर्ष का बालक तीन थैलियाँ लेकर आया और रसोईया को देते हुए बोला कि एक थैली में तो श्रीठाकुरजी का चरणामृत है और एक थैली में श्रीआचार्य महाप्रभुजी का चरणामृत है और एक थैली में श्रीश्रीनाथजी का महा-प्रसाद है। यह तीनों थैलियाँ श्रीत्रिपुरदासजी ने भेजी हैं। यह कहकर वह बालक चला गया। जब रसोई तैयार हो गयी, श्रीठाकुरजी को भोग लग गया, तब रसोईया ने श्रीत्रिपुरदासजी को बुलाने के लिये एक व्यक्ति भेजा, परन्तु आप नहीं आये, जब दो-तीन बार आपको बुलावा गया तो श्रीत्रिपुरदासजी आये और बोले-मैंने तो प्रथम में ही कहा था कि बिना चरणामृत-प्रसाद लिये मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा, फिर आपने मुझे क्यों बार-बार बुलाया!'' रसोईया ने कहा-''एक बालक के द्वारा आपने ही तो चरणामृत तथा प्रसाद की तीन थैलियाँ भेजी हैं फिर आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं?'' आपने कहा-''वह बालक कहाँ गया? मुझे उसको दिखाओ।'' रसोईया ने कहा-''वह तो थैली देकर तत्काल ही चला गया।'' तब ये जान गये कि वह बालक कोई और नहीं स्वयं श्रीठाकुरजी ही थे। तब इन्होंने अपने को बहुत धिक्कारा कि मेरे कारण ही श्रीठाकुरजी को इतना कष्ट करना पड़ा। फिर आपने शीघ्र स्नान करके चरणामृत-प्रसाद लेकर भोजन किया। (विशेष बात यह है कि सम्पूर्ण श्रीभक्तमाल में श्रीत्रिपुरदासजी ही एक ऐसे भक्त हैं जिनका मूल-छप्पय में नाम नहीं आया है परन्तु आपके प्रेम पर रीझकर श्रीप्रियादासजी ने आपके चरित्र का गान किया है।)

श्रीविट्ठलनाथजी के सुत

(श्री) विट्ठलेशसुत सुहृद श्रीगोवरधनधर ध्याइयै।।
श्रीगिरिधर जू सरस शील गोविन्द जु साथहिं।
बालकृष्ण जस बीर धीर श्रीगोकुल नाथहिं।।
श्रीरघुनाथ जु महाराज श्रीजदुनाथहिं भजि।
श्रीघनश्याम जु पगे प्रभू अनुरागी सुधि सजि।।
ए सात प्रगट विभु भजन जग तारन तस जस गाइयै।
(श्री) विट्ठलेशसुत सुहृद श्रीगोवरधनधर ध्याइयै।।८०।।

शब्दार्थ—सरस शील=रसीला, मधुर स्वभाव। जसबीर=महा यशस्वी। सुधि=स्मृति, याद। सजि=सजाने वाले, सजाकर। प्रगट विभु=भगवान् के प्रत्यक्ष विभूतिस्वरूप। तस=तैसे ही अवतारों के समान।

भावार्थ—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्रों को सर्वभूत सुहृद, साक्षात् श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्ण ही समझकर उनका ध्यान करना चाहिये। उनके नाम इस प्रकार से हैं-(१)-श्रीगिरिधरजी बड़े रसिक एवं अत्यन्त सुन्दर शील स्वभाव वाले थे। (२) श्रीगोविन्दजी का स्वभाव भी वैसा ही था। (३) श्रीबालकृष्ण जी महायशस्वी हुये। (४) श्रीगोकुलनाथजी बड़े धीर महापुरुष हुये। (५) श्रीरघुनाथजी महाराज एवं (६) श्रीयदुनाथजी महाराज अपने समगुणों से भजने योग्य हुये, इनका भजन करना चाहिये। (७) श्रीघनश्यामजी सदा-सर्वदा प्रभु प्रेम में पगे रहते थे तथा बड़े अनुरागी थे, हृदय में सर्वदा प्रभु की स्मृति सँजोये रहते थे। आप तो प्रत्यक्ष ही श्रीभगवद्-विभूति थे, श्रीभगवद्-भजन में परम प्रवीण एवं समर्थ थे तथा श्रीकृष्ण की ही भाँति आप भी संसार का उद्धार करने वाले थे। इनका यशोगान करना चाहिये।।८०।।

व्याख्या—श्रीविट्ठलेशसुत...ध्याइयै—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी के वात्सल्य-प्रेम पर रीझकर श्रीठाकुरजी ने प्रकट होकर वर माँगने को कहा। तब आपने यह वर माँगा कि जिस प्रकार से द्वापर युग में श्रीनन्दरायजी को जैसा बाल-लीला का सुख दिया एवं उनका आपमें जैसा वात्सल्य-स्नेह था, वैसा ही सुख एवं वैसा ही स्नेह, आप कृपा करके हमको भी प्रदान करें। तब श्रीठाकुरजी ने कहा कि पिता चाहे कितना ही प्यार करे, बिना माता के बाललीला-विलास का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है, अतः आप प्रथम में विवाह करके मातृपद के रिक्त स्थान को पूर्ण करें, फिर मनमाना वात्सल्य रस का सुख लूटें। देखिये, आपके परम प्रभावशाली सात सुपुत्र होंगे, सभी सुपुत्रों में पाँच-पाँच वर्ष तक मेरा आवेश रहेगा। इस प्रकार आप सुदीर्घ काल तक इस अनुपम वात्सल्य रस-सिन्धु में डूबे रहेंगे। (विशेष देखिये श्रीविट्ठलनाथजी का चरित्र) छप्पय में आये हुये "सरस शील, जसबीर, धीर, पगे, प्रभु, अनुरागी, सुधि, सजि, प्रगट, विभु आदि सभी विशेषण सभी पुत्रों के साथ समझना चाहिये।" लीला संवरणकाल में श्रीविट्ठलनाथजी ने सभी सुपुत्रों को एक-एक श्रीठाकुरजी की सेवा हेतु श्रीविग्रह प्रदान किया। उनका विवरण इस प्रकार से है-(१) श्रीगिरिधरजी को, ठाकुर श्रीमथुरेशजी, जो वर्तमान में यतीपुरा (गोवर्धन) में विराजते हैं। (२) श्रीगोविन्दरायजी को, श्रीश्रीनाथजी, जो वर्तमान में श्रीनाथद्वारा (राजस्थान) में विराजते हैं। (३) श्रीबालकृष्णजी को, श्रीद्वारिकाधीश भगवान्, जो वर्तमान में काँकरौली में विराजते हैं। (४) श्रीगोकुलनाथजी को, जो वर्तमान में श्रीगोकुल में विराजते हैं। (५) श्रीरघुनाथजी के सेव्य ठाकुर श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, जो वर्तमान में कामवन में विराजते हैं। (६) श्रीयदुनाथजी को, ठाकुर श्रीबालकृष्ण भगवान् जो

वर्तमान में सूरत में विराजते हैं। (७) श्रीघनश्यामजी को, ठाकुर श्रीमदनमोहनजी, जो वर्तमान में कामवन में विराजते हैं। इन-इन श्रीविग्रहों को, सातों सुपुत्रों के लिये सेवा हेतु प्रदान किया। इन सातों पुत्रों ने सात गद्दियों की स्थापना की। इनके द्वारा वैष्णवता का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। इन सभी पुत्रों में मँझले पुत्र श्रीगोकुलनाथजी द्वारा विशेष रूप से सम्प्रदाय का एवं वैष्णवता का हित हुआ। पूज्यपाद श्रीनाभाजी ने तथा श्रीप्रियादासजी ने आपका चरित्र छप्पय-१३२, कवित्त-५१९, ५२०, ५२१ में स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है।

श्रीकृष्णदासजी

गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।।
श्रीबल्लभ गुरुदत्त भजन सागर गुन आगर।
कबित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर।।
बानी बन्दित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रजरज अति आराध्य वहै धारी सर्बसु चित।।
सांनिध्य सदा हरिदासवर्य गौरश्याम दृढ़ व्रत लियौ।
गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।।८१।।

शब्दार्थ—साझौ=हिस्सा। गुरुदत्त=श्रीगुरुजी के द्वारा प्रदान दिया। आगर=खानि। नोख=अनोखा, अनूठा, अद्भुत। निर्दोष=दोषरहित। नागर=चतुर। वंदित=प्रशंसित, मानने योग्य। विदुष=पण्डित। अलंकृत=सुशोभित। आराध्य=उपास्य, सेवा करने योग्य। सर्वसु=सर्वस्व, सब कुछ। सांनिध्य=समीपता, निकटता। वर्य=श्रेष्ठ। गौरश्याम=श्रीराधाकृष्ण।

भावार्थ—श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णजी ने प्रसन्न होकर श्रीकृष्णदासजी को अपने नाम में हिस्सा दिया। श्रीकृष्णदासजी, श्रीगुरु श्रीवल्लभाचार्यजी के द्वारा दिये गये भजन-भाव के समुद्र थे एवं समस्त सद्गुणों की खानि थे। आपके द्वारा रचित (लिखी) गयी कवितायें बड़ी ही अद्भुत एवं काव्यदोष से रहित होती थीं। आप ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा में बड़े चतुर थे। श्रीगिरिधरगोपालजी के मंगलमय सुयश से विभूषित आपकी वाणी की विद्वज्जन भी प्रशंसा करते थे। आप श्रीब्रज की रज (धूलि) को अपना परम आराध्य मानते थे। चित्त में उसी को सर्वस्व मानकर शरीर में एवं सिर माथे पर धारण करते थे तथा चित्त में चिन्तन भी करते थे। आप सदा-सर्वदा श्रीहरिदासवर्य श्रीगोवर्धनजी के समीप में ही

बने रहते थे एवं सदा बड़े-बड़े श्रेष्ठ सन्तों के सान्निध्य में रहते थे। आपने ठाकुर श्रीराधामाधवजी युगल की सेवा का दृढ़ व्रत ले रखा था।।८१।।

व्याख्या—गिरिधरन...साझौ दियौ—इस प्रसंग का स्पष्टीकरण आगे कवित्त-३४६ में किया गया है। "श्रीवल्लभ गुरुदत्त०"-आप श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के शिष्य थे। यह बात आपने स्वयं एक पद में कही है। यथा-"तबते स्याम सरन हौं पायौं। जबतें भेंट भई श्रीवल्लभ निजपति नाम बतायौ।। और अविद्या छाँड़ि मलिन मति श्रुतिपथ आय दृढ़ायौ। कृष्णदास जन चहुँ जुग खोजत अब निहचै मन आयौ।।" "कवित नोख निर्दोष"-यथा-"कमल मुख देखत कौन अघाय। सुन री सखी लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय।। मुक्तामाल लाल उर ऊपर जनु फूली वनराय। गोवर्धनधर अंग अंग पर कृष्णदास बलि जाय।।" वर्णन आया है कि एकबार इनके पद को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीप्रिया-प्रियतमजी ने भाव-विभोर होकर परम मनोहर नृत्य किया था। वह पद इस प्रकार से है- "श्रीवृषभानुनन्दिनी नाचत गिरिधर संग लाग डाट उरप तिरप रास रंग राख्यौ। ढप ताल मिल्यौ राग केदारौ सप्त सुरन अब धर तान रंग राख्यौ।। पाई सुख सिद्धि भरत काम विविध रिद्धि अभिनव दलसत सुहाग हुलास रंग राख्यौ। बनिता सत जूथ संग लिये निरखत ज्यौं सद्यचन्द बलिहारी कृष्णदास सुघर रंग ताख्यौ।।" आपकी कविता के अनोखेपन एवं निर्दोषिता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? "नाथ सेवा में नागर"-आपकी सेवा-सावधानी से सन्तुष्ट होकर श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने आपको "अधिकारी" की पदवीं (उपाधि) दी थी। कहते हैं कि वर्तमान में भी श्रीश्रीनाथजी के सेवा-सम्बन्धी कागजातों पर अधिकारी श्रीकृष्णदासजी की मुहर लगायी जाती है। "बानी बन्दित विदुष"-विद्वानों के द्वारा वंदित अभिनन्दित वाणी ही श्रेष्ठ मानी गयी है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं।।" (रामा०), "सुजस गोपाल अलंकृत"-विद्वान्‌जन उसी वाणी का आदर करते हैं जो भगवान् के सुयश से विभूषित हो। यथा-"सब गुन रहित कुकवि कृत वानी। राम नाम जश अंकित जानी।। सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।।" (रामा०), विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७, "निपट सुहाई" की व्याख्या।

ब्रजरज—रसिकजन व्रज की एक-एक रज कणिका पर कोटि-कोटि चिन्तामणि न्यौछावर करते हैं। श्रीब्रह्मादिक देवता एवं श्रीउद्धव आदि सन्त भी इस रज की चाहना करते हैं। यथा-"ब्रह्मादिक चाहत जिसे उद्धव जीवन मूर। कोटि कोटि चिन्तामणि तूलै न ब्रज की धूर।।" (सन्तवाणी), व्रज की रज स्वतः प्रेमस्वरूपा है-उस पर भी अनन्त-अनन्त

प्रेमियों के प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त है, गोपियों तथा परम आह्लादिनी, परम प्रेममयी श्रीराधिकाजी के चरण-चिन्हों से समलंकृत है। इसकी महामहिमा कहाँ तक वर्णन की जा सकती है जबकि स्वत: अनन्त महिमामय रसस्वरूप श्रीव्रजेन्द्रनन्दन, श्रीश्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्र ने मेवा-मिश्री छोड़कर इसे खाया है। श्रीमद्भागवतजी में ''मृदभक्षण'' (माटी खान लीला) अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। व्रजरज की सराहना में कवि की यह उक्ति अत्यन्त ही अनूठी है। यथा-''तजि माखन खाते रहे तुमको मृदु मोहन के अनुकूल है तू। तुझे पाकर मुक्ति की मुक्ति हुयी शुभकर्म लता फल फूल है तू।। भव व्याधि से पीड़ित प्राणियों को ''हरेकृष्ण'' सजीवन मूल है तू। प्रभु के पद-पंकज से लिपटी बड़ी भाग्यवती ब्रज धूल है तू।।'' एक सन्त कहते थे कि भगवान् के समस्त धामों की महिमा एक-सी ही है, कोई न्यूनाधिक नहीं है, परन्तु श्रीव्रज-रज की महिमा अन्य धामों की रज की महिमा से विशेष है। विशेषता यह है कि अन्य धामों में भगवान अपने श्रीचरणकमलों से चले फिरे हैं, खेले -कूदे हैं, विचरे-विहरे हैं, जिससे वहाँ की भूमि निश्चय ही धन्यातिधन्य हो गयी है परन्तु श्रीव्रजधाम में चलने-फिरने, खेलने-कूदने, विचरने-विहरने की तो बात ही क्या है, यहाँ की एक-एक इंच भूमि को भगवान् श्रीकृष्ण ने जिह्वा से चाट-चाटकर इसे परम-पुनीत बना दिया है।

वर्णन आया है कि जब ब्रह्माण्डघाट पर भगवान् श्रीबालकृष्ण ने मिट्टी खायी तो इन्हें बड़ा ही स्वाद आया परन्तु दैवसंयोग से संग के ग्वाल-बालों ने देख लिया और आकर उन सबों ने श्रीयशोदा मइया से इस बात की शिकायत की और श्रीयशोदा मइया ने भी बालक की ताड़ना (डाँट-डपट) की तो श्रीकृष्ण ने माता के भय से पुन: उस रूप में तो मिट्टी नहीं खायी, परन्तु चस्का लग चुका था, अत: बेरोकटोक मनमाने ढंग से व्रजरज खाने की एक युक्ति विचारी, युक्ति यह थी कि अपनी जगन्मोहिनी माया से श्रीब्रह्माजी को मोहित कर दिया, फलस्वरूप श्रीब्रह्माजी को श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य में सन्देह हो गया और उन्होंने श्रीकृष्ण की मंजु-महिमा का परीक्षण करने के लिये ग्वाल-बालकों एवं वत्सों (गाय के बच्चों) का अपहरण कर लिया। उस समय श्रीकृष्ण ने स्वयं समस्त ग्वाल-बालकों एवं बछड़ों का रूप धारण कर एक वर्ष तक गोपियों एवं गोपों को सुख प्रदान किया (विशेष देखिये छप्पय-५४ में, ''बच्छहरण'' प्रसंग की व्याख्या) उन्हीं दिनों के बछड़ों के रूप में घास चरने के ब्याज से मनमाना वर्ष दिन तक व्रज-रज का आस्वादन किया। यह परम सौभाग्य मात्र श्रीव्रजवसुन्धरा को ही प्राप्त है। अत: ''व्रजरज'' की महिमा विशेष है। व्रज-रज, रसिक सन्तों की सर्वस्व स्वरूपा है।

एक बार श्रीवृन्दावन में एक बड़े ही सुप्रसिद्ध सिद्ध संत का दर्शन करने के लिये कहीं के रईस (धनी-मानी) सज्जन आये। उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक संतजी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया, फिर उठकर अपने वस्त्रों में लगी ''श्रीव्रजरज'' को झाड़ने लगे। यह देखकर सिद्ध संत उन पर बड़े ही नाराज हुये और मूर्ख, गँवार आदि कटु वचन कहे। संतजी के इस व्यवहार को देखकर वे सज्जन बड़े आश्चर्य चकित हुये कि ये कैसे महात्मा हैं? ये तो गालियाँ देते हैं। मैंने तो इनकी बड़ी प्रसिद्धि सुनी थी, परन्तु यहाँ आने पर तो कुछ और ही देखने को मिला। फिर भी उन सज्जन ने बड़े शान्त भाव से हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता पूर्वक पूछा कि-''महाराज! मैंने कौन-सी गलती की जो आप इतने अप्रसन्न हो गये?'' तब संतजी ने उन्हें बड़े प्यार पूर्वक अपने समीप बैठाकर अत्यन्त मधुर वाणी में बोले -''भईया! इस व्रज में तो व्रज-रज ही भक्तों की सर्वस्व है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, देवतागण तक इसके लिये लालायित रहते हैं तथा इसको प्राप्त करने के लिये ब्रज में लता-बेलि होकर जन्म लेना चाहते हैं। वह रज तुम्हें बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुई तो तुम उसे झाड़ने साफ करने में लगे हो, यदि ऐसा ही करना था तो यहाँ आने की जरूरत ही क्या रही? घर पर ही गद्दा, तकिया लगाकर बैठते। यहाँ तो केवल इसी व्रज-रज के लिए ही आते हैं। संतजी की इस ''व्रजरज की निष्ठा को देखकर वे सज्जन मुग्ध हो गये। व्रज में भक्तजन ब्रज-रज को ''रजरानी'' कहते हैं। कितना बड़ा सम्मान है यहाँ श्रीव्रज-रज का।।''

एक बार कहीं की रानी साहिबा पालकी में बैठकर श्रीवृन्दावन आ रही थीं। उनके सेवक सामन्त आगे-आगे मार्ग की व्यवस्था करते चल रहे थे। एक भंगिन सड़क झाड़-बुहार रही थी तो सिपाही उससे कहने लगे कि मार्ग छोड़कर हट जाओ, हमारी रानी साहिबा आ रही हैं। भंगिन ने झुँझलाकर कहा कि-''यह कौन-सी रानी हैं? यहाँ तो चार ही रानी हैं- (१) श्रीराधारानी। (२) श्रीयमुना महारानी। (३) श्रीरजरानी। (4) मेहतरानी। अब ये पाँचवीं महारानी कहाँ से आ गयीं? रानी ने भंगिन का शब्द सुना तो वह बड़ी ही प्रभावित हुई और पालकी से उतरकर पैदल चलने लगीं। श्रीव्रजरज की महामहिमा को हृदयंगम करके श्रीकृष्णदासजी ने उसे अपना परम आराध्य माना था।

सांनिध्य सदा हरिदासवर्य—यहाँ हरिदासवर्य से तात्पर्य श्रीगोवर्धनगिरि से है। यथा-''हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः। मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः।।'' (श्रीमद्भा० १०-२१-१८) अर्थ-अरी गोपियों! यह गिर्राज गोवर्धन तो भगवान् के भक्तों में अति ही श्रेष्ठ हैं, धन्य हैं इनके भाग्य। देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम श्रीबलरामजी के श्रीचरण-कमलों का

स्पर्श प्राप्त करके यह कितने आनन्दित हैं। इनके भाग्य की कौन सराहना कर सकता है। यह तो उन दोनों का ग्वाल-बालों और गौओं का अति ही सत्कार करते हैं। स्नान तथा पान के लिये झरनों का जल देते हैं, गौओं के लिये सुन्दर-सुन्दर हरी घास प्रस्तुत करते हैं। विश्राम के लिये कन्दरायें और भोजन के लिये कन्द-मूल फल देते हैं। वास्तव में ये धन्य हैं।'' श्रीकृष्णदासजी आजीवन श्रीगिरिराज गोवर्धन के सन्निधान में रहते हुये यतीपुरा में ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा परायण रहे। ''गौरश्याम०''-''गौरश्याम वदनारविन्द पर जिसको वीर मचलते देखा। नैन बान मुसक्यान संग फँस फिर नहीं नेक सँभलते देखा।। ललित किशोरी युगल इश्क में बहुतों का घर घलते देखा। डूबा प्रेमसिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा।।''

प्रेम रसरासि कृष्णदास जू प्रकाश कियौ लियौ नाथ मानि सो प्रमान जग गाइयै।
दिल्ली के बाजार में जलेबी सो निहारि नैंन भोग लै लगाई लगी विद्यमान पाइयै।।
राग सुनि भक्तिनी को भये अनुराग बस ससिमुख लाल जू को जाइकै सुनाइयै।
देखि रिझवार रीझि निकट बुलाइ लई, लई संग चले जग लाज को बहाइयै।।३४४।।

शब्दार्थ—विद्यमान=मौजूद, उपस्थित। भक्तिनी=प्रेमिका।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी ने अपनी सेवा-साधना तथा सदुपदेश एवं सद्ग्रन्थों के द्वारा अपार प्रभु प्रेम पारावार को प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने भी आपके प्रेम को स्वीकार लिया था, इस बात का प्रबल प्रमाण यह है कि आज भी सारा संसार आपका यशोगान करता है। आपके प्रेम-प्रकाश की एक-दो लीलाओं का स्मरण करते हुए श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि एक बार आप श्रीठाकुरजी के सेवा-कार्य के लिए दिल्ली गये हुए थे। वहाँ बाजार में कड़ाही से निकलती हुई गरमागरम जलेबियों को देखकर आपने मानसी भाव से ही उन जलेबियों का श्रीश्रीनाथजी को भोग लगाया, भाववश्य भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप जब मन्दिर में भोग उसारा गया तो विविध भोग सामग्रियों में जलेबी का थाल और श्रीठाकुरजी के हाथ में जलेबी प्रत्यक्षरूप में पायी गयीं। ऐसे ही एक बार आप आगरा गये हुए थे, वहाँ आपने एक वेश्या का अत्यन्त मधुर राग-स्वर से गायन सुनकर प्रेम के वशीभूत हो गये और उससे बोले- क्या तू हमारे चन्द्रमुख श्रीलालजी के यहाँ चलकर गान सुना सकती हैं? वेश्या ने इनको गुणग्राहक तथा प्रेमी समझकर प्रसन्न होकर अपने समीप में बुलाया और इनका अभिप्राय समझकर इनके साथ चलने की स्वीकृति दे दी। फिर तो ये भी लोकलाज को सर्वथा त्याग कर उसे साथ लेकर चल दिये।।३४४।।

व्याख्या—लगी विद्यमान पाइयै—यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यजी की सेवा-प्रणाली में बाजार की बनी हुई वस्तु भोग लगाने की विधि नहीं है। परन्तु भाववश्य भगवान् ने श्रीकृष्णदासजी के प्रेम के सामने विधि निषेध की भी परवाह नहीं की। इस प्रसंग से श्रीकृष्णदासजी का प्रेम प्रकाशित होता है। ''देखि रिझवार०''-यह शब्द वेश्या, श्रीकृष्णदासजी, एवं श्रीठाकुरजी-इन तीनों के साथ लगता है। भावार्थ में वेश्या का श्रीकृष्णदासजी को रिझवार देखकर निकट बुलाना लिखा गया है। उसकी संगति इस प्रकार से है कि प्रथम तो वेश्या ने आपको मुग्ध होकर गान सुनते देखा, तदुपरान्त आपने उसे दस रुपया भी तत्काल दे दिया। इससे वह समझ गयी कि यह तो कोई रिझवार मालूम पड़ते हैं। श्रीकृष्णदासजी के साथ इसकी संगति इस प्रकार से लगेगी कि परमसिद्ध श्रीकृष्णदासजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि वेश्या तो किसी कर्म विपाक वश वेश्या के घर जन्मी है, नहीं तो यह है वस्तुतस्तु श्रीभगवदीय जीव। इसके हृदय में भगवान् के प्रति अपार अनुराग है, समर्पण का दिव्य भाव है, परन्तु उस पर आवरण पड़ा हुआ है, अतः जैसे हो तैसे इसे श्रीभगवद्सम्मुख करना ही चाहिये। फिर तो ये उस वेश्या पर रीझकर उसको अपने समीप बुलाये और दस रुपया देकर बोले कि रात्रि में समाज सहित तुम मेरे निवास-स्थान पर आना, मैं वहाँ पर तुम्हारा नृत्य-गान देखूँगा। यह कहकर उसे अपना पता बता दिया, फिर बाजार जाकर श्रीठाकुरजी की सेवा की आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर अपने डेरे पर आये। रात्रि में निश्चित समय पर वेश्या भी अपने समाजियों के सहित वहाँ पहुँची, खूब नृत्य-गान हुआ, श्रीकृष्णदासजी ने प्रसन्न होकर एक सौ रुपये दिये, आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व के एक सौ रुपये, आज के कई हजार रुपये होते हैं। आपका मुक्तहस्त से द्रव्य लुटाना देखकर वेश्या मुग्ध हो गई। आपने कहा कि-''मैं तो अपने साँवल सेठ का एक तुच्छ मुनीम हूँ, मैंने तो बहुत कम रुपये दिये हैं। यदि तुम मेरे सेठजी के आगे चलकर इस प्रकार से नृत्यगान करोगी तो वह तुम्हारी कला से प्रसन्न होकर तुम्हें मालोमाल, कर देंगे। मेरे सेठजी तो नृत्यगान के बड़े प्रेमी हैं, वह स्वयं भी इस कला में परम कुशल हैं।'' वेश्या चलने के लिए राजी हो गई। फिर दूसरे दिन उसे अपने साथ में लेकर गोवर्धन आये। श्रीठाकुरजी के साथ इसकी संगति इस प्रकार लगेगी कि वेश्या श्रीभगवदीय जीव थी। श्रीठाकुरजी उसे अपने समीप बुलाना चाहते थे अतः श्रीकृष्णदासजी के मन में ऐसी प्रेरणा कर दी, नहीं तो भला परम वैष्णव श्रीकृष्णदासजी क्यों वेश्याओं के मुहल्ले में जाने लगे, उनका गीत-गान क्यों सुनने लगे और उसे प्रलोभन देकर यहाँ पर

अपने साथ लिवाकर लाने लगे? वस्तुतस्तु इसी ब्याज से रिझवार श्रीठाकुरजी ने उस पर रीझकर उसे अपने समीप बुला लिया।

जग लाज को बहाइयै—इसका भाव यह है कि श्रीकृष्णदासजी का परम वैष्णव होकर वेश्या के नृत्य-गान पर आसक्त होना और उसको अपने साथ लिवा लाना, अपने मन्दिर में नचाना आदि लोकदृष्टि से लज्जा की बात है। आपके इस कार्य की उस समय बहुत से लोगों ने निन्दा की, कि देखो, अधिकारीजी की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, मन्दिर में वेश्या का नाच-गान करा रहे हैं। कथा-कीर्तन-सत्संग से अब पेट भर गया है, धनमद से एकदम उन्मत्त हो गये हैं इत्यादि। परन्तु श्रीकृष्णदासजी ने इन समस्त-चर्चा चबावों की कुछ भी परवाह नहीं की। आप तो जैसे-तैसे ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को रिझाना ही चाहते थे।

नीके अन्हवाय पट आभरन पहिराय सौंधौ हूँ लगाय हरि मन्दिर में ल्याये हैं।
देखि भई मतवारी कीनी लै अलापचारी कह्यो लाल देखे? बोली देखे में ही भाये हैं।।
नृत्य, गान, तान, भाव भरि मुसक्यान, दृग रूप लपटान, नाथ निपट रिझाये हैं।
ह्वैकै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी धरी उर प्रीति मन सबके भिजाये हैं।।३४५।।

शब्दार्थ—तदाकार=तल्लीन। अंगीकार करी=स्वीकार की, अपनायी।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी उस वेश्या को अपने संग श्रीगोवर्धन को लिवा लाये फिर उसे भलीभाँति से स्नान कराके श्रीठाकुरजी के प्रसादी-वस्त्राभूषण पहनाये, इत्र-फुलेल लगाए। इस प्रकार उसका समस्त साज-श्रृंगार करके उसे श्रीश्रीनाथजी के मन्दिर में लिवा आये और बोले-"आज तक तूने संसारी लोगों को रिझाया है, अब तू हमारे श्रीलालजी को प्रसन्न कर एवं रिझा। देख! ये कैसे रिझवार हैं।" वेश्या श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करते ही प्रेम मतवाली हो गयी और स्वर साधकर आलाप किया। श्रीकृष्णदासजी ने पूछा-क्या तुमने मेरे लालजी को अच्छी प्रकार से देखा? उसने कहा-हाँ, मैंने देखा, दर्शन मात्र से ही मेरे हृदय को वे अत्यन्त प्रिय लग रहे हैं। वेश्या ने अपने नृत्य, गान, तान, भाव भरी मुसक्यान और नेत्रों की श्रीठाकुरजी के रूप में लपटान अर्थात् अत्यन्त आसक्त भाव से श्रीठाकुरजी की ओर लगी हुई ललचौंही चितवन से ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को एकदम रिझा लिया। उसने एकदम तदाकार होकर नृत्य-गान किया। प्रेमाधिक्य के कारण उसका शरीर छूट गया। श्रीठाकुर ने उसकी जीवात्मा को अंगीकार कर लिया अर्थात् अपने चरणों में स्थान प्रदान किया। वेश्या ने अपने हृदय में प्रेम-भाव

भर रखा था और भगवान भी प्रेम के भूखे हैं, प्रेम के प्रदाता हैं, प्रेम की खान हैं। अतः उसकी जाति-पाँति व उसके कर्म पर दृष्टि न देकर उसके हृदय के प्रेम को ही अपने हृदय में धारणकर अपना बना लिया। इस प्रकार से भगवान् में तदाकार होकर वेश्या ने तथा वेश्या को अंगीकार करके भगवान ने सब के मन को प्रेम रस में सराबोर कर दिया।।३४५।।

व्याख्या—श्रीकृष्णदासजी ने वेश्या को श्रीगिरिराजजी के तीर्थों में स्नान कराके श्रीठाकुर जी के प्रसादी-वस्त्राभूषणों से समलंकृत करके उसकी आत्यन्तिक शुद्धि कर दी। फिर स्वरचित एक पद उसे सिखाया और उसी पद को श्रीठाकुरजी के सम्मुख गाने के लिये कहा। वह पद इस प्रकार से है-"मो मन गिरिधर छबि पर अटक्यो। ललित त्रिभंगी अंगनि पर चलि गयो तहाँ ही ठटक्यो।। सजल श्यामघन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो। कृष्णदास कियो प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो।। (पद की अन्तिम तुक)-"कृष्णदास कियो प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो।।" इस पद को गाते-गाते वेश्या ने सचमुच में अपने प्राणों को भगवान् श्रीश्रीनाथजी के चरणों में न्यौछावर कर दिया और भगवान् की नित्यलीला में सम्मिलित हो गयी। कहते हैं कि वेश्या के तन-त्याग करने से उसके संग के समाजी रोने लगे कि अब हमारी जीविका मारी गयी। अब हमारी जीविका कैसे चलेगी तब श्रीकृष्णदासजी ने उन समाजियों पर दया करके उन्हें एक सहस्रमुद्रा देकर सस्नेह उनको विदा किया।

आये सूरसागर सो कही बड़े नागर हौ कोऊ पद गावौ मेरी छाया न मिलाइयै।
गाये पाँच सात सुनि जानि मुसुकात कही भले जू प्रभात आनि करिकै सुनाइयै।।
पर्‌यो सोच भारी गिरिधारी उर धारी बात सुन्दर बनाय सेज धर्‌यो यों लखाइयै।
आयकै सुनायौ सुख पायौ पच्छपात लै बतायौ हूँ मनायौ रँग छायौ अभूँ गाइयै।।३४६।।

शब्दार्थ—सूरसागर=सूरदासजी का काव्य। नागर=चतुर। अभू=अब तक।

भावार्थ—एक बार श्रीकृष्णदासजी, श्रीसूरदासजी से मिलने आये। पद रचना के प्रसंग में श्रीसूरदासजी ने विनोद में कहा कि आप तो कविता करने में बड़े प्रवीण हैं, अतः कोई ऐसा पद बना कर गाइये जिसमें मेरे पदों की छाया न हो। श्रीकृष्णदासजी ने पाँच-सात पद गाये। श्रीसूरदासजी ने उन पदों को सुनकर एवं यह जानकर कि इन पदों में तो हमारे अमुक-अमुक पदों की छाया है, मुस्कुराने लगे तथा पूछने पर बता दिये कि आपके इस पद में हमारे इस पद की छाया है। तब श्रीकृष्णदासजी बड़े संकुचित हुये, तब श्रीसूरदासजी ने कहा कि अच्छा कोई बात नहीं है, कल प्रातःकाल कोई नया पद बना

करके मुझे आकर सुनाना। अपने निवास स्थान पर आकर श्रीकृष्णदासजी को भारी सोच हुआ, क्योंकि कोई भी भाव श्रीसूरदासजी से अछूता नहीं मिल रहा था। श्रीकृष्णदासजी के सोच को भगवान् श्रीगिरिराजधरन श्रीश्रीनाथजी ने अपने मन में धारण किया और इनके सोच का निवारण करने के लिये प्रभु ने स्वयं एक अत्यन्त सुन्दर पद बना कर श्रीकृष्णदासजी की शय्या पर रख दिया। जब चिन्ता में निमग्न श्रीकृष्णदासजी शय्या पर शयन करने गये तो सिरहाने श्रीप्रभु के श्रीकर-कमलों से लिखा हुआ वह पद पाये, फिर क्या था, प्रातःकाल होते ही श्रीकृष्णदासजी पुनः श्रीसूरदासजी के पास गये और उस पद को सुनाया, सुनकर श्रीसूरदासजी बड़े ही प्रसन्न हुये, साथ ही यह जानकर कि यह पद श्रीकृष्णदासजी रचित नहीं हो सकता है, इसे तो श्रीश्रीनाथजी ने बनाया है, श्रीसूरदासजी ने इसे श्रीठाकुरजी का पक्षपात बताया। श्रीठाकुरजी के इस पक्षपात पर श्रीसूरदासजी रुठ गये। तब श्रीठाकुरजी ने उन्हें मनाया, फिर तो भक्त और भगवान के हृदय में परस्पर प्रेमरंग छा गया। श्रीठाकुरजी के द्वारा रचित वह पद अब तक गाया जाता है।।३४६।

व्याख्या—मेरी छाया न मिलाइयै—श्रीहरि गुरुकृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त श्रीसूरदासजी का इतना वृहद् साहित्य है कि कोई भी श्रीभगवल्लीला सम्बन्धी भाव, रस, अलंकार आदि काव्यगुण उनसे अछूते नहीं बच पाये हैं। उनके बाद जो भी कवि, कविता करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें आधार रूप में श्रीसूरदासजी के पदों को बरबस अपनाना पड़ता है। इसी बल पर श्रीसूरदासजी ने श्रीकृष्णदासजी को चुनौती दी थी।'' पर्‍यो सोच....लखाइयै''-भक्त की चिन्ता भगवान् को असह्य हो गयी। अतः उस चिन्ता को दूर करने के लिये स्वयं श्रीप्रभु ने पद की रचना की, वह पद इस प्रकार से है-

आवत बने कान्ह गोप बालकन्ह संग नेचुकी खुर रेणु क्षुरित अलकावली।
भौंह मनमथ चाप बक्र लोचन बान शीश शोभित मत्त मोर चन्द्रावली।।
उदित उडुराज सुन्दर शिरोमणि बदन निरखि फूली नवल युवति कुमुदावली।
अरुन सकुचत अधर बिम्बफल उपहसत कछुक परगट होत कुन्द दशनावली।।
श्रवन कुण्डल तिलक भाल बेसरि नाक कण्ठ कौस्तुभमनि सुभग त्रिबली बली।
रत्न हाटक खचित उरसि पद कनक पाँति बीच राजति सुभग झलक मुक्तावली।।
बलय कंगन बाजुबन्द आजानु भुज मुद्रिका करतल विराजत नखावली।
क्वणित कर मुरलिका अखिल मोहति विश्व गोपिकाजन मनसि ग्रन्थित प्रेमावली।।
कटि क्षुद्रघण्टिका कनक हीरामई नाभि अम्बुज बलित भृंग रोमावली।

धाय कबहुँक चलत भक्त हित जानि प्रिय गण्डमण्डल रचित श्रमजल कनावली।।
पीत कौशेय पट धारि सुन्दर अंग बजत नूपुर गीत भरत शब्दावली।
हृदय कृष्णदास बलि गिरिधरनलाल की चरन नख चन्द्रिका हरति तिमरावली।।

पच्छपात लै बतायौ—पद सुनते ही श्रीसूरदासजी समझ गये कि ऐसा पद तो इनकी कौन कहे, इनके बाप भी नहीं बना सकते? यह तो ईश्वरीय दिव्यवाणी प्रतीत होती है। कहीं श्रीश्रीनाथजी ने तो नहीं बना दिया है? फिर तो उन्होंने पूछा-भईया! तुम सत्य-सत्य कहना यह पद तुमने ही बनाया है अथवा किसी और ने? अब तो श्रीकृष्णदासजी ने श्रीसूरदासजी को सत्य-सत्य बता दिया। फिर तो श्रीसूरदासजी श्रीठाकुरजी से ही नाराज हो गये और बोले-हम दोनों गुरुभाई आपस में विवाद किये हुये थे, आप बीच में क्यों पड़ गये, हम दोनों आपस में ही निपटते रहते। अच्छा ठीक है, जब आप स्वयं ही कवि बन गये हैं तो आप ही पद बनावें और गावैं। अब हम लोगों की आवश्यकता ही क्या रही? इस प्रकार से बहुत-सी उपालम्भयुक्त बातें कहकर श्रीसूरदासजी भगवान् से रुठ कर अपनी कुटिया में आ गये। मन्दिर में आना-जाना तथा नित्यप्रति की कीर्तन-सेवा बन्द कर दिये। परिणाम यह हुआ कि मन्दिर में इनके न जाने से पद, कीर्तन, समाज-गायन आदि में आनन्द ही नहीं आता था। तब श्रीठाकुरजी स्वयं श्रीसूरदासजी के पास गये और बोले-''श्रीसूरदासजी! हमसे जो गलती हो गयी है उसे आप क्षमा कर दीजिये औरं मन्दिर में चलकर पद गाकर सुनाइये। बिना आपके पद सुने मेरा मन प्रसन्न ही नहीं होता है। कीर्तन में पहले जैसा आनन्द ही नहीं आता है। मुझे कुछ भी खाना-पीना अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार से अनुनय-विनय करने पर श्रीसूरदासजी प्रसन्न होकर मन्दिर में जाकर पद गायन करने लगे।

कुँवा में खिप़िल देह छूटि गई नई भई, भई यों अशंका कछु औरे उर आई है।
रसिकन मन दुख जानि सो सुजान नाथ दियो दरसाय तन ग्वाल सुखदाई है।।
गोवर्द्धन तीर कही 'आगे बलवीर गये श्रीगुसाँई धीर सौं प्रनाम' यों जनाई है।
धनहूँ बतायो खोदि पायो विसवास आयो हिये सुख छायो संक पंक लै बहाई है।।३४७।।

शब्दार्थ—बलवीर=बलदेवजी। पंक=कीचड़।

भावार्थ—अन्त समय में श्रीकृष्णदासजी फिसलकर कुएँ में गिर गये और उसी में इनका शरीर छूट गया अर्थात् प्राणान्त हो गया। यद्यपि भजन के प्रताप से आपको तत्काल ही दिव्य-देह की प्राप्ति हो गयी, परन्तु लोगों के मन में तो कुछ और ही बात

आई। लोगों ने आपके सम्बन्ध में अकाल-मृत्यु की आशंका की। इस आशंका से रसिकजनों के मन में अपार दु:ख हुआ। सुजान शिरोमणि श्रीश्रीनाथजी ने भक्तों के हार्दिक दु:ख को जानकर उसे दूर करने के लिये तथा लोगों की शंका का निवारण करने के लिये श्रीकृष्णदासजी का परम सुखदायी दिव्य-ग्वालस्वरूप लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दिया। श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में कुछ ब्रजवासियों को देखकर दिव्य-देहधारी श्रीकृष्णदासजी ने कहा कि आगे श्रीबलदाऊजी गये हैं, उन्हीं के साथ पीछे-पीछे मैं भी जा रहा हूँ, आप लोग गुसाँई श्रीविट्ठलनाथजी से मेरा प्रणाम कह देना। तदुपरान्त श्रीकृष्णदासजी ने पृथ्वी में गड़े हुए धन का भी पता बताया, जो कि इन्होंने पूर्व शरीर से, पृथ्वी में सुरक्षार्थ धन गाड़ रखा था। ब्रजवासियों ने आकर श्रीकृष्णदासजी का वृत्तान्त गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी से निवेदन किया, पुनः निर्दिष्ट स्थल खोदा गया तो वहाँ धन भी मिला। इससे सबको विश्वास हो गया कि निश्चय ही इन व्रजवासियों को श्रीकृष्णदासजी मिले थे तथा दूसरी बात यह है कि श्रीकृष्णदासजी की अधोगति नहीं हुयी है, वह भगवान् की नित्यलीला में सम्मिलित हो गये हैं। इससे सबके हृदय का शंकारूपी कीचड़ धुल गया और सबके हृदय में अपार सुख छा गया।।३४७।।

व्याख्या—कुँआ में खिसिल०—एक वैष्णव ने श्रीकृष्णदासजी को तीन सौ रुपये कुँआ बनवाने के निमित्त दिये थे। आपने एक सौ रुपये एक मिट्टी के कुल्हड़ में रखकर एक आम के पेड़ के नीचे गाड़ दिये थे और दो सौ रुपये से कुँआ बनवाया। जब कुँआ बनकर तैयार हो गया तो ये उसे देखने गये। लाठी टेककर कुँआ की ओर झुककर देख रहे थे। दैवेच्छा से लाठी फिसल गई और ये कुँआ में गिर पड़े एवं वहीं इनका प्राणान्त हो गया। बहुत खोज करने पर भी कुँआ में श्रीकृष्णदासजी का शरीर प्राप्त नहीं हुआ। साधारणतया इस प्रकार की मृत्यु को अकाल-मृत्यु कहते हैं और अकाल-मृत्यु से मरने वाले जीवों को प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है। परन्तु भजननिष्ठ भक्तों का किसी प्रकार भी अध:पतन नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है-''न मे भक्तः प्रणश्यति'' (गीता)। महाराज श्रीपरीक्षितजी की मृत्यु तक्षक नाग के डसने से हुयी वह भी श्रीभगवद्धाम को प्राप्त हुए। अत: श्रीकृष्णदासजी की अधोगति नहीं हुयी, वे भगवल्लीला में प्रवेश कर गये। परन्तु शंकालुओं की आशंकाओं का समाधान कैसे हो? तो इसके लिये श्रीभगवत्कृपा से लोगों को दिव्य-रूपधारी श्रीकृष्णदासजी का साक्षात्कार हुआ, इससे सबका भ्रम दूर हो गया। ''धनहूँ बतायो''-वही एक सौ रुपये जो आम के पेड़ के नीचे गाड़ रखे थे, उन्हीं को

बताया और कहा कि उन रुपयों से कुँआ का शेष कार्य और वैष्णव-सेवा करा देना, गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने आपके कथनानुसार ऐसा ही किया।

विशेष—श्रीकृष्णदासजी का प्रादुर्भाव अहमदाबाद के निकट चिलोत्तरा नामक ग्राम में कुनबी कुल में हुआ था। इनके पिताजी न्यायाधीश थे परन्तु चोरों, डकैतों से मिले रहते थे। एक दिन ग्राम के निकट बंजारे ठहरे हुये थे। इनके पिता ने चोरों से मिलकर उन्हें लुटवा लिया, इन्होंने लूट के धन में से बारह हजार रुपये तो अपने लिये और दो हजार रुपये चोरों को दे दिये। जब बंजारे इनके पास न्याय कराने गये तो उन्होंने उल्टे उन सबको फटकार दिया। आपको अपने पिताजी की अनीति अच्छी नहीं लगी, अतः आपने बंजारों से कहा कि हमारे पिता ने ही तुम लोगों को लुटवाया है। तुम बादशाह के यहाँ जाकर अपना दुःख सुनाओ, गवाही देने के लिये हम तैयार हैं। बंजारों ने बादशाह से जाकर शिकायत की। बादशाह ने पिता-पुत्र दोनों को ही पकड़वाकर मँगवाया। इन्होंने सत्य बयान देकर पिता से बंजारों का रुपया वापस कराया तथा साथ ही बादशाह से प्रार्थना करके पिता को सजा से मुक्त करा दिया। फिर इसके बाद आपका मन घर में नहीं लगा, अतः बाल्यकाल में ही ये घर छोड़कर निकल पड़े और तीर्थाटन करते हुये मथुरा आये। यहाँ श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी का दर्शन कर बड़े ही प्रभावित हुये और श्रीमहाप्रभुजी ने भी एक ही दृष्टि में पहचान लिया कि ये तो कोई श्रीभगवदीय जीव हैं, अतः एक बार की प्रार्थना पर प्रसन्न होकर विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा देकर ब्रह्म-सम्बन्ध कराया। फिर आगे चलकर आपकी योग्यता देखकर ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा का सम्पूर्ण भार आपको ही सौंप दिया। इनके सेवाकाल में श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा की बहुत उन्नति हुयी।

श्रीवर्द्धमानजी तथा श्रीगंगलजी

'बर्द्धमान' 'गङ्गल' गम्भीर उभै थंभ हरिभक्ति के।।
श्रीभागौत बखानि अमृतमय नदी बहाई।
अमल करी सब अवनि ताप हारक सुखदाई।।
भक्तन सौं अनुराग दीन सौं परम दयाकर।
भजन जसोदानन्दन सन्त संघट के आगर।।
भीषमभट्ट अंगज उदार कलियुग दाता सुगति के।
'बर्द्धमान' 'गङ्गल' गम्भीर उभै थंभ हरिभक्ति के।।८२।।

शब्दार्थ— थंभ=स्तम्भ, खम्भा। अमल=निर्मल, स्वच्छ, शासन। अवनि=पृथ्वी। ताप हारक = दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों को हरण करने वाले। जसोदानन्दन=श्रीकृष्ण। संघट=समूह। आगर = अग्रगण्य, मुख्य, चतुर। अंगज =पुत्र।

भावार्थ— श्रीवर्द्धमानजी तथा श्रीगंगलजी-ये दोनों भाई भक्तिरूपी सेतु के दो सुदृढ़ स्तम्भ थे। इन्होंने श्रीमद्‌भागवत महापुराण की कथा कहकर मानों पृथ्वी पर कथा-सुधा की नदी बहा दी तथा अपने दर्शन, स्पर्श, सदुपदेश, समागमादि से सम्पूर्ण पृथ्वी को पापरहित कर दिया। आप दोनों प्राणियों के तीनों तापों को दूर करने वाले तथा उन्हें परमसुख देने वाले हुये। आप दोनों भक्तों से अत्यन्त प्रेमभाव एवं दीन-दु:खियों पर दया करने वाले थे। श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्ण की उपासना करते थे। संत-समूह में अग्रगण्य तथा सेवा में बड़े चतुर थे। आप दोनों श्रीभीष्मभट्‌टजी के पुत्र थे, स्वभाव से बड़े उदार थे तथा इस कराल-कलिकाल में भी प्राणियों को उत्तम गति अर्थात् श्रीभगवद् पद प्रदान करने वाले थे।।८२।।

व्याख्या—भीषमभट्‌ट अंगज उदार— श्रीवर्द्धमानजी और श्रीगंगलजी के पिता श्रीभीष्मभट्‌टजी बड़े ही गुरुभक्त थे। इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर समर्थ श्रीसद्‌गुरुदेवजी ने इन्हें लोक मंगलकारी परम भागवत दो सुपुत्र होने का वरदान दिया। समय पर श्रीगुरुजी का आशीर्वाद साकार हुआ और श्रीभीष्मभट्‌टजी श्रीवर्द्धमान एवं श्रीगंगलजी इन दो सुपुत्रों को प्राप्त कर कृतार्थ हो गये। श्रीगुरुकृपा प्रसूत होने के कारण दोनों भाई श्रीवर्द्धमानजी और श्रीगंगलजी जन्म से ही संसार से उदासीन और श्रीभगवद्-भजन परायण थे। फलस्वरूप आगे चलकर दोनों ही श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीकेशवाचार्यजी से वैष्णवी-दीक्षा लेकर आजीवन स्वयं भक्ति करते हुये जगत् के जीवों को भी भजनोन्मुख करते रहे। दोनों भाई प्राय: सन्तों की जामात (मण्डली) साथ में लिये हुये लोकोद्धार हेतु विचरण किया करते थे। एक बार विचरते-विचरते आप ऐसे क्षेत्र में जा पहुँचे जहाँ सेवड़ों का बोलबाला था। विमुख सेवड़े वैष्णवों को देखकर बड़ा उपहास करते थे। आपके साथ भी उन सभी ने ऐसा ही व्यवहार किया। बहुत-से सेवड़े दल बाँधकर आपके पास आये और अपने सिद्ध गुरु का यशोगान करने लगे तथा इन्हें यहाँ से भाग जाने को कहने लगे। सेवड़ों का कहना था कि तुम लोग हमारे गुरुदेव के तेज के समक्ष एक क्षण भी ठहर नहीं सकते हो। उन्हें देखकर बड़ों-बड़ों का मल-मूत्र निकल जाता है। इन दोनों भाईयों ने अपने साधु-स्वभाव का स्मरण करते हुये मौन होकर भगवान् का स्मरण करते रहे। परन्तु

भक्तवत्सल भगवान् को भक्तों का तिरस्कार असह्य हो गया। फिर तो प्रभु ने ऐसी लीला रची, कि उन कहने वाले सेवड़ों के ही वस्त्र मलमूत्र से बिगड़ गये। अब तो सभी सेवड़े बड़े ही लज्जित हुये और भागे-भागे जाकर अपने सिद्धगुरु से इनके इस चमत्कार की बात बतायी। सिद्ध सेवड़ों ने आपको मारने के लिये मारण प्रयोग किया, परन्तु श्रीभगवदिच्छा से वे अपने प्रयोग से स्वयं ही मरने लगे, तब सबकी आँखें खुलीं। फिर तो सबके-सब आकर श्रीगंगलभट्टजी के चरणों में पड़कर "त्राहि-त्राहि" कहते हुये अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना करने लगे। दयालु हृदय संत ने इन्हें क्षमा कर दिया। मरे हुये सेवड़ों को पुनः प्राणदान दिया तथा सबको अपना शिष्य बनाकर भक्ति का उपदेश दिया। इस घटना से आपका सुयश सर्वत्र फैल गया।

एक बार श्रीवर्द्धमानजी एक गाँव में सन्तों की समाज में विराजमान होकर श्रीमद्भागवतजी की कथा कह रहे थे। श्रोता-समुदाय आनन्द-विभोर होकर प्रेमाश्रु बरसा रहा था। इस समाज में एक नेत्रहीन वृद्धा माता भी बैठी कथा सुन रही थीं। जब कथा का विश्राम हुआ तो वह वृद्धा माताजी आपके पास आकर बोलीं-महाराज! आप जैसे महाभागवत कृपा करके हमारे यहाँ पधारे समस्त ग्रामवासी आपका दर्शन करके तथा सदुपदेश श्रवण करके कृतार्थ हो गये। मुझे भी आपकी कथा सुनकर परमानन्द प्राप्त हुआ, परन्तु मैं अभागिनी नेत्रहीन होने के कारण आपका दर्शन न कर सकी, इस बात का मुझको विशेष दुःख है। वृद्धा माता की व्याकुलता पर सन्त को दया आ गयी और तत्काल ही श्रीभगवत्स्मरण करते हुए भगवच्चरणामृत उस वृद्धा के नेत्रों में डाल दिये। श्रीप्रभु की कृपा से उन वृद्धा माता के नेत्र तत्काल ज्योतिष्मान हो गये। सन्त का दर्शन कर एवं सन्त-भगवन्त की कृपा का चमत्कार विचारकर वृद्धा माता गद्गद हो गयीं। सभी लोग आपके श्रीचरणों में नत-मस्तक हुए। आपने सबको शिष्य बनाकर भक्ति का उपदेश दिया। आपकी उदारता एवं अकिंचनता ऐसी थी कि जो कुछ भी भेंट-पूजा में प्राप्त होता वह सब सन्त-सेवा में लगा देते थे, स्वयं भूखे रहकर भी सन्तों का सत्कार करते थे। ऐसे आपके अनेकों चरित्र हैं।

श्रीक्षेम गोसाँईजी

'रामदास' परताप तें 'षेम गुसाँई' षेमकर।।
रघुनन्दन को दास प्रगट भू-मण्डल जानै।
सर्बस सीताराम और कछु उर नहिं आनै।।

धनुष बान सौं प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरन्तर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे।।
सूरबीर हनुमत सदृश परम उपासक प्रेम भर।
'रामदास' परताप ते षेम गुसाँई षेमकर।।८३।।

शब्दार्थ—भू-मण्डल=पृथ्वीलोक। स्वामि के= श्रीरामजी के। आयुध= अस्त्र, धनुष-बाण।

भावार्थ—गुरु श्रीरामदासजी के प्रताप एवं कृपा-प्रसाद से श्रीक्षेम गोसाँईजी सचमुच में प्राणियों का क्षेम अर्थात् कल्याण करने वाले हुए। आप श्रीराघवेन्द्र सरकार के अनन्य भक्त थे, यह बात सारे संसार में विख्यात थी, सब लोग जानते थे। आपके सर्वस्व श्रीसीतारामजी ही थे। अपने इष्ट को छोड़कर और कुछ भी हृदय में नहीं लाते थे अर्थात् अन्य किसी भी देवी-देवता का ध्यान नहीं करते थे। आपको अपने आराध्यदेव श्रीरामजी के आयुध बड़े प्यारे लगते थे, अतः श्रीरामजी की ही तरह श्रीरामजी के आयुध धनुष-बाण से भी अत्यन्त प्रीति करते थे। आप भावना में निरन्तर अपने प्रभु श्रीसीतारामजी के सन्निकट बने रहते थे, कभी भी एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होते थे। आप श्रीहनुमानजी के समान शूरवीर तथा अनन्य उपासक एवं परम प्रेम से परिपूर्ण थे।।८३।।

व्याख्या—सर्बस सीताराम-यथा-

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।

(श्रीरामरक्षास्तोत्र)

पुनश्च- **राम हैं मातु पिता सुत बन्धु और संगी सखा गुरु स्वामि सनेही।**
राम की सौंह भरोसो है राम को राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही।।
जीअत राम मुएँ पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जियै जग में तुलसी न तु डोलत और मुएँ धरि देही।।

x x x x x

राम मातु पितु बन्धु सुजन गुरु पूज्य परम हित।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।।
देश कोश कुल करम धरम धन धाम धरनि गति।
जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति।।

परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम तें सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल।। (कवि०)
''और कछु उर नहिं आनै''-यथा-
श्रीजानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभुपद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन देहौं।।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईशहीं नैहौं।।
नातो नेह राम सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। वि०

धनुष बान सौं प्रीति०—एक बार श्रीक्षेम गोसाँईजी के मन में श्रीरामजी के दर्शन की प्रबल लालसा जागी। आप दिन-रात प्रभु विरह में आँसू बहाते रहते थे। तब आपके प्रेम को देखकर श्रीहनुमानजी ने प्रभु से प्रार्थना की। श्रीहनुमानजी की प्रार्थना एवं इनके प्रेम से विवश होकर भगवान् श्रीरामजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया। अपने परमाराध्य का साक्षात् दर्शन करके आपकी जन्म जन्म की साध पूरी हो गयी। भगवान् ने आपसे वर माँगने को कहा तो आपने श्रीप्रभु का धनुष-बाण ही माँग लिया। प्रभु श्रीरामजी इन्हें धनुष-बाण देकर अन्तर्धान हो गये। उसी दिन से ये श्रीप्रभु के आयुधों की नित्यप्रति पूजा-आरती करते एवं इनके ही दर्शन करके इनमें श्रीप्रभु के ही दर्शन का सुख प्राप्त करते। एक बार चोर इन धनुष-बाणों को चुरा ले गये तो आपने उनके विरह में अन्न-जल का परित्याग कर दिया। लोगों ने बहुत समझाया कि वैसे ही दूसरे धनुष-बाण बनवा दिये जायेंगे, आप भोजन करें, परन्तु आपने किसी की एक न सुनी। तब आपके अनन्यानुराग को देखकर भगवान् के परम दिव्य, चिन्मय आयुध (धनुष-बाण) स्वयं ही आकर आपके हृदय से लग गये। तब आपने भोजन-जल ग्रहण किया।

एक बार आपके एक शिष्य ने उन धनुष-बाणों को चुराना चाहा, परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे उठा न सका। तब वह अपनी करनी पर बहुत लज्जित हुआ और प्रात काल होते ही पश्चात्ताप करता हुआ श्रीगुरुजी के श्रीचरणों में गिरकर अपने हृदय की दुर्भावना एवं धनुष-बाणों के चमत्कार के विषय में बतलाने लगा, श्रीक्षेम गोसाँईजी ने कहा कि

तुमने चोरी की भावना से उठाना चाहा था, अतः वे तुम से नहीं उठ पाये, लेकिन अब तुम सद्भावपूर्वक जाकर उठाओ धनुष फूल के समान हल्का हो जायेगा। अब शिष्य गया तो सचमुच में ही अबकी बार धनुष-बाण हाथ का इशारा पाते ही उठ गये। शिष्य धनुष-बाण की दिव्यता एवं श्रीसद्गुरुदेवजी की सद्भाव के समक्ष नत-मस्तक हो गया।

हनुमत् सदृश परम उपासक—इसका भाव यह है कि जैसे श्रीहनुमानजी, अनन्य राम भक्त थे। श्रीराम रुप को छोड़कर और किसी रूप का स्वप्न में भी स्मरण-चिन्तन नहीं करते थे, दर्शन करना तो दूर रहा। आपकी निष्ठा को देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने भी श्रीरामरूप में आपको दर्शन दिया। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२०९ में, श्रीसत्यभामाजी, श्रीगरुड़जी, श्रीचक्रसुदर्शन के अभिमान भंग का प्रसंग)। वैसी ही अनन्य निष्ठा आपकी भी थी। वर्णन आया है कि एक बार आपकी अनन्यता की परीक्षा लेने के लिए श्रीहनुमानजी एक अवधूत का वेश धारणकर आपके पास आये और आपके सामने सोने की एक भैरवजी की मूर्ति रखते हुये बोले-''देखो इस मूर्ति का यह चमत्कार है कि धन की आवश्यकता पड़ने पर इसके हाथ-पाँव काट लिये जायँ तो यह तत्काल ही जैसी की तैसी हो जाती है और जितनी बार काटा जाय उतनी बार यह पुनः पूर्व रूप में हो जाती है। इस प्रकार इससे अपार स्वर्णराशि प्राप्त की जा सकती है।'' इस प्रकार से कहकर अवधूत वेश धारी श्रीहनुमानजी ने जैसा कहा था वह प्रत्यक्ष करके इन्हें दिखा भी दिया, सोने का ढेर लग गया और मूर्ति ज्यों की त्यों बनी रही। फिर श्रीक्षेम गोसाँईजी से बोले कि आप इस मूर्ति को अपने पास रखिये और इससे मनमाना स्वर्ण प्राप्त करके खूब साधु-सेवा कीजिये। इन्होंने अवधूत से स्पष्ट कह दिया कि-''बनै तो रघुवर ते बनै, कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते, ता बनिबे में धूर।।'' (दोहावली), परन्तु फिर भी अवधूतवेशधारी श्रीहनुमानजी हठपूर्वक उस मूर्ति को इन्हें देने का प्रयत्न करने लगे, और बोले-''आप इन्कार क्यों कर रहे हैं? अरे, घर के किसी कोने में पड़ी रहेगी और आवश्यकता पड़ने पर अपार धन देगी। भला, इस प्रकार के स्वतः प्राप्त धन-लाभ से मुख मोड़ना क्या उचित है? परमार्थ में धन की आवश्यकता पड़ती ही है, कोई न कोई उपाय करना ही पड़ता है, फिर इससे ही उसकी पूर्ति क्यों न की जाय?'' इत्यादि। बारम्बार मना करने पर भी जब अवधूतजी नहीं माने तो इन्हें बड़ा रंज आया और ये डंडा लेकर यह कहते हुये उनको मारने के लिये दौड़े कि तू कौन कपटी है, जो मुझे अपनी निष्ठा से विचलित करना चाहता है। भाग जा यहाँ से, नहीं तो डण्डा से मारकर कचूमर निकाल दूँगा। इनकी इस अनन्यता, अकिंचनता को देखकर श्रीहनुमानजी इन पर परम प्रसन्न हुये और प्रकट होकर दर्शन दिये तथा इनकी भक्ति की प्रशंसा करते हुये वरदान माँगने को कहा, इन्होंने यही वर माँगा कि-''मैं जब-जब आपको स्मरण करूँ, तब-तब आप प्रकट होकर मुझे

दर्शन देने की कृपा करें।'' श्रीहनुमानजी ''एवमस्तु'' कहकर अन्तर्धान हो गये। कई बार श्रीक्षेम गोसाँईजी को विमुखों ने कष्ट पहुँचाया, तब आपने श्रीहनुमानजी का स्मरण किया और श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर दुष्टों को दण्ड देकर आपकी रक्षा की। एक बार वेशधारी संन्यासियों की जामात आपके यहाँ आयी, और वे लोग आपसे बहुत सा धन माँगने लगे। आपने बड़े सरल भाव से कहा कि हमारे पास जो कुछ भी हो उसे आप ग्रहण करें। परन्तु वे उतने धन से सन्तुष्ट नहीं होने वाले थे अतः उन लोगों ने आपको मारकर धन लेने का उपाय सोचा। उनकी दुर्भावना जानकर आपको आवेश आ गया और अकेले ही समस्त संन्यासियों को मार-पीटकर भगा दिया। उस समय उनको श्रीक्षेम गोसाँईजी, श्रीहनुमानजी के रूप में दिखाई पड़ते थे। तभी तो श्रीनाभाजी ने इनको ''सूरवीर हनुमत सदृश'' कहा है। आपने अपनी भक्ति, विश्वास, निष्ठा एवं सदुपदेशों से अनन्त जीवों का कल्याण किया।

श्रीविट्ठलदासजी

'विट्ठलदास' माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा।।
तिलक दाम सों प्रीति गुनहिं गुन अन्तर धार्यौ।
भक्तन को उत्कर्ष जनम भरि रसन उचार्यौ।।
सरल हृदै सन्तोष जहाँ तँह पर उपकारी।
उत्सव में सुत दान कर्म कियो दुसकर भारी।।
हरि गोविन्द जै जै गोविन्द गिरा सदा आनन्ददा।
'विट्ठलदास' माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा।।८४।।

शब्दार्थ—माथुर मुकुट=मथुरा के चतुर्वेदीयों में श्रेष्ठ। अमानी=अहंकारहीन। मानदा=आदर देने वाले। अन्तर=भीतर, हृदय में। उत्कर्ष=श्रेष्ठता, बड़ाई। दुसकर=दुष्कर, कठिन, महान्।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मणों में सिरमौर हुये। आप स्वयं सर्वथा अभिमान शून्य रहते हुये दूसरों को सम्मान देते थे। वैष्णवता के प्रतीक उर्ध्वपुण्ड्र तिलक, श्रीतुलसीजी की कण्ठी-माला आदि से आप अत्यन्त प्रेम करते थे तथा सब में गुण ही गुण देखते थे एवं सबके अवगुणों पर दृष्टिपात न करके सबके गुणों को हृदय में धारण करते थे। आपने जीवनभर भक्तों की महिमा जिह्वा से गान किया। आप परम सरल हृदय तथा सन्तोषी थे एवं सदा-सर्वत्र परोपकार में ही रत रहा करते थे। आपने भगवान् के उत्सव में पुत्र दानरूपी अत्यन्त महान कर्म किया जो औरों से असम्भव है। आपकी जिह्वा से

सदा-सर्वदा ''हरि गोविन्द जै जै गोविन्द'' का उच्चारण होता रहता था। जिसे सुनकर सबको परमानन्द प्राप्त होता था।।८४।।

व्याख्या—माथुर मुकुट—देखिये ''केशोभट नर मुकुटमनि'' की व्याख्या, छप्पय-७५। ''अमानी मानदा''-यह सन्त स्वभाव है। यथा-''सबहि मानप्रद आपु अमानी।।'' (रामा०), ऐसे महानुभाव ही श्रीभगवद्-भजन के अधिकारी है। यथा-''अमानिना मान देन कीर्तनीयः सदा हरिः।।'' (शिक्षाष्टक), ''तिलक दाम सों प्रीति''- कण्ठी, माला, तिलक आदि भगवान का वेश है, इनकी अनन्त महिमा है। (पूर्व प्रसंगों में यथा स्थान इनके माहात्म्य की चर्चा की जा चुकी है) अतः श्रीभगवद्-सम्बन्ध से इनसे अत्यन्त प्रेम करते थे। ''गुनहिं गुन अन्तर धार्‌यौ''- यह भी साधु का ही लक्षण है। यथा-''अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।। जड़ चेतन गुन दोषमय विश्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।।, मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।।'' (रामा०) पुनश्च-''खल चलनी तजि सार को गहैं असार विकार। सन्त सूप सम सार गहि त्यागै सदा असार।।'' (भ०व०टि०), ''भक्तन को उत्कर्ष'' -भगवान् स्वयं भक्तों का यशोगान करते हैं एवं दूसरों के मुख से श्रवण कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। भगवान् को सन्तुष्ट करने का इससे श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं है। यथा-''निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।।'' (वि०), पुनः-''हरि को निज जस ते अधिक भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रची करि ध्रुव कण्ठ सिंगार।।'' अतः आपने सदा ही भक्तों का यश गाया। ''सरल हृदै०''-यह साधु-स्वभाव है। यथा-''सरल सुभाव न मन कुटिलाई।।, सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीति।। यथा लाभ सन्तोष सदाई।।'' (रामा०), ''यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।।'' (वि०), ''सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः'' (पा०यो०द०), अर्थ- सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। यथा-''पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया। हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।'' (रामा०), ''उत्सव में सुत दान''-इस सम्बन्ध में आगे देखिये कवित्त-३५२, ३५३, ३५४ की व्याख्या। ''हरि गोविन्द जै जै गोविन्द'' यह इनका तकिया कलाम था, बात-बात में यह मन्त्र उच्चारण करते रहते थे।

भाई उभै माथुर सुराना के पुरोहित हे, लरि मरे आपुस में जियो एक जाम है।
ताको सुत विट्ठल सुदास सुखरासि हिये लिये बैस थोरी भयौ बड़ौ सेवै स्याम है।।
बोल्यौ नृप सभा मध्य 'आवत न विप्र सुत छिप्र लैकै आवौ' कही, कह्यौ पूजै काम है।
फेरिकै बुलायौ 'करौ जागरन याही ठौर', काहू समझायौ गावै नाचै प्रेमधाम है।।३४८।।

शब्दार्थ—जाम=प्रहर, तीन घण्टे। बैस=वयस, अवस्था, आयु। छिप्र=शीघ्र। पूजै=पूरे, पूर्ण हुए। काम=मनोरथ, कामना।

भावार्थ—मथुरापुरी के चतुर्वेदी ब्राह्मणों में दो ब्राह्मण भाई उदयपुर के राणा के पुरोहित थे। एक बार धन के बंटवारे को लेकर दोनों भाईयों ने आपस में लड़ाई कर ली और दोनों इस प्रकार से घायल हो गये कि लड़ाई के बाद एक प्रहर जीवित रहने के अनन्तर दोनों की ही मृत्यु हो गयी। उन्हीं में से एक के पुत्र श्रीविट्ठलदासजी थे। आप बाल्यकाल से ही सुखसिन्धुराशि भगवान् को हृदय में बसाये हुये थे। निरन्तर भगवान् श्रीश्यामसुन्दर की सेवा-पूजा ही करते रहते थे। इस प्रकार से ये अवस्था में छोटे होने पर भी गुणों में महान् थे। एक दिन सभा में राणा साहब ने कहा कि पिताजी की मृत्यु के पश्चात् अब ब्राह्मण कुमार कभी भी सभा में उपस्थित नहीं होते हैं, उनको शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर लाओ। राजकर्मचारियों ने जाकर श्रीविट्ठलदासजी को राजा का सन्देश सुनाया और कहा कि चलो, राणा साहब आपके समस्त मनोरथ पूर्ण कर देंगे। तब इन्होंने कहा कि श्रीभगवद्कृपा से मेरे सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये हैं, अतः अब तो मैं एकमात्र श्रीभगवद्भजन को छोड़कर और कहीं भी आना-जाना नहीं चाहता। राजकर्मचारियों ने इनका संदेश राजा को जाकर सुनाया। किसी ने आपकी दिनचर्या देखकर राजा से कहा कि वह तो बड़े ही श्रीभगवद्प्रेमी हैं, दिन-रात श्रीभगवद्भक्तों के साथ प्रेमोन्मत्त होकर नाच-नाचकर भगवान् का ही गुण गाते रहते हैं। तब राजा ने इनको पुनः आमन्त्रित किया और प्रार्थना की, आज रात्रि में "श्रीभगवन्नाम संकीर्तन पूर्वक जागरण हमारे यहाँ पर ही करने की कृपा करें।।३४८।।

व्याख्या—लरि मरे आपुस में—यह धन का दुष्परिणाम है। धन का नाम मात्र अर्थ है, वस्तुतस्तु है वह अनर्थ ही। (विशेष देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ-५७४, "जामें भरे कोटि रोग है" की व्याख्या।) धन के लोभ में प्राणी कौन-सा अनर्थ नहीं कर डालता है। यथा-"लोभ है सकल पाप को मूल। जैसे फल पीछे लागत है पहले लागत फूल।। अपने सुत के काज कैकेयी दियो राम वनवास। भरता मरौ भरत दुख पायौ भयौ जगत् उपहास।। वासुदेव तजि अर्क उपासे सत्राजित मणि लीन। बन्धु सहित भौ निधन आपनो निन्दा सब जग कीन।।, भगवतरसिक भक्ति जो चाहै प्रथमहिं लोभहिं त्यागै। देह गेह सुख संपति दारा तब हरि सौं अनुरागै।।" "सुखराशि"-इसका तात्पर्य भगवान् से है। यथा-"जो आनन्दसिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।। सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक

विश्रामा।।" (रामा०), "वैस थोरी भयौ बड़ौ" यह भजन की महामहिमा है। यथा-"एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं।। जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।।" (रामा०) श्रीविट्ठलदासजी की भी छोटी आयु में ही विशेष ख्याति हो गयी थी। बड़ों के समाज में भी आपकी विशेष प्रशंसा होने लगी थी। "आवत न विप्र सुत" जिस समय आपके पिताजी लड़-झगड़कर मृत्यु को प्राप्त हुये थे, उस समय आप चैतन्य (जाग्रत) थे, लगभग उस समय आपकी आयु दस-बारह वर्ष की होगी। वह अकाण्ड-ताण्डव आपने अपने नेत्रों से देखा था। अर्थ की अनर्थरूपता भलीभाँति आपके समझ में आ गई थी, अतः आपने अर्थोपार्जन निमित्त राणा की पुरोहिताई करना उचित नहीं समझा। वैसे ही पौरोहित्य कर्म अत्यन्त निन्दनीय कहा गया है। यथा-"उपरोहित्य कर्म अति मन्दा। वेद पुराण स्मृति कर निन्दा।।" (रामा०) उसमें भी राजा की पुरोहिताई जिसमें बलात् राजधान्य ग्रहण करना पड़ता है, जिसका शास्त्रों में विशेष रूप से निषेध किया गया है। दृष्टान्त-"शिलोच्छव्वृत्ति वाले ब्राह्मण का"-(देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ-४९४), अतः आपने राजा की पुरोहिताई छोड़ दिया।

पूजै काम है—वैसे तो कामनाओं का अन्त नहीं है, न तो समस्त कामनाओं की पूर्ति ही सम्भव है। परन्तु भगवद् भजन से समस्त कामनाओं की जड़ मिट जाती है। यथा-"ऊसर बरसै तृण नहीं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।।" (रामा०), बिना हरि भजन के अन्य किसी भी साधन से कामनाओं का निराकरण असम्भव ही है। यथा-"राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा।।" (रामा०), "गावै नाचै"-यह भक्ति के चौंसठ अंगों में एक अंग है। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१९), भक्तिमान पुरुष प्रेमावेश में लोकलाज त्यागकर भगवान् के सम्मुख नाचते-गाते रहते हैं। यथा-"कबहुँक नृत्य करै गुण गाई।।" (रामा०), "करौ जागरन याही ठौर"-इसका भाव यह है कि पुरोहिताई करने भले न आवे, परन्तु श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन में तो अवश्य ही आना चाहिए।

गये संग साधुनि लै बिनै रंग रँगे सब राना उठि आदर दै नीके पधराये हैं।
किये जा बिछौना तीनि छत्तनि के ऊपर लै नाचि गाय आये प्रेम गिरे नीचे आये हैं।।
राजा मुख भयौ सेत दुष्टनि कौं गारी देत सन्त भरि अँक लेत घर मधि ल्याये हैं।
भूप बहु भेंट करी देह वाही भाँति परी पाछे सुधि भई दिन तीसरे जगाये हैं।।३४९।।

शब्दार्थ—सेत=श्वेत, सफेद, कान्तिहीन, अति उदास।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी साधुओं को अपने साथ में लेकर राणा साहब के यहाँ पहुँचे। आपके सभी संगी-साथी परिकर सन्त विनय-प्रेमरंग में रँगे हुए थे, फिर तो इनके प्रेमरंग का तो कहना ही क्या है? राणा साहब ने आपको देखकर तुरन्त ही सिंहासन से उठकर अत्यन्त ही आदर-सत्कार किया और सभी साधुओं को भलीभाँति से आसन प्रदान किया। तत्पश्चात् आपके प्रेम की परीक्षा करने के लिए राणाजी कुछ दुष्टों के बहकावे में आकर जागरण के लिए महल की तीसरी मंजिल की, छत्त पर बिछौना बिछवाया सभी लोग प्रेमपूर्वक कीर्तन-नृत्य करने लगे। नाचते-गाते हुए श्रीविट्ठलदासजी को प्रेमावेश आया तो आप बेसुध होकर नृत्य-गान करते हुए छत्त से पृथ्वी पर गिर पड़े। यह देखकर राणा का मुख उदास हो गया-कान्तिहीन हो गया। तब राणाजी को क्रोधावेश हुआ तो उन दुष्टों को गाली देने लगे, कि मैंने इन लोगों के कहने के अनुसार ही तीसरी मंजिल की छत्त नियुक्त की थी, इसी के फलस्वरूप इतना महान् अनर्थ हो गया। साधु-सन्त श्रीविट्ठलदासजी को गोद में उठाकर घर ले आये। राणाजी ने अपने अपराध के लिए प्रायश्चित्त तथा आपकी वृद्ध माताजी की जीविका निमित्त बहुत-सा द्रव्य-धन भेंट में प्रदान किया। तीन दिन तक मूर्च्छित अवस्था में ही रहे। तीन दिन बाद जब श्रीवैष्णवों ने आपको जागृत किया तो आपको आपने शरीर की सुधि आई, आप उठकर बैठ गये। श्रीभगवद्-कृपा से आपके किसी भी अंग में कोई चोट नहीं आयी, आपकी जो मूर्च्छित-अवस्था हुई थी वह भी एकमात्र प्रेमजन्य ही हुई थी।।३४९।।

उठे जब माय ने जनाय सब बात कही सही नहीं जात निसि निकसे विचारिकै।
आये यों छठीकरा में गरुड़ गोविन्द सेवा करत मगन हिये रहत निहारिकै।।
राजा के जे लोग सु तौ ढूँढ़ि करि रहे बैठि तिया मात आई करैं रुदन पुकारिकै।
किये लै उपाय रही कितौ हा-हा खाय ये तौ रहे मँड़राय तब बसी मन हारिकै।।३५०।।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी की मूर्च्छित अवस्था समाप्त हो जाने पर जब उठे तो आपकी माताजी ने समस्त वृत्तान्त बताया, तो उसको सुनकर आपको असह्य कष्ट हुआ, अतः जगत् की असारता एवं श्रीहरि भजन की साररूपता का विचारकर आप रात्रि में ही घर से निकल पड़े। घूमते-फिरते छठीकरा ग्राम में आकर श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् की सेवा-पूजा करने लगे। भगवान् श्रीगरुड़-गोविन्दजी की छबि का अवलोकन कर हृदय में मग्न रहते थे। राणा साहब के कर्मचारियों के ढूँढ़ने पर भी आपको न खोज पाने के कारण अन्त में हारकर बैठ गये। परन्तु आपकी माताजी एवं पत्नी खोजते-खोजते छठीकरा में श्रीगरुड़-

गोविन्दजी के मन्दिर पर आयीं और आपको देखकर उच्चस्वर से क्रन्दन करने लगीं और आपको घर वापस चलने का विशेष आग्रह करने लगीं, परन्तु इन्होंने इनका एक शब्द भी स्वीकार नहीं किया आप उसी अपने नित्य-नियम में लगे रहे। अन्त में विवश होकर माताजी एवं पत्नी आपके ही निकट में रहने लगीं।।३५०।।

व्याख्या—माय ने जनाय सब बात कही—श्रीविट्ठलदासजी की प्रबल मूर्च्छा का होना, राजा के द्वारा दुष्टों के कहने से प्रेम की परीक्षा करने की दुरभिसंधि एवं अपराध परिमार्जनार्थ बहुत-सा द्रव्य-धन दानादि समस्त बातें माताजी ने आपसे कही। ''सही नहीं जात''-राजा का असद्भाव एवं माताजी की स्वार्थपरता दोनों ही आपके लिए असह्य थे। घर में पुत्र का मृतप्राय शरीर पड़ा हुआ है, और माता भेंट लेकर सन्तोष कर लेती है, भला यह बात कैसे सही जा सकती है। ''निकसे विचारिकै''-यही कि, यथा-''कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंक बजाय।।, मातु-पिता स्वारथ रत ओऊ।।, सत हरि भजन जगत् सब सपना।।, माया सगी न तन सगा, सगा न यह संसार। परशुराम या जीव को, सगा सो सिरजनहार।।'' आदि।।

छठीकरा में गरुड़ गोविन्द—श्रीनन्दबाबा ने जहाँ पर अपने लाला श्रीकृष्ण-कन्हैया का छठी-महोत्सव मनाया था, उस स्थान का नाम छठीकरा पड़ा। यहीं पर श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् का मन्दिर है। वर्णन आया है कि प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण की पूतना-बध, शकटभंग, तृणावर्त-बध, यमलार्जुनोद्धार, वत्सासुर, बकासुर आदि का संहार जैसी चमत्कापूर्ण लीलाओं को देखकर बहुत से ग्वालबाल-सखा श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार कहने लगे। तब कुछ भोलेभाले सखाओं ने आपत्ति की कि भगवान् के तो चार भुजायें हैं, वे गरुड़ पर आरूढ़ होकर चलते हैं। परन्तु अपने कन्हैया के तो दो ही भुजायें हैं और गरुड़ की सवारी भी नहीं है, तब ये भगवान् कैसे हो सकते हैं? तब सुजान सखाओं के अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने अपने भोले-भाले प्रिय सखाओं के भ्रम का निवारण करने हेतु यहीं पर अपने ऐश्वर्यमय गरुड़ारूढ़-स्वरूप का दर्शन कराया था। वही श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् हैं। भक्तों की प्रार्थना पर अद्यापि श्रीविग्रह-रूप में विराजमान हैं। अपना अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य दिखाने के लिए चार भुजाओं की तो बात ही क्या? आपने द्वादश भुजा धारण करके ग्वालबाल-सखाओं को दर्शन दिया था। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए थे दो भुजाओं में धनुष-बाण दो भुजाओं में मुरली-लकुट दो भुजाओं में हल-मूसल एवं दो भुजाओं में दण्ड-कमण्डलु धारण किये हुए थे। आपका बड़ा दिव्य-दर्शन है, आपके दर्शनमात्र से ही मन की वृत्ति श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् में लीन हो जाती है।

देख्यो जब कष्ट तन प्रभू जू स्वपन दियौ 'जावौ मधुपुरी' ऐसै तीन बार भाषियै।
आये जहाँ जाति-पाँति छाये कछु औरै रंग देख्यो एक खाती साधु संग अभिलाषियै।।
तिया रहे गर्भवती सती मति सोच रती खोदि भूमि पाई प्रतिमा सुधन राषियै।
खाती को बुलाय कही 'लही, यहु लेहु तुम' उन पाँय परि कह्यौ रूप सुख चाषियै।।३५१

शब्दार्थ—खाती=बढ़ई। सोचरती=शोकरत हुई, दुःख हुआ।

भावार्थ—छठीकरा (श्रीगरुड़-गोविन्द) निवासकाल में एकबार आपको शरीर पीड़ा हो गयी। आपके शारीरिक कष्ट को देखकर भगवान् श्रीगरुड़-गोविन्दजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम मथुरा चले जाओ। भगवान् ने क्रमशः तीन दिन लगातार इस प्रकार का स्वप्नादेश दिया। तब आप माताजी एवं पत्नी को साथ लेकर मथुरा चले आये। जहाँ पर आपके सम्बन्धीजन एवं जाति-बिरादरी के लोग रहते थे। परन्तु आपने देखा तो वहाँ कुछ और ही रंग-ढंग है। हाँ, एक बढ़ई अवश्य ऐसा था जो कि सदा साधु-संग की अभिलाषा करता था। उसकी सज्जनता को देखकर आप उसी के घर में रहने लगे। उस समय आपकी पत्नी गर्भवती थीं और धन के अभाव में उस सतीसाध्वी पति-परायणा की बुद्धि अत्यन्त शोकमग्न रहा करती थी कि किस प्रकार से इस समस्या का समाधान होगा। दैवयोग से एक दिन कार्यवशात् घर में मिट्टी खोदते समय पृथ्वी में गड़ा हुआ धन एवं श्रीठाकुरजी की एक प्रतिमा मिली, श्रीविट्ठलदासजी ने बढ़ई को बुलाकर कहा-देखो तुम्हारे घर में पृथ्वी में गड़ा हुआ यह धन और श्रीठाकुरजी की प्रतिमा मुझे मिली है, इसे ग्रहण करो, परन्तु उस बढ़ई ने आपके चरणों में नत-मस्तक होकर प्रणाम करते हुए कहा कि इस धन से आप ही श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा कीजिये एवं श्रीठाकुरजी के परम रूपमय श्रीमुख का दर्शन कर आनन्द लीजिये। हम तो आपके दर्शन और सत्संग से ही परम सुखी हैं।।३५१।।

व्याख्या—देख्यो जब कष्ट तन—श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् के मन्दिर से आपको एक पारस (एक व्यक्ति का भोजन-प्रसाद) मिलता था, उससे आपका निर्वाह भलीभाँति रूप से हो जाता था, परन्तु आपकी माताजी और पत्नी के आ जाने पर अब तो एक ही पारस में तीन व्यक्ति प्रसाद पाने वाले हो गये, अब एक पारस से तीनों की पूर्ति नहीं होती थी। आप अपनी जीविका पालन हेतु और कोई अन्य उद्योग भी नहीं करते थे, केवल प्राण-रक्षार्थ अल्प ही प्रसाद ग्रहण कर लेते थे एवं शेष प्रसाद अपनी माताजी एवं पत्नी को दे दिया करते थे, फलस्वरूप श्रीविट्ठलदासजी का शरीर क्षीण-दुर्बल होने लगा, इस क्षीणता का भजनभाव पर भी कुप्रभाव पड़ा। कहावत है-''भूखे भजन न होय गोपाला। यह लो अपनी कण्ठी माला।।'' शारीरिक कृशता

के साथ जब भजनभाव में भी कृशता आने लगी तो आप चिन्ताग्रस्त हो गये, स्वयं भूखे रह जायँ इसका आपको कोई कष्ट नहीं था परन्तु माताजी एवं पत्नी को पूर्ण भोजन-प्रसाद न मिलने के कारण से आपका ध्यान इनमें ही लगा रहता था। भजनभाव में न्यूनता आने लगी एवं आपका शरीर भी दिन-प्रतिदिन क्षीण-दुर्बल होता गया, इससे भी सोच में वृद्धि हो रही थी। आपके चिन्ताग्रस्त हो जाने के कारण धीरे-धीरे व्याधियों ने भी शरीर पर अपना अधिकार प्रारम्भ कर दिया, कष्ट बढ़ता ही जा रहा था उसके निवारण का कोई उपाय नहीं था। अतः श्रीप्रभु ने आपको स्वप्न में मथुरा चले जाने के लिए कहा।

छाये कछु औरै रंग—श्रीविट्ठलदासजी की जाति-पाँति के लोग भगवान् से विमुख होकर रात-दिन गाँजा, भाँग, तम्बाकू आदि की मादकता में ही उन्मत्त रहते थे, बात-बात में रुपया-पैसा के लिए लड़ाई-झगड़ा करते रहते थे, कहीं से यदि इनको भोजन का निमन्त्रण मिल जाय तो उसी को अपना ब्रह्मानन्द समझते थे, भूल से भी उन लोगों के मुख से श्रीभगवन्नाम नहीं निकलता था, उनका मन्त्र तो भाँग-धतूरा ही था। यथा-''तुरसी कुरसी सौ कलौ चढ़ई हरि के अंग। पीवत ही वैकुण्ठ को लिये जात है भंग।। भाँग जु ऐसी खाइयै, आवै अन्धाधुन्ध। कुनबा जानै मर गये, जीव करै आनन्द।। हरी भाँग में हरि बसैं भूजी में भगवान्। जा मुख विजया नहिं परै सो मुख जान मशान।। तनक तमाखू देत है निज मित्रन में बैठि। मानौ सौ गइया दई गंगाजी में पैठि।। चून तमाखू सानिके बिन माँगे जो देत। शिवपुर सुरपुर नागपुर सबै जीति सो लेत।। नै नारायण चिलम चतुर्भुज हुक्का हरि को बैन। काशी बसिकैं कहा करौ चलौ तमाखू लैन।। आदि। भला बताइये कि इस प्रकार के लोगों के बीच में रहकर किसी वैष्णव का कैसे निर्वाह होना सम्भव है? जो कि न्योता न मिलने पर प्राण देने को तत्पर रहते हैं।

दृष्टान्त—एक चौबे का—ग्रीष्म ऋतु का समय था, कहीं से चतुर्वेदीजी निमन्त्रण में भोजन करके आये थे। अधिक भोजन कर लेने के कारण अजीर्ण हो गया था, अब ये वमन-दस्त दोनों से ही ग्रस्त हो रहे थे। ठीक उसी समय एक सेठजी का मुनीम इनको निमन्त्रण देने आया तो इनकी पत्नी ने चौबेजी की दुर्दशा देखकर निमन्त्रण लेने से मना कर दिया। खाट पर पड़े-पड़े चौबेजी सुन रहे थे। एक-दो बार मुनीमजी ने कहा कि आप न्योता स्वीकार कर लें, परन्तु चौबाइनजी नहीं मानीं। तब चौबेजी ने दाँत पीसकर कहा-''रण्डे मन्यस्व मन्यस्व दुर्भगे दुःखकारिणि। परान्नं दुर्लभं लोके देहोऽयं च पुनः पुनः।।'' एक चतुर्वेदीजी तो कहा करते थे कि-''अमरेण वृथा प्रोक्तं मेघाच्छन्नेऽहिन दुर्दिनं। तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये यदस्त्यामन्त्रणं विना।।'' इस प्रकार से जाति-पाँति वालों का व्यवहार

श्रीविट्ठलदासजी को पसन्द नहीं आया और उधर चौबे लोग इन्हें देखकर प्रेम-सद्भाव से मिलना तो दूर रहा, उल्टे व्यंग और करने लगे-"अरे, यह तो विरक्त हो गये थे, फिर घर क्यों आये, घर वापस आना ही था तो पहले घर से क्यों चले गये, फिर पत्नी-माता को साथ लिए क्यों घूम रहे हैं, न इधर के रहे न उधर के, न घर के रहे न घाट के, न दीन के रहे न दुनिया के।। आदि।। इस प्रकार कटाक्ष-व्यंग-वार्ताओं को सुनकर इनका मन और उपराम हुआ, अतः जाति-पाँति वालों के यहाँ न जाकर एक बढ़ई के घर में ही ठहरे। बढ़ई विशेष सत्संग-प्रेमी था, यह भी किसी जिज्ञासु साधुसेवी के खोज में था। दोनों की अभिलाषा पूर्ण हुई। बढ़ई ने इनके निवास के लिए एक बड़ी-सी दालान (बैठक) दे दी।

खोदि भूमि पाई प्रतिमा सुधन--बात यह हुई कि इनकी पत्नी आसन्न प्रसवा थीं। अतः प्रसव के लिए एकान्त-स्थल की आवश्यकता विचारकर उसी बैठक में एक दीवार लगाने के लिए नींव खोद रहे थे, उसी खुदाई में श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह एवं धन मिला। "खाती को बुलाय....मुख चाषियै"-इन्होंने बढ़ई को बुलाकर के कहा कि देखो भाई, यह तुम्हारे ही पूर्वजों का गाड़ा हुआ धन है, अतः इस पर तुम्हारा ही अधिकार है, तुम ही इसे स्वीकार करो। बढ़ई ने कहा-महाराज! यदि यह मेरे ही भाग्य में होता तो यह पहले ही मुझको मिल गया होता। यह तो आपके ही भाग्य से मिला है अतः इसे आप ही सहर्ष स्वीकार करें। इस प्रकार से दोनों ही धन लेने के इच्छुक नहीं थे। अन्त में पंचायत बुलवाई गयी, ग्राम के योग्य विचारवान् पंचों ने अन्तिम निर्णय यह दिया कि भाई, एकमात्र धन ही नहीं है, धन के साथ में श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह भी है। इसका अर्थ यह होता है कि धन भी श्रीठाकुरजी की सेवा के निमित्त सुरक्षित रखा गया था। इसका वास्तविक अधिकारी वही है जो श्रीठाकुरजी की सेवा करे। तब बढ़ई ने कहा-पंचो! यदि ऐसी बात है तो यह धन और श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह इन्हीं को मिलना चाहिए। क्योंकि श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा ये ही अच्छी प्रकार से कर सकते हैं। मैं अशिक्षित गवाँर ठाकुर की सेवा-पूजा क्या जानूँ? पंचों ने सर्वसम्मति से धन एवं प्रतिमा श्रीविट्ठलदासजी को ही दे दी। इस पर-

दृष्टान्त—दो किसानों का—प्रसंग श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के राज्यकाल का है। एक बड़े किसान का खेत एक गरीब किसान बटाई पर जोतता, बोता था। दैवयोग से उसे एक दिन खेत खोदते समय अशर्फियों से भरा एक घड़ा मिला। वह उस घड़े को लेकर खेत के मालिक के पास आया और बोला-यह आपके पूर्वजों की निधि है आप इसे रखो। खेत मालिक ने कहा-नहीं, यह तुम्हारे भाग्य से मिला है, तुम रखो। दोनों में बहुत विवाद हुआ, अन्त में न्याय करनवाने के लिए

श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के पास पहुँचे। श्रीधर्मराजजी भी बहुत असमंजस में पड़ गये कि क्या करूँ? दोनों ही महात्यागी हैं, अन्त में उन्होंने कहा कि ठीक है, इस समय हम यह धन तुम दोनों के नाम से राज्यकोष में जमा करा देते हैं। तुम लोग घर जाकर इस पर पुनः विचार-विमर्श करना। जब भी तुम दोनों इस धन को चाहोगे, तब यह धन न्यायपूर्वक तुमको प्रदान कर दिया जायेगा। अब दोनों अपने-अपने घर वापस आ गये। कुछ समय व्यतीत होने पर जब कलियुग का प्रवेश हुआ तो दोनों की बुद्धि मलीन हो गयी। अब दोनों के मन में धन का लोभ उत्पन्न हुआ, दोनों ही अपनी भूल का पश्चात्ताप करने लगे और अन्त में दोनों एक ही दिन श्रीधर्मराज युधिष्ठिजी महाराज के पास आकर अपना धन माँगने लगे। कहते हैं कि श्रीयुधिष्ठिरजी ने उस धन का न्याय इस प्रकार से किया कि एक गरीब किसान के पास विवाह योग्य कन्या थी एवं एक दूसरे किसान के पास विवाह योग्य लड़का था, उन दोनों का विवाह सम्बन्ध कराकर समस्त धन नव वर-बधू को सादर समर्पित कर दिया। इससे दोनों को सन्तोष हुआ।

करैं सेवा-पूजा और काम नहिं दूजा तब फैलि गई भक्ति भये शिष्य बहु भायकै।
बड़ोई समाज होत मानौं सिन्धु सोत आये बिबिध बधाये गुनीजन उठे गायकै।।
आई एक नटी गुण रूप धन जटी वह गावै तान कटी चटपटी-सी लगायकै।
दिये पट भूषन लै भूख न मिटत किहूँ चहुँदिसि हेरि पुत्र दियौ अकुलायकै।।३५२।।

शब्दार्थ—भायकै=भाव-प्रेम करके। जटी=जड़ी हुई। कटी=कटीली, सुरीली। चटपटी= चटकीली, मनमोहिनी। भूख=इच्छा। हेरि=देखि।

भावार्थ—अब श्रीविट्ठलदासजी सदा भगवान् की ही सेवा-पूजा में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा कार्य नहीं करते थे। धीरे-धीरे जब आपकी भक्ति की कीर्ति चारों ओर फैल गयी, तो बहुत से लोग प्रेमपूर्वक आकर आपके शिष्य बन गये। आपके यहाँ उत्सव-समैया पर रसिकजनों तथा गुणी-गायकजनों का बहुत बड़ा समाज एकत्रित होता था। उस समय चारों ओर से उमड़ते हुए भक्तजन इस भाँति आपके यहाँ आते थे जैसे नदियाँ उमड़ती हुईं सागर में मिलने जाती हैं। एक बार ऐसे ही समाज के अवसर पर गुणीजनों ने बधाई के विविध पद गाये। सभी भक्तजन आनन्द में झूम-झूमकर भक्तिरस में सराबोर हो रहे थे। इसी बीच वहाँ रूप, गुण, धन से जटित एक नटी आयी और भगवान् के समक्ष नृत्य-गान करने लगी। जब वह विविध मूर्च्छनाओं के साथ कटीली तान से सभी के हृदय में प्रेम की चटपटी-सी उत्पन्न करती हुई गाने लगी तो उसके कौशल पर रीझकर श्रीविट्ठलदासजी ने पुरस्कार में उसे बहुत से वस्त्राभूषण दिये परन्तु फिर भी उनको सन्तोष

नहीं हुआ तो चारों ओर देखकर जब अन्य कोई वस्तु देने योग्य नहीं मिली तो प्रेम से व्याकुल होकर अपने पुत्र को ही भगवान् के ऊपर न्योछावर करके उस नटी को दे दिया।।३५२।।

व्याख्या—काम नहिं दूजा—यह परम भागवतों की रहनि है कि वे अपने आराध्य की आराधना के अतिरिक्त मन को अन्य किसी भी कार्य में नहीं लगाते हैं। यथा-श्रीकाकभुशुण्डिजी- "तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।।' (रामा०), श्रीहरिराम व्यासजी यथा-"जाकी उपासना ताही की वासना ताही कौ नाम रूप गुन गाइयै। यहै अनन्य धर्म परिपाटी वृन्दावन बसि अनत न जाइयै।। सोई व्यभिचारी आन कहै आन करै ताको मुख देखे दारुण दुख पाइयै। व्यास होइ उपहास त्रास कियैं आस अछत कित दास कहाइयै।। "गुण रूप धन जटी"- अर्थात् उस नटिनी का रूप तो सुन्दर था ही, उस पर भी वह धन जटी अर्थात् बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत थी, साथ ही गुणवती भी थी। मन को मोहित करने के लिए तो एक ही पर्याप्त है लेकिन जहाँ पर ये तीनों हों, वहाँ का तो कहना ही क्या है। जैसे-पित्त, कफ, वायु ये तीनों मिलकर प्रबल होकर सन्निपात उत्पन्न करते हैं, जिसमें रोगी अपनी समस्त सुधि बुधि खो बैठता है। ठीक उसी प्रकार से शोभा, शृंगार और गुणों का उत्कर्ष भी प्राणी को तत्क्षण उन्मत्त बना देता है। "दिये पट भूषन"-श्रीविट्ठलदासजी ने प्रथम तो अन्यान्य वस्तुयें न्योछावर में दीं, परन्तु जब उससे भी आपको सन्तोष नहीं हुआ तो श्रीठाकुरजी के वस्त्राभूषणों को देने लगे तब भी आपकी तृप्ति नहीं हुई तो अपने पुत्र को ही उस नटिनी को न्योछावर में दे दिया। ऐसे रिझवार थे श्रीविट्ठलदासजी। (इस पर दृष्टान्त श्रीरामरयनजी का-श्रीरासविहारी भगवान् को अपनी पुत्री ही अर्पित कर दिये। देखिये कवित्त-४८९)

'रंगीराय' नाम ताकी शिष्या एक राना सुता भयो दुख भारी नेकु जलहूँ न पीजियै।
कहिकै पठाई वासौं चाहौ सोई धन लीजै मेरौ प्रभुरूप मेरे नैननि कूँ दीजियै।।
द्रव्य तौ न चाहौं रीझि चाहौं तन मन दियौ फेरिकै समाज कियौ विनती कौ कीजियै।
जिते गुनीजन तिनै दियो अनगन दाम पाछे नृत्य कर्‌यो आप देत सो न लीजियै।।३५३।।

शब्दार्थ—समाज=भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलादि का कीर्तन करने वालों की सभा। अनगन=अगणित।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी के सुपुत्र का नाम श्रीरंगीरायजी था। श्रीराणा साहब की एक पुत्री श्रीरंगीरायजी की शिष्या थी। जब उसने सुना कि हमारे श्रीगुरुदेवजी को उनके पिताजी ने न्योछावर में किसी नटिनी को दे दिया है तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ, उसने एकदम अन्न-जल का परित्याग कर दिया। राणा सुता ने उस नटिनी को सन्देश भेजा कि तुम्हें जितने धन की कामना हो उतना धन ले लो, लेकिन मेरे नेत्रों की परमनिधि

मेरे श्रीभगवद्स्वरूप श्रीगुरुदेवजी को मुझे वापस दे दो। उस नटिनी ने उत्तर में कहा कि द्रव्य की तो मुझे किंचित्मात्र भी चाहना नहीं है, हाँ मैं रीझकर तो अपना तन-मन तथा सर्वस्व दे सकती हूँ। तब राणाजी की सुपुत्री ने श्रीविट्ठलदासजी से पुनः समाज कराने की प्रार्थना की, उसकी प्रार्थना स्वीकार कर श्रीविट्ठलदासजी ने द्वितीय बार समाज का आयोजन किया। समाज कराने का समस्त खर्च राणा की पुत्री ने ही किया। समाज में जितने भी गायक-गुणीजन आये थे, उन्हें उसने अगणित द्रव्य प्रदान किया। तत्पश्चात् राणा की पुत्री ने स्वयं भी समाज में नृत्य किया। इनके नृत्य पर गायक-गुणीजन एवं आगन्तुकों की प्रसन्नता की तो बात ही क्या, स्वयं वह नटिनी भी न्योछावर में बहुत-सा धन देने लगी, परन्तु उसने उस धन को लेने से मना कर दिया।।३५३।।

ल्याई एक डोला में बैठाय रंगीराय जू कौ सुन्दर सिंगार कही बार तेरी आइयै।
कियौ नृत्य भारी जो विभूति सो तौ वारी लिये भरि अँकवारी भेंट किये द्वार गाइयै।।
मोहन न्योछावर मैं भयौ मोहि लेहु मति' लियौ उन शिष्य तन तज्यौ कहाँ पाइयै।
कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रनि कौ जोपै लाल मित्र कियौ चाहौ हिये ल्याइयै।।३५४

शब्दार्थ—विभूति=धन-सम्पत्ति। वारी=न्योछावर की। अँकवारी=गोद। लाल=नँदलाल।

भावार्थ—वह नटिनी श्रीरंगीरायजी का सुन्दर शृंगार करके इन्हें एक डोले में बैठाकर सभा में लायी और इनसे बोली कि अबकी बार तुम्हें भी न्योछावर करना है। अपने श्रीगुरुदेवजी को आया देखकर राणाजी की सुपुत्री ने प्रेमावेश में बड़ा प्रभावशाली नृत्य किया। नटिनी ने राणा सुता के नृत्य से मुग्ध हो, जो इसके पास धन-सम्पत्ति थी, उसे तो इसने पहले ही न्योछावर कर दी थी तथा राणा सुता ने भी उस न्योछावर को लेने से मना कर दिया था। अतः अबकी बार नटिनी ने श्रीरंगीरायजी को ही गोद में उठाकर श्रीठाकुरजी के द्वार पर ले जाकर भगवान् को न्योछावर करके राणा सुता को भेंट किया, जब राणा सुता ने उनको लेने के लिये हाथ बढ़ाया तो इन्होंने कहा कि मैं तो प्रथम में ही श्रीमनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रजी के न्योछावर हो चुका हूँ, अतः तुम मुझे मत लो। परन्तु प्रेमार्त्त उनकी शिष्या राणा सुता ने इन्हें ले ही लिया। इस प्रकार राणा की पुत्री का अभीष्ट तो सिद्ध हो गया, लेकिन दूसरे ही क्षण श्रीरंगीरायजी ने अपने तन को त्याग दिया। ऐसे श्रीरंगीरायजी को एवं उनकी इस प्रकार की श्रद्धा-निष्ठा को कोई कहाँ पा सकता है? श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने ऐसे परम विचित्र रसिकों के चरित्र कहे। यदि आप श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी को अपना मित्र बनाना चाहते हैं तो ऐसे रसिक महानुभावों का चरित्र हृदय में धारण करना चाहिये।।३५३।।

व्याख्या—मोहन न्योछावर मैं भयौ—श्रीरंगीरायजी को एक बार इनके पिताजी ने भगवान् को न्योछावर करके नटिनी को दे दिया था। अब नटिनी ने भी इन्हें श्रीठाकुरजी को न्योछावर करके राणा सुता को दे रही है। न्योछावर की यह परम्परा श्रीरंगीरायजी को रुची नहीं, क्योंकि व्यापारी के माल की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाना उचित नहीं लगा। भगवान् पर तो एक बार ही न्योछावर हुआ जाता है। अतः अबकी बार आपने स्वयं अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अब मैं अपने देह के साथ-साथ, अपने प्राणों को भी श्रीठाकुरजी के चरणों में न्योछावर कर दूँगा। अपने इस दृढ़ निश्चय के अनुसार ही आपने राणा सुता को न्योछावर में स्वयं को लेने से निषेध किया था। "तन तज्यौ"-इसका एक कारण तो प्रथम में ही लिखा जा चुका है। दूसरा कारण यह भी है कि आपको इस बात की मन में अत्यन्त ग्लानि हुई कि कहाँ तो गुरु शिष्य को संसार बंधन से मुक्त करता हैं, कहाँ आज शिष्य ही मुझ गुरु को नटिनी के बन्धन से मुक्त कर रहा है, यह लोक में लज्जा की बात है। लोक में लज्जित होकर जीवन धारण करने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त होना ही श्रेयस्कर है। अतः तन तज्यौ० ।।

दृष्टान्त—भीम का—श्रीद्रौपदीजी के चीर हरण प्रसंग में जब द्रौपदी की आर्त्त-पुकार पर द्रवित होकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका वस्त्र बढ़ाया तो उस समय धृतराष्ट्र परम सती श्रीद्रौपदीजी के इस अलौकिक पातिव्रत्य के प्रभाव से विशेष चमत्कृत हुए और प्रसन्न होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये इच्छित वर माँगने को कहा। तब द्रौपदीजी ने यह वर माँगा कि आपके पुत्रों ने जो छलपूर्वक जुआ (द्यूत, क्रीड़ा) में हराकर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिजी महाराज को दास बना लिया है, उनको शीघ्र ही दासता के बन्धन से मुक्त किया जाय। धृतराष्ट्र ने यह वर देकर पुनः कहा कि पुत्री! मात्र एक वर देने से मुझे सन्तोष नहीं हो रहा है, अतः तुम पुनः दूसरा वर माँगो। तब द्रौपदीजी ने दूसरा वर यह माँगा कि मेरे सभी पति दासता के बन्धन से मुक्त कर दिये जायँ। यह वर देकर धृतराष्ट्र ने पुनः तीसरा वरदान माँगने को कहा। तब द्रौपदीजी ने कहा कि प्रथम तो अधिक लोभ उचित नहीं है, दूसरे मुझे तीन वरदान लेने का अधिकार भी नहीं है। यथा-"एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ। त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतंवराः।।" (महाभारत, स.प.अ.-७१, श्लोक-३५), अर्थ-राजेन्द्र! वैश्य को एक वर माँगने का अधिकार बताया गया है। क्षत्रिय स्त्री दो वर माँग सकती है एवं क्षत्रिय पुरुष तीन वर माँग सकता है तथा ब्राह्मण को एक सौ वरदान लेने का अधिकार है। अतः मैं अब आपसे तीसरा वरदान नहीं माँग सकती हूँ। पुनः

धृतराष्ट्र चाहते थे कि द्रौपदी तीसरे वरदान में द्यूत-क्रीड़ा द्वारा गया हुआ अपना राज्य भी वापस माँग ले। परन्तु द्रौपदीजी तो यह समझती थीं कि मेरे पति महावीर हैं, ये राज्य तो अपने भुजबल से भी प्राप्त कर लेंगे फिर उसे क्या माँगना? अतः तीसरा वरदान नहीं माँगा। कहते हैं कि यह सब होने के पश्चात् श्रीभीमसेनजी अत्यन्त खेदपूर्वक बोले कि धिक्कार है हम लोगों के पुरुषार्थ को, वीरता को, मनुष्यत्व को, जो कि हम लोग अबला के छुड़ाने से दासत्व के बन्धन से छूटे हैं। कहाँ तो पुरुष, स्त्री का पति होता है, उसका रक्षक होता है, कहाँ आज स्त्री ही हम लोगों की रक्षा कर रही है और हम पुरुष होकर भी स्त्री की रक्षा नहीं कर सके। भैया सहदेव! अग्नि तो लाओ। श्रीअर्जुनजी ने पूछा-ऐसे अवसर पर अग्नि की क्या आवश्यकता है? भीमसेन ने कहा-धर्मराज युधिष्ठिरजी महाराज ने जिन हाथों से जुआ जैसा निन्द्य क्रीड़ा खेलकर यह महान् अनर्थ उत्पन्न किया है हम उनके दोनों हाथों को जलायेंगे। श्रीअर्जुनजी ने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर भीमसेन को शान्त किया, तो जैसे भीमसेन को अत्यन्त ग्लानि हुई थी।'' ठीक उसी प्रकार से ही श्रीरंगीरायजी को भी अत्यन्त ग्लानि हुई, अतः ''तन तज्यौ''।

कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रनि कौ—इस प्रसंग के सभी पात्र विचित्र रसिक हैं। श्रीविट्ठलदासजी ऐसे रसिक हैं कि इन्होंने अपने प्रिय पुत्र को ही न्योछावर कर दिया। राणा सुता ऐसी विचित्र रसिक हैं कि इन्होंने श्रीसद्गुरुदेवजी की प्राप्ति के लिये लोक-लाज, कुल-मर्यादा का भी उल्लंघन कर भरी सभा में उद्दाम-नृत्य-गान करके नटिनी को प्रसन्न किया। नटिनी ऐसी विचित्र रसिक है कि कहती है कि-''द्रव्य तौ न चाहौ रीझि चाहौं तन मन दियौ।'' जबकि यह पेशेवर जाति है, धनादि के लिये ही इनका समस्त कौशल होता है। श्रीरंगीरायजी ऐसे विचित्र रसिक निकले कि श्रीठाकुरजी के ऊपर यथार्थ में तन-मन-धन एवं निजप्राणों को न्योछावर कर दिया। अतः श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने इस प्रसंग में परम विचित्र रसिकों का चरित्र कहा।

श्रीहरिरामजी हठीले

हरिराम हठीले भजनबल राणा को उत्तर दियौ।।
उग्रतेज, ऊदार, सुघर, सुथराई सींवा।
प्रेमपुंज, रसरासि, सदा गद्‌गद सुर ग्रीवा।।
भक्तन को अपराध करै ताकौ फल गायौ।

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद प्रगट दृष्टान्त दिखायौ।।
सस्फुट बकता जगत् में राजसभा निधरक हियौ।
हरिराम हठीले भजनबल राणा को उत्तर दियौ।।८५।।

शब्दार्थ—हठीले=हठी, दृढ़-प्रतिज्ञ। राणा=राजपूत सरदार, राजा, चित्तौड़ के राजाओं की पदवी। उग्र=प्रचण्ड, तीक्ष्ण। तेज=प्रताप, प्रभाव। सुघर=सुन्दर। सुथराई=सफाई, स्वच्छता, निर्मलता। प्रेमपुंज=महान् प्रेमी, प्रेमराशि। ग्रीवा=कण्ठ। सस्फुट=स्पष्ट, साफ-साफ, सत्य। निधरक=निडर, निर्भीक।

भावार्थ—श्रीहरिराम हठीलेजी ने भजन के बल से चित्तौड़ के राणा के साथ निर्भय होकर उत्तर-प्रत्युत्तर किया। आप परम तेजस्वी, उदार, सुन्दर एवं स्वच्छता, पवित्रता की सीमा थे। आप प्रेम के निधान तथा भक्तिरस की राशि थे। प्रेमावेश के कारण आपके कण्ठ का स्वर सदैव गद्‌गद रहा करता था अर्थात् सदा गद्‌गद वाणी में ही बोलते थे। भक्तों का अपराध करने पर, उसका क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, यह बात आपने जोर देकर कही है और इसकी पुष्टि में आपने हिरण्यकशिपु एवं श्रीप्रह्लादजी का ज्वलन्त दृष्टान्त दिया है। आप संसार में बड़े स्पष्ट वक्ता थे। आपने राज्यसभा में भी निर्भय होकर राणाजी को उत्तर दिया।।८५।।

व्याख्या—हरिराम हठीले—आप अपने सिद्धान्त के बड़े पक्के थे। दृढ़-प्रतिज्ञ एवं हठी थे, अतः आपका नाम ही ''हठीले'' पड़ गया। ''भजन बल''-यह सर्वोपरि बल है। यथा-''तहँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।।'' (रामा०), सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी भजन बल के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। यथा-''कौतुक देखि चले गुरु पाहीं।। जानि बिलम्ब त्रास मन माहीं।। जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाव देखावत सोई।।'' (रामा०), फिर तो राणा जैसे राजा की तो बात ही क्या है ''राणा को उत्तर दियौ'' -समर्थ पुरुष एवं चतुर-विवेकी पुरुष अनीति देखकर चुप नहीं रह सकते हैं। यथा-''चोर चुप्प ह्वै रहै रात में पर घर ताकै। तिरिया चुप करि रहै खसम डर बोलि न साकै।। चाकर चुप ह्वै रहै सील साहिब को मानै। मूरख चुप करि रहै सभा में बोलि न जानै।। पीपर पत्र हस्तीकरन ये निसिदिन डोलत रहैं। बेताल कहैं विक्रम सुनौं चतुर चुप्प क्यों कर रहैं।।'' ''भक्तन को अपराध'' यथा-''जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।। लोकहुँ वेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानै दुरवासा।। मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई।।'' (रामा०), सपनेहुँ सुख न सन्त द्रोही कहुँ सुरतरु सोउ

विष फरनि फरै।।'' (वि०), (सम्पूर्ण पद, पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३३० पर देखें), यथा-''साधु सताये हानि त्रय अर्थ धर्म अरु वंस। टीला नीके देखिले रावन कौरव कंस।। रावणारि के दास को कायर करहिं कुचालि। खरदूषण मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि।। धनुष बाण धारे रहत अग्रदास के काज। भीर परै जहँ भक्त पै सावधान रघुराज।।'' भगवान् का अवतार ही ''परित्राणाय साधूनां'' होता है। यथा-''भगत के अपराधी दुखिया। इहाँ उहाँ कहुँ चैन न पावैं निज कृत फल चखिया।। निज भक्तन की सेवा कीने दुहुँ ठां ते सुखिया। रावन कंस दुजोधन कौरव हिरनकसिपु से मुखिया। सकुल सदल बल नास भयेहू जग कलंक रखिया। सुर भूसुर रिषि जगत् पूज्य हैं श्रुति पुरान साखिया।। दुरवासा सुरपति असुथामा सरन गये हरि नखिया। राममित्र दासन अपराधे नरकहुँ ठौर न लखिया।।''

सस्फुट बकता—यह सन्त की रहनि है। सन्त बोलेंगे तो सत्य यथार्थ, स्पष्ट अन्यथा मौन ही रहेंगे। यथा-''की मुख पट दीन्हे रहें यथा अर्थ भाषन्त। तुलसी या संसार में सो विचारयुत् सन्त।। बोलै वचन विचारिकै लीन्हे सन्त सुभाव। तुलसी दुख दुर्वचन के पन्थ देत नहिं पाँव।। शत्रु न काहू को गनैं मित्र गनैं नहिं काहि। तुलसी यह मत सन्त को बोलै समता माहि।।'' (वै०सं०), ''राजसभा निधरक हियौ''-इसका भाव यह है कि आप न राजा से भयभीत हुए और न संन्यासी से ही। यह बात आगे के कथा प्रसंग से विदित होता है।

राणा सौं सनेह सदा चौपर कौं खेल्यौ करै ऐसो सो संन्यासी भूमि सन्त की छिनाई है।
जायकै पुकार्‌यौ साधु झिरकि बिडार्‌यौ पर्‌यौ विमुखके वश बात साँचीलै झुठाई है।।
आये हरिराम जू पै सबही जताई रीति प्रीति करि बोले चल्यौ आगे आवै भाई है।
गये बैठे आयौ जन मन में न ल्यायौ नृप तब समुझायौ झार्‌यौ फेरि भू दिवाई है।।३५५।।

शब्दार्थ—चौपर=चौपड़, एक खेल। झिरकि=फटकार कर। बिडार्‌यौ=भगायौ। जताई=जनाई, बताई। झार्‌यौ=फटकार्‌यौ।

भावार्थ—एक संन्यासी थे, उनका राणा साहब के साथ विशेष स्नेह था, वह उनके साथ में सदा चौपड़ खेला करते थे। उन्होंने राणा साहब का बल पाकर एक वैष्णव-सन्त की भूमि छिनवा ली थी। सन्तजी ने राणा के पास जाकर प्रार्थना की, परन्तु वह चूंकि विमुख सन्यासी के वेश में था, अत: उसने संतजी को डाँट-फटकारकर भगा दिया। संतजी की सत्य बात को भी झूठी करके अनसुनी कर दी। तब वह संतजी, श्रीहरिरामजी हठीले के पास आये और अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाये। श्रीहरिराम हठीलेजी ने उन वैष्णव-संतजी को अपना भाई समझकर उनसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक वार्तालाप किये तथा बहुत प्रकार से आश्वासन दिये और उनको साथ में लेकर

आगे-आगे राणा के पास चले। दोनों महानुभाव राणा के यहाँ पहुँचे और उनसे वार्तालाप करने की प्रतीक्षा में बहुत देर तक बैठे रहे, परन्तु उस विमुख राणा ने इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया कि मेरे यहाँ संत-महात्मा आये हैं। तब श्रीहरिराम हठीलेजी ने स्वयं वार्ता चलायी और राजा को समझाया कि वह संन्यासी से वैष्णव-संतजी के आश्रम को वापस करा दें। परन्तु जब राणा ने इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया तो आपने निर्भय होकर राणा को बहुत फटकार लगायी और अन्त में उसको लोक-परलोक का भय बताकर वैष्णव-संतजी की भूमि को पुनः वापस करवा दिया।।३५५।।

व्याख्या—राणा सौं सनेह.....ऐसो सो संन्यासी—इससे संन्यासी की विषयासक्ति दर्शायी गई है। नहीं तो संन्यासी को तो एकान्त देश में रहकर ध्यानावस्थित होकर ब्रह्मसुख का अनुभव करना चाहिये। परन्तु यह ब्रह्मानन्द अनुभव परित्याग कर राणा के यहाँ चौपड़ खेलता था। ऐसे ही लोगों के लिये श्रीतुलसीदासजी ने लिखा है- ''नारि मुइ गृह सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।'' (रामा०) ऐसे ही लोग संन्यास ग्रहण करने के बाद भी विषय सुख ही खोजते रहते हैं। यथा-''बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह न रहि विरती।।'' (रामा०), यथा-''विषम विषय जे भरि रहे, राजा मद रंग भोइ। तिनके द्वारे रहत जे विषयी जानो सोइ।।'' अतः यह संन्यासी विषयी था। ''भूमि संत की छिनाई है-यह संन्यासी प्रथम में इन वैष्णव-संतजी के आश्रम पर आया, सन्तजी ने प्रेमपूर्वक इसकी सेवा की तो यह आश्रम में स्थायी रूप से रहने लग गया। धीरे-धीरे इस ने राणा से स्नेह-सम्बन्ध कर लिया और अन्त में वैष्णव-संत को आश्रम से निकालकर उस भूमि पर अपना ही अधिकार जमा लिया। ''भाई है''-श्रीभगवद्-सम्बन्ध से सभी वैष्णव भाई-भाई होते हैं। कण्ठी-माला-तिलक का अति सन्निकट का सम्बन्ध है। संसार में तो लोग बहुत दूर का रिश्ता जोड़कर परस्पर सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इस पर-

दृष्टान्त—एक पण्डितजी का—एक पण्डितजी बैलगाड़ी पर पोथी-पत्रा आदि कुछ सामान रखे हुए कहीं परदेस जा रहे थे। रात्रि में विश्राम करने के लिये एक सज्जन के द्वार पर बैलगाड़ी खड़ी कर दी, बैल बाँध दिये और स्वयं भी आसन लगाकर बैठ गये। मकान मालिक ने पूछा कि-''बिना जान-पहचान के,बिना पूछताछ किये आप हमारे द्वार पर क्यों ठहरे हैं?'' पण्डितजी ने कहा-आप हमारे सम्बन्धी हैं, अतः आपके यहाँ मैंने निःसंकोच बिना पूछताछ के ही डेरा डाल दिया है। मकान मालिक ने पण्डितजी से जिज्ञासा की कि हमारा-आपका कौन-सा सम्बन्ध है? तब पण्डितजी ने कहा-''अस्माकं बदरी चक्रे युष्माकं बदरी गृहे।

सम्बन्धेनैव तेनाद्य वासमत्र करोम्यहम्।।" अर्थात् हमारी गाड़ी का पहिया बदरी (बेर) काष्ठ का है और आपके आँगन में भी बेर का वृक्ष है, यही हमारा और आपका सम्बन्ध है। अतः मकान मालिक पण्डितजी की इस युक्ति पर परम प्रसन्न हो गया और उनको सभी प्रकार की सुविधायें प्रदान कीं। जब संसार में इस प्रकार से आत्मीयता का सम्बन्ध रक्खा जाता है। तो यहाँ पर तो परमार्थ का सच्चा सम्बन्ध है, अतः "भाई है" कहा। (इस पर दृष्टान्त-"शेरगढ़ के आमिल का"। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६५), पुनः "भाई है"-का दूसरा भाव यह है कि श्रीहरिराम हठीलेजी को संत-सेवा प्रिय लगती है। इसी ब्याज से 'सन्त-सेवा का योग प्राप्त हुआ, अतः इनको राणा के यहाँ चलने की बात अनुकूल लगी, नहीं तो ये क्योंकर ऐसे रजोगुणियों के यहाँ जाने लगे?

झार्यौ—श्रीहरिराम हठीलेजी ने राजा और संन्यासी इन दोनों को फटकारा। संन्यासी को तो यह फटकार लगाई कि तुम संन्यास लेकर भी स्वधर्म परित्याग कर चौपड़ खेलते हो एवं रजोगुणी लोगों से स्नेह रखते हो। जगह-जमीन का संग्रह करते हो, जिसने तुम्हारी सेवा की उसी के साथ विश्वासघात करते हो इत्यादि। फिर राणा को फटकार लगायी कि तुम एक विमुख के कहने में आकर वैष्णव-सन्त का तिरस्कार करते हो। तुम्हें मालूम नहीं है कि साधु को सताने का क्या दुष्परिणाम होता है। गो० तुलसीदासजी ने लिखा है-"मुनि तापस जिन्हते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।। मंगल मूल विप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।।" (रामा०), पश्चात् श्रीहरिराम हठीलेजी ने हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद का दृष्टान्त दिया। तब राणा ने भयभीत होकर संतजी के आश्रम को, जो कि अवैध रूप से उस पर संन्यासी ने अधिकार कर लिया था, वह भूमि पुनः श्रीवैष्णव-संतजी को वापस दिलवा दी।

श्रीकमलाकरभट्टजी

'कमलाकर भट्ट' जगत में तत्त्ववाद रोपी धुजा।।
पण्डित कला प्रवीन अधिक आदर दे आरज।
सम्प्रदाय सिर छत्र द्वितीय मनो मध्वाचारज।।
जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जानैं।
परिपाटी 'ध्वज बिजै' सदृश भागौत बखानैं।।
श्रुति स्मृति सम्मत पुरान तप्तमुद्रा धारी भुजा।
'कमलाकर भट्ट' जगत में तत्त्ववाद रोपी धुजा।।८६।।

शब्दार्थ—तत्त्ववाद=दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार। रोपी=स्थापित की। धुजा =ध्वजा, झण्डा। आरज=आर्य, श्रेष्ठ। परिपाटी=रीति, प्रणाली।

भावार्थ—पण्डित श्रीकमलाकर भट्टजी ने संसार में तत्त्ववाद की ध्वजा फहराई अर्थात् आपकी तत्त्व-निरूपणशैली अपूर्व थी, सर्वश्रेष्ठ थी, सर्वमान्य थी। आप शास्त्रार्थ, खण्डन-मण्डन एवं शंका समाधानादि की कलाओं में परम प्रवीण थे। श्रेष्ठ पुरुष आपका विशेष आदर-सत्कार करते थे। आप ''श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय'' के शिरमौर थे। आपको देखकर ऐसा लगता था जैसे कि आप ब्रह्म-सम्प्रदाय प्रवर्त्तकाचार्य श्रीमन्माध्वाचार्यजी की ही प्रतिमूर्ति हों। आप भगवान् के समस्त अवतारों को पूर्णावतार ही जानते एवं मानते थे। श्रीमद्भागवत की ''विजयध्वजी'' टीका की पद्धति से श्रीमद्भागवत की व्याख्या करते थे। आपके वचन श्रुति, स्मृति, पुराण सम्मत होते थे। आप अपनी भुजाओं पर तप्त मुद्राओं को धारण किये हुए थे।।८५।।

व्याख्या—तत्त्ववाद—तत्वों के सम्बन्ध में ऋषियों में मतैक्य का अभाव है। पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार तत्वों की संख्या अट्ठाईस, छब्बीस, पच्चीस, सत्रह, सोलह, तेरह, ग्यारह, नौ, सात, छः अथवा चार है।

जिनका विवरण इस प्रकार से है-''अट्ठाईस''-पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका, रसना, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण।

छब्बीस पंचमहाभूत—(क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पंचज्ञानेन्द्रिय (श्रोत, त्वचा, चक्षु, नासिका, रसना), पंचकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), मन, पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) चौबीस तत्व ये हुए। पच्चीसवाँ, जीवात्मा। छब्बीसवाँ, परमात्मा।

पच्चीस तत्व—पूर्वोक्त छब्बीस तत्वों में जीवात्मा एवं परमात्मा को एक ही मानने से पच्चीस तत्व ही सिद्ध होते हैं।

सत्रह तत्व—पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा।

सोलह तत्व—पूर्वोक्त सत्रह तत्वों में मन और आत्मा को एक मान लेने से सोलह तत्व ही शेष रहते हैं।

तेरह तत्व—पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, मन, आत्मा, परमात्मा।

ग्यारह तत्व—पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, आत्मा।

नौ तत्व—पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, पुरुष।

सात तत्व—पंचमहाभूत, जीवात्मा, परमात्मा।

छः तत्व—पंचमहाभूत, परमात्मा।

चार तत्व—आत्मा, तेज, जल, पृथ्वी।

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय बाईस में श्रीउद्धवजी के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने भिन्न-भिन्न विद्वानों के मत से तत्त्वों की संख्या उक्त प्रकार से वर्णन की है। नाना मुनियों के नाना मत। सभी अपने-अपने मतों का समर्थन करते हैं। परन्तु श्रीकमलाकर भट्टजी को, मूलतत्व को छोड़कर शाखा-पल्लव में ही उलझकर अपना अमूल्य जीवन नष्ट करना उचित नहीं लगता था अतः आपने तत्वों की संख्या सम्बन्धी विवाद छोड़कर मूलतत्व श्रीकृष्ण का ही निरूपण किया। यथा-"चारि पाँच छः नौ तथा छब्बीस अरु पच्चीस। कमलाकर भट्ट के मते एक तत्व जगदीस।।" (भ०व०टि०), आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने भी तो इसी को परम सत्य तत्त्व माना है। यथा-"कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।" (सम्पूर्ण श्लोक देखिये इनके चरित्र में)।

पण्डित कला प्रवीन—देखा गया है कि प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी बड़े-बड़े विद्वान् "पण्डितकला" के ज्ञान के अभाव मे स्वपक्ष सिद्धि एवं संस्थापन में असमर्थ पाये जाते हैं। यह कला तो किसी विरले पण्डित को ही परिज्ञात होती है। यथा-"खण्डन मण्डन की कला विरले पण्डित माहिं। युक्ति सहित उत्तर उचित पण्डित कला कहाहिं।। (भ०व०टि०)।

दृष्टान्त—कालिदासजी का—राजा भोज के दरबार में एक बार "रावण" शब्द पर विचार-विमर्श हुआ। किसी पण्डित ने "रावण" तो किसी ने "रामण" शब्द को उचित माना और उसको सिद्ध किया। कालिदासजी के एक शिष्य ने "राभण" कहा और उसका अर्थ किया-"रकारं अभणतीति राभणः" अर्थात् जो रकार का उच्चारण नहीं करता हो। विद्वानों ने जब कालिदासजी से इसके अर्थ के औचित्य के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने अपने शिष्य का ही समर्थन करते हुए कहा कि- "भकारः कुम्भकर्णे च भकारश्च विभीषणे। तयोर्ज्येष्ठे च श्रेष्ठे च भकारः किं न विद्यते।।" अर्थात् जब कुम्भकर्ण और विभीषण के नाम में भकार है तो दोनों से ज्येष्ठ श्रेष्ठ के नाम में भकार क्यों न हो। यह युक्ति युक्त अर्थ सुनकर सभी पण्डित चुप रह गये।

पुनश्च—''सभायां पण्डिता: केचित्केचित्पण्डितपण्डिता:। गृहेषु पण्डिता: केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिता:।।'' अर्थात् कोई तो सभा के पण्डित होते हैं, कोई पण्डितों के मध्य पण्डिताई करने वाले होते हैं, कोई घर में स्त्रियों के बीच विद्वत्ता दिखाने वाले होते हैं तथा कोई, मूर्खों के मध्य पाण्डित्य प्रकाशित करने वाले होते हैं, तत्व के जानने वाले एवं तत्व के रहस्य को बताने वाले पण्डित तो कोई विरले ही होते हैं। परन्तु श्रीकमलाकरभट्टजी स्वयं तत्व के ज्ञाता थे एवं अन्य को भी तत्व का रहस्य बताने वाले थे, अत: इन्हें पण्डित-कला प्रवीण कहा। ''सम्प्रदाय सिर छत्र''-इसका भाव यह है कि जैसे छत्र से सिर की शोभा एवं सुरक्षा दोनों ही होती हैं, ठीक उसी प्रकार से ही आपके द्वारा सम्प्रदाय की शोभा एवं सुरक्षा भी हुई। ''जेतिक हरि अवतार''-इस सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१३४, कवित्त-१४ की व्याख्या। ''परिपाटी ध्वज विजै''-पण्डित श्रीविजयध्वजजी ने श्रीमद्भागवत की जो टीका की है, उसे ''विजयध्वजी'' टीका कहते हैं। आपका इस टीका के प्रति विशेष भाव था। अत: इसी के अनुसार ही श्रीमद्भागवतजी की व्याख्या करते थे।

तप्तमुद्रा धारी भुजा—तप्तमुद्रा धारण करना वैष्णव पंच- संस्कारों में से एक संस्कार है, इनकी महिमा अनन्त है। यथा-''मन्मुद्राङ्कितदेहो यो मद्भक्तो भुवि दुर्लभ:। मामपेक्षते धर्मात्मा इहैकान्तेन चेतसा।। चक्राङ्कित भुजा किंचित् यत्र कुत्र वसन्ति वै। योजनानि तथा त्रीणि मम क्षेत्रं वसुन्धरे।। ये केचिद् यज्ञपुरुषा विष्णुचक्रेण मुद्रिता:। तेषां दर्शनमात्रेण महापातकनाशनम्।।'' (व०पु०), अर्थ- मेरी मुद्रा से अंकित देह वाला मेरा भक्त पृथ्वी में दुर्लभ है। धर्मात्मा पुरूष एकान्तचित्त से मेरी अपेक्षा करता है अर्थात् मेरी अकांक्षा एवं मेरा चिन्तन करता है एवं चक्रांकित भुज होकर मेरे भक्त जहाँ कहीं निवास करते हैं वहाँ तीन योजन तक मेरा ही क्षेत्र माना जाता है। विष्णुचक्र से मुद्रित होकर कोई व्यक्ति जहाँ कहीं भी बैठता है, उसके दर्शनमात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।पुनश्च-''शंखचक्रांकहीनैश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितै:। कृतं पूजाप्रतिष्ठादि तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।।''अर्थ- जो लोग शंख, चक्र की छाप से रहित हैं एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकविहीन हैं, उनके द्वारा की गयी पूजा-प्रतिष्ठादि सभी निष्फल होते हैं।

एकदिन श्रीकमलाकरभट्टजी एकान्त में बैठकर श्रीभगवल्लीलाओं का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय एक शाक्त ने आपके पास आकर शास्त्रार्थ की चुनौती दी। प्रथम तो आपने उसे वैसे ही टाल देना चाहा, परन्तु जब वह हठ करने लगा तो आप भी शास्त्राथ के लिए तैयार हो गये। उसने विविध युक्तियों से अपने मत का समर्थन एवं श्रैष्ठय् प्रतिपादन किया। परन्तु आपने अनायास ही उसके समस्त सिद्धान्तों का ऐसा खण्डन किया कि उसकी

वाणी ही बन्द (शब्दकोष विहीन) हो गयी। तब वह पुनः दूसरे दिन के लिए शास्त्रार्थ को स्थगित करके घर आया और अपनी आराध्या देवी का ध्यान करने लगा। देवी ने साक्षात् प्रकट होकर इसे दर्शन दिया। जब शाक्त ने उपालम्भ पूर्वक देवी से यह कहा कि कल तुमने शास्त्रार्थ में मेरी सहायता नहीं की, मैं परास्त हो गया, मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बनकर बैठा रहा। तब देवीजी ने स्पष्ट कहा कि कमलाकरभट्टजी भगवान के परम भक्त हैं, भला उनके सामने मेरा अस्तित्व ही क्या है? मैं तो उनकी दासी भी होने के योग्य नहीं हूँ। देवी के श्रीमुख से "भक्त, भक्ति, भगवन्त की यह महामहिमा सुनकर उस शाक्त की आँखें खुलीं और उसने तुरन्त आकर श्रीकमलाकरभट्टजी से वैष्णवी-दीक्षा लेकर अपने को परम धन्य माना।

श्रीनारायणभट्टजी

ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियौ।।
गोप्य स्थल मथुरा मण्डल जिते वाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रगट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने।।
भक्तिसुधा कौ सिन्धु सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य, कृष्णलीला कौ भाजन।।
ज्ञान स्मारत पच्छ कौं नाहिन कोउ खण्डन बियौ।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियौ।।८७।।

शब्दार्थ—रचि पचि=कठिन प्रयास करके, निरन्तर ध्यानाभ्यास द्वारा। गोप्य=गुप्त, लुप्त। स्थल=प्राचीन तीर्थस्थान। समाजन=समाज अथवा सभाओं में। रसज्ञ=भक्तिरस का आस्वादन करने वाले। भाजन=पात्र। स्मारत=मनु आदि स्मृति शास्त्रोक्त, स्मार्त।

भावार्थ—श्रीब्रजभूमि की उपासना करने वाले, श्रीनारायणभट्टजी जैसे भक्त को भगवान ने बहुत परिश्रम करके एक ही बनाया है। श्रीवाराह पुराण में मथुरा-मण्डल के जितने तीर्थों का वर्णन किया है, वह कालचक्र के कारण समस्त तीर्थ लुप्त हो गये थे। श्रीनारायणभट्टजी ने उन सभी तीर्थों को प्रकट एवं प्रसिद्ध किया, यह बात सर्वप्रसिद्ध है तथा पृथ्वी के समस्त मनुष्यों को मालूम है। आप भक्तिरसामृत के समुद्र थे, तथा सदा ही सन्तों के समाज में विराजमान होकर सत्संग किया करते थे। आप परम रसज्ञ, अनन्य निष्ठावान् एवं श्रीकृष्णलीलामृत को धारण करने के लिए उत्तम पात्र एवं नित्यलीला के पात्र थे। शुष्कज्ञान तथा कोरे कर्मकाण्ड का खण्डन करके भक्ति की स्थापना करने वाला आपकेसमान दूसरा कोई नहीं हुआ।। ८७।।

व्याख्या—ब्रजभूमि—यहाँ ब्रजभूमि से तात्पर्य सम्पूर्ण मथुरा-मण्डल से है, श्रीवाराह पुराण में मथुरा क्षेत्र की सीमा बीस योजन कहीं गयी है। वर्तमान में भी ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा प्रसिद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि होने के कारण श्रीनारायणभट्टजी की सम्पूर्ण ब्रजभूमि में विशेष निष्ठा थी, आप धामनिष्ठ संत थे। ''रचि पचि हरि एकै कियौ''- इसका भाव यह है कि श्रीनारायणभट्टजी विधि सृष्टि के प्राणी नहीं थे, अर्थात् आपकी सृष्टि स्वयं भगवान ने ही की थी। आपने कर्मवश विधि प्रपंच में जन्म नहीं लिया था, बल्कि विधि-प्रपंच में फँसे हुये प्राणियों को मुक्त करने के लिए स्वयं भगवान ने आपको धराधाम पर भेजा था। ''रचि पचि''- इससे यह जनाया गया कि भगवान को भी ऐसे निष्ठावान् सन्त की सृष्टि में बहुत परिश्रम करना पड़ा था। ऐसे ही श्रीहरिदासजी के लिए श्रीनाभाजी ने लिखा है- यथा-''तिलक दाम पर काम को हरीदास हरि निर्मयो।।'' (छ०-१७९), ''वाराह बखाने''-श्रीवाराह पुराण में, श्रीवाराह भगवान और श्रीभूदेवी का सम्वाद है। श्रीभूदेवी की जिज्ञासा पर श्रीवाराह भगवान् ने बड़े विस्तार से मथुरापुरी के समस्त तीर्थों का वर्णन किया है। कलियुग में सभी तीर्थ लुप्त हो गये थे, उन लुप्त तीर्थस्थलों को आपने प्रकट किया।

भट्ट श्रीनारायन जू भये ब्रज पारायन जायँ जाही ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावैं इहाँ अमुकौ सरूप हैं जू लीला कुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं।।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकास किये जिये यों रसिकजन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा ते कही चलौ बेनी पूछैं बेनी कहाँ? ऊँचेगाँव आय खोदि स्त्रोत लै लखाये हैं।।३५६

शब्दार्थ—ब्रज पारायन=ब्रजभूमि भक्त। व्रत=नियम, उपवास, प्रतिज्ञा। अमुकौ=अमुक, वह, फलाँ। बेनी=गंगा, यमुना, सरस्वती का संगम, त्रिबेणी।

भावार्थ—श्रीनारायणभट्टजी ब्रजभूमि के अनन्य उपासक भक्त हुए। आप ब्रज के किसी भी ग्राम में जाते, वहाँ व्रतोपवास पूर्वक ध्यान में यह अनुसन्धान करते कि यहाँ कौन- सा तीर्थ है, तब भगवान् श्रीश्यामसुन्दर आपके ध्यान में आकर प्रत्यक्ष उस तीर्थ का दर्शन कराते। तब आप ग्रामवासियों को बुलाकर बताते कि यहाँ पर भगवान का अमुक स्वरूप विराजमान है,, यहाँ पर भगवान् ने अमुक लीला की है, यहाँ अमुक कुण्ड है, यहाँ अमुक तीर्थ है तथा वहाँ की भूमि का शोधन करके आप उन-उन तीर्थों, कुण्डों, लीलाओं एवं स्वरूपों को उन्हें प्रत्यक्ष दिखा भी देते थे। साथ ही भगवान् ने जिस जगह जो लीला की है रासमण्डली द्वारा उस जगह पर उसी लीला का अभिनय कराते। ब्रज में जगह-जगह

आपने रासलीला का अभिनय करवाया। जिससे कि रसिकजनों को कोटिगुणित अधिक सुख मिला, मानो उन्हें नव-जीवन प्राप्त हो गया हो। एकबार आप मथुरा में विराजमान थे, माघ का महीना था, बहुत लोग तीर्थराज प्रयाग में श्रीत्रिवेणी स्नान को जा रहे थे। आपने उन लोगों से कहा कि हमारे साथ चलो, हम दिखाते हैं कि श्रीत्रिवेणीजी तो ब्रज में ही है, फिर आप लोग अन्यत्र क्यों जा रहे हैं? तब लोगों ने आपसे आश्चर्य चकित होकर पूछा कि- "ब्रज में त्रिवेणी कहाँ हैं?" आपने कहा कि "ऊँचेगाँव में।" फिर सभी को आप अपने साथ लिवा लाये और वहाँ की भूमि को खोदकर श्रीत्रिवेणीजी के तीनों स्त्रोत सभी को प्रत्यक्ष दिखा दिये।। ३५६।।

व्याख्या—स्याम प्रगट दिखाये हैं—आपके साथ में स्वयं श्रीभगवद्प्रदत्त "श्रीलाड़िलेय" नामक श्रीठाकुरजी थे, वही आपको समस्त तीर्थों का रहस्य बतलाते थे। ऊँचेगाँव बरसाने के निकट ही ऊँचागाँव है, जहाँ श्रीराधाजी की प्रियसखी श्रीललिताजी का प्रादुर्भाव हुआ था। "स्त्रोत लै लखाये हैं" -उस समय दिव्य घाट एवं दिव्य धाराओं से शोभायमान श्रीत्रिवेणीजी सखी गिरि से लेकर श्रीबलदेवजी के मंदिर पर्यन्त प्रवाहित होती हुई सभी को दिखाई पड़ीं। सबने वहीं पर स्नान-ध्यान किया। कहते हैं कि श्रीतीर्थराज प्रयाग को अपनी यह अवमानना सहन नहीं हुई और वे ब्राह्मण का भेष धारण कर श्रीनारायण भट्टजी के सम्मुख प्रकट हो गये और बोले-"आपने इन तीर्थयात्रियों को प्रयाग जाने से क्यों मना किया? आप हमसे शास्त्रार्थ कीजिये।" फिर तीर्थराज प्रयाग और ब्रजभूमि को लेकर दोनों में महान शास्त्रार्थ हुआ। वर्णन आया है कि शास्त्रार्थ के आवेश में ब्राह्मण साक्षात् प्रयाग रुप में एवं श्रीनारायणभट्टजी साक्षात् श्रीनारदजी के रुप में प्रकट होकर शास्त्रार्थ करने लगे, सात दिन तक लगातार शास्त्रार्थ होता रहा, अन्त में तीर्थराज प्रयाग, ब्रज की महामहिमा के सम्मुख नतमस्तक हो गये उसी समय श्रीत्रिवेणीजी ने भी मूर्तिमती होकर दर्शन दिया और कहा कि "जिस समय श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार श्रीराधाकुण्ड में समस्त तीर्थों का आगमन हुआ था, उसी समय से मैं भी श्रीब्रजभूमि को छोड़कर कहीं नहीं गयी हूँ और यहाँ पर नित्य निवास करती हूँ, और तुम्हारी भक्ति के वशीभूत होकर ही प्रकट हुई हूँ। जो लोग यहाँ की रज एवं जल से स्नान-अभिषेक आदि करेंगे उन्हें त्रिवेणी स्नान का ही फल प्राप्त होगा।

विशेष—श्रीनारायणभट्टजी का प्रदुर्भाव वि०सं० १५८८ वैशाख शुक्लपक्ष-१४ (श्रीनृसिंह चतुर्दशी) को दक्षिण भारत के मदुरा नामक नगर में हुआ था। आप भृगुवंशी दीक्षित ब्राह्मण थे। आपके पिताजी का नाम श्रीभास्करभट्टजी एवं माताजी का नाम श्रीयशोमति तथा

बड़े भाई का नाम श्रीगोपालभट्टजी था। कालचक्र से मथुरा- मण्डल के लुप्त तीर्थो का उद्धार करने के लिए देवर्षि नारदजी ही श्री भगवद् आदेश से श्रीनारायणभट्टजी के रूप में अवतरित हुए थे।आप में भगवान् श्रीनारायण के समान गुणों की विद्यमानता देखकर ज्येतिषियों ने आपका शुभ नाम नारायण रखा था। यथा समय, यथा विधि उपनयन- संस्कार सम्पन्न होने के अनन्तर बालक नारायण ने निज पितृव्य श्रीशंकरभट्टजीसे ही वेद-वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया और बारह वर्ष की अवस्था में ही आपका विद्याध्ययन पूर्ण हो गया। ''ब्रजदीपिका''नामक ग्रन्थ का प्रणयन आपने अपने घर पर ही किया था।

एक दिन आप श्रीगोदावरी नदी में स्नान कर स्तोत्र- पाठ पूर्वक भगवान का ध्यान कर रहे थे। उसी समय श्रीराधामाधव युगल ने प्रकट होकर आपको साक्षत् दर्शन दिया और उपासना रहस्योपदेश के साथ-साथ यह आदेश भी दिया कि तुम शीघ्र ही ब्रज में जाकर हमारी लीला-स्थलियों को प्रकाशित करो। यह कहकर भगवान् ने आपको अपना एक निजस्वरूप प्रदान करते हुए कहा कि देखो, यह लाड़िलेय नामक श्रीविग्रह मेरा ही बालस्वरूप है, इसको स्वीकार करो, इसकी सेवा-पूजा करो। यह स्वरूप तुमको ब्रज-लीला के रहस्यों का बोध करायेगा। यह कहकर श्रीप्रिया-प्रियतमजी अन्तर्धान हो गये। श्रीनारायणभट्टजी ने ठाकुर श्रीलाड़िलेयजी को साथ में लेकर श्रीब्रजधाम के लिए प्रस्थान किया, आप ढाई वर्ष में श्रीगोवर्धन में श्रीराधाकुण्ड पर पहुँचे। उस समय ठाकुर श्रीराधामदनमोहनजी वहीं पर विराजमान थे, श्रीसनातन गोस्वामीपादजी एवं श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी सेवा में रत थे। जिस समय आप वहाँ पहुँचे, उस समय श्रीठाकुरजी दोपहर के राजभोग के अनन्तर शयन कर रहे थे, परन्तु आपके पहुँचते ही मंदिर का द्वार स्वयं खुल गया, भगवान् की यह भक्तवत्सलता देखकर श्रीनारायणभट्टजी एकदम भावविभोर होकर साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किये, दयामय श्रीप्रभु ने आपके मस्तक पर अपना वरद- हस्तकमल रखा एवं स्वयं श्रीयुगल मंत्र का उपदेश दिया तथा श्रीराधिकाजी ने प्रेमलक्षणा-भक्ति प्रदान की। द्वार के खुलने एवं परस्पर कुछ वार्तालाप के शब्द सुनकर श्रीसनातन गोस्वामीजी, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी एवं अन्य वैष्णवजन भी जब मंदिर के द्वार पर आये तो भक्त-भगवान का प्रत्यक्ष प्रिय-मिलन देखकर निहाल हो गये। श्रीठाकुरजी ने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी को श्रीनारायणभट्टजी का परिचय देते हुए इन्हें सम्प्रदाय-सिद्धान्तोपदेश का आदेश दिया।

इस प्रकार श्रीनारायणभट्टजी ने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी से सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। तदुपरान्त आपने भगवान की आज्ञा का स्मरण कर ब्रज के लुप्त

तीर्थ-स्थलों का उद्धार करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम आपने श्रीराधाकुण्ड एवं श्रीश्यामकुण्ड को प्रकट किया, सहसा आपकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता था, तब आपने एक जगह पर दस हाथ नीचे तक पृथ्वी खुदवाई तो वहाँ दही से आच्छन्न एक मृण्मय पात्र एवं टूटी सीढ़ियों के अवशेष का दर्शन हुआ, तब सभी लोग आपके वचनों पर विश्वास करने लगे, फिर तो आप समस्त ब्रज में भ्रमण करते हुए सभी तीर्थ-स्थलों को प्रकट करने लगे। आपके निर्देशानुसार ब्रजवासी पूर्ण सहयोग के साथ प्रकटित स्थानों पर तीर्थ की रूपरेखा तैयार करने लगे, धीरे-धीरे आपकी ख्याति बढ़ने लगी। आपके भजन प्रभाव से दिल्लीश्वर अकबर भी प्रभावित हुआ और अपने कोषाध्यक्ष टोडरमलजी को सेवार्थ, श्रीभट्टजी के पास भेजा। टोडरमलजी द्वारा सेवा हेतु प्रार्थना करने पर आपने यही कहा कि यदि तुम्हारे बादशाह का विशेष आग्रह है तो हमने जिन-जिन तीर्थों का प्राकट्य किया है, उन-उन तीर्थ-स्थलों को उनके स्वरूपानुरूप निर्माण द्वारा सुसज्जित किया जाय, टोडरमलजी ने सोल्लास पूर्वक आज्ञा शिरोधार्य कर प्रकटित तीर्थ-स्थलों में सुन्दर निर्माण कार्य कराया। श्रीबरसाना गाँव में "श्रीश्रीजी " एवं ऊँचेगाँव में श्रीरेवतीरमण "श्रीबलदेवजी" आपके प्रकटित श्रीविग्रहों में अति प्रसिद्ध एवं परमपूज्य हैं। इन दोनों श्रीविग्रहों की सेवा-पूजा आप स्वयं ही करते थे।

कालान्तर में आपने पिता श्रीभास्करभट्टजी के अनुरोध पर अपना विवाह कर लिया। कुछ समय पश्चात् आपके श्रीदामोदर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो आगे चलकर आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुआ। श्रीब्रज-प्रकाशकारी श्रीनारायणभट्टजी को तत्कालीन वैष्णव-समाज ने उनके कार्यों को लक्षित करके "ब्रजाचार्य"पद पर अभिषिक्त किया। आपके अनेकों शिष्य-प्रशिष्य हुए, आप अपने शिष्यों की सर्वतोभावेन समर्पण पूर्वक श्रीहरि-सेवा और प्रेमाभक्ति का ही उपदेश देते थे। अनन्तर श्रीकृष्ण की आज्ञा से प्रेरित होकर आप ब्रज के सुन्दर ब्राह्मण बालकों को श्रीराधा-कृष्ण, गोपी, गोप वेष में सुसज्जित कर ब्रज-मण्डल में रास आदि लीलाओं का अनुकरण कराने लगे। आपने बारह वर्ष तक श्रीराधाकुण्ड पर निवास किया। इसके पश्चात् शेष जीवन ऊँचेगाँव में निवास करते हुए व्यतीत किया। आपने वैष्णवता का बोध कराने वाले विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया। अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय की पुष्टि के लिए आपने वेद, उपनिषद, स्मृति, संहिता, तन्त्र, पुराणादि शत-शत ग्रन्थों का प्रमाण दिया है, इसमें आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य का दर्शन होता है। आपको भगवान् की नित्य लीलाओं का नित्य साक्षात्कार होता था। श्रीवामन जयन्ती आपकी तिरोधान तिथि है।

श्रीव्रजवल्लभजी

व्रजवल्लभ 'बल्लभ' परम दुर्लभ सुख नैंननि दिये।।
नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावत।
औ लीला ललितादि बलित दम्पतिहिं रिझावत।।
अति उदार निस्तार सुजस व्रजमण्डल राजत।
महा महोत्सव करत बहुत सबही सुख साजत।।
श्रीनारायण भट्‌ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।
व्रजवल्लभ 'बल्लभ' परम दुर्लभ सुख नैंननि दिये।।८८।।

शब्दार्थ—बलित=युक्त, सहित। दम्पतिहिं=श्रीराधाकृष्ण को। रिझावत=प्रसन्न करते। निस्तार=उद्धार, पार होने का भाव, अभीष्ट की प्राप्ति।

भावार्थ—श्रीव्रजबल्लभजी सभी को अत्यन्त प्रिय थे क्योंकि आपने सभी के नेत्रों को रासलीला का परम दुर्लभ सुख प्रदान किया। आप नृत्य-गान आदि गुणों में परम प्रवीण थे। रासलीला में आप अपने कौशल से रस की वर्षा करते थे और श्रीललितादि सखियों के सहित दम्पति श्रीयुगलकिशोरजी को रिझाया करते थे। आप स्वभाव से बड़े उदार तथा प्राणियों का भव से निस्तार करने वाले थे। आपका सुयश सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में व्याप्त एवं शोभायमान है। आप बहुत से महोत्सव करते थे, जिसमें सभी को परम सुख मिलता था। आपने स्वामी श्रीनारायणभट्‌टजी को अपने प्रेमरस से वश में कर लिया था।।८८।।

व्याख्या—व्रजबल्लभ 'वल्लभ' परम—यह उक्ति बड़ी ही भावपूर्ण है, इसका एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। जिसका भाव यह है कि श्रीब्रजवल्लभजी समस्त ब्रजवासियों, सन्तों एवं भगवान को अति प्रिय थे। दूसरा अर्थ- श्रीब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण के परम प्यारे श्रीव्रजबल्लभ सभी के नेत्रों को परम दुर्लभ सुख दिया। यहाँ पर ब्रजवल्लभ शब्द में श्लेषालंकार है। तीसरा अर्थ- व्रजवल्लभ श्रीकृष्ण ने अपने परम वल्लभ=(प्यारे), श्रीव्रजबल्लभजी के नेत्रों को परम दुर्लभ सुख प्रदान किया। आगे के प्रसंग से इस अर्थ का पोषण होता है। कथा इस प्रकार से है-

एकबार महोत्सव में रासलीला के प्रसंग में श्रीब्रजवल्लभजी, श्रीललिता सखी का स्वरूप धारणकर श्रीप्रिया-प्रियतम (श्रीराधाकृष्ण) को रिझाने के लिए श्रीयुगल के गुणों का गान करते हुए रसमय नृत्य कर रहे थे। अकस्मात् ही आपके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी,

रंग में भंग हो गया। आप रासमण्डल से श्रृंगार- गृह में चले आये और ''हा कृष्ण-हा कृष्ण'' पुकारते हुए पीड़ा से व्याकुल होकर लेट गये। इनके मन में इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि मैं प्रिया-प्रियतम की यथोचित सेवा नहीं कर सका, सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् ने आपके अर्न्तमन की व्यथा समझ ली और तत्काल इनका सा ही वेष धारणकर रासमण्डल में विराजमान श्रीराधाकृष्ण-स्वरूप के समक्ष पूर्ववत् नृत्य करने लगे, उस समय रासमण्डल में ऐसा आनन्द छाया कि सभी लोग चित्रलिखित से हो गये, सबका शरीर पुलकायमान हो गया तथा सभी के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये। उधर एक सेवक श्रीब्रजवल्लभजी को औषधि देकर रासमण्डल में आया तो देखा कि आप तो यहाँ पर नृत्य कर रहे हैं, और उधर श्रीब्रजवल्लभजी को पीड़ा से व्याकुल हो ''हा कृष्ण-हा कृष्ण'' पुकारते देख, तथा इधर प्रेमोल्लास में नृत्य करते हुए देखकर वह सेवक हैरान हो गया, कि यह क्या बात है? उसने दौड़कर शृंगार-गृह में जाकर पीड़ित श्रीब्रजवल्लभजी को रासमण्डल का समस्त वृत्तान्त सुनाया, श्रीब्रजवल्लभजी ने धैर्य धारण कर जब रासमण्डल की ओर देखा तो सचमुच सेवक की बात सत्य निकली। सेवक तो इस रहस्य को समझ नहीं पा रहा था, लेकिन श्रीब्रजवल्लभजी ने इस रहस्य को तत्काल ही समझ लिया कि भक्तवांछाकल्पतरु श्रीप्रभु ने यह मुझ पर अहैतुकी कृपा की है। आज अचानक श्रीब्रजवल्लभजी का प्रेम का पासा अनुकूल पड़ गया, आप श्रीललिताजी के वेष में श्रीप्रभु का परम दुर्लभ दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गये, साथ ही आनन्दाधिक्य के कारण मूर्च्छित हो गये। प्रातःकाल जब आपकी मूर्च्छा समाप्त हुई तो इस रहस्य का उद्घाटन हुआ। सभी ने आपके गूढ़प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इसी प्रसंग को लक्ष्य करके श्रीनाभाजी कहते हैं कि-''ब्रजवल्लभ वल्लभ परम दुर्लभ सुख नैंननि दियो।।''

किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के मत से आप श्रीनारायणभट्टजी के शिष्य थे। यथा- श्रीबालकरामजी कृत- श्रीभक्तमालजी की टीका में लिखा हुआ है कि- ''श्रीनारायणभट्टजी के शिष्य ब्रजवल्लभ हैं सुनो ताकी कथा जथा कृष्ण प्रेम सानिये।।'' परन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये श्रीनारायणभट्टजी के समकालीन ही थे तथा श्रीनारायणभट्टजी के रास प्रचार कार्य में भी सहयोगी थे। इन्होंने अपनी प्रीतियुक्त सेवा-सद्भावना से श्रीनारायणभट्टजी को परम प्रसन्न कर लिया था। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि-''श्रीनारायण भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।''

श्रीरूप-सनातन गोसाँईजी

संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ 'रूप'-'सनातन' त्यागि दियौ।।
गौड़देश बंगाल हुते सबही अधिकारी।
हय गय भवन भण्डार विभौ भू-भुज उनहारी।।
यह सुख अनित्य बिचारि वास वृन्दाबन कीन्हौ।
यथा लाभ सन्तोष कुँज करवा मन दीन्हौ।।
व्रजभूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ।
संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ 'रूप'-'सनातन' त्यागि दियौ।।८९।।

शब्दार्थ—संसार स्वाद=संसार के भोग-विलास का स्वाद, इन्द्रियों के भोग। बांत=वमन। हुते=थे। अधिकारी=प्रधानमन्त्री, दीवान। हय=घोड़ा। गय=हाथी, गज। भू-भुज=भू=भूमि+भुज=भोगने वाला, राजा। उनहारी=समान, अनुसार। अनित्य=नाशवान्। विचारि=जानकर। यथा लाभ सन्तोष=जैसा, जितना+लाभ=प्राप्त हो, मिले+सन्तोष=सन्तुष्ट अर्थात् जितना मिले उसी में ही प्रसन्न। कुँज=वृक्ष की लता-पताओं से बना घर, श्रीकृष्ण का विहार-स्थल। करवा=मिट्टी का टोंटीदार लोटा, गडुवा। तोष=सन्तोष, प्रसन्नता।

भावार्थ—श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी इन दोनों भाइयों ने संसार स्वाद के सभी सुखों को वमन की भाँति परित्याग कर दिया। आप दोनों ने पहले बंगाल प्रान्तस्थ गौड़देश के शासक के यहाँ उच्चाधिकारी थे। आपके पास राजाओं के समान घोड़े-हाथी, महल, मकान, कोष- खजाना भोग ऐश्वर्यादि थे। परन्तु अन्त में इस संसार के सुखों को अनित्य (नाशवान) विचारकर आप दोनों ने सब कुछ छोड़कर श्रीवृन्दावन में दृढ़ वास किया। श्रीभगवद् इच्छा से शरीर के लिये सहज में जो कुछ भी प्राप्त हो जाता, उसी में संतोष करते थे। राज्य-ऐश्वर्य से मन हटाकर, कुँज और करवा में मन को लगाया अर्थात् परम वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। आप दोनों ने श्रीब्रजभूमि के रहस्यों तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य तत्वों को प्रकट कर भक्तों को परम संतोष प्रदान किया तथा जगत के जीवों का उद्धार किया।।८९।।

व्याख्या—संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं—श्रीभगवद् अनुरागी बड़भागीजनों को संसार का सुख वमन की भाँति प्रतीत होता है। अतः जैसे वमन=(उल्टी) करने पर उसकी ओर देखा तक नहीं जाता, उसका स्मरणमात्र मन को खराब कर देता है, ठीक उसी प्रकार से

श्रीहरिचरणानुरागी भक्तजन सांसारिक सुखैश्वर्य का परित्याग कर मन से अथवा नेत्रों से भी उसकी ओर दृष्टि नहीं करते हैं। यथा- ''रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।'' (रामा०)श्रीऋषभदेवजी के पुत्र राजर्षि भरतजी के लिए भी ऐसा ही कहा गया है। यथा-''यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः। जहौ युवैव मलवदुत्तम श्लोकलालसः।।'' (भा० ५-१४-४३), विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४५६ राजर्षि भरत प्रसंग।। ''हुते सबही अधिकारी''-श्रीसनातनजी गौड़देश के नबाब हुसेनशाह के दबीरखास (प्रधानमंत्री) थे तथा श्रीरूपजी साकरमल्लिक (राजस्वमंत्री)थे। नबाब आपका बड़ा सम्मान करता था। अतः इनके पास भी राजाओं के समान ऐश्वर्य था। कहते हैं कि यह हुसेनशाह पहले गौड़देश के शासक सुबुद्धिराय का सेवक था। श्रीरूप-सनातनजी बड़े भारी पण्डित थे। एक बार इन दोनों भाइयों ने हुसेनशाह की जन्मपत्री देखी, तो उसमें ऐसा योग पड़ा था कि यह किसी दिन देश का शासक बनेगा। आपने जब यह बात हुसेनशाह को बतायी तो उसने कहा कि महाराज! यदि ऐसा हुआ तो मैं आप लोगों को भी अपने समान ही रखूँगा। कालान्तर में यही हुआ, हुसेनशाह ने राजा सुबुद्धिराय को पदच्युत करके वह स्वयं गौड़देश का शासक बना, तो इन दोनों भाइयों को उच्चपद प्रदान किया।

यह सुख अनित्य विचारि—संसार सुख भोग अनित्य हैं। इसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन श्रीतुलसीदासजी ने कवितावली में किया है। यथा-

गज बाजि घटा भले भूरि भटा बनिता सुत भौंह तकैं सबवै।
धरनी धन धाम सरीर भलो सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै।।
सब फोटक साटक है तुलसी अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिये जग में तुम्हरो बिनु ह्वै।।१।।

सुरराज सो राज समाज समृद्धि विरंचि धनाधिप सौं धनु भो।
पवमान सो पावक सो जम सोम सो पूषन सो भवभूषनु भो।।
करि जोग समीरन साधि समाधि कै धीर बड़ो बसहू मनु भो।
सब जाय सुभायँ कहैं तुलसी जो न जानकि जीवन को जनु भो।।२।।

काम से रूप प्रताप दिनेस से सोम से सील गनेस से माने।
हरिचन्द से साँचे बड़े विधि से मघवा से महीप विषय सुख साने।।
सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तौ कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने।।३।।

झूमत द्वार मतंग अनेक जंजीर जरे मद अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते।।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथ के रंग न राते।।४।।

राज सुरेश पचासक को विधि के कर को जो पटो लिखि पाये।
पूत सपूत पुनीत प्रिया निज सुन्दरता रति को मद नाये।।
संपति सिद्धि सबै तुलसी मन की मनसा चितवै चित लाये।
जानकी जीवन जाने बिना जग ऐसेउ जीव न जीव कहाये।।५।।

(क०उ० ४१, ४२, ४३, ४४, ४५)

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा। यावच्चेन्द्रिय-शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्। प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।''अर्थ- जब तक यह शरीर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों में शक्ति भरपूर है, जब तक आयु का अवसान नहीं हुआ है, विद्वान् पुरुष को चाहिए कि तब तक अपने कल्याण के लिए महान् प्रयत्न कर ले, नहीं तो घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने का प्रयत्न किस काम का।। श्रीभगवद् कृपा से श्रीरूप-सनातनजी को सहसा संसार सुख की क्षुद्रता एवं क्षणभंगुरता का विचार मन में आया, कहते हैं कि एक दिन दोनों भाई रात्रि के समय राजकोष के जमा-खर्च का हिसाब-किताब कर रहे थे, जोड़-बाकी में कहीं भूल हो रही थी, जिससे हिसाब बैठ नहीं रहा था, दोनों भाई हैरान थे। अधिक परिश्रम के कारण दोनों को बड़े जोर की प्यास लगी, तब आपने एक सेवक को बुलाकर शर्बत बनाकर लाने की आज्ञा दी, रात्रि में ठीक से न दिखायी देने के कारण वह सेवक बूरा मिलाने की जगह मैदा को ही घोलकर ले आया और दोनों भाइयों को पीने के लिए दिया, कार्य में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण दोनों ही उस शर्बत को पी तो गये, परन्तु समझ नहीं पाये कि यह कैसा शर्बत है और पुनः काम में लग गये। प्रातःकाल जब वह सेवक कोठार में गया तो उसने देखा कि बूरा तो पात्र में ज्यों का त्यों रखा हुआ है, हाँ दूसरे पात्र से मैदा अवश्य निकाला गया है, तब उसे अपनी भूल मालूम पड़ी कि मैंने रात्रि में शर्बत में बूरा मिलाने की जगह मैदा ही घोलकर दोनों भाइयों को पिला दी। फिर वह सेवक अत्यन्त डरता हुआ हाथ जोड़कर दोनों भाइयों के पास आया और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि मुझसे बहुत बड़ी भूल हो गयी

है, आप लोग मुझे क्षमा करें। जब इन लोगों ने सेवक को बहुत-बहुत आश्वासन देते हुए उससे भूल का वृत्तान्त पूछा तो उसने सब बात बताई, अब तो दोनों भाइयों के मन में बड़ी ग्लानि हुई कि अहो? हम लोग संसार के मिथ्या कार्य में ऐसे तन्मय हो रहे थे कि बूरा और मैदा का भेद नहीं जान पड़ा। इस पर दोनों भाइयों ने विचार किया कि नश्वर सांसारिक कार्य से न तो स्वार्थ की ही सिद्धि है न परमार्थ की ही। स्वार्थ सिद्धि तो इसलिए नहीं, कि शरबत पीया परन्तु उसके स्वाद का भान नहीं हो पाया, सम्पूर्ण रात्रि दो पैसे के हिसाब-किताब मिलाने में ही व्यतीत हो गयी हम लोग रात्रि भर जागते ही रहे, सुख से सो भी नहीं सके? और इसमें परमार्थ इसलिए नहीं है कि रात्रि में एक बार भी भगवान का नाम मुख से नहीं निकला। जैसी तन्मयता हमें लौकिक कार्यों में है, कदाचित् हमें ऐसी तन्मयता यदि भगवान के ध्यान में होती तो अति शीघ्र हम लोगों को भगवद्-साक्षात्कार हो जाता। फिर तो उसी दिन से ही दोनों भाइयों ने संसार के सुख की अनित्यता विचारकर श्रीवृन्दावन वास का दृढ़ संकल्प कर लिया। विशेष विवरण आगे इनके चरित्र में देखिये।

वास वृन्दावन कीन्हौ—श्रीगौरांग महाप्रभुजी की प्रेरणा से आप दोनों भाइयों ने अखण्ड श्रीवृन्दावन वास किया। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि संसार सुख की अनित्यता एवं भगवद्-भजन की साररूपता का यथार्थ में बोध हो जाने पर तो घर में भी भजन करके भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है, फिर इन दोनों भाइयों ने घर छोड़कर श्रीवृन्दावन में क्यों वास किया? समाधान इस सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२३३, "वन में रहति"की व्याख्या।

दृष्टान्त—बलखबुखारे के बादशाह का—एक बार बलखबुखारे के बादशाह के मन में निर्वेद (वैराग्य) जागृत हुआ। वह रात्रि के समय एकान्त में राज्य-सुख की नश्वरता का चिन्तन करते हुए विचार करने लगा कि साहब (भगवान) से किस प्रकार मिलन होगा? एक बार तो मन में यह विचार आया कि बादशाहत छोड़कर फकीरी वेष धारण करने पर ही साहब से मिलना सम्भव है। परन्तु दूसरे ही क्षण विचार बदल गया, वह सोचने लगा कि क्या महलों में रहकर साहब को नहीं पाया जा सकता है? परम सर्वज्ञ श्रीकबीरदासजी ने बादशाह के मन की गति जान ली और उसको उपदेश देने के लिए एक ऊँट हारे का वेष धारण करके हाथ में मशाल लिए उसके महल में प्रविष्ट होकर महल के प्रत्येक कोठरी-कोठरी में ऐसे घूमने लगे कि जैसे कोई खोई हुई वस्तु को ढूँढ़ रहे हो। बादशाह तो जाग ही रहा था, इन्हें देखकर उसने पूछा कि-"तुम

कौन हो और इतनी रात्रि में क्या ढूँढ़ रहे हो?'' इन्होंने कहा-''हम ऊँट वाले हैं, हमारा ऊँट खो गया है, हम उसे ही ढूँढ़ रहे हैं।'' बादशाह ने झुंझलाकर कहा-''कमबख्त कहीं के, इतना बड़ा ऊँट महलों के कमरों में क्यों कर मिलने लगा, उसे खोजना है तो कहीं वन में जाकर ढूँढ़।'' श्रीकबीरदासजी ने तत्काल जवाब दिया कि-''अरे बेवकूफ! जब इतना छोटा-सा ऊँट महल के कमरों में नहीं मिल सकता है, तो इतना बड़ा साहिब महलों में कैसे मिल सकता है? यदि तुम्हें भी साहब को पाना है तो किसी वन में जाकर उसे ढूँढ़। इस प्रकार के सिद्धान्त के वचन सुनते ही बादशाह समझ गया कि यह तो कोई खुदा के वन्दे ही जान पड़ते हैं। बादशाह ने समीप आकर पूछा कि ''आप कौन हैं?'' तब इन्होंने कहा कि-''हम कबीर हैं तुम्हें उपदेश देने के लिये ही आये हैं।'' तत्पश्चात श्रीकबीरदासजी ने बादशाह को साहिब की प्राप्ति का उपदेश दिया, जिसे सुनकर वह अपनी बादशाहत छोड़कर फकीर होकर वन को चला गया। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीरूप-सनातनजी भी घर तथा राजसुख का परित्याग कर श्रीवृन्दावन में दृढ़ वास किया।

''यथा लाभ सन्तोष''—यह सन्त की रहनि है—यथा-''कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।। श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा ते सन्त स्वभाव गहौंगो। यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछू न चहौंगो।।'' (वि०), पुनः-''जथा लाभ सन्तोष सदाई।।'' (रामा०), ''कुंज करवा मन दीन्हौ'' यह प्रबल वैराग्य का स्वरूप है तथा श्रीवृन्दावन वास की विधि है। इन दोनों भाइयों को ऐसा वैराग्य हुआ कि महलों को छोड़कर श्रीवृन्दावन में आकर वृक्ष की लता-पताओं के तल में निवास करते थे तथा स्वर्ण-रजत पात्रों के स्थान पर मृत्तिका पात्र का ही प्रयोग करते थे, मधुकरी माँगकर खाते थे। रसिकजन ऐसे जीवन की अभिलाषा करते हैं।-यथा-''ऐसो कब करिहै मन मेरौ। कर करवा हरवा गुँजन को कुँजन माहिं बसेरौ।। भूख लगै तब माँगि खाउँगो गिनौं न साँझ सबेरौ। ब्रजवासिन के टूक जूठ पुनि घर घर छौंछ महेरौ।। रासविलास वृत्ति करि पाऊँ मेरे खूँट न खेरौ। व्यास विदेही वृन्दावन में हरि भक्तन कौ चेरौ।।'' (व्यासवाणी) रसिकाचार्य स्वामी श्रीहरिदासजी कहते हैं-''मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सौं ब्रज बीथिन दीजै सोहनी। वृन्दावन सौं वन उपवन सौं गुँजमाल हाथ पोहनी।। गो, गो सुतन सौं, मृगी, मृग सुतन सौं और तन नेकु न जोहनी। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं चित ज्यौं सिर पर दोहनी।।''करवा की महिमा वर्णन करते हुए श्रीभगवत रसिकजी कहते हैं- ''परम पावन करुवा कौ पानी। जाके पिये हृदय में आवत मोहन राधारानी।। अनुभव प्रगट होत क्रीड़ा कौ मोद विनोद कहानी। भगवतरसिक निकुँज

महल की टहल मिलै मनमानी।।'' अत: ''कुँज करवा मन दीन्हौ।।'' ''ब्रजभूमि रहस्य....उद्धार कियौ।'' इस सम्बन्ध में विशेष देखिये आगे के कवित्त में।

कहत बैराग गये पागि नाभा स्वामी जू वै गई यों निबर तुक पाँच लागी आँचि है।
रही एक माँझ धर्‌यो कोटिक कवित्त अर्थ याहीठौर लै दिखायो कविता कौ साँचि है।।
राधाकृष्ण रस की आचारजता कही यामें सोई जीवनाथभट्ट छप्पै बानी नाँचि है।
बड़े अनुरागी ये तौ कहिबो बड़ाई कहा अहो जिन कृपादृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है।।३५७।।

शब्दार्थ—पागि=प्रेममग्न। निबर=बीत। तुक=छप्पय के चरण।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गोस्वामी श्रीनाभाजी, ''श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी'' के वैराग्य का वर्णन करने में ऐसे प्रेममग्न हुए कि छप्पय के पाँच चरण वैराग्य वर्णन में ही पूरे हो गए। केवल एक चरण ही शेष रह गया, तब श्रीनाभाजी का मन अत्यन्त संतप्त हो उठा कि मैंने इनके प्रेमपक्ष का तो कुछ वर्णन ही नहीं किया। छप्पय की एक कड़ी ही शेष रह गयी थी कि आपने उसी में करोड़ों कवित्तों का अर्थ भर दिया। श्रीनाभाजी ने इस स्थल पर कविता का सच्चा स्वरूप प्रदर्शित किया है। इस एक तुक=(कड़ी) में श्रीनाभाजी ने श्रीरूप- सनातनजी की, श्रीराधाकृष्ण-रस की आचार्यता वर्णन की है। यह आचार्यता श्रीनाभाजी की वाणी में, श्रीजीव गोस्वामीपाद (छ०४९) एवं श्रीश्रीनाथभट्टजी (छ०-१५९)के छप्पय में प्रत्यक्ष रूप से है तथा श्रीजीव गोस्वामीपाद एवं श्रीश्रीनाथभट्टजी की वाणियों में भी नृत्य करती हुई दिखाई पड़ती है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकट है। अहो! जिनकी कृपादृष्टि से जनसाधारण भी प्रेम-पोथी पढ़े, पढ़ते हैं एवं पढ़ेंगे उनके लिए यह कहना कि ''ये दोनों महानुभाव बड़े अनुरागी थे'' क्या कोई बड़ाई है? अर्थात् नहीं। भाव यह है कि ये तो सहज ही प्रेम के रूप थे।।३५७।।

व्याख्या—रही एक माँझ धर्‌यो कोटिक कवित्त—वह कड़ी=(तुक) इस प्रकार से है-''ब्रज-१, भूमि-२, रहस्य-३, राधा-४, कृष्ण-५, भक्त-६, तोष-७, उद्धार-८, कियौ-९।।'' इस कड़ी (तुक) में कुल नव शब्दों का प्रयोग हुआ है (देखिये उद्‌धृत तुक में अंकांकित शब्दों को। ठीक इसी प्रकार से श्रीकूबाजी के स्मरण में श्रीनाभाजी ने नव अक्षरों का ही प्रयोग किया है। में यथा-''केवल कूबै मोल लियौ।।'' (छ०-१४९) तथा श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने भी श्रीकूबाजी का चरित्र वर्णन करने में नव कवित्त लिखे हैं। मानो एक-एक अक्षर पर एक-एक कवित्त लिखे हों। कारण यह है कि गणितशास्त्र में नव के अंक को, अंको की अवधि कहा गया है, अत: जहाँ कहीं भी वर्णन

की अंतिम सीमा दिखलायी जाती है, वहाँ उस विषय को नव की संख्या में कहा जाता है। श्रीरूप-सनातनजी की महिमा की अवधि को जनाने के लिए श्रीनाभाजी ने इस कड़ी=(तुक) में नव शब्दों का प्रयोग किया है। पुनः नव शब्दों में इनका वर्णन करके इन्हें नवधा-भक्ति का पोषण अनुयायी बताया। सुधी महानुभावों ने इस तुक का अनेक प्रकार से अर्थ किया है। यथा-(१) ब्रजभूमि रहस्य=गूढ़तत्व को जानने वाले तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य को जानने वाले भक्तों को तोष (सन्तोष) प्रदान करने वाले अथवा तोष नामक भक्त के उद्धारक थे। (२) ब्रजभूमि के रहस्य को उद्धार=(प्रकट) किया, श्रीराधाकृष्ण के भक्त थे, तोष अर्थात् सन्तोष घर का नाम था (श्रीरूपजी का गृह का नाम सन्तोष था) (३) ब्रजभूमि के रहस्य, जो श्रीराधाकृष्ण, उनके भक्तों को तोष (वैष्णवतोषिणी टीका)है। उद्धार=प्रकट कियौ। (४) ब्रजभूमि ही की उपासना करके निवास किये। रहस्य = गूढ़तत्व के ज्ञाता थे। आपके श्रीराधाकृष्ण ही सर्वस्व थे। श्रीराधाकृष्ण के परम भक्त थे। तोष (श्रीकृष्णजी के सखारूप भी थे)। उद्धार =विमुखों का उद्धार किया। (५) ब्रजभूमि का रहस्य, श्रीराधाकृष्ण का रहस्य, तोष अर्थात् सन्तोष, शान्ति, ज्ञान-वैराग्य का रहस्य तथा उद्धार = जीवों का उद्धार कैसे हो इसका रहस्य। कियौ = अर्थात् अपने ग्रन्थों में वर्णन किया। (६) ब्रजभूमि के रहस्य का उद्धार किया। इससे श्रीराधाकृष्ण को तोष अर्थात् सन्तोष भयो एवं भक्तों को भी सन्तोष हुआ। (७) ब्रजभूमि के रहस्य श्रीराधाकृष्ण (श्रीराधागोविन्ददेवजी, श्रीराधामदनमोहनजी) को उद्धार=प्रकट किया। (८) ब्रजभूमि के रहस्य श्रीराधाकृष्ण एवं उनके भक्तों को तोष = प्रसन्न कर अपना भी उद्धार किया। (९) भूमि का रहस्य ब्रज और ब्रज के रहस्य श्रीराधाकृष्ण तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य, रसिक भक्त, इन सभी को तोष=सन्तोष एवं उद्धार अर्थात् प्रकटीकरण किया एवं समस्त पृथ्वी के विमुख जीवों का उद्धार अर्थात् उन्हें भव से पार किया। (भ०व०टि०)

बड़े अनुरागी—यथा-''साधु सिरोमणि रूप सनातन। जिनकी भक्ति एकरस निबही प्रीति कृष्ण राधा तन।। जाको काज सँवार्‌यो चित दै हित कीनो छिन ता तन। जाके विषय वासना देखी मनसा करी न बातन।। वृन्दावन की सहज माधुरी रोम रोम सुख गातन। सब तजि कुँज केलि भजि अहनिसि अति अनुराग सदा तन।। तृनहूँ ते नीचे तरुहूँ ते सहकर अमानी मान सुहात न। असि धारा व्रत ओर निबाह्यौ तिन मन कृष्ण कथा तन।। करुणासिन्धु कृष्ण-चैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन। तिन बिनु व्यास अनाथ भये अब सेवत सूखे पातन।।''
''जिन कृपादृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है''-इसका भाव यह है कि आपने जीवों पर कृपा करके भक्ति-ग्रन्थों की रचना करके परम दुर्लभ प्रेम-रसामृत को सहज ही सुलभ कर दिया।

वृन्दावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय दई दरसाय जैसी शुक मुख गाई है।
रीति हूँ उपासना की भाग़वत अनुसार लियौ रससार सो रसिक सुखदाई है।।
आज्ञा प्रभु पाय पुनि 'गोपीश्वर' लगे आय किये ग्रन्थ पाय भक्ति भाँति सब पाई है।
एक-एक बात में समात मन बुद्धि जब पुलकित गात दृग झरी-सी लगाई है।।३५८।।

शब्दार्थ—काल के कुचक्र से ब्रजमण्डल के तीर्थ प्राय: लुप्त-गुप्त हो गये थे। अत: उस समय उन तीर्थों एवं श्रीब्रजभूमि, श्रीवृन्दावन के स्वरूप एवं रहस्य को कोई नहीं जानता था। परन्तु श्रीरुप-सनातनजी ने, श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने श्री ब्रज वृन्दावन के सम्बन्ध में जैसा कुछ कहा है, वैसा ही प्रगट करके दिखा दिया। आपकी उपासना की रीति-पद्धति भी श्रीमद्भागवतजी के अनुसार ही थी। आपने रस-सार श्रृंगार रस की उपासना अपनायी थी, जो रसिक महानुभावों को परम सुखदायिनी है। श्रीगौरांग महाप्रभुजी का आदेश पाकर आपने कुछ समय पर्यन्त श्रीगोपीश्वर महादेवजी के निकट निवास किया और श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से सब प्रकार की भक्ति प्राप्त कर आपने अनेक भक्ति-ग्रन्थों की रचना की। उन सद्ग्रन्थों के द्वारा सबने सब प्रकार की भक्ति प्राप्त की। आपके सद्ग्रन्थों में वर्णित आपकी एक-एक बात में मन, बुद्धि जब निमग्न होते है तो ऐसा सुख मिलता है, कि शरीर पुलकायमान हो जाता है और आंखों से आंसुओं की झड़ी-सी लग जाती है।। ३५८।।

व्याख्या—दई दरसाय जैसी शुक मुख गाई है—श्रीवृन्दावन के सम्बन्ध में श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि-"वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुज लब्धलक्ष्मि। गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्।।" (भा० १०-२१-१०), अर्थ- गोपियाँ आपस में कहती हैं, अरी सखी! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोक तक पृथ्वी की कीर्ति का विस्तार कर रहा है, क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के चिह्नों से चिह्नित हो रहा है। सखि! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजन मन मोहिनी मुरली बजाते हैं तब मोर मतवाले होकर उसकी ताल पर नाचने लगते है। यह देखकर पर्वत की चोटियों पर विचरण करने वाले सभी पशु-पक्षी चुपचाप शान्त होकर खड़े हो जाते हैं।। "ब्रजभूमि"- श्रीब्रजभूमि का माहात्म्य वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी अनुग्रह करते हैं-"श्रृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं ब्रजभूमिजम्। ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् ब्रज उच्यते।। गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं ब्रज उच्यते। सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।।" (भा०मा०), अर्थ- श्रीशाण्डिल्यजी कहते हैं- प्रिय परीक्षित एवं वज्रनाभ! मैं तुम लोगों को व्रजभूमि का रहस्य बताता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो, व्रज शब्द का अर्थ है व्याप्ति। इस वृद्धवचन के अनुसार व्यापक होने के कारण ही इस भूमि

का नाम व्रज पड़ा है। सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे जो परब्रह्म है, वही व्यापक है, इसलिए उसे व्रज कहते हैं। वह सदानन्द स्वरूप परम ज्योर्तिमय एवं अविनाशी है। जीवनमुक्त पुरुष उसी में स्थित रहते हैं। श्रीशुकदेवजी के द्वारा वर्णित श्रीवृन्दावन व्रजभूमि का यह माहात्म्य काल के व्यतिक्रम से लुप्त हो गया था। जैसे कि श्रीचित्रकूटस्थ श्रीभरतकूप की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीअत्रिजी कहते हैं-''तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल विदित नहिं केहू।।'' (रामा०), श्रीव्रज-वृन्दावन के इस लुप्त-माहात्म्य को श्रीरूप-सनातनजी ने साकार करके दिखा दिया। यथा-

''वैकुण्ठाज्जनितो वरामधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद् वृन्दारण्यमुदारपाणि रमणात्तत्रापि गोवर्धनः। राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात् कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः।।''

अर्थ-भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म लेने के कारण ही मथुरापुरी, वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण की रासलीला के कारण ही श्रीवृन्दावन, मथुरापुरी से भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण के दिव्य परिकरों से उत्थित उनकी विविध प्रेमलीलाओं का स्थल होने से श्रीगोवर्धनगिरि, वृन्दावन से श्रेष्ठ है, किन्तु गोकुलपति श्रीकृष्ण के प्रेमामृत से पूर्णतया आप्लावित श्रीराधाकुण्ड इन सभी में श्रेष्ठ है। फिर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में स्थित इस राधाकुण्ड का सेवन न करेगा? (श्रीरूप गोस्वामिपाद कृत उपदेशामृत नवम श्लोक)।

श्रीसनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत, द्वितीयखण्ड, सातवें अध्याय में विविध शास्त्र, पुराण, प्रमाण पुरस्सर श्रीव्रज-वृन्दावन की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है।

रहैं नन्दगाँव रूप आये श्रीसनातन जू महासुख रूप भोग खीर कौ लगाइयै।
नेकु मन आई सुखदाई प्रिया लाड़िली जू मानो कोऊ बालकी सुसौंज सब ल्याइयै।।
करिकै रसोई सोई लै प्रसाद पायो भायौ अमल सो आयो चढ़ि पूछी सो जताइयै।
फेरि जिनि ऐसी करौ यही दृढ़ हिये धरौ ढरौ निज चाल कहि आँखैं भरि आइयै।।३५९।।

शब्दार्थ—सुसौंज= सुन्दर सामान। अमल = प्रेम का नशा।

भावार्थ—एक समय श्रीरूप गोस्वामीजी श्रीनन्दग्राम में कदम्बटेर पर भजन कर रहे थे। उसी समय बड़े भाई श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन से आपके पास आये। उस समय श्रीरूपजी के मन में यह विचार आया कि आज मैं परम सुखदायी खीर का भोग श्रीठाकुरजी को लगाकर वह प्रसाद अपने अग्रज को पवाऊँ। आपके मन में किंचितमात्र् ही यह विचार आया था कि तत्काल ही भक्तों को सुख देने वाली श्रीलाड़िली श्रीप्रियाजू (श्रीराधिकाजी) एक

बालिका के रूप में खीर के लिए सभी सामग्री ले आयीं। उसी सामग्री से तुरन्त रसोई करके श्रीठाकुरजी को भोग लगाया और जब वह प्रसाद श्रीसनातनजी को पवाया तो उन्हें अत्यन्त ही प्रिय लगा तथा प्रेम का नशा छा गया। तब उन्होंने पूछा कि यह खीर किस प्रकार से बनी है? इसमें तो अलौकिक स्वाद है, तब श्रीरूपजी ने समस्त वृत्तान्त बताया, सुनकर श्रीसनातनजी ने कहा- कि अब पुन: ऐसी इच्छा मत करना मेरी इस बात को हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण कर लो। तुम तो अपनी वैराग्य की चाल से ही चलो, इतना कहते-कहते श्रीरूप गोस्वामीजी एवं श्रीसनातनजी इन दोनों भाइयों के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये।।३५९।।

व्याख्या—भोग खीर कौ लगाइयै—श्रीरूप गोस्वामीजी ने देखा कि श्रीसनातनजी शरीर से अत्यन्त कृश हो रहे हैं। तब आपके मन में विचार आया कि अहो! जो राजसुख भोगने वाले थे, वही आज इतना उत्कट वैराग्य अपनाकर शरीर को अत्यन्त दुर्बल कर दिया है। ज्येष्ठ भ्राता की कृशता श्रीरूपजी से देखी नहीं गयी। तब आपने सोचा कि ऐसा कौन-सा उपाय करूँ जिससे भाई साहब को शीघ्रातिशीघ्र शक्ति प्राप्त हो जाय, फिर विचार आया दूध सद्य: शक्तिदायी होता है, अत: यदि कहीं से दूध प्राप्त हो जाता तो मैं इन्हें खीर-प्रसाद पवाता। खीर-भोग श्रीठाकुरजी को भी अति प्रिय होगा और खीर-प्रसाद इन्हें भी बलकारी एवं पौष्टिक होगा।

सुखदाई प्रिया लाड़िली जू—श्रीरूपजी के मन में बस इतना विचार आते ही भक्तवाछां-कल्पवल्लीस्वरूपा श्रीराधिकाजी एक साधारण गोप-कन्या का रूप धारणकर दूध, चावल, बूरा, मेवा आदि सभी खीर की सामग्री लेकर तत्काल आ गयी और बोलीं- बाबा दण्डवत्! हमारी गैया को ब्याये आज इक्कीस दिन हो गये हैं अत: मेरी मैया ने कहा है कि लाली! यह दूध एवं अन्य सामग्री लेकर कदम्बटेर पर जो बाबा रहते हैं उनको पहले दे आ। जब बाबा अपने श्रीठाकुरजी को भोग लगा लेंगे तभी हम लोग गैया का दूध अपने उपयोग में लेंगे और मेरी मैया ने यह भी कहा है कि यदि बाबा खीर बनाने में आलस्य करें अथवा बनाना नहीं जानते हों, तो तू ही खीर बना देना।।'' श्रीरूपजी का तो मन-भावता हो गया। आप घर में राजसुख से रहने वाले थे, अत: आपको कभी रसोई बनाने का कार्य तो करना ही नहीं पड़ा था और श्रीवृन्दावन आने पर तो मधुकरी वृत्ति ही अपनायी थी, अत: रसोई बनाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। इसलिए खीर बनाना तो आपके लिए निश्चय ही टेढ़ी-खीर थी, परन्तु जब श्रीश्रीजी ने स्वयं खीर बनाने के लिए कहा तो आप अति प्रसन्न हुए और बोले-''अच्छा लाली तू ही बना दे, मैं कण्डा-ऊपला आदि बीन लाता हूँ।'' फिर

तो आनन-फानन में (अति शीघ्र) श्रीश्रीजी ने खीर बनायी और बाबा को दण्डवत्-प्रणाम करके अपने घर को चली गयीं। श्रीरूपजी ने श्रीठाकुरजी को भोग लगाया, श्रीठाकुरजी ने भी आज बड़े प्रेम एवं चाव से खीर भोग अरोगा, क्योंकि यह खीर साक्षात् श्रीश्रीजी के कर-कमलों द्वारा बना था। तत्पश्चात् श्रीसनातनजी को खीर-प्रसाद परोसा गया, श्रीसनातन गोस्वामीजी को प्रसाद पाते समय ग्रास-ग्रास में अलौकिक स्वाद का अनुभव होता था, रोम-रोम परमानन्द से परिपूर्ण हो रहा था। होना भी चाहिए, क्योंकि यह खीर स्वयं श्रीराधा सर्वेश्वरी ने बनाया था एवं साक्षात् श्रीसर्वेश्वर भगवान ने अति प्रेमपूर्वक पाया है, फिर क्यों न प्रेम का नशा चढ़े। श्रीसनातनजी से रहा नहीं गया, वे पूछ ही बैठे। तब श्रीरूपजी ने इसका समस्त वृत्तान्त बताया।''फेरि जिनि ऐसी करौ''-श्रीसनातनजी समझ गये कि वह बालिका कोई अन्य नहीं साक्षात् श्रीश्रीजी ही थीं। अतः आप श्रीरूपजी से बोले भैया! देखो, पुनः कभी भी ऐसा नहीं सोचना। आज श्रीस्वामिनीजी को तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिये कितना श्रम करना पड़ा? श्रीसनातनजी की बात सुनकर श्रीरूपजी प्रेम-विभोर हो गये।

रूप गुण गान होत कान सुनि सभा सब अति अकुलान प्रान मूरछा-सी आई है।
बड़े आप धीर रहे ठाढ़े न शरीर सुधि बुधि में न आवै ऐसी बात लै दिखाई है।।
श्रीगुसाँई कर्णपूर पाछे आय देखे आछे नेकु ढिंग भये स्वांस लग्यौ तब पाई है।
मानौ आगि आँचि लागी ऐसो तन चिह्न भयौ नयौ यह प्रेमरीति कापै जात गाई है।।३६०।।

भावार्थ—एक बार वैष्णव-समाज में श्रीरूप गोस्वामीजी के श्रीमुख से श्रीराधाकृष्ण के रूप-गुण लीला का गान हो रहा था, जिसे कानों से सुनकर सभा में उपस्थित सभी भक्तों के प्राण व्याकुल हो गये एवं सभी को मूर्च्छा सी आ गयी, परन्तु आप (श्रीरूपजी) बड़े धैर्यवान् थे, अतः यद्यपि आपको भावावेश में देह का भान भी न था फिर भी खड़े ही रहे, और खडे-खड़े ही रूप-गुणगान करते रहे। उस समय आपने प्रेम की ऐसी रहस्यमय स्थिति का दर्शन कराया जो कि बड़े-बड़े भावज्ञों की बुद्धि में नहीं आ सकती। उसी समय आपको श्रीकर्णपूर गोस्वामीजी ने पीछे से आकर भलीभाँति से देखा तो श्रीरूपजी यथार्थ में पूर्णरूप से स्वस्थ लग रहे थे, किसी प्रकार की आकुलता नहीं थी, परन्तु जब श्रीकर्णपूरजी आपके समीप आये तो श्रीरूपजी की श्वास इनके शरीर को लगी तब वे आपके प्रेम-प्रभाव को समझ पाये। श्वास का स्पर्श होते ही आपको ऐसा लगा कि मानो अग्नि की लपट लग गयी हो, तथा इनके शरीर पर अग्नि से जलने का चिह्न भी बन गया अर्थात् फफोले पड़ गये। श्रीरूपजी की इस प्रेम की नवीन रीति भला किससे गाई जा सकती है।।३६०।।

व्याख्या—अकुलान प्रान मूरछा-सी आई है—श्रीरूपजी विरह का प्रसंग वर्णन कर रहे थे, इस प्रसंग को सुनकर भक्तों के प्राण व्याकुल हो रहे थे तथा कितने तो मूर्च्छित हो गये थे। ''बुधि में न आवै''- यह बात किसी के समझ में नहीं आ रही थी, कि जिस विरह-प्रसंग को सुनकर हम सभी व्याकुल हो रहे हैं, उसी प्रसंग के वर्णन करने पर इनके तन-मन में प्रेम-विरह का कोई भी लक्षण तक दिखायी नहीं दे रहा है, बात क्या है? ''नयौ यह प्रेमरीति''-नयो प्रेम का भाव यह है कि जैसे एक हाथी छोटी-मोटी ताल-तलैया को तो अपने पौरुष से क्यों न मथ डाले, परन्तु वही हाथी जब महासमुद्र में जा पड़ता है तो वह उसे क्षुब्ध करने में असमर्थ हो जाता है, वहाँ तो वह स्वयं ही डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार से जब प्रेमाभक्तिरूपी- हाथी सामान्य भक्तों के हृदय सरोवर में प्रविष्ट होकर तो उथल-पुथल मचा देता है, लेकिन श्रीरूप गोस्वामी जैसे महापुरुषों के हृदय-रूपी महासमुद्र में प्रेमरूपी हाथी उथल-पुथल न मचाकर वह अपने-आप में, शान्त भाव से निमग्न हो जाता है। पुनः-''प्रेम'' पवन है, सामान्य प्रेमी तूल=रुई के समान हैं और विशेष प्रेमी हेमपिण्डवत् हैं। जैसे पवन रुई को तो उड़ाकर ले जाता है, परन्तु हेमपिण्ड को नहीं उड़ा सकता, ठीक उसी प्रकार से ''प्रेम'' सामान्य प्रेमियों को भले विचलित कर दे, परन्तु विशेष प्रेमी भक्त तो अविचल धैर्य वाले होते हैं, उस स्थिति में पहुँचकर ''प्रेम'' को भी समाधिस्थ होना पड़ता है। महापुरुषों की कृपा-प्रसाद के बिना इस स्थिति को प्राप्त करने की तो बात ही क्या, इसको समझना भी महान कठिन है। श्रीरूप गोस्वामीजी ऐसे ही ''प्रेम'' के महासमुद्र थे। यथा-''हृदय सरोवर छलछलहीं देत गयन्द झकोर। महासमुद्रहिं परै जब पावत ओर न छोर।। कहूँ बिन्दु कहुँ बिन्दु द्वै कहुँ चुल्लू भर जान। मूल सिन्धु रस रसिकता रूप सनातन मान।।''

श्रीगोविन्दचन्द आय निसि कौ स्वपन दियौ, दियौ कहि भेद सब जासौं पहिचानियै।
रहौं मैं खिरक माँझ पोषैं निसि भोर साँझ सीचैं दूध धार गाय जाय देखि जानियै।।
प्रगट लै कियौ रूप अति ही अनूप छबि कवि कैसे कहै थकि रहै लखि मानियै।
कहाँ लौं बखानौं भरै सागर न गागर में नागर रसिक हिये निसिदिन आनियै।।३६१।।

शब्दार्थ—खिरक = गोशाला। नागर =चतुर।

भावार्थ—श्रीरूप गोस्वामीजी को एक दिन रात्रि के समय ठाकुर श्रीगोविन्दचन्द्रजी ने स्वप्न में दर्शन दिया और अपना सभी रहस्य भी बता दिया, जिससे सहज में ही ये मुझे पहचान लें। श्रीठाकुरजी ने कहा कि मैं खिरक में भू-गर्भ में निवास करता हूँ। एक गाय नित्यप्रति सुबह शाम एवं रात्रि को भी अपनी दूध की धार से मेरा अभिषेक करती

है और मेरा पोषण भी करती है। आप वहाँ जाकर के देखिये, तब स्वयं समझ जायेंगे। श्रीठाकुरजी के संकेतानुसार श्रीरूप गोस्वामीजी ने श्रीगोविन्ददेवजी भगवान् का स्वरूप प्रकट किया। ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी की अत्यन्त ही अनुपम छबि है। भला कोई कवि उस छबि का वर्णन कैसे कर सकता है। इस बात पर पूर्ण विश्वास करें कि उस छबि के दर्शनमात्र से ही मन, बुद्धि एवं समस्त इन्द्रियाँ थकित हो जाती हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैं श्रीरूपजी की महिमा तथा श्रीगोविन्ददेवजी की शोभा का कहाँ तक वर्णन करूँ? क्या! कभी गागर में सागर भरा जा सकता है अर्थात् नहीं। चतुर रसिकजन रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीराधागोविन्ददेवजी का एवं परम रसिक श्रीरूप गोस्वामीजी का निरन्तर हृदय में ध्यान करते हैं।।३६१।।

व्याख्या—श्रीगोविन्दचन्द्रजी—यह द्वापरयुग के अन्त में भगवान् श्रीकृष्णजी के प्रपौत्र श्रीवज्रनाभजी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीविग्रह हैं। कालान्तर में भू-गर्भस्थ हो गये थे। अब आप श्रीरूपजी के प्रेम-भक्ति पर रीझकर पुनः प्रकट होकर भक्तों को आनन्द देना चाहते हैं। अतः स्वप्न में दर्शन देकर अनुरोध किया कि ''मैं इस गोमा टीला के अन्दर हूँ, मुझे बाहर निकालकर मेरी सेवा-पूजा का विस्तार करो।'' कवित्त में जो ''खिरक'' शब्द आया है उसे वर्तमान में ''गोमा टीला'' कहते हैं। स्वप्नानन्तर सहसा ही श्रीरूपजी की नींद खुल गयी, स्वप्न की झाँकी का दर्शन एवं मधुर वचनामृत का स्मरण कर आपका रोम-रोम पुलकायमान हो गया। प्रातःकाल दैनिक कृत्य करके ज्यों उठे तो क्या देखते हैं कि एक श्यामवर्ण सुन्दर ब्रजबालक मधुर मुस्क्यान पूर्वक कह रहा है-''बाबा! मैं गोमा टीला पर नित्य एक गाय को दूध की धार बहाते हुए देखता हूँ, न मानो तो स्वयं चलकर देख लो।'' यह सुनते ही श्रीरूपजी को स्वप्न का स्मरण हो आया विचार किया तो स्वप्नदृष्ट स्वरूप एवं इस बालक के स्वरूप में कोई भेद नहीं था तथा वचन भी दोनों के एक से ही थे। श्रीरूपजी मंत्रमुग्ध से हुए इस बालक के पीछे-पीछे चल दिये, जब निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे तो समस्त बातें सत्य निकलीं। यह सब लीला देखकर आपका हृदय अपार आनन्द से उछल पड़ा। ''प्रगट लै कियौ रूप''-वर्षा ऋतु समाप्त हो जाने पर आपने ब्रजवासियों को एकत्रित कर बड़ी सावधानीपूर्वक ''गोमा टीला'' खोदा गया तो दस हाथ नीचे श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन हुआ।

अति ही अनूप छबि—श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर एवं उनकी छवि पर मोहित होकर स्वयं श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं-''स्मेरां भंगीत्रय परिचितां सातिविस्तीर्ण दृष्टिं, वंशी न्यस्ताधर किशलयामुज्ज्वलांचन्द्रकेण। गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे, मा प्रेक्षिष्ठास्तव

यदि सखे! बन्धुसंगेऽस्तिरंगः।।" "अर्थ- हे सखे! यदि बन्धु-बान्धवों के संग में तुम्हारी आसक्ति है, तब तो केशीघाट तीर्थ निकटवर्ती, ईषद् हास्ययुक्त, त्रिभंगललित, तिरछी मनोहर विशाल दृष्टि वाली, जिनके अधर किसलय पर वंशी विराजमान है, और जो मयूरपंख द्वारा उत्कृष्ट शोभायुक्त है, ऐसी श्रीगोविन्ददेवजी नाम वाली श्रीहरिमूर्ति का दर्शन नहीं करना।।"

इस निषेध का वास्तविक तात्पर्य यह है कि यदि एकबार भी श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर लोगे तो सहज ही संसार की समस्त ममता से मुक्त हो जाओगे, तुम्हारी समस्त ममता सिमिट कर श्रीगोविन्ददेवजी में ही हो जायेगी। अतः यदि सांसारिक संकटों से छूटना चाहते हो तो शीघ्र हीश्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन करो। गौड़ीय वैष्णव श्रीरघुनाथभट्टजी की प्रेरणा से जयपुर नरेश महाराज श्रीमानसिंहजी ने श्रीवृन्दावन में श्रीगोविन्ददेवजी का लाल पत्थर द्वारा सात मंजिल का विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था। आगे चलकर इस मंदिर को यवन राजाओं का कोपभाजन बनना पड़ा। इसकी तीन मंजिलें ध्वस्त कर दी गयीं। वर्तमान में भगवान् श्रीगोविन्ददेवजी जयपुर में विराजमान हैं।

रहैं श्रीसनातन जू नन्दगाँव पावन पै आवन दिवस तीन दूध लैकै प्यारियै।
साँवरौ किशोर, आप पूछें किहिं ओर रहो? कहे चारि भाई पिता रीतिहूँ उचारियै।
गये ग्राम, बूझी घर हरि पै न पाये कहूँ चहुँदिसि हेरि-हेरि नैंन भरि डारियै।
अबकै जो आवैं फेर जान नहीं पावै सीस लाल पाग भावै निसिदिन उर धारियै।।३६२।।

शब्दार्थ—पावन = नन्दगाँव का पावन सरोवर।

भावार्थ—एकबार श्रीसनातन गोस्वामीजी नन्दगाँव में पावन सरोवर पर भजन कर रहे थे, भजन में मन लग जाने से तीन दिन तक न तो गाँव में मधुकरी आदि माँगने गये और न तो संयोग से गाँव का ही कोई व्यक्ति सरोवर की ओर आया। चौथे दिन एक श्यामवर्ण का बालक दूध लेकर आया और उसने प्रार्थना पूर्वक आपको दूध पिलाया। बालक की रुपमाधुरी से आकृष्ट होकर आपने पूछा कि-तुम कहाँ रहते हो? तब बालक ने अपने घर का पता बताया तथा कहा कि हम चार भाई हैं, साथ ही पिताजी का भी परिचय दिया। बालक के चले जाने पर श्रीसनातनजी का मन पुनः बालक के दर्शन के लिए उत्कण्ठित हुआ, अतः सरोवर से उठकर नन्दगाँव आये और घर-घर जाकर पूछा, परन्तु कहीं भी बालक-रूपधारी श्रीहरि नहीं मिले। चारों ओर खोज-खोजकर हार गये। आपके नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। तब आपने यह निश्चय किया कि यदि इस बार वह बालक आवेगा तो उसे मैं जाने नहीं दूँगा। श्रीसनातनजी को बालक के सिर पर बँधी लाल पगिया

बहुत ही अच्छी लग रही थी। आप दिन-रात उसी लाल पाग वाले साँवरे किशोर का ही ध्यान-चिन्तन करने लगे।।३६२।।

व्याख्या—साँवरौ किशोर—वह स्वयं ठाकुर श्रीमदनमोहनजी ही थे। ''कहे चारि भाई'' उनके नाम इस प्रकार से हैं-श्रीहरिदेवजी, श्रीबलदेवजी,श्रीकेशवदेवजी, श्रीगोविन्ददेवजी। श्रीठाकुरजी ने, दो नाम श्रीबलरामजी के एवं दो नाम अपने बताये। श्रीहरिदेवजी, श्रीगोवर्धन में विराजते हैं, श्रीबलदेवजी, बलदेव ग्राम में विराजते हैं। श्रीकेशवदेवजी मथुरा में विराजते हैं। श्रीगोविन्ददेवजी, श्रीवृन्दावन में विराजते हैं। इन चारों श्रीविग्रहों के नाम के साथ ''देव'' शब्द है, अतः इन्हें भाई-भाई कहा। पिताजी का नाम ''नन्दू'' बताया। ''गये ग्राम बूझी घर''- श्रीसनातनजी नन्दगाँव में घर-घर जाकर सबसे पूछते कि यहाँ कोई ''नन्दू'' नाम के ब्रजवासी हैं, उनके श्रीहरिदेव, श्रीबलदेव, श्रीकेशवदेव, श्रीगोविन्ददेव नाम के चार पुत्र हैं। नन्दगाँव में सभी ब्रजवासी कहते कि बाबा इस नाम का तो यहाँ कोई नहीं रहता है। ये बावरे से भये जहाँ-तहाँ पूछताछ कर रहे थे। एक वृद्ध ब्रजवासी ने आपके मन की व्यथा को समझ लिया, कि बाबा को नन्द के लाला ने छल लिया है, अतः वह आपको समझाते हुए बोला कि बाबा! वह श्याम किशोर बालक कोई और नहीं था, वह तो साक्षात् ठाकुर श्रीनन्दनन्दन ही थे। उन्होंने तुम्हें चकमा देने के लिए ही दो नाम अपने तथा दो नाम श्रीबलरामजी के बताये हैं और पिताजी श्रीनन्दबाबा को ही ''नन्दू'' नाम बताया है। यह सुनते ही श्रीसनातन गोस्वामीजी प्रेमविभोर हो गये और आँखें डबडबा आयीं।

कही व्याली रूप बेनी निरखि सरूप नैंन जानी श्रीसनातन जू काव्य अनुसारियै।
राधासर तीर द्रुम डार गहि झूलैं-फूलैं देखत लफलफात गति मति वारियै।।
आये यों अनुज पास फिरे आस-पास देखि भयौ अति त्रास गहे पाउँ उर धारियै।
चरित अपार उभै भाई हितसार पगे जगे जग माहिं मति मन में उचारियै।।३६३।।

शब्दार्थ—व्याली =सर्पिणी। वेनी = स्त्रियों की चोटी। राधासर =राधाकुण्ड। लफलफात = लहराती हुई। फिरे आस-पास =परिक्रमा की। हितसार = प्रेम का तत्व।

भावार्थ—श्रीरूप गोस्वामीजी ने ''चाटु पुष्पांजली'' नामक स्तोत्र में श्रीराधिकाजी की वेणी की नागिन से उपमा दी है। इस प्रसंग को जब श्रीसनातन गोस्वामीजी ने पढ़ा तथा श्रीराधिकाजी का स्वरूप अपने नेत्रों से देखा तो आपको यह उपमा प्रिय नहीं लगी। आपने विचार किया कि ऐसा लगता है कि भाई साहब ने भाव-पद्धति से हटकर केवल काव्य-पद्धति का ही अनुसरण करते हुए ऐसा लिखा है। परन्तु एकदिन श्रीसनातनजी, श्रीराधाकुण्ड

के तट पर बैठे भजन-ध्यान कर रहे थे। इतने में आप क्या देख रहे हैं कि एक वृक्ष की डाल पर झूला पड़ा हुआ है और उस पर बैठी एक गौरवर्ण की किशोरी प्रफुल्लितमना झूला, झूल रही है और सखियाँ उमंग में भरकर झुला रही हैं, उस किशोरी की पीठ पर आपको लफलफाती हुई नागिन-सी दिखायी पड़ी, आप तुरन्त ही उस नागिन से किशोरीजी की रक्षा करने के लिए दौड़े, परन्तु समीप पहुँचने पर देखा कि वह नागिन नहीं है, वस्तुतस्तु उसकी वेणी ही है। इतने में ही वह झूला का दृश्य भी अन्तर्धान हो गया। फिर तो आप समझ गये कि यह तो साक्षात् किशोरी श्रीराधिकाजी ही सखियों के साथ झूला, झूल रही थीं और हमारे भ्रम के निवारण के लिये ही यह लीला की थी। फिर तो श्रीराधिकाजी की वेणी को साक्षात् देखकर श्रीरुपजी के वर्णन को पूर्ण सत्य पाकर आपने उस पर अपनी मति-गति न्यौछावर कर दी। फिर तत्काल ही आप अपने छोटे भाई श्रीरूपजी के निकट आये एवं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी परिक्रमा करने लगे, बड़े भाई को अपनी प्रदक्षिणा करते देखकर श्रीरूपजी ने भयभीत होकर इनके चरण पकड़ लिए, श्रीसनातनजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। दोनों ही भाई सदा भक्ति प्रेमरस-सार में पगे रहते थे। आप दोनों के चरित्र अपार हैं, आपका सुयश संसार में जगमगा रहा है। मन, बुद्धि को एकाग्र करके ऐसे अनन्य श्रीभक्तिमान् परम वैष्णवों के चरित्रों का गुणगान एवं चिन्तन मनन करना चाहिए।।३६३।।

व्याख्या—कही व्याली रूप वेनी—यथा-"नवगोरोचनागौरीं प्रवरेन्दी वराम्बराम् मणि स्तबक विद्योति वेणी व्यालांगना फणाम्।" "काव्य अनुसारियै"-इसका भाव यह है कि-भाव-पद्धति में तो परम सौम्यमूर्ति श्रीराधिकाजी की वेणी के लिए विष भरी कठोर नागिनी की उपमा देना समीचीन नहीं है। परन्तु कवियों ने प्राकृत नायिकाओं की वेणी के लिए इस प्रकार की उपमाओं का प्रयोग किया है, उसी कवि-पद्धति का अनुसरण करके इन्होंने ऐसा लिख दिया है। भावपक्ष को ध्यान में लाने पर यह उपमा किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है, परन्तु श्रीकिशोरीजी ने अपने भक्त की वाणी को सत्य करके श्रीसनातनजी को अनुभव कराया कि श्रीरूपजी ने ध्यान में दर्शन करके यह उपमा दी है, केवल काव्य-पद्धति का अनुसरण नहीं है।

विशेष—श्रीरूप गोस्वामीजी—आपका अविर्भाव गोस्वामी श्रीवनमालीलालजी के निकट सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १५५० एवं "सज्जनतोषिणी-पत्रिका" के आधार पर वि०सं० १५४६ में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्रीकुमारदेवजी एवं माताजी का नाम श्रीरेवतीदेवी था। श्रीसनातनजी बड़े भाई एवं श्रीअनुपमजी छोटे भाई थे। पिता

****

श्रीकुमारदेवजी मुर्शिदाबाद माँड़ ग्राम में निवास करते थे। आपके विद्वान् पिताजी ने आपको बँगला, हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फारसी आदि भाषाओं की तथा व्यावहारिक राजनीति की भी उच्चतम शिक्षा दिलवायी थी। अपनी अलौकिक प्रतिभा-बल से ही आगे चलकर ये गौड़देश के शासक हुसेनशाह के मंत्रीपद पर आसीन हुए। वह प्रसंग इस प्रकार से है- नवाब हुसेनशाह का एक पीरू नामक राजमिस्त्री था। जो उस समय वास्तुविद्या एवं शिल्पकला में अद्वितीय था। नबाब के आदेश पर पीरू ने एक विशाल नीलप्रस्तर-खचित उच्चस्तम्भ का अपने हाथों से निर्माण किया। एक दिन नबाब स्वयं उस स्तम्भ को देखने करने के लिए गया, तो उस स्तम्भ की सुन्दरता पर मुग्ध होकर तथा पीरू के शिल्प नैपुण्य पर प्रसन्न होकर हुसेनशाह ने उसी समय उसे अपना बहुमूल्य हार एवं बहुत से वस्त्रादि उपहार में दिये, पीरू ने विशेष प्रसन्नता के आवेश में आकर कहा-हुजूर! मैं तो इससे भी अधिक सुन्दर स्तम्भ का निर्माण कर सकता हूँ। यह सुनकर नबाब ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा कि-"नमक हराम! तू जब इससे भी अधिक सुन्दर स्तम्भ बना सकता है तो तूने इस स्तम्भ को वैसा क्यों नहीं बनाया?" इस अपराध के कारण नबाब ने पीरू को एक ऊँचे स्थान से गिराकर मरवा दिया। पीरू ने जो स्तम्भ बनाया था तो इससे प्रसन्न होकर नवाब ने इसे पुरस्कार भी देने को कहा था, अत: पीरू ने मृत्यु से पहले नवाब से यह प्रार्थना की थी कि इस स्तम्भ का नाम मेरे नाम पर ही रखा जाय। नवाब ने उस स्तम्भ का नाम "पीरूसा-स्तम्भ" ही रखवाया। स्तम्भ का शिरोभाग बनना शेष रह गया था। इस घटना के कुछ समय पश्चात् हुसेनशाह एक दिन हिंगा नामक एक पियादा को साथ लेकर वहाँ गया एवं स्तम्भ को अपूर्ण देखकर अत्यन्त ही दु:खित हुआ। उस समय नवाब ने बिना कुछ कार्य निर्देश किये हिंसा को मोरग्राम जाने का आदेश दिया। हिंगा भयवश नवाब से कुछ पूछ न सका। हिंगा ने समझ लिया कि जिस प्रकार से पीरू का स्तम्भ निर्माण के कारण ही विनाश हुआ था, ठीक उसी प्रकार से ही आज मेरी भी मरणवेला है। वह व्याकुल मोर ग्राम में जाकर इधर-उधर घूमने लगा। श्रीसनातनजी ने हिंगा की यह दशा देखकर श्रीरूपजी के द्वारा उसे अपने पास बुलवाया, हिंगा ने अपने दु:ख का कारण बताया। श्रीसनातनजी ने अपने अनुमान से समझ लिया कि राजमिस्त्री के लिये ही हिंगा को मोरग्राम भेजा गया है। अत: उन्होंने हिंगा के साथ मोरग्राम के सुयोग्य राजमिस्त्रियों को अपने शिल्प- उपकरणों के सहित नवाब के पास भेज दिया, नवाब ने हिंगा की बुद्धि की प्रशंसा की। तब हिंगा ने श्रीरूप-सनातनजी का प्रसंग सुनाया, सुनकर नबाब ने तत्काल ही पालकी भेजकर दोनों भाइयों को बड़े आदरपूर्वक बुलवाया और दोनों को दरबार में "दबीरखास" एवं "साकरमल्लिक" का पद प्रदान किया। दोनों भाइयों ने बड़ी

दक्षता पूर्वक राज्यकार्य सभाँला। परन्तु कुछ समय पश्चात् इन दोनों भाइयों की राजपद एवं राजसुख से ग्लानि हो गयी, इस ग्लानि का एक प्रसंग मूल छप्पय की "यह सुख अनित्य विचारि"। की व्याख्या में आ चुका है। दूसरा प्रसंग इस प्रकार से है-

जब श्रीगौरांग महाप्रभुजी नीलाचल से श्रीवृन्दावन के लिए प्रस्थित हुए तो उस समय प्रभु के साथ में असंख्य भक्तजन चल रहे थे। इतने जनसमुदाय के साथ यात्रा करना उचित न समझकर श्रीमहाप्रभुजी, "कानाई नाट्यशाला" से वापस लौट आये एवं रामकेलिग्राम में उपस्थित हुए। उन दिनों दोनों भाई रामकेलिग्राम में ही निवास करते थे तथा श्रीमहाप्रभुजी की महामहिमा से भी परिचित थे। अतः दोनों भ्राता रात्रि में राजवेश गोपन कर श्रीमहाप्रभुजी से मिले एवं अत्यन्त दैन्यपूर्वक दोनों ने श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति की। श्रीमहाप्रभु ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम दोनों मेरे जन्म-जन्म के किंकर हो, तुम पर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा होगी, मेरा गौड़देश आगमन का प्रधान कारण तुमसे मिलना ही था। ऐसा कहकर उनके मस्तक पर अपना हस्तकमल स्पर्श पूर्वक अपार कृपा की तथा दोनों का नाम बदलकर बड़े भाई का नाम सनातन एवं छोटे भाई का नाम रूप रखा (पहले तो श्रीसनातनजी का नाम अमर था एवं श्रीरूपजी का नाम सन्तोष था), श्रीमन्महाप्रभुजी का चरण-दर्शन एवं उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त कर दोनों भाई मध्यरात्रि के समय पालकी में बैठकर अपने घर आ रहे थे। रास्ते में एक रजक-दम्पति (धोबी एवं उसकी पत्नी) अपने घर में बैठे बातचीत कर रहे थे। धोबिन को इनके जाने की आहट मिली तो उसने भयवश अपने पति से इस समय जाने वाले इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में पूछा, तब रजक ने कहा कि इस समय और कोई नहीं हो सकता है या तो कोई कुत्ता है या कोई राज्य-कर्मचारी। श्रीरूप-सनातनजी ने यह बातें सुनीं, श्रीमन्महाप्रभुजी के उपदेशों द्वारा जो वैराग्यभाव उदय हुआ था वह रजक-दम्पत्ति के वार्तालापों को सुनकर और प्रखर हो गया। फिर तो घर आकर सम्पूर्ण सम्पत्ति का अर्द्धभागब्राह्मण एवं वैष्णवजनों की सेवा में लगा दिया और तृतीय भाग कुटुम्ब पालन एवं चतुर्थांश भाग विपत्ति के समय प्रयोग हेतु एक विश्वस्त ब्राह्मण के यहाँ पर रख दिया। श्रीरूपजी ने दस हजार मुद्रा श्रीसनातनजी के व्यय के लिए एक मोदी के पास सुरक्षित रख दी। इसी बीच जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः श्रीवृन्दावन के लिए प्रस्थान किया तो दूत मुख से (सेवक द्वारा) यह सम्वाद सुनकर श्रीरूपजी भी घर छोड़कर अपने छोटे भाई अनुपम को साथ लेकर श्रीवृन्दावन को चल दिये। राज्यकार्य में उदासीनता आ जाने के आरोप में हुसेनशाह ने श्रीसनातनजी को कैद कर लिया। श्रीरूपजी ने श्रीसनातनजी के नाम

एक गुप्त पत्र लिखकर भेजा जिसका आशय यह था कि किसी भी उपाय से बन्धन-मुक्त होकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में आ जाइये, श्रीगौरांग महाप्रभुजी श्रीवृन्दावन का दर्शन कर प्रयागराज लौट आये थे।

प्रयाग में ही श्रीरूपजी का श्रीगौरांग महाप्रभुजी से मिलन हुआ, इन्हें देखकर श्रीमहाप्रभुजी अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं इनके विषय त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा की, श्रीसनातनजी का समाचार ज्ञात होने पर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि वे शीघ्र ही बन्धन से मुक्त होकर हमसे मिलेंगे। श्रीत्रिवेणीजी के निकट श्रीप्रभु का वास स्थान था, श्रीरूपजी एवं अनुपमजी, श्रीमहाप्रभुजी के ही सान्निध्य में रहने लगे। वहाँ दशाश्वमेध घाट पर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीरूप गोस्वामीजी को दस दिन तक भक्ति-सम्बन्धी शिक्षा दी एवं शक्ति का संचार किया। श्रीभक्तितत्व, रसतत्व, सिद्धान्ततत्व आदि का निगूढ़तम उपदेश देकर आपको श्रीवृन्दावन के लिए भेज दिया एवं स्वयं श्रीकाशी के लिए प्रस्थान किया। श्रीवृन्दावन में आकर श्रीरूप गोस्वामीजी एक मास पर्यन्त निवास किये। तदनन्तर श्रीगौर-चरणों के दर्शन तथा श्रीसनातनजी का वृत्तान्त जानने की आकांक्षा से दोनों भाई गंगातट मार्ग से पुनः प्रयाग आये। इसी मध्य श्रीसनातनजी बन्धन मुक्त होकर राजपथ से श्रीवृन्दावन आ गये थे। अतः इन दोनों भाइयों से श्रीसनातनजी का साक्षात्कार नहीं हो पाया। प्रयाग से चलकर श्रीरूप अनुपमजी काशी आये, वहाँ आपने दस दिन तक निवास कर फिर गौड़देश के लिए प्रस्थान किया, मार्ग में श्रीअनुपमजी का देहावसान हो गया। श्रीचैतन्य-चरणों का चिन्तन करते हुए श्रीरुपजी श्रीनीलाचल पहुँचे, तब तक श्रीमहाप्रभुजी, श्रीवृन्दावन से लौटकर वापस श्रीनीलाचल आ गये थे। श्रीचैतन्यदेव एवं श्रीजगन्नाथ भगवान् का दर्शन कर श्रीरूपजी परम आनन्दित हुए, यहाँ श्रीगौड़ीय श्रीवैष्णव-भक्तवृन्दों ने रूपजी का दर्शन पाकर परम सुख माना। कुछ समय श्रीनीलाचल में निवास करके श्रीरुपजी श्रीमहाप्रभुजी के संकीर्तन, नृत्यमाधुरी का दर्शन किया। तत्पश्चात् उनकी आज्ञा लेकर आप गौड़देश होते हुए श्रीब्रजभूमि में आ गये। श्रीसनातनजी का श्रीब्रजभूमि में प्रथम ही आगमन हो गया था। श्रीब्रजभूमि में निवास कर दोनों भाईयों ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेश को स्मरण कर श्रीभक्तिरसपूर्ण शास्त्रों की रचना तथा लुप्त-तीर्थों का प्राकट्य एवं अनुसंधान, श्रीविग्रहों का प्रगटन तथा श्रीभक्ति-प्रचार आदि कार्यों में दृढ़तापूर्वक लग गये। श्रीरूपजी ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीउज्ज्वलनीलमणि, श्रीललितमाधव, श्रीविदग्धमाधव, श्रीमथुरा-माहात्म्य, दानकेलि कौमुदी, पद्यावली, हंसदूत,उद्धव-सन्देश, अष्टादशलीला छन्द, स्तवमाला, लघुभागवतामृत आदि अपूर्व ग्रन्थों की रचना की, इस प्रकार से आपका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीभक्तिमय रहा।

एक बार श्रीरूप गोस्वामीजी भावना में लीला का दर्शन कर रहे थे। आपने उस समय यह दृश्य देखा कि श्रीप्रियाजी पुष्पों से लदी एक लता से पुष्प चयन करने का प्रयत्न कर रहीं हैं, परन्तु लता की डाली अधिक ऊँची होने के कारण पुष्प नहीं मिल रहे हैं, इतने में श्रीठाकुरजी वहाँ आ जाते हैं, श्रीप्रियाजू उनसे निवेदन करती हैं कि आप तनिक डाली को पकड़ कर झुका दें, जिससे आसानी से फूल मिल जायँ, ठाकुर श्रीश्यामसुन्दर ने तत्काल उछलकर उस पुष्प लता को झुका दिया, श्रीप्रियाजी पुष्प चयन करने में तन्मय हो गयीं, इतने में उस छली छैल ने डाली को छोड़ दिया,फलस्वरूप श्रीप्रियाजी उस पुष्प लता की डाली को पकड़े ही झूल गयी, श्रीठाकुरजी की इस चंचलता पर श्रीरूप गोस्वामीजी को हँसी आ गयी, संयोग की बात कि उसी समय एक लँगड़े वैष्णव उनके सामने होकर जा रहे थे, उन्होंने इन्हें हँसते हुए देख लिया और मन में दुःख मान लिया कि ये मेरे लंगड़ेपन पर हँस रहे हैं। वैष्णव के दुःख मानते ही, श्रीरूपजी को जो भावना-ध्यान में लीला-विलास का साक्षात्कार हो रहा था वह बन्द हो गया। श्रीरूपजी के लाख प्रयत्न करने पर भी लीलानुभव नहीं हुआ। तब आप अत्यन्त व्यथित होकर श्रीसनातनजी के निकट आये और अपनी स्थिति निवेदन किये। श्रीसनातनजी ने सुविवेक-चिन्तन करके कहा-''निश्चय ही तुमसे कोई जाने अनजाने में श्रीवैष्णव अपराध हो गया है, तभी श्रीप्रिया-प्रियतम ध्यान में नहीं आ रहे हैं।''बहुत विचार करने पर भी श्रीरूपजी नहीं समझ पाये कि मुझसे किस श्रीवैष्णव का अपराध बन गया। तब श्रीसनातनजी ने यह युक्ति बतायी कि तुम समस्त श्रीवैष्णवों का वृहद्! भण्डारा करो एवं सभी से समष्टिरूप में क्षमा-याचना करो। श्रीरूपजी ने आज्ञा शिरोधार्य कर ऐसा ही किया। जब ये समस्त श्रीवैष्णवों से अनुनय-विनय पूर्वक प्रार्थना करने लगे कि, हे श्रीवैष्णवों! मुझसे जाने अथवा अनजाने में कोई श्रीवैष्णव अपराध बन गया हो तो वे महानुभाव हमें क्षमा करें। तब वे लंगड़े श्रीवैष्णव अति क्रोधित होकर बोले कि तुमने मेरा ही तो उपहास किया था, जब वे उस दिन की याद दिलाये तो इन्हें लीला प्रसंग याद आया। फिर ये उस दिन के हंसने का स्पष्टीकरण किये। तब वैष्णव के चित्त का खेद दूर हुआ। श्रीप्रिया-प्रियतम पुनः इनकी आँखों के सामने लीला विनोद करने लगे। इस प्रसंग में वैष्णवापराध की परिणामरूपता पर प्रकाश पड़ता है।

एकबार अकबर बादशाह इनका दर्शन करने के लिए आया। इन्हें लता-कुँजों में विराजमान देखकर अकबर ने इच्छा प्रकट की कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपके निवास के लिए कुटिया बनवा दूँ। श्रीरूपजी मुस्कराये और मन ही मन विचार किये

कि इसको कुँजों की महिमा का परिज्ञान नहीं है, तभी तो ऐसा कह रहा है। फिर आपने अकबर का भ्रम दूर करने के लिए कृपापूर्वक श्रीवृन्दावन की दिव्य लताओं का दर्शन कराया, यह देखकर अकबर चकित हो गया और बोला-"महाराज हम नहीं जानते थे कि आप ऐसे दिव्य महल में निवास करने वाले हैं। हम तो अपनी सम्पूर्ण बादशाहत लगाकर भी एक कुँज महल का निर्माण नहीं करवा सकते हैं।" तब श्रीरूपजी ने उसे यही आदेश दिया कि तुम आज से यही व्यवस्था कर दो कि-कोई भी ब्रज की लता-पताओं को नहीं काटे तथा यहाँ के पशु-पक्षियों की हिंसा नहीं करे। अकबर ने श्रीरूपजी की आज्ञा शिरोधार्य की और तत्काल ही आदेश करके कार्यरूप में परिणित किया।

श्रीसनातनजी गोस्वामी के तिरोभाव के पश्चात् श्रीरूप गोस्वामीजी अपनी कुटी से बाहर निकले, वहिर्व्यवहार को त्यागकर आप आन्तरिक ध्यान में निमग्न हो गये। अन्त में "सज्जनतोषिणी पत्रिका" के प्रकाशित लेख के आधार पर वि०सं० १६२१ एवं श्रीवनमालीलालजी के पास सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १६२५श्रावणशुक्ल द्वादशी को कालिन्दी के तट, श्रीश्रृगांरवट के समीप श्रीगोस्वामी श्रीरूपजी नित्यनिकुँज लीला में प्रविष्ट हो गये, नित्यलीला परिकर में आप श्रीरूपमंजरी हैं, गोरोचन के सदृश आपकी अंगकान्ति है, प्रायः मयूरपक्ष के समान आप वस्त्र धारण करती हैं, सभी मंजरियों में प्रधान हैं इनकी प्रधान सेवा श्रीप्रिया-प्रियतम को ताम्बूल देना है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट उत्तर दिशा में इनकी नित्य स्थिति है। आपके सम्बन्ध में यह कविता बड़ी ही हृदयस्पर्शिनी है। "भक्तिरस रूप राधाकृष्ण रस रूप पद रचना के रूप यातै रूप नाम भाखियै। त्याग रूप भाग रूप सेवासुख साज रूप रूप ही की भावना और रूप सुख चाखियै।। कृपा रूप भाव रूप रसिक प्रभाव रूप गीत गान रूप यातैं मन अभिलाखियै। महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू के हृदय रूप श्रीगुसाँई रूप सदा नैंनन में राखियै।।"

श्रीसनातनजी—आपका अविर्भाव सप्त गोस्वामी ग्रन्थ के आधार पर वि०सं० १५२२ तथा श्रीवनमालीलालजी के निकट सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १५४५ में हुआ था। आपके प्रारम्भिक जीवन का बहुत कुछ प्रसंग श्रीरूप गोस्वामीजी के चरित में आ चुका है। आगे का प्रसंग संक्षेप में इस प्रकार से है- श्रीरूपजी एवं श्रीअनुपमजी के श्रीवृन्दावन चले जाने के पश्चात् श्रीसनातनजी अत्यन्त उद्विग्न हो उठे, राज्यकार्य अब आपको संकटमय लगने लगा, अब तो रात-दिन यही चिन्ता घेरे रहती कि अब हमें यहाँ से किस प्रकार से मुक्ति मिले, अन्ततोगत्वा आप अस्वस्थता का बहाना बनाकर राजसभा में न जाकर, घर पर ही शास्त्रालोचन में लग गये। आपकी ओर से दो ब्राह्मण "श्रीगोपाल-मंत्रराज" का पुरश्चरण

इसलिए कर रहे थे, जिससे कि शीघ्रातिशीघ्र आपको श्रीचैतन्य चरणों की प्राप्ति हो। जब नवाब हुसेनशाह को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उसने प्रथम तो साम, दाम नीतियों से समझा-बुझाकर आपको पुनः राजकार्य सँभालने की ओर उन्मुख करना चाहा, परन्तु जब यह प्रयत्न विफल रहा तो उसने दण्डनीति को अपनाया। फलस्वरूप उसने श्रीसनातनजी को करागार में बन्द करा दिया, परन्तु इसी बीच उड़ीसा में युद्ध छिड़ जाने के कारण नवाब को वहाँ जाना पड़ा। इधर श्रीसनातनजी ने जेल अधीक्षक को सात हजार अशर्फियाँ देकर अपने पक्ष में कर लिया, उसने श्रीसनातनजी की हथकड़ी-बेड़ी काटकर रात्रि में ही आपको गंगा नदी से पार कर दिया, आपके साथ में एकमात्र ईशान नाम का एक सेवक था, आपने पातड़ा पर्वत की उपत्यका पार करने के पश्चात् ईशान को भी वापस कर दिया और स्वयं अकेले ही श्रीवृन्दावन की ओर चल पड़े। हाजीपुर में आपके बहनोई श्रीकान्तजी मिले, परिस्थिति से परिचित होने पर श्रीकान्तजी ने शीतकाल का आगमन जानकर एक सुन्दर मूल्यवान् भूटानी कम्बल देकर इन्हें विदा किया। आप अविश्रांत भाव से पैदल यात्रा करके काशी आये, यहाँ आने पर आपको समाचार मिला कि प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुजी यहीं श्रीचन्द्रशेखर वैद्यजी के घर विराज रहे हैं। यह समाचार सुनकर आपको अपार प्रसन्नता हुई और श्रीमहाप्रभुजी के दर्शनों की आकांक्षा से चन्द्रशेखर वैद्यजी के द्वार पर आकर एक कोने में बैठ गये।

अन्तर्यामी श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनजी का आगमन जान लिया और तत्काल ही चन्द्रशेखरजी को कहा कि द्वार पर बैठे हुए श्रीवैष्णव को अंदर ले आओ, परन्तु द्वार पर कोई श्रीवैष्णव-वेषधारी हों तब ही तो उन्हें साथ में लावें, उन्होंने वापस आकर कहा-"वहाँ तो कोई श्रीवैष्णव-वेषधारी नहीं हैं, लेकिन हाँ फकीर-सा एक मनुष्य अवश्य बैठा हुआ है।" श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहा कि वही तो वास्तविक वैष्णव हैं, उन्हें आप सम्मानपूर्वक यहाँ लाइये। श्रीचन्द्रशेखरजी ने श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा श्रीसनातनजी को सुनाई और उन्हें अपने साथ लेकर श्रीमहाप्रभुजी के निकट आये। श्रीसनातनजी ने भाव-विभोर होकर दूर से ही श्रीमन्महाप्रभुजी के श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और श्रीप्रभु की श्रीचरण-रज को मस्तक पर लगाया। श्रीमहाप्रभुजी ने दौड़कर उठाकर हृदय से लगा लिया। श्रीसनातनजी ने अत्यन्त ही आर्त होकर कहा कि-"प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं? मैं तो अत्यन्त नीच हूँ, आप मेरा स्पर्श नहीं कीजिये।" श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि-"सनातन! तुममें वह भाव-भक्ति बल विद्यमान है, जिससे कि तुम अनेक ब्राह्मणों को पवित्र कर सकते हो। मैं तो अपनी आत्मसंशुद्धि के लिये ही तुम्हें स्पर्श कर रहा हूँ तथा अपनी वाणी

और इन्द्रियों की पवित्रता के लिये ही तुम्हारे दर्शन एवं गुणों का गान कर रहा हूँ। श्रीकृष्ण की तुम्हारे ऊपर अपार कृपा है, जो कि तुम सहज में ही सांसारिक बन्धनों से छूट कर यहाँ आ गये। यह सुनकर श्रीसनातनजी ने कहा कि-"प्रभो! मैं तो श्रीकृष्ण को नहीं केवल आपको जानता हूँ।" तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी ने प्रयाग में श्रीरूपजी का मिलन एवं श्रीवृन्दावन गमन का समाचार सुनाया। श्रीप्रभु की आज्ञा से श्रीसनातनजी का वह फकीरी वेष हटाकर क्षौर=कराके (मुण्डन-संस्कार) करवाकर श्रीगंगाजी में स्नान कराया गया, फिर धारण करने को नवीन वस्त्र दिया गया, आपने नवीन वस्त्र स्वीकार न करके श्रीवैष्णव-उच्छिष्ट-वस्त्र ही धारण करने की अभिलाषा व्यक्त की। तब श्रीमहाप्रभुजी ने अपने कृपापात्र महाराष्ट्रीय ब्राह्मण श्रीतपनमिश्रजी जिनके यहाँ पर श्रीमहाप्रभुजी नित्य प्रति भिक्षा लेने जाते थे, उनसे ही अपनी पहनी उच्छिष्ट-वस्त्र एक धोती इनको दिलवायी, इन्होंने उसी उच्छिष्ट-धोती में से एक कौपीन एवं बहिर्वास बनाकर धारण किया। उस दिन तो ये श्रीतपनमिश्रजी के गृह पर ही श्रीमहाप्रभुजी का उच्छिष्ट-प्रसाद ग्रहण किया। परन्तु प्रतिदिन के लिए तो आपको मधुकरी ही उत्तम लगी, अतः ये संकोच छोड़कर घर-घर जाकर मधुकरी माँग लाते और उसी से उदरपूर्ति कर लेते। पूर्व कहा जा चुका है कि आपके बहनोई ने आपको एक सुन्दर मूल्यवान् भूटानी कम्बल दिया था। श्रीमहाप्रभुजी बार-बार उस कम्बल की ओर देखते, श्रीसनातनजी ने श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय समझ गये। अतः एक दिन स्नानार्थ श्रीगंगाजी के तट पर जाकर आपने एक श्रीवैष्णव को वह बहुमूल्यवान् कम्बल दे करके उससे पुराना कन्था लेकर निज निवास स्थान पर आये। श्रीमहाप्रभुजी, इनके इस उत्कृष्ट वैराग्य पर अति प्रसन्न हुए और बोले-"सनातन! तुमने यह बहुत अच्छा कार्य किया। लोग तुम्हें देखकर कहते थे कि देखो, बाबा घर-घर भिक्षा माँगता है लेकिन तीन रुपये का भूटानी कम्बल ओढ़ता है। उन दिनों का तीन रुपया ही आज के तीन हजार के बराबर होता है। आपकी आकांक्षानुसार भगवान ने सर्वथा आपको निरुज बना दिया।" श्रीसनातनजी ने तो इसे श्रीमन्महाप्रभुजी का ही कृपा-प्रसाद समझा।

तदनन्तर श्रीसनातनजी की प्रार्थना पर श्रीमहाप्रभु ने इन्हें साध्य-साधनतत्व का सारगर्भित उपदेश दिया। जिसका सारांश यह है कि-"नामे रुचि जीवे दया करु आचरन। यही मते भक्तिसार श्रीवैष्णव सेवन।।"अर्थात् जीवों पर दया करना, श्रीहरिनाम में रुचि रखना एवं श्रीवैष्णवों की सेवा करना यही श्रीवैष्णव धर्म का सार सिद्धान्त है। उपदेश सुनकर श्रीसनातनजी ने परम कृतज्ञता प्रकट की। तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा एवं आशीर्वाद

शिरोधार्य कर श्रीवृन्दावन को चल पड़े। संयोग की बात, है कि जब श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन आये तो आपके आगमन के पूर्व ही श्रीरुपजी श्रीनीलाचल को प्रस्थान कर चुके थे। अत: इस यात्रा में श्रीरुपजी से भेंट नहीं हुयी, कुछ समय श्रीवृन्दावन में निवास करने के पश्चात् आपने श्रीनीलाचल के लिए प्रस्थान किया, मार्ग में झारिखण्ड में दूषित जलवायु के संस्पर्श से आपके शरीर में रक्तदोष हो गया। सर्वाङ्ग में सूजन आ गई एवं जहाँ-तहाँ पूयस्राव होने लगा, इसी स्थिति में श्रीनीलाचल पहुँचे। संकोचवश सीधे श्रीमहाप्रभुजी के यहाँ न जाकर, श्रीहरिदासजी ठाकुर की भजन कुटी पर गये। सर्वज्ञ श्रीमन्महाप्रभुजी आपके आगमन को जान गये और वहीं जाकर आपने श्रीसनातनजी को दर्शन दिया तथा इनके मना करने पर भी इन्हें हृदय से लगाकर कृतार्थ किया। अपनी दयनीय देह दशा देखकर श्रीसनातनजी ने ग्लानिवश रथ यात्रा के समय रथ के पहिये के नीचे दबकर देह-त्याग करने का संकल्प कर लिया था। श्रीमन्महाप्रभुजी से इनका मनोभाव छिपा न रहा, अत: एक दिन एकान्त में समझाते हुए बोले-'सनातन! यदि तुम्हें देह-त्याग से श्रीभगवद्-प्राप्ति अथवा दु:खों से छुटकारा हो जाता हो तो मैं भी तत्काल अपने शरीर को श्रीकृष्ण चरण-कमलों में न्यौछावर करने को प्रस्तुत हूँ। परन्तु श्रीभगवत्प्राप्ति तो भजन एवं भक्ति से ही सुलभ है। दूसरी बात यह है कि जब तुमने अपना सर्वस्व त्यागकर मेरे चरणों में अपने को समर्पित कर दिये हो, तब मेरी इस सम्पत्ति को नष्ट करने वाले तुम कौन हो? इस पर तो मेरा ही पूर्ण अधिकार है, इससे मुझे बहुत कार्य कराने हैं। श्रीप्रभु की यह ममतामयी वाणी सुनकर श्रीसनातनजी गद्गद हो गये। श्रीहरिदास ठाकुर का अर्न्तभाव जानकर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनजी का रक्तदोष दूर करने के लिए पुन: कृपापूर्वक आलिंगन किया। श्रीप्रभु के दिव्य-स्पर्श से श्रीसनातनजी का शरीर स्वर्णमय हो गया। तदुपरान्त श्रीसनातनजी ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेशानुसार एक वर्ष तक श्रीनीलाचल में ही निवास किया और श्रीमन्महाप्रभुजी का दिव्य-दर्शन एवं उपदेशामृत का लाभ लेते रहे। तत्पश्चात् आप पुन: श्रीवृन्दावन चले आये, यहाँ आकर श्रीसनातनजी ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेशानुसार अनेक शास्त्रों का मंथन करके ब्रज के विलुप्त तीर्थस्थलों का उद्धार किया एवं सद्ग्रन्थ रचना द्वारा शुद्धवैष्णवोचित मर्यादा स्थापित की। आपके प्रणीत सद्ग्रन्थों में वृहद्भागवतामृत, वृहद्वैष्णवतोषिणी, श्रीलीलास्तव आदि प्रमुख हैं।

एक दिन श्रीसनातन गोस्वामीजी ने महावन में एक रहस्यमय दृश्य देखा कि कुछ गोप बालकों के संग खेलते हुए एक नव तमाल श्यामल बालक आपकी ओर देखकर मुस्करा रहा

है, ये उसकी मंद मुस्क्यान एवं रूपमाधुरी से आकृष्ट होकर उसे पकड़ने के लिये दौड़े तो वह बालक अन्तर्धान हो गया, आप भाव-विभोर हो विलाप करने लगे, रोते-रोते आपको निद्रा की एक झपकी-सी आयी तो क्या देखते हैं कि वही श्यामल गोपबालक स्वप्नावस्था में कह रहा है कि-"मैं मथुरा में श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी के घर में हूँ। अब तुम मुझको इनके यहाँ से ले चलो।" श्रीसनातन गोस्वामीजी की निद्रा भंग हुयी और प्रात:काल होते ही मधुकरी के बहाने श्रीपरशुरामजी चौबे के आवास स्थान पर पहुँचे। वहाँ आपको उस बालक का ठाकुर श्रीमदनमोहनजी के रूप में दर्शन हुआ। आप वैसे तो एक दिन मधुकरी कर लाते और श्रीठाकुरजी का भोग लगाकर कई-कई दिन तक प्रसादरूप में ग्रहण कर भजन में तल्लीन रहते, परन्तु उस दिन से तो आप प्रतिदिन मधुकरी भिक्षा के लिये जाने लगे और श्रीमदनमोहनजी का दर्शन कर अश्रुपात करते रहते।

एक दिन घर की एक वृद्धा माता ने आपकी दैन्य दशा को देखकर कहा कि "बाबा! इन्हें क्या देखते हो, ये तो ऐसे ठाकुरजी हैं कि जब से मेरे घर में आये हैं तब से मेरा सर्वनाश हो गया, पहले मेरा बहुत बड़ा कुटुम्ब था, घर धन-सम्पत्ति से भरा था। परन्तु अब तो मैं एक अकेली ही रह गयी हूँ।"श्रीसनातनजी ने भी उदासमुद्रा में कहा कि -"माताजी! कुछ पूछो मत मेरी भी यही दशा है, मैंने भी जबसे इनसे प्रीति की तब से मेरा भी सर्वनाश हो गया, नहीं तो मेरे पास भी पहले राजाओं के समान ऐश्वर्य था। परन्तु अब तो एकमात्र लँगोटी ही शेष रह गयी है।"वृद्धा ने कहा-"बाबा! मैं तो वृद्ध हो चली, अत: मैं तो चाहती हूँ कि इनको कोई यहाँ से ले जाय तो अच्छा हो क्योंकि अब मुझसे इनकी सेवा-पूजा भी नहीं बन पाती है और इनका यह हाल है कि इन्होंने मेरे सपरिवार में से किसी को भी रहने नहीं दिया। अन्ततोगत्वा मेरी मृत्यु के पश्चात् इनको किसी न किसी के यहाँ जाना ही होगा, यदि अपने सामने ही इनको किसी को सौंप देती तो मुझको सन्तोष हो जाता, मैं इन्हें छोड़ना नहीं चाहती, परन्तु मेरा स्वयं का शरीर ही मेरे लिए भार हो रहा है, फिर मैं इनकी किस प्रकार से सेवा-पूजा कर सकती हूँ।" तब श्रीसनातनजी ने कहा- "मैया! यदि ऐसी ही बात है तो तू इन्हें मुझे ही दे दे, मैं इन्हें अपने संग ले जाऊँगा।" वृद्ध माता ने कहा-"बाबा! जब इन्होंने तेरा भी सर्वनाश कर दिया है तो तुम इनको ले जाकर क्या करोगे?" इन्होंने कहा-"मैया! ये अब इससे अधिक कर भी क्या सकते हैं। अब तो मेरे तन पर एकमात्र लंगोटी ही रह गई है, अत: अब मुझे अपने विनाश का भय नहीं है।" बाबा की ठाकुर श्रीमदनमोहनजी के प्रति अनन्य निष्ठाभाव देखकर, वृद्धा माताजी ने श्रीठाकुरजी

को सौंप दिया। ये अत्यन्त ही प्रसन्न मुद्रा में श्रीठाकुरजी श्रीवृन्दावन ले आये और आदित्य टीला स्थित अपनी पर्णकुटी में पधरा दिये। पहले ये एक दिन मधुकरी लाते तो उसको कई दिन तक प्रयोग में लेते, परन्तु श्रीठाकुरजी के आगमन से अब श्रीसनातनजी भोग-राग हेतु चिन्तित हुये। अत: अब आप भिक्षा में आटा माँगकर लाने लगे और बिना आटा छाने बिना नमक डाले ही उसकी अँगाबाटी बनाकर श्रीठाकुरजी को अर्पण कर देते, कुछ दिन तक यह क्रम चलता रहा, फिर एक दिन श्रीठाकुरजी ने कहा-''बाबा! यह अग्नि में जली हुई सूखी बाटियाँ मुझे अच्छी नहीं लगती हैं, थोड़ा सा नमक तो अवश्य माँग लाया करो।'' यह सुनते ही परम वैराग्यवान श्रीसनातन गोस्वामीजी झल्लाते हुए बोले कि-''अहो! मैं तो समझ गया, आप तो जन्म के ही चटोरें हो, बाल्यकाल से ही खाने-पीने के सम्बन्ध में आपकी जीभ बिगड़ गई है, अब आप मुझको भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं। आज नमक माँगते हो, कल घी माँगोगे, परसों चीनी के लिये कहोगे, क्या! इसीलिये मैंने वैराग्य लिया है। क्या! आप अपनी गीता के गुटका का विस्तार कर मेरा वैराग्य बिगाड़ना चाहते हैं।

दृष्टान्त—गीता के गुटका का—एक गाँव के बाहर एक अत्यन्त ही विरक्त महात्मा रहते थे। वे परम अकिंचन एवं परम अपरिग्रही थे। संग्रह के नाम पर कुछ पूजा-पाठ की, कुछ तिलक-स्वरूप की सामग्री के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। एक सेवक ने इन्हें अत्यन्त सुन्दर सुनहली जिल्दयुक्त एक ''श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'' का गुटका (रेशमी वस्त्र से आवेष्टित करके महात्माजी को भेंट में दिया था) वह उनकी कुटिया की परम सम्पत्ति थी, सेवा में एक शिष्य रहता था। कुछ समय पश्चात् महात्माजी ने तीर्थ पर्यटन का विचार किया, अत: शिष्य को कुटिया एवं श्रीगीताजी के गुटका को सौंपते हुए बोले-''बच्चा! यह गीता समस्त ज्ञान का भंडार है, साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप है, इसको तुम संभालकर रखना एवं इसका स्वाध्याय करना भगवान का भजन करना।'' यह उपदेश देकर महात्माजी तो तीर्थ पर्यटन के लिये चले गये। शिष्य बड़ी चौकसी से गीता के गुटका की सार-संभाल रखता, श्रीगुरुजी का कृपा प्रसाद जो था। संयोग की बात एक दिन गीता के गुटका की जिल्द को चूहा ने काट दिया, अब तो शिष्य को बड़ा दु:ख हुआ, उसने ग्राम वालों को बुलाकर कहा कि अब हम यहाँ पर नहीं रहेंगे, क्योंकि चूहों ने मेरा सर्वनाश कर दिया। ग्राम वालों ने विचार किया कि साधु का इस प्रकार से दु:खित होकर जाना ठीक नहीं है। अत: उनको समझाते हुए बोले-''महाराज! आप चूहों से चिन्तित न हों, चूहों के भगाने का उपाय कर दिया जायेगा। इसके पश्चात् लोगों ने एक बिल्ली लाकर

इनकी कुटिया में रख दी, अब बिल्ली के आ जाने से चूहों का आगमन तो बन्द हो गया परन्तु बिल्ली शिष्यजी की चिन्ता का विषय बन गयी, क्योंकि बिल्ली को तो चाहिए दूध-दही, वह प्रतिदिन रोटी खा-खाकर दुर्बल होने लगी, शिष्य ने पुनः ग्रामवासियों के समक्ष यह समस्या रखी, तो ग्रामवासियों ने एक दुग्ध देने वाली गाय की व्यवस्था कर दी, अब तो महात्माजी को खूब आनन्द हो गया। दुग्ध का स्वयं भी सेवन करते एवं बिल्ली को भी पिलाते। अब कुछ ही दिनों में दोनों ही हृष्ट-पुष्ट हो गये, परन्तु उचित मात्रा में घास-चारा न मिलने के कारण गाय दुर्बल होने लगी, फलस्वरूप दूध भी कम हो गया। शिष्य ने पुनः ग्रामवासीजनों का आह्वान किया, तो उन लोगों ने घास-चारा, गोबर-पानी के लिए एक नौकरानी की व्यवस्था कर दी। अब महात्माजी का समय अति आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगा। पहले तो वह नौकरानी दिन भर कार्य करके सायंकाल अपने घर को चली जाती थी, कुछ दिन पश्चात् नौकरानी अपने घर न जाकर रात-दिन कुटिया में स्थायी निवास करने लगी। कुटिया में साथ-साथ रहने पर महात्माजी की नौकरानी में भयंकर आसक्ति हो गयी। वह उसके मोहपाश में फँस गये, वह नौकरानी अन्ततोगत्वा इनकी गृहणी बन गयी, अब उस नौकरानी द्वारा कई बाल-बच्चे भी पैदा हुए। अब वह भजनकुटी भजनकुटी न रही, एवं अब वह बाबा भी बाबा न रहे, अब उस भजनकुटी में सम्पूर्णतया गृहस्थ आश्रम जैसा वातावरण हो गया। दैवयोग से कुछ समय पश्चात् इनके श्रीसद्गुरुदेवजी तीर्थयात्रा करके अपनी भजनकुटी पर वापस आये। आकर देखा कि यहाँ पर तो केवल दुनियादारी की ही बातें दिखाई पड़ रही हैं श्रीगुरुजी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्या है, आश्रम का स्वरूप ही बदल गया था, ठीक उसी समय ही शिष्यजी अपने परिवार सहित स्नान करने जा रहे थे। आगे-आगे स्वयं थे एवं दो बालकों को कन्धा पर बैठाये हुये थे और दो बच्चों को उंगली पकड़ाकर चल रहे थे, पीछे-पीछे इनकी घरवाली थीं वह भी एक शिशु को गोद में लिये एवं एक बच्चे का हाथ पकड़कर चल रही थी। गाय-बछड़ा, बिल्ली भी इन लोगों के संग-संग चल रहे थे, यह सब दृश्य देखकर श्रीगुरुजी अवाक् रह गये। शिष्य ने श्रीसद्गुरुदेवजी को पहचानकर उनको दण्डवत्-प्रणाम किया, तत्पश्चात् श्रीगुरुदेवजी ने शिष्य को आशीर्वाद देकर कुशल प्रश्नोपरान्त पूछा कि-"बेटा! श्रीगीताजी के तुमने कितने अध्याय पढ़ लिये?" शिष्य ने कहा-"गुरुजी प्रथम अध्याय तो, यह (बिल्ली) है, दूसरा अध्याय, यह (गाय-बछड़ा) हैं, तीसरा अध्याय, यह मेरी (पत्नी) हैं एवं चतुर्थ, पंचम, षष्ठम, सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय ये बच्चे हैं, इस प्रकार से कुल नौ अध्याय हुए हैं। यह सुनकर श्रीगुरुजी ने माथा

ठोका और कहा–बच्चा तूने अच्छा गीता के गुटका का विस्तार किया। फिर सच्चे सद्गुरु ने बहुत उपदेश देकर जैसे–तैसे शिष्य को अन्धकूप से बाहर निकाला।

श्रीसनातन गोस्वामीजी का इसी प्रसंग की ओर संकेत था आपने स्पष्ट कह दिया कि यह कार्य मुझसे नहीं होगा। क्या! आप मुझको जड़भरत बनाना चाहते हैं, यदि आपकी इन वस्तुओं में स्पृहा है तो आप स्वयं ही इसकी व्यवस्था कर लें, अपने भक्त की प्रेमभरी फटकार सुनकर भगवान् मुस्कुराने लगे और श्रीसनातनजी से बोले–"अच्छा बाबा! आप कह रहे हैं तो मैं ही स्वयं इसका प्रबन्ध कर लूँगा एवं किसी यजमान को चेता लूँगा मुझको यजमान भी चेताने आता है।" इस पर–

दृष्टान्त—कथावाचक का—एक परम अकिंचन विद्वान् ब्राह्मण थे। एक बार ये धन से अभावग्रस्त होकर अपनी पत्नी के कथनानुसार कथा आदि के माध्यम से धन कमाने के लिये परदेस को गये। मार्ग में एक श्रीसीतारामजी का मन्दिर मिला, वहीं पर बैठकर विश्राम करने लगे, भगवान् की मंगलमयी झाँकी का दर्शन कर निज चित्त को विशेष आनन्द मिला, श्रीप्रभु के चरणप्रान्त में श्रीहनुमानजी भी विराजमान थे। श्रीपण्डितजी के मन में यह भाव जागृत हुआ कि भगवान् श्रीसीतारामजी से बढ़कर एवं श्रीहनुमानजी से बढ़कर तो कोई कथा श्रवण का अधिकारी हो नहीं सकता एवं ऐसा परम उदार यजमान भी कहीं नहीं मिलेंगे, अत: मैं इन्हीं को कथा क्यों न सुनाऊँ? फिर तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्वक श्रीसीतारामजी एवं श्रीहनुमानजी को कथा श्रवण कराने लगे। दर्शनार्थी श्रीपण्डितजी को सीधा–सामग्री दे जाते, अब आप यहीं भोजन बनाते और भगवान को भोग लगाकर प्रसाद पाते एवं श्रीठाकुरजी को प्रतिदिन कथा सुनाते थे। धीरे–धीरे जब उन्तीस दिन व्यतीत हो गये तो श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी से कहा कि "कल श्रीपण्डितजी के कथा की पूर्णाहुति है, अत: उनको क्या दक्षिणा दी जाय।" श्रीहनुमानजी ने कहा–"जै जै, प्रभो! श्रीपण्डितजी को कम से कम एक हजार रुपया तो मिलना ही चाहिए।" भगवान् ने कहा–"बहुत अच्छा!" श्रीरामजी एवं श्रीहनुमानजी की यह वार्ता संयोगवश एक बनिया (वणिक्) सुन रहा था। उसने अपनी वणिक्वृत्ति के अनुसार श्रीपण्डितजी से कथा की चढ़ोत्तरी का सौदा किया कि–"आप पाँचसौ रुपया मुझसे अग्रिम ही ले लीजिये और इसके पश्चात् चढ़ोत्तरी में जो रुपया आवेगा वह हमारा होगा।" पण्डितजी ने अपने मन में विचार किया कि यहाँ श्रोतागण अधिक संख्या में तो आते नहीं, न कोई धनवान ही श्रोता आते हैं, जो कि हजार–दो हजार रुपया चढ़ा सकें, सच तो यह है कि यहाँ पर पाँच सौ

रुपये की भी उम्मीद नहीं है। अतः श्रीभगवद्प्रेरणा से यह बनिया मुझे पाँच सौ रुपये देने को कह रहा है तो मुझे ले लेने चाहिये यही ठीक रहेगा। पण्डितजी ने अपने मन में विचार-विमर्श करके सेठजी का वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल सेठजी ने पण्डितजी को पाँच सौ रुपये दे दिये और स्वयं पोथी के निकट बैठकर चढ़ोत्तरी की प्रतीक्षा करने लगा, सारा दिन बैठा रहा परन्तु एक रुपया भी नहीं चढ़ा, तब वह क्रोधित होकर बोला कि देवता भी झूठ बोलते हैं, ये एक हजार रुपया चढ़ाने की आपस में वार्ता कर रहे थे पर इन्होंने तो एक हजार पैसा भी नहीं चढ़वाया मेरे गाँठ का पाँच सौ रुपया और चला गया। फिर तो अधिक क्रोधित हो उसने श्रीहनुमानजी को मारने के लिए लात चलाया, तो तत्काल ही श्रीहनुमानजी ने उसका पांव पकड़ लिया बनिया के लाख प्रयत्न करने पर भी वह पांव न छुड़ा सका। इसी मध्य श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी से पूछा-''पण्डितजी की कथा पूरी हो गयी, उन्हें कुछ भेंट विदाई मिली, अथवा नहीं?'' श्रीहनुमानजी ने कहा-''एक हजार रुपये देने की बात थी तो उसमें से पाँच सौ रुपये तो पण्डितजी को मिल गये हैं अब पाँच सौ रुपये देने शेष हैं, यजमान फँसा रखा है।'' अब बनिया की आँखें खुलीं। उसने कहा-''क्या मुझसे ही एक हजार रुपये दिलवाने थे'' श्रीहनुमानजी ने कहा-''हाँ, जब तक तुम पाँच सौ रुपये और नहीं दे दोगे तब तक तुम्हारा पांव नहीं छूटेगा।'' विवश होकर बनिया ने घर से पाँच सौ रुपये मँगवाये तब जाकर इसका पांव छूटा। इस प्रकार से भगवान् भी यजमान चेताना जानते हैं।

भगवत्प्रेरणा से उसी समय मुल्तान देशवासी श्रीरामदासजी कपूर की एक विशाल नौका जो विविध रत्न, सैन्धव नमक, काबुल के मेवा इत्यादि से भरी हुई आगरा जा रही थी, वह नौका आदित्य टीला के नीचे दैववश रुक गयी। नाविकों के अनेक प्रयत्न करने पर भी वह नौका इधर-उधर हिली-डुली नहीं, श्रीरामदासजी कपूर किं कर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे, उसी समय एक श्यामवर्ण बालक ने आदित्य टीला से उच्च स्वर में आवाज दी कि ''यदि तुम अपनी नौका को यहाँ से निकालना चाहते हो तो उस वृक्ष के नीचे बैठे श्रीसनातन गोस्वामीजी की शरण में जाकर उनसे ही अनुनय-विनय करो।'' श्रीरामदासजी कपूर तत्काल ही उस निर्दिष्ट संकेतानुसार श्रीसनातन गोस्वामीजी के निकट आकर इनके चरणों में पड़कर रोने लगे और अपनी रक्षा की भिक्षा माँगने लगे। श्रीसनातनजी ने पूछा कि-''तुम यहाँ आये कैसे?'' तब उन्होंने समस्त वृत्तान्त बताया। श्रीसनातनजी ने समझ लिया कि यह सब श्रीठाकुरजी की ही लीला है, अतः बोले-''भैया!

मैं इसमें क्या कर सकता हूँ। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीठाकुरजी से जाकर निवेदन करो।" श्रीरामदासजी ने ठाकुर श्रीमदनमोहनजी का दिव्य-दर्शन किया एवं दर्शन करते ही मन में शुभ-संकल्प उठा कि "यदि मेरी नौका यहाँ से निकल गयी तो मैं इसके विक्रय धन से श्रीमदनमोहनजी के मंदिर का निर्माण कराऊँगा एवं श्रीठाकुरजी के राग-भोग की उत्तमोत्तम व्यवस्था करूँगा।" श्रीभगवद् इच्छा से नाव संकट से निकल गयी। फिर तो श्रीरामदासजी कपूर ने आगरा पहुँचकर सब सामान बेचकर, प्राप्त समस्त धन से श्रीमदनमोहनजी का विशाल मन्दिर बनवाया एवं राग-भोग की समुचित व्यवस्था की। इस प्रकार से श्रीठाकुरजी ने स्वयं अपनी व्यवस्था कर ली और श्रीसनातनजी की चिन्ता छूट गयी। आपने अपने शिष्य श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी को श्रीमदनमोहनजी की सेवा-पूजा का कार्य सौंपकर निश्चिन्त होकर भजन करने लगे। वर्तमान में ठाकुर श्रीमदनमोहनजी करौली राजस्थान में विराजमान हैं।

श्रीसनातन गोस्वामीजी का नित्यप्रति श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा करने का नियम था वृद्धावस्था में कष्ट देखकर श्रीठाकुरजी ने इन्हें श्रीगोवर्धनजी की एक शिला प्रदान की जिस पर श्रीठाकुरजी के श्रीचरण-चिह्न अंकित थे और कहा-"बाबा! अब तुम इस शिला की परिक्रमा कर लिया करो, इस शिला की ही परिक्रमा मात्र से श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा का नियम पूर्ण हो जायेगा।" वह पावन शिला वर्तमान में भी श्रीवृन्दावन में श्रीराधादामोदरजी के मन्दिर में विद्यमान है। इसी प्रकार से आप प्रतिदिन आदित्य टीला से गोपीश्वर महादेवजी के दर्शन करने आते थे, श्रीमहादेवजी को भी इनकी वृद्धावस्था की अशक्तता असह्य हो गयी, अत: वे श्रीसनातनजी को शीघ्र दर्शन देने के लिए मध्य मार्ग में ही प्रकट हो गये, जो वर्तमान में श्रीवनखण्डी महादेवजी के नाम से विख्यात हैं।

आपकी अकिंचनता के सम्बन्ध में कथा आती है कि गौड़देश वर्द्धमान जिला के एक गरीब ब्राह्मण ने दरिद्रता से दु:खित होकर धन-प्राप्ति के लिये श्रीआशुतोष भगवान श्रीशिवजी की आराधना की। श्रीशिवजी ने प्रसन्न होकर स्वप्न में आदेश दिया कि "श्रीवृन्दावन में श्रीसनातन गोस्वामीजी निवास करते हैं, उनके पास पारसमणि है, वे तुम्हें वह पारसमणि दे देंगे। ब्राह्मण बड़े उल्लास में भरकर श्रीवृन्दावन आया और इनका पता लगाते-लगाते श्रीसनातन गोस्वामीजी के यहाँ पहुँचा। प्रथम तो श्रीगोस्वामिपादजी का कन्था, करवा, कोपीन को देखकर ब्राह्मण बड़ा ही निराश हुआ एवं मन ही मन विचार करने लगा कि जिनके पास में पारसमणि होगा वह इतना कंगाल होगा? परन्तु श्रीशिवजी के वचनों में विश्वास कर

साहस करके श्रीसनातनजी के समीप जाकर प्रणाम करके पूछा-"क्या बाबा आपके पास में पारसमणि है?" श्रीसनातनजी ने कहा कि मेरे पास तो नहीं है।, हाँ एक दिन मैं श्रीयमुना स्नान करने जा रहा था तो मार्ग में पाँव से टकरा गया और मैंने उसको वहीं रज=(रेती, बालू मिट्टी, धूलि) से ढक दिया था, जिससे किसी दिन स्नान करके वापस आते समय पैर से न स्पर्श हो जाय, नहीं तो मुझे पुनः स्नान करना पड़ेगा और श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा में भी बिलम्ब होगा। तुम्हें आवश्यकता हो तो तुम जाकर उस पारसमणि को ले लें। ब्राह्मण तत्काल ही उस स्थल पर गया और थोड़ी -सी मिट्टी हटाई तो उन्हें पारसमणि की प्राप्ति हो गयी, परीक्षा के लिए लौह का स्पर्श कराया तो तुरन्त ही वह लोहा स्वर्ण हो गया, ब्राह्मण का मन प्रसन्न हो गया। परन्तु द्वितीय क्षण ही उनके मन में यह विचार आया कि आखिर सन्तजी ने इस अमूल्य पारसमणि का तिरस्कार क्यों कर रखा है और यह भी कहते हैं कि इसके छू जाने पर पुनः स्नान करना पड़ेगा। "क्या इनके पास इससे भी बहुमूल्य कोई पारसमणि है? क्या इसमें कोई महान् दोष है? जो कि इसके स्पर्श करने पर बिना स्नान के शुद्धि ही नहीं होती?" आखिर ब्राह्मण ने अपने मन का असमंजस श्रीसनातनजी को सुनाया। श्रीसनातनजी ने मुस्कराकर कहा-" अवश्य मेरे पास इससे भी अधिक बहुमूल्य पारसमणि है एवं इस पारसमणि में अनन्त दुर्गुण हैं एवं मेरे पास जो पारसमणि है वह परम शुद्ध है।" ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर कहा-"क्या आप उस पारसमणि को मुझे दे सकते हैं?" श्रीसनातनजी ने कहा-"अवश्य, परन्तु प्रथम में तुम्हें इस पारसमणि को श्रीयमुनाजी में फेंकना पड़ेगा।" ब्राह्मण ने तत्काल ही उस पारसमणि को श्रीयमुनाजी में फेंक दिया। तब श्रीसनातन गोस्वामीजी ने "श्रीकृष्ण नाम" की दीक्षा दी।

वि० सं० १६१५, सप्त गोस्वामी ग्रन्थ के आधार पर वि० सं० १६११, आषाढ़ पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल श्रीसनातन गोस्वामिपादजी ने नित्य निकुँज लीला में प्रवेश किया। आपके तिरोधान से सबसेअधिक व्यथा श्रीरूप गोस्वामीजी को हुई। वे आपके तिरोधान के पश्चात् अपनी भजन कुटी से बाहर ही नहीं निकले और छब्बीस दिन पश्चात् आप इस भौतिक शरीर को छोड़कर नित्यलीला में प्रवेश कर गये। धन्य प्रेम। नित्य लीला परिकरों में आपका शुभनाम श्रीलवंगमंजरी है, आपके तन की कान्ति स्वर्ण सदृश, तारावली अर्थात् छींट के वस्त्र धारण करती हैं, आपकी प्रधान सेवा श्रीप्रिया-प्रियतम के लिए सुन्दर मनमोहिनी माला निर्माण कर धारण कराना है, आप योगपीठ में पश्चिम भाग में विराजती हैं।

इन दोनों महाभागवतों का स्मरण करते हुए परम रसिक श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं–
"जै जै मेरे प्राण सनातन रूप। अगतिन की गति दोउ भैया जोग जग्य के जूप।। वृन्दावन की सहज माधुरी प्रेमसुधा के कूप। करुनासिन्धु अनाथबन्धु जय भक्ति सभा के भूप।। भक्ति भागवत मत आचारज कुल के चतुर चमूप। भुवन चतुर्दश विदित विमल यश रसना रस के तूप।। चरण कमल कोमल रज छाया मेटति कलि रवि धूप। व्यास उपासक सदा उपासी राधा चरण अनूप।।"

श्रीहितहरिवंश गोसाँईजी

(श्री) हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै।।
(श्री) राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पत्ति तहाँ की करत खवासी।।
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिद्धि ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट ब्रतधारी।।
व्यास सुवन पथ अनुसरै सोइ भले पहिचानिहै।
(श्री) हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै।।९०।।

शब्दार्थ—सकृत=एक। कोउ = कोई विरला। खवासी = विशेष सेवा। विधि =स्मृति शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्मों के करने की रीति, नियम। निषेध=वे अकर्तव्य कर्म, जिन्हें शास्त्रों ने न करने का आदेश दिया है। उत्कट व्रत =कठोर व्रत नियम। अनुसरै =चले, आचरण करे। सोइ भले=वही अच्छी तरह से। पहिचानिहै=समझ सकेगा। जान सकेगा।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी की भजन की रीति को कोई विरला ही समझ सकेगा। आपकी उपासना-पद्धति में श्रीराधाजी की प्रधानता है। आप उन्हीं के श्रीचरणों की हृदय में अत्यन्त सुदृढ़भाव से उपासना करते थे और कुँजक्रीड़ा में दम्पति श्रीश्यामा-श्याम की सखीरूप में सेवा करते थे। आपके सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि आप श्रीमहाप्रसाद को सर्वस्व करके मानते थे। अपनी अनन्य निष्ठा के कारण आप यथार्थ में महाप्रसाद के उत्तम अधिकारी थे। आपने श्रीश्यामा-श्याम की सेवारूपी उत्कट व्रत को धारण किया था, अत: आप स्मृति-शास्त्रोक्त विधि-निषेधों की अपेक्षा नहीं रखते थे। श्रीव्यासमिश्रजी के पुत्र श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी द्वारा प्रवर्तित पथ का जो अनुसरण करेंगे, वे ही भलीभाँति आपके सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।।९०।।

व्याख्या—श्रीहरिवंश गुसाँई....कोउ जानिहै—यह श्रीनाभाजी का स्वयं का अनुभव है। वर्णन आया है कि श्रीनाभाजी के श्रीसद्गुरुदेव श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने इन्हें भक्तों का सुयश वर्णन करने का आदेश दिया था तब इन्होंने विशेष असमर्थता प्रकट की। यथा-"बोल्यो कर जोरि याको पावत न ओर छोर गाऊँ राम-कृष्ण पै न पाऊँ भक्तदावँ को।।" तब श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने सान्त्वना दी कि तुम इसकी चिन्ता मत करो, तुम जिस भी सन्त का स्मरण करोगे, वे सन्त स्वतः ही तुम्हारे हृदय में प्रकट होकर अपने गुण-रूप-स्वभाव से परिचय करायेंगे। यथा-"कही समुझाइ वोइ हृदय आइ कहैं सब जिन लै दिखाइ दई सागर में नाव को।" (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८६, कवित्त-११ की व्याख्या) हुआ भी ऐसा ही। परन्तु ज़ब श्रीनाभाजी ने श्रीवृन्दावन के परम रसिक श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी एवं श्रीस्वामी हरिदासजी का ध्यान किया तो वे हृदय में नहीं आये। तब श्रीनाभाजी ने अपने श्रीगुरुदेवजी से निवेदन किया तो उन्होंने इसका रहस्य बताया कि ये श्रीराधिकाजी के अनन्य भक्त हैं। तुमने तो चौबीस अवतारों की वन्दना करके चौबीस अवतारों के उपासकों का रहस्य समझ लिया। परन्तु ये तो चौबीस अवतार से परे "श्रीराधिकाजी" को अपना इष्ट मानते हैं। अतः इनका रहस्य समझने के लिए श्रीराधिकाजी की ही तुम्हें प्रार्थना करनी होगी। तदनन्तर श्रीरामोपासना में श्रृंगार-रसोपासना के प्रवर्त्तकाचार्य श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने अत्यन्त भावमग्न होकर स्वयं श्रीराधिकाजी की वन्दना की। यथा-"वन्दौं श्रीराधिका पद पदम। परम कोमल सुभग सीतल कृपायुत् सुख कदम।। चरण चिन्तत अमल उरसिज जगत् सबही छदम। भाल पर अक्षर अनायास सोहै होत परसत रदम।। कृष्ण अलंकृत स्वहस्त पूजन निगम नूपुर रदम। रसिकजन जीवन समूली अग्र सरबसु सदम।।" तब इन श्रीमहानुभावों की श्रीनाभाजी के हृदय में स्फूर्ति हुई अन्यथा श्रीनाभाजी जैसे सिद्ध सन्त के लिए भी उनकी उपासना-पद्धति का रहस्य बोध अगम्य था। अतः कहते हैं-"श्रीहरिवंश कोउ जानिहै।"

सकृत कोउ जानिहै—यहाँ "सकृत कोउ" से श्रीहितहरिवंशजी के परम कृपापात्र श्रीदामोदरदासजी "सेवकजी" से तात्पर्य है। श्रीराधावल्लभीय श्रीप्रियादासजी ने श्रीसेवकजी को श्रीहरिवंशजी का सकृत सेवक कहा है। यथा-"जै जै हरिवंश सकृत सेवक लसै। एक भजन हरिवंश जपै दृढ़ पन रसै।।" श्रीहितजी की उपासना-पद्धति को इन्होंने भलीभाँति से समझा है। श्रीसेवकजी की वाणी में ही श्रीहितहरिवंशजी की भजन की रीति का सम्यक्, सम्पूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। इसलिए श्रीहिताचार्यजी के ज्येष्ठ सुपुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामीजी ने श्रीसेवकवाणी सुनने के पश्चात् यह आज्ञा दी थी कि-

"सेवकवाणी को पढ़ौ श्रीचौरासी संग।" तात्पर्य यह है कि श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय की रस-पद्धति एवं उपासना मार्ग के सम्यक् ज्ञान के लिए श्रीसेवकवाणी का अनुशीलन नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

श्रीराधाचरण प्रधान—यथा-

अलं विषयवार्तया नरककोटिबीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथा श्रमो बत विभेमि कैवल्यतः।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परन्तु मम राधिका पदरसे मनो मज्जतु मे।। (रा०सु०नि०-८३)

अर्थ-कोटि-कोटि नरकों से भी घृणास्पद विषयभोगों की वार्तायें रहने दो। श्रुति कथा के श्रवण में श्रम करना निरर्थक है। हाय-हाय एकाकीभावरूप मोक्ष से तो मुझे भय लगता है। यदि शुक, सनकादिक भक्तगण परेश श्रीकृष्ण के भजन में उन्मत्त हो रहे हैं तो इससे भी मुझे क्या प्रयोजन? मेरा मन तो एकमात्र श्रीराधिकाजी के श्रीचरण-कमलों के रस में निमज्जन करता रहे। पुनश्च-

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलांपट्यपदवीं,
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठं श्रृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरै र्जात पुलकं,
समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत्पदरसम्।। (रा०सु०नि०-८७)

अर्थ—हे श्रीराधे! विहार लम्पटता को प्राप्त प्रियतम को यदि आप स्वयं स्नेहवश मुझे सौंप दो, तो भी मेरी निष्ठा को सुनिये। मैं मन्द-मुस्क्यान से युक्त कटाक्षपात पूर्वक उनको देखूँगी और पुलकित होने पर अति गाढ़ आलिंगन भी करूँगी, इतना होने पर भी आपके ही चरणारविन्द के दास्यरस का आस्वादन करूँगी।

सुदृढ़ उपासी—यथा-"रहौ कोउ काहू मनहि दिये। मेरी प्राणनाथ श्रीश्यामा सपथ करौं तृण छिये।। जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये। तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पिये।। खोये रतन फिरत जे घर घर कौन काज ऐसे जिये। जै श्रीहित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिन या रजहिं लिये।। (स्फुटवाणी-२)

कुँजकेलि—श्रीहिताचार्यजी की उपासना में नित्य दम्पति श्रीश्यामा-श्याम, नित्य नव-निकुँजों में कलकेलिरत रहते हैं। यथा-

दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन्स्वभक्तां,
छ्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुर रससुधासिन्धु सारैरगाधां,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुंज वीथीमुपास्ते।।

(रा०सु०नि०-२३५)

अर्थ—सृष्टि आदि का वर्णन तो सुदूर रहा। आपने नारदादिक भक्तों का भी अल्पमात्र भी स्मरण नहीं करते, श्रीदामा आदि सुहृदों से भी नहीं मिलते, अपने पितृवर्ग श्रीनन्द-यशोदाजी आदि की भी स्नेहवृद्धि को भी संकुचित कर देते हैं। परन्तु अगाध मधुर रससुधासिन्धु के सारस्वरूप प्रेम की चरमावधि श्रीप्रियाजी को ही एकमात्र जानते हुए मधुपति श्रीलालजी निरन्तर कुँज वीथी की ही उपासना करते रहते हैं। श्रीहित चौरासीजी के एक पद में श्रीश्यामा-श्याम की कुंजकेलि का बड़ा मनोहारी वर्णन किया गया है। यथा-"वन की कुँजन कुँजन डोलन। निकसत निपट साँकरी बीथिन परसत नाहिं निलोचन। प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोचन। आलसवन्त अरुण अति व्याकुल कछु उपजत गति गोलन।। निर्त्तन भृकुटि वदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलन। अति आसक्त लाल अलि लम्पट बस कीने बिनु मोलन।। बिलुलित सिथिल स्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलन। रति विपरीत चुम्बन परिरम्भण चिबुक चारु टक टोलन।। कबहुँ स्रमित किसलय सिज्या पर मुख अंचल झक झोलन। दिन हरिवंश दासि हिय सींचत वारिधि केलि कलोलन।।

दम्पति—पूर्व "श्रीराधा चरण प्रधान कहा गया है, इसका अर्थ यह नहीं कि श्रीहिताचार्यजी की उपासना में श्रीश्यामसुन्दर का कोई स्थान नहीं है। सत्य तो यह है कि नित्य दम्पति श्रीश्यामा-श्याम श्रीहितजी के आराध्य हैं। यथा-"हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक संग गाऊँ।। छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई।। राधा संग बिना नहिं स्याम। स्याम बिना नहिं राधा नाम।।" (सेवकवाणी) इतना अवश्य है कि मन की गति श्रीप्रियाजी की ओर विशेष है। दम्पति का दर्शन करके ही श्रीहितजी का हृदय शीतल होता है। यथा-"आज अति राजत दम्पति भोर। सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर।। अंसन पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन बिबि ओर। करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर।। छूटी लटन लाल मन करष्यौ ये याके चितचोर। परिरम्भन चुम्बन मिलि गावत सुर मन्दर कल घोर।। पग डगमगत चलत बन बिहरत रुचिर कुँज घन खोर। जै श्रीहित हरिवंश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर।।"

करत खवासी—श्रीहितजी के हृदय में श्रीराधाजी की दासी बनने के प्रति प्रबल अभिलाषा है।-यथा-"श्रीराधिके तव कदा भवितास्मि दासी।" (रा०सु०नि०-३०), अर्थ-हे श्रीराधिके! मैं कब आपकी किंकरी बनूँगी।"ब्रह्मादि दुर्गमगते वृषभानुजायाः कैंकर्य मेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात्।।" (रा०सु०नि०-३९),अर्थ ब्रह्मादिकों से भी दुर्लक्ष्यगति उन श्रीवृषभानु कुमारी का किंकरी भाव ही मुझे जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त हो। पुनः-"यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे स्यात्किंकरी भवतुमेव ममाभिलाषः।।" (रा०सु०नि०-४०), अर्थ-जो कृपा परवश श्रीवृषभानुजी के भवन में प्रकट हैं, उनकी दासी बनना ही मेरी लालसा हो, आदि। श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी का यह सुदृढ़ निश्चय है कि श्रीराधा दास्य के बिना श्रीश्यामसुन्दर में रति होना असम्भव है। यथा-"राधा दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसंगाशया सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति।।" (रा०सु०नि०-७९),अर्थ- जो व्यक्ति श्रीराधा कैंकर्य को त्याग कर श्रीलालजी के प्रेम की आशा से प्रयत्न, साधन, भजन करता है, तो वह व्यक्ति मानो कि पूर्णिमा की रात्रि के बिना ही पूर्णचन्द्र का दर्शन करना चाहता है।, श्रीप्रिया-प्रियतम का रति रसवर्द्धन करना ही आपकी प्रधान सेवा है। यथा-"जै श्रीहित हरिवंश परस्पर प्रीयतम रति रस मिलवत घातन।।।" (स्फुटवाणी), एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की है कि पूर्वोक्त प्रसंगों में "श्रीराधा दास्य" का ही पुनः-पुनः उल्लेख किया गया है तो इसका मतलब यह नहीं कि श्रीमाधव से इनका कोई प्रयोजन नहीं है, बल्कि श्रीराधा-माधव युगल की सेवा से तात्पर्य है। यथा-

ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ संवाहयामि क्वचित्,
मालाद्यैः परिमण्डले क्वचिदहो संवीजयामि क्वचित्।
कर्पूरादिसुवासितं क्व च पुनः सुस्वादु चाम्भोऽमृतं,
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिकामाधवौ।।

(रा०सु०नि०-१३४)

अर्थ—अहा! कभी पान की बीरी अर्पण करूँगी, कभी श्रीचरणों को सहलाऊँगी, कभी माला आदि से विभूषित करूँगी, कभी व्यजन से हवा करूँगी और कभी कर्पूरादि से सुगन्धित एवं स्वादिष्ट अमृत तुल्य जल पान कराऊँगी, इस प्रकार से कब मैं भलीभाँति निकुँज सदन में ही श्रीराधा-माधव युगल की सेवा करूँगी।

सर्वसु महाप्रसाद—यथा-"काहु लियो जप काहु लियो तप काहु महाव्रत साधि लियो है। काहु लियो गुन काहु लियो धन काहु महा उनमाद हियो है। रंचक चारु चकोरनि दम्पति

सम्पति प्रेम पियूष पियो है। श्रीराधिकावल्लभ लाल के थाल को हितहरिवंश प्रसाद लियो है।।''श्रीराधासुधानिधि में आपकी अपूर्व प्रसाद की लालसा अभिव्यक्त हुई है। यथा-'' श्रीराधाया मधुर मधुरोच्छिष्ट पीयूषसारं भोजं भोजं नव नव रसानन्द मग्नः कदास्याम्।।'' (रा०सु०नि०-८६)

अर्थ—श्रीराधिकाजी के मधुराति मधुर उच्छिष्ट रूप सुधा सार का पुनः-पुनः आस्वादन कर मैं कब नित्य नवीन रसानन्द में डूब जाऊँगी। (महाप्रसाद की महिमा के सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५७४, छप्पय-१५)।

विधि निषेध नहिं दास—यह प्रेम का स्वभाव है कि वह किसी की भी परवाह नहीं करता है। यथा-''प्रीति न काहू की कानि विचारै। मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै।। ज्यौं सरिता सावन जल उमगत सन्मुख सिन्धु सिधारै। ज्यौं नादहिं मन दिये कुरंगनि प्रगट पारधी मारै।। (जै श्री) हित हरिवंश हिलग सारंग ज्यौं सलभ सरीरहिं जारै। नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै।'' (हित चौरासी-४२), पुनः-''जाको मनमोहन दृष्टि परे। सो तो भयो सावन को आँधरो सूझत रंग हरे ही हरे।। जड़ चैतन्य कछू नहिं सूझत जित देखै तित स्याम खरे। विह्वल विकल सम्हार न तन की घूमत नैंना रूप भरे।। करनी अकरनी दोउ विधि भूले विधि निषेध सब रहे धरे। नरहरिदास ते भये बावरे जे यह प्रेम प्रवाह परे।।'' पुनः-''स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेवकिंकराः।।'' (प.पु.उ. ७२-१००), अर्थ- भगवान् का सदा स्मरण करना चाहिए, कभी भी उन्हें विस्मृत नहीं करना चाहिए। बस सभी विधि निषेध इन्हीं दोनों के दास हैं अर्थात् श्रीभगवद्-स्मरण ही सर्वोपरि विधि है। जो सज्जन सदा-सर्वदा भगवान् का स्मरण करते हैं, उन्हें समझो कि वे समस्त विधि कर्मो का यथोचित अनुष्ठान कर चुके हैं। यथा-''तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्यकालम्।।'' (वि०), (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४२०) यथा-''अहो वत श्वपचोऽतो....नामगृणन्ति ये ते।।'' (भा०), भगवान् का विस्मरण ही सर्वश्रेष्ठ निषेध है अर्थात् जो भगवान् को भूल गये हैं, उन्हें समझों कि वे समस्त निषिद्ध कर्म कर चुके हैं। श्रीतुलसीदाजी कहते हैं कि ''राम सुमिरन सब विधि हू को राज रे। राम को बिसारिवौ निषेध सिरताज रे।।'' आपका भी यही सिद्धान्त है। यथा-''विधि अखण्ड स्मृति सरस भूलन सोइ निषेध। व्रत अनन्य दृढ़ एक यह प्रगटा प्रगट अभेद।।'' अतः ''विधि निषेध नहिं दास'' कहा। आपका तो यह उद्घोष है कि ''रहोदास्यं तस्याः किमपि वृषभानो र्व्रजवरीयसः पुत्र्याः पूर्णप्रणय रसमूर्त्तेर्यदि लभे। तदा नः किं धर्मैः किमु सुरगणैः किं च विधिना किमीशेन श्याम प्रियमिलन यत्नैरपि च किम्।।'' (रा०सु०नि०-११५),

अर्थ—इस ब्रजमण्डल के राजा श्रीवृषभानुरायजी की पूर्णप्रेम की प्रतिमा, अति प्रिय सुपुत्री श्रीराधाजी के किसी अनिर्वचनीय रहस्यमय कैंकर्य की प्राप्ति हो जाय तो फिर हमें धर्म से, देवगणों से ब्रह्माजी से एवं भोलानाथ श्रीशिवजी से भी क्या प्रयोजन? अरे! इनकी तो बात ही क्या, स्वयं श्रीश्यामसुन्दर के प्रिय समागम के लिए भी नाना प्रकार के प्रयत्नों से भी क्या प्रयोजन? अर्थात् वे तो सहज-अनायास ही प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि वे तो निरन्तर श्रीप्रियाजी के संग ही रहते हैं।

व्यास सुवन पथ अनुसरै—छप्पय के प्रथम चरण में श्रीहित उपासना की तथा रस-पद्धति की दुरूहता (जो कि शीघ्रता से समझ में न आ सके) दिखलायी गयी है। इससे साधकों के मन में नैराश्य स्वाभाविक ही है क्योंकि जब कोई इस भजन पद्धति की, रसरीति को समझ हीं नहीं सकेगा तो इसका रसास्वादन कैसे करेगा?, अतः अब यहाँ श्रीनाभाजी श्रीरसिकजनों को आश्वासन देते हैं कि-''व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भले पहिचानिहै।'' अर्थात् श्रीहिताचार्य महाप्रभुजी ने जिस मार्ग का संकेत किया है एवं श्रीदामोदरजी (सेवकजी) ने जिसकी प्रशस्त व्याख्या की है उस मार्ग पर चलने से सहज-अनायास ही उस रीति का बोध हो जायेगा। बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है-

हित हरिवंश बिन हित की न रीति जानै कैसे वृषभानुनन्दिनी सौं प्रीति करिये।
कौन सो है धर्म जासौं कर्मनि को भर्म जाय सुत बित राज पाय कैसे ध्यान धरिये।।
रसिकन रसन की राह औ कुराह कौन कौन की उपासना सौं आशु सिन्धु तरिये।
जो पै नन्द नन्दन को चहै जग वन्दन को तो तैं व्यासनन्दन के नाम को उचरिये।।

इस छप्पय में श्रीहितहरिवंशजी के चारो स्वरूपों का स्मरण किया गया है ''श्रीराधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी'' में आचार्यस्वरूप का ''कुँजकेलि दम्पति तहाँ की करत खवासी'' में सहचरिस्वरूप का ''सर्वसु महाप्रसाद प्रसिधि ताके अधिकारी'' में वंशीस्वरूप का (क्योंकि वंशी नित्य ही अधरामृत का पान करती है) और ''विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी'' में श्रीहित (प्रेम) स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है।

हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै राधा ही प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइयै।
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्यौं हूँ पाइयै।।
विधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये जिये निज दास निसि दिन वहै गाइयै।
सुखद चरित्र सब रसिकन विचित्रन के जानत प्रसिद्ध कहा कहिकै सुनाइयै।।३६४।।

शब्दार्थ—हित जू = श्रीहितहरिवंशजी, निकुँज में आपका नाम श्रीहित सखी है, हित का अर्थ प्रेम होता है, इससे जनाया गया कि आप युगल के प्रेम के मूर्त्तिमान स्वरूप हैं। रीति = भजन करने की पद्धति। निपट = नितान्त, बिल्कुल। विकट = कठिन, दुर्ज्ञेय। छेद डारे=खण्डन, त्याग कर दिये।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी की भजन की रीति को लाखों में से कोई एक जानता है। आप श्रीराधिकाजी को ही प्रधान मानते थे, अतः प्रथम श्रीराधिकाजी का ही ध्यान करते, तत्पश्चात् श्रीकृष्ण का ध्यान करते थे। उपासना में श्रृंगार भाव की उपासना नितान्त ही कठिन है। सब किसी को इस प्रकार के भाव की प्राप्ति असम्भव है। यह तो उनकी (श्रीहितजी) की कृपादृष्टि से भले ही यत्किंचित् किसी को प्राप्त हो जाय आपने प्रेम के समक्ष समस्त विधि-निषेधों का परित्याग कर दिया था। आपके हृदय में प्राण-प्यारे श्रीश्यामा-श्याम नित्य निवास करते थे, जिससे श्रीयुगल के निज दासस्वरूप आप जीवन धारण करते थे तथा अहर्निश (निरन्तर) उन्हीं की कुंजकेलि का गान करते थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि आपके बड़े विलक्षण चरित्र हैं एवं समस्त चरित्र परम सुखदायी हैं। रसिक महानुभाव आपके चरित्रों को भलीभाँति से जानते हैं, क्योंकि आपका सुयश जगत प्रसिद्ध है अतः मैं उसका कहाँ तक वर्णन करूँ।।३६४।।

आये घर त्यागि राग बाढ्यौ प्रिया-प्रीतम सौं विप्र बड़भाग हरि आज्ञा दई जानियै।
तेरी उभै सुता ब्याहि देवौ लेवौ नाम मेरौ इनकौ जो वंस सो प्रशंस जग मानियै।।
ताही द्वार सेवा विसतार निज भक्तन की अगतिन गति सो प्रसिद्ध पहिचानियै।
मानि प्रिय बात गहगह्यौ सुख लह्यौ सब कह्यौ कैसे जात यह मन, मन आनियै।।३६५।।

शब्दार्थ—गहगह्यो = आनन्दमग्न हुए।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी का जब प्रिया-प्रियतम के प्रति अत्यन्त अनुराग उमड़ा तो आप गृह त्यागकर श्रीवृन्दावन के लिये चल दिये। मार्ग में चटथावल नामक ग्राम में श्रीआत्मदेवजी नाम के एक बड़भागी ब्राह्मण रहते थे, इस बात को आप सब निश्चय समझिये कि उन्हें श्रीराधाबल्लभलालजी ने आज्ञा दी कि ''तुम्हारी जो दोनों पुत्रियाँ हैं उनका श्रीहितहरिवंशजी के साथ विवाह कर दो। और यदि वे विवाह के लिये तैयार न हों तो मेरा नाम लेकर कहना कि श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी है तब वे प्रस्तुत हो जायेंगे। तुम्हारी इन पुत्रियों से जो वंश चलेगा वह संसार में प्रसिद्ध होगा, मेरी इस बात पर विश्वास

करो, उनके तथा उनकी वंशावली द्वारा मेरी सेवा-पूजा का विस्तार होगा तथा उन्हीं के द्वारा अपने भक्तों को भक्ति रसामृत का आस्वादन कराऊँगा और अगतिक जीवों को सद्गति प्रदान कराऊँगा। मेरा यह विरद प्रसिद्ध है ऐसा जानो। अपने परमप्रिय प्रभु की यह बात सुनकर तथा स्वयं को भी अति प्रिय मानकर श्रीआत्मदेवजी ने अत्यन्त ही आनन्दित हुए, तथा जब उन्होंने प्रभु की आज्ञा सभी के समक्ष प्रकाशित की तो सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुये। श्रीप्रभु की कृपा एवं श्रीआत्मदेवजी के सुख-सौभाग्य का वर्णन कैसे किया जा सकता है? इसे तो आप लोग मन ही मन में अनुभव कीजिये एवं श्रीप्रभुजी की उस अनिर्वचनीय कृपा एवं उस महत् कृपा से प्राप्त उस सुख की यदि अभिलाषा हो तो यह मत अर्थात् श्रीहितहरिवंशजी की उपासना-पद्धति को अपने मन में उतारिये।।३६५।।

राधिकावल्लभ लाल आज्ञा सो रसाल दई सेवा मो प्रकास औ विलास कुँज धाम कौ।
सोई विसतार सुखसार दृग रूप पियौ दियौ रसिकनि जिन लियौ पच्छ बाम कौ।।
निसिदिन गान रसमाधुरी कौ पान उर अन्तर सिहान एक काम स्यामा-स्याम कौ।
गुन सो अनूप कहि कैसे कै सरूप कहै लहै मनमोद जैसे और नहीं नाम कौ।।३६६।।

शब्दार्थ—बाम कौ =श्रीराधाजी का। सिहान = ललचान। नाम कौ = नाममात्र की।

भावार्थ—रसघनमूर्ति श्रीराधाबल्लभलालजी ने श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी को यह रसमयी आज्ञा दी कि मेरी सेवा तथा निकुंजधाम के केलि-विलासों का जगत् में प्रकाश करो अर्थात् प्रचार-प्रसार करो। श्रीहितहरिवंशजी ने श्रीठाकुरजी की आज्ञा शिरोधार्य कर उसी का क्रिया एवं काव्य दोनों के द्वारा विस्तार किया तथा सदा-सर्वदा नेत्रपुटों से श्रीयुगल की सुखसारस्वरूपा रूपमाधुरी का पान किया एवं जिन रसिक महानुभावों ने श्रीराधिकाजी का पक्ष ले रखा था अर्थात् उपासना में श्रीहितजी की भाँति ही श्रीराधिकाजी के श्रीचरणों को ही प्रधान मानते थे, उन्हें भी आपने यह परमानन्द प्रदान किया। यद्यपि आप निरन्तर श्रीश्यामाश्याम की कलकेलि का गान करते रहते थे और प्रेमरसमाधुरी का पान करते रहते थे, तो भी आप हृदय से और अत्यधिक गुणगान एवं प्रेम के पान के लिये लालायित रहते थे। एकमात्र श्रीश्यामा-श्याम से ही आपका प्रयोजन था। आपके गुण बड़े ही अनुपम हैं। भला कोई आपके स्वरूप का किस प्रकार से वर्णन कर सकता है। आपके गुण, रूप का स्मरण करके मन इस प्रकार से अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करता है जैसे कि उसके सामने संसार का सुख नाममात्र भी सुखरूप प्रतिभासित नहीं होता है।।३६६।।

विशेष—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी भगवान श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार हैं। यथा- "त्वमसि हि हरिवंश श्यामचन्द्रस्यवंशः परमरसदनादैर्मोहिताशेष विश्वः।।" (श्रीहितहरिवंशचन्द्राष्टकम्) आपके पूर्वज उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले में "देवबन्द" में विराजते थे। आपके पिताजी का शुभनाम श्रीव्यासमिश्रजी एवं माताजी का नाम श्रीताराराानी था। आप यजुर्वेदीय गौड़ ब्राह्मण थे। पिता श्रीव्यासमिश्रजी ने सर्वशास्त्रों के साथ ज्योतिष में भी अद्‌भुत नैपुण्यता प्राप्त की थी, फलस्वरूप आपने संसार में प्रभूत धन एवं सम्मान प्राप्त किया। इनकी ख्याति की प्रशंसा सुनकर पृथ्वीपति ने आपको सादर आमंत्रित किया, श्रीव्यासमिश्रजी बादशाह के दरबार में नारियल के चार फल लेकर उपस्थित हुये, बादशाह ने आपका अत्यन्त ही भव्य स्वागत-सत्कार किया, तदुपरान्त उसने जिज्ञासा की कि आशीर्वाद में एक नारियल के स्थान पर आप चार नारियल क्यों लेकर आये? आपने ब्राह्मणत्व के आवेश में कहा कि-"राजन्! सद्‌विप्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों को देने में समर्थ होते हैं, अतः मैंने आशीर्वाद में तुम्हें चार नारियल प्रदान किये।" आपके गुणों पर अत्यन्त ही प्रसन्न होकर बादशाह ने आपको "चारहजारी मनसबदार की निधि" प्रदान कर परम सम्मान किया एवं सदैव अपने ही साथ में रखने लगा। श्रीव्यासमिश्रजी की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गये। आप लौकिक लाभ से सभी प्रकार से परिपूर्ण होने पर भी पुत्र का अभाव मिश्र-दम्पत्ति को सदा सालता रहता था। एक दिन आपने अपनी अन्तर्व्यथा अपने अग्रज श्रीनृसिंहाश्रमजी को सुनायी, जिन्होंने संन्यास ले लिया था और श्रीनृसिंहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध थे। श्रीनृसिंहाश्रमजी ने अनुज के इस प्रसंग को सहज भाव से भाग्य पर छोड़ दिया। तब श्रीतारारानी ने कहा कि "यदि भाग्य का ही भरोसा करना है तो इसमें आपकी कृपा का क्या महत्व रहा?" यह शब्द सुनकर श्रीनृसिंहाश्रमजी गम्भीर हो गये और कुछ सोच विचार कर निर्जन वन में जाकर भगवान से प्रार्थना करने लगे, प्रार्थना करते-करते आपकी भाव-समाधि लग गयी, उसी अवस्था में भगवान ने आदेश दिया कि "मैं तुम्हारे सत्य-संकल्प की पूर्ति के लिए स्वयं ही अपनी वंशी सहित श्रीव्यासमिश्रजी के गृह में प्रकट होऊँगा। श्रीनृसिंहाश्रमजी ने श्रीप्रभु का यह शुभ-आदेश श्रीव्यासमिश्रजी को सुनाया, मिश्र-दम्पत्ति के आनन्द का पारावार नहीं रहा। श्रीतारारानीजी के गर्भ से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन-श्यामसुन्दर-मदनमोहन की वंशी का अवतार सन्निकट जानकर श्रीव्यासमिश्रजी के भावुक हृदय ने श्रीव्रजयात्रा करने का निश्चय किया, फिर क्या था, पूरे समारोहपूर्वक श्रीब्रजयात्रा करने चल पड़े। उसी यात्राकाल में जब

आप मथुरा से पांच मील दूरस्थ ''बाद'' नामक ग्राम में पहुँचे तो वहीं वैसाख शुक्लपक्ष एकादशी सोमवार वि०सं० १५३० को अरुणोदयकाल में श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी का प्रादुर्भाव हुआ। महापुरुषों के प्राकट्यकाल में संसार में जिस सहज मांगलिकता का प्रसरण होता है वह सब श्रीहितहरिवंशजी के जन्मकाल में दृष्टिगोचर हुआ। कुछ काल तक श्रीब्रज में बाद ग्राम में निवास करने के पश्चात् आप पुनः ''देवबन्द'' में आ गये।

श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी में अलौकिकता का आभास बाल्यकाल से ही होने लगा था। ''श्रीराधा-नाम'' से आपको सहज अनुराग था। किसी के भी मुख से श्रीराधा नाम सुनकर किलकारी मारने लगते थे। एक दिन आपके पिता श्रीव्यासमिश्रजी अपने सेव्य श्रीप्रिया-प्रियतम का श्रृंगार कर रहे थे, परन्तु आश्चर्य कि शृंगारोपरान्त जब देखे तो श्रीठाकुरजी तो श्रीश्रीजी के रूप में दिखायी पड़े एवं श्रीश्रीजी श्रीठाकुरजी के रूप में। मन में सोचे कि कदाचित् हमसे ही श्रृंगार धारण कराने में भूल हो गयी हो, अतः पुनः श्रृंगार धारण कराया, परन्तु फिर भी वही बात। तब तो वे बड़े अचम्भे में पड़े कि आखिर रहस्य क्या है? इतने में बाहर से ''जै जैकार'' का शब्द सुनायी पड़ा। द्वार से बाहर जाकर देखा तो बगीचा में श्रीहित महाप्रभुजी अपनी अवस्था के गौर-श्याम दो बालकों को श्रीप्रिया-प्रियतम के रूप में फूलों से सुसज्जित कर परिचर्या में तत्पर हैं। प्रेमावेश में विशेषता यह हुई कि आपने गौरवर्ण के बालक को तो श्रीकृष्ण के रूप में एवं श्यामवर्ण के बालक को श्रीराधिका के रूप में सजाया था, ठीक वही परिवर्तन मन्दिर में भी श्रीविग्रह में प्रत्यक्ष देखने को मिला, तब श्रीव्यासमिश्रजी को इस लीला का रहस्य समझ में आया और यह भी समझ गये कि सचमुच यह कोई अलौकिक बालक हैं।

ऐसे ही एक बार ये बगीचा के श्याम-गौर दो वृक्षों को श्रीप्रिया-प्रियतम के रूप में सजाकर बाग के विविध फलों का भोग लगाया, उधर श्रीव्यासमिश्रजी ने मन्दिर में श्रीयुगल सरकार को मोदक का भोग लगाया था, परन्तु जब आप आचमन कराने गये तो देखते हैं कि मन्दिर में विविध दोने-दोनियों में फल रखे हुए हैं तथा श्रीठाकुरजी ने फूल की कलियों का आभूषण धारण किये है, आपको अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ कि मैंने न तो यह श्रृंगार ही किया है और न तो यह सब भोग ही लगाया है। बात क्या है? जब बाहर निकलकर देखे तो यह सब श्रीहितजी का ही विनोद था। एक दिन श्रीताराररानी श्रीहितजी को गोद में लेकर मन्दिर में ठाकुरजी का दर्शन करने गयीं। श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीहितजी को भगवान् का चरणामृत-प्रसाद दिया। दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में ही उठकर श्रीहितजी

चरणामृत-प्रसाद के लिए मचलने लगे, माता-पिता ने बहुत समझाया-बुझाया कि अभी श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा नहीं हुई है, परन्तु यह एक नहीं सुनते एवं अपनी हठ की रट लगाये रहे, तब इनको बहलाने के लिए कल्पित श्रीचरणामृत-प्रसाद दिया, इन्होंने अपने मुख में डालकर तत्काल ही उसको मुख से बाहर कर दिया और बोले-यह तो कल जैसा नहीं है, यह श्रीचरणामृत-प्रसाद नहीं है, फिर ये उसी समय माता-पिता की अँगुली पकड़कर मन्दिर की ओर चले। वहाँ पहुँचते ही मन्दिर का द्वार अपने आप खुल गया। श्रीव्यासमिश्रीजी ने देखा कि-श्रीयुगल सरकार सम्पूर्ण शृंगार किये हुए सिंहासन पर विराजमान हैं एवं पास में ही चरणामृत-प्रसाद रखा हुआ है, पिता श्रीव्यासमिश्रजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा, फिर तत्काल ही श्रीहितजी को चरणामृत-प्रसाद दिया गया।

एक बार शरद् पूर्णिमा के दिन श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम का शृंगार कर आरती की तत्पश्चात् इन्हें चरणामृत-प्रसाद देकर इनको श्रीठाकुरजी के समीप ही बैठाकर स्वयं श्रीठाकुरजी के किसी अन्य कैंकर्य में बाहर चले गये, श्रीयुगल की रूपमाधुरी का पान कर ये उन्मत्त हो गये और प्रेमावेश में नृत्य करने लगे, इनके भाव पर रीझकर श्रीप्रियाजी ने अपनी ओढ़नी इन्हें ओढ़ा दी और श्रीराधावल्लभलालजी ने अपनी मुक्तामाला आपके कण्ठ में पहना दी, इतने में श्रीव्यासजी आ गये। आपने देखा कि ये श्रीप्रियाजी की ओढ़नी को ओढ़े हुये है एवं श्रीठाकुरजी की मुक्तामाला को पहनकर बेसुध होकर नृत्य कर रहे हैं। वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि यह सब इनका शिशु चापल्य है अथवा श्रीश्रीजी की इन पर अहैतुकी कृपा है? इतने में श्रीताराराानी भी आ गईं और उन्होंने ललक कर श्रीहितजी को गोद में उठा लिया श्रीहितजी बेसुध अवस्था में हो गये, एक घड़ी बाद होश आया तो पूछने पर श्रीप्रिया-प्रियतम की कृपा का उल्लेख किया। सुनकर सब लोग परमानन्द में मग्न हो गए।

एक बार झूला के समय श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीयुगलजी का श्रृंगार करके उन्हें झुले में पधराकर श्रीहितजी को धीरे-धीरे गति से झुलाने के लिये कहकर स्वयं किसी कार्यवश घर गये। इधर श्रीठाकुरजी को जोर से झुलने की उमंग हुई, अतः स्वयं उठकर पैंग बढ़ाने लगे, झूला तीव्र गति से आगे बढ़ा और श्रीहितजी के हाथ से झूला की डोरी छूट गई। युगल के झूलन-झाँकी के साक्षात् दर्शन करके इनके मन में बड़ा मोद हुआ, जब श्रीठाकुरजी का पीताम्बर खिसकने लगा तो उन्होंने पीताम्बर को श्रीहितजी को

दे दिया, ऐसे ही धीरे-धीरे मुरली वनमाल, मोरचन्द्रिका आदि एक-एक करके सभी श्रीहितजी को दे दिये। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीश्रीजी ने भी अपने अनेक वस्त्राभूषण श्रीहितजी को दे दिये, तब तक श्रीव्यासमिश्रजी आ गये, झूले की गति मन्द हो गयी एवं श्रीप्रिया-प्रियतम पूर्ववत् झूला पर विराजमान हो गये और हितजी धीमे-धीमे झुलाने लगे। इनके हाथों में श्रीयुगल के वस्त्राभूषणों को देखकर श्रीव्यासमिश्रजी ने पूछा तो आपने इसका सब रहस्य बताया। श्रीव्यासजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम की ओर देखा तो उनके श्रीमुख पर अब भी पसीने की बूँदे झलक रही थीं।

एक दिन श्रीप्रियाजी ने रात्रि में स्वप्न में श्रीहितजी को आदेश दिया कि आपके घर के निकट वाले बाग के पुराने सूखे कुएँ में श्रीरँगीलालजी का श्रीविग्रह है, उन्हें प्रकट करके सेवा का विस्तार करो। प्रातःकाल आप समवयस्क बालकों को अपने संग लिये बगीचा में खेलते-खेलते उस सूखे कुएँ में कूद पड़े। सर्वत्र हा-हाकार मच गया, माता-पिता की विकलता की कोई सीमा न रही, श्रीव्यासजी तो अति अधीर हो कुएँ में कूदने ही वाले थे, कि एकाएक कुएँ में अपार परम प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। थोड़ी ही देर बाद सबने देखा कि श्रीहितहरिवंशजी श्रीरँगीलालजी को गोद में लिये श्रीविग्रह सहित स्वतः ही ऊपर की ओर आ रहे हैं। आपके ऊपर आते ही वह जलहीन कुआँ भी दिव्य जल से परिपूर्ण हो गया, सर्वत्र आनन्द हो गया। श्रीठाकुरजी की बड़े ही समारोह एवं वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठा की गयी एवं उनका शुभ-नाम ठाकुर श्रीनवरँगीलालजी रखा गया। ठाकुर श्रीनवरँगीलालजी आज भी देवबन्द में विराजमान हैं। आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में श्रीजतनलाल गोस्वामीजी का यह छप्पय अत्यन्त ही प्रसिद्ध है-''करत भजन इक दिवस लाडिली छबि मन अटक्यो। रूपसिन्धु के माहिं परौ कहुँ जात न भटक्यो।। विवश होइ तन गये भये तनमय प्यारी के। झुके अवनि पै शिथिल होइ सुख में भारी के।। कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होय दरसन दियो। अपने हित कौं जानिकै हित सों मन्त्र सुनाय दियो।।''

श्रीहितजी का आठ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। अलौकिक प्रतिभावान होने के कारण अल्पकाल में ही समस्त शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिये। आपकी सोलह वर्ष की आयु में श्रीरुक्मिणीदेवी के साथ विवाह हुआ। आपके श्रीवनचन्द्रजी, श्रीकृष्णचन्द्रजी, श्रीगोपीनाथजी ये तीन पुत्र एवं साहिबदे नाम की एक पुत्री हुई। आपकी बत्तीस वर्ष की अवस्था व्यतीत होने के पश्चात् श्रीराधाजी ने आपको श्रीवृन्दावन वास एवं निज-सिद्धान्त प्रचार का आदेश दिया। मनभावता

आदेश प्राप्त कर आप बड़े ही आनन्दित हुये, तत्काल ही श्रीवृन्दावन प्रस्थान के लिए उद्यत हो गये। धर्मपत्नी श्रीरुक्मिणीदेवी को भी साथ में चलने के लिये कहने पर उन्होंने बच्चों की देखभाल के लिए अपनी आवश्यकता कहकर साथ चलने में असमर्थता प्रकट की, फिर तो ये अकेले ही श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े। मार्ग में चटथावल ग्राम के निकट पहुँचने पर श्रीराधाजी ने रात्रि के समय स्वप्न में आपको आदेश दिया कि-"इस ग्राम में श्रीआत्मदेव नामक एक ब्राह्मण तुम्हें अपनी दो कन्यायें देंगे, तुम उनका विधिवत् "पाणिग्रहण-संस्कार" करना एवं उन ब्राह्मण के द्वारा पारितोषिक (दान-दहेज) में एक श्रीविग्रह की तुम्हें प्राप्ति होगी, उसे श्रीवृन्दावन ले जाकर उनकी विधिवत् प्रेमपूर्वक सेवा-पूजा करना।" ठीक इसी प्रकार का ही स्वप्नादेश उसी रात्रि को उस ब्राह्मण को भी हुआ था। उनसे भी श्रीठाकुरजी ने यही बात कही थी कि तुम अपनी दोनों सुपुत्रियों का "विवाह" श्रीहितहरिवंशजी के साथ करके मुझे दहेज रुप में दे देना। (विशेष देखिये क०-३६५), ब्राह्मणदेव ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं श्रीविग्रह सहित अपनी दोनों कन्यायें (श्रीकृष्णदासी एवं श्रीमनोहारी) को श्रीहितहरिवंशजी को प्रदान कीं। श्रीहितहरिवंशजी इन दोनों को साथ लेकर एवं समस्त सम्पत्ति को बैलगाड़ी में रखकर एवं श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह पालकी में विराजमान करके पदयात्रा करते हुए दो मास में श्रीवृन्दावन पहुँचे। श्रीयमुनाजी के समीप "मदनटेर" नामक स्थल पर आपका पड़ाव पड़ा। सर्व प्रथम आपने आठ श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी की स्तुति की जिसे "श्रीयमुनाष्टकम्" कहते हैं। आपके दर्शनार्थ ब्रजवासीजन आये, आपके श्रीवृन्दावनवास का मनोभाव समझकर (जमींदार) ब्रजवासियों ने श्रीहितजी के हाथ में एक तीर-कमान देकर कहा कि-"आप तीर चलाइये, जहाँ पर यह तीर जाकर गिरेगा, वहाँ तक की भूमि आपकी हो जायेगी।" ब्रजवासियों के कौतुकमय प्रेमपूर्ण आग्रह पर आपने तीर छोड़ा तो वह चीर घाट पर जाकर गिरा। फलस्वरूप "मदनटेर से चीरघाट तक की भूमि' ब्रजवासियों ने आपको भेंट में दे दी। श्रीधाम श्रीवृन्दावन में श्रीहितजी ने "मानसरोवर, सेवाकुंज, रासमण्डल और वंशीवट" इन चार दिव्य केलि-स्थलों को प्रकट किया।

ठाकुर श्रीराधावल्लभलालजी का "प्रथम पाटोत्सव" सेवाकुंज में ही मनाया गया। आप सपरिकर श्रीराधावल्लभलालजी की अत्यन्त ही लाड़-चाव, से सेवा-पूजा करते थे। आपने प्रथम पत्नी श्रीकृष्णदासीजी को पुष्प-सेवा एवं द्वितीय पत्नी श्रीमनोहरीजी को संत-सेवा सौंपी और स्वयं श्रीश्रीजी की सेवा तथा लीला-चिन्तन में मग्न रहते थे। आपके

द्वारा शृंगार-रसोपासना का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ। आपके अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए जिन्होंने प्रत्यक्ष श्रीश्यामा-श्याम का साक्षात्कार किया। आपके दर्शन एवं सत्संग से रसिकजनों को परम आनन्द प्राप्त होता था। सब लोग अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। आपके समीप रसिकजनों की भीड़ लगी रहती थी। आपके उपदेश अत्यन्त ही सारगर्भित होते थे। उनके उपदेशों में-"अरथ अमित अति आखर थोरे।" की अनुपम योजना देखते ही बनती है। यथा-"सबसौं हित निष्काम मति वृन्दावन विश्राम। श्रीराधावल्लभलाल को हृदय ध्यान मुख नाम।। तनहिं राखि सत्संग में मनहिं प्रेमरस भेव। सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव।। निकसि कुँज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंश। श्रीराधावल्लभ मुख कमल निरखि नैंन हरिवंश।। रसना कटौ जु अनरटौ निरखि अनफुटौ नैंन। श्रवण फुटौ जो अनसुनौ श्रीराधा यश बैन।।" इस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन प्रेमोपासना एवं प्रेमोपदेश में समर्पित कर श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी ने वि०सं० १६०९, आश्विन शुक्लपक्ष, पूर्णिमा को नित्य-निकुंज में प्रवेश किया। आपके नित्यलीला प्रवेश से रसिकजनों को अपार मर्मान्तिक व्यथा हुई। परम रसिक श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं कि-

हुतो रस रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिवंशहिं सरस रीति कौ कापै चलिहैं भार।।
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहिहैं कौन उदार।।
पद रचना अब कापै ह्वै हैं निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाट सिंगार।।
जिन बिनु दिन छिन सतयुग बीतत सहजरूप आगार।
"व्यास" एक कुल कुमुद बन्धु बिन उडुगन जूठो थार।।

(व्यासवाणी)

स्वामी श्रीहरिदासजी

(श्री) आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।।
जुगल नाम सौं नेम जपत नित कुँजविहारी।

अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी।।
गान कला गन्धर्व स्याम-स्यामा कौं तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं।।
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जास की।
(श्री) आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।।९१।।

शब्दार्थ—उद्योत = प्रकाश, चमक। उद्योतकर = प्रकाशक। जुगल = युग, दो, प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण। अवलोकत =देखत। गान कला = संगीत, गान विद्या। गन्धर्व =देव विशेष, जो नृत्य, गान में बड़े प्रवीण होते हैं। तोषैं = सन्तुष्ट करें, सेवा से प्रसन्न करें। मरकट = बन्दर। तिमि = मछली जल के जीव।

भावार्थ—स्वामी श्रीहरिदासजी श्रीआशुधीरजी के सुयश को जगत् में प्रकाशित करने वाले हुये। आपकी ''रसिक'' यह छाप थी अर्थात् वैष्णव-समाज में ''श्रीरसिकजी'' के नाम से विख्यात थे। आपका श्रीकुंज विहारिणी विहारी श्रीश्यामा-श्याम प्रिया-प्रियतम युगल के नाम के प्रति विशेष नेम-प्रेम था। आप निरन्तर प्रेमपूर्वक श्रीयुगल-नाम का जप किया करते थे तथा नित्य श्रीप्रिया-प्रियतम की केलि-विलास लीला का दर्शन करते रहते थे। आप सखी सुख के परम अधिकारी थे तथा संगीत विद्या में ऐसे निपुण थे कि आपके समक्ष गन्धर्व भी एक कलामात्र ही प्रतीत होते थे। अपने रसमय संगीत से श्रीश्यामा-श्याम को सदा रिझाते थे। आप अपने परमाराध्य श्रीश्यामा-श्याम को परमोत्तम भोग अर्पित करते थे और संत से अवशिष्ट भोग-प्रसाद द्वारा मयूर, बन्दर एवं मछलियों का पोषण करते थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके दर्शनों की अभिलाषा से कुंजद्वार पर खड़े रहते थे।।९१।।

व्याख्या—आसुधीर—आप स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीसद्गुरुदेवजी थे। (किसी-किसी के मत से पिता एवं गुरु आप दोनों ही थे)। श्रीस्वामी हरिदासजी के यश विस्तार से आपके भी सुयश में वृद्धि हुई। सन्त-समाज में जब कभी स्वामी श्रीहरिदासजी के विषय में वार्ता होती तो यदि कोई कदाचित् अनजान व्यक्ति पूछ लेता कि कौन हरिदास? तो रसिकजन बड़े ही गौरव के साथ कहते ''आशुधीरजी'' के हरिदास। यथा-''आसू के हरिदास रसिक हरिवंश न मोहिं विसारो।'' (व्यासवाणी) अत: ''आसुधीर उद्योतकर'' कहा। ''रसिक छाप''-स्वामी श्रीहरिदासजी को यह ''छाप'' स्वयं कुँजविहारिणी श्रीराधिकाजी ने ही प्रदान की थी। वह प्रसंग इस प्रकार से है- ''नित्य दिव्य लीला मण्डल में रास रच्यो रँग भारी। होड़ा-होड़ी नृत्य करें मन मगन पिया अरु प्यारी।। नचै कौन आछो यह कहिये पूछत कुँजविहारी। कही बार द्वै श्रीस्वामी ने आछो नाचैं प्यारी।। तीजे

पूछत ही प्यारे को लियो अँक में लाई। नचन नचावत तुम द्वौ जानत सकै कौन बतलाई।। चौसर नरद प्रथम है काची ता पाछे ते पकई। ऐसे रँग तिहारे रँगिके तीनि बार में छकई।। सुनिके प्यारी मुदित ह्वै गई छाप "रसिक" की दीनी। हौ स्वामी ललिता अवतारी बात प्रगट यह कीनी।।" तब से ही स्वामी श्रीहरिदासजी "रसिक हरिदासजी" के नाम से ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुए। सन्त-समाज में प्रसिद्ध कहावत है कि-"ये हरिदास रसिक हरिदास। और हरिदास मात्र हरिदास।।" आपकी अनन्य रसिकता पर मुग्ध एवं प्रभावित होकर श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं-"अनन्य नृपति स्वामी श्रीहरिदास। श्रीकुँजविहारी सेये बिन जिन छिन न करी काहू की आस।। सेवा सावधान अति जानि सुघर गावत दिन रसरास। ऐसो रसिक भयो ना ह्वैहैं भुवमण्डल आकास।। देह विदेह भये जीवत ही विसरे विश्व विलास। श्रीवृन्दावन रज तन मन भजि तजि लोक वेद की आस।। प्रीति रीति कीन्हीं सबही सौं किये न खास खवास। अपनो व्रत हठि ओर निवाह्यौ जौलौं कण्ठ उसास।। सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनकैं भायैं घास। अबके साधु व्यास हमहूँ से जगत् करत उपहास।।"

जुगल नाम सौं नेम— इसका भाव यह है कि आप केवल श्रीराधा अथवा श्रीकृष्ण का नाम नहीं जपते थे। बल्कि श्रीप्रिया-प्रियतम दोनों का युगल-नाम एक साथ जपते थे। यह बात आपके पदों से स्पष्ट ध्वनित होती है। यथा-"श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सम बैस वैसे।" "श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी पै रँग रह्यौ रस ही में पागे।" "श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं मन रानौं।" "श्रीहरिदास के स्वामी श्यामा कुँजविहारी न टरन कौं।" (केलिमाल-१,२,३,४) अर्थात् आप अपने मुख से सदा-सर्वदा "श्रीश्यामा-श्याम" एवं "श्रीकुँजविहारिणी विहारी" यह श्रीयुगल-नाम ही निकलता था। "जपत नित कुँजविहारी" -कुँजविहारी शब्द से श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीयुगल का ही बोध होता है, क्योंकि विहार अकेले अर्थात् बिना युगल के, एक के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः "जपत नित कुँजविहारी।" आप श्रीबाँकेविहारीजी को ही श्रीकुँजविहारी कहते थे। श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं-"कुँजविहारी एक आस और सकल तजि दुरास असन वसन सौं उदास बाँके व्रतधारी। गान दया गुण निधान रसिक मुकुटमनि प्रधान राग भोग बखत जानि पोषत पिय प्यारी।। तिमिर हरन कौं दिनेस ताप हरन कौं निसेस पाप दहन पावकेस गुरुता मुख चारी। निधुवन आसीन नित्त वर विहार सरस वित्त जै जै हरिदास रसिक भगवत बलिहारी।।"

अवलोकत रहैं केलि— यथा-"ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौ। प्यारे की भाँवती भाँवती के प्रान प्यारे जुगलकिसोरहिं जानौ।। छिन न टरौं पल होऊँ न इत उत

रहौं एक ही तानौ। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं मन रानौ।।'' पुनः-''हँसत बोलत मिलत देखौं मेरी आँखिन सुख। बीरी परसपर लेत खवावत ज्यौं दामिनि घन चमचमात सोभा बहु भाँतिन सुख।। श्रुति घुरि राग केदारो जम्यौ अधरात निसा रोम रोम सुख। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी कें गावत सुरत देत मोर भयो परम सुख।।'' (केलिमाल)।

पुनः- **रतन सुदेशमयी अवनि निकुँज धाम अति अभिराम पिय प्यारी केलि रास हैं।**
रमत रमन दोऊ सुमति सुरति सेज अमित कटाक्षनि के हाव-भाव हास हैं।।
भावुक प्रवीन सुपुनीत गुन गान रटैं बाटैं लोक लोकन में सुजस सुवास हैं।
सखी रूप दृगनि सरूप सदा पान करैं रसिक सिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास हैं।।
जैसे अनखानि, लपटानि बतरानि पुनि अति इतरानि मुस्क्यान रँग बरषैं।
जैसे फिरि जान, अति दीनता निदान पान आपने प्रमान इहि मिसि प्रान करषैं।।
झटक रिसान भुवतान त्यौं-त्यौं प्राननाथ प्रानन सिहान मान मन में ही हरषैं।
ऐसे कुँज केलि रस बेलि सुख झेलि रही विना हरिदासी ताहि कहौ कौन निरषैं।।

सखी सुख के अधिकारी—पूर्व जो कहा गया है कि-''अवलोकत रहैं केलि'' यही सखी सुख है। सखियाँ बड़े ही चाव से श्रीयुगल की केलि विलास का साज-श्रृंगार सजाती हैं और जब श्रीयुगल केलि विलास में रहते हैं तो सखियाँ उस केलि का दर्शन कर अपने जन्म-जीवन को सफल एवं धन्यातिधन्य मानती हैं। यथा-

सखी चहुँ ओर फिरैं चकडोर-सी सेवा कौ भाव बढ्यौ मन माहीं।
सौंज सिंगार नई-नई आनत बानत नेकहुँ हारत नाहीं।।
प्रेम पगी तिहि रंग रँगी निरखैं तिनकौ तनकौ न अघाहीं।
और स्वाद लगै ध्रुव फीको रहैं विवि रूप के छत्र के छाहीं।।

सखी सुख का वर्णन करते हुए श्रीध्रुवदासजी कहते हैं-

प्रीतम की प्रेम गति देखै भूली तन गति बड़े बड़े नैंना दोऊ आये प्रेम जल भरि।
प्रिया लाल लाल कहि लये लाइ उरजन चूमि-चूमि नैंना रही अधर दसन धरि।।
हित ध्रुव सखी सब देखत विबस भई प्रेम पट नाना रंग झलकै सबनि पर।
एक चित्र की सी खरीं एक धरनि खसि परीं एकनिकै नैंननि तैं गिरै नेह नीर ढरि।।
सखीन की गति हेरै ठाढ़े भये जाइ नेरै करुनाकै चितयो दुहूँन तिन ओर री।
अमीकी सी धारा उर सींचि गये सबनिकै प्रेमसिन्धु भौंर ते निकासी बरजोर री।।

चहुँदिसि राजै खरी महारस रंग भरी नैंननि की गति बहै तृषित चकोर री।
सहज तरंग उठैं जल के से छिन-छिन हित ध्रुव यहै खेल तहाँ निसि भोर री।।

श्रीकिशोरदासजी इस अनन्य सुख का वर्णन करते हुए लिखते हैं-''दम्पति के सुख में सुखित अपसुख गन्ध न लेस। किशोरदास या देस के सूक्षम दुर्गम देस।।'' साथ ही आपने यह भी कहा है कि-''सूक्षम दुर्गम देस के श्रीहरिदास नरेस।।'' श्रीनाभाजी कहते हैं कि यह जो सखी सुख है, श्रीस्वामी हरिदासजी इसके अधिकारी हैं अर्थात् स्वयं इस सुख का आस्वादन करने की आपमें परम पात्रता है। अरे भाई! श्रीललिता सखी के अवतार जो ठहरे। पुनः-यह सखी सुख आपके ही अधिकार में है अर्थात् आप स्वयं इसका रसास्वादन करते हुए जिस पर कृपा करें, वह ही इस सखी सुख को प्राप्त कर सकता है। साथ ही आपकी कृपा के बिना यह सुख अन्य के लिए दुर्लभ है। यथा-''श्रीस्वामी हरिदास को यश त्रिलोक विसतार। आप पियो प्यायौ रसिक नवल निकुँज विहार।। कुँजी नित्य विहार की श्रीहरिदासी हाथ। सेवत साधक सिद्धजन जाचत नावत माथ।।''

गान कला गन्धर्व—सामान्यतया शब्द क्रम से तो इस तुक (कड़ी) का यही अर्थ निकलता है कि आप गान कला में गन्धर्व थे। परन्तु इस अर्थ से श्रीस्वामीजी का कोई उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता है। कहाँ तो श्रीललितावतार श्रीस्वामीजी और कहाँ देवताओं के दरबार में नृत्य-गान करने वाले गन्धर्व। इन दोनों में महान् अन्तर हैं, अतः इसका अन्वय इस प्रकार से किया गया है कि-गान (में) गन्धर्व (जिनकी) कला (मात्र) है। और विशेष देखिये भावार्थ में। स्वामी श्रीहरिदासजी पूर्ण संगीत-कला-सिन्धु हैं और गन्धर्व संगीत समुद्र की एक तरंग मात्र हैं। सत्य तो यह है कि गन्धर्व श्रीस्वामीजी की एक कला भी नहीं हैं। यह तो शाखा चन्द्र न्याय से एक दिग्दर्शनमात्र है। संगीत सम्राट तानसेन भी श्रीस्वामीजी के शिष्य थे। प्रसंग इस प्रकार से है-

तानसेन प्रथम ओरछा के राजा श्रीराजाराम बुन्देला के दरबार के प्रधान गायक थे। इनको दीपक राग सिद्ध था। दरबार में इनका बहुत बड़ा सम्मान था, इससे अन्य दरबारी गायक इनसे ईर्ष्या करते थे, सबने मिलकर एक षड्यन्त्र की रचना की कि राजा से कहकर तानसेनजी से दीपक राग गवाया जाय, ये दीपक राग गाना तो जानते थे, परन्तु इसकी शान्ति में मेघ मलार राग का सिद्ध होना परमावश्यक था, वह इन्हें ज्ञात नहीं था। दीपक राग गाने के बाद बिना मेघमलार राग गाये गायक के शरीर में जलन होने लगती है, जिससे वह तड़प-तड़प कर शरीर छोड़ देता है। ओरछा नरेश

श्रीराजारामजी इस रहस्य को तो जानते नहीं थे, आपने गायकों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया एवं एक बहुत बड़े संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया और उस सम्मेलन में तानसेन से दीपक राग गाने का अनुरोध किया गया। तानसेन ने बहुत अनुनय-विनय किया कि इस राग के गाने से मेरे प्राण संकट में हो जायेंगे, मेरा शरीर जल जायेगा। परन्तु राजहठ ने एक नहीं सुनी। अन्ततोगत्वा विवश होकर तानसेन को दीपक राग गाना ही पड़ा। असंख्य दीपक घृतवर्तिकायुक्त सजाये गये। जब तानसेनजी ने दीपक राग का आलाप भरा तो सभी को अत्यन्त गर्मी का अनुभव होने लगा, कुछ ही क्षण में सभी लोग (श्रमवारि) पसीना से तर-बतर हो गये। पद गाने के समय तो इतनी भीषण गर्मी का अनुभव हुआ कि सभी लोग पंडाल को छोड़-छोड़कर भाग गये। पद गान पूर्ण होते-होते समस्त दीपक एक साथ जल गये। तानसेन को बहुत बड़ा सुयश प्राप्त हुआ, परन्तु वहीं बात हुई जो कि प्रथम में बतायी गयी थी। तानसेन के शरीर में अपार जलन होने लगी। विविध उपचार कराने पर भी शरीर की जलन शान्त नहीं हुई। तानसेन बावले हो इधर-उधर घूमने लगे, किसी मेघमलार राग गायक की खोज में। तानसेनजी घूमते-घूमते ओरछा के जंगल में चले गये वहाँ दो मातायें कण्डा-उपला बीन रही थीं, इन्हें देखकर एक ने कहा कि -यह तो दीपक राग से जले हुए प्रतीत होते हैं, तानसेनजी ने उनकी बातें सुन लीं और समझ गये कि ये मातायें राग विशेषज्ञा हैं निश्चय ही इनके द्वारा मेरा यथोचित उपचार हो जायेगा। अतः उनके समीप जाकर तानसेन ने मेघमलार राग गाने की विनती की। तब उन दोंनो माताओं ने मेघमलार राग गाया, तत्काल ही आकाश में मेघ घिर आये और बड़े जोर की वर्षा होने लगी, शरीर की जलन शान्त हो गयी, तानसेन ने उन दोंनो बाइयों के चरणों में पड़कर, मेघमलार राग की शिक्षा देने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा-इसके लिए तुम्हें श्रीवृन्दावन में विराजमान स्वामी श्रीहरिदासजी की ही शरण ग्रहण करनी होगी, विश्वास करो उनके कृपाकटाक्ष मात्र से तुमको समस्त राग-रागनियाँ सिद्ध हो जायेंगी, तब तानसेन श्रीवृन्दावन आकर स्वामी श्रीहरिदासजी की शरणागत हुए और आपकी कृपा से ही तानसेन ने आगे चलकर "संगीत सम्राट्" का पद प्राप्त किया। प्रसिद्ध गायक बैजूबावरा जिसने तानसेन से भी बढ़कर स्वर सिद्धि प्राप्त की थी और सदा कृष्ण प्रेम में मतवाला रहता था, आपका ही शिष्य था।

स्याम-स्यामा कौं तोषैं—श्रीस्वामी हरिदासजी की संगीत-साधना लोकरंजन के लिए न होकर मात्र श्रीप्रिया-प्रियतम को रिझाने के लिए ही थी। वर्णन आया है कि अकबर

के दरबार के प्रमुख गायक तानसेन स्वामी श्रीहरिदासजी के ही कृपापात्र थे। एकबार अकबर को सौभाग्य से स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीमुख से भी पद सुनने को मिला था। (कथा आगे देखिये) अकबर ने तानसेन से पूछा–"जो आनन्द श्रीस्वामीजी के पदों में आया था, वह आनन्द तुम्हारे पद–गायकी में नहीं आता है, इसका क्या कारण है?" तानसेन ने कहा–"हुजूर! मैं एक मुल्क के बादशाह के समक्ष गाता हूँ और वे सारे जहान के मालिक के सामने गाते हैं। मैं अपनी कला का उपयोग एक इंसान की प्रसन्नता के लिए करता हूँ और वे अपनी कला का प्रयोग श्रीश्यामा–श्याम को रिझाने के लिए करते हैं। फिर भला मैं उनकी बराबरी कैसे कर सकता हूँ?" इसका सारांश यह है कि श्रीभगवद्–प्रीत्यर्थ किया हुआ कर्म अनन्त महिमामय हो जाता है।

उत्तम भोग लगाय—स्वामी श्रीहरिदासजी के परमाराध्य श्रीबाँकेबिहारीजी के श्रीचरणों से नित्यप्रति द्वादश मुहरें प्रकट होती थीं, उन्हीं से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोग सामग्री मथुरा से मँगवायी जाती थी एवं उससे विविध व्यंजन बनाकर श्रीबाँकेबिहारीजी को भोग लगाया जाता था। उस भोग–प्रसाद द्वारा प्रथम तो सन्तों को संतुष्ट किया जाता तदुपरान्त जो शेष भोग–प्रसाद बचता उसके तीन भाग करते। प्रथम भाग बन्दरों के लिये, द्वितीय भाग पक्षियों के लिये एवं तृतीय भाग मछलियों के लिए होता था, आप स्वयं चना पा कर ही रह जाते थे। यथा–"व्यंजन बनत विसाल सुसारा। ताको या विधि करत विचारा।। ताके तीन विभाग बनावैं। एक ढेर मरकट सब खावैं।। एक ढेर पक्षी चुग जावैं। एक मीन कच्छप डरवावैं।। श्रीस्वामी नित चना मँगावैं। टका तीन दिन भर उठ पावैं।।" (निजमत सिद्धान्त) कहते हैं कि एक दिन श्रीविहारीजी ने आपसे अनुरोध किया कि "आप मुझको तो इतना बढ़िया भोग अर्पण करते हैं एवं स्वयं एक मुट्ठी चना–प्रसाद ग्रहण करके ही रह जाते हैं, इससे मुझको संतोष नहीं होता है, अतः आप भी भोग–प्रसाद पाया करिये।" तब आपने विनम्र निवेदन किया कि–"जै जै! उत्तम भोग आरोगना तो आपको ही शोभा देता है, हम विरक्तों के लिए तो मात्र जीवन धारण करने हेतु एक मुट्ठी चना–चबेना ही बहुत है।" आपका अत्यन्त प्रबल वैराग्य देखकर श्रीबिहारीजी के नेत्र सजल हो गये तथा पुनः प्रसाद ग्रहण करने का आग्रह किया। तब श्रीस्वामीजी ने श्रीबाँकेबिहारीजी का मन रखने के लिए चना के स्थान पर अपने लिए अँगाबाटी बनाते और उन्हें श्रीठाकुरजी पर न्योछावर कर थोड़ा–सा पा लिया करते।

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं—सामान्य राजाओं की तो बात ही क्या, महान् सम्राट् अकबर भी स्वामी श्रीहरिदासजी के दर्शन की प्रतीक्षा में घण्टों कुँज द्वार पर खड़ा रहता। प्रसंग इस प्रकार से है- एक बार तानसेन के गान पर मुग्ध होकर इनकी प्रशंसा करते हुए

अकबर ने कहा-"तानसेन! तुम दुनिया के सर्वश्रेष्ठ गायक हो।" बादशाह के वाक्य पूरे भी नहीं हुये थे कि तानसेन ने अपने कान बन्द कर लिए और बीच में ही बात काटकर बोले-"हुजूर! हमारे श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीहरिदासजी के समक्ष मुझ तुच्छ की क्या गिनती है? अरे, मैं तो अपने श्रीगुरुदेवजी के संगीत-सिन्धु का एक बिन्दु भी नहीं हूँ, उन संगीत-सूर्य की एक रश्मि भी नहीं हूँ।" यह सुनकर गुणग्राही बादशाह अकबर बहुत ही चकित हुआ तथा तानसेन के श्रीगुरुदेवजी के दर्शनों की तीव्र इच्छा जागृत हुई। उसने अपना मनोभाव तानसेन के समक्ष प्रकट किया तो तानसेन ने प्रथम तो कुछ असमंजसता दिखायी, परन्तु बादशाह के विशेष आग्रह करने पर दो टूक बात कही कि-"बादशाहत की हैसियत अर्थात् रौब से चलने पर तो उनका दर्शन दुर्लभ है। मैंने तो उनका शरणागत होकर ही कृपा-प्रसाद पाया है। यदि आपको उनके दर्शन की लालसा है तो मेरे सेवक के रूप में, मेरे साथ चलने पर भले ही दर्शन हो जायँ, अन्यथा असम्भव है।" अकबर ने निःसंकोच तानसेन की बात मान ली और दोंनो श्रीवृन्दावन के लिए चल पड़े। अकबर ने श्रीधाम श्रीवृन्दावन के समीप आकर अपना शाही ठाट-बाट त्यागकर खवास का भेष धारण किया और तानसेन का तानपूरा अपने कन्धे पर रखकर पीछे-पीछे चलने लगा, स्वामी श्रीहरिदासजी के निवास स्थान निधिवन में पहुँचने पर तानसेन ने अकबर के हाथ से तानपूरा लेकर कुँज में प्रवेश कर गये जहाँ श्रीस्वामीजी विराजमान थे, तानसेन साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर जमीन पर ही बैठ गये एवं बादशाह अकबर कुँज द्वार पर ही खड़े रहे। श्रीस्वामीजी ने तानसेन से मेघमलार राग में एक पद गाने को कहा, तानसेन ने आज्ञा शिरोधार्य कर पद गाया तो अवश्य लेकिन स्वयं भी श्रीस्वामीजी के श्रीमुख से सुनने की अभिलाषा तथा बादशाह को भी सुनाने के अभिप्राय से जान-बूझकर ही ताल में थोड़ी भूल कर दी, तब श्रीस्वामीजी ने इनका अभिप्राय समझकर स्वयं हाथों में तमूरा लिया और जैसे ही आपने आलापचारी की तत्काल ही ग्रीष्म ऋतु में पावस ऋतु हो गयी, मेघमलार राग गाते ही एक क्षण में ही आकाश में बादल छा गये और वर्षा की झड़ी लग गयी। यह सब देख-सुनकर बरबस अकबर के मुख से "वाह" शब्द निकल पड़ा, यह शब्द श्रीस्वामीजी ने सुन लिया, लेकिन जानकर भी अनजान की भाँति तानसेन से पूछे कि-"बाहर कौन है?" तब तानसेन ने अत्यन्त भयभीत होकर समस्त वृत्तान्त श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में निवेदन किया। अकबर की गुणग्राहकता पर प्रसन्न होकर श्रीस्वामीजी ने उसे भी भीतर बुला लिया।

श्रीस्वामीजी का दर्शन पाकर बादशाह कृतकृत्य हो गया और उसने स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीस्वामीजी के अचिन्त्य प्रभाव से प्रभावित

होकर अकबर ने कुछ सेवा के लिये आग्रह किया तो आपने प्रथम में तो कुछ भी नहीं कहा, परन्तु जब वह बार-बार हठ करने लगा तो आपने आज्ञा दी कि श्रीयमुनाजी के धीरसमीर घाट का एक कोना टूट गया है, तुम उसी की मरम्मत करवा दो। यह सुनकर बादशाह का मन उदास हो गया कि मेरे इतना आग्रह करने पर भी सेवा बतायी तो एक टूटी सीढ़ी की मरम्मत मात्र। बादशाह को अपने ऐश्वर्य का अभिमान था, श्रीस्वामीजी को यह बात समझते देर नहीं लगी। तत्काल ही एक सेवक को घाट की सीढ़ी दिखलाने के लिये अकबर बादशाह के साथ भेज दिया। सेवक श्रीस्वामीजी की महिमा से परिचित था, साथ ही सेवक यह भी समझ गया कि अकबर के ऊपर श्रीस्वामीजी की कृपा हो गयी है, तभी तो इसे दिव्य-श्रीवृन्दावन की दिव्य-सीढ़ियों का दर्शन कराना चाहते हैं। श्रीस्वामीजी की कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त अकबर ने जब दिव्य-मणिमय सीढ़ियों का दर्शन किया तो उसके होश उड़ गये। वह तत्काल ही वापस लौट आया और श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में गिरकर अपनी इस धृष्टता के लिये क्षमा-प्रार्थना करता हुआ बोला-''महाराज! हमारी जैसी करोड़ बादशाहतों का वैभव भी इस टूटी हुई सीढ़ी का कोना बनवाने में असमर्थ है, फिर मुझ नाचीज की तो बात ही क्या है। आप तो मेरे योग्य कोई सेवा बताइये?'' अकबर बादशाह को लज्जित देखकर श्रीस्वामीजी ने उसके सन्तोष के लिये मोर-बन्दरों को चना देने का आदेश दिया, साथ ही शासन की ओर से यह कानून लागू करने को भी कहा कि श्रीधाम श्रीवृन्दावन में कोई पशु-पक्षियों का आखेट न करे तथा यहाँ की लता-पताओं को भी कोई न काटे। बादशाह श्रीस्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर तथा चरण-रज मस्तक पर लगाकर दिल्ली लौट गया। अकबर के शासनकाल में श्रीवृन्दावन के लिये सौ मन चना प्रतिवर्ष मोर-बन्दरों को दिया जाता था।

ओरछा नरेश श्रीराजाराम बुन्देला तथा महाराज श्रीमधुकरशाहजी तो सदा ही आपके दर्शनों के लिये आया करते थे। कहते हैं कि एक बार श्रीराजारामजी, श्रीस्वामीजी का दर्शन करने गये, उस दिन अन्नकूट का उत्सव था, श्रीस्वामीजी ने श्रीबाँकेबिहारीजी को अनेकानेक प्रकार के व्यंजनों का भोग लगाया था। आपने कृपापूर्वक राजाराम को अन्नकूट भोग का दर्शन कराया, श्रीराजारामजी भोग का दर्शन करके तो परम प्रसन्न हुये, परन्तु अन्नकूट के समस्त भोग-व्यंजन मृत्तिकापात्र (मिट्टी के बर्तनों) में रखे हुये देखे तो उन्हें यह बात खटकी। उन्होंने श्रीस्वामीजी से हाथ जोड़कर विनती करके कहा कि-''यदि आप आज्ञा दें तो श्रीठाकुरजी की सेवा के लिये मैं स्वर्णपात्रों की व्यवस्था कर दूँ।'' श्रीस्वामीजी ने

मुस्कुराकर कहा–"भैया! ब्रज रज से बने पात्र स्वर्णपात्र से कम महत्व के नहीं हैं, तुमने उन्हें ठीक से नहीं देखा है, अच्छा तो एक बार और तुम जाओ, अन्नकूट के दर्शन करके आओ, अबकी बार स्वामीजी ने कृपा करके श्रीराजारामजी को दिव्यदृष्टि दे दी। जिससे श्रीराजारामजी ने पुनः जब अन्नकूट-भोग का दर्शन किया तो इन्हें समस्त व्यंजन-भोग परमदिव्य-सुवर्णमय पात्रों में रखे हुए दिखायी दिये। वे आकर, श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में पड़ गये और बोले–"धन्य है, इस ब्रजरज की महामहिमा तो मैंने आज जानी।

ऐसे ही श्रीमधुकरशाहजी के ऊपर आपने परम अनुग्रह किया था। वर्णन आया है कि जिस समय श्रीमधुकरशाहजी ने अपने श्रीसद्गुरुदेव श्रीहरिरामव्यासजी को लिवाने के लिये श्रीवृन्दावन आये थे तो श्रीव्यासजी ने उनको स्वामी श्रीहरिदासजी का दर्शन कराया। श्रीस्वामीजी ने श्रीमधुकरशाहजी को परम अधिकारी समझकर उन्हें दिव्य-मणि, रत्न खचित नित्य श्रीवृन्दावन का दर्शन कराया। श्रीमधुकरशाहजी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब मैं श्रीवृन्दावन छोड़कर घर जाऊँगा ही नहीं। तब श्रीस्वामीजी ने उनका हार्दिक अभिप्राय समझकर आज्ञा दी कि तुम निःसंकोच अपनी राजधानी को जाओ, तुम्हारे द्वारा वहाँ भक्ति का प्रचुर-प्रचार होगा, बहुत से विमुख जीव तुम्हारे द्वारा श्रीभगवद्-सम्मुख होंगे और तुम्हें जो धाम के प्रति भाव जाग्रत हुआ है, तो मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें वहाँ भी श्रीवृन्दावन का दर्शन होगा। तब श्रीमधुकरशाहजी पुनः अपनी राजधानी ओरछा को आये। कहते हैं कि उन्हें विन्ध्याचल तक उसी दिव्य-श्रीवृन्दावन का दर्शन होता रहा। तब उनकी समझ में आया कि भगवान् के ही तरह श्रीभगवद्धाम भी सर्वव्यापक हैं। उस समय उन्होंने यह पद गाया था–"हमारे वृन्दावन सों गाउँ।" अतः कहते हैं–"नृपति द्वार ठाढ़े रहैं।"

दरसन—श्रीभगवतरसिकजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी का ध्यान इस प्रकार से वर्णन किया है।

कंबु कण्ठ मंजु दाम गौर अंग छबि सुधाम, कुन्दन ते सरस मृदुल मोहन मन भायौ।
नाल सहित कंज पानि देत सदा अभयदान, तजिकै अभिमान शाह अकबर सिर नायौ।।
चरण-कमल कामधेनु सकल कामना सुदेन, दरसै दृग होत चैन आपदा भगायौ।
करुवा अरु गुदरि पास श्रीवृन्दावन करैं बास, जै जै हरिदास रसिक भगवत मन भायौ।।

✦ ✦ ✦

स्वामी हरिदास रसरासि को बखान सकै रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै।
ल्यायौ कोऊ चोवा वाकौ अति मन भोवा वामै डार्‌यो लै पुलिन यह खोवा हिये आइयै।।
जानिकै सुजान कही लै दिखावौ लाल प्यारे नैकुसु उघारे पट सुगंध बुड़ाइयै।
पारस पाषान करि जल डरवाय दियौ कियौ तब शिष्य ऐसे नाना विधि गाइयै।।३६७।।

शब्दार्थ—भोवा=भीगा, द्रवित, प्रेमार्द्र। खोवा = नष्ट हुआ। नैकुसु=थोड़ा-सा, अल्पमात्र। जाप = नाम स्मरणपूर्वक लीला चिन्तन।

भावार्थ-अनन्य नृपति स्वामी श्रीहरिदासजी मधुरोज्ज्वल श्रृंगाररस की राशि थे। आपकी रसभावना का कौन वर्णन कर सकता है? आपने श्रीयुगल-नाम स्मरणपूर्वक श्रीप्रिया-प्रियतम की केलि विलास लीला की भावना करते समय श्रीप्रियाजी के द्वारा ''रसिकता की छाप पायी थी। ''एक बार आपको एक भक्त ने इत्र भेंट किया, उस भक्त को वह इत्र बहुत ही पसन्द था, उसमें उसका मन अत्यन्त अनुरक्त था। श्रीस्वामीजी ने उस इत्र को लेकर तत्काल ही श्रीयमुनापुलिन में ढ़रका दिया, सर्वान्तर्यामी स्वामी श्रीहरिदासजी ने उसके हृदय का भाव जानकर अपने एक सेवक से कहा कि इन्हें साथ ले जाकर, प्राण-प्यारे ठाकुर बाँकेबिहारीजी महाराज का दिव्य-दर्शन कराओ, सेवक ने श्रीनिधिवन में ले जाकर ज्यों ही तनिक सा श्रीबिहारीजी का परदा खोला तो उसको श्रीबिहारीजी उसी इत्र में सराबोर दिखायी पड़े एवं सम्पूर्ण कुंज-मन्दिर उसी इत्र की सुगन्ध से सुगन्धमय हो रहा था।'' एक महानुभाव ने दीक्षार्थ आपसे निवेदन किया, उनके पास एक पारसमणि थी, प्रथम तो आपने उस मणि को श्रीयमुना-जल में फेंकवा दिया, तब उसको अपना शिष्य बनाया। इसी प्रकार से आपके अनेकों त्याग-वैराग्य, अनुरागमय चरित्र, सन्त-सभा में गाये जाते हैं।

रसरासि को बखान सकै—यथा-''जा पथ को पथ लेत महामुनि मूँदत नैंन गहैं नित ताको। जा पथ को पछितात हैं वेद लहैं नहिं भेद रहैं जकि जाको।। सो पथ श्रीहरिदास लह्यौ रसरीति की प्रीति चलाय निशा को। निशान बजावत गावत गोविन्द रसिक अनन्यनि को पथ बाँको।। अत: ''को बखान सकै'' कहा गया। ''रसिकता छाप०''-देखिये छप्पय में ''रसिक छाप हरिदास की'' व्याख्या में। श्रीप्रियाजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी को ''रसिकता'' की छाप दी। यही कारण है कि आगे चलकर श्रीस्वामीजी की परम्परा के सब सन्त भी रसिक कहे जाने लगे। यथा-'' आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप। नित्य किशोर उपासना युगल मन्त्र को जाप।। युगल मन्त्र को जाप वेद रसिकन की बानी। श्रीवृन्दावन धाम इष्ट श्यामा

महरानी।। प्रेम देवता मिले बिना सिधि होय न कारज। भगवत सब सुखदानि प्रगट भये रसिकाचारज।।''

ल्यायो कोऊ चोवा....सुगंध बुड़ाइयै—वह प्रसंग इस प्रकार से है कि एक लाहौर निवासी विज्ञानी नामक भक्त के यहाँ एक बार श्रीहृषीकेश नामक एक ब्रजवासी सन्त पहुँचे। श्रीवृन्दावन की चर्चा चलने पर सन्तजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी एवं इनके सेव्य ठाकुर श्रीबाँकेबिहारीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। विज्ञानीजी का मन श्रीस्वामीजी के दर्शन के लिए लालायित हो उठा। उन्होंने सन्तजी से पूछा कि-''श्रीस्वामीजी क्या भेंट अंगीकार करते हैं?'' सन्तजी ने कहा-''कै सुगन्ध कै रागवर पुनि अनुराग समेत। श्रीहरिदास विलासमय भेंट कृपा करि लेत।।'' विज्ञानीजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी को सुगन्धवर भेंट करने का निश्चय किया। उन्होंने उस जमाने के एक लाख रुपये की कीमत का बढ़िया इत्र तैयार करवाया और अन्य भेंट की बहुत-सी सामग्री तथा इत्र लेकर श्रीधाम श्रीवृन्दावन को आये। जब श्रीस्वामीजी के दर्शनार्थ श्रीनिधिवन में आये तो पता चला कि आप तो श्रीयमुनापुलिन में भजन-ध्यान एवं श्रीयुगल की लीला भावना में निमग्न हैं। विज्ञानीजी समस्त सामग्री लिए श्रीयमुनापुलिन पहुँचे और श्रीस्वामीजी को साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर बड़े ही भाव पूर्वक वह इत्र भेंट किये। संयोग की बात, श्रीस्वामीजी उस समय श्रीप्रिया-प्रियतम की होली लीला की भावना में लीन थे, श्रीयुगल में परस्पर होली की धूम मची हुई थी। श्रीठाकुरजी रँग की पिचकारी भरकर श्रीश्रीजी के ऊपर डालने ही वाले थे, इधर श्रीश्रीजी अभी पिचकारी भर ही रही थीं, रँग भी यथेष्ट नहीं था। श्रीश्रीजी को लगा कि अब मेरी हार हो जायेगी, ठीक इसी समय ही विज्ञानीजी ने श्रीस्वामीजी को इत्र भेंट किया, तो श्रीस्वामीजी ने बड़े हर्ष पूर्वक उस इत्र को लिया और तत्काल ही श्रीश्रीजी का पक्ष लेकर सम्पूर्ण इत्र एकाएक श्रीबाँकेबिहारीजी महाराज के ऊपर उड़ेल दिया, क्योंकि आप भी तो श्रीललिता सखी के अवतार जो थे, अतः श्रीश्रीजी का पक्ष लेना स्वाभाविक हैं, विजय श्रीश्रीजी की हो गयी। विज्ञानीजी को इस रहस्य का तो ज्ञान था नहीं, उन्हें श्रीस्वामीजी द्वारा इत्र हर्षपूर्वक स्वीकार करने पर जितनी प्रसन्नता हुई थी, इत्र को श्रीयमुनापुलिन में गिरा देने पर उससे भी अधिक क्षोभ हुआ। विज्ञानीजी का अन्तर्भाव श्रीस्वामीजी से छिपा न रहा, अतः उनके खेद को दूर करने के लिए श्रीस्वामीजी ने पूछा कि-''क्या आपने श्रीबिहारीजी का दर्शन किया?'' उन्होंने कहा कि-''अभी नहीं किये हैं।'' श्रीस्वामीजी ने तत्काल एक सेवक को दर्शन कराने की आज्ञा दी, श्रीबाँकेबिहारीजी

के दर्शन करने पर विज्ञानीजी का भ्रम एवं क्षोभ दूर हो गया। श्रीस्वामीजी ने केलिमाल में श्रीयमुनापुलिन की इस एकान्तिक होली लीला का वर्णन किया है। यथा-''चल री भीर ते न्यारेइ खेलैं। कुँज निकुँज मंजु में झेलैं।। जहँ पंछिन सहित सखी न संग कोउ तिहि वन चल मिलि केलैं। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजबिहारी चोवा बूका मेलैं।।''

पारस पाषान करि—पंजाब प्रान्त के जसरोटो नामक स्थान के एक श्रीदयारामजी नाम के सारस्वत ब्राह्मण ने धन के अभाव में पत्नी के आग्रह पर जम्बू पर्वत पर जाकर धन की अभिलाषा से अत्यन्त ही कठोर तप किया। उनके तप पर सन्तुष्ट होकर श्रीऋक्षराज जाम्बवान् ने उन्हें एक पारसमणि देकर कहा कि इस मणि द्वारा तुम बारह वर्ष तक यथेष्ट धन प्राप्त कर लेना, इसके बाद यह मणि तुम्हारे पास नहीं रह पायेगी, अत: द्वादश वर्षोपरान्त तुम इस मणि को किसी सत्पात्र को भेंट कर देना। श्रीदयारामजी खुशी-खुशी मणि लेकर अपने घर आये। पारसमणि प्राप्त हो जाने से अब धन का किसी प्रकार अभाव नहीं रह गया। श्रीदयारामजी ने दस वर्ष तक खूब दान-पुण्य किया। तत्पश्चात् ब्राह्मण-दम्पत्ति ने आपस में विचार किया कि यह मणि अन्ततोगत्वा बारह वर्ष पूर्ण होने पर हमारे यहाँ से स्वत: ही चली जायेगी, इसलिए इससे पूर्व ही किसी सत्पात्र को इसे दान क्यों न कर दिया जाय। इसी संकल्प से ब्राह्मण-दम्पत्ति उचित पात्र के अन्वेषण (खोज) के लिए तीर्थयात्रा करने चले। ब्राह्मणी का मार्ग में ही श्रीगंगा तट पर देहावसान हो गया। ब्राह्मण देवता तीर्थभ्रमण करते हुए श्रीबैजनाथ धाम पहुँचे और भगवान् शिव से उचित पात्र का पता पूछा। भगवान् श्रीशिवजी ने कहा कि-''तुम इस पारसमणि को किसी ऐसे महात्यागी पुरुष को देना जो कि देने पर भी नहीं लेता हो।'' ब्राह्मण पारसमणि लेकर बड़े-बड़े डम्बूधारी सन्तों-महन्तों के निकट जाते और कहते कि ''महाराज! मुझे आपसे दीक्षा लेनी है, मेरे पास एक पारसमणि है, गुरु-दक्षिणा में उसी को भेंट करूँगा।'' पारसमणि का नाम सुनते ही सबका मन ललचा जाता एवं तत्काल ही शिष्य बनाने के लिए तैयार हो जाते। ब्राह्मणदेवता उनकी पारसमणि में स्पृहा देखकर श्रीशिवजी का वचन स्मरण कर वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाते। घूमते-फिरते श्रीधाम श्रीवृन्दावन में स्वामी श्रीहरिदासजी के पास आये और वही अपनी पुरानी बात यहाँ भी दुहराने लगे।

स्वामी श्रीहरिदासजी ने कहा-''भैया! यदि तुम शिष्य बनना चाहते हो तो मैं सहर्ष तुमको शिष्य बनाने के लिए तैयार हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस पारसमणि

को पहले श्रीयमुनाजी में डाल आवो।'' भला दम्पति श्रीश्यामा-श्याम जिनकी सम्पत्ति हैं वे तुच्छ पारसमणि को क्या समझें। इस पर दृष्टान्त-''श्रीसनातनजी का''-(देखिये श्रीसनातन गोस्वामीजी का चरित्र)। स्वामी श्रीहरिदासजी ने कहा कि-''भैया! जिसको तुम पारसमणि समझे हुए हो, वह तो यथार्थ में पत्थर ही है, वास्तविक मणि तो श्रीश्यामा-श्याम का नाम-गुण-गान एवं रसिकों का सत्संग है श्रीदयारामजी ने समझ लिया कि जिसकी मुझे खोज थी तथा जिस महापुरुष के लिये भगवान् शिव ने संकेत किया था वह महापुरुष यही हैं। अतः बिना कुछ ननु न च किये उन्होंने वह पारसमणि श्रीयमुनाजी में फेंक दी एवं स्नान करके स्वामीजी के श्रीचरणों में उपस्थित हुए। श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक मन्त्रोपदेश दिया एवं उनका नाम रखा दयालदास। कहते हैं कि यद्यपि श्रीदयालदासजी ने पारसमणि को फेंक तो दिया परन्तु पारसमणि के प्रति उनकी महत्वबुद्धि बनी ही रही। कभी-कभी वह यह सोचा करते कि यदि पारसमणि होती तो उससे मनमाना द्रव्य प्राप्त कर खूब परमार्थ किया जाता। श्रीस्वामीजी ने व्यर्थ में ही उसे श्रीयमुनाजी में फेंकवा दिया। सर्वज्ञ श्रीस्वामीजी ने दयालदासजी का भ्रम दूर करने के लिए एक दिन स्नान को जाते समय आज्ञा दिया कि स्नान करके एक अँजुलि श्रीयमुनाजी की रज तो लेते आना। दयालदास ने स्नान करके जब अँजुलि में रज उठायी तो देखा कि उनकी अँजुलि पारसमणि से भरी हुई है। श्रीस्वामीजी का यह महाप्रभाव देखकर दयालदासजी की आँखें खुल गयीं। वे समझ गये कि मैंने झूठे पारस का मोह किया था। सच्चे पारस तो श्रीस्वामीजी ही हैं। श्रीभगवतरसिकजी इस प्रसंग का स्मरण करते हुए लिखते हैं कि-''पारस सो धन परिहर्यौ सेवक अकबर शाहि। श्रीस्वामी हरिदास सम और बतावौं काहि।। और बतावौं काहि अवधि वैराग्य ज्ञान की। भक्ति सुमूरतिमन्त प्रेमनिधि दशा ध्यान की।। नित्य विहार आधार प्रगट सेवा नहिं आरस। भगवतरसिक अनन्य मिले गुरु पूरे पारस।।''

विशेष—अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी श्रीराधाजी की प्रधान सखी श्रीललिताजी के अवतार हैं। श्रृंगाररस की परमाचार्या श्रीललिताजी श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीश्यामा-श्याम की परमान्तरंगा सखी हैं। भगवदादेश से प्रेमीजनों को श्रीयुगल की निकुँज लीलाओं का आस्वादन कराने के लिए ही आपने श्रीस्वामी के रूप में अवतार लिया था। श्रीस्वामी हरिदासजी बाल्यावस्था से ही एकान्त में बैठकर श्रीप्रिया-प्रियतम का ध्यान किया करते थे। एक बार शरद् पूर्णिमा की रात्रि में घर छोड़कर आप श्रीवृन्दावनस्थ

मानसरोवर पर जाकर एक कुंज में बैठकर ध्यान करने लगे। श्रीप्रिया-प्रियतम ने अनुग्रह कर इन्हें अपने नित्य रास-विलास का दर्शन कराया। इतने में ही इनके पिताजी भी अपने इष्ट-मित्रों को साथ लिये इन्हें खोजते-खोजते वहीं जा पहुँचे, जहाँ ये नित्यविहार दर्शन में निमग्न थे। श्रीस्वामी आशुधीरदेवजी के द्वारा पहले ही उन लोगों को मालूम हो चुका था कि ये श्रीललितावतार हैं, अतः परम एकान्त पाकर उन्होंने इनसे निजस्वरूप दर्शन कराने की प्रार्थना की। प्रथम तो आपने अनसुनी कर दी, परन्तु पिता के परमाग्रह ने उन्हें अपना स्वरूप प्रकट करने के लिए विवश कर दिया। श्रीस्वामी ने कृपा करके उन लोगों को स्वरुप का दर्शन कराकर श्रीयुगल की उपासना का उपदेश दिया। पच्चीस वर्ष की अवस्था में आपने श्रीस्वामी आशुधीरदेवजी से विधिपूर्वक विरक्त वेष लिया और श्रीनिधुवन को अपना निवास स्थान बनाया। निरन्तर श्रीयुगल-नाम का जप एवं श्रीयुगल की केलि विलास लीला का अवलोकन ही आपकी दिनचर्या थी।

श्रीस्वामी हरिदासजी नित्यप्रति श्रीनिधुवन में एक निश्चित स्थल पर बैठकर आत्म-विभोर होकर एक परम सुरम्य लताकुँज की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते थे, कभी हँसते, कभी मुस्कुराते तथा कभी-कभी उन्मत्त हो जाया करते थे, आप नित्यप्रति उस लताकुँज भवन को साष्टांग प्रणाम करते थे। सेवा में रहने वाले शिष्यगण देख-देखकर परम विस्मित होते थे। एक दिन शिष्यों ने साहस करके अत्यन्त विनम्रता पूर्वक श्रीस्वामीजी से इसका रहस्य पूछा तो आपने कृपा करके प्रथम उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की, फिर उस कुँज भवन की ओर देखने को कहा। शिष्यों ने देखा कि उस कुँज की जगह अनन्त ज्योतिर्मय श्रीप्रिया-प्रियतम का रँगमहल है, और उसमें एक प्राण द्वै देही श्रीश्यामा-श्याम कलकेलि विलास कर रहे हैं। यह दिव्य-दर्शन पाकर सभी आनन्दमग्न हो गये। उस समय श्रीस्वामीजी ने यह पद गाया था-"माई री सहज जोरी प्रगट भई जो रँग की गौर स्याम घन दामिनि जैसे। प्रथमहूँ हुती अबहूँ आगेहूँ रहिहैं न टरिहैं तैसे।। अँग अँग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सम बैस वैसे।।" (केलिमाल), फिर स्वामी जी ने अपने पट्टशिष्य श्रीविट्ठलविपुलदेवजी को आज्ञा दी कि महल से झारी ले आओ, श्रीविट्ठलविपुलदेवजी श्रीरँगमहल में प्रविष्ट होकर स्वर्ण की झारी उठा लाये। श्रीस्वामीजी ने यह लीला इसलिये की कि बाद में शिष्यगण यह न समझें कि वह सब एक आभास मात्र था, बल्कि वह परम सत्य, प्रत्यक्ष विहार समझें। श्रीविट्ठलविपुलदेवजी ने जब पुनः उधर देखा तो न उन्हें श्रीरँगमहल दिखायी पड़ा, न केलि करते हुए श्रीयुगल ही, बल्कि श्रीप्रियाजी की कमनीय कान्ति को धारणकर मन्द-मन्द

मुस्कुराते हुए श्रीबाँकेबिहारीजी का दर्शन हुआ। त्रिभुवनमोहन, मदनमोहन, स्वमनमोहन श्रीबाँकेबिहारीजी की बाँकी झाँकी का दर्शन कर श्रीविट्ठलविपुलदेवजी अत्यन्त मुग्ध हो गये और श्रीस्वामीजी से प्रार्थना किये कि आप ऐसी कृपा करें कि नित्य इस झाँकी का दर्शन होता रहे। तब श्रीस्वामीजी ने श्रीबिहारीजी से प्रार्थना की। भगवान् ने भक्त की भावना का आदर किया। श्रीस्वामीजी का संकेत पाकर श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, गोद में उठाकर श्रीबिहारीजी को बाहर लाये। उस समय श्रीस्वामी हरिदासजी ने यह पद गाया था–''ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं।'' (सम्पूर्ण पद प्रथम में आ चुका है। देखिये अवलोकत रहैं केलि की व्याख्या)। अगहन शुक्लपञ्चमी श्रीबिहारीजी की प्राकट्य तिथि है।

श्रीबाँकेबिहारीजी के प्राकट्य से श्रीस्वामी हरिदासजी का यश:सौरभ अत्यन्त अल्पकाल में ही दिग्–दिगन्त में परिव्याप्त हो गया। यत्र-तत्र–सर्वत्र से भक्तों की भीड़ आपके एवं आपके संसेव्य श्रीठाकुरजी के दर्शनार्थ आने लगी। बड़े–बड़े राजा–महाराजा, आपकी श्रीचरणधूलि को शिरोधार्य कर अपने को कृतार्थ करने लगे तथा बड़े–बड़े योगी, यती, तपी, संन्यासी, वैष्णव आपका दर्शन एवं सत्संग प्राप्तकर धन्य हो गये।''

एक बार पर्वतपुरी नाम के एक संन्यासी ने उत्तराखण्ड में रहकर कठिन तपस्या करके अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वह सिद्धियों के गर्व से उन्मत्त होकर वे यह जानने की इच्छा से कि इस संसार में मेरे समान कोई सिद्ध है अथवा नहीं, सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करते हुए श्रीवृन्दावन आये। यहाँ उनको स्वामी श्रीहरिदासजी का सुयश सुनने में आया, अत: वह शक्ति परीक्षणार्थ सिद्धिबल से श्रीस्वामीजी को भयभीत करने के लिये विभिन्न प्रकार के रूप परिवर्तन करने लगा, कभी सिंह, कभी सर्प, कभी व्याघ्र, कभी अजगर बनकर श्रीनिधिवन में आकर श्रीस्वामीजी के पास फिरते, फुफकारते, दहाड़ते। उन्हें देखकर श्रीस्वामीजी के नेत्रों में आँसू भर आते। एक शिष्य के पूछने पर श्रीस्वामी जी ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि–''देखो यह श्रीपर्वतपुरी नाम के संन्यासी हैं, भगवान् ने इन्हें कृपा करके मनुष्य शरीर दिया, फिर उस मनुष्य शरीर द्वारा अनेकों वर्षों तक साधन–तपस्या करके इन्होंने बड़ी–बड़ी सिद्धियाँ अर्जित की हैं। यह इच्छानुकूल रूप धारण करने में समर्थ हैं। परन्तु हमें खेद इस बात का हो रहा है कि इतना सब करके भी ये तामसी हिंस्र सिंह, व्याघ्र आदि, सर्प, अजगरादि का शरीर धारण कर श्रीवृन्दावन में घूम रहे हैं, और अपने इस महापतन को ही अपना बहुत बड़ा गौरव समझ रहे हैं, अरे! इन्हें अपना रूप ही बदलना था, तो देवता का शरीर धारण करके आते। मैं इनका आदर करता। परन्तु इनकी तो एकदम मति

ही नष्ट हो गयी है। छार पड़े ऐसी सिद्धियों पर। एक दिन श्रीस्वामीजी मोर, बन्दरों को चना डाल रहे थे, उसी समय संन्यासी पर्वतपुरीजी भी मोर बनकर चना चुगने आ गये, श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक व्यंग्य करते हुए कहा-"यह देखो, नया मोर आ गया।" कृपा की किरण पड़ते ही पर्वतपुरीजी की आँखें खुल गयीं। वे समझ गये कि श्रीस्वामीजी से मेरी पोल छिपी नहीं है। अतः तुरन्त स्वरुप में प्रकट होकर श्रीस्वामीजी के चरणों में पड़ गये और प्रार्थना पूर्वक बोले-"जैसे अपने आपने श्रीमुख से "मोर" कहा है उसी प्रकार से अब मुझे अपनाकर सचमुच अपना बना लीजिये। श्रीस्वामीजी ने अधिकारी जानकर श्रीयुगलमंत्र का उपदेश किया और नाम रक्खा-"प्रकाशदास"।

श्रीस्वामीआशुधीरदेवजी के एक शिष्य थे श्रीदेवदत्तजी। ये सपत्नीक शरणागत हुये थे, घूमते-फिरते ये गणमुक्तेश्वर में श्रीगंगातट पर पहुँचे, इनके सदुपदेश से वहाँ के लोग बहुत प्रभावित हुये। यह देखकर कुछ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को इनसे ईर्ष्या होने लगी। वे दल बाँधकर इनसे शास्त्रार्थ करने आये। श्रीदेवदत्तजी भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करने में संतों की वाणियों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते थे। कर्मकाण्डी ब्राह्मण इन महावाणियों को महत्व नहीं दे रहे थे। वह पुनः-पुनः वेदमंत्रों का प्रमाण माँगते थे। तब श्रीदेवदत्तजी की पत्नी ने एक गो-माता की पीठ पर अपना हाथ रखा तो गाय ही वेदमंत्र बोलने लगी, यह चमत्कार देखकर ब्राह्मण विस्मित तो अवश्य ही हुये, परन्तु अभी अपने हठ पर डटे ही थे। तब श्रीदेवदत्तजी ने मन ही मन श्रीगुरुदेव श्रीआशुधीरदेवजी का स्मरण किया, श्रीआशुधीरजी तत्काल वहाँ प्रकट हो गये। श्रीदेवदत्तजी ने कहा-"तुम लोगों को जो कुछ पूछना हो वह इनसे पूछो। ये हमारे श्रीगुरुदेवजी हैं।" परिस्थिति का अध्ययन कर श्रीआशुधीरजी ने विचारा कि इन ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ में उलझने की अपेक्षा इन्हें युक्ति से समझाना अधिक अच्छा होगा। अतः आपने कहा कि दोनों पक्ष श्रीगंगाजी का पूजन करें, श्रीगंगाजी जिसके हाथ की पूजा प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करेगी उसका मत सर्वश्रेष्ठ समझा जायेगा। प्रथम श्रीदेवदत्तजी ने पूजा किया तो श्रीगंगाजी ने प्रकट होकर पूजा स्वीकार की तत्पश्चात् ब्राह्मण वेदमंत्रों से पूजा प्रारम्भ किया परन्तु श्रीगंगाजी प्रकट नहीं हुईं, अन्त में विजयश्री श्रीदेवदत्तजी की हुयी, इससे भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ, तब उन ब्राह्मणों में से आठ ब्राह्मणों ने श्रीआशुधीरजी की शरण ग्रहण की। श्रीआशुधीरजी ने इनसे कहा कि-" श्रीधाम श्रीवृन्दावन में श्रीहरिदासजी निधिवन में रहते हैं, उन्हीं के शिष्य बनो, तब कल्याण होगा। तब वे सब आकर श्रीस्वामी हरिदासजी के शिष्य हुये।

श्रीस्वामीजी के उपदेश—हरि भज हरि भज हरि भज छाँड़ि मान नर तन को। अन माँगो आगे आवेगो ज्यौं पल लागे पल को।। मति बंछै मति बंछै रे तिल तिल धन को। कहैं हरिदास मीच ज्यौं आवै त्यौं धन है आपन को।।१।। काहू को वश नाहिं तुम्हारी कृपा सौं सब होय विहारी विहारिनि। और तो मिथ्या प्रपंच काहे को भाखिये सो तो है हारिनि।। जाहि तुम सौं हित तासौं तुम हित करौं सब सुख कारिनि। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी प्रानन के आधारिनि।।२।। तिनका बयारि के बस। ज्यौं चाहै त्यौं उड़ाय लै जाय अपने रस।। ब्रह्मलोक शिवलोक और लोक अस। कहैं श्रीहरिदास विचारि देखौ बिना विहारी नाहिं जस।।३।। हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे काल फिरत सर साँधे। बेर कुबेर कछू नहि जानत चढ्यो फिरत नित काँधे।। हीरा बहुत जवाहर सँचे कहा भयो हस्ती दर बाँधे। कहैं श्रीहरिदास महल में बनिता बनि ठाड़ी भई एकौ न चलत जब आवत अन्त की आँधे।।४।। आपकी महिमा के सम्बन्ध में श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं-''पावन पाणि धर्यो जब सीस किये जन के अघ ओघ नसावन। सावन ह्वै बरसैं करुना सरसैं हिय नैंन भयो मन भावन।। भावन सो वर वेगि मिल्यो भ्रम दूरि कर्यो त्रय ताप सिरावन। राव न रंक रह्यौ जब जाय धर्यौ सिर श्रीहरिदास के पावन।।''

श्रीहरिराम व्यासजी

उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के।।
काहू के आराध्य मच्छ, कच्छ नरहरि सूकर।
वामन, फरसा धरन, सेतुबन्धन जु सैलकर।।
एकन कें यह रीति नेम नवधा सौं लाये।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाये।।
नौगुण तोरि नुपूर गुह्यौ महत् सभा मधि रास के।
उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के।।६२।।

शब्दार्थ—मच्छ=मत्स्य भगवान्। सूकर =वाराह भगवान्। फरसा धरन=परशुरामजी। सेतुबन्धन=समुद्र पर पुल बाँधने वाले श्रीराम। सैलकर=गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण। अच्युत गोत्री=वैष्णव, वैष्णवी दीक्षा प्राप्त। लड़ाये =दुलराये, प्रेम किये। नौगुण=यज्ञोपवीत।

भावार्थ—श्रीहरिरामव्यासजी भक्तों को ही अपना परमइष्ट मानते थे। इन्होंने उर्ध्वपुण्ड्र तिलक तथा तुलसी कण्ठी-माला की बड़ी महिमा गायी है। कोई-कोई

तो श्रीमत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वाराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारों की आराधना करते हैं। एक समुदाय ऐसा है जो कि नवधा-भक्ति में ही निष्ठा रखता है, परन्तु श्रीसुमोखनशुक्लजी के सुपुत्र श्रीहरिरामजी व्यास ने तो वैष्णवों को ही प्रेमपूर्वक दुलराया आपने रासलीला के समय महत्पुरुषों की सभा में अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसमें श्रीप्रियाजी के पाँव का नुपूर गूँथा था।।९२।।

व्याख्या—उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८७, ''ये कण्ठलग्न तुलसी''।'' तथा उत्तरार्द्ध प्रथमखण्ड, पृष्ठ-७०। तिलक दाम के सम्बन्ध में श्रीव्यासजी कहते हैं-''जो तू माला तिलक धरै। तौ या तन मन व्रत की लज्जा ओ निबाह करैं। करि बहु भाँति भरोसो हरिकौ भवसागर उतरै। मनसा वाचा और कर्मणा तृन करि गनत धरै। सती न फिरै घाट ऊपर ते सिर सिन्दूर परै। व्यासदास की कुँजविहारी प्रीति न कहुँ बिसरै।।'' ''भक्त इष्ट अति''-इसका भाव यह है कि आपके इष्ट थे ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी एवं भक्त परम इष्ट थे। अर्थात् भक्तों को भगवान् से भी बड़कर मानते थे, ठीक भी है-''राम ते अधिक राम कर दासा।।'' (रामा०), श्रीव्यासजी की वाणी से इस तथ्य का उद्घाटन होता है। यथा- ''मेरे भक्त हैं देई देऊ। भक्तनि जानौं भक्तनि मानौं निज जन मोहि बतेऊ।। माता पिता भ्रातमम भक्तै भक्त दमाद सजन बहनेऊ। सुख सम्पति परमेश्वर मेरे हरिजन जाति जनेऊ।। भवसागर को बेरो भक्तै केवट बड़ हरिखेऊ। बूड़त बहुत उबारे भक्तन लिये उबारि जरेऊ।। जिनकी महिमा कृष्ण कपिल कहि हारे सबही बेऊ। व्यासदास के प्राण जीवन धन हरिजन बाल बड़ेऊ।।'' ''अच्युत गोत्री जु लड़ाये''-श्रीव्यासजी भक्तों में ही भगवान् के सभी अवतारों का दर्शन करते थे। मत्स्य भगवान् ने राजा सत्यव्रत की प्रलय से रक्षा की। उसी प्रकार भक्तरूपी मत्स्य भगवान् जीवरूपी सत्यव्रत की अविद्यारूपी प्रलय से रक्षा करते हैं। मत्स्य भगवान् अनन्त जल में रहते हैं, भक्त प्रेमसिन्धु में हैं। श्रीकच्छप भगवान् समुद्र-मंथन के समय जब मन्दिराचल के आधाररूप हुये थे तभी अमृत निकाला जा सका। ठीक उसी प्रकार से वेद ही क्षीरसागर हैं। सुविचार ही मंदराचल है। सुविचार को स्थिर रखने के लिये संत ही कच्छप भगवान् हैं। भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलादि ही सुधा हैं। अतः भक्तों में कच्छप भगवान की भावना करते थे। नृसिंह भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारकर भक्त प्रहलाद की रक्षा की थी, अतः भक्तरूपी नृसिंह, अविवेकरूपी हिरण्यकशिपु को मारकर, जीवरूपी प्रहलाद की रक्षा करते हैं। भगवान् ने वाराह रूप धारण कर हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार किया, उसी प्रकार से संतरूपी वाराह भगवान्, मोहरूपी हिरण्याक्ष को मारकर बुद्धिरूपी पृथ्वी का उद्धार करते हैं। भगवान् ने स्वयं

वामन बनकर बलि के बड़े हुये अभिमान को दूर किया। उसी प्रकार संत स्वयं नम्र होकर दूसरों के अभिमान को नष्ट करते हैं। पुन: श्रीवामन भगवान् राजा बलि की भक्ति पर रीझकर उनके वश हो गये। उसी प्रकार से संतजन भी जीवों के भक्तिभाव पर प्रसन्न होकर उनके अधीन हो जाते हैं। श्रीपरशुरामजी ने दुष्ट क्षत्रियों का संहार किया था, उसी प्रकार से भक्तरूपी परशुराम दुर्गुणों का नाश करते हैं। श्रीरामजी ने जैसे समुद्र पर सेतु बाँधा था, उसी प्रकार से भक्तजन भवसागर पर भक्तिरूपी सेतु बाँधते हैं। भगवान् श्रीकृष्णजी ने जैसे गोवर्धन पर्वत को धारणकर इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा की, उसी प्रकार से संतरूपी श्रीकृष्ण प्रेमरूपी गोवर्धन (गो=इन्द्रिय, वर=श्रेष्ठ, धन=सम्पत्ति अर्थात् इन्द्रियों की श्रेष्ठ सम्पत्ति प्रेम) को धारणकर शुष्क ज्ञान रूपी इन्द्र के कोप से रसिक समुदायरूपी ब्रज की रक्षा करते हैं। श्रीहरिराम व्यासजी इसी प्रकार से ही अन्य अवतारों की भी भावना करते थे। अत: ''भक्त इष्ट अति व्यास के'' कहा। ''नौगुण तोरि नुपूर गुह्यौ''-इस कथा प्रसंग का स्पष्टीकरण आगे टीका कवित्त ३७१ में किया गया है।

नौगुण का एक अर्थ तो यज्ञोपवीत होता है, द्वितीय अर्थ नौगुण=ब्राह्मण के नव गुण। यथा-''नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।।'' (श्रीरामजी का वचन श्रीपरशुरामजी के प्रति)। श्रीगीताजी में ब्राह्मणों के नव गुण-कर्म ये कहे गये हैं-''शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।'' (१८-४२) अर्थ-अन्त:करण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमाभाव, मन इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्मतत्व का अनुभव, ये नव ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण, कर्म हैं। श्रीव्यासजी ने परमधर्म प्रेम के ऊपर इन समस्त गुण-कर्मों को न्यौछावर कर दिया, यह है ''नौगुण तोरि'' का आध्यात्मिक भाव। ''महत सभा मधि''-इसका कहने का भाव यह है कि यदि नौ प्रकार के गुणों को तोड़ना अनुचित होगा, उपासना धर्म के विरुद्ध होगा तो ये विराजमान महत्पुरुष हमें रोकेंगे, परन्तु किसी ने कुछ भी नहीं कहा, इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेमधर्म ही सर्वोपरि है। श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी कहते हैं-''सोभू सोभा [illegible] रहै साधू सम्मुख होइ। जनेऊ पहिरे हरि मिलैं हमहूँ पहिरैं दोइ।।''

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासौं खीजियै।
राजा लैन आयो ऐपै जायबौ न भायौ श्रीकिशोर उरझायौ मन सेवा मति भीजियै।।
चीरा जरकसी सीस चीकनौ खिसिल जाय, लेहु जू बँधाय, नहीं आप बाँध लीजियै।
गये उठि कुँज, सुधि आई सुखपुंज, आये देख्यौ बँध्यौ मंजु, कही कैसें मोपै रीझियै।।३६८।।

शब्दार्थ—चीरा=लहरियादार रंगीन लम्बा वस्त्र, पगड़ी। जरकसी =सोने के तारों से जड़ा हुआ।

भावार्थ—श्रीहरिराम व्यासजी के मन में श्रीधाम श्रीवृन्दावन के प्रति अनुराग उमड़ा तो घर छोड़कर वृन्दावन चले आये और यहाँ आने पर आपका हृदय श्रीधाम श्रीवृन्दावन के प्रति ऐसा अनुरक्त हुआ कि जो लोग श्रीवृन्दावन से बाहर जाते आप उन पर बहुत नाराज होते। ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह आपको लिवाने आये, परन्तु ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी ने आपके मन को ऐसा फंसा लिया था कि आपको यहाँ से जाना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। आपकी बुद्धि सन्त-भगवन्त की सेवा में ही सराबोर रहती थी। एकबार आप श्रीठाकुरजी का श्रंगार कर रहे थे। श्रीठाकुरजी के सिर पर पाग बाँध रहे थे, परन्तु वह अत्यन्त चिकनी होने के कारण सिर से बार-बार खिसल जाती थी, जब कई बार बाँधने पर भी ठीक से नहीं बँधी तो आपने झुँझलाकर कहा-" अजी देखो, या तो आप मुझसे अच्छी तरह से पाग बँधा लीजिये, यदि मेरा बाँधना आपको पसन्द नहीं हो तो स्वयं ही बढ़िया से बढ़िया बाँध लीजिये। यह कहकर आप शृंगार छोड़कर कुँज में जाकर भजन-कीर्तन करने लगे। तब श्रीठाकुरजी ने ही पाग बाँध ली। किसी ने आपसे आकर कहा कि आज तो आपने श्रीठाकुरजी को बढ़िया पाग बाँधी है। यह सुनकर सुखसमूह श्रीठाकुरजी की याद आयी तो तुरन्त ही आकर देखा तो सचमुच बहुत बढ़िया पाग बँधी थी। तब मुस्कराकर बोले-"अहो! जब आप स्वयं ही इतनी बढ़िया पाग बाँधना जानते हैं, तो मुझ पर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं अर्थात् मेरे द्वारा बाँधी पाग आपको कैसे पसन्द आ सकती है।।३६८।।

व्याख्या—आये गृह त्यागि—श्रीहरिराम व्यासजी का प्रादुर्भाव बुन्देलखण्ड की राजधानी ओरछा में वि० सं० १५६७, मार्गशीर्ष, कृष्णपक्ष, पंचमी तिथि को हुआ था। आपके पिताजी का शुभ नाम श्रीसुमोखनजी शुक्ल एवं माताजी का नाम श्रीपद्मावती देवीजी (किसी-किसी के मत से देविका देवी था। देखिये "भक्त कवि व्यास" श्रीवासुदेव गोस्वामीजी द्वारा रचित) था। रींवा नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंहजी लिखित श्रीरामरसिकावली भक्तमाल के अनुसार श्रीव्यासजी तत्कालीन बावन राजाओं के गुरु थे। वेद, शास्त्र, पुराणादि के पारंगत विद्वान् थे, आपको श्रीसरस्वतीजी की सिद्धि थी। दिग्विजय करते हुए काशी पहुँचे। वहाँ के पण्डितों से इनका विराट् शास्त्रार्थ हुआ। इनकी अलौकिक प्रतिभा के समक्ष काशी के विद्वानों को मुँह की खानी पड़ी। श्रीव्यासजी ने बड़े समारोह के साथ भगवान् श्रीविश्वनाथजी का पूजन किया और बहुत-बहुत दान-दक्षिणा दिया। उधर काशी के सभी विद्वान् मिलकर भगवान्

श्रीविश्वनाथजी की शरण गये और प्रार्थना किये कि हमें अपने हारने की चिन्ता नहीं है, चिन्ता है काशीपुरी की पराजय की। सदा से आप काशी की मर्यादा रखते आये हैं और आज भी रखिये। ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार कर, भगवान् श्रीशिवाजी ने एक साधु का वेष धारण कर सांयकाल के समय श्रीव्यासजी के पास आये और बोले-''मैंने सुना है कि आप बहुत बड़े विद्वान् हैं, तो मेरी एक जिज्ञासा है, आप कृपा करके उसका समाधान कर दें तो बहुत अच्छा होगा।'' अनुमति मिलने पर श्रीशिवजी ने पूछा-''विद्या का फल क्या है?'' श्रीव्यासजी ने उत्तर दिया-''विवेक की प्राप्ति। शिव-विवेक किसको कहते हैं? व्यास-सत् असत्, परिज्ञान पूर्वक असत् का त्याग एवं सत् की स्वीकृति को ही विवेक कहते हैं।'' शिव-सत् क्या है और असत् क्या है?'' व्यास-ईश्वर सत्य है और जगत असत्य है। ''यथा-''सत हरि भजन जगत् सब सपना।।'' (रामा०) ''श्रीशिवजी ने कहा-मैं आपसे एक बात और पूछता हूँ-क्या आपने विद्या पढ़कर विवेक प्राप्त कर लिया है? क्या आपको सदसत् का ज्ञान हो चुका है? क्या आपने असत् का त्यागकर सत् को स्वीकार किया है? यदि नहीं, तो आपका प्रकाण्ड पाण्डित्य व्यर्थ है, भारमात्र है। अरे, क्या विद्या का फल शास्त्रार्थ करके साधु-ब्राह्मणों को हराना, उन्हें अपमानित करना, उन्हें मृत्युतुल्य कष्ट पहुँचाना ही है? भला तुम इतने बड़े विद्वान् होकर भी अपने लक्ष्य को भूलकर महामूढ़ों का सा कार्य करते फिर रहे हो। अब से भी चेत जाओ॥ तुम तो श्रीकृष्ण की प्रिय सखी श्रीविशाखाजी के अवतार हो, अत: वाद-विवाद को छोड़कर शेष जीवन श्रीभगवद् भजन में लगाकर अपने जन्म को सफल कर लो।'' इस प्रकार से श्रीशिवजी ने चेतावनी दी तो श्रीव्यासजी की आँखें खुल गईं। तत्काल दिग्विजय का विचार त्यागकर अपने घर को चले आये और विचार करने लगे कि मैं किससे वैष्णवी दीक्षा लूँ। वह भक्ति का युग था, उस समय बड़ी-बड़ी श्रीभगवद् विभूतियाँ धराधाम पर अवतीर्ण थीं, श्रीव्यासजी निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि मैं किस को गुरु बनाऊँ। इसी बीच श्रीवृन्दावन से श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी के कृपापात्र श्रीनवलदासजी भ्रमण करते हुए ओरछा आये और श्रीहरिराम व्यासजी के अतिथि हुए। प्रात:काल ब्रह्मबेला में श्रीनवलदासजी ने यह पद गाया-

आजु अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर।।
अंशनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन बिबि ओर।
करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर।।

छूटी लटनि लाल मन करष्यौ ये याके चितचोर।
परिरम्भन चुम्बन मिलि गावत सुर मंदर कल घोर।।
पग डगमगत चलत बन विहरत रुचिर कुँज घन खोर।
(जै श्री)हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर।।

यह पद सुनकर श्रीव्यासजी बड़े प्रभावित हुए और मन-ही-मन यह संकल्प किये कि अब श्रीवृन्दावन चलकर श्रीहितहरिवंशजी को गुरु बनाऊँगा। निश्चय ही उनकी कृपा से श्रीकिशोर किशोरी जू मेरे भी हृदय की जलन को शान्त करेंगे। श्रीव्यासजी का संकल्प पूर्ण हुआ। सांसारिक मोह-ममता को तृणवत् त्यागकर आप श्रीवृन्दावन चले आये और सर्वप्रथम श्रीनवलदासजी से मिले फिर उनको संग लेकर श्रीहितहरिवंशजी का दर्शन करने गये। उस समय श्रीहितजी श्रीठाकुरजी के लिए रसोई बना रहे थे। श्रीव्यासजी ने दर्शन और प्रणाम कर प्रार्थना की कि मैं आपसे कुछ शास्त्र चर्चा करूँगा। यह सुनकर पहले तो उन्होंने मना कर दिया, पुनः आग्रह करने पर श्रीहितहरिवंशजी ने बटलोई चूल्हे से नीचे उतार दी और अग्नि बुझा दी। श्रीव्यासजी कीसमझ में यह नहीं आया कि आखिर इन्होंने ऐसा क्यों किया। अरे, रसोई भी बनाते रहते और हमसे वार्ता भी करते रहते। आखिरकार इन्होंने कह ही दिया कि आपने रसोई का कार्य क्यों स्थगित कर दिया? रसोई बनाना हाथों का कार्य है और कहना-सुनना मुख एवं श्रवणेन्द्रिय का कार्य है। दोनों कार्य करने वाली इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं, अतः दोनों कार्य एक साथ भी हो सकते थे। तब श्रीहित हरिवंशजी ने कहा-

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहँ तहँ विदित जार जुवतीलौं प्रगट पिंगला गायौ।।
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अँक पर राखै जो गनिका सुत जायौ।।
(जै श्री) हित हरिवंश प्रपंच बंच सब कालव्यालको खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संगि सिर नायौ।।

श्रीव्यासजी के शंका का समाधान हो गया और तुरन्त साष्टांग प्रणिपातपूर्वक श्रीहित हरिवंशजी से दीक्षा के लिए प्रार्थना किये। श्रीहित हरिवंश महाप्रभुजी ने आपको श्रीनिकुँज-उपासना की दीक्षा दी। ('भक्तकवि व्यास' नामक ग्रन्थ में श्रीवासुदेव गोस्वामीजी ने विविध ऊहापोह के बाद अपना यह निर्णय दिया है कि व्यासजी ने अपने पिता श्रीसुमोखन शुक्लजी से ही दीक्षा प्राप्त की थी)।

वृन्दावन अनुराग करि—श्रीव्यासजी की श्रीवृन्दावन के प्रति अति उत्कट उत्कण्ठा इस पद से प्रकट होती है-"हम कब होहिंगे व्रजवासी। ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधा सी।। कब मिलि हैं वे सखी सहेली हरिवंशी हरिदासी। वंशीवट की सीतल छैयाँ सुभग नदी जमुना सी।। जाको वैभव करत लालसा करमीड़त कमला सी। इतनी आस व्यास की पुजवहुँ वृन्दाविपिन विलासी।।" "गयौ हियौ पागि"-श्रीवृन्दावन में श्रीव्यासजी का मन ऐसा लगा कि एक बार आकर पुनः लाख प्रयत्न करने पर भी श्रीवृन्दावन छोड़कर बाहर नहीं गये। देखिये आगे "राजा लैन आयो" की व्याख्या। "होय न्यारो तासौं खीजियै"-श्रीवृन्दावन से से बाहर जाने वालों पर श्रीव्यासजी बहुत नाराज़ होते थे। यथा—श्रीवृन्दावन के रूख हमारे मातु पिता सुत बन्धु। गुरु गोविन्द साधु गति मति सुख फल फूलन कौ गन्ध।। इनहिं पीठि दै अनत दीठि करै सो अंधनि में अन्ध। व्यास इन्हें छोड़ै रू छुड़ावै ताको परै निकन्ध।। एक अन्य पद में आप कहते हैं—सुधार्यो हरि मेरो परलोक। श्रीवृन्दावन में कीन्हौं दीन्हौं हरि अपनो निज ओक।। माता को सो हेत कियो हरि जानि आपनौ तोक। चरन धूरि मेरे सिर मेली और सबन दै रोक।। ते नर राकस कूकर गदहा ऊँट वृषभ गज बोक। व्यास जे वृन्दावन तजि भटकत ता सिर पनहीं ठोक।।"

राजा लैन आयो—प्रथम तो इनके कुल-कुटुम्ब के लोग ही इनको लिवाने के लिए आये। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब कुटुम्ब वाले नहीं माने तो ये स्नान का मिस बनाकर श्रीयमुना तट पर चले आये। परन्तु वे लोग भी सहज पीछा छोड़ने वाले नहीं थे। वे भी पीछे-पीछे यमुना तट पर चले गये। वहाँ भी पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। श्रीव्यासजी अपने निश्चय पर अडिग बने रहे। राजभोग का समय जानकर श्रीव्यासजी पुनः स्थान पर लौटे तो पता चला कि साधुओं की पंक्ति हो चुकी है। इनको बहुत ही पश्चाताप हुआ कि इन संसारियों के पीछे आज प्रसाद से भी वंचित रहा। तब तक इनकी दृष्टि द्वार पर बैठी भंगिन पर पड़ी। वह अपनी टोकरी में सन्तोंकी सीथ-प्रसादी लिए बैठी थी। प्रसाद की महिमा को याथार्थ्येन जानने वाले श्रीव्यासजी तुरन्त भंगिन के पास जाकर बोले-"माताजी! आज मैं सन्तों की सीथ-प्रसादी नहीं पा सका यदि तुम कहो तो मैं तुम्हारी टोकरी से किनका प्रसाद ले लूँ।" भंगिन ने प्रथम तो अपनी हीनता विचारकर बहुत हा हा खाई कि "महाराज! आप इतने बड़े महापुरुष होकर भला यह कैसी बात कर रहे हैं?" परन्तु जब इन्होंने विशेष आग्रह किया तो उसने कह दिया कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो ले लीजिये। फिर तो इन्होंने समस्त कुटुम्बियों के देखते-देखते उस टोकरी में से एक पकौड़ी निकाली और श्रीभगवत्प्रसाद पुनः सन्त-सीथ का माहात्म्य स्मरण करते हुए उसे पा गये। यह देखकर कुटुम्ब के लोग नाकभौंह सिकोड़ने लगे कि इन्होंने भंगी का छुआ खा

लिया अत: अब तो यह हम लोगों की पंक्ति में बैठने लायक नहीं रह गये। बस सबके सब तुरन्त वहाँ से उल्टे पाँव चल दिए। प्रभु कृपा से एक पकौड़ी से ही श्रीव्यासजी का संसार छूट गया। इस पर-

दृष्टान्त—दो सन्तों का—संसार की चकाचौंध से एकदम मुँह मोड़कर दो सन्त श्रीगीताजी के ''विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि'' का स्मरणकर एकान्त वन में रहकर भजन करते थे। थोड़े ही दिनों में इनकी अत्यन्त प्रसिद्धि हो गयी। इनके तप, त्याग, वैराग्य, अनुराग से आकृष्ट होकर तत्कालीन राजा इनके दर्शनार्थ आये। राजा के पहुँचने से पहले ही किसी ने सन्तों को जना दिया कि राजासाहब आपके दर्शनों के लिए आ रहे हैं। सन्तों ने विचार किया कि अब तक तो साधारण लोगों के आवागमन से ही पर्याप्त प्रसिद्धि हो गई है। यदि कहीं राजा के आगमन की बात चारों ओर फैलेगी तो लोग और भी अधिक आने-जाने लगेंगे। भजन में बाधा होगी। अत: दोनों सन्त आपस में सलाहकर लोक मान्यता से बचने के लिए जब राजा कुटी से कुछ ही दूर रह गया था, तो उसे देखकर एवं उसे दिखाते हुये आपस में झगड़ने लगे। झगड़ा किसी और बात का नहीं, रोटियों का था। आधी रोटी को लेकर दोनों लड़ रहे थे, कि इसे मैं लूँगा, इसे मैं लूँगा। राजा दूर से ही खड़े होकर इनका तमाशा देखने लगे। फिर राजा ने सोचा कि जब ये आधी रोटी के लिए इतना कलह कर रहे हैं तो भला ये काहे के सिद्ध, काहे के प्रसिद्ध। अरे लोगों ने झूठी प्रशंसा फैला रखी है। ये तो कोई भुक्खड़ मालूम पड़ते हैं। बस, दूर से ही राजा इन लोगों को देखकर लौट गया। राजा को लौटता देखकर सन्तों ने झगड़ा बन्द कर दिया और बोले—''देखो, केवल आधी रोटी से ही राजा को भगा दिया।'' ऐसे ही श्रीव्यासजी ने एक पकौड़ी से संसार को भगा दिया। फिर तो श्रीव्यासजी पाँव में नूपुर बाँधकर श्रीराधावल्लभलालजी के सामने नृत्य किया और यह दोहा गाया—''श्रीराधावल्ल्भ कारने, सह्यो जगत उपहास। वृन्दावन के श्वपच की, जूठन खाई व्यास।।''

राजा लैन आयौ—जब कुल कुटुम्ब के लोग श्रीव्यासजी को लौटा ले जाने में विफल हो गये, तब स्वयं ओरछा नरेश महाराजा श्रीमधुकरशाहजी इन्हें लिवाने आये। राजा ने पता लगाया कि श्रीव्यासजी सर्वाधिक श्रीहितहरिवंशजी से प्रभावित हैं। अत: वे सीधे श्रीहितहरिवंशजी के पास गये और अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बोले-''महाराज! मेरी एक जिज्ञासा है, आप कृपा करके उसका समाधान कर दीजिए। मैं यह जानना चाहता हूँ कि केवल आत्म-कल्याण मात्र करना श्रेष्ठ है या कि अपने साथ-साथ लोककल्याण करना श्रेष्ठ है।'' श्रीहितहरिवंशजी ने सहज भाव से उत्तर दिया—''प्रथमपक्ष की अपेक्षा द्वितीय

पक्ष श्रेष्ठ है।'' तब श्रीमधुकरशाहजी ने कहा-''हमारे श्रीगुरुदेव श्रीव्यासजी यदि यहाँ रहते हैं तो केवल आत्मश्रेय सम्पादन करेंगे और यदि ओरछा में विराजते हैं तो इनके साथ-साथ सम्पूर्ण देशवासियों का कल्याण होगा। इनके द्वारा हमारे यहाँ भक्ति का प्रचुर प्रचार हुआ है और होगा, अतः आप इन्हें आज्ञा दीजिये कि ये वहीं चलकर स्वयं भक्ति साधन करते हुए अपने सदुपदेशों से लोक का कल्याण करें।'' श्रीहितहरिवंशजी ने हामी भर ली। श्रीव्यासजी उस समय कहीं अन्यत्र थे। एक सन्त श्रीमधुकरशाहजी एवं श्रीहितहरिवंशजी की वार्ता सुन रहे थे। उन्होंने श्रीव्यासजी से जाकर कह दिया कि राजा ने श्रीहितमहाप्रभुजी को राजी कर लिया है, अब वे आपको राजा के साथ ओरछा जाने की आज्ञा देंगे। श्रीव्यासजी विचार में पड़ गये कि यदि श्रीगुरुदेवजी की आज्ञा होगी तो उसे मानना ही पड़ेगा। बस इतने से ही इन्हें श्रीवृन्दावन को वियोग-व्याप गया। ये मुँह में कालिख पोतकर विलाप करते हुए दौड़-दौड़कर वृन्दावन के सभी वृक्षों और लताओं से लिपट जाते और रो-रोकर कहते-''आप ही लोग तो मेरे माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-परिवार हैं। (यथा-श्रीवृन्दावन के रूख हमारे मातु पिता सुत बन्धु।) अब आप लोगों से मेरा साथ छूट रहा है। इस प्रकार से जैसे लोग विदा के समय अपने इष्ट-मित्रों से मिलते हैं वैसे ही ये सभी वृक्ष-लताओं से मिल रहे थे। किसी ने इनकी प्रेम-विह्वलता जाकर श्रीहित हरिवंश गोसाईंजी से कह दी। इनकी इस की प्रबलधाम निष्ठा को देखकर श्रीहितमहाप्रभुजी बड़े प्रसन्न हुए और तुरन्त इन्हें अपने पास बुलवाए तथा मुक्तहृदय से शुभाशीर्वाद दिए कि यदि आपका श्रीधाम के प्रति ऐसा दृढ़ अनुराग है तो मैं आशीर्वाद देता हूँ-''आप अविचल श्रीवृन्दावन वास करें।'

श्रीमधुकरशाहजी इन महापुरुषों की चरणवन्दना कर ओरछा लौट आए। तब श्रीव्यासजी की चिन्ता मिटी। श्रीहित हरिवंशजी ने पूछा-''मुँह में कालिख क्यों पोत लिए?'' इन्होंने कहा-''संसार का परित्याग कर श्रीधाम में आने से मुख उज्जवल होता है और श्रीधाम छोड़कर पुनः संसार में जाने से मुख काला ही तो होगा, अतः मैंने पहले से ही कालिख पोत लिया था।'' जब यह निश्चय हो गया कि श्रीव्यासजी अब ओरछा नहीं आयेंगे तो इनकी पत्नी, तीन पुत्र, एक पुत्री यह पूरा परिवार घर की यथासम्भव सब सम्पत्ति लेकर श्रीवृन्दावन चला आया। प्रथम तो श्रीव्यासजी इन्हें अपने पास नहीं रखना चाहते थे, परन्तु जब श्रीहित हरिवंशजी ने समझाया कि आप चिन्ता न करें, इनके द्वारा आपके भजन में कोई विक्षेप नहीं पड़ेगा बल्कि सहायता ही मिलेगी, तब समीप रहने की स्वीकृति दी। सबको यथायोग्य सन्त-भगवन्त की सेवा सौंप दी।

सन्त सुख दैन बैठे संगही प्रसाद लैन परोसति तिया सब भाँतिन प्रवीन है।
दूध बरताई लै मलाई छिटकाई निज खीझि उठे जानि पति पोषति नवीन है।।
सेवा सों छुटाय दई अति अन मनी भई गई भूख बीते दिन तीन तन छीन है।
सब समझावैं तब दण्ड को मनावैं अंग आभरन बेंचि साधु जेंवैं यों अधीन है।।३६९।।

शब्दार्थ—अनमनी=खिन्न, उदास।

भावार्थ—सन्तों को सुख देन वाले श्रीव्यासजी सन्तों के आग्रह पर सन्तों को सुख देने के लिए सन्तों के साथ ही प्रसाद पाने बैठे। सब प्रकार से सेवा में प्रवीण आपकी पत्नी परोस रही थीं। दूध परोसते समय इन्होंने मलाई अपने पति के कटोरे में गिरा दिया। इससे श्रीव्यासजी बड़े ही नाराज हुये। आप समझ गये कि यह मुझमें पतिबुद्धि करके मेरा पोषण कर रही है, मुझे नया छोकरा बनाना चाहती है। यह नई बात इसने की है। फिर तो श्रीव्यासजी ने पत्नी को सेवा से अलग कर दिया। इससे वे बहुत उदास एवं खेद-खिन्न हो गईं। उनकी भूख-प्यास जाती रही। तीन दिन बिना खाये-पीये व्यतीत हो गये। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। तब सन्तों ने श्रीव्यासजी को बहुत समझाया। तब आपने पत्नी के लिए यह दण्ड निश्चित किया कि यदि वह अपने समस्त आभूषण बेंचकर सन्तों का भण्डारा कर दें तब तो सेवा में आ सकती हैं, अन्यथा नहीं। पत्नी ने ऐसा ही किया। तब उन्हें पुनः सेवा प्राप्त हो गई।।३६९।।

व्याख्या-सन्त सुख दैन-छप्पय में कहा जा चुका है कि श्रीव्यासजी सन्तों को अपना अतिइष्ट मानते थे। अतः सब प्रकार से सन्तों को सुख देने का प्रयत्न करते थे। सन्तों की सेवा से श्रीव्यासजी को परमसुख प्राप्त होता था। यथा-"जो सुख होत भक्त घर आयैं। सो सुख होत नहीं बहु संपति बाँझहिं बेटा जायैं।। जो सुख भक्तन कौ चरणोदक पीवत गात लगायैं।। सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयत कोटिक तीरथ न्हायैं।। जो सुख भक्तन को मुख देखत उपजत दुख बिसरायैं। सो सुख होत न कामिहि कबहूँ कामिनि उर लपटायैं।। जो सुख होत भक्त वचननि सुनि नैंनन नीर बहायैं। सो सुख कबहूँ न पैयत पितु घर पूत को पूत खिलायैं।। जो सुख होत मिलत साधुन कैं छिन छिन रंग बढ़ायैं। सो सुख होत न रंक व्यास को लंक सुमेरहिं पायैं।।" "खीझि उठे"- उस समय श्रीव्यासजी ने यह पद गाया था-"जो तिय होइ न हरिकी दासी। कीजै कहा रूप गुन सुन्दर नाहिन स्याम उपासी।। सो दासी गनिका सम जानौं दुष्ट रांड़ मसवासी। निसिदिन अपनो अंजनमंजन करत विषयकी रासी।। परमारथ सुपनेहुँ नहिं जानत अन्त बँधी जम फांसी। ताके संगरंग पति जैहैं ताते भले उदासी।।

साकत नारि जु घर में राखै निश्चय नर्क निवासी। जिहि घर साधु न आवत कबहूँ गुरु गोविन्द मिलासी।। हरि कौ नाम लेत नहिं कबहूँ याही ते सब नासी। व्यासदास सोई पै कीजै मिटै जगत् की हांसी।।''

अँग आभरन बेंचि साधु जेवैं—श्रीव्यासजी ने आभूषण बेचकर सन्तों का भण्डारा करने को इसलिये कहा था कि इनकी पत्नी का गहनों में बड़ा मोह था तथा राजगुरु की पत्नी होने से गहने भी उनके पास बहुत थे। ये समय-समय पर उन गहनों को धारण भी करती थीं। श्रीव्यासजी को यह बात बहुत खटकती थी, ये तो श्रीव्रजरज से अपना अभिषेक करते थे और पत्नी हीरा-जवाहरात जड़े आभूषण पहनती थी। भला यह इन्हें कैसे अच्छा लगता? इनकी दृष्टि में तो 'आभरण नाम हरि साधु-सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।' यही आभूषण उपयुक्त हैं। अतः दण्ड विधान में आभूषणों को बेचकर भण्डारा कर देने को कहा। जिससे कि ''न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी'' इस पर-

दृष्टान्त—बाबा श्रीगोपालदासजी का—श्रीगोपालदासजी परम वयोवृद्ध सन्त थे। श्रीलालाबाबूजी के मन्दिर में कथा कहते थे। वृद्ध होने के कारण आँख से सूझता कम था अतः पोथी का पाठ कोई दूसरा करता और अर्थ-भावार्थ स्वयं कहते। आपकी कथा की बड़ी प्रसिद्धि थी। दूर-दूर से रसिक श्रोता कथा सुनने आते थे। उन दिनों श्रीलालाबाबूजी के मंदिर के मैनेजर थे श्रीहंसरायजी। वे लखनऊ के रहने वाले थे तथा उस समय वे सपत्नीक श्रीबाँकेबिहारीजी के मुहल्ले में रहते थे। दिन में आकर मंदिर का कार्य करते थे। एक दिन किसी ने उनकी पत्नी से कथा की बात कही तो वे भी नित्य प्रति कथा में आने लगीं, परन्तु चूँकि वह थीं लखनऊ की रहने वाली, अतः खूब शृङ्गार करके, सज-धज कर कथा में आतीं थीं। लखनऊ शहर अपनी शौकीनी के लिये प्रसिद्ध है। दूसरी बात यह भी थी कि वह प्रायः कथा प्रारम्भ होने पर ही आभूषणों की रुन-झुन करती हुई आती थीं। इससे श्रोताओं को विघ्न होता था। बाबा श्रीगोपालदासजी का भी ध्यान बँट जाता था। एक दिन बाबा ने पूछा तो लोगों ने उनका परिचय दिया। फिर तो दूसरे दिन जब वह पूर्ववत् आईं तो बाबा ने प्रसङ्ग घुमा-फिराकर कहा—''गहने बेचो साधु जिमावो यह तन दुख को भांड़ो। जनम जनम गदहिया ह्वै हौ राम भजौरी राँडौ।।'' यह सुनकर कोई-कोई तुनकमिजाजनी स्त्रियाँ तो बोल पड़ीं कि बाबा कथा कहने बैठे हो कि गाली देने। परन्तु वह बाईजी तो श्रीबाबाजी के इन वचनों से बड़ी प्रभावित हुईं और उसी समय उन्होंने संकल्प कर लिया कि इन सब संसारी वस्तुओं का परित्याग कर इन बाबा से ही विरक्त दीक्षा लूंगी। अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने बाबा से आखिर विरक्त दीक्षा ले ही ली। श्रीबाबाजी ने

उनका नाम रखा श्रीगोपालीबाई और श्रीगोवर्धन में निवास कर भजन करने की आज्ञा दी। पत्नी की प्रेरणा तथा श्रीभगवत्कृपा से श्रीहंसरायजी ने भी बाबा से विरक्त दीक्षा ले लिया। बाबा ने उनकानाम रखा हंसदासजी और बरसाने वास की आज्ञा दी। यह दोनों ही परम सिद्ध सन्त हुये। इसी प्रकार श्रीव्यासजी की प्रेरणा से पत्नी ने अपने समस्त आभूषण बेचकर संतों का बृहद् भण्डारा किया। उस समय उनके गहने बीस हजार में बिके थे। श्रीव्यासजी ने पुनः उन्हें सेवा का अधिकार प्रदान कर दिया और उद्बोधनस्वरूप यह पद कहा—

विनती सुनिये वैष्णवदासी।
जा शरीरमें बसत निरन्तर नरक व्याधि पित खाँसी।।
ताहि भुलाय हरिहिं दृढ़ गहियौ हँसत संग सुख रासी।
बढ़ै सुहाग ताहि मन दीने और बराक बिसासी।।
ताहि छाँड़ि हित करौ और सौं गरै परै जम फाँसी।
दीपक हाथ परै कूवांमें करै जगत सब हाँसी।।
सर्बोपरि राधापति सों रति करत अनन्य विलासी।
तिनकी पद रज सरन व्यासको गति वृन्दावन वासी।।

सुता कौ विवाह भयौ बड़ौ उत्साह कियौ नाना पकवान सब नीके बनिआये हैं।
भक्तनि की सुधि करी खरी अरबरी मति भावना करत भोग सुखद लगाये हैं।।
आय गये साधु सो बुलाय कही पावैं जाय पोटनि बंधाय चाय कुंजनि पठाये हैं।
बंसी पहिराई द्विज भक्ति लै दृढ़ाई सन्त संपुट मैं चिरैया दै हित सों बसाये हैं।।३७०।।

शब्दार्थ—सम्पुट=श्रीठाकुरजी को पधारने का डिब्बा।

भावार्थ—जब आपकी पुत्री का विवाह हुआ, उस समय घरवालों (पत्नी, पुत्रों) ने बड़े उत्साह के साथ सब कार्य किया। बारातियों के स्वागतार्थ अनेकानेक प्रकार के पक्वान्न बने थे और सबके सब बहुत बढ़िया बने थे। सुन्दर सामान देखकर श्रीहरिरामव्यासजी ने सन्त-वैष्णवों की याद की अर्थात् यह सामान तो वैष्णवों के पाने योग्य है, यह विचार कर इनकी बुद्धि विकल हो गई कि इसे कैसे वैष्णवों को पवाया जाय। फिर तो इन्होंने भावना में ही उन वस्तुओं का भगवान को अच्छी प्रकार से भोग लगाया और अपने किसी अन्तरंग अनुचर द्वारा संतों को बुलवाया। जब संतजन आ गये तो इन्होंने उन्हें सामानों की पोटली बँधवा दीं और कहा कि अपनी-अपनी कुञ्जों में जाकर पावो। इस प्रकार सन्तों को सामान देकर कुंजों

में भेजा। आपने श्रीठाकुरजी को वंशी धारण करायी, एक ब्राह्मण को भक्ति में दृढ़ किया। एक सन्त के सम्पुट में श्रीठाकुरजी की जगह पर चिड़िया बन्द करके दे दी, फिर आने पर सुखपूर्वक उन्हें श्रीवृन्दावन में बसाया।।३७०।।

व्याख्या-सुता०—उसका नाम रत्नाबाई था। 'आय गये साधु'—बारात के आने पर जब सब लोग अगवानी करने चले गये तो इन्होंने मौका देखकर सन्तों को बुलाकर भण्डार-गृह का ताला खोलकर सब सामान सन्तों को दे दिया। केवल चूर-चार कुछ बच रहा था। जब बारात के स्वागत के लिये भण्डार-गृह खोला गया तो वहाँ सामान नदारत था। पत्नी, पुत्रादिकों को बड़ा दु:ख हुआ। जान तो वे लोग गये कि यह सब इन्हीं की करतूति है परन्तु कुछ कह नहीं सकते थे। मन ही मन झुंझला रहे थे, क्योंकि प्रतिष्ठा का प्रश्न था। श्रीव्यासजी ने कहा-"चिन्ता क्यों करते हो? अरे, मिठाई नहीं है तो दाल-भात, पूरी-साग बारातियों को खिला दो।" तत्पश्चात् परिवार वालों को दु:खी देखकर श्रीव्यासजी ने पुनः कहा कि-"भला जहाँ संतों की सेवा होती है, वहाँ कभी कोई वस्तु रिक्त हो सकती है क्या? तुम लोग पुनः जाकर देखो तो, श्रीश्रीजी की कृपा से भण्डार भरा पूरा मिलेगा। बात सत्य निकली। भण्डार घर में अपार सामग्री भरी थी। खूब डटकर बारातियों का स्वागत-सत्कार किया गया। फिर वैदिक विधि से विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। उस समय श्रीव्यासजी ने यह पद गाया था-"मरें वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ। जे पदारथ संतन के काजे ते सारे सकत न ने खायौ।। व्यासदास कन्या पेटहिं क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ।।" कहते हैं कि व्याह के बाद जब कन्या विदा होकर ससुराल जाने लगी तो पिता को प्रणाम करने गई। श्रीव्यासजी उसे श्रीवृन्दावन से बाहर जाती हुई जानकर उपदेश दिये कि-"तुम श्रीधाम क्यों छोड़ रही हो, अरे, इन वस्त्राभूषणों को बेंचकर श्रीवृन्दावन वास करो।" पुत्री को पिता का उपदेश लग गया। उसने व्याह के समस्त वस्त्राभूषण उतार दिये और एक सादी धोती पहनकर प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन श्रीवृन्दावन से बाहर पांव नहीं धरूँगी। फिर उसने जीवन भर इस प्रण को निभाया। एक बार समधीजी आये, उनका बड़ा सत्कार हो रहा था और सन्त-वैष्णवों को अलग एवं दूर बैठाकर उनका सामान्य सत्कार हो रहा था। उस समय आपने यह पद गाया-"हरि भक्तन तें समधी प्यारे। आये सन्त दूर बैठारौ फोरत कान हमारे।। दूर देस तें सारे आये ते घर में बैठारे। उत्तम पलिका सौर सुपैती भोजन बहुत सँवारे।। भक्तन को दै चून चना को इनकौं सिलवट न्यारे। व्यासदास ऐसे विमुखनि जम सदा कढ़ेरत हारे।।"

बंसी पहिराई—एकबार एक सेवक श्रीठाकुरजी के लिए स्वर्ण की वंशी लाया। ये बड़े प्रेम से वंशी धारण करा रहे थे। कठिनाई यह थी कि वंशी कुछ मोटी थी, अँगुलियों में धारण करने की जगह कुछ कम थी। इन्होंने तनिक जोर लगाया तो श्रीठाकुरजी के कर-कमल की कोमल अँगुली छिल गई। रक्त बह आया। यह देखकर श्रीव्यासजी का भावुक हृदय हहर उठा। आपने तत्काल वंशी को अलग रख दिया और गीले कपड़े की पट्टी श्रीठाकुरजी की अँगुली में बाँधी। पूरे दिन अनमने से रहे। पश्चात्ताप इस बात का था कि प्रभु मुरली भी नहीं धारण कर पाये और अँगुली भी छिल गई। सायंकाल को जब श्रीठाकुरजी का दर्शन करने गये तो देखे कि श्रीप्रभु स्वयं मुरली धारण कर रक्खे हैं। आप भाव-विभोर होकर श्रीप्रभु के श्रीचरण-कमलों में पड़ गये और श्रीप्रभु ने इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया।

द्विज भक्ति लै दृढ़ाई—ओरछा निवासी एक ब्राह्मण सिपाही ने श्रीव्यासजी की कथा सुनी तो उसके मन में इनके दर्शन की इच्छा हुई। वह श्रीवृन्दावन आया। श्रीव्यासजी ने उसे प्रसाद पाने को कहा तो उसने यह विचारकर कि हम कर्मकाण्डी ब्राह्मण हैं और इन्होंने भंगिन की छुई हुई पकौड़ी खाली है अत: जाति से भ्रष्ट हो गये हैं, अत: इनका छुआ हुआ खाना ठीक नहीं है, प्रसाद पाने से इन्कार कर दिया और स्वयं अपने हाथों से भोजन बनाने को कहा। श्रीव्यासजी ने सहर्ष उसे सीधा सामान दे दिया। वह जब भोजन बना चुका तो इन्होंने चमड़े के जूते में घी भरकर भेजवाया। उसने ले जाकर चौके में रख दिया। यह देखकर वह ब्राह्मण अत्यन्त आगबबूला हो गया, तब श्रीव्यासजी ने बड़ी शान्तिपूर्वक उसे समझाया कि तुमने जिससे जल भरकर रसोई बनाई है, वह डोल भी तो चमड़े का ही है। यदि तुम उसे शुद्ध मानते हो तो उसकी अपेक्षा यह पनहियाँ तो लाख गुनी शुद्ध है। क्योंकि यह सदा-सर्वदा श्रीव्रजरज एवं सन्त पद रज से अभिषिक्त रहती है। श्रीव्रजरज और सन्त पदरज की अनन्त महिमा है। यह सुनकर ब्राह्मण की आँखें खुलीं। उसने इनके चरणों में पड़कर अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना किया और माँगकर भगवत्प्रसाद पाया। श्रीव्यासजी ने कृपा करके उसे परम भक्त बना दिया।

सन्त सम्पुट में चिरैया—एक सन्त तीर्थयात्रा करते हुए श्रीवृन्दावन आए और श्रीव्यासजी के पास रुके। वे बड़े अनुरागी थे तथा अत्यन्त अनुरागपूर्वक परम सुमधुर स्वर से कीर्तन करते थे। इससे भी व्यासजी को तथा अन्य सन्तों को भी बहुत सुख मिलता था। कुछ दिन रहने के बाद जब वे पुन: तीर्थ पर्यटन के लिए जाने की आज्ञा माँगने लगे तो उन्हें श्रीव्यासजी ने रोक लिया। कल-परसो, अमावस्या,पूनो, दशहरा दीवाली, कहते-कहते वर्षों बीत गया। सन्तजी जब-जब जाने को कहते तब-तब श्रीव्यासजी कोई न कोई बहाना बता देते। अन्त में एक दिन

सन्तजी ने निश्चय कर लिया कि अब तो मैं चला ही जाऊँगा। अतः प्रातःकाल उठकर श्रीव्यासजी से अपना श्रीठाकुर बटुआ माँगे। श्रीव्यासजी समझ गये कि सन्त जाने पर ही तुले हैं। अतः प्रथम तो यह कहा कि अच्छा, जाना ही है तो स्नान, ध्यान, पूजा-पाठ कर लीजिये तब जाना। सन्तजी ने कहा-"हम कहीं आगे जाकर सब कर लेंगे। आप तो कृपा करके मेरे श्रीठाकुरजी को दे दीजिये।" तब श्रीव्यासजी ने कुञ्ज में से एक चिरैया पकड़कर सम्पुट में बन्द करके दे दिया। संतजी अपना आसन उठाए, श्रीठाकुर बटुआ गले में लटकाये भतरोंड़ जाकर स्नानादि किये। तत्पश्चात् जब श्रीठाकुरजी की सेवा के लिये सम्पुट खोले तो उसमें की बंद चिरैया फुर्र से उड़ गयी और वह उड़ी भी श्रीवृन्दावन की ही ओर। संत के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे मन में विचार करने लगे कि अहो! जान पड़ता है कि मेरे श्रीठाकुरजी श्रीवृन्दावन छोड़कर जाना नहीं चाहते हैं। तभी तो चिड़िया बनकर उड़ गये। निश्चय ही हमसे बड़ी भारी भूल हुई। प्रभो! यदि आपकी नहीं जाने की इच्छा थी तो आपने पहले ही क्यों नहीं कह दिया? श्रीव्यासजी की बात मान लेता। आपको मेरे कारण इतना कष्ट हुआ। क्षमा करना प्रभो! यह कहते हुए मन ही मन पछताते हुये संतजी लौटकर पुनः श्रीव्यासजी के पास आये और गद्‌गद होकर समस्त वृतान्त कहे। श्रीव्यासजी ने मुस्कुराकर कहा-"संतजी! आपके श्रीठाकुरजी की मेरे ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी से प्रीति हो गई है। नित्य एक स्थान पर रहने से वह प्रेम और भी परिपक्व हो गया है। अब आप हठ करके श्रीठाकुरजी से ठाकुर को अलग करना चाहते हैं, यह अच्छा नहीं है। अच्छा, मैं देखता हूँ, आपके श्रीठाकुरजी यहीं आये हैं कि कहीं और चले गए। फिर व्यासजी हाथ में इनके श्रीशालग्राम भगवान को लेकर आए और दिखाते हुए बोले कि-"देखिये, यही आपके श्रीठाकुरजी हैं न? संतजी ने पहचानकर कहा-हाँ महाराज, यही मेरे श्रीठाकुरजी हैं। श्रीव्यासजी ने कहा- अब इन्हें यहाँ से कहीं नहीं ले ज़ाना और आप भी कहीं अन्यत्र जाने-आने का विचार नहीं करना। संतजी ने श्रीव्यासजी की बात मानकर वहीं रहने लगे। परन्तु उनके मन में यह बात गूंजती रहती कि श्रीठाकुरजी चिड़िया बनकर कैसे उड़ आये? आखिर एक दिन संतजी के विचार में आया कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीव्यासजी ने हमारे श्रीठाकुरजी को रख लिया हो और चिड़िया पकड़कर सम्पुट में बन्द कर दिया हो। सन्देह दृढ़ होने पर संतजी ने श्रीव्यासजी से पूछ ही दिया। तब श्रीव्यासजी ने हँसकर कहा-"महाराज! आपका कीर्तन हमारे श्रीठाकुरजी को, हमको एवं अन्य संतों को भी बहुत अच्छा लगता है। अतः आपको रोकने के लिये मैंने ही यह युक्ति की थी।" संतजी भी हँस गये और व्यासजी का प्रेम देखकर आजीवन श्रीवृन्दावन वास का संकल्प कर लिये।

**सरद उज्यारी रास रच्यौ पिया प्यारी तामें रंग बढ़्यौ भारी कैसे कहिकै सुनाइयै।
प्रिया अति गति लई बीजुरी सी कौंधि गई चकचौंधी भई छबि मण्डल में छाइयै।।
नूपुर सो टूटि छूटि पर्यौ अरबर्यौ मन तोरिकै जनेऊ कर्यौ वाही भांति भाइयै।
सकल समाज में यौं कह्यौ आज काम आयौ ढोयो हौं जनम ताकी बात जिय आइयै।।३७१।।**

शब्दार्थ—सरद उज्यारी=शरद् पूर्णिमा, क्वार मास की पूनो। गति=नृत्य की लहर, चाल।।

भावार्थ—एकबार शरद्पूर्णिमा की प्रकाशमयी रात्रि के समय श्रीप्रिया-प्रियतम ने रास रचाया। (लीला स्वरूपों के द्वारा रासलीलानुकरण हो रहा था) उसमें महान आनन्द का प्रवाह उमड़ा, उसे कौन वर्णन कर सकता है? नृत्य के प्रसंग में जब श्रीप्रियाजी ने भावावेश में आकर गति ली, तो रासमण्डल में मानो बिजली सी चमक गई, सबके नेत्रों में चकाचौंधी छा गयी तथा मण्डल में परम शोभा छा गई। तब तक श्रीप्रियाजी के पाँव का नुपूर टूट गया, उसके घुंघुरू बिखर गये। यह देखकर रसिकों का मन बेचैन हो गया, परन्तु उसी क्षण श्रीव्यासजी ने अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसी में नुपूर को पुनः पूर्ववत् पोहकर बड़ी सावधानीपूर्वक श्रीप्रियाजी के श्रीचरणों में बाँध दिया। जिससे कि नृत्य में कोई भी व्यवधान नहीं आने पाया। श्रीव्यासजी का यह कार्य सबके मन को अत्यन्त भाया। फिर उस भरी सभा में श्रीव्यासजी ने इस प्रकार कहा-अहो! इसे मैंने जन्म भर ढोया था, आज यह काम आ गया अर्थात् इसका ढोना सफल हो गया। श्रीव्यासजी की यह बात मेरे हृदय में बैठ गई है।।३७१।।

व्याख्या—छप्पय में वर्णित "नौगुण तोरि नूपुर गुह्यौ महत सभा मधि रासके" की टीका करते हुये श्रीप्रियादासजी कहते हैं-"सरद उज्यारी...।" यह प्रसंग टीकाकार के हृदय को अत्यन्त भाता है और हृदय में बैठ गया। कारण कि इसमें प्रेमा भक्ति को समस्त कर्म-धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। ब्राह्मण के लिये यज्ञोपवीत धारण करना धर्म है और यज्ञोपवीत तोड़कर उसमें नूपुर पोहना प्रेमाभक्ति है, परम धर्म है, धर्म का प्राण है। इसके बिना धर्म निष्प्राण है। यथा-"सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।" (रामा०) कर्म-धर्मादि साधन हैं और भक्ति फल है। यथा-"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरिभक्ति भवानी।।" (रामा०) श्रीव्यासजी के इस तात्पर्य को जानकर रसिकसमाज बहुत प्रसन्न हुआ। "सकल समाज में यों कह्यो" -इसलिये कि यदि मेरा यह कार्य अनुचित होगा तो कोई न कोई महानुभाव अवश्यमेव मुझे टोकेंगे, रोकेंगे। परन्तु किसी ने कुछ टोका-रोका नहीं, बल्कि इनकी

सराहना ही की। इससे सिद्ध होता है कि इनका यह कार्य प्रतिकूल न होकर भक्ति के अनकूल ही था। "आज काम आयौ।" इस पर-

दृष्टान्त-एक सन्त का—विचरणशील एक संतजी एक जगह एक एकान्त स्थल देखकर तथा जल-स्थल का सुपास देखकर वहीं स्नानकर श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा किए, भजन-ध्यान किए, फिर सन्तजी के मन में विचार आया कि यहीं रसोई भी बना लूँ, श्रीठाकुरजी को राजभोग का भोग लगा लूँ, तब यहाँ से प्रस्थान करूँ। क्योंकि सर्वत्र ऐसा स्थल मिलना दुर्लभ है। फिर तो संतजी ने बड़े प्रेम से रोटी शाक बनाया। भोग का थाल भगवान के सामने रखकर जल लेने गए। कुँआ कुछ दूर था। जब तक वे जल लेकर आवें-आवें, तब तक कहीं से एक कुत्ता आकर सभी रोटियों को मुँह में दबाकर भाग चला। यह देखकर संतजी बड़े ही क्रुद्ध हुये। कुत्ते को मारने के लिये इधर-उधर से कंकड़-पत्थर बहुत ढूँढ़े, परन्तु कुछ नहीं मिला तो अत्यन्त ही खीझकर श्रीशालिग्राम भगवान् को ही उठाकर कुत्ते पर दे मारे। संयोग से श्रीशालिग्रामजी कुत्ते के जबड़े पर जा लगे। कड़ी चोट लगने से रोटियाँ उसके मुँह से गिर पड़ीं, कुत्ता भाग गया। संतजी बड़े प्रसन्न हुये कि आखिर रोटी छिना ही लिया। आज भगवान खूब काम आये। बहुत दिनों से इनकी सेवा कर रहा था परन्तु काम तो कुछ पड़ा नहीं था जिससे मालूम पड़े कि यह समय पर काम दे सकते हैं। आज मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि भगवान ने खूब मेरा मौका सँभाला है। उसी दिन से संतजी और भी अधिक भाव से भगवान की सेवा-पूजा करने लगे।

गायो भक्त इष्ट अति सुनिकै महन्त एक लैन कौं परिच्छा आयो संग सन्त भीर है।
भूख को जतावैं बानी व्यासको सुनावैं सुनि कही भोग आवैं इहां मानै हरि धीर है।।
तब न प्रमान करी सङ्क धरी लै प्रसाद ग्रास दोय चार उठे मानो भई पीर है।
पातर समेटि लई सीत करि मोकों दई पावौ तुम और पांव लिये दृग नीर है।।३७२।।

भावार्थ—श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने छप्पय-९२ में जो यह कहा है कि भक्त ही श्रीव्यासजी के परम इष्ट हैं। यह सुनकर एक महन्त श्रीव्यासजी के इस भाव की परीक्षा लेने आये। उनके संग सन्तों की बहुत बड़ी जमात थी। महन्तजी ने आते ही भूख का संकेत किया, वे श्रीव्यासजी को सुना-सुनाकर अपने भूखे होने की बात कहने लगे, उसे सुनकर श्रीव्यासजी ने कहा-"आप लोग तनिक धैर्य धारण करें, श्रीठाकुरजी को भोग जा चुका है, अभी-अभी प्रसाद थाल आता है, फिर आप पूर्ण होकर पाइये।" यह सुनकर महन्तजी ने सोचा कि मालूम पड़ता है कि हृदय से तो भगवान को ही परम इष्ट मानते हैं, क्योंकि बड़े

विवेकवान हैं। परन्तु ऊपर से कहते हैं कि सन्त ही हमारे परम इष्ट हैं। अतः महन्तजी ने जब भगवान के भोग की बात सुनी तो श्रीनाभाजी के वचन को उन्होंने प्रमाण नहीं माना। उन्होंने मन में श्रीव्यासजी के भाव पर शंका की। इतने में भगवत्प्रसाद आ गया। श्रीव्यासजी ने बड़े ही भावपूर्वक उनको प्रसाद परोसा। परन्तु श्रीमहन्तजी दो-चार ग्रास ही प्रसाद पाकर ऐसे उठ गये मानो उनके पेट में पीड़ा हो गई हो। तब श्रीव्यासजी ने उनकी पत्तल समेट ली और बोले-''अहो! सन्त कितने कृपालु होते हैं आपने कृपा करके मेरे लिए सीथ-प्रसादी छोड़ दी है। अच्छा अब आप और पाइये, हम आपके लिए अभी-अभी अमनिया ही मँगवाते हैं।'' यह सुनकर श्रीव्यासजी के भाव को सच्चा जानकर श्रीमहन्तजी आपके चरणों में पड़ गये। उनकी आँखों से आँसुओं का प्रवाह बह चला।।३७२।।

व्याख्या—पातरि समेटि लई—यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो नाराज होता कि देखो तो, प्रथम तो भूख-भूख चिल्लाए और जब भोजन परोसा गया तो दो-चार ग्रास ही खाकर उठ गये। सब सामान बर्बाद किए। आदि अनेकों बात कहता परन्तु ये तो तनिक भी रंज नहीं हुए। बल्कि प्रसन्न ही हुए और प्रेमपूर्वक पत्तल समेट ली। ''सीत करि मोको दई'' श्रीव्यासजी की सन्तों की सीथ-प्रसादी में बड़ी निष्ठा थी। एक पद में आप कहते हैं कि-''जूठनि जे न भगत की खात। तिनके बदन सदन नरकनि के जे हरि जनन घिनात।। तिनके मुख सूकर कुकर के भक्षि अभक्ष्यहि पोषत गात। काम विवस कामिनिके पीवत अधरन लार चुचात।। भोजन पर माखीमूतति हैं ताहू रुचि सौं खात। भक्तनको चरनोदक अँचवत अभिमानी जरि जात।। स्वपच भक्त को भोग ग्रहत हरि बांभन ताहि डरात। बाजदारकी पांति व्याह में जेवत विप्र बरात।। भेंटत सुतहिं रेंट मुख लागत सुख पावत जड़ तात। अपरस ह्वै भक्तन छुइ छुतिहा तैल सचैल अन्हात।। हरि भक्तनके पाछे डोलत हरि गंगा अकुलात। साधु चरन रज मांझ व्यास से कोटिक पतित समात।।'' अतः सन्तजी की सीथ-प्रसादी पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए।। इस पर दृष्टान्त-श्रीरसिकमुरारिजी का। देखिये कवित्त-३८६। ''पावौ तुम और'' यहाँ और से तात्पर्य अमनियां सामग्री से है अर्थात् हम आपके लिए अमनियां भोग मँगाते हैं आप उसे पाइये। श्रीव्यासजी समझ गये कि हमारी परीक्षा लेने आये हैं, ये इस समय हमारे परम इष्ट बनकर आये हैं। अतः इष्ट को तो अमनियां ही भोग लगाना चाहिये अतः बोले ''पावौ तुम और।'' प्रश्न होगा कि पहले ही क्यों नहीं अमनियां भोग लगाये? समाधान-बात यह थी कि श्रीव्यासजी तो सन्तों को ही परम इष्ट मानते हैं, परन्तु और सन्त तो भगवान को ही अपना परम इष्ट मानते हैं, अतः कोई भी सन्त भगवान को

बिना अर्पित किये हुए अमनियां नहीं पाना चाहते हैं, अतः श्रीव्यासजी सन्तों के भाव की रक्षा के लिए प्रथम भगवान को भोग अर्पित करके तब भोग-प्रसाद सन्तों को देते। वही आज भी किये, परन्तु जब महन्तजी का हार्दिक भाव मालूम हो गया तो अमनियां सामग्री ही लाने को कहे। तब श्रीव्यासजी के भाव की सच्चाई जानकर महन्तजी नत मस्तक हो गए।

भये सुत तीन बाँट निपट नवीन कियौ एक ओर सेवा एक ओर धन धर्यौ है।
तीसरी जु ठौर स्याम बंदनी औ छाप धरी करीऐसी रीति देखि बड़ौ सोच पर्यौ है।।
एकने रुपैया लिये एकने किशोर जू कों श्रीकिशोरदास भाल तिलक लै कर्यौ है।
छापे दिये स्वामी हरिदास निसि रासकीनौं वही रास ललितादि गायो मनहर्यो है।।३७३।।

शब्दार्थ-स्यामबंदनी=श्याम श्री। बंदनी=माला।

भावार्थ-श्रीव्यासजी के तीन पुत्र थे। इन्होंने अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का बँटवारा नितान्त ही नवीन ढंग से किया। एक हिस्से में तो श्रीठाकुरजी की सेवा पूजा को रखा, दूसरे हिस्से में धन द्रव्यादि और तीसरे हिस्से में श्याम बंदनी और छाप को रखा। इस रीति से आपने बँटवारा किया और तीनों पुत्रों को छूट दे दी कि वे स्वेच्छानुसार जो चाहें, सो ले लें। बँटवारे की यह अद्भुत ढंग देखकर प्रथम तो पुत्रों को बड़ा सोच हुआ कि कौन क्या ले? फिर बाद में ज्येष्ठ पुत्र ने धन लिया, मँझले पुत्र ने श्रीठाकुर युगलकिशोरजी की सेवा ली और तीसरे पुत्र श्रीकिशोरदासजी ने श्यामबंदनी और छाप लिया एवं तुरन्त ही उन्होंने ललाट पर तिलककर लिया तथा गले में माला धारण कर ली। श्रीव्यासजी के अनुरोध पर श्रीस्वामी हरिदासजी ने श्रीकिशोरदासजी को छाप दिया, अपना शिष्य बनाया। एकदिन श्रीस्वामीजी के आदेश से श्रीकिशोरदासजी कुछ रात रहते ही श्रीयमुना जल लेने गये तो वहाँ उन्होंने श्रीयमुनापुलिन पर श्रीप्रिया-प्रियतम का दिव्य रास देखा। भाव की उमंग में श्रीकिशोरदासजी ने उसी समय स्वरचित एक पद गाया। जिसे श्रीललितादि सखियों ने तत्काल सीख लिया और फिर जब भावना में श्रीस्वामीहरिदासजी रास क्रीड़ा का ध्यानकर रहे थे तो रास में वही पद श्रीललितादि सखियों को गाते हुए सुना, जिसे सुनकर श्रीस्वामी हरिदासजी का मन हर गया।।३७३।।

व्याख्या-भये सुत तीन-उनके नाम ये हैं-श्रीरासदासजी, श्रीविलासदासजी एवं श्रीकिशोरदासजी 'एक ने रुपैया लिये'-ज्येष्ठ पुत्र श्रीरासदासजी ने रुपयों को ले लिया। इसलिये कि इन्हें समस्त व्यावहारिक कार्य करने पड़ते थे और व्यवहार में रुपयों की पदे-पदे आवश्यकता है। 'एक ने किशोर जू को'-मँझले पुत्र श्रीविलासदासजी ने ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी की सेवा ली। तीसरे सबसे छोटे पुत्र श्रीकिशोरदासजी ने सहर्ष

श्रीश्यामबंदनी और छाप लिया। लेते समय श्रीकिशोरदासजी ने भाव में भरकर यह भी कहा कि पिताजी! बड़े भाइयों के लेने के बाद यही बच रहा, इसलिये मैंने इन्हें लिया हो सो बात नहीं। मैं तो पहले से ही इन्हें ही चाहता था। परन्तु बड़े भाईयों के संकोच से मैंने इन्हें पहले नहीं उठाया, तो भगवान ने मेरी रुचि रख दी। मेरे लिए ये ही बच रहे। यह सुनकर श्रीव्यासजी बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकिशोरदासजी को हृदय से लगाकर बोले—बेटा! पिता की वास्तविक सम्पत्ति को तो तूने ही पाया है। मेरा धन तो यही था। फिर श्रीव्यासजी ने श्रीकिशोरदासजी को श्रीस्वामी हरिदासजी से छाप दिलवायी। श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक श्रीकिशोरदासजी को उपासना रहस्य समझाने के साथ ही दिव्यदृष्टि भी प्रदान कर दी। फलस्वरूप उन्हें धीर-समीर घाट पर दिव्य रास का दर्शन हुआ। उस समय श्रीकिशोरदासजी ने यह पद गाया—

लाल लटकंता यौवन मन्ता खेलत रास अनन्ता।
जमुनातीर भीर जुवतिनकी मध्य राधिकाकन्ता।।
एकनि के करकंज कपोलनि परिरंभण देत हसंता।
किशोरदासके स्वामी विहारी विहरत केलि करन्ता।।

वही रास ललितादि गायो—इधर श्रीस्वामी हरिदासजी और उधर श्रीहरिराम व्यासजी दोनों ही महानुभावों ने रासबिलास के समय श्रीललिता आदिक सखीयों को यह पद गाते सुना। तो श्रीव्यासजी श्रीस्वामीहरिदासजी के पास आये और अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर पूछे कि यह किशोरदास कौन हैं, जिनका रचना हुआ पद दिव्यरास में श्रीललिता आदिक सहचरियाँ गाती हैं? यह सुनकर श्रीस्वामी हरिदासजी हँस गए और बोले- "वह कोई और नहीं, वह नूतन कवि आपका ही किशोर है।" श्रीव्यासजी समझ गये कि किशोरदास के ऊपर श्रीस्वामी हरिदासजी की कृपा हो गई। श्रीव्यासजी के पदों से यह सुस्पष्ट है कि इन्हें श्रीस्वामी हरिदासजी की भी पूर्ण कृपा प्राप्त थी। इनका सम्पूर्ण जीवन परम रसमय रहा। ये सदा सावधान होकर श्रीप्रियाप्रियतमजी की निकुंजमहल की सेवा में तत्पर रहते थे। इन्होंने अपनी इस सेवा का संकेत एक पद में किया है। यथा-"नव कुँवर चक्र चूड़ा नृपति मनि सांवरौ राधिका तरुनि-मनि पट्टरानी। पल न विछुरत दोऊ जात नहिं तहां कोऊ व्यास महलन लिये पीकदानी।।" वर्णन आया है कि एकबार अकबर बादशाह के दरबार में किसी गायक ने यह पद गाया तो-"व्यास महलन लिये पीकदानी" यह सुनकर अकबर के मन में श्रीव्यासजी के दर्शन की इच्छा जागृत हुई। फिर तो वह समय निकालकर श्रीवृन्दावन आया और

श्रीव्यासजी का दर्शन करने के अनन्तर इन्हीं के श्रीमुख से पुनः वह पद श्रवण किया और फिर सारी रात श्रीभगवच्चर्चा में ही बिता दी। श्रीव्यासजी भी भाव-विभोर हो समय का भान भूले निकुंजलीला के गान में मग्न रहे। प्रातःकाल होने पर बादशाह ने श्रीव्यासजी से पूछा कि आज तो सारी रात आपने पद गान में ही बीता दी, आज महलों में पीकदानी किसने ली होगी। यह सुनते ही श्रीव्यासजी को सेवा का ध्यान हो आया और तत्काल सेवाकुंज की ओर भागे। पीछे-पीछे बादशाह भी भागा गया। वहाँ जाकर देखा गया कि पीकदानी के अभाव में जहाँ-तहाँ पानों का उगाल पृथ्वी पर पड़ा है। यह देखकर बादशाह बहुत लज्जित हुआ और श्रीव्यासजी के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना करते हुए लाखों रुपये भेंट में देने लगा। श्रीव्यासजी ने उस समय यह पद गाया—

मैदा मिश्री मुहरें मेरैं श्रीवृन्दावन की धूरि।
जहां राधारानी मोहन राजा राज रह्यौ भरि पूरि।।
कनक कलश करुवा महमूदी खासा व्रज कमरनि चूरि।
व्यासहिं हित हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि।।

बादशाह ने इनके न चाहने पर भी सेवा विस्तार के लिये बहुत-सी भूमि भेंट कर दी। श्रीव्यासजी बड़े विनोदी संत थे। इनके विनोद का एक प्रसंग तो 'सन्त सम्पुट में चिरैया' इसकी व्याख्या में आ चुका है। दूसरा एक और प्रसंग आता है—एक बार श्रावण के महीने में श्रीगोपालभट्टजी के श्रीठाकुरजी का झूला पड़ा हुआ था। श्रीवृन्दावन के सभी रसिक सन्त वहाँ उपस्थित थे। झूले के पद गाये जा रहे थे। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीव्यासजी से भी कहा कि आप तो सिद्धकवि हैं, कोई पद बनाकर मेरे श्रीठाकुरजी के शृङ्गार का वर्णन कीजिये। तब श्रीव्यासजी ने यह पद का गाया-"झूलैं मेरे गंडकीनन्दन। मानहुं भटा कढ़ी में बोरे अंग लगाये चन्दन।। हाथ न पांव नयन नहिं नासा ध्यान करत कछु होय अनन्दन। जालन्धर अरु वृन्दा वल्लभ गावै व्यास कहा कहि छंदन।।" इनके इस विनोदपूर्ण शृङ्गार वर्णन को सुनकर सब समाज हँस गया। ऐसे आपके अनेकों चमत्कारपूर्ण चरित्र हैं। श्रीव्यासजी अपना परिचय देते हुए कहते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा बरसानौ खेरौ ब्रजवासिन सौं पाँति।।
गोत गोपाल जनेऊ माला सिखा सिखँडि हरि मंदिर भाल।
हरि गुन नाम वेद धुनिसुनियत मूँज पखावज कुस करताल।।
साखा जमुना हरि लीला षटकर्म प्रसाद प्रान धनरास।

सेवा बिधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास।।
सुमृत भागवत कृष्ण नाम संध्या तर्पन गायत्री जाप।
वंशी रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत असीस सराप।।

पुनः- इतनो है सब कुटुम्ब हमारौ।।
सेन धना नामा अरु पीपा अरु कबीर रैदास चमारौ।
रूप सनातन हरिकौ सेवक गंगल भक्त सुठारौ।
सूरदास परमानन्द मेहा मीरा भक्त बिचारौ।
ब्राह्मण राजपुत्र कुल उत्तम करत जातिको गारौ।
आदि अन्त भक्तनको सरबस राधावल्लभ प्यारौ।।
आसू कौ हरिदास रसिक हरिवंश न मोहिं विसारौ।
इहि पथ चलत स्याम स्यामाके व्यासहिं बोरौ तारौ।।

श्रीव्यासजी की अभिलाषा—''किसोरी तेरे चरननिकी रज पाऊं। बैठि रहौं कुंजनिके कोने स्यामराधिका गाऊं।। या रज शिव सनकादिक लोचन सो रज सीस चढ़ाऊँ। व्यास स्वामिनी की छबि निरखत विमल विमल जस गाऊँ।।''

परिवार को उपदेश—''बहिनी बेटा हरि को भजियो। जा संगतितें पति गति नासै ता संगति तें लजियो।। मातु पिता भैया भामिनि कुल सखी सखा सुख तजियो। साधुन ही के पथ पर चलियो ऊबट चलै सो बेगि बरजियो।। गुरुहिं न आवैं गारि बातमें सो सामग्री सजियो। व्यास विमुख बांभन परिहरिकै श्वपच भक्त की ओट उबरियो।।''

श्रीवृन्दावन वास की विधि बताते हुए आप कहते हैं—''ऐसेहि बसिये ब्रज की वीथिनि। साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर पोषयति सीथिनि।। घूरनि मेंके बीनि चिनगिटा रच्छा कीजै सीतिनि। कुँज कुँज प्रति लता लोटि उड़ रज लागै अंगीथिनि।। नित प्रति दरस स्याम स्यामा कौ नित जमुना जल पीतिनि। ऐसेहिं व्यास होत तन पावन इहिं विधि विमल अतीतिनि।।''

श्रीजीवगोस्वामी जी

श्रीरूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गंभीर।।
बेला भजन सुपक्व कषाय न कबहूं लागी।
वृन्दावन दृढ़ वास जुगल चरननि अनुरागी।।
पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनौ।

सद्ग्रन्थनि कौ सार सबै हस्तामल कीनौ।।
संदेह ग्रन्थि छेदन समर्थ रस रास उपासक परम धीर।
श्रीरूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गँभीर।।९३।।

शब्दार्थ—बेला=किनारा, मर्यादा, समय। सुपक्व=अच्छी तरह से पका हुआ, परिपक्व, दृढ़, विकसित। कषाय=कषैलापन, निर्विकल्प समाधिका एक विघ्न, मायामय। पान=पन्ना, पत्र, पृष्ठ। अघट=पूर्ण, पूरे। छेदन=खण्डन।

भावार्थ—श्रीरूपगोस्वामीजी एवं श्रीसनातन गोस्वामीजी के भक्तिरूपी जल को धारण करने के लिये श्रीजीवगोस्वामीजी गम्भीर सरोवर के समान हुये। दृढ़ नियमपूर्वक भजन साधन ही इस सरोवर का सुदृढ़ तट है। इसमें कभी भी मायिक विकार रूप काई नहीं लगी। आपने अखण्ड वृन्दावन वास किया। श्रीप्रिया-प्रियतम युगल के श्रीचरणकमलों में आपका परमानुराग था। ग्रन्थ लिखने में आप प्रत्येक पत्रों पर चित्त देकर अघट अर्थात् न्यूनाधिक्य दोष रहित समान अक्षर लिखते थे। समस्त सद्ग्रन्थों का सार आपको हस्तामलकवत् था अर्थात् सबके सार सिद्धान्त का आपको सम्यक् बोध था। जिज्ञासुजनों की सन्देहरूपी गाँठों को खोलने में अर्थात् सन्देह का सर्वतोभावेन निराकरण करने में आप परम समर्थ थे। रासरस अर्थात् परमोज्ज्वल शृंङ्गार रस के आप उपासक थे तथा परम शान्त, दान्त एवं विवेकवान् थे।।९३।।

व्याख्या—रूपसनातन भक्ति—यथा—"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।" (श्रीभक्तिरसामृत सिन्धौ) अर्थ—अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान, कर्मादि से अनावृत श्रीकृष्ण प्रीति के अनुकूल आचरण करना उत्तमाभक्ति है। इस सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६८। 'भक्तिजल'—भक्ति को जल कहने का भाव यह है कि जल से मल धुलता है, प्यास दूर होती है, ताप का निवारण होता है तथा शीतलता प्राप्त होती है। उसी प्रकार भक्ति से मन का मायाजाल धुलता है। यथा—"प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई।।" (रामा०), पुनश्च-"राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नाश न पावै।।" (वि०), भक्ति से आशारूपी प्यास शान्त होती है। यथा-"आस पियास मनोमल हारी।।" (रामा०), भक्ति से तापत्रय का निवारण होता है। यथा-"देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिविध ताप भवदाप नसावनि।।" (रामा०), भक्ति से शीतलता प्राप्त होती है। यथा-"प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुशीतलताई।।" (रामा०), पुनः-जैसे जल स्वभाव से निम्नगामी है। यथा-"नल बल जल ऊँचै चढ़े अन्त नीच को नीच।।" उसी

प्रकार भक्ति भी विनम्र पुरुषों के हृदय में ही अवस्थान करती है। जल रसरूप है। यथा-''जल बिनु रस कि होइ संसारा।।'' (रामा०), उसी प्रकार से भक्ति भी रस रूपा है। यथा-''रामभगति रस कहि न परत सो।।'' (रामा०), अतः 'भक्तिजल' कहा।

जीव गुसाईं—ये श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूपगोस्वामीजी के छोटे भाई श्रीअनुपम (वल्लभ) जी के सुपुत्र थे। विशेष चरित्र आगे देखिये ''सर गँभीर''—कहने का भाव यह है कि जैसे चारों ओर से जल सिमिटकर सरोवर में भरता है। यथा-''सिमिटि सिमिट जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जनपहिं आवा।।'' (रामा०) उसी प्रकार श्रीरूप सनातन प्रभृति गुरुजनों का भक्तिभाव सिमिटकर श्रीजीवगोस्वामीजी के हृदय थल में भर गया था। अतः ''जीवगुसाईं सर गँभीर'' कहा। गँभीर कहने का भाव यह है कि सरोवर जितना ही अधिक गहरा होगा, उसमें उतना ही अधिक जल अँटेगा और जितना ही अधिक जल रहेगा उतना ही वह जल निर्मल रहेगा। कम जल में ही नाना प्रकार के दोष आते हैं। उसी प्रकार से हृदय जितना ही अधिक भक्तिभाव रहेगा उतना ही अधिक भक्तिभाव का संग्रह हो सकेगा और उतना ही अधिक मायिक दोषों से असंश्लिष्टता रहेगी। हीन साधना में ही माया भय रहता है। पुनः अगाध सरोवर में ही सभी जलचर सुखी रहते हैं। यथा-''सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा।।'' (रामा०) उसी प्रकार अगाध भावपूरित हृदय में ही समस्त सद्‌गुण एवं साधन सुव्यवस्थित रहते हैं।

बेला भजन—पूर्व कहा गया है कि 'जीव गुसाईं सर गँभीर।'' तो सरोवर के चारों ओर एक सीमा होती है, जिसके अन्दर जल भरा हुआ रहता है, जिसे तट व किनारा कहते हैं। यहाँ किनारा क्या है? तो इस पर कहते हैं- ''बेला भजन।'' भाव यह कि हर समय भजन में लगे रहना ही भक्तिजल को बहने से सुरक्षित रखने वाला किनारा है, जैसे किनारा टूटने से जल बह जाता है वैसे ही भजन में प्रमाद होने से भक्ति क्षीण हो जाती है, नष्ट हो जाती है। अतः तट को पक्का होना चाहिये, जिससे जल बहे नहीं। उसी प्रकार से भजन साधन दृढ़ नियमपूर्वक होना चाहिये। यथा-''मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा।।'' (रामा०) अतः कहते हैं कि- ''बेला भजन सुपक्व'' अर्थात् श्रीजीवगोस्वामीपाद अत्यन्त दृढ़ नियमपूर्वक भजनरत रहते थे। अतः हमेशा भक्ति से भरपूर रहते थे।

कषाय न कबहूँ लागी—जल में धूल-मिट्टी, कीचड़ आदि के संयोग से काई लग जाती है, जिससे जल दूषित हो जाता है, अपेय हो जाता है, अग्राह्य हो जाता है। जब किनारे भी काई से आक्रान्त हो जाते हैं तो वहाँ भी फिसलकर गिरने का बड़ा भारी भय होता है।

उसी प्रकार से जब भक्ति में रजोगुण आ जाता है तो हृदय में मान-प्रतिष्ठा आदि की वासना उत्पन्न हो जाती है, फिर उसके लिये अनेकानेक प्रकार के छल, दम्भादि करने पड़ते हैं, यही भक्ति जल में काई का लगना है। ऐसी मान-प्रतिष्ठा, छल-दम्भादि युक्त भक्ति अग्राह्य है। जैसे काई से युक्त दूषित जल पीने से अनेकानेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर शरीर का नाश कर देते हैं। उसी प्रकार से वासना वासित, छल दम्भादि युक्त भक्ति का स्वाँग आत्मा का हनन करने वाला होता है। काई लगे सरोवर में जलपान की इच्छा से जाने वाले को जल की प्राप्ति से पहले ही फिसलकर गिरने का भय रहता है। वैसे ही छल दम्भ युक्त भक्ति साधना करने वाले के द्वारा भक्ति प्राप्ति से पूर्व ही पतन होने का भय होता है। जिस सरोवर के जल तथा उसके किनारों में काई नहीं लगी होती है। उसका जल अत्यन्त निर्मल अतः परम गुणकारी होता है, सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है एवं असंख्य जीव उससे तृप्ति एवं तोष पाते हैं। उसी प्रकार सकल कामनाहीन भक्ति परम कल्याणकारिणी होती है। ऐसे भक्त की सर्वत्र सराहना होती है एवं उसके दर्शन, स्पर्श, समागमादि से अनन्त जीवों का कल्याण होता है। श्रीजीवगोस्वामीपादजी की भक्ति उत्तमा-भक्ति थी। जिसमें कभी भी रज का लेशमात्र भी संश्लिष्ट नहीं हुआ। अतः सम्पूर्ण विश्व सुयश गाता है एवं अगणित जीव, आत्मा का कल्याण सम्पादन करते हैं। अतः कहते हैं- ''कषाय न कबहूं लागी''।

बृन्दावन दृढ़ बास—श्रीवृन्दावन आने के बाद आप कभी भी श्रीधाम श्रीवृन्दावन छोड़कर बाहर नहीं गये। कहते हैं कि एक बार आगरे में अकबर ने विद्वानों के समक्ष यह प्रश्न रखा कि श्रीगंगाजी बड़ी हैं या श्रीयमुनाजी। दोनों के समर्थन में विद्वानों ने पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत किये, परन्तु निश्चय निर्णय कुछ भी नहीं हो सका। तब विचार-विमर्श हुआ कि इसका निर्णय किससे कराया जाय? तो यह बात सब लोगों ने स्वीकार की कि श्रीवृन्दावन में श्रीजीवगोसाईंजी महान् पण्डित हैं, वे जो कुछ कहेंगे, वह हम सब लोगों को मान्य होगा। तब अकबर ने श्रीजीवगोसाईंजी को आगरा बुलवाने के लिए अपने खास कर्मचारियों को भेजा। जब श्रीगोस्वामीपाद ने अपनी स्थिति स्पष्ट की तो बादशाह की ओर से इस प्रकार से व्यवस्था की गयी, जिसमें आप दिन-दिन में ही आगरा से श्रीवृन्दावन वापस आ जायँ। तीव्रगामी घोड़ों से जुती बग्घियों की व्यवस्था की गयी। एब बग्घी पर बैठकर चलते, जब उसके घोड़े थक जाते तो उस बग्घी और घोड़ों को छोड़कर दूसरी बग्घी पर बैठ जाते। इस प्रकार पूरे मार्ग भर यथास्थान बग्घियाँ खड़ी थीं। एक को छोड़कर दूसरी पर बैठते हुए अतिशीघ्र आगरा पहुँचे। बादशाह ने आपका बड़ा स्वागत किया, फिर

अपना प्रश्न आपके सामने भी दुहराया। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रथम तो श्रीगंगाजी की महामहिमा का वर्णन किया, जिसे सुनकर लोगों को यही लगा कि ये श्रीगंगाजी को ही श्रेष्ठता का गौरव प्रदान करेंगे। परन्तु अन्त में आपने कहा कि श्रीगंगाजी भगवान के पद की धोवन हैं परन्तु श्रीयमुनाजी तो उनकी पटरानी हैं। अतः अब आप लोग स्वयं ही निर्णय कर लीजिये कि कौन बड़ा है। आपके इस कौशलपूर्ण निर्णय से पण्डित समाज बहुत ही प्रसन्न हुआ। सबने आपका महान अभिनन्दन किया। फिर आप पूर्ववत् श्रीवृन्दावन आ गये। अतः दृढ़ वृन्दावन वास कहा। श्रीजीवगोस्वामीजी के उक्त निर्णय को एक कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है-

ब्रह्माके कमण्डलते संभु जटा मंडलते, प्रचंड गिरि खंडन ते धारा यों बहत हैं।
तीनो लोक पावनको आपदा नसावन को, जाके गुणगावनको वाणी यों चहत हैं।।
कहैं कविराइ सुर असुरहू पूजैं जाहि, सुरधुनी कहें दुःख पाप न रहत हैं।
जमुना की महिमा कही परै न याते कछु, गंगा पग पानी ताको पटरानी कहत हैं।।

पोथी लेखन पान०—श्रीजीवगोस्वामीजी बड़े ही सिद्धहस्त लेखक थे। अगाध पाण्डित्य एवं अपार भाव पारावार होने के कारण वाणी का प्रवाह कभी अवरुद्ध ही नहीं होता था। फलस्वरूप कागज के एक पृष्ठ पर लिखने के बाद उसे सूख जाने पर ही दूसरे पृष्ठ पर लिखें, इतना विलम्व आपसे सहन नहीं होता था अतः जब एक पृष्ठ पर लिख लेते तो उसे सूखने के लिए रख देते और तीसरे पृष्ठ पर लिखना प्रारम्भ कर देते। फिर जब पहला पृष्ठ सूख जाता तो उसके दूसरे पृष्ठ पर लिखते। विशेषता यह थी कि एक अक्षर भी घट-बढ़ नहीं होता था। यह बहुत बड़े कौशल की बात है। सर्व साधारण के वश की बात नहीं। आपका अनुमान इतना सही होता कि दूसरे पृष्ठ पर इतनी सामग्री लिखनी है, उतना छोड़कर आगे का विषय तीसरे पृष्ठ पर लिखने लगते। फिर तीसरे पृष्ठ को सूखने के लिए रख देते और दूसरे पृष्ठ पर छूटा हुआ अंश लिखते। इस प्रकार प्रतिलिपि करना सहज है, परन्तु आप नवीन स्वरचित ग्रन्थों को भी इसी पद्धति से लिखते थे, यह अभूतपूर्व विशेषता है। अतः कहते हैं—''अघट अक्षर चित दीन्हौं''।

सद्ग्रन्थनि कौ सार—समस्त सद्ग्रन्थों का सार भक्ति है। यथा-''आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।। तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधनकर यह फल सुन्दर।।'' (रामा०), ''सबै हस्तामल कीनौ''-इससे यह जनाया गया कि सभी ग्रन्थों का आपने सम्यक् अध्ययन—अनुशीलन किया था और सबका तात्पर्य आपके लिए करामलकवत् था अर्थात् जैसे आँवला हाथ की हथेली पर रखने से वह पूर्ण रीति से

रेशा-रेशा दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार से समस्त सद्ग्रन्थों का सार आपके नेत्र के सम्मुख था। ''सन्देहग्रन्थि छेदनसमर्थ''-यह भी एक कला है। इसे पण्डित कला कहते हैं। श्रीनाभाजी ने श्रीकमलाकरभट्टजी के लिए लिखा है-''पण्डित कला प्रवीन अधिक आदर दे आरज़।'' (छप्पय-८६), श्रीजीवगोस्वामीजी भी इस कला में परम प्रवीण थे। बड़ी से बड़ी शंकाओं का सहज ही समाधान कर देते। अकबर ने पूछा कि इन्द्र तो विष्णु के बड़े भाई हैं, विष्णु का एक नाम ही उपेन्द्र है, फिर विष्णु के ही अवतार श्रीकृष्ण ने इन्द्र का यज्ञ क्यों बन्द कराया? इन्द्र ने कोप किया तो श्रीगोवर्धन पर्वत को उठाकर व्रज की रक्षा किये और इन्द्र को डाँट लगायी, ऐसा क्यों? तब श्रीजीवगोस्वामीजी ने कहा-''भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। जैसे तुम अपने अधीनस्थ देश की समस्त प्रजा को अपने शासन के अधीन रखते हो, वैसे ही भगवान् अभिमानियों का अहंकार चूर्णकर अपने अधीन रखते हैं। इन्द्र को अत्यन्त अभिमान हो गया था। यथा-''मोहिं रहा अति अभिमान। नहिं कोउ मोहिं समान।।''(रामा०), ऐसे ही सबकी शंकाओं का समुचित समाधान करते।

किये नाना ग्रन्थ हृदै ग्रन्थि दृढ़ छेदि डारैं डारैं धन यमुना में आवै चहुँओर तें।
कही दास 'साधु सेवा कीजै' कहैं 'पात्रता न' करौं नीके, करी बोल्यौ कटु कोप जोर तें।।
तब समझायौ सन्त गौरव बढ़ायौ यह सबकों सिखायौ बोलैं मीठो निसि भोर ते।
चरित अपार भाव भक्ति कौ न पारावार कियोऊ बैराग सार कहै कौन छोरते।।३७४।।

शब्दार्थ-पात्रता=योग्यता

भावार्थ-श्रीजीवगोस्वामीजी ने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं, जो कि जीव की कठिन हृदय-ग्रन्थियों को दृढ़तापूर्वक छेदन करने में समर्थ हैं। आपकी सेवा में चारों ओर से अपार धन आता, परन्तु आप उस धन को श्रीयमुनाजी में फेंक देते थे। शिष्य-सेवकों ने कई बार अनुरोध किया कि धन को श्रीयमुना में न फेंककर उससे साधु-सेवा की जाय तो उसका अच्छा सदुपयोग होगा। आपने कहा मैं किसी भी शिष्य अथवा सेवक में साधु-सेवा करने की योग्यता नहीं देखता हूँ। एक शिष्य ने कहा मैं अच्छी प्रकार से साधु-सेवा करुँगा। उसने कहने को तो कह दिया परन्तु एक बार एक साधु पर झुंझलाकर एवं क्रोधपूर्वक जोर से कटुवचन बोल दिया। तब श्रीजीवगोस्वामीजी ने उसे समझाया तथा सन्तों की महिमा बखान किया। फिर आपने समस्त शिष्य-सेवकों को शिक्षा दिया कि तुम सब लोग सुबह से लेकर शाम तक मधुर बोला करो। आपके अपार चरित्र हैं। आपकी भक्ति-भावना का पार नहीं है। आपने परम वैराग्य को धारण किया था, उसका ओर-छोर वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।।३७४।।

व्याख्या—किये नाना ग्रन्थ—यथा-"श्रीहरिनामामृत व्याकरण, श्रीकृष्णार्चनदीपिका, षट्सन्दर्भ, (तत्वसन्दर्भ, भगवत् सन्दर्भ, परमात्म सन्दर्भ, कृष्ण सन्दर्भ, भक्ति सन्दर्भ, प्रीति सन्दर्भ), क्रम सन्दर्भ (भागवत टीका), दुर्गमसंगमनी (भक्तिरसामृत सिन्धु की टीका), श्रीब्रह्मसंहिता की टीका, श्रीगोपालचम्पू, श्रीमाधवमहोत्सव, सर्वसंवादिनी, श्रीगोपाल विरुदावली आदि।"

"**हृदयग्रन्थि दृढ़**"—यथा-ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।। सो मायाबश भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाइ ँ।। जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।। तबते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी।। श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।। जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी।।" (रामा०), श्रीजीव गोस्वामीजी के ग्रन्थों में जीव की इस दृढ़ हृदय ग्रन्थि को सुलझाने का सफल साधन निरूपण किया गया है। "डारैं धन यमुना में"-शास्त्रों एवं सद्ग्रन्थों में धन के अनेकों दोष वर्णन किये गये हैं। (विशेष देखिये कवित्त-१५२ में "द्रव्य पकराइ दियो" तथा कवित्त-२७९ में "जामें भरे कोटि रोग हैं" की व्याख्या)। पुनः नीतौ- "श्रुतिवाग्दृष्टिहरणं लक्ष्मीः कुरुते नरस्य को दोषः। गरलसहोदरभ्राता यन्न मारयति तच्चित्रम्।।" अर्थ-लक्ष्मी मनुष्य के श्रवण, वाणी एवं दृष्टि का अपहरण कर लेती हैं, इसमें मनुष्य का कोई दोष नहीं है। अरे, जिन श्रीलक्ष्मीजी का सगा भाई विष है, वे लक्ष्मीजी अपने भाई के गुण का अनुसरण करते हुए मार नहीं डालती हैं, यही क्या कम आश्चर्य है?

दृष्टान्त—एक ब्राह्मण का—एक गाँव में दो ब्राह्मण भाई थे। वे सर्वदा धनहीन होने के कारण अत्यन्त दु:खी रहा करते थे। जब दारिद्रय दु:ख असह्य हो गया तो एक भाई धन कमाने परदेस चला गया। परन्तु दूसरा भाई वहीं आस-पास के गाँवों से भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था। एक दिन उस भिक्षुक ब्राह्मण से स्वप्न में श्रीलक्ष्मीजी ने कहा कि आज से तेरहवें दिन मैं तुम्हारे यहाँ आऊँगी और तीन वर्ष तक रहूँगी।" ब्राह्मण धन के दोष से पूर्ण परिचित था अत: श्रीलक्ष्मीजी का आगमन जानकर उसने अपना सब घर-वार बेंच दिया और कुटुम्ब-परिवार, भाई-बन्धुओं को निमन्त्रित कर भोजन कराया। तदुपरान्त उसने सबके हाथ जोड़कर विनय किया कि "आज से तेरहवें दिन मैं अन्धा हो जाऊँगा, बहरा हो जाऊँगा और गूंगा हो जाऊँगा और मेरी यह दशा तीन वर्ष पर्यन्त रहेगी। अत: ऐसी स्थिति में यदि मुझसे कुछ जाने-अनजाने अपराध बन जाय तो आप लोग क्षमा करना।" ब्राह्मण की बात लोगों की समझ में नहीं आयी। सबको कौतूहल-सा लगा। उधर उसका भाई जो परदेश गया था, किसी सूत्र से वह राजदरबार में पहुँच गया।

अपनी सच्चाई की बदौलत वह बादशाह का स्नेहभाजन हो गया। बादशाह ने उनके जिम्मे शासन का कार्य सौंप दिया। तब उसने अपने भाई को उसी परगने का हाकिम बना दिया। एक ही दिन में उसका दिन ऐसा बदला कि वह भिक्षुक से राजा हो गया। सब लोग आश्चर्य करने लगे कि यह तो कहता था कि मैं तेरहवें दिन अन्धा, बहरा, गूंगा हो जाऊँगा, परन्तु यह तो हाकिम हो गया। यह कैसी विचित्र बात है। वह ब्राह्मण अब बड़ी कुशलतापूर्वक परगने का शासन करने लगा। लोगों को इस बात से सन्तोष था कि यह पहले हम लोगों के द्वार पर भीख माँगने आया करता था, अब यह हाकिम हो गया है तो हम लोगों का कार्य जल्दी कर दिया करेगा। परन्तु हुआ सब उल्टा। जब ये लोग किसी काम को लेकर उसके पास जाते तो पहले तो उससे भेंट ही नहीं होती। यदि हुई भी तो वह इन लोगों की ओर देखता ही नहीं, इनसे बोलता ही नहीं। लोग उदास होकर घर लौट आते। मन ही मन उसे गालियाँ देते। ऐसे ही तीन साल बीते। लक्ष्मीजी अपना वचन पूर्णकर उस ब्राह्मण को छोड़कर चली गईं। दुर्भाग्यवश उस ब्राह्मण से काम-काज में कुछ भूल हुई। अतः बादशाह ने उसे पदच्युत कर दिया और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली। अब वह पुनः पहले जैसा भिखारी हो गया। झोली लेकर गाँव में भीख माँगने चला तो कोई भी उसे अपने द्वार पर खड़ा नहीं होने दे, गालियाँ ऊपर से दे, तिरस्कार करे। उसने कहा-"आप लोग हमारे साथ इतना अभद्र व्यवहार क्यों करते हैं?" तब सबने कहा-"जब तुम हाकिम थे तो तुमने हम लोगों की कुछ भी सुनवाई नहीं की, उसका यह परिणाम है।" तब उनसे कहा-"भाइयो! मैंने तो यह बात पहले ही कह दी थी कि तीन साल के लिये मैं अन्धा, बहरा गूंगा हो जाऊँगा, अतः आप लोग मेरी भूल-चूक क्षमा करना। परन्तु आप लोग मेरी बात ठीक से नहीं समझे, इसलिये मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, अरे भैया! यह सब लक्ष्मीजी की करतूति है। वह जहाँ जाती हैं उसे ऐसा ही बना देती हैं। सब लोगों की समझ में आयी। अतः श्रीजीवगुसाईंजी लक्ष्मी के विलास भूत धन को अपने पास रखते ही नहीं थे। श्रीयमुनाजी में फेंक देते थे। ऐसे ही श्रीरैदासजी को श्रीठाकुर के श्रीचरणप्रान्त से पाँच मोहरें मिलतीं तो वे उन्हें चिमटा से उठाकर गंगा में फेंक देते। (विशेष देखिये कवित्त-२६३)

कही पात्रता न—इसका भाव यह है कि भगवान की सेवा कर लेना तो सहज है, परन्तु सन्त-सेवा करना अति ही कठिन है। कारण कि सेवा में सेव्य की रुचि का ध्यान रखना परम अनिवार्य है। यथा-"रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहिये सोइ।।" (भगवत रसिक) और सन्तों की रुचि, भाव, स्वभाव को जानना टेढ़ी खीर है। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं- "गाऊँ राम कृष्ण

पै न पाऊँ भक्तदाव को।'' श्रीकबीरदासजी कहते हैं-''कोई जटधारी कोई मठधारी कोई लठधारी कोई ठटधारी। कहैं कबीर सुनो भई साधो खोपड़ी खोपड़ी गति न्यारी।'' अतः साधुओं को सम्हालना निश्चय ही बहुत कठिन है। इसलिये आपने कहा-पात्रता न। ''बोल्यौ कटु कोप जोर ते''-एक दिन रात्रि के समय साधुओं की जमात आई। सन्तों ने कहा-''कुछ खाने-पीने का प्रबन्ध करो।'' इनके शिष्य ने कहा-''अब रात्रि में कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है।'' साधुओं ने कहा कि-''हम लोग बहुत भूखे हैं, अतः अवश्य ही कुछ उपाय तो करिये ही।'' तब उस शिष्य ने झुझलाकर क्रोध में भरकर जोर से कहा-''बहुत भूखे हो तो हमको ही खा जाओ न।'' श्रीजीवगोस्वामीजी ने शिष्य का यह वचन सुन लिया। ''तब समझायौ''-समझाया यह कि तुमको अब तक बोलने भी नहीं आया। मधुर बोलना चाहिये। परन्तु तुमने कटु भाषण किया, प्रेमपूर्वक बोलना चाहिये, परन्तु तुमने क्रोधपूर्वक भाषण किया। मधुर स्वर से बोलना चाहिये, परन्तु तुमने जोर से भाषण किया। अरे, सब कुछ सीखकर भी यदि बोलना नहीं सीखा तो मनुष्य का सब कुछ सीखा सिखाया व्यर्थ है। यथा-

सीखे व्याकरण कोश काव्य औ पुराण सीखे सीखे वेद पढ़िबो जो धर्मनको मूरि है।
न्याय औ वेदान्त आदि सीखे षट् शास्त्र वर पण्डिताई चतुराई जानै भरपूरि है।।
सीखे घट पट साँप जेवरी बखानिबेको माया भ्रमजाल हूं किये जे अति दूरि है।
भक्तनकी सभा बीच प्रेमरस सींचि सींचि बोलिबो न सीखे सब सीखिबे में धूरि है।।

शास्त्र का आदेश है-"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।" अर्थ- "सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य भी मत बोलो।" "बोलौ मीठौ निसि भोरते।"-श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"तुलसी मीठे बचनते सुख उपजत चहुँ ओर। वशीकरन इक मन्त्र है तजि दे बचन कठोर।।" किसी कवि ने कहा है-"ऐसी वानी बोलिये मन का आपा खोय। औरन कूं सीतल करै आपहु सीतल होय।। कोयल काको देत है कागा काकों लेत। मीठी वानी बोलिकै, सबको मन हर लेत।।"

दृष्टान्त—अकबर बीरबल का—एकबार अकबर ने बीरबल से पूछा-''सबसे बड़ा सम्मान क्या है?'' बीरबल ने कहा मीठा बोलना। अकबर ने कहा-''हम कैसे मानें?'' बीरबल ने कहा-''समय आने पर आप खुद मान जाइयेगा।'' तदुपरान्त कुछ काल बीतने के बाद बीरबल ने लाखों रुपये लगाकर एक बहुत बड़ा महल बनवाया। उसमें अनेक प्रकार की रचनायें करवायीं। इत्रादि सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव करवाया। बाग-वाटिका, फूल-फुलवारी लगवाया। रंग-बिरंग के फौवारे, विचित्र चित्र रचना आदि से वह महल बहुत ही शोभायमान हो रहा था। सब प्रकार की सजावट पूर्ण होने पर बीरबल ने अकबर से कहकर उनकी बहन का न्यौता किया। अनेक प्रकार

की भोजन सामग्री बनवायी। फिर बादशाह की बहन को बड़े ही आदरपूर्वक महल में लिवा लाये। मार्ग में पांवड़े बिछवाये, मुहरें लुटायीं, मुहरों का चबूतरा बनवाकर उस पर मखमल का गद्दा बिछवाकर उस पर बैठाया। फिर बड़े ही आदरपूर्वक उसको भोजन कराने लगे, बीरबल ही परस रहे थे। बादशाह की बहन नहीं, नहीं करती जाती थी और बीरबल परसते जा रहे थे। उसने प्रसन्न होकर बीरबल के आदर-सत्कार की बहुत सराहना की और सन्तुष्टि व्यक्त करते हुए कहा कि- "अब मैं खा चुकी, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये।" इस पर बीरबल ने कहा-"कुछ और ले लो, कुछ और खा लो। खाना बन्द क्यों करती हो। इसमें तुम्हारे खसम का क्या खर्च हो रहा है।" बस, इतना सुनना था कि बादशाह की बहन ने भोजन की थाली में पांव से ठोकर मारा। थाली झनझना कर दूर जा पड़ी और वह आग बबूला हुई बादशाह से आकर बोली कि- "इस काफर को जान से मरवा डालो।" बादशाह ने बीरबल को बुलवाया और पूछा- "तुमने कैसा न्यौता किया जो हमारी बहन अत्यन्त क्रोधित होकर वहाँ से आयी है और तुम्हें मरवा डालने को कहती है।" बीरवल ने कहा कि-"इनके न्यौता में तो मैंने लाखों रुपया खर्च किया था और बड़ा भव्य स्वागत-सत्कार किया था। आप उन्हीं से पूछ लीजिये कि मैं कितना सत्य कह रहा हूँ।" तब अकबर ने अपनी बहन को बुलाकर वहाँ का समस्त वृतान्त पूछा। सब कुछ बताकर उसने बीरबल के व्यंग्य वचन को कहा, जिससे उसे इतना क्रोध हुआ था। अकबर ने बीरबल से कहा-"तुमको ऐसे बचन नहीं कहने चाहिये थे।" बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा-"हुजूर! यह आपके प्रश्न का उत्तर था। आपने पूछा था- "सबसे बड़ा सम्मान क्या है? मैंने कहा था-"मीठा बोलना। आपने देखा, सब कुछ करके भी तनिक-सा कटु बोलने से सब सम्मान मिट्टी में मिल गया।" इसी से श्रीजीवगोस्वामीजी ने मधुर भाषण पर बल दिया।

विशेष-श्रीजीवगोस्वामीजी के पिता परम भागवत श्रीअनुपमजी अनन्य श्रीरामभक्त थे। एकबार उनकी भक्ति की परीक्षा के लिये श्रीरूप-सनातनजी ने उनसे कहा-"देखो अनुपम! जब हम दोनों तुम्हारे बड़े भाई श्रीकृष्णचरणाश्रित हैं तो तुम भी श्रीकृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते? यदि तुम भी श्रीकृष्ण भक्त हो जाओ तो हम तीनों मिलकर संग-संग भजन करेंगे।" अपने बड़े भाइयों के बड़प्पन का ध्यान रखते हुये श्रीअनुपमजी ने अत्यन्त संकोचपूर्वक कहा- "मैं कल इसका उत्तर दूँगा।" फिर सारी रात अनुपम रोते रहे। रोते-रोते आँखें सूज गईं। जब प्रात:काल हुआ तो अनुपम ने श्रीरूप-सनातन को प्रणाम कर कहा-"दादा! मैंने तो अपना सर्वस्व मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामजी के श्रीचरणकमलों में समर्पित कर दिया है। अब वहाँ से मन हटाकर और कहीं लगाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। अतः अब तो आप यही आज्ञा एवं आशीर्वाद दीजिए कि मैं

श्रीरघुनाथजी के श्रीचरणकमलों में ही अपना मन लगाता हुआ यह शेष जीवन पूर्ण करूँ तथा जन्म-जन्म में मुझे श्रीरामजी की ही भक्ति मिले।'' श्रीरूप-सनातनपादजी उनकी इस अनन्यनिष्ठा पर बहुत ही प्रसन्न हुये और श्रीरामजी के श्रीचरण-कमलों में दृढ़ भक्ति का वरदान दिये। ऐसे श्रीरामचरणानुरागी बड़भागी श्रीअनुपमजी के पुत्र हुये श्रीजीवगोस्वामीजी। आपका श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति अनुराग जन्मजात था। बाल्यावस्था से ही खेलकूद छोड़कर ये सदा पुष्प-चन्दन आदि द्वारा बड़े ही भावपूर्वक श्रीकृष्ण-बलराम की सेवा किया करते थे। जिस समय श्रीगौरांग महाप्रभुजी श्रीरूप-सनातनजी के ऊपर कृपा करने के लिये रामकेलि ग्राम में पधारे उस समय इन्होंने भी छिपकर श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरणों का दर्शन किया था।

एक बार रात्रि में कीर्तनावेश में किंचित् निद्रित होने पर स्वप्न में श्रीमहाप्रभुजी का लाखों नर-नारियों के मध्य प्रेमोन्मत्त होकर कीर्तन करते हुये आपको दर्शन हुआ। स्वप्न दर्शन का तिरोधान होते ही श्रीजीवगोस्वामीजी व्याकुल हो गये। प्रभु का दर्शन पाकर बेसुध होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उस बेसुधी में इन्हें श्रीकृष्ण-बलराम श्रीगौरांग नित्यानंद के रूप में दृष्टिगोचर होने लगे। ये युगल के श्रीचरणों में लोट-पोट हो गये। श्रीगौरांगसुन्दर ने इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और पुनः इन्हें श्रीनित्यानन्दजी के चरणों में डाल दिया। इतने में ये पुनः चैतन्य हो गये। स्वप्न दर्शन की स्मृति कर प्रत्यक्ष दर्शन के लिये विकल हो उठे। यही इनके गृह-त्याग की भूमिका है। अलौकिक प्रतिभा होने के कारण आपने अत्यन्त अल्पकाल में ही समस्त व्याकरण, साहित्य, काव्य-कोश, शास्त्र-पुराणादि का सम्यक् अध्ययन कर लिया। श्रीमद्भागवत में आपका परमानुराग था। विशेष अध्ययन का बहाना बनाकर आप श्रीनवद्वीप चले गये। वहाँ पर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुजी का दर्शन एवं कृपा-प्रसाद प्राप्त हुआ। श्रीनित्यानन्द महाप्रभुजी इन्हें श्रीब्रजवास का आदेश दिया। आज्ञा शिरोधार्य कर आप समस्त वैष्णवों से भी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े। आते समय मार्ग में कुछ दिन तक काशी में निवासकर श्रीजगन्नाथपुरी के सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी के कृपापात्र श्रीमधुसूदन वाचस्पतिजी की सन्निधि में रहकर न्याय, वेदान्त आदि विविध शास्त्रों के साथ-साथ उन वेदान्त-सिद्धान्तों का भी श्रवण किया, जिन्हें श्रीवासुदेव भट्टाचार्यजी ने श्रीगौरांग महाप्रभु के श्रीमुख से श्रवण कर पुनः अपने शिष्य श्रीमधुसूदन वाचस्पति को सुनाया था। तत्पश्चात् आप श्रीवृन्दावन आ गये और यहाँ श्रीरूप-सनातनजी के समाश्रय में रहने लगे। आपने श्रीरूपगोस्वामीजी के द्वारा मन्त्र-दीक्षा ली थी। श्रीरूप-सनातनजी की सन्निधि में रहकर आपने श्रीमद्भागवतादि भक्ति शास्त्रों का अध्ययन किया था। आपके अपार शास्त्र ज्ञान को देखकर लोग आपको दूसरे वेदव्यास ही कहते थे।

एकबार एक दिग्विजयी पण्डित सर्वत्र दिग्विजय करते हुए श्रीवृन्दावन आये। उन्होंने श्रीरूपगोस्वामीपादजी को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। परम भागवत श्रीरूपजी ने श्रीनारद भक्ति सूत्र के ''वादो नावलम्बय:'' अर्थात् भक्ति परायण पुरुष को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। इस सूत्र का स्मरण कर शास्त्रार्थ किए बिना ही पण्डित के लिये विजयपत्र लिख दिया। दिग्विजयी पण्डितजी ने सर्वत्र यह घोषणा करा दी कि श्रीरूपगोस्वामीजी की हार और मेरी जीत हो गई। जब यह बात श्रीजीवगोस्वामीजी ने सुनी तो उन्हें यह श्रीगुरुदेव का अपमान असह्य हो गया। इन्होंने दिग्विजयी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और क्षणमात्र में उसे हरा दिया। जब यह प्रसंग श्रीरूपजी ने सुना तो वे बहुत ही रुष्ट हुये और श्रीजीवगोस्वामी को बुलाकर फटकार लगाते हुये बोले-''तुमसे एक ब्राह्मण की इतनी बात भी नहीं सही गयी। तुमने ब्राह्मण को तो जीत लिया परन्तु मन के आवेग को नहीं जीता। जाओ, आज से मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ। मैं तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा।'' श्रीजीवगोस्वामीजी श्रीगुरु के वचनों का प्रत्याख्यान नहीं कर सके। ये श्रीचरणों में प्रणामकर उसी क्षण वहाँ से चल दिये और बहुत दूर श्रीयमुनाजी के तीर नन्दघाट पर जाकर कगार में ही एक छोटी सी गुफा बनाकर रहने लगे। श्रीहरिइच्छा से स्वत: जो कुछ मिल जाता उसी से जीवन निर्वाह करते हुये निरन्तर भजन तथा ग्रन्थ रचना में लगे रहते थे। 'षट् सन्दर्भ' एवं ''सम्वादिनी'' ये दोनों रचनायें उसी समय की हैं। कई-कई बार तो आप केवल आटा घोलकर पीकर रह जाते थे। भोजन की इस अव्यवस्था के कारण आपको जलोदर रोग हो गया।

श्रीहरिइच्छा से एकदिन श्रीसनातनजी घूमते हुये उसी गाँव में जा पहुँचे और एक व्रजवासी के द्वार पर खड़े होकर मधुकरी के लिये 'राधे-राधे' की आवाज लगायी। उस समय गृह-स्वामिनी व्रजवासिनी आँगन लीप रही थी। उसने सोचा कि आँगन लीप लूँ तो बाबा को भिक्षा दूँ। इतने में थोड़ी ही देर बाद उन्होंने फिर आवाज लगाई। अब तो वह व्रजवासिनी झुँझलाकर बोली-''यह बाबा न जाने कहाँ से घोड़े पर चढ़ा चला आया है? इसे नेक भी सब्र नहीं है। इससे तो हमारा बाबा ही अच्छा है, जो केवल आटा घोलकर ही पी लेता है।'' यह सुनकर श्रीसनातनजी के मन में वृद्धा के बाबा के दर्शनों की प्रबल इच्छा हुई। परन्तु श्रीसनातनजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि वृद्धा के बाबा तो अपने ही 'जीव' हैं। श्रीजीव गोस्वामीजी ने श्रीसनातनजी के श्रीचरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीजीवगोस्वामीजी के शरीर की दुरवस्था देखकर श्रीसनातनजी अधीर हो उठे। समस्त वृतान्त विदित होने पर श्रीजीवगोस्वामीजी को अपने साथ लेकर श्रीरूपजी के पास आये और बोले-''रूप! श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के उपदेश तुम्हें याद हैं।''

श्रीरूप ने कहा–"हाँ, याद हैं।" "जीवे दया, नामे रुचि, वैष्णव सेवा।।" यही श्रीमहाप्रभुजी ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। श्रीसनातनजी ने कहा–"जब समस्त जीवों पर दया करने का उपदेश प्राप्त है तो अपने इस जीव पर इतना रोष क्यों ? यह कहते हुये श्रीसनातनजी ने श्रीजीवगोस्वामीजी को श्रीरूपजी के चरणों में डाल दिया। श्रीरूपजी ने उठाकर हृदय से लगा लिया। फिर यथोचित उपचार कराया गया, जिससे इनका जलोदर रोग ठीक हो गया।

एकबार एक सज्जन ने श्रीजीव गोस्वामीजी से पूछा–"जगत् सत्य है अथवा असत्य।" उस समय आप भगवान की सेवा में थे। आपने सहज भाव से कहा–"श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्। जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम।।" अर्थात् मैं तो श्रीकृष्ण के श्रीचरणाविन्दों को ही परम सत्य मानता हूँ। संसार सत्य है अथवा असत्य है, इन बाह्य विषयों में मेरी बुद्धि जाती ही नहीं। यह अति संक्षिप्त परन्तु परम भावपूर्ण उत्तर सुनकर उक्त सज्जन बड़े ही प्रभावित हुये। तभी तो श्रीनाभाजी ने कहा है–"सन्देहग्रन्थि छेदनसमर्थ।" श्रीरूप-सनातनजी के तिरोधान के बाद आप ही श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य पद पर विराजमान हुये। आपके सदुपदेशों एवं सद्ग्रन्थों के द्वारा असंख्यों जीवों का परम कल्याण हुआ। आपने कितने वैष्णवों को आचार्यत्व प्रदान कर देश-देशान्तरों में वैष्णवता का प्रचार करने के लिये भेजा। आपके अनन्त चरित्र हैं।

नित्यलीला में आप विलास-मंजरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वर्णकेतकी के समान आपके शरीर की आभा है, शोण पुष्प के समान रक्त वस्त्र धारण करती हैं। श्रीप्रिया-प्रियतम के शरीर में विविध अंगराग एवं आँखों में अंजन लगाने की आपकी विशेष सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के नैऋत्यकोण में आपकी स्थिति है।

श्रीगोपाल भट्ट आदि

[श्री] वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ।
सर्वसु राधा रमन भट्ट गोपाल उजागर।
हृषीकेश, भगवान, विपुल बीठल रससागर।।
थानेश्वरी जगन्नाथ, लोकनाथ, महामुनि मधु, श्रीरंग।
कृष्णदास पण्डित उभै अधिकारी हरि अंग।।
घमंडी, युगलकिशोर, भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़ व्रत लियौ।
[श्री] वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ।।९४।।

शब्दार्थ—माधुरी = माधुर्य, मिठास। मिलि = मिलकर, सत्संग करके। हरि अंग = श्रीभगवत्प्रिय। आस्वादन = अनुभव।

भावार्थ—श्रीधाम श्रीवृन्दावन की माधुरी का इन परम महाभागवतों ने मिलकर अर्थात् परस्पर सत्संग द्वारा खूब आस्वादन किया। इनके नाम ये हैं-"परमविख्यात श्रीगोपालभट्टजी, जिनके सर्वस्व ठाकुर श्रीराधारमणजी थे। श्रीहृषीकेशजी, श्रीअलिभगवानजी, माधुर्यरस-सागर श्रीविट्ठलविपुलजी, श्रीजगन्नाथजी थानेश्वरी, श्रीलोकनाथगोस्वामीजी, महामुनि श्रीमधुगोस्वामीजी, श्रीरंगजी, ब्रह्मचारी श्रीकृष्णदासजी और पण्डित श्रीकृष्णदासजी ये दोनों श्रीहरिरस के अधिकारी एवं भगवान के परमप्रिय थे। श्रीयुगलकिशोरजी के सेवक श्रीउद्धव-घमण्डदेवाचार्यजी, श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी, श्रीजीव गोस्वामीजी आदि। इन परम महानुभावों ने श्रीधामवास का दृढ़ व्रत ले रखा था।।९४।।

श्रीवृन्दावन की माधुरी—भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों ही मधुर हैं। यथा— "नाम मधुर" आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन विलोचन जन जिय जोऊ।।" (रामा०) "रूप मधुर" मूरति मधुर मनोहर देखी। भयऊ बिदेह बिदेह बिसेखी।।" (रामा०), "लीलामधुर" गोपी मधुरा, लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम्। दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।" (मधुराष्टक) धाममधुर-"वृन्दावन की माधुरी...।" (प्रस्तुत छप्पय), भगवान के श्रीनाम, रूप, लीला की तरह ही भगवद्धाम में भी अद्भुत माधुर्य है। यथा-"जो कोउ वृन्दावन रस चाखै। खारी लगत खांड़ अरु खारक आन देस की दाखैं।। प्रानसमान तजत नहिं सीमा लोभ दिखावत लाखैं। भूखे रहिकैं पावैं भाजी निरखि रहैं तरु शाखैं।। परे रहैं कुंजनि के कोने स्याम राधिका भाखैं। जन गोविन्द बलबीर कृपातें पटरानी जू राखैं।।"" "इन मिलि आस्वादन कियौ"-यदि यहाँ कोई शंका करे कि-"एक एक ने आस्वादन किया।" यह न कहकर "इन मिलि आस्वादन कियो" ऐसा क्यों कहा गया ? तो इसका समाधान यह है कि जैसे अमली (नशेबाज) लोग मिलकर अमल (नशा) करते हैं तो उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है, अमल भी विशेष चढ़ता है, अमल का विशेष स्वाद अनुभव में आता है, उसी प्रकार सत्संग के माध्यम से नाम, रूप, लीला, धाम का विशेष आस्वादन होता है। अब यहाँ कोई पुनः शङ्का करे कि भगवान श्रीदत्तात्रेयजी ने तो कुमारी कन्या की चूड़ी से अकेले रहने की शिक्षा ली थी। संक्षेप में वह प्रसंग इस प्रकार है-

एकबार किसी कुमारी कन्या के घर उसे वरण करने के लिये कुछ लोग आये हुए थे। उसी दिन उसके घर के लोग कहीं बाहर गए हुए थे। अतः उसने स्वयं ही उनका स्वागत किया। उनको भोजन कराने के लिए वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। उस समय

उसकी कलाई में पड़ी शंख की चूड़ियाँ जोर-जोर से बज रही थीं। उसे यह अच्छा नहीं लगा। अतः उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथों में केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं। अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं। तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयों में केवल एक-एक चूड़ी रह गई, तब किसी प्रकार की आवाज नहीं हुई। इस प्रसंग से श्रीदत्तात्रेयजी ने यह शिक्षा ली कि जब बहुत लोग साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं, तब भी बातचीत तो होती ही है। अतः कुमारी कन्या की चूड़ी की तरह अकेले ही विचरना चाहिए। यथा-"वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि। एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कंकणः।।" (भा० ११-९-१०) तब फिर यहाँ "इनमिलि आस्वादन कियौ" यह क्यों कहा? समाधान—संग का सर्वथा निषेध योग-ज्ञान मार्ग में है। भक्तिमार्ग में सत्संग का निषेध नहीं है। यह तो नवधा भक्ति में प्रथम भक्ति है। यथा-"प्रथम भक्ति संतनकर संगा।।" (रामा०), व्यवहार जगत् में जैसे विधवा के लिये चूड़ी का निषेध है, सौभाग्यवती को नहीं। बल्कि सौभाग्यवती को चूड़ी पहने देखकर तथा चूड़ी की रुनुक-झुनुक सुनकर उसके पति को प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार जिस साधना में ईश्वर को जीव के स्वामी के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता, वह साधना विधवा तुल्य है, उसमें विधवा की तरह एकाकी रहने में साधना का निर्वाह है। परन्तु भक्ति में तो जीव सर्वतोभावेन ईश्वर को स्वामी रूप से स्वीकार करता है। अतः यह उपासना-पद्धति सौभाग्यवती के समान है। इसमें सत्संगरूपी चूड़ी को पहनना अनिवार्य है। जीव को सत्संगपरायण देखकर भगवान प्रसन्न होते हैं और सत्संगचर्चा सुनकर सुख मानते हैं। अतः "इन मिलि आस्वादन कियो" यह कहा-श्रीधाममाधुरी का आस्वादन करते हुये श्रीनागरीदासजी कहते हैं-"हम तो भैया वृन्दावन रस अटके। जब लगि या रस अटके नाहीं तब लगि बहु जग भटके।। भये मगन सुख सिन्धु मांझ यहँ सब तजिकैं जग खटके। नागरिया अब चरित विलोकत नागरि नागर नटके।।"

श्रीगोपालभट्ट गोसाँईजी

श्रीगोपालभट्टजू के हिये वै रसाल बसे लसे यों प्रगट राधारवन सरूप हैं।
नाना भोग राग करैं अति अनुराग पगे जगे जग माहिं हित कौतुक अनूप हैं।।
वृन्दावन माधुरी अगाधकौ सवाद लियौ जियौ जिन पायौ सीथ भये रस रूप हैं।
गुन ही कौ लेत जीव अवगुनको त्यागि देत करुनानिकेत धर्मसेत भक्तभूप हैं।।३७५।।

शब्दार्थ-रसाल=मधुर, रसस्वरूप। लसे=सुशोभित हुए।

भावार्थ—श्रीगोपालभट्टजी के भक्तिपूरित हृदय में रस स्वरूप श्रीकृष्ण निरन्तर निवास करते थे और वही हृदयस्थ भगवान श्रीकृष्ण कालान्तर में श्रीराधारमणलालजी के रूप में प्रकट होकर परम शोभा को प्राप्त हुये। श्रीगोपालभट्टजी अपने परमाराध्य श्रीराधारमण लालजी के अनन्य अनुराग में पगकर अनेक प्रकार के राग-भोग-सेवा में प्रस्तुत करते थे। भक्ति के प्रभाव से आप जगद्विख्यात हुये। आपके अनेकों अनुपम प्रेममय चरित्र हैं। आपने आजीवन श्रीवृन्दावन की अगाध माधुरी का रसास्वादन किया तथा जिसने आपकी सीथ प्रसादी पायी वह भी दिव्य जीवन पाकर रसस्वरूप हो गया। आप जीवमात्र के गुण को ही ग्रहण करते थे, अवगुणों को ध्यान में नहीं लाते थे। आप बड़े ही करुणाधाम, धर्म के सेतु (पुल) तथा भक्तराज थे।।३७५।।

व्याख्या—हिये वै रसाल बसे—भक्तिपूरित शुद्धान्तःकरण में भगवान स्वतः विराजमान होकर भक्त को परमानन्द प्रदान करते हैं। यथा-"शंकर हृदि पुण्डरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानत गृह सन्तत रहे छाई।।" (गीतावली), "मुनि मानस पंकज भृंग भजे।" (रामा०) "बीनैं तानो बानो हिये राम मँडरानो.....।" (श्रीभक्तमाल क०-२७०), "बस्यो उर स्याम अभिराम कोटि काम हूते.... " (श्रीभक्तमाल क०-५८४)।

दृष्टान्त—चित्रकार का—एक बादशाह ने लाखों रुपये लगाकर एक नवीन महल बनवाया था। वह उस महल में सुन्दर चित्रकारी करवाना चाहता था। इसके लिये उसने अपने वजीर से कहा कि कहीं से कोई बढ़िया चित्रकार लिवा लाओ। वजीर ने चित्रकार का पता लगाकर उसे बुलाने के लिये चोबदार को भेजा। चोबदार जब चित्रकार के घर गया तो पता चला कि वह घोड़ा फेरने नगर से बाहर के मैदान में गया है। पता लगाते हुये चोबदार वहीं पहुँचा और वजीर का हुक्म सुनाया। चित्रकार ने कहा-जब-खूब अच्छी तरह से घोड़ा फेर लूँगा, घोड़े का तथा मेरा भी खूब मनोरंजन हो जायेगा तब चलूँगा। तब चोबदार ने कहा कि-"अच्छा, अपनी कला का कोई नमूना दीजिये।" चित्रकार ने कहा-"यहाँ तो मेरे पास कोई नमूना नहीं है। चोबदार ने आग्रह किया कि परिचय के लिये कुछ तो दीजिये। तब चित्रकार ने सिर से अपनी पाग उतारी और उसका एक छोर चोबदार को तथा दूसरा छोर एक आदमी को पकड़वाया और कहा-"तुम दोनों इसे खींचकर अच्छी तरह फैलाओ जिसमें इसकी सिकुड़न मिट जाय। जब उन दोनों ने तानकर पाग को खींचा तो चित्रकार ने रंग भरने की तूलिका, जो संयोग से उसकी पाग में घुसी थी, जिसमें रंग का अंश भी था, तनिक सा जल में भिगोकर घोड़े पर चढ़े-चढ़े पाग पर इस छोर से उस छोर तक फेर दी और चोबदार से कहा-"इसको ले जाओ, यही हमारी कला का नमूना है। चोबदार ने बादशाह के सम्मुख वह पाग

पेश की। जब कला का परीक्षण करने के लिये उस पाग को ध्यान से देखा गया तो देखने में यह आया कि चित्रकार ने जिस तागे पर तूलिका चलाई थी उसी तागे पर आदि से लेकर अन्त तक तूलिका चली गयी थी। बीच में कहीं दूसरे धागे से स्पर्श भी नहीं हुआ था। कलाकार का यह हस्तकौशल देखकर बादशाह बहुत ही प्रसन्न हुआ, तब तक चित्रकार भी दरबार में आ उपस्थित हुआ और बादशाह को सलाम कर अपना परिचय दिया। बादशाह ने पूछा-"तुम कितना बढ़िया चित्र बना सकते हो?" कलाकार ने गर्व में भरकर कहा-"बेअदबी माफ हो, मैं इतना बढ़िया चित्र बनाऊँगा कि एक खुदा को छोड़कर दूसरा कोई उतना बढ़िया चित्र नहीं बना सकता। फिर तो बादशाह ने सेवकों को हुक्म दिया कि ये जो भी सामग्री माँगें इन्हें सब दी जायँ। इतने में ही कहीं से एक दूसरा चित्रकार भी दरबार में आ गया और उसने अर्ज किया-"मैं इनसे भी बढ़िया चित्र बना सकता हूँ। बादशाह ने कहा-"बहुत अच्छा, तुम दोनों ही चित्र बनाओ। तुम्हें भी जो कुछ रंग-रोगन चाहिये वह सब बताओ, मैं अभी मँगवा देता हूँ। इस दूसरे चित्रकार ने कहा-"और सब वस्तु हमारे पास है। आप तो मेरे लिये एक बढ़िया सा सन्दला (चार पाँवों की सीढ़ी) बनवा दीजिये तथा हमारे और इनके बीच में एक पर्दा डाल दिया जाय, जिससे कि ये न तो हमारा चित्र देख सकें और न हम इनका चित्र देख सकें। चित्र तैयार होने पर ही पर्दा हटाया जायेगा, तब आप दोनों चित्रों को एक साथ देखियेगा। इस दूसरे कारीगर के कथनानुसार ही बादशाह ने सब व्यवस्था करवा दीं। दोनों चित्रकार अपने-अपने काम में जुट गये। पहला कारीगर एक तो अत्यन्त कुशल कलाकार था, दूसरे कला की होड़ लग गयी थी, अतः उसने अत्यन्त लग्न से, बड़े ही मनोयोगपूर्वक बहुत ही बढ़िया चित्र बनाया। इधर दूसरे कारीगर ने बीच में पर्दा डालकर सन्दला लगाकर दीवार पर घोंटा फेरकर उसकी सफाई करने लगा। कुछ दिन बाद पहले चित्रकार ने बादशाह से अर्ज किया कि मेरा चित्र तैयार हो गया। तब बादशाह ने दूसरे चित्रकार से पूछा कि तुम्हारे चित्र में क्या देर है? उसने कहा कि हमारा भी चित्र तैयार है, अब पर्दा हटवा दिया जाय। जब पर्दा हटाया गया तो पहले चित्रकार द्वारा निर्मित चित्र का प्रतिबिम्ब हूबहू (जैसा का तैसा) दूसरे चित्रकार द्वारा साफ की गई सामने की दीवार पर दिखाई देने लगा। बादशाह दोनों चित्रों को अत्यन्त अच्छी तरह देखकर प्रसन्न होकर बोला-"चित्र तो दोनों अच्छे हैं, परन्तु दूसरे वाले चित्रकार के चित्र में कलम की बारीकी विशेष है तथा चमक भी चौगुनी है। पहला चित्रकार एवं अन्य दर्शकगण—सभी दूसरे कलाकार की कला को देखकर चकित व मुग्ध हो रहे थे। रहस्य का ज्ञान किसी को नहीं था। जिज्ञासा करने पर दूसरे कलाकार ने अपना कौशल प्रगट किया। यह है दृष्टान्त। दार्ष्टान्त में इसी प्रकार जब हृदय अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तो भगवान का दिव्य स्वरूप अपने आप आभासित होने लगता है। श्रीगोपाल भट्टजी ऐसे ही निर्मल हृदय वाले थे, अतः कहते हैं-"हिये वे रसाल बसे"।

प्रगट राधा रवन स्वरूप हैं—श्रीगोपालभट्टजी के सेव्य प्रथम श्रीशालग्रामजी भगवान थे। जिन्हें वे स्वयं श्रीमुक्तिनाथजी की यात्रा के सिलसिले में गण्डकी नदी से लाये थे। आप शास्त्रीय विधि से अनुरागपूर्वक श्रीशालग्राम भगवान की सेवा करते थे। कहते हैं एकदिन एक परम भागवत धनवान सेठ श्रीवृन्दावन आया और उसने श्रीवृन्दावनस्थ सभी ठाकुर-विग्रहों के लिये वस्त्र-आभूषणों की सेवा करने का संकल्प किया। अपने संकल्प के अनुसार उसने सभी मन्दिरों में श्रीठाकुरजी के लिए वस्त्राभूषण भेंट किया। उसी सिलसिले में वह श्रीगोपाल भट्टजी के पास भी आया और इनके श्रीठाकुर के लिये भी वस्त्राभूषण भेंट किया। इन्होंने विवशता प्रकट की कि हमारे संसेव्य ठाकुर तो श्रीशालग्राम भगवान हैं। ये भला कैसे इन वस्त्राभूषणों को धारण कर सकते हैं? आप अन्यत्र कहीं ले जाइये। वह धनी तो श्रीगोपालभट्टजी की भक्ति की प्रशंसा पहले ही सन्तों से सुन चुका था अतः उसकी इनमें तथा इनके भगवान में बड़ी निष्ठा हो गयी थी। श्रीगोपालभट्टजी की अस्वीकृति से उसे बड़ा ही क्षोभ हुआ। वह मन मसोसकर वहाँ से चलने को उद्यत हो रहा था। इधर श्रीगोपालभट्टजी के मन में भी क्षोभ हुआ कि मेरे पास श्रीविग्रह स्वरूप श्रीठाकुरजी नहीं हैं। होते तो मैं भी उनका सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से खूब साज-शृङ्गार करता। देखो, सेवार्थ आया हुआ वस्त्राभूषण लौटा जा रहा है। फिर विचार आया कि भक्त उदास जा रहा है, भावपूर्वक भेंट लाया था। कम से कम इसे तुलसी दल दे दूँ। यह सोचकर आप श्रीशालग्राम भगवान के यहाँ तुलसी लेने गये तो क्या देखते हैं कि भक्तवाञ्छा कल्पतरु भगवान श्रीशालग्रामजी नीलसरोरुह, नीलमणि, नीलनीरधर श्याम त्रिभंग ललित, द्विभुज, मुरलीधर, मधुर मनोहर मूर्ति के रूप में विराजमान होकर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं। इस पर-

दृष्टान्त—तपस्वीजी का—श्रीअयोध्याजी में सुप्रसिद्ध सन्तसेवी स्थान श्रीतपस्वीजी की छावनी के संस्थापक परम तपस्वी श्री १०८ श्रीरामदासजी महाराज के सेव्य श्रीशालग्राम भगवान भी श्रीतपस्वीजी के परम प्रेम पर रीझकर श्रीरामलालजी के रूप में प्रकट होकर अद्यापि अपने दर्शनों से भक्तजनों को कृतार्थ कर रहे हैं। हाँ, तो श्रीगोपालभट्टजी को देखकर भगवान बोले-"भक्तराजजी! देखिये, आपके लिए मैंने श्रीविग्रहरूप धारण कर लिया है। अब आप उस भक्त से वस्त्राभूषणों की भेंट ले लीजिये और प्रेमपूर्वक मुझे धारण कराकर अपने तथा उन भक्त के भी मनोरथ को पूर्ण कीजिये। श्रीमूर्ति का दर्शन कर तथा भगवान के परम मधुर वचनामृत को श्रवणकर श्रीगोपालभट्टजी के आनन्द का पारावार नहीं रहा। आप तुरन्त दौड़ आए और भक्त को सूचित किये कि भैया! तू धन्य है। तेरी भेंट को अंगीकार करने के लिए

श्रीठाकुरजी ने श्रीविग्रहस्वरूप धारण कर लिया है।'' यह सुनकर भक्त भी आनन्द सिन्धु में डूब गया। ''श्रीगोपालभट्टजी ने शीघ्र ही श्रीरूपसनातनजी एवं अन्य अनेक वैष्णवों को बुलाकर श्रीविग्रह का अभिषेक महोत्सव मनाया। श्रीविग्रह का श्रीशुभनाम रखा गया—''श्रीराधा-रमणदेवजी।'' उस समय आपने यह पद गाया था-''श्रीराधारमन हमारे गीत। ललित त्रिभंगी श्याम सलोने कटि पहिरे पट पीत।। मुरलीधर मन हरन छबीले छके प्रिया की प्रीत। गुन मंजरी विदित नागरवर जानत रसकी रीत।।'' उस दिन वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि थी। आज भी इस तिथि को ठाकुर श्रीराधारमणलालजी का प्राकट्य महोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। ''गुनही कौ लेत०''-यह सन्तों का सहज स्वभाव है। यथा-''अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्रधेनु हित संकट सहहीं।।'' (रामा०), श्रीविठ्ठलदासजी (माथुर) के लिये भी आया है। यथा-''तिलक दाम सौं प्रीति गुनहिं गुन अन्तर धार्यौ।।'' (छप्पय-८४)।

दृष्टान्त—एक राजा का—वासुदेव नाम के एक राजा सहज स्वभाव सबमें गुण ही गुण देखते थे। उनके इस गुण से देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने एक दिन देवताओं की सभा में राजा की बड़ी बढ़ाई की कि वह राजा अपने गुणों से मर्त्यलोक की तो बात ही क्या, देवलोक वासियों से भी श्रेष्ठ है। देवेन्द्र की यह बात देवताओं को अच्छी नहीं लगी। वे बोले-''भला मर्त्यलोक का साधारण प्राणी हम देवताओं से श्रेष्ठ कैसे हो सकता है?'' इन्द्र ने कहा न मानो तो परीक्षा करके देख लो। फिर तो एक देवता मृतक श्वान का स्वांग करके दाँत निकालकर मार्ग में जा पड़े। उस मृत श्वान के शरीर से महादुर्गन्ध निकल रही थी, मक्खियाँ भिनक रही थीं। उसी मार्ग से राजा वासुदेव जा रहे थे। उनके संग के सब लोग तो कुत्ते को देखकर नाक-भौंह सिकोड़ने लगे, भला-बुरा कहने लगे। परन्तु राजा ने कहा-''वाह, इस कुत्ते के दाँत कैसे सुन्दर कुन्दकली के समान चमक रहे हैं।'' इतने वीभत्स रूप में भी राजा की गुणदर्शिनी दृष्टि ने गुण खोज ही लिया। यह देखकर वह देवता बड़े प्रसन्न हुए और साक्षात् प्रकट होकर राजा को दर्शन तथा मनोवाञ्छित वरदान दिये। '' साधु पुरुष गुण में तो गुण देखते ही हैं, दोष में भी गुण देखते हैं।'' इसके विपरीत असाधु पुरुष दोष में तो दोष देखता ही हैं, गुणों में भी वह दोष ही खोजता रहता है। यथा-''गुन में अवगुन खोजही प्रकृति के जो नीच। जैसे जूही बाग में सूकर खोजै कीच।।''

विशेष—श्रीगोपालभट्टजी का प्रादुर्भाव, श्रीरङ्गम क्षेत्रस्थ बेलंगुड़ि ग्राम में वि०सं० १५५७, माघ मास, कृष्ण पक्ष, तृतीया तिथि को हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्रीवेङ्कटभट्ट एवं माताजी का नाम श्रीसदम्बाजी था। श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के प्रिय पार्षद श्रीप्रबोधानन्दजी

आपके चाचा लगते थे। श्रीप्रबोधानन्दजी का घर का नाम प्रबुद्ध था। ये षट् दर्शनों के पारंगत विद्वान थे। श्रीगोपालभट्टजी ने इन्हीं से न्याय, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, अलंकारादि का अध्ययन किया था। संन्यास ग्रहण करने के अनन्तर श्रीगौरांग महाप्रभुजी ने जब दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की तो इनके पिता के आग्रह पर श्रीमहाप्रभुजी ने चातुर्मास्य इनके यहाँ ही किया था। उस समय श्रीगोपालभट्टजी एकादश वर्ष के थे। इन्होंने प्रथम दर्शन में ही श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरण कमलों में अपना तन, मन, प्राण सर्वस्व ही समर्पण कर दिया था। इनके परमानुराग को देखकर श्रीमहाप्रभुजी इन्हें गोद में बिठाकर अपने स्नेहाश्रुओं से संसिक्त करते हुए व्रजलीला के निगूढ़तम भावों का उपदेश करते रहे। जब चातुर्मास्य समाप्ति के बाद श्रीमहाप्रभुजी वहाँ से चलने को प्रस्तुत हुये तो श्रीगोपालभट्टजी भी साथ चलने के लिये हठ करने लगे। तब श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें माता-पिता की सेवा के बाद श्रीवृन्दावन जाकर श्रीरूप-सनातनजी की सन्निधि में रहते हुए भक्ति ग्रन्थों का अध्ययन, व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार, वैष्णवग्रन्थों का प्रणयन एवं भक्ति के प्रचार का आदेश दिया। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा का सर्वतोभावेन पालन किया। यथा समय पूज्य माता-पिता के देहावसान के बाद श्रीगोपालभट्टजी सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावन चले आये। यहाँ श्रीरूप-सनातनजी का दर्शन कर अपने को परम भाग्यशाली माने। श्रीरूप-सनातनजी भी अपना एक सुयोग्य सहयोगी पाकर परमानन्दित हुये। उन दिनों श्रीमहाप्रभुजी श्रीनीलाचल में विराज रहे थे। श्रीरूपसनातनजी ने एक वैष्णव के हाथ पत्र भेजकर श्रीगोपालभट्टजी के आगमन की सूचना श्रीमन्महाप्रभुजी को भेजी। यह समाचार श्रवण कर श्रीमहाप्रभुजी भी बड़े प्रसन्न हुये और फिर आपने भी एक वैष्णव के हाथ श्रीजगन्नाथ भगवान की प्रसादी तुलसी माला, अपना वहिर्वास तथा योगपट्ट, जिस पर विराजमान होकर आप श्रीभगवद्स्मरण-चिन्तन किया करते थे, यह तीनों वस्तुयें प्रसाद रूप में श्रीगोपालभट्टजी के लिए भेजीं। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीमहाप्रभुजी की इस असीम अहैतुकी अनुकम्पा को देखकर प्रेमविह्वल हो गये। इसी कृपा के परिणामस्वरूप आगे चलकर इनके सेव्य श्रीशालग्राम भगवान से साक्षात् श्रीकृष्णजी की श्रीमूर्ति श्रीराधारमणजी का आविर्भाव हुआ, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

ठाकुर श्रीराधारमणजी का श्रीगोपालभट्टजी के प्रति कैसा स्नेह था, यह इस एक कथा से सुस्पष्ट होता है-"एक बार श्रीगोपालभट्टजी ने एक बहुत बड़ा महोत्सव मनाया। जिसमें एक बनियाँ का कुछ कर्ज हो गया। धन के अभाव में ये यथा समय कर्ज नहीं चुका सके। तब बनियाँ ने निश्चय किया कि कल प्रातः इनके घर पर ही चलकर जैसे हो तैसे रुपया

वसूल करके ही छोड़ूँगा। श्रीराधारमणजी ने विचार किया कि प्रातःकाल तो श्रीभट्टजी मेरी सेवा-पूजा, राग-भोगादि के आनन्द में मग्न रहते हैं। यदि यह बनियाँ उस समय आया तो मेरे भक्त के आनन्द में अन्तराय पड़ जायेगा, अतः आप स्वयं ही श्रीगोपालभट्टजी का रूप धारणकर बनियाँ के घर जाकर उसके रुपयों का भुगतान कर आये। संयोग से उसी दिन किसी सेवक ने श्रीगोपालभट्टजी को प्रचुर धनराशि भेंट की। अतः आपने सोचा कि कल बनियाँ का कर्ज चुकता कर दूँगा। दूसरे दिन जब श्रीभट्टजी उस बनियाँ के घर गये और रुपया देने लगे तो उस बनियाँ ने कहा कि-''महाराज! आप क्या कर रहे हैं? आप रुपया तो कल प्रातःकाल ही चुकता कर गये थे। श्रीगोपालभट्टजी समझ गये कि यह सब श्रीठाकुर श्रीराधा-रमणजी की ही लीला है। श्रीप्रभु की कृपा विचार कर आपके नेत्र सजल हो गये।

यथासमय श्रीसनातन गोस्वामीपादजी ने इन्हें श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेश की याद दिलाई और उन्हें अपने द्वारा संकलित वैष्णव दर्शन-स्मृति तथा वैष्णव शास्त्रों के संकलन-सम्पादन की ओर प्रवृत्त किया। इन्होंने अनेकों ग्रन्थों की टीकाएँ एवं अनेकों नवीन ग्रन्थ रचनायें कीं। जिनमें श्रीहरिभक्तिविलास, सत्क्रियासार दीपिका संस्कार दीपिका प्रमुख हैं। इस प्रकार समग्र जीवन श्रीहरिभक्ति प्रचार-प्रसार में अर्पण कर आपने शकाब्द १५०७ आषाढ़ मास, शुक्ल पक्ष, पंचमी को नित्यलीला में प्रवेश किया। व्रज की नित्यलीला में आप गुणमञ्जरी हैं। विद्युत् वर्ण आपकी अंग कान्ति है। जवा कुसुम के समान लाल वस्त्रों को धारण करती हैं। श्रीप्रिया-प्रियतम के चँवर डुलाने की तथा जल पिलाने की आपकी प्रधान सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट दक्षिण दिशा में विराजती हैं। आपके सम्बन्ध में श्रीहितध्रुवदासजी कहते हैं- ''अतिविरक्त संसारते, बसे विपिन तजि भौन। प्रीति सहित गोपालभट्ट सेये राधा रौन।।''

श्रीअलि भगवानजी

अलि भगवान राम सेवा सावधान मन वृन्दावन आये कछु औरै रीति भई है।
देखे रासमण्डलमें विहरत रसरास बाढ़ी छबि प्यास दृग सुधि बुधि गई है।।
नाम धरि रास औ बिहारी सेवा प्यारी लागी खगी हिय मांझ गुरु सुनी बात नई है।
बिपिन पधारे आप जाय पगधारे सीस 'ईश मेरे तुम' सुख पायौ कहि दई है।।३७६।।

शब्दार्थ—खगी=धँसी, चुभी, पसन्द आयी। विपिन=श्रीवृन्दावन।

भावार्थ—संत श्रीअलि भगवानजी प्रथम श्रीरामजी के भक्त थे। बड़े ही मनोयोगपूर्वक श्रीरामजी की सेवा-पूजा करते थे। परन्तु श्रीवृन्दावन आने पर इनकी कुछ और ही रीति

हो गयी। रासमण्डल में रासेश्वर श्रीकृष्ण को श्रीराधिकाजी एवं असंख्य ब्रजगोपियों के साथ विहार करते हुए देखकर आपकी सुध-बुध खो गई अर्थात् आप एकदम भाव-विभोर हो गये। नेत्रों को श्रीरासविहारी भगवान के दर्शनों की प्यास प्रबल हो उठी। आपने अपने सेव्य ठाकुर श्रीरामजी का नाम भी श्रीरासविहारी रख लिया और इसी रूप की सेवा आपको प्यारी लगने लगी। श्रीरासबिहारी भगवान की छवि आपके हृदय में बस गई। जब इनके श्रीगुरुदेवजी ने यह नई बात सुनी तो वे श्रीवृन्दावन आये। श्रीगुरुदेवजी का आगमन सुनकर आप भी गुरुजी का दर्शन करने आये और श्रीगुरुचरणों में माथा टेककर प्रणाम किये। जब श्रीगुरुजी ने पूछा कि- "तुमने उपासना क्यों बदल दी?" तब इन्होंने कहा कि-"मेरे गुरुदेवजी तो आप ही हैं और इष्ट भी श्रीसीतारामजी ही हैं। श्रीरासविहारी भगवान का दर्शन कर आत्मा को सुख मिला अतः इनकी ही सेवा करने लगा।" इनकी यह निश्छल हृदय की भाव भरी वार्ता सुनकर श्रीगुरुदेवजी बहुत प्रसन्न हुये और बोले कि कोई हर्ज नहीं है। श्रीरामजी और श्रीकृष्ण तो तत्वत्तः एक ही हैं, अतः इससे उपासना में कोई त्रुटि नहीं आई है। तुम तो खूब प्रेमपूर्वक श्रीरासविहारी भगवान की ही सेवा करो।।३७६।।

व्याख्या—श्रीअलिभगवानजी—आप प्रथम तो भगवान श्रीरामजी के अनन्य भक्त थे। एक बार इन्होंने श्रीरामलीलानुकरण में श्रीरामजी का वन-गमन प्रसंग देखा। (और वनगमन की कथा सुनी) बस, उसी समय से इनको श्रीरामजी का विरह व्याप गया। ये निरन्तर रोते रहते, क्रन्दन करते रहते, हा राम! हा रघुनाथ! कहते रहते थे। शरीर सूखकर एकदम जर्जर हो गया। ये बावले से भए इतस्ततः घूमते रहते। शुभचिन्तकों ने बहुत समझाने-बुझाने का प्रयत्न भी किया, परन्तु सब व्यर्थ गया। एक मर्मी सन्त ने इनकी दशा देखी, हृदय की व्यथा पहचानी। वे समीप आकर इनसे सब वृतान्त पूछे। इन्होंने भी उपयुक्त पात्र पाकर धीरे-धीरे अपनी मनोव्यथा कह सुनायी। संत ने कहा-"क्या आप कभी वृन्दावन गये हैं?" इन्होंने कहा- "नहीं"। तब वे संत इन्हें अपने साथ ही श्रीवृन्दावन लिवा लाये। श्रीवंशीवट पर श्रीरास-लीलानुकरण हो रहा था। वे इनको वहाँ दर्शन कराने हेतु ले गए। अधिकारी जानकर भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें लीलास्वरूप में ही अपनी दिव्य झाँकी का दर्शन कराया। भगवान का साक्षात्कार होते ही इनका विरह दूर हो गया। मन पग गया श्रीरासबिहारी भगवान में। मन में उमंग आई कि अब तो इन्हीं की सेवा करनी चाहिये। परन्तु दूसरे ही क्षण विचार आया कि श्रीगुरुदेवजी ने तो श्रीसीतारामजी की सेवा सौंपी है। अब यदि श्रीसीतारामजी की सेवा छोड़कर श्रीरासबिहारी भगवान की सेवा करता हूँ तो यह श्रीभगवदपराध होता है। बहुत

सोच-विचार के बाद यह निश्चय किये कि श्रीसीतारामजी की ही अब श्रीरासबिहारी-बिहारिणी के रूप में सेवा करुँगा। उसी दिन से ये अब श्रीसीतारामजी को श्रीरासबिहारी के नाम से पुकारने लगे और उनका समस्त साज-शृङ्गार भी अब राजाराम की जगह श्रीरासबिहारी का करने लगे। ऐसे ही श्रीनन्ददासजी (अष्टछाप वाले) भी पहले श्रीराम भक्त थे, श्रीवृन्दावन आकर श्रीविट्ठलनाथजी से प्रभावित होकर ही श्रीकृष्ण भक्त बन गये। श्रीकल्याणजी प्रथम में श्रीजगन्नाथजी के भक्त थे। परन्तु-"प्रान पयानो करत नेह रघुपति सों जोर्यौं।" (छ०-१८९), इन चरित्रों में यथावत् अनन्यता सुरक्षित है। "रघुवर यदुवर गाय विमल कीरति संच्यौ धन।।"

गुरु सुनी बात नई है—इनके श्रीगुरुजी के परिचय के एक सन्त श्रीवृन्दावन आये थे। उन्होंने इनकी रीति-प्रीति देखी तो जाकर इनके गुरुजी से शिकायत की कि आपका चेला तो बहक गया है। वह श्रीरामजी को छोड़कर श्रीकृष्णजी का भक्त हो गया है। श्रीवृन्दावन के ठाकुर ने उसे ठग लिया है। बात भी ठीक है। प्रेमिल हृदय देखकर श्रीठाकुरजी का मन ललचा जाता है कि काश, यदि यह मेरा प्रेमी बन जाता तो कितना अच्छा होता। बिल्व-मंगल का चिन्तामणि के प्रति अगाध प्रेम देखकर ही श्रीठाकुरजी ने उन्हें चिन्तामणि के द्वारा उपदेश दिलाकर अपने यहाँ बुला लिया। "श्रीतुलसीदासजी श्रीवृन्दावन आये तो उनके हृदय की भी निर्मलता देखकर श्रीकृष्ण प्रवेश करने लगे तो श्रीतुलसीदासजी ने कहा था-"यह हृदय तो श्रीरामजी का निवास स्थान है। यदि आपको भी यहाँ रहने की रुचि है तो आप श्रीराम रूप में आइये।" ऐसे ही श्रीमीराबाई आदि के हृदय में बरबस ही जाकर दखल जमा लिये। उसी प्रकार अलि भगवान का भी स्नेहिल हृदय श्रीकृष्ण को भाग गया अतः दर्शन देकर अपनी ओर आकृष्ट कर लिये। जब इनके श्रीगुरुदेवजी ने यह समाचार सुना तो वे भी श्रीवृन्दावन आये। श्रीगुरु आगमन सुनकर इन्होंने भी जाकर श्रीगुरुजी को सादर-सप्रेम-साष्टांग दण्डवत्प्रणाम किया। श्रीगुरुजी ने पूछा-"कहा कमी रघुवीर के, छांड़ि कुल की बान।" इन्होंने कहा-"मन अनुरागी ह्वै गयो, सुनि मुरली की तान।।" फिर सब बात सही-सही बता दी। श्रीगुरुजी तत्वज्ञ थे। अतः उन्होंने इनके भाव का समर्थन ही किया। यथा- "नन्दसुवन दसरथ कुँवर उभै एक सरकार। नारायन जो दो कहैं सो अविवेक विचार।। राम कृष्ण दोउ एक हैं, रंगरूप वपु भेष। उनके दृग गम्भीर हैं इनके चपल विशेष।।" इस प्रकार श्रीराम-कृष्ण कातत्त्वैक्य प्रतिपादन करके श्रीगुरुजी ने अलि भगवान को श्रीरासबिहारी भगवान की उपासना में दृढ़ किया। साथ ही यह चेतावनी भी दे दी कि अब इनको छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता को न भजना। यही कहने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। श्रीअलि भगवान आजीवन इसी निष्ठा में दृढ़ रहे और रसिकों के सत्संग में श्रीवृन्दावन की माधुरी का निरन्तर आस्वादन करते रहे।

श्रीबीठलविपुलदेवजी

स्वामी हरिदास जू के दास नाम बीठल है गुरुसे वियोग दाह उपज्यो अपार है।
रासके समाजमें विराज सब भक्तराज बोलिकै पठाये आये आज्ञा बड़ौभार है।।
युगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद गान तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिलि गये वाही ठौर पायौ भावतन और कहे रससागर सो ताको यों विचार है।।३७७।।

भावार्थ—श्रीस्वामी श्रीबीठलविपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजी के शिष्य थे। श्रीगुरुदेवजी के नित्यलीला प्रवेश के अनन्तर इनके हृदय में श्रीगुरु वियोगजन्य अपार दाह उत्पन्न हुआ। इनकी उस विरह-ज्वाला को शान्त करने के लिए श्रीवृन्दावन के रसिकों ने रासलीला का आयोजन कराया। उसमें सभी रसिक महानुभाव उपस्थित थे। श्रीबीठल विपुलदेवजी को भी बुलाया गया। "गुरोराज्ञा गरीयसी" विचारकर आप भी रास के समाज में आये। लीलास्वरूप श्रीप्रियतम युगल की छबि का दर्शन करके एवं उनके अनेक नृत्य-भेद को देखकर तथा गान-तान कानों से सुनकर इन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं रही। फलस्वरूप इस पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़कर दिव्य भावशरीर प्राप्तकर श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये, जहाँ इनके श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीहरिदासजी विराजते थे। श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने इन्हें छप्पय में जो रस सागर कहा है वह इनकी इस गुरुनिष्ठा एवं इष्ट निष्ठा को हृदय में विचार कर ही "विपुल बीठल रससागर" कहा है।।३७७।।

व्याख्या—स्वामी हरिदासजी के दास—श्रीबीठल विपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजी के पट्ट शिष्य थे। आप श्रीस्वामीजी के पूर्व आश्रम के मामा के लड़के थे। स्वनामधन्य श्रीगुरुजनजी एवं परम साध्वी श्रीकौशल्या देवी को इनका माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपका प्रादुर्भाव वि०सं० १५३२, मार्गशीर्ष मास, शुक्ल, पंचमी को हुआ था। आप आयु में स्वामी श्रीहरिदासजी से पाँच साल बड़े थे। कहते हैं कि जिस दिन श्रीस्वामीजी का प्रादुर्भाव हुआ, उस दिन श्रीबीठलविपुलदेवजी भी पिता के साथ जन्मोत्सव बधाई में आये हुए थे और श्रीस्वामीजी का दर्शन करके परम सुख पाये। पिता गुरुजन ने बालक बीठल विपुल का नवजात शिशु (श्रीस्वामीजी) में सहज स्नेह देखकर उन्हें श्रीस्वामी श्रीहरिदासजी के पास ही छोड़कर घर चले गये। इस प्रकार (श्रीबीठलविपुलदेवजी) को बाल्यावस्था से ही श्रीस्वामीजी का सत्संग प्राप्त हो गया था। परिणाम यह हुआ कि जब श्रीस्वामी संसार से उपरत होकर श्रीधाम श्रीवृन्दावन आये तो श्रीबीठलविपुलदेवजी भी सर्वस्व परित्याग कर

श्रीस्वामीजी के संग हो लिये। कालान्तर में श्रीस्वामीजी से ही आपने विधिपूर्वक मन्त्र-दीक्षा ली और मन, वचन, कर्म से श्रीस्वामीजी की ही सेवा में रहने लगे। श्रीस्वामी हरिदासजी का पूर्ण परमानुग्रह आपको प्राप्त था। श्रीस्वामीजी की कृपा से श्रीबाँकेबिहारीजी को नित्य-निकुञ्ज भवन से गोद में उठाकर बाहर लाने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ था। (इस सम्बन्ध में विशेष देखिये श्रीस्वामीजी के प्रसंग में श्रीबाँकेबिहारीजी के प्राकट्य की कथा)।

गुरुसे वियोग—श्रीस्वामी हरिदासजी के नित्यनिकुञ्ज लीला में प्रवेश करने के अनन्तर आपके हृदय में अपार गुरु वियोग प्राप्त हुआ। जैसे भक्तिमती शबरी को श्रीमतंगजी के वियोग में दारुण दु:ख हुआ था। यथा-"गुरु को वियोग हिये दारुन लै सोक दियो जियो नहीं जात....।" (क०-३४), स्वामी श्रीहरिदासजी का अदर्शन होते ही आपने आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। (इस पर दृष्टान्त-श्रीनिषादराज गुह का, देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५१७) साथ ही अन्न-जल का भी परित्याग कर दिया। सात दिन तक अविरल अश्रु प्रवाह करते हुये श्रीस्वामीजी के वियोग में तड़पते रहे। इनकी यह दशा देख सुनकर श्रीवृन्दावन के रसिक समाज में बड़ी खलबली मच गयी। आपकी जीवन रक्षा के लिए सब लोगों ने आपस में विचार-विमर्श करके रासलीला का आयोजन किया तथा लीलास्वरूप श्रीश्रीजी को सिखा दिया कि आप श्रीबीठलविपुलदेवजी का हाथ पकड़ लेना तथा श्रीठाकुरजी से भी निवेदन किया कि आप उनके सिर पर हाथ रखकर दर्शन करने का आग्रह करना। रासलीला प्रारम्भ हो गयी। रसिकों ने श्रीहरिरामव्यासजी को श्रीबीठलविपुलदेवजी को बुलाने के लिए भेजा। यद्यपि आपकी समाज में आने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। परन्तु "आज्ञा बड़ौ भार है" अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा टाली नहीं जा सकती है अत: आये। पूर्व के निश्चित संकेत के अनुसार श्रीश्रीजी के स्वरूप ने श्रीबीठलविपुलदेवजी का हाथ पकड़कर तथा श्रीठाकुरजी ने इनके सिर पर हाथ रखकर दर्शन करने का अनुरोध किया कि-"बाबा! आँख की पट्टी खोलकर मेरा दर्शन कर लो।" इतना कहकर श्रीप्रियाजू ने इनके आँखों की पट्टी खोल दी। श्रीबीठल विपुलदेवजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम युगल का दर्शन करके पूछा कि मेरे स्वामीजी कहाँ हैं? श्रीप्रियाजू ने कहा-"वह तो मेरे नित्यसखी परिकर में सम्मिलित हो गये हैं।" श्रीबीठल विपुलदेवजी ने कहा- "करुणा निधि मम स्वामिनी तुम पकर्यौ मम हाथ। अब करुणा करि लाड़िली राखि आपने साथ।।" तत्पश्चात् आपने "हा स्वामीजी" यह कहते हुए सबके देखते-देखते भावरूप सखीरूप धारण करके नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये। रसिक समाज में हा-हाकार मच गया।" तभी तो श्रीनाभाजी ने "विपुल बीठल रससागर" कहा।

श्रीबीठलविपुलदेवजी की अपूर्व गुरुनिष्ठा देखकर सब लोग चकित हो गये। शास्त्रों में जैसा कहा गया है कि श्रीगोविन्द से भी बढ़कर श्रीगुरुदेव को समझना चाहिए। यथा–"तुम ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।" (रामा०), श्रीबीठलविपुलदेवजी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तभी तो श्रीनाभाजी ने इन्हें "विपुल बीठल रससागर" कहा है। "श्रीबीठलविपुलदेवजी की वाणी–"हमारे माई स्यामा जू को राज। जाके अधीन सदा ही सांवरो या ब्रज कौ सिरताज।। यह जोरी अविचल श्रीवृन्दावन नाहिं आनसों काज। श्रीबीठल विपुल विहारिनि के संग दिन जलधर ज्यौं गाज।। सजनी नव निकुंज द्रुम फूले। अलि कुलसंकुल करत कुलाहल सौरभ मनमथ मूले।। हरषि हिंडोरे रसिकराय वर युगल परस्पर झूलें। बीठल विपुल विनोद देखि नभ देव विमाननि भूलें।। प्रिया पीतम्बर मुरली जीती। हा हा करत न देति लाड़िली चरन लुठत निसि बीती।। राखो याहि दुराय सखी री ललितादिक रहो निचीती। बीठल विपुल विनोद बिहारी प्रगट करत रस रीति।। प्यारी नेक निरखौ नवरंग लालै। तुव पद पंकज तलरज बंदत तिलक बनावत भालै।। तेरे वरन बसन आभूषन उर धरि चम्पक मालै। बीठल विपुल विनोद करहु मिलि भुज भरि कण्ठ विसालै।।

श्रीजगन्नाथथानेश्वरीजी

महाप्रभु पारषद थानेश्वरी जगन्नाथ नाथकौ प्रकाश घर दिना तीनि देख्यो है।
भये शिष्य जान आप नाम कृष्णदास धर्‌यौ, कृष्णजू कहत सबै आदर विसेख्यो है।।
सेवा 'मनमोहनजू' कूपमें जनाइ दई, बाहर निकासि करी लाड़ उर लेख्यो है।
सुत रघुनाथजू कों स्वप्न में श्लोकदान, दयाके निधान पुत्र दियो प्रेम पेख्यो है।।३७८।।

भावार्थ—श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी श्रीमहाप्रभु कृष्ण चैतन्यजी के पार्षद अर्थात् शिष्य थे। शिष्य होने के पूर्व ही इन्होंने घर पर ही श्रीजगन्नाथ भगवान का ज्योतिर्मय स्वरूप तीन दिन तक लगातार देखा। इसको भगवान की अहैतुकी कृपा विचार कर ये जगत से विरक्त होकर श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के शिष्य हो गये। परम सुजान श्रीमहाप्रभुजी ने इनका नाम रखा-श्रीकृष्णदास। परन्तु अत्यन्त आदर वश सब लोग इन्हें कृष्णजी कहते थे। ठाकुर श्रीमनमोहनजी ने स्वप्न में इन्हें सूचित किया कि "मैं अमुक कुएँ में हूँ मुझे वहाँ से निकालकर मेरी सेवा का विस्तार करो।" प्रभु का संकेत पाकर ये उक्त कुएँ से श्रीमनमोहनजी को बाहर निकाले और अत्यन्त लाड़-प्यार से सेवा करने लगे। इनके एक पुत्र थे रघुनाथजी, जो सर्वथा विद्या विहीन थे। उनको सुबुद्ध बनाने के लिए दयानिधान भगवान ने स्वप्न में ही श्रीथानेश्वरीजी को एक श्लोक दिया और आज्ञा दी कि यह श्लोक अपने पुत्र को पढ़ा दो, वह इसके प्रभाव से

विद्वान् हो जायेगा। इन्होंने वह श्लोक अपने पुत्र को पढ़ाया तो सचमुच वह विद्वान् हो गया। इस प्रसंग से श्रीठाकुरजी का श्रीथानेश्वरीजी के प्रति अपार प्रेम देखने में आता है। इस प्रकार भक्त भगवान में परस्पर अन्योन्य प्रीति थी।।३७८।।

व्याख्या—नाथको प्रकाश....देख्यो है—वर्णन आया है कि आप बड़े सन्त सेवी थे। एक बार आपको श्रीजगन्नाथ के दर्शन की इच्छा हुई। परन्तु पुनः मन में विचार आया कि मेरे घर पर नहीं रहने से सन्तों का ठीक से सत्कार नहीं हो सकेगा। मैं भगवान का दर्शन करने जाऊँ और भगवान के अत्यन्त प्यारे साधु हमारे यहाँ से निराश जायँ, यह उचित नहीं है। अतः आपने जाने का निश्चय छोड़ दिया। तब एक शिष्य ने कहा कि-"महाराज! मेरी राय है कि आप अधिक नहीं केवल तीन दिन के लिए ही दर्शन को चलिये। तीन दिन तक और लोग सेवा सँभाले रहेंगे।" आपने शिष्य की बात मानकर पुनः चलने का निश्चय कर लिया। "तब दयानिधान भगवान ने इनकी सन्तसेवा निष्ठा तथा अपने प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग देखकर घर पर ही तीन दिन तक लगातार दर्शन दिया।" (इस पर दृष्टान्त-श्रीपृथ्वीराजजी का-इन्हें श्रीद्वारकाधीश भगवान ने घर पर ही दर्शन दिया था। विशेष देखिये छ०-११६, क०-४८१, ४८४), फिर तो ये यात्रा स्थगित कर सन्त सेवा में ही लगे रहे। श्रीप्रभु की कृपा एवं सन्त सेवा के प्रताप से इनकी संसार की आसक्ति सर्वथा मिट गई और ये श्रीमन्महाप्रभुजी के शिष्य हो गये।

श्रीजगन्नाथथानेश्वरीजी की श्रीभगवद्रूप में तन्मयता के सम्बन्ध में कथा आती है कि ये एक बार श्रीठाकुर श्रीमनमोहनजी का वसन्त का श‍ृंगार कर रूपमाधुरी को पान करने में ऐसे तन्मय हो गये कि शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। इनकी इस तन्मयता को देखकर भगवान भी मुग्ध हो गये और जैसे श्रीथानेश्वरीजी श्रीप्रभु दर्शन में तन्मय हो रहे थे, उसी प्रकार श्रीठाकुरजी भी श्रीथानेश्वरीजी की भावदशा का दर्शन करने में तन्मय हो गये। श्रीठाकुरजी की तन्मयता ऐसी बढ़ी कि वे कीट-भृंग न्याय से श्रीथानेश्वरीजी को देखते-देखते श्रीथानेश्वरीजी के स्वरूप ही हो गये। संयोग से उसी समय श्रीजगन्नाथजी का एक शिष्य श्रीगुरु-गोविन्दजी का दर्शन करने आया। प्रथम उसने श्रीगुरुदेवजी का दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् वह श्रीठाकुरजी का दर्शन करने लगा। परन्तु उस समय उसे महान् आश्चर्य हुआ जब उसने श्रीठाकुरजी के सिंहासन पर श्रीठाकुरजी की जगह श्रीगुरुदेवजी को ही विराजमान देखा। आज उसे श्रीहरि और श्रीगुरु एक रूप में ही दिखायी पड़े। यह रहस्य उसकी समझ में नहीं आया। अतः उसने श्रीगुरुदेवजी से आकर इसका कारण पूछा।

इतने में श्रीथानेश्वरीजी प्रकृतिस्थ हो चुके थे। अतः श्रीप्रभु की भी तन्मयता भंग हो गयी, श्रीप्रभुजी अपने पूर्व स्वरूप में स्थित हो गये। श्रीथानेश्वरीजी को तत्काल श्रीप्रभुजी की तन्मयता का बोध हो गया। अतः आपने शिष्य से कहा–"अच्छा, इस बार जाकर दर्शन करो, तुम्हें प्रभु के ही दर्शन होंगे।" अबकी बार सचमुच श्रीठाकुरजी के ही दर्शन हुए। फिर बाद में आपने शिष्य को इस रहस्य का बोध कराया।

श्रीलोकनाथ गोसाईंजी

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यजू के पारषद लोकनाथ नाम अभिराम सब रीति है।
राधाकृष्ण लीला सौं रंगीनमें नवीन मन जैसे जल मीन तैसें निसि दिन प्रीति है।।
भागवत गान रसखान सो तौ प्राण तुल्य अति सुख मान कहैं गावैं जोई मीति है।
रसिक प्रवीन मग चलत चरण लागि कृपा कै जनाय दई जैसी नेह नीति है।।३७९।।

भावार्थ—श्रीमहाप्रभु कृष्ण चैतन्यजी के एक पार्षद थे, उनका सुन्दर नाम था श्रीलोकनाथजी। इनकी समस्त रीति रहनी-सहनी भी बड़ी सुन्दर थी। इनकी श्रीराधाकृष्ण की रसमयी नित्य नूतन लीलाओं में नित्य नवीन रुचि थी और मीन की जैसे जल से प्रीति होती है वैसे ही इनकी श्रीराधाकृष्णजी के प्रति अहर्निश एक रस प्रीति थी। रसरूप श्रीमद्भागवत महापुराण का गान, कीर्तन, पारायण इनको प्राण के समान प्रिय था। ये इसमें अत्यन्त सुख मानते थे और कहा करते थे कि जो कोई भी श्रीमद्भागवतजी का गान करते हैं वे मेरे मित्र हैं। इस रसभावना में प्रवीण श्रीलोकनाथजी ने एक बार मार्ग में जाते हुये एक महानुभाव को श्रीमद्भागवत का पाठ करते हुए देखकर उनके चरणों में पड़ गये। इस प्रकार से आपने कृपा करके श्रीमद्भागवतजी के प्रति आपकी जैसी प्रीति थी, उसे प्रकट करके दिखा दिया।।३७९।।

व्याख्या—श्रीलोकनाथजी का प्रादुर्भाव वि०सं०१५४० में पूर्व बङ्गाल के यशोहर जनपदान्तर्गत वालखेड़ा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीपद्मनाभ चक्रवर्ती और माता का नाम सीतादेवी था। बचपन से ही इनकी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। इन्होंने अपने पिता से ही व्याकरण, न्याय, काव्य कोश अलंकारादि का अध्ययन किया। फिर वेद-वेदान्त एवं श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये शान्तिपुर निवासी श्रीअद्वैताचार्यजी की पाठशाला के छात्र बने। उन दिनों श्रीप्रेमपुरुषोत्तम श्रीगौरांग महाप्रभुजी भी वहीं अध्ययन कर रहे थे। प्रथम साक्षात्कार में ही श्रीलोकनाथजी का श्रीमहाप्रभुजी में अपार स्नेह हो गया। उस पर भी श्रीअद्वैताचार्यजी ने एक दिन श्रीलोकनाथजी का हाथ पकड़कर श्रीगौरांग महाप्रभुजी को सौंपते

हुए कहा-''इसे अपना करके मानना।'' तब से श्रीमहाप्रभुजी का श्रीलोकनाथजी के प्रति स्नेह और भी बढ़ गया। हमेशा इन्हें अपने साथ रखते। अध्ययन पूर्ण होने पर जब दोनों स्नातक होकर अपने-अपने घर गये तो कुछ काल तक के लिए दोनों में वियोग रहा। परन्तु कुछ ही दिन बाद श्रीगौरांग महाप्रभुजी जब अध्यापकी छोड़कर संकीर्तन के प्रचार में लगे थे, उन्हीं दिनों माता-पिता के दिवंगत हो जाने से श्रीलोकनाथजी भी संसार से संन्यास लेकर महाप्रभुजी के प्रेम से आकृष्ट होकर श्रीनवद्वीप को चल पड़े। श्रीभगवदिच्छा से श्रीलोकनाथजी का श्रीमहाप्रभुजी से यह द्वितीय मिलन भी श्रीअद्वैताचार्यजी के यहाँ ही हुआ। उस दिन श्रीमहाप्रभुजी अपनी कीर्तन मण्डली के साथ श्रीआचार्यपाद का दर्शन करने आये थे और ये भी किसी अज्ञात प्रेरणा से वहीं जा पहुँचे। श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करते ही ये प्रेमावेश में करुण-क्रन्दन करते हुए श्रीप्रभु के चरणों में गिर पड़े। श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें उठाकर अपने हृदय से लगाया और बहुत प्रकार से धैर्य बँधाकर परामर्श दिया कि-''तुम मेरी बात मानकर श्रीवृन्दावन चले जाओ। कुछ दिन बाद वहाँ तुम्हें परम भागवत श्रीरूप-सनातन, श्रीगोपालभट्ट आदि वैष्णवों का सत्संग प्राप्त होगा। पुनः तुम्हारे द्वारा भक्ति एवं श्रीभगवद्धाम ब्रजभूमि का बहुत बड़ा हित होगा। अब मैं भी शीघ्र संन्यास लेकर मुक्त हृदय से प्राणीमात्र को श्रीभगवन्नाम का वितरण करूँगा''

श्रीप्रभु के संन्यास के संकल्प से प्रथम तो इनका मन बहुत व्यथित हुआ परन्तु पुनः श्रीप्रभु के समझाने से स्वस्थ होकर श्रीपण्डित गदाधर गोस्वामी के प्रिय शिष्य श्रीभूगर्भ गोस्वामी को साथ लेकर श्रीवृन्दावन के लिए चल पड़े। श्रीवृन्दावन पहुँचकर इनके मन को परम विश्राम मिला। एक श्यामतमाल वृक्ष के नीचे आसन लगाये। प्रेमविह्वल चित्त से श्रीराधा-माधव की ललित लीलाओं का चिन्तन एवं सतत् नाम स्मरण इनकी सहज साधना थी। परन्तु यह सब होने पर भी इनका मन श्रीगौर चरणों के लिए तड़पता रहता। जब श्रीगौरांग महाप्रभुजी ने दक्षिण भारत की यात्रा की और श्रीरंगम् में श्रीवेङ्कटभट्टजी के यहाँ चातुर्मास्य कर रहे थे। उस समय एक वैष्णव के द्वारा श्रीमहाप्रभुजी का पता पाकर श्रीलोकनाथजी दर्शनार्थ श्रीरंगम् को चल दिये। परन्तु वहाँ पहुँचने पर पता चला कि वे तो यहाँ से कब के प्रस्थान कर चुके हैं। वहाँ इनका श्रीगोपालभट्टजी से मिलन हुआ। पुनः विश्वसनीय सूत्रों से पता चला कि श्रीमहाप्रभुजी ब्रज-श्रीवृन्दावन के दर्शन निमित्त उत्तर भारत की यात्रा करने गये हैं। ये तत्काल वहाँ से चले और अविश्रान्त भाव से चलते हुए श्रीवृन्दावन पहुँचे। परन्तु यहाँ आने पर पता चला कि श्रीमहाप्रभुजी तो यहाँ के तीर्थों के दर्शन कर प्रयाग की ओर प्रस्थान कर गये। इतना प्रयास करने पर भी श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन न होने से इन्हें

अपार मानसिक कष्ट हुआ और तब इन्होंने संकल्प किया कि या तो प्रयाग जाकर श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करूँगा या त्रिवेणी में अपने शरीर का विसर्जन ही कर दूँगा। उसी दिन रात्रि में श्रीमहाप्रभुजी ने स्वप्न में आदेश दिया-"लोकनाथ! मैं तो सदा तुम्हारे साथ हूँ। तुम अब श्रीवृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं जाना। मैं प्रयाग से सीधा नीलाचल जाऊँगा और वहाँ से अपना सब समाचार देता रहूँगा।" श्रीलोकनाथजी ने श्रीमहाप्रभुजी का स्वप्नादेश शिरोधार्य किया और श्रीवृन्दावन वास करने लगे। आगे चलकर श्रीमहाप्रभुजी की प्रेरणा से श्रीरूप-सनातन प्रभृति श्रीवैष्णववृन्द श्रीवृन्दावन आये। उनके साहचर्य से इनकी साधना को बहुत बल मिला।

एकबार आप एकान्तवास की इच्छा से ये व्रज के परम पावन स्थान छाता तहसील के उमराव ग्राम में किशोरी कुण्ड पर स्थित तमाल वृक्ष के नीचे रहने लगे। इनके हार्दिक अनुराग को देखकर एक दिन भगवान ने स्वप्न में इनसे कहा कि "मैं किशोरी कुण्ड में स्थित हूँ। मुझे यहाँ से निकालकर मेरी सेवा पूजा करो। मैं बहुत दिन से भूखा हूँ।" इनकी निद्रा भंग हुई। प्रभु के द्वारा प्राप्त संकेतानुसार इन्होंने किशोरी कुण्ड से श्रीविग्रह को बाहर निकाला और विधिपूर्वक अभिषेक कर श्रीराधाविनोद नाम से श्रीठाकुरजी की स्थापना की। नित्यप्रति नवीन लाड़ से श्रीठाकुरजी की सेवा करते। इनकी प्रीति-रीति के सम्बन्ध में श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-"जैसे जल मीन तैसे निसि दिन प्रीति है।" भाव यह है कि जैसे मछली की जल में परम प्रीति होती है, वह एक क्षण के लिए भी जल का वियोग सह नहीं सकती। यथा-"जल विनु थल कहां मीच बिनु मीन को।।" (वि०), इतना ही नहीं मरने पर भी वह अपने प्रियतम जल की चाह करती है। यथा-"मीन काटि जल धोइये, खाएहुं अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिये मुएहुँ मीत की आस।।" इसी से श्रीपरशुरामदेवजी कहते हैं-"परसा हरि सौं हेतकर मछरी को सो न्याय। जियत मरत तन छारहूँ जल बिनु रह्यौ न जाय।।" ऐसी ही प्रीति इनकी थी। इनकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि मैं शिष्यों का संग्रह नहीं करूँगा और रहने के लिए कुटी नहीं बनाऊँगा।" फलस्वरूप लता कुंजों तथा वृक्षों के नीचे ही इनका निवास होता और जहाँ अपने रहते वहीं इनके श्रीठाकुरजी भी रहते। वर्षा आदि में कभी-कभी श्रीठाकुरजी को वृक्षों के कोटर में छिपा देते तो कभी गोद में रखकर स्वयं को उनका आच्छादन बना देते। इस प्रकार बड़े ही प्रेमपूर्वक श्रीठाकुरजी की आत्मवत् सेवा करते थे। पद्मा नदी के तट पर स्थित खेतरी के राजा कृष्णानन्ददत्तजी के पुत्र श्रीनरोत्तमदासजी की अपूर्व श्रीगुरुसेवा से सन्तुष्ट होकर इन्होंने अपने प्रण को भूलकर उन्हें विधिवत् मन्त्र-दीक्षा दी थी। श्रीनरोत्तमदासजी के लोकोत्तर सेवा-भाव को देखकर श्रीजीवगोस्वामीपादजी ने उन्हें 'ठाकुर' की पदवी दी थी।

इस प्रकार श्रीलोकनाथ गोस्वामीजी का सम्पूर्ण जीवन सुदृढ़ साधनामय रहा। आत्म प्रचार से ये इतने दूर रहते थे कि-"श्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराजजी जब ग्रन्थ रचना के पूर्व इनकी आज्ञा एवं आशीर्वाद लेने गये तो इन्होंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा कि ग्रन्थ में कहीं भी मेरी चर्चा न की जाय।"

एकबार श्रीलोकनाथजी श्रीराधाकृष्ण के प्रेमरंग में रँगे हुए श्रीराधाविनोद ठाकुर का शृङ्गार करके रूपमाधुरी का दर्शन करने में ऐसे मुग्ध हुये कि शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। उधर श्रीठाकुरजी के लिए भोग बनाने में देर हो रही थी। तब श्रीठाकुरजी स्वयं ही इनका रूप धारण कर पाकशाला में जाकर रसोई बनाने लगे। इतने में एक सेवक दर्शन करने आया। प्रथम वह रसोई का समय जानकर पाकशाला में गया तो वहाँ इन्हें रसोई बनाते देखा, फिर श्रीठाकुरजी का दर्शन करने आया तो यहाँ इनको श्रीठाकुरजी के दर्शन में बेसुध देखा। सेवक को परम आश्चर्य हुआ। वह अपने मन का विस्मय दूर करने के लिए कई बार मन्दिर और पाकशाला में आया गया। परन्तु हर बार उन्हें दोनों जगह श्रीलोकनाथजी का ही स्वरूप दिखाई पड़ा। तब अन्त में मन्दिर में विराजमान श्रीलोकनाथजी के चरणों में पड़कर यह विस्मयकारी प्रसंग निवेदन किया। सुनकर ये भी पाकशाला में गये तो सचमुच वहाँ रसोई बनकर पूर्ण तैयार थी, परन्तु अब बनाने वाला वहाँ नहीं था। श्रीलोकनाथजी समझ गये कि वह कोई और नहीं, साक्षात् श्रीराधाविनोद ठाकुरजी ही थे। प्रभु की कृपा विचारकर श्रीलोकनाथजी गद्गद हो गये। इनकी यह भाव दशा देखकर शिष्य भी समझ गया कि यह सब प्रभु की ही लीला थी। थोड़ी देर बाद गुरु शिष्य दोनों श्रीठाकुरजी के पास आये तो देखे कि इन्हें देखकर श्रीठाकुरजी मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। ऐसे आपके अनेकों चरित्र हैं। वि० सं० १६४५, श्रावण, श्रीकृष्णाष्टमी आपकी नित्य निकुञ्ज प्रवेश की तिथि है। नित्यलीला में ये मञ्जुलालिमंजरी हैं। जिस प्रकार से सखियों में श्रीललिताजी के बाद श्रीविशाखाजी का नाम आता है, उसी प्रकार से ही मंजरियों में श्रीरूप मंजरी के पश्चात् श्रीमञ्जुलालिमंजरी का नाम स्मरण किया जाता है। तप्तस्वर्ण के समान शरीरकान्ति, किंशुक पुष्प के समान लाल वस्त्र तथा श्रीप्रिया-प्रियतम के वस्त्रों को सँभालकर रखना एवं पहिनाना आदि इनकी प्रधान सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट ईशानकोण में इनकी स्थिति है।

श्रीमधुगोसाईंजी

श्रीमधुगोसाईं आये वृन्दावन चाह बढ़ी देखैं इन नैंननिसों कैसोधौं सरूप है।
ढूँढ़त फिरत बन-बन कुंज लता द्रुम मिटी भूख प्यास नहीं जानैं छांह धूप है।।

जमुना चढ़त काट करत करारे जहां बंसीवट तट डीठ परो सो अनूप है। अंक भरि लिये दौर अजहूं लौं सिरमौर चाहै भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है।।३८०।।

शब्दार्थ—करारे=कगार, नदी तट के ऊँचे किनारे।

भावार्थ—श्रीमधुगोसाईजी आप बंगाल से श्रीवृन्दावन आये। यहाँ आने पर इनके मन में यह चाह बढ़ी कि इन नेत्रों से श्रीश्यामसुन्दर के त्रिभुवन मोहन स्वरूप को देखना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि भगवान का वह अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य स्वरूप कैसा है? इसी लालसा से ये श्रीवृन्दावन के वन-वन, वृक्ष-लता-कुञ्जों में भगवान को ढूँढ़ते फिरते। दर्शन की चटपटी में इनकी भूख-प्यास मिट गयी। ऐसे बेसुध हुए कि इन्हें छाया-धूप का भी किंचित् भान नहीं रहा। एकबार ये वंशीवट के निकट यमुना तट पर बैठे हुए थे। उस समय श्रीयमुनाजी में बाढ़ आयी हुई थी, वे ऊपर चढ़ रही थीं। उनका तीव्र वेग बड़े वेग से करारों को काट-काटकर गिरा रहा था। उसी समय इन्हें श्रीवंशीवट के समीप अनूप रूपसिन्धु श्रीठाकुरजी के दर्शन हुए। इन्होंने दौड़कर श्रीठाकुरजी को गोद में भर लिया। आज भी वे शिरमौर श्रीठाकुरजी श्रीगोपीनाथजी के रूप में विराजमान हैं। बड़भागी जन आज भी उनका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं।।३८०।।

व्याख्या—श्रीमधुगोसाईं आये वृन्दावन—आप बंगाल के रहने वाले थे। इन्होंने कथा में सुना कि श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर एक पग भी कहीं बाहर नहीं जाते हैं। यथा- "वृन्दावनं परित्यज्यपादमेकं न गच्छति।।" तथा प्रेमी भक्तों को अब भी दर्शन देते हैं। अतः श्रीभगवद्दर्शन की अभिलाषा से प्रेरित होकर ये वृन्दावन चले आये। "ढूँढ़त फिरत" -श्रीवृन्दावन आकर ये वन-वन, वृक्ष-लता-कुंजों में श्रीठाकुरजी को ढूँढ़ते-फिरते। जो भी व्रजवासी सन्त महन्त मिलते, उनसे ही श्रीठाकुरजी का पता पूछते। सब लोग मन्दिरों में बताते। ये वहाँ जाते, दर्शन करते, पर मन को सन्तोष नहीं होता। क्योंकि मन्दिरों के ठाकुर न बोलैं, न चालें। आप मधुर सम्भाषण कर उन्हें गले से लगाना चाहते थे। "मिटी भूख प्यास०" -जिसे प्रियतम मिलन की लगन लग जाती है उसे भूख-प्यास, छाया-धूप का भान नहीं होता है। यथा-"जाहि लगन लगी घनश्याम की। धरत कहूँ पग परत है कितहूँ सुधि नहिं छाया घाम की।। जित मुँह उठै तितै ही धावै भूलि जात सुधि धाम की। छबि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि पल निसिदिन जाम की।। निन्दा अस्तुति करौ भले ही मेंड़ तजी कुल गाम की। नारायण बौरी भई डोलै रही न काहू काम की।।"

जमुना चढ़त....डीठ परे वे अनूप हैं—एकबार श्रीमधुगोस्वामीजी भगवान के विरह में श्रीयमुनाजी के किनारे बैठे हुए थे। श्रीयमुनाजी की ओर पीठ किए हुए थे। बाढ़ बड़ी जोर की आयी हुई थी। जल के तीव्र वेग से करारों में भी तीव्र कटाव हो रहा था। जहाँ ये बैठे थे वह करार भी थोड़ी ही देर में कटकर गिरने ही वाला था। दरार फट चुकी थी। परन्तु इन्हें इन बातों का कुछ भी ध्यान नहीं था। भक्त की चिन्ता भगवान को होती है। प्रभु ने विचार किया कि अब यदि मैं दर्शन नहीं देता हूँ तो थोड़ी ही देर में यह करार टूटेगा और मधु गोसाई श्रीयमुना जल में विलीन हो जायेंगे। ऐसे अनुरागी भक्त का इस प्रकार विफल मनोरथ होकर शरीरपात उचित नहीं है अतः वंशीवट के निकट त्रिभङ्ग ललित रूप में खड़े होकर मधुर-मधुर मुरली बजाते हुए दर्शन दिये। वंशी की ध्वनि सुनकर श्रीमधु गोसाईजी का ध्यान आकृष्ट हुआ। प्रभु का दर्शन करते ही दौड़कर अँकवार में भर लिए। बहुत दिन का विरह था, अतः ये बहुत देर तक श्रीप्रभु को हृदय से लगाए रहे। श्रीप्रभु ने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगने को कहा। तब इन्होंने यही वर माँगा कि आप सदा-सर्वदा इसी रूप से हमारे साथ रहें। श्रीठाकुरजी ने कहा-देखिए, ''यह कराल कलि काल है इसमें हमारे साक्षात् दर्शन के अधिकारी लोग बहुत कम हैं अतः आपके लिए तो मैं साक्षात् रूप से ही रहूँगा, परन्तु औरों के लिए तो मैं मूर्ति रूप में ही दिखाई दूँगा। यह कहकर भगवान मूर्तिरूप हो गये। श्रीमधु गोसाईजी ने उनकी ''श्रीगोपीनाथजी'' के रूप में स्थापना की। वर्तमान में श्रीगोपीनाथजी जयपुर में विराजमान हैं।

श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी

गुसाईं श्रीसनातनजू मदनमोहन रूप, माथे पधराये कही सेवा नीके कीजियै।
जानौ कृष्ण दास ब्रह्मचारी अधिकारी भये, भट्ट श्रीनारायनजू शिष्य किये रीझियै।।
करिकै सिंगार चारु आप ही निहारि रहैं, गहे नहीं चेत भाव मांझ मति भीजियै।
कहां लौं बखान करौं राग भोग रीति भांति अब लौं विराजमान देखि देखि जीजियै।। ३८१ ।।

शब्दार्थ—-चेत=होश, सुध।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारीजी श्रीसनातन गोस्वामीपादजी के शिष्य थे। श्रीसनातन गोस्वामीजी ने ठाकुर श्रीमदनमोहनजी को नव निर्मित मन्दिर में पधराकर उनकी सेवा का भार इन्हीं को सौंप दिया और कहा कि भली प्रकार से श्रीठाकुरजी की सेवा करना। श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर बड़ी कुशलतापूर्वक श्रीठाकुरजी की सेवा करते। आगे चलकर यही अधिकारी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हुये, ऐसा

जानिए। आपने ही श्रीनारायणभट्टजी की भक्ति पर रीझकर उनको अपना शिष्य बनाया था। आप जब श्रीठाकुरजी का परम सुन्दर शृंगार करके स्वयं छबि का दर्शन करते थे तो शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती। आपकी बुद्धि भावसागर में डूब जाती। आप जिस भाव से श्रीठाकुरजी को राग-भोग अर्पण करते एवं जैसा उत्तम राग-भोग अर्पण करते, वह मैं कहाँ तक वर्णन करूँ अवर्णनीय है। इनके सेवित ठाकुर श्रीमदनमोहनजी अब तक विराजमान हैं, उनका दर्शन करके अपने जीवन को सफल बनाइये।।३८१।।

व्याख्या—श्रीमदनमोहनजी के प्राकट्य की कथा देखिए श्रीसनातनजी के प्रसंग में। श्रीनारायणभट्टजी का प्रसंग देखिए। छ०-८७, क०-३६५ में। ''रीझिये''-यह श्रीनारायण भट्टजी एवं श्रीकृष्णदासजी दोनों में लगता है। एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ-जिन श्रीनारायणभट्टजी की भक्ति पर भगवान रीझे थे। तीसरा अर्थ-जिन श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारीजी की भक्ति पर भगवान रीझे थे। चौथा अर्थ-इन महाभागवतों की भक्ति पर मैं रीझ गया हूँ। पाँचवां अर्थ-इनकी भक्ति रीझने योग्य है। सभी भाव संगत हैं। ''अब लौं विराजमान'' -जिस समय श्रीप्रियादासजी श्रीभक्तमालजी की टीका लिख रहे थे उस समय श्रीमदनमोहनजी श्रीवृन्दावन में ही विराजमान थे। अतः कहते हैं-''अब लौं विराजमान''। वर्तमान में श्रीमदन मोहनजी करौली राजस्थान में विराजमान हैं।

श्रीकृष्णदासजी पण्डित

श्रीगोविन्दचन्द रूपरासि रसरासि दास, कृष्णदास पण्डित ये दूसरे यों जानिलै।
सेवा अनुराग अङ्ग अङ्ग मति पागि रही पागि रही मति जो पै तोपै यह मानिलै।।
प्रीति हरिदासनसों विविध प्रसाद देत हिये लाय लेत देखि पद्धति प्रमानि लै।
सहजकी रीति में प्रतीतिसों बिनीति करै ढरैं वाही ओर मन अनुभव आनिलै।।३८२।।

शब्दार्थ—प्रमानि लै=प्रमाण-सबूत के रूप में मान लीजिये। सहज की रीति =स्वाभाविक प्रेम की रीति। बिनीति=सुशीलता, अति नम्रता।

भावार्थ—पण्डित श्रीकृष्णदासजी रूप की राशि एवं रस की राशि श्रीगोविन्दचन्द्रजी के सेवक थे। ये ब्रह्मचारी श्रीकृष्णदासजी से पृथक् थे, ऐसा समझिए। इनके अंग-अंग में श्रीभगवत्- सेवानुराग समाया हुआ था तथा इनकी बुद्धि भी सदैव सेवा में पगी रहती थी। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि यदि आपकी भी बुद्धि श्रीभगवत्सेवानुराग में पगी हो तो मेरी बात का विश्वास कर लीजिये। श्रीभगवद्दासों में इनकी बड़ी प्रीति थी। ये उन्हें

बहुत-बहुत भगवत्प्रसाद दिया करते थे तथा मिलने पर हृदय से लगाते थे। इनकी इस श्रीभगवत्-भागवत सेवा-पद्धति को देखकर उसे आदर्श रूप में मानना चाहिए अर्थात् स्वयं भी उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिए। पण्डित श्रीकृष्णदासजी स्वाभाविक प्रेम की रीति में विश्वास करते थे तथा अत्यन्त विनम्रता एवं विश्वासपूर्वक उसी प्रीति का आचरण करते थे, आपकी चित्तवृत्ति का झुकाव उसी ओर था। इस बात को आप अपने अनुभव में लाइये।।३८२।।

व्याख्या—श्रीगोविन्दचन्द रूपरासि—देखिये क०-३६१। ''सेवा अनुराग अंग-अंग'' -इसका एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सेवा और प्रेम के सभी अंगों में इनकी बुद्धि पगी थी। पुन: तीसरा अर्थ-आपकी श्रीठाकुरजी के अंग-प्रत्यंग की अनुरागपूर्वक सेवा करने में इनकी बुद्धि पगी हुई थी। वर्णन आया है कि ये नित्य प्रति श्रीठाकुरजी को नवीन सौ श्लोक प्रेमपूर्वक गाकर सुनाते थे। ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी भी बड़े प्रेमपूर्वक श्लोक सुनते और सुख मानते। एक दिन जब ये श्लोक सुना रहे थे, उसी समय एक सन्त इनसे मिलने के लिए आए। पूर्व कहा जा चुका है कि इनका सन्तों से भी बड़ा प्रेम था, अत: श्लोक गान बन्द कर ये सन्त से वार्तालाप करने लगे। उधर श्रीठाकुरजी को श्लोक सुनने की चटपटी लगी हुई थी अत: विलम्ब होते देख इनको सचेत करने के लिए भीतर मन्दिर से एक थाल बाहर फेंके। थाल की झनझनाहट सुनकर इनका ध्यान श्रीठाकुरजी की ओर गया, तब श्लोक सुनाने की याद आयी, साथ ही प्रभु की श्रवणोत्कण्ठा विचार कर गद्गद हो गए। श्रीठाकुरजी ने कहा कि-''मेरी उपेक्षा करके दूसरों से मिलने क्यों गए।'' तब इन्होंने कहा कि-''आपकी उपेक्षा कर सकता हूँ पर सन्तों की नहीं।'' इस सन्त निष्ठा से प्रभु परम प्रसन्न हुए। फिर तो बड़े प्रेम से इन्होंने श्लोक सुनाये। ऐसे ही एक दिन एक विद्यार्थी आ गया तो उसे पढ़ाने में लग गये, श्लोक सुनाना भूल ही गये। तब रात्रि में श्रीठाकुरजी ने कहा कि-''आज आपने पूरे सौ श्लोक नहीं सुनाये हैं। आप तुरन्त उठकर सौ श्लोक पूरे किये और उसी दिन से सौ श्लोक सुनाने का दृढ़ नियम कर लिए।

श्रीभूगर्भ गोसाईंजी

गुसाईं भूगर्भ वृन्दावन दृढ़ बास कियो लियो सुख बैठि कुंज गोविन्द अनूप हैं।
बड़ेई बिरक्त अनुरक्त रूप माधुरी में ताही कौ सवाद लेत मिले भक्तभूप हैं।।
मानसी विचार ही अहार सो निहारि रहैं गहैं मन वृत्ति वेई युगल सरूप हैं।
बुद्धिके प्रमान उनमानिमैं बखान कर्‌यो भर्‌यौ बहु रंग जाहि जानैं रसरूप हैं।।३८३।।

शब्दार्थ—अहार=जीवन का आधार। विचार=विवेक, चिन्तन, सेवा। प्रमान=अनुसार। उनमानि=अनुमान करके। रसरूप=परमरसिक।

भावार्थ—श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी ने अखण्ड श्रीवृन्दावन वास किया और अति अनूप श्रीगोविन्द कुंज (श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर एवं वहाँ की आस पास की लता कुंजों) में बैठकर अपूर्व सुख लिया। आप संसार से परमविरक्त एवं भगवान की रूपमाधुरी में अत्यन्त अनुरक्त थे। रसिक भक्तजनों के साथ मिलकर आप उसी रूपमाधुरी का आस्वादन करते रहते। भगवान का मानसीचिन्तन, मानसीअर्चन-वन्दन ही आपके जीवन का आधार था। भगवान की मानसी मूर्ति को निरन्तर निहारा करते थे। आपके मन की वृत्ति सदा उसी श्रीयुगलस्वरूप के चिन्तन में लगी रहती थी। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार ही अनुमान करके इनके भावों का वर्णन किया है। ये अपार प्रेमरस से भरे हुए थे। जिसे परम रसिकजन ही जान सकते हैं।।३८३।।

व्याख्या—गुसाईं भूगर्भ—ये श्रीगौरांग महाप्रभुजी के प्रिय पार्षद श्रीगदाधर पण्डितजी के शिष्य थे। श्रीगौरांग महाप्रभुजी के आदेश से जब श्रीलोकनाथ गोस्वामी श्रीवृन्दावन आए तो उनके संग श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी भी थे। श्रीलोकनाथ गोस्वामीजी ने तो श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरणों का दर्शन करने के लिए एकबार श्रीवृन्दावन छोड़कर पुरी एवं दक्षिण भारत की यात्रा भी की थी परन्तु श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी तो एकबार श्रीवृन्दावन आने पर छोड़कर एक कदम भी बाहर नहीं गए। अतः कहते हैं-"वृन्दावन दृढ़ वास कियौ।" "बड़ेई विरक्त अनुरक्त रूपमाधुरी में-यही साधु की रहनी है। श्रीतुलसीदासजी भी अपने मन को यही उपदेश देते हैं। यथा-"रे मन सबसौं निरस हो, सरस राम सौं होहि। भलो सिखावन देत है निसिदिन तुलसी तोहि।।" इसी में जीव का वास्तविक हित है। संसार में कहीं भी मन लगाने पर भय ही भय पदे-पदे प्राप्त होता है। बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है-"हांसीमें विषाद बसै विद्यामें विवाद बसै भोग माँहि रोग पुनिसेवा माहिं दीनता। आदर में मान बसै सुचि में गलानि बसै, आवन में जान बसै रूप माहिं हीनता।। जोग में अभोग औ संयोग में वियोग बसै पुण्य माहिं बन्धन औ लोभ माहिं दीनता। निपट नवीन ए प्रवीनन सुबीनि लीनी हरि जू सों प्रीति सबही सों उदासीनता।।"

विशेष—श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी नित्य प्रति श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा करते थे। श्रीगोवर्धन की परम कमनीया शिलाओं को देखकर इनकी आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगता था। एकदिन ये प्रेम में बेसुध हुए परिक्रमा कर रहे थे। तन की सम्हाल न होने से

एक शिला खण्ड से इनके पाँव में बड़े जोर की ठोकर लगी। पाँव से रक्त की धार बह चली। असह्य वेदना होने लगी। चलना दूभर हो गया। ''हा कृष्ण'' कहकर बैठ गये। जब थोड़ा-थोड़ा अन्धेरा होने लगा, तो स्वयं श्रीकृष्ण एक हट्टे-कट्टे साधु का वेष बनाकर आये और इनके मना करने पर भी इन्हें कन्धे पर बैठाकर कुटिया तक पहुँचाये। ये लाने वाले के प्रति कृतज्ञता के दो शब्द कहना ही चाहते थे कि इन्हें लाने वाला वह साधु इनके देखते-देखते अन्तर्धान हो गया। तब तो इन्हें समझते देर नहीं लगी कि वह साधु कोई और नहीं स्वयं भगवान ही थे। फिर तो ये बड़े जोर-जोर से विलाप करने लगे कि हाय-हाय मुझसे श्रीप्रभु की सेवा तो कुछ बनी नहीं, उल्टे प्रभु से सेवा लिया। मुझ अभागे ने ठीक से प्रभु का दर्शन भी नहीं किया। कृतज्ञता के दो शब्द भी नहीं कह पाये। इस प्रकार रोते-रोते इन्हें तनिक-सी तन्द्रा सी आयी तो क्या देखते हैं कि प्रभु साक्षात् प्रकट होकर कह रहे हैं कि तुम अपने मन में इतना दुःख क्यों कर रहे हो तुम तो नित्य प्रति मेरी सेवा-पूजा, भजन-साधन करते हो। सर्वस्व परित्याग पूर्वक प्रेम में बेसुध होकर सतत् मेरा ही स्मरण-चिन्तन करते रहते हो। फिर एक दिन संकट में पड़ने पर यदि मैंने कुछ सहयोग कर दिया तो इसमें तुम्हारी क्या हानि है? तुम व्यर्थ ही संकुचित हो रहे हो। यदि मैं अपने भक्तों की खोज-खबर नहीं रखूँगा तो फिर उन्हें और कौन सम्हालेगा तथा फिर मुझे भी कौन भजेगा? पुनः भक्तों का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। जब तक मैं उनका दुःख दूरकर सुखी नहीं कर देता तब तक मेरे मन को विश्राम नहीं मिलता। भक्तवत्सल भगवान की यह अमृतमय वाणी सुनकर श्रीभूगर्भ गोसाईंजी गद्गद हो गये। पलमात्र में उनकी पीड़ा न जाने कहाँ चली गई। वे बार-बार श्रीप्रभु की कृपा पर बलिहार गये। ऐसे श्रीभगवद् कृपापात्र थे श्रीभूगर्भ गोस्वामी। अब हम छप्पय में आये हुए अन्य सन्तों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं-

श्रीहृषीकेशदेवाचार्यजी—श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी जिनकी चर्चा पूर्व छप्पय-७७ में की जा चुकी है, उनके असंख्य शिष्यों में द्वादश प्रधान थे। उन्हीं प्रधान द्वादश शिष्यों में एक श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी भी थे। श्रीवृन्दावन धाम ही आपकी साधनास्थली थी और मानसी-सेवा से श्रीश्यामा-श्याम को सन्तुष्ट करना ही आपकी साधना थी। मानसी-सेवा प्रवण होने से आप प्रायः ध्यान मग्न रहा करते थे। वर्णन आया है कि एकबार श्रीसीतारामजी की उपासना में शृंगार रसोपासना के प्रवर्तकाचार्य श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्यजी श्रीवृन्दावन आये हुये थे। श्रीअग्रदेवाचार्यजी भी सदा मानसी-सेवा में मग्न रहने वाले थे। (देखिये पूर्वार्द्ध क०-१०) अतः इन दोनों विभूतियों का मिलन और सत्संग स्वाभाविक था। श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्यजी के कुशलक्षेम पूछने पर श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी ने यह पद गाया था-''मन मन्दिर में राधामोहन।

नित्यकिशोर किसोरी दोऊ करत बिहार निरन्तर निसि दिन।। दिव्यधाम व्रज मण्डल सगरौ झगरौ नहिं पैठत तहँ नैकुन। ता मधि राजत परम मनोहर सूक्षिम ते सूक्षिम वृन्दावन। नव निकुंज नव लता भवन में अष्ट कमलदल मृदुल सिंहासन। प्रमुदित राजत जुगलचन्द तहँ सेवत ललितादिक ललना गन।। सेवा सौंज सँवारि लिये कर अरपित करि निज निज तन मन धन। हृषीकेश निरखत अति हरषत निवछावरि बलि जाउँ छिनहि छिन।।''

श्रीरंगजी—आप बड़े सन्तसेवी थे। आपके यहाँ पर सन्तों का जमघट बना ही रहता था। एक बार आपने सन्तों का एक बड़ा विशाल भण्डारा किया। सन्तों की पंक्ति प्रसाद पाने बैठ गई। प्रसाद की परसा जा रहा था, जितने में जितने सन्त प्रसाद पाने बैठे थे उससे दूने और आ गये। परसने वाले रसोइया आदि घबड़ाये कि इन सबको खिलाने भर सामान तो है नहीं, कैसे पूरा पड़ेगा? एक सन्त ने श्रीरंगजी को सलाह दिया कि जितने सन्त निमन्त्रित हैं उनको पूरा पवाय जाय और जो अनिमन्त्रित अभी-अभी आये हैं, उनको थोड़ा-थोड़ा प्रसाद वितरित कर दिया जाय। यह सुनकर श्रीरंगजी ने कहा कि आप लोग धैर्य धरिये, श्रीभगवत्कृपा से किंचित् मात्र भी कमी नहीं होगी। इतने सामान में ही सब लोग पाकर महापूर्ण हो जायेंगे। सबको बैठाकर पवाओ। आपके वचनों से आश्वस्त होकर रसोइयाओं ने सबको बैठा दिया और सब सामान सबको आड़े हाथ परसा गया। सबने महापूर्ण होकर पाया, फिर भी सामान बचा रहा। आपका यह अद्भुत चमत्कार देखकर सभी लोग आपकी जय-जयकार करने लगे।

श्रीघमण्डीजी—(श्रीउद्धव घमण्डदेवाचार्यजी)—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी के शिष्य थे। श्रीगुरुदेव का दिया हुआ आपका वास्तविक नाम तो श्रीउद्धवेदवजी था परन्तु आप अपने परमाराध्य श्रीयुगलकिशोरजी के बल पर ही हमेशा गर्व में भरे रहते थे। विमुख पाखण्डियों को तृणवत् समझते थे, किसी को कुछ गिनते ही नहीं थे, अतः लोग इन्हें घमण्डी कहने लगे थे। आगे चलकर यही नाम विख्यात हो गया। सामान्य लोग इन्हें घमण्डीजी कहते, साधु-समाज में घमण्ड देवाचार्यजी के नाम से पुकारे जाते। आचार्य परम्परा में आपका नाम श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्यजी प्राप्त होता है। जयपुर राज्यान्तर्गत टोड़ाभीम के सन्निकट ''दूबरदू'' नामक ग्राम आपका जन्मस्थान है। ''कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह।'' श्रीमद्भागवत के इस महावाक्यानुसार आप बाल्यकाल में ही श्रीहरिव्यासदेवजी से शिक्षा-दीक्षा लेकर भगवद्-भजन में लग गये। कुछ दिन तक गुरु-सेवा में रहने के उपरान्त आपने समस्त तीर्थों का परिभ्रमण भी किया और जहाँ-तहाँ बहुत से मठ-मन्दिर स्थापित किये।

श्रीव्रज में एक गाँव है करहला। श्रीघमण्डदेवजी ने वहाँ रहकर बहुत काल तक भजन किया। आपके भक्ति-भाव पर रीझकर श्रीश्यामा-श्याम ने दर्शन दिया, साथ ही परम अनुग्रह करके श्रीठाकुरजी ने इन्हें अपना मुकुट और श्रीराधिकाजी ने अपनी चन्द्रिका प्रदान कर आदेश दिया कि तुम "व्रजवासी ब्राह्मण बालकों को हमारा तथा हमारी सखियों का स्वरूप बनाकर उनके द्वारा रासलीलानुकरण करवावो। उनमें ही हमारा प्रत्यक्ष दर्शन होगा। इस प्रकार स्वयं रास रसरंग में मग्न रहते हुए अन्य रसिकजनों को भी परमानन्द प्रदान करो।" श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीयुगल का आदेश शिरोधार्य कर श्रीघमण्डदेवाचार्यजी ने रास-लीलानुकरण प्रारम्भ कराया। जिसमें रसिकजनों को परम सुख मिला। करहला में आज भी उस मुकुट और चन्द्रिका का दर्शन होता है। श्रीहितध्रुवदासजी आपके सम्बन्ध में लिखते हैं कि-
"घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यौ वृन्दावन निज धाम। वंशीवट तट वास किय गायो स्यामा स्याम।।"

श्रीरसिकमुरारिजी

(श्री)रसिकमुरारि उदार अति मत्त गजहिं उपदेश दियौ।।
तन मन धन परिवार सहित सेवत सन्तन कहँ।
दिव्य भोग आरती अधिक हरिहू ते हिय महँ।।
श्रीवृन्दावनचन्द श्याम श्यामा रँग भीने।
मगन प्रेम पीयूष पयध परचै बहु दीने।।
श्रीहरिप्रिय श्यामानन्द बर भजन भूमि उद्धार कियौ।
श्रीरसिकमुरारि उदार अति मत्त गजहिं उपदेश दियौ।।९५।।

शब्दार्थ—मत्त=मस्त, मतवालापन, पागल। भीने=समोये, रँगे, डूबे, भरे। मगन=मग्न, डूबे, प्रसन्न। प्रेमपीयूष=प्रेमरूपी अमृत। पयध=पयोधि, समुद्र। भजन भूमि=सन्त सेवा के साधनभूत खेत। उद्धार कियौ=छुड़ायौ, वापस लियौ।

भावार्थ—श्रीरसिक मुरारिजी परमोदार सन्त थे। आपने मतवाले हाथी को भी श्रीकृष्णनाम का उपदेश दिया। ये सपरिवार तन-मन-धन से सन्तों की सेवा करते थे। सन्तों को दिव्य भोग अर्पित करते, विधिपूर्वक पूजा-आरती करते। कहाँ तक कहा जाय, ये अपने हृदय में श्रीहरि से भी अधिक श्रीहरिभक्तों को मानते थे। श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीश्यामा-श्याम के प्रेमरंग में रँगे रहते थे तथा सर्वदा प्रेमामृतसिन्धु में डूबे रहते थे। इन्होंने बहुत से चमत्कार दिखाये हैं। श्रीभगवान के परम प्यारे, श्रीसद्गुरुदेववर्य्य श्रीश्यामानन्दजी की

संत-सेवा की साधनभूत भूमि को यवन नबाब के चंगुल से मुक्त कर आपने अपनी अद्‌भुत भक्ति-शक्ति का परिचय दिया।। ९५।।

व्याख्या-उदार—इसकी व्याख्या के लिये देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड ५। भगवान के भक्त बड़े उदार होते हैं। यथा-"राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।" (रामा०), श्रीगीताजी में भी कहा गया है-"उदाराः सर्व एवैते...(७-१८), श्रीरसिक मुरारिजी तो अति ही उदार थे। आपकी अति उदारता का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीनाभाजी कहते हैं कि-"मत्तगजहिं उपदेश दियो।" भाव यह है कि अधिकारी-अनधिकारी का विचार किये बिना ही मनुष्य मात्र को उपदेश देना उदारता है और ये तो मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु को और पशुओं में भी हाथी, महातमोगुणी शरीर वाला, यथा-"छाड़ौ गज तम तन" (क० ३९०) और उसमें भी मदिरा पीकर मदोन्मत्त भए हाथी को उपदेश दिये। आपने उसके सभी कुत्सित संस्कारों को नष्ट कर उसे भक्ति का भण्डार बना दिया। इस सम्बन्ध में देखिये, कवित्त-३९०, ३९१, ३९२, ३९३। "तन मन....सेवत सन्तन कहँ"-इसलिये कि सन्त-सेवा से भगवान बहुत प्रसन्न होते हैं। यथा-"मानत सुख सेवक सेवकाई।।" (रामा०) "सन्तन की सेवा किये हरि मानै परितोष।।" (भगवत रसिकजी) पुनः जैसे गर्भवती स्त्री को खिलाने से उसका तथा गर्भस्थ शिशु दोनों का पोषण होता है, वैसे ही सन्तों की सेवा करने से सन्त और भगवन्त दोनों की सेवा हो जाती है। यथा-"अन्तर्यामी गर्भ गत सन्त सुन्दरी माहिं। तुलसी पूजे एक के दोऊ पूजे जाहिं।।" "परिवार सहित"-इसके दो भाव-(१) शिष्य परिकरों सहित। विरक्त के परिवार शिष्यादि ही होते हैं। (२) पुनः परिवार कहकर इनके स्त्री, पुत्र की ओर संकेत किया गया है। वर्णन आया है कि इनकी वैराग्य वृत्ति देखकर इनके माता-पिता ने इनका विवाह कर दिया था। इनके एक पुत्र भी हुआ था, परन्तु जब श्रीश्यामानन्दजी के शिष्य हो गये तो पत्नी-पुत्र को भी उन्हीं के शरणागत कर दिये। सभी खूब सन्त-सेवा करते थे।

अधिक हरिहूँ ते हिय महँ—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३७२, "मोसे बाढ़ पांव लीजिये" की व्याख्या। "श्रीवृन्दावन चन्द श्याम-श्यामा०" एकबार रथयात्रा का दर्शन करने श्रीरसिकमुरारिजी पुरी गये हुये थे। वहाँ आपको श्रीजगन्नाथ भगवान की आज्ञा से दो श्रीविग्रह प्राप्त हुये थे। एक श्रीराधागोविन्दजी। दूसरे श्रीवृन्दावनचन्द्रजी। श्रीवृन्दावनचन्द्रजी से इनकी अत्यधिक प्रीति हो गई थी। उसी का संकेत श्रीनाभाजी छप्पय में करते हैं-"परचै बहु दीने"-देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-१९४, "परचौ असुरनकौ दीयौ" की व्याख्या।

श्रीहरिप्रिय श्यामानन्दवर—श्रीश्यामानन्दजी श्रीरसिकमुरारिजी के गुरुदेव थे तथा श्रीहृदयानन्दजी के शिष्य थे। इस पंक्ति का एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ-श्रीगुरु श्यामानन्दजी के बल से एवं भजन-बल से भजन-भूमि अर्थात् भक्तिरूपी पृथ्वी का उद्धार किया। भाव यह है कि काल के प्रभाव से लुप्त भई भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। तीसरा अर्थ-श्रीगुरु की कृपा एवं भजनबल से सन्त-सेवा निमित्त भूता भूमि का उद्धार किया। इन दोनों अर्थों में वर का अर्थ बल किया गया है। संस्कृत व्याकरण में रकार और लकार सावर्ण्य कहा गया है। यथा-''ऋलृ वर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।।''

रसिकमुरारि साधुसेवा बिसतार कियौ पावै कौन पार रीति भांति कछु न्यारियै।
सन्त चरणामृत के माट गृह भरे रहैं ताहीकौ प्रनाम पूजा करि उर धारियै।।
आवैं हरिदास तिन्हैं देत सुखराशि जीभ एक न प्रकाशि सकै थकै सो विचारियै।
करैं गुरु उत्सव लै दिनमान सबैं कोऊ द्वादस दिवस जन घटा लागी प्यारियै।।३८४।।

शब्दार्थ—माट=मिट्टी का बड़ा घड़ा। दिनमान=सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय। जनघटा=भक्त भीड़।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी ने सन्तसेवा का बड़ा ही विस्तार किया था अर्थात् बड़े बृहद् रूप से सन्त सेवा करते थे। कौन उसका पार पा सकता है? आपकी सेवा की पद्धति कुछ विलक्षण ही थी, वह यह थी कि सन्तों के चरणोदक से भरे हुए मटके घर पर धरे ही रहते थे। आप उसी को प्रणाम करते, उसी की पूजा करते और उसी का हृदय में ध्यान धरते थे। आपके यहाँ जो भी सन्त-वैष्णव आते उन्हें अपार सुख देते थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि इनके सन्तसेवा-सुख को मेरी एक जिह्वा वर्णन करने में असमर्थ है। वर्णन करना तो दूर रहा उस सेवा-सुख के वर्णन के विचार से ही मति गति थकित हो जाती है। आप बड़े समारोह से श्रीगुरु उत्सव मनाया करते थे। उसमें पूरे दिन कथा-कीर्तन-सत्संग, भोज-भण्डारे होते रहते थे, जिससे सब लोग बहुत सुख पाते थे। यह उत्सव बारह दिन तक लगातार चलता रहता था। बारहों दिन तक भक्तों की भीड़ रहती थी, जो देखने में अत्यन्त ही प्रिय लगती थी।।३८४।।

व्याख्या—सन्त चरणा मृत के माट—श्रीरसिक मुरारिजी की सन्तों के श्रीचरणामृत में बड़ी निष्ठा थी अतः बड़े भावपूर्वक मटकों में भर-भरकर सन्त चरणामृत रखते। उसकी पूजा-आरती एवं दण्डवत्प्रणाम करते। श्रीवृन्दावन में श्रीनिम्बार्क कोट स्थान में श्रीभक्तमालजी के सुमेरु सन्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी का चरणामृत रखा है। निष्ठावानों के लिए कुछ भी अशक्य

नहीं है। ''करैं गुरु उत्सव''-इस उत्सव का नाम दण्डोत्सव है। इस सम्बन्ध में कथा आती है कि-''इनके गुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी श्रीवृन्दावन वास करते थे। वे नित्यप्रति श्रीसेवाकुंज में बहारू लगाते थे। उनकी ऐसी भावना थी कि श्रीप्रिया-प्रियतम इस कुंज में नित्य बिहार करते हैं। अतः बहारू लगाते समय बड़े गौर से वहाँ की भूमि को देखते, देखने में कभी श्रीप्रियाजी के श्रीचरण-चिह्नों के दर्शन हो जाते तो कभी श्रीठाकुरजी के। कभी-कभी श्रीयुगल के गलबहियाँ देकर चलने के समय के चरण-चिह्नों के दर्शन होते। इस प्रकार नित्य नव-नव दर्शनोल्लास में भरे हुए बड़े ही अनुरागपूर्वक श्रीसेवाकुंज मे सोहिनी (बहारू) सेवा करते।'' इनके भाव पर रीझकर श्रीप्रियाजू की इन्हें दर्शन देने की इच्छा हुई। परन्तु आचार्यरूपा सखियों की जब तक अनुकूलता प्राप्त नहीं होती है तब तक श्रीजी का साक्षात्कार नहीं होता है-ऐसी मर्यादा है। अतः अनुग्रहमयी श्रीजी ने उन्हें सखीयों की अनुकूलता प्राप्त कराकर दर्शन देने की एक युक्ति विचारी। वह यह कि एक दिन उन्होंने जानबूझकर अपने एक पाँव का नुपूर श्रीसेवाकुंज में गिरा दिया। वह प्रातःकाल बहारू लगाते समय श्रीश्यामानन्दजी को मिला। उन्होंने उसे साफी के छोर में बाँध लिया और साफी को सिर पर बाँध लिया। सोचे कि किसी बड़े घर की बहू-बेटी का गिर गया होगा। कोई खोजने आयेगा तो दे दूँगा। उधर जब श्रीललिताजी श्रीप्रियाजू के आभूषणों की सँभाल करने लगीं तो पता चला कि एक पाँव का नूपुर नहीं है। तब वह उसकी खोज करने सेवाकुंज में आयीं। पहले तो उन्होंने स्वयं इधर-उधर खोज की। परन्तु जब नहीं मिला तो उन्होंने ध्यान द्वारा देखा, तो समझ में आया कि वह नूपुर इन्हीं बूढ़े बाबा को मिला है। फिर उन्होंने विचार किया कि यदि मैं स्वस्वरूप में जाकर नूपुर माँगती हूँ तो बात बढ़ जायेगी। बाबाजी कहने लगेंगे कि अपनी श्रीस्वामिनी का दर्शन कराओ, स्वामी का दर्शन कराओ तब दूँगा आदि। अतः वह एक वृद्धा का रूप धारणकर श्रीश्यामानन्दजी के पास आयीं और बोलीं-''बाबाजी! आपको कोई नूपुर तो नहीं मिला है? यदि मिला हो तो मुझे दे दीजिये, वह मेरी बहू का नुपूर है।'' इन्होंने कहा-मिला तो है परन्तु तुम्हें नहीं दूँगा। जिसका नूपुर है उसी को दूँगा। उसके एक पाँव का नूपुर देखकर उससे इसे मिलाऊँगा, जब मिल जायगा तो मैं उसे सहर्ष दे दूँगा। यदि मैं तुमको दे दूँ और थोड़ी देर में कोई और बहूवाली आवें और कहने लगें-कि वह मेरी बहू का नूपुर है, तो मैं क्या जवाब दूँगा? श्रीललिताजी माँग-माँगकर हार गयीं, परन्तु इन्होंने नहीं ही दिया। तब जाकर उन्होंने श्रीश्रीजी से सब बात कही। श्रीश्रीजी ने कहा-''अरी सखी! तब तो चलना ही होगा। इन्होंने बहुत दिन तक मेरे कुंज की सोहिनी सेवा भी की है। अतः आज चलकर इन्हें दर्शन भी दे दूँ और अपना नूपुर भी माँग लाऊँ।'' फिर तो श्रीश्रीजी ने श्रीश्यामानन्दजी को साक्षात्

दर्शन दिया। भक्त प्रवर ने प्रणाम किया तो श्रीश्रीजी ने अपना वरदहस्त उनके सिर पर फेरकर अपार वात्सल्य दर्शाया।

श्रीश्यामानन्दजी ने अपने हाथ से ही श्री श्रीजी को नूपुर पहनाया। श्रीश्रीजी ने प्रसन्न होकर इनके ललाट पर नूपुर की छाप दे दी। जब इनके गुरुदेव श्रीहृदयानन्दजी ने वह छाप देखी तो बड़े नाराज हुए कि तुमने सम्प्रदाय के विरुद्ध मनमुखी ढङ्ग से यह छाप क्यों लगायी। इन्होंने बहुत कहा कि मैंने जानबूझकर नहीं लगाया है, यह तो श्रीश्रीजी ने लगाया है। परन्तु वह भला क्यों मानने लगे। उन्होंने सोचा कि यह बहाना बना रहे हैं। अतः डांटकर कहे कि इसे शीघ्र धो डालो। श्रीश्यामानन्दजी ने बहुतेरा धोया परन्तु छाप तो नहीं ही छूटी। भला श्रीजी की लगायी हुई छाप छूट ही कैसे सकती है। लेकिन श्रीहृदयानन्दजी ने तो यह अर्थ लगाया कि इन्होंने ठीक से धोया ही नहीं, अतः वे स्वयं धोने लगे। घिसते-घिसते ललाट से रुधिर निकल आया परन्तु छाप फिर भी नहीं छूटी। तब तो श्रीवैष्णव-समाज को विश्वास हो गया कि निश्चय ही इसे श्रीजी ने ही लगाया है और श्रीहृदयानन्दजी ने जो इन पर अविश्वास किया तथा इसे धोकर मिटाने का प्रयत्न किया यह उनका अपराध है। इस विषय को लेकर श्रीवैष्णवों ने पंचायत की परन्तु श्रीहृदयानन्दजी अब भी मानने को तैयार नहीं थे। तब श्रीश्रीजी ने भगवान के प्रिय सखा सुबलजी से कहा कि-''यदि मैं आपके परिकर में से किसी एक को अपने सखी मण्डल में सम्मिलित कर लूँ तो आपको कोई एतराज तो नहीं है।'' सुबलजी ने कहा कि-''भला इसमें मुझे क्या एतराज होगा। मेरे लिए तो जैसे श्रीठाकुरजी वैसी आप।'' तब श्रीजी ने कहा कि मैंने श्रीश्यामानन्दजी को अपने नूपुर की छाप देकर अपने परिकर में मिला लिया है। तुम जाकर इस बात की साक्षी दे आओ। (श्रीश्यामानन्दजी श्रीसुबल सखा के भाव में पगे रहते थे, अतः श्रीजी ने सुबल को ही भेजा।) सुबल ने तमाल वृक्ष की ओट से अदृश्य रूप से आकर साक्षी दी कि यह बात सत्य है। इन्हें छाप श्रीजी ने ही लगायी है। यह आकाशवाणी सुनकर श्रीहृदयानन्दजी भी, जो इस बात को नहीं मानते थे, माने गये। श्रीहृदयानन्दजी का अपराध प्रमाणित हो गया। अतः श्रीवैष्णवों ने उन पर दण्ड लगाया कि इसके प्रायश्चित्त में उन्हें द्वादश दिन तक कथा-कीर्तन-सत्संग, भोज-भण्डारा आदि द्वारा सन्तों की सेवा करनी पड़ेगी। ''उसका नाम सन्त-वैष्णवों ने दण्डोत्सव रक्खा।'' श्रीश्यामानन्दजी ने तत्काल पंचों के समक्ष खड़े होकर हाथ जोड़कर कहा कि-''पंचो! मेरे श्रीगुरुदेवजी के लिए जो कुछ करने का आदेश हुआ है, वह मैं करूँगा। मेरे धन्य भाग्य हैं जो इसी बहाने से सन्त-सेवा, कथा-कीर्तन आदि का सुयोग्य प्राप्त हुआ है।'' सन्तों ने स्वीकृति दे दी। फिर तो

श्रीश्यामानन्दजी ने बड़े समारोह के साथ द्वादश दिवस तक वह उत्सव मनाया। उसमें बड़ा आनन्द मिला। अतः यद्यपि वह दण्ड एक ही बार के लिए था, परन्तु इन्होंने तो उसे प्रतिवर्ष मनाने का निश्चय किया और अपने निश्चय के अनुसार आजीवन वह दण्डोत्सव मनाते रहे। इनके तिरोधान के बाद इनके सुयोग्य शिष्य श्रीरसिकमुरारिजी वह उत्सव बड़े समारोह के साथ करते। उसी का संकेत करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-"करैं गुरु उत्सव......।"

सन्त चरणामृतको ल्यावो जाय नीकीभांति जीकी भांति जानिबेको दास लै पठायौ है।
आनिकै बखान कियौ लियौ सब साधुनकौ पान करि बोले 'सो सवाद नहिं आयौ है'।।
जिते सभाजन कही चाखौ देहु मन, कोऊ महिमा न जानै कन जानी छोड़ि आयौ है।
पूछी, कही 'कोढ़ी एक रह्यौ' आनो, ल्यायो, पीयो, दियो सुख पाय नैन नीर ढरकायौ है।।३८५।।

शब्दार्थ—जी की भांति=हृदय का भाव।

भावार्थ—एकदिन श्रीरसिकमुरारिजी के यहाँ भण्डारे में बहुत से सन्त प्रसाद पा रहे थे। आपने एक शिष्य का सन्तों के प्रति हृदय का भाव जानने के लिए उसे आज्ञा देकर भेजा कि जाकर सन्तों का चरणामृत अच्छी प्रकार से ले आओ। उसने लाकर कहा कि मैं सब साधुओं का चरणामृत ले आया। श्रीरसिकमुरारिजी चरणामृत पानकर बोले कि-"कि क्या कारण है कि चरणामृत में पहले जैसा स्वाद नहीं आया।" फिर वहाँ समाज में जितने लोग उपस्थित थे, उनसे बोले कि आप लोग भी मन को एकाग्रकर पान करो, देखो पहले जैसा स्वाद आता है? परन्तु वे बेचारे तो श्रीसन्त-चरणामृत की अनन्त महिमा में से कणमात्र भी नहीं जानते थे, अतः वे भला क्या स्वाद बतावैं। आपने निश्चय करके जान लिया कि यह किसी सन्त को चरणामृत लेने से छोड़ आया है। अतः जोर देकर पूछे कि-"सही बताओ तुमने किसी सन्त को छोड़ा तो नहीं है।" तब शिष्य ने कहा कि-"एक कोढ़ी सन्त थे, मैंने उन्हीं का चरणामृत नहीं लिया।" आपने कहा-"जाओ, उनका भी ले आओ।" तब शिष्य उनका भी चरणामृत ले आया।" आपने स्वयं पान किया और दूसरों को भी दिया। आपको वह चरणामृत पीने से अपार सुख की मिला। आपके नेत्रों से प्रेमाश्रु बह चले।।३८५।।

व्याख्या—सो सवाद नहीं आयो है—भगवत् भागवतप्रसाद, चरणामृत का दिव्य स्वाद होता है। परन्तु इसका अनुभव सबको नहीं होता। निष्ठावान पुरुषों को ही इसका अनुभव होता है। श्रीभगवत्प्रसाद रस स्वादियों के लिए देखिये, पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५७४, छ०-१५ की व्याख्या। "महिमा न जानैं"-सन्त-चरणामृत की अनन्त महिमा है। यथा-"नातः परतरं तीर्थं वैष्णवांघ्रिजलाच्छुभात्। तेषां पादजलं शुद्धां गङ्गामपि पुनाति हि।।" (आदिपुराण) अर्थ-

"श्रीवैष्णवों के मंगलमय चरणोदक से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है, उनका पवित्र पादोदक तो पावनी गङ्गा को भी पवित्र करने वाला होता है।" पुनः-"गंग नहाये सहसबार, द्वारावति शतजानि। सन्तचरण जल जो पियै तुलै न ताहि समान।। "कोढ़ी एक रह्यौ"-वस्तुतस्तु कोढ़ी सन्त का रूप धारणकर श्रीठाकुरजी ही श्रीरसिकमुरारिजी की श्रीसन्त-चरणामृत निष्ठा की परीक्षा लेने आये थे। श्रीरसिकमुरारिजी ने कहा- "आनौ"-क्योंकि सन्त तो साक्षात् भगवत्स्वरूप होते हैं। तो जब भगवान दिव्य होते हैं तो सन्त भी दिव्य होते हैं और जब सन्त दिव्य होते हैं तो उनका रोग भी दिव्य होता है। फिर उनके चरणामृत से घृणा कैसी ? पुनः किसी प्रकार व्याधि हो जाने से सन्त की महिमा में कुछ अन्तर नहीं होता है। श्रीगौरांग महाप्रभुजी कहते हैं-"दृष्टैः स्वभाव निरतैर्वपुषस्तु दोषै र्न प्राकृतत्व मिह भक्तजनस्य पश्येत्। गङ्गावसान खलु बुद्बुद फेनपंकै-र्ब्रह्मद्रवत्वमुपगच्छति नीरधर्मे।।" अर्थ-"जैसे गङ्गाजी में फेन, पंक ये दोष जल के गुणधर्म हैं। इनसे ब्रह्मद्रवत्व नष्ट नहीं होता है। गङ्गा का महत्व कम नहीं होता है। उसी प्रकार से श्रीभगवद्भक्तों के स्वभाव में तीक्ष्णता आदि एवं शारीर में रोग-रोषादिकों को देखकर भी उनमें प्राकृत्व नहीं देखना चाहिए। इन दोनों से उनकी भक्ति में कोई त्रुटि नहीं होती है। ये दोष शारीरिक धर्म हैं। अरे भैया! सच्चा कुष्टी तो वह है जो मन से दुष्ट है। यथा-"पर सुख देखि जरनि सोई छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।" (रामा०), उसके दर्शन, स्पर्श, समागम से बचना चाहिए। अतः उन सन्त का चरणामृत तो लाओ ही।

पीयो, दियो—श्रीरसिकमुरारिजी ने उन सन्त का चरणामृत स्वयं पिया और अन्यों को भी दिया। कहते हैं कि एक कोढ़ी को वह चरणामृत पिलाये तो वह तत्काल निरोग हो गया और एक बीमार बालक को पिलाये तो उसकी बीमारी दूर हो गई। आपके द्वारा चरणामृत के बहुत से चमत्कार देखे गये हैं। एकबार एक बालक को काले नाग ने डस लिया था। आपने सन्तों का ही चरणामृत पिलाकर उसे अच्छा कर दिया। एक ब्राह्मणी आपकी शिष्या थी। उसका पुत्र भी किसी असाध्य रोग से पीड़ित था। वह हारकर आपके पास अपने पुत्र को लाई। आपने उसे सन्तों का चरणामृत पिलाया। वह अच्छा हो गया। कुछ दिन बाद उसी ब्राह्मणी का दामाद आया। जब उसने यह बात सुनी तो उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने श्रीरसिकमुरारिजी के पास आकर सन्तों की, सन्त चरणामृत की एंवं श्रीरसिकमुरारिजी की निन्दा किया। आपने तो कुछ नहीं कहा, परन्तु दैवेच्छा से घर जाते ही उसके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। बहुत उपचार किया गया, परन्तु लाभ कुछ भी नही हुआ। अन्ततोगत्वा वह ब्राह्मणी उसे भी लेकर इन्हीं के पास आई। आपने प्रथम तो उसके अविश्वास को देखकर टालना चाहा, परन्तु ब्राह्मणी के आग्रह

पर तथा पीड़ा से अत्यधिक बेचैन होने पर उसके दामाद के भी रोने गिड़गिड़ाने पर उसे भी सन्तों का चरणामृत दिया और वह भी अच्छा हो गया। ऐसी अनेकों घटनायें हैं।

नृपति समाज में विराजमान भक्तराज कहैं वे विवेक कोऊ कहनि प्रभाव है।
तहां एक ठौर साधु भोजन करत रौर देवौ दूजी सोंटा सङ्ग कैसे आवै भाव है।।
पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि दई दई गारी सुनी आप बोले देख्यो दाव है।
सीथ सों विमुख मैं तो आनिमुखमध्य दियौ कियौ दास दूर सन्तसेवा में न चाव है।।३८६।।

शब्दार्थ—रौर=रौरा, शोरगुल। दाव=सुअवसर, वन की अग्नि।

भावार्थ—एकबार भक्तराज श्रीरसिकमुरारिजी राजाओं के समाज में विराजमान होकर ज्ञानोपदेश कर रहे थे। सभी लोग बड़े ही मनोयोगपूर्वक आपका उपदेश श्रवण कर रहे थे। क्योंकि आपकी उपदेश की पद्धति ही ऐसी थी कि श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वहीं पास में ही एक स्थल पर सब सन्त बैठे भोजन कर रहे थे। उन्हीं सन्तों में से एक सन्त अपने अतिरिक्त अपने सोंटे (डंडे) का भी एक दूसरा पारस माँग रहे थे। परन्तु रसोईया उन्हें सोंटे का पारस नहीं दे रहे थे। क्योंकि भला सोंटे के प्रति कैसे भाव आ सकता है। पारस न देने पर वह सन्त शोरगुल मचा रहे थे। अन्ततोगत्वा उन सन्त ने अपनी परसी-परसाई पत्तल उठाई और गोस्वामी श्रीरसिकमुरारिजी के सिर पर दे मारा और बहुतेरी गालियाँ भी दीं। श्रीरसिकमुरारिजी शान्तिपूर्वक गालियाँ सुनते रहे। फिर अवसर देखकर बोले-''अहो! मैं तो सन्तों की सीथ-प्रसादी से विमुख था तो सन्त ने स्वयं कृपा करके लाकर मेरे मुख में ही डाल दिया।'' तत्पश्चात् आपने उस सेवक को, यह कहकर कि तुम्हारा संत-सेवा में भाव नहीं है, सेवा से अलग कर दिया।।३८६।।

व्याख्या—कैसे आवै भाव है—यह परसने वालों के साथ भी लगता है और श्रीरसिक मुरारिजी के साथ भी। परोसने वालों का जो भाव सन्तों में है वह भाव भला सोंटा में कैसे हो सकता है? पुनः शोर गुल सुनकर श्रीरसिकमुरारिजी ने सोचा कि मेरे पास ये राजा, महाराजा बैठे हैं। मैं इन्हें सन्तों की ही महिमा सुना रहा हूँ और ये खाने के पीछे लड़ाई कर रहे हैं, तो भला इन लोगों का सन्त में कैसे भाव आ सकता है। एक सन्त कहते कि साधु चलते-फिरते अच्छे लगते हैं, उठते-बैठते, खाते-पीते अच्छे लगते हैं, परन्तु लड़ते हुए अच्छे नहीं लगते हैं। अतः कैसे आवै भाव है। यह सोचकर श्रीरसिकमुरारिजी स्वयं उठकर आये और पूछने लगे कि-''अरे भाई! क्या बात है क्यों शोरगुल हो रहा है?'' वह साधु तो स्वभाव से जरैल था ही, उस पर चिढ़ा भी था। अतः ''पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि दई।'' श्रीरसिकमुरारिजी ने बड़े प्रेम से उनके पत्तल को आपनी

साफी में समेट लिया। बड़े शान्त भाव से गालियाँ सुनते रहे। यह साधुओं का सहज स्वभाव है। यथा-"बूँद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन सन्त सह जैसे।।" (रामा०), पुनः खूँदन तो धरती सहै काटकूट वनराय। कुवचन तो साधू सहैं और पै सह्यौ न जाय।।" "सीथसों विमुख" भाव यह है कि श्रीरसिकमुरारिजी जिस निष्ठा से नियमपूर्वक सन्त चरणामृत लेते थे, उस प्रकार से सीथ-प्रसाद का नियम नहीं रखे थे। आज स्वतः प्राप्त हो गया। "आनि मुख मध्य दियौ"-बात यह हुई कि जिस समय उन सन्त ने पत्तल फेंकी, उस समय कुछ कहने के लिये श्रीरसिकमुरारिजी का मुँह खुला हुआ था, बस एक लड्डू इनके मुँह में भी चला गया। वे बड़े प्रेम से वह लड्डू पा गए। फिर जब उन महात्मा का क्रोध शान्त हुआ तो श्रीरसिकमुरारिजी बोले-महाराज! इन लोगों की गलती है जो आपके सोंटा का पारस नहीं दिये, अवश्य दिया जायेगा। परन्तु एक बात लोग जानने चाहते हैं कि आप सोंटे का पारस क्यों माँग रहे हैं? सन्तजी ने कहा-"पहली बात तो यह है कि आपने आज के दिन का निमन्त्रण दिया है। अतः मैं सोंटे के ब्याज से शाम के लिये भी माँग रहा हूँ। यदि नहीं माँगता हूँ और शाम को हमें भूख लगेगी, तो हम कहाँ जायेंगे।" दूसरी बात यह है कि मैं इस सोंटे से भाँग घोटकर पीता हूँ। तो मैं जब भाँग पीता हूँ तो मुझे फिर बड़े जोर से भूख लगती है। अतः मैंने सोंटे का भी पारस माँगा। यह सुनकर श्रीरसिकमुरारिजी हँस गये और बोले-"देखो, सन्त ने कैसी रहस्य की बात बताई, इनको एक नहीं दो पारस दिया जाय।" इस प्रकार आपने बिगड़ी बात को सहज में सुधार लिया। इस पर दृष्टान्त श्रीनिम्बार्ककोट के बाबाजी महाराज का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-४२२।

बागमें समाज सन्त चले आप देखिबेको देखत दुरायो जन हुक्का सोच पर्‌यौ है।
बड़ौ अपराध मानि साधु सनमान चाहैं, घूमितन बैठि कही देखौ कहूं धर्‌यौ है।।
जायकै सुनाई दास काहूके तमाखू पास सुनिकै हुलास बढ्यौ आगैं आनि कर्‌यौ है।
झूठे ही उसांस भरि सांचे प्रेम पाय लिये किये मन भाये ऐसे संका दुःख हर्‌यौ है।।३८७।।

शब्दार्थ—घूमि तन=शरीर से चक्कर खाकर। हुलास=आनन्द। उसांस=ऊपर को खींची गई लम्बी श्वास।

भावार्थ—एकदिन की बात है। श्रीरसिकमुरारिजी के बाग में सन्तों की जमात टिकी हुई थी। आप सन्तों का दर्शन करने चले। उस समय एक सन्त हुक्का पी रहे थे। आपको आते हुए देखकर वे सन्त सकुचाकर हुक्का को कहीं छिपा दिये। अपने आने से सन्तों को संकोच हुआ जानकर आपको बड़ा सोच हुआ। आपने इसे अपना बहुत बड़ा भागवतापराध माना और इसके प्रायश्चित्त के लिये आपने उस साधु का सम्मान करना चाहा। फिर तो आप उसी क्षण चक्कर

खाकर पेट पकड़कर बैठ गये और बोले-"मेरे पेट में बड़े जोर का दर्द हो रहा है, देखो तो किसी सन्त के पास हुक्का रखा है क्या?" आपके एक सेवक ने सन्तों की जमात में जाकर सबको सुनाकर पूछा कि "किसी के पास हुक्का तम्बाकू है?" यह सुनकर हुक्का पीने वाले सन्त को बड़ा उल्लास हुआ और तत्काल ही हुक्का लाकर सामने रख दिया। आपने झूठ-मूठ की लम्बी श्वांस खींचकर हुक्का पीने का स्वाँग किया और तुरन्त स्वस्थ हो गये। इस प्रकार से आपने झूठे स्वाँग से ही सन्त का सच्चा प्रेम प्राप्त कर लिया तथा सन्त का भी मनभावता किया। इस प्रकार से आपने सन्त की शंका और दु:ख को दूर कर दिया।।३८७।।

व्याख्या—सोच पर्‌यो है—यह हुक्का पीने वाले सन्त और श्रीरसिकमुरारिजी- दोनों पक्षों में लगता है। सन्त को सोच हुआ कि यदि इन्होंने देख लिया होगा तो क्या कहेंगे कि देखो, महात्मा होकर धूम्रपान कर रहे हैं और श्रीरसिकमुरारिजी को इसलिये सोच हुआ कि मेरे कारण महात्मा को संकोच हुआ। मैं तो इनका सेवक हूँ। सेवक के कारण स्वामी को संकोच होना उचित नहीं है। इसलिये कहा गया है-"सबते सेवक धर्म कठोरा।""जो सेवक साहिबहिं संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची।।" (रामा०), "ऐसे शंका दु:ख हर्‌यो है"-इस पर-

दृष्टान्त—एक सन्त का—एक सन्तजी बिना जल लिये लघुशङ्का कर रहे थे। एक दूसरे सन्त ने देख लिया तो उन्हें बड़ा संकोच हुआ। उसी दिन से वे उन सन्त के सामने आने में सकुचाने लगे। वे सन्त भी समझ गये कि इनको मेरे कारण संकोच हो गया, अत: उनका संकोच दूर करने के लिये उन्होंने ऐसी लीला की कि एक दिन जब स्वयं श्रीठाकुरजी के लिये भरा हुआ जल का कलश सिर पर लेकर आ रहे थे तो मार्ग में वे सन्त दिखलाई पड़ गये। अत: उन्होंने दिखाकर सिर पर कलश लिये हुए खड़े-खड़े लघुशंका करने लगे। उन सन्त ने देख लिया। फिर तो मानो अन्धे के हाथ बटेर लग गई हो। वे विचारने लगे कि ये तो हमसे भी गये बीते निकले। मैंने तो जलमात्र नहीं लिया था और ये तो श्रीठाकुरजी का जल लिये हुए खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे हैं। उन सन्त से रहा नहीं गया। उन्होंने उनके गुरुजी के पास जाकर इस बात की शिकायत की। श्रीगुरुजी ने उन्हें बुलाकर पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया? तो इन्होंने कहा कि-जै जै, मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। जब हाथी की पीठ पर श्रीठाकुरजी का जल रखकर आता है तो हाथी भी लघुशंका लगने पर खड़े-खड़े लघुशंका करता है। फिर मैंने कर लिया तो क्या हर्ज हुआ? श्रीगुरुजी हँस गये और बोले-हाथी की बात छोड़ो, सही-सही कारण बताओ। तब उन्होंने बताया कि मैंने इनका संकोच दूर करने के लिये ऐसा किया था। उसी प्रकार से श्रीरसिकमुरारिजी ने भी उन सन्त का संकोच दूर करने के लिये स्वयं हुक्का पीने का स्वांग किया।

एक बात स्मरण रखने की है कि यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि हुक्का पीकर श्रीरसिकमुरारिजी ने धूम्रपान का समर्थन किया है। यह तो केवल साधु का संकोच दूर करने के लिये ही ऐसा किये थे। वर्णन आया है कि बाद में आपने उन सन्त से पूछा कि आपने हुक्का क्यों छिपाया? तो उन्होंने बताया कि धूम्रपान चूंकि शास्त्र निषिद्ध है अतः मैंने संकोचवश छिपाया था। फिर श्रीरसिकमुरारिजी ने शास्त्र-प्रमाणों से धूम्रपान की निन्दा एवं निषेधता सुनाकर उन सन्त की भी यह आदत छुड़ा दी। ऐसा इसलिये लिखना पड़ा कि कोई-कोई लोग इन कथाओं का वास्तविक अभिप्राय न समझकर अपने मनोनुकूल भाव लगा लेते हैं।

दृष्टान्त—एक चौबे का—मथुरा के एक चौबेजी भाँग बहुत खाते थे। किसी ने मना किया—कहा कि भाँग नहीं खाना चाहिये। चौबेजी ने तपाक से उत्तर दिया-"भाँग तो भगवान खाते थे। उन सज्जन ने पूछा-कहाँ लिखा है? चौबेजी ने कहा कि-श्रीमद्भागवतजी में। वे पूछे किस प्रसंग में? तो चौबेजी ने कहा—जब श्रीकृष्णजी ने यशोदा मैया को अपने मुख में सारी सृष्टि दिखायी थी तो क्या उसमें भाँग नहीं थी। अवश्य रही होगी। जब भगवान ही हमेशा अपने मुख में भाँग रखते हैं तो हम क्यों न खायें। दूसरा-

दृष्टान्त—एक बङ्गाली का—एक सन्त ने टाटानगर में एक बङ्गाली को देखा। वह शिवजी की पूजा करने के बाद शिवलिंग पर चढ़कर घण्टा बजाता था। सन्त ने पूछा-ऐसा क्यों करते हैं? तो उसने कहा कि इससे शिवजी प्रसन्न होते हैं। मैंने कथा में सुना है- एक चोर शिवलिंग पर चढ़कर घण्टा चुरा रहा था, तो शिवजी उस पर बहुत प्रसन्न हुए कि और लोग तो फूल-पत्ते ही चढ़ाकर रह जाते हैं, इसने तो अपने आपको मेरे लिये अर्पण कर दिया। अतः शिवजी ने उसे साक्षात् दर्शन दिया। इसलिये मैं भी ऐसा ही करता हूँ। कैसी उटपटांग समझ है। अतः किसी विषय को खूब समझकर ही उसे आचरण में लाना चाहिये।

उपजत अन्न गांव आवै साधुसेवा ठांव नयौ नृपदुष्ट आय कांव कांव कियौ है।
ग्रामसो जबत कर्‌यौ कर्‌यौ लै विचार आप श्यामानन्दजू मुरारि पत्रलिखि दियो है।।
जाही भाँति होहु ताही भांति उठि आवौ इहां आये हाथ बांधि करि अँचैहू न लियो है।
पाछे साष्टांग करी करी लै निवेदन सो भोजनमें कही चले आये भीज्यो हियो है।।३८८।।

शब्दार्थ—ठांव=स्थान। कांव-कांव=कौवे का कठोर शब्द, बार-बार कटु भाषण करना। जबत=जब्त, राजा द्वारा अपहरण। अँचै=आचमन।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी के श्रीगुरुदेवजी 'धारेन्दा' नामक स्थान में रहते थे। उस स्थान से सम्बन्धित कुछ जमीन बानपुर नामक ग्राम में थी। वहाँ खेती होती थी। जो अन्न उत्पन्न होता, वह साधु-सेवा निमित्त धारेन्दा स्थान में आता। उन्हीं दिनों बानपुर में एक नया नवाब आया। वह बड़ा दुष्ट था। उसने आकर साधुओं को बहुत अवाच्य वचन कहा और उस ग्राम की समस्त भूमि अपहरण कर ली। श्रीश्यामानन्दजी ने विचार किया कि इस जमीन को कैसे छुड़ाया जाय? फिर विचारकर उन्होंने श्रीरसिकमुरारिजी को पत्र लिख दिया कि तुम जिस स्थिति में हो उसी स्थिति में यहाँ चले आओ। श्रीरसिकमुरारिजी उस समय भोजन कर रहे थे। पत्र पाते ही बिना आचमन किये ही हाथ जोड़े चले आये। श्रीरसिकमुरारिजी ने हाथ और मुँह जूठा होने से पीछे से ही गुरुजी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। पुनः निवेदन किया कि मैं भोजन कर रहा था, उसी समय आपका पत्र मिला, अतः बिना आचमन किये, ज्यों का त्यों चला आया। इनकी यह गुरुभक्ति देखकर श्रीश्यामानन्दजी का हृदय प्रेम में सराबोर हो गया।।३८८।।

व्याख्या—पत्र लिखि दियौ है—जमीन जब्त हो जाने से श्रीश्यामानन्दजी को चिन्ता हुई कि जमीन से उत्पन्न अन्न से सन्तों की सेवा होती थी। सेवा के प्रताप से सन्त स्वतः ही आ-आकर दर्शन दे जाते थे। अब जमीन छिन जाने से आमदनी बन्द होने से सन्तों ने भी आना जाना बन्द कर दिया। वे सोचते होंगे कि हम लोगों के जाने से श्रीश्यामानन्दजी को संकोच होगा, अतः जाना उचित नहीं है। सन्तों के इस अनागमन से श्रीश्यामानन्दजी को बहुत दुःख हुआ, अतः जमीन को छुड़ाने के लिये श्रीरसिकमुरारिजी को पत्र लिखे। "पाछे साष्टांग करी करि लै निवेदन सो"-इसके दो अर्थ होंगे। एक तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह भी होगा कि श्रीरसिकमुरारिजी ने आते ही पहले यह निवेदन किया कि आपने मुझे क्यों बुलाया है, सो कहिये। मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ-"गुरुकारज कीन्हें बिनु मोहिं कहां विश्राम।।" का ज्वलन्त उदाहरण है। जब श्रीगुरुजी ने देखा कि इनके हाथ मुँह तो जूठे हैं, तो उन्होंने इसका कारण पूछा। तब इन्होंने बताया कि-"भोजन में कही चले आये।" अतः ऐसे ही चला आया। यह सुनकर गुरुजी गद्गद हो गये।

आज्ञा पाइ अँचयौ लै दै पठाए वाही ठौर दुष्ट सिर मौर जहां तहां आप आये हैं।
मिले मुतसद्दी शिष्य आइकै सुनाई बात 'जावो उठि प्रात' यह नीच जैसे गाये हैं।।
हमहीं पठावैं, काम करि समझावैं सब मनमें न आवै जानी नेह डरपाये हैं।
चिन्ता जिनि करौ हिये धरौ निहचिंतताई भूप सुधि आई दिनातीनि कहां छाये हैं।।३८९।।

शब्दार्थ—मुतसद्दी=मुंशी, मुनीम, लेखक, जिम्मेदार। छाये=रहे।

भावार्थ—श्रीगुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी की आज्ञा पाकर श्रीरसिकमुरारिजी ने आचमन किया। तत्पश्चात् श्रीश्यामानन्दजी ने इन्हें उसी स्थान पर भेजा, जहाँ पर दुष्टों में शिरोमणि नबाब रहता था। आप (श्रीरसिकमुरारिजी) वहाँ गये। वहाँ पर आपके शिष्यगण मिले, जो नबाब के यहाँ मुंशी, मुनीम आदि थे। उन सभी ने आपको नबाव की बात सुनायी कि वह बड़ा नीच है। शास्त्रों में दुष्टों के जैसे लक्षण कहे गये हैं, वे सब उसमें हैं अतः आप तो यहाँ से प्रातःकाल ही उठकर चले जाओ। उसके पास आप स्वयं न जाकर हम लोगों को ही भेजें। हम सब उसको समझा बुझाकर काम करा लेंगे। श्रीरसिकमुरारिजी समझ गए कि ये लोग मेरे प्रेमवश भयभीत हो रहे हैं। अतः बोले कि-चिन्ता मत करो। हृदय में निश्चिन्तता को धारण करो। तीन दिन तक मुतसद्दी लोग अपने गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजी की ही सेवा में रहे। तीसरे दिन नबाब का ध्यान इस ओर गया तो उन लोगों को दरबार में बुलवाया और पूछा कि तीन दिन तक कहाँ रहे।।३८९।।

व्याख्या—आज्ञा पाइ अँचयो लै—श्रीगुरु आज्ञा पालन का यह अपूर्व उदाहरण है। प्रथम तो आज्ञा पाते ही आप बिना आचमन किये ही चले आये, अब बिना आज्ञा के आचमन भी नहीं करते हैं। इस पर-

दृष्टान्त—दो स्त्रियों का—ये दोनों ही बड़ी पतिव्रता थीं। एक स्त्री एक दिन धान कूट रही थी, उसी समय उसका पति आया और पीने का पानी माँगा तो उसने हाथ में ऊपर उठे हुए मूसल को नीचे भी नहीं रखा बल्कि वह जितना ऊपर उठा था वहीं छोड़कर पति की आज्ञा पालन में लग गई। मूसल अधर में ही लटका रहा। दूसरी स्त्री जल भर रही थी उसी समय किसी कार्यवश उसके पति ने पुकारा तो वह घड़ा को कुएँ में से बिना निकाले ही जहाँ का तहाँ छोड़कर चली आई। उसका घड़ा भी कुएँ में जहाँ का तहाँ अटका रहा। इसी प्रकार श्रीरसिकमुरारिजी ने भी तत्काल गुरु आज्ञा का पालन किया। आज्ञा पालन सबसे बड़ी सेवा है। यथा-"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा।।" (रामा०) सन्तजन कहते हैं कि गुरुभक्ति, भक्तिरूपी भवन की नींव है। नींव दृढ़ रहती है तो महल भी मजबूत बना रहता है। नींव कमजोर हो और महल कितनाहू मजबूत बनाया गया हो तो भी वह टिक नहीं सकता। धराशायी होकर रहेगा। उसी प्रकार गुरुभक्ति दृढ़ होने पर ही भगवद् भक्ति भी सुदृढ़ बनी रहेगी। गुरुभक्ति में शिथिलता आने पर भगवद् भक्ति भी अपने आप शिथिल हो जायेगी। अतः श्रीरसिक मुरारिजी ने गुरुभक्ति को दृढ़ रखा।

दुष्ट शिर मौर— देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-२०० ''जैसे गाये हैं''-अर्थात् शास्त्र-पुराणों, सद्ग्रन्थों में जैसा कुछ दुष्टों का लक्षण कहा गया है। यथा-''बहुरि बन्दि खलगन सति भाएँ। जे बिनुकाज दाहिनेहु बाएँ। परहित हानि लाभ जिनकेरे। उजरे हरष विषाद बसेरे।। हरिहर जस राकेस राहुसे। पर अकाज भट सहस बाहुसे।। जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्हके मनमाखी।। तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।। उदय केत सम हित सबहीके। कुम्भकरन सम सोवत नीके।। पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषि दलि गरहीं।। बंदउं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनै परदोषा।। पुनि प्रनवउं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दसकाना।। बहुरि सक्र सम विनवऊं तेही। सन्तत सुरानीक हित जेहीं।। वचन वज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन परदोष निहारा।। उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति। जानि पानि जुग जोरि जन विनती करइ सप्रीति।।'' (बा०का० ४-१-११) पुनः-''सुनहु असन्तन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुं संगति करिअ न काऊ।। तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहिं घालइ हरहाई।। खलन्ह हृदय अति ताप विसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।। जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परीनिधि पाई।। काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन।। बयरु अकारन सब काहू सौं।। जो कर हित अनहित ताहू सौं।। झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।। बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाइँ महा अहि हृदय कठोरा।। परद्रोही परदार रत पर धन पर अपवाद। ते नर पांवर पापमय देह धरे मनुजाद।। लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन।। काहूकी जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।। जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग नृपती।। स्वारथरत परिवार विरोधी।लंपट काम लोभ अति क्रोधी।। मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं।। करहिं मोहबस द्रोह परावा। सन्तसङ्ग हरिकथा न भावा।। अवगुन सिन्धु मन्द मति कामी। वेद विदूषक परधन स्वामी।। विप्रद्रोह परद्रोह विसेषा। दम्भ कपट जियँ धरें सुवेषा।। ऐसे अधम मनुजखल, कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहैं कलिजुग माहिं।।'' (रामा० ७-३९-४०)

नेह डरपाये हैं—यह प्रेम का स्वभाव है कि प्रेमास्पद के प्रति पदे-पदे अनिष्ट की आशंका बनी रहती है। यथा-''रावन रथी विरथ रघुबीरा। देखि विभीषण भयउ अधीरा।। अधिक प्रीति मन भा सन्देहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।। नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बल वाना।।'' (रामा० ६-८०-१/३) ''चिन्ता जिनि करौ''-श्रीरसिक मुरारिजी ने सबको आश्वासन दिया कि आप लोग रंच मात्र भी चिन्ता मत करें। मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। उसके

पास मैं ही जाऊँगा। क्योंकि एक तो श्रीगुरुजी ने मुझे ही भेजा है अत: अब दूसरों को भेजना उचित नहीं है। श्रीगुरुकृपा, श्रीगोविन्दकृपा एवं सन्तों की कृपा से मेरा मङ्गल ही होगा। दूसरे अपने सुख स्वार्थ के लिये दूसरों को दु:ख में डालना उचित नहीं है। तीसरे उससे मिलने की मुझे इच्छा भी है। वह इसलिए कि सन्त तो हमने बहुत देखे हैं। परन्तु असन्त मैंने नहीं देखे हैं। अत: देखूँगा कि यह कैसा दुष्ट है? चौथे जैसे कोई असाध्य रोगी है। इसके लिए वैद्य बुलाया गया हो तो यह जानकर भी कि यह रोग असाध्य है, रोगी निश्चय मर जायगा, वैद्य लौट नहीं जाता, बल्कि उसकी नाड़ी देखता है और जब तक उसकी नाड़ी चलती है, तब तक वह यथासाध्य प्रयास करता है। वैसे ही मैं भी इसे देखूँगा कि इसमें कहाँ तक दुष्टता भरी है और इसके लिए कौन सी उपयुक्त औषधि है। अत: हर हालत में मुझे ही जाना उपयुक्त है।

सुनि आये गुरुवर कही ल्यावो मेरे घर देखौं करामात बात यह लै सुनाई है।
कह्यौ आनि अभूँ जावौ, चलौ उनमान देखै, चले सुख मानि आयौ हाथी धूम छाई है।।
छोड़िकै कहार भाजि गये न निहारि सके आप रससार बानी बोले जैसी गाई है।
बोलौ हरे कृष्ण कृष्ण छाड़ौ गज तम तन सनि गयौ हिये भाव देह सो नवाई है।।३९०।।

शब्दार्थ—करामात=चमत्कार। धूम=हल्ला।

भावार्थ—जब नबाब ने मुतसद्दियों के मुख से यह सुना कि उनके गुरुवर्य्य आये हैं तो कहा कि उन्हें मेरे घर लिवा लाओ, मैं उनकी करामात देखूँगा। नबाब ने जब यह बात सुनाई तो मुतसद्दियों ने आकर श्रीरसिकमुरारिजी से प्रार्थना की कि अब भी आप यहाँ से चले जाइये। आपने कहा कि चलो, जरा उसको देखें तो क्या कहता-करता है। उसकी कितनी सामर्थ्य है, उसमें कितनी दुष्टता भरी हुई है जरा इसका अन्दाज तो लें। यह कहकर आप सुखपूर्वक पालकी में बैठकर नबाब के पास चले। मार्ग में आए तो देखे कि चारों ओर मतवाले हाथी की धूम छाई हुई है। हाथी के डर से कहार इनकी पालकी छोड़कर भाग गये। वे हाथी की ओर देख भी नहीं सके। परन्तु आप किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुये। बल्कि शास्त्रों में जैसी वाणी बोलने को कहा गया है, हाथी से आप वैसी ही परम रसमयी वाणी बोले-"हे गज! हरे कृष्ण हरे कृष्ण कहो, अपने तामसी शरीर के तपोगुणी स्वभाव को छोड़ो।" आपके ये वचन सुनते ही हाथी के हृदय में प्रेम-भाव भर गया। उसने आपके श्रीचरणों में अपने शरीर को झुकाकर प्रणाम किया ।।३९०।।

व्याख्या—सुनि आये गुरुवर—इसके दो भाव होंगे। एक तो यह है कि नबाब ने जब पूछा कि तीन दिन तक कहाँ रहे, तो मुतसद्दियों ने सीधे-सीधे बता दिया कि मेरे गुरुदेव आये हैं, हम

लोग उन्हीं की सेवा में रहे। तो नबाव ने जब सुना कि इनके गुरुदेव आये हैं- ''तो......। दूसरा भाव यह है कि नबाब के पूछने पर मुतसद्दियों ने भय वश प्रसंग को छिपाना चाहा, तो नबाव ने कहा कि छिपाओ मत मैं जानता हूँ। मैंने सुना है कि तुम लोगों के गुरुदेव आए हैं...। इससे जनाया गया कि उसने अपने गुप्तचरों द्वारा पहले ही पता लगा लिया था। ''चले सुख मानि''-नबाब ने ऊपर से तो भाव दिखाने के लिये श्रीरसिकमुरारिजी को दरबार में लाने के लिये पालकी भेजा था। परन्तु उसके हृदय का दुष्ट अभिप्राय यह था कि उसने कहारों को सिखा पढ़ाकर पालकी भेजा था कि तुम लोग उस रास्ते से ही इनको लिवा लाना, जिस रास्ते में हाथी ऊधम मचा रहा हो और हाथी के समीप पालकी छोड़कर भाग जाना। परन्तु ये इन बातों की कुछ परवाह न करके सुखपूर्वक पालकी पर बैठकर चले। ''हाथी धूम छाई है''-उधर नबाब ने श्रीरसिकमुरारिजी को लाने के लिये पालकी भेजा और इधर एक मतवाले हाथी को मदिरा पिलाकर महावत को हुक्म दिया कि जब रसिक मुरारिजी आवें तो उन्हें हाथी से कुचलवा डालना। महावत हाथी को लेकर इनके मार्ग में चला। हाथी एक तो युवावस्था का होने के कारण स्वयं ही मतवाला था, उस पर भी उसे मदिरा पिलायी गयी थी अत: उसने अत्यन्त उन्मत्त होकर पहले से ही उपद्रव करना शुरू कर दिया। गांव में इस बात का बड़ा हल्ला-गुल्ला मच रहा था। कहारों ने नबाब के संकेतानुसार पालकी को हाथी के समीप ले जाकर रख दिया और स्वयं भाग गये। ''आप रससार बानी बोले जैसी गाई है''-श्रीरसिकमुरारिजी निर्भय होकर हाथी के समीप चले गए और अमृतमय श्रुतिसार, रससार वचन बोले। सन्त वाणी के ये सहज गुण हैं। यथा-''कोमल बानी सन्त की, स्त्रवत अमृत मय आइ। तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ।। श्रुति सम्मत, रस सार, हित, कहत अमिय मय बैन। जाहि सुनत सब दु:ख दहैं, होय हिये मँह चैन।।'' (सन्तवाणी)।

बहै दृग नीर देखि ह्वै गयौ अधीर आप कृपा करि धीर कियौ दियौ भक्ति भाव है।
कान में सुनायौ नाम नामदै 'गुपालदास' माल पहिराई गरें प्रगट्यौ प्रभाव है।।
दुष्ट सिर मौर भूप लखि उहि ठौर आयौ पांय लपटायौ भयौ हिये अति चाव है।
निपट अधीन गांव केतिक नवीन दिये लिये करजोरि मेरो फल्यौ भागदाव है।।३९१।।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी का मङ्गलमय दर्शन करके और अमृतमय वचनों को श्रवण करके हाथी अत्यन्त प्रेम के कारण अधीर हो गया। उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। तब आपने कृपा करके उसे धैर्य बँधाया और भक्ति भाव प्रदान दिया। उसके कान में श्रीकृष्ण नाम सुनाया, गले में तुलसी की माला पहनाई और उसका नाम गोपालदास रखा। इस प्रकार से मतवाले हाथी को शिष्य बनाने से श्रीरसिकमुरारिजी का महान् प्रभाव प्रकटित हुआ, जिसे देखकर

दुष्ट शिरोमणि नबाब दौड़कर उसी स्थान पर आया और आपके श्रीचरणों में लिपट गया। उसके हृदय में भी आपके प्रति अत्यन्त प्रेम हो गया। वह एकदम आपके अधीन हो गया और जो जमीन जब्त की थी वह तो लौटा ही दी और भी कितने नवीन गांव भेंट में दिए। पुनः हाथ जोड़कर बोला कि-आज मेरे किसी बड़े भाग्य का उदय हुआ, मेरा पुण्य का पासा पड़ गया है जो आपका दर्शन हुआ।।३९१।।

व्याख्या—बहै दृग नीर०—यह प्रेम का लक्षण है। श्रीरसिकमुरारिजी ने मतवाले जड़ पशु हाथी के हृदय को भी सरस बना दिया। यही आपकी परमोदारता है जिसका संकेत छप्पय में किया गया है। आपने विधिपूर्वक हाथी का वैष्णवोचित पंच-संस्कार किया। ''प्रगट्यौ प्रभाव है''-तभी तो कहा गया है-''जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल याते संतन प्रभाव मनि कोठरी की तारी है।'' (क०-२६५), विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५३३ में इसकी व्याख्या। नबाब अपने महल से यह सब दृश्य देख रहा था। वह समझ गया कि ये तो साहब से मिले हुए फकीर हैं। इनका मैंने अपराध किया है, उसके लिए क्षमा-याचना करनी चाहिये। अतः महल से उतरकर दौड़कर इनके चरणों में पड़कर पुनः-पुनः क्षमा माँगी। बहुत से नये गांव भेंट में दिये तथा वह हाथी भी इन्हीं को भेंट कर दिया। श्रीरसिकमुरारिजी हाथी को अपने साथ में लेकर स्थान को लौट आये।

भयौ गजराज भक्तराज साधुसेवा साज सन्तनि समाज देखि करत प्रनाम है।
आनि डारै गोनि बनजारनि की बारन सौं आयेई पुकारन वे जहाँ गुरु धाम है।।
आवत महोच्छौ मध्य पावत प्रसाद सीथ बोले आप हाथी सौं यों निंद्य वह काम है।
छोड़ि दई रीति तब भक्तन सौं प्रीति बढ़ी संग ही समूह फिरै फैलि गयो नाम है।।३९२।।

शब्दार्थ—गोनि=टाट का थैला, बोरा। बनजारिन=व्यापारियों की। बारन=हाथी। बारन सों=वाड़ियों से, स्थानों से।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी की कृपा से वह गजराज गोपालदास भक्तराज हो गया। वह खूब सन्तों की सेवा का साज सजाता था अर्थात् सन्त-सेवा करता था। सन्त समाज को देखकर प्रणाम करता था। वह हाथी बनजारों के यहाँ से बोरे के बोरे चावल-दाल आदि लाकर सन्तों की जमात में पटक देता था। एकबार सभी बनजारे मिलकर गजराज गोपालदासजी के गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजी के स्थान पर आकर पुकार किये कि आपके शिष्य गज गोपालदासजी हम लोगों का सब माल-मत्ता उठा लाते हैं। गज गोपालदासजी का नियम था कि जब कभी स्थान में कोई विशेष महोत्सव, भोज-भण्डारा होता तो जब सन्तों की पंक्ति

भोजन करके उठ जाती तब वे आते और सन्तों की सीथ प्रसादी पाते। एक दिन ऐसे ही समय पर आये तो श्रीरसिकमुरारिजी ने इन्हें समझाया कि तुम बलात्कारपूर्वक बंजारों का सामान मत उठा लाया करो। यह काम निन्द्य है। तब से गज गोपालदासजी ने वह काम छोड़ दिया। सन्तों से उनका ऐसा प्रेम बढ़ा कि उनके सङ्ग सन्तों का समूह चलता था। इससे गजगोपालदासजी की बड़ी ख्याति फैली।।३९२।।

व्याख्या—आनि डारै गोनि—गजगोपालदासजी का सन्त सेवा में बड़ा चाव था। अतः सन्त भी उनसे खूब सेवा फरमाते थे। कभी कोई सन्त कहते-गुरुभाईजी! आज साग नहीं है, तो वे साग मण्डी से जाकर बोरे के बोरे साग उठा लाते। यदि कोई रोकने की चेष्टा करता तो ये तनिक-सा अपना सूँड़ फटकार देते, लोग अपने आप डर जाते। कभी कोई कहता-गोपालदासजी! अँचला लँगोटी नहीं है तो ये बजाजों की दुकान से कपड़ों की गाँठ की गाँठ उठा लाते। कभी कोई कहता-भक्तराजजी! सर्दी पड़ रही है, ओढ़ने को कम्बल नहीं है, तो ये बण्डल के बण्डल कम्बल उठा लाते। ऐसे ही जब कभी कोई सन्त कुछ कहते तो तत्काल ही ये सब वस्तुएँ लाकर उपस्थित कर देते। इससे संत इनसे खूब प्रसन्न थे। सन्त इन्हें खूब प्रसाद खिलाते थे। संतों का स्वभाव होता है कि जो उनकी सेवा करते हैं, उन्हें खूब प्रसाद देते हैं। प्रसाद में ही तो सारा चमत्कार भरा है। ''आयेई पुकारन वे''-बनजारों ने प्रथम नबाब के पास जाकर पुकार की। परन्तु नबाब ने जवाब दे दिया कि मैंने तो हाथी को श्रीरसिकमुरारिजी को भेंट कर दिया है। उस पर अब मेरा अधिकार नहीं है। तब सब लोग श्रीरसिकमुरारिजी के पास गये। ''छोड़ि दई रीति''-जब से श्रीगुरुजी ने मना किया तब से गजगोपालदासजी किसी के यहाँ से कुछ नहीं लाते। यदि कोई कुछ लाने को कहता तो सिर हिला देते। भाव यह है कि श्रीगुरुजी की आज्ञा नहीं है। इनके इस आचरण से लोग बड़े प्रभावित हुए और अपने आप इन्हें सन्त सेवा निमित्त अन्न-वस्त्रादि देने लगे। इन्हें जो कुछ मिलता वह सब सन्तों को अर्पण कर देते। सन्त इन्हें आशीर्वाद देते। फलस्वरूप सन्तों में इनकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। आगे चलकर तो इनके साथ सन्तों की बहुत बड़ी जमात चलने लगी।

सन्त सत पांचसात सङ्ग जित जात तित लोग उठि धावैं ल्यावैं सीधे बहु भीर है।
चहूँ दिसि परी हई सूबा सुनि चाह भई हाथ पै न आवत सो आनै कोऊ धीर है।।
साधु एक गयौ गहि लयौ भेष दास तन मन में प्रसाद नेम पीवै नहिं नीर है।
बीते दिन तीन चार जललै पिवावैं धार गङ्गा जू निहारि मधि तज्यौ यों सरीर है।।३९३।।

शब्दार्थ—सतपाच सात=पांच सात सौ। हई=आश्चर्य, हल्ला।

भावार्थ—श्रीगजगोपालदासजी के साथ पांच सात सौ सन्तों की जमात चलती। ये जिधर ही जाते उधर ही लोग उठकर दौड़ पड़ते और सन्त-सेवा हेतु बहुत-बहुत सीधा सामान लाकर रख देते। इनके दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लग जाती। यत्र-तत्र-सर्वत्र चारों दिशाओं में इनकी आश्चर्यजनक चर्चा चलने लगी। इनका चमत्कार सुनकर बंगाल सूबेदार को चाह हुई कि ऐसे हाथी को हम अपने पास रखें। अत: पकड़वाने के लिये उसने बहुत-से आदमी नियुक्त किये। परन्तु यह किसी के भी हाथ नहीं आते अर्थात् पकड़ में नहीं आते। तब बंगाल के सूबेदार ने यह घोषणा की कि जो भी धीरवान पुरुष हाथी को पकड़कर लावेगा, उसको बहुत पुरस्कार दिया जायेगा। यह सुनकर एक साधु वेषधारी, जो नाम मात्र का साधु था, वस्तुतस्तु वह स्वभाव से दुष्ट था, भेषमात्र साधु का था, श्रीगज गोपालदासजी को पकड़ लाया, श्रीगजगोपालदासजी का नियम था कि बिना सन्तों की सीथ प्रसादी लिये जल भी नहीं पीते थे। सूबेदार के यहाँ पर सन्तों की सीथ प्रसादी न मिलने से तीन-चार दिन तक इन्होंने कुछ भी खाया-पीया नहीं। तब सूबेदार के कहने से नौकर-चाकर इन्हें जल पिलाने के लिये श्रीगंगाजी की धारा में ले गये। श्रीगंगाजी का दर्शन करके इन्होंने बीच धारा में प्रवेश करके अपना शरीर छोड़ दिया।।३९३।।

व्याख्या—सन्त सत पाँच सात—श्रीगजगोपालदासजी की जमात में सन्त बहुत रहते थे। कारण कि ये सेवा खूब करते थे। इनके रहने पर खाने-पानी का तो खूब सुपास रहता ही था, विशेष बात यह भी थी कि जमात जब चलती तो सन्तों का आसन-बासन सब अपनी पीठ पर लाद लेते। कोई वृद्ध अथवा दु:खी सन्त होते तो उनको भी पीठ पर बैठा लेते। इससे सन्त बड़े प्रसन्न रहते। सन्त कहते कि महन्त हो तो ऐसा हो। प्राय: यह देखा गया है-कि महन्त लोग अपना भार दूसरों के सिर पर रखते हैं। उन्हें दूसरे के सुख-दु:ख की कम परवाह होती है। इस पर-

दृष्टान्त—कण्ठीबन्दका—एक गुरुजी थे। उनके यहाँ एक भोला-भाला आदमी शिष्य बनने आया। उन्होंने उसके गले में कण्ठी बाँध दी और रात दिन उससे जीतोड़ काम लेने लगे। एक बार गंगा स्नान का कोई पुण्य पर्व लगा। गुरुजी ने चेला से कहा-बच्चा! गंगास्नान करने चलना है। चेला ने गुरुजी का आसन बाँधा, थोड़ा बहुत अपना सामान भी लिया और सब लाद-फांदकर गुरुजी के साथ चल पड़ा। कुछ दूर चलकर गुरुजी ने एक परिचित मित्र के यहाँ रात्रि में विश्राम किया। जब प्रात:काल चलने लगे तो मित्र ने कहा-चलने का विचार तो मेरा भी है, परन्तु कोई आसन-वासन ले चलने वाला नहीं है। गुरुजी

ने कहा–है तो कण्ठी बन्द चेला मेरे साथ। यह ले चलेगा। फिर मित्रजी भी तैयार हो गये। कण्ठी बन्द ने उनका आसन भी अपने सिर पर धर लिया। आगे चलकर पुनः एक मित्र के यहाँ विश्राम हुआ। वहाँ भी वही हाल रहा। बेचारे कण्ठीबन्द ने उनका सामान भी सिर पर लादा। आगे चलकर पुनः एक मित्र के यहाँ पड़ाव पड़ा। वहाँ भी वही समस्या आई तो कण्ठी-बन्द चेला हृदय से हार गया। क्योंकि उसके पास पिछले बोझ ही इतने थे कि उससे चला नहीं जाता था। अब जब पुनः गुरुजी ने इन मित्र का सामान भी ले चलने को कहा तो चेलाजी ने खिसियाकर कण्ठी तोड़कर गुरुजी को देते हुए कहा कि यह लो अपनी कण्ठी और इसे किसी बैल अथवा ऊँट अथवा गधे के गले में बाँध देना। अब हमसे कण्ठी की कीमत नहीं चुकाई जा सकेगी। तो ऐसा कठोर नहीं होना चाहिये। श्रीगजगोपालदासजी सरीखे महन्त होना चाहिये। श्रीगजगोपालदासजी की जमात जहाँ टिकती, वहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाती। लोग सन्तों से पूछते–जमात का महन्त कौन हैं? तो सन्त हाथी से श्रीगज गोपालदासजी की ओर इशारा करते। लोगों को बड़ा कौतुहल होता, साथ ही श्रीगज गोपालदासजी की महिमा सुनकर बड़ी श्रद्धा होती। सीधा-सामान का ढेर लग जाता। परन्तु श्रीगजगोपालदासजी उन अमनियाँ सामग्रियों को छूते ही नहीं। ये तो सन्तों की सीथ-प्रसादी ही लेते थे और पेट भरने के लिये जंगल में चले जाते।

सूबा सुनि चाह भई—बंगाल के नबाव शाहसूजा ने श्रीरसिकमुरारिजी से कहा कि आपने हाथी को शिष्य बनाया है, वह हाथी बहुत समझदार है, उससे कहो, मुझे बीस हाथियों की जरूरत है, लाकर दे। यदि ऐसा नहीं करोगे तो सब साधुओं एवं गजगोपालदास के सहित तुमको कारागार में डाल दिया जायेगा। श्रीरसिकमुरारिजी ने गजगोपालदासजी से कहा तब उन्होंने जंगल में जाकर अपना मतवालापन दिखाकर बीस हाथियों को घेरकर एक खड्डे में गिराया। नबाब को सूचना मिली। उसने बीस हाथियों को जंजीरों में जकड़वाकर मँगा लिया। परन्तु इतने मात्र से ही उसका लोभ शान्त नहीं हुआ। वह तो अब भी श्रीगज गोपालदासजी को पकड़कर अपने यहाँ सेना में रखना चाहता था। अतः जब श्रीगज गोपालदासजी जंगल में उदरपूर्त्यर्थ जाते तो नबाब अपने आदमियों से पकड़वाने का प्रयत्न करता। परन्तु ये पकड़ में नहीं आते। तब नबाब ने पुरस्कार की घोषणा की। यह बात प्रसिद्ध थी कि ये सन्तों में अत्यन्त प्रीति और विश्वास करते हैं। अतः एक वेष धारी ने लोभवश इन्हें पकड़कर नबाब के हवाले कर दिया। यद्यपि श्रीगजगोपालदासजी ने पहचान लिया कि यह साधु नहीं, साधु वेषधारी है फिर भी वेष की मर्यादा रखते हुए उसकी पकड़

में आ गये। परन्तु सन्तों का वियोग हो जाने से तथा सन्तों की सीथ-प्रसादी न मिलने से इन्होंने गङ्गाजी में शरीर ही छोड़ दिया। इस प्रकार अन्त तक अपनी निष्ठा का निर्वाह किया।

विशेष—श्रीरसिकमुरारिजी का प्रादुर्भाव उड़ीसा मल्लभूमि में रोहिणी नगर में श्रीमान् श्रीअच्युत पट्टनायक भक्त जमींदार के घर माता भवानी देवी के गर्भ से शकाब्द १५१२, कार्तिक शुक्ल, प्रतिपदा को प्रातःकाल की मंगल बेला में हुआ था। भृगुसंहिता के पण्डितों ने विचारकर इनमें महापुरुष के लक्षण बताये। नामकरण के समय पुरोहितजी ने ज्योतिष विधि से आपका नाम ''रसिक'' रखा। परन्तु पिताजी आपका नाम ''मुरारि'' रखना चाहते थे। अन्त में दोनों नाम मिलाकर ''रसिक मुरारि'' नाम रखा गया। अन्न प्राशन के दिन प्रवृत्ति परीक्षण हेतु रखे गये विविध मंगल द्रव्यों में श्रीमद्भागवतजी के ऊपर आपने हाथ रखा था। जन्मभूमि पुरीधाम के मार्ग में होने के कारण इन्हें बाल्यकाल से ही साधु दर्शन का मौका मिलता रहता था। ये सन्तों में खूब सद्भाव करते। भिक्षार्थ जब साधु द्वार पर ''जय जगदीश'' की आवाज लगाते तो ये अपने छोटे-छोटे हाथों में जो कुछ मिलता, भरकर भिक्षा देते। सन्त इन्हें अत्यन्त प्यार करते हुए हृदय से लगा लेते। इनकी बचपन से ही श्रीहरिनाम-संकीर्तन में बड़ी रुचि थी। अध्ययनकाल में पढ़ाई के साथ-साथ बच्चों को लेकर नगर-कीर्तन करते, ग्राम की परिक्रमा करते। कीर्तन-मण्डली के आगे कभी तुलसी का गमला, निशान, कभी पताका लेकर चलते। विशेषकर एकादशी के दिन जागरण और द्वादशी को नगर-कीर्तन अवश्य करते। एकबार इनके पिताजी ने श्रीमण्डनाचार्यजी से श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा कहलवायी थी। आप ''गोपीगीत'' को श्रवणकर मूर्च्छित हो गये थे। आपने क्रमशः श्रीबलभद्रजी, श्रीअनुकूल चक्रवर्तीजी एवं श्रीयदुनन्दनाचार्यजी से व्याकरण, काव्य, नाट्य, ज्योतिष एवं दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया था। तत्पश्चात् पिता की अनुमति लेकर आपने पण्डित श्रीजगन्नाथाचार्यजी से श्रीधरीटीका का समेत श्रीमद्भागवतजी का अध्ययन किया था। ब्रज से आये हुए श्रीहरिदूबेजी के श्रीमुख से आपने द्वादश स्कन्ध की वैष्णवतोषिणी टीकानुसार व्याख्या सुनी और उन्हीं के द्वारा श्रीरूपसनातन-जीवगोस्वामी आदि महानुभावों का त्याग, वैराग्य, अनुराग आदि भी श्रवण करने को मिला। इसका श्रीरसिकमुरारिजी के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। तभी से ये घर छोड़कर उड़ीसा के तीर्थों में विचरण करने लगे।

एकबार श्रीरसिकमुरारिजी स्वर्णरेखा नदी के किनारे बैठकर कातर स्वर से क्रन्दन कर रहे थे कि हाय, हाय मेरा जन्म व्यर्थ ही बीता जा रहा है। कलिपावनावतार श्रीगौरांग

महाप्रभुजी की कृपा मुझ अभागे को कब प्राप्त होगी? कब कोई गौरपार्षद मुझे अपनी शरण में लेकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में डाल देगा। उसी समय भगवान श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा कि तुम "धारेन्दा" चले जाओ, वहाँ मेरे अनन्य भक्त श्रीश्यामानन्दजी विराज रहे हैं। तुम उनका आश्रय ग्रहण करो। तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे। उधर श्रीश्यामानन्दजी भी श्रीरसिकमुरारिजी की चर्चा सुन रखे थे, अतः वे भी इनसे मिलने की इच्छा से रोहिणी ग्राम की ओर चले। मार्ग में घण्टशिला के राजा वैकुण्ठनाथ को वैष्णव बनाकर, सप्ताह कालव्यापी श्रीमद्भागवत कथा, नामयज्ञ, साधु-सेवा आदि करवाये। इसी बीच श्रीरसिकमुरारिजी भी आपके दर्शनार्थ वहीं आ पहुँचे। श्रीश्यामानन्दजी बालक श्रीरसिकमुरारिजी के प्रेम-भाव, पुलकाश्रु आदि को देखकर बहुत प्रभावित हुए। फिर तो उन्होंने इन्हें सदा-सदा के लिए अपना बना लिया। भागवत सप्ताह की समाप्ति के दिन नाम-संकीर्तन के मध्य श्रीरसिक मुरारिजी को उन्होंने श्रीयुगल-मन्त्र से दीक्षित किया। तत्पश्चात् व्रज तत्व, धाम तत्व, श्रीराधाकृष्ण मन्त्र रहस्य और सम्प्रदाय रहस्य आदि सभी का बोध कराया। श्रीश्यामानन्दजी ने इन्हें रसिकानन्द नाम से पुकारा। पण्डित श्रीदामोदरजी से इन्होंने योग क्रिया सीखी थी। इन्हें सब प्रकार से उपासना में दृढ़ करके श्रीश्यामानन्दजी व्रजधाम चले आये। कुछ दिन बाद श्रीरसिकमुरारिजी ने भी श्रीव्रजधाम दर्शन एवं श्रीगुरुदेवजी के दर्शन के लिये उत्कल देश से व्रज की यात्रा की। मथुरा में श्रीकेशवदेवजी भगवान का दर्शन करते ही इन्हें भावावेश हो गया। श्रीरूपगोस्वामीपाद रचित "श्रीकेशवाष्टक" का पाठ करके तो आप एकदम बालकों की तरह रोने लगे। इसके बाद श्रीवृन्दावन आये। सर्वप्रथम श्रीगुरुदेवजी का दर्शन किये। श्रीश्यामानन्दजी भी इन्हें देखकर आत्मविभोर हो गये। व्रज के तीर्थों का दर्शन करने के बाद श्रीरसिकमुरारिजी गुरु श्रीश्यामानन्दजी को भी उत्कल देश लिवा लाये, क्योंकि वहाँ बहुत कार्य बाकी थे। उत्कल आकर गुरु-शिष्य दोनों ने ही खूब वैष्णवता का प्रचार किया। विमुखों को शास्त्रानुमोदित ढंग से परास्तकर उन्हें भी वैष्णव बनाया। एकबार एक कनफटा योगी सिंह पर सवार होकर सबको प्रभावित करता हुआ अपने मत का प्रचार कर रहा था। श्रीरसिकमुरारिजी एक दिन प्रातःकाल गांव से दूर स्वर्ण रेखा नदी के किनारे एक पुलिया की दीवार पर बैठकर दातौन कर रहे थे। उसी समय वह कनफटा इनकी परीक्षा लेने के लिए सिंह पर बैठा हुआ इनकी ओर आ रहा था। उसे आते हुए देखकर इन्होंने उस दीवाल को भी चलने को कहा। आपका संकेत पाकर दीवाल चलने लगी। कनफटे के पास पहुँचकर आपने उसे कृपा भरी दृष्टि से देखा। वह तत्काल अपनी सिद्धाई का गर्व छोड़कर आपके चरणों में पड़ गया और वैष्णव बन गया। अभी तक वह स्थान

''दातौन'' स्टेशन के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे कितने विमुख, उद्‌दण्ड बौद्धों, शैवों, शाक्तों को आपने वैष्णव बनाया।

एक बार श्रीरसिकमुरारिजी ने सन्तों की बहुत बड़ी जमात साथ में लेकर श्रीनीलाचल धाम की यात्रा की। जाजपुर गांव में वैतरणी नदी पार करते समय नाव उलट जाने से सभी लोग जल में गिर गये। परन्तु डूबा एक भी व्यक्ति नहीं। पुस्तकों की पेटिका बह गयी। उसमें श्रीगुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी की दी हुई प्रसाद स्वरूपा श्रीमद्‌भागवत, गीता एवं उपासना-रहस्य सम्बन्धी पोथियाँ थीं। उसके बह जाने से आपको थोड़ी चिन्ता अवश्य हुई। परन्तु तत्काल ही एक भक्त तैरकर धारा में से वह पेटिका निकाल लाया। खोलकर देखा तो पुस्तकों से एक बूँद जल का भी स्पर्श नहीं हुआ था। आपके भजन के प्रताप से किसी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। एक सुकृति के संग अनेकों लोगों की रक्षा हो जाती है। इस पर-

दृष्टान्त—एक पुण्यात्मा—एकबार बड़े जोर की वर्षा हो रही थी। बिजली चमक रही थी। यात्रियों का एक समुदाय वर्षा से बचाव के लिये एक फूस की झोंपड़ी में बैठा हुआ था। उस झोंपड़ी पर बारम्बार बिजली टूटती परन्तु बीच से ही लौट जाती। यह देखकर झोंपड़ी में बैठे हुए आदमियों में से एक ने कहा- जान पड़ता है बिजली हम लोगों में से एक को मारना चाहती है, परन्तु छप्पर पर गिरने से एक साथ सब लोग मारे जायेंगे, इसलिये लौट-लौट जाती है। अत: उचित यह है कि हम लोगों में से एक-एक व्यक्ति झोंपड़ी में से निकलकर अलग खड़ा हो, बिजली जिसको मारना चाहेगी, मार लेगी। ऐसा ही किया गया। धीरे-धीरे सब लोग बाहर निकले और झोंपड़ी में लौट आये। परन्तु बिजली ने किसी को नहीं मारा। केवल एक आदमी झोंपड़ी में रह गया था। अब तो सब लोग यही कहने लगे कि इसी के ऊपर बिजली गिरेगी। परन्तु उसी समय बड़ी विचित्र घटना यह घटी कि जब वह आदमी झोंपड़ी से निकला तो बिजली उस झोंपड़ी पर ही गिरी और उसमें बैठे सबके सब लोग मर गये। वह एक आदमी बच गया। बात यह थी कि इस एक के सुकृत से ही सब बच रहे थे। इनके अलग होते ही सबके सब लोग मारे गये। इससे यह सिद्ध होता है कि समाज में यदि एक भी सुकृती रहे तो किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता है।

द्वितीय दृष्टान्त—मस्तराम का—मस्तराम एक संन्यासी सन्त थे, वे एक बार मोटर से कहीं की यात्रा कर रहे थे। संयोग से मार्ग में मोटर उलट गई सब लोग घायल हो गये। मस्तराम को भी कुछ चोट आई। परन्तु मस्तराम जो ठहरे, अत: घायलावस्था में भी मस्ती दिखाये। हँसकर बोले- लगता है कि इस मोटर में एक भी सुकृती नहीं था। रहता तो मोटर

नहीं उलटती। श्रीरसिकमुरारिजी के सुकृत से नाव उलटने पर भी सब लोग सुरक्षित रहे। वहाँ से चलकर आप पुरी पहुँचे। श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन कर आप प्रेमोन्मत्त होकर खूब कीर्तन किये। तुलसी चौरे में रुके। जितने दिन पुरी में रहे, आप नित्य प्रति श्रीठाकुरजी की पुष्पमाला की सेवा करते रहे। आपने पुरी नरेश से बालिशाही में जमीन लेकर "फूल टोटा" मठ की स्थापना की। आज भी वह मठ है। वहाँ से रोज श्रीजगन्नाथजी के लिए फूल-माला आती है। ऐसे आपके अनन्त चरित्र हैं। रेमुना में क्षीरचोरा गोपीनाथजी के मन्दिर में होली का पद सुनते-सुनते आप अन्तर्धान हो गये। आपका करुवा, कौपीन आदि प्रांगण में समाधि स्थान में सुरक्षित है। अनुभवी सन्तजन आपको श्रीअनिरुद्धजी का अवतार कहते हैं।

भव प्रवाह निस्तार हित अवलम्बन ये जन भए।।
सोझा सींवा अधार धीर हरिनाभ त्रिलोचन।
आसाधर, द्यौराज नीर, सधना दुख मोचन।।
काशीश्वर अवधूत कृष्ण किंकर कटहरिया।
सोमू, ऊदाराम, नाम डूंगर व्रतधरिया।।
पदम, पदारथ, रामदास, विमलानन्द अमृत श्रवे।
भव प्रवाह निस्तार हित अवलम्बन ये जन भए।।९६।।

शब्दार्थ—भवप्रवाह=संसारचक्र, आवागमन, जीना-मरना। निस्तार=उद्धार, पार। हित=वास्ते, लिए। अवलम्बन=आश्रय, सहारा। जन=भक्त। व्रतधरिया=नियमधारी, प्रणपालक। अमृत=प्रेमामृत। श्रये=टपकाये, बहाये, बरसाये।

भावार्थ—आवागमनरूप संसार के प्रवाह में पड़े हुए जीवों के उद्धार के लिए ये श्रीभगवद्-भक्त अवलम्ब स्वरूप हुए। श्रीसोझाजी, श्रीसींवाजी, धैर्यवान् श्रीअधारजी, श्रीहरिनाभजी, श्रीत्रिलोचनजी, श्रीआशाधरजी, श्रीद्यौराजनीरजी, श्रीसदनजी, ये सब भक्त जीवों को संसार दुःख से छुड़ाने वाले हुए। अवधूत काशीश्वरजी, श्रीकृष्णकिंकरजी, श्रीकटहरियाजी, श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी, श्रीऊदारामजी, श्रीडूंगरजी ये श्रीहरिनाम का व्रत धारण करने वाले हुए। श्रीपद्मजी, श्रीपदारथजी, श्रीरामदासजी, श्रीविमलानन्दजी, ये भक्त श्रीहरिभक्तिरसामृत की वर्षा करने वाले हुए।।९६।।

व्याख्या—भव प्रवाह...... अवलंबन ये जन भए—सन्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-"भवसागर कहँ नाव सुद्ध सन्तन्हके चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख

हरन।।" (वि०-२०३), श्रीमद्‌भागवतजी में कहा गया है-"निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़ेवाप्सु मज्जताम्।।" (११-२६-३२) अर्थ-जो इस घोर संसारसागर में डूब उतरा रहे हैं, उनके लिए ब्रह्मवेत्ता- शान्त सन्त ही एकमात्र आश्रय हैं जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिए नौका। छप्पय में आये हुए दु:ख मोचन, अमृत स्त्रये आदि सभी विशेषण सब सन्तों के समझने चाहिये।

श्रीसदनजी

सदना कसाई ताकी नीकी कस आई जैसे बारा बानी सोनेकी कसौटी कस आई है।
जीवको न बध करैं ऐपै कुलाचार ढरैं बेंचैं मांस लाय प्रीति हरिसों लगाई है।।
गंडकीकौ सुत बिन जाने तासों तौल्यौ करैं भरै दृग साधु आनि पूजे पै न भाई है।
कही निसि सुपने मैं वाही ठौर मोकों देवौ सुनौं गुनगान रीझौं हियेकी सचाई है।।३९४।।

शब्दार्थ—कस=परीक्षा, जांच। वाराबानी=खरा, निर्दोष, निर्मल, शुद्ध। कुलाचार= वंश परम्परागत व्यापार। गण्डकी सुत =शालग्राम।

भावार्थ—भक्त श्रीसदनजी जाति के कसाई थे। परन्तु भक्ति की कसौटी पर इनकी प्रेमनिष्ठा खरी उतरी थी। जैसे एकदम शुद्ध सोने को कसौटी पर कसने से उसकी रेखा अत्यन्त खरी चमकीली उतरती है। ये जीवों की हिंसा नहीं करते थे परन्तु अपने कुल के अनुसार मांस बेचने का काम अवश्य करते थे। ये दूसरों के यहाँ से मांस लाकर बेचते थे। इन्होंने यह सब करते हुए भी प्रेम तो भगवान से ही किया था। संसार अथवा संसार के व्यवहार में इनकी तनिक भी प्रीति नहीं थी। इनके पास एक श्रीशालग्राम शिला थी। ये बिना जाने उसी से मांस तौलते थे। एकदिन एक साधु ने इन्हें शालग्राम शिला से मांस तौलते देखा तो उनकी आँखों में आँसू छलछला आए। उन्होंने सदनजी को बताया कि ये तो श्रीशालग्राम भगवान हैं। इनसे मांस तौलना उचित नहीं है। तुम इन्हें हमको दे दो। मैं घर ले जाकर इनकी पूजा करूँगा। श्रीसदनजी ने दे दिया। साधु ने श्रीशालग्राम भगवान को अपने स्थान पर ले जाकर उनकी विधिपूर्वक पूजा की। परन्तु भगवान को उनकी पूजा पसन्द नहीं आई। वे रात्रि के स्वप्न में साधु से बोले कि मुझे पुन: उसी स्थान पर पहुँचा दो, सदन भक्त को ही दे दो, मैं उनके मुख से अपना नाम-गुणगान सुनता हूँ। मैं तो उनके हृदय के सच्चे भाव पर रीझ गया हूँ।।३९४।।

व्याख्या—सदना कसाई—ये पूर्वजन्म में काशीवासी एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। भगवान के श्रीचरणों में भक्ति जन्म जात ही थी। नित्य नियम से श्रीशालग्राम भगवान को श्रीराम

नाम लिखकर एक सौ आठ तुलसीदल अर्पित करते थे तथा सन्ध्या गायत्री, पूजा-पाठ, अर्चन-वन्दन आदि ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म करते थे। एकदिन ये श्रीगंगा-स्नान करके कुछ स्तोत्र-पाठ करते हुए आ रहे थे। दैवयोग से उसी सयम एक गाय कसाई के घर से जैसे-तैसे छूटकर उसी मार्ग से भागती हुई आ रही थी। पीछे-पीछे कसाई भी दौड़ता हुआ आ रहा था। गाय इनके देखते-देखते एक गली की ओर मुड़ गई थी। कसाई ने नहीं देख पाया था। अत: कसाई ने इनसे गाय का पता पूछा। यह चूँकि पाठ कर रहे थे अत मुँह से नहीं बोले परन्तु हाथ से संकेत कर दिये। कसाई ने आगे बढ़कर गाय को पकड़ लिया और घर लाकर वध कर डाला। बस, इसी पाप के कारण इन्हें अगले जन्म में कसाई होना पड़ा। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि यद्यपि इन्होंने कसाई के पूछने पर सत्य ही संकेत किया था परन्तु वह सत्य ही इनके लिये महापाप बन गया। कारण कि वह गाय के वध का निमित्त बन गया। माना कि सत्याचरण धर्म है, परन्तु गो-रक्षा परम धर्म है। शास्त्र वचन है कि यदि गो-रक्षा निमित्त झूठ भी बोलना पड़े तो कोई दोष नहीं है। यथा-"स्त्रीषु नर्म विवाहे च वृत्त्यर्थे प्राण संकटे। गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।।" (भा० ८-१९-४३), अर्थ-"स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रशंसा करते समय जीविका की रक्षा के लिये, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गो और ब्राह्मण के हित के लिये तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिये असत्य भाषण भी निन्दनीय नहीं है।" इस विवेक अभाव के कारण पण्डितजी के लिये सत्य ही अभिशाप बन गया। इसी से कहा गया है कि-"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत: स पन्था:।" अर्थ-धर्म का तत्व गुह्य है अत: श्रेष्ठ सन्त जिस पथ पर चलें उसी पर चलना चाहिये। "गहना कर्मणो गति:" (गीता ७-१७) अर्थ-कर्म की गति बड़ी गहन होती है।

दृष्टान्त—एक डाकू का—जंगल में एक डाकू नित्य प्रति उस रास्ते से आने-जाने वालों को लूटा करता था। स्वभाव से क्रूर होने के कारण वह कितनों को तो लूटने के साथ-साथ मार भी डालता था। इस प्रकार से उसने बावन (५२) हत्यायें की थीं। एकबार उसी मार्ग से एक सन्त निकले। डाकू उन्हें भी लूटने के लिये भी लपका। सन्त ने शान्तिपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया। उसे पाप कर्मों की विभीषिका बताई, चोरी-लूट-हिंसा का दुष्परिणाम दर्शाया। सुनकर डाकू सिहर गया। महात्मा के चरणों में पड़ गया, 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए अपने उद्धार के लिये प्रार्थना करने लगा। परन्तु महात्मा ने जब सुना कि इसने बावन हत्यायें की हैं तो उनके पांव के नीचे की धरती खिसक गई। उनका साहस नहीं पड़ता था ऐसे महापापी को उपदेश देने के लिए। जैसे बाल्मीकि को उपदेश देने में सप्तर्षि

सहम गये थे। अत: सीधे "राम-राम" जपने को न कहकर "मरा-मरा" जपने को कहे थे।" परन्तु वह डाकू चूँकि इनके चरणों में पड़ा हुआ था अत: उसका उद्धार करना भी अनिवार्य था। इसलिये सन्त ने एक युक्ति की। उस डाकू से बोले कि तुम अधजली लकड़ी लेकर समस्त तीर्थों का पर्यटन करो। जब वह लकड़ी हरी हो जाये तब मेरे पास आना, मैं तुम्हें मन्त्रोपदेश दूँगा। डाकू सन्त की आज्ञा शिरोधार्य कर एक अधजली लकड़ी कंधे पर रखकर तीर्थाटन के लिये चल पड़ा। एक दिन थका-मांदा वह रात्रि के समय एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था। उसी समय उसे वृक्ष पर कुछ आदमियों की आवाज सुनाई पड़ी। वे दुष्ट स्वभाव के लोग थे, किसी गांव में आग लगाने की बात कर रहे थे। उनकी बात सुनकर डाकू का हृदय द्रवित हो गया। उसके मन में गांव की रक्षा का भाव जागा। उसने सोचा कि बावन हत्यायें मैंने की ही हैं, दो-चार और हो जायेंगी, परन्तु इन दुष्टों को मारकर सबका संकट अवश्य दूर करूँगा। फिर तो वह कमर कसकर हाथ में लुकाठा (अधजला काष्ठ खण्ड) लेकर खड़ा हो गया और जब वे दुष्ट उस वृक्ष से उतरे तो एक-एक करके लुकाठे में ही सबका काम तमाम कर दिया। परन्तु विचित्र बात यह हुई कि उसी समय वह अधजला काष्ठ हरा हो गया उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि गुरुजी ने तो समस्त तीर्थों का परिभ्रमण करने को कहा था, और मैं अभी एक तीर्थ में भी नहीं गया, काष्ठ हरा हो गया। वह लौटकर गुरुजी के पास आया और अपना समस्त वृतान्त निवेदन किया। गुरुजी के मुख से निकला- "गहना कर्मणोगतिः।" इस प्रसंग से यह दिखाया गया कि प्राणी हित की विशुद्ध भावना से की गई हिंसा भी परम पुण्यमय हो गई।

इसी प्रकार गोवध में सहायक सत्य महापाप बन गया। जिसके कारण उस सदाचारी ब्राह्मण को कसाई के घर जन्म लेना पड़ा। परन्तु पूर्व जन्म का भक्ति का संस्कार प्रबल था अतः कसाई कुल में जन्म लेने पर भी "जीवको न वध करै"-अर्थात् जन्म से ही इनके हृदय में जीवों के प्रति दया थी। जीवों का वध करना तो दूर रहा ये किसी भी जीव को सताते भी नहीं थे। कहते हैं कि एकबार इनके घर रिश्तेदार आये थे। घर में मांस नहीं था। चूंकि इनके पिता अपनी कुल परम्परा के अनुसार जीवों का वध भी करते थे और मांस भी बेचते थे। वह एक बैल को वध करने के लिए खरीद लाये थे। परन्तु अभी वह वध योग्य नहीं हुआ था अत: घर में पत्नी से सलाह किए कि इस बैल के जांघ का मांस काटकर आज मेहमानों का सत्कार किया जाय। यह बात सदनजी ने सुन ली तो उनके मन में बड़ी वेदना हुई। वे तत्काल उस बैल के पास गये और उसके गले से लिपटकर रोने लगे और बोले- आज हमारे पिताजी तुम्हारे जांघ का मांस काटेंगे। बैल ने कहा- तुम्हारे पिता को

तो हमारा गला काटना चाहिये। पूर्वजन्म में मैं कसाई था और तुम्हारे पिताजी पशु थे। मैंने उनका गला काटा था। अब उसी का बदला चुकाने के लिये वे कसाई हुए हैं और मैं पशु हुआ हूँ। अत: उनको मेरा गला ही काटना चाहिए, अन्य अंग नहीं। बैल की यह बात सुनकर सदनजी को ज्ञान हो गया कि कर्मों की परम्परा तो जन्म-जन्मान्तर तक चलती है। अत: किसी भी जीव को सताना नहीं चाहिये। बस, उसी दिन से इन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं भूलकर भी किसी जीव का वध नहीं करूँगा। उसी को लक्ष्य करके टीकाकार कहते हैं कि-जीव को न वध करैं। "प्रीति हरि सौं लगाई है"-यह पूर्वजन्म के भक्ति संस्कार का ही परिणाम है। हरि भक्ति का संस्कार कभी नष्ट नहीं होता। यथा-"भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाँय अनन्त। ऊँच नीच कुल ऊपजै होय सन्त को सन्त।।" दृष्टान्त-श्रीविभीषणजी, प्रह्लाद, गजेन्द्र, मृगरूप में जड़ भरतजी आदि। इन सभी का पूर्वजन्म का संस्कार अगले जन्म में भी अक्षुण्ण बना रहा। देखिये पूर्वार्द्ध में इनकी कथायें।

गण्डकी कौ सुत—श्रीशालग्राम भगवान गण्डकी नदी में पैदा होते हैं अत: इन्हें गण्डकी सुत कहा गया है। वर्णन आया है कि एक ब्राह्मण कन्या भगवान के दर्शन की अभिलाषा से तपस्या कर रही थी। भगवान ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और मनोवांछित वरदान माँगने को कहा। उसने यही वर माँगा कि आप नित्य पुत्र रूप से मेरी गोद में क्रीड़ा करें। भगवान ने कहा- तुम इस शरीर को छोड़कर गण्डकी नदी होओगी, तब मैं शालग्राम रूप से नित्य तुम्हारी गोद में क्रीड़ा करूँगा। वही कालान्तर में गण्डकी नदी हुई और भगवान को जालन्धर पत्नी वृन्दा के शाप से शिला होना था अत: वह शालग्राम रूप से गण्डकी में विराजते हैं अत: ''गण्डकी कौ सुत'' कहा। श्रीगण्डकी नदी मुक्तिनाथ के पहाड़ से निकली हैं। उस पहाड़ की शिलाओं को एक विशेष प्रकार के कीड़े काट-काटकर शालग्राम रूप में परिणत करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में कथा आई है कि एक दैत्य किसी शुभ संस्कारवश श्रीभगवद्दर्शन के पवित्र उद्देश्य से तप कर रहा था। भगवान ने उसे भी दर्शन दिया और अभीष्ट वर माँगने को कहा। तब उसने दैत्य स्वभाव से प्रेरित होकर यह वर माँगा कि प्रभो! आप मुझे देखने में बड़े सुन्दर लग रहे हो, अत: मेरा जी आपको खाने का कर रहा है। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मैं आपको खाऊँ। भगवान ने मुस्कुराकर कहा- देखो मुक्ति नाथ की सभी शिलाएँ मेरा ही स्वरूप हैं। तुम कीड़ा बनकर उन्हें ही खाओ। आज भी वह दैत्य कीटरूप से मुक्तिनाथ की शिलाओं को काटता रहता है जिससे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की शालग्राम शिलायें बनती रहती हैं।

बिन जाने तासों तौल्यौ करै—श्रीसदनजी ने पूर्वजन्म में श्रीशालग्राम भगवान की खूब सेवा की थी अत: इस जन्म में श्रीशालग्राम भगवान स्वत: इन्हें राह चलते प्राप्त हुये।

इन्होंने सुन्दर चिकना पत्थर का बांट समझकर उठा लिया और उन्हीं से मांस तौलने लगे। चमत्कार यह था कि कोई कितना हू माँगता, बस उसी एक बाट से तौलते, सबको उचित तौल का मांस प्राप्त होता। न कम होता न अधिक। भगवान भी तराजू से उतरना ही नहीं चाहते थे। उन्हें झूला में झूलने का सा सुख मिलता था। अत: इस लोभ से एवं उतारे जाने के भय से कि कहीं कम या अधिक तौलने की आवश्यकता पड़ने पर भक्तजी हमें उतारकर दूसरे बांट से न तोलने लगें, वे आवश्यकतानुसार हल्के-भारी होते रहते थे। इससे सदनजी को भी सुविधा थी, अत: वे इनसे बहुत प्रेम करते थे। ''भरै दृग साधु''-एक आचारी वैष्णव थे, उन्होंने सदनजी की तराजू में श्रीशालग्राम को देखा तो उनके आँखों में आँसू आ गये। वे साहस करके सदनजी से श्रीशालग्राम को माँगे तो श्रीसदनजी ने उन्हें सहर्ष प्रदान कर दिया। यद्यपि जाने-अनजाने श्रीसदनजी को वह बटिया बहुत प्रिय थी और उसका चमत्कार भी देख चुके थे परन्तु साधु-सन्त भी उन्हें प्रिय लगते थे अत: माँगने पर इन्कार नहीं कर सके। परन्तु दु:ख तो हुआ ही, उधर भगवान को भी इनका वियोग व्याप गया। ''आनिपूजे'' -साधुजी ने श्रीशालग्राम को घर पर लाकर श्रीगंगाजल, पंचगव्य, पंचामृत आदि से स्नान कराया। वैदिक मंत्रों से षोडशोपचार विधि से पूजन किया। बड़ी लम्बी स्तुति-प्रार्थना किये। ''पै न भाई है।'' इसलिये कि-''रामहिं केवल प्रेम पियारा।'' (विशेष देखिये पृष्ठ-४१, ४२)।

सुनौं गुन गान........सचाई है—श्रीसदनजी की तराजू में भगवान को झूला का सुख मिलता था और उनके सरल हृदय के प्रेम भरे पदों में सामगान का सुख मिलता था। श्रीसदनजी के पदों में उनके हृदय की करुणा, प्रीति-प्रतीति का सहज दर्शन होता है। यथा- ''मैं तो अति ही दुखित मुरारि। पांच ग्राह गीलत है मोकूँ गज ज्यों लेहु उधारि।। नाम गरीब निवाज तिहारो देहु विषय हठि तारि। सुजस पतित पावन निज राखो सदना कहत पुकारि।। ''हिये की सचाई है''-पर देखिये। ''रघुबर सांचे मन के मीता।'' उत्तरार्द्ध प्रथमखण्ड पृष्ठ-४१, ४२।। ''रीझौं हिये की सचाई है''-इस पर-

दृष्टान्त—श्रीलाल बाबा का—एकबार दाराशिकोह ने श्रीलाल बाबा से पूछा कि साहिब किसको मिलते हैं, हिन्दू को या मुसलमान को। हमारी किताबों में तो यह लिखा है कि साहिब मुसलमानों को ही मिलता है हिन्दुओं को नहीं। वे तो काफिर हैं और हिन्दुओं के ग्रन्थों में लिखा है कि साहिब हिन्दू को ही मिलता है मुसलमानों को नहीं। मुसलमान तो बड़े नीच होते हैं। आप निर्णय करिये कि वस्तुतस्तु साहब किसको मिलते हैं? श्रीलाल बाबा ने कहा-''कल बतायेंगे।'' दूसरे दिन पुन: दाराशिकोह बाबा के सामने उपस्थित हुआ तब

लालबाबा ने कहा–''दो रुपये के खुले पैसे अपने खास बाजार से मँगा दीजिये।'' यह कहकर श्रीलालबाबा ने दो रुपया दाराशिकोह को दिया। उसने अपने नौकर को खास बाजार भेजकर पैसा मँगवा दिया। नौकर एक रुपये का तो खुला पैसा लाया और एक रुपया लौटा लाया। बाबा ने पूछा–एक को लौटा क्यों लाये? उसने कहा–यह एक रुपया खोटा है। इसलिये बाजार में नहीं चला। तब श्रीलालबाबा ने दाराशिकोह से कहा–''देखो, दोनों रुपये तुम्हारे ही खजाने के हैं और तुम्हारे ही खास बाजार में भजाने को गये थे। दोनों का एक ही रूप है, परन्तु एक चला, एक न चला, इसका क्या कारण है?'' दाराशिकोह ने कहा–''जो खरा था वह तो चल गया और जो खोटा था वह न चला।'' तब श्रीलालबाबा ने कहा कि–''ऐसे ही हिन्दू-मुसलमान दोनों भगवान की ही सन्तान हैं परन्तु इन दोनों में जो सच्चा होता है उसी को भगवान मिलते हैं, वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान। झूठे हिन्दू वा मुसलमान किसी को नहीं मिलते।'' यही कारण है कि कसाई होने पर भी श्रीसदनजी पर भगवान रीझ गये थे।

भगवान ने कहा–

कहा भयो जो पै बड़े कुलहूमें जन्म भयो, जप तप नेम व्रत साधन अपार है।
कहा भयो तीरथ अनेकन गमन किये, गयो नहीं जौलौं निज मनकौ विकार है।।
जौलौं मेरे सन्तनमें राखै जाति भेद सदा, तौलौं कहो कैसे वह पावै सुखसार है।
मेरौ साधु नीच पद पंकज न धोयो जौलौं तौलौं सब शास्त्रनको पढ़िबोई भार है।।

पुनः श्रीभगवान ने कहा कि हम जानते हैं कि आप वेदवाणी से मेरी स्तुति करते हैं और गंगाजल से स्नान कराते हैं, परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि आखिर ये वेद और गंगा हैं क्या? अरे, वेद तो हमारी निःश्वास मात्र है और गंगा पगधोवन है, यह बात सारा संसार जानता है। फिर इनके द्वारा पूजा करने से विशेषता ही क्या? अरे, इन सबसे विशेष तो है प्रेम। सदन भक्त की सेवा में मुझे पेट भरकर प्रेमामृत पान करने को मिलता था। अतः मैं सदन के पास ही जाना चाहता हूँ।

लै कै आयौ साधु मैं तो बड़ो अपराध कियौ कियौ अभिषेक सेवा करी पै न भाई है।
ये तौ प्रभु रीझे तोपै जोई चाहौ सोई करौ गरो भरि आयो सुनि मति बिसराई है।।
वेई हरि उर धारि डारि दियौ कुलाचार चले जगन्नाथ देव चाह उपजाई है।।
मिल्यौ एक संग संग जात वे सुगात सब तब आप दूर दूर रहैं जानि पाई है।।३९५।।

शब्दार्थ–अभिषेक=विधिपूर्वक सिंचन, मन्त्रों से मार्जन-स्नान। सुगात=सुगात्र, उत्तम शरीर, उत्तम कुलगोत्र में उत्पन्न। वे सुगात=सन्देह करते।

भावार्थ—स्वप्न में प्रभु की आज्ञा सुनकर साधु श्रीशालग्रामजी को लेकर श्रीसदन भक्त के घर पहुँचे और उनसे गद्‌गद स्वर से बोले-मैंने बड़ा अपराध किया जो कि श्रीशालग्राम भगवान को आपसे माँगकर ले गया। मैंने घर ले जाकर इनका वेद-मंत्रों से अभिषेक किया, विधिपूर्वक सेवा-पूजा की। परन्तु इनको पसन्द नहीं आई। ये प्रभु तो तुम्हारे ही ऊपर रीझे हैं, अब तुम इनको लो और जो चाहो सो करो। साधु की यह बात सुनकर श्रीसदनजी का गला भर आया, सुधि-बुधि भूल गई। उन्हीं श्रीशालग्राम भगवान को हृदय से लगाकर इन्होंने अपने कुल के आचारानुसार माँस बेचना भी छोड़ दिया। इनके मन में श्रीजगन्नाथ भगवान के दर्शन की चाह उत्पन्न हो हुई अतः कुल-कुटुम्ब, घर-बार छोड़कर श्रीजगन्नाथपुरी को चल दिये। मार्ग में इन्हें पुरी जाने वाले यात्रियों का एक समुदाय मिला। ये भी उन्हीं के संग-संग चलने लगे। परन्तु वे लोग उत्तम कुल के थे अतः इनको कसाई जानकर इनसे घृणा करते थे। जब यह बात इन्हें मालूम हुई तो आप स्वयं ही उनका संग छोड़कर दूर-दूर ही रहते हुए चलने लगे।।३९५।।

व्याख्या—रीझे तोपै—भगवान प्रेम से रीझते हैं। यथा-''रीझत राम स्नेह निसोते। तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।।'' (रामा०) और रीझने पर भक्त के वश में हो जाते हैं। यथा-''रीझे वशहोत खीझे देत निजधामरे।।'' (वि०), ''जोई चाहौ सोई करौ''-का भाव- इनसे माँस तौलो चाहे पूजा करो। ''उरधारि''-के दो भाव हैं-१. उर में धारण करके अर्थात् ध्यान करते हुए। २. हृदय स्थल से लगाकर अर्थात् श्रीशालग्रामजी को गले में लटका लिये, जो हृदय पर झूल रहे थे।

आयौ मग गांव भिक्षा लेन इक ठांव गयौ नयो रूप देखि कोऊ तिया रीझि परी है।
बैठो याही ठौर करौ भोजन निहोरि कह्यौ रह्यौ निसि सोय आई मेरी मति हरी है।।
लेवो मोको संग गरौ काटौ तौ न होय रंग बूझी और काटी पति ग्रीव पै न डरी है।
कही अब पागो मोसों नातो कौन तोसों मोसों, सोर करि उठी इन मार्‌यो भीर करी है।।३९६।।

शब्दार्थ—निहोरि=विनती, मनौती करके, मनाय करके। रंग=प्रेम। बूझी=समझी। और=दूसरी बात।

भावार्थ—रास्ते में एक गाँव मिला। श्रीसदनजी वहाँ एक घर में भिक्षा लेने गये। एक स्त्री इनका सुन्दर तरुण रूप देखकर रीझ गई। उसने इनसे कहा-''यहीं बैठो और भोजन करो।'' इन्होंने वहीं बैठकर भोजन किया और जब भोजन करके वहाँ से जाने लगे

तो उसने अत्यन्त प्रार्थनापूर्वक कहा कि "रात्रि में यहीं विश्राम भी करो।" इन्होंने उसके आग्रह पर वहीं रात्रि में शयन किया। जब घर के सब लोग सो गए तो वह स्त्री इनके पास आई और बोली-"तुमको देखकर मैं मोह गई हूँ अतः तुम मुझे भी अपने साथ ले चलो।" इन्होंने कहा-"यदि तू मेरा गला भी काट डाले तो भी मेरा तुझमें प्रेम नहीं हो सकता है।" उसने इनकी बातों का कुछ और ही अर्थ समझा और जाकर अपने पति का ही गला काट डाला, उसे तनिक भी भय नहीं हुआ। पुनः इनके समीप आकर बोली अब तो मुझसे प्रेम करो। इन्होंने कहा-"तुझसे मेरा नाता ही क्या है, जो मैं तुझसे प्रेम करूँ।" जब उसने देख लिया कि ये मुझे नहीं चाह रहे हैं तो बड़े जोर का शोर मचाने लगी कि इन्होंने मेरे पति को मार डाला। इस प्रकार चिल्लाकर उसने बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी कर ली।।३९६।।

व्याख्या—आयो मग गांव—श्रीसदनजी सबसे न्यारे होकर अकेले अपनी धुन में चले जा रहे थे। मार्ग में देखे कि एक जगह प्याऊ लगा है। बहुत-सी गौएँ प्यास से व्याकुल होकर प्याऊ पर आईं तो प्याऊ वाले ने उन्हें मारकर भगा दिया। इन्होंने उससे सिफारिस की कि वह गौओं को भी जल पिला दे, तब उसने कहा कि यह प्याऊ मनुष्यों के लिये है। कुएँ में जल बहुत नीचे होने से मनुष्यों को ही मुश्किल से पिला पाता हूँ। फिर पशुओं को कैसे पिला सकता हूँ? इन्होंने कहा कि "यदि तुम बाल्टी-रस्सी मुझे दे दो तो मैं गायों को पानी पिला दूँ।" उसने सहर्ष दे दिया। इन्होंने खूब गायों को जल पिलाया। तृप्त गायों ने इन्हें भक्ति का आशीर्वाद दिया। इस प्रकार परमार्थ परायण श्रीसदनजी भूख लगने पर सायंकाल को किसी एक गाँव में भिक्षा लेने गये। "नयो रूप.....तियारीझि परी है"-यह कामिनियों की सहज-मानसिक-दुर्बलता है। यथा-"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखति नारी।। होइ बिकल मन सकहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं विलोकी।।" (रामा०), "गरौ काटौ तौ न होय रंग"-इसका वास्तविक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। परन्तु उस स्त्री ने समझा कि ये मेरे पति से डरते हैं अतः कहते हैं कि पहले अपने पति का गला काट डालो तब रंग (प्रेम) होगा। उसने वैसा ही कर डाला। "सोर करि उठी"-इसी से कहा गया है कि-"त्रिया चरित जानै नहिं कोई। खसम मारि कै सत्ती होई।।" इस पर-

दृष्टान्त—एक कुलटा का—एक व्यभिचारिणी स्त्री थी। उसकी परपुरुषों से गाढ़ प्रीति थी। उसके सास-ससुर-पति सभी समझाकर हार गये, परन्तु वह आदत से बाज नहीं आई। एकदिन वह रात्रि में अपने जारपति के यहाँ गई हुई थी। तो उसके पति को पता लग गया अतः उसने भीतर से सांकल लगा ली। कुछ देर बाद जब वह पुनः घर को लौटी तो किवाड़ बन्द पाया। उसने खुलवाने

का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसके पति ने किवाड़ नहीं ही खोला। तब उसने कुएँ में कूदकर मरने की धमकी दी। पति ने तब भी किवाड़ नहीं खोला। तब उसने पति को भय दिखाने के लिये कुएँ में एक बहुत बड़ा पत्थर फेंका। बेचारा पति डर गया कि सचमुच कुएँ में कूद गई, कहीं मर गयी तो मुश्किल पड़ेगी। अत: वह तुरन्त फाटक खोलकर बाहर निकला। इतने में वह स्त्री झट घर में घुसकर भीतर से सांकल लगा ली और अपने सास-ससुर से उल्टे जाकर कहने लगी कि देखो, तुम लोग हमें ही दोष देते हो, अपने लड़के का दोष तो देखते नहीं हो, आधी रात के समय न जाने कहाँ डोल रहे हैं? फिर तो उसके सास-ससुर ने अपने लड़के को बहुत फटकारा। उस बेचारे ने मारे ग्लानि के सचमुच कुएँ में कूदकर प्राणान्त कर लिया। फिर तो वह कुलटा अपना सतीत्व प्रमाणित करने के लिये पति के संग में सती होने चली। लोगों ने लाख समझाया, परन्तु उसने किसी की नहीं मानी। फिर तो सर्वत्र इसका सुयश छा गया। विधि है कि जब कोई स्त्री सति होने चलती है तो प्रथम उसे घर-पुर-नगर के लोग समझाते हैं। अन्त में राजा समझाता है, जब वह अपने निश्चय से नहीं डिगती है तब उसे सती होने का आदेश दिया जाता है। परन्तु इसने तो केवल स्वांग किया था। जब सर्वत्र इसके सतीत्व की धूम छा गयी तब नगर के सम्भ्रान्त लोगों के तथा राजा के समझाने पर मान गई। यद्यपि बाद में सब लोग जान गये इसकी चालबाजी को। इसी से कहा गया है कि-"त्रिया चरित जानै नहिं कोय। खसम मारिकै सत्ती होय।।" वही इसने किया।

हाकिम पकरि पूछै कहैं हँसि मार्‌यो हम, डार्‌यौ सोच भारी कही हाथ काटि डारियै।
कट्‌यो कर चले हरिरंग मांझ झिले मानी जानी कछु चूक मेरी यहै उर धारियै।।
जगन्नाथदेव आगे पालकी पठाई लेन, सधनासो भक्त कहां? चढ़ैं न विचारियै।
चढ़ि आए प्रभु पास सुपनोसो मिट्‌यौ त्रास बोले दै कसौटी हूं पै भक्ति विसतारियै।।३९७।।

शब्दार्थ—दैकसौटी हूपै=परीक्षा देकर भी।

भावार्थ—उस स्त्री के शोरगुल करने पर, भीड़भाड़ एकत्रित होने पर उस गाँव के हाकिम (जमींदार) ने इन्हें पकड़वा लिया और न्याय के लिये सम्मुख उपस्थित किए जाने पर जब उनसे पूछा कि-"क्या सचमुच तुमने इस स्त्री के पति को मारा है?" तो इन्होंने हँस करके कहा कि-"हाँ हमने ही मारा है।" इनके इस कथन ने हाकिम को भारी सोच में डाल दिया कि इन्हें कौन सा दण्ड दें। फिर अन्त में उसने इनका हाथ कटवाकर छोड़ दिया। हाथ कट जाने पर भी ये श्रीजगन्नाथ भगवान के प्रेमरंग में रँगे पुरी की ओर चल पड़े। इन्होंने यही जाना और माना कि मेरा ही पूर्वजन्म का कोई अपराध था, जिसका यह फल भोगना पड़ा। यही हृदय से निश्चय किये। उधर भगवान

श्रीजगन्नाथजी ने इनको लेने के लिये आगे से पालकी भेजी। पण्डे पुजारी लोग सभी से पूछते डोलते कि सदन भक्त कौन हैं, कहाँ हैं? कहाँ पर मिलेंगे? जब इन्होंने अपना परिचय दिया तो उन लोगों ने इन्हें पालकी पर चढ़कर श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने के लिए चलने को कहा। परन्तु ये पालकी पर चढ़कर प्रभु के पास चलना अनुचित विचारकर उस पर चढ़ते नहीं थे। जब उन लोगों ने प्रभु की आज्ञा सुनाई तब पालकी पर चढ़े और श्रीप्रभु जगन्नाथ भगवान के पास आये। भगवान का दर्शन करते ही इनका कष्ट स्वप्न के समान मिट गया। भगवान बोले-"सदन! तुमने अपने को भक्ति की कसौटी पर चढ़ा दिया। तुम कसौटी पर खरे उतरे। अब तुम संसार में भक्ति का प्रचार करो।।३९७।।

व्याख्या—कहैं हँसि—यद्यपि दोनों हाथ काट लिये गये हैं, कष्ट का पारावार नहीं है, तब भी मुख पर म्लानता नहीं, बल्कि हास्य बिखर रहा है। हाकिम की प्रत्येक बात का हँसते हुए जवाब दे रहे हैं। कारण कि मन तो परमानन्द कन्द प्रभु के पास है अतः शारीरिक दुःख-सुख का कोई भान ही नहीं रहा। यथा-"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।।" (रामा०), "मार्‌यो हम"- श्रीसदनजी यद्यपि सर्वथा निर्दोष हैं। तब भी सारा दोष अपना ही स्वीकार करते हैं। इसके दो कारण हैं-१. इस अनर्थ का मूल निमित्त स्वयं को ही मानते हैं। न आये होते न यह अनर्थ होता। २. इनकी दूरदर्शिनी दृष्टि ने पूर्वजन्मकृत अपने अपराध को देख लिया, अतः ये बोले कि-"मैंने ही मारा।" "हाथ काटि डारियै" -हाकिम समझ गया कि यह सब इस स्त्री का ही कपटजाल है, परन्तु चूंकि ये अपराध स्वीकार कर रहे थे अतः हाथ कटवाकर छोड़ दिया। "कट्‌यो कर चले"-अकारण इतना महान् संकट उपस्थित होने पर भी ये पीछे नहीं मुड़े, बल्कि आगे ही चले। साधारण निष्ठा वाला व्यक्ति ऐसी स्थिति में विचलित हो जाता है, परन्तु ये तो पीछे मुड़ने का नाम नहीं लिये, आगे ही चले। कारण-"हरिरंग माँझ झिले।" "कछु चूक मेरी"-देखिये कवित्त-३९४ में "सदना कसाई" की व्याख्या। पुनः यह भक्त का स्वभाव है। यथा-"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। जेहिं सब भाँति तुम्हार भरोसा।।" (रामा०), "पालकी पठाई"- भगवान ने उत्तम कुल गोत्र वालों के लिये पालकी नहीं भेजा, श्रीसदनजी के लिये भेजा, इसके दो कारण हैं-१. इनका प्रेम सबसे अधिक है और भगवान को प्रेम सर्वाधिक प्रिय है। २. इनको अपने समान समझकर। श्रीजगन्नाथ भगवान भी टोंटे (हस्त विहीन) हैं और श्रीसदनजी भी।

सुपनौ सौ मिट्‌यो त्रास—श्रीसदनजी प्रभु का दर्शन करके साष्टांग दण्डवत्प्रणाम करने लगे। उस समय ज्यों ही इन्होंने अपने हाथ आगे बढ़ाने की चेष्टा की तो उसी क्षण इनका हाथ

ज्यों के त्यों प्रकट हो गया। सब दु:ख स्वप्नवत् मिट गया। जैसे स्वप्न में कोई सिर काट रहा हो तो उस समय तो महान् पीड़ा होती है परन्तु जगने पर दु:ख लवलेश नहीं रह जाता। उसी प्रकार इनका दु:ख मिट गया। साधारण जीव इसके विपरीत गुण अपना और दोष, काल, कर्म, ईश्वरादि को देते हैं। यथा-"बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा।। साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं पर लोक सँवारा।। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।।" (रामा०), पुनः-"ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सौं रोष। करै रावसों रोष दोष हरिको कह दीजै। आपुन कुमति कमाय परेखो काको कीजै।। तृषावन्त ह्वै जीव सरोवर पै चलि आवै। यह नहिं देखी सुनी आय सर तृषा बुझावै।। अगर कहै अपराध यह प्रभु हैं सदा अदोष। ढाक चढ़त बारी गिरै करै रावसों रोष।।"

श्री गुसाईं काशीश्वरजी

श्रीगुसाईं काशीश्वर आगे अवधूत बर करि प्रीति नीलाचल रहे लाग्यो नीको है।
महाप्रभु कृष्ण चैतन्यजू की आज्ञा पाय आये वृन्दावन देखि भायौ भयौ हीको है।।
सेवा अधिकार पायौ रसिक गोविन्दचन्द चाहत मुखारविन्द जीवनि जो जीको है।
नित ही लड़ावैं भाव सागर बढ़ावैं कौन पारावार पावैं सुनै लागै जग फीको है।।३९८।।

शब्दार्थ—अवधूत=एक प्रकार का संन्यासी।

भावार्थ—गोसाईं श्रीकाशीश्वरजी प्रथम अवधूत संन्यासी थे। आपको श्रीनीलाचल (श्रीजगन्नाथपुरी) का वास अच्छा लगा अतः अनुरागपूर्वक वहीं बस गये। कालान्तर में महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी के आदेशानुसार आप श्रीवृन्दावन चले आये। श्रीवृन्दावन का दर्शन करके आपके हृदय की अभिलाषा पूरी हो गई। यहाँ आपको रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीराधा गोविन्दचन्द्रजी की सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ। आप श्रीगोविन्ददेवजी के श्रीमुख-कमल को देखते ही रहते थे, जो कि जीवों का जीवन है, सर्वस्व है। आप नित्यप्रति श्रीगोविन्ददेवजी को अत्यन्त लाड़ लड़ाते थे। एवं प्रकारेण आपके हृदय में भाव सागर की उमंग उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती थी, उसका ओर-छोर कौन पा सकता है? आपकी भाव-दशा का वर्णन सुनकर संसार फीका लगने लगता है।।३९८।।

व्याख्या—गोसाईं श्रीकाशीश्वरजी श्रीईश्वरपुरीजी के शिष्य थे, उस समय जब अवधूत दशा में थे तब प्रायः विचरण किया करते थे। एकबार मार्ग में इनको एक भूत मिला। उसने इन्हें बहुत ही डरवाया। इन्होंने भी उसकी बहुत प्रार्थना की, परन्तु उसने एक न सुनी।

तब इन्होंने पूछा–"आखिर तुम चाहते क्या हो?" भूत ने कहा–"मैं तुम्हें मारकर भूत बनाऊँगा।" इन्होंने पूछा–"सो क्यों?" भूत ने कहा–"इसलिये कि तुम श्रीहरि से विमुख हो।" यह सुनकर ये डर गये और तत्क्षण मन ही मन श्रीहरि की शरण ग्रहण किये। मन में शरणागति का संकल्प करते ही भूत पलायन कर गया। पुनः श्रीईश्वरपुरीजी ने देहावसान के समय इन्हें आज्ञा दी कि तुम श्रीगौराङ्ग की सेवा में जाकर रहो। इस प्रकार इन्होंने पुरी में आकर श्रीमहाप्रभु की सन्निधि, सेवा प्राप्त की। श्रीमहाप्रभुजी इन्हें अपनी सेवा देने में संकोच करते। पश्चात् गुरु आज्ञा एवं इनके प्रेमभाव को देखकर इन्हें सेवा का अवसर दिया। ये शरीर से बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। श्रीमहाप्रभुजी जब श्रीजगन्नाथ भगवान के आगे नृत्य करते थे और उनके दर्शनार्थ जन समुदाय उमड़ता तो श्रीकाशीश्वरजी ही उस भीड़ को सँभालते थे। जब श्रीरूपगोस्वामीजी पर अनुग्रह करके श्रीगोविन्ददेवजी प्रकट हुये और यह शुभ समाचार श्रीमहाप्रभु को मिला तो महती अनुकम्पा करके श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकाशीश्वरजी को श्रीगोविन्ददेवजी की सेवा के लिये श्रीवृन्दावन भेजा। इन्होंने बड़े लाड़पूर्वक श्रीगोविन्ददेवजी की सेवा की और सेवासुख प्राप्त किया। "जीवनि जो जी की है"– भगवान प्राणों के भी प्राण हैं। जीव के भी जीव हैं। यथा– "प्रान प्रान के जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।।" पुनः–"प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।।" (रामा०), मूल छप्पय–९६ में आये हुए अन्य सन्तों के चरित्र–

श्रीसोझाजी—जगत् की असारता, सांसारिक सुख भोगों के मिथ्यात्व, श्रीहरिभजन की सत्यता का सम्यक् बोध होने पर श्रीसोझाजी के मन में तीव्र वैराग्य का समुदय हुआ। इन्होंने अपनी पत्नी के समक्ष अपने गृह–त्याग का प्रस्ताव रखा। साध्वी पत्नी ने पति के परमार्थ मार्ग में व्यवधान डालना उचित नहीं समझा। उसने सहर्ष इनके प्रस्ताव का समर्थन किया, साथ ही स्वयं भी पति के साथ में चलने का प्रस्ताव रखा। इन्होंने कहा–"यदि सचमुच तुम्हारे हृदय से सब प्रकार की आसक्तियाँ दूर हो गईं हों तो तुम भी सहर्ष मेरे साथ चल सकती हो।" अन्ततोगत्वा सोझा दम्पत्ति अर्द्धरात्रि के समय अपने धन–धान्य से भरे घर, कुटुम्ब–परिवार, भाई–बन्धुओं को छोड़कर घर से निकल पड़े। सारी रात चलने के उपरान्त जब प्रातःकाल हुआ तो सोझाजी की दृष्टि पत्नी की गोद में स्थित शिशु पर पड़ी। बात यह थी कि इनकी पत्नी ने पतिप्रेम एवं श्रीभगवदनुराग में सब कुछ तो सहज में छोड़ दिया परन्तु वह अपने दस महीने के नवजात शिशु को छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकी। अतः उसे उसने गोद में ले लिया था। श्रीसोझाजी को यह बात नहीं मालूम थी। जब उन्होंने पत्नी की गोद में पुत्र को देखा तो बड़े नाराज हुये और पत्नी से बोले–"अभी तुम्हारे मन में संसार के प्रति बहुत राग है। यदि तुम मेरे साथ चलना चाहती हो तो इस शिशु को यहीं छोड़ दो।" पत्नी

ने आर्त स्वर से कहा–यहाँ इस बालक का लालन–पालन कौन करेगा ?'' इन्होंने पृथ्वी पर रेंगते हुए जीव–जाल को दिखाकर कहा–जो इनका पालक है वही इस बालक का भी पालन करने वाला होगा। पति की आज्ञा का पालन करती हुई पत्नी ने बालक को वहीं छोड़ दिया। दोनों आगे बढ़े। उधर परिवार के लोगों ने इनकी खोज प्रारम्भ की। तो ये तो मिले नहीं, हाँ इनका बालक मिल गया। लोग बालक को उठाकर ले गये। आगे चलकर वह बालक उस नगर का राजा हुआ। सोझा दम्पत्ति को चलते–चलते पूरा दिन भी व्यतीत हो गया परन्तु अभी तक खाने को कुछ नहीं मिला था। श्रीसोझाजी ने विचार किया कि भगवान तो बड़े भक्तवत्सल हैं, परन्तु हम लोगों को अब तक भोजन नहीं मिला, इसका क्या कारण है ? कहीं मेरी निर्भरता में तो कुछ कमी नहीं है, अथवा मेरी पत्नी ने तो कुछ नहीं लुका–छिपा रखा है ? अपने हृदय को टटोला तो इन्हें अपनी अनन्यता में कोई कसर नहीं दिखाई पड़ी। तब इन्हें पत्नी पर सन्देह हुआ। इन्होंने पूछा–''क्या तुमने कुछ रुपये–पैसे अपने पास छिपा रखे हैं, जो हमें प्रभु के कृपा प्रसाद से वञ्चित कर रहे हैं ? पत्नी ने सकुचाकर एक मुहर निकालकर पति को दिखाया। श्रीसोझाजी ने कहा–''तत्काल इसे फेंको एवं और जो कुछ भी तुम्हारे पास हो उसे भी शीघ्र फेंको।'' जब तक हम लोग पूर्णरूपेण परमात्मा पर ही निर्भर नहीं होगें, तब तक कृपा से वञ्चित ही रहेंगे। पत्नी ने तुरन्त मुहर फेंक दी और पति के साथ आगे चली। जिस धन के लिये लोग उचित–अनुचित सभी प्रकार के उपायों का आश्रय लेते हैं, उसी को इस प्रकार फेंकते हुये देखकर लोगों ने इन्हें परमसिद्ध समझा और इनके नगर में प्रवेश करने के पूर्व ही नगर में इनकी सिद्धाई की धूम मच गई। नगरवासियों ने इनका बड़ा भव्य स्वागत किया। कुछ दिन तक उस नगर में निवास करने के उपरान्त ये श्रीद्वारिकापुरी को प्रस्थान किये। कहते हैं कि मार्ग में दुष्टों ने इनकी पत्नी को छीन लिया। स्वधर्म रक्षा के लिये पत्नी ने भगवान को पुकारा। भगवान के आदेश से श्रीहनुमानजी ने प्रगट होकर दुष्टों को दण्ड देकर इनकी पत्नी को इनके पास पहुँचा दिया। साथ ही आकाशवाणी द्वारा पत्नी की पवित्रता को भी प्रमाणित कर दिया। बारह साल बाद इनकी पत्नी के मन में अपने पुत्र का हाल जानने की इच्छा हुई। उसने अपना अभीष्ट पति के सम्मुख प्रस्तुत किया। श्रीसोझाजी पत्नी को लेकर चल पड़े अपने देश। एक बाग में डेरा डाले। बाग के माली से पूछे–''इस देश का राजा कौन है ?'' माली ने बताया–''यहाँ के राजा को कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने सोझा भक्त के पुत्र को गोद ले लिया है, जिसे उसके माता–पिता जंगल में ही छोड़ गये थे, वही इस समय यहाँ का राजा है।'' श्रीसोझाजी की पत्नी को विश्वास हो गया कि सचमुच– ''प्रनत कुटुम्बपाल रघुराई।'' (रामा०)

श्रीसींवाजी—ये जाति के कायस्थ थे। बड़े अनुरागपूर्वक श्रीभगवत्-भागवत सेवा करते थे। समाज में इनका बड़ा सम्मान था। इनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को न सह सकने के कारण कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने राजा से इनकी झूठी शिकायत किया। नादान नृप ने इनको कारागार में डाल दिया। उसी बीच इनका नाम पूछते-पूछते सन्तों की जमात इनके घर पर आई। समाचार मिलने पर श्रीसींवाजी सन्तों की सेवा के लिए तड़प उठे। ये मन ही मन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि यदि मेरे पंख होते तो मैं उड़कर घर जाकर सन्तों की सेवा करता। प्रार्थना का कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि तत्काल इनकी हथकड़ी-बेड़ियाँ टूट गईं और ये सन्तों के पास पहुँच गये। बड़े भावपूर्वक सन्तों की सेवा किए। उधर राज्य-कर्मचारियों को इनके जेल से निकल भागने का समाचार मिला। वे पुनः इनका पता लगाकर पकड़ ले गये और हथकड़ी-बेड़ी में जकड़ने लगे। परन्तु आश्चर्य! इनके स्पर्शमात्र से ही लौह शृङ्खलाएँ टुकड़े-टुकड़े हो गईं। कर्मचारियों ने जाकर राजा से यह सब हाल कहा। अविवेकी राजा ने इसे इनका इन्द्रजाल समझकर प्राणदण्ड का आदेश किया। परन्तु "जाको राखै साइयाँ मारि सकै न कोय।" इनको मारने के लिये तलवार लिये हुए जल्लादों के हाथ उठे के उठे ही रह गये। वे एकदम स्तम्भित हो गये। जब यह परमाश्चर्यमय वृतान्त राजा ने सुना तो वह बहुत प्रभावित हुआ। नंगे पांव दौड़ा आया और श्रीसींवाजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। दरबार में ले जाकर बड़ा सम्मान किया और चुगुली करने वालों को प्राणदण्ड का विधान किया। परन्तु कोमल हृदय श्रीसींवाजी ने सबको मुक्त करा दिया। तभी तो कहा गया है-"उमा सन्त कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।।" (रामा०),

श्रीअधारजी—इन्होंने श्रीहरिनाम का आधार लिया था तथा स्वयं भी भवसागर में डूबते हुए असंख्य जनों के आधार थे, अतः सभी जन आपको श्रीअधारजी कहते थे।

श्रीहरिनाभजी—ब्राह्मणकुलोत्पन्न श्रीहरिनाभजी बड़े ही संतसेवी थे। एकबार संन्यासियों की एक बहुत बड़ी जमात गाँव में आई। गाँववालों ने उन्हें श्रीहरिनाभजी का घर बता दिया। दैवयोग से उस दिन इनके घर में एक छटाँग भी सीधा-सामान नहीं था। संन्यासी द्वार पर अड़े सीधा-सामान माँग रहे थे। जब इन्हें कोई उपाय नहीं सूझा तो अपनी ब्याह योग्य कन्या एक सगोत्री ब्राह्मण के घर गहने धरकर सीधा-सामान लाये और संन्यासियों का सत्कार किये। बाद में जब इन्हें कुछ आमदनी हो गयी तो उस ब्राह्मण का सीधा-सामान लौटा दिये परन्तु वह इनकी कन्या लौटाने में आनाकानी करने लगा। श्रीहरिनाभजी की भक्ति-भावना पर

सन्तुष्ट भक्तवत्सल भगवान ने स्वयं इनकी कन्या को उस ब्राह्मण के घर से इनके घर पहुँचा दिया। उस ब्राह्मण ने भगवान की कृपा को तो जाना नहीं, समझा कि श्रीहरिनाभजी ही कोई षड्यंत्र करके अपनी कन्या निकाल ले गये। अत: वे इनसे झगड़ा तकरार करने लगे। तब भगवान ने रात्रि में उन्हें स्वप्न में भय दिया कि कन्या को मैंने पिता के घर पहुँचाया था। यदि तुम लोग उनसे तकरार करोगे तो मैं सर्वनाश कर दूँगा। ब्राह्मण डर गया। प्रात:काल होते ही श्रीहरिनाभजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना की। उनसे भी सन्तसेवा का व्रत ले लिया और श्रीहरिनाभजी की कन्या को निज पुत्री मानकर यथासमय उसके विवाह में पूर्ण सहयोग किया।

श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के शिष्य थे। आपके पिता का नाम पंडित श्रीकृष्णदत्त एवं माता का नाम श्रीराधादेवी था। कहते हैं कि प्रथम आपके माता-पिता संतानहीन थे। पुत्र प्राप्ति का हर सम्भव उपाय करने पर भी उनका मनोरथ सफल नहीं हुआ तो वे निराश हो चुके थे। ''हारे को हरिनाम'' ही एकमात्र सहारा होता है। उन्होंने श्रीभगवन्नाम का सहारा लिया। प्रभु-प्रेरणा से एक दिन एक सन्त आपके घर पर आये। उन्होंने बड़े भावपूर्वक सन्त की सेवा-शुश्रूषा की। उनकी मानसिक म्लानता सन्त से छिपी नहीं रही। पूछने पर उन्होंने अपना दु:ख सन्त के सम्मुख निवेदन किया। सन्त ने सलाह दिया कि वर्तमान में श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी बड़े सिद्ध सन्त हैं, तुम उनकी शरण ग्रहण करो, तुम्हारा अवश्य मंगल होगा। बात जँच गई। ब्राह्मण दम्पति श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शरण गये। श्रीआचार्यपाद ने उन्हें श्रीदिलीपजी की कथा सुनाकर गो-सेवा का आदेश दिया। (श्रीदिलीपजी की कथा के लिये देखिये पृष्ठ-५०७), गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर पंडित श्रीकृष्णदत्त और श्रीराधादेवी श्रीदिलीपजी के आदर्श को सम्मुख रखकर गो-सेवा में जुट गये। गोपाष्टमी का दिन था। श्रीकृष्णदत्त गायों की सार-सँभार करने के लिये ब्राह्ममुहूर्त में ही खिरक में गये तो वहाँ उन्हें परम प्रकाश दिखायी पड़ा। कौतुहलवश जब प्रकाश के समीप गये तो उन्हें एक तेज पुञ्ज बालक दिखायी पड़ा। उन्होंने आनन्द-विभोर होकर अपनी पत्नी श्रीराधादेवी से आकर यह वृतान्त सुनाया। श्रीराधादेवी का हृदय वात्सल्य-रस से भर गया। उन्होंने ललककर बालक को गोद में उठा लिया। स्तनों से दुग्ध की धार बह चली। बड़े लाड़-प्यार में बालक का पालन-पोषण होने लगा। स्वयं प्रकट होने के कारण विद्वान् ज्योतिषियों ने बालक का नाम स्वभू (स्वयं उत्पन्न होने वाला) राम रखा तथा गुण भी स्वयम्भू सदृश बताया। जब बालक स्वभूराम आठ साल का हुआ तो

माता-पिता उसे लेकर श्रीनारदटीला (मथुरा) में श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के पास आये। पिता-माता के अनुरोध पर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने बालक का यज्ञोपवीत संस्कार कराकर विधिपूर्वक वैष्णवी दीक्षा से दीक्षित किया। श्रीस्वभूरामजी का मन श्रीगुरुचरणों को छोड़कर घर जाने को तैयार नहीं था, परन्तु गुरु की आज्ञा मानकर घर जाना पड़ा। लेकिन घर पर मन नहीं लगा अतः पुनः श्रीगुरुजी के पास आ गये। श्रीगुरुजी ने पुनः समझाकर घर भेजा, ये पुनः आ गये। श्रीगुरुदेवजी समझ गये कि बालक संसार में नहीं रह सकता है। यह वैराग्य लेना चाहता है अतः आज्ञा दिये कि अपने माता-पिता से आज्ञा माँग लाओ, तब मैं तुम्हें विरक्त दीक्षा दूँगा। श्रीस्वभूरामजी ने जब माता-पिता से आज्ञा और आशीर्वाद माँगा तो वे बिलखकर बोले-"बेटा! तुम्हीं तो हम वृद्धों के एक मात्र प्राणाधार हो, यदि तुम भी वैराग्य ले लोगे तो हम किसके आधार पर जीवन धारण करेंगे।" इन्होंने माता-पिता का अभिप्राय समझकर कहा कि-"यदि मेरे दो भाई और हो जायें, तब तो तुम मुझको विरक्त हो जाने की आज्ञा दे दोगे?" यह सुनकर माता-पिता हँस गये। परन्तु श्रीस्वभूरामजी का वचन सत्य निकला। समय पर श्रीराधादेवी के दो पुत्र और हुए। उनके नाम थे—सन्तदास और माधवदास। ये दोनों भी महाभागवत हुये। इनकी चर्चा प्रसंग श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने छप्पय-१९० में की है। तत्पश्चात् श्रीस्वभूरामजी ने पुनः माता-पिता से आज्ञा माँगी। मौन स्वीकृति ने मार्ग प्रशस्त कर दिया। ये माता-पिता को प्रणामकर एवं उनकी परिक्रमा कर श्रीगुरुदेवजी के पास चले आये। विरक्त वेश धारण कर बहुत समय तक श्रीगुरुचरणों की सन्निधि में रहकर भजन-साधन करते रहे।

उन्हीं दिनों हरियाणा प्रान्त में नाथों का बड़ा भारी आतंक फैला हुआ था। वहाँ की जनता ने श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी के पास आकर पुकार की। उन्होंने श्रीस्वभूरामजी को वहाँ भेजा। आपके वहाँ पहुँचने पर नाथ सिद्धों ने बहुत उपद्रव मचाया। इनके निवास स्थान के चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ प्रकट कर दीं। तब आपने श्रीचक्रसुदर्शन का स्मरण किया, तो श्रीचक्रराजजी के प्रचण्ड प्रभाव से हतप्रभ वह अग्नि इनकी कुटी को छोड़कर उन दुष्टों को ही जलाने लगा। बचाव का कोई उपाय न देखकर वे सबके सब श्रीस्वभूरामजी की शरण आये। इन्होंने अपने साधु-स्वभाव की रक्षा करते हुये उन्हें क्षमा कर दिया। फिर आपने वहाँ पर बहुत काल तक निवास कर भक्ति का प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। बूड़िया ग्राम में आज भी आपका सुयश जगमगा रहा है।

एक ब्राह्मण आपका शिष्य था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, तीन स्त्रियाँ थीं। वह आपके उपदेश से खूब सन्त सेवा करता था। परन्तु यदि अथाव था तो एक पुत्र का। तीन स्त्रियों में सन्तान एक के भी नहीं थी। गाँव के सभी ताना मारते कि निपूते बैरागियों की सेवा करते हैं उसी का ये फल है। उन ब्राह्मण देवता को अपने निपूते होने का उतना दुःख नहीं होता, जितना सन्त सेवा पर लांछन लगने से होता। जब वेदना असह्य हो गयी तो वे गुरुदेव श्रीस्वभूरामजी से आकर अपना दुःख निवेदन किये। श्रीस्वभूरामजी ने कृपापूर्वक ब्राह्मण की छोटी स्त्री से भक्तराज पुत्र होने का वरदान दिया। फलस्वरूप यथा समय छोटी स्त्री ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। ब्राह्मण ने पुत्र जन्म पर बहुत बड़ा महोत्सव मनाया। पुत्र को लाकर श्रीस्वभूरामजी के चरणों में डाल दिया। फिर तो उस ब्राह्मण की सन्त सेवा में और भी अधिक दृढ़ निष्ठा हो गई। कालान्तर में उस ब्राह्मण का स्वर्गवास हो गया और कुछ दिन बाद उस बालक को भी सर्प ने डँस लिया। रोती-बिलखती निरुपाया माँ ने मृतप्राय बालक को लाकर श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी के चरणों में डाल दिया। श्रीस्वामीजी ने बालक को कृपा दृष्टि से देखा और भगवान का श्रीचरणामृत मुँह में डाला। बालक तत्काल जीवित हो उठा। यह बालक आगे चलकर श्रीकन्हरदेवाचार्य के नाम से विख्यात सन्त हुआ। इनकी चर्चा श्रीमद्गोस्वामी नाभाजी ने छप्पय-१९१ में किया है।

श्रीऊदारामजी—आपने अपने जन्म से वैश्य कुल को अलंकृत किया था। सन्त सेवा ही आपकी साधना थी। आपकी पत्नी भी बड़ी भागवती थीं। कहते हैं कि आपकी पत्नी के जब प्रथम पुत्र हुआ तो प्रसवकाल में उसे बड़ी पीड़ा हुई। उसी समय उसने निश्चय कर लिया कि अब जीवनभर पति के साथ अङ्ग-सङ्ग नहीं करुँगी। उसने अपना निश्चय पति को भी सुना दिया। पति तो साधु-स्वभाव के थे ही अतः सहज समर्थन मिल गया। फिर तो दोनों पति-पत्नी खूब भगवान का भजन करते और साधु-सन्तों की सेवा करते। एक बार इनकी सन्त सेवा निष्ठा की परीक्षा के लिये एक दिन एक सन्त ने इनसे कहा कि-"मेरी पत्नी बीमार है, अतः कुछ दिन तक सेवा करने के लिये आप अपनी पत्नी मुझे दे दीजिए। जब हमारी पत्नी स्वस्थ हो जायेगी तो मैं आपकी पत्नी लौटा दूँगा।" इन्होंने सहर्ष अपनी पत्नी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से समलंकृत कर सन्त के हाथ सौंप दिया। सन्तजी ने कहा कि इसे हमारे आश्रम तक पहुँचा आओ। श्रीऊदारामजी ने ऐसा ही किया। आश्रम में पहुँचते-पहुँचते रात्रि हो गई। चमत्कार यह हुआ कि ये दोनों पति-पत्नी आश्रम में सोये थे, परन्तु प्रातःकाल जब जगे तो अपने को अपने घर में ही पाए। श्रीऊदारामजी

सन्त की महिमा विचारकर गद्गद हो गये। वह समझ गये कि वस्तुतस्तु सन्त रूप में ये भगवन्त ही थे। उस दिन से श्रीऊदारामजी का सन्तो में और भी अधिक सद्भाव हो गया। अब तो ये संसार से एकदम विरक्त होकर पूर्ण वैष्णव बन गये। अपने जाति बिरादरी वालों से सम्बन्ध तोड़कर वैष्णवों से नाता जोड़ लिये। जाति वालों को यह बात अच्छी नहीं लगी। प्रथम तो उन लोगों ने श्रीऊदारामजी को समझाने का प्रयास किया, परन्तु जब ये नहीं माने तो सबके सब जाति वाले मिलकर राजा के पास जाकर इनकी शिकायत किए कि इनके पास बहुत धन है, परन्तु राज्य कर कुछ भी नहीं देते हैं और उस धन को छिपाने के लिये ही यह वैष्णवता का स्वांग किये हैं। राजा ने रुष्ट होकर इन्हें पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजा, परन्तु विचित्र बात यह हुई कि जितने भी पकड़ने वाले थे, वे सबके सब इनके घर के समीप आते ही अन्धे हो गये। जाकर राजा से यह समाचार कहे तो राजा को यह समझते देर नहीं लगी कि श्रीऊदारामजी सच्चे सन्त हैं। वह राजा तत्काल आकर आपके चरणों में पड़ गया। इस प्रसंग से सबका मोह दूर हो गया। सब लोग श्रीऊदारामजी एवं सन्तों के स्वरूप को समझकर उनके प्रति नत-मस्तक हो गए। सबने श्रीभगवद् भजन एवं साधु-सेवा का व्रत ले लिया। ऐसे कितने लोग आपके चरित्रों से प्रेरणा प्राप्त कर वैष्णव बन गये।

श्रीडूँगरजी—श्रीडूँगरजी पटेल जाट क्षत्रिय थे। सन्त सेवा में इनकी बड़ी निष्ठा थी। ये पिता की आँख बचाकर सन्तों को बहुत खिलाया-पिलाया करते थे। इसी में इन्होंने पिता का बहुत-सा धन व्यय कर दिया। जब पिता को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इन्हें घर से निकाल दिया। परन्तु इतने पर भी इन्होंने सन्त सेवा नहीं छोड़ी। पत्नी के गहने बेंचकर सन्त सेवा करते रहे। इनकी सेवा की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी थी अतः इनके यहाँ पर सन्तों का जमघट बना ही रहता था। एकबार सन्तों की बहुत बड़ी जमात इनके यहाँ आ गई और घर में अन्न का एक दाना भी नहीं था, पत्नी के सभी आभूषण बिक चुके थे। अतः कोई और उपाय न देखकर श्रीडूँगरजी और उनकी पत्नी ने अत्यन्त आर्त होकर भगवान को पुकारा। भगवान को भक्त की आर्त पुकार ने विह्वल बना दिया। प्रभु कृपा से तत्काल आकाश से अन्न की वर्षा होने लगी। पत्नी ने तुरन्त आटा तैयार किया। रसोई बनी, सन्तों ने प्रसाद पाया। क्षण भर में यह समाचार पूरे गाँव में फैल गया। जब इनके पिता ने यह बात सुनी तो वे अपनी करनी पर बहुत लज्जित हुये। अपनी सब सम्पत्ति पुत्र को ही सौंप दिए और स्वयं सन्तसेवा में जुट गये। एकबार श्रीडूँगरजी ने श्रीद्वारिकापुरी की यात्रा किया। मार्ग में एक अघोरी मिला। वह इन्हें मारकर खा जाना चाहता था कि इतने में भगवान सन्त रूप धारण कर प्रकट हो गये

और अघोरी को दण्डित कर इनकी जान बचाये। एक जगह इन्होंने स्त्री-पुरुषों की बहुत बड़ी भीड़ देखी। कौतूहलवश वहाँ आ गये, तो पता चला कि एक गर्भवती स्त्री अपने मृत पति के साथ सती होने जा रही है और लोग उसे समझा-बुझा रहे हैं। साधु हृदय श्रीडूँगरजी को दया आई। इन्होंने कृपा करके उसके मृत पति को जीवित करके भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार आपके चमत्कारपूर्ण जीवन से अनेकों ने भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की।

श्रीपदारथजी—एक सन्तसेवी वणिक के यहाँ एक ठग साधुवेष में रहता था। भावुक वणिक ने वेषमात्र से ठग को भी सच्चा साधु मानकर किसी प्रकार का पर्दा नहीं किया। अपना समस्त धन-माल-खजाना भी उसे दिखा दिया। एक दिन जब वणिक कहीं बाहर गया हुआ था, तो वह साधुवेषधारी ठग उसकी सब सम्पत्ति लेकर भाग चला। वणिक पत्नी ने देखा तो चीखना-चिल्लाना प्रारम्भ किया। उसका चिल्लाना सुनकर राज-कर्मचारियों ने उस ठग का पीछा किया। जब ठग ने अपने बचाव का और कोई रास्ता नहीं देखा तो वह, श्रीपदारथजी के घर में घुस गया। साधुवेष देखकर श्रीपदारथजी ने भी उसे अपने घर में छिपा लिया। राज-कर्मचारी इधर-उधर ढूँढ़कर अन्त में लौट आये। तब श्रीपदारथजी ने उस ठग से सही-सही सब बात पूछीं। ठग ने भी सब बात सही-सही कह दी। तब श्रीपदारथजी ने उस धन को वणिक के यहाँ भेजवा दिया और उस ठग को श्रीभगवच्चरणामृत तथा प्रसाद दिया, जिससे उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई। तब भक्ति का उपदेश दिया। श्रीपदारथजी श्रीहरिभक्ति को ही समस्त पदार्थों का सार मानते थे।

श्रीविमलानन्दजी—''यथा नाम तथा गुण'' की कहावत को चरितार्थ करते हुये श्रीविमलानन्दजी सचमुच विमल आनन्द स्वरूप ही थे। आप बड़े सिद्ध महापुरुष थे। कहते हैं कि एक विषयी राजा ने एक वणिक की सुन्दरी युवती कन्या को देखकर मोहित हो, उसे पकड़ लाने के लिये अपने कर्मचारियों को भेजा। वणिक ने भयभीत होकर अपने धर्म की रक्षा करने के लिये श्रीविमलानन्दजी के यहाँ जाकर पुकार की। श्रीविमलानन्दजी ने उस वणिक को आश्वासन दिया। उधर जब राजकर्मचारी वणिक के घर के पास आये तो सबके-सब अन्धे हो गये। लौटकर राजा को यह हाल सुनाये तो राजा को विश्वास नहीं हुआ। वह स्वयं आया तो उसका भी यही हाल हुआ। तब उसने श्रीविमलानन्दजी के चरणों में पड़कर अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। श्रीविमलानन्दजी की कृपा से पुनः सबके नेत्र ठीक हो गये। साथ ही सभी के मन की दुर्वासना भी मिट गई। सबने आपसे उपदेश लेकर अपने जीवन को सफल बनाया।

श्रीकलिकल्पवृक्ष भक्तजी

करुना छाया भक्ति फल ये कलि जुग पादप रचे।।
जतीराम रावल्लि, स्याम, खोजी, सन्त सीहा।
दलहा, पद्म, मनोरथ, रांका, द्यौगू जप जीहा।।
जाड़ा, चाचागुरू, सवाई, चाँदा नापा।
पुरुषोत्तमसों सांच चतुर कीता (मनको) जिहिमेट्यौ आपा।।
मति सुन्दर धी धांगै श्रम संसार नाच नहिन नचे।
करुना छाया भक्तिफल ये कलिजुग पादप रचे।।९७।।

शब्दार्थ—पादप=वृक्ष। रचे=बनाये। आपा=दर्प, घमण्ड, स्वीय भाव। धी धांगै=मृदङ्ग की ताल। संसार नाच=जगत् के प्रपञ्च।

भावार्थ—श्री भगवान ने इन भक्तों को वृक्षरूप रचा। इन सन्तरूपी वृक्षों में इनकी करुणा ही छाया है और इनकी भक्ति ही फल है। इनके नाम ये हैं-श्रीयती रामजी, राम-रावलजी, श्रीश्यामजी, श्रीखोजीजी, सन्त श्रीसीहाजी, श्रीदलहाजी, श्रीपद्मजी, श्रीमनोरथजी, श्रीराँका-बाँकाजी, श्रीद्यौगूजी, जो जिह्वा से निरन्तर श्रीभगवन्नाम जप किया करते थे। श्रीजाड़ाजी, श्रीचाचागुरुजी, श्रीसवाईजी, श्रीचाँदाजी, श्रीनापाजी, भगवान पुरुषोत्तम से सच्चे श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीचतुरजी, श्रीकीताजी, जिन्होंने अपने मन का अहं सर्वथा मिटा डाला था। इन सभी भक्तों की बुद्धि बड़ी सुन्दर थी। ये संसाररूपी रङ्ग-मञ्च पर श्रमरूपी धीङ्-धाङ् आदि मृदङ्ग के ताल पर नहीं नचे।।९७।।

व्याख्या—करुणाछाया.......पादपरचे—यहाँ परहितैक व्रत को लक्ष्यकर सन्तों को वृक्ष कहा गया है। श्रीतुलसीदासजी ने भी परोपकारियों की गणना में सन्त और वृक्ष को साथ-साथ रखा है। यथा-"सन्त विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबनिकै करनी।।" (रामा०), पुनः-"तुलसी सन्त सु अम्बतरु, फूलैं फलै परहेत। ये इतते पाहन हनैं, वे उतते फल देत।।" अन्यत्र भी-"वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च। पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।" अर्थ-मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष स्वरूप, कृपा के समुद्र, पतितों को पवित्र करने वाले वैष्णवों को हम नमस्कार करते हैं। जैसे वृक्षों का फल, फूल, पल्लव, काष्ठादि सर्वांग परहित हेतु ही होता है, उसी प्रकार से सन्तों का सम्पूर्ण जीवन दूसरों के हित के लिये होता है। वृक्ष में छाया होती है, जो प्राणिमात्र के लिये सुखदायी

होती है, सन्त विटप में सन्त की करुणा ही छाया है। वृक्ष की छाया की तरह सन्त की करुणा भी सब पर होती है। वृक्ष में फल लगते हैं, जिनसे असंख्य जीवों का उदर पोषण होता है। सन्त विटप में भक्तिरूपी फल लगता है। भक्ति को फलरूपा सर्वत्र स्वीकार किया गया है। यथा-"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।" (रामा०) "सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा।।२५।।""फलरूपत्वात्।।२६।।" अर्थ- वह (प्रेमरूपा) भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है क्योंकि भक्तिफल रूपा है। भक्ति से (ना) आत्मा का पोषण होता है। सन्तों की भक्ति से अनन्त जीवों की आत्माओं को तोष प्राप्त होता है। अतः सन्तों को भी वृक्षरूप कहा गया है। सन्त तरु में विशेषता यह है कि वृक्ष की छाया शीत काल में अप्रिय लगती है पर सन्त की करुणा सर्वदा सुहावनी लगती है। पुनः-वृक्ष में समय पर ही फल लगते हैं, सन्ततरु सदैव भक्तिफल से युक्त होते हैं। पुनः-वृक्ष जड़ होने के कारण एक ही स्थान में रहकर उपकार करते हैं परन्तु सन्त घूम-घूमकर उपकार करते रहते हैं। यथा-"जग माहीं बिचरहिं एहि हेता। जड़ जीवन्ह को करैं सचेता।।" (वै०सं०), वृक्ष से उपकार की आशा करने वालों का ही उपकार होता है परन्तु सन्ततरु तो उपकार की आशा न करने वाले का भी हठ करके उपकार करते हैं, अपने उपदेशादि से कृतार्थ करते हैं। अतः वृक्षों की अपेक्षा सन्त विशेष उपकारी होते हैं।

पुरुषोत्तम सों सांच—श्रीपुरुषोत्तमजी भगवान श्रीपुरुषोत्तम से सच्चे थे। यही सच्चे भक्त की पहचान है। यथा-"हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही।" (भक्तमाल क०-९) अन्यत्र भी कहा गया है कि- "हरि गुरु सों सांचो रहै, सन्तन्ह सों सद्भाव। दुनियाँ से ऐसो रहै, जैसो देखै दाव।। हरि गुरु सों सांचो रहै विघ्न न व्यापै कोय। हरि गुरु सों सांचो नहीं विघ्न दसो दिसि होय।" सच्चे को ही श्रीहरि की प्राप्ति होती है। यथा-"साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हृदय सांच है ताके हृदय आप।।" (कबीर) "निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (रामा०), "मनको मेट्यो आपा"-कहावत है कि-"खुदी को खोये बिना खुदा नहीं मिलता।" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"तुलसिदास 'मैं''मोर' गये बिनु जिव सुख कबहुं न पावै।"(वि०) अतः मनको मेट्यो आया। "मति सुन्दर" -सुन्दर मति से तात्पर्य सात्त्विक बुद्धि से है। सात्त्विक बुद्धि का लक्षण वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि-"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्या कार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।" (१८/३०), अर्थ-हे पार्थ! प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से समझती है वह बुद्धि सात्त्विकी है।

धीधाँगैश्रम—ध्रीङ्, ध्राङ् आदि मृदङ्ग के बोल (ताल) हैं। तालगति के अनुसार ही नृतक नृत्य करता है। मृदंग के ताल भी कठिन होते हैं और संसार में भी बड़ा कठिन श्रम करना पड़ता है। सांसारिक हर कार्य कठिनता से पूर्ण होता है और सुखलेश भी नहीं है, केवल श्रममात्र ही हाथ लगता है। अतः "धी धांगै श्रम" कहा। "संसार नाच नाहिन नचे"-संसार में जन्म लेकर सभी प्राणियों को भगवान की इच्छा शक्ति के इशारे पर नाचना पड़ता है। यथा-"उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं। नटमरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत।। जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि सम्भु नचावन हारे।।" (रामा०), संसाररूपी रंग मंच पर नृत्य करने का बड़ा ही सुन्दर रूपक श्रीसूरदासजी ने प्रस्तुत किया है। यथा-"अब मैं नाच्यौं बहुत गोपाल। काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।। महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल। भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल।। तृष्णानाद करति घट भीतर नाना विधि दैताल। माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल।। कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल। सूरदास की सबै अविद्या दूरि करो नन्दलाल।।" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो! तबही ते न भये हरि! थिर जब ते जिव नाम धर्‌यो।। बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो। चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वांग कर्‌यो। देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जांचत कोउ उबर्‌यो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तौ न हर्‌यो।। थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल बिछुर्‌यो। अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव भय बिकल डर्‌यो।। जेहिं गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहिं सब बिसर्‌यो। तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‌यो।।

श्री खोजीजी

खोजीजू के गुरु हरि भावना प्रवीन महा देह अन्त समै बांधि घण्टासो प्रमानियै।
पावैं प्रभु जब तब बाजि उठै जानौं यही पाये पै न बाजो बड़ी चिन्ता मन आनियै।।
तन त्याग बेर नहीं हुते फेरि पाछे आये वाही ठौर पौढ़ि देख्यौ आंब पक्यौ मानियै।
तोरि ताके टूक किये छोटौ एक जन्तु मध्य गयौ सो बिलाय बाजि उठे जग जानियै।।३९९।।

शब्दार्थ—प्रमानियै=निश्चय किया। पावैं प्रभु=हम भगवान को मिलैं। पाये=शरीर छूट गया। बिलाय गयौ=नष्ट, गायब हो गया।

भावार्थ—श्रीखोजीजी के श्रीगुरुदेव भगवच्चिन्तन में परम प्रवीण थे। उन्होंने अपने शरीर का अन्तिम समय जानकर अपनी मुक्ति के प्रमाण के लिये एक घण्टा बाँध दिया और सभी

शिष्य-सेवकों से कह दिया कि हम जब श्रीप्रभु की प्राप्ति कर लेंगे तो यह घण्टा अपने आप बज उठेगा। यही मेरी मुक्ति का प्रमाण जानना। परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि उन्होंने शरीर का त्याग तो कर दिया परन्तु घंटा बजा नहीं। तब शिष्य-सेवकों को बड़ी चिन्ता हुई। श्रीगुरुदेवजी के शरीर त्याग के समय श्रीखोजीजी स्थान पर नहीं थे। ये बाद में आये। जब इनको सब वृतान्त विदित हुआ तो जहाँ श्रीगुरुजी ने लेटकर शरीर छोड़ा था, श्रीखोजीजी भी वहीं पौढ़कर ऊपर देखे तो इन्हें एक पका हुआ आम का फल दिखायी पड़ा, इन्होंने उस आम के फल को तोड़कर उसके दो टुकड़े कर दिये। उसमें से एक छोटा-सा जन्तु (कीड़ा) निकला और वह जन्तु सबके देखते-देखते अदृश्य हो गया, घण्टा अपने आप बज उठा। सारा संसार इसका साक्षी है।।३९९।।

व्याख्या—आपका श्रीगुरुदेवजी का दिया हुआ प्रथम नाम श्रीचतुरदासजी था। ''खोजी'' नाम बाद में पड़ा। यह नाम कैसे पड़ा, वह प्रसंग इस प्रकार है-''आपके गुरुदेवजी के आश्रम में एक बहुत बड़ा पीपल का वृक्ष था। वृक्ष के नीचे बहारू लगाकर सेवकों ने फल-पत्रादि सकेलकर एक जगह कर दिया था। वहीं वे लघुशंका करने बैठे थे। श्रीखोजीजी हाथ-पाँव की शुद्धि के लिये जल लिये हुये खड़े थे। थोड़ी देर बाद वे लघुशंका करके हँसते हुए से आये। श्रीखोजीजी ने सहज भाव से पूछा-''जै जै, आप हँस क्यों रहे हैं?'' इनके गुरुदेवजी ने उसी हास्य में कह दिया-''अरे, तू कैसा शिष्य है, जो गुरु के मन की बात नहीं जान पाता। जो गुरु के मनोभाव को नहीं समझ सकता, वह शिष्य भला गुरु की क्या सेवा करेगा? वह गुरु की सेवा में रहने का अधिकारी नहीं है। तुम्हारी बुद्धि भी एकदम विवेक रहित है, तब तो तुम हमारे हँसने का कारण नहीं जान सके। अत: अब तुम मेरे यहाँ से चले जाओ, जब मेरे मन की बात जानकर, मेरे हँसने का कारण याथार्थ्येन समझकर आकर मुझे बताओगे, तब मैं तुमको अपना सच्चा शिष्य समझूँगा और तुम्हें अपनी सेवा में रखूँगा।''

श्रीखोजीजी श्रीगुरुदेवजी को प्रणाम कर वहाँ से चल दिये और जो कोई भी साधु-महात्मा मिलते उनसे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक पूछते कि हमारे श्रीगुरुदेवजी लघुशंका करते समय क्यों हँस रहे थे? भला कोई इस प्रश्न का क्या उत्तर दे? सभी लोग कहते-''अरे भाई, कोई रामायण, गीता, भागवत का प्रश्न हो तो हम भले बता सकते हैं, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर तो हमारे पास नहीं है।'' सर्वत्र इन्हें एक-सा उत्तर प्राप्त हुआ। ये मन में बड़े उदास हुये कि रहस्य का पता भी नहीं चला और श्रीगुरु-चरणों की सेवा भी छूट गयी। अत: ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है, यह विचारकर श्रीखोजीजी तन त्याग का संकल्प कर अन्न-जल छोड़कर एकमात्र भगवन्नाम स्मरण करते हुए

एकान्त जंगल में जा बैठे। इनकी सच्ची जिज्ञासा एवं प्रबल गुरुभक्ति देखकर श्रीकबीरदासजी ने कृपा करके दर्शन दिया और इनके पूछने पर सभी रहस्यों का स्पष्टीकरण किया। श्रीकबीरदासजी ने बताया कि-"जब आपके गुरुजी लघुशंका कर रहे थे तो उन्होंने लघुशंका की धार में पीपल के फल, बीजादि को बहते हुए देखा, तो वे विचार करने लगे कि अहा? देखो तो, पीपल का वृक्ष तो सुस्थिर खड़ा है और उसके बीजादि बहे जा रहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सदा एक रस सुस्थिर रहता है और जीव अविद्या के वशीभूत होकर संसार में भटकता रहता है। पुनः जब तक फल वृक्ष में लगा रहा तब तक कितने शान-सम्मान से रहा, कितना सुन्दर लगता था और वही अब वृक्ष से अलग हो जाने पर मल-मूत्र में बह रहा है। इसी प्रकार जीव भी जब तक श्रीप्रभु पादारविन्दों में लगा रहता है तब तक तो वह कितना सुन्दर और कितना सुखी रहता है, उसे कौन वर्णन कर सकता है? परन्तु वही जीव जब भगवान से विमुख होकर भगवान के श्रीचरण-कमलों से अलग हो जाता है तो भवप्रवाह में, (गर्भाशय के मल-मूत्र में) बहता रहता है। यथा-"जीव जब ते हरिते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।। माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहिं भ्रम ते दारुन दुख पायो।।" (वि०), पुनः-"जैसे बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज समाया हुआ है, उसी प्रकार से परमात्मा में सब संसार और संसार में परमात्मा ओत-प्रोत है। एक साधारण प्रसंग से इतनी महान् शिक्षा पाकर आपके गुरुजी हँसे थे। एक दोहा में श्रीखोजीजी ने इस प्रसंग की चर्चा किया है-"विटप बीजके बीच में अटक गया मनधीर। खोजी का संसय मिटा सतगुरु मिले कबीर।।" श्रीकबीर दासजी के द्वारा रहस्य बोधकर श्रीखोजीजी अपने श्रीगुरुदेवजी के पास आये और उपर्युक्त बात बताये, तब इनके गुरुजी बड़े प्रसन्न हुये और बोले-"तुमने मेरे मन का भाव खोज निकाला, मेरे हँसने का हेतु खोज निकाल, अतः तुम तो बहुत बड़े खोजी मालूम पड़ते हो।" तभी से इनका यही नाम ही प्रसिद्ध हो गया। इन्होंने जैसे पहले खोज की थी वैसे ही अब भी श्रीगुरुजी का शरीरान्त होने पर श्रीगुरुजी की आत्मा का भी खोज करके अपने "खोजी" नाम को चरितार्थ कर दिया। "घण्टा सो प्रमानिये"-जैसे श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में यज्ञ की पूर्ति के प्रमाण के लिये शंख रखा गया था। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४१९, कवित्त-७५।

शिष्य की तौ योग्यताई नीके मन आई अजू गुरुकी प्रबल ऐपै नेकु घटी क्यों भई।
सुनौ याकी बात मन वात वति गति कही सही लै दिखाई और कथा अति रसमई।।
ये तौ प्रभु पाय चुके प्रथम प्रसिद्ध पाछे आछो फल देखि हरि जोग उपजी नई।
इच्छा सो सफल श्याम भक्तवश करी वही रही पूर पच्छ सब बिथा उरकी गई।।४००।।

शब्दार्थ—जोग्यताई=योग्यता, श्रेष्ठता। घटी=कमी, न्यूनता। बातवति=हवा की गति के समान। पाय चुके=प्राप्त हो चुके। पच्छ=गुरु भक्ति पक्ष।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि उपर्युक्त प्रसंग से शिष्य खोजी की योग्यता तो मन में अच्छी तरह समझ में आ गई, परन्तु इनके श्रीगुरुदेवजी भी तो महान् भक्त थे, फिर उनकी किंचित् न्यूनता क्यों हुई? तो इसका समाधान सुनिये। शास्त्रों में मन की गति को पवन की तरह कही गयी है। इनके श्रीगुरुदेवजी ने इसी शास्त्र वचन को सत्य करके दिखा दिया। पुनः इस सम्बन्ध में और भी अत्यन्त रसमयी कथा सुनिये। श्रीखोजीजी के गुरुदेव तो प्रथम ही श्रीप्रभु को प्राप्त कर चुके थे। यह सर्व प्रसिद्ध है, परन्तु बाद में शरीर त्याग के समय अच्छा पका हुआ फल देखकर, भगवान के भोग के योग्य विचार कर उनके मन में यह नवीन अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इसका तो भगवान को भोग लगाना चाहिये। भक्त की उस इच्छा को भक्तवत्सल भगवान ने सफल किया। इस प्रकार पूर्व (गुरु) पक्ष की भी श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इससे सबके हृदय की व्यथा दूर हो गई।।४००।।

व्याख्या—शिष्य की तौ योग्यताई०—यही कि इन्होंने श्रीगुरुजी की आत्मा का पता लगा लिया कि वह कहाँ अटकी है, जिससे श्रीप्रभु पद प्राप्ति न होने से घण्टा नहीं बजा। "गुरु की प्रबल०"-भाव यह है कि इनके गुरुदेव भी महान् भक्त थे। यथा-"खोजी जू के गुरु हरि भावना प्रवीन महा"-और उन्होंने अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में घण्टे को प्रमाण रूप में रखा था। परन्तु घण्टा नहीं बजा, इससे उनकी मुक्ति में सन्देह हुआ और वाणी झूठी पड़ी। यही उनकी किंचित् घटती है। "मनबात वति गति"-यथा-"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।" (गी० ६-३४), अर्थ-हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिये उसको वश में करना वायु की तरह अति दुष्कर मानता हूँ। स्वामी श्रीयुगलानन्य शरणजी महाराज कहते हैं कि-"सहस सुमेर फेर करते तो लेय उठाय प्रमानो। चपला पवन गहै निज मूठिन सोउ अचरज जनि जानो।। रबि शशि घेरि करै क्रीड़ा क्वौ बाल सोउ फुर मानो। युगलानन्यशरन मन वश अति कठिन करन अनुमानो।।" मन की चञ्चलता पर व्यंग्य करते हुए एक कवि कहता है-"उड़त फिरत जो तूल सम जहां तहां बेकाम। ऐसे हल्के को धर्‌यो कहा जानि मन नाम।।" "सही लै दिखाई"-भाव यह है कि इनके गुरुजी उपदेश में तो यह बात बार-बार कहा ही करते थे, अन्त में तो प्रत्यक्ष करके भी दिखा दिये कि देखो, जब मेरे सरीखे सिद्ध कोटि के जीव का भी मन चञ्चल हो जाता है तथा अन्त में मन की

चञ्चलता के कारण जन्म भर की साधना धरी-धरायी रह गई, प्रभु पद प्राप्ति से वंचित हो गये, कीट योनि प्राप्त हुंई तो फिर अन्य प्राणियों की तो बात ही क्या है? अतः जैसे हो तैसे मन को वश में करना चाहिये। मन को जीतने वाला ही सच्चा शूर है। यथा-"मन वश करै सोइ साँचो शिरताज सूर अविनाशी। युगलानन्य शरन माया पुनि भई चरनरज दासी।।" उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि श्रीखोजीजी के गुरु मन की चञ्चलता के कारण हरिपद प्राप्ति से वञ्चित रहे एवं कीट योनि को प्राप्त हुये। परन्तु इतने बड़े महापुरुष के सम्बन्ध में यह समाधान समीचीन नहीं है। तब दूसरा समाधान करते हैं कि-

ये तौ प्रभु पाय चुके—अर्थात् ये तो जीवन्मुक्त सन्त थे। जीते जी ही मुक्त हो गये थे और शरीर छूटने पर भी सीधे श्रीभगवद्धाम ही गये, कीट योनि में नहीं, परन्तु वहाँ भगवान से मिलन नहीं हुया। इसलिए कि देह त्याग के समय इन्हें बढ़िया पका हुआ आम का फल दिखाई पड़ा तो अभ्यासवश मानसी में ही प्रभु को भोग लगाये। जैसे बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कारवश जन्म लेते ही बिना सिखाये ही माँ का थन पीने लगता है। उसी प्रकार से भक्तों को जन्म-जन्मान्तर का संस्कार होता है, सुन्दर वस्तु देखकर प्रभु को अर्पण करने का। उसी संस्कारवश इनके गुरुदेवजी फल देखे तो प्रभु अर्पण की भावना हुई, परन्तु शरीर अशक्त होने के कारण फल को तोड़कर भोग लगाना तो सम्भव नहीं था, अतः मन ही मन भोग लगाये। इतने में शरीर छूट गया तो स्वयं तो श्रीहरिधाम गये और श्रीहरि इनका मनोरथ पूर्ण करने के लिये निजधाम को छोड़कर कीटरूप से आकर आम आरोगने लगे। जब श्रीखोजीजी ने आम के दो टुकड़े किये तो भगवान कीट रूप का परित्याग कर स्व स्वरूप में निजधाम चले गये। जब भक्त-भगवान का मिलन हुआ तो घण्टा अपने आप बज उठा।

श्रीखोजीजी के जीवन की और भी एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है- "जन्मजात वैराग्य और अनुरागवान होने के कारण श्रीखोजीजी बचपन से ही गृहकार्य से उदासीन रहते और श्रीभगवद्भजन तथा साधु-संग में रमे रहते। इनकी यह रहनी भाईयों को अच्छी नहीं लगती। वे इनसे ईर्ष्या करते थे। एक बार गांव में सन्तों की जमात आई हुई थी। ये रात-दिन सन्तों के सान्निध्य में रहकर कथा-वार्ता-सत्संग में लगे रहते थे। इसी बीच इनके पिता का देहावसान हो गया। घर से श्रीगंगाजी बहुत दूर थीं। भाईयों ने कहा-बिना गंगालाभ के जीव की सद्गति नहीं होती है। अतः तुम श्रीपिताजी के फूलों को ले जाकर श्रीगंगाजी में डाल आओ। तब पितृऋण से मुक्त हो सकोगे। तब-"चतुर्दास बोले सुनु भाई। श्रीहरिनाम सदा सुखदाई।। जब हरिजन हरिनाम उचारैं। आप तरैं औरन कूँ तारैं।। घूमत भगत नाम

मुख बोलैं। तीरथ गंगा पाछै डोलैं।।" (भ०व०टि०), भला भक्ति विमुख भाईयों को इन वचनों में सहज विश्वास कब आने लगा। वे तो समझते थे कि आलस्यवश ये ऐसा कह रहे हैं। अत: उन्होंने बलपूर्वक इन्हें गंगाजी के लिये भेजा। ये सन्तों को साथ लिये हुए भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए चल पड़े पिताजी के फूल लेकर। कुछ ही दूर चलने पर जल भरित स्वर्ण-कलश शीश पर धरे हुए दिव्य देवियों का एक समुदाय श्रीचतुरदासजी के समीप आया। इन्हें प्रणाम कर सभी देवियाँ पूछने लगीं-"भक्तवर! आप कहाँ जा रहे हैं?" इन्होंने कहा-"मैं श्रीपिताजी के फूल श्रीगंगाजी में प्रवाहित करने जा रहा हूँ।" उन देवियों ने कहा-"हम सब गंगा, यमुना आदि नदियाँ ही हैं। आपके ही निमित्त हम जल भरकर ले आई हैं। आप तो यहीं फूलों का विसर्जन कर दीजिये और स्वयं स्नान कर घर को चले जाइए।" श्रीचतुरदासजी ने ऐसा ही किया और प्रतीति के लिये एक कलश जल भी ले आये। घर आने पर प्रथम तो इनके भाई इनकी बातों पर विश्वास नहीं किए, परन्तु जब प्रत्यक्ष प्रमाण देखे तो मानने के लिये विवश होना पड़ा। फिर तो सबने श्रीचतुरदासजी का बड़ा सम्मान किया और उपदेश लेकर सभी सन्त-भगवन्त सेवा में लग गये।

श्रीखोजीजी के उपदेश-

दोहा:- **खोजी खोयो खाक में अनुपम जीवन रत्न।**
कीन्हों मूरख क्यों नहीं, राम मिलन को यत्न।।
खोजी खोजत जग मुआ, लगा न कछु भी हाथ।
तजिकै जगजंजाल को, भजु सीता रघुनाथ।।
खोजी खटपट छोड़िके प्रभु पद में मन जोड़।
काम न देगी अन्त में पूँजी लाख करोड़।।
खोजी कहै पुकारि कै, ऊँचो वैष्णव धर्म।
पटतर याके होय किमि, यज्ञादिक सतकर्म।।
बानो श्रीरघुनाथको खोजी धार्‌यौ अङ्ग।
तब कैसे नीको लगै हरि विमुखनकौ सङ्ग।।
खोजी ताल बजायकैं सुमिरौ श्रीरघुबीर।
जिनकी कृपा कटाक्षते छूटि जात भवभीर।।
फल टूटो जलमें गिर्‌यौ खोजी मिटी न प्यास।
गुरु तजिकै गोविन्द भजै निहचै नरक निवास।।

श्रीरांका बांकाजी

रांका पति बांका तिया बसैं पुर पंढ़रमें उरमें न चाह नेकु रीति कछु न्यारियै।
लकरीन बीनि करि जीविका नबीन करैं धरैं हरि रूप हिये ताही सौं जियारियै।।
बिनती करत नाम देव कृष्ण देव जू सों कीजै दुःखदूर कही मेरी मति हारियै।
चलो लै दिखाऊँ तब तेरे मन भाऊँ रहे बन छिपि दोऊ थैली मग मांझ डारियै।।४०१।।

शब्दार्थ—जियारियै=जीवन।

भावार्थ—भक्त श्रीरांकाजी पति थे और श्रीबांकाजी उनकी पत्नी थीं। ये दोनों भागवत पति-पत्नी पण्ढरपुर में निवास करते थे। इन दोनों के हृदय में सिवा भगवान के और कुछ भी चाह नहीं थी। इनकी रीति रहनी कुछ विलक्षण ही थी। जंगल से लकड़ियाँ बीनकर लाते और उन्हीं को बेंचकर अपनी नित्य नवीन जीविका करते थे। हृदय में भगवान के स्वरूप का ध्यान करते थे। भगवद्ध्यान ही इनका जीवन था। एकबार भक्तवर श्रीनामदेवजी ने भगवान श्रीकृष्ण से विनती की कि भक्त रांका-बांका का गरीबी का दुःख दूर कर दीजिये। भगवान ने कहा-''मैंने बहुत उपायों से इन्हें कुछ देना चाहा परन्तु ये लेते ही नहीं, यदि नहीं मानो तो मेरे संग चलो, मैं इनकी निष्कामता दिखलाऊँ, तब ही मैं तुम्हें अच्छा लगूँगा।'' फिर तो भगवान ने मार्ग में एक स्वर्ण मुहरों से भरी थैली डाल दिया और स्वयं तथा श्रीनामदेवजी-दोनों जंगल में छिप गये।।४०१।।

व्याख्या—रांका पति बांका तिया—पण्ढरपुर में श्रीलक्ष्मीदत्त नाम के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते थे। वे सन्तों की बड़े प्रेम से सेवा करते थे। एकबार इनके यहाँ साक्षात् नारायण सन्तरूप से पधारे और इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिये कि-''तुम्हारे यहाँ एक परम विरक्त, श्रीभगवद्भक्त पुत्र का जन्म होगा।'' इसके अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल, द्वितीया, गुरुवार सं० १३४७ वि० को धन लग्न में इनकी पत्नी रूपादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। यही इनके पुत्र महाभागवत रांकाजी हुये। पण्ढरपुर में वैशाख कृष्ण, सप्तमी, बुधवार सम्बत् १३५१ वि० को कर्क लग्न में श्रीहरिदेव ब्राह्मण के घर एक कन्या ने जन्म लिया। इसी कन्या का विवाह समय आने पर श्रीरांकाजी से हुआ। रांकाजी की इन्हीं पतिव्रता भक्तिमती पत्नी का नाम, उनके प्रमुख वैराग्य एवं अनन्यानुराग के कारण बांका हुआ। (भक्त चरितांक) ये पति-पत्नी दोनों ही भक्त थे। अतः बड़े सुचारु रूप से इनका भजन-साधन चलता था। एक वैष्णव हो और एक अवैष्णव तो बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो जाता है। इस पर दृष्टान्त अवैष्णवी नारी का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-७२६, तथा दूसरा दृष्टान्त श्रीपण्डितजी का पृष्ठ-७२७।

उरमें न चाह नेकु—इससे इनकी अत्यन्त निष्कामता दर्शायी गयी है। निष्कामता के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२९५, ''बड़ो निसकाम की'' व्याख्या। पुनः अचाह के हृदय में भगवान बसते हैं। यथा-''जाहि न चाहिय कबहुं कछु तुम सन सहजसनेह। बसहु निरन्तर तासु उर सो राउर निज गेह।।'' (रामा०) अचाह जन ही सच्चे शाहंशाह होते हैं। यथा-''चाह मिटी चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह। जाको कछू न चाहिये सोई शाहंशाह।।'' श्रीचरणदासजी कहते हैं कि-''सो नर इक छत भूप कहावैं। सत्त सिंहासन ऊपर बैठे जत ही चँवर ढुरावै।। दया धर्म दुइ फौज महालै भक्ति निसान चलावै। पुण्य नगारा नौबत बाजै दुर्जन सकल हलावैं।। पाप जलाय करै चौगाना हिंसा कुबुधि नसावै। मोह मुकद्दम काढ़ि मुलुक सों ला वैराग बसावै।। साधन नायव जित तित भेजै दै दै संजम साथा। राम दुहाई सगरे फेरे कोइ न उठावै माथा।। निर्भय राज करै निश्चल ह्वै गुरु शुकदेव सुनावै। चरनदास निश्चै करि जानौ बिरला जन कोउ पावै।।'' जब तक हृदय में किसी भी प्रकार की चाहना रहेगी, तब तक प्रेम का अभ्युदय नहीं हो सकता। यथा-''भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयोभवेत्।।'' (भ०र०सि०) अर्थ-जब तक भक्ति-भोगों की एवं मुक्ति की लालसारूपी पिशाचिनी हृदय में बनी रहती है तब तक वहाँ भक्ति सुख का उदय कैसे हो सकता है? सत्य तो यह है कि हृदय में चाहना करने वाला भक्त कहा ही नहीं जा सकता। श्रीप्रहलादजी कहते हैं-''यस्त आशिष आशास्ते न सभृत्यः स वै वाणिक्।।'' (भा० ७-१०-४) अर्थ-हे प्रभो! जो सेवक अपनी कामना को पूर्ण करने के लिये आपको भजता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करने वाला बनियां है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५६४। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-''तुलसी अद्भुत देवता आशा देवी नाम। सेए सोक समर्पई विमुख भए अभिराम। जे लोलुप भये दास आसके ते सबही के चेरे। प्रभु विश्वास आस जिन जीती ते सेवक हरि केरे।।'' (वि०) अतः भगवान से प्रार्थना करते हैं कि-''नरक परौं फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ। तुलसीराम सनेह कों जो फल सो जारि जाउ।।'' (दो०) अतः श्रीराँका-श्रीबाँकाजी यद्यपि लोक दृष्टि से बड़े रंक थे, और दरिद्र थे और दरिद्र को यद्यपि सदा धन की चाह रहती है, परन्तु इनके हृदय में किंचित् भी चाह नहीं थी।

रीति कछु न्यारिये—प्रेम का पन्थ सबसे न्यारा होता है। यथा-''प्रेम को पन्थ हमारो, सब जगते न्यारो।।'' (रसिया) श्रीराँका-बाँकाजी प्रेमपथ के ही पथिक थे, अतः ''रीति कछु न्यारियै'' कहा। ''जीविका नवीन करैं'''-भाव यह है कि केवल एक दिन के लिये श्रम करते, दूसरे दिन

के लिये कुछ भी संग्रह नहीं करते। नित्य नवीन श्रम द्वारा अर्थोपार्जन करते और उदर पोषण करते। रोज कमाना रोज खाना, रोज कुआँ खोदना-रोज पानी पीना "धरैं हरिरूप...जियारियै"-श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"भगवान को नित्य हृदय में धारण करने वाले परम अकिंचन भक्तों के समक्ष इन्द्र भी कोई चीज नहीं हैं। यथा-"आठ गाँठ कौपीन में, औ भाजी बिनु लोन। तुलसी रघुवर उर बसैं इन्द्र वापुरो कौन।।" पुनः-"राम अमल माते रहैं पीवैं प्रेम निसंक। आठ गाँठ कौपीन में कहैं इन्द्रसों रंक।।" "विनती करत नामदेव"-प्रथम तो श्रीनामदेवजी ने भगवान को प्रेम उपालम्भ दिया। यथा-"कहूं कहूं गोपाल की गई सिटल्ली नाहिं। काबुल में मेवा किये ब्रज में टेंटी खाहिं।। कहूं कहूं गोपाल की गई सिटल्ली नाहिं। विमुख लोग घोड़ा चढ़े काठ बेचि जन खाहिं।।" पुनः- "कहा भयो जल में जल वर्षत, बर्षत नाहिं खेत जहँ सूखा। अघाये आगे बहुत परोसत परसत नाहिं मरत जहँ भूखा।।" तत्पश्चात् श्रीनामदेवजी ने इनका दारिद्रय दूर करने की प्रार्थना की-"मेरी मति हारियै" श्रीभगवान ने कहा-"नामदेवजी मैं क्या करुँ, ये कुछ लेते ही नहीं? श्रीनामदेवजी ने झुँझलाकर कहा-"आप देते ही नहीं, वह बेचारे लें तो क्या लें?" भगवान ने कहा-

बात कदापि नहीं, मैं तो इन्हें देते-देते हार गया हूँ, ये कुछ भी स्वीकार ही नहीं करते।" श्रीनामदेवजी को विश्वास नहीं हो रहा था, कि इतना गरीब आदमी देने पर लेगा क्यों नहीं, फिर देने वाला भी कोई संसारी नहीं, स्वयं भगवान हैं, तब क्यों नहीं लेते? मुझे बहकाने के लिए प्रभु ऐसा कह रहे हैं। तब श्रीठाकुरजी ने कहा कि-"चलो, प्रत्यक्ष दिखा दूँ, इनका अद्भुत त्याग।"

आये दोऊ तिया पति पाछे बधू आगे स्वामी औचक ही मग मांझ सम्पति निहारियै।
जानी यों जुबति जाति कभूँ मन चलि जात याते बेगि संभ्रम सों धूरि वापै डारियै।।
पूछी अजू कहा कियौ भूमिमें निहुरि तुम कही वही बात बोली धनहूं विचारियै।
कहैं मोसों रांका ऐपै बांका आज देखी तुही सुनि प्रभु बोले बात सांची है हमारियै।।४०२।।

शब्दार्थ—संभ्रमसों=भय से उत्पन्न व्याकुलता से, आतुरता से।

भावार्थ—इतने में श्रीराँका-बाँकाजी पति-पत्नी सहित दोनों ही उसी मार्ग से आये। आगे-आगे पति श्रीराँकाजी थे और पीछे-पीछे इनकी पत्नी श्रीबाँकाजी थीं। एकाएक श्रीराँकाजी ने मार्ग में पड़ी हुई सम्पत्ति अर्थात् मुहरों से भरी हुई थैली देखी। देखकर विचार किया कि मेरी पत्नी स्त्री जाति है, वैसे यद्यपि निष्काम है, फिर भी कभी-कभी दृष्टि पथ

में आने पर लौकिक वस्तुओं में भी मन चलायमान हो ही जाता है, अतः बड़ी शीघ्रतापूर्वक उस थैली पर धूलि डाल दिया। श्रीबाँकाजी ने पति से पूछा–"अजी, आपने यहाँ पृथ्वी पर झुककर क्या किया है?" तब श्रीराँकाजी ने सत्य बात बता दी। तब श्रीबाँकाजी ने कहा–"अभी आपके मन में धन का ज्ञान बना ही है?" यह सुनकर श्रीराँकाजी बोले–"लोग मुझे राँका और तुमको बाँका कहते हैं सो सत्य ही मैं राँका अर्थात् रंक ही हूँ और तुम बाँका अर्थात् श्रेष्ठ, मुझसे बढ़कर हो। यह बात मैंने आज देख ली।" इनकी ये बातें सुनकर भगवान श्रीनामदेवजी से बोले–"देखो, हमारी बात सत्य हुई न। ये दोनों धन के प्रति कितने निस्पृह हैं।।४०२।।

व्याख्या–पाछे बधू आगे स्वामी–इससे जनाया कि ये दोनों पति-पत्नी आगे-पीछे अलग-अलग चलते थे। इसके दो कारण–१. संग-संग चलने से कुछ वार्तालाप हो ही जाता है। जिससे भजन में अन्तराय पड़ता है। अतः अलग-अलग चल रहे थे। २. लोक-लज्जा को विचार कर। समाज के शील-संकोच तथा लज्जावश श्रीबाँकाजी पति राँका से दबकर पीछे-पीछे चल रही थीं। यही हमारी प्राचीन संस्कृति है। पति-पत्नी का खुले बाजार में निर्लज्जतापूर्वक हाथ में हाथ मिलाकर चलना आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। "मन चलि जात"-इस पर दृष्टान्त श्रीकबीरदासजी की माता का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५७४।

धनहू विचारियै–भाव यह है कि विवेक का उदय होने पर धनादि में महत्व बुद्धि नहीं रह जाती है। ज्ञानी के लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना एक-सा है। यथा–"सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्य प्रियाप्रियौ धीरस्तुल्य निन्दात्मसंस्तुतिः।।" (गी० १४-२४) अर्थ- विवेकवान् त्रिगुणातीत पुरुष निरन्तर आत्मभाव में स्थित रहने वाला, दुःख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला, प्रिय और अप्रिय को बराबर समझने वाला, परम धैर्यवान् तथा अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला होता है। पुनश्च–"मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।" (नीतौ), अर्थ-जो परस्त्रियों को मातृभाव से देखता है, परद्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान देखता है, सभी प्राणियों को आत्म भाव से देखता है, वह ज्ञानी है। श्रीबांकाजी ने कहा–"यदि आपका इस प्रकार का दृढ़ विवेक होता तो आप धूल पर धूल डालने का प्रयत्न नहीं करते।" श्रीबाँकाजी के इन वचनों से श्रीराँकाजी को यह अनुभव हुआ कि जैसा मेरा नाम राँका है वैसे ही वस्तुतस्तु मैं ज्ञानरंक हूँ भी, और यह अपने नाम को चरितार्थ

करती हुई मुझसे बढ़कर बाँका ही हैं। कहते हैं कि उस दिन रांका-बांका ने उपवास किया। उनको स्वर्ण मुद्राओं के दर्शन से बड़ी ग्लानि हुई कि भगवान का दर्शन न होकर भगवान की माया का क्यों दर्शन हुआ? फिर उपवास के अनन्तर दोनों ने यह सीख ली कि देखो, माया का दर्शन मात्र करने से उपवास करना पड़ा, यदि कहीं स्पर्श कर लेते तो न जाने कौन सी गति होती और ले लेने पर तो उद्धार ही असम्भव हो जाता। अत: भूलकर भी माया की ओर नहीं देखना चाहिये।

नामदेव हारे हरिदेव कही और बात जो पै दाह गात चलौ लकरी सकेरिये।
आये दोऊ बीनिबेको देखी इक ठौरी ढेरी द्वै हूँ मिली पावैं तऊ हाथ नाहिं छेरियै।।
तब तौ प्रगट स्याम ल्याये यों लिवाय घर देखि मूँड फोरौ कह्यौ ऐसे प्रभु फेरियै।
विनती करत कर जोरि अङ्ग पट धारौ भारौ बोझ पर्‍यौ लियौ चीरमात्र हेरियै।।४०३।।

शब्दार्थ—सकेरियै=इकट्ठा कीजिये। छेरिये=छेड़िये, लगाइये। मूँड़फोरौ=सिरधुना, शोक किया, अपना सिर फोड़ने की धमकी देकर किसी को प्रभावित करने वाला।

भावार्थ—भगवान की जीत हुई, श्रीनामदेवजी हार गये। फिर भगवान ने एक और बात कही कि-"यदि तुम्हारे मन में विशेष परिताप है कि श्रीराँका-बाँकाजी की सहायता करनी ही चाहिये तो चलो इनके लिये लकड़ी बटोरें। फिर श्रीभगवान और श्रीनामदेवजी ने लकड़ियाँ बटोरीं। तदुपरान्त श्रीराँका और बाँकाजी लकड़ी बीनने आये तो जहाँ-तहाँ लकडियों का ढ़ेर देखा, तो विचार किये कि हमसे पहले ही कोई बटोर गया है। फिर तो इनका मन ऐसा भयभीत हुआ कि दो लकड़ियाँ भी एक जगह होतीं तो उन्हें हाथ से नहीं छूते। तब तो भगवान श्यामसुन्दर ने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया। श्रीराँका-बाँकाजी श्रीठाकुरजी को घर लिवा लाये। भगवान के संग श्रीनामदेवजी को देखकर श्रीरांकाजी ने झुंझलाकर कहा कि-"अरे मूँडफोरा! श्रीप्रभु को इस प्रकार वन-वन भटकाया जाता है?" भगवान ने रांकाजी से कुछ माँगने का अनुरोध किया। तब वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे कि-"मुझे आपकी कृपा के सिवा और कुछ नहीं चाहिये।" तब श्रीनामदेवजी ने हाथ जोड़कर इनसे कहा कि-"अच्छा और कुछ नहीं तो, प्रभु का रुख रखते हुये प्रभु का एक प्रसादी वस्त्र ही शरीर पर धारण कर लीजिये।" यद्यपि इतने से भी श्रीरांका-बांकाजी को लगा कि मेरे सिर पर भारी बोझ पड़ गया, परन्तु उन्होंने भक्त (नामदेव) और भगवान की रुचि रखने के लिए वस्त्र मात्र स्वीकार कर लिया।।४०३।।

व्याख्या—हाथ नाहिं छेरियै—श्रीरांकाजी ने अपनी पत्नी से कहा कि ऐसा लगता है कि आज कोई बहुत बड़ा दरिद्री और असन्तोषी जंगल में लकड़ी बटोरने आया था। वह जहाँ

तक बना वहाँ तक लकड़ी ले तो गया ही, रही-सही सारे जंगल की लकड़ी बटोरकर रख गया। यह सुनकर भगवान ने मुस्कुराकर श्रीनामदेवजी से कहा-"देखो, रांका-बांका ने लकड़ी तो लिया नहीं, इससे हम लोगों का परिश्रम तो व्यर्थ गया ही, उल्टे हम दरिद्री, कंगाल, असन्तोषी और बने। सच है-"लोभी को छोटा भी बड़ा दिखाई देता है और सन्तोषी को बड़ा भी छोटा दिखाई देता है। यथा-"घर घर डोलत दीन ह्वै जन जन जाचत जाइ। दिये लोभ चसमा चखनि लघुहू बड़ो लखाइ।।" "देखि मूँड़ फोरौ कह्यौ"-श्रीनामदेवजी का यह नाम श्रीरांकाजी की बेटी का रखा हुआ है। वह प्रसंग इस प्रकार है-"एक दिन श्रीरांका भक्त की बेटी और श्रीनामदेवजी की बेटी-दोनों कुएँ पर जल भरने गई थीं।" श्रीरांकाजी की पुत्री ने श्रीनामदेवजी की पुत्री से कहा-"देखो हमको छूना मत।" तब श्रीनामदेवजी की पुत्री ने कहा-"हममें ऐसा क्या दोष है, जो तुम हमें छूने में भी डरती हो। तब उसने कहा, तू मूँड़फोरा की बेटी है, तेरे बाप ने भगवान को जबरदस्ती मूँड़ फोरकर (गला काटकर मर जाने की धमकी देकर) दूध पिवाया है। फिर भी भक्ति की ठसक रखते हैं, अतः तुम छूने योग्य नहीं हो।" इन बातों को सुनकर श्रीनामदेवजी की बेटी अत्यन्त रिस में भरी हुई आकर पिताजी से सब बातें ज्यों की त्यों सुनाईं। तब श्रीनामदेवजी ने कहा-"बेटी! उसने यह बात तो सत्य ही कही है। परन्तु इतना जरूर है कि जैसे हल्दी जितनी अधिक पिसती है, उतना ही रंग अधिक देती है, उसी प्रकार भक्ति भी निष्ठा की कसौटी पर चढ़ने पर ही निखरती है। अतः यदि मैंने मरने की धमकी देकर श्रीठाकुरजी को दूध पिलाया तो वह कोई भक्ति में अपराध नहीं है।" उसी दिन की वार्ता को लक्ष्य करके श्रीरांकाजी ने श्रीनामदेवजी को मूँड़फोरा कहा। "ऐसे प्रभु फेरिए"-श्रीरांकाजी ने भगवान से पूछा-"प्रभो! आपने ऐसा क्यों किया?" तब भगवान ने श्रीनामदेवजी की ओर इशारा करते हुए कहा कि-"इन्होंने जैसा कहा, वैसा मैंने किया।" तब श्रीरांकाजी ने झुँझलाकर श्रीनामदेवजी से कहा कि-"जैसे तुमने अपने स्वार्थवश गले पर छुरी रखकर भगवान को प्रकट होने के लिये विवश किया, वैसा ही सबको समझते हो। भला मुझ तुच्छ प्राणी के लिये प्रभु को इस प्रकार वन-वन भटकाना चाहिये। श्रीप्रभु के परम सुकोमल श्रीचरणकमल वन की कठोर भूमि में कष्ट पाये होंगे। तुमने बड़ा गलत काम किया।" यहाँ "ऐसे प्रभु" के दो अर्थ होंगे-१. ऐसे कोमल प्रभु को। २. इस प्रकार काष्ठ बटोरने के लिये वन-वन।

अंग पटधारौ—भगवान् ने श्रीरांकाजी से अत्यन्त प्रेमानुरोधपूर्वक कहा कि हमसे कुछ वरदान माँग लो। तब श्रीरांकाजी ने कहा-"जै जै, जिस स्नेह भरी दृष्टि से आप इस समय मुझे देख

रहे हैं, उसी दृष्टि से क्या आप वरदान देने पर भी देखेंगे ? तब भगवान ने मुस्कुराकर कहा-"लेन-देन का व्यापार करने वालों की ओर नेह भरी दृष्टि से नहीं देखा जाता।।" इस पर-

दृष्टान्त—फकीर की बेटी का—एक सिद्ध फकीर थे। एकबार वे अपनी बेटी के घर गये और उससे बोले-"मैं दिन भर का भूखा हूँ, मुझे कुछ खिलाओ।" बेटी ने कहा-"घर में तो कुछ खाने को है नहीं, तीन दिन से हम स्वयं भूखे हैं फिर मैं आपको क्या खिलाऊँ?" फकीर ने पूछा-"चूल्हे पर हण्डी में क्या चढ़ा है?" उसने कहा-"केवल जल रखा है, बालक अभी भूखें आवेंगे तो उन्हें फुसलाने के लिए ऐसा कर रखा है। वे आवेंगे तो कह दूँगी कि थोड़ी देर तक और खेल आओ, तब तक खिचड़ी तैयार हो जायेगी।" बेटी की यह बात सुनकर फकीर की आँखें भर आयीं। उन्हें इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि हमारी बेटी धेवते इतना कष्ट पा रहे हैं। अरे, सुख-सुपास की तो बात ही क्या, ये पेट भर भोजन के भी मोहताज हो रहे हैं। सिद्ध फकीर के चित्त में चिन्ता देखकर उनके खुदा का भेजा हुआ एक फरिश्ता आया और फकीर से बोला-"साहब ने कहा है कि फकीर जो वरदान माँगना चाहें उनको वह दिया जाय।" फकीर को स्वयं के लिए तो कुछ चाहिए नहीं था, उन्होंने बेटी से फरिश्ते की बात कही। तब उनकी बेटी ने हँसकर फरिश्ते से कहा-"पहले साहब से यह पूछ आओ कि जैसी कृपादृष्टि अब है वैसी वरदान देने पर भी रखें, तब तो मैं वरदान माँगू।" फरिश्ते ने जाकर साहब से कहा तो साहब ने कहा कि-"उससे जाकर कह दो कि चाहे कृपादृष्टि ही चाहें, चाहे वरदान ही माँग लें। दोनों में से एक ही मिल सकता है।" फरिश्ते ने आकर यह बात कही तो फकीर की बेटी ने कहा-"जाकर साहब से यह कह दो कि जिसके कारण हमें साहब की कृपादृष्टि से वंचित होना पड़े, उस वरदान की हम त्रिकाल में चाहना नहीं करते।" इसी प्रकार श्रीरांका-बांका ने भी भगवान से भी कुछ नहीं चाहा। तभी तो व्यासजी कहते हैं-"अनन्यनि कौनकी परवाहि। कुंजविहारी की आशा करि लै कमरी कर वाहि।। कोटि मुक्ति सुख होय गोखरू गड़ै जबै तरवाहि। श्रीवृन्दावन देखत भाजै नैनन की हरवाहि।। जमुना कूल मूल फल फूलन गोरसकी भरवाहि। निसि दिन श्याम काम वस सेवत राधा की घरवाहि।। जब-जब घेरे आनि राजसी मारे पाथरवाहि। धनकी आस व्यास तजि भजिये गुदी बांधि सरवाहि।।" तब भगवान और श्रीनामदेवजी ने आग्रहपूर्वक प्रसादी वस्त्र ही लेने को कहा। श्रीरांका-बांकाजी सहर्ष स्वीकार कर लिया। (एक सौ एक वर्ष तक इस धराधाम पर रहकर श्रीरांकाजी वैशाख शुक्ल पूर्णिमा सं० १४५२ वि० को अपनी पत्नी बांकाजी के साथ परम धाम को पधारे। (भक्त चरिताङ्क)

छप्पय-९७ में आये अन्य सन्तों का संक्षिप्त चरित्र-

श्रीयतीरामजी—ये पहले सेवरा थे। वैष्णवों से वाद-विवाद करना इनका सहज स्वभाव था। एकबार ये स्वामी श्रीसुखानन्दजी से वाद-विवाद में उलझ गये। श्रीस्वामीजी की वैष्णवी शक्ति के समक्ष इनका समस्त युक्तिवाद असफल रहा। अन्ततोगत्वा ये श्रीस्वामीजी की भक्ति से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गये। ये उन्मत्त की भाँति अकेले विचरते रहते थे और निरन्तर भगवान के नाम-गुण गान में मग्न रहा करते थे। कहते हैं कि एकबार बादशाह की सवारी कहीं जा रही थी। लाव-लश्कर साथ था। सामान का एक बहुत बड़ा गट्ठर ले चलने वाले किसी नौकर की आवश्यकता थी। श्रीयतीरामजी अपनी मस्ती में उधर ही जा निकले। बादशाह के यवन सिपाहियों ने इन्हें ही पकड़कर इनके सिर पर वह गठ्ठर रख दिया। ये तो कुछ ही दूर चले थे कि गठरी बहुत भारी होने के कारण सँभाल में न आने से गिर पड़ी। यवन सिपाहियों ने इनकी बेबसी तो समझी नहीं, उल्टे इन्हें मारने लगे। दुष्टों का यह अत्याचार भगवान से सहा नहीं गया। श्रीहरि इच्छा से उसी समय बहुत बड़े-बड़े असंख्यों गिरगिट प्रकट हो गये और उन दुष्ट यवनों को काटने लगे। यवन अल्लाह-तोबा कहते हुए रोते, चिल्लाते, बिलखते भागे। परन्तु वे जहाँ-जहाँ भागते वहीं-वहीं उन्हें गिरगिट काटने लगते। सेना-सिपाहियों की यह दुर्दशा देखकर बादशाह समझ गया कि यह इन्हीं हिन्दू फकीर की करामात है। अत: वह तुरन्त रथ से उतरकर श्रीयतीरामजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना करने लगा। श्रीयतीरामजी ने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा-"भैया! विनय तो तुम उसकी करो जो तुम पर रूठा है और दण्ड दे रहा है। मैं तो न रुष्ट ही हूँ न मैंने दण्ड ही दिया है। बादशाह बहुत-सी अशर्फियाँ इनके चरणों में रखते हुए बोला-"आप अपने राम की सेवा के लिये यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार करें और हमें उनके कोप से बचावें।" श्रीयतीरामजी ने कहा कि-"मुझ अकिंचनों को इन अशर्फियों से क्या प्रयोजन? यदि तुम अपना कल्याण चाहो हो तो भगवान को भजो और आज से प्रतिज्ञा करो कि मैं कभी किसी भी साधु को नहीं सताऊँगा।" बादशाह ने कसम खाई कि आज से मैं अथवा मेरे कर्मचारी भूलकर भी किसी साधु को नहीं छेड़ेंगे। तब सब लोग संकट से मुक्त हुये।

श्रीरामरावलजी—आप भगवान श्रीरामजी के परम भक्त थे। सदा एकान्त स्थान में रहते हुये निरन्तर भगवच्चिन्तन में मग्न रहा करते थे। लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। एक चेटकी को इनकी प्रतिष्ठा असह्य हो गई। वह इनको भगाने के लिये नाना प्रकार के विघ्न करने लगा। वह कभी सर्प बनकर तो कभी व्याघ्र बनकर इनको डराता। कभी-कभी

तो माया से चारों ओर अग्नि की लपटें उत्पन्न कर देता, जिससे ये डरकर भाग जायें। परन्तु श्रीरामजी के भरोसे ये सर्वथा निर्भर अपने आसन से डिगे नहीं। अन्ततोगत्वा वह चेटकी हारकर इनका अनुगत हो गया और चेटक चमत्कार छोड़कर श्रीभगवद्भजन करने लगा (श्रीश्यामजी का कोई चरित्र नहीं प्राप्त है।)

श्रीसीहाजी—भक्त सीहाजी बड़े नामनिष्ठ सन्त थे। ये स्वयं तो निरन्तर नाम-संकीर्तन करते ही रहते थे, गांव के बालकों को भी बुलाकर कीर्तन करवाते और सबको प्रसाद देते थे। एकबार ऐसा संयोग बना कि इनके पास बालकों को प्रसाद देने के लिए कुछ भी नहीं था। तीन दिन तक लगातार बालक कीर्तन करके बिना प्रसाद के ही घर चले गये। इनको चिन्तित देखकर चौथे दिन स्वयं भगवान एक बालक का रूप धारण करके आये और कीर्तन करने वाले बालकों को खूब लड्डू बाँटे। उसी दिन स्वप्न में भगवान ने इनसे कहा कि-"चिन्ता मत किया करो, जिस दिन कुछ नहीं रहेगा उस दिन मैं स्वयं प्रसाद बाँट जाया करुँगा।" इनका कीर्तन सुनने के लिये भगवान नित्य किसी न किसी रूप में इनके यहाँ आते थे। एक दिन एक वैश्य के पुत्र का रूप धारणकर भगवान कीर्तन सुन रहे थे। उसी दिन वैश्य भी कीर्तन सुनने आया। वह अपने पुत्र को घर छोड़ आया था। परन्तु यहाँ आया तो यहाँ भी पुत्र को कीर्तन मण्डली में बैठा देखा। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने चित्त का समाधान करने के लिये घर गया तो घर पर भी पुत्र को बैठा देखा। फिर यहाँ आया तो यहाँ भी पुत्र को देखा। बीसों बार वह घर गया और यहाँ आया। दोनों स्थानों पर अपने पुत्र को उपस्थित देखकर वह भ्रमित-सा हो गया। उसने अन्त में श्रीसीहाजी को अपने मन का भ्रम सुनाया। तब श्रीसीहाजी ने कहा कि-"तुम अपने लड़के को यहीं लिवा लाओ। जब वह वैश्य अपने पुत्र को लिवा आया तो कीर्तन मण्डली में बैठा हुआ पुत्र अदृश्य हो गया। श्रीसीहाजी समझ गये कि यह सब भगवान की ही लीला थी। इस प्रकार से भक्तवत्सल भगवान सदैव श्रीसीहाजी के संग रहकर नामामृत का आस्वादन करते रहते थे।

श्रीदलहासिंहजी—आप खीची बाड़ा ग्राम के रहने वाले थे। जाति के राजपूत थे। आपने सन्त-सेवा का व्रत लिया था। जब घर का सारा धन सन्त सेवा में व्यय हो गया, तब आभूषण और वस्त्र तक बेंचकर सन्त-सेवा में लगा दिये। स्थिति ऐसी गम्भीर हो गई कि सेवा की तो बात ही क्या स्वयं का पेट पालना मुश्किल हो गया। उधर सेवा की प्रसिद्धि होने से सन्तों का आना-जाना लगा ही रहता था। इसी बीच एक रिश्तेदारी से भात भरने का निमन्त्रण भी आ गया। अब तो ये बड़े सोच में पड़े कि-"किं करोमि, क्व गच्छामि।" मारे

सोच के रात्रि में नींद नहीं आई। तनिक-सी झपकी लगी तो स्वप्न देखे कि भगवान कह रहे हैं कि घर के समीप जो टीला है उसमें अपार सम्पत्ति गड़ी है, उसे निकालकर खूब संत-सेवा करो और भात भरो। इनकी निद्रा खुली तो भगवत्कृपा विचारकर गद्गद हो गये। प्रातःकाल भगवान के संकेतानुसार इन्होंने वह टीला खोदा तो सचमुच अपार धन मिला। फिर तो थोड़े धन से भात भरा और शेष धन सन्त-सेवा में लगाया। इस प्रकार भगवान ने आपका व्रत पूर्ण किया।

श्रीपद्मजी—"पद्मपत्रमिवाम्भसा" के ज्वलन्त उदाहरण श्रीपद्मजी भगवान विष्णु के अनन्य भक्त थे। इनके पास भगवान विष्णु की स्वर्ण की एक प्रतिमा थी। उसी का पूजन-आराधन करते रहते थे। एकदिन मूर्ति को हृदय से लगाये एकाकी एकान्त में विचर रहे थे। एक यवन चोर ने कैसेहूँ भांप लिया कि इनके पास स्वर्ण की प्रतिमा और मणि-रत्न जटित स्वर्ण के आभूषण हैं। उसने सुनसान देखकर बलपूर्वक इनसे प्रतिमा और आभूषणादि छीन लिये और अपने घर की ओर भाग चला। इनका तो सर्वस्व लुट गया था अतः ये अत्यन्त आर्त होकर भगवान को पुकारने लगे-"हा प्रभु! आय बेगि सुख दीजै। करिये कृपा विलम्ब न कीजै।।" भक्त का दुःख देखकर भक्तवत्सल भगवान ने ऐसी लीला की कि उस यवन चोर का जूता उसके पांव से निकलकर अपने आप उसके सिर पर पड़ने लगा। इस संकट से बचने के लिये उसने बहुत भाग-दौड़ की, परन्तु जहाँ-जहाँ भागा, वहाँ-वहाँ जूते सिर पर पड़ते ही रहे। तब वह लाचार होकर मूर्ति और आभूषण लाकर इनको सौंपकर चरणों में पड़कर प्राण रक्षा के लिये हा-हा खाने लगा। सन्त श्रीपद्मजी ने उसके अपराध को क्षमा कर दिया, तब जूतों का प्रहार बन्द हुआ।

श्रीमनोरथजी—आप जाति के ब्राह्मण थे। सन्त-भगवन्त सेवा में बड़ी रुचि रखते थे। आपके एक कन्या थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो आपने एक भगवद्भक्त ब्राह्मण से उसका विवाह निश्चित किया। परन्तु वह चूंकि गरीब था, अतः कन्या की माता एवं मामा-ये दोनों वहाँ विवाह करने के पक्ष में नहीं थे। उन दोनों ने एक धनी परन्तु अभक्त ब्राह्मण के साथ उस कन्या का विवाह तय किया। वह अभक्त ब्राह्मण विवाह के दिन जबर्दस्ती इनकी कन्या को अपने घर ले गया। ये कदापि अभक्त से सम्बन्ध नहीं चाहते थे, अतः इनको इस बात का बड़ा दुःख कष्ट हुआ कि मेरी कन्या विमुख के घर ब्याही जायेगी। ये रात्रि में भगवान के सामने बैठकर रोने लगे। भक्त मनोरथ का मनोरथ पूर्ण करने के लिये भगवान ने तुरन्त इनकी कन्या को विमुख के घर से लाकर इनके सम्मुख उपस्थित कर

दिया। इन्होंने झट उस ब्राह्मण के साथ कन्या का ब्याह कर दिया। इस चमत्कार से विपक्षी लोगों ने प्रभावित होकर श्रीमनोरथजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना की और स्वयं भी भगवद्-भागवत सेवा में लग गये।

श्रीद्यौगूजी—उद्योग प्रिय होने के कारण आपको लोग उद्योगीजी कहते थे। जन साधारण के बीच द्यौगूजी के नाम से प्रसिद्ध थे। कठिन परिश्रम करके अन्नोपार्जन करते और उससे सन्तों की सेवा करते। आप बड़े ही भोले-भाले स्वभाव के थे। कहते हैं कि इनके पिताजी बिना किसी बीमारी के अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। ये पिता के शव को श्रीठाकुरजी के सामने रखकर श्रीठाकुरजी से पूछने लगे कि-"बिना किसी आधि-व्याधि के मेरे पिता क्यों मरे?" पूछते-पूछते तीन प्रहर व्यतीत हो गये, कोई उत्तर नहीं मिला। इतने में सन्तों की जमात आ गई। ये सन्तों के स्वागत-सत्कार में लग गये। उन्हें सीधा-सामान देने लगे, तो सन्तों ने कहा-"आपके मन में पिता मरण का महान् दुःख है, अतः हम आपका सीधा-सामान नहीं लेंगे।" इन्होंने कहा-"ऐसी बात नहीं है। मेरे मन में पिता मरण का किंचित् दुःख नहीं है।" सन्तों ने कहा-"यदि दुःख नहीं है तो पिता के शव के पास क्यों बैठे हो?" इन्होंने कहा-"हमें तो भगवान से केवल यह पूछना है कि मेरे पिताजी बिना किसी रोग के क्यों मरे? परन्तु यदि इस कारण से आप लोग सीधा-सामान नहीं ले रहे हैं तो कहिये तो मैं अभी पिताजी के शव को जला दूँ। परन्तु आप लोगों को भूखा नहीं जाने दूँगा। सच कहता हूँ, मरने को सारा परिवार मर जाय, मुझे इसकी परवाह नहीं है। मुझे तो एक मात्र सन्त-सेवा की चिन्ता रहती है कि कोई भी सन्त हमारे यहाँ से विमुख न जाय। इस प्रकार की इनकी भोली-भाली बातें सुनकर सभी सन्त हँस गये। भगवान से भी रहा नहीं गया। वे भी मुस्कुरा पड़े। भगवद्-भागवत कृपा से इनके पिता जीवित हो उठे। सर्वत्र जै-जैकार की ध्वनि छा गयी। श्रीद्यौगूजी की सरलता, सन्त-सेवानिष्ठा एवं दृढ़ श्रीभगवद्विश्वास ने मरे हुये को भी जीवनदान किया, भक्ति का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर पूरे गांव के लोग भजन परायण हो गये।

श्रीचाचागुरु—वस्तुतस्तु इनका श्रीगुरुजी का दिया हुआ नाम क्षेमदासजी था। "चाचागुरु" नाम पड़ने के सम्बन्ध में कथा इस प्रकार है-"एक बार इनके स्थान पर सन्तों की जमात आई। उनके भोजनादि की व्यवस्था करने के लिए समीप के गांव में गये और सबसे बोले-"भैयाओ! मेरे चाचा गुरु आये हैं। साथ में और भी सन्तों की जमात है। उनके लिये सीधा-सामान की आवश्यकता है।" गांव वाले श्रीक्षेमदासजी में बड़ी श्रद्धा रखते थे। जब उन्होंने सुना कि महाराज के चाचागुरु आये हैं, तो सभी ग्रामवासी बड़ी श्रद्धापूर्वक यथा-

शक्ति सीधा-सामान, भेंट-पूजा लेकर उनका दर्शन करने आये। खूब सन्त-सेवा हुई। बाद में रहस्योद्घाटन हुआ कि ये तो सभी सन्तों को चाचागुरु कहते हैं, फिर तो इनका ''चाचागुरु'' नाम ही पड़ गया। सेवा की प्रसिद्धि होने से इनके यहाँ सन्तों का जमघट बना ही रहता था। कुछ दिन तक तो गांव वाले सेवा में सहयोग देते रहे। परन्तु अन्त में सबने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी कि-''आपके यहाँ तो रोज चाचागुरु आते ही रहते हैं, हम लोग कहाँ तक उनकी सेवा करेंगे?'' तब इनको चिन्ता हुई कि अब साधु-सेवा कैसे होगी? उसी समय इनको भगवान की दिव्य वाणी सुनायी पड़ी कि ''तुम्हारे पास जो धरोहर रूप में किसी का चाँदी का पात्र रखा है, उसे ही बेंचकर सन्त-सेवा करो, समय आने पर मैं सब सुधार लूँगा।'' अन्धे को मानो आँखें मिल गई हो। ये झट उस रजतपात्र को बेंचकर उससे सीधा-सामान ले आए और निश्चिन्त होकर साधु-सेवा करने लगे।

कुछ दिन बाद जिसने अपना रजतपात्र इनके यहाँ धरोहर रखा था, उसको पता चला कि उन्होंने उसे बेंचकर सन्तों को खिला दिया, तो वह इनसे अपना पात्र माँगने लगा। इन्होंने टालमटोल किया तो उसने पंचायत बटोरी। सन्त-सेवा से अवकाश न मिलने के कारण श्रीचाचागुरु पंचायत में नहीं आ पाये तो इनका रूप धारण कर स्वयं भगवान आ गये और पंचों के पूछने पर बोले कि-''इनका पात्र तो ज्यों का त्यों मन्दिर में सुरक्षित रखा है, यदि न मानो तो चलो देख लो।'' पंचायत में वह वैश्य भी बैठा था, जिसके यहाँ श्रीचाचागुरु ने चाँदी का पात्र बेंचा था। उसने पंचों के सामने चाचागुरु को झूठा बताते हुए कहा कि-''ये असत्य कह रहे हैं, पात्र तो इन्होंने हमारे यहाँ बेंच दिया है।'' चाचागुरु ने भी अपनी बात पर बल देते हुए कहा कि तुम खुद मन्दिर में जाकर देख लो, अमुक स्थान पर पात्र रखा है। पंचों के कहने पर वैश्य मन्दिर में गया तो सचमुच पात्र निर्दिष्ट स्थान पर रखा पाया। परन्तु अब यदि यह बात प्रकट होती है तो वैश्य झूठा पड़ता है, अतः उसने अपनी बात रखने के लिए उस पात्र को कहीं छिपा दिया और आकर झूठ बोल दिया कि वहाँ पात्र नहीं है। तब श्रीचाचागुरु ने सभी पंचों से अनुरोध किया कि आप सब लोग चलकर देखें, पात्र है कि नहीं। फिर तो सभी लोग उठकर मन्दिर को गए तो वहाँ एक पात्र की तो बात ही क्या, वैसे ही अनेकों रजत पात्र रखे देखे। देखकर लोग दंग रह गये। उस वैश्य ने जहाँ पात्र छिपा रखा था, वहाँ जाकर देखा तो पात्र नदारत था। वैश्य का कपट खुल गया। श्रीचाचागुरु की बात सत्य निकली। भगवान ने भक्त की लज्जा रख दी। जिसका पात्र था, उसने भक्ति का यह चमत्कार देखकर वह पात्र भगवान की सेवा में अर्पित कर दिया। यह सब

हो जाने के बाद श्रीचाचागुरु को पंचायत विवरण सुनने को मिला तो वे बड़े चकित हुए कि मैं तो गया ही नहीं, फिर पंचायत किसने की। परन्तु आप तत्क्षण ही समझ गये कि यह सब भक्तवत्सल भगवान की ही लीला थी। श्रीचाचागुरु प्रभु कृपा विचारकर प्रेममग्न हो गये।

श्रीसवाईसिंहजी—ये जाति के राजपूत थे एवं बड़े ही सन्तसेवी तथा परोपकारी थे। श्रीगीताजी में वर्णित शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्ध में न भागने का स्वभाव, दान और स्वामी भाव अर्थात् निःस्वार्थ भाव से सबका हित सोचकर शास्त्राज्ञानुसार शासन द्वारा प्रेम के सहित पुत्र तुल्य प्रजा का पालन करने का भाव-ये सब क्षत्रियों के गुण इनमें कूट-कूटकर भरे थे। कहते हैं कि एकबार एक भक्त दम्पति वनमार्ग से कहीं जा रहे थे। उनके पास धन द्रव्य देखकर उन्हें लुटेरों ने लूट लिया। उन भक्त दम्पति ने पास के गांव में जाकर दुहाई दी। डाकुओं का नाम सुनते ही गांव के अन्य लोग तो सन्न रह गये, परन्तु उसी गांव में रहने वाले भक्त सवाई सिंहजी ने तुरन्त अपना घोड़ा कसा और अपने आयुध लेकर अकेले ही घोड़े पर चढ़कर डाकुओं के पीछे घोड़ा दौड़ा दिया। डाकुओं को देखते ही इन्होंने ललकार कर कहा कि धन छोड़कर भाग जाओ अन्यथा मारे जाओगे। सन्तों को दुःख देने वाला कभी सुखी नहीं रह सकता है। डाकू संख्या में तेरह थे और ये अकेले। अतः वे इन्हें चारों ओर से घेर लिये और इन पर अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करने लगे। परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि उनके अस्त्र-शस्त्र इनके शरीर से लगकर खण्ड-खण्ड हो जाते और इनका एक वार भी खाली नहीं जाता। अब तो डाकू हृदय से हारकर इनके शरणागत हो गये और सब धन सौंपकर स्वयं भी भक्त बन गये।

श्रीनापाजी—आपके यहाँ पर बड़े भावपूर्वक सन्तों की सेवा होती थी। फलस्वरूप नित्यप्रति पांच जाते तो दस सन्त आते। घर में दिनभर कथा-कीर्तन-सत्संग की धूम मची रहती थी। लोग आश्चर्य करते कि श्रीनापाजी के पास इतना धन आता कहाँ से है? गांव के राजा के मन में सन्देह हुआ कि इनके पास अपार धन है। उसे छिपाने के लिये इन्होंने गरीबों का-सा वेष बना रखा है। नहीं तो सामान्य खेती-बारी से तो परिवार का पालन-पोषण ही मुश्किल है, सन्त-सेवा तो बहुत दूर रही। अतः उसने इन्हें दरबार में बुलवाया और राज-कर के रूप में प्रचुर धनराशि माँगी। परम अकिञ्चन श्रीनापाजी इतना धन कहाँ से लाते। इन्होंने ग्रामाधिपति को बहुत प्रकार से समझाया कि हमारे पास एक पैसा भी धन का संग्रह नहीं है, भगवत्-भागवत कृपा से सन्त-सेवा होती है। पर उसने एक नहीं मानी। इनके इन्कार करने पर उसने इन्हें कारागार में डाल दिया। उधर घर पर सन्तों

की जमात आई। बेचारी पत्नी घबड़ाई कि मैं कैसे सन्तों का सत्कार करूँ? उसने किसी खास आदमी से इनके पास सन्देश भेजा कि सन्त पधारे हैं, इनका सत्कार कैसे होगा? घर में न तो एक आना है, न एक दाना। इन्होंने कहला भेजा कि घर के लोटा-थाली आदि पात्र बेंचकर सन्तों की सेवा करो। आगे फिर देखा जायेगा। पत्नी ने ऐसा ही किया। लेकिन भला लोटा-थाली बेंचकर कितने दिन तक सन्त-सेवा होती। आखिर एक दिन ऐसा आ गया कि घर में कुछ भी नहीं रह गया। इनकी पत्नी खुद भूखी मरने लगी। इसी बीच उसके मायके के कुछ लोग आ गये। बेचारी अबला किं कर्तव्य विमूढ़ हो गई। वह ऐसी आपदा में आर्त होकर भगवान को पुकारने लगी। भक्त की टेर भगवान तक पहुँची। भगवान तुरन्त ही श्रीनापाजी का रूप धारण कर जितने भी बर्तन बेचे गये थे। उन सबको छुड़ा लाये साथ ही और भी बहुत सी भोजन की सामग्री लाकर घर भर दिये। प्रभु कृपा का प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर पत्नी बहुत प्रसन्न हुई। उसने खूब सन्तों एवं मेहमानों का सत्कार किया। उधर ग्रामाधिपति ने अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके समझ लिया कि वस्तुतस्तु श्रीनापाजी गरीब ही हैं अतः इन्हें छोड़ दिया। जब ये घर आये तो देखे कि घर तो धन-धान्य से भरपूर हो रहा है। पत्नी से पूछे कि-"यह सब सामान कहाँ से आया है?" उसने कहा कि आप कैसी बात कर रहे हैं? अरे आप ही तो कल सायंकाल को सब लाये हैं। श्रीनापाजी समझ गये कि यह सब प्रभु की कृपा का वैभव है।

श्रीनापाजी कुछ खेती भी करते थे। खेत में जल देने की आवश्यकता थी। परन्तु दिन में सन्त-सेवा से फुरसत नहीं मिलती थी, अतः रात्रि में ही खेती सींचने लगे। लेकिन पूरी रात जल भरते रहे, सारा का सारा जल बह गया, खेत सूखा ही रह गया। इससे श्रीनापाजी कुछ उदास हुए तो भगवान इनके पुत्र का रूप धारणकर बोले-"पिताजी! आप दिनभर सन्त-सेवा में लगे रहने से थक जाते हैं, अतः खेत में जल मैं भर दूँगा।" अब श्रीनापाजी खेत की ओर से निश्चिन्त हो गये और भगवान जल भरने लगे। एक दिन श्रीनापाजी खेत पर गए तो इन्होंने पुत्र को जल भरते देखा। परन्तु थोड़ी देर बाद जब घर पर लौटे तो अपने पुत्र को सोता देखा। तब तो इन्हें महान् आश्चर्य हुआ। दो-चार बार घर और खेत दोनों स्थलों पर पुत्र को देखकर ये समझ गए कि मेरा संकट दूर करने के लिए स्वयं भगवान मेरे पुत्र का रूप धारणकर जल भर रहे हैं। अतः ये समीप जाकर पुत्र रूपधारी भगवान का हाथ पड़क लिए और बोले-"प्रभो! मैं आपको पहचान गया, आप मेरे पुत्र नहीं हैं, आप तो भगवान हैं।" श्रीभगवान ने बहुत कहा कि-"पिताजी! आप क्या कह रहे हैं? मैं तो आपका

पुत्र ही हूँ।'' परन्तु जब ये एक नहीं माने, तब तो विवश होकर भगवान को अपने स्वरूप का दर्शन कराना पड़ा। श्रीनापाजी ने विनयपूर्वक पूछा-''जै जै! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं?'' तब भगवान ने कहा-''नापाजी! आप नित्यप्रति हमारी और हमारे भक्तों की सेवा करते हैं तो यदि हमने आपकी थोड़ी सी सहायता कर दी, तो इसमें मैंने कौन-सा बड़ा उपकार कर दिया? अरे, अभी तो मैं आपकी सेवारूपी ऋण का ब्याज भी नहीं चुका पाया हूँ।'' श्रीप्रभु की यह भक्तवत्सलता सुनकर श्रीनापाजी की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। भगवान ने भक्त को हृदय से लगा लिया।

श्रीकीताजी—यद्यपि इनका जन्म जंगल में रहने वाली अहेरी (व्याध) जाति में हुआ था, परन्तु पूर्वजन्म के किसी शुभ संस्कारवश इनकी सन्तों में अत्यन्त प्रीति थी। ये सन्त-सेवार्थ विमुखों को लूट लेने में भी संकोच नहीं करते थे। किसी भी प्रकार से धन-संग्रह कर सन्त-सेवा करना इनकी दृष्टि में परम पुण्यावह था। एकबार तो ये सन्त-सेवा निमित्त धन-प्राप्ति का कोई अन्य उपाय न देखकर अपनी युवती कन्या को राजा के यहाँ रहन रखकर धन ले आए और उससे सन्त-सेवा की। जब राजा की दृष्टि कन्या पर पड़ी तो उसके मन में कुत्सित भाव जागे। कन्या को राजा की दुर्वृत्ति का पता चला तो उसने अपने पिता के पास सन्देश भेजा। श्रीकीता भक्त ने भगवान की शरण ली। उधर कन्या ने भी भगवान से अपनी लाज बचाने की प्रार्थना की। प्रभु ने भक्त की लाज रख ली। राजा जब श्रीकीताजी की कन्या के पास गया तो वह उसे सिंहिनी रूप दिखाई पड़ी। तब राजा की आँखें खुलीं। उसने मन ही मन कन्या को प्रणाम कर, फिर श्रीकीताजी के पास जाकर चरणों में पड़कर अपने अपराध के लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। इन्होंने अपने साधु-स्वभाव का स्मरण कर राजा को क्षमा कर दिया।

श्रीकीताजी के साथ भी एक ऐसी घटना घटी जो कि श्रीघाटमजी के साथ घटी घटना से मेल खाती है। कहते हैं कि एकबार इन्होंने अनेकों पहरों के बीच फौज की छावनी से घोड़ा चुराया और जब किसी पहरेदार ने पूछा तो सच-सच बता दिया कि मैं चोर हूँ, मेरा नाम कीता है। परन्तु पहरेदार ने इसे इनका विनोद मात्र समझा, उसने सोचा कि फौज के कोई अफसर हैं। जब प्रातःकाल हुआ, तो पता चला कि वह रात्रि को घोड़ा ले जाने वाला व्यक्ति चोर ही था, वह फौज का कोई अफसर नहीं था। फिर तो नाम के अनुसार खोज प्रारम्भ हुई तो शीघ्र ही फौज के सिपाही पता लगाते-लगाते श्रीकीताजी के घर पहुँच गये। वहाँ एक घोड़ा भी बरामद हुआ, घोड़े की रूपरेखा भी वैसी ही थी, परन्तु

रंग बदला हुआ था। छावनी वाले घोड़े का रंग लाल था, इसका श्वेत। पूछताछ करने पर श्रीकीताजी ने पुनः सब बात सही-सही बता दी। साथ ही घोड़े का रंग बदलने में प्रभु की इच्छा को ही मुख्य बताया। श्रीकीताजी की भक्ति तथा सन्त-सेवा-निष्ठा का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर फौज का सरदार बड़ा प्रभावित हुआ और वह समस्त सेना सहित श्रीकीताजी का शिष्य हो गया तथा सन्त-सेवा निमित्त बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। श्रीजाड़ाजी, श्रीचाँदाजी, श्रीपुरुषोत्तमजी और श्रीचतुरजी का कोई चरित्र नहीं प्राप्त है।

पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलिजुग्ग के।
लक्ष्मण, लफरा लड्डू सन्त जोधपुर त्यागी।।
सूरज, कुम्भनदास, बिमानी, खेम विरागी।।
भांवन, बिरही भरत, नफर हरिकेस, लटेरा।
हरिदास, अयोध्या, चक्रपानि, (दियो) सरजू तट डेरा।।
तिलोक, पुखरदी, बिज्जुली, उद्धव बनचर बंसके।
पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलि जुग्गके।।९८।।

शब्दार्थ—पर अर्थ परायन=परोपकार में लगे। कामधेनु=मनोरथ पूर्ण करने वाले।

भावार्थ—ये भक्त जन इस कलियुग में बड़े ही परोपकारी तथा आश्रितजनों का मनोरथ पूर्ण करने के लिये कामधेनु के समान हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीलक्ष्मणजी, श्रीलफराजी, श्रीलड्डूजी, जोधपुर के त्यागी सन्तजी, श्रीसूरजजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीविमानीजी, श्रीखेम वैरागीजी, श्रीभावनजी, श्रीविरही भरतजी, श्रीनफरजी, श्रीहरिकेशजी लटेरा, श्रीहरिदासजी, श्रीअयोध्या सरयू तटवासी श्रीचक्रपाणिजी, श्रीत्रिलोक सुनारजी, श्रीपुखरदीजी, श्रीविज्जुलीजी, वनचर (श्रीहनुमान) वंश में उत्पन्न श्रीउद्धवजी।

श्रीलड्डूजी

लड्डू नाम भक्त जाय निकसे विमुख देश लेसहूं न सन्तभाव जानै पाप पागे हैं।
देवी कौं प्रसन्न करैं मानुस को मारि धरैं लै गये पकरि तहाँ मारिबे कों लागे हैं।।
प्रतिमाको फारि बिकरार रूपधारि आई लै कै तरवार मूँड काटे भीजे बागे हैं।
आगे नृत्य करैं, दृग भरैं साधु पांव धरै ऐसे रखवारे जानि जन अनुरागे हैं।।४०४।।

शब्दार्थ—बिकरार=विकराल, भयंकर। बागे=बागा, जामा, वस्त्र।

भावार्थ—श्रीलड्डूजी नाम के भक्त विचरते-विरचते एक ऐसे विमुखों के देश में जा पहुँचे, जहाँ के लोग लेशमात्र भी सन्तों के प्रति सद्भाव करना नहीं जानते थे। एकदम पाप में पगे हुये थे। वहाँ की ऐसी कुप्रथा थी कि मनुष्य की बलि देकर देवी को प्रसन्न करते थे। वे लोग श्रीलड्डूजी को भी पकड़कर ले गये और देवी के सामने इनकी बलि देने लगे। उस समय मूर्ति को फाड़कर, भयंकर रूप धारणकर देवी साक्षात् प्रकट हो गयीं और उन दुष्टों की ही तलवार अपने हाथ में लेकर उन दुष्टों के सिर काट डाले। रक्त के छीटों से देवी का वस्त्र भीग गया। तत्पश्चात् देवीजी श्रीलड्डू भक्त के आगे नृत्य करने लगीं। भक्त का दर्शन कर वे बार-बार अपने नेत्रों में प्रेमाश्रु भर-भर लेती थीं। वे बारम्बार भक्त के चरण पकड़ती थीं। भगवान अपने भक्तों की इस प्रकार रक्षा करते हैं, श्रीलड्डूजी के प्रसंग से यह बात जानकर सभी लोग श्रीहरिचरणानुरागी हो गये।।४०४।।

व्याख्या—जाय निकसे विमुख देस—श्रीभक्तमालजी के ''भक्तिसुधास्वाद तिलक'' कर्ता श्रीसीतारामशरणजी भगवानप्रसाद (श्रीरूपकलाजी) ने उस विमुख देश को बंगाल प्रान्त का एक गाँव लिखा है। वहाँ जाने का हेतु यह कहा जाता है कि श्रीलड्डूजी से पूर्व सन्तों की एक जमात वहाँ जा चुकी थी। वे लोग तीन दिन तक वहाँ भूखे पड़े रहे, किसी ने कुछ पूछा ही नहीं। उन्हीं सन्तों ने श्रीलड्डूजी से वहाँ की रहन-सहन बताई। तब ये उन लोगों को वैष्णवता का उपदेश देने के लिये घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे। ''लेसहूँ न सन्त भाव जानैं'' -पूर्व जो कहा गया था कि-''निकसे विमुख देस'' तो यहाँ विमुख की व्याख्या करते हैं कि-''वे लोग सन्त-भगवन्त को कुछ जानते ही नहीं थे, फिर मानना तो बहुत दूर रहा। विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३९९ ''कैसे होत सन्त'' की व्याख्या। ''पाप पागे हैं''-ये लोग जीवों की हिंसा करके देवी को प्रसन्न करते थे। जिनका हिंसा के प्रति आग्रह है उनके पाप की कोई सीमा नहीं है। यथा-''हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहिं कवन मिति।।'' (रामा०)

महाभारत में वर्णन आया है कि पशु की बलि देने वाले, पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष तक नरक का कष्ट भोगते हैं। यथा-''यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत। तावत्वर्ष सहस्राणि पच्यन्ते नरके नराः।।'' फिर साधनधाम, मोक्ष के द्वारभूत नर शरीर की बलि देना तो पापों की पराकाष्ठा ही है; क्योंकि देवता भी इस शरीर की प्राप्ति के लिये लालायित रहते हैं। ''लै गये पकरि''-कहते हैं कि वहाँ का राजा देवी को बलि देने के लिये किसी मनुष्य को पकड़ लाने को अपने कर्मचारियों को भेजा था। राजकर्मचारी एक गरीब ब्राह्मण के बालक को पकड़कर ले जा रहे थे। उसके माता-पिता करुण-क्रन्दन

कर रहे थे। उसी समय श्रीलड्डूजी वहाँ पहुँच गये। दीन ब्राह्मण दम्पति अपने पुत्र की रक्षा के लिये सन्त श्रीलड्डूजी की शरण गये। परहितैकव्रती श्रीलड्डूजी ने राजकर्मचारियों से कहकर ब्राह्मण बालक को मुक्त करा दिया और उसकी जगह पर स्वयं बलिदान होने के लिये तैयार हो गये। राजकर्मचारी इन्हें पकड़कर देवी के सम्मुख ले गये। देवी वैष्णव तेज को सह न सकीं, उन्होंने कुपित होकर बलि देने वालों को ही मार डाला और श्रीलड्डू भक्तजी को प्रसन्न करने के लिये उनके चरणों में पड़कर क्षमा माँगी तथा नृत्य किया। इस पर दृष्टान्त श्रीजड़भरतजी का। देखिये पूर्वार्द्ध-४५७।

श्रीसन्तजी

सदा साधु सेवा अनुराग रंग पागि रह्यौ गह्यौ नेम भिक्षा व्रत गांव-गांव जाय कै।
आये घर सन्त पूछैं तिया सौं यों सन्त कहाँ? 'सन्त चूल्हे माँझ' कही ऐसे अलसाय कै।।
बानी सुनि जानी, चले मग सुखदानी मिले कही कित हुते? सो बखानी उर आय कै।
बोली वह साँच, वही आँच ही कौ ध्यान मेरे आनिगृह फेरि किये मगन जिंवाय कै।।४०५।।

शब्दार्थ—अलसायकै=सुस्त, उदास, अनुत्साहित होकर।

भावार्थ—भक्त श्रीसन्तजी का साधु-सेवा में बड़ा प्रेम था। ये हमेशा सन्त-सेवा प्रेम रूपी रंग में रँगे रहते थे, उसी में पगे रहते थे। इन्होंने गांव-गांव से जाकर भिक्षा ला-लाकर सन्त-सेवा करने का नियम ले रखा था। एकबार ये किसी गांव में भिक्षा लेने गये थे। इसी बीच घर पर सन्तों की जमात आ गयी। सन्तों ने इनकी पत्नी से पूछा कि-"सन्तजी कहाँ हैं?" तो पत्नी ने प्रमादपूर्वक कहा कि वे चूल्हे में गये हैं।" पत्नी की वाणी सुनकर ही सन्त जान गये कि इसका साधु-सन्तों में भाव नहीं है, अतः वहाँ से चल दिये। संयोग से मार्ग में सन्तों को सुख देने वाले श्रीसन्तजी मिल गये। सन्तों ने पूछा-"आप कहाँ रहे?" उस समय सन्तजी के हृदय में साक्षात् भगवान ही बैठकर बोले-"हमारी पत्नी ने जो कहा है, वह सत्य कहा है। सचमुच मेरे मन में चूल्हे की आंच का ध्यान हो रहा था। फिर सन्तजी सन्तों को पुनः घर लौटा लाये और श्रीभगवत्प्रसाद पवाकर उन्हें आनन्द में मग्न कर दिया।।४०५।।

व्याख्या—सन्त चूल्हे मांझ—यह स्त्रियों की एक गाली है। इससे जनाया गया कि सन्तजी की पत्नी कर्कशा थी। सन्त-वैष्णवों में उसका किंचित् भी भाव नहीं था। ऐसी स्थिति में धर्म निर्वाह बड़ा कठिन हो जाता है। इस पर दृष्टान्त अवैष्णवी नारी का देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-७२६। "चले"-सन्तजी की पत्नी की जली-कटी बात सुनकर

सन्तजन चल दिये। कहा भी है-"आवत ही हरषै नहीं नैंनन नहीं सनेह। तुलसी तहाँ न जाइये कञ्चन बरषै मेह।। हरषि उठैं आदर करैं आवत जानि अतीत। तुलसी तबही जानिये परमेश्वरसों प्रीति।।" "सो बखानी उर आय के"-"उर प्रेरक रघुवंश विभूषण" ने प्रेरणा करके श्रीसन्तजी को स्थिति से अवगत करा दिया, अतः इन्होंने बिगड़ती बात सुधार ली। "बोली वह साँच"-सन्तजी ने पत्नी के कथन का समर्थन करते हुए सन्तों को समझाया कि वह आप लोगों की सेवा करते-करते सिद्ध हो गयी है। वाणी अवश्य थोड़ी तेज है लेकिन उसका हृदय शुद्ध है। उसने यही न कहा कि वे चूल्हे में गये। तो सचमुच मैं यही चिन्तन करते हुये चला आ रहा था कि कब घर पहुँचू, और कब चूल्हा चेताऊँ, कब रसोई तैयार होकर भगवान को भोग लगे और साधुजन प्रसाद पावै? पुनः मैं भिक्षार्थ गया था। भिक्षा आये बिना चूल्हा जल नहीं सकता, अतः भिक्षार्थ जाना चूल्हे में ही जाना है। इसमें आप लोगों को कोई खेद नहीं मानना चाहिये। यह सुनकर सब सन्त अपनी ही भूल माने और सन्तजी की पत्नी की बड़ी सराहना किये। इस प्रकार सन्तजी ने बिगड़ी बात को सुधार ली। इस पर-

दृष्टान्त—एक दूसरे सन्त सेवी का—इन महानुभाव की पत्नी भी बड़ी कर्कशा थी। सन्तों को देखकर आग-बबूला हो जाया करती थी। एक दिन घर पर सन्त आये। सन्तों के सामने ही उसने पति से बहुत झगड़ा किया, जिससे सन्त चले जायँ। परन्तु उसके पति बड़े धीर-गम्भीर एवं सन्त-सेवानिष्ठ थे, अतः जैसे-तैसे पत्नी को समझा-बुझाकर शान्त कर लिये। रसोई बनी, भगवान को भोग लगा, सन्त प्रसाद पाने बैठे तो फिर जरी-बरी सी बड़बड़ करने लगी। पति ने बहुतेरा समझाना चाहा परन्तु उसने एक नहीं मानी। बात यहाँ तक बढ़ गई कि उसने यह कह दिया कि-"जो खाय सो गाय खाय"। इतना सुनते ही सन्तों ने भोजन करना बन्द कर दिया। उन सज्जन ने सन्तों से पूछा कि-"आप लोग भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं?" तब सन्तों ने बताया कि तुम्हारी पत्नी कह रही है कि-"जो खाय सो गाय खाय।" तो भला हम लोग वैष्णव होकर गाय कैसे खा सकते हैं? गाय तो हमारी माता हैं, पूज्या हैं। उक्त सज्जन ने सोचा कि बात तो एकदम बिगड़ गई। सन्त भूखे रह जायेंगे, सब सामान बर्बाद होगा, अतः उन्होंने हरि स्मरण करके बात को सुधारा। वे बोले-"महाराज! आप लोगों ने मेरी पत्नी की बात समझी नहीं। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि सन्त भोजन करते समय पदों को गा-गाकर प्रसाद पाते हैं और आप लोग चुपचाप पा रहे हैं, अतः वह कह रही है कि खाइये तो पद गा-गाकर खाइये।" सन्तों ने कहा-"अच्छा, यह बात है तो लीजिये हम गाते हैं-"सिय हरिनारायण गोविन्दे। रामा कृष्णा गोविन्दे।।"

फिर तो बड़े ठाठ से पंक्ति हुई। विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-४२२, में दृष्टान्त श्रीनिम्बार्क कोट के बाबाजी महाराज का।

श्रीतिलोकजी सुनार

पूरबमें ओकसो तिलोक हो सुनार जाति पायो भक्तिसार साधुसेवा उर धारियै।
भूपके विवाह सुता जोरौ एक जेहरिकौ गढ़िबेकौ दियौ कह्यौ नीके कै सँवारियै।।
आवत अनन्त संत औसर न पावै किहूँ रहे दिन दोय भूप रोष यों संभारियै।
ल्यावो रे पकरि, ल्याये, छाड़िये मकर, कही नेकु रह्यो काम आवै नातो मारि डारियै।।४०६।।

शब्दार्थ—ओक=स्थान। भक्तिसार=भक्तिरस-तत्त्व। जेहरि=स्त्रियों के पैर का गहना, पायजेब। गढ़िबेको=बनाने के लिए। मकर=छल, कपट, फरेब।

भावार्थ—श्रीत्रिलोक भक्तजी पूर्व देश के रहने वाले थे और जाति के सोनार थे। सन्त-भगवन्त कृपा से इन्हें "भक्तिसार सर्वस्व" प्राप्त था। इन्होंने हृदय में सन्त-सेवा का व्रत धारण कर रखा था। एकबार वहाँ के राजा की लड़की का विवाह था। उस अवसर पर राजा ने इन्हें एक जोड़ा पायजेब बनाने के लिये सोना दिया और कहा कि अच्छी तरह से बनाना। परन्तु इनके यहाँ पर तो नित्यप्रति अनेकों सन्त-महात्मा आया करते थे, उनकी सेवा से इन्हें किंचित्‌मात्र भी अवकाश नहीं मिलता था, अत: आभूषण नहीं बना पाये। जब विवाह के दो दिन ही रह गये, और आभूषण बनकर नहीं आया तो राजा को क्रोध हुआ और सिपाहियों को आदेश दिया कि त्रिलोक सुनार को पकड़ लाओ। सिपाही तुरन्त ही इन्हें पकड़कर लाकर राजा के सम्मुख कर दिये। राजा ने इन्हें डाटकर कहा कि-"तुम बड़े धूर्त हो। समय पर आभूषण बनाकर लाने को कहकर भी नहीं लाये। यह बात ठीक नहीं है। अब तुम यह मक्कारी छोड़ दो।" इन्होंने कहा-"महाराज! अब थोड़ा ही काम शेष रह गया है, अभी आपकी पुत्री के विवाह के दो दिन शेष हैं। यदि मैं ठीक समय पर न लाऊँ तो आप मुझे मरवा डालना।।४०६।।

व्याख्या—तिलोक हो सुना जाति—यहाँ श्रीत्रिलोकजी की जाति का निर्देश करने का भाव यह है कि प्राय: सोनार जाति भक्त बहुत कम होती है। ये भगवान को भेंट-पूजा देना तो बहुत दूर रहा भगवान के आभूषणों में से भी कुछ न कुछ काट-छाँट लेते हैं।

दृष्टान्त—एक बुढ़िया का—एक वृद्धा माताजी बड़े प्रेम से श्रीलालजी की सेवा करती थीं। यद्यपि वह बड़ी गरीब थीं। चर्खा कातकर अपनी जीविका चलाती थीं। उसी

में से कुछ पैसे बचाकर श्रीलालजी के साज-शृङ्गार, भोग-राग की व्यवस्था करतीं। इस प्रकार कुछ दिन बचत करते-करते उनके पास कुछ पैसे इकट्ठे हो गये, तो उन्होंने सोचा कि इस पैसे से श्रीलालजी के लिये कोई आभूषण बनवा दूँ। फिर तो वह उन पैसों से सोना खरीदकर एक सोनार के पास पहुँचीं और उससे अपना अभीष्ट कह सुनाया तथा प्रार्थना किया कि-"भैया! लालजी की वस्तु है, इसमें चालाकी नहीं करना।" सोनार ने बहुत-बहुत सौगन्धें खाईं कि-"बाईजी! आप क्या कह रही हैं? अरे, कमाने-खाने के लिये तो सारा संसार पड़ा है। भला मैं आपकी और उसमें भी श्रीठाकुरजी की वस्तु चुराऊँगा तो हमारी कौन-सी गति होगी।" बुढ़िया विश्वस्त होकर चली गयी। हजार सौगन्धें खाने पर भी सोनार ने कुछ सोना चुरा ही लिया और जब बुढ़िया आभूषण लेने आई तो युक्ति से तौल ठीक दिखा दी। परन्तु बुढ़िया ने जब घर जाकर तौला तो आभूषण कम पड़ा। लेकिन समस्या यह थी कि चूंकि सोनार ने तौल ठीक दिखला दी थी, अतः उससे तो कुछ कहा जा नहीं सकता था, बुढ़िया अपने लालजी पर ही बिगड़ पड़ी। बोलीं-"बताओ, सोना क्या हुआ? नहीं बताओगे तो मैं तुम्हें मारूँगी।" बस, इसी चिन्ता से बुढ़िया सो गयी, स्वप्न में श्रीलालजी ने बताया कि-"सोनार ने ही सोना चुराया है और उसने उसे अंगीठी में छिपा रखा है। तुम दो-चार प्रतिष्ठित व्यक्तियों को लेकर जाओ, उसके सामने देखो। सोना मिल जायेगा। बुढ़िया ने ऐसा ही किया। सोना मिल गया। कहने का तात्पर्य यह है कि सोनार ऐसे ठग होते हैं, भला ये भजन क्या करेंगे?

दूसरा दृष्टान्त—एक सुनार से उसकी माँ ने कहा कि मेरे लिये इतने सोने की नथ बना दो। सोनार ने ईमानदारी से नथ बनाकर माँ को दे दिया। परन्तु इस बात की उसे बड़ी चिन्ता हुई कि मैंने कुछ सोना चुराया नहीं। सोनार इस चिन्ता से दिनोंदिन दुर्बल होने लगा। उसकी माँ समझ गई कि यह दुर्बल क्यों हो रहा है, अतः उसने उसके इलाज के लिये कहा-"लाला! मेरी यह नथ अभी ठीक नहीं बनी है, इसे फिर से गलाकर बना दो।" अबकी बार उस सोनार ने नथ में से कुछ सोना निकाल ही लिया। इसके बाद से उसकी चिन्ता दूर हो गयी और वह स्वस्थ हो गया।

तीसरा दृष्टान्त—एक राजा ने सुना कि चाहे कितनी ही सावधानी क्यों न रखी जाय, सोनार सोना चुरा ही लेते हैं। परन्तु यह बात उसकी समझ में नहीं आयी कि देख-रेख रखने पर भला कैसे सोना चुरा सकता है। परीक्षा के लिए राजा ने एक सोनार को बुलाकर निश्चित तौल का एक सोने का हाथी बनाने को कहा। सोनार बनाने लगे।

राजा ने उन सब पर कड़ी निगरानी रखी। सोनार जितनी तौल का जैसा हाथी यहाँ बनाते उतनी ही तौल का वैसा ही घर पर जाकर पीतल का हाथी बनाते। जिस दिन काम पूरा होने वाला था, उस दिन एक सोनार ने अपनी पत्नी को सिखा दिया कि तुम चौड़े मुँह के मटके में दही लेकर बेचने के लिये निकलना, उसी में यह पीतल वाला हाथी डाल रखना। मैं सोने का हाथी साफ करने के बहाने से मटके में रखूँगा और पीतल वाला निकाल लूँगा। उसकी पत्नी ने ऐसा ही किया। उधर सोनारों ने राजा से कहा कि–"हुजूर! हाथी बनकर तैयार है, अब उसकी सफाई के लिये थोड़े दही की आवश्यकता है।" इतने में सोनारिन 'दही, दही' कहती हुई उधर ही जा पहुँची। सोनार उसे बुलाकर दही का सौदा करने लगे। सोनारिन ने बड़ी नम्रतापूर्वक कहा–"हमारे महाराज का हाथी है, उसे साफ करने के लिये मैं दही का दाम नहीं लूँगी। आप तो इसी मटके में डालकर साफ कर लीजिये।" सोनार राजी हो गये। राजा ने भी अनुमति दे दी। बस, उसने सोने का हाथी उसमें छोड़ दिया और पीतल वाला निकाल लिया। सफाई करके तौलकर पूरा का पूरा माल राजा को वापिस कर दिया। राजा ने अभिमान-पूर्वक कहा–"बताओ, इसमें तुमने कितना सोना चुराया?" सोनारों ने हाथ जोड़कर कहा–"हुजूर! अन्यत्र तो हम लोग थोड़ा-बहुत ही चुराते हैं, परन्तु यहाँ तो आप हमारी परीक्षा लेने बैठे थे अतः कड़ी निगरानी रखे, तो मैंने भी इसमें सबका सब ले लिया। रत्तीभर भी आपका सच्चा माल इस हाथी में नहीं है।" राजा अवाक् रह गया। सोनारों ने सब बात समझायी। ऐसे पक्के लोक चतुर-चालाक होते हैं सोनार। अतः इनमें प्रायः भक्त कम होते हैं। यदि कोई भक्त हो जाय तो उस पर विशेष भगवत्-भागवत कृपा समझनी चाहिये।

पायौ भक्तिसार—यहाँ भक्ति सार के दो अर्थ होंगे-१. समस्त साधनों में सारस्वरूपा भक्ति। यथा–"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सबकर फल हरिभक्ति भवानी।।" (रामा०) २. भक्ति का सार—क्या है, तो इस पर कहते हैं कि–"साधु सेवा उर धारिये।" अर्थात् सन्तों की सेवा ही भक्ति का सार है। इसी से श्रीनाभाजी ने विशेषकर सन्त-सेवी भक्तों का ही स्मरण किया है। एक बात और वह यह है कि श्रीभगवत्कृपा का चमत्कार भी विशेषकर सन्त-सेवियों के यहाँ ही हुआ है। अतः सिद्ध होता है कि सन्त-सेवा ही "भक्तिसार" है। "भूप के विवाह सुता०"-राजा ने अपनी कन्या के लिये आभूषण बनवाने के लिये राज्यभर के सोनारों को बेगार में बुलवाया। तब सभी सोनारों ने कहा–"हुजूर! हमारी जाति में तिलोकजी बहुत बढ़िया आभूषण बनाने का काम जानते हैं। हम लोग तो जैसा-तैसा बनाकर केवल पेटभर पालते हैं। कोई कलाकार नहीं हैं।" तब राजा ने त्रिलोकजी को बुलवाया और आभूषण बनाने का काम इन्हें ही सौंपा।

**आयो वही दिन कर छुयौ हूँ न इन नृप करै प्रान विन बन मांझ छिप्यौ जायकै।
आये नर चारि पांच जानी प्रभु आंच गढ़ि लियौ सोदिखायौ सांच चले भक्तभायकै।।
भूपको सलाम कियो जेहरिकौ जोरौ दियौ लियोकर देखि नैन छोड़ैं न अघायकै।
भई रीझि भारी सब चूक मेटि डारी धन पायौ लै मुरारी ऐसे बैठे घर आयकै।।४०७।।**

शब्दार्थ—गढ़ि=बनाकर। चूक=गलती। मेटि डारी=क्षमा कर दी।

भावार्थ—राजा की कन्या के विवाह का वह दिन भी आ गया, परन्तु इन्होंने आभूषण बनाने के लिये जो सोना आया था, उसे हाथ से स्पर्श भी नहीं किया। फिर इन्होंने सोचा कि समय पर आभूषण न मिलने से अब राजा मुझे जरूर मार डालेगा, अतः डर के मारे जंगल में जाकर छिप गये। यथा समय राजा के चार-पाँच कर्मचारी आभूषण लेने के लिये श्रीत्रिलोकजी के घर आये। भक्त के ऊपर संकट आया जानकर, उसके निवारण के लिये भगवान ने श्रीत्रिलोक भक्त का रूप धारण कर अपने संकल्प मात्र से आभूषण बनाकर राजकर्मचारियों को दिखाकर अपने वचन को सत्य कर दिया और फिर भक्त के प्रति प्रीतिमान् होने के कारण आभूषण को लेकर राजा के पास पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को सलाम किये और पायजेब का जोड़ा दिये। राजा ने उसे हाथ में ले लिया। आभूषण को देखते ही राजा के नेत्र ऐसे लुभाये कि देखने से तृप्त ही नहीं होते थे, अतः आभूषण को छोड़ना ही नहीं चाहते थे। राजा श्रीत्रिलोकजी पर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उनकी पहले की सब भूल-चूक माफ कर दी और उन्हें बहुत-सा धन पुरस्कार में दिया। श्रीत्रिलोक रूपधारी भगवान मुरारी इस प्रकार धन लेकर श्रीत्रिलोक भक्त के घर आकर विराजमान हुये।।४०७।।

व्याख्या—सो दिखायो सांच—इसके दो भाव-१. श्रीत्रिलोकजी ने जैसा कहा था, उसके अनुसार सचमुच आभूषण दिखा दिये। २. भक्त के वचन को सत्य किये। यह भगवान का विरद है। यथा-"चारों युग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।" भगवान ने भक्त की बात सत्य करने के साथ-साथ अपने विरद को भी सत्य कर दिखाया। "भूपको सलाम कियो" -जैसे तिलोक भक्त राजा को सलाम करते, उसी अदब से भगवान ने राजा को सलाम किया। यही भगवान की भक्तवश्यता है। यथा-"वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशताहू पाण्डुन सों करी है।।" (क०-९), दृष्टान्त-सेन भक्त का इनके लिये भगवान ने नाई का रूप धारण कर राजा को तेल लगाया था। (देखिये छ०-६३, क०-३०९, ३१०), "भई रीझि भारी"-राजा ने आभूषण के बनावट की बड़ी बड़ाई की। तब श्रीत्रिलोक रूपीधारी भगवान बोले-"हुजूर! तभी तो देर लगी। लोग इस बात को समझते

नहीं हैं, झूठ-मूठ की शिकायत करते हैं।'' ''सब चूक मेटि डारी''-इनकी सब चूक यह थी कि जो कोई इनको गहना बनाने के लिये सोना-चाँदी देता, तो पहले तो ये किसी को समय पर तैयार करके नहीं देते थे, दूसरे कितनों का सोना-चाँदी बेंचकर सन्त-सेवा में लगा देते थे। तो जो लोग स्वयं भी भावुक होते, सन्तों में प्रीति रखते वे तो इनके इस व्यवहार से प्रसन्न होते, परन्तु अन्य लोग तो इन पर बहुत नाराज होते और जा-जाकर राजा के पास शिकायत करते। इस प्रकार राज-दरबार में इनकी बहुत शिकायतें पहुँची थीं। परन्तु राजा ने सब माफ कर दिया।

भोरही महोछौ कियौ, जोई मांगै सोई दियौ नाना पकवान रसखान स्वाद लागे हैं।
संतकौ सरूप धरि लै प्रसाद गोदभरि गये तहां 'पावै जू तिलोक गृह पागे हैं।।'
कौनसो तिलोक? अरे दूसरो तिलोक मैं न बैन सुनि चैन भयौ आये निसि रागे हैं।
चहल पहल धन भर्‌यौ घर देखि ढर्‌यौ प्रभुपद कंज जानौ मेरे भाग जागे हैं।।४०८।।

शब्दार्थ—रागे=प्रसन्न, प्रेमयुक्त हुए।

भावार्थ—श्रीत्रिलोकरूपधारी भगवान ने दूसरे दिन प्रात:काल ही महान् उत्सव किया। महोत्सव में जिसने जो माँगा उसे वही दिया। अत्यन्त रसमय, परम स्वादिष्ट अनेकों प्रकार के व्यंजन बने थे। साधु-ब्राह्मणों ने खूब पाया फिर भगवान एक सन्त का स्वरूप धारणकर झोली भर प्रसाद लिये हुए वहाँ गये, जहाँ श्रीत्रिलोक भक्त छिपे बैठे थे। श्रीत्रिलोकजी को प्रसाद देकर सन्त रूपधारी भगवान ने कहा-''श्रीत्रिलोक भक्त के घर गया था। उन्होंने ही खूब प्रसाद पवाया भी और झोली भी भर दी।'' श्रीत्रिलोक भक्त ने पूछा-''कौन त्रिलोक?'' भगवान ने कहा-''जिसके समान त्रैलोक्य में दूसरा कोई नहीं है।'' फिर भगवान ने पूरा विवरण बताया। सन्त रूपधारी भगवान के वचन सुनकर श्रीत्रिलोकजी के मन को शान्ति मिली। फिर श्रीभगवत्प्रेम में मग्न श्रीत्रिलोकजी रात्रि के समय घर आये। घर पर साधु-सन्तों की चहल-पहल तथा घर को धन-धान्य से भरा हुआ देखकर श्रीत्रिलोक जी का श्रीप्रभु के श्रीचरण-कमलों की ओर और भी अधिक झुकाव हो गया। वे समझ गये कि श्रीप्रभु ने मेरे ऊपर महान् कृपा की है, निश्चय ही मेरे किसी महान् भाग्य का उदय हुआ है।।४०८।।

व्याख्या—लै प्रसाद—इसके दो भाव हैं-१. श्रीठाकुरजी का प्रसाद लेकर। २. सन्तों की सीथ-प्रसादी लेकर। श्रीठाकुरजी श्रीत्रिलोक भक्त का रूप धारण किए हैं और श्रीत्रिलोकजी का यह नियम था कि वह सन्तों की सीथ-प्रसादी लेते थे। यदि आज

त्रिलोक रूपधारी भगवान सन्तों की सीथ-प्रसादी नहीं लेते, तो सन्तों को सन्देह होता कि भक्तजी की तो सीथ-प्रसादी में बड़ी निष्ठा थी, परन्तु आज नहीं ले रहे हैं। मालूम होता है राजा के द्वारा सम्मानित होने से अब सन्तों में भाव कुछ कम हो गया है, आदि। अतः भगवान ने भी सन्तों की सीथ-प्रसादी ली। पुनः सन्तों की सीथ-प्रसादी की महिमा भी बहुत है। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-९९, ''सन्त-सीथ'' की व्याख्या) अतः भगवान भी उसके लिये ललचाते रहते हैं। आज मौका मिला है अतः सीथ-प्रसादी लेने से चूके नहीं। ''बैन सुनि चैन भयो''-इससे जनाया गया कि राजा के भय से श्रीत्रिलोकजी का मन बेचैन था। परन्तु जब सन्त रूपधारी भगवान ने बताया कि श्रीत्रिलोकजी पर राजा बहुत प्रसन्न हुआ आदि, तब इसे श्रीभगवत्कृपा विचारकर इन्हें चैन हुआ। छप्पय-९८ में आये हुये अन्य भक्तों के चरित्र-

श्रीलक्ष्मणजी—परम सन्त-सेवी श्रीलक्ष्मणजी सन्तों के रहने के लिये स्थान बनवा रहे थे। छत्त का पटाव हो गया था, परन्तु वह अभी परिपक्व नहीं हुआ था कि छत्त की आधारभूता एक बल्ली टूट गयी। लोगों को बड़ी चिन्ता हुई कि अब तो छत्त गिर जायेगी अथवा नीचे को धँस जायेगी। अब तो इसे फिर से बनवाना पड़ेगा आदि। श्रीलक्ष्मणजी ने सबको समझाया कि आप लोग चिन्ता नहीं करें, श्रीहरिकृपा से कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। सचमुच प्रातःकाल जब सबने देखा तो बल्ली में टूटने का निशान भी नहीं था, छत्त ज्यों की त्यों दुरुस्त थी। सब लोग भगवान की इस प्रत्यक्ष कृपा पर आश्चर्य करने लगे।

श्रीलफराजी (श्रीलफरा श्रीगोपालदेवाचार्यजी)—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीस्वामी हरिव्यासदेवाचार्यजी के कृपापात्र थे। आपका वास्तविक नाम तो श्रीगोपालदेवजी ही था किन्तु एकबार आपकी अत्यन्त लापरवाही देखकर श्रीगुरुदेवजी ने ''लफरा'' कहा था तो आगे चलकर वही नाम ही पड़ गया। वह प्रसंग इस प्रकार है-''आप स्वभाव से बड़े विरक्त एवं अलमस्त थे। एकबार श्रीगुरुदेवजी ने आपको एक आश्रम की देख-रेख का भार सौंपा। यद्यपि इस कार्य में आपकी अभिरुचि बिल्कुल नहीं थी फिर भी श्रीगुरुदेवजी के संकोचवश आप इन्कार नहीं कर सके। अतः कुछ दिन तक तो जैसे-तैसे आश्रम का कार्य सँभाले, फिर दस दिन के लिये तीर्थ यात्रा का बहाना बनाकर श्रीगुरुजी से आज्ञा लेकर आप आश्रम से निकले तो फिर लौटकर आश्रम पर गये ही नहीं। श्रीगुरुजी ने कुछ दिन तक तो इनकी प्रतीक्षा की परन्तु जब नहीं आये तो उन्होंने प्रसंग चलने पर इन्हें ''लफरा'' कहा। वही नाम पड़ गया।

एकबार ये घूमते-फिरते एक सन्त के स्थान में पहुँचे। वे सन्तजी सन्तों की खूब सेवा करते थे। परन्तु उस दिन वे बड़े उदास थे। श्रीलफराजी ने उदासी का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि यहाँ का राजा एक दुष्ट यवन है, वह आश्रम को हड़पना चाहता है, इसीलिये मैं बहुत चिन्तित हूँ। श्रीलफराजी ने उन सन्तजी से कहा कि आप आश्रमवासी सभी सन्तों को लेकर कहीं अन्यत्र चले जाइये, मैं अकेले उस दुष्ट को देख लूँगा। आपकी बात मानकर वे सन्त आश्रम छोड़कर कहीं चले गये। आप अकेले वहाँ रह गये। उसी दिन यवनराज ने आश्रम के सभी सन्तों को गिरफ्तार करने के लिये सिपाहियों को भेजा। आश्रम में और कोई तो मिला नहीं, सिपाहियों ने श्रीलफराजी को ही पकड़कर नजरबन्द कर कारागार में डाल दिया। उसी रात को यवनराज को स्वप्न में मुहम्मद साहब ने आदेश दिया कि-"तुम शीघ्राति-शीघ्र भक्तराज श्रीलफराजी को कारागार से मुक्त कर दो अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा।" फिर क्या था, प्रातःकाल होते ही वह दुष्ट यवनराज नंगे पाँव दौड़ा हुआ आपके पास गया और चरणों में पड़कर अपराध के लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। श्रीलफराजी ने क्षमा प्रदान करते हुए उसे साधु-सेवा का उपदेश दिया। आपके उपदेश से प्रभावित होकर यवनराज ने बहुत-सी जमीन साधु-सेवा निमित्त आश्रम को दिया।

श्रीकुम्भनदासजी—आपका प्रादुर्भाव श्रीगोवर्धन के निकट जमुनावते ग्राम में वि०सं०१५२५ में कार्तिक कृष्ण एकादशी को हुआ था। आप जाति के गौरवा क्षत्रिय थे। जनश्रुति के अनुसार कुम्भ संक्रान्ति के पुण्य पर्व पर तीर्थयात्रा के समय एक महात्मा ने इनके पिता को पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया था। उसी के संस्मरण में इनका "कुम्भनदास" नाम रखा गया। बचपन से ही इनकी सात्विक प्रवृत्ति थी। कृषि के द्वारा कुटुम्ब का निर्वाह होता था। 'जैत गांव' के पास 'बहुलावन' में इनकी ससुराल थी। पत्नी स्वभावानुकूल थी अतः गृहस्थाश्रम इनके भजन-साधन में प्रतिबन्धक नहीं था। वि० १५५० के लगभग श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ब्रज की परिक्रमा करते हुए जब श्रीगिरिराज पधारे तो इनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से लोग शिष्य बन गये। यतीपुरा में श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगोवर्धननाथजी की प्रतिष्ठा की और उनकी सेवा का विस्तार किया। श्रीमहाप्रभुजी के प्रभाव से आकर्षित होकर श्रीकुम्भनदासजी भी पत्नी सहित शिष्य हो गये। कहते हैं कि शरणागत होने पर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकुम्भनदासजी एवं इनकी पत्नी से अभीप्सित वर माँगने को कहा। सरल हृदया पत्नी ने पुत्र की याचना की। श्रीमहाप्रभुजी ने मुस्कुराकर कहा-"धैर्य धरो, तुम्हारे सात पुत्र होंगे। पत्नी बड़ी प्रसन्न हुई। परन्तु श्रीकुम्भनदासजी पत्नी पर नाराज हुये

कि "तुमने भगवद्भक्ति न माँगकर आचार्य महाप्रभुजी से लौकिक वस्तु क्यों माँगा?" उसने कहा कि-"हमें जो रुचा वह हमने माँगा, अब आपको जो रुचे वह आप माँग लीजिये।" तब श्रीकुम्भनदासजी ने इस पद द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट की है-"श्रीवल्लभ की बलिहारी। सबहिन को वचनामृत सींचत कहि अन्तर दु:खहारी।। नवनिकुंज मन्दिर की लीला विहरत नित्य विहारी। कुम्भनदास प्रभु गोवरधन धर ह्वैहों दासी तिहारी।।" श्रीआचार्य महाप्रभुजी के अनुग्रह से श्रीकुम्भनदासजी को भगवल्लीलाओं की स्फूर्ति होने लगी। कवि हृदय श्रीकुम्भनदासजी संगीत विद्या में बड़े प्रवीण थे और कण्ठ भी बड़ा मधुर था, अत: श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा सौंपी। ये नित्य नई पद रचना और गायन के द्वारा श्रीप्रभु को रिझाते और उनके सुमधुर मुखारविन्द का दर्शन कर अपने को परम कृतार्थ मानते।

एकबार एक दुष्ट यवन ने पश्चिम दिशा से आकर ब्रज क्षेत्र में बहुत उपद्रव मचाया। वह खासकर मन्दिरों को लूटता और मूर्तियों को तोड़ता-फोड़ता था। इस प्रकार लूटपाट करता हुआ वह यवन बढ़ते-बढ़ते श्रीगिरिराजजी के समीप तक आ गया। पाँच कोस दूर उसका पड़ाव पड़ा हुआ था। उस समय श्रीनाथजी की सेवा में श्रीसद्दू पाण्डे, श्रीमानिकचन्दजी श्रीरामदासजी भितरिया और श्रीकुम्भनदासजी रहते थे। ये लोग आपस में विचार ही कर रहे थे कि क्या किया जाय, इतने में श्रीनाथजी स्वयं बोले पड़े कि-"टोंड़ को घनो" बहुत अच्छा एकान्त स्थल है, सद्दू पाण्डे के भैंसे पर चढ़कर वहीं भाग चलेंगे। वहाँ कोई पहुँच नहीं पायेगा। यह बात तै हो गई। श्रीठाकुरजी भैंसे पर चढ़कर चले। चारों सेवक सँभालते हुए चल रहे थे। मार्ग में जाते समय सबको श्रीनाथजी का दर्शन नहीं होता था। केवल भक्तों के दृष्टिपथ में ही आते थे। भैंसे पर सवार होने से श्रीनाथजी को तो मार्ग की कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी, परन्तु सेवकों को बहुत काँटे लगे, झाड़ियों में उलझकर वस्त्र फट गये, शरीर छिल गया। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने पर एक चबूतरे पर श्रीनाथजी को विराजमान कराया गया। थोड़ा सा भोग रखा गया तो श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी कि सम्पूर्ण सामग्री भोग में धर दो। इन लोगों ने संकेत भी किया कि जै-जै सामग्री तो बालभोग, राजभोग, व्यालू-तीनों समय के लिये है। यदि एक ही बार सबका भोग लग जायेगा तो फिर क्या भोग लगेगा? श्रीठाकुरजी ने कहा-"अभी तो सब लगा दो फिर बाद में देखा जायेगा। ऐसा ही किया गया। फिर श्रीठाकुरजी ने कहा-"अब आप सब लोग यहाँ से थोड़ी देर के लिये हट जाइये। भक्त लोग समझ गये कि श्रीठाकुरजी कुछ लीला करने वाले हैं। अत: कुछ दूर जाकर एक झाड़ी में छिपकर बैठ गये, तो क्या देखते हैं कि साक्षात् श्रीजी पधारती हैं, साथ में विविध दिव्य व्यंजन लिए। श्रीजी

अपने श्रीकर-कमल से श्रीठाकुरजी को भोग पवाया। भक्तजन ओट से दर्शन कर निहाल हो गये। श्रीठाकुरजी ने श्रीकुम्भनदासजी को पद गान की आज्ञा दी, तो इन्होंने झुँझलाकर यह पद गाया-"लाल तोहिं भावत टोंड़ को घनौ। काँटे बहुत गोखरू लागे फाटत है सब तनौ।। आवत जावत बेलि निवारै बैठत है जहाँ एक जनौ। सिंहै कहा लोखरी को डरु तै छाड़ि दियौ भौन अपनौ।। तब बूडत ते राखि लिये हैं सुरपति तो तृनहू नगन्यौ। कुम्भनदास प्रभु गोवरधनधर वह कौन ढेढिनी रांड को जन्यो।।" यह पद सुनकर श्रीठाकुरजी हँस गये। इसके बाद श्रीकुम्भनदासजी ने और भी बहुत से पद गाये। इसके बाद श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी कि अब उपद्रव शान्त हो गया है, अत: चलो वहीं चलें। फिर पूर्ववत् ही भैंसे पर चढ़कर आये और मन्दिर में आ विराजे।

एकबार एक गुनी गायक ने अकबर के दरबार में श्रीकुम्भनदासजी का एक पद गाया। बादशाह मुग्ध हो गया पद सुनकर और ललक उठा उसका मन श्रीकुम्भनदासजी के श्रीमुख से सुनने को। फिर क्या था, तत्काल शाही आदेश हुआ कि जैसे हो तैसे उन महागायक को दरबार में लाया जाय। बादशाह के संकेत पर रथ, घोड़ा, पालकी आदि विविध सवारियाँ इन्हें लेने के लिये भेजी गयीं, परन्तु ये तो अपने स्वाभाविक स्वरूप में वह फटी पाग, पुरानी अङ्गरखी, जीर्ण-शीर्ण अंगोछी, घुटने के ऊपर तक ही कटि में लपेटी धोती, टूटी पनहियाँ और टेढ़ी लकुट लिए हुये पैदल ही प्रस्थान कर दिये फतेहपुर सीकरी के लिये। सम्बल था श्रीहरि स्मरण। यद्यपि अकबर ने दरबार को सजाने में कोई कसर नहीं रखी थी, परन्तु श्रीनाथजी की सभा के सभासद श्रीकुम्भनदासजी को उसका दरबार तृष्णवत् तुच्छ लगा। बादशाह ने यथोचित् स्वागत करने में भी अपनी ओर से पूरी कोशिश की, परन्तु भक्तराज के मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गायकों के विविध गान के बाद श्रीकुम्भन दासजी से गाने का अनुरोध किया गया। लेकिन वही समय चूंकि श्रीगोवर्धननाथजी की सेवा का था, अत: इनके भावुक मन में बादशाह को संगीत सुनाने में कोई उल्लास नहीं हुआ बल्कि झुँझलाहट हद दर्जे की हुई और वही झुँझलाहट तानपूरे के स्वर में झंकृत हो उठी और मुँह से पद निकला-"भगत को कहा सीकरी काम। आवत जात पन्हैयां टूटी विसरि गयो हरिनाम।। जाको मुख देखत दुख उपजै ताकों करन परी परनाम। कुम्भनदास लालगिरिधर बिनु सब झूठौ धनधाम।। संगीत की स्वर लहरी में तो बादशाह का मन निश्चय ही तरंगायित हो उठा, परन्तु जब बादशाह ने पद के तात्पर्य की ओर ध्यान दिया तो मानो वह कठोर चट्टान से जा टकराया हो। लेकिन बादशाह होकर भी वह विवश था इस परम अकिंचन के आगे। क्योंकि

इन्हें न तो मान-सम्मान, धन-दौलत का लोभ ही था और न तो प्राण जाने का भय ही था। अतः उसने सादर इन्हें सिर झुकाया और ससम्मान विदा कर दिया।

श्रीकुम्भनदासजी का परिवार बड़ा था। सात पुत्र, उनकी सात पत्नियाँ, एक विधवा भतीजी तथा स्वयं दम्पति कुल सत्रह प्राणी थे, मामूली सी खेती थी। अतः गरीबी हमेशा बनी ही रहती थी। श्रीठाकुरजी से इनकी गरीबी देखी नहीं जाती थी। भक्त रांका-बांका की तरह इनसे भी भगवान हार गये। ये प्रभु से कुछ भी लेना नहीं चाहते थे। तब श्रीठाकुरजी ने राजा मानसिंह को प्रेरित किया। राजा मानसिंहजी श्रीनाथजी का दर्शन करने आये। उस समय श्रीकुम्भनदासजी श्रीनाथजी को पद सुना रहे थे। सुनकर राजा मानसिंहजी भी बहुत प्रसन्न हुये। श्रीकुम्भनदासजी की बाह्य दशा देखकर मानसिंहजी को समझते देर नहीं लगी कि ये बहुत गरीब हैं। इनकी आत्मतुष्टि का तो उन्हें पता नहीं था। उन्होंने निश्चय किया कि कल इनके घर पर जाकर कुछ सेवा करूँगा। दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्रीकुम्भनदासजी स्नान करके तिलक-स्वरूप करने जा रहे थे, उसी समय श्रीठाकुरजी आये और उनकी गोद में बैठकर बोले-"कुम्भनदासजी! हम आपसे एक बहुत बढ़िया बात कहेंगे।" इन्होंने कहा-"प्रभो! कहिये, क्या बात कहनी है?" इतने में राजा मानसिंह आ गये। ठाकुरजी अन्तर्धान हो गये। श्रीकुम्भनदासजी मन ही मन बहुत झुँझलाये कि यह कहाँ से आ गये, श्रीठाकुरजी चले गये "न जाने का कहतो।" इनको यह धुन सवार हो गयी। बात-बात में बीच में बोल पड़ते-"न जाने का कहतो।" फिर सोचे कि अब तिलक-स्वरूप ही कर लूँ। अतः भतीजी से बोले-"बेटी! जरा आसन और दर्पण तो लाना।" उसने इधर-उधर ढूँढ़कर कहा -"पिताजी! आसन तो पड़िया खा गयी और दर्पण पी गयी। आप नेक रुकें तो मैं अभी हाल नये आसन और दूसरे दर्पण की व्यवस्था किये देती हूँ।" राजा मानसिंह ने चाचा-भतीजी का यह संवाद सुना तो अवश्य, परन्तु अर्थ कुछ भी समझ में नहीं आया। थोड़ी देर बाद भतीजी तृण का आसन और मिट्टी की एक कुण्डी में जल भरकर ले आयी। श्रीकुम्भनदासजी ने उस तृणासन पर बैठकर जल में ही मुँह देखकर तिलक किया। मानसिंह ने अब कुछ-कुछ आसन खाने और आरसी पीने का अर्थ समझा और पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये श्रीकुम्भनदासजी से पूछा भी, तो इन्होंने बताया कि ऐसा ही तृण का आसन था, अतः उसे पड़िया खा गयी और इसी प्रकार कुण्डी में भरा हुआ जल था, जिसमें मुँह देखकर तिलक करता था, उसे वह पी गयी।

अब राजा मानसिंहजी को इनकी गरीबी का पूर्ण पता चला। राजा ने तुरन्त मणिजटित आरसी भेंट किया। परन्तु श्रीकुम्भनदासजी ने यह कहते हुये उसे स्वीकार नहीं किया कि-

"मैं इसको रखूँगा कहाँ? फूस की झोपड़ी में मणिजटित दर्पण शोभा नहीं देता है, यह तो महलों में ही शोभा देता है। पुनः हमें दर्पण की रखवाली की चिन्ता लग जायेगी तो भगवान का भजन छूट जायेगा।" राजा मानसिंह एक हजार मुहरें देने लगे, उन्हें भी नहीं लिये और बोले-"खेती से ही गुजर हो जाता है।" जमुनावतो गांव का पट्टा लिखने लगे, वह भी अस्वीकार कर दिये। बोले-"किसी ब्राह्मण को दे दो, मैं दान लेने का अधिकारी नहीं हूँ।" राजा ने कहा-"आप जहाँ से सौदा लेते हैं, वह दुकान बता दीजिये, मैं उसे लिखित आदेश दे दूँगा कि वह आपको सब सामान बिना मूल्य दिया करे। दाम सरकारी कोष से चुका दिया जायेगा।" श्रीकुम्भनदासजी बोले-"जैसा मैं हूँ वैसे ही मेरे दुकानदार भी हैं।" राजा ने बहुत आग्रह किया तो बताये कि-"ये करील और बेर ही हमारे मोदी हैं। गर्मी के दिनों में करील पर्याप्त टेंटी (करील का फल) देते हैं और ठण्ड के दिनों में बेर अपने फलों से हमें समृद्ध बना देते हैं।" राजा मानसिंहजी इनकी इस अकिंचनता से दङ्ग रह गये। बोले-"आखिर कुछ सेवा तो मुझे बताइये।" इन्होंने कहा कि-"अब फिर कभी मेरे यहाँ मत आना।" मानसिंह मन ही मन इन महाभागवत का पद-वन्दन करते हुए सोचने लगे कि मैंने विरक्त त्यागी तो बहुत देखे, परन्तु गृहस्थ त्यागी तो आज ही देखा है। पुनः माया के भक्त तो हमने बहुत देखे, पर श्रीहरि के सच्चे भक्त तो आज ही देखे। श्रीकुम्भनदासजी के चरणों में माथा टेककर राजा मानसिंह चले गये। श्रीकुम्भनदासजी को पुनः श्रीठाकुरजी की बात याद आ गयी कि-"न जाने का कहतो।" इतने में श्रीठाकुरजी भी आ गये। इन्होंने आते ही पूछा-जै-जै, आप कौन-सी बढ़िया बात कह रहे थे? श्रीठाकुरजी ने झुंझलाकर कहा-कहना क्या था, यही कहता कि-"राजा मानसिंह जो भेंट दें उसे स्वीकार कर लेना। सो तो आपने कुछ लिया ही नहीं।" श्रीकुम्भनदासजी ने कहा-"जै-जै, आपको पा लेने के बाद भी फिर क्या कुछ लेना-देना शेष रह जाता है?" श्रीठाकुरजी प्रेम में भरकर श्रीकुम्भनदासजी की गोद में विराजमान हो गये।

एकबार श्रीकुम्भनदासजी की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी ने निश्चय किया कि जब ये भगवान से कुछ नहीं लेते तो भला गुरु का द्रव्य कब स्वीकार करने लगे? अतः तीर्थयात्रा के ब्याज से धनी-मानी वैष्णवों के द्वारा इनकी सहायता कराना चाहिये। अतः सं० १६३१ में श्रीद्वारिका यात्रा में साथ चलने को कहा। श्रीकुम्भनदासजी श्रीगुसाईंजी की आज्ञा टाल नहीं सके। राजभोग करके प्रस्थान हुआ। श्रीगिरिराजजी के समीप में ही अप्सराकुण्ड पर सायंकालीन विश्राम हुआ। अभी श्रीनाथजी के यहाँ से चले एक पहर भी नहीं हुआ कि इतने

में ही श्रीकुम्भनदासजी को वियोग व्याप गया। हृदय भी व्याकुल हो गया, आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगा और व्यथित वाणी बोल उठी-

कितेक दिन ह्वै जु गए बिनु देखें।
तरुन किशोर रसिक नन्दनन्दन कछुक उठति मुख रेखें।।
वह चितवनि वह हास मनोहर वह नटवर वपु भेखें।
वह सोभा वह कांति वदन की कोटिक चन्द विशेषें।।
स्यामसुन्दर संग मिलि खेलन की आवति जियरा अपेखें।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु जीवन जनम अलेखें।।

इनकी इस विरह-व्यथा से द्रवित होकर श्रीविट्ठलनाथजी ने यह सोचकर कि प्रभु विरह में जैसी इनकी दशा हो रही है, वैसी ही दशा इनके विरह में प्रभु की होगी। पुनः श्रीनाथजी की सेवा में लौट जाने की आज्ञा दी। श्रीकुम्भनदासजी अत्यन्त आनन्द में भरे हुए आकर श्रीप्रभु-चरणों में प्रणाम किये और यह पद गाये-

जो पै चोंप मिलनकी होइ।
तौ कत रह्यो परैं सुनि सजनी लाख करै जो कोइ।।
जो पै विरह परस्पर व्यापै तौ इह बात बनै।
डर अरु लोकलाज अपकीरति एकौ चित न गनै।।
कुंभनदास जो मन मानै तौकत जिय और सुहाइ।
गिरिधरलाल रसिक बिनु देखें छिनु भर कलप विहाइ।।

एकबार श्रीवृन्दावन के रसिक महानुभाव जब यह सुने कि श्रीकुम्भनदासजी से श्रीठाकुरजी की नित्य अपरोक्ष वार्ता होती है तो वे लोग इनसे मिलने के लिये जमुनावते गये। बड़ा ही आनन्ददायक था वह रसिकों का सम्मिलन। श्रीवृन्दावन के रसिक समाज ने इनसे श्रीस्वामिनी राधाजी का सुयश गान करने को कहा तो इन्होंने यह पद गाया-

कुँवरि राधिका! तू सकल सौभाग्य सींव, या बदन पर कोटि-सत चन्द्र वारौं।
खंजन कुरंग-सत कोटि नैंननि-ऊपर वार नें करत जिय में न विचारौं।।
कदलि सत-कोटि जंघनि-ऊपर, सिंह सत-कोटि कटि पर न्यौछावरि उतारौं।
मत्त गज कोटि-सत चाल पर, कुंभ सत-कोटि इनि कुचनि पर वारि डारौं।।
कीर सत-कोटि नासा ऊपर, कुंद सत-कोटि दसननि ऊपर कहि न पारौं।

पक्व किंदूर बंधूक सत-कोटि अधरनि-ऊपर बारि रुचि गर्व टारौं।।
नाग सत-कोटि बेनि ऊपर, कपोत सत-कोटि ग्रीव पर वारि दूरि सारौं।
कमल सत-कोटि कर-युगल पर वारने, नाहिन कोउ लोक उपमा जुधारौं।।
'दास कुम्भन' स्वामिनी-सुनख सिख अङ्ग अद्भुत सुठान कहाँ लगि संभारौं।
लाल गिरिवर धरन कहत मोहि तौलों सुख, जौलौं-उह रूप छिनु-छिनु निहारौं।।

श्रीकुम्भनदासजी के सात पुत्रों में छठे पुत्र श्रीकृष्णदासजी थे। वे श्रीठाकुरजी की गायों की सेवा किया करते थे। वे गायों की रक्षा करते हुए सिंह के द्वारा आहत होकर भगवान की नित्य लीला में सम्मिलित हो गये। जब यह समाचार श्रीकुम्भनदासजी को मिला तो मूर्च्छित हो गये। विविध उपचार करने पर भी होश में नहीं आये। तब लोग आपस में चबाव करने लगे कि ये तो बहुत बड़े भक्त हैं, फिर भी इनको इतना पुत्र शोक व्याप गया है कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। सबने यह समाचार गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी से कहा। चबाव की बात सुनकर श्रीगोसाईं ने कहा कि यह बात नहीं, उन्हें और ही शोक है, देखो अभी समाधान हुआ जाता है। यह कहकर श्रीगोसाँईजी श्रीकुम्भनदासजी के समीप जाकर कान में कहे-''कुम्भनदासजी! कल सबेरे श्रीनाथजी का दर्शन करने आना, हम आपको दर्शन करा देंगे।'' बस इतना सुनते ही ये उठ बैठे और श्रीगोसाँईजी को साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर बोले-''महाराज! आपके बिना मेरे अन्तःकरण को कौन समझ सकता है।'' मूर्च्छा का हेतु पूछने पर बताये कि-''मुझे इस बात का महान दुःख था कि हमारे घर मरणाशौच हो गया है, अब हम मन्दिर में कैसे जायेंगे और श्रीठाकुरजी का दर्शन कैसे करेंगे?'' श्रीगोसाईंजी ने कहा-''आपका दर्शन करके तो औरों का सूतक छूट जाता है, शोक-मोह दूर हो जाता है। वे भगवदीय हो जाते हैं, फिर भला आपको क्या सूतक लग सकता है? और क्या पुत्र मोह हो सकता है?'' तब सबकी आँखें खुलीं।

एकबार गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्र श्रीगोकुलनाथजी एवं श्रीबालकृष्णजी ने इनसे ठाकुर श्रीनवनीत प्रियजी का दर्शन करने के लिये श्रीगोकुल चलने का अनुरोध किया। ये संकोचवश उनका अनुरोध टाल तो नहीं सके परन्तु प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यन्त तक की श्रीनाथजी की सेवा के उपरान्त रात्रि में चलने को राजी हुये। तदनुसार रात्रि के समय ही भगवच्चर्चा करते हुये चले। श्रीयमुना तट पर पहुँचते-पहुँचते सबेरा हो गया। संयोग की बात उस दिन श्रीविट्ठलनाथजी सबेरे नाव से श्रीगोकुल से श्रीयमुना के इस पार आये हुये थे। प्रातःकाल श्रीगुसाईंजी का दर्शन पाकर ये बड़े आनन्दित हुये। फिर अचानक

इनको याद आई कि इस समय तो मैं श्रीठाकुरजी के जागरण के पद गाता हूँ तब वे जागते हैं। बस, तुरन्त वहाँ से श्रीगोवर्धन के लिये भाग खड़े हुये। संग के लोगों ने कुछ दूर तक पीछा किया परन्तु कोई भी इन्हें उस प्रेमावेश में पकड़ने में समर्थ नहीं हो सका। ये भागे-भागे श्रीगोवर्धन आये। आकर देखे तो श्रीठाकुरजी अभी शयन ही कर रहे थे, जबकि रोज की अपेक्षा आज बहुत देर हो गई थी। इन्होंने जागरण के पद गाये तब श्रीठाकुरजी जागे। इतने में श्रीगुसाईंजी घोड़े पर चढ़कर श्रीगोकुल से श्रीगोवर्धन आ गये। पूजा में देर देखकर कारण पूछे तो पुजारी ने बताया कि-"महाराज! आज ऐसी कुछ लीला हुई कि जब हम स्नान करके अपरस में सेवा में जाने लगते तो किसी न किसी से छू जाते। इस प्रकार चार बार हमें लौट-लौटकर स्नान करना पड़ा। इसी से देर हो गयी। श्रीगुसाईंजी समझ गये कि यह सब श्रीकुम्भनदासजी के भाव की रक्षा करने के लिये श्रीठाकुरजी ने ही लीला की है।

एकबार श्रीकुम्भनदासजी पारासौली में अपने खेत पर थे। श्रीठाकुरजी इनके आगे ही विविध क्रीड़ा कर रहे थे। इतने में उत्थापन का समय हो गया। तब श्रीकुम्भनदासजी वहाँ से उठकर श्रीगिरिराजजी को चलने को प्रस्तुत हुये। श्रीठाकुरजी ने पूछा-"कहाँ जा रहे हो?" इन्होंने कहा-"उत्थापन का दर्शन करने।" श्रीठाकुरजी ने कहा-"मैं तो यहीं हूँ, फिर वहाँ किसका दर्शन करने जाते हो?" ये बोले-"जै-जै, यह तो आपकी महान कृपा है जो दर्शन दे रहे हैं, परन्तु आपका क्या ठिकाना? अभी हैं, अभी भाग जायें, तो हमारा क्या वश?" और मन्दिर में आप श्रीआचार्य महाप्रभुजी के द्वारा पधराये गये हैं, अतः वहाँ से तो आप टस से मस हो नहीं सकते हैं, अतः वहाँ जाने पंर तो दर्शन होकर ही रहेगा। यहाँ दर्शन आपकी मर्जी के अधीन है, और वहाँ श्रीआचार्य कृपाश्रित है। मुझे तो आपसे अधिक श्रीआचार्य कृपा का भरोसा है। श्रीआचार्य कृपा करें तो आपकी मजाल नहीं कि दर्शन न दें। दूसरी बात यह है कि मन्दिर में विराजमान आपके दर्शन के प्रताप से ही आप खेलते हुये दर्शन दे रहे हैं। चौथी बात यह कि वहाँ सभी वैष्णव गुरुजनों के दर्शन, सम्भाषण का लाभ होता है। अतः मैं तो अवश्य उत्थापन का दर्शन करने जाऊँगा।" इनके इस अगाध प्रेम को देखकर श्रीठाकुरजी इनके हृदय से लग गये।

श्रीकुम्भनदासजी से प्रसङ्ग वशात् यदि कोई पूछता कि-"आपके कितने पुत्र हैं? तो ये उत्तर देते कि मेरे डेढ़ पुत्र हैं और इसका हिसाब यों देते कि कृष्णदास मेरा आधा बेटा है, क्योंकि वह केवल श्रीठाकुरजी की स्वरूप-सेवा (गोचारण) मात्र करता है। चतुर्भुजदास मेरा पूरा बेटा है क्योंकि वह प्रभु की नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा (कैंकर्य) दोनों में निष्ठा

रखता है। इस प्रकार मेरे डेढ़ पुत्र हुये। शेष पाँच को तो श्रीभगवद्विमुख होने से मैं पुत्र मानता ही नहीं। एकबार की बात है, गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी का जन्मदिन था। वे श्रीगोकुल गये हुये थे। श्रीठाकुरजी ने भक्तों से कहा कि कल गुसाईंजी का जन्मदिन है, जन्मोत्सव मनाना चाहिये। वे जब हमारा प्राकट्य उत्सव मनाते हैं तो हमें भी उनका मनाना अनिवार्य है। भक्तों ने पूछा–"जै-जै, तो कल क्या भोग लगना चाहिये?" श्रीठाकुरजी ने कहा–"जलेबी का भोग लगना चाहिये।" फिर तो भक्तों ने गोष्ठी की। चन्दा हुया। श्रीसद्दू पाण्डेजी ने कहा–"हम घी, मैदा देंगे।" शेष भक्तों ने कहा–"शक्कर का इन्तजाम हम लोग करेंगे। श्रीकुम्भन दासजी ने घर जाकर दो पड़िया और दो पड़वा बेंचे। पाँच रुपया मिला, लाकर सद्दू पाण्डे के हवाले कर दिये और लोगों ने भी एक-एक, दो-दो रुपया दिया। खूब जलेबी बनीं। प्रातःकाल तोरण-बन्दनवार से मन्दिर सजाया गया। राजभोग में जलेबी का भोग लगा। श्रीठाकुरजी की आज्ञा से श्रीकुम्भनदासजी ने श्रीगुसाईंजी की बधाई का पद गाया। खूब आनन्द हुआ। दोपहर को गोकुल से श्रीगुसाईंजी आये, द्वार पर बँधा हुआ तोरन-बन्दनवार देखकर तथा भोग में जलेबी का भरा टोकना देखकर पूछे–"आज कौन-सा उत्सव है?" सेवकों ने बताया। तत्पश्चात् सबने प्रसाद ग्रहण किया। फिर श्रीगुसाईंजी ने सभी सेवकों को बुलाकर पूछा कि–"सामान कहाँ से आया था?" तब श्रीसद्दूजी पाण्डे ने सब विवरण सुनाया। श्रीकुम्भनदासजी का योगदान सुनकर एवं इनकी आर्थिक स्थिति विचारकर श्रीगुसाईंजी का हृदय भर आया।

सं० १६०२ के लगभग जब श्रीविट्ठलनाथजी ने ब्रजभाषा के अष्टछाप की स्थापना की, तब उसमें श्रीकुम्भनदासजी एवं इनके पुत्र श्रीचतुर्भुजदासजी को भी सम्मिलित किया गया। अष्टछाप के कवियों में श्रीकुम्भनदासजी सबसे अधिक दीर्घजीवी थे। जीवन के ११५ वर्ष श्रीहरिसेवा में व्यतीत कर सं० १६४० के लगभग एकदिन नित्यसेवा का लाभ लेते हुए ये भौतिक शरीर का परित्याग कर श्रीप्रभु की नित्यलीला में लीन हो गये। अन्त समय में इन्होंने यह पद गाया था–"रसिकनी रसमें रहति गढ़ी। कनक बेलि वृषभानुनन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।। विहरतलाल संगराधा के कौने भाँति गढ़ी। कुम्भनदास लाल गिरिधर संग रति रस केलि बढ़ी।।"

श्रीखेमदासजी—प्राणिमात्र का क्षेम-कुशल चाहते हुये श्रीखेमदासजी बड़े भाव से सन्त-सेवा करते थे। एकबार सन्तों के आने पर एक वैश्य के यहाँ से सीधा-सामान लेकर आ रहे थे, तो मार्ग में एक ब्राह्मण ने व्यंग्य किया–"माला पहन लिये, तिलक लगा लिये, बस, बाबाजी बन गये। कुछ करना न धरना, फोकट का माल खाते हैं और मटरगश्ती

करते हैं। अरे, सच्चे साधु तो ये बैल हैं। इन्हें जो देवो, जितना देवो, उतना ही खाते हैं और खूब हल खींचते हैं, भार ढोते हैं।'' श्रीखेमदासजी ने मुस्कुराकर कहा-''तुम ठीक कहते हो। देखो, तुम्हारा एक बैल चोरी चला गया है, यदि मैं उसके बदले तुम्हारे हल में चलूँ तो तुम मुझे सच्चा साधु मानोगे।'' उसने कहा-''हाँ, यदि आप भी बैल का सा परोपकार करें तो मैं मान लूँगा कि आप भी सच्चे सन्त हैं।'' श्रीखेमदासजी सन्तों की व्यवस्था करके उस ब्राह्मण के हल में जुतकर बैल के साथ हल खींचने लगे। भगवान से भक्त का यह महाश्रम देखा नहीं गया। तुरन्त प्रभु प्रेरणा से उस ब्राह्मण का चोरी गया बैल वहाँ आ खड़ा हुआ। ब्राह्मण प्रसन्न होकर उस बैल को पकड़ने गया तो उसने उसे सींग पर उठाकर दूर फेंक दिया और श्रीखेमदासजी के पास जाकर इनका चरण चाटने लगा। यह देखकर ब्राह्मण समझ गया कि श्रीखेमदासजी सच्चे साधु हैं। वह इनके चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। श्रीखेमदासजी ब्राह्मण को क्षमा-दान देते हुए सन्त-सेवा का उपदेश दिये। ब्राह्मण भी भक्त हो गया।

श्रीहरिदासजी—आप श्रीअयोध्या धाम में निवास करते थे। भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त थे। ''यथा लाभ सन्तोष'' की वृत्ति को अपनाये हुये श्रीहरि इच्छा से जो कुछ भी अपने आप सहज रूप से प्राप्त हो जाता, उसी से सन्त-सेवा करते थे। एकबार सन्तों की बहुत बड़ी जमात इनके स्थान पर आयी। कुटी में एक छटांक भी सीधा-सामान नहीं था। ये बड़े चिन्तित हुये। तब इनकी चिन्ता दूर करने के लिये प्रभु ने अपने श्रीचरणकमल से पाँच मुहरें प्रकट कर दीं। घबड़ाये हुए जब ये प्रभु के समक्ष चिन्ता निवारणार्थ प्रार्थना करने गये तो देखे वहाँ मुहरें पड़ी थीं। ये बड़े प्रसन्न हुये। उन्हीं मुहरों से सन्तों की खूब सेवा किये। उसी दिन से नित्य प्रति पाँच मुहरें प्रकट होने लगीं। परन्तु ये नित्य उन मुहरों को लेने में डरते थे। इन्हें भय लगता कि कहीं मेरी धन में आसक्ति न हो जाय, मेरे भजन में कोई बाधा न पड़ जाय। तब रात्रि में भगवान ने स्वप्न में आदेश दिया कि-''डरो मत। यह द्रव्य मैं सन्त-सेवा के निमित्त दे रहा हूँ। इससे खूब सन्तों की सेवा करो, कोई बाधा नहीं होगी।'' तब ये उन मुहरों को लेने लगे। ये मुहरों को रोज की रोज खर्च कर देते। कल के लिये एक पैसा भी नहीं रखते। ये अपने उपदेश में श्रीअवध सरयू का बहुत माहात्म्य वर्णन करते-

यथा— **अयोध्या च परं ब्रह्म सरयू सगुणः पुमान्।**
तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।
अयोध्या दर्शनाद् देवि दिव्य देहमवाप्नुयात्।
न दुर्गति मवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम्।।

अर्थ—श्रीअयोध्या परब्रह्म हैं और श्रीसरयूजी सगुण ब्रह्म हैं। अयोध्यावासी श्रीजगन्नाथ स्वरूप हैं, यह बात हम सत्य-सत्य कहते हैं। हे देवि! श्रीअयोध्याजी के दर्शनमात्र से सभी प्राणी दिव्य देह को प्राप्त कर लेते हैं तथा सभी सर्वोत्तम सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं, उनकी दुर्गति नहीं होती है।

मन्वन्तर सहस्त्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलं। तत्फलं समवाप्नोति सरयू दर्शने कृते।।
मथुरायां कल्पमेकं मानवो वसते यदि। तत्फलं समवाप्नोति सरयू दर्शने कृते।।
षष्ठि वर्ष सहस्त्राणि भागीरथ्यवगाहजम्। तत्फलं निमिषार्द्धेन कलौदाशरथीं पुरीम्।।

(स्कन्दपुराण)

अर्थ—हजार मन्वन्तर तक काशीवास करने का जो फल है, वह श्रीसरयू के दर्शन मात्र से ही प्राप्त हो जाता है। मथुरापुरी में एक कल्प तक वास करने का फल सरयू दर्शन मात्र से प्राप्त हो जाता है। साठ हजार वर्ष तक गंगाजी में स्नान करने का जो फल है, वह इस कलिकाल में श्रीरामजी की पुरी श्रीअयोध्याजी में आधे पल भर में प्राप्त हो जाता है।" श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानस में श्रीअवध सरयू का माहात्म्य वर्णन करते हैं-"बन्दौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि।। देखतपुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन वापिका तड़ागा।। जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना।। अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ।।" आदि।।

श्रीउद्धवजी—अनन्य श्रीरामभक्त श्रीउद्धवजी स्वयं श्रीहरि और हरिजन दोनों की सेवा में सदा तत्पर रहते ही थे, दूसरों को भी यही उपदेश देते थे। इनके उपदेश से प्रभावित होकर एक राजा ने सन्त-सेवा का व्रत लिया था। वेषमात्र में उसकी अपार निष्ठा हो गई थी। एक दुष्ट ने राजा की इस निष्ठा का अनुचित लाभ उठाना चाहा। वह साधु का भेष धारणकर राजा के यहाँ आया। राजा ने सम्मानपूर्वक उसे महल में वास दिया। परन्तु वह एक दिन मौका देखकर रात्रि के समय राजमहल की एक युवती को ले भागा। इससे राजा को बड़ा रोष हुआ। उसने श्रीउद्धवजी को उपालम्ब दिया कि आपके कथने से मैंने सन्त-सेवा प्रारम्भ की थी और देखिये ये वेषधारी ऐसे-ऐसे घृणित कार्य करते हैं। श्रीउद्धवजी ने राजा को धैर्य बँधाया। निष्ठा पर दृढ़ रहने के लिये जोर दिया और उस युवती का आकर्षण किया। श्रीहरिकृपा से वह युवती आकाश मार्ग से राजमहल में सन्त-कृपा का लाभ करके आ गयी। अब तो राजा की सन्त-सेवा में और भी दृढ़ निष्ठा हो गयी तथा श्रीउद्धवजी के प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ गयी।

अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिन्तामनि चतुरदास।।
सोम, भीम, सोमनाथ, विको, विशाखा, लमध्याना।
महदा, मुकुन्द, गनेस, त्रिविक्रम, रघु जगजाना।।
बाल्मीकि, वृद्धव्यास, जगन, झांझू, बीठल आचारज।
हरिभू लाला, हरिदास, बाहबल, राघव आरज।।
लाखा, छीतर, उद्धव, कपूर, घाटम, घूरी कियौ प्रकास।
अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिन्तामनि चतुरदास।।९९।।

शब्दार्थ—अभिलाष=मनोरथ। चिन्तामनि=एक रत्न, जो सब मनोरथों को पूर्ण करता है। जगजाना=जगत् में प्रसिद्ध अथवा जगत् को (नश्वर) जानने वाले। आरज= आर्य, श्रेष्ठ।

भावार्थ—ये श्रीभगवद्दास अपने भजन-साधन में बड़े चतुर थे तथा दूसरों की अधिकाधिक अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये चिन्तामणि के समान थे। इनके नाम ये हैं-श्रीसोमजी, श्रीभीमजी, श्रीसोमनाथजी, श्रीबिकोजी, श्रीविशाखाजी, श्रीलमध्यानजी, श्रीमहदाजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीगणेशजी, श्रीत्रिविक्रमजी, श्रीरघुजी, श्रीबालमीकिजी, श्रीवृद्धव्यासजी, श्रीजगतजी, श्रीझांझूजी, श्रीबीठलआचार्यजी, श्रीहरिभूजी, श्रीलालाजी, श्रीहरिदासजी, श्रीबाहबलजी, आर्य श्रीराघवजी, श्रीलाखाजी, श्रीछीतरजी, श्रीउद्धवजी, श्रीकपूरजी, श्रीघाटमजी, श्रीघूरीजी-ये सभी भक्त जगत् में प्रसिद्ध हुये और इन सभी ने अपने सुयश से जगत् को प्रकाशित किया।।९९।।

व्याख्या—अभिलाष—भक्तों की भव्य अभिलाषायें देखते ही बनती हैं। यथा-"मानुष हों तो वहीं 'रसखानि' बसौं व्रजगोकुल गाँव के ग्वारन। जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।। पाहन हौं तो वही गिरि कौ जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर कारन। जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।" पुनः-"जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ। पद पंकज प्रियालाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ।। कूकर ह्वै वन बीथिन डोलौं बचे सीथ सन्तन के खाऊँ। "ललितकिशोरी" आस यही मम व्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ।।" श्रीतुलसीदासजी की अभिलाषा देखिये- "खेलिबे को खग मृग तरु कंकर ह्वै रावरो राय हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं।। इतनी जिय लालसादास के कहत पानही महिहौं। दीजै वचन कि

हिये आनिये तुलसीको पन निर्वहिहौं।।'' (वि०)। ''चिन्तामनि''-इसके द्वारा चिन्तित पदार्थ प्राप्त होते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-''तुलसो चित चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।।'' (वि०), तो ये भक्तजन चिन्तामणि के समान है। ''चतुरदास''-समस्त आशा-भरोसाओं को छोड़कर भगवान को भजने वाला ही वास्तविक चतुर है। यथा-''परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर। तुलसी सोई चतुर नर राम चरन लौ लीन। पर धन पर मन हरन को वेश्या परम प्रवीन।।'' आदि।

श्रीसोमजी—आप बड़े ही समृद्धिशाली सन्त थे। आपके यहाँ सन्त-सेवा, कथा-कीर्तन-सत्संग की धूम मची रहती थी। आपके उत्कर्ष को देखकर आपका ही एक गुरुभाई आपसे अत्यन्त द्वेष करता था। उसने आपका अनिष्ट करने के लिये छल-बल तो बहुत किया, परन्तु सफल नहीं हो सका। तब अन्ततोगत्वा उसने आपके श्रीगोपालजी को चुराकर गहरे जलाशय में फेंक दिया। परन्तु श्रीगोपालजी स्वयं जलाशय से निकलकर सिंहासन पर आ विराजे। उसने फिर फेंका तो श्रीगोपालजी फिर आ गये। श्रीसोमजी को इसका कुछ भी रहस्य मालूम नहीं था। उसने पुनः तीसरी बार भी श्रीगोपालजी को चुराकर फेंकने का निश्चय किया तो श्रीगोपालजी ने स्वप्न में भय दिया कि मैंने दो बार तो तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया है, परन्तु यदि तीसरी बार फिर वही कुकृत्य करोगे तो मैं क्षमा नहीं कर सकता। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीसोमजी की शरण ग्रहण करो अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा। यह सुनकर वह गुरुभाई बहुत घबराया और तत्काल ही श्रीसोमजी के पास आकर अपनी समस्त काली करतूति कह सुनायी तथा क्षमा-याचना की। श्रीसोमजी ने तो उसका कोई अपराध न तो जाना ही था, न माना ही था, फिर भी उसकी प्रार्थना पर उसे क्षमादान देते हुये सन्त-भगवन्त सेवा का आदेश दिया।

श्रीभीमजी—ये श्रीरामजी की उपासना करते थे। जूनागढ़ के पास निवास स्थान था। ''रामते अधिक रामकर दासा।'' की भव्य भावना से भावित होकर अत्यन्त अनुराग-पूर्वक सन्तों की सेवा करते थे। एकबार इनकी सेवा निष्ठा की परीक्षा के लिये स्वयं भगवान पाँच सन्तों का वेष धारण कर इनके यहाँ आये। इन्होंने बड़ी सेवा-शुश्रुषा की, फिर हाथ जोड़कर पूछा कि-''मैं आप लोगों का कौन सा प्रिय कार्य करूँ?'' सन्तों में से एक ने तो इनकी पत्नी माँगी, दो ने दोनों पुत्रियों को तथा अन्य दो ने दोनों पुत्रों को माँगा। इन्होंने सहर्ष सन्तों को पत्नी, पुत्री तथा पुत्र प्रदान कर दिये। सन्तों के चले जाने पर इनको तो बड़ा सन्तोष हुआ कि मेरे पूरे कुटुम्ब को सन्तों ने स्वीकार कर लिया, परन्तु पड़ोसियों ने

इन्हें बहुत उल्टा-सीधा सुनाया। श्रीभीमजी शान्त चित्त से सबके व्यङ्ग-बौछार को सहते रहे। सन्तों के प्रति इनके मन में किंचित् भी अभाव नहीं हुआ। परीक्षा में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुये। प्रातःकाल सबके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब सब लोगों ने श्रीभीमजी की पत्नी तथा पुत्रों को घर पर ही पूर्ववत् पाया। मानो कोई कहीं गया ही नहीं था। तब सबने आपकी महिमा जानी। चरणों में पड़कर क्षमा माँगी। इस प्रसङ्ग को सुनकर एक दुष्ट ने साधु वेष धारणकर इनकी पत्नी माँग लिया। परन्तु इनकी पत्नी को लेकर ज्यों ही वह अपने घर में घुसा तो उसके घर में सर्प ही सर्प भर गये। उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि श्रीभीमजी की पत्नी के शरीर से सर्प निकलकर मेरे घर में भर रहे हैं। फिर तो वह उल्टे पांव श्रीभीमजी के पास लौट आया और उनकी पत्नी उनको सौंपते हुये पुनः-पुनः क्षमा-याचना किया।

श्रीध्यानदासजी—आप सदा भगवद्ध्यान में मग्न रहते थे। वाणी से कभी भी असद्वाक्य नहीं बोलते थे, अतः इनके मुख से जो भी वचन निकल जाता, वह सत्य होकर रहता। एकदिन एक वणिक दम्पति इनकी शरण में आये। वे रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगे कि-''महाराज! न जाने किस पाप से मेरी सन्तान जन्मते ही मर जाती है। इससे हम लोग बहुत दुखी रहते हैं। ऐसी कृपा कीजिये जिसमें हम लोग इस दुःख से मुक्त हो जायँ।'' श्रीध्यानदासजी ने उपदेश दिया-''कबहू असत न भाषिये, सेइअ अतिथि सप्रेम। इहाँ उहाँ तेहिं सकल सुख, सत संगति करि प्रेम।।'' आपका उपदेश मानकर वणिक दम्पति तद्नुकूल आचरण परायण हो गये। फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में घर में नाती-पोतों का छगन-मगन छा गया।

श्रीमुकुन्दजी—ये श्रीप्रबोधानन्दजी के शिष्य के शिष्य थे। बड़ा बढ़िया आश्रम बनाये थे। खूब सन्त-सेवा करते थे। एकबार एक सन्त ने इनसे कहा-''मुकुन्द! तुम अपना आश्रम हमें दे दो और अपने लिये दूसरा आश्रम बनवा लेना। इन्होंने सहर्ष वह आश्रम ही सन्त को दे दिया और स्वयं जंगल की राह ली। वनपथ में एक राजा का घोड़ा सहसा मर गया था, जिससे राजा बड़ा दुःखित था। इन्होंने कृपा करके राजा का घोड़ा जीवित कर दिया। इनकी महिमा जानकर राजा ने इनके लिये पहले से भी बढ़िया आश्रम बनवा दिया। सन्त-सेवा का प्रबन्ध किया।

श्रीवृद्धव्यासजी—इनकी सद्गुरु एवं सन्तों में बड़ी निष्ठा थी। घर में एक ब्याह योग्य कन्या थी। उसके विवाह के लिये इन्होंने सामग्री एकत्रित की थी। इसी बीच इन्हें पता चला कि श्रीगुरुदेवजी के यहाँ पर उत्सव मनाया जा रहा है, तो इन्होंने वह सब सामग्री श्रीगुरुदेवजी

को अर्पित कर दी। इन्होंने यह परवाह नही की कि कन्या का विवाह कैसे होगा? भगवान ने एक वैश्य को प्रेरणा की। वह विवाह का सब सामान इनके घर दे गया। कन्या का विवाह यथा समय सानन्द सम्पन्न हो गया।

श्रीजगनजी—आप बड़े गो-सन्तसेवी थे। एकबार आपकी एक गाय को चोर चुरा ले गये। गायों की सेवा में रहने वाला आपका शिष्य बहुत दुःखी हुआ कि अब श्रीठाकुरजी को दूध का भोग कैसे लगेगा। यही तो एक दूध देने वाली गाय थी वह भी चोरी चली गयी। फिर वह अपने गुरुदेव श्रीजगनजी पर नाराज होने लगा कि एक सन्त तो श्रीनामदेवजी थे, जिन्होंने मरी हुयी गाय को जीवित कर दिया था और एक आप हैं, जो जीवित को भी गवां दिये। श्रीजगनजी ने मुस्कुराकर कहा-"तुम मुझसे लड़ाई क्यों कर रहे हो। पहले गोशाला में जाकर तो देखो।" शिष्य ने गोशाला में जाकर देखा तो गाय अपने स्थान पर बँधी मिली। श्रीगुरुदेव की यह महिमा देखकर उसकी श्रद्धा और भी अधिक हो गयी श्रीगुरु चरणों में।

श्रीबाहुबलजी—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी के प्रमुख शिष्यों में से थे। आपका बाहुबल नाम पड़ने का कारण यह कहा जाता है कि एकबार एक राजा पर उसके शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी। राजा ने प्रथम तो शत्रुओं का डटकर मुकाबला किया, परन्तु जब देखा कि शत्रु सैन्य अति प्रबल है तो वह राजमहल छोड़कर, भागकर श्रीबाहुबलजी की शरण में चला गया। श्रीबाहुबलजी ने भयभीत राजा को अभय प्रदान करते हुये अपने हाथ के संकेत मात्र से ही शत्रुदल को स्तम्भित कर दिया। विपक्षी दल इस प्रकार का चमत्कार देखकर श्रीबाहुबलजी के चरणों में पड़कर क्षमा माँगकर अपने स्थान को लौट गया। सन्त कृपा से राजा का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इससे प्रजा समेत उसकी श्रीबाहुबलजी में तथा सन्तमात्र में अत्यन्त श्रद्धा हो गयी। बाहु के संकेत से सेना को जड़ीभूत करने से इनका नाम ही "बाहुबल" पड़ गया।

श्रीकपूरजी—आप बड़े दयालु हृदय सन्त थे। एकबार आपने एक सन्त के पांव में बिवाई फटी देखी तो उनसे पूछा-"महाराज! आप जूता क्यों नहीं पहनते?" सन्त ने कहा-"मैंने एक दृढ़ नियम ले रखा है कि एक हजार सन्तों को भोजन कराकर, तब पांव में जूता पहनूँगा। इसी फिराक में मैं बहुत दिन से घूम रहा हूँ। परन्तु न तो हमारे पास इतना धन ही हुआ कि एक हजार सन्तों को भोजन करा सकूँ और न मैंने जूता पहना। "न नौ मन तेल हुआ, न राधा नाचीं।" श्रीकपूरजी को दया आयी। उन्होंने घर की बहुत सी सम्पत्ति बेंचकर अकेले ही एक हजार सन्तों के भोजन की व्यवस्था कर दी। सन्त का नियम पूर्ण हुआ। उसी दिन से वे अपने पांव में पदत्राण धारण करने लगे।

श्रीघाटमजी—आप जाति के मीना थे। जयपुर राज्यान्तर्गत खेड़ी ग्राम के निवासी थे। चोरी, डाका, लूटपाट इनका पुश्तैनी पेशा था। एकबार ये जंगल में किसी को लूटने की तलाश में घूम रहे थे। संयोग से एक महात्मा का दर्शन हुआ। इन्होंने सहज भाव से प्रणाम किया तो सन्त ने समीप आकर उपदेश दिया-''बेटा! यह चोरी डाका अत्यन्त निन्द्य काम है। इसे तुम छोड़ दो। इससे लोक और परलोक दोंनो ही नष्ट हो जाते हैं।'' इन्होंने हाथ जोड़कर कहा-''महाराज! यह तो हमारी जीविका है और वह भी आज से नहीं, मेरी कई पीढ़ियों से चली आ रही है, अतः यह तो हमसे छूट नहीं सकती। हमारे पिताजी ने भी कहा है-''बेटा! अपना पेशा छोड़ना नहीं। अतः आप और जो उपदेश दें वह हम सहर्ष मानने के लिये तैयार हैं। सन्तजी ने कहा-''अच्छा तो हमारी चार बातें तुम मानोगे तो तुम्हारा अवश्य कल्याण हो जायेगा। (१) सत्य बोलना, (२) साधु-सेवा करना। (३) भगवान को अर्पण करके प्रसाद पाना। (४) भगवान की आरती का दर्शन करना।'' श्रीघाटमजी ने चारों बातें मान लीं। अब तो यह लूट मारकर धन लाते तो प्रथम सन्तों की सेवा करते, फिर बचे-खुचे धन से परिवार का पालन करते। एकदिन सन्तों की जमात घर पर आई। इन्होंने तुरन्त उठकर सन्तों को दण्डवत्-प्रणाम किया, सबका आसन लगवाया। फिर घर में सीधा-सामान लेने गये तो पता चला कि घर में एक छटांग भी अन्न नहीं है। इन्होंने गांव वालों से माँगा परन्तु किसी ने नहीं दिया। तब चोरी का निश्चय किये। गांव के बाहर लोगों के खलिहान थे। ये गये और एक की राशि में से पर्याप्त गेहूँ बाँधकर उठा लाये। सन्त-सेवा तो हो गई पर एक भय मन में बना रहा कि यदि प्रातःकाल कोई पद चिन्हों के आधार पर पता लगाना चाहेगा तो मेरी चोरी पकड़ी जायेगी। लेकिन भगवान की इच्छा से थोड़ी ही देर में बड़े जोर का आँधी-पानी आया। निशान का नामोनिशान नहीं रह गया। ये निश्चिन्त हो गये। सन्त-सेवा में और अधिक भाव हो गया।

ऐसे ही एकबार इनके श्रीगुरुदेवजी के यहाँ कोई उत्सव था। सुनकर इनका मन बहुत प्रसन्न हुआ। जी में आया कि श्रीगुरुजी की सेवा में पहुँचना चाहिये। परन्तु बेवशी यह थी कि इनके पास पैसे के नाम पर एक छदाम भी गांठ में नहीं था। अतः इन्होंने पुनः चोरी का विचार किया। ये फौजी सिपाही का भेष बनाकर एक राजा के अस्तबल में घुसे। पहरेदारों ने टोका भी कि तुम कौन को? तो इन्होंने गुरु की बात यादकर सत्य ही कहा कि-''मैं चोर हूँ।'' परन्तु इनकी वेष-भूषा को देखकर पहरेदारों ने इन्हें कोई फौज का सरदार समझा। ये निर्भय अस्तबल में प्रवेश कर राजा की सवारी का एक बढ़िया घोड़ा खोले और उस पर आरूढ़ होकर सेनापति की भाँति बड़े शान से बाहर निकले। किसी ने कुछ भी नहीं कहा।

कुछ दूर जाने पर इन्हें एक मन्दिर में भगवान की मंगला आरती होती दिखायी पड़ी। ये घोड़े को एक पेड़ से बाँधकर आरती का दर्शन करने लगे। उधर जब सबेरा हुआ तो पता चला कि घोड़ा चोरी चला गया। अब पहरेदारों को मालूम हुआ कि वह सचमुच चोर ही था। घोड़े का पता लगाने के लिये घुड़सवार चारों दिशाओं में दौड़े। पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँच गये जहाँ घोड़ा बँधा था। देखने पर मालूम हुआ कि घोड़ा तो वही है परन्तु रंग बदल गया है, श्याम से श्वेत हो गया है। इतने में आरती का दर्शन, स्तुति, दण्डवत्प्रणाम करके तथा चरणामृत लेकर श्रीघाटमजी बाहर आये। पूछने पर पुन इन्होंने सब बात सही-सही कह दी कि घोड़ा वही है और चुराने वाला चोर मैं वही हूँ। परन्तु श्रीहरि कृपा से घोड़े का रंग वह नहीं रहा। भगवान ने मेरी रक्षा करने के लिये अभी-अभी घोड़े का रंग बदल दिया है। यह देख सुनकर राजा के घुड़सवार दङ्ग रह गये। वे श्रीघाटमजी को भी साथ लेकर राजा के पास आये। श्रीघाटमजी की सत्यवादिता और हरि कृपा से घोड़े के रंग में परिवर्तन से राजा बड़ा प्रभावित हुआ। उसने श्रीघाटमजी के चरणों में पड़कर प्रणाम किया और श्रीगुरुसेवा एवं जीविका के निमित्त बहुत सा द्रव्य एवं भूमि भेंट किया। श्रीघाटमजी की गुरु वचनों में और अधिक आस्था हो गयी। ये सहर्ष श्रीगुरु उत्सव में सम्मिलित हुये। इन्होंने सदा सर्वदा के लिये चोरी-डाका छोड़ दिया।

एकबार श्रीघाटमजी के मन में इस बात की बड़ी ग्लानि हुई कि मुझे इतने दिन श्रीगुरुदेवजी के बताये पथ पर चलते हो गया, परन्तु भगवान के दर्शन नहीं हुये, उस समय इन्होंने अत्यन्त आर्त होकर यह पद गाया-''पहले तो मैं यूँ ही खाता अब तो न्हाकर खावाँछाँ। गल में माला, माथे तिलक थारे निमित लगावा छाँ।। म्हाने तो एता करि दीना थाने कीना काईं। घाटमदास जाति कौ मीना तारोगे की नाईं।।'' इनके इस प्रेम भरे उपालम्ब को सुनकर तत्काल भगवान प्रकट हो गये। श्रीघाटमजी भगवान का दर्शन कर निहाल हो गये। सत्संग के प्रभाव से श्रीघाटमजी के जीवन में कैसा परिवर्तन हुआ, एक पद में इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। यथा-''प्रथम यह विचारैं आजु कहँ घात मारैं। अब यह उर धारैं साधुजन कब पधारैं।। प्रथम वन फिराते लुटि कै माल खाते। अब जनन्ह कहँ बुलाते छीनि कै जूंठ खाते।। तब फिरत नृप सिपाही हथकड़ी को पिन्हाऊँ। अब फिरत जन घनेरे पदरज सिर चढ़ाऊँ।। कसि विविध गति दुरंगी तब रहे दुष्ट संगी। अब सुमति यों उमंगी ह्वै गये साधु संगी।।'' (भ०व०टि०)

श्रीघाटमजी का उपदेश-जे नर रसना नाम उचारैं। केतिक बात आपु तरिबेकी कोटि पतित निस्तारैं।। काम क्रोध मद लोभ तजैं अरु जीव दशा प्रतिपालैं। बसुधा पर तीरथ

हैं जेतिक तिनहूँके घट टालैं।। मीना जाति जदपि कुल नीचो सतगुरु शब्द विचारैं। घाटमदास राम को परिचै तीनहुँ लोक उधारै।।''

भक्तपाल दिग्गज भगत ये थाना इत सूर धीर।।
देवानन्द, नरहरिया, नन्द, मुकुन्द, महीपति, संतराम तम्मोरी।
खेम, श्रीरंग, नन्द, विस्नु बीदा, बाजू सुत जोरी।।
छीतम द्वारिकादास, माधव, मांडन, रूपा दामोदर।
भल नरहरि, भगवान, बाल, कान्हर, केसौ सोहैं घर।।
दास प्रयाग, लोहंग गुपाल नागू सुत गृह भक्त भीर।
भक्तपाल दिग्गज भगत ए थाना इत सूर धीर।।१००।।

शब्दार्थ—भक्तपाल=भक्तों की सेवा-रक्षा करने वाले। थानाइत=थानापति, स्थान के स्वामी, महन्त। तम्मोरी=तमोली।

भावार्थ—ये स्थानाधिपति (महन्त) सन्त भक्तों का पालन-पोषण करने वाले, बड़े शूर, धीर तथा दिग्गज भक्त हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीदेवानन्दजी, श्रीनरहरियानन्दजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीमहीपतिजी, श्रीसन्तरामजी तमोली, श्रीखेमजी, श्रीरंगजी, श्रीनन्दजी, श्रीविष्णुजी, श्रीबीदाजी, श्रीबाजूजी तथा श्रीबाजूजी के पुत्र दोनों, श्रीछीतमजी, श्रीद्वारिका दासजी, श्रीमाधवजी, श्रीमांडनजी, श्रीरूपाजी, श्रीदामोदरजी, परमसाधु श्रीनरहरिजी, श्रीभगवानजी, श्रीबालजी, श्रीकान्हरजी, श्रीकेशवजी, श्रीप्रयागदासजी, श्रीलोहंगजी, श्रीगोपाल जी, श्रीनागूजी एवं इनके पुत्र। ये भक्त अपने स्थान पर बड़े सुशोभित हुये। इनके यहाँ भक्तों की भीड़ लगी रहती थी।।१००।।

व्याख्या—भक्तपाल—स्थानधारी के लिये शास्त्रों ने चार प्रकार की सेवा का आदेश दिया है-(१) श्रीठाकुर सेवा, (२) गुरु सेवा, (३) साधु सेवा, (४) शास्त्र सेवा (कथा-सत्संग, अध्ययन-अध्यापन द्वारा) अतः ये स्थानाधिपति निजधर्म का पालन करते हुये बड़े भाव से सन्तों की सेवा करते थे। ''दिग्गज''-इसकी व्याख्या के लिये देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड छप्पय-३२ में ''चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं।।'' की व्याख्या। ''सूर''-इसकी व्याख्या के लिये देखिये उ०प्र०छ०-४०। ''धीर''-श्रीतुलसीदासजी

के मत से धीर वे पुरुष हैं जो विकारों का हेतु उपस्थित होने पर भी मन को वश में किये रहते हैं। यथा-''ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।।''

श्रीदेवानन्दजी—आप बड़े सन्त-सेवी थे। स्थान में कोई स्थायी जमीन नहीं थी। अत: आकाशवृत्ति पर ही सन्त-सेवा आधारित थी। फलस्वरूप कभी तो खूब घुटती थी और कभी फाकेमस्ती भी होती। एकबार सन्तों की जमात स्थान पर पधारी। धन के अभाव में एक वणिक के यहाँ उधार सीधा-सामान लेने गये। वणिक ने टका सा जवाब दिया-''महाराज! नौ नगद न तेरह उधार। हमारे यहाँ उधार का खाता ही नहीं है।'' तब ये श्रीठाकुरजी की पूजा का पात्र वणिक के यहाँ पर गिरवी रखकर सीधा-सामान लाये और सन्त-सेवा की। श्रीदेवानन्दजी के मन में इस बात का बड़ा क्षोभ था कि श्रीठाकुरजी की सेवा का एक पार्षद कम हो गया। परन्तु जब वह पूजा में गये तो सभी पार्षद वर्तमान पाये। जो पात्र वणिक के यहाँ गिरवी रख आये थे वह भी मौजूद मिला। तब तो श्रीप्रभु कृपा विचारकर बड़े हर्षित हुये। कुछ दिन बाद जब पैसा हाथ में आया तो उस वणिक से जाकर बोले कि-''अपना पैसा ले लो और मेरे श्रीठाकुरजी की सेवा का पात्र दे दो।'' उस वणिक ने सारा घर छान डाला परन्तु उसे पात्र नहीं मिला। तब तो वह घबड़ाया हुआ इनके चरणों में पड़कर बोला-''महाराज! पात्र तो मिल नहीं रहा है, उसके बदले में कुछ सीधा-सामान ले जाइये।'' श्रीदेवानन्दजी ने कहा-''भैया! वह तो श्रीठाकुरजी की सेवा का पार्षद था, भला वह कहीं धन के बदले में मिल सकता है? उसके बदले तो अब तुमको ही पात्र बनना होगा।'' वणिक ने पूछा-''महाराज! मैं पात्र कैसे बन सकता हूँ?'' आपने कहा-''आज से तुम भी श्रीराम की भक्ति करो और सन्तों की सेवा करो, तब पात्र बन सकते हो, अन्यथा दण्ड के भागी बनोगे। वणिक राजी हो गया। तब श्रीदेवानन्दजी ने वह पात्र ले जाकर उस वणिक को दिखलाये कि देखो, वह पात्र यह है। श्रीठाकुरजी अपने पार्षदों को अपने से पृथक् नहीं करते। इसी प्रकार यदि तुम भी पात्र बन जाओगे तो श्रीठाकुरजी तुम्हें भी सदा समीप रखेंगे। वणिक भक्ति का यह चमत्कार देखकर तुरन्त श्रीदेवानन्दजी का शिष्य हो गया।

श्रीखेमजी—ये जाति के वैश्य एवं जैन मतावलम्बी थे। एकबार इन्होंने मन्दिर में भगवान की झाँकी देखी वह झाँकी इनके हृदय में गड़ गई। बस, विवश होकर इन्हें वैष्णव होना पड़ा। अब तो रात-दिन ये भगवान की सेवा-पूजा, कथा-वार्ता में ही अपना सारा समय बिताने लगे। सन्तों को बुला-बुलाकर सेवा करते और कथा-कीर्तन करवाते। इनकी यह रहनी इनकी जाति वालों को अच्छी नहीं लगी। अत: सबने मिलकर पंचायत की और सौगन्ध

दिलाया कि तुम यह सब सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन छोड़कर अपने पुराने धर्म पर आरूढ़ हो जाओ। इन्होंने दो टूक जवाब दिया कि-"मैं अपने प्राण, धन, धाम को छोड़ सकता हूँ, करोड़ों दण्ड और अपमान सहर्ष सह सकता हूँ परन्तु श्रीहरि और हरिजनों को नहीं छोड़ सकता।" जब ये किसी भी प्रकार मानने को राजी नहीं हुये तो जैनियों ने राजा से जाकर इनकी शिकायत की। राजा ने इनको कारागार में बन्द दिया। इसी बीच घर पर सन्त पधारे। श्रीखेमजी की पत्नी के द्वारा सब समाचार सुनकर सन्तों को बड़ा दुःख हुआ। सभी सन्त भगवान के सामने अनशन करके बैठ गये कि जब तक भक्तजी नहीं आवेंगे, तब तक हम लोग अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे। उधर श्रीखेमजी को भी सन्तों के आगमन तथा अनशन का पता चला तो मन में बहुत ही दुःखी हुये। भला जहाँ इतने सन्त-भक्त दुःखी होंगे वहाँ भगवान कैसे सुखी रह सकते हैं? अतः प्रभु ने अपनी लीला का विस्तार किया। श्रीखेमजी की हथकड़ी-बेड़ी अपने आप टूट गयीं, कारागार के ताले भी टूट गये, फाटक खुल गये, पहरेदार सो गये। श्रीखेमजी सन्त दर्शन के लिये अत्यन्त आतुर हो दौड़ पड़े, आकर सन्तों के चरणों में लोट-पोट हो गये। सभी सन्तों ने प्रसाद पाया। भक्ति का यह चमत्कार देखकर सभी विरोधी नतमस्तक हो गये। सबने श्रीखेमजी के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना की और स्वयं भी सन्त-सेवा का व्रत लिया।

श्रीरूपाजी (श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी)—आप दक्षिण देश के रहने वाले थे। जाति के ब्राह्मण थे तथा परिवार पोषण के लिये खेती करते थे। सन्त-सेवा में आपकी बड़ी निष्ठा थी। बहुत काल तक आपके यहाँ सन्त-सेवा सुचारु रूप से चलती रही। एक साल वर्षा के अभाव में खेती में अन्न की उपज कुछ भी नहीं हुई। ऐसी स्थिति में परिवार का ही भरण-पोषण कठिन हो जाता है। फिर अतिथि-अभ्यागत, साधु-महात्मा की सेवा तो बहुत दूर की बात है। परन्तु श्रीरूपाजी धैर्यपूर्वक परिवार पोषण के साथ-साथ सन्त-सेवा भी करते रहे। धीरे-धीरे घर के सभी बर्तन-आभूषण बिक गये। जरूरत पड़ने पर मकान भी बेच दिया। अन्त में तो खेत भी बेच दिये। परन्तु सन्त-सेवा पर आँच नहीं आने दी। लेकिन इतने पर भी अकाल का अन्त नहीं हुआ। फलस्वरूप घर में उपवास की स्थिति आ गयी। बाल-बच्चे भूखे मरने लगे। श्रीरूपाजी अन्न की तलाश में कहीं जा रहे थे। मार्ग में सन्त मिल गये तो उन्हें अनुनय-विनय कर घर लिवा लाये। ये तो सन्तों के आने से बड़े प्रसन्न हो रहे थे, परन्तु इनकी पत्नी घबड़ाई कि इतने सन्तों का सत्कार कैसे होगा? इन्होंने पत्नी से कहा कि-"यदि कोई आभूषण शेष हो तो दो, उसे बेचकर सन्तों की सेवा में लगा दूँ।" इन सन्तों के आशीर्वाद से ही दुःखों की निवृत्ति होगी। पत्नी ने झल्लाकर कहा-"यदि कोई आभूषण होता तो बच्चे क्यों भूख के कारण मारे-मारे फिरते?" श्रीरूपाजी ने बड़े विश्वास-पूर्वक कहा

कि-"यदि तुमने कुछ छिपाया न होता तो विश्वम्भर भगवान हमें कदापि भूखे नहीं रखते। वे निश्चय ही अब तक कोई न कोई उपाय कर दिये होते।" यह सुनकर पत्नी कुछ लज्जित सी हुयी और उसने अपनी नथ लाकर पति को दी। श्रीरूपाजी ने उसे ही बेचकर आज सन्तों की सेवा की। सन्तों के पीछे सबने सीथ-प्रसादी पायी। उसी रात को भगवान ने स्वप्न में कहा कि-"घर में अमुक जगह अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी है, उसे खोदकर आनन्दपूर्वक सन्त-सेवा करो। श्रीरूपाजी ने वह स्थान खोदा तो सचमुच इन्हें अपार धन प्राप्त हुआ। फिर तो बड़े आनन्द से दिन बीतने लगे। सन्तों के मुख से श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की महिमा सुनकर आपने निश्चय किया कि मैं इन्हीं से मंत्र-दीक्षा लूँगा। अपने निश्चय के अनुसार ही आप अपने देश से श्रीमथुरा वृन्दावन के लिये चल पड़े। परन्तु संयोग की बात, जब आप मथुरा पहुँचे तो पता चला कि श्रीहरिव्यासजी तो नित्य निकुंज में प्रवेश कर गये। इस दुःखद समाचार से आपको बड़ी मर्मान्तक पीड़ा हुयी। आप मथुरा विश्राम घाट पर प्राण त्याग का संकल्प कर जा बैठे। अन्त में निष्ठा की विजय हुयी। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने नित्य धाम से प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया। मन्त्रोपदेश देकर श्रीमहावाणीजी के अनुशीलन का आदेश दिया। श्रीगुरुदेवजी की यह अलौकिक कृपा देखकर आप आनन्द विभोर हो गये। तत्पश्चात् श्रीगुरु के आदेशानुसार आप आजीवन श्रीमहावाणीजी के चिन्तन-मनन में रत रहते हुये इष्टाराधन करते रहे। श्रीरूपरसिकजी ने आराधन सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी रचना बड़ी ही सरस है। यथा-"नैंना प्रकृति गही यह न्यारी। जाचत जे लै श्याम सरूपहिं बन-बन बिकल महारी।। अटके नेक न रहे लालची सीख दये सब हारी। रूपरसिक दरसै मनमोहन तबही होय सुखारी।।"

बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरि भजन पर।।
केसौ, पुनि हरिनाथ भीम, खेता, गोविन्द ब्रह्मचारी।
वालकृष्ण, बड़भरथ, अच्युत, अपया व्रतधारी।।
पंडा गोपीनाथ, मुकुन्दा, गजपति महाजस।
गुननिधि, जस गोपाल, देइ भक्तन कौ सरबस।।
श्री अंग सदा सानिधि रहैं कृत पुन्य पुंज भल भाग भर।
बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरि भजन पर।।१०१।।

शब्दार्थ—श्रीअंग=श्रीभगवत्स्वरूप, श्रीभगवत्प्रिय। सानिधि=सान्निध्य, निकट। कृत पुन्य पुंज=पूर्व जन्म में अनन्त पुण्य करने वाले। भल भाग भर=परम सौभाग्यशाली।

भावार्थ—श्रीबदरिकाश्रम, उड़ीसा (श्रीजगन्नाथपुरी), श्रीद्वारिकापुरी-इन श्रीभगवद्धामों में भगवान श्रीनर-नारायण, श्रीजगन्नाथ भगवान और श्रीरणछोड़ भगवान के सभी सेवक बड़े ही श्रीभगवद्-भजन परायण हुये। इनके नाम ये हैं-"श्रीकेशवजी, श्रीहरिनाथजी, श्रीभीमजी, श्रीखेताजी, ब्रह्मचारी श्रीगोविन्दजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीबड़भरतजी, श्रीअच्युतजी, श्रीअपयाजी, पण्डा श्रीगोपीनाथजी, श्रीमुकुन्दजी, महायशस्वी श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी (पुरी नरेश), श्रीगुणनिधिजी और श्रीजसगोपालजी। ये सभी भक्त संत-भगवन्त सेवा का व्रत धारण करने वाले परम यशस्वी तथा भक्तों को अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले हुये। ये सदा भगवान के श्रीअंग के समीप रहते थे। इन्होंने पूर्वजन्म में महान् सुकृत किया था। ये बड़े सौभाग्यशाली थे।।१०१।।

व्याख्या—श्रीअङ्ग सदा सानिधि रहैं—इससे जनाया गया कि ये भक्त भगवान का समस्त कैङ्कर्य अपने हाथों से करते थे। यह सेवा की ही महिमा है कि इन्हें सदैव श्रीभगवत्सामीप्य प्राप्त था। जैसे श्रीहनुमानजी हमेशा श्रीरामजी के समीप रहते हैं। सेवकों को सामीप्य मुक्ति मिलती है। "कृत पुण्य पुंज"-भाव यह कि जिन्हें भगवान की सेवा का, भगवान के दर्शन का, भगवान के साथ सम्बन्ध रखने का सौभाग्य मिलता है, वे निश्चय ही पूर्व जन्म के महान् सुकृति होते हैं। यथा-"नाहित हम कहँ सुनहुँ सखि इन्हकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब पुण्य पुराकृत भूरि।। हम सब सकल सुकृत कैं रासी। भये जग जनमि जनकपुरवासी। जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस विशेषी।। (रामा०) पुनः-हम सब पुण्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे।।" (रामा०) आदि। "भलभागभर"-अर्थात् बड़भागी। श्रीतुलसी दासजी के मत से श्रीहरिचरणानुरागी जन ही बड़भागी कहाने के अधिकारी हैं। यथा-"सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुवीर चरन अनुरागी।।"

श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी

श्रीप्रतापरुद्र गजपति कै बखान कियौ लियौ भक्तिभाव महाप्रभु पै न देखहीं।
किये हूँ उपाय कोटि ओटि लै संन्यास लियौ हियौ अकुलायौ अहो किहूँ मोकों पेखहीं।।
जगन्नाथ रथ आगे नृत्य करैं मत्त भये नीलाचल नृप पांय पर्‌यौ भाग लेखहीं।
छाती सों लगायौ प्रेमसागर बुड़ायौ भयौ अति मन भायौ दुख देत ये निमेखहीं।।४०९।।

शब्दार्थ—ओट=आड़, बहाना। निमेषहीं=क्षणभर ही, थोड़े ही समय।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभाजी ने छप्पय में जो 'गजपति' कहकर वर्णन किया है, वह श्रीजगन्नाथपुरी के राजा थे। उनका पूरा नाम श्रीरुद्रप्रतापजी गजपति था। उन्होंने राजा होकर भी भक्ति भाव को ग्रहण किया था। परन्तु इनकी प्रेम-परीक्षा के लिये श्रीप्रेमपुरुषोत्तम गौराङ्ग महाप्रभुजी इनकी ओर नहीं देखते थे। करोड़ों उपाय करने पर भी श्रीमहाप्रभुजी ने नहीं देखा। तब इन्होंने संन्यास ले लिया। ये हृदय में अत्यन्त आकुल-व्याकुल होते थे कि श्रीमहाप्रभु किसी प्रकार मुझको देखें। आखिर रथयात्रा के समय जब श्रीमहाप्रभुजी श्रीजगन्नाथ भगवान के आगे प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य कर रहे थे, उस समय श्रीनीलाचल (जगन्नाथपुरी) के राजा श्रीरुद्रप्रताप गजपति ने श्रीमहाप्रभुजी का दर्शनकर अपना बड़ा भाग्य समझा और भाव-विभोर होकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में पड़ गये। श्रीमहाप्रभुजी ने भी इनको उठाकर छाती से लगा लिया और प्रेम सागर में डुबो दिया। श्रीरुद्रप्रतापजी का मन भावनापूर्ण हो गया। ये श्रीमहाप्रभुजी का निर्निमेष दर्शनकर रहे थे। उस समय यदि पलकें गिरतीं तो राजा को महान् दु:ख होता।।४०९।।

व्याख्या—श्रीप्रतापरुद्र लियौ भक्तिभाव—पुरी नरेश श्रीरुद्रप्रताप जी परम भागवत राजा हुये। श्रीजगन्नाथ भगवान में इनकी परम निष्ठा थी। भगवान की सेवा की समस्त व्यवस्था इनके ही द्वारा होती थी। इनकी भक्ति की सराहना करते हुये सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी कहते हैं कि-"जगन्नाथे एकराजा किन्तु भक्तोत्तम।।" (चै० च०) अर्थात् श्रीरुद्रप्रतापजी यद्यपि राजा हैं परन्तु श्रीजगन्नाथ भगवान के सेवक हैं और भक्तों में श्रेष्ठ भक्त हैं। " महाप्रभु पैन देखहीं"-राजा की प्रेम-परीक्षा के लिये तथा इनके प्रेम को और भी अधिक उद्दीप्त करने के लिये श्रीमहाप्रभुजी ने यह लीला की थी। "किये हूं उपाय कोटि"-प्रथम तो राजा ने सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी से सिफारिश की कि मुझे जैसे हो तैसे श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करा दीजिये। श्रीसार्वभौमजी ने श्रीमहाप्रभुजी से निवेदन भी किया। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने दो टूक जवाब दे दिया कि संन्यासी को रजोगुणी राजा-महाराजाओं से मिलना उचित नहीं है। श्रीसार्वभौम ने राजा को जब यह प्रभु वचन सुनाया तो प्रथम तो राजा ने मन में बड़ा खेद माना कि मैं श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन का अधिकारी नहीं हूँ। तत्पश्चात् प्रण किया कि-"यदि श्रीमहाप्रभुजी का मुझे दर्शन नहीं होगा तो मैं इस शरीर को ही त्याग दूँगा।" इनके इस दृढ़ निश्चय को देखकर सार्वभौम ने धैर्य बँधाया कि आप जैसे निष्ठावान के ऊपर श्रीमहाप्रभुजी अवश्य अनुग्रह करेंगे।

कुछ दिन बाद राजा ने श्रीरायरामानन्दजी से श्रीप्रभु का दर्शन कराने की प्रार्थना की। अधिकारी जानकर श्रीरायरामानन्दजी ने भी श्रीमहाप्रभुजी से राजा की प्रीति की सराहना करते हुये

दर्शन देने का अनुरोध किया। तब श्रीमहाप्रभुजी ने कहा–"राय! तुम श्रीकृष्ण के प्रधान भक्त हो। तुम्हारे में राजा की इतनी प्रीति है तो इसी गुण से श्रीकृष्ण उसे अवश्य अङ्गीकार करेंगे।" श्रीरायरामानन्दजी के इस सन्देश से राजा को कुछ आश्वासन मिला। फिर राजा ने श्रीमहाप्रभुजी के समस्त परिकरों से प्रार्थना किया कि वे जैसे हो तैसे मुझे श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन करावें। सब परिकर मिलकर श्रीमहाप्रभुजी के पास गये। परन्तु बोलने का साहस किसी को नहीं हुआ। तब श्रीमन्नित्यानन्द महाप्रभुजी ने साहस करके श्रीमहाप्रभुजी से निवेदन किया कि–"यदि आप राजा रुद्रप्रतापजी के ऊपर कृपा नहीं करेंगे तो वे राजपाट छोड़कर संन्यासी हो जायेंगे और देह भी त्याग देंगे।" परन्तु तब भी श्रीमहाप्रभुजी ने कुछ अनुकूल उत्तर नहीं दिया। तब श्रीनित्यानन्दजी ने प्रार्थना किया कि–"यदि आप अपना एक कटि वस्त्र कृपा करके राजा को प्रदान कर दें तो वह उसे पाकर आपके चरण दर्शन की आशा रखते हुये प्राण धारण कर सकेगा।" कृपामय की कृपा हो गयी। राजा को श्रीप्रभु का अमूल्य कटिवस्त्र प्राप्त हो गया। उस कटिवस्त्र को पाकर राजा का मन प्रसन्न हो गया और वे उस वस्त्र की प्रभु के समान पूजा करने लगे।

कुछ दिन बाद राजा ने पुनः श्रीरायरामानन्दजी से श्रीप्रभुजी के दर्शन कराने की प्रार्थना की। श्रीरायरामानन्दजी ने सुअवसर देखकर श्रीप्रभु के समक्ष राजा की वार्ता चलायी। परन्तु श्रीप्रभु अब भी राजा से मिलने को राजी नहीं हुये। श्रीरायरामानन्दजी का विशेष आग्रह देखकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा–"यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो मुझे रुद्रप्रताप के लड़के को लाकर मिला दो। पुत्र पिता की आत्मा ही होता है, अतः पुत्र के मिलने से मानो उसका अपना मिलना हो जायेगा।" श्रीरायरामानन्दजी ने ऐसा ही किया। राजा के पुत्र को देखते ही श्रीमहाप्रभुजी को श्रीकृष्ण की स्मृति हो आयी। वे राजपुत्र का गाढ़ालिङ्गन किये। श्रीमहाप्रभुजी का आलिंगन पाते ही राजकुमार को प्रेमावेश हो गया। शरीर में एक साथ प्रेम के सात्विक भाव अनुभावादिकों का संचार हो आया और वह "कृष्ण-कृष्ण" कहकर नाचने लगा। उसकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह चलने लगा। श्रीमहाप्रभुजी ने राजपुत्र से नित्य मिलने के लिये आने को कहा। फिर श्रीरायरामानन्दजी राजपुत्र को लेकर राजा के पास आये। राजा ने अपने पुत्र का आलिंगन किया तो स्वयं भी उसी प्रेमादशा को प्राप्त हो गये। मानो इन्होंने साक्षात् श्रीमहाप्रभुजी का आलिंगन किया हो। अब राजा को विश्वास हो गया कि मुझे अवश्य श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन होंगे।

रथ यात्रा का समय था। श्रीमहाप्रभुजी अपने परिकरों सहित श्रीजगन्नाथ भगवान की रथयात्रा का दर्शन करने के लिये वहाँ उपस्थित थे। पुरी नरेश महाराज रुद्रप्रतापजी स्वर्ण

मार्जनी लेकर भगवान के सामने का रास्ता बुहार रहे थे एवं चन्दन मिश्रित जल का छिड़काव कर रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी राजा की यह सेवा देखकर बहुत ही सुखी हुये। इसी सेवा के कारण राजा को श्रीमहाप्रभुजी की कृपा प्राप्त हो गयी। श्रीजगन्नाथ भगवान का रथ चला। प्रेम-पुरुषोत्तम श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी अपने परिकरों सहित रथ के आगे कीर्तन करते हुये चल रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी का प्रेमोन्मत्त होकर उद्दाम नृत्य पूर्वक संकीर्तन सबके मन को आकर्षित कर रहा था। राजा रुद्रप्रतापजी उस समय का श्रीप्रभु का प्रेमावेश देखकर विस्मित हो रहे थे। इतने में श्रीमहाप्रभुजी नृत्य करते-करते प्रेमावेश में पछाड़ खाकर राजा रुद्रप्रताप के आगे गिरने लगे। प्रभु को गिरता हुआ देखकर राजा ने अतिशीघ्र अपनी बलिष्ठ भुजाओं से पकड़ लिया। राजा का स्पर्श होते ही प्रभु सावधान हो गये और कहने लगे-"छिः छिः मुझे तो रजोगुणी का स्पर्श हो गया, धिक्कार है मुझको।" प्रभु के वचन सुनकर राजा भयभीत हो गये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी ने इन्हें समझाया कि-"आप चिन्ता न करें, यह तो श्रीप्रभु ने अपने भक्तों को शिक्षा देने के लिये कहा है। आप पर तो अब श्रीप्रभु की शीघ्र कृपा होने वाली है।"

बलगण्डि नामक स्थान पर पहुँचकर श्रीजगन्नाथ भगवान का रथ रुका। वहाँ भगवान को बहुत-बहुत व्यंजनों का भोग लगता है। भक्त लोग भगवान को भोग लगाने लगे। भोग के समय वहाँ बहुत भीड़ हो गयी। अतः श्रीमहाप्रभुजी अपनी मण्डली सहित पास के बगीचे में चले गये। सभी भक्त वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। श्रीमहाप्रभुजी भी एक एकान्त स्थल पर प्रेमावेश में नेत्र बन्द किये हुये शयन कर रहे थे। इतने में राजा रुद्रप्रतापजी सार्वभौमजी की बताई हुयी विधि के अनुसार राजवेष छोड़कर, वैष्णव वेष धारणकर अर्थात् गले में तुलसी की माला, ललाट पर तिलक, बाहुओं में शंख-चक्रादि चिह्न, कटि में साधारण वस्त्र धारण किये हुये वहाँ आये और श्रीप्रभु के चरण दबाने लगे। चरण सेवा करते समय राजा रासपंचाध्यायी के "गोपीगीत" के श्लोकों का सुमधुर स्वर से गान करने लगे। जब राजा ने "तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्। श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।" यह श्लोक गाया तो उसे सुनकर श्रीमहाप्रभुजी बड़े सुखी हुये और प्रेमावेश में उठकर राजा का आलिंगन कर लिया और बोले-"तुमने मुझे बहुत अमूल्य रत्न दिये हैं। मेरे पास और कुछ देने को नहीं हैं, इसलिये मैं तुम्हें आलिंगन ही देता हूँ।" फिर श्रीप्रभु ने उसी प्रेमावेश में पूछा-"मेरा परमहित करने वाले तुम कौन हो ?" राजा ने कहा- "प्रभो! मैं आपके दासों का एक क्षुद्र दास हूँ। आप मुझे अपने दासों का दास कर लीजिये।" तब श्रीमहाप्रभुजी ने राजा को अपना ऐश्वर्य दिखलाया और कहा कि इसे कहीं प्रकट नहीं करना। राजा रुद्रप्रताप के सौभाग्य को देखकर समस्त भक्त आनन्दित मन होकर प्रशंसा करने

लगे। राजा प्रभु को दण्डवत् करके बाहर चले आये और हाथ जोड़कर उन्होंने सभी भक्तों को भी प्रणाम किया। श्रीभक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने कवित्त-४०९ में इसी कथन का संक्षिप्त वर्णन किया है।

श्रीहरिनाथजी—आप दक्षिण देश के रहने वाले थे। घर धन-सम्पत्ति से भरा-पूरा था। श्रीभगवद्-भागवत परिचर्या ही इनकी प्रमुख साधना थी। एकबार स्वप्न में भगवान श्रीनर-नारायण ने इनको आदेश दिया कि सबकुछ छोड़कर मेरी सेवा में आ जाओ। इन्होंने श्रीभगवदादेश शिरोधार्यकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही सर्वस्व त्यागकर श्रीबदरिकाश्रम के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर मनसा-वाचा=कर्मणा भगवान की सेवा में लग गये। इनकी सेवा से रीझकर भगवान ने इन्हें निज अङ्ग सेवा में रख लिया।

श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी—ये बड़े उदारमना, परोपकारी सन्त थे। एकबार एक भक्त को सभी मन्दिरों में दर्शन करते हुये तथा आंसू बहाते हुये देखकर इन्होंने दुःख का कारण पूछा तो उसने बताया कि-"मैं घर से भगवत्सेवा एवं सन्त-सेवा निमित्त बीस स्वर्ण मुद्राएँ लेकर चला था। रास्ते में एक जगह विश्राम कर रहा था। वहीं मेरी सभी मुहरें किसी ने चुरा लीं। मेरे मन का मनोरथ नहीं पूर्ण हो सका। इस बात का मुझे बड़ा दुःख है। इन्होंने कहा-"तुम शोक मत करो, जितना धन चाहो, मुझसे लेकर अपना मनोरथ पूर्ण कर लो।" भक्त का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। उसने श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी से द्रव्य लेकर अपने मन के अनुसार भगवान को भेंट चढ़ाया और सन्तों का भोज भण्डारा किया। उसी रात भगवान ने श्रीगोविन्दजी को स्वप्न में बताया कि-"भक्त की मुहरें अमुक ने चुरायी हैं। तब इन्होंने चोर को एकान्त में बुलाया और विविध प्रकार से उपदेश दिया। चोर ने सब मुहरें लाकर वापस कर दीं और वह स्वयं भी चोरी छोड़कर भक्त बन गया।

हरि सुजस प्रचुर कर जगत में ये कविजन अतिसय उदार।।
विद्यापति, ब्रह्मदास, बहोरन, चतुर विहारी।
गोविन्द, गङ्गा, रामलाल, वरसानियां मंगलकारी।।
प्रिय दयाल, परसराम, भक्त भाई, खाटीकौ।
नन्द सुवन की छाप कवित 'केशव' को नीकौ।।
आस करन, पूरन नृपति, भीषम, जनदयाल गुन नहिन पार।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत में ये कविजन अतिसय उदार।।१०२।।

शब्दार्थ—प्रचुर कर=अधिक वर्णन करने वाले, प्रचारक। अतिसय=अधिक। उदार=बड़े दानी।

भावार्थ—श्रीहरि के सुन्दर यश का जगत में प्रचार करने वाले ये कविजन अत्यन्त उदार हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीविद्यापतिजी, श्रीब्रह्मदासजी, श्रीबहोरनजी, श्रीचतुरकवि श्रीविहारीजी, श्रीगोविन्दस्वामीजी, श्रीगंगारामजी, जगत का कल्याण करने वाले बरसाना निवासी श्रीलालजी, श्रीप्रियदयालजी, श्रीपरशुरामजी, श्रीभक्त भाईजी, श्रीखाटीकजी, श्रीकेशवाचार्यजी, जो अपनी कविता में 'नन्द सुवन' की छाप लगाते थे तथा जिनकी कविता बड़ी ही अच्छी होती थी। श्रीआशकरनजी, राजापूर्णजी, श्रीभीष्मजी, श्रीजनदयालजी, इन सुकवियों के सद्‌गुणों का पार नहीं है।।१०२।।

व्याख्या—अतिशय उदार—श्रीभगवच्चरित गाने वालों को श्रीमद्‌भागवतजी में "भूरिदा" कहा गया है। यथा-"भुविगृणन्ति ते भूरिदा जनाः।" (भा० १०/३१/९) अर्थ-"व्रजसुन्दरियाँ कहती हैं-"हे प्यारे! जो आपके कथामृत का कीर्तन करते हैं एवं उसका निरुपण करते हैं, वे सबसे बड़े दानी अर्थात् सर्व पदार्थों को प्रदान करने वाले हैं।" आगे छप्पय-१४६ में श्रीनाभाजी ने स्पष्ट रूप से हरिगुण गायकों को "भूरिदा" कहा है। यथा-"गुनगन बिसद गोपालके एतेजन भये भूरिदा।।" वही भाव यहाँ "अतिशय उदार" में है।

श्रीगोविन्द स्वामीजी

गोबर्धन नाथ साथ खेलैं सदा झेलैं रंग अंग सख्य भाव हिये गोविन्द सुनाम है।
स्वामी करि ख्यात ताकी बात सुनि लीजे नीके सुने सरसात नैन रीति अभिराम है।।
खेलत हो लाल सङ्ग गयौ लौट दाव लैकै मारी खैंचि गिल्ली देखि मन्दिर में स्याम है।
मानि अपराध साधु धक्कां दै निकारि दियौ मति सो अगाध कैसे जानै वह बाम है।।४१०।।

शब्दार्थ—झेलै रंग=प्रेम से अघाये, सन्तुष्ट रहैं। ख्यात=प्रसिद्ध। लाल=श्रीश्रीनाथजी, श्रीकृष्णजी। गिल्ली=गुल्ली, लड़कों के खेलने का लकड़ी का गोल छोटा टुकड़ा।

भावार्थ—जिनका सुन्दर नाम "गोविन्द" है, ऐसे श्रीगोविन्द नामक भक्तकवि श्रीठाकुरजी के प्रति हृदय में सख्य भाव रखते थे। आप श्रीगोवर्द्धननाथजी (ठाकुर श्रीनाथजी) के साथ नित्य खेला करते थे तथा अपार प्रेमरस में छके रहते थे। ये जनसमाज में "श्रीगोविन्द स्वामी" नाम से विख्यात थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-अब आप लोग उनकी वार्ता को अच्छी प्रकार से श्रवण कीजिये। उनकी प्रीति-रीति बड़ी ही मनोहारिणी थी।

उसे सुनने से नेत्र प्रेमाश्रुओं से भीगकर सरस हो जाते हैं। एकबार ये श्रीलालजी (श्रीनाथजी) के साथ गुल्ली-डण्डे का खेल खेल रहे थे। श्रीठाकुरजी दाँव दिये बिना ही भाग गये। श्रीगोविन्द सखा ने पीछा किया। श्रीश्यामसुन्दर श्रीनाथजी को मन्दिर में विराजमान देखकर इन्होंने क्रुद्ध होकर श्रीठाकुरजी को गुल्ली मारा। पुजारी ने देख लिया। उसने इनका अपराध मानकर इन्हें धक्का देकर मन्दिर से बाहर कर दिया। भला वह प्रेम विमुख इनकी इस अगाध भावप्रवणा बुद्धि को कैसे जान सकता था ? ।।४१०।।

व्याख्या—गोवर्द्धननाथ साथ खेलैं—अवतारकाल में श्रीकृष्ण की खेलने की साध पूरी नहीं हुई, क्योंकि कुल ग्यारह वर्ष तक ही तो बाललीला किये हैं। फिर तो मथुरा चले गये। प्रसंगवश यहाँ एक प्रश्न का समाधान कर दूँ कि भगवान ने ग्यारह वर्ष तक ही बाललीला क्यों की ? तो इसका समाधान करते हुए सन्तजन यह कथा सुनाते हैं कि-''एकबार बड़े जोर का अकाल पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। तब एक धनवान सेठ ने कुछ निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया जिसमें एक घंटा का काम करने पर एक छटांक चून मिलता था। इस प्रकार लोगों को प्राण रक्षा का सम्बल मिल गया। उन्हीं दिनों एक ब्राह्मण के घर एक ऋषि आये। ब्राह्मण के घर में अन्न का एक दाना भी नहीं था, जिससे वह ऋषि का आतिथ्य-सत्कार करता। परन्तु शास्त्राज्ञा है कि अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये। जिसके घर से अतिथि भूखा लौट जाता है, वह उस घर के समस्त पुण्यों को ले जाता है और अपने समस्त पाप दे जाता है। अतः ब्राह्मण ने पास-पड़ोस से कुछ माँगकर ऋषि के जलपान का प्रबन्ध किया और सुखपूर्वक उन्हें घर पर ठहराकर स्वयं सेठ के यहाँ काम करने चला गया। ग्यारह घण्टा काम किया, ग्यारह छटांक चून मिला। लाकर सब ऋषि के सम्मुख रख दिया। ऋषि भी भूखे थे, अतः सब चून बनाकर अकेले ही पा गये। फिर प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मण से वर माँगने को कहा। निष्काम ब्राह्मण ने कुछ भी नहीं माँगा। जब ऋषि ने बहुत जोर दिया तो ब्राह्मण ने कहा-''यदि आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे यही वर दीजिये कि भगवान मेरे पुत्र बनकर मुझे बाल-लीला का सुख दें।'' ऋषि ठगे से रह गये। उन्होंने सोचा था कि गरीब ब्राह्मण है, स्वयं भूखा रहकर इसने मुझे भोजन कराया है तो कुछ धन-सम्पत्ति माँगेगा। परन्तु यह तो भगवान को ही माँग बैठा। मैं तो ठगा गया। परन्तु अब तो देना ही पड़ेगा। अतः ऋषिजी बोले-''तुमने ग्यारह घण्टे काम कर ग्यारह छटांक चून कमाकर मुझे खिलाया है, तो इसके बदले भगवान तुम्हारे यहाँ प्रकट होकर ग्यारह वर्ष तक बाललीला करेंगे।'' वही ब्राह्मण दम्पत्ति कालान्तर में नन्द यशोदा हुये और भगवान श्रीकृष्ण ने ग्यारह वर्ष तक इनके यहाँ पर बाललीला की।

लेकिन इतने मात्र से न तो भगवान श्रीकृष्ण को भी सन्तोष हुआ न संग के सखाओं को ही। अतः भगवान पुनः कलियुग में श्रीनाथजी के रूप में प्रकटे और उनके सखा सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास आदि के रूप में प्रकट हुये।

श्रीगोविन्दस्वामीजी श्रीदामा सखा के अवतार थे। ''गोविन्द सुनाम है''-भक्त गोविन्द स्वामी का जन्म सं० १५६२ के लगभग भरतपुर राज्यान्तर्गत आँतरी ग्राम में सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये काव्य तथा संगीत शास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् थे। इन गुणों के साथ-साथ पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के नाते इनके अनेक शिष्य थे, इसीलिये ये ''स्वामी'' कहलाते थे। ''मानि अपराध''-एक तो इन्होंने श्रीठाकुरजी को गुल्ली मारी थी, दूसरे गुल्ली अपवित्र होती है, वह जहाँ-तहाँ गिरती रहती है, कभी-कभी गन्दी नालियों में भी गिर जाती है। बालकों को तो खेल में इसका विचार नहीं रहता परन्तु मन्दिर में तो विचार किया जाता है। गोविन्द ने मन्दिर में गुल्ली फेंककर मारा था अतः पुजारी ने नाराज होकर धक्का देकर बाहर निकाल दिया। ''कैसे जानै वह बाम है''-इसके दो अर्थ होंगे। एक तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह होगा कि वह सख्य रस वाम अर्थात् बड़ा टेढ़ा है। इसे भला वह कैसे जान सकता है। इस पर-

दृष्टान्त—एक ग्वारिया का—इसका श्रीकृष्ण के साथ सख्यभाव था। नन्दगाँव में रहता था। घर का गरीब था। सगाई की बात चल रही थी। कन्यापक्ष वाले इसे देखने के लिये आने वाले थे। जिस दिन उनका आना था, उस दिन इसने मौका लगाकर श्रीठाकुरजी की पोशाक पहन ली और स्वयं मैली-कुचैली पोशाक श्रीठाकुरजी को पहना दिया। वर देखने वाले उसे पसन्द कर विवाह करके चले गये। उधर श्रीठाकुरजी के पोशाक का हल्ला मचा तो किसी ने बता दिया कि मैंने अमुक ग्वारिया को पहने देखा। जब लोगों ने आकर इससे पूछा तो इसने कहा-''मेरी सगाई मारी जाती, अतः मैंने ठाकुर की पोशाक पहन ली थी। ठाकुर की कौन सगाई मारी जा रही है।'' यह सख्यरस का बाँकापन। सख्य रस के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२६।

बैठ्यौ कुण्ड तीर जाय निकसैगो आय बन, दिये हैं लगाय ताको फल भुगताइयै।
लाल हिय सोच पर्‌यौ, कैसे भर्‌यौ जात वह अर्‌यौ मग मांझ भोग धर्‌यौ पै न खाइयै।।
कही श्री गुसाईंजी कौं, मोकों ये न भाई कछू चाहौ जौ खवावौ तोपै वाकों जा मनाइयै।
वाको हुतो दाँव मोपै, सो तौ भाव जान्यो नहीं कही मोसों बातें सो कुमारै बेगि ल्याइयै।।४११।।

भावार्थ—साधु के द्वारा धक्का देकर मन्दिर से बाहर निकाले जाने पर श्रीगोविन्द सखा एक कुण्ड के किनारे जाकर बैठ गये और सोचने लगे कि आखिर वह (श्रीठाकुरजी) इसी मार्ग से तो निकलकर खेलने के लिये वन को जायेगा। उसने लगवार लगा दिया, जिसने हमें धक्का देकर बाहर निकाल दिया तो इसका फल उसे अवश्य चखाऊँगा। अब तो श्रीलालजी के हृदय में सोच हुआ कि दिन कैसे बीतेगा? मुझे तो खेले बिना बनेगा नहीं, और यह मार्ग में ही डटा बैठा है। अब इसे कैसे सन्तुष्ट किया जाय, कैसे इसका दाँव चुकाया जाय? इतने में गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी ने श्रीठाकुरजी के सामने भोग रखा। परन्तु वे भोग नहीं आरोगे। श्रीगोसाईंजी ने पूछा कि-"जै-जै" आप आरोगते क्यों नहीं हैं?" तो उन्होंने श्रीगोसाईंजी से कहा कि-"मुझको ये कोई भी पदार्थ अच्छे नहीं लग रहे हैं। यदि आप मुझको खिलाना चाहें तो पहले उसको (गोविन्द सखा को) प्रसन्न कीजिये। उसका मुझ पर दाँव था, परन्तु मैं अपना दाँव दिये बिना भाग आया था, इसलिये उसने मुझे गुल्ली मारी थी, इस भाव को तो पुजारी ने जाना नहीं, उल्टे उसका अपराध मानकर उसे धक्का देकर बाहर निकाल दिया। अब वह मुझको तमाम उल्टी-सीधी बातें सुना रहा है। अतः आप उस ब्राह्मण कुमार को शीघ्र मनाकर मेरे पास लाइये तब भोग अरोगूँगा।।४११।।

बन बन खेले बिन बनत न मोकौं नेकु भनत जु गारी अनगनत लगावैगो।
सुधि बुधि मेरी गई भई बड़ी चिन्ता मोहिं ल्याइये जू ढूँढ़ि कहूँ चैन ढिंग आवैगो।।
भोग जे लगाये मैं तौ तनक न पाये रिस वाकी जब जाये तब मोहूं कछु भावैगो।
चले उठि धाये नीठ नीठकै मनाय ल्याये मन्दिर में खाय मिल कही गरें लावैगो।।४१२।।

शब्दार्थ—भनत=बकत, बड़बड़ात, देत। नीठ नीठ=बड़ी कठिनता से।

भावार्थ—श्रीठाकुरजी ने कहा-मुझे वन-वनान्तर में जाकर खेले बिना मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता और वह मार्ग में बैठा हुआ अगणित गालियाँ दे रहा है। यदि मैं बाहर निकलूँगा तो वह बहुत मार लगायेगा। मेरे तो होश-हवास जाते रहे, मुझे बहुत चिन्ता हो गयी है। जब आप उसे कहीं से खोजकर, मनाकर मेरे पास लाइयेगा तब मुझे चैन पड़ेगा। आपने जो भी भोग रखे हैं, उसमें से मैंने तनिक भी नहीं पाया है। जब उसका क्रोध शान्त होगा तभी मुझको भी कुछ अच्छा लगेगा। तब श्रीगुसाईंजी गोविन्द सखा को मनाने चले तो यह उन्हें अपनी ओर आता हुआ देखकर उठ भागे। श्रीगुसाईंजी बड़ी कठिनाई से इन्हें मनाकर मन्दिर में लिवा लाये और बोले कि तुम्हारे सखा (श्रीठाकुरजी) ने कहा है कि हम दोनों एक साथ बैठकर मिलकर खायेंगे और परस्पर गले से लगकर मिलेंगे।।४१२।।

व्याख्या—बन बन खेले बिन०—श्रीगुसाईंजी ने कहा कि तो क्या जरूरत है वन-वन जाकर खेलने की। मन्दिर के आँगन में ही खेल लिया करो। यहाँ ही ठीक रहेगा। छोड़ो गोविन्द का साथ। तब श्रीठाकुरजी ने कहा-"मुझे आँगन में खेलना सुहायेगा ही नहीं और बाहर का मार्ग वह बन्द किये है। "भनत जुगारी"-यथा-"पोत लै आयो भाजि गँवार। खोलि किवार धँस्यो घर भीतर सिखै दिये लँगवार।। कबहूँ तौ निकसैगो बाहर ऐसी दउँगो मार। गोविन्द प्रभु सौं बेरऽब करिकै सुखी न सोवै यार।।" "नीठ नीठकै मनाय ल्याये" -श्रीगोसाँईंजी तो मनाने के लिये चले थे, परन्तु गोविन्द ने समझा कि श्रीठाकुरजी ने गुसाईंजी से शिकायत की होगी, अतः ये मुझे मारने के लिये आ रहे हैं। श्रीगुसाईंजी के हाथ में छड़ी थी। छड़ी लेने का वास्तविक हेतु तो यह था कि श्रीगुसाईं का एक तो वृद्ध शरीर था दूसरे स्थूलकाय भी थे, अतः बिना छड़ी का सहारा लिये चल नहीं सकते थे। परन्तु गोविन्द तो डर गये कि ये मुझे मारने के लिये ही लिये हैं। अतः वह डरकर भागे। श्रीगुसाईंजी बड़े प्रेम से बुलाते कि-"अरे बेटा गोविन्दा! नेक मेरी सुन तो।" गोविन्द कहते-"आप मारेंगे।" जब श्रीगुसाईंजी ने बहुत-बहुत विश्वास दिलाया, तब जैसे-तैसे लौटकर आया। "गरे लावैगो" गोविन्द मन ही मन सोचते आ रहे थे कि यदि मुझे देखकर वह (श्रीठाकुरजी) सिर नीचा कर लेंगे तब तो माफ कर दूँगा और यदि तनिक भी सिर उठाये तो बिना मारे नहीं छोड़ूँगा, चाहे कुछ भी हो जाय। भगवान ने भक्त की बात रख दी। गोविन्द को देखते ही सिर झुका लिया। गोविन्द का क्रोध शान्त हो गया। अब तो दोनों ने संग-संग पाया और गले से लगकर मिले।

गये हे बहिरभूमि तहां कृष्ण आये झूमि करी बड़ी धूम आक बोड़िन सौं मारिकै।
इनहूँ निहारि उठि मारि दई वाहीं सों जु कौतुक अपार सख्य भाव रससार कै।।
माता मग चाहै, बड़ी बेर भई आई तहाँ कहाँ बार लाई ओट पाई उरधारि कै।
आयौ यों विचार अनुसार सदाचार कियौ लियो प्रेम गाढ़ कभूँ करत सँभारि कै।।४१३।।

शब्दार्थ—बहिर भूमि=मल त्याग करने के लिये, डोलडाल। धूम=ऊधम, उत्पात, हलचल। आक=अर्क, मन्दार। बोड़िनसों=फलियों से। मग चाहें=रास्ता देखे। ओटपाई=ऊधमी अथवा ओट=सहारा, बचाव।

भावार्थ—एकदिन गोविन्द सखा शौच के लिये बाहर जंगल में गये हुये थे। प्रेम में झूमते हुये श्रीकृष्ण भी वहाँ आ गये। श्रीकृष्ण ने वहाँ बड़ा ऊधम मचाया। वे गोविन्द को मन्दार के फलों से मारने लगे। इन्होंने भी जब श्रीकृष्ण को देखा तो उठकर उन्हीं फलों से उनको भी मारे। इस प्रकार श्रीकृष्ण और गोविन्द सखा के बीच अपार कौतुक हुये।

श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-"अरे भाई! यह सख्यभाव भक्तिरस का सार जो ठहरा। उधर इनकी माता मार्ग देख रही थीं। जब बहुत देर हो गई और ये घर नहीं गये तब इनकी माता ही वहाँ आयीं। गोविन्द की माता को आया हुआ देखकर श्रीठाकुरजी ने हृदय में विचार किया कि अब ऊधम करना ठीक नहीं है, अतः गोविन्द की ओट में छिप गये, इसी बहाने से गोविन्द की मार से बच गये। गोविन्द को देखकर मैया ने कहा-"अरे ओटपाई (उपद्रवी)! तूने इतनी देर कहाँ लगायी।" गोविन्द बिना कुछ बोले मैया के संग चल पड़े। फिर थोड़ी देर बाद विचार आया कि मैं तो शौच करने बैठा था, परन्तु शुद्धि तो की नहीं, तो तुरन्त इन्होंने नियमानुसार शरीर की शुद्धि रूप सदाचार किया। श्रीप्रियादासजी जी कहते हैं कि श्रीगोविन्द सखा का श्रीठाकुरजी में प्रगाढ़ प्रेम था, अतः श्रीठाकुरजी के साथ खेलते समय ये प्रायः लौकिक सदाचार करना भूल ही जाया करते थे। फिर जब कभी याद आयी तो कर लेते थे।।४१३।।

आवत हो भोग महासुन्दर सुमन्दिर कौं रह्यौ मग बैठि, कही, आगे मोहिं दीजियै।
भयौ कोप भार, थार डारि, जा पुकार करी, भरी न अनीति जात सेवा यह लीजियै।।
बोलिकै सुनाई, अहो कहा मन आई? तब बोलिकै वताई अजू बात कान कीजियै।
पहिले जु खाय बनमाँझ उठि जाय, पाछे पाऊँ कहाँ धाय सुनि मति रस भीजियै।।४१४।।

शब्दार्थ—भार=अधिक। भरी=सही।

भावार्थ—एक दिन मन्दिर में श्रीठाकुरजी के लिये परम सुन्दर भोग आ रहा था। गोविन्द सखा मार्ग में ही बैठे थे। रसोईया से बोले कि-"पहले मुझे भोग लाकर दीजिये फिर बाद में मन्दिर में ले जाना। इतना सुनते ही रसोईया को अपार क्रोध हुआ। उन्होंने भोग का थाल पृथ्वी पर पटक दिया और श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजी से जाकर पुकार की कि अब हमसे गोविन्द की अनीति नहीं सही जाती है। अब आप अपनी यह रसोई की सेवा लीजिये अर्थात् हमसे नहीं होने की है, किसी और से करा लीजिये। तब श्रीगुसाईंजी ने गोविन्द को बुलाकर रसोईया की बात सुनाई और कहा-"तेरे मन में क्या आई है, जो श्रीठाकुरजी से पहले अपने लिये भोग माँग रहा है।" तब गोविन्द सखा ने कहा-"अजी गुसाईंजी! मैं इसका रहस्य बताता हूँ। मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनिये। यह आपके ठाकुरजी पहले खाकर वन को चले जाते हैं और मैं भोजन करके बाद में वन को जाता हूँ तो ये मुझे मिलते ही नहीं है। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर हार जाता हूँ।" यह सुनकर श्रीगुसाईंजी की बुद्धि प्रेमरस में भीग गयी।।४१४।। (तभी से गुसाईंजी ने ऐसी व्यवस्था

कर दी कि मन्दिर में थार जाते समय ही अमनियाँ एक थार गोविन्द सखा को दे दिया जाता। जिससे साथ-साथ वन में जाकर सानंद खेल सकें।)

विशेष—नित्यलीला परिकर होने के कारण श्रीगोविन्द स्वामी को भक्ति का संस्कार जन्मजात था तथा कवित्व शक्ति भी स्वतः सिद्ध थी। अतः बचपन से ही कविता करने लगे थे। इनके पदों को सीखकर बहुत से गायक जहाँ-तहाँ बहुत सम्मान प्राप्त करते थे। कोई-कोई वैष्णव जब इनके पद गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के सम्मुख गाते तो गुसाईंजी बहुत प्रसन्न होते और उसे श्रीठाकुरजी का भोग प्रसाद प्रदान करते। वैष्णवजन आकर श्रीगोविन्द स्वामी को यह खुशखबरी सुनाते। एकबार श्रीभगवदिच्छा से श्रीवृन्दावन में श्रीगोविन्द स्वामी का श्रीगुसाईंजी के एक सेवक से मिलाप हुआ। सत्संग वार्ता के सिलसिले में श्रीगोविन्द स्वामी ने पूछा कि-"श्रीठाकुरजी की लीलाओं का साक्षात् दर्शन कैसे हो?" तब उस वैष्णव ने कहा कि-"मैं इस सम्बन्ध में फिर कभी कहूँगा।" इन्होंने कहा कि-"मैं तो यह रहस्य जानने के लिये अत्यन्त आर्त हूँ और आप कहते हैं-पीछे कहूँगा। मैं कब तक यों ही अज्ञान में पड़ा रहूँगा?" तब उस वैष्णव को इन पर दया आई और वह बोला-"आजकल तो श्रीठाकुरजी को श्रीविट्ठलनाथजी ने अपने वश में कर रखा है। अतः श्रीठाकुरजी की प्राप्ति तो उन्हीं के द्वारा हो सकती है।" तब श्रीगोविन्द स्वामीजी ने उस वैष्णव से निवेदन किया कि मुझे श्रीगोकुल ले चलो और श्रीगुसाईंजी का सेवक बनवा दो। दूसरे दिन दोनों गोकुल आये। उस समय श्रीविट्ठलनाथजी श्रीठकुरानी घाट पर स्नान करके सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। यह देखकर श्रीगोविन्द स्वामी को सन्देह हुआ कि श्रीठाकुरजी तो प्रीति के अधीन हैं और ये कर्मकाण्डरत दिखाई पड़ते हैं, तो भला श्रीठाकुरजी क्योंकर इनके अधीन होंगे। इतने में श्रीगुसाईंजी अपने नित्य कृत्य से निवृत्त होकर इनके समीप आकर पूछे-"गोविन्द! तुम कब आये? प्रश्न सुनकर ही इनका संदेह निवृत्त हो गया। ये समझ गये कि श्रीगुसाईंजी तो श्रीठाकुरजी की तरह सर्वज्ञ जान पड़ते हैं। क्योंकि बिना पूर्व की किसी जान-पहचान के परिचित सरीखे नाम लेकर कुशल पूछ रहे हैं। लगता है कि हमारी इनकी पुरानी (जन्म-जन्मान्तर) की जान-पहचान है। इन्होंने उत्तर में कहा-"महाराज! अभी आया हूँ।" तत्पश्चात् श्रीगुसाईंजी ने राजभोग के अनन्तर इन्हें श्रीठाकुरजी का दर्शन कराया तो साक्षात् बालरूप का दर्शन हुआ। अब तो श्रीगोविन्द स्वामीजी से नहीं रहा गया। इन्होंने श्रीगुसाईंजी से प्रेम भरा उपालम्भ देते हुये कहा-"महाराज! आपने प्रथम तो मुझे अपना कर्मकाण्डी रूप दिखाया और अब देखता हूँ तो आपके यहाँ साक्षात् श्रीप्रभु विराजे हैं।"

तब श्रीगुसाईंजी ने कहा-"गोविन्द! बात यह है कि भक्ति तो फूल रूपी है और कर्म मार्ग काँटा रूप है। जैसे काँटों से फूलों की रक्षा होती है उसी प्रकार कर्म मार्ग रूपी काँटों की बाड़ से भक्तिरूपी फूल की सुरक्षा होती है। अतः मैंने कर्मयोग की रीति दिखलायी।" रहस्य की यह बात सुनकर श्रीगोविन्द स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुये। फिर इनके अनुरोध पर श्रीगुसाईंजी ने इन्हें विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा दी, ब्रह्म सम्बन्ध कराया। अब ये गोविन्दस्वामी से गोविन्ददास हो गये। इन्होंने ने अपनी जन्मभूमि आँतरी छोड़कर श्रीगोकुल (महावन) को ही अपना निवास स्थान बनाया। इन पर श्रीगुसाईंजी बहुत कृपा करते।

श्रीगोविन्ददासजी नित्य महावन के एक टीले पर बैठकर पद-कीर्तन करते थे। श्रीठाकुरजी नित्य इनके पदों को सुनने वहाँ आते थे। कभी-कभी ठाकुरजी भी इनकी तान में तान मिलाकर पद गाने लगते थे। एकदिन मदनगोपालदास नाम के एक वैष्णव इनके समीप बैठकर पद श्रवण कर रहे थे। श्रीठाकुरजी भी इनके साथ गा रहे थे। तान में तनिक अन्तर देखकर इन्होंने श्रीठाकुरजी से कहा कि-"तान सूधी लो।" मदनगोपालदास को आश्चर्य हुआ कि यहाँ तो कोई और है नहीं, यह किससे कह रहे हैं? उन्होंने पूछा भी, तो इन्होंने बात टाल दी कि मैं यों ही बका करता हूँ। परन्तु आखिर एकदिन रहस्य उद्घाटन हो ही गया। श्रीविट्ठलनाथजी ने एक दिन पूछा-"गोविन्द! श्रीठाकुरजी कैसा गाते हैं?" तब इन्होंने कहा-"महाराज! श्रीठाकुरजी जैसा गाते हैं वैसा तो गाते ही हैं, श्रीस्वामिनीजी उनसे भी बढ़िया गाती हैं। श्रीविट्ठलनाथजी गोविन्द के ऊपर युगल की कृपा विचारकर मुस्क्या गये।

एकदिन इनकी जन्मभूमि आँतरी ग्राम से कुछ लोग इनसे मिलने आये। ये श्रीयशोदा घाट पर बैठे थे। उन लोगों ने इन्हें पहचाना नहीं, इनसे ही पूछने लगे-"गोविन्द स्वामी कहाँ रहते हैं?" इन्होंने कहा-"उनको मरे तो बहुत दिन हो गये।" उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। वे पता लगाते-लगाते इनके घर पहुँचे। इतने में ये भी घर आ गये। इनकी बहिन कान्हाबाई ने कहा कि-"यही है गोविन्द स्वामी।" तब उन लोगों ने इनसे पूछा कि-"आपने ऐसा क्यों कहा है कि उनको मरे बहुत दिन हो गये।" तो उन्होंने बताया कि-"आप लोगों ने स्वामी कहकर पूछा था, तो मेरे स्वामीपने का तो कब का अन्त हो गया है, अब तो मैं दास हो गया हूँ।" इनकी यह प्रेम भरी वाणी सुनकर लोग बड़े प्रभावित हुये और इनसे प्रार्थना किये कि हमें भी नाम सुना दीजिये। इन्होंने कहा कि-"नाम सुनाने के अधिकारी तो स्वामी ही होते हैं, दास नहीं। फिर सबको लेकर श्रीविट्ठलनाथजी का शिष्य करा दिया।

श्रीयमुनाजी में ये साक्षात् श्री श्रीजी की भावना करते थे। अतः कभी भी उनमें पाँव नहीं डालते थे। स्नानादि कुँए पर ही करते थे। एकदिन श्रीगुसाईंजी के पुत्र श्रीबालकृष्णजी और श्रीगोकुलनाथजी ने इन्हें जबर्दस्ती पकड़कर श्रीयमुना स्नान कराना चाहा, तो इन्होंने अपनी निष्ठा की बात बतायी। तब उन लोगों ने इन्हें छोड़ दिया और स्वयं भी बड़े भावपूर्वक श्रीयमुनाजी का दर्शन करने लगे। तब उन लोगों को भी श्रीयमुनाजी ने श्रीजी के रूप में दर्शन दिया था।

एकदिन श्रीगुसाईंजी श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के अठारहवें अध्याय "वेणुगीत" के अन्तिम श्लोक की व्याख्या कर रहे थे। रस का प्रसंग होने से वक्ता-श्रोता ऐसे भाव-विभोर हो गये कि आधी रात हो गयी, व्याख्या पूरी नहीं भयी। तब श्रीगुसाईंजी सबको शयन का आदेश देकर स्वयं भी शयन करने चले गये। श्रीगोविन्ददासजी अपने घर को जा रहे थे। मार्ग में बैठक में श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी एवं और भी बहुत से वैष्णव मिले। श्रीगोकुलनाथजी ने पूछा-"आज घर जाने में इतनी देर क्यों लगाई? इन्होंने कहा-"महाराज! श्रीगुसाईं के श्रीमुख से कथामृत का पान करने में कुछ विलम्ब हो गया।" उन्होंने पूछा-"व्याख्या कैसी थी?" इन्होंने गद्गद होकर कहा-"महाराज! अपनी बात आप स्वयं कहें तो उसकी क्या तुलना? अर्थात् श्रीगुसाईंजी तो साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वयं अपनी लीला का आप ही वर्णन कर रहे हैं, भला वैसा वर्णन कोई और कर ही कैसे सकता है?" तब श्रीगोकुलनाथजी सबके समक्ष कहा-"श्रीगोविन्ददासजी ने श्रीगुसाईंजी के स्वरूप को अच्छी तरह जाना है। तत्पश्चात् श्रीगोविन्द दासजी सबको प्रणाम करके घर गये।

कवित्त ४१० में श्रीप्रियादासजी ने जो लिखा है कि-"गोवर्धननाथ साथ खेलैं सदा" सो सचमुच श्रीनाथजी श्रीगोविन्ददासजी के साथ नित्य वन-वन में जाकर क्रीड़ा करते थे। एकदिन दोनों अप्सरा कुण्ड पर खेल रहे थे। खेल समाप्त होने पर गोविन्ददास जब गिरिराज पर आये तो देखे कि यहाँ तो राजभोग की आरती हो चुकी है। तब इन्होंने कहा कि श्रीठाकुरजी तो मेरे साथ अप्सरा कुण्ड पर खेल रहे थे, अभी-अभी मन्दिर में आये हैं फिर भोग किसको लगा, किसने आरोगा? तब श्रीगुसाईं ने पुनः रसोई बनवायी, भोग लगाया और आरती की। एकबार श्रीगोपालदासजी भीतरिया ने भी श्रीनाथजी एवं गोविन्ददास को पूछरी की ओर से आते देखा था। उन्होंने ने श्रीगुसाईंजी से कहा तो श्रीगुसाईंजी ने भी उनके कथन का समर्थन किया।

एकदिन उत्थापन के समय गोविन्ददासजी श्रीनाथजी का दर्शन कर रहे थे। इन्होंने देखा कि श्रीठाकुरजी की पाग की पेंचें ढीली पड़ गई हैं तो ठाकुरजी से पूछे-"जै-जै!

पाग की पेंचें खुली क्यों हैं? जरा सँभाल लीजिये अपनी पाग को।'' श्रीठाकुरजी ने कहा- ''गोविन्ददास! तुम पाग बहुत अच्छी बाँधता है, आज तू ही मेरी पाग सँभाल दे।'' तब श्रीगोविन्ददासजी मन्दिर में घुसकर श्रीठाकुरजी की पाग बाँधे। भीतरिया ने श्रीगुसाईंजी से शिकायत की कि गोविन्ददास ने मन्दिर में प्रविष्ट होकर श्रीठाकुरजी का स्पर्श किया है, छूकर पाग बाँधी है। श्रीगुसाईंजी ने कहा-''गोविन्ददास के छूने से श्रीनाथजी नहीं छू जाते हैं। वे तो नित्य गोविन्ददास के साथ खेलते रहते हैं।

एकदिन श्रीगुसाईंजी श्रीनाथजी का शृङ्गार कर रहे थे और श्रीगोविन्ददासजी जगमोहन में कीर्तन कर रहे थे। श्रीनाथजी श्रीगुसाईंजी की दृष्टि बचा-बचाकर गोविन्ददासजी को कांकरी मार रहे थे। जब आठ कांकरी मार चुके तब श्रीगोविन्ददासजी ने भी एक कांकरी श्रीनाथजी को मारी। श्रीनाथजी चौंक पड़े। श्रीगुसाईंजी ने पूछा-''जै-जै, क्या बात है?'' श्रीनाथजी ने कहा- ''गोविन्द ने कांकरी मारी है?'' श्रीगुसाईंजी ने झुंझलाकर कहा-''क्यों रे गोविन्दा! सेवा के समय भी उधम करता है।'' तब तो गोविन्ददासजी ने भी रिसियाकर कहा-''गुसाईंजी! आपको अपने ठाकुरजी का दोष दिखलायी नहीं पड़ता है, मुझे ही आँख तरेर रहे हो! कहावत सच है-''अपनों पूत सपूत दूसरे को मूली गाजर।'' आप भी अपने पूत को तो सपूत मानते हो और दूसरे के पूत को मूली गाजर समझते हो? देखो हमारी ओर, जब आपके ठाकुरजी ने आठ कांकरी मुझको मारी, तब तो आपको नेकहूँ रिस नहीं आई और जब मैंने एक कांकरी मार दी तो आप आँखें लाल-पीली कर रहे हो। यह सुनकर श्रीगुसाईंजी हँस गये।

एकबार श्रीगोविन्ददास की बेटी आँतरी ग्राम से मिलने आयी। कुछ दिन रही भी। परन्तु इन्होंने उससे कुशल-मङ्गल नहीं पूछा। इनकी बहिन कान्हबाई ने कहा भी कि-''बेटी को आये इतने दिन हो गये, परन्तु तुमने बात भी नहीं पूछी।'' इन्होंने कहा-''कन्हिया! मन तो एक ही है, चाहे इसे श्रीठाकुरजी में लगा लो, चाहे बेटी में। मैंने तो श्रीठाकुरजी में लगा रखा है, अतः बोलने का अवकाश ही कहाँ रहा?'' कहते हैं कि जब इनकी बेटी अपने घर जाने लगी तो श्रीगुसाईंजी की बहू-बेटियों ने उसे कुछ प्रसाद स्वरूप में वस्त्रादि दिया। परन्तु जब गोविन्द दासजी को यह पता चला तो इन्होंने यह कहकर वापस करा दिया कि-''गुरु-गोविन्द को तो कुछ देना ही चाहिये, इनसे लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

एकदिन बसन्त के समय ये लीला का चिन्तन करते हुये धमार पद गा रहे थे। लीला के प्रसंग में श्री श्रीजी औचक ही आकर श्रीठाकुरजी के गाल में अबीर, गुलाल, अरगजा, कुंकुम लगाकर भाग गयीं तो श्रीगोविन्ददासजी ने उतना ही गाकर कि-''अरगजा

कुंकुम घोरिकै प्यारी लीन्हों कर लपटाइ। अचकाँ अचकाँ आइ करि भाजी गिरिधर गाल लगाइ।।'' पद को पूरा किये बिना ही पद गाना बन्द कर दिया। श्रीगुसाईंजी ने पूछा–''गोविन्द! तुमने पद पूरा किये बिना ही गान क्यों बन्द कर दिया? इन्होंने कहा–''गुसाईंजी! क्या करूँ, खेल ही खतम हो गया, अब आगे गाऊँ क्या?'' श्रीजी भागीं तो उनके साथ मेरी धमार भी भाग गयी। यह विनोदवार्ता सुनकर श्रीगुसाईंजी बहुत प्रसन्न हुये। तब पद की पूर्ति श्रीगोकुलनाथजी ने की।

श्रीगोविन्ददासजी को पगड़ी बाँधने का बहुत शौक था। ये पाग बहुत अच्छी बाँधते भी थे। परन्तु गरीब होने के कारण इनके पास पाग बाँधने के लिये समुचित वस्त्र का अभाव था, अतः कई वस्त्र खण्ड मिलाकर पाग बाँधते थे। एकदिन एक ब्रजवासी इनकी पाग देखकर मोह गया और इनके सिर से पाग उतार ली। इन्होंने कहा–''सारे! सोरह टूक की मेरी पाग है, सँभाल के रखना।'' ब्रजवासी ने तुरन्त इस महा अकिंचन को प्रणाम कर पाग वापस कर दी।

ये बड़े विनोदी भी थे। एकदिन एक आदमी मनमुखी ढङ्ग से बहुत ही बेसुरा गा रहा था। इन्होंने उसे टोका तो उसने कहा–''मैं तो अपने भगवान को रिझा रहा हूँ। मुझे स्वर-ताल से क्या प्रयोजन?'' इन्होंने कहा–''बावरे! जब तेरे गान पर मनुष्य ही नहीं रीझेंगे तो भगवान क्या रीझेंगे?'' इनका तात्पर्य यह था कि जो भी साधन किया जाय, वह श्रीगुरु-उपदिष्ट विधि से किया जाय, तब भगवान प्रसन्न होते हैं।

एकदिन श्रीनाथजी श्याम ढाक पर बैठे हुये मुरली बजा रहे थे। ग्वाल-बाल सब नीचे बैठे थे। श्रीगोविन्ददासजी एक चबूतरा पर बैठकर पद-कीर्तन कर रहे थे। इतने में उत्थापन-भोग का समय हुआ। श्रीगुसाईंजी स्नान करके सेवा निमित्त पधारे। श्रीनाथजी ढाक पर से कूदकर तुरन्त मन्दिर को भागे और जाकर सिंहासन पर विराजमान हो गये। उतावली में श्रीनाथजी का बागा ढाक में उलझकर फट गया। उसका फटा हुआ टुकड़ा ढाक में उलझा ही रह गया। उधर जब श्रीगुसाईंजी ने मन्दिर का पट खोला तो उन्हें बागा फटा दिखाई पड़ा। प्रथम तो उन्होंने श्रीठाकुरजी से प्रेमपूर्वक पूछा कि–''जै-जै यह, नया बागा इतनी जल्दी फट कैसे गया?'' परन्तु श्रीठाकुरजी ने भयवश कुछ भी उत्तर नहीं दिया। केवल मुस्कुराकर सिर नीचा कर लिये। तब श्रीगुसाईंजी ने अन्य सेवकों से पूछा कि–''यहाँ कोई आया तो नहीं था?'' उन सबों ने कहा–''महाराज! इस दरम्यान तो कोई नहीं आया था।'' श्रीगुसाईंजी चुप लगा गये। भोग लगाकर अपनी बैठक में अनमने से होकर जा बैठे।

इतने में ही गोविन्ददासजी आ गये। उन्होंने श्रीगुसाईंजी को अनमना देखकर पूछ ही दिया कि–"आज आप उदास क्यों बैठे हैं?" प्रथम तो उन्होंने कुछ टाल-मटोल किया, परन्तु आग्रह करने पर बताया कि–"गोविन्द! आज न जाने श्रीठाकुरजी ने कौन-सी लीला की है जो उनका बागा फट गया है। पता नहीं किसी से कुछ अपराध तो नहीं बन गया है।" तब गोविन्ददासजी ने हँसकर कहा–"गुसाईंजी! आप भी बड़े भोरे हैं। अरे, आप अपने लालजी (श्रीठाकुरजी) का स्वभाव तो जानते ही हैं कि वे कितने चपल हैं। चलिये, मैं आपको दिखाऊँ कि इनका बागा कहाँ फटा है और कैसे फटा है?" फिर गोविन्ददासजी ने श्रीगुसाईंजी को ले जाकर श्याम ढाक पर अटका हुआ वह बागे का टुकड़ा दिखलाया और समस्त वृत्तान्त बताया। श्रीगुसाईंजी वह टुकड़ा लेकर मन्दिर को आये और बागे से मिलाकर देखे तो निश्चय हो गया कि श्रीनाथजी के बागे से ही फटा है। तब श्रीगुसाईंजी श्रीनाथजी की ओर देखकर हँस गये और श्रीनाथजी भी श्रीगुसाईंजी की ओर देखकर हँस गये। श्रीगुसाईंजी गोविन्ददास पर बहुत प्रसन्न हुये और उसी दिन से सेवा में यह नियम बना दिये कि भोग के समय प्रथम तीन बार घण्टानाद, फिर तीन बार शंखनाद करके कुछ देर तक रुककर तब भोग धरा जाय, जिसमें श्रीठाकुरजी को इतना श्रम न करना पड़े।

एकदिन प्रातःकाल के समय श्रीगोविन्ददासजी श्रीयशोदाघाट पर बैठकर भैरवी राग में पद गा रहे थे। सुनकर श्रोतागण भाव-विभोर हो रहे थे। कहते हैं कि श्रोताओं में बादशाह अकबर भी छिपकर इनका पद सुन रहा था। पद सुनकर वह ऐसा मुग्ध हुआ कि उसके मुख से बरबस 'वाह-वाह' निकल पड़ा। परन्तु उसके 'वाह-वाह' से श्रीगोविन्ददासजी को प्रसन्नता नहीं हुयी, बल्कि उन्हें इस बात की बड़ी ग्लानि हुयी कि म्लेच्छ ने इस राग को सुन लिया। अब तो यह राग जूठा हो गया। अब भला मैं इसे प्रभु के समक्ष कैसे गा सकूँगा? उसी दिन से श्रीगोविन्ददासजी ने कभी भी भैरवी राग में कोई पद नहीं गाया।

एकबार संगीत सम्राट तानसेन गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी को अपने गान से रिझाने गोकुल पहुँचे। बादशाह के दरबार का गायक जानकर श्रीगुसाईंजी ने तानसेन का सम्मान किया और उनका पद सुनकर पारितोषिक में उन्हें १०००) एक हजार रुपया और एक कौड़ी दिया। तानसेन की समझ में नहीं आया कि श्रीगुसाईंजी ने रुपयों के साथ कौड़ी क्यों दी है। आखिर उन्होंने इसका रहस्य श्रीगुसाईंजी से पूछा। तब उन्होंने बताया कि–"बादशाह के गवैया हो, अतः सम्मान में एक हजार रुपये दिये और हमारे श्रीठाकुरजी के कीर्तनियाँ गोविन्ददासजी के सप्रेम कलात्मक गान के समक्ष आपका कोरा कलात्मक गान एक कौड़ी का लगा, अतः

मैंने एक कौड़ी भी दी। तानसेन का मन मचल उठा श्रीगोविन्ददासजी का गान सुनने को। श्रीगुसाईंजी ने बुलाकर श्रीठाकुरजी के सामने गवाया तो तानसेन ने कहा-"महाराज! आपने इनके गान के समक्ष मेरे गान की कीमत जो एक कौड़ी आँकी थी वह अधिक थी। वस्तुतस्तु इनके सामने तो मेरा गान एक कौड़ी का भी नहीं है।

एकदिन एक वैष्णव ने श्रीगोविन्ददासजी को खड़े-खड़े लघुशंका करते देखा तो उन्होंने श्रीगुसाईंजी से इनकी शिकायत की। इतने में श्रीगोविन्ददासजी श्रीगुसाईंजी का दर्शन करने आये तो आप श्री ने इनसे पूछा कि-"गोविन्द! तुमने आचार-विचार को एकदम तिलांजलि क्यों दे दी? देखो, ये वैष्णव आपकी शिकायत कर रहे हैं। इन्होंने हाथ जोड़कर कहा-"गुसाईंजी! आप तो सर्वान्तर्यामी हो। आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि क्या घोड़ा कभी बैठकर लघुशंका करता है? अरे, उस समय श्रीनाथजी मुझे घोड़ा बनाकर मेरे कंधे पर सवार होकर वन में खेलने जा रहे थे। तभी मुझको लघुशंका लगी, तो भला मैं बैठकर कैसे कर सकता था? इसीलिये मैंने खड़े-खड़े ही लघुशंका किया। इस अन्धे ने मुझे लघुशंका करते तो देख लिया परन्तु श्रीनाथजी तो इसे दिखाई नहीं पड़े। अतः शिकायत करने चला आया। श्रीगुसाईंजी सुनकर मुस्क्या गये।

कान्हा नाम का एक भंगी का बालक था। वह नित्यप्रति श्रीनाथजी के मन्दिर के सामने झाडू लगाने आता था। उसकी भी श्रीनाथजी के चरणों में अनन्य प्रीति थी। श्रीनाथजी जैसे गोविन्ददासजी के साथ खेलते थे वैसे ही कान्हा के साथ भी क्रीड़ायें करते थे। एकदिन श्रीनाथजी और श्रीगोविन्ददासजी कान्हा के साथ खेल रहे थे। खेल में कान्हा हार गया तो श्रीनाथजी ने उसे घोड़ा बनाया और उसकी पीठ चढ़े। जब खेल खत्म हो गया और श्रीनाथजी मन्दिर में जाने लगे तो श्रीगोविन्ददासजी ने कहा-"जै-जै, श्रीगुसाईंजी तो मन्दिर में बड़ा आचार-विचार करते हैं और आप अब भंगी को छूकर मन्दिर में प्रवेश करेंगे, राजभोग आरोगेंगे, इस प्रकार आप मर्यादा मिटाकर भ्रष्टाचार फैलायेंगे। यह उचित नहीं है। मुझसे तो यह अनीति सही नहीं जा सकती। मैं तो श्रीगुसाईंजी से शिकायत करूँगा। श्रीठाकुरजी ने कहा-"भैया ऐसा नहीं करना। मुझे जी भरकर अपने सखाओं के साथ खेलने दो। मैं तुम्हारी हा-हा खाता हूँ।" परन्तु श्रीगोविन्ददासजी ने एक नहीं मानी। इनका कहना था कि आप पहले समीपस्थ गोविन्दकुण्ड में स्नान करके तब मन्दिर में प्रवेश करिये।" श्रीठाकुरजी ने कहा-"भैया ठण्ड के दिन हैं, स्नान करने का मन नहीं हो रहा है। मैं ऐसे आचार-विचार से बाज आया।" तब श्रीगोविन्ददासजी ने कहा-"अच्छा स्नान नहीं करना चाहते हैं तो कम से कम कुण्ड

पर चलकर मन्त्र पढ़कर मार्जन तो कर लीजिये।'' श्रीठाकुरजी ने श्रीगोविन्ददासजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कुण्ड पर आकर मार्जन आचमन करने लगे। तब तक औचक ही गोविन्द ने धक्का देकर श्रीनाथजी को कुण्ड में गिरा दिया। संग-संग अपने भी गिरा। श्रीनाथजी को तैरने का अभ्यास कुछ कम था, अतः वह कुण्ड में गोता खाने लगे। तब श्रीगोविन्ददासजी ने ही बाँह पकड़कर निकाला भी। तत्पश्चात् ताली बजाते हुये गोविन्द अपने घर को भाग गये और श्रीनाथजी भीगे वस्त्र मन्दिर में आकर विराजे। जब श्रीगुसाईंजी सेवा में गये और श्रीठाकुरजी को भीगे वस्त्र पाये तो पूछे-''जै-जै, यह वस्त्र कैसे भीगे हैं?'' श्रीनाथजी ने मुँह बिचकाकर कहा-''गोविन्द ने धक्का देकर मुझे कुण्ड में गिरा दिया था, अतः मेरे सभी वस्त्र भीग गये।'' श्रीगुसाईंजी ने तुरन्त गोविन्ददासजी को बुलाया और बड़ी फटकार लगायी कि कहीं ऐसा खेल खेला जाता है, जिससे जान जोखम उपस्थित हो, रार-तकरार बढ़े। श्रीगोविन्ददासजी ने हँसकर कहा-''गुसाईंजी! आपके श्रीलालजी (श्रीठाकुरजी) भंगी के बेटे को घोड़ा बनाकर उस पर सवारी किये थे। हमने कहा-''स्नान करके मन्दिर में चलो, परन्तु ये नहीं माने, तब मैं जैसे-तैसे इन्हें स्नान कराकर मन्दिर में ले आया। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो आपका सब आचार-विचार समाप्त हो जाता। यह सुनकर श्रीगुसाईंजी का हृदय भर आया और कहने लगे कि धन्य हैं गोविन्द सखा, जिनके साथ खेले बिना श्रीठाकुरजी का मन ही नहीं मानता।''

इस प्रकार श्रीगोविन्ददासजी के अनन्त चरित्र हैं। श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकुम्भनदासजी की तरह श्रीगोविन्ददासजी भी नित्य नूतन पद रचना तथा गायन द्वारा श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा किया करते। आपके पद बड़े ही सुललित हैं। यथा-''प्रीतम प्रीति ही ते पैये। जदपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये।। सत कुल जनम करम सब लच्छन वेद पुरान पढ़ैये। गोविन्द प्रभु गुन रूप सुधा बिन रसना कहाँ नचैये।।१।। आओ मेरे गोविन्द गोकुल चन्दा। भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट बदन दिखाय देहु आनन्दा।। गायन की आवन की बिरियाँ दिन मनि किरन होति अति मन्दा। आये तात मात छतियाँ लगे गोविन्द प्रभु ब्रजजन सुखकन्दा।।२।।'' श्रीगोविन्दस्वामीजी का तिरोधान श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजी के साथ ही हुआ। श्रीगुसाईंजी के तुरन्त बाद ही ये श्रीगोवर्धनजी की कन्दरा में प्रवेश कर गये।

श्रीविद्यापतिजी—मैथिल कोकिल महाकवि श्रीविद्यापतिजी का प्रादुर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं सदी में बिहार प्रान्त के विसपी ग्राम में मैथिल ब्राह्मण कुल में हुआ था। श्रीराधा-कृष्ण इनके परमाराध्य थे। इन्होंने कवि चक्रवर्ती श्रीजयदेवजी की तरह शृङ्गार रस पद्धति

से श्रीराधाकृष्ण की लीलाओं का आस्वादन किया है। इनके पदों में रस मूर्तिमान हो गया है। यथा-''नन्दक नंदन कदम्बक तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव। समय संकेत निकेतन बइसल फेरि फेरि बोलि पठाव।। सामरि तोरा लगि अनुखन बिकल मुरारि। जमुना के तिर उपवन उदवेगल फिरि-फिरि ततहिं निहारि।। गोरस बेंचए अवइत जाइत जनि जनि पुछ वन मारि। तोहें मतिमान सुमति मधुसूदन वचन सुनहुं किछु मोरा।। भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति वंदह नंद किशोरा।।१।। लोचन धायेल फेधायेल हरि नहिं आयल रे। शिव शिव जिवउ न जाये आस अरुझायल रे।। मन करि तहँ उड़ि जाइय जहँ हरि पाइय रे। प्रेम परस मनि जानि ताहि उर लाइय रे।। सपनेहुं संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे। सेउ हमरा विधि विघटावल निन्दिओ हेरायल रे।। भनइ विद्यापति गाओल धनि धीरज कर रे। अचिरे मिलि तोहिं बालम पुरत मनोरथ रे।।२।। कुँज भवन ते निकसलि हे रोकल गिरिधारी। एक ही नगर बस माधव हे जनि करु बटमारी।। छाँड़ू कन्हैया मोर आँचर हे फाटति नवसारी। अपजश होइत जगत भरि हे जनि करहु उघारी।। संग की सखी अगुआइल हे हम एकसरि नारी। दामिनि आइतुलायल हे एकराति अंध्यारी।। भनइ विद्यापति गाओल हे सुनु गुनवंती नारी। हरि के संग तोहि डर नाहिं हे, तू है परम गँवारी।।३।।''

श्रीविद्यापतिजी की उपासना में अनन्यता के नाम पर संकीर्णता नहीं थी। वे सभी देवी-देवताओं के प्रति आदर भाव रखते थे। इनके पदों में श्रीशिव, पार्वती, गङ्गा के प्रति भी इनकी बड़ी भक्ति दिखाई पड़ती है। श्रीपार्वतजी का स्मरण करते हुये आप लिखते हैं कि-''हिमगिरि कुँवरि चरन हिरदय धरि कवि विद्यापति भाखे।'' वाणेश्वर महादेव की स्तुति करते हुये आप कहते हैं-''कखन हरब दुःख मोर, हे भोलानाथ। दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब, सुख सपनेहु नहिं भेल हे भोलानाथ। भनइ विद्यापति मोर भोलानाथ गति, देहु अभय वर मोहिं हे भोलानाथ।।'' आदि। इनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर भगवान शिव ने बहुत काल तक इनकी चाकरी बजाई। वह प्रसंग इस प्रकार है-''एकबार श्रीविद्यापतिजी के मन में एक सुयोग्य सेवक की अभिलाषा हुई। बस, उसी क्षण एक गौर वर्ण व्यक्ति इनके पास आया और अपने को नौकर रख लेने की प्रार्थना करने लगा। उसके सुन्दर स्वरूप और मधुर वचनों ने इनके मन को आकृष्ट कर लिया। अतः इन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उसका नाम उगना था। उगना इनकी समस्त सेवायें करता। एकदिन ये उगना को साथ लिये कहीं पर जा रहे थे। मार्ग में इन्हें प्यास लगी। उगना से जल लाने को कहा। उगना थोड़ी ही दूर जाकर वृक्षों के झुरमुट में से लोटा भर लाया। इन्होंने जलपान किया। गंगाजल का सा स्वाद आया।

चकित हो गये कि यहाँ गंगाजल कहाँ? पूछे तो उगना ने कहा-" यही पास से ही लाया हूँ।" उगना के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। श्रीविद्यापतिजी ने नेत्र बन्दकर किंचित् ध्यान किया। जब नेत्र खोले तो इन्हें उगना की जगह भगवान शिव के दर्शन हुये। ये भगवान शिव के चरणों में लोट-पोट हो गये। श्रीशिवजी की जटाओं से गंगा की धारा बह रही थी। श्रीविद्यापतिजी समझ गये कि सचमुच वह जल किसी अन्य कूप बावली का न होकर साक्षात् गंगाजी का ही था। श्रीशिवजी ने कहा-"विद्यापतिजी! मुझे आपके साथ रहने में बड़ा सुख मिलता है, अतः मैं ही उगना रूप से आपकी सेवा में रह रहा था। अभी भी मैं आपके ही साथ रहना चाहता हूँ। परन्तु देखना, यह रहस्य किसी से प्रकट न करना।" इतना कहकर भगवान शिवजी पुनः उगना रूप में हो गये। परन्तु अब श्रीविद्यापतिजी और उगना में पहले जैसा स्वामी सेवक का भाव नहीं रहा। अब तो यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कौन स्वामी है और कौन सेवक? सेवक के साथ इस प्रकार का बर्ताव श्रीविद्यापतिजी की पत्नी को अच्छा नहीं लगता, अतः वह उगना से चिढ़ने लगीं। एकदिन तो किसी कार्य में किंचित् देर हो जाने पर वे उगना को जलती हुई लकड़ी लेकर मारने दौड़ी। यह देखकर श्रीविद्यापतिजी से रहा नहीं गया। वे बोल ही पड़े-"अरे, अधमे! तू मेरे इष्टदेव देवदेव महादेव को मारने दौड़ रही है।" पत्नी तो जहाँ की तहाँ रुक गईं परन्तु उगना अन्तर्धान हो गया। श्रीविद्यापतिजी को उगना का वियोग व्याप गया। उस समय इन्होंने यह पद गाया-"उगना रे मोर कतए गेला। कतए गेला सिवकी दहु भेला।। भांग नहिं बटुआ रूसि वैसलाह। जोहि हेरि आनदेल हँसि उठिलाह।। जे मोर कहता उगना उ देस। ताहि देबओकर कंगना बेस।। नन्दन बन में भेंटल महेस। गौरि मन हरषित मेटल कलेस।। विद्यापति भन उगना सो काज। नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज।।

"श्रीगंगावाक्यावली" नामक रचना में इनकी गङ्गानिष्ठा व्यक्त होती है। कहते हैं कि इनके देह-त्याग के समय जब इनके परिवार के लोग इन्हें श्रीगंगाजी ले जा रहे थे तो मार्ग में इन्होंने पूछा-"अब गंगाजी कितनी दूर हैं?" घरवालों ने बताया-"तीन कोस।" तब इन्होंने कहा-"अब मुझे यहीं उतार दो। जब मैं श्रीगंगाजी के लिये इतनी दूर से आया हूँ क्या वे मेरे लिये इतनी दूर भी नहीं आ सकती हैं?" यही हुआ, घरवालों ने इन्हें वहीं उतार दिया और वही हुआ जो भक्तराज चाहते थे। सचमुच रातोंरात श्रीगंगाजी वहाँ आ गयीं। आज भी श्रीविद्यापति स्टेशन इस प्रसंग का स्मरण दिला रहा है।

श्रीब्रह्मदासजी—आप अपनी कविता में सदैव श्रीकृष्ण लीला का ही गुणगान करते थे। जन समाज में आपकी कविता का बड़ा आदर था। आपका परमोत्कर्ष एक प्राकृत कवि

से सहा नहीं गया। उसने आकर आपसे व्यर्थ का विवाद ठाना कि यदि काव्य की कसौटी पर कसा जाय तो मेरी कविता किसी भी दृष्टि से आपकी कविता से हीन नहीं है। यदि कोई त्रुटि मेरी कविता में हो तो आप ही बतलावें। श्रीब्रह्मदासजी ने कहा-"काव्य की दृष्टि से कविता मेरी श्रेष्ठ है या आपकी, यह तो मैं कह नहीं सकता, परन्तु इतना मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरी कविता का वर्ण्य विषय आपकी कविता से अनन्त गुणा श्रेष्ठ है, क्योंकि मैंने अपनी कविता में सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण की शाश्वत लीलाओं का गान किया है और तुम्हारी कविता में मरणधर्मा, क्षणभंगुर संसारी लोगों का यश गाया गया है। शाश्वत पुरुष के गुणगान से मेरी कविता भी शाश्वत है और नाशवान् लोगों के गुणगान से तुम्हारी कविता भी नाशवान है। यदि तुम्हें इस बात का विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लो। तुम और हम दोनों अपनी-अपनी रचनायें कागज पर लिखकर अग्नि में डाल दें। जिसकी रचना शाश्वत होगी वह नहीं जलेगी, जिसकी नाशवान् होगी वह भस्मसात् हो जायेगी। प्राकृत कवि आपके इस कथन पर सहमत हो गया। उसे विश्वास था कि अग्नि में डालने पर तो मेरी कवितायें जल जायेंगी और इनकी भी। भला कहीं अग्नि में कागज बिना जले रह सकता है? फिर तो हम दोनों एक से माने जायेंगे। निश्चय होने पर दोनों दिव्य-प्राकृत कवियों ने अपनी-अपनी रचनायें अग्नि देवता को समर्पित कीं। हजारों लोगों ने देखा कि उस प्राकृत कवि की रचनायें तो अग्नि की लपट में स्वाहा हो गयीं और ब्रह्मदासजी की रचनाओं पर आंच भी नहीं आयी, वह तो ज्यों की त्यों बनी रहीं बल्कि और भी अधिक चमक उठीं। यह चमत्कार देखकर वह प्राकृत कवि हार मान गया और श्रीब्रह्मदासजी के शरणागत होकर स्वयं भी श्रीकृष्णलीला-गुण का ही गान करने लगा।

श्रीकेशवाचार्यजी—आपके पिताजी का नाम श्रीमोहनमिश्र एवं माता का नाम श्रीभागवती देवी था। ये सनाढ्य ब्राह्मण परम भागवत श्रीविष्णुस्वामि सम्प्रदायानुयायी गोपाचल (ग्वालियर) के निकट एक ग्राम के निवासी थे। घर में विराजमान श्रीठाकुरजी की सेवा में ऐसे तल्लीन रहते थे कि उन्हें संसारी सुख-दु:खों का भान भी नहीं होता था। यद्यपि घर ऋद्धि-सिद्धियों से भरा था, फिर भी दम्पति प्रेमधन के धनी थे। सेवारत दम्पति को पचास-पचास वर्ष की आयु व्यतीत करने के पश्चात् श्रीभगवत्प्रेरणा से सन्तान की अभिलाषा हुई। फलस्वरूप महर्षि कश्यप की आज्ञानुसार माता अदिति ने जैसे पयोव्रत करके पुत्र रूप में श्रीवामन भगवान को पाया, उसी प्रकार इन ब्राह्मण दम्पति ने भी सविधि पयोव्रत का अनुष्ठान किया। व्रत की समाप्ति होने पर स्वप्न में भगवान ने स्वयं पुत्र रूप में प्रकट होने का संकेत किया।

पयोव्रत के दूसरे ही वर्ष कार्तिकसुदी द्वादशी को श्रीमोहनमिश्र के घर पुत्र का जन्म हुआ। श्रीकश्यपजी ने श्रीमद्भागवत में पयोव्रत को "व्रतं केशवतोषणाम्" कहा है। पयोव्रत से ही सन्तुष्ट होकर स्वयं केशव भगवान श्रीभागवती देवी की कोख से प्रादुर्भूत हुये हैं। अतः बालक का नाम केशव ही रखा गया। बालक केशव अपनी अलौकिक बाल-लीलाओं से माता-पिता को आनन्दित करने लगा। एकदिन श्रीमिश्रजी ने भगवान का भोग लगाकर ध्यान करते हुए कहा—"वासुदेव प्रसादान्नं सर्वे गृहणन्तु वैष्णवाः।" अर्थात् हे वैष्णवो! भगवत्प्रसाद ग्रहण कीजिये। आँख खुली तो देखे कि बालक केशव प्रसाद रस का स्वाद ले रहा है। बालक के यथासमय यथाविधि अन्नप्राशन, मुण्डन, उपवीत आदि संस्कार सानन्द सम्पन्न हुये। श्रीकेशव ने अपने विद्वान् पिता से ही समस्त वेद, शास्त्र, पुराणेतिहासादि का अध्ययन किया एवं तत्पश्चात् "साधन साध्य सत्रह पुराण फलरूपी श्रीभागवत।" विचारकर श्रीकेशवजी ने श्रीभागवतजी को ही अपना इष्ट ग्रन्थ माना। विवाह की चर्चा चलने पर श्रीकेशवजी ने अनिच्छा प्रकट की। पिता श्रीमोहनमिश्रजी ने बालक के संसार से वैराग्य एवं श्रीप्रभु चरणों में अनुराग से हृदय से तो परम सन्तुष्ट थे, फिर भी पुत्र की दृढ़ता की परीक्षा के लिये उन्होंने कहा—"बेटा केशव! तीनों ऋणों से मुक्त हुये बिना बचपन में वैराग्य उचित नहीं है।" तब श्रीकेशवजी ने-"कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह।" अर्थात् कुमारावस्था से ही वैष्णव धर्मों का आचरण करना चाहिये। इस प्रह्लाद वाक्य का और "देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।" अर्थात् भगवान् की शरण में जाने वाला किसी का भी ऋणी नहीं रह जाता है। श्रीभागवतजी में आये हुये नवयोगीश्वरों में से श्रीकरभाजनजी के इस वाक्य का प्रमाण देकर पिता को निरुत्तर कर दिया। अविचल प्रेम देखकर पिता-माता ने पुत्र को आज्ञा के साथ श्रीभगवत्प्राप्ति का आशीर्वाद प्रदान किया।

ये माता-पिता को प्रणाम कर श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े। मार्ग में यह विचार कर ही रहे थे कि मुझ साधनहीन, दीन को भगवान कैसे मिलेंगे? इतने में ही एक यात्री ने दूसरे को पुकारकर कहा कि-"तुम शीघ्र जाओ, तुम्हें तुम्हारा मित्र बुला रहा है।" इस श्रीभगवत् प्रेरित वाक्य से इन्हें विश्वास हो गया कि मुझे अवश्य श्रीप्रभु मिलेंगे और शीघ्र मिलेंगे। फिर तो मन में श्रीप्रभु मिलन सम्बन्धी अनेक मनोरथ उठने लगे। श्रीवृन्दावन पहुँचने पर इनका ऐसा प्रेम उमड़ा कि प्रभु दर्शन के बिना इन्हें एक-एक क्षण युग के समान बीतने लगा। आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह होने लगा। अहर्निश प्यारे के विरह में बेचैन रहने से खान-पान

एकदम छूट गया। शरीर अस्थि-पंजर मात्र शेष रह गया। दर्शन की लालसा से प्राण देह में अटक रहे थे। क्षण-क्षण में मूर्च्छा आने लगी। उधर भक्त का विरह भगवान को भी असह्य होने लगा। तब श्रीप्रभु की प्रेरणा से गहवर निवासी श्रीज्ञानदेवजी ने आकर इन्हें मूर्च्छा से सचेत किया और मन्त्र-दीक्षा देकर श्रीनिकुञ्जबिहारी प्रिया-प्रियतम का दर्शन कराया। फिर साम्प्रदायिक रहस्य एवं परम्परा बताकर श्रीगोवर्धन में तलहटी में निवास करके भजन करने की आज्ञा दी और आशीर्वाद दिया कि श्रीहरिदेवजी तुम पर प्रसन्न होकर प्रकट होंगे, जिससे जीवों का कल्याण होगा तथा श्रीहरिदेवजी के साथ तुम्हारे भी सुयश का विस्तार होगा।

श्रीगुरुदेवजी की आज्ञा शिरोधार्य कर श्रीकेशवाचार्यजी ने श्रीगोवर्धनजी का आश्रय लिया। श्रीगिरिराज गोवर्धनजी में आपका ऐसा अनुराग हुआ कि आपने स्वरचित ''श्रीगोवर्धन-शतक'' में लिखा है कि- ''गोवर्द्धनात्किंचिदहं न जाने।'' अर्थात् श्रीगोवर्धनजी से परे हम और किसी को नहीं जानते हैं। इस निष्ठा के फलस्वरूप श्रीश्यामसुन्दर नित्य निकट रहते, लीला दिखाते और रसमय वार्तालाप करते। एकदिन भगवान ने कहा कि-''मेरा एक विग्रह विछुवा कुण्ड के निकट खेत की मेंड़ में है, उसे प्रकट करो।'' इन्होंने हाथ जोड़कर कहा- ''प्रभो! उस विग्रह के साथ श्रीजी नहीं हैं। मेरी युगल उपासना है तथा मैं निष्किंचन हूँ। कभी शाक-पात और कभी ब्रजवासियों के घर से प्राप्त चुटकी मात्र चून से ही निर्वाह कर लेता हूँ। अतः आप ऐसा कीजिये जिसमें मेरे हृदय का भाव भी सुरक्षित रहे और आपकी सेवा में अपराध भी न हो।'' तब श्रीप्रभु ने समाधान करते हुये कहा कि-''केशव! मैं तुमसे आज उस गुप्त रहस्य को प्रकट करता हूँ, जिसे आज तक कोई नहीं जानता है। एक बार मैं श्रीजी के दर्शनों को गया, परन्तु दर्शन नहीं हुआ। तब मैंने इन्द्र के यज्ञ को भंग कराया और श्रीगोवर्धन की पूजा करवायी। इस पर इन्द्र ने कुपित होकर वर्षा की। उससे ब्रज की रक्षा के लिये मैंने श्रीगोवर्धन को धारण किया। उस समय समस्त ब्रजवासियों के सहित श्रीजी भी वहाँ आ गयीं। इसी विग्रह से सात दिन तक मैं श्रीजी के दर्शन करता रहा तथा उनके कृपाकटाक्ष बल से ही श्रीगोवर्धन को उठाये रहा। अतः मेरे इस श्रीहरिदेवजी के श्रीविग्रह को श्रीजी से रहित न मानकर श्रीजी के प्रेम से ओत-प्रोत समझो। हमारा यह श्रीविग्रह परम दयामय, शरणागत रक्षक एवं इष्ट प्रपूरक है। तुम मेरे इस श्रीविग्रह को प्रकट कर सेवा करो। मेरे निमित्त किसी से कुछ याचना मत करना। मेरी प्रेरणा से स्वयं कोई कुछ अर्पण कर दे तो उसे स्वीकार कर लिया करना।

भगवान की आज्ञा प्राप्त कर श्रीकेशवाचार्यजी ने लोगों को एकत्रित करके बिछुवा कुण्ड पर वह स्थान बताया, जहाँ श्रीविग्रह था। खोदने पर परम सुन्दर मूर्ति दिखायी पड़ी।

उसे देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोगों के मन में लालच हुआ कि इस विग्रह को मैं अपने घर ले जाऊँ। एक ने कहा कि इस विग्रह को मैं अपने घर ले जाकर सेवा करुँगा। तो दूसरे ने कहा-"तुम कैसे ले जाओगे? यह तो मेरे खेत की मेड़ पर प्रकट हुये हैं, अतः इन्हें मैं ले जाऊँगा।" तीसरे ने कहा-"मैं जमींदार हूँ, अतः भूमि गर्भ से प्राप्त वस्तु पर मेरा पूर्ण अधिकार है, अतः मैं ले जाऊँगा।" जब इस प्रकार परस्पर विवाद होने लगा तब श्रीकेशवाचार्यजी दूर हट गये। किसी विचारवान् व्यक्ति ने लोगों को समझाते हुये कहा कि-"जिस सन्त ने तुम्हें बुलाकर भेद बताया है, उससे पूछकर ही कोई कार्य करो। अन्यथा तन-धन और यश की हानि होगी।" यह सुनकर उसे फटकारते हुये लोगों ने कहा कि-"तुझको किसने पंच बनाया है? अपना भला चाहो तो चुप रहो।" वह बेचारा चुप हो गया। इतने में आकाशवाणी हुई कि अकेले ही इस श्रीविग्रह को जो कोई उठा ले जाय वही सेवा का अधिकारी होगा। लोग उठाने लगे, पर श्रीविग्रह टस से मस न हुआ। तब सबने श्रीकेशवाचार्यजी से उठाने की प्रार्थना की। प्रेम मग्न श्रीआचार्यजी ने जैसे ही स्पर्श किया कि भगवान छाती से आ लगे। निर्णय हो गया कि भगवान तो इन्हीं के लिये प्रकट हुये हैं। हम लोगों का मोह व्यर्थ है। श्रीकेशवाचार्यजी श्रीहरिदेवजी को अपनी पर्णकुटी में ले आये और पधारकर सात्विक भाव से सेवा करने लगे। ब्रजवासी लोग बड़ी श्रद्धा से दर्शन करने आते। भक्त की महिमा बढ़ाने के लिये एकदिन श्रीहरिदेवजी ने खीर भोग आरोगने की इच्छा प्रकट की। तब श्रीकेशवाचार्यजी ने प्रार्थना की कि-"प्रभु! मेरे पास तो खीर की सामग्री का अभाव है और मैं याचना किसी से कर नहीं सकता।" तब श्रीहरिदेवजी ने राजा भगवानदास को स्वप्न दिया। स्वप्नादेश पाकर राजा आये और दर्शन कर अत्यन्त प्रभावित हुये। फिर तो उन्होंने श्रीहरिदेवजी का विशाल मन्दिर बनवाया और सेवा के निमित्त कई गाँव अर्पण किये। अब दिन-प्रतिदिन श्रीहरिदेवजी और श्रीकेशवाचार्यजी का सुयश बढ़ने लगा। अनेकों लोग आकर आपके शिष्य हो गये।

एकदिन श्रीहरिदेवजी ने श्रीकेशवाचार्यजी से कहा कि-"मैं तुम्हें एक आज्ञा प्रदान करता हूँ। उसे तुम बिना उत्तर दिये स्वीकार कर लेना। देखो, एक ब्राह्मण ने श्रीजगन्नाथ रूप से मेरी सेवा करके सन्तान की कामना की और प्रथम सन्तान मुझे ही अर्पण करने की प्रतिज्ञा की। मेरी आज्ञा से प्रथम उसके एक कन्या हुई, उसे अब वह मुझे अर्पण कर रहा है। मैंने उसे स्वप्न देकर आज्ञा दी है कि गोवर्धन में श्रीकेशवाचार्यजी के रूप में ही मैं ही विद्यमान हूँ, अतः अपनी कन्या श्रीकेशवाचार्यजी को ही अर्पण कर दो। अब

वह आकर तुम्हें कन्यादान करेंगे। उसे तुम स्वीकार कर लेना। इससे मेरी प्रसन्नता होगी।'' श्रीकेशवाचार्यजी ने कहा-''प्रभो! वैसे तो पत्नी परिग्रह एक बन्धन ही है, परन्तु आपकी प्रसन्नता के लिये तो मैं कोटि-कोटि बन्धन स्वीकार कर सकता हूँ। आज यदि शेखी में आकर मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन करूँ तो कल ही आपकी माया मुझे अपने पथ से गिरा सकती है।'' श्रीभगवदादेश से ब्राह्मण ने आकर अपनी कन्या शुभ मुहूर्त में प्रदान की। उसे श्रीआचार्यजी ने स्वीकार किया। परम भगवद्भक्ता पत्नी पाकर श्रीकेशवाचार्यजी ने परम सन्तोष का अनुभव किया। कुछ समय पश्चात् आपके श्रीपरशुराम एवं श्रीबालमुकुन्द नाम के दो पुत्र हुये, जिनके साथ में श्रीहरिदेवजी खेलते थे और सेवा तथा भोग में उनसे इच्छित वस्तु लाने को कहते थे। कुछ दिन बाद आपने अपने पुत्रों एवं शिष्य-प्रशिष्यों को श्रीहरिदेवजी की सेवा सौंपकर, उन्हें ज्ञान-भक्ति का उपदेश देकर, श्रीगोवर्धनवास की आज्ञा देकर स्वयं महाभाव में मग्न हो गये। कभी-कभी श्रीराधा-राधा रटते हुये मूर्छित हो जाते, कभी श्रीमद्भागवत के श्लोकों को गाकर रोते, कभी विरह के पदों का स्वयं उद्‌गार होता और शरीर स्तब्ध हो जाता। कभी राधाकुण्ड, कभी नारदकुण्ड, कभी उद्धवकुण्ड, कभी गोविन्दकुण्ड, कभी पूछरी आदि सात कोश के स्थलों में विचरते रहते। मूक, बधिर एवं उन्मत्त की तरह दीखते। व्रजरज में लोट-लोटकर परमानन्द का अनुभव करते। मान-अपमान में समान रहते हुये निरन्तर श्रीहरि चिन्तन में तल्लीन रहते। इस प्रकार से आपने अपनी पवित्रचर्या से अनेक जीवों का उद्धार किया एवं भक्ति का पथ प्रशस्त किया।

छप्पय में श्रीनाभाजी ने आपके सम्बन्ध में यह लिखा है कि-''नन्द सुवन की छाप कवित केशव को नीको।'' इस विषय में कथा इस प्रकार से है कि-''इक द्यौस केशवचन्द्र गुरु आनन्द मन उत्सव ठयौ। व्रज वसत सन्त महन्त तिनहिं प्रसाद हित न्योतो दयौ। पुनि भयौ रसिक समाज भेलौ कृष्ण वपु इन जानिकै। किय सेव विधि अति दीन ह्वै कै बहुत तिन सनमानिकै।।१।। तिनमें कछु इक रसिक विपिन रस रंग में। रँगे हुते युग कथा करी तिन संग में।। सो आनन्द अगाध न बरन्यौ जात है। मो मनकी नहिं गम्य महारह बात है।।२।। रह बात करि मुद पात अश्रु चुचात तन सुधि बीसरी। पुनि चेत करि बहु हेत सों सुख देत गुरु यह उच्चरी।। अब लीजिये परसाद अति अहलाद ते पङ्गति भई। बैठि सर्व समान अमित प्रमान करि अति मुद छई।।३।। तहँ परसे बहु भाँति पाक कृत पाक हैं। जेंवनि आनन्द गोप वृन्द जिमि छाक हैं।। तिनमें कित इक सन्त यहै मन में कियो। वृन्दावन रस लेस न परस्यौ

जिन हियो।।४।। जिन हियौ परस्यौ नाहिं रसिक नरेश युग रस लेस जो। तिन कही द्वारावती मुद्रा नाहिं यहँ सत वेष जो।। सो भले जो नहिं धरे केशव लये प्रभु अपनाइए। परि टहलुअन अङ्गहू नहिं जात भासत भाइए।। श्रीकेशव सरवज्ञ जानि मन बात है। तिन संतन मन मोद करन किय ख्यात है।।५।। नन्द सुवन यह नाम लिखित सब अंग में। पृथक् पृथक् दरसाय दयो निज संग में।।६।। निज संग में दरसाय अति सुख पाय नन्दसुव छाप को। सन्त गन विस्मय कर्‌यौ हुव नमित देखि प्रताप को।। नन्द सुवन की छाप रसिकन कही केशव देव सों। कह्यौ नन्द किशोर यश अब यही मुद्रा भेव सों।।७।।

श्रीकेशवाचार्यजी के पदों में रस का अद्‌भुत प्रवाह परिदृश्यमान होता है यथा-

अब सुख मानति नन्द यशोमति।
ब्रजरानी की गोद राधिका लयै गोद मोहनहिं घोषपति।।
खेलत गुरुजन अङ्क बाल वपु लाज न करत युगल भोरी मति।
ऐंचत वंशी हार परस्पर पुलकि गारि दै हँसत चपल अति।।
लरि रद छद करि उतरि गोद ते मोद विनोदनि चलत हंस गति।
तन मन मुदित मिथुन शिशु बिहरत सकल केलि सुख संपति सोहति।।
उतपातन गति सात बरस ते नव युव इव गुन रस वस दम्पति।
जै श्रीकेशवनन्द सुवन नव भामिनि माँगत हौं नित पद अम्बुज रति।।

श्रीपूर्णसिंहजी—कवि हृदय परम भागवत श्रीपूर्णसिंहजी नित्य नूतन पद रचकर अपने श्रीठाकुरजी को सुनाते। श्रीठाकुरजी को भी इनके पदों को सुनने में बड़ा सुख मिलता। यदि कभी किसी कार्य विशेष की व्यस्तता में श्रीपूर्णसिंहजी पद नहीं सुना पाते तो श्रीठाकुरजी स्वप्न में इनसे पद सुनाने का अनुरोध करते। दो एक बार इस प्रकार का प्रसंग प्राप्त होने पर इन्होंने दृढ़ नियम बना लिया था पद सुनाने का। बहुत समय तक नियम अक्षुण्ण रूप से चलता रहा। परन्तु एकबार किसी राज्य कार्यवश इन्हें पद सुनाने का ध्यान नहीं रहा। जब कार्य से फुरसत मिली तो श्रीठाकुरजी का दर्शन करने मन्दिर में गये। परन्तु वहाँ इन्हें श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह दिखायी नहीं पड़ा। पुजारी से पूछे-"श्रीठाकुरजी की प्रतिमा कहाँ पर गयी?" पुजारी ने कहा कि-"प्रतिमा तो सिंहासन पर ही विराजमान है।" श्रीपूर्णसिंहजी की समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर मुझे क्यों नहीं दर्शन हो रहा है?" बहुत विचार करने के बाद ही याद आई कि मैंने श्रीठाकुरजी को आज पद नहीं सुनाया। फिर तत्काल पद सुनाने लगे तो श्रीठाकुरजी भी मन्द-मन्द मुस्क्याते हुए इन्हें दर्शन देने लगे।

जे बसे बसत मथुरा मण्डल ते दया दृष्टि मोपर करौ।।
रघुनाथ, गोपीनाथ, रामभद्र, दासू स्वामी।
गुंजामाली, चित उत्तम, बीठल, मरहठ निहकामी।।
जदुनन्दन रघुनाथ रामानन्द गोविन्द, मुरली सोती।
हरिदास मिश्र, भगवान मुकुन्द, केशौ दंडोती।।
चतुर्भुज, चरित्र, विष्णुदास, बेनी पद मो सिर धरौ।
जे बसे बसत मथुरा मंडल ते दया दृष्टि मो पर करौ।।१०३।।

शब्दार्थ—बसे=पहले बसते थे। बसत=जो अब बसते हैं।

भावार्थ—जो भक्तजन पहले श्रीमथुरामण्डल में निवास करते थे एवं अब वर्तमान में निवास कर रहे हैं, वे मेरे ऊपर दया की दृष्टि रखें। उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीरघुनाथजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीरामभद्रजी, श्रीदासूस्वामीजी, श्रीगुंजामालीजी, श्रीचितउत्तमजी, श्रीबीठलजी, परम निष्काम श्रीमरहठजी, श्रीयदुनन्दनजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीरामानन्दजी, श्रीगोविन्दजी, श्रीदण्डौती केशवजी, श्रीचतुर्भुजजी, श्रीचरित्रजी, श्रीविष्णुदासजी, श्रीबेणीजी आदि। श्रीनाभाजी इन भक्तों से प्रार्थना करते हैं कि-"हे भक्तजनों! आप लोग अपना पद कमल मेरे सिर पर रख दें।।१०३।।

व्याख्या-मथुरा मण्डल—यहाँ मथुरा मण्डल से तात्पर्य मथुरापुरी तथा चौरासी कोस ब्रज से है। शास्त्रों में मथुरा की अनन्त महिमा वर्णन की गई है। यथा-"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी। विना कृष्ण प्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति।।" (मथुरा-माहात्म्य)। अर्थ-"अहो! मधुपुरी (मथुरा) धन्य है। यह बैकुण्ठ से भी बढ़कर है। भगवान श्रीकृष्ण की कृपा के बिना यहाँ कोई एक क्षण भी नहीं ठहर सकता है। परम रसिक श्रीहरिव्यासजी कहते हैं-"धनि धनि मथुरा धनि धनि मथुरा धनि मथुरा के वासी हो। जीवनमुक्त सबै बिहरत हैं केशवराय उपासी हो।। माला तिलक हृदै अति राजत मुनिमन ज्ञान प्रकासी हो। स्थावर जंगम सबै चतुर्भुज काम क्रोध कुल नासी हो।। सुगम नदी विश्रान्त जमुन जल मज्जन काल विनासी हो। व्यासदास षट्पुरी दुरी सब हरिपुर भयो उदासी हो।।" ऐसे ही समस्त ब्रजमण्डल में निवास करने वालों की महिमा है। यथा-"ब्रजवासी हरिके अति प्यारे। नित प्रति लीला देखत हरिकी गावत नाम पुकारे।। इनकी कृपा विना नहिं पैये श्रीब्रजराज दुलारे। सहज सनेही साँचे प्रीतम अति अधीन करि पारे।। आयो शरन राखिये अब तौ सब बनि जाउ हमारे। नित प्रति पाद तुम्हारे परसौं रहौं

धूरि सिर धारे।।" (भ०व०टि०) पुनः-"व्रजवासी वल्लभ सदा मेरे जीवन प्रान। व्रज तजि अन्त न जाइहौं मोहिं नन्दबबा की आन।।"

श्रीगुञ्जामालीजी और उनकी पुत्र बधू

कही नाभा स्वामी आप गायौ मैं प्रताप संत बसे, व्रज बसैं सो तौ महिमा अपार है।
भये गुंजामाली गुंजाहार धारि नाम पर्यौ कर्यौ बास लाहौर में आगे सुनौ सार है।।
सुत बधू विधवा सों बोलिकै सुनायौ लेहु धन पति गेह श्रीगोपाल भरतार है।
देवौ प्रभु सेवा माँगै नारि बार-बार यहै डारै सब वारि यापै गनै जगछार है।।४१५।।

शब्दार्थ—गुंजा=घुमची, घुँघची, गुंची। छार=धूर, तुच्छ।

भावार्थ—श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी ने उपर्युक्त छप्पय में जिन सन्तों की महिमा कही है, मैं भी (प्रियादास भी) उन सन्तों का यशोगान करता हूँ कि जो भी सन्त पहले ब्रज में बस चुके हैं एवं जो वर्तमान में निवास कर रहे हैं, उनकी अपार महिमा है। श्रीगुंजामालीजी नाम के एक सन्त हो गये। यह गुंजा की माला पहनते थे, अतः इनका गुँजामाली नाम ही पड़ गया। यह पहले लाहौर में निवास करते थे। अब आगे इनके चरित्र का सारांश सुनिये। इनकी पुत्रवधू विधवा हो गयी थी। एकदिन उसे बुलाकर इन्होंने कहा-"देखो, यह तुम्हारे पति का घर है और यह धन माल है इसे लो तथा श्रीगोपालजी को लो। अब तो श्रीगोपालजी ही तुम्हारे पति हैं।" इनकी पुत्रबधू तो बार-बार यही माँगती कि हमें श्रीप्रभु की सेवा ही प्रदान कीजिये। मैंने तो इन पर ही अपना सब न्यौछावर कर दिया है। इनके सामने मैं संसार को तुच्छ समझती हूँ।।३१५।।

व्याख्या-गोपाल भरतार है—जीव के सच्चे पति तो भगवान ही हैं। यथा-"स वै पतिः स्यादकतो भयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम्। स एक एवेतरथामिथो भयं नैवात्मलाभादधि मन्यते परम्।।" (भा० ५/१८/२०) अर्थ-"श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं—सच्चा पति (रक्षा करने वाला) वही है जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत सब लोगों की सब प्रकार से रक्षा कर सकें। ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं। अतएव आप अपनी प्राप्ति से बढ़कर और किसी लाभ को नहीं मानते।"

दई सेवा वाहि और घर धन तिया दियौ लियौ व्रजवास वाकी प्रीति सुनि लीजियै।
ठाकुर विराजैं तहाँ खेलैं सुत औरनि के डारैं ईंटा खोहा पर्यौ प्रभु पर खीझियै।।

दिये वे विड़ारि धर्‌यौ भोग पै न खात हरि पूछी कही वेई आवैं तब ही तौ जीजियै।
कह्यौ रिस भरि धूरि नीकी भोर डारै भरि खावौ अब हा हा करी पायौ ल्याई रीझियै।।४१६।।

शब्दार्थ—खोहा=खेह, धूल, मिट्टी, खाक। विडारि=भगाय।

भावार्थ—श्रीगुंजामालीजी ने अपनी पुत्रवधू की निष्ठा देखकर उसे श्रीगोपालजी की सेवा प्रदान की और घर तथा धन अपनी पत्नी को दिया एवं स्वयं आकर व्रज में (श्रीवृन्दावन में) वास करने लगे। अब आप लोग इनकी उस पुत्रवधू की प्रीति का प्रसंग सुनिये। जहाँ पर उसके श्रीठाकुरजी श्रीगोपालजी विराजते, वहाँ पास-पड़ोस के और लोगों के बालक खेलते। वे परस्पर एक-दूसरे पर ईंट, धूल, मिट्टी आदि डालते। (ठाकुरजी भी बालकों के साथ खेलते थे) एकदिन बालकों ने श्रीठाकुरजी पर भी धूल डाल दी। तब वह बालकों पर बहुत नाराज हुई और उन्हें वहाँ से भगा दिया। इसके बाद उसने श्रीठाकुरजी के लिये भोग रखा। परन्तु श्रीठाकुरजी ने भोग नहीं आरोगा। जब इसने पूछा कि-''जै जै, आप भोग क्यों नहीं आरोग रहे हैं?'' तब श्रीठाकुरजी ने कहा-''जब बालक आवेंगे तभी मुझे प्रसन्नता होगी और भोग आरोगूँगा।'' तब उसने प्रणय-कोप करके कहा-''अभी खालो, प्रातःकाल खूब अच्छी तरह आपके ऊपर धूल डाल दूँगी और उन बालकों से भी डलवा दूँगी।'' अब हा-हा खा रही हूँ। इतने पर भी जब नहीं पाये तो जैसे-तैसे उन सभी बालकों को बुला लाई, तब श्रीठाकुरजी प्रसन्न हुये और भोग पाये।।४१६।।

व्याख्या-ल्याई—वह सबके घर-घर जाकर बालकों को मनाकर लिवा लाई। प्रथम तो लड़के नहीं आ रहे थे। वे बोले-''तुमने हमें गाली दिया है और मारकर भगा दिया है, हम नहीं जायेंगे।'' तब उसने कहा-''अब न तो मैं गाली ही दूँगी और न भगाऊँगी ही, बल्कि अब तो मैं रोज तुम लोगों को लड्डू दिया करुँगी।'' जब उसने लड्डू का लोभ दिया, तब बालक आये और तब श्रीठाकुरजी प्रसन्न हुये भोग आरोगे। इससे जनाया गया कि श्रीठाकुरजी को बालकों के साथ खेलने में सुख मिलता है। इस पर दृष्टान्त श्रीरसिकविहारीजी का। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८४, दृष्टान्त-जल घड़िया का।

श्रीकेशवजी दण्डौती—आप हमेशा श्रीगोवर्धनजी की दण्डवती परिक्रमा करते रहते थे, अतः आपके नाम के साथ दण्डवती की छाप लग गई थी। एकबार आप श्रीगोवर्धन की दण्डवती परिक्रमा कर रहे थे, रात्रि हो गयी थी, ये अपनी मस्ती में भगवान का नाम गुण कीर्तन करते हुये परिक्रमा कर रहे थे। उसी समय श्रीठाकुरजी एक हट्टे-कट्टे साधु के रूप में आकर इनसे बोले-''मैं भी आपके साथ कीर्तन करते हुये परिक्रमा करुँगा।'' श्रीकेशवजी ने स्वीकृति दे दी। परन्तु जब ये दण्डवत् करने लगे तो साधु-रूपधारी भगवान

इन्हें आगे सरका दिये। यह देखकर श्रीकेशवजी बड़े नाराज हुये और बोले–"तू कौन है? कहाँ से आया है? तू मेरी परिक्रमा खण्डित कर रहा है। तुम्हारी बुद्धि में अधर्म समाया हुआ है।" साधु रूपधारी भगवान बोले–"अधर्म तो तुम स्वयं करते हो और उल्टे दोष मुझे लगाते हो। अरे, आपको मालूम है कि पृथ्वी को भूधर (विष्णु) की पत्नी कहते हैं और आप रात्रि के समय परस्त्री का आलिंगन करते हैं, यह कितना बड़ा अधर्म है?" श्रीकेशवजी ने कहा–"पृथ्वी हमारी माता हैं, अतः उनकी गोद में विचरने से हमें कोई दोष नहीं है।" यह मुँह तोड़ उत्तर सुनकर साधु रूपधारी भगवान मुस्क्या गये और प्रसन्न होकर निज–स्वरूप का दर्शन कराये।

श्रीचतुर्भुजदासजी— आप श्रीमद्‌वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के कृपापात्र श्रीकुम्भनदासजी के सात पुत्रों में सबसे छोटे थे। आपके प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कथा आती है कि श्रीकुम्भन दासजी के बड़े पाँच पुत्र सदा सांसारिक कार्यों में ही लगे रहते थे, अतः उनसे श्रीकुम्भनदासजी को बड़ा असन्तोष था। छठे पुत्र कृष्णदास हुये। इनकी भी कुछ ही भजन की ओर प्रवृत्ति थी, अतः पूर्ण सन्तुष्ट इनसे भी नहीं थे। इन्हें श्रीकुम्भनदासजी आधा पुत्र मानते थे। इनके मन में परम भागवत पुत्र की अभिलाषा थी, अतः छः पुत्रों वाले होकर भी ये सदा उदास रहते थे। एकदिन ठाकुर श्रीनाथजी ने इनसे पूछा कि–"कुम्भनदासजी! तुम सदा उदास क्यों रहते हो?" श्रीकुम्भनदासजी ने कहा–"मैं आठों याम आपके भक्तों का संग चाहता हूँ, पर मिलता नहीं। पुत्र सभी अभक्त हैं। कृष्णदास भी आधा ही भक्त है। इसी से मैं सदा उदास रहता हूँ।" श्रीठाकुरजी ने कहा–"सत्संग का फल मैं तो तुम्हारे साथ सदा खेलता हूँ, खाता हूँ, खिलाता हूँ, संग–संग चलता–फिरता, विचरता हूँ, फिर भी तुमको सन्तोष नहीं है, बात क्या है?" श्रीकुम्भनदासजी ने कहा–"प्रभो! मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ कि सत्संग के बिना किसने आपसे प्रेम किया? वैसे तो आप सदा सबके ही साथ रहते हैं, परन्तु सत्संग बिना जीव आपको नहीं देख पाता है।" श्रीनाथजी ने कहा–"अच्छा कुम्भनदासजी! जैसी तुम्हारी इच्छा है, वैसा ही सत्संग मैं तुमको प्रदान करुँगा, धैर्य रखो। आज से दस मास बाद तुम्हारा जो पुत्र होगा, वह परम भागवत होगा। वह तुम्हारा उपदेश प्रेम से सुनेगा और मानेगा तथा अपने भक्तिभाव से तुमको भी आनन्दित करेगा।" यह कहकर श्रीठाकुरजी, श्रीकुम्भनदासजी को साथ में लेकर खेलने चले गये। फिर दस महीने बाद जब श्रीकुम्भनदासजी को पुत्रोत्पत्ति का योग आया तो श्रीठाकुरजी श्रीकुम्भनदासजी के घर आये और बोले–"चलो, मेरे साथ खेल आओ। आज मैं तुमको खूब दूध–दही, माखन–मिश्री खिलाऊँगा।" श्रीकुम्भनदासजी

साथ हो लिये। श्रीठाकुरजी एक सूना घर देखकर घुस गये। छींके पर एक बहुत बड़ा मक्खन का मटका रखा देखा। श्रीकुम्भनदासजी की पीठ पर चढ़कर मटका उतार लिये और दोनों-दोनों हाथों से जल्दी-जल्दी खाने लगे।

इतने में श्रीठाकुरजी का पीताम्बर छूट गया। दोनों हाथ खाने में लगे थे, अत: श्रीठाकुरजी ने दो हाथ और प्रकट कर लिये तथा अपना पीताम्बर कसकर बाँध लिये। श्रीकुम्भनदासजी ने श्रीठाकुरजी का चतुर्भुज स्वरूप देखकर बहुत सुख पाया। इतने में गोपी आ गयी और द्वार छेंककर खड़ी हो गई। अब ये दोनों भाग भी नहीं सकते थे क्योंकि मार्ग अवरुद्ध था। श्रीकुम्भनदासजी डर गये कि यह तो ठाकुरजी हैं, भगवान हैं, इन्हें कोई कुछ नहीं कहेगा परन्तु मेरी तो खूब पिटाई होगी। ये आर्त होकर ठाकुरजी के मुख की ओर देखने लगे। ठाकुरजी ने तत्काल उपाय सोच लिया। वे मुँह में दूध भरकर गोपी की ओर बढ़े। वह उन्हें पकड़ने के लिये लपकी तो उन्होंने दूध का कुल्ला गोपी के मुँह पर डाल दिया। उसकी आँखें मुँद गईं। जब तक वह अपना मुँह ठीक-ठाक करे तब तक दोनों भाग गये। श्रीनाथजी मन्दिर में चले गये और कुम्भनदासजी अपने घर। श्रीकुम्भनदासजी के हृदय में श्रीठाकुरजी का वही चतुर्भुज रूप बस गया था। ये उसी रूप तथा उसी लीला का ध्यान करते हुये यह पद गाने लगे-

"आनि हरि पाये हो नीके। चोरि चोरि दधि माखन खायौ गिरिधर दिनप्रति ही के।। रोक्यौ भवन द्वार ब्रजसुन्दरि ये ठाढ़े पय पीके। अब कैसे जैयत घर अपने भाजन फोरि दूध दही घी के।। कुम्भनदास प्रभु भले परे फँद जान न दैहों भावतें जीके। भरि गंडूष छीट दै नैननि गिरिधर धाय चले दै कीके।।" पद पूरा होते-होते पुत्र जन्म का सन्देश आया। उस समय ये चूँकि श्रीचतुर्भुज भगवान के ही लीला रूप में रम रहे थे, अत: पुत्र का जन्म सुनते ही इनके मुख से निकला अहो! आज मेरे घर-"आयो चतुर्भुज को दास आयो। सत्संग के हित प्रभु ने पठायौ।।" इसी से उन्होंने बालक का नाम 'चतुर्भुजदास' ही रखा। भक्त पुत्र की प्राप्ति से श्रीकुम्भनदासजी के हृदय में बड़ी ही उमंग हो रही थी। वे मन ही मन अभिलाषा करने लगे कि कब वह दिन शीघ्र आयेगा जब मैं इसके साथ सत्संग करूँगा। ग्यारहवें दिन ही श्रीकुम्भनदासजी ने पुत्र को गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के चरणों में अर्पण कर दिया। श्रीगुसाईंजी ने बालक को भगवान का नाम सुनाकर चतुर्भुजदास नाम भी रख दिया। श्रीहरि-गुरु कृपा से श्रीचतुर्भुजदासजी के हृदय में बाल्यकाल से ही भक्ति-ज्ञान का अलौकिक प्रकाश छा गया। ये अन्य लोगों के समक्ष तो सामान्य शिशु

की भाँति लीला करते और जब श्रीकुम्भनदासजी एवं श्रीनाथजी एकान्त में मिलते तो सुन्दर भावमय वार्तालाप करते। सदा भक्ति भाव में विभोर रहते। जब तक श्रीनाथ जी का दर्शन नहीं कर लेते तब तक माँ का दूध नहीं पीते थे और अत्यन्त दुःखित रहते थे। श्रीनाथजी का दर्शन करते ही किलकारी मारने लगते थे, शरीर पुलकायमान हो जाता। आँखों से प्रेमाश्रु प्रवाह उमड़ पड़ता। कुछ बड़ा होने पर श्रीनाथजी श्रीचतुर्भुजदासजी को अपने साथ लेकर विविध खेल खिलाते। प्यार-दुलार करते, माखन-मिश्री खाते-खवाते।

एकदिन तो श्रीठाकुरजी इन्हें साथ लेकर गाय चराने चले गये। श्रीकुम्भनदासजी घर-घर खोजते फिरते। जब कहीं पता नहीं चला तो व्याकुल होकर श्रीविट्ठलनाथजी से जाकर कहे, तब उन्होंने सब बात बतायी कि-"आपका यह पुत्र तो श्रीनाथजी के नित्य सखा 'विशाल' का अवतार है। अतः इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। श्रीगुसाईंजी के बताने पर श्रीकुम्भनदासजी ने श्याम ढाक वन में जाकर अपने पुत्र चतुर्भुजदास को श्रीनाथजी के संग खेलते देखा तो अपना बड़ा भाग्य माना कि श्रीनाथजी ने मेरे पुत्र को अपना लिया, अपने परिकरों में सम्मिलित कर लिया। एकदिन श्रीनाथजी ने चतुर्भुजदास को पुकारकर कहा-"अरे कुम्भना के! चल मेरे साथ। मैं तुझे माखन-मिश्री खिलाकर कुछ ही दिन में मल्ल (पहलवान) बना दूँगा।" फिर श्रीनाथजी और चतुर्भुजदासजी एक ब्रजवासी के घर में घुसे और मनमाना दूध-मलाई खाने लगे। इतने में उस ब्रजवासी की बालिका आ गई। उसे श्रीनाथजी तो दिखायी नहीं पड़े, उसने चतुर्भुजदासजी को देख लिया। फिर तो उसने बड़े जोर का हल्ला मचाया-"अरे काका! जल्दी आओ। देखो, कुम्भना के ने घर में घुसकर सब दूध, दही, माखन खा डाला।" शोर सुनकर श्रीनाथजी तो भाग गये। चतुर चोर जो ठहरे! चतुर्भुजदासजी चकपकाकर चारों ओर देखने लगे। इतने में ब्रजवासी आ गया और चतुर्भुजदासजी को पकड़कर खूब पीटा और कहा-"यदि फिर कभी घर में घुसे तो बाप के सहित मार खाओगे।" श्रीचतुर्भुजदासजी छूटकर श्रीनाथजी के पास दौड़े आये। इन्हें देखकर श्रीनाथजी अपने सखाओं के साथ खूब मुस्कुरा रहे थे। इन्होंने कहा-"महाराज! दही-माखन तो आपने खाया और मार मुझ पर पड़ी। आप मुझे छोड़कर भाग आये।" श्रीनाथजी ने हँसकर कहा-"तो क्या हुआ? कुछ पिट गये तो पिट गये। माखन-मलाई का स्वाद तो मिला खूब जी भरकर। पुनः बिना कुटे पिटे तुम मल्ल भी तो नहीं हो सकते।" तत्पश्चात् सब अपने-अपने स्थान को गये।

श्रीकुम्भनदासजी और श्रीचतुर्भुजदासजी परस्पर सत्संग करते, परन्तु इस रहस्य को कोई नहीं जानता। श्रीकुम्भनदासजी सब कामें से फुरसत मिलने पर छत पर बनी अपनी भजनकुटी में बैठकर प्रभु का मानसी में चिन्तन करते थे। एकदिन अर्धरात्रि के समय ये चिन्तन में तल्लीन थे। उसी समय इन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर का दीपक दिखायी दिया। उस समय इन्होंने लीला का अनुभव करते हुये यह पद गाया–"वे देखो बरत झरोखनि दीपक हरि पौढ़े ऊँची चित्रसारी।" श्रीकुम्भनदासजी पद की यह एक तुक गाकर चुप हो गये। तब दूसरी तुक चतुर्भुजदास ने गाई–"सुन्दर बदन निहारन कारन राखे हैं बहुत जतन करि प्यारी।।" श्रीकुम्भनदासजी समझ गये कि जो-जो अनुभव मुझे होते हैं वह सब चतुर्भुजदास को भी होते हैं। इससे इनको बड़ा सुख हुआ और फिर आगे की लीला का अनुसन्धान करते हुये पद को पूरा किये–"कण्ठ लगाय भुज दै सिरहाने अधर अमृत पीवत पिय प्यारी। तन मन मिली प्रान प्यारे सौं नवतम रस बाढ्यौ अति भारी।। कुम्भनदास प्रभु सौभग सीवां जोरी भली बनी इक सारी। नव नागरी मनोहरि राधे नवललाल गोबरधन धारी।।"

श्रीकुम्भनदासजी ने अपनी समस्त संचित भक्ति निधि अधिकारी जानकर श्रीचतुर्भुजदासजी को सौंप दी थी। श्रीचतुर्भुजदासजी नित्य रासलीला में पद गाते थे। इनके पदों को सुनकर श्रीनाथजी बहुत सुख पाते थे।यह भी जब तक श्रीनाथजी नहीं आते थे, तब तक पद नहीं गाते थे। इनकी भक्ति को देखकर तथा इनके ऊपर श्रीनाथजी की कृपा विचारकर श्रीगुसाईंजी विट्ठलनाथजी एवं उनके बालक श्रीगिरिधरजी, श्रीगोकुलनाथजी आदि बहुत प्रसन्न होते। एकदिन श्रीनाथजी का शृङ्गार करके श्रीगुसाईंजी दर्पण दिखा रहे थे। उस समय श्रीचतुर्भुजदासजी ने यह पद गाया–"सुभग शृङ्गार निरखि मोहन को लै दर्पण कर पियहिं दिखावें। आपुन नेक निहारिये बलि जाऊँ आज की छबि कछु कहत न आवे।।" एक वैष्णव वहीं बैठे पद सुन रहे थे। जब श्रीगुसाईंजी एकान्त में मिले तो उस वैष्णव ने पूछा–"महाराज! श्रीठाकुरजी का शृङ्गार तो आप नित्य ही करते हैं और आरसी भी नित्य दिखाते हैं; तब चतुर्भुजदासजी ने यह कैसे कहा कि–"आज की छबि कछु कहत न आवे।" श्रीगुसाईंजी ने कहा कि यह बात आप श्रीचतुर्भुजदासजी से ही पूछना। तब उस वैष्णव ने श्रीचतुर्भुजदासजी से यह प्रसंग पूछा। तब इन्होंने यह पद गाया– "माई री आज और काल और छिन-छिन प्रति और और।।" यह सुनकर वैष्णव बहुत प्रसन्न हुआ। एकबार श्रीविट्ठलनाथजी चतुर्भुजदासजी को साथ लेकर सेवकों के यहाँ जा रहे थे। ब्रज से बाहर होते ही श्रीचतुर्भुजदासजी को विरह व्याप गया। उस समय इन्होंने विरह का पद गाया तो श्रीठाकुरजी ने तत्काल ही प्रकट

होकर दर्शन दिया और कहा कि-"जो कोई एक साल तक नित्य प्रेमपूर्वक इस पद को गायेगा उसे मेरा दर्शनअवश्य होगा।" वह पद इस प्रकार है-

"गोवरधनवासी साँवरे तुम विन रह्यो न जाय।। बंकचितै मुस्क्यायकें सुन्दर बदन दिखाय। लोचन तरफैं मीन ज्यों जुग भरि घरी विहाय।। सप्तक सुर बन्धानसों मोहन बेनु बजाय। सुरति सुहाई बाँधिकै मधुरे मधुरे गाय।। रसिक रसीली बोलनी गिरि चढ़ि गाय बोलाय। गाय बुलाई धूमरी ऊँचे टेर सुनाय।। दृष्टि परे जा द्यौस तें तबते रुचै न आन। रजनी नींद न आवहीं बिसरे भोजन पान।। दरसन कों नैना तपैं बचन सुनन कों कान। मिलिबेको हियरा तपै जियकी जीवन प्रान।। मन अभिलाषा यह रहै लगै न नैन निमेष। इक टक देखौं भाँवतो नटवर नागर वेष।। पूरन शशि मुख देखिकैं चित चिहुंट्यौ वहि ओर। रूप सुधारस पानकों जैसे कुमुद चकोर।। लोक लाज विधि बेदके छाँड़े सबै विवेक। कमल कली रबि ज्यौं बढै छिनु छिनु प्रीति विशेष।। मनमथ कोटिक वारनैं देखि डगमगी चाल। जुवती जन मन फन्दना अम्बुज नैन विशाल।। कुञ्ज भवन क्रीड़ा करौ सुखनिधि मदनगोपाल। हम वृन्दावन मालती तुम भोगी भँवर भुवाल।। यह रट लागी लाडिले जैसे चातक मोर। प्रेम नीर बरसाइहैं नव घन नन्दकिशोर।। जुग जुग अविचल राखिये यहि सुख शैल निवास। श्रीगोवर्धनधर रूप पै बलि जाय चतुर्भुजदास।।"

श्रीबेनीजी—श्रीतुलसीदासजी ने दोहावली में लिखा है-"बनै तो रघुवरते बनै, कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो औरते ता बनिबे में धूर।।" श्रीबेनीजी ने अपने जीवन में इस भाव को चरितार्थ करके दिखा दिया। एकबार इन्हें कोई असाध्य रोग हो गया। लोगों ने बहुत कहा औषधि उपचार करने कराने को। लेकिन इन्होंने एक नहीं सुनी। यह तो भगवान के भरोसे बैठे रहे। अन्ततोगत्वा स्वयं भगवान ही वैद्य बनकर आये और इनकी औषधि किये। इनका रोग तो भगवान के दर्शन-स्पर्श से ही दूर हो गया।

कलिजुग जुवतीजन भक्तराज महिमा सब जानै जगत।।
सीता, झाली, सुमति सोभा, प्रभुता, उमा भटियानी।
गंगा, गौरी, कुँवरि, उबीठा, गोपाली गनेस दे रानी।।
कला, लखा, कृत गढ़ौ मानमती सुचि सतिभामा।
जमुना कोली रामा मृगा, देवादे भक्तन विश्रामा।।
जुग जेवा कीकी कमला, देवकी, हीरा, हरिचेरी पोषे भगत।
कलिजुग जुवती जन भक्तराज महिमा सब जानै जगत।।१०४।।

शब्दार्थ—पोषे भगत=भक्तों का पालन-पोषण (सेवा) किया। विश्रामा=श्रम मिटाने, ठहरने का स्थान।

भावार्थ—इस कलियुग में भी ये युवतीजन (माताएँ) भक्तराज हुईं। इनकी महिमा सारा संसार जानता है। इनके नाम ये हैं- श्रीसीतासहचरीजी, श्रीझालीजी, श्रीसुमतिजी, श्रीशोभाजी, श्रीप्रभुताजी, श्रीउमा भाटियानीजी, श्रीगंगाजी, श्रीगौरीजी, श्रीकुँवरिजी, श्रीउबीठाजी, श्रीगोपालीजी, रानी श्रीगणेशदेईजी, श्रीकलाजी, श्रीलखाजी, श्रीकृतगढ़ौजी, श्रीमानमतीजी, परम साध्वी श्रीसत्यभामाजी, श्रीयमुनाजी, श्रीकोलीजी, श्रीरामाजी, श्रीमृगाजी, श्रीदेवाजी, दोनों जेवाजी, श्रीकीकीजी, श्रीकमलाजी, श्रीदेवकीजी, श्रीहीराजी, श्रीहरिचेरीजी। ये सब भक्ताएँ भक्तों को विश्राम देने वाली तथा सब प्रकार से उनका पालन-पोषण करने वाली हुईं।।१०४।।

श्रीगणेशदेई रानीजी

मधुकरशाह भूप भयौ देस ओड़छे कौ रानी सो गनेसदेई काम बाँकौ कियौ है।
आवैं बहु संत सेवा करत अनंत भाँति रह्यौ एक साधु खान-पान सुख लियौ है।।
निपट अकेली देखि बोल्यौ धन थैली कहाँ? होय तौ बताऊँ सब तुम जानौ हियौ है।
मारी जाँघ छुरी लखि लोहू बेगि भागि गयौ भयौ सोच जानै जिनिराजा बंद दियौ है।।४१७।।

शब्दार्थ—बाँको=अच्छा, श्रेष्ठ। बन्द दियौ=घाव पर पट्टी बाँध दी।

भावार्थ—महाराजा श्रीमधुकर शाहजी ओरछा देश के राजा थे। इनकी रानी का नाम गणेशदेई था। इन्होंने बहुत श्रेष्ठ कार्य किया। इनके यहाँ बहुत से सन्त आते और ये उनकी अनेक प्रकार से सेवा करते। खान-पान का सुख देखकर एक साधु बहुत दिन इनके यहाँ रह गया। एकदिन महल में नितान्त अकेली देखकर उसने रानी गणेशदेई से पूछा कि-"बताओ धन की (मोहरों की, जवाहरातों की) थैलियाँ कहाँ हैं?" इन्होंने कहा यदि मेरे पास धन की थैलियाँ हों तो बताऊँ। जब हैं ही नहीं तो क्या बताऊँ? आप तो मेरे हृदय की जानते हो। तब उस साधु वेषधारी ने श्रीगणेशदेई रानी की जाँघ में छुरी मार दिया। खून की धारा बह चली। रक्त का प्रवाह देखकर वह तुरन्त भाग गया। रानी को सोच हुआ कि कहीं राजा इस घटना को न जान जायँ। जान जायेंगे तो साधु सेवा बन्द कर देंगे। अतः रानी ने घाव पर कसकर पट्टी बाँध लिया।।४१७।।

व्याख्या—मधुकरशाह—इनकी कथा देखिये कवित्त-४८८ में। ''रानी सो गनेसदेई'' -आपके सम्बन्ध में वर्णन आया है कि-''कुँवरि श्रीगणेशदेई ऐसी धर्मशीला थीं। धर्ममयी धर्म की कला थीं या कि लीला थीं। पालती व्रतों को पूर्ण नियम निभातीं वे। दया और सेवा की सुमूर्ति कहलातीं वे।। माता अन्नपूर्णा-सी प्रजा को लिये गोद में। पालती थीं नाना भाँति गोद में विनोद में।। बाँटती थीं अन्न-वस्त्र दीनों तथा हीनों को। देतीं मनों चून चेंटियों को और मीनों को।। अतिथि अनाथों को सुभोजन कराती थीं। नित्य ही सहस्रों पक्षियों को वे चुगाती थीं। नित्य प्रति ब्रह्मभोज होता रनिवास में। होम प्रतिपक्ष में सुयज्ञ प्रति मास में।। मन वच काय रघुनाथ की उपासना। करती थीं त्याग भोग वैभव की वासना।।''

बाँधि नीकी भाँति पौढ़ि रही कही काहू सौं न आयो ढिग राजा मति आवौ तिया धर्म है।
बीते दिन तीन जानी बेदन नबीन कछू कहिये प्रबीन मोसों खोलि सब मर्म है।।
टारी बार दोय चारि नृप के बिचार पर्यो कर्यौ समाधान जिन आनौ जिय भर्म है।
फिर्यौ आस पास भूमि पर तन रासकरी भक्तिकौ प्रभाव छांड़ि तिया पति सर्म है।।४१८।।

शब्दार्थ—भर्म=भ्रम, सन्देह। सर्म=लज्जा।

भावार्थ—रानी श्रीगणेशदेईजी अपने जाँघ के घाव को अच्छी तरह से बाँधकर पौढ रहीं। उन्होंने किसी से भी यह बात नहीं कही। जब राजा मधुकरशाहजी इनके पास आये तो इन्होंने कहा कि-''मेरे पास मत आइये। इस समय मुझे मासिक धर्म हुआ है।'' तीन दिन बीतने पर भी रानी को शय्या पर ही पड़ी देखकर राजा समझ गये कि इन्हें कोई नया कष्ट प्राप्त हो गया है, उसे यह कहती नहीं हैं। अतः समीप जाकर बोले- ''हे प्रवीणे! तुम मुझसे व्यथा का सब रहस्य खोलकर कहो। तब भी रानी ने दो-चार बार इस प्रसंग को टरकाया। परन्तु इससे राजा का विचार और भी दृढ़ हो गया कि अवश्य ही इन्हें कोई नई व्यथा है। अतः बारम्बार बताने का आग्रह किये। तब रानी ने कहा-''मैं बता तो दूँ परन्तु आप जानकर मन में सन्तों के प्रति कुछ संदेह नहीं करना।'' इसके बाद रानी ने सब बात बता दी। तब रानी की अपार सन्त निष्ठा देखकर राजा बहुत प्रभावित हुये और उन्होंने पति-पत्नी भाव की लज्जा और संकोच को छोड़कर, भक्ति का प्रभाव विचारकर अपनी रानी गणेशदेई की परिक्रमा की और पथ्वी पर पड़कर साष्टांग दण्डवत्प्रणाम किया।।४१८।।

व्याख्या—जिन आनौ जिय भर्म है—रानी को डर था कि कहीं राजा सन्त की यह करतूति सुनकर सन्त सेवा से मन न हटा लें कि सन्त सब ऐसे ही होते हैं। फिर तो महान् अनर्थ हो जायेगा। एक तो सन्त-सेवा रूप महान् पुण्य से वंचित हो जायेंगे, दूसरे सन्तों में अभाव करने से महदपराध के भागी बनेंगे। जिसका कोई प्रायश्चित नहीं है और जिसे भगवान भी क्षमा नहीं करते हैं। अत: रानी ने पहले ही राजा को वचनबद्ध करा लिया कि घटना ऐसी है कि इससे सन्तों में सन्देह हो सकता है, अभाव हो सकता है, परन्तु आप सुनकर सन्तों में सन्देह तथा अभाव मत करना। अरे, संसारी कार्यों को करने में कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं तो यदि पारमार्थिक कार्य में कुछ कष्ट प्राप्त हो जाय तो उससे मन नहीं मोड़ना चाहिये। यथा-''नर संसारी लगन में दु:ख सुख सहै करोर। नारायण हरि भजन में जो कुछ होय सो थोर।।''

विशेष—ओड़छा नरेश महाराज मधुकरशाहजी अनन्य श्रीकृष्ण भक्त थे और उनकी रानी श्रीगणेशदेईजी श्रीरामजी की अनन्य उपासिका थीं। एकबार श्रावण के महीने में झूलन के उत्सव के अवसर पर श्रीमधुकरशाहजी तो वृन्दावन आये और रानी श्रीगणेशदेईजी ने अयोध्या की यात्रा की। उत्सव समाप्त होने पर महाराज श्रीमधुकरशाहजी तो ओड़छा चले गये परन्तु श्रीगणेशदेईजी अयोध्या से नहीं लौटीं। महाराज मधुकरशाहजी ने दो-चार बार पत्र भी लिखा कि मैं श्रीवृन्दावन से आ गया। अब तुम भी श्रीअयोध्या से चली आओ। परन्तु श्रीगणेशदेईजी का श्रीअवध में ऐसा मन रमा कि उनका ओड़छा जाने का मन ही नहीं करता था। अन्त में श्रीमधुकरशाहजी ने खिसियाकर पत्र लिखा कि-''बार-बार बुलाने पर भी नहीं आती हो तो लगता है कि अबकी बार खसम (श्रीरामजी) को लेकर ही लौटोगी।'' राजा की यह बात महारानी श्रीगणेशदेईजी को लग गयी। इन्होंने भी प्रेमावेश में राजा को पत्र लिख दिया-''कि सचमुच अब तो मैं श्रीप्रभु को लेकर ही ओड़छा को आऊँगी अन्यथा यहीं शरीर छोड़ दूँगी।''

इसके बाद महारानी श्रीगणेशदेईजी ने मन में विचार किया कि राजा हमारे प्रेम का उपहास कर रहे हैं। अरे, हमारे समान तो श्रीरामजी की न जाने कितनी दासियाँ हैं। यदि सबकी सब आग्रह करें तो श्रीराम श्रीअयोध्या का सुख छोड़कर दासियों के साथ कहाँ-कहाँ जायेंगे? फिर धाम छोड़ने का हठ कौन करेगा? कहा गया है-''जो सेवक साहिबहिं संकोची। निज हित चहै तासुमति पोची।।'' उधर बिना प्रभु को लिये मैं ओड़छा में पाँव नहीं रख सकती। क्योंकि तब तो राजा मेरा और मेरे प्रभु का और भी अधिक

उपहास करेंगे। यह सब सोचकर रानी प्रेम के कारण अत्यन्त ही विकल हो गईं। इन्हें प्रभु का वियोग व्याप गया। जब विरह असह्य होने लगा तो रानी तन त्याग का संकल्प कर श्रीसरयूजी में कूद गईं, परन्तु यह क्या? अगाध जलराशि में कूदते ही श्रीरघुनाथजी इनकी गोद में आ गये और रानी को श्रीसरयू के प्रवाह से बाहर निकाल लाये और बोले-"चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारे साथ सहर्ष ओड़छा चलने के लिये तैयार हूँ। श्रीप्रभु का दर्शन कर एवं कृपामय वचनों को सुनकर रानी परमानन्दसिन्धु में निमग्न हो गईं।

रानी ने उस दिन श्रीअयोध्या में भारी उत्सव मनाया और तुरन्त महाराज मधुकरशाह को पत्र लिखा कि मैं प्रभु को लेकर आ रही हूँ, आप प्रभु के स्वागत की तैयारी करें। पत्र पढ़ते ही राजा को महान् हर्ष हुआ। उन्होंने तुरन्त राजा राम के स्वरूपानुरूप विशाल मन्दिर बनवाने का हुक्म दे दिया और स्वयं श्रीरामजी के स्वागतार्थ बहुत बड़े लाव-लश्कर को साथ लेकर श्रीअयोध्या आये। शुभ मुहूर्त पुष्य नक्षत्र में प्रस्थान की तैयारी हुयी। प्रस्थान काल में राजा ने साधु ब्राह्मणों का दान-मान से बहुत बड़ा सत्कार किया और सबकी आज्ञा एवं आशीर्वाद लेकर महाराजोचित साज-समाज के साथ बड़े समारोह पूर्वक ओड़छा के लिये प्रस्थान किया। राजा-रानी ने यात्रा का नियम यह बना रखा था कि केवल पुष्य नक्षत्र में चलते थे। इसके बाद विश्राम करते थे। महीने भर एक जगह पड़ाव रहता। महाराजोपचार विधि के अनेकानेक उत्सव होते रहते। जब पुनः पुष्य नक्षत्र युक्त शुभ मुहूर्त आता तब प्रस्थान करते। इस प्रकार विविध उत्सव सुख समारोह पूर्वक पुष्य नक्षत्र में ही यात्रा करते हुये श्रीराजाराम ओड़छा आये। यहाँ आने पर राजा-रानी ने बहुत बड़ा उत्सव मनाया। संयोग की बात ओड़छा आने तक मन्दिर बनकर तैयार नहीं हो पाया था शिखर बनना शेष था, अतः श्रीराजाराम भगवान को रानी के महल में ही विराजमान कराया गया। दर्शनार्थियों का समुदाय उमड़ पड़ा प्रभु दर्शन के लिये। सबने श्रीराजाराम भगवान का साक्षात् दर्शनकर अपने को धन्य माना।

भगवान श्रीराजाराम का वह श्रीविग्रह खड़े रूप में था। अतः महारानी श्रीगणेशदेईजी भी खड़े-खड़े ही प्रभु की सेवा करती थीं। समस्त सेवा कार्य अपने ही हाथ से करने के कारण रानी को लगभग चार-चार घण्टे तक सेवा में खड़े ही रहना पड़ता था। रानी का सुकुमार शरीर इतना श्रम सहने लायक नहीं था। अतः करुणावरुणालय श्रीप्रभु ने एकदिन रानी से कहा कि-"आज मेरे पाँव दुख रहे हैं।" रानी ने विकल होकर पूछा-"प्रभो! क्या कारण है?" तब भगवान ने कहा-"इसलिये कि तुम बहुत देर तक

खड़ी-खड़ी मेरी सेवा करती हो तो तुम्हारे पाँव दुखने लगते हैं तो मेरे भी दुखने लगते हैं। अतः तुम बैठकर मेरी सेवा किया करो। तुम्हारा कष्ट मुझसे सहा नहीं जाता है।'' रानी ने हाथ जोड़कर कहा कि-''प्रभो! हमें तो दो-चार घण्टे सेवा में खड़े रहना पड़ता है और आप तो परम सुकुमार होकर भी चौबीसों घण्टे खड़े ही रहते हैं। मैं आपसे भी अधिक सुकुमार थोड़े ही हूँ, जो चार घण्टे भी खड़ी न रह सकती। आप खड़े रहें और मैं बैठकर सेवा-पूजा करूँ, यह उचित नहीं है।'' श्रीरामजी ने कहा-''तो मैं बैठ जाऊँ?'' रानी ने कहा-''हाँ, यदि आप बैठ जायँ तो मैं भी भले बैठकर सेवा-पूजा कर सकती हूँ।'' भगवान ने कहा कि-''अच्छा मैं तुम्हारे कहने से बैठ तो जाता हूँ, परन्तु अब यहाँ से उठूँगा नहीं। यहीं अचल होकर रहूँगा।'' रानी ने स्वीकार कर लिया। फिर तो रानी के देखते-देखते श्रीराजारामजी वीरासन से वहीं बैठ गये। जो दर्शनार्थी कल खड़े भगवान का दर्शन कर गये थे, वे आज बैठे देखकर बड़े चकित हुये और उन्हें यह विश्वास हो गया कि भगवान मूर्ति नहीं बल्कि साक्षात् स्वरूप हैं। भला कहीं किसी ने मूर्ति को बैठते देखा है, अर्थात् नहीं। इस लीला से भगवान ने उन लोगों का सन्देह दूर कर दिया, जो कि इस बात पर अविश्वास करते थे कि रानी को श्रीराजाराम साक्षात् मिले हैं। मन्दिर तैयार होने पर राजा ने श्रीराजारामजी को मन्दिर में विराजमान करवाने का प्रस्ताव रानी के सामने रखा तो रानी ने श्रीराजारामजी की अविचलता की बात बतायी। तब राजा मधुकरशाहजी ने श्रीराजाराम पर प्रेम भरा व्यंग्य किया कि-''यदि घर-घुसुल्लू ही बनकर रहना था तो मन्दिर क्यों बनवाये?'' रानी ने यह बात श्रीराजारामजी को सुनायी तो उन्होंने कहा कि-''मैं तो आपके प्रेमवश आया हूँ, मुझे आपकी सेवा प्रिय है, अतः राजा कुछ भी कहें, हम तो महल में ही रहेंगे। उनसे कह दो कि वे मन्दिर में किसी और मूर्ति को पधरा लें। तब राजा ने उस नव-निर्मित मन्दिर में चतुर्भुज भगवान की प्रतिष्ठा की। आज भी मन्दिर में चतुर्भुज भगवान एवं महल में श्रीराजाराम का दर्शन होता है। महल के चौखट पर आज भी यह दोहा अंकित है-''मधुकरशाह महाराज की रानी कुँवरि गणेश। अवधपुरी से ओरछे लाईं अवध नरेश।।'' श्रीराजारामजी के प्रभाव से ओड़छा तीर्थ बन गया।

श्रीझालीरानीजी—यह चित्तौड़गढ़ की रानी थीं और श्रीरैदासजी की शिष्या थीं। इस सम्बन्ध में विशेष देखिये उ०प्र० खण्ड क० २६६, २६७। सन्तों में इनकी बड़ी निष्ठा थी। एकबार इनके यहाँ सन्तों की जमात आई। जमात में इनके एक गुरुभाई भी आये

हुये थे। इनके मन में दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी, परन्तु राणा साहब ने दर्शनार्थ जाने की अनुमति तो नहीं ही दी, उल्टे द्वार-द्वार पर पहरा लगा दिया कि रानी महल से बाहर निकलने न पावें और कोई साधु महल के भीतर न आने पावे। यदि कोई आया-गया तो पहरेदारों को सूली पर चढ़ा दिया जायेगा। इस सख्त हुक्म से सभी पहरेदार अत्यन्त चौकन्ने होकर पहरा दे रहे थे। इधर रानी के मन में दर्शन की चटपटी लगी। अतः यह सन्तों के श्रीचरण-कमलों का स्मरण करती हुई प्रेमावेश में अकेली महल से निकल पड़ीं सन्तों के दर्शन के लिये। भगवदिच्छा एवं सन्तों की कृपा से कोई भी पहरेदार रानी को जाते हुये नहीं देख सका। रानी ने बड़े सुख से सन्तों का दर्शन किया और खूब भोग-भण्डारा, भेंट-पूजा से सन्तों का सम्मान किया। उधर राजा को पता चला कि रानी तो महल से निकलकर सन्तों की जमात में चली गई, तो उन्हें बहुत क्रोध आया, पहरेदारों पर। आकर उनको बहुत डाँट लगायी और बोले-"अच्छा, जो हुआ सो हुआ, अब खबरदार, रानी महल में घुसने नहीं पावें। यदि अबकी असावधानी हुयी तो किसी के भी प्राण नहीं बचेंगे।" राणा साहब पहरेदारों को सावधान कर स्वयं भी बड़ी सतर्कता पूर्वक देखभाल करने लगे। परन्तु रानी तो जैसे गई थीं, वैसे ही पुनः महल में आ भी गईं और कोई देख नहीं पाया। जब राणासाहब को रानी के महल में पहुँचने का समाचार मिला तो उनकी आँखें खुल गईं कि यह तो प्रत्यक्ष भक्ति का चमत्कार है। फिर तो रानी के साथ राणा साहब भी श्रीभगवत्-भागवत सेवा में जुट गये।

श्रीशोभाजी—सन्त-सेवा परायणा श्रीशोभाजी अपने देवर-देवरानी के साथ रहती हुयीं निरन्तर भजन-साधन में लगी रहती थीं। इनका देवर तो इनकी भक्ति-भावना से सन्तुष्ट था, परन्तु देवरानी कुढ़ा करती थी। एकबार देवर ने एक जोड़ा सोने का कंकण बनवाया और श्रीशोभाजी को ही रखने के लिये देकर स्वयं परदेस चला गया। इनकी देवरानी को भला यह कब सहन होने लगा। वह शोभा को तो कुछ नहीं कह सकी, परन्तु अवसर पाकर शोभा के पास रखा हुआ कंकण उसने चुरा लिया और पृथ्वी में गाड़ दिया। श्रीशोभाजी तो सदा सन्त-सेवा और सत्संग में पगी रहती थीं और कंकण की ओर से उनका ध्यान ही हट गया, अतः कंकण की चोरी की उन्हें जानकारी ही नहीं थी। जब देवर परदेश से आया और कंकण माँगा, तब ये कंकण लेने गईं, परन्तु देखा तो कंकण नदारत था। इससे शोभाजी को बड़ा संकोच हुआ। इन्होंने देवर से सही-सही बात कह दी कि मैंने तो अमुक स्थान पर रखा था, परन्तु बीच में मुझे उन्हें सँभालने का ध्यान

नहीं रहा, आज देखा तो कंकण वहाँ नहीं मिला। देवर चुप लगा गया। परन्तु देवरानी कब चुप बैठने वाली थी। वह तो अपने पति का कान भरने लगी कि रोज साधुओं को बुला-बुलाकर हलवा-पूरी खिलाती हैं। एक जाते हैं तो दो साधु आते हैं। उनकी सेवा में खूब पैसा खर्च होता है। आप निश्चय मानिये इन्होंने कंकण बेचकर साधुओं को खिला दिया है। देवरानी का यह झूठा आरोप सुनकर श्रीशोभाजी को बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने भगवान से प्रार्थना किया कि-"प्रभो! यह झूठा कलंक आप दूर करो।" प्रभु कृपा से शोभाजी जब सोकर उठीं तो कंकण को खाट पर पाया। इन्होंने तुरन्त देवर को बुलाकर कंकण देकर सन्तोष की साँस ली। जब यह बात इनकी देवरानी को मालूम हुई तो उसने भी पृथ्वी खोदकर देखा तो कंकण वहीं पर गड़ा मिला। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस कंकण को भी लाकर अपने पति को दे दिया और अपने कपट की बात सुनाते हुये श्रीशोभाजी से क्षमा-प्रार्थना की। उसी समय एक चमत्कार और हुआ वह यह कि जब इनकी देवरानी ने पहला कंकण लाकर दिया तो श्रीभगवद्दत्त कंकण अदृश्य हो गया। तब तो देवर-देवरानी दोनों ही इनके चरणों में नतमस्तक हो गये और उपदेश लेकर स्वयं भी सन्त-सेवा में लग गये।

श्रीप्रभुताजी—यह भक्तवर श्रीरैदासजी की धर्मपत्नी थीं। श्रीरैदासजी की तरह इनकी भी सन्तों के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। एकदिन घर पर सन्त आये। परन्तु घर में एक मुट्ठी अन्न भी नहीं था। श्रीरैदासजी को बड़ा शोच हुआ। पति को शोचग्रस्त जानकर श्रीप्रभुताजी ने धैर्य बँधाया और तुरन्त अपनी सास के पास जाकर बोलीं कि-"मुझे कहीं बाहर जाना है, थोड़ी देर के लिये आप अपना हमेल (गले में पहनने का एक आभूषण) हमें दे दीजिये। मैं अभी लाकर वापस कर दूँगी।" सास इनकी बात में आ गई और अपना हमेल दे दिया। इन्होंने वह हमेल श्रीरैदासजी को देकर कहा कि-"शीघ्र इसे बेचकर सन्तों की सेवा कीजिये।" श्रीरैदासजी ने ऐसा ही किया। उधर जब बहुत देर होने पर भी हमेल लौटकर नहीं आया तो प्रभुताजी की सास को खलबली पड़ी। उसने पूछताछ करवायी तो पता चला कि हमेल तो बिककर सन्त-सेवा में लग गया। तब तो वह बहुत ही नाराज हुई और उसने श्रीप्रभुताजी को कोठे में बन्द कर दिया। बिना अन्न-जल के प्रभुताजी रात भर कोठे में बन्द रहीं। प्रातःकाल भगवान श्रीरैदासजी का रूप धरकर हमेल ले आये। जब सास को हमेल मिल गया तब उसने श्रीप्रभुताजी को छोड़ा। घर आकर श्रीप्रभुताजी ने पति से पूछा कि हमेल कैसे छुड़ा लाये? पैसा इतनी जल्दी कहाँ से मिला? श्रीरैदासजी ने कहा

कि-''हमें न तो कहीं से पैसा ही मिला, न हमने हमेल ही छुड़ाया न दिया। कैसी बात कर रही हो। तब श्रीप्रभुताजी समझ गईं कि मेरे पति के रूप में साक्षात् परमात्मा ने ही हमेल छुड़ाकर हमें बन्धन से मुक्त किया।'' उसी दिन से श्रीरैदासजी और उनकी पत्नी की सन्त-सेवा में और भी निष्ठा हो गई।

श्रीउमाभटियानीजी—आपकी सन्तों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। विविध प्रकार के व्यञ्जन बनातीं, भगवान को भोग लगातीं और सन्तों को भी खिलाती थीं। एकबार एक सन्त ने आकर इनसे कहा कि-''मेरे श्रीगुरुजी का उत्सव है, उसमें दो हजार रुपयों की आवश्यकता है। यदि आपसे हो सके तो उसकी व्यवस्था कर दीजिये। श्रीउमाभटियानीजी ने तुरन्त अपने समस्त आभूषण बेचकर सन्त को दो हजार रुपये दे दिये। उसी रात ऐसा चमत्कार हुआ कि अपने जितने गहने बेचे थे वे सब आकाश से इनके आँगन में बरस गये। इन्होंने पहचाना तो अपने ही गहने थे। इस प्रसंग से इनकी सन्त-सेवा में और अधिक निष्ठा हो गयी तथा सर्वत्र इनकी उदारता की चर्चा होने लगी। इस बात को एक ढोंगी ने सुना तो वह भी सन्त का वेष बनाकर इनके यहाँ आया और आभूषण माँगने लगा। इन्होंने उसे भी सहर्ष अपने सभी आभूषण दे दिये। परन्तु वह ढोंगी जब इनके आभूषण लेकर नगर से बाहर भागने लगा तो अन्धा हो गया। फिर वह नगर की ओर लौटा तो आँखों की ज्योति पूर्ववत् ठीक हो गयी। तब उसने नगर में रहने का ही निश्चय किया, परन्तु नगर में भी जब वह रात को सो रहा था तो स्वप्न में भगवान ने भय दिया कि-''क्यों रे मूढ़! अभी भी तेरा अज्ञान दूर नहीं हुआ। शीघ्र उस भागवती के आभूषणों को लौटाओ, अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। तुमको मालूम होना चाहिये कि भक्त का धन तो भक्तों की ही सेवा में लगेगा। तब तो वह ढोंगी डरकर इनके सभी आभूषण लौटा गया और चरणों में पड़कर क्षमा माँगी। श्रीउमाभटियानीजी ने उसे सन्त-सेवा का उपदेश दिया।

श्रीगौराबाईजी—श्रीभगवत्कथा कीर्तन श्रवण एवं भक्तों की सेवा यही आपकी दिनचर्या थी। सेवा की ख्याति के कारण दूर-दूर के बड़े-बड़े सन्त महात्मा आते ही रहते थे। उनके दर्शन एवं कीर्तन से आप परमानन्द में विभोर रहतीं। एकबार आपके यहाँ कई सिद्ध सन्त एक साथ पधारे। श्रीगौराबाई ने बड़े प्रेमभाव से उनकी सेवा की। उस दिन सत्संग में उन सन्तों ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते हुये कहा कि-''जो अमलात्मा योगीन्द्र, मुनीन्द्रों के ध्यान में सहसा नहीं आते, उन्होंने प्रेम परवश होकर यशोदा का स्तनपान किया और उन्हें अपनी मधुर बाल-लीलाओं से परम सुख

प्रदान किया।'' इस कथा को श्रवण कर श्रीगौराबाई ने कहा-''धन्य हैं श्रीयशोदाजी, जिनका स्तनपान करके श्यामसुन्दर को तुष्टि पुष्टि प्राप्त हुई।'' सन्तों ने कहा-''धन्यवाद के योग्य प्रेम है, आज भी यदि किसी को प्रेम हो तो प्रभु बालक बनकर उसका पयः पान कर सकते हैं। वात्सल्य रसमयी श्रीगौराजी के मन में भगवान को स्तनपान कराने की बलवती इच्छा जागृत हो उठी। इनके परम प्रेम को देखकर स्वयं भगवान भी एक सन्त का रूप धारणकर सत्सङ्ग सभा में आ बैठे। कथा श्रवण कर सबके साथ में उन्होंने भोजन किया। रात को शयन करते समय बाल भाव से बोले-''मैं तो तुम्हारे साथ ही शयन करुँगा।'' सन्तों में उत्कृष्ट सद्भाव होने से बिना किसी प्रकार की शंका के श्रीगौरादेवी ने उन्हें अपने साथ शयन करा लिया। क्षणभर में ही सन्त-भगवान बाल रूप धारणकर श्रीगौराबाई का स्तनपान करने लगे। पयः पान से सन्तुष्ट होकर बालगोविन्द किलकारी मारने लगे। भगवान को स्तनपान कराकर गौराबाई प्रेम मग्न हो गईं। कुछ देर बाद बालगोविन्द भगवान ने उन्हें अचेत देखकर रुदन आरम्भ कर दिया। श्रीगौरादेवी उन्हें गोद में लेकर चुप कराने की इच्छा से उठीं। बालक के रुदन से सन्त लोग जग गये। घटना का विवरण सन्तों से कहना चाहती थीं। तभी उनकी गोद से शिशु श्यामसुन्दर अन्तर्धान हो गये। बाईजी के स्तनों से अब भी दूध टपक रहा था। विरह से व्यथित भक्ता को सन्तों ने धैर्य दिलाया और भाग्य की प्रशंसा करके कहा कि-''तुम्हारा सच्चा प्रेम देखकर प्रभु ने तुम्हारी अभिलाषा पूरी कर दी।'' बाईजी के प्रभाव से अनेकों ने भगवत्प्रेम प्राप्त किया।

श्रीकलाबाईजी—श्रीगुरु गोविन्द के चरणों में अपार श्रद्धा रखने वाली श्रीकलाबाईजी को समाचार मिला कि गुरुदेव पधार रहे हैं। आपके मन में परम सुख हुआ। गुरु-दर्शन-सत्सङ्ग के अनेक भावमय चित्र मन में उभरने लगे। उससे प्रेम के सात्विक भावों का शरीर में उदय हो गया। कब आवें, कब दर्शन हों, इस सोच-विचार में पड़ी हुई श्रीबाईजी को समाचार मिला कि-''गुरुदेव तो जमात के साथ इस गाँव की ओर न आकर आगे के गाँव में पहुँच गये।'' यह सुनते ही श्रीकलाबाईजी को आवेश आ गया। स्तनपान करते हुए शिशु को पालने में छोड़कर गुरु दर्शनार्थ दौड़ीं। पाँच कोस की दौड़ लगाने पर श्रीगुरुदेव के दर्शन हुये। उनके चरणों में प्रणामकर दर्शन सत्सङ्ग कर इन्हें परम सन्तोष हुआ। तब तक रात हो गई। वहाँ से घर को वापस लौटना असम्भव जानकर आप रात को वहाँ ही रह गईं। रात को सहसा आपके मन में शिशु का स्मरण आया। उसे क्षुदित अनुमान कर वात्ससल्यवश स्तनों से दुग्ध की धार बहने लगी। आपका हृदय व्याकुल हो उठा। कुछ

तन्द्रा सी आने के बाद जब आप सचेत हुईं तो आपने देखा कि एक बालक साथ ही लेटा हुआ स्तनपान कर रहा है। उठकर उजाले में देखकर पहचाना तो वह अपना वही पुत्र था, जिसे वे छोड़ आईं थीं। इस चमत्कार को देखकर सभी लोगों के मन में श्रीकलाबाई के प्रति अपार श्रद्धा एवं गुरु-गोविन्द की भक्ति में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया।

श्रीजीवाबाईजी—आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। अनन्य प्रेम के प्रभाव से सभी लोग आपको आदर दृष्टि से देखते थे। सम्पर्क में आने वाली सभी नारियों को आप भगवान की भक्ति की शिक्षा दिया करती थीं। इससे नारी जगत् में आप विशेष सम्मानीया थीं। एकबार इनके पुत्र को शीतला निकलीं। लोगों ने शीतलादेवी की मान्यता-पूजा का आग्रह किया। पतिदेव ने भी विशेष जोर दिया, पर आपने किसी की एक न मानी। अपने इष्टदेव श्यामसुन्दर का ही स्मरण करती रहीं। पतिदेव ने क्रोधित होकर कहा कि- ‘‘कहना नहीं मान रही हो, यदि बालक मर गया तो तुझे भी मैं जीवित ही जला दूँगा।’’ श्रीजीवाजी ने कुछ भी उत्तर न दिया। क्योंकि उन्हें भगवान में अटूट विश्वास था। वे जीवन-मरण के मोह में नहीं थीं। बालक की दशा बिगड़ती गई और अन्त में उसका प्राणान्त हो गया। पति ने तरह-तरह की खरी-खोटी सुनाईं। श्रीजीवाजी ने बिना किसी विषाद के श्मशान में जाकर चिता तैयार की और मृत बालक को गोद में लेकर जलने के लिये चिता पर बैठ गईं। ऐसा करने से सभी लोगों ने और स्वयं पतिदेव ने भी मना किया, परन्तु अपने पतिदेव के प्रथम वाक्य को सत्य करने का निश्चय करके जीवित ही जलना चाहा। ऐसी आपकी दृढ़ता को देखकर प्रभु प्रसन्न हो गये और गोद का बालक जीवित हो गया। यह देख-सुनकर सभी को भगवद्-भक्ति की महिमा का ज्ञान हुआ। सबने इसे प्राप्त करने की इच्छा की। अनन्यनिष्ठ भक्त का योगक्षेम भगवान स्वयं वहन करते हैं। यह सत्य हो गया।

श्रीजेवाजी—दूसरी जेवाजी श्रीलाखा भक्त की धर्मपत्नी थीं। आप सर्वदा अपने पतिदेव की रुचि के अनुसार ही सन्तों की खूब सेवा करती थीं। जब श्रीलाखाजी ने जगन्नाथजी की यात्रा की, उस समय आपने घर पर रहकर श्रीलाखाजी से भी अच्छी सन्त-सेवा की। इनके सद्भाव से एक दिन कई महान् सिद्ध सन्तों ने दर्शन देकर आशीर्वाद दिया और श्रीलाखाजी को आज भगवान ने पालकी पर बैठाकर शीघ्र अपने पास बुलाया है। यह सुन्दर समाचार सुनाकर अन्तर्धान हो गये। (छ०-१७० में भी आपका स्मरण किया गया है।) जहाँ पर सद्भाव से सेवा होती है, वहाँ सिद्ध भक्त भी आते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—एक सेठजी का—एक वैष्णव सेवी सेठ सेठानी राजनगर में रहते थे। वे श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य थे। जब तक दो-चार वैष्णवों को प्रसाद नहीं पवा देते, तब तक स्वयं भोजन नहीं करते। एकबार सेठजी परदेश जाने लगे। तब सेठानी से बोले-"तुम नित्य जितने वैष्णवों को भोजन कराना, उतने पैसे एक घड़े में डाल दिया करना। मैं आकर गिनूँगा।" सेठानी ऐसा ही करती रहीं। कुछ दिनों के बाद सेठजी परदेश से आये। उन्होंने घड़े के पैसों को देखा तो उसमें पाँच रत्न निकले। पूछने पर सेठानी ने कहा-"हमने तो पैसे ही डाले हैं।" उन दिनों श्रीगोसाईं विट्ठलनाथजी राजनगर में ही विराज रहे थे। सेठजी ने उनके पास जाकर पैसों में से निकले पाँच रत्नों का रहस्य पूछा-"तो उन्होंने बताया कि-"ये पाँच सन्त भगवान के अन्तरङ्ग, सिद्ध महाभागवत पधारे हैं। इससे ये पाँच रत्न हो गये। तुम्हारी सेठानी का बड़ा सौभाग्य है, जो उसने ऐसे भक्तों को भोजन कराया, उनके दिव्य दर्शन किये।"

श्रीगङ्गाबाईजी—विवाह के पूर्व ही इन्होंने गुरुदेव से दीक्षा लेकर भजन-पाठ में अपना मन लगाया। समय पर माता-पिता ने आपका विवाह कर दिया। गौने के समय इनके पतिदेव इन्हें लेने आये। ये अपने गुरुदेव को प्रणाम करने गईं। तब गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया-"तेरा पति अस्सी वर्ष तक जीवित एवं स्वस्थ रहें।" ये घर से विदा होकर अपने पति के साथ चलीं। वनमार्ग में इन्हें ठग मिले, उन्होंने इनके पति को मारकर सब धन-आभूषण छीन लिये। तब आपने अपने गुरुदेव का ध्यान करके प्रार्थना की- "प्रभो! आपका आशीर्वाद मिथ्या नहीं हो सकता है, फिर यह सब कैसे हुआ?" इनकी सच्ची गुरुवाक्य निष्ठा से प्रभु झट वहीं प्रकट हो गये और उन्होंने इनके पतिदेवजी को जीवित कर दुष्टों को दण्ड किया। इससे इनके पति भी परम भक्त हो गये और आजन्म दम्पत्ति ने श्रीभगवद् भजन किया।

हरि के संमत जे भगत, ते दासनि के दास।।
नरबाहन, बाहन बरीस, जापू जैमल, बीदावत।
जयंत, धारा, रूपा, अनुभई, उदारावत।।
गम्भीरे अर्जुन, जनार्दन, गोविन्द, जीता।
दामोदर, सांपिले, गदा, ईश्वर, हेमबिदीता।।
मयानन्द महिमा अनन्त, गुढीले, तुलसीदास।
हरि के सम्मत जे भगत, ते दासनिके दास।।१०५।।

शब्दार्थ—सम्मत=सहमत, अभिमत, अनुकूल, जिसकी राय मिली हो।

भावार्थ—श्रीनरबाहनजी, श्रीवाहन वरीसजी, श्रीजापूजी, श्रीजयमलजी, श्रीजयन्तजी, श्रीधाराजी, श्रीरुपाजी, श्रीऊदारावतजी, श्रीअनुभवीजी, श्रीअर्जुनजी (गम्भीरे), श्रीजनार्दनजी, श्रीगोविन्दजी, श्रीजीताजी, साँपिले ग्रामवासी श्रीदामोदरजी, श्रीईश्वरजी, श्रीहेमविदीताजी, श्रीमयानन्दजी और गुढ़ीले ग्रामवासी श्रीतुलसीदासजी।। इन सभी सन्तों की महिमा अनन्त है। जो भक्त सदा भगवान के मत से सहमत हैं, मैं उनके दासों का दास हूँ।।१०५।।

व्याख्या—श्रीनरवाहन०—नर=परमात्मा, विष्णु, नरावतार, पुरुष+वाहन=यान अर्थात् पार्षद। नरवाहन शब्द का अर्थ हुआ भगवत्पार्षद्। वाहनवरीस शब्द को श्रीरुपकलाजी ने एक भक्त का नाम माना है। पर मुझे यह शब्द नरवाहन का विशेषण प्रतीत होता है। वरीस यह वरीयस् का अपभ्रंश है। वरीयस् का अर्थ होता है श्रेष्ठ उत्तम। इस प्रकार वाहनवरीस का अर्थ हुआ उत्तम पार्षद। श्रीनरवाहनजी भगवान के उत्तम सेवक थे।

दासनिके दास—जो भगवान के सम्मत अर्थात् अनुकूल हैं, उन भक्तों का मैं दासानुदास हूँ। षड्विधा शरणागति में "आनुकूलयस्य सङ्कल्पः।" यह प्रथम कहा गया है। भगवान अपने भक्तों के भक्त को ही अपना भक्त मानते हैं। भगवान के इस मत के अनुकूल रहना अर्थात् भक्तों का दास्य स्वीकार करना ही भक्त का मुख्य लक्षण है। यथा-"ये मे भक्तजनाः पार्थ! न मे भक्ताश्च ते जनाः। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः।।" (आदिपुराण) अर्थ-"हे पार्थ! जो केवल मेरे भक्त हैं, वे वस्तुतः मेरे भक्त नहीं हैं। जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं। भक्तों की भक्ति के बिना सुर दुर्लभ पद पाकर भी उससे पतन हो जाता है। इस पर—

दृष्टान्त—चित्रकेतु का—श्रीनारदजी और अङ्गिरा ने समझा-बुझाकर चित्रकेतु का पुत्र शोक दूर करके उसे सङ्कर्षण मन्त्र दिया। जिसके जप के प्रभाव से चित्रकेतु को पार्षदत्व एवं अव्याहत गति वाला विमान मिल गया। इतस्ततः भ्रमण करता हुआ वह एक दिन कैलाश पर गया। वहाँ उसने वामाङ्ग में विराजमान पार्वती समेत शङ्करजी को देखा। भक्तों में भक्ति के अभाव से उसने शङ्करजी का उपहास किया कि-"संसारी लोग भी स्त्री का सेवन एकान्त में करते हैं। ये कैसे निर्लज्ज हैं जो ब्रह्मज्ञानियों की सभा में स्त्री को गोद में लेकर बैठे हैं।" इस चित्रकेतु की बात से रुष्ट होकर श्रीपार्वतीजी ने दैत्य होने का शाप दे दिया। सुर दुर्लभ पद पार्षदत्व से पतन हो गया। तब चित्रकेतु वृत्रासुर के रूप से त्वष्ट्रा के यज्ञ कुण्ड से प्रकट हुआ। इस जन्म में इन्द्र से युद्ध के समय उसने जो भगवान की स्तुति की,

उसमें ''दासानुदासो भवितास्मि भूयः।'' मैं आपके दासों का दास बनूँ। यह प्रथम कहा—और अन्त में-''ममोत्तम श्लोकजनेषु सख्यम्।'' अर्थात् आपके भक्तों से मेरी मैत्री हो। यह वरदान माँगा। यदि भक्तों में भक्ति होती तो वह श्रीशंकरजी की हँसी न करता और न पार्षदत्व से च्युत होता। इसी से मूल ग्रन्थकार दासों का दास्य चाहते हैं। विशेष देखिये श्रीमद्भागवत स्कन्ध-६, अध्याय-११ से १७ तक (पूर्वार्द्ध भक्तमाल पृष्ठ-३३७)

श्रीनरवाहनजी

रहैं भैगांव नांव, नरबाहन साधुसेवी, लूटि लई नाव जाकी, बंदीखानै दियौ है।
लौंडी आवै दैन कछू खायबे को, आई दया, अति अकुलाई, लै उपाय यह कियौ है।।
बोलौ ''राधावल्लभ'' औ लेवौ 'हरिवंश' नाम, पूछै 'शिष्य' नाम कहौ, पूछी नाम लियौ है।
दई मंगवाय बस्तु राखियो दुराय बात आय दास भयौ कही रीझि पद दियौ है।।४१९।।

भावार्थ—भैगाँव के रहने वाले गो० श्रीहितहरिवंशजी के शिष्य श्रीनरवाहनजी बड़े साधु-सेवी थे। आप जमींदार थे और सन्त-सेवा के निमित्त विमुखों को लूटते भी थे। एक बार एक साहूकार नाव पर माल लादकर ले जा रहा था। आपके सिपाहियों ने उसका धन लूट लिया और उसे कैदखाने में बन्द कर दिया। उसे भोजन देने के लिये एक दासी जाया करती थी। साहूकार का कष्ट देखकर उसे दया आ गयी। वह बहुत अकुलाई और बन्दीखाने से छूटने का उपाय बताती हुई बोली कि-''तुम श्रीराधाबल्लभजी और श्रीहितहरिवंशजी का नाम ऊँचे स्वर से बार-बार उच्चारण करो। जब कोई पूछे, तो कहना कि-''मैं श्रीहितहरिवंशजी का शिष्य हूँ।'' उस साहूकार ने ऐसा ही किया। तब श्रीनर-बाहनजी ने उसका सब धन लौटा दिया और कहा कि-''श्रीगुरुदेव से यह बात न बतलाना।'' बन्दीखाने से छूटकर वह आया और श्रीहितजी का शिष्य बना। सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर श्रीहित महाप्रभु बड़े प्रसन्न हुए और दो पदों में श्रीनरबाहनजी की छाप देकर उन्हें श्रीचतुरासीजी में स्थान दिया।।४१९।।

व्याख्या—भैगाँव—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के अटठ्इसवें अध्याय में कथा वर्णित है—नन्दबाबा ने कार्तिक शुक्ल एकादशी का उपवास किया और भगवान की पूजा की तथा उसी रात में द्वादशी लगने पर स्नान करने के लिए श्रीयमुनाजी के जल में प्रवेश किया। उन्हें पता नहीं था कि आसुरी वेला है। उन्होंने ब्रह्मवेला जाना और स्नान करने लगे। उस समय वरुण के एक सेवक ने उन्हें पकड़ लिया और अपने स्वामी के पास ले गया।

नन्दबाबा के खो जाने से सभी ब्रजवासी रोने लगे। भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने सब जान लिया और वे उसी समय वरुण लोक को गये। वरुण ने श्रीकृष्ण की पूजा और स्तुति की। भगवान श्रीकृष्ण नन्दबाबा को वापस ले आये। जहाँ स्नान करने जाते थे आज भी वह घाट ''नन्दघाट'' के नाम से प्रसिद्ध है। नन्दबाबा को उनके बाद सभी ब्रजवासियों को भय हुआ, इसी से वहाँ बसे हुए ग्राम का नाम ''भयगाँव'' हुआ।

व्याख्या—श्रीनरवाहनजी—श्रीवृन्दावन के उत्तर-पश्चिम कोने में श्रीयमुनाजी के उस पार बच्छवन के निकट भैगाँव में निवास करते थे। आप चौहान क्षत्री एवं बड़े वीर थे। किसी को कर नहीं देते थे। यवनों को युद्ध में परास्त कर आपने अपना छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। श्रीहितहरिवंश महाप्रभु के सुयश को सुनकर आप उनका दर्शन करने आये। उस समय श्रीनवलदासजी के साथ सत्सङ्ग हो रहा था। उसमें आपने सुना कि-''श्रीराधासुधानिधि'' दिव्य ग्रन्थ है। श्रीहिताचार्य महाप्रभु की जब छः मास की अवस्था थी, उस समय बाद ग्राम में पालना में झूलते समय यह ग्रन्थ आपके श्रीमुख से गाया गया। पश्चात् महामहिम श्रीनृसिंहाश्रमजी ने उसका संकलन किया। अब श्रीनरवाहनजी को इसकी श्रवण पिपाशा जगी। उसके प्रभाव से हृदय से संसारी विषय दूर हो गए। अब तक का समय व्यर्थ गया इससे एवं अपने पूर्वकृत कर्मों से व्यथित होकर आप श्रीहितजी की शरणागत हुए। कृपा परवश श्रीहितजी ने उपासना रहस्य एवं निकुञ्जलीला का बोध कराया। गुरु, गोविन्द और भक्तों में सदा भक्ति रखने का उपदेश दिया और कहा कि-''अब कभी लूट-मार न करना। परोपकारमय जीवन बिताना।'' श्रीहितजी की कृपा से आपका जीवन धन्य हो गया। निरन्तर भजन ध्यान में मग्न रहने लगे। भगवद्भक्ति से विमुख एक बहुत बड़ा व्यापारी था। उसके साथ सात सौ सिपाही अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहते थे। वह मार्ग में घाटों का कर किसी को नहीं देता था। इनकी सीमा से नावों को लेकर निकला। इनके दूतों ने कर माँगा। उसने कहा-''मैं कट्टर नास्तिक हूँ, किसी को कर नहीं दे सकता हूँ।'' परस्पर युद्ध हुआ। श्रीनरवाहनजी के सिपाहियों ने उसे परास्त कर तीन लाख पैंसठ हजार का उसका माल जब्त कर लिया और उसे कारागार में बन्द करके कहा कि-''इतना ही धन घर से मँगवाकर और दो तब कैदखाने से छूटोगे। अन्यथा एक साल बीतने पर तुम्हें प्राणदण्ड दिया जायेगा।'' उसके पापों का प्रायश्चित्त पूर्ण हो चुका था। वह रो रहा था कि मेरे बाल-बच्चे कैसे जियेंगे? मैं बड़े संकट में पड़ गया। नरवाहनजी की एक दासी भगवद्भक्ता थी। उस सेठ की दयनीय दशा देखकर भगवत्प्रेरणा से दासी को दया आई

और उसने गले में कण्ठी पहनाकर मन्त्र बताया-"श्रीराधाबल्लभ श्रीहितहरिवंश।" उपदेशानुसार उस कैदी ने ब्रह्मवेला में इस मन्त्र का उच्च स्वर से कीर्तन आरम्भ किया। दीनवाणी से कीर्तन सुनकर पहरेदारों से पता पाकर श्रीनरवाहनजी उनके पास आये। पूछने पर उसने बताया कि मैं श्री श्री १०८ श्रीराधावल्लभीय श्रीहितहरिवंश महाप्रभु का शिष्य हूँ। मुझे तो सदा उन्हीं का भरोसा है। यह सुनकर आपने बड़ी विनती करके कहा कि-"अनजान में मुझसे यह अपराध हुआ। आप क्षमा करें।" इस प्रकार क्षमा प्रार्थना करते हुए अपने निवास स्थान पर उसे ले गए। क्षौर, स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र पहनाए। प्रसाद पवाकर प्रार्थना की कि यह वृत्तान्त आप श्रीगुरुदेवजी से मत कहिएगा। उसका सम्पूर्ण धन आपने वापस कर दिया। श्रीनरवाहनजी के दीवान ने कहा कि यह श्रीहितजी का सच्चा शिष्य नहीं है। आप इतनी बड़ी धनराशि इसे वापस न कीजिये। तब आपने कहा–

जो हरिवंशको नाम सुनावै, तन मन धन तापै बलिहारी।
जो हरिवंश उपासक सेवै, नित सेऊँ ताके चरण विचारी।।
श्रीहरिवंश गिरा जश गावै, सर्वसु देइहौं तापर वारी।
जो श्रीहरिवंशको धर्म सिखावै, सो मेरो प्रभु ते प्रभु भारी।।

कुछ धन अपने खजाने से भी दिया और बड़े आदर के साथ उसे विदा किया। साहूकार पूर्ण भक्त हो गया। नौका समेत वृन्दावन आया और साठ थैले मुहरों से भरे हुए भेंट देकर श्रीहितजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुये अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। झूठे शिष्य बनने से प्राण और धन की रक्षा हुई, अतः यह निश्चय है कि सच्ची शिष्यता प्राप्त कर सच्चा जीवन-धन मिल जायेगा। श्रीहितजी ने उसे दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया। परन्तु उसके धन को नहीं लिया और कहा कि-"इसे साधु-सन्तों की, दुखी-गरीबों की सेवा में तुम स्वयं ही अपने हाथों से लगाओ।" जब नास्तिक भाव था तब की कमाई जानकर उसमें से श्रीहितजी ने कुछ भी ग्रहण न किया। श्रीमहाप्रभुजी नरवाहनजी पर इसलिए अधिक प्रसन्न थे कि दीवान के कहने पर भी कि-"यह नास्तिक है।" श्रीनरवाहनजी ने नहीं माना। उसे सच्चा-शिष्य-गुरुभक्त ही माना। यह विश्वास की विशेषता है, गुरुनाम की भक्ति है। इस पर–

दृष्टान्त—भक्ता क्षत्राणी का—एक दिन एक क्षत्राणी गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी के पास शिष्या बनने के लिये आई तो आपने उसे विधिवत् अष्टाक्षर मन्त्र सुनाया। परन्तु बार-बार रटाने पर भी वह उस मन्त्र का शुद्ध उच्चारण न कर सकी। तब श्रीगोसाईंजी

ने उससे पूछा कि-''क्या तुम मेरा नाम जानती हो, उसे उच्चारण कर सकती हो, तो उसने कहा-हाँ महाराज! ''गुरु विट्ठलनाथ'' ऐसा तो हमको आता है। श्रीगोसाईंजी ने कहा-''बस, तुम इसी का जप किया करो।'' तब से वह गुरु नाम का ही जप करती। इस नाम जप के प्रताप से सन्तुष्ट होकर श्रीनाथजी उसके घर आते और उससे माँगकर माखन खाते। इस प्रकार से वह गुरु-नाम जप से ही कृतार्थ हो गई। श्रीनरवाहनजी को गुरु-नाम में भक्ति थी। अतः उसे धन देकर आदर किया। दोहा-''भगवत'' नरवाहन रसिक परम अनन्य उदार। कपटी मुख गुरु नाम सुनि अरप्यौ तन भण्डार।।'' (रसिक अनन्यमाल)।

कुछ दिनों के पश्चात् श्रीनरवाहनजी ने आकर श्रीहितजी के दर्शन किए तो श्रीगुरुदेवजी ने कण्ठ से लगाया तथा प्रसन्न होकर और अधिक कृपा की सबके समक्ष आपके सद्भाव की प्रशंसा की। भावमग्न होकर महाप्रभुजी श्रीराधावल्लभ की निकुञ्ज लीलाओं का गान कर रहे थे, अतः चौरासीजी के दो पदों में आपने अपनी छाप न देकर ''नरवाहन'' की छाप दी। ''रीझि पद दियौ''-

मञ्जुलकल कुञ्ज देश, राधा हरि विशदवेश, राका नभ कुमुद बन्धु शरदजामिनी।
सांवल दुति कनक अङ्ग, विहरत मिलि एक सङ्ग, नीरद मणि नीलमध्य लसत दामिनी।।
अरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल, सौरभ युत शीत अनिल मन्द गामिनी।
किशलय दल रचित शयन, बोलत पिय चाटुबयन, मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी।।
मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवि हार, वेपथ युत नेति नेति वदति भामिनी।
'नरवाहन' प्रभु सुकेलि, वहुविधि भरभरत झेलि, सौरभ रसरूप नदी जगत पावनी।।१।।

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुखनिधान, रासरच्यौ श्याम, तट कलिन्दनन्दिनी।
निर्तत युवती समूह, राग रङ्ग अतिकुतूह, बाजत रसमूल, मुरलिका अनन्दिनी।।
वंशीवट निकट जहाँ, परम रमन भूमि तहाँ, सकल सुखद मलय बहैं, वायु मन्दिनी।
जाती ईषद विकास, कानन अतिशय सुवास, राकानिशि शरद मास विमल चन्दिनी।।
'नरवाहन' प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि, नखशिख सौन्दर्य काम, दुख निकन्दिनी।
विलसहु भुज ग्रीवमेलि, भामिनि सुखसिन्धु झेलि, नव निकुञ्ज श्याम केलि जगतवन्दिनी।।२।।

एक बार श्रीहिताचार्यजी श्रीनरवाहनजी को साथ लेकर सेवाकुञ्ज में पधारे। वहाँ कुञ्जमहल के निकट एक पीलू का वृक्ष था। उसमें पके हुये मधुर फल लगे थे। उन्हें देखकर श्रीहितजी ने आज्ञा दी कि-''इन्हें तोड़ लाओ।'' श्रीनरवाहनजी ने झोली भरकर फल तोड़े। श्रीयमुनाजी में धोकर दोनों में रख दिये। श्रीहितजी ने मेवा, पिस्ता, बादामों के साथ भोग

अर्पण किया। उस समय श्रीनरवाहनजी ने पद गाया-"भोजन कीजिये हित प्यारे। केलि कदम्बनि के दोनन महँ मेवा धरी सँवारे।। पावो फल पीलू के कोमल मिष्ट चरपरे भारे। श्रीहित हरिवंश मनोरथ पूरन 'नरवाहन' जु तिहारे।।" पद सुनकर प्रियाप्रियतम अति ही प्रसन्न हुए। श्रीलाड़लीजू ने ललिताजू को बुलाकर नित्य पाठार्थ सिद्धान्त के पदों की पुस्तक, दो दोनी मेवा प्रसाद देकर कहा कि-"इसे नई सखी को दे आओ। प्रसाद पाकर नरवाहन कृतार्थ हो गये। ध्यान टूटने पर श्रीहिताचार्य ने इन पर कृपा जानकर इन्हें कण्ठ लगाया। तब से ये नित्यलीला चिन्तन एवं गान में सदा मग्न रहते।

विशेष—श्रीघाटमजी, जिनकी कथा छप्पय-९९ में आ चुकी है। उनकी सन्त गुरु-सेवा निष्ठा से घोड़े का रंग बदल गया। इस रहस्य को जानकर जयपुर नरेश बहुत ही प्रसन्न हुए। सहज भाव से पिछली चोरी की अपनी चतुराइयों की चर्चा भी घाटमजी ने राजा के सामने की। प्रेमी चोर के चरित्रों की कथा सुनकर राजा ने कहा कि-"मेरे पहरेदार सतर्क रहें, फिर आप चोरी कर लें, तो मैं आपको चतुरचोर समझूँ और पुरस्कार भी दूँ।" श्रीघाटमजी ने कहा-"राजन्! अब तो हमने यह धन्धा ही छोड़ दिया है, परन्तु जैसी आपकी आज्ञा।" राजा ने कहा कि तीन मास के अन्दर तुम श्रीराधागोविन्दजी के मन्दिर से उनके आभूषणों की चोरी कर लो तो हम तुम्हें सच्चा चोर समझें। राजा ने पहरा कड़ा करवा दिया और गुप्तचर भी नियुक्त कर दिए। श्रीघाटमजी ने कई उपाय सोचे, परन्तु सफलता नहीं दिखायी पड़ी। अन्त में आपने श्रीनरवाहनजी को पत्र देकर बुलाया और सारी परिस्थिति बताई। दोनों ने परस्पर परामर्श करके पूर्ण तैयारी कर ली। दोनों ने उदयपुर की राजरानी का वेष बनाया। बहुत सुन्दर पालकी, उसके चारों ओर परदा, साथ में सैंकड़ों सैनिक, दास-दासी चले। राजा को सूचना दी गई। राजा ने समय निश्चित करके उस समय दर्शनार्थियों के आवागमन पर रोक लगा दी। पुजारी भी मन्दिर से अलग हो गये। परदे में ही दर्शनार्थ दोनों ने श्रीगोविन्द मन्दिर में प्रवेश किया और श्रीविग्रह से मुख्य आभूषण उतारकर उनके स्थान पर वैसे ही नकली आभूषण धारण कराकर फल-फूल-वस्त्र एवं कुछ रुपये भी ठाकुरजी को भेंट किये। बाहर निकलते समय रुपये-पैसों की न्यौछावर बौछार करते हुए नौ दो ग्यारह हो गये। लोगों ने उदयपुर के राजा-रानी का जय-जयकार किया। अपने स्थान पर पहुँचकर श्रीघाटमजी ने राजा को सूचित किया कि-"चितचोर की चोरी कर ली।" पुजारी, पहरेदारों ने कहा-"नहीं, मन्दिर में अभी तक तो कोई चोरी हुई नहीं मालूम पड़ती है।" श्रीघाटमजी श्रीनरवाहनजी दोनों श्रीभगवद-

भक्तों ने राजा के पास आकर रहस्य खोला और श्रीगोविन्दजी के आभूषण वापस किए। राजा ने कुछ पुरस्कार देना चाहा, परन्तु ये तो अब श्रीभगवत्कृपा से सन्तुष्ट एवं पूर्णकाम थे। राजा ने इन्हें श्रीगोविन्दजी का प्रसाद दिलवाया। अपने यहाँ कुछ दिन रखकर आतिथ्य किया। दोनों का सुयश लोगों ने गाया। श्रीनरवाहनजी की बताई युक्ति से श्रीघाटमजी सफल हुए। दोनों भक्तों में प्रगाढ़ मैत्री हो गई।

श्रीजापूजी—ये परमप्रेमी भगवद्भक्त थे। नित्य ही सन्त-भगवन्त सेवा एवं उत्सवों की धूम आपके यहाँ मची रहती थी। अपना सर्वस्व व्यय करने के बाद आप सन्त-सेवा के निमित्त राहजनी करने लगे। बड़े-बड़े धनी-मानियों को लूटते थे। गरीबों को कभी भी नहीं सताते थे। लूटकर लाये धन को अपने उपयोग में नहीं लेते थे। एक बार एक सुनार को आपने लूटा और आकर भण्डारा दिया। सुनार ने आपके घर पर आकर झगड़ा किया। झगड़ा बढ़ते देखकर सिपाहियों ने दोनों को पकड़कर राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने दोनों को कारागार में डाल दिया। श्रीजापूजी को अपनी चिन्ता न थी। पर सन्त-सेवा से वञ्चित होने से चिन्तित हुए। रात को राजा से स्वप्न में भगवान ने कहा कि-"तूने मेरे भक्त को कैदखाने में बन्द कर रखा है। उसे शीघ्र छोड़ दे, नहीं तो तेरा कल्याण नहीं होगा। सबेरा होते ही राजा ने श्रीजापूजी को कारागार से मुक्त कर दिया और आपको निरपराध समझा। सुनार को अपराधी समझकर उसको नहीं छोड़ा। श्रीजापूजी ने सुनार के बिना अकेले कैद से मुक्त होना स्वीकार नहीं किया। दूसरी रात को भगवान ने पुनः स्वप्न दिया और कहा कि- "जैसा भक्त कहते हैं, वैसा ही करो।" राजा ने दोनों को छोड़ दिया। आपने सच्ची घटना बता दी और साधु-सेवा की महिमा बताई। इससे राजा और सुनार दोनों के हृदय में भगवद्भक्ति एवं सन्त-सेवा की निष्ठा दृढ़ हुई। भगवान जापूजी की सेवा से सन्तुष्ट हो गए और भूगर्भ में गड़े धन को बताकर उससे ही सन्त-सेवा करने का आदेश दिए। जीवन पर्यन्त आपने भगवन्नाम जप और सेवा के व्रत को निभाया। उससे प्रभावित होकर अनेक लोगों ने भी भक्तिव्रत ग्रहण किया। (भ०गु०चि०)

श्रीरूपाजी—श्रीरूपरसिकदेवाचार्य ही श्रीरूपा नाम से प्रसिद्ध हुए। आप दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। आपने जब श्रीहरिव्यासदेवाचार्य का प्रभाव सुना तो उनकी शिष्यता प्राप्त करने के लिए वहाँ से चल पड़े। किन्तु आपके मथुरा पहुँचने से पहले ही आचार्य लीला संवरण कर चुके थे। यह सुनकर आपको अपार दुःख हुआ। प्राण त्याग करने की इच्छा से श्रीयमुनातट पर जा बैठे। आपकी ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर आचार्य प्रवर ने प्रगट होकर दर्शन दिया और शिक्षा-

दीक्षा प्रदानकर निरन्तर महावाणी के अनुशीलन की आज्ञा दी। तदनुसार आपने ब्रजमण्डल में निवासकर साधन-भजन किया। ''हरिव्यास कथामृत'' लिखकर आपने गुरु-महिमा को प्रकाशित किया। तत्पश्चात् वृहदुत्सव मणिमाल, नित्यविहार पदावली और लीलाविशंति की रचना की। आप आदर्श हरिगुरु भक्त थे। (भक्तमाल सर्वेश्वर से)।

श्रीअर्जुनजी—आप सन्तसेवा निष्ठ भक्त थे। एक बार आपने सन्त-सेवा के निमित्त एक भैंस खरीदी। उसके दूध-दही और घी से सन्त-सेवा होने लगी। कुछ दिनों के बाद अच्छी भैंस देखकर उसे चोर लोग चुरा ले गये। सन्त-सेवा में बाधा से आपके मन में दुःख हुआ। आप भगवान से ही रूठ गये कि-''आपने ही भैंस को चोरी जाने दी, आपने मुझे जगाया नहीं, भैंस की रक्षा नहीं की।'' भगवान की सेवा किये बिना ही जाकर जङ्गल में बैठ गए। आपके प्रणय-रोष से प्रभावित होकर प्यारे प्रभु प्रसन्न हो गये। अर्जुन का रूप धारणकर चोरों के पास गये, उन्हें भयभीत करके भैंस ले आये। गाँव के किसी परिचित आदमी ने इन्हें जङ्गल में बैठे देखकर कहा-''कहिये जी! भैंस कहाँ मिली? इन्होंने कहा-''क्या भैंस मिल गई? उसने कहा-''घर पर बँधी है।'' घर पर आकर आपने लोगों से पूछा-''इसे कौन कहाँ से ले आया?'' लोगों ने कहा-''कुछ देर पहले आप ही तो लाये। अब अन्जान की तरह पूछ रहे हो।'' यह सुनकर आपने समझ लिया कि यह लीला लीलाविहारी की है। प्रभु को प्रणाम कर सेवा की। सन्त-सेवा से सन्तुष्ट होकर श्रीठाकुरजी एक न एक लीला इन्हें दिखाया ही करते। (भ०गु०चि०)

श्रीदामोदरजी—किशनगढ़ (राजस्थान) से कुछ दूर पूर्व दिशा में कांचरिया नामक गाँव में पं० श्रीकेशवानन्दजी नाम के ब्राह्मण रहते थे। इनके यहाँ श्रीयुगलकिशोर की उपासना थी। इन्हीं की कृपा से पण्डितजी को दामोदर नामक पुत्र प्राप्त हुआ। पूर्व संस्कारों के प्रभाव से कुमारावस्था में ही इन्हें वैष्णव धर्माचरण में निष्ठा हो गई और आप भजन पाठ में लग गये। माता-पिता ने एक सुशील कन्या के साथ विवाह कर दिया। इससे इनकी उपासना में बाधा न हुई। पत्नी भी पतिव्रता एवं भक्ता थी। एक बार आप पुष्करराज को गये। वहाँ आपको श्रीहरिव्यासदेवजी के दर्शन मिले। आपने उनकी शरण ग्रहण कर उनसे मन्त्रोपदेश एवं उपासना की विधि प्राप्त की। गुरु आज्ञा से आप घर आये। इनके एक पुत्र और एक कन्या हुई। यथासमय आपने उनका विवाह कर दिया। कुछ दिनों बाद पत्नी का स्वर्गवास हो गया। इससे आपका वैराग्य और भी दृढ़ हो गया। साँपला ग्राम में आपकी लड़की व्याही थी, वहाँ के भक्तों की प्रार्थना मानकर आपने

वहीं आकर पर्णकुटी में निवास किया और भजन सत्सङ्ग से लोगों को सुखी किया। प्रतिमास आप द्वारकापुरी को दर्शनार्थ जाया करते थे। उस समय आपके वियोग से दुःखी भक्तों ने चाहा कि-यहीं द्वारकानाथजी आकर विराजें तो अच्छा है। यह बात आपके मन में भी बैठ गई। आपने दोनों हाथों में तुलसी के गमले लेकर अनशन व्रत धारणकर द्वारका की यात्रा की। स्नान दर्शनकर आपने अपनी प्रार्थना सुनाई। योगमाया के द्वारा भगवान ने इन्हें साँपला भेज दिया। मनोरथ अपूर्ण देखकर आपका चित्त बेचैन हो गया। हरि की प्रेरणा से श्रीनारदजी ने आकर कहा कि-"धैर्य धारण करो, कुछ दिन बाद लाखा बनजारे की बालद आवेगी। बैल की पीठ से गिरे बोरे से आपको श्रीविग्रह मिलेगा, आप प्रतीक्षा में रहें। मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सं० १४७४ के दिन आई बालद के पीठ से आपके सामने बोरा गिरा। आपने दौड़कर बोरा पकड़ा और उसमें से श्रीयुगलकिशोरजी, श्रीबलरामजी की प्रतिमायें प्राप्त कीं। इस घटना से ग्रामवासी एवं बनजारे सभी अति प्रभावित हुए। प्रतिमायें पर्णशाला में पधराई गईं। पश्चात् लाखा वनजारे ने एक भव्य मन्दिर बनवाया और सबकी ओर से सेवा पूजा का विशेष प्रबन्ध हुआ। आपने बड़े लाड़-चाव के साथ सेवा की। प्रतिवर्ष भाद्रशुक्ल एकादशी को जलयात्रा का उत्सव होता है। श्रीदामोदरजी की भक्ति के प्रभाव से जीवों का परम कल्याण हुआ (भक्तमाल दादूपन्थी से)।

श्रीमयानन्दजी—आनन्दमय श्रीमयानन्दजी गुरु-गोविन्द के समान ही सन्तों का भी सत्कार किया करते थे। अपने को भक्तों का दासानुदास कहते थे। एक बार आपको एक बहुत बढ़िया बारीक चादर ओढ़े देखकर एक साधु ने व्यङ्ग करते हुए कहा कि-"सेवक का यह धर्म नहीं है कि स्वामी को उघारा रहने दे और स्वयं चादर ओढ़े।" यह सुनकर आपने कहा कि-"यह चादर तो भगवान ने हमें ही ओढ़ने को कहा है।" इस पर उसने कहा-"यदि ऐसा है तो आपको तो भगवान दूसरी भी दे देंगे, यह चादर हमें दे दीजिये। श्रीमयानन्द ने उसकी आज्ञा मानकर प्रसन्नता से अपने शरीर पर से चादर उतारकर उसे ओढ़ा दिया। उसी समय आकाश से एक चादर आई और मयानन्दजी के शरीर से पर्वत् लिपट गई और उस परिहासकारी के शरीर से चादर उड़ गई। श्रीमयानन्द ने पुनः उसे चादर दी तो फिर वही हुआ। इनके शरीर पर चादर का अभाव नहीं हुआ और उनके शरीर पर चादर नहीं रह सकी। ऐसा चमत्कार देखकर वह इनके चरणों में पड़ गया और अपने व्यङ्ग-परिहास के लिये क्षमा प्रार्थना करने लगा।(भ०गु०चि०)

श्रीमुख पूजा संत की, आपुन तें अधिकी कही।।
यहै बचन परमान 'दास गांवरी' 'जटियाने' भाऊ।
'बूंदी' 'वनियां राम' 'मंड़ौते' 'मोहनबारी' 'दाऊ'।।
'माड़ौठी' 'जगदीसदास', 'लछमन' 'चटुथावल' भारी।
'सुनपथ' में 'भगवान' सबै 'सलखान' 'गुपाल' उधारी।।
'जोबनेर' 'गोपाल' के भक्त इष्टता निर्बही।
श्रीमुख पूजा संत की, आपुन तें अधिकी कही।।१०६।।

शब्दार्थ—श्रीमुख=भगवान् ने अपने मुखारविन्द से।

भावार्थ—भगवान ने अपने श्रीमुख से अपने भक्तों की पूजा को अपनी पूजा से श्रेष्ठ कहा है। इसी वचन को प्रमाण मानकर निम्नलिखित भक्तों ने सन्तों की सेवा को भगवान की सेवा से बढ़कर माना और किया। श्रीदासजी गांवरी ग्राम के, जटियाने के श्रीभाऊजी, बूँदी के बनिया जाति के रामदासजी, मण्डौते के श्रीमोहन बारीजी और श्रीदाऊजी, मांडौठी के श्रीजगदीशदासजी, चटथावल के श्रीलक्ष्मणजी, सुनपथ में श्रीभगवानजी ने सन्तों की सेवा की। श्रीगोपालजी ने सम्पूर्ण सलखान गाँव का उद्धार सन्त-सेवा के प्रताप से किया। जोबनेर के श्रीगोपालजी भक्त ने भक्तों में इष्टभाव का सदा निर्वाह किया।।१०६।।

व्याख्या—अधिकी कही—"आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्। मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः।।" (भा० ११-१९-२१) अर्थ-"भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन बताते हुए श्रीउद्धवजी से कहा-"मेरी सेवा-पूजा में प्रेम रखे, सामने पृथ्वी पर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से बढ़कर करे और समस्त प्राणियों में मुझको ही देखे।।" पुनः-"षष्टिवर्ष सहस्राणि विष्णोराराधने फलम्। सकृद् वैष्णवपूजायां लभते नात्र संशयः।।" (पाराशर स्मृति) अर्थ-"साठ हजार वर्ष तक श्रीविष्णु की पूजा का जो फल होता है, वह एक बार वैष्णव की पूजा करने सें प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं।" पुनः-"सातवँ सम मोहिं मय जग देखा। मोते सन्त अधिक करि लेखा।।" (श्रीरामवाक्य, रा०च०मा०) भक्त का पूजन करने से भगवान का भी पूजन हो जाता है। इसलिये भक्त पूजन का विशेष महत्व है-"अन्तर्यामी गर्भगत सन्त सुन्दरी माहिं। तुलसी पूजे सन्त के दोऊ पूजे जाहिं।।" इस प्रकार भगवन्त और सन्त दोनों के मतों से भक्त पूजा की विशेषता सिद्ध है।

दृष्टान्त—लालदास महन्त का—होडल के महन्त श्रीलालदासजी एक बार एक भक्त के घर गये। वह परम वैष्णव सेवी था। उसने आदरपूर्वक महन्तजी को सीधा-सामान दिया। फिर कुछ नगद दक्षिणा देने की इच्छा से घर में इधर-उधर दृष्टि डाली, पर कहीं कुछ दिखलाई न पड़ा। तब श्रीठाकुरजी के पार्षद, घण्टा और आरती को बेचकर इन्हें सादर दक्षिणा प्रदान की। श्रीलालदासजी ने पूछा-"यह रुपया कहाँ से लेकर लाये?" तब उसने विशेष आग्रह करने पर बताया। महन्तजी बोले कि-"तुमने भगवत्सेवा से भक्तसेवा की अधिकता दिखला दी। भगवान ने जैसा कहा—वैसा तुमने करके बता दिया। यह सुनकर उस भक्त ने कहा-"महाराज! घण्टा-आरती बेचने में क्या अधिकता है, यदि ये न होते तो मैं आज श्रीठाकुरजी को ही बेच देता।" यह सुनकर महन्तजी प्रेममग्न हो गये। उनके कानों में किसी के मधुर शब्द सुनाई पड़ रहे थे कि-"मद्भक्तपूजाभ्यधिका।" इस मेरे वाक्य का यही स्वरूप है। उस समय इन दोनों सन्तों ने भगवत्कृपा का अनुभव कर सन्त-सेवा के सही स्वरूप को समझा और कृतकृत्य हुए। देखें तो घण्टा-आरती ज्यों के त्यों मन्दिर में विराजमान हैं। जो नित्य पार्षद हैं, ये भगवान से कभी अलग नहीं रह सकते हैं?

श्रीदासजी—आप सन्तों की सेवा को भगवान की सेवा से बढ़कर मानते थे। एक बार आपके यहाँ कई सन्त आये। सन्ध्या आरती हुयी। ब्यारू के बाद आप सन्तों की चरण-सेवा में लग गये। मन्दिर में श्रीठाकुरजी को शयन कराना भूल गये। प्रातःकाल मङ्गला के समय आप मन्दिर में जाने लगे तो मन्दिर के किवाड़ भीतर से बन्द मिले। प्रयत्न करने पर भी किवाड़ नहीं खुले। तब आप बड़े असमञ्जस में पड़ गये। इतने में आकाशवाणी हुई कि—अब किवाड़ नहीं खुलेंगे, मेरी सेवा रहने दो, अब सन्तों की ही सेवा करो। मैं रात भर सिंहासन पर खड़ा रहा हूँ, तुमने मुझे शयन नहीं कराया। यह सुनकर दासजी ने सरल भाव से निवेदन किया-"प्रभो! सन्त-सेवा में लगे रहने के कारण यदि आपकी सेवा में चूक हुई तो आपके नाराज होने का भय मुझे बिल्कुल नहीं है। आपकी सेवा में लगा रहूँ और सन्त-सेवा में भूल-चूक तब मुझे आपकी नाराजगी का भारी भय है। यह सुनते ही प्रभु प्रसन्न हो गये। किवाड़ खुल गये। "हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं, इस भाव से सन्त-सेवा करने वाले मुझे अपने वश में कर लेते हैं।" ऐसा कहकर भगवान ने प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिया। दासजी चरणों में लिपट गये। प्रभु ने उठाकर छाती से लगा लिया।

व्याख्या—बूँदी बनिया—दादूपन्थी भक्तमाल इन्दव सं० ५२१ में बूँदी निवासी राम अर्थात् रामदासजी को बनिया जाति का लिखा गया है और भक्तमाल सर्वेश्वर में बनियाराम

नाम मानकर उनके चरित्र का उल्लेख है। अतः ऐसा लगता है कि नाम तो रामदास था पर कुछ लोग बनियाराम इस नाम से पुकारते थे।

इ०- आप गये बनिजी अनि गाँवहिं, मोट धरे सिर बोझ सु भारी।
दास दुखी लखि मोट लई हरि जानि गए मन माँहि विचारी।।
होय कढी फुलका जल तातहु जाय कही घर मोट उतारी।
आय रु देखत सो पछितावत, रामहिं थे सुनु मूरख नारि।।५२१।।

श्रीरामदासजी बूँदी नगर के निवासी थे। जाति के बनिया थे अतः वर्ण धर्मानुसार व्यापार करते हुए भगवद्-भक्ति की साधना करते थे। अपनी पीठ पर नमक, मिर्च गुड़ आदि की गठरी लादकर गाँव में फेरी लगाते थे। कुछ नकद पैसे और कुछ अनाज भी मिलता था। एक दिन फेरी में आपका सब सामान बिक गया और बदले में अनाज ही विशेष मिला। उसकी गठरी सिर पर रखकर घर को चले। वजन अधिक था अतः भार से पीड़ित थे पर ढो रहे थे। एक किसान का रूप रखकर भगवान आये और बोले-"भगतजी! आपका दुःख मुझसे देखा नहीं जा रहा है। हमें भार वहन करने का भारी अभ्यास है, हमें भी बूँदी जाना है। आपकी पोटरी मैं पहुँचा दूँगा।" ऐसा कहकर भगवान ने भक्त के सिर का भार अपने ऊपर लिया और तीव्र गति से आगे बढ़े। इनकी आँखों से ओझल हो गये। तब ये सोचने लगे-"मैं इसे पहचानता नहीं हूँ और यह भी शायद मेरा घर न जानता होगा। अच्छा, जाने दो, राम करै सो होय।" नाम कीर्तन करते हुये चले। मन में आया कि आज थका हूँ, घर पहुँचते ही यदि गरम जल मिल जाये तो झट स्नान कर सेवा-पूजा कर लूँ और आज कढ़ी-फुलका का भोग लगे तो अच्छा है। इधर किसान भगवान ने इनके घर आकर पोट पटक दी और पुकारकर कहा कि-"भगतजी आ रहे हैं। नहाने के लिये पानी गरम कर लो और भोग के लिए कढ़ी-फुलका बना लो। उन्होंने कह दिया है।" कुछ देर बाद श्रीरामदासजी घर आये तो देखा कि अनाज की गठरी पड़ी है। स्त्री ने कहा-"जल गरम हो चुका है, झट स्नान कर लो। कढ़ी भी तैयार है, सेवा करोगे तब तक फुलके भी तैयार हो जायेंगे।" श्रीरामदासजी ने कहा-"तुमने मेरे मन की बात कैसे जान ली।" उसने कहा-"उस पोट लाने वाले ने कहा था। मुझे क्या पता तुम्हारे मन की बात का।" अब तो श्रीरामदासजी समझ गये कि आज रामजी ने भक्तवात्सल्य वश बड़ा कष्ट सहा। ध्यान किया तो प्रभु ने प्रसन्न होकर कहा-"तुम नित्य सन्त-सेवा के लिये इतना श्रम करते हो, मैंने तुम्हारी थोड़ी सी सहायता कर दी, तो क्या बिगड़ गया।" आपने स्त्री से पूछा-"तूने

उस पोट लाने वाले को देखा था क्या?'' उसने कहा-''मैं तो भीतर थी, उसके शब्द अवश्य ही अति मधुर थे। आपने कहा-''वे तो साक्षात् भगवान ही थे। तभी तो उन्होंने मेरे मन की बात जान ली। वे सन्त-सेवा से अति सन्तुष्ट होते हैं। अब यदि प्रेम से सन्त-सेवा करेगी तो प्रभु पुनः दर्शन देंगे। स्त्री पछता रही थी, मैने दर्शन नहीं कर पाये। भक्तजी पछताते थे कि मैंने प्रभु के सिर पर बोझ रखा। यह अनुचित किया। यह घटना हृदय में घर कर गई। तब से आप सदा भजन ध्यान में ही तत्पर रहने लगे।

श्रीरामदासजी सन्तों की सेवा उनकी रुचि के अनुसार ही करते थे। एक दिन आपके यहाँ कई सन्त पधारे। आपने उनसे पूछा-''महाराज! आप लोग मेरे भगवान का प्रसाद पायेंगे या अलग बनाकर भोग लगाकर पायेंगे।'' सन्तों ने कहा-''हम तो आपके भगवान का ही प्रसाद लेंगे।'' भक्त पत्नी ने रसोई बनाई, उस दिन ज्वार की रोटियों का भोग लगा। दो सन्तों ने देखकर कहा कि-''हम तो ज्वार की रोटी नहीं खायेंगे।'' आपने पत्नी से पूछा-''तूने ज्वार की रोटी क्यों बनाई।'' उसने कहा-''नवीन अन्न प्रभु को प्रिय समझकर मैंने ज्वार की रोटी बनाई। दूसरे कभी भगवान ने ज्वार की रोटी खाने से इन्कार नहीं किया, अतः मैंने ज्वार की रोटी बनाई। इस पर आपने कहा कि-''भगवान का भोग अनन्त स्थानों में लगता है, केवल यहीं भोग लगता है, ऐसी बात नहीं। वे तो अपनी रुचि का भोग कहीं न कहीं लगा ही लेते हैं, किन्तु ये सन्त तो कृपा करके यहीं आज प्रसाद लेंगे, कहीं अन्यत्र नहीं जायेंगे। अतः सन्तों से पूछकर उनकी रुचि के अनुसार ही उन्हें भोग लगाकर पवाया करो। ऐसा कहकर आपने तुरन्त गेहूँ की रोटियाँ बनवाई और सन्तों को भोजन करवाया।

श्रीरामदासजी के यहाँ अनेकों साधु-सन्तों के भोजन नित्य होते। अतः कुछ दुष्टों ने इसे सह न सकने के कारण राजा से शिकायत की कि-''इस बनिया के पास अपार सम्पत्ति है, यह व्यर्थ ही उसे लुटाता है। आपको कर भी नहीं देता है। सबको ठगता रहता है। अतः इसकी सम्पत्ति को आप छीनकर राजकोष में जमा कर लें। राजा ने उनकी बात मानकर सिपाही भेजे। बुलाकर कहा कि-''तुम हमारा कर दो, अन्यथा तुम्हारी सम्पत्ति जब्त कर ली जायेगी।'' भगतजी ने कहा-''मेरे पास धन का संग्रह नहीं है, जो कुछ कमाता हूँ उसे सन्त-सेवा में लगा देता हूँ। आप मेरे घर की तलाशी ले लें। जो भी सोना-चाँदी हो वह आप ले लें।'' किसी ने राजा को उकसाते हुये कहा-''नींबू बनिया आम ये दाबे ते रस देयँ।'' राजा ने इन्हें कारागार में बन्द कर दिया और घर का सम्पूर्ण अन्न-धन छीनने का विचार किया। श्रीरामदासजी के मन में चिन्ता हुई। सेवा में बाधा जानकर आपने

श्रीलक्ष्मणलाल का स्मरण किया। श्रीलक्ष्मणलाल ने प्रकट होकर इन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया। स्वयं कारागार में रामदास का रूप धारण कर बन्द रहे। पुनः इनके घर पर सन्त-सेवा की धूम देखकर लोगों ने राजा से फिर चुगली की। राजा ने कहा-"देखो, तो दोनों जगहों पर रामदास हैं। यह सुनकर राजा ने दोनों को दरबार में हाजिर करने का हुक्म दिया। दरबार में आते-आते श्रीलक्ष्मणजी अन्तर्धान हो गये। "रहस्य जानकर राजा आपके चरणों में पड़ गया। अपराध क्षमा के लिये विनती करने लगा।" आजीवन आपने सन्त-सेवा करने का व्रत निभाया। आपसे प्रेरणा प्राप्त कर राजा-प्रजा सभी ने भक्त-भगवन्त सेवा का नियम लिया।

भक्तवर श्रीलक्ष्मणजी—आप बड़े सद्भाव से सधुओं की सेवा करते थे। बिना किसी रोक-टोक के सन्तों का रात-दिन आवागमन रहता था। आपकी इस उदारता को देखकर एक दुष्ट ने सन्त वेष धारण कर लिया और कई दिन तक आपके यहाँ रहा। आप उसकी भी सेवा करते रहे, क्योंकि आप वेषनिष्ठ सन्त थे। एक दिन मौका पाकर वह मन्दिर में घुस गया। भगवान के आभूषण पार्षदों को लेकर भाग चला। यह देखकर भगवान ने एक सिपाही का रूप धारणकर उसे जा पकड़ा और उसे श्रीलक्ष्मणजी भक्त के पास लाये और बोले-"देखो, तुम्हारे मन्दिर का सामान चुराकर ले जा रहा है।" आपने कहा-"इस सन्त को सामान की आवश्यकता होगी। इसलिये ले जा रहे हैं। मेरे पास जो कुछ है, इन्हीं का है। इन्हें ले जाने दो। इसमें न तो चोरी है और न इन्हें दण्ड दिया जा सकता है।" अब ये सिपाही भगवान क्या करते? वह सामान लेकर चला तो भगवान भी साथ-साथ चले। फिर उसके आगे-आगे चलने लगे। इसके बाद अन्तर्धान हो गये। इधर-उधर बहुत निगाह दौड़ाने पर भी नहीं दीखे। इस तरह कभी प्रकट कभी अप्रकट होते देखकर उसे भय हुआ। उसने मन में अनुमान कर लिया कि-"भक्तों के हितकारी की यह लीला है। मैं भक्त की चोरी करके दुःख पाऊँगा। श्रीलक्ष्मणजी की सहज सरलता का स्मरण करता हुआ वापस लौट आया। उसने सब सामान देकर हृदय के दुष्ट भाव को खोलकर रख दिया और चरणों में पड़कर क्षमा माँगने लगा। भक्त के प्रताप से वह सच्चा सन्त बन गया।

श्रीगोपालजी

"जोबनेर" बास सो "गोपाल" भक्त-इष्ट ताकों कियो निर्बाह, बात मोको लागी प्यारियै।
भयौ हौ बिरक्त कोऊ कुल में, प्रसंग सुन्यौ, आयौ यौं परीक्षा लैन, द्वार पै बिचारियै।।

आय पर्‌यौ पांय, ''पांय धारौ निज मंदिर में'', ''सुन्दरि न देखौं, मुख पन, कैसे टारियै।''
'चलो' जिन टारौ तिया रहैंगी किनारौ, करि, चले, सब छिपीं, नैकु देखी, याकै मारियै।।४२०।।

शब्दार्थ—निर्वाह=पालन। सुन्दरि=नारी जाति। किनारौ करि=अलग, दूर एक ओर।

भावार्थ—जोबनेर ग्रामवासी भक्त श्रीगोपालजी ने भगवान से बढ़कर भक्तों को इष्ट मानने की, सेवा करने की प्रतिज्ञा का जिस प्रकार से पालन किया, वह मुझे बहुत प्रिय लगा। आपके कुल में कोई एक सज्जन विरक्त-वैष्णव हो गये थे। उन्होंने सन्तों के मुख से इनकी निष्ठा की प्रशंसा सुनी कि ''भक्तों को इष्टदेव मानते हैं।'' तब वे श्रीगोपाल भक्त की परीक्षा लेने के विचार से उनके द्वार पर आये। इन्हें आया देखकर श्रीगोपाल भक्तजी ने झट आकर सप्रेम साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना किया कि-''भगवन्! अपने निज घर में पधारिये।'' उन्होंने उत्तर दिया कि-''मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं स्त्री का मुख न देखूँगा।'' तुम्हारे घर के भीतर जाकर मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को कैसे छोड़ दूँ? तब श्रीगोपालजी ने कहा-''आप अपनी प्रतिज्ञा न छोड़िये।'' सभी स्त्रियाँ एक ओर अलग छिप जायेंगी। आपके सामने नहीं आवेंगी। ऐसा कहकर घर जाकर उन्होंने सब स्त्रियों को छिपा दिया। तब इनको घर ले गये। इसी बीच कौतुकवश एक स्त्री ने झाँक कर देखा, स्त्री के झाँकते ही उन्होंने गोपाल भक्त के गाल पर एक तमाचा मारा। श्रीगोपालजी के मन में जरा सा भी कष्ट नहीं हुआ।।४२०।।

व्याख्या—कियौ निर्वाह—निर्वाह करना कठिन होता है परन्तु महत्पुरुष जिस व्रत को अङ्गीकार कर लेते हैं, उसको निभाते हैं। यथा-''अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।'' जैसे राजा हरिश्चन्द्रजी ने सत्य व्रत का अन्त तक निर्वाह किया। सच्चे प्रेमी प्रेम-प्रीति का निर्वाह अपनी ओर से करते हैं, अतः एक तरफा प्रेम ही प्रशंसनीय है। जो लोग प्रेमास्पद के व्यवहार के अनुसार प्रेम करते हैं, उनका प्रेम एकरस नहीं रह सकता है। उसे प्रेम कहते भी नहीं हैं, वह तो व्यवहार मात्र है। अपने प्रेम में मग्न सच्चे प्रेमी को प्रेमास्पद का कटु व्यवहार भी बुरा नहीं लगता है। राजा बलि को वामन भगवान की डाँट-फटकार उनके द्वारा सर्वस्व का अपहरण, बन्धन भी अत्यन्त प्रिय लगा। विपरीत व्यवहार को सद्‌भाव के साथ सहन करने से ही मैत्री का निर्वाह होता है। इष्ट में, स्वामी में दोषदृष्टि नहीं होनी चाहिये। दोष अपना ही देखना चाहिये। इस पर—

दृष्टान्त—राजसेवक का—एक राजा के यहाँ पर एक सच्चा स्वामिभक्त था। एक बार राजा ने अति सुन्दर काँच का नया भवन बनवाया। बहुत धन लगा, दर्शकों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक दिन राजा ने उस सेवक से तथा एक दूसरे सेवक

से भी कहा कि–"इस काँच के महल को लोहे के हथौड़ों से चूर-चूर कर दो।" आज्ञाकारी सेवकों ने ऐसा ही किया। तब राजा ने कुपित होकर कहा–"मूर्खों! तुमने कुछ भी नहीं सोचा, बने-बनाये सुन्दर काँच महल को तोड़ डाला। इतनी धनराशि को नष्ट करने के अपराध के फलस्वरूप अब तुमको प्राण दण्ड मिलेगा।" सच्चे सेवक ने हाथ जोड़कर विनती करते हुये कहा–"अवश्य मैंने अपराध किया है, यथोचित् दण्ड दीजिये।" दूसरे सेवक ने कहा–"मेरा क्या अपराध? हमने तो आपकी आज्ञा का पालन किया।" राजा ने अपने सच्चे सेवक की प्रशंसा की कि–"तुमने मेरा दोष न मानकर, अपना दोष माना।" यथा–"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" के अनुसार तुम्हारा सेवक भाव है, अतः तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। ऐसा कहकर राजा ने उसे अपने मन्त्रीमण्डल में ले लिया और पुरुस्कार दिया। इसी प्रकार तमाचा खाकर भी इष्टदेव जो सन्तवेश उनके प्रति असद्भाव न करके उसे आशीर्वाद मानकर इष्टता का निर्वाह किया।

प्रसंग सुन्यौ—श्रीगोपालदासजी के काका विरक्त हो गये थे। उन्होंने घूमते-फिरते सन्तों के मुख से सुना कि–"जोबनेर के श्रीगोपालजी साधुओं को अपना इष्ट मानकर भगवान से भी अधिक आदर देकर सेवा करते हैं। इस पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। एक तो ब्राह्मण जिन्हें अपनी जाति का प्रायः अभिमान होता है, दूसरे गृहस्थ। फिर भी ऐसा भाव। हम तो इतने दिन से विरक्त बने घूम रहे हैं, परन्तु साधु-वैष्णवों में हमें ऐसा भाव आज तक नहीं आया। अतः परीक्षा लेने के लिए छिपकर आये। इनका स्त्रीमुख न देखने का व्रत नहीं था पर परीक्षा के लिए व्रती बने।

सुन्दरी न देखौं मुख—परस्त्री में मन, बुद्धि जाने से उसमें आसक्ति दोष होने की सम्भावना रहती है। अतः कल्याणकामी को परस्त्री की ओर नहीं देखना चाहिये। यथा–"जो आपन चाहै कल्याना। सुयश सुमति शुभगति सुख नाना।। सो परनारि लिलार गुसाईं। तजौ चौथिके चन्द कि नाईं।।" (रा०च०मा० सुन्दरकाण्ड विभीषण वाक्य)। तथा–"जिनके लहैं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन दीठी।। मंगन लहै न जिनके नाहीं। ते नर वर थोरे जगमाहीं।।" कविगण उसे ही इस पृथ्वी पर मनुष्यों में श्रेष्ठ, प्रशंसनीय, सत्पुरुष एवं धन्य बताते हैं। जिसकी दृष्टि और मन परस्त्री की ओर न जाय। यथा–"श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां, स उत्तमः सत्पुरुषश्च धन्यः। न यस्य दृष्टिर्मनसश्च वृत्तिर्नारीमुखं नैव कदापि याति।।" (कस्यचित्कवेः)। स्त्रीमुख के देखने से ज्ञान-विराग की विस्मृति हो सकती है। यथा–"देखि रूप मुनि विरति विसारी।।" (रा०)

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुख पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्।।

अर्थ-वायु, जल एवं पत्तों को खाने वाले विश्वामित्र-पराशर आदि अनेक ऋषि-मुनि सुन्दर स्त्रीमुख-कमल को देखकर मोहित हो गये। घी, दूध से मिले हुए गेहूँ चावल आदि को नित्य खाने वाले यदि अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लें तो समझ लो कि विन्ध्यपर्वत समुद्र में तैर सकता है। तात्पर्य परस्त्री मुख नहीं देखना चाहिये। ब्रह्माजी अपनी कन्या सरस्वती को देख मोहित हुए। पुत्रों ने निन्दा की। तब उन्होंने शरीर त्यागा जो कुहरा हो गया। इस प्रसंग में श्रीजीव गोस्वामीजी का स्त्रीमुख न देखने का प्रण स्मरणीय है, जिसे मीराजी ने छुड़ाया।

सब छिपीं—श्रीगोपालदासजी ने घर के भीतर जाकर समझाया कि-"सन्त भोजन करने आ रहे हैं। तुम सब छिप जाओ। वे स्त्रियों को नहीं देखते हैं। मैं उन्हें भोजन कराकर जब तक बाहर न ले जाऊँ, तब तक तुम कोठरी में बन्द रहो। उन्होंने ऐसा ही किया। वे कह रही थीं कि-"अहो! ऐसे सन्त तो आज ही आये, शायद इन्होंने गृहस्थ में जन्म नहीं लिया है? इनका पालन-पोषण भी माता-बहिनों ने नहीं किया है। यह तो कोई अलौकिक अयोनिज महापुरुष हैं। किसी पेड़ से अथवा पृथ्वी फाड़कर प्रकटे होंगे। हमारे बड़े दुर्भाग्य हैं जो ऐसे सन्त के हमें दर्शन भी नहीं हो सकते।" एक ने कहा कि-"न देखना उनका नियम है सो वे न देखें। अपने नियम का पालन करें। सन्त का दर्शन करने का नियम मेरा है सो मैं अपने नियम का पालन करूँ। कोई उन्हें न देखे, दर्शक दर्शन न करें, ऐसा सन्त नहीं चाहते होंगे। सन्त तो अपने दर्शन देकर लोक का कल्याण करते हैं।" ऐसा विचारकर एक ने झाँककर दर्शन कर लिया।

एक पै तमाचो दियौ, दूसरे ने रोष कियौ, "देवौ या कपोल पै" यों बानी कही प्यारी है।
सुनि, आंसू भरि आये, जाय लपटाये पांय, कैसे कही जाय यह रीति कछु न्यारी है।।
"भक्त इष्ट" सुन्यौ, मेरे बड़ौ अचरज भयौ, लई मैं परीक्षा, भई सिक्षा मोको भारी हैं।
बोल्यौ अकुलाय, "अजू पैयै कहाँ भाय, ऐपै साधु सुख पाय कहैं, यही मेरी ज्यारी हैं"।।४२१।।

भावार्थ—श्रीगोपाल भक्त ने हाथ जोड़कर सुन्दर मीठे वचन कहे-"महाराजजी! आपने एक कपोल को तमाचा प्रसाद दिया, वह तो कृतार्थ हो गया। दूसरा आपके कृपा-

प्रसाद से वञ्चित रह गया, अतः उसे रोष हो रहा है, कृपा करके इस कपोल पर भी तमाचा मारकर इसे भी कृतार्थ कर दीजिये।'' प्रिय वाणी सुनकर उस वैष्णव के नेत्रों से आँसू भर आये। वह गोपालजी के चरणों में लिपट गया और बोला–''आपकी निष्ठा अलौकिक है, इस विषय में मुझसे कुछ कहा नहीं जा रहा है। आपकी उपासना एवं उसकी रीति विलक्षण है। सन्तों के मुख से हमने सुना था कि–''आप भगवद्-भक्तों को ही अपना इष्टदेव मानते हैं।'' इस पर मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। तभी मैंने आकर आपकी परीक्षा ली। आज मुझे आपसे बहुत बड़ी यह शिक्षा मिली कि–''भक्त को अति सहनशील होना चाहिये तथा वैष्णवों को भगवान से भी बढ़कर मानना चाहिये। श्रीगोपाल भक्त अपनी प्रशंसा सुनकर व्याकुल हो गये और हाथ जोड़कर बोले–''अजी महाराजजी! आप जिस भाव को कह रहे हैं, वह मुझे कहाँ प्राप्त है, परन्तु आप साधुजन सुखपूर्वक प्रसन्न होकर मुझे अपना सेवक कहते हैं और मानते हैं। यही मेरे जीवन का आधार है।।४२१।।

व्याख्या—एक पै—श्रीगोपालदासजी ने सन्त कर-कमल का कपोल पर स्पर्श प्राप्त कर कृतार्थता का अनुभव करते हुए कहा–''भगवन! आपने दाहिने हाथ से वाम कपोल को पवित्र किया, अब इस दाहिने कपोल को भी उस पर बायें हाथ से एक तमाचा मारकर पावन कीजिये। दाहिना कपोल रूस रहा है, मचल रहा कि– मैंने कौन सा कसूर किया है, जो मुझे तमाचा प्रसाद नहीं मिल रहा है। महाराज! आपको पंक्ति भेद नहीं करना चाहिये। देखिये, दाहिने नेत्र से आँसू बह रहा है, वह दाहिना अङ्ग श्रेष्ठ होकर भी आपके आशीर्वाद से वञ्चित रहा, अतः रो रहा है। बायाँ सदा हीनता की भावना से दुःखी रहता था। उस दीन पर आपने कृपा की। दाहिना श्रेष्ठता के अहंकार के कारण ही शायद वञ्चित हो गया। फिर महाराज! वैष्णव तो युगल के उपासक होते हैं। युगल कपोल हैं तो युगल तमाचा रूप सेवा फल मिलना चाहिये। वस्तुतः अपनपौ को मानकर अनुग्रह करने वाले मेरे प्रभु आज ही पधारे हैं। आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। जैसे एक बालक मिठाई पाकर प्रसन्न हो। दूसरा न पाकर रोने मचलने लगे। उसी तरह दूसरा कपोल असन्तुष्ट हो रहा है, उस पर भी तमाचा की मुहर लगाकर मुझे निर्भय कर दीजिये। ''दूसरे ने रोष कियो''–इस पर दृष्टान्त श्रीमोरध्वजजी का बाएँ नेत्र से आँसू आने का। इसका एक भाव और यह भी हो सकता है कि वहाँ उपस्थित किसी दूसरे व्यक्ति ने रुष्ट होकर परीक्षक को फटकारा कि–''आपको ऐसा रोष किसी सन्त पर नहीं करना चाहिये। ऐसे भक्त पर ऐसा रोष करना अपराध है।

सुनि आँसू०—श्रीगोपालदासजी की भाव भरी बातें सुनते ही परीक्षक सन्त के नेत्रों में आँसू भर आये। उन्हें ऐसे उत्तर की आशा कदापि न थी। मैं क्रोध करके मारूँगा, तब ये भी क्रोधित होंगे। वे ऐसा समझे थे। कटु व्यवहारों में भी कृपा का अनुभव करते हैं, अतः जैसा सुना था वैसा ही भाव यहाँ श्रीगोपालदासजी में पाया। अवस्था में छोटे होने पर भी भक्ति-भाव में मुझसे बहुत ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हैं। ऐसे भक्त की परीक्षा और वह भी तमाचा मार कर परीक्षा लेना अपराध है। इससे भगवान रुष्ट होकर मुझे दण्ड न दें। यह विचारकर पैरों में लिपट गए। छुड़ाने से भी पैरों को नहीं छोड़ते थे। कठिनाई से अपने पैरों को छुड़ाकर श्रीगोपालदासजी ने उनके चरणों को पकड़कर प्रणाम किया।

लई मैं परीक्षा—उन्होंने अपना परिचय देते हुए अपना नाम बताया और कहा कि-"तुम्हें भक्त इष्ट हैं।" यह सुनकर मुझे भारी आश्चर्य हुआ। मुँह से कहना तो सहज है पर इस प्रकार का स्वभाव बना लेना अति कठिन है। मेरे कुल में मेरा भतीजा ऐसा भक्त है। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था, अतः मैंने परीक्षा ली। इससे मुझे यह शिक्षा मिली कि-"कलियुग में तो भगवान भी अपने सभी भक्तों की परीक्षा नहीं लेते हैं, क्योंकि श्रीमोरध्वज ने वरदान माँग लिया है। (क०-९२), अतः मुझे परीक्षा नहीं लेनी चाहिए थी। अब मैं किसी की परीक्षा नहीं लूँगा। भक्त-हृदय भगवान अपने भक्त के हृदय में कभी तो किसी भाव विशेष का उदय कर देते हैं और कभी उसे छिपा लेते हैं। इसलिये परीक्षा लेने में दोष बन जाता है। परीक्षा ली, हमने उसे फेल कर दिया और उसे अभक्त मान लिया है। यह अभक्त है, ऐसी धारणा बना ली। दूसरे क्षण प्रभुकृपा से विशिष्ट भाव का सागर उस भक्त के हृदय में लहराने लगता है और उसे हम अभक्त मानकर अपने हृदय को दूषित करते रहते हैं।

श्रीमोरध्वज के वरदान के अनुसार प्रभु सभी भक्तों की अब परीक्षा नहीं लेते हैं, परन्तु जो भक्त किसी प्रण को करके भक्ति करता है, उनकी परीक्षा प्रभु अब भी लेते हैं, जैसे श्रीनामदेवजी की एकादशी व्रतनिष्ठा की परीक्षा प्रभु ने ली। प्रभु स्वयं परीक्षा लेते हैं और दूसरों के द्वारा भी ले लेते हैं। कभी किसी सन्त के द्वारा, कभी किसी दुष्ट के द्वारा। श्रीमदनमोहन सूरदासजी (क०-४९९, पानहीं को रक्षक) श्रीहरिरामजी व्यास (क०-३७२, भक्तइष्ट अति), सदाव्रती महाजन (सुतबध क०-२२३), "बोल्यौ०'-अपनी निष्ठा की बात सुनकर आप व्याकुल हो गए। इससे इनमें अहंकार हीनता दिखाई। "ज्यारी है"-सन्तलोग मुझे अपना सेवक मानते हैं, अतः कृपा कर दर्शन देते हैं। सेवा स्वीकार करते हैं। यही जीवन है।" इससे अति इष्टता का भाव ज्ञात होता है।

श्रीलाखाजी

परमहंस बंसनि में, भयौ विभागी बानरौ।।
"मुरधरखण्ड" निवास भूप सब आज्ञाकारी।
राम-नाम बिश्वास भक्तपदरज व्रतधारी।।
जगन्नाथ के द्वार दँडौतनि प्रभु पै धायौ।
दई दास की दादि, हुंडी करि फेरि पठायौ।।
सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरौ।
परमहंस बंसनि में, भयौ बिभागी बानरौ।।१०७।।

शब्दार्थ—मुरधरखण्ड=मारवाड़ देश। दई=दी। दादि=दान, सहायता, सराहना। सुरधुनी=देवनदी, श्रीगङ्गाजी। ओघ=धारा, बाढ़, समूह। संसर्ग=सम्बन्ध, लगाव। कुच्छित=कुत्सित, निन्दित, अधम। नरौ=नरा, नाला, मनुष्य भी। विभागी=हिस्सेदार। बानरौ=वानरवंशी भी।

भावार्थ—भक्तवर श्रीलाखाजी मारवाड़ के अन्तर्गत मुरधर खण्ड के निवासी थे। भजन का ऐसा प्रभाव था कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके आज्ञाकारी थे। श्रीरामनाम में आपका अविचल विश्वास था तथा श्रीभगवद् भक्तों की श्रीचरण-रज को सिर पर धारण करने का दृढ़ नियम था। श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने घर से ही दण्डवत्-यात्रा करते हुए उनके द्वार पर पहुँचे। भगवान ने अपने दास की सहायता की तथा इनकी इस भक्ति की भगवान ने प्रशंसा की और कन्या के विवाह के लिए हुण्डी कराकर भेजा। जैसे गन्दा नाला श्रीगङ्गाजी की धारा में मिलकर गङ्गारूप हो जाता है और उसका नाम बदल जाता है। उसी प्रकार वानर वंश में उत्पन्न होकर श्रीलाखाजी परमहंसों के वंश की कमनीय कीर्ति, पावन पुण्य ज्ञान, साधन-भजन एवं भक्तिभाव में हिस्सेदार हुए।।१०७।।

व्याख्या—परमहंस—मिले हुए दुग्ध-जल से दुग्ध को ग्रहण करने वाला हंस होता है और सत्-असत् का विवेकी परमहंस कहलाता है। परमहंस=उच्चकोटि का ज्ञानी, त्यागी, संन्यासी। जिसने भावात्मक समाधि के द्वारा अपनी इन्द्रियों का दमन करके उनको वश में कर लिया है। ब्रह्मलीन, विज्ञानी परमश्रेष्ठा दशधाभक्ति में निमग्न। जैसे श्रीऋषभदेवजी, श्रीदत्तात्रेयजी, श्रीशुकदेवजी आदि। श्रीभागवत ७, १३, २१-४५ में परमहंस धर्म का वर्णन द्रष्टव्य है। "विभागी" केवल भागीदार नहीं हुए, विशेष रूप से भागीदार हुए। वि० उपसर्ग से। जैसे किसी पिता के चार पुत्र होयँ, तो पिता उन चारों को हिस्सा देता है परन्तु जो सरल,

सेवक या मूर्ख हो तो उस पर ममता करके उसे विशेष दे देता है। चारों वर्ण चार पुत्रों के समान हैं- "मुखबाहुरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।" (भाग० ११-५-२) परमेश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र। ये चार वर्ण और आश्रम एक साथ ही उत्पन्न हुए। शूद्र का सेवा धर्म है, अतः यदि वह अपने धर्म का पालन करता है, भक्ति करता है तो उस पर भगवान भी विशेष कृपा करते हैं। किसी भी जाति का घर हो, दीपक अपना प्रकाश समान रूप से सर्वत्र फैलाता है। इसी प्रकार से श्रीभगवत्प्रेम जहाँ भी होगा अपना दिव्य प्रभाव फैलायेगा। उसके प्रताप से ऊँचता-नीचता का भेद भी नहीं रह जाता है। दैत्यकुल में उत्पन्न श्रीप्रह्लादजी एवं श्रीबलि पर भगवान ने जैसी कृपा की, वैसी इन्द्रादिक देवों पर नहीं की। इसी प्रकार श्रीलाखाजी वानर वंश में उत्पन्न होकर भी भक्ति के विशेष भागीदार हुए।

भूप सब आज्ञाकारी—भगवद्भक्त, सर्वेश्वर प्रभु के प्रताप से राजाओं के भी राजा होते हैं। इसलिये पृथ्वी के राजा ही नहीं, स्वर्ग लोक के देवता भी इनकी आज्ञा मानते हैं। भक्त की ठकुराई का वर्णन श्रीसूरदासजी कहते हैं-

पद- **हरि के जन की अति ठकुराई।**
महाराज ऋषिराज देव मुनि, सकुचि रहत सिर नाई।।
दृढ़ विश्वास दियौ सिंहासन, तापर बैठे भूप।
हरि जस छत्र विमल शिर साजत, राजत परम अनूप।।
निस्पृह देश राज करता को, लोगन अति उत्साह।
काम क्रोध मद मोह लोभ ये, भये चोर ते साह।।
अर्थ काम कहुं दूरि गए दुरि, धर्म मोक्ष शिर नायौ।
बुधि विवेक दोउ पँवरि पंवरिया, समय न कबहूं पायौ।।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि चातुरी, कर जोरे आधीनी।
छड़ीदार वैराग विनोदी, झरक बाहिरी कीनी।।
हरि पद पंकज प्रीति प्रिया वर, ताही सों अनुराता।
मन्त्री ज्ञान न अवसर पावै, बात कहत सकुचाता।।
माया मोह न व्यापै कबहूं, जो यह भेदहिं जानैं।
सूरदास पद टरत न टारे, गुरु प्रसाद पहिचानैं।।

रामनाम विश्वास—"रामनाम रति राम गति रामनाम विश्वास। सुमिरत शुभ मंगल कुशल दुहुँ दिशि तुलसीदास।।" (दो०) नाम में विश्वास—भरोसा ही रक्षक है। पद- "भरोसो नाम को भारी। प्रेम सों जिन नाम लीनौ भए अधिकारी।। ग्राह जब गजराज घेर्यौ बल गयौ हारी। हारिकै जब टेरि दीन्हो पहुँचे गिरिधारी।।......(सूरदास) "दादू जबहीं राम विसारिय, तबही हानि होइ। प्राण पिण्ड सरबस गया सुखी न देखा कोइ।।" पुनः-"महान् पुण्यवानों को ही नाम में विश्वास होता है। यथा-"महाप्रसादे गोविन्दनाम्नि ब्राह्मणवैष्णवे। स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।।" (पद्म पु०) हे राजन्! स्वल्पपुण्य वालों को श्रीभगवत्प्रसाद, भगवन्नाम ब्राह्मण एवं वैष्णवों के प्रति विश्वास नहीं होता है।" (श्रीहरिवाक्य अम्बरीष के प्रति)

भक्तपदरज—श्रीलाखाजी भक्तों की चरणधूलि को नित्य दृढ़ निष्ठापूर्वक अपने सिर पर धारण करते थे। राजा रहूगण कहते हैं-

नह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला:।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्क मूलोऽपहतोऽविवेकः।।

(भाग० ५-१३-२२)

अर्थ- आपके एवं आप सरीखे सन्तों के चरणकमल की धूलि से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हें यदि भगवान की निर्मल-निष्काम भक्ति प्राप्त हो जाय तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है। देखो, तो सही आपके मुहूर्त मात्र के समागम से मेरा जो कुतर्क मूलक अविवेक वह नष्ट हो गया। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध छ०-९ में रहूगणैतत् एवं नैषां मतिः" पृष्ठ-१८७)।

सुरधुनी ओघ०—"यस्माद्यस्मादपि स्थानात्गङ्गायामम्भ आपतेत्। सर्वं भवति गांगेयं को न सेवेत बुद्धिमान।।" (नारदपाञ्चरात्र) अच्छे-बुरे चाहे जैसे स्थानों से बहकर पानी श्रीगङ्गाजी में आकर गिरता है, वह सब जल गङ्गाजी के समागम से गङ्गाजल ही हो जाता है, कौन बुद्धिमान है जो उनका सेवन न करे अर्थात् सभी सेवन करते हैं। कैसा भी कोई नीच पुरुष क्यों न हो यदि वह आकर भक्ति गङ्गा में मिल जाता है तो वह पावन भक्त हो जाता है। दो०-"तुलसी नारो जगत को मिलै संग में गंग। महानीच पन आदि को शुद्ध करै सतसंग।। नीर नगर को परशुराम ता सम रत अज्ञान। साधु समागम सुरसरी मिलिकै एक समान।।" पद-"हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ। समदर्शी है नाम तिहारो सोई पार करो।। इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो। सो दुविधा पारस नहिं जानत कञ्चन

करत खरौ।। इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो। जब दोऊ मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो।। तन माया जिव ब्रह्म कहावत सूरश्याम झगरो। कै इनको निस्तार कीजिये कै पन जात टरो।।'' श्रीगंगाजी की बड़ी अद्‌भुत महिमा है। इस पर-

दृष्टान्त—एक विप्र का—एक विप्र ने श्रीगंगाजी की महिमा शास्त्रों में पढ़ी और सन्तों के श्रीमुख से भी सुनी—''गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।।'' चार सौ कोस दूर से भी जो मनुष्य ''गंगा-गंगा'' ऐसा कहे तो वह सभी पापों से छूट जाता है और विष्णुलोक को जाता है। उन ब्राह्मण ने विचार किया कि नामोच्चारण की ऐसी महिमा है तो स्नान की तो और अधिक महिमा होगी। इसके मन में विश्वास हो गया कि मैंने स्नान किया तो मैं मुक्त होकर वैकुण्ठ चला जाऊँगा, फिर मेरी स्त्री और मेरा पुत्र ये सब दुःख पायेंगे। इनका भरण-पोषण कौन करेगा? इसलिये वे कभी गङ्गा में स्नान नहीं करते। कुछ दिनों बाद पुत्र समर्थ हो गये। परिवार की चिन्ता छूट गई। उस ब्राह्मण को संसार से वैराग्य हो गया। वह घर-गाँव के लोगों से मिल-जुलकर अन्तिम विदा लेकर चला, श्रीगंगा स्नान के लिए। ऐसी विदाई से लोगों को आश्चर्य हो रहा था। पण्डितजी ने नमस्कारपूर्वक श्रीगंगा में स्नान किया। उसके बाद विचारने लगे कि स्नान करके न तो मैं मुक्त हुआ और न वैकुण्ठ ही गया। ऐसा क्यों? महिमा सत्य क्यों न हुई? किसी सन्त से पूछकर समाधानार्थ गंगा के किनारे-किनारे चल दिये। इतने में इन्हें श्रीनारदजी मिल गये। उनसे पूछा, तो वे बोले कि-''श्रीगंगाजी को शङ्करजी सिर पर धारण करते हैं, उन्हीं से चलकर पूछना चाहिये। दोनों शङ्करजी से जाकर पूछे तो उन्होंने कहा कि-''मैं पूरी महिमा को कहने जानने में असमर्थ हूँ। श्रीब्रह्माजी ने श्रीविष्णुचरण को धोया था और बहुत दिनों तक कमण्डल में रखा था। अतः उन्हीं से पूछना चाहिये।'' तीनों ने जाकर पूछा, तो उन्होंने भी असमर्थता प्रगट करके भगवान श्रीविष्णु से पूछने की सलाह दी और चारों ने वैकुण्ठ में जाकर प्रभु से कहा कि-''यह ब्राह्मण जानना चाहता है कि श्रीगंगाजी की क्या महिमा है और स्नान करके मैं मुक्त क्यों न हुआ।'' भगवान ने कहा-''पण्डितजी! महिमा अनन्त है और बैकुण्ठ तथा मुक्ति दात्री हैं श्रीगंगा। यदि ऐसा न होता तो आपको इन लोगों के दर्शन कैसे होते और आप यहाँ तक कैसे आ जाते। अब आपको यहाँ से कहीं नहीं जाना है। आप मुक्त हो गये, वैकुण्ठ में आ गये।

''लाखा'' नाम भक्त, वाकौ ''बानरौ'' बखान कियौ, कहै जग डोम जासों मेरो सिरमौर है।
करै साधुसेवा बहु पाक डारि मेवा, संत जेंवत अनंत सुख पावै कौर-कौर है।।
ऐसे में अकाल पर्‍यौ, आवै धरि माल जाल, कैसे प्रतिपाल करैं, ताकी और ठौर है।
प्रभुजू स्वपन दियौ ''कियौ मैं जतन एक गाड़ी भरि गेहूँ भैंसि आवै करौ गौर है।।४२२।।

शब्दार्थ—सिरमौर=प्रधान, श्रेष्ठ व्यक्ति। पाक=पक्वान्न। गौर=विचार। माल जाल=कण्ठी मालाओं का समूह।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीनाभाजी ने मूल छप्पय में वानरवंशी कहकर जिनका वर्णन किया है, उन भक्त का नाम श्रीलाखाजी है। संसार के लोग जिन्हें डोम कहते हैं, परन्तु भगवद्भक्त होने के कारण वे मुझ प्रियादास के सिर के मुकुट अर्थात् परम माननीय हैं। ये नित्य साधुओं की सेवा करते थे। अनेक व्यञ्जन, मेवा, मिष्ठान्न, प्रसाद पवाकर उन्हें सन्तुष्ट करते थे। उनके भोजन करते समय हर कौर पर बड़े भारी सुख का अनुभव करते थे। इस प्रकार जब सन्त-सेवा ये कर रहे थे, उसी समय बड़ा भारी अकाल पड़ा, लोग भूखों मरने लगे। तब कण्ठीमाला और तिलक धारण करके बहुत से लोग आपके यहाँ आने लगे। इन सबका भरण-पोषण कहाँ से कैसे और कहाँ तक करें? अन्ततोगत्वा बहुत सोच-विचारकर इन्होंने निश्चय किया कि-''इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलकर रहें। इनके इस निश्चय को जानकर भगवान ने इनसे स्वप्न में कहा कि-''लाखाजी! ध्यान देकर सुनो, अन्यत्र जाने का विचार न करो। हमने एक उपाय कर दिया है, तद्नुसार तुम्हारे पास एक गाड़ी भर गेहूँ आवेंगे और एक भैंस आवेगी।।४२२।।

व्याख्या—वानरौ वखान०—इन वानरवंशियों को डोम भी कहते हैं, परन्तु उत्तर भारत में जैसे डोमसे नीच जाति समझी जाती है। उस प्रकार से वानरवंशी नीच जाति के नहीं हैं। यह जाति कत्थक जाति के समकक्ष है और मारवाड़ में पाई जाती है। इस जाति के लोग राजाओं के दरबार में नाचने-गाने-बजाने का कार्य करते हैं। इसी से जीविका चलाते हैं। इनके यहाँ साधुओं का आना-जाना भोजन करना कहा गया है, अतः यह जाति नीच नहीं है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त-१२ की व्याख्या हनुमान वंश)।

सिरमौर—भगवत्प्रिय होने के नाते शिरमौर हैं। भगवान का कहना है-''सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये।। तिन महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन महँ निगम धर्म अनुसारी।। तिन महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहु ते अति प्रिय विज्ञानी।। तिनते पुनि मोहि प्रिय निजदासा। जेहि गति मोर न दूसरि आसा।। पुनि पुनि सत्य कहौं

तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कछु नाहीं।।'' (रा०च०मा०) नीच से नीच कुल में उत्पन्न हुए को भक्ति पवित्र कर देती है। यथा-''भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाऽश्वपाकानपि संभवान्।'' (भा०) (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४२०, अहो बत)। पद- ''रामभक्त वल्लभ निज बानौ। जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होय कैं रानौ।। बरनि न जाय भक्त की महिमा बारम्बार बखानौ। ध्रुव रजपूत विदुरदासी सुत कौन कौन अरगानौ।। युग-युग विरद यहै चलि आयौ भक्तनि हाथ विकानौ। सूरदास भक्तन की महिमा साखी वेद पुरानो।।''

साधुसेवा—यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोप्येति साधून् संसेवतस्तथा।।'' (भा० ११/२६/३१), अर्थ-जिस प्रकार अग्नि भगवान का आश्रय लेने से शीत, भय और अंधकार दूर हो जाता है। उसी प्रकार साधुओं की सेवा करने वाले का जाड़ा, (जड़ता जाड़ विषम उर लागा) भय अर्थात् आवागमन, नरक, विमुखता और अंधकार, अज्ञान, मोह सदा-सर्वदा के लिये दूर हो जाता है। अग्नि के सेवन से तो जितनी देर सेवन करो उतनी देर ही लाभ रहता है, शीत आदि फिर सताते हैं परन्तु साधु-सेवा से लौकिक-पारलौकिक क्लेश सर्वदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। ''पाक डारि मेवा'' से जनाया कि सेवा में अनन्त प्रेम था अतः ''अनन्त सुख पावैं'' जितना और जैसा प्रेम होगा उतना और वैसा सुख मिलेगा।

अकाल पर्यौ०—जहाँ सज्जनों का तिरस्कार तथा दुर्जनों की पूजा होती है वहाँ अकाल पड़ता है। भगवान देखते हैं कि लोग धर्म विमुख हो गये हैं, लोगों ने सदाचार त्याग दिया है, तब प्रकृति को प्रेरित करके अकाल डाल देते हैं। इसी प्रकार अकाल पड़ा। साधु निन्दकों को साधु वेष बनाकर श्रीलाखाजी के यहाँ प्राण रक्षार्थ आना पड़ा। भक्तों के यहाँ काल का प्रभाव नहीं व्याप्ता है, क्योंकि काल के काल भगवान उनके रक्षक हैं। यथा-''काल अकाल दुकाल में तीनि लोक त्रयकाल। निज भक्तन प्रतिपालहीं, प्रभु काल के काल।।'' ''धरि माल जाल'' से यह जनाया गया कि वेषधारी चाहे खड़िया ही क्यों न हो। उसकी भी सेवा करते थे। यह नहीं कि टकसाल पूछकर उसे नकली सिद्ध कर दें और उसको प्रसाद न दें। परन्तु बिना कण्ठी माला और तिलक वाले को साधुओं के बीच में साधू लोग नहीं बैठने देते थे, उसमें श्रीलाखाजी का भाव यह था कि येन केन प्रकारेण लोग वेष धारण करें, श्रीभगवन्नाम लें। सकामता से भी वेष और नाम इनका कल्याण कर देगा। जैसे- ''हंस पकरनै काज बधिक बानौ धरि आये।'' (छ०-५१) तथा ''भाँड़ भेष गाढ़ो गह्यौ दरश परस उपजी भगति।'' (छ०-५६) आदि के चरित्रों में नकली वेषधारी सच्चे वेषधारी हो गये। इस प्रकार से अकाल दुःख के प्रसंग में भक्ति का विशेष प्रचार हुआ। लोगों ने सोचा

कि जिस वेष से अकाल में प्राण बचे उसे क्यों छोड़ें। स्वयं वेषनिष्ठ हो गये और अन्य वेषधारियों का आदर करना सीख गये। क्योंकि-"जाके पैर न फटी बिवाँई। सो क्यों जानै पीर पराई।।" "प्रतिपाल करैं" से जनाया कि भक्तों के प्रति और केवल वेषधारियों के प्रति भी आपका वात्सल्य था। माता-पिता की तरह प्यार करते थे। भागवत में योगीश्वर श्रीहरि ने कहा है कि अज्ञानियों पर ऐसी कृपा करनी चाहिये जिससे हरि सम्मुख हो जायँ अतः प्रसाद देकर आकृष्ट करके कृपा करते हैं। केवल टकसालियों की सेवा करना और अखाड़ा द्वारा आदि टकसाल न बता पाने वाले को फटकार कर भगा देना उत्तम साधु-सेवा निष्ठा नहीं है। कभी-कभी ऐसा करने से सीधे साधे सच्चे सन्त का तिरस्कार हो जाता है अतः टकसाल न बता पाने वाले का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। यथासम्भव सत्कार करना चाहिये। जिससे भक्तापराध न हो। इस पर-

दृष्टान्त—एक कोतवाल का—दक्षिण भारत के एक साधु-सेवी स्थान के कोतवाल आए हुये सन्तों से टकसाल पूछते। जिन्हें बताने का अभ्यास है, टकसाल रट ली है। वे तो पास हो जाते, पर जरा सा चूकने वाले को धक्के देकर भगा देते। एक बार ऐसे ही किसी सच्चे सन्त की थोड़ी भूल पर उसे खड़िया कहकर भगा दिया। उस सन्त ने एक नट को बुलाकर उसे टकसाल सिखा दी और स्थान में भेजा, पास हो गया और पंगत में जा बैठा। तब उस सन्त ने महन्तजी के पास कोतवाल की शिकायत की। महन्त ने कोतवाल को बुलाकर फटकारा और नट को बाहर बैठाकर भोजन कराया। उस कोतवाल को हटा दिया। क्योंकि नित्य भक्तापराध होता था। जिससे साधु-सेवा निष्ठा की जड़ ही कट जाती है। दूसरा कोतवाल कोमल स्वभाव का था, अतः टकसाल पूछने के साथ अन्य लक्षणों से भी साधु भक्त की पहचान करके टकसाली को भीतर बैठाता। अन्यों को सादर दूसरे स्थान पर बैठाकर प्रसाद देता। भक्तापराध से भयभीत रहता। लाखाजी तो केवल वेष ही देखते थे और जब रसोई पूजा में लेते तो पूछा-पाछी करते।

प्रभुजू स्वप्न दियौ—भगवान ने विचारा कि प्रतिपालन करना मेरा प्रण (स्व+पन) है, उसे मैंने लाखाजी को दिया। मैं यदि सृष्टि का पालन करने में असमर्थ हो जाऊँ तो मुझे भारी दुःख होगा। इसी प्रकार ऐसे अकाल में यदि लाखाजी स्व-पन का पालन न कर सके, तो इन्हें अपार दुःख होगा अतः भगवान ने स्वप्न देकर पुनः गेहूँ और भैंस का प्रबन्ध किया। इससे यह जनाया कि दृढ़निष्ठा के निर्वाह में प्रभु सहायक अवश्य होते हैं। सु+पन=सुन्दर प्रण भी प्रभुदत्त है।

"गेहूँ कोठी डारि मुँह मूँदि नीचे देवो खोलि" निकसै अतोल पीसि रोटी लै बनाइयै।
दूध जितौ होय सो जमायकै बिलोय लीजै, दीजै यों चुपरि संग छांछ दै जिवाइयै।।
खुलि गई आँखैं, भाखैं तिया सों जु आज्ञा दई, भई मन भाई, अजू हरि गुन गाइयै।
भोर भये गाड़ी भैंसि आई, वही रीति करी, करी साधुसेवा नाना भाँतिन रिझाइयै।।४२३।।

शब्दार्थ—अतोल=अप्रमाण, बहुत अधिक। विलोय =मथकर।

भावार्थ—श्रीठाकुरजी ने स्वप्न में श्रीलाखाजी से कहा कि-"जब गाड़ी भर गेहूँ आ जायँ, तब उन्हें कोठी में भर देना और उसके ऊपर के मुख को बन्द कर देना। उसमें से निकालने के लिये नीचे का मुँह खोल देना। उससे आवश्यकतानुसार अधिक से अधिक गेहूँ निकलेंगे। उन्हें पीसकर रोटियाँ बनवाना और भैंस का जो दूध हो उसे जमा करके मथ लेना। जो घी निकले उससे रोटियों को चुपड़ देना और छांछ के साथ सबको भोजन कराते रहना। इतना सुनने के बाद श्रीलाखाजी की आँखें खुल गईं। उन्होंने स्वप्न में प्राप्त भगवान की आज्ञा अपनी धर्मपत्नी को सुनायी और कहा कि यह तो हमारे मन की भावती बात हो गई। आओ, अब हम लोग भगवान के गुणानुवाद गावें। स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रातःकाल होते ही गेहूँ भरी गाड़ी और भैंस आ गई। उन्होंने भगवान की आज्ञा के अनुसार उसी रीति से साधु-सन्तों की सेवा की और अनेक प्रकार से उन्हें प्रसन्न किया।।४२३।।

व्याख्या—निकसै अतोल—इसलिये कि प्रसाद पाने वालों की संख्या भी निश्चित नहीं है। नित्य भीड़ बढ़ती ही जाती है। "चुपरि" घृत के स्पर्श के बिना अन्न शुद्ध-भगवद् भोग के योग्य नहीं होता है। पुनः-कोई यह न कहे कि-सूखे टिक्कर मिलते हैं। बहु मेवा-पाक के स्थान पर सूखा-रुखा भोग श्रीलाखाजी कैसे लगाते? "छाछ दै जिमाइए" "विना गोरसं को रसो भोजनानाम्।" बिना गोरस के भोजन में रस नहीं आता है। अतः छाँछ दै जिमाइये। छांछ सम्पूर्ण उदर विकारों को शुद्ध करने वाली है। अकाल पीड़ित लोग पत्ते, छाल आदि अपौष्टिकर भोजनों से रोगी हो गये थे अतः सुपथ्य छांछ की आवश्यकता थी, पुनः छाछ कभी धुँगारों, कभी छौंकी देना। उसमें जीरा, मिर्च मिश्रित होने से रुचि बढ़ती जायेगी। छांछ से कभी रायता और कढ़ी बनवा लिया करना। जैसे दृष्टान्तों से कथा की वृद्धि होती है, उसी प्रकार जल मिलाने से छांछ बढ़ती है। जैसे-जैसे साधु संख्या बढ़े वैसे-वैसे बढ़ाते जाना। आयुर्वेद शास्त्र छांछ का लक्षण कहता है-"सारहीना प्रचुरजलिका छाछिका सा तदुच्यते।" सार-नवनीत निकालने के बाद खूब जल मिला हो तो उसे छांछ कहते हैं।

कुछ सारांश हो जल कम हो तो मठा हो जायेगा। उसमें शायद उतने गुण सम्भव नहीं हैं अतः छांछ दै कहा। ''गुन गाइयै'' सेवा के लिये घर में अन्न नहीं है। प्रातः कैसे क्या किया जायेगा। इसी पर विचार करते-करते लाखाजी ने निश्चय किया कि आधी रात के बाद घर छोड़कर कहीं अन्यत्र भगवद्धाम में चलकर रहेंगे। ऐसा विचारकर सोये थे। प्रातः गेहूँ भैंस आवेगी। यह स्वप्न हुआ तो बोले कि-''अब हरि गुन गाइए।'' पद-''हरि सों मीत न देख्यौ कोई। विपतिकाल सुमिरत तिहिं औसर आनि तिरीछो होई।। ग्राह गहै गजपति मुकरायो हाथ चक्र लै धायौ। तजि वैकुण्ठ गरुड़ तजि श्रीतजि निकट दास के आयौ।। दुरबासाको शाप निवार्‌यो अम्बरीष पति राखी। ब्रह्मलोक परजन्त फिर्‌यौ तहँ सकलदेव मुनि साखी।। लाखा गृहते जरत पाण्डु सुत बुधिबल नाथ उबारे। सूरदास प्रभु अपने जनके नाना त्रास निवारे।।''

आई कौन रीति, वाकी प्रीतिहूं बखान कीजै, लीजै उर धारि सार भक्ति निरधार है।
रहै ढिंग गांव, तहाँ सभा एक ठाँव भई, टूटि गयो भाई सो उगाही कौ विचार है।।
बोलि उठ्यौ कोऊ ''यौं व्यौहारको तौ भार चुक्यौ, लीजियै संभारि ''लाखा'' संत भवपार है।
लाज दबि तिन दिए गेहूं लै पचास मन, दई निज भैंसि संग सब सरदार है।।४२४।।

शब्दार्थ—निरधार=निर्धार, निश्चय। टूटि गयौ=निर्धन-कमजोर हो गया। उगाही=चन्दा, अलग-अलग से लेकर इकट्ठा करना।

भावार्थ—गेहूँ भरी गाड़ी और भैंस श्रीलाखाजी के घर कैसे आई, जनता जनार्दन का प्रेम श्रीलाखाजी में कैसा था, उसका वर्णन करता हूँ। सुनिये, और विश्वासपूर्वक अपने मन में यह धारण कर लीजिये कि इस असार संसार में भगवद् भक्ति ही एकमात्र सार-तत्व है। श्रीलाखाजी के निवास स्थान से कुछ दूर पर एक गाँव में सभा हुई और उसमें यह निश्चय हुआ कि अपने परिवार का अपना जो एक भाई धनहीन हो गया है। उसके लिए चन्दा किया जाय और उस धन का संग्रह करके उसकी सहायता की जाय। इस प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद एक व्यक्ति ने उठकर सभा में कहा कि हम लोगों ने पारस्परिक एवं पारिवारिक व्यवहार के भार को तो चुका दिया, इससे पारलौकिक लाभ सम्भव नहीं है। इसके लिये सन्तसेवी श्रीलाखाजी की कुछ सेवा-सहायता कीजिये। जिससे हम लोग भवसागर को पार कर सकें। यह सुनकर सब लाज-संकोच से दब गए और उन्होंने उगाही करके पचास मन गेहूँ एकत्र किये। ग्रामसभा के प्रधान ने दूध देती हुई अपनी एक भैंस गेहूँ भरी गाड़ी के साथ में भेज दी।।४२४।।

व्याख्या—आई कौन रीति०—गेहूँ और भैंस कैसे आई? श्रीलाखाजी के आश्रम से कुछ दूर पर एक गाँव था, उसमें एक भाई टूट गया अर्थात् अति निर्धन हो गया। प्रायः सभी टीकाकारों ने ऐसा ही भाव प्रकट किया है जो ''गयौ'' इस एक वचन की क्रिया के अनुसार ठीक है, परन्तु समय अकाल का है, अतः माल-जाल धारणकर बुभुक्षित जन लाखाजी के यहाँ आते हैं। ''रहै ढिंग गाँव'' इस वाक्य से यह गाँव अधिक दूर नहीं लगता है। अकालग्रस्त क्षेत्र में ही है। और किसी-किसी पोथी में ''टूटि गए भाई'' ऐसा पाठ भी है, तद्नुसार भाव यह है कि- जब कुछ लोग भूखों मरने लगे तो गाँव के पञ्चों ने डुग्गी पिटवाई कि-''एक सभा का आयोजन है, उसमें परमार्थ पर विचार होगा।'' लोग एकत्र हुए तो गरीब भाईयों की सहायतार्थ उगाही हुई। सभा समाप्त होने वाली थी तभी ''बोलि उठ्यौ कोऊ'' उस सभा में एक विवेकी सज्जन थे, अतः वे बोल उठे। ''स्पष्ट वक्ता न दोषभाक्।'' सत्य और स्पष्ट बोलने वाले दोष के भागी नहीं होते हैं। (कै मुख पट० देखिए छ०-८५, पृष्ठ-५२), ''व्यवहार को तो भार चुक्यौ'' उसने कहा परमार्थ पर विचार करना यह सभा के आयोजन का उद्देश्य घोषित किया गया था, परन्तु अब तक जो कुछ किया गया, उससे केवल व्यवहार का भार चुका। आज इन पर संकट था हमने सहायता की। कल हम पर कोई संकट होगा तो ये हमारी सहायता करेंगे। यह भाईचारे का, स्वार्थ का लौकिक व्यवहार है। इससे लौकिक लाभ ही होगा। इससे परलोक-परमार्थ नहीं सिद्ध होगा। यथा- ''स्वारथ के श्रम को सहै परमारथ अलसाय। विहारीदास बोलैं नहीं चितवैं औ मुसक्याय।। स्वारथ साधै स्वारथी परमारथ दै पीठ। विहारीदास चितवैं नहीं सुपनेहू दै दीठ।।'' जो संसारी हैं, जिन पर देव, पितृ और ऋषियों के ऋण हैं। ऐसों की सेवा से भवसागर पार नहीं किया जा सकता है। उसमें भी प्रत्युपकार की इनसे भावना है। अतः यह परमार्थ नहीं हुआ

यह सुनकर लोगों ने पूछा-''तो हम कैसे और क्या परमार्थ करें यह बताओ। तब उस सज्जन ने कहा-''लीजिये सम्हार लाखा सन्त भवपार है।'' आप लोग भव से पार लाखा सन्त की सेवा स्मरण कर लीजिए तो भवसागर पार हो जायेंगे। श्रीलाखाजी तीन ऋणों से मुक्त हैं। भाग० ११/५/४१ में श्रीकरभाजनजी ने कहा है कि-''जो अहंकार को त्यागकर सर्वतो भावेन भगवान की शरण में जाता है, वह देव-ऋषि-भूत-पितर आदि किसी का न तो ऋणी है और न सेवक है।'' तद्नुसार भवपार सन्त है। इनकी सेवा करके प्रत्युपकार की आशा भी नहीं रहेगी। इन संसारियों को जो मिलेगा, उसे वे संसारी विषयों में खर्च करेंगे। श्रीलाखाजी को जो कुछ मिलता है, वे उससे विशुद्ध परमार्थ भाव से सन्त-भगवन्त की सेवा करते हैं, अतः लाखाजी को सम्हार लो। तात्पर्य तन-मन-धन से यथाशक्ति

सेवा या स्मरण मात्र से भवपार है। ''लाज दबि'' परमार्थ भाव की सच्ची बात सुनकर वे लोग लज्जित हो गये कि- हम स्वार्थ को ही परमार्थ मानते थे। ऐसे लोग भी थे कि एक उगाही दे चुके, अब और अधिक अभी-अभी कुछ देने की इच्छा नहीं थी, परन्तु लज्जा और दबाव में आकर सभी लोगों ने परमार्थ को ध्यान में रखकर श्रद्धापूर्वक दिया। उससे पचास मन गेहूँ एकत्र हो गये। तब उस सज्जन ने कहा कि सन्त सूखे गेहुँओं का कैसे भोग लगावेंगे। तब गाँव के मुखिया ने अपनी लगभग बीस सेर दूध देने वाली भैंस दी।

मारवार देस तें चल्यौ ई साष्टांग किये, हिए ''जगन्नाथ देव याही पन जाइयै''।
नेह भरि, भारी देह बारिफेरि डारी, कैसे करै तनधारी, नेकु श्रम मुरझाइयै।।
पहुँच्यौ निकट जाय, पालकी पठाइ दई, कहैं ''लाखा भक्त कौन? बेगि दै बताइयै''।
काहू कहि दियौ, जाय कर गहिलियौ, ''अजू! चलौ प्रभु पास, इहि छिनही बुलाइयै''।।४२५।।

भावार्थ—श्रीलाखाजी अपने निवास स्थान मारवाड़ देश से चले। इन्होंने हृदय से प्रतिज्ञा की कि- मैं साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम करते हुए श्रीजगन्नाथपुरी को जाऊँगा और श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करुँगा। इनके मन में भगवान के प्रति अपार प्रेम था। इसलिए आपने अपने शरीर को अपने प्रियतम पर न्यौछावर कर दिया। देहाभिमानी संसारी प्राणी ऐसे काम कैसे कर सकता है? वह तो थोड़ी सी सेवा के श्रम से थककर मुरझा जाता है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आप साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए श्रीजगन्नाथ धाम के समीप पहुँचे। प्रेम-पारखी-प्रभु ने इन्हें लिवा लाने के लिये पालकी भेजी। पालकी को साथ लेकर पण्डे लोग मार्ग में सबसे यह पूछते चले कि-''श्रीलाखाजी भक्त कौन हैं शीघ्र बतलाइये?'' किसी ने उन्हें बता दिया कि ये हैं। पण्डों ने जाकर उनका हाथ पकड़ लिया और कहा- ''अजी भक्तजी! आप इस पालकी में बैठिये और जगन्नाथजी के पास चलिये। उन्होंने अभी शीघ्र इसी क्षण बुलाया है।। ४२५।।

व्याख्या—मारवाड़—यहाँ से जगन्नाथपुरी की दूरी लगभग सात सौ कोस है। ''साष्टाङ्ग''''उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते।।'' (हारीतस्मृति) १. उर, २. शिर, ३. दृष्टि, ४. मन, ५. वचन, ६. दोनों पैर, ७. दोनों हाथ और ८. दोनों घुटने, इन आठों के द्वारा प्रणाम, साष्टाङ्ग प्रणाम कहा जाता है। रज:स्पर्श में बाधा न हो अत: कमर से ऊपर कुर्ता आदि वस्त्रों के बिना पहने दण्डवत् की विधि है अत: श्रीलाखाजी इसी विधि से दण्डवत् करते चले। प्रणाम में सर्वस्व समर्पण की भावना निहित है अत: उसकी महामहिमा है। यथा-

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय।। (नारदीय)

श्रीकृष्ण के लिए सप्रेम किया हुआ एक प्रणाम दस अश्वमेध यज्ञों के तुल्य है, अपितु उससे भी विशेष है, क्योंकि दस क्या सौ अश्वमेधों के करने वाले पुण्य के क्षीण हो जाने पर संसार में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाला श्रीकृष्ण को प्राप्त हो जाता है, अतः फिर संसार में नहीं आता है। "सकृत प्रणाम किए अपनाए।" प्रसिद्ध है। "याही पन जाइये" आपने प्रतिज्ञा की। भक्ति के आचरण में दृढ़ प्रतिज्ञा ही सिद्धि देने वाली है। "गही एक टेक" कवित्त संख्या-९ के अनुसार यही भक्त का लक्षण है और क०-३ के अनुसार "पन" भक्ति के शृङ्गार में सुगन्धित द्रव्य है। विशेष वहीं देखिए। 'नेह भरि' दिखावटी नहीं अन्तःकरण से प्रेम परिपूरित भाव विशेष में मग्न होकर आपने ऐसा प्रण किया और उसका प्रमाण है कि-"देह वारि फेरि डारी" शरीर अत्यन्त प्रिय होता है— "देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" परन्तु भक्त की अति प्रियता भगवान में होती है, अतः प्रिय शरीर को भगवदर्पण कर देते हैं। सामान्य शरीरधारी श्रम से सूख जाता है क्योंकि उसमें दुःख का अनुभव करता है। परन्तु आप प्रेम से भगवत्प्रीत्यर्थ श्रम कर रहे थे, अतः मन हरदम हरा ही रहता था। लोग शरीर को सुखी रखने के लिए सब कुछ करते हैं। यथा-"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।।" पर आपने शरीर न्यौछावर कर दिया। आपने क०-५५४ प्रेमसिंहजी के अनुसार विचार किया कि-"बोल्यौ विषैं लगि कोटि-कोटि तन खोए एक भक्ति पर आवै काम यह मन आई है।" तथा-"ऐसेहिं जन्म समूह सिराने।" (विनय०-२३५) पुनः-"ऐसेहिं जन्म बहुत बौरायौ। विमुख भयौ हरिचरण कमल तजि मन सन्तोष न आयौ।।" (सूरदास)

पालकी पठाय दई—जब श्रीलाखाजी पुरी की सीमा में पहुँचे। केवल एक-दो दिन की यात्रा शेष रह गई। तब श्रीजगन्नाथजी ने अपने पुजारियों से कहा कि- तुम लोग शीघ्र जाओ, पालकी पर चढ़ा लाओ। वे पृथ्वी पर लोटते हुए आवें, मैं ऐसा नहीं चाहता हूँ। मैं पालकी पर चढ़कर आता हुआ देखना चाहता हूँ। जैसे विवाहादि के समय पालकी में बैठे हुए पुत्र को देखकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। वैसे ही वात्सल्यवश प्रभु भक्त का उत्कर्ष चाहते हैं। भक्त ने देह को न्यौछावर किया तो करुणावतार श्रीजगदीश ने पालकी भेजी। वे पूछने लगे कि लाखा भक्त कौन है, "बेगि दै बताइए" -भगवान की आज्ञा है कि जल्दी लिवा लाओ। कारण यह है कि-निकट पहुँचने पर श्रीलाखाजी को विरह व्याप गया।

दर्शन की उत्कण्ठा पग-पग पर बढ़ती जाती थी। यथा-''युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्। शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे।।'' एक-एक निमिष युग के समान बीत रहा था। नेत्रों से अश्रुवर्षा हो रही थी। श्रीगोविन्द के विरह में सारा संसार शून्य सा प्रतीत हो रहा था।'' श्रीलाखाजी की ऐसी दशा थी, अतः भगवान भी विरह व्यथित हो रहे थे। क्योंकि- ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।।'' दण्डवत् करते आवेंगे तो देर लगेगी, अतः पालकी में बैठाकर शीघ्र लाओ। श्रीलाखाजी तो अपनी धुन में मस्त थे। कीर्तन और दण्डवत् में ही ध्यान था। पण्डे-पुजारी पुकार रहे थे कि-''लाखा भक्त कौन हैं?'' सुनकर किसी ने कह दिया कि—ये हैं। तब उन पार्षदों ने दौड़कर इनका हाथ पकड़ लिया और कहा कि-''अजी भक्तराजजी! बैठो पालकी में। प्रभु ने इसी क्षण बुलाया है। तात्पर्य विलम्ब सह्य नहीं है।

''कैसे चढ़ौं पालकी में? पन प्रतिपाल कीजै दीजै मोकौं दान, यही भाँति जा निहारियैः''।
बोले प्रभु कही भाय सुमिरनी बनाय ल्याये, अब पहिराय मोहिं सुनि उर धारियै।।
चले ''चढ़ि बढ़ि कियौ चाहै, यह जानो मैं तौ, पढ़ि पढ़ि पोथी प्रेम मोपै बिसतारियै''।
जाय कै निहारे, तन मन प्रान वारे, जगन्नाथजू के प्यारे नेकु ढिग तें न टारियै।।४२६।।

शब्दार्थ—चढ़ि बढ़ि=चढ़ा-बढ़ाकर, उत्साहित कर।

भावार्थ—श्रीलाखाजी ने पण्डों की बात सुनकर उनसे हाथ जोड़कर कहा-''महाराज! मैं भला आपकी पालकी पर चढ़कर कैसे चल सकता हूँ? मैं तो साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करता हुआ ही जाकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करुँगा। मेरी यही प्रतिज्ञा है। उसका पालन करूँगा। आप लोग तो मुझे यही दान दीजिए, जिससे दण्डौती करता हुआ जाकर दर्शन करुँ। पण्डे लोग बोले-''भगवान ने बड़े प्रेम-भाव पूर्वक आज्ञा दी है, अतः उसका पालन कीजिये। जब श्रीलाखाजी नहीं माने तब पण्डों ने पुनः कहा कि प्रभु ने आज्ञा दी है कि-''आप मेरे लिए जो सुमिरनी बनाकर लाए हैं, शीघ्र आकर अब मुझे पहनाइये।'' यह सुनकर श्रीलाखाजी ने पूर्ण विश्वास कर लिया कि सचमुच पालकी पर चढ़कर जाने की आज्ञा दी है। श्रीलाखाजी भगवान के अनुपम भक्तवात्सल्य का स्मरण करके पालकी पर चढ़ते हुए बोले-''अब मैं जान गया कि श्रीजगन्नाथजी मेरे लिए पालकी भेजकर मेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। प्रेम शास्त्रों में कही पद्धति के अनुसार अपने प्रेम अनुग्रह की मुझ पर विशेष वर्षा करना चाहते हैं। श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में पहुँचकर प्रभु की मनोहर झाँकी का दर्शनकर श्रीलाखाजी ने अपने तन, मन और प्राणों को श्रीचरणों में न्यौछावर

कर दिया। श्रीजगन्नाथजी को आप इतने प्रिय थे कि वे इनको एक क्षण के लिए भी अपने से अलग नहीं जाने देते थे।।४२६।।

व्याख्या—कैसे चढ़ौं पालकी में—बत्तीस सेवापराधों में मुख्य हैं-''सवारी पर चढ़कर अथवा पादुकाएँ पहनकर भगवान के मन्दिर में जाना। यथा-''यानैर्वा पादुकाभिर्वा गमनं भगवद्गृहे।।'' (पांचरात्र) उसमें भी दण्डवती यात्रा की प्रतिज्ञा करके फिर पालकी पर चढ़कर जाना महदपराध है। इसलिए कहते हैं कि-''पन प्रतिपाल कीजै'' यहाँ पर 'कीजै' यह क्रिया प्रथम पुरुष की है, श्रीलाखाजी कहते हैं, मैं करुँ ऐसी मेरी सामर्थ्य नहीं है। मेरे प्रण का प्रतिपालन आप कीजिए। अर्थात् अपनी प्रेरणा से करवाइए। मैं जड़ यन्त्र हूँ। आप चैतन्य यन्त्री हैं। ''दीजै मोकों दान'' इस वाक्य में अद्भुत एवं अपार दैन्य है। भगवत्तुल्य भगवत्पार्षदों से प्रार्थना करके भिक्षा माँगते हैं कि जिससे प्रण का पालन हो। हठ एवं अहंकार का लेश नहीं है। हठ से ही अहंकार होता है, यहाँ दैन्य से भक्ति प्रमाणित हुई। प्रभु में अपार वात्सल्य है, अत: पालकी भेजी, परन्तु अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहने की प्रेरणा दीजिए। ''बोले'' पुजारियों ने जाकर श्रीठाकुरजी से इनके दैन्य भाव का निवेदन किया और कहा कि-''उसी प्रकार दण्डौती यात्रा से आकर दर्शन करना चाहते हैं। यह सुनकर प्रभु बोले—

सुमिरनी बनाय ल्यायें०—भगवान ने कहा—वे ऐसे पालकी नहीं चढ़ेंगे। अब तुम जाकर उनसे कहो कि—मेरे लिए जो भक्तों के नामों की सुमिरनी बनाकर लाए हैं। मुझे उसे धारण करने की जल्दी है, अत: पालकी पर आकर जल्दी पहनावें। छोटी माला को सुमिरनी कहते हैं। जो तुलसी की मणियों से बनाई जाती है। यहाँ प्रभु कहते हैं ''अब पहिराय मोहिं'' छोटी माला पहनाते नहीं बनती है, अत: तात्पर्य है कि जैसे हनुमानवंशी श्रीनाभाजी ने श्रीभक्त-माला बनाकर पहनाई, उसी प्रकार उसी (वंश के) वानरवंशी श्रीलाखाजी ने भी भक्तों के नामों की सुमिरनी (माला) बनाई है, उसे धारण करने के लिए प्रभु लालायित हैं। जैसे भक्तमाल के लिए लिखा है कि-''लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है।'' ''भक्तवाणी ही सौं प्यार है।'' वर्तमान में श्रीलाखाजी कृत भक्त सुमिरनी अप्राप्त है। कुछ सज्जनों के अनुसार तुलसी मणियों की सुन्दर सुमिरनी माला भगवान के श्रीअङ्ग शृङ्गार के लिए बनाकर लाये। आपके अतिरिक्त इसे कोई भी नहीं जानता था।

'सुनि उर धारिये'—यह वाक्य भगवान, श्रीलाखाजी और श्रीपुजारी इन तीनों के साथ लगता है। भगवान ने कहा कि-''मैं भक्तनाम सुमिरणी को सुनकर हृदय में धारण करुँगा। जैसे भक्तमाल को ''धारी उर प्यारी किहूं करत न न्यारी।'' श्रीलाखाजी ने भगवान

का सन्देश सुनकर हृदय में धारण किया। आज्ञा पालन करना स्वीकार किया। पुजारी लोगों ने भक्त तथा भगवान इन दोनों की रहस्य-प्रेम की बातों को-भावों को हृदय में धारण किया। "चले चढ़ि" पालकी पर चढ़कर चले। प्रश्न है कि प्रण क्यों छोड़ दिया और निषिद्ध कार्य क्यों किया? समाधान सब कुछ किया प्रभु की प्रसन्नता के लिए। प्रण को छोड़ना और न छोड़ना दोनों से प्रभु को प्रसन्न करना है। देह न्यौछावर कर दण्डवती यात्रा और आज्ञा पाकर प्रण त्याग दोनों से प्रभु प्रसन्न हुए। वेद, शास्त्र और पुराणों में भगवान के वचन ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। "ईश रजाय शीस सबही के।" "आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" स्वयं भगवान भी अपने नियम, अपनी प्रतिज्ञाओं को त्यागकर भक्तों के साथ प्रेम करते हैं, "स्वनिगममप हाय।" (भा० भीष्मस्तुति) "राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।" श्रीपृथुजी ने एक सौ अश्वमेध यज्ञों को करने का संकल्प किया। इन्द्र ने विघ्न किया। सौवाँ यज्ञ पूर्ण न हुआ, प्रभु ने प्रकट होकर के आज्ञा दी कि यज्ञ बन्द कर दो। पृथुजी ने आज्ञा मान ली। सङ्कल्प पूरा न हुआ, परन्तु प्रभु ने फल पूरा ही दिया। यथा-"मसकहिं करहिं विरञ्चि प्रभु अजहिं मसक ते हीन।" पुनः-"राम विमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।" भगवदादेश के सामने अपने नियम का आग्रह करने से भक्ति का नाश हो जाता है। यथा-"अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः। जनसङ्गञ्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति।।" (श्रीरूपकृत उपदेशामृत) अधिक भोजन, संसारी कार्यों में अति प्रयास, अधिक बोलना, नियम का दुराग्रह, संसारियों का सङ्ग और विषयों की लोलुपता इन छःओं से प्रेमाभक्ति का विनाश हो जाता है। यह नियम तो ठीक है, परन्तु प्रभु आज्ञा के सामने नियम का दुराग्रह ठीक नहीं। अतः चले चढ़ि।

चढ़ि बढ़ि०—चढ़ि शब्द का अध्याहार है, चले चढ़ि, पुनः चढ़ि बढ़ि। भाव है कि-"करुणानिधि कृतज्ञ भगवाना" और "कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है।" (क०-९२ मोरध्वज वाक्य) यह भगवान की परमोदारता है कि अपने भक्त को चढ़ा- अर्थात् नीचे से ऊपर को चढ़ाकर तथा बढ़ा अर्थात् छोटे से बड़ा बनाकर जगत् में ख्यात करते हैं। मैं नीच वानरवंशी हूँ, उसे पालकी में बैठाकर ऊँचा कर दिया। सुयश का विस्तार कर दिया। "यह जानी मैं" भगवान श्रीलाखाजी के मन की बात जान गए, उसी प्रकार ये जान गये कि भक्त की कीर्ति को उजागर करना चाहते हैं। "पढ़ि-पढ़ि पोथी०" -भाव यह है कि अब तक जो प्रेम पोथियों में पढ़ा जाता था कि भगवान भक्तों पर ऐसे प्रेम करते हैं। यथा-"श्रीरघुवीर की यह बानि। नीच हूँ सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।। परम

अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाय सुत ज्यौं प्रेम को पहिचानि।। गीध कौन दयालु जो विधि रच्यौ हिंसा सानि। जनक ज्यौं रघुनाथ ताकहँ दियौ जल निज पानि।। प्रकृति मलिन कुजाति शवरी सकल अवगुन खानि। खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि।। रजनिचर अरु रिपु विभीषण शरण आयौ जानि। भरत ज्यौं उठि ताहि भेंटत देह दशा भुलानि।। कौन सुभग सुशील वानर जिनहिं सुमिरत हानि। किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि।। राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिन दानि। भजहि ऐसे प्रभुहिं तुलसी कुटिल कपट न ठानि।।'' (विनय-पत्रिका) पुनः ''ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता विसारि जनके वश होत सदा यह रीति।।'' (देखिए वि० पद-९८) उस प्रेम को प्रभु आज मुझ पर चरितार्थ करते हैं। तात्पर्य यह कि मेरे द्वारा जगत् को दिखाते हैं, विस्तार करते हैं। पुनः प्रेमियों के द्वारा लिखी गईं जो प्रेम करने की रीतियाँ उनको पढ़-पढ़कर हम सरीखे दासों पर आप अपने प्रेम का विस्तार कर रहे हैं। यथा-''वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै, ''धरै दूरि ईशता हू।'' ऐसे वाक्यों के अनुसार अपनी ईशता को भुलाकर मुझसे प्रेम कर रहे हैं। इस प्रकार के भाव समुद्र में डूबते उतराते पालकी पर चढ़े हुए आप पहुँचे। तो आपने बार-बार कहा कि- यहीं मुझे उतार दो। पर पुजारियों ने कहा-''नहीं, मन्दिर की चौखट पर उतारने की आज्ञा है। खास मन्दिर के द्वार पर उतरकर ''निहारे'' भर नेत्र, टकटकी लगाकर प्रभु का दर्शन कर ''तन-मन-प्रान वारे'' धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। दण्डवती यात्रा में देह ''वारि फेरि डारी'' और दर्शन करके ''तन-मन-प्रान वारे''। यहाँ उत्तरोत्तर प्रेम प्रवर्द्धन है। जब इन्होंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया तब श्रीजगन्नाथजी के इतने प्यारे बन गये कि-

''नेकु ढिगते न टारिए''-भगवान इन्हें अपने समीप मन्दिर में बैठाकर घुल-मिलकर प्रेमालाप करके अपना वात्सल्य प्रदर्शित करते रहते। श्रीजगन्नाथजी इन्हें अपने समीप ही रखना चाहते हैं। तब आपने कहा कि—मैं हर समय पास कैसे रह सकता हूँ? जब लड्डू पूड़ी खाऊँगा तो मुझे लघुशङ्का के लिए बाहर दूर जाना पड़ेगा ही। तब भगवान ने कहा कि—जैसे मैं खाता-पीता हूँ और कहीं नहीं जाता हूँ, ऐसे ही तुम भी मत जाओ। अपने समीप रखकर मैं तुम्हें भी अपने समान कर लूँगा। जैसे वामनावतार के समय दण्ड छत्र-पादुका और मेखला आदिक छोटे से विराट हो गये थे। उसी तरह मेरे सामीप्य से तुम भी मेरे समान हो जाओगे। यथा-''बड़े गहे कर होत बड़, ज्यौं वामन को दण्ड। मौजी प्रभु के संग बढ्यौ गयौ अखिल ब्रह्माण्ड।।'' देह रहते हुए भी देह धर्म नहीं व्यापेगा। श्रीलाखाजी ने कहा-''नहीं,

प्रभो! मैं आपके तुल्य कभी भी न होऊँगा। उससे सेवक सेव्य भाव में बाधा पड़ जायेगी।'' जैसे श्रीमाधवदासजी कभी-कभी मन्दिर में रह जाते थे। पर उन्हें कोई देख नहीं पाता था। उसी प्रकार आपको भी भगवान अपने निकट रख लेते थे। मू० छ०-२०१ में ''ओत प्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जानै।'' भक्त-भगवन्त दोनों एक-दूसरे के अनुराग में पगे हैं।

बेटी एक क्वाँरी ब्याहि देत न विचारी मन धन हरि साधुनि कौ कैसे कै लगाइयै।
''कीजै याकौ काज'' कही जगन्नाथ देवजू ने ''लीजै मोपै द्रव्य'' उर नेकहूं न आइयै।।
विदा पै न भए चले दृग भरि लये, गये आगे नृप भक्त मग चौकी अटकाइयै।
दियौ है सुपन प्रभु जिनि हठ करौ अजू हुंडी लिख दई लई बिनै कें जताइयै।।४२७।।

शब्दार्थ—चौकी=पहरा। हुण्डी=महाजन के नाम धन देने का आदेश-पत्र।

भावार्थ—श्रीलाखाजी की एक कन्या थी, वह विवाह योग्य हो गई थी, परन्तु आप उसका विवाह नहीं करते थे। वे अपने मन में सोचते थे कि मेरे पास जो भी धन है अथवा आता है, वह सब भगवान और भक्तों का है, उन्हीं की सेवा के लिए है। उसे कन्या के विवाह में कैसे लगाऊँ, श्रीजगन्नाथजी ने श्रीलाखाजी से कहा कि तुम अपनी लड़की का व्याह करने के लिए मुझसे धन ले लो और उसका व्याह कर दो। परन्तु श्रीलाखाजी के मन में यह बात ठीक नहीं जँची। पुरी में कुछ दिन निवास करने के उपरान्त आप अपने घर के लिए चल दिये। प्रभु से विदा माँगने इस संकोच से नहीं गये कि प्रभु कुछ देंगे। चलते समय आपको भगवान का विरह व्याप गया। व्याकुलतावश आँखों से आँसुओं प्रवाह चलने लगा। उसी क्षण श्रीजगन्नाथजी ने अपने एक भक्त राजा को स्वप्न में धन देने की आज्ञा दी। उसने रास्ते में चौकीदार बैठा दिये और श्रीलाखाजी के आने पर उनसे प्रार्थना करते हुए कहा कि-''स्वप्न में मुझे आदेश हुआ है, अतः अब आप अधिक हठ न कीजिये, धन ले लीजिए।'' ऐसा क़हकर उसने हुण्डी लिख दी। श्रीलाखाजी ने उसे ले लिया।।४२७।।

व्याख्या—मन धन हरि साधुनिकौ०—भाव यह है कि व्याहादि में तन-मन और धन सब कुछ लगाना पड़ता है। मन तो एक है, यथा-''कबिरा मन तौ एक है, चाहे जहाँ लगाय। चाहे हरि को भजन कर चाहे विषय कमाय।।'' पुनः-''यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सुख पायौ।।'' (श्रीहितहरिवंशजी) ''धन''-''सम्पति सब रघुपति कै आही।'' अतः कहते हैं कि-''कैसे कै लगाइयै'' जैसे कि किसी राजा का ईमानदार खजांची

राजा के कार्य में तो धन को लगा देता है परन्तु उसे अपने निजी संसारी कार्यों में नहीं लगाता है। तो मैं इस भक्त-भगवन्त के धन को व्याह में कैसे लगाऊँ? एक दिन श्रीजगन्नाथजी ने कहा-''कीजै वाकौ काज'' व्याह के योग्य सयानी हो गई है, अतः उसका व्याह कर दो। बेटी के व्याह की चिन्ता लाखाजी को नहीं है परन्तु ''प्रणत कुटुम्बपाल रघुराई।'' (रा०) प्रभु को चिन्ता है। जैसे अर्जुन के रथ की एवं संग्राम में विजय की चिन्ता थी। जो चिन्ताएँ भक्त को होनी चाहिये। उन्हें प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। एक बार तो श्रीलाखाजी चुप ही रहे पर प्रभु ने जब बार-बार कहा, तब श्रीलाखाजी ने उत्तर दिया कि-''व्याह में खर्च योग्य धन मेरे पास नहीं है।'' प्रभु ने कहा-''लीजै मोपै द्रव्य।'' यह बात इनके मन में ''नेकहू न आइए'' अर्थात् बिल्कुल पसन्द नहीं आई। इसलिये कि—दैवी-सम्पत्ति बावरे-प्रमादी बारातियों को नहीं खिलाई जा सकती है। पुनः-''भगवान से तो भक्ति सम्पत्ति को लेना चाहिये, न कि लौकिक सम्पत्ति को। प्रेमी भक्त भगवान से मुक्ति भी नहीं लेते हैं, तो मैं धन कैसे लूँ? समुद्र स्नान करके चल दिये।

''**विदा पै न भए**''-श्रीलाखाजी ने सोचा कि यदि मैं चलते समय विदा होने के लिये प्रभु के पास जाऊँगा तो वे हमको धन देंगे। क्या ठिकाना, कहीं अपने आभूषण ही दे दें। फिर मैं उनकी आज्ञा को टाल नहीं सकूँगा। जैसे पहले इच्छा न रहने पर भी प्रण छोड़ना पड़ा अब फिर छोड़ना पड़ेगा। इस प्रकार मन में विचारकर उस दिन बिना दर्शन किए चल तो दिए परन्तु हृदय में अपार दुःख था कि चलते समय मिल भी नही पाये। संसारी झंझटों ने यह दुःख दिया। गृहस्थ न होता तो ऐसी बात क्यों होती? ''मग चौकी अटकाइये'' भक्तवर नरेश ने स्वप्नादेश पाकर रास्ते में चौकीदारों को बैठा दिया। वे अहर्निश रास्ता रोके खड़े थे। जब श्रीलाखाजी आये तो हुलिया देखकर उन लोगों ने पहचान लिया और सबके सब चरणों में पड़ गये और प्रार्थना करके कहने लगे कि आप चलकर राजा को दर्शन दीजिये। इन्होंने अस्वीकार कर दिया। तब पहरेदारों ने कहा-''महाराज! हम लोग आपको आगे नहीं जाने देंगे और राजा को यहीं बुलाकर लावेंगे। उन्हें दर्शन देकर ही आप आगे जा सकोगे। तब श्रीलाखाजी ने विचार किया कि-''ठीक ही है, भगवान से नहीं मिलकर चले, तो उनके भक्त से मिल लें, विदा माँग लें। इससे वह दुःखापराध दूर हो जायेगा। इतनी देर में समाचार पाकर नरेश पालकी और बाजा-गाजा लेकर आ गये। उन्होंने विचारा कि जब श्रीजगदीश भगवान ने पालकी भेजी तो हमें भी विशेष सत्कार करना चाहिये। आग्रह पूर्वक पालकी पर बैठाकर बड़ी धूम-धाम से राजा महलों में लाया। खूब

बाजे बजे, जै-जैकार हुआ। सादर पूजन हुआ और श्रीजगन्नाथजी का प्रसाद पवाकर राजा ने एक हजार रुपयों की हुण्डी दी। तब आपने झट उसे फेंक दिया और कहा कि-"राजन्! ऐसा न कीजिये। मैं इसे नहीं लूँगा।" तब राजा ने कहा-"महाराज! आप हठ न करें और श्रीजगन्नाथजी की आज्ञा का पालन करें। मुझे स्वप्नादेश हुआ है, आपके घर में बेटी व्याह के योग्य है। प्रभु धन देना चाहते थे पर आपने बिना विदा लिये प्रस्थान किया है। प्रभुदत्त दिव्य धन का आप व्याह में लगाना उचित नहीं समझते हैं, तो मुझ दास के द्वारा सेवा में अर्पित धन से कन्या का विवाह करके प्रभु को सन्तुष्ट कीजिये। श्रीलाखाजी ने जब रहस्य की बातें सुनीं, तो अपने को न सम्भाल सके, रोने लगे और विश्वास हो गया। यदि नहीं लेता हूँ तो भक्त भगवान दोनों का तिरस्कार होगा, ऐसा विचारकर आपने हुण्डी ले ली और सत्सङ्ग सुख का आदान-प्रदान कर भक्त नरेश से विदा लेकर चले।

हुंडी सो हजार की, यों लैकै गृहद्वार आये, तामैं तें लगायौ सौक बेटी ब्याह कियौ है।
और सब संतनि बुलाय कें खवाय दिये, लिये पग दास सुखरासि पन लियौ है।।
ऐसे ही बहुत दाम वाही के निमित्त लैलै संत भुगताये अति हरषित हियौ है।
चरित अपार कछु मति अनुसार कह्यौं लह्यौं जिन स्वाद सो तौ पाय निधि जियौ है।।४२८।।

शब्दार्थ—भुगताये=भोग कराये, लगाये, चुकाये।

भावार्थ—इस प्रकार से श्रीलाखाजी एक हजार रुपये की हुण्डी लेकर अपने घर को आये, उन्होंने उनमें से एक सौ रुपये केवल कन्या के विवाह में लगाये और शेष धन से सन्तों को निमन्त्रण देकर उन्हें भोजन कराया उनका अनेक प्रकार से सत्कार किया। पश्चात् भगवद्-भक्तों के श्रीचरणों का स्पर्श करके आपने सुख माना और पुनः दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं अपने तन-मन-धन से हरिभक्तों की सेवा करुँगा। श्रीलाखाजी स्वयं सुख के समूह थे। राजा से एक हजार रुपये मिलने से पहले भी बहुत से लोगों ने श्रीलाखाजी को कन्या के व्याह के लिए रुपये दिये थे। आपने उन रुपयों को भी व्याह में न लगाकर सन्त-सेवा में ही लगाया और ऐसा करके आपने अपने मन में परमानन्द का अनुभव किया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीलाखाजी के चरित्र अपार हैं। उनमें से कुछ का वर्णन मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार किया है। जिन्होंने भक्तचरितामृत का स्वाद लिया है, उनके लिये तो श्रीलाखाजी के चरित्र प्रेम के खजाना हैं। इसे प्राप्तकर वे सज्जन प्रेममय जीवन जीते हैं।।४२८।।

व्याख्या—सन्त भुगताये०—कन्या के व्याह के लिये प्राप्त एक हजार रुपये में से आपने केवल एक सौ रुपये लगाये, शेष सन्तों की सेवा में खर्च किये। कारण यह है कि- "पन लियो है" आपने साधु-सेवा का व्रत ले रखा है। अपने शरीर एवं कुटुम्बियों की क्या चले अनेक देवताओं की सेवा में भी आप वास्तविक लाभ नहीं देख रहे थे। यथा- "श्रीकृष्णवाक्य-

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं, विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त सेवया।।

अर्थ-अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन के अधिष्ठातृ देवता उपासना करने पर भी पाप का पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनकी उपासना से भेदबुद्धि का नाश नहीं होता है, वह और भी बढ़ती है। परन्तु यदि घड़ी दो घड़ी भी ज्ञानी भक्त महापुरुषों की सेवा की जाय तो सारे पाप-ताप मिटा देते हैं, क्योंकि ये भेदबुद्धि के नाशक हैं।

यस्यात्म बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।।

(भा० १०/८४/१२-१३)

अर्थ-जो मनुष्य वात, पित्त, कफ—इन तीन धातुओं से बने हुए शवतुल्य शरीर को ही आत्मा-अपना "मैं" तथा स्त्री-पुत्र आदि को ही अपना एवं मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारों को ही इष्टदेव मानता है। जो केवल जल को ही तीर्थ समझता है—भक्त-ज्ञानी महापुरुषों को नहीं। वह मनुष्य होने पर भी पशुओं में नीच गधा ही है। इसलिए श्रीलाखाजी अपने शरीर एवं परिवार की सेवा न करके अपने और कुटुम्बियों के कल्याण के लिए वैष्णव-सेवा को ही महत्व देते थे। अतः विवाह के निमित्त प्राप्त धन से भी सन्त-सेवा की। कारण यह कि आपकी बुद्धि में विशुद्ध परमार्थ व्याप्त था। अतएव जैसे ऋणी ऋण चुकाता है, वैसे ही आपने भुगतान किया। भाव यह है कि हम सन्तों के ऋणी हैं। सचमुच सारा संसार सन्तों का ऋणी है। ये सदा देते ही रहते हैं। यथा-"देबोई करत कभू आपु नहीं लेत हैं।" पुनः-"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहिं पाई।। सो जानब सतसङ्ग प्रभाऊ।।" (रा०) ये निःस्वार्थ भाव से जगत् का उपकार करते हैं। यथा-"करुणा छाया भक्तिफल ये कलियुग पादप रचे।" (छ०-९७) "पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलियुग्ग के।" (छ०-९८) "अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिन्तामणि चतुरदास।" (छ०-९९)

"हरि सुजश प्रचुर कर जगत् में ये कविजन अतिशय उदार।" (छ०-१०२) "गुन गन विशद गोपाल के एते जन भए भूरिदा।।" (छ०-१४६) भूरिदा हैं, अधिक देने वाले हैं। यथा- "तव कथामृतं०।" देखिये पूर्वार्द्ध पृ०-५३५। संसार के लोग देंगे भी तो संसारी वस्तुओं को ही दे सकते हैं। परन्तु ये तो दिव्य ज्ञान भक्ति के दाता हैं। यथा-"चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्ग सम्पदम्। प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगि दुर्लभम्।।" (भा०मा० १-८) अर्थ- चिन्तामणि लौकिक सुख और कल्पवृक्ष स्वर्ग की भोग सम्पत्तियाँ दे सकता है, पर यदि सन्त-गुरुदेव प्रसन्न हो जायँ तो योगियों को दुर्लभ वैकुण्ठ पद दे देते हैं। अतः ऐसे दाता सन्तों के सभी ऋणी हैं। "चरित अपार" आपका आदर्श चरित्र है, इससे यह उपदेश ग्रहण करना चाहिए कि-"तन-मन-धन को विशेष रूप से परमार्थ में ही लगाना चाहिये और संसार में व्यवहार सिद्ध करने भर को अर्थात् कम से कम लगाना चाहिये।

विशेष—श्रीलाखाजी की धर्मपत्नी का नाम जेवाबाई था, इनका नाम मूल छ०-१७० में आया है। ये भी सन्तों की सेवा श्रद्धा के साथ करती थीं। पुत्र का नाम देवा और पुत्रवधू का नाम लक्ष्मी था। कन्या गङ्गाबाई का व्याह हो गया। उसके कुछ दिनों के बाद उसके पति की मृत्यु हो गई। इससे सभी को कष्ट होना स्वाभाविक था। दामाद की मृत्यु का समाचार पाकर श्रीलाखाजी कन्या के पास इसलिए गए कि उसे समझा-बुझाकर धैर्य धारण करायेंगे। परन्तु वहाँ पहुँचने पर आप यह देखकर आश्चर्यचकित हो गये कि गङ्गाबाई असह्य दुःख को सह रही हैं, पर अत्यन्त व्यथित होकर रो नहीं रही हैं, विलाप नहीं कर रही हैं, बल्कि अपने सास-ससुर को शान्ति से बैठाकर संसार की नश्वरता एवं भक्ति की नित्यता का उपदेश दे रही हैं। इस सम्बन्ध में राजा चित्रकेतु के प्रति देवर्षि नारद और अङ्गिराजी के वाक्य स्मरणीय हैं। यथा-

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्त्रोतोवेगेन बालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः।।१।।
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीश मायया।।२।।
वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्नैवमधुनापि भोः।।३।।

(भा० ६/१५/५-७)

अर्थ—जैसे जल के वेग से बालू के कण एक-दूसरे से जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही समय के प्रवाह में प्राणियों का भी मिलना और बिछुड़ना होता रहता है। जैसे कुछ बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। हम तुम और हम लोगों के साथ जितने भी प्राणी इस जगत् में वर्तमान हैं, वे सब अपने जन्म के पहले नहीं थे और मृत्यु के बाद नहीं रहेंगे। इससे सिद्ध है कि इस समय भी उनका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि सत्य वस्तु तो सब समय एक-सी रहती है। भगवान ही सब प्राणियों के अधिपति हैं, उनमें जन्म और मृत्यु आदि विकार बिल्कुल नहीं हैं। उन्हें न किसी की इच्छा है और न उपेक्षा। वे अपने आप परतन्त्र प्राणियों की सृष्टि कर लेते हैं और उनके द्वारा अन्य प्राणियों की रचना, पालन तथा संहार करते हैं—ठीक वैसे ही जैसे बच्चे घर-घरौंदे, खेल-खिलौने बना-बनाकर बिगाड़ते रहते हैं। जैसे वे आज मर गए, वैसे ही कल हमें भी मरना है। अतः जब तक जीवन है तब तक इस नाशवान शरीर से अविनाशी की भक्ति कर लें। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१२०, श्रीबुद्ध के उपदेश की शैली)। पुत्री के इस उपदेश से सास-ससुर का दुःख कम हुआ और वे भक्ति की आराधना करने लगे। श्रीलाखाजी परम सन्तुष्ट हुये और गङ्गाबाई को अपने साथ ले आए। बाईजी ने आजीवन भगवद्-भजन का दृढ़ व्रत लिया। इस प्रकार आपका सारा परिवार ही आदर्श था। सब पर सत्सङ्ग एवं साधु-सेवा का प्रताप था।

श्रीनरसीजी

जगत विदित "नरसी" भगत, (जिन) "गुज्जर" धर पावन करी।
महास्मारत लोग भक्ति लौलेस न जानैं।
माला मुद्रा देखि तासु की निन्दा ठानैं।।
ऐसे कुल उत्पन्न भयौ, भागौत सिरोमनि।
ऊसर तें सर कियौ, खंड दोषहिं खोयो जिनि।।
बहुत ठौर परचौ दियौ, रसरीति भक्ति हिरदै धरी।
जगत बिदित 'नरसी' भगत, (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी।।१०८।।

शब्दार्थ—गुज्जर=गुजरात। धर=भूमि। पावन=पवित्र। लौलेस=लवलेश, बहुत थोड़ी मात्रा, जरा-सा लगाव। माला=तुलसी कण्ठी। मुद्रा=छाप, धनुष, बाण, शङ्ख, चक्र की छाप। खण्डदोषहिं= देश के दोष, पाप को। जिनि=जिन्होंने।

भावार्थ—श्रीनरसीजी सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध भक्त हुए। जिन्होंने गुजरात प्रान्त को पावन किया। उस समय गुजरात के निवासी महास्मार्त थे, भक्ति-भजन को बिल्कुल नहीं जानते-मानते थे। छाप और कण्ठी-तिलकधारी किसी वैष्णव को देखकर उसकी बड़ी निन्दा करते थे। ऐसे देश-कुल एवं वायुमण्डल में उत्पन्न होकर भी श्रीनरसी वैष्णव भक्त शिरोमणि हुये। ऊसर के समान उस देश को सुन्दर हरा-भरा, भक्तिरस से परिपूर्ण सरोवर बना दिया। देश के दोषों को नष्ट कर दिया। आपने अनेक स्थानों पर भक्तिपूर्ण चमत्कार दिखलाये। जिसमें रस की रीतियों का सम्पूर्ण रूप से संगम होता है, ऐसी माधुर्य-रसमयी भक्ति को आपने हृदय में धारण किया।।१०८।।

जगत विदित०—कोई तो गाँव, पुर, नगर और देश विदित होते हैं परन्तु ये तो जगत विदित हुए। इनकी महिमा सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हुई। ऐसे ही "लालाचारज लक्षधा प्रचुर भई महिमा जगति।" एवं "सुमेरदेव सुत जगविदित भुवि विस्तार्‌यौ विमल जस।" इक्ष्वाकुवंशी मान्धाता के पुत्र श्रीमुचुकुन्दजी ही कलियुग में श्रीनरसीजी के रूप में प्रगट हुए। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३७४)। गुफा में भगवान् ने इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर इनसे वरदान माँगने को कहा, परन्तु इन्होंने भक्ति से भिन्न किसी वस्तु को नहीं माँगा। तब भगवान ने कहा कि-"तुम यथेच्छ पृथ्वी पर विचरो, मेरी भक्ति में मग्न रहो। क्षत्रिय धर्मानुसार तुमने मृगया आदि के द्वारा अनेक जीवों का वध किया है, उसका प्रायश्चित्त करके अगले जन्म में तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होओगे और सर्वभूत हितकारी भाव से व्यवहार करते हुए मेरी भक्ति का प्रचार कर मुझे प्राप्त होगे। यथा-"जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः। भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्।।" (भा० १०/५१/६४) आपका पूरा नाम नरसिंहराम मेहता था। महता अथवा मेहता गाँव के मुखिया को कहते हैं। आदर देने के लिए लोग इस शब्द को नाम के आगे लगाते हैं। प्यार की भाषा में माता-पिता नरसी कहते थे, अतः यही नाम जगत्प्रसिद्ध हुआ।

गुज्जर धर०—श्रीभक्तिदेवी ने श्रीनारदजी से कहा कि-"उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।" (भा० मा० १/४८) मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में खूब बढ़ी, कहीं-कहीं महाराष्ट्र में रही और गुजरात में आकर तो एकदम जीर्ण-शीर्ण, दुबली-पतली हो गई। तात्पर्य यह कि वाममार्गी-विधर्मियों का बाहुल्य होने से वहाँ के लोग भक्ति का विरोध करते थे। "अवैष्णव हतो देशः" जिस देश में वैष्णव न हों वह देश अपवित्र होता है, अतः उस काल में गुजरात अपावन हो रहा था।

उसे पावन करने के लिए हरि इच्छा से वहाँ श्रीनरसीजी का जन्म हुआ। ''कुलं पवित्रं जननी० उ०प्र०-६९७ ये कण्ठ लग्न०-८७ पृष्ठ पूर्वार्द्ध।

महास्मारत०—मनु याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा बनाए गये धर्म-नीति शास्त्र को स्मृति कहते हैं। (विशेष देखिए पूर्वार्द्ध छप्पय-१८) इनमें कहे गए कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने वाले स्मार्त कहे जाते हैं। गणपति, शक्ति, सूर्य, शिव और विष्णु इन पाँच में से एक को प्रधान शेष चार को अप्रधान देव मानकर आराधना करने वाले गाणपात्य, शाक्त, सौर, शैव, स्मार्त वैष्णव कहलाते हैं। इनका भगवद्भक्ति से विरोध नहीं है। उन दिनों महास्मार्त एक कट्टरपंथ प्रचलित था। ये लोग केवल कर्मकाण्ड को ही सर्वस्व मानते थे और विष्णु विरोधी थे। उन दिनों गुजरात में इस मनमुखी पन्थ का बोलबाला था।

भक्ति लौलेश न०—किसी भी कर्म की पूर्णता के लिए अन्त में भगवन्नाम स्मरण की विधि है। यथा-''मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव।।'' (भा० ८/२३/१६) अर्थ—मन्त्र-तन्त्र-देश-काल-वस्तु आदि के दोषों को आपका नाम-संकीर्तन निर्दोष बना देता है।'' (शुक्र वाक्य) ये कट्टर महास्मार्त लोग इस विधि का भी पालन नहीं करते थे। भूलकर श्रीहरिनाम का उच्चारण नहीं करते थे। ''निन्दाठानैं''- ''काष्ठकण्ठी मृत्तिलकी पाखण्डी न संशयः। मूर्खाणां लक्षणं चैतत् तप्त मुद्राधरो मृतः।।'' ऐसे वाक्यों को उन्होंने बनाकर उनका प्रचार कर रखा था। वैष्णव निन्दा का फल बुरा है—''होहिं उलूक सन्त निन्दा रत। मोहनिशा प्रिय ज्ञान भानु गत।।'' (रा०) वैष्णव निन्दक होने से वे अज्ञानी थे। ''वृन्दावनतरूद्भूतां मालामालोक्य ये हृदि। निन्दां कुर्वन्ति ये मूढास्ते म्लेच्छा न संशयः।।'' (स्कान्दे) तुलसी कण्ठीधारी की निन्दा करने वाले म्लेच्छ हैं, इसमें संशय नहीं। माला, कण्ठी, कीर्तन की निन्दा में पाप है। इस पर-

दृष्टान्त—श्रीहरिनाम निन्दक का—एक बार भक्त हरिदासजी ने सप्तग्राम के जमींदार हिरण्यदास मजूमदार के यहाँ ''श्रीहरिनाम'' का माहात्म्य वर्णन करते हुए बोले कि भक्तिपूर्वक हरिनाम लेने से जीव के हृदय में जो भक्ति-प्रेम का सञ्चार होता है, वही हरिनाम लेने का फल है। इसी बातचीत के सिलसिले में जमींदार के कर्मचारी गोपाल चक्रवर्ती ने हरिनाम की निन्दा की और कहा कि-''ये सब भावुकता की बातें हैं। यदि हरिनाम से ही मनुष्य की नीचता मिटती हो तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।'' श्रीहरिदासजी ने भी बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया कि-''भाई! यदि हरिनाम स्मरण और जप से मनुष्य को मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक

कटवा डालूँगा।'' इस बात के तीन महीने बाद ही गोपाल चक्रवर्ती की नाक में कुष्ठ रोग हो गया और वह सड़कर गिर गई। हरिनाम निन्दा का प्रत्यक्ष फल मिल गया।

ऐसे कुल उत्पन्न—सौराष्ट्र प्रान्त में जूनागढ़ प्राचीन ऐतिहासिक नगर है, उसमें नागर ब्राह्मणों के सात सौ घर थे। इसी धनी मानी प्रतिष्ठित परिवार में श्रीनरसीजी का जन्म सं० १४७० वि० के लगभग हुआ था। कुछ लोगों का मत है कि जूनागढ़ के निकट तलाजा में जन्म हुआ। पश्चात् इनके पिता जूनागढ़ में आ गए। उस समय यह परिवार भक्ति से विमुख और कर्मकाण्ड में रत था। हिंसा प्रधान यज्ञों का समर्थक था। यह ऐसा दुर्ग था कि-बड़े-बड़े ऋषि विद्वानों भी इसे नहीं जीत पाया। तब प्रभु से प्रार्थना की। जब किला नहीं टूटता है तो उसमें सुरङ्ग लगाकर प्रवेश करके विजय करते हैं। भगवान ने उसी कुल में भक्त को उत्पन्न करके किले में मानो सुरङ्ग लगा दी। विमुख कुल में उत्पन्न हुए पर विमुख नहीं हुए। ...नमक, सोडा, गुड़ का बोरा जल में जल हो जाता है, परन्तु मोती जल में प्रगट होकर और उसके साथ रहकर जल नहीं होता है और भक्त भी विमुख नहीं होता है। यथा-''बोरा शोरा नोन गुर जल मिलि जल ही होय। परसा मोती सन्तजन निपजैं नीर न होंय।।'' ऐसे ही श्रीनरसीजी कुसङ्ग में उत्पन्न होकर भी भक्त हुए। ''विधिवश सुजन कुसंगति परहीं। फनि-मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।'' (रा०) जैसे श्रीप्रह्लाद आदि।

भागौत शिरोमनि—ध्यान आदि के द्वारा जो भगवान को हृदय में बसाते हैं, वे वैष्णव हैं और जिनके प्रेम पर रीझकर स्वयं भगवान उनके हृदय में आकर सदा के लिए विराजमान हो जाते हैं, वे वैष्णवों में शिरोमणि हैं।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः।।

(भा० ११/२/५५)

अर्थ—विवशता से नामोच्चारण करने पर भी सम्पूर्ण अघराशि को नष्ट कर देने वाले स्वयं भगवान श्रीहरि जिसके हृदय को क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उनसे प्रेम की रस्सी से उनके चरण-कमलों को बाँध रखा है, वास्तव में ऐसा पुरुष ही भगवान के भक्तों में प्रधान है।'' साधारण योद्धा उस विमुखों के दुर्ग को नहीं जीत सकता था, अतः भगवान ने प्रधान सेनापति को भेजा।

ऊसर ते सर—विमुखजन ऊसर के तुल्य थे। कदाचित् कोई आकर उपदेश करता भी तो उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता था। उपदेश व्यर्थ जाता था, जैसे ऊसर में बीज बोने

पर बीज भी नष्ट हो जाता है। जैसे-"ऊसर बरसै तृन नहिं जामा।" (रा०) ऐसे विमुख देश को श्रीनरसीजी ने अपने प्रभाव से सर अर्थात् उपजाऊ भूमि बना दिया। इसके पहले बहुतों के प्रयत्न व्यर्थ हो चुके थे।

बहुतठौर परचै०—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ हैं। ये पाँच प्रकार से होती हैं। जन्मजात, औषधि सेवन, मन्त्रजप, तपस्या और समाधि। यथा-"जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।" (पात० ४/१) इन सिद्धियों के बल से सिद्ध लोग चमत्कार दिखाते हैं। क्योंकि बिना चमत्कार देखे लोग प्रभावित नहीं होते हैं। परन्तु भगवद्भक्त उक्त सिद्धियाँ उक्त साधनों से प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं करते हैं। प्रयत्न तो बहुत दूर रहा। भक्त के पास भक्ति के प्रताप से सभी सिद्धियाँ आ जाती हैं, सेवा के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं, परन्तु भक्त उनकी ओर देखते भी नहीं हैं, भक्तों के चमत्कार तो भगवदिच्छा से भक्ति प्रचारार्थ प्रकट होते हैं। भक्त की कीर्ति एवं भक्ति विस्तार के लिए स्वयं भगवान ही भक्तों के द्वारा चमत्कार दिखलाते हैं। ऋषभदेवजी स्वयं समीप आई सिद्धियों को स्वीकार नहीं करते थे। वे यद्यपि आत्माराम थे, सिद्धियाँ उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती थीं, फिर भी वे मन को जरा सी भी ढील नहीं देते थे। भगवान बार-बार प्रत्यक्ष प्रगट होकर लीला करते थे, अतः चमत्कार दीखते थे। श्रीनरसी को भगवान ने ५२ बार प्रगट होकर सहायता की दर्शन दिया। सिद्धियों के द्वारा चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना भक्ति का बाधक है। कवित्त-४३३ के अनुसार इनके स्मरण करते ही प्रभु आ जाते थे।

रसरीति......धरी०—श्रीनरसीजी माखनचोर की सखी हैं, यथा-"सूर मदनमोहन नरसी अलि तस्कर नवनीता की।" इसलिये इन्होंने माधुर्यरसमयी भक्ति को अपने हृदय में धारण किया। इसमें अहर्निश श्रीराधा कुञ्जबिहारी की केलि का ही सभी इन्द्रियों से अनुभव होता है। यथा-"नैंनन देखौं और नहिं श्रवण सुनौं नहिं और। घ्राण न सूँघौं और कछु रसना कहौं न और।। रसना कहौं न और त्वचा परसौं नहिं औरै। कुञ्जविहारी केलि झेलि इन्द्रिन सब ठौरै।। "भगवत् रसिक" अनन्य कोक उपदेशौं सैननि। बैनन मैन जगाय रैन दिन देखौं नैंनन।।" निम्नलिखित पद में श्रीनरसीजी का गोपी भाव प्रकट है। वे कहते हैं कि-"वृन्दावन में आधी रात को मुरली बजी। चित्त हरा हो गया, मैं निद्रा से उठी। चारों अवस्थायें उन्मनी में पहुँच गईं। मन गुणहीन हो गया, कामवासना भग गई। ज्यौं-ज्यौं वे मेरी दृष्टि में आए, त्यौं-त्यौं मैं उन पर मोहित हुई। लीला देखकर हृदय हर्ष से भर गया। यथा-

हे आज सखी री श्रीवृन्दावनमाँ, मधराते मुरली वागी रे।
सुणता रे चित हर्या मारो सजनी, भर निद्रमां थी हुं जागी रे।।
हे जागत स्वप्न सुषूपति तुरीया, उन मीए ताली लागी रे।
त्रिगुण रहित थयो मन मारूँ, कामवासना ताहा भागी रे।।
ई जम-जम दृष्ट पड़े मारी सजनी, तम तम ताणी मोहती रे।
नरसैंयाचा स्वामीनी लीला, हरषे हीडु हूं जोती-जोती रे।।

धर पावन करी०—जैसे प्रथम दुर्ग की दुर्गमता कही जाय कि-''ऐसी खाईं, ऐसी दीवाल आदि। पुनः उसका तोड़ना कहा जाय तो उससे तोड़ने वाले की वीरता चतुरता सिद्ध होती है। ऐसे ही प्रथम महास्मार्तता, भक्ति लवलेश की अज्ञानता, वैष्णववेष एवं वैष्णवता की निन्दा और ऊसरता द्वारा देश एवं देशवासियों की अति अपवित्रता कही गई। उसमें निन्दा सबसे बड़ी अपवितत्रा कठोरता है। उस धरती को एवं वहाँ के वासियों को श्रीनरसीजी ने पावन किया। धरती से ही उत्पत्ति होती है, उसके पवित्र होने से तब से आज तक वहाँ भक्ति के भाव बाहुल्येन पाये जाते हैं। ''जगत विदित'' होने से अन्य देशों की भी पावनता सिद्ध है। जहाँ-जहाँ तक उनके यश का गान होता है, वहाँ-वहाँ तक पवित्रता का विस्तार होता है। सभी भारत की भाषाओं में नरसी की हुण्डी, नरसी का भात, नरसी का माहेरो आदि चरित्र लोक गीतों में व्यापक रूप से गाये जाते हैं। उनके पदों की महती महिमा है ही, जिन्हें गा-गाकर लोग पावन भगवत्प्रेम प्राप्त करते हैं। भक्त भुवन पावनकर्ता होते हैं। ''मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'' (भा०)

श्रीनरसीजी

''जूनागढ़'' वास, पिता माता तन नास भयौ, रहै एक भाई औ भौजाई रिसभरी है।
डोलत फिरत आय, बोलत ''पियावौ नीर,'' भाभी पै न जानी पीर, बोली जरीबरी है।।
''आवत कमाए, जल प्याये बिन सरै कैसे? पियौ,'' यों जवाब दियौ देह थरथरी है।
निकसे बिचारि ''कहूँ दीजै तन डारि,'' मानौ शिवपै पुकार करी, रहे चित धरी है।।४२९।।

शब्दार्थ—जरीबरी=जली भुनी, क्रोधित। सरै=काम चलै, पूरा पड़ै। तन डारि= देह त्याग, मरण। पुकार=रक्षा या सहायता के लिए चिल्लाहट, दु:ख या हानि का निवेदन, गोहार।

भावार्थ—भक्तवर श्रीनरसीजी गुजरात प्रान्त के जूनागढ़ नगर के निवासी थे। आपके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। घर में एक भाई और भाभी थी, ये अति ही क्रोधी स्वभाव की थीं। किसी दिन आप इधर-उधर से घूम-फिरकर आये और भाभी से पीने के लिए जल माँगा। भाभी ने यह नहीं समझा कि देवरजी थके और प्यासे हैं, वे मन ही मन जल भुन गईं और बोलीं-"तुम बड़ी भारी कमाई करके आये हो न। इसलिये तुम्हें जल पिलायें बिना कैसे काम बनेगा। अपने आप जल लाकर पीओ।" भाभी ने जब इस प्रकार का जबाव दिया तो घोर अपमान का अनुभव करके श्रीनरसीजी का शरीर काँपने लगा। बिना जल पिये ही आप घर से निकल चले और मन ही मन सोचने लगे कि-ऐसे जीवन से क्या सुख, कहीं अन्यत्र ही जाकर इस दुःख मूल शरीर को त्याग दूँगा। बाहर जङ्गल में एक शिवजी का मन्दिर था, वहीं जाकर आप पड़ गये। मानो आपने शिव की शरण में जाकर अपना दुःख निवेदन किया और स्थिरचित्त से आपने शिव का ध्यान किया।।४२९।।

विशेष—इनके पिता का नाम कृष्ण दामोदरदासजी तथा माता का नाम लक्ष्मीगौरी था। बड़े भाई का नाम वंशीधर था। श्रीनरसीजी अभी पाँच बरस के ही थे कि माता-पिता का देहान्त हो गया। दादी जयकुँवरि ने लालन-पालन किया। ये बचपन में गूँगे थे। हाटकेश्वर के निकट विराजमान एक सन्त के पास इन्हें दादी ले गई और प्रणाम कराकर वाणी खुलने का आशीर्वाद माँगा। महात्मा ने कमण्डलु के जल से इनका मार्जन किया और "राधे कृष्ण, राधे कृष्ण" इनके कान में कह दिया। उसी समय ये "राधे कृष्ण, राधे कृष्ण" बोलने लगे। तब से इनकी वाणी खुल गई। इन्होंने वाणी से सर्वप्रथम भगवन्नाम का ही उच्चारण किया। तब से ये निरन्तर इसी नाम का जप करते रहते थे।

व्याख्या—पिता-माता तन नाश०—माता-पिता का मरना एवं भाभी का विरोध करना आदि सारी बातें भगवत्कृपा से हुईं। यथा-"यस्य तुष्टो ह्यहं पार्थ वित्तं तस्य हराम्यहम्। करोमि बन्धुविच्छेदं स च कष्टेन जीवति।।" (आदिपुराण) अर्थ-हे अर्जुन! मैं जिस पर प्रसन्न होता हूँ। उसका धन आदि धीरे से हर लेता हूँ और बन्धुओं से भी वियोग करा देता हूँ। इससे वह कष्ट से जीता है और कष्ट में सबकी आशा त्यागकर मेरा स्मरण करता है। मेरी शरण में आ जाता है।

भाई औ भौजाई— उन दिनों जूनागढ़ का शासक क्षत्रिय रावमण्डलीक था। वह हुमायूँ के अधीन था। बड़े भाई वंशीधर को राजा एक सौ रुपया मासिक वेतन देता था। ये थानेदार थे। बहुत से सिपाही घोड़े भी इनके पास थे। इन्हें बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

भाभी का नाम दुरितगौरी था। वे बड़ी कर्कशा थीं। सदा क्रोधावेश में रहती थीं। थानेदार की पत्नी होने से उन्हें भारी अहङ्कार था। दादी के मरने के बाद वंशीधर ने इन्हें पढ़ाना चाहा पर इनका मन पढ़ने में नहीं लगा। भजन-कीर्तन की ओर विशेष झुकाव था। खाना-पीना, पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना, सुख-दु:ख, निन्दा-स्तुति आदि सब कुछ नाम-स्मरण के ऊपर न्यौछावर था। पढ़ते नहीं थे, अत: भाई और द्वेषवश भौजाई दोनों इन्हें सदा कष्ट देते थे। भाई ने घोड़ों की परिचर्या-घास खोदने का काम बता दिया। ये यथाशक्ति उसे भी करते, पर भाभी प्रसन्न नहीं होतीं। मुफ्तखोरी का आरोप लगाती रहती थीं। नरसिंह मेहता गीताप्रेस के अनुसार श्रीनरसीजी का विवाह दादी ने ही माणिक गौरी नाम की कन्या से करवा दिया था। श्यामलदास एक पुत्र कुँवरसेना-रतनसेना दो पुत्रियाँ भी इनके हुईं। सदा गृह क्लेश बना रहता था। रुखा-सूखा, बासी-कूसी, थोड़ा बहुत भोजन देकर भाभी इन्हें भजन में साधु और भोजन में भीम कहकर फटकारतीं। मायाविनी पत्नी के प्रभाववश वंशीधर भी इन्हें सदा दोषी ठहराते। काम करके आते तो भी भाभी यही कहती कि—पेट भरा था तब तक कीर्तन-भजन मण्डली में रहा, भूख लगी तब घर को आया। भाग मजदूर का मन राजा का। मेरे घर में तुम्हारा कुछ काम नहीं है। जहाँ चाहो जाओ, जो चाहो सो करो। ऐसे ही नित्य अनाप शनाप बकती।

रिस भरी०—

भोरहिं ते लरजै गरजै गुरु देवर जेठकी शङ्क न मानी।
सासु सों जंग ननन्द सो जौहर द्वारहि ते फिरि जात जिठानी।।
रूसी सी डोलै पसीजै नहीं पिय सों झगरै घरमें घुघुआनी।
पानीके माँगत पाथर मारत नारि नहीं घर नाहरि व्यानी।।

जवाब दियौ—संसार स्वार्थी है। यथा-''हरे चरे तापे बरे फरे पसारे हाथ। तुलसी स्वारथ मीत सब परमारथ रघुनाथ।। हित पुनीत सब स्वारथहिं अरु अशुद्ध विन चाड़। मानिक सम मुख गत दशन भूमि परे सो हाड़।।''

बोली०—एक दिन आप घास लाकर उसे घोड़ों के आगे डालकर घर आये और आपने प्यास से व्याकुल होकर पानी माँगा। भाभी ने कहा—इधर-उधर से डोल-फिरके आये और मालिक की तरह हुकुम चला दिये कि—''पानी पिलाओ।'' आपने कहा कि-''आज तो मैं कहीं सत्सङ्ग में भी नहीं गया। अभी घास लेकर आया हूँ। भाभी ने गरजकर

कहा-''झूठा कहीं का, बड़ी कमाई करके आया है। मैं तुझे पानी या जहर कुछ भी नहीं पिला सकती हूँ। जहाँ चाहो, वहाँ जाओ और वहीं आग पियौ चाहे पानी पियौ।'' ''निकसे विचारि'' -आपने विचार किया कि-''कोई किसी को दुःख सुख देने वाला नहीं है। शरीर ही सब दुःखों का मूल है शरीर नहीं होता तो प्यास क्यों लगती, अतः इसे छोड़ दूँ। नहीं-नहीं, सुख दुःख कारण केवल मन है। दूसरे लोग सुख दुःख के देने वाले नहीं हैं अतः आत्महत्या भी ठीक नहीं। प्रभु जैसे रखें, जहाँ ले जायँ, वैसे और वहीं रहना है। भाभी ने पानी के लिए मना किया। अब मैं अन्न भी ग्रहण नहीं करुँगा। अपने द्वारा लोगों को कष्ट देना ठीक नहीं है, शरीर को कहीं भी डाल दूँगा। आपको अपने अपमान का दुःख नहीं था, परन्तु भाई-भौजाई की आज्ञा मानकर आप घर से निकल पड़े। ''शिव पै पुकार'' -कहाँ और किसलिए जा रहे हैं। इसका विचार किये बिना ये शहर से लगभग बारह कोस दूर जङ्गल में पहुँच गए। वहाँ एक पुराना शिव मन्दिर इन्हें दिखाई पड़ा। निकटस्थ सरोवर में स्नान करके वन्य पत्र पुष्पों से इन्होंने शिव पूजन किया और वहीं शरणागति की प्रार्थना करके पड़ गये। भूख-प्यास को त्यागकर केवल नाम का स्मरण कर रहे थे। कैलाशपति के निकट हिंसक जन्तुओं के बीच में भी इन्हें भय नहीं लग रहा था। यहाँ से अन्यत्र नहीं जाना है, अपने कर्तव्य की इतिश्री हो चुकी। जैसी प्रभु इच्छा। आप विशम्भर और शङ्कर हैं, मैं आपकी शरण में हूँ।

बीते दिन सात, शिवधामतें न जात बार, ''परै काहू तुच्छ द्वार, सोई सुधि लेत है''।
इतनी विचारि, भूख प्यास दई टारि, लियौ प्रगट सरूप धारि, भयौ हिये हेतु है।।
बोले ''बर माँग,'' अजू-मांगिबौ न जानत हौं, तुम्हैं जोई प्यारौ सोई देवो चितचेत है''।
पर्यो सोच भारी, ''मेरी प्रान-प्यारी नारी, तासों कहत डरत, बेद कहैं 'नेति-नेति' है''।।४३०।।

शब्दार्थ—चेत=समझ, सावधान। नेति=अन्त नहीं, इति नहीं।

भावार्थ—श्रीशङ्करजी के मन्दिर पर बिना कुछ खाये-पिये पड़े-पड़े सात दिन बीत गये। तब श्रीशिवजी ने विचार किया कि-''यदि कोई आदमी किसी क्षुद्र या गरीब के द्वार पर जाकर पड़ जाता है, तो वह भी उसकी खबर लेता है, दुःख-दर्द की पूछताछ करता है। फिर मैं तो देवाधिदेव महादेव हूँ। मुझे इसकी खबर लेना चाहिये। ऐसा विचारकर भगवान शङ्करजी ने प्रथम तो श्रीनरसीजी की भूख-प्यास को सर्वथा दूर कर दिया। उसके बाद साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देकर बोले-''वत्स! वर माँग लो।'' श्रीनरसीजी ने कहा-''प्रभो!

मैं वर माँगना नहीं जानता हूँ। फिर भी यदि आप देना चाहते हैं तो सोच-समझकर वह वस्तु दीजिये, जो आपको सबसे अधिक प्यारी है।'' यह सुनकर श्रीशङ्करजी सोच-विचार में पड़ गये कि जो मेरी प्रिय वस्तु है, उसका रहस्य तो मैं अपनी प्राणप्रिया श्रीपार्वतीजी से भी कहने में डरता हूँ और वेद नेति कहकर उसका वर्णन करते हैं।।४३०।।

व्याख्या—बीते दिन०—श्रीपार्वतीजी ने कहा कि—''आपके आशुतोष, औढरदानी आदि नाम झूठे हो रहे हैं। आप तो महान् हैं ''परै काहू तुच्छ द्वार'' किसी तुच्छ के द्वार पर कोई पड़ जाता है तो वह भी उसकी खबर लेता है। इस पर-

दृष्टान्त—कबूतर का—विभीषण शरणागति के प्रसङ्ग में भगवान श्रीराम ने कहा कि-''एक जंगल में एक कबूतर रहता था। एक दिन व्याध उसके बच्चों एवं स्त्री को पकड़ ले गया। कई दिन बाद एक दिन वही व्याध फिर उसी वन में आया। भूख वर्षा और शीत से मरणासन्न होकर पेड़ के नीचे गिर पड़ा। पेड़ पर कबूतर का घोंसला था। अपने द्वार पर पड़े उस व्याध को देखकर कबूतर को दया आई। वह उड़कर गया और अधजली छोटी लकड़ी को चोंच में दबा लाया और उसे सूखे पत्तों में डाल दिया। जलती आग से तापकर व्याध के प्राण बचे। फिर उसे दिन भर का भूखा जानकर उसके भोजन के लिए स्वयं आग में कूद गया। उसके माँस को खाकर बहेलिया सुखी हो गया। रात बिताकर सानन्द घर आया। कबूतर बैकुण्ठ गया। व्याध तो कबूतर का शत्रु था, फिर भी उसने दया की।'' आप तो ईश हैं और यह मनुष्य एवं भक्त है। आपकी विशेष दया का पात्र है। (भालू और व्याध का दृष्टान्त देखो १९३ पूर्वार्द्ध) पार्वती के वाक्यों को सुनकर प्रकट हुए। ''माँगिबौ न जानत हौ।'' ''तमनेजे वल्लभ होय जे दुर्लभ आपोरे प्रभुजी मुने दया री आणी।'' प्रथम तो मैं अज्ञानी बालक हूँ अतः माँगना नहीं जानता। दूसरे—मैं नागर जाति का हूँ। नागर लोग अयाची होते हैं। आप चित चेत करके दीजिये, आपने जो मुण्डमाला, व्याघ्राम्बर, भस्म एवं नागों को धारण कर रखा है। इनमें से हमें कोई भी वस्तु नहीं चाहिये। आपके चित्त में जिस वस्तु के प्रति प्रेम हो, उसी को दीजिए। 'मुनि कह मैं वर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परई झूँठ का साँचा।।' झूठी वस्तु माँगकर दुःख में पडूँगा। ''तुमहिं नीके लागै शिव स्वामी। सो मोहिं देहु जानि अनुगामी।।'' ''वेद कहै''—''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'' वह ब्रह्म, मन और वाणी से अगोचर है। पुनः-''आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हसि।।'' (कठ-२ वल्ली-२१) वह ईश्वर बैठा हुआ दूर पहुँच जाता है। सोता हुआ सब ओर चलता रहता है। ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले उस देव को

मुझसे भिन्न दूसरा कौन जानने में समर्थ है। पुनः-"नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।।" (श्वेताश्वतर-४-१९) इस परमात्मा को ऊपर से, इधर-उधर से और बीच में से भी कोई पकड़ नहीं सकता है। उसका महान् यश नाम है। उसकी कोई उपमा नहीं है। "नेति-नेति है"-जहाँ पर जाकर वाणी बन्द हो जाय, वही भगवान का परिचय है। इस पर-

दृष्टान्त—राजकुमार-कुमारी का—एक चक्रवर्ती सम्राट् का राजकुमार ससुराल गया। उसके साथ उसी की अवस्था एवं वेश-भूषा वाले कई राजकुमार थे। राजमहल में सभी सिंहासनों पर बैठे। तब सखियाँ राजकुमारी को लेकर आईं और एक-एक के सामने ले जाकर पूछतीं कि-"क्या तुम्हारे पतिदेव यह हैं।" वह कहती नहीं। इस प्रकार नहीं-नहीं करती हुई जब अपने पति के सामने पहुँची तो मौन हो गई। उसकी वाणी बन्द हो गई। पहचान कर फिर बोल न सकी। इस प्रकार श्रुतियाँ अपने पति परमेश्वर के सामने मौन हो जाती हैं। नेति-नेति कहकर गुणगान करती हैं।

दियौं मैं वृकासुर को बर, डर भयौ तहां, वैसे डर कोटि कोटि यापै वारि डारे हैं।
बालक न होय यह पालक है लोकनि कौ, मन कौ बिचार कहा दीजै प्रान प्यारे हैं।।
जोपै नहीं देत मेरौ बोलिबो अचेत होत, दियौ निज हेत तन आलिन के धारे हैं।
ल्याये वृन्दावन रास मण्डल, जटित मनि, प्रिया अनगन बीच लालजू निहारे हैं।।४३१।।

शब्दार्थ—अचेत=अचीत, बिना समझा-बूझा। जटित=जड़ा हुआ। अनगन=अगणित, जिनकी गिनती न हो सके।

भावार्थ—भगवान शङ्कर अपने मन में विचार करने लगे कि पहले मैंने एक बार वृकासुर को वर दिया था, उसके कारण मुझे बड़ी भारी विपत्ति सहनी पड़ी थी। यहाँ इस भक्त को वर देने में उस प्रकार की कोई आशङ्का नहीं है और वास्तविक बात तो यह है कि मैं उस प्रकार की करोड़ों विपत्तियाँ इस पर न्यौछावर कर सकता हूँ क्योंकि यह बालक निरा बालक नहीं है, यह तो महान् भगवद्-भक्त है और आगे चलकर यह लोगों का पालक-उद्धारक होगा। पुनः श्रीशङ्करजी ने मन में विचारा कि इस विषय में तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं है। इसे अपने प्राणों से प्यारे श्यामसुन्दर को ही दे दूँ। अब यदि कदाचित् इसे अपनी प्रिय वस्तु नहीं देता हूँ तो फिर मेरा "वर माँगो" यह बोलना झूठा पड़ जायेगा। ऐसा विचारकर श्रीशङ्करजी ने अपना सा श्रीकृष्ण प्रेम प्रदान किया और श्रीनरसीजी को सुन्दर सखी स्वरूप प्रदान कर स्वयं भी सखी रूप धारणकर साथ-साथ नित्य

श्रीवृन्दावन धाम में आए। वहाँ बहुमूल्यवान अनेक प्रकार की मणियों से जड़े हुए रासमण्डल पर अगणित व्रजगोपियों के मध्य श्रीराधाश्यामसुन्दर का दिव्य दर्शन शिवजी ने श्रीनरसीजी को कराया।।४३१।।

व्याख्या—वृकासुर—एक दिन शकुनी पुत्र वृकासुर ने नारदजी से पूछा-''ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र इन तीनों में झटपट प्रसन्न होने वाला कौन हैं?'' श्रीनारदजी ने कहा-''श्रीशङ्करजी थोड़े ही गुणों से प्रसन्न और अपराध से अप्रसन्न होकर शीघ्र फल देते हैं। तुम शङ्करजी की आराधना करो। रावण-बाणासुर ने कुछ ही स्तुति की थी, उसी से अतुल्य ऐश्वर्य उन्होंने दे दिया। वृकासुर केदार क्षेत्र में जाकर अग्नि को शंकरजी का मुख मानकर अपने ही शरीर का माँस काट-काटकर उसमें हवन करने लगा। छः दिन की आराधना पर शंकरजी प्रसन्न नहीं हुए तो सातवें दिन अपने ही सिर को काटकर हवन करना चाहा। दयालु श्रीशंकरजी प्रसन्न होकर अग्निकुण्ड से प्रकट हो गये। उसे गला काटने से रोककर बोले-''तुम मनचाहा वर माँग लो।'' मैं तो केवल जल से ही शरणागत पर प्रसन्न हो जाता हूँ, तुम अपने शरीर को पीड़ा क्यों दे रहे हो। यह सुनकर पापी वृकासुर ने वरदान माँगा कि-''मैं जिसके सिर पर हाथ रख दूँ, वह भस्म हो जाय।'' कुछ अनमने से होकर शंकरजी ने एवमस्तु कह दिया। जैसे सर्प को अमृत मिले, ऐसे उसने पार्वती को प्राप्त करने की और वरदान की परीक्षा की इच्छा की। वह असुर शंकरजी के सिर पर हाथ रखने का उद्योग करने लगा। अब भयभीत होकर ये भागे और वह पीछे-पीछे दौड़ने लगा। उस समय देवताओं को भी कुछ उपाय नहीं सूझ रहा था। वैकुण्ठनाथ ने देखा कि शंकरजी बड़े कष्ट में पड़े हैं, तब वे अपनी योगमाया से ब्रह्मचारी बनकर वृकासुर की ओर आये और उन्होंने झुककर उसे प्रणाम किया।

भगवान ने कहा-''वृकासुरजी! आज आप बहुत थके हैं फिर भी दौड़ रहे हैं। यह शरीर ही सारे सुखों की जड़ है। इसे अधिक कष्ट न दीजिये। मेरे सुनने योग्य हो तो हमें बताओ और थोड़ा विश्राम करो। भगवान की मधुर वाणी से मोहित होकर वह रुक गया। अपनी थकावट दूर कर फिर उसने अपनी तपस्या, शंकर का वरदान और दौड़ने का कारण कह सुनाया। भगवान ने कहा-''अच्छा ऐसी बात है। हम तो उनकी बात पर विश्वास नहीं करते। क्या आप नहीं जानते हो कि—दक्ष के शाप से ये पिशाच भाव को प्राप्त हो गये हैं अतः ये पिशाच सम्राट् हैं, आपने इतने बड़े होकर ऐसी छोटी सी बात पर विश्वास कर लिया। पहले आप अपने सिर पर हाथ रखकर परीक्षा कर लीजिए। फिर उस असत्यवादी को मार डालिये। जिससे फिर झूठ बोलकर किसी को धोखा न दे सके। भगवान की मीठी-मीठी बातों से

मोहित होकर उसने अपने सिर पर हाथ रख लिया। बस, उसी क्षण उसका सिर फट गया। वह भस्म होकर मर गया। देवों ने "जय-जय, नमो नमः, साधु-साधु" कहकर पुष्प वर्षा की। शंकरजी कष्ट से मुक्त हो गये। महत्पुरुष का अपराध करके कोई सकुशल कैसे रह सकता है? (भा० १०/८८)

दीजै०—श्रीनरसीजी ने कहा कि मैं माँगना नहीं जानता हूँ, जो कुछ आपको अति प्रिय लगता हो, वही हमको दीजिये। ऐसी भोरी बात सुनकर दयालु शंकरजी अति प्रसन्न हो गए। भोले-भाले पर महापुरुष रीझकर उसका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं। इस पर-

दृष्टान्त—शेखचिल्ली और काजी का—एक बार शेखचिल्ली का मन दूध पीने के लिए मचला। भैंस नहीं, गाय नहीं, पास में पैसा नहीं। युक्ति सोचते-सोचते काजी के पास गए और बोले कि-"हमने सुना है कि बीज बोने से फल जरूर मिलता है, क्या यह सच है?" काजी ने कहा-"बिल्कुल सच है।" शेखचिल्ली ने कहा-"तो हमें एक कागज पर लिखकर दे दो।" काजी ने लिखकर दे दिया। अब ये दूध का बीज बोने की फिकिर में इधर-उधर बीज और खेत की तलाश करने लगे। जंगल में एक घोड़ी मरी पड़ी थी, उसे देखकर ये खुश हो गए कि बीज और खेत मिला। अब बोना हमारा काम है। एक गड्डा खोदकर ऊपर से उन्होंने मिट्टी डाल दी। चारों ओर से काँटों की बारी लगा दी और घर आकर सबसे बोले कि-"बस, वर्षा होते ही दूध की कमी दूर हो जायेगी। इनकी बात किसी की समझ में नहीं आई। संयोगवश वर्षा आई और उस स्थान पर बड़ी-बड़ी घास खूब उपजी। घास के लोभ से किसी की भैंस बारी तोड़कर उसमें चर रही थी। उसी दिन शेखचिल्ली अपना खेत देखने गए तो भैंस मिल गई। पुरुषार्थ का फल समझकर घर लाए। भैंस वाला ढूँढ़ता हुआ आया और बोला भैंस मेरी है। इन्होंने कहा- मेरे खेत में पैदा हुई है। दोनों काजी के पास गये। इन्होंने लम्बी बहस करके काजी का लिखा कागद दिखाया। बोने की बात बताई। काज़ी ने हँसकर इनकी सरलता पर रीझकर इन्हें एक दूसरी भैंस लाकर दे दी।

डर भयौ तहा—वृकासुर को वर देने से भय उत्पन्न हुआ। कदाचित् इसे वर देने से उसी प्रकार का कोई संकट भी आ जाय तो भी मैं इसे वर दूँगा। शंकरजी जानते हैं कि यह भक्त है। भक्त से हानि और संकट नहीं होते हैं। केवल बालक नहीं यह "पालक है लोकनि को"-भक्त लोकपाल होते हैं। यथा-"अनन्तानन्द पद परसिकै लोकपाल से ते भए।" (भक्तमाल-३७) नरसीजी ने वर माँगते समय कहा है कि आप चितचेत

अर्थात् सावधान एवं स्वस्थ चित्त हैं। मैं अचेत, अज्ञानी हूँ। शंकरजी ने सोचा यदि मैं नहीं देता हूँ तो मेरा बोलना 'अचेत' बेहोशी की बकवास होगी। इसलिए उन्होंने सोचा कि इसके द्वारा अनन्त जीवों को भक्ति की प्राप्ति होगी। सबका परम कल्याण होगा। अत: "दियौ निज हेत" अपना-सा अति इष्ट श्रीकृष्ण-प्रेम प्रदान किया। परिकरों में प्रवेश करा देने की इच्छा से अपना गोपी रूप धारण किया और नरसीजी को भी वही रूप दिया। दिव्य रूपधारी दोनों नित्य श्रीवृन्दावन में पधारे। जहाँ शरद पूर्णिमा का महारास हो रहा था। यथा-"शरद पुणम तणो दिवस तहां आवी ओ, रास मरयादनो वेण बाध्यौ।" (नरसी वाक्य)

प्रान प्यारे हैं—"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बरा दरुणविम्बफलाध-रोष्ठात्। पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्, कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।" (मधुसूदन सरस्वती) अर्थ-जिनका हस्तकमल वंशी से सुशोभित है, जिनकी आभा नवीन मेघ के समान है, जिनके वस्त्र पीले हैं, लाल बिम्बाफल के समान जिनके ओष्ठ हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है जिनका एवं कमल के समान नेत्र हैं जिनके उन भगवान श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ और कोई तत्व मैं नहीं जानता हूँ। पुनः-"सम्मोहिनी तन्त्रे-फुल्लेन्दीवरकान्त मिन्दुवदनं, वर्हावतंसप्रियं, श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं, पीताम्बरं सुन्दरम्। गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गो गोप-सङ्घावृतं, गोविन्दं कलवेणु वादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे।।" अर्थ-फूला हुआ जो नीलकमल उस प्रकार की है कान्ति जिनकी, मयूर के पक्ष का मुकुट प्रिय है जिन्हें, श्रीवत्स का चिह्न है जिनके, जो परम उदार हैं, जिन्होंने कौस्तुभमणि धारण कर रखी है, पीतवस्त्रधारी जो परम सुन्दर हैं तथा गोपियों के नेत्र कमलों से पूजित है शरीर जिनका, एवं जो गो-गोपों के समूह से आवृत्त हैं, ऐसे गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

रासमण्डल—श्रीनरसीजी ने रास का दर्शन किया। रास का पद-

आजु गोपाल रासरस खेलत, पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
शरद विमल नभ चन्द विराजत, रोचक त्रिविधि समीर री सजनी।।
चम्पक बकुल मालती मुकुलित, मत्त मुदित पिक कीर री सजनी।
देसी सुधंग राग रंग नीको, ब्रज युवतिन की भीर री सजनी।।
मघवा मुदित निशान बजायौ, व्रत छाड्यौ मुनि धीर री सजनी।
(जैश्री) हित हरिवंश मगन मन श्यामा, हरत मदन घन पीर री सजनी।।

(श्रीहित-चौरासी)

हीरनि खचित रासमंडल, नचत दोऊ रचित अपार नृत्य गान तान न्यारियै।
रूप उजियारी, चन्द चांदनी न सम, तारी देत कर-तारी, लाल गति लेत प्यारियै।।
ग्रीवा की ढुरनि, कर आंगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि सुनि श्रवन तपारियै।
बजत मृदंग मुँहचंग संग, अंग अंग उठति तरंग रंग छबि जीकी ज्यारियै।।४३२।।

शब्दार्थ—खचित=चित्रित, लिखित, जटित। सम=समान। तारी=ताली, ताल। करतारी=करतल ध्वनि। ढुरनि=झुकना, चलना। मुरनि=मुड़ना। तपारियै=तृप्त वा तप्त होते हैं। मुहचङ्ग=एक प्रकार का बाजा।

भावार्थ—श्रीनरसीजी ने देखा कि स्वर्णमय रासमण्डल रंग-बिरङ्गी हीरों से जड़ा हुआ है व्रजगोपियों के मध्य प्रिया-प्रियतम दोनों विचित्र गतियों से नृत्य कर रहे हैं। गान-तान की अद्भुत ध्वनि छाई हुई है। श्रीराधा-श्यामसुन्दर गौर-श्यामचन्द्र के रूप की चाँदनी की समानता चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका से नहीं की जा सकती है। लालजी ताली बजाकर ताल लगा रहे हैं और नृत्य एवं राग की सुन्दर गति ले रहे हैं। ग्रीवा (गर्दन) का झुकना और हिलना, अँगुलियों को मोड़कर मुद्राएँ बनाना अत्यन्त मन-मोहक था। श्रीमुख से निकलता हुआ गायन का मधुर स्वर सुनकर कानों की तृप्ति होती थी और पुनः श्रवण करने की आशा-अभिलाषा से ताप होता था। मृदङ्ग और मुहचङ्ग आदि बाजे गायन के साथ-साथ बज रहे थे। नृत्य करते हुए प्रिया-प्रियतम के प्रत्येक अङ्ग में शोभा की जो लहरें उठ रही थीं, वे मानो परिकर-प्रेमियों को नवीन प्रेम-जीवन प्रदान कर रही थीं।।४३२।।

नचत दोऊ०—पद—नचत दोउ रास में रँग भीने। हाव भाव उपजत अंग अंगन कोक कला मन दीने।। बाजत मधुर मृदङ्ग किङ्किनी नूपुर ताल नवीने। होड़ा-होड़ी तान तिरप गति लेत नहीं कोउ हीने।। राका रति रजनी कर आनन उदित मदन वश कीने। रीझि-रीझि भगवत् की स्वामिनी लाल अङ्क भर लीने।। पुनः पद-

आजु वन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन वेणु बजायौ।।
कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचुपायौ।
जुवतिन मण्डल मध्य श्याम घन सारँग राग जमायौ।।
ताल मृदंग उपंज मुरज ढफ मिलि रससिन्धु बढायौ।
विविध विसद वृषभानुनन्दिनी अङ्ग सुधङ्ग दिखायौ।।

अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनङ्ग नचायौ।
तत्ता थेई धरत नूतन गति, पति ब्रजराज रिझायौ।।
सकल उदार नृपति चूड़ामणि, सुख वारिद बरसायौ।
परिरम्भन चुम्बन आलिङ्गन, उचित युवति जन पायौ।।
वरसत कुसुम मुदित नभनायक, इन्द्र निशान बजायौ।
हित हरिवंश रसिक राधापति, जस वितान जग छायौ।।

अपार नृत्य—ब्रह्मा की सृष्टि से परे है, अतः इसका पार नहीं है। दो०-"गोपिन संग निशि शरद की रमत रसिक रस रास। ब्रह्म प्रकृति ते अति परे सब गोपिन के पास।।"

"**गान तान**"-यथा-

विविधगोपचरणेषु विदग्धो, वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे, दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः।।१४।।
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः, शक्रशर्वपरमेष्ठि पुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः, कश्मलं ययुरनिश्चिततत्वाः।।१५।।

(भा० १०/३५/१४-१५)

अर्थ-एक सखी श्रीयशोदाजी से कहती है—हे सती शिरोमणि श्रीयशोदाजी! तुम्हारे सुन्दर कुँवर ग्वाल बालों के साथ खेल खेलने में बड़े निपुण हैं। रानीजी! ये सबके प्यारे तो हैं ही, चतुर भी बहुत हैं। देखो, इन्होंने बाँसुरी बजाना किसी से सीखा नहीं है। अपने आप ही अनेकों प्रकार की राग-रागनियाँ उन्होंने निकाल ली हैं। जब वे अपने बिम्बाफल सदृश लाल-लाल ओठों पर बाँसुरी रखकर निषाद आदि स्वरों की अनेक जातियाँ बजाने लगते हैं, उस समय वंशी की परम मोहिनी और नई-नई तान सुनकर ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि-आदि बड़े-बड़े देवता भी जो सर्वज्ञ हैं, वे भी उसे नहीं पहचान पाते हैं। वे इतने मोहित हो जाते हैं कि उनका चित्त उनके रोकने पर भी उनके हाथ से निकलकर वंशी की ध्वनि में तल्लीन हो ही जाता है, सिर भी झुक जाता है और वे अपनी सुध-बुध खोकर उसी में तन्मय हो जाते हैं।

बजत मृदङ्ग—"बलयानां नूपुराणां किंकिणीनाञ्च योषिताम्। स प्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले।।" (भा० १०/३३/६) अर्थ-रासमण्डल में सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर के साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयों के कंकन, पैरों के नूपुर और करधनी

के छोटे-छोटे घुँघरु (चकार ग्रहण से मृदङ्ग आदि भी) एक साथ बज उठे। असंख्य गोपियाँ थीं, इसलिए यह मधुर ध्वनि भी बड़े जोर से हो रही थी।

दई लै मसाल हाथ, निरखि निहाल भई, लाल डीठि परी कोऊ नई यह आई है।
शिव सहचरी रँगभरी अटकरी, बात मृदु-मुसकात नैन कोर में जताई है।।
चाहै याहि टारौं वह चाहै प्रान वारौं, तब स्याम ढिग आय कही नीके समुझाई है।
"जावौ यहैं ध्यान करौ, करौ सुधि, आऊं जहां" आए निज ठौर, चटपटी सी लगाई है।।४३३।।

शब्दार्थ—रँग भरी=प्रेम की उमंग से भरी। अटकरी=अनुमानी। टारौ=हटाओ, अलग ले जाओ। चटपटी=बेचैनी, व्यग्रता।

भावार्थ—श्रीशंकरजी ने श्रीनरसी अली को मसाल दिखलाने की सेवा प्रदान की। यह प्रिया-प्रियतम की शोभा-सुन्दरता को देखकर निहाल हो गई। इसी बीच नन्दलालजी की दृष्टि इनके ऊपर पड़ी तो आपने जान लिया कि यह शिवजी की रंगीली सहचरी है। श्रीशंकरजी ने मीठी मुस्क्यान और नेत्रों के संकेत से जनाया कि ये मेरे साथ आई हैं, आप कृपया अपने परिकरों में इन्हें सम्मिलित कर लें। रास-विलास का दर्शन कराकर श्रीशिवजी चाहते थे कि अब मैं यहाँ से इन्हें ले जाऊँ, परन्तु श्रीनरसीअलीजी चाहती थीं कि मैं अपने प्राणों को न्यौछावर कर दूँ। तब श्रीठाकुरजी ने कुछ समीप आकरके श्रीनरसीजी को समझाया कि तुम यहाँ से जाओ और मेरे इस विहारी रूप का सर्वदा ध्यान करते रहना। जब जहाँ तुम मेरा स्मरण करोगी, तब तहाँ ही प्रकट होकर तुम्हें दर्शन दूँगा। श्रीरासविहारीजी की आज्ञा मानकर श्रीनरसीजी अपने ग्राम को वापस लौट आये। परन्तु पुनः रास विहार लीला के दर्शन करने की चटपटी इनके मन में लगी ही रहती थी।।४३३।।

व्याख्या—दई लै मसाल—गोपीरूपधारी श्रीशिव-त्रिलोचना की नित्य रासविहार में यथासमय-यथास्थान विशाल दीप (मसाल) दिखलाने की सेवा है। इनके यूथ की अन्य सहचरियाँ भी दीपसेवा करती हैं, अतः श्रीनरसीजी को भी मसाल दिखलाने की सेवा श्रीत्रिलोचनाजी ने प्रदान की। "निरखि निहाल"-

प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै, र्यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्यः सुचिरं परिरभ्यतापं, प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र।।

(भा० १०/२३/२३)

अर्थ-श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-"हे राजन्! यज्ञपत्नियाँ अब तक अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के गुण और लीलायें अपने कानों से सुन-सुनकर उन्होंने अपने मन को उन्हीं के प्रेमरङ्ग में रँग डाला था, उसी में सराबोर कर दिया था। अब नेत्रों के मार्ग से उन्हें भीतर ले जाकर बहुत देर तक वे मन ही मन उनका आलिङ्गन करती रही और इस प्रकार उन्होंने अपने हृदय की जलन शान्त की, ठीक वैसे ही जैसे जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं की वृत्तियाँ "यह मैं, यह मेरा," इस भाव से जलती रहती हैं। परन्तु सुषुप्ति अवस्था में उनके अभिमानी प्राज्ञ को पाकर उसी में लीन हो जाती हैं और उनकी सारी जलन मिट जाती है। इसी प्रकार श्रीनरसीजी के सारे ताप मिट गये। मन भगवान की रूपमाधुरी में निमग्न हो गया। रासेश्वर ने इन्हें देखकर कृपाभिषिक्त कर दिया।

जताई है—श्रीत्रिलोचनाजी ने नैन-सैन से ही सारी बात कह दी कि-"यह पूर्वजन्म का राजा मुचुकुन्द आपका विशिष्ट कृपापात्र है। मैंने इसे अपना लिया है, आप इसे अपने परिकर में सम्मिलित करने की कृपा करें।" "चाहै याहि टारौं"—श्रीत्रिलोचनाजी अब इन्हें यहाँ से हटाकर पुनः जूनागढ़ पहुँचाना चाहती थीं। श्रीनरसीजी सोचते थे कि यहाँ से जाने के बाद वह सुख पुनः नहीं मिलेगा, अतः अपने प्राणों को रासविहारी-विहारिणीजी के श्रीचरणों में अर्पण कर दूँ। इसी बीच मसाल जलते-जलते इनका हाथ जलने लगा। इनको इसका कुछ पता नहीं। मन पास में न था अतः शरीर के जलने का दुःख भी नहीं था। मसाल की सेवा दी गई थी। "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" चित्त के लय को ही सेवा कहते हैं। अतः ये स्वयं मशाल बनकर जलने लगे। सेवा की सामग्री बन गये। जैसे मसाल में चिकनाई रहती है, वैसे इनमें स्नेह था, उसी से जल रहे थे। प्रसिद्ध है कि-"स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम्।" स्नेह वाला सदा ही जला करता है। जलकर प्रकाश फैलाता रहता है। स्नेह-घी—यह पोषक प्रकाशक होता है। श्रीनरसीजी ने अपने स्नेह से परिकर में, रासमण्डल में एक प्रकाश फैला दिया। सहसा सम्पूर्ण परिकर की कृपा इनकी ओर उमड़ पड़ी। दम्पति रासेश्वर निकट आ गए। "प्रेमे पीताम्बर आपी युं श्रीहरि, रीझिया कृष्णजी ताल वाहाता।" (नरसी वाक्य) उन्होंने अपना पीताम्बर और मयूर पक्ष दिया। श्रीजी ने माला प्रसादी दी। श्रीललिताजी ने करताल, तुलसी माला तिलक से विभूषित करके कान में कुछ कह दिया। श्रीत्रिलोचनाजी ने अपनी बात कही कि-"अब चलो चलें जूनागढ़। यह सुनकर श्रीनरसीजी अनिच्छा से स्तब्ध हो गये। तब श्रीठाकुरजी ने अपना वरदहस्त इनके सिर पर रखकर "नीके समुझाई है" यथा-

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्।। (भा० १०/२९/२७)

अर्थ—प्रिय नरसी! मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सबके कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति सदा पास रहने से नहीं होती है। वियोग से प्रेम परिपक्व होता है। इतने पर भी इनका मन जाने का नहीं करता था। अतः श्रीठाकुरजी ने कहा कि-"जब तुम इच्छा करोगे। उसी समय हम तुम्हारे पास आ जाया करेंगे। तुम्हें भक्ति प्रचारार्थ धराधाम पर भेज रहा हूँ। अब तुम नेत्र मूँदो तो इससे भी उत्तम सुख तुम्हें दिखाऊँ। श्रीनरसीजी ने आँखें मूँदी और क्षण भर बाद खोलीं, तो क्या देखते हैं कि उसी जंगल और उसी शिव मन्दिर पर मैं हूँ कई सन्त हरि कीर्तन कर रहे हैं।

चटपटी-सी—सहसा उस दिव्यदेश और दृश्य के ओझल हो जाने से श्रीनरसीजी जल बिना मीन की तरह छटपटाने लगे। रोते-रोते कहने लगे-"हा नाथ! रमणप्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज। दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।।" (भा० १०/३०/४०) अर्थ-हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो, कहाँ हो? मेरे प्रिय! मैं तुम्हारी दीन हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्य का अनुभव करावो, मुझे दर्शन दो। दर्शनों की उत्कट उत्कण्ठा से विलाप करते ही श्रीश्यामसुन्दर ने झट प्रकट होकर अपनी झाँकी दिखाई और आश्वासन देकर पुनः अन्तर्धान हो गये। उपस्थित सन्तों के संकीर्तन दर्शन से भी सन्तोष हुआ। विचार करने लगे कि क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा था। सहसा अपने शरीर एवं वेष-भूषा की ओर ध्यान गया। तो पीताम्बर माला और भूख-प्यास दुर्बलता का अभाव देखकर स्वप्न का भ्रम दूर हो गया। आप विचारने लगे कि ठाकुर ने सत्य ही कहा था कि उत्तम सुख दिखलाऊँगा। सो सन्त और कीर्तन की उत्तमता प्रभु ने बताई है। अतः मैं इन्हीं का आश्रय लेकर रहूँगा। श्रीनरसीजी बार-बार अपने मन को समझाते पर दर्शनों का वियोग हृदय में दुःख देता हुआ ध्यान के रूप में परिवर्तित होकर इन्हें सुखी कर देता। दूसरे ही क्षण ही ये कहने लगे-"हाय! उस छलिया ने मुझे भी छल लिया। वे सन्त व्यथा का कारण पूछने लगे, तो आपने कहा-

देव औ दानव दोउ छले बलि हूकौं छल्यौ कहैं बावन जातैं।
आनि छल्यौ सिगरौ ब्रज री पुनि ऐसे छली नहीं और हैं यातैं।।

हौं हू छली मधुरे मधुरे अब जानि परैं न किशोर की घातैं।
मोहिं घरीक जिवायौ चहौ तो कहौ किन वा चितचोर की बातैं।।

बहुत देरी तक सत्सङ्ग कीर्तन होता रहा। श्रीनरसीजी ने सरोवर में स्नान और शिव पूजन किया। सन्त जूनागढ़ की ओर चले। उन्हीं के आग्रह से श्रीनरसीजी भी अपने गाँव को आए। सन्त रमते राम थे, चले गए। श्रीनरसीजी ने सोचा चलो, भाई-भौजाई का दर्शन करें। उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया। यदि वह घर से न निकालतीं तो मुझे भगवान के दर्शन कैसे होते। आपने घर पहुँचकर भाभी और भाई को सादर प्रणाम किया। इनकी वेषभूषा को देखते ही दोनों आग बबूला हो गए। भाई ने कहा-"अरे! तू भिखमंगे का वेष बनाकर यहाँ क्यों आया? इस वेष को उतारकर फेंक दो। राजा से कहकर कहीं चार-पाँच रुपये माह की नौकरी दिला दूँगा तो आराम से तेरी जिन्दगी कट जायेगी। नहीं तो भूखों मरेगा और इधर-उधर भीख माँगकर मेरी तथा नागर जाति की कीर्ति को कलङ्कित करेगा।" श्रीनरसीजी ने कहा-"भाईसाहब! आप पिता तुल्य बड़े भाई हैं। आपकी आज्ञा मानना मेरा कर्तव्य है, परन्तु यह वेष और करताल तो भगवान ने दिया है। इसे मैं छोड़ने में असमर्थ हूँ। बड़े भाई वंशीधर ने कहा-"बेवकूफी छोड़ दे, नहीं तो तुझे पछताना पड़ेगा। मेरी भी नाक कटेगी।" श्रीनरसीजी को चुप देखकर उनकी भाभी ने कहा-"आज सात-आठ दिन से घर में शान्ति थी। इसके आते ही झगड़ा शुरू हो गया। बड़े-छोटे का जरा भी ख्याल नहीं करता है, अतः तू यहाँ से निकल।" हमने तेरा कर्ज नहीं खाया है कि-"कमा-कमाकर तुझे खिलाऊँ। श्रीनरसीजी ने कहा-"ठीक है, यदि मैं भार भूत हूँ तो अलग रहूँगा। ईश्वर सबका पालन करता है, मेरा भी करेगा। भाभी दुरितगौरी ने कहा-"बड़ा टेक वाला भगत है। तो अभी जा! आज अच्छा मुहूर्त है। श्रीनरसीजी ने इसी में अपना कल्याण समझकर उन्हें प्रणाम किया। आशीर्वाद में भाभी ने कहा-"चाहे तू राजसिंहासन पर बैठ और चाहे भीख माँग। हमें इससे कोई मतलब नहीं है। श्रीनरसीजी कीर्तन करते हुए घर से निकले और गाँव के बाहर एक सरोवर के निकट धर्मशाला में आ गए। वहाँ पर मन्दिर भी था। कीर्तन करके आपने रात बिताने का विचार किया। आप कीर्तन कर रहे थे तब आधी रात के लगभग एक सज्जन आये, जो देखने में सेठ सरीखे लगते थे। सादर मिलन सत्सङ्ग के बाद परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि-"मैं! अक्रूर हूँ और श्रीकृष्ण की आज्ञा से आया हूँ। आवश्यकतानुसार मैं आपके निवास आदि की कुछ व्यवस्था करना चाहता हूँ। भगवदनुग्रह को आपने स्वीकार किया। प्रातःकाल अक्रूरजी ने भूमि खरीदकर उसमें

श्रीठाकुरजी के एवं सन्तों के विराजने योग्य सुस्थान बनवाकर उसमें आवश्यक सामग्री का संग्रह करके उसमें श्रीनरसीजी को लाकर रख दिया।

[श्रीगीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित "भक्त नरसिंह मेहता" में प्रथम परिवार का विस्तार उसके पश्चात् शिवकृपा प्राप्त हुई। विवाह ९ वर्ष की आयु में हुआ। पत्नी का नाम माणिक गौरी था एवं अवस्था सात साल की थी। सोलह साल की आयु में श्रीनरसीजी को कुँवरबाई उसके दो वर्ष बाद पुत्ररत्न शामलदास की प्राप्ति हुई। गृहक्लेश रहता था अतः दादी ने कुँवरबाई का व्याह ऊना ग्रामवासी श्रीरंगधर मेहता के पुत्र श्रीबसन्तराय के साथ करवा दिया। पश्चात् दादी जयकुँवरि जिनकी आयु उस समय ९५ वर्ष की थी, का स्वर्गवास हुआ। उसके बाद भाभी के द्वारा तिरस्कृत होकर शिव की शरण में गए।]

कीनी ठौर न्यारी, विप्रसुता भई नारी, एक सुत उभै बारी, जग भक्ति बिसतारी है।
आवैं बहु संत, सुख देत हैं अनंत, गुन गावत रिझावत औ सेवा बिधि धारी है।।
जिती द्विजजात दुख भयौ अति गात, मान्यौ बड़ौ उतपात, दोष करै न बिचारी हैं।
एतौ रूप सागर मैं नागर मगन महा, सकैं कहा करि चहूं ओर गिरिधारी है।।४३४।।

शब्दार्थ—उभै बारी=दो लड़की।

भावार्थ—श्रीशिवजी की कृपा से श्रीनरसीजी को भगवान का दर्शन एवं प्रेम प्राप्तकर श्रीनरसीजी अपने गाँव में आकर अलग अपना स्थान बनाकर निवास करते हुए भजन करने लगे। कुछ दिन बाद एक ब्राह्मण की पुत्री माणिकगौरी से आपका व्याह हो गया। उससे दो पुत्रियाँ और एक पुत्र हुआ। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आपने संसार में श्रीहरि भक्ति का खूब प्रचार-प्रसार किया। बहुत से सन्त-महात्मा आपके यहाँ नित्य ही आते-जाते रहते थे। उनकी सद्भावपूर्वक सेवा करके आप उन्हें अपार सुख प्रदान करते थे। नित्य हरिनाम-लीलाओं का सङ्कीर्तन करते हुए आप भक्त-भगवन्त को प्रसन्न करते थे। श्रीठाकुरजी को पधराकर उनकी नित्य-नियम से वैष्णवविधि के अनुसार सेवा करते थे। श्रीनरसीजी के ऐसे पवित्र आचरणों से इनकी महिमा बढ़ी, इससे जितनी विप्र जाति के लोग थे उन्होंने अपने मन में बड़ा दुःख माना और क्रोधवश अनेक प्रकार के उपद्रव करके श्रीनरसीजी के भजन में बाधा करने लगे। क्योंकि नरसी का भजन-कीर्तन उन्हें उपद्रव-सा प्रतीत हो रहा था। वे अपने मन में जरा भी विचार नहीं करते कि नरसीजी भक्त हैं। इधर परम विवेकी श्रीनरसीजी श्यामसुन्दर की रूपमाधुरी के सागर में निरन्तर डूबे रहते थे। दुष्टजन इनके

साथ दुष्टता करके भला इनका क्या बिगाड़ सकते थे। क्योंकि चारों ओर से इनकी रक्षा करने वाले श्रीगिरिधारीजी थे। ये चारों ओर उन्हें ही देखते थे।।४३४।।

व्याख्या—ठौर न्यारी—बड़े भाई वंशीधर को अपनी जाति, पद एवं धन का अहङ्कार था। उन्हें भक्तिभाव प्रसङ्ग असह्य थे, अतः भजन में बाधा समझकर आपने अलग आश्रम बना लिया। विमुखों के सङ्ग को त्यागना ही ठीक है। यथा-"वरं हुतवहज्वालपिञ्जरान्त-र्व्यवस्थितिः। न शौरिचिन्ता विमुखजनसंवास वैशसम्।।" (पञ्चरात्र) अर्थ-अग्नि की ज्वाला से युक्त जो पिंजड़ा उसके भीतर रहना श्रेष्ठ है। परन्तु भगवच्चिन्तन से विमुख जो प्राणी उनके साथ रहना श्रेष्ठ नहीं। (देखिये, भक्तमाल क०-६३४) कुँवरसेना और रतनसेना दो पुत्रियाँ थीं। मुख्य उद्देश्य के अनुसार आपने "भक्ति विसतारी है" निरन्तर आप भक्ति के प्रचार-प्रसार में मग्न रहते। अपने भक्तिमय आचरणों से प्रचार करते। केवल उपदेश मात्र से नहीं। जो लोग भक्ति का प्रचार करके उसे पुष्ट करते हैं, उनके हृदय में अचला भक्ति का निवास होता है। "आवैं बहु सन्त०"-"जा दिन सन्त पाहुने आवत। तीरथ कोटि स्नान किये फल जैसो दरसन पावत।। नेह नयौ दिन-दिन उनके चरण कमल चित लावत। मन-वच-कर्म और नहिं जानत सुमिरत और सुमिरावत।। मिथ्या वाद उपाधि रहित ह्वै विमल-विमल जस गावत।। बन्धन कर्म कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत। संगति रहै साधु की अनुदिन भव दुःख दूरि नशावत।। सूरदास या जनम मरन ते तुरत परमगति पावत।।"

गुन गावत—प्रेमी को अपने प्रेमास्पद के गुण गाने में परमानन्द प्राप्त होता है। वियोगजन्य दुःख भी सुख रूप होता है तथा गुण गाने से प्रभु प्रकट हो जाते हैं। यथा-"पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः। समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः।।" (भा० १०/३०/४५) अर्थ-रास प्रसंग में व्रजगोपियों को ढूँढ़ने से जब भगवान नहीं मिले, तब वे यमुनाजी के पावन पुलिन पर लौट आयीं। एक साथ मिलकर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगीं। उनका रोम-रोम इस बात की प्रतीक्षा एवं आकांक्षा कर रहा था कि श्रीकृष्ण आयें। उनके गान को सुनकर भगवान प्रकट हो गए। "सेवाविधि धारी"-भगवान ने इन्हें एक अपनी प्रतिमा दे दी थी। सप्रेम उसकी सेवा करते थे। जैसे किसी पतिव्रता स्त्री का पति परदेश चला जाता है तो वह उसके चित्र को लिखवाकर अपने पास रखती है और उसका पूजन-दर्शन कर प्रत्यक्ष सुख का अनुभव करती है। उसी प्रकार भक्त भगवान की प्रतिमा की सेवा पूजा करते हैं। "रूप सागर०"-"हरि को वदन रूप निधान। दर्शन दाडिम बीज राजत कमल कोश समान।। नैन पङ्कज रुचिर दृग दल चलन भौंहन वान।

मध्य श्याम सु सुभग मानो अलिहि बैठो आन।। मुकुट कुण्डल किरन करननि किय किरन की हान। नासिका मृग तिलक ताकत चिबुक चित्त भुलान।। सूर के प्रभु निगम वाणी कौन भाँति बखान।।''

जिती द्विज जाति०—श्रीनरसीजी के यहाँ निरन्तर साधुओं का जमघट कीर्तन की धूम देखकर इनकी जाति के नागर ब्राह्मण द्वेष करने लगे। वे लोग सामने और पीठ पीछे व्यङ्ग और निन्दा करने में कभी नहीं चूकते थे। एक बार पितृपक्ष में श्राद्ध का दिन आया। भाई वंशीधर इन्हें बुलाने आए कि सपत्नीक चलो। आपने कहा कि-''सन्त-भगवन्त की सेवा से अवकाश प्राप्त कर अवश्य आऊँगा। यह सुनते ही उनका पारा गरम हो गया। वे बोले-ऐसा है तो तू अपने घर पर ही श्राद्ध कर ले। इन्होंने हाँ कर लिया। परन्तु घर में जो कुछ था या जो कुछ आ जाता वह शीघ्र ही सेवा में खर्च हो जाता था। श्राद्ध का संकल्प करके आप नागरों के चबूतरे पर दो-चार ब्राह्मणों का न्यौता देने आये। पुरोहित ने कहा-''दो-चार को क्यों? शेष ब्राह्मणों ने क्या अपराध किया है। क्या वे लोग प्रसाद के अधिकारी नहीं हैं। वंशीधर की तरह एक बार तो सम्पूर्ण जाति गङ्गा को अपने घर बुला लो। श्रीनरसीजी ने कहा-''प्रसाद के अधिकारी तो सभी हैं। बस, लोगों ने प्रचार कर दिया कि सबका निमन्त्रण है।'' भक्तजी ने घर आकर कहा-''तो माणिक गौरी ने अपना एक कंकण दिया कि इसे बेचकर श्राद्ध कर दो। आपने उसे बेचा और सामान लाए पर उससे दस-बीस का ही भोजन सम्भव था। उसमें भी घी लाना भूल गये। उधार घी लाने गये पर किसी ने नहीं दिया। एक सेठ ने कहा-''दो-चार भजन सुना दो तो मैं घी दे दूँगा। आप भजन सुनाने में तल्लीन हो गये सेठ भी मग्न हो गया। दोनों को होश नहीं रहा। उधर श्रीनरसीजी का रूप धारणकर भगवान पार्षदों के समेत आए। पुरोहित को बुलाने गये। कम दक्षिणा की आशंका से वह इनके यहाँ न आकर वंशीधर के यहाँ गया।

नीतिकार ने कहा-''ज्ञानवृद्धास्तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तथापरे। ते सर्वे धनवृद्धस्य द्वारि तिष्ठन्ति किङ्कराः।।'' अर्थ-ज्ञानी, तपस्वी, वयोवृद्ध तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग भी धनवान के द्वार पर किङ्कर की तरह बैठे रहते हैं।

तब प्रभु ने एक गरीब ब्राह्मण से श्राद्ध कराया। उसे इक्यावन मुहरें दक्षिणा में दीं। गाँव भर के हजारों ब्राह्मणों को भोजन दान से सन्तुष्टकर भगवान भोजन करके अन्तर्धान हो गये। तब थोड़ा सा घी लेकर श्रीनरसीजी पधारे। देखें, तो मणिक गौरी भोजन कर रही हैं। पूछने पर उन्होंने कहा कि-''आपने ही तो सारा कार्य किया और प्रसाद पाया। यह सुनकर

आप भगवत्कृपा का अनुभव कर प्रेम विभोर हो गये। पत्नी की प्रशंसा कर आपने भी प्रसाद लिया। सभी ने भण्डारे की प्रशंसा की।

चहुं ओर गिरिधारी—"कहा करै रसखान को कोऊ दुष्ट लवार। जो पति राखनहार है माखन चाखनहार।।" (भक्त नरसिंह मेहता गीताप्रेस के अनुसार नरसीजी की पत्नी का देहान्त हो गया था। सारंगधर नामक गाँव के मुखिया ने ग्यारहवें और बारहवें दिन सभी ब्राह्मणों को भोजन कराने का दुराग्रह किया। आपने कहा कि-"मुझे तो सन्त-सेवा से ही अवकाश नहीं। पर उसने हठ करके सम्पूर्ण सात सौ नागर ब्राह्मणों के घरों के सब लोगों को भोजन कराने की हामी भरवा ली। आपके पास कुछ भी नहीं था। नित्य आय-व्यय बराबर हो जाता था। इसी अवसर पर भगवत्प्रेरणा से हुण्डी के रुपये आए और उनसे आपने साधु-ब्राह्मणों का भण्डारा कर दिया और साँवलसाह के नाम हुण्डी लिख दी।)

तीरथ करत साधु आये पुर, पूछै कोऊ हुंडी लिखि देय हमैं? द्वारिका सिधारिबे।
जे वे रहे दूषि, कही जात ही भगावैं भूषि, नरसी बिदित साह आगे दाम डारिबे।।
चरण पकरि गिरि जावो जौ लिखावौ अहो कहौ बार बार सुनि बिनती न टारिबे।
दियौ लै बताय घर, जाय वही रीति करी, भरी अँकबार मेरे भाग, कहा बारिबे।।४३५।।

शब्दार्थ—हुण्डी=महाजन का वह पत्र जिसे देखकर दूसरा महाजन रुपये दे देता है, धनपत्र, चेक। दूषि=निन्दक, द्वेष करने वाले। भूषि=क्षुधा, भूँककर, कटु-कठोर कहकर। अँकवार=छाती, गोद, अङ्कमाल।

भावार्थ—एक बार की बात है कि तीर्थयात्रा करते हुए कुछ साधु-सन्त जूनागढ़ पहुँचे और बाजार में जाकर पूछने लगे कि यहाँ कोई ऐसा महाजन है क्या? जो हमें हुण्डी लिख दें। हमको द्वारिकाजी जाना है। जो लोग श्रीनरसीजी से द्वेष करते थे, उन्होंने उनसे कहा कि यहाँ के सबसे बड़े प्रसिद्ध महाजन नरसीजी हैं, उन्हीं की हुण्डी चलती है। प्रथम तो वे कटु-कठोर कहकर तुम्हें भगावेंगे और हुण्डी करने से इनकार करेंगे। परन्तु यदि तुम्हें हुण्डी लिखाना हो तो तुम उनके आगे दाम डालकर उनके चरणों को पकड़कर उनके सामने प्रणाम करते हुए गिर जाना। तुम्हारी भूख भगा देंगे। बार-बार तुम्हारी विनती सुनकर वे आपका काम कर देंगे। विनती अस्वीकार नहीं करेंगे। ऐसा कहकर उन दुष्टों ने साथ जाकर नरसीजी का घर बतला दिया। इन साधु-सन्तों ने वैसा ही किया। श्रीनरसीजी ने सन्तों को छाती से लगा लिया और विनती करते हुए बोले-"मेरे बड़े

भाग्य हैं, जो आप लोगों ने आकर दर्शन दिया।'' आप लोग आज्ञा दें। मेरा सर्वस्व आप पर न्यौछावर है।।४३५।।

तीरथ करत०—तीर्थों के दर्शन-स्नान से पाप-तापों का नाश होता है, अतः लोग तीर्थयात्रा करते हैं। भक्त लोग भी तीर्थयात्रा करते हैं और तीर्थों को भी अपने प्रभाव से तीर्थ बना देते हैं, उनके पापों का अपहरण कर लेते हैं। मार्ग में लुटेरों का भय रहता है, अतः हुण्डी कराना अच्छा होता है। ''नरसी साह'' कुछ इतिहासकारों के मत से इनके पिता की हुण्डी चलती थी, पर ये व्यापारी नहीं रहे सन्तसेवी हो गए, अतः बाजार में इनकी हुण्डी बन्द हो गयी थी। ''मेरे भाग'' –सन्तों का आगमन शुभ-सौभाग्य सूचक है। अतः नरसीजी उनके दर्शनों से अधिक प्रसन्न हुए। ''विनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।'' ''और बड़े भाग पाइय सतसंगा।''सन्त दर्शन भगवत्कृपा का प्रत्यक्ष फल है। ''दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रिय दर्शनम्।।'' अर्थ-सम्पूर्ण देहधारियों में मनुष्य देह दुर्लभ है। वह क्षणभंगुर है। उसमें भी भगवान के प्यारे भक्तों का दर्शन परम दुर्लभ है। ''कहा बारिबे'' -''अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः। अद्य मे सफलं भाग्यं वैष्णवा गृहमागताः।।'' अर्थ-आज वैष्णव मेरे घर पधारे, अतः मेरा जन्म, मेरी तपस्या और मेरा भाग्य सफल हो गया। पुनः-''आजु के दिवस की जाउँ बलिहार। मेरे घर आया राजा रामजी का प्यार।।'' (देखिये भक्तमाल कवित्त-२६२)

सात सै रुपैया गिनि ढेरी करि दई आगे, लागे पग, देवौ लिखि, कही बार-बार है।
जानी बहकाए प्रभु दाम दै पठाये, लिखी किये मन भाये, साह साँवल उदार है।।
वाही हाथ दीजियै, लै कीजिये निशंक काज, गये जदु राजधानी पूछ्यो सों बजार है।
ढूंढ़ि फिरि हारे भूख प्यास मीड़ि डारे, पुरतजि भये न्यारे दुख सागर अपार है।।४३६।।

शब्दार्थ—जदु राजधानी=द्वारिका। मीड़ि डारे=पीड़ित कर दिये, मसल डाले।

भावार्थ—श्रीद्वारकाजी की यात्रा करने वाले साधुओं ने गिनकर सात सौ रुपयों का ढेर श्रीनरसीजी के आगे लगा दिया तथा उनके चरणों में प्रणाम करके बार-बार प्रार्थना करने लगे कि-''हमें सात सौ रुपयों की हुण्डी लिख दीजिये, हमें द्वारका जाना है।'' आप समझ गए कि इन्हें किसी ने बहका दिया है और उसमें प्रेरणा श्रीद्वारकानाथजी की है। इस बहाने भगवान ने सन्त-सेवा के निमित्त रुपये मेरे पास भेजे हैं। यह विचारकर श्रीनरसीजी ने उन सन्तों की इच्छा की पूर्ति की और हुण्डी लिख दिया फिर कहा कि-''हमारे महाजन श्रीसाँवलसाहजी बड़े उदार हैं। उन्हीं के हाथ में आप हुण्डी दीजियेगा और उनसे हुण्डी के

रुपये लेकर निःशंक होकर कार्य कीजियेगा।'' हुण्डी लेकर सन्त-महात्मा द्वारकापुरी पहुँचे और वहाँ के बाजार में साँवलसाह की कोठी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गए और भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो गये, परन्तु साँवलसाह की कोठी का पता नहीं चला। तब ये लोग नगर से बाहर निकलकर आये। आशा टूट गई अतः अपार दुःख सागर में डूब गये।।४३६।।

व्याख्या—दाम दै पठाये०—सन्तों ने कहा कि-''हमें श्रीद्वारकाजी में जाकर साधुओं का भण्डारा करना है। आप हुण्डी लिख दीजिये। श्रीनरसीजी ने बहुत मना किया कि-मैं सेठ नहीं हूँ, मेरी हुण्डी नहीं चलती है। परन्तु जब उन लोगों ने बहुत आग्रह किया तब आप समझ गये कि यह धन प्रभु ने सन्त-सेवा के निमित्त भेजा है। लोकोक्ति भी है-''आवत लक्ष्मी टटा न दीजै। ताते कछु उपकार करीजै।।'' इनकार करने से इन सन्तों को भी दुःख होगा। इसलिए ले लेना उत्तम है। फिर आपने हुण्डी लिखने पर विचार किया। तो ध्यान में आया कि हुण्डी की यह रीति है कि पहले यहाँ से वहाँ को बीजक पत्र जाता है। तब वह दुकानदार हुण्डी को स्वीकार करके रुपये देता है। मैं भी उसी रीति को अपनाऊँगा। धन से सन्तों की सेवा कर दूँगा। तो वह ठाकुर के खजाने में जमा समझा जायेगा और मेरी लिखी हुण्डी का रुपया वे साँवलसाह अवश्य भुगतान कर देंगे। ''सन्तों को खिला देने से वे रुपये भगवान के खजाने में कैसे जमा हो जाते हैं।'' इस पर-

दृष्टान्त—पटना के सेठ का—पटना नगर में एक भक्त सेठ रहते थे। एक बार एक सज्जन ब्राह्मण ने पटना से जगन्नाथपुरी की यात्रा का विचार किया। सेठजी को मालूम पड़ा तो उन्होंने उस ब्राह्मण को बुलाकर उसे एक सौ रुपये दिये और कहा-''महाराज! आप इन रुपयों को श्रीजगन्नाथजी को अर्पण कर देना। पण्डितजी ने रुपये लिए और यात्रा की। धीरे-धीरे नित्य पैदल चलते। सायंकाल को जहाँ ठहरते वहाँ जो भी सन्त मिलते, उनकी सेवा सेठ के रुपयों से करते। पण्डितजी वैष्णव भक्त थे। सन्त-सेवा की महिमा जानते थे। यात्रा पूरी होते-होते पण्डितजी ने सौ रुपये में से अठ्ठानवे रुपये मार्ग में सन्त-सेवा में लगा दिये। शेष दो रुपये श्रीजगन्नाथजी को सेठ की ओर से भेंट कर दिये। पुरी का दर्शन करके पण्डितजी पटना वापस आए और श्रीजगन्नाथजी ने सेठ को स्वप्न दिया कि-''पण्डितजी के द्वारा जो एक सौ रुपये भेजे उनमें से हमें अठ्ठानवे प्राप्त हुए। सेठ ने सोचा दो रुपये किसी दूसरे काम में खर्च हुए होंगे। जब पण्डितजी सेठजी से मिलने गये। तब सेठजी ने स्वप्न का समाचार बताया। उसे सुनकर वे पण्डितजी प्रभु के भक्त वात्सल्य पर न्यौछावर हो गये और उन्होंने खोलकर सब बात बता दी। सुनकर सेठ ने

जान लिया कि जो- सन्त-सेवा में लगे, प्रभु ने उन्हें ही अङ्गीकार किया। उसी दिन से पण्डितजी और सेठ दोनों सच्चे साधु-सेवी बन गये। इसी प्रकार श्रीनरसीजी ने सात सौ रुपये सन्त-सेवा में लगाकर हुण्डी लिख दी।

हुण्डी—सिद्धि श्रीपरम शोभाधाम श्रीद्वारका निवासी प्रियतम प्राणाधार सेठ श्रीसाँवलसाह वासुदेवजी को जूनागढ़ से लिखी नरसीदास की राम-राम वंचना। आगे निवेदन यह कि मैंने इन चार साधु यात्रियों से नगद सात सौ रुपये लेकर आपके नाम यह हुण्डी लिख दी, अतः कृपया हुण्डी पत्र के देखते ही इन्हें पूरे सात सौ रुपये नगद भुगतान कर देना जी—आपका—नरसी। वे लोग हुण्डी लेकर द्वारका पहुँचे, पर साँवलसाहजी नहीं मिले।

फिरि हारे०—चारों सन्तों को भगवान ने भटकाया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सहज में प्राप्ति नहीं होती है। ढूँढ़कर जब अभिमान रहित हो जाता है, तब अपने आप कृपा करके मिलते हैं।

साहकौ सरूप करि, आये कांधे थैली धरि, ''कौन पास हुण्डी? दाम लीजियै गनाय कै''।
बोलि उठे ढूंढ़ि हारे! भलेजू निहारे आजु, कही 'लाज हमैं देत, मैं हूं पाये आय कै।।
मेरौ है इको सौ बास, जानै कोऊ हरिदास, लेवो सुखरासि, करो चीठी दीजै जाय कै।
धरे हैं रुपया ढेर, लिख्यो करौ बेर बेर, फेरि आय पाती दई, लई गरे लायकै।।४३७।।

शब्दार्थ—इकौसो=एकान्त।

भावार्थ—सन्तों को व्यथित देखकर, श्रीनरसीजी की हुण्डी चुकाने के लिए स्वयं श्रीद्वारकाधीश भगवान सेठ का रूप धारणकर कन्धे पर रुपयों से भरी थैली रखकर सन्तों के निकट पधारे और बोले-''श्रीनरसीजी की हुण्डी किसके पास है? जिनके पास हो वह आकर अपने रुपये गिनकर ले ले।'' सन्तों ने कहा-''अजी सेठजी! आप बहुत अच्छे आये। हम लोग आपको बाजार में ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गए, पर आप नहीं मिले।'' साँवलसाहजी बोले-''आपको रुपये देने में इतना विलम्ब हुआ, अतः हमें भी लज्जा लग रही है। विलम्ब का कारण यह है कि- मैं बाजार में नहीं मिलता हूँ। मेरा निवास एकान्त में है और इस बात को कोई-कोई भगवान के भक्त ही जानते हैं। ये लीजिये, अपने रुपये और उनसे अपना कार्य कीजिये।'' यह कहकर भगवान ने हुण्डी लेकर रुपये दे दिये और उसके उत्तर में चिट्ठी लिखी कि-''मेरे पास रुपयों की कमी नहीं है, आप बार-बार हुण्डी लिखकर भेजा करें।'' सन्तजन द्वारकापुरी का दर्शन करके लौटे और श्रीनरसीजी को साँवलसाहजी

की चिट्ठी दी। उसे पाकर श्रीनरसीजी प्रेमानन्द में डूब गये और उन्होंने सन्तों को गले लगा लिया।।४३७।।

व्याख्या—आये काँधे थैली धरि०—जिसे परमात्मा स्वयं मिलता है, उसे उसकी प्राप्ति होती है। ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'' इस वेद वाक्य को भगवान ने सिद्ध किया। श्रीनरसी का सङ्ग था, अतः उनकी आनि मानकर भगवान इनको ढूँढ़ते-पुकारते हुए आए। ''कौन के पास हुण्डी'' है अपने रुपये गिनकर ले लो। माता यशोदा को भी भगवान ने श्रमित कर लिया तब पकड़ में आए, पुनः श्रमित करके ''कृपयाऽसीत् स्वबन्धने'' कृपा परवश अपनी इच्छा से बन्धन में आए। दो अंगुल रस्सी कम पड़ती थी। एक अंगुल अपनी हार और एक अंगुल हरि की करुणा, प्रत्येक रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ती थी।। ''युग अंगुल कर बीच सब राम भुजहिं मोहिं तात।'' ''जानै कोऊ हरिदास''-भगवान् बोले कि-''मेरा निवास एकान्त में है अर्थात् अनन्य भक्त के हृदय में है और इस बात को वही जानते हैं, जो दासानुदास हैं। आप लोग हरिदास नहीं, दामदास हैं। दाम लेने के लिए मुझे ढूँढ़ रहे हैं। फिर दामदासों को मिले क्यों? तो नरसी के संग से मिले-''न रोधयति मां योगो०'' (भा० ११/१२/१-८) सत्संग से ही दैत्य, खग मृगों ने मुझे पाया। साँवलसाह स्वरूप वर्णन यथा-

माथे पै लपेटि राखी अटपटी पाग मोटी खुलि खुलि जात चोटी फहरति न्यारी है।
खिसकि खिसकि परि एड़िन लौं धोती जात, घिसी अति अंगरखी घेर घारवारी है।।
कटि सों लपेटि राख्यौ लाँबो सो दुपट्टा और पेट राख्यौ काढि कछु चाहक अगारी है।
कान पै कलम बही बगल दबाए शाह, काँधे धरी धम्मसे सुथैली आनि डारी है।।

हुण्डी के रुपये चुकाकर साँवलसाह ने एक पत्र लिखकर उन सन्तों को दिया कि श्रीनरसीजी को दे देना-

सिद्धि श्रीजूनागढ़ शाह शिरताज श्रीभक्तराज नरसी सो जै जै नरसी की है।
कुशल इहां पै सब आपहू कुशल हम सन्तन सों जानी सब बात तहँ नीकी है।।
हुण्डी के रुपैया रोक सात सौ चुकाय दीने खोटी नाहिं कीनी न लगाई बात फीकी है।
जानिकै गुमास्ता जरूर याद कीजो हमैं, काम काज लिखियो दुकान आपही की है।।

सन्तों से साँवलसाह ने कहा कि-''मैं तो गुमास्ता हूँ, यह दूकान तो श्रीनरसीजी की ही है। अब आप लोगों का हमारे यहाँ निमन्त्रण है, सो आप सब हमारी कोठी पर पधारो। वहाँ जाकर सन्तों ने देखा कि सैकड़ों मुनीम लिखा-पढ़ी में लगे हैं। मुहरों और रुपयों

के बड़े-बड़े ढेर पड़े हैं। कोठे भरे हैं। दिव्य स्वादयुक्त प्रसाद पाकर ये लोग स्नान-दर्शन आदि करके फिर वहाँ से वापस लौटे। पहले तो नाराज थे अब श्रीनरसीजी और साँवलसाह का बड़प्पन उनकी मैत्री की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए पुनः जूनागढ़ आ गए और नरसी से मिले।

''देखि आये साह?'' दौरि मिले उत्साह अंग, वेऊ रंग बोरे सन्त, संगकौ प्रभाव है।
हुंडी लिखि दई, दाम लिये सो खवाय दिये, किये प्रभु पूरे काम, संतनि सों भाव है।।
सुता ससुरारि, भयौ छूछक विचारि, सासु देत बहु गारि, जाको निपट अभाव है।
पितासों पठाई, ''कहि छाती लै जराई इनि, जोपै कछु दियौ जाय, आवो यह दाव है।।४३८।।

भावार्थ—श्रीनरसीजी ने सन्त-महात्माओं से कहा कि-''आप सभी यह बतलाइये कि साँवलसाहजी आपको मिले या नहीं? उन सन्तों ने कहा-हाँ, मिले और बड़े प्रेम से मिले। यह सुनकर श्रीनरसीजी बड़ी उमङ्ग के साथ दौड़कर पुनः मिले। वे लोग भी प्रेम के रङ्ग में डूब गये। सच्चे प्रेमी सन्तों के सङ्ग का ऐसा ही प्रभाव होता है। श्रीनरसीजी ने साँवलसाह के नाम हुण्डी लिख दी थी और उसके जो रुपये थे, उनसे आपने सन्तों का भण्डारा कर दिया। सन्तों के प्रति श्रीनरसीजी का ऐसा ही सद्भाव था, अतः श्रीद्वारकाधीश ने उनके सभी कार्यों-मनोरथों को पूरा किया।

श्रीनरसीजी की लड़की ससुराल में थी, उनके लड़का हुआ। लोकरीति के अनुसार इन्हें छूछक देना चाहिए, पर इनके पास कुछ न था, अतः न दे सके। लड़की की सासु नित्य ही गालियाँ बकती, ताने मारती कि- तेरा बाप बड़ा दरिद्र है, कंजूस है। उसने कुछ भी नहीं भेजा। वह ऐसा इसलिए कहती थी कि उसको भक्त श्रीनरसीजी में प्रेम नहीं था, उल्टे अश्रद्धा थी। सासु के वचन जब असह्य हो गये, तब उस लड़की ने अपने पिता को कहला भेजा कि-''मेरी सासु नित्य ताने मारती है, गाली देती है, इससे मेरी छाती जलती रहती है। यदि आपके पास कुछ देने के लिए हो, तो आप आकर दे जाइये। यह देने का अवसर है।।४३८।।

व्याख्या—देखि आये शाह—यह प्रश्न और उत्तर दोनों हैं। श्रीनरसीजी ने कहा-''देखि आये शाह, तब उन सन्तों ने कहा-''देखि आये शाह''। उन सन्तों ने जब साँवलसाह से रुपयों की प्राप्ति, मेल-मिलाप एवं आदर-सत्कार की चर्चा श्रीनरसीजी से की, तब इन्होंने दौड़कर उत्साह से पुनः उनका आलिङ्गन किया। इसलिए कि इन्हें

भगवद्दर्शन हुए हैं, प्रेममग्न ये धन्य हैं। ''बेऊ रंग बोरे'' अब तक के अनुभव एवं सङ्ग से अब इन सन्तों को भी पता चल गया कि श्रीनरसीजी हुण्डी के व्यापारी नहीं हैं, ये भागवत शिरोमणि हैं और वे साँवलसाह कोई सामान्य सेठ-साहूकार नहीं थे। वे तो साक्षात् श्रीद्वारकाधीश भगवान श्रीकृष्ण थे। धन्य हैं ऐसे भक्त और भगवान। इनकी कृपा से उनका दर्शन पाकर हम लोग भी धन्य हो गये। यह विचारकर ये लोग प्रेमरंग में डूब गये। कई दिन तक सत्संग सुख लेकर वे लोग गये, परन्तु श्रीनरसीजी और साँवलसाह उन्हें निरन्तर सदा याद आते रहे।

सुता ससुरारि—भक्तराज श्रीनरसी मेहता की बड़ी पुत्री कुँवरवाई थीं। इनका विवाह (ऊना) अंजार नगर में हुआ। सुशिक्षित एवं धन सम्पन्न परिवार था। श्रीरंगधर मेहता इनके ससुर थे, वे राज्य के एक उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। पति वसन्तराय कुछ कमाई नहीं करते थे। यद्यपि विवाह के समय द्वारकाधीश की कृपा से पर्याप्त दहेज दिया गया था, परन्तु उसके बाद समय-समय पर देय सामग्री नेग भेंट देने में श्रीनरसीजी असमर्थ रहे, अतः अब इन्हें कंगाल, तालकूटा कहकर व्यंग-परिहास किया जाता और सासु-ननद आदि घर की स्त्रियाँ ताना मारकर कुँवरसेना को व्यथित करती रहती थीं। गृह-कार्यों को निरालस्य होकर करने पर भी इन्हें वाग्वाण सहने पड़ते, अतः मन व्यथित रहता था।

छूछक०—गीताप्रेस से प्रकाशित ''भक्त नरसिंहराम मेहता'' में सीमान्त के उत्सव का वर्णन है। यह गर्भवती के सातवें-आठवें मास में मनाया जाता है। श्रीराधामाधव सेवा संस्थान गीता वाटिका गोरखपुर से प्रकाशित ''नरसीजी रौ माहेरौ'' जो एक राजस्थानी लोककाव्य है, में माहेरे अर्थात् भात का वर्णन है, तद्नुसार कुँवरवाई की लड़की के विवाह का वर्णन है और इन्हीं अवसरों पर श्रीनरसीजी का जाना लिखा है, परन्तु श्रीप्रियादासजी ने स्पष्ट छूछक का उल्लेख किया है। यह कन्या के पुत्र होने पर मनाया जाता है, जिसमें कन्या का पिता यथेष्ट वस्त्र-धन आदि देता है। इस अवसर पर श्रीनरसीजी को बुलाया ही न जाय। यदि वह भिखमंगा आ भी गया तो कुछ देगा नहीं, इससे हमारी बदनामी होगी। सासु का ऐसा कहना था परन्तु ननद चाहती थी कि उन्हें बुलाया जाय। यदि वे कुछ न देंगे तो कुँवरसेना को अपमानित करने का अच्छा अवसर मिलेगा।

इस विवाद को जब श्रीरङ्गधर ने सुना तो कहा कि—उन्हें सूचना न देने से कुँवरवाई को दु:ख होगा और भविष्य में कभी पंचों के बीच बात चलेगी, तो मुझे भी संकुचित

होना पड़ेगा। श्रीनरसीजी भी उलाहना देंगे, अतः उन्होंने अपने पुरोहित को बुलाया और पत्रिका लिख दी कि–"परम स्नेही भक्तराज श्रीनरसी मेहता! सप्रेम जै श्रीकृष्ण। माघ शुक्ल सप्तमी रविवार को छूछक का उत्सव है। आप इष्ट–मित्र–परिवार समेत पधारकर मेरी शोभा बढ़ावें। उभयत्र कुशलकर्ता श्रीद्वारकाधीश हैं। आपका रंगधर मेहता। पुत्री ने भी मौखिक सन्देश भेजा। ब्राह्मणदेव इस पत्र को लेकर श्रीनरसीजी के ग्राम आये। लोगों से घर पूछा– तो उन्होंने बताया कि– सामने चले जाओ, द्वार पर रखे कुठीलों में बड़े–बड़े तिलक लगे हैं। वहाँ कीर्तन हो रहा है, पण्डितजी पहुँचे और उन्होंने पूछकर श्रीनरसीजी को पत्र दिया। और कहा कि– आपकी बेटी कुँवरसेना ने कहा है कि– यह देने का अवसर है। जो कुछ दे सको सो दे जाओ। अवसर पर नहीं चूकना चाहिए। यथा–"औसर कौड़ी जो चुके, बहुरि दिए का लाख। दुइज न चन्दा देखिये का देखे भरि पाख।।" सन्तों ने समझा कि कहीं से सेठ निमन्त्रण लेकर आया है भोजनों का। ये बड़ी उत्सुकता से पूछने लगे। कीर्तन समाप्त होने के बाद सब भेद बताकर भक्तराज ने कहा कि– देने वाले सेठ नहीं हैं, लेने वाले पण्डितराज हैं। आप लोग नित्य नियमानुसार जाकर भिक्षा कर लायें। पुरोहितजी को भी एक कमण्डल देकर भिक्षार्थ ले जाओ और उधर से चार कण्डे भी लेते आना, यह कहा गया। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भूखे पण्डितजी सोच रहे थे कि– किस कंगाल के यहाँ आ फँसे, तभी श्रीठाकुरजी ने संकेत किया कि आज सब यहीं प्रसाद पायें। मधुर प्रिय विप्रदेव ने अतिस्वादिष्ट मिष्ठानों को अति मात्रा में खा लिया। श्रीनरसीजी ने चूरन देकर उनके प्राण बचाये। सादर सम्मानित कर उनकी विदाई की और पत्रिका श्रीठाकुरजी के आगे रख दी। पुनः आप मन में विचार करने लगे कि लौकिक व्यवहारों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। प्रभु जैसे कहेंगे वैसे ही करुँगा। भगवान ने कहा कि–बाई ने आशा लगा रखी है, अतः जरूर–जरूर छूछक लेकर जाओ।

चले गाड़ी टूटीसी, उभय बूढ़े बैल जोरि, पहुँचे नगर छोर, द्विज कही जायकै।
सुनत ही आई देखि मुँह पियराई, फिरी "दाम नहीं एक तुम कियौ कहा आयकै?"।।
"चिन्ता जिनि करौ, जाय सासु ढिंग ढरौ, लिखि कागद में धरौ अति उत्तम अघाय कै"।
कही समुझाय, सुनि निपट रिसाय उठी, कियौ परिहास, लिख्यौ गांव खुनसायकै।।४३९।।

शब्दार्थ—पियराई=पीलापन, उदासी, फीकापन। खुनसाय=रिसाय।

भावार्थ—लड़की का सन्देश पाकर श्रीनरसीजी एक टूटी-सी बैलगाड़ी में दो बूढ़े बैलों को जोतकर जहाँ पुत्री व्याही थी, उस नगर के किनारे पहुँच गये। इनके आगमन

का समाचार एक ब्राह्मण ने जाकर इनकी कन्या से कह दिया। पिताजी का आगमन सुनते ही वह आई, परन्तु जब उसने देखा कि- गाड़ी में छूछक का कुछ भी सामन नहीं है, ये देने के लिए कुछ भी नहीं लाये हैं। तो उसका मुख उदास हो गया। उसने कहा-"पिताजी! यदि आपके पास देने के लिए एक पैसा या एक वस्तु न थी, तो फिर आपने यहाँ आकर क्या किया?" अर्थात् न आते वही ठीक था। श्रीनरसीजी ने कहा-"बेटी! तुम अपने मन में चिन्ता न करो। जाकर अपनी सासु से कह दो कि- जिन-जिन चीजों की जितनी-जितनी जरूरत हो उन सबको एक कागज में लिख दें। लिखने में संकोच मत करें, अच्छी से अच्छी एवं अधिक से अधिक लिख दें। उसने जाकर अपनी सासु को समझकर कहा, तो वह बहुत रिस में भरकर बोली मैं समझ गई, तेरे पिता यहाँ आकर हँसी कर रहे हैं। अन्त में खिसियाई सासु ने गाँव के सभी स्त्री-पुरुषों-बालकों के नाम लिखवा दिये कि इन सभी को कपड़े एवं गहने चाहिये।।४३९।।

व्याख्या—गाड़ी टूटी....बूढ़े बैल०—भगवत्प्रेरणा से श्रीनरसीजी ने छूछक देने के लिए (ऊना) अंजार जाने का निश्चय किया। गाड़ी माँगने गये पर लोगों ने बहाने बनाकर इन्कार कर दिया, अन्त में एक अपने प्रेमी के पास पहुँचे। उसने कहा कि-"मैं आपको इन्कार नहीं कर सकता हूँ। मेरे घर के पीछे पड़ी है। साल भर से काम नहीं आ रही है। आपने जाकर देखा तो उसके पहिए आदि सभी अङ्ग ढीले कुछ सड़े कुछ टूटे पड़े हैं। आपने उसे ठोंक-ठाक, बाँध-बूँधकर तैयार किया। अब बैल माँगने चले तो स्वार्थी संसारी ने मना कर दिया। एक सज्जन ने कहा कि हमारे बैल हैं और हम दे भी देंगे। खिरक में जाकर आपने देखा तो वे अति बूढ़े और दुर्बल थे। खुर घिस गये थे। दाँत गिर गये थे, वे सालों से रिटायर थे। आपने उनके कानों में कहा कि-"जीवन भर बोझा ढोकर मर रहे हो, अब कुछ परमार्थ कर लो।" बैलों ने सिर हिलाया। मानो स्वीकार कर रहे हैं। कुछ खिला-पिलाकर उठाने लगे, पर वे उठने में असमर्थ थे, अतः सींग पूँछ पकड़कर उन्हें खड़ा किया गया। बहुत कहने-सुनने पर भी नागर जाति में से कोई भी साथ चलने को तैयार न हुआ। सब लोग जानते थे कि ये वहाँ कुछ देने में असमर्थ होंगे, अतः हँसी करवाने कौन जाय? श्रीठाकुरजी ने कहा कि- तुम अपने गोत्र वालों को ले जाओ। तब श्रीनरसीजी ने कीर्तन मण्डली के सोलहों सूरदासों से कहा- तो वे सब सानन्द तैयार हो गये। छूछक के लिए जब कुछ सामान माँगे भी नहीं मिला तब सभी लोगों को वहाँ भेंट देने के लिए घर में जो-जो वस्तुएँ थीं, उन्हें गाड़ी में रख लिये। एक बोरा गोपीचन्दन, शालग्राम, एक

झोला कण्ठीमाला, एक गठरी कनटोपे, कमण्डल तुँबी एवं ताल-तमूरा, मृदङ्ग समेत सोलह सूरदासों को साथ में लेकर चले। इस दृश्य को देखकर लोग हँसी कर रहे थे और सूरदास कीर्तन। गाड़ी चर्र-मर्र हो रही थी, बैल लड़खड़ाते थे। कठिताई से कुछ दूर चले, सहसा एक गड्डे में पहिया गिरा और गाड़ी टूट गई। बैल गिर पड़े चारों पैर फैलाकर। सामान इधर-उधर लुढक गया। कुछ गाड़ी में लटके रहे और कुछ सूरदास नीचे जा पड़े। अंधेरा हो गया। चारों ओर से घेरकर सभी लोग बैठकर, ''छोछक री ठाकुरनै लाज। भगत बछल प्रभु सारै काज।।'' कीर्तन करने और पहरा देने लगे।

प्रातःकाल श्रीठाकुरजी ने बढ़ई का रूप धारण किया। बोरी में औजार, हाथ में वसूला लिए वहीं होकर निकले। ''आज उसकी चौखट, कल उसके हल बनाना बहुत जरूरी है।'' इस प्रकार कहते हुए निकले। इनकी बातें सुनकर सूर बोले-''अरे श्रीनरसीजी! देखो, यह कोई खाती जा रहा है। श्रीनरसीजी ने उसे बुलाया। पूछा- तो उसने बताया कि मैं साधारण खाती नहीं, मुझे तो विश्वकर्मा समझो! नाम क्या है? तो किशना। अच्छा- भाई! मेरी गाड़ी ठीक कर दो। प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे। किशना ने सहर्ष कहीं कील ठोकीं, कहीं जोड़ लगाया। गाड़ी बन गई, पर बैल अचेत थे। किशना ने हाथ फेरा और उन्हें भी उठाकर खड़ा किया। इनके स्पर्श से बैलों में विलक्षण शक्ति आ गई। किशना ने मजदूरी माँगी तो श्रीनरसीजी ने एक माला देकर कहा-''लो, राधेश्याम, राधेश्याम जपा करना।'' किशना ने कहा कि- हमें भी उधर की ही ओर जाना है। कहो तो मैं गाड़ी हाँककर पहुँचा दूँ। मैं इस कार्य में बहुत निपुण हूँ। गाड़ी विमान की तरह चल रही थी। गाँव आ गया। किशना धन्यवाद लेकर चला गया।

जो पत्र ले गया था, उस कोकल्या पुरोहित ने देखकर पहचाना और जाकर सभा में बैठे श्रीरंगरायजी से कह दिया कि- आपके समधीजी आ गये। साथी और सामान का विवरण सुनकर वे सभी दंग रहे कि- सेर-सेर भर के मनके वाली माला आपके लिए है। वे मन ही मन खीझने लगे कि मैंने व्यर्थ ही पत्र देकर इसे बुलाया। मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। ''सुनत ही आई०''-श्रीकुँवरवाई ने सुना तो वे एक थाल में रोरी, अक्षत आदि मांगलिक द्रव्यों को लेकर इनका स्वागत करने के लिए आईं। उनके साथ बहुत सी स्त्रियाँ गीत गाती हुई आईं। ये सब एक वृक्ष के नीचे बैठकर कीर्तन कर रहे थे। कुँवरवाई ने धैर्य धारणकर सबको रोरी के तिलक अक्षत लगाए। स्त्रियों का हास-व्यङ्ग आरम्भ हो गया। श्रीनरसीजी ने- बाई से कुशल क्षेम पूछकर फिर कहा-''बाई! एक भेली गुड़ और इस थोड़े

से जल चावल से क्या होगा। इनको तो कम से कम अस्सी सेर कलेवा और उसी हिसाब से वस्त्र आदि चाहिये। एक कपड़े के टूक से क्या होगा। सोलह तो सूर हैं और मुझे आते देखकर और भी ये सब साधू लोग आ डटे हैं। इस पर-"हँसी नारि अंजार की सुनि नरसी के बैन। उलटो मांगै कपड़ा आयौ छोछक दैन।।" कुँवरबाई उदास हो गईं और बोलीं-पिताजी! घर के लोग मुझे मुण्डे की बेटी कहकर पहले ही अपमानित करते थे, अब आप मुझे और लज्जित करने के लिए भिखमंगों की टोली लेकर आ गये। सारा गाँव हँसी करेगा। अब भी अच्छा होगा। आप वापस जाओ। श्रीनरसीजी ने उत्तर दिया-"बेटी तू मुण्डे की बेटी कहने से बुरा मत माने। साधु ही अपने सच्चे परिवारी हैं। तू चिन्ता मत कर, मेरे प्यारे साँवलसेठ आने वाले हैं। इच्छित वस्तुयें सबको देंगे। यथा-"बाई चिन्ता जिन करौ, मन में धीरज धार। मनमानै जो मांगियौ देगौ सिर जनहार।।" "जाओ, बाई! कौन सी वस्तु कितनी चाहिए, चिट्‌ठा बनाकर ले आओ।" सन्त-भगवन्त भूखे थे, अतः केले और आम के पेड़ों में बहुत से फल लग गये। सबों ने भर पेट फल खाये। स्वाद और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

कुँवरबाई घर को आई। यहाँ सासु, ननद, देवरानी, जेठानी सभी तरह-तरह के व्यङ्ग करने लगीं। तब कुँवरबाई ने कहा कि-"आप लोग शान्त होकर वस्तुओं का बड़े से बड़ा चिट्‌ठा बनावें। हमारे पिताजी के मित्र साँवलसेठ आने ही वाले हैं। सबके मनोरथ पूर्ण हो जावेंगे। अब तो नारायण देवर कई बड़े-बड़े कागजों को लाकर चिट्‌ठा बनाने लगा। घर के स्त्री-पुरुष एवं गाँव के पंच सम्मति देने लगे। लोगों को विश्वास था कि लेना-देना कुछ है नहीं, केवल विनोद के लिए हास-परिहास के लिए सामान की पोशाकों की सूचियाँ बनने लगीं। बाई सेठ साँवलशाह की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता के साथ कर रही थी। उसे धैर्य न था। उसने पिता से पुनः जाकर कहा-"तुम पै तौ कछु दीसै नाहीं, सूरा साथै आया। फाटा कपड़ा टूटी गाड़ी बैल पुरातन लाया। समधी के घर छूछक देने ताल बजावत आया।। कण्ठीमाला और तूमड़ा मिरदँग शंख बजाया। गोपीचन्दन और रामरज तीखा तिलक बनाया।। जीमण का जिमणारा थे तो कौड़ी एक न लाया। कुँवरी कहै लाज तुम खोई देस विराने आया।।" श्रीनरसीजी ने उत्तर दिया-"कह नरसीलौ सुणरी पुतरी तोसूँ मिलबा आया। दैन लैन नै म्हारे नांहीं साँवलशाह बुलाया।। एक पलक में सब जग पेलै साँवलियौ गिरिधारी। द्रुपद सुता कौ चीर बढ़ायौ अबकी बेर हमारी।।" बेचारी बाई घर आई सूची लेकर उसने श्रीनरसीजी को दी।

लिखि कागद में—सपरिवार श्रीगणेशजी के लिए जरी की पाँच-पाँच पोशाकें सवा-सवा लाख रुपये नकद भेंट। इसी प्रकार गाँव के दस मन्दिरों की भेंट। सम्पूर्ण ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त ग्राम के सभी स्त्री-पुरुषों को पाँच-पाँच वस्त्र। परिवारियों को रत्नजटित वस्त्र, घर के लोगों को उससे भी श्रेष्ठ वस्त्र, मुहरों की भेंट, चाँदी-सोने के बर्तन, आभूषण लगभग ग्यारह हजार लोगों के लिए लिखे गये। समधिन ने कहा-"गाँव के हाथी, घोड़े, बैलों के लिए झूलें, मोतियों की मालायें लिख दो। जहाँ तक जिसकी कल्पना ने काम किया। उसने लिखाने में कसर नहीं रखी थी। कवित्त के अन्तिम चरण में "रिसाय, परिहास और खुनसाय" तीन शब्दों का प्रयोग किया है। इन भावों से सूची बनाई गई थी। परन्तु श्रीनरसीजी का इधर ध्यान नहीं था। ये तो अपनी साधुता सरलता से ही व्यवहार कर रहे थे। वे तिरस्कार कर रहे थे। इनके गुणों से परिचित न थे। यथा-"जो जाको गुन जानहिं सो तेहि आदर देत। आम सराहै कोकिला काग निमौरी लेत।।" विषयी विषयों के कड़ुवे स्वाद को भी मीठा मानता है।

कागद लै आई देखि दूसरें फिराई पुनि भूलै पै न पाई जात 'पाथर' लिखाये हैं।
रहिबे कौं दई ठौर, फूटी ढही पौरि जाके बैठे सिरमौर आय बहु सुख पाये हैं।।
जल दै पठायौ भली भाँति कै औटायौ, भई बरषा, सिरायौ, यों समोयकै अन्हाये हैं।
कोठरी सँवारि, आगे परदा सो दियौ डारि, लै बजाई तार बेस अगनित आये हैं।।४४०।।

शब्दार्थ—ढही=गिरी। समोय=सुखपूर्वक। तार=मँजीरा, ताल, करताल। वेस= पोशाक, वस्त्र-आभूषण।

भावार्थ—श्रीनरसीजी की लड़की आवश्यक वस्तुओं का चिट्ठा लेकर आई, तो आपने उसे देखकर लौटा दिया और कहा कि- इसे फिर से दिखा लाओ। इसमें यदि किसी का नाम या कोई वस्तु लिखने से रह गई हो तो उसे फिर लिखवा लाओ। नहीं तो फिर नहीं मिलेगी। इस बात से क्रुद्ध होकर उसने दो पत्थर और लिखवा दिये। श्रीनरसीजी को अपमानित करने के लिए उन्हें टूटी फूटी पुरानी पौर रहने के लिए बतला दी। भक्त शिरोमणि श्रीनरसीजी जाकर उसी में ठहरे और उस निवास स्थान को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। सासु ने खौलता हुआ जल इनके स्नान के लिये भेजा। इसी बीच वर्षा हुई जिससे जल शीतल हो गया और श्रीनरसीजी ने सुखपूर्वक स्नान किया। इसके बाद पौर की कोठरी को झाड़ू-बुहारु देकर उसे साफ कर उसके द्वार पर आपने एक परदा लगा दिया। सामान के चिट्ठे को वहीं रखकर तानपूरा

बजाकर श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन करने लगे। भगवत्कृपा से अगणित पोशाकें, वस्त्र, आभूषण आकर उस कोठरी में भर गये।।४४०।।

व्याख्या—पाथर लिखाये हैं—श्रीनरसीजी ने अपनी पुत्री से कहा कि-''बेटी! इस कागज को वापस ले जाओ। यदि किसी का नाम या कोई वस्तु भूल से न लिखी गई हो तो फिर लिखवाकर लाओ। कुँवरबाईजी ने आकर यह बात जब अपनी सासु से कही तो उसने पैर धोने के लिए चाँदी की और स्नान करने के लिए सोने ये की दो शिलायें और लिखवा दीं। ''रहिबे कौ दई ठौरि'' -भिखमंगा साधु है, साथ में सूरदासों को भी लाया है। एक भी जाति का व्यक्ति नहीं आया। यह तो तिरस्कार के ही योग्य है। अब तक इन्हें ठहरने का स्थान नहीं दिया। जो पहले ही दिया जाना चाहिए था। कुँवरबाई ने श्रीरंगराय से कहलवाया कि- पिताजी के ठहरने का स्थान तो बता दीजिये। तब लोगों ने एक फूटी ढही पौर बता दी। जिसमें मकड़ियों के जाले, मच्छर भरे थे। श्रीनरसीजी अपनी मण्डली के साथ नाचते-गाते कीर्तन करते हुए आये और स्थान देखकर बड़े प्रसन्न हुए। झाड़-बुहारकर उसी में धूनी लगा दी, सन्तों का कीर्तन होने लगा। स्नानार्थ किञ्चित् ऊष्ण जल की आवश्यकता थी, सासु ने एक डेग खौलता हुआ जल भेजा। तब आपने उसमें मिलाने के लिए थोड़ा ठण्डा जल माँगा। तो लोगों ने व्यंग किया कि आप तो भक्त हैं। क्यों न वर्षा कर लीजिए। श्रीनरसीजी ने मल्हार गाया तो इतनी वर्षा हुई कि लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। विनती करने लगे, तब वर्षा बन्द हुई। कई घर गिर गये, ननद की छोरी आँगन के गड्डे में डूबकर मर गई। सबके विलाप करने पर उसे भक्तराज ने जीवित कर दिया। मण्डली समेत श्रीनरसीजी को भोजन को आमन्त्रित किया गया। सबके सामने खिचड़ी परोसी गई। वह बासी थी परन्तु ताजी हो गई। पुनः सबके सामने खीर आ गई। सभी सूर-साधू सपड़-सपड़ खीर खा रहे थे। खाते-खाते खीर चुक ही नहीं रही थी। परिवार वाले भी भोजन कर रहे थे। उनके सामने खीर नहीं आई तो वे सब रूस गये कि समधी को खीर दी और हमें नहीं। श्रीरङ्गजी ने सबसे कहा भाई! वस्तुतः आप लोगों के लिए विशेष और उनके लिये साधारण भोजन परोसा गया। हमने भेद किया। इसी अपराध से उनके सामने प्रभु ने खीर परोसी है। हमने तो खीर बनवाई ही नहीं है। आप लोग क्षमा करें और भोजन करें। बड़ी कठिनता से श्रीरंगजी ने सबको मना पाया। सबके पैर पकड़ने पड़े। कुछ देर बाद श्रीनरसीजी ने विचार किया कि तब तक नगर कीर्तन कर आवें। सभी साधू और सूर सहमत हो गये। कुछ और भी सन्त नरसीजी के पास आ गये थे। सबों ने अपने-अपने वाद्य लिये और नाचते-

गाते-बजाते मुख्य बाजार से निकले। यह सुनकर श्रीरंगजी घबड़ाये कि समधी को नाचते-गाते देखकर लोग मेरी बदनामी करेंगे। तब उन्होंने एक आदमी भेजा कि जाकर उनसे कह दो कि-"साँवलशाह आ गये। उसने ऐसा ही किया। सुनते ही समाचार को सत्य मानकर ये वापस स्थान पर लौट आए और निवास स्थान पर कीर्तन करने लगे।

श्रीनरसीजी को फूटी ढही पौर एवं अत्यन्त गर्म जल देकर वे लोग तिरस्कार कर रहे थे कि ऐसा करने से यह भिखमंगों का साथ छोड़कर ठीक रास्ते पर आ जायेगा। श्रीनरसीजी वर्षा आदि के द्वारा भगवत्कृपा का चमत्कार दिखाकर भक्तिमार्ग पर लाना चाहते थे। सभी लोग अपने-अपने मत की ओर आकृष्ट कर अपने सम्प्रदाय का अनुगामी बनाना चाहते हैं। पुनः लोगों ने कहा-"सिर ढक लो, आपने कहा- सिर उघारकर और लज्जा छोड़कर भगवान का भजन करो। अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। इस पर-

दृष्टान्त—निपटजी और बादशाह का—एक सन्त थे उनका नाम था निपट। वे सिद्ध थे। निपट अयान और निपट सुजान प्रतीत होते थे। एक नगर में नदी तट पर रहकर भजन करते थे। सभी से प्रेम करते थे। साम्प्रदायिक भेदभाव को छोड़कर हिन्दू-मुसलमान सभी का आदर और सभी को उपदेश देते थे। बादशाह ने उनकी बड़ाई सुनी। दो एक बार उनके पास आया, गया तो उसे लगा ये तो परम सरल हैं। मुल्लों ने कहा खिला-पिलाकर इन्हें भी मुसलमान बना लिया जाय। एक दिन बादशाह ने इनको न्यौता दिया। श्रीनिपटजी आ गये। उनका विशेष आदर-सत्कार करके बादशाह ने पूछा कि-"ईश्वर एक है या दो।" श्रीनिपटजी ने कहा कि-"हिन्दू और मुसलमान दोनों का ईश्वर एक है।" इस उत्तर को सुनकर बादशाह ने और सभी ने उनकी बड़ाई की कि-"आप सच्चे फकीर हैं।" बादशाह ने कहा कि-"अब खाना लाओ।" बादशाह ने सुराही के जल से हाथ धोए। निपट से बोले कि-हाथ धो लीजिये। तो निपटजी ने अपनी लघुशङ्का से हाथ धोये। लोगों ने कहा- हाथ नापाक हो गये। आपने कहा-"जल-जल समान है। भोजन जैसा पाक है, वैसे हाथ भी पाक हैं। तुरन्त बादशाही भोजनों के थाल सबके सामने आ गये। निपटजी ने खाना, खाना स्वीकार नहीं किया। तो सब बोले-"जब ईश्वर एक है, तब खाना, खाने में आप एतराज क्यों करते हैं?" आपने कहा-"ईश्वर एक है पर खाना दो तरह का है। सो कैसे, तो एक आबी अर्थात् जल का शुद्ध, दूसरा पेशाबी अर्थात रक्त, माँस से अशुद्ध। हमारा आबी भोजन है और आपका यह पेशाबी है। पेशियों के जल को और रक्त को पेशाब कहते हैं, अतः यह अभक्ष्य है। इसे कुत्ते और शूकर के स्वभाव के लोग खाते हैं। हम नहीं खा सकते हैं। "निपट

निष्कपट निश्चयी निस्किञ्चन निष्काम। ग्रहैं आबि पेशाबि तजि निपट सन्त अभिराम।।'' जैसा दर्पण होगा वैसा ही मुख आइने में दिखाई देगा। ईश्वर एक है, हृदय भिन्न-भिन्न हैं, अतः तमोगुणियों को तामसी, रजोगुणियों को राजसी, सतोगुणियों को सात्विकी ईश्वर का रूप दिखाई देता है। हाथ धोने से यदि हाथ नापाक हो गये, तो इस माँस-रक्त-मूत्रमय भोजन से मन, बुद्धि पाक कैसे रहेंगे? उस दिन से सबको माँसाहार बुरा लगने लगा। बादशाह अपनी ओर और निपट अपनी ओर खींच रहे थे। बहुतों ने माँस खाना छोड़ दिया। बादशाह ने कहा-''निपट को भगाओ, अन्यथा ये हमारा मजहब छुड़ा देंगे। ऐसे ही श्रीनरसीजी ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

कोठरी सँवारि०—भक्त एवं भक्त कन्या प्रतीक्षा कर रही थीं, साँवलशाह ही छूछक देंगे, ऐसा श्रीनरसीजी ने कहा था अतः उनकी वाणी को सत्य करने के लिये एवं भक्त कीर्ति का विस्तार करने के लिये स्वयं भगवान श्रीकृष्ण-रुक्मिणी सेठ, सेठानी के रूप में एक दिव्य रथ पर बैठकर पधारे। गाँव में प्रवेश करने पर कोई पूछता तो कह देते कि हम तो श्रीनरसीजी के गुमास्ता हैं, हम सरीखे उनके मुनीम कारिन्दा तीन सौ साठ हैं। कई रथों पर सामान लिये हुये श्रीनरसी निवास स्थान पूछकर भगवान वहीं आ गये और बड़ी उमङ्ग के साथ श्रीनरसीजी आदि सभी सन्तों से मिले। इधर नारायण देवर एवं ननद आदि कुँवरबाई से लड़ रही थीं कि समय हो गया और चिट्ठा बनवाया अब देते क्यों नहीं हैं?

लै बजाई तार—श्रीनरसीजी कीर्तन करने लगे—पद—

बारी जाऊँ रे सुन्दर श्याम तारा लटकाने।।
लटके रघुबर रूप धरीने, वचन पितानो पाल्यारे।
लटके जइ रण रावण रोल्यो, लटके सीता बाल्यारे।।
लटके गिरि गोवर्धन तोल्यो, लटके बायौ वंश रे।
लटके जइ दावानल पीधो, लटके मार्यो कंश रे।।
लटके गौ गोकुलमा चारी, लटके पलवट वाली रे।
लटके जइ जमुना मा पेठा, लटके नाथ्यौ काली रे।।
लटके वामन रूपधरी ने, जाच्या वलिने द्वार रे।
त्रण डगलाँ पृथ्वीने काजे, बलि चाँप्यौ पाताल रे।।
एवाँ एवाँ घणाछे लटका, लटका लाख करोड़ रे।
नरसैया ना स्वामी संगे, रमता मोड़ा मोड़ रे।।

अर्थ—हे श्रीश्यामसुन्दर! मैं तेरे लटके पर न्यौछावर जाता हूँ। लटके से ही आपने राम रूप धारणकर पिता के वचन माने। रावण का नाश किया और सीता को वापस लाये। लटके से गोवर्धन उठाया, वंशी बजाई, दावानल पिया और कंस को मारा। लटके से ही गोकुल में गाय चराईं, घर लौटाई, यमुना प्रवेश कर काली का दमन किया। लटके से वामन रूप धारणकर राजा बलि के द्वार पर गये और तीन पग पृथ्वी के लिये उसे पाताल में दबा दिया। ऐसे-ऐसे लाखों-करोड़ों तेरे लटके हैं। नरसी के स्वामी के साथ खेलते-खेलते मन एक रस हो जाता है।

इतने में कौशल्या जोशी के द्वारा श्रीनरसीजी ने यह समाचार भेजा कि सूची के अनुसार सभी लोग इच्छित वस्त्र आभूषण लें। समाचार पाकर पञ्चलोगों के साथ श्रीरंगराय मेहता आए और साँवलशाह से मिले। छूछक दान आरम्भ हो गया। देव, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- ये सभी क्रमशः लेने लगे। स्त्रियों को श्रीरुक्मिणीजी दे रही थीं। रुक्मिणी कुछ रूस रही थीं कि गाँठ जोड़कर छूछक दान होना चाहिये। भगवान ने कहा- तो क्या हो गया, अभी तो पूरा समधी का परिवार बाकी है। नेग चुकाकर ग्रन्थि बन्धन हुआ और समधी-समधिन आदि सभी ने क्रमशः वस्त्राभूषण-भेंट प्राप्त की। गो-वृषभ-अश्व-हस्ती आदि की झूलें, मालायें सोन चाँदी की रत्नों की चीजें मिलने से सभी को परम मोद हो रहा था, पर देवर, ननद, देवरानी, जेठानी को प्रसन्नता के साथ ईर्ष्या हो रही थी कि-''कुँवरबाई अब हम सबसे श्रेष्ठा हो गई। सूची में मेवा, सुपारी आदि नहीं लिखी थीं। उनके भी बहुत से बोरे आये। पुनः श्रीरुक्मिणीजी ने सभी स्त्रियों से मिलकर उनका सत्कार किया। लोग साँवल सेठ और सेठानी को देखकर मोहित हो रहे थे। कुँवरबाई को बहुत प्यार प्राप्त हो रहा था। यत्र-तत्र स्त्रियाँ मंगल-गालियाँ गा रही थीं। साँवल सेठ ने सम्पूर्ण नगर के स्त्री-पुरुषों को भोजन का निमन्त्रण दिया। सारे शहर में पंगत बैठी। ऋद्धि-सिद्धियाँ, देवी-देव आकर दिव्य प्रसाद परोसने लगे। नगाड़े, दुंदुभियाँ बज रही थीं। यत्र-तत्र नृत्य-कीर्तन हो रहे थे। धरती फूली नहीं समा रही थी। प्राणियों के आनन्द का वर्णन कौन करे? भोजन करने वाले लोगों को सोने चाँदी के वे सभी पात्र दे दिये गये। श्रीरंगराय आदि परिवारी लोग साँवल सेठ की महिमा को गाते-गाते नहीं अघाते थे। छोछक देकर साँवल सेठ विदा हो गये।

गाँव पहिरायो, छबि छायौ, जस गायो, अहो हाटक रजत, उभै पाथर हू आये हैं।
रहि गई एक भूले लिखत अनेक जहाँ, ''लेंहौं ताही पास जापै सब मिलि पाये हैं''।।

**बिनती करत बेटी दीजियै जू लाज रहै, दियौ मँगवाय, हरि फेरिकै बुलाये हैं।
अंग न समात सुता तात कौ निरखि रंग संग चली आई पति आदि बिसराये हैं।।४४१।।**

शब्दार्थ—हाटक=सोना। रजत=चाँदी। रंग=प्रभाव, प्रेम।

भावार्थ—श्रीनरसीजी ने गाँव भर के आबाल वृद्ध सभी नर-नारियों को सुन्दर मूल्यवान वस्त्र, आभूषण पहनाये, उससे सब लोग शोभामय हो रहे थे। श्रीनरसीजी की उदारता एवं कीर्ति का यत्र-तत्र-सर्वत्र सभी लोग गान कर रहे थे। बड़ा भारी आश्चर्य तो यह हुआ कि उस चिट्ठे में लिखी सोने-चाँदी की दो शिलायें भी आईं और समधी और समधिन के लिये विशेष भेंट के रूप में प्रदान की गईं। संयोगवश एक स्त्री का नाम सूची में लिखने से रह गया था। उसे पहनावा नहीं मिला। उसने दूसरे से लेना स्वीकार नहीं किया और कहा कि-"जिसने सब स्त्री-पुरुषों को वस्त्राभूषण पहनाये हैं, मैं भी उसी के हाथ से लूँगी। श्रीनरसीजी की कन्या ने अपने पिता से प्रार्थना की कि- इसे भी पहनावा दीजिये जिससे कि मेरी लज्जा रह जाय। श्रीनरसीजी ने प्रभु से प्रार्थना की, तो भगवान फिर आये। वस्त्रादि देकर उसकी कामना पूर्ण की। अपने पिताजी के प्रभाव को देखकर उनकी पुत्री अपने अङ्ग में फूली नहीं समाती थी। अपने पति, सासु-ससुर आदि को भुलाकर वह अपने पिता के साथ अपने घर को चली आई।।४४१।।

व्याख्या—पाथर हू—श्रीनरसीजी ने जब कहा कि- कागज को वापस ले जाओ। भूले चूके के नाम लिखा लाओ। कुँवरबाई आईं तो उस समय क्रोध में भरकर सासु ने व्यङ्ग में कहा था कि "पत्थर" लिख दो। परन्तु साँवलिया ने विशाल सोने-चाँदी के दो लम्बे-चौड़े पत्थर दिये। "रहि गई एक" पड़ोसिन आनन्दी ननद जिसका नाम भानीबाई था, उसे कुछ भी नहीं मिला, अतः देवरानी-जेठानी निन्दा करने लगीं। एक बोली, अगर इसे कुछ न मिला तो हम सब भी नहीं लेंगी। जो मिला है उसे लौटा देंगी। एक बोली- कहाँ है, वह भगत, मैं उसकी करताल छीन लूंगी, कुँवरबाई ने जाकर श्रीनरसी से कहा- तो ये बोले बेटी! मेरे पास तो कपड़े का एक टूक भी नहीं है। करताल है चाहो तो इसे ले जाओ। बाई ने बजाज के यहाँ से एक वस्त्र ला दिया परन्तु उसने नहीं लिया। कहा कि- मैं तो उसी के हाथ से लूँगी। तब श्रीनरसीजी ने भगवान से प्रार्थना की कि आप अपनी नाक बचाओ। मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा। लोग यही कहेंगे कि- भगवान ने नहीं सुधारा। भक्त की बात बिगड़ गई। इस पर-

दृष्टान्त—वृजो भंगिन का—यह श्रीवृन्दावन के गोविन्दजी के मन्दिर की सेविका थी, इसकी बेटी का व्याह था। उस समय इसने मन्दिर के पुजारी गोस्वामी श्रीजगन्नाथजी से जाकर कहा कि- महाराज! आप ऐसा कुछ उपाय कीजिये, जिससे कि श्रीगोविन्ददेवजी की नाक (प्रतिष्ठा) रही आवै। सब काम ठीक से हो जाये। यदि कोई त्रुटि हो गई तो बराती लोग यही कहेंगे कि- ''गोविन्दजी की टहलनी जो विरजो उससे कुछ करते न बना।'' मैं गोविन्द की हूँ, अतः घटती-बढ़ती गोविन्द की होगी। इस बात को सुनकर गोसाईंजी ने ध्यान देकर सब प्रबन्ध किया।'' मैंने छोछक ही दिया, यह अहङ्कार श्रीनरसीजी को नहीं है, अतः कहते हैं कि अपने विरद् की लज्जा रखो। यह प्रार्थना सुनकर पुनः साँवलिया ने प्रकट होकर उसे भी यथेष्ट वस्त्राभूषण दिए। इसी बीच भगवत्कृपा से थान, मुहरें, रुपयों की वर्षा होने लगी। उससे सासु-देवर-जेठानी-देवरानी आदि जिनके मन से द्वेष नहीं जा रहा था। उनके अंगों में चोटें लगीं। छज्जे गिर गये, तब श्रीनरसीजी से प्रार्थना करके लोगों ने वर्षा बन्द कराई। अब सब लोग समझ गए कि साँवल सेठ श्रीद्वारकाधीश ही थे और वे श्रीनरसी के प्रेम के वश में हैं। अपनी भूल पर लोग पछताने लगे। (आज भी खुदाई होने पर उस काल में हुई वर्षा की वस्तुयें मुहरें आदि अंजार में पाई जाती हैं) शाके १४८१ माघ शुक्ल सप्तमी रविवार के दिन यह लीला (ऊना) अंजार में हुई। लोगों ने लेखा-जोखा लगाकर अनुमान से छप्पन करोड़ मुहरों की लागत छोछक में बताई। कुछ ने अनन्त ही माना।

पति आदि बिसराए हैं—लौकिक नातों से केवल लोक व्यवहार सधता है, उससे संसृति चक्र नहीं छूट सकता है। यथा-'गुरुर्न०' (पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१२९) पुनः-''जाके प्रिय न राम बैदेही। सो छांडिये कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।'' (वि० पत्रिका) पुनः छप्पय-''पिता वचन प्रहलाद मेटि अपनो मत ठान्यौ। बलि राजा गुरु वचन नेकु हिरदै नहिं आन्यौ।। दई स्वामि को पीठ विभीषण कुल मरवायौ। गोपिन पतिव्रत छांड़ि कियौ अपनौ मन भायौ।। निगम निरूपहिं निन्द कर्म, लगै नहीं प्रतिवाय। हरि कर्म के साधे जगन्नाथ अधर्म धर्म ह्वै जाय।।'' जैसे शूरवीर मोह को त्यागकर युद्ध में सेना के सन्मुख होता है, उसी प्रकार पति आदि के मोह को त्यागकर भक्त-भगवत् के सन्मुख हो गई। ऐसा ही श्रीनरसी का उपदेश है। यथा-

पद- नारायण नू नाम न लेताँ बारे तेने तजिये रे।
मनसा वाचा कर्म करीने लक्ष्मी वरने भजिये रे।।
कुल ने तजिये कुटुम ने तजिये, तजिये माने बाप रे।
भगिनी सुत दाराने तजिये, जेम तज कंचुकि साँप रे।।
प्रथम पिता प्रहलादे तजियो, न तजियो हरिनाम रे।
भरत शत्रुघ्न तजी जनेता न तजिया श्रीराम रे।।
ऋषि पत्नी ये श्रीहरि काजे सर्व तजीने चाली रे।
भणे नरसैयो वृन्दावन मा, मोहन साथे माली रे।।

सुता हुतीं दोय, भोय भक्ति, रही घरही में एक पति त्याग, एक पतिहू न कियौ है।
पुर मैं फिरत उभै गाइन सुचाइन सौं, धन सौं न भेंट, काहू नाम कहि दियौ है।।
आईं लगीं गाइबे कौं, कही समुझाय, "अहो पायबे को नाहीं कछु पावै, दुख हियौ है।
चाहौ हरि भक्ति, तौ मुँड़ायकै लड़ाय लीजै, कीजै बार दूर, रहीं, प्रेमरस पियौ है।।४४२।।

शब्दार्थ—भोय=लयलीन। गाइन=गाने वाली। सुचाइन=सुन्दर उत्साह से। मुड़ाइ=मुड़ाकर, विरक्त होकर।

भावार्थ—श्रीनरसीजी के कुँवरसेना और रतनसेना नाम की दो पुत्रियाँ थीं। वे दोनों भगवद्भक्ति में मग्न होकर अपने घर में ही रहीं। एक तो विवाह के बाद छूछक का प्रभाव देखकर पति आदि को त्यागकर घर आई और दूसरी ने तो विवाह ही नहीं किया। किसी दिन गा-बजाकर जीविका चलाने वाली दो स्त्रियाँ जूनागढ़ शहर में आईं और यत्र-तत्र उन्होंने लोगों को अपना कलात्मक गान सुनाया। वे सारे नगर में घूमीं, परन्तु उन्हें धन की प्राप्ति नहीं हुई। उन्हें निराश देखकर किसी ने श्रीनरसीजी का नाम पता बतला दिया। वे दोनों श्रीनरसीजी के द्वार पर आकर गाने लगीं। तब आपने उन्हें समझाकर कहा कि यहाँ तुम्हें थोड़ा भी धन नहीं मिलेगा। इससे तुम्हारा मन दु:खित होगा। यदि कदाचित् तुम्हें भगवत्प्रेम प्राप्त करने की इच्छा हो तो सिर मुड़वाकर विरक्त शिक्षा-दीक्षा लेकर भगवदाराधन करो, शिर से बालों को दूर करो। दोनों को इनकी शिक्षा अच्छी लगी, उसे मानकर दोनों नरसीजी के यहाँ ही रहने लगीं और भजन-कीर्तन सत्संग के प्रभाव से उन्हें भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो गई, दोनों उसका रसास्वादन करने लगीं।।४४२।।

व्याख्या—सुता हुतीं दोय—कुँवरसेना और रतनसेना। दूसरी ने अपना व्याह नहीं किया। उसका कारण बताते हैं ''भोय भक्ति'' -''वह नरसीजी और सन्तों के संग भक्ति में सर्वथा निमग्न हो गई। जीवन का परम फल मिल गया। व्याह करके पति की सेवा से जो फल होता, वह पहले ही मिल गया। संसारी सुख की इच्छा नहीं थी, अतः व्याह नहीं किया। ''एक पति त्याग'' -धर्मशास्त्र का आदेश है कि-''नारी तजै न आपनो सुपने हू भरतार। पंगु गूंग बौरा बधिर अन्ध अनाथ गँवार।। अन्ध अनाथ गँवार वृद्ध वौना अति रोगी। बालक षण्ड कुरूप सदा कुवचन जड़ जोगी।। कलही कोढी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी। अधम अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी।।'' परन्तु जो पति आदि हरिभक्ति में अति बाधक हों उन्हें त्यागकर यदि सच्चाई से पवित्रता से पिता आदि गुरुजनों के आश्रित रहे तो दोष नहीं। यथा-''बलि गुरु तज्यौ कन्त व्रज बनितन भे मुद मंगलकारी।।'' (वि०) जहाँ निरन्तर भक्तिमय वातावरण है, वहाँ अपने पिता के पास आई। इससे ''पति आदि विसराए'' का दोष नहीं लगा। ''अँग न समात''-पिताजी की भक्ति का अद्‌भुत, अतुल, विलक्षण रङ्गप्रेम जिसके अधीन सर्वेश्वर हैं, उसे देखकर फूली नहीं समती थी। श्रीरङ्गजी आदि को वास्तविकता का बोध हुआ तो उन्होंने अपने को धन्य माना। इस प्रकार-''गुज्जर धर पावन करी'' भक्त-भगवन्त चरण-स्पर्श से और लीला द्वारा कीर्ति से सदा-सदा के लिए उस भूमि को प्राणियों की हृदय भूमि को श्रीनरसीजी ने पावन किया।

उभै गाइन—नृत्य-गान और बाजे बजाकर जीविका चलाना निन्दनीय है। वही भगवत्प्रीत्यर्थ वन्दनीय है। नीच लोग ही नाच-गाकर जीविका चलाते हैं। उसमें भी स्त्री यदि नृत्य-गान करके भिक्षा माँगे तो अत्यन्त ही अनुचित है, क्योंकि भिखमंगी और गायिका का चरित्रवती होना असम्भव है। यथा-''क्वचिद् गीतवती सतीं।'' -''गाने वाली स्त्री शायद ही कोई सच्चरित्रा हो सकती है।'' गा-गाकर माँगने पर भी वे भूखी थीं। परमार्थ से तो वे दोनों सर्वथा अपरिचित ही थीं। ऐसा उन दोनों को जब आपने देखा तो उन पर आपको बड़ी दया आई और उनके उद्धार का सत्सङ्कल्प करके आपने कहा कि-''मेरे यहाँ लौकिक स्वार्थ सिद्धि का कुछ भी साधन नहीं है। प्रेमाभक्ति चाहे तो रहकर गोविन्द को लड़ाओ। तुम्हारा गाना-नाचना लोक के रिझाने में जितना निन्दनीय है। वह भगवान को रिझाने में अत्यन्त वन्दनीय हो जायेगा।'' आपने उन्हें ''कही समुझाय''-पद-

हरि हरि रटण कर कठिन कलिकाल माँ दाम वेसे नहीं काम सरसे।
भक्त आधीन छे श्यामसुन्दर सदा ते तारा कारज सिद्ध करसे।।
अल्प सुख सार सूँ मूढ फूल्यौ फिरै शीस पर काल रह्यौ दन्त करडे।
पामर पलकनी खबर तुजने नहीं मूद सूं जोइने मूँछ मरडे।।
प्रौढ पापे करी बुद्धि पाछी करी पर हरी थड शृं डाले बलग्यौ।
ईशने ईर्ष्या छे नहीं जीवपर आपणे अवगुणे रह्यौ रे अलग्यौ।।
परपंच परहरो सार हिरदय धरो उचरो हरि मुखे अचल वाणी।
नरसैया हरितणी भक्ति भूलीश भक्ति बिना बीजुं धूलघाणी।।

भगवद्-भक्ति से भिन्न संसार के दूसरे कर्मों में आसक्ति कर कोल्हू में धूलि की घानी डालकर पेलने के समान है। यह सुनकर वे श्रीनरसीजी की शरणागत होकर रह गईं। ''प्रेमरस पियौ है''-क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। यथा-पद-

भूतल भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोक मां नाहीं रे।
पुण्यकरी अमरापुरी पाम्या, अन्त चौरासी माहीं रे।।
हरिना जन तो मुक्ति न मांगे, मँगे जन्मोजन्म अवताररे।
नित सेवा नित कीर्तन उच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे।।
भरतखण्ड भूतल मां जनमी, जेणे गोविन्दना गुण गायारे।
धन धनरे एना मात पिताने, सफल करी एना कायारे।।
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए व्रजना बासी रे।
अष्ट महासिद्धि आंगणियेरे ऊभी, मुक्तिछे एमनी दासीरे।।
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कोइ एक जाणे व्रजनो गोपी, भणे नरसैयो भोगी रे।।

विशेष—श्रीनरसीजी निरन्तर भजन कीर्तन में मग्न रहते। धन्धा रोजगार का नाम नहीं, वेष गरीबों का सा, परन्तु नित्य साधु-सेवा और समय-समय पर राजाओं के से खर्च, यह देखकर लोग हैरान हो जाते। रहस्य समझने में असमर्थ थे। छोछक देने से इनकी कीर्ति कौमुदी का प्रकाश सारे लोक में फैल गया। इससे विमुखों की ईर्ष्या और अधिक बढ़ गई। नागर जाति के लोगों ने एक षड्यन्त्र रचा जिसमें बड़े भाई वंशीधर और मुखिया सारंगधर प्रमुख थे। इन्होंने चञ्चला नाम की सुन्दरी वेश्या को लालच देकर श्रीनरसीजी को बदनाम कराना चाहा। वह श्वेत वस्त्र माला और गोपीचन्दन का तिलक करके सायंकाल आरती के समय

गई। कीर्तन में सम्मिलित हुई तन्मय-सी हो गई। भक्तों ने उसे भी भक्ता समझा। आसन लगाने का स्थान बता दिया। सबके सो जाने पर मेरी वेदना सुन लो ऐसा कहकर अपने पाश में फाँसने की चेष्टा करने लगी। श्रीनरसीजी तो काला कम्बल थे, उन पर रंग नहीं चढ़ा। अब इन्होंने संसार की देह की और रूप की नश्वरता का बोध कराया और कहा कि- ''न जातु कामः कामानमुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'' (मनुस्मृति) अर्थ-''घृत की आहुति से अग्नि विशेष प्रज्वलित होता है। इसी प्रकार इच्छाओं की तृप्ति करने से वे भयङ्कर रूप धारण करके मनुष्य का सत्यानाश करने में सहायता करती है। पुनः पिंगला का उपाख्यान सुनाकर कहा कि-''सच्चा सुख भगवत्प्रेम में है। संसार का सुख क्षणिक एवं मिथ्या है।

चञ्चला निश्चला हो गई। अपनी भूल-अपराध क्षमा कराती हुई शरणागत हुई। वेश्यावृत्ति का परित्याग कर नित्य कीर्तन में आने लगी। सच्चा वेष ले लिया, भक्ता बन गई। चार छः दिन बाद सारंगधर ने आकर देखा तो दंग रह गये। यह क्या, ऐसा वेष क्यों? उसने कहा-''सारंगधरजी! जो दूसरों के लिए गड्डा खोदता है, वह स्वयं उसमें गिरता है। तुम चन्द्रमा पर थूककर उसे अपवित्र न कर सकोगे बल्कि स्वयं अपवित्र हो जावोगे। किसी सन्त को झूठा इल्जाम लगाकर तुम सुखी नहीं रह सकते। यह सुनकर चञ्चला को भी चार खरी-खोटी सुनाकर सारंगधर चले तो मार्ग में उन्हें साँप ने डस लिया, अचेत हो गये। मरा समझकर लोग श्रीनरसीजी के पास लाये। आप बोले-''मरे को जीवित करना मेरे वश की बात नहीं है। मैं इसके मुँह में चरणामृत डालता हूँ। प्रभु चाहेंगे तो जीवित कर देंगे। नामोच्चारण पूर्वक अकाल मृत्युहरण पादोदक से वह जीवित हो गया। परन्तु अपने को नरसी के यहाँ देखकर क्रोध से जल उठा और चुपचाप अपने घर चला आया। अब भी उसका हृदय शुद्ध नहीं हुआ। उससे विरोध कराकर भक्त की कीर्ति का विस्तार कराना प्रभु को अभीष्ट था। इस प्रकार के चमत्कारों से विमुख लोग श्रीनरसीजी को एक जादूगर से अधिक मान्यता नहीं देते थे। जादू के बल से ही साँप से कटवाया और फिर जीवित किया। ऐसा मानकर मन में और अधिक द्वेष बढ़ा लिया। नरसीजी का मामा अनन्तराय (सालंग) वह भी इसी विचार के थे। सारंगधर ने कहा-''अनन्तराय! तुम्हारी स्त्री भी नरसी के यहाँ कीर्तन में जाती है और बीच में अपने हाथ से उसे पानी पिलाती है। यह सुनकर दूसरे दिन वह स्वयं कीर्तन में गया और पानी पिलाते देखा तो घर आकर स्त्री को डाटा-फटकारा और कहा कि-''अब कभी कीर्तन में मत जाना।'' उसने नहीं माना,

जाने लगी। तब इसे कमरे में बन्द करके स्वयं कीर्तन में यह देखने गया कि- आज उसकी टेक कैसे निभेगी, दूसरे के हाथ से पानी पीना पड़ेगा। समय पर देखा तो अपनी स्त्री ही पानी पिला रही है। घर आकर देखा तो पूर्ववत् ताले में बन्द है और ''राधे कृष्ण राधे कृष्ण'' रट रही है। जादू का कमाल समझकर दंग रह गया।

मिलीं उभै सुता, रंग झिली संग गायन वै चायनि सौं नृत्य करै, भायनि बताय कै।
''सालंग'' है नाम मामा मण्डलीक मन्त्री रहै कहै ''बिपरीत बड़ी'' राजा सों सुनाय कै।।
बड़े-बड़े दंडी और पण्डित समाज कियौ, करौ वाकी भंडी, देश दीजिए छुटाय कै।
आये चार चोबदार चलौ जू बिचार कीजै, भयौ दरबार हमैं दिये हैं पठाय कै।।४४३।।

शब्दार्थ—भंडी=अपमान, हानि, भण्डाफोड़। चोबदार=सिपाही। चायनि=चाव, प्रेम से। भायनि=भावों को। मण्डलीक=बड़ा राजा। दण्डी=दण्डधारी, संन्यासी।

भावार्थ—श्रीनरसीजी की दोनों पुत्रियाँ और दोनों गायिकायें मिलकर एक साथ रहने लगीं। प्रेमा-भक्ति के रंग में रंगकर चारों साथ-साथ हरिनाम गुण संकीर्तन करतीं और भावों को बता-बताकर नृत्य करतीं। इससे सबको बड़ा आनन्द आता। परन्तु इस नृत्य-गान को देखकर ''सालंग'' नाम के राज्यमंत्री जो श्रीनरसीजी के मामा भी लगते थे, उन्होंने राजा से इनकी निन्दा करते हुए कहा कि-''बड़ा अनुचित, धर्म के विपरीत काम हो रहा है, मेरा भान्जा नरसी स्त्रियों को एकत्र करके उनके साथ नाचता-गाता है।'' राजा से उचित कार्यवाही का आदेश लेकर सालंग ने बड़े-बड़े पण्डितों और दण्डधारी संन्यासियों की सभा बुलाई और उनसे कहा कि-''आप लोग नरसीजी से शास्त्रार्थ करके उसका भण्डाफोड़ कीजिये, शास्त्र विरुद्ध अधर्मी सिद्ध करके हम उसे अपने राज्य से बाहर निकाल देंगे। राजा की आज्ञा से चार सिपाही आये और नरसीजी से बोले-''आप राजदरबार में चलिये, राजा साहब ने आपको बुलाया है, वहाँ पण्डितों की सभा में आपसे कुछ शास्त्र विचार करना है। इसी से राजा ने हमें आपको बुलाने के लिये भेजा है।।४४३।

व्याख्या—विपरीत बड़ी—श्रीनरसीजी के बड़े भाई वंशीधर, मामा अनन्तराय (सालंग) और सारंगधर इन नागर जाति के प्रमुख लोगों ने राजा से शिकायत की अपने जादू से द्वारा कई स्त्रियों को नरसी ने अपने वश में कर लिया है, चञ्चला वेश्या भी नित्य उनके यहाँ आती-जाती है। वह बड़ा अनाचारी है। मिथ्या भक्ति का दम्भी है। प्रतिष्ठित लोगों की बातों पर विश्वास

करके राजा ने बुलवाया। सालंग ने सभा का आयोजन किया। कई दण्डी और बड़े-बड़े पण्डितों को रुपयों का लोभ देकर शास्त्रार्थ के लिये उन्हें तैयार किया।

चारौं तुम जावो टरि, भयौ हमैं राजा डर, सकै कहा करि? अजू चलैं संग-संगहीं।।
नाचत बजावत ये चलीं ढिग गावत सुभावत मगन जानी भीजि गईं रंगहीं।।
आये वाही भांति, सभा प्रभा हत भई, तऊ बोले कहा रीति यह जुवती प्रसंग हीं।
कही ''भक्ति गंध दूरि, पढ़े पोथी, परी धूरि, श्रीशुक सराही तिया माथुरनि भंगहीं।।४४४।।

शब्दार्थ—भंगहीं=धिक्कारहीं।

भावार्थ—सिपाहियों के मुख से राजा की आज्ञा सुनकर श्रीनरसीजी ने उन चारों लड़कियों से कहा कि-''तुम लोग यहाँ से कहीं अलग चली जाओ। हमें राजा से भय उपस्थित हो गया है।'' उन सबों ने कहा कि-''पिताजी! आप भयभीत न हों, राजा हमारा क्या कर लेगा, हम सब भी आपके साथ-साथ ही राजदरबार में उपस्थित होंगी। ऐसा कहकर वे सब नाचती, गाती, बजाती हुई श्रीनरसीजी के साथ चलीं। भगवत्प्रेम में मग्न होकर मनमाना श्रीहरिनाम संकीर्तन करती हुई, उस रङ्ग में सराबोर हुई सबों को साथ लिए नाचते-गाते हुए श्रीनरसीजी दरबार में पहुँचे। राजसभा में उपस्थित विरोधियों की मुख कान्ति फीकी पड़ गई। सभी लोग उदास हो गये, फिर भी पण्डितों ने आपसे पूछा कि-''आप इन तरुणी स्त्रियों के साथ नाचते-गाते हैं, उन्हें साथ लिए फिरते हैं। यह कौन से शास्त्र में लिखा है, ऐसी यह भजन-साधन की कौन-सी रीति है?'' श्रीनरसीजी ने कहा-''आप लोगों ने जो वेद-शास्त्र पढ़े हैं, उस सब पर धूल पड़ गई। पढ़-लिखकर भी आप भगवद्-भक्ति की गन्ध से दूर हैं। आप लोगों को मालूम होना चाहिये कि श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मणों की स्त्रियों की बड़ी प्रशंसा की है। [वे अपने पतियों की अनुमति के बिना, मना करने पर भी अनेक प्रकार के पक्वान्नों को लेकर भगवान के समीप गईं] पुनः उनके पतियों ने भी अपने को धिक्कारा और भक्ता स्त्रियों की प्रशंसा की।'' इसलिए भजन, सत्सङ्ग में स्त्री-पुरुषों का एकत्र होना कदापि निन्दनीय नहीं है।।४४४।।

व्याख्या—राजा डर—राजा लोगों को राज्य का मद रहता है, अतः वे अपनी आँखों से न देखकर दूत-गुप्तचर और चुगलखोर की बातों पर भी कभी-कभी पूरा विश्वास करके अदण्डनीय को भी दण्ड दे देते हैं-''गावो पश्यन्ति घ्राणेन, वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः। चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः।।'' अर्थ-''गो आदि पशु नाक से सूँघकर देखते हैं।

पण्डित लोग वेदों के द्वारा देखते हैं और राजा अपने दूतों के द्वारा देखते हैं और सामान्य लोग अपनी आँखों से देखते हैं।'' श्रीनरसीजी समझ गए कि लोगों ने शिकायत की है, अतः तुम सब स्त्रीजन यहाँ से कहीं अलग दूर हट जाओ। क्योंकि तुम्हारा स्वभाव भीरु होता है। उन सबने कहा–''सकै कहा करि''–पृथ्वी का राजा क्या चीज है। स्वर्ग के देवगण जिनसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी होती है। उनसे भी हमें भय नहीं है। यथा–''ईति भीति ताकौ कहा होत अनीति सुनीति। प्रीति करै जासों सदा मीत चोर नवनीत।।'' पुनः– ''निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।'' जो स्वयं किसी का विरोधी नहीं है। उसे किसी से भय नहीं होता है।

जुवती प्रसंगही—उच्चस्वर से नाम सङ्कीर्तन के प्रभाव से सभा में शास्त्रार्थ करने वालों की प्रभा क्षीण हो गई। फिर भी उन्होंने श्रीनरसीजी से कहा कि–'पुरुष को परस्त्री का संग नहीं करना चाहिये।'' यथा–

न तथास्य भवेन्मोहो वन्धश्चान्य प्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः।।
सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो, वदन्ति या निरयद्वारमस्य।।

(भा० ३/३१/३५, ३९)

अर्थ—(भगवान श्रीकपिलदेवजी कहते हैं कि– इस जीव को किसी और का संग करने से ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता है, जैसा कि स्त्री और स्त्री का संग करने वालों के संग से होता है। पुनः– जो पुरुष योग के परमपद पर आरुढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा–अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियों का संग कभी भी न करे। क्योंकि उनके लिए स्त्री नरक का खुला द्वार बताया गया है। पुनः–ब्रह्मा आदि भी मोह को प्राप्त हुए। ''नारि विष्णु माया प्रगट।'' फिर आप परस्त्रियों का संग्रह एवं उनके साथ नाचना–गाना सरीखा अनाचार क्यों करते हैं।

कही भक्ति गन्ध दूरि०—''काम, क्रोध, मद, मोह को जब लगि घट में थान। तब लगि पण्डित मूरखा दोनों एक समान।।'' भक्ति की क्या चले आप लोगों को भक्ति की गन्ध भी नहीं मिली है। इसीलिए गुणों में भी दोष दिखाई पड़ते हैं। ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति केवल पोथियों के पढ़ने मात्र से नहीं होती है, अतः ''पढ़े पोथी परी धूरि'' पढ़कर यदि विवेक को नहीं उत्पन्न किया गया तो पढ़ने पर धूरि पड़ गयी। पढ़ना व्यर्थ हो गया।

"विद्या विनु विवेक उपजाये।" (देखिये उ०प्र०-६९०) पुनः-"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। नयनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति।।" अर्थ-जिसे स्वयं सद्बुद्धि नहीं है, उसको शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ? जैसे अन्धे को दर्पण से क्या लाभ? (जिज्ञासुओं के **दृष्टान्त देखिये पूर्वार्द्ध** पृष्ठ-४३) सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता के उपदेश सालों पढ़ने-सुनने के बाद भी एकान्त में केले खाकर आ गए। उन्हें वहाँ ब्रह्म की प्रतीति नहीं थी। क्योंकि उन्हें स्वयं सद्बुद्धि न थी। पुनः-"यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। तथाल्पविज्ञाः श्रुतिशास्त्र योगान्मद्भक्तिहीना खरवद् वहन्ति।।" जैसे गधा केवल भार का ही अनुभव करता है, पीठ पर चन्दन है इसका उसे ज्ञान नहीं रहता है।" ऐसे ही अल्पज्ञों को शास्त्र भार रहता है पर रहस्य का ज्ञान सत्संग से ही सज्जनों को होता है।

श्रीशुक सराही०—यथा-"अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ। दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्।। नासां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि। न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः।। अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे यागेश्वरेश्वरे। भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादि मतामपि।।" श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि उन ब्राह्मणों ने कहा- बड़े आश्चर्य की बात है। देखो तो सही यद्यपि ये स्त्रियाँ हैं, तथापि जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण में इनका कितना अगाध प्रेम है, अखण्ड अनुराग है। उसी से इन्होंने गृहस्थ के मोह की कड़ी फाँसी भी काट डाली, जो मृत्यु के साथ भी नहीं कटती है। इनके न तो द्विजाति के योग्य यज्ञोपवीत, गायत्री और यज्ञ सम्बन्धी संस्कार हुए हैं और न तो इन्होंने गुरुकुल में ही निवास किया है, न इन्होंने तपस्या की है और न आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विवेक-विचार ही किया है। इनकी बात तो दूर रही, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो शुभ कर्म ही। फिर भी समस्त योगेश्वरों के ईश्वरों के ईश्वर पुण्यकीर्ति भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में इनका दृढ़ प्रेम है और हमने अपने संस्कार किए हैं। फिर भी प्रभु के चरणों में हमारा प्रेम नहीं है।

माथुरनि भंगही—"धिग्जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग्वृतं धिग्बहुज्ञताम्। धिक्कुलं धिक्क्रिया दाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे।।" (भाग० १०/२३/३९) अर्थ- ब्राह्मण पछताकर अपनी निन्दा करने लगे। हाय! हम भगवान श्रीकृष्ण के विमुख हैं। बड़े ऊँचे कुल में हमारा जन्म हुआ। गायत्री लेकर हम द्विजाति हुए। वेदाध्ययन करके हमने बड़े-बड़े यज्ञ किए, परन्तु वह सब किस काम का? धिक्कार है, धिक्कार है। हमारी विद्या व्यर्थ गई। व्रत, बहुज्ञता, ऊँचे वंश में जन्म और कर्मकाण्ड में निपुणता सबको धिक्कार है।

पशू गढन्ते नर भए भूली श्रृङ्ग व पूँछ।
तुलसी हरिकी भगति बिन धिग दाढ़ी अरु मूछ।।

(आसामहो० देखिये ४०४ पूर्वार्द्ध)

इस प्रसङ्ग में सूरदास का पद पठनीय है—

हम सबै मन्द भाग भगवान सों विमुख भए धन्य वे नारि गोविन्द पूजे।
मूँदि रहे नैन हम सबै उलूक ज्यौं भानु भगवान आए न सूझे।।
संग गोधन लगे खेल रस रङ्ग में भोरके निकसि भूखे हि आए।
देहु तौ भात कर जोरि ग्वालन कह्यौ, अहो भूदेव तुम पै पठाए।।
केवल करुणा ढरनि प्रात भोजन करनि, निगम हू अगम महिमा बतावै।
कहाँ प्रभु की यचनि हमरे मद की मचनि, देवकी रचनि कछु कहि न जावै।।
शौच आचार गुरु कुलहिं सेवा कछू कुटिल करकस हिए बुद्धि दीनी।
देखो इन तियन को भाग या जगत में सच्चिदानन्द के रङ्ग भीनी।।
उमँगि पहिले चलीं पार संसार के साँवरो कुँवर हिय माँझ पोयो।
धरि रहे कूर सुरलोक आशा अलप पाय अमी आश अमृत निचोयौ।।
तिया कौतुक मिली कछुक जानी चली, कमलिनी हियो मन ना मिलावैं।
शेष त्रिपुरारि ब्रह्मादि सनकादि सुक चरण की रेणु शिरपर चढ़ावैं।।
जदपि नारायण अवतार जदुकुल विषे सुन्यौ बहु भाँति तौ मन न आए।
देखो या दैवकी माया अति मोहिनी, दई दृग धूरि हम सब भुलाए।।
धिग् जन्म जाति कुल क्रिया स्वाहा स्वधा जोग जग्य जपतप सकल धिक् हमारे।
ज्ञान विग्यान धर्म कछु कर्म नहीं ईश पद विमुख आरम्भन सारे।।
गृहागार संसार दुख संभवै मिथुन मृग निरमयो मन मिलावै।
सूर की शोर हरि विमुख जग में बड़े बुझि गयौ दीप जब बड़ कहावै।।

श्रीनरसीजी ने कहा- अज्ञानवश दुष्ट स्त्री-पुरुषों के साथ किया हुआ जो सङ्ग वह संसार-बन्धन का कारण होता है। वही विवेकपूर्वक सज्जन स्त्री या पुरुष के साथ किए जाने पर असङ्गता अर्थात् मोक्ष प्रदान करता है। यथा-"सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया। स एव साधुषु कृतो निसंगत्वाय कल्पते।।" (भा० ३/२३/५५) पुनः-आपने कहा कि स्त्री का संग नरक का द्वार है। मैं कहता हूँ कि कुसंग नरक का द्वार है और सत्संग वैकुण्ठ का द्वार है। यथा-"प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः। स एव साधुषु

कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्।।'' (भा० ३/२५/२०) अर्थ-''विवेकी लोग संग या आसक्ति को आत्मा का न कटने वाला बन्धन मानते हैं किन्तु वही संग या आसक्ति सन्तों के साथ हो जाती है, तो मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है।'' मैं अपने कीर्तन या सत्संग में किसी को बुलाता नहीं हूँ और जो आ जाता है उसे भगाता भी नहीं हूँ। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या शूद्र। चञ्चला वर्तमान में सदाचारिणी है। मेरे समीप रहने वाली जो दो अन्य स्त्रियाँ हैं वे भी सच्चरित्रा हैं। मैं सबको पुत्री या माता के समान मानता हूँ। जब दुष्कर्मों को त्यागकर कोई ईश्वर को भजता है तो वह साधु ही है। यथा-''अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।'' यह गीता का श्लोक प्रमाण है। मुझे किसी भी दण्ड से भय नहीं है। आपको मेरी बात झूठ और इन भाइयों की बात सत्य प्रतीत हो रही हो तो मुझे दण्ड ही दीजिये।

बोलि उठ्यौ बिप्र एक ''छूछक प्रसंग देख्यौ'', कह्यौ रसरंग भरयौ ढर्‌यौ नृप पांय में।
कही ''जू विराजौ, गाजौ नित सुख साजौ जाय, किये हरि राय बस, भीजे रहौ भाय में''।।
धारौ उर और सिरमौर प्रभु मन्दिर में सुन्दर केदारौ राग गावै भरे चाय में।
स्याम कंठ माल टूटि आवत रसाल हियें देखि दुख पावैं परे विमुख सुभाय में।।४४५।।

शब्दार्थ—गाजौ=प्रसन्न, प्रफुल्लित रहौ।

भावार्थ—श्रीनरसीजी के सच्चे उत्तर से विरोधी पण्डित मौन हो गये, और कुछ भी उत्तर दे न सके। इसी बीच सभा में उपस्थित एक भक्त ब्राह्मण ने कहा- राजन्! जब ये अपनी बेटी के यहाँ छूछक देने गये थे। उस समय मैंने अपनी आँखों से इनका प्रभाव देखा था। ऐसा कहकर उसने उमंग में भरकर छूछक की कथा विस्तार पूर्वक वर्णन किया। इसे सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ और श्रीनरसीजी के चरणों में गिर पड़ा और प्रार्थना करता हुआ बोला-''आप अपने घर को जाइये और सुखपूर्वक रहिये। आपने सर्वेश्वर प्रभु को अपने वश में कर रखा है, उन्हीं के भक्ति-भाव में सदा-सर्वदा निमग्न रहिये। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि- एक और प्रसंग सुनिये, सुनकर उसे हृदय में धारण कीजिये। भक्तश्रेष्ठ श्रीनरसीजी भगवान के मन्दिर में श्रीविग्रह के समक्ष जब सुन्दर 'केदारा' राग बड़े उत्साह के साथ गाते थे, तो उस समय भगवान के कण्ठ की फूल-माला अपने आप टूटकर रसिक शेखर के वक्षःस्थल पर आ जाती थी। आशीर्वाद-प्रसाद रूप माला को अपने हृदय में धारण कर श्रीनरसीजी कृतार्थ होते थे और उनसे द्वेष करने वाले भगवद्विमुख अपने स्वभाववश दुःख पाते थे।।४४५।।

व्याख्या-बोलि उठ्यौ विप्र एक छूछक प्रसङ्ग-

अति जर्जर जीरन बाहन बैल हैं, छोछकके हित फेंट कसी हैं।
तहँ सोरह सूरन सङ्ग नचैं मिरदङ्ग बजैं लखि नारि हँसी हैं।।
प्रभु कृष्ण कृपा मुहरैं बरसीं सरसी सब सृष्टि सुता हुलसी हैं।
छकि छोछक पायके पाँय परैं कहैं अद्भुत भक्त भए नरसी हैं।।१॥
मन भावत भूषण वस्त्र लहे, सब तृप्त भए जड़ता जलपी हैं।
अठ सिद्धि नवो निधि लच्छि विलोकत, ऊसरमें सरधा पनपी हैं।।
प्रभु प्रेम छके न छिपाये छिपै, सबके उर छोछक छाप छपी हैं।
हम लाख लखे बहु जोगी जती, पर क्वौ नरसी सम नाहिं जपी हैं।।

नृप पायँ में—यद्यपि विरोधी प्रतिष्ठित थे, सरकारी अधिकारी भी थे फिर भी उनकी बातें झूठीं सिद्ध हुईं। "कलिश्च कलहप्रियः" अर्थात् कलियुग को कलह प्रिय है अतः उन लोगों ने दोष लगाया, परन्तु कलियुग और कलियुगी पुरुष ये सच्चे भक्त का कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। यथा-"कलियुग की अरु कृष्ण की पड़ी एक ही रास। कृष्ण कृष्ण रटते रहो कलि नहिं आवै पास।।" अतः राजा चरणों में पड़ गया। "हरिराय वश" अहं भक्त पराधीनः। अम्बरीष प्रसंग।

"केदारौ राग गावै"—भगवान के गुणों को गाने से प्रेम बढ़ता है, प्रभु प्रसन्न होते हैं। मन की तल्लीनता होती है, अतः गायन भी भक्ति का एक अंग है। इसी से इसकी महिमा विशेष है—जैसे (लिंग पुराण में)- "ब्राह्मणोवासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम्। हरे सालोक्य-माप्नोति रुद्रगानाधिकं भवेत्।।" रुद्रगान से बढ़कर वासुदेव नामक परम गान को नित्य गाने वाला भक्त सालोक्य मुक्ति (वैकुण्ठ) को प्राप्त करता है।

परे विमुख सुभाय में—"जाको जथा सुभाव मिटै नहिं जीव सों। नीम न मीठी होय सिंचौ गुड़ घीव सों।।" वेश्या पर सत्सङ्ग का रङ्ग चढ़ गया परन्तु कुई नागर विद्वानों पर नहीं चढ़ा। उसका कारण यह है कि उनके हृदय कठोर थे। "नेह नरम सबको करै है ऐसो बरजोर। खोजी कोरे ही रहैं द्विज सिध हृदय कठोर।।" नकली लौकिक सिद्धों का हृदय कठोर होता है अतः उन पर सहज में रङ्ग नहीं चढ़ता है। दो०-"कहा भयौ इक संग रहे, जड़ सुभव नहिं जाय। फूल पात इक डार में कस नहिं पात बसाय।। नित प्रति दरशन साधु के नित उठि उत्तम संग। तुलसी कौन वियोग ते लगत न हरि को रंग।। मन तौ रमे संसार में तन है साधुन संग। तुलसी यही वियोग ते नहिं लागै हरि रंग।।"

नृपति सिखायौ जाय, वृथा जस छायौ, काचे सूत में पुहायौ हार, टूटै ख्यात करी है।
माता हरिभक्त भूप कही जिनि करौ कान, तऊ बानि राजस की माया मति हरी है।।
गयौ ढिंग मन्दिर के सुन्दर मँगाय पाट तागौ बटवाय करि माला गुहि धरी है।
प्रभु पहिराय कहौ ''गाय अब जानि परै'' भरै सुर, राग और गायौ पै न परी है।।४४६।।

शब्दार्थ—पाट=रेशम।

भावार्थ—द्वेषी दुष्टों ने जाकर राजा को सिखाया-पढ़ाया कि- नरसी की भक्ति का जो प्रभाव चारों ओर फैला है, वह झूठा है, उसमें सच्चाई कुछ भी नहीं है। भोले भाले लोगों को ठगने का जाल है। कच्चे डोरे में फूलों की माला पुहवाकर भगवान को पहनाता है, वह अपने आप फूलों के भार से टूट जाती है और प्रचार यह किया जाता है कि- केदारा राग पर रीझकर भगवान देते हैं। राजा की माता भगवद् भक्ता थीं, उन्हें भगवद्भक्तों में विश्वास था। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र राजा से कहा-''तुम इन विमुखों की बातों को बिल्कुल न सुनो और न ध्यान दो।'' परन्तु राजा ने माताजी की बात नहीं मानी क्योंकि उनका स्वभाव राजसी एवं अहङ्कारी था। माया ने बुद्धि को हर लिया था। एक दिन राजा उस मन्दिर में गया जहाँ नरसीजी केदारा राग गाकर माला प्रसाद प्राप्त करते थे। उसने बहुत मजबूत रेशम मँगवाई और उसे बटवाकर उसका डोरा बनवाया। फिर उसमें फूलों को गुँथवाकर माला बनवाई। उसे भगवान को धारण करवाकर कहा कि- अब केदारा राग गाइये, सब मालूम पड़ जायेगा। श्रीनरसीजी ने नित्य नियम के अनुसार स्वरों को साधा और केदारा राग को छोड़कर दूसरे-दूसरे राग गाए परन्तु माला टूटकर नहीं गिरी।।४४६।।

व्याख्या—नृपति सिखायौ०—भगवान श्रीनरसीजी की कीर्ति को बढ़ाकर संसार में भक्ति का प्रचार कराना चाहते हैं, अतः उन्हीं की प्रेरणा से इन विमुखों ने पुनः राजा से शिकायत की। वे लोग अपने समान ही इन्हें जानते थे कि- जैसे हम अपने मिथ्या गुणों से अपने सुयश का विस्तार करते कराते हैं, वैसे ही नरसी कर रहे हैं।

जिनि करौ कान—माता ने कहा कि- विमुखों की मानने से भक्तापराध होगा। उससे हित की हानि होगी। वह तो सदा निन्दा ही करता है। यथा-

ध्यान धरै बक ध्यान बतावत, ग्यान कथे बकवादी कहै।
रहे मौन तौ मूरख पूजा विधान तें आछौ यहै रुजगार गहै।।

''परमानँद'' जौ परचौ कछु देखहिं, चेटक ही ठहरावत हैं।
कलि के शठ साधुन की मन में इक निन्दा नवीन धरे ही रहैं।।

अगर श्याम के भृत्यसन दुनी देत घिसि जात। आकाशे विजुरी खिवै खरी चलावै लात।। खरी चलावै लात विमुख कृत भक्तन निन्दा। उलटि परै त्यहि छार छार परसै नहिं चन्दा।। ज्यौं छाया उपहार प्रहार न लागै तनको। त्यौं जग को उपहास नहीं पहुँचै हरिजन कौ।।''

मायामति हरी है—जिस हृदय में भक्ति नहीं है, वहाँ मायादेवी अपना भरपूर विस्तार करती हैं। बड़े-बड़े मुनियों को भी मोहित कर लेती हैं। यथा-''माया विवश भए मुनि मूढा। समझी नहिं हरि गिरा निगूढा।।'' जो मायावश है उसकी समझ उलटी हो जाती है। सत्य को ही असत्य समझने लगता है।

विमुख प्रसन्न भये, तब तौ उराहने दै नये नये चोज हरि सनमुख भाखिये।
जाने ग्वाल बाल एक माल गहि रहे हिये, जिये लाग्यौ यही रूप, कहौ लाख लाखिये।।
नारायण बड़े महा, अहो मेरे भाग लिख्यौ, करै कौन दूरि छबि पूर अभिलाखिये।
म्हारौ कहा जाय आयपरसै कलंक तुम्हैं, राखिये निसंक हार, भक्त मारि नाखिये।।४४७।।

शब्दार्थ—नाखिये=गिराइये, फेंकिये।

भावार्थ—श्रीनरसीजी के लगातार गाने पर भी माला नहीं टूटी। तब शिकायत करने वाले विमुख लोग मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। इधर श्रीनरसीजी नई-नई भाव भरी उक्तियों के द्वारा उलाहना देते हुए श्रीमुख के सामने कहने लगे (गाने) लगे- प्रभो! मैं अच्छी तरह से तुम्हें पहचान गया, तुम निरे ग्वारिया बालक हो। प्रेम की परिपाटी से सर्वथा अपरिचित हो। एक फूलों की माला को अपनी छाती से चिपकाये हुए हो। मेरी विवशता है कि- यह गोप रूप ही मेरे मन में समाया हुआ है, कोई लाखों प्रकार से समझावे, तब भी मेरा मन इस रूप के ध्यान से हट नहीं सकता। वेद-पुराण प्रसिद्ध श्रीनारायण भगवान बड़े उदार एवं महान् हैं, परन्तु मेरे भाग्य में तो यही गोपाल रूप लिखा है, इसे कौन मिटा सकता है। शोभासागर गोपकिशोर रूप की अभिलाषा ही सदा-सर्वदा मेरे मन में बनी रहती है, इसे कोई दूर नहीं कर सकता है। यदि आप कृपा करके माला प्रसादी नहीं देते हैं तो इसमें मेरा क्या बिगड़ेगा? आपको ही कलंक लगेगा कि आपने अपने भक्त की उपेक्षा कर दी। आप निश्चिन्त होकर अपने गले में माला धारण किये रहिये और भक्त को मार खाने दीजिये, मरता है तो मरने दीजिये।।४४७।।

व्याख्या—विमुख प्रसन्न—केदारा राग गिरवी रखा हुआ था, अतः उसे न गाकर अन्यान्य रागों को गाते थे। इसलिए माला नहीं गिरती थी। विमुखों का पक्ष पुष्ट हो गया उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीनरसीजी पर विपत्ति जानकर विमुख प्रसन्न हुए। यह उनका स्वभाव है। यथा-''जब काहू कै देखैं विपती। सुख होहिं मानहुं जगनृपती।।'' (रामा०) भगवान ने बहुत देर के बाद महाजन के यहाँ से राग छुड़ाकर दिया। जल्दी नहीं की। जैसे योद्धा सामने कायर को पाकर उसे जल्दी नहीं मारता है। कुछ देर खेलता है। एकदम ऊपर चढ़ाकर तब गिराता है। दूसरा कारण यह कि-भगवान को भी कुछ खरी-खोटी सुनने का शौक रहता है, अतः जब कुछ सुन लिए तब राग लाए। (पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३५० पर भीमसेन के साथ व्यङ्ग विनोद देखिये)। ''नये-नये चोज०'' प्रेम की अधिकता से जैसे ब्रजगोपी उराहने देती थीं। उसी प्रकार आप किञ्चित् प्रणय कोपवश उलाहने में नये-नये व्यङ्ग भावों के गीत गाने लगे। यथा-''कबिरो थारो लगे छै बाप। बालद ल्यायौ आपुहि आप।। सबरी थारी लगै छी माय। ताको जूठा वनफल खाय।। करमा थारी काकी थाय। ताकी खीच बिना सुध खाय।। जादव कुल को राजा थयौ। जेंवन साग विदुर घर गयौ।। अजामील तव कुटुमी जान। ताकौ तुम जो दियौ बिमान।। गनिका तेरी गोतिन होय। ताको शीश नवायौ तोय।। तुम कुल घाती मातुल आप। थारो मुख देख्यानो पाप।। कौरव पाण्डव मारि लराये। गर्भ परीक्षित भये सहाये।। थे हरिश्चन्द्र शिविर दुख दयौ। ह्वै बामन बलि को धन लयौ।। तेरे अवगुन कँहलौं कहौं। विपद् परी पद गहौं सहौं।।''

जाने ग्वाल बाल०—नन्द के बेटा हौ, देना रीझना नहीं जानते हो। बड़ों के बेटे जानते हैं।

कहा भयौ जो पै तुम द्वारका के वासी भए, गोकुलके वासी खाटी छांछ के पिवैया हौ।
कबहूं तौ कच्छ मच्छ शूकर नरसिंह भए, कबहूं तौ बामन ह्वै स्वांग के रचैया हौ।।
धेनुके चरैया गुञ्जमाल के धरैया, कभू वंशी के बजैया अरु वन के रहैया हौ।
हेरत हौं प्रात रात पूछत न मेरी बात, जानी हम बात भृगु लात के खवैया हौ।।

अति सूधो सनेह कौ मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ सांच चलै तजि अपनपौ, झिझकै कपटी तिनै सांक नहीं।।
''घन आनन्द'' प्यारे सुजान सुनौ, इहां एक ते दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन धौं पाठ पढ़े हो कहां, मन लेत पै देत छटांक नहीं।।

पद- अमानैं तो तुमनां नामनो आसरौ करमचा लेख भूच्यां न जाई।
राजा मण्डलीक प्रेर मारै छबीला विना दुख कैं न कहाई।।
कोई कहै लम्पट कोई कहै लोभियो कोई कहै ताल कूटियो रे खोटो।
दीन जाणे नैं दया करै दामोदर माला आपै तौ तू नाथ मोटो।।

पुनः- वधिर भए लौं देवा बधिर भये लौं। आपणो विरद क्यों बिसरे लौं।।
कोपियो मण्डलीक म्हाने मारसी। मूड़ डीक धूल दाबि थापसी।।
भक्त वछल थारौ विरद जासै। मलेछनी जाति कबीर उधारी।।
नामाना छापरा नयौ छावी। जयदेवनै पदमावतो आपी।।

जूहीनो फूल सूतनो धागो दो दमड़ीने मोल पावी।
नरसीने एक हार लै आपना ताहरो वापरो सो जावी।।

श्रीनरसीजी ने कहा- दो दमड़ी की माला को हृदय में चिपकाये रखो। मुझे राजा भले ही मार डाले। आपसे प्रीति का यही उत्तम फल है। आप तो आराम से सो रहे होंगे। मैं समझ गया, आप इस प्रेमयज्ञ में मेरा बलिदान लेना चाहते हैं। शास्त्रों में आपकी उदारता प्रसिद्ध है। एक मुट्ठी तन्दुल के बदले सुदामा विप्र को कञ्चन महल दे दिया। एक धागे के बदले द्रौपदी को ९९९ चीर प्रदान किये। कुब्जा का चन्दन लेकर उसको सुन्दरी स्त्री बनाया। सात दिन तक गोवर्धन धारण कर ब्रज की रक्षा की। परन्तु मेरी बार आज महा कृपण बन गए। मैं अपनी टेक से नहीं टलूँगा। मेरी दृष्टि में मेरे प्राणों की अपेक्षा आपके विरद का मूल्य अधिक है। मैं तो अपने कर्मों का फल भोगूँगा। आपका कुछ भी दोष नहीं है। चाहे मैं मरुँ या जीऊँ, आपके सिवा किसी दूसरे को पुकार भी तो नहीं सकता हूँ। जैसे पतिव्रता मरना स्वीकार करती पर दूसरे पति का आश्रय नहीं ले सकती है। ऐसा निर्लज्ज कोई पति भी नहीं हो सकता है जो आश्रित की रक्षा न करे। नाथ! आप स्वतन्त्र हैं और मैं चाहता हूँ कि आप स्वतन्त्र ही रहें।

लाग्यौ यही रूप०—मेरे मन में ग्वाल रूप समा गया है, करूँ तो क्या करूँ कोई लाखों प्रकार से समझाये, पर जैसे पिघली लाख से रङ्ग अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरा मन अब रूपमाधुरी से नहीं हट सकता।

जा दिन ते निरख्यौ नँदनन्दन, कानि तजी घर बन्धन छूट्यौ।
चारु विलोकनिकी निशिमार, सँभार गई मन मारने लूट्यौ।।

सागर को सरिता जिमि धावति, रोकि रहे कुल को पुल टूट्यौ।
मत्त भयौ मन सङ्ग फिरै 'रसखानि' सुरूप सुधारस घूट्यौ।।

मेरे भाग लिख्यौ०—का भाव यह है कि इनसे मेरा पूर्वजन्म का सम्बन्ध है। इसलिए यद्यपि नारायण बड़े एवं उदार सुने हैं। परन्तु जब मेरे भाग में-हिस्से में ये हैं और मैं इनके भाग अर्थात् हिस्से का हूँ। तो फिर यह सम्बन्ध कैसे छूट सकता है। चाहे जैसा अनुकूल-प्रतिकूल व्यवहार करें। पर मेरा मन अन्यत्र नहीं जा सकता है। भाग्य में जो लिखा है, उसे कोई मिटा नहीं सकता है। यथा-"लिखिता चित्रगुप्तेन या ललाटाक्षरमालिका। न सा चालयितुं शक्या पण्डितैस्त्रिदिशैरपि।।" (पुराणान्तरे) चित्रगुप्त के द्वारा जो ललाट में लिखा गया है। उसे पण्डित या देवगण भी मिटा नहीं सकते हैं। "जो कुछ लिख्यौ लिलार में, सुख दुख देही अङ्ग। भुगतैगौ जँह जायगो यह सिद्धान्त अभङ्ग।।" "छबि पूरि०"- "छवि समुद्र हरि रूप विलोकी। इक टक रहे नयन पट रोकी।।" (रामा०) प्रभु का स्वरूप अनेकों समुद्रों का संगम है। यथा-"छवि समुद्र सङ्गम लखत श्रीगोविन्द सुरूप। चित्त न चितवन कूँ चलै क्षुद्रखात अरु कूप।।" "परसे कलङ्क" यह प्रणयकोप के मधुर उद्‌गार हैं। भक्त के प्रेम में जब त्रुटि होती है, तब प्रभु भी आँख-कान मूँद लेते हैं। सच्चे प्रेम में प्रकट होकर मनोरथ पूर्ण करने में जब विलम्ब होता है तो उसके मधुर कारण होते हैं। श्रीनरसीजी को अपने प्रेम की पूर्णता में पूर्ण विश्वास है। अत: विनोद में कहते हैं यद्यपि आप निष्कलंक चन्द्र हैं, परन्तु आज यदि आपने मुझे हार नहीं दिया तो सकलङ्कचन्द्र बन जाओगे। कदाचित् लोग मुझे कलङ्कित करेंगे तो वह भी आपका कलङ्क बन जायगा। नाशवान् क्षुद्र प्राणी का कलङ्क भी नाशवान् होगा, परन्तु अविनाशी का कलंक भी अविनाशी हो जायेगा। मेरा क्या बिगड़ेगा? इसमें सर्वथा अहङ्कार हीनता का भाव प्रकट हुआ। सुयश अपयश सब कुछ आपका और आपके हाथ है। "मारि नाखिये" मारने तिरस्कार करने में राजा समर्थ नहीं है, उसकी शक्ति ऐसी नहीं है, अत: राजा जो कुछ करेगा उसे भी आपका किया समझा जायगा, अत: कहते हैं-"आप हार को रखिये और मुझे मार डालिये।

रहै तहाँ साह किये उभै लै बिवाह जामें तिया एक भक्त कहै "हरिकौ दिखाइयै"।
नरसी कहीही "भलै," सोई प्रभु बानी लई, सांच करि दई, गए राग छुटवाइयै।।
बोले, पट खोलि दिये, किये दरसन तानैं, ताने पट सोवै वह कही "देवौ भाइयै"।
लियेदाम, काम कियौ, कागद गहाय दियौ दियौ कछु खाइबे कों पायौ लै भिजाइयै।।४४८।।

शब्दार्थ—पट=किवाड़, पर्दा। पट=वस्त्र। तानै=ओढ़े।

भावार्थ—श्रीनरसीजी जिस नगर में रहते थे, उस नगर में एक साहूकार था। उसने दो विवाह किये थे। उन दो स्त्रियों में एक भगवद्भक्ता थी। उसने आपसे बार-बार प्रार्थना की कि-"मुझे भी श्यामसुन्दर का दर्शन करा दीजिये।" श्रीनरसीजी ने कहा-"बहुत अच्छा ऐसा ही होगा।" श्रीनरसीजी की इस बात को भगवान ने सत्य कर दिया। स्वयं श्रीनरसीजी का रूप धारणकर उस साहूकार के घर गिरवी रखे हुए केदारा राग को छुड़ाने के लिए गये। उसके द्वार पर जाकर आपने पुकारा-"किवाड़ खोलो।" साहूकार की भक्ता स्त्री ने उठकर किवाड़ खोले और उसने श्रीनरसीरूपी भगवान का दर्शन किया। साहूकार चद्दर से मुँह ढककर सो रहा था। उसकी स्त्री ने कहा-"श्रीनरसीजी पधारे हैं, रुपये ले लो और उन्हें कागद दे दो।" उसने कहा-"तुम्हीं रुपये लेकर उस कागद को वापस कर दो।" उस भक्ता स्त्री ने रुपये ले लिए और कागद लौटा दिया। भक्ता ने प्रार्थना की-"कुछ भोजन कर लीजिये।" उसकी प्रार्थना स्वीकार कर भगवान ने कुछ खाया-पीया और उसे प्रेम रङ्ग में सराबोर कर दिया।।४४८।।

व्याख्या—रहै तहाँ शाह०—जूनागढ़ में ही एक धरणीधर नाम के नागर थे। वे बड़े सज्जन और धनी-मानी थे। लेन-देन का व्यापार करते थे। उनकी दो स्त्रियाँ थीं, उनमें बड़ी स्त्री भगवद्भक्ता थी। वह कभी-कभी श्रीनरसीजी के कीर्तन में आती और यथा सम्भव सन्तों की सेवा भी करती थी। सत्सङ्ग से उसे यह ज्ञान हो गया कि भगवान भक्तों के अधीन हैं। यदि भक्त चाहें तो भगवान के दर्शन करा सकते हैं। उसने एक दिन श्रीनरसीजी के चरणों में पड़कर प्रार्थना की कि-"महाराज! मुझे भी अपने साँवलिया के दर्शन करा दो।" श्रीनरसीजी ने कहा-"तुम उनके नाम-रूप का स्मरण करती रहोगी तो एक न एक दिन अवश्य भगवान तुम्हें दर्शन देंगे। उसे विश्वास हो गया, वह सदा उत्कण्ठित रहती। इसी बीच ब्रह्मण्यदेव ने लीला रची। एक गरीब ब्राह्मण ने श्रीनरसीजी के पास आकर कहा कि-"भक्तजी! मेरी लड़की का व्याह मात्र साठ रुपयों के बिना रुका है। आप रुपये देकर व्याह करवा दो।" आपने कहा-"मेरे पास रुपये तो नहीं हैं, मैं जाता हूँ और यदि उधार मिल गये तो लाकर दे दूँगा। श्रीनरसीजी कई सेठों के पास गए पर किसी ने रुपये न दिये। तब आप धरणीधर के पास गए और उधार साठ रुपये माँगे। व्यवहार कुशल व्यापारी थे, अतः वे बोले-"भगतजी! मैं बिना कुछ रख लिए रुपये नहीं देता

हूँ, कुछ गिरवी रखकर ले जाओ। वैसे मैं नहीं दूँगा। व्यापार में लज्जा-सङ्कोच नहीं करना चाहिए। यथा-

धनधान्यप्रयोगेषु, विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च, त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।। (चाणक्यनीति)

अर्थ—अन्न-धन के उपभोग में, विद्या के उपार्जन में, भोजन और व्यवहार में लज्जा को त्याग देने वाला सुखी होता है। लज्जा करने वाला पछताता है, अतः आप कुछ गिरवी रख जाओ। श्रीनरसीजी ने कहा-''मेरे पास गिरवी रखने योग्य कोई वस्तु नहीं है। आप अच्छी तरह जानते हैं कि- केदारा राग मुझे इष्ट है, बिना उसके गाए मुझसे नहीं रहा जाता है। उस प्राणप्रिय केदारा राग को मैं गिरवी रखता हूँ। जब तक आपके रुपये नहीं चुका दूँगा, तब तक उसे नहीं गाऊँगा।'' धरणीधरजी को भक्तजी में विश्वास था, अतः लिखा-पढ़ी करके उन्होंने साठ रुपये दे दिये। इससे उस ब्राह्मण की कन्या का विवाह हो गया और भक्तिनी को दर्शन देने की भूमिका भी प्रभु ने बना दी।

नरसी कही ही०—भगवान भक्तवाञ्छा कल्पतरु हैं। यथा-''यद् यद् वाञ्छति मद्भक्तस्तद् तद् कुर्यामतन्द्रितः।'' (पद्मपुराण) ''मेरे भक्त ज़ो-जो इच्छा करते हैं, मैं उनकी उन-उन इच्छाओं को निरालस्य होकर पूर्ण करता हूँ।'' भक्ता की और भक्त की दोनों की इच्छाओं को पूर्ण किया। इनकी प्रथम इच्छा थी कि उसे दर्शन दें। दूसरी इच्छा मुझे हार देकर कृतार्थ करें। ''सोई प्रभु बानी लई'' भगवान भक्तों की वाणी को सत्य करने वाले हैं। यथा-''चारों जुग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।'' (देखिये छ०-५२) पुनः-(देखिये कवित्त-९९, पूछे ते बतायौ खम्भ तहाँ ही दिखायौ रूप, प्रगट अनूप भक्त वाणीही सों प्यार है। धोखे से भी कुछ मुख से निकल जाय तो उस झूठ को भी सत्य कर देते हैं। यहाँ तो भक्त ने सावधान होकर वरदान दिया था कि- ''तुम्हें दर्शन होंगे।'' इसलिए एक पन्थ दो काज हुए। दर्शन दिये और राग को भी छुड़ा लाए। यथा-

कर्तुं न कर्तुं विपरीत कर्तुं, सदा समर्थः प्रभुकृष्णचन्द्रः।
रागोऽपि मुक्तः स तयाऽपि दृष्टः, ह्येका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा।।

अर्थ—प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र किसी भी कार्य को करने न करने एवं विपरीत करने में सर्वदा समर्थ हैं। उन्होंने राग छुड़ाया और उस भक्ता को दर्शन भी दिया, एक क्रिया से दो कार्य सिद्ध हुए यह प्रसिद्ध है। श्रीनरसीजी के उलाहनों एवं नए-नए अनोखे भावों से

प्रभु तृप्त हो गए। आधी रात हो रही थी। सूर्योदय तक यदि माला न मिली तो राजा अवश्य दण्ड देगा। इसके पहले ही आधी रात में प्रभु धरणीधर के घर पर श्रीनरसीजी का रूप धारण करके पहुँचे और द्वार खटखटाकर बोले-''अपने रुपये ले लो और रसीद दे दो। मैं नरसी हूँ। सबेरा होने पर आते, रात में क्यों आए। यह सुनकर प्रभु ने कहा कि-''मुझे केदारा गाने की जल्दी है।'' नरसी नाम सुनते ही उस बड़ी स्त्री ने आकर द्वार खोल दिये। चरणों में प्रणाम कर बैठने के लिए आसन दिया। सेठ आलस्यवश सोए-सोए बोले-''पेटी से कागज निकालकर दे दो। ६०) मूल और ५) ब्याज के पैंसठ रुपये गिनकर ले लो। उसने ऐसा ही किया। भरपाई लिखकर कागद वापस कर दिया। धरणीधर को निद्रा ने पुनः दबा लिया।

किये दरसन ताने०—श्रीनरसी का वरदान सत्य करुँ, इसे दर्शन दूँ। अन्यथा मुझे दर्शन हुए यह कैसे जानेगी। ऐसा विचारकर भगवान उस भक्ता के सामने कोटि कन्दर्प लावण्य एवं साक्षात् मन्मथ-मन्मथ रूप से प्रकट हो गए और बोले कि- श्रीनरसी के कथनानुसार मैंने तुम्हें दर्शन दिया। प्रभु चरणारविन्दों का स्पर्श करके वह कृतार्थ हो गई। चाँदी के सुन्दर कटोरा में दूध और फैनी लाकर भोग अर्पण किया। भोजन करके भगवान ने उसे प्रसाद दिया। कुछ क्षण विश्राम करके प्रभु ने उसका मनोरथ पूर्ण किया। पुनः प्रभु ने सोचा कि- मैंने विष पीकर पूतना को दिव्य गति प्रदान की थी। इसने तो दूध-फैनी प्रेम से पवाया है, इसे भी कृतार्थ करना चाहिये। तब जैसे स्पर्शमात्र से कुब्जा दिव्य रूप वाली हो गयी थी, उसी प्रकार से यह भी दिव्य रूपवाली हो गयी। इसमें भगवान की दयालुता ही कारण है। (देखिये भा० अहोवकीयं पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५५२) भगवद्दर्शनों से भला तृप्ति किसे हुई है? अतः वह भक्ता तो रोक रही थी पर भगवान ने कहा-''केदारा राग गाए बिना काम बिगड़ रहा है। अब चार बजने वाले हैं, अतः मैं चलता हूँ।'' उसे आश्वस्त करके प्रभु चले आए। ''भिजाइयै'' सदा के लिये भगवान ने उसे प्रेम से आर्द्र कर दिया। उसके शरीर से दिव्य सुगन्ध आने लगी।

यहाँ श्रीहरि मन्दिर में पक्ष-विपक्ष के सभी लोग बैठे हैं। श्रीनरसीजी केदारा छोड़कर अन्यान्य रागों को गा रहे हैं। माला नहीं गिर रही है। विमुखों के स्वर ऊँचे हो रहे हैं। कोई कहता है कि- इसे नगर से निकाल देना चाहिए। दूसरा कहता है-''नहीं, इसे तो देश से निकलवाना है।'' तीसरा कहता है-''नहीं, इसे तो फाँसी की सजा दिलवाऊँगा।'' राजा भी वहीं बैठा सब सुन रहा था। वहीं एक श्रीरामानन्दजी दण्डी-संन्यासी भी बैठे थे। उन्हें बुलाकर

राजा ने पूछा-"अब क्या करना चाहिये?" उन्होंने कहा-"राजन्! आप मेरी बात पर विश्वास करें। भगवान इन्हें हार देंगे। अब या कुछ देर में। राजा शान्त हो गया। भक्त लोग विश्वास पूर्वक मन ही मन प्रार्थना कर रहे थे कि-"प्रभो! नरसीजी की सहायता करो। अरुणोदय हो रहा है। भक्तजी गा रहे हैं-

संसारनो भय निकट न आवे, श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल गातां।
उगर्यो परीक्षित श्रवणे सुणता ताल बिना हरिना गुण गातां।।
बालक ध्रुव दृढ़ हरि भक्ति जाणी, अविंचल पदवी आपी।
असुर प्रहलादनो उगारि लीधो, जनम जनमनी जड़ता कापी।।
देवना देव तू कृष्ण आदि देवा, तारुं नाम लेता अभय पद दाता।
ते तारा नामने नरसैयो नित जपे, सारकर सारकर विश्वविख्याता।।

गहने धर्यौ हो राग केदारौ, सो साह घर, धरि रूप नरसी कौ, जाय कै छुटायौ है।
कागद लै डार्यौ गोद, मोद भरि गाय उठे आय झन्न-झन्न स्याम हार पहिरायौ है।।
भयौ "जै-जैकार" नृप पाय लपटाय गयौ, गह्यौ हिये भाव सो प्रभाव दरसायौ है।
विमुख खिसाने भये गए उठि नये नाहिं, बिन हरिकृपा भक्तिपन्थ जात पायौ है।।४४९।।

शब्दार्थ—गहने=गिरवी। नये नाहिं=नम्र नहीं हुए, भक्ति स्वीकार एवं प्रणाम नहीं किये।

भावार्थ—भगवान ने नरसीजी का रूप धारणकर उस सेठ के घर जाकर गिरवी रखे हुए "केदारा" राग को रुपये देकर छुड़ाया। रुपयों की रसीद गिरवी पत्र लाकर प्रभु ने श्रीनरसीजी की गोद में डाल दिया। उसे देखकर ये अत्यन्त प्रसन्न होकर उमङ्गपूर्वक केदारा राग गा उठे। उसे सुनकर श्रीश्यामसुन्दर अपने सिंहासन से उठे। नुपूरों की झन्न-झन्न ध्वनि करते हुए श्रीप्रभु ने श्रीनरसीजी को पुष्पहार पहना दिया। उपस्थित सभी भक्त लोग भक्त और भगवान की जय-जयकार करने लगे। इस प्रत्यक्ष चमत्कार को देखकर राजा इनके श्रीचरणों में लिपट गया और उसने अपने हृदय में भगवद्भक्ति के भाव को दृढ़ता से धारण किया। इस प्रकार भगवान ने अपना भक्त वात्सल्य प्रगट किया, इससे द्वेषी दुष्ट बहुत लज्जित हुए। वहाँ से उठकर चले गए, परन्तु भक्त-भगवान के प्रति नम्र नहीं हुए। बिना भगवान की कृपा के भला किसने भक्तिमार्ग पाया है अर्थात् किसी ने नहीं पाया है।।।४४९।।

व्याख्या—कागद लै डार्‌यौ०—सारी लीला प्रभु देख रहे थे। आपने अन्तरिक्ष से उस कागद को श्रीनरसीजी की गोद में डाल दिया। जिसे देखकर ये समझ गए कि प्रभु ने केदारा राग छुड़ाकर मुझे दिया है। भगवान की इस भक्तवत्सलता से आपके हृदय में प्रेमभाव का ज्वार उमड़ा। उठकर खड़े हो गये और बड़ी भारी उमङ्ग के साथ प्रेम पागल होकर नृत्य और कीर्तन करने लगे। आपके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं का प्रवाह चल रहा था। यह देखकर दुष्ट विमुख कहने लगे कि देखो, अब राजदण्ड से भयभीत होकर उससे बचने के लिए पागल बन रहा है, रो रहा है। कलई खुल गई, अब रोने-गाने से भी प्राण बचने वाले नहीं हैं। इन लोगों ने राजा को संकेत किया कि अब थोड़ी देरी में सूर्योदय होने वाला है। राजा ने कहा-"भक्तराजजी! अब तो समय पूरा हो रहा है, इस अन्तिम मुहूर्त में यदि आपके गले में हार नहीं पड़ा तो यह रोना-गाना अब आपको नहीं बचा सकेगा।" सत्ता सूचक राजा की वाणी सुनकर इनकी प्रेम-समाधि छूटी। अब इन्हें पता चला कि सूर्योदय होने वाला है। श्रीनरसीजी ने कहा-"राजन्! भक्त तो सदा भगवान के भरोसे हैं। उन्हें तो यमराज से भी भय नहीं होता है, प्रभु का स्मरण बना रहे। भक्त लोग केवल यही चाहते हैं। आपको मैं धन्यवाद देता हूँ, इसलिए कि आपने कीर्तन के लिए प्रेरित किया। नटवर की मन्द मुस्क्यान का ध्यान करके आपने अपनी करताल सम्हाली और केदारा राग के स्वरों में प्रेम पूर्ण भजन गाने लगे। "गाय उठे"-"द्योजी-द्योजी राज द्योजी।। तारा गलनी माला म्हाने द्योजी राग। कृपा जु कीजै विमुख पतीजै मुख सो वचन कहोजी।। साँवरि सूरति माधुरी मूरति यह छबि हियरे होजी। अनाथ बन्धुना बाल्हा सुखना सागर छोजी।। जायनो फूल सूतनो धागो सो क्यू गाढ़ गहोजी। रुन-झुन करतो साँवलियो आयो नरसी महता तुम लोजी।।"

पहिरायौ है—पहले तो माला टूटकर गिरती थी पर आज प्रभु ने अपने हाथों से आकर श्रीनरसीजी को हार पहना दिया। इससे "विमुख खिसाने" अति लज्जित हुए, लम्बी-लम्बी श्वासें लेने लगे क्योंकि नरसी की बड़ाई हो रही थी। इनका स्वभाव है-"जब काहू कै सुनै बड़ाई। श्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।।" (रामा०) पूर्व कवित्त में विमुख प्रसन्न और अब खिसाने भए परन्तु "नये नाहिं"-जहाँ सभी लोग एवं राजा जै-जैकार करके बार-बार दण्डवत् कर रहे थे। वहाँ ये लोग जरा-सा भी नहीं झुके। न मन में श्रद्धा विश्वास आया। इसे भी नरसीजी का जादू समझा। भक्तों को भावानुकूल दर्शन हुए। उनमें भक्ति बढ़ी। जो तटस्थ थे उनके मन में भी भक्ति के दृढ़ अंकुर जम गए। पर विमुख विमुख ही रहे आए। उठकर चले गये। नमस्कार भी नहीं किया।

बिन हरिकृपा............पायौ है—बिना भगवान की कृपा के सन्त नहीं मिलते हैं। तात्पर्य उनमें श्रद्धा भक्ति नहीं होती है। यथा-"बिनु हरि कृपा मिलै नहिं सन्ता।" और बिना सन्तों की कृपा के भक्ति नहीं मिलती है। बिना सत्संग के भी कहीं-कहीं भक्तिभाव दिखाई पड़ता है, इसका कारण यह है कि कभी परोक्ष में सन्त कृपा हुई है। जैसे वृक्ष की छाया एवं कूप का जल प्राप्त कर किसी ने वहाँ भगवत्सेवा की, सुख पाया। वृक्ष लगाने वाले को, कूप खोदने वाले को आशीर्वाद दिया। इस प्रकार सन्त कृपा होने से भी कभी-कभी लोगों के हृदय में भक्ति के भाव हो जाते हैं। मुख्यतया महत्पुरुषों की कृपा से एवं भगवत्कृपा से भक्ति प्राप्त होती है। यथा-"मुख्यतस्तु महत्कृपा यैव भगवत्कृपालेशाद्वा।" (नारदसूत्र) संसारी लोगों की मति श्रीकृष्ण में नहीं लगती है। यथा-प्रह्लाद वाक्य-

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा, मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्त्रं, पुनः पुनश्चर्वित चर्वणानाम्।। (भा० ७/५/३०)

अर्थ—श्रीप्रह्लादजी ने कहा- पिताजी! संसार के लोग तो पिसे हुए को पीस रहे हैं और चबे हुए को चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण वे भोगे हुए विषयों को ही फिर-फिर भोगने के लिए संसाररूप घोर नरक की ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहासक्त पुरुषों की बुद्धि अपने आप या किसी के सिखाने से अथवा अपने जैसे लोगों के संग से भगवान श्रीकृष्ण में नहीं लगती है। जब यह महत्पुरुषों की सेवा करें तभी श्रीकृष्ण में भक्ति होती है।

दोहा- **फूलै फरै न बेंत जदपि सुधा बरसै जलद।**
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलै विरंचि सम।। (रामा०)

श्रीनरसीजी धरणीधरजी के यहाँ गए। भक्ता से सत्संग कर प्रसन्न हुए। कैसे-कैसे राग छुड़ाये, रुपये दिये, बालभोग किये, इस कथा को धरणीधर और नरसी ने सुना। धरणीधर पछता रहे थे कि यदि मैं उस दिन उठकर आप भक्त का आदर करता तो मुझे भी भगवद्दर्शन हो जाते। श्रीनरसीजी ने उस पर भी कृपा की।

करन सगाई आयो, पायो बर भायो नाहिं, घर-घर फिर्‌यो द्विज नरसी बतायौ है।
आय, सुख पाय, पूछ्यौ, सुत सो दिखाय दियौ कियौ लै तिलक मन देखत चुरायौ है।।
अजू हम लायक न, तुम सब लायक हौ सायक सो छूट्यौ जाय नाम लै सुनायौ है।
सुनत ही, माथौ फोरि, कहैं तालकूटा वह, बाल बोरि आये, जावो फेरि, दुख छायौ है।।४५०।।

शब्दार्थ—माथौ फोरि=सिर धुनकर, पछताकर। तालकूटा=झाँझ करताल बजाने वाला। सगाई=विवाह सम्बन्ध का निश्चय, मँगनी।

भावार्थ—एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या की सगाई करने के लिए अपने पुरोहित को भेजा। वह घूमते-फिरते जूनागढ़ को आया और प्रत्येक ब्राह्मण के घर में जा-जाकर वर की खोज की। बहुत-से ब्राह्मण बालक उसने देखे, परन्तु कोई उसे पसन्द नहीं आया। इसी बीच किसी ने उसे बताया कि श्रीनरसीजी के भी एक सुन्दर बालक है, उसे भी देख लो। वह नरसीजी के घर पर आया तो उसे बड़ा सुख मिला। उसने लड़के के सम्बन्ध में पूछा, तो श्रीनरसीजी ने बुलाकर लड़के को दिखला दिया। देखते ही पुरोहितजी उस पर रीझ गये, बालक ने इसके मन को चुरा लिया। तुरन्त ही उसने झोली से अक्षत निकालकर तिलक कर दिया। श्रीनरसीजी ने कहा-"लड़की के पिताजी तो धनी-मानी एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इसलिये मैं उनसे विवाह करने योग्य नहीं हूँ।" उस पुरोहित ने कहा-"अजी श्रीभक्तजी! आप कैसी बात करते हैं, आप तो सब प्रकार से योग्य हैं और श्रेष्ठ हैं। मैंने समझ-बूझकर तिलक करके मदन मेहताजी की कन्या से सम्बन्ध पक्का कर दिया। ऐसा कहकर वह ब्राह्मण बाण की तरह छूटा और जाकर उसने अपने यजमान (कन्या के पिता) से सब समाचार सुना दिया। सुनते ही उसने माथा ठोककर कहा-"अरे! वह तो तालकूटा निर्धन ब्राह्मण है, तुमने मेरी पुत्री को कुये में डुबा दिया। शीघ्र जाओ और तिलक को लौटा लाओ। मुझे उस लड़के के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करना है। यह सुनकर पुरोहितजी को महान कष्ट हुआ।।४५०।।

व्याख्या—करन सगाई—गुजरात में बड़नगर नाम का एक शहर है। उसमें रहने वाले मदन मेहता प्रतिष्ठित नागर ब्राह्मण थे। वे एक राजा के दीवान थे। लगभग दस लाख की सम्पत्ति उनके पास थी। उनकी पुत्री जूठीबाई (सुरसेना) विवाह के योग्य हो गई थी। इधर-उधर वर की खोज करने पर भी उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप घर-वर नहीं मिला। तब बड़े-बूढ़ों ने सलाह दी कि जूनागढ़ में नागरों के सात सौ घर हैं और वहाँ बड़े-बड़े धनी-मानी रहते हैं, अतः वहीं खोज करनी चाहिए। मदनराय मेहता ने अपने कुल पुरोहित को बुलाकर उससे कहा कि- आप मेरा पत्र लेकर जूनागढ़ जाइये। वहाँ सारंगधर गाँव के मुखिया रहते हैं, वे मेरे सहपाठी हैं। उनकी सहायता से आप किसी सुयोग्य लड़के के साथ जूठीबाई का सम्बन्ध कर आओ। पुरोहितजी एक-दो ब्राह्मणों को साथ लिए रथ पर बैठकर जूनागढ़ आये। सारंगधर के पास ठहरे। पत्र पाकर सारंगधर लड़कों को दिखलाने के लिये चले।

अपने इष्ट मित्रों के बहुत से लड़के दिखाये। वस्त्राभूषणों से सजे बालकों के साथ वार्तालाप कर करके पुरोहितजी ने सबको फेल कर दिया। इससे सारंगधर मन ही मन बहुत खीज गए और उन्होंने निश्चय किया कि- इसे ऐसी जगह भेजूँ, जहाँ सगाई करने से इसकी भी फजीहत हो और सबको पछताना पड़े। न पसन्द आया तो परिहास ही होगा। सारंगधर बोले-"पुरोहितजी! आप इसी रास्ते से चले जाइए। वहाँ एक मन्दिर में नरसी भगत रहते हैं। उनके भी एक लड़का विवाह के योग्य है, आप उसे और देख लीजिए। पुरोहितजी भी सारंगधर से ऊब चुके थे, अतः अकेले ही श्रीनरसीजी के घर पर आये। भक्तराजजी संकीर्तन में मग्न थे। बड़ा शान्त एवं सात्विक वातावरण था और भगवान का दर्शन करके बड़ा सुख मिला। सङ्कीर्तन समाप्त कर श्रीनरसीजी ने अतिथि देव पुरोहित का यथा योग्य सत्कार किया। चरणामृत प्रसाद दिया। तत्पश्चात् प्रश्न किया कि आप कहाँ से पधारे।

पुरोहितजी ने कहा-"मैं बड़नगर निवासी मदनराय मेहता का पुरोहित हूँ। उनकी कन्या के लिये वर की खोज में हूँ, आपके सुपुत्र को देखना चाहता हूँ। श्रीनरसीजी ने साँवलदास को बुलाकर दिखा दिया। साँवलदास का सुन्दर मुखमण्डल सुकान्तियुक्त दिखाई पड़ा। अलौकिक तेजस्वी मूर्ति को देखकर वे प्रसन्न हो गये। सामुद्रिक के अनुसार साँवलदास में कई शुभ लक्षणों को देखा तो "मन देखत चुरायौ है।" पुरोहितजी ने श्रीनरसीजी से प्रार्थना किया कि आप स्वीकृति दीजिये, मुझे लड़का पसन्द है। मैं सम्बन्ध करने के लिये तैयार हूँ। भक्तजी अभी कुछ कह ही रहे थे कि-"कियौ लै तिलक।" श्रीनरसीजी ने अपनी स्थिति प्रकट करते हुए कहा कि- श्रीमदनरायजी बहुत बड़े आदमी हैं। मैं धन-मान में उनके तुल्य नहीं हूँ। आपको ज्ञात है कि-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।। (भर्तृहरि)

अर्थ—जिनके पास धन है, वह कुलीन है, वही पण्डित है, वही वेदविद है, वही गुणवान है, वही वक्ता है और वही दर्शनीय है। सभी गुण एक धन के ही आश्रित हैं। इस नीति के अनुसार न मैं कुलीन हूँ, न गुणवान और न पण्डित ही। मैं तो केवल भगवन्नाम के सहारे रह रहा हूँ, अतः "अजू हम लायक न।" पुरोहितजी ने कहा-"तुम सब लायक हौ" जिसमें सत्य है, भक्ति है, दैन्य है। वह सब प्रकार से योग्य है। मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ मुझे मिथ्या, दम्भ और अभिमान दिखाई पड़ा, अतः वे सभी मुझे अयोग्य मालूम पड़ते हैं। लक्ष्मी तो चञ्चला है, आती-जाती रहती है। हरिनाम के जापक आप सच्चे धनी हैं-"कबिरा

सब जग निर्धना धनवन्ता नहिं कोय। धनवन्ता सो जानिये राम धनी जो होय।।'' ऐसा कहते हुये पुरोहितजी ने श्रीफल और स्वर्ण मुद्राएँ देकर सगाई विधि सम्पन्न कर दी। श्रीनरसीजी ने ''जैसी भगवदिच्छा'' कहकर अपनी निर्लिप्तता प्रकट कर दी। हृदय में हर्ष विषाद का लेश नहीं था। साँवलदास की माता को अवश्य अपार हर्ष हुआ। वे सोचती थीं मुझ निर्धन के बेटे से कौन अपनी कन्या का विवाह करेगा।

यह समाचार जूनागढ़ में बिजली की तरह फैल गया। द्वेषी लोगों को बड़ी जलन हुई। सभी सारंगधर के चबूतरे पर इकट्ठे हुए। यह सम्बन्ध ठीक नहीं हुआ। पुरोहित ने भूल की। पञ्चायत करके सारंगधर ने मदनराय मेहता को पत्र लिखा कि- आपके पुरोहित को मैंने अच्छे से अच्छे घर-वर दिखाए, पर उसने मेरी न मानकर एक भिखमंगा-तालकूटा नरसी के बेटे के साथ सगाई कर गया। इससे आपकी प्रतिष्ठा में हानि हुई और होगी, अतः आप स्वयं आकर इस सम्बन्ध को वापस कर जाइये। पुरोहितजी से पहले पत्र पहुँच गया। पुरोहितजी के मन में अपार हर्ष था, अतः ये भी जूनागढ़ से ''सायक सौ छूट्यौ'' बाण की तरह वेग से बड़नगर पहुँचे और घर-वर की बड़ाई करके कहा कि- कन्या समेत आप सभी के बड़े भाग्य से यह सम्बन्ध हुआ है। मदनराय आदि ने ''सुनत ही माथौ फोरि कहैं तालकूटा वह'' आपने बिना विचारे सम्बन्ध कर दिया। उसके साथ न तो बारात में कोई आवेगा और न वह मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप वस्त्र-आभूषण बाजा-गाजा ही ला पावेगा। मेरी प्रतिष्ठा में हानि तो होगी ही, उसके घर में लड़की भी दुःख पावेगी। अतः आप जाइये और सगाई वापस कर लाइये।

काटिकै अंगूठा डारौ, तन सो उचारौ बात, मन में बिचारौ, कियौ तिलक बनाय कै।
जाने सुता भाग ऐसे रहे सोच पागि सब आवैं जब ब्याहिबे कौ धन दै अघाय कै।।
लगन हूं लिखि दियौ, दियौ, द्विज आनि लियौ, डारि राख्यौ कहूँ, गावैं ताल ए बजाय कै।
रहे दिन चार, पै बिचार नहीं नेकु मन, आये कृष्ण रुक्मिनी जू, झूमि मिले धायकै।।४५१।।

भावार्थ—पुरोहितजी ने अपने यजमान से कहा- पहले आप मेरे इस दाहिने हाथ के अँगूठे को काटकर फेंक दीजिये, उसके पश्चात् आप यह कहिये कि ''तिलक को लौटा लाओ।'' आप जरा सोचिये तो, जब मैंने सोच विचारकर तिलक कर दिया, फिर अब कैसे कहूँगा कि वापस कर दो। लड़की के माता-पिता आदि सभी अत्यन्त दुःख में भरकर बोले- हम समझ गये, इस लड़की के भाग्य ही ऐसे हैं। कोई बात नहीं, जो हो गया सो हो गया। अब

तो लड़की को सुखी करने का यही एक उपाय है कि जब वे बारात लेकर विवाह करने आवेंगे, तब हम उन्हें भरपेट खूब बहुत सा धन दहेज में दे देंगे। कुछ दिन बाद जब लगन पत्रिका भेजने का समय आया तब पुरोहितजी ने लिखकर उसे लाकर श्रीनरसीजी को दे दिया। आपने उसे देखा भी नहीं और उसे एक ओर कहीं डाल दिया। दैनिक नियमानुसार करताल बजाकर कीर्तन करने लगे। विवाह के केवल चार दिन शेष रह गये। तब भी श्रीनरसीजी को उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं थी। तब भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीरुक्मिणीजी के समेत पधारे। प्रेम में विभोर होकर आप दौड़कर श्रीभगवान से मिले और श्रीचरणों में दण्डवत् प्रणाम किये।४५१।।

व्याख्या—काटिकै अँगूठा डारौ—पुरोहितजी ने मदनराय मेहता से कहा कि- मैंने खूब सोच-समझकर सगाई की है। श्रीनरसीजी के कुलीन होने में कोई सन्देह नहीं है। वे भक्त और धार्मिक व्यक्ति हैं। धर्मशील के पास सम्पत्ति का अभाव नहीं होता है, यथा-"जिमि सुख सम्पति विनहिं बुलाए। धर्मशील पहि जाहिं सुभाए।।" सम्पत्तियाँ गुणों पर लुभाकर गुणी के पास आती हैं। यथा-"गुण लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।" आप "काटिकै अँगूठा डारौ" भाव यह है कि- आप मुझे अपराधी समझें। दण्डस्वरूप मेरा अँगूठा काट डालें तभी सगाई वापस कर सकते हैं। मैं कदापि ऐसा नहीं कर सकता हूँ। आप "मन में विचारौ" दुर्गुणी धनवान अच्छा है अथवा सद्गुणी निर्धन। पुरोहितजी की दृढ़ता को देखकर "जाने सुता भाग ऐसे।" जो हुआ है सो होनहारवश हुआ है। "सो न टरै जो लिखै विधाता।" जब व्याहने आवेंगे तो "धन दै अघायकै" मेरे पास दस लाख की सम्पत्ति है। उसमें से एक लाख दे दूँगा। उससे लड़के-लड़की की हालत अच्छी हो जायेगी। पुरोहितजी के चले जाने पर लोगों ने एक युक्ति यह निकाली कि लग्न-पत्रिका के साथ हम पञ्च लोग एक पत्र भेज देंगे। उसमें लिख देंगे कि- सम्बन्धी की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर आप चतुरङ्गिणी बारात, जिसमें हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सभी हों तथा बाजे-गाजे, वस्त्राभूषण लेकर आवेंगे, तभी व्याह हो सकेगा। आशा यह है कि वे इस प्रकार का प्रबन्धन कर पावेंगे, तब स्वयं ही सम्बन्ध छोड़ देंगे। यह बात सबको ठीक जँची। विधिवत् लग्न-पत्रिका लिखी गई। पुरोहितजी लेकर चले तो पञ्चों ने पत्र दिया। उसे भी उन्होंने ले लिया और पञ्चों के सामने वे कुछ भी न कह सके। जूनागढ़ में आकर सविधि लग्न-पत्रिका दी। श्रीनरसीजी ने उसे पढ़ा भी नहीं। उसे ले जाकर श्रीठाकुरजी के आगे रख दिया। पूर्ववत् दैनिक भजन-पूजा-पाठ एवं नाम संकीर्तन में मग्न रहे। माणिकबाई ने कहा कि आज माघशुक्ल द्वितीया हो गई।

इसी पञ्चमी को विवाह है। आप कुछ भी तैयारी नहीं कर रहे हैं। भक्तजी ने कहा-"जिसका बेटा होगा, वह अपने आप सब काम करेगा।"

आये श्रीकृष्ण-रुक्मिनी—द्वारिकापुरी में भगवान श्रीकृष्ण श्रीरुक्मिणीजी के साथ चौपड़ खेल रहे थे। एकाएक बाजी पूरी हुये बिना ही भगवान उठ खड़े हुये। श्रीजी ने पूछा-"प्रभो! कहाँ जा रहे हैं?" आपने बताया कि-"श्रीनरसीजी के पुत्र के विवाह का दिन आ पहुँचा और वे तो नाम सङ्कीर्तन में ही मग्न हैं, अतः मुझे ही वहाँ जाकर सब तैयारी करनी है।" श्रीजी ने कहा-"तो भीतरी स्त्रियों के योग्य जो कार्य हैं, क्या उन्हें भी आप ही कर लेंगे।" प्रभु ने कहा-"यदि चलने की इच्छा हो तो चलो। यह वार्ता सुनकर दूसरी रानियों ने कहा कि- आप हमें छूछक में नहीं ले गये थे, तो क्या अब विवाह में भी नहीं ले चलोगे। भगवान ने रानियों को सभी यादवों को तथा अपने सेवकों को चलने की आज्ञा दे दी। भगवान का रथ आते ही जूनागढ़ में हल्ला हो गया कि-"नरसी के मित्र साँवल सेठ आ गये।" लोगों ने आकर अपनी-अपनी भावना के अनुसार उन्हें देखा। जैसे कि कंस की रङ्गशाला में देखा था। किसी ने सेठ, किसी ने राजा, किसी ने भगवान समझा। श्रीनरसीजी और श्रीकृष्ण दोनों ही प्रेमोन्मत्त दौड़कर गले से गला लगाकर मिले। साँवल सेठ के आते ही नरसीजी का घर द्वार चमक उठा। उसकी अद्‌भुत सजावट हो गई। यत्र-तत्र शिविरों में ठहरे यादव प्रबन्ध करने लगे।

ठौर-ठौर पकवान होत, तिया गान करैं, घुरत निसान, कान सुनिये न बात है।
चित्र मुख किये लै विचित्र पट्टरानी आय, घोरी रंग बोरी पै चढ़ायौ सुत, रात है।।
करी सो ज्योंनार, तामें मानस अपार आये द्विजनि बिचारि पोट बाँधी, पै न मात है।
मणि मै ही साज बाज गज रथ ऊँट कोर झमकैं किशोर आज सजी यों बरात है।।४५२।।

शब्दार्थ—घुरत=बजत। निशान=डंका, बाजा। झमकैं=दमकें, गहनों का झमझम शब्द करै। कोर=कतार, पंक्ति श्रेणी। रात=रात्रि, अनुरक्त।

भावार्थ—श्रीरुक्मिणीजी के समेत भगवान श्रीकृष्ण के आते ही विवाहोत्सव की चहल-पहल आरम्भ हो गई। जहाँ-तहाँ विविध प्रकार के व्यञ्जन बनने लगे। महिलायें मङ्गल गान करने लगीं। ढोल-नगाड़े आदि अनेक प्रकार के माङ्गलिक बाजे इतने ऊँचे स्वर से बजने लगे कि- एक की बात दूसरे को सुनाई नहीं देती थी। पटरानी श्रीरुक्मिणीदेवी ने स्वयं अपने श्रीहस्तकमल से वर के मुख को विचित्र बेल-बूटों से चित्रित किया। जिसके शरीर में

रंग-बिरंगी छापें लगी हैं ऐसी उमङ्ग के रङ्ग में रँगी नई घोड़ी पर वर को चढ़ाकर (घुड़चढ़ी) नगर में भ्रमण कराया गया। उसके बाद ज्यौनार हुई, जिसमें असंख्य मनुष्यों ने आकर खूब अच्छी तरह से भोजन किया। ब्राह्मणों ने भोजन करके "सामान घट जायँ" नरसी की हँसी हो जाय, इस विचार से पारस के नाम पर गठरियों को बाँधकर ले जाने लगे। परन्तु सभी वस्तुयें भण्डार में इतनी भरी थीं, कि उनमें समाती नहीं थीं। बारात सजने लगी। हाथी, घोड़ा, ऊँट, रथ और पालकी आदि वाहनों के साज-बाज मणियों-रत्नों से जड़े हुए थे। यथायोग्य सवारियों पर चढ़े हुए किशोर अवस्था के दिव्य पुरुष अपनी मस्ती से झूमते हुए आभूषणों के शब्द एवं उनकी चमक से सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार श्रीनरसीजी के पुत्र की बारात ने सज-धजकर प्रस्थान किया।।४५२।।

व्याख्या—ठौर-ठौर पकवान०—जहाँ पर देखो वहाँ सामानों की बोरियाँ घी के पीपे ढेर के ढेर चिने हुये हैं। बड़े-बड़े कढ़ाह भट्टियों पर चढ़े हैं, विविध प्रकार के पकवान षटरस व्यञ्जन बन रहे हैं। "तिया गान करैं" माङ्गलिक अवसरों पर गान करने के लिये स्त्रियों को बुलावा दिया गया तो उन्होंने पहले तो आने से इन्कार कर दिया। केवल जो कीर्तन में आती थीं वे ही स्त्रियाँ आईं, तो उन्हें दो-दो कटोरा बतासे एवं मिठाईयाँ मिलीं, यह समाचार पाते ही बिना बुलाये स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे। मंगलगान होने लगे। घर के भीतर श्रीरुक्मिणी आदि रानियाँ सबका स्वागत कर रही थीं। श्रीनरसीजी के द्वार पर लगे हुये शिविरों पर नगर में एवं बाहर तक सर्वत्र बाजे बज रहे थे। देवता और द्वारका के बजनिया बाजे बजा रहे थे। अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं "चित्र मुख" पट्टरानी श्रीरुक्मिणीजी ने दूलह के श्रीमुख को चित्रित कर उसका शृंगार किया। "रंग बोरी" जो उत्साह के रंग में रँगी थीं उस घोड़ी पर चढ़ाकर घुड़चढ़ी की रीति सम्पन्न हुई। पुनः- "करी सो ज्यौनार" में सभी जातियों के सभी स्त्री-पुरुषों का निमन्त्रण हुया। भोजनार्थ अपार मनुष्य आये। इसलिए कि स्वर्ग के देवता और पार्षद मनुष्य का रूप धारण करके आये। इसलिए संख्या अपार हो गई। गाँव के नागर जिनके मन में द्वेष था। उन्होंने "विचारि पोट बाँधौ" मन में विचारकर सलाह की कि यह साँवल सेठ छोछक देने पहुँच गया, इसने हुण्डी चुकाई और व्याह में भी आ गया तो ऐसा करो कि प्रबन्ध परोसने का अपने हाथों में लेकर सामान की पोटलियाँ बाँध-बाँधकर अपने घरों में रख लो। जिससे इसका दिवाला निकल जाय और फिर नरसी के बुलाने पर न आवे। ऐसी सलाह करके वे आकर ठाकुरजी से बोले-"सेठजी! हम लोग परोसने का काम सम्हाल लेंगे, आप निश्चिन्त

रहें।" भगवान ने हाँ कर दिया। वे लोग बाँध-बाँधकर सामान ढोने लगे। उनके घरों में रखने का स्थान नहीं रहा और ढोने की शक्ति नहीं रही। परन्तु सामान के भण्डार ज्यौं के त्यौं भरे ही रहे। हाथी, रथ, ऊँट और घोड़ों पर मूल्यवान झूलें पड़ी थीं। बारात सजकर चलने के लिये तैयार हो गई।

नरसी सों कहैं गहैं हाथ "तुम साथ चलौ, अन्तरिक्ष में हूं चलौं, इती बात मानिये"।
कही "अजू? जानौ तुम, मैं तो हिये आनौं यहै लहै सुख मन मेरौ फेंट ताल आनिये"।।
आपही विचारि सब भार सों उठाय लियौ, दियो डेरा पुरी समधी की पहिचानियै।
मानस पठयौ "दिन आयौ पै न आये," अहो? देखैं छवि छाये नर पूछें जू वखानियै।।४५३।।

शब्दार्थ—अन्तरिक्ष=अप्रकट, गुप्त, आकाश का सुदूरतम भाग। इती=इतनी।

भावार्थ—जब बारात चल पड़ी, तब श्रीठाकुरजी ने श्रीनरसी का हाथ पकड़कर कहा कि-"आप बारात के साथ चलो, इतनी मेरी बात तो मान लो।" मैं गुप्त रूप से सब प्रकार से देखभाल करता हुआ चलूँगा। श्रीनरसीजी ने कहा-"प्रभो! तुम जानो और तुम्हारा काम जाने, जो चाहो, सो करो। मुझे तो आनन्द इसमें है कि- आपके इस सुन्दर स्वरूप को हृदय में धारण कर लूँ और कमर कसकर हाथ में करताल लेकर आपके गुणानुवाद गाऊँ। तब भगवान ने विचारा कि इनसे कुछ होने वाला नहीं है। अतः सम्पूर्ण कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया। बारात चढ़कर समधी के गाँव को पहुँच गई। चारों ओर यत्र-तत्र-सर्वत्र बाराती लोग शिविर लगाकर ठहर गये। कन्यापक्ष के लोगों को पता नहीं, वे चिन्ता करने लगे कि विवाह की लगन समीप आ गई और बारात अब तक नहीं आई। पता लगाने के लिए आदमी गये तो उन्होंने देखा कि चारों ओर सुन्दरता की घटायें घिरी हैं, आश्चर्य से चकित होकर उन्होंने बरातियों से पूछा कि-"अति सुन्दर यह बारात किसकी है? बारातियों ने कहा-"अजी! यह बारात श्रीनरसी मेहता के पुत्र की है।।४५३।।

व्याख्या—नरसी सों कहैं—सारी बारात सजी तैयार खड़ी है, परन्तु श्रीनरसीजी कीर्तन में मग्न हैं। आप बारात में जाने के इच्छुक नहीं हैं। तब श्रीठाकुरजी ने जाकर कहा-"बारात में चलिए, परन्तु कीर्तनमग्न श्रीनरसीजी ने सुना नहीं, तब "गहैं हाथ" हाथ पकड़कर सचेत करने पर बारात में चलने की आज्ञा सुनकर श्रीनरसीजी ने भी "गहैं हाथ" अर्थात् भगवान के वरदहस्त का आश्रय लिया और बोले-"प्रभो! मैं विवाह में जाकर क्या करुँगा।" प्रभु ने कहा-"तुम बेटा के बाप हो, अतः तुम्हारे बिना शोभा नहीं होगी। "अन्तरिक्ष में हूँ

चलौं'' का तात्पर्य कि मैं मित्र साँवलशाह के रूप में प्रकट और श्रीकृष्ण परमात्मा रूप से अप्रकट चलूँगा। इनकी आनाकानी देखकर प्रभु ने आग्रहपूर्वक कहा-''इती बात मानिये'' इसका तात्पर्य आप मान नहीं रहे थे। यहाँ विचित्र बात यह है कि सर्वत्र बेटा का बाप सबकी खुशामद करता है कि चलिए बारात में। परन्तु यहाँ उल्टे उसी को मनाया जा रहा है। श्रीनरसीजी सोच रहे थे कि बारात में लोग बर्रते हैं, कीर्तन में बाधा होगी। पुनः सबकी सार-सम्हार मेरे वश की नहीं है। पुनः असली पिता के रहने पर मुझ नकली पिता की क्या जरूरत है? प्रभु का आग्रह देखकर आपने कहा-''तुम जानो'' तुम्हारा काम जाने। 'मैं तो आनौ यहै सुख'' का भाव है कि बेटे के व्याह में मुझे सुख का लेश भी नहीं मिलेगा। सच्चे सुख के स्वरूप आपके रूप को ही मैं हृदय में रखूँगा। वाणी से कीर्तन करूँगा। प्रभु सर्वदा ध्येय गेय हैं-''ध्येयो नारायणः सदा'' एवं ''कीर्तनीयः सदा हरिः।''

आप ही विचारि—श्रीठाकुरजी ने श्रीनरसीजी के तन-मन की स्थिति को देखकर समझ लिया कि- ये पूर्णतया मेरे ऊपर निर्भर हैं, अतः ''योगक्षेमं वहाम्यहम्'' इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ''सब भार सो उठाइ लियो'' अर्थात् श्रीनरसीजी ने कीर्तन छोड़कर दूसरी ओर ध्यान नहीं दिया। अब भगवान अन्तरिक्ष में न चलकर प्रकट नरसीजी के साथ बारात में चले। अन्तरिक्ष से भार न उठाकर प्रत्यक्ष ही भार उठाया। श्रीबल्देवजी छप्पन कोटि यदुवंशियों के साथ चतुरङ्गिणी बारात सजाकर सम्मिलित हो गये। सब कुछ दिव्य एवं अनन्त था। सर्वज्ञ थे अतः किसी से पूछे बिना ही समधी की नगरी बड़नगर को पहचान गये और बड़े-बड़े विशाल शिविर लगाकर व्यवस्थित रूप से लाइन की लाइन हाथी, घोड़े, ऊँट और रथ स्थित हो गये। नृत्य-गान वाद्य भोजन एवं विविध कौतुक यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई पड़ रहे थे। इस लीला को देखने के लिए विमानों में बैठकर देवगण आ गये, बहुत से ऋषी भगवद्दर्शन की लालसा से आकर बारात में सम्मिलित हो गये।

मानस पठायौ०—उधर मदनराय मेहता ने अपनी हैसियत के अनुसार पर्याप्त तैयारी कर रखी थी। वे प्रतिष्ठित पुरुष थे, अतः उनके रिश्ते-नातेदार एवं इष्ट-मित्र बड़ी संख्या में एकत्र थे। उन्होंने सुन रखा था कि वे गरीब ब्राह्मण हैं, अतः सोच रहे थे कि दस-पाँच आदमी एकाध बैलगाड़ी बारात में आवेगी। सभी को चिन्ता थी कि आज व्याह का दिन है। बारात नहीं आई, गाड़ी टूट या कहीं फँस गई अथवा पंचों ने जो पत्र दिया था तद्नुरूप तैयारी न कर सकने के कारण बारात नहीं आई। इस प्रकार की विविध कल्पनाएँ करते हुए लोगों ने कहा-''भाई! गाँव के बाहर दो-चार जने जाकर देखो। लोगों ने आकर देखा तो उन्हें

''अहो'' अर्थात् बड़ा आश्चर्य हुआ इसलिए कि ''छवि छाये'' इसका भाव यह है कि बारात के प्रत्येक पुरुष, वाहन एवं वस्तुओं में अपार शोभा थी, क्योंकि सब दिव्य थे। ''नर पूछे'' नर शब्द श्लेष है, भाव यह है कि छवि छाये नर बाराती थे। उनसे पता लगाने वाले घराती नर पूछें अर्थात् पूछने लगे जू-अजू! बखानिये कृपा करके बताइये कि यह बारात कहाँ से किसकी और किसके यहाँ आई है।

''नरसी बरात, मत जानौ यह नरसी की, नरसी न पावै ऐसी समझ अपार है।
आय कै सुनाई, सुधि बुधि बिसराई, कहौ ''करत हँसाई, बात भाखौ निरधार है''।।
गयौ जो सगाई करि दर बर आयौ द्विज निज अङ्ग मात कैसे रंग विसतार है।
कही''एक घास धन रासि सों न पूजै किहूं, चहूँ दिसि पूरि रही देखौ भक्ति सार है।।४५४।।

शब्दार्थ—नरसी=मनुष्यों की सी। दर=द्वार। दर=वर। दर-बर=हड़बड़, शीघ्र, आतुरता से। निरधार=निर्धार, निश्चय।

भावार्थ—''यह नरसी के बेटा की बारात है।'' ऐसा सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे विश्वास न करते हुये परस्पर कहने लगे कि- यह बारात तो नरसी की सी नहीं लगती है, इसमें अपार मनुष्य एवं वाहन हैं। नरसीजी बेचारे ऐसी बारात कैसे-कहाँ से ला सकते हैं? यह बात हम लोगों की समझ से बाहर है। उन लोगों ने आकर कन्या के पिता को सब बात सुनाई, उसकी सुध-बुध भूल गई। पुनः सावधान होकर कहने लगा कि आप लोग हँसी कर रहे हो। हँसी न करो, सच्ची बात बताओ। इसी बीच जिसने सगाई की थी, वह पुरोहित बारात देखकर आ गया। वह अपने मन मन में फूला नहीं समा रहा था। उसके अङ्ग-अङ्ग में प्रेमरङ्ग भरकर उमड़ रहा था। प्रेम विह्वल होकर बोला-''आपके पास जितनी धनराशि है, उससे बारात के घोड़ों की घास का भी पूरा नहीं पड़ने का। जाकर के देखिये, नगर के चारों ओर बारात ही बारात भरी हुई है, उसका अन्त नहीं दीखता है। यह श्रीनरसी मेहता की भक्ति का प्रताप है, अतः भक्तितत्व ही सार है और सब असार हैं।।४५४।।

भावार्थ—नरसी बरात—यत्र-तत्र घरातियों के पूछने पर सर्वत्र बरातियों ने कहा कि-''नरसी बरात'' अर्थात् जूनागढ़ से नरसी मेहता की आई है यह सुनकर घराती आश्चर्य-चकित होकर बोले-अरे! यह नरसीजी की ऐसी बारात! दूसरे ने कहा-''मत जानो यह नरसी की'' अर्थात् यह नरसी की लाई बारात होती तो मनुष्यों की सी होती। यह तो देवताओं की सी है। तीसरे ने कहा-''नरसी न पावै ऐसी समझ'' नरसी ही नहीं कोई भी मनुष्य चाहे

वह पृथ्वी का सम्राट ही क्यों न हो, ऐसी बारात एकत्र नहीं कर सकता है। इस पर प्रश्न हुआ क्यों? तो कहते हैं कि "अपार है" अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट आदि वाहनों की संख्या नहीं हैं, वे अपार हैं। उनकी शोभा अपार है। बाजे-गाजे अपार हैं। बारातों के इतिहास गाँवों में कहे सुने जाते हैं कि अमुक बारात में इतने वाहन थे, इतने मनुष्य थे आदि, अतः लोगों ने गणना करना चाहा, परन्तु ऐसा चमत्कार था कि वे लोग अति अधिक प्रयत्न करने पर भी गणना नहीं कर सके। तब हारकर बोले-"समझ अपार है" अर्थात् अपार समझ लीजिए। श्रीरघुराजसिंहजी लिखते हैं कि-

नख शिख रतनन सों जटित, प्रगटे सुभट अपार।
बजैं हजारन वाद्य बहु, मधुर शब्द नहिं पार।।
एक ओर गैयर गरट्टन के ठट्ट ठाटे, एक ओर हैयर हजारन विराजहीं।
स्यन्दन अमन्द मानौ मार के सँवारे सर्व, प्यादे अर्व खर्व सुर गर्व को पराजहीं।।
प्रगटे अकुण्ठित वैकुण्ठही के बाजे तहां, कुण्ठित करैं जे देवराज हू के बाजहीं।।
भनैं रघुराज यदुराज लै समाज आयौ, विलसी बरात ऐसी नरसी के काजहीं।।

कही—पुरोहित ने कहा- तुम अपने घर का सारा धन लगाकर भी घोड़ों को घास नहीं दे सकोगे। न हाथियों को चारा। दाना-रातब की बात तो बहुत दूर रही। आप सभी बारातियों के लिए केवल जल का भी प्रबन्ध नहीं कर सकोगे। भोजन का तो प्रश्न ही नहीं। क्यों? तो उसने कहा-"चहुदिशि पूरि रही" चारों दिशाएँ बारात से भरी हैं, उसका अन्त दिखाई नहीं देता है। इसका कारण यह है कि "देखौ भक्ति सार है" अर्थात् अब तक तो भक्ति की महिमा आपने शायद कभी शास्त्र-पुराणों में पढ़ी होगी अथवा कहीं सत्सङ्ग में सुनी होगी, परन्तु आज तो "देखौ" अर्थात् प्रत्यक्ष इन्हीं चर्म चक्षुओं से देख लो। क्या देख लूँ तो कहते हैं कि "भक्ति सार है" अर्थात् इस असार संसार में तो भगवद्भक्ति सार-सच्चा तत्व है ही, इस बारात में भी भक्तिसार है अर्थात् बारात की अनन्यता उसकी शोभा की अनन्यता में मूल कारण श्रीनरसीजी की भक्ति है। आप पूछेंगे कि इतनी और ऐसी बारात कहाँ से आई तो उनकी भक्ति के प्रताप से आई है। इनके पास भक्ति सम्पत्ति है पर उसका अहङ्कार नहीं है। आपके पास तुच्छ लौकिक सम्पत्ति है, तो आपको उसका भारी अभिमान है, अतः तुम भी "देखौ भक्ति सार है" अर्थात् भक्ति से ही नाक बचेगी। भक्त भगवन्त के भक्त बन जाओ।

चले अचरज मानि, देखि अभिमान गयौ, लयौ पाछौ ब्राह्मण को ''हमें राखि लीजिये''। जाइ गहि पांय रहौ भाय भरि ''दया करौ'' गए दृग भरै पांव परै ''कृपा कीजिये''।। मिले भरि अंक, लै दिखायौ सो मयंक मुख, ''हूजिये निसंक इन्हैं भार सुता दीजिये''। व्याह करि आये, भक्तिभाव लपटाये, सब गाये गुण जाने जेते, सुनि-सुनि जीजिये।।४५५।।

शब्दार्थ—मयंक=चन्द्रमा। हूजिये=होइये।

भावार्थ—बारात का विचित्र विवरण पाकर बेटी का बाप भी बारात देखने गया। देखकर उसका सब अभिमान दूर हो गया। उसने उसी पुरोहित का आश्रय लिया और बार-बार प्रार्थना की कि- आप कृपा करके मेरी लज्जा रख लीजिये, मैं आपकी शरण में हूँ। पुरोहित ने उससे कहा- ''आप सद्भावपूर्वक श्रीनरसीजी के श्रीचरणों को पकड़ लीजिए और मुझ पर दया कीजिए।'' ऐसी उनसे प्रार्थना कीजिए, तो सब काम बन जायेगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीनरसीजी के चरण-कमलों में पड़कर कन्या के पिता ने प्रार्थना की कि-''प्रभो! मुझ पर दया कीजिए।'' श्रीनरसीजी छाती से छाती लगाकर मिले और श्रीश्यामसुन्दर के मुख चन्द्र का दर्शन कराया और कहा-''आप अपना भार इन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो जाइए।'' बड़े समारोह के साथ श्रीनरसीजी के पुत्र का विवाह हुआ। घराती बाराती सभी भक्ति के भाव में विभोर हो गये। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि- श्रीनरसीजी के जितने चरित्रों का मुझे ज्ञान था, उनका मैंने वर्णन किया, इन्हें सुन-सुनकर भक्तिभावमय जीवन धारण कीजिये।।४५५।।

व्याख्या—चले अचरज मानि—कन्या के पिता मदनराय मेहता को इन सबकी बातों पर पूर्ण विश्वास नहीं हुआ, तब स्वयं देखने गया तो जो कुछ भी सुना था, उससे भी कहीं अधिकता दिखाई पड़ी। कारण कि बारात वर्णनातीत थी। ''गयो अभिमान'' उसमें दैन्य आ गया पछताने लगा कि प्रथम हमने कहा था कि नरसीजी हमसे सम्बन्ध करने योग्य नहीं हैं, यह मुझसे अपराध हुआ। समानता में सम्बन्ध होना चाहिए, अब मेरी समझ में आ गया कि हम श्रीनरसीजी के योग्य कदापि नहीं हैं। इस प्रकार दैन्य भाव आया, तब ''लयो पाछौ ब्राह्मण को'' ब्राह्मण का अनुगत्य स्वीकार किया। क्योंकि इसके बिना भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब उसने कहा कि-''हमें राखि लीजिए'' अर्थात् त्राहिमाम् शरणागतम्। मैं शरण में हूँ, मेरी रक्षा करो। इस प्रकार उसकी शरणागति विधिवत् सम्पन्न हो गई। मदनरायजी ब्राह्मण के साथ बारात में गये, तब तक आमने-सामने दो विशाल शिविर दिखाई

पड़े। एक में मदनराय ने द्वारपाल से सूचना भेजी। आज्ञा पाकर गये तो भगवान श्रीकृष्ण विराजमान थे। इन्होंने समझा कि यही श्रीनरसीजी हैं। तब भगवान ने कहा–"मैं तो उनका गुमास्ता हूँ। चलिये, श्रीठाकुरजी भी साथ हो लिये जाकर देखे तो श्रीनरसीजी संकीर्तन में मग्न हैं। आश्चर्य हुआ कि जिनका ऐसा वैभव वे ऐसे सादे वेश में, ऐसे भक्त। श्रद्धापूर्वक मदनरायजी श्रीनरसीजी के शरणागत हुए और कृपा की भीख माँगी। कृपालु श्रीनरसीजी ने उन्हें गले से लगाकर फिर भगवान की शरणागति का उपदेश दिया और कहा–"अपना सर्वस्व इन्हें सौंप दो।"

दिखायौ सो मयङ्क मुख—श्रीनरसीजी ने भगवान के मुख का दर्शन कराया। तब तो वे अपने आप न्यौछावर हो गये। यद्यपि उन्होंने भगवान को देखा था, पर आज श्रीनरसीजी ने दर्शन कराया तब विलक्षण दर्शन हुए। श्रीमुखचन्द्र को देखकर उसके सामने चन्द्रमा की शोभा फीकी प्रतीत हुई। हजार बार चन्द्रमा को देखा है पर ऐसे सुख का लेश भी नहीं मिला अतः इसकी उपमा चन्द्रमा से नहीं दी जा सकती है। चन्द्रमा ने श्रीकृष्ण के मुख की समता पाने के लिये कठोर घोर तप किया। उससे उसकी पर्याप्त उन्नति हुई, परन्तु तब भी समता न पा सका। तब समुद्र में जा गिरा। इसका वर्णन श्रीनंददासजी ने किया है–

प्यारे तेरो सो मुख करिबे को चन्दा बहुत तप्यौ।
उडुगनकौ ईश भयौ पुनि औषधीश भयौ, ईश शीश लौं गयौ तऊ न फिर्‌यौ।।
सुधामय शरीर कियौ बाँटि बाँटि सुरन दियौ, मरि-मरि फेरि जियौ तनु धरिकै नयौ।
नन्ददास प्रभु प्यारे तदपि कछु न अर्थ सर्‌यौ, जाय समुद्र में गिर्‌यौ विधि बूड़न न दियौ।।

श्रीठाकुरजी ने भी उसे इसलिये अपनाया क्योंकि श्रीनरसीजी का सम्बन्ध था। उसे ये अपना चुके थे। भक्त जिसको अपनाते हैं, भगवान उसका त्याग कदापि नहीं कर सकते। इस प्रकार क्रमशः गुरु, सद्‌गुरु और भगवान की शरण में आकर मदनराय मेहता निश्चिन्त हो गये। तब श्रीठाकुरजी ने श्रीबलरामजी को बुलाया और कहा–

मर्त्यो यदा त्यक्त समस्त कर्मा,
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो–
मयात्मभूयाय च कल्पते वै।। (भा० ११-२९-३४)

अर्थ—जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है। उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है, मैं उसको जीवत्व से छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ, वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है।

वर पक्ष का भार मेरे ऊपर है, आप कन्या पक्ष का कार्य सँभालिये। कोठार भण्डार आदि सब कुछ अनन्त हो गया। जैसे बारात अनन्त थी, उसी प्रकार घरात के पुरुष हाथी घोड़े अनन्त हो गए। स्वागत, स्नान, परिधान-भोजन-शयन आदि की सभी व्यवस्थाएँ हो गईं। सभी को पूर्ण सन्तोष हुआ। विवाह की लौकिक-वैदिक सभी रीतियाँ सम्पन्न हुईं। तीनों लोकों में श्रीनरसीजी के बेटे के व्याह को श्रीनारदादि देवर्षि एवं तुम्बरु आदि गन्धर्वों ने गाया। उभय पक्ष को दिव्य आनन्द का अनुभव हुआ। मदनराय मेहता कृतकृत्य हो गये। गुजरात की धरती पवित्र हो गई।

व्याह करि आये—श्रीनरसीजी वधू और पुत्र के समेत जूनागढ़ आये। दहेज में इन्हें अपार धन, आभूषण, बर्तन और सामान मिला। श्रीनरसीजी ने पुत्र साँवलदास से कहा कि-''अब तुम गृहस्थ हो गए, अतः अलग रहो। दूसरा घर खरीदकर सारे सामान के समेत सानन्द वर-वधू उसमें रहने लगे। श्रीनरसीजी का रहन-सहन, भजन-पाठ और साधु-सेवा पूर्ववत् चलती रही। इसलिए कहते हैं कि-''भक्तिभाव लपटाए'' तात्पर्य यह कि धन सम्मान में उन्मत्त या अहङ्कारी नहीं हो गए। जैसे श्रीसुदामाजी ने ऐश्वर्य पाकर भी श्रीकृष्ण में भक्ति तथा सत्सङ्ग में सुख माना। उन्होंने अपने मन में विचारा-

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो, राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः।
अदीर्घ बोधाय विचक्षणः स्वयं, पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम्।।
(भा० १०/८१/३७)

अर्थ—अजन्मा भगवान श्रीकृष्ण सम्पत्ति आदि के दोषों को जानते हैं। वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनियों और ऐश्वर्य मद से झट पतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्त को उसके माँगते रहने पर भी तरह-तरह की सम्पत्ति राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते हैं, यह उनकी बड़ी कृपा है। यही विचारकर आप भी धन-मान से दूर रहे। भगवान की इस प्रकार की अपने ऊपर हुई कृपा का निरन्तर अनुभव कर आप अधिकाधिक भक्ति के भावों में लपटाए। सभी बारातियों को ससम्मान विदा किया। श्रीकृष्ण के चरणों में पड़कर दृढ़ भक्ति का वरदान माँगा और ऐसी भक्तवत्सलता को धन्यवाद दिया। आपकी विशेष विनती

सुनकर श्रीठाकुरजी ने कहा- आप कहते हो कि तुमने मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई पर सच्ची बात तो यह है कि आपने मेरी प्रतिष्ठा और कीर्ति को उज्वल किया। अभी तक लोग मुझे ''चौराग्रगण्य'' कहते मानते थे और उपहास करते थे। परन्तु तुमने तो साँवलशाह बना दिया। ईमानदार बना दिया, इसलिये हम परम कृतज्ञ हैं। इस तरह परस्पर प्रेमालाप करके भक्त-भगवन्त दोनों ही ''भक्ति भाव लपटाए।''

विशेष—जूनागढ़ में एक अन्त्यज भक्त रहते थे। उन्हें श्रीनरसी में बड़ा अनुराग था, कीर्तन के समय प्रायः नित्य ही द्वार पर बैठकर कीर्तन करते एवं सुनते रहते थे। श्रीनरसीजी भी इसकी भक्ति से प्रभावित थे। एकादशी का दिन था। श्रीनरसीजी श्रीदामोदर कुण्ड में स्नान करके लौटे। यह कुण्ड जूनागढ़ से दो मील के लगभग दूर है, गिरिनार की तराई में स्थित है। मार्ग में अन्त्यज भक्त ने ''जै श्रीकृष्ण'' कहा और धरती में मस्तक टेककर प्रणाम किया और बोला-''महाराज! एक प्रार्थना है। दास पर कृपा कर स्वीकार करें।'' आप बोले- मैं किस योग्य हूँ, मेरे योग्य सेवा बताओ। मैं उसे सहर्ष स्वीकार करुँगा। इसलिये कि आप श्रीभगवद् भक्त हैं। उसने कहा-''प्रभो! आज एकादशी का जागरण कीर्तन मेरे घर में करके आप मुझे कृतार्थ करें। इनके मन में जाति भेद न था और उसमें भी कीर्तन की प्रार्थना थी, आपने स्वीकार करते हुए कहा-''धन्य हैं आप, जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ भगवान अपने पार्षदों समेत उपस्थित हो जाते हैं। आप अपने आँगन में तुलसी चबूतरे के चारों ओर गाय के गोबर से चौका लगा देना। मैं अपनी मण्डली समेत सायंकाल को आऊँगा।''

घर आकर आपने देखा कि माणिकबाई को साधारण ज्वर है, फिर भी वे सङ्कीर्तन कर रही हैं। उस दिन भण्डार बनाने से छुट्टी रहती है, अतः दिन भर भजन-पाठ में बीता। सायंकाल को आपने अपने ताल मृदंग वाद्य आदि लिए और साधु मण्डली के साथ अन्त्यज भक्त के घर पहुँचे। कीर्तन आरम्भ हो गया। तुमुल ध्वनि से कीर्तन एवं उद्दाम नृत्य से सबको मुग्ध कर दिया, सबको बड़ा आनन्द आया। प्रातःकाल कीर्तन समाप्त कर श्रीनरसीजी घर को आये। ज्वर के वेग ने माणिकबाई को अचेत कर दिया था, पर इस अवस्था में भी उनके मुख से निरन्तर मधुर-मधुर हरि नामोच्चारण हो रहा था। श्रीनरसीजी भी नाम कीर्तन करने लगे। एक बार नेत्र खोलकर उन्होंने पति-परमात्मा का अन्तिम दर्शन किया और ध्यानस्थ हो गईं। क्षण भर के लिए श्रीनरसीजी को साधु-सेवा और कीर्तन में साथ देने वाली का वियोग दुःख व्यापा। फिर शरीर की नश्वरता और श्रीभगवदिच्छा विचारकर शान्त हो गए। भक्त भगवद्धाम को गया। इसमें दुःख का क्या काम? अन्तिम संस्कार करके निश्चिन्त हो गये।

शोकादि के हेतुओं के उपस्थित होने पर भी भक्त अपने मन को भगवान में लगाकर सुखी रहता है। भगवान कहते हैं कि-

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभ परित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। (गी० १२-१७)

अर्थात् जो कभी हर्षित नहीं होता, द्वेष नहीं करता, शोक नहीं करता, कामना तथा जो शुभाशुभ कर्मों के फल का त्यागी है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। इसलिए शोकादि व्यर्थ हैं ऐसा विचारकर आप अपने भजन-ध्यान में विशेष मग्न रहने लगे।

अन्त्यज के घर कीर्तन का समाचार पाकर निन्दकों की बन आई। सर्वत्र प्रचार कर पञ्चायत की गई। इसे नागर जाति के लोगों ने बहुत ही अनुचित माना और बोले- अब कलियुग आ गया है। कर्म-धर्म कैसे बचेगा। विचार-विमर्श के बाद इनका जाति से बहिष्कार कर दिया गया। दो-चार सज्जनों ने कहा भी कि- अन्त्यज के आँगन में ही तो किया है। उसने वहाँ कुछ खाया-पिया तो नहीं है, अतः वह भ्रष्ट तो नहीं हुआ। इस बात को लोगों ने न तो सुना और न माना। श्रीनरसीजी को इस बात का पता भी नहीं कि हमारे विरुद्ध कुछ हुआ है। कुछ दिन बाद जानकर भी उसका मन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु भगवान को इसकी चिन्ता हुई। वे अपना अपमान सह सकते हैं पर भक्त का कदापि नहीं सह सकते। उन्होंने भक्त की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए लीला रची। दूसरे दिन जूनागढ़ के धनी-मानी कृष्णराय नागर की माता का भण्डारा था। नागर जाति के सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों को निमन्त्रण दिया गया। नागर लोग पवित्र वस्त्रों को पहन-पहनकर पीढ़ों पर पंक्ति में बैठे और भोजन परोस दिया गया। जब वे लोग भोजन करने लगे तो प्रत्येक नागर को अपनी बगल में अन्त्यज बैठा दिखाई पड़ा। लोग उठकर खड़े हो गये और सोचने लगे कि हम लोग अन्त्यज के साथ भोजन करके पतित हो गये अब क्या करें। दूसरे जो अलग खड़े थे या परोस रहे थे, उन्हें नागरों के अतिरिक्त कोई अन्त्यज नहीं दीख रहा था, उन्होंने कहा- आप लोगों को भ्रम है, कोई दूसरा नहीं है। बैठो-बैठो भोजन करो। लोग पुनः बैठे तो सबको अब भी अपनी बगल में अन्त्यज दिखाई पड़ा, तब मुखिया सारङ्गधर ने कहा कि अब तो हम लोगों को गङ्गा स्नान करके अपनी शुद्धि करनी पड़ेगी।

तब अनन्तराय जो श्रीनरसीजी के मामा भी लगते थे, उन्होंने कहा-"यह विशुद्ध भक्त को जाति से बहिष्कृत करने का परिणाम है। यह भक्तापराध ऐसा पाप है जिसे

हजार बार गंङ्गा में स्नान करके नहीं छुड़ाया जा सकता है। अब भी समय है आप लोग पत्तल न छोड़ें। श्रीकृष्णराय आदि कुछ लोग क्षमा प्रार्थनाकर श्रीनरसीजी को बुला लावें। तब आपकी पंक्ति उनके बैठने से पवित्र होगी। ऐसा ही किया गया। अनुनय-विनय करने से श्रीभक्तराजजी ने आकर भोजन करना आरम्भ किया। तब किसी को भी अन्त्यज नहीं दिखलाई पड़ा। सभी लोगों ने विश्वास कर लिया कि ये सच्चे भगवद्भक्त हैं।

सब लोग श्रीनरसीजी की बड़ाई करने लगे कि- हम लोगों के द्वारा किये गये तिरस्कार को इन्होंने ध्यान में नहीं रखा और बुलाने से सहज में ही आ गये। इस पर भी भक्तराज ने कहा- सुनिये, दृष्टान्त- एक सन्तजी का- एक सन्त थे, उन्हें एक ने न्यौता दिया कि महाराज आज बारह बजे मेरे घर पर आ जाना। सन्त गये तो उसने भोजन तो कराया नहीं, उल्टे फटकार लगाई। सन्त वापस चले आये। किसी दिन उसने जाकर पुनः निमन्त्रण दिया और आने पर फिर फटकार दिया। ऐसे ही उसने बीस बार फटकारा। जब इक्कीसवीं बार गये तो वह चरणों में पड़ गया और बोला-''महाराज! मेरे अपराधों को क्षमा करो, आपमें क्षमा गुण पूर्ण रूप से विराजमान है। आप सच्चे अमानी हैं। यह सुनकर सन्त ने कहा कि-''यह गुण तो कुत्ते में भी होता है, उसे डाँट दो, मार दो, पुनः वह टुकड़े के लोभ से बुलाते ही आ जाता है। मैं मनुष्य होकर आ गया इसमें मेरी क्या बड़ाई।'' यह सुनकर उसने आदरपूर्वक भोजन कराया और उनकी शिष्यता स्वीकार की। यह सुनकर सभी को अति प्रसन्नता हुई।

इस प्रकार विरोधियों को नीचा दिखाकर भगवान ने भक्त श्रीनरसीजी की महिमा बढ़ाई और इन घटनाओं के बाद लोग निन्दा से डरने लगे। भक्ति के आचरण और सन्त-सेवा होने लगी। जहाँ-जहाँ श्रीनरसीजी के चरित्रों का विस्तार हुआ, वहाँ-वहाँ भगवद्भक्ति का सुदृढ़ प्रचार हुआ।

श्रीमङ्गलजी के द्वारा लिखित एवं गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित ''भक्त नरसिंह मेहता'' के अनुसार कुछ दिनों के बाद श्रीनरसीजी के पुत्र श्रीशामलदास की मृत्यु हो गई। ''यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः। करोमि बन्धुविच्छेदं स च कष्टेन जीवति।।'' अर्थ-''जिस पर मैं बहुत कृपा करता हूँ, उसके धन का अपहरण कर लेता हूँ और प्रिय बन्धुओं से वियोग भी करा देता हूँ। लौकिक दृष्टि से वह अत्यन्त कष्ट से जीता है।'' भगवान के इस वाक्य का स्मरण कर और देह की नश्वरता को समझकर आप अपने भजन में तल्लीन रहे। इसे भी भगवत्कृपा का ही फल समझा।

एक बार श्रीनरसीजी द्वारिकाधीश का दर्शन करने की इच्छा से द्वारिकाजी को चले। इन्हें जाते देखकर इनके काका श्रीपर्वतलालजी भी तैयार हो गये। रास्ते में एक जंगल पड़ा। नाम संकीर्तन में रास्ता भूल गये। दोनों को भूख-प्यास लगी। इसी बीच रास्ते के किनारे एक ग्वालों की बस्ती दिखाई पड़ी। पर्वतलालजी बोले-''गाँव में भिक्षा माँगकर भोजन बनाना चाहिये।'' इसी बीच एक ग्वारिया ने आकर कहा-''आपका मेरे यहाँ निमन्त्रण है, चलिये भोजन कीजिये।'' काकाजी ने अस्वीकार कर दिया। इसलिए कि हम ब्राह्मण हैं। ग्वारिया के यहाँ भोजन कैसे करेंगे? श्रीनरसीजी ने कण्ठी-तिलक के नाते ग्वारिया भक्त के यहाँ जाकर भोजन किया। लौटकर आये तो काकाजी ने कहा-''तुमने ब्राह्मण होकर ग्वारिया के यहाँ भोजन किया। यह ठीक नहीं किया।'' श्रीनरसीजी ने कहा-''काकाजी! हम तो अच्युत गोत्री हैं, वैष्णव के यहाँ का भोजन करते हैं, वही हमारे सगे-सम्बन्धी हैं।'' काकाजी ने कहा-''मैं जाता हूँ, भिक्षा ले आऊँगा और बनाकर खाऊँगा। जब चलने लगे तो गाँव का लोप हो गया। घोर जंगल ही जंगल दिखलायी पड़ा। समझ में नहीं आ रहा था, तो श्रीनरसीजी ने कहा-''यह गाँव तो भगवान की कृपा से बस गया था, उस कृपा की आपने अवहेलना की। वह ग्वारिया भगवान श्यामसुन्दर का सखा था।'' काकाजी पछता रहे थे, परन्तु ''अब पछिताये का होत।'' भूखे-प्यासे काकाजी को लेकर आगे बढ़े। इनका अहङ्कार दूर हो गया। श्रीनरसीजी की कृपा प्राप्त करने के लिये चरणों में गिरने लगे। तब भक्तराज ने इन्हें उपदेश देकर कृतार्थ किया और ये सच्चे वैष्णव बन गये। द्वारिकाधीशजी ने इन पर भी कृपा की।

गाये गुण जाने जेते—श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि भक्तराज श्रीनरसीजी के जितने चरित्र मैंने सन्तों की कृपा से जाने उतने गाये। ऐसा कहने का भाव यह कि सत्ताइस कवित्तों को देखकर कोई यह न समझे कि सम्पूर्ण का गान किया गया। जैसे यथा-''हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।'' उसी प्रकार भक्तों के भी चरित्र अनन्त हैं। प्रसिद्ध है कि भगवान ने श्रीनरसीजी को बावन बार दर्शन एवं सहायता देकर उन्हें कृतार्थ किया और उनके द्वारा भक्ति का, वैष्णव धर्म का इस पृथ्वी पर प्रचार-प्रसार कराया। इसीलिए श्रीनाभाजी ने लिखा कि-''बहुत ठौर परचौ दियौ।'' यहाँ यदि कोई शङ्का करे कि परचौ दिये सो ठीक है परन्तु छूछक देना, व्याह में आना यह महान आश्चर्यजनक है, क्योंकि कठिन कलिकाल है। इसका समाधान यह है कि भक्तों पर कलियुग के कारण श्रीभगवद्कृपा में न्यूनता आ जाय, ऐसा नहीं है, प्रत्युत-''और युगन ते कमल नयन कलियुग

बहुत कृपा करी।'' दूसरे प्रभु ''कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं'' समर्थ हैं और अचिन्त्य लीलामय हैं, अतः उनकी लीलाओं को तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता है। अगस्त्य मुनि ने समुद्र को तीन अञ्जलियों में ही पान करके सुखा दिया। अब यदि कोई तर्क करे कि समुद्र घट गया अथवा उनकी अञ्जलि बड़ी हो गई। तो यह किसी की समझ में आने वाला नहीं है। इसे तो भगवान जानें अथवा मुनि जानें। जब एक मुनि की लीला तार्किक की समझ से परे है तो परात्पर परमात्मा की लीला को कोई कैसे जान सकता है? उसे या तो प्रभु जानें अथवा उनके भक्त जानें। अतः कहते हैं कि तर्क-वितर्क और कुतर्क का परित्याग कर-

सुनि-सुनि जीजिये—इसका भाव यह है कि बिना भक्त चरित्र सुने मरिये। जैसे श्रीपरीक्षितजी-''वानी विरमानी तहाँ जीवन निरास हैं।'' श्रीशुकदेवजी जब तक कथा सुनाते रहे, तभी तक जीवन था। स्वयं लीलाशुक की यह सम्मति है कि-'पिबत भागवतं रसमालयम्' 'लय' पर्यन्त वैष्णव चरित्र सुधा का पान कीजिये। कथाएँ सुनते हैं वस्तुतः वे ही जीवित हैं, न सुनने वाले विमुखजन मृतक हैं। पुनः ऐसे वाक्य आज्ञारूप हैं, सुनना अनिवार्य है न सुनने से आज्ञा का उल्लंघनरूप दोष होगा। अतः कहते हैं-''सुनि-सुनि जीजिये।'' कलियुग में भगवन्नाम की अपार महिमा है और नरसीजी की नाम संकीर्तन में अपार निष्ठा थी। यथा-

सन्तो हमे रे बेपारिया श्रीरामनामना।
बेपारी आवे छे बधा गाम गामना।।
हमारुं बसाणुं साधू सऊको ने भावे।
अठारे बरण जेने होरवाने आवे।।

हमारुं वसाणू काल दुकाले न खूंटे।
जेने राजा न दण्डे जेने चोर न लूटे।।
लाख बिनाना लेखा नाहिं ने पार विनानी पूंजी।
होरवुं होय तो होरी ले जो कस्तूरी सोघी।।

राम नाम धन हमारे बाजे ने गाजे।
छप्पन ऊपर भेर भेरी भूंगल बाजे।।
आव रो ने खाता बही मां लक्ष्मी वर नुं नाम।
चीठीमां चतुरभुज लिखिया नरसैया नुं काम।।

सन्तो! हम तो राम नाम के व्यापारी हैं। हमारे यहाँ सब गाँवों के व्यापारी आते हैं। साधो! हमारा माल सभी को अच्छा लगता है। अठारहों वर्णों के लोग उसे लेने आते हैं। दुकाल पड़ने पर भी हमारा माल समाप्त नहीं होता है और उसे राजा दण्ड स्वरूप भी स्वीकार नहीं करता और उसे चोर भी नहीं चुरा पाता है। लाखों से कम का हिसाब-किताब नहीं है, मूलधन अपार है, इसे लेना हो तो ले लो, कस्तूरी बहुत सस्ती मिल रही है क्योंकि हमारा तो श्रीराम-नाम ही सर्वस्व धन है, मैं डंके की चोट कहता हूँ, छप्पन से ऊपर भेरी आदि बाजे बजते हैं और बही-खाता में श्रीलक्ष्मी-वर का नाम और चिटठ्ी में श्रीचतुर्भुज का नाम लिखा जाता है, यह नरसी का काम है।

तात्पर्य यह है कि सभी व्यापारी अर्थात् सभी जाति एवं सभी देशों के भक्त आते हैं। बिना भेदभाव के सबको नाम दिया जाता है। लाखों से कम जप-कीर्तन कभी नहीं होता है। एक पद में आपने वैष्णवों के लक्षणों का वर्णन किया है, वह अति प्रसिद्ध है। यथा-

वैष्णव जन तो तेने कहिए पीर पराई जाणे रे।
पर दुक्खे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे।।
सकल लोक मां सहुने वन्दे, निन्दा करे न केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।।
समदृष्टिने तृष्णा त्यागी पर तिय जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले परधन नब झाले हाथ रे।।
मोह माया व्यापे नहिं जेने दृढ़ बिराग जेना मनमां रे।
राम नामशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।।
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निरवार्या रे।
भणे 'नरसैयो' तेनुं दरशन करतां कुल एकोत्तर तार्या रे।।

जैसे लक्षण आपने कहे, वैसे आपमें पूर्णरूप से विराजमान थे। आपकी कहनी रहनी एक थी। श्रीशुकदेवजी एवं ब्रजगोपियों की भाँति आपने माधुर्य प्रेमरस का आस्वादन किया। यथा समय आपने नित्य निकुञ्ज में प्रवेश किया। इसका अनुभव करके ही "सूर मदन मोहन नरसी अलि तस्कर नवनीता की।" ऐसा सन्तों ने कहा। आज भी प्रेमीजनों के कोकिल कण्ठ से "श्रीनरसी के साँवलिया प्रभु तुलसिदास के राम। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, सूरदास के श्याम।।" यह ध्वनि सुनकर लोग विभोर हो जाते हैं।

श्रीयशोधर जी

'दिवदास' बंस 'जसोधर' सदन भई भक्ति अनपायनी।।
सुत कलत्र संमत सबै गोबिन्द परायन।
सेवत हरि हरिदास द्रवत मुख 'राम' रसायन।।
सीता पति को सुजस प्रथम ही गवन बखान्यौ।
द्वै सुत दीजै मोहि कवित सबही जग जान्यौ।।
गिरा गदित लीला मधुर सन्तनि आनन्ददायिनी।
'दिवदास' बंस 'जसोधर' सदन भई भक्ति अनपायनी।।१०९।।

शब्दार्थ—अनपायनी=स्थिरा, अचला। कलत्र=स्त्री। द्रवत=धारावत् अखण्ड प्रवाहित, पसीजत। रसायन=रस का घर, वह औषधि जिसके सेवन से सभी रोग एवं बुढ़ापा दूर हो। गिरा=वाणी। गदित=कथित।

भावार्थ—श्रीदिवदासजी के वंश में उत्पन्न श्रीयशोधरजी के घर में अनपायिनी भक्ति प्रकट हुई। आपकी स्त्री-पुत्र आदि सभी लोग आपके मत से सहमत थे। सभी भगवत्परायण थे। आप भगवान की एवं उनके भक्तों की सर्वदा सद्भाव से सेवा करते थे। आपके श्रीमुख से निरन्तर श्रीरामनामरसामृत की धारा बहा करती थी। श्रीविश्वामित्रजी ने अयोध्यापुरी में आकर दशरथजी से कहा-"हे राजन्! यज्ञ रक्षा के लिए आप अपने दोनों पुत्र श्रीराम और श्रीलक्ष्मण को दे दीजिये।" श्रीदशरथजी ने दे दिया, तब श्रीरामलक्ष्मण ने श्रीविश्वामित्रजी के साथ गमन किया। सीतापति श्रीरामचन्द्रजी के इस प्रथम वन गमन को आपने अति सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। इस आशय के आपके पद लोक में अति प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणी से गाई गई श्रीरामजी की मधुर लीलाएँ सन्तों को परमानन्द देने वाली हुईं।।१०९।।

व्याख्या—भक्ति अनपायनी—अनपायनी यह हिन्दी में अपभ्रंश है। शुद्ध शब्द है-अनपायिनी। अपाम अर्थात् वियोग, न अपाय अनपाय। अनपायिनी जिसका कभी वियोग न हो, जो चलायमान न हो अर्थात् निश्चला, अटला। श्रीरामजी को अति प्रसन्न जानकर श्रीहनुमानजी ने ऐसी ही भक्ति माँगी है। यथा-"नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायिनी।।" (सुन्दरकाण्ड) श्रीरामराज्याभिषेक के समय श्रीशिव ने भी ऐसी

ही भक्ति का वरदान माँगा है। यथा-''बार बार वर मांगहुँ हरषि देहु श्रीरङ्ग। पद सरोज अनपायिनी भगति सदा सतसङ्ग।।'' (उ० कां०) श्रीहनुमानजी एवं श्रीशिवजी में अनपायिनी भक्ति है। सम-विषम चाहे जैसी परिस्थितियाँ संकट आवें। उस समय भी जब भक्ति एक रस रहे तो उसे अनपायिनी भक्ति समझो। जैसे श्रीलाखाजी की कन्या का पति मर गया। उस विषम-विषाद के अवसर पर भी स्थिरा भक्ति के कारण वह कन्या शोकाभिभूत न हुई। शोक मग्न सास-ससुर को उसने उपदेश दिया। कठोरतम परीक्षा के अवसर पर मोरध्वजजी की भक्ति स्थिर रही। पूर्ण निष्काम भक्त में भक्ति अचल रहती है। सकामी की कामना न पूरी होने पर भक्ति डगमगा जाती है। सच्चे भक्तों में भी कभी संसारी व्यवहारों के करते समय उनकी भक्ति चलायमान-सी जान पड़ती है। जैसे श्रीवृन्दावन आते समय तालाब पर स्त्री को देखकर श्रीविल्वमंगलजी का मोहित होना। ऐसी अवस्थाओं में भी भक्ति का नाश नहीं होता है। अनपायिनी भक्ति अजर बीज के समान है। अजर बीज उसे कहते हैं जिसका कभी नाश नहीं होता है। अजर बीज के वृक्ष में कभी तो डाल, पात, फूल और फल हरे-भरे दिखलाई पड़ते हैं। कभी डाल-पात कट अथवा जल जाते हैं परन्तु उसका बीज मूल सुरक्षित रहता है, उससे अंकुरित होकर वह पुनः जैसा था वैसा ही हो जाता है।

दृष्टान्त—चन्द्रमा का—अमावस्या के दिन चन्द्रमा के दर्शन नहीं होते हैं, तो क्या हुआ, उसका अस्तित्व तो बना रहता है। कलाएँ घट जाने से हम उसे नहीं देख पाते हैं, पर वह विद्यमान रहता है और प्रतिपदा से बढ़कर पुनः पूर्णिमा को पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार धन-पुत्र-स्त्री आदि के नाश होने पर या क्षण भर के लिए शोकाकुल होने पर भक्ति का नाश न समझिये। अपने पिता के मारे जाने पर सत्यभामाजी ने हस्तिनापुर में जाकर सब वृतान्त सुनाया, तो उसे सुनकर सर्व समर्थ श्रीकृष्ण और बलराम ने आँखों में आँसू भर लिए और विलाप करने लगे कि अहो! हम लोगों के ऊपर यह बड़ी भारी आपत्ति आ पड़ी। यह मनुष्यों की सी लीला देखकर उनके ज्ञान को चलायमान नहीं कहा जा सकता है। ऐसे ही भक्तों की लीलाओं को देखकर भी उनमें भक्ति स्थिरत है, ऐसा समझना चाहिए। जिसके मन में अनपायिनी भक्ति है, वे जानते हैं कि संसार की रचना घटती-बढ़ती रहती है। स्त्री-पुरुष-धनादि ऊपर के साज अजर बीज के डार-पात हैं अतः इनके सम्बन्ध में शोक कैसा?

सम्मत सबै—स्त्री और पुत्र आदि सभी का भक्ति में सम्मत था अर्थात् सभी भक्त थे। परिवार समेत भक्ति करने वाले के हृदय में प्रभु निवास करें, ऐसा बाल्मीकि

ऋषि का अनुशासन है। यथा-"पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा...।" "तिनके मन मन्दिर बसहुँ।" (रा०च०मा०) सभी भक्तिमय आचरण करते थे। यह विशेष बात है, नहीं तो मत-भेद विरक्तों में भी देखा जाता है। गृहस्थों की बात ही क्या? गृहास्थाश्रम में प्राय: खटपट बनी ही रहती है। उसका कारण होता है कुटुम्बासक्ति। बाल बच्चों में ममता होने पर सन्त-सेवा नहीं बनती है। दृष्टान्त-श्रीसन्तजी का-टीका कवित्त-४०५। स्त्री ने कहा- सन्त चूल्हे में गये हैं, यह सुनकर सन्त चले गये। दूसरा दृष्टान्त-श्रीकूबाजी का कवित्त-५७१। साधुओं को सूखे टिक्कर और अपने भाई के लिये खीर बनाई।

सेवत हरि हरिदास—का तात्पर्य यह है कि मूल मङ्गलाचरण- "भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास।" के अनुसार भक्त-भगवन्त की उपासना करते थे। दोनों की सेवा से ही अनपायिनी भक्ति सिद्ध होती है दोनों ही भक्तिमात्र से सन्तुष्ट होने वाले हैं। यथा-"भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावा:।" तथा-"भक्ति प्रियो माधव:।" "हेतु रहति जग जुग उपकारी।" अत: दोनों सेव्य हैं। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७९, मूल मङ्गलाचरण की व्याख्या। दो के अतिरिक्त अन्य की सेवा या उनकी वार्ता कहने-सुनने से लाभ नहीं होता है। यथा-"तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्ण कथाश्रयम्। अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्। किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्यय:।।" (भा० १/१६/६) अर्थ-शौनकजी ने कहा-"हे सूतजी! यदि यह प्रसंग श्रीकृष्ण की लीला से अथवा उनके चरणकमलों के मकरन्द रस का पान करने वाले रसिक महानुभावों से सम्बन्ध रखता हो तो अवश्य ही कहिए। दूसरी व्यर्थ की बातों से क्या लाभ? उनमें तो व्यर्थ ही आयु का नाश होता है।" अत: हरि-श्रीहरिदास सेव्य और ज्ञेय हैं।

राम-रसायन—तन और मन में रोग व्याप्त रहते हैं। काष्ठादि की चिकित्सा से शीघ्र लाभ की सम्भावना नहीं होती है अत: पूर्ण और शीघ्र लाभ के लिये रस चिकित्सा आवश्यक होती है। राम-रसायन शारीरिक और मानसिक दोनों के लिये उपयोगी है। यथा-

इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं, पतत्यवश्यं परिणामि पेशलम्।
किमौषधै: क्लिश्यसि मूढ दुर्मते, निरामयं राम रसायनं पिब।।

अर्थ—"यह शरीर सैकड़ों सन्धियों से जर्जरित, बदलने वाला कोमल (असहनशील) है, एक न एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जायेगा। फिर हे मूढ़! दुर्बुद्धे! तू अन्य औषधियों के पचड़े में क्यों कर पड़ा है। रोग दोष से शून्य राम-रसायन का ही पान कर। दूसरी औषधियाँ

स्वयं रोगों से ग्रस्त हैं।'' श्रीनाम रसायन के सेवन कर्ताओं के प्रसंग में श्रीअर्जुनजी पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३५५ तथा उत्त० प्र० जनाबाई चोखामेला, पृष्ठ-२४७ देखिये।

अनेकजन्मार्जितदुष्कृतेन, तेनोद्भवाः सन्ति अपारक्लेशाः।
तेषां विनाशाय सुभेषजं सत्, सिद्धी कृतं राम रसायनं मे।। (रामरसायन)

अर्थ—अनेक जन्मों में किये गये जो दुष्कर्म, उसी से जन्म-मरण आदि अनेक क्लेश उत्पन्न होते हैं, उन्हें नष्ट करने के लिये राम-रसायन ही हमारे लिये उपयुक्त है। श्रीरामजी के नाम एवं चरित्र उत्तम सिद्ध औषधि हैं और श्रीहनुमानजी के पास हैं। यथा-''राम रसायन तुम्हरे पासा।'' (हनु० चा०)

प्रथम ही गमन—यह प्रसंग अत्यन्त करुणाजनक है। श्रीमनुजी ने वर माँगा था कि-''सुत विषयक तव पद रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।।'' ''मनि बिनु फनि जिमि जल विनु मीना। मम जीवन तिमि तुमहिं अधीना।।'' प्रथम वन गमन में इस वर के अनुसार श्रीदशरथजी को ऐसा असह्य कष्ट हुआ जैसे बिना मणि के सर्प को होता है। यथा-''सुनि राजा अति अप्रिय वानी। हृदय कम्प मुख द्युति कुम्हिलानी।।'' देने में कष्ट हुआ। पश्चात् श्रीवशिष्ठजी के समझाने से दे तो दिया परन्तु वियोग में मणि विनु फणि की तरह व्यथित रहे। जनकपुर में-''देखि नृपति उर सुखु न समाई। सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक शरीर प्रान जनु भेंटे।।'' (रा०) मिलन का अति सुख वियोग के महाकष्ट का सूचक है। इस सम्बन्ध में श्रीयशोधरजी की कृतियाँ अप्राप्त हैं, अतः अन्वेषणीय हैं। ''द्वै सुत दीजै'' पद-''राजन्! राम लखन जो दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै।। डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत प्रभाव विनु जाने। बूझिय वामदेव अरु कुल गुरु, तुम पुनि परम सयाने।। रिपु रन दलि मख राखि कुशल अति अलप दिनिनि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुवंश तिलक की कविकुल कीरति गैहैं।।''

सन्तनि आनन्ददायिनी—भगवान की समस्त लीलाएँ सन्तों को आनन्द देने वाली होती हैं। इसलिए कि भगवान में इनका परमानुराग होता है। अपने प्रेमी की कथा अति प्रिय लगती है। यथा-''प्रियतमस्य लीलैव, सुसुधा न सुधा सुधा। जिजीविषन्ति तां श्रुत्वा, न मिष्टं मधुरायते।।'' (कस्यचित्कवेः) अर्थ-सुधा सुधा नहीं है अपने प्रियतम की कथा-वार्ता ही मीठी सुधा है। उसी का पान करके प्रेमी जीना चाहता है, दूसरी मिठाइयाँ उसे मीठी नहीं लगती हैं। पुनः-''राम कथा शशि किरन समाना। सन्त चकोर करहिं तेहि पाना।। बुध विश्राम

सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष विभंजनि।।'' पुन:-''तब हनुमन्त कही सब, रामकथा निज नाम। सुनत युगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम।।'' आनन्ददायिनी के तीन कारण हैं, प्रथम श्रवण में प्रेम, दूसरे ''गिरा गदित'' अर्थात् प्रेमी भक्त की वाणी, तीसरे ''लीला ही मधुर'' है, अत: उसमें साधु-सन्त प्रेम करते हैं। यथा-

ज्ञानं यदा प्रति निवृत्त गुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उभयत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्य सम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्।।

(भा० २-३-१२)

इन भगवान की कथाओं से वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसे प्राप्त कर जीव माया के गुणों की लहरों के चक्र में नहीं पड़ता है, मन प्रसन्न हो जाता है। इस लोक और परलोक के सुखों से वैराग्य हो जाता है, माया से मुक्ति देने वाला मार्ग एवं भक्तियोग की प्राप्ति हो जाती है। ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा जो ऐसी हरिकथाओं में प्रीति न करे।

विशेष—मूल छप्पय में केवल यही कहा गया है कि श्रीराम के प्रथम वन गमन का आप अति प्रेम से गान करते थे, वह सुखद एवं सर्व प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त दादूपंथी भक्तमाल में और श्रीरूपकलाजी की टीका में लिखा है कि-''एक बार आप आनन्दमग्न होकर श्रीविश्वामित्रजी के साथ प्रथम वन गमन का गान कर रहे थे। प्रेमावेश में विभोर हो गए। वियोग सहन नहीं हुआ। मैं भी साथ चलूँगा, ऐसा कहकर रोने पुकारने लगे। प्रभु ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि-''तुम यहीं रहो, मुनि के यज्ञ को सम्पन्न कराकर हम अभी आते हैं।'' परन्तु वियोग न सह सकने के कारण आपने अपने प्राणों को प्रभु पर निछावर कर दिया।

भक्त-भगवन्त की सेवा में आपकी दृढ़ निष्ठा थी। साधुओं को अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रहते थे। इनकी दृढ़ प्रतिज्ञा को देखकर एक दिन भगवान ने परीक्षा लेने का विचार किया और एक साधु का वेष धारणकर पधारे। आपने यथोचित सेवा की। उसके बाद साधुवेषधारी भगवान बोले-''श्रीयशोधरजी! मेरे मन में एक अभिलाषा है, परन्तु कहने में संकोच होता है।'' आपने कहा-''प्रभो! बिना किसी भय और संकोच के आप मुझ दास पर कृपा करके अपने मन की बात कहिये।'' इस प्रकार बहुत अनुनय करने पर बोले-''मेरा मन विवाह करने का है।'' आपने कहा-''प्रभो! बहुत अच्छी बात है, मेरे यहाँ दो-चार दिन ठहरिये। मैं आपके स्वरूपानुरूप कन्या से आपका विवाह कर

दूँगा।'' यह सुन वे बोले-''मैं दूसरी कन्या से नहीं आपकी कन्या से विवाह करना चाहता हूँ।'' इस पर प्रसन्न होकर उन्होंने कहा कि-''भगवन्! तब तो आपकी महती कृपा है, इससे मुझे अत्यन्त ही सुख-सन्तोष होगा।'' श्रीयशोधरजी ने उसी क्षण अपनी स्त्री और पुत्री को बुलाकर पूछा। दोनों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। क्योंकि मूल में लिखा है-''सम्मत सबै'' इनके परिवार में वैमत्य था ही नहीं। विवाह की सभी विधियों को सम्पन्न करने की तैयारियाँ होने लगीं। शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिये। कल ही शुभलग्न है। इन्हें पूर्णरूप से तैयार देखकर वे सन्त भगवान बोले-''मैं ऐसे विवाह नहीं करुँगा। दहेज में एक लाख रुपये लूँगा। श्रीयशोधरजी ने कहा-''महाराज! मेरे परिवार के सभी सदस्यों का आप मूल्यांकन कीजिए। जो कई लाख का है। वह आपको अर्पित होकर आपकी सदा सेवा करेगा।'' उन्होंने कहा- तो सारे परिवार को बुलाकर पूछो। सभी को बुलाकर पूछा गया। सभी ने स्वीकार कर लिया। इन सबकी ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर प्रभु ने अपने को प्रकट कर दिया। दर्शन करके सभी कृतार्थ हो गए। ऐसी बलवती निष्ठा का ही सङ्केत मूल में है। यथा-''सुत कलत्र सम्मत सबै गोविन्द परायन।'' पारिवारिक संगठन सिद्धिदायक और फूट असिद्धि देने वाली होती है। इस पर-

दृष्टान्त—एक निर्धन विप्र का—एक ब्राह्मण देवता अति निर्धनता के कारण कष्ट में थे। घर के सभी लोग एक मत थे। मिलकर विचार किया कि- कल ब्रह्मवेला में हम सब लोग घर छोड़कर परदेश चलें। सभी ने तैयारी कर ली। आवश्यक सामान साथ में लेकर चल दिए। चलते-चलते दोपहर हो गई। एक जंगल में एक कुण्ड एवं वट पीपल की छाया देखकर पण्डितजी ने वहीं पड़ाव डाल दिया। एक लड़के से बोले-''कुण्ड से जल लाकर गोबर से चौका लगाओ।'' दूसरे से कहा-''सूखी लकड़ी लाओ।'' स्त्री से बोले-''अग्नि चेताओ।'' स्वयं कुण्ड में स्नान कर कुशासन पर बैठे। जिसे-जिसे जो आज्ञा मिली उसने उस कार्य को सम्पन्न कर दिया। वहाँ पीपल पर एक ब्रह्म पिशाच रहता था। वह सारा चरित्र देख रहा था। इनके पास आटा, दाल और चावल कुछ भी नहीं है। फिर ये चौका लगाकर अग्नि जलाकर क्या करेंगे? सन्देह को मिटाने के लिए उसने आकर पूछा। पण्डितजी तांत्रिक थे। वे समझ गये कि यह ब्रह्म पिशाच है। उससे बोले- सप्त समिधाएँ, पञ्चपल्लवादि एकत्र करके हम हवन करेंगे और यहाँ से भूत-प्रेतों को भगाकर अपना आश्रम बनायेंगे। गुरुकुल की स्थापना करेंगे। धन का अभाव है, अत: घर में निर्वाह कठिन हो गया है। ब्रह्म पिशाच को विश्वास हो गया कि ये तांत्रिक हैं, इनके संगठन में

शक्ति है, ये सब कुछ कर सकते हैं। यह विचारकर बोला-"महाराज! आप कुण्ड पर बनी वेदी को खोदिए, उसमें से आपको सोने की एक लाख मुद्रायें मिलेंगी। आप अपने घर में ही जाकर रहिये, मेरी बात मान लीजिये। पण्डितजी ने ऐसा ही किया, धन लेकर घर आ गये। "जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।" यह वाक्य सत्य हो गया। धन-धान्य से सम्पन्न परिवार को देखकर पड़ोसिन ने पूछा तो पण्डितानी ने सब रहस्य बता दिया। अब उसे भी लोभ हुआ और अपने पति को समझा-बुझाकर सपरिवार वहीं पहुँचे। उसने कहा- "पानी लाओ।" लड़के ने उत्तर दिया कि- "मेरे वश की नहीं है।" जिससे जिस किसी कार्य को कहते वही मना कर देता। स्वयं बेचारा जल लाया, अग्नि सुलगाई। इससे भी आकर प्रेत ने पूछा तो बोला कि- "यहाँ से प्रेतों को भगाऊँगा।" इतना सुनते ही उसे क्रोध आया और उसने सबको पटक-पटककर पछाड़ दिया। बड़ी मुश्किल से प्राण बचे, घर आये। "जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।।" सत्य सिद्ध हुआ।

एक बार भक्तवर श्रीयशोधरजी एक गाँव से सन्त-सेवा निमित्त कुछ अन्न-धन लेकर अपने घर को आ रहे थे। रास्ते में इन्हें देखकर डाकुओं ने लूटना चाहा। पीछा करते हुये जब एकान्त जंगल पहुँचे। तब उन्होंने घात लगाई। इतने में उन्हें साँवरे-गोरे दो किशोर धनुष-बाण लेकर सन्धान किये हुये श्रीयशोधरजी के साथ दिखाई पड़े, अतः लूट नहीं सके। ये कौन हैं? यह जानने की इच्छा से इनके घर पर आये और पूछने लगे कि वे कहाँ हैं, कौन हैं। उन्हें देखने की इच्छा है। उनके द्वारा कहे गये लक्षणों से आप समझ गये कि—स्वयं श्रीराम-लक्ष्मणजी ने आकर मेरी रक्षा की। उन्हें भी समझाया कि—वे कोई साधारण सिपाही या राजकुमार न थे। अब उन डाकुओं के मन में युगल स्वरूप की स्मृति सुदृढ़ हो गई। उन्होंने श्रीयशोधरजी से उपदेश लेकर चोरी, डाका छोड़ दिया। सन्मार्ग को अपनाया, भगवद्भक्त हो गये।

श्रीनन्ददासजी

(श्री) नंददास आनन्द निधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे।।
लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचनामें नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।।
प्रचुर पयध लौं सुजस 'रामपुर' ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संबलित भक्त पदरेनु उपासी।।

चन्द्रहास अग्रज सुहृद्, परम प्रेम पै में पगे।
(श्री) नंददास आनन्द निधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे।।११०।।

शब्दार्थ—आनन्द=हर्ष, सुख, ईश्वर। निधि=समुद्र, नौनिधियाँ, नौ की संख्या, खजाना। प्रभुहित=भगवत्प्रेम। रँगमगे=सराबोर, मिले। संबलित=आवेष्टित, युक्त, घिरे हुए। अग्रज=बड़े भाई। प्रेम पय=प्रेमरस।

भावार्थ—भक्त महाकवि श्रीनन्ददासजी आनन्दसिन्धु-रसिकशेखर अपने प्रभु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के प्रेम में पगे एवं रँगे थे। श्रीराधाकृष्ण की लीला के पदों की रचना में तथा प्रेमरस की रीति युक्त जो ग्रन्थ उनकी रचना में बड़े ही (नागर) चतुर थे। आपकी उक्तियाँ अत्यन्त सरस एवं युक्ति-युक्त अर्थात् तर्क सङ्गत हैं। भगवद्-भक्ति के सभी रसों का गान करने में आप परम उजागर (प्रसिद्ध) थे। आप रामपुर ग्राम के निवासी थे, परन्तु आपका पावन सुयश समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था। उत्तम कुलीन ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर उनके साथ रहते हुये, उनके समेत भगवद्-भक्तों की चरण-रज के उपासक थे। आपके बड़े भ्राता श्रीचन्द्रहासजी भी बड़े सरल-सरस हृदय वाले थे और अनन्य प्रेम के रस के रस में पगे हुये थे।।११०।।

व्याख्या—आनन्द निधि—अखण्ड आनन्दस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण हैं, उन्हें अपने हृदय में सुस्थापित कर लेने से भक्तवर श्रीनन्ददासजी आनन्दनिधि हैं। समुद्र जलनिधि हैं, अतः समुद्र से ही वायु के योग से सारे लोक को जल मिलता है। उसी प्रकार आनन्द समुद्र भक्त से सबको आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे समुद्र जल से सदा परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार भक्त सदा आनन्द से भरे रहते हैं। ''निधि'' शब्द नौ की संख्या का भी बोधक है, अतः तात्पर्य होगा कि नवधा भक्ति का नव प्रकार का आनन्द आपमें पूर्ण रूप से था। आनन्दनिधि का हेतु कहते हैं-''रसिक'' जो रसिक होगा, वही आनन्दनिधि होगा। ''रसो वै सः यं लब्ध्वा आनन्दी भवति।'' वही रस है, जिसे प्राप्त करके प्राणी आनन्दस्वरूप हो जाता है। आप निधि=नवधा के रसिक थे। नव प्रकार के साहित्य-रसों के रसिक थे। सेवक-सखा एवं सखी आदि अनेक रूपों से प्रिया-प्रियतम के अनेक रूपों की सेवाओं के रसिक थे। दर्शन-स्पर्श-भाषण एवं क्रीड़ा आदि के तथा हरिदासवर्यों के सत्सङ्ग रस के रसिक थे, अतः आनन्द निधि थे। प्रेम में सदा पगे रहते थे, अतः रँगमगे कहा। भीतर-बाहर से पगे जैसे जलेबी। यही कारण है कि रूपासक्ति आपमें विलक्षण रूप से थी, जिसका वर्णन आगे होगा।

लीला पद....नागर—स्वान्तः सुखाय एवं भक्त-भगवन्त की भक्ति की ओर प्रेरित करने वाली कवितायें रचने में तथा साहित्य प्रेमियों के स्वाध्याय योग्य-ज्ञानवर्धक कवितायें लिखने में श्रीनन्ददासजी सफल माने गये। लीला सम्बन्धी पद दोहा चौपाई रोला आदि छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्दों में सभी प्रकार की शैलियों में आपकी रचनायें प्रशंसनीय हैं। भाव और भाषा दोनों का सौष्ठव आपकी विशेषता है। साहित्य के रस एवं अलंकारों का समायोजन तथा रस रीतियों के निर्वाह में आपके आलोचकों ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आप व्रजमण्डल के सुकवि माने गये। काव्य रचना में नागर होने के कारण ही ''और सब गढ़िया श्रीनन्ददास जड़िया।'' यह उक्ति प्रसिद्ध हुई। इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्णकार दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो सोने को गढ़कर आभूषण बनाते हैं, ये गढ़िया कहे जाते हैं। दूसरे वे जो उन आभूषणें में कलात्मक ढंग से रंग-बिरंगे रत्नों को जड़ते हैं। रत्नजटित आभूषण अधिक शोभावान् एवं मूल्यवान होते हैं। इसे स्पष्टतया समझने के लिये श्रीनन्ददास ग्रन्थावली का अध्ययन आवश्यक है। भक्त-नामावली दोहा-७७ से ७९ में श्रीध्रुवदासजी ने आपके काव्य की प्रशंसा करते हुये लिखा है-

नन्ददास जो कछु कह्यौ, राग रङ्ग सों पागि।
अच्छर सरस सनेह मय, सुनत श्रवन उठ जागि।।
रमन दशा अद्भुत हुती, करत कवित्त सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही, छुटत नैंन जल-धार।।
बावरो सो रसमें फिरै, खोजत नेह की बात।
आछे रसके वचन सुनि, वेगि विवस ह्वै जात।।

रसरीति—पद-''पहिले तौ देखौ आइ मानिनी की शोभा लाल, ता पाछे लीजिये मनाइ प्यारे हो गोविन्द। कर पै दिये कपोल रही है नयन मूँदि, कमल बिजाय मानौ सोयो है पूरनचन्द।। रिसभरी भौंहें मानों भौंर बैठे अरबरात इन्दु तरे आयो मकरन्द भर्‌यौ अरविन्द। ''नन्ददास'' प्रभु ऐसी प्यारी कौ क्यों रुसैयै बलि जाको मुख देखे ते मिटत दुख दुन्द।।'' दोहा-''जिहिं घट विरह अवाअगिनि, परपक भये सुभाइ। ताही घट में नन्द हो प्रेम अमिय ठहराय।।'' ''युक्ति उक्त''-दोहा-''कुंज कुंज प्रति पुञ्ज अलि गुञ्जत इमि परभात। रवि डर तम सब भजि गयौ रोवत ताको तात।। अबला निसरी तीर जब नीरचुवत वरचीर। जनु अँसुवन लागी झरी तन विछुरन की पीर।।'' ''परम प्रेम पय में पगे'' पय=दूध,

जल, अन्न, वीर्य, शक्ति, ओज। तात्पर्य परम प्रेम के रसामृत में, उसकी शक्ति में पगे, सराबोर।

श्रीनाभाजी ने यहाँ 'पय' विशेषण देकर श्रीनन्ददासजी के प्रेम को अत्यन्त ही गम्भीर-भावमय सूचित किया। पय शब्द के उक्त कई अर्थ होते हैं, अतः सिद्ध है कि श्रीनन्ददासजी का प्रेम दुग्धवत् धवल, जलवत्=सभी रसों का मूल, अन्नवत् प्राणों का धारक एवं वीर्य-शक्ति-ओजवत् मायिक विकारों का नाशक, विमुखमुख भञ्जक तथा अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला था।

रचनायें—आपकी चौदह रचनायें प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वानों के मत से ग्यारह ही हैं। तीन किसी अन्य की हैं।

(१) "रास-पंचाध्यायी" रोला छन्दों में यह आपकी सर्वश्रेष्ठ एवं अति प्रसिद्ध रचना है। श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर श्रीराधा-

गोरे तन की जोति, छूटि छवि जाय रही धर।
मानहुं ठाढी कुँवरि, सुभग कञ्चन अवनी पर।।
जनुघनतें विजुरी विछुरी मानिनि तनु काछे।
किधौं चन्द्रसौं रूसि चन्द्रिका रहि गई पाछें।।
नयननि तें जलधार हार धोवत धर धावत।
भँवर उड़ाइ न सकति बास-बस मुख ढिग आवत।।

(२) सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी- इसका कथानक भी रास-पञ्चाध्यायी का है, ११८ रोला छन्द हैं। उलटे-पुलटे आभूषण धारण करके आई गोपियाँ-

जदपि कहूं के कहूं आभरन आनि बनाये।
हरिपिय पै अनुसरन, जहाँ के तहँ चलि आए।।
कृष्ण तुष्ट करि कर्म, करै जो आन प्रकारा।
फल विभिचार न होय, होय सुख परम अपारा।।

(३-४) अनेकार्थमञ्जरी, मानमञ्जरी- आपकी पाँच मञ्जरियाँ प्रसिद्ध हैं। रसमञ्जरी, विरहमञ्जरी और रूपमञ्जरी। प्रथम दो मञ्जरियों में काव्यकोष का दोहों में वर्णन है, परन्तु भगवत्सम्बन्ध सर्वत्र बना है। यथा-"मधु"-मधु बसन्त तरु चैत्र नथ तिय मदिरा मकरन्द। मधुजल मधुपय मधुसुधा मधुसूदन गोविन्द।।" "केलि" कलिकलेश कलि

सूरमा कलि निषङ्ग संग्राम। कलि कलियुग जहँ और नहिं केवल केशव नाम।।" नाममाला अथवा मानमञ्जरी "मान"-अहंकार मद दर्प पुनि गर्वस्मय अभिमान। मान राधिका कुँवरि को सबको करु कल्यान।।" "मूर्ख"-मुग्ध अन्ध जड़ मूक नड़ अज्ञ कटुकवद सण्ठ। मूरख नर जाने कहा मनि जैसे कपि कण्ठ।।"

(५) रूपमञ्जरी- दो सौ बावन वैष्णव वार्ता में लिखा है कि-किसी हिन्दू राजा की पुत्री रूप मञ्जरी अकबर की व्याही दासी थी। पर उसका स्पर्श कदापि न करती थीं। उसका प्रण था कि यदि उसे वह छुयेगा तो तत्क्षण ही वह प्राणान्त कर देगी। उसमें दिव्य सौन्दर्य था, अतः अकबर उसे देखकर ही सन्तुष्ट रहता था। रूपमञ्जरी अपनी दिव्य शक्ति से (मुँह में गुटका रखकर) श्रीनन्ददासजी के पास नित्य सत्संग करने जाया करती थी। एक दिन किसी ने अकबर के सामने नन्ददासजी का यह पद गाया-

देखो देखो री नागर नट, निरतत कालिन्दी तट।
गोपिनके मध्य राजै मुकुटकी लटक।।
काछनी किंकनी कटि पीताम्बर की चटक।
कुण्डल किरन रवि रथ की अटक।।
तत थेई तत थेई सबद सकल घट।
उरप तिरप मानो पद की पटक।।
रास मध्य राधे राधे मुरली में येई रट।
नन्ददास गावै तहाँ निपट निकट।।

इसे सुनकर बादशाह ने पूछा कि-"क्या वह निकट बैठकर गाते हैं।" किसी ने कहा-"उन्हीं से पूछा जाय।" तब अकबर सकुटुम्ब ब्रज आया और श्रीनन्ददासजी को बुलाने के लिये बीरबल को भेजा। प्रथम तो इन्होंने अस्वीकार किया फिर सोचा न जाने से यहाँ मेरे पास आवेगा। और अशान्ति होगी, अतः दो दिन बाद आने का वचन दिया। दूसरे दिन नन्ददास ने सुना कि रूपमञ्जरी भी आई है, अतः उससे मिलने के लिये उसे ढूँढ़ते हुये मानसी गंगा तट पर पहुँचे। वहीं बादशाह का शिविर था। पता चला कि वह बिलछू कुण्ड पर है। वहाँ आकर आपने छिपकर देखा कि रूपमञ्जरी के द्वारा समर्पित भोग को श्रीश्रीनाथजी आरोग रहे हैं। उमंग में भरकर श्रीनन्ददासजी ने गाया-"चित्र सराहति चितवति मुरि गोपी बहुत सयानी। घूँघट मे झुकि वदन निहारति अलक सँवारति पलक न मारत जानि गईं

नँदरानी।। पारे परदे ललित तिवारी बलि-बलि प्यारी कनक थार जब आनी। नंददास प्रभु सूनो भोजन घर लखि उरपै कर धरत तबै तो उततैं मुसकानी।।'' गीतध्वनि सुनकर रूपमञ्जरी ने जाना कि- नन्ददासजी गा रहे हैं। उसने आकर बड़े आदर के साथ इन्हें ले जाकर भगवत्प्रसाद देना चाहा। पर संकोच कर रही थी कि ब्राह्मण हैं। तब आपने प्रसाद की महिमा का वर्णन कर सादर प्रसाद पाया और सत्संग सुख में दोनों मग्न हुए। रूपमञ्जरी ने इच्छा किया कि श्रीगिरिराज और मानसी गंगा का हमें नित्य सान्निध्य प्राप्त हो। आपने कहा- ''भगवान भक्तों की इच्छा पूर्ण करते हैं।''

इसके पश्चात् आप जब मानसी गंगा स्नान करने आये, तब बीरबलजी ने आपको सादर ले जाकर बादशाह से मिलाया। बादशाह ने स्वागत करके ''निपट-निकट'' पर सन्देह करके समाधान की इच्छा की। श्रीनन्ददासजी ने कहा-''इसका समाधान आप रूपमञ्जरी से जाकर करें।'' तब बादशाह उस दासी के पास गया और पूछा। प्रश्न सुनते ही उसने शरीर त्यागकर नित्य लीला में प्रवेश किया। उदास होकर अकबर पुनः श्रीनन्ददासजी के पास आया। घटना बताई और रहस्य जानना चाहा। उसी समय श्रीनन्ददासजी ने ध्यान मग्न होकर शरीर त्याग दिया और नित्यलीला में प्रवेश किया। आश्चर्यमग्न बादशाह को बीरबल ने समझाया कि-''प्रेम गोप्य है, रहस्य को अनधिकारी के सामने प्रकट करना अनुचित मानकर दोनों ने देह त्याग दिया। श्रीनन्ददासजी और रूपमञ्जरी दोनों ही भगवदीय थे। इसी से इनका घनिष्ठ प्रेम था। अतः इसी के नाम पर आपने ''रूपमञ्जरी'' नामक काव्य का प्रणयन कियाा। उसका कथानक इस प्रकार है कि-निर्भयपुर के राजा धरमवीर थे। उनकी अति सुन्दरी राजकुमारी रूपमञ्जरी थी। उसके विवाह योग्य होने पर राजा ने योग्य वर से विवाह करना चाहा, परन्तु लोभी पुरोहितों ने अयोग्य वर से सम्बन्ध निश्चित किया। इससे राजकुमारी ने सच्चा पति श्रीकृष्ण को मानकर उनसे प्रेम किया। इसमें उसकी सखी इन्दुमती ने पूरी सहायता की। स्वप्न में प्रियतम के दर्शनकर उसे मिलन की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उसे असह्य विरह व्याप गया। इसी प्रसंग में श्रीनन्ददासजी ने बारहमासी लिखी। इसके अनन्य प्रेम को देखकर श्रीकृष्ण ने इसे अपनाया। सत्सङ्ग से इन्दुमती का भी उद्धार हो गया। उक्त दोनों कथाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे दोनों ''निपट-निकट'' थे, इस काव्य में रूपमञ्जरी नायिका है। श्रीनन्ददासजी सहचरी हैं, अकबररूपी अयोग्य पति को त्यागकर श्रीनन्ददास के यहाँ श्रीकृष्ण से मिलने आती थी। वहाँ श्रीनन्ददासजी ''निपट-निकट'' गायन करते थे। इस रहस्य को छुपाने के लिये दोनों ने शरीर छोड़ा। यह काव्य

दोहा-चौपाईयों में है। प्रेम की स्थिति का वर्णन, यथा-"भूत छिये मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय। प्रेम सुधारस जो पियै, तिहि सुधि रहै न कोय।।" इसके अन्तिम दोहे हैं-"जदपि अगमते अगम अति निगम कहति है जाहि। तदपि रँगीले प्रेमतें निपट निकट प्रभु आहि।। कथनी **नाहिन पाइए, पाइय करनी सोय**। बातन दीपक ना बरै, बारे दीपक होय।।"

(६) रसमञ्जरी—इस रचना में श्रीनन्ददासजी ने अपने एक मित्र के कथन पर नायक नायिकाओं के **भेदों का विशद् वर्णन किया है। स्वकीया**, परकीया और समान्या तीन भेद और अनेक उपभेदों का वर्णन किया है। **परकीया वाग्विदग्धा**–

अहो पथिक अति बरसत घामा। रंचक कहूं करौ विश्रामा।।
इहँ ते निकट कालिन्दी तीर। सीतल मन्द सुगन्ध समीर।।
गहवर तरु तमाल है तहां। प्रफुलित बल्लि मल्लिका जहाँ।।
छिनक छाँह लीजै रस पीजै। बहुर्यौ उठि मारग मन दीजै।।
पियहिं सुनाय पथिक सों कहै। वाक् विदग्धा परकिय सु है।।

(७) विरहमञ्जरी भगवान के मथुरा चले जाने पर विरह विधुरा व्रजबालाओं द्वारा अपने गुप्त हार्दिक भावों का विलक्षण रीति से कथन है। चन्द्र को सम्बोधित कर विरह का वर्णन किया गया है। चन्द्रदूत से संदेश स्वप्न में कहा गया है कि अब तौ श्रीवृन्दावन पधारौ। विरहावस्था स्वप्न है, जागृत में मिलन सुख है। इसमें दोहा, सोरठा, चौपाइयाँ हैं। यथा—

मोहिं तौ लै चलि चन्दा मन्दा। जहँ मोहन सोहन नँदनन्दा।।
कहा करैंगे गुरुजन मेरो। दुरजन क्यों न हँसौ बहुतेरो।।
जाके अङ्ग रोग है महा। औषध खात लाज है कहा।।
इहि विधि धरि इक रही चटपटी। बात प्रेमकी निपट अटपटी।।
वहुर्यौ व्रजलीला सुधि आई। जामैं नित्य किशोर कन्हाई।।
सुपने कोउ दुख पावत जैसे। जागि परे सुख पावत तैसे।।

(८) भ्रमरगीत—श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत का आधार है। श्रीउद्धवजी श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर व्रज आये। गोपियों के कथनोपकथन में निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार प्रभु के स्वरूप एवं प्रेम का अद्भुत विवेचन है। मँडराते हुये भ्रमर को श्रीकृष्ण का दूत मानकर गाये गीत भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। उद्धवजी ज्ञानी से प्रेमी बन जाते हैं। इसमें

रोला दोहा के पश्चात् दस मात्रा का पुछल्ला अति रोचक है। आपकी यह रचना अति प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठतम मानी जाती है। उदाहरण- "व्रजगोपी"-"जोगी जोतिहिं भजै भक्त निज रूपहिं जानै। प्रेम पियूषैं प्रगटि श्यामसुन्दर उर आनै।। निर्गुन गुन जो पाइये लोग कहैं यह नाहिं। घर आये नाग न पुजैं बांबी पूजन जाहिं।। सखा सुनि श्याम के।।" "श्रीउद्धवजी" -जो हरि के गुन होइ वेद क्यों नेति बखानै। निरगुन सरगुन आतमा ऊपनिषद् जो गानै।। वेद पुराननि खोजिकै नहिं पायौ गुन एक। गुनही के जो होंहि गुनि कहि अकास किहि टेक।। सुनौं व्रज नागरी।।" "व्रजगोपी"-जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते। बीज बिना तरु जमें मोहिं तुम कहौ कहां ते।। वा गुनकी परछांह ही माया दरपन बीच। गुनी ते गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कीच।। सखा सुन श्याम के।। कोउ कहै रे मधुप स्याम जोगी तुम चेला। कुबजा तीरथ जाय कियौ इन्द्रिन को मेला।। मधुवन सुधिहि विसारिकै आए गोकुल माहिं। इत अब प्रेमी बसत हैं तुमरौ गाहक नाहिं।। पधारौ रावरे।। कोउ कहै री सखी साधु मधुवन के ऐसे। और तहाँ के सिद्ध लोग ह्वैहैं धौं कैसे।। औगुनही गहि लेत हैं अरु गुन डारै मेटि। मोहन निर्गुन क्यों न हों उन साधुनको भेंटि।। गांठिकौ खोइकै।।"

(९) श्याम-सगाई—श्रीराधिकाजी को देखकर यशोदाजी ने अपने पुत्र श्रीकृष्ण से व्याह करना चाहा, परन्तु मेरी पुत्री भोरी है और कृष्ण अति चंचल है। ऐसा कहकर कीर्ति माता ने मना कर दिया। पश्चात् बरसाना में श्रीकृष्ण को देखकर श्रीराधिकाजी मुग्ध हो गईं। उन्हें बेहोशी आ गई। सखियों ने कहा-"इन्हें साँप ने डस लिया है। कालियानाग को नाथने वाले कृष्ण मंत्रज्ञाता माने गये। उन्हें बुलाया गया, विष दूर हुआ। पश्चात् सगाई करना स्वीकार किया गया। इसमें भी रोला दोहा हैं। यथा-"इक दिन राधे कुँवरि स्याम घर खेलन आई। चंचल और विचित्र देखि जसुमति मन भाई।। नन्द महरिने तब कह्यौ देखि रूप की रास। इह कन्या मैं श्याम को गोविन्द पुजवैं आस।। कि जोरी सोहती।।"

(१०) श्रीगोवर्धन लीला—इन्द्र की पूजा को रोककर श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा कराई। इन्द्र ने कोप किया। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारणकर ब्रज की रक्षा की। चौपाइयों में छोटी-सी रचना बड़ी ही सुन्दर है। यथा-"कान्ह कहै देखौ तुम काजा। प्रगट भयौ है गिरि को राजा।। जितनौ भोजन व्रज ते आयौ। गिरि रूपी हरि सगरौ खायौ।। भइ परतीति भरे मद भारी। देहिं प्रदच्छिन नर अरु नारी।। इक मूरति हरि भोजन करई। इक लोगन सँग फेरी फिरई।। फिरत जु छवि बाढ़ी तेहि काला। गोवरधन मनु पहिरी माला।।"

(११) रुक्मिणी मङ्गल—इसमें रुक्मिणी का प्रेम-पत्र उनका हरण, शिशुपाल की पराजय एवं विवाह मंगल का गान १३३ रोला छन्दों में किया गया है। यथा-"श्रीहरि हियौ सिरावत लावत लै लै छाती। लिखी विरह के हाथ सुपाती अजहूँ ताती।। पत्र पाकर प्रभु ने कहा-"दारु मथनकर सार अगिनिको काढ़त जैसे। हो द्विजवर! सब दलि मलि रुकमिनि लाऊँ ऐसे।। गरुड़ हरी जिमि सुधा दर्प सरपन को सब हरि। तैसे हरि लै चले आपुनो सहज खेल करि।।"

(१२) श्रीसुदामा-चरित्र—चालीस चौपाइयों में सुदामाजी की निरीहता, स्त्री के कहने पर द्वारका गमन, कुछ न मिलने पर भी प्रसन्नता। यथा-"पुनि पुनि कहैं अतिहि भल कीन्हों। जो हरि हमको कछु नहिं दीन्हों।। राखि लियौ अपनौ करि जान्यौ। परम अनुग्रह हमने मान्यौ।। सब मदते धन मद दुखदायक। नहिं पायौ भये पुन्न सहायक। अँधरौ करै बधिक पुनि करहीं। उतपथ चलत बिचार न टरहीं।।" पश्चात् ऐश्वर्य प्राप्ति का वर्णन है।

(१३) भाषा दशमस्कन्ध—श्रीमद्‌भागवत के प्रथम २८ अध्यायों का दोहा-पद्धतियों में अनुवाद है, किन्तु अक्षरशः अनुवाद न होकर भावों का ही अनुसरण मात्र है। भाषा पद्यानुवाद देखकर कथावाचक पण्डितों ने श्रीविट्ठलदासजी से कहा कि- हम भागवत की कथा बांचकर जीविका चलाते हैं। अब लोग नन्ददासजी के भाषानुवाद को पढ़ेंगे, हमारी कथा कोई न सुनेगा। यह जानकर श्रीनन्ददासजी ने (२८ अ०) कुछ अंश रक्खे थे, शेष श्रीयमुनाजी को अर्पण कर दिया। उदाहरण-"रितु रितु के भोजन अनुकूल। रितु रितु के बर फूल दुकूल।। दुग्ध फेन सम सेज बनाइ। पौढे तहां कुँवर वर जाइ।।"

(१४) पदावली—गेय पदों की सुन्दर रचना है, लगभग दो सौ पद प्राप्त हैं। श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी पद विशेष हैं। कुछ श्रीराम एवं हनुमान सम्बन्धित पद भी हैं। "प्रेमगर्विता राग विहाग-चाँपतचरन मोहनलाल। पलका पौढीं कुँवरि राधिका सुन्दरि नवल विशाल।। कबहूँ कर गहि नैंन सिरावत कबहुँ छुवावत भाल। नन्ददास प्रभु छवि निरखति अति प्रीति दियँ प्रतिपाल।। छाकलीला—चहुं दिशि टपकन लागीं बूँदें। बौछारन विंजन भीजैगौ द्वार पिछौरी नूँद।। भोजन करत शीश धरि छतना याहि सुख मन कूँदें। ह्वै सुचेत तब नन्ददास प्रभु कौन कीच अब खूदें।।"

नन्द भवन को भूषन माई।
जसुदा को लाल बीर हलधर को, राधारमन परम सुखदाई।।

इन्द्र को इन्द्र देव देवन को, ब्रह्मा को ब्रह्म महा बरदाई।।
काल को काल ईस ईसन को बरुन को बरुन महा बरियाई।।
शिव को धन सन्तन को सरबस महिमा वेद पुरानन गाई।
नन्ददास को जीवन गिरिधर, गोकुल मण्डन कुँवर कन्हाई।।

देखन देत न बैरिनि पलकैं। देखिये ६३५ पूर्वार्द्ध-

सरस....उक्ति उजागर—भक्तिरस का सागर सर्वदा इनके हृदय में लहराता ही रहता था, अतः जो कुछ भी आपके श्रीमुख से निकला वह अति सरस हुआ। यथा-''बरसाने तैं दौरि नारि इस नन्दभवन में आई। आजु सखी मंगल में मंगल कीरति कन्या जाई।।'' आपने संस्कृत साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किया था। इसके साथ-साथ आप शास्त्रीय संगीत के भी मर्मज्ञ थे। इन्हीं कारणों से आपके गेय पद अत्यन्त ही सरस एवं मधुर हैं। आपने युक्ति-युक्त वाक्य कहे- नेत्र वर्णन में युक्ति-दो०-''मृगज लजे खंजन लजे कञ्ज लजे छवि छीन। दृगन देखि दुःख दीन ह्वै मीन भये जल लीन।।'' चरण तल की अरुणिमा-दोहा-''जहँ जहँ चरन धरैं तरुनि अरुन होत सो लीह। जनु धरती धरती फिरै तहँ तहँ अपनी जीह।।'' ''भक्तिरस गान'' भक्तिरस से भिन्न आपने एक भी वाक्य नहीं कहा। आपके सभी ग्रन्थ विशुद्ध भक्ति से ओत प्रोत हैं। इतना ही नहीं ''अनेकार्थ मंजरी'' जो काव्यकोष- एक साहित्यिक रचना है, उसमें भी भक्तिरस भरा है। यथा-''करन कहावै रवि तनय, करन कहत पुनि कान। करन नाव जिहिं खेइये, करनधार भगवान्।।'' इसी प्रकार सभी वाक्यों का भक्तिरस में पर्यवसान है। अन्य कवि ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने की दृष्टि से परिशिष्ट में कुछ रचनायें दी हैं, उनमें यह गुण नहीं आ सका है। आप प्रथम भक्त थे उसके बाद कवि एवं गायक थे, अतः भक्तिरस गान उजागर थे।

प्रचुर पयधलौं सुजस—अनन्त अविनाशी के भक्त होने के कारण आपका सुयश भी अनन्त अविनाशी हुआ। आपकी रचनाएँ सिद्ध-प्रसिद्ध थीं उनका विस्तार हुआ, उसके साथ आपकी कीर्ति का भी। सिद्ध सन्तवाणी प्रकट होते ही सुदूर तक पहुँच जाती है। यथा-''वदन उच्चरित बेर सहस पायनि ह्वै धायौ।'' (छप्पय-१२६) ''जा दिन प्रगट भयौ गयौ शत योजन पै।'' (श्रीमदनमोहन सूरदास) इससे सिद्ध हुआ कि भक्तिरसमयी रचनायें सारे विश्व में शीघ्र कीर्ति का विस्तार कर देती हैं। ''रामपुर ग्राम निवासी'' गङ्गा भागीरथी के पावन तट पर शूकर क्षेत्र सोरों के नाम से प्रसिद्ध है। उसी के निकट जिला एटा में रामपुर ग्राम के आप निवासी थे (बरेली ऐसा भ्रमवश लिखा गया, बरेली के श्रीनन्ददासजी दूसरे हैं) पश्चात्

आपने उस ग्राम का नाम बदल दिया, अतः अब वह श्यामसुन्दर नाम से प्रसिद्ध है। "सकल सुकुल" उत्तम सनाढ्य ब्राह्मण कुल अथवा शुक्ल आस्पद अर्थात् सनाढ्यों में शुक्ल ब्राह्मण थे। उत्तम कुल था, अतः कुल परिवार समेत "भक्तपदरेणु" उपासी थे, पुनः भक्तपदरेणु सेवी थे, अतः कुल को उत्तम कहा गया। अन्यथा-"विना भक्ति भगवन्त की चारों बरन चमार।" भक्तपदरेणु की उपासना सेवन किये बिना अन्य साधनों से भगवत्प्रेम की प्राप्ति रूप आत्यन्तिक कल्याण नहीं होता है। यथा-"रहूगणैतत्" (भा० ५-१२-१२) एवं "नैषां मतिः" (भा० ७-५-३२) पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१८७ में दृष्टव्य हैं।

चन्द्रहास अग्रज सुहृद—इसके दोनों अर्थ हैं-(१) आपके ज्येष्ठ भ्राता श्रीचन्द्रहासजी थे। (सर्वेश्वर भक्तमाल) (२) श्रीचन्द्रदासजी के बड़े भ्राता श्रीनन्ददासजी। (श्रीरूपकलाजी)। ब्रजरत्नदास संपादित नन्ददास की भूमिका में एक तीसरा अर्थ भी लिखा है- चन्द्रहास के बड़े भाई के मित्र। पुनः आगे चन्द्रहास को छोटा सहोदर माना। कुछ लोगों के मत से रामचरित-मानस के रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदास इनके चचेरे भाई थे। सोरों साहित्य सामग्री के अनुसार सच्चिदानन्द के दो पुत्र आत्माराम और जीवाराम। आत्माराम के पुत्र तुलसीदासजी और जीवाराम के नन्ददास और चन्द्रहास। नन्ददासजी के पुत्र हुए कृष्णदास इन्होंने १६७० में शूकरक्षेत्र महात्म्य की रचना की।

विशेष—श्रीनन्ददासजी अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता तथा कोमलकान्त पदावली के कारण ब्रजभाषा कवियों में प्रमुख माने जाते हैं। इनका जन्म सं० १५९० में या इसके ओर-पास रामपुर में हुआ। पिता का नाम श्रीजीवाराम और माता का नाम कमला था। चक्रतीर्थ सोरों के निकट वैष्णव वेदपाठी श्रीनृसिंहजी की पाठशाला में आपने कुछ दिन अध्ययन किया। इसके पश्चात् संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आप काशी गये। जहाँ शेष सनातनजी के निकट श्रीतुलसीदासजी अध्ययन कर रहे थे। उन्हीं से आपने भी अध्ययन किया, अतः श्रीतुलसीदासजी को आपने अपना बड़ा गुरुभाई माना। यथासमय आपने गुरुभ्राता की वन्दना में निम्नलिखित पद लिखा-

श्रीमत् तुलसीदास स्वगुरु भ्राता पद बन्दे।
शेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाय अनन्दे।।
राम चरित जिन कीन ताप त्रय कलिमल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी।।
राखी जिनकी टेक मदन मोहन धनु धारी।

बालमीकि अवतार कहत जिहि सन्त प्रचारी।।
नन्ददासके हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्वल रस टपकाय दियौ जानत सब कोई।।

इस पद से प्रमाणित होता है कि परस्पर दोनों गुरुभ्राताओं में बड़ा भारी सौहार्द था। दो सौ बावन वैष्णव वार्ता में लिखा है कि नन्ददास लौकिक विषयासक्त थे, परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तविक बात यह है कि वे रूपरसिक थे। श्रीनारद भक्ति के अन्तिम सूत्र अनुसार रूपासक्ति भक्ति ही है। लौकिक रूपों को देखकर दिव्य रूप के प्रति आसक्ति बढ़ाना, यह आपकी आराधना थी। किसी भी लौकिक रूप को देखकर आसक्त से हुये, परमासक्त नहीं हुये। लौकिक रूप को देखकर दिव्य रूप की महानता का अनुमान करते थे। उसी में दिव्य रूपता का आरोप करके अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र करने का अभ्यास करते थे। यही कारण है कि रूप दर्शन करने में हिचकते नहीं थे, निर्भय और निःशंक रहते थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपके हृदय में ज्ञान और वैराग्य दोनों सुदृढ़ थे। काशी निवास, शेष सनातन का सान्निध्य और तुलसीदासजी के सौहार्द का ही यह फल था। लौकिक रूपोपासना की सीढ़ी के सहारे ही आपने दिव्य रूप के दर्शन पाये।

ये काशी में श्रीविश्वनाथ के कृपा-प्रसाद से कृतार्थ हुये। श्रीतुलसीदासजी के सत्संग से भगवच्चरित्रों के रहस्य का बोध प्राप्त हुआ। इसका प्रमाण है, पूर्व में उद्धृत पद। "उज्वल रस टपकाय दियौ।" इसके पश्चात् आपका मन श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हुआ। क्योंकि आप "भोज" सखा के अवतार थे। रूप और राग दो के प्रति इनकी हार्दिक आसक्ति देखकर श्रीगुरुदेव और गुरुभाई इन्हें अकेला छोड़ना नहीं चाहते थे, परन्तु इनका मन मथुरा वृन्दावन और द्वारका के प्रति आकृष्ट हो रहा था। दर्शनार्थियों का एक दल मथुरा-द्वारका दर्शनार्थ जाने वाला था। श्रीनन्ददासजी ने उनके साथ जाने की आज्ञा माँगी। विद्याध्ययन पूर्ण हो चुका था, अतः गुरुदेव ने आज्ञा दे दी। श्रीतुलसीदासजी ने इनकी उत्कट इच्छा जानकर इन्हें जाने की सम्मति देते हुये यात्रादल के नायक को सौंपकर कहा कि- इन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो तथा कहीं छूट न जायं, इस बात का ध्यान रखना।

उस यात्रा दल के साथ मार्ग के विभिन्न तीर्थों के दर्शन करते हुये आप मथुरा आये। मथुरा-वृन्दावन के दर्शनों से आपको परमानन्द प्राप्त हुआ। विश्राम घाट पर नर-नारियों को देखकर ये विभोर हो गये। इन्हें लगा कि- मैं कहीं किसी दिव्य इष्टलोक में आ गया हूँ। ब्रज-दर्शन से प्रभावित होकर यात्री दल ने यहाँ दस दिन का मुकाम घोषित

किया। परन्तु ये चाहते थे कि कम से कम बीस-पच्चीस दिन रहें तो ठीक है अथवा साल-दो साल या आजन्म ऐसी पुरी में, ऐसे वन में रहें तो अच्छा है। ये ब्रज के जीव थे, अतः ब्रज में अटक गये। "आशा जाकी जहँ बसी तहँ ताही को वास।" कई दिनों तक श्रीयमुना पुलिन एवं कुंज-निकुंजों में इतस्ततः भूलते-भटकते, थके छके से प्रेमविभोर श्रीनन्ददासजी विचरते रहे। यात्रादल से छूट जाना स्वाभाविक था। दल के मुखिया ने बहुत खोज की पर इनके दर्शन दुर्लभ रहे। निराश लोगों ने द्वारका की राह ली। कुछ दिन बाद आपने मन में निश्चय किया कि एक बार द्वारका के दर्शनकर आऊँ, फिर स्थाई रूप से ब्रज में वास करुँगा। इस विचार से नित्य द्वारका की राह पकड़ते, पर ब्रज से बाहर नहीं निकल पाते। घूम-फिरकर यहीं आ जाते। जैसे श्रीगङ्गाजी को जाकर समुद्र में मिलना है, पर गति वक्र है। कभी-कभी उत्तर को उलटी बहने लगती हैं। उसी प्रकार श्रीभगवत्प्रेरित घूमते-फिरते द्वारका की ओर चले और पहुँच गये सिंहनद गाँव को। प्रेम पागल जो ठहरे। उस ग्राम में प्रवेश करने पर आपकी रूपरस की प्यासी दृष्टि एक खत्राणी पर पड़ी। वह उस समय स्नानोपरान्त अटारी पर अपने केशों को सुखा रही थी। इन्हें लगा कि यह रूपरसगङ्गा रूपसागर-गामिनी है। अब तक जितने रुप देखे थे, उनमें दिव्य रूपता का आरोप करके सन्तोष करना पड़ता था। परन्तु आज यह दिव्यरूप स्वयं दिखलाई पड़ गया। लोक में ऐसा रूप सम्भव नहीं, अवश्य ही इसका सम्बन्ध मेरे इष्ट से है। इसलिये आपने अपने मन को रोकने का प्रयास नहीं किया। जैसा कि इससे पूर्व करते थे। बड़ी देरी तक टकटकी लगाकर देखने पर उत्तरोत्तर रूपाधिक्य का अनुभव हुआ। केशों को सुखाकर उसके नीचे उतर जाने पर ही आपके चरण चलने में समर्थ हुये।

आप उसी ग्राम में एक स्थान पर ठहर गये। सम्पूर्ण रात्रि रूप-चिन्तन में बीती। कब प्रातः हो और कब दर्शन हों। दूसरे दिन आपने निश्चय किया कि उसके श्रीमुख का दर्शन करके ही जलपान करुँगा। स्नानादि करके फिर आकर उसके द्वार पर डट गये। बैठे-बैठे तीन पहर बीत गये। दासी ने इन्हें देखकरके उस खत्राणी से कहा कि- आज एक ब्राह्मण सबेरे से ही द्वार पर बैठा है और ऐसा लगता है कि उसने जल भी नहीं पिया है। खत्राणी की आज्ञा से दासी ने आकर आपसे बैठने का कारण पूछा। श्रीनन्ददासजी ने कहा- तुम्हारी गृहस्वामिनी का मुख देखने के लिये बैठा हूँ, बिना मुख देखे अन्न ग्रहण नहीं करुँगा। यह जानकर खत्राणी ने कहा- मैं उसे मुख नहीं दिखाऊँगी, तब वह अपने आप चला जायेगा। ऐसे ही बैठे-बैठे सायंकाल हो गया। तब उस दासी ने समझाया कि ब्राह्मण

के प्राणों की रक्षा के लिए मुख दिखाना अनुचित नहीं है। तुम्हें स्मरण होगा, एक बार हम और घर के सभी लोग श्रीगोसाईंजी के दर्शनों के लिये गोकुल गये थे। उसी समय यह घटना घटी थी।

जेठ का मास था, एक मेवा बेचने वाली म्लेच्छानी प्यासी मार्ग में पड़ी तड़प रही थी। संयोगवश उसी मार्ग से होकर गोसाईंजी अपने शिष्य-सेवकों समेत पधारे। उसे पड़ी देखकर सेवकों ने कहा- तू मार्ग से हट जा। पर वह हटने में समर्थ न थी, अतः नहीं हटी। तब श्रीगोसाईंजी उसके निकट आये और उन्होंने दयावश कष्ट का कारण पूछा। उसका कण्ठ सूख गया था, अतः बोल न सकी। हाथ के संकेत से बताया कि मैं प्यासी हूँ। करुणासिन्धु श्रीगोसाईंजी ने सेवक को आज्ञा दी कि- शीघ्र जल लाकर इसे पिलाओ। सेवक ने कहा- यहाँ कहीं जल मिलने वाला नहीं है। यहाँ न कुआँ है और न तालाब। तब आपने आज्ञा दी कि- हमारी झारी लाओ, उसमें जल हो तो पिला दो। उसने उत्तर दिया कि- महाराज! झारी अशुद्ध हो जायेगी। तब आपने कहा-"मूर्ख! झारी तो दूसरी आ जायेगी परन्तु इसके प्राण चले गये तो कहाँ से आवेंगे? अतः देर न करो। जीव पर दया करना यह वैष्णव का परम धर्म है। चींटी से हाथी पर्यन्त सभी में प्रभु विराजते हैं। झारी आई, उसमें पर्याप्त श्रीनवनीत प्रिय का प्रसाद शीतल जल था। शनैः शनैः उसे पिलाया गया। पीते ही वह चैतन्य हो गई। महत्पुरुष की कृपादृष्टि एवं प्रसाद के प्रताप से उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई। बारम्बार श्रीचरणों में प्रणाम करके उसने विनती करते हुए कहा कि-"कानों से कन्हैयालाल का नाम सुना था, आज आँखों से देख लिया। आपने मुझे जीवन दिया। मेरे बाल-बच्चे भी आपकी कृपा से जियें, अतः आप आज्ञा दें तो मैं गोकुल में आकर रहूँ। श्रीगोसाँईंजी ने उसे आज्ञा दे दी और स्वयं गोकुल आ गये।

कुछ दिनों के बाद वह म्लेच्छानी भी गोकुल आ गई और वहीं मेवा बेचती तथा वह अच्छे-अच्छे फल और मेवा श्रीनवनीत प्रियजी को अर्पण करती। पैसे लेने की इच्छा नहीं करती। पर बिना पैसे दिये उसके फल नहीं लिये जाते। तब वह कम पैसे बताती। फिर भी उसे पूरे पैसे दिये जाते। उस पर श्रीगोसाँईंजी प्रसन्न रहते। कुछ दिन बाद उसका देहान्त हो गया। तब उसने महावन में एक ब्राह्मण के घर जन्म लिया। श्रीगोसाँईंजी से ब्रह्म सम्बन्ध ग्रहणकर सेविका बनी और भक्ति करके कृतार्थ हुई। इस प्रकार दासी ने दृष्टान्त देकर समझाया कि- प्रत्येक जीव दया के पात्र हैं, उसमें भी ब्राह्मण तो और अधिक आदरणीय हैं, क्योंकि भगवान भी उन्हें आदर देते हैं। इसलिये तुम वैष्णव धर्म का पालन करो, मेरे साथ पौरी तक चलो। दासी के साथ खत्राणी आई और पौर के द्वार पर खड़ी हो गई।

श्रीनन्ददासजी ने उसका मुख देखा और उठकर अपने निवास पर चले गये। दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः आकर आप उसके द्वार पर खड़े हो गये। किसी कार्यवश वह घर से निकली, उसे देखकर आप चले आये। इस प्रकार नित्य आकर दर्शनकर जाते। धीरे-धीरे इस बात को टोला-मुहल्ला वालों ने तथा घर वालों ने जाना और इसे चर्चा का विषय बना लिया। कुछ लोग परिहास और निन्दा भी करने लगे। विषयी जगत् दूसरों की आन्तरिक भावना जाने बिना ही निन्दा में प्रवृत्त हो जाता है। प्रतिष्ठा का प्रश्न था अतः घर वालों को भी यह सहन नहीं हुआ।

श्रीनन्ददासजी की विद्वता-प्रतिभा प्रकट थी, अतः बिना तिरस्कार किये खत्राणी के घर वालों ने नम्रतापूर्वक इन्हें समझाया और कहा कि- आप हमारे द्वार पर कदापि न आया करें। आपने उत्तर दिया कि-"मैं आपसे कुछ माँगता नहीं हूँ और आपका कुछ बिगाड़ता भी नहीं हूँ, फिर आप क्यों मना करते हैं।" उन्होंने कहा-"आप जो चाहो सो माँगो। हम यथाशक्ति सेवा करेंगे। परन्तु इस प्रकार आपका आना लोक दृष्टि से अनुचित है, अतः आना बन्द करो।" आपने कहा कि-"यदि आप हमें न आने देंगे तो हम अपनी आत्महत्या कर लेंगे। वे लोग डर गये, फिर कुछ न बोले। ये नित्य आते और उसका मुख देखकर चले जाते। खत्राणी के मन में इनके प्रति घृणा या क्रोध का भाव नहीं आया। घरवालों ने विचारा कि- दिन-प्रतिदिन बात बढ़ती जा रही है, अतः इस बदनामी से बचने के लिए हम घर छोड़कर गोकुल में चलकर रहें। तभी इस ब्राह्मण से पीछा छूटेगा। घर की कुछ वस्तुओं को बेचकर हुण्डी कराई गई और भाड़े पर गाड़ी ली गई। दूसरे दिन जैसे ही श्रीनन्ददास उसका मुख देखकर गये, उसी समय बैलगाड़ी में आवश्यक सामान लादकर घर के तीन और चौथी दासी को साथ लेकर अन्य चार आदमियों की संरक्षकता में गोकुल को चल दिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही श्रीनन्ददासजी उसका मुख देखने के लिए आये तो द्वार में ताला लगा देखकर इन्होंने पड़ोसियों से पूछा, तो उन लोगों ने सारा विवरण बता दिया। आप शीघ्र निवास स्थान पर आये और अपना सामान लेकर द्रुतगति से गोकुल की ओर चले। सायंकाल को एक ग्राम में आपने आकर देखा तो सब बैठे हैं, गाड़ी खड़ी है। गाड़ी की ओट से आपने खत्राणी का मुख देखा और उनसे अलग थोड़ी दूर आप भी ठहर गये। उस खत्री ने श्रीनन्ददासजी को देखा तो मन में पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा कि- जिस क्लेश से बचने के लिए हमने गाँव छोड़ा, वह क्लेश तो साथ ही है। कुछ उपाय न देखकर गुरु-गोविन्द

का स्मरण करने लगा। गोकुल चलकर यह क्लेश दूर जायेगा, ऐसी मन में आशा हुई। रात बीती प्रातःकाल आकर आपने दर्शन किया। तो वह खत्री इनसे लड़ने लगा। आपने कुछ उत्तर नहीं दिया। दूर-दूर गाड़ी के पीछे चलते, एक बार देखकर फिर अलग ठहरते। इस प्रकार चलते-चलते गोकुल के निकट श्रीयमुनाजी के तट पर आ पहुँचे। खत्री मन में विचारने लगा कि अब क्या करुँ? यहाँ भी मेरी हँसी और बदनामी होगी। ब्रजवासी बड़े मसखरे होते हैं। वे बड़ी हँसी करेंगे और श्रीगोसाईंजी जानेंगे तो क्या कहेंगे। अच्छा हो यह ब्राह्मण गोकुल न जाय। खत्री ने मल्लाहों को दस रुपये देकर कहा कि- हम लोगों को पार कर दो परन्तु इस ब्राह्मण को पार मत करना। मल्लाहों ने हाथ पकड़कर श्रीनन्ददासजी को नाव पर से उतार दिया। वे सब गोकुल पहुँचे। श्रीनन्ददासजी इस पार ही रह गये। थोड़ी देर के लिए आप बेचैन हो गये। परन्तु श्रीयमुनाजी के दर्शनों से शान्ति मिली और वहीं तट पर बैठकर आप श्रीयमुना की स्तुति करने लगे। उमङ्ग में आकर आपने कई पद गाये। यथा-''भक्त पर करि कृपा जमुने ऐसी। छाँड़ि निज धाम भूतल गवन कियौ प्रगट लीला दिखाई जु तैसी। परम परमारथ करति हौ सबनि पै रूप अद्‌भुत देत आप जैसी।। नन्ददास जो दृढ़ चरण गहे हैं एक रसना कहा कहौं विसैसी।।'' इस प्रकार आपने श्रीयमुनाजी की शरण ली। श्रीयमुना दर्शन से खत्राणी का मुख देखने की लालसा क्षीण हो गई। खत्री ने सपरिवार गोकुल पहुँचकर सामान सहित दासी को सुरक्षित स्थान पर ठहराकर तीनों श्रीगोसाईंजी के दर्शनों को गये। उस समय श्रीनवनीतप्रियजी के राजभोग का समय था। सानन्द सबों ने दर्शन किया। श्रीगोसाईंजी श्रीठाकुरजी को अनवसर कराकर अपनी गद्दी पर आकर विराजे। तब तीनों ने आकर दर्शन, भेंट और साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। श्रीगोसाईंजी अनुग्रह की वर्षा करते हुए कुशल प्रश्न के बाद भगवत्प्रसाद के लिए आमंत्रित कर स्वयं भोजनों के लिए पधारे। पश्चात् सीथ-प्रसाद की चार पत्तलें श्रीगुसाईंजी ने भेजीं। तब उस वैष्णव ने विनती करके कहा- ''महाराज! हम लोग तो तीन ही हैं, फिर चौथी पत्तल किसके लिए है। यहाँ कोई अन्य वैष्णव भी प्रसाद लेने वाला नहीं दिखलाई पड़ता है।'' तब आप श्री ने कहा-''जो ब्राह्मण तुम्हारे साथ आया है और जिसे तुम श्रीयमुना के उस पार ही छोड़ आये हो, वह प्रसाद पाने किसके घर जायेगा? यह सुनकर वे लज्जित होकर मन ही मन पछताने लगे कि वह बात तो यहाँ भी फैल गई। यहाँ भी मेरी हँसी होगी।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने उनके मानसिक दुःख को देखकर उन्हें समझाया- तुम अपने मन में विषाद न करो। सज्जनों के सम्पर्क से कभी कोई हानि नहीं होती है। वह

ब्राह्मण सुज्ञान और दैवी जीव है। संसारी विषयी नहीं है। भविष्य में महान् भगवदीय कृपा पात्र होगा। विचार करो, आज उसके कारण तुम्हें और तुम्हारे द्वारा उसे श्रीगोकुल वास और हमारा सान्निध्य प्राप्त हुआ है, अतः उसका उपकार मानो। श्रीगुरुदेव के द्वारा ऐसा समाधान पाकर उन्होंने पुनः साष्टाङ्ग दण्डवत् की। श्रीगोसाईंजी ने एक ब्रजवासी को भेजकर श्रीनन्ददासजी को बुलवाया। वे श्रीगोकुल को एवं श्रीयमुनाजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् करके आये और श्रीगोसाईंजी के दर्शन किये। आज श्रीनन्ददासजी को कोटि कन्दर्प लावण्य श्रीपूर्णपुरुषोत्तम का दर्शन प्राप्त हुआ। बुद्धि निर्मल हो गई। बारम्बार साष्टाङ्ग दण्डवत् करके आपने विनय की–"प्रभो! मैंने अनेक अपराध किये हैं। परम दयालु आप उन्हें क्षमा करें और मुझे अपनी शरण में रक्खें।" तब श्रीनन्ददासजी श्रीगोसाईंजी की आज्ञा से श्रीयमुना स्नान करके अपरस में आये और वि०सं० १६०७ के लगभग ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्त कर कृतार्थ हुए। उस समय आपने गुरु–स्तुति करते हुए यह पद गाया–

जयति रुक्मिणी नाथ, पद्मावती, विप्रकुल छत्र आनन्दकारी।
दीप वल्लभवंश, जगत् कलमष हरन, कोटि उडुराज सम तापहारी।।
मुक्ति कांक्षीय जन भक्तिदायक प्रभो, सकल सामर्थ्य गुन गनन भारी।
जयति पति भक्त, जन पतित पावन करन, कामिजन कामना पूर्ण चारी।।
जयति सकल तीरथ फलित नाम सुमिरन मात्र वास ब्रज नित्त गोकुलविहारी।
नन्ददासनि नाथ पिता गिरधर आदि प्रकट अवतार गिरिराज धारी।।

इस नवीन पद को सुनकर गोसाईंजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन सबको प्रसाद पाने की आज्ञा दी। चारों प्रसाद पाने लगे। खत्राणी की ओर आपने अब नहीं देखा। इससे उस खत्री को आश्चर्य और श्रद्धा हुई। ये तीनों प्रसाद पाकर उठ गये। श्रीनन्ददासजी को प्रसाद पाते–पाते स्वरूपानन्द का अनुभव होने लगा। देहानुसन्धान नहीं रहा। हाथ धोने की भी सुधि नहीं रही, बैठे ही रह गये। उत्थापन के समय भीतरिया ने श्रीगोसाईजी से श्रीनन्ददासजी की अवस्था कही, तो आप बोले कि–"उनसे कुछ न कहो, बैठे रहने दो। दूसरे दिन प्रातःकाल स्वयं श्रीगोसाईजी ने जाकर इनके कान में कहा कि–"उठो, दर्शन का समय हो गया।" तब ये उठे और आचमन करके दण्डवत् करी। पुनः दर्शन करके आपने सोल्लास यह पद गाया–

प्रात समय श्रीवल्लभ सुत को, उठत ही रसना लीजिए नाम।
आनन्दकारी मङ्गलकारी, अशुभ हरन जन पूरन काम।।

इह लोक परलोक के बन्धु को कहि सकत तिहारो गुन ग्राम।
'नन्ददास' प्रभु रसिक शिरोमणि, राज करौ श्रीगोकुल धाम।।

आपके इस मधुर कीर्तन को सुनकर गुरु-गोविन्द बहुत प्रसन्न हुए। पुनः पालने में झूलते हुए श्रीनवनीतप्रिय के दर्शन करके आपने यह पद गाया-

गोपाल लाल कों मोद भरी जसुमति हुलरावति।
मुख चुम्बति देखति सुन्दर तन, आनँद भरि भरि गावति।।
कबहूं पलना मेलि झुलावति, कबहूं अस्तन पान करावति।
'नन्ददास' प्रभु गिरिवरधर को निरखि निरखि सुख पावति।।

श्रीगोसाईंजी इन पर कृपा करके इन्हें विलक्षण दर्शन कराते और ये कीर्तन सेवा अर्पण करते। इस प्रकार गोकुल में आप सानन्द रहने लगे। कुछ दिनों के बाद श्रीनन्ददासजी श्रीगोसाईजी के साथ गिरिराजजी को आए और गुरुदेव ने श्रीगोवर्धननाथजी का दर्शन कराया। तब आपने यह पद गाया-

सोहत सुरङ्ग दुरङ्ग ललना के लोयन लौने।
कपोल विलोकनि में झलक कल कंचन कुण्डल कानन कौने।।
रङ्ग रँगीले के अङ्ग सबै भरे ऐसे भये न हौने।
'नन्ददास' सखी मेरे कहा चली काम कों उठि आई कब टौने।।

आप नित्य दर्शन-कीर्तन करते हुए एक मास तक श्रीनाथजी के यहाँ रहे, फिर एक मास नवनीतप्रिय के दर्शन एवं श्रीगिरिधरजी आदि का सत्सङ्ग करते हुए गोकुल रहे। इस प्रकार आप एक मास गोकुल एवं एक मास गोवर्धन रहते। नित्य वैष्णव सत्सङ्ग बिना भक्ति सुदृढ़ नहीं होती है, यह जानकर आप सप्रेम वैष्णवों का सत्संग करते।

दो सौ बावन वैष्णव वार्ता में लिखा है कि एक यात्रीदल मथुरा से काशी को गया। उससे तुलसीदासजी ने पूछा, तो उसमें एक वैष्णव थे, उन्होंने बताया कि- श्रीनन्ददास नामक एक सनाढ्य विद्वान् ब्राह्मण श्रीगोकुल अथवा श्रीगोवर्धन में रहते हैं। उन्होंने गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी की शिष्यता प्राप्तकर कीर्तन-सेवा अङ्गीकार कर ली है। यह जानकर श्रीतुलसीदासजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भाव भरा एक पत्र लिखा कि-"घर कौ परनौ परिहर्‍यौ, कहौ कौन उपदेश। तुलसी यासों जानिए नहीं धर्म को लेश।।" अर्थात् आपने श्रीरामोपासना छोड़ी, यह पतिव्रत धर्म त्याग के समान है। इसके उत्तर में श्रीनन्ददासजी ने लिखा-"हम चाकर

रघुनाथ के, जन्म-जन्म के दास। रूपमाधुरी मन हर्‌यौ डार प्रेम की फास।।'' अर्थात् प्रथम मेरा व्याह तो श्रीरघुनाथजी से ही हुआ। परन्तु उसके बाद एकाएक आकर श्रीकृष्ण ने हम पर अधिकार कर लिया। श्रीरघुनाथजी तो एक पत्नीव्रत हैं, अतः अनेकों को नहीं संभाल सके। श्रीकृष्ण तो अनेक अबलाओं के पति हैं, अतः मैं इनके परवश हूँ। यथा-

अधर बंधूक औ वदन अधिकाई छवि मानो विधि कीनी यह रूप को उदधि कै।
कान्ह देखी आवत अचानक मुरछ गिरे घूँघट उघारि राख्यौ सखिन के मधिकै।।
'गङ्ग' गई मारि सर मृग गिरिधर बेधे, अधिक अधीन भई चितवनि तधिकै।
वाण बेधे बधिक बधे को फेरि खोजि लेत बधिक बधून खोज लिये वाण बधिकै।।

(पुरानी टिप्पणी)

उक्त वार्ता ग्रन्थ के अनुसार गोस्वामी तुलसीदासजी ब्रज को आये और श्रीनन्ददासजी का पता लगाते हुए गोकुल आये। पर वे उस समय श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में थे, अतः गोवर्धन को आये। यहाँ पता चला कि राजभोग के बाद गोविन्द कुण्ड पर रहते हैं, अतः ये वहीं गये और परस्पर भेंट-वार्ता हुई। श्रीतुलसीदासजी ने कहा-

धाम रुचै तौ रहहु अयोध्या, पुरी रुचै रहु काशी।
वन रूचै रहिये दण्डक वन, गिरि कामद अविनाशी।।

उत्तर में श्रीनन्ददासजी ने कहा-

जो गिरि रुचै तौ बसो गोवर्धन गाम रुचै तौ बसौ नँदगाम।
नगर रुचै तौ बसौ मधुपुरी शोभा सागर अति अभिराम।।
सरिता रुचै तौ बसौ श्रीजमुना तट सकल मनोरथ पूरन काम।
'नन्ददास' कानन रुचै तौ बसौ भूमि वृन्दावन धाम।।

गोस्वामीजी ने पुनः कहा-''कहा कमी रघुनाथ के छांड़ी कुल की कान।'' तब श्रीनन्ददासजी ने कहा-''मन अनुरागी ह्वै गयौ सुनि मुरली की तान।'' आप लोगों ने भूल की, पहले ही मेरा नाम ''नन्ददास'' रख दिया अतः नन्दनन्दन ने अपना कहकर खींच लिया। यदि ''दशरथदास'' नाम होता तो शायद ऐसा न होता। युक्ति-युक्त बात सुनकर सभी हँस गये और तुलसीदासजी ने रामकृष्ण में अभेद बताकर श्रीनन्ददासजी की उपासना को ठीक बताया। श्रीनन्ददासजी ने भी इसी भाव के कई पद गाये। उसमें से एक पद-

राम कृष्ण कहिये उठि भोर।
वे अवधेश धनुष कर धारैं, ये व्रज जीवन माखन चोर।।
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत शत्रुहन लछिमन जोर।
इनकैं लकुट मुकुट पीताम्बर नित गायन सँग नन्दकिशोर।।
उन सागर में शिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नन्ददास' प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरखत चन्द चकोर।।

इसके पश्चात् वार्ता ग्रन्थ के अनुसार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने श्रीनाथजी का दर्शन कर उन्हें दण्डवत् नहीं किया। तब श्रीनन्ददासजी ने विनती किया-"कहा कहौं छबि०।" श्रीनाथजी ने श्रीराम रूप धारणकर दर्शन दिया। तब उन्होंने दण्डवत् प्रणाम किया। इसके पश्चात् श्रीतुलसीदासजी ने श्रीविट्ठलनाथजी का दर्शन किया, पर यहाँ पर भी साष्टांग दण्डवत् नहीं किया। तब श्रीगोसाईंजी के पञ्चम पुत्र श्रीरघुनाथजी और जानकी बहूजी का दर्शन श्रीनन्ददास ने कराया, तब उन्होंने साष्टांग दण्डवत किया और "बरनौं अवध गोकुल ग्राम।" यह पद गाया-

भक्तदाम गुणचित्रणी में लिखा है कि एक बार श्रीनन्ददासजी प्रेममग्न होकर पद कीर्तन कर रहे थे। इसी बीच अचानक वाद्य यंत्र का तार टूट गया। आपको कुछ पता नहीं, क्योंकि आप प्रेमसागर में डूबे थे। रंग में भंग होते देखकर श्रीश्यामसुन्दर ने आकर तार जोड़ दिया और चले गये। पश्चात् सावधान होने पर इस रहस्य का जब ज्ञान हुआ, तब आप दर्शनों के लिये व्याकुल होकर तड़पने लगे। तब आकर भगवान ने इन्हें दर्शन दिया और कहा कि जब-जब तुम कीर्तन करते हो तब-तब मैं तुम्हारे निकट रहकर सप्रेम श्रवण किया करता हूँ। यह सुनकर श्रीनन्ददासजी कृतार्थ हो गये।

अष्टछाप परिचय में श्रीप्रभुदयाल मीतल ने लिखा है कि- पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा के पश्चात् श्रीनन्ददासजी श्रीसूरदासजी के सत्संग में पारसौली में रहे। श्रीसूरदासजी के सात्विक जीवन के प्रभाव से नन्ददासजी का अभिमान दूर हो गया। दैन्य भाव का सञ्चार हुआ, मर्यादा भक्ति के स्थान पर पुष्टि भक्ति का उदय हुआ। काव्य प्रतिभा की भी असाधारण उन्नति हुई। इनकी जिज्ञासा देखकर साहित्य-लहरी की रचना श्रीसूरदासजी ने की। पुनः इनके हार्दिक भावों को देखकर इन्हें आज्ञा दी कि एक बार घर को जाओ और वहाँ के लोगों को भक्ति का उपदेश दो। ऐसी सम्पत्ति पाकर श्रीनन्ददासजी अपनी जन्मभूमि को आये। गृहस्थाश्रम में प्रवेशकर दाम्पत्य सुख का उपभोग किया। इससे लीला रस का अनुभव और विषयों से

पूर्ण वैराग्य हुआ। वहाँ श्यामसर नाम का एक कुण्ड बनवाया। रामपुर को श्यामपुर किया और सं० १६२४ के लगभग विरक्त होकर गोवर्धन चले आये। यहाँ मानसी गङ्गा के तट पर रहने लगे। आपने अपना जीवन श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन में और ग्रन्थ रचना में लगा दिया था। अन्त में बादशाह के ''निपट-निकट'' का रहस्य पूछने पर आपने गोपनीय प्रेम की महिमा दिखाई। सं० १६४० के लगभग मानसी गङ्गा के तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे नश्वर शरीर को त्यागकर नित्य लीलाधाम में प्रवेश किया। आपकी कीर्ति-कौमुदी का लाभ भक्त चकोर आज भी उठा रहे हैं। आपकी वाणी भक्तों को तथा साहित्यकारों को आनन्द मग्न करने वाली है।

श्रीजनगोपालजी

संसार सकल व्यापक भई, जकरी जन गोपाल की।
भक्ति तेज अति भाल संत मण्डलकौ मंडन।
बुधि प्रवेश भागौत ग्रन्थ संशय कौ खण्डन।।
नरहड़ ग्राम निवास देस बागड़ निस्तार्यौ।
नवधा भजन प्रबोध अनन्य दासन व्रत धार्यौ।।
भक्तकृपा बांछी सदा पदरज राधा लाल की।
संसार सकल व्यापक भई, जकरी जनगोपाल की।।१११।।

शब्दार्थ—जकरी=एक पन्द्रह मात्रा का छन्द, जयकरी। व्यापक=सब ओर फैला हुआ, आच्छादक। मण्डल=समूह। मण्डन=भूषण, समर्थक।

भावार्थ—भक्तश्रेष्ठ श्रीजनगोपालजी के जकरी छन्द सारे संसार में व्यापक हुए। भगवद्-भक्ति के प्रताप से आपका ललाट अत्यन्त देदीप्यमान (चमकीला) था। आप सन्तों की सभा के भूषण थे। आपकी प्रखर बुद्धि में श्रीभागवतजी का प्रवेश था एवं श्रीभागवतजी में आपकी बुद्धि प्रविष्ट हो गई थी। सर्वदा आप उसका अनुशीलन करते रहते थे। श्रीभागवत के एवं अन्य भक्ति-ग्रन्थों के सम्बन्ध में किये गये सभी सन्देहों का, कुतर्कों का खण्डन कर देते थे। आप नरहड़ ग्राम के निवासी थे। आपने सम्पूर्ण बागड़ प्रान्त का उद्धार किया। श्रीभागवत में कही गई नवधा-भक्ति के अनुसार भजन करते थे। उसका सम्यक् प्रकार से आपको अनुभव था। अनन्य भाव से भगवान एवं भक्तों के दास्य व्रत को आप दृढ़तापूर्वक निभाते

थे। भगवद्-भक्तों की एवं श्रीराधानन्दलाल की श्रीचरण-रज को प्राप्त करने की आपने सदा इच्छा की।।१११।।

व्याख्या—संसार सकल०—कलियुग में कलि के दोष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। यथा-''सुनु खगेश कलि कपट हठ दम्भ द्वेष पाखण्ड। मान मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मण्ड।।'' (रा०) उनको परास्तकर संसार सकल व्यापक भई जकरी अर्थात् भक्तवाणी। इसके कलियुग पर विजय सूचित की। जकरी छन्द या लोकगीत श्रीजनगोपाल कृत अप्राप्त हैं। अन्वेषणीय है। मात्रिक जकरी-''सब तजि भजु श्रीमदनगुपाल। अवसि दीन पर द्रवैं दयाल।। पद रज राधाबल्लभलाल। शिर धरिकै हौं भयौं निहाल।। जब ते पद परसे हरि व्यास। तब ते तजि दीनी जग आस।।'' लोकगीत जकरी-''अरी सुन आतम प्यारी लाल मनायले। पहले पहरे रैनिके तन वसन सजाइलै।। यह प्रियतम मन भावतो तेरे निकट विराजै। मान न कीजै पीय सों अरी तेरो जोवन लाजै।। दूजैरी पहरे रैनिके तैं मरम न जान्यौ। यह जौवन बहु मोलको लै विषमें सान्यौ।। तीजैरी पहरे रैनिके तू अजहुँ न चेतो। अङ्ग न दियौ सुजानके मैं बकी जु केती। फिरि पाछे पछितायगी मिलि साहब सेती।। चौथे री पहरे रैनिके शशि ज्यौतिहु मानी। मैं तौ तोहि बहुतै कही तैं चित नहिं आनी।। ये देखौ पहु पीरी टरै सरवर पानी। खेम रसिक भये भोरके सुन्दरि पछितानी।।'' (टि०)।

भक्तितेज अति—भगवद्-भक्ति जिसके हृदय में है, वहाँ भक्तिसूत्र में बँधे भगवान निवास करते हैं। (भा० मा० ३-७३ देखिये) इसी से अति तेज भक्ति में होता है। ''हरिव्यास तेज हरि भजन बल देवी को दीक्षा दई।'' (मू० छ० ७७) ''भक्ति तेज मिड़ि गई नई देह धरि लई।'' देवी शिष्या बन गई। श्रीपीपाजी ने सिंह को एवं श्रीरसिक मुरारिजी ने मतवाले हाथी को भक्ति के प्रताप से ही शिष्य बनाया। हिंसक पशु, भूत-प्रेत, देवी-देवता सभी भक्ति के तेज से धर्षित हो जाते हैं। यथा-''ज्यौं जड़ भरतहिं धरि लै गये। देवी डरपि फेरि पठए।। भक्ति तेज लागी जरन।।'' (द्वादशयश) तथा-''तहाँ जाय देवता के मन्त्र लै सुनायौ कान।'' (क० ४९३)।

बुधि प्रवेश भागौत—श्रीमद्भागवतजी के भावों को हृदयंगम करने के लिये कीर्तन भक्ति के आचार्य श्रीशुकदेवजी की, भागवतों की शरणागति आवश्यक है। इनकी असीम कृपा के बिना रहस्यों को समझना सम्भव नहीं है। यथा-

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं, भागवतैश्च ज्ञायते।
विद्यया टीकया वापि, भक्ति हीनैर्न लभ्यते।। (भाग० टीका)

अर्थ—श्रीमद्‌भागवत शास्त्र का रहस्य वैष्णवों की कृपा से ही जाना जा सकता है। भक्तिहीन पुरुष विद्या या टीका-टिप्पणियों के द्वारा नहीं समझ सकते हैं। अतः श्रीसूतजी ने मङ्गलाचरण में श्रीशुकदेवजी की शरण ग्रहण की है। यथा-

यः स्वानुभावमखिल श्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्।। (श्रीमद्‌भागवत)

अर्थ—यह श्रीमद्‌भागवत अत्यन्त गोपनीय-रहस्यात्मक पुराण है। यह भगवत्स्वरूप का अनुभव कराने वाला और समस्त वेदों का सार है। संसार में फँसे हुये जो लोग इस घोर अज्ञान अन्धकार से पार जाना चाहते हैं, उनके लिये आध्यात्मिक तत्वों को प्रकाशित करने वाला यह एक अद्वितीय दीपक है। वास्तव में उन्हीं पर करुणा करके परमहंसों के आचार्य श्रीशुकदेवजी ने इसका वर्णन किया है। मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।। श्रीमद्‌भागवत के बिना प्राणियों का आत्यान्तिक कल्याण एवं क्लेशों की निवृत्ति नहीं होती है। यथा-

यैर्नश्रुतं भागवतं पुराणं, नाराधितो यैः पुरुषः पुराणः।
हुतं मुखेनैव धरामराणां, तेषां वृथा जन्म गतिर्नराणाम्।।

अर्थ—जिन्होंने श्रीभागवत पुराण का कथन-श्रवण नहीं किया है तथा पुराण-पुरुष प्रभु की आराधना नहीं की और पृथ्वी के देवता जो ब्राह्मण हैं उनके मुख में हवन नहीं किया अर्थात् उन्हें सादर भोजन नहीं कराया। उन मनुष्यों का जन्म वृथा ही गया। भागवत-माहात्म्य में कहा है-

तावत्पापानि देहेस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः। यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्भागवतं नरैः।।
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद् भागवतं च यः। नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः।।

अर्थ—हे ऋषियो! इस शरीर में तभी तक पाप निवास करते हैं, जब तक वह अच्छी प्रकार से भागवत का श्रवण-मनन नहीं करता है। एक श्लोक अथवा श्लोक के एक चरण का भी जो नित्य नियम से पाठ करते हैं, वे राजसूय यज्ञ-अश्वमेध यज्ञों के पुण्यों को प्राप्त करते हैं।

ग्रन्थि संशय कौ खण्डन—लोगों को समझाने की शक्ति रखने वाला, संशयों का खण्डन करने वाला वक्ता ही श्रेष्ठ माना जाता है। यथा-"पण्डितः संशयोच्छेत्ता लोकबोधन-

तत्पर:।'' (भा० माहा०) संशय-हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का हरण किया, उसे समुद्र में ले गया, तो उस समय सृष्टि किसके आश्रित रही। समाधान-उस दैत्य ने पृथ्वी के स्थूल रूप का हरण नहीं किया था। उसने आधिदैविक रूप का हरण किया। पृथ्वी का आधिभौतिक रूप यथास्थान था। उस समय तक हुई सृष्टि दिव्य थी, जिसे पृथ्वी के आधार की आवश्यकता न थी। संशय-श्रीभागवत के ''वर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारं विभ्रद् वास: कनक-कपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।।'' (भा० १०/२१/५) इस श्लोक में ''कर्णयो:'' द्विवचन है और ''कर्णिकारं'' एकवचन है। दो कानों पर एक फूल कैसे? समाधान-(१) कर्णयो: कर्णिकारं यह समसित पद है। ''कर्णयो:'' में सप्तमी विभक्ति का अलुक है अर्थात् लोप नहीं हुआ है। अत: एक पद में द्विवचन और एक में एकवचन का दोष नहीं है। (२) ''बिभ्रद्'' पद की दो बार योजना करनी चाहिये। तब उक्त दोष नहीं रहेगा। (३) ''नटवत्'' और वर् वत्=दूलह की तरह वेष बनाये हैं, अत: श्यामसुन्दर लीलावश एक ही कर्णिकार को कभी बायें और कभी दायें कान पर धारण क़र लेते हैं, अत: कर्णिकार में एकवचन का प्रयोग किया गया। (४) कर्णिकार जातिवाचक शब्द है। अत: एकवचन से ही आवश्यकतानुसार द्विवचन बहुवचन के अर्थ लिए जाते हैं। विभ्रद पद का वर्हापीडं, कर्णिकारं, वासं और मालां इन सभी पदों के साथ सम्बन्ध है। कर्णयो: कर्णिकारं कुसुमं यस्य। इस प्रकार अलुक सप्तमी समास है। दो पद नहीं हैं, एक ही पद है। (५) इस श्लोक को पढ़ते समय वक्ता ध्यान भी कर रहा था, जैसे दर्शन होते थे वैसे पदों का प्रयोग करता था। मोर-मुकुट देखकर वर्हापीडं कहा और सज्जित वेष देखकर ''नटवर वपु:'' कहा। पुन: दोनों कानों पर कर्णिकार देखकर ''कर्णयो:'' कहा, इतने में ही वंशीवादन लीला में सिर के किञ्चित् कम्पन होते ही एक कान से कर्णिकार गिर गया, अत: कर्णिकार में एकवचन का प्रयोग कर दिया। कान पर फूल रखकर संकेत करते थे कि हे प्रिये! इधर के संकेत स्थल पर आज मिलूँगा। कर्णिकार का अर्थ कनेर नहीं है। कर्णिकार=कनियार, कनकचम्पा, अमिलतासका फूल, कमलगट्टा (कमल की पंखड़ियों के भीतर कर्णफूल के आकार का) जिसमें चारों ओर झालर-सी होती है, पकने पर काले बीज उसमें होते हैं। (पूरा श्लोक देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५५१) इस प्रकार आप संशयों का खण्डन करते थे। ऐसों की श्रेष्ठता श्रीकपिलदेवजी के वाक्यों से सिद्ध होती है। यथा-

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः।
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता, ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।। (भा० ३/२९/३२)

अर्थ—चारों वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणों में वेदज्ञ और उनमें वेद का अर्थ जानने वाले श्रेष्ठ हैं। अर्थज्ञों से संशयों का खण्डन करने वाले श्रेष्ठ हैं।

ग्राम निवास—श्रीजनगोपालजी ने वन में निवास न करके ग्राम में निवास किया। ग्राम भी रामपुर-कृष्णपुर नहीं "नरहड़"। भक्त-विद्वान् संसारी लोगों के बीच में निवास करते हैं, उनको अपने प्रभाव से आकृष्ट कर शिक्षित दीक्षित कर भक्ति पथ पर चलाते हैं। जैसे तालाब में डूबते हुये को बचाने के लिये तैराक तालाब में कूदता है। स्वयं बचता है और दूसरे को बचाता है। उसी प्रकार ये भक्तजन संसार में डूबते हुये को बचाने के लिये संसार में या गाँव में रहते हैं। **'नवधा भजन'**-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदम्।। (भा० ७/५/२३)

अर्थ—भगवान का (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पाद-सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्म-निवेदन यह नवधा भक्ति है। श्रवण-भगवन्नाम, चरित्र और गुणों का सादर श्रवण यह पहली भक्ति है। "श्रवणं नाम-चरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।" (भक्तिरसामृतसिन्धु) कीर्तन-"नामलीला गुणादीनां उच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।" भगवन्नाम लीला और गुणादिकों का उच्चस्वर से सप्रेम उच्चारण कीर्तन भक्ति है। स्मरण-"यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते।" जिस भी प्रकार हो सके, मन से भगवत्सम्बन्ध बनाये रखना स्मरण भक्ति है। पादसेवन-"श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम्।" श्रीमूर्ति प्रभु के चरणों की सेवा करना। अर्चन-"शुद्धिन्यासादि पूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम्। अर्चनं तूप-चाराणां स्यान्मत्रेणोपपादनम्।।" शुद्धि, अङ्गन्यास, करन्याास, पूर्वक यथा प्राप्त उपचारों का मन्त्र पढ़कर अर्पण करना अर्चन भक्ति है। वन्दन-"वन्दनं दण्डवन्नतिः।" मन, वाणी और शरीर के अङ्गों से दण्ड की तरह चरणों में गिरकर प्रणाम करना। दास्य-"दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।" आज्ञानुसार सब प्रकार की सेवायें और अपने सभी कर्मों को स्वामी के समर्पण करना। सख्य-विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्।" विश्वास और मित्रवृत्ति दो प्रकार का सख्य कहा जाता है। सामान्य श्रद्धा मात्र को भक्ति में अधिकार का कारण कहा गया है और विश्वास विशेष को भक्ति का अङ्ग कहा गया है। मित्रवृत्ति रूप सख्य में विधिमार्ग के अनुष्ठान आदि की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः यह वैधी भक्ति के अन्तर्गत न होकर रागानुगा भक्ति का अंग है। "आत्मनिवेदन"-

अर्थो द्विधाऽऽत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपद्यते।
देह्यहंताऽऽस्पदः कैश्चिद् देहः कैश्चिन्ममत्वभाक्।। (भ० र०)

यहाँ आत्म शब्द के दो अर्थ हैं। (१) अहन्ता के आश्रय देही (शरीरस्थ आत्मा), (२) ममता के आश्रय देह, इन दोनों का समर्पण आत्म-निवेदन है। सख्य और आत्म-निवेदन ये दो भक्त्यंग दुष्कर होने से सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं, किन्हीं धीरों के ही साधना के योग्य होते हैं।

यावन्ति भगवद् भक्तेरङ्गानि कथितानि ह।
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः।। (भ० र० ति०)

अर्थ—भगवद्-भक्ति के जितने भी अंग कहे गये हैं। प्रायः उतने ही अंग विद्वान् लोग उनके भक्तों की भक्ति के मानते हैं। श्रीजनगोपालजी नवधा-भजन प्रबोध थे। तात्पर्य उक्त रहस्य के ज्ञाता थे। इसी से आगे कहे-"भक्तकृपा वांछी सदा।"

अनन्यदासत्व—आप प्रतिज्ञापूर्वक एक मात्र भक्त भगवान के दास थे-

देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां, न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।
(भा० ११/५/३१)

अर्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं-"हे राजन्! कर्मवासना एवं भेदबुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल प्रेम के वरदानी भगवान मुकुन्द की शरण में जो आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों एवं अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता है। वह किसी के आधीन, किसी का सेवक या किसी के बन्धन में नहीं रहता है।

विशेष—श्रीभक्तमाल सर्वेश्वर के अनुसार श्रीजनगोपालजी श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के शिष्य थे। आप सन्तों की जमात लेकर भक्ति प्रचारार्थ भ्रमण करते रहते थे। एक बार जमात के साथ आप एक गाँव में पहुँचे। सन्त-भगवन्त की इच्छा हुई कि खीर भोग आरोगें। आपने एक भक्त को आज्ञा दी- दूध लाओ। उसने कहा-महाराज! दूध तो आपकी कृपा से घर में बहुत है, पर मैया थोड़ा भी नहीं देगी। यदि मौका लग गया तो मैं अवश्य ही लाऊँगा। वह घर आया, माँ कहीं अन्यत्र गई थी। उसने सब दूध लाकर सन्तों की सेवा में अर्पण कर दिया। उसकी माँ ने जब देखा तो अपने लड़के की करतूत समझ गई और जहाँ सन्तों की जमात टिकी थी। वहीं पहुँचकर उससे लड़ने लगी कि- सारे दूध को तू कैसे ले

आया? श्रीजनगोपालजी ने बड़ी शान्ति से उसे समझाया और कहा कि- घर जाकर देखो, फिर आकर यहाँ कुछ कहो। वह अपने घर को गई। जाकर देखा तो उसे बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। दूध तो ज्यों का त्यों भरा रखा है। जो पात्र अभी खाली थे, वे भरे रखे हैं। उसे सन्त-सेवा में विश्वास हो गया। गाँव के लोगों ने इस घटना से प्रभावित होकर भक्तिपथ का अनुसरण किया। जमात को रोककर कई दिन तक लोगों ने खीर-भोग की सेवा की। इस प्रकार श्रीजनगोपालजी सन्त-सेवा, भक्ति-प्रचार करते रहते थे।

श्रीमाधवदासजी

माधौ दृढ़ महि ऊपरैं, प्रचुर करी लोटा भगति।
प्रसिद्ध प्रेम की बात, 'गढ़ागढ़' परचौ दीयौ।
ऊंचे तें भयौ पात श्याम सांचौ पन कीयौ।।
सुत नाती पुनि सदृश चलत ऊही परिपाटी।
भक्तन सों अतिप्रेम नेम नहिं किहुं अँग घाटी।।
नृत्य करत नहिं तन सँभार समसर जनकन की सकति।
माधौ दृढ़ महि ऊपरैं प्रचुर करी लोटा भगति।।११२।।

शब्दार्थ—लोटा भगति=वह प्रेमावेश जिसमें पृथ्वी पर लोटा जाय। पात=पतन, गिरना। ऊही=वही, उसी। घाटी=घटी, कमी। समसर=समानता, बराबरी। जनकन=जनकों की, विदेह वंशियों की। सकति=हो सकती है। पाठान्तर=लोटन भगति।

भावार्थ—दृढ़व्रती श्रीमाधवदासजी ने पृथ्वी पर लोटन भक्ति का सुदृढ़ एवं प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। आपके प्रेम की बात (घटना) अति प्रसिद्ध है। आपने गढ़ागढ़ में अपने प्रभु प्रेम का परिचय दिया। नृत्य कीर्तन करते हुए प्रेमावेश में आकर आप तिमंजिले की ऊँची छत से गिर पड़े। भगवान श्रीश्यामसुन्दर ने अपने प्रण को सत्य करते हुए आपके प्राणों की शरीर की रक्षा की। आपके परिवारी बेटा-नाती भी आपके समान भगवद्-भक्त हुए और आपके द्वारा चलाई हुई भक्ति की परिपाटी पर ही चलते रहे। आपका भक्तों से अत्यन्त नेम-प्रेम था। भक्ति के सभी अंगों का आप पालन करते। कहीं भी, कभी भी कमी नहीं आने देते थे। कीर्तन और नृत्य करते समय आपको अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती थी। आपकी तुलना केवल विदेहवंशी जनकों से ही हो सकती है।।११२।।

व्याख्या—लोटन भगति—प्रेमावेश में आकर भक्त जब भूमि में लोटने लगता है, तो उसे लोटा भक्ति कहा है। कीर्तन करने में लोटने के अनेक भाव हो सकते हैं। जैसे (१) उस समय उपस्थित जन हरिनाम के उच्चारण एवं श्रवण से धन्य हो जाते हैं। और (२) स्वयं भगवान के पार्षद, सिद्ध-सन्त उस समय उपस्थित हो जाते हैं। उनके दर्शनकर उनके श्रीचरणों की रज में प्रेमी भक्त लोटने लगता है। (३) भक्त-भगवन्त के दर्शन का प्रेमी प्रेम की याचना करता है और जैसे बालक मचल जाता है, पृथ्वी पर लोटने लगता है, उसी प्रकार ये भी मचलकर लोटते हैं। बालकृष्ण भी माता से ''जैहों लोटि अबहिं धरती पर तेरी गोद न ऐहौं।'' (४) वियोग के असह्य होने पर तड़पते-छटपटाते हुये लोटते हैं। (५) दर्शन एवं कृपा का अनुभव कर आनन्द मग्न होकर लोट जाते हैं। (६) अपने को धूरि के समान तुच्छ समझकर ''नीच को धूरि समान'' विशेष दैन्य लोटने में हेतु है। यथा-''पाँय लपटाय अङ्ग धूरि में लुटाय कहैं करौ मन भायौ और दीन बहु भाख्यौ है।'' (क०-११४) दर्शनाभिलाषियों की भी यही स्थिति होती है। ''दरशन दूर राज छोड़ैं लुटै धूर।'' (क०-५४४)

प्रसिद्ध प्रेम की राशि—लोटन भक्ति के हेतु का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीनाभाजी कहते हैं-''प्रसिद्ध प्रेम की बात।'' एक भाव भावार्थ में आ चुका दूसरा यह है कि प्र=प्रकर्ष अर्थात् उत्तम एवं अधिक+सिद्ध=परिपक्व, विरह की आग से सिद्ध, लक्ष्य पर पहुँचा हुआ, जो प्रमाणों द्वारा निश्चित हो, शोधा हुआ। इस प्रकार विख्यात के अतिरिक्त प्रसिद्ध शब्द का अर्थ होगा। प्रकृष्ट सिद्ध अर्थात् परिपक्व पूर्ण प्रेमी, विभूषित सजाया हुआ (कवित्त-३) के अनुसार श्रृङ्गारित भक्ति है जिसमें। श्रीमाधवदासजी विशुद्ध प्रेम में पूर्ण निमग्न थे। तभी ''परचौ दियौ'' विरहाग्नि से तपे हुए को प्राकृत अग्नि जलाने में असमर्थ रहा। भगवान के वियोग में रूप की स्फूर्ति और उसके बाद वियोग, फिर संयोग और संयोग के बाद पुनः वियोग की दशा में अष्ट सात्विक भावों का उदय होता है, वे ये हैं-(१)स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभेद, (५) कम्पन, (६) विवरणता, (७) अश्रुपात, (८) मूर्च्छा। ''हाँसे कान्दे नाचे गाय, उठि इति उत धाय, क्षणे भूमि पड़िया मूर्च्छित।'' (चैतन्यचरितामृत) प्रेमाविष्ट गौरांग महाप्रभु कभी हँसते, कभी रोने लगते, कभी नृत्य-गान करते-करते इधर-उधर दौड़ने लगते। कभी भूमि पर गिरकर लोटने लगते एवं मूर्च्छित हो जाते। इनकी भी लोटन भक्ति अष्ट सात्त्विक भावों के अन्तर्गत है।

श्याम साँचौ पन कीयौ—''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।'' बाल्मीकि रामायण में विभीषण शरणागति के प्रसंग में भगवान

श्रीराम ने कहा है कि- एक बार भी मेरी शरण में आकर जो कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे सभी से (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से) अभय कर देता हूँ। यह मेरी प्रतिज्ञा है।'' उसे सत्य किया। (गीता ९/२२) में ''अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।'' अर्थ-अनन्य भाव से चिन्तन करते हुये जो भक्त मेरी उपासना करते हैं, उनके योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। क्षेमकारी प्रभु ने रक्षा करी। पुनः महाभारत में-''प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यन्ति।'' भक्त का नाश नहीं होता है, यह भी प्रभु की प्रतिज्ञा है। इसे उन्होंने सत्य किया। जैसे श्रीप्रह्लादजी, श्रीसुधन्वाजी एवं श्रीकबीरजी अग्नि में नहीं जले, उसी प्रकार श्रीमाधवदासजी नहीं जले। ''सुत नाती०'' माधोदासजी की तरह इनके पुत्र-नाती आदि भी उसी पद्धति से भक्त भगवन्त की सेवा, कीर्तन एवं लोटन भक्ति करते थे। ''नहिं किहुं अँग घाटी'' का तात्पर्य कि केवल ऊपरी दिखावा मात्र नहीं था। उन्हें भी श्रीमाधवदासजी की सी भक्ति प्राप्त थी। ''अतिप्रेम''-''प्रेम भगति एकौ पलक कोटिवरस को जोग। प्रेम भक्ति सब जोग है जोग प्रेम बिन रोग।।''

नृत्य करत—कीर्तन और नृत्य करते समय आपको अपने शरीर की सँभार नहीं रहती थी। कारण यह है कि-''मन तहँ जहँ रघुवर वैदेही। विनु मन तन दुख सुख सुधि केही।।'' मन का प्रभु में लय करने के बाद शरीर के दुःख-सुख का अनुभव नहीं होता है। ''समसर जनकन की सकति''-श्रीमाधवदासजी के प्रेम की विशेषता कहते हुये मूल ग्रन्थकार कहते हैं कि इनकी समानता केवल श्रीजनकजी से ही हो सकती है। श्रीजनकजी- ''जोग भोग महँ राखेउ गोई।'' गृहस्थाश्रम में रहते हुये उससे विरक्त रहे। योग-भोग के मध्य प्रभु प्रेम को छिपाकर रखा। उसी प्रकार इन्होंने भी। श्रीजनकजी के वंश में सभी ज्ञानी भक्त हुये। इनके भी ''सुत नाती पुनि सदृश चलत ऊही परिपाटी।'' गृहस्थाश्रम में विरक्तवत् रहे, भक्तों से प्रेम तथा भक्ति के जो चौसठ अंग उनका सांगोपांग पालन करते रहे। श्रीजनकजी को नवयोगीश्वरों का और श्रीमाधवदासजी को सन्त-गुरुदेव का आशीर्वाद था कि वंश परम्परा में भक्ति अचल रहे।

गढ़ागढ़ पुर नाम ''माधौ'' बढ़ि प्रेम, भूमि लौटैं, जब नृत्य करैं भूलैं सुधि अंग की।
भूपति विमुख, झूठ जानिकै परीक्षा लई, आनि तीन छाति पर देखी गति रंग की।।
नूपुरनि बाँधि, नाचि, सांच सो दिखाय दियौ गिर्‌यौ हू कराह मध्य, जियौ, मति पंग की।
बड़ौ त्रास भयौ नृप, दास बिसवास बढ़्यौ, बढ़्यौ उर भाव रीति न्यारी या प्रसंग की।।४५६।।

शब्दार्थ—बढ़ि=बढ़ा, बड़ा, बढ़ने पर। पंगु=पंगु, लुंज, गतिहीन।

भावार्थ—प्रेमी भक्त श्रीमाधवदासजी ''गढ़ागढ़'' निवासी थे और बड़े भारी भगवदनुरागी थे। हरिनाम संकीर्तन के समय नृत्य करते-करते इन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं रहती थी और भूमि पर लोटने लगते थे। गढ़ागढ़ का राजा अभक्त था, वह ऐसे आचरणों को ढोंग समझता था। इसलिये उसने श्रीमाधवदासजी की भक्ति की परीक्षा लेने की सोची। श्रीहरिनाम संकीर्तन का आयोजन कराकर इन्हें आमंत्रित किया और तीसरी मञ्जिल की छत पर मण्डप बनवाया। आप पैरों में नूपुर बाँधकर नृत्य-कीर्तन करने लगे। लोगों ने विलक्षण प्रेम के प्रभाव को देखा। कुछ देर बाद प्रेम का ऐसा आवेश आया कि आप पृथ्वी पर लोटने लगे। आपने अपने भक्ति-भाव को सत्य करके दिखलाया। छत पर मुड़गेली नहीं थी, अतः आप लोटते-लोटते तिमंजिले से नीचे गिर गये। वहाँ कड़ाह में घी घौल रहा था। उसमें गिरने पर भी आप जीवित रहे। ताप का किंचित् अनुभव भी नहीं हुआ। यह देखकर सबकी बुद्धि चकित हो गई। राजा को बड़ा भारी डर लगा। हरि भक्तों में विश्वास हो गया और हृदय में भक्तिभाव व्याप्त हो गया। भक्त चरित्रों की एवं प्रीति की बड़ी विलक्षण रीति है।।४५६।।

व्याख्या—बढ़ि प्रेम०—इसका भाव यह है कि श्रीमाधवदासजी में प्रतिक्षण वर्द्धमान प्रेम था। विशुद्ध प्रेम का यही स्वरूप है। यथा-''प्रतिक्षणवर्द्धमानम्।'' (नारद सूत्र) ऐसे प्रेम के आवेश में आकर आप नृत्य-कीर्तन करते थे। ऐसा प्रेम अति दुर्लभ है। यथा-''ज्ञानतः सुलभा मुक्तिभुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः। सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभाः।।'' (भ०र०सि०) अर्थ-ज्ञान से मुक्ति सुलभ है, यज्ञादिकों के पुण्यों से लोक-परलोक के भोग सुलभ हैं। परन्तु विशुद्ध भगवद्-भक्ति का मिलना हजारों साधनों से भी दुर्लभ है।। सन्त-भगवन्त की कृपा से ही इसकी प्राप्ति होती है। ''भूपति विमुख''-विमुख उसे कहते हैं, जो सच्ची भक्ति को झूठ ढोंग माने। इस राजा ने श्रीमाधवदासजी की सच्ची भक्ति को झूठ माना और परीक्षा की। राजा एवं अन्य विमुखों के मन में यह था कि ये नीचे गिरने के डर से ऊँची छत पर नहीं लोटेंगे और यदि लोटेंगे भी तो सँभलकर लोटेंगे। नीचे गिरने के भय से बेसुध नहीं होंगे। इस प्रकार जब इनकी पोल खुल जायेगी, तब इनको दण्ड दिया जायेगा। यह विमुख स्वभाव है, वस्तुतः वे स्वयं झूठे हैं। इनका सारा व्यवहार झूठा होता है। यथा-''झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठइ चबेना।।'' (रा०) जो सम्मुख हैं वे सच्चे हैं। उन्हें सर्वत्र सच्चाई ही दीखती है। ऐसे भक्त भगवत्सम्बन्धी झूठी बात को भी सत्य करके मानते हैं। इस पर-

दृष्टान्त—खानखाना का—अब्दुल रहीम खानखाना विश्वासी भक्त थे। दिल्ली बादशाह के दरबार में रहते थे। एक बार आपने एक बहुत कीमती घोड़ा खरीदा, उसका सिर चारों ओर सफेद था, शेष शरीर लाल रंग का था। ऐसे दुर्लभ पञ्चकल्याणी घोड़े को देखकर शहजादे का मन ललचाया। उसने बादशाह से प्रार्थना करते हुये हठ किया कि जैसे भी हो वह घोड़ा हमें दिलवा दीजिये। जब तक घोड़ा न मिलेगा, मैं अन्न-जल ग्रहण न करुँगा। बादशाह ने खानखाना को बुलवाकर आग्रह किया जितने का आपने खरीदा हो, उससे सौ गुनी कीमत ले लो और घोड़ा शहजादे को दे दो। खानखाना ने कहा- आप मालिक हैं, हमारे प्राण और घोड़ा दोनों आपके हैं। घोड़ा लेना प्राण लेने के तुल्य जानकर बादशाह ने शहजादे को समझा-बुझाकर घोड़ा न लेने के लिये राजी कर लिया और कहा कि- आप ही घोड़े को रखिये। कुछ दिनों के बाद एक सिपाही का घोड़ा मर गया। उसे रोते देखकर किसी दयालु ने उसे समझाया कि यदि तुम घोड़ा खरीद नहीं सकते हो तो खानखाना के पास चले जाओ और उनसे कहना कि- लाला कन्हैया ने मुझे आपके पास भेजा है और कहा है कि उनसे घोड़ा माँग लो। ये भक्त थे अतः ये सुनते ही झूम उठे और सिपाही का स्वागत-सत्कार करके उसे अपना पञ्चकल्याणी घोड़ा दे दिया। घर लाकर उसने विचार किया कि हम इस घोड़े को रखने, खिलाने-पिलाने में समर्थ न होंगे। खानखाना के पास आकर उसने घोड़ा वापस करके विनती की, कि आप हमारे योग्य दूसरा घोड़ा खरीदकर दे दीजिये। तब इन्होंने ऐसा ही किया। इस बात को बादशाह ने सुना तो उसे बड़ा रोष हुआ और बुलवाकर पूछा कि- तुमने घोड़ा हमें नहीं दिया और एक तुच्छ सिपाही को कैसे दे दिया? इससे मेरा भारी अपमान हुआ। खानखाना ने कहा- हुजूर! उसे कन्हैया ने दिलवाया था, अतः दे दिया था। बादशाह ने कहा- हमने सब पता लगा लिया है, उसने झूठा सन्देशा बनाकर कहा था। खानखाना ने कहा- साहब! अब तक प्यारे कन्हैया की ओर से कोई सन्देशा नहीं आया था। आज आया तो उसे सत्य माना अतः घोड़ा दे दिया था। पुनः मुझे यह आशा हुई कि आज झूठा सन्देशा आया है तो कभी सच्चा भी अवश्य आवेगा। इस प्रकार का भाव जानकर बादशा प्रसन्न हुआ। झूठे को सत्य माना यह सन्मुख का लक्षण है।

नूपुरनि बाँधि नाचि—प्रेमियों की इस दशा का वर्णन करते हुए श्रीप्रबुद्धजी कहते हैं-

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्यचिद्धसन्तिनन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं, भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।।

(भा० ११/३/३२)

अर्थ—प्रेमियों के हृदय की बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी-कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अब तक भगवान नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे। इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं, तो कभी भगवान की लीला की स्फूर्ति हो जाने से ऐसा देखकर परम ऐश्वर्यशाली भगवान गोपियों के डर से छिपे हुए हैं, हँसने लगते हैं। कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शन की अनुभूति से आनन्दमग्न हो जाते हैं, तो कभी लोकातीत भाव में स्थित होकर भगवान के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणों का गान करने लगते हैं। कभी-कभी उन्हें अपने पास न पाकर ढूँढ़ने लगते हैं तो कभी-कभी उनसे एक होकर उनकी सन्निधि में स्थित होकर परम शान्ति का अनुभव करने लगते हैं और चुप हो जाते हैं।

''गिर्‌यौ हू कराह मध्य''—विमुखों ने जान-बूझकर ही बिना मुड़गेली की छत पर कीर्तन कराया। तीन मंजिल से गिरकर ही शरीर क्षत-विक्षत हो जाना चाहिये। उसमें भी लोहे के कड़ाह पर चोट लगनी चाहिये, पुनः तप्त कड़ाह में गिरने से तत्क्षण शरीर के जलने से मृत्यु हो जानी चाहिए। परन्तु आप कड़ाह में गिरकर कुछ क्षण तो समाधिस्थ अचेत रहे, पुनः सचेत होकर जैसे कोई शीतल जल में हो, इस प्रकार सानन्द उच्च स्वर से कीर्तन करने लगे। इस सम्बन्ध में पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४४८ सुधन्वाचरित एवं ५५९ ''रामनाम जपतां'' श्रीप्रह्लाद-चरित्र दृष्टव्य हैं। सानन्द जीवित देखकर सभी विमुखों की मति पंगु हो गई। इस असम्भव के सम्भव होने का कारण उनकी समझ में नहीं आ रहा था। इसके पश्चात् उपस्थित जनसमूह ने श्रीमाधवदासजी को कड़ाह से निकालकर शरीर को पोंछा। नवीन वस्त्र पहनाये। राजा समेत सभी भयभीत थे कि हमने भक्तापराध किया है। और- ''जो अपराध भक्तकर करई। राम रोष पावक सो जरई।।'' भयभीत लोगों ने भक्तराज के चरणों में पड़कर अपराध क्षमा कराये। श्रीमाधवदासजी के सदुपदेशों से एवं प्रत्यक्ष चमत्कार को देखकर ''दास बिसवास बढ़्यौ'' तब भगवद्-भक्तों की सेवा का भाव बढ़ा और भगवान में भी प्रेम बढ़ा। ''हरि भक्तन को आसरो, राधाबल्लभ बाँह। व्यास बसेरो कुञ्ज में वंशीवट की छाँह।।'' टीकाकार कहते हैं कि-''रीति न्यारी या प्रसङ्ग की'' लोकरीति में ऐसा नहीं देखा गया कि अग्नि में कोई जले नहीं। प्रेमी के हृदय में भगवान निवास करते हैं, अत: उसे अग्नि-जलादि कोई भी पंचभूत कष्ट देने में समर्थ नहीं होते हैं। पुनः ''सर्वं विष्णुमयं जगत्'' इसमें उनका दृढ़ विश्वास होता है, अतः सर्वत्र अपने प्रियतम की गोद उन्हें प्राप्त होती है। आपने उन विमुखों के ऊपर किञ्चित् भी क्रोध नहीं किया। ऐसे प्रेमी भक्त भुवन को पावन करने में समर्थ होते हैं। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६९, ''वाग्गद्गदा'' भा० ११-१४-२४)।

श्री अंगदजी

अभिलाष भक्त 'अंगद' कौ, पुरुषोत्तम पूरन कर्‌यौ।।
नग अमोल इक ताहि, सबै भूपति मिलि जाचैं।
साम, दाम, बहु करैं, दास नाहिन मत काचैं।।
एक समै संकष्ट मैं ले, वै पानी महिं डार्‌यौ।
'प्रभो तिहारी वस्तु' बदन ते बचन उच्चार्‌यौ।।
पांच दोय सत कोस ते हरि हीरा लै उर धर्‌यौ।
अभिलाष भक्त 'अंगद' कौ, पुरुषोत्तम पूरन कर्‌यौ।।११३।।

शब्दार्थ—अभिलाष=मनोरथ। पुरुषोत्तम=श्रीजगन्नाथजी। नग=हीरा। अमोल= अमूल्य, मोल न मिलने वाला, बहुत मूल्यवान्। साम=चार नीतियों में एक नीति, विरोधी को मीठी बातों से मिलाने की विधि। दाम =धन देकर विरोधी को वश में करने की नीति। मत= विचार। काचैं=कच्चे।

भावार्थ—भक्तवर श्रीअंगदजी की अभिलाषा को भगवान् श्रीजगन्नाथजी ने पूर्ण किया। आपके पास अमूल्य हीरा था, उसे सभी ने तथा राजा ने मिलकर माँगा और हीरा हड़पने के सभी हथकण्डे साम, दाम, भय और भेद आदि उपाय किये। परन्तु भक्त श्रीअंगदजी अपने विचार के कच्चे नहीं पक्के थे, उन्होंने हीरा नहीं दिया। एक बार राजा ने उन्हें संकट में डालकर उनसे हीरा लेना चाहा, तो श्री अंगदजी ने हीरा को यह कहकर जल में डाल दिया कि-"हे प्रभो! यह हीरा आपकी वस्तु है, इसे आप स्वीकार कीजिये। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ने सात सौ कोस से अपना लम्बा हाथ फैलाकर उस हीरा को ले लिया और श्रीअंग में धारण कर लिया। इस प्रकार भक्त के मनोरथ को प्रभु ने पूर्ण किया।।११३।।

व्याख्या—पुरुषोत्तम—पुरुषोत्तम ने अभिलाषा पूर्ण की। इसका तात्पर्य यह कि पुरुषोत्तम प्रभु के अतिरिक्त ऐसा कोई समर्थ है ही नहीं, जो भक्त के हृदय की जानकर उसके मनोरथ को पूर्ण कर सके। "पुरि देहे शेते इति पुरुषः। पुरुषेउत्तमः पुरुषोत्तमः।।" पुरि अर्थात् देह, उसमें जो शयन करता है, रहता है उसे पुरुष कहते हैं। सभी पुरुषों में जो श्रेष्ठ (उत्तम)हैं उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमुख के वाक्य हैं-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः। अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

(गीता १५/१६/१८)

अर्थ—इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के शरीर तो नाशवान् हैं और जीवात्मा अविनाशी कहा गया है। इन दोनों से उत्तम पुरुषोत्तम तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, वह अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा गया है।। मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक में और वेद में भी मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'' अंगदजी ऐसे पुरुषोत्तम को जानते थे, उसके भक्त थे, अतः अभिलाष पूर्ण हुआ।

साम-दाम बहु करैं—साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार राजनीतियाँ हैं। साम और दाम शब्दार्थ में देखें। दण्ड=दमन करके शत्रु को वश में करना। भेद=विरोधी को बहकाकर अथवा उनमें द्वेष उत्पन्न कराकर मिलाना या जीत लेना। इन चारों के अतिरिक्त एक कूटनीति है। इसमें कपट रहता है, धोखे की चाल चली जाती है, मिथ्या का आश्रय लिया जाता है। इस पर-

दृष्टान्त—एक गीदड़ का—महाभारत का प्रसंग है- जब सभी पाण्डव अस्त्र-शस्त्र, राजधर्म एवं नीति में निपुण हो गये। सर्वत्र इनकी प्रशंसा होने लगी। दूसरे राजा और सारी प्रजा इनकी ओर आकर्षित होने लगी, तो यह सब देख-सुनकर यकायक धृतराष्ट्र के भाव में परिवर्तन हो गया। दूषित भाव के कारण चिन्ता, आतुरता बढ़ गई। तब उन्होंने अपने मन्त्री कणिक को बुलवाया। यह कूटनीति विशारद था। पाण्डवों की वृद्धि से अपनी जलन एवं विरोधियों के दमन का उपाय पूछने पर धृतराष्ट्र से कणिक ने कहा-''राजन्! मेरी बात सुनिये, मुझ पर रुष्ट न होइयेगा। राजा को दैव के भरोसे न रहकर जैसे भी हो विरोधी का दमन करना चाहिये। शरणागत शत्रु पर भी दया नहीं करनी चाहिये। गुप्तचरों की सहायता से शत्रु की नीति, मन्त्र, बल, उत्साह का नाश करना चाहिये। यदि अपने से शत्रु अधिक बलवान हो तो उससे सन्धि करके पुनः उसको धोखा देकर नष्ट कर देना चाहिये।'' इस सम्बन्ध में एक कथा सुनिये। ''किसी वन में एक चालाक एवं स्वार्थी गीदड़ रहता था। उसके चार सखा- बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवला ये भी वहीं रहते थे। एक हट्टे-कट्टे मांसल हिरन

को देखकर इन्हें खाने का लालच हुआ। पर बाघ भी दौड़कर उसे मारने में असमर्थ रहा। तब गीदड़ ने चूहे को सिखाया कि- सोते हुए हिरन के पैर कुतरकर उसमें घाव कर दो। घाव हो जाने से उसकी गति मन्द हो गई। तब उसे बाघ ने मार दिया। सभी खाने के लिये इकट्ठे हुए। गीदड़ ने कहा-"तुम सब स्नान करके आओ। जब बाघ स्नान करके आया तो उसने उदास गीदड़ से उदासी का कारण पूछा। गीदड़ ने कहा- भाई बाघ! चूहा कहता है बाघ के बल को धिक्कार है, हिरन तो हमने मारा है, आज वह मेरी कमाई खायेगा। यह सुनकर बाघ ने कहा- तो मैं अपने बल बूते से शिकार करके खाऊँगा। ऐसा कहकर वह चला गया। थोड़ी देर बाद वह चूहा आया तो उससे गीदड़ बोला- नेवला कहता है कि बाघ के नख का विष इसमें भर गया है, अत: मैं इसे न खाकर आज चूहे को ही खाऊँगा। यह सुनते ही चूहा भाग गया। फिर भेड़िया आया तो उससे गीदड़ बोला- आज बाघ तुम्हारे ऊपर बहुत नाराज है, तुम अपनी रक्षा का उपाय करो। यह सुनकर भेड़िया दूर जंगल में जा छिपा। नेवला आया तो उससे गीदड़ बोला- देख रे नेवले! मैंने लड़कर बाघ, भेड़िया और चूहे को भगा दिया। तुझे घमण्ड हो तो पहले मुझसे युद्ध कर, फिर इस हिरन को खाना। यह सुनकर वह भी चला गया। अकेले गीदड़ ने कई दिन तक हिरन को कूटनीति से खाया। ऐसे ही आप कूटनीति का प्रयोग करो। बलवान को हाथ जोड़ो, कमजोर को घुड़की, लोभी को धन, अन्यों को चिकनी-चुपड़ी बातों से वश में करो। इसके बाद पाण्डवों को वारणावत भेजा गया। लाक्षागृह में जलाया गया।

श्रीअंगदजी के साथ में भी राजा ने हीरा लेने के लिये सभी नीतियों का प्रयोग किया। साम-"हीरा वह देव तो पै और माफ किये हैं।" यदि नहीं देते हो तो पूरे १०१ हीरे वसूल किये जायेंगे। घर-धन सब जब्त हो जायेगा। दाम-"आय समुझावैं।" हीरा देने पर कई गाँवों की माफी दिला दूँगा। दण्ड-भेद-"बहु जुगुति बनावैं।" (क०-४६०) राजकीय सम्मान एवं माफी जब्त हो जायेगी। राजा के विरोध से तुम्हारे विरोधी सबल होकर तुम्हें सङ्कट में डाल देंगे। गाँव छोड़कर भाग जाना पड़ेगा। प्राणों से अधिक मूल्य हीरा मोतियों का नहीं होता है। इन नीतियों के सफल न होने पर कूटनीति से विष दिलाया गया। उसके बाद सेना से मरवाकर हीरा छीनने का उपाय किया गया। परन्तु श्रीअंगदजी के मन पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा, क्योंकि-

दास नाहिन मत काचै—दास मन, वचन और कर्म से अपने तन, मन, धन को भगवदर्पण कर देते हैं। उसमें भी मुख्य नग को श्रीजगन्नाथजी को समर्पित करने का इन्होंने सङ्कल्प कर लिया

था। इस प्रतिज्ञा से आप हटे नहीं। क्योंकि आपका मत कच्चा नहीं था और आप भी कच्चे नहीं थे, प्रत्युत सच्चे थे। यही भक्त का लक्षण है। यथा-"हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही।" (क०-९) दुचित-कच्चे मत के लोग विशेष दु:ख पाते हैं, यथा-"दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं।।" (रा०) इस पर-

दृष्टान्त—दो चोरों का—दिल्ली के बादशाह के बगीचे में पके आमों को देखकर कालूखाँ नामक सिपाही का मन ललचाया, पर अकेले चहारदीवारी पारकर बगीचे में घुसना असम्भव था, अत: उसने बहुत समझा-बुझाकर चाँद खाँ नामक सिपाही को अपना साथी बनाया। रात में चाँद खाँ की सहायता से कालू खाँ बगीचे में घुस जाता और आम तोड़कर लाता। दो-चार चाँद खाँ को देता, बाकी सब स्वयं खाता, घर ले जाता। बागवानों को पता चला कि बगीचे में चोरी होती है। उन्होंने बादशाह को सूचित किया। गुप्तचर लग गये और एक दिन चोरी करते हुए दोनों पकड़े गये। बादशाह के सामने हाजिर किये गये। उसी दिन अत्यन्त कडुवी पटना मिर्च एक डलिया किसी ने बादशाह को भेंट की थी, वे सामने थीं, अत: कौतुकवश बादशाह ने मुख्य अपराधी कालू खाँ से कहा कि- तुमने मीठे फलों की चोरी की, अत: तुम्हें यह दण्ड दिया जाता है कि या तो तुम पचास मिर्च खाओ अथवा पचास कोड़े सहो। बोलो, तब कालू खाँ ने कहा- हुजूर! मिर्च खा लूँगा। दो-तीन मिर्च खाते ही मुँह झल्लाया तब उसने कहा- नहीं, हुजूर पचास कोड़े सहूँगा। जब कोड़े लगने लगे तो घबड़ाकर बोला- नहीं, अब तो मिर्च ही खाऊँगा। इस तरह उसे दोनों दण्ड भोगने पड़े। इसलिये कि वह दुचित था। चाँद खाँ जो कुसंगवश अपराधी था। बादशाह ने उससे भी पूछा कि- तुम पच्चीस कोड़े या पच्चीस मिर्च दोनों में से कौन-सा दण्ड चाहते हो। मैं कोड़े का दण्ड चाहता हूँ। मन को कड़ा करके अपना अपराध मानकर उसने कोड़े सह लिए। एक निश्चयी होने से एक दण्ड ही सहना पड़ा। दुचित को दोनों दण्ड भोगने पड़े।

मत की परिपक्वता में ही सिद्धि प्राप्त होती है। पूर्वार्द्ध पृष्ठ-९० में देखिये, "एक सन्त रात को बारह बजे श्रीठाकुरजी को भोग अर्पण करते थे। कई लोगों ने कहा- समझाया कि- असमय में भोग लगाना ठीक नहीं। पर आपका मत था कि विभिन्न मन्दिरों में भक्तों के यहाँ भोग आरोगने में व्यस्त ठाकुर को दिन में अवकाश नहीं मिलता है, अत: रात में भोग लगाना ही ठीक है। इनके दृढ़ विश्वास के कारण श्रीठाकुरजी भी आधी रात को ही इनके यहाँ भोग आरोगते। इच्छित पदार्थ माँगकर लेते, दर्शन देकर कृतार्थ करते।" भक्त अंगद का मत पक्का था, अत: इन्हें भी सिद्धि मिली।

एक समै सङ्कट—राजा सिलाहदीसिंह ने जाना कि- श्रीअंगदजी निकल गए। तब उसने घुड़सवारों की फौज भेजी, आप उसके घेरे में आ गये। हीरा श्रीजगन्नाथजी को अर्पण न कर सकूँगा। यह संकट सिर पर आया। किंकर्तव्य विमूढ़ आपने भगवत्स्मरण किया तो आपकी समझ में आया कि-"जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके। ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।" तथा-"प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।" पत्र-पुष्प जो भी कुछ प्रेमपूर्वक उन्हें अर्पण किया जाता है, उसे वे स्वीकार करते हैं। पुनः भगवान का नाम महाभुज है। यह विचारकर "पानी में डार्यौ" लोगों की दृष्टि में तो आपने पानी में डाला। परन्तु आपने तो श्रीजगन्नाथजी को अर्पण किया। अर्चन की विधि है कि- मन्त्र को पढ़कर उपचारों को समर्पित करना चाहिये। यथा-"अर्चन तूपचाराणां स्यान्मत्रेणोपपादनम्।"(भ०र०सि०) अतः आपने मुख से मन्त्र "वचन उचार्यौ" अर्थात् स्पष्ट जोर से कहा- "प्रभो तिहारी वस्तु" अर्थात् "त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये।" आपकी ही यह वस्तु है अतः आपको समर्पित करता हूँ। हे गोविन्द! आप कृपया स्वीकार करें। मन में अभिलाषा थी। "वदनते वचन उचार्यौ" और शरीर हाथ से अर्पण कियौ। इस प्रकार मन-वचन-कर्म से समर्पण हुआ। "प्रभो तिहारी वस्तु" इस वाक्य में अभिमानहीनता एवं दीनता है। आपकी वस्तु है, उसे दूसरे बलपूर्वक लेना चाहते हैं। मेरी सामर्थ्य नहीं है कि आपको अर्पण कर सकूँ। आप समर्थ हैं, अपनी वस्तु ले सकते हैं, उसकी रक्षा कर सकते हैं। जैसे बलवान शत्रुओं के बीच से आपने अपनी रुक्मिणी को ले लिया था।

पांच दोय सतकोस०—"भक्त गिरा सांचीकरन" भगवान श्रीजगन्नाथजी ने अपनी पुरी से अपना हाथ तुरत बढ़ाया। हीरे को जल में नहीं गिरने दिया। हाथ में ले लिया। भक्त की भेंट को सप्रेम स्वीकार किया। "उर धर्यौ" इस पद के द्वारा प्रभु का प्रेमाधिक्य दिखाया गया। हीरा लेकर तिजोरी में नहीं रखा। पहन लिया, छाती से लगा लिया। हीरा स्वीकारने के ब्याज से सर्वतोभावेन भक्त को स्वीकारा। हीरा को छाती-उर में धारणकर भक्त श्रीअंगदसिंह को भगवान ने अपने हृदय में धारण किया। इस प्रकार "अभिलाष........ पूरन कर्यौ" भक्त की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए भगवान कृत-संकल्प हैं। यथा-"यद् यद् वाञ्छति मद्भक्तस्तत्तत्कुर्यामतन्द्रितः।"

अर्थ—मेरे भक्त जो-जो चाहते हैं, मैं आलस्य को त्यागकर वही-वही करता हूँ। बीकानेर के राजा पृथ्वीराज ने अभिलाषा-प्रतिज्ञा की कि- मैं श्रीमथुराजी में शरीर छोडूँ।

बादशाह ने काबुल के मोर्चे पर भेज दिया। परन्तु भगवान ने उन्हें आगम जाना दिया और उनकी अभिलाषा पूर्ण की। (क०-५३९ देखिये) और आमेर नरेश की इच्छा थी कि द्वारका का दर्शन, गोमती स्नान एवं शंख-चक्र की छाप प्राप्त करूँ। गुरुगोविन्द की कृपा से इनकी अभिलाषा भी पूर्ण हुई। (क०-४८३) तात्पर्य यह कि भक्तों के मनोरथ पूर्ण होते हैं। उन्हें भगवान पूरा करते हैं। उनके मनोरथ सत्य होते हैं। खलों के मिथ्या मनोरथ पूरे नहीं होते हैं। यथा-"विफल होहिं रावन सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे।।" (रा०) सिलाहदी सिंह का हीरा लेने का मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि वह खल था। उसे भगवान का भरोसा न था। अपने बल से, छल, कपट, हिंसा से हीरा लेना चाहता था। भगवान से विमुख दैत्यों को अमृत नहीं मिला। उनके मनोरथ व्यर्थ हुए। भगवदाश्रित देवों के मनोरथ सिद्ध हुए, अमृत मिला और विजय भी मिली।

शास्त्रीय विधि है और प्रेमी का तो स्वभाव ही है कि उत्तम से उत्तम एवं अपनी प्रिय वस्तु भगवान को अर्पण करना। यथा-"यद् यदिष्टतमं लोके यच्चास्ति प्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेम्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते।।" (भा० ११/११/४१) अर्थ-"संसार में जो वस्तु अपने को सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े, वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करने से वह वस्तु अनन्त फल देने वाली हो जाती है। श्रीअंगदसिंहजी ने भी उस हीरे को सर्वश्रेष्ठ अमूल्य, प्रिय मानकर अपने हृदयेश्वर, प्रेमास्पद प्रभु को समर्पित करने का सङ्कल्प किया।

'रायसेन' गढ़ वास नृप सो 'सिलाहदी' जू, ताको यह काका रहे, 'अंगद' बिमुख है।
ताकी नारी प्यारी, प्रभु साधु सेवा धारी उर, आये गुरु घर, कहैं कृष्ण कथा सुख है।।
बैठे भौन कौन? देखि कैसें मौन रह्यो जात? बोल्यो तिया जात, कहा करौ नर रुख है?।
सुनि उठि गये, बधू अन्न जल त्यागि दये, लये पांय जाय विषैबस भयौ दुख है।।४५७।।

शब्दार्थ—रुख=चेष्टा, इच्छा, भाव, हार्दिक भाव से प्रगट होने वाली मुख की आकृति।

भावार्थ—रायसेनगढ़ के राजा सिलाहदीसिंह थे। उनके चाचा अंगदसिंहजी पहले भगवद्विमुख थे। इनकी स्त्री भगवद्भक्ता थी, उसमें अंगदजी का अपार प्रेम था। उसने भगवान और उनके भक्तों की सेवा का नियम अपने हृदय में धारण कर रक्खा था। एक बार उसके श्रीगुरुदेव घर पर आये और भक्ता शिष्या की प्रार्थना पर वे सुखपूर्वक, सुखस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण की कथा कहने लगे। इसी बीच अंगदजी आ गये और बोले-अरे!

घर के भीतर यह कौन बैठा है? किसी अपरिचित पुरुष को घर में देखकर अब इनसे चुप कैसे रहा जाता। ये फटकारते हुए गुरुजी से बोले-''स्त्री जाति के साथ यहाँ क्या कर रहे हो? स्त्रियों के प्रति नर चेष्टा से प्रेरित प्रतीत होते हो। इतना सुनते ही श्रीगुरुदेव वहाँ से उठकर चले गए। श्रीअंगदसिंहजी की स्त्री ने अपने गुरुदेव के अपमान से दुःखित होकर अन्न-जल का परित्याग कर दिया। श्रीअंगदसिंहजी तो संसारी सुखों के वशीभूत थे, अतः इन्हें बड़ा दुःख हुआ। स्त्री को मनाते-मनाते इन्होंने उसके पाँव पकड़ लिये।।४५७।।

व्याख्या—अंगद विमुख है—यहाँ कदाचित् कोई यह शंका करे कि यह भक्तमाल है, न कि विमुखमाल। फिर विमुख की विमुखता की चर्चा क्यों? उसका समाधान यह कि जीवन की दो दशायें होती हैं, एक पूर्व, दूसरी उत्तर। सन्त एवं शास्त्र पूर्वावस्था का ग्रहण न करके (अन्तिम) उत्तरावस्था को ग्रहण करते हैं। जैसे श्रीबाल्मीकिजी, अजामिल, श्रीबिल्व-मंगल आदि की पूर्व अवस्था को ग्रहणकर इन लोगों को चोर-डाकू या विषयी नहीं कहा जा सकता है। उत्तर दशा के अनुसार इन्हें महर्षि, भक्त और रसिक ही कहा जायेगा। उसी प्रकार श्रीअंगदजी पहले विषयी और विमुख थे। पश्चात् भक्त हो गये। अतः श्रीनाभाजी ने ''अभिलाष भक्त अंगदको०'' ऐसा कहा। टीकाकार विमुख कहकर पुनः सत्संग से भक्त होने का वर्णन कर रहे हैं। यदि कदाचित् यह कहो कि विमुख सम्मुख कैसे हो गया तो जिस प्रकार टैंटी और कुंदुरू आदि के फल कड़वे होते हैं, अखाद्य होते हैं, पुनः संस्कृत होने पर वे स्वादिष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार जीव की कटुता-विमुखता सत्संग से दूर हो जाती है और उसमें भक्ति-मिठास आ जाती है। सत्संग की महिमा सिद्ध करने के लिये विमुख कहकर उनका वर्णन किया। ''ताकी नारी प्यारी'' अंगद स्त्री में आसक्त थे। यह विमुख स्वभाव है। ''काम क्रोध मद लोभ, सब नाथ नरक के पन्थ।'' (रा०) एक विषय की आसक्ति से दूसरे विषय भी अपने आप आ जाते हैं। स्त्री में आसक्ति निन्द्य है। यथा-''नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।'' (भा० १५/८/१४) विवेकी पुरुष कभी भी किसी स्त्री में आसक्त होकर उसे भोग्य रूप से स्वीकार न करे। क्योंकि यह उसकी मूर्तिमति मृत्यु है।

प्रभु साधुसेवाधारी—श्रीअंगदजी की स्त्री भक्ता थी, अतः हरि गुरु सन्त-सेवा को उसने दृढ़ता से अपना रक्खा था। भगवद्भक्ता में वैषयिक आसक्ति भी श्रीअंगदसिंहजी का कल्याण करने वाली हुई। जैसे किसी भी भाव से किया गया भगवच्चिन्तन कल्याणकारी है। उसी प्रकार किसी भक्त से किसी भी प्रकार का ऐक्य कल्याणकारी है। यथा-''कामं

क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते।। (भा० १०/२९/१५) तात्पर्य यह है कि भगवान से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिए। वह सम्बन्ध चाहे काम का हो, क्रोध का हो, भय का हो अथवा स्नेह, नातेदारी या मित्रता का हो। चाहे जिस भाव से वृत्तियाँ भगवान में जोड़ दी जायँ, वे भगवन्मय होकर भगवत्प्राप्ति करा देती हैं। इसी प्रकार निरन्तर भक्तों से द्वेष-प्रेम करने वालों का भक्त कृपा से कल्याण हो जाता है। श्रीमीराजी एवं श्रीसीता-सहचरीजी के निकट दुष्ट भाव से आये हुए वेषधारियों का कल्याण हुआ।

आये गुरु घर०—भगवान की दैनिक सेवा तो घर में थी ही, यदा-कदा सन्त भी कृपा कर देते तो उनकी सेवा का सौभाग्य भी प्राप्त हो जाता था। परन्तु गुरुदेव के दर्शन अधिक दिनों से नहीं हुये थे अतः उस गुरु भक्ता ने ध्यान करके जब विशेष चिन्तन किया। तब "प्रभुता तजि प्रभु कीन सनेहू।" आये गुरु घर। भक्ता ने सविधि उनका सत्कार किया। संसार में चार प्रकार के जीव होते हैं। (१) मुक्त- जो माया से छूटे हैं, दूसरों को छुड़ाने में समर्थ हैं। आये हुये गुरुदेव मुक्त हैं। (२) मुमुक्षु- जो माया से छूटने की इच्छा करे, प्रयत्न करे। (३) जिज्ञासु- जो भक्त-भक्ति-भगवन्त के स्वरूप को जानने की, उपदेश ग्रहण करने की दृढ़ अभिलाषा करे। अंगदसिंहजी की स्त्री मुमुक्षु और जिज्ञासु है। (४) विषयी-बद्ध जो माया में बँधे हैं, जिन्हें यह भी नहीं पता है कि हम माया में बँधे हैं। जैसे अंगदसिंहजी। मुमुक्षु के मन की दशा-"तात मात सुत भ्रात आपको बन्धन जानै। छूटौं कौन प्रकार यहै उरअन्तर आनै।। जन्म-मरन की शङ्क रहै निशि दिन मन माँही। चौरासी के दुःख नेक बरने नहिं जाहीं।। यहि भाँति सदा सोचत रहै सन्तन सों पूछत फिरै। है कोऊ सद्गुरु इसौ जो मेरौ कारज करै।।" मुमुक्षु भक्ता ने गुरुदेव से माया से मुक्ति और कृष्ण प्राप्ति का उपाय पूछा। तब गुरुदेव- "कहैं कृष्णकथा सुख है" सन्तों का स्वभाव है, भगवान की कथा सुनना और सुनाना। वे संसारी विषयी बातों को नहीं कहते-सुनते। कदाचित् किसी गृहस्थ के घर जाना पड़े तो उसकी दो-चार बातें सुन ले फिर भगवान की कथा सुनावे। उसकी सुनते रहने से संसार का रंग अपने ऊपर चढ़ जायेगा। यथा-"काहू के घर जाइकै, सुनि वाकी द्वै एक। कहिये श्रीहरि की कथा मिटै न अपनी टेक।।" अतः कहैं कृष्ण कथा। कथा सभी को सुख देने वाली है। यथा-

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्, भवौषधाच्छ्रोतृमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।। (भा० १०/१/४)

अर्थ—राजा परीक्षित ने कहा-"जिनकी तृष्णा की प्यास सर्वदा के लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष पूर्ण प्रेम से अतृप्त होकर गान किया करते हैं। मुमुक्षुजनों के लिये जो भवरोग की रामबाण औषधि है तथा विषयी लोगों के लिये भी उनके कानों और मन को सुख देने वाला है। भगवान श्रीकृष्ण के ऐसे सुन्दर सुखद रसमय गुणानुवादों से पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्य के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो कि विमुख हो जाय। उनसे प्रीति न करे।" श्रोता-वक्ता कथा सुख में मग्न थे, इसी बीच अंगदसिंहजी आ गये। "बैठे कौन भौन" का भाव कि प्रत्यक्ष सन्त वेष कथा प्रसंग की ओर उनका ध्यान न गया। विमुख थे, अतः भक्ति के प्रसंग में उन्होंने संसारी विषय की आशंका की। जैसे स्वयं थे वैसा दूसरों को समझकर फटकार लगाई। "तिया जाति" स्त्री सङ्ग आप सरीखे सन्तों को सर्वथा त्याज्य है। फिर आप यहाँ बैठे क्या कर रहे हैं? (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१६९ एवं उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३००)।

सुनि उठि गये—अंगद की फटकार सुनकर गुरुदेव उठकर चले गये, उनके मन में किञ्चित् भी दुःख नहीं हुआ। क्योंकि मुक्त गुणातीत थे- "मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारि पक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।" (गीता १४-२५) "मान-अपमान, शत्रु-मित्र में सम भाव वाला, संसारी कर्मों को त्यागने वाला गुणातीत कहा जाता है।" भक्ता को गुरुदेव का अपमान सहन नहीं हुआ, अतः "अन्न जल त्याग दिये" भक्तों को अपने अपमान से अपनी निन्दा से दुःख-भय नहीं होता है। वरन् सुख होता है। यथा-"डरैं निन्दा आपनी न, होति सुखदानी है।" (क० ६०९) परन्तु भक्त-भगवन्त-गुरुनिन्दा असह्य हो जाती है, यह उचित भी है। यथा-"सन्त शम्भु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहां तहँ असि मरजादा।। काटिय तासु जीभ जु बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिय पराई।।" (रा०) जीभ काटने में अर्थात् कठोर उत्तर-प्रत्युत्तर में तथा कान मूँदकर घर से बाहर जाने में पातिव्रत धर्म का नाश है, अतः अनशन करके प्राण त्याग कर देने का उसने विचार किया। मनाते-मनाते तीन दिन बीत जाने पर भी जब वह नहीं उठी तो अंगदजी को दुःख हुआ। दुःख का कारण अपना अपराध नहीं, "विषय बस भयौ दुख" यह विमुखता का प्रमाण है। मर जायेगी तो मैं पुनः ऐसी श्रेष्ठ सुन्दरी, सुशीला स्त्री नहीं पाऊँगा। विधुर जीवन कैसे बीताऊँगा। निरुपाय होकर "लये पाँव" यह स्त्री के प्रति दैन्यता की पराकाष्ठा है। क्योंकि पुरुष को स्त्री के चरण छूना चाहिये, पुरुष से पैर छुवाने पर पातिव्रत धर्म की हानि है। राजा दशरथजी ने भी निरुपाय

होकर कैकेयी के चरण पकड़े। यथा-"गहि पद विनय कीन्ह बैठारी।" (रा०) अंगदजी चरण पकड़कर रोने लगे। उसने अपने पैर छुड़ा लिए।

मुख न दिखावै याहि देख्यौ ही सुहावै, कही 'भावै सोई करौ नेकु बदन दिखाइयै।
मैं हूँ जल त्यागि दियौ, अन्न जात कापै लियौ, जीवौ जब नीकौ तब आपु कछु खाइयै।।
बोली 'मोसौं बोलौ जिन, छांड़ौं तन याही, छिन, पन सांचौ होतौ जौ पै सुनत समाइयै'।
'कहौ अब कीजै जोई, मेरी मति गई खोई,' भोई उर दया बात कहि समझाइयै।।४५८।।

शब्दार्थ—भोई=भरी। समाइये=मरना, धरती में प्रवेश करना।

भावार्थ—अंगदसिंहजी की स्त्री मुख ढ़ककर सोई थी। क्रोधवश थी, अतः इन्हें अपना मुख दिखाना नहीं चाहती थी। इन्हें उसका मुख देखे बिना और कुछ अच्छा नहीं लगता था। अन्त में इन्होंने कहा-"तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो और हमें जो कुछ कहो, वही हम करेंगे परन्तु तुम अपने मुखचन्द्र का हमें थोड़ा दर्शन तो कराओ। तुम्हारे दु:ख से दु:खित होकर मैंने भी अन्न-जल का त्याग कर दिया है। तुम्हारे प्रसन्न हुए बिना मैं कैसे खा-पी सकता हूँ। मेरा जीना तभी होगा, जब तुम प्रसन्नता पूर्वक कुछ खाओ पीओगी।" उसने कहा-"आप मुझसे बिल्कुल मत बोलिये। मैं अभी इसी क्षण अपने शरीर का त्याग कर दूँगी। यदि मेरी भक्ति का प्रण सच्चा होता तो श्रीगुरुजी के अपमानित होते ही मैं धरती में समा जाती।" यह सुनकर अंगदसिंह ने फिर कहा-"अब जो कुछ भी तुम कहो, मैं वही करुँगा। उस समय मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी थी अतः अनुचित शब्द मुँह से निकल गये।" पतिदेव के दैन्य को देखकर उस भक्ता का हृदय दया से भर गया। अपने पति को समझाते हुये उसने कहा-।।४५८।।

व्याख्या—मुख न दिखावै०—इसलिए कि मुझे मरना है, देखने से कदाचित् विमुख में मन रहा आया तो "अन्तेमतिः सा गतिः" शायद फिर विमुख संग प्राप्त होगा। रूपासक्ति वश अंगदसिंहजी को बिना स्त्री का मुख देखे चैन नहीं पड़ता था। भक्ता विमुख के सन्मुख नहीं होना चाहती थी, अतः मुख ढककर लेटी थी। विमुख का मुख देखना भी पाप है, इससे परमात्मा बचावे। सब कष्ट दो पर "व्रज जन प्रान कान्ह बात यह कान करौ, भक्तिसों विमुख ताको मुख न दिखाइबी।" (क० ६३४) उससे कष्ट होता है- "जो दुख होत विमुख घर आये।" (देखिये व्यासवाणी) पुनः "संगत्यागो विदूरेण भगवद् विमुखैर्जनैः।" (भ०र०सि०) भगवद् विमुखजनों के सङ्ग को दूर से ही त्याग देना चाहिए। "जाके प्रिय

न राम वैदेही। तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।'' (इस सम्बन्ध में विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३८५ तथा उ० द्वि०-३४६) ''भावै सोई करौ।'' यह आत्म-समर्पण भाव है, अधीनता है। शरणागत के सभी अपराध क्षम्य हैं। ''मैं हूँ जल त्यागि दियौ'' मानसिक पश्चात्ताप से एवं उपवास से पापों का प्रायश्चित्त हो गया अतः बुद्धि शुद्ध हुई और नम्रता आई। जैसे शरीर के त्याग का निश्चय स्त्री ने किया, उसी प्रकार अंगदसिंहजी ने भी निश्चित किया कि जब तुम कुछ खाओगी, तभी मैं खाऊँगा। तुम जीओगी तभी मैं जीऊँगा। इनके ऐसा कहने पर अब वह भक्ता ''बोली'' कि आप मुझसे न बोलें, मैं अवश्य ही शरीर छोड़ दूँगी। ऐसा उसने इसलिए कहा कि जिससे इनका समर्पण भाव और दृढ़ हो। अंगदसिंहजी ने पुनः प्रार्थना करते हुए हार्दिक भाव व्यक्त किया कि जो कुछ कहोगी वही करुँगा। ''मेरी मति गई खोई'' का भाव कि अपना अपराध स्वीकार किया। तब भक्ता को ''आई दया'' ''लागि दया कोमल चित सन्ता।'' बोली कि- आप तो भजन पाठ करते नहीं, यदि मैं थोड़ा बहुत करती हूँ, सन्त गुरुकृपा से तो आप उनका अपमान करते हैं। यह ठीक नहीं। अब आप यदि भक्त बनें तभी सम्बन्ध रहेगा। अन्यथा नहीं।

बात कहि समझाइये—श्रीअंगदसिंहजी की स्त्री जानती थी कि भगवद् विमुख मृतक तुल्य होता है। (देखिये उ० प्र० पृ०-५०९) अपना धर्म विचारकर इनके साथ निर्वाह करती हुई भगवान से प्रार्थना करती थी कि पतिदेव को भी किसी प्रकार आप अपना लें।

संयोगवश उक्त घटना घटी तो अब भक्ता ने सोचा कि शरीर त्यागने से विमुख संग छूट जायेगा अथवा इन्हें भी भगवान अपनी ओर आकृष्ट करेंगे। अब सब प्रकार से इन्हें अभिमान हीन और नम्र देखा तो इन्हें समझाया-''मा कुरु धनजनयौवनगर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वम्।'' धन-जन और यौवन का अहंकार नहीं करना चाहिये। यह इस क्षण है, दूसरे ही क्षण में नष्ट हो सकता है। इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के भोग मिथ्या सुख-दुःख के देने वाले हैं। ''काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुवीरहिं भजहु भजहिं ज्यहिं संत।। गुरु बिन भवनिधि तरै न कोई। जो विरञ्चि शंकर सम होई।।'' जब तक शरीर स्वस्थ है, तभी तक उपाय कर लेना चाहिये। वृद्धावस्था में फिर भजन-साधन ठीक से नहीं बनता है। संसारी सुखों को अनित्य समझकर इनका लोभ छोड़ो। (इस सम्बन्ध में छ०-८९ की व्याख्या, पृष्ठ-६६) अब मैं क्या करुँ, तो उसने ने कहा-

'वेई गुरु करौ जाय, पांयन में परौ,' गयौ, चायनि लिवाय ल्यायौ, भयौ शिष्य, दीन है।
धारी उर माल, भाल तिलक बनाय कियौ लियो सीत, प्रीति कोऊ उपजी नवीन है।।

चढ़ी फौज संग, चढ़्यौ बैरीपुर, मारि बढ़्यौ, कढ़्यौ, टोपी लैकै हीरा सत, एक पीन है। डारे सब बेचि, पागपेच मध्य राख्यौं मुख्य, भाष्यौ 'सो अमोल करौ जगन्नाथ लीन हैं'।।४५९।।

शब्दार्थ—चायनि=चाव से, प्रेम से। पीन=मोटा, बड़ा, अति मूल्यवान्। पागपेंच=पगड़ी की लपेट। अमोल=अमूल्य। लीन=अर्पण।

भावार्थ—अब आप मेरे चरणों को छोड़कर मेरे गुरुदेव के चरणों में जाकर पड़िये और उन्हें प्रसन्नकर उनको अपा गुरु बनाइये। स्त्री की यह बात सुनकर अंगदजी श्रीगुरुजी के पास गए और बड़े प्रेम के साथ उन्हें घर लिवा लाये। दीनभाव से विनती कर उनके शिष्य बन गये। श्रीअंगदजी ने वैष्णव धर्म के अनुसार श्रीगुरुजी के द्वारा दी गई तुलसी-कण्ठी कण्ठ में धारण की और मस्तक में सुन्दर तिलक लगाया। उन्हें सादर भोजन कराकर उनका उच्छिष्ट प्रसाद लिया। अब अंगदजी के हृदय में भक्त-भगवान और श्रीगुरुदेव में एक नवीन प्रीति प्रकट हो गई। अपने भतीजे राजा सिलाहदीसिंहजी के आदेशानुसार एक बार आपने एक राजा के ऊपर चढ़ाई की। आपके साथ में सेना थी, शत्रु की फौज मारते-पछाड़ते हुए आप बढ़ते गये और विजय प्राप्त कर ली। राजभवन की लूट में आपको राजा की गोपी मिल गई। जिसमें सौ नग जड़े हुए थे, उसमें से एक नग सबसे बड़ा मूल्यवान था। टोपी के निन्यानवे नगों को बेच-बेचकर आपने सन्त-भगवन्त की सेवा कर दी और एक नग जो सबसे बड़ा कीमती था, उसे आपने अपनी पगड़ी की लपेट में रख लिया और मन में निश्चय किया कि- इसे मैं श्रीजगन्नाथजी को अर्पण करुँगा।।४५९।।

वेई गुरु करौ जाय—जिनका आपने अपमान किया है। उन्हीं की शरण में जाकर अपराध की क्षमा-प्रार्थना करो। सन्त के प्रति किये अपराध को भगवान भी क्षमा नहीं कर सकते हैं। अतः उन्हीं की शरण में जाओ। अंगदसिंह ने कहा- मैंने उनका अपमान किया है, अतः वे अति रुष्ट होंगे। भक्ता ने कहा- ''उन्हें अपने अपमान का नहीं, आपके भगवद् विमुख होने का मानसिक दुःख होगा। वे ''बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करैं, न्यूनता न धरैं कहूँ भक्ति गात-गात है।'' जैसे दुर्वासा के द्वारा हुए अपमान को श्रीअम्बरीषजी ने नहीं माना, उनके दुःख से दुःखित हुए। ये तो अपकारी के साथ भी उपकार करते हैं। यथा- ''कैसौ अपकार करौ तऊ उपकार करैं ढरैं रीति आपनी ही सरस सुदेश हैं।'' श्रीजयदेवजी ने हाथ-पैर काटने वालों के साथ भी उपकार किया। तुम जाकर दीन होकर उनके श्रीचरणों की शरण ग्रहण करो। श्रीअंगदसिंहजी को स्त्री वियोग का भय था। ''भय बिनु होय न प्रीति।'' पुनः-''डर पारस डर परम गुरु डर करनी में सार। खोजी डरै सो ऊबरै गाफिल पावै

मार।।" विमुखता के ज्ञान से नरक का भय हुआ। अतः "भयौ शिष्य" उसी दिन उसी क्षण शिष्यता स्वीकार कर ली। मुहूर्त पर इसलिए इनकी स्त्री ने विचार नहीं किया कि आज का दिन टल जाने से बाधा हो सकती है।" (इस सम्बन्ध में दृष्टान्त देखिये कृष्णदत्त का पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१४९) दम्पत्ति को दीक्षित होना चाहिये। स्त्री हो तो ऐसी हो जिसने विमुख पति को भक्त बना दिया। "तात ऋषभसों होय....।" "योषिता द्रुपद दुलारी।" पूरा पद देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२८९।

प्रीति कोऊ उपजी नवीन—प्रथम में भक्त की पुनः गुरुदेव की फिर भगवत्शरणागति हुई। भक्त, भगवन्त और गुरुदेव की अनुकम्पा से विमुखता के संस्कार-सम्मुखता के कारण नष्ट हो गये। "सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नाशहिं तबहीं।।" "लियो सीत" तब नवीन प्रीति उपजी अर्थात् प्रीति थी नहीं आज प्रकट हुई। पुनः नित्य नवीन रहने वाली, कभी जीर्ण न होने वाली प्रीति उपजी। इसका प्रमाण आगे हीरा समर्पण है। हरि गुरु-सन्त में प्रीति होने से रहस्य का बोध हो गया। यथा-"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।" अर्थ-"इष्टदेव श्रीहरि में जिनकी पराभक्ति है और जैसी हरि में है वैसी ही गुरुदेव में हो तो उस महात्मा पुरुष के हृदय में शास्त्रोक्त रहस्य का प्रकाश हो जाता है।

चढी फौज—अंगदसिंहजी के वैष्णव हो जाने के कुछ दिन बाद रायसेनगढ़ पर किसी शत्रु राजा ने आक्रमण किया। आप सिलाहदीसिंह के शुभ चिन्तक सेनापति थे, महान् वीर थे। युद्ध में शत्रु को परास्त करके पुनः उसकी राजधानी पर आपने आक्रमण करके उसे परास्त किया। फौज ने किला-राजभवन को लूटा। सामान्यतया नियम यह है कि लूट का समस्त सामान राजा के सामने उपस्थित किया जाता है। उसमें से आधा फौज को बाँट दिया जाता है। ऐसा ही हुया। पर टोपी आपने अपने पास रक्खी। टोपी में लगे मुख्य हीरा को पाग के पेंच में रखने का भाव यह कि उसे भगवान की वस्तु मानकर सिर पर रक्खा, पुनः कोई सिर लेने के बाद ही हीरा ले सकेगा, अन्यथा नहीं। उत्तम से उत्तम वस्तु भगवान को ही अर्पण करनी चाहिये जैसे कौस्तुभमणि देवों ने प्रभु को भेंट की।

कानाकानी भई नृप बात सुनिलई, 'कही हीरा वह देव, तौ पै और माफ किये हैं'।
आय समुझावैं, बहु जुगति बनावैं, याके मन में न आवैं, जाय, सबैं कहि दिये हैं।।
अंगद बहिन लागै वाकी भूवा पागै, तासौं 'देवौ विष, मारौ' फिर तू ही, पग छिये हैं।
करत रसोई घोरि गरल मिलायो, पाक, भोगहूं लगायौ, 'अजू आवो' बोलि लिये हैं।।४६०।।

शब्दार्थ—कानाकानी=कानाफूसी, बात का एक दूसरे से तीसरे के कानों में जाना।

भावार्थ—फौजी सिपाहियों में कानाफूसी होते-होते सौ नगों से जड़ी हुई उस टोपी की बात राजा सिलाहदीसिंह ने सुन ली। राजा ने कुछ लोगों से कहा कि-"चाचाजी! आज यदि उस बड़े हीरे को दे दें, तो निन्यानवे हीरे हम माफ कर देंगे।" लोगों ने आकर इन्हें खूब समझाया-बुझाया। अनेक युक्तियाँ कीं, परन्तु इन्होंने किसी की भी नहीं मानी। तब लोगों ने आकर राजा से कह दिया। श्रीअंगदसिंहजी की एक बहिन थी, जो राजा की भुआ लगती थी। वह इनसे बड़ा प्रेम करती थी और इनके यहाँ रसोई बनाया करती थी। राजा ने उसके पैर छूकर उससे कहा कि- तुम अंगदसिंह को विष देकर मार डालो, फिर मैं तुम्हें बहुत सा धन धरती दूँगा। उसने राजा की बात मान ली, विष घोलकर भोजन में मिला दिया और भगवान का भोग भी लगा दिया। फिर बुलाकर कहा कि- आओ, भोजन कर लो। थाली परोसकर उनके सामने रख दिया।।४६०।।

व्याख्या—कानाकानी०—आपने टोपी राजा को नहीं दी। तब द्वेषी लोगों ने राजा से शिकायत की कि यह एक प्रकार से अपराध है, चोरी है। राजा ने कहा कि चाचा हैं, सेनापति हैं। युद्ध में विजय भी इनकी वीरता से हुई है, अतः ये यदि मुख्य हीरा दे दे, तो बाकी के सब माफ किये जा सकते हैं, अन्यथा सभी हीरे वसूल किये जायेंगे। सजा होगी सम्पत्ति जब्त होगी। राजा के दूसरे मन्त्रियों ने अनेक युक्तियाँ अर्थात् पूर्वोक्त चारों नीतियों से समझाया परन्तु "याके मन में न आवैं" इसका कारण यह है कि आपने प्रतिज्ञा की है कि-"करौं जगन्नाथ लीन है।" इसके विरुद्ध अब किसी दूसरे को दे दें तो प्रतिज्ञा-परित्याग का दोष लगेगा। "प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्त वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तबधोभूयात्।।" (बाल्मीकि १-२१-८) प्रतिज्ञा करके पुनः उसका पालन न करने से सभी पुण्य नष्ट हो जाते हैं। प्रण परित्याग ही असत्य है और असत्य के समान दूसरा कोई पाप नहीं है। यथा-"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।"

अंगद बहिन०—राजा सिलाहदी ने भेद नीति का आश्रय लेकर प्रथम भक्त अंगद की बहिन को यह कहकर अपने अनुकूल बनाया कि भुआजी! आपके पिता अर्थात् हमारे पितामहजी ने आपके विवाह के समय कई गाँव आपके लिये दहेज में दिये थे, परन्तु आपका भाई अंगद इतना दुष्ट है कि इसने एक भी गाँव आपके लिये नहीं छोड़ा। सब अपने ही अधीन रक्खा। इसके आगे पितामहजी की एक नहीं चलती थी, परन्तु यह बात मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती थी। भगवत्कृपा से अब राज्य पर मेरा अधिकार है। अतः आप यदि

इसे किसी प्रकार विष आदि देकर मार डालो, तो मैं सभी गाँव आपके नाम पट्टा कर दूँगा। फिर उसने बहुत अनुनय-विनय भी किया। "घोरि गरल मिलायो" श्रीअंगदसिंहजी की बहिन ने राजा की बातों में आकर तुच्छ लोभवश समस्त स्नेह-सौहार्द्र को तिलांजलि देकर इनको मारने के लिये भोजन में विष मिला ही दिया। तभी तो वृद्ध चाणक्य कहते हैं-"विश्वासोनैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।" अर्थात्-"स्त्रियों का तथा राजकुल का विश्वास नहीं करना चाहिये।" राजा की भुआ स्त्री भी और राजकुल की भी थी। पुनश्च-"अनृतं साहसं मायामूर्खत्वमतिलोभिता। अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।" (चाणक्यनीति) अर्थ-"झूठ बोलना, एकाएक कोई काम कर बैठना, नखरे करना, मूर्खता करना अत्यन्त लोभ करना, अपवित्र रहना, निर्दयता का बर्ताव करना-ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं। श्रीराम-चरितमानस में भी ऐसा ही कहा गया है। यथा-"नारि स्वभाव सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।" (लं०का०) प्रस्तुत प्रसंग में राजा की भुआ में सभी दोष एक साथ देखने में आते हैं।

वाकी एक सुता, संग लैकै बैठैं जेंवन कों, आई सो छिपाय कही 'जेंवौ कहूं गई है'।
जेंवत न, बोधि हारी तब सो बिचारी प्रीति, भीति, रोय मिली गरें, रीति कहि दई है।।
प्रभु लै जिंवाये रांड-भांड कै निकासि द्वार, दै करि किवार, सब पायौ ओप नई है।
वह दुख हियें रह्यौ कह्यौ कैसे जात काहू? बात सुनी नृपहूँ नै, जैसी भांति भई है।।४६१।।

शब्दार्थ—बोधि=समझाय। ओप=चमक, खूबसूरती, रंग।

भावार्थ—श्रीअंगदसिंहजी की बहिन की एक लड़की थी। ये जब भोजन करते थे तो उसे भी साथ बैठा लेते थे। अपनी लड़की को विषयुक्त भोजन से बचाने के लिये उसने उसे कहीं किसी के घर छिपा दिया था। ये उसके बिना भोजन नहीं कर रहे थे, तब वह बोली कि- "आप भोजन कीजिये।" वह कहीं खेलने चली गई है। वह समझाते-समझाते हार गई, परन्तु इन्होंने उसके बिना भोजन नहीं किया। अपनी लड़की में अपने भाई का ऐसा अपार प्रेम देखकर उसके मन में भ्रातृ-प्रेम उमड़ आया। भाई की मृत्यु से डरकर रोने लगी। गले से लगकर रोते-रोते उसने सब बात कह दी। अब तुम इसे मत खाओ, यह सुनकर श्रीअंगदजी ने कहा-"राँड! तूने विष मिले सामान का भगवान को भोग लगा दिया और अब हमें खाने से रोकती है।" ऐसा कहकर उन्होंने उसे ढकेलकर बाहर निकाल दिया और श्रीभगवदिच्छा बलवती मानकर पुनः किवाड़ बन्दकर सब प्रसाद पाकर लेट

गये। आपके ऊपर विष का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। प्रसाद-प्रेम से आपके मुख पर एक नई चमक आ गई, परन्तु आपके मन में इस बात का असह्य कष्ट बना हुआ था कि विष मिश्रित पदार्थ भगवान को भोग लगाये गये। उनके इस मानसिक कष्ट का वर्णन किसी से नहीं किया जा सकता है। जैसे-जैसे यह घटना घटी, उसे राजा ने भी सुन लिया।।४६१।।

व्याख्या—संग लैकै बैठें जेंवनको—यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि एक भगवद्-भक्त का लौकिक सम्बन्ध में इतना स्नेह होना कहाँ तक उचित है? तो इसका समाधान यह है कि बहिन की उस कन्या में अलौकिक रूप-शील-गुण आदि का समावेश था। अतः भक्त अंगद उसे सामान्य बालिका न मानकर साक्षात् श्रीलाड़िलीजी की सखी मानते थे। उनकी ऐसी दृढ़ धारणा थी कि बिना भगवत्परिकरों के ऐसे अलौकिक रूप, गुण सामान्य जीव में सम्भव नहीं। पुनः भक्तों के घर भगवत्पार्षदों का ही प्रादुर्भाव होता है, संसारी जीवों का नहीं। अतः उसमें इनका अत्यन्त स्नेह था। "रोय मिली गरें" -यह अभाव पर भाव की विजय है। श्रीअंगदजी की विशुद्ध प्रेम सरिता के प्रबल प्रवाह में बहिन का सारा अन्तर्मल बह गया। हृदय पश्चात्ताप से भर गया। वह भाई से लिपटकर रोने लगी। "प्रभु लै जिवाये रांड़०" रहस्य विदित होने पर अंगदजी को इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि-"हाय! हाय! आज मेरे प्राणाराध्य को इस दुष्टा ने विष मिश्रित भोजन का भोग लगाया। मेरे सम्बन्ध से श्रीप्रभु को कितना कष्ट हुआ?" फिर तो इन्होंने अपनी बहिन को बहुत बुरा-भला कहा। जैसे भावमूर्ति श्रीभरतलालजी ने श्रीराम वन-गमन के अवसर पर अपनी जननी को न जाने कितने अवाच्य वचन कहे थे। यथा-"धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहिं भांति कुल नासा।। जबतैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।। वर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुख परेउ न कीरा।।" (रा०च०मा०अ०का०) आदि। "सब पायो ओप नई है" -जब श्रीअंगदजी प्रसाद पाने को उद्यत हुये तो श्रीठाकुरजी ने साक्षात् प्रकट होकर इनका हाथ पकड़ लिया और बोले-"जान-बूझकर विष भक्षण उचित नहीं है। तब इन्होंने कहा-"प्यारे! जब आपने इसे स्वीकार कर लिया तो भला मैं क्यों कर छोड़ सकता हूँ। फिर अब तो यह प्रसाद हो गया है और प्रसाद ही मेरा जीवन है। साथ ही आपने ही तो यह कहा है कि-"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (गीता) "अर्थात् जन्म लेने वाले की निश्चित मृत्यु होती है।" तो मरना एक दिन है ही, क्या आज, क्या कल। फिर मरने के डर से प्रसाद का परित्याग क्यों करूँ? फिर यह दुःख भी तो मुझसे सहा नहीं जाता है। अतः मैं तो चाहे कुछ भी हो, प्रसाद पाऊँगा ही। अंगदजी ने सब प्रसाद पा लिया। किन्तु आश्चर्य! श्रीभगवत्कृपा

से विष भी भक्त के लिये अमृत बन गया। इस पर दृष्टान्त-"भगवान शिव का हलाहल पान का।" (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१५१) मीराबाई का। (देखिये कवित्त-४७५)।

चले नीलाचल, हीरा जाय पहिराय आवैं, आय घेरि लीने नृप नरनि, खिसाय कै।
कही डारि देवौ, कै लराई सनमुख लेवौ बस न हमारौ, भूप आज्ञा आये धाय कै।।
बोले 'नेकु रहौ' मैं अन्हाय पकराय देत, हेत मन और जल डार्‌यौ लै, दिखाय कै।
बस्तु है तिहारी प्रभु, लीजियै उचारी यह, बानी लागी प्यारी, उर धारी सुख पाय कै।।४६२।।

शब्दार्थ—खिसायकै=लज्जित होकर, खीझकर।

भावार्थ—श्रीअंगदसिंहजी ने सोच-विचारकर हीरा भगवान को धारण कराने की इच्छा से श्रीजगन्नाथपुरी की ओर प्रस्थान किया। समाचार पाते ही खीझकर राजा ने सिपाहियों को भेजा, उन्होंने आकर इन्हें सब ओर से घेर लिया। राजपुरुषों ने कहा-"आप हीरा यहीं मेरे सामने रख दीजिये, अन्यथा युद्ध करने के लिये तैयार हो जाइये। हम लोग परवश हैं, बिना हीरा लिए आपको छोड़ नहीं सकते हैं। हम लोगों ने राजा की आज्ञा से दौड़कर आप पर चढ़ाई की है।" यह सुनकर श्रीअंगदजी ने कहा-"आप लोग थोड़ा ठहरिये, मैं इस कुण्ड में स्नान करके अभी हीरा दिये देता हूँ।" आपके मन में तो भगवत्प्रेम ओत-प्रोत था, अतः उन्हें न देकर यह कहते हुये हीरा जल में डाल दिया कि-"प्रभो! यह आपकी वस्तु है, कृपया आप इसे स्वीकार कीजिये।" प्रेम भरी भक्त की यह वाणी श्रीजगन्नाथजी को अति प्यारी लगी। प्रभु ने सात सौ कोस लम्बा हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया और अत्यन्त सुख पाकर उसे अपने वक्षस्थल पर धारणकर लिया।।४६२।।

व्याख्या—घेरि लीने नृप नरनि०—पता लगने पर राजा ने चालीस घुड़सवारों को इनसे हीरा छीनने के लिये भेजा। "पकराय देत" -श्रीअंगदजी ने तो श्रीजगन्नाथ भगवान को ही लक्ष्य करके कहा कि-"मैं अन्हाय पकराय देत" अर्थात् स्नान करके भगवान को अर्पण कर दूँगा। परन्तु सिपाहियों ने समझा कि हम लोगों को देने को कहते हैं, अतः वे रुक गये। "जल डार्‌यौ० -भगवान की सर्वव्यापकता का अनुसन्धान करते हुए सिपाहियों के देखते-देखते हीरा को जल में फेंकते हुए बोले-"प्रभो तिहारी वस्तु०" -इस भाव के समर्थन में एक सन्त कवि ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है-"मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौंपते क्या लगता है मोर।।" "उरधारी सुख पायकै" प्रिय भक्त के द्वारा समर्पित वस्तु प्यारी लगी, अतः लेकर पहन लिया। प्रिय के आलिंगन का सुख प्राप्त किया।

ऐतौ घर आये, वे तो जलमधि कूदि छाये, अति अकुलाये, नेक खोज हूँ न पायौ है।
राजा चलि आयौ, सब नीर कढ़वायौ, कीच देखि मुरझायौ, दुख सागर अन्हायौ है।।
जगन्नाथ देव आज्ञा दई, 'वाहि सुधि देवौ' आयकै सुनाई नर तन बिसरायौ है।
गयौ, जाय देख्यौ उर पर जगमग रह्यौ लह्यौ सुख नैननि कौ, कापै जात गायौ है।।४६३।।

भावार्थ—श्रीअंगदजी उस हीरे को कुण्ड में फेंककर अपने घर आ गये। उधर राज पुरुष लोग जल में कूद पड़े और हीरे को ढूँढ़ने लगे। महान् प्रयत्न करने पर भी जब वह हीरा उन्हें न मिला तो वे लोग व्याकुल हो गये। समाचार पाकर राजा भी वहीं आ गया। उसने कुण्ड का सब पानी बाहर निकलवाया। फिर भी जब हीरा न मिला तो कीच में ढुँढ़वाया। कीच में भी न मिलने पर राजा मूर्च्छित-उदास हो गया। दुःखसागर में डूब गया। इधर श्रीजगन्नाथजी ने अपने पण्डों को आज्ञा दी कि- तुम जाकर अंगदसिंहजी से कह दो, कि तुम्हारा हीरा प्रभु को मिला और उन्होंने धारण कर लिया है। इस मंगलमय समाचार को पण्डों ने आकर इन्हें सुनाया तो इन्हें इतना आनन्द हुआ कि अपने शरीर की भी सुधि-बुधि न रही। श्रीअंगदसिंहजी ने पुरी में जाकर देखा तो वही हीरा भगवान के हृदय पर जगमगा रहा है। इन्होंने नेत्रों से जो दर्शन का सुख प्राप्त किया, उसका वर्णन कौन कवि कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।।४६३।।

व्याख्या—कीच देखि मुरझायौ०—कुण्ड का सम्पूर्ण जल निकलवाकर राजा ने हजारों आदमियों को बुलाकर पंगत बैठा दी, सबके सामने दो-दो, चार-चार डलिया काली कीच परोस दी गई। सिपाही पहरे पर खड़े, राजा घूम-घूमकर देख रहा। भक्त विमुखों के तो सड़ी कीच संसारी विषय ही हाथ लगते हैं, प्रेम रत्न के अधिकारी भक्त, भगवन्त हैं। हीरा प्राप्ति के समस्त प्रयत्नों के विफल होने पर राजा को बड़ा दुःख हुआ कि बैर भी हुआ, हीरा भी नहीं मिला, लोक में निन्दा भी हुई, भागवत अपराध हुआ, इससे परलोक भी बिगड़ा। न घर के रहे न घाट के, न दीन के रहे न दुनिया के। किसी भी हालत में परमात्मा मुझे क्षमा नहीं करेंगे। आदि। ''वाहि सुधि देवौ'' -हीरा न मिलने से राजा तो दुःखी था ही, श्रीअंगदजी को भी बड़ा दुःख था कि मेरा दुर्भाग्य कि मैं हीरा को श्रीप्रभु के कर-कमलों में अर्पण नहीं कर सका, श्रीप्रभु को उर पर धारण किये हुए नहीं देख सका। पता नहीं, भेंट श्रीप्रभु तक पहुँच पाई है या नहीं। निश्चय ही मेरे प्रेम में कमी थी, तभी तो मेरे संकल्प अधूरे रह गये, आदि। भक्त की यह आत्मग्लानि श्रीप्रभु को सहन नहीं हुई, अतः तुरन्त अपने सेवकों को भेजे कि जाकर भक्त अंगद से कहो कि प्रभु ने आपकी

भेंट स्वीकार कर ली है। वे उसे बड़े प्रेम से धारण किये हैं, आप चलकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु का दर्शन कर आइये। प्रभु आपसे मिलने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।" "उर पर जगमग रह्यो०" -श्रीअंगदजी ने श्रीप्रभु का दर्शन किया। उस समय की शोभा का वर्णन करते हुए एक कवि लिखते हैं कि-

तरवा ललाई नखचन्द्रिका सुछवि छाई हियमें समाई वह कैसे कहि जात है। नूपुरादि चूरा कर धोती पग रही लगि कटि क्षुद्र घण्टिका अनूप जगमगात है।। झंगा बूटेदार बनमाल मोती हीरा कांति कौनो कवि उपमाको कहि न सकात है। तिलक विशाल माथे चीरा छविजाल जापै कलंगी रसाल देखि अङ्गद सिहात है।।

राजा हिय ताप भयौ, दयौ अन्न त्यागि, कह्यौ आवै जोपै भाग मेरे ब्राह्मन पठाये हैं।
धरनौ दै रहे कहे नृप के बचन सब, तब ह्वै दयाल आप पुर ढिंग आये हैं।।
भूप सुनि आगे आय पांय लपटाय गयौ लयौ उर लाय दृग नीर लै भिजाये हैं।
राजा सरवसु दियौ जियौ हरिभक्ति कियौ हियौ सरसायौ गुन जाने जिते गाये हैं।।४६४।।

शब्दार्थ—धरनौ=धरना, माँग पूरी न होने तक द्वार पर अड़े रहना।

भावार्थ—भक्त श्रीअंगदजी के इस भक्ति के चमत्कार को देख-सुनकर राजा के हृदय में महान् दु:ख था। उसने अन्न खाना छोड़ दिया तथा ब्राह्मणों को उन्हें लिवा लाने के लिये श्रीजगन्नाथपुरी को भेजा और उनसे कहा कि- जैसे भी हो, किसी न किसी प्रकार से आप लोग उन्हें लिवा लाओ। यदि वे मेरे नगर में आवें तो मैं अपने बड़े भाग्य मानूँगा। ब्राह्मणों ने राजा के कथनानुसार पुरी में जाकर श्रीअंगदजी से राजा के दु:ख को सुनाया और प्रार्थना की कि-"अब आप वहीं पधारो।" ये किसी भी तरह से जब आने को तैयार न हुये तब ब्राह्मण लोग धरना देकर पड़ गये। तब श्रीअंगदजी को दया आ गई और राजा के दु:ख दूर करने के लिये आप चल दिये। जब आप नगर के समीप आये तो राजा ने सुना। तत्काल दौड़कर आया और इनके चरणों में लिपट गया। आपने उसे छाती से लगा लिया। आँखों से आँसू बहने लगे। राजा ने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। इस प्रकार नव-जीवन प्राप्त कर जीवन पर्यन्त राजा ने हरिभक्तिमय आचरण किया। राजा का हृदय भक्तिभाव से अति ही सरस हो गया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीअंगदजी के अनन्त गुण चरित्र हैं। मैंने जितने जाने उनका यहाँ गान किया है।।४६४।।

व्याख्या—राजा हिय ताप भयौ—राजा को अब इस बात का विशेष भय लगने लगा कि यह केवल अंगदजी से ही बैर नहीं हुआ, श्रीजगन्नाथ भगवान से भी बैर हो गया। क्योंकि भगवान का स्वभाव है कि–"मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर–बैर अधिकाई।।" (रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड) अतः भगवान ने जैसे प्रह्लादजी का पक्ष लेकर हिरण्यकशिपु को मारा, श्रीविभीषणजी का पक्ष लेकर रावण को मारा, श्रीसुग्रीवजी का पक्ष लेकर बालि को मारा, वैसे ही अंगद का पक्ष लेकर मुझे अवश्य मार डालेंगे। कदापि क्षमा नहीं करेंगे। भागवत द्रोही को भगवान कभी नहीं क्षमा करते। यथा–"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ।। जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।। लोकहुँ बेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानैं दुरवासा।।" (रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड) पुनः जिस दिन से श्रीअंगदजी गये, उसी दिन से राज्य में ऐसे अनेकों संकट उपस्थित हो गये, जिनका कोई निवारण नहीं दीखता था। इस पर दृष्टान्त श्रीअक्रूरजी का। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ–५७१)। अतः "राजा हिय ताप भयौ।" "ब्राह्मन पठाये हैं" –राजा स्वयं न जाकर ब्राह्मणों को भेजा। इसलिये कि भगवद्–भक्त बड़े ब्रह्मण्य होते हैं। क्योंकि स्वयं भगवान ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान करते हैं। यथा–"प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। मोहिं निति पिता तजेऊ भगवाना।।" (रा०च०मा०) पुनः अपनी करनी पर अत्यन्त लज्जित होने के कारण राजा स्वयं नहीं गया। "धरनौ दै रहे"–इससे जनाया गया कि ब्राह्मणों के सामान्य कथन पर इन्होंने जाने से इन्कार कर दिया। क्योंकि भगवद्–भक्तों का धनोन्मत्तो के आश्रय में रहना उचित नहीं है। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ–५५४, श्लोक–"सत्यांक्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः....।" तथा "चीराणि किं पथि न सन्ति....।" आदि। लेकिन जब ब्राह्मणों ने हठ ठान लिया तो उनका आग्रह स्वीकार कर पुनः घर आ गये।

श्री चतुर्भुजजी

चतुर्भुज नृपति की भक्ति कौ, कौन भूप सरवर करैं।
भक्त आगमन सुनत सनमुख योजन इक जाई।
सदन आनि सत्कार सदृश गोबिन्द बड़ाई।।
पाद प्रछालन सुहथ राय रानी मन सांचैं।
धूप दीप नैवेद्य, बहुरि तिन आगें नाचैं।।
यह रीति करौलीधीश की, तन मन धन आगे धरैं।
चतुर्भुज नृपति की भक्तिकौ, कौन भूप सरवर करैं।।११४।।

शब्दार्थ—सरवर=बराबरी। योजन=चार कोस। सुहथ=स्वहस्त, अपने हाथ से।

भावार्थ—कौन ऐसा राजा है जो करौली नरेश श्रीचतुर्भुजजी की सन्त-सेवा की बराबरी कर सके। आप ऐसे निष्ठावान् सन्त-सेवी थे कि भगवद्-भक्त का आगमन सुनकर उसकी अगवानी करने के लिये चार कोश जाते थे और अति आदर के साथ उन्हें अपने महल में लाकर भगवान के समान भक्त का आदर सत्कार करते थे। अपनी रानी के समेत राजा अपने हाथों से भक्तों के श्रीचरणों का प्रक्षालन करके चरणामृत लेते। चन्दन, फूलमाला, धूप, दीप एवं नैवेद्य आदि सभी उपचारों से पूजन करते। उसके बाद उन्हें सिंहासन पर बैठाकर उनके सामने नृत्य-कीर्तन करते। राजा की रीति थी कि अपना तन-मन और धन सर्वस्व उन्हें समर्पित करते। सन्तों का आदर करने वाला ऐसा कोई भक्त-राजा नहीं, जिससे इनकी तुलना की जाय।।११४।।

व्याख्या—कौन भूप सरवर करै—कहने का भाव यह कि राजा लोग रजोगुणी होते हैं, रजोगुण अहंकार प्रदान होता है, भक्ति दैन्य प्रधान होती है। अतः राजाओं में प्रथम तो भक्ति होती ही नहीं है और यदि किसी सुकृत-सत्संगवश हुई भी तो भक्ति में जितना दैन्य अपेक्षित है, उतना उनमें सम्भव नहीं है। कुछ न कुछ रजोगुण की झलक बनी ही रहती है। अतः ''कौन भूप सरवर करै'' कहा। ''सनमुख जोजन इक जाई''-शास्त्र की आज्ञा है कि जो प्राणी दूर से वैष्णवों को देखकर उनकी अगवानी के लिये उनके सम्मुख नहीं जाता, उसकी दस वर्ष की सेवा श्रीहरि नहीं स्वीकार करते हैं। यथा-''दृष्टवा भागवतं दूरात् सन्मुखं यो न गच्छति। गृहणाति हरिस्तस्य पूजां च दशवार्षिकीम्।।'' (स्कन्द पुराण) ''सदृश गोविन्द बड़ाई'' ''सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी।।'' (वि०) ''धूप दीप०''-जैसे भगवान की विधिपूर्वक पूजा का विधान है, उसी प्रकार भगवद्-भक्तों की भी पूजा करने का विधान है। यथा-''स्वशक्त्या पूजया विष्णोः स्तुवीताथ कृताञ्जलिः। आत्मनो वैष्णवानां च शक्त्या चैव यथाविधिः।।'' अर्थ-''अपनी शक्ति के अनुसार विष्णु की पूजा करके बद्धाञ्जलि होकर स्तुति करना चाहिये। क्योंकि भक्तों के सन्तुष्ट होने से श्रीहरि स्वतः सन्तुष्ट हो जाते हैं और श्रीहरि के सन्तुष्ट होने से देवता अपने आप सन्तुष्ट हो जाते हैं। यथा-''भक्ते तुष्टे हरिस्तुष्टो हरौ तुष्टे च देवताः। भवन्ति सिक्ताः शाखाश्च यथा मूलनिषेचनात्।।'' (ब्रह्मवैवर्तपुराण) पुनः-''यथा भागवतानान्तु पदाम्भोरुहसेवनात्। तथा स्वाराधने चापि न प्रीतो भगवान् हरिः।'' (पाराशर) अर्थ-''भक्तों के श्रीचरण-कमल की सेवा से भगवान जैसा प्रसन्न होते हैं, वैसा अपनी सेवा से भी नहीं प्रसन्न होते हैं। ''तन, मन, धन आगे

धरैं''-यथा-श्रीदशरथजी-''नाथ सकल सम्पदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी।।'' (रा०च०मा०) ''तिन आगे नाचैं'' लज्जा को छोड़कर नृत्य-कीर्तन करने वाला चौदह भुवनों को पवित्र करता है। यथा-''विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'' (भा०) गोविन्द के समान मानकर सन्त-सेवा करने वाले अन्य भक्त भी हुए हैं, परन्तु श्रीनाभाजी ने लिखा-''कौन भूप सरवर करै।'' तात्पर्य पृथ्वी के राजा तो बराबरी नहीं ही कर सकते। अन्य भक्तभूप भी इनकी बराबरी नहीं कर सकते, क्यों? तब कहते हैं कि-''तिन आगे नाचैं'' नाचना कठिन है। राजा होकर नाचना अति कठिन है और रानी को नचाना अति महाकठिन है। ऐसी भक्ति के प्रसंग सुनने में भी नहीं आते। इसी को लक्ष्य करके कहा गया कि- ''कौन भूप सरवर करै।''

पुर ढिग चारौ ओर चौकी राखी जोजन पै जो जन ही आवै तिन्है ल्यावत लिवाय कै।
मालाधारीदास मानि, आवै कोऊ द्वार जौ पै, करै वही रीति सो सुनाई छप्पय गाय कै।।
सुनी एक भूप भक्त निपट अनूप कथा, सबकों भंडार खोलि देत, बोल्यौ धाय कै।
पात्र औ अपात्र यों विचारही जौ नाहीं, तौ पै कहा ऐसी बात? दई नेकु मैं उड़ायकै।।४६५।।

शब्दार्थ—चौकी=अड्‌डा, छोटा थाना। पात्र=योग्य, अधिकारी। अपात्र=अयोग्य, अनधिकारी। उड़ाना=अमान्य करना।

भावार्थ—करौली के राजा श्रीचतुर्भुजजी ने अपने नगर के चारों ओर चार-चार कोस पर चौकियाँ बना दी थीं, वहाँ राजपुरुषों को नियुक्त कर दिया था और उन्हें आज्ञा दे रखी थी कि- जब कोई भगवद्-भक्त आवें, तो उनको वहीं पर ठहराकर उनका स्वागत सत्कार करो, फिर शीघ्र मुझे सूचित करो। सूचना पाकर राजा स्वयं जाते और बड़े आदर सत्कार के साथ अपने महल में लिवाकर ले आते। अपने को माला-तिलकधारी सन्तों का दास मानकर उनकी सेवा करते थे। माला-तिलकधारी मात्र कोई भी भक्त द्वार पर आ जाते तो उनको भी सच्चा भक्त मानकर उनकी उसी प्रकार से सेवा-पूजा करते थे जैसा कि मूल छप्पय में श्रीनाभाजी ने गाकर सुनाया है। एक राजा ने करौलीधीश की यह अद्‌भुत भक्ति एवं भक्तों की सेवा की सुन्दर कथा सुनी कि-''सभी माला-तिलकधारियों का दौड़कर स्वागत करते हैं और उनके लिये अपना खजाना खोल देते हैं।'' उसने अपनी सभा में कहा कि यदि पात्र और अपात्र का विचार ही नहीं है तो ऐसा दान-सत्कार प्रशंसनीय नहीं है। उस राजा ने इस प्रकार बात ही बात में राजा श्रीचतुर्भुजजी की महिमा को उड़ा दिया।।४६५।।

व्याख्या—पात्र औ अपात्र—श्रीमद्भगवद्गीताजी में उत्तम देश-काल में श्रेष्ठ पात्र को दिये गये दान को ही सात्विक दान माना गया है। देश-काल-पात्र-विचार-विहीन दान राजस, तामस होकर निष्फल एवं विपरीत फल प्रदान करने वाला होता है। यथा-''दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।। यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।'' (गी० १७/२०, २१, २२) अर्थ-''दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान, देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वालों के लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्विक होता है। जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अर्थात् बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा फल को उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है। जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश, काल में कुपात्रों के लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है। वह सर्वथा व्यर्थ होता है। यथा-''तामस धर्म करहिं नर, जप तप व्रत मख दान। देव न वरसहिं धरनी, बए न जामहिं धान।।'' (रा०च०म०) ''दई नेकु में उड़ायकै'' -दुष्ट लोग सदा साधु पुरुषों के सद्गुणों का उपहास किया करते हैं। यथा-''जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं, शूरैर्निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि। तेजस्विन्य-वलिप्तता मुखरता वक्तर्य शक्तिः स्थिरे, तत्को नाम गुणोभवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः।।'' (भर्तृहरिनीतिशतक) अर्थ-''दुष्ट लोग लज्जाशील पुरुष में जड़ता, व्रत करने वालों में पाखण्डता, पवित्र चरित्र वालों में कपटीपना, वीरों में निर्दयीपना, मुनियों में बुद्धिहीनता, मधुरभाषियों में दीनता, प्रभावशाली पुरुषों में घमण्डीपना, वक्ता पुरुषों में वकवादीपना, गम्भीर पुरुषों में असमर्थता आदि दोषों का होना कहते हैं। इस प्रकार गुणियों का ऐसा कौन गुण है जिसमें दुर्जनों ने दोष न निकाला हो। पुनश्च-**सरलसों सठ कहैं बकतासों ढीठ कहैं विनै करै तासों कहैं धनके अधीन है। क्षमी सों निबल कहैं दम्भी सों अदत्ती कहैं मधुर वचन बोलैं तासों कहैं दीन है।। दाता सों जु दम्भी निस्पृही सों गुमानी कहैं तृष्णा को धावैं तासों कहैं भागहीन है। साधुगुन देखैं अहो तहाँई लगावैं दोष ऐसे कछु दुर्जन को हृदोई मलीन है।।**

भागवत गावै, भक्त भूप एक बिप्र तहाँ बोलिके सुनावै 'ऐसी मन जिन ल्याइयै। पावै आसै कौन हृदय भौन में प्रवेस करि? भरि अनुराग कहा उर मधि आइयै?'।।

करी लै परीक्षा भाट बिमुख पठाय दियौ, 'दियौ भाल तिलक द्वार दास यों सुनाइयै'। गयौ, गयौ भूलि, फूलि कुल विस्तार कियौ लियौ पहिचानि अब जान कैसे पाइयै।।४६६।।

शब्दार्थ—आसै=आशय, मनोभाव। फूलि=मुग्ध, प्रसन्न होकर।

भावार्थ—राजा श्रीचतुर्भुजजी के आलोचक उस राजा के दरबार में एक भक्तराज ब्राह्मणदेव थे। वह श्रीमद्‌भागवत की कथा कहा करते थे। भक्त की आलोचना सुनकर उन्होंने उस राजा से कहा-"राजन्! करौलीधीश के सम्बन्ध में आप ऐसा न सोचिये, कि वे पात्र अपात्र का विवेक नहीं रखते, अतः उनका आदर-दान व्यर्थ है।" फिर उन्होंने कहा-"भक्त के हृदय में प्रवेश करके उसके आशय को समझने में कौन समर्थ हो सकता है।" अनुराग में भरकर जब ब्राह्मणदेव ने यह बात कही, तो राजा के मन में भी आया कि परीक्षा लिये बिना आलोचना नहीं करना चाहिये। अतः उस राजा ने श्रीचतुर्भुज राजा की परीक्षा लेने के लिए भक्ति-भाव से हीन एक भाट को भेजा। उसको माला-तिलक वस्त्र आदि देकर कहा कि- करौलीधीश के द्वार पर जाकर अपने को भगवान का भक्त बतलाना। राजाज्ञा से भाट गया, परन्तु वहाँ भक्त वेश-भूषा धारण करना, अपने को भक्त कहना भूल गया। राजा के द्वार पर पहुँचकर इनाम मिलेगा, इस प्रसन्नता से फूलकर राजवंश की महिमा का वर्णन करने लगा। सब लोगों ने उसे भाट समझकर यथोचित् व्यवहार किया। अब वह भीतर कैसे जाने पाता।।४६६।।

व्याख्या—भक्त भूप एक विप्र—ब्राह्मण वैसे ही सभी वर्णाश्रमियों द्वारा पूज्य है, फिर वह वैष्णव है, तब तो कहना ही क्या है। यथा-"सर्वेषामाश्रमाणांच पूजितो ब्राह्मणः शुचिः। ततोऽधिकः पूजितोऽपि ब्राह्मणो यदि वैष्णवः।।" पुनश्च-"दुर्लभो वैष्णवो विप्रो" अर्थात् वैष्णव विप्र बहुत मुश्किल से मिलते हैं और ये तो भक्त भूप अर्थात् वैष्णव शिरोमणि थे। "ऐसी मन जिन लाइयै" -भाव यह है कि भक्त के प्रति मन में दोष लाने से भी अपराध बन जाता है, जिससे लोक-परलोक सब नष्ट हो जाते हैं। यथा-"उर आनत तुम पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई।।" (रा०च०मा०) "पावै आसै कौन" -भक्तों के भाव को जानना महा कठिन है। यथा-"गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्त दाँवको।" (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८९) पुनः दृष्टान्त कुम्भनदासजी का। जब उनके पुत्र कृष्णदास को सिंह ने मारा था। (देखिये उत्तरार्द्ध छ०-९८) "गयौभूलि" -जैसे बिल्ली को देखकर तोते को अपनी रट भूल जाती है, उसी प्रकार श्रीचतुर्भुजजी के भक्ति-तेज को देखते ही भाट की सिखी-सिखाई सब

बातें भूल गईं। पुनश्च कपट की कलई एक दिन खुल ही जाती है। यथा-''बकुला बनिकै हंस रहि सकै बकुलन मन माहीं। हंस लेय पहिचान कपट निबहै यहँ नाहीं।।'' जैसो जासु सुभाउ जाय नहिं जीव सों। नीम न मीठी होय सींचु गुड़ घीव सों।। कोला सेत न होय धोइये सौ दिना। पचि मरिये समुझाय मूर्ख हिय चेतना।।'' दोहावली में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि-''चरन चोंच लोचन रँग्यो चल्यो मराली चाल। क्षीर-नीर विवरन समय बक उघरेउ तेहि काल।।'' उसी प्रकार इस भाट की पोल खुल गई।

बीते दिन बीस तीस, आई वह सीख सुधि, कही 'हरिदास' कोऊ आयौ, यों सुनाइयै।
बोले जू निसंक जावौ, गावौ गुन गोबिन्द के, आये घर मध्य, भूप करी जैसी भाइयै।।
भक्ति के प्रसंग कौ न रंग कहूं नेकु जान्यौ, जान्यौ उनमान सों परीक्षा मँगवाइयै।
दियौ लै भंडार खोलि, लियौ मनमान्यौ, दई सम्पुट में कौड़ी डारि, जरी लपटाइयै।।४६७।।

शब्दार्थ—सम्पुट=टिब्बा। प्रसंग=विषय। उनमान=अनुमान। जरी=गोटा।

भावार्थ—-करौली में खाते-पीते रहते हुए उस भाट को लगभग एक मास व्यतीत हो गया। तब उसे राजा की शिक्षा का स्मरण हुआ कि मुझे साधुवेश धारणकर राजा चतुर्भुज की परीक्षा लेने को कहा गया है। फिर क्या था उसने माला-तिलक धारणकर राजद्वार पर जाकर कहा कि-''राजा से कह दो, कि कोई एक भगवद्-भक्त आये हैं।'' द्वारपालों ने कहा-''महात्मन्! आप निशंक-निःसंकोच भीतर राजमहल में जाइये और गोविन्द भगवान के गुणानुवाद गाइये। आपके लिये रोक नहीं है। यह सुनकर वह भाट भीतर चला गया। श्रीचतुर्भुजजी ने भक्तवेष देखकर उसका अपनी रीति के अनुसार खूब स्वागत-सत्कार किया। राजा ने भक्ति चर्चा छेड़कर अच्छी प्रकार से समझ लिया कि इनमें भक्ति की किंचित् गन्ध भी नहीं है और किसी ने मेरी परीक्षा लेने भेजा है। फिर राजा ने अपनी वेष निष्ठा से उस भाट के लिये भण्डार खोल दिया और प्रार्थना किया कि- आप इच्छानुसार धन ले लीजिये, सर्वस्व आपका ही है। उस भाट ने मनमाना सोना-चाँदी आदि बहुत-सा धन बाँध लिया। तब चलते समय राजा ने उसे गोटे से जड़े हुये, एक सुन्दर वस्त्र में लिपटी हुई एक कौड़ी डिब्बे में रखकर उसे भेंट करके प्रणाम किया।।४६७।।

व्याख्या—आई वह सीख सुधि—भाट ने एक महात्मा के आश्रम में जाकर जब साधुओं की रेक-टेक रहनी-सहनी देखी तब उसे याद आया कि अरे! हमें भी तो ऐसा ही भेष तथा भाषा धारण करने का आदेश दिया था राजा ने। परन्तु मैं तो एकदम भूल ही

गया। फिर वह झट-पट साधुवेष धारणकर राजा के सम्मुख उपस्थित हुआ। ''भक्ति के प्रसंग कौ न रंग''-भाट को वैष्णव वेष धारण किये देखकर राजा ने विधिपूर्वक उसकी पूजा-स्तुति की। फिर हाथ जोड़कर भक्ति की चर्चा करते हुए पूछा कि-''महाराज! भगवान हम पर कब कृपा करेंगे, कैसे कृपा करेंगे? कैसे जाना जाय कि जीव पर भगवान की कृपा हो रही है?'' आदि। तब वैष्णव वेषधारी भाट ने कहा-''राजन्! भगवान की कृपा तो तुम पर है ही। अरे, भगवान ने तुमको हाथी, घोड़ा, पालकी, देश-कोष, राज-काज सब तो दिया है, अब क्या चाहते हो धूल।'' भाट के इन वचनों को सुनकर राजा समझ गये कि यह तो कोरा भाट ही है, इसमें तो भक्ति का लेश भी नहीं है। ''लियौ मन मान्यौ''-भाट की यह दूसरी परीक्षा थी। भगवद्-भक्त तो धन-सम्पत्ति की ओर देखते ही नहीं। यथा-''रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।'' (रा०च०मा०) परन्तु इसने मनमानी मुहरें बाँधीं।'' इस पर दृष्टान्त एक भाट का- उसने राजा की प्रसन्नता के लिये विरक्त का वेष बनाकर बाग में आसन लगाया। नगर के लोग बड़े प्रभावित होकर दर्शन करने को उमड़ पड़े। सुनकर राजा भी गया। भाट के स्वांग पर प्रसन्न होकर राजा ने एक हजार मुहरों की थैली इनाम में दी। भाट थैली लेकर मारे खुशी के नाचने लगा। तब उसकी पोल खुल गई। सबने जान लिया कि यह वैष्णव नहीं है, यह तो भाट है।

आयौ वाही राजा पास, सभा में प्रकाश कियौ, लियौ धन दियौ, पाछे सोई लै दिखायौ है।
खोलि कै लपेटा मध्य सम्पुट निहारि कौड़ी, समुझि बिचारै हारै मन में न आयौ है।।
बड़ौ भागवत विप्र पंडित प्रवीन महा, निसि रस लीन जानि आयकै बतायौ है।
कर्‌यौ उनमान, भक्त मानिबौ प्रधान जरी मूँदिकैं पठाई, ताहि गुण समझायौ है।।४६८।।

भावार्थ—वह भाट करौली से लौटकर अपने राजा के पास आया और उसने भरी राजसभा में सब समाचार सुनाकर जो धन लाया था, वह दिखाया। बाद में डिब्बा भी दिया। राजा ने डिब्बा खोला और जड़ाऊ कपड़े में लिपटी एक कानी कौड़ी देखी। बारम्बार मन ही मन सोच-विचार करने पर भी राजा की समझ में यह नहीं आया कि जरीदार वस्त्र में लपेटी एक कौढ़ी देने का क्या तात्पर्य है? उस राजा के यहाँ जो पण्डित श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे, वे बड़े निष्ठावान्, चतुर और विद्वान थे। वे दिन-रात प्रेम-रस में डूबे रहते थे। राजा ने सोचा कि पण्डितजी भक्त हैं, वे ही भक्तों के भाव समझ सकते हैं, अतः रात में पण्डितजी के पास आकर सब बात बताकर कौड़ी देने का रहस्य पूछा। पण्डितजी ने झट अनुमान

करके बताया कि–"भक्त राजा चतुर्भुजजी के मन का भाव यह है कि- इस भाट का ऊपरी साधुवेष जरी के समान अति मूल्यवान् और आदरणीय है। परन्तु भीतर कानी कौड़ी के समान तुच्छ परीक्षा का भाव है। उसमें जो विमुखता है उसकी बिल्कुल उपेक्षाकर हमने सन्त वेष का स्वागत-सत्कार किया है।।४६८।।

राजा रिझि पांव गहे, कहे "जू बचन नीके ऐपै नेकु आप जाय तत्त्व याकौ ल्याइयै"।
आये, दौरि पांव लपटाय भूप भाय भरे, परे प्रेमसागर में, चरचा चलाइयै।।
चलिबे न देत, सुख देत चले लोलमन, खोलिकै भंडार दियौ लियौ न रिझाइयै।
उभै सुवा सारौ कही एक कर धारौ मेरे दई अकुलाय लई मानौ निधि पाइयै।।४६९।।

शब्दार्थ—तत्व=रहस्य। लोल=चञ्चल। सारौ=मैना। करधारौ=हाथ में दे दो।

भावार्थ—भक्त पण्डितजी के श्रीमुख से जरी लिपटी कौड़ी के रहस्य को जानकर राजा ने रीझकर उनके चरण पकड़ लिये और कहा-"महाराजजी! आपने अति उत्तम बात कही, परन्तु मेरी इच्छा है कि आप स्वयं करौली जायें और श्रीचतुर्भुजजी की भक्ति का वास्तविक तत्व लेकर आवें।" पण्डितजी करौली गये। उनका शुभागमन सुनते ही दौड़कर राजा चतुर्भुजजी उनके पैरों में लिपट गये। महलों में ले जाकर प्रेम भाव में भरकर नित्य उनकी सेवा-पूजा करने लगे। कथा-वार्ता होती तो दोनों ही प्रेमानन्द सागर में डूब जाते। पण्डितजी वहाँ से चलना चाहते, परन्तु राजा अनुनय-विनय करके रोक लेता और नित्य नये प्रेम प्रसंग उपस्थित कर उन्हें सुख प्रदान करता। अन्त में जब पण्डितजी विदा होने लगे तो दोनों को वियोग का असह्य दु:ख हुआ। राजा ने अपना खजाना खोलकर यथेच्छ धन लेने की प्रार्थना की, परन्तु पण्डितजी ने कुछ भी नहीं लिया और कहा कि-"मुझे तो आपकी प्रीति-प्रतीति ने रिझा लिया है। उसके सामने धन क्या चीज है?" राजा ने कहा-"महाराजजी! कुछ तो स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये।" राजा के विशेष आग्रह करने पर पण्डितजी ने कहा कि-"आपके राजभवन में जो तोता और मैना हैं, इनमें से एक मुझे दे दीजिये।" ये दोनों पक्षी राजा को अत्यन्त प्रिय थे। अत: उनके वियोग भय से राजा व्यथित हुये। अन्त में उन्होंने मैना को पण्डितजी के साथ भेज दिया। उसे पाकर ये इतने प्रसन्न हुए कि मानो इन्हें कुबेर का खजाना ही मिल गया हो।। ४६९।।

व्याख्या—लियौ न—भगवद्-भक्त भक्ति को छोड़कर और कुछ भी लेना नहीं स्वीकार करते। यथा-"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह

करुनायतन भगति विमल बर देइ।।'' (रा०च०म०) ''उभैसुवासारौ'' -ये दोनों तोता-मैना दैवी शक्ति संयुक्त थे। तोता तो राजा को समय-समय पर सावधान करता रहता था और मैना राजसभा को सावधान करती। यथा-''कृष्ण कहु कृष्ण कहु कृष्ण कहु भाई। होयगी वही जो प्रभु ने है बनाई।।'' दृष्टान्त-श्रीरघुराजसिंहजी का-रीवा नरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी बड़े भक्त राजा थे। राजा होने के नाते राज्य-काज भी देखना ही पड़ता था। परन्तु कहीं मैं सर्वथा राज्य-काज में ही आसक्त न हो जाऊँ, इसलिये एक नौकर केवल इसलिये रक्खे थे जो हर बीस मिनट के बाद महाराज को भगवद्-भजन की याद दिलाने के लिए बड़े जोर से कहता कि-''राम कहो बड़ी बेर भई।'' इतना सुनते ही महाराज श्रीरघुराजसिंहजी चाहे जैसा भी जरूरी कार्य होता, उसे छोड़कर भजन में लग जाते।

आयौ राजसभा, बहुबातनि अखारौ जहां, बोलि उठी सारौ 'कृष्ण कहौ' झारि डारे हैं।
पूछैं नृप ''कहौ'', अहो! लहौ सब याहीसों जू, पच्छी वा समाज रहै हरि प्रानप्यारे हैं।।
कोटि कोटि रसना वखानौं पै न पाऊं पार, सार सुनि भक्ति, आय सीस पांव धारे हैं।
''राखौ यह खग पगि रह्यौ तन मन श्याम'', अति अभिराम रीति मिले औ पधारे हैं।।४७०।।

शब्दार्थ—अखारौ=अखाड़ा। झारि=फटकारि।

भावार्थ—करौली से चलकर पण्डितजी उस मैना को लिये हुये उस राजा के दरबार में आये। वह तो राजदरबार था, वहाँ सभी प्रकार के संसारी लोग आते-जाते थे। बहुत-सी बातों का अखाड़ा था, लोग बहस करने में व्यस्त थे। उन बातों को सुनकर मैंना बोल उठी-''अरे, माटी के धोधाओ! कृष्ण कहो, कृष्ण कहो।'' तब राजा ने पण्डितजी से पूछा कि-''बताइये महाराज! राजा चतुर्भुजजी का भक्ति-भाव कैसा है?'' पण्डितजी ने कहा-''राजन्! इस मैना से ही आप वहाँ का रहस्य समझ लें। उस समाज में रहने वाले इस पक्षी को भी भगवान प्राणों से प्रिय हैं। मैं करोड़ों जीभों को पाकर उनसे श्रीचतुर्भुजजी की महिमा का वर्णन करुँ तो भी उसका पार नहीं पा सकता हूँ।'' करौली नरेशजी की भक्ति का रहस्य पाकर वह राजा श्रीचतुर्भुजजी के पास आया और उनके श्रीचरणों में सिर रखकर प्रणाम किया, फिर उस मैना को वापस करते हुए बोला-''भक्तराज! इस भक्त मैंना को आप ही अपने महलों में रखिये, इसके तन-मन में भगवान श्यामसुन्दर रमे हैं। आपकी भक्त-भगवन्त सेवा की रीति बड़ी ही सुन्दर है। इस प्रकार इनसे मिलकर कुछ दिन करौली में रहकर सत्संग लाभकर अपने यहाँ वापस लौट आया।।४७०।।

व्याख्या—झारि डारे हैं—यथा-"धिक धिक है तेरी सभा धिक धिक भूपति तोहिं। राम सुन्यौं नहिं काहु मुख अचरज लागो मोहिं।। दरबारी यमदूत सब राजसत्य यमराज। ऐसी पातकिनी सभा, कहा मोर इत काज।। पण्डित से मैना कहै मोहि सभाते टार। वहाँ एक छन नहिं रहौं जहाँ न राम उचार।।" "राखौ यह खग"-राजा ने कहा-"मैना मैं नहिं रखि सकौं याके तन मन श्याम। अद्‌भुत बानी बोलहीं सुनि छूटै धन धाम।। सुनि छुटै धन धाम नाममें अति रुचि बाढ़ै। उपजावै वैराग भवनते बाहर काढ़ै।। बनो बनायो भवन होइ चौपट सुनि बैना। याते सकौं न राखि पास राखौ यह मैना।।" (भ०व०टि०)

दृष्टान्त—शेखचिल्ली का—एक दिन शेखचिल्ली को बड़े जोर की भूख लगी थी। इधर-उधर बहुत प्रयत्न किये परन्तु कहीं कुछ नहीं मिला। तब एक हलवाई की दुकान पर पहुँचकर उसके सामने अपना हाथ फिराने लगे। हलवाई ने बिगड़कर पूछा-"यह क्या कर रहे हो।" शेखचिल्ली ने कहा-"मैं यह देख रहा हूँ कि तुम्हें दिखाई देता है या नहीं।" हलवाई ने कहा-"यदि मुझे दीखता नहीं तो मैं दुकान पर क्यों कर बैठता?" तब इन्होंने कहा-"भले आदमी, जब तुम्हें दिखाई पड़ता है तो इन मिठाईयों को क्यों नहीं खाते?" हलवाई ने कहा- "वाह! मिठाईयों को खाकर मैं अपना घर बिगाड़ूँ।" तब शेखचिल्ली ने कहा-"अच्छा भैया! तुम अपना घर बचाओ, मेरा घर बिगड़ने दो। ऐसा कहकर एक मिठाई की भरी थाल उठायें और सड़क पर बैठकर खाने लगे। मिठाई वाला जब तक आये, तब तक ये अपना काम बना चुके थे।

विशेष—राजा श्रीचतुर्भुजजी की भक्ति-भावना का अनुचित लाभ उठाने के उद्देश्य से एक डाकू साधु-वेष धारणकर आया। उसे भी निवास महल में दिया गया। एक दिन राजा की अनुपस्थिति में उस साधु डाकू ने रानी के गले में एक कीमती हार देखकर उसे लेना चाहा। फिर तो जब रानी शयन कर रही थी। तब उसने उनके गले पर अपनी कटार चलाई। परन्तु आश्चर्य उसे ऐसा लगा, मानो रानी का गला वज्र हो गया हो और उसकी कटार मोम हो गई हो। उसने बहुत प्रयत्न किया गला काटने का। परन्तु असफल रहा। तब तक रानी जग गई। काँपते हुए वह ठग रानी के चरणों में गिर पड़ा। किन्तु रानी के मन में किञ्चित् भी अभाव नहीं हुआ। वह बड़ी शान्तिपूर्वक बोली-"महाराज! इसमें डरने की क्या बात है? अरे, कभी-कभी बड़ों से भी भूल हो जाया करती है।" यथा-"काल सुभाऊ करम बरि आईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई।।" (रा०च०मा०) रानी के इस सद्‌भाव से डाकू का हृदय एकदम परिवर्तित हो गया और उसी दिन से अपने अकृत्यकरण का परित्याग कर सच्चा साधु हो गया।

श्रीमीराजी

लोकलाज कुल-श्रृंखला तजि 'मीरा' गिरिधर भजी।।
सदृश गोपिका प्रेम प्रगट, कलिजुगहिं दिखायौ।
निरअंकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायौ।।
दुष्टनि दोष बिचारि, मृत्यु को उद्दिम कीयौ।
बार न बांकौ भयौ, गरल अमृत ज्यौं पीयौ।।
भक्ति निशान बजाय कै, काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुलश्रृंखला तजि 'मीरा' गिरिधर भजी।।११५।।

शब्दार्थ—श्रृंखला=जंजीर, बन्धन, मर्यादा। निर अंकुश=स्वच्छन्द। भजी=भजन किया। निशान=डंका। उद्दिम=उद्यम, उपाय।

भावार्थ—भक्तिमती श्रीमीराबाई ने इस कराल कलिकाल में गोपियों के समान श्रीकृष्ण प्रेम को अपने में प्रकट करके उसका दूसरों को भी दर्शन करा दिया। स्वच्छन्द और निडर होकर रसिकशेखर श्रीराधा श्यामसुन्दर के सुयश को गाया। दुष्टों (राणा) ने इस प्रकार की भक्ति को अनुचित माना और सोच-विचारकर इनकी मृत्यु का उपाय किया। इन्हें पीने के लिये विष दिया, उसे ये अमृत की तरह पी गईं। भगवान की कृपा से आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ। आपने बिना किसी लोक-लज्जा और संकोच के कुल-मर्यादा की बेड़ी-बन्धनों को त्यागकर श्रीगिरिधर गोपाल का भजन किया।।११५।।

व्याख्या—लोकलाज०—श्रीनारायण स्वामीजी कहते हैं कि-"चाखा चाहै प्रेमरस राखा चाहै लाज। नारायण प्रेमी नहीं बातन को महाराज।।" एक गोपी कहती है-"चंदन पंक गुलाब सुनीर सरोज की सेज उठाय धरौ री। तूल भयौ तनु जात जरो एहि बैरी दुकूलहिं दूरि करौरी।। "शंभुजु" झूठ सबै उपचार वियोग की आगि न पागि जरौरी। लाज के ऊपर गाज परै ब्रजराज मिलैं सोई काज करौरी।।" (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६७, "गही एक टेक" की व्याख्या तथा पृष्ठ-३९९, श्लोक-"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां....।"), श्रीमीराबाई ने लोक-लाज और कुल-कानि को तिलाञ्जलि देकर भगवान् श्रीगिरिधर को भजा। क्योंकि ये सब भक्ति के बाधक हैं। यथा-"सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई।। ये सब राम भक्ति के बाधक। कहहिं सन्त तव पद अवराधक।।" (रा०च०मा०) "मीरा गिरिधर भजी" -इसके दो अर्थ होंगे। एक अर्थ भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ-गिरिधर

ने मीरा को भजा। भगवान का विरद है–"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गी०) "सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाकहँ कतहुँ न ठांउ। आए सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषि राउ।।" (गी०) आदि "सदृश गोपिका प्रेम"–(देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ–१९० तथा पृष्ठ–३९४, व्रजनारि की व्याख्या)। "कलिजुगहिं दिखायो"–यह विशेष बात है। गोपियाँ द्वापर में हुईं। श्रीमीराबाईजी कलियुग में हुईं। गोपियों ने साक्षात् श्रीकृष्ण को देखा था। परन्तु इन्होंने तो केवल सन्तों से सुनकर उस प्रेम का पूर्ण निर्वाह किया था। "निर अंकुश अति निडर"–श्रीभगवदाश्रयी किसी से नहीं डरता है। यथा–"तुलसिदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।" (वि०) क्योंकि भगवान का विरद है कि–"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।।" (वा०रा०) "रसिक जस रसना गायो" इसके भी दो अर्थ होंगे। (१)–रसिक श्रीराधाकृष्ण और रसिक भक्तों का यश मीरा ने गाया। (२) रसिक श्रीराधाकृष्ण एवं रसिक भक्तों ने मीरा का यश गाया। "बार न बांकौ भयौ" यथा–"जाको राखै साइयां मारि सकै नहिं कोय। बार न बांकौ करि सकै जो जग बैरी होय।।" दृष्टान्त–श्रीचन्द्रहासजी का, प्रह्लादजी का। देखिये पूर्वार्द्ध में इनकी कथा। "भक्ति निशान बजायकै"–इससे जनाया गया कि श्रीमीराबाईजी की गुप–चुप की भक्ति नहीं थी, बल्कि लोक में उजागर थी, सर्वविदित थी। डंके की चोट पर इन्होंने भक्ति–साधना की। यथा–"अब तो बात फैलि गई जानत सब कोई। मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।।"

"मेरतौ" जनम भूमि, झूमि हित नैन लगे, पगे गिरिधारी लाल, पिता ही के धाम में।
राना कै सगाई भई, करी व्याह सामा नई, गई मति बूड़ि, वा रँगीले घन श्याम में।।
भांवरैं परत मन सांवरे सरूप मांझ, तांवरैं सी आवैं, चलिबे कौ पति ग्राम में।
पूछैं पिता माता "पट आभरन लीजियै जू" लोचन भरत नीर कहा काम दाम में।।४७१।।

शब्दार्थ—सामा=सामान, सामग्री। तांवरैं=चक्कर, मूर्च्छा।

भावार्थ—भक्तिमती श्रीमीराबाई की जन्मभूमि मेड़ता नगर (जोधपुर) में थी। बाल्यकाल में जब आप अपने पिताजी के घर रहती थीं, तभी प्रेम परवश होकर आपके नैन श्रीगिरिधर लालजी से लग गये थे। उसके बाद चित्तौड़ के राणा साँगा के सुपुत्र श्रीभोजराजजी से आपकी सगाई हुई। विवाह के समय आपके पिताजी ने नई–नई सुन्दर मूल्यवान वस्तुयें एकत्र कीं। परन्तु श्रीमीराबाई का मन तो प्रेमरंग रँगीले घन–श्यामसुन्दर में डूब चुका था। जिस समय श्रीभोजराजजी के साथ भाँवरें पड़ रही थीं, उस समय भी आपका मन साँवरे

श्रीकृष्ण के सुन्दर स्वरूप में फँसा हुआ था। विवाह के पश्चात् जब विदा होकर ससुराल जाने का समय आया तो उस समय इन्हें प्रेम के आवेश में मूर्च्छा-सी आ गई। इनकी ऐसी विह्वल दशा को देखकर पिताजी कहने लगे कि-"मन में किसी प्रकार दु:ख न मानो, जो वस्त्र एवं आभूषण तुम्हें प्रिय हों ले लो।" उस समय आपके नेत्रों में आँसू भरे थे, आपने पिताजी को उत्तर दिया कि-"इस धन-दौलत से मुझे क्या काम?"।।४७१।।

व्याख्या—मेरतौ जनम—श्रीमीराबाई का मन राठौरों की मेड़तिया शाखा के प्रवर्तक रावदूदाजी के द्वितीय पुत्र राणारत्नसिंह की पत्नी कुसुमकुँवरि के गर्भ से बैशाख सुदी ३ सं० १५५५ वि० में जोधपुर राज्यान्तर्गत कुड़की ग्राम में हुआ था। गोपी का अवतार होने से इनमें भक्ति के संस्कार जन्मजात थे। कथा आई है कि श्रीकृष्ण काल में एक गोपिका सास-ननद आदि के अत्यन्त नियन्त्रण में रहने के कारण जी भरकर श्रीकृष्ण का दर्शन नहीं कर पाती थी। जिस दिन श्रीकृष्ण ने समस्त ब्रजवासियों से श्रीगिरिराज गोवर्धन का पूजन करवाया था और श्रीगिरिराजजी ने प्रकट होकर सबसे मनचाहा वरदान माँगने को कहा, तब सबने अपना-अपना अभीप्सित वर माँगा। उस समय इस गोपी ने यही वर माँगा कि-"हे गिरिराज महाराज! मेरा यह जन्म तो यों ही व्यर्थ ही गया। कर्कश सासु और निर्दयी ननद हमें श्रीकृष्ण का दर्शन भी नहीं करने देती हैं। अब अगले जन्म में आप ऐसी कृपा करो कि मैं लोक-लाज, कुल-कानि को छोड़कर एक मात्र श्रीकृष्ण को ही भजूँ।" वही गोपी श्रीमीराबाईजी के रूप में प्रकट हुई। श्रीमीराजी ने अपने एक पद में इस भाव का संकेत किया है। यथा-"बहुत दिना पै प्रीतम पाया बिछुड़न को मोहि डर रे। मीरा कहै अति नेह जुड़्यौ मैं लियो पुरबलो वर रे।।"

पगे गिरिधारी लाल०—मीरा जब पाँच साल की थीं। तब घर पर एक सन्त पधारे। उनके साथ में उनके सेव्य ठाकुर श्रीगिरिधर गोपालजी थे। जब सन्तजी श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा करते तो मीरा अत्यन्त अनुराग पूर्वक उनकी सेवा-पूजा का दर्शन करतीं। दर्शन करते-करते शरीर पुलकायमान हो जाता, आँखें सजल हो जातीं, इन्हें समाधि सी लग जाती। इनकी यह प्रेमावस्था देखकर सन्त अनुमान करते कि निश्चय ही यह कोई दैवी गुण सम्पन्न संस्कारी बालिका है। जब सन्तजी वहाँ से पधारने लगे तो मीरा अपनी माँ से मचल गईं कि मुझे सन्तजी से उनके ठाकुरजी दिलवा दो। बात बड़ी कठिन थी। परन्तु सन्तजी चूँकि मीरा का प्रेम देख चुके थे। अत: इनकी माँ के कहने पर उन्होंने अपने श्रीठाकुरजी को मीरा को दे दिया। उसी दिन से मीरा श्रीगिरिधर गोपालजी के अनुराग रंग

में रंग गईं। ''पिता ही के धाम में'' -इससे भी इनकी बाल्यावस्था से ही भक्ति पाई जाती है। शास्त्र का आदेश भी है-''कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।।'' (भा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५६०। वर्णन आया है कि एक दिन राजमहल के समीप से एक बारात जा रही थी। इनकी माता इन्हें गोद में लेकर बारात देख रही थीं और इन्हें बता रही थीं कि देखो ये बराती हैं और यह दूलह है। आदि। वस्त्राभूषणों से खूब सजे-धजे दूलह को देखकर इन्होंने बालसुलभ स्वभाववश पूछा-''माँ! मेरा दूलह कौन है?'' माँ ने भी सहज भाव से हँसकर कहा-''बेटी! तेरे दूलह तो श्रीगिरिधर लालजी हैं।'' इतना सुनते ही इन्होंने घूँघट काढ़ लिया। उसी दिन से मीरा श्रीगिरिधर प्रेम दिवानी हो गईं। अब तो सारा खेल-कूद तथा सारी चंचलता छोड़कर श्रीगिरिधरलालजी की सेवा में ही लग गईं। उनका बढ़िया से बढ़िया शृंगार करतीं, भोग लगातीं, उनकी छवि का दर्शन करते-करते भाव-विभोर हो जातीं, समाधि लग जाती। न खाने की सुधि, न पीने की, न किसी काम-काज की। लोगों को आश्चर्य होता कि पाँच वर्ष की बालिका में इतना अनुराग कैसे? ''राना कै सगाई भई'' -जब श्रीमीराबाई के विवाह की चर्चा चली तो इन्होंने प्रथम अपनी सखी से, फिर माता से भी यह बात कही-''माई म्हाने सपने में बरी गुपाल। राती पीती चुनरी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाल।। काईं और कूं बरूँ भांवरी म्हाँ को जग जंजाल। मीरा के प्रभु श्रीगिरिधर नागर करी सगाई हाल।।'' पुनः-''ऐसे वर कूँ को बरै, जो जनमै अरु मरि जाय। बर बरिये गोपाल कूँ, चूड़ो अमर ह्वै जाय।।'' परन्तु इनकी इस बात पर किसी ने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। अन्ततोगत्वा वि० १५७२ में श्रीमीराबाई का विवाह मेवाड़ के महाराणा सांगा के युवराज कुमार भोजराज से कर दिया गया। परन्तु अव्यक्त रूप से श्रीमीराजी ने भाँवर के समय श्रीगिरिधारीजी के साथ फेरी दी। ''मन साँवरे सरूप माँझ''-''नैंना मेरे अटकेरी माई वा मोहन के संग। कहा करौं बरजो नहिं मानत रँगे उनहिं के रंग।। औरनि को तिरछै दै चितवत गुरुजन हूँ सो जंग। सूरदास प्रभु प्रेम सुरति सों होत न कबहूँ भंग।।''

'देवौ गिरिधारीलाल, जौ निहाल कियौ चाहौ, और धन माल सब राखियै उठाय कै'।
बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़्यौ भारी, रोय मिली महतारी, कही 'लीजियै लड़ाय कै'।।
डोला पधराय, दृग-दृग सों लगाय चलीं, सुख न समाय चाय, प्रानपति पाय कै।
पहुँचीं भवन सासु देवी पै गवन कियौ तिया अरु बर गँठजोरौ कर्यौ भाय कै।।४७२।।

शब्दार्थ—निहाल=पूर्णकाम, सब प्रकार से सन्तुष्ट।

भावार्थ—श्रीमीराबाई ने अपने माता पिता से कहा–"आप लोग यदि हमें इच्छित वस्तु देकर सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहते हैं तो श्रीगिरिधरीलालजी को मुझे दे दीजिये। इसके अतिरिक्त और सब धन-माल-सामान उठाकर रख लीजिये। माता-पिता को बेटी मीरा बहुत प्यारी थी। अत: जब मीराजी की माता ने देखा कि इस पर श्रीकृष्ण के प्रेम का बहुत गहरा रङ्ग चढ़ गया है, तो रोते-रोते श्रीमीराजी को अपने गले से लगा लिया और कहा कि–"श्रीगिरिधरलालजी को तुम ले लो और अपने साथ इन्हें ले जाओ, खूब प्रेम से इनकी सेवा-पूजा करो।" श्रीमीराजी ने अपनी पालकी में अपने सामने श्रीगिरिधरलालजी को पधरा लिया और उनके नेत्रों से नेत्र मिलाती हुई चलीं। अपने प्राणपति श्रीठाकुर को पाकर आनन्दमग्न श्रीमीराजी अपने में फूली नहीं समाती थीं। इस प्रकार वे राणा भोजराज के भवनों में पहुँच गईं। सासु ने इन्हें पालकी से उतारा। रुचिपूर्वक वर-दुलहिन की गाँठ जोड़ी गई और उन्हें देवी के मन्दिर में लाया गया।।४७२।।

व्याख्या—देवौ गिरिधारीलाल—"देरी माई अब म्हाँकों गिरिधरलाल। प्यारे चरण की आनि करत हौं और न दे मणिलाल।। नातो सांगो परिवारो सारो मुंने लगै मनौ काल। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर छबि लखि भई निहाल।।"

देवी के पुजायबेकौं, कियौ लै उपाय सासु, वर पै पुजाइ, पुनि बधू पूजि भाखियै।
बोली 'जू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ, और को न नवै, एक वही अभिलाखियै'।।
'बढ़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करौ, करौ जिनि हठ सीस पायनि पै राखियै'।
कही बार बार 'तुम यही निरधार जानौ वही सुकुमार जापै वारि फेरि नाखियै'।।४७३।।

भावार्थ—देवी जी के मन्दिर में पहुँचकर सासु ने देवी-पूजा की तैयारी की। पहले उसने वर से देवी का पूजन करवाया। उसके बाद मीराजी से कहा–"वधू! अब देवी का पूजन करो।" श्रीमीराजी ने कहा–"हमारा यह मस्तक तो श्रीगिरिधरलालजी के हाथ बिक चुका है, अब यह किसी दूसरे देवी-देवता के लिये नहीं झुक सकता है। मेरे मन में एक उन्हीं को देखने की-प्रणाम करने की अभिलाषा है।" यह सुनकर सासु ने कहा–"कुलपूज्या देवीजी हैं, इनकी पूजा करने से नारियों का सौभाग्य बढ़ता है। इसलिए तुम हठ न करो, देवी नाराज हो जायगी। श्रीदेवीजी के चरणों में सिर रखकर प्रणाम करो।" श्रीमीराजी ने सास के हठ करने पर बार-बार यही कहा कि–"आप इसे निश्चय करके मान लो कि–"मैंने सुकुमार

****

भगवान श्यामसुन्दर के श्रीचरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। अब अन्य का पूजन या प्रणाम मुझसे नहीं होगा।।४७३।।

व्याख्या—बोली जू बिकायौ माथौ०—यथा-''ना मैं पूजा गौरज्याजी ना पूजा अनदेव। म्हें पूजा रनछोड़जी थे कांईं जाणो भेव।।'' पुनः-''पल काटौं सही इन नैननि के गिरिधारी बिना पल अन्त निहारैं। जीभ कटै न भजै नन्दनन्दन बुद्धि कटै हरि नाम बिसारे।। मीरा कहै जरि जाउ हियौ पद कंज बिना मन औरहिं धारै। सीस नवै व्रजराज बिना वहि शीशहिं काटि कुवां किन डारै।।'' (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१५, ''पन सोधो'' की व्याख्या)।

तब तौ खिसानी भई, अति जरि बरि गई, गई पति पास ''यह बधू नहीं काम की।
अबहीं जवाब दियौ, कियौ अपमान मेरौ, आगे क्यों प्रमान करै?'' भरै स्वास चाम की।।
राना सुनि कोप कर्‌यौ, धर्‌यौ हिये मारिबोई, दई ठौर न्यारी, देखि रीझीमति बाम की।
लालनि लड़ावै गुन गाय कै मल्हावै, साधु संगही सुहावै, जिन्हैं लागी चाह स्याम की।।४७४।।

शब्दार्थ—चाम की=चमड़े की, लोहार की धौंकनी। मल्हावै=प्यार करै, पुचकारै।

भावार्थ—श्रीमीराजी का दो टूक उत्तर सुनकर उनकी सासु खिसिया गई और मन ही मन जल भुन गई। अपने पति के पास जाकर उसने कहा-''यह बहू तो मेरे किसी काम की नहीं है। अभी ही इसने मेरा कहा न मानकर, उल्टा जवाब देकर मेरा अपमान किया, तो आगे चलकर मुझे क्या मानेगी?'' यह कहकर वह लोहार की धौंकनी की तरह जोर-जोर से लम्बी साँसें लेकर सिसकने लगी। उसकी बातों को सुनकर राणाजी को भी बड़ा भारी क्रोध आया और उसने अपने मन में बहू को मार डालने का निश्चय किया। श्रीमीरा को रहने के लिये अब उसने अलग एक कोठरी दे दी। एकान्त स्थान देखकर इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ वे अपने श्रीगिरिधरलाल को दिन-रात लाड़ लड़ाती रहतीं तथा सेवा-पूजा करते हुए उन्हीं के गुणों का गान करती रहतीं। जिन्हें श्यामसुन्दर से मिलन की तीव्र उत्कण्ठा होती है, उन्हें सन्तों का सत्संग ही अच्छा लगता है। श्रीमीराजी भी सदा साधुओं का संग करतीं।।४७४।।

व्याख्या—यह वधू नहीं काम की—बात ठीक भी है। जिनकी लगन जगदीश्वर से लग जाती है वे जगत् के काम के नहीं रह जाते हैं। यथा-''जाहि लगन लगी घनश्याम की। धरत कहूँ पग परत हैं कितहूं भूलि जाय सुधि धाम की।। जित मुँह उठै तितै ही धावै सुरति न छाया घाम की। छवि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि पल निशि दिन जाम की।। अस्तुति

निन्दा करौ भले ही मेंड़ तजी कुल ग्राम की। नारायण बौरी भई डोलै रही न काहू काम की।।'' ''अबहीं जबाव दियो'' -इस सम्बन्ध में रीवां नरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी श्रीरामरसिकावली में लिखते हैं कि-''कही सासु तब मंजुल बानी। मम कुल रीति बहू नहिं जानी।। ये कुल देव सदा के म्हारे। पूजे रही सुहाग तिहारे।। यह सुनि चितै चहूँ कित मीरा। बोली विधवन लखि मति धीरा।। इनके पूजत बढ़ै सुहागा। यह जो कह्यौ मृषा मोहिं लागा।। ये सब तिय जो तुव घर आईं। पूजे ह्वै हैं देवि सदाईं।। भईं कहौ विधाता केहि हेतू। मोहिं दीखैं द्वै चार निकेतू।।'' इन्हीं बातों पर रुष्ट होकर इनकी सास शिकायत करती है कि-''अबहीं जबाव दियो''। ''दई ठौर न्यारी'' -राजमहल के पास ही एक पुराना महल था। उसके सम्बन्ध में राजपरिवार का ऐसा निश्चय था कि इसमें भूत निवास करते हैं। क्योंकि इस महल में निवास काल में उनकी धन-जन की बड़ी क्षति हुई थी। अतः उसे छोड़कर नया महल बनवाकर रहने लगे थे। डर के मारे कोई भी उस घर में पाँव नहीं धरता था। वह भूत घर के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। मीराबाई को वहीं रहने के लिये भेजा गया। सोचे कि भूत ही इसे डराकर मार डालेंगे। हमें स्त्री वध का जघन्य पाप नहीं करना पड़ेगा। परन्तु भगवत्कृपा से जब मीराजी ने भूमि शोधन के लिये घर में जल का छिड़काव किया तो जल की कुछ बूँदें भूतों के शरीर पर भी पड़ीं। फलस्वरूप वे भूतयोनि से मुक्त होकर दिव्य स्वरूप धारणकर श्रीमीराबाई का जय-जयकार करते हुये स्वर्ग सिधार गये। ये भूत और कोई नहीं थे, राणा के पुरखा ही थे। शुभाचरण के अभाव में प्रेत हुये थे। अब श्रीमीराबाई का दर्शनकर, उनके कर-कमल से छिटकी जल की बूँदों का स्पर्श पाकर पापमुक्त हो गये। मीरा भी बड़ी प्रसन्न हुईं कि चलो अच्छा हुआ-''एकान्त बासा। न झगड़ा न झासा।।''

आय कै ननँद कहै ''गहै किन चेत भाभी! साधुनि सों हेत में कलंक लागै भारियै।
राना देसपति लाजै, बाप कुल रीति, जात, मानि लीजै बात बेगि सङ्ग निरवारियै''।।
''लागे प्रान साथ सन्त, पावत अनन्त सुख, जाको दुख होय, ताको नीके करि टारियै।
सुनिकै, कटोरा भरि गरल पठाय दियौ, लियौ करि पान रंग चढ्यौ यों निहारियै।।४७५।।

शब्दार्थ—चेत=होश, ज्ञान, समझ।

भावार्थ—श्रीमीराजी को सन्तों का सङ्ग करते देखकर किसी दिन उनकी ननद जिसका नाम ऊदाबाई था, उसने आकर कहा-''भाभी! तुम समझती क्यों नहीं हो, साधुओं से प्रेम करने से कुल को बड़ा भारी कलंक लगता है। राणाजी देश के राजा हैं, तुम्हारे

इस स्वच्छन्द आचरण से उन्हें लज्जित होना पड़ रहा है और तुम्हारे पितृकुल की जो रीति है, वह भी नष्ट हो रही है, इसलिये मेरी बात मान लो। साधुओं का सङ्ग करना शीघ्र ही छोड़ दो।'' श्रीमीराजी ने उत्तर में कहा–''मेरे प्राण सदा साधुओं के साथ लगे रहते हैं। इसलिये उनके सङ्ग से मुझे अपार सुख प्राप्त होता है। मेरे आचरणों से जिसे दुःख होता हो, उसे मुझसे बिल्कुल अलग रक्खो। इनकी यह बात सुनकर राणा ने एक कटोरा भरकर विष भगवच्चरणामृत कहकर भेज दिया। श्रीमीराजी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक पी लिया। पी लेने के बाद इनके अङ्ग में एक विशेष प्रकार की कान्ति दिखलाई पड़ने लगी।।४७५।।

व्याख्या—लागे प्रान साथ संत०—मीराबाई ने दो टूक जवाब दिया–''बरजी मैं काहू की नाहिं रहूं। सुनौरी सखी तुम चेतन होइकै मन की बात कहूं।। साधु संगति करि हरि सुख लेऊँ जग सूँ दूरि रहूँ। तन धन मेरौ सबही जावौ भलि मेरौ सीस लहूँ।। मन मेरौ लागौ सुमिरण से ही सबका मैं बोल सहूँ। मीरा के प्रभु हरि अविनासी सत्गुरु शरण गहूँ।।''

''कटोरा भरि गरल पठाय०''—राणा का खास मुसाहिब बीजा वर्गी जाति का एक महाजन था। उसकी सलाह से राणा ने दयाराम नामक पण्डा के हाथ मीराबाई के पास विष का प्याला चरणामृत कहकर भेजा। श्रीमीराबाई ने चरणामृत सुनकर उसे पी लिया परन्तु श्रीहरि कृपा से उन पर विष का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। कहते हैं कि जिस समय मीराबाई ने विषपान किया था, उस समय श्रीद्वारकाजी में श्रीरणछोर भगवान की मूर्ति के मुख से झाग निकलता दिखलाई पड़ा था। उस समय मीराबाई ने यह पद गाया था–''राणाजी जहर दियौ हम जाणी। जैसे कंचन दहत अगिनि में निकसत बारा बाँणी।। लोक लाज कुल कानि जगत की दई बहाय जस पाँणी। अपने घर का परदा करले मैं अबला बौराँणी।। तरकस तीर लग्यौ मेरे हियड़े गरक गयौ सनकांणी। सब सन्तन पर तन मन वारूँ चरण कमल लपटाँणी।। मीरा के प्रभु राखि लई है दासी अपनी जांणी।।''

गरल पठायौ, सो तौ सीस लै चढ़ायौ, संग त्याग विष भारी ताकी झार न सँभारी है।
राना नै लगायौ चर, बैठे साधु ढिग ढर, तबही खबर कर, मारौं यहै धारी है।।
राजैं गिरिधारीलाल, तिनहीं सों रङ्ग जाल, बोलत हँसत ख्याल, कानपरी प्यारी है।
जाय कै सुनाई, भई अति चपलाई, आयौ लिये तरवार, दै किवार, खोलि न्यारी है।।४७६।।

शब्दार्थ—झार=लपट, तीक्ष्ण गन्ध। चर=सेवन, दूत। ढर=आकर।

भावार्थ—राणाजी ने जो विष भेजा, उसे तो श्रीमीराजी ने सादर-सहर्ष स्वीकार कर उसे पी लिया परन्तु साधु-सङ्ग त्याग रूप जो विष उसकी नाम मात्र गन्ध को भी नहीं

सहन कर सकीं। जब वे विष पीकर भी नहीं मरीं और साधु सङ्ग को नहीं छोड़ा, तब राणा ने अपने गुप्तचर लगा दिये। उनसे कह दिया कि-''जब मीरा के पास कोई साधु आकर बैठा हो, तभी तुम लोग मुझे सूचना देना। मैं उसी समय उसे मार डालूँगा। यह मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है।'' श्रीमीराजी के भवन में तो श्रीगिरिधरलालजी नित्य ही विराजते थे। ये उन्हीं के साथ हँसती-बोलती और खेलती रहती थीं। एक दिन हँसने-बोलने की प्रिय ध्वनि गुप्तचरों के कानों में पड़ी। उन्होंने झट जाकर राणा को खबर कर दी। सुनते ही राणा अत्यन्त अधीर हो गये। तलवार लेकर जल्दी-जल्दी दौड़े आये और द्वार पर उन्होंने पुकारकर कहा- ''किवाड़ खोलो।'' श्रीमीराजी ने किवाड़ खोल दिये। राणा को कोई साधु नहीं दिखलाई पड़ा। वहाँ अकेली वे ही थीं।।४७६।।

व्याख्या—संग त्याग विष भारी—इस पर दृष्टान्त कथा देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३९१। ''तिनहीं सों रंग जाल''-श्रीमीराबाई आज श्रीगिरधरलालजी के साथ पासा खेल रही थीं। बाजी लगी थी प्राणों की। यथा-''चौपर खेलूँ पीव संग, बाजी राखूं जीव। हारूं तो मैं पीव की, जीतूं तो मम पीव।।''

''जाके सङ्ग रंग भींजि, करत प्रसंग नाना, कहां वह नर गयौ, वेगि दै बताइयै''।
''आगे ही बिराजै, कछू तोसों नहीं लाजै, अभूं देखि सुख साजै, आंखैं खोलि दरसाइयै''।।
भयोई खिसानौ राना, लिख्यौ चित्र भीत मानो, उलटि पयानौ कियौ, नेकु मन आइयैं।
देख्यौ हूं प्रभाव ऐपै भाव में न भिद्यौ जाइ, बिना हरिकृपा कहो कैसे करि पाइयै।।४७७।।

शब्दार्थ—भींजि=भीगकर। प्रसंग=मेल विहार। भिद्यो=प्रवेश किया।

भावार्थ—राणा ने फटकारते हुए उनसे पूछा-''जिसके प्रेम रंग में तू रँगी है, जिसके साथ हँस-बोलकर अनेक प्रकार से रमण कर रही थीं। वह मनुष्य कहाँ गया, मुझे जल्दी बता।'' श्रीमीराजी ने श्रीठाकुरजी की ओर संकेत करके कहा-''वह मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे सामने ही तो विराज रहे हैं। वे तुमसे लज्जा नहीं करते हैं, अब आप भी आँखें खोलकर देख लो। क्या ही सुन्दर साज-शृङ्गार से सजे हैं।'' राणा खिसिया गये, किं कर्तव्य विमूढ़ होकर ऐसे स्तब्ध हो गये, मानो दीवाल पर कोई चित्र बना हो। थोड़ी देर बाद वहाँ से वापस लौट आये। क्षण भर के लिये उसके मन में आया कि -''मीरा के साथ ठाकुरजी ही लीला कर रहे थे।'' प्रेम का प्रत्यक्ष प्रभाव (ठाकुरजी का पासा फेंकना) देखकर भी विमुख के हृदय में भक्ति-भाव का प्रवेश स्पर्श नहीं होता है। राणा के मन में सद्भाव

उत्पन्न नहीं हुआ। भक्त-भगवन्त की कृपा के बिना कहो, उसे कोई कैसे पा सकता है, अर्थात् नहीं पा सकता है।।४७७।।

व्याख्या—आगेही विराजैं०—राणा ने पूछा- तुम किसके साथ राग-रङ्ग में लगी हुई थीं, वह पुरुष कहाँ हैं? मीरा ने उत्तर दिया-"वह पुरुष नहीं था, पुरुषोत्तम थे और तुम्हारे आगे ही विराजमान हैं।" फिर मीरा ने यह पद गाया-"राणाजी मैं तौ साँवरे रँगराती। जिनके पिया परदेश बसत हैं वे लिख लिख भेजैं पाती।। मेरा पिया मेरे हिये बसत है यह सुख कह्यौ न जाती। झूठा सुहाग जगत का री सजनी होय होय मिट जासी।। मैं तो एक अविनासी वरूँगी जाहि काल नहिं खासी। और तो प्याला पी पी माती मैं विन पियेही माती।। ये प्याला है प्रेमहरि का मैं छकी रहूँ दिन राती। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर खोल मिली हरि छाती।।" "भयोई खिसानो राना"-राणा को पुरुषोत्तम के दर्शन तो नहीं हुए। हाँ हुए भी तो श्रीनरसिंह भगवान के। परन्तु खैर इतनी थी कि जैसे नृसिंह भगवान ने हिरण्यकशिपु का उदर विदीर्ण कर उसे मार डाला था, वैसे राणा का उदर विदीर्ण न किया। वह वहाँ से चला आया।

बिषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ, कियौ यों प्रसंग "मोसों अंग संग कीजियै।
आज्ञा मोकों दई आप लाल गिरिधारी," अहो सीस धरि, लई, करि भोजन हूं लीजियै"।।
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियौ, संक अब कौंन की निसंक रस भीजियै"।
सेत मुख भयौ, विषैभाव सब गयौ, नयौ पांयन पै आय, 'मोकौ भक्तिदान दीजियै'।।४७८।।

शब्दार्थ—विषई=कामी। कुटिल=टेढ़ा, दुष्ट, पाजी। सेत=श्वेत, सफेद, उदास।

भावार्थ—एक बार एक कामी नीच मनुष्य साधु का वेष धारणकर श्रीमीराजी के पास आया और बोला-"तुम्हारे ठाकुर श्रीगिरिधरलालजू ने स्वयं मुझे आज्ञा दी है कि मीरा के साथ अङ्ग सङ्ग करो। इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ, तुम मेरे साथ अंग-संग करो।" ऐसी बात जब उसने कही, तो श्रीमीराजी ने उत्तर दिया कि-"आज्ञा स्वीकार है, परन्तु प्रथम आप भोजन कीजिये। फिर आपकी यथोचित् सेवा होगी।" उसने भोजन किया। पश्चात् मीराजी ने सन्तों के बीच में शय्या बिछाकर उस विषयी पुरुष को बुलाकर कहा- "मेरे ठाकुरजी ने जैसी आज्ञा आपको दी है, वैसा ही कीजिये।" वह बड़े भारी संकोच में पड़ गया। तब पुनः मीराजी ने कहा-"अब आप किसका संकोच और किसकी शंका कर रहे हैं, निःशंक होकर रसास्वादन कीजिये।" ऐसी बात सुनते ही उसका मुख

सफेद उदास हो गया। श्रीमीराजी की भक्ति के प्रताप से उसकी विषय-वासना सर्वथा दूर हो गई। वह तत्काल पैरों में गिर गया और रोता हुआ बोला-''अब आप मुझे भक्ति का दान दीजिये।।४७८।।

व्याख्या—कहते हैं कि इस घटना के बाद राणा ने पुनः श्रीमीराबाईजी की मृत्यु का एक असफल प्रयास किया। उसने एक पिटारी में महा विषधर सर्प बन्द कर यह कहकर भिजवाया कि इसमें श्रीशालग्राम भगवान हैं, इनकी पूजा करना। श्रीमीराबाईजी ने सहर्ष पिटारी अपने हाथ में ले ली, हृदय से लगाई और स्नान करके पूजा के लिए ज्योंही उसे खोला तो श्रीगिरधरलालजी की कृपा से वह देखते-देखते सर्प से शालग्राम हो गये। उस समय श्रीमीराजी ने यह पद गाया-''मीरा मगन भई हरि के गुण गाय। साँप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियौ जाय।। न्हाय धोय जब देखन लागी सालग्राम गई पाय।। जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय। न्हाय धोय जब पीवन लागी होई अमर पचाय।। सूल सेज राणा ने भेजी दीजो मीरा सुलाय। सांझ भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय।। मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे विघन हटाय। भजन भाव में मस्त डोलती गिरिधर पै बलि जाय।।''

रूप की निकाई भूप 'अकबर' भाई हिये लिये संग तानसेन देखिबेकों आयो है।
निरखि निहाल भयो, छबि गिरिधारीलाल, पद सुखजाल एक, तबही चढ़ायो है।।
वृन्दावन आइ, जीव गुसांई जू सों मिलि झिली, तिया मुख देखिबे को पन लै छुटायो है।
देखि कुंज कुंज लाल प्यारी सुखपुंज भरी धरी उर मांझ, आय देस, बन गायो है।।४७९।।

शब्दार्थ—निकाई=अच्छाई। वन=वृन्दावन।

भावार्थ—श्रीमीराजी के विलक्षण रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर अकबर बादशाह का हृदय आकृष्ट हो गया। इनका दर्शन करने की इच्छा से वह तानसेन को साथ लेकर आया। श्रीगिरिधरगोपालजी की छवि एवं श्रीमीराजी के भक्ति-भूषित सहज-सरस सौन्दर्य को देखकर बादशाह निहाल हो गया। तानसेन ने एक सुन्दर पद गाया और बादशाह ने एक मणिमाला अर्पण की। श्रीमीराबाई श्रीधाम वृन्दावन आईं और श्रीजीवगोस्वामीजी से मिलकर उनसे सत्संग कर सन्तुष्ट हुईं। उनके स्त्री मुख न देखने के प्रण को आपने छुड़ा दिया। श्रीवृन्दावन की सभी कुञ्जें प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव के विहार सुख समूह से निरन्तर भरी हुई हैं। श्रीमीराजी ने उनका दर्शन किया। फिर उन्हें अपने हृदय में स्थापित

करके अपने देश को लौट आईं। वहाँ रहते हुए आपने श्रीवृन्दावन की अनुभूत-निकुञ्ज लीला को अपने पदों द्वारा गाया।।४७९।।

व्याख्या—भूप अकबर भाई हिये—अकबर बादशाह के शासनकाल में एक बार विलायत (इंग्लैण्ड) के बादशाह ने अकबर के यहाँ पत्र लिखा कि तुम्हारे यहाँ जो सबसे सुन्दर वस्तु हो उसे लिखना और जो सबसे सुन्दर मेवा हो उसे लिखना। तब अकबर ने उसे लिखा कि हमारे यहाँ सबसे सुन्दर वस्तु तो एक अहीर का छोहरा है और सबसे बढ़िया मेवा बेर है। अहीर का छोहरा कहने में व्यङ्ग यह था कि जब हमारे यहाँ का अहीर का बालक भी लोकोत्तर सौन्दर्यवान है तो और की बात ही क्या? और मेवा में बेर को सर्वश्रेष्ठ मेवा कहने का भाव यह है कि जहाँ की बेर मेवा से भी मीठी है, वहाँ की मेवा का कहना ही क्या है? तब विलायत के बादशाह ने गुप्तचरों द्वारा पता लगाया तो पता चला कि अहीर के छोहरा श्रीकृष्ण हैं, तब उसने श्रीकृष्ण की शोभा की बड़ी सराहना लिखकर भेजी और कहा कि तभी सारा संसार श्रीकृष्ण पर रीझा हुआ है। तब एक बार अकबर ने तानसेन से पूछा कि-''श्याम सलोने श्रीकृष्ण पर तो सब रीझते हैं, परन्तु वह साँवरा भी किसी पर रीझता है?'' तब तानसेन ने मीराबाई का परिचय दिया। साधुवेष धारणकर अकबर तानसेन को लेकर श्रीमीराबाई का दर्शन करने आया। ''पद सुखजाल'' तानसेन ने श्रीगिरिधरलालजी के सामने एक पद गाया। वह इस प्रकार है- ''सुमिरन हरि का करौ रे जासों होय भवपार। यही सीख जान मान कह्यौ है पुराण में भगवान आप करतार।। दीन बन्धु दयासिन्धु पतितपावन आनन्दकन्द तोसे कहत हौं पुकार। तानसेन कहै निर्मल सदा लहिये नर देही नहिं बार बार।।'' कहते हैं कि अकबर ने एक बहुमूल्य मणियों की माला श्रीगिरिधरलालजी को भेंट की। यद्यपि श्रीमीराबाई ने बहुत मना किया परन्तु वह तो श्रीठाकुरजी के आगे अर्पण कर चला ही गया। इसे ठाकुरजी की ही इच्छा मानकर श्रीमीराबाई ने उस मणिमाला को श्रीठाकुरजी को धारण करा दिया।

इनकी ननद ऊदाबाई ने देखा तो जाकर तुरन्त अपने भाई राणा विक्रम से कहा। वह तत्काल आया। मणिमाला को देखा, देने वाले का परिचय पूछा। इन्होंने इतना ही कहा कि दो सज्जन साधु वेष में आये थे। उन्हीं में से एक ने यह माला अर्पण की है। राणा विक्रम वह हार लेकर चला गया। जब उसका बारीकी से निरीक्षण किया गया तो उसकी हर मणि पर अकबर का नाम लिखा मिला। तब तो उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा। क्योंकि उन दिनों अकबर से राजपूतों का घोर बैर चल रहा था। विक्रम को लगा कि यह

दुश्मन से मिली है। फिर तो उसने श्रीमीराबाई को मार डालने का एक नया तरीका फिर सोचा। उसने विचार किया कि मीरा के प्राण श्रीगिरिधरलालजी में अटके हैं। यदि श्रीगिरिधर लालजी को इनसे पृथक् कर दिया जाय तो यह खुद मर जायेगी। बस, उसने एक दिन झटके में आकर श्रीगिरिधरलालजी को उठा लिया और ले जाकर एक गहरे सरोवर में फेंक दिया। तब प्रेम दिवानी मीरा भी श्रीगिरिधरलालजी के साथ ही सरोवर में कूद गईं। श्रीठाकुरजी तत्काल इनकी छाती से आ लगे और ऐसी लीला की कि मीरा कूदीं तो थीं चित्तौड़ में और प्रगट भईं आकर श्रीवृन्दावन में श्रीयमुनाजी से।

जीव गुसाईं जू सों मिलि—कहते हैं कि श्रीवृन्दावन में प्रकट होकर श्रीमीराजी ने पूछा –"अरे भाई! यहाँ कोई दीपक[१] है दीपक? उत्तर देने वाले ने कहा–"यहाँ सब दीपक ही हैं।" इन्होंने पूछा–"किसी समीपस्थ का नाम बताओ।" तब उस व्यक्ति ने कहा कि यहीं समीप में श्रीजीव गोस्वामिपाद रहते हैं। इन्होंने न जाने कितने जनों के हृदयान्धकार को दूर किया है। श्रीमीराबाई तुरन्त श्रीजीव गोस्वामिपाद की भजनस्थली पर पहुँचीं और उनके सेवक से प्रार्थना की कि मैं पूज्य श्रीगोस्वामीजी से मिलना चाहती हूँ। सेवक के प्रार्थना करने पर श्रीजीवगोस्वामीजी ने विवशता प्रकट करते हुए कहा कि–"मैंने तो प्रण कर लिया है कि कभी भी स्त्री का मुख नहीं देखूँगा।" सेवक ने आकर ज्यौं का त्यौं श्रीगुसाईंजी का वाक्य मीरा के सामने दुहरा दिया। उसे सुनकर श्रीमीराबाई को प्रेमावेश हो आया और उसी आवेश में बोलीं कि–"मैंने भी श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी पुरुष का मुख न देखने का प्रण ठान रखा है। फिर अहो! श्रीवृन्दावन धाम तो श्रीकृष्ण का नित्य केलि विलास स्थल है। यहाँ पर तो अनन्त गोपियों के बीच पुरुष एक मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। अन्य पुरुष का तो यहाँ प्रवेश ही नहीं है। भगवान शिव तक को गोपी बनने पर ही प्रवेश मिला, फिर यह दूसरे पुरुष कहाँ से आ गये जो स्त्री का मुख न देखने का प्रण किये बैठे हैं। मैं अभी स्वामिनी श्रीराधारानी से पूछती हूँ कि आपके रहस्य स्थल में इस दूसरे पुरुष का प्रवेश कैसे हो गया? सेवक ने तुरन्त श्रीजीवगोस्वामी से जाकर श्रीमीराबाई की यह आवेशोक्ति कही। सुनते ही श्रीगोस्वामीपाद समझ गये कि किसी गोपी का अवतार हो गया है। फिर तो वह तुरन्त अपने प्रण का परित्याग करके आकर श्रीमीराबाई से मिले। उन्हें देखकर श्रीमीराबाईजी उनसे वैसे ही लिपट गईं जैसे पुत्री पिता से भेंटती

१–दीपक से तात्पर्य हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूरकर ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करने वाला। अर्थात् भगवत् साक्षात्कार प्राप्त सिद्ध पुरुष।

है। इस बात का बड़ा ही सुन्दर संकेत श्रीवृन्दावन के परम रसिक श्रीहरिरामव्यासजी ने किया है। यथा-"मीराबाई विन को भक्तनि पिता जानि उर लावै।।" (व्यासवाणी) श्रीललिताजी ने श्रीमीराबाई को श्रीवृन्दावन की समस्त कुञ्जों का दर्शन कराया। "वन गायो है"-यथा-"आली म्हाने लागे वृन्दावन नीकौं। घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्द जीकौं।। निरमल नीर बहत जमुना में भोजन दूध दही कौं। रतन सिंहासण आप विराजै मुकुट धर्‌यौ तुलसीकौं।। कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली कौ। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर भजन बिना नर फीकौ।।"

राना की मलीन मति, देखि, बसीं द्वारावति, रति गिरिधारीलाल, नित ही लड़ाइयै।
लागी चटपटी भूप भक्ति कौ सरूप जानि, अति दुख मानि, बिप्र श्रेणी लै पठाइयै।।
वेगि लै कै आवौ मोकों प्रान दै जिवावौ अहो गये द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै।
सुनि बिदा होन गई राय रणछोर जू पै छाँड़ौं राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै।।४८०।।

शब्दार्थ—मलीन मति=द्वेष पापमयी बुद्धि। चटपटी=उत्कट अभिलाषा। श्रेणी=समूह, दल। हीन=अधम, नीच। लीन भई=समा गईं, प्रवेश कर गईं।

भावार्थ—राणा की द्वेष बुद्धि देखकर श्रीमीराजी द्वारका में जाकर बस गईं। वहाँ पर रहते हुए श्रीगिरिधर गोपालजी की भक्ति करतीं। सदा-सर्वदा उनकी सेवा-पूजा करतीं, चाव से लाड़ लड़ातीं। उधर राणाजी को श्रीमीराजी की भक्ति के स्वरुप का ज्ञान हुआ, तो उन्हें बड़ा भारी मानसिक पश्चात्ताप हुआ। तब वे श्रीमीराजी के दर्शनों के लिये अकुलाने लगे। उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को द्वारका भेजा और उनसे कहा कि-"जैसे भी बने आप लोग श्रीमीराबाई को ले आइये। वे आकर मुझे प्राण दान देकर जीवित करें।" ब्राह्मणों ने द्वारका जाकर राणाजी की विनती सुनाई। परन्तु वे द्वारका से वापस लौटने के लिये तैयार न हुईं। तब ब्राह्मण अन्न-जल त्यागकर श्रीमीराजी के द्वार पर धरना देकर पड़ गये। ब्राह्मणों के हठ को देखकर इन्होंने कहा-"अच्छा, तो मैं श्रीरणछोरलालजी से विदा हो आऊँ।" ऐसा कहकर वे मन्दिर में गईं। भगवान के सन्मुख विनती करते हुये इन्होंने इस आशय का पद गाया कि-"प्रभो! मुझ दीन-हीन को अपने श्रीचरणों में रखिये अथवा त्याग कर दीजिये। जैसी आपकी इच्छा।" पद कीर्तन एवं नृत्य करते करते श्रीमीराजी श्रीरणछोड़जी में लीन हो गईं। इसके बाद फिर किसी ने उनका दर्शन नहीं पाया।।४८०।।

व्याख्या—राना की मलीन मति—श्रीवृन्दावन से पुनः देश आने पर राणाजी पुनः पूर्ववत् साधु सङ्ग, हरिभजन आदि से रोकने के विविध उपाय करने लगे। तब मीराजी ने राणा को जवाब देते हुए यह पद गाया था-

अब नहिं मानूँ राणा थारी मैं बर पायौ गिरिधारी।
मनि कपूर की एकै गति है, कोऊ कहौ हजारी।।
कंकर कंचन एकै गति हैं, गुंज मिरच इक सारी।
अनड़ धणी सरणों लीन्हों, हाथ सुमिरणी धारी।।
जोग लियौ तब क्या दिलगीरी, गुरु पाया निज भारी।
साधू संगत यह दिल राजी, भई कुटुम सों न्यारी।।
क्रोड़ बार समझावो मोकों, चलूँगी बुद्धि हमारी।
रतन जटित कौ टोपा सिर पै, हार कण्ठ कौ भारी।।
चरन घूँघरू धमस पड़त है, म्हें करा श्याम सों यारी।
लाज सरम सबही मैं डारी, यों तन चरण अधारी।।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, झख मारो संसारी।।

राणा के व्यवहार से तंग आकर श्रीमीराबाई ने श्रीमद्गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के पास एक ब्राह्मण द्वारा पत्र भेजा। यथा-"तब आयौ मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल। मीराबाई पत्रिका लायौ प्रेम प्रबाल।।" पत्र-

स्वस्ति श्रीतुलसी गुण भूषण दूषण हरण गुसांईं।
बारहिं बार प्रनाम करौं, अब हरौ शोक समुदाई।।
घरके स्वजन हमारे जेते सबनि उपाधि मचाई।
साधु सङ्ग हरि भजन करत म्वहिं देत क्लेश महाई।।
बालापनते मीरा कीन्हीं श्रीगिरिधर लाल मिताई।
सो तों अब छूटत नहिं क्योंहू लगन लगी बरि आई।।
मेरे तात मात के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई।
मोकूँ कहा उचित करिबौ है सो लिखिये समुझाई।।

उत्तर में श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने यह पत्र लिखा-

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।
तज्यौ पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ कन्त व्रज बनितन भे मुद मंगलकारी।।
नातो नेह रामको मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहा आंखि जो फूटै बहुतक कहौं कहां लौं।
तुलसी सो सब भांति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो।। (वि०)

पुनः- **सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो।**
सोई सगो सो सखा सोई सेवक सो गुरु सो सुर साहब चेरो।।
सो तुलसी प्रिय प्राण समान कहाँ लौं बनाय कहौं बहुतेरौ।
जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सों राम को होई सबेरो।।

श्रीतुलसीदासजी का यह उपदेश श्रीमीराबाई को बाण के समान लगा और वह चित्तौड़ छोड़कर द्वारका चली गईं। उन्होंने मार्ग में यह पद गाया-"राय श्रीरणछोड़ दीजो द्वारका में वास। संख चक्र गदा पद्म दरसैं मिटै जमकी त्रास।। सकल तीरथ गोमती के रहत नित्त निवास। संख झालर झाँझ बाजै सदा सुख की रास।। तज्यौ देसरु वेसहू तजि तज्यौ राना राज। दास मीरा सरन आवत तुम्हैं अब सब लाज।।" "अति दुख मानि" -कहते हैं कि मीराजी के क्षुब्ध होकर चित्तौड़ त्यागकर द्वारका चले जाने के बाद वहाँ अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे। बड़े भारी विनाश के कारण दिखाई पड़ने लगे। तब राणा ने विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर इस सम्बन्ध में परामर्श किया तो सबने यही कहा कि यह भागवत अपराध का दुष्परिणाम है, जिससे राजा-प्रजा सभी संकट ग्रस्त हो गये।" विभीषण का तिरस्कार करने पर रावण की भी तो यही दशा हुई थी। यथा-"रावन जबहिं विभीषण त्यागा। भयउ विभव विन तबहिं अभागा।।" (रा०च०मा०) अब यदि तुम अपना एवं अपनी प्रजा का कल्याण चाहते हो तो जैसे हो तैसे श्रीमीराबाईजी को पुनः द्वारका से चित्तौड़ बुलाकर आदर पूर्वक रक्खो। तब राणा ने ब्राह्मणों को भेजा। "गये द्वार धरनौ दै०" -श्रीमीराबाईजी ने प्रथम तो एकदम चित्तौड़ जाने से इन्कार कर दिया। जब ब्राह्मणों ने राष्ट्र का संकट सुनाया तो, श्रीमीराबाईजी ने कहा-"अच्छा, तुम लोग जाओ। अब श्रीरणछोड़लालजी की कृपा से सब संकट टल जायेगा।" परन्तु ब्राह्मण तब भी नहीं

माने। वे धरना देकर बैठ गए, तब श्रीमीराबाईजी ने कहा–"अच्छा, मैं श्रीद्वारकानाथ भगवान से आज्ञा ले आऊँ, तब चलूँ।" यह कहकर आप अत्यन्त विरहभाव से भावित होकर श्रीरणछोड़ भगवान से विदा होने गईं। उस समय आपने ये पद गाये–

हरि तुम हरहु जनकी पीर।
द्रोपदी की लाज राखी तब बढ़ायो चीर।।
भक्त कारण रूप नरहरि धर्‌यौ आप सरीर।
हिरन कस्यप मारि लीन्हों, धर्‌यौ नाहिन धीर।।
बूड़तां गजराज राख्यौ कियौ बाहिर नीर।
दासि मीरा लाल गिरिधर चरन कमलनि सीर।।१।।
सजन! सुधि ज्यौं जानौ त्यौं लीजै।
तुम विन म्हारो और न कोई, कृपा रावरी कीजै।।
दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा, यों तन पल-पल छीजै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि विछुरन नहिं कीजै।।२।।
अब तो निभाया सरेगी बांह गहे की लाज।
समरथ शरण तुम्हारी सइयाँ सरब सुधारण काज।।
भवसागर संसार अपर बल जामें तुम हौ जहाज।
निरधारौ आधार जगत गुरु तुम बिन होय अकाज़।।
जुग जुग भीर हरी भक्तन की दीनी मोच्छ समाज।
मीरा सरन गही चरनन की लाज रखो महाराज।।३।।

लीनभई—श्रीमीराबाईजी को भी रणछोड़ भगवान ने सशरीर अपने में लीन कर लिया। यथा–"नाचत नुपूर बांधिकै, गावत लै करतार। देखत ही हरि में मिलीं तृन सम गनि संसार।। मीरा को निज लीन किय नागर नन्दकिशोर। जगप्रतीतिहित नाथमुख रह्यौ चूनरी छोर।।" (भ०व०टि०) पुजारियों ने देखा– मीरा का शरीर भगवान के श्रीविग्रह में एकदम विलीन हो गया। केवल उनकी चुन्दरी का छोर भगवान के मुख में निकला हुआ रह गया। सर्वत्र हा-हाकार, जय-जयकार मच गया। ब्राह्मण पछताने लगे परन्तु–"अब पछिताये होत क्या जब चिड़िया चुग गईं खेत।" ब्राह्मण उस चुनरी के छोर को ही लेकर चित्तौड़ लौटे। राणा ने उसे सिर पर चढ़ाया और अपने आँसुओं से उसे भिगो दिया।

विशेष—विवाह के कुछ वर्ष बाद लगभग सं० १५८० में मीरा के शरीर के पति भोजराज की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में वर्णित है कि एक दिन मीराबाई किवाड़ बन्दकर श्रीगिरिधरलालजी के आगे नृत्य कर रही थीं। नुपूरों की ध्वनि सुनकर भोजराजजी का मन आकृष्ट हुआ। उन्होंने किवाड़ के छिद्र में से झाँककर देखा तो उन्हें अति अपार सुख मिला। फिर तो उन्होंने अवकाश मिलने पर मीराबाई से अनुरोध किया कि एकदिन अपना नृत्य मुझे भी दिखाओ। श्रीमीराबाईजी ने कहा–"महाराज! मेरा नृत्य आपको बहुत ही मँहगा पड़ेगा।" युवराज भोज ने सोचा कि कुछ धन-सम्पत्ति माँगेगी। अतः बोले- तुम जो कहोगी, मैं वही देने के लिए तैयार हूँ।" मीरा ने त्रिवाचा पूर्वक भोजराज से हामी भरवा ली। तब बोलीं कि–"आज से आप मुझे मनसा-वाचा-कर्मणा श्रीगिरिधरजी के श्रीचरण-कमलों में सौंप दीजिये। मेरी ओर से सर्वथा अपने मन को हटा लीजिये तथा लोक सुख के लिये आप अपना दूसरा विवाह कर लीजिये।" श्रीभोजराजजी भावुक हृदय को इन बातों से बड़ा आघात पहुँचा, वे मूर्च्छित हो गये। इतने में इनकी ननद ऊदाबाई आ गई, उसने बहुत शोरगुल मचाया कि यह भाभी ऐसी राक्षसी आई है कि इसने मेरे भाई को मार डाला। ऐसे ही उसने बहुत से अवाच्य मीराबाई को कहा। कुछ देर बाद जब भोजराज की मूर्च्छा दूर हुई तो उन्होंने सभी परिवार वालों से प्रार्थना किया कि मीराबाई को किसी प्रकार का कष्ट न देना। यह भगवान की ही नित्यानुरागिणी है। इतना कहकर भोजराज ने सर्वदा के लिये आँखें बन्द कर लीं।

परिवार के लोग तो श्रीमीराबाई से असन्तुष्ट पहले ही से थे, अतः मौका देखकर सबने इस बात पर बड़ा जोर दिया कि- तुम पति के साथ सती हो जाओ। उस समय श्रीमीराजी ने समुचित उत्तर देते हुए यह पद गाया था–

मीराके रँग लग्यौ हरीको और रंग सब अटक परी।
गिरिधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यौ धननामी।।
जेठ बहू को नातो नाहीं राणाजी हूँ सेवक थे स्वामी।
चूड़ो दो बगे तिलक जु माला सीलवर्त सिंगार।।
और सिंगार भावै नहीं राणाजू दियौ गुरु ज्ञान हमार।
कोई निन्दो कोई विन्दो गुण गोविन्दरा गास्यां।।
जिण मारग वे सन्त पहूंचा तिण मारग म्हें जास्यां।
चोरी करां न जीव सतावां काईं करसी म्हारो कोई।।

हस्ती चढि गधें नहीं चढां या तो बात न होई।
राज करंता नरक पड़ेसी भोगीड़ा जम कें लीया।।
भगति करंता मुक्त पहूंता जोग करंता जीया।
गिरिधरधणी कुटुम्बो गिरिधर मात पिता सुत भाई।
थे था हरै म्हें ह्यां हां रैहौं राणाजी यौं कहै मीराबाई।।

युवराज भोजराज महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके मरने के कुछ दिन बाद महाराणा सांगा की भी सं० १५८४ में मृत्यु हो गई। तब इनके द्वितीय पुत्र रत्नसिंहजी चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे। इनके शासनकाल में मीराजी को कोई कष्ट नहीं रहा। परन्तु चार-पाँच वर्ष बाद ही अल्पायु में ही इनकी भी मृत्यु हो गई। तब इनके सौतेले भाई विक्रम गद्दी पर बैठे। इन्हीं के शासनकाल में श्रीमीराबाईजी को अनेक कष्ट सहने पड़े। श्रीमीराबाईजी के चरित्र निरुपक छप्पय और कवित्तों में जो राणा शब्द आया है, वह इसी राणा विक्रम के लिए है।

श्रीनागरीदासजी रचित पद प्रसङ्गमाला में श्रीमीराबाई का एक और चरित्र वर्णित है कि जब इनका अपने श्रीगिरिधरलालजी के प्रति दिन-प्रतिदिन अनुराग बढ़ रहा था और इनके प्रेम के रहस्य को न समझने के कारण राणा को यह संदेह हो रहा था कि मीरा का किसी परपुरुष के साथ सम्बन्ध है। तब उसने इसका पता लगाने के लिये बहुत-सी गुप्तचरियाँ नियुक्त कर रखी थीं। एक दिन राणा ने सभी गुप्तचरियों से कहा कि तुम लोग अर्धरात्रि के समय बे खटके मीरा के पास जाकर देखना कि वह क्या कर रही है। एक दिन एक गुप्तचरी गई, उस दिन श्रीमीराबाई अटारी पर सोई-सोई विरह भावना में अत्यन्त अधीर हो रही थीं। बारम्बार ऊर्ध्वश्वांस ले रही थीं। गुप्तचरी को देखकर मीराजी ने अपने पास बैठा लिया और बोलीं-"बहन! मैं तो बड़े दुःख में पड़ी थी, तुम भले आ गईं। अब तुमको मैं अपना दुःख सुनाऊँगी। कहने से दुःख कुछ कम हो जाता है।" यथा-"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।।" (रा०च०मा०) फिर श्रीमीराबाई विरह के नये-नये पद बनाकर गाने और उसे सुनाने लगीं। इनके पदों को सुनकर तथा इनकी प्रेम विह्वल दशा को देखकर वह गुप्तचरी भी प्रेम से मूर्च्छित हो गई। उसके ऊपर इनके प्रेम का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह भी वैष्णव बन गई और पुनः लौटकर राणा को संदेश-समाचार सुनाने नहीं गई। तब राणा ने दूसरी स्त्री को भेजा। उसकी भी वही दशा हुई, तब तीसरी को भेजा। उसकी भी वही हालत हुई। फिर तो कोई भी स्त्री इस कार्य के लिए श्रीमीरा के पास जाने को उद्यत ही नहीं होती। लोक में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि जो स्त्री मीरा के पास जाती है, वह

बावरी हो जाती है। विरह के पदों में से एक पद इस प्रकार है-"सखी मेरी नींद नसानी हो। पिय को पन्थ निहारतां सब रैन विहानी हो।। सखियन मिलि मिलि सीख दई पै एक न मानी हो। विन देखे कल ना परै जिय ऐसी ठानी हो।। अङ्ग छीन व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो। अन्तर वेदन विरह की वहि पीर न जानी हो।। ज्यौं चातक घनको रटै मछरी विन पानी हो। मीरा व्याकुल विरहिनी सुधि बुधि बिसरानी हो।।"

श्रीमीराबाई के अन्तःकरण का उमड़ता हुआ अनुराग पदों के रुप में प्रकट हुआ। जो आज भी जन-जन के मन को रससिक्त कर रहा है। श्रीकृष्ण के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा, प्रेम तथा भक्ति बाल्यकाल से ही थी। यही कारण है कि इनके पदों में सहज रुप से भक्ति रस का दिव्य प्रवाह दृग्गोचर होता है। प्रेम तथा विरह वेदना से परिलुप्त इनकी रचनाएँ इनके भक्तिपूरित हृदय का वास्तविक दर्शन कराती हैं। यहाँ उदाहरण के लिये दो-चार पद प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।। जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।। तात मात भ्रात बन्धु आपनो न कोई।। छांड़ि दई कुल की कानि का करिहै कोई।। सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई। चूनरी के किये टूक ओढ़ि लीनी लोई।। मोती मूँगे उतारि बनमाला पोई। अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई। अब तो बेलि फैलि गई होनी हो सो होई। दूध की मथनियाँ बड़े प्रेम से बिलोई। माखन सब काढ़ि लियौ छाछ पियौ कोई।। आई मैं भगति काज जगत देखि रोई। दासि मीरा गिरिधर प्रभु तारो अब मोई।।१।।

हे री मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जानैं कोय।। घायल की गति घायल जानैं की जिन घायल होय। जौहरि की गति जौहरि जानै की जिन जौहरि होय।। सूली ऊपर सेज हमारी सोवन किस विधि होय। गगन मँडल पै सेज पिया की किस विधि मिलना होय।। दरद की मारी बन-बन डोलूँ वैद मिला नहिं कोय। मीरा की तब पीर मिटै जब वैद समलिया होय।।२।।

दरस विन दूषन लागे नैन। जब ते तुम विछुरे मेरे प्रीतम कबहुँ न पायौ चैन। सबद सुनत मेरी छतियां कांपै मीठे-मीठे बैन। विरह कथा कासूं कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।। कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन। मीरा के प्रभु कब रे मिलौगे दुख मेटन सुख दैन।।३।।

कोइ कहियो रे कोइ कहियो रे हरि आवन की, मन भावन की। आप न आवैं लिखि नहिं भेजैं बानि परी ललचावन की। ये दोउ नैन कह्यौ नहिं मानैं नदिया बहै जैसे

सावन की।। कहा करूँ कछु बस नहिं मेरो पांख नहिं उड़ जावन की। मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की।।४।।

आली री मेरे नैनन बानि पड़ी। चित्त चढी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आनि अड़ी।। कबकी ठाड़ी पन्थ निहारूँ अपने भवन खड़ी। कैसे प्रान प्रिया बिन राखूँ जीवन मूर जड़ी। मीरा गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी।।५।।

बसौ मेरे नैनन में नँदलाल। मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल रुचिर तिलक दिये भाल।। मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने विसाल। अधर सुधारस मुरली राजत उर वैजन्ती माल।। छुद्र घण्टिका कटितट शोभित नूपुर सबद रसाल। मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भगत बछल गोपाल।।६।।

श्रीपृथ्वीराज जी

आमेर अछत कूरम कौ, द्वारकानाथ दरसन दियौ।।
श्रीकृष्णदास उपदेस, परम तत्व परचौ पायौ।
निरगुन सगुन निरूप तिमिर अज्ञान नसायौ।।
काछ वाच निकलंक मनौ गांगेय युधिष्ठिर।
हरिपूजा प्रहलाद, धर्मध्वज धारी जगपर।।
'पृथ्वीराज' परचौ प्रगट तन संख चक्र मंडित कियौ।
आमेर अछत कूरम कौ, द्वारिकानाथ दरसन दियौ।।११६।।

शब्दार्थ—अछत=अक्षत, अखण्डित, जिसे घाव न लगा हो, रहते हुए। कूरम= कूर्मवंशी, कछवाहा क्षत्रिय। निरगुन=निर्गुण, निराकार, जिसमें सत्-रज-तमोगुण न हो। सगुण=दिव्यगुण सम्पन्न, साकार ब्रह्म। निरूप=निरूपण, विचार, विवेचन सहित निर्णय। तिमिर=अन्धकार, अज्ञान। काछ=कच्छ, लाँग। वाच=वाणी। निष्कलंक=निष्कलंक, निन्दारहित। गांगेय=गंगापुत्र, श्रीभीष्मपितामह। धर्मध्वज=धर्म की पताका। जग पर=संसार से परे, निष्प्रपञ्च। मण्डित=सुशोभित।

भावार्थ—पयहारी श्रीकृष्णदासजी के उपदेशों से आमेर के राजा पृथ्वीराज को परमात्मतत्त्व का बोध प्राप्त हुआ। उन्होंने निर्गुण-सगुण ब्रह्म का निरुपण कर राजा के अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर दिया। राजा गङ्गाजी के पुत्र भीष्म पितामह की तरह जितेन्द्रिय एवं

धर्मराज युधिष्ठिर की तरह सत्यवादी थे। भगवत्पूजा निष्ठा में प्रह्लाद के समान थे। वैष्णव धर्म की पताका को ऊँची करके उसे फहराने वाले एवं संसार से परे अर्थात् जगत् के प्रपञ्चों से दूर थे। सर्वश्रेष्ठ थे। आपकी भगवद्-भक्ति और गुरु-भक्ति का यह परिचय सभी को प्राप्त हुआ कि आमेर में ही रहते हुए आपका शरीर द्वारका की शंख, चक्र की छाप से सुशोभित हो गया और श्रीद्वारकाधीशजी के दर्शनों का परम लाभ प्राप्त हुआ।।११६।।

व्याख्या—आमेर अछत०—यहाँ पर एक जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि सर्वस्व परित्यागपूर्वक वन-वन की खाक छानने पर भी भगवान का दर्शन दुर्लभ है। परन्तु इन्हें घर बैठे भगवान का दर्शन हो गया, यह कैसे? इसका समाधान यह है कि प्रेम की प्रबलता होने पर निष्ठा की परिपाक दशा में भगवान से रहा नहीं जाता। तब तो भक्त की भगवद् दर्शन की जैसी उत्कट उत्कण्ठा होती है, उससे भी अधिक भगवान को भक्त दर्शन की उत्कण्ठा होती है। निष्ठावान् भक्तों को सच पूछो तो भगवान दर्शन देने नहीं बल्कि उनका दर्शन करने आते हैं। यथा-''सहस्र शीर्षापि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षयागतः।।'' (भा०) अर्थ-''तदनन्तर विराट स्वरूप भगवान गरुड़ पर चढ़कर अपने भक्त को देखने के लिए मधुवन में आये। तो जैसे श्रीध्रुवजी को मधुवन में आकर दर्शन दिये, सोये हुए श्रीमुचुकुन्दजी को गुफा में दर्शन दिये।'' (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३७४) उसी प्रकार इनको अपने घर ही दर्शन दिये। यह इनकी गुरुनिष्ठा एवं सन्तसेवा का परिणाम है। ''श्रीकृष्णदास'' (देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-१३३) ''परमतत्त्व''-यथा-''वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।'' (भा० १/२/११) अर्थ-''तत्ववेत्ता लोग जो अद्वय अद्वितीय ज्ञान है उसी को परमतत्त्व कहते हैं। उसी को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान शब्द से बोधित किया जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः, स्वामी रामोमत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।। रामरक्षा०
रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किञ्चिन्न विद्यते।
तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यंसत्यमिदं जगत्।। (सं०सं०)
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।
(मधुसूदन सरस्वती)

दयालु श्रीराम ही माता, पिता, सखा, स्वामी एवं मेरे सर्वस्व हैं, दूसरे किसी को मैं नहीं जानता हूँ। सत्यस्वरूप श्रीराम ही परब्रह्म हैं, उनसे भिन्न और कुछ नहीं है अतः यह जगत् तत्वतः श्रीरामजी का स्वरुप है और सत्य है। वंशीधर, नवीन मेघश्याम, पीताम्बरधारी, बिम्बाफल सदृश अरुण ओष्ठ वाले, कमलनयन और पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है जिनका, उन श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ और कोई तत्व नहीं है।

निरगुन सगुन०—इसका बड़ा ही सरल एवं सुबोध विवेचन गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरित मानस में किया है। यथा–''अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।। एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।। सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा।। अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवश सगुन सो होई।। जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।। राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेश पुराना।। पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि प्रकट परावर नाथ। रघुकुल मणि मम स्वामि सोइ कहि शिव नायउ माथ।।'' (बालकाण्ड) पुनः–''ज्ञान कहै अज्ञान विनु तम विनु कहै प्रकाश। निरगुन कहै जो सगुन विन सो गुरु तुलसीदास।।१।। अङ्क अगुन आखर सगुन समुझिय उभय प्रकार। खोए राखे आपु भल तुलसी चारु विचार।।२।। हिय निरगुन नयननि सगुन रसना नाम सुनाम। मनहुँ पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम।।३।। (दोहावली)

अर्थात् जो अज्ञान का कथन किये बिना ज्ञान का प्रवचन करे, अन्धकार का ज्ञान कराये, बिना प्रकाश का स्वरुप बता दे और सगुण को समझाये बिना निर्गुण का निरुपण कर दे, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि–''वह मेरा गुरु है। तात्पर्य यह कि अज्ञान के बिना ज्ञान, अन्धकार के बिना प्रकाश और सगुण के बिना निर्गुण की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है। निर्गुण कहते ही सगुण की सिद्धि होती है, अतएव जो सगुणोपासना को छोड़कर निर्गुण की उपासना करना चाहते हैं, उनको यथार्थ निर्गुण तत्व का ज्ञान होना असम्भव है।।१।।'' ''निर्गुण ब्रह्म १, २, ३ अङ्क के समान है और सगुण भगवान अक्षर एक, दो, तीन के समान हैं। इन दोनों प्रकारों को समझना चाहिए और फिर किसके न रखने से तथा किसके रखने से अपना कल्याण है, इस बात को भी भलीभाँति विचारना चाहिये। व्यापारी लोग हुण्डी आदि में पहले अङ्कों में संख्या जैसे १००० लिखकर फिर अक्षरों में ''एक हजार'' ऐसा लिख देते हैं। दोनों ठीक हैं, परन्तु अक्षरों में लिख देने से न तो किसी तरह का भ्रम रह जाता है और न शून्य घटा-बढ़ाकर कोई हजार को सौ या दस हजार ही बना सकता है।

इसी प्रकार से निर्गुण और सगुण दोनों सत्य हैं। एक ही दो रुपों में हैं परन्तु निर्गुण की अपेक्षा सगुण अधिक प्रमाणिक है। निर्गुण में तो किसी तरह का भ्रम भी रह सकता है, परन्तु सगुण में न तो कोई भ्रम रह सकता है और न किसी प्रकार से छल ही चल सकता है।।२।। "हृदय में निर्गुण ब्रह्म का ध्यान, नेत्रों के सामनेश्रीसीतारामजी के सगुण स्वरुप की झाँकी और जीभ से सुन्दर श्रीराम नाम जप करना। यह ऐसा है मानो सोने की सुन्दर डिबिया में मनोहर रत्न सुशोभित हो।।३।। "कोउ ब्रह्म निर्गुण ध्याव। अव्यक्त ज्यहिं श्रुति गाव।। मोहिं भाव कोशल भूप। श्रीराम सगुण स्वरूप।।" (रा०च०मा०) गांगेय देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५५५। तन शंख चक्र का वर्णन आगे है।

पृथ्वीराज राजा चल्यौ द्वारिका श्रीस्वामी संग, अति रस रंग भर्‌यौ आज्ञा प्रभु पाई है।
सुनिकै दीवान दुख मानि, निसि कान लग्यौ, कही पग्यो साधुसेवा भक्ति घर छाई है।।
देखियै निहारि कै विचार कीजे, इच्छा जोई, लीजै नहीं साथ जावो, बात लै दुराई है।
आयौ भोर भूप हाथ जोरि करि ठाढ़ौ रह्यौ कह्यौ, 'रहौ देश' सो निदेस न सुहाई हैं।।४८१।।

शब्दार्थ—दीवान=मुखमन्त्री। निदेश=आज्ञा।

भावार्थ—आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजी अपने गुरुदेव स्वामी श्रीकृष्णदासजी महाराज पयहारी की आज्ञा से उनके साथ द्वारकाजी की यात्रा के लिये तैयार हुये। श्रीगुरुदेव के संग और श्रीद्वारकाधीशजी के दर्शनों की उत्कण्ठा से आपके मन में बड़ी भारी उमंग भर गई। राजा के दीवान ने जब यह बात सुनी तो उसे दुःख हुआ। वह रात को एकान्त में श्रीपयहारीजी महाराज के पास गया और उसने चुपके से कान में कहा-"महाराजजी! इस समय राजा तन-मन और धन से साधुओं की सेवा में लगा हुआ है। नित्य सन्तों के यातायात से आमेर नगर की जनता में भक्ति की सुन्दर भावना व्याप्त है। राजा के चले जाने से साधु-सेवा में, भक्ति प्रचार में बाधा होगी। आप अच्छी प्रकार से सोच-विचारकर देख लें, फिर जैसी इच्छा हो वैसा ही करें। मेरे विचार से तो आप राजा को साथ न ले जायँ, सो ही ठीक है। श्रीपयहारीजी ने कहा-"तुम जाओ, मैं राजा को साथ नहीं ले जाऊँगा।" मन्त्री की बात को स्वामीजी ने राजा को नहीं बताया। प्रातःकाल राजा पृथ्वीराज हाथ जोड़कर श्रीस्वामीजी के सामने खड़े हो गये। तब आपने आज्ञा दी कि-"तुम मेरे साथ न चलकर यहीं आमेर में ही रहो और साधु-सेवा करो।" यह आज्ञा राजा को बिल्कुल अच्छी नहीं लगी।।४८१।।

व्याख्या—चल्यौ द्वारका०—इनके गुरुदेव श्रीकृष्णदासजी पयहारी अपने बहुत से शिष्यों के साथ श्रीद्वारकापुरी की यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजी के अतिथि हुये। यात्रा का यह शुभ संयोग देखकर राजा भी श्रीद्वारकाधीश भगवान के दर्शन के लिये समुत्सुक हुये। क्योंकि इस यात्रा में भगवान का दर्शन तो होगा ही, नित्यप्रति श्रीगुरुदेवजी के श्रीचरणों का दर्शन-स्पर्श तथा सत्संग-समागम का लाभ प्राप्त होगा। इस भव्य भावना से भावित होकर राजा भी श्रीगुरुदेवजी के साथ चलने को तैयार हो गये। ''दीवान दुख मानि०'' -इसके कई हेतु हैं- (१) राज्य कार्य कैसे होगा। युद्धकाल है, बिना राजा के राज्य में अराजकता फैल सकती है। (२) गुरुदेव के साथ यात्रा करनी है। और श्रीगुरुदेवजी पैदल चलेंगे तो ये कदापि सवारी का प्रयोग नहीं करेंगे। स्वयं भी पैदल ही चलेंगे। सन्तों को तो अभ्यास होता है पैदल चलने का, परन्तु ये तो जीवन में कभी पैदल यात्रा किये नहीं हैं, अतः इन्हें बहुत कष्ट होगा। (३) श्रीगुरुदेवजी के तथा और भी बहुत से सन्तों के साथ नित्यप्रति रहने से कहीं इन्हें भी वैराग्य का रंग न लग जाय। फिर तो सारी बादशाहत मिट्टी में मिल जायेगी। (४) इनके रहने से राज्य में खूब सन्त-सेवा तथा भक्ति भाव का प्रचार है, चले जाने से वह सब शिथिल हो जायेगा। आदि आदि। ''पग्योसाधु सेवा०'' -मन्त्रियों ने अन्य हेतु न बताकर साधु-सेवा तथा घर-घर में भक्ति प्रचार की ही बात कही, यह मन्त्रियों की वाक्पटुता है। क्योंकि श्रीकृष्णदासजी ने राजा को सन्त-सेवा एवं भक्ति प्रचार का ही उपदेश मुख्य करके दिया था। उनको यह कार्य बहुत प्रिय था। अतः प्रिय कार्य की हानि नहीं सह सकेंगे। अतः यह बात कहने पर अवश्यमेव राजा को संग न ले जाकर घर पर ही रहने का आदेश देंगे। मन्त्रियों की युक्ति सफल हो गई। ''भूप हाथ जोरि करि ठाढ़ौ रह्यौ'' -प्रातःकाल होते ही राजा साधारण वेष धारण किये हुए, संग में कुछ साधारण-सा ही साज सामान लिये हुये श्रीगुरुदेवजी के सम्मुख उपस्थित हो गये और हाथ जोड़कर बोले-''गुरुदेव! प्रस्थान करने का समय तो हो गया, अब देर क्यों है?'' ''अब विलम्ब केहि कारण कीजै।।'' (रा०च०मा०) इनकी प्रबल उत्कण्ठा देखकर गुरुजी मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए और बोले-''राजन्! बैठो।'' राजा ने कहा-''गुरुदेवजी! बैठने की क्या बात है? अब तो चलने की ही जल्दी करनी चाहिए।'' परन्तु जब बार-बार गुरुजी ने कहा तब राजा बैठ गये। फिर बड़ी कोमलता से महाराज ने उन्हें समझाया।

''द्वारावतीनाथ, देखि गोमती स्नान करौं, धरौं भुज छाप,'' आप मन अभिलाखियै।
''चिन्ता जिनि कीजै तीनौं बात इहां लीजे अजु, दीजै जोई आज्ञा सोई सिर धरि राखियै।
आये पहुँचाय दूर, नैन जल पूरि बहै, दहै उर भारी 'कहा संग रस चाखियै?''।
बीते दिन दोय, निसि रहे हुते सोइ, भोइ गई भक्ति गिरा आय बानी मधु भाखियै।।४८२।।

भावार्थ—राजा ने श्रीपयहारीजी से प्रार्थना की-''प्रभो! मैं श्रीद्वारकानाथजी के दर्शन, श्रीगोमती संगम में स्नान एवं भुजाओं में शंख, चक्र की छाप धारण करूँ। इसलिए आप अपने मन में मुझे भी साथ ले चलने की इच्छा कीजिये।'' श्रीस्वामीजी ने कहा-''राजन्! तुम अपने मन में बिल्कुल तनिक भी चिन्ता न करो। दर्शन, स्नान और छाप ये तीनों लाभ तुम्हें घर बैठे ही मिलेंगे।'' राजा ने कहा-''आपने जो आज्ञा दी, उसे मैंने शीश पर धारण कर लिया अर्थात् सादर स्वीकार कर लिया।'' इसके बाद श्रीपयहारीजी ने प्रस्थान किया। राजा बहुत दूर तक साथ-साथ पहुँचाने गये। इनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही थी। हृदय में सन्त सद्गुरु के वियोग का बड़ा भारी दुःख था, उससे मनस्ताप हो रहा था। बार-बार मन में यही आता था कि- मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? जो मैं सत्संग के मधुर रस का आस्वादन कर सकूँ। श्रीस्वामीजी के बहुत समझाने-बुझाने पर राजा वापस लौट आये। मन निरन्तर भक्ति भाव में डूबा हुआ था। दो दिन बीत जाने पर तीसरे दिन की रात में राजा सोये हुये थे। उसी समय श्रीद्वारिकानाथ भगवान पधारे। उनके मन में भक्त श्रीपयहारीजी की भक्तिमयी वाणी भरी थी, अतः उन्होंने उसे सत्य करते हुये बड़ी मीठी वाणी में राजा से कहा।।४८२।।

व्याख्या—द्वारावती०—''द्वारकावासिनं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा चैव विशेषतः। महापाप-विनिर्मुक्तः स्वर्गलोके वसन्ति ते। पांसवो द्वारकाया वै वायुना समुदीरिता।। पापिनां भक्तिदाः प्रोक्ताः किं पुनर्द्वारका भुवि। संवत्सरं वा षण्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा।। द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्य्यश्चतुर्भुजाः।।'' (स्कन्दपुराण) अर्थ-''द्वारकापुरी में निवास करने वाले प्राणियों का दर्शन-स्पर्श करने वाले लोग महापापों से मुक्त होकर भगवद्धाम में निवास करते हैं। वायु के द्वारा उड़ाकर ले जायी गई द्वारकापुरी की धूल पापियों को भी भक्ति प्रदान करने वाली कही गई है, फिर द्वारकापुरी की महिमा का तो कहना ही क्या है। एक वर्ष तक अथवा छः महीने तक अथवा एक महीने तक व आधे महीने तक ही सही द्वारका में रहने वाले सारे नर-नारी चतुर्भुज (विष्णु) बन जाते हैं। ''भोइ गई भक्त गिरा''-''चारों जुग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा सांची करन।।'' (विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड छप्पय-५२)।

वानी मधुभाखिये—भगवान के वचनामृत के माधुर्य का बड़ा सुन्दर निरूपण श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में श्रीकाकभुशुण्डिजी के द्वारा कराया है। यथा–''प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ।। सो सुख जानैं मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।।'' पुनः–''सुनत विभीषण प्रभु कै वानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी।।'' पुनः–''मांगु मांगु वर भै नभवानी। परम गम्भीर कृपामृत सानी।। मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई।। हृष्ट पुष्ट तनु भये सुहाये। मानो अबहिं भवन ते आये।।'' (रा०च०मा०)

''अहो पृथ्वीराज'' कही, स्वामी ही सी बानी लही, आयौ उठि दौरि वाही ठौर प्रभु देखे हैं।
घूम्यौ कह्यौ कान धरौ, गोमती स्नान करौ, सुनि कै अन्हायौ, पुनि वे न कहुँ पेखे हैं।।
शंख चक्र आदि छाप तन सब व्याप गई, भई यों अबार रानी आय अवरेखे हैं।
बोले''रह्यौ नीर में सरीर, लै सनाथ कीजै, लीजै नाथ हियै,'' निज भाग करि लेखे हैं।।४८३।।

शब्दार्थ—अबार=देर, बिलम्व। अवरेखे=देखे। घूम्यो=प्रदक्षिणा की।

भावार्थ—भगवान श्रीद्वारकाधीशजी ने श्रीपयहारीजी की वाणी में पुकारा- ''पृथ्वीराज!'' सुनते ही राजा दौड़े आये। वहाँ पहुँचकर उसी स्थान पर भगवान के दर्शन हुये। राजा ने प्रदक्षिणा करके साष्टांग दण्डवत की। भगवान ने कहा–''मेरी बात कान लगाकर ध्यानपूर्वक सुनो–''यह गोमती संगम है, तुम इसमें स्नान कर लो।'' प्रभु की बात सुनकर राजा ने बड़े प्रेम से स्नान किया। परन्तु गोता लगाकर जब बाहर आए तो वहाँ भगवान नहीं दिखलाई पड़े। शंख, चक्र की छाप राजा के शरीर में लगी हुई थी। इधर सोकर उठने में राजा को विलम्ब हुआ जानकर रानी उन्हें जगाने आईं। उन्होंने देखा कि राजा का शरीर भीगा हुआ है। कैसे भीगा है, पूछने पर राजा ने कहा–''अभी मैंने श्रीगोमतीजी में स्नान किया है, तुम भी मेरे शरीर एवं वस्त्रों में लगे जल का स्पर्श कर लो और श्रीद्वारकानाथजी को हृदय में धारण कर लो।'' रानी ने ऐसा ही करके अपने को बड़भागिनी माना ।।४८३।।

व्याख्या—कही स्वामी ही सी बानी—भगवान श्रीद्वारकानाथजी ने श्रीकृष्णदासजी की वाणी में इसलिये कहा कि राजा को स्वामीजी की वाणी की परख थी, पहचान थी, प्रीति थी, प्रतीति थी। ''भईयों अबार'' -इसका एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है, दूसरा अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है कि राजा-रानी एक ही ठौर एक ही शैय्या पर सोये हुए थे। भगवान की वाणी राजा को सुनाई पड़ी तो तत्काल शैय्या छोड़कर दौड़ पड़े। रानी ने समझा- कहीं जा रहे होंगे,

अभी आ जायेंगे। परन्तु जब राजा को लौटने में देर हुई तो रानी भी शैय्या छोड़कर उधर आईं जिधर राजा दौड़े आये थे।

भयौ जब भोर, पुर बड़ौ भक्ति सोर पर्‌यौ कर्‌यौ आनि दरसन भई भीर भारी है।
आये बहु सन्त, औ महन्त बड़े-बड़े धाये, अति सुख पाये, देह रचना निहारी है।।
नाना भेंट आवै, हित महिमा सुनावै, राजा सुनत लजाबै, जानी कृपा बनवारी है।
मंदिर करायौ, प्रभु रूप पधरायौ, सव जस जग गायौ, कथा मोकौ लागी प्यारी है।।४८४।।

भावार्थ—सबेरा होते ही आमेर नगर में उसके बाद सम्पूर्ण राज्य में भक्ति के चमत्कार का शोर मच गया। बहुत से लोगों ने आकर राजा का दर्शन किया, बड़ी भारी भीड़ हो गई। समाचार पाकर दूर-दूर तक के अनेक बड़े-बड़े सन्त और महन्त दौड़-दौड़कर आये और उन सभी लोगों ने राजा के शरीर पर शंख-चक्र की छाप के दर्शन करके अत्यन्त सुख पाया। नाना प्रकार की बहुत-सी वस्तुयें भेंट में आने लगीं। सभी लोग राजा के प्रेम की महिमा को गाते तो उसे सुनकर राजा लज्जित होते। वे अपने मन में यही सोचते कि- "यह सब भगवान श्रीकृष्ण की कृपा है।" लोगों ने भी समझ लिया कि राजा पर गुरु गोविन्द की महती कृपा है। इसके बाद राजा ने एक सुन्दर एवं विशाल मन्दिर का निर्माण कराया। सदा-सर्वदा सेवा-पूजा, भजन में ही लगे रहते, अतः सम्पूर्ण संसार आपके सुयश का गान करता है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि "राजा पृथ्वीराज की यह कथा हमको अत्यन्त प्रिय लगी।।४८४।।

व्याख्या—कृपा वनवारी—घर बैठे भगवद्-दर्शन, गोमती सागर संगम में स्नान, शंख-चक्र आदि की छाप प्राप्त होना भगवान की अहैतुकी, अपार कृपा का ही परिणाम है। भगवान की कृपा के सम्बन्ध में श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-"मोरि सुधारहिंसों सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।।" (रा०च०मा०) यथा-"नाथ कृपा ही कौ पन्थ चितवत देव हौं दिनराति।" (वि०) और भगवत्कृपा का मूल है गुरुकृपा। प्रथम श्रीगुरुजी ने कृपा की है, तब भगवत्कृपा प्राप्त हुई। "मन्दिर करायौ"-जिस स्थल पर भगवान का दर्शन हुआ था, वही मन्दिर बनवाए।

बिप्र दृगहीन सो अनाथ, बैजनाथ द्वार पर्‌यौ, चख चाहै मास केतिक बिहाने हैं।
आज्ञा बार दोय चार भई "ये न फेरि होहिं" याको हठसार देखि, शिव पिघलाने हैं।।

"पृथ्वीराज" अङ्ग के अँगोछा सौं अँगोछौ जाय, आय कै सुनाई द्विज गौरव डेराने हैं।
नयौ मँगवाय तन छ्वाय दियौ छ्वायौ नैन खुले चैन भयौ जन लखि सरसाने हैं।।४८५।।

शब्दार्थ—पिघलाने=पसीजे, दयार्द्र हुये। गौरव=बड़प्पन, महत्व। सरसाने=प्रसन्न हुये।

भावार्थ—नेत्रों से हीन एक ब्राह्मण श्रीवैद्यनाथजी के द्वार पर नष्ट हुई नेत्र-ज्योति को प्राप्त करने के लिए धरना देकर पड़ गया। पड़े-पड़े उसको कई महीने व्यतीत हो गये। श्रीशंकरजी ने उसे दो-चार बार स्वप्न में आज्ञा दी कि-"हठ छोड़ दो, घर को जाओ, ये नेत्र अब फिर से तुम्हें नहीं मिलेंगे।" परन्तु उस ब्राह्मण ने अपना हठ नहीं छोड़ा, द्वार पर पड़ा ही रहा। उसके इस सच्चे हठयोग को देखकर भगवान शिव ने दया से द्रवित होकर आज्ञा दी कि-"तुम आमेर नरेश पृथ्वीराज के अँगोछे से अपने नेत्रों को पोंछो, तो तुम्हें नेत्र-ज्योति प्राप्त हो जायेगी।" उस अन्धे ब्राह्मण ने आकर राजा पृथ्वीराज से यह बात कही, तो वे ब्राह्मण की महिमा को विचारकर डर गये कि-"ऐसा करना अनुचित है।" परन्तु ब्राह्मण के आग्रह एवं लोगों के समझाने पर राजा ने एक नवीन वस्त्र मँगवाकर, उसे अपने शरीर से छुवाकर ब्राह्मण को दे दिया। आँखों में लगाते ही उसे नेत्र-ज्योति प्राप्त हो गई। वह बहुत प्रसन्न हुआ। सभी लोगों ने जब भक्त भक्ति की ऐसी विलक्षण महिमा देखी, तो उनके शुष्क हृदय भी भक्ति-भाव से सरस हो गये।।४८५।।

व्याख्या—बैजनाथ—भगवान शिव के द्वादश ज्योर्तिलिङ्गों में वैद्यनाथ महादेव भी एक ज्योर्तिलिङ्ग है। इस सम्बन्ध में कथा आती है कि बैजनाथ नाम का एक अहीर का लड़का था। वह अपने सहज भोलेपन में नित्यप्रति इन महादेवजी को पाँच बार अपने दण्ड से प्रहार करके ही कुछ अन्न-जल ग्रहण करता था। दैवयोग से एक दिन बिना मारे ही घर जाकर भोजन करने बैठ गया। बीच में उसे याद आई तो तुरन्त भोजन छोड़कर दौड़ा गया और नियमानुसार उसने पाँच डण्डे मारे। उसकी नियम निष्ठा से सन्तुष्ट होकर भगवान शिवजी ने साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिया और वरदान माँगने को कहा। बैजनाथ के कोई सन्तान नहीं थी। उसके मरने के बाद उसके वंश का, उसके नाम का लोप होने वाला था। अतः संसार में अपने नाम को कायम रखने के लिये उसने यही वर माँगा कि आपके नाम के साथ मेरा भी नाम जुड़कर संसार में अमर हो जाय। श्रीशिवजी ने एवमस्तु कहा। तभी से वे बैजनाथ (वैद्यनाथ) महादेव के नाम से विख्यात हुये। उनका विरद है कि जो भी उनके द्वार पर धरना देता है, उसका मनोरथ सिद्ध होता है।

याको हठसार—भगवान शिवजी के यह कहने पर भी कि तुम्हें नेत्र-ज्योति नहीं प्राप्त होगी, ब्राह्मण निराश नहीं हुआ। बल्कि उसकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गई। वह और भी अपने हठ पर डट गया। उसने यह विचारा कि हमारी फरियाद श्रीशिवजी तक पहुँच तो गई। तब तो शिवजी कुछ कह रहे हैं, अतः यदि मैं अपने निश्चय में दृढ़ बना रहूँगा तो एकदिन दया भी हो जायेगी। क्योंकि ये तो परम समर्थ हैं। हठ भक्ति युक्त होने से हठसार कहा है। भक्ति में ऐसे हठ की अपेक्षा है। यथा-"भक्ति पक्ष हठ नहिं शठताई।" (रा०च०मा०) अन्यथा हठ दुःखदायी होता है। यथा-"हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेश।।" (रा०च०मा०)।

द्विज गौरव०—ब्राह्मण भगवान के स्वरूप हैं। यथा-"प्रभु के वचन वेद बुध सम्मत मम मूरति महिदेवमयी है।" (वि०), यथा-"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।" (पू०सू०) अर्थ-"विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति है। पुनः-"मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहिं समेत विरंचि शिव वस ताके सब देव।।" "हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई।" "शापत ताड़त परुष कहन्ता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।।" "पूजिय विप्र सील गुन हीना।" (रा०च०मा०) "नैंन खुले"-सन्तों की कृपा से तो हृदय के ज्ञान-वैराग्य के नेत्र खुल जाते हैं। इस ब्राह्मण को भी पृथ्वीराज के दर्शनों से ज्ञान-वैराग्य प्राप्त हो गया। प्रत्यक्ष भक्त महिमा के दर्शन शिवजी की कृपा से हुए। तब वह भक्ति युक्त क्यों न हो। यथा-"सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि.....।" सन्त दिव्यदृष्टि के दाता हैं। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-९६, "खुले चख" की व्याख्या।

विशेष—आमेर नरेश महाराज श्रीपृथ्वीराजजी की पत्नी का नाम बालाबाई था। यह जब अपने पिता के घर थीं, तभी से इन्होंने श्रीकृष्णदासजी पयहारी से वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा ले रक्खी थी। कालान्तर में इनका विवाह श्रीपृथ्वीराजजी से हुआ। ये प्रथम गलतागादी जयपुर के कनफटा सिद्ध तारानाथ के शिष्य थे। रानी बालाबाई के अनुरोध से ही श्रीकृष्णदासजी ने वहाँ जाकर अपने प्रभाव से कनफटों की सिद्धाई पर विजय करके पृथ्वीराज को शिष्य बनाया। वर्णन आया है कि जब श्रीकृष्णदासजी राजा-रानी को खूब भक्ति में दृढ़ करके वहाँ से जाने लगे, तो रानी बालाबाई ने अनुनय-विनय करके महाराज को रोक लिया और राजमहल में उनकी धूंनी लगवाईं। मन-वचन-कर्म से अत्यन्त सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर रानी ने यह वचन भरवा लिया कि जब तक मैं न कहूँ तब तक आप मेरे यहाँ से न जायँ। भक्त प्रेम परवश श्रीपयहारीजी बहुत दिनों तक वहाँ बने रहे। एकदिन संसार के अन्य प्राणियों को भी अपने दर्शन, स्पर्श एवं समागमादि से कृतार्थ करने का विचारकर श्रीपयहारीजी ने एक

लीला की। एकदिन नित्य की भाँति आप नृसिंह भगवान के जगमोहन में बैठकर भगवद् गुणगान कर रहे थे। राजा-रानी श्रवण कर रहे थे। सत्संग की समाप्ति पर आपने सहज भाव से कहा कि-''अब मैं जा रहा हूँ।'' रानी ने समझा कि धूंनी पर जाने को कह रहे हैं। अतः कह दिया कि-''पधारो महाराज!'' बस इतना सुनना था कि आप तुरन्त वहाँ से चले और द्वार से निकलकर अन्तर्धान हो गये। रानी सशङ्कित हुई कि महाराज चले तो नहीं गये। धूनी पर न मिले, तब इधर-उधर बहुत खोज कराई। कहीं कुछ पता न चला, तब राजा-रानी को बड़ा दुःख हुआ। श्रीगुरुजी के वियोग में दोनों ने अन्न-जल का परित्याग कर दिया। तब इनके दुःख की निवृत्ति के लिये श्रीपयहारीजी ने इन्हें स्वप्न में दर्शन देकर आदेश दिया कि-''मेरे चरण के चिह्न जो जगमोहन की सीढ़ी आदि पर बन गये हैं, उनका दर्शन करो, उन्हीं का पादोदक लो और उन्हीं के अर्चन-वन्दन में सुख-सन्तोष मानकर अन्न-जल ग्रहणकर भगवद्-भजन करो। राजा-रानी ने ऐसा ही किया। आमेर के पुराने राजमहलों में अब भी श्रीपयहारीजी की धूनी के तथा चरण-चिह्नों के दर्शन होते हैं। श्रीनृसिंह भगवान, शालग्राम, धूनी और श्रीचरण-चिह्नों से आमेर में तीर्थत्व है। इनके दर्शन-पूजन से लोगों के मनोरथ पूर्ण होते हैं।

एक बार राजा पृथ्वीराजजी रानी बालाबाई को घर पर ही छोड़कर अपने दल-बल सहित श्रीनरनारायण भगवान का दर्शन करने बद्रिकाश्रम गये। इधर रानी को भी भगवान के दर्शनों की प्रबल उत्कण्ठा हुई। गुरुदेव की कृपा से उन्हें सिद्धि प्राप्त थी, उसी के बल से संकल्प करते ही ये राजा से कुछ पहले ही वहाँ पहुँचकर श्रीनरनारायण का दर्शन कर रही थीं। इतने में राजा भी वहाँ पहुँचे। आगे रानी खड़ी थीं, अतः राजा को दर्शन में अवरोध हो रहा था। तब राजा ने कई बार कहा कि-''बाईजी! तनिक सामने से हट जाओ, मुझे भी दर्शन कर लेने दो।'' जब रानी कुछ बगल हटीं, तो राजा की किञ्चित् दृष्टि रानी की ओर गई, तो उन्हें देखकर सन्देह हुआ कि यह तो रानी साहिबा मालूम पड़ती हैं। असम्भव जानकर ध्यानपूर्वक देखे बिना ही भगवद्-दर्शन प्रार्थना में मग्न हो गये। कुछ दिनों के बाद जब घर को आए, तो रानी ने राजा को प्रणाम कर निवेदन किया कि-''आप भगवान श्रीनरनारायण के समक्ष मुझे बाई (जिसका अर्थ पुत्री या बहन होता है) शब्द से सम्बोधित कर चुके हैं, अतः अब मैं आपकी बाई ही हूँ और भविष्य में सदा इसी भाव का दृढ़तापूर्वक निर्वाह हो। अब आप मुझे बाई शब्द से ही सम्बोधित किया करें। भक्तराज राजा ने रानी की दिव्य गमन शक्ति का परिचय पाया और हार्दिक सद्भाव की प्रशंसा कर सहर्ष उसे स्वीकार किया। अब इन दोनों को भगवद्-भजन में पहले की अपेक्षा अधिक आनन्द की अनुभूति होने लगी।

पयोहारी श्रीकृष्णदासजी महाराज ने कृपा करके इन्हें स्वपूजित श्रीनृसिंहरूप शालग्राम भगवान को दिया और साथ ही यह आशीर्वाद दिया कि-"जब तक नृसिंह देहरी में। तब तक राज हथेरी में।।" अर्थात् जब तक भगवान तुम्हारे इस महल में स्थित मन्दिर की देहरी के भीतर विराजेंगे, तब तक राज्य तुम्हारे वंश की परम्परा में ही रहेगा। तब से पूजा-आरती भीतर ही होती। उन्हें बाहर नहीं लाया जाता। आरती के बाद सिंहासन से सम्पुट उठाकर देहरी के भीतर से ही पुजारी लोग उपस्थित भक्तों को दर्शन करा देते। जब तक श्रीठाकुरजी देहरी के भीतर रहें तब तक यद्यपि देश में मुसलमानों एवं अंग्रेजों का बड़ा भारी आतंक रहा, लेकिन इनके राज्य पर आंच नहीं आई। परन्तु दैव दुर्योग से एक बार किसी को लोभ आया। उसने स्वर्ण सम्पुट सहित श्रीठाकुरजी को चुरा लिया। यद्यपि खोज होने पर श्रीठाकुरजी मिल गये और पुनः अपने महल-मन्दिर में विराजे। परन्तु देहरी से बाहर तो हो ही गये। फलस्वरुप देश के स्वतन्त्र होने के बाद नई शासन व्यवस्था में जब सभी राज्यों का विलय हुआ, तब इसका भी अलग अस्तित्व समाप्त हो गया। पृथ्वीराज के वंशजों के हाथ से राज्य निकल गया। श्रीपयोहारीजी का वाक्य सत्य हो गया।

श्रीपृथ्वीराजजी ऐसे क्षमाशील थे कि एक बार एक मन्त्री ने छल करके इनके राजकोष से बहुत सा धन चुरा लिया। परन्तु इन्होंने उसे क्षमा ही कर दिया। यद्यपि अन्य सभी लोगों ने बहुत प्रयत्न किया कि इस मन्त्री को दण्डित किया जाय क्योंकि इसने धन की हानि की है। आपने यह कहकर सबका समाधान किया कि इन मन्त्री महोदय के द्वारा राज्य को लाभ भी बहुत हुआ, अतः यह सामान्य हानि हर हालत में क्षम्य ही है। राजा की इस क्षमाशीलता का मन्त्री के ऊपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उसने अपना अपराध स्वीकार कर सब धन लौटा दिया और अपने समस्त दुर्गुणों का परित्याग कर भक्ति पथ में आरुढ़ हो गया। ऐसे आपके अनेकों उदार चरित्र हैं, जिनके द्वारा प्राणियों को सत्प्रेरणाएँ मिलती है।

श्रीभक्त राजागण

भक्तनि कौ आदर अधिक, राज वंश में इन कियौ।।
लघु, मथुरा, मेरता भक्त अति जैमल पोषे।
टोड़े भजन निधान रामचन्द्र हरिजन तोषे।।
अभैराम एक रसहिं नेम नीवां के भारी।
करमसील सुरतान, भगवान, बीरम भूपति ब्रत धारी।।

ईश्वर अखैराज, रायमल कन्हर, मधुकर नृप सरबसु दियौ।
भक्तनि कौ आदर अधिक राजवंश में इन कियौ।।११७।।

शब्दार्थ—राजवंश=क्षत्रियकुल। पोषे=पोषण, सेवा किया। तोषे=तोषण, सन्तुष्ट किया। एकरस=एक ढंग का, एक समान। व्रतधारी=प्रतिज्ञा पालक।

भावार्थ—राजाओं के वंश में इन राजाओं ने भगवान के भक्तों की बहुत अधिक सेवा की। श्रीजयमलजी की साधु-सेवा एवं सन्त-सम्मेलनों के विशाल आयोजनों से उनकी राजधानी मेड़ता दूसरी (छोटी) मथुरा के समान जान पड़ने लगी। टोंड़े ग्राम में भजन परायण भक्त श्रीरामचन्द्रजी ने भक्तों की उत्तम सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट किया। श्रीअभयरामजी ने जीवन भर एक समान महती सन्त-सेवा की। श्रीनीवांजी का सन्त-सेवा का सुदृढ़ व्रत था। श्रीकरमसीलजी, श्रीसुरतानजी, श्रीभगवानजी और श्रीवीरमजी इन चारों राजाओं ने सन्त-सेवा के अटल नियम को निभाया। श्रीईश्वरजी, श्रीअक्षयराजजी, श्रीरायमलजी, श्रीकन्हरजी एवं श्रीमधुकरजी इन सभी राजाओं ने भक्तों की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित किया।।११७।।

व्याख्या—राजवंश—राजवंश कहने का भाव यह है कि प्राय: करके लोग राज-मद में मतवाले होकर सदाचार-शिष्टाचार से विमुख हो जाते हैं। यथा-"जग बौराइ राज पद पाए।" "ससि गुरुतिय गामी नघुषु, चढ़ेउ भूमिसुर जान। लोक वेदते विमुख भा अधम न बेन समान।। सहस बाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू।।" आदि। (रा०च०मा०) राजवंश में जन्म लेकर भगवद्-भक्त होना बड़े सौभाग्य की बात है। यथा-"विवेक: सहसम्पत्या विद्या वा विनयान्विता। आस्ते चेद भगवद् भक्ति: सौभाग्यं किमत: परम्।।" अर्थ-"सम्पत्ति के साथ-साथ विवेक हो। विद्या के साथ-साथ विनय हो। फिर उसमें भी यदि भगवद्-भक्ति हो तो इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या हो सकता है।" पुन:-"यत्र भागवतो राजा राज्यं शास्ति महीतले। वैकुण्ठमेव मन्तव्यं तद्राष्ट्रं पापवर्जितम्।।" अर्थ-"जहाँ पर भगवद्-भक्त राजा राज्य करता है, उस प्रदेश को वैकुण्ठ ही समझना चाहिए। क्योंकि वह राष्ट्र सर्वथा पापरहित होता है।" पुन:-"स राजा प्रोच्यते सद्भिर्यो भक्तो मधुसूदने। तद् राष्ट्रो वर्धते नित्यं सुखी भवति सा प्रजा।।" अर्थ-"सज्जन पुरुष उसी को राजा कहते हैं जो भगवद्-भक्त हो। भक्त राजा के राज्य में सुख-समृद्धि की निरन्तर वृद्धि होती है। वहाँ की प्रजा सदा सुखी रहती है।" अभक्त राजा के राज्य में रहने का निषेध किया गया है। यथा-"तस्मिन् राज्ये न वस्तव्यं यत्र राजा न वैष्णव:। वरं वासो वने तीर्थे नतुराष्ट्रेह्यवैष्णवे।।" अर्थ-"जिस देश का राजा वैष्णव न हो उस राज्य में निवास नहीं करना चाहिये। वन में अथवा तीर्थ में वास श्रेष्ठ है परन्तु अवैष्णव राज्य में निवास नहीं करना चाहिए।

श्रीजयमलजी

मेरतें बसत भूप, भक्ति को सरूप जानै, जैंमल अनूप जाकी कथा कहि आये हैं।
करी साधुसेवा रीति प्रीति की प्रतीति भई नई एक सुनौ हरि कैसे कै लड़ाये हैं।।
नीचे मानि मन्दिर सो सुन्दर बिचारी बात, छात पर बंगला के चित्र लैं बनाये हैं।
बिबिध बिछौना सेज राजत उढ़ौना पानदान धरि सोंना जरी परदा सिवाये हैं।।४८६।।

भावार्थ—राजा श्रीजयमलजी मेड़ता (जोधपुर) में रहते थे। श्रीभक्तिदेवी के सुन्दर स्वरूप को जानते थे। आपकी एक कथा पीछे कह आये हैं। आपने बड़े प्रेम से सन्तों की सेवा की, उसके फलस्वरुप आपको भक्ति में विश्वास हुआ। उसके महत्व को आपने भलीभाँति समझा। अब यहाँ एक दूसरी नई कथा कहता हूँ, उसे सुनो, उससे यह विदित हो जायेगा कि ये अपने ठाकुरजी को कैसे लाड़ लड़ाते थे। श्रीठाकुरजी का मन्दिर नीचे की मञ्जिल में है, ऐसा मानकर आपने एक बहुत सुन्दर बात सोची और छत के ऊपर हवादार सुन्दर कमरा बनवाया। जिसमें भगवल्लीला-धाम के अनेक सुन्दर-सुन्दर चित्र अंकित करवाये। कोमल शय्या, बिछौना, तकिया, ओढ़ने के सुन्दर रेशमी वस्त्र, सोने का पानदान, पीकदान, व्यंजन, चँवर आदि अनेक मूल्यवान सुन्दर वस्तुओं से उसे सजाया। कमरे की खिड़कियों तथा दरवाजों पर सुन्दर जरीदार परदे सिलवाकर लटकाये।।४८६।।

व्याख्या—मेरते बसत—मारवाड़ नरेश रावदूदाजी के तीन पुत्र थे- रायमलजी, वीरमलजी, रत्नसिंहजी। राणा रत्नसिंहजी की पुत्री प्रेम दीवानी मीराबाई थीं और वीरमजी के पुत्र श्रीजयमलजी थे। इस प्रकार जयमलजी श्रीमीराबाईजी के भाई लगते थे। ''भक्ति को स्वरूप'' (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६७)। ''नीचे मानि मन्दिर'' -गर्मी के दिन थे। श्रीजयमलजी श्रीठाकुरजी की रात्रि में शयन आरती करके, श्रीठाकुरजी को शयन कराकर स्वयं गर्मी से अत्यन्त घबड़ाकर महल की छत पर जाकर लेटे। इतने में श्रीठाकुरजी का ध्यान आया कि मेरे भगवान तो नीचे मन्दिर में पड़े हैं। इतनी प्रचण्ड गर्मी है कि मुझे छत पर चैन नहीं पड़ रहा है तो भगवान को नीचे कितनी गर्मी लगती होगी। हाय! हाय!! मैंने श्रीठाकुरजी के सुख-सुपास की तो कोई व्यवस्था नहीं की और स्वयं के सुख के लिये ऊपर चला आया। यह कदापि उचित नहीं। यह तो सर्वथा भक्ति के विरुद्ध है। अब तो मैं प्रथम श्रीठाकुरजी की व्यवस्था करके ही चैन लूँगा। फिर क्या था? तुरन्त कारीगर बुलाये गये और रात-दिन के अन्दर सुन्दर बंगला बनकर तैयार हो गया। ''विविध बिछौना'' -यथा-''विछे हैं बिछौना घनसार के नवीने तामें कीने छिरकाव

तर अँतर गँभीर के। गुरवे गुलाब के फुहार छूटै ठौर ठौर उठत झँकोर तामें त्रिविध समीर के।। सेज अरविन्दन की चन्दन की चोली चारु श्रीगोविन्द सुमन शृङ्गार हैं शरीर के। झनक-मनक सों बानिक बनि बैठीं आजु राधिकारवन संग भवन उसीर के।।''

ताकी दारु सीढ़ी, करि रचना, उतारि धरें, भरें दूरि चौकी, आप भाव स्वच्छताई है।
मानसी बिचारें 'लाल सेज पग धारें, पान खात लै, उगार डारें, पौढ़े सुखदाई है।।
तिया हु न भेद जानें, सो निसेनी धरी वानै, देखे को किशोर सोयौ फिरी भोर आई है।
पति को सुनाई, भई अति मन भाई वाकौ खीझि डरपाई जानी भाग अधिकाई है।।४८७।।

भावार्थ—श्रीठाकुरजी के उस शानदार शयनागार में जाने के लिए राजा श्रीजयमलजी ने एक लकड़ी की सीढ़ी बनवाई। उसके द्वारा उसमें जाकर पुष्पादिकों से शय्या की रचना करते एवं शयन भोग, जल आदि सभी वस्तुएँ यथा स्थान रखकर नीचे उतर आते और सीढ़ी को वहाँ से हटाकर अलग रख देते, जिससे कोई दूसरा वहाँ न जा सके। कमरे से थोड़ी दूर अलग बैठकर आप पहरा देते। निर्मल भावना के द्वारा आपका हृदय परम निर्मल हो गया था। मन ही मन आप ध्यान करते कि-''लालजी शय्या पर पधारे हैं, पानदान से निकालकर पान खा रहे हैं, पीकदान में उगार डाल रहे हैं और सर्व सुखदाई प्रभु अब सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। भगवत्सेवा के इस रहस्य को आपकी रानी भी नहीं जानती थी। एक बार रात में उसने सीढ़ी लगाई और थोड़ा सा पर्दा हटाकर झाँककर देखा, तो उसे एक सुन्दर सुकुमार किशोर बालक शयन करता हुआ दिखलाई पड़ा। रानी पुनः चुप-चाप उतर आई और निसेनी को यथा स्थान रखकर महल में चली गई। प्रातःकाल आकर रानी ने अपने पतिदेव को यह बात सुनाई और कहा कि-मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। राजा श्रीजयमलजी ने उसे डाँट-फटकारकर डरपा दिया कि फिर कभी ऐसा नहीं करना और मन ही मन यह जानकर प्रसन्न हुये कि इसके बड़े भाग्य हैं, जो इसे लालजी के सुन्दर दर्शन हो गये।।४८७।।

व्याख्या—भरें दूरि चौकी—श्रीजयमलजी यह भावना करते कि जैसे मैं मनुष्यों का राजा हूँ तो मेरे सेवक मेरी सुरक्षा के लिए पहरा देते हैं, उसी प्रकार भगवान तो त्रैलोक्य के राजा हैं, सभी राजाओं के राजा हैं, मेरे भी राजा हैं। अतः मुझे भी श्रीप्रभु के लिये पहरा देना चाहिये। जैसे लक्ष्मणजी शृङ्गवेरपुर में श्रीरामजी का पहरा देते। यथा-''कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन।।'' जैसे निषादराज पहरा देते। यथा-''गुह बुलाइ पाहरू प्रतीती। ठाउँ ठाउँ राखे अति प्रीती।। आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई।।'' (रा० च०मा०) पुनः लंका में श्रीलक्ष्मणजी का पहरा देना। यथा-''प्रभु पाछे लछिमन वीरासन। कटि

निषंग कर बान सरासन।।'' (रा०च०मा०) ''फिरी'' भगवान का दर्शन करने पर रानी का मन दर्शन छोड़कर लौटने को राजी तो नहीं था। परन्तु डर इस बात का था कि महाराज न आ जायँ, अथवा कहीं मेरी आहट से श्रीठाकुरजी की निद्रा न भंग हो जाय। निद्रा भंग होने से एक तो श्रीठाकुरजी को कष्ट होगा, दूसरे डर था कि कहीं राजा से न कह न दें। नहीं तो राजा बहुत नाराज होंगे। अतः तुरन्त लौट आईं। परन्तु अत्यन्त आनन्द उसके हृदय में समाया नहीं, अतः स्वयं ही उन्होंने राजा से कह दिया।

विशेष—श्रीजयमलजी की उदारता तथा सन्त-सेवा निष्ठा का एक प्रसंग भक्तदाम-गुणचित्रणी में इस प्रकार वर्णित है-''एक बार सन्तों की जमात इनके यहाँ टिकी थी। उन्हीं दिनों उन सन्तों में से एक सन्त के श्रीगुरुदेव वहीं पास के गाँव में आए हुए थे। सन्त के मन में अपने श्रीगुरुदेवजी के दर्शन की प्रबल इच्छा हुई। परन्तु दैवयोग से पाँव में अत्यन्त पीड़ा होने से वे चलने में सर्वथा असमर्थ थे। इधर गुरु दर्शन की इच्छा भी अत्यन्त बलवती थी, अतः संत ने श्रीजयमलजी से कहा कि-''मेरे गुरुदेव अमुक गाँव में ठहरे हुए हैं, मेरे पाँव में पीड़ा हो रही है, अतः आप यदि अपना घोड़ा दे दें, तो उस पर सवार होकर मैं श्रीगुरुदेवजी का दर्शन कर आऊँ। श्रीजयमलजी ने तुरन्त अपना घोड़ा सन्त को दे दिया। वे बड़े ही प्रसन्न मन अश्वारूढ़ होकर श्रीगुरुदेव का दर्शन करने गये। दर्शन करके जब लौटने लगे, तब श्रीगुरुदेव की दृष्टि उस घोड़े पर पड़ी। घोड़े का रंग-रूप, चाल-ढाल देखकर उनका मन ललचाया, उस घोड़े को लेने के लिए। सुजान शिष्य ने गुरुदेवजी के मन की बात जानकर सहर्ष उन्हें वह घोड़ा समर्पित कर दिया। यहाँ श्रीजयमलजी से आकर सब बात सच-सच कह दी। सन्त की गुरुनिष्ठा देखकर ये बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि-''आपको अथवा आपके गुरुजी को यदि और घोड़े चाहिए तो और ले जाइये। हमारा तो सर्वस्व सन्तों का ही है। श्रीजयमलजी की सन्त-सेवा निष्ठा को देखकर वे सन्त बहुत प्रसन्न हुए। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने इनके भक्ति भाव की प्रशंसा की।

श्रीरामचन्द्र जी—टोंड़े के राजवंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही सन्त-सेवी थे। इन्होंने सन्त-सेवा में अपना सर्वस्व लगा दिया। घर में अन्न के नाम पर एक दाना और द्रव्य के नाम पर एक आना भी नहीं रहा। तब कुछ दिनों तक इधर-उधर से कर्ज लेकर सन्त-सेवा की। लेकिन इस तरह कब तक सेवा होती। कुछ दिनों बाद बाजार के हजारों रुपए कर्ज हो गये। अब लोगों ने उधार देना बन्द कर दिया। तब इन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि अब कैसे सन्त-सेवा होगी और कर्जे को कैसे चुकाया जायेगा। आप इसी चिन्ता में निमग्न थे कि रात्रि में

भगवान ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे पुराने मकान में अमुक स्थल पर बहुत बड़ी धनराशि गड़ी है, उसे निकालकर बाजार का ऋण चुकाओ और सन्तों की सेवा करो। श्रीरामचन्द्रजी ने ऐसा ही किया।

श्रीरायमलजी—परम सन्तसेवी राजा रायमल से एक दिन इनकी भोली-भाली पत्नी ने पूछा कि-''आप सन्तों की सेवा क्यों करते हैं? इस पर रायमलजी ने बताया कि-''सन्तों की सेवा से भगवान प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान का दर्शन करना हो तो सबसे सुगम उपाय सन्त-सेवा ही है। सरल हृदया पत्नी पति की बात मानकर भगवद्-दर्शन की अभिलाषा से सन्त-सेवा करने लगी। इसके प्रभाव से आकृष्ट होकर भगवान उस महाभागवती को दर्शन देने के लिये एक दिन सन्तवेष में उसके यहाँ पधारे। किसी वेष में हों, हैं तो भगवान ही, अत: उनके तेज से आकर्षित होकर श्रीरायमलजी की पत्नी ने उन्हें घर में ले जाकर बड़े प्रेम से भोजन कराया और हाथ जोड़कर पूछा-''महाराज! मुझे भगवान के दर्शन कब होंगे?'' सन्त वेषधारी भगवान ने कहा-''यदि तुम भगवान का दर्शन करना चाहती हो तो मेरे साथ चलो।'' वह भागवती उनके साथ चल पड़ी। एकान्त स्थल में जाकर भगवान ने चतुर्भुज रूप धारणकर रानी को दर्शन दिया। श्रीप्रभुजी का दर्शन पाकर रानी कृत-कृत्य हो गई। जब दर्शन देकर प्रभु जाने लगे तो रानी ने दौड़कर भगवान का हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त दीन होकर बोली-''प्रभो! मैंने तो पतिदेव के उपदेश से आपका दर्शन पाया है, अत: आपने जैसे कृपाकर मुझे दर्शन दिया है, उसी प्रकार मेरे पतिदेव को भी दर्शन दीजिए।'' भगवान हँस गये और बोले-''अच्छा शीघ्र जाकर अपने पति को भी लिवा लाओ।'' परम साध्वी पत्नी ने शीघ्र अपने पति को बुलाकर भगवान का दर्शन कराया। श्रीरायमलजी ने भगवान का दर्शन तो कर लिया और अपार आनन्द का अनुभव भी किया, परन्तु साथ ही एक संकोच भी मन में हुआ कि मुझसे पहले मेरी पत्नी को भगवान का दर्शन हो गया। जबकि उसने मुझसे ही उपदेश पाकर मुझसे बाद में सन्त-सेवा प्रारम्भ की थी। श्रीरायमलजी के इस मनोभाव को जानकर भगवान ने इन्हें समझाया कि-''भक्त भूप! तुम्हारी बात को सत्य करने के लिये ही मैंने तुम्हारी पत्नी को प्रथम प्रत्यक्ष रूप से दर्शन दिया। वैसे मैं सदा ही तुम्हारे साथ रहता हूँ, तुम अपनी भक्ति-भावना को हीन मत समझो।'' तब श्रीरायमलजी के हृदय का संकोच मिट गया और सन्त-भगवन्त में पहले से भी अधिक प्रीति हो गई।

श्री मधुकर साहजी

मधुकरसाह, नाम कियौ लै सफल जातें, भेष गुनसार गहै, तजत असार है।
''ओड़छे'' कौ भूप, भक्त भूप, सुखरूप भयौ, लयौ पनभारी जाके और न विचार है।।
कंठी धरि आवै कोय, धोय पग, पीवै सदा, भाई दूखि, खर गर डार्‌यौ मालभार है।
पांव परछाल, कही ''आज जू निहाल किये,'' हियेद्रये दुष्ट पांव गहे दृगधार है।।४८८।।

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर, सारग्राही। भेष=वैष्णव वेष। गुन=सद्‌गुण। सार=तत्व। परछाल=धोकर। द्रये=पसीजे।

भावार्थ—ओरछा के भक्त राजा श्रीमधुकरशाहजी ने अपने नाम को सफल-सार्थक करके दिखा दिया। जैसे मधुकर भ्रमर सार-वस्तु मकरन्द-मधु को ग्रहण करता है, उसी प्रकार इन्होंने सार-गुण वैष्णव वेष को ही ग्रहण किया। भ्रमर जैसे असार डंठल, काँटा, पत्तों आदि को छोड़ देता है, उसी प्रकार से आप भी जाति-गोत्र-गुण आदि से सम्बन्धित ऊँचता-नीचता को त्यागकर वैष्णव-वेष मात्र का स्वागत-सत्कार करते, उनमें अगाध प्रेम रखते। आप केवल ओरछा के भूप नहीं, बल्कि भक्तों में भी भूप अति श्रेष्ठ थे। आपने परमानन्द प्रदायक महान् प्रेम-प्रण धारण कर रखा था। वह यह है कि- कोई भी कण्ठी-तिलकधारी आ जाय तो उसके चरण धोकर चरणामृत पान करना। ऐसे वैष्णवोचित आचरणों से इनके भाई-कुटुम्ब के लोग इनसे द्वेष करते थे। एकबार उन लोगों ने तुलसी की बहुत-सी मालाओं को गले में पहनाकर एक गधे को उनके सामने कर दिया। उसे देखते ही राजा ने अपना सौभाग्य मानकर उसका भी प्रणाम स्वागत-सत्कार करके चरणामृत लेते हुए कहा-''धन्य है, प्रभो! आज आपने इस रूप से दर्शन देकर मुझ दास को निहाल कर दिया। द्वेषी लोगों ने जब आपकी ऐसी सच्ची वैष्णव-वेष निष्ठा देखी तो वे आश्चर्य चकित रह गये। उनके हृदय पश्चात्ताप से द्रवीभूत हो गये। आँसू बहाते रोते हुए आकर उन लोगों ने राजा मधुकरशाह के पैर पकड़ लिये। अपराध के लिये क्षमा-याचना करते हुए भगवद्भक्त बन गये।।४८८।।

व्याख्या—मधुकरशाह—ओरछा नरेश महाराज श्रीमधुकरशाहजी बड़े ही शूरवीर तथा धर्मनिष्ठ राजा हुए। इन्होंने अपनी वीरता से युद्ध करके अकबर बादशाह के कई किलों पर विजय प्राप्त कर लिया था। तब अकबर ने इनसे सम्मानपूर्वक सन्धि कर ली थी। एक बार अकबर ने इनको आगरे बुलाया था। उस अवसर पर सभी देशों के राजा-महाराजा भी बुलाये गये थे। उस समय दरबार में कई क्षत्रिय महाराजा, जो वैष्णव थे, तिलक लगाकर जाते थे।

श्रीमधुकरशाहजी तो परम वैष्णव थे। ये तो द्वादश तिलक लगाकर दरबार में आते थे। एक दिन अकबर ने कहा–''कल से हमारे दरबार में कोई तिलक लगाकर न आये। क्योंकि तिलक हमें अच्छा नहीं लगता है। अगर कल कोई तिलक लगाकर आयेगा तो उसके मस्तक को गर्म लोह से दाग दिया जायेगा।''

बादशाह के आदेश पर दूसरे दिन कोई भी राजा दरबार में तिलक लगाकर नहीं आया परन्तु राजा श्रीमधुकरशाहजी उस दिन रोज की अपेक्षा और भी बड़ा एवं अधिक चमकीला तिलक लगाकर दरबार में उपस्थित हुये। मुंशी अजमेरी ने स्वरचित ''मधुकरशाह चरित'' में इस प्रसंग का बड़े ओजपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। यथा–

तिलक लगाते नित्य, माथे पर छोटा सा। उस दिन तो नाकसे, लगाया बड़ा मोटासा।।
तब फिर बुलाया निज, शूर सरदारोंको। विक्रमी बुन्देलोंको, घँघेरोंको पँवारोंको।।
बोले मैं स्वधर्मसे, कभी न मुख मोडूँगा। डरसे किसीके कभी, तिलक न छोडूँगा।।
तब क्या इसे मैं तप्त, लोहेसे दगाऊँगा। क्या वंशमें बुन्देलोंके, दाग मैं लगाऊँगा।।
भाल दगनेके पूर्व, उसे मार डालूँगा। तिलक निकालेगा तो, खडग मैं निकालूँगा।।
मार बादशाहको, भले ही मर जाऊँ मैं। अन्त मरना है क्यों न, धर्म पर जाऊँ मैं।।
तुमको निदेश है, न पीछे पैर देना तुम। मेरे मरने पै, आगरा को लूट लेना तुम।।
कहते ही कहते फिर, क्रोध उन्हें आ गया। दीप्त मुख मण्डल पै, दून दर्प छा गया।।
अरुण दोनों नयन हुए, और होठ फड़के। बातें सुनि रूप देखि, सेना भट भड़के।।
काँपने लगे वे वीर, वीरताके जोश में। दाँत पीसि ओठोंको, चबाते हुए रोष में।।
बोले सब शूर बीर आज्ञा शिरोधार्य है। आपने कहा जो वह, कार्य अनिवार्य है।।
किन्तु उतना ही नहीं, अधिक करेंगे हम। ढूँढ ढूँढ शत्रुओं को, मारके मरेंगे हम।।
तोपें झुका देंगे हम, किले पै बादशाहके। छोड़ेंगे उसे आज, भलीभाँति ढाह के।।
तभी रोक बीच में ही, बोले नरनाथ यों। वीरो! मत भभको, अभी से एक साथ यों।।
देखो दरबारमें क्या, होती आज बात है। क्या है होनहार, अभी किसे यह ज्ञात है।।
तब लौं अशान्त मत, होना धैर्य धरना। कोई किसी भांतिका उपद्रव न करना।।
समझा बुझाके यों, समस्त सरदारोंको। साथ ले सुराही और पान बरदारोंको।।
मधुकर शाह महाराज दरबार को। चले देख भालके, कटार तलवार को।।
आम दरबार वह, भलीभाँति था भरा। फूला हुआ खेत जैसे, पोसते का हो हरा।।
राजा महाराजा, ये पांच सात नौ हजारी थे। थे वजीर, उमरा, अमीर दरबारी थे।।

तिलक विचित्र ओरछे के नरनाह का। देख चकराया चित, अकबरशाह का।।
सोचा भूप वृन्दोंने, बुन्देला मिट जायेगा। उद्धत अवज्ञाका, अवश्य फल पायेगा।।
बोले बादशाह तब, भूप ओर देखके। तिलक लगानेसे, अवज्ञा निज पेखके।।

अकबर बादशाह ने देखा कि आज सभी राजा लोग बिना तिलक लगाये ही आए हैं। केवल एक श्रीमधुकरशाहजी ही तिलक लगाकर आए हैं। आज्ञा भंग हुई देखकर अकबर को क्रोध आ गया। उसने कड़ककर कहा कि-''मधुकरशाह! आप मुझे नहीं जानते हैं कि मैं कौन हूँ? मैंने आप सबों को कल आज्ञा दी थी कि कोई तिलक लगाकर मत आना। फिर आप तिलक लगाकर क्यों आए? तुमने मेरा हुक्म तोड़ा है, इसलिए तुम बागी हो। अब तुमको इसका दण्ड भोगना पड़ेगा।'' यह सुनकर श्रीमधुकरशाहजी ने बड़ी निर्भीकता से वीरता पूर्वक उत्तर दिया कि-''मैं जानता हूँ, आप बादशाह हैं। कल आपका हुक्म भी मैंने सुना था। लेकिन आपकी बादशाही से बढ़कर मैं अपने इष्टदेव परमात्मा की बादशाही को मानता हूँ। उस परमात्मा का चरण-चिह्न स्वरूप यह तिलक है। नित्य मस्तक पर धारण करने के लिए मुझे गुरुदेव की आज्ञा है। उस आज्ञा से बढ़कर मैं आपकी आज्ञा को नहीं मानता। मैं प्राणों से बढ़कर धर्म को मानता हूँ।'' यथा-

धर्म मुझे प्राणोंसे, पचासों गुना प्यारा है। धर्म ही लोक परलोक का सहारा है।।
धर्म दिव्य दीपक है, मुक्ति की भी राहका। धर्मसे नहीं है बड़ा, हुक्म बादशाहका।।
जीते जी कदापि, धर्मसे न मुख मोड़ूँगा। डरसे किसीके कभी, धर्म को न छोड़ूँगा।।

श्रीमधुकरशाहजी ने निर्भीकतापूर्वक ललकारा-''आये, देखूँ, कौन मेरे सामने तिलक मिटाने और मस्तक दागने आता है। मैं आज दिखा दूँगा कि- आज भी श्रीराम के वंशज क्षत्रियों में क्या ताकत है।'' इस वीरवाणी को सुनकर क्षत्रियों का खून खौलने लगा। सभी के दिल में हिन्दूधर्म का जोश जाग उठा। धन्य-धन्य की आवाजें आने लगीं। कोई-कोई कहने लगे- एक ओर मधुकरशाह, एक ओर बादशाह। देखो, दोनों में आज क्या निर्णय होता है।

ओड़छेशकी अशङ्क, इस बातचीत से। राजा महाराजा हुए, चकित सभीत से।।
मौन बादशाह दङ्ग, सब दरबारी थे। विस्मित वजीर और, उच्च अधिकारी थे।।
देखा सभीने कि उग्र ओड़छाधिराज हैं। कुछ कर डालने को, उद्यत से आज हैं।।

अकबर बादशाह बड़ा ही विद्वान् था। जब उसने देखा कि सभी क्षत्रिय राजा भड़क उठे हैं। यदि ये सभी बागी बन गए, तो मेरी बादशाहत को नष्ट करने पर तुल जायेंगे। क्योंकि

मैंने तिलक न लगाने की बात कहकर सभी के दिलों को ठेस पहुँचाई है। अत: लज्जित होकर बादशाह ने पैंतरा बदलते हुए-वाह-वाह! कहा-

सन्नाटा सभा का तोड़, गूँजा शब्द वाह वाह। बोला बादशाह वाह, मधुकर शाह वाह।।
आपने ही नित्यनेम अपना निभाया है। जानपर खेल आज, तिलक लगाया है।।
मुझको नहीं है चिढ़ तिलक लगाने से। मैंने तो परीक्षा ली थी, हुक्मके बहाने से।।
तिलक विहीन सभी, राजा महाराज हैं। निकले टिकैत सच्चे, एक आप आज हैं।।
बलिहारी आपकी, अनोखी आन बानपर। खुश हो गया हूँ मैं, सचाई और शानपर।।
मनमें जरा भी मेरे, नहीं छल छन्द है। सच कहता हूँ, मुझे तिलक पसन्द है।।
आपके ही नामसे, लगाया अब जायगा। मधुकर शाही यह, टीका कहलायेगा।।

इस प्रकार अकबर के दरबार में महाराजा मधुकरशाहजी की जय ध्वनि से आकाश गूँज उठा। दूसरे दिन से सब राजा लोग तिलक लगाकर दरबार में आने लगे। वैष्णवों के ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक का दरबार में दबदबा हो गया।

आपकी भक्ति के चमत्कार से भगवान के मन्दिर का द्वार फिर गया। वह प्रसंग इस प्रकार है। ओड़छे में एक व्यासों का मुहल्ला है, उसमें एक प्राचीन मन्दिर है। जो आज भी विद्यमान है। उस मन्दिर में आप स्वयं कीर्तन करने जाते थे। भगवान के आगे भक्तों के बीच में पैरों में नूपुर बाँधकर नृत्य करते थे। पद-गान करते हुए आप बेसुध हो जाया करते थे। एकदिन भक्तराज राजा के सामने ऐसा आवश्यक राज्य-कार्य आ गया, जिसके सुलझाने में लग जाने से अवकाश न मिला, अत: समय पर मन्दिर न पहुँच सके। भगवान की शयन आरती हो गई। रात अधिक बीत गई थी, फिर भी राजा श्रीमधुकरशाहजी अपना नित्य नियम पूर्ण करने के लिए गए और मन्दिर के पीछे जाकर कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। अत्यधिक बिलम्व हो जाने के कारण सभी दर्शनार्थी अपने-अपने घर जा चुके थे। गिने-चुने कुछ लोग रह गए थे। जिनका महाराज के प्रेमपूर्ण नृत्य-कीर्तन के श्रवण-दर्शन का नियम था। रात्रि के सन्नाटे में प्रमुख प्रेमी भक्तों के बीच ऐसा कीर्तन जमा कि सभी प्रेम विभोर हो गए। सभी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बह चले। उसी समय प्रेम विवश भगवान भी सहसा प्रगट होकर राजा साहब के साथ नृत्य करने लगे। उस आनन्द का वर्णन कौन कर सकता है। देवताओं ने स्वर्ण पुष्प तथा दिव्य सुगन्धित पुष्प बरसाए एवं अपने वाद्य बजाये। राजा को दर्शन देकर प्रभु ने कृतार्थ किया। उसी समय मन्दिर का द्वार घूम गया। इस पर दृष्टान्त देखिए श्रीनामदेवजी

का उ०प्र० पृष्ठ-२२२ क०-१३७)। (सुना है कि कुछ स्वर्णपुष्प सुरक्षित हैं, जब नया राजा गद्दी पर बैठता है, तब उन फूलों के दर्शन कराये जाते हैं।)

श्रीमधुकरशाहजी की सन्तवेष निष्ठा का वर्णन करते हुए श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी एक प्रसंग वर्णन करते हैं कि-मधुकरशाह-"आज जू निहाल किये"-

अब लौं दुइ-दुइ पादके देखे सन्त अनन्त। चारि चरणके आजु ही देखे सन्त लसन्त।।
मेरे प्रभु समरत्थ हैं सकैं रूप सब धारि। खर नाहीं वैष्णव खरे प्रभु तुम लेहु उधारि।।
मच्छ कच्छ शूकर बने भक्तन हित भगवान। मधुकर हित गर्दभ बने धनि धनि कृपानिधान।।

श्रीमधुकरशाहजी गर्दभ को वैष्णवरूप धारण किये हुए देखकर बड़े खुश हुए और बोले-"अहो! श्रीयुगलकिशोरजी की हमारे ऊपर बड़ी कृपा है, जो कि मेरे राज्य में गधे भी वैष्णव बनकर कण्ठी-माला और तिलक धारण करने लगे हैं। अब तो निश्चय ही कोई मनुष्य बिना कण्ठीमाला-तिलक के नहीं रह सकता है। अब यदि कोई कण्ठी-तिलक विहीन देखने में आवे, तो उसे गधे से भी निकृष्ट समझना चाहिए।" राजा की वेष इस निष्ठा को देख-सुनकर इनके विरोधी भी वैष्णव बन गए और इनके गुरुदेव श्रीहरिरामव्यासजी ने यह पद गाया-

भगत बिन किन अपमान सह्यौ।
कहा कहा न असाधुन कीन्हों, रहि बल धरम रह्यौ।।
अधम राज पद माते लै शिविका जड़ भरत नह्यौ।
निगड़ बंधे वसुदेव देवकी, सुत पटकत दुख दुसह सह्यौ।।
हरि ममता प्रह्लाद विषाद न, जान्यौ दुख सहदेव दह्यौ।
पट लूटत द्रोपदी न मटकी, हरिकी शरन चह्यौ।।
मत्त सभा कौरवनि विदुर सों कहा कहा न कह्यौ।
शरणागत आरत जगपति को, आपुन चक्र गह्यौ।।
हा हरि नाथ पुकारत आरत, कौन नहीं निबह्यौ।
व्यास वचन सुनि मधुकर साहै, भक्त भक्तिपन सदा लह्यौ।।

श्रीखेमालरत्नजी राठौर

खेमालरतन राठौर के, अटल भक्ति आई सदन।।
रैना पर गुण, राम भजन भागौत उजागर।
प्रेमी परम 'किशोर' उदर राजत रतनाकर।।
हरिदासन के दास दसा ऊची, ध्वज धारी।
निर्भै अननि, उदार, रसिक, जस रसना भारी।।
दशधा, संपति, संत बल, सदा रहत प्रफुलित बदन।
खेमालरतन राठौरके, अटल भक्ति आई सदन।।११८।।

शब्दार्थ—परगुण=त्रिगुण से परे, भगवद् गुण परायण। भजन भागौत=वैष्णव-सेवा। उजागर=विख्यात। उदर=हृदय। अननि=अनन्य। प्रफुलित वदन=प्रसन्नमुख।

भावार्थ—श्रीखेमालरत्नजी राठौर वंशीय क्षत्रिय थे, आपके घर में भक्ति ने अचल होकर निवास किया। आपके सुपुत्र श्रीरामरयनजी श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे और श्रीरामजी के भजन में सदा तत्पर रहते थे। आप परम प्रसिद्ध भगवान के भक्त थे। श्रीखेमालजी के पौत्र श्रीरामरयनजी के पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी भगवत्प्रेमियों से प्रेम करने वाले थे। समुद्र के समान गम्भीर हृदय वाले, सद्‌गुण रत्नों के निधान थे। ये सभी भगवद्‌दासों के दास थे। प्रेम की उच्चदशा को प्राप्त एवं उसकी ध्वजा को इन्होंने सर्वदा ऊँचा रखा। ये निर्भय, अनन्य, परम उदार और रसिक थे। रसिक श्रीश्यामसुन्दर के विशाल सुयश को आप जिह्वा से सदा गाते रहते थे। दशधा भक्ति को ही आप अपनी परम सम्पत्ति मानते थे। सन्तों का बल आपमें था। ये सदा प्रेमविभोर अतः प्रसन्न मुख रहते थे।।११८।।

व्याख्या—अटल भक्ति—कहने का भाव यह है कि इनके वंश में कई पीढ़ियों तक परम्परागत भक्ति बनी रही। इस सम्बन्ध में कथा आती है कि श्रीखेमालजी बड़े सन्तसेवी थे। इनकी सेवा निष्ठा पर रीझकर एक सन्त जीवन पर्यन्त इन्हीं के यहाँ बने रहे। इनको भी उन सन्त के सत्संग से बड़ा सुख मिला। अन्ततोगत्वा उन सन्त का शरीरान्त हो गया। इन्होंने बड़े ही वृहद् रूप से उन सन्त का तिरोधान-महोत्सव किया। बहुत से सन्त-महन्तों का भोज-भण्डारा किया। सन्तों का समुदाय देखकर ये फूट-फूटकर रोने लगे। सन्तों ने जब शोक का कारण पूछा तो इन्होंने कहा-''अब मेरे मन मतंग को कौन नियन्त्रित करेगा, मुझे कौन भक्ति का उपदेश देगा ? इनके इस दैन्य का देखकर सभी सन्तों ने मुक्त कण्ठ से आशीर्वाद

दिया कि आपके घर में बिना किसी के उपदेश के ही अविचल भक्ति बनी रहेगी। उसी के फलस्वरूप इनके घर भक्ति ने अचल रूप से निवास किया। ''भक्ति आई सदन'' -कहने का भाव यह है कि इनके घर के हाथी-घोड़ा, कुत्ता-बिल्ली भी भक्ति करते, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या? ''हरिदासन के दास''-भक्तों का परम अभीष्ट यही है। यथा-''अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।।'' (भा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३३९। पुनः देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१४ श्लोक-''नाहं विप्रो न च नरपतिः.......।'' पाण्डव गीता में श्रीकृपाचार्यजी कहते हैं-

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे, मत्प्रार्थनीय मदनुग्रह एष एव।
त्वद् भृत्यभृत्य परिचारक भृत्यभृत्य भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।।

अर्थ—हे मधुकैटभ दैत्य के शत्रु! हे समस्त लोकों के स्वामी! मेरे जन्म लेने का चरम फल यही है, मेरे ऊपर आपका परम अनुग्रह यही है और आपसे एकमात्र मेरी प्रार्थना भी यही है कि आप मुझे अपना दासानुदास समझें। ''दशाऊँची'' -अर्थात् प्रेम लक्षणा भक्ति के अन्तिम सोपान तक पहुँच चुके थे। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६७। ''दशधा सम्पति''-इसका अत्यन्त ही सुन्दर निरूपण श्रीचरणदासजी ने एक पद में किया है। यथा-

हमारे राम भक्ति धन भारी।
राज न डांडै चोर न चोरै, लूट सकै नहिं धारी।।
प्रभु पैसा औ नाम रुपैया, मुहर मुहब्बत हरि की।।
हीरा ज्ञान युक्ति के मोती, कहा कमी है जर की।।
सोना शील भण्डार भरे हैं, रूपा रूप अपारा।
ऐसी दौलत सद्गुरु दीनी, जाका सकल पसारा।।
बांटौं बहुत घटै नहिं कबहूं, दिन दिन ड्यौढ़ी ड्यौढ़ी।
चोखा माल द्रव्य अति नीका, बट्टा लगै न कौड़ी।।
साह गुरु शुकदेव विराजैं , चरनदास बन जोटा।
मिलि मिलि रङ्ग भूप ह्वै बैठे, कबहुँ न आवै टोटा।।

पुनः दशधा सम्पत्ति सन्तबल कहकर राज्य का रूपक प्रस्तुत किया गया है। श्रीकिशोरसिंहजी को श्रीनाभाजी ने छप्पय में ''राजा'' कहा है। यथा-''प्रेमी परम किशोर उदर राजा रत्नाकर।'' राज्य के सात अंग होते हैं-(१)-राजा, (२)-मन्त्री, (३)-मित्र, (४)-देश, (५)-कोष, (६)-दुर्ग, (७)-सेना। यहाँ भक्तिराज्य में राजा श्रीकिशोरसिंहजी हैं,

मन्त्री विवेक है, मित्र सन्त हैं, भगवत-भागवत निवास स्थान ही पुण्य प्रदेश है, दशधा-प्रेमलक्षणा भक्ति ही कोष है, सन्तों के बीच में रहना ही दुर्ग है, और सन्त ही (बल) सेना है।

राजा श्रीरामरयनजी

कलिजुग, भक्ति कर्‌री कमान, 'रामरैन' कैं रिजु करी।।
अजर, धर्म आचर्‌यौ, लोक हित मनौ नीलकंठ।
निन्दक जग अनिराय कहा महिमा जानैगो भूसठ।।
विदित गांधर्वी ब्याह कियौ दुसकन्त प्रमानै।
भरत पुत्र भागौत सुमुख शुकदेव बखानै।।
और भूप कोउ छ्वै सकै, दृष्टि जाय नाहिन धरी।
कलियुग भक्ति कर्‌री कमान 'रामरैन' कैं रिजुकरी।।११६।।

शब्दार्थ—कर्‌री=कड़ी, कठोर। कमान=धनुष। करीकमान=कठोर धनुष जो चढ़ाये न चढ़े, कठिन कार्य। रिजु=ऋजु, सरल। अजरधर्म=कभी जीर्ण न होने वाला वैष्णवधर्म। आचर्‌यौ=आचरण किया। लोकहित=विश्वकल्याण। नीलकण्ठ=शिव। अनिराय=अनराय, अनादर, अपमान करे। भूसठ=कुत्ता, दुष्ट मनुष्य। विदित=प्रसिद्ध। गान्धर्वी ब्याह=आठ प्रकार के विवाहों में से एक। इसमें युवक और युवती की पारस्परिक रुचि होना ही पर्याप्त है। इसमें लौकिक वैदिक रीति एवं सगे-सम्बन्धियों की सम्मति की आवश्यकता नहीं है। प्रमानै=प्रमाण, सबूत।

भावार्थ—इस कलियुग में भक्ति का और धर्म का पालन करना करीं कमान हैं अर्थात् जैसे कठोर धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ा देना आसान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति का निभाना भी सरल नहीं है, परन्तु श्रीरामरयनजी ने इस कठिन कार्य को बड़ी सरलता के साथ सम्पन्न किया। इन्होंने वैष्णव धर्म का इस विधि से पालन किया कि उसमें कभी जीर्णता नहीं आई, वह सदा नवीन बना रहा। श्रीशंकरजी के समान आप सभी लोगों का कल्याण करने वाले थे। परनिन्दक, दुष्ट जिनका स्वभाव कुत्ते के समान होता है, वे भला आपकी महामहिमा को कैसे जान सकते हैं? जैसे राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला से विवाह किया और उनसे महान् प्रतापी पुत्र श्रीभरतजी परम भागवत हुए। जिनका वर्णन श्रीभागवत में श्रीशुकदेवजी ने किया है। उसी प्रकार आपने गान्धर्व विधि से अपनी कन्या का विवाह रासविहारी श्रीकृष्ण के साथ किया। आपने जैसी भक्ति का आचरण किया। दूसरे राजा लोग उसे मन में ला भी

नहीं सकते, आचरण करना तो बहुत दूर रहा। इस ओर दृष्टि करके वे लोग देख भी नहीं सकते।

व्याख्या—कलियुग भक्ति करींकमान—भाव यह है कि भक्ति करना कठिन तो सब युग में था। यथा-"रघुपति भक्ति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार सोइ जानै जेहिं बनि आई।।" (वि०) फिर कराल कलिकाल में तो भक्ति करना अति ही कठिन है। परन्तु इन्होंने तो इस खड्गधारा व्रत का सहज ही निर्वाह कर लिया अर्थात् आजीवन सुगमतापूर्वक भक्तिभाव का ओर-छोर निर्वाह किया। पुनः श्रीरामजी ने तो त्रेता में कठिन शिव के धनुष को नरम किया था, तोड़ा था, परन्तु इन्होंने तो शिव धनुष से भी कठोर भक्ति रूपी धनुष को त्रेता की तो बात क्या कलियुग में नरम किया। अर्थात् सुगम, सुलभ कर दिया। "लोकहित मनो नीलकण्ठ" -यथा-"जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय। तेहिं न भजसि मन मन्द, को कृपाल संकर सरिस।।" "निन्दक" -श्रीगरुड़जी ने श्रीकाकभुशुण्डिजी से पूछा कि सबसे बड़ा पाप क्या है? यथा-"कहु कवन अघ परम कराला।।" (रा०च०मा०) इसके उत्तर में श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं-"परनिन्दा सम अघ न गरीसा।। हर गुरु निन्दक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई।। द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ वायस सरीर धरि।। सुर श्रुति निन्दक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।। होहिं उलूक सन्त निन्दा रत। मोहनिसा प्रिय ज्ञानभानु गत।। सबकै निन्दा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर ह्वै अवतरहीं।।" इस प्रकार निन्दा एवं निन्दकों की घोर आलोचना की है। परन्तु कहीं पर इनके प्रति बड़ी सहानुभूति भी वर्णन की गई है। यथा-"निन्दक जीवे जुगन जुग काम हमारो होय। काम हमारो होय विना कौड़ी को चाकर। कमर बाँधिकै फिरै करै तिहुँ लोक उजागर।। उसे हमारी सोच पलक भरि नाहिं विसारी। लागि रहै दिन रात प्रेम से देता गारी।। सन्त कहैं दृढ़ करै भगत का भरम छुड़ावै। निन्दक गुरू हमार नाम से वही मिलावै।। सुनिकै निन्दक मरि गया "पलटू" दीया रोय। निन्दक जीवै जुगन जुग काम हमारो होय।।" श्रीकबीरदासजी कहते हैं-"निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय। विनु साबुन पानी विना निर्मल देत बनाय।।" निन्दकों के प्रति भी सद्भाव रखना सन्तों का स्वभाव है। निन्दक तो नारकीय है ही।

विदित गान्धर्वी ब्याह—एक बार श्रीदुष्यन्तजी वन में अपने कुछ सैनिकों के साथ शिकार खेलने के लिए गए हुए थे। उधर ही वे कण्व ऋषि के आश्रम पर जा पहुँचे। उस आश्रम पर देवमाया के समान मनोहर एक स्त्री बैठी हुई थी। उनकी लक्ष्मी के समान अंगकान्ति

से वह आश्रम जगमगा रहा था। उस सुन्दरी को देखते ही दुष्यन्तजी मोहित हो गए और उससे बातचीत करने लगे। उन्होंने बड़ी मधुर वाणी से पूछा–"कमलदल लोचने! तुम कौन हो, किसकी पुत्री हो, सुन्दरी! इस निर्जन वन में रहकर तुम क्या करना चाहती हो। देवि! मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रिय की कन्या हो क्योंकि पुरुवंशियों का चित्त कभी भी अधर्म की ओर नहीं झुकता।" लोकोत्तर सौन्दर्य को धारण करने वाली उस देवी शकुन्तला ने कहा–"देव! आपका कथन सत्य है। मैं श्रीविश्वामित्रजी की पुत्री हूँ और मेनका अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई हूँ। मेरी माता ने मुझे जन्म देकर वन में छोड़ दिया था। मेरा पालन-पोषण करने वाले महर्षि कण्व इस बात के साक्षी हैं। वीर शिरामणे! मैं आपकी क्या सेवा करूँ? हे कमलनयन! आप यहाँ बैठिये और मैं जो कुछ आपका स्वागत-सत्कार करूँ, उसे आप स्वीकार कीजिये। आश्रम में कुछ नीवार हैं, आपकी इच्छा हो तो थोड़ा भोजन कीजिये और जँचे तो यहाँ पर ठहरिये।" श्रीदुष्यन्तजी ने कहा–"सुन्दरी! तुम कुशिक वंश में उत्पन्न हुई हो, इसलिए तुम्हारा इस प्रकार का आतिथ्य सत्कार तुम्हारे योग्य ही है। क्योंकि राज-कन्यायें स्वयं ही अपने योग्य पति को वरण कर लिया करती हैं।" शकुन्तला की स्वीकृति मिल जाने पर देश, काल और शास्त्र की आज्ञा जानने वाले राजा दुष्यन्त ने गान्धर्व विधि से धर्मानुसार उसके साथ विवाह कर लिया। राजा दुष्यन्त के अमोघ वीर्य से शकुन्तला को एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। वह बालक भगवान का अंशावतार था। उसका बल विक्रम अपरमित था। उसका नाम भरत था। पिता दुष्यन्त की मृत्यु के बाद भरतजी ही चक्रवर्ती सम्राट् हुए। इनके सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४६०।

"मूल छप्पय-११९ के भावार्थ में सन्त परम्परा से सुना गया अर्थ दिया गया है और श्रीरामरयनजी ने जो अपनी प्रिय कन्या श्रीरासविहारी भगवान को अर्पण की, उसे ही गान्धर्वी व्याह बताया गया है।" परन्तु जब पिता ने अपनी प्रसन्नता से कन्यादान किया तो इसे गान्धर्व व्याह कैसे कहा जायेगा। एक सन्त ने बताया कि-"विदित....बखानै" का तात्पर्य यह कि राजा रामरयनजी एक बार वन भ्रमण में थे। वहीं पर इन्हें एक क्षत्रिय कन्या सखियों के साथ वनस्थ एक मन्दिर में भगवद्-दर्शनार्थ गई। उसने भगवान को और वहाँ विराजमान सन्तों को प्रणाम किया तो प्रेम-विह्वल हो गई। उसे देखकर भगवद्-भक्ता जानकर आपने उससे वार्तालाप किया। उस कन्या ने भी राजा रामरयनजी को महान् भक्त जाना और इनसे विवाह करना स्वीकार कर लिया। भक्त सम्पर्क दोनों को ही अभीष्ट था। इसके बाद दोनों अपने-अपने स्थान पर आये। सखियों द्वारा राज-कन्या के पिता ने जब यह सब जाना तो परम

प्रसन्न होकर सविधि विवाह कर दिया। जिस प्रकार श्रीदुष्यन्तजी के परम भागवत प्रशंसनीय सुपुत्र श्रीभरतजी हुए, उसी प्रकार इनके भी परम महाभागवत पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी हुए। इस छप्पय की टीका में जो चरित्र श्रीप्रियादासजी ने लिखा। उससे राजा रामरयन की विलक्षण प्रीति पूर्ण प्रकाश में आई। पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग क०-४८९ में नहीं है जिससे उसे गान्धर्व विवाह कहा जाय।

पूनौं में प्रकास भयौ सरद समाज रास विविध विलास नृत्य राग रङ्ग भारी है।
बैठे रस भीजे दोऊ, बोल्यो राम राजा रीझि, भेंट कहा कीजै बिप्र कही जोई प्यारी है।।
प्यार को बिचारै न निहारै कहूँ नैकु छटा, सुता रूपघटा अनुरूप सेवा ज्यारी है।
रही सभा सोचि, आप जायके लिवाय ल्यायै, भेष सों दिवाये फेरे, सम्पति लै बारी है।।४८९।।

शब्दार्थ—नेक-छटा=थोड़ी भी झलक। रूप घटा=सुन्दरता का समूह। अनुरूप=सदृश, योग्य। ज्यारी=जीवन, जीविका, जियारी। फेरे=भाँवरें।

भावार्थ—एक बार शरद् पूर्णिमा की रात को जिसमें चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हुई थी, उसमें रासलीला का भव्य-आयोजन हुआ। रास में अष्ट सखियों एवं श्रीराधा-माधव ने विविध प्रकार से सुख-विलासमय नृत्य किया। राग रंग का अपार परमानन्द उमड़ पड़ा। राजा श्रीरामरयनजी एवं उनकी रानी दोनों रास का दर्शन कर रहे थे। नृत्य-गान को पूर्ण कर प्रेमरस में सराबोर युगलकिशोर सिंहासन पर विराजमान हुये। उस समय राजा रामरयनजी ने प्रेम-विभोर होकर अपने मन्त्रियों से पूछा कि-"ठाकुरजी को क्या भेंट करना चाहिए।" भक्त ब्राह्मण मन्त्री ने कहा-"राजन्! जो वस्तु आपको सर्वाधिक प्रिय हो, वही प्रभु को अर्पण करना चाहिये।" यह सुनकर राजा ने अपने मन में सोचा विचारा कि-"कौन-सी वस्तु अति प्रिय है।" परन्तु राज्य-कोष आदि किसी भी वस्तु में अपने प्रेम का लेश नहीं पाया। पश्चात् आपने निश्चय किया कि-"घनी घटा के समान जिसमें सौन्दर्य छाया है वही अपनी प्रिय कन्या श्रीठाकुरजी को भेंट देने योग्य है। यही उत्तम सेवा है और सेवा ही हमारा जीवन है।" भेंट करने की वस्तु लेने उठे तो समाज में बैठे सभी लोग अपने मन में सोचने लगे कि-"देखें, राजा की प्रिय वस्तु क्या है?" आप महल में गये और वस्त्राभूषणों से विभूषित अपनी कन्या को लिवा लाये और उसे रासविहारी श्रीकृष्ण को अर्पण कर दिया। पश्चात् विधि-विधान के अनुसार भाँवरें पड़ीं, विवाह हुआ, बहुत सी सम्पत्ति दहेज में दी तथा न्यौछावर की।।४८९।।

व्याख्या—पूनो में प्रकास भयौ०—यथा-"तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेनशन्तमैः। स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः।। दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्ड मण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्। वनञ्च तत्कोमल गोभि रञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।।" (भा० १०/२९/२, ३) अर्थ-"भगवान के संकल्प करते ही चन्द्रदेव ने प्राची दिशा के मुखमण्डल पर अपने शीतल किरण रूपी कर-कमलों से लालिमा की रोली केशर मल दी, जैसे बहुत दिनों के बाद अपनी प्राण प्रिया पत्नी के पास आकर उसके प्रियतम पति ने उसे आनन्दित करने के लिए ऐसा किया हो। इस प्रकार से चन्द्रदेव ने उदय होकर न केवल पूर्वदिशा का, प्रत्युत संसार के समस्त चर-अचर प्राणियों का सन्ताप, जो दिन में शरत्कालीन प्रखर सूर्य-रश्मियों के कारण बढ़ गया था, दूर कर दिया। उस दिन चन्द्रदेव का मण्डल अखण्ड था। पूर्णिमा की रात्रि थी। वे चन्द्रदेव नूतन केशर के समान लाल हो रहे थे, कुछ संकोच मिश्रित अभिलाषा से युक्त जान पड़ते थे, उनका मुखमण्डल श्रीलक्ष्मीजी के समान लग रहा था, उनकी कोमल किरणों से समस्त वन अनुराग के रंग में रँग गया था, वन के कोने-कोने में उन्होंने अपनी चाँदनी के द्वारा अमृत का समुद्र उड़ेल दिया था। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य उज्ज्वल रस के उद्दीपन की पूर्ण सामग्री को और उस वन को देखकर अपनी बाँसुरी पर ब्रज-सुन्दरियों के मन को हरण करने वाली कामबीज "क्लीं" की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी।।"

पूरन सरद ससि उदित प्रकाशमान, कैसी छबि छाई देखौ विमल जुन्हाई है।
अवनि अकास गिरि कानन औ जल-थल व्यापक भई सो जिय लागति सुहाई है।।
मुकुता कपूर चूर, पारद रजत आदि उपमा ये उज्ज्वल पै नागर न भाई है।
वृन्दावनचन्द्र चारु सगुन बिलोकिबेकों निरगुन ज्योति मानो कुञ्जन में आई है।।

विशेष—एक विमुख राजा श्रीरामरयनजी की सन्त-सेवा से बहुत चिढ़ता था। जब कभी वह इनके सम्मुख पड़ता तो इनकी एवं सन्तों की घोर निन्दा करता। एक दिन तो वह निन्दा करते-करते इनकी रानी के साथ सन्तों की शिकायत करने लगा। भगवान को भक्त-निन्दा असह्य हो गई। तत्काल एक भैंसा प्रकट होकर उस विमुख राजा को एवं उसके समर्थकों को मारने लगा। बचने का कोई उपाय न देखकर उन सबों ने श्रीरामरयनजी की शरण ली और "त्राहिमाम्, त्राहिमाम्" की रट लगाई। तब श्रीरामरयनजी ने दया करके भगवान से प्रार्थना करके उनकी रक्षा की और साधु-सेवा का उपदेश दिया।

श्रीरामरयनजी की रानी

हरि, गुरु, हरिदासनि सों, रामघरनि सांची रही।।
आरज कौ उपदेश सुतौ उर नीकै धार्‌यौ।
नवधा, दशधा प्रीति, आन धर्म सबै बिसार्‌यौ।।
अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरुषारथ जान्यौ।
सारासार-विबेक, बात तीनौ मन मान्यौ।।
दासत्व, अनन्य, उदारता, सन्तनि मुख, राजा कही।
हरि, गुरु, हरिदासनि सौं, रामघरनि साँची रही।।१२०।।

शब्दार्थ—रामघरनि=रामरयनजी की स्त्री। साँची=छल-कपटहीन। आरज=आर्य, पति।

भावार्थ—राजा रामरयनजी की धर्मपत्नी श्रीहरि, गुरुदेव एवं सन्तों के प्रति सदा सच्ची रही। उन्होंने इनसे कभी छल-कपट नहीं रक्खा। अपने पतिदेव के उपदेशों को तो उन्होंने अच्छी प्रकार से हृदय में धारण किया। नवधा-दशधा भक्ति के आचरण में ही इन्हें प्रीति थी। दूसरे लौकिक धर्मों को बिल्कुल भुला दिया। वैष्णवों से प्रेम करना ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ जाना। सत् को ग्रहण और असत् को त्याग कर देने का विवेक आप में था। दासत्व, अनन्यता और उदारता ये तीनों बातें आपके मन में बसी हुई थीं। इनकी प्रशंसा सन्तजन तथा स्वयं राजा श्रीरामरयनजी अपने मुख से करते थे॥१२०॥

व्याख्या—हरि गुरु हरिदासनि०—इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६१ "हरि गुरु दासनि सों साँचो" की व्याख्या। तथा इस छप्पय की अगली पंक्तियों में श्रीनाभाजी ने स्वयं भी इसका स्पष्टीकरण किया है। "आरज कौ उपदेश सुतौ उर नीके धार्‌यौ।" यह गुरु से सच्चे होने का प्रमाण है। "नवधा दशधा प्रीति आन धर्म सबै बिसार्‌यौ।" यह हरि से सच्चे होने का प्रमाण है। "अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरुषारथ जान्यो।" यह हरि भक्तों से सच्चे होने का प्रमाण है। "दासत्व, अनन्य, उदारता" हरि का दासत्व, गुरु के प्रति अनन्यत्व, हरिदासों के प्रति उदारता ये गुण आपमें थे। दासत्व पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२४, दास्यरस की व्याख्या। अनन्य पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१५ पर पन सोधो की व्याख्या। उदारता पर देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५, 'उदार' की व्याख्या। श्रीवृन्दावन के परम रसिक श्रीहरिराम व्यासजी अनन्यत्व का महत्व बताते हुए लिखते हैं कि-"अनन्य व्रत खाँडे की सी धार।

इत उत डगत जगत हित ते हरि फेरि न करत सम्हार।। कहा ग्याति कुल कर्मनि छाँडे जौ लगि विषय विकार।। विनु प्रेमहिं न प्रसाद नेम तहँ हरि न ग्रहत ज्यौनार। कौन काम कीरति विनु प्रीतिहिं गनिका को सो जार।। व्यासदास की पति गति नाशै गये पराये द्वार।।''

आये मधुपुरी राजाराम अभिराम दोऊ, दाम पै न राख्यौ, साधु बिप्र भुगताये हैं।
ऐसे ये उदार राह खरच संभार नाहिं, चलिबो बिचार भयौ चूरा दीठि आये हैं।।
मुद्रा सत पाँच मोल खोलि तिया आगे धरे दीजै बेचि गए नाभा कर पहिराये हैं।
पति को बुलाइ कही नीके देखि रीझे भीजे काढ़ि कै करज पुर आये दै पठाये हैं।।४९०।।

शब्दार्थ—भुगताये=भोजन कराया, बेवाक किया। सँभार=सुध, स्मरण। चूरा=कङ्कण। दीठ=दृष्टि, निगाह।

भावार्थ—एक बार राजा श्रीरामरयनजी तथा उनकी रानी दोनों ही श्रीमथुराजी को आये। साधु-ब्राह्मणों की सेवा करते हुए कुछ दिन तक वहीं रहे आये। जो धन आप साथ में लाये थे, उस सम्पूर्ण धन से आपने साधु-ब्राह्मणों की सेवा कर दी। पास में कुछ भी बचाकर नहीं रक्खा। सेवा करने में ये दोनों ऐसे उदार थे कि घर वापस जाने के लिए मार्ग-व्यय बचाकर रखना भी भूल गये। जब वापस लौटने का विचार हुआ, तो उस समय राह खर्च का प्रश्न उपस्थित हुआ। रानी के हाथों में जड़ाऊ कंकण थे, उन्हीं पर राजा की दृष्टि पड़ी। उस समय उनका मूल्य पाँच सौ रुपया था। रानी ने हाथों के कंकण उतारकर राजा के आगे रख दिये और कहा कि-''इन्हें बेच दीजिये।'' श्रीरामरयनजी उन्हें बेचने बाजार को गये। संयोगवश गोस्वामी श्रीनाभाजी इन्हें मार्ग में मिल गए। इन्होंने प्रसन्न होकर दण्डवत् करते हुए दोनों कंकण उनके हाथों में पहना दिये। रानी ने राजा महाराज को बुलाकर कहा-''आपने यह बहुत ही अच्छा किया।'' रानी की इस निष्ठा को देखकर राजा उस पर रीझ गए, प्रेमविभोर हो गए। इसके पश्चात् किसी से कर्ज लेकर आप अपने नगर को वापस आये और उसको धन भेजकर कर्ज चुकता किया।।४९०।।

व्याख्या—चूरा दीठि आये हैं—श्रीरामरयनजी ने केवल पत्नी के हाथों की ओर देखा। कुछ कहा नहीं, माँगा नहीं, परन्तु उनकी पत्नी उनके अभिप्राय को बिना कहे ही समझ गई और तुरन्त चूड़ा निकालकर दे दिया। ''कही नीके'' -इसके दो अर्थ होंगे। एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है, दूसरा अर्थ- आप बड़े अच्छे हैं। यहाँ एक प्रश्न होगा कि स्त्री के चूड़े एक पुरुष को, उसमें भी महात्मा को क्यों पहनाया? इसका समाधान एक तो

यह है कि एक उच्चकोटि के महात्मा का दर्शनकर इन्हें कुछ भेंट देनी चाहिए। तो और कुछ तो पास में था नहीं अतः चूड़ा ही भेंट कर दिये और चूँकि चूड़े हाथ में पहनने का आभूषण है, अतः मारे प्रेम के हाथ में पहना दिया। दूसरा कारण यह है कि श्रीनाभाजी की सखी भाव की उपासना है। यह श्रीरामजी की सखी हैं। यथा-''वैजयंती दाम भाववती अलि नाभा नाम लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है।।'' (भक्तमाल क०-५) पुनः-''अग्रदास नाभादि सखी ये सबै राम सीता की।।'' (भगवत रसिक) श्रीनाभाजी के इस दिव्य भाव को जानकर श्रीरामरयनजी ने इन्हें चूड़ा पहना दिये। मणिजटित स्वर्ण के चूड़े थे, अतः वे न अशुद्ध थे और न जूठे ही। ''देखि रीझे''-में एक भाव यह भी है कि श्रीरामरयनजी ने चूड़े नाभाजी को पहना तो दिये ही, साथ ही उनको अपने स्थान पर भी लिवा लाये। जिसमें पत्नी को भी इस महान् सन्त के दर्शन हो जायँ। श्रीरामरयनजी की पत्नी ने श्रीनाभाजी का दर्शन किया तो बड़ी प्रसन्न हुईं और उनको चूड़े पहने हुए देखीं तो उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा कि मेरी वस्तु इतने महान् सन्त ने सेवा में स्वीकार कर ली। इससे श्रीरामरयनजी की पत्नी की विशेष भक्ति दिखाई गयी। क्योंकि स्त्रियों को गहना स्वाभाविक ही प्रिय होता है, वे अपना आभूषण जल्दी नहीं देती हैं, परन्तु उन्होंने सहर्ष दे दिया, किंचित् भी दुःख नहीं माना। पुनः जिस कार्य के लिए इन्होंने दिया था, वह कार्य भी नहीं हुआ। सन्त को भेंट कर आये। इसमें भी दुःख न मानकर प्रसन्न ही हुईं। इससे इनकी परम सन्त-सेवा निष्ठा प्रगट होती है।

श्रीकिशोरसिंहजी

अभिलाष उभै खैमाल का, ते किशोर पूरा किया।।
पांयनि नूपुर बांधि नृत्य नगधर हित नाच्यौ।
राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाच्यो।।
वानी विमल उदार, भक्ति महिमा बिसतारी।
प्रेम पुंज सुठि सील विनय सन्तनि रुचिकारी।।
सृष्टि सराहै राम सुव, लघु वैस लछन आरज लिया।
अभिलाष उभै खैमाल का, ते किशोर पूरा किया।।१२१।।

शब्दार्थ—नगधर=नग=पर्वत, गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण। रली=आनन्द, प्रसन्नता। रामसुव=रामरयन के पुत्र। लघुवैस=छोटी आयु। लछन=लक्षण। आरज=श्रेष्ठ। अभिलाषा=मनोरथ। उभै=दो।

भावार्थ—श्रीखेमालरत्नजी के दो मनोरथों को श्रीकिशोरसिंहजी ने पूर्ण किया। पैरों में नूपुर बाँधकर श्रीगिरिधरलालजी के सामने नित्य नृत्य करते थे। दूसरे श्रीरामचन्द्रजी की सेवा के निमित्त अत्यन्त आनन्द पूर्वक घड़ा भरकर मधुर जल लाते थे। इस सेवा से आपका शीश कभी वञ्चित नहीं हुआ। आपकी वाणी निर्मल और उदार थी। उससे आपने भक्ति की महिमा का विस्तार किया। आप श्रीरामकृष्ण के प्रेम की राशि, सुन्दर स्वभाव, विनय-शीलता एवं भक्तों को प्रिय लगने वाले थे। सारा संसार आपकी बड़ाई करते हुए कहता था कि छोटी अवस्था में ही श्रीरामरयन के पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी ने महत्पुरुषों के लक्षणों को धारण कर लिया।।१२१।।

व्याख्या—अभिलाष०—साधु पुरुष की हर अभिलाषा देर-सबेर पूर्ण होकर रहती है। यथा-"जो इच्छा करिहहु मनमाहीं। प्रभु प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।। राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी।।" (रा०च०मा०) असाधुओं की अभिलाषा अपूर्ण रहती है। दृष्टान्त-रावण का-यथा-"विफल होहिं रावन सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे।। विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के।।" कहते हैं कि रावण की बड़ी अभिलाषा थी कि मैं ऐसा यत्न करुँगा कि-"जल में काई न हो, बाप से आगे बेटा न मरे, स्वर्ग के लिए सीढ़ी बन जाय, अग्नि में धुवां न हो।" परन्तु उसकी एक भी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। "लघुवैस लछन आरज लिया"-शास्त्र का आदेश है कि कौमारावस्था से ही भगवान का भजन करना चाहिए। यथा-"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।।" (भा०) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५६०। पुनः-"जीवितं कृष्ण भक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च। न तु कल्प सहस्राणि भक्ति हीनस्य केशवे।।" अर्थ-"श्रीकृष्ण भक्तिमय पाँच दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है, परन्तु श्रीकृष्ण भक्तिहीन सौ कल्प पर्यन्त जीना अच्छा नहीं है। पुनः-"समझा तो बालक भला पाँच बरस को दास। विन समझा किस काम का बीते वरस पचास।। पुनः-"बालापन से हरि भजै जगसे रहै उदास। तीरथ हूँ आशा करैं कब आवैं हरिदास।।"

खेमालरतन तन त्याग समै अश्रुपात, बात सुत पूछैं अजू नीकें खोलि दीजिये।
कीजै पुण्य दान बहु, संपत्ति अमान भरी, धरी हियें दोई सोई कही सुनि लीजिये।।
बिबिध बड़ाई में समाई मति भई पै न नितही बिचार अब मन पर खीजिये।
नीर भरि घट सीस धरिकै न ल्यायौ और नूपुरन बांधि नृत्य कियौ नांहि छीजियै।।४९१।।

शब्दार्थ—अमान=नाप-तोल रहित, अति अधिक। समाई=लीन। छीजिये=नाश, क्षीण होना।

भावार्थ—शरीर त्याग करते समय श्रीखेमालरत्नजी की आँखों से निरन्तर आँसुओं की धारा बह रही थी। कारण किसी की समझ में नहीं आ रहा था। श्रीरामरयनजी ने पूछा-"आपको क्या कष्ट है, आप खोलकर स्पष्ट कह दीजिये। आपके खजाने में बहुत सी सम्पत्ति भरी हुई है, जो भी दान-पुण्य आप करना चाहते हैं, उसे कीजिये।" श्रीखेमालरत्नजी ने कहा-"मैंने अपने मन में सेवा के दो मनोरथ किये हैं, वे पूरे नहीं हुए, इसी बात का दुःख है। वे कौन से मनोरथ हैं, यह पूछने पर आपने कहा कि-"मेरी बुद्धि राज्य आदि के अनेकों बड़प्पनों में सनी रही उन मनोरथों को पूर्ण करने की बात हम सोचते तो नित्य थे, परन्तु पूर्ण न कर सके। आज नहीं तो कल, यही करते-करते शरीर त्याग करने का समय आ गया। इसी से अब मन में रोष और कष्ट हो रहा है।" दो में से एक तो यह कि-"भगवान श्रीसीतारामजी के लिए अपने शिर पर रखकर जल भरा कलश नहीं लाये।" दूसरा यह कि-"पैरों में घुँघरु बाँधकर कभी भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी के आगे नृत्य नहीं किया।" मेरे कष्ट का यही कारण है।।४९१।।

व्याख्या—खोलि दीजिये—भाव यह कि यह समय रोने का नहीं है, यह तो हर्ष का समय है। मृत्यु के समय रोने से परिवार आदि के सम्बन्ध में मोह प्रकट होता है जो भक्ति में कलंक है। भक्त तो मृत्यु को सहर्ष वरण करते हैं। यथा-"जा मरने से जग डरे, सो मेरे आनन्द। कब मरिहौं कब भेटिहौं पूरन परमानन्द।।"

विविधबड़ाई—यथा— **कामसे रूप प्रताप दिनेश से सोमसे शील गनेस से माने।**
हरिचन्द सों सांचे बड़े विधिसें मघवासे महीप विषय सुखसाने।।
शुकसे मुनि सारद से बकता चिर जीवन लोमसते अधिकाने।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिव लोचन राम न जाने।।
(क०)

मन पर खीजिये—भाव यह है कि मैंने इन कार्यों को करने का विचार तो नित्य किया, परन्तु मन ने सदा अनेकों विरुद्ध युक्तियाँ प्रस्तुत करके मेरे विचारों को कार्यरूप में परिणत नहीं होने दिया। इसी से अर्जुनजी मन की शिकायत करते हुए कहते हैं कि-"चञ्चलं हि मनः कृष्ण।" विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८१। पुनः-

छिनमें प्रवीन छिन मायामें मलीन छिन, छिनकमें दीन छिन माहिं जैसो शक्र है।
लिए दौर धूप छिन छिनमें अनन्त रूप, ठानत कुलाहल मथान कैसो तक्र है।।
नट कैसो थार कैधों हार है रहँट कैसो, धार कैसो भोर कै कुम्हार कैसो चक्र है।
ऐसो मन भ्रामक सो आज कैसे थिर होत, आदि हीको चञ्चल अनादि ही को वक्र है।।

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम वचन अरु हीते।।
सुत वनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सब हीते।
अन्तहु तोहिं तजेंगे पामर, तू न तजै अबही ते।।
सहस बाहु दस वदन आदि नृप, बचे न काल वली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते।।
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागि दुरासा जीते।
बुझइ न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घीते।। (वि०)

नृत्य कियौ नाहिं—भाव यह है कि संसार में तो मैंने बहुत नाच नाचे। यथा–

नाचत ही निशि दिवस मर्‌यौ।
तब ही ते न भयौ हरि थिर, जब ते जिव नाम धर्‌यौ।।
बहु वासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यौ।
चर अरु-अचर गगन जल थलमें, कौन न स्वांग कर्‌यौ।।
देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जांचत क्वौं उबर्‌यौ।
मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख, काहू तौ न हर्‌यौ।।
थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल विछुर्‌यौ।
अब रघुनाथ शरन आयौ जन भव भय विकल डर्‌यौ।।
जेहि गुन ते बस होहु रीझि करि, सो मोहिं सब विसर्‌यौ।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‌यौ।।

पुनः— **अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।**
काम क्रोधको पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल।।
महा मोहके नूपुर बाजत, निन्दा सबद रसाल।
भ्रम भोयो मन भयौ-पखावज, चलत असंगत चाल।।

तृष्णा नाद करत घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
मायाको कटि फेंटा बांध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदासकी सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल।।

रहे चुपचाप सबै जानी काम आप ही कौ, बोल्यौ यों किशोर नाती आज्ञा मोकों दीजियै।
यही नित करौं नहीं टरौं जौलौं जीवै तन मन में हुलास उठि, छाती लाय जीजियै।।
बहु सुख पाये, पाये वैसे ही निवाहे पन, गाये गुन लाल प्यारी अति मति भीजियै।
भक्ति बिसतार कियौ वैंस लघु भीज्यौ, हियौ दियौ सनमान सन्त सभा सब रीझियै।।४९२।।

भावार्थ—खेमालरत्नजी की इस बात को सुनकर उनके मन्त्री, 'परिवारी' पुत्र आदि सभी चुप रह गये। सभी ने सोचा कि-''यह सेवा कार्य तो आपका था, आप नहीं कर सके तो अब क्या किया जाय, परन्तु उसी समय आपके नाती श्रीकिशोरसिंहजी बोल उठे-''आप हमें आज्ञा दीजिये, मैं इन दोनों सेवाओं को नित्य करुँगा। जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे, तब तक नित्य नियम को निभाऊँगा।'' अपने नाती की ऐसी प्रेममयी प्रतिज्ञा सुनकर श्रीखेमालरत्नजी के मन में अपार सुख हुआ। उन्होंने उठकर श्रीकिशोरसिंहजी को छाती से लगा लिया। इसके पश्चात् सुखपूर्वक अपना शरीर त्याग दिया। इससे श्रीकिशोरसिंहजी ने भी सुख पाया और जो प्रतिज्ञा की थी, उसका सम्पूर्ण जीवन भर निर्वाह किया। सर्वदा प्रिया-प्रियतमजी के गुणगान में इनकी बुद्धि विभोर रहती थी। आपने खूब हरिभक्ति का प्रचार-प्रसार किया। बाल्यकाल से ही आपका हृदय प्रेमरस में परिपूर्ण था। आपकी सेवा निष्ठाओं को देखकर सन्त-समाज आपका बहुत सम्मान करता था। सभी आप पर प्रसन्न रहते थे।।४९२।।

व्याख्या—काम आप ही कौ—इससे जनाया गया कि जैसे खेमालजी राजापने के संकोच से अत्यन्त इच्छा होने पर भी सिर पर धरकर श्रीठाकुरजी की सेवा का जल-कलश न ला सके और पाँव में नूपुर बाँधकर भगवान के आगे नहीं नाच सके, उसी प्रकार इनके पुत्र में भी वहीं राजापने का भाव था, अत: बात टालते हुए बोले कि यह तो आपका ही काम था। ''यही नितकरौं'' -इससे जनाया गया कि श्रीकिशोरसिंह ने श्रीहरिभक्ति के समक्ष राज-काज एवं राजापने को कोई महत्व नहीं दिया। यही वास्तविक विवेक है। भगवत्सेवा सुख के समक्ष कोटि-कोटि राज्य सुख न्यौछावर हैं। यथा-''श्रीभरतजी कहते हैं-''हितहमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई।। सोक समाज राज केहि लेखे। लखन राम

सिय विनु पद देखे।।'' यही तो कारण है कि-''भूप राज तजि होहिं विरागी।।'' अतः श्रीकिशोरजी ने कहा-''यही नित करौं।''

श्रीहरीदासजी

खेमालरतन राठौर कै सुफल बेलि मीठी फली।।
हरीदास हरिभक्त भक्ति मन्दिर कौ कलसौ।
भजन भाव परिपक्व, हृदै भागीरथि जल सौ।।
त्रिधा भांति अति अनन्य राम की रीति निबाही।
हरि गुरु हरि बल भांति तिनहिं सेवा दृढ़ साही।।
पूरन इन्दु प्रमुदित, उदधि, त्यों दास देखि बाढ़े रली।
खेमालरतन राठौर कै, सुफल बेलि मीठी फली।।१२२।।

शब्दार्थ—त्रिधा=तीन प्रकार मनसा, वाचा, कर्मणा। साही=शाही, राजसी। इन्दु= चन्द्रमा। उदधि=समुद्र।

भावार्थ—श्रीखेमालरत्नजी राठौरजी की वंश-लता में सुन्दर मधुर फल लगे, अर्थात् वंश में वैष्णव सुपुत्र उत्पन्न हुए। श्रीहरीदासजी भगवान के एवं भगवद्-भक्तों के भक्त थे। भक्तरूपी मन्दिर के कलश थे। भजन-भाव में आप सुदृढ़ निष्ठा वाले थे तथा आपका हृदय भागीरथी गंगा के समान पवित्र एवं निर्मल था। मन-वचन एवं कर्म से आप अनन्य भक्त थे। श्रीरामरयनजी की उपासना रीति का ही आपने भी अनुसरण किया। इन्हें भगवत् तुल्य अपने श्रीगुरुदेव का बल भगवद् बल के समान ही था। इन दोनों की सेवा आपने राजोपचारों से की। जैसे शरद् ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्र ऊँची लहरें लेकर बढ़ने लगता है, उसी प्रकार भगवद्-भक्तों को देखकर श्रीहरीदास के हृदय में आनन्द समुद्र उमड़ने लगता था।।१२२।।

व्याख्या—भक्ति मन्दिर को कलसौ—भाव यह है कि जैसे कलश से भवन की शोभा होती है, वैसे ही इनसे भक्ति की शोभा हुई। पुनः कलश दूर से ही दीप्तिमान् दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इनका सुयश बहुत दूर-दूर से ही सुनाई पड़ता था। दूर तक इनकी भक्ति जगमगा रही थी। ''भजन भाव परिपक्व''-कहा भी गया है-''मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'' (रा०च०मा०) ''हृदय भागीरथ जलसों''-देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५५०

"सरस कबीर हियौ" की व्याख्या। "त्रिधा भांति अति अनन्य"-इसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीतुलसीदासजी ने एक पद में किया है। यथा-

सियराम सरूप अगाध अनूप विलोचन मीननि को जल है।
श्रुति राम कथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिं को थल है।।
मतिरामहिं सों गतिरामहिं सों रति राम सों रामहिं को बल है।
सबकी न कहैं तुलसीके मते इतनो जग जीवन को फल है।।

अनन्यता पर पिछले प्रसंगों में विस्तार से लिखा जा चुकी है। "पूरन इन्दु"-यथा- "जग बहुनर सर सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई।। सज्जन सकृत सिन्धु सम कोई। देखि पूर विधु बाढ़ै जोई।।" (रा०च०मा०)।

विशेष—श्रीहरीदासजी बड़े सन्तसेवी थे। इनके यहाँ सन्त आते ही रहते थे। एक दिन ये घर पर नहीं थे। सन्तों की जमात आई। सबका यथोचित सत्कार किया गया। जब सन्त विदा होकर चले गये, तब ये घर पर आये। सन्तों का दर्शन न होने से इनके मन में बड़ा पश्चात्ताप हुआ और तुरन्त व्याकुल होकर सन्तों के दर्शन के लिए घर से निकल पड़े। ये इतस्ततः सन्तों को खोजते हुये, जिस किसी से सन्तों का पता पूछते-पाछते जंगल की ओर जा निकले। बावले से भये इधर-उधर घूम रहे थे। मानो इनका सर्वस्व लुट गया हो। इनकी यह निष्ठा देखकर स्वयं भगवान सन्त वेष धारणकर इनके सम्मुख आ गये और बोले-"भक्तजी! क्या ढूँढ़ रहे हैं?" इन्होंने सन्तवेष धारी भगवान के चरणों में पड़कर प्रणाम किया और बोले-"महाराज! सन्तों को ढूँढ़ रहा हूँ। क्या आप बता सकते हैं-अन्य सन्त कहाँ गये?" सन्त वेषधारी भगवान ने हँसकर कहा-"सबको मेरे में ही समझो। अतः मेरा ही दर्शन करके सबका दर्शन समझ लो।" श्रीहरीदासजी ने कहा-"यह कैसे हो सकता है? क्या आप अकेले उन सभी सन्तों के बराबर हरिगुण गान कर सकते हैं? क्या आप अकेले उन सबके बराबर प्रसाद पा सकते हैं?" सन्त भगवान ने हँसकर कहा-"तुम चिन्ता मत करो, मैं अकेले ही सबके बराबर भगवद् गुण गान भी कर सकता हूँ और प्रसाद भी पा सकता हूँ।" इन्होंने कहा-"अच्छा आप पहले मुझे कुछ हरिगुण गान सुनाइये। सन्त भगवान ने भावावेश में ऐसा श्रीहरि यश सुनाया, मानो हजार मुख दो हजार जिह्वा से शेषजी ही हरिगुण गा रहे हैं। तब तो इन्हें विश्वास हो गया कि ये निश्चय ही कोई समर्थ सन्त हैं। फिर तो ये मारे प्रेम के उन सन्त भगवान को अपने कन्धे पर बैठाकर लाये और षोडशोपचार विधि से पूजा-स्तुति की। तदुपरान्त अनेक प्रकार का प्रचुर भोजन बनवाया। जब सन्तजी भोजन करने लगे तो ये पुनः प्रेमवश बोले-

"महाराज! जैसे आपने हरिगुण गान में अनेक सन्तों की सामर्थ्य अपने में दिखाई, वैसे ही प्रसाद पाने में भी आपको अपना ऐश्वर्य प्रकट करना होगा।" सन्त भगवान ने कहा-"तुम तनिक भी चिन्ता मत करो, जो भी सामान बना हो सब मुझे परोसते जाओ, मैं अकेले ही अनन्त सन्तों का भोजन करने में समर्थ हूँ। फिर तो श्रीहरीदासजी ने बड़े चाव-भाव से इन्हें भोजन करवाया। सन्त भगवान सब भोजन अकेले ही साफ कर गये। तब श्रीहरीदासजी जान गये कि यह तो भक्तवत्सल भगवान ही मेरे मनोरथों को पूर्ण करने के लिए सन्त वेष में पधारे हैं। फिर तो इन्होंने भगवान की बड़ी स्तुति-प्रार्थना की। भगवान इन्हें स्वस्वरूप का दर्शन करा कर अन्तर्धान हो गये।

एक विनोद की बात—श्रीनाभाजी ने कहीं-कहीं तो एक-एक छप्पय में बीस-बीस भक्तों का नाम गिना दिया है, परन्तु श्रीखेमाल भक्त के लिए पाँच छप्पय लिखे हैं। जैसे कि श्रीखेमालजी के लिए एक, इनके पुत्रों के लिए एक, इनकी पुत्रबधू के लिए एक, इनके नाती के लिए एक एवं इन्हीं के वंशोद्भव श्रीहरीदासजी के लिए एक। ऐसा क्यों? इसका विनोदपूर्ण समाधान यह है कि श्रीनाभाजी को श्रीरामरयनजी ने सोने का चूड़ा भेंट में दिया था। उसी से प्रसन्न होकर इन्होंने घर भर का यश गाया। परन्तु वास्तविक बात यह है कि इनके घर भर में भक्ति ही ऐसी थी कि श्रीनाभाजी को विवश होकर सबका यश गाना पड़ा।

श्रीचतुर्भुजजी कीर्तननिष्ठ

(श्री) "हरिवंश" चरनबल 'चतुरभुज,' "गोंड़" देश तीरथ कियौ।।
गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्लभभजनअनन्यता वर्ग बढ़ायौ।।
'मुरलीधर' की छाप कबित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अँघ्रिरेनु वहै धारी सिरभूषन।।
सतसंग महाआनन्द में, प्रेम रहत भीज्यो हियौ।
(श्री) "हरिवंश" चरनबल "चतुरभुज" "गोंड़" देश तीरथ कियौ।।१२३।।

शब्दार्थ—तीरथ कियौ=पवित्र कियौ। गोंड़=गोंड़वाना, मध्यप्रदेश, नर्मदा तट। पाठान्तर गर्व बढ़ायौ।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभु के श्रीचरणों के प्रताप से श्रीचतुर्भुजदासजी ने गोंड़वाना प्रान्त को तीर्थ के समान पवित्र बना दिया। आपने भक्ति प्रताप का गान किया।

उसके द्वारा सभी लोगों में दास्य-भाव दृढ़ किया। ठाकुर श्रीराधावल्लभजी के भजन की शिक्षा देकर आपने अनन्य भक्तों के परिवार को तथा अनन्यता के गौरव को बढ़ाया। आपकी कविता काव्य दोषों से सर्वथा रहित है, उसमें आप "मुरलीधर" की छाप लगाते थे। हरि भक्तों के श्रीचरणों की रज को भूषण के समान मानकर उसे सिर पर धारण करते थे। सन्त-संग में तथा भगवत्प्रेम के परमानन्द में सदा आपका हृदय सराबोर रहता था।।१२३।।

व्याख्या—गायौ भक्ति प्रताप—श्रीचतुर्भुजजी ने द्वादशयश नामक ग्रन्थ की रचना की है। जिसमें धर्म विचार, भक्तिप्रताप, सन्तप्रताप, मोहिनी यश, शिक्षासार, हितोपदेश, पतित पावन यश, शिक्षा सकल समाज, अनन्य भजन, श्रीराधाप्रताप, मंगलसार और विमुख मुख भंजन- ये द्वादश विभाग हैं। यहाँ छप्पय में "गायौ भक्ति प्रताप" कहने का भाव यह है कि इन्होंने वैसे वर्णन तो और विषयों का भी किया है, परन्तु भक्ति पर विशेष बल दिया है। यथा-"ज्यौं जड़ भरतहिं धरि लै गये।। देवी डरपि फेरि पठाये।। भक्त तेज लागी जरन।। दुखित उत्तरा सुमिरे हरी।। गर्भ परीक्षित रक्षा करी। ब्रह्म अस्त्र के तेज से।। भक्त के दुख दूषित स्याम।। भक्तन हेत जनम क्रम नाम।। भक्तनि भावै सो करैं।। धनुष मुकुट तजि मुरलीधरी।। विलमंगल परतिग्या परी।। भक्ति प्रतापहिं गाइहौं।।"

दासत्व दृढ़ायौ—यहाँ यह प्रश्न होगा कि श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी ने तो शृंगार रसोपासना को अपनाया था। फिर ये उन्हीं के शिष्य होकर दासत्व पर क्यों बल दिये? इसके लिए विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२५ तथा ४१। "अनन्यता वर्ग०"-यथा-"गुनविन धनुष काम नहिं आवै। ऐसे निर्गुन गुन विन गावै।। देहि मन्त्र गुरु ध्यान बतावै। सोई इष्ट ताहि मन लावै।। विलमंगल तुलसीजु बताई। उन जु धनुष उन मुरली गहाई। भक्त भेद अवतारहिं लावै। आन देवकी कौन चलावै।। श्रीमुख कह्यौ पन्थ सो परसै। मन जन आन देव नहिं दरसै।। कै पण्डित कै मूरख मानै। ज्ञान दग्ध नहिं मन में आनै।। यह जस सुनि गुनकै मन धरिये। सन्तत भक्ति कृष्ण की करिये।। मुरलीधरन चरन रति पावै।। चतुर्भुजदास यथा मति गावै।।" "भक्तनि की अंघ्रिरेनु"-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१८७ "जिन चरण रेणु ...साधरी" की व्याख्या। "सत्संग महाआनन्द०"-यथा-"स्वर्ग मुक्ति सुखते अतिहीन। नर राजनि सुख तनकोदीन।। साधुसंग समसर नहीं।। सूत कह्यौ हौं मैं कुलहीन। ऋषि संगति ते भयो प्रवीन।। साधु संग सबते भलो।। गंगा सेवत अति फल होय। सन्त मिलत तबहीं फल सोय।। सम्यक् हरि हिरदै बसत।। जिन सुमिरन पावन घर होय। पुनि मिलि कै भोजन कर

सोय।। चरणोदक पुनि पाइयै।। सकल अभद्र नष्ट ह्वै जात। जबहिं साधु परसत लै गात।। सन्त प्रतापहिं गाइहौं।।''

गोंड़वाने देश, भक्ति लेसहूं न देखै, कहूँ, मानुस कों मारि इष्टदेव कों चढ़ायौ है।
तहां जाय देवता के मन्त्र लै सुनायौ कान लियौ उन मानि, गाँव सुपन सुनायौ है।।
'स्वामी चतुर्भुजजू के बेगि तुम दास होहु नातौ होय नास' सब गांव भज्यौ आयौ है।
ऐसे शिष्य किये, मालाकण्ठी पाय जिये, पाँव लिये मन दिये, औअनन्त सुख पायौ है।।४९३।।

भावार्थ—गोंड़वाना देश में उस समय भक्ति-भावना का नाममात्र आचरण भी कहीं नहीं दिखाई पड़ता था। वहाँ के लोग ऐसे हिंसावादी शाक्त थे कि मनुष्यों को मारकर कालीदेवी को भेंट चढ़ाते थे। श्रीचतुर्भुजजी ने वहाँ जाकर देवी के कान में कृष्ण-मन्त्र सुना दिया। देवी ने वैष्णवी-दीक्षा स्वीकार कर ली और गाँव के लोगों को स्वप्न में आज्ञा दी कि-''तुम सब लोग शीघ्र ही श्रीस्वामी चतुर्भुजदासजी के शिष्य बनकर भक्त-भगवान की सेवा करो, उनके दास बनो। नहीं तो सबका सर्वनाश हो जायेगा।'' यह सुनकर प्रातःकाल होते ही गाँव के सभी लोग इनके पास दौड़कर आये। इन्होंने कण्ठी-तिलक देकर सबको दीक्षा प्रदान की। वैष्णवीय शिक्षा-दीक्षा पाकर सबको नया जीवन मिला। सभी ने आपके श्रीचरण-कमलों का आश्रय लिया भगवान में मन लगाया, इस प्रकार से समस्त लोगों ने अखण्ड-अनन्त सुख प्राप्त किया।।४९३।।

व्याख्या—भक्तिलेश हूं न देखैं कहूं—इस पर दृष्टान्त-कथा वाचक का—एक पण्डितजी बड़े विद्वान् थे। एक बार उनको घर में कुछ द्रव्य का अभाव समझ में आया तो सोचे कि कहीं चलकर कुछ कथा-वार्त्ता करूँ, जिससे सहज में प्रचुर द्रव्य हाथ लग जायेगा। यह विचार कर अपना पोथी-पत्रा लेकर घोड़ी पर चढ़कर एक गाँव में गये और वहाँ के मुखिया से मिलकर रामायण की कथा प्रारम्भ कर दी। लेकिन कथा सुनने गाँव का एक भी आदमी नहीं आता। पण्डितजी ने गाँव के दो-चार प्रतिष्ठित लोगों से कहा भी कि-''भाई! हम रामायण की कथा कह रहे हैं, आप लोग सुनने के लिए तो आया करो।'' इन लोगों ने बड़ी सरलता से कहा-''महाराज! हमें विश्वास है कि आप इतने बड़े विद्वान् झूठ नहीं कहेंगे, पोथी में जो लिखा है वही कहेंगे। इसलिये आप तो कहते जाइये। हम लोगों को क्यों बुलाते हैं?'' पण्डितजी चुप मारकर कहते गये। जब लंकाकाण्ड का प्रसंग आया, मार-काट, लड़ाई-झगड़े का प्रसंग आया तो लोगों को कुछ रोचकता मालूम हुई अतः

अब कुछ लोग बैठकर कथा सुनने लगे। पण्डितजी ने महीने भर कथा कही, परन्तु एक पैसा भी भेंट-पूजा में नहीं मिला। उस गाँव के लोग जानते ही नहीं थे कि कथा की पूर्णाहुति पर कथावाचक को दक्षिणा दी जाती है, ग्रन्थ की पूजा की जाती है। पण्डितजी ने कथा समाप्त कर पोथी-पत्रा बाँधा और बड़े उदास मन से वहाँ से घर की राह ली। अभी पण्डितजी कुछ ही दूर गये थे कि इधर इन गँवारों में विवाद हो गया कि राम राक्षस थे कि रावण। जब आपस में कोई निर्णय नहीं हो सका तो एक वृद्ध ने कहा-''अरे भाई! तुम लोग आपस में लड़ क्यों रहे हो? पण्डितजी तो अभी थोड़ी ही दूर गये होंगे, दौड़कर उनसे ही पूछ क्यों नहीं लेते हो। लोगों को वृद्ध की बात जँच गयी। अतः पण्डितजी के पीछे दौड़ पड़े। दूर से ही आवाज लगाना शुरु कर दिये। पण्डितजी ने पीछे मुड़कर देखा तो गाँव के कुछ लोग दौड़ते हुए अपनी ओर आते दिखाई दिये। पण्डितजी ने सोचा कि मालूम पड़ता है- कुछ भेंट-पूजा देने के लिये आ रहे हैं। मेरे आने के बाद लोगों ने चन्दा किया होगा, उसे ही लेकर आ रहे हैं।'' अतः पण्डितजी ने घोड़ी को रोका। तब तक यह सब भी पहुँच गये। पण्डितजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा-''कहो यजमानो! कैसे आये?'' गाँव वालों ने पूछा-''महाराज! आपने इतनी कथा कही परन्तु यह तो बताया ही नहीं कि राम राक्षस थे या रावण। पण्डितजी ने झुँझलाकर कहा-''मूर्खो! न राम राक्षस थे और न रावण। राक्षस तो हम हैं जो तुम जैसे महाराक्षसों को कथा सुनाई।'' इतने भगवान से विमुख थे उस गाँव के लोग कि यह भी नहीं जानते थे कि राम कौन थे और रावण कौन था? ऐसे ही विमुख देश में श्रीचतुर्भुजजी पहुँच गये।

मानुस को मारि०—श्रीचतुर्भुजजी सन्तों की जमात को साथ लेकर विचरते-विचरते गोंड़वाने देश में आये। एक हरा-भरा बगीचा देखकर तथा उसके मध्य में सुन्दर सरोवर एवं देवालय देखकर इनकी इच्छा हुई कि यहीं आसन लगावें। इतने में देवी के पुजारी ने आकर कहा-''यहाँ आसन मत जमावो। थोड़ी देर में ही यहाँ का राजा देवी को नर बलि देने आयेगा। देवी उसको प्रत्यक्ष दर्शन देती है।'' तब तो इन्होंने और दृढ़ निश्चय कर लिया कि यहीं आसन लगायेंगे। देवी का पुजारी चिल्ल-पों मचाता रहा, परन्तु इन्होंने सब सन्तों से कहा कि यहीं आसन लगावो। सभी सन्त जहाँ-तहाँ आसन लगाकर भगवद् पूजा में लग गये। इतने में वहाँ का राजा बड़े साज-बाज से देवी का पूजन करने आया। उसके कर्मचारियों ने देवी को नर-बलि देने के लिये एक ब्राह्मण के लड़के को पकड़ रखा था। उसके माता-पिता, कुटुम्ब-परिवार के लोग बड़ा ही करुण-क्रन्दन कर रहे थे। सन्तों को देखकर सभी अति दीन होकर चरणों में पड़कर प्रार्थना करने लगे कि-''महाराज! मेरे बालक

के प्राण बचाओ।'' स्वभाव से ही दयालु चित्त सन्त उनके रुदन पर अत्यन्त द्रवीभूत होकर राजा के कर्मचारियों से प्रार्थना किये कि इस ब्राह्मण कुमार को छोड़ दीजिये। परन्तु जब इस पर ध्यान नहीं दिये तब सन्तों ने कहा-''अच्छा, यदि तुम लोगों को मनुष्य बलि देनी ही है तो हमारी बलि दे दो, परन्तु इस ब्राह्मण कुमार को छोड़ दो।'' लेकिन इस प्रार्थना पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया। तब सन्तों ने जाकर श्रीचतुर्भुजजी से कहा। श्रीचतुर्भुजजी को रोषावेश हो आया। ये देवी के मठ पर आकर क्रोध में भरकर बोले-''तू देवी है या राक्षसी! जो मनुष्यों की बलि लेती है, यदि तुझे मनुष्य ही खाना अभीष्ट है तो ले मुझको खा ले।'' श्रीचतुर्भुजजी के वैष्णव तेज को देवी नहीं सह सकी। वह तुरन्त साक्षात् प्रगट होकर हाथ जोड़कर सिर झुकाकर श्रीचतुर्भुजजी से बोली कि-''अब आज से किसी जीव की बलि न लूँगी, आप मुझे मन्त्र दीक्षा दीजिए।'' श्रीचतुर्भुजजी ने उन्हें मन्त्रोपदेश देकर परम वैष्णवी बना दिया और स्वयं अपने आसन पर आ गये। इतने में राज-कर्मचारी उस ब्राह्मण कुमार को लेकर देवी के मठ पर आये। उन्हें देखते ही देवी ने जोर से हुँकार किया, जिससे सभी लोग मूर्च्छित हो गये। इतनी प्रबल मूर्च्छा थी कि दूसरे दिन लोग चैतन्य हुये। इधर रात्रि में देवी ने राजा के महल में जाकर उसकी पलंग उलट दी और राजा की छाती पर चढ़कर बोली-''मैं अब तेरा सत्यानाश कर दूँगी।'' राजा ने कहा-''माँ! मुझसे क्या भूल हुई है?'' देवी ने कहा-''अब मैं चतुर्भुजजी से मन्त्रोपदेश लेकर वैष्णवी बन गई हूँ। तुम भी यदि अपना कल्याण चाहो तो शीघ्र उन्हीं से मन्त्र ले लो और पूरे राज्य में वैष्णव धर्म का प्रचार करो अन्यथा मैं बहुत शीघ्र सबका सर्वनाश कर दूँगी। अब मेरी पूजा में कदापि किसी प्रकार की जीव बलि नहीं देना। सात्विक उपकरणों से ही मेरी पूजा करना।'' देवी के आदेशानुसार राजा ने श्रीचतुर्भुजजी से मन्त्रोपदेश लिया और पूरे नगर में डौंड़ी पिटवा दिया कि सब लोग श्रीचतुर्भुजजी महाराज से वैष्णवी दीक्षा लेकर भगवद्-भजन में प्रवृत्त हों। आज से कोई भी तामसी रीति से देवी की आराधना नहीं करेगा। फिर तो सारे नगरवासी श्रीचतुर्भुजजी के शिष्य हो गये।

भोग लै लगावैं नाना, संतनि लड़ावै, कथा भागवत गावैं, भाव भक्ति बिसतारियै।
भज्यौ धन लैके कोऊ, धनी पाछे पर्‌यौ सोऊ, आनि कै दबायौ, बैठि रह्यौ न निहारियै।।
निकसी पुरान बात करै नयौ गात दिक्षा शिक्षा सुनि शिष्य भयो, गह्यौ यों पुकारियै।
कहै 'या जनम मैं न लियौं कछू' दियौ फारौ हाथ लै उबार्‌यौ प्रभु, रीति लागी प्यारियै।।४९४।।

शब्दार्थ—नयौगात=दूसरा जन्म। फारौ=लोहे का फार।

भावार्थ—श्रीचतुर्भुजजी अनेक प्रकार के व्यञ्जन-पक्वान्न भगवान को भोग लगाते और बड़े प्यार पूर्वक सन्तों को पवाते, सब प्रकार से उन्हें प्रसन्न करते। श्रीमद्‌भागवत की कथाओं का गान करते और लोगों में भक्ति-भावना का प्रचार-प्रसार करते। एक बार एक चोर किसी का धन लेकर भागा। मालिक भी उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ा। उसे कहीं छिपने का स्थान नहीं मिला। वह श्रीचतुर्भुजजी की कथा के श्रोताओं में घुस गया और वहीं छिपकर बैठ गया। भीड़ में उस धनी ने उसे नहीं देख पाया। इसी बीच पुराण की कथा में उस चोर ने सुना कि-"मन्त्र की दीक्षा लेने से दूसरा जन्म हो जाता है।" इस शिक्षा को सुनकर वह श्रीचतुर्भुजजी का शिष्य हो गया। भीड़ कम होने पर धनी ने उसे पकड़ लिया और शोर किया कि-"यह तो चोर है।" हाकिम के यहाँ उसे पकड़कर ले गया। पूछने पर उसने कहा कि-"मैंने तो इस जन्म में किसी का कुछ भी नहीं चुराया है।" परीक्षा के लिये उसके हाथों में लोहे का फार तपाकर रख दिया गया। उसे दृढ़ विश्वास था अतः भगवान ने उसकी रक्षा की। उसके हाथ नहीं जले। टीकाकार कहते हैं कि-"यह शिक्षा-दीक्षा की रीति मुझे बहुत प्रिय लगी।।४९४।।

व्याख्या—करै नयौ गात दिक्षा—यथा-"राममन्त्रोपदेशेन मायादूरमुपागता। कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्म कथ्यते।।" अर्थ-"श्रीराममन्त्र के उपदेश से माया दूर हो गई और श्रीगुरुदेव की कृपा से दूसरा जन्म मिला। भगवान की शरण ग्रहण कर लेने पर जीव का नाम कुल-गोत्र आदि सब बदल जाते हैं। इसी से दीक्षोपरान्त उसका दूसरा जन्म कहा जाता है। यथा- "पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका। श्रीकृष्णभक्तिमात्रेणाऽच्युतगोत्रेण गोत्रिका।।" अर्थ-जैसे कन्या पिता के घर में जब तक रहती है, तब तक पिता के कुल गोत्र की कही जाती है। परन्तु विवाहोपरान्त वह पति के कुल एवं गोत्र की हो जाती है, उसी प्रकार संसार में रहने पर जीव अपने माता-पिता के कुल-गोत्र का कहा जाता है, परन्तु श्रीकृष्ण की शरण लेते ही वह श्रीकृष्ण के ही कुल-गोत्र का हो जाता है।

शिक्षा सुनि शिष्य भयो—कथा श्रवण कर चोर ने निश्चय किया कि मैं भी स्वामी चतुर्भुजजी से मन्त्रोपदेश लूँगा। यह कथा का तात्कालिक चमत्कार है, जो जन्म के चोर का कलुषित हृदय शुद्ध हो गया और उसमें जगत से निर्वेद (वैराग्य) भगवान के चरणों में अनुराग एवं सन्त-सद्‌गुरु तथा शास्त्र के वचनों में दृढ़ विश्वास हो गया। उसने कथा समाप्त होते ही, जो वह धन चुराकर लाया था, वह सब श्रीचतुर्भुजजी को भेंट कर दिया। यह मानो उस चोर का सर्वस्व समर्पण है। उसने दीक्षा के लिए प्रार्थना किया। प्रथम तो श्रीचतुर्भुजजी

ने बहुत टालमटोल किया। परन्तु चोर के प्रेमाग्रह से इन्हें दीक्षा देना ही पड़ा। ''गह्यो यों पुकारियै'' –इतने में धनी वहाँ आ गया और उसने चोर को पहचानकर पकड़ लिया और पकड़कर राजा के पास ले गया। ''रसिक अनन्यमाल'' के अनुसार मन्त्रोपदेश लेने के बहुत दिन बाद वह सन्तों की जमात के साथ विचरता हुआ उस धनी के नगर की ओर जा निकला और धनी ने पहचान कर उसे पकड़कर न्याय के लिये राजकर्मचारियों के हवाले किया। ''दियौ फारौ हाथ०''–रसिक अनन्यमाल में इस परीक्षा विधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि– ''जब राजा कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सके तो उसने चोर की सत्यता की परीक्षा के लिए यह उपाय किया कि पहले चोर के हाथ में कच्चा सूत लपेटा गया। इसके बाद घृत लगाकर पीपल का पत्ता चिपकाया गया। इसके बाद लोहे का फार अग्नि में तपाकर लाल करके उसके हाथ पर रक्खा गया। उस समय उसने असंख्यों लोगों के बीच में कहा कि–''यदि सचमुच गुरुदेव तथा गुरुग्रन्थ के कथनानुसार दीक्षोपरान्त दूसरा जन्म हो जाता है तो यह तप्त लौह मुझे किञ्चिन्मात्र भी नहीं जला सकेगा।'' उसके दृढ़ विश्वास की विजय हुई। हजारों नर–नारियों ने देखा वह उस तप्त लौह को हाथ में लेकर सात पग चला, परन्तु हाथ जलने की तो बात ही क्या, वह कच्चा सूत एवं पीपल का पत्ता भी नहीं जला।'' इस पर दृष्टान्त–''एक वैश्य का'' देखिये उत्तरार्द्ध प्रथमखण्ड पृष्ठ–४६६।

राजा झूंठ मानि कह्यौ 'करो बिन प्रान याकौं, साधु ये विराजमानलै कलंक दियौ है'।
चले ठौर मारिबेकों, धारिबेकों सकै कैसे, नैन भरि आये नीर बोल्यौ धन लियौ है।।
कहै नृप सांचो ह्वैकै झूठौ जिन हूजै संत, महिमा अनन्त कही 'स्वामी ऐसौ कियौ है'।
भूप सुनि आयौ उपदेश मन भायौ, शिष्य भयौ नयौ तन पायौ भीजि गयौ हियौ है।।४९५।।

भावार्थ—जब अग्नि परीक्षा में वह सच्चा ईमानदार प्रमाणित हो गया, तब राजा ने उस धनी को झूठा माना और ये सन्त यहाँ रहकर कथा–सत्संग से जीवों का कल्याण करते हैं, ऐसे परोपकारी साधुओं को इसने झूठा कलंक लगाया, इसलिए उसने अपने सिपाहियों से कहा कि–''इसको अभी फाँसी पर चढ़ा दो।'' आज्ञा को पाते ही वे लोग उसे पकड़कर ले चले। वह पहले का चोर जो अब साधु बन गया था, इसकी फाँसी को कैसे सह सकता था? उसके नेत्रों में आँसू भर आये और वह बोला कि–''मैंने इसका धन लिया है। यह झूठ नहीं बोलता है।'' राजा ने कहा–''सन्तजी! आप सच्चे प्रमाणित होकर पुनः अब झूठे क्यों बन रहे हैं?'' उसने कहा–''श्रीस्वामी चतुर्भुजजी महाराज की महिमा अनन्त है और उन्हीं की कृपा

से मैं चोर होकर भी ईमानदार प्रमाणित हुआ।'' ऐसा कहकर उसने शिक्षा-दीक्षा-मन्त्र एवं पुनर्जन्म की बात सुनाई। राजा ने सब प्रसंग सुनकर उस धनी को भी छोड़ दिया और श्रीस्वामीजी के पास आकर उनसे उपदेश ग्रहण किये। इनके उपदेश उसे बहुत ही अच्छे लगे, उनसे प्रभावित होकर वह भी शिष्य बन गया, उसने भी नया तन-जीवन प्राप्त किया। भगवत्प्रेम में उसका हृदय सराबोर हो गया।।४९५।।

व्याख्या—सन्त महिमा अनन्त—सन्त और सद्गुरु दोनों की महिमा अनन्त है। सन्त महिमा पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८७ ''जान्यो सन्तन प्रभाव'' की व्याख्या तथा गुरु-महिमा पर देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६१ ''हरि गुरुदासनि सों साँचो'' की व्याख्या। ''स्वामी ऐसे कियो है''-इस पर दृष्टान्त श्रीघाटमजी का। देखिये उत्तरार्द्ध द्वितीय खण्ड पृष्ठ-२७८।

पकि रह्यौ खेत, सन्त आयकर तोरि लेत, जिते रखवारे मुख सेत सोर कियौ है।
कह्यौ स्वामी नाम, सुन्यौ कही 'बड़ौ काम भयौ, यह तौ हमारौ,' सोई आप सुनि लियौ है।।
लै कै मिष्टान आय, सुमुख बखान कीनौ, लीनौ अपनाय आज भीज्यौ, मेरौ हियौ है।
लै गये लिवाय नाना भोजन कराय, भक्ति चरचा चलाय, चाय हित रस पियौ है।।४९६।।

भावार्थ—एकबार सन्तों की एक मण्डली तीर्थटन करती हुई जा रही थी। रास्ते में उन्हें एक पका हुआ खेत मिल गया। सन्त लोग फसल ताड़-तोड़कर खाने लगे। खेत के रखवालों के मुख उदास हो गए। उन लोगों ने शोर मचाते हुए कहा-''आप लोग फसल को न उजाड़िये, यह श्रीस्वामी चतुर्भुजजी का खेत है।'' यह सुनकर सन्तों ने कहा-''अब तो हमारा काम बन गया, यह तो हमारा ही खेत है।'' किसी ने जाकर स्वामीजी से कह दिया कि-''सन्त लोग खेत को अपना मानकर तोड़-तोड़कर खा रहे हैं।'' यह सुनते ही आप मिष्ठान्न-प्रसाद लेकर खेत पर ही आए और बड़े प्रसन्न होकर बोले-''सन्तों ने मुझे आज अपना मान लिया, इससे मुझे बहुत बड़ा सुख मिला।'' इसके पश्चात् अनुनय-विनय करके सभी सन्तों को आप अपने घर लिवा लाये और विविध प्रकार के व्यञ्जन-प्रसाद पवाकर उनकी सेवा की। तदुपरान्त सत्संग हुआ उसमें भक्तिमय प्रसंगों की चर्चा चलाकर प्रेम रस पान किया और कराया, सबको संतुष्ट किया और स्वयं भी संतुष्ट हुए।

व्याख्या—पकि रह्यौ खेत—वह खेत चना का था। अन्नों में चना एक ऐसा अन्न है कि उसे देखकर सहज ही खाने का मन हो जाता है। इस पर दृष्टान्त ब्रह्माजी का देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड तथा दृष्टान्त गेहूँ-चने का देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड।

''लीनौ अपनाय आज'' जब तक किसी जीव को सन्त नहीं अपनाते तब तक भगवान भी उसे अंगीकार नहीं करते। इस पर–

दृष्टान्त—काञ्चीपूर्ण स्वामीजी का—श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी के परम कृपापात्र स्वामी काञ्चीपूर्णजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर भगवान श्रीवरदराजजी इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देते और उनके साथ विविध लीला विनोद करते। श्रीकाञ्चीपूर्णजी चाहते कि भगवान मेरा आलिंगन करें और इसके लिये अपनी ओर से चेष्टा भी करते, परन्तु आलिंगन के नाम पर भगवान दूर हट जाते। एक दिन इन्होंने साहस बटोरकर पूछा–''जै–जै प्रभो! आपकी मुझ तुच्छ दास पर इतनी अपार कृपा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, फिर भी आप मेरा एक मनोरथ क्यों नहीं पूर्ण करते। मेरी बड़ी अभिलाषा आपके आलिंगन की है।'' श्रीवरदराज भगवान ने कहा–''काञ्चीपूर्णजी! यह मेरा भक्त सर्वस्व है। जब तक मेरा कोई अनन्य भक्त किसी जीव को अपना नहीं मान लेता, तब तक मैं उसे यह भक्त सर्वस्व स्वरूप अपना आलिंगन नहीं प्रदान करता हूँ।'' फिर तो श्रीकाञ्चीपूर्णजी को इसकी चिन्ता लगी कि कोई वैष्णव मुझे अपना कहे। इसके लिये उन्होंने वेष बदलकर अपने बड़े गुरुभाई श्रीस्वामी महापूर्णजी के यहाँ गाय चराने की सेवा करने लगे। स्वामी श्रीमहापूर्णजी इनकी सेवा से बड़े सन्तुष्ट रहते थे। एक दिन गायें तो शाम को आ गईं, परन्तु श्रीकाञ्चीपूर्णजी घर नहीं आये। तब श्रीमहापूर्णजी को बड़ी चिन्ता हुई कि ग्वारिया क्यों नहीं आया? कहीं वह वन में भूल तो नहीं गया? कहीं जंगल में सिंह, व्याघ्र आदि किसी हिंसक जीव के द्वारा उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया? कहीं उसे कुछ शारीरिक कष्ट तो नहीं हो गया? कहीं किसी व्यावहारिक त्रुटि से क्षुब्ध होकर वह चला तो नहीं गया? आदि–आदि अनेक शंकायें मन में करते हुए श्रीमहापूर्णजी इन्हें चारों ओर खोजने लगे। जो भी मिलता, उसी से पूछते–''अरे भाई! मेरे ग्वारिया को क्या आपने देखा है? मेरा ग्वारिया कहाँ चला गया?'' इस प्रकार वे बार–बार मेरा ग्वारिया, मेरा ग्वारिया कहकर आवाज लगाते एवं सबसे पूछते डोलते। तब तक श्रीकाञ्चीपूर्णजी आ गए। इन्होंने श्रीमहापूर्णजी को ''मेरा ग्वारिया'' कहते सुन लिया। फिर तो ये उनके चरणों में पड़ गए और बोले–''महाराज! आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। आपने मुझको अपना मान लिया, तो अब मुझे विश्वास है कि प्रभु भी मुझे अपना लेंगे।'' फिर इन्होंने अपना पूर्ण परिचय दिया। इनकी भावुकता पर प्रसन्न होकर श्रीमहापूर्ण स्वामीजी ने इन्हें हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हें अवश्यमेव श्रीवरदराज भगवान अपनायेंगे। फलस्वरूप जब श्रीकाञ्चीपूर्णजी पुनः श्रीवरदराज भगवान की सेवा में उपस्थित हुए, तो श्रीप्रभु ने दौड़कर इन्हें हृदय से लगा लिया। इसलिए श्रीचतुर्भुजजी

बड़े प्रसन्न हुए कि जब सन्तों ने मुझे अपना बना लिया है, तो श्रीठाकुरजी भी मुझे अवश्य अपना लेंगे।

विशेष—गोंड़वाने देश में एक भूतों का बाग था। वहाँ अनेकों भूत-प्रेत निवास करते थे। उनसे वहाँ के लोग बहुत संत्रस्त थे। जो भी कोई भूल-भटककर उधर चला जाता, तो प्रेत उसे नचा-नचाकर मार डालते थे। उनके डर से लोग उधर खेती-वारी भी ठीक से नहीं कर पाते थे। यदि कोई साहस करके कुछ खेती-बारी करना चाहता, तो वे प्रेत बैलों को और किसान को मार डालते। उनकी खेती भी नष्ट कर डालते। ऐसे ही अनेकों उपद्रव करते। जब लोग उन्हें बलि देते तब कुछ शान्त रहते। संयोगवश एक बार श्रीचतुर्भुजजी सन्तों की जमात लिए हुए उधर ही जा पहुँचे। सन्तों को किसी एकान्त उपयुक्त स्थल की खोज थी। जहाँ जल-थल, फल-फूल का सुपास हो। जिससे कि वहाँ रुक कर श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा, भजन-साधन कर सकें। किसी दुष्ट ने उसी भूत बाग का संकेत करते हुए कहा कि-"वह बहुत ही बढ़िया स्थल है। धूनी पानी की सुविधा है, सब प्रकार का सुख-सुपास है। आगन्तुक सन्त वही ठहरते हैं।" सन्तों ने उसकी बात सत्य मानकर, उसी बाग में जाकर झाड़ू-बुहारु लगाकर आसन लगाया। स्नान-ध्यान किया। श्रीठाकुरजी की विधिपूर्वक पूजा-आरती की। शंख, घंट, घड़ियाल बजे। स्तुति, कीर्तन, दण्डवत्प्रणाम के बाद चरणामृत प्रसाद का वितरण हुया। संयोग की बात, उस समय और सब प्रेत तो कहीं अन्यत्र गए हुए थे। केवल तीस प्रेत उपस्थित थे। उन सबो ने आरती पूजा का दर्शन और नाम संकीर्तन का श्रवण किया, जिससे उनके समस्त पाप नष्ट हो गये और उनका उद्धार हो गया। वे सब दिव्य रूप धारणकर भगवद्धाम को चले गए। इसके बाद वे प्रेत आये, जो कहीं बाहर गए हुए थे। उनके साथ यमराज के दूत थे, जो उन्हें विविध प्रकार की यातना दे रहे थे। अपने साथी प्रेतों को पापमुक्त होकर भगवद्धाम गए जानकर ये प्रेत बड़े जोर से हा-हाकार करने लगे। तब श्रीचतुर्भुजजी ने पूछा-"तुम लोग कौन हो, और इतने दुःखी होकर इतना शोर क्यों कर रहे हो? वे बोले-"हम सब प्रेत हैं, अपने कुकर्मों के फलस्वरुप हमें प्रेतयोनि मिली है और हमें यमराज ने रहने के लिए यह बाग दिया है। आपने एक तो हमारी जगह पर दखल कर लिया और दूसरे हमारे बहुत से साथियों को पापमुक्त कर उनका उद्धार कर दिया। हम बाहर गए थे, अतः रह गए। इसी शोक में हम रो रहे हैं। हम भी आपके दरश, परश से पापमुक्त होकर प्रेतयोनि से उद्धार चाहते हैं। परन्तु ये यमराज के दूत लोग हमें आपके पास आने नहीं देते हैं। अब आप ही हम लोगों पर दया करके हमारा उद्धार करिए।

श्रीचतुर्भुजजी ने पूछा-''तुम लोगों के उद्धार के लिए हम क्या करें? जैसे भी तुम्हारा उद्धार हो, हम वह करने के लिए तैयार हैं।'' तब प्रेतों ने कहा-''महाराज! एक गड्ढ़ा खुदवाकर उसमें सभी सन्तों का तथा अपना चरणामृत भरवा दीजिए। उसी का पान करने से हम सबका उद्धार हो जायेगा।'' श्रीचतुर्भुजजी ने ऐसा ही किया। रात में प्रेतों ने सन्त चरणामृत का पान किया। सभी दिव्य देह धारणकर भगवद्धाम को चले गए। प्रेतों के मुक्त हो जाने पर यमदूत भागकर यमराज के पास पहुँचे और उन्होंने सब वृतान्त उनसे कह सुनाया। यमराज ने हँसकर कहा-''तुम लोग ऐसे अभागे हो कि प्रेत तो भक्तों का दर्शनकर, चरणामृत पान कर तर गए, परन्तु तुम लोग जैसे के तैसे रह गए।'' जिस समय यमराज और यमदूतों की यह वार्ता हो रही थी, उसी समय यमराज के दूसरे दूत उसी गाँव के एक ब्राह्मण को बाँधकर ले गये थे। वह ब्राह्मण एक ओर खड़ा हुआ सभी बातें ध्यानपूर्वक सुन रहा था। साथ ही उसे मन में ग्लानि हो रही थी कि मेरा सारा जीवन यों ही व्यर्थ चला गया। श्रीहरि और श्रीहरिदासों की कुछ भी सेवा मुझसे नहीं बनी। अब निश्चय ही नरक का कष्ट मुझे सहना पड़ेगा और प्रेत-पिशाचादि योनियों में भटकना पड़ेगा।'' इतने में यमराज ने यमदूतों को समझा-बुझाकर जब उस ब्राह्मण पर दृष्टि डाली तो एकदम जोर से चिल्ला पड़े-''अरे! तुम लोग इस ब्राह्मण को क्यों बाँध लाए? अभी तो इसकी आयु शेष है। इसे वापस इसके शरीर में पहुँचाओ और इसी नाम के अमुक व्यक्ति को बाँधकर लाओ।'' जल्दी करो, कहीं ऐसा न हो कि लोग इसके शरीर को जला दें। फिर मुश्किल पड़ जायेगी। यमदूत तत्काल उस ब्राह्मण को ले गए। लोग उस ब्राह्मण के शव को श्मशान ले जाकर चिता पर रखकर आग लगाने वाले ही थे कि इतने में वह उठकर बैठ गया और बोला-''अरे भाई! अभी मैं मरा नहीं हूँ, मुझे मत जलाओ। लोगों ने उसे चिता से उतारा और अत्यन्त कौतुहलपूर्वक उससे पूछने लगे-''पण्डितजी! आप तो मर गए थे, फिर कैसे जी गये?'' ब्राह्मण ने सब बात बताई। जीवित होने का समाचार सुनकर भारी भीड़ एकत्र हो गई। पुनः उसने यमपुरी की आँखों देखा हाल विस्तारपूर्वक कह सुनाया। भूत बाग के सभी प्रेतों का उद्धार, सन्त चरणोदक की महिमा और यम यमदूतों का संवाद सुनकर सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। लोगों ने कहा-''पण्डितजी! घर चलिए।'' इन्होंने कहा कि-''अब मैं घर न जाकर पहले श्रीचतुर्भुजजी महाराज का सेवक बनूँगा और शेष जीवन भजन-साधन में लगाऊँगा।'' इस प्रसंग को सुनकर राजा प्रजा सभी लोगों ने श्रीचतुर्भुजजी की शिष्यता स्वीकार की, तिलक-कण्ठी धारणकर भजन-साधन और सन्त-सेवा करने लगे। इस प्रकार आपने गोंड़वाने को तीर्थ बनाया।

श्रीचतुर्भुजजी के सम्बन्ध में ''रसिक अनन्यमाल'' में कथा आयी है कि ये गोंडवाने देश के अन्तर्गत गढ़ा ग्राम में निवास करते थे। इनके एक परम घनिष्ठ मित्र थे, जिनका नाम था श्रीदामोदरदासजी, जो कि श्रीसेवकजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनों ही महानुभाव ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। दोनों का सन्त-सेवा में बड़ा भाव था। भगवत्कृपा से दोनों के मन में संसार से वैराग्य हो गया। दोनों ने निश्चय किया कि किसी सद्गुरु की शरण ग्रहण कर एकान्तिक भाव से भगवान का भजन करना चाहिए। इन्हीं दिनों गढ़ा ग्राम में श्रीवृन्दावन के कई रसिक सन्त पधारे। दोनों ने सन्तों की भावपूर्ण सेवा की। खूब सत्संग हुआ। सन्तों ने श्रीवृन्दावन की निकुञ्ज लीला का गान किया। उसे सुनकर ये दोनों बहुत प्रभावित हुए। इन दोनों ने सन्तों से किसी सिद्ध सद्गुरु का पता पूछा। तब उन्होंने श्रीहित हरिवंशजी महाप्रभु की महिमा का गान किया। उसे सुनकर दोनों महानुभावों के मन में ऐसा भाव उदय हुआ कि दोनों ने निश्चय किया कि श्रीहिताचार्य महाप्रभु से ही दीक्षा लेंगे।'' परन्तु भगवान की लीला बड़ी विलक्षण है। ये लोग अभी वृन्दावन जाकर दीक्षा लेने का विचार कर ही रहे थे कि इधर श्रीमहाप्रभुजी नित्य निकुञ्ज में प्रवेश कर गए। यह सुनकर इनके मन में महान् वियोग व्याप गया। दोनों ही-''किं करोमि, क्व गच्छामि'' की स्थिति में पहुँच गये। फिर सन्तों से पता चला कि श्रीहिताचार्य की गद्दी पर उनके पुत्र श्रीवनचन्द्रजी महाराज विराजमान होकर आश्रितजनों को हितधर्म का उपदेश करते हैं। तब श्रीचतुर्भुजजी ने श्रीसेवकजी से कहा कि चलो, श्रीवनचन्द्राचार्य की ही शरण ग्रहण करें। क्योंकि अपने शरीर नाशवान् हैं। श्रीसेवकजी ने दृढ़तापूर्वक कहा कि-''हम तो श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी को ही गुरु बनावेंगे, नहीं तो इस शरीर को ही छोड़ देंगे।'' श्रीचतुर्भुजजी ने अपने निश्चय के अनुसार श्रीवृन्दावन आकर श्रीवन चन्द्राचार्यजी से मंत्र दीक्षा ग्रहण की। इधर अन्न-जल का परित्याग कर श्रीसेवकजी महाप्रभु के नाम की रट लगाने लगे। इनकी बलवती निष्ठा एवं दृढ़ लगन को देखकर श्रीमहाप्रभुजी ने स्वप्न में निज मन्त्र का उपदेश दिया एवं कृपा करके दिव्य वृन्दावन, श्रीयमुनाजी, निकुञ्ज महल एवं सखी परिकरों के सहित श्रीप्रिया-प्रियतमजी का दर्शन कराया। श्रीसेवकजी कृतार्थ हो गए। श्रीचतुर्भुजजी श्रीवृन्दावन से लौटकर जब गढ़ा पहुँचे, तो दोनों ने अपने-अपने मन्त्रों को मिलाया। एक ही हैं, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीचतुर्भुजजी का श्रीहित महाप्रभु में परम अनुराग था, कारण कि परम गुरु थे, इसलिए मूल छप्पय में श्रीनाभाजी ने लिखा कि-'' श्रीहरिवंश चरण बल चतुर्भुज।''

श्रीकृष्णदासजी चालक

चालक की चरचरी, चहूं दिशि उदधि अन्त लौं अनुसरी।।
सक्रकोप सुठि चरित प्रसिध, पुनि पंचाध्याई।
कृष्ण रुक्मिनीकेलि, रुचिर भोजनविधि, गाई।।
'गिरिराज धरन' की छाप, गिरा जलधर ज्यौं गाजै।
सन्त सिखंड़ी खण्ड हृदै आनन्द के काजै।।
जाड़ा हरन जग जाड़ता कृष्णदास देही धरी।
चालक की चरचरी, चहूं दिशि उदधि अन्त लौं अनुसरी।।१२४।।

शब्दार्थ—चर्चरी=एक प्रकार का गीत (फाग), छन्द। अनुसरी=फैली। सक्र=इन्द्र। पञ्चाध्याई=रासपंचाध्यायी। जलधर=मेघ। गाजै=गर्जै, शोभित। सिखण्डी खण्ड=मयूरों के झुण्ड। जाड़ा हरन=शीतरूप जड़ता-अज्ञानता को दूर करने वाले।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी चालक के चर्चरी छन्द (गीत) समुद्र के उस पार तक फैले। समस्त पृथ्वी भर के निवासियों ने सप्रेम गाकर आनन्द प्राप्त किया। अपनी पूजा भंग हुई जानकर इन्द्र ने जो ब्रज पर कोप किया। उसके कारण हुई जो श्रीकृष्णचन्द्र की "गोवर्धन धारण लीला" प्रसिद्ध "रासपंचाध्यायी", "श्रीकृष्ण-रुक्मिनी केलि" एवं "श्रीभोजन विधि" आदि अनेक सुन्दर काव्य आपने लिखे। आप अपनी रचनाओं में "गिरिराज धरन" की छाप लगाते थे। मेघ गर्जन के समान आपकी वाणी मधुर एवं गम्भीर थी। जगत् के अर्थात् सभी प्राणियों के जड़ता रूप जाड़े को हरने के लिए आपने सूर्य के समान भक्तितेजोमय शरीर धारण किया।१२४।।

व्याख्या—सक्रकोप—यथा-

इन्द्र अभिमानी अविवेक-मति सानी सो तो नेकहू न जानी कृष्ण महिमा महा।
अति मनमें रिसाइ दिए जलद पठाइ, कही वेगि तुम जाइ देहु व्रजको बहा।।
मेघ आए अनगिन छाये रहे सात दिन, कीन्ही अति वृष्टि तिन महापरलै रहा।
कर धरि गिरिराज व्रज राखे व्रजराज, मेघ गये लाजि भाजि दर्प देवको दहा।।

पञ्चाध्यायी—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३९८। "**कृष्ण रुक्मिनी केलि**"-यथा-

कर्हिचित्सुखमासीनं, स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद् भैष्मी, व्यजनेन सखी जनैः।। (भा० १०/६०/१)

एक दिन समस्त जगत् के परम पिता और ज्ञान दाता भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी के पलंग पर बैठे थे। भीष्मकनन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियों के साथ अपने पतिदेव की सेवा कर रही थीं, पंखा झल रही थीं।

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य, या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत् स्मितसुधां हरिराबभाषे।।

रुक्मिणीजी की घुँघराली अलकें, कानों के कुण्डल और गले के स्वर्णहार अत्यन्त विलक्षण थे। उनके मुखचन्द्र से मुस्कुराहट की अमृत वर्षा हो रही थी। ये रुक्मिणीजी अलौकिक रूप लावण्यवती लक्ष्मीजी ही तो हैं। उन्होंने जब देखा कि भगवान ने लीला के लिए मनुष्य का सा शरीर ग्रहण किया है। तब उन्होंने भी उसके अनुरूप रूप प्रकट कर लिया। भगवान यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि रुक्मिणीजी मेरे परायण हैं। तब उन्होंने बड़े प्रेम से मुस्कुराते हुए उनसे वार्त्ता प्रारम्भ की। "भोजन विधि"-यथा-"चारि भांति भोजन विधि गाई। एक-एक विधि वरनि न जाई।। छरस रुचिर व्यञ्जन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती।।" (रा०)

विशेष—एक भाट ने श्रीकृष्णदासजी चालक की चर्चरियों से इनकी छाप हटाकर अपनी छाप लगा दी और एक राजा के दरबार में जाकर उन्हें सुनाया। लोगों ने खूब वाह-वाह की। इनामों के ढेर लग गए। राजा ने भी बहुत सा इनाम दिया। परन्तु इसने एक तो भक्त की कविता चुराई, दूसरे उनकी छाप हटाकर अपनी छाप लगाई। यह भागवतापराध भगवान से सहा नहीं गया। उसी दिन से भाट का माथा दूखने लगा। उसे सारी रात नींद नहीं आती। उधर राजा को भगवान ने स्वप्न दिया कि मेरे भक्त की वाणी जगत् के प्राणियों का अज्ञानान्धकार दूर करने वाली है। उसे भाट ने चुराकर तुच्छ धन के लिए और वाह-वाही के लिए सुनाया। यह अच्छा नहीं किया। इस अपराध से भाट तो मरेगा ही, तुम भी सुखी नहीं रहोगे। अगर कुशल चाहो तो उसे समझाओ और डाटो-फटकारो, चालक की चर्चरियों को गाकर जितना धन उसने कमाया है, वह सब कृष्णदासजी को दिलवावो। प्रातःकाल होते ही राजा ने स्वप्न की बात का स्मरण कर भाट को बुलवाया और फटकारते हुए कहा कि-"अरे मूर्ख! तूने छलपूर्वक भक्त कृष्णदासजी चालक की कविताओं को अपनी बताकर दरबार में सुनाया और इनाम प्राप्त किया है। अब तुम वह सम्पूर्ण धन उन्हें ही अर्पण करो और अपराध क्षमा कराओ, अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं है।" अब उस भाट को अपने सिर दूखने और दिन-रात की बेचैनी का रहस्य मालूम पड़ गया। उसने तुरन्त जाकर श्रीकृष्णदासजी के चरण पकड़े, क्षमा-याचना की और सारा धन उन्हें भेंट कर दिया। तब वह शारीरिक एवं मानसिक

वेदनाओं से मुक्त हुआ तथा राजदण्ड और यमदण्ड से छूट पाया। उसने पुनः ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा ली। साधु-सज्जनों के प्रति दीन बनकर उनके सत्संग में जाने लगा। यह भक्त वाणी का चमत्कार है।

श्रीसन्तदासजी

विमलानन्द प्रबोध वंश, ''संतदास'' सीवां धरम।।
गोपीनाथ पद राग, भोग छप्पन भुंजाये।
पृथु पद्धति अनुसार देव दम्पति दुलराये।।
भगवत भक्त समान, ठौर द्वै कौ बल गायौ।
कवित सूर सों मिलत भेद कछु जात न पायौ।।
जन्म, करम, लीला, जुगति रहसि, भक्ति भेदी मरम।
विमलानन्द प्रबोध वंश, ''संतदास'' सीवां धरम।।१२५।।

शब्दार्थ—भुञ्जाये=भोग लगाये। सीवाँ=सीमा, मर्यादा।

भावार्थ—श्रीविमलानन्दजी प्रबोध के कुल में श्रीसन्तदासजी वैष्णव धर्म की सीमा हुए। भगवान श्रीगोपीनाथजी के चरणों में आपका अत्यन्त अनुराग था। आप उन्हें नित्य छप्पन प्रकार के व्यञ्जन बनाकर भोग लगाते थे। श्रीपृथुजी की पूजा पद्धति के अनुसार आप प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण की सेवा करते थे, लाड़ लड़ाते थे। भक्त और भगवान दोनों को समान मानकर आपने उनका सुयश वर्णन किया और इन्हीं का बल रखते थे। आपकी कवितायें श्रीसूरदासजी से मिलती-जुलती हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है। भगवान के जन्म, कर्म और उनकी लीलाओं का आपने बड़ी चतुरता के साथ वर्णन किया है। आप अनन्य भक्ति के गुप्त रहस्य एवं भेदों को अच्छी प्रकार से जानते थे।।१२५।।

व्याख्या—सीवां धरम—अर्थात् परम धर्म, भागवत धर्म, भक्ति। ''यथा स वै पुंसां परोधर्म...।'' विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-२९०, परमधर्म की व्याख्या। ''पृथु पद्धति'' -श्रीपृथुजी पूजन भक्ति के आचार्य हैं। यथा-''पृथु पूजा'' छप्पय-१४। अन्यत्र श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का परिचय देते हुए श्रीनाभाजी कहते हैं-''तेहि मारग वल्लभ विदित पृथु पद्धति परायन।'' छप्पय-४८। इससे जनाया गया कि श्रीवल्लभ कुल की सेवा प्रणाली ही पृथु पूजा पद्धति है। उसी परिपाटी से संतदासजी भी भगवान की सेवा-पूजा करते थे। ''कवित

सूरसों मिलत'' -कहकर इनको महान् कवि जनाया। इस सम्बन्ध में विशेष देखिये सूरदास का प्रसंग-उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड छप्पय-७३ की व्याख्या।

बसत ''निवाई'' ग्राम, स्याम सों लगाई मति, ऐसी मन आई, भोग छप्पन लगाये हैं।
बात की सचाई यह जग में दिखाई, सेवैं जगन्नाथ देव आप रुचि सौं जो पाये हैं।।
राजा कों सुपन दियौ नाम लै प्रगट कियौ, सन्त ही के गृह मैं तौ जेंवौं यों रिझाये हैं।
भक्ति के अधीन, सब जानत प्रवीण, जन ऐसे हैं, रँगीन, लाल ठौर-ठौर गाये हैं।।४९७।।

भावार्थ—परमभक्त श्रीसन्तदासजी ''निवाई'' ग्राम में निवास करते थे। इन्होंने भगवान श्यामसुन्दर के चरणों में बुद्धि लगा रक्खी थी। एक दिन आपके मन में ऐसा आया कि मैं अपने श्रीठाकुरजी को छप्पन भोग लगाऊँ, तो आपने धन का अभाव होने पर भी जैसे-तैसे व्यवस्था करके श्रीठाकुरजी को छप्पन भोग लगाया। श्रीठाकुरजी ने भी आपकी सच्ची प्रीति को संसार में प्रकट करके दिखा दिया। आप ऐसी प्रेमपूर्वक श्रीठाकुरजी की सेवा करते थे कि स्वयं श्रीजगन्नाथ भगवान आपके यहाँ अत्यन्त रुचिपूर्वक भोग आरोगे और पुरी नरेश को स्वप्न में बताए कि आजकल मैं सन्तजी के यहाँ ही भोग आरोगता हूँ। इनके प्रेम ने मुझे रिझा लिया है। इस प्रकार श्रीजगन्नाथ भगवान ने श्रीसन्तजी का नाम लेकर उन्हें संसार में प्रकट कर दिया। ऐसा करके भगवान ने दिखा दिया कि मैं भक्तों की भक्ति के अधीन हूँ। इस बात को सभी उपासना में प्रवीण भक्तजन जानते हैं कि श्रीठाकुरजी ऐसे भक्त के प्रेम रंग में रँगे हुए हैं। भगवान की यह भक्तवश्यता सभी वेद-शास्त्र-पुराणादिकों में स्थान-स्थान पर गाई गई है।।४९७।।

व्याख्या—बसत निवाई ग्राम०—एक बार सन्तजी श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन करने गए। वहाँ इन्होंने श्रीजगन्नाथ भगवान के छप्पन भोग का दर्शन किया तो इनके मन में भी विचार हुआ कि मैं भी अपने श्रीठाकुरजी गोपीनाथजी को छप्पन भोग लगाऊँ। फिर मन में विचार आया कि अच्छा तो यह होता कि श्रीजगन्नाथजी भी उस दिन वहीं आरोगते। यह निश्चय कर इन्होंने श्रीजगन्नाथजी को भी निमन्त्रण दे दिया। फिर घर आकर भक्तराज ने खूब धूमधाम से छप्पन भोग की तैयारी की। निश्चित समय पर श्रीजगन्नाथजी भी पधारे और बड़े ही प्रेमपूर्वक भोग आरोगे। वैसे श्रीजगन्नाथजी को नित्य ही छप्पन भोग लगता है, परन्तु आज सन्तजी के यहाँ जो स्वाद आया यह स्वाद उन्हें कभी नहीं मिला था। अतः आप भोग आरोगकर पुनः पुरी न जाकर सन्तजी के यहाँ ही रह गये। तब सन्तजी ने दूसरे दिन भी जैसे-

तैसे छप्पन भोग की तैयारी की। क्योंकि ये जानते थे कि श्रीजगन्नाथजी तो छप्पन भोग ही आरोगते हैं। उस दिन भी श्रीजगन्नाथजी नहीं गए। भोग पाकर फिर वहीं रह गये। तब तीसरे दिन फिर सन्तजी ने घर का सामान बेच-बाँचकर छप्पन भोग की व्यवस्था किया। उस दिन भी श्रीजगन्नाथ भगवान जाने का नाम नहीं लिये। तब तो सन्तजी ने भगवान से हाथ जोड़कर कहा कि-"प्रभो! मैं गरीब हूँ। मेरे पास इतनी सामर्थ्य नहीं जो मैं नित्य आपको छप्पन भोग लगाऊँ। तीन दिन तो जैसे-तैसे भोग लगा, अब आगे गुंजाइश नहीं है। तब भगवान ने कहा-"भक्तराजजी! आपके प्रेम को देखकर मेरी जाने की इच्छा ही नहीं करती है। आप घबड़ाइये नहीं, मैं सब इन्तजाम किये देता हूँ। इसके बाद भगवान ने पुरी नरेश को स्वप्न में निर्देश दिया कि आज कल मैं निबाई ग्राम में सन्तजी के यहाँ हूँ। आप यहाँ पर नित्य छप्पन भोग की व्यवस्था करिये। फिर तो राजा ने वहाँ भी सदा के लिए छप्पन भोग की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार श्रीसन्तजी की सच्ची भावना पर रीझकर भगवान ने हमेशा के लिए छप्पन भोग का इन्तजाम कर दिया। तभी तो कहा है-"सांचे को छप्पन सुलभ कांचे को नहिं एक। छप्पन भोगी को चना मिले न टूटी टेक।।" इस पर दृष्टान्त-"छप्पन भोगी का" देखिये पूर्वार्द्ध भक्तमाल पृष्ठ-१६।

श्रीसूरदासजी मदनमोहन

(श्री) मदनमोहन सूरदास की, नाम श्रृंखला जुरी अटल।।
गान काव्य गुणराशि, सुहृद, सहचरि अवतारी।
राधाकृष्ण उपास्य रहसि सुख के अधिकारी।।
नवरस मुख्य सिंगार विविध भांतिन करि गायौ।
वदन उच्चरित बेर सहस पायनि ह्वै धायौ।।
अंगीकार की अवधि यह, ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री) मदनमोहन सूरदास की, नाम श्रृंखला जुरी अटल।।१२६।।

शब्दार्थ—नाम श्रृंखला=नाम सम्बन्ध। सहचरि अवतारी=सखी के अवतार। उपास्य=आराध्य, पूज्य। रहसि सुख=एकान्त अनन्य सुख। आख्या=संज्ञा, नाम। जमल=जोड़ा। भ्राता जमल=अश्विनी कुमार।

भावार्थ—श्रीसूरदासजी और श्रीमदनमोहनजी दोनों के नाम की एकता सदा बनी रही। श्रीसूरदास मदनमोहनजी गान विद्या के और काव्य शास्त्र के एवं उसके गुणों की राशि

थे, अर्थात् परम विशेषज्ञ थे। आपका हृदय अति ही सरल एवं सरस था। सभी के प्रति हित भावना थी। श्रीराधाकृष्णजी की सखी के अवतार थे। उनके एकान्त निकुञ्ज विहार के दर्शन एवं अनुभव सुख के अधिकारी थे। नवरसों में मुख्य जो शृङ्गार रस उसे आपने अनेक प्रकार से गाया। आपके लीला-पद मुख से निकलते समय ही हजारों पैर वाले होकर इतस्ततः दौड़ने लग जाते थे, सब ओर दूर-दूर तक फैल जाते थे। भगवान ने सब प्रकार से आपको अपना भक्त मानकर अङ्गीकार कर लिया। जिस प्रकार अश्विनी कुमारों का परस्पर का सम्बन्ध अच्छेद्य है, उसी प्रकार भक्त श्रीसूरदास और भगवान श्रीमदनमोहन के नाम का सम्बन्ध अकाट्य जुड़ गया। यह परस्पर अंगीकार की सीमा है।।१२६।।

व्याख्या—नाम शृङ्खला जुरी०—इस सम्बन्ध में कथा आती है कि आपका वास्तविक नाम तो श्रीसूरध्वज था। परन्तु कविता में ''सूरदास'' की छाप लगाते थे। एक बार आप भगवान की रहस्य लीलाओं का चिन्तन कर रहे थे तथा उसे गीत पद में प्रस्तुत करने का प्रयास भी करते जा रहे थे। संयोग की बात, पद पूरा नहीं बन पाया था। इन्हें निद्रा ने आ घेरा। ये सो गये। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर पुनः पद रचना में तत्पर हुए तो देखे कि पद पूरा हो गया है और अन्त में छाप ''सूरदास मदनमोहन'' की लगी हुई थी। इसे इन्होंने भगवत्प्रसाद माना और तभी से ये अपने बनाये पदों में भी यही छाप देने लगे। और लोक व्यवहार में अपना परिचय भी इसी नाम से देने लगे। अतः लोक में भी आपका यही नाम विख्यात हो गया। ''श्रीमदनमोहनजी'' इनके उपास्यदेव थे। ''सहचरि अवतारी''-इनके पदों में मुख्य करके शृंगार रसकेलि का वर्णन इनके सखी भाव को सिद्ध करता है। क्योंकि उनका अनुभव सिवा सखियों के अन्य के लिए असम्भव है। इस रहस्य केलि की अधिकारिणी एक मात्र सखियाँ ही हैं। इसी से ''रहस्य सुख'' का दूसरा पर्याय ''सखी सुख'' भी है। यथा- ''अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी।'' छप्पय-९१। ''रहसि सुख के अधिकारी'' -देखिये उत्तरार्द्ध द्वितीय खण्ड पृष्ठ-११०, ''सखी सुख के अधिकारी'' की व्याख्या। ''नवरस मुख्य सिंगार''-साहित्य मनीषियों ने काव्य के नवरस वर्णन किये हैं। यथा-''श्रृंगार रस, हास्यरस, करुणारस, अद्भुतरस, वीभत्सरस, भयानक-रस, वीररस, रौद्ररस, शान्तरस। विशेष जानकारी के लिए देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-७९१। इन नवरसों में भी मुख्य श्रृंगार रस को माना जाता है। यथा-''नवरस में कवियन कह्यौ सरस मुख्य सिंगार। ताहू में अति ही सरस सो यह रास विहार।।'' ''विविध भांतिन करि गायौ''-यथा-''नवलकिशोर नवल नागरिया। अपनी भुजा श्यामभुज ऊपर श्याम भुजा अपने उर धरिया।। करत विनोद तरनि तनया तट

श्यामाश्याम उमंग रस भरिया। यों लपटाय रहे उर अन्तर मरकत मनि कञ्चन ज्यों जरिया।। उपमा को घनदामिनि नाहीं कन्दरप कोटि वार ने करिया। सूरदास-मदनमोहन नवलि जोरी नन्द नन्दन वृषभानु दुलरिया।।'' ''सहस पायनि ह्वै धायौ''-भाव यह है कि आपकी कविताओं का इतना वेग से दूर-दूर देशों तक में प्रचार हो जाता था कि लगता था कि मानो आपके पद हजार-हजार पाँवों से दौड़-दौड़कर देश-विदेश चले जाते हों। इससे इनके पदों की अत्यन्त लोकप्रियता दरशाई। ''ज्यों आख्या भ्राता यमल'' -भाव यह कि जैसे अश्विनीकुमार हैं तो दो भाई, परन्तु उन दोनों भाइयों का नाम एक ही है। ऐसा ऐक्य है उन दोनों भाईयों में। उसी प्रकार ''सूरदास मदनमोहन'' में सूरदास भक्त का नाम है और मदनमोहन श्रीभगवान का। परन्तु भक्त और भगवान ऐसे मिले कि दोनों नाम मिलकर एक हो गये।

सूरदास नाम नैन कंज अभिराम फूले, झूले रंग पीके नीके जीके और ज्याये हैं।
भये सो अमीन यों सँडीलेके नवीन रीति प्रीति गुड़ देखि दाम बीस गुने लाये हैं।।
कही पूवा पावैं आप मदनगोपाल लाल परे प्रेम ख्याल लादि छकरा पठाये हैं।
आये निसि भये स्याम कियौ आज्ञा जोग लैकै अवही लगावौ भोग जागे फिरि पाये हैं।।४९८।।

शब्दार्थ—कंज अभिराम=कमल के समान बड़े-सुन्दर। अमीन=अधिकारी। छकरा= बोझ लादने की गाड़ी।

भावार्थ—गृहस्थाश्रम में आपका नाम ''सूरध्वज'' और गुरुदत्त नाम ''सूरदास'' था। आप नयन विहीन नहीं थे, बल्कि आपके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल एवं सुन्दर थे। प्रभु के रुपामृत का पान करके इनके नेत्र झूमते रहते थे। सम्यक् प्रकार से भगवदाराधन-मय जीवन धारणकर आपने दूसरों को भी अपना-सा जीवन दान किया। अकबर बादशाह ने आपको संडीले (जिला हरदोई उत्तर प्रदेश) में अमीन पद पर नियुक्त किया। आपके हृदय में प्रतिक्षण बढ़ने वाला प्रेम व्याप्त था। उसी की रीति के अनुसार आपके सब आचरण थे। एक बार आपने संडीले के बाजार में बहुत अच्छा गुड़ देखकर दाम बढ़ाकर उसे खरीद लिया। आपने विचारा कि- इस गुड़ से बने माल पुवे श्रीमदनमोहनलालजी पावेंगे। इस प्रकार प्रेम के आवेश में आकर आपने बैलगाड़ियों, छकड़ों में गुड़ भरवाकर श्रीवृन्दावन धाम को भेज दिया। यहाँ आकर वह गुड़ बीस गुना अधिक दामों का पड़ा। गुड़ की गाड़ियाँ रात हो जाने पर पहुँचीं। श्रीठाकुरजी शयन कर रहे थे। गुड़ भण्डार में रख दिया गया। श्रीमदनमोहन लालजी ने पुजारी एवं भण्डारियों को स्वप्न दिया कि-''इसी गुड़ के मालपूवा बनाकर अभी

भोग लगाओ।'' यह प्रेमोपहार भी इसी योग्य था। उसी समय मालपूवे बने। श्रीठाकुरजी ने जागकर फिर मालपूवा भोग आरोगा।।४९८

व्याख्या—दाम बीस गुने लाए हैं—यद्यपि सेवकों ने मदनमोहन सूरदास को बहुत समझाया कि मथुरा के बाजार से जितने गुड़ की इच्छा हो, उतना भेजवा देना। परन्तु इनके मन में तो वहीं गुड़ बस गया था। इसलिए इन्होंने सेवकों की बात नहीं मानी और बोले-''दाम चाहे सौ गुने भले ही लग जायँ, परन्तु गुड़ तो यही पहुँचना चाहिए। तुम लोग इस भाव को क्या जानो। इस पर-

दृष्टान्त—एक अफीमची का—पुरानी बात है, रात्रि के समय एक अफीमची ने अफीम के नशे में उन्मत्त हलवाई की दुकान पर जाकर एक छदाम की रेवड़ी खरीदी और फेंट में रखकर एक-एक रेवड़ी कुटकता हुआ तथा नशे में झूमता हुआ सड़क पर जा रहा था। इतने में एक रेवड़ी उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ी। उसने बहुत ढूँढ़ा पर वह न मिली। तब उसने ढूँढ़ने के लिए एक दमड़ी का तेल लिया और बड़ी बत्ती बनाकर उसमें डुबाया, फिर उसे जलाकर उसके प्रकाश में ढूँढ़ने लगा। बड़ी देर बाद आखिर वह रेवड़ी मिल ही गई। तब बहुत खुश होकर रेवड़ी को उठाया और झट मुँह में डालकर कुटकने लगा तथा ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। एक आदमी इसका यह तमाशा देख रहा था। उसने अफीमची के पास आकर कहा-''तू बड़ा बेवकूफ है, जो कि एक रेवड़ी को ढूँढ़ने में एक दमड़ी का तेल खर्च कर दिया और इतना परिश्रम किया। इससे अच्छा तो यह था कि तुम एक दमड़ी की रेवड़ी ही खरीद लेते।'' अफीमची ने कहा-''तुम क्या जानो कि उस रेवड़ी में कितना स्वाद था। उस पर तो जान निछावर थी। एक दमड़ी के तेल और परिश्रम की तो बात ही क्या?'' उसी प्रकार से अमल में उन्मत्त श्रीसूरदास मदनमोहन के प्राण गुड़ पर न्यौछावर थे। फिर बीस गुने पैसे और परिश्रम की तो बात ही क्या थी? आपके इस सेवा अनुराग पर ''दृष्टान्त-एक पुजारीजी का'' देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३५२ तथा ''गुलाब के फूल का'' दृष्टान्त देखिए पृष्ठ-३५३ पृष्ठ में।

अबही लगावौ भोग—श्रीठाकुरजी ने विचारा कि यदि अभी तत्काल पूवा नहीं बनेंगे, तो दूसरे दिन तो उसी पुराने नियम के अनुसार अधिकारीजी पुराना माल खर्च करेंगे और नया माल कोठार में जमा कर देंगे। अतः प्रभु ने रात्रि में ही आज्ञा दी कि-''अभी पूवा बनाकर भोग लगाओ।'' बीस गुने दाम व्यय करके भेजना यह भक्त की भगवान में प्रीति है। पुजारी से श्रीठाकुरजी ने कहा-''जिस दिन से सँड़ीले से गुड़ चला है, उसी दिन से मैं बाट देख रहा

हूँ। बाट देखते-देखते मेरी आँखें सूज गईं और तुम कहते हो कि कल भोग लगेगा। अरे! भक्त ने जिस प्रीति से गुड़ भेजा है, उसी प्रीति से मैं भी पूवा पाऊँगा, तब मुझे सन्तोष होगा।" यहाँ भक्त और भगवान की अन्योन्य प्रीति प्रकट हुई तथा-"ये यथा मां प्रपद्यन्ते, ताँस्तथैव भजाम्यहम्।" यह सिद्ध हुआ।

पद लै बनायौ, भक्तिरूप दरसायौ, दूर संतनि की पानहीं को रक्षक कहाऊँ मैं।
काहू सीखि लियो साधु लियौ चाहै परचैकों आये द्वार मन्दिरकै खोलि कही आऊँ मैं।।
रह्यौ बैठि जाय जूती हाथ में उठाय लीनी, कीनी, पूरी आस मेरी निसि दिन गाऊँ मैं।
भीतर बुलाये श्रीगुसाईं बार दोय चार, सेवा सौंपी सार कह्यौ जनपग ध्याऊँ मैं।।४९९।।

शब्दार्थ—दूर=दुर्लभ। सार=उत्तम। ध्याऊँ=ध्यान करूँ।

भावार्थ—श्रीसूरदास मदनमोहनजी ने एक पद बनाया, जिसमें अपनी भक्ति के गुह्यरूप को आपने प्रगट करके दिखा दिया। उस पद की अन्तिम तुक है-"सन्तनकी पनहीं को रक्षक कहाऊँ मैं।" आपको गाते सुनकर किसी सन्त ने यह पद सीख लिया और उसने इनकी परीक्षा लेना चाहा। एक दिन श्रीमदनमोहनजी के द्वार पर उसे श्रीसूरदासजी मिल गये। उसने अपने जूते उतारकर इनसे कहा-"जरा, आप इन्हें देखना, मैं दर्शन करके अभी आ जाऊँगा।" यह कहकर वह मन्दिर में जाकर संकीर्तन में बैठ गया। इधर श्रीसूरदासजी ने सन्त की जूतियों को हाथ में उठा लिया और प्रसन्न होकर मन ही मन कहने लगे कि-"अभी तक मैं केवल वाणी से दिन-रात गायन मात्र करता था, परन्तु आज सन्त-भगवन्त ने मेरी आशा पूरी कर दी, मन्दिर के भीतर विराजमान श्रीगोसाईंजी एवं पुजारीजी ने सेवक भेजकर कई बार बुलाया। तब आपने सूचना भेजी कि-"आज मेरे इष्टदेव ने मुझे एक बहुत बड़ी प्यारी सेवा सौंपी है, और मैं सन्त-चरण-कमल का ध्यान कर रहा हूँ। (यह सुनकर सभी ने एवं परीक्षक सन्त ने भी आकर देखा तो आपकी करनी-कथनी के अनुसार थी। सभी इस निष्ठा पर न्यौछावर हो गये)।।४९९।।

व्याख्या—सन्तनकी पनहीं को रक्षक कहाऊँ मैं—पूरा पद इस प्रकार है।

मेरी गति तू ही अनेक तोष पाऊं।
चरन कमल नखमनि पै विषय सुख बहाऊँ। घर-घर जो डोलौं हरि-तौ तुम्हें लजाऊं।।
तुम्हरो कहाय अब कौन को कहाऊं। तुमसे प्रभु छांड़ि कहा दीननको ध्याऊं।।
सीस तुम्हैं नायकै अब कौन को नवाऊं। कञ्चन उर हार छांड़ि कांच क्यों बनाऊं।।

सोभा सब हानि करौं जगतको हँसाऊं। हाथी ते उतरि कहा गदहा चढ़ि धाऊं।।
कुमकुम को लेप छांड़ि काजर मुँह लाऊं। कामधेनु घरमें तजि अजा क्यों दुहाऊं।।
कनक महल छांड़ि क्यों ऽब परनकुटी छाऊं। पायन जु पेलौ प्रभु तौ न अनत जाऊं।।
सूरदास मदनमोहन लाल गुन गाऊं। सन्तनकी पानहीं को रक्षक कहाऊं।।

सेवा सौंपी सार—भगवत्पादत्राण की शरण सेवा है और भक्त पाद त्राण की शरण सेवा का सार है, तत्व है। इसमें दैन्यता की पराकाष्ठा है। चरणों की सेवा का सौभाग्य नहीं है, तो पादत्राण की सेवा ही मिले। "भगवच्चरण और भगवत्पादुकाओं का आश्रय तो श्रीभरतलाल सरीखे अनन्य प्रेमियों को ही सुलभ हो सकता है। हमें तो सन्तन की पानहीं की रक्षा-सेवा प्राप्त हो जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। सच्चा भाव दुर्लभ है, अतः यदि मैं सन्त पादत्राण रक्षक कहलाऊँ, तो भी मेरे लिये सौभाग्य की बात है। "मोरे शरण रामहिं की पनहीं।" में भगवद्-भक्ति है और "सन्तनकी पनहीं को रक्षक कहाऊँ मैं" -इसमें भक्त भक्ति का श्रेष्ठ भाव है और "राम ते अधिक राम कर दासा।" यह चरितार्थ है। भगवत्पादत्राण की अपेक्षा भक्तपादत्राण की सेवा सुलभ एवं श्रेष्ठ है। अतः इसे सेवा सार कहा गया। तभी तो कीर्तन रूप सेवा के लिये भीतर मन्दिर से दो चार बार बुलावे पर भी भक्त सेवा छोड़कर नहीं गये। भक्तों ने यह सेवा सौंपकर मेरी आशा पूर्ण कर दी। पादत्राण की रज को सिर पर चढ़ाकर भक्त-चरणों का ध्यान करने लगे। उसमें तन्मय हो गये। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि "भक्तिरूप दरसायौ दूर" -अर्थात् परम गोप्य और दुर्लभ जो भक्तपादत्राण में भक्ति, उसे श्रीसूरदासजी ने आचरण करके प्रत्यक्ष दिखला दिया। मन्दिर के अधिकारी, पुजारी आदि अनेक विशिष्ट भक्त एवं परीक्षक सन्त ने इनके इस दिव्य भाव को देखा तो भाव-विभोर होकर कहने लगे कि भक्ति के सच्चे स्वरूप को इन्होंने ही जाना है। हमें भी भक्त-भगवन्त ऐसा भाव प्रदान करें।

पृथीपति संपति लै साधुनि खवाइ दई, भई नहीं संक यों निसंक रंग पागे हैं।
आये सो खजानौ लैन मानौ यह बात अहो पाथर लै भरे आप आधी निसि भागे हैं।।
रुक्का लिखि डारे, दाम "गटके ये सन्तनि नै, याते हम सटके हैं" चले जब जागे हैं।
पहुंचे हुजूर, भूप खोलिकै सन्दूक देखैं, पेखैं आंक कागद में रीझि अनुरागे हैं।।५००।।

शब्दार्थ—रुक्का=पत्र, प्रोनोट। गटके=खाये, निगले। सटके=चुपके से भागे।

भावार्थ—श्रीसूरदासजी ने तहसील वसूल से प्राप्त बादशाह अकबर की सारी सम्पत्ति साधु-सन्तों को खिला-पिलाकर बराबर कर दी। ऐसा करने में आपको न तो कुछ शंका

हुई और न बादशाह का भय लगा। इसका कारण यह था कि आप निःशङ्क और निर्भय जो प्रेम रंग उसमें रँगे थे, सराबोर थे। बादशाह की आज्ञा से वित्त विभाग के अधिकारीगण दिल्ली से खजाना लेने के लिए संडीले को आए और बोले कि-"आप राजाज्ञा को मानिये, खजाना भेजिये।" आपने स्वीकार कर सन्दूकों में कंकड़-पत्थर भर दिये। साथ ही सन्दूकों में एक-एक पत्र रख दिया, जिसमें लिख दिया कि-"संडीले की कुल आय तेरह लाख हुई। उसे सब साधुओं ने मिल-जुलकर गटक लिया। इसी से अब हम चुपचाप श्रीवृन्दावन को जा रहे हैं।" सन्दूकों में ताले लगाकर उन्हें दिल्ली को भेज दिया और आधी रात को जागते ही आप वृन्दावन की ओर भाग चले। सन्दूकें दिल्ली पहुँचीं और बादशाह के सामने खोली गईं तो उनमें रुपयों के स्थान पर कंकड़-पत्थर भरे मिले एक पर्चा मिला। जिसे पढ़कर बादशाह श्रीसूरदास की भक्ति पर रीझ गया तथा वह भी प्रेम में डूब गया।।।५००।।

व्याख्या—साधुनि खवाइ दई—उस वर्ष अकाल पड़ा था, अतः इन्होंने साधु-सन्तों की सेवा की। "रुक्का लिखि डारे"-यथा-"तेरह लाख सँडीले उपजे सब सन्तन मिलि गटके। सूरदास मदनमोहन आधी रात को वृन्दावन सटके।।" जब बादशाह ने यह रुक्का पढ़ा तो विनोद में उसने भी कहा-"गटके तो हमारे गटके तुम क्यों सटके।" "सम्पति सब रघुपति कै आही।" सच्चे पृथ्वीपति तो भगवान हैं, अतः सब दीनों को और भक्तों को खिला दिया। "गटके" का तात्पर्य खूब मनमाने उत्तम पदार्थ भोग लगाकर खिलाए।

लैनकों पठाये, कही निपट रिझाये हमैं, मन में न ल्याये, लिखी "वन तन डार्‌यौ है"।
'टोडर' दिवान कह्यौ "धनकों विरान कियौ ल्यावौ रे पकरि" मूढ़ फेरिकै संभार्‌यौ है।।
लै गये, हुजूर नृप बोल्यौ "होसों दूर राखौ," ऐसौ महाकूर सौंपि दुष्ट कष्ट धार्‌यौ है।
दोहा लिखि दीनौ 'अकबर' देखि रीझि लीनौ जावौ वाही ठौर तोपै द्रव्य सब बार्‌यौ है।।५०१।।

शब्दार्थ—वन=श्रीवृन्दावन। विरान=नष्ट, उजाड़। हुजूर=बादशाह की अदालत, कचहरी। कूर=निर्दयी, दुष्ट, क्रूर। दर्व=धन, द्रव्य।

भावार्थ—बादशाह ने अपने सिपाहियों को भेजा कि श्रीसूरदास को यहाँ बुला लाओ और उनसे कहना कि-"बादशाह ने कहा है-हम तुम्हारी साधु-सेवा से बहुत ही प्रसन्न हैं।" बादशाह की यह बात श्रीसूरदास ने नहीं स्वीकार किया। उत्तर में लिख भेजा कि-"मैंने इस शरीर को लाकर श्रीवृन्दावन में डाल दिया है, अब अन्यत्र ले जाने में समर्थ नहीं हूँ।" इस पर बादशाह ने तो कुछ नहीं कहा, परन्तु वित्तमंत्री टोडरमल ने पुनः सिपाहियों को आज्ञा देते

हुए कहा कि-"सूरदास ने सरकारी धन को नष्ट कर दिया है, इसलिये उसे जाकर पकड़ लाओ।" अभक्त मूढ़ मन्त्री ने इन्हें फिर पकड़ मँगाया। लोगों ने इन्हें बादशाह के सामने हाजिर करना चाहा, तो उसने कहा कि-"इन्हें मुझसे दूर ही रखो।" निर्दयी टोडरमल ने इन्हें दुष्ट दस्तमखां नामक जेलर के हवाले कर दिया। उसने इन्हें कारागार में बन्द कर असह्य कष्ट देना शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद आपने एक दोहा लिखकर अकबर के पास भेजा, उसे पढ़ते ही बादशाह प्रसन्न हो गया और कारागार से उन्हें मुक्त कराकर कहा-"आप जाकर श्रीवृन्दावन वास करो। मैंने तुम्हारे ऊपर तेरह लाख रुपये न्यौछावर कर दिये।।५०१।।

व्याख्या—दोहा लिखि दीनौ—वह दोहा इस प्रकार है। "यक तम अँधियारौ करै शून्य दई पुनि ताहि। दस तम ते रच्छा करौ दिन मनि अकबर साहि।" दुष्ट जेलर का नाम था दस्तमखाँ। इसी पर इन्होंने व्यंग्य किया कि एक तम (अन्धकार) तो संसार भर में अँधेरा ही अँधेरा कर देता है और मेरे पाले तो दसतम अर्थात् दस अन्धकार पड़ गया है। तो जैसे अन्धकार का नाश सूर्य से होता है, उसी प्रकार हे सूर्य सदृश अकबरशाह! तुम इस दसतम से मेरी रक्षा करो, अर्थात् मुझे इसके जुल्म से बचाओ। अकबर शब्द ईश्वरवाची भी है, अत: आपने प्रकारान्त से अपने ईष्देव से ही प्रार्थना की-"रीझि अनुरागे हैं, रीझि लीनौ और जावो वाही ठौर तोपै द्रव्य सब वार्‍यौ है"-"इन वाक्यों से अकबर का भक्त होना भी सिद्ध है, अत: भक्त से प्रार्थना की। अभक्तों की कृपा से भक्तजन कष्टों से मुक्त होना नहीं चाहते हैं। मुख्य उद्देश्य सन्त एवं दीनों की सेवा थी, अत: उत्तम भक्ति मानी गई।

आये वृन्दावन, मन माधुरी में भीजि रह्यौ कह्यौ जोई पद, सुन्यौ रूप रस रास है।
जा दिन प्रगट भयौ, गयौ शत जोजन पै, जन पै सुनत भेद बाढ़ी जग प्यास है।।
"सूर" द्विज द्विज निज महल टहल पाय चहल पहल हिये जुगल प्रकास है।
मदनमोहन जू हैं इष्ट इष्ट महाप्रभु अचरज कहा कृपा दृष्टि अनायास है।।५०२।।

शब्दार्थ—प्यास=चाह।द्विज=ब्राह्मण, चन्द्रमा, दो बार जन्म। महल=वृन्दावन निकुञ्ज। चहल-पहल=आनन्द की धूम।

भावार्थ—श्रीसूरदास मदनमोहनजी दिल्ली से श्रीवृन्दावन को आ गए। उनका मन निकुञ्ज लीला माधुरी में मग्न हो गया। ऐसी प्रेमावस्था में आपने जो पद बनाये, वे भगवत्स्वरूप के रस की राशि हुए। भक्त-भगवन्त ने उन्हें सादर श्रवण किया। एक बार आपने एक पद की रचना की, उसी दिन वह पद श्रीधाम वृन्दावन से चार सौ कोस की दूरी पर पहुँच गया

अर्थात् वह सिद्ध रसिकों द्वारा गाया गया। जिन भक्तों ने आपके पदों की महिमा सुनी, उसके साहित्यिक गौरव को समझा, उस भक्त जगत् की काव्यरस पिपासा और बढ़ गई। ब्राह्मण कुल में प्रकट श्रीसूरध्वज जो विरक्त होकर "श्रीसूरदास मदनमोहनजी" इस नाम से ख्यात हुए। इन्होंने श्रीराधाकृष्ण के निज निकुञ्ज महल की टहल प्राप्त की। आपके हृदय में युगलकिशोर प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार की चहल-पहल मची रहती थी, उसका दिव्य प्रकाश छाया रहता था। इसमें कुछ अनहोनी बात या आश्चर्य नहीं है। क्योंकि ठाकुर श्रीराधामदनमोहनजी आपके इष्टदेव थे, उनकी तथा इष्टों के इष्ट श्रीमहाप्रभुजी की आप पर सहज ही कृपा दृष्टि थी, अतः आपके हृदय में युगल की लीला-विनोद का उदय होना उचित ही है।।५०२।।

व्याख्या—जा दिन प्रगट भयौ—एक बार श्रीवृन्दावन में शरद्पूर्णिमा के दिन महा-महोत्सव मनाया जा रहा था। उस उत्सव में श्रीसूरदास मदनमोहनजी ने एक पद गाया, जिसे श्रवणकर रसिकजनों को परम आनन्द हुआ। सन्तों के समाज में एक सिद्ध सन्त बैठे थे। उन्होंने उस पद को याद कर लिया और श्रीवृन्दावन से सौ योजन अर्थात् चार सौ कोस दूरी पर एक जगह पर भगवान का महोत्सव हो रहा था, सिद्ध सन्त ने उसी दिन सिद्धि बल से उस महोत्सव में पधारकर उस पद को गाया। उस महोत्सव में विराजमान रसिकजनों ने जब आपसे यह जिज्ञासा की कि यह पद आपने कहाँ पाया, कब पाया तो आपने सब रहस्य बताया। तब तो सभी लोग श्रीसूरदास मदनमोहनजी को धन्य-धन्य कहने लगे, जिनकी वाणी एक दिन में ही शत योजन पर्यन्त पहुँचकर भक्तों को आनन्ददायिनी हुई। वह पद इस प्रकार है-

उरझी कुण्डल लट बेसरसों पीतपट बनमाल बीच आय उरझे हैं दोऊ जन।
नैननि सो नैन बैन बैननि सों उरझि रहे, चटकीली छवि देखे लपटात श्यामघन।।
होड़ा होड़ी नृत्य करैं रीझि रीझि अङ्क भरैं, ताता थेई थेई थेई कहत मगन मन।
सूरदास मदनमोहन रासमण्डलमे, प्यारी को आंचरु लै पोंछत हैं श्रम कन।।

श्रीमथुरापुरी में भगवान श्रीकेशवदेवजी का सुविख्यात मन्दिर है। एक बार वहाँ चोरी हो गई। चोरी का समाचार सुनते ही आपको भावावेश हो गया और बोले-"भला चौराग्रगण्य की चोरी कौन कर सकता है। अरे! मैं समझ गया। श्रीश्यामसुन्दर ससुराल गये थे। वहाँ हास्य कुशल ब्रजगोपियों ने ही उनके वस्त्राभूषण चुराये हैं।" उस समय आपने यह पद गाया-

गहनौ चुरायौ माई काहू केशव राय को।
माथे को मुकुट लीनो कँगना जराय को।।

मुखकी मुरलिया लीनी जोरा लीनो पांय को।
गांव बरसानो जानो सब सुख दाय को।।
श्याम जू की ससुरारि राधा जू को माय को।
चोर हू के भाग जागे चोर को चुराय को।
सूरदास मदनमोहन व्यर्थ पछिताय को।।

पूर्व छप्पय में श्रीनाभाजी ने जो यह लिखा है कि-''नवरस मुख्य सिंगार विविध भांतिन करि गायौ।'' इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्होंने शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों के पद गाये ही नहीं। इतना अवश्य है कि इनकी रचनाओं में शृंगार रस के पद अधिक हैं। अन्य रसों में भी आपकी रचनायें हैं। यथा-''वात्सल्यरस का उदाहरण-

श्यामलाल भोर भयौ जागौ बलि जाऊं। चुटिया सुरझाय बीच सुमन हौं गुथाऊँ।।
उगत सूर्य ज्योति भई कुलहिरी बनाऊं। पाँय बांधि घूंघरू सुचालिबो सिखाऊँ।।
सूरदास मदनमोहन लाल गुन गाऊं। निरखि-निरखि गोविन्द छबि जीवनफल पाऊँ।।

''महल टहल..............प्रकाश है''-

चलौ किन देखत कुंज कुटी।
सुन्दर श्याम मदन मोहन जहँ, मनमथ फौज जुटी।।
नन्द नन्दन वृषभानु नन्दिनी, नेकु न चाह छुटी।
सुरति सेज पर लरति अङ्गना मुक्तामाल टुटी।।
उरज तनी कंचुकि चुरकुट भई कटि तट ग्रन्थि हटी।
चतुर शिरोमनि ''सूर'' नन्द सुत लीनी अधर घुटी।।

ये हृदय के उद्गार अनायास कृपा दृष्टि के सूचक हैं। इनके पदों का गान करने से अनायास भक्त-भगवन्त की कृपा दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

श्रीकात्यायनीजी

कात्यायिनी के प्रेम की, बात जात कापै कही।।
मारग जात अकेल, गान रसना जु उचारै।
ताल मृदंगी वृक्ष रीझि अम्बर तहँ डारै।।
गोप नारि अनुसारि गिरा गदगद आवेशी।

जग प्रपंच ते दूरि, अजा परसैं नहिं लेशी।।
भगवान रीति अनुराग की, सन्त साखि मेली सही।
कात्यायिनी के प्रेम की, बात जात कापै कही।।१२७।।

शब्दार्थ—अम्बर=वस्त्र, कपड़ा। अनुसारि=तुल्य, समान। आवेशी=प्रेम व्याकुलता से युक्त। जग प्रपञ्च=संसारी मायाजाल। अजा=माया। परसै=छुवे, व्यापै। लेसी=लेशमात्र, थोड़ी भी। मेली सही=समर्थन किया, प्रशंसा की।

भावार्थ—भक्तिमती श्रीकात्यायनीजी के श्रीकृष्ण-प्रेम का वर्णन याथार्थ्येन कोई कवि कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं ही कर सकता है। प्रेमानन्द में मग्न रहने के कारण आपकी ऐसी विचित्र दशा हो गई थी कि मार्ग में अकेले चलती हुई भी श्रीकृष्ण के लीला पदों का गान करती थीं। उस समय आप वृक्षों को देखकर अनुभव करतीं कि ये ताल, मृदंग आदि वाद्यों के बजाने वाले प्रेमी लोग हैं। उनके ऊपर रीझकर पुरस्कार रूप में उन्हें न्यौछावर देने लगतीं और अपने वस्त्राभूषण अपने शरीर से उतारकर वृक्षों को पहना देतीं। ब्रजगोपियों की पद्धति से भगवान का स्मरण-भजन करतीं। प्रेमावेश में आपकी वाणी गद्‌गद रहती। जगत् के प्रपञ्चों से आप सर्वथा दूर ही रहतीं। माया आपको थोड़ा भी स्पर्श नहीं कर पाती थी। आपकी श्रीकृष्ण प्रेम की रीति को सन्तों ने सही माना, उसके साक्षी रहे, उसकी बारम्बार सराहना करते थे।।१२७।।

व्याख्या—कात्यायिनी—यह गौड़देश के राजा की कन्या और ब्रजगोपी का अवतार थीं। इनमें विलक्षण प्रेम था। प्रेमावेश में आकर ये महलों से बाहर भाग जातीं और एकान्त वन, उपवन में जाकर श्रीकृष्ण के विरह में लीला-पदों का गान करने लगतीं। उस समय वृक्षों की हलचल को पत्तों की खड़खड़ाहट को देखकर अनुभव करतीं कि ये भक्तजन मेरे गायन के साथ ताल मृदंग बजा रहे हैं। वस्तुतः ताल मृदंग बजाने वाले आकाशचारी थे। उनकी ध्वनि से आपको आनन्द विशेष आता, तब "रीझि अम्बर तहँ डारैं" -आपको वे लता वृक्ष गोपी रूप दीखते, तब आप कहतीं कि वाह! आपने बहुत अच्छा मृदंग-ताल बजाया। कृपया यह पुरस्कार स्वीकार कीजिये। ऐसा कहकर शरीर के वस्त्र आभूषणों को उन्हें पहना देती थीं। इन्हें यह सुधि नहीं रहती कि मैं नग्न हो जाऊँगी। इनके नग्न होते ही दिव्य सहचरियाँ इन्हें वस्त्र आदि पहना देती थीं। राजा की कन्या थीं, अतः इनके प्रेम को देखकर सज्जनों की सम्मति से राजा इन्हें रोकते नहीं थे। जब जहाँ भी भागकर जातीं, इन्हें जाने दिया जाता। साथ में दास-दासी सामग्री और शिविरों के साथ इनके पीछे लगे रहते। इनकी सार-

सँभाल करते। जंगल में कई-कई दिनों तक मूर्च्छित रहतीं। इस प्रकार ये अपने को श्रीवृन्दावन में ही मानकर यमुनाजी गिरिराजजी की वन्दना के एवं विरह के तथा मिलन के पदों को गाया करतीं। भगवान श्यामसुन्दर इनके प्रेमवश इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करते तथा विविध विनोद करते।

जगप्रपञ्च ते दूरि—प्रेमी भक्तों के निकट माया जाती ही नहीं है, प्रेमी स्वयं भी भगवदासक्त होने के कारण संसार की ओर नहीं देखता है। प्रेम रसास्वादन को विषय रस आकृष्ट नहीं कर पाते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीललितकिशोरीजी का पद स्मरणीय है। यथा-

दुनिया के परपञ्चों में हमने, मजा नहीं कछु पाया है।
भाई बन्धु पिता माता पति, सब सों चित अकुलाया है।।
छोड़ छांड़ घर गांव नाँव कुल यही पन्थ मनभाया है।
ललित किशोरी आनन्द घनसों, हठि कै नेह लगाया है।।१।।
बन-बन फिरना बेहतर हमको, रतन भवन नहिं भावै है।
लता तरे पड़ रहने में सुख, नाहिंन सेज सुहावै है।।
सोना कर-धर सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है।
ललित किशोरी नाम हरी का, जपि जपि मन सचु पावै है।।२।।

अजा परसै नहिं लेशी—यह भक्ति का प्रभाव है। यथा-"राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी।। तेहि विलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई।। भक्तिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।।"

विशेष—श्रीकृष्ण दीवानी कात्यायिनी को परिवार वालों ने पहले पागल जाना या भूत-प्रेत का आवेश समझा, अतः घर के भीतर बन्द करके साँकल लगा दी। तो भी आपको जब प्रेमावेश आया तो बाहर निकल गईं। उन्हें बन्द नहीं रखा जा सका। इसे भी लोगों ने भूत-प्रेतों का प्रभाव समझा। कभी-कभी अपने आप इनकी इच्छा से साँकल खुल जाती और कभी-कभी साँकल बन्द रहते हुए भी ये बाहर विचरती-रोती-गाती अपने प्यारे को ढूँढ़ती दिखाई पड़तीं। लोग इनके इस दिव्य प्रभाव को समझने में असमर्थ रहे। एक बार एक तान्त्रिक ने भूत भगाने के विचार से एक लौहशलाका को अग्नि में तपाकर लाल करके इन्हें दागने का प्रयत्न किया। परन्तु वह अत्यन्त गर्म लौहशलाका इनके शरीर का स्पर्श होते ही एकदम शीतल हो गई। तान्त्रिक के शरीर में दाह उत्पन्न हो गया। इन प्रत्यक्ष चमत्कारों को देखकर भावुक सज्जनों ने सबको समझाया कि यह न तो पागलपन है और न भूत-प्रेतावेश है। ये सब प्रेमा-

भक्ति के अष्ट सात्विक भाव हैं। हमारे-तुम्हारे परम सौभाग्य हैं, जो इनके दर्शन एवं सम्पर्क हमें प्राप्त हैं। इनकी सेवा करो। तभी से माता-पिता आदि सभी का इनमें सद्भाव हो गया। इस अलौकिक बालिका के ऊपर श्रीकृष्ण की पूर्ण कृपा है। ऐसा जानकर बहुत से लोग दर्शन करके कृतार्थ होते थे। माता-पिता इनकी किसी भी क्रिया में हस्तक्षेप नहीं करते। कभी-कभी ये भोजनादि विपुल सामग्री को लुटा देतीं, गौओं को, मोर, बन्दरों को खिला देतीं, तो भी लोग सन्तुष्ट ही होते। एक बार ये अकेले ही कृष्ण कीर्तन करती वन में विचर रही थीं। इनके प्रभाव को न जानने वालों ने इनके सौन्दर्य को देखकर इन्हें कुदृष्टि से देखा, तो तत्क्षण अन्धे हो गये। कुछ लोग स्पर्श की इच्छा से इनकी ओर बढ़े तब तक कात्यायिनीजी का शरीर अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला सा लगा, तब वे अपनी गलती पर पश्चात्ताप करते हुए इनके चरणों की शरण में आये। क्षमा-प्रार्थनाकर सदा के लिये साधुवृत्ति अपनायी। इस प्रकार से अनेक विमुख हरि सम्मुख हुए। भक्तों के हृदय में आपके प्रभाव ने भक्ति को अत्यन्त सुदृढ़ कर दिया। प्रेममग्न होकर नृत्य गान में कभी थकावट नहीं आती थी अतः श्रीनाभाजी ने लिखा है कि इनके प्रेम का वर्णन वाणी द्वारा हो ही नहीं सकता।

श्रीमुरारिदासजी

कृष्ण बिरह कुन्ती सरीर, त्यौं "मुरारि" तन त्यागियौ।।
बिदित "बिलौंदा" गांव देस मुरधर सब जानै।
महा महोच्छौ मध्य सन्त परिषद परवानै।।
पगनि घूंघुरू बांधि रामकौ चरित दिखायौ।
देसी सारँगपानि, हंस ता संग पठायौ।।
उपमा और न जगत में, पृथा बिना नाहिन बियौ।
कृष्ण बिरह कुन्ती सरीर, त्यों "मुरारि" तन त्यागियौ।।१२८।।

शब्दार्थ—मुरधर=मारवाड़। परिषद=सभा। परवानै=प्रमान। देशी सारंग=एक राग विशेष। सारंगपानि=शार्ङ्ग धनुषधारी श्रीराम। हंस=जीवात्मा। पानिहंस=स्ववश आत्मा। ता संग=उसी के साथ। पृथा=कुन्ती। बियौ=दूसरा।

भावार्थ—श्रीमुरारिदासजी मारवाड़ प्रान्त के प्रसिद्ध ग्राम "बिलौंदा" में विराजते थे। इसे सभी सन्त लोग जानते हैं। प्रतिवर्ष आप एक सुन्दर महोत्सव किया करते थे। एक बार

महा-महोत्सव में सन्तसभा के बीच आपको भक्त-भगवत् का पार्षद प्रमाणित किया गया। हरिनाम-लीला संकीर्तन के प्रसंग में आपने पैरों में घुंघुरु बाँधकर भगवान् श्रीराम के चरित्र को दिखाया। गान और भाव प्रदर्शन की विलक्षणता से दर्शकों को प्रत्यक्ष लीला का सा अनुभव हुआ। फिर आपने शास्त्रीय संगीत पद्धति से ''देशी सारंग'' राग को गाते हुए सारंग-धनुर्धर भगवान श्रीरामचन्द्रजी के वन-गमन का दृश्य प्रस्तुत किया और विरह व्यथा से व्याकुल होकर अपने प्राण-पखेरु को भगवान के साथ भेज दिया। श्रीकृष्ण के वियोग में जैसे श्रीकुन्तीजी ने अपने शरीर को त्यागा था, उसी प्रकार श्रीमुरारिदासजी ने श्रीरामजी के विरह में शरीर का परित्याग किया। श्रीकुन्तीजी के अतिरिक्त इनके शरीर त्याग में दूसरे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती है।।१२८।।

व्याख्या—कृष्ण विरह कुन्ती०—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३५७। श्रीकुन्तीजी की तरह ही आपने शरीर त्यागा, ऐसा कहकर श्रीनाभाजी ने प्रमाणित किया कि प्रभु में कुन्ती की सी आसक्ति थी। भगवान के अवतार एवं लीला के रहस्यों को जानते थे। जिस विपत्ति में प्रभु स्मरण बना रहे उसे ही चाहते थे। जिस सुख में प्रभु विस्मरण हो, वह सुख आपको अभीष्ट न था।

श्रीमुरारिदास रहे राजगुरु, भक्त-दास, आवत स्नान किये कान धुनि कीजियै।
जाति कौ चमार करै सेवा सो उचारि कहै 'प्रभु चरणामृत कौ पात्र जोई लीजिये'।।
गये घरमांझ वाके, देखि डर कांपि उठ्यौ, 'ल्यावौ देवौ हमैं, अहो प्रान करि जीजियै'।
कही 'मैं तो न्यूनतुच्छ,' बोले 'हमहूंतें स्वच्छ जानै कोऊ नाहिं तुम्हैं मेरी मति भीजियै'।।५०३।।

शब्दार्थ—पात्र=योग्य-श्रद्धालु पुरुष। न्यून=छोटा। स्वच्छ=निर्मल, श्रेष्ठ।

भावार्थ—श्रीमुरारिदासजी महाराज राजा के गुरु थे और भगवद्-भक्तों के दासानुदास थे। एक बार आप स्नान करके वापस आ रहे थे। उसी समय एक भक्त की आवाज आपके कान में पड़ी। एक चमार जाति के भक्त थे, वे नित्य भगवान की सेवा करते थे। उस दिन वे भगवत्सेवा करके पुकार रहे थे-''जो भगवान के चरणामृत को लेने का पात्र हो, वह आकर ले ले।'' इस शब्द को सुनते ही आप उसके घर में पहुँच गए। इन्हें देखकर वह डर गया और थर-थर काँपने लगा। आपने कहा-''लाइये, हमें चरणामृत दीजिये, मैं इसे पानकर अपने जीवन को धारण करुँ।'' उन्होंने कहा-''हम तो नीच हैं, अति ही तुच्छ हैं, आपको चरणामृत देने के योग्य नहीं हैं।'' तब श्रीमुरारिदासजी ने कहा-''तुम भक्त हो, हमसे भी अधिक निर्मल और पवित्र हो। तुम्हारी महिमा को तुम्हारे वास्तविक रुप को कोई नहीं जानता है। परन्तु मेरा मन तो तुम्हारी भक्ति देखकर अनुराग में रँग गया है।।५०३।।

व्याख्या—हमहूं ते स्वच्छ—पद्मपुराण में वर्णन आया है कि-

हरेरभक्तो विप्रोऽपि, विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरि भक्तः श्वपाकोऽपि, विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः।।

अर्थ—भगवद्-भक्त विहीन ब्राह्मण चाण्डाल से भी अधिक अधम है और भक्तिमान् चाण्डाल भक्ति विहीन ब्राह्मण से कोटि गुना श्रेष्ठ है। पुनः-

चतुराई चूल्हे परौ, भट्ठी परौ आचार।
तुलसी रघुपति भगति बिनु, चारौ बरन चमार।।

पुनः—"वाते उत्तम गनु चाण्डाल। नानक जा हिय बसैं गुपाल।।" अतः उस चमार भक्त की भक्ति को अपने से श्रेष्ठ समझकर आप बोले कि-"तुम हमसे भी अधिक पवित्र हो।" पुनः-इसलिये भी कि मैं तो अभी स्नान करके पूजा करने जा रहा हूँ और आपने तो मुझसे पहले ही स्नान करके पूजा भी कर लिया। निश्चय ही मेरी भक्ति में अभी कहीं न कहीं प्रमाद है और आप इस महान् दोष से सर्वथा मुक्त हैं, सेवा-सुमिरन में सावधान हैं, अतः आप हमसे भी अधिक पवित्र हैं। दूसरे मैं राजगुरु होने से प्रसिद्ध हूँ, आप छिपे भक्त हैं। अति प्रसिद्ध की भक्ति लुट जाती है और उसमें अहंकार भी आ सकता है। गुप्त भजन की महिमा विशेष है। उसकी भक्ति सुरक्षित रहकर बढ़ती रहती है। अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। तभी तो "मेरी मति भीजिए" अर्थात् आपके दर्शनमात्र से मेरे हृदय में सरसता की बाढ़ आ गई है।

बहै दृग नीर, कहै मेरे बड़ी पीर भई, तुम मति धीर, नहीं मेरी जोग्यताई है।
लियौ ई निपट हठ, बड़े पटु साधुता में, स्यामै प्यारी भक्ति, जाति-पांति लै बहाई है।।
फैलि गई गांव, वाकौ नाँव लै चबाव करैं भरैं नृप कान सुनि वाहू न सुहाई है।
आयौ प्रभु देखिबेकों, गयौ वह रंग उड़ि, जान्यौ सो प्रसंग सुन्यौ वहै बात छाई है।।५०४।।

शब्दार्थ—निपट=नितान्त, बिल्कुल, निरा। चबाव=पीठ पाछे निन्दा, चुगली, अफवाह। पटु=चतुर।

भावार्थ—उस चमार भक्त की आँखों से आँसू बह रहे थे। उसने कहा-चरणामृत लो, ऐसा जो मैंने पुकारकर कहा, यह भूल की, इससे मुझे मानसिक व्यथा हुई है। आप अत्यन्त धीर एवं गम्भीर बुद्धि वाले हैं। ऐसी मेरी योग्यता नहीं है, जो मैं आपको चरणामृत दूँ। परन्तु श्रीमुरारिदासजी साधुता में बड़े प्रवीण थे, अतः इन्होंने अत्यन्त हठ करके चरणामृत ले

ही लिया, आपने अपने मन में विचारा कि-''श्यामसुन्दर को तो भक्ति ही प्रिय है, प्रेमाभक्ति के प्रवाह में जाति-पांति के अहंकार-दोष बह जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।'' उसके यहाँ चरणामृत लेने की इनकी बात गाँव भर में फैल गई। भक्तद्वेषी-विमुख लोग उस चमार भक्त का नाम लेकर इनकी निन्दा करने लगे और राजा के पास जाकर उसके भी कान भर दिये। सुन करके यह बात उसे भी अच्छी नहीं लगी। उसके मन में भी अभाव आ गया। एक दिन श्रीस्वामीजी राजा के प्रेम-भाव को देखने के लिये उसके पास आए, तो उसके व्यवहार एवं उसकी चेष्टा से आपने यह अनुमान कर लिया कि राजा में मेरे प्रति जो प्रेमभाव पहले था, वह जाता रहा। इसने भी मेरे चरणामृत लेने के प्रसंग को सुन लिया है। वही बात इसके मन में छाई हुई है।।५०४।।

व्याख्या—बड़े पटु साधुता में—यहाँ पहली पटुता तो यह है कि भगवद्-भक्तों में जाति बुद्धि नहीं करनी चाहिए। यथा-

जाति नहीं जगदीश की, जनकी कहाँ ते होय।
सांभरमें जो कोउ परै, सोऊ साँभर होय।।

विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७२। दूसरी पटुता यह कि भगवान का चरणामृत साधारण जल नहीं होता है, जो स्पर्श दोष से दूषित हो जाय। वह सदा शुद्ध ही रहता है। यथा-

शुद्धं भागवतस्यान्नं, शुद्धं भागीरथं जलम्।
शुद्धं विष्णुपरिक्षिप्तं, शुद्धं एकादशी व्रतम्।।

अर्थ—भक्त का अन्न, गंगाजल, विष्णु निवेदित पदार्थ एवं एकादशी व्रत ये सर्वदा शुद्ध हैं। ''स्यामै प्यारी भक्ति'' -यथा-'' श्रीरघुवीरहिं भक्ति पियारी। माया खलु नर्तकी विचारी।।'' (रा०च०मा०) ''जाति-पाँति लै बहाई है''-यथा-

प्रभु प्रतिमाको शिला, गुरुहिं जो मानत नरसम।
चरनामृतको पानि, प्रसादहिं गनत अन्न सम।।
वरण बदत हरि भक्त, मन्त्रको गीतहिं मानत।
ते नर नरक निधान, परत श्रुति यों जु बखानत।।
कह अग्रदास आचरण षट, हैं अति ही उद्भट विकट।
सब पाप नाम हरिते कटत, ये न कटत हरिहू रटत।।

विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२३७, २५५। यथा-''जाति-पांति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।। सबु तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई। तेहि के हृदय बसहु रघुराई।।''

(वाल्मीकि वाक्य रा०) ''वहै बात छाई है'' -इस पर दृष्टान्त देखिये ''कौए के पंख का।'' उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-२००।

गये सब त्यागि, प्रभुसेवा ही सों राग जिन्हैं नृप दुख पागि, गयौ, सुनी यह बात है।
होत हो समाज, सदा भूपके बरस मांझ, दरस न काहू होत, मान्यौ उतपात है।।
चलेई लिवायबे कौं जहां श्रीमुरारिदास, करी साष्टांग रास नैन अश्रुपात है।
मुखहूं न देखैं वाको विमुख कै लेखे, अहो पेखे लोग कहैं यह गुरु शिष्य ख्यात है।।५०५।।

शब्दार्थ—समाज=सन्त सभा, उत्सव, पद गान। पेखें=देखें।

भावार्थ—लोगों का असद्भाव देखकर श्रीमुरारिदासजी अपना सब सामान वहीं पर छोड़कर अन्यत्र चले गये। कारण यह कि-''आपको तो केवल भगवान की सेवा से प्रेम था, अन्य वस्तुओं से नहीं। जब राजा ने यह बात सुनी तो वह दुःख में डूब गया। राजा के नगर में प्रतिवर्ष एक सन्तों का सम्मेलन होता था। उसमें बड़े-बड़े अच्छे सन्त-महात्मा पधारते थे। कथा-कीर्तन की धूम मचती थी। परन्तु अब श्रीमुरारिदासजी के चले जाने के बाद किसी साधु-महात्मा की छाया भी वहाँ नहीं दिखलाई पड़ती थी। राजा ने इसे भारी उत्पात माना और जहाँ श्रीमुरारिदासजी महाराज विराजते थे, वहाँ उन्हें लिवाने के लिए पहुँचा। राजा ने पृथ्वी पर पड़कर कई बार साष्टांग दण्डवत् की। उनके नेत्रों से अश्रुपात हो रहा था। श्रीमुरारिदासजी राजा को सन्त-भगवन्त से विमुख मानकर उसका मुख भी नहीं देख रहे थे। राजा निरन्तर प्रणाम विनय कर रहे थे। यह देखकर लोग कहने लगे कि- गुरु और शिष्य दोनों ही सिद्ध-प्रसिद्ध हैं, गुरु-शिष्य का पारस्परिक भाव ऐसा ही होना चाहिए।।५०५।।

व्याख्या—गुरु शिष्य ख्यात है—इस प्रसंग में गुरु की निस्पृहता एवं शिष्य की गुरु भक्ति दोनों ही दृष्टव्य हैं। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७३ ''गुरु गुरुताई की सचाई'' की व्याख्या।

ठाढ़ौ हाथ जोरि, मति दीनता मैं बोरि, कीजै दण्ड मोपै कोरि यों निहारि मुख भाखियै।
घटती न मेरी, आप कृपा ही की घटती है, बढ़ती सी करी तातें न्यूनताई राखियै।।
सुनिकै प्रसन्न भये कहे लै प्रसंग नये, बालमीकि आदि दै दै नाना बिधि साखियै।
आये निज गाम, नाम सुनि सब साधु धाये भयौई समाज वैसो देखि अभिलाखियै।।५०६।।

शब्दार्थ—कोरि=कोटि, अनेक। घटती=कमी, त्रुटि। न्यूनताई=हीनता, दीनता।

भावार्थ—राजा हाथ-जोड़े खड़ा था। उसकी बुद्धि दीनता में डूबी हुई थी। उसने कहा-

"आप मुझे मेरे अपराध के अनुरूप करोड़ों दण्ड दीजिये। वे मुझे स्वीकार हैं, परन्तु मेरी ओर देखिये, मुझे दर्शन दीजिये और आशीर्वाद दीजिये। मेरे मन में जो आपके प्रति अभाव हुआ, यह मेरी त्रुटि नहीं है, प्रत्युत आपकी कृपा की ही कमी है। इसी से मेरी बुद्धि दूषित हो गई, अब आपने जब विशेष कृपा की है तब मैं पुनः आपके श्रीचरणों में उपस्थित हूँ। अब मुझ दीन-हीन को शरण में रखिये।" ऐसी दीन वाणी सुनकर श्रीमुरारिदासजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने श्वपच, बाल्मीकि आदि अनेक भक्तों के प्रसंग वर्णन किये, अनेक शास्त्रों के वाक्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया, जिससे भक्ति की महिमा सिद्ध हुई। उसके सामने जाति-पांति के भेद-भाव अमान्य हुआ। राजा के साथ आप पुनः उसी गाँव को लौट आये। आपका नाम सुनते ही अनेक सन्तजन आपसे मिलने के लिए दौड़कर आये। गत वर्षों की अपेक्षा इस बार विशाल सन्त-समाज एकत्र हुआ और बड़ा भारी उत्सव हुआ। उसे देखकर लोगों की भी अभिलाषा हुई कि हमारे यहाँ भी ऐसा समाज हो। पर श्रीमुरारिदासजी सरीखे सन्त के बिना यह कैसे सम्भव है? राजा की अभिलाषा पूरी हो गई।।५०६।।

व्याख्या—घटती न मेरी—इस पर दृष्टान्त श्रीसुग्रीवजी का। सुग्रीव वाक्य-

नाइ चरन सिर कह कर जोरी। नाथ मोहिं कछु नाहिन खोरी।।
अतिशय प्रबल देव तव माया। छूटहिं राम करहु जब दाया।।
विषय-बस्य सुरनर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पशु कपि अति कामी।।
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पाश जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया।।
यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।। (रा०)

बढ़ती सी करी—भाव यह कि आपने मुझे जैसी शिक्षा-दीक्षा दी थी, उसकी अपेक्षा आपने विशेष लोकोत्तर आचरण किया, वहाँ तक मेरी पहुँच नहीं थी। मुझे नहीं पता था कि भक्ति में इस प्रकार जाति-पाँति का भेद-भाव समाप्त हो जाता है, भक्तिमान् की इतनी महिमा है। भगवच्चरणामृत में ऐसी दिव्यता है। अब आपकी कृपा से जब कुछ जान सका हूँ। तब आपके श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूँ, अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमा प्रार्थी हूँ।

आये बहु गुनी जन नृत्य गान छाई धुनि ऐपै सन्त सभा मन स्वामी गुण देखिये।
जानिकै प्रबीन उठे, नूपुर नवीन बांधि सप्तस्वर, तीन ग्राम, लीन भये पेखिये।।

गायौ रघुनाथजू कौ बनकौ गमन समै तासँग गमन प्रान चित्र सम लेखिये।
भयौ दुख रासि, 'कहां पैये श्रीमुरारिदास,' गये रामपास, एसौ हिये अवरेखिये। ।५०७।।

शब्दार्थ—अवरेखिये=चित्र खींचिये, देखिये-भालिये। ग्राम=संगीत में सप्तस्वरों का सप्तक।

भावार्थ—श्रीमुरारिदासजी की उपस्थिति में महोत्सव का आयोजन हुआ, उसमें बहुत से नृत्य-कीर्तन कला प्रवीण लोग आए। नृत्य-गान एवं नाम-संकीर्तन की मंगलमयी मधुर ध्वनि चारों ओर छा गई। परन्तु सन्त-समाज के मन में श्रीमुरारिदासजी महाराज की नृत्य संकीर्तन कला को देखने की विशेष उत्कण्ठा हुई। सन्तों की हार्दिक अभिलाषा को आप समझ गए, क्योंकि भाव के प्रवीण पारखी थे। सुन्दर नूपुरों को आपने पैरों में बाँधा और सात स्वर, तीन ग्रामों में तन्मय होकर नृत्य-कीर्तन करने लगे। आपने प्रेम के भावावेश में आकर श्रीरामजी के वन-गमन का चरित्र गाया। उस समय के विरह का सहन न होने के कारण आपके प्राण भी प्रभु के साथ ही चले गये। आपका शरीर चित्र के समान स्तब्ध रह गया। यह दृश्य देखकर सभी लोगों को सन्त-विरह का भारी दुःख हुआ। लोग कहने लगे कि-"श्रीमुरारिदासजी तो भगवान श्रीराम के पास गये। अब कहाँ मिलेंगे?" विरह व्यथित लोगों को आश्वासन देते हुए सन्तों ने कहा कि-"इनके सच्चे प्रेम के स्वरूप को तथा इनके इस दिव्य-दर्शन को अपने हृदय में अंकित कर लीजिये। सच्चे प्रेम का अलभ्य लाभ लीजिये। ।५०७।।

व्याख्या—गायौ रघुनाथ जू कौ वन कौ गमन०—यथा-

मोंको विधुवदन विलोकन दीजै।
राम लखन मेरी यहै भेंट बलि, जाउ जहां मोहीं मिलि लीजै।।
सुनि पितु वचन चरन गहे रघुपति, भूप अङ्क भरि लीन्हें।
अजहुं अवनि विदरत दरार मिस, सो अवसर सुधि कीन्हें।।
पुनि शिरनाइ गवन कियौ प्रभु, मूरछित भयौ भूप नहिं जाग्यौ।
करम चोर नृप पथिक मारि मानो, राम रतन लै भाग्यौ।।
तुलसी रबिकुल रबि रथ चढ़ि चले, तकि दिसि दखिन सुहाई।
लोग नलिन भए मलिन अवधसर, विरह विषम हिम पाई। ।१।।

करत राउ मन मों अनुमान।
सोक विकल मुख वचन न आवै, बिछुरे कृपानिधान।।
राज देन कहि बोलि नारि बस, मैं जु कह्यौ वन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय, कानन भवन समान।।
ऐसे सुतकी विरह अवधि लौं, जौ राखौ यह प्रान।
तौ मिटि जाय प्रेमकी परिमिति, अजस सुनौं निज कान।।
राम गए अजहूँ हौं जीवत, समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियौ प्रेम परमान।।२।।

सभी भक्तों के हृदय में श्रीमुरारिदासजी के विचित्र प्रेम का चित्र चित्रित हो गया। अत: श्रीराम भक्ति उनके हृदय में बस गई। जिस वैष्णव के चरित्र में जिसको प्रेम हो जाता है, उसकी की सी भक्ति उन पुण्यवान् को प्राप्त हो जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रीमुरारिदासजी के प्रेमियों ने श्रीमुरारिदासजी की सी भक्ति प्राप्त की।

।। भक्त श्रीश्च वर्धताम्।।

परिशिष्ट

(श्रीभक्तमाल तृतीयखण्ड के प्रथम संस्करण में जिन भक्त-चरित्रों के जो अंश रह गये थे उन्हें यहाँ पर लिखा जा रहा है। इन चरित्रों का परिचय पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी "भक्तमाली" तथा श्रीगंगादत्तजी करौली वाले जयपुर तथा श्रीजगदीशदासजी राठौड़ से प्राप्त हुआ।)

श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी

छप्पय-९६, पृष्ठ-२२३ पर। बूड़िया ग्राम हरियाणा प्रान्त में है, जहाँ पर आप निवास करते थे, वह स्थान वर्तमान में भी श्रीशोभूरामजी की वमी के नाम से प्रसिद्ध है। लोग कहते हैं कि प्रथम में बूड़िया यह ग्राम का नाम नहीं था। एकबार श्रीयमुनाजी में विशेष बाढ़ आयी हुई थी और ग्राम बूड़ने अर्थात् डूबने लगा था, तब लोगों ने "बूड़ गये-बूड़ गये" इस प्रकार से कोलाहल किया था, तभी से इस ग्राम का नाम बूड़िया पड़ गया। श्रीयमुनाजी के बाढ़ के पानी को रोकने के लिए लोगों ने ग्राम के किनारे-किनारे बाँध बनाना आरम्भ कर दिया था, बाढ़ का पानी बढ़ता ही चला जा रहा था, लोग जीवन से निराश हो गये थे और चारों ओर जल ही जल हो गया था, ग्राम से भागने का कोई मार्ग भी नहीं था, भयभीत होकर सभी लोग वहीं पर विराजमान श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी की शरण में गये तो आपको दया आ गयी, आपने सभी को आज्ञा दी कि अब तुम लोग बाँध का बनाना बन्दकर दो और सभी लोग बैठकर भगवान् का स्मरण-कीर्तन करो, सभी लोगों ने ऐसा ही किया, तब श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी स्वयं फाबड़ा लेकर बाँध को काटकर श्रीयमुना जल को ग्राम में लाने के लिए मार्ग अर्थात् नाला बनाने लगे, अब सभी लोगों को और भी भय हुआ, तब सभी लोगों ने श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी से पूछा कि—"महाराज! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं, क्या आप इस ग्राम को शीघ्र ही जलमग्न करना चाहते हैं?" श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी ने उत्तर दिया कि—"तुम लोगों को क्या श्रीयमुनाजी से भय लगता है, अतः उन्हें आने से क्यों रोकते हो, हमारी तो ये इष्ट देवता हैं और हमारी रक्षा करने वाली हैं, अतः हम इन्हें शीघ्रातिशीघ्र बुलाना चाहते हैं, अतः हम इनके आने का मार्ग बना रहे हैं।" इधर श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी ऐसा कह ही रहे थे कि उधर श्रीयमुनाजी ने आपके सद्भाव को जाना और आपकी शरण में आये हुए सभी ग्रामवासीजनों को बचा देने का दृढ़ निश्चय कर लिया, जल की बाढ़ रुक ही नहीं गयी बल्कि घटने लग गयी अन्यत्र और भी जल बढ़ने लगा, इससे वहाँ की प्रजा में श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीके प्रति अपार श्रद्धा होने लगी और बादशाह ने भी आपको ईश्वर तुल्य माना और वह आपके नित्य दर्शन करने के लिए आने लगा, इस प्रकार से आपने सभी जनों में भक्ति का संचार किया।

वहाँ पर एक मस्जिद थी, प्रात:-सायं लोग नमाज पढ़ने के लिए आते थे। उसी के निकट रमणीक स्थल पर श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी के श्रीठाकुरजी विराजमान थे और साधुओं की जमात पड़ी हुई थी, उधर जब आरती होती तो शंख-घण्टा-घड़ियाल बजते तथा जय-जयकार और श्रीहरिनाम गर्जन की ध्वनि होती रहती थी। उधर मस्जिद में नमाजी लोग नमाज पढ़ते तो उसमें उन्हें विघ्न होता था, उनसे यह सहन नहीं हुआ, तब उन्होंने बादशाह से कहा कि हिन्दू फकीर को रोक दो, नमाज के आगे-पीछे आरती, स्तुति किया करें, बादशाह ने नमाजियों से कहा कि—"मैं अवश्य ही हिन्दू फकीरों को रोक दूँगा, किन्तु बादशाह ने श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी से कुछ भी नहीं कहा। पुन: नमाजियों ने बादशाह से हिन्दू फकीरों की निन्दा की और कहा कि इन साधुओं को आप आज्ञा दें कि ये लोग यहाँ से अपना मुकाम हटा लें और अन्य स्थल पर अपना डेरा डालें। बादशाह ने नमाजियों को पुन: आश्वासन दिया और कहा कि ऐसा ही होगा। बादशाह जब दर्शन करने के लिए जाते तो श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी से कुछ भी नहीं कहते थे। एकदिन किसी अन्य व्यक्ति ने श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी से आकर कहा कि अब बादशाह आपको अन्य स्थल पर निवास करने को कहेंगे, यह सुनकर श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी उसी दिन अपना समस्त सामान गाड़ी में रखकर साधुओं के साथ वहाँ से चल दिये। बादशाह को जब यह ज्ञात हुआ तो वह स्वयं ही आकर मार्ग में श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी से मिला और बोला कि—"महाराज! आप यहाँ से क्यों जा रहे हैं, यहीं पर निवास करें, श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी ने बादशाह से कहा कि हमने सुना है कि हमारी आरती-पूजा से मस्जिद में नमाज करने वालों को बाधा होती है और आपने भी नमाजियों से कहा भी है कि हम साधुओं को किसी अन्य स्थल पर रख देंगे, इसलिए ही हम लोग पहले ही यहाँ से चले जा रहे हैं, बादशाह ने आग्रह करके श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी को वापस लौटाया और अन्यत्र जाने नहीं दिया। बादशाह ने अन्य स्थान पर एक दूसरी मस्जिद का निर्माण करवाकर वहाँ नमाजियों के लिए नमाज पढ़ने की व्यवस्था कर दी। श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी में ऐसा अद्भुत प्रताप तथा प्रभाव था, अद्यावधि वहाँ के सभी लोग आज भी आपसे प्रभावित हैं।

(श्रीभक्तमालीजी से)

श्रीसोझाजी

छप्पय-९६, पृष्ठ-२२१ पर। श्रीराघवदासजी कृत मूल छप्पय-३८९ के अनुसार आपके दो पुत्र थे। एक पुत्र को तो राजा अपने साथ में ले गया था, इसका वर्णन किया जा चुका है और एक पुत्र को एक सन्तजी अपने साथ में ले गये थे और उसे अपनी गुफा में ही रखकर उसका

पालन-पोषण किया। शिशुपन से ही उस बालक में वैष्णवता का प्रभाव पड़ा तथा उस बालक के हृदय में बाल्यकाल से ही ज्ञान-वैराग्य का उदय हो गया था। संयोगवश एकदिन सन्तजी को ज्वर हो गया, अत: सन्तजी स्वयं भिक्षा लेने के लिए नहीं गये और उस बालक से बोले कि-"तुम ग्राम में जाकर रोटी माँग लाओ, बालक अभी १३-१४ वर्ष की अवस्था तक कभी भी ग्राम में नहीं गया था और उस बालक ने कभी भी स्त्री को नहीं देखा था, वह बालक ग्राम में गया तो एक कुआँ पर स्त्रियों को जल भरते हुए उसने देखा, बालक को स्त्रियों के स्तनों को देखकर आश्चर्य हुआ, तब बालक ने एक स्त्री से पूछा कि-"यह आपकी छाती पर क्या है? वह स्त्री कुपित होकर बालक को फटकरने लगी तो एक वृद्धा माता उस बालक की बात को समझ गयीं और उन्होंने उस स्त्री को समझाया कि यह बालक अभी तक वन में गुफा में ही रहा है, अत: इसलिए जानता नहीं है। उस वृद्धा माता ने बालक को समझाया कि-"बेटा! ये दुग्ध के पात्र हैं, शिशु का जन्म होने के पूर्व ही इनमें दुग्ध आ जाता है और जब तक शिशु अन्न ग्रहण करने के योग्य नहीं होता है, तब तक इनमें दुग्ध बना ही रहता है। इसी से सभी शिशुओं का पालन-पोषण होता रहता है।" वृद्धा माता की यह बात सुनकर बालक के मन में प्रबल वैराग्य तथा विश्वास का उदय हो गया। बालक ने सोचा कि जब परमात्मा जन्म से प्रथम में ही दुग्ध का प्रबल प्रबन्ध कर देते हैं तो फिर उन्हीं पर ही मुझे निर्भर रहना उचित है और किसी से याचना करने की क्या आवश्यकता है। बालक ने वापस आकर अपने श्रीगुरु-सन्तजी को अपना अनुभव बताकर एकान्त गुफा में आकाशवृत्ति का आश्रय लेकर भजन करने लगा। भगवान् की कृपा से बालक को आवश्यक सामग्री गुफा में ही प्राप्त हो जाती थी, इस प्रकार से वह बालक भजन करते हुए एकदिन महान् सन्त हो गया, क्योंकि माता-पिता की भक्ति का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है। शिशुओं को भगवान् पर निर्भर छोड़ने पर सोझा-साझी के मन में किंचित्मात्र भी विक्षेप नहीं हुआ, जिसके कारण कि एक दिन उन दोनों बालकों में से एक बालक तो राजा हुआ और एक बालक महान् सन्त हुआ।

श्रीचाँदाजी

छप्पय-९६, पृष्ठ-२२८ पर। आप भगवान् के परम अनुरागी वीर प्रकृति के सन्त थे। यवन सेना मठ मन्दिरों को ध्वस्त करती हुई आगे बढ़ रही थी और यवन सेना ने श्रीचन्द्रसेनजी पर आक्रमण कर दिया, तब आपने धर्म रक्षार्थ बहुत से वीरों को एकत्र किया और आगे बढ़े तथा वीरता के साथ यवनों से युद्ध किया, प्रबल यवन सेना को पीछे हटना पड़ा। वे परास्त हेकर तितर-बितर हो गये, तब आपने जोधपुर के गढ़ में प्रवेश कर उसे सुरक्षित किया। एकबार रामपोल से निकलते हुए आपको यवन समूह ने घेर लिया और चारों ओर से अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार करने

लगे तब आपने अपने इष्टदेव का स्मरण कर ऐसा युद्ध किया कि एक भी दुष्ट जीवित नहीं बचा। यह युद्ध वि0सं0 १६२१ में वैशाख कृष्ण १० को हुआ था।

श्रीनापाजी

छप्पय-९७, पृष्ठ-२०९ पर। रेवासा के निकट एक ग्राम में आप माली जाति में प्रकट हुए। श्रीराघवदासजी कृत श्रीभक्तमालजी में आपका चरित्र इस प्रकार से वर्णित है—एकदिन आप रात्रि के तृतीय प्रहर में उठे, आप श्रीभगवन्नाम में मग्न होते हुए अपने १२-१३ वर्ष की आयु वाले बालक से बोले कि—''मैं ढेकली चालाता हूँ और तू खेत पर आकर क्यारियों में पानी लगा देना।'' बालक ने कहा कि ठीक है। श्रीनापाजी प्रेम से श्रीभगवद्-चिन्तन करते हुए ढेकली चलाने लगे और उधर इनका पुत्र फिर से सो गया, श्रीनापाजी ने कुछ देर पश्चात् ढेकली चलाकर पुत्र से पूछा कि क्यारियों में पानी आ गया, तब भगवान् ने प्रकट होकर इनके पुत्र के स्वर में उत्तर दिया कि—''क्यारियों में पानी आ गया है।'' श्रीनापाजी पुत्र से जो भी कुछ पूछते थे तो क्यारियों में पानी लगाते हुए भगवान इनके पुत्र के स्वर में ही उत्तर देते रहे। सूर्योदय होने पर श्रीनापाजी की धर्मपत्नी चक्की पीसकर उठीं, तो देखा कि पुत्र अभी सो ही रहा है, तब उसने पुत्र को डाँटते हुए कहा कि—तेरे पिताजी कब से खेती पर ढेकली से पानी निकाल रहे हैं और तू अभी सोया ही हुआ है, सब पानी निरर्थक ही बह गया होगा, इस प्रकार से कहकर माता ने पुत्र को एक थप्पड़ मारा पुत्र रोने लगा, पुत्र की रोने की आवाज सुनकर श्रीनापाजी आये और बोले कि—श्रीभगवद्-भजन के समय पुत्र को क्यों मार-पीट रही हो। पत्नी ने कहा कि—खेती में पानी वैसे ही बह गया होगा और यह यहाँ पर सोता ही रहा है। श्रीनापाजी ने कहा कि—तुम क्यों असत्य बोल रही हो, पुत्र तो खेती में पानी लगा रहा था और मेरे प्रश्नों का बराबर उत्तर दे रहा था। पत्नी ने कहा कि—यह यहाँ से गया ही नहीं है। तब श्रीनापाजी ने पुत्र से पूछा तो उसने कहा कि—पिताजी! आप मुझे जगाकर गये थे, किन्तु मुझे फिर से नींद आ गयी तो मैं खेती में पानी लगाने के लिए नहीं जा पाया। श्रीनापाजी ने जाकर खेती देखी तो इन्हें महान् आश्चर्य हुआ कि सभी क्यारियाँ दुग्ध से भरी हुई हैं तथा यत्र-तत्र वज्र-अंकुश-कमल आदि के चिह्नों से युक्त श्रीभगवद्-चरणारविन्दों की छाप लगी हुई है, अब तो श्रीप्रभुजी की दयालुता का स्मरण कर भक्त श्रीनापाजी व्याकुल हो गये और अश्रुपात करते हुए भगवान् की श्रीचरण-रज को निज मस्तक पर धारण किया, श्रीनापाजी को खेती में जहाँ-कहीं पर भी भगवान् के श्रीचरण-चिह्न दिखायी देते तो वहाँ पर अपना मस्तक घिसने लग जाते थे। यह समाचार पाकर ग्राम के बहुत से लोग अति आतुरता से आये तो उन्हें खेती में दुग्ध के तथा भगवान् के श्रीचरण-चिह्नों के दर्शन हुए, इस प्रकार से ग्रामवासियों ने भगवान् के श्रीचरण-चिह्नों के दर्शन तथा दुग्धपान से

एवं भक्त श्रीनापाजी की प्रेमदशा को देखकर सभी लोग भक्त-भगवान् की वन्दना करते हुए जय-जयकार करने लगे और सभी जनों के मन में भक्ति-विश्वास सुदृढ़ हो गया। इस प्रकार से भक्त श्रीनापाजी ने भक्ति की खेती को हरी-भरी कर दिया अर्थात् सभी जनों को श्रीभगवद्-भक्त बना दिया।

एकदिन भक्त श्रीनापाजी के द्वार पर एक अतिथि आये, श्रीनापाजी की पत्नी ने उनसे कहा कि-आज रोटी नहीं हैं, यह सुनकर श्रीनापाजी तत्काल अपनी पत्नी से बोले कि-सर्वथा मना करना उचित नहीं है और तुम्हारे पास जो कुछ भी हो उसके अनुसार उन्हें दे दो। पत्नी ने कहा कि-एक रोटी है, वह पुत्र के लिए रखी हुई है और मेरा-आपका तो उपवास ही होगा, क्योंकि बौहरेजी तो हमें परसों अनाज देंगे,इसलिए पुत्र तो मेरा ही आँचल पकड़कर भूखा मचलेगा, मैं उसको क्या दूँगी। श्रीनापाजी ने अपनी पत्नी से कहा कि-तुम आधी रोटी ही अतिथिजी को दे दो और आधी रोटी ही खाकर पुत्र जीवित रहा आवेगा। पत्नी ने ऐसा ही किया, क्योंकि वह भक्ता पतिव्रता थीं। भक्त श्रीनापाजी की उक्ति आज भी प्रसिद्ध है। यथा-

निपट नकारा है बुरा नापो कहै नरां। वित सारूँ दत दीजिये टोटा देख घरां।।

अर्थात् अतिथि को बिल्कुल मना कर देना अति निन्दनीय है, मनुष्यो! गृह में अल्पता देखकर भी यथाशक्ति वित्त दान अवश्य ही करना चाहिए।'' जयपुर की लाइब्रेरी (पुस्तकालय) में आपकी वाणी (पोथीखाल) प्राप्त है।

श्रीकीताजी

छप्पय-९७, पृष्ठ-२५१ पर। श्रीराघवदासजी कृत श्रीभक्तमाल मूल इ0-३९१ के श्रीकीताजी कनेरी जाति के भक्त थे। आपकी चित्तवृत्ति अनिमेषरूप से श्रीभगवद्स्वरूप में ही लगी रहती थी। आप सर्वदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की ही कीर्ति का गायन किया करते थे। आपका सुयश सुनकर एक विप्र कुमार आपके निकट आया, वह सच्चा जिज्ञासु साधक था। श्रीकीताजी की दिनचर्या तथा वैराग्य से वह विप्र कुमार प्रभावित होकर आपसे दीक्षा लेने के लिए १२ वर्ष पर्यन्त आपकी सेवा करता रहा, किन्तु फिर भी आपने उसे दीक्षा नहीं दी। तब आपको भगवान् श्रीरामजी ने स्वयं आज्ञा दी कि यह विप्र कुमार योग्य साधक है इसको आप अपना लीजिये। श्रीकीताजी ने विप्र कुमार को एक नवीन घड़ा देकर कहा कि तुम अमुक कूप से इसमें जल भरकर ले आओ, जब वह जल भरकर ले आया तो श्रीकीताजी ने उससे पूछा कि कहाँ से जल भरकर लाये हो, उसने कहा कि—आपकी आज्ञानुसार ही उसी कूप से जल भरकर लाया हूँ। परीक्षा

हेतु श्रीकीताजी ने उसघड़े को डण्डे से मारकर उस विप्र कुमार के सिर पर ही फोड़ दिया, तो उसके वस्त्र भीग गये, शीतकाल था, वह ठण्ड से ठिठुर रहा था, श्रीकीताजी ने उसे आज्ञा दी कि अब तुम दूसरा घड़ा भरकर लाओ, वह पुनः घड़ा भरकर लाया तो श्रीकीताजी ने उसे पुनः फोड़ दिया, इस प्रकार से विप्र कुमार के सिर पर सात घड़े फोड़ दिये, अब श्रीकीताजी ने उसे आठवीं बार पुनः जल भरने के लिए भेजा, वह गया और अपने मन में विचार करने लगा कि सन्तजन तो दयालु होते हैं, अब मुझमें शीत सहन करने की सामर्थ्य नहीं है और अब आज्ञा पालन करना भी दुष्कर है। अब विप्र कुमार ने घड़ा को मार्ग में ही रखकर कहीं अन्यत्र चले जाने का विचार किया, तब घड़ा में से आवाज आयी–"साहस करो, भाग्योदय होने वाला है।" विप्र कुमार को यहाँ कोई भी दिखायी नहीं दिया तो वह इस आवाज को भ्रम समझकर चल दिया, तो वह आवाज पुनः आयी, विप्र कुमार ईश्वरीय प्रेरणा समझकर पुनः घड़ा भरकर ले आया, अब तो श्रीकीताजी ने विप्र कुमार के सिर से घड़ा उतार लिया और विप्र कुमार को हृदय से लगा लिया। श्रीकीताजी ने देखा कि यह विप्र कुमार निष्ठावान् सच्चा आज्ञाकारी है और सहनशील भी है, इस परीक्षा को देखकर उसको दीक्षा दे दी और ज्ञान–भक्ति के रहस्य को भी उसे समझाया, श्रीकीताजी के शुभाशीर्वाद से वह विप्र कुमार श्रीभगवद्–तत्व को जानकर सिद्ध हो गया। यह प्रसिद्ध है–

सात घड़ा सिर ऊपर फोड़ा। तऊ सुबुद्धि नहिं मुख मोड़ा।
अष्टम घट ने दई आवाजा। अबकी जा सुधरै तब काजा।।

इस प्रकार से श्रीकीताजी ने अनेक साधकों को सदुपदेश प्रदान कर उन्हें कृतार्थ किया। पोथीखाना जयपुर में आपके पद प्राप्त हैं।

श्रीसीहाजी

छप्पय–९७, पृष्ठ–२४५ पर। आप राठौरों के पूर्वज हैं। राजस्थान में पालड़ी, जोधपुर तथा मारवाड़ राज्यों के आप ही संस्थापक हैं।

श्रीझाँझूदासजी

छप्पय–९९ पृष्ठ–२७६ पर। पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराज के प्रमुख शिष्यों में एक संगीत प्रवीण श्रीहेमानन्द जी महाराज थे, श्रीभक्तमालजी में इनका स्मरण करके श्रीनाभाजी ने छप्पय–३९, में "हेम" ऐसा संक्षिप्त नाम लिखकर किया है, इन्हीं के कृपापात्र श्रीझाँझूदासजी थे। आपका जन्म चतुर्दश शताब्दी के उत्तरकाल में उमाड़ा नामक ग्राम में श्रीचोखारामजी के गृह में हुआ था। आप खाण्डल विप्र जाति के बुढ़ाडरा गोत्र के थे, बाल्यकाल से ही श्रीझाँझूदासजी की निष्ठा

श्रीभगवद्–भजन की ओर विशेषरूप से थी, आपके पिता ने आपको विद्याध्ययन कराया, किन्तु आप तो भगवान् के भजन में ही तल्लीन रहा करते थे। आपने श्रीगुरु श्रीहेमानन्दजी से उपदेश प्राप्त कर जयपुर से पश्चिम की ओर अरण्य प्रदेश में एक सरोवर के तट पर आश्रम बनाकर श्रीभगवद् आराधन करना आरम्भ कर दिया। ईश्वर की प्रेरणा अत्यन्त ही प्रबल होती है, श्रीझाँझूदासजी की साधना में दिन–प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। भक्ति की अन्त:प्रेरणा से भक्त हृदय में ईश्वर–दर्शन की लालसा प्रबलरूप से जागृत हो उठी, श्रीझाँझूदासजी ने अपने इष्टदेवजी के दिव्यस्वरूप के अवलोकनार्थ श्रीअयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया, आप भगवान् का गुणानुवाद करते हुए भगवान् श्रीरामजी की क्रीड़ास्थली श्रीसरजू नदी के तट पर पहुँच गये, यहाँ आकर आप अति तल्लीनता से श्रीभगवद्–भजन में संलग्न हो गये, जब भक्त की आत्मा आकुल होकर भगवान् को पुकारती हैं, तब भगवान् को आतुरतापूर्वक आना ही पड़ता है, इस प्रकार से श्रीझाँझूदासजी को अपने आराध्य के प्रति भक्ति–साधना करते हुए कुछ काल व्यतीत हो गया।

एकबार आप रामघाट पर जब अपने आराध्य की प्रबल–साधना में तल्लीन होकर उनके दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुल हो गये, तब वहाँ प्रेमसुधासागर भगवान् श्रीराघवेन्द्रजी ने श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी सहित आपको साक्षात् दर्शन दिया। सन्त श्रीझाँझूदासजी का हृदय उस मनमोहक दिव्य झाँकी से परम आह्लादित हो उठा और आप अपने तन की सुधि–बुधि विस्मित कर कनकदण्डवत् भूमि पर गिर पड़े, तदनन्तर आप सचेत होने पर भगवान् से गद्‌गद कण्ठ हो नित्य–सेवा की याचना करने लगे, भक्तवांछा कल्पतरु दयालु श्रीप्रभु ने श्रीझाँझूदासजी से सहज भाव से कहा कि–"कलियुग में मेरा प्रकट होना ही दु:साध्य है, किन्तु तुम्हारी दृढ़ एवं अनन्य भक्ति को देखकर मुझे तुम्हें दर्शन देना पड़ा झाँझूदासजी नित्य–सेवा के लिए तुम्हें श्रीसरयूजी में "विग्रहरूप" की प्राप्ति होगी उस विग्रह को तुम अपने साथ में लेते जाना और उस विग्रह को स्थापित कर उसकी सेवा–पूजा करते रहना। भक्त श्रीझाँझूदासजी ने भगवान् श्रीरामजी के पुनः–पुनः दिव्य–स्वरूप के दर्शन करने की अभिलाषा तथा प्रार्थना की, तब श्रीप्रभु ने भक्त श्रीझाँझूदासजी से कहा कि–"भक्तजी! मैं तुम्हारे उत्सवों में नीलकण्ठ पक्षी के रूप में आऊँगा और उस नीलकण्ठ को ही तुम मेरा साक्षात् स्वरूप समझना।"

इसके अनन्तर वह अलौकिक आभा अदृश्य हो गयी। श्रीझाँझूदासजी उस स्वरूप का चिन्तन करते हुए श्रीसरयू नदी में स्नान करने गये, वहाँ स्नान करते समय आपको भगवान् श्रीरामजी एव श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीजानकीजी के श्रीविग्रह सिंहासनासीन प्राप्त हुए। भगवान् की इस असीम अनुकम्पा से भक्त श्रीझाँझूदासजी के हृदय में अपार प्रसन्नता हुई। श्रीझाँझूदासजी ने

सिंहासन को शिरोधार्य करके अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। भगवान् की लीला परम विचित्र होती है, संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर के इंगितमात्र से ही होता रहता है। भक्त श्रीझाँझूदासजी जब श्रीअयोध्याजी गये थे तब अपने स्थान पर एक सूखी डाली अर्थात् एक टहनी रोपकर यह निश्चय करके गये थे कि यदि यात्रा से वापस लौटने पर यह हरी मिलेगी तो मैं अपनी यात्रा को सफल समझूँगा और लीला उत्सव मनाऊँगा, आपको श्रीअयोध्याजी की यात्रा से वापस लौटने पर वह सूखी टहनी हरी लहराती हुई वृक्ष के रूप में मिली, तब आपने परम प्रसन्नतापूर्वक वहीं पर भगवान् के श्रीविग्रह की स्थापना कर विजयदशमी को लीला-उत्सव मनाया, इस उत्सव में प्रातःकाल अपने पूर्व संकेतानुसार भगवान् श्रीरामजी नीलकण्ठ के रूप में श्रीझाँझूदासजी को दर्शन देने के लिए आये, इस उत्सव को आप प्रतिवर्ष मनाते रहे, पश्चात् में वहाँ हरसौली नामक ग्राम बस गया। (जो कि जयपुर से पश्चिम में 32 मील की दूरी पर फुलेरा तहसील में है।)

श्रीझाँझूदासजी ने अन्त तक वहीं पर निवास कर भजन किया और अपने प्रभाव से प्रचुर लोगों में श्रीभगवद्-भक्ति का प्रचार-प्रसार करते रहे। वि०सं० १५४२ में आप साकेतधाम पधारे। वर्तमान में भी विजयदशमी के दिन श्रीझाँझूदासजी के वंशधरों के द्वारा उत्सव मनाया जाता है और उत्सव में प्रातःकाल के समय जागरण के स्थान पर श्रीभगवद्-स्वरूप नीलकण्ठ के दर्शन भी होते हैं, दर्शन प्राप्त करके ही उत्सव की समाप्ति होती है। इस प्रकार से प्रतिवर्ष यह उत्सव अर्थात् मेला वर्तमान में भी लगता है और श्रीझाँझूदासजी के द्वारा रचित भक्ति-उत्सव सम्बन्धी पद गायन भी होता है। आगे चलकर श्रीझाँझूदासजी की परम्परा में श्रीसियासखीजी एवं श्रीरूपसरसजी नामक प्रसिद्ध भक्तकवि हुए।

श्रीमांडनजी

छप्पय-१०० तथा १३९ में आपका नाम आया है। श्रीराघवदासजी कृत श्रीभक्तमालजी में श्रीचारण भक्तों में आपका स्मरण किया गया है। आप जैसलमेर के महारावल दुर्जनशाल के समकालीन थे, आप दधवाड़ा में निवास करते थे। देवलशाखा में आपका जन्म हुआ था। सांखला द्वारा दधवाड़ा ग्राम आपको प्राप्त हुआ था। आप प्रसिद्ध महान् भक्त थे, आपके अनेक रूपक प्रसिद्ध हैं, श्रीमांडनजी के वंशज दधवाड़िया कहलाते हैं।

श्रीपरशुरामजी

छप्पय-१०२, पृष्ठ-२२८ पर। श्रीराघवदासजी कृत श्रीभक्तमाल छप्पय-३९५ में श्रीपरशुरामजी को भगवत् सुयश प्रचारक कहा गया है। इसके अतिरिक्त छप्पय-२१६ में भी आपका चरित्र है। इन्हें श्रीपीपाजी का शिष्य बताया गया है और खाती जाति में आपका जन्म है। श्रीनाभाजी ने छप्पय-१०२ में खाटीकौ लिखा है तथा श्रीराघवदासजी ने छप्पय-३९५ में खाटीवत लिखा है और एक भिन्न भक्त माना है, अत: खाटीकौ के स्थान पर खातीकौ यह पाठान्तर नहीं माना जा सकता है। श्रीराघवदासजी कृत श्रीभक्तमाल छप्पय-२१६ में श्रीपरशुरामजी का चरित्र इस प्रकार से है—

श्रीपरसजी खाती

मरुधर कलरू गाँव परस जहँ प्रभु कौ प्यारौ।
सतवादी सूतार कर्म कलियुग तें न्यारौ।।
ता बदले तन धारि रामरथ चक्र सुधार्‌यौ।
इक लग पूठी एक विनाशल तबै विचार्‌यौ।।
परस गयौ जहँ भूपति चित सुचकित चरणौं नयौ।
राघव समरथ रामजी भक्ति करत यूं वश भयौ।।२१६।।

"**भावार्थ**"—कलरू ग्राम मारवाड़ में श्रीपरशुरामजी खाती श्रीरामजी के परम भक्त हुए। आप सत्यवादी, कलि के कुकर्मों से सर्वथा दूर थे। एकबार मेड़ता के राजा जयमलजी जोधपुर को जा रहे थे। रथ का पहिया टूट गया, उसे सुधारने के लिए आपको बुलाया गया। सन्त-सेवा में व्यस्त थे अत: आपके आने में बिलम्ब हुआ, तब श्रीपरशुरामजी का रूप धारणकर श्रीरामजी ने जाकर परिये को सुधारा। पहिये में एक ही पूठी लगायी कि जिसमें कील, पत्ती या जोड़ का कोई निशान नहीं था। उसे देखकर आश्चर्य होता था कि लकड़ी का पहिया कैसे ढाला गया है। रथ चलने लगा तो सभी ने देखा कि तीन पहिये तो धरती पर चल रहे हैं और एक पहिया ऊपर धरती का स्पर्श किये बिना ही चल रहा है। लोगों ने राजा जयमलजी से कहा, तब राजा ने भी इस आश्चर्य को तथा पहिये की बनावट को ध्यानपूर्वक देखा। उनके साथ लाँवा के ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी भी वहीं कलरू ग्राम में मिस्त्री बुलाने गये थे। अब फिर इन्हीं को भेजा कि उसी मिस्त्री को बुला लाओ। उन्होंने कलरू से परस खाती को ले जाकर राजा जयमल के सम्मुख उपस्थित किया। राजा ने कहा कि जैसा एक पहिया आपने बनाया है, उसी तरह के तीन पहिये और बना दो। परस भक्त ने

कहा—राजन्! उस दिन सन्त-भगवन्त की सेवा में व्यस्त रहने के कारण मैं आपकी आज्ञा के अनुसार आ ही नहीं सका था। मेरा बनाया यह पहिया नहीं है। मैं या दूसरा कोई कारीगर ऐसा पहिया नहीं बना सकता है। यह तो जगत् के बनाने वाले का बनाया हुआ है। जयमल ने कहा—तब तो आपका रूप धारणकर श्रीरामजी ही आये। आप समर्थ भक्त हैं, पुनः मुझे श्रीरामजी का दर्शन कराओ अन्यथा मैं प्राण दे दूँगा। राजा का हठ देखकर आपने विनती की। प्रभो! राजा तो भक्त हैं तभी उसके साथ आपने ऐसी लीला की, आप कृपा कर हम लोगों को दर्शन दीजिये। दोनों भक्तों के प्रेम में विभोर होने पर श्रीरामजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया। दोनों भक्त कृतार्थ हो गये। इस सम्बन्ध में यह दोहा अति प्रसिद्ध है—

सम्वत् सोलह चार को चैत सुदी बुधवार।
पैंड़ो पूठ्यौ रामजी परसराम तन धार।।

दर्शनों के लिए राजा जयमल के उद्गार—

गद्गद हिरदौ हो गयौ नैंना बहै जु नीर।
सिरजनहार बताय दै नहिं तौ तजौं सरीर।।१।।
नहिं जाऊँ मैं मेड़ता नहिं जाऊँ जोधाण।
प्रान तजूँ तुझ बारने मोहिं गुरू की आण।।२।।
विनय करैं करजोर कर कहै जु जयमल राय।
कै तौ हरी मिलाय दै कै मरूँ कटारी खा।।३।।

(जाँगिड़ ब्राह्मण भक्तमाल से)

श्रीपरशुरामजी की भक्ति से राजा जयमल बहुत प्रभावित हुए। ५०० बीघा भूमि भेंट की और एक चतुर्भुज का मन्दिर बनवाया। जो आज भी कलरू में दर्शनीय है। अनन्य भाव से भजन तथा लोकोपकार करते हुए १६२ वर्ष की आयु में वि०सं० १६८१ वैशाख सुदी १२ को आपने समाधि ली। समाधि की सेवा इनके परिवारीजन करते हैं। वहाँ पहुँचकर अनेक भक्त मनौती करते हैं। अब भी समाधि पर अनेक चमत्कारपूर्ण अनुभव भक्तों को होते हैं। आपके अनेकों उपदेशपूर्ण दोहा, कुण्डलियाँ आदि प्रसिद्ध हैं—

परसा सारा जावसी माया महल मुलक्क।
राखी कभी न रहवसी काया राख पलक्क।।
सत्गुरु को मानैं नहीं चालै अपनी चाल।
परसराम उस जीव की जम का ढेला खाल।।

जम का ढेला खाल डण्ड नाना भुगतावै।
अष्ट बीस के कुण्ड नरक भोगत दुख पावै।।
राम सुमर गुरु शब्द लै मति ना रहै कंगाल।
सत्‌गुरु की मानै नहीं चलै आपनी चाल।।

परसा को पारस मिले हैं गुरु पीपा आय आप सो कियो बनाय बारम्बार कसिके।
खोयो है कन्या को कोढ़ धोवती दई है ओढ़ शकति की सेवा मेटी ताके घर बसिके।।
खाती को खलास करि रीझे हैं परसपरि माथे हाथ धर्‌यौ स्वामी हेत सेती हँसिके।
राघो कहैं परस प्रसिद्ध भये तीनों लोक सन्तन की सेवा कीनी पूठी हरि असिके।।

"**भावार्थ**"—श्रीपरस भक्त को पारसरूप श्रीपीपाजी आकर गुप्तरूप में प्राप्त हुए थे। श्रीपीपाजी ने बारम्बार साधनारूप कसौटी पर कसकर अर्थात् उनकी परीक्षा लेकर उनको अपने समान ही कर लिया था। परसजी की कन्या के कोढ़ रोग हो गया था। श्रीपीपाजी ने उसे अपनी धोती ओढ़ाकर उसका कोढ़ मिटा दिया था। श्रीपरसजी प्रथम देवी की सेवा करते थे। श्रीपीपाजी ने उनके घर पर निवास करके उनसे देवी सेवा छुड़वाकर उनको भगवान् का भक्त बना दिया। फिर उनकी सेवा-भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीपीपाजी ने हँसते हुए स्नेहपूर्वक उनके सिर पर अपना वरदहस्त रखकर उन्हें संसार बन्धन से मुक्त कर दिया। श्रीराघवदाजी कहते हैं कि गुरुदेव श्रीपीपाजी की कृपा से भक्त परसजी खाती तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गये। अत्यन्त प्रेम से सदा सन्त-सेवा में लगे रहते थे। तभी तो भगवान् ने इनके बदले आकर पहिये में पूठी लगादी।

राजस्थान के जिला नागौर तहसील मेड़ता में कलरू ग्राम है। परस भक्त का जन्म वि०सं० १५१९ में हुआ। पिता का नाम था श्रीहोलाराम और माता थीं श्रीराधाबाई। ये जांगिड़ खाती कुलमें प्रकट हुए थे।

श्रीपूरनजी नृपति

छप्पय—१०२, पृष्ठ—२२८ पर। आप परम सदाचारी वीर एवं महान् श्रीभगवद्-भक्त थे। आप आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजी के पुत्र थे। आपकी माता का नाम श्रीपदारथदेवी था (आप गाँवड़ी गणेशर जिला-सीकर तँवराटी की थीं) पिता की आज्ञानुसार श्रीपूरनसिंहजी कार्तिक सुदी ११ वि०सं० १५८४ में आमेर की गद्दी पर बैठे, आप ६ वर्ष २ मास और २३ दिन तक गद्दी पर रहे। अमरसर के शासक श्रीरायमलजी जो कि श्रीशेखाजी के पुत्र थे, इन पर हुमायूँ बादशाह के भाई हिन्दाल ने जब आक्रमण किया तब नृपति श्रीपूरनसिंहजी उनकी सहायता करने गये। प्रसिद्ध दुर्ग

शिखर गढ़ जो कि त्रिवेणी अमरसर के समीप है। वहाँ पर हिन्दाल की विशाल सेना से भयंकर संग्राम किया, असंख्यों विधर्मियों का संहार कर माघ सुदी ५, वि0सं0 १५९० में धर्मयुद्ध करते हुए आप वीरगति को प्राप्त हुए। वीर भक्तों के इतिहास में आपकी कीर्ति अमर है। सूजा (सूरजमल) आपके ही सुपुत्र थे।

रानी श्रीगणेशदेईजी

छप्पय—१०४, पृष्ठ-३१९ पर। काशी वाले महाराज श्रीअनिरुद्धसिंहजी (करैया-दतिया) महान् धर्मात्मा थे। आपकी रानी का नाम श्रीविजयकुँवरि था, आप भी श्रीभगवद्-भक्ता एवं पतिव्रता थीं, आपके निरन्तर धर्माचरण-परोपकार के फलस्वरूप वि0सं0 १५६९ में आपके यहाँ पर एक सुपुत्री का जन्म हुआ, बाल्यकाल में इस सुपुत्री का नाम कमला था यही सुपुत्री आगे चलकर रानी श्रीगणेशदेईजी के नाम से प्रसिद्ध हुईं, आप पर माता-पिता का अपार वात्सल्य था, माता ने सुपुत्री को भगवान् श्रीविश्वनाथजी की उपासना का उपदेश दिया, भोली-भाली कन्या के सहज प्रेम पर भगवान् श्रीविश्वनाथजी रीझ गये और उन्होंने कृपा करके श्रीरामभक्ति का श्रेष्ठ वरदान प्रदान किया। वि0सं0 १५९६ में ओरछा नरेश महाराज श्रीमधुकरशाहजी के साथ आपका प्रणय-सूत्र-बन्धन हुआ, कुछ दिन पश्चात् आप दर्शनार्थ श्रीअयोध्याजी गयीं और वहाँ से वि0सं0 १६३० में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, रानी श्रीगणेशदेईजी के साथ ओरछा पधारे। साधु-सन्तों के साथ पुष्य नक्षत्र में यात्रा करते हुए आप ८ माह २७ दिन पश्चात् श्रीरामनवमी, भौमवार को ओरछा पहुँचे और रानी श्रीगणेशदेईजी के महल में विराजे। आप अपने अनन्य अनुराग से भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को रिझाती हुईं निर्जला एकादशी वि0सं0 १६४२ गुरुवार को रानी श्रीगणेशदेईजी नश्वर देह को त्यागकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के श्रीचरणों में लीन हो गयीं।

श्रीउमा भटियानीजी

छप्पय—१०४, पृष्ठ-३२६ पर। आप जैसलमेर के राजा की पुत्री तथा जोधपुर के राव श्रीमालदेवजी की रानी थीं। वि0सं0 १५९३ में आपका विवाह हुआ था। आप में बाल्यकाल से ही श्रीहरिभक्ति के दिव्य संस्कार थे कि पति भवन में जाकर मुझे निरन्तर "श्रीभगवद्-स्मरण ही करना है।" इस निश्चय के अनुसार जब आप विवाह के पश्चात् प्रथम में पति दर्शनार्थ भवन में गयीं तो आपको वहाँ पर एक मनचली दासी दिखलायी पड़ी, इस कारण आप अपने पति से रुष्ट हो गयीं और पति को प्रणाम करके चली आयीं। श्रीउमा भटियानीजी ने अब यह दृढ़ निश्चय किया कि मैं अपने पिता के यहाँ पर ही रहकर श्रीहरिः-भजन कर जीवन व्यतीत करूँगी। आपकी भक्ति

से प्रभावित होकर आपक पति राव श्रीमालदेवजी के मन में यह आया कि किसी भी प्रकार से रानी श्रीउमा भटियानीजी जोधपुर में आकर सुखपूर्वक यहाँ पर ही रहकर श्रीभगवद्-भजन करें। वि0सं0 १६०४ में श्रीआसवदासजी चारण को राजा ने श्रीउमा भटियानीजी को मनाने के लिए भेजा कि आपके भजन-साधन में कोई भी बाधा न होगी, ऐसा पूर्ण आश्वासन प्राप्त कर श्रीउमा भटियानीजी पालकी में बैठकर जोधपुर के लिए चलीं, मार्ग में विश्रामस्थल पर किसी चारण ने यह दोहा कहा—"मान रखे तो पीव तजि पीव चहे तजि मान। दो दो गयन्द न बँधहिं एकहिं कम्बू ठान।।" यह सुनकर श्रीउमा भटियानीजी उसी स्थान पर बस गयीं। पिता तथा पति दोनों की ओर से आपको सद्भाव प्राप्त हुआ। आप एकान्त में श्रीभगवद्-भजन के अतिरिक्त किसी से भी व्यवहार नहीं रखती थीं। वि0सं0 १६१९ में आपके पति राजा श्रीमालदेवजी की मृत्यु पर आप लौकिक, वैदिक प्रथा के अनुसार सती हो गयीं। इतिहास में श्रीउमा भटियानीजी के पवित्र जीवन तथा श्रीभगवद्-प्रेम की महती प्रशंसा है।

श्रीकीकीजी

छप्पय—१०४, पृष्ठ-३१९ पर। आप श्रीलाखाजी चारण की पत्नी एवं जाड़ामेरुजी की पुत्री थीं। आप पतिव्रता के साथ-साथ आपकी श्रीभागवतधर्म में अपार निष्ठा थी। श्रीभगवन्नाम-स्मरण करना तथा दीनों पर दया करना यह दो गुण आप में विशेषरूप से विद्यमान थे। वि0सं0 १६०० में अकाल पड़ा था तो लोगों की भूख से मृत्यु होने लगी, तब आपने अपने पूर्वजों के द्वारा संचित अपार धनराशि को सहर्ष ही सभी में बाँट दिया, धनराशि वितरण में श्रीभगवद्-कृपा से ऐसी वृद्धि हुई कि सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये। श्रीकीकीजी की भक्ति के प्रभाव से सहस्रों जनों के प्राण जीवित रह पाये, जिन्होंने आपके यहाँ से धन लेकर अपने प्राण जीवित रखे, वे लोग प्रायः सभी श्रीभगवन्निष्ठ हो गये। आपके पुत्र श्रीनरहरिदासजी चारण हुए, अपनी भक्ता माता के प्रभाव से ये भी महान् भक्त हुए और आपने वि0सं0 १७८७ में "अवतारचरित" नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

श्रीअंगदजी

छप्पय—११३, पृष्ठ-४९३ पर। राजस्थान में जिला-सवाईमाधोपुर, तहसील-खण्डार में पहाड़ी पर किला है। उस प्राचीन किला में श्रीअंगदजी का महल है, वहाँ श्रीअंगदजी का चरित्र प्रसिद्ध है। सवाईमाधोपुर से खण्डार कस्बा २४ मील की दूरी पर है। श्रीअंगदजी ने जहाँ पर श्रीजगन्नाथजी को हीरा समर्पित किया था, वह स्थान खण्डार से ६ किलोमीटर की दूरी पर बनास (वाशिष्ठी) नदी

पर है, वहाँ पर अत्यन्त अधिक गहराई है, पुण्य-पर्वों के अवसर पर जनता यहाँ पर स्नान-दर्शन करती है तथा श्रीअंगदजी के पावन चरित्र का स्मरण कर प्रेम से पुलकित हो जाती है।

श्रीपृथ्वीराजजी

छप्पय—११६, पृष्ठ-५४३ पर। आप सूर्यवंश में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के वंशधर हैं जो कूरम कछवाहा कहलाते हैं। आप आमेर नरेश श्रीचन्द्रसेनजी के सुपुत्र थे, आपकी माता श्रीभागवतीदेवी चौहान थीं, श्रीपृथ्वीराजजी सबसे बड़े पुत्र थे। अत: आप पिता की मृत्यु के पश्चात् फाल्गुन वदी ५, वि0सं0 १५५९ को आमेर की गद्दी पर बैठे। आप प्रथम में सम्प्रदाय के श्रीचतुरनाथजी के शिष्य थे, आपकी बड़ी रानी बीकानेर के राव श्रीलूणकरणजी की पुत्री थीं, इनका नाम श्रीअपूर्वदेवी था यही आगे चलकर श्रीबालाबाईजी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। आपके दिव्य प्रभाव से ही आमेर राज्य में वैष्णवता का प्रचार हुआ। श्रीपृथ्वीराजजी के भक्तिभाव से प्रभावित होकर मेवाड़ चित्तौड़गढ़ के महाराणा श्रीमोकलजी ने अपनी पुत्री का विवाह आपके साथ में कर दिया। भक्त से सम्बन्ध स्थापित कर तथा बार-बार श्रीपृथ्वीराजजी का दर्शन, सत्संग प्राप्त कर महाराणा कृतकृत्य हो गये। श्रीपृथ्वीराजजी भावुक भक्त होने के साथ-साथ आप महान् पराक्रमी वीर योद्धा थे। मेवाड़ के महाराणा साँगा का जब बावर से खनवा (भरतपुर) का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, तब उसमें आप अपनी सेना के साथ महाराणा साँगा के सहायक थे, वहाँ पर श्रीपृथ्वीराजजी ने अपना महान् पराक्रम दिखाया, महाराणा साँगा के मूर्च्छित हो जाने पर आप उन्हें बसवा ले आये और वहाँ ही उनकी चिकित्सा करायी। श्रीबालाबाईजी के साथ में आपका विवाह वि0सं0 १५६४ में हुआ था, आपके ९ रानियाँ थीं तथा १९ पुत्र थे। श्रीपृथ्वीराजजी के एक पुत्र का नाम श्रीभारमलजी था, आप श्रीआशकरणजी के पश्चात् गद्दी पर बैठे। श्रीभारमलजी के पुत्रों में श्रीभगवन्तदासजी अग्रज थे, जो कि श्रीभारमलजी के पश्चात् गद्दी पर बैठे। श्रीभगवानदासजी श्रीभारमलजी के अनुज पुत्र थे, इन्हें ससम्मान अकबर बादशाह ने मनसबदारी दी थी। लवाण के जागीरदार थे, अकबर बादशाह से श्रीभगवानदासजी को बाँके राजा का खिताब प्राप्त हुआ था।

जब आगरा के किला का निर्माण हो रहा था, तब वहीं पर आपका शिविर लगा हुआ था, राजमन्त्रियों ने श्रीभगवानदासजी से कहा कि आप अपना शिविर हटा लीजिये, क्योंकि किला की नींव खुदेगी, आपने उनके आग्रह करने पर भी अपना शिविर नहीं हटाया और कहा कि किला बाँका रहे यही ठीक है। इस विरोचित स्वभाव का अकबर बादशाह ने आदर किया और किला की दीवार सीधी नहीं बन सकी, इसलिए अकबर बादशाह ने श्रीभगवानदासजी को बाँके राजा का खिताब दिया, तभी से श्रीभगवानदासजी के वंशज बाँकावत कहे जाते हैं। श्रीपृथ्वीराजजी का पद—

ऐसे ही व्यौहार लागौ जग रहावैं। प्रगट पुरुष ताको कोई न ध्यावैं।।
अलख अभेद गति काहु नहीं जानी। कूकस करम लगि रीझ्यौ है प्रानी।।
संसार असार तेरी दुसह माया। यही डर पृथ्वीराज राम शरण आया।।

(जयपुर के इतिहास से)

श्रीरामचन्द्रजी

छप्पय-११७, पृष्ठ-५५८ पर। आप टोंडा रायसेन (ग्राम) के सोलंकी क्षत्रिय थे। आपके पिता का नाम श्रीपृथ्वीराजजी था। श्रीपृथ्वीराजजी के पिता श्रीसूरसेनजी (श्रीसूरजमल सुल्तान) थे। आप श्रीपीपाजी के शिष्य थे। टोंडा रायसेन श्रीपीपाजी की गुफा वर्तमान में भी दर्शनीय है। टोंडा रायसेन मालपुरा से दक्षिण, जिला-टोंक (राजस्थान) में हैं। अपने पिता श्रीपृथ्वीराजजी के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी टोंडा रायसेन के शासक हुए। लेखों के आधार पर वि0सं0 १५८१ से वि0सं0 १६१२ पर्यन्त आपका कार्यकाल माना जाता है, आपके श्रीपरशुरामजी तथा श्रीकल्याणजी ये दो पुत्र थे। सन्त-सेवा में आपका अत्यन्त अनुराग था, सन्त दर्शन मात्र से ही आपके मन में परम उल्लास होता था तथा जिस प्रकार से भी सन्त सन्तुष्ट हों यह आपका परम व्रत था। अतः मूल छप्पय में—"टोंड़े भजन निधान रामचन्द्र हरिजन तोषे।" इस प्रकार से लिखा गया है। आपके भजन भाव को देख-सुनकर प्रचुरजन भक्तिपथ के अनुगामी हुए। (ऐतिहासिक शोध संग्रह, श्रीरामवल्लभजी सोमाणी, पृष्ठ-२२, ४२ पर। श्रीदेवीसिंहजी मण्डावा से प्राप्त)। छप्पय-११७, पृष्ठ-५५४ में आये हुए कुछ भक्तजनों के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिचय प्राप्त हुए वह इस प्रकार से हैं—

श्रीरायमलजी

आप राव श्रीमालदेवजी जोधपुर नरेश के पुत्र थे। आप सिवाणा के जागीरदार थे। आपका श्रीभगवद्-प्रेम अनुपम था, आपके पुत्र श्रीकल्याणदासजी भी भक्त तथा वीर हुए।

श्रीवीरमजी

छप्पय-११७, पृष्ठ-५५४ पर। आप मेड़ता के राजा थे, आपके ही पुत्र श्रीजयमलजी थे। आपके अतरिक्त एक वीरम जोधपुर के राजा थे तथा उनके पिता का नाम सलखा था। एक तृतीय वीरम जैसलमेर के भाटिया वंश में हुए। ये सभी सन्त-सेवानिष्ठ हुए। श्रीसर्वेश्वर भक्तमाल के अनुसार एक वीरमजी ने अपने वैभव का परित्याग कर श्रीभट्टदेवाचार्यजी से विरक्त-दीक्षा प्राप्त की, ये वीरमजी त्यागी के नाम से प्रसिद्ध हुए। छोटा उदयपुर किशनगढ़ (राजस्थान) में आपकी परम्परा के कई मन्दिर हैं।

श्रीभगवानजी

आप लवाण राजा एवं श्रीभारमलजी के पुत्र थे। आगे छप्पय १८८ में भी आपका चरित्र वर्णित है।

श्रीअभयरामजी

छप्पय-११८, पृष्ठ-५५४ पर। आप अखयराजजी के पुत्र और लवाण के राजा श्रीभगवान्दासजी के सुपौत्र थे, श्रीभगवद्-भक्ति आपकी पैतृक सम्पत्ति थी। आप यथा-नाम तथा-गुण सम्पन्न थे। एकबार आप अकबर बादशाह के पुत्र जहाँगीर के दरबार खास में बैठे हुए थे, वहाँ किसी मुगल ने वैष्णववेष का उपहास किया, तो तत्क्षण ही श्रीअभयरामजी ने अपनी म्यान से तलवार खींच ली और उस मुगल का सिर काट दिया तो दरबार में हा-हाकार हो गया, बादशाह ने इस कृत्य को अपने दरबार का अपमान समझा और आपको कैद करने की आज्ञा दी, कुछ लोगों ने श्रीअभयरामजी को समझाया कि आप मात्र कुछ समय के लिए बन्दी बन जाइये, पश्चात् शीघ्र ही ससम्मान आपको छोड़ दिया जायगा, किन्तु आप तो धर्मनिष्ठ वीर पुरुष थे, अत: आपने बन्दी बनना स्वीकार नहीं किया तो वहीं पर युद्ध आरम्भ हो गया और जो आपके समक्ष आया वह भी मारा गया तथा अन्त में कई लोगों ने एक साथ आपके ऊपर आक्रमण कर दिया तो आप वीरगति को प्राप्त हुए। श्रीअभयरामजी की वैष्णवभेष मात्र में अपार निष्ठा थी जिसके कारण आपने वैष्णव निन्दा सहन नहीं की। आपके दो पुत्र थे, श्रीजगरामजी तथा श्रीरामसिंहजी ये दोनों भाई भी सन्तसेवी थे।

—(नैणसिंह ख्यात से)

श्रीअखयरामजी

आप लवाण के राजा श्रीभगवानदासजी के द्वितीय पुत्र थे। आपके पिता में जैसी भक्ति निष्ठा थी, वैसी ही निष्ठा का व्रत आपने धारण कर जीवन पर्यन्त उसे निभाया, आपके तीन पुत्र थे, श्रीअभयरामजी, श्रीहिरदैदासजी, ये सभी सन्तसेवी श्रीभगवद्-भक्त थे। श्रीनीवाँजी का चरित्र छप्पय-१५३ में वर्णित है, आप राठौर क्षत्रिय थे। श्रीकन्हरजी का चरित्र छप्पय-१५२ में वर्णित है।

श्रीखेमालरतनजी

छप्पय-११८, पृष्ठ-५६४ पर। आप ऐतिहासिकविशेषज्ञों के अनुसार जोधपुर के शासक राव श्रीसूजाजी के पुत्र श्रीऊदाजी ने वि0सं0 १५३९ में जैतारण पर आक्रमण किया और सींधालों को परास्त कर एक नवीन राज्य स्थापित किया। आपके वंशज ''ऊदावत राठौड़'' कहलाये। आप

परम प्रतापी राव श्रीऊदाजी के पुत्र श्रीखीवकरणजी=(श्रीखेमकरणजी) ही श्रीखेमालरतनजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपका जन्म भाद्रपद शुक्ल ११, वि0सं0 १५३७ में हुआ था। आप श्रीभगवद्-भक्त होने के साथ-साथ अपने काल के महत्वपूर्ण वीरों में से एक थे। धर्म रक्षार्थ आपने कई संग्राम किये और जोधपुर के श्रीमालदेवजी के समय में श्रीजैताजी, श्रीकूपाजी और श्रीपंचायणजी को अपने साथ में लेकर शेरशाह की विशाल सेना से श्रीखेमालरतनजी ने इतिहास प्रसिद्ध संग्राम लड़ा, तभी से वीरों में आपको महान् सम्मान प्राप्त हुआ। पुनः शेरशाह से श्रीमालदेवजी का प्रसिद्ध युद्ध गिर्री में हुआ, जिसमें छल के कारण श्रीमालदेवजी वापस लौट आये, किन्तु श्रीखेमालरतनजी प्रमुख सरदारों को अपने साथ में लेकर संग्राम में ही डटे रहे। श्रीखेमालरतनजी ने अपनी दस हजार सेना के साथ शेरशाह की अस्सी हजार सेना पर भीषण प्रहार किया, यह युद्ध वि0सं0 १६०० में हुआ था। श्रीखेमालरतनजी के प्रचण्ड आक्रमण से शेरशाह की फौज के छक्के छूट गये, परन्तु विजय शेरशाह की अवश्य हुई, किन्तु शेरशाह की सेना के थोड़े से ही सिपाही शेष बचे थे। श्रीखेमालरतनजी की सेना के प्रायः सभी क्षत्रिय वीरगति को प्राप्त हो गये थे। शेरशाह ने इस विजय को धिक्कारा और कहा कि यह खुदा का शुक्र है जो कि अपनी जान बच गयी वर्ना मुट्ठी भर बाजरे के लोभ में दिल्ली की सल्तनत भी हमारे हाथ से खो जाती।

(विग्ज फरिश्ता जिल्द पृष्ठ-१२३)

श्रीनाभाजी ने श्रीखेमालजी (खींवकरण) और उनके पुत्र राव श्रीरतनसिंहजी इन दोनों का चरित्र एक साथ में ही एक छप्पय में लिखा है किन्तु ये दो भक्त हैं। श्रीरावरतनजी राठौर का जन्म वि0सं0 १५७७, भाद्रपद सुदी ५ को हुआ था, आप जैतारण के तृतीय राजा थे, आप वि0सं0 १६०० में 23 वर्ष की आयु में ही जैतारण की गद्दी पर बैठे, आप अपने पितामह की भाँति ही महान् भक्त एवं वीर थे। आप में स्वाधीनता, कर्तव्य परायणता, अपार साहस, उज्ज्वल चरित्रता तथा धर्म परायणता आदि गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। आपने रणस्थल में कभी भी अधर्म युद्ध नहीं किया। आपने सदा योद्धा तथा श्रीभगवद्-भक्तजनों का आदर ही किया, चाहे वह अपना शत्रु ही क्यों न हो तथा आपने धर्म युद्ध का सर्वदा सम्मान ही किया। आप जैसे महान् वीर थे वैसे ही आप उदार दाता भी थे। देहरिया, गेहावास, लाखावासणी (जैतारण परगना) के ग्राम आपने चारण भक्तों को दान में दे दिये। आपकी वीरता के अनेक उदाहरण इतिहास में प्रसिद्ध हैं। वि0सं0 १६१० में राव श्रीमालदेवजी ने मेड़ता के राजा श्रीजयमलजी पर चढ़ाई कर दी, राव श्रीरतनसिंहजी उस युद्ध में श्रीमालदेवजी की ओर से युद्ध कर रहे थे। आपने अपने सामन्त देईदास के साथ श्रीजयमलजी की सेना पर भयंकर आक्रमण प्रहार किया, देईदास जब श्रीजयमलजी पर बर्छी छोड़ने लगा, तब राव

श्रीरतनसिंहजी ने कहा कि—''राव ऊवरौ।'' पश्चात् देईदास ने बर्छी नहीं चलायी, इस युद्ध में श्रीजयमलजी की सेना पराजित हो गयी थी।

जैतारण में ही आपका अन्तिम युद्ध अकबर बादशाह की सेना के साथ में हुआ था, उसी युद्ध में आपने महान् पराक्रम प्रदर्शित कर वि0सं0 १६१४, चैत्र वदी १० को राव श्रीरतनसिंहजी प्रशंसित वीरगति को प्राप्त हुए, इस युद्ध का वर्णन कविवर दूदो विलास ने ''राठौर रतनसिंह री बेली'' नामक काव्य में किया है इसमें ६३ छन्द है।

दल असंख्य दिल्ली तणौ गिणया ऊदा गोत।
रगतां सींची रतन-सी जैतारण रण जोत।।

(रा0र0 बेली)

धर्म विरोधी यवन सेना का अपने खाँड़ों से संहार करने वाले राव श्रीरतनसिंहजी ने अपनी कीर्ति को अचल कर दिया, इस प्रकार से स्वतन्त्रता प्रेमी राव श्रीरतनसिंहजी ने उज्ज्वल आदर्श प्रकट किया और इस क्षेत्र की जनता भी आपको देवतुल्य स्वीकार कर आपकी समाधि पर श्रद्धा-सुमन चढ़ाती है। अब आपके एक नवीन स्मारक का भी निर्माण हो गया है। जैतारण में एक सिद्ध सन्त श्रीगूदड़ बाबा थे, यह आपसे अति प्रभवित थे, आपके परम भक्त थे, यहीं पर श्रीगोपालजी का मन्दिर है, आपके वंशज उसे अपना गुरुद्वारा मानते हैं। राव श्रीरतनसिंहजी के पुत्र श्रीरामरयनजी थे, आपने रावट ग्राम में अपनी गद्दी स्थापित की और आपके पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी हुए।

(नीमाच का इतिहास)

श्रीसन्तदासजी

छप्पय-१२५, पृष्ठ-५९४ पर। श्रीसन्तदासजी आप निवाई ग्राम में निवास करते थे। यह ग्राम जयपुर से टोंक मार्ग पर पड़ता है। अब भी वहाँ पर भगवान् श्रीगोपीनाथजी महाराज विराजमान हैं। यहाँ पर समय-समय पर उत्सव होते रहते हैं, प्रचुर भावुक भक्तजन दर्शनार्थ आते रहते हैं। श्रीसन्तदासजी के वंशधर वर्तमान में भी भगवान् श्रीगोपीनाथजी की सेवा करते रहते हैं यहाँ पर आपकी वाणी भी प्राप्त है। छप्पय में-''विमलानन्द प्रबोधवंश'' शब्द आया है, इन्हीं श्रीविमलानन्दजी का स्मरण छप्पय-९६ में किया गया है—''विमलानन्द अमृतस्रये'' आपके ही वंश में श्रीसन्तदासजी हुए।

(गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी छप्पय-१२९ से अन्तिम तक के श्रीभक्त-चरित्र चतुर्थखण्ड श्रीभक्तमालजी में पढ़िये)

परम भागवत पण्डित श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भक्तमाली' जी

महिमा बरनी न जाये, भक्तमाली जगन्नाथ के॥
अति उदार अरु सरल, प्रगट चाँचौड़ा जानैं।
गुरु भगवान दास, महंत टटिया जु बखानैं॥
भागवत व भक्तमाल, दोऊ परम है चीन्हौं।
रसिकन को करि संग, गुपाल कुँ पेड़ा दीन्हौं।
नाना भक्तमाली बनाय, ध्यान करैं निज नाथ के।
महिमा बरनी न जाये, भक्तमाली जगन्नाथ के॥

प्रगटे गुनाकर गुना मण्डल चाँचौड़ा ग्राम, धाम काम त्यागि धाम वृंदावन आइगे।
स्वामी हरिदास जू की सहचरी परम्परा में, ह्वै कै समाश्रित इष्ट श्यामा श्याम पाइगे॥
पाय भक्तमाल टोपीकुंज माधवदास जू सों, जीवन भर भक्तन के गुण गण गाइगे।
ब्रज के विभूति अद्वितीय वर्तमान माँहि, नारायण जन जन के मन में समाइगे॥१॥

सबमें समत्व मान, मत्सर को लेश नहीं, साँचो सनेह सबही पै सरसाइगे।
शील, सदाचार सुठि सादगी सरलता आदि, साधक समूह को आदर्श दरसाइगे॥
अतिशय निष्किंचन निर्विवाद निर्विरोध हृदय, पूरण निष्काम श्यामा श्याम गुण गाइगे।
काहू पै न दोष दृष्टि, रोष का कलेश कभूँ, बाल-वृद्ध नारी-नर सबही को भाइगे॥२॥

भक्तमाल मंगलाचरण को प्रथम दोहा मूल, भक्त भक्ति भगवंत गुरु एक ह्वैकै आइगे।
नाम भक्तमाली उर भक्तन की माला धारि, केतिक जंजाली भक्तमाली बनाइगे॥
दीनन पै दया पूज्य गुरुजन प्रति श्रद्धा धारि, पावन चरित प्रेम सरित बहाइगे।
केतिक अन्वहाइ पंकज पातक बहाइ पुनि, निभृत निकुंज नित्य लीला में समाइगे॥३॥

प्रगटे कलिकाल में निर्लेप पद्म पत्र जैसे, कलियुग के दोषन से बचे बाल बाल थे।
ताड़ वाली कुंज ज्ञानगूदड़ी के माँहि बसे, स्वामी हरिदास जू के गूदड़ी के लाल थे॥
दीनन-प्रतिपाल, लाल लाड़ली के लाड़ले जू, वृन्दावन सरवर के विमल मराल थे।
वचन करम मन परम पवित्र सन्त, जगन्नाथ प्रसाद मूर्तिमान भक्तमाल थे॥४॥

परम भागवत पण्डित श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भक्तमाली' जी

भारत की भूमि परम धन्य है, जिस धरती पर समय-समय पर ऐसे महापुरुषों का प्राकट्य होता रहा है, जो अपने उज्ज्वल चरित्रों के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित कर जाते हैं, जिसके श्रवण मनन करने मात्र से जीव का सहज ही में कल्याण हो जाता है। ऐसे महापुरुषों का अवतरण न केवल अपने लिए अपितु समस्त जगत् के हित की कामना से होता है। ऐसे ही विशिष्ट विभूतियों में परम भागवत पुण्य श्लोक पण्डित श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भक्तमाली' जी थे।

श्रीभक्तमाली जी का जन्म विक्रम संवत् १९५५ माघ कृष्णा १२ को मध्य प्रदेश में गुना जिले के एक छोटे से ग्राम 'चाचौड़ा' में हुआ था। इनके पिताजी श्री पण्डित आशाराम गौड़ परम भगवद्- भक्त थे। इनकी माता श्री फूलाबाई अत्यन्त सरल स्वभाव की थीं। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने जन्म स्थान 'चाचौड़ा' में सम्पन्न हुई। मिडिल पास करने के बाद ग्राम में ही अध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित होकर अध्यापन कराने लगे। उस समय मासिक वेतन मात्र ८ रुपये था।

भक्ति के प्रबल संस्कार भक्तमाली जी में बचपन से ही थे। तभी तो बचपन से ध्रुव जी को दर्शन देते हुए गरुड़ जी पर विराजमान श्री नारायण भगवान का पूजन नित्य करते थे। अन्य कार्यों को करने के साथ इनकी भक्ति में भी प्रगाढ़ता आती जा रही थी। माता-पिता ने सुयोग्य कन्या पाकर इनका विवाह कर दिया। कन्या का नाम जमुना बाई था, लेकिन इनके भक्ति भाव में कोई अन्तर नहीं आया।

इनके मौसेरे भाई श्री लक्ष्मीदास जी, जो वृन्दावन निवासी थे, कभी-कभी इनको वृन्दावन की महिमा एवं कृष्ण चरित्र सुनाते रहते थे। एक दिन दर्शन के लिए लक्ष्मीदास जी इन्हें वृन्दावन ले आये। यहाँ दर्शन आदि करने के पश्चात् हृदय में गुरु बनाने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई; क्योंकि "गुरु बिनु भवनिधि तरई कोई। जो विरंचि संकर सम होई॥" अपने हृदय की बात भाई लक्ष्मीदास जी से कही। लक्ष्मीदास जी इन्हें पण्डित बाबा रामकृष्णदास जी के पास ले गये, जिनके साथ बचपन में श्री गोविन्ददेव जी कंचे खेलते थे। पण्डित बाबा बोले—अरे! इस पर तो शंकर जी की कृपा हो गयी। लक्ष्मी, इसे टटिया स्थान के महंत जी से दीक्षा दिलवा दो; क्योंकि पण्डित बाबा जी ने जीवन में कभी एक भी शिष्य नहीं बनाया। लक्ष्मीदास जी ने श्री अमोलकराम शास्त्री जी से बात की। तब अमोलकराम जी को साथ लेकर श्री भगवानदास जी (टटिया स्थान के महंत) के पास पहुँचे और प्रार्थना करके मन्त्र दीक्षा दिलवा दी। उस समय गुरु जी को भेंट के लिए वस्त्रादि की व्यवस्था उन्होंने ही की थी।

दीक्षा से पहले एक घटना घटी। जब दीक्षा के समय गुरु जी बोले—मूँछ मुड़वानी पड़ेगी और सिर के केश निकलवाने पड़ेंगे। भक्तमाली जी बड़े धर्म संकट में पड़ गये। माता-पिता के रहते मूँछें कैसे मुड़वाऊँ? वे क्या कहेंगे? किसी को कुछ बताये बिना आप वृन्दावन से वापस चाचौड़ा चले गये। प्रभु ने लीला ऐसी रची कि चार महीने बाद माता जी का परम धाम हो गया और उनकी अस्थि विसर्जित करने के लिए सोरो गंगा जाना पड़ा। लौटते समय वृन्दावन आकर अमोलक राम जी से सब कही और संग जाकर विधिवत दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के बाद भक्तमाली जी वापस चाचौड़ा चले गये। अब जब भी समय मिलता तो वृन्दावन आकर गुरु जी एवं बिहारी जी का दर्शन कर जाते और अपना नित्य नियम विधिवत् पूरा करते। एक बार वृन्दावन आये और दर्शन के पश्चात् जब वापस जाने लगे तो श्री वृन्दावन धाम को प्रणाम करते हुए बोले—हे! श्रीधाम वृन्दावन अब तो ऐसी कृपा करो कि दास को अपनी शरण में रख लो। ऐसा कहकर भक्तमाली जी चाचौड़ा चले गये।

श्रीधाम वृन्दावन तो कल्पवृक्ष के समान है। यहाँ जो वस्तु माँगोगे निश्चित ही प्राप्त हो जायेगा। यदि भजन की चाहना करोगे तो जीवन पर्यन्त आपसे भजन ही होगा और यदि अन्य किसी वस्तु की इच्छा है तो उसको भी श्रीधाम वृन्दावन पूरा करते हैं। कुछ समय पश्चात् भक्तमाली जी पत्नी के सहित श्रीधाम वृन्दावन में आ गये। टटिया स्थान की वृन्दावन में कई कुंजें हैं, जिनमें एक कुंज ताड़ वाली कुंज है। वहाँ इन्हें रहने को दे दिया, गुरुदेव श्री भगवानदास जी महाराज ने जो उस समय टटिया स्थान के महंत थे।

वृन्दावन का वास करते हुए भक्तमाली जी ने पण्डित राम प्रसाद त्रिवेदी जी से संस्कृत का अध्ययन किया और भागवत जी का भी गहन अध्ययन किया। टोपी कुंज के महंत श्रीमाधवदास जी 'भक्तमालीजी' से भक्तमाल का अध्ययन किया और अब भागवत व भक्तमाल की कथा सुमधुर कण्ठ से भाव में डूबकर करने लगे। कथा कहते-कहते तन्मय और भाव विभोर हो जाते थे। श्रोता भी भाव समुद्र में डुबकियाँ लगाने लगते। कथा के बीच-बीच में भक्तमाली जी प्रसन्न मुद्रा में बार-बार कहते, बोलो वृन्दावन बिहारी लाल की जय! यथार्थ में तो कथा के लक्षण ऐसे ही होने चाहिए।

वक्ता व्यास सो चाहिए, जाके लोभ न काम।
श्रोता सो पहचानिए, जाके तन मन बसे श्याम॥

धीरे-धीरे भक्तमाली जी की कथा का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। दूर-दूर से लोग केवल पण्डित जगन्नाथ प्रसाद भक्तमाली जी की कथा सुनने के लिए आते थे। कथा से रस बरसता ऐसे। अमृत की धारा हो जैसे॥

श्रीभक्तमाल जी को 'भक्तमाली' जी ने अपना इष्ट ग्रन्थ माना। भक्तमाल की कथा वृन्दावन में कहीं न कहीं होती रहती थी। इसीलिए लोग ने इन्हें भक्तमाली नाम से पुकारने लगे। प्रभु कथा को उन्होंने अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया बल्कि अपनी साधना का एक परम आवश्यक अंग समझा। कथा में भेंट पूजा के रूप में जो कुछ प्राप्त होता, उसमें आसक्ति किंचित मात्र भी नहीं होती। वे दूसरों को बाँटने में अति प्रसन्न होते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि कथा की समाप्ति पर भक्तमाली जी खाली हाथ ही लौट आते। एक बार की घटना है—

श्रीभक्तमाली जी कहीं से कथा करके लौट रहे थे। सब सामान साथ में था। घर के लिए उन्होंने एक रिक्शा किया और सामान के सहित रिक्शे में बैठ गये। रिक्शा चल दिया। चलते-चलते रिक्शा चालक बोला—महाराज जी! तीन दिन से भूखा हूँ, कुछ खाने को हो तो दे दो। इतनी बात सुनते ही भक्तमाली जी के आँखों में जल भर आया और दयावश तुरन्त रिक्शे से उतर गये। उस रिक्शे वाले से बोले—जाओ! सब सामान ले जाओ और जाकर प्रसाद पाओ। वो रिक्शे वाला मना करता रह गया और भक्तमाली जी पैदल घर की ओर चल दिये। घर पहुँचे खाली हाथ।

घर खाली हाथ लौटने पर माता जी कुछ क्रोधित होकर भक्तमाली जी को अपशब्द कहतीं तो भक्तमाली जी मुस्कराकर बातों को टाल देते। अधिक दया के कारण घर में सदैव धन का अभाव बना रहता। लेकिन भक्तमाली जी को बिल्कुल कष्ट नहीं होता, न उनका कोई काम रुकता था। उनका योग क्षेम श्री बिहारी जी वहन करते थे।

एक बार श्रीभक्तमाली जी आनन्दमयी माँ आश्रम में विद्वत् सभा करके लौट रहे थे। माघ का महीना था, कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। मानव सेवा संघ के सामने एक विशाल वृक्ष के नीचे एक वृद्ध सन्त सर्दी से ठिठुर रहे थे, भक्तमाली जी की दृष्टि उन पर पड़ी। उनकी यह स्थिति देखकर भक्तमाली जी उनके पास आये और विद्वत् सभा में जो शाल उनको उढ़ायी गयी थी, उस शाल को उतार अपने हाथों से वृद्ध सन्त को उढ़ा दिया और जो दक्षिणा प्राप्त हुई थी उसे भी उनके हाथ में थमाकर आगे चल दिये। ऐसी करुणा की साक्षात् मूर्ति थे।

भक्तमाली जी की भक्ति-भाव के कारण वृन्दावन के सभी सन्त उनसे प्रभावित थे और उनके ऊपर कृपा रखते थे। उन विशिष्ट सन्तों में पण्डित बाबा रामकृष्णदास जी, बाबा हंसदास जी, बाबा अवधदास जी, हरि बाबा जी, उड़िया बाबा, अखण्डानन्द जी, आनन्दमयी माँ, प्रभुदत्त

ब्रह्मचारी जी, बैरागी बाबा आदि थे। सभी सन्त उनका विशेष सम्मान करते थे। भक्तमाली जी भी उनका पूरा सम्मान करते थे।

श्रीभक्तमाली जी महाराज अब कथा करने के लिए बाहर जाने लगे। जहाँ भी भक्तमाली जी की कथा होती श्रोता मंत्र मुग्ध होकर कथामृत का पान करते थे। जो एक बार कथा सुन लेता, वह भक्तमाली जी के चरणों में समर्पित हो जाता। हरि बाबा कहीं भी उत्सव करवाते, उस उत्सव में भक्तमाली जी की उपस्थिति अनिवार्य होती थी। श्री भक्तमाली जी ने नगर-नगर में भागवत एवं भक्तमाल कथा की धूम मचाई। दिल्ली, बम्बई, आगरा, पंजाब, बिहार, प्रयाग, हरिद्वार, अयोध्या आदि अनेकों नगरों में कथा के लिए गये और लोगों के हृदय में भक्ति-भाव जगाकर वापस आये। श्री भक्तमाली जी का दर्शन करते ही सबका हृदय प्रसन्नता से भर जाता था।

एक बार श्री बैरागी बाबा भक्तमाली जी के पास आये और बम्बई चलने की प्रार्थना करने लगे। श्री भक्तमाली जी बोले—बाबा क्यों वृन्दावन छुड़वाते हो? यहाँ से जाने का मन नहीं करता। फिर भी आप कहते हो तो लाला से पूछ लेते हैं, उनकी क्या आज्ञा है? ऐसा कहकर भक्तमाली जी ने दो पर्ची गोपाल जी के सामने रखीं, जिसमें एक पर्ची में 'हाँ' और एक पर्ची में 'नहीं' शब्द लिखा था। आँख बन्द करके भक्तमाली जी ने एक पर्ची उठा ली, पर्ची खोली तो 'हाँ' शब्द लिखा था। भक्तमाली जी बोले—अब लाला की ही इच्छा है तो चलो। इस प्रकार बैरागी बाबा के संग में भक्तमाली जी बम्बई पहुँचे। वहाँ श्री अखण्डानन्द जी कथा कर रहे थे। जैसे ही भक्तमाली जी को वहाँ देखा तो प्रसन्नता की सीमा न रही, यहाँ तक कि अखण्डानन्द जी ने व्यासासन से उतरकर भक्तमाली जी का सम्मान किया और आसन पर विराजमान करके कथा प्रारम्भ की। श्री अखण्डानन्दजी बोले—हमको तो विश्वास नहीं हो रहा है कि भक्तमाली जी वृन्दावन से यहाँ पधारे हैं। भक्तमाली जी यहाँ आ गये तो मानो श्रीधाम वृन्दावन ही यहाँ आ गया। सन्त इतना स्नेह करते थे श्री भक्तमाली जी महाराज से।

श्रीभक्तमाली जी के गृह में एक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम भक्तमाली जी ने वृन्दावनी रखा। प्यार से भक्तमाली जी लाली नाम से पुकारते थे। जिनको आज सभी सन्त 'लाली जी' के नाम से पुकारते हैं और अति सम्मान करते हैं। कन्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। श्रीभक्तमाली जी के यहाँ सन्तों का आना-जाना लगा रहता था। इस कन्या को सभी सन्त गोद में लेकर दुलार करते थे। बचपन से ही कन्या सन्तों के सान्निध्य में खेलती हुई बड़ी हुई। यहीं पर शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। एक दिन घर के ठाकुर गोपाल जी भक्तमाली जी को सपने में बोले—'पण्डित जी! मैया दूध को

भोग भगोनियाँ में लगावै। मोय दूध पीवै में बड़ी परेशानी होय, तुम मैया ते कह दो कि दूध को भोग गिलास में लगावौ करैं।'

श्रीभक्तमाली जी की मैया से खटपट चलती रहती थी। इसलिए लाली से बोले—लाली! अपनी मैया ते कह दे कि लाला कूँ दूध गिलास में डालकर भोग लगावै। लाला कूँ भगोनियाँ में दूध पीवैं में परेशानी होय है। लाली जी ने मैया ते सारी बात कह दई। मैया बोली—ठीक है लगाय दूँगी। दो दिन बाद गोपाल जी फिर भक्तमाली जी के सपने में आये और बोले—'पण्डित जी! अब मोय दूध पीवै में परेशानी नाय होय। अब तो मैया गिलास में दूध को भोग लगावै।' ऐसी कितनी लीलाएँ गोपाल जी भक्तमाली जी के संग करते रहते।

जब लाली जी विवाह योग्य हो गयीं तो मैया ने मथुरा से सम्बन्ध पक्का कर दिया। विवाह के समय स्वयं प्रभु ने भक्तों को प्रेरणा देकर धन संग्रह करवाया; क्योंकि भक्तमाली जी के पास धन का अभाव रहता ही था। एक मैया ने 100 रुपये यह कहकर भक्तमाली जी के पास भेजे कि श्रीकृष्ण ने स्वप्न में आज्ञा दी कि भक्तमाली जी की कन्या के विवाह में कुछ सहायता करो। धन्य है ऐसे ठाकुर जो अपने भक्तों के लिए माँगने में भी संकोच नहीं करते। प्रभु चाहते तो प्रचुर धन दे सकते थे, फिर घर-घर माँगने की क्या आवश्यकता? प्रभु ये बताना चाहते थे कि मैं भक्तमाली जी को कितना चाहता हूँ। इस प्रकार मंगल वेला में विवाह सम्पन्न हुआ और लाली जी मथुरा जाकर रहने लगीं।

समयान्तराल से लाली जी ने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका नाम रखा गया रसिक। लाली जी पिताजी के यहाँ आती-जाती रहती थीं। एक बार लाली जी भक्तमाली जी के यहाँ वृन्दावन आईं। बालक रसिक उस समय छः मास का था। लाली जी रसिक को भक्तमाली जी की गोद में छोड़कर किसी कार्य में लग गयीं। बालक रोने लगा तो भक्तमाली जी बालक को गोद में लेकर कुंज से बाहर आ गये और सामने रामबाग में चले गये, जहाँ रामबाग के निर्माणकर्ता सन्त श्रीसंकर्षणदास जी विराजमान थे, जिन्हें रामबाग वाले महाराज जी के नाम से विशेष जानते थे। वहाँ महाराज जी बैठे थे और आगरा से आये कुछ परिकर भी कथा सत्संग का लाभ ले रहे थे। भक्तमाली जी बोले—महाराज जी! लाली को लाला बहुत रोवै। ऐसा कहकर थोड़ी देर बैठकर भक्तमाली जी चले आये। श्री रामबाग वाले महाराज जी बोले—आगरा परिवार! तुम इन्हें जानो। ये वृन्दावन में वास कर रहे हैं, ये इनका सौभाग्य नहीं है, ये वृन्दावन का सौभाग्य है कि ऐसे सरल सन्त यहाँ वास कर रहे हैं। अन्तिम वाक्य को कहने के लिए सारी भूमिका लिखनी पड़ी। वास्तव में तभी तो कहा गया है—"तीर्थि कुर्वन्ति तीर्थानि।"

मद्भक्ता: यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद:। इस वाक्य को प्रभु ने भक्तमाली जी के जीवन में सत्य किया। एक बार भक्तमाली जी अपने घर में बैठे हुए हारमोनियम बजाते हुए भजन गा रहे थे। भक्तमाली जी का कण्ठ अत्यन्त सुरीला था। भाव में डूबकर भजन गाते समय एक बालक उनके सामने आकर बैठ गया और तन्मय होकर भजन सुनने लगा। अचानक भक्तमाली जी की दृष्टि उस बालक पर पड़ी। बालक को देखकर भक्तमाली जी को लगा कि किसी रासधारी का बालक है, भजन सुनने को चला आया है। भक्तमाली जी ने पूछा—लाला! आप कहाँ रहौ? बालक ने कहा—मैं भतरोड़ मन्दिर में अक्रूर घाट पै रहूँ। भक्तमाली जी ने पूछा—तुम्हारो काह नाम है? बालक ने कहा—मेरौ नाम लड्डू गोपाल है। भक्तमाली जी बोले—लड्डू खाओगे कि पेड़ा? बालक ने हँसकर कहा—मैं तो पेड़ा खाऊँगा। संयोग कि भक्तमाली जी के पास पेड़ा ही थे, लड्डू नहीं थे। भक्तमाली जी ने उठकर पेड़ा लाकर दिये और वह बालक पेड़ा खाता हुआ चल दिया। जाते समय पीछे मुड़कर एक बार देखा और मुस्कराकर चला गया। वो जादू भरी मुस्कान और तिरछी चितवन ने भक्तमाली जी के हृदय को घायल कर दिया। पूरी रात भक्तमाली जी सोये नहीं। यही विचार करते रहे—ऐसा सुन्दर बालक तो कभी देखा नहीं, यही विचार करते रहे—ऐसा सुन्दर बालक तो कभी देखा नहीं और वह नि:संकोच घर के अन्दर आकर बैठ गया, वह कौन था?

दूसरे दिन प्रात:काल भक्तमाली जी पता लगाने के लिए अक्रूर घाट भतरोड़ बिहारी मन्दिर पहुँचे और मन्दिर के पुजारी जी से पूछा—पुजारी जी यहाँ लड्डू गोपाल नाम का कोई बालक रहता है क्या? पुजारी जी बोले—लड्डू गोपाल तो मन्दिर के ठाकुर जी का नाम है और यहाँ पर कोई बालक नहीं रहता। इतना सुनते ही भक्तमाली जी की आँखों से जल की धारा बह चली। आँसू पोंछते हुए पुजारी जी से कहा—कल मेरे पास एक बालक आया था, उसने अपना नाम लड्डू गोपाल बताया और निवास भतरोड मन्दिर। मैंने उसे खाने को पेड़ा दिया और पेड़ा खाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। कहीं ये सारी लीला आपके ठाकुर की तो नहीं थी।

पुजारी जी बोले—भक्तमाली जी! आप धन्य हैं। हमारे ठाकुर ने ही आप पर कृपा की, इसमें संदेह नहीं है। इन्हें पेड़ा बहुत प्रिय है। कई दिन से पेड़ा शेष हो गये थे। मैं बाजार नहीं जा पाया था। इसलिए पेड़ों का भोग नहीं लगा सका था। उसकी पूर्ति आपके पास आकर कर ली। तब भक्तमाली जी ने मन्दिर में जाकर लड्डू गोपाल जी के दर्शन किये और प्रार्थना की—ठाकुर! ऐसे ही कृपा बरसाते रहना। पुन: अपने स्थान पर लौट आये।

एक बार श्रीभक्तमाली जी भागवत सप्ताह के लिए सलेमाबाद पूज्य श्रीजी महाराज के स्थान पर गये। चौथे दिन सप्ताह के क्रम में श्रीजी महाराज ज्वर से पीड़ित हो गये। जैसे भक्तमाली

जी को इस बात का पता चला तुरन्त श्रीजी महाराज के पास पहुँच गये। श्रीजी महाराज लेटे हुए थे, तुरन्त उठकर बैठ गये। भक्तमाली जी ने 'श्री सुदर्शन-कवच' का पाठ किया और श्री धन्वंतरि भगवान के इस मन्त्र का जाप किया–

अच्युतानन्त गोविन्दः नामोच्चारण भेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

कुछ ही देर में श्रीजी महाराज पूर्ण स्वस्थ हो गये और कथा श्रवण हेतु तुरन्त कथा मंच पर पधारे। वास्तव में भक्तमाली जी में अद्‌भुत प्रतिभा चमत्कृति एवं परम साधुता विद्यमान थी। नारद पाञ्चरात्र में वैष्णवों के तीन प्रधान लक्षण बताये गये हैं। श्री भक्तमाली जी में पूर्णरूपेण विद्यमान थे।

वैष्णवानां त्रयं कर्म दयाजीवेषु नारद।
श्रीगोविन्दे पराभक्तिः तदीयानां समर्चनम्॥

एक बार भक्तमाली जी भागवत सप्ताह के लिए निम्ब ग्राम पहुँचे। भ्रमवश वहाँ एक और विद्वान् आयोजकों ने बुला लिया था। अब समस्या खड़ी हो गयी कि किसके द्वारा सप्ताह करायी जाय? श्री भक्तमाली जी की दयालुता देखिये–भक्तमाली जी उदर-वेदना भाव प्रकट करते हुए बोले–मैं कथा कहने में असमर्थ हूँ। अचानक मेरे पेट में दर्द प्रारम्भ हो गया है। आप अब विलम्ब न करें और व्यास जी को व्यासासन पर बैठाकर शीघ्र कथा प्रारम्भ करवायें। ऐसा ही किया गया।

एक बार ग्रीष्म ऋतु में शुक्लपक्षीय रात्रि में गिरिराज परिक्रमा का मंगलमय कार्यक्रम बना। परिक्रमा जाने वालों में श्रीजी महाराज, बरसाने के गोस्वामी किशोरीलाल जी, बाबा माधुरी शरण जी, श्री भक्तमाली जी आदि प्रमुख थे और भी सन्त साथ थे। परिक्रमा प्रारम्भ हुई। बीच-बीच में प्रत्येक सरोवर, कुण्ड एवं पवित्र स्थल पर विश्राम होता और संक्षिप्त प्रवचन श्री भक्तमाली जी उस स्थल की महिमा पर करते। कभी गोस्वामी किशोरीलाल जी अपने मधुर कण्ठ से पदों का गायन करते, कभी मुखिया कल्याणदास जी द्वारा सुन्दर पदों का गायन होता। वास्तव में कितना आनन्द बरसा होगा उस परिक्रमा में। आचार्यों के साथ परिक्रमा करने से हजार गुना अधिक फल प्राप्त होता है, ऐसा महाराज जी कहते थे।

श्रीभक्तमाली जी महाराज करुणा के समुद्र थे। वे चाहते थे प्रत्येक जीव भगवद् धाम का पथिक हो। बैरागी बाबा जब कभी भी वृन्दावन से बाहर जाते थे तो महाराज जी से आज्ञा लेकर जाते थे। एक बार अचानक कहीं जाना पड़ा शीघ्रता में। भक्तमाली जी के पास नहीं आ पाये। वहाँ कई कार्यक्रम लगातार हो गये। इसलिए वृन्दावन आने में काफी समय लग गया। जब वापस आये और दर्शन के लिए भक्तमाली जी के पास पधारे तो भक्तमाली जी उनकी विवशता सुनकर रो पड़े

और बोले—भैया! वृन्दावन के बिना, बिहारी जू के दर्शन के बिना इतने दिन कैसे काटे? जीवों के प्रति कैसी प्रियता थी श्री भक्तमाली जी महाराज में।

एक बार प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी भक्तमाली जी के पास आये और चौरासी कोस परिक्रमा का प्रस्ताव रखा। भक्तमाली जी बोले—जैसी आपकी इच्छा। तिथि निश्चित हो गयी कि अमुक तिथि पर यात्रा प्रारम्भ होगी। परिक्रमा जाने वालों में लगभग 150 यात्री तैयार हुये। जिनमें प्रमुख प्रियाशरण जी, पण्डित नित्यानन्द भट्ट, भक्तमाली जी एवं उनकी पत्नी चार सम्प्रदाय के रामदासजी शास्त्री के पिता एवं उनकी दोनों पुत्री एवं उनकी समस्त भक्त मण्डली आदि थे। यात्रा प्रारम्भ हुई, जगह-जगह पर भक्तमाली जी कथा करते। चार सम्प्रदाय वालों का अखण्ड कीर्तन चलता रहता था। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी बहुत विनोदी स्वभाव के थे। सबको बात-बात पर हँसाते जाते थे।

जिस स्थान पर भगवान कृष्ण की जो लीलाएँ हुईं, उन स्थानों पर वही-वही कथा होती थी। नन्दग्राम की कदमखण्डी पर जहाँ उद्धव-गोपी संवाद हुआ था, वहाँ भ्रमर गीत की कथा हुई। श्रीभक्तमाली जी कथा कहते-कहते भाव में भरकर रोने लगे, जितने श्रोता थे सभी की आँखों से झर-झर आँसू बह रहे थे। विरह का सजीव चित्र उपस्थित हो गया। बहुत देर बाद सब प्रकृतिस्थ हुए और यात्रा आगे बढ़ी। जहाँ पर जिस रस की कथा होती, सब लोग उसी रस में डूब जाते थे। ये है वास्तविक कथा का स्वरूप।

एक स्थान पर माखन चोरी की लीला प्रसंग भक्तमाली जी ने हँसते हुए सुनाया। ब्रह्मचारी जी को कुछ कौतुक सूझा। ब्रज में ऐसा नियम है कि साधु लोग ब्रजवासियों के घर में घुस जाते हैं, उनके दूध को जो बरोसी में गरम होता रहता है, उनसे बिना पूछे बलपूर्वक उठा लाते हैं। ब्रजांगनाएँ उन्हें पकड़ती हैं। यदि साधु बलवान हुआ तो छुड़ाकर भाग जाता है तो दूध उसका हुआ और यदि ब्रजांगनाओं ने दूध छुड़ा लिया तो उसके कपड़े भी छुड़ा लेती हैं।

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी एक ब्रजवासी के घर में घुस गये। द्वार पर उनके पति, भाई आदि बैठे हुक्का पी रहे थे। किसी ने कुछ नहीं कहा। भीतर जाने पर ब्रह्मचारी जी को दूध की बरोसी तो मिली नहीं, मक्खन से भरी हुई कमोरी मिल गयी, ब्रह्मचारी जी उसी को लेकर भागे। तीन हृष्ट-पुष्ट ब्रजांगनाओं ने ब्रह्मचारी जी को पकड़ लिया, एक ने तो ब्रह्मचारी जी की दाढ़ी पकड़ ली, एक ने ब्रह्मचारी जी के बाल पकड़े और तीसरी ने अपनी दोनों भुजाओं से ब्रह्मचारी जी की जेट भर ली। ब्रह्मचारी जी का विशाल शरीर, सिंह की तरह ब्रह्मचारी जी ने कोहनी के बल से जो उनकी छाती पर प्रहार किया, केले के वृक्ष की भाँति तीनों दूर गिर पड़ीं। ब्रह्मचारी जी कमोरी लेकर बाहर भागे। बाहर बैठे उनके पति, पुत्र और उनके भाई बहुत जोरों से हँसते रहे। किसी ने भी कुछ

नहीं कहा। वह घरवाली उठकर मीठी-मीठी गाली देती हुई ब्रह्मचारी जी के पीछे दौड़ी। ब्रह्मचारी जी अपने यात्रा मण्डली के पास पहुँच गये। जितने यात्री थे सब हँस-हँसकर लोटपोट हो रहे थे। उनको गाली देते देखकर कला माता जी बोलीं—वीर! गाली क्यों देती हो? माखन के जो दाम हों, वह ले लें। उसने ब्रह्मचारी जी को गाली देना छोड़कर अब कला माता जी को गाली देने लगीं—आई है सेठानी बड़ी पैसा देवे वारी।

ब्रह्मचारी जी ने सबको थोड़ा-थोड़ा मक्खन बाँट दिया और कमोरी को हाथ में लेकर ब्रजांगनाओं से बोले—अब मैं इसे फोड़ता हूँ। ब्रजवासिनियों को मक्खन से अधिक प्यारी मटुकिया- कमोरी होती है; क्योंकि सेर भर घी पीके चिकनी होती है। अब वह गारी देने के बजाय हाथ जोड़कर विनय के साथ बोली—बाबा! तेरे हाथ जोड़ती हूँ। मटुकिया को मत फोड़ो। श्रीकृष्ण ने मक्खन चुराकर मैया की मथानी फोड़ दी थी। मैया को क्रोध मक्खन चुराने पर नहीं आया था, मैया को क्रोध तो मथानी फोड़ने पर आया था; क्योंकि मथानी उनकी ददिया सास के समय की थी। ब्रह्मचारी जी ने हँसते हुए कमोरी वापस कर दी। वह हँसती हुई चली गई। सभी यात्री इस लीला को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। यात्रा आगे चली। ऐसी अनेक लीला ब्रज की परिक्रमा में हुई। एक महीने में परिक्रमा पूरी हुई।

श्रीभक्तमाली जी महाराज का जीवन कमलवत था। जिस प्रकार कमल पानी में रहते हुए जल से ऊपर रहता है, उसी प्रकार भक्तमाली जी गृहस्थ में रहते हुए परिवार से अनासक्त थे। उनके अनासक्त जीवन का परिचय एक घटना से चरितार्थ हो जायेगा—श्री भक्तमाली जी महाराज बरसाने में कथा कर रहे थे। ललिता जी का प्रसंग चल रहा था। अचानक एक वैष्णव आये और महाराज जी के कान में कुछ शब्द कहे। भक्तमाली जी एक क्षण आँख बन्द करके मौन रहे और बोले—जिसको जाना था वो तो चला गया, अब कथा क्यों बन्द करें? ऐसा कहकर कथा प्रारम्भ कर दी। वो शब्द क्या कहे थे वैष्णव महानुभाव ने? सुनो—उन्होंने कहा—महाराज जी! आपके दामाद जी का अचानक धाम गमन हो गया है। इसलिए माता जी ने अति शीघ्र आपको वृन्दावन बुलाया है। सो आप कथा विश्राम करके वृन्दावन चलिए। तब महाराज जी ने कहा था—कथा क्यों बन्द करें?

शाम को कथा विश्राम के बाद भक्तमाली जी वृन्दावन आये। आते-आते रात्रि के लगभग दस बज गये थे। भक्तमाली जी के आने तक सन्त-वैष्णव शरीर को दाह संस्कार के लिए घाट पर ले जा चुके थे। श्री भक्तमाली जी ज्ञानगूदड़ी की परिक्रमा कर रहे थे, उसी समय श्री अतुल कृष्ण गोस्वामी जी कहीं बाहर से कथा करके लौटे तो देखा भक्तमाली जी रात को परिक्रमा कर

रहे हैं। अतुल कृष्ण जी ने महाराज भक्तमाली जी से कारण पूछा—तो भक्तमाली जी ने सारी बात बता दी। समाचार सुनकर अतुल कृष्ण जी की आँखों में जल भर आया और बोले भक्तमाली जी इतनी निर्लेपता आपके ही जीवन में हो सकती है। ऐसा कहकर अतुल कृष्ण जी भी महाराज जी के साथ परिक्रमा लगाकर घाट पर गये। वहाँ पहुँचे तो दाह संस्कार हो चुका था। भक्तमाली जी वहीं घाट पर बैठकर कथा सुनाने लगे। सबको परम आश्चर्य हो रहा था, भक्तमाली जी के इस स्वरूप को देखकर सब वापस अपने गन्तव्य स्थान पर गये।

इसके पश्चात् भक्तमाली जी की कन्या लाली जी दो पुत्रों के साथ यहीं भक्तमाली जी के पास रहने लगीं। यहीं दोनों पुत्र श्री रसिक शर्मा जी एवं अनूप शर्मा जी हैं, जो अद्यापि ताड़ वाली कुंज में निवास कर रहे हैं। लाली जी को पुनः सन्तों का स्नेह प्राप्त होने लगा।

श्रीभक्तमाली जी महाराज कुंज में भक्तमाल जी का अध्ययन कराते थे। दूर-दूर से सन्त भक्तमाल जी का अध्ययन करने आते थे और भक्तमाली जी की कृपा प्राप्त करके निहाल हो जाते थे। भक्तमाल अध्ययन करने वालों में प्रमुख सन्त नारायणदास जी (मामा जी) बक्सर वाले, फूलड़ोल बिहारीदास जी, गिरधारीदास जी, सुदामादास जी, मथुरादास जी, जगन्नाथदास जी, रामकृपालदास जी, रामसेवकदास जी आदि थे। भक्तमाली जी ने सैकड़ों भक्तमाली तैयार कर दिये।

एक बार भक्तमाली जी अयोध्या धाम पहुँचे। ट्रेन अधिक रात्रि में पहुँची। भक्तमाली जी स्टेशन के बाहर खुले स्थान में सो गये। प्रातःकाल हो गया लेकिन अधिक थकान एवं रात्रि विलम्ब से सोने के कारण निद्रा नहीं खुली। प्रातःकाल किसी आवश्यक कार्य से भक्तमाली जी को कहीं जाना था लेकिन यहाँ तो निद्रा ही नहीं खुली। उसी समय वह बालक जिसने पण्डित भक्तमाली जी के हाथों वृन्दावन में पेड़ा खाया था, वहाँ आया और पैरों के तलवों में गुलगुली करता हुआ बोला—जल्दी उठो! सबेरा हो गया। भक्तमाली जी हड़बड़ा कर उठ बैठे। सामने उसी बालक को देखा। भक्तमाली जी ने विचार किया कि कहीं मैं सपना तो नहीं देख रहा। दुबारा अपनी आँखों को मीड़कर देखा तो वह बालक अदृश्य हो गया था। भगवान अपने भक्तों के साथ ऐसी लीला करते रहते हैं।

एक बार उड़िया बाबा आश्रम में प्रवचन हो रहा था। वहाँ बहुत विद्वान् सन्त पधारे थे। श्रीहरि बाबा, श्रीअखण्डानन्द जी, श्रीआनन्दमयी माँ, अयोध्या के श्री सीतारामशरण (किलाधीश) जी आदि प्रमुख थे। भक्तमाली जी भी वहाँ पधारे थे। प्रवचन के बाद श्रीसीतारामशरण जी कुछ परिकरों के साथ चलने लगे तो भक्तमाली जी ने सहज पूछ लिया—आप कहाँ जा रहे हैं? सीतारामशरण जी बोले—हम सब बाबा किशोरीदास जी के दर्शन करने कालीदह जा रहे हैं। तुरन्त

भक्तमाली जी बोले–हम भी साथ चलेंगे। उड़िया बाबा आश्रम से पैदल ही सब कालीदह पहुँचे। तब बाबा श्रीकिशोरीदास जी ने एक घण्टे तक गौड़ीय भक्ति रस की कथा सुनाई। फिर बाबा बोले–आप भी कुछ सुनाइए? श्रीसीता- रामशरण जी ने भक्तमाली जी से प्रार्थ की कि आप सुनाइए। भक्तमाली जी इतना ही बोले–"या कलियुग में गोस्वामी जी ने श्रीराम नाम की महिमा को असाधारण कह्यो है।" दो–चार मानस की चौपाई सुनायीं और चुप हो गये। उनकी सरलता पर सबको आश्चर्य हुआ।

श्रीसुदामा कुटी का श्रीरामानन्दाचार्य जयन्ती महोत्सव सम्पूर्ण भारत में विख्यात है। नवदिवसीय यह विशाल महोत्सव, जिसमें रामचरित मानस का सामूहिक पाठ, अखण्ड कीर्तन, दैनिक बाहर से पधारे विद्वान सन्तों के प्रवचन, विशाल भण्डारा आदि शामिल है। यह रामानन्द जयन्ती महोत्सव श्री सुदामा दास जी महाराज द्वारा श्री भक्तमाली जी की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ था। प्रारम्भ में सूक्ष्म रूप में होता था, अब विशाल रूप से होता है।

एक बार श्रीभक्तमाली जी यमुना स्नान करके लौट रहे थे तो आकाश में उड़ते हुए श्रीहनुमान जी के दर्शन हुए तो भक्तमाली जी ने प्रणाम किया। श्रीहनुमान जी नीचे उतर आये तो भक्तमाली जी ने पूछा–प्रभु कहाँ जा रहे हैं? हनुमान जी बोले–आचार्य स्वामी श्रीरामानन्द जी की जयन्ती महोत्सव सुदामा कुटी में मनाया जा रहा है, वहीं जा रहा हूँ। क्योंकि व्यवस्था तो मैं ही सँभालता हूँ। ऐसा कहकर श्रीहनुमान जी चले गये। यथार्थ में आचार्य जयन्ती में विशाल कार्यक्रम श्रीहनुमान जी ही सँभालते हैं।

श्रीभक्तमाली जी एक दिन यमुना स्नान करके लौट रहे थे। तभी भक्तमाली जी महाराज ने देखा कि कबीर, सेन जी, घना जी, पीपा जी, अनंतानंद जी आदि द्वादशाचार्य स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी को पालकी पर विराजमान करके कीर्तन करते हुए जा रहे थे। इस शोभायात्रा को श्रीस्वामी श्री रामानन्दाचार्य जी को भक्तमाली जी ने प्रणाम किया। यह शोभायात्रा श्रीसुदामाकुटी में प्रविष्ठ होकर अन्तर्धान हो गई। श्रीभक्तमाली जी ने इस घटित घटना को श्रीसुदामादास जी महाराज से कही और ऐसी शोभायात्रा के द्वारा जयन्ती महोत्सव मनाने की प्रेरणा पूज्य श्री सुदामादास जी महाराज को दी। तभी से ये उत्सव प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है।

श्रीभक्तमाली जी की अन्तिम कथा श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा संस्थापित संकीर्तन भवन में हुई, जो सुदामाकुटी के सामने अवस्थित है। श्रीब्रह्मचारी जी की उत्कट अभिलाषा थी कि श्रीभक्तमाली जी के मुखारविन्द से सम्पूर्ण भक्तमाल सुना जाय, लेकिन ऐसा आज तक संयोग नहीं बन पाया। अबकी बार ब्रह्मचारी जी ने चातुर्मास का नियम वृन्दावन में करने का निश्चय किया

और श्री भक्तमाली जी के पास पहुँचकर संकीर्तन भवन में नित्य भक्तमाल सुनाने की प्रार्थना की। श्रीभक्तमाली जी बोले— आँखों से दीखता नहीं है, शरीर भी दुर्बल हो गया है, बोलने में भी कष्ट होता है। ब्रह्मचारी जी बोले— मैं रोज आपके लिए मोटर भेज दूँगा और छप्पे पढ़ता जाऊँगा, आप जितनी देर सामर्थ्य हो कथा कहना।

भक्तमाली जी बोले—आपकी आज्ञा तो टाल नहीं सकता। जितनी सुना सकूँगा उतनी सुनाऊँगा। इस प्रकार नित्य कथा प्रारम्भ हो गई। लगभग डेढ़ महीने तक अद्‌भुत कथा भक्तमाली जी ने सुनाई। अचानक एक दिन बुखार आ गया और एक फोड़ा निकल आया और आठ-दस दिन बाद ऋषि पञ्चमी के दिन भागवत पाठ श्रवण करते हुए नित्य निकुंज में प्रवेश कर गये। सम्पूर्ण सन्त समाज शोक में डूब गया। अन्तिम समय श्री सीतारामशरण जी अयोध्या वाले भक्तमाली जी के पास में थे।

अगले दिन भक्तमाली जी के विमान को सजाकर शोभायात्रा निकाली गई, जिसमें अयोध्या श्रीमणिरामदास जी की छावनी के यशस्वी महन्त श्री नृत्यगोपाल दास जी, किलाधीश श्री सीतारामशरण जी, श्री बैरागी बाबा, श्री रामेश्वरदास जी रामायणी, बाबा गणेशदास जी भक्तमाली, महंत श्रीसुदामादास जी, रघुवंश भूषणाचार्य जी, श्री नारायणदास जी 'भक्तमाली' आदि सैकड़ों महात्मा थे। हजारों की संख्या में भावुक भक्तों की भीड़ थी। गमन के समय इस अपार जनसमूह से आप अनुमान लगा सकते हैं कि लोगों की उनके प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी। ऐसी महान् विभूति के चरणों में कोटिशः नमन्।

दिनांक 4.9.1984 को भक्तमाली जी की श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गयी। जिसकी अध्यक्षता श्री महंत नृत्यगोपालदास जी महाराज ने की। अपार जनसमूह के साथ-साथ बड़े-बड़े महापुरुषों का दर्शन वहाँ हो रहा था। सब विद्वान् महापुरुषों ने अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि भक्तमाली जी को अर्पित की। प्रमुख विद्वान् सन्तों में श्री अखण्डानन्द जी, श्री सीतारामशरण जी, श्री रामदास शास्त्री जी, बैरागी बाबा जी, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी, श्री नृसिंह बल्लभ गोस्वामी जी, पण्डित श्री श्यामसुन्दर जी, पण्डित श्री नारायणदास जी 'भक्तमाली' आदि उपस्थित थे। श्री बलराम जी मिश्र द्वारा मंगलाचरण किया गया। आज भी ऋषि पंचमी को भक्तमाली जी का तुलसीराम दर्शन स्थल में विशाल तीन दिन का उत्सव प्रत्येक वर्ष मनाया जात है।

दासानुदास—

भक्तमालदास 'भक्तमाली'

श्रीधाम वृन्दावन

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

ISBN 938483605-2
9789384836054

मूल्य : 350/- रुपये

गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

(चतुर्थ खण्ड)

प्रकाशक : श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन

राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम
सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम

❁ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ❁

श्रीरामानन्द पुस्तकालय प्रकाशनमाला का एकादशवां पुष्प-

श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

चतुर्थ-खण्ड

श्रीमत् प्रियादास जी कृत कवित्तमयी

भक्तिरस-बोधिनी

(टीका सहित)

मूल छप्पय १२९ से दोहा २१४ तक – टीका कवित्त ५०८ से ६३४ तक

●

भाष्यकार :

रामायणी श्रीरामेश्वरदास जी (चित्रकूटी)

●

टीकाकार :

श्रीगणेशदासजी 'भक्तमाली' (गोवर्धन)

●

सम्पादक :

जगन्नाथदास शास्त्री

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)

मूल्य ४००/- रुपये

ISBN : 978-93-84836-05-4

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

अष्टम संस्करण : ४००० प्रतियाँ

सर्वाधिकार-प्रकाशकाधीन

●

प्रकाशन तिथि :

देवर्षि श्रीनारद जयन्ती, सम्वत् २०८१

२५ मई, सन् २०२४

●

मूल्य-४००/- रुपये

●

प्राप्ति-स्थान :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन, पिनकोड-२८११२१ (जिला-मथुरा)

मोबाइल : ९८७०७०९९५६, ८७५५५६५५७१

●

खण्डेलवाल ग्रन्थालय

अठखम्बा, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

●

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-२८११२१

प्राक्कथन

***

श्रीभक्तमाल ज्ञान-वैराग्य और नवधा-दशधा भगवद्-भक्ति प्रदायक महान् ग्रन्थ है। इसके पठन-श्रवण से सदाचार की शिक्षा मिलती है। जिसकी मानव-जीवन में सर्वाधिक आवश्यकता है। भक्त-चरित्रों को हृदयङ्गम करते ही प्राणिमात्र में सद्भाव हो जाता है तब वह स्वयं किसी से उद्विग्न नहीं होता है और साथ ही किसी दूसरे को दुःखद नही होता है। जैसे-जैसे महत्पुरुषों के चरित्रों का अनुसरण होगा वैसे-वैसे लोक में सद्भाव का प्रचार-प्रसार होगा। आज विश्व में साम्प्रदायिकता अभिशाप बनी हुई है, उसका मुख्य कारण है, सन्त-चरित्र की उपेक्षा। श्रीभक्तमाल के अध्ययन से प्राप्त साम्प्रदायिकता निश्चय ही विश्व-बन्धुत्वकी जननी है। अतः यह ग्रन्थ श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक पठनीय एवं मननीय है।

भक्त-भक्ति-भगवान और गुरुदेव में श्रद्धा-विश्वास रखने वाले सभी प्राणी इसके अधिकारी हैं। यथा-'भक्ति विसवास जाके ताही को प्रकास कीजै, भीजै रङ्ग हियो लीजै सन्तनि लड़ाइकै।' (टी० क० ६३३) सत्सङ्ग में सन्त-चरित्रों को सुनते-सुनते उनमें श्रद्धा और विश्वास दृढ़ हो जाता है। श्रद्धा-विश्वास विहीन, नास्तिक और कुतर्की श्रीभक्तमाल आदि भक्ति-शास्त्रों के अधिकारी नहीं हैं। वे कदाचित् पढ़ेंगे और सुनेंगे तो सन्तों की और ग्रन्थों की निन्दा करेंगे। इससे महान् भक्तापराध होगा। दोनों लोकों के नष्ट हो जाने की पक्की भूमिका बन जायगी। यथा- 'हरिजन को गुन बरनते जो करै असूया आय। इहाँ उदर बाढ़ै व्यथा औ परलोक नसाय।।' (मू० दो० २०९) भावुक सज्जनों को चाहिए कि सन्त-सद्गुरुदेव की सेवा कर भक्तमालकों पढ़ें, सुनें और समझें। सद्भावपूर्वक शङ्काओं का समाधान प्राप्त करें।

जैसे शूर्पणखा विरुपीकरण एवं बालि-वध आदि श्रीरामायण में, चीर-हरण, रासलीला आदि प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत में रहस्यमय हैं। उसी प्रकार श्रीभक्तमाल में श्रीमीराजी, श्रीकरमैतीजी, रत्नावतीजी एवं श्रीहरिदासजी (छ० १७९) आदि के चरित्र गम्भीर भावमय हैं। सभी के द्वारा अनुकरणीय नहीं हैं। सामान्य दृष्टि से उक्त चरित्रों में लौकिक मर्यादाओं का उल्लंघन दीखता है पर अनन्य प्रेम के रहस्य को समझने से उनमें औचित्य प्रतीत होता है। परमधर्म के आचरण में सामान्य धर्म का छूट जाना सम्भव है। वहाँ लौकिक विधि-निषेधों का कोई स्थान नहीं है। 'विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।' (श्रीहित हरिवंश महाप्रभु) भावों की गम्भीरताका दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'आस्तिक ह्वैकै चित धरौ।' (मू० २०२) अर्थात् अविश्वास और कुतर्कों को त्यागकर श्रवण, मनन व निदिध्यासन करके जीवन को सफल बनायें।

सर्वसमर्थ भक्त-भगवान की प्रेरणा एवं कृपासे श्रीभक्तमाल का यह अन्तिम चतुर्थखण्ड प्रकाशित होकर पाठकों के कर कमलों में सादर समर्पित है। इसमें मूल छन्द ८६ और भक्तिरसबोधिनी टीका के कवित्त १२७ हैं। कुल २१३ छन्दों की भाषा-टीका एवं व्याख्या इस खण्ड में प्रस्तुत की गई है। मूल ८६ छन्दों में से केवल ३३ छन्दों पर श्रीप्रियादासजी की भक्तिरसबोधिनी टीका है। इसकी व्याख्या लिखनें में श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ सहायक हैं। १-श्रीमान् पं० गङ्गादत्तजी व्यास, जयपुर द्वारा प्रदत्त हस्तलिखित भक्तमाल, श्रीबालकरामजी कृत भक्तदामगुण चित्रणी टीका। २-महामहिम भक्तमाली पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी द्वारा प्राप्त पुरानी टिप्पणी भक्तमाल। ३-कल्याण विशेषांक। ४-सर्वेश्वर भक्तमाल। ५- सूक्तिसुधाकर। ६- सन्तवाणी आदि। सन्तोंने कृपा करके जैसा चाहा लिखवा लिया। फलस्वरुप यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हुए प्रार्थना करता हूँ कि अल्पज्ञतावश लेखन-मुद्रण में हुई अशुद्धियों को सुधार कर पढ़ें और अपराध को क्षमा करें।

दासानुदास-गणेशदास-रामेश्वरदास-जगन्नाथदास शास्त्री

* आरती श्रीभक्तमालजी की *

श्रीभक्तमाल की जै, बोलो भक्तमाल की जै ।
श्रवण पठन पाठन करि, सुफल जन्म कीजै ।। बोलो०।।
अग्रदास गुरु आज्ञा, नाभा जब दीन्ही ।
चार युगन भक्तन की, रचि माला कीन्ही ।। बोलो०।।
भक्त भक्ति गुरु भगवत, एक तत्व जानो ।
हरि से भाव अधिक हिय, सन्तन प्रति मानो ।। बोलो०।।
भक्तन की हरि महिमा, निज मुख ते बरनी ।
भक्तमाल जग जीवन, भवसागर तरनी ।। बोलो०।।
यथा भक्त भगवान के, चरित सदा गावैं ।
तथा चरित भक्तन के, गोविन्दहि भावैं ।। बोलो०।।
भक्ति स्वरूप माल दिन, समुझि न नर पावै।
सुनत भक्ति रस बोधिनी, हृदय तुरत आवै ।। बोलो०।।
कामादिक दुख दारिद, यमदूतहु भागैं ।
महा अविद्या निशि महँ, सोवत जन जागैं ।। बोलो०।।
ज्ञान विराग प्रकाशक, मुक्ति भुक्ति दाता ।
भक्तमाल की आरति, 'रासप्रिया' गाता ।। बोलो०।।

रचयिता - महन्त श्रीरासबिहारीदासजी शास्त्री, वृन्दावन

* सन्त भक्त नामावली *

बालमीक नारद घटयोनी नामदेव रैदास कबीर ।
कर्मा नाभा रूप सनातन सदन मलूका अगर सुकील ।।
प्रह्लाद ध्रुव मीराबाई अजामील गज गनिका कील ।
जामवन्त सुग्रीव विभीषण हनुमान अगंद नल नील ।। १।।
केशव माधव सूर गोपिका रत्नाबाई माखन ग्वाल ।
नारायण कवि जीव गुसाईं ज्ञानदेव अरु भट्ट गोपाल ।।
धर्मराज अर्जुन सहदेवा नकुल भीम अरु विदुर सुजान ।
द्रोपदी कुन्ती अंजनि तारा मन्दोदरी अहिल्या आन ।। २।।
नरसी नरहरि गीध जटायू त्रिजटा सवरी तुलसीदास ।
केवल कूवा कालू सेना अम्बरीष पीपा हरिदास ।।
मोरध्वज हरिश्चन्द्र भगीरथ पुण्डरीक बलि भानुप्रताप ।
अज दिलीप रघु मनुसतरूपा कौशिल्या दशरथ करु जाप ।। ३।।
वामदेव कौशिक जावाली गौतम अत्री जनक वशिष्ठ ।
सतानन्द भृगुनाथ सुतीक्षण व्यास अंगिरा कपिल गरिष्ठ ।।
पारासर जयदेव भुसुण्डी जागबलिक मुनि भारद्वाज।
कर्दम कस्यप लोमस ज्ञानी दुर्वासा सरभंग सुराज ।। ४।।
हरिवल्लभ समुदाय सुदामा चन्द्रहास खगपति सुकदेव।
अलरक गूहा राजपरीक्षित रंतिदेव रुक्मांगद लेव ।।
पैहारी गुरुभक्त रंग जू निम्बादित श्रुतिदेव अक्रूर।
श्रीधर विश्नुपुरी तिलोचन कुलशेखर अलगर्ज सुसूर ।। ५।।
संकर वल्लभ यस्सूस्वामी तत्वा जीवा नित्यानन्द ।
नन्ददास रघुनाथ गुसाईं श्रीविलि जैमल निर्द्वन्द ।।
वारमुखी रतवन्ती माई भक्तराज नृप रामसु दास ।
अल्हतिया हरिभक्त महाजन सदाव्रती श्रीकृश्न सुदास ।। ६।।
कमध्वज माथुर देवा पण्डा हरीराम श्रीभट्ट सुजान ।
विल्व सुमंगल त्रिपुर दासजू श्रीधर स्वामी भुवन चौहान ।।
श्रीनारायणभु शिलपिले कुमरि निकिंचन साखि गोपाल ।

कलि विशेष परचौ प्रकट

[लेखक—पुजारी श्रीरामचन्द्रदासजी, जानकी कुण्ड, चित्रकूट]

***

दयासागर श्रीप्रभु ने कलियुग के तुच्छ प्राणियों पर असीम कृपा करके अपने नामों में अपार शक्ति भर दी और येन-केन-प्रकारेण भूले भटके नामोच्चारण करने वाले पर भी वे सर्वदा कृपा की वर्षा करने के लिए तत्पर रहते हैं। (विनय पत्रिका १५२) में श्रीतुलसीदासजी कहते हैं।

गति न लहै रामनाम सों अस विधि सिरजा को। सुमिरत सकल प्रचारिकैं वल्लभ गिरिजाको ।।
अकनि अजामिलकी कथा सानन्द न भा को । नाम लेत कलि कालहू हरि पुरहिं न गा को ।।
राम नाम महिमा करै काम भूरुह आको। साखी वेद पुरान हैं तुलसी तन ताको ।।

जहाँ नामाभास से अनेकों तर गये, उस युग में जिन्होने सच्ची निष्ठा से प्रभुको पुकारा उनके ऊपर भगवान ने बहुत-बहुत कृपा की । यथा—'और युगन तें कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।' (छ० ५५) यही कारण है कि 'कलि विशेष परचौ प्रगट ।' (छ० २०२) श्रीनाभाजी ने भक्तमाल में श्रीनरसी आदि अनेक सन्तों के चरित्रों को लिखकर पूर्वोक्त अपने वाक्य को प्रमाणित किया । कोई कहे कि वह भक्तिकाल था अतः कलिमें भी विशेष परिचय प्रकट हुए। यह ठीक है परन्तु उक्त वाक्यका वास्तविक तात्पर्य यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्य जितना भी कलियुग का समय है, उसमें विशेष परिचय प्रकट हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे। यहाँ सन्तों से सुने गये निम्न चरित्र लिखे जाते हैं—

सन्त श्रीजलारामजी—आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व वीरपुर (गुजरात) में भक्त श्रीजलारामजी निवास करते थे। पवित्र आचरण निष्ठापूर्वक भक्त-भगवत् सेवा आपका दृढ़व्रत था । इससे दूर-दूर तक प्रान्त भर में आपकी ख्याती हो गई थी। सर्वस्व समर्पण पूर्वक सन्त सेवा व्रत पर रीझकर भगवान ने एक वयोवृद्ध अस्वस्थ सन्तका रूप धारण किया और परीक्षा पूर्वक कृपा करने के लिए श्रीजलारामजी के पास आये और बोले—'मुझे संग्रहणी का रोग हो गया है, कोई मेरी सेवा करने वाला नहीं है, यदि तुम अपनी स्त्री को कुछ समय के लिए मेरे साथ भेज दो तो अच्छा है।

'सहर्ष सन्तकी आज्ञा स्वीकार कर श्रीजलारामजीने अपनी स्त्री को सन्त के साथ भेज दिया। सन्त का आसन-वासन सिर पर रखकर उनके पीछे-पीछे स्त्री चली। बहुत दूर जगंल में पहुँचने पर सन्त ने कहा—यहीं जलाशय के निकट बैठ जाओ, मेरा आसन वासन सुरक्षित रखना, मैं शौच (डोल-डाल) जा रहा हूँ।' ऐसा कहकर सन्त गये सो गये, फिर लौटे ही नहीं। बेचारी भक्ता जगंल में बैठी रात भर उनका ध्यान और उनकी प्रतीक्षा करती रही। इधर सन्त भेषधारी श्रीहरि ने श्रीजलारामजी को स्वप्न में दर्शन देकर कहा—'तुम्हारी पत्नी वन में अमुक स्थान पर बैठी है, तुम उसे लिवा लाओ। तुम्हारी सन्त सेवा से सन्तुष्ट होकर मैंने तुम्हारी परीक्षा ली और तुम्हें दर्शन दिया। तुम मुझे परम प्रिय हो।' आँखें खुली, स्वप्न का स्मरण कर भक्तवर भगवत्प्रेम में विभोर हो गये। निर्दिष्ट स्थान पर जाकर उस सौभाग्यशालिनी स्त्री की प्रदक्षिणा करके उसे प्रणाम किया और स्वप्न की बात बताकर बड़े आदर के साथ उसे घर लाये । दोनों ने और दृढ़ता के साथ सन्तों की सेवा का व्रत लिया। सन्त भेषधारी भगवान की अष्टोत्तरी माला, माला झोरी और लकुट इतिहास को प्रमाणित करती हुई वीरपुर मन्दिर में आज भी विराजमान है। असंख्य दर्शनार्थी जाकर दर्शन करते हैं और अपने मनोरथों को सफल कर कृतकृत्य होते हैं।

उसी वीरपुर ग्राम में श्रीजलारामजी के एक समवयस्क मित्र रहते थे। वे इनकी साधुता से परिचित थे। वे कभी-कभी इनकी भक्ति भावनाओं को देखकर मधुर व्यंग करते हुए कहते-'देखना, भक्तजी! वैकुण्ठको अकेले ही मत चले जाना, जब जाना तो हमको भी साथ में ले चलना ।' श्रीजलारामजी मित्र की इस बात को सुनकर मुस्करा देते, मानो स्वीकृति दे रहे हैं। 'कछुक दिवस बीते यहि भाँती।' धराधाम में भक्त का भजन पूरा हो गया । भगवत्पार्षद लेने आये और विमान में बैठाकर ले चले । भक्त को अपने मित्र की याद आई। उस दिन वह वीरपुर ग्राम से उत्तर १०-१२ मील दूर पर गया था। भक्त की इच्छा जानकर पार्षदोंने उसे मित्र से मिला दिया पर उसके ऐसे भाग्य कहाँ थे जो विमान और पार्षद उसे दिखाई पड़ें। उसे बैलगाड़ी दिखाई पड़ी और उज्ज्वल साफा बाँधे देदीप्यमान श्रीजलारामजी दिखाई पड़े। इन्होंने अपने मित्र को बड़े आदर के साथ पुकारा और कहा—'मैं वैकुण्ठ को जा रहा हूँ, आप भी आ जाओ, गाड़ी पर बैठ लो। हँसी नहीं समझना।' मित्र ने हँसकर कहा—'हमें तो अभी वैकुण्ठ जाने की फुरसत नहीं है।'

श्रीजलारामजी ने कहा—'फिर हमें दोष न देना।' इस प्रकार बातें करते एक दूसरे को देखते हुए दोनों अपने अपने रास्ते से चले गये, वह जब वीरपुर गाँव में आया तो देखा यत्र-तत्र हलचल मची है, बहुत से लोग शोकाकुल हैं। पूछने पर मालूम पड़ा कि भक्तवर श्रीजलारामजी सचमुच वैकुण्ठ गये। स्वयं को धिक्कारने और पछताने के अतिरिक्त वह कुछ और नहीं कर सकता था। इस घटना का उसके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका भी कल्याण हो गया।

राघव भरत रिपुदवन लखन अरु, प्रभु पिया सिया महारानी जू को दण्डवत् ।
शेष भगवान संग सकल सखान शिव, दासन प्रधान हनुमान जी को दण्डवत् ॥
रामानन्द स्वामी निज गुरु निसकामी संग, चारों सम्प्रदायन के सन्तन को दण्डवत् ।
लोक परलोक माँझ जागे सोये बैठे सभी, ज्ञानी ध्यानी नागा निरबानी हूँ को दण्डवत् ॥

दासानुदास—रामचन्द्रदास

***

आध्यात्मिक शृंगार

शृंगार भावोपासक श्रीजानकीवरशरणजी के कृपापात्र
श्रीप्रभुदयालशरण द्वारा रचित-
[श्रीचन्द्रकलाशरणजी भक्तमाली, श्रीअयोध्या की कृपा से प्राप्त]

***

काम विजय का पहिरि चोलना हृदय निष्कपट चोली ।
लज्जा से सिर नीचे रखना सो सारी अनमोली ॥
आय पड़े सिर पर सो सहना माँग में सोई सेंदूर ।
सम्प्रदाय अनुसार तिलक माथे पर बेंदी सुन्दर ॥
पर अवगुण से आँख बचाना आँखों में सो काजल ।
भगवत परसादी सेवन की दाँन्तों में मिस्सी मल ॥
सीताराम नाम उच्चारन सोइ पान की लाली ।
लाल लाल अधरन के ऊपर छवि दै रही निराली ॥
गुण सौगन्ध विचार नाक में नथ मोतीयुत धारे ।
गुरुपद रज दोनों हाथों में मेंहदी लाय सँवारे ॥
घूम घूम श्रीअवध गलिन में पैर मँहावर लावै ।
गुरु के वचन श्रवण सो कुण्डल कानों में झलकावै ॥
प्रेम की डोरी अरु युग कण्ठी गल के भूषण साजै ।
भुजबल भगवत के उत्सव में बाजूबन्द विराजै ॥
कड़ेपने का वर्जन करना कड़े की जोड़ अनूठी ।
अँगुरी उठने से बचना सो अँगुरिन माँहि अँगूठी ॥
त्याज्य वस्तु को कभी न छूना सोई अनुपम चूरी ।
दोनों हाथों में भरपूरी नगन जटित अरु रूरी ।
सह उमंग भगवत के आगे लय के साथ थिरकना ॥
इन्तजार की सेज बिछाकर पिय की आसा रखना ॥
है माशूक दिमागदार जो एतनेहु पै नहिं रीझै ।
तौ भी आशिक को चहिए की प्रीतम सों नहिं खीझै ॥
बार बार बलिहार यार की जी चाहै सो करना ।
कहर में हर दोऊ हाथ उसी के कुछ तकरार न करना ॥

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक

[साकेतवासी भक्तमाली श्रीरामशरणदासजी वैद्य के सत्संग से संग्रहीत]

***

श्रीभक्तमाल आशीर्वादीय सिद्ध ग्रन्थ है, इसके रचयिता दिव्यदृष्टि प्राप्त सिद्ध सन्त थे अतः ग्रन्थ में सत्य सिद्धान्त के साथ सत्य-चरित्रों का वर्णन हुआ है । यही कारण है कि नीरस हृदय भी इसके श्रवण मात्र से सरस हो जाता है। यह ग्रन्थ केवल धार्मिक ही नहीं प्रत्युत सामाजिक भी है। क्योंकि बिखरे सुमनों का एक सूत्र में बँधना ही माला का रूप है। इस माला को जपते-जपते, पढ़ते-पढ़ते और सुनते-सुनते जापक, पाठक और श्रोता भी इस माला के सुमन बन जाते हैं। मणियाँ, सुमेरू, फुंदना और सूत्र ये चारों अलग-अलग हैं पर माला में सब एक हो जाते हैं अतः चारों में से किसी एक की दृढ़ता से उपासना करने पर शेष तीनों की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। यही प्राणियों का अभीष्टतम है।

भक्तमाल रचनाकाल में हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों में वैमनस्य था । लोग अपने-अपने इष्ट, ग्रन्थ, आचार्य और अनुयायियों को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरों को तुच्छ मानते थे। इससे हिन्दू धर्म की बहुत हानि हो चुकी थी और हो रही थी। इसी समय गुरुदेव भगवान ने श्रीनाभाजी को एक सर्वसम्मत सत्य-सिद्धान्त दिया कि—'भक्त भक्ति भगवान और गुरुदेव ये चारों तत्वतः एक ही हैं। इन चारों की उपासना में उपासना की पूर्णता है।' उक्त सिद्धान्त से सभी भगवद्-स्वरूपों और अवतारों को समान मान्यता मिली। राम, कृष्ण, नारायण इनमें अभेद मानकर अपने इष्टों में अनन्य भाव रखना। भगवद्-स्वरूपों की एकता उनके भक्तों में एकता उत्पन्न करेगी। ब्रह्मा, शिव, गौरी, गणेश आदि ये सभी भगवद् भक्त हैं अतः समादरणीय हैं। इनको या इनके भक्तों को तिरस्कृत करके भगवद्-भक्ति असम्भव है। भक्तों में भक्ति के दृढ़ होने पर भगवान में भक्ति दृढ़ होती है। भक्त-स्वरूप व्यापक है। प्रथम भेषधारी साम्प्रदायिक भक्तों को फिर प्राणीमात्र को उसके पश्चात् स्थावर जंगम सभी को भक्त मानकर उनमें अपने इष्टदेव के दर्शन करने चाहिए। सर्वत्र, सर्वदा अपने इष्टदेव के दर्शक ही नवयोगीश्वरों के मत से परमश्रेष्ठ भागवत हैं। भक्तमाल का आश्रय उपासक को इसी पद पर पहुँचा देता है। उक्त चारों तत्वों की एकता के साथ उनमें भेद भी है पर वह अश्रद्धाका हेतु नहीं है। भगवान सृष्टि के उत्पन्न, पालन और संहार करने वाले हैं। जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फल देने वाले हैं। श्रीपति और मायापति हैं। इन पदों पर भक्त नहीं जाता है स्वयं ईश्वर बनने वाले इन पदों की यदि इच्छा करते हैं तो वह महान् अपराध है। इस ग्रन्थ का अन्तिम और मुख्य सिद्धान्त यही है कि उक्त चारों एक हैं। भजने के लिए भक्त-भगवान दोनों श्रेष्ठ हैं। भगवान से भी अधिक भक्त भजनीय हैं।

—प्रेषक-राजेन्द्रदास

श्रीवैद्यजी का मन्दिर (अयोध्या)

त्यौं भावै हरिदास जस

[लेखक-स्वामी श्रीशालग्रामाचार्यजी, अध्यक्ष श्रीअग्रदेवाचार्य द्वारापीठ, रैवासा]

***

पराकाष्ठा के प्रेम की पहचान यही है कि प्रेमास्पद से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक शब्द से प्यार हो। प्यार भी ऐसा-जिसमें सदा अतृप्ति बनी रहे। दर्शन, श्रवण आदि से नेत्र, कर्ण आदि अतृप्त ही रहें। प्रेमास्पद के एक-एक शब्द को हजार-हजार बार सुनने के बाद भी उसे पुनःपुनः सुनने की इच्छा होती है। समस्त भक्ति शास्त्रों का मन्थन करके स्वामी श्रीअग्रदेवाचार्यने 'हरि सुजस प्रीति हरिदास कै त्यौं भावै हरिदास जस' (छ० २०१) इस सिद्धान्त से नवनीत को प्रकट किया। उसे ही श्रीनाभाजी ने अपनी भक्तमाल में उद्‌धृत किया। इस छन्द को पढ़ते ही प्रभु के प्रेमिल स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है, उससे भावुक के मनमें भव्य-भक्तिभाव भर जाता है। भक्त सुयशको भगवान सुनते और गातें हैं। बिना इसके अनेक कथाओंको कह-सुनकर वे तृप्त नहीं होते हैं। वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ३५ में भगवान श्रीराम ने सविनय हाथ-जोड़कर श्रीअगस्त्यजी से पूछा—

मुनिवर! बालि और रावण का बल अवश्य अतुलित था किन्तु मेरे विचार से हनुमानजी के साथ इनके बल की तुलना नहीं की जा सकती। वीरता, चतुरता, बुद्धिमत्ता, नीति, पराक्रम और प्रभाव आदि सभी घर बनाकर हनुमानजी में बसते हैं। अगाध सागर को देखकर सभी वानर घबरा गये। तब उन्हें धैर्य बँधाकर एक ही छलाँग में चार सौ कोस समुद्र पार कर गये। लंकिनी को परास्त कर रावण के रनिवास में गये। सीताजी को धैर्य बँधाया। अशोक वनके साथ ही रावणके सेनापति, मन्त्रिपुत्र, पुत्र और अनेक वीर राक्षसों को इन्होंने अकेले ही मार डाला। स्वेच्छा से ब्रह्मपाशमें बँधकर फिर उससे मुक्त हो गये। रावणके प्रश्नोंका मुंह तोड़ उत्तर देकर लंका को जला डाला। भगवन्! मैंने तो इन्हींके बल से रावणको जीता और विभीषण को राज्य दिया। फिर अयोध्या का राज्य तथा सीताजी, लक्ष्मणजी मित्र और बन्धुजनोंको प्राप्त किया। सुग्रीवके मित्र और मन्त्री श्रीहनुमानजी यदि मुझे न मिलते तो जानकीजी का पता लगाने की शक्ति किसमें थी। जिस समय बालि और सुग्रीवका विरोध था, उस समय सुग्रीवका प्रिय करने के लिए बालि को क्यों नहीं मारा? कृपया विस्तार पूर्वक सुनाइये।

प्रश्न में ही अपने प्यारे भक्त के चरित्रको श्रीरामजी ने प्रथम कहा, पश्चात् श्रीअगस्त्यजी से सम्पूर्ण चरित्रको सप्रेम सुना और आनन्द प्राप्त किया। यथा—श्रुत्वागस्त्यस्य कथितं रामः सौमित्रिरेव च। विस्मयं परमं जग्मुर्वानरा राक्षसैः सह।। (उ० ३६-५०) पुनः कहा-आज मुझ पर देवता, पितर और पितामह विशेष रूपसे प्रसन्न हैं। आपके दर्शन और प्रवचनसे हम सभी को परम सन्तोष है। इसके बाद फिर कोई प्रश्न नहीं किया गया। इससे सिद्ध हुआ कि भक्त-चरित्र को सुनकर तृप्ति हुई। श्रीहनुमानजीको इसी प्रकार राम-चरित्रमें विलक्षण प्रेम है। जो भी कोई भगवत्कथा सप्रेम सुनेगा उसकी कथा भगवान भी अवश्य सुनेंगे।

—शालग्रामाचार्य

सूची-पत्र

भक्तजन	पृष्ठ
गो० श्रीतुलसीदासजी	१
श्रीमानदासजी	७०
श्रीगिरिधरजी	७३
गो० श्रीगोकुलनाथजी	७५
श्रीबनवारीदासजी	८२
श्रीनारायण मिश्रजी	९१
श्रीराघवदासजी	१००
श्रीहरिदासबावनजी	१०५
श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी	१०९
श्रीगदाधर भुजी	११८
श्रीचारण भक्तजी	१४७
श्रीचौमुखजी	१५२
श्रीचण्डजी	१५२
श्रीईश्वरदासजी	१५३
श्रीकरमानन्दजी	१५७
श्रीकोल्हजी	१६०
श्रीअल्हजी	१६८
श्रीनारायणदासजी	१७४
श्रीपृथ्वीराजजी	१७६
श्रीसींवाजी	१९६
श्रीरत्नावतीजी	२००
श्रीजगन्नाथ पारीषजी	२५३
श्रीमथुरादासजी	२५९
श्रीनारायणदासजी नृतक	२७२
भूरिदा भक्तजन	२७९
श्रीबोहितजी	२८१
श्रीहरिनाभ मिश्रजी	२८२
श्रीबच्छपालजी	२८२
श्री छीत स्वामीजी	२८३
श्रीबिहारीदासजी (श्रीविहारिनदेवजी)	२८८
संसार से निवृत्त भक्त	२९३
श्रीउद्धवजी	२९५
श्रीजयतारन विदुरजी	२९६
श्रीचतुरोनगनजी	२९८
भक्तसेवी मधुकरिया	३०८
श्रीगोमानन्दजी	३०९
श्रीपरमानन्दजी	३१०
श्रीभगवानजी	३११
श्रीश्यामजी	३११
श्रीकूबाजी	३१२
पण्डा गूनौरे (देवादासजी)	३३२
श्रीअग्रदेवजीके शिष्य	३३४
श्रीजंगीजी	३३६
श्रीविनोदीजी	३३७
श्रीटीलाजी का वंश	३३८
श्रीटीलाजी	३४१
श्रीलाहाजी	३४१
श्रीपरमानन्ददासजी	३४२
श्रीत्यौलाजी	३४२
श्रीकान्हरजी	३४३
श्रीनीवाजी	३४८
श्रीतूंवर भगवानजी	३५१
श्रीजसवन्तसिंहजी	३५९
श्रीहरिदासजी	३६१
श्रीगोपालजी	३७१
श्रीविष्णुदासजी	३७१
श्रीकील्हजी के शिष्य	३७७
श्रीनाथ भुजी	३८१
श्रीकरमैतीजी	३८६
श्रीखड्गसेनजी	४११
श्रीगङ्गग्वालजी	४१८
श्रीसोतीजी	४२३
श्रीलालदासजी	४२६
श्रीमाधवग्वालजी	४३०
श्रीप्रयागदासजी	४३४
श्रीप्रेमनिधिजी	४३५
श्रीराघवदासजी दुबलो	४४७
चौकस चौकी	४५०
श्रीहरिनारायणजी	४५१
श्रीऊधौजी	४५१
श्रीतुलसीदासजी	४५२
अबला भक्त	४५२
श्रीलालीजी	४५२
श्रीदमाबाईजी	४५३
श्रीनीराजी	४५४
श्रीखीचनिजी	४५५
श्रीकेशीबाईजी	४५५
श्रीबाँदररानीजी	४५६
श्रीगंगा-जमुनाजी	४५७
श्रीकान्हरदासजी	४५९
श्रीकेशवजी लटेरा	४६२
श्रीपरशुरामजी	४६२
श्रीकेवलरामजी	४६६
श्रीआसकरनजी	४७२
श्रीहरिवंशजी	४७९
श्रीकल्याणजी	४८५
श्रीबीठलदासजी	४८८
भारी भगत	४९२
श्रीसदानन्दजी	४९३
श्रीनारायणदासजी	४९४
श्रीशङ्करजी	४९४
श्रीलाखाजी	४९५
श्रीहरिदासजी	४९६
श्रीगोविन्ददासजी	५०७
श्रीकृष्णदासजी	५१२
परमधर्म पोषक संन्यासी	५१५
परमधर्म	५१६

भक्तजन	पृष्ठ	भक्तजन	पृष्ठ	भक्तजन	पृष्ठ
श्रीदामोदर तीर्थ	५१८	श्रीसन्तदासजी	५७१	श्रीतीर्थराम जोशी	६३०
श्रीनृसिंहारण्यजी	५१८	श्रीमाधवदासजी	५७१	श्रीभगवन्तमुदितजी	६३२
श्रीरामभद्रजी	५१९	श्रीकन्हरदासजी	५७३	श्रीलालमतीजी	६४१
श्रीजगदानन्दजी	५२०	श्रीगोविन्ददास भक्तमाली	५७८	श्रीजमुनाजी	६४५
श्रीमधुसूदन सरस्वती	५२०	श्रीजगतसिंहजी	५८३	गिरि गोवर्धन	६४९
श्रीप्रबोधानन्दजी	५२२	श्रीगिरिधरग्वालजी	५९१	भक्त परत्व	६५५
श्रीद्वारकादासजी	५३१	श्रीगोपाली बाई	५९६	सन्त-महिमा	६६५
अष्टाङ्ग योग	५३२	श्रीरामदासजी	६००	सन्त उत्कर्ष	६६७
श्रीपूर्णजी	५३५	श्री बच्छवन	६०१	काव्य गुण दोष	६८३
श्रीलक्ष्मणभुजी	५३८	श्रीरामरायजी	६०५	उपसंहार	६८५
श्रीकृष्णदास पयहारी	५४०	श्रीभगवानदासजी	६१५	समाप्त	७००
श्रीगदाधरदासजी	५४६	श्रीगरीबदासजी	६१७	श्रीरामशरणदासजी भक्तमाली का	
श्रीनारायणदासजी	५५५	श्रीविष्णुदासजी	६१८	परिचय	७०१
श्रीभगवानदासजी	५६१	श्रीयुगलदासजी	६१९	श्रीवनमालिदास जी शास्त्रीका	
श्रीकल्याणजी	५६७	श्रीराधिकानाथजी	६२०	परिचय	७०२
धन से क्या मिल सकता है		श्रीलाखादासजी	६२६	श्लोक-सूची	७०४
क्या नहीं	५७०	श्रीहरिदासजी पटेल	६२९	पद/कवित्त सूची	७०८

दृष्टान्त सूची

दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ	दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ
एक बुढ़िया	चतुरता	१७	ऊँट की ग्रीवा	गुण ग्राहकता	११६
एक ब्राह्मण	दुर्भाग्य	१८	प्रियादास और सेठ	धामवास	१२८
श्रीदेवमुरारी	सन्त प्रभाव	६१	केशव कवि	काव्य प्रभाव	१३२
श्रीमलूकजी	भगवदाश्रय	६१	एक गीदड़ का	लोभ	१३३
एक ओझा	वाक्चातुरी	८५	अहमद खिजरबिया	साधुता	१४१
बादशाह और सन्त	वाक्चातुरी	८५	सौ सियाने एक निसाने	मतैक्य	१५१
बीरबल केशवदास	वाक्चातुरी	८६	एक सिद्ध-साधक	गुरु आज्ञा	१६३
पण्ड़ित और बादशाह	वाक्चातुरी	८७	भोगी-योगी	सकामता	१७१
गुनी और पण्डित	चातुरी	८९	दो पण्डित	सन्त भाषा प्रमाण	१७८
राजा और वैष्णव	भागवत् अध्ययन	९३	दो वैष्णव	प्रेमी का स्वभाव	२११
दो कथा वाचक	अनधिकारी व्यास	९४	प्रियादास गोविन्ददास	प्रेम में न नेम	२३१
समर्थजी का सेवक	गुरु भक्ति	१०३	रोजन गाँव का ब्राह्मण	वैराग्य कठिन	२३७
पुण्डरीक विद्यानिधि	गोप्य प्रेम	११४	महा पण्डित कैयट	मुनिवृत्ति	२५७

दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ	दृष्टान्त	विषय	पृष्ठ
द्रोण और द्रुपद	शील सदाचार	२६१	खरिया खुरपा वाला	सर्वस्व-त्याग	४८३
मुगल और सौदागर	विश्वास	२६३	श्रीमाधवसिंहजी	शरणागति	४९७
अम्बादास कल्याण	गुरु वचन रति	२६५	श्रीछत्रसाल	वंश गौरव	४९८
समर्थ और दिलेलखान	साधु-पथ अगम	२७४	राजा और कलाकार	झूठी रीझ	५००
कान्हा फकीर	नारी संग	३००	श्रीकृष्ण	अतिथि-सेवा	५४२
जुगलदास	सिद्धई त्याज्य	३०२	मुद्गल मुनि	अतिथि-सेवा	५४२
शिव और विष्णु भक्त	सन्त-सेवा	३१५	कुत्ता अतिथि	अतिथि-सेवा	५४५
युधिष्ठिरजी	साधु-सेवा	३४६	मनकोजी बोधला	अतिथि-सेवा	५४५
सौन्ध्या पटेल	सन्त-निष्ठा	३४६	मिथ्या ब्रह्मज्ञानी	सर्व ब्रह्म	५५९
नारद और ब्राह्मण	दान की महिमा	३५४	राजा अमानसिंह	उदारता	५६८
तुलाधार	स्वधर्म निष्ठा	३६३	श्रीवशिष्ठजी	क्षमा-शीलता	५७५
एक वणिक	धर्म भीरुता	३६६	भोज के राजकवि	दान की अव्यर्थता	५७७
एक किसान	प्रेमी बावले	३८०	काने भक्त	निष्पक्ष कथा	५८१
एक वैश्य	वैराग्य बिना त्याग नहीं	३९५	श्रीरहीमजी	विश्वास	५८२
बादशाह	श्यामता में प्रकाश	३९६	बिल्ली	कालग्रास	५९५
श्रीविदुरजी	भूषण-त्याग	३९९	मंकि मुनि	तृष्णा-वैराग्य	६०८
श्रीगोपालजी	आत्म-भाव	४००	श्रीएकनाथजी	अक्षोभ	६३८
श्रीवनवारीदासजी	बे-परवाही	४०७	ऊँट और महापुरुष	सद्भाव ग्रहण	६७०
एक राजा	सत्य की महिमा	४१९	दो बालक	विश्वास	६७०
टिटहरी	दृढ़ विचार	४७६	प्रेत और यादवप्रकाश	विद्या न देना	६९५
निष्किञ्चन दम्पत्ति	निष्किञ्चनता	४८१	हंस और कौवा	कुसंग	६९९
एक भक्त	निष्किञ्चनता	४८१		■	

❖❖❖

भक्त जीवन में चमत्कार हो सकते हैं। परन्तु चमत्कार या अलौकिक घटनाओं में पवित्र भक्त जीवन की पूर्णता नहीं है। चमत्कारों के बल पर भक्त कहलाना या कहना तो यथार्थतः सच्ची भक्ति का तिरस्कार करना है। भगवत्कृपा के बल पर भक्त के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, पर इसमें विशेष महत्व नहीं है। फिर आजकल तो चमत्कार दिखाने वाले लोग अधिकांश धोखा देने वाले ही पाये जाते हैं। भक्त में तो उसके परमाराध्य अचिन्त्यानन्त विचित्र दिव्यगुणगण अलंकृत भगवान के सदृश दैवीगुणों का विकास प्रकाश होना चाहिए। भक्त की यही सच्ची कसौटी है। भक्त-जीवन का सर्वथा शुद्ध, लोक-परलोक-कल्याणकारी, स्वाभाविक वैराग्यमय, ज्ञानमय और प्रेममय जीवन में परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय, स्पृहणीय और अभिनन्दनीय चमत्कार है।

(भक्तचरिताङ्क से)

ज्ञातव्य एवं मन्तव्य

***

भगवद्-भक्तों के चरित्र सदा ही मंगल एवं सात्विक स्फुर्तिदायक हैं। सप्रेम पठन-श्रवण से सर्वदा नवीन प्रतीत होते हैं। मन, बुद्धि और वाणी को विश्राम देने वाले हैं। इसीलिए चिन्तन, मनन एवं सेवन करने के योग्य हैं। आदर्श जीवन, विशुद्ध व्यवहार, मन-इन्द्रियों का निग्रह, निष्काम-सेवाभाव, तप, त्याग, संसारी विषयों से वैराग्य और भगवद्-भक्ति आदि के सच्चे स्वरूप की प्राप्ति उपदेशों में उस प्रकार से नहीं मिलती है, जैसी कि भक्त-चरित्रों में प्रत्यक्षरूप से मिलती है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने भक्त चरित्रों को गाया और लिखा। उसकी महिमा बतलाई–'बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।' (क० ८) भक्तों के भाव असंख्य विभिन्न एवं विचित्र होते हैं। वे अपने इष्टदेव के साथ अपने भाव के अनुसार सम्बन्ध स्थापित कर लाड़-लड़ाते हैं। भक्तवाञ्छा कल्पतरु, भक्तवत्सल भगवान उसी भाव को स्वीकार कर उसी के अनुकूल लीला-विहार करके अपने भक्तों को सुखी करते हैं और भक्त के प्रेमरस परिपूर्ण भाव का आस्वादन कर स्वयं सुखी होते हैं। श्रीभक्तमाल एवं उसकी व्याख्या में ऐसे अनेकों भक्तों के अद्भुत अनुपम चरित्रों का साक्षात्कार होगा। भक्ति के सभी रसों का आस्वादन होगा और एकाग्र मनसे श्रद्धा-विश्वास पूर्वक पढ़ने-सुनने से भगवद्-भक्ति भी प्राप्त होगी।

गोस्वामी श्रीनाभाजी की इस भक्तमाल के बाद अनेक कवि-लेखकों ने भक्त-चरित्र लिखा है और अब तक लिख रहे हैं। 'भक्तदाम संग्रह करै कथन श्रवण अनुमोद। सो प्रभु प्यारो भक्त ज्यौं बैठे हरि की गोद।।' (मू० दो० ऐसा लिखकर श्रीनाभादासजी ने भक्त-चरित्र लिखने की प्रेरणा दी है। अतः भक्त-चरित्रों के वर्तमान लेखक भी प्रशंसा और बधाई के पात्र हैं। परन्तु लिखते समय श्रीनाभाजी के शुद्ध, निष्पक्ष दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कसौटी पर कसे हुए चरित्रों को ही लिखना चाहिए। सुनने में आया है कि कुछ लेखकों ने धनी-मानियों से धन मान प्राप्तकर उनका छप्पय लिखकर भक्तमाल में उन्हें गूंथ दिया। यह प्रवृत्ति निश्चित ही निन्दनीय है । इससे श्रीनाभाजी सरीखे दिव्यदृष्टा लेखकों की महिमा को भी आघात पहुँचता है। अतः लेखक सावधान रहें। अपनी हँसी न करायें। प्राचीन आदर्श का पालन कर विश्व का मंगल करें। तभी उनका अपना मंगल होगा।

प्रार्थी-भगीरथराम-ब्रह्मचारी (अयोध्या)

श्रीभक्तमाल-महिमा

(लेखक—श्रीगर्वीलीशरणजी भक्तमाली, श्रीवृन्दावन)

***

सत्संग के अभाव में सामान्य लोगों के मन में प्रायः यह बात बैठ जाती है कि भगवान का दर्शन या उनकी भक्ति प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। जिन भक्तों ने भगवान को प्राप्त किया वे साधारण लोग न थे। उनमें महान् त्याग, वैराग्य एवं पूर्वजन्म के संस्कार थे। हममें नहीं हैं अतः भगवान हमको मिलेंगें, अवश्य मिलेंगें, ऐसी आशा और उत्कण्ठा प्रायः लोगों के मन में नहीं होती। इसीसे भजन-साधन में अच्छी तरह से मन नहीं लगता। सन्त-महापुरुषों में आरम्भ से ही लगन, उत्साह, तप, त्याग आदि विशिष्ट रूप से होते हैं, यह बात तो पूर्ण सत्य है परन्तु वैसे अनेक सद्गुण यदि नहीं हैं, तो उसे भगवान नहीं मिल सकते, भक्ति नहीं मिल सकती है, ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान तो अधम, नीच से नीच, पापी से पापी को भी अपना लेते हैं। यदि ऐसा न करें तो उनका पतितपावन यह नाम-सुयश मिथ्या हो जायेगा। आवश्यकता है सत्संग की, उनकी शरण लेने की, उनकी दया पर पूर्ण-विश्वास करने की। इसकी भी यदि कमी है तो भक्तों के चरित्रों को कहिये और सुनिये। उससे संसार में कीर्ति, मंगल की प्राप्ति होगी, तीनों ताप नष्ट होंगे। अचल होकर हृदय में श्यामा-श्याम विराजेंगे। यथा—

जग कीरति मंगल उदै तीनों ताप नसायँ ।
हरिजन को गुण बरनते हरि हृदि अटल बसायँ ।

(मू० दोहा २०८)

श्रीभक्तमाल में भक्तों की कृपा से मनुष्य ही नहीं हाथी, सिंह सरीखे तामस-हिंसक जन्तु भी कृतार्थ हुए। डाकू-चोर आदि कुकर्मियों का किसी भी प्रकार से भक्त सम्पर्क में आने मात्र से कल्याण ही हुआ अतः हम चाहे जैसी भी स्थिति में हो, चाहे जैसे हों, अपना सम्बन्ध भक्तों से बनायें रक्खें। किसी न किसी दिन, किसी न किसी भक्त के, किसी न किसी चरित्र में अनुराग हो ही जायगा। ऐसा होते ही उनके भक्ति-भजन में हिस्सा मिल जायगा। यह निश्चित है।

अच्युत कुल जस बेर यक जाकी मति अनुरागि।
उनकी भक्ति भजन को निहचैं होय विभागि।।

(मू० दोहा २१२)

इसलिए श्रीभक्तमाल को नित्य पढ़े, कहें और सुनें ।

—गर्वीलीशरण

श्रीभक्तमाल-माहात्म्यम्

***

श्रीकृष्णं प्रापयन्ती सकलजनमनो दोहदं दापयन्ती,
पापाद्रिं दारयन्ती गुरुभवजलधेरञ्जसा तारयन्ती।
कामादीन्नाशयन्ती निखिलरिपुगणान् वासनां शासयन्ती,
भक्तानां नामगङ्गावतु मम रसनाभूमिभागे पतन्ती॥१॥

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्,
समस्तांस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम्।
अये भक्ता यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपां,
ममाक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः॥२॥

श्रीभक्तनाम स्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे,
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसन्निधाने।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्व सौख्यं,
सम्प्राप्स्यते सुखतया हरिसन्निधिस्तैः॥३॥

(महाकवि श्रीवनमालिदास शास्त्रिणः)

भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त कराती हुई, सभी भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करती हुई मानसिक, वाचिक और कायिक पाप पर्वतों को विदीर्ण करती हुई, भयंकर भवसागर से अनायास ही तारती हुई, कामादिक विकारों का नाश करती हुई, शत्रुसमूह एवं वासनाओं को शासित करती हुई, मेरी जिह्वारूपी भू-भाग पर गिरती हुई यह भक्तों के नामों की गंगा सभी की रक्षा करे॥१॥ जो भी हरिभक्त पहले हुए, अब हैं और आगे होंगे उन सभी को नमस्कार करके मैं लघुमति यह प्रार्थना करता हूँ कि—'हे भगवद्-भक्तो आप लोग मुझ भक्तिहीन दास पर ऐसी कृपा करें, जिससे श्रीबलरामजी के सहित मेरे प्रिय सखा श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें॥२॥ इस श्रीभक्तनाम माला को जो मनुष्य अपने कण्ठ में धारण करेंगे, कण्ठस्थ करके भगवान को सुनावेंगे। वे भगवान की कृपा से इस पृथ्वी के सभी सुखों को भोगकर सुखपूर्वक भगवत् सन्निधि को प्राप्त करेंगे॥३॥

***

श्रीअयोध्या में भव्य श्रीराम मन्दिर में विराजमान
श्रीश्रीराम लला

श्रीकुटिया विहारी भगवान्

श्रीकौशलकिशोर जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीगुरुदेव

श्रीश्री १०८ श्रीअग्रदास जी महाराज

श्रीभक्तमालकार

श्रीश्री १०८ श्रीनाभा जी महाराज

श्री वैष्णव कुलभूषण गौ सन्तसेवी

श्रीश्री १०८ श्रीसुदामादास जी महाराज

सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल गूढ़ार्थ प्रकाशक

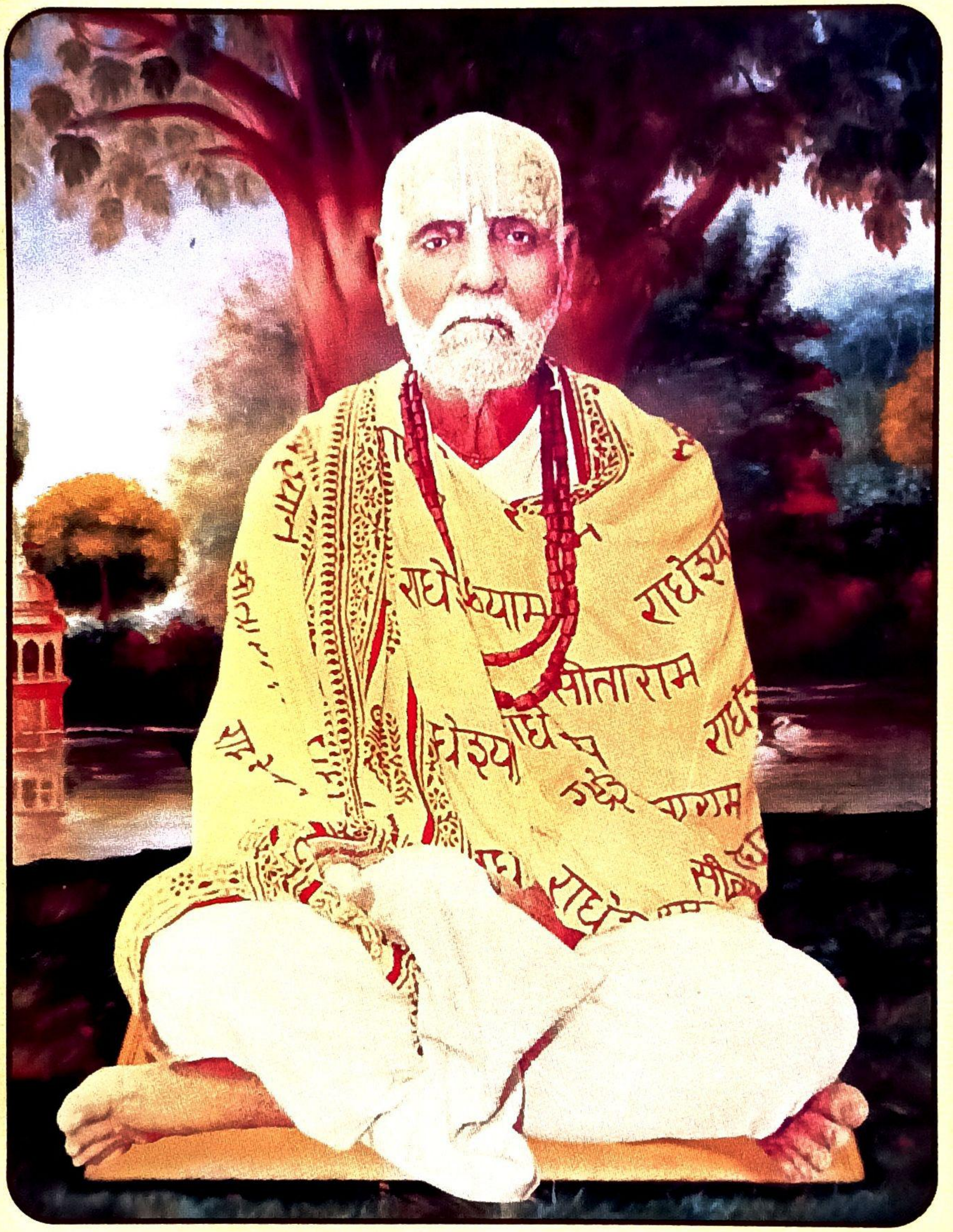

भक्तमाली श्रीजगन्नाथदास जी महाराज

ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल के भाष्यकार

श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी
(चित्रकूटी)
श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

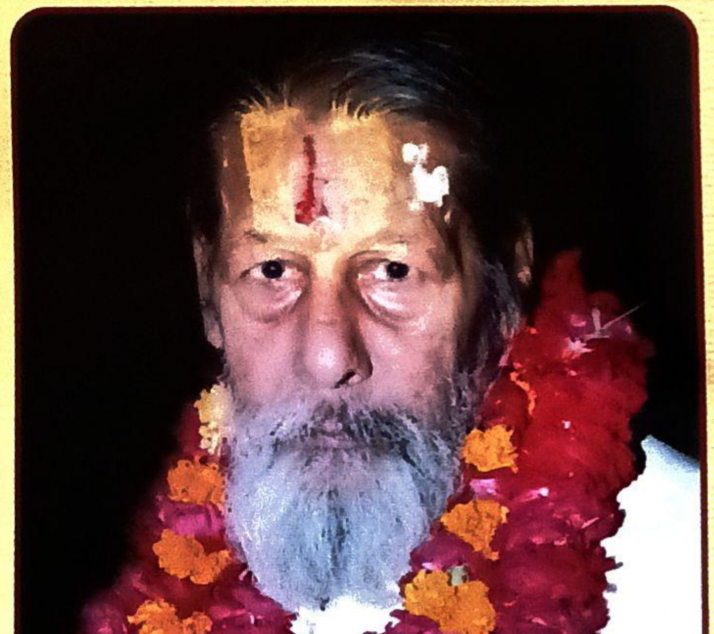

श्रीभक्तमाल टीकाकार

भक्तमाली
श्रीगणेशदास जी महाराज
श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

।। श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।।

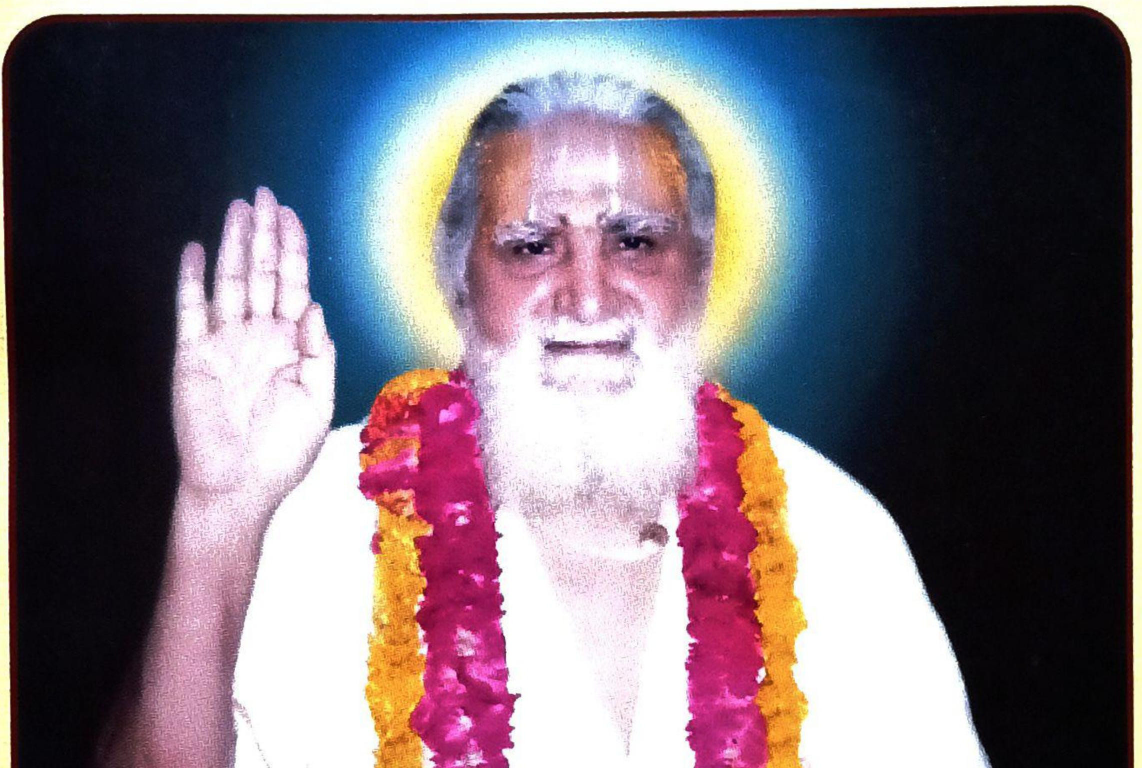

अनन्त श्री विभूषित – परम त्यागमूर्ति

श्री महन्त श्री भगवान दास जी महाराज

श्री नाभापीठ, सुदामा कुटी, वृन्दावन

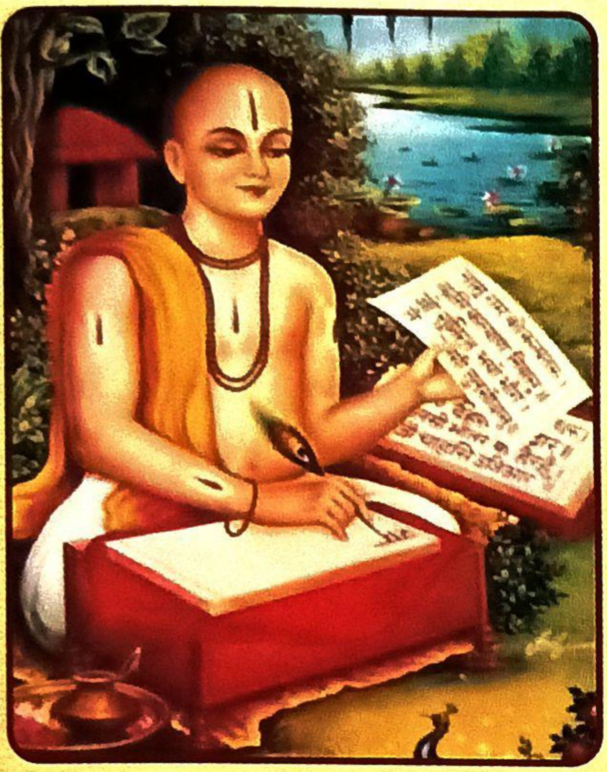

(भक्त) श्रीतुलसीदासजी

भक्ति

(भगवन्त) श्रीरामजी

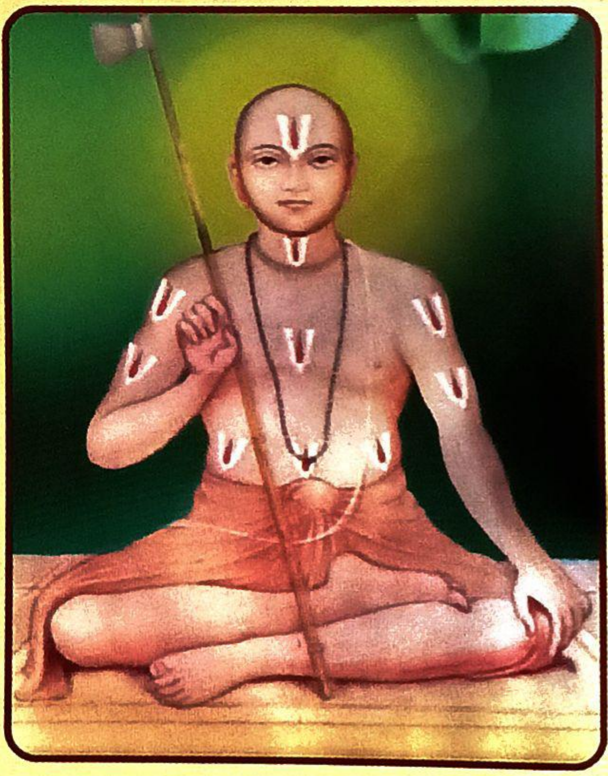

(गुरु) श्रीरामानन्दाचार्यजी

भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक॥

* श्रीराम *

।। श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ।।

* श्रीभक्तमाल *

[चतुर्थखण्ड]

* भक्तमाल सुमेरु गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी *

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयौ ।।
त्रेता काव्य निबन्ध कियौ शतकोटि रामायन।
इक अक्षर उद्धरै ब्रह्म हत्यादि परायन ।।
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी ।।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयौ।। १२९।।

पाठान्तर—रटत अहनिसि।

शब्दार्थ—कलि कुटिल जीव=कलियुग के छली-कपटी प्राणी। निस्तार=उद्धार। काव्य=कविता, रसयुक्त वाक्य। निबन्ध=ग्रन्थ, लेख। शतकोटि=सौ करोड़। उद्धरै=उद्धार करै। परायन=तत्पर, प्रवृत। अहनिसि=दिन-रात। व्रतधारी=दृढ़तापूर्वक नियमों का पालन करने वाले। सुगम नौका=जहाज।

भावार्थ—कराल कलिकाल के कपटी प्राणियों का उद्धार करने के लिए आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के रूप में अवतार लिया। आदिकवि ने त्रेतायुग में श्रीरामायण नामक प्रबन्ध महाकाव्य लिखा। जिसकी संख्या सौ करोड़ श्लोक है। इसके एक-एक अक्षर के उच्चारण मात्रसे ब्रह्महत्या आदि महापाप परायण प्राणी भी मुक्त हो जाते हैं। अब इस कलियुग में भी उन्हीं श्रीवाल्मीकिजी ने भगवद् भक्तों को सुख प्रदान करने के लिए पुनः शरीर धारणकर भगवान श्रीरामकी लीलाओं का विशेष विस्तार किया, श्रीरामचरितमानस आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। ये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीसीताराम पादपद्म के प्रेम पराग को पानकर सर्वदा उन्मत्त रहते थे और नियम निष्ठाओं का पालन

दृढ़ता से करते थे। दिन-रात श्रीराम-नाम को रटते थे। इस अपार संसार सागर को पार करने के लिए आपने रामचरित रूप सुन्दर-सुगम नौका का निर्माण किया।।

व्याख्या—कलि कुटिल जीव-यथा-सो कलिकाल कठिन उरगारी । पाप परायन सब नर नारी।। विशेष देखिये रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड दोहा ९७ से १०२ तक। 'वाल्मीकि तुलसी भयौ' यथा—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः, कलौ देवि ! भविष्यति।
रामचन्द्रकथां साध्वीं, भाषा रूपां करिष्यति।। (भ० पु०)

अर्थ—हे देवि! कलियुग में श्रीवाल्मीकिजी ही तुलसीदास होंगे और वे भाषा में श्री रामचरित वर्णन करेंगे। 'शतकोटि रामायन'—श्रीवाल्मीकिजी ने सौ करोड़ श्लोकों में श्रीरामचरित को गाया है। उसीका नाम शतकोटि रामायण है। इसमें नौ लाख काण्ड और नब्बे लाख सर्ग हैं। (आनन्द रामायण) 'इक अक्षर उद्धरै' यथा—

चरितं रघुनाथस्य, शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां, महापातकनाशनम्।। (वा०रा०)

अर्थ—महर्षि वाल्मीकिजी ने सौ करोड़ श्लोकों में श्रीरघुनाथजी का चरित्र विस्तार से गाया है। उसका एक-एक अक्षर महापापों को नष्ट करने वाला है। 'राम चरन रस मत्त' यथा—

धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सौं बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाके रुचै सो कहौ कछु ओऊ।
मांगिकै खैबौ मजीत में सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।। (क०)

'रहत अहनिसि'—

न मिटै भव संकट दुर्घट है, तप तीरथ जन्म अनेक अटौ।
कलिमें न विराग न ज्ञान कहूँ, सब लागत फोकट झूठ जटौ।।
नट ज्यौं जनि पेट कुपेंटक कोटिक, चेटक कौतुक ठाट ठटौ।
तुलसी जो सदा सुख चाहिय तौ, रसना निसि वासर राम रटौ।। (क०)

संसार अपारके.........नौका लयौ—भगवान का नाम और रूप, लीला और धाम प्राणियों को भवसागर से पार करने के लिए दृढ़ नाव अर्थात् जहाज के समान हैं। यथा—'नाम'-राम जपु राम जपु राम जपु बावरे। घोर भवनीर निधि नाम निज नाव रे।। (वि०) 'रूप'-यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।। (मानस मगंलाचरण बा० कां०) भव जलधि पोत चरणारविन्द। जानकीरमन आनन्दकन्द।। (विनय०) लीला-भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कह दृढ़ नावा।। धाम-चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा।। पुनः-बन्दउँ तुलसी के चरन जिन कीन्हों जग काज। कलि समुद्र बूड़त लख्यौ प्रगट्यौ सप्त जहाज।।

अवतार हेतु—श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्दकन्द कोसलचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्रजी के चारु-चरित्र-चित्रण के चतुर शिल्पी श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी के अवतार हैं। लोकस्रष्टा, जगत्पितामह, वेद प्रकाशक श्रीब्रह्माजी के आदेश एवं आशीर्वाद से अनुप्राणित होकर श्रीवाल्मीकि जी ने सौ करोड़ श्लोकों में भगवान श्रीरामजी का यश गाया। जिसे शतकोटि रामायण कहते हैं तथा जो त्रैलोक्य में समादृत हुआ। उन्हीं दिनों बुद्धिमतां वरिष्ठं, ज्ञानिनामग्रगण्यं, रघुपतिप्रियभक्तं श्रीहनुमान जी ने भी नाटक-शैली से श्रीरामजी का सुयश वर्णन किया। जो 'हनुमन्नाटक' के नाम से विख्यात हुआ। श्रीहनुमान जी ने अपनी रचना अपने वज्रतुल्य नखों से सुन्दर शिलाओं पर उट्टङ्कित की थी।

एकबार किसी अवसर विशेष पर श्रीवाल्मीकि जी ने जब इस दिव्य रचना को देखा तो भाव-विभोर होकर नृत्य करने लगे। श्रीहनुमानजी इनकी इस प्रेम-विह्वलता को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और वर देने को उद्यत हो गये। इधर श्रीवाल्मीकिजी को श्रीहनुमन्नाटक देखकर प्रथम तो बड़ा ही अनुराग उमड़ा, परन्तु दूसरे ही क्षण मनमें यह विचार कौंध गया कि यदि इस ग्रन्थ का जगत् में प्रचार हुआ तो मेरी कीर्ति मन्द पड़ जायेगी अतः जब श्रीहनुमानजी ने वर मांगने को कहा तो इन्होंने यह वर मांगा कि आप अपनी इस पुस्तक को समुद्र में डाल दें। इसका जगत् में प्रचार न हो। वचनबद्ध होने के कारण विवश श्रीहनुमानजी ने मुनि को यह वर तो दे दिया परन्तु साथ ही शाप भी दे दिया कि आपने कलियुगी जीवों का-सा व्यवहार किया है अतः आपको कलियुग में जन्म लेना पड़ेगा और आपके ही द्वारा मैं ऐसी रचना कराऊँगा जो अद्वितीय होगी, अनुपम होगी। श्रीवाल्मीकिजी ने शाप के भी अभ्यन्तर श्रीहरिगुणगानरूप वरदान को विचारकर शाप को सहर्ष शिरोधार्यकर लिया। मुनि की इस सहनशीलता को देखकर श्रीहनुमानजी बड़े प्रभावित हुए और प्रसन्न

होकर बोले-अच्छा, जब आप कलियुग में जन्म लेंगे तो हम सदा आपकी रक्षा करेंगे। कलिका प्रभाव आपको नहीं व्यापेगा। इसी शाप के कारण आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी तुलसीदासजी के रूप में अवतरित हुए।

ऐसा भी वर्णन आता है कि श्रीवाल्मीकिजी का भगवान श्रीरामजी में वात्सल्य भाव था। अतः अपने शतकोटि रामायण में भी इन्होंने श्रीरामजी में ऐश्वर्य वर्णन को गौण करके, प्राधान्येन माधुर्यही वर्णन किया है। इनका यह दृढ़भाव साकेतलोक प्राप्त करने पर भी बना रहा। वहाँ भी यह श्रीप्रभु के साथ माधुर्यभावानुसार ही व्यवहार करते। श्रीलक्ष्मणजी को मुनि की यह बात अच्छी नहीं लगती। दो-एकबार कहा भी कि आपने लीलाकाल में माधुर्य को प्रधान रखा तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु यह तो ऐश्वर्य देश है यहाँ तो ऐश्वर्य ही प्रधान रखना चाहिए। परन्तु मुनिजी ने श्रीलक्ष्मणजी के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया, तब श्रीलक्ष्मणजी ने इन्हें पुनः जन्म लेकर ऐश्वर्य प्रधान माधुर्य-चरित वर्णन करने का शाप दिया। मुनि ने इस शाप को कोटि-कोटि वरदानों से भी बढ़कर माना। अतः वाल्मीकि तुलसी भये। यही कारण है कि श्रीरामचरितमानस में पदे-पदे भगवान श्रीरामजी का ऐश्वर्य देखने में आता है।

रामबोला का जन्म—श्रीतीर्थराज प्रयाग से लगभग पन्द्रह कोस पश्चिम श्रीयमुना तट पर स्थित बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम को श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। श्रीकलिन्दनन्दिनी के कल-कल निनाद से निनादित, प्रयाग से चित्रकूट के मार्ग में स्थित होने से भगवान श्रीसीताराम लक्ष्मण तथा श्रीभरतजी के साथ आये हुए सम्पूर्ण अवधवासियों एवं श्रीजनकजी के साथ समागत समस्त मिथिलापुरवासियों और अनादिकाल से लेकर आज तक के विचरणशील असंख्य सन्त-महात्माओं की परम-पावन पद-धूलि से समलङ्कृत इस पुण्य स्थल राजापुर ग्राम में वैसे तो सभी जाति के लोग निवास करते थे परन्तु ब्राह्मणवृन्द विशेष थे। इन्हीं ब्राह्मणों में एक स्वनामधन्य पाराशर गोत्रीय, सरयूपारीण ब्राह्मण श्रीआत्माराम दुबेजी थे। इनकी पत्नी का नाम हुलसी देवी था। पण्डित आत्मारामजी बड़े ही सुधी, सुकृती एवं सर्वगुण सम्पन्न थे। गाँव के मुखिया एवं राजगुरु भी थे। सुन्दर सुखमय जीवन था। सुयोग्य पुत्र की कामना से ब्राह्मण दम्पति ने बड़ी श्रद्धापूर्वक श्रीतीर्थराज प्रयाग एवं चित्रकूट में निवास करके विविध व्रतानुष्ठान किये। जिसके फलस्वरूप, भगवान की कृपा से आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी ही माता हुलसी की कोख से प्रकट होने के लिए ललचा उठे। बारह महीने तक गर्भ में निवास करने के पश्चात् सम्वत् १५५४, श्रावण मास, शुक्लपक्ष, सप्तमी तिथि, शनिवार

को सन्ध्या के समय अभिजित नक्षत्र में हमारे चरितनायक श्रीतुलसीदासजी का प्रादुर्भाव हुआ जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा अति प्रसिद्ध है–

पन्द्रह सै चौवन विषै कालिन्दी के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर।। (मू०गो०च०)

पण्डित आत्मारामजी के यहाँ बड़े उल्लास के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। सम्पूर्ण ग्राम के नर-नारी राजगुरु को बधाई देने आये। इधर ये सबका समुचित स्वागत-सत्कार करने में अत्यन्त व्यस्त हो रहे थे। आनन्द की चहल-पहल मची हुई थी। इसी बीच घर में से एक दासी निकली और श्रीआत्मारामजी के समीप आकर कहने लगी-महाराज! आपकी घर में बुलाहट हो रही है। आपके यहां अद्भुत बालक ने जन्म लिया है। प्रथम तो वह जन्म के समय किंचित् भी रोया नहीं, दूसरे गर्भ से बाहर निकलते ही 'राम' नाम का उच्चारण किया, तीसरे मुख में बत्तीसों दांत अभी से जमे हैं, चौथे वह नवजात शिशु अभी ही पांच साल के बालक सरीखा लग रहा है, पांचवे महरी (नालोच्छेदन करने वाली) कहती थी कि जब मैं नालोच्छेदन कर रही थी तो उस समय शंख-ध्वनि सुनाई पड़ी थी जिसे सुनकर प्रसूतिगृह में एकत्रित सभी स्त्रियां डर के मारे भाग गईं। सबकी सब कह रही थी कि पण्डितजी के घर में किसी राक्षस ने जन्म लिया है। सचमुच पण्डितजी! मैं भी बूढ़ी हो गई, हजारों जच्चे-बच्चे देखे परन्तु ऐसा बालक आज तक मैंने कभी नहीं देखा। लोग लुगाइयों की जितने मुख उतनी बातें सुनकर देवी हुलसी दुःखी हो रही है। आप घर में चलकर उन्हें धैर्य बंधावे। पण्डित आत्माराम तत्काल ही भीतर गये तो दासी ने जैसा कहा था वह सत्य पाया। उनका मुख म्लान हो गया। आँखें सजल हो गईं मन में विचार करने लगे कि लगता है कि यह मेरे किसी पूर्व-कृत पाप का परिणाम है जो ऐसा बालक जन्मा है। इस प्रकार चिन्ता करते हुए आत्मारामजी बाहर आये। पुत्र जन्म सुनकर इनके सभी बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, पण्डित-विद्वान् आए हुए थे, इन्होंने जब उन लोगों से नवजात शिशु के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया तो सब लोगों ने यही कहा कि ऐसे विलक्षण जन्मा प्राणी प्रायः जीवित नहीं रहते हैं अतः आप भी कम से कम तीन दिन तक देखें, यदि बालक जीवित रहता है, तब तो उसके सभी लौकिक वैदिक संस्कार किये जायें। अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं है।

बाल्यकाल-पार्वतीजी की कृपा–इधर ऐसा हुआ कि तीन दिन बीतने पर दशमी की आधी रात को माता हुलसी की स्थिति चिन्ताजनक हो गई, उन्होंने अपनी प्रिय दासी चुनियां

को समीप बुलाकर कहा-सखी! अब तो मेरे प्राण-पखेरू उड़ना चाहते हैं। अतः तुम मेरे शिशु को लेकर अभी ही अपनी ससुराल हरिपुर चली जाओ और उसका अच्छी प्रकार से लालन-पालन करना, भगवान् तुम्हारा मंगल करेंगे। नहीं तो सखी! निश्चय समझो, मेरे मरने पर ये पठित मूर्ख इस बालक को जीवित ही जमुना में बहा देंगे। अभी अन्धेरा है, लोग गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं, जब तक लोग जगें, तब तक तुम यहां से निकल जाओ। यह कहकर माता हुलसी ने अपना हृदय-धन नवजात शिशु दासी की गोद में दे दिया और उसके पालन-पोषण के लिए अपने आभूषण भी दासी को दे दिये। वह चुपचाप बालक को लेकर चली गईं माँ को पुत्र-वियोग व्याप गया, उन्होंने हाथ जोड़कर रमेश, महेश और विधाता से विनती की कि आप लोग निधि की रक्षा करना और एकादशी को ब्रह्म मुहूर्त में तन-त्याग कर वह भगवद्धाम को चली गईं।

चुनियां ने पाँच घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते अपनी ससुराल पहुँचकर अपनी सास मुनियां के चरणों में प्रणाम किया और यहाँ का समस्त वृतान्त कह सुनाया। सास ने उसके सद्भाव का समर्थन किया। बालक का बड़े लाड़-प्यार के साथ लालन-पालन होने लगा। परन्तु दैव दुर्विपाकवश जब बालक पाँच बरस पाँच महीने का हुआ तो चुनियां भी सर्प द्वारा डसे जाने से सुरलोक को सिधार गईं दूसरा कोई वैसी सार-संभाल करने वाला था नहीं अतः बालक अनाथ हो गया। गाँव के लोगों ने एक नाई के द्वारा पंड़ित आत्मारामजी को संदेश भेजा, परन्तु माया-मुग्ध उस ब्राह्मण ने एकदम कोरा जवाब दिया कि हम ऐसे बालक को लेकर क्या करेंगे जो अपने पालन-पोषण करने वाले का ही नाश कर देता है। अतः वह जीवे अथवा मरे मुझे इसका कोई सोच नही है। नाई निराश होकर लौट आया।

आत्मारामजी के इस कथन से गाँव के लोग भी डर गये, कोई भी उस अनाथ बालक को द्वार पर खड़ा नहीं होने देता था सबने उसपर से दया दृष्टि हटाली, लोग उसकी परछाईं से डरने लगे। दाने-दाने के लिये द्वार पर भटकते बालक को देखकर छाती फटने लगती थी, परन्तु हाय रे दुर्भाग्य ! दया को भी निर्दय बना दिया। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी इस दीन-दशा का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन अपने ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ किया है। यथा–

'बारेते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
'जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।' (क०)
'द्वार द्वार दीनता कहीं काढ़ि रद परि पाहुँ।' (वि०)

कदाचित् किसी ने लाभ-हानि का विचार छोड़कर दया परवश हो बालक के हाथ पर चार चने रख दिये तो वह उन चार चनों को चार फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) समझता था। जगत से ठुकराये जाने पर बालक ने जगदीश का सहारा लिया। परिणाम यह हुआ कि जगज्जननी श्रीपार्वतीजी वृद्धा ब्राह्मणी का रूप धारण कर आतीं और अपनी गोद में बिठाकर रोज भोजन पवा जातीं। यह क्रम दो साल तक लगातार चलता रहा। अब उस अनाथ बालक का घर-घर घूमना बन्द हो गया। गाँव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे पड़ा रहता अथवा कही टूटी-फूटी जगह में एकान्त देखकर रह जाता। निरन्तर भगवत्स्मरण और भूख लगने पर बूढ़ी माँ की प्रतीक्षा-बस यही दो काम थे उसके। कुछ दिन बाद गाँव वालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि बालक को कौन खिला-पिला जाता है?-बहुत पता लगाने पर भी वे यह न जान सके। एक गुप्तचरी ने पता लगाने का बीड़ा उठाया। एक दिन जब श्रीपार्वतीजी इन्हें भोजन कराकर जाने लगीं तो उसने उनके पैर पकड़ लिये और परिचय के लिये हठ करने लगी। परन्तु श्रीपार्वतीजी बिना कुछ बताये अन्तर्धान हो गईं अब उसी दिन से उनका आना बन्द हो गया। बालक पुनः अनाथ सा हो गया। इधर श्रीपार्वतीजी भी उदास हो गईं तब जगत् पिता भगवान शंकरजी ने श्रीपार्वतीजी के सोच को दूर करने तथा बालक की रक्षा के लिये लोक सुलभ उपाय कर दिया।

गुरुदेव की कृपा—उन दिनों श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी के कृपापात्र श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी के शिष्य श्रीनरहर्यानन्दजी (नरहरिदासजी) श्रीचित्रकूट में कुटी बनाकर भजन करते थे। श्रीशिवजी ने उनको साक्षात् दर्शन दिया, भगवत्तत्व का उपदेश दिया और श्रीरामचरितमानस की कथा सुनाई तथा आज्ञा दी कि हरिपुर में एक अनाथ ब्राह्मण का बालक है। उसे लेकर आप श्रीअयोध्या जाइये और विधिपूर्वक श्रीराम मन्त्र की दीक्षा देकर मेरे द्वारा कही हुई श्रीरामकथा उसे सुनाइये। आगे चलकर वह बालक सुन्दर छन्द-प्रबन्ध में श्रीरामसुयश का वर्णन करके लोक का कल्याण करेगा। भगवान् शिवजी के गंभीर वचनों को सुनकर श्रीनरहरिदासजी पुलकायमान हो गये और उनके आदेश को शिरोधार्य कर तुरन्त ही हरिपुर के लिये चल दिये। वहाँ पहुँचकर बालक का पता लगाये। आज अनाथ ब्राह्मण कुमार सन्त-सद्गुरु की गोद पाकर सनाथ हो गया। श्रीनरहरिदासजी ने बालक को हृदय से लगाकर बहुत-बहुत प्यार किया। पीठ थपथपाई, सिर सूंघा, मुख चूमा और भगवत्प्रसाद पाने को दिया। दुःख-दैन्य से दलित उस बालक को ऐसा लगा-मानो साक्षात् श्रीहरि नररूप धारण

कर मेरा मंगल करने के लिये आये हैं। अपने इस भाव को श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में अभिव्यक्त भी किया है। यथा—

बन्दउँ गुरुपदकंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।'

जन्म के समय चूंकि ये रामनाम का उच्चारण किये थे। अतः श्रीनरहरिदास ने रामबोला कहकर सम्बोधित किया। ये गुरुदेव की छाती से चिपटकर रोने लगे। उन्होंने कोमल वाणी से धैर्य बँधाया और गाँव के लोगों की अनुमति लेकर बालक को संग लेकर श्रीअयोध्या के लिये प्रस्थान किया।

शिक्षा-दीक्षा—श्रीअवध पहुँचकर वि० सम्वत् १५६१, माघ, शुक्लपक्ष, पंचमी तिथि शुक्रवार को प्रातः श्रीसरयूतट पर बालक रामबोला का कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा यज्ञोपवीत संस्कार किया गया और गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी गईं मंत्र सुनाकर जब पुरोहित ने पुनः इनसे मन्त्र पूछा तो इन्होंने एकदम शुद्ध मन्त्रोच्चारण किया, ब्राह्मण विस्मय में पड़ गये इनकी अद्‌भुत प्रतिभा को देखकर। सात साल के बालक ने बिना अभ्यास कराये केवल एक दो बार श्रवण करके ही चौबीस अक्षर के गायत्री मंत्र को कण्ठस्थ कर लिया-यह देखकर श्रीनरहरिदासजी भी 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' का अनुमान कर बड़े प्रसन्न हुये और उसी मंगलमुहूर्त में विधिपूर्वक वैष्णव पंच संस्कार करके श्रीराम मंत्र की दीक्षा दे दी और अपने इस नवीन शिष्य का नाम रखा 'तुलसीदास'।

श्रीअयोध्या में श्रीहनुमानटीला के पास निवास करते हुए तुलसीदासजी को पाणिनीय व्याकरण का अभ्यास कराने लगे। शिष्य की अलौकिक धारणा शक्ति, जगत से विरक्ति, और भक्त भक्ति, भगवन्त, गुरु में अनुरक्ति देखकर श्रीनरहरिदासजी मन ही मन बड़े मुदित होते और नित्य प्रति भूरि-भूरि आशीर्वाद देते। एक दिन श्रीगुरुदेवजी की चरण-सेवा करते समय तुलसीदासजी ने जब अपनी जन्म से लेकर अब तक की समस्त करुण कहानी कह सुनाई, तो दयालु हृदय गुरुदेव की आँखें भर आयीं। श्रीगुरुजी को द्रवित देखकर तुलसीदास भी हिचकियां बांधकर रोने लगे। उस समय की गुरु-शिष्य की भाव दशा का वर्णन करते नहीं बनता। बहुत देर बाद धैर्य धारणकर श्रीनरहरिदासजी ने तुलसीदास को श्रीशिव-पार्वती के अहैतुक अनुग्रह का प्रसंग सुनाकर धीरज बँधाया। उसी दिन से इनकी उमा-महेश्वर के प्रति अपार श्रद्धा हो गई।

दस महीने तक श्रीअवध में रहने के पश्चात् जब श्रीसरयू-घाघरा-संगम पर स्थित सूकर क्षेत्र में पौष के महीने में कल्पवास का पुण्यपर्व लगा, तो श्रीनरहरिदासजी अपने शिष्य तुलसीदास

को संग लेकर वहाँ पहुँचे। साधु की मौज। मन रम गया तो सूकर क्षेत्र में ही पांच वर्ष रह गये। जब इन्होंने देखा कि शिष्य को व्याकरण का अच्छा बोध हो गया है, बुद्धि शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों को समझने योग्य हो गई है, तब श्रीशिवजी के आदेश का स्मरण-कर तुलसीदास को श्रीरामचरितमानस की कथा सुनाने लगे। गम्भीर विषयों को पुनः पुनः सुनाते और कोई भी प्रसंग तब तक सुनाते-समझाते रहते जब तक कि इनको सम्यक् प्रकार से बोध न हो जाता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में इस प्रसंग का संकेत किया है। यथा—

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेऊँ अचेत।।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।। (रा०च०मा०)

काशी आगमन और अध्ययन—इसी बीच काशी में कोई पुण्यपर्व लगा। अतः श्रीनरहरिदासजी ने सशिष्य सूकरखेत से काशी को प्रस्थान किया। मार्ग में अनेकों जगह विश्राम करते हुये, लोगों को अपने दर्शन-स्पर्श-समागम से कृतार्थ करते हुए विचरते-विहरते काशी पहुँचे और पंचगंगा घाटपर, जहाँ कि परमाचार्यवर्य श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी विराजमान थे वहीं आसन जमाया। वहीं पर वेद-शास्त्र पुराण पारंगत, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, परमसिद्ध पण्डित श्रीशेष सनातनजी विराजते थे। समय-समय पर श्रीशेष सनातनजी और श्रीनरहरिदासजी का सत्संग हुआ करता था। जब वे दोनों दिव्य विभूतियां भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-आत्मा-परमात्मा विषयक चर्चा करतीं तो तुलसीदासजी बड़े एकाग्र मन से उनकी बातें सुनते। इनकी तन्मयता देखकर एक दिन श्रीशेषसनातनजी ने पूछा—क्यों बालक भगवान्! हम लोगों की बातें कुछ समझ में आती हैं? तो ये आजतक जितना कुछ सुने थे, सब अक्षरशः दुहरा गये। बालक की विलक्षण बुद्धि से श्रीशेषसनातनजी चमत्कृत हो उठे। उन्हें अपने विशाल ज्ञान-वैभव को संभालने के लिये सुयोग्य उत्तराधिकारी की तलाश थी, आज वह मिल गया, यह मानकर बड़ी प्रसन्नता हुई अतः उन्होंने श्रीनरहरिदासजी से तुलसीदासजी की मेधा की सराहना करते हुए उन्हें अध्ययनार्थ अपने पास रखने का अनुरोध किया। श्रीनरहरिदासजी तो चाहते ही थे और इसके लिये स्वयं प्रार्थना भी करने वाले थे। परन्तु जब देखे कि आचार्य स्वतः अनुग्रह पूर्वक शिष्य को पढ़ाने का आग्रह कर रहे हैं तो वे बड़े ही मुदित मन से तुलसीदासजी को बुलाकर परमपुनीत गंगा तट पर श्रीशेषसनातनजी को सौंपकर स्वयं निश्चिन्त हो गये और कुछ दिन तक काशी में रहे। जब श्रीतुलसीदासजी ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये भाष्यों का अध्ययन करने लगे, तब श्रीनरहरिदासजी स्वयं श्रीचित्रकूट के लिये प्रस्थान कर गये।

श्रीतुलसीदासजी प्राण–पण से गुरुजी की सेवा करते हुये अध्ययन में लग गये। इसी समय श्रीनन्ददासजी भी यहाँ अध्ययन कर रहे थे। परमोदार श्रीशेषसनातनजी ने अपनी सुदीर्घ साधना एवं शास्त्र चिन्तन से प्राप्त समस्त अनुभूतियों को तुलसीदास जी के हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया। पन्द्रह साल के दीर्घ काल में उन्होंने वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास स्मृति, संहिता तथा आर्ष और आप्त वाणियों के गूढ़ रहस्यों का सम्यक् बोध कराकर तुलसीदासजी को विद्वन्मूर्धन्य बनाने के साथ-साथ काव्य-कला कुशल भी बना दिया। कहते हैं कि तुलसीदासजी ने श्रीहनुमानचालीसा की रचना अपने विद्यार्थी जीवन में ही की थी। श्रीशेषसनातनजी की कुटी के समीप ही एक विशाल पीपल का वृक्ष था। उस पर एक प्रसिद्ध पिशाच निवास करता था। उससे पास-पड़ोस के लोग तो सन्त्रस्त थे ही, गुरुकुल के विद्यार्थी भी यदा-कदा भयभीत हो जाया करते थे। अतः इस विघ्न को दूर करने के लिए इन्होंने सिद्ध-स्तोत्र श्रीहनुमान-चालीसा की रचना की। उसका पाठ करने वाले सदा के लिये निर्भय हो गये।

राजापुर आगमन—अपना समग्र ज्ञानैश्वर्य तुलसीदासजी को प्रदानकर श्रीशेषसनातनजी ने अपनी इह-लीला संवरण की। श्रीतुलसीदासजी ने बड़ी श्रद्धापूर्वक उनकी अन्त्येष्टि की। शिक्षा गुरु श्रीशेषसनातनजी का वियोग होने से अब इनका मन काशीपुरी में नहीं लगता अतः दीक्षा गुरु श्रीनरहरिदासजी का स्मरण कर श्रीचित्रकूट को चल दिये। परन्तु संयोग की बात, मार्ग में ही एक सन्त के द्वारा पता चला कि वे भी साकेत-लोक को पधार गये। तब तो इनको बड़ा ही दुःख हुआ। बहुत देर तक 'किं करोमि' 'क्वगच्छामि' की उधेड़बुन के बाद में विचार आया कि समीप ही राजापुर है-अपनी जन्मभूमि है। श्रीमनुजी ने लिखा है—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

अतः इसका दर्शनकर चलूँ। गाँव में पहुँचकर श्रीतुलसीदासजी ने देखा कि उनका घर खंडहर हो रहा है, वंश का विनाश हो गया है एक भाट मिला। उसने बताया कि जिस दिन चुनियां दासी के मरने पर हरिपुर से नाई ने आकर आपके पिता से आपको लिवा लाने की प्रार्थना की और आपके पिता ने अत्यन्त निष्ठुरतापूर्ण उत्तर दिया, उस दिन गाँव में एक बड़े महात्मा आये हुए थे। उन्होंने जब पिता का पुत्र के प्रति इतना निष्ठुर व्यवहार सुना तो क्षुभित होकर शाप दे दिया कि ऐसे कुल का नाश हो जाय। परिणाम यह हुआ कि छः महीने के अन्दर ही आपके पिता का देहावसान हो गया और दस वर्ष के अन्दर सम्पूर्ण

कुल का सफाया हो गया। अब कुल में कोई जल देनेवाला नहीं रहा। यह सुनकर श्रीतुलसीदासजी को बड़ा शोक हुआ, पुनः कर्त्तव्य ने प्रेरित किया तो इन्होंने विधिपूर्वक सबका श्राद्ध-तर्पण किया। तत्पश्चात् जब वहाँ से चलने को प्रस्तुत हुये तो गाँव के लोगों ने बड़ा आग्रह-अनुरोध किया वहीं रहने का। जब ये सहजभाव से स्वीकृति दे दिये तो सभी ग्रामवासियों ने मिलकर इनके रहने के लिये सुन्दर घर बनवा दिया। अब ये वहीं रहते हुए नित्य-प्रति श्रीरामकथा कहने लगे। पुरवासी इनसे बहुत ही सुखी एवं सुप्रसन्न थे।

पाणिग्रहण-श्रीयमुनाजी के उस पार तारिपतो नाम का गाँव था। उसमें एक भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण रहते थे। कार्तिक महीने में यम द्वितीया का; पुण्यपर्व लगने पर वे सपरिवार इस पार आकर यमुना स्नानकर यथाशक्ति दान-पुण्य किये, इसके बाद लोगों से प्रसिद्धि सुनकर वहाँ पहुँचे, जहाँ श्रीतुलसीदासजी कथा कह रहे थे। ब्राह्मण ने देखा-अद्‌भुत दर्शन था व्यासजी का, वाणी में अनुपम लालित्य था, मानो अमृत की वर्षा हो रही है। ये मंत्र मुग्ध होकर कथा सुनते रहे। फिर लोगों से व्यासजी का नाम-गाँव पूछकर अपने घर चले गये। पण्डितजी की एक ब्याह योग्य सुशीला कन्या थी। बहुत खोजने पर भी उन्हें कन्या के स्वरूपानुरूप वर नहीं मिल रहा था, अतः चिन्तित होकर श्रीजगदम्बा पार्वतीजी की शरण लिये। माँ पार्वती ने इन्हें स्वप्न में श्रीतुलसीदासजी से कन्या का विवाह करने का आदेश दिया। यह श्रीतुलसीदासजी के पाण्डित्य एवं शोभा-सौन्दर्य से मोहित तो थे ही, देवाज्ञा होने से और भी भाव बढ़ गया। फिर तो बैसाख मास में आकर पंडितजी ने तुलसीदासजी को अपना अभीष्ट निवेदन करते हुए श्रीजगदम्बा की आज्ञा भी सुनाई। श्रीतुलसीदासजी ने ब्याह को वैराग्य के विरुद्ध तथा भक्ति में बाधक विचारकर अस्वीकार कर दिया। परन्तु ब्राह्मण को तो जगदम्बा का आदेश मिला था अतः वह द्वार पर धरना देकर बैठ गया। उसने अन्न-जल का परित्यागकर घोषणा कर दी कि यदि आप मेरी कन्या को स्वीकार नहीं करते हैं तो मैं आपके द्वार पर प्राण छोड़ दूँगा। फलतः विवश होकर श्रीतुलसीदासजी ने दूसरे दिन स्वीकृति दे ही दी। तब ब्राह्मण ने अन्न-जल ग्रहण किया और खुशी-खुशी घर जाकर सुन्दर लग्न शोधवाकर पुरोहित के द्वारा लग्न पत्रिका इनके यहाँ भेज दिया। गाँव के लोगों के सहयोग से बड़े ही उल्लासपूर्वक सम्वत् १५८३ ज्येष्ठ मास, शुक्लपक्ष, त्रयोदशी तिथि गुरुवार को ब्याह कार्य सम्पन्न हुआ। श्रीतुलसीदासजी मंगल मुहूर्त में दुलहिन विदा कराकर घर आये। दुलहिन का जैसा नाम था रत्नावली वैसे ही रमणीरत्न थी भी। अंग-अंग में अनुपम आभा छिटक रही थी। तुलसीदासजी ने तो प्रथम दर्शन में ही अपना तन-मन-प्राण

पत्नी पर न्यौछावर कर दिया। रात-दिन उसी के प्रेम में रंगे रहते। रूपासक्ति ने ऐसा जादू डाला कि न अपने कहीं जाते, न पत्नी को कहीं जाने देते। एकपल भी प्रिया के बिना चैन नहीं मिलता। इस प्रकार राग-रंग में पाँच वर्ष का समय एक पल के समान बीत गया। श्रीप्रियादास जी लिखते है कि–

तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई, भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई रिस सों निकसि गई, प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं।।
सुनी जब बात मानो ह्वैं गयौ प्रभात, वह पाछे पछितात तजि काशीपुरी धाए हैं।
कियौ तहाँ वास प्रभु सेवा लैं प्रकाश कीनौ, लीनौं दृढ़ भाव नैंन रूप के तिसाए हैं।। ५०८।।

शब्दार्थ–प्रभात=प्रकाश, ज्ञान। तिसाए=प्यासे।

भावार्थ–गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी को पहले अपनी पत्नी में बड़ा ही स्नेह था। एक बार वह आपसे बिना पूछे ही अपने पिताजी के घर को चली गई उस समय आप घर से बाहर थे। घर आने पर उसके जाने का समाचार पाते ही आप ऐसे विरह व्यथित हुए कि आपको अपने शरीर की सुधि भूल गई। शीघ्रता से भागकर आप वहीं पहुँच गए। इन्हें देखकर वह अत्यन्त ही लज्जित हुई और क्रोध के आवेश में उसके मुख से निकल पड़ा कि–यह मेरा शरीर तो हड्डी और मांस का पुतला है, इसके ऊपर चमड़ा छाया हुआ है। अतः प्रीति करने के योग्य नहीं है इसमें सदा प्रीति रहती भी नहीं है। श्रीराम के दिव्य रूप में ही नित्य-नई प्रीति रह सकती है अतः उन्हीं में प्रीति करनी चाहिये। स्त्री के मुख से ऐसी बातें सुनते ही आपकी मोह-रात्रि दूर हो गई और ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने से प्रकाश छा गया। आप वहाँ से चल दिए। पीछे उन्हें बड़ा पछतावा हुआ। अब सब कुछ त्यागकर काशीपुरी को आए। वहाँ निवासकर भगवान श्रीसीतारामजी की सेवा पूजा का दृढ़ भाव अंगीकार कर आराधना में तत्पर हो गए। उन दिनों आपकी आँखे भगवान श्रीरामचन्द्रके दर्शन के लिए तरस रहीं थीं।।५०८।।

व्याख्या–बिन पूछे पिता गेह गई-एक दिन एक प्रेमीभक्त के आग्रह पर ये बरखासन गाँव गये हुए थे। इसी बीच इनका साला आया, रत्नावलीजी बहुत उत्कण्ठित थी अपनी माता का दर्शन करने तथा गाँव की सखी-सहेलियों से मिलने को। पाँच वर्ष के अन्दर वहाँ से कितने बुलावे भी आये परन्तु पति के द्वारा अनुमति नहीं मिलने से न जा सकी थीं। स्त्री-सुलभ-स्वभाव के वशीभूत होकर आज वह अवसर पाकर चुपके से भाई के साथ मायके चली गईं। जब सायंकाल को तुलसीदासजी घर आये और पत्नी को नहीं देखा तो

उन्हें बड़े ही सूनेपन का अनुभव हुआ। मानो सर्वस्व खो गया। दासी से सब बात विदित हुई फिर क्या था-तुरन्त ही चल पड़े ससुराल को। भला प्रेमी को इतना धैर्य कहाँ? रात्रि का समय था, जमुना बढ़ी हुई थी, जैसे-तैसे पार करके आधी रात को वहाँ पहुँचे। लोग प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे थे। इन्होंने आवाज लगाई पति का स्वर पहचानकर रत्नावलीजी ने ससंभ्रम उठकर किवाड़ खोले और इन्हें गीले वस्त्रों से लिपटे देखकर हँसकर वे बोली-अहो! आप तो ऐसे प्रेमान्ध हो गये हैं कि अँधेरी रात, भरी जमुना, लोक-लाज एवं अनमोल जीवन-इनका कुछ भी ख्याल नहीं रहा। स्वामिन्

"हाड़ मास की देह मम, तामे जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति अवसि मिटहि भवभीति।।

पत्नी के वचन बाण के समान लगे, तुरन्त वहाँ से उलटे पाँव चल दिये। उसी समय श्रीसद्गुरुदेव नरहरिदासजी के चेतावनी के वचन याद आये—

'नरहरि कंचन कामिनी इनते रहिये दूर।
जो चाहिए कल्याण निज रामदरस भरपूर।।

यद्यपि जागरण हो जाने पर इनके साले ने मनाकर लौटा लाने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु सब व्यर्थ गये। श्रीतुलसीदासजी तो मोह-निद्रा से जाग चुके थे। उस समय आपने यह पद गाया था—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।।
पायौं नाम चारुचिन्तामनि उर करते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित्त कंचनहि कसैहौं।।
पर बस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मनमधुकर पनकरि तुलसी रघुपति पदकमल बसैहौं।।

इनकी सती—साध्वी पतिपरायणा पत्नी ने इनके वियोग में तत्काल शरीर छोड़ दिया। यह बात संवत् १५८९, आषाढ़ कृष्णपक्ष, तिथि दशमी दिन बुधवार की है।

जगन्नाथ यात्रा—श्रीतुलसीदास जी तीर्थराज प्रयाग पहुँचकर श्रीत्रिवेणी में स्नान किये और वहीं गृह वेष का विसर्जनकर पुनः विरक्तवेष धारणकर श्रीअयोध्या के लिये चल पड़े। श्रीअयोध्या में आपने चातुर्मास्य किया इसके बाद श्रीजगदीशपुरी को प्रस्थान किया। श्रीअयोध्या से पुरी तक पहुँचने में पचीसों जगह रात्रि में विश्राम करना पड़ा था। परन्तु इनमें दो स्थल

मुख्य हैं। एक तो दुबौली ग्राम-जहाँ ब्राह्मण कुमार हरिराम को शाप दिये थे। शाप की घटना संक्षेप से इस प्रकार है-ये स्नान करके एकान्त स्थान में भगवान का ध्यान कर रहे थे, उसी समब स्वभाव से अत्यन्त उद्दण्ड हरिराम बहुत समवयस्क बालकों को लेकर वहाँ पहुँचा और प्रथम तो उसने बहुत शोर-गुल मचाया, इसके बाद श्रीतुलसीदासजी के ऊपर धूलि-मिट्टी, कंकड़-पत्थर फेंकने लगा। श्रीकागभुसुण्डीजी की उक्ति है—

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये।। (रा०च०मा०)

वही बात यहाँ भी हुई अपराध सहनशक्ति के बाहर हो गया। श्रीतुलसीदासजी ध्यान छोड़कर जब शरारती बालकों की ओर देखा तो और सब तो डर कर भाग गये, परन्तु हरिराम तब भी डटा रहा और धूल-मिट्टी फेंकता रहा तथा ताली पीट-पीटकर अंट-शंट बकता रहा। परिणाम यह हुआ कि शापवश उसे ब्रह्मराक्षस होना पड़ा। दूसरा स्थल है चेफुल ग्राम-जहाँ चारुकुँवरि नाम की वृद्धा विधवा ब्राह्मणी को आशीर्वाद दिये। कथा इस प्रकार है-वह ब्राह्मणी एक तो विधवा थी, दूसरे गरीब थी, तीसरे अब अत्यन्त वृद्ध हो चली थी। चर्खा कातकर जैसे-तैसे जीवन बिताती थी। परन्तु सन्त सेवा में बड़ा भाव था अतः जो कुछ भी कमाती उसमें से कम से कम अपना निर्वाह करती और शेष सन्तों की सेवा में लगा देती। उसी सेवा के प्रताप से श्रीमद्गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी उसके अतिथि हुये। उसने बड़े भाव से सत्कार किया। बुढ़िया की स्थिति तुलसीदासजी से छिपी नहीं रही। अतः कृपा करके उसे यह वरदान दिये कि तुम जिस वस्तु पर हाथ धर दोगी, वह अक्षय हो जायेगी। फिर तो उसमें से कितना ही खर्च करो घटेगी नहीं।

इस प्रकार विचरते—विहरते हुए आप श्रीजगन्नाथपुरी पहुँचे। करुणावतार भगवान् का दर्शनकर निहाल हो गये। मन लगा तो कुछ दिन तक वहीं निवास किए। वहाँ रहते हुए भजन-पूजन से अवकाश मिलने पर श्रीमद्वाल्मीकि रामायण की एक प्रति अपने हाथ से लिखी। इसके बाद वहाँ से श्रीरामेश्वरम् गये, फिर द्वारकापुरी, फिर बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीनर-नारायण एवं वेदव्यासजी का साक्षात् दर्शन कर मानसरोवर पहुँचे। वहाँ दिव्य सन्तों का दरश-परश-समागम हुआ। उन सन्तों की सहायता से श्रीसुमेरगिरि का दर्शन किए तथा नीलाचल पर पहुँचकर श्रीकागभुसुण्डिजी का दर्शन किए तत्पश्चात् पुनः लौटकर मानसरोवर आ गए और श्रीकैलाश की परिक्रमा किए। इस प्रकार चौदह वर्ष, दस महीने, सत्रह दिन में पैदल तीर्थाटन करके श्रीकाशीपुरी में निवास किए।

सौच जल शेष पाय, भूत हूँ विशेष कोऊ, बोल्यौ सुख मानि हनुमान जू बताए हैं।
रामायन कथा सो रसायन है काननि को, आवत प्रथम पाछे जात घृना छाए हैं।।
जाय पहिचानि संग चले उर आनि आए वन मधि जानि धाय पांय लपटाए हैं।
करैं तिरस्कार कही सकौगे न टारि, मैं तो जाने रससार रूप धर्‌यौ जैसे गाए हैं ।।५०९।।

पाठान्तर—करैं सीत्कार।

शब्दार्थ—शेष=बाकी बचा। रसायन=रस का समूह, मधुर, सर्वरोग हारी और पुष्टकारी औषधि। तिरस्कार=अनादर। सीत्कार=पीड़ा या सुख में सांस का सी-सी शब्द, सिसकारी।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी काशीपुरी में निवास करते थे और शौच-क्रिया के लिए उसी नदी के उस पार जाया करते थे। लौटते समय बचे हुए जल को स्वाभाविक रूप से आप एक बेर के पेड़ पर डाल देते थे। उसे वहाँ रहनेवाला एक विशिष्ट प्रेत पी लेता था। एक दिन वह जल से तृप्त होकर गोस्वामीजी से बोला—'आप मुझसे कुछ माँग लीजिए।' आपने कहा कि—'मुझे रामचन्द्रजी का दर्शन करा दीजिए।' इसमें अपनी असमर्थता बताते हुए उसने श्रीहनुमानजी का पता बता दिया कि-'अमुक स्थान पर श्रीरामायणजी की कथा होती है, जो सुनने में अत्यन्त ही मधुर है। वहाँ कथा सुनने के लिए श्रीहनुमानजी नित्य आते हैं। वे सबसे पहले आ जाते हैं और सबके बाद वहाँ से जाते हैं। जिसे देखते ही घृणा हो ऐसा उनका रूप रहता है।' प्रेत के कथनानुसार गोस्वामीजी उसी स्थान पर आए तथा आपने श्रीहनुमानजी को पहचान लिया। कथा के बाद जब वे चले तो श्रीगोस्वामीजी भी उनके पीछे दृढ़ निश्चय करके चले कि अब इन्हें छोड़ूँगा नहीं, बस्ती छोड़कर जब वन में पहुँचे, तो वहाँ एकान्त पाकर ये श्रीहनुमानजी के चरणों में लिपट गए। तब वे सीत्कार करते हुए इन्हें डाटने-फटकारने तथा भगाने लगे। श्रीगोसाईंजी ने कहा-अब आप हमें अपने श्री चरणों से दूर नहीं हटा सकेगे। मैंने अच्छी तरह जान लिया कि—'आप श्रीरामप्रेम के मूर्तिमान् स्वरूप हैं।' इनके दृढ़ भाव को देखकर श्रीहनुमानजी उस सुन्दर रूप से प्रकट हो गए, जिसका रामायण आदि ग्रन्थों में वर्णन है।। ५०९।।

व्याख्या—भूत हूँ विशेष कोऊ०-श्रीतुलसीदासजी ने चातुर्मास्य काशी में ही किया। नित्य-प्रति भगवत्कथा कहते। काशी-वासी रसिकजन बड़े प्रेम से सुनते। नगर से बाहर दक्षिण दिशा में एक विशाल पीपल का वृक्ष था। उस पर एक ब्रह्म राक्षस रहता था। श्रीतुलसीदासजी सायं-प्रातः जब शौच-क्रिया करके स्थान की ओर लौटते तो शौच-शेष जल उसी पीपल के नीचे गिरा दिया करते। वह ब्रह्मराक्षस उस जल को पीकर अपनी तृष्णा शान्त

करता। एक दिन उस प्रेत ने यह पहचान लिया कि ये तो वही समर्थ महामुनि हैं जिन्होंने मुझे बाल्यावस्था में शाप दिया था। (यह दुबौली ग्राम का ब्राह्मणकुमार हरिराम ही है) उसे अपनी भूलपर तो अत्यन्त पश्चात्ताप था ही, अब तृषा निवृत्ति से उपकृत भी हुआ अतः श्रीतुलसीदासजी के समक्ष प्रत्यक्ष प्रगट होकर बोला-मुने! आप आज्ञा करें, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ ? इन्होंने कहा-मुझे श्रीरामजी का दर्शन करा दो और मुझे कुछ नही चाहिये। प्रेत ने कहा-मैं स्वयं तो भगवान् का दर्शन कराने में समर्थ नहीं हूँ, परन्तु आपको उपाय बताए देता हूँ। आपकी कथा सुनने नित्य श्रीहनुमानजी आते हैं। वह सबसे पहले आते हैं, और सबके बाद में जाते हैं वेष कुष्ठी का सा धारण किए रहते हैं। आप सुन्दर अवसर देखकर उनका चरण पकड़िये। उनकी कृपा से आपको अवश्य भगवान् का दर्शन हो जायगा।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रेत का बड़ा उपकार माना, अतः कृपा करके भगवान् का नाम सुनाकर उसका प्रेतयोनि से उद्धार कर दिया और स्वयं आज व्यासगद्दी-पर सबके आने से पहले ही जाकर विराजमान हो गये। सचमुच प्रेत ने जैसा कहा था वैसा ही रूप धारणकर श्रीहनुमानजी सभी श्रोताओं से पहले ही आकर एकान्त में कथा सुनने के लिये बैठ गये। कथा समाप्ति के बाद जब सब लोग चले गये तो लठिया टेकते हुये जंगल की ओर चल पड़े। श्रीतुलसीदासजी भी चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल पड़े। जब एकदम निर्जन स्थान में (जिसे वर्तमान में संकटमोचन कहते हैं) पहुँचे तो श्रीहनुमानजी के चरण पकड़ लिये। यद्यपि श्रीहनुमानजी ने बहुत मना किया, समझाया-बुझाया, घृणा की बात कही-राम, राम, मैं तो कोढ़ी हूँ, मेरे अंग से पीब-रक्त बह रहा है, आपके शरीर में लग जायगा, आप महात्मा हैं, आपकी सुन्दर कंचन सी काया दूषित हो जायगी। जब इतने पर भी नहीं माने तो फटकार भी सुनाई परन्तु श्रीतुलसीदासजी तो जान चुके थे, पा चुके थे अपने सर्वस्व को, अतः लाख कहने पर भी चरण नहीं छोड़े, तब तो श्रीहनुमानजी को प्रगट होकर प्रत्यक्ष दर्शन देना ही पड़ा। श्रीतुलसीदासजी ने स्तुति की।

'मांगि लीजै वर' कही दीजै राम भूप रूप, अति ही अनूप, नित नैन अभिलाखिये।
कियौ लै संकेत, वाही दिन ही सों लाग्यौ हेत, आई सोई समैं चेत कब छबि चाखिये।।
आए रघुनाथ, साथ लछिमन, चढ़े घोरे, पट रंग बोरे हरे कैसे मन राखिये।
पाछे हनुमान आये बोले 'देखे प्रान प्यारे, नेकु न निहारे मैं तो भलें फेरि भाखिये'।। ५१०।।

भावार्थ—श्रीहनुमानजी ने श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी से कहा—'अच्छा, जो चाहो सो

वरदान माँग लो।' तब आपने कहा—'आप कृपया हमें श्रीरामचन्द्रजी के सुन्दर भूप रूप का दर्शन कराइये, उसी के लिए मेरे नेत्र सदा लालायित रहते हैं।' श्रीहनुमानजी ने संकेत किया कि—'चित्रकूट को जाओ, वहीं दर्शन होंगे।' उसी दिन से आपकी दर्शन की लालसा और बढ़ गई चित्त को सावधान कर आप चित्रकूटधाम पहुँचे। बारम्बार आपके मन में उत्कण्ठा होती कि—'वह शुभघड़ी कब आवेगी, जब मैं शोभाधाम श्रीराम की रूपमाधुरी का आस्वादन करूँगा।' इसी बीच एक दिन श्रीराघवेन्द्र सरकार एवं श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाई घोड़ों पर चढ़े हुए आपके सम्मुख आये। उस समय युगल सरकार मृगया-विहार के अनुकूल हरी पोशाक धारण किये हुए थे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने उन्हें देखा तो, पर कोई अन्य शिकारी राजकुमार समझकर दृष्टि फेर ली। इसके पश्चात् श्रीहनुमानजी ने आकर पूछा-आपने-अपने प्राणप्यारे श्रीराघव के दर्शन किये ?' आपने उत्तर दिया कि-मैंने तो अच्छी प्रकार से उन्हें बिल्कुल ही नहीं देख पाया।' श्रीहनुमानजी ने कहा-अच्छा कोई बात नहीं, पुनः तुम्हें दर्शन होंगे।।५१०।।

व्याख्या—दीजै राम भूपरूप-श्रीतुलसीदासजी ने बड़ी चतुराई पूर्वक वरदान माँगा। भूप रूप में सिंहासन पर विराजमान श्रीरामजी के साथ श्रीजानकीजी चँवर-छत्र आदि लिए सभी भाई, सभी परिकर तथा श्रीराम के चरणों में विराजमान स्वयं श्रीहनुमानजी भी आ गये। अर्थात् श्रीतुलसीदासजी ने एक ही, वरदान में सबका दर्शन माँग लिया।

दृष्टान्त—बुढ़िया का-एक बुढ़िया थी। वह बड़ी गरीब थी। उसको आँखों से सूझता नहीं था। उसके एक लड़का था। उसका विवाह नहीं हुआ था। वह बहुत चाहती थी कि मेरे बेटे का विवाह हो जाय उसके एक पुत्र हो जाय। मैं जीते-जी नाती (पौत्र) खेलाऊँ। मेरी आँखों में रोशनी आ जाय। मेरी गरीबी मिट जाय, आदि। इन सभी मनोरथों को लेकर उसने भगवान शिव की आराधना की। उसने सुन रखा था, कि शिवजी आशुतोष हैं और अवढर दानी हैं। मन चाहा वरदान देने वाले हैं अतः उसने बड़े भाव से श्रीशिवजी की उपासना की। अपने विरद को चरितार्थ करते हुए शिवजी ने शीघ्र ही उस पर प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया और बोले-तू एक वरदान चाहे जो भी मुझसे माँग ले। दूसरे वरदान का नाम नहीं लेना। बुढ़िया सहम गई उसके मन में तो मनोरथों का भण्डार भरा पड़ा था। वह बड़े असमंजस में पड़ गई बोली महाराज! यदि आज्ञा हो तो मैं अपने गुरुजी से पूछ आऊँ कि मैं एक वरदान कौन-सा माँगू। शिवजी ने स्वीकृति दे दी। बुढ़िया दौड़ी श्रीगुरुजी के पास गई अपनी समस्या सुनाई गुरुजी ने सबका सामंजस्य बैठाते हुए उसको सिखाया कि

तुम शिवजी से जाकर कहो कि मुझे यह वर दीजिये कि मैं अपने बेटा के बेटे को सोने की कटोरी में दूध-भात खाते आँख-भर देखूं। बुढ़िया ने आकर शिवजी से यही वर माँगा। शिवजी हँस दिये। बोले तू तो मुझसे भी चालाक निकली। एक ही वर में अनेक वर तूने माँग लिए बुढ़िया ने कहा-महाराज इसमें मेरी कोई चालाकी नहीं है, यह तो श्रीगुरु की कृपा है। गुरु कृपा से क्या नही हो सकता है। शिवजी ने 'एवमस्तु' कहा। बुढ़िया ने एक वर में ही अपने समस्त मनोरथ पूर्ण कर लिए। अपनी दीर्घायु नेत्र-ज्योति, बेटा का विवाह, पौत्र का जन्म एवं अपार धनराशि ये सभी बातें एक साथ प्राप्त हो गईं। माँगने वाला यदि मूर्ख होता है तो अनेक वर पाकर भी उसका एक भी मनोरथ पूर्ण नहीं होता है।

दृष्टान्त-एक ब्राह्मण का-एक ब्राह्मण था। परिवार में उसकी पत्नी एवं एक पुत्र था। कुल तीन प्राणी थे। ब्राह्मण बड़ा गरीब था। उसकी गरीबी पर तरस आया तो श्रीनारदजी ने एक दिन उसकी ब्राह्मणी से कहा-तुम अपने मनके अनुकूल एक वरदान जो चाहो सो मुझसे माँग लो। नारदजी ने सोचा था-यह गरीब है, माँगेगी तो धन माँगेगी। आज इसे अपार धन देकर सदा के लिए इसकी गरीबी दूर कर दूंगा। परन्तु आश्चर्य! ब्राह्मणी ने कहा—हे नारदजी ! आप कृपा कर मुझे सुन्दर रूप प्रदान कीजिये। नारदजी ने माथा ठोका और-'एवमस्तु' कहकर उसके दुर्भाग्य को कोसते हुए, चले गये। ब्राह्मणी दिव्य सौन्द्रर्यवती हो गई उसके घर के समीप से होकर राजा की सवारी निकली। उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर राजा जबरदस्ती उसे अपने महल में ले गया।

कुछ दिन बाद फिर श्रीनारदजी उसी ब्राह्मण के घर गये। ब्राह्मण बड़ा दुःखी दिखाई पड़ा। दया करके नारदजी ने ब्राह्मण से भी एक वर माँगने को कहा। ब्राह्मण अपनी पत्नी पर कुढ़ा हुआ था कि उसने सुन्दर रूप क्यों माँगा ? यदि सुन्दरी नहीं बनी होती तो राजा उसे नहीं ले जाता। अतः उसने क्रुद्ध होकर श्रीनारदजी से यह वर माँगा कि मेरी ब्राह्मणी, जो सुन्दरी बनकर राजमहल में रह रही है वह शूकरमुखी हो जाय। श्रीनारदजी लाचार 'एवमस्तु' कहकर चलते बने। ब्राह्मणी तत्काल कुरूपा हो गई राजा ने मारकर घर से निकाल दिया। वह जहाँ-तहाँ भटकती रही। कुछ दिन बाद श्रीनारदजी उस ब्राह्मण के पुत्र के पास गये और बोले-कि मैंने तो तुम लोगों की गरीबी, दुःख-दीनता दूर करने के लिए दो बार अवसर दिया, तुम्हारी माता और पिता को मनचाहा वर माँगने का, परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे दोनों वरदान व्यर्थ हो गये। अब एक वर जो चाहो सो माँग लो। लड़के ने हाथ जोड़कर कहा-नारदजी! आप मुझे यही वर दीजिये कि मेरी मैया जैसी पहले थी वैसी ही होकर घर

आ जाय। श्रीनारदजी ने झुंझलाकर 'एवमस्तु' कहा और उन तीनों की मूर्खता और मन्द भाग्यता को कोसते हुए चले गये। ब्राह्मणी फिर पूर्व रूप को प्राप्त होकर घर पर आ गई आपने देखा तीन वरदानों का अवसर मिलने पर भी वे सब ज्योंके त्यों ही रह गये। बुढ़िया ने एक ही वरदान में अपना सब सुधार लिया। इसी प्रकार श्रीतुलसीदासजी ने भी एक ही वरदान में सबका दर्शन माँग लिया।

चित्रकूट में श्रीराम दर्शन-श्रीहनुमानजी ने वर माँगने को कहा, तो इन्होंने यही माँगा कि मैं श्रीराजारामका दर्शन करना चाहता हूँ। यथा-माँगि लीजै वर, कही दीजै राम भूप रूप अति ही अनूप नित नैन अभिलाषिये।। तब श्रीहनुमानजी ने इनको श्रीचित्रकूट जाने की आज्ञा दी और आश्वासन दिया कि आपको वहाँ अवश्यमेव प्रभु के दर्शन होंगे। इन्होंने 'अब चित चेत चित्रकूटहिं चल' एवं 'सब सोच विमोचन चित्रकूट' आदि विनय के पदों को गाते हुए तुरन्त ही श्रीचित्रकूट के लिए प्रस्थान कर दिया। श्रीप्रभु-मिलन की अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठा में खान-पान विसराये, देह की सुधि-बुधि भूले उन्मत्त की भाँति कभी हँसते, कभी रोते, कभी चलते, कभी बैठ जाते। कभी-कभी तो जब अपनी करनी पर ध्यान जाता तो निराश होकर पीछे लौटने लगते, परन्तु दूसरे ही क्षण जब श्रीप्रभु स्वभाव का स्मरण होता, तब तो अत्यन्त उतावली के साथ दौड़ पड़ते। इस प्रकार भाव सिन्धु हिलोरे लेते हुए इन्होंने श्रीचित्रकूट पहुँचकर श्रीरामघाट पर आसन जमाया।

एकदिन श्रीकामदगिरि की परिक्रमा लगाने जा रहे थे तो देखे कि अत्यन्त ही सुघर-सलोने, श्याम-गौरवर्ण के दो राजकुमार हरे रंग की पोशाक पहने हुए, हरे रंग के ही घोड़ों पर सवार हो शिकार खेलने की मुद्रा में जंगल की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। उनकी छवि देखकर मन आकृष्ट तो हुआ, परन्तु राजकुमार के धोखे में जी-भरकर देख न सके। थोड़ी देर बाद श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर पूछा-आपने प्रभु का दर्शन किया ? इन्होंने कहा-प्रभु के दर्शन तो नहीं हुए, हाँ दो राजकुमार घोड़ों पर चढ़े हुए अवश्य अभी-अभी इधर को ही गये हैं। उनको मैंने जरूर देखा, परन्तु-ये कोई शिकारी हैं-ऐसा विचार कर मैंने दृष्टि फेर ली। श्रीहनुमानजी ने जब कहा कि वह प्रभु ही थे, तब तो इन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। यथा—

लोचन रहे बैरी होय।
जानि बूझि अकाज कीन्हों दयो भुवमें गोय।।
अवगति जू तेरी गति न जानौं रह्यौं जागत सोय।
सबै रूप की अवधि मेरे निकसि गये ढिग होय।।

कर्म हीनहिं पाइ हीरा दियो पल में खोय।
तुलसिदासजु राम बिछुरे कहौ कैसी होय॥

तब श्रीहनुमानजी ने धैर्य बँधाया और कहा कि चिन्ता मत करो, कल प्रातःकाल पुनः दर्शन होगा। संवत् सोरहसै सात, माघ मास की मौनी अमावस्या, दिन बुधवार को प्रातःकाल होते ही श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामघाट पर स्नान करके चन्दन घिस रहे थे, तब तक भगवान श्रीरामजी किशोर बालक के रूप में प्रकट होकर श्रीतुलसीदासजी से बोले-बाबा! मुझे चन्दन लगा दो। बालक की मधुर वाणी सुनकर और मनोहर रूप देखकर श्रीतुलसीदासजी चन्दन घिसना भूल गये, वे टकटकी लगाकर उसे देखने लगे। श्रीहनुमानजी ने विचारा कि कहीं फिर बालक के धोखे में न रह जायें, अतः तोते का रूप धारणकर चेतावनी देते हुए यह दोहा कहा—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन्ह की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुवीर॥

यह दोहा सुनकर, आप अपने परमाराध्य का दर्शन कर देह की सुधि-बुधि भूल गये। शरीर पुलकायमान हो गया, आँखों से प्रेम की सरिता बह चली। प्रभु ने पुनः कहा-बाबा! मुझे चन्दन लगा दो परन्तु यहाँ तो और ही दशा हो रही थी। 'यथा-तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की कहां ते आई कौन काज काके ढिंग कौन ठाऊँ को हैं।' (गी०) तब भगवान ने स्वयं अपने श्रीकर-कमल से चन्दन लेकर अपने ललाट पर तो तिलक लगाया ही, श्रीतुलसीदासजी के ललाट पर भी तिलक कर दिया। मानो इसी व्याज से उन्हें भक्त सम्राट्, कवि सम्राट् तथा सबका हृदय सम्राट् बना दिया। इस प्रकार भक्तवाञ्छा कल्पतरु प्रभु श्रीतुलसीदासजी को दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये। इधर ये प्रभु-विरह में अत्यन्त आकुल-व्याकुल, बेहोश पृथ्वी पर पड़े-पड़े दिन-भर आहें भरते रहे। रात्रि के समय श्रीहनुमानजी ने आकर चैतन्य किया और आश्वासन दिया कि आप अधीर न हों, आपको नित्य भगवान के लीला-विहार का दर्शन होता रहेगा। उस दिन से श्रीतुलसीदासजी की भक्ति की महामहिमा यत्र-तत्र-सर्वत्र परिव्याप्त हो गई। लोगों को इनके दर्शन से परम शान्ति मिलती थी।

योग श्रीमुनि का उद्धार-एक दिन ये श्रीकामदगिरि की परिक्रमा करके श्रीलक्ष्मण पहाड़ी पर जा रहे थे तो इन्हें मार्ग में एक अत्यन्त शुभ्रवर्ण का चन्द्रोपम सुन्दर सर्प दिखाई पड़ा। इनकी दृष्टि पड़ते ही उस सर्प का सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गया। उसे ज्ञान हो गया और

उसने अत्यन्त दीन होकर इनसे प्रार्थना की कि हे मुनिनाथ! आप मुझे अपने कर-कमलों से स्पर्श कर मेरा उद्धार कीजिये। श्रीतुलसीदासजी ने ज्योंही उस सर्प का स्पर्श किया, त्योंही सर्प की जगह पर एक महात्मा प्रकट हो गये। उन्होंने अपना नाम योगश्रीमुनि बताया और कहा कि सन्त-भगवन्त की सेवा में लगाने के लिए प्राप्त सम्पत्ति का मैंने दुरुपयोग किया था उसी के फलस्वरूप यह अधमयोनि मुझे मिली थी। अब आपकी कृपा से मेरा उद्धार हो गया। ऐसा कहकर और तुलसीदासजी को पुनः-पुनः प्रणामकर वह महात्मा अपनी कुटी पर चले गये। इस प्रसंग से श्रीतुलसीदासजी का प्रभाव और भी बढ़ा। कुटी द्वार पर दर्शनार्थियों की भीड़ लगने लगी। तब इन्होंने यह विचारकर कि 'लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।' गुफा से बाहर निकलना बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि लोग कुछ देर तक दर्शन की प्रतीक्षा करके निराश होकर घर लौट जाते। प्रसिद्धि सुनकर बहुत दूर देश से स्वामी दरियानन्दजी इनके दर्शनार्थ आये। परन्तु और लोगों की तरह ये दर्शन न मिलने पर लौट जाने के बजाए वहीं आसन जमाकर बैठ गये। इन्होंने निश्चय कर लिया था कि जाऊँगा तो दर्शन करके ही। इनके दृढ़ संकल्प की विजय हुई श्रीतुलसीदासजी लघुशंका के हेतु बाहर निकले। जब हाथ-पांव शुद्ध करके गुफा में प्रवेश करने लगे तो श्रीदरियानन्दजी हाथ जोड़कर सामने खड़े हुए और बोले-महाराज! मेरी धृष्टता क्षमा कीजियेगा। मैं छोटे मुंह बड़ी बात कह रहा हूँ। आप देख रहे हैं कि आपके दर्शन के लिए बड़े-बड़े जोगी-जती, जपी-तपी आशा लगाये बैठे हैं। आप अपने कार्यवशात् तो बाहर आते है परन्तु प्रेमियों का आगमन सुनकर गुफा में छिप जाते हैं। यह बड़ी अनीति है। अतः आपसे मेरा यह निवेदन है कि मैं आपके लिए एक सुन्दर मचान बनवाये देता हूँ, आप सुखपूर्वक उस पर विराजमान होकर सबको अपने दर्शन से कृतार्थ करें। श्रीतुलसीदासजी ने दरियानन्दजी के प्रेम-पूर्ण आग्रह को स्वीकार कर लिया। अब तो सभी साधक, सिद्ध, सुजान जी-भरकर दर्शन करके अपने जीवन-जन्म को सफल करते। वहाँ नित्यप्रति कथा-कीर्तन का अलौकिक, आनन्द उमड़ता रहता।

श्रीरामराजा के दर्शन—श्रीहनुमानजी की कृपा से तुलसीदासजी को भी भगवान के नित्य नूतनलीला विहार का दर्शन होता रहता। एकदिन रात्रि के समय श्रीकामदगिरि की परिक्रमा करने जा रहे थे और मन में सोचते जा रहे थे कि प्रभु के विविध लीला विलासों का तो दर्शन हुआ परन्तु अभी मैंने श्रीराजाराम का दर्शन नहीं किया। हे प्रभो! वह दिन कब आयेगा, जब मैं आपको श्रीजानकीजी के सहित रत्नसिंहासन पर विराजमान देखूंगा। श्रीभरतलालजी छत्र लिए होंगे, श्रीलक्ष्मणलालजी के हाथ में चँवर होगा और श्रीशत्रुघ्नलालजी

व्यजन डुलाते होंगे। श्रीहनुमानजी श्रीचरण-कमल की सेवा में संलग्न होंगे। श्रीसुग्रीव, विभीषण, अंगदादि परिकर विविधायुधों से सुसज्जित होकर अगल-बगल खड़े होंगे। प्रजा 'जय-जयकार' कर रही होगी और मैं आपकी आरती उतार रहा होऊँ। इसी भाव में डूबे हुए परिक्रमा कर रहे थे, तब तक अचानक ऐसा देखने में आया कि श्रीरामलीला हो रही है और उसमें आज राजगद्दी का ही प्रसंग दिखाया जा रहा है। मन में जो-जो भाव उठे थे वे सब साकार दिखाई पड़ रहे थे। श्रीतुलसीदासजी उस अनिर्वचनीय शोभा, समाज एवं सुख-साज को देखकर मुग्ध हो गये। हृदय हुलसाया, समीप चले गये तो उस समय अभिषेकोपरान्त आरती हो रही थी। इन्होंने भी आरती उतारी और प्रणाम तथा परिक्रमा करके उस झाँकी को हृदय में बसाकर पुनः परिक्रमा पथ पर आ गये। कुटिया पर पहुँचकर इन्होंने भक्तों से आज की अद्भुत रामलीला की बहुत सराहना की। कई एक तो सुनते ही तुरन्त दौड़ पड़े स्वयं भी दर्शन करने के लिए। परन्तु पूरी परिक्रमा घूम आये, सबसे पूछे, लेकिन कहीं भी रामलीला का पता नहीं लगा। अन्ततोगत्वा पुनः लौटकर कुटी पर आ गये और उन्होंने श्रीतुलसीदासजी से सब बात कही, तब तो इन्हें समझते देर नहीं लगी कि वह लीलाभिनय नहीं था, बल्कि वास्तविक लीला थी। श्रीप्रभु की कृपा विचारकर गद्गद हो गये।

हत्या करि विप्र एक, तीरथ करत आयौ, कहैं मुख 'राम' भिक्षा डारियैं हत्यारे कौं।
सुनि अभिराम नाम धाम में बुलाय लियौ दियौ लै प्रसाद कियौ सुद्ध गायौ प्यारे कौं।।
भई द्विज सभा कहि बोलिकै पठाये आप कैसे गयौ पाप, संग लैके जेंये, न्यारे कौं।
पोथीं तुम बांचौ, हिये भाव नहीं सांचौ अजू ताते मति कांचौ, दूर करै न अँध्यारे कौं।। ५११।।

शब्दार्थ—न्यारे=त्यक्त, जाति से बहिष्कृत। सार=वास्तविक अर्थ, तत्व। काँचौ=कच्चा, अपुष्ट। अँध्यारे को=अज्ञान-अन्धकार को।

भावार्थ—एकबार कोई एक ब्राह्मण हत्या करके फिर उसके प्रायश्चित्त स्वरूप बहुत से तीर्थों में घूमता-फिरता काशी को आया। वह मुख से पुकारकर कहता था, 'राम-राम! मैं हत्यारा हूँ, मुझे भिक्षा दीजिये।' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने उसके मुखसे अति सुन्दर भगवन्नाम सुनकर उसे अपने निवास स्थान में बुला लिया और उसे अपनी पंक्ति में बैठाकर उसे भगवत्प्रसाद पवाया, उसे शुद्ध कर लिया। फिर आपने राम-नाम का उच्चारण करने वाले की एवं अपने प्रियतम श्रीरामकी कीर्ति का गान किया। काशी के ब्राह्मणों ने जब यह बात सुनी, तो उन्होंने एक सभा की और उसमें श्रीतुलसीदासजी को बुलवाया। सभी पण्डितों ने आपसे पूछा कि-प्रायश्चित्त पूरा हुए बिना इस हत्यारे का पाप कैसे दूर हो गया, अर्थात्

नहीं हुआ फिर आपने उस जाति बहिष्कृत व्यक्ति को साथ बैठाकर भोजन कैसे किया। (क्या आप बहिष्कार के योग्य नहीं हुए।) श्रीतुलसीदासजी ने उत्तर दिया कि-आप लोग धर्मग्रन्थों-शास्त्रों को पढ़ते-भर हैं, उसके वास्तविक रहस्य को जानकर विश्वासपूर्वक हृदय में धारण नहीं करते हैं। इसी से आपका मन और मत कच्चा है। वह अज्ञान-अन्धकार को दूर नहीं कर सकता है।।५११।।

व्याख्या—विप्र एक०-'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार उसका नाम विप्रचन्द था। गायौ प्यारे को-उस समय तुलसीदासजी ने यह दोहा कहा-तुलसी जाके मुखन तें धोखेहु निकसै राम। ताके पग की पग तरी मोरे तन को चाम।।

देखी पोथी बांच, नाम महिमा हूं कही सांच, ऐपै हत्या करै कैसे तरे कहि दीजियै।
'आवै जौ प्रतीति कहौ', कही याके हाथ जेवैं शिवजू कौ बैल तब पंगति में लीजियै।।
थार में प्रसाद दियौ चले जहाँ पन कियौ, बोले 'आप नाम कै प्रसाद मति भीजियै।
जैसे तुम जानो तैसी कैसे के बखानों अहो, सुनिके प्रसन्न पायो, जै जै धुनि रीझियै।। ५१२।।

शब्दार्थ—बाँच=पढ़कर। तरै=पाप मुक्त हो। बैल=नन्दीश्वर, शिव का नाँदिया।

भावार्थ—काशी के पण्डितों ने कहा-हम लोगों ने पुस्तकों में श्रीराम-नाम की महिमा पढ़कर देखी है, वह सच्ची कही गई है। परन्तु हत्या करने वाला हत्या के पाप से मुक्त हो गया, इसका क्या प्रमाण है। श्रीगोसाईंजी ने कहा-'आपको कैसे विश्वास होगा सो कहिये।' इस पर पण्डितों ने कहा-'इसके हाथ से यदि श्री शंकरजी का नाँदिया खा ले, तो हम लोग इसे अपनी जाति-पंक्ति में ले लेंगे।' इस बात को आपने स्वीकार कर लिया और उसे एक थाल में सजाकर प्रसाद दिया। सब लोग काशी में ज्ञानवापी के निकट नन्दीश्वर के पास पहुँचे, जहाँ की शर्त रखी थी। श्रीगोसाईंजी ने कहा-हे नन्दीश्वर! आपकी बुद्धि श्रीराम-नाम के प्रताप-प्रभाव से सर्वदा सरस रहती है। जिस प्रकार जितनी श्रीराम-नाम की महिमा को आप जानते हैं, उस प्रकार उतनी महिमा का वर्णन मैं किसी प्रकार से भी नहीं कर सकता हूँ (यदि यह ब्राह्मण राम-राम के प्रताप से शुद्ध हो गया है तो आप इसके हाथ से प्रसाद स्वीकार करके नाम-महिमा को प्रमाणित कीजिये) ऐसी प्रार्थना सुनकर नन्दीश्वर ने प्रसन्न होकर प्रसाद खा लिया। सभी लोगों ने रामचन्द्रजी की एवं श्रीरामनाम की जय-जयकार की और तुलसीदास की नाम निष्ठा पर बलिहार हो गये थे।। ५१२ ।।

व्याख्या—नाम महिमा हुं कही सांच-यथा-श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्म संज्ञकम्।

ब्रह्म हत्यादि पापघ्नमिति वेदविदो विदुः।। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६७, १७७, १७८, १७९।।

आये निशि चोर, चोरी करन हरन धन, देखे श्यामघन, हाथ चाप सर लिये हैं।
जब जब आवैं बान सांधि डरपावैं, एतौ अति मड़रावै, ऐपै बली दूरि किये हैं।
भोर आय पूछैं 'अजू! सांवरो किशोर कौन' सुन करि मौन रहे, आंसू डारि दिये हैं।
दई सो लुटाय, जानी चौकी राम राय दई, लई उन दिक्षा-शिक्षा, शुद्ध भये हिये हैं।। ५१३ ।।

शब्दार्थ—श्यामघन=श्रीराम। सांधि=सन्धानकर, तानकर। मड़रावै=बार-बार आवैं।

भावार्थ—एकबार कई चोर रात को धन-माल एवं पुस्तकों की चोरी करने के लिए श्रीतुलसीदासजी के आश्रम में घुसे, तो वहाँ उन्होंने देखा कि मेघ के समान श्यामवर्ण वाला एक सुन्दर पुरुष हाथ में धुनष-बाण लिए पहरा दे रहा है। चोर आश्रम के चारों ओर चक्कर काटने लगे। वे जब-जब चोरी करने की ताक-झाँक लगाते, तब-तब वह साँवला सिपाही धनुष-बाण तानकर उन्हें डरपा देता। ये चोर भी बार-बार इधर-उधर घूम-घामकर फिर वहीं आ जाते थे। परन्तु परम बलशाली उस पहरे दार ने इन्हे हर बार भगादिया, चोरी नहीं करने दी। प्रातःकाल आकर उन चोरों ने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी से आकर पूछा कि-'आपके यहाँ जो साँवला किशोर धनुष-बाणधारी सिपाही है, वह कौन है और इस समय कहाँ है!' यह सुनकर श्रीतुलसीदासजी कुछ बोल न सके, मौन हो गये, प्रेमाधिक्य के कारण उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। 'मेरे तुच्छ धन की रक्षा करने के लिए श्रीराजाधिराज श्रीराघवेन्द्र ने पहरा देने का कष्ट किया, यह ठीक नहीं।' आपने अपने मन में ऐसा विचारकर अपना सामान-धन जो भी कुछ था। वह सब लुटा दिया। पहरा देने वाले साँवले किशोर श्रीरामचन्द्रजी थे यह जानकर वे चोर भी श्रीगोसाईंजी की शरण में आये और उन्होंने इनसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। उनके हृदय परम शुद्ध हो गये, उन्होंने चोरी आदि निन्दित कर्म त्याग दिये।। ५१३।।

व्याख्या—चोरी करन हरन धन-श्रीरामचरितमानस को चुराने आये थे। श्रीतुलसीदासजी काशी में प्रहलाद घाटपर एक ब्राह्मण के यहाँ रहने लगे। भगवान विश्वनाथ का दर्शनकर हृदय में आनन्द उमड़ा। फिर तो काशी में ही देववाणी संस्कृत में श्रीरामचरित लिखना प्रारम्भ कर दिये। परन्तु आश्चर्य! दिन-भर लिखते, रात्रि में सब लिखा-लिखाया चोरी चला जाता और यह क्रम लगातार सात दिन तक चलता रहा। सुरक्षा के अनेक यत्न किये, परन्तु सब व्यर्थ रहे। तब आप चिन्तित हो गये। आठवें दिन श्रीशिवजी ने आदेश दिया कि बोल-चाल

की भाषा में काव्य-रचना करो। आप उठकर बैठ गये। हृदय में स्वप्न के शब्द गूंज रहे थे। इतने में ही भगवान शिवजी ने श्रीपार्वतीजी के सहित साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिये। इन्होंने साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। श्रीशिवजी ने पुनः कहा-कि आप भाषा में काव्य रचो। देववाणी के पीछे मत पड़ो। लकीर का फकीर बनना ठीक नहीं है। जिससे सबका हित हो वह कार्य करिये तथा श्रीहनुमानजी के आदेशानुसार श्रीअयोध्या में ही अपना काव्य प्रकाशित करिये। यदि आपको यह शंका हो कि मेरा भाषा-काव्य यथोचित गौरव नहीं प्राप्त कर सकेगा। तो मैं आशीर्वाद देता हूँ-मेरे पुण्य-प्रसाद से आपकी काव्यकला सामवेद की ऋचाओं के समान समादर प्राप्त करेगी। ऐसा कहकर श्रीशम्भु-भवानी अन्तर्धान हो गये। श्रीतुलसीदासजी श्रीशिवजी की कृपा एवं अपने भाग्य की सराहना करते हुए श्रीअवध को चल दिये।

मानस रचना—जिस दिन महाराणा उदयप्रतापसिंहजी मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे थे उस दिन सभी हिन्दू रजवाड़ों में बड़ा उत्सव मनाया गया था। श्रीअयोध्या में भी उस उत्सव की धूम मची हुई थी। उसी दिन श्रीतुलसीदासजी अवध पहुँचे। वहाँ पहुँचकर सर्वप्रथम श्रीसरयू-स्नान करके अभी पुलिन में ही विचर रहे थे कि एक सन्त समीप आकर अपने आपही कहने लगे कि यदि आपको श्रीअवधवास करना हो तो श्रीहनुमानगढ़ी के समीप एक बड़ा ही रमणीक स्थल है। आप हमारे संग चलकर देख लीजिये, यदि स्थान पसन्द आ जाय तो वहीं रहकर भजन-साधन करिये। श्रीतुलसीदासजी ने वहाँ जाकर देखा कि सचमुच वह पुनीत स्थल समूह वट-वृक्षों की अनुपम शोभा से संयुक्त है। उन वृक्षों के बीच में एक विशाल वट-वृक्ष है। उसके मूल में सुन्दर वेदिका बनी हुई है और उस वेदिका पर एक अग्नि के समान तेजस्वी मुनि सिद्धासन से बैठे हैं। स्थान देखकर इनका मन लुभा गया। अतः वहीं रहने का निश्चय करके उन सन्तजी के समीप गये तो वे जय-जयकार करते हुए अपने आसन से उठ खड़े हुए और प्रणाम करके, परिचय पाकर बड़े ही प्रसन्न होकर हाथ जोड़कर बोले-महाराज! मेरे श्रीसद्गुरुदेवजी परमधाम जाते समय मुझसे कहे थे कि यह परमसिद्ध स्थल है। इन वृक्षों को देवताओं के धनाध्यक्ष श्रीकुबेरजी ने लगाया है। तुम यहीं निवास करना। कुछ दिन बीतने पर यहाँ आदि कवि श्रीवाल्मीकिजी के अवतार श्रीतुलसीदासजी आवेंगे और श्रीहनुमानजी की कृपा से श्रीरामसुयश वर्णन करेंगे। जब वे यहाँ आवें तो तुम यह कुटी और बगीचा उनको सौंपकर मेरे पास आ जाना। श्रीगुरुदेवजी का यह उपदेश मुझे बहुत ही अच्छा लगा। तबसे मैं आज तक आपके ही दर्शन की प्रतीक्षा में जीवन धारण कर रहा था। आज मेरे अनन्त जन्मों के पुण्यों का उदय हुआ है, श्रीगुरुदेवजी की कृपा सफलीभूत

हुई है, भगवान मेरे अनुकूल हुए हैं जो आपका दर्शन मिला। अब तो आप यहीं विराजमान होकर श्रीराम गुणगान करिये। मैं अपने श्रीगुरुदेवजी के पास जाता हूँ। ऐसा कहकर वे सिद्ध मुनि श्रीतुलसीदासजी को पुनः प्रणामकर कुछ दूर जाकर सिद्धासन से बैठ गये और योगाग्नि से अपने शरीर को भस्मकर दिये। भगवान का यह विचित्र विधान देखकर श्रीगोंसाईंजी प्रभु कृपा पर बार-बार बलिहार गये और सुखपूर्वक वहीं रहने लगे दृढ़ संयम के साथ नियमित रूप से भजन-पूजन करते हुए दो वर्ष बीत गये।

भगवदिच्छा से संवत् १६३१ चैत्र, शुक्लपक्ष, श्रीरामनवमी दिन मंगलवार को वे सब शुभयोग, लग्न, वार, तिथि, नक्षत्रादि एक साथ एकत्रित हुए जो कि त्रेतायुग में श्रीरामजन्म के समय में समवेत हुए थे। अतः इसे महामंगलमय मुहूर्त विचारकर मंगलमूर्ति, मारुतिनन्दन श्रीहनुमानजी ने प्रातःकाल प्रकट होकर विश्व-कल्याणार्थ श्रीतुलसीदासजी को शुभाशीर्वाद के साथ-साथ श्रीरामचरितमानस प्रणयन की आज्ञा दी। तत्पश्चात् श्रीशिव पार्वती वाणी, विनायक, शेष सनकादि नारदादि ने प्रकट होकर मंगलमय आशीष प्रदान किया। इस प्रकार शुभाशिषों से अभिषिक्त होकर श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने सबकी वन्दना करके सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय श्रीरामचरितमानस लिखना प्रारम्भ किया। यथा–

संवत सोरह सै इकतीसा।
करौं कथा हरि पद धरि सीसा।।
जेहि दिन राम जन्म श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल तहां चलि आवहिं।।
नौमी भौमवार मधु मासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा।। (रा०च०मा०)

दो वर्ष सात महीना, छब्बीस दिन के बाद संवत् १६३३ अगहन सुदी पंचमी मंगलवार को श्रीराम-विवाह के दिन यह ग्रन्थरत्न पूर्ण हुआ। देवताओं ने हर्षित होकर जय-जयकार किया और फूलों की वर्षा की। श्रीगणेशजी ने प्रकट होकर अपनी दिव्य लेखनी से श्रीरामचरितमानस की पाँच प्रतियाँ लिखीं और उन्हे देवलोक ले गये। मानस अपने नामानुरूप सबके मानस में बस गया। सभी ने पूज्य कवि की वन्दना की। यथा–

बन्दउँ तुलसी के चरन जिन्ह कीन्हों जग काज।
कलि समुद्र बूड़त लख्यो प्रगटेउ सप्त जहाज।।

श्रीहनुमानजीने प्रकट होकर सम्पूर्ण ग्रन्थको आद्योपान्त श्रवण करके श्रीतुलसीदासजीको आशीर्वाद दिया कि आपकी यह कविता कीर्ति त्रैलोक्यवशकारिणी होगी। उन्हीं दिनों श्रीअवधमें मिथिलापुरीके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीरूपारुण स्वामी आये थे। वे सदा मिथिलेशजीके भावमें मग्न रहते थे। जगज्जननी श्रीजानकीजीमें उनका पुत्रीभाव था। एकदिन वे श्रीतुलसीदासजीका दर्शन करने आये तो उन्हें परम अधिकारी जानकर श्रीगुसाईंजी ने सर्वप्रथम श्रीरामचरितमानसका एक पारायण उन्हींको सुनाया। इसके बाद तो दिन दूना, रात चौगुना मानसका प्रचार होने लगा। सण्डीलेके श्रीनन्दलाल स्वामीके शिष्य श्रीदयालदासजी श्रीरामचरितों की एक प्रतिलिपि करके ले गये और उन्होंने अपने गुरुदेवको सुनाया और श्रीयमुना तट पर तीन वर्ष तक महाभागवत श्रीरसखानजीको सुनाया। उनके बाद बहुत-सी प्रतिलिपियाँ लोगोंने करलीं। स्वयं गुसाईंजीने भी कई प्रतियाँ लिखीं।

मानस महिमा—भगवान श्रीसीतारामजी की आज्ञासे श्रीतुलसीदासजी अयोध्यासे काशीपुरी आये और भगवान श्रीशिवजी-पार्वतीजीको रामचरितमानसका एक पारायण सुनाये तथा ग्रन्थके सम्बन्ध में श्रीशिवजीकी सम्मति जानने के लिये एक पाठ समाप्त करके पोथी को रात्रि में श्रीशिवलिङ्ग के समीप ही रख दिये। काशीमें इस बातका प्रचार हो गया अतः प्रातःकाल जब पट खुला तो यह जानने के लिए कि श्रीशिवजीने क्या लिखा है, काशीवासियों की भीड़ लग गई सब लोगोंने देखा कि ग्रन्थ पर दिव्य अक्षरों में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' लिखा हुआ है तथा उसी समय सबको सुनाकर यही आकाशवाणी भी हुई फिर तो काशीवासी बड़े ही प्रभावित हुए। सर्वत्र श्रीतुलसीदासजीकी जय-जयकार होने लगी। परन्तु एक ओर जहाँ सब लोग इस शुभ-संवादसे हर्षोल्लसित हो रहे थे वहीं दूसरी ओर यंत्र-मंत्र करके ढोंग-धतूरों से जीविका चलाने वाले पाखण्डी पण्डितों का एक समुदाय बड़ा चिन्तित हो रहा था कि यदि इस प्रसादित ग्रन्थका जगद्में प्रचार हुआ तो हम लोगों की रोजी मारी जावेगी। सब लोग इसी के पाठ पारायणसे अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेंगे, फिर हमें कौन पूछेगा। अतः पण्डित लोगोंने दल बाँधकर ग्रन्थकी निन्दा करना प्रारम्भ किया कि यह तो भाषा ग्रन्थ है, इससे कुछ होने-जाने का नहीं। भाषाका मूल तो संस्कृत है, भाषा तो शाखा है। आदि आदि। बात बढ़ते-बढ़ते श्रीतुलसीदासजीके समीप पहुँची। तब आपने उस समय पण्डितों को यह उत्तर दिया था—

भाषा साखा हैं सही, सुरवानी है मूल।
मूल रहत है धूल में, शाखा में फल फूल।।

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच।
काम जो आवै कामरी, का लै करिय कुमाच।। (दोहा०)

चोरों को रामदर्शन—जब पण्डितों का यह प्रयत्न व्यर्थ गया तो ग्रन्थ को चुराने का षड्यंत्र रचे। काशी के नामी-ग्रामी चोर निधुआ और सिखुआ को कुछ द्रव्य का लोभ देकर चोरी करने के लिए भेजे। परन्तु रात्रि के सुनसान में जब वे कुटी पर आये तो देखते हैं कि एक श्यामवर्ण के और एक गौरवर्ण के, किशोरावस्था के दो बड़े ही सुघर-सलोने धनुर्धर बड़ी सतर्कता से कुटी का पहरा दे रहे हैं। चोरों ने बहुत दांव-घात लगाई, परन्तु उनकी एक न चली। जब भी जिधर भी गये, उन्हें युगलकुमार धनुष-बाण ताने दिखाई पड़े। चोर आये थे पुस्तक की चोरी करने, खुद उन्हीं की चोरी हो गई। कहावत है 'चौबे गये छब्बे होने, हो गये दूबे।' चोरों ने कुछ देर तक तो चोरी का उपाय किया परन्तु बाद में तो युगलकुमारों का दर्शन मात्र उनका प्रयोजन रह गया। प्रातः होते ही चोर घर चले गये। परन्तु घर पर उनका मन नहीं लगा। कुमारों को देखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ रहा था। अतः भागे-भागे कुटी पर आये और श्रीतुलसीदासजी से उन कुमारों का परिचय-पता पूछने लगे। उनकी वाणी सुनकर, उनकी दशा देखकर श्रीतुलसीदासजी समझ गये कि इनके ऊपर प्रभु की कृपा हो गई उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये, हृदय भर आया, गद्गद स्वर से बोले-भैया ! तुम लोग धन्य हो, जो तुम्हें भगवान का दर्शन हो गया। जब चोरों को यह मालूम हुआ कि वे राजकुमार तो भगवान थे। श्रीराम-लक्ष्मण थे। अहो ! भगवान ऐसे भक्तवत्सल हैं कि श्रीतुलसीदासजी के यहाँ पहरेदार बने हैं। चोरों का हृदय परिवर्तित हो गया। कुकर्म छोड़कर सदा-सदा के लिए श्रीप्रभु के हो गये। इधर श्रीतुलसीदासजी ने विचार किया कि ऐसा संग्रह किस काम का जिसके लिए मेरे प्रभु को कष्ट उठाना पड़ रहा है। अतः कुटी में जो कुछ भी रहा, सब साधु-ब्राह्मण, दीन-दुखियों को लुटा दिया और पोथी को काशी के रईस अपने परममित्र श्रीटोडरजी के घर रख दिया और यह भी कहा कि यदि पोथी आपके घर से बाहर निकलेगी तो अन्तर्धान हो जायेगी। श्रीटोडरजी ने इस ग्रन्थरत्न को चाँदी की मंजूषा में बंदकर बड़े यत्न से रखा, नित्यप्रति पूजा-आरती करते। कहते हैं कि कई पीढ़ियों तक यह पोथी उनके यहाँ सुरक्षित रखी रही। परन्तु दुर्भाग्य से एक बार कुल की एक कन्या ससुराल जाने लगी तो उसने वह मंजूषा भी अपनी पालकी में रख लिया। परन्तु जब ससुराल पहुँचकर मंजूषा खोलकर देखा तो पोथी नदारद थी। ग्रन्थ में उसकी बड़ी ममता थी अतः उसने भी वियोग में तत्काल प्राण छोड़ दिया।

कियौ विप्र तन त्याग, तिया चली संग लागि, दूरहीं ते देखि, कियौ चरन प्रनाम है।
बोले यों 'सुहागवती', मरयो पति होऊँ सती, अब तो निकसि गई ज्याऊँ सेवौ राम है।।
बोलिकै कुटुम्ब कही 'जौ पै भक्ति करौ सही', गही तब बात जीव दियो अभिराम है।
भये सब साधु व्याधि मेटी लै विमुखता की जाकी वास रहै तौ न सूझै श्यामधाम है।।५१४।।

शब्दार्थ—सही=सच्ची। वास=गन्धमात्र, थोड़ा-लेश। श्यामधाम=भगवान के रूप का प्रकाश।

भावार्थ—एकबार एक ब्राह्मण का देहान्त हो गया। उसकी पत्नी उसके साथ सती होने के लिए जा रही थी। श्रीगोस्वामी श्रीतुलसीदासजी अपनी कुटी के द्वार पर बैठे हुए भजन कर रहे थे। उस स्त्री ने इन्हें दूर से ही देखा तो फिर समीप आकर इनके श्रीचरणों में सप्रेम प्रणाम किया। आपने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा-'सौभाग्यवती हो।' उसने कहा-'महाराजजी ! मेरे पति का स्वर्गवास हो गया और सती होने के लिए श्मशान घाट जा रही हूँ। तब इस आशीर्वाद का क्या अर्थ होगा। गोसाईंजी ने कहा—'अब तो मेरे मुख से आशीर्वाद निकल चुका है, अपने पति के सहित तुम और तुम्हारे घर के सभी लोग यदि भगवान श्रीराम का भजन करें तो मैं तुम्हारे मृतक पति को जीवित कर दूं। उस स्त्री ने अपने सभी कुटुम्बियों को बुलाकर कहा कि-यदि आप लोग सभी सच्चे हृदय से श्रीराम-भक्ति करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करें, तो यह मृतक मेरा पति जीवित हो जायगा। सभी ने सादर स्वीकार कर लिया और श्रीरामनाम संकीर्तन करने लगे। गोसाईंजी ने उसे सुन्दर भक्तिमय जीवन दान दिया। इससे प्रभावित होकर उसके परिवार के लोग भगवद्भक्त हो गये। इस प्रकार आपने जीवों की विमुखता की व्याधि को मिटाया। जिसका लेशमात्र रहने पर भगवान श्यामसुन्दर के दिव्य रूप का प्रकाश भी नहीं दिखलाई पड़ता है।। ५१४।।

दिल्लीपति पातसाह अहदी पठाये लैन ताकौ, सो सुनायौ सूबे विप्र ज्यायौ जानियै।
देखिवे कौ चाहै नीकै सुख सों निबाहै, आय कही वहु बिनै गही चले मन आनियै।।
पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकाश कियौ, दियौ उच्च आसन लै, बोल्यो मृदु बानियै।
'दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये', कही झूठ बात एक राम पहिचानियै।। ५१५।।

शब्दार्थ—पातसाह=बादशाह। अहदी=सिपाही, (विशे०) सुस्त, आलसी। सूबे=

सूबेदार, अफसर। ज्यायौ=जिबायौ। करामात=करतब, चमत्कार। मात किये=हरा दिये, मत्त किये।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की महिमा सुनकर दिल्ली के बादशाह ने अपने सेनापतियों को काशी भेजा। सिपाहियों ने आकर सूबेदार से कहा कि—गोस्वामीजी ने मरे हुए ब्राह्मण को जीवित कर दिया है। यह सुनकर बादशाह उनके दर्शन करना चाहता है, उन्हें आदर और सुख-सुविधापूर्वक ले जाया जायगा। सूबेदार ने आकर आपसे बहुत अनुनय-विनय की, आपने उसकी प्रार्थना स्वीकार करली और काशी से दिल्ली की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर बादशाह के पास गये। उसने आपका बड़ा-भारी स्वागत-सत्कार किया। ऊँचे सिंहासन पर बैठाकर बड़ी मधुरवाणी से बादशाह ने कहा—'आपकी करामात का सुयश सारे संसार में फैला हुआ है, आपने अपने प्रभाव से सभी को परास्त कर दिया है और भक्त लोग आपके उपदेशों से प्रेम में मतवाले हो रहे हैं। मुझे भी कुछ चमत्कार दिखलाइये।' गोस्वामीजी ने कहा-ये सब बातें झूठी हैं, चमत्कार दिखाना हमें नहीं आता है। हम तो केवल श्रीरामजी को जानते-मानते हैं, उन्हीं का भजन करते हैं।। ५१५।।

व्याख्या-दिल्ली को प्रस्थान—अकबर का शासनकाल था। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रसिद्धि सुनकर उसके मन में इनको दरबार में बुलाकर चमत्कार देखने की इच्छा हुई अतः उसने अपने राजदूत को काशी भेजा। राजदूत ने आकर बादशाह की दर्शनोत्कण्ठा जनाते हुए श्रीगोस्वामीजी से दिल्ली चलने की बहुत सिफारिश की। जिस समय आप श्रीचित्रकूट में निवास कर रहे थे उस समय एकदिन हिन्दुत्व के गौरव महाराणा प्रतापसिंह जी आपके पास पहुँचे और अत्यन्त दीन होकर प्रार्थना किये कि आप जैसे समर्थ सन्त गुफाओं में ही छिपे रहेंगे तो देश की, धर्म की एवं समाज की रक्षा कौन करेगा? आप देख रहे हैं कि अकबर अपनी कूटनीतियों से भाई-भाई में भी भेद डालकर हम लोगों की शक्ति को एकदम जर्जरित करके हिन्दुत्व को मिटाकर दीनइलाही का प्रचार करने लगा है। भौतिक शक्ति से उसका पराभव अब सर्वथा असम्भव-सा हो गया है, अतः अब तो आप जैसे सिद्ध सन्त अपनी आध्यात्मिक शक्ति से ही उसके प्रभाव को दबा सकते हैं। श्रीगोस्वामीजी ने उन्हें आश्वासन दिया था। अतः दिल्ली जाकर अकबर एवं मानसिंह को समझाने की बात सोच ही रहे थे कि दिल्लीश्वर ने खुद बुलावा भेजा। इसलिए सुन्दर अवसर विचारकर आपने स्वीकृति देकर राजदूत को विदा कर दिया और स्वयं बहुत से सन्तों को संग लेकर नौका से दिल्ली के लिए प्रस्थान किया।

जब प्रयाग से आगे नौका यमुना में चली तो एक यमुना तटवर्ती नरेश ने आपका शुभागमन श्रवणकर आगे आकर बड़ा स्वागत किया और घर पर चलने के लिए बहुत अनुनय-विनय किया। उस समय गोस्वामीजी ध्यानावस्थित थे, संग के सन्तों ने राजा का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। तब राजा ने एक युक्ति सोची। साथ में कुछ सिपाहियों को लेकर नाव को घेर लिया और बोला-आप लोग बिना राज-कर दिये आगे नहीं जा सकते हैं सब सन्त सकपका गये। उस समय श्रीगोस्वामीजी ध्यान से निवृत्त हो चुके थे। अतः राजा से पूछे-हम साधु लोग आपको क्या राज-कर दें? राजा ने हाथ जोड़कर कहा-आप लोगों को मेरे घर चलना होगा। श्रीगोस्वामीजी उसके इस विलक्षण प्रेम पर रीझ गये और सब सन्तों को संग लेकर राजा के संग चल दिये। राजा ने अपने ठाकुर श्रीराधा-बल्लभलालजी के मंदिर के जगमोहन में सबको अत्यन्त सुन्दर आसन पर बैठाकर साष्टांग दण्डवत् प्रणामकर बड़ी स्तुति की और धृष्टता के लिए क्षमा प्रार्थना की। कई दिन तक सन्तों को प्रेमपूर्वक अपने यहाँ रोककर राजा ने ऐसी सेवा की कि सब सन्त दंग रह गये। श्रीगोस्वामीजी ने राजा को श्रीराधाबल्लभजी के प्रति दृढ़ निष्ठा का वरदान दिया।

प्रेत केशवदास का उद्धार—फिर वहाँ से आगे चले तो इन्हें प्रेत रूप में ओरछा के कवि केशवदासजी मिले। इनके प्रेत होने का प्रसंग इस प्रकार है-वृद्धावस्था आ जाने पर केशवदास एवं उनके और भी कई एक अंतरंग मित्रों ने, जिनमें एक वेश्या भी थी, आपस में विचार-विमर्श किया कि अब हम लोगों के मरने का समय आ गया है। कोई आज मरेगा और कोई कल तथा मरकर भी कोई स्वर्ग जायगा और कोई नरक। सबका एक दूसरे से वियोग हो जायगा। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिसमें हम सब लोग मरें भी तो एक साथ एवं मरकर भी एक साथ ही रहें। अन्ततोगत्वा सबने प्रेत यज्ञ किया, जिसमें अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि में एक साथ आत्म-दाह करके सबके सब प्रेत हुए। श्रीकेशवदासजी ने यद्यपि श्रीतुलसीदासजी से स्पर्धा करके 'श्रीरामचन्द्र-चन्द्रिका' ग्रंथ की रचना की थी। परन्तु कैसे भी उन्होंने भगवद्यश ही गाया था। अतः उसी के पुण्य प्रताप से प्रेतयोनि में भी श्रीतुलसीदासजी के दर्शन हुए। श्रीगोस्वामीजी ने उन्हें 'श्रीरामचन्द्र-चन्द्रिका' सुनाने को कहा। केशवदासजी ने कहा—मैं असमर्थ हूँ। तब गोसाईंजी ने कृपा करके कुछ रामचरित सुनाया उससे उन्हें 'श्रीरामचन्द्र-चन्द्रिका' का स्मरण हो आया। तब उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ सुनाया। भगवद् गुणगान के प्रभाव से तथा श्रीगोस्वामीजी की कृपा से उनका उद्धार हो गया।

कन्या को पुत्रत्वदान—विन्ध्याचल की तराई के दो राजा एक बार तीर्थयात्रा करने

निकले थे। संयोग से किसी तीर्थ में दोनों का मिलन हो गया और इसके बाद दोनों ने संग-संग यात्रा की। इनमें परस्पर प्रगाढ़ प्रेम हो गया तब दोनों ने अपने इस प्रेम सम्बन्ध को अत्यन्त दृढ़ करने के लिए यह निश्चय किया कि यदि हममें से एक के पुत्र एवं एक के पुत्री हुई तो उनका आपस में विवाह करेंगे। यात्रा पूर्ण करके दोनों घर लौटे। कुछ दिन बाद एक राजा के यहाँ कन्या का जन्म हुआ। अब आवश्यक हो गया कि दूसरे राजा के यहाँ पुत्र का जन्म हो। परन्तु यह सब अपने वश की बात नहीं है। दूसरे के यहाँ भी कन्या ही जन्मी। लेकिन सम्बन्ध के लोभ से उस राजा ने अपनी कन्या को भी पुत्र कहकर प्रसिद्ध किया और किसी ने इस रहस्य को जाना तो उसे द्रव्यादि देकर अपने पक्ष में कर लिया। कुछ दिन बीतने पर छोटी अवस्था में ही बड़ी धूमधाम से विवाह हुआ। परन्तु जब कन्या विदा होकर ससुराल आई तो मालूम हुआ कि यह भी लड़की ही है, तब उसने अपने पिता को चिट्ठी लिखी। कन्या का पिता वर के पिता से अधिक प्रभावशाली था। उसे इस बात का बड़ा रंज आया कि मेरे साथ इन्होंने बहुत बड़ा धोखा किया। अतः वह अपनी कन्या को तो घर ले ही आया उस राजा के राज्य पर भी अधिकार कर लिया। वह राजा भागकर परिवार सहित वन में रहने लगा। परन्तु कन्या के पिता ने वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा।

एकदिन बहुत बड़ी सेना लेकर जंगल में ही डेरा डाल दिया। संयोग की बात, श्रीगोस्वामीजी उसी मार्ग से जा रहे थे। जब यह पता वरके पिता को लगा तो वह श्रीगोस्वामीजी के चरणों में पड़कर बहुत रोया। तब आपने दया करके उसकी कन्या को पुरुषत्व प्रदान करने के लिए रामचरितमानस का नवाह्न पारायण किया। पाठ विश्राम होते ही वह कन्या पुत्र रूप में परिणत हो गई। सब लोगों ने श्रीतुलसीदासजी, श्रीरामचरितमानस एवं श्रीसीतारामजी का जय-जयकार किया। उसी समय कन्या का पिता फौज लेकर चढ़ आया। परन्तु जब निकट आया तो तुलसीदासजी का दर्शन करते ही उसकी बैर-बुद्धि जाती रही। श्रीगोस्वामीजी ने पुनः दोनों में मैत्री करा दी। अपनी कन्या को दिव्य वर की प्राप्ति से राजा को बड़ा सन्तोष हुआ।

दिल्ली में चमत्कार—श्रीतुलसीदासजी वहाँ से चलकर पाँचवें दिन दिल्ली पहुँचे। अकबर बादशाह ने आपका बड़ा आदर-सत्कार किया। सभा में सर्वोच्च आसन प्रदान किया और विनम्रतापूर्वक बोला-आपने मृतक पुरुष को जीवन प्रदान किया है और नारी को नर बना दिया है। आपके बड़े-बड़े चमत्कार सुनने में आते हैं अतः आप मुझे भी कोई करामात दिखाइये। श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने सहज भाव से कहा- हम तो एक श्रीसीतारामजी

को छोड़कर और कुछ नहीं जानते हैं। करामात दिखाना मेरा काम नहीं है। बादशाह ने बहुत आग्रह किया परन्तु आप तो एकदम इन्कार कर गये।

देखें राम कैसौ कहि कैद किये, किये हिये हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो।
ताही समै फैलि गये कोटि-कोटि कपि नये, लोचें तन खोचें चीर भयौ यों बिहाल हो।।
फोरें कोट मारें चोट किये डारें लोट-पोट, लीजै कौन ओट जाय मान्यौ प्रलय काल हो।
भई तब आखें दुखसागर कौं चाखें, अब वेइ हमें राखें भाखें वारौं धन माल हो।५१६।।

शब्दार्थ—लोचें=लचकदार, कोमल, नोचें। खोचें=खींचें, फाड़ें, खरोचें। कोट=किला। ओट=बचाव, सहारा, आश्रय। भई आखें=ज्ञान-होश हुआ। चाखें=अनुभव करें।

भावार्थ—श्रीतुलसीदासजी के उत्तर को सुनकर बादशाह ने कहा—'तो अपने राम को ही दिखलाओ। मैं देखूँ कि तुम्हारे राम कैसे हैं।' यह कहकर उसने इन्हें कारागार में बन्द कर दिया। तब आपने अपने हृदय में हनुमानजी का ध्यान करते हुए उनसे प्रार्थना की—'प्रभो! आप दयासागर हैं, मुझ दास पर कृपा कीजिये।' प्रार्थना करते ही उसी समय करोड़ों-करोड़ नये-नये आकार-प्रकार के, रंग-रूप वाले वानर प्रकट हो गये। नगर-भर में सर्वत्र लोगों के शरीरों को नोचने-खरोचने लगे, बेगमों के वस्त्रों को भी चीड़ने-फाड़ने लगे। इस प्रकार सभी लोगों की बुरी हालत हो गई वानरगण किले को तोड़ने-फोड़ने लगे, उसके पत्थरों से लोगों को घायल करने लगे। इस मार से सभी लोट-पोट हो गये। किसी को यह नहीं सूझता था कि अब किसकी ओट लें। कैसे प्राण बचावें। लोगों ने समझ लिया कि प्रलयकाल आ गया है। हम लोग नहीं बचेंगे। यह उपद्रव देखकर बादशाह की आँखें खुली, उसे अपार दुःख का अनुभव हुआ। तब वह कहने लगा कि-'अब तो श्रीतुलसीदासजी ही हमारी रक्षा कर सकते हैं। मैं अपना सम्पूर्ण धन-माल उन्हीं पर न्यौछावर करता हूँ।।५१६।।

व्याख्या—हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो—उस समय श्रीगोस्वामीजी ने हनुमानजी की प्रार्थना करते हुए यह पद गाया था—

ऐसी तोहिं न बूझिये हनुमान हठीले
साहेब कहूँ न राम से तोसे न उसीले।।
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले।
जानत हौं कलि तेरेऊ मानो गुन गन कीले।।
हांक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।

सो बल गयौ किधौं भये अब गरब गहीले।।
सेवक को परदा फटे तूं समरथ सीले।
अधिक आपुते आपुनो सुनि मान सहीले।।
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुहीले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रंगीले।। (वि० प०)

आपकी प्रार्थना सुनते ही श्रीहनुमानजी दस हजार बन्दरों को लेकर आ गये। ये वे बन्दर थे जिन्हें लंका के युद्ध में मनमाना उत्पात करने को नहीं मिला था, अतः इस बार श्रीहनुमानजी ने इन्हें छूट कर दी और स्वयं श्रीतुलसीदासजी के पास बैठकर सत्संग करने लगे। बन्दरों ने ध्वंस प्रारम्भ किया। यथा—

दोहा— बेगम को पट फारेऊ, मगन भईं सब बाम।
हाहाकार मच्यो महल, पटक्यो नृपहिं धड़ाम।।

आय पांय लिये तुम दिये हम प्रान पावें, आप समझावें करामात नेकु लीजियै।
लाज दबि गयौ नृप तब राखि लयौ, कह्यो भयौ घर राम जू कौ बेगि छोड़ि दीजियै।।
सुनि तजि दयो और करयौ लैकै कोट नयौ, अबहूँ न रहे कोऊ वामै तन छीजियै।
काशी जाय वृन्दावन आय मिले नाभाजूसों, सुन्यौ हो कवित्त निज रीझि मति भीजियै।।५१७।।

शब्दार्थ—छीजियै=क्षीण-रोगी दुःखी हो। कवित्त=छप्पय अपने चरित्र का।

भावार्थ—वानरों के भयंकर उपद्रव से भयभीत दिल्ली का बादशाह श्रीतुलसीदासजी के पास आया और पैरों में गिरकर बोला—'अब तो आप हमें प्राण दान दीजिये, आपके बचाने से ही हम लोग बचेंगे। नहीं तो नहीं।' श्रीगोसाईंजी ने कहा—'पहले आप थोड़ी सी करामात देख लीजिये।' आपकी बात सुनकर बादशाह अति ही लज्जित हुआ। पछताते हुए अपराध को क्षमा करने की प्रार्थना करने लगा। तब वानरों का उपद्रव शान्त हुआ। आपने रक्षा की और कहा कि—'अब तुम्हारा यह किला भगवान श्रीराम का हो गया। आप इसे बिल्कुल छोड़ दीजिये।' यह सुनकर बादशाह ने उस किले को छोड़ दिया। दूसरा नया किला बनाकर उसमें रहने लगा। अब भी उसमें कोई नहीं रहता है। रहने वालों के शरीर रोग से क्षीण हो जाते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने दिल्ली से प्रस्थान किया। पुनः वृन्दावन धाम में आकर आप श्रीनाभाजी से मिले और बहुत प्रसन्न हुए। श्रीनाभाजी ने भक्तमाल में स्वलिखित छप्पय सुनाया। परस्पर मिलने से दोनों महानुभाव प्रेम-निमग्न हो गये।।५१७।।

व्याख्या-विशेष—श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कई दिन तक वहाँ रहकर लोगों को धर्मोपदेश किये। श्रीमहाराणाप्रतापसिंहजी के भाई राजा मानसिंह भी बड़े प्रेम से उपदेश सुनने आते। एकदिन प्रसंगवश आपने भ्रातृ-धर्म का निरूपण करते हुए श्रीराम-भरत की प्रीति का वर्णन किया। चौदह वर्ष वनवास के पश्चात् जब श्रीरामजी अयोध्या आये और श्रीभरतजी से मिले तो उनके आदर्श भ्रातृ-प्रेम को देखकर सुग्रीव और विभीषण को अत्यन्त संकोच हुआ कि धिक्कार है हम लोगों को, जो कि तुच्छ राज्य के लोभवश अपने बड़े भाई को मरवा डाला। आज उनको महान् ग्लानि हो रही थी। यथा—

सघन चोर मग मुदित मन, धनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव विभीषणहिं, भई भरत की भेंट।।
राम सराहे भरत उठि, मिले राम सम जानि।
तदपि विभीषण कीशपति, तुलसी गरत गलानि।। (दो०)

राजा मानसिंह पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी दिन से उनकी अकबर की ओर से उदासीनता एवं महाराणाप्रताप के प्रति सहानुभूति हो गई। जिसका परिणाम यह हुआ कि अकबर के बाद मुगल सल्तनत का ह्रास प्रारम्भ हो गया। आपकी दिव्य-शक्ति से चमत्कृत होकर अकबर ने बड़े सम्मानपूर्वक आपको विदा किया।

आये वृन्दावन०—वहाँ से चलकर आप श्रीवृन्दावन आये और श्रीरामगुलेला नामक स्थान में रुके। श्रीवृन्दावन में उन दिनों श्रीभक्तमाल के रचयिता श्रीनाभाजी भी आये हुए थे। ज्ञानगुदड़ी में रुके हुए थे। उन्होंने श्रीवृन्दावन के समस्त सन्त-वैष्णवों का वृहत् भण्डारा दिया। श्रीवृन्दावन में उस भण्डारे की धूम मची हुई थी। श्रीतुलसीदासजी की भोज-भण्डारों में कोई विशेष अभिरुचि नहीं रहती थी। वे तो स्वयं रूखा-सूखा जो कुछ मिल जाता उसी को श्रीठाकुरजी को भोग लगाकर पा लेते। अतः इनकी भण्डारे में जाने की इच्छा नहीं थी और श्रीनाभाजी को इनके आने का पता नहीं था, जो विशेष आग्रह करके बुलाते। परन्तु परम-भागवत श्रीनाभाजी के भण्डारे में ऐसे महान् सन्त की उपस्थिति परम आवश्यक समझकर श्रीगोपीश्वर महादेवजी ने स्वयं श्रीतुलसीदासजी के पास जाकर भण्डारे में जाने का अनुरोध किया। श्रीतुलसीदासजी श्रीशिवजी की कृपा एवं श्रीनाभाजी की भक्ति की महिमा विचारकर गद्गद हो गये और सहर्ष आज्ञा शिरोधार्य कर लिए।

दूसरे दिन अपने नित्य–कृत्य से निवृत्त होकर जब आप भण्डारे में पहुँचे तो वहाँ सन्तों की पंक्ति बैठ चुकी थी। अतः आप एक ओर जहाँ सन्तों की पनहियाँ रखी थीं, वहीं बैठ गये। किसी ने आगे पत्तल डाल दिया। परसने वाले साग-पूड़ी परस गये। जब खीर परसने वाले रसोइया आये तो देखे कि इनके पास कोई पात्र तो है नहीं, पूछे-बाबाजी ! खीर किसमें लोगे? इन्होंने तुरन्त एक सन्त की पनहियां आगे कर दी और बोले–इसी में दे दीजिये। रसोइया तो आग बबूला हो गया। उसने बहुत उल्टी-सीधी इनको सुनाई। पंक्ति में शोर मच गया। श्रीनाभाजी सुने तो दौड़े आये कि देखे ऐसे कौन सन्त हैं? आकर देखे तो वह थे पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी। श्रीनाभाजी चरणों में पड़ गये। अहो इतने महान् पुरुष का यह दैन्य। सब लोग अवाक् रह गये। फिर तो सभी ने बड़े प्रेम से दण्डवत् प्रणाम किया, रसोइयो ने बहुत-बहुत क्षमा प्रार्थना की, श्रीनाभाजी ने बड़े आदरपूर्वक ले जाकर प्रसाद पवाया। जब सभी सन्त प्रसाद पा चुके नाभाजी ने उपस्थित सभी सन्त-समूह के बीच श्रीमद्गोस्वामीजी तुलसीदासजी को उच्चासन पर विराजमान करके षोडशोपचार विधि से पूजा की और बोले-मैंने श्रीभक्तमालजी की रचना की है, उसके लिए सुमेरु की खोज थी, आज मुझे आप सब सन्तों की कृपा से सुमेरु मिल गया। इसके बाद श्रीनाभाजी ने 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो' इस छप्पय के द्वारा श्रीगोस्वामीजी की स्तुति की। सब सन्तों ने श्रीनाभाजी के भाव का समर्थन किया।

मदनगोपाल जू कौ दरसन करि कही, सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है।
वैसे ही सरूप कियौ दियौ लै दिखाई रूप, मन अनुरूप छबि देखि नीकी लागी है।।
काहू कही कृष्ण अवतारी जू प्रशंस महा, राम अंश सुनि बोले मति अनुरागी है।
दशरथ सुत जानौं सुन्दर अनूप मानौं, ईशता बताई रति कोटि गुनी जागी है।। ५१८।।

शब्दार्थ–भाव=प्रेम। पागी=व्याप्त हुई। अवतारी=अंशी। प्रशंस=प्रशंसनीय, स्तुति करने योग्य। अनुरूप=मिलता-जुलता, सदृश, अनुकूल।

भावार्थ–गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने श्री वृन्दावन में श्रीमदनगोपाल श्रीकृष्ण का दर्शन करके प्रार्थना करते हुए कहा–'प्रभो! आपकी यह छवि अवर्णनीय है, परन्तु सच्ची बात तो यह है कि–भगवान श्रीराम मेरे सच्चे इष्टदेव हैं।' उस समय आपकी दृष्टि प्रेम में पगी हुई थी। भक्त की भावना-प्रार्थना को स्वीकार करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीराम-रघुनाथ रूप धारण करके दर्शन दिया। अपने मन के अनुरूप अपने इष्टदेव की शोभा-सुन्दरता जब आपने देखी तो आपको

अत्यन्त ही प्रिय लगी। किसी दिन श्रीकृष्ण के अनन्य उपासकों ने कहा-भगवान श्रीकृष्ण सोलह कलाओं से पूर्ण प्रशंसनीय हैं और श्रीरामचन्द्रजी अंशावतार हैं। (अतः आपको भी श्रीकृष्ण की उपासना करनी चाहिए) यह सुनकर आपने उत्तर दिया कि-मेरी मति श्रीराम के अनूप रूप में आसक्त हो गई है। अब तक तो मैं उन्हें श्रीदशरथजी का पुत्र, परम सुन्दर, उपमा रहित रूप वाला जान-मानकर उनसे प्रेम करता था, परन्तु आज आपके द्वारा मालूम हुआ कि उनमें ईश्वरता भी है। अब उनमें मेरी प्रीति बीसों गुनी अधिक हो गई है।। ५१८।।

श्रीकृष्ण भये रघुनाथ—सायंकाल को श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी, श्रीनाभाजी एवं और भी बहुत से वैष्णवों को साथ लेकर श्रीज्ञानगुदड़ी में विराजमान श्रीठाकुर मदनमोहनजी का दर्शन करने गये। श्रीठाकुरजी को दण्डवत् प्रणाम करते समय मन्दिर के परशुरामदास नाम के पुजारी ने व्यंग्य किया—

अपने अपने इष्ट को, नमन करें सब कोय।
इष्ट विहीने परशुराम, नवै सो निगुरा होय।।

श्रीगोस्वामीजी के मन में तो श्रीराम—कृष्ण में कोई भेद—भाव था नहीं। परन्तु पुजारी ने कटाक्ष किया तो आपने हाथ जोड़कर श्रीठाकुरजी से कहा—

कहा कहौं छबि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक नवतु हैं, धनुष बाण लो हाथ।।

भक्तवांछा कल्पतरु प्रभु ने भक्त का मान रखा। यथा—

मुरली लकुट दुराय के, धर्यौ धनुष सर हाथ।
तुलसी रुचि लखि दास की, कृष्ण भये रघुनाथ।।
कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपिन के साथ।
अपने जन के कारणे, कृष्ण भये रघुनाथ।।

श्रीवृन्दावन के सभी मन्दिरों का दर्शन करके आप नन्दगाँव—बरसाने गये। वहाँ पर पहुँचने से पहले ही आपकी कीर्ति पहुँच चुकी थी। अतः दर्शनार्थी नर—नारियों का समुदाय उमड़ पड़ा। आपका दर्शन करने के लिए। कुछ क्षुद्र हृदय लोगों को श्रीतुलसीदासजी का उत्कर्ष नहीं देखा जा रहा था। वे लोग 'कृष्ण भये रघुनाथ पर विश्वास ही नहीं कर रहे थे। तब उनको समझाते हुए आपने यह पद कहा था—

प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नर केहरि खम्भ महां।
झख राज ग्रस्यो गजराज कृपा तत्काल विलम्ब कियो न तहां।।

सुर साखि दै राखी है पांडु वधू, पट लूटत कोटिक भूप जहां।
तुलसी भजु सोच विमोचन को, जन को प्रण राम न राख्यो कहां।।

श्रीवृन्दावन में एक बार कुछ कृष्णोपासक भक्तों ने कहा कि आप श्रीकृष्णचन्द्र की उपासना छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी की उपासना क्यों करते हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि श्रीराम १२ कला के अवतार हैं और श्रीकृष्ण १६ कला के। यह सुनते ही श्रीतुलसीदासजी प्रेम में अत्यन्त बेसुध होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। इनकी यह दशा देखकर ब्रजवासी बड़े पछताये कि हम लोगो ने नाहक इनके इष्ट की हीनता कहकर इनको कष्ट पहुँचाया। मूर्च्छा दूर करने के लिए बहुत से उपाय किये गये। जब बहुत देर में होश हुआ तो लोगों ने मूर्च्छा का कारण पूछा, तब आपने कहा कि अभी तक तो मैं श्रीरामजी को श्रीदशरथराज किशोर, कौशल्या–नन्दन जानकर, रघुकुल के राजा जानकर उनकी उपासना करता था, परन्तु आप लोगों के मुख से यह जानकर कि श्रीरामजी भगवान के अवतार हैं, वे चाहे १२ कला के हो चाहे इससे भी कम हों, मुझे इतना आनन्द हुआ कि मैं उसे सँभाल नहीं सका, मूर्च्छित हो गया। आपने उस समय यह दोहा कहा–

जौं जगदीश तो अति भलो, जौं महीश बड़भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम चरण अनुराग।।

प्रसंगवश यहाँ एक बात और कह दूं कि यह जो १६ कला एवं १२ कला की बात कही जाती है, वह केवल विनोद मात्र है और इस विनोद का आधार यह है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र चन्द्रवंश में प्रकट हुए थे और चन्द्रमा की १६ कलायें होती हैं तथा श्रीरामजी सूर्यवंश में प्रकट हुए थे और आदित्य द्वादश कहे जाते हैं। परन्तु लोग इस बात पर ध्यान न देकर चन्द्रमा की १६ कलाओं को लेकर श्रीकृष्ण को १६ कला का तथा द्वादशादित्य को लेकर श्रीराम को १२ कला का अवतार कहते हैं। वस्तु–तस्तु श्रीकृष्ण एवं श्रीराम कलातीत है और एक है। स्वयं भगवान हैं। यथा–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' (भा०) 'रामस्तु भगवान् स्वयं (महारामायण)।

नन्द सुवन दशरथ कुँवर, उभय एक सरकार।
नारायण जो दो कहै, सो अविवेक विचार।।

श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी के इस विशुद्ध माधुर्य को देखकर कृष्णोपासक चकित रह गये।

श्रीउदयप्रकाश को विग्रह दान—दक्षिण देश में एक भागवत राजा के यहाँ श्रीठाकुरजी की बहुत सी प्रतिमायें थीं, एक दिन श्रीरघुनाथजी ने राजा पर कृपा करके आज्ञा दी कि मेरे एक बाल—स्वरूप श्रीविग्रह की श्रीअयोध्या जन्मस्थान पर प्रतिष्ठा करावो। राजा ने श्रीठाकुरजी को पालकी में विराजमान कराके संग में अपने निजी कर्मचारियों को बहुत—सा द्रव्य देकर श्रीअवध भेजा। मार्ग में श्रीवृन्दावन में श्रीयमुना तट पर लोग विश्राम कर रहे थे। उदयप्रकाश नामक एक ब्राह्मण श्रीठाकुरजी का दर्शनकर लुभा गया। उसने श्रीतुलसीदासजी से प्रार्थना किया कि आप ऐसी कृपा करें कि श्रीठाकुरजी यहीं विराजें। ब्राह्मण का अनुराग देखकर श्रीगोस्वामीजी ने प्रभु से निवेदन किया। फिर तो प्रभु वहीं अचल हो गये। कोटि उपाय करने पर भी वहाँ से उठे नहीं। उस समय गोस्वामीजी ने यह पद कहा था—

राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी।
तथा— तुलसी रामहिं आपुते, सेवक की रुचि मीठि।
सीतापति से साहिबहिं, कैसे दीजै पीठि।। (दो०)

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीठाकुरजी का नामकरण किया—'कौशिल्यानन्दन जू कुछ लोगों ने कहा कि जो नाम पूर्व राजा के यहाँ रहा वही नाम रखा जाय। परन्तु जब पता लगाया गया तो मालूम हुआ कि वहाँ भी यही नाम था। तब तो सब लोगों ने श्रीगोस्वामीजी के अनुभव की भूरि—भूरि प्रशंसा की।

श्रीनन्ददास मिलन—अष्टछाप के कवि श्रीनन्ददासजी श्रीतुलसीदासजी के शिक्षा—गुरु बंधु लगते थे। दोनों ही महानुभावों ने काशी में श्रीशेषसनातनजी के यहाँ शिक्षा पाई थी। वे भी श्रीगोस्वामीजी से मिलने आये और एक पद भेंट किये। वह पद इस प्रकार है—

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु भ्राता पद वन्दे।
शेष सनातन विपुल ज्ञान जेहिं पाइ अनन्दे।।
रामचरित जिन कीन तापत्रय कलिमल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आपु पुरारी।।
राखी जिनकी टेक मदनमोहन धनु धारी।
वाल्मीकि अवतार कहत जेहिं सन्त प्रचारी।।
नन्ददास के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्जवल रस टपकाय दियो जानत सब कोई।।

श्रीगोस्वामीजी के संग के प्रभाव से श्रीनन्ददासजी भी प्रथम श्रीरामभक्त ही थे। परन्तु श्रीवृन्दावन में आकर श्रीविट्ठलनाथजी के सत्संग से इन पर श्रीकृष्ण–भक्ति का रंग चढ़ गया। श्रीतुलसीदासजी ने विनोद में पूछा–नन्ददासजी! 'कहा कमी रघुनाथ के छाँड़ी कुल की बान'। श्रीनन्ददासजी ने कहा–गुरुभाईजी! कुछ कमी देखकर मैं इधर झुका होऊँ सो बात नहीं। बल्कि–'मन अनुरागी है गयो, सुनि वंशी की तान।' इसके बाद श्रीनन्ददासजी ने हँसकर कहा–आप लोगों ने प्रथम ही भूल की, कि मेरा नाम नन्ददास रख दिया अतः मैं नन्दसुवन की सेवा में लग गया। यदि आप लोग दशरथदास नाम रखते तो मैं प्राणपण से श्रीदशरथ सुवन की ही सेवा करता। श्रीनन्ददास की यह युक्तिपूर्ण वार्ता सुनकर सब लोग हँसने लगे। श्रीतुलसीदासजी बहु प्रसन्न हुए और बहुत प्रकार से श्रीराम–कृष्ण की एकता का प्रतिपादन किये। तब श्रीनन्ददासजी ने यह पद गाया–

राम कृष्ण कहिये उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरे हैं, यह व्रज माखन चोर।।
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत शत्रुहन लछिमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित संग गायन नन्दकिशोर।।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नन्ददास प्रभु सब तजि भजिये, जैसे निरखत चन्द्र चकोर।।

श्रीगोपीनाथजी से मिलन–एकदिन श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभुजी के पुत्र श्रीगोपीनाथजी मिलने के लिए आये। प्रसंगवश श्रीगोस्वामीजी ने श्रीअयोध्या की बहुत महिमा वर्णन की। इस पर श्रीगोपीनाथजी बोले–

हमहूँ दरस अवध को पायो। इतो प्रभाव दृष्टि नहिं आयौ।
और न चमत्कार कछु देख्यौ। दीन–हीन प्रानी बहु पेख्यौ।।

तब श्रीगोस्वामी ने कहा–बात यह है कि–

और पुरिन सब बांटिलै, धनिक धनेश नरेश।
दीन खीन राखे सरन, दीनानाथ दिनेश।।

पुनः– भूमिपाल ब्यालपाल नाकपाल लोकपाल, कारन कृपाल में सबै के जी की थाह ली।
कादर को आदर काहू पै नाहीं देखियत, सबहिं सुहात है सेवा सुजान टोहि ली।।

तुलसी सुभाय कहैं नाहीं कछु पच्छपात,
कौने ईस किये भालु कीस खास माहिली।
रामही के द्वार पै बुलाइ सनमानियत,
मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहिली।। (क०)

ये सुनकर श्रीगोपीनाथजी बहुत प्रसन्न हुए और घर आकर श्रीठाकुरजी के लिए अमनियां भेजे। श्रीगोस्वामीजी ने उसे 'सखरा' कहकर वापस कर दिया। तब उन्होंने सेवक से कहा कि दुकान से सब सामान खरीदकर दे आओ। जब सेवक पुनः ले गया तो आपने फिर यह कहकर लौटा दिया कि दुकान की वस्तु ही कौन अमनियां हैं? यह सुनकर सबको बड़ा कौतूहल हुआ। तब आपने कृपा करके सबको श्रीवृन्दावन में घर–घर खाते–खेलते श्रीबाल–कृष्ण का दर्शन कराया।

श्रीगोकुल दर्शन—ब्रजधाम के तीर्थों का दर्शन करते हुए आप श्रीगोकुल पहुँचे। वहाँ के तीर्थों का दर्शनकर आपने गोपों की बस्ती में ही विश्राम किया। भगीरथ ग्वाल की सेवा से सन्तुष्ट होकर फिर आपने श्रीगोकुलनाथजी के दर्शन किये। फिर श्रीगोस्वामीजी श्रीविट्ठलनाथजी से मिले। श्रीठाकुरजी की सेवा में आपने यह पद गाया—

बन्दौं अवध गोकुल ग्राम।
उत विराजत जानकी वर, इतहिं स्यामा—स्याम।।
उहां सरजू बहति अद्भुत, इहां जमुना नीर।
हरति कलिमल दोउ मूरति, सकल जन की पीर।।
मनि जटित सिर क्रीट राजत, संग लक्ष्मण बाल।
मोर मुकुट अरु वेणु कर इहँ, निकट हलधर ग्वाल।।
उहां केवट सखा तारे, विहँसि कै रघुनाथ।
इहां नृग जदुनाथ तारयौ, कूप गहि निज हाथ।।
उहां शबरी स्वर्ग दीनो, सील सागर राम।
इहां चन्दन ल्याय कुबरी, किये पूरन काम।।
भक्त हित श्रीराम कृष्ण सु, धरयौ नर अवतार।
दास तुलसी दोउ आसा, कोउ उतारो पार।।

श्रीचित्रकूट आगमन—इस प्रकार श्रीवृन्दावन के रसिकों को परम आनन्द प्रदान करते हुए वहाँ कुछ दिन रहकर आप श्रीचित्रकूट चले आये। वहाँ पर एक दिन सत्यकाम नामक ब्राह्मण

ने मन में किञ्चित् निर्वेद जगने पर घर छोड़कर विरक्त–दीक्षा लेने के लिए आपके पास आकर अनुनय–विनय किया। परन्तु सर्वज्ञ मुनि ने उसके हृदय को काम–विकार से दूषित देखकर दीक्षा देने से इन्कार कर दिया। तब वह ब्राह्मण हठ करके कुटी के द्वार पर बैठ गया कि मैं बिना दीक्षा लिए जाऊँगा ही नहीं। संयोग की बात उसी दिन रात्रि के समय रानी कदम्बलता श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी का दर्शन करने आईं। सत्यकाम का कामुक हृदय मचल पड़ा रानी की सुन्दरता देखने को। फिर तो उसने दीपक की बाती थोड़ी उकसा दी और उसके उजाले में रानी को देखा तो देखता ही रह गया। जब रानी दर्शन करके चली गईं, तब श्रीगोस्वामीजी ने उस ब्राह्मण को समझाया कि अभी तुम्हारा हृदय विषय– वासना से कलुषित है, उसमें दीक्षा–ग्रहण करने की पात्रता नहीं है, अतः तुम घर लौट जाओ। ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित होकर श्रीतुलसीदासजी के चरणों में गिर पड़ा और दीन होकर बोला–नाथ! यह मेरे वश की बात नहीं है कि मैं अपने साधन–संयम से हृदय को शुद्ध कर सकूँ, यह तो आप महापुरुषों की कृपा से ही सम्भव है। श्रीगोस्वामीजी को ब्राह्मण की इस दीनता पर दया आ गई और कृपा करके क्षणमात्र में उसके समस्त विकारों को दूरकर उसे परम साधु बना दिया।

दरिद्रमोचन–एक दिन श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी रात्रि के समय कुटी के बाहर बैठकर भजन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त वयोवृद्ध व्यक्ति श्रीमन्दाकिनी की ओर बढ़ा चला जा रहा है। कौतूहलवश आप भी उसके पीछे–पीछे चल पड़े वहाँ पहुँचने पर देखे तो वह बूढ़ा श्रीमन्दाकिनीजी में डूबकर जीवन विसर्जन करने का उपक्रम कर रहा है। तब आपसे रहा नहीं गया, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक उसके समीप जाकर उसे ऐसा करने से रोका। पूछने पर मालूम हुआ कि उसने दरिद्रता से तंग आकर डूब मरने का निश्चय किया है। उसकी दयनीय दशा देखकर कोमल–चित्त सन्त श्रीतुलसीदास जी को बड़ी दया आई और उन्होंने श्रीमन्दाकिनी जी से उसकी दरिद्रता दूर करने की प्रार्थना की। तब मन्दाकिनीजी की मध्य धारा से एक पाषाण खण्ड प्रकट होकर जल पर तैरने लगा और आकाशवाणी हुई कि यह दरिद्रमोचनी शिला है, इसके दर्शन मात्र से समस्त दुःख, दोष दूर हो जाते हैं। ब्राह्मण ने उस पुनीत शिला का दर्शन किया। सचमुच–

ताके दरसन होत ही, रह्यो न दुख को लेस।
द्विज पायो सन्तोष सुख, मानहु धनिक धनेस।।

इस प्रकार आपकी कृपा से ब्राह्मण की प्राण रक्षा हो गई तथा उसका जन्म–जन्म का दारिद्रय दूर हो गया। कुछ दिन चित्रकूट रहकर फिर आप काशी चले आये।

नन्दलाल मिलन—संडीले के श्रीनन्दलाल स्वामी छः महीने तक श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी की सन्निधि में रहकर (दो आवृत्ति) श्रीरामरक्षा—स्तोत्र पढ़े और जब चलने लगे तो स्मृति के लिए कुछ चिन्ह—स्वरूप प्रसाद की इच्छा किये तो आपने उन्हें एक शालग्राम भगवान का अर्चाविग्रह, स्वहस्तलिखित श्रीराम—कवच तथा एक बढ़िया कम्बल देकर विदा किया। इसी प्रकार भारत के कोने—कोने से सन्त—महात्मा आ—आकर आपका दर्शन तथा सत्संग करते। इनमें श्रीयादवाचार्यजी, श्रीवेणीमाधवजी, श्रीअनन्यमाधवजी, श्रीचित्सुखजी, श्रीकरुणेशजी, श्रीसदानन्दजी, श्रीतपस्वी मुरारीदासजी, श्रीनागा बाबाजी, श्रीविरही भगवन्तजी, श्रीविभवानन्दजी, श्रीदेवजी, श्रीदिनेशजी और दक्षिण देश के पिल्ले स्वामीजी उल्लेखनीय हैं।

श्रीसूरदास मिलन—इस प्रकार सन्त समागम में आठ वर्ष का समय आठ पल के समान बीत गया। संवत् १६१६ में जब आप श्रीकामदगिरि के समीप एक एकान्त कुटी में निवास करते थे। इसी बीच भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय सखा, उद्धवावतार श्रीसूरदासजी इनसे मिलने आये। बड़ा ही मधुर सत्संग रहा। इन दोनों महाभागवतों तथा महाकवियों का । श्रीसूरदासजी स्वरचित 'सूरसागर' ग्रन्थ दिखाया तथा कुछ लीला पद गाकर भी सुनाया। श्रीतुलसीदासजी ने ग्रन्थ को हृदय से लगा लिया और बहुत—बहुत बधाई दी। सात दिन तक रहकर श्रीसूरदासजी पुनः श्रीवृन्दावन चले आये। (कुछ विद्वानों का मत है कि सूर—मिलन इतिहास सम्मत नहीं है)।

मीरा पत्रोत्तर—तदनन्तर मेवाड़ से सुखपाल नाम का ब्राह्मण श्रीमीराबाई का पत्र लेकर आया। वह इस प्रकार से है—

स्वस्ति श्रीतुलसी गुण भूषण दूषण हरण गोसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब हरहु शोक समुदाईं।
घर के स्वजन हमारे जेते सबनि उपाधि बढ़ाई
साधु संग अरु भजन करत में देत कलेश महाई।
बालेपन से मीरा कींनी गिरिधर लाल मिताई
सोतो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरि आई।
मेरे मातु—पिता के सम हौं हरि भक्तन सुखदाई
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखिये समुझाई।

श्रीतुलसीदासजी ने इसके उत्तर में एक गीत एवं एक कवित्त लिखकर तथा 'सब तजि हरि भजिवो भलो' ये मुखागर कहकर ब्राह्मण को विदा किया। पद—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज वनितन भयो मुद मंगलकारी।।
नातो नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहिं फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्राण ते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो।। (विनय)

*** सवैया ***

सो जननी सो पिता सोई भ्रात सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगो सो सखा सोई सेवक सो गुरु सो सुर साहब चेरो।।
सो तुलसी प्रिय प्राण समान कहाँ लौं बनाय कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सों राम को होइ सबेरो।। (कवितावली)

गीतावली रचना—एकदिन एक सुघर सलोना, साँवला बालक प्रातःकाल ही श्रीतुलसीदासजी के पास आकर प्रणाम करके बैठ गया। इन्होंने सहज भाव से कहा—बालक भगवान! कोई पद तो सुनाओ। बालक ने अत्यन्त ही सुमधुर स्वर से एक पद गाया। उसके गान पर रीझकर श्रीतुलसीदासजी ने चार नये पद तुरन्त बनाकर उसे दिये और बोले कि जब इनको याद कर लेना तो फिर सुनाना। बालक ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल पुनः आकर सभी पद सुना दिये और चार पद फिर माँगा। इसी व्याज से अब नित्यप्रति चार पद बनाने लगे। यदि किसी दिन आलस्य करते तो बालक मचल जाता। बिना पद लिए घर जाता ही नहीं। श्रीहरि कृपा से हृदय में नित्य नवीन भावों की स्फूर्ति होने लगी। फलस्वरूप शनैः—शनैः भगवान श्रीरामजी के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक के प्रायः सभी प्रमुख प्रसंगों की सुललित गीत से पदों की रचना हो गई संवत् १६२८ में सभी पदों को श्रृंखलाबद्ध संकलित किये और उसका नाम रक्खे 'श्रीराम—गीतावली' इसके बाद श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी भी बहुत से पद रचे और उनका भी संकलन करके उसका नाम रक्खे 'श्रीकृष्ण—गीतावली' दोनों ही ग्रन्थों को श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने उन्हें सर्वप्रथम श्रीहनुमानजी को सुनाया। कोटि कविकुल तिलक श्रीहनुमानजी इनकी रचना को सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए।

याज्ञवल्क्य भरद्वाज दर्शन—एक बार श्रीतीर्थराज प्रयाग में मकर संक्रान्ति का पुण्यपर्व विचारकर आपने भी कुछ काल तक वहाँ निवास किया। एक दिन श्रीअक्षयवटजी का दर्शन करने गये तो वहाँ इन्होंने दो परम तेजस्वी मुनियों को देखा। ये उन्हें दूर से ही दण्डवत् प्रणाम करके हाथ—जोड़कर खड़े हो गये। उनमें से एक महात्मा ने हाथ के इशारे से इन्हें समीप बुलाया और बैठने के लिए सुन्दर आसन दिया। ये आसन को प्रणाम कर उसे समेटकर पृथ्वी पर ही बैठ गये और अपना परिचय देते हुए उन दोनों महात्माओं का भी परिचय पूछा। वे दोनों महात्मा थे—श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीभरद्वाजजी। श्रीतुलसीदासजी ने सुना कि श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीभरद्वाजजी को वही कथा सुना रहे हैं, जो हमारे गुरुजी ने सूकरक्षेत्र में हमको सुनाई थी। तब तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अतः श्रीयाज्ञवल्क्यजी से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो उन्होंने श्रीरामचरित प्राप्ति की परम्परा वर्णन की कि इस चरित्र को सर्वप्रथम श्रीशिवजी ने रचकर अपने मानस में छिपा रखा था फिर समय पाकर श्रीपार्वतीजी को सुनाया और अधिकारी जानकर कागभुसुण्डिजी को भी प्रदान किया। उन्हीं कागभुसुण्डिजी से मुझे प्राप्त हुआ। श्रीतुलसीदासजी समझ गये कि हमारे श्रीगुरुदेवजी ने भी तो श्रीशिव कथित श्रीरामचरित सुनाया था अतः दोनों चरित्रों में साम्य स्वाभाविक है। इस प्रकार युगल मुनि श्रेष्ठों का दर्शनकर एवं सम्वाद श्रवणकर इन्होंने अपने को कृतार्थ माना। दूसरे दिन पुनः जब वहाँ गये तो न वह अक्षयवट ही दिखाई पड़ा न वे युगल मुनि ही। फिर तो ये दोनों मुनियों के रूप—शील—स्वभाव का स्मरण करते हुए वहाँ से चल पड़े।

सीतामढ़ी दर्शन—संयोग की बात, जाना था श्रीअयोध्या, चले गये काशी की ओर। जब कुछ दूर निकल गये तो ध्यान आया फिर विचार किये कि भगवान जो करते हैं सो अच्छा ही करते हैं। अब श्रीरामचरितमानस के परमाचार्य, अपने माता—पिता—गुरु श्रीशिवजी का दर्शन करके फिर अयोध्या चलूंगा। ऐसा निश्चय करके आगे बढ़े और श्रीगंगाजी के तीर—तीर विचरते हुए काशी की ओर चले। मार्ग में दिगपुर और वारिपुर गाँव के बीच सीतामढ़ी नाम का एक स्थान मिला। वहाँ पर एक सीतावट के नाम से प्रसिद्ध विशाल वटका वृक्ष था। इष्ट के नाम से सम्बन्धित स्थल विचारकर इन्होंने वहीं विश्राम करने का निश्चय किया। परन्तु ज्योंही आसन लगाये, इनकी समाधि लग गई। तीन दिन तक शरीर की सुधि—बुधि नहीं रही। हृदय में पूर्व का स्मरण हो आया, अहो! यह तो वह स्थल है जहाँ श्रीवाल्मीकिजी उल्टा भगवन्नाम जपकर व्याध से ब्रह्म समान हो गये थे। जहाँ जानकीजी ने लव—कुश नाम के जुड़वे पुत्रों को जन्म दिया। जब देह का अनुसंधान हुआ तो पाँच कविताओं में वहाँ का माहात्म्य वर्णन किया। यथा—

जहाँ वाल्मीकि भये व्याध ते मुनीन्द साधु,
'मरा–मरा' जपि सिख सुनि रिषि सात की।
सीय को निवास लवकुश को जनम थल,
तुलसी छुवत छाँह ताप गैरे गात की।।
विटप महीप सुर सरित समीप सोहै।
सीता बटु पेखत पुनीत होत पात की।
बारिपुर दिगपुर बीच विलसति भूमि,
अंकित जो जानकी चरण जल जात की।।

वहाँ से चलकर चरणाद्रि (चुनारगढ़) आये। यहाँ आने पर पता चला कि यहाँ के राजा ने साधु–ब्राह्मणों की सेवा तथा अन्य और भी परमार्थ कार्य में अधिक द्रव्य–व्यय हो जाने से समय पर सरकारी भुगतान नहीं किया, अतः दिल्लीश्वर ने उन्हें कैद में डाल दिया है। मंत्रियों की प्रार्थना पर श्रीतुलसीदासजी ने भोजपत्र पर एक सिद्ध श्रीहनुमानजी का मंत्र लिखकर दिया और कहा कि इसे बादशाह को देना, ये देखते ही राजा को छोड़ देगा। ऐसा ही हुआ। मंत्राक्षरों में श्रीहनुमानजी की विकराल मूर्ति को देखते ही बादशाह अत्यन्त भयभीत होने लगा। उसी समय उसे अदृष्ट वाणी भी सुनाई पड़ी कि राजा को छोड़ दो, अन्यथा अभी सर्वनाश हो जायगा। राजा छूटकर घर आ गये। आप काशी आ गये।

मुक्तामणिदास को सिद्धिदान–एक बार श्रीतुलसीदासजी श्रीकनक–भवन में विराजमान युगल सरकार श्रीसीतारामजी का दर्शन करने गये। शयन का समय था। श्रीमुक्तामणिदासजी नाम के एक सन्त शयन का यह पद गा रहे थे–

सैन करहु रघुवीर पियारे।
हौं पठई आई कौसिल्या बड़े भूप उठि सदन सिधारे।।
जुगल जाम जामिनी बितीती नैंनन नींद भरे रतनारे।
प्रमुदित सरद कोकनद मानो मंद समीर भलै कर धारे।।
रतन जड़ित मनिमय मन्दिर महँ रुचि–रुचि सोभित जनक सुता रे।
मगजोवत सहचरी सिया की सैन उचित सब सौज सँवारे।।
अति आलसजुत भये हैं भरत जू लखनलाल रिपुहन उजियारे।
सुनत सकल दै पान विदा करि उठे 'दासमुक्ता' जब बारे।।

इस पद को सुनकर आप बहुत प्रसन्न हुए और कृपा करके उन्हें तत्काल परमसिद्ध बना दिया।

बटेश्वर मिश्र का तंत्र—काशीपुरी के ब्राह्मणों ने देखा कि रामचरितमानस का प्रचार दिनों—दिन बढ़ता ही जा रहा है। मानस के साथ ही श्रीतुलसीदासजी के प्रति भी लोगों की अपार श्रद्धा है। तब उन कुटिल पण्डितजनों ने बटेश्वर मिश्र नामक एक तांत्रिक से इनके ऊपर मारण—मंत्र का प्रयोग कराया। यद्यपि कालभैरव ने बटेश्वर को बहुत मना किया कि हमें वहाँ मत भेजो। भगवद् भक्तों का अनिष्ट करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। परन्तु बटेश्वर ने हठ किया तो भैरव वहाँ गये तो अवश्य, परन्तु श्रीहनुमानजी को रक्षा में देखकर समीप जाने का साहस नहीं हुआ, उल्टे क्रोध में भरकर लौटकर बटेश्वर का ही प्राण ले डाले।

श्रीमधुसूदन सरस्वती की सम्मति—यह उद्योग भी विफल होने पर काशी के ब्राह्मणजन श्री अद्वैतवेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित, यति—शिरोमणि श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी के पास गये और बोले—भगवन्! श्रीशिवजी ने श्रीरामचरितमानस को 'सत्यं शिवं सुन्दरं' तो प्रमाणित कर दिया है परन्तु यह वेद—शास्त्र, इतिहास, पुराणादि में से किसके तुल्य है, यह तो बताया नहीं। अतः इसका निर्णय कृपा करके आप करदें। पण्डितों को विश्वास था कि ये अद्वैत सिद्धान्त के आचार्य हैं और मानस भक्ति—प्रधान हैं, अतः ये अवश्यमेव उसका खण्डन करेंगे। हीन कोटिका मानेंगे। परन्तु उन अविवेकीजनों को यह खबर नहीं कि सच्चा ज्ञानी कभी भी भक्ति को हेय दृष्टि से नहीं देखेगा। यथा—

यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भक्ति नहिं तजहीं।।

फिर श्रीसरस्वतीपादजी तो भक्तिपूरित हृदय थे। 'कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।' आपका यह वाक्य इसका प्रमाण है। अतः ब्राह्मणों की बात सुनकर आपने कहा कि पहले मैं ग्रन्थ को मँगवाकर आद्योपान्त पढूंगा इसके बाद जैसा कुछ समझ में आयेगा वैसा कहूँगा। सहसा कुछ कहना उचित नहीं है तत्पश्चात् श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने श्रीरामचरितमानस की एक प्रति मँगवाई और बड़े ही मनोयोग से उसको पढ़ा तो उन्हें परमानन्द का अनुभव हुआ। फिर तो उन्होंने ग्रन्थ के ऊपर यह श्लोक लिख दिया।

आनन्द कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः।
कविता मञ्जरी भाति राम भ्रमर भूषिता।।

मानस—परत्व—श्रीसरस्वतीपाद ने बड़े ही समारोह के साथ ग्रन्थराज को सुन्दर विमान पर विराजमान कराके बाजे—गाजे सहित वापस भेजा। जब पण्डितों ने पुनः आकर पूछा तो आपने कहा कि मेरी राय तो यह है कि जिन शिवजी ने प्रमाणित किया है, उन्हीं से यह भी निर्णय कराया जाए कि यह किस कोटि का है। ब्राह्मणों की समझ में बात आ गई उन्होंने श्रीतुलसीदासजी से अपना मनोभाव कहा। उन्होंने भी अनुमति दे दी। फिर तो ब्राह्मणों ने श्रीशिवजी के मन्दिर में श्रीरामचरितमानस को सबसे नीचे रखकर उसके ऊपर इतिहास, पुराण, शास्त्रादि रखकर, सबके ऊपर वेद को पधराकर रात्रि में पट बंदकर दिया। प्रातःकाल पुनः काशीपुरी की अपार जनता यह देखने के लिए टूट पड़ी कि श्रीशिवजी ने क्या निर्णय दिया? जब पट खुला तो असंख्यों नर—नारियों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेद के भी ऊपर विराजमान हैं। तब तो सभी ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित होकर श्रीतुलसीदास जी के चरणों में पड़कर बारम्बार प्रणाम किये और अपराध के लिए क्षमा—याचना कर भाव—भक्तिपूर्वक उनका चरणोदक ले—लेकर अपने घर गये। इसके बाद काशी के ब्राह्मणों ने फिर कभी विरोध नहीं किया।

रविदत्त का हठ—बंगाल प्रान्त के नदिया (नवद्वीप) के सर्वशास्त्र विशारद आशुकवि पण्डित रविदत्तजी उन दिनों काशी वास कर रहे थे। श्रीतुलसीदासजी की प्रतिष्ठा उनके लिए ईर्ष्या का विषय बन गई। अतः उन्होंने हठ करके पूज्यपाद श्रीगोसाईंजी से शास्त्रार्थ किया, परन्तु श्रीहरि—कृपा के समक्ष पाण्डित्य को पराजित होना पड़ा। रविदत्त हारे, बुरी तरह से हारे किन्तु तब भी शान्त नहीं हुए। शास्त्र से हारे तो शस्त्र को सम्भाले। जब श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी गंगा स्नान करने गये तो ये लट्ठ लेकर उनको मारने के लिए गये। परन्तु श्रीहनुमानजी को गदा लिए हुए उनकी रक्षा में तत्पर देखकर ये अपना सा मुँह लेकर लौट आये। कहावत है—'जेंवरी जल भले जाय परन्तु ऐंठन बनी ही रहती है।' इतने पर भी रविदत्त के मन का अमर्ष मिटा नहीं, तब उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए छल का आश्रय लिया। ऊपर से अत्यन्त विनम्र बनकर श्रीतुलसीदासजी की सेवा में रहने लगे। साधु—हृदय श्रीतुलसीदासजी उनकी इस दीनता पर प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। तब रविदत्त ने यही वर माँगा कि आप काशीपुरी छोड़कर अन्यत्र चले जाइये। वचनबद्ध होने के कारण विवश श्रीतुलसीदासजी एक कवित्त में श्रीशिवजी को प्रेमोपालम्भ देकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान कर दिये। वह कवित्त इस प्रकार है—

देवसरि सेवौं वामदेव गाँव रावरेहीं, नाम रामही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक, लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥

एते पर हूं जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै, ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइकै उराहनो, उराहनो न दीजै मोहिं, काल कला काशीनाथ कहे निवरत हौं।। (क०)

ऐसे महाभागवत का अपने यहाँ से जाना श्रीशिवजी को सहन नही हुआ। अतः तत्काल, अभी तुलसीदासजी कुछ ही दूर गये थे कि प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और लौट चलने का आग्रह किये। श्रीतुलसीदासजी ने कहा कि मैं रविदत्त के कहने से जा रहा हूँ अतः उचित तो यह है कि वह आकर कहें तो मैं चलूं। श्रीशिवजी ने कहा—मैं अभी हाल भेजता हूँ। उधर रविदत्त ने सुना कि तुलसीदासजी चले गये, तो वह बहुत ही प्रसन्न हुआ खुशहाली में श्रीशिवजी का विशेष पूजन एवं दर्शन करने गया। परन्तु ज्योंहि मन्दिर में पहुँचा, पट अपने आप बंद हो गये और क्रोध पूर्वक गम्भीर आकाशवाणी हुई कि शीघ्र ही जाकर श्रीतुलसीदासजी को मनाकर लाकर काशीपुरी में बसाओ नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। रविदत्तने भारी छल किया था अतः अकेले तो श्रीतुलसीदासजी के समीप जाने का साहस नहीं हुआ, उनके परम मित्र श्रीटोडरमलजी को साथ लेकर गये। स्वयं श्रीगोसाईंजी के चरणों में पड़ गये, अपराध के लिए क्षमा—प्रार्थना किये और पुनः लौट चलने का अनुरोध किये। श्रीटोडरमलजी ने निवेदन किया कि अस्सी घाट पर घाट के सहित नया मकान बनकर तैयार है। आप चलकर सुखपूर्वक वहाँ निवास करें और हम लोगों को सेवा का सौभाग्य प्रदान करें। श्रीतुलसीदासजी मित्र की बात टाल न सके। वहीं निवास करने लगे। श्रीटोडरमलजी का वह मकान कथा—कीर्तन का केन्द्र बन गया।

विनय—पत्रिका लेखन—श्रीरामचरितमानस के दिव्य प्रभाव से अपनी महिमा का लोप होते देखकर एक दिन रात्रि में कलियुग हाथ में कृपाण लिए हुए आया और उसने श्रीगोसाईंजी को बहुत धमकाया कि तुम अपनी पोथी को गंगा में डुबा दो, नहीं तो मैं बहुत पीड़ित करूँगा। ऐसा कहकर जब कलियुग चला गया तो श्रीतुलसीदासजी ने श्रीहनुमानजी का ध्यान किया। श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर कहा कि आप एक विनयावली लिखकर मुझे दीजिये, मैं उसे श्रीप्रभु के दरबार में पेश करके इसे दण्डित कराऊँगा। तब आपने 'विनय—पत्रिका' लिखी। जिस पर श्री प्रभु ने अपने श्रीकर—कमल से सही करके मुनि को निर्भय कर दिया। यथा—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहू नाथ नाम सों परतीति, प्रीति एक किंकर की निवही है।।
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब की, साहब बांह गही है।।

विहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हू लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी, अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है।। (वि०)

मिथिला यात्रा—एकबार आपने मिथिलापुरी की यात्रा की। मार्ग में अनेकों विश्राम हुए। भृगु आश्रम में एक 'बुआ' नामक गलित कुष्ठ के रोगी को कृपापूर्वक आरोग्य प्रदान किया। हंसपुरा में मृतक पति के साथ सती होने के लिए जाती हुई परसी ब्राह्मणी ने मार्ग में आपको प्रणाम किया और आपके मुख से सहज ही 'सौभाग्यवती भव' का आशीर्वाद निकल पड़ा। जब उसने स्थिति निवेदन किया तो आपने कहा—अब तो मुख से बात निकल गई, मिथ्या तो हो नहीं सकती, यदि तुम लोग सकुटुम्ब भगवान के भजन का प्रण करो तो यह भगवत्कृपा से पुनः जीवित हो जायगा। सब लोगों ने प्रतिज्ञापूर्वक भगवद् भजन का संकल्प किया। श्रीगोस्वामीजी ने 'जै—जै सीताराम' का गर्जन किया। मृतक भी जीवित होकर भगवन्नाम का उद्घोष करते हुए उठ बैठा। दो दिन तक गऊघाट में राजा गम्भीरदेव के यहाँ विश्राम करके ब्रह्मेश्वर का दर्शन करते हुए कान्त ब्रह्मपुर पहुँचे। वहाँ पर संवरू ग्वाल के पुत्र मँगरू ने आपका बड़ा सत्कार किया। आपने प्रसन्न होकर उसे अविचल—भक्ति तथा साधु—सेवा का वरदान दिया और यह भी कह दिया कि यदि तुम लोग सदाचार पूर्वक रहोगे तो तुम्हारा कभी भी निरवंश नहीं होगा।

धनीदास की प्राण रक्षा—इसके बाद आप बेलापतार नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक धनीदास नाम के महात्मा रहते थे। श्रीतुलसीदासजी उनके ही अतिथि हुए। धनीदासजी को बहुत ही उदास देखकर श्रीगोस्वामीजी ने जब उदासी का कारण पूछा तो वह महात्मा फूट—फूटकर रोते हुए इनके चरण पकड़ लिए और बोले—महाराज! मैंने बड़ा अपराध किया है। मैं श्रीठाकुरजी को भोग लगाता, उसे मन्दिर में ही रहने वाला एक चूहा नित्य आकर खा जाता, परन्तु लोक में प्रतिष्ठा पाने के लिए मैं लोगों से सौगन्धपूर्वक कहता कि मेरे द्वारा अर्पित भोग श्रीठाकुरजी साक्षात् पाते हैं और प्रमाण के लिए वही चूहे का खाया दिखा देता। इस प्रकार मेरी बड़ी प्रसिद्धि हुई बात बढ़ते—बढ़ते यहाँ के राजा रघुनाथसिंह तक पहुँच गई। वे भी अपने समाज के साथ दर्शन करने के लिए आये। मैंने उनको भी वही चूहे का खाया प्रसाद दिखाया। उनका मन्त्री बड़ा बुद्धिमान था। उसने कहा कि यदि आज्ञा हो तो मैं मन्दिर में प्रवेश करके समीप से श्रीठाकुरजी का दर्शन करूँ। मैंने भय और लोभवश अनुमति दे दी। मंत्री ने भीतर जाकर उस चूहे को एक आलय में बैठा हुआ देख लिया। उसको निश्चय हो गया कि भोग भगवान नहीं खाते हैं, चूहा खाता है। उसने राजा को यह बात जना दी। राजा

को मेरे झूठे प्रचार पर बड़ा रोष आया और बोले कि कल मैं फिर दर्शन करने के लिए आऊँगा। कल भोग मेरे सामने लगेगा। यदि श्रीठाकुरजी प्रत्यक्ष पाये, तब तो मेरा सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित है और यदि नहीं पाये तो आपको प्राण दण्ड दिया जायेगा। प्रभो! अब कल ही मेरे प्राण जायेंगे अतः मैं अपनी करनी पर पछता रहा हूँ। श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी को महात्मा पर दया आयी, बोले—'चिन्ता मत करो, श्रीठाकुरजी प्रत्यक्ष ही पायेंगे। तुम खूब बढ़िया—बढ़िया सामान बनाओ। सचमुच दूसरे दिन राजा के सामने ही श्रीठाकुरजी को भोग रखा गया और श्रीतुलसीदासजी की प्रार्थना पर प्रभु ने प्रत्यक्ष होकर भोजन पाया। लोग दर्शन कर निहाल हो गये। उस समय गोस्वामीजी ने यह दोहा पढ़ा था—

तुलसी झूठे भगत की पति राखत भगवान।
जिमि मूरख उपरोहितहिं देत दान जजमान।।

राजा रघुनाथ सिंह जी जान गये कि यह तो इन्हीं नवागन्तुक सन्तका चमत्कार है। इन्होंने दया कर धनीदास के प्राण बचा लिए। राजा ने श्रीतुलसीदासजी का नाम—सुयश तो सुना था, परन्तु दर्शन नहीं किया था। जब उन्हें पता चला कि श्रीरामचरितमानसकार श्रीतुलसीदासजी यही हैं तब तो वह बहुत ही श्रद्धा—भक्तिपूर्वक अनुनय—विनय करके इन्हें अपने घर लिवा ले गये। श्रीगोस्वामीजी ने वहाँ कुछ दिन निवास किया। उस गाँव का नाम बेलापतार से बदलकर रघुनाथपुर रख दिया। उसी गाँव में एक गोविन्द मिश्र नाम के परम—भागवत निवास करते थे, जिनकी प्रेम—दृष्टि से कुलिश और पाषाण भी द्रवीभूत हो जाते थे। वे भी श्रीतुलसीदासजी का दर्शन और सत्संग कर अपने को परम धन्य माने।

श्रीजानकी दर्शन—वहाँ से चलकर आप हरिहर क्षेत्र होते हुए श्रीमिथिलापुरी के समीप पहुँचे तो बड़े जोर की भूख का अनुभव हुआ। एक वृक्ष के नीचे बैठकर अभी सोच ही रहे थे कि क्षुधा—निवृत्ति के लिए कौन—सा उपाय करूँ, तब तक देखते हैं कि एक छः सात वर्ष की बालिका बड़े से कटोरे में खीर भरकर ले आई और बड़े ही प्रेम से खाने का अनुरोध कर रही है। भूख तो लगी ही थी, प्रभु कृपा विचारकर सब खीर खा गये, अद्भुत स्वाद था आज की खीर में। पाते ही अनुराग का नशा छा गया। उधर बालिका पात्र लेकर अन्तर्धान हो गई तब गोस्वामीजी को अनुभव हुआ कि यह बालिका कोई और नहीं, स्वयं जगज्जननी श्रीजानकीजी ने ही मेरे ऊपर कृपा करके दर्शन देकर मुझे अनुगृहित किया है।

हाला ग्राम के ब्राह्मणों पर कृपा—हाला ग्राम के ब्राह्मणों को जब श्रीतुलसीदासजी के

शुभागमन का पता चला तो वे इनके पास आकर अपना दुखड़ा रोने लगे कि महाराज ! यहाँ का सूबेदार बड़ा ही दुष्ट है। हम लोगों को श्रीरामजी के विवाह में बारह गाँव मिले थे, वह सब इसने छीन लिये हैं। हम लोग वृत्ति–विहीन होने से बहुत कष्ट पा रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस का नवाह्न पाठ करने को कहा। एक ब्राह्मण ने सर्वथा निराहार रहते हुए पाठ प्रारम्भ कर दिया। छः दिन बीतने पर सातवें दिन जब सुन्दरकाण्ड का पाठ कर रहा था, उस समय श्रीहनुमानजी एक ब्राह्मण का रूप धारण कर बहुत–सा कन्दमूल, फल–फूल लेकर आये और ब्राह्मण को देने लगे। परन्तु ब्राह्मण ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि जब तक गाँव नहीं मिल जाएगा तब तक हम न तो पाठ छोड़ेगे और न कुछ अन्न–जल ही ग्रहण करेंगे। चाहे शरीर भले ही नष्ट हो जाये। श्रीहनुमानजी ने बहुत समझाया कि आप अपना कार्य हुआ ही समझें, अतः अन्न–जल ग्रहण करिये। लेकिन ब्राह्मण तो सुनता ही नहीं था। तब श्रीहनुमानजी ने कृपा करके स्व स्वरूप का दर्शन कराया। ब्राह्मण ने चरणों में पड़कर बहुत–बहुत विनती किया। श्रीहनुमानजी ने प्रसन्न होकर अपनी पूँछ के दो रोम पण्डितजी को देकर कहा–इनमें से यह एक रोम तो जग–भस्मकर है और एक शान्तिकर है आप लोग पहले तो सूबेदार से शान्तिपूर्वक अपना अभीष्ट निवेदन करना, जब न माने तो भस्मकर रोम छोड़ना। वह डरकर अनुकूल हो जायेगा तब शान्ति रोम छोड़ देना। शान्ति हो जायगी। ब्राह्मण श्रीहनुमानजी का बल पाकर नबाव के पास आये और जब उसने इनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया तो जैसे श्रीहनुमानजी बताये थे वैसा ही किये। नबाव के महल में लंकादाह का दृश्य उपस्थित हो गया। वह विकल होकर ब्राह्मणों के चरणों में गिर गया। जो पहले वज्रवत् कठोर था, वही अब मोम हो गया। उसने तुरन्त ही शपथपूर्वक बारहों गाँवों का पट्टा लिखकर ब्राह्मणों को दे दिया। शान्तिकर रोम छोड़ने से पुनः शान्ति हो गई ब्राह्मणों ने श्रीतुलसीदासजी का बहुत उपकार माना।

महामारी शमन–श्रीमिथिलापुरी में कुछ दिन निवास कर वहाँ के सभी पुनीत स्थलों का दर्शन कर आप पुनः काशी लौट आये। संवत् १६४० में दोहावली की रचना की। सम्वत् १६४१ में श्रीमद् वाल्मीकि रामायण की एक प्रति लिखी। १६४२ में श्रीजानकी नवमी के दिन सतसई लिखना प्रारम्भ किये। उन्हीं दिनों विश्वनाथ बीसी लगी। मीन राशि पर शनैश्चर के पहुँचने से काशी में महामारी का बड़ा–भारी प्रकोप हुआ। सभी सम्भावित प्रयत्न करके हार गये, परन्तु एक भी उपाय काम नहीं किया, तब सब लोग श्रीतुलसीदासजी के पास आकर दुहाई दिये–

लागिय नाथ गोहार अपर बल कछु न बसाता।
राखैं हरि के दास कि सिरजनहार विधाता।।

तब आपने मंत्रात्मक कवित्त में भगवान की प्रार्थना करके महामारी को मिटाया यथा—

संकर सहर सर नर नारि वारि–चर, विकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरिजात, भभरि भगात जल थल मीच मई है।।
देव न दयाल महिपाल न कृपालचित्त, वारानसी बाढ़त अनीति नित नई है।
पाहि रघुनाथ ! पाहि कपिराज रामदूत ! रामहू की बिगरी तुही सुधारि लई है।। (क०)

केशव कवि से भेंट—एक बार ओरछा राज–दरबार के प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदासजी एवं घनश्याम शुक्लजी श्रीगोस्वामीजी को भी एक अच्छा कवि मानकर उनसे मिलने गये। उस समय श्रीगोस्वामीजी कुटी के भीतर भजन कर रहे थे। एक सेवक ने लोगों के आगमन की सूचना दी तो आपने कहा—प्राकृत कवि केशव को आने दो। श्रीकेशवजी श्रीगोस्वामीजी का अभिप्राय समझ गये कि कवित्व शक्ति पाकर भी मैंने प्राकृत (लौकिक) लोगों का गुण गाने में ही उसका उपयोग किया। भगवद् यश नहीं गाया। यह हमारी बड़ी–भारी भूल है अतः वे तुरन्त बिना मिले ही लौट गये। सेवक से कह गये कि अब कल मिलूंगा। संग के और लोग रह गये। श्रीकेशवदासजी को एक ब्रह्मराक्षस सिद्ध था। उससे जाकर उन्होंने कहा कि मुझे रातों–रात एक भगवद्–यशपरक ग्रन्थ की रचना करनी है तुम मेरी सहायता करो। फिर तो ब्रह्मराक्षस प्रत्यक्ष होकर छन्द बोलता गया, केशवदासजी लिखते गये एवं प्रकारेण रात–भर में 'श्रीरामचन्द्र–चन्द्रिका' की रचना हो गई। केशवदासजी उसे लेकर प्रातःकाल फिर उपस्थित हुए तो श्रीगोस्वामीजी ने सेवक से कहलाया कि भूत कवि केशवदास को आने दो। यह सुनकर केशवदासजी बड़े लज्जित हुए कि मेरी पोल ये जान गये। वस्तु–तस्तु ये दिव्य–पुरुष हैं, मैं प्राकृत हूँ, इसमें संदेह नहीं। फिर तो श्रीकेशवदासजी की श्रीगोस्वामीजी में बड़ी श्रद्धा हो गई । खूब सत्संग हुआ दोनों दिव्य–प्राकृत विभूतियों का। कालान्तर में प्रेतोपासना के फलस्वरूप केशवकवि मरकर प्रेत हुए जिनके उद्धार का प्रसंग पृष्ठ ३१ में वर्णित है।

पं० दत्तात्रेय मिलन—आदिलशाही राज्य के दान विभागाध्यक्ष पं. दत्तात्रेयजी आपका दर्शन करने के लिए आये। उन्होंने बड़े भावपूर्वक षोडशोपचार विधि से आपकी पूजा की। आपने उनके भाव पर रीझकर शुभाशीर्वाद के साथ स्वहस्त लिखित श्रीवाल्मीकि रामायण भी प्रदान की।

कण्ठी तिलक की रक्षा—काशी में ही एक अमरनाथ नाम के सिद्ध योगी रहते थे। उनकी रूपवती पत्नी को एक वैरागी साधु फुसलाकर भगा ले गया। जिससे क्रुद्ध होकर अमरनाथ ने सभी वैरागियों की सिद्धि बल से कण्ठी—तिलक—माला रहित कर दिया। एक के अपराध से सब लोगों के धर्म—कर्म में बाधा पड़ने लगी। तब सभी साधु एकत्रित होकर श्रीतुलसीदासजी के पास आये। आपने कृपा करके सिद्ध की सिद्धाई का हरण करके पुनः सबको कण्ठी—माला—तिलक से युक्त कर दिया।

अघोरी को उपदेश—एक दिन एक अघोरी सिद्ध 'अलख—अलख' चिल्लाता हुआ जा रहा था। आपने उसे श्रुति—सार श्रीराम—नाम जपने का उपदेश दिया। यथा—

हम लख हमहिं हमार लख हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच।। (दो०)

नैमिषारण्य के तीर्थों का उद्धार—नैमिषारण्य के एक परम धर्मात्मा ब्राह्मण श्रीबनखण्डीजी वहाँ के सभी लुप्त तीर्थों की पुनः प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें प्रचुर द्रव्य की आवश्यकता थी। अतः एतदर्थ वे भगवान सदाशिव की आराधना कर रहे थे। एकदिन एक प्रेत ने प्रत्यक्ष होकर इनसे प्रार्थना की कि अमुक जगह अपार—धन गढ़ा है उसे लेकर आप अपना अभीष्ट सिद्ध करिये और कृपा करके इस योनिसे मेरा उद्धार करिये। श्रीबनखण्डीजी मन में बड़े ही हर्षित होकर बोले कि तुम मुझे चारों धाम का दर्शन कराकर काशी में श्रीतुलसीदासजी के पास ले चलो। उनके दर्शन से तुम्हारा उद्धार हो जाएगा। यह सुनकर प्रेत बड़ा ही प्रसन्न हुआ। वह श्रीबनखण्डीजी को सभी तीर्थों का दर्शन कराकर काशीपुरी में आकर श्रीगोस्वामीजी की कुटी के सामने ऊपर आकाश में मंडराने लगा। जब लोगों की दृष्टि पड़ी तो सबको बड़ा ही कौतुहल हुआ। बात यह थी कि प्रेत तो दिखलाई नहीं देता था, ब्राह्मण देवता आकाश में निराधार टंगे दिखाई पड़ते थे। शोरगुल सुनकर श्रीगोस्वामीजी भी कुटी से बाहर निकले तो इनका दर्शन करते ही प्रेत का उद्धार हो गया। वह तुरन्त ही दिव्य—रूप धारण करके दिव्य—विमान पर चढ़कर श्रीतुलसीदासजी की जय—जयकार करते हुए भगवद्—धाम को चला गया। बनखण्डीजी नीचे आ गये। श्रीगोस्वामीजी के चरण-स्पर्श पूर्वक प्रणाम करके अपना सब विवरण सुनाया। श्रीबनखण्डीजी की प्रार्थना पर श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी नैमिषारण्य के लुप्त तीर्थों की स्थापना करने के लिए उनके संग नैमिष को प्रस्थान किये। मार्ग में पाँच दिन तक श्रीअयोध्या में विश्राम किये। वहाँ एक गायक के सुन्दर पद गान पर प्रसन्न होकर आपने उसे स्वहस्त लिखित श्रीराम—गीतावली की एक प्रति प्रदान की।

मनबोध पर कृपा—एक दिन श्रीमनबोध तिवारी नाम के एक ब्राह्मण को श्रीरामकोट पर एक स्वर्ण की ईंट मिली। वे बड़े ही हर्ष में स्वर्ण ईंट को लाकर श्रीगोस्वामीजी को दिखलाये। श्रीगोस्वामीजी ने कहा—पण्डितजी ! यह तो दिव्य ईंट है। भगवान की आपके ऊपर बड़ी कृपा है जो आपको इसका दर्शन हुआ। यह तो दिव्य अयोध्या की नित्य परिकर है। इसे तो आप जहाँ से लाये हैं वहीं रख आइये। इसका धाम से वियोग कराना उचित नहीं है। प्राकृत नेत्रों से नहीं दीखता है, नहीं तो सम्पूर्ण अयोध्या ही स्वर्ण—मणिमय है। यह कहकर मनबोध तिवारी को परम अधिकारी जानकर प्रतीति के लिए आपने उन्हें कृपा पूर्वक श्रीदिव्य अवध का दर्शन कराया। मनबोधजी ने देखा कि जहाँ से हम ईंट उठा लाये हैं वहाँ के महल की एक ईंट का स्थान रिक्त है। इनको विश्वास हो गया। श्रीगोस्वामीजी के कथन पर, फिर तुरन्त ही ले जाकर वह ईंट यथा—स्थान रख दी। श्रीअयोध्या से चलकर रौनाही, सूकरक्षेत्र, सियाबार गाँव होते हुए लक्ष्मणपुर (लखनऊ) पहुँचे। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी की स्मृति में आपको प्रेमावेश आ गया। यथा—'कहूँ लखनलाल को चरित बँचें। कहुँ प्रेम मगन ह्वै आप नचें।।'

दामोदर नाम के एक निर्धन भाटको आशीर्वाद देकर आपने उसे आशुकवि बना दिया। श्रीगोस्वामीजी की कृपा से उसने बहुत धन कमाया। वहाँ से मलिहाबाद में आये और परमभक्त ब्रजबल्लभ नामक भाट को स्वहस्तलिखित श्रीरामचरितमानस की एक प्रति दिये।

माधवदास से भेंट—कटोरा नामक ग्राम में श्रीअनन्यमाधवजी मिले। उन्होंने बाल्यावस्था में अपनी माँ को उपदेश दिया था। श्रीगोस्वामीजी ने उसकी चर्चा चलायी। वह प्रसंग इस प्रकार है—जब ये छोटे थे तो ननिहाल में ही विशेष रहते थे। इनके मामा ने इन्हें खेत की रखवाली सौंपी थी। परन्तु ये तो भूल करके भी चिड़ियों को नहीं उड़ाते थे। बल्कि उनको खाते हुए देखकर गाते—'राम की चिरैया रामजी का खेत। खाय ले चिरैया भर—भर पेट।' परिणाम यह हुआ कि खेत में एक दाना भी नहीं रह गया। किसी ने इनके मामा से जाकर शिकायत की तो वह क्रोध में भरकर जब खेत देखने आये तो ये डर के मारे भागकर एक वृक्ष के कोटर में छिप गये। दिनभर कोटर में से निकले ही नहीं, तब लोगों को चिन्ता हुई। जहाँ—तहाँ ढूँढ़ा गया, परन्तु कोई पता नहीं लगा। लोग हारकर बैठ गये, रात्रि हो गई माँ की ममता उमड़ी। वह रोती बिलखती रात में ही खोजते—खोजते उसी वृक्ष के निकट पहुँची तो उसके करुण—क्रन्दन को सुनकर इनको बड़ी दया लगी। अतः कोटर से निकलकर माँ के समीप आ गये और उपदेश के बचन बोले—

माता रोदन करहु जनि को काको सुत मातु–पित।
इक प्रनतपाल रघुनाथ बिनु और कहुँ जनि देहु चित।।

पद– ऐसो सोच न करिये माता।
देवलोक सुर देहधरी जिनि किनि पाई कुसलाता।।
पाराकर्मी को भीषम से करन दानि से दाता।
जिनके चक्र चलत हैं अजहुं घरी न भयो बिलाता।।
मृत्यु बांध रावन बस राखी भयो गर्व भरुहाता।
तेऊ उड़ि–उड़ि भये कालबस ज्यों तरुवर के पाता।।
सुनि जननी अब सावधान ह्वै परम पुरातन बाता।
माधो अनन्य दास भो हरि को कौन काहि को नाता।।

इस प्रकार माता को उपदेश देकर स्वयं विरक्त हो गये। अपना यह प्रसंग सुनाकर श्रीमाधवदासजी ने श्रीगोस्वामीजी से कुछ सुनाने की प्रार्थना की । तब इन्होंने यह पद गाया।

मैं हरि पतितपावन सुने।
मैं पतित तू पतितपावन दोऊ बानक बने।।
व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और पतित अनेक तारे जात कापै गने।।
जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो राखिये अपने।। (वि०)

यह पद सुनकर श्रीमाधोदासजी ने भी एक पद गाया। यथा–

तब ते कहाँ पतित नर रह्यौ।
जब ते गुरु उपदेश दीन्हों नाम नौका गह्यौ।।
लोह जैसे परसि पारस नाम कञ्चन लह्यौ।
कस न कसि–कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यौ।।
उभरि आयो विरह बानी मोल मँहगे कह्यौ।
खीर नीर ते भयो न्यारो नर्क ते निर्बह्यौ।
मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यौ।
अनन्य माधो दास तुलसी भव जलधि निर्बह्यौ।।

श्रीगंगा दर्शन—इस प्रकार श्रीमाधवदासजी से मिलकर आगे बढ़े। एक रात विठूर में विश्राम किये। वहाँ स्नान करते समय दलदल में धँस गये। वृद्ध शरीर होने के कारण जब उसमें से नहीं निकल सके तो श्रीगंगा माता ने दर्शन दिया और स्वयं इनका हाथ पकड़कर बाहर निकाला।

मनसुखा परिचय दान—वहाँ से चलकर संडीले पहुँचे और श्रीगौरीशंकर मिश्र के घर को माथा नवाया। संग के लोगों ने जब इसका हेतु पूछा तो आपने बताया कि इस घर में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय—सखा मनसुखा जन्म लेंगे। सचमुच कुछ दिन बाद उस घर में एक बालक ने जन्म लिया। उसका नाम वंशीधर रखा गया। यथा—नाम तथा गुण को चरितार्थ करते हुए वह बालक वंशी और मोरपंख को स्वाभाविक ही धारण करता था और हमेशा आनन्दोन्मत्त होकर नाचता रहता था। तथा श्रीकृष्ण गुण—गान करता था।

एकबार रक्त—विकार से पीड़ित एक असाध्य रोगी ने सब उपाय करके हारकर अन्त में ठाकुर द्वारे में जाकर भगवान के सामने धरना दिया। दयालु प्रभु ने उस रोगी पर तरस खाकर स्वप्न में आदेश दिया कि संडीले में वंशीधर मिश्र नाम के एक ब्राह्मण कुमार हैं, उनको तुम मेरे प्रिय सखा मनसुखा का अवतार समझो। उनकी सीथ—प्रसादी पाने से तुम्हारा रोग मिट जायेगा। विश्वास के लिए भगवान ने कहा कि तुम वहाँ जाकर मनसुखा नाम लेकर ही पुकारना। रोगी ने ऐसा ही किया। वंशीधर उस समय भोजन कर रहे थे। नाम सुनते ही अत्यन्त त्वरा में बिना आचमन किये ही बाहर आ गये और इधर—उधर देखने लगे कि मुझे किसने बुलाया है। परिचय पाकर रोगी चरणों में लिपट गया और पूछने पर सब वृत्तान्त कह सुनाया। वंशीधर ने उसे इस रहस्य को सभी के सामने प्रकट करने के लिए मना किया और अमनियाँ मीठा मँगाकर उसे प्रसादी करके रोगी को दे दिया। उसे पाते ही उसका असाध्य रोग तत्काल दूर हो गया, कंचन सी काया हो गई वह भगवान को कोटि—कोटि धन्यवाद देता हुआ खुशी—खुशी घर गया। श्रीवंशीधरजी के बड़े अच्छे—अच्छे उपदेश मिलते हैं। यथा—

जिन्हें तू मगन ते न तेरे तिन्हें ताकि देखो, नगन निकारि के चढ़ाइवे को चीता है।
सपने की सम्पदा सुलभ साथ सबही के, सोई हित लाग्यो हरिनाम अनहीता है॥
कहैं मिश्र वंशीधर ऐसी कबहू न आई, मति जैसी चहू छहू ठहराय गीता है।
चेतो नाहिं परैगो या संसृति में फेरि अब, सीताराम भजिले जनम—जात बीता है॥

पुनः—

जो फल ना कुरूक्षेत्र में विप्रन कंचन को भुव दान दिये ते।
जो फल जोग औ जग्य किये नहिं जो फल धूमहू पान किये ते।।
जो फल ना महि दान दिये सब तीरथहू परिकर्म किये ते।
जो फल वंशी सो कोटि उपाय ते सो फल राम को नाम लिये ते।।

एक बार श्रीनन्दलाल स्वामी के शिष्य दयालदास ने भगवान श्रीकृष्ण की रासलीला करवाई रासधारियों के समाज के साथ बैठकर श्रीवंशीधरजी प्रेमपूर्वक लीला पद–गान कर रहे थे। श्रीदयालदासजी कृत एक पद की अन्तिम तुक 'दयालदास रीझि–रीझि प्रान वारियतु हैं' गाते–गाते वंशीधर ने सचमुच श्रीयुगल सरकार के चरणों में अपना प्रान न्योछावर कर दिया। श्रीतुलसीदासजी ऐसे प्राकट्य स्थल को प्रणाम कर आगे बढ़े।

एक गाँव में छितिपाल नामक ठाकुर ने धन मद में इनको दण्डवत् प्रणाम करना तो दूर रहा, उल्टे बहुत उपहास किया। परिणाम–स्वरूप थोड़े ही दिनों में उसका सर्वनाश हो गया। तभी तो कहा गया है–

साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्याण अखिल कै हानी।। (रामा०)

इसी प्रकार एक ब्राह्मण के गाँव में रात्रि–भर विश्राम करने के लिए रुकना चाहे परन्तु ब्राह्मणों ने बड़ा तिरस्कार किया। जिसका फल यह हुआ कि आज तक वे दरिद्रता का कष्ट भोग रहे हैं उसी गाँव के कायस्थों ने आपका बड़ा स्वागत किया। श्रीतुलसीदासजी की कृपा से आज भी खूब फल–फूल रहे हैं एवं प्रकारेण रमते हुए आप नैमिषारण्य पहुँचे और वहाँ तीन महीने तक निवास करके सभी लुप्त तीर्थों को स्थापित किये।

पिहानी के श्रीशुक्लजी–वहीं पर आपको पिहानी के परमसिद्ध श्रीशुक्लजी मिले। उनको भी श्रीहनुमानजी का इष्ट था। कहते हैं कि ये एकबार बदरिकाश्रम से आ रहे थे। मार्ग में एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने की बात सोचे। लोगों ने बहुत मना किया कि इस पर एक भारी प्रेत रहता है। परन्तु इन्होंने आसन लगा दिया सो लगा दिया। रात्रि में वह महाभयंकर प्रेत एक हाथ में विशाल पर्वत और एक हाथ में वृक्ष लेकर इनके ऊपर मँडराने लगा। इन्होंने श्रीहनुमानजी का स्मरण किया। श्रीहनुमानजी को देखते ही वह प्रेत 'त्राहिमाम्' बोलने लगा। श्रीहनुमानजी ने उसे वह स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाने को कहा और शपथ करवा ली कि पुनः किसी को मत सताना तथा उस विशाल पर्वतखण्ड एवं वृक्ष को पिहानी पहुँचाने की आज्ञा दी। उसी से वहाँ एक विशाल मन्दिर निर्माण हुआ जो अद्यावधि वर्तमान है।

श्रीगोस्वामीजी ने शुक्लजी के भक्ति–भाव की बहुत सराहना की। दोनों सिद्धों का सम्मिलन बड़ा सुखावह रहा। यह प्रसंग संवत् १६४९ का है। नैमिषारण्य से लौटे तो खैराबाद के सिद्ध हलवाई प्रवीन से मिलते हुए मिसरिख पहुँचे। संग में श्रीबनखण्डीजी एवं दो–चार शिष्य भी थे। फिर कुछ दूर नाव से यात्रा किये। मार्ग में रामपुर नाम का नगर मिला। अपने इष्ट से सम्बन्धित नाम को सुनकर श्रीतुलसीदासजी वहाँ उतर पड़े परन्तु राजा के उद्दण्ड कर्मचारियों से कुछ विवाद हो जाने पर अपना सामान भी वहीं छोड़कर चल दिये। किसी ने जब वहाँ के राजा मानसिंह को आपके आने की सूचना दी तो वे भक्त राजा नंगे पांव दौड़कर आये और आपके चरणों में पड़ गये तथा बहुत अनुनय–विनय करके पुनः लौटा लाये। श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने वहाँ श्रीहनुमानजी की स्थापना कराई और आपके पास वृन्दावन के वंशीवट की जटा की एक छड़ी थी उसे वहाँ पर रोपण करके उसका वंशीवट नाम रखे तथा वहाँ पर अगहन सुदी पंचमी को श्रीराम–विवाहोत्सव एवं महारास कराने की आज्ञा दी। कालान्तर में यह सूखी छड़ी हरी–भरी होकर विशाल वृक्ष के रूप में हो गई और उसके नीचे प्रतिवर्ष महारास होता है। वर्णन आया है कि एकबार यवन बादशाह के त्रास से वहाँ के लोग गाँव छोड़कर भाग गये। परन्तु जब पंचमी का समय आया तो सब लोग मिलकर अर्द्धरात्रि को उस पुनीत स्थल का दर्शन करने आये तो वहाँ उन लोगों को दिव्य–रासलीला के दर्शन हुए।

अवध आगमन–कुछ दिनों के पश्चात् विचरते हुए आप श्रीअयोध्या पहुँचे और वहाँ आपने एक पक्ष तक निवास किया। एकदिन श्रीहरिदास नाम के एक गायक श्रीठाकुरजी के सामने बड़े प्रेम से सुन्दर पद गा रहे थे। पद में 'रघुवर राजीव विलोचन' के स्थान पर वह 'रघुवर राजीव लोचनी' गाने के अभ्यस्त थे। श्रीतुलसीदासजी ने जब इस त्रुटि का संकेत किया तो उनको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उस दिन से वे जिस प्रेम से पहले कीर्तन करते थे वह भाव जाता रहा। मन में शुद्धि-अशुद्धि का भय समा गया। भाववश्य भगवान को श्रीतुलसीदासजी का यह संशोधन नहीं सुहाया अतः स्वप्न में प्रभु ने आज्ञा दी कि मैं तो भक्त के प्रेम को ग्रहण करता हूँ, शुद्ध–अशुद्ध की परवाह नहीं करता। जिस दिन से आपने पद शुद्ध करवाया है उस दिन से प्रेम में अवरोध होने से कीर्तन में आनन्द ही नहीं मिलता है, अतः आप जाकर कह दो कि वे पहले जैसे गाते थे वैसे ही गाया करें। श्रीप्रभु की प्रेम परवशता विचार कर श्रीगोस्वामीजी के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये प्रातःकाल होते ही श्रीहरिदासजी की कुटी पर जाकर उन्हें पूर्ववत् ही गाने के लिए कह आये।

एक गायक के मुख से श्रीरामजी की बाल-लीला के पद सुनकर आपने रीझकर उसे एक बढ़िया पीताम्बर प्रदान किया।

शपथ पालन—एक दिन ये श्रीसरयूजी में स्नान कर रहे थे। उसी समय एक स्त्री भी स्नान करने आई। उसका बिना वस्त्र के स्नान करने का स्वभाव था। अतः उसने श्रीगोस्वामीजी को भगवान श्रीराम की सौगन्ध दिलाकर कहा कि आप पीछे मत देखना। इन्होंने पीठ फेर लिया। स्त्री तो स्नान करके घर चली आई, परन्तु ये जल में ही खड़े रहे। जब बहुत से भक्तगण आपका दर्शन करने के लिए आसन पर आये और आपको नहीं देखे, तब खोज प्रारम्भ हुई धीरे—धीरे बात सम्पूर्ण नगर में फैल गई। किसी ने कहा—वह तो सबेरे से श्रीसरयूजी में खड़े हैं। सब लोग वहाँ गये और बाहर आने की प्रार्थना किये। जब आपने सौगन्ध की चर्चा की तो उस स्त्री का पता लगाने के लिए पूरे नगर में डौंड़ी फेरी गई कि जिस स्त्री ने श्रीतुलसीदासजी को सौगन्ध दिलाई है, वह शीघ्र जाकर उनको बाहर आने को कहे। तब वह स्त्री दौड़कर आई और उसने अपनी भूल के लिए क्षमा—प्रार्थना करके पुनः निकल आने की प्रार्थना की। तब आप बाहर निकले। ऐसी थी आपकी अनुपम इष्ट—निष्ठा। दिन—भर ज़ल में खड़े रहे, जलचरों ने पाँवों में कई जगह काटकर घाव कर दिया परन्तु इष्ट की सौगन्ध की मर्यादा विचार कर एक पग भी टस से मस नहीं हुए।

बालक को प्राणदान—एक दिन एक ब्राह्मण का बालक मर गया। वह श्रीतुलसीदासजी के प्रभाव से परिचित था, अतः रोता—बिलखता हुआ बालक के शव को लेकर आया और श्रीगोस्वामीजी के चरणों में पड़कर बालक को जीवित करने के लिए बहुत रोया गिड़गिड़ाया। यद्यपि आपने बहुत समझाया—बुझाया कि 'जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः' 'नश्वर रूप जगत सब देखहु हृदय बिचारि।' परन्तु उसे एक भी उपदेश नहीं लगा। तभी तो कहा गया है—'रहत न आरत के चित चेतू।' वह तो शव को कुटी के द्वार पर छोड़कर घर चला गया। श्रीतुलसीदासजी बड़े असमंजस में पड़ गये। अन्त में इन्होंने श्रीहनुमानजी का स्मरण किया। श्रीहनुमानजी ने यमपुरी जाकर यमराज से बालक के प्राणों को लौटाने का अनुरोध किया। यमराज ने तर्क प्रस्तुत किया कि—

लिखिता चित्रगुप्तेन, ललाटाक्षर मालिका।
सा न चालयितुं शक्या असुरैस्त्रिदशैरपि।।

अर्थात् भाग्य बदलने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। श्रीहनुमानजी ने कहा—

यद्धात्रा लिखितं भाले तन्मृषा नैव जायते।
ऋते श्रीरामदासानां प्रेमनिर्भरचेतसाम्।।

तात्पर्य यह कि भगवद्दास प्रारब्ध बदल सकते हैं। आप मेरे कहने से बालक को पुनः जीवित कर दें। परन्तु यमराज ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया, तब हनुमान जी ने क्रोध में भरकर यम सहित सम्पूर्ण यमपुरी को अपनी पूंछ में लपेट लिया और बोले कि बालक को प्राण-दान दो अन्यथा मैं अभी तुम्हारा सर्वनाश करता हूँ। यम ने डरकर तुरन्त बालक को जीवित कर दिया। श्रीगोस्वामीजी ने कहा—जै हनुमान। श्रीअयोध्यावासी बोले जय तुलसी।

श्रीदेवमुरारीजी—एकदिन श्रीदेवमुरारीजी और मलूकदासजी आपका दर्शन करने आये। ये दोनों ही बड़े प्रसिद्ध सिद्ध थे। श्रीदेवमुरारीजी के सम्बन्ध में कथा आती है कि एकबार ये कहीं विचरते हुए जा रहे थे तो देखे कि एक जगह सरोवर की खुदाई हो रही है और उसमें एक वैष्णव—सन्त भी मिट्टी ढोने लगे हैं। वहाँ के मालिक ने श्रीदेवमुरारीजी से भी मिट्टी निकालने के लिए कहा तो ये एक जगह बैठकर स्वयं भगवद्ध्यान करने लगे और अपने आप सरोवर की मिट्टी बाहर निकलने लगी। यह देखकर लोग बड़े ही प्रभावित हुए और चरणों में गिरकर धृष्टता के लिए क्षमा—प्रार्थना किये। आपने उनको सन्त—सेवा का उपदेश दिया।

श्रीमलूकदासजी—इन्हीं श्रीदेवमुरारीजी के शिष्य थे। मलूकदासजी बाल्यावस्था में बड़े उदण्ड थे। सन्त—महात्माओं से भी झगड़ जाया करते थे। एकदिन एक सन्त से विवाद कर बैठे। विषय था भक्ति और कर्म सन्त कहते थे कि अनन्याश्रयी का समस्त योगक्षेम भगवान वहन करते हैं। यथा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

ये कहते थे कि बिना कर्म किये कुछ होने वाला नहीं है। भगवान के भरोसे बैठे रहेंगे तो भगवान मुँह में ग्रास नहीं देंगे। सन्त ने जोर दिया कि नहीं, अनन्याश्रित होने पर भगवान मुँह में ग्रास भी देते हैं, नहीं खाने पर जबर्दस्ती भी खिलाते हैं। फिर तो ये परीक्षार्थ घोर जंगल में जाकर एक वृक्ष पर बैठ गये। भूख लगी, प्यास लगी, परन्तु नीचे नहीं उतरे। रात्रि में डाकुओं के एक दल ने उसी वृक्ष के नीचे आकर लूट के धन का बँटवारा किया। तत्पश्चात् उन्हें भोजन की तलाश हुई। देखा, तो वृक्षमूल के पास एक झोला पड़ा था और उसमें रखे थे बेसनी लड्डू। एक डाकू ने लपककर लड्डू हाथ में लिया और ज्योंहि खाने को उद्यत हुआ कि सरदार ने डांटा—खबरदार!

हो सकता है, कि हम लोगों का किसी को पता लग गया हो और विष मिश्रित पदार्थ यहाँ रख गया हो, जिसमें हम सब खाकर मर जायें और सब धनमाल उसके हाथ लग जाये। (वस्तु–तस्तु वह झोला एक यात्री का था, जिसे वह जाते समय भूल गया था।) अतः पहले पता लगाओ–आस–पास कोई छिपा तो नहीं है। डाकुओं ने अपनी बड़ी बत्ती जलाकर देखा तो वृक्ष पर ये दिखाई पड़े। फिर क्या था–उन सभी ने इन्हें उतरने को ललकारा, परन्तु ये नहीं उतरे। जब उन्होंने उस वृक्ष पर चढ़कर गिरा देने की धमकी दी। तब ये डर के मारे उतर आये। सरदार ने गरजकर कहा–सब लड्डू इसी को खिलाओ। इसने ही यह षड़यन्त्र रचा है। परन्तु ये खाने को तैयार नहीं हो रहे थे, तब डाकुओं ने बन्दूक से दाग देने का भय दिया। तब तो इन्हें विवश होकर सब लड्डू खाने पड़े। सन्त की बात याद आई–अनन्या.....।

उसी दिन से संसार से विरक्त होकर ईश्वर पर पूर्ण निर्भर रहते हुए अजगर वृति से जीवन–यापन करने लगे। इन्हीं का यह प्रसिद्ध दोहा है–

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।।

एक बार प्रयाग कुम्भ के अवसर पर श्रीदेवमुरारीदासजी ने सम्पूर्ण भेष का भण्डारा देने का निश्चय किया। उस समय मलूकदासजी प्रयाग से २० कोस दूर कड़ा ग्राम में रहते थे। जब उन्हें श्रीगुरुजी के सत्संकल्प की जानकारी हुई तो, इच्छा हुई कि इस अवसर पर यदि मेरे पास भी कुछ द्रव्य होता तो श्रीगुरुजी की सेवा में भेज देता। ठीक उसी समय एक श्रद्धालु सेठ ने मुहरों से भरा एक तोड़ा भेंट किया। इन्होंने तुरन्त ही उस पर अपना नाम लिखकर श्रीगंगाजी में डाल दिया और प्रार्थना किया कि इसे श्रीगुरुजी तक पहुँचा दीजिये। उधर श्रीदेवमुरारीजी स्नान कर रहे थे तो वे तोड़ा उनके पांव में जाकर लगा। उन्होंने बिना देखे ही पांव हटा दिया। परन्तु जब बार–बार लगा तो निकालकर देखे तो उस पर मलूकदास का नाम लिखा है और मुहरों से भरा है। फिर तो खूब सन्त–सेवा हुई ये दोनों महापुरुष श्रीगोस्वामीजी का दर्शन और सत्संग कर बड़े ही आनन्दित हुए। इस प्रकार कुछ दिन श्रीअवध रहकर आप काशी चले आये।

वेश्या का उद्धार–एकबार माघ के महीने में आप प्रातःकाल गङ्गा स्नान करके कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर श्रीराम–मन्त्र का जप कर रहे थे। वृद्ध शरीर ठण्ड के कारण थर–थर काँप रहा था। दाँत बज रहे थे। यह सब देखकर तट पर खड़ी एक वेश्या श्रीतुलसीदासजी पर तरस खा रही थी और अपने भाग्य को सराह रही थी कि मैं कितनी

सुखी हूँ। तब तक श्रीगोस्वामीजी ने बाहर निकलकर तट पर रखे हुए सूखे वस्त्रों पर जल का छींटा दिया। संयोग से दो चार बून्द उस वेश्या पर भी जा पड़े। बस, इतने मात्र से ही वेश्या को नरक का दृश्य दीखने लगा। प्राणियों को अपने–अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हुए देखकर वेश्या कांप गई। उसे अपने पाप याद आने लगे। फिर तो उसे बड़ी ग्लानि हुई और अत्यन्त दीन होकर त्राहि–त्राहि कहती हुई श्रीगोस्वामीजी के चरणों में पड़ गई। कोमल चित्त सन्त श्रीतुलसीदासजी ने उसे धैर्य बँधाया–'तुलसी अजहूँ सुमिरु रघुनाथहिं, तर्यौ गयन्द जाके एक नाम।' 'जनि डरपहिं तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ।' (वि०) उसी दिन से वेश्या समस्त पाप प्रपंच से दूर हटकर भगवद् भजन में लग गई।

श्रीहरिदत्त पर कृपा–श्रीगंगाजी के उस पार हरिदत्त नाम का एक परम दरिद्र ब्राह्मण रहता था। वह तुलसीदासजी की महिमा सुनकर उनके पास आया और उसने अपनी दीन–दशा सुनाई। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीगंगा माता से प्रार्थना की। श्रीगंगाजी ने उसे बहुत–सी तराई की भूमि प्रदान कर उसकी दरिद्रता दूर कर दी।

भुलई शाह को प्राणदान–एकबार आप कुटी के बाहर बैठकर भजन कर रहे थे उसी समय भक्तों की और भक्ति की सदा–सर्वदा निन्दा करने वाला भुलई शाह नाम का एक कलवार मरा था, लोग उसका दाह–कर्म करने के लिए गंगा तट पर ले जा रहे थे। पीछे–पीछे उसकी पत्नी रोती विलखती जा रही थी। श्रीतुलसीदासजी को उसने अत्यन्त दीन होकर पृथ्वी पर माथा टेककर प्रणाम किया। इन्होंने सहज भाव से 'सौभाग्यवती भव' कहकर आशीर्वाद दिया। उसने जब स्थिति स्पष्ट की तो आपने उसके पति के मृत–शव को मंगाकर –

अकालमृत्यु हरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

यह मन्त्र पढ़ते हुए उसके मुख में भगवच्चरणामृत डाला। भगवत्कृपा से वह जीवित हो गया। अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप मरने पर उसे जो भीषण नरक–यन्त्रणा सहनी पड़ी थी। उसका स्मरण करके तथा सन्त की कृपा एवं महा–महिमा को विचारकर उसको अपनी करनी पर अत्यन्त पश्चात्ताप हो रहा था। तब श्रीगोस्वामीजी ने निन्दा को महान् अनर्थकारी बताते हुए कहा–यथा–

पर निन्दा सम अघ न गरीसा। (रा०च०मा०)

दोहा– सन्तन निन्दा अति बुरी, भूलि करो जनि कोय।
जनम–जनम के सुकृत को पल में डारै खोय।।

इस महदपराध से सतत् सावधान रहते हुए निरन्तर भगवद् भजन का उपदेश दिया। आपकी कृपा से उस निन्दक का सम्पूर्ण परिवार परम भक्त हो गया। उसी दिन से श्रीगोस्वामीजी ने बाहर बैठना बन्द कर दिया।

विप्र–कुमारों पर कृपा–तीन ब्राह्मण कुमार ऋषीकेश, शान्तिपद और दातादीन नित्यप्रति आपका दर्शन करने आते थे और चरणोदक लेकर तब घर जाते थे। उनकी अत्यन्त निष्ठा पर रीझकर श्रीगोस्वामीजी उनको दर्शन देने के लिए बाहर आते, उस समय भले ही सबको दर्शन हो जाते, अन्यथा प्रत्येक समय कुटी के भीतर ही रहते। कोई–कोई इसे मुनि का पक्षपात बताते। धीरे–धीरे जब इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा–चबाव होने लगा तब श्रीगोस्वामीजी लोगों का भ्रम दूर करने के लिए एकदिन बालकों के आने पर भी बाहर नहीं आये। जब बालकों को निश्चित हो गया कि आज दर्शन नहीं होंगे तो उन तीनों ने विरह में तत्क्षण शरीर त्याग दिया। उन बालकों की यह लोकोत्तर प्रीति देखकर लोग दंग रह गये। सबका भ्रम दूर हो गया। तब श्रीगोस्वामीजी ने उनको भगवच्चरणामृत के प्रताप से पुनः जीवन दान दिया। वे दर्शन करके कृत–कृत्य हो गये।

सम्वत् १६६९ में आपके परम मित्र श्रीटोडरजी ने सौ वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर शरीर त्याग किया। मित्र वियोग से आपको बड़ा दुःख हुआ। पाँच महीने बाद आश्विन सुदी त्रयोदशी को श्रीटोडरजी के दो पुत्र आनन्दरायऔर कन्हईराम के बीच श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं उनकी सम्पत्ति का बँटवारा किया।

भीष्मसिंह पर कृपा–मड़िहाऊँ के आशुकवि श्रीभीष्मसिंह कानून गो घर से ही साष्टाँग दण्डवत् प्रणाम करते हुए आपका दर्शन करने आये और स्वरचित 'श्रीयुगल नख–शिख' के कुछ पद सुनाये। श्रीगोस्वामीजी की कृपा से पद–गान के समय ही उनको श्रीयुगल–सरकार श्रीसीतारामजी महाराज का साक्षात् दर्शन हुआ। भीष्मसिंह ने श्रीप्रभु चरणों में अपने प्राणों को न्योछावर कर अपना जीवन–जन्म सफल कर लिया।

गंगा प्रसाद कवि–एक दिन अकबर बादशाह के दरबारी कवि गंगाप्रसाद मिलने आये। प्रातःकाल का समय था, श्रीगोस्वामीजी भजन कर रहे थे। सेवक ने निवेदन किया कि आप कुछ काल ठहरें, अभी महाराजजी माला फेर रहे हैं। इसमें गंगा को अपना कुछ अपमान–सा प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने व्यंग किया कि माला फेरने से क्या होता है? हाथी ने कहाँ माला फेरी थी? मैं समझता था कि तुलसीदासजी विद्वान् हैं, परन्तु आज जाना कि ये तो कठमलिया भगत हैं। आदि। इस तरह से और भी आंय–बांय बकते हुए गंगा कवि लौट गये। संयोग की

बात मतवाले हाथी के द्वारा ही गंगा कवि की मृत्यु हुई तभी तो कहा गया है कि–

जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।

बरवै रामायण–अब्दुर्रहीमखानखाना बरवै छन्दों में एक 'रहिमन–चन्द्रिका' नाम की पुस्तक लिखी थी। उसंका संशोधन करने के लिए श्रीगोस्वामीजी के पास भेजे। रचना सुन्दर थी, उसके छन्द श्रीगोस्वामीजी को बहुत पसन्द आये। अतः स्वयं भी आपने उसी छन्द में 'बरवै रामायण' लिखी।

गंगाराम की प्राण रक्षा–एकबार बाहु–पीड़ा से व्याकुल हुए, तब आपने श्रीहनुमान बाहुक की रचना की। इसके बाद 'बैराग्य–संदीपनी' एवं 'श्रीरामाज्ञा–प्रश्नावली' रची। इसकी रचना के सम्बन्ध में यह इतिहास प्रसिद्ध है कि काशी नरेश के इकलौते युवा राजकुमार ने सभी अस्त्र–शस्त्र–निष्णात होने पर पिता से मृगया निमित्त आज्ञा माँगी। प्रथम तो पुत्र प्रेमवश महाराज ने अनुमति नहीं दी, परन्तु जब हठ देखा तो राज–ज्योतिषी पंडित गंगाराम को बुलाया और निवेदन किया कि आप ऐसा मुहूर्त देखें जिसमें राजकुमार सकुशल शिकार खेलकर घर लौट आवें। पण्डितजी के निर्देशानुसार राजकुमार ने चुने हुए सैनिकों को साथ लेकर शुभ–घड़ी में प्रस्थान किया। विन्ध्याचल के गहन वन में जाकर पड़ाव पड़ा। राजकुमार कुछ अश्वारोहियों को संग लेकर शिकार की टोह में आगे बढ़े। संयोग की बात, राजकुमार का घोड़ा एकाएक चलते–चलते विदक गया। कुमार ने तुरन्त उसे एक सैनिक को दे दिया और सैनिक का घोड़ा स्वयं लेकर घोर वन में प्रविष्ट हो गये। आगे चलकर सैनिकों से साथ छूट गया, दैव दुर्विपाकवश उस सैनिक को सिंह ने मार डाला और घोड़ा घायल होकर, भागकर पड़ाव पर आ गया। लोगों ने पहचाना–यह तो राजकुमार का अश्व है। हो न हो, राजकुमार को किसी हिंसक जानवर ने मार डाला और घोड़ा जैसे–तैसे प्राण बचाकर भाग आया। फिर तो सब लोग दुःखी होकर घर लौट आये और उन्होंने यह समाचार राजा से कहा–राजा तो सुनते ही मूर्च्छित हो गये और जब बहुत उपचार करने पर चैतन्य हुए तो उन्हें राज–ज्योतिषी पर अपार क्रोध हुआ। तुरन्त ही वे पुनः दरबार में बुलाये गये। राजा ने दाँत पीसकर कहा–यदि राजकुमार नहीं लौटे तो आपको भी फाँसी के तख्ते पर लटका दिया जाएगा। आपने मुहूर्त ठीक नहीं विचारा। ज्योतिषीजी ने एकदिन की मुहलत माँगी और अत्यन्त उदास होकर घर को आये। मुहूर्त पर उन्होंने पुनः–पुनः विचार किया, परन्तु कोई दोष नजर नहीं आया। पण्डितजी हैरान थे कि फिर अमंगल कैसे हुआ?

श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी से पंडितजी की मित्रता थी। दोनों मित्र प्रतिदिन सायंकाल को गंगा तट पर टहलने जाया करते थे। परन्तु आज गोस्वामीजी को वे नहीं मिले। तब श्रीगोस्वामीजी उनका पता लगाने के लिए उनके घर पर गये तो सब समाचार मालूम हुआ। श्रीगोस्वामीजी ने पण्डितजी को प्रोत्साहित किया कि चलिये, पहले टहल आवें, फिर बाद में इस पर विचार करेंगे। दोनों मित्र टहलकर घर आ गये। श्रीगोस्वामीजी ने छः घण्टे में 'रामाज्ञा—शकुनावली' ग्रन्थ तैयार किया और फल विचार कर कहा—कल दोपहर तक राजकुमार निश्चय घर पर आ जावेंगे। पण्डितजी की जानमें जान आयी। तुरन्त राजा के पास बल देकर कहे – कि मैंने मुहूर्त बढ़िया विचारा है। राजकुमार का कोई अमंगल नहीं हो सकता है, वे दोपहर तक घर आवेंगे। राजा ने पंडितजी को हिरासत में रखा। सचमुच निर्दिष्ट समय पर कुमार कई सिंहों का शिकार करके सकुशल घर आ गये। सर्वत्र हर्ष छा गया। राजा ने पण्डितजी के चरणों में पड़कर धृष्टता के लिए क्षमा माँगी और खुशी में एक लाख रुपया भेंट किया। पण्डितजी ने रुपया नहीं लिया तो राजा ने घर भिजवा दिया। तब पंडितजी ने वे रुपये लाकर श्रीगोस्वामीजी के चरणों में डाल दिये। जब श्रीगोस्वामीजी ने लेना नहीं स्वीकार किया तो अन्त में यह निर्णय हुआ कि इस द्रव्य से काशी में श्रीहनुमानजी के दस विग्रहों की प्रतिष्ठा कराई जाय और शेष का भण्डारा कर दिया जाय। ऐसा ही हुआ भी।

जहाँगीर आगमन—सम्वत् १६७० में बादशाह जहाँगीर श्रीगोस्वामीजी का दर्शन करने आया और भेंट में बहुत धन—धरती देने की इच्छा की परन्तु आपने नहीं स्वीकार किया। उस समय श्रीगोस्वामीजी ने यह दोहा कहा था—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, आवै कौने काज।।

प्रसंगवशात् जहाँगीर ने बीरबल की बुद्धि की बड़ाई की। तब आपने खेद प्रकट करते हुए कहा—बीरबल ने ऐसी बुद्धि पाकर भी भगवान को नहीं भजा केवल लोकरंजन मात्र में ही उसका उपयोग किया। बुद्धि—विद्या की शोभा भगवान को भजने में ही है। यथा—

बुद्धि बड़ी चतुराई बड़ी सुख, सुन्दरता तन में लिपटी है।
नाम बड़ो धन धाम बड़ो, करतूति बड़ी जग में प्रगटी है।।
राज सभा सनमान बड़ो, पुनि इन्द्रहुँ ते कछु नाहिं घटी है।
तुलसी इक राम सनेह बिना, मानो सुन्दर नारि की नाक कटी है।।

पुनः— काम से रूप प्रताप दिनेश से, सोम से शील गनेस से माने।
हरिचन्द्र से साँचे बड़े विधि से, मघवासे महीप विषय सुख साने।।
शुक से मुनि सारद से बकता, चिर जीवन लोमश ते अधिकाने।
ऐसो भयो तो कहा तुलसी, जो पै राजिव लोचन राम न जाने।।

अवध के श्वपच का सम्मान—श्रीअयोध्या का एक श्वपच काशी आया हुआ था। उसने श्रीगोस्वामीजी का सुयश सुना तो दर्शन करने के लिए आया। कुटी पर आकर दूर से ही दर्शन कर रहा था। जब आपको मालूम हुआ कि यह अयोध्यावासी है आप भाव में विभोर होकर उसे साक्षात् श्रीरामस्वरूप समझकर प्रेमपूर्वक हृदय से लगाकर मिले। आपकी यह धाम एवं धामवासी के प्रति निष्ठा देखकर लोग मुग्ध हो गये।

सिद्धों के प्रश्नोत्तर—एक बार गिरनार की सिद्ध मण्डली आकाश मार्ग से आपका दर्शन करने आयी। दर्शनोपरान्त उन लोगों ने बड़ी विनम्रता पूर्वक पूछा—

तुमहिं न व्यापति काम, अति कराल कारन कवन।
कहिय तात सुखधाम, जोग प्रभाव कि भक्ति बल।।

आपने उत्तर दिया—

योग न भक्ति न ज्ञान बल, केवल नाम अधार।
मुनि उत्तर सुनि मुदित मन, सिद्ध गये गिरनार।।

चन्द्रमणि पर कृपा—एक बार आप अस्सी घाट पर बहुत से सत्संगीजनो के बीच बैठे हुए थे। उसी समय चन्द्रमणि नाम का एक भाट आकर चरणों में प्रणाम कर विनय करने लगा—

पन दो इक भोग विषय अरुझावन, जो रह्यो सो न खसाइय जू।
अबलौं सब इन्द्रिन लोग हँस्यो, अब तौ जनि नाथ हँसाइय जू।।
मद मोह महा खल काम अनी, मम मानस ते निकसाइय जू।
रघुनन्दन के पद के सद के, तुलसी मोहिं काशी बसाइय जू।।

श्रीगोस्वामीजी उसकी शुभेच्छा जानकर बड़े प्रसन्न हुए और उसको सुखपूर्वक काशी वास करने की व्यवस्था कर दी।

विश्वासी को राम दर्शन—कमलभव नाम का एक ब्राह्मण श्रीतुलसीदासजी के सत्संग में कभी—कभी आया करता था। एकबार उसने श्रीगोस्वामीजी से भगवद्दर्शन का उपाय पूछा।

आपने सहज भाव से कहा भैया! भगवान का भजन करो। 'भजत कृपा करिहहिं रघुराई'। भगवान का दर्शन तो कृपा–साध्य ही है। ब्राह्मण हठ करने लगा कि आप कोई ऐसा उपाय बतावें जिससे अति शीघ्र दर्शन हों। श्रीगोस्वामीजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो वृक्ष के नीचे त्रिशूल गाड़कर, वृक्ष पर से त्रिशूल पर कूदो, तो दर्शन हो जायेगा। ब्राह्मण ने एकान्त वन में जाकर वृक्ष के नीचे त्रिशूल गाड़कर जब ऊपर से कूदने का विचार किया, तो त्रिशूल की अनी देखकर उसकी हिम्मत छूट गई वह नीचे उतर आया। फिर हिम्मत की तो फिर हार गया। ऐसे ही वह कई–बार वृक्ष पर चढ़ा और उतरा। उसी मार्ग से एक पछाहीं वीर घोड़े पर चढ़ा जा रहा था। उसने यह तमाशा देखा तो उसके समीप आकर पूछा। ब्राह्मण ने सही–सही सब बात बता दी। उसको विश्वास हो गया कि जब श्रीतुलसीदासजी ने कहा है तो अवश्य दर्शन हो जायेगा। बस उसने अपना सब सामान ब्राह्मण को दे दिया और स्वयं वृक्ष पर चढ़कर श्रीगोस्वामीजी का स्मरण करके कूद पड़ा। भक्तवत्सल भगवान ने उसके विश्वास पर रीझकर उसे अपनी गोद में थाम लिया और दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया।

श्रीतुलसीदासजी और श्रीरहीमजी–जिन दिनों श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीचित्रकूट धाम में वास कर रहे थे, उन्हीं दिनों अकबर के पुत्र जहाँगीर ने रहीम की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली और इन्हें दिल्ली छोड़ देने का आदेश दिया। भक्त और कवि–हृदय श्रीरहीमजी ने चित्रकूट को प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर यह दोहा कहा–

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।
जा पर विपदा परत हैं, सो आवत यहि देश।।

श्रीकामदगिरि की परिक्रमा में आप एक भड़भूजा के यहाँ भाड़ झोंकने का काम करने लगे। वर्णन आया है कि एक दिन पन्ना नरेश ने श्रीकामदगिरि की परिक्रमा करते हुए श्रीरहीमजी को देखा तो पूछा–'जाके सिर अस भार, सो कत झोंकत भार अस।' अर्थात् जिसके सिर पर देश की शासन व्यवस्था का भार था, वह आज भड़भूजे के यहाँ भार क्यों झोंक रहा है? श्रीरहीमजी ने तपाक से उत्तर दिया–'रहिमन उतरे पार, भार झोंकी सब भार में।' इस प्रकार परम विरक्त भाव से श्रीरहीमजी भी चित्रकूट में रह रहे थे। श्रीतुलसीदासजी और रहीम की मित्रता हो गई और ऐसी प्रगाढ़ मैत्री हुई कि कभी–कभी रहीमजी भी तुलसीदासजी की कुटिया पर ही रह जाते थे। किसी ने श्रीतुलसीदासजी के इस व्यवहार से इन पर सन्देह किया कि यह भी मुसलमान ही तो नहीं हैं जो मुसलमान से इतना प्रेम करते हैं। उस समय श्रीतुलसीदासजी ने यह सवैया छन्द कहा था–

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।।
तुलसी सरनाम गुलाम हौं राम को, जाके रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगिकै खैबो मजीद को सोइबो, लेवे को एक न देवे को दोऊ।।

श्रीतुलसीदासजी और श्रीरहीमजी प्रायः साथ-साथ श्रीकामतानाथजी की परिक्रमा किया करते थे। एक दिन कहीं के एक राजा साहब चित्रकूट आये थे। उन्होंने मन्दाकिनी में स्नान किया और खूब सज—धजकर हाथी पर बैठकर कामदगिरि की ओर आ रहे थे। हाथी ने अपने स्वभाववश अपनी सूंड़ से कुछ धूल मिट्टी ऊपर को फेंक दिया। जिससे राजा का साज—श्रृंगार धूमिल हो गया। राजा को बड़ा क्रोध आया और उसने आदेश दे दिया कि हाथी को मार डाला जाय। फिर क्या था, उस हाथी को एक बहुत बड़े पेड़ में लोहे की जंजीरों से बाँधकर राजा के सिपाही उसे मारने का उपक्रम, कर ही रहे थे कि इतने में श्रीतुलसीदासजी और श्रीरहीमजी उसी मार्ग से निकले। भीड़—भाड़ देखकर उधर आकृष्ट हुए। पूछने पर सब बात मालूम हुई तो दोनों महानुभावों ने निश्चित किया कि जैसे—तैसे इस हाथी के प्राण बचाने चाहिए। फिर तो राजा को सुनाते हुए श्रीतुलसीदासजी ने पूछा कि—'धूरि धरत निज सीस पर कहु रहीम केहि काज।' श्रीरहीमजी ने उत्तर दिया—'जेहिं रज मुनि पत्नी तरी सो ढूंढ़त गजराज।' अर्थात् भगवान की जिस चरण-कमल की धूलिसे गौतम मुनिकी पत्नी अहिल्या का उद्धार हुआ, उसी चरण-धूलि को अपने उद्धार के लिए यह गजराज ढूढ़ रहा है। यह सुनते ही राजा को भाव आया कि अहो! यदि ऐसी बात है तो इस गजराज के साथ हमारा भी उद्धार हो जाएगा। फिर उसने तुरन्त आदेश दिया कि हाथी को न मारा जाय। यह तो मेरा तरन—तारन है। हाथी की जान बच गई।

श्रीरहीमजी की अत्यन्त उत्कट भक्ति—भावना, ज्ञान, वैराग्य, विवेक-विचार आदि को देखकर एक दिन श्रीतुलसीदासजी के मन में आया कि—मैं इनकी कुछ प्रशंसा करूँ। इस विचार से इन्होंने एकदिन श्रीरहीम के सामने एक दोहे की प्रथम पंक्ति कही—सुर तिय नर तिय नाग तिय अस चाहत सब कोय। इतना सुनते ही श्रीरहीमजी समझ गये कि ये मेरी बड़ाई करना चाहते हैं, अतः जब तक वे दूसरी पंक्ति कहें, उसके पहले ही श्रीरहीमजी ने दूसरी पंक्ति बनाकर झट कहा—'गोद लिए हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय।' ऐसा प्रगाढ़ प्रेम था दोनों महानुभावों का परस्पर।

अन्तिम उपदेश—महाप्रयाण की शुभघड़ी संनिकट जानकर आपने समीपस्थ भक्तों से कहा—

रामचन्द्र यश बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अबहीं तुलसी सोन।।

आपका अभिप्राय समझकर सत्संगीजनों ने कुछ उपदेश का अनुरोध किया, तब आपने यह कवित्त कहा—

अलप तौं अवधि जीव तामें बहु सोच—पोच, करिबे को बहुत हैं काह—काह कीजिये।
पार ना पुरान हूँ को वेद हूँ को अन्त नाहीं, बानी तो अनेक चित्त कहाँ—कहाँ दीजिये।।
काव्य की कला अनन्त छन्द को प्रबन्ध बहु, राग तो रसीले रस कहाँ—कहाँ पीजिये।
लाखन में एक बात तुलसी बताये जात, जनम जौ सुधारा चाहौ राम—नाम लीजिये।।

साकेत गमन—तत्पश्चात् काशीपुरी में ही—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो सरीर।।

ऐसे भक्त शिरोमणि, कविकुलभूषण, लोकनायक, कलिपावनावतार श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के श्री चरणों में हम कोटि—कोटि नमस्कार करते हैं।

तुलसीकृत राम कथा जग में, नर—नारिन तारन को पुलसी।
पुलसी भवसागर तारन कों, पढ़िकै मन गांठि गई खुलसी।।
खुलसी गठरी गई पापन की, धुलसी गई औ जनता हुलसी।
हुलसी जनता हुलसी वसुधा, हुलसी—हुलसी जनिकै तुलसी।। १।।
व्यास जु पावैं शरीर अनेक, शरीरन हू प्रति शीश हजारौ।
शीशनि मध्य हजार मुखौ, मुखहू प्रति जोत जौ होतें हजारौ।।
जन्म अनेकन लौं रसरूप, गनेश पढ़ावै जु जोरि अखारौ।
भारत में तुलसी गुरुदेव, तऊ न कह्यौ जस जाय तुम्हारौ।। २।।

* श्रीमानदासजी *

गोप्य केलि रघुनाथ की, (श्री) मानदास परगट करी।।
करुना वीर सिंगार आदि, उज्ज्वल रस गायौ।
पर उपकारक धीर कवित्त, कविजन मन भायौ।।
कोसलेश पदकमल अननि, दासत व्रत लीनौ।
जानकी जीवन सुजस रहत, निसिदिन रँग भीनौ।।
रामायन नाटक की रहसि, युक्ति उक्ति भाषा धरी।
गोप्य केलि रघुनाथ की, (श्री) मानदास परगट करी।।१३०।।

शब्दार्थ—गोप्य=गुप्त, छिपी। करुणा=करुणरस, दया। वीर=एक रस, जिसमें वीरता का वर्णन होता है। सिंगार=शृंगार, माधुर्य। उज्जवल=दिव्य। अननि=अनन्य। दासत=दासत्व, सेवा—भाव। नाटक=अभिनय, गद्य—पद्यपूर्ण ग्रन्थ, दृश्यकाव्य, कथनोपकथन द्वारा लिखित चरित्र। रहसि=रासलीला। रहसि उक्ति=विशिष्ट कथन।

भावार्थ—श्रीमानदासजी ने भगवान श्रीरामचन्द्रजी की गुप्त—प्रकट लीलाओं का काव्य द्वारा गान करके भक्तों को सुनाया। श्रीरामचरित्र वर्णन प्रसंग में आपने अपने काव्यों में करुण, वीर, उज्जवल, शृंगार आदि रसों का भी समावेश किया। आपकी कवितायें कविजनों को अत्यन्त प्रिय लगती थीं। आप महान् परोपकारी, धैर्यवान एवं शीलवान थे। कौशलेन्द्र भगवान श्रीरामचन्द्रजी के श्रीचरण—कमलों की अनन्य—भाव से सेवा करने का आपका दृढ़ व्रत था। श्रीजानकी—जीवन प्रभु के सुयश के वर्णन, अध्ययन एवं मनन के रंग में आप दिन रात रंगे—पगे रहते थे। श्रीरामायण और हनुमन्नाटकादि ग्रन्थों का, गूढ़ उक्तियों का आपने सरल एवं सरस भाषा में विवेचन किया।।१३०।।

व्याख्या—गोप्य केलि—इसका एक अर्थ भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ—परम गोपनीय श्रृंगार रस की लीलायें। लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की मधुर श्रृंगाररस की लीलायें जैसे लोक में प्रसिद्ध हैं वैसे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की मधुर श्रृंगार लीलायें लोक में प्रसिद्ध नहीं हैं। श्रीमानदासजी ने रहस्य ग्रन्थों से खोज-खोजकर उन लीलाओं को भाषा के पदों में वर्णन कर लोक में प्रसिद्ध किया। 'कवित्त कविजन मन भायो'—इस सम्बन्ध में देखिये द्वितीयखण्ड 'सूरकवित्त....चालन करै' की व्याख्या। जानकी जीवन—भगवान श्रीराम के शृंगाररस के परम—प्रवीण रसिक महानुभावों द्वारा रघुकुल—भूषण भगवान श्रीराम के लिए जानकी—जीवन इस नामका विशेषरूप से प्रयोग किया जाता है। छप्पय की प्रथम पंक्ति 'गोप्य केलि......मानदास परगट करी।' और इस पंक्ति 'जानकी जीवन सुजस रहत निसिदिन रँग भीने।' से सिद्ध होता है कि श्रीमानदासजी श्रीराम के श्रृंगार रस के उपासक थे। 'रामायन नाटक की रहसि युक्ति उक्ति भाषा धरी'—इसका एक अर्थ भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह भी होगा कि—श्रीरामायण और हनुमन्नाटकादि ग्रन्थों की गूढ़ उक्तियों का आपने सरल भाषा के पदों में अर्थ प्रकाश किया है। यथा—श्लो० आकृष्टे युधि कार्मुके रघुपतेर्वामोऽब्रवीद्दक्षिणं, दानादानसुभोजनेषु पुरतो युक्तं किमित्थं तव। वामान्यः पुनरब्रवीन्मम न भी प्रष्टुं जगत्स्वामिनं, छेत्तुं रावणवक्त्रपंक्तिमिति यो दद्यात्स वो मंगलम्।। (हनुमन्नाटक) अर्थ—जिस समय श्रीरामचन्द्र ने संग्राम में धनुष का आकर्षण किया तो प्रत्यञ्चा खींचने से दाहिना हाथ कान के पास तक चला गया। उस समय बाँया

हाथ दाहिने हाथ से बोला—दान करने, ग्रहण करने और भोजन करने के समय तो तुम आगे—आगे रहते हो और अब युद्ध में पीछे क्यों हटते हो? तब दाहिना हाथ बोला—मुझको भय नहीं है, किन्तु मैं रावण के मुख की पंक्तियों को काटने के लिए जगत्पति श्रीरामजी से पूछ रहा हूँ इस प्रकार कहता हुआ प्रभु का कर—कमल तुम्हारा मंगल करे।

श्रीहनुमन्नाटक के इस श्लोक का बड़ा सुन्दर भाव भाषा के इन दोहों में है। यथा—बाँया हाथ दाहिने हाथ से पूछता है—

खान पान सन्मान में सदा रहो अगवान।
अब क्यों पीछे जात हौ देख दसानन बान।।

तब दाहिना हाथ बोला—

प्रभु श्रवननि लगि जात मैं, पूछन को यह बात।
एक एक सिर काटहूँ, कै सबही इक साथ।।

विशेष—परमरसिक श्रीमानदासजी एकबार अपने आराध्य श्रीमद् राघवेन्द्र आनन्दकन्द कोशलचन्द्र भगवान श्रीराम का ध्यान कर रहे थे। उसी समय श्रीरघुनाथजी ने इन्हें अपने त्रिभुवनमोहन—मदनमोहन—स्वमनमोहन रूप का दर्शन कराते हुए अपनी गोपनीय लीलाओं के गान का आदेश दिया। प्रभु कृपा से इनके निर्मल हृदय में भगवान की परम गोपनीय लीलाओं की स्फूर्ति होने लगी। तब इन्होंने उन लीलाओं को भाषा पदों में गाकर लोक में प्रसिद्ध किया। एक बार एक गरीब ब्राह्मण ने आपसे अपनी कन्या के ब्याह के लिए धन की याचना की, तो आपने श्रीठाकुरजी के चाँदी के पार्षद बेचकर ब्राह्मण को धन दिया। आप ऐसे ब्रह्मण्य एवं परोपकारी थे।

एकबार आपके यहाँ सन्तों का विशाल भण्डारा था। नीचे जगह भर जाने से छत के ऊपर पंक्ति बैठी। ये सन्तों को प्रसाद परोस रहे थे। सहसा इन्हें प्रेमावेश आ गया। शरीर की सुधि नहीं रही, छत्त से नीचे गिर गये। सन्त समाज में हा—हाकार मच गया। परन्तु भक्तवत्सल भगवान ने अपने प्रिय भक्त को अपनी गोद में ही थाम लिया इससे उन्हें तनिक भी चोट नहीं आई। प्रभु कृपा का यह चमत्कार देखकर सब लोग इनके आराध्य श्रीराम और इनकी जय—जयकार करने लगे।

मान मन्दिर में विराजैं मानिनी श्री रिस भरी।
श्रीपति मनावैं खायँ हा—हा पै न मानति रस भरी।।

यहि ध्यान रसवश विकल अविकल मानिनी रुख अनुसरैं।
रीझि दम्पति मानदासहिं मान दै संज्ञा करैं।।

* श्रीगिरिधरजी *

(श्री) बल्लभजू के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।।
अर्थ धर्म काम मोक्ष भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल श्रुति ज्ञान सबहि शास्त्रन के ज्ञाता।।
परिचर्या ब्रजराज कुंवर के मन को कर्षै
दरशन परम पुनीत सभातन अम्मृत वर्षै।
विट्ठलेश नन्दन सुभाव जग कोऊ नहिं ता समान।
(श्री) बल्लभजू के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।। १३१।।

शब्दार्थ—भ्राजमान=देदीप्यमान, शोभायमान। अर्थ=धन, सम्पत्ति। धर्म=वह आचरण या भाव जिससे इस लोक में उन्नति हो और परलोक में कल्याण हो, कर्तव्य, सत्कर्म। काम=वाञ्छा, लौकिक भोगेच्छा, कामनायें। मोक्ष=निर्वाण, माया से मुक्ति। परिचर्या=सेवा। कर्षै=खींचै, आकृष्ट करें। सभातन=सभा की ओर।

भावार्थ—पुष्टिमार्गीय श्रीबल्लभाचार्यजी के वंश में श्रीगिरिधरलालजी महाराज कल्पवृक्ष के समान शोभायमान लगते थे। आप शरणागत भक्तों को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष और अचल श्रीहरिभक्ति के दाता थे। आपको वेद—शास्त्रों का सम्पूर्ण ज्ञान हाथ में आँवले की तरह प्रत्यक्ष था। आप सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। आपकी पूजा—पद्धति ब्रजराज कुंवर भगवान श्रीकृष्ण के मन को आकृष्ट करने वाली थी। आपके दिव्य—दर्शन से लोग पवित्र हो जाते थे। भक्तों की सभा में विराजमान होकर जब आप श्रीकृष्ण कथा को कहते थे, तब ऐसा लगता था कि मानो प्रेमामृत की वर्षा हो रही है। गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजी महाराज के सुपुत्र श्रीगिरिधरलालजी महाराज के समान सरस—शीतल एवं कोमल स्वभाव वाला संसार में कोई नहीं हो सकता है।।१३१।।

व्याख्या—सुरतरु गिरिधर०—विशेष देखिये द्वितीयखण्ड (छ० २८) पृष्ठ ६ अवनि कल्पतरु की व्याख्या। भक्ति अनपायनिदाता—अर्थ—धर्म—काम—मोक्ष के बाद भक्ति को कहने का भाव यह है कि यह पाँचवां पुरुषार्थ है। यथा—

पञ्चम पुरुषार्थ हय प्रेम महाधन। सेई कराय कृष्णेर माधुर्य आस्वादन।। (चै०च०)

अर्थात् प्रेम ही सबसे बड़ा धन है और यही पञ्चम पुरुषार्थ है। यही प्रभु श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन कराता है। 'हस्तामल श्रुतिज्ञान'—भाव यह कि जैसे हथेली में रक्खा हुआ आँवला भीतर और बाहर से एकदम स्पष्ट—निरावरण दीखता है, उसी प्रकार समस्त श्रुतियों का आपको सम्यक् ज्ञान था। 'परिचर्या ब्रजराज कुंवर के मन को कर्षै'—यह कहकर जनाया गया कि इनकी सेवा भगवान ने स्वीकार कर ली थी। वे इनकी सेवा के लिए लालायित रहते थे। यह बहुत बड़ी बात है।

विशेष—श्रीगिरिधरलालजी का एक शिष्य था। यह जाति का वैश्य था, उसके पास अपार सम्पत्ति थी। वह बहुत गुरु—गोविन्द की सेवा करता था। परन्तु समय के फेर से उनका सारा धन नष्ट हो गया और कुछ दिन बाद उसका गोलोकवास हो गया। उसके एक पुत्र था, उसके हृदय में भी भक्ति के संस्कार थे। परन्तु धन का सर्वथा अभाव होने से वह अपने पिता की भाँति श्रीगुरु—गोविन्द की वित्तजा सेवा नहीं कर पाता था। इस बात का उसे हार्दिक दुःख था। एकदिन उसने श्रीगिरिधरलालजी के पास आकर अपना दुःख निवेदन करते हुए प्रार्थना की—प्रभो ! आपकी कृपा से मेरे पिता के पास तो अपार धन था; इससे वे बहुत सन्त—भगवन्त की सेवा करते थे, परन्तु मैं तो ऐसा अभागा निकला कि मुझे पेट—भर खाने को भी नहीं मिलता। आप तो साक्षात् कल्पवृक्ष हैं जिसके पास से कोई भी निराश नहीं जाता है, अतः आप मुझ पर भी ऐसी ही कृपा करें, जिससे मैं भी अपने पिता की कीर्ति को अक्षुण्ण रखते हुए सन्त—भगवान की सेवा करूँ। निरन्तर मेरे हृदय को दारिद्र्य—दग्ध करता रहता है। परम दयामय श्रीगिरिधरलालजी उस वैश्य पुत्र की दीनता देखकर द्रवीभूत हो गये और उसे भी श्रीश्रीनाथजी के भजन का उपदेश देते हुए विश्वास दिलाकर बोले कि—प्रभु कृपा से बहुत शीघ्र तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जायगी। सचमुच थोड़े ही दिनों में वह श्रीहरि—गुरु कृपा से धनधान्य से सम्पन्न हो गया। कृपा के इस प्रत्यक्ष चमत्कार से चमत्कृत होकर वह वैश्य बड़ी उदारतापूर्वक गुरु—गोविन्द की सेवा करने लगा। इस सेवा के प्रताप से उसके मन में भगवान के दर्शनों की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई।

एकदिन उसने श्रीगिरिधरलालजी से अपने मन का भाव कह सुनाया और भगवत् साक्षात्कार का उपाय पूछा। आपने सहज भाव से कहा—'प्रीतम प्रीति ही ते पैये।' प्रभु तो प्रेम से ही मिलते है, अतः प्रेमपूर्वक भगवान की सेवा करो। उनके नाम—गुणों का संकीर्तन करो। उसने पूछा—प्रभो ! प्रेम के क्या लक्षण हैं? आपने कहा—जब भगवान के नाम, रूप का स्मरण होते ही आँखों से अश्रुपात तथा शरीर में रोमाञ्च होने लगे, वाणी गद्‌गद् हो जाय, कण्ठ अवरुद्ध हो जाय,

तो उसे प्रेम की दशा समझनी चाहिए। ऐसी दशा पर रीझकर ही भगवान भक्तों को दर्शन देते हैं। वह वैश्य बहुत दिन तक सेवा—पूजा—संकीर्तन करता रहा, परन्तु कभी भी उसकी आँखों में न तो आँसू आये और न शरीर में रोमाञ्च ही हुआ और न कोई प्रेम के अन्य लक्षण ही दिखाई पड़े। तब तो वह बहुत उदास होकर एकदिन श्रीगिरिधरलालजी के पास आया और अति दीन होकर पुनः अपनी मनोव्यथा सुनाई उसकी सरलता—निष्कपटता तथा दीनता पर रीझकर श्रीगिरिधरलालजी ने उसे छाती से लगा लिया और उनकी आँखों से झर—झर अश्रुपात होने लगा। उनके इस प्रेम का प्रभाव उस वैश्य पर भी पड़ा, उसके भी नेत्र सजल हो गये, शरीर पुलकायमान हो गया। उसी समय श्रीठाकुरजी ने साक्षात् प्रकट होकर गुरु—शिष्य दोनों को दर्शन दिया। परन्तु वह वैश्य अभी अच्छी तरह भर—आँख दर्शन नहीं कर पाया था कि ठाकुरजी अन्तर्धान हो गये। तब तो वह बहुत व्याकुल होकर आर्तनाद करने लगा। उसकी करुणा आपसे देखी नहीं गई आपने पुनः दर्शन देने की प्रार्थना भगवान से की, तो प्रभु ने कहा—इस वैश्य के द्वारा एक महदपराध होता है, इसलिए यह पुनः पूर्ण रूप से मेरा दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता है। श्रीगिरिधरजी ने कहा—जै—जै प्रभो ! वह कौन—सा महापराध है। हो सकता है कि यह अल्पज्ञ जीव अनजान में उसे करता हो और जान लेने पर न करे। श्रीनाथप्रभु ने कहा—इसकी पत्नी की वैष्णव—सेवा में बड़ा भाव है, परन्तु यह उसे डाटता फटकारता रहता है, उसे वैष्णव—सेवा नहीं करने देता है, यही इसका महापराध है। यह सुनकर वैश्य ने तत्काल प्रतिज्ञा की कि अब मैं कभी भी ऐसी भूल नहीं करूँगा। मैं नहीं जानता था कि सन्तों की इतनी महिमा है और प्रभु सन्तों पर इतना प्यार करते हैं। अब तो हम स्वयं सन्तों की सेवा करेंगे और पत्नी को भी वे—रोक—टोक सन्त—सेवा करने देंगे। जब वैश्य ने इस प्रकार प्रतिज्ञा की, तब भगवान ने पुनः प्रकट होकर दर्शन दिया। श्रीगिरिधरलालजी की कृपा से वैश्य को सहज में भगवद्दर्शन हो गये। तभी तो श्रीनाभाजी ने 'सुरतरु गिरिधर भ्राजमान' ऐसा कहा।

* श्रीगोसाईं गोकुलनाथजी *

(श्री) बल्लभजू के वंश में गुननिधि 'गोकुलनाथ' अति।।
उदधि सदा अक्षोभ सहज सुन्दर मितभाषी।
गुरुवत्तन गिरिराज भलप्पन सब जग साषी।।
विट्ठलेश की भक्ति भयौ वेला दृढ़ ताकैं।
भगवत तेज प्रताप नमित नरवर पद जाकैं।।

निर्विलीक आसय उदार भजन पुञ्ज गिरिधरन रति।
(श्री) बल्लभजू के वंश में गुननिधि 'गोकुलनाथ' अति ।। १३२।।

शब्दार्थ—गुननिधि=सद्‌गुणों के समुद्र। अक्षोभ=शान्त, गम्भीर, अविचल। मितभाषी= सारभाषी, अल्पभाषी, सत्यवादी। गुरुवत्तन=सुन्दर शरीर। गिरिराज=गोवर्धन। भलप्पन=सज्जनता, सरलता,साधुता। नमित=नम्र, नमत, प्रणाम करते। निर्विलीक=अव्यलीक, सच्चा, प्रिय, काम के आवेग से होने वाले अपराध से रहित। गिरिधरन=गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण। वेला=समुद्र का किनारा।

भावार्थ—श्रीमद् बल्लभाचार्यजी के वंश में श्रीगोकुलनाथजी सद्‌गुणों के निधान थे। वे क्षुभित न होने वाले समुद्र के समान अविचल, गम्भीर तथा सहज सुन्दर थे। सर्वदा मधुर, सत्य एवं आवश्यकतानुसार बोलने वाले थे। आपका विशाल सुन्दर एवं दिव्य शरीर श्रीगिरिराज गोवर्धन के समान दर्शनीय था। सारा संसार आपके भलप्पन का साक्षी है। आप अपने पिता श्रीविट्‌ठलनाथजी के भक्ति—समुद्र की सीमा बाँधने वाले सुदृढ़ किनारे के समान थे। आप भगवद् विभूति थे, बड़े तेजस्वी एवं प्रतापी थे। अतः बड़े—बड़े राजा—महाराजा, श्रेष्ठ व्यक्ति आपके श्रीचरण—कमलों में अपना सिर झुकाकर सादर नमस्कार करते थे। आपका हृदय परम पवित्र था। आप निर्विकार मन बुद्धि वाले, परम उदार और भजन—भाव की राशि थे। श्रीगोवर्धननाथजी से बड़ा स्नेह करते थे।। १३२।।

व्याख्या—श्रीगोकुलनाथजी—आप श्रीमद् बल्लभाचार्यजी के पौत्र एवं गुसाईं श्रीविट्‌ठलनाथजी के सात पुत्रों में से बीच के अर्थात् चतुर्थ पुत्र थे। 'उदधि सदा अक्षोभ'—कहने का भाव यह है कि यद्यपि समुद्र अत्यन्त गम्भीर होता है परन्तु फिर भी कभी—कभी क्षुभित भी हो जाता है, परन्तु श्रीगोकुलनाथजी सर्वथा अक्षोभ थे। 'सहज'—यह अक्षोम एवं मितभाषी दोनों के साथ अन्वित है। 'सुन्दर मितभाषी' यह वाणी का गुण है। यथा—

कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी ।।
थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई सुनहु तात मति मन चितलाई।
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे।। (रा०च०मा०)

आयौ कोऊ शिष्य होन ल्यायौ भेट लाखन की, भाखन की चातुरी पै मेरी मति रीझियै।
कहूं है सनेह तेरो जाके मिले बिना देह व्याकुलता होय जोपै तोपै दीक्षा दीजियै।।
बोल्यौ 'अजू मेरौ काहू वस्तु सों न हेतु नेकु,' नेति नेति कही हम, गुरु ढूंढ़ि लीजियै।

प्रेम ही की बात इहाँ करे ही पलटि जात, भयौ दुख गात, कहो कैसे रंग भीजियै।।५१९

शब्दार्थ—भाखन=भाषण, बोलना। रंग=प्रेम रंग।

भावार्थ—एकबार एक धनवान व्यक्ति आपका शिष्य होने के लिए आया। वह आपके लिए लाखों रुपये की भेंट लाया था। उस समय आपने उससे जिस चतुराई से बात की, (श्रीभक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि) आपकी उस बोलने की चतुराई पर मेरी बुद्धि एकदम रीझ गई। आपने उससे पूछा कि—क्या तुम्हारा कहीं किसी वस्तु पर ऐसा स्नेह है कि जिसके मिले बिना तुम्हारा तन—मन व्याकुल हो जाता हो। यदि ऐसा हो, तब तो मैं तुम्हें दीक्षा दूँ। उसने कहा—अजी मेरा कहीं किसी भी वस्तु में तनिक भी स्नेह नहीं है। तब आपने कहा कि—यदि ऐसा है, तब तो हम तुम्हें कदापि दीक्षा नहीं दे सकते। तुम किसी और गुरु को खोजो। भक्ति मार्ग में तो प्रेम ही प्रधान है। यहाँ तो सब बात प्रेम पर ही आधारित है। जीव का जो प्रेम संसार में होता है, दीक्षा—शिक्षा के द्वारा उसी को पलट कर भगवान में लगा दिया जाता है। जब तुम्हारे हृदय में कहीं प्रेम है ही नहीं, तो तुम भगवान के प्रेम में कैसे सराबोर हो सकते हो? इस प्रकार का कोरा जवाब सुनकर उसके मन में बड़ा दुःख हुआ।। ५१९।।

व्याख्या—ल्यायो भेंट लाखन की—उस धनवान को इस बात का अभिमान था कि गोसाईंजी को एक लाख की भेंट देने वाला कोई शिष्य नहीं मिला होगा। श्रीगोकुलनाथजी उसके अभिमान को जान गये। अतः इन्होंने बड़ी ही चतुराई से पूछा कि तुम्हारा कहीं प्रेम है? उसने शेखी में आकर वैराग्य दिखाते हुए कहा कि मेरा कहीं प्रेम नहीं है। फिर तो आपने बड़ी युक्ति से कहा कि जब तुम्हारे हृदय में प्रेम का अंकुर ही नहीं है, तो तुम भगवान से कैसे प्रेम करोगे। अतः हम तुम्हें मन्त्र नहीं दे सकते। उसने बार—बार दक्षिणा की ओर श्रीगोकुलनाथजी का ध्यान आकृष्ट किया कि—महाराज ! मैं तो बड़ी आशा से आया था कि आप मुझे अपनायेंगे और मेरी भेंट को अंगीकार करेंगे। ऐसा कहकर उसने मुहरों की थैलियाँ उनके सामने उड़ेल दी। एक लाख मुहरों की राशि हो गई। उसने सोचा कि जब ये इन मुहरों की ढेरी देखेंगे तो जरूर लुभाकर मुझे मन्त्रोपदेश देने को तैयार हो जायेंगे। उसके इस अभिप्राय को जानकर श्रीगोकुलनाथजी उठे और स्वर्ण राशि पर पैर से ठोकर मारते हुए बोले कि—शायद तुम सोचते होंगे कि इन्हें कोई एक लाख की भेंट देने वाला नहीं मिलेगा तो तुमको भी एक लाख पर ठोकर मारने वाला जल्दी नहीं मिलेगा। फिर तो वह धनिक बहुत लज्जित हुआ और बहुत रोया—गिड़गिड़ाया परन्तु आपने उसे नहीं ही अपनाया। आप ऐसे निष्काम, निर्लोभी,

परम त्यागी और निस्पृह थे। 'कहूँ है सनेह'—'यहाँ किया नहिं इश्क का इस्तेमाल सँभार। सो साहब सों इश्क वह करि क्या सके गँवार।।' दृष्टान्त—श्रीविल्वमंगलजी छ० ४६। तथा श्रीधनुर्दासजी पूर्वार्द्ध पृष्ठ १३५। इनकी रूपाशक्ति जितनी यहाँ थी, भगवान की ओर मुड़ने पर क्षण—भर में ही उससे भी अधिक भगवान के रूप में हो गई।

कान्हा हो हलालखोर घोरि दियौ मन लैकै, स्याम रससागर में नागर रसाल है।
निसि को सुपन मांझ निपुन श्रीनाथजू नै, आज्ञा दई भीत नई भई ओट साल है।।
गोकुल के नाथजू सों वेगि दै जताइ दीजै, कीजै याहि दूर छबि पूर देखौ ख्याल है।
भोर जौ विचारै, नाहिं धीरज कों धारैं, उहाँ जाऊँ कोऊ मारै पैडें पर्‌यो यह लाल है।। ५२०।।

शब्दार्थ—हलालखोर=भंगी, श्वपच। ओट=आड़, रोक, अवरोध। साल=घाव, दुःख। ख्याल=ध्यान, स्मरण।

भावार्थ—कान्हा नाम का एक भंगी था। उसने परमानन्द रससागर, नटनागर, प्रेमधाम, श्रीश्यामसुन्दर के प्रेमरस में अपने मन को एकदम मिला दिया था। कान्हा को दूर से खड़े होकर टकटकी लगाकर श्रीनाथजी का दर्शन करते हुए देखकर मन्दिर के अधिकारी, पुजारी आदि कर्मचारियों ने श्रीगोकुलनाथजी से कहकर श्रीठाकुरजी को नीच की दृष्टि से बचाने के लिए मन्दिर के द्वार के सामने दीवार उठवा दी, जिससे अब न तो कान्हा श्रीश्रीनाथजी को देख सके, न श्रीश्रीनाथजी कान्हा को देख सकें। तब रात्रि में परम प्रवीण श्रीश्रीनाथजी ने स्वप्न में कान्हा से कहा कि इस नई दीवार की ओट मुझे बहुत कष्ट दे रही है अतः तुम श्रीगोकुलनाथजी से शीघ्र कहो कि बहुत जल्दी इस दीवार को हटवा दें, जिससे कि मैं विलछू कुण्ड की शोभा का दर्शन कर सकूँ। प्रातःकाल होने पर कान्हा मन में जब स्वप्न की बात का विचार करने लगा तो उसकी हिम्मत छूट गई। वह सोचने लगा कि यदि मैं वहाँ जाकर यह बात कहूँगा, तो कोई मुझे मारने न लगे। इधर ये लालजी मेरे पीछे पड़े हैं।। ५२०।।

व्याख्या—हलालखोर—भगवान को भक्तिमान प्राणी प्रिय हैं। यथा—(रा०च०मा० में) भक्तिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्राण प्रिय असि मम बानी।। भक्तिहीन विरंचि किन होई। सब जीवहुँ सम प्रिय मोहिं सोई।। विशेष देखिये पूर्वार्ध पृष्ठ २३७।। तथा श्वपच भक्त का प्रसंग पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४२०।। धर्मराज के यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ भक्त श्वपच बाल्मीकिजी ही सिद्ध हुए। जाति पांति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई।। घोरि दियो मन—सो० जीव

ईश मिलि दोय, नाम रूप गुण परिहरै। रसिक कहावै सोय, ज्यौं जल घोरै शर्करा।। (भ०र०) ईश्वर से मिलने पर जीव के गुण–दोष दूर हो जाते हैं। जैसे शर्करा के दोष तृण आदि जल में घुलने पर अलग हो जाते हैं उसी प्रकार जाति गुण आदि के दोष भक्त में नहीं रहते हैं। प्रभु रसाल, रसालय एवं रससागर हैं, भक्त भी इन दिव्य गुणों से युक्त हो जाते हैं–

सुपन–श्रीनाथजी ने गोसाईंजी से स्वप्न में नहीं कहा। इसलिए कि कान्हा छिपा हुआ भक्त था। उसे प्रकट करना था। जैसे श्वपच बाल्मीकि को प्रकट किया। वैसे ही कान्हा को प्रकट किया। उसकी महिमा को बढ़ाया। छबि पूर देखौ–श्रीनाथजी ने कहा–दीवार बन जाने से शोभा से पूर्ण विलछू वन नहीं दिखाई पड़ता है अतः दीवार गिरवा दो। दीवार बन जाने से कान्हा और श्रीनाथजी परस्पर एक दूसरे को नहीं देख पाते थे। दोनों को इसका कष्ट था। पर श्रीनाथजी ने अपने प्रेम को छिपाने के लिए विलछू वन को देखने का बहाना बनाया। ख्याल है–श्रीश्रीनाथजी ने कान्हा से कहा कि–तुम्हें दर्शन न होने से जो कष्ट है, उसका हमें ख्याल है। भगवान सर्वदा अपने भक्त का, उसके प्रेम का ध्यान रखते हैं। प्रेमी संसार के अन्य प्रपञ्चों को करता हुआ दिखाई भले पड़े, पर उसका ख्याल प्रेमास्पद में ही रहता है। इस पर–

दृष्टान्त–फकीर और बालक की गुड्डीका–एक फकीर ने अपने गुरुजी से पूछा–ईश्वर में प्रेम कैसा होना चाहिए। गुरुजी ने कहा–इस बात को तो ईश्वर ही बता सकता है, उसी से पूछना चाहिए। फकीर–ईश्वर कहाँ मिलेगा। गुरुजी–कुटी से बाहर निकलो, जो सबसे पहले मिलेगा वह ईश्वर ही होगा उसी से पूछना। फकीर ने ध्यान किया और बड़े चाव से बाहर निकला, तो सबसे पहले उसे एक बालक पतंग उड़ाता हुआ मिला। उसे ही ईश्वर मानकर पूछने लगा, पर बालक का मन पतंग में था। हमारे पैर कहाँ पड़ रहे हैं, यह भी उसे पता न था। पतंग के अधीन आगे–पीछे लड़खड़ाता हुआ चल रहा था। कुछ भी उत्तर न मिलने पर वह लौटकर गुरुजी के पास आया और बोला ईश्वर नहीं मिला। सबसे पहले पतंग उड़ाता हुआ बालक मिला। गुरुजी ने कहा वही ईश्वर था। उसने अपनी लीला दिखाकर उपदेश दिया। बालक बनो, पतंग में जैसे मन–बुद्धि लगाई जाती है, उसी प्रकार शरीर और संसार को भुलाकर ईश्वर में मन लगाओ। हाथ–पैर टूटने–मरने की अर्थात् हानि–लाभ, सुख–दुःख आदि की चिन्ता त्याग दो, फकीर ने वैसा ही किया।

ऐसे दिन तीन आज्ञा देते वे प्रवीन नाथ, हाथ कहा मेरे बिन गये नहीं सरैगौ।
गये द्वार द्वारपाल बोले जू विचार एक, दीजै सुधि कान सुनि खीझे बात करैगौ।।
काहू ने सुनाय दई लीजियै बुलाय अहो कहौ, और दूर करौ करे दूरि ढरैगौ।
जाय वही कही लही आपनी पिछानि मिले, सुन्यौ मेरौ नाम स्याम कह्यो नहीं टरैगौ।।५२१।।

भावार्थ—इसी प्रकार प्रेम—प्रवीण श्रीनाथजी तीन दिन तक लगातार स्वप्न में कान्हा को आज्ञा देते रहे। तब कान्हा ने विचार किया कि इसमें मेरा वश ही क्या? लगता है कि मुझे श्रीगोसाईं गोकुलनाथजी से बिना कहे काम नहीं चलेगा। अतः कान्हा हिम्मत करके श्रीगोसाईंजी के द्वार पर गया और द्वारपाल से बोला—आप श्रीगोसाईंजी से मेरी प्रार्थना सुनाइये कि कान्हा आपसे कुछ बात करना चाहता है। यह सुनकर द्वारपाल ने नाराज होकर कहा—अरे ! तू गोसाईंजी से बात करेगा? इतने में किसी ने श्रीगोसाईंजी से कहा कि—कान्हा आपसे कुछ कहना चाहता है, तो आपने कहा—'उसे शीघ्र बुलाओ' जाने पर श्रीगोसाईंजी ने कहा—अहो! कहो, तुम क्या कहना चाहते हो। तब कान्हा ने कहा—आप अन्य लोगों को यहाँ से दूर हटा दीजिये, तब कहूँगा। तब श्रीगोसाईंजी ने सबको यह कहकर हटाया कि—आप लोगों के दूर हट जाने पर यह अपनी बात कहेगा। सब लोग हट गये। तब कान्हा ने वहीं बात कही, जो श्रीश्रीनाथजी ने इससे कहा था। सुनकर श्रीगोकुलनाथजी बड़े हर्षित हुए कि अहो! श्रीश्रीनाथजी ने मुझे अपना मानकर मुझसे कहने को कहा है। फिर तो आप कान्हा से बड़े प्रेम से मिले और बोले—यदि श्रीश्यामसुन्दर ने मेरा नाम लेकर कहा है तो अब उनकी बात नहीं टलेगी। अर्थात् अवश्यमेव उसका पालन किया जायेगा।। ५२१।।

व्याख्या—काहू ने सुनाय दई—वह कोई और नहीं था। स्वयं श्रीनाथजी ने ही एक व्रजवासी का रूप धारण कर श्रीगोसाईंजी से कहा बाहर कोई प्रेमी भक्त आपसे मिलना चाहता है। पर द्वारपाल आने नहीं दे रहा है, उसे फटकार रहा है। भगवान ने द्वारपाल की शिकायत और कर दी, क्योंकि उसने भक्त को फटकारा था। मेरो नाम स्याम कह्यो—इस बात पर श्रीगोसाईंजी बहुत प्रसन्न हुए कि भगवान ने मेरा नाम लिया। इसमें भाव यह कि भगवान हमें जानते हैं और ऐसा लगता है कि हमारी सेवा को मानते हैं। तब तो मुझे कहलवाया। अन्यथा गरुड़जी, हनुमानजी आदि किसी पार्षद के द्वारा दीवार को गिरवा सकते थे। अहो! मैं धन्य हो गया जो प्रभु ने मुझे अपना लिया। फिर तो श्रीगोसाईंजी ने तुरन्त ही दीवार गिरवा दी। अधिकारी को आज्ञा दी कि कान्हा को नित्य एक पारस विशेष रूप से दे दिया करो। यह श्रीनाथजी का अनन्य सखा है।

विशेष–कथा प्रसिद्ध है कि दिल्ली का बादशाह मथुरा को आया और औरंगाबाद में उसका पड़ाव पड़ा। उसने लोगों से पूछा कि आजकल यहाँ करामाती हिन्दू फकीर कौन हैं। लोगों ने श्रीगोकुलनाथजी का नाम बताया और इनकी प्रशंसा भी की । बादशाह ने एक मन्त्री को भेजकर प्रार्थना की, कि आकर दर्शन दीजिये। आप पालकी में विराजमान होकर अपने परिवार सहित पधारे । बादशाह ने एक चबूतरा बनवाया था। उसमें हड्डियों को भरवाकर ऊपर से लीप–पोत कर उस पर कम्बल बाघम्बर आदि बिछवा दिये। इनके पहुँचने पर स्वागत करके इन्हें उसी पर बैठने को कहा, आपने अपने जलपात्र से जल लेकर जल छिड़क दिया और बैठ गये। बादशाह ने पूछा–आप जिस वेदिका पर बैठे हैं उसके भीतर क्या है। आपने उत्तर दिया–गुलाब के फूल। बादशाह ने प्रार्थना करके श्रीगोसाईंजी को दूसरे तख्त पर बैठाया और चबूतरे को खुदवाया तो चारों ओर ताजे गुलाब के फूलों की सुगन्ध फैल गई फूलों को देखकर बादशाह आपके चरणों में झुक गया । सेवा के लिए प्रार्थना करने लगा और गोसाईंजी की आज्ञा से गोचर–भूमि की व्यवस्था की । व्रज के तीर्थों में वनों में शिकार न करने की पुरानी राजाज्ञा को दृढ़ता से लागू किया । मूल छप्पय में इन्हीं प्रसंगों को लेकर कहा है कि 'नमित नरवर पद जाकैं।'

भक्तदाम गुण–चित्रणी पृष्ठ ६७ पर एक और प्रसंग वर्णित है, एक ब्राह्मण अपनी कन्या के साथ कहीं जा रहा था। दुष्टयवनों ने उसे छीन लिया। ब्राह्मण रोता हुआ श्रीगोकुलनाथजी के पास आया। समाचार सुनकर आपको दया आई। आपने एककायस्थ शिष्य को जो उस यवन सरदार के यहाँ मुन्शी था। उससे कहा कि उससे कह–सुनकर विप्र कन्या को वापस करा दो। उसने कहा–महाराज ! ये यवन बड़े अत्याचारी हैं, मेरे कहने से नही मानेंगे। तब आपने श्रीश्रीनाथजी से प्रार्थना की। उसे स्वप्न हुआ पर उसने ध्यान नहीं दिया तो श्रीनाथजी आधी–रात को गये और उस सोते हुए यवन सरदार के मुख पर पैर से एक ठोकर मारकर कहा–क्यों रे ! तूने मेरी बात नही मानी। वह घबड़ाकर उठा। अत्यन्त भयभीत होकर प्रातः उसने अपने दरबारियों से सलाह की और पूछा कि मेरा भय कैसे दूर हो। तब उस कायस्थ शिष्य ने कहा–आप श्रीगोकुलनाथजी गोस्वामी के पास चलिये। वे आपका भय दूरकर देंगे। यवन सरदार गोसाईं जी के पास आया और अपनी विनती सुनाई और कहा कि–'मैं आज्ञा को मानूंगा'। गोसाईंजी ने ब्राह्मण कन्या वापस कराई और उसके मन में व्याप्त भय को आशिर्वाद मात्र से दूर कर दिया। यवनने ब्राह्मण कन्या को बहुतसे आभूषण दिये। पुनः ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा की। श्रीगोकुलनाथजी का ऐसा अद्‌भुत प्रताप था।

* श्रीबनवारीदासजी *

रसिक रँगीलौ भजन पुंज सुठि, 'बनवारी' स्याम कौ ।।
बात कवित बड़ चतुर चोख चौकस अति जानै ।
सारा सार विवेक परमहंसनि परवानै ।।
सदाचार सन्तोष भूत सबको हितकारी ।।
आरज गुन तन अमित भक्ति दशधा व्रतधारी ।।
दरसन पुनीत आसय उदार आलाप रुचिर सुख धाम कौ।।
रसिक रँगीलौ भजन पुंज सुठि, बनवारी, स्याम कौ ।।१३३।।

शब्दार्थ—बात=वार्ता, प्रसंग, चर्चा, उपदेश। चोख=उत्तम, अच्छा। चौकस=सावधान, सतर्क। सारा सार विवेक=सत् असत् का विचार। परवानै=प्रमाण, श्रेष्ठ मानै। भूत=प्राणी, चराचर। आलाप=सम्भाषण, बोलना।

भावार्थ—श्रीबनवारीदासजी भगवान श्यामसुन्दर के बड़े अनुरागी, रसिक एवं सुन्दर भजनानन्दी सन्त थे। भगवत्सम्बन्धी कथा—वार्ता एवं काव्य रचना में परम चतुर थे। साधन—भजन में सर्वदा सावधान रहते थे। सार पदार्थ को ग्रहण करने तथा असार को त्यागने में आप परमहंसों के समान थे। आप श्रेष्ठ सदाचारी और सन्तोषी थे तथा प्राणीमात्र के हितकारी थे। आपमें सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान थे। प्रेमा भक्ति के आचरण की आपने प्रतिज्ञा ले रक्खी थी। आपका दर्शन परमपवित्र और उद्देश्य उदार था। आपका वार्तालाप परम मनोहर एवं सुखदायक था।। १३३।।

व्याख्या—रसिक.....पुंज—जैसे स्वयं भगवान रसमय हैं, रसकी मूर्ति हैं, रसस्वरूप हैं और रसिक हैं। उसी प्रकार उनके अनन्य भक्त भी रसिक एवं रंगीले होते हैं। प्रेमरंग में सराबोर स्वयं भगवान हैं—यथा—प्रीति की रीति रंगीलोइ जानै। उनके प्रेम में मतवाले रँगीले भक्त श्रीबनवारीदासजी थे। बनवारी के विशेषण बनवारीदास में दिखाये गये। इससे भक्त—भगवन्त की एकता सिद्ध हुई। भजन पुंज—एक कालिक भगवान की कोई साधारण सेवा—भजन है और मन—वचन—कर्म से, सर्व—समर्पण भाव से सार्वकालिक अष्टयाम—सेवा

से ये भजन पुंज हैं । ये नाम जपते, सत्संग करते, कथा कहते, काव्य रचना द्वारा गुणगान करते, सारा–सार का निर्णय करके अनुयायी साधकों का मार्गदर्शन करते और भक्ति सम्बन्धी सभी प्रतिज्ञाओं का दृढ़ता से पालन करते अतः इन्हें भजन पुंज कहा गया ।

बात कवित बड़ चतुर–सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान। रा०च०मा० वाणी की प्रशंसा तब होती है जब वह मधुर हो, सत्य हो और सभी के हित की हो। आगे (आलाप रुचिर), कहकर मधुरता दिखाई, सारा सार विवेक, कहकर सत्यता दिखाई और 'भूत हितकारी' कहकर इनकी वाणी को प्राणीमात्र की हितकारिणी कहा गया। बिना विचारे, मिथ्या, कटु, दुःखदा, मुखदेखी–ठकुर सोहाती कहना वाणी केदोष हैं। वाणी–भूषण ही भूषण है, अन्य भूषणों से शोभा नहीं होती है।

यथा–

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला –
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृत मूर्धजाः ।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।(भर्तृ हरि)

अर्थ–बाजूबन्द,चन्द्रकान्तमणि का हार, स्नान, अङ्गराग चन्दन, पुष्पमाला, सँवारे केशपाश आदि पुरुष को सुशोभित नहीं करते हैं । पवित्र वाणी ही एकमात्र पुरुष को विभूषित करती है जो संस्कार से युक्त है। दुसरे जो आभूषण हैं वे तो क्षीण–मलीन एवं नष्ट हो जाते, है, वाणी अमिट है, शोभा का आधार है अतः वाणी ही श्रेष्ठ भूषण है। दो०–कुसुम केश भूषण वसन चन्दन हार सिंगार। घिसें मिटै वानी अमिट सब शोभा आधार। किसी कविने जिह्वा को शिक्षा दी है। यथा–हे जिह्वे रस सारज्ञे मधुरं किन्न भाषसे। मधुरं वद कल्याणि सर्वदा मधुर प्रिये।। अर्थ–हे जिह्वे ! तू मीठे–खट्टे आदि सभी रसों को ग्रहण करने वाली है और मीठा ही तुझे सर्वदा प्रिय है, तब फिर मीठे बोल क्यों नहीं बोलती है। मेरी मान, मधुर भाषण ही किया कर । जिह्वा से कटुभाषण करने से विपत्तियों के पहाड़ सिर पर आ जाते हैं।

दोहा–

जिह्वा तू दुखदा बड़ी बोलत नाहिं सँभार। कहिकै कटु भीतर छिपति जूता सहत कपार।।
रोष न रसना खोलिये बरु खोलिय तरवार। सुनत मधुर परिनाम हित बोलिय वचन सँभार ।।

बात बनाने में इन्हें चतुर कहा, इसका तात्पर्य यह नहीं कि लौकिक वार्ता में बीरबलकी तरह हाजिर जवाब थे, आप भगवत्कथा एवं उपदेश को इस चतुरता से कहते थे कि श्रोता

मन्त्रमुग्ध हो जाता, विमुख सम्मुख हो जाता। वार्तालाप में चतुराई आवश्यक है यथा—

बातन हाथी पाइये बातन हाथी पाइ। बातन सों विष ऊतरै बातन विष ह्वै जाइ।।

दृष्टान्त—फकीर और बादशाह का—एकदिन प्रातः काल बादशाह की एक फकीर से मुलाकात हो गई। परस्पर दोनों ने एक दूसरे को देखा। दोपहर को बादशाह भोजन के लिए बैठा, थाली सामने आई इसी बीच ऊपरसे एक छिपकली थाली में गिर पड़ी। रसोइयाने कहा— मैं अभी दूसरी थाली लाता हूँ, सम्पूर्ण सामग्री तैयार है। पर बादशाह ने इन्कार करते हुए कहा कि—'मेरा मन बिगड़ गया, भोजन से अरुचि हो गई है अतः अब आज मैं भोजन नहीं करुँगा।' बादशाह ने भोजन नहीं किया। सोचते—विचारते उसके मन में आया कि आज सबेरे—सबेरे हमने एक फकीर का मुख देखा था। उसीका यह परिणाम है कि आज मुझे भोजन नहीं मिला। जो भी उसका मुख सबेरे देखता होगा, उसे ही दिन—भर भोजन नहीं मिलता होगा। ऐसे अशुभ आदमी को तो मरवा डालना चाहिए जिससे लोगों को शान्ति मिले। बादशाह ने सिपाहियों को बुलाकर कहा कि फौरन उस फकीर को पकड़कर लाओ और हाथी के पैरों से कुचलवाकर मार डालो। सिपाहियों ने फकीर को लाकर उसे बताया कि तुम्हें हाथी के पैरों से कुचलवाने का सरकारी हुक्म है। फकीर ने कहा—'मुझे दण्ड स्वीकार है, परन्तु मेरी अन्तिम इच्छा है कि बादशाह से मिलूं और एक बात पूछूं।' सिपाहियों ने बादशाह से स्वीकृति लेकर फकीर को बादशाह के सामने उपस्थित किया। फकीर ने पूछा कि—'मुझे यह दण्ड क्यों दिया जा रहा है, बादशाह ने कहा—तुम एक अशुभ व्यक्ति हो,मैंने सबेरे तुम्हारा मुख देखा था अतः आज मुझे भूखा रहना पड़ा। इसलिए तुम्हें यह दण्ड दिया जा रहा है ताकि दूसरे लोगों को अपशकुन न हो। फकीर ने कहा—मेरा मुख देखने से तुम्हें भोजन नहीं मिला, इसमें कोई विशेष हानि नहीं है, तुम मरोगे नहीं, कल भोजन कर लोगे। परन्तु तुम्हारा मुख कितना बुरा है कि जिसे सबेरे देखनेसे हमें प्राण दण्ड मिल रहा है।' यह युक्तियुक्त बात सुनकर बादशाह को सद्बुद्धि आई और उसने प्रसन्न होकर फकीर का स्वागत—सत्कार किया तथा उसे उसी हाथी पर बैठाकर राजकीय सम्मान के साथ विदा किया। बात बनाने से हाथी मिला। अन्यथा हाथी के पैरों से मृत्यु मिलती।

बातन सों विष उतरै—अनुकूल, सद्वार्ता से विष—द्वेष—क्रोध आदि दूर हो जाते हैं। इस पर दृष्टान्त एक सन्त—सेवा का—देखिये, तृतीयखण्ड भक्तमाल पृष्ठ २५५ में। जो खाय सो गाय खाय' इस कटु—वाक्य से विषरूप क्रोध चढ़ा और 'जो खाय सो पदों को गाय कर खाय' इस मधुर वाक्य से सन्तों का क्रोध दूर हो गया । बात अर्थात् मधुर सत्य एवं

तर्क–संगत वाक्य से असंभव कार्य संभव हो जाते हैं, भूत भाग जाते हैं, प्राण बच जाते हैं।

दो०– बात बिड़ारै भूत को बात बचावै प्रान। बात बड़ी भगवान ते कह्यौ हंस आख्यान।।

दृष्टान्त–एक ओझा का–किसी गाँव में एक ओझा–तान्त्रिक रहते थे, वे भूत–प्रेत आदि बाधाओं को बात ही बात में भगा देते थे । एकबार इनके पास एक मनुष्य ने आकर प्रार्थना की–मेरे लड़के को भयंकर भूत लगा है, किसी प्रकार भी नहीं छोड़ रहा है लड़का मरने वाला है। वह भूत कई लड़कों को मार चुका है। जगंल में एक नदी के किनारे' पीपल के वृक्ष पर अपना निवास बताता है। ओझा ने कहा–चिन्ता मत करो, घरको चलो, जब मै तुम्हारे घर पर जाऊँ, तब तुम मुझसे कहना कि–महाराज ! मेरे घर में दो–तीन दिन से बड़े–बड़े भारी–भयंकर राक्षसों ने आकर अड्डा जमा लिया है। वे कहते हैं कि अब हम लोग इस गाँव में किसी प्राणी या भूत–प्रेत को नहीं रहने देंगे। अब केवल लड़के के मरने का भय हमें नहीं है। उन राक्षसों से इस गाँव की रक्षा कीजिये। वह मनुष्य घर आया और ओझा के आने पर वही ओझा की सिखाई हुई बात कही । जिसे सुनकर भूत भयभीत हो गया और तुरन्त लड़केको छोड़कर भाग गया। इस प्रकार ओझा ने केवल बात बनाकर भूतको भगा दिया। 'बात बचावै प्राण' इस पर–

दृष्टान्त–बादशाह और एक सन्त का–किसी नगर में एक बहुत बड़ी मसजिद थी उसीसे कुछ दूर पर एक हिन्दू सन्त की कुटिया थी। एक दिन वे सन्त कुटिया से आकर मसजिद के निकट बैठकर ध्यान करने लगे। इतनेमें कुछ प्रमादी यवनों ने आकर उन्हें देखा और उनके निकट मसजिद की एक ईंट टूटी देखी। सन्त पर मसजिद को तोड़ने का आरोप लगाया। पकड़कर बादशाह के पास ले गये। उसने मौलवियोंकी सलाह से सन्त को सूली की सजा दे दी। सन्तने कहा–मैं अपनी एक बात कहना चाहता हूँ, अन्तिम बात सुनाने का मुझे अधिकार है। सुनना भी आपका कर्त्तव्य है। बादशाह ने कहा–सुनाओ सन्तने कहा–मसजिद एक भौतिक ईश्वर की उपासना का स्थान है। ईंटा चूना से उसे मनुष्य के द्वारा बनाया गया है। उसकी केवल एक ईंट के टूटने के सन्देह में मौत की सजा दी जा रही है। मनुष्य का शरीर ईश्वर के द्वारा निर्मित है और ईश्वर का मन्दिर है। इसे पूर्णतया नष्ट कर देना कितना बड़ा अपराध है। एक ईंट टूटने की सजा मौत है तो फिर पूरे ईश्वर मन्दिर को नष्ट कर देने पर तुम लोगों को कौन–सी सजा मिलनी चाहिए। बादशाह ने यह

सुनकर तोबा किया और सन्तका बड़ा भारी उपकार माना कि मुझे आपने महदपराधसे बचाया। यदि सन्त बात न बनाते तो प्राण जाते अतः 'बात बचावै प्राण' यह सत्य है। इस सम्बन्ध में श्रीतुलसीदासजी और श्रीरहीम का वार्तालाप इसी खण्ड में पृष्ठ ६९ पर देखिये, जिससे हाथी के प्राण बचे। श्रीब्रह्माजी को विवेकपूर्ण बात बनाना नहीं आया उन्होंने ध्यान किया तो हंस भगवान आ गये। पूरा प्रसंग देखिये भक्तमाल पूर्वार्द्ध पृष्ठ १२६, हंस अवतार कथा। बात बनाने की कला हो तो एक बात का एक लाख रुपया और एक हाथी मिल जाता है। इस पर—

दृष्टान्त—बीरबल और केशवदासका—ओरछा निवासी श्रीकेशवदास कविने 'रसिक-प्रिया' नामक ग्रन्थकी रचना की और उसे ओरछा नरेशको समर्पित किया। जिसे देखकर वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक लाख रुपया और एक हाथी केशव कवि को पुरस्कार रूप में प्रदान किया। फिर पूछा कि—आप इस पुरस्कार को पाकर सन्तुष्ट हुए या नहीं ? केशवदास ने कहा—राजन् ! मैं अपने सन्तोष से और आपके स्वागत—सत्कार से प्रसन्न हूँ। सम्मान पूर्वक पान ही पर्याप्त है, अन्यथा एक लाख रुपया और एक हाथी तो मेरी एक—एक बात का मुझे मिलता है। इतने विशाल ग्रन्थ में न जाने कितनी बातें हैं। ओरछा नरेश एवं सभी सभासदों ने कहा—आपकी इस बात पर कैसे विश्वास किया जाये। केशव कवि ने कहा—मैं अपनी बात को सत्य प्रमाणित करूँगा। आप मेरे साथ अपना गुप्तचर भेज दीजिए और मुझे समय दीजिए। राजा ने ऐसा ही किया। केशवदासजी दिल्ली गये और एक बगीचे में ठहर गये। बादशाह को समाचार मिला कि ओरछा के राज कवि पधारे हैं। उसने शीघ्र ही बीरबल को बुलाकर कहा—सम्पूर्ण स्वागत सामग्री के साथ जाओ और उनका स्वागत करो । बीरबल पहुँचे, तो उनके समीप आने पर केशव कवि ने इनकी ओर पीठ कर लिया और पीछे की ओर देखने लगे। बीरबल की समझ मैं नही आया तो उन्होंने पूछा—मैं तो आपका स्वागत करने आया और आपने मेरी ओर पीठ कर दी, ऐसा क्यों ? केशव कवि ने कहा—मैंने सुना था कि बीरबल के दर्शन से दरिद्रता दूर भाग जाती है। आपका दर्शन करके पीछे मुड़कर यह देख रहा था कि दरिद्रता दूर भाग गई या नहीं ? यह सुनकर बीरबल बहुत ही प्रसन्न हुए। केशव कवि ने कहा—मैं केवल दो घण्टे तक ही यहाँ ठहरूँगा। बीरबल ने जाकर बादशाह से कहा—वे जाने वाले हैं, उनकी विदाई भेंट कर दीजिये। बादशाह ने पूछा—क्या देना चाहिए। बीरबल प्रसन्न थे अतः बोले—कम से कम एक हाथी और एक लाख रुपया उन्हें मिलना चाहिए। केशव कवि एक लाख रुपया

और एक हाथी लेकर ओरछा आ गये। गुप्तचर ने बताया कि एक ही बात की यह भेंट है। यदि बात बनाकर बीरबल को प्रसन्न न करते तो सौ दो सौ रुपये ही भेट में मिलते। बात की चतुराई पर ही–

दृष्टान्त–पण्डित और बादशाह का–एक पण्डितजी धन–मान प्राप्त करने की इच्छा से अकबर बादशाह के दरबार में उपस्थित हुए। बादशाह ने पूछा–क्या–पढ़े हो ? पण्डित जी ने कहा–चार वेद, छः शास्त्र, अठारह पुराण और बातों की चतुराई बादशाह ने पूछा–बताओ, सारे शरीर में रोंये हैं और हथेली में क्यों नही हैं ? पण्डित ने कहा दान देते देते घिस्सा लगता रहता है अतः आपकी हथेली में बाल नहीं जमे। बादशाह ने–पूछा दूसरों की हथेली में बाल क्यों नहीं हैं। उन्होंने उत्तर दिया–ईर्ष्यावश हाथ मलते–मलते। तुम्हारी हथेली में क्यों नहीं हैं–दान लेते लेते। यह सुनकर बादशाह प्रसन्न हो गया और बातों की चतुराई से पण्डित जी ने विशेष धन मान प्राप्त किया। प्रसिद्ध है–कागा काको धन हरै, कोयल काको देय। मीठी बानी बोलिकै जग अपनो करि लेय।।

कवित बड़ चतुर–आप कविता करने में बड़े चतुर थे। एक ब्रज गोपी विरहिणी श्रीराधाजी से कहती हैं। यथा कवित्त–

मेह बरसाने तेरे नेह बरसाने देख, एक बरसाने बर मुरली बजावेंगे ।
साजि लाल सारी लाल करै लालसा री देखिबे की लालसा री लाल देखे सुख पावेंगे ।।
तुहीं उरबसी उरबसी नाहिं आन तिय, कोटि उरबसी तजि तोसों चित्त लावेंगे ।
सेज बनवारी बनवारी तन भूष नारी, गोरे तन बनवारी आज आवेंगे ।।

चतुरता पर कवियों की सुक्तियां–

या राका शशि शोभना गतघना सयामिनी यामिनी,
या सौन्दर्य गुणान्विता पतिरता सा कामिनी कामिनी ।
या गोविन्दरसप्रमोदमधुरा सा माधुरी माधुरी,
या लोकद्वय साधनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी ।। १।।

अर्थ–पूर्णचन्द्र से सुशोभित, बादलों से रहित रात ही अच्छी रात है। सुन्दरता और गुणों से युक्त तथा अपने पति में अनुरक्त स्त्री ही उत्तमा स्त्री है। जो गोविन्द भगवान के

हर्ष से मधुर है, वही श्रेष्ठ मधुरता है। दोनों लोकों को बनाने वाली चतुरता ही मनुष्यों की श्रेष्ठ चतुरता है ।।१।। पुनः–

ये कुर्वन्ति परिश्रमं बहुविधं देहेन देहाय वै,
निन्द्यास्ते ह्युभयत्र स्वार्थचतुरा भक्त्या विहीना नरः ।
या भक्तिप्रतिरोधिका गुणमयीसा चातुरी आतुरी,
या लोकद्वय साधिका रसमयी सा चातुरी चातुरी ।।२।।

अर्थ–जो लोग शरीर से शरीर के सुख के लिए अनेक प्रकार के परिश्रम करते हैं,वे भक्तिहीन,. तुच्छ स्वार्थ साधन में चतुर, लोक-वेद दोनों में निन्दनीय हैं। भक्ति में बाधा उपस्थित करने वाली त्रिगुणमयी (सत्व-रज-तम) वाली चतुरता दुःख देने वाली व्याधि ही है। जो लोक और परलोक दोनों को बनाने वाली, सबके लिए सुखद तथा रसमयी है, वस्तुतः वही सच्ची चतुरता है।।२।। तात्पर्य यह कि जिस चातुरी से भक्त-भगवन्त प्रसन्न हों वह श्रेष्ठ है। इससे विपरीत को सन्त कहते हैं-ऐसी चतुरता पर क्षार।' (पूरा पद द्वि० खण्ड पृ० ७५) इस प्रकार चतुराई दो प्रकार की सिद्ध हुई एक भक्तिमूला दूसरी प्रपंचमूला है। उससे हृदय में कपट और व्यवहार के जंजाल में फँसना पड़ता है। उसे छोड़कर भगवद्-भजन करने पर भगवत्कृपा-प्रसाद की प्राप्ति होती है। यथा-मन क्रम वचन छांड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहैं रघुराई। (रा०च०मा०) चतुर पुरुष के लक्षण (रा०च०मा०) में कहे गये हैं यथा–

कठिन काल मल कोस, धर्म न ज्ञान न योग जप ।
परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर ।। (रामचरित)

रसिक रँगीले भक्त श्रीबनवारी दासजी केवल चतुर ही नहीं थे, वरन् चतुर-शिरोमणि थे। इसीसे भक्तस्वरूप विशेषज्ञ गोस्वामी श्रीनाभाजी ने चतुर न कहकर 'बड़ चतुर' कहा। चतुर-शिरोमणि, चतुरों में चतुर कौन है ? 'चतुर शिरोमणि तेइ जग माहीं। जे मनिलागि सु-जतन कराहीं।।' (रा० च० मा०)। भक्ति चिन्तामणि के प्रचार-प्रसार आदि के लिए आपने अनेक सुन्दर प्रयत्न किये। जिनका अक्षय प्रभाव है और रहेगा अतः आपको बड़ चतुर कहा गया। जो सुखप्रद वार्ता कहे वही बड़ा चतुर है। उसे ही इस लोक में धन-मान और परलोक में सुख प्राप्त होता है। इस पर–

दृष्टान्त–दो विद्वानों और राजा का-एक राजा के दरबार में दो विद्वान् रहते थे। विद्या में दोनों समान थे। एक को राजा पाँच रुपया मासिक वेतन देता। दूसरे को पाँच रुपया रोज।

कुछ दिन बाद पाँच रुपया मासिक वाले ने राजासे कहा—राजन्! हम दोनों एक-सी योग्यता वाले विद्वान् हैं पर आप हमें कम वेतन देते हैं ऐसा क्यों ? राजा ने कहा—इसका कारण किसी दिन बतायेंगे। कुछ दिन बाद राजा ने पाँच रुपया मासिक वाले पण्डितजी से कहा-आज मुझे स्वप्न हुआ कि मेरे दाँत गिर गये। इसका क्या फल होगा? उसने उत्तर दिया—यह स्वप्न अति अशुभ है, धन का नाश हो जायेगा। राजा ने दूसरे पाँच रुपये रोज वाले से वही प्रश्न किया। तो उसने कहा—स्वप्न शुभ है, धन और आयु की वृद्धी होगी। इसके बाद राजा ने उसे बुलाकर कहा कि—तुम्हारी बात से दुःख हुआ अतः वेतन कम है। इनकी बात से सुख हुआ अतः वेतन अधिक है। सुखप्रद बात कहने वाला अधिक योग्य होता है। किसी कवि ने कहा है—

कीरति को मूल एक रैन दिन दान देवो, धर्म को मूल एक साधु पहिचानवो ।
बढ़िवे को मूल एक ऊँचो मन राखिवोई, जानिवे को मूल एक भली बात जानिवो ।।
व्याधि मूल भोजन उपाधि मूल हास्य जानो, दारिद को मूल एक आरस बखानिवो ।
हारिवें को मूल एक आतुरी है रन मांझ, चातुरी को मूल एक बात कहि जानिवो ।।

चार वेदों का पाण्डित्य भी बिना चातुरता के व्यर्थ है। इस पर—

दृष्टान्त—गुनी और पण्डित का—सभी वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके एक पण्डित घर को आ रहे थे । वन मार्ग में उन्हें एक चतुर-गुणी का साथ मिल गया । परस्पर वार्तालाप में पण्डित ने अपनी प्रशंसा की । मैं सभी वेद-पुराण-यन्त्र-मन्त्र एवं तन्त्रों का विद्वान् हूँ। मृतक की हड्डी पड़ी हो तो भी मैं उसे जीवित कर सकता हूँ । इतने में कुछ सिंह की हड्डियाँ पड़ी मिलीं। पण्डित जी ने उन्हें एकत्र किया जल को अभिमन्त्रित किया । उस जल में से थोडा़ सा जल लेकर चतुर-गुणी पेड़ पर चड़ गया। पण्डितजी ने हड्डियों पर जल छिड़का, सिंह जीवित हो गया और उसने झपटकर पण्डित जी को ही मार डाला। मांस खाकर रक्तपान कर दहाड़ता हुआ जंगल में चला गया । तब पेड़ पर से उतरकर उस गुणी पुरुष ने हड्डियों पर जल छिड़ककर पण्डितजी को जीवित कर दिया। पण्डितजी ने अपनी भूल स्वीकार की। चतुर ने चातुरी से स्वयं अपने और पण्डित के प्राण बचाये, अन्यथा दोनों मारे जाते। सत्य ही कहा गया है—'एक ओर चार वेद एक ओर चातुरी।'

चोख चौकस अति जानैं—चोख=उत्तम, चौकस=सचेत, सावधान जो परमात्मा उसे अति अर्थात् तत्वतः जानते थे। अति=अतिशय-ईश्वर को जानते थे। 'जेहि समान अतिशय

नहिं कोई'। उसके ज्ञाता थे अतः श्रीबनवारीदासजी भी सर्वदा चोख और चौकस थे। इस संसार संग्राम में चारों ओर से माया तथा उसके भट कामादि विकारों के निरन्तर प्रहार हो रहे हैं। चौकस ही अपने को बचाकर उनपर विजय प्राप्त कर सकता है। मोह निशा में सोने वाले के भजन धन की चोरी होती रहती है। सजग सावधान जागते हुए सन्त की चोरी तो नहीं ही होती है। उल्टे चोर विकार कृतार्थ हो जाते हैं। ये मोह-निशा में जागने वाले थे अतः इन्हें चौकस कहा।

सारासार विवेक—सार तत्व ईश्वर एवं उसका भजन है। असार जगत् एवं उसकी आसक्ति है। इसका विवेक-सार का ग्रहण असार का त्याग है। 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।' विधि प्रपंच गुन अवगुन साना है अर्थात् सृष्टि में सार-असार दोनों मिश्रित हैं। ईख में रस-सार है, छिलका असार है। सन्तजन विवेक से असार का भी सदुपयोग करते हैं। जैसे छिलके को भट्टी में जलाकर उससे रसको सिद्ध किया जाता है,उसी प्रकार लौकिक व्यवहार एवं परिवार को भगवतभक्ति में प्रयुक्त करके अपने प्रेम को पुष्ट करते हैं।

परमहंसनि परवानै—सत्-असत् विवेकी परमहंसों के लिए आपका चरित्र एवं आपकी वाणी प्रमाण थी। सदाचारी अर्थात् पवित्र आत्मा वाले बाहर-भीतर से शुद्ध रहने वाले थे। सत् आचार का तात्पर्य शास्त्र के अनुकूल आचरण है। आपमें सदाचार था अतः स्वाभाविक रूप से सन्तोष था। सबको हितकारी-भाव यह कि अन्न-धन आदि के द्वारा थोड़ा क्षणिक हित होता है आप अपने उपदेशों से परम हित करते थे। दर्शन पुनीत-गंगा, यमुना, सरयू आदि तीर्थों से पवित्रता प्राप्त होती है, परन्तु आपके दर्शन मात्रसे पवित्रता-शान्ति एवं प्रेम की प्राप्ति होती थी। भक्ति ही पवित्रता है। आशय उदार का तात्पर्य दयालु हृदय है।

आलाप ····· सुखधाम को-सुखधाम अर्थात् भगवान से सम्बन्धित सुन्दर आलाप-कथा-कीर्तन करते थे। सुख से भरा हुआ एवं मधुर भाषण था।

विशेष—हस्तलिखित भक्तदामगुण-चित्रणी पत्र संख्या ६८ में इस १३३ वें छप्पय की तीन कवित्तों में टीका है। जिसका सारांश यह है कि—आपकी वाणी देश काल के अनुरूप, युक्ति-युक्त, हितकारिणी प्यारी थी। आपकी कविता में छन्द, तुक अर्थ आदि की विशेषतायें हैं, किसी प्रकार का दोष नहीं पाया जाता है। एकबार एक सत्संगी आपके पास आया और आपका भावात्मक भाषण सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इनका अलंकारित लच्छेदार भाषण

सुनकर कुछ सिद्धाई है या नहीं। इसकी परीक्षा लेने के लिए उसने पूछा कि आप यह बताइये, कि मेरी मृत्यु कब है। आप समझ गये कि यह परीक्षा ले रहा है। अतः ध्यान से देखकर बोले—तुम्हारे गुरुदेव ने जो बात कही है, वह सत्य है। तुम्हारी आयु अब केवल एक मास की है। अतः अपने कल्याण के लिए यत्न करो। यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ उसने इनके चरणों की शरण ग्रहण की।

भक्तमालांक सर्वेश्वर के अनुसार आपका जन्म राजस्थान में हुआ। आप खण्डेलवाल ब्राह्मण थे। एकबार आप तीर्थयात्रा करते हुए मथुरा आये। वहाँ नारद टीले परआचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी के दर्शन हुए। उनसे प्रभावित होकर आपने विरक्त-दीक्षा ग्रहण की। गुरुदेव की आज्ञानुसार आप श्रीयुगलकिशोर की सेवा में अनुरक्त हो गये और आजीवन व्रज में निवास कर दशधा-भक्तिका आस्वादन करते रहे। श्रीमहावाणीजी का प्रेमपूर्वक नित्य गान करते थे। जिसे सुनकर लोग प्रेम-विभोर हो जाते थे। आपकी पद रचनाओं में 'बनवारी श्याम' की छाप मिलती है। श्रीयुगलकिशोर के ध्यानमें मग्न होकर आपने अनेक पदों का गान किया। इनका यह पद अति प्रसिद्ध है।

बसी उर जोरी जुगल अनूप।
स्यामा-स्याम सहज रस सागर उलझत सुभग सुरूप ॥
राजत गौर किशोर स्याम दोउ दामिनि घन दुति देत ।
चितवत रहत सकल चित कलमष करत छिनै अनुरूप ॥
श्रीहरिव्यास चरणरज रंजित मंजित करि मन नैन ।
बसि वृन्दावन वंशीवट ढिंग ढरि कालिन्दी कूल ॥
यह 'बनवारी स्याम' सुखद अति भाग सुभाग बन्यौ
अनत चलन चित चहत न कबहूँ चाहत हौं भल भूप ॥

* श्रीनारायणमिश्रजी *

भागौत भली विधि कथन कौ धनि जननी एकै जन्यौ ॥
नाम नरायन मिश्र वंश नवला जु उजागर ।
भक्तन की अति भीर भक्ति दशधा कौ आगर ॥
आगम निगम पुरान सार शास्त्रणि सब देखे ।

सुरगुरु शुक सनकादि व्यास नारद, जु बिसेखे।।
सुधा बोध मुख सुरधुनी जस वितान जग में तन्यौ ।
भागौत भली विधि कथन कौ धनि जननी एकै जन्यौ ।। १३४।।

शब्दार्थ—कथन कौ=कहने के लिए। जन्यौ=जन्म दियौ। आगम=शास्त्र। निगम-वेद। सार=तत्त्व। उजागर=प्रसिद्ध, प्रकाशित। वितान=मण्डप। सुधा बोध=अमृतमय ज्ञान।

भावार्थ—नवल वंश में जन्म लेकर श्रीनारायणमिश्रजी ने अपनी सुन्दर कीर्ति से उसे प्रसिद्ध किया। आप भक्तसेवी थे अतः आपके यहाँ भक्तों की बड़ी-भारी भीड़ लगी रहती थी। दस प्रकार की भक्ति के आप निधान थे। आपने वेद शास्त्र-पुराण तथा अन्य धर्म-शास्त्रों के रहस्य को प्राप्त कर लिया था। इसलिए वृहस्पति, शुकदेव, सनकादि ऋषि व्यास और नारद के समान थे। आपके श्रीमुख से श्रोताजनों को ज्ञान देने वाली, परम मधुर, अमृत-सी वाणी श्रीगंगाजी के समान निकलती थी। आपका सुयश-वितान सारे संसार में फैला हुआ था। श्रीनारायणदासजी मिश्र की माता को धन्यवाद है, जिन्होंने श्रीमद्भागवत के परम श्रेष्ठ वक्ता को जन्म दिया ।। १३।।

व्याख्या-भागवत—श्रीमद्भागवत महापुराण, भगवद्भक्त और भगवान इनमें भेद नहीं है। यथा—(स्कान्दे वैष्णवखण्डे अ०४ श्लोक ३ से ५)।

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा। स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम्
श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशम्। समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत्।
ज्ञानविज्ञानभक्त्यंगचतुष्टयपरं वचः । मायामर्दनदक्षञ्च विद्धि भागवतं च तत् ।।

श्रीमद्भागवत और भगवान का स्वरूप सदा एक ही है और वह है सत्-चित्-आनन्दमय। भगवान श्रीकृष्ण में जिनकी लगन लगी है, उन भावुक भक्तों के हृदय में जो भगवान के माधुर्य भाव को प्रकट करने वाला,उनके दिव्य माधुर्यरस का आस्वादन कराने वाला सबसे श्रेष्ठ वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो। जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अंगभूत साधन चतुष्टयको प्रकाशित करने वाला है तथा जो माया का मर्दन करने में समर्थ है, उसे ही श्रीमद्भागवत समझो। विशेष देखिये छ० १७ पूर्वार्द्ध

जिन साधनों से भगवानको प्राप्त किया जा सकता है, वही साधन श्रीमद्भागवतके रहस्यको समझने में अपेक्षित हैं। भगवान एवं भागवत (भक्त) की कृपासे भागवत-(वैष्णव)

बनकर ही श्रीमद्भागवत को समझा जा सकता है। टीका में लिखा है—

स्वयं भागवतो भूत्वा, भक्तनामाश्रयेण च। तत्त्वं भागवतं ज्ञेयं विद्यया न च टीकया।।

अर्थ—स्वयं वैष्णव भक्त बनकर तथा भक्त का आश्रय लेकर महापुराण की कृपा से ही उसका तत्त्व जाना जा सकता है। केवल विद्या और टीका-टिप्पणियों से नहीं। श्रीनारायणमिश्र ने श्रीशुकदेवजी, श्रीव्यास जी आदि महाभागवतों के द्वारा श्रीभागवत के रहस्य को जाना। भागवत के बिना श्रीमद्भागवत का ज्ञान कठिन है। इस पर—

दृष्टान्त—एक राजा और वैष्णवका-एक राजा था, उसने किसी दिन कथा में श्रीमद्भागवतकीमहिमा सुनी तो उसे पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई। उसने घोषणा की कि—जो विद्वान् मुझे श्रीभागवत पढ़ा देगा उसे मैं आधा राज्य दे दूंगा। यह सुनकर एक बहुत बड़े विद्वान्ने आकर राजाको पहले व्याकरण पढ़ाया और फिर भागवत पढ़ाया। पुनः राजासे बोला कि अब आप आधा राज्य दीजिये। राजा ने कहा-मेरी समझमें नहीं आया। उस पण्डित ने पुनःपुनः पढ़ाया राजा यही कहता रहा की मेरी समझ में नही आया। अभी मुझे भागवत नहीं लगी। पण्डितजी ने कहा आपको राज्य का लोभ है। अतः आप देना नहीं चाहते हो। सभी श्लोकों का शुद्ध अर्थ करना तुम्हें आ गया है, फिर कैसे कहते हो कि भागवत नहीं लगी। राजा ने कहा-लगने का अर्थ यह है कि मुझे ज्ञान-वैराग्य और भक्ति हो जाये। राज्य आदि की आसक्ति मिट जाय पर ऐसा नहीं हुआ। अन्त में राजा ने अपनी जिज्ञासा एक वैष्णव सन्त के सामने प्रकट की। उन्हों ने कहा कि-पण्डितजी लोभवश पढ़ा रहे थे। दूसरे आपने हरि-शरणागत होकर वैष्णवता नहीं धारण की अतः आपको भागवत नहीं लगी। 'विष्णुदीक्षा विहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे।' विष्णु-दीक्षाहीन को कथा सुनाने का अधिकार नहीं है। यह रहस्य जानकर राजा ने सन्त से दीक्षा ली और सन्त ने निष्काम भाव से पढ़ाया। तब राजा को विशुद्ध-भक्ति प्राप्त हो गई। राजाने सम्पूर्ण राज्य सन्त के चरणों में समर्पित कर दिया, पर वे तो विरक्त थे अतः उन्होंने स्वीकार नहीं किया। सन्तके साथ वनमें जाकर राजा भक्ति-परायण हो गया। श्रोता-वक्ता एवं पढ़ने-पढ़ाने वालों का एक-सा भाव होने पर सिद्धि प्राप्त होती है।

तत्त्ववेत्ताजीने लिखा है कि वेदसे जो कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ वही श्रीमद्भागवत है। द्वादशस्कन्ध ही द्वादश मोटी डालें हैं। तीन सौ पैंतीस अध्याय छोटी शाखायें हैं। अट्ठारह हजार श्लोक सूक्ष्म कलियाँ और पाँच लाख छिहत्तर हजार अक्षर पत्ते हैं। इस प्रकार वेद बीजसे श्रीभागवत प्रकट हैं।

छ०– निगम कल्पतरु उदै सोइ भागवत प्रमाना ।
द्वादश मोटी डार सोइ अस्कन्ध बखाना ।।
त्रिंसत पुनि पैंतीस अध्याय सो छोटी शाखा ।
सूक्षम कली सलोक सहज अष्टादश भाषा ।।
इत अक्षर पुनि पंच लख सहस छिहत्तर और गुनि।
तत्ववेत्ता तिहूँ लोक में ब्रह्मबीज भागवत पुनि ।।

भली विधि कथन–श्रीभागवत की कथा कहना समुद्र-मन्थन करना है। जो हरि गुण-नाम-रूप अमृत को निकालकर मरणशील जीव जगत् को भक्तिदान कर भवसागर से तारता है वह भलीभाँति कथा कहता है। श्रीनारायणमिश्रजी ने भलीभाँति अध्ययन किया था अतः भली प्रकार से कथा कहते थे। वक्ता के जो लक्षण पुराण-शास्त्रों में कहे गये हैं, उनसे आप युक्त थे। वक्ता के लक्षण-(स्कन्द पुराण, वैष्णवखण्ड, भा० मा० अ० ४ श्लोक० २२)
भगवन्मतिरनपेक्षः सुहृदो दीनेषु सानुकम्पो यः। बहुधा बोधनचतुरो वक्ता सम्मानितो मुनिभिः।।
अर्थ-जिसका मन सदा भगवान में लगा रहे, जिसे किसी वस्तु की अपेक्षा न हो, जो सबका सुहृद् और दीनों पर दया करने वाला हो तथा अनेकों युक्तियों से तत्त्व का बोध करा देने में चतुर हो, उसी वक्ता का मुनि लोग भी सम्मान करते हैं पुनः पद्मपुराण उत्तर खण्ड भा० मा० अ० ६ श्लोक २०-२१।

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्र विशुद्धिकृत्। दृष्टान्त कुशलो धीरो वक्ता कार्योऽति निस्पृहः।
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः। शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः।।

अर्थ–जो वेदशास्त्र की स्पष्ट व्याख्या करने में समर्थ हो, उचित दृष्टान्त दे सकता हो तथा विवेकी और अत्यन्त निस्पृह हो। ऐसे विरक्त और विष्णु-भक्त ब्राह्मण को वक्ता बनाना चाहिए। श्रीमद्भागवत के प्रवचन में ऐसे लोगों को नियुक्त नहीं करना चाहिए जो पण्डित होकर भी अनेक धर्मों के चक्कर में पड़े हुए, स्त्री लम्पट एवं पाखण्ड के प्रचारक हों।

कथा तो सभी कहते हैं परन्तु ये भगवान में मन लगाकर सोच-विचारकर, विषय को आद्योपान्त समझकर कथा कहते थे। यह नहीं कि अर्थ का अनर्थ करते हो या ग्रन्थकार के उद्देश्य से विपरीत कहते हों। जिसे भागवतों में भागवत पुराण के परत्व में विश्वास नहीं है, वे भागवत की कथा कहने के अधिकारी नहीं हैं। इस पर–

दृष्टान्त–दो कथा वाचकों का–एक विष्णुदत्त नामक व्यास थे, उन्होंने नैमिषारण्य

में आराधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। श्रीमद्भागवत की बहुत अच्छी कथा कहते थे। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि थी कि कथा में जय-जयकार के समय आकाश से पुष्प बरसते हैं। सप्ताह में एक न एक दिन ऐसा परिचय श्रोताओं को मिल जाता। इनकी प्रसिद्धि सुनकर एक शाक्त मैथिली पण्डित जो बड़े शास्त्रार्थी थे, उन्होंने भी कहा कि मैं जहाँ कथा कहता हूँ देवता फूल बरसाते हैं। लोगों ने मैथिली पण्डित की कथा बैठा दी। कथा होने लगी। उन्हें श्रीमद्भागवत में विश्वास नहीं था कि यह महापुराण है, वे इसे उपपुराण मानते थे और देवी भागवत को अष्टादश पुराणों में मानते थे। कथा कहते कहते उन्होंने यही कह दिया अतःश्रीमद्भागवत का अपमान हो गया। फूलों की जगह पर आकाश से कई कंकड़ गिरे। मण्डप का वस्त्र फट गया। पण्डितजी बिना कथा पूरी किये ही अपने घर चले गये। उनमें वैष्णवता का एवं भागवत्-भक्ति का अभाव था। दंभवश धनोपार्जन करना चाहते थे। अतः स्वयं अपमानित हुए।

भक्तमाली पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी ने बताया कि मेरी जन्मभूमि चाचौड़ा (मध्य प्रदेश) ग्राम में एक श्रीराधाकृष्ण का मन्दिर था। उसमें प० श्रीकिशनलाल जी भंग पीकर कथा बाँचते थे। बाँचते-बाँचते नशे में बेसुध हो जाते तो उनके हाथ से श्रीभागवत का पन्ना गिर जाता। होश में आते तो पन्ना ढूंढ़ते। कौन-सी कथा कह रहे थे यह भी भूल जाते। इसी प्रकार दूसरे भंगेड़ी पण्डित कथा में धर्मराज के यज्ञ का वर्णन करते हुए बोले कि-'यज्ञ में हजारों ब्राह्मण, हजारों ऋषि, हजारों कलाकार' यह कहते-कहते नशे में हजारों की धुन लग गई-हजारों चोर, हजारों डकैत, हजारों बदमाश आये। सुनकर श्रोताओं को हँसी आ गई। ऐसा कथा वाचक नहीं होना चाहिए। यह भली विधि कथन नहीं है।

भली प्रकार कथन यह है, कि मधुर स्वर से रहस्य, चोज एवं अभिप्राय को प्रकट करना। प्रश्नकर्ता के सन्देह को दूर करना। कुटिल कुतर्कों को सुनकर कुपित न होकर सरलता से तर्कसंगत उत्तर देना। क्रोधित होकर उत्तर देने से कथा विरस हो जाती है। हास-परिहास एवं लौकिक चोजों से कथा के रस की हानि होती है। जैसे नमक, मिर्च, हल्दी मसाले से शाक स्वादिष्ट बनता है, पर यही वस्तु यदि अति मात्रा में मिला दी जायँ तो वह शाक स्वादहीन हो जाता है। श्रीनारायण मिश्रजी इस युक्ति से कहते थे कि कथा का रस अनन्त गुणा हो जाता था।

धनि जननी एकै जन्यौ—पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई। भक्त-पुत्र को जन्म देने वाली माता धन्यवाद देने के योग्य है। अभक्त-पुत्र की माता बन्ध्या

है, न तरु बांझ भलि बादि वियानी। राम विमुख सुत ते हित जानी।। (रा०) दो०-जननी जनै तो भक्त जन कै दाता कै सूर। ना तर रहियौ बांझ ही क्यों खोवै निज नूर।। वरमेको गुणीपुत्रो न च मूर्खोशतान्यपि। एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च।। भक्तगुणी एक पुत्र अच्छा, सैकड़ों मूर्ख पुत्र अच्छे नहीं। अकेला चन्द्रमा अन्धकार को दूरकर देता है पर नक्षत्रों का समूह नहीं। राजा सगर की सुमति रानी से उत्पन्न साठ हजार पुत्र जलकर भस्म हो गये। केशिनी का एक पुत्र असमञ्जस योगी एवं वंशधर हुआ। कथा देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ट ४०९। जैसे श्रीशुकदेवकी माता ने 'एक' अर्थात् अति श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया। उसी प्रकार श्रीनारायणमिश्र की माता ने भी ज्ञान-प्रेममूर्तिरूप एक पुत्र को जन्म दिया।

नाम नरायन मिश्र—भक्तमालाङ्क सर्वेश्वर के अनुसार कुछ लोग इन्हें धनाढ्य कुलका बताते हुए ब्रज के किसी सीमावर्ती नगर को आपकी जन्मभूमि मानते हैं। इनके वंशज कई शताब्दियों से श्रीवृन्दावन में निवास करते हैं। कुछ सज्जनों का निश्चय है कि ये राजस्थान के पाटण ग्राम निवासी श्री नवलकिशोर जी के पुत्र हैं। श्रीमद्भागवत की कथा प्रवचन इनके कुल की सम्पत्ति है। श्रीनारायणमिश्रजी ने केशव काश्मीरि भट्टाचार्य की सन्निधि में रहकर वेद-वेदान्त, वेदाङ्ग और पुराणों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् श्रीभट्टदेवाचार्यजी से विरक्त दीक्षा ली। फिर आपने ब्रज में ही निवास किया। श्रीध्रुवदासजी ने लिखा है—नाम नरायण मिश्रजी, नवला वंस सुहात। कोटि जनम के तम हरै आतप लौं विख्यात।। किसी-किसी टिप्पणी में निम्नलिखित कवित्त भी मिलता है-मिश्र श्रीनारायण जू मधुपुरी वास कियौ, पुनि हरद्वार में नृसिंहारन सों मिले। तिनों की सु आज्ञा पाई वद्रिकाश्रमहिं जाय मिलि शुकदेवजी सों महासुख में झिले।। आये फिरि कासी सुखरासी वे संन्यासी पाय तिनहूँ सों जनमनि सुख मन में मिले। पण्डित प्रवीन जिते तिनकी कथा सों तिते चितेमो चितै रहे मानो महा अहि किले।।

अर्थ—श्रीनारायणमिश्रजी ने मथुरा में वास किया। उत्तराखण्ड की यात्रा का विचार कर प्रथम आप हरिद्वार पहुँचे तो वहाँ स्वामी श्रीनृसिंहारण्यजी मिले। उनके साथ सत्संग कर उनकी आज्ञा से वद्रिकाश्रम को गये, वहाँ नर-नारायण भगवान का दर्शन हुआ। उसके पश्चात् वहीं श्री शुकदेवजी के दर्शन हुए। इनसे श्रीनारायणमिश्र ने सरहस्य श्रीमद्भागवत को प्राप्त किया। फिर वहाँ से आप काशीजी को आये। वहाँ सुखराशि श्रीनृसिंहारण्यजी के पुनः दर्शन हुए। उनके सत्संग से भगवत्-भागवत तत्त्व के परम सुख का लाभ प्राप्त कर आप पुनः श्रीमथुराजी को आ गये। जिस समय आप श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे, उस

समय बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् आपके श्रीमुख की ओर एक-टक देखते ही रहते थे। जैसे मन्त्र द्वारा कीलित सर्प फण को इधर-उधर नहीं हिलाता है, उसी तरह विद्वान् लोग प्रवचन कला से स्तब्ध-प्रेममग्न हो जाते थे। इस विशेषता का कारण यह है कि जैसे इनकी माता ने एक इन्हें ही जन्म दिया। उसी प्रकार श्रीशुकदेवजी ने एक इन्हीं को श्रीमद्भागवत का रहस्य प्रदान किया। दूसरे लोगों के पास भागवत अनेक विद्वानों के पास होकर आई पर इनके पास तो सीधे श्रीशुकमुख से आई जैसे शुक के मुख से गिरा फल आदि पृथ्वी पर गिरता है तो उसमें रज-तृण आदि का स्पर्श हो सकता है वह उतना विशुद्ध नहीं रहता है। उसमें वैसा स्वाद नहीं होता है जैसा कि शुकमुख से प्राप्त फल-भागवत में है। यही कारण है कि वे अद्वितीय श्रीभागवत के वक्ता थे।

भक्तन की अति भीर—आपके यहाँ भक्तों की भीड़ इसलिए रहती थी कि सन्त-सेवा करते थे। भगवत्प्रसाद से उन्हें तृप्त करते थे। दूसरे मधुर भगवत्कथा के श्रवण का उत्तम लाभ था। दो०-साधु तहाँ ही संचरैं जहाँ धर्म की सीर। सरवर सूखे परसुराम हंस न बैठे तीर। गम्भीर शीतल जलाशय जो मानसरोवर है वहाँ ही हंस निवास करते हैं। सूखे तालाब के निकट तो वे एक क्षण के लिए भी नहीं जा सकते हैं। वैसे ही जहाँ विशुद्ध भागवत धर्म की शीतलता है अर्थात् जहाँ उसका पूर्णरूपेण साङ्गोपांग पालन होता है, वहाँ ही सन्तजन रहते हैं। जहाँ रजोगुण-तमोगुण के ताप से जलरूप वैष्णव धर्म सूख गया है ऐसे लोगों के पास सन्तजन भूलकर भी नहीं जाते हैं।

सार शास्त्रनि सब देखे—श्रीनारायणमिश्र जी ने सम्पूर्ण आगम, निगम, पुराण और शास्त्रों को पढ़कर उनके सार वचनों को ग्रहण किया। असार को त्याग दिया। यदि कोई यह कहे कि उक्त ग्रन्थों को सभी कोई पढ़ता है, इनमें विशेषता क्या थी। तो उसका समाधान यह है कि किसी भी ग्रन्थ के असार वाक्यों को त्यागकर सार ही ग्रहण करना चाहिए। श्रीभागवत आदि में असार कुछ नहीं है, विपरीत अर्थ-भावार्थ लगा लेना ही असार है। जैसे परमधाम गमन के समय भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धवजी से कहा-मैंने जो तुम्हें ज्ञान का उपदेश दिया है, इसे तुम मेरे परम् प्रिय भक्त श्रीविदुरजी से कहना। उसके बाद जब उद्धव और विदुर की भेंट हुई। कुशल प्रश्नोपरान्त उद्धवजी ने कहा कि 'भगवान श्रीकृष्ण परमधाम को गये।' ऐसा कहकर वे श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल हो गये फिर उन्होंने श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करते हुए कहा—

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे,
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।
ये संयुगेऽचक्षत ताक्ष्र्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम्।। (भा० ३। २। २४)

अर्थ—मैं असुरों को भी भगवान का भक्त समझता हूँ, क्योंकि बैर भाव से उत्पन्न क्रोध के कारण उनका चित्त सदा श्रीकृष्ण में लगा रहता था और उन्हें रणभूमि में सुदर्शन चक्रधारी भगवान को कन्धे पर चढ़ाकर झपटते हुए गरुड़जी के दर्शन हुआ करते थे। वे दैत्य संग्राम में सद्‌गति पाकर कृतार्थ हुए अतः दैत्यों को वैष्णव माना, धन्यवाद दिया उन्हें भक्त ठहराया। अब कोई यह कहे कि भजन-साधन की क्या आवश्यकता ? दैत्य भाव को स्वीकार कर शत्रुता, द्वेष ही करना चाहिए। अस्त्र-शस्त्र बाँधकर धर्म विरुद्ध आचरण करना चाहिए। नहीं तो उद्धवजी के वचन झूठे होते हैं। इसका समाधान यह है कि उद्धवजी ने जो कुछ कहा वह भावुकता में आकर वियोग में अति व्यथित होकर कहा। इसे मानकर यदि कोई दैत्य भाव को अंगीकार करता है तो वह असार ग्रहण करता है। सार यह है कि भक्त सभी को भक्त मानते हैं, उद्धवजी के ये वचन वियोगी के उद्‌गार होने से भी आसुर भाव को अंगीकार करने में प्रमाण नहीं माने जा सकते। जैसे-किसी वियोगिनी ने पूर्ण शरच्चन्द्र को देखकर कहा—दो० क्षयी कलंकी चन्द्रमा दुखद भयौ सखि मोय। राहु-केतु यहि निगलिलें, तौ यह आछी होय। दूसरी कहती है—दो०-अहरनि पै धरिकै मुकर सुकर लोह घन लेइ। जबही दीखै मुकर में, तबहीं ता सिर देइ।। एक कहती है कि इस क्षयी रोगी कलंगी चन्द्रमा को यदि राहु-केतु निगल लें तो हमारा दुःख सदा के लिए दूर हो जाय। अथवा निहाई पर दर्पण रक्खे, उसमें जब चन्द्रमा दिखाई दे, तब उसके सिर पर लोहे का घन पटक दे, जिससे यह चन्द्रमा चूर-चूर हो जायगा। हमारा दुःख दूर हो जायगा। ये विरह वाक्य प्रमाण नहीं है। उद्धव के वाक्यों का भाव श्रीनारायणमिश्र ने प्रकट किया कि उक्त श्लोक के पूर्व 'अहो वकीयं' में पूतना को माता-सी गतिका दाता परम दयालु कहकर उन्हें शरण्य बताया गया। अन्य कौन ऐसा है जिसकी शरण में जाऊँ। उसी प्रकार 'मन्येऽसुरान' इस श्लोक का तात्पर्य है कि भगवान कोमलचित्त हैं, बैर भाव से दर्शन-स्मरण करने वालों पर भी दया करते हैं। निज धाम देते हैं। 'उमा राम मृदुचित करुणा कर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी।।' इस प्रकार के वाक्यों का सार जानकर भगवत्शरण में जाना उचित समझना यह सार ग्रहण है और ऐसे वाक्यों का विपरीत अर्थ-दैत्य

भाव श्रेष्ठ है ग्रहण करने के योग्य है। यह समझना असार ग्रहण करना है।

सुरगुरु शुक.... विसेखे—नर-नारायण भगवान ने नारदजी को पाँच रात्रियों में पचपन हजार वाला नारद पांचरात्र सुनाया उसी प्रकार श्रीशुकदेवजी ने अठारह हजार श्लोकवाला भागवत पुराण एक मिलन में ही नारायणमिश्र को प्रदान किया। श्रीवृहस्पति, स्वर्ग में, श्रीशुकदेवजी मुनियों की सभा में, श्रीसनकादि ब्रह्मलोक में और श्रीनारदजी वैकुण्ठ आदि सभी लोकों में श्रीनारायणमिश्र की विशेषताओं का वर्णन करते थे कि-इस समय धराधाम पर श्रीमद्भागवत के गम्भीर विषय के ज्ञाता, सरस वक्ता श्रीनारायणमिश्रजी हैं यह सुनकर उन लोकों के भक्त देवगण पृथ्वी पर इनकी कथा सुनने आते। कथा-स्थल पर सभी तीर्थ आते हैं। यथा—

तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिन्धु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र, यत्र च्युतोदार कथा प्रसंग।।
हरि की कथा होत है जहाँ। गंगा हू चलि आवैं तहाँ।। (सूरदास)

दृष्टान्त—कथा का—प्रयाग में एक परम भागवत सन्त की कथा सुनने बहुत से भावुक स्त्री-पुरुष आते। उनमें कई वृद्धा मातायें भी आतीं। सब श्रोताओं के चले जाने पर वे वृद्धायें चरण-रज में लोटतीं। एकदिन एक भक्त ने उनके चरण पकड़े, विनती की तब उन्होंने बताया कि हम गंगा-यमुना आदि नदियाँ हैं। लोग स्नान करके अपने पाप हममें छोड़ जाते हैं, हम उन पापों को श्रोता-वक्ता की चरण-रज में लोटकर नष्ट करती हैं।

सुधा बोध मुख सुरधुनी—अमृतरूपा भक्ति का बोध कराने वाली कथा मन्दाकिनी आपके श्रीमुख से प्रवाहित होती थी सुधा की तरह कथा जीवन दान देने वाली थी। जैसे गंगाजी सभी को पवित्र करती हैं उसी प्रकार आपकी कथा भी स्वयं निर्मल एवं दूसरों को निर्मल बनाने वाली थी। जस वितान०—जैसे मण्डप धूप-ताप, शीत-वर्षा आदि से बचाता है, उसी प्रकार आपका सुयश-मण्डप जीवों को काम-क्रोध-मोहादि से बचाने वाला था और आज भी है।

विशेष—श्रीनारायणमिश्रजी के पुत्र की साली पास में रहती थी । उसकी बुद्धि काली अर्थात् तामसी थी। उसने अपनी बहिन को बहकाया कि तेरा श्वसुर घर के धन को मुड़िया वैरागियों को खिलाये देता है। यह तो सर्वस्व लुटाकर मर जायगा। तुम्हारे हाथ कुछ न लगेगा। धन के बिना दुःख पाओगी, रोवोगी अतः इसको विष देकर मार डालो और धन को बचा लो। बधू के बहकाने से पुत्र की भी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। दोनों बहिनों ने विष मिश्रित

भोजन बनाकर मिश्रजी को खिला दिया। पर भगवदर्पित अन्न खाने से इनका कुछ न बिगड़ा। पुनः दूसरी बार अधिक मात्रा में विष मिलाया। इस बार भी इन पर कुछ असर न देखकर दोनों बहिनों तथा पुत्र ने समझा कि विष प्रभावहीन है। परीक्षार्थ किंचित् जिह्वा पर स्पर्श कराते ही सभी मूर्च्छित हो गये। वमन आदि कराकर किसी तरह प्राण बचे। दोनों बहिनें अब इनके मारने का नया उपाय सोचने लगीं। पुत्र को अपने पिता की महिमा-भक्ति का बोध हो चुका था। अतःस्त्री के प्रस्ताव को सुनते ही उसने लात-घूसों से खूब पिटाई की और पिता के पास जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर उसने सारी अपनी तथा स्त्री की कुटिलता सुना दी और क्षमा-प्रार्थना की। दयालु श्रीनारायणमिश्र ने उन तीनों को उपदेश दिया। जिससे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई। सभी सन्त-भगवन्त की सेवा करने लगे।

सन्त सेव हरि प्रेममय सुधा कियो जिहि पान।
ताकूं विष कैसे लगै जाहि रखैं भगवान।।

* श्रीराघवदासजी *

कलिकाल कठिन जग जीतियो राघौ की पूरी परी।।
काम क्रोध मद मोह लोभ की लहर न लागी।
सूरज ज्यौं जल ग्रहै बहुरि ताही ज्यौं त्यागी।।
सुन्दर सील सुभाव सदा सन्तन सेवाव्रत।
गुरु धर्म निकष निर्बह्यौ विश्व में विदित बड़ौ भृत।।
अल्हराम रावल कृपा आदि अन्त धुकती धरी।
कलिकाल कठिन जग जीतियो राघौ की पूरी परी।।१३५।।

शब्दार्थ—पूरी परी=आदि से अन्त तक निभी। गुरुधर्म निकष=गुरुसेवारूप धर्म की कसौटी। ग्रहै=ग्रहण करै। त्यागी=दानी। भृत=भृत्य। धुकती=नम्रता।

भावार्थ—श्रीराघवदासजी ने महा-भयंकर कलियुग को जीतकर इस संसार में भक्त-भगवन्त की भक्ति के प्रण को निभाया। काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ की लहरें इनको नहीं छू सकीं। जैसे सूर्य अपनी किरणों से जल को खींचते हैं और फिर समय पर उसे

विश्व-कल्याण के लिए बरसाते हैं, उसी प्रकार आप भी अतिथि-साधु-सेवा के निमित्त अन्न-धन आदि का संग्रह करके फिर उसे सेवा में लगा देते थे आपका स्वभाव और आचरण अति उत्तम था। सर्वदा सन्तों की सेवा करने का दृढ़-नियम आपने अपनाया था। गुरु-सेवारूप धर्म की कसौटी पर आप खरे उतरे। इसीसे आप समस्त संसार में महान् गुरुसेवी गुरुभक्त प्रसिद्ध हुए। श्रीअल्हजी एवं श्रीरामरावल की कृपा से आदि से अन्त तक जीवन-भर भक्त-भगवन्त में अपने मन को लगाये रखा तथा उनके प्रति नम्र रहे। इसी प्रकार श्रीराघवदासजी की निष्ठा का जीवन-भर निर्वाह हुआ।। १३५।।

व्याख्या—कलिकाल कठिन—

दो०— दम्भ सहित कलि धर्म सब, छल समेत व्यौहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत विचार।। (दोहावली)
सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर-नारी।।
दम दान दया नहिं जान पनी। जड़ता पर बंचक ताति घनी।। (रा० च० मा०)

पुनः-अनाढ्यतैवा साधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव च।। तथा-काम क्रोध महालोभ तृष्णाव्याकुल चेतसः। मनसश्चाजयाल्लोभात्तपः सारस्ततोगतः।। कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम्।। तात्पर्य यह है कि जब सभी पाप परायण हैं, वहाँ किसी पुण्यवान का होना आश्चर्य है। जहाँ इन्द्रिय निग्रह नहीं है, दूसरों को ठगना स्वभाव बन गया है। गरीब ही असाधु है, दम्भी ही साधु कहा जाता है। काम-क्रोध-लोभ-तृष्णा आदि से सबका चित्त व्याकुल है, कलि दावानल ने साधनों को भस्म कर दिया है, ऐसे कठिन कलिकाल में श्रीराघवदासजी की भजन-निष्ठाओं में परिपूर्णता रही। माया के विकार काम-क्रोध आदि की हवा भी आपको नहीं लगी। इससे जनाया गया कि आपकी श्रीरामजी के चरणारविन्द में अति प्रीति रही। अतः काल धर्म नहीं व्यापा। 'रघुपति चरण प्रीति अति जाही। काल धर्म नहिं व्यापै ताही।।' पुनः दूसरा हेतु 'अल्हराम रावल' गुरुजनों की कृपा से आदि से अन्त तक एकरस सन्त-भगवन्त की सेवा में चित्तवृत्ति रही। गुरुकृपा से मन पर विजय पाई। मन में संसार प्रविष्ट न हो सका अतः कलिकाल को जीत सके। नहीं तो इस युग में कोई न कोई बाधा आ ही जाती है। अकारण बैर, तामस बुद्धि वाले दुष्टों के प्राचुर्य से ही यह कठिन है।

काम-क्रोध....लहर न लागी—काम-क्रोध आदि ये पांचों महादुस्तर समुद्र हैं। साधन करने से संकुचित होकर लहर के समान छोटे-सूक्ष्मरूप में आ जाते हैं पर कुसंग पाते ही फिर एक क्षण में ही समुद्र के समान होकर डुबा देते हैं। यथा—

तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रायन्ति—(ना० सू०) श्रीराघवदासजी सरीखे महाभागवतों को छोड़कर कौन ऐसा प्राणी है, जिसकी ये फजीहत नहीं कर डालते हैं। काम-काले साँप के समान है, जब यह डसता है तब नारिमय बुद्धि हो जाती है। विष के प्रभाव से निम्ब समान कटु विषय भी मीठे लगने लग जाते हैं। विष की लहरें आने लगती हैं, मानव धर्म की सर्वथा विस्मृति हो जाती है। क्रोध-पागल कुत्ते के समान है, जिसे काटता है वह भी क्रोध रूप होकर कुत्ते की तरह भूंकने लगता है उसके सम्पर्क में जो आवे उसे भी वह काट लेता है। इस तरह स्वयं नष्ट होकर असंख्यों को नष्ट कर देता है। मद-वह शीतवात के समान है। इससे मन बुद्धि में जड़ता आ जाती है। तब उसे अपना कर्त्तव्य भूल जाता है, यह पतित हो जाता है। मोह-सर्प वायु के समान है जिसके लगते ही साधन शरीर को लकवा मार जाता है और भक्तिरूपी प्राण उसे छोड़कर चले जाते हैं। लोभ-यह प्रेत के समान भयंकर है। इसके आवेश में प्राणी नाना प्रकार के नाच-नाचता है अर्थात् पापरूप उद्यम में तन-मन-धन को लगा देता है। 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ। सब परिहरि रघुवीरहिं भजहु भजहिं जेहि सन्त।। (रा० च० मा०) कामादि की लहर न लागी अर्थात् श्रीराघवदासजी के मन पर इनका किंचित्प्रभाव नहीं हुआ। इनकी विकरालता का वर्णन करके इन्होंने अनेक जीवों को इन माया के विकारों से बचाया।

प्रेम तथा माया के मोह में संसार और का और हो जाता है। यथा सवैया—

चाह न वा चरचा न वा चातुरी ना रस रीति न प्रीति को डौर है।
सांच गयौ मढ्यौ झूठ जहान में लोभ को लोग जितै तितै दौर है।।
ठाकुर वेई गुपाल वेई अब ऐसी बयार बही सब ठौर है।
मेरिहि देखत मेरी भटू सिगरौ व्रज ह्वै गयौ और को और है।। (पुरानी टि०)

सूरज ज्यौं....त्यागी—भगवान सूर्य जल को अपनी किरणों से खींचते हैं तब कोई भी प्राणी आपत्ति या असन्तोष नहीं प्रकट करता है, किसी को पता नहीं चलता है। बल्कि लोग सन्तुष्ट होते हैं कि वस्तु सूख गई। आठ महीने बाद उस जल को जब सूर्य भगवान देते हैं, तब सभी लोगों को प्रसन्नता होती है, वर्षा हुई ऐसा कहते हैं। सबको उसका अनुभव होता है। इसी प्रकार जब श्रीराघवदासजी धन-धान्य आदि का संग्रह करते थे, तब किसी को पता न चलता था, व्यापता न था, दुःखद प्रतीत न होता था। जैसे भ्रमर पुष्पों से मकरन्द लेता है तो लिया गया मालूम नहीं पड़ता है, परन्तु जब उत्सव होता था, सन्तों की भीड़, बड़े-बड़े भण्डारे निरन्तर होते तो उसकी चर्चा होती। मेघ जैसे उदारतापूर्वक सर्वत्र बिना भेद-भाव के

बरसते हैं, उसी प्रकार आप भी सेवा करते थे। समय से संग्रह और समय पर त्याग करने से सूर्य और वर्षा की उपमा दी गई। सूर्य खारी-गन्दे जल को खींचकर उसे मीठा-पवित्र बना देते हैं, उसी प्रकार आप भी प्राकृत पदार्थों को दिव्य प्रभु-प्रसाद बनाकर देते थे। दो०—बरषत हरषत लोग सब करषत लखे न कोय। तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सों होय।। (दोहावली)।

कुछ लोभी लोग संग्रह तो करते हैं पर उसका सदुपयोग नहीं करते हैं। जैसे उज्जैन का रहने वाला एक कृपण ब्राह्मण। उसके त्याग न करने से उसका सारा धन नष्ट हो गया। तिरस्कृत होकर घर से निकला। (भाग० ११।२३) 'सुन्दर शील सुभाव'-भजन से सुन्दर रूप होता है। भजनानन्दी भक्त थे अतः सुन्दर थे। शील स्वभाव-अर्थात् इनमें स्वाभाविक नम्रता थी। उक्त उज्जैनवासी ब्राह्मण जब सत्संग प्राप्त कर विरक्त हुआ तब उसे ज्ञान हो गया। उसमें नम्रता आ गई। मारने-बाँधने दुःख देने वालों को दुःखदाता न मानकर अपने मन को ही सुख-दुःख का कारण मानता था। नम्रता पर दृष्टांत-जोवनेरी गोपालदासजी का। देखिये छ० १०६ कवित्त ४२०-४२१। 'गुरुधर्म निकष' श्रीराघवदासजी गुरुधर्म कसौटी पर खरे उतरे। आपका हृदय स्वर्ण था। वैष्णव धर्म की कसौटी गुरुधर्म है। अर्थात् जो गुरुभक्त होगा वही वैष्णव धर्म का निर्वाह कर सकेगा। इसीलिए आगे कहा कि—अल्हराम रावल की कृपा से आद्योपान्त भक्तिनिष्ठा का निर्वाह हुआ। श्रीराघवदासजी गुरुदेव के बहुत बड़े सेवक थे। सच्चे आज्ञाकारी थे क्योंकि आज्ञा मानना ही सबसे बड़ी सेवा है। पुनः-'करें स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई। सेवक वही है जो सर्वथा स्वामी का हित करे और आज्ञा का पालन करे। इस पर—

दृष्टान्त—समर्थजी के सेवक का-समर्थ श्रीरामदासजी वृद्ध हो गये थे। उनके मुख में एक भी दाँत नहीं था। परन्तु पान-प्रसाद में आपकी निष्ठा थी, अब उन्हें पनवट्टे में कूटकर पान दिया जाता था। एकदिन पान में चूना अधिक हो गया। उसे खाने से श्रीसमर्थजी के मुख में छाले हो गये। वे परम सहिष्णु थे अतः कुछ बोले नहीं, किन्तु जिस सेवक की पान देने की सेवा थी, उसे बड़ा दुःख हुआ। गुरुदेव को पुनः ऐसा कष्ट नहीं होना चाहिए। सोचते-सोचते उसने एक उपाय सोच लिया। अब वह पान को पहले अपने मुख में रखकर चबाता, उसके बाद श्रीसमर्थजी को दे देता। इस प्रकार उसकी सेवा चलती रही। एकदिन किसी ने देख लिया तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। उसने छत्रपति शिवाजी से जाकर कहा। क्रोध में भरे शिवाजी श्रीसमर्थजी के समीप आये और उन्होंने गुरुदेव को ताम्बूल देने वाले सेवक की अशिष्टता बतलायी, तो गुरुदेव श्रीसमर्थ ऐसे भोरे बन गये कि जैसे

कुछ जानते ही न हों। उन्हें सेवक की निष्ठा का पूरा पता था। उन्होंने उस सेवक को बुलवाया। छत्रपति शिवाजी उससे बोले—'तुम जिस पनबट्टे में पान कूटकर गुरुदेव को देते हो, उसे ले आओ।' सेवक चला गया और थोड़ी देर में लौटकर आया तो उसके हाथ में रक्त से सना थाल था और वह स्वयं रक्त से लथपथ था। वह अपना पूरा जबड़ा काटकर थाल में रखकर लाया था। थाल रखकर वह श्रीगुरु-चरणों में गिर पड़ा और दिव्य-देह प्राप्तकर भगवान श्रीराम की सेवा में उपस्थित हो गया। शिवाजी सिर झुकाये आँखों से आँसुओं की धारा बहा रहे थे। गुरु-भक्ति और सेवा-धर्म का आदर्श प्रकट हुआ। सेवक कसौटी पर खरा उतरा।

अल्हराम रावल—कई टिप्पणीकारों तथा टीकाकारों के मत से श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य अल्हजी, उनके शिष्य रामरावल तथा उनके शिष्य श्रीराघवदासजी थे। कुछ विद्वानों के मत से श्रीअल्हरामजी गुरुदेव थे, रावल उनका गोत्र था।

विशेष—श्रीरामचरितमानस में वर्णित धर्मरथ का आश्रय लेकर श्रीराघवदासजी अजेय संसार रिपु पर विजयी हुए। आपने जगत् के जीवों को भक्ति का उपदेश देकर उन्हें गुरु-गोविन्द के चरणाश्रित किया। यत्र-तत्र विचरते हुए जहाँ भी जाते वहाँ लोगों के द्वारा सन्तों की सेवा करवाते। एकबार अकेले ही विचरते हुए पर्वतीय प्रदेश में पहुँच गये। राजा-प्रजा सभी को आपने अपने उपदेशों से प्रभावित कर उनके मन में सेवा-पूजन के भाव को दृढ़ किया। आपके दर्शनार्थ अच्छे-अच्छे घरों की स्त्रियां आती और दर्शन एवं सत्संग से कृतार्थ होतीं यह देखकर एक कुटिल क्षत्रिय कुमार के मन में संदेह एवं रोष हुआ। वह हथियार बांधे हुए इनके पास पहुँचा और इनसे बोला—'स्वामीजी! आप इस प्रकार स्त्रियों को एकत्र करते हैं, उनसे बोलते-चालते है तो क्या आपके मन में विकार नहीं उत्पन्न होता है। साधु-सन्त को तो स्त्री प्रसंग से बहुत दूर रहना चाहिए। श्रीराघवदासजी ने कहा—'मेरे लिए पुरुष और स्त्रियाँ बराबर हैं, सबमें श्रीरामराघव रमते हैं। मेरा मन सर्वथा पवित्र है, फिर उसमें विकारों की कोई सम्भावना कैसे हो सकती है।' क्षत्रिय कुमार ने कहा—'देखिये, इस बोतल में मदिरा है, क्या आप इसे दूध के समान मान सकते हैं। यदि अभेद दृष्टि है, तो इसे दूध ही मानिये।' श्रीराघवदासजी ने श्रीरामजी का स्मरण करके कहा—'मदिरा भी मेरे लिए दूध ही है। मैं भेद नहीं मानता।' इतना कहते ही बोतल दूध से भर गई। परिचय पाकर क्षत्रिय कुमार को पूर्ण विश्वास हो गया कि ये मुझ दुष्ट नास्तिक को भी सज्जन और आस्तिक बना सकते हैं। क्षमा-प्रार्थना करता हुआ वह आपके श्रीचरणों

में पड़ गया। तब आपने शिक्षा-दीक्षा देकर उसे कृतार्थ किया। धाम-गमन का समय जानकर आपने दो दिन का उत्सव किया। सन्तों के बीच कीर्तन करते हुए शरीर त्यागकर भगवद्धाम को गये। (भ० गु० पृ० ६९)

* श्रीबावनजी *

हरिदास भलप्पन भजन बल 'बावन' ज्यों बढ़्यौ 'बावनौ'।।
अच्युत कुल सों दोष सुपनेहूँ उर नहिं आनै।
तिलक दाम अनुराग सबनि गुरुजन करि मानै।।
सदन मांहि वैराग्य विदेहिन की सी भांती।
रामचरण मकरन्द रहति मनसा मदमाती।।
'जोगानन्द' उजागर वंश करि निसिदिन हरि गुन गावनौ।
हरिदास भलप्पन भजन बल 'बावन' ज्यों बढ़्यौ 'बावनौ'।।१३६।।

शब्दार्थ—अच्युत कुल=वैष्णव। विदेहिन=जनकपुर के राजा। मनसा=इच्छा, मन से। मदमाती=आनन्दमग्न। भलप्पन=सज्जनता।

भावार्थ—भगवद्भक्तों के भलप्पन से तथा अपने भजन के बल से श्रीहरिदासजी (बामनजी) भी वामन भगवान की तरह छोटे से बहुत बड़े हो गये। आप वैष्णवों के किसी भी छोटे-बड़े दोषों को स्वप्न में भी अपने मन में नहीं लाते, उन पर ध्यान नहीं देते थे। तिलक-मालादि भक्तों के चिन्ह में आपका परम अनुराग था तथा सभी वैष्णव-वेष धारण करने वालों को आप अपना गुरु करके मानते थे। श्रीजनक राजा की तरह आप भी गृहस्थ आश्रम में रहते हुए परम वैराग्यवान थे। श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमल के पराग को पान कर आपका मनरूपी भौंरा सदा उन्मत्त रहता था। श्रीयोगानन्दजी के वंश की कीर्ति को उज्जवल करके दिन-रात भगवद् गुणों को गाते रहते थे।।१३६।।

व्याख्या—भजन बल-संसारी अहंकारियों को अपने धन-जन एवं अपनी बुद्धि का बल होता है। जो स्वयं नाशवान है, उसके बल से विशिष्ट कार्य के होने में भी सन्देह रहता है। भक्त को भजन का, भक्ति का अर्थात् भगवान का भरोसा रहता है अतः उसमें दृढ़ आत्मबल

होता है। इसलिए भक्त सर्वत्र निर्भय रहता है। यथा—छ० ८५ 'हरिराम हठीले भजन बल राणा को उत्तर दियौ।' भक्तजन चमत्कार दिखाने की, परिचय देने की इच्छा नहीं रखते हैं परन्तु उनके भजन के प्रताप से उनका चमत्कार प्रकट हो जाता है। जैसे—'बहुर्‌यो माधवदास भजन बल परचौ दीनौ। करि जोगिन सों बाद बसन पावक प्रति लीनौ।।' छ० १९०। भजन बल से माया पर विजय—'कील्ह कृपा बल भजन के ज्ञान खड्ग माया हनी।' छ० १८२। अबलाओं में भजनबल-यथा-'अबला सरीर साधन सबल ये बाई हरिभजन बल।' छ० १७०। इसी प्रकार भजन बल से बामनजी भगवान की तरह बढ़े। इस लोक में सन्त-सेवा से बढ़े, सर्वत्र उनकी कीर्ति फैली। परलोक में भी सर्वत्र बैकुण्ठलोक तक इनकी सज्जनता गाई गई। ऊर्ध्वलोकवासियों में पृथ्वी के सन्तों का चरित्र नारदादि द्वारा अति शीघ्र पहुँच जाता है। सर्वज्ञ होने से भी वे जान जाते हैं।

अच्युत.....नहिं आनै—अपनी दूषित दृष्टि से निर्दोष में भी दोष दीखते हैं। सामान्यतया सन्तों की दृष्टि दोषों पर जाती ही नहीं है फिर भक्त-भगवान में तो उन्हें स्वप्न में भी नाममात्र भी दोष नहीं दिखाई देते हैं। यह अति प्रीति का पवित्र लक्षण है। प्रेमास्पद के दोष भी गुण हो जाते हैं। अच्युत गोत्रियों में प्रेमाधिक्य के कारण गुण ही गुण श्रीहरिदासजी को दिखाई देते थे। जैसा कि आपके चरित्र में आगे वर्णन है। दृष्टान्त महाजन भक्त का छप्पय ५१ में देखिये। 'सुतबध हरिजन देखिकै दै कन्या आदर दियौ।' पुत्र के हत्यारे में दोष नहीं दिखाई पड़ा। उसे प्रसन्न करने के लिए तथा उससे अपना सम्बन्ध दृढ़ करने के लिए उसे अपनी कन्या प्रदान की। पुनः-देखिये छ० १७९ कवित्त ६०८ से ६१० तक। 'तिलकदाम परकाम को हरीदास हरि निर्मयो।' अच्युतकुल वैष्णवों में वस्तुतः दोष सम्भव ही नहीं। दोष दिखाई पड़े तो समझ लो कि यह मेरी परीक्षा हो रही है। भगवान के द्वारा भक्त में दिठौना लगाया गया है। यथा—

सन्त हैं अनन्तगुण अन्त कौन पावै जाको, जानै रतिवन्त कोऊ रीझै पहिचानिकै।
औगुन न दीठि परै देखत ही नैन भरै, ढरैं पग ओर उर प्रेम भर आनिकै।।
जो पै घटि क्रिया कछु देखियत इन मांझ, करिलै विचार हरि ही की इच्छा मानिकै।
बालक सिंगारिकै निहारि नेहवती माता, देत जो दिठौना कारौ दीठि डर जानिकै।।

दो०— कामी साधुहिं कृष्ण कहि, लोभिहिं बामन जानि।
क्रोधी को नरसिंह कहि, नहीं भक्त की हानि।।

तिलकदाम अनुराग—श्रीहरिदासजी का ऊर्ध्वपुण्ड्र और तुलसी कण्ठीधारी वैष्णव मात्र में अनुराग था। उनकी सेवा करते थे। मात्र कण्ठी-तिलक की अपेक्षा थी, अन्य

ज्ञान-ध्यान आदि उसमें हैं या नहीं, इस पर विचार किये बिना प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करते थे। इनका विश्वास था कि तिलक कण्ठीधारी मात्र के हृदय में प्रभु प्रकट विराजते हैं। इसीसे उनको गुरुजन मानते थे। तात्पर्य यह कि आप वेषनिष्ठ सन्त थे। यथा–'तिलक दाम धरि कोइ ताहि गुरु गोविन्द जानै।' छ० ५६। हंस भक्त वेषनिष्ठ थे। यथा–'तिलक दाम की सकुच जानि तिन आप बँधाये।' छ० ५१। क० २१६ से २१८ तक श्रीहरिराम व्यास-'उतकर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति व्यास के।' छ० ९२। तिलक-कण्ठी की महिमा देखिये पूर्वार्द्ध। पृष्ठ ८७ एवं द्वितीयखण्ड पृष्ठ ७० वेषनिष्ठा से लालाचार्य को पार्षदों के दर्शन हुए तथा श्रीमधुकरशाहजी ने कण्ठी-तिलक देखकर गधे को भी दण्डवत् किया। विशेष देखिये तृतीयखण्ड पृष्ठ ५५९।।

सदन माहिं वैराग्य–घर में रहते हुए वैराग्य असम्भव है (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३३ कवित्त 'जाइयेन तहां') पर इन्हें वैराग्य था, यह विशेषता है। जितेन्द्रिय विरक्त के लिए घर ही वन है। 'वनेऽपि दोषाः' पूरा श्लोक देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ ५९९।। 'राग-राहित्यं वैराग्यम्।' लौकिक विषयों में राग न होना वैराग्य है। अथवा वैराग्यस्य भावः वैराग्यम्।' पुनः वै=निश्चयेन रागं शुद्धं यस्मिन् तत्वैराग्यम्।। गृहस्थाश्रम में वैराग्यजनक के समान था, जिन्होंने राम प्रेम को 'योग भोग महँ राखेउ गोई। राम विलोकत प्रकटेउ सोई।' विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६१। श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य श्रीयोगानन्दजी के कृपापात्र थे श्री हरिदासजी।

विशेष–भ० दा० गुण चि० पृष्ठ ६९ के अनुसार आपका नाम हरिदास था और बावन यह आपका उपनाम था। आपने ५२ ग्रामों का एक मण्डल बना लिया था। उसमें भ्रमण करके आप भक्ति का प्रचार-प्रसार करते थे। आप ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए। आपका सन्त-सेवा व्रत था। गाँवों से सीधा-सामान लाते और सन्त-सेवा करते। आपके मण्डल के लोगों में सन्तों के प्रति बड़ा सद्भाव था। श्रीहरिदासजी का सन्त-समाज में बड़ा सम्मान था। एकबार इनके यहाँ एक वेषधारी आ गया जो स्वभाव से सन्त नहीं था। आपके यहाँ कई दिन तक रहा। आपने उसकी भी सेवा की। एकदिन अवसर पाकर उसने छल किया। इनकी पत्नी के पास सन्त-सेवार्थ एक सौ रुपये रखे थे। उसने आकर कहा कि-हरिदासजी ने रुपये मँगाये हैं। इस प्रकार एक सौ रुपया लेकर वह चम्पत हो गया। बाद में जब भेद खुला तो पत्नी रोने-धोने खीझने तथा कहने लगी। देखो, साधुओं में कैसे-कैसे ठग घुसे हुए हैं। अब आप इनकी सेवा बन्द कर दीजिये, मेरी बात मानिये। यह सुनकर श्रीहरिदासजी ने कहा-सन्त-सेवा को जल और मुझे मछली समझो। मैं सन्त-सेवा के बिना जीवित नहीं

रह सकता हूँ, तू व्यर्थ में क्यों रो रही है। धन जिसका था वह ले गया। उसे तू अपने बाप के घर से नहीं लाई थी। सन्तों को दोष मत दे उन्हें चोर या ठग भी मत कह। वे जो कुछ भी करते हैं, ठीक ही करते हैं। रुपयों को दूना करने के लिए ले गये हैं। स्त्री को इनकी बातों पर विश्वास न हुआ। दूसरे दिन इनकी वाणी को सत्य करने के लिए स्वयं श्रीरामजी सन्त का वेष धारण करके आये और बोले-ये दो सौ रुपया लीजिये। पहले जब मैं गृहस्थी था, तब मुझसे एक आदमी दो सौ रुपया उधार ले गया था। अब जब मैं विरक्त हो गया हूँ। तब वह रुपये वापस कर गया। अब ये मेरे काम के नहीं हैं। आप इन्हें सन्त-सेवा में लगा दीजिये। इतना कहकर रुपया देकर घर से बाहर निकलते ही प्रभु अन्तर्धान हो गये। ढूंढ़ने से भी नहीं मिले। श्रीहरिदासजी ने अपनी पत्नी से कहा-'तुमने सन्त का प्रेम देखा।' यह सुनकर पत्नी प्रेम-विभोर हो गई। श्रीहरिदासजी ने उन रुपयों से भण्डारा कर दिया। सभी सन्तों का खूब सत्कार किया।

एक सन्त को वायु रोग हो गया, वे आकर हरिदासजी के यहाँ पड़ गये। ये उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा करने लगे। कुछ दिनों के बाद सन्त जी स्वस्थ हो गये। एक दिन सन्त ने कहा—मेरे लिए दलिया बना दो। श्रीहरिदास की पत्नी ने दलिया बना दिया। सन्त ने थोड़ा-सा खाकर कहा—'यह दलिया मुझे अच्छी नहीं लग रही है, अब मेरे लिए चने की दाल और गेहूँ की रोटी बनाओ।' स्त्री ने मना कर दिया तो सन्त कुपित हो गये। तब वह फटकारती हुई बोली—'जो दूँ, उसे चुपचाप खालो, बातें मत बनाओ। तुम कौन-सी कमाई करके लाते हो।' इस प्रकार दोनों में कुछ विवाद और गाली-गलौज हो गया। तब सन्त ने पाँच-सात चाँटे लगा दिये। श्रीहरिदासजी के आने पर रो-रोकर उसने अपना दुःख सुनाया और कहा—'इस साधु को घर से अभी भगा दो।' श्रीहरिदासजी ने कहा-'ऐसा कभी नहीं हो सकता है। सन्त मेरे माता-पिता हैं। लात-घूंसा और चांटे मारकर यदि धर्माचरण की शिक्षा देते हैं तो अति उत्तम है। यह सुनकर पत्नी रूस गई। उसने सन्त से बोलना-चालना बन्द कर दिया। यह देखकर पाँच-सात दिन बाद सन्त चुपचाप वहाँ से चले गये। उसी समय भगवदिच्छा से हरिदास के पुत्र की मृत्यु हो गई। पत्नी बिलख-बिलखकर रोने लगी। हरिदासजी ने उसे समझाया कि—'तूने सन्त का अपमान किया, इसी से तुझको यह दण्ड मिला है। अब सन्तों में सदा सद्भाव रखना, तभी आनन्द-मंगल होगा।' पत्नी ने कहा—'यदि सन्त-सेवा में कुछ चमत्कार है तो आप इस पुत्र को जीवित कर दीजिये। मेरा नहीं तो आपका तो सन्तों में पूरा सद्भाव है।' भगवत्कृपा से बालक जीवित हो गया। इस चमत्कार

से प्रभावित होकर स्त्री भी सन्त-सेवा प्रेम से करने लगी। श्रीहरिदासजी सन्तों में दोष नहीं देखते थे।

* श्रीपरशुरामदासजी *

जंगली देश के लोग सब श्रीपरशुराम किय पारषद।।
ज्यौं चन्दन कौ पवन नीम्ब पुनि चन्दन करई
बहुत काल तम निबिड़ उदै दीपक ज्यौं हरई।
श्रीभट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई
कथा कीरतन नेम रसन हरि गुण उच्चरई।
गोविन्द भक्ति गद रोग गति तिलक दाम सद बैद हद।
जंगली देश के लोग सब श्रीपरशुराम किय पारषद।।१३७।।

शब्दार्थ—पारषद=सेवक, भक्त। निबिड़=घना। अनुसरई=अनुकरण किया। गद=कुष्ठ। सद्वैद्य=उत्तम चिकित्सक, रसवैद्य। हद=सीमा।

भावार्थ—श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी ने जंगली असभ्यजनों को हरिभक्ति का उत्तम उपदेश देकर उन्हें भगवत् पार्षदों के तुल्य पवित्र एवं पूज्य बना दिया। जिस प्रकार चन्दन वृक्ष का स्पर्श करके बहने वाले वायु का स्पर्श पाकर नीम भी चन्दन के समान हो जाता है, तथा जिस प्रकार दीपक पुराने एवं घने अन्धकार को दूरकर देता है, उसी तरह आप भी विमुख लोगों को अपने सम्पर्क से पवित्र कर उनके अज्ञान को दूर कर देते थे। आप श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासदेवाचार्य आदि सन्तों के मार्ग पर चले। नित्य नियमपूर्वक आप अपनी जिह्वा से भगवत्कथा एवं कीर्तन करते रहते थे। जिस प्रकार कोई उत्तम वैद्य मधुर अनुपान के साथ रस-रसायन द्वारा असाध्य रोगी को रोग-मुक्त कर देता है, उसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्य ने भी तिलक-कण्ठी के सहित हरिभक्ति का उपदेश देकर संसारी जीवों को जगत् के पाप-ताप आदि रोगों से मुक्त किया।।१३७।।

व्याख्या—जंगली देश०—टिप्पणीकार ने लिखा है, एकबार श्रीनाभाजी एक कुएँ पर बैठे थे, उसी समय कई मारवाड़ी सज्जन आये जो तिलक-कण्ठी और छाप से युक्त थे, उन लोगों ने श्रीनाभाजी को साधु देखकर साष्टांग दण्डवत् किया। पूछने पर अपना देश

बताया। तब उन्हें आश्चर्य हुआ कि जिस देश में दातौन के काष्ठ नहीं, शौच-स्नान के लिए जल नहीं, सत्संग की चर्चा नहीं, ऐसे देश के लोग वेश-भूषा और आचार-विचार, व्यवहार-व्यापार से परम अनन्य वैष्णव कैसे बन गये। पुनः प्रश्न के उत्तर में उन लोगों ने आदरपूर्वक अपने गुरुदेव का नाम बताकर कहा कि हम तो वैष्णवों के दास हैं। तब श्रीनाभाजी ने श्रीपरशुरामाचार्यजी के स्वरूप का ध्यान किया और भाव-विभोर होकर उनका छप्पय लिखा। पीढ़ी दर पीढ़ी से जो जंगली, वैष्णवाचार से हीन, वे श्रीआचार्य-चरण सत्संगरूप कृपामात्र से पार्षद तुल्य वैष्णव बन गये। इसमें आश्चर्य नहीं। यह सत्संग की महिमा है। यथा—'मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला।। सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई। बालमीकि नारद घट योनी। निज निज मुखनि कही निज होनी।।' (रा० च० मा०) पार्षद शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया कि केवल यहीं भगवत्सेवा करते हैं सो नहीं। आगे वैकुण्ठ में वास कर नित्य भगवत्कैङ्कर्य करेंगे, यह निश्चय है।

ज्यौं चन्दन को पवन०—जंगली देश के लोग नीम के समान कड़ुबे अर्थात् विषय-वासनाओं से युक्त थे। जंगली लोग हिंसा आदि दोषों से युक्त होते हैं। यथा-चित्रकूट के भील अयोध्यावासियों से कहते हैं-'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न वासन बसन चुराई।। हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।। पाप करत निसिवासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।। सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।।' जैसे नीम के मूल, शाखा, पत्र, फल, फूल, छाल आदि सब कड़ुबे होते हैं, उसका बीज कड़ुबा था, वृक्ष भी कड़ुबा हुआ। ऐसे को चन्दन पवन, सन्त चन्दन के तुल्य बना देते हैं। कड़बी गंध मिटा देते हैं। भक्ति गंध भर देते हैं। नीम चन्दन परस्पर एक दूसरे के समीप नहीं जा सकते। पहुँच भी जायें तो गुण ग्रहण नहीं कर सकते। वायुरूप सन्तों के बिना निम्बरूप संसारी प्राणी में चंदनरूप ईश्वर की गंध-भक्ति नहीं आ सकती है। जंगली होते हुए भावुक थे तभी भक्त बन सके। दो०-व्यास भक्त चन्दन जहाँ, सो वन सकल सुगन्ध। निकट बांस कुल वहिर्मुख इनमें होय न गंध।। ये लोग नीम की तरह कटु गन्ध से युक्त थे पर कर्मजन्य वासनाओं से प्रेरित तामसी देव-पूजन भी करते थे। नास्तिक वहिर्मुख बांस की तरह नहीं थे, जिनमें चन्दन वायु व्याप ही न सके। चन्दन से मलयागिरि वन्दनीय है। यथा—

किं तेन हेम गिरिणा रजताद्रिणावा, यत्राश्रितश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः।।

अर्थ—उन सोने और चांदी के पहाड़ों से क्या लाभ, जिनके आश्रित वृक्ष, वृक्ष ही रह गये। हम तो केवल मलयागिरि को प्रशंसनीय मानते हैं, जिसके आश्रय से कङ्कोल, नीम और कुटज आदि सब चन्दन हो जाते हैं। सन्त-महन्त तो बहुत हैं पर श्रीपरशुरामाचार्य सरीखे सन्त ही धन्य हैं। जिनके आश्रय से संसारी लोग भी भगवद्भक्त बन गये।

बहुत काल.....हरई—चन्दन वायु नीम को धीरे-धीरे चन्दन तुल्य बनाता है। 'जब बहुकाल करिय सतसंगा। तबहि होय सब संसय भंगा।।' जो लोग अर्द्ध शिक्षित, तर्कशील या मस्तिष्क प्रधान व्यक्ति हैं, उन्हें सन्तजन अपने सत्संग एवं प्रभाव द्वारा धीरे-धीरे भगवद्भक्त बनाते हैं। किन्तु जो भोले-भाले, अशिक्षित, भावुक हैं, उन्हें सन्तजन शीघ्र ही भक्त बना देते हैं, क्योंकि वे विश्वासपूर्वक बात को झट मान लेते हैं। इसीसे दूसरी उपमा अन्धकार और दीपक की दी। जैसे—कोई मकान बन्द करके परदेश को चला गया और उस कोठरी में लगातार बहुत दिनों तक अन्धकार का साम्राज्य रहा। परदेश से आकर मालिक ने जैसे ही दीपक जलाया, वैसे ही तुरन्त अन्धकार दूर हो गया और प्रकाश व्याप्त हो गया। विलम्ब नहीं लगा। इसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी ने जंगली देश के लोगों को शीघ्र परम भागवत बना दिया। 'परशुराम किय पारषद' कहकर जनाया गया कि इन्होंने अपने प्रभाव से उनके दोषों को दूरकर उन्हें पार्षद बना दिया। इस प्रकार की दिव्य-शक्ति कहाँ से आई तो आगे कहते हैं—

श्रीभट.....उच्चरई—पूर्वाचार्य श्रीभट्टजी एवं श्रीहरिव्यासदेवाचार्य आदि सन्तों ने जिस उपासना मार्ग का निर्देश किया है। आपने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। उनके द्वारा निर्मित ग्रंथों के माध्यम से स्वयं को तथा अपने अनुयायियों को प्रभावित किया। सन्त-मार्ग क्या है तो कहते हैं-'कथा कीरतन नेम रसन हरि गुण उच्चरई' नित्य ही नेम-प्रेम से 'कथा श्रवण' नाम-संकीर्तन तथा जिह्वा से हरिगुण गान करना और कराना यही सन्त-मार्ग है। जो स्वयं नहीं इस मार्ग पर चलेगा वह दूसरों को क्या चलावेगा। इसी मार्ग का उपदेश कर लोगों को पार्षद बनाया।

गोविन्द भक्ति.....हद—चिकित्सा और वैद्य दो प्रकार के होते हैं। काष्ठ वैद्य काष्ठादिक चिरायता, नीम, आक, धतूरा आदि औषधियों द्वारा और रसवैद्य रसायन पारद, मोती, स्वर्ण भस्म आदि रसों के द्वारा चिकित्सा करता है। काष्ठ चिकित्सा का प्रभाव विलम्ब से और रसचिकित्सा का प्रभाव तत्क्षण होता है। काष्ठचिकित्सा में सब प्रकार से कठिनाई है। जैसे किसी को विषमज्वर आया, सन्यपात हो गया, बात-पित्त और कफ तीनों बिगड़ गये। अब

काष्ठवैद्य उसे गर्म जल पिलाता है, हवा न लगने पाये इसलिए चारों ओर परदा लगवाता है और भोजन नहीं देता है। पीने के लिए काढ़ा देता है। परिचारक चिरायता आदि का संग्रह कर खल्लड़ में कूटता है, उसके हाथों में छाले पड़ जाते हैं फिर आग पर चढ़ाता है, तब धुआँ से उसका दम घुटता है। तब कहता है कि इतने दिन हो गये, रोग ठीक नहीं होता है, हम मरे जा रहे हैं, इससे रोगी मर जाता तो अच्छा होता। रोगी को ज्वर का अन्तस्ताप है हवा बन्द है। कडुवा काढ़ा पीते समय दुःखी होकर सोचता है कि यह वैद्य मर जाता अथवा मैं ही मर जाता तो अच्छा होता। यह काष्ठ चिकित्सा की कठिनाई है। ऊबकर रोगी रसवैद्य का आश्रय लेता है तो वह शीतल जल पीने को देता है, परदे को हटवाकर वायु सेवन करवाता है। मधुर मधु आदि अनुपान के साथ एक या आधी रत्ती ही रस देता है, जिसे रोगी सुखपूर्वक खा लेता है। फिर भोजन की रुचि जानकर उसे शिखरन और भात खाने को देता है। रोगी को उसी दिन लाभ हो जाता है। शीतल जल, वायु सेवन और शिखरन भात ये सब काष्ठ चिकित्सा में रोगी के लिए हानिकारक माने जाते हैं। हरि भक्तिहीन कर्मकाण्डी-ज्ञानी काष्ठ वैद्य है, कर्म और ज्ञान मार्ग द्वारा भवरोग की चिकित्सा में कठिनाई एवं विलम्ब होता है। कर्मकाण्ड में विधि-निषेध का चक्कर, ज्ञानकाण्ड में मनका आश्रय न होने से साधक कठिनाई का अनुभव करके घबड़ा जाता है। हरिभक्त रसवैद्य हैं, उपासना-भजन में साधन करते समय ही साधक रस का आस्वादन करता है। जटिल विधि-निषेधों में न पड़कर नाम-रूप-लीला और धाम की उपासना करके महाभवरोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी रसवैद्य थे, रसोपासना चिकित्सा से सहज ही में जंगली देश के लोगों को उन्होंने भवरोग से छुड़ा दिया। तब 'सुमति क्षुधा बाढ़ै नित नई। विषय आस दुर्बलता गई।।' सभी प्राणी पार्षद हो गये। वैद्य और चिकित्सा के भेदों का वर्णन श्रीप्रियादासजी ने अनन्यमोदिनी में किया है। यथा-दो०-

काठ बैठ पाले पर्‌यौ रोगी परदा द्वार। औटो जल काढौ कुटक देत कलेश अपार।।
भाग पाय रसवैद्य सों कहूं भेंट ह्वै जाय। ताही छिन लै ब्यार में परदा देत दुराय।।
रसके बल जल सीत दै शिकरन भात खवाय। सुखसों अति नीको करै ऐसो भक्त सुहाय।।

गोविन्द भक्ति....तिलक दाम—औषधि है। यथा—'रघुपति भगति सजीवन मूरी।।' तिलकदाम, छाप को स्वयं धारण करना और जो इन्हें धारण करें, उनका भजन करना। यह अनुपान है, औषधि के साथ-साथ अनुपान बहुत आवश्यक है। अन्यथा लाभ का अनुभव

शीघ्र न होगा। तिलकदाम में श्रद्धा ही अनुपान है, उसके साथ गोविन्दभक्ति औषधि से भवरोग शीघ्र समाप्त कर पार्षद जीवन प्रदान किया। सर्वश्रेष्ठ रसवैद्य सन्त सिद्ध हुए। तिलकदाम की महिमा सभी शास्त्रों में कही गई है। परशुरामदेवाचार्यजी कहते हैं। यथा–

तिलकहिं सत असनान तिलक ब्राह्मण सिर सोहै।
तिलक बिना कछु करौ सबै फल निष्फल जोहै।।
तिलक तिया सिंगार तिलक नृप सीस लगावै।
तिलक वेद परमान तिलक त्रैलोक चढ़ावै।।
तिलक तत्व युग युग सदा तिलक मिले सिद्धि पाइये।
परशुराम ब्रह्माण्ड में सुजस तिलक को गाइये।।

रसवैद्य को सद्वैद्य कहा। आचार्यपाद सद्वैद्यों में भी हद अर्थात् सीमा के अति श्रेष्ठ वैद्य थे। ऐसे सन्तों के सम्पर्क की प्रशंसा की गई है–

लोह हेम पारस करै पै निज गुण नहिं देय।
सन्त सरल चित सरन तकि आपु सदृश करि लेय।।

राजसी महन्त देखि गयौ कोऊ अन्त लैन, बोल्यौ जू अनन्त हरि सगे माया टारियै।
चले संग वाके त्यागि पहिरि कुपीन अंग, बैठे गिरि कन्दरा में लागी ठौर प्यारियै।।
तहाँ बनिजारौ आय सम्पत्ति चढ़ाय दई, दई और पालकी हूं महिमा निहारियै।
जाय लपटायौ पांय भाव मैं न जान्यौ कछू, आन्यौ उर मांझ आवै प्रान वारि डारियै।। ५२२।।

शब्दार्थ–राजसी=राजाओं से ठाट-बाट वाले, रजोगुणी। अन्त=भेद, रहस्य। कोपीन=लँगोटी। बनिजारौ=व्यापारी।

भावार्थ–श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी को राजाओं के समान ठाट-बाट से रहते देखकर कोई राजसी महन्त उनके ज्ञान-वैराग्य का रहस्य जानने के लिए इनके पास आकर कहने लगे कि-'दूसरों को तो आप यह उपदेश देते हैं कि-'जीव के संग-सगे-सच्चे साथी तो भगवान ही हैं, माया एवं उससे निर्मित संसार तथा यह अपना शरीर भी सगा नही हैं।' परन्तु स्वयं बैभव को भोग रहे हैं, यह उचित नही है। इस राजसी ऐश्वर्य को छोड़ कर भजन कीजिए। यह सुनकर श्रीपरशुरामदेव जी सम्पूर्ण वैभव को तृणवत् त्यागकर केवल कोपीन

कमण्डल मात्र लेकर उसके साथ चल दिये। बहुत दूर जाकर एक पर्वत की गुफा में बैठकर आप भजन करने लगे। वह एकान्त स्थल आपको अति प्रिय लगा। दैवयोग से उसी समय एक व्यापारी ने आकर आपके श्रीचरणों में अपार सम्पति तथा एक पालकी भेंट की। आपकी ऐसी महिमा देखकर उस महन्त ने आपके चरण पकड़ लिये और कहा-हे भगवन! मैं आपके प्रभाव को नहीं जानता था, आपकी कृपा से अब कुछ समझ में आया मेरे मन में आता है कि अपने प्राण आपके ऊपर न्यौछावर कर दूं।।५२२।।

व्याख्या—राजसी महन्त-महन्तजी के मन में स्वयं रजोगुण था अतः उन्हें दूसरे सन्त में भी रजोगुण दिखाई पड़ा। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी पूर्ण सात्विक प्रकृति के थे अथवा यों कहिये कि ये तीनों गुणों से परे थे। जिसके हृदय में निरन्तर प्रिया-प्रियतम क्रीड़ा कर रहे हों, उसके हृदय में मायिक गुणों का प्रवेश सर्वथा असंभव है। परन्तु सुन्दर रेशमी वस्त्र आदि धारण किये, सुन्दर गद्दी पर विराजमान, कोठार-भण्डार एवं मन्दिर में ऋद्धि-सिद्धि के अद्भुत वैभव को देखकर उसे लगा कि स्वभाव से रजोगुणी हैं। तब तो राजाओं के से साज-शृंगार हैं। ये 'पद्मपत्रमिवाम्भ्सा' जल में कमल-पत्र के समान सर्वथा निर्लिप्त थे। 'रहैं सदा अपनपौ दुराये।' (रा०) वैष्णव के वेष को देखकर उसके हृदय का अनुमान नहीं हो पाता है। इस पर—

दृष्टान्त—पुण्डरीक विद्यानिधि का-ये महाप्रभु गौरांग के पार्षद थे। दर्शनार्थ नवद्वीप आये, पर महाप्रभु के पास न जाकर एक भक्त के यहाँ ठहरे। महाप्रभुजी ने अपने पार्षदों से कहा-आज कोई परम रसिक महाभागवत पधारे हैं। लोगों ने ढूंढ़ा पर वे न मिले। तब स्वयं महाप्रभुजी सभी भक्तों को साथ लेकर जहाँ ठहरे थे वहाँ पहुँच गये। लोगों ने उनके राजसी वेष को देखा। बहुत मूल्यवान् वस्त्र, इत्र की सुगन्ध, बालों में फुलेल, मुख में पान ऐसा श्रृंगार देखकर लोगों ने उन्हें रजोगुणी समझा। उनके भाव को प्रकट करने के लिए महाप्रभुजी ने श्रीभागवत का श्लोक गान करने की आज्ञा दी। जिसे सुनते ही पुण्डरीक विद्यानिधि में अष्टसात्विक भावों का उदय हो गया, वे पलंग से नीचे गिर पड़े, शरीर पसीने से लथपथ हो गया। रज में लोटने लगे। यह देखकर सभी ने उन्हें परम अनुरागी सन्त जाना। गदाधरदास ने भी उन्हें रजोगुणी माना था। अब उनके प्रेम को देखकर प्रभावित हुए उन्होंने अपने अपराध के प्रायश्चित में विद्यानिधिजी की शिष्यता स्वीकार की।

एक महन्त ने श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी के उपदेश सुने—दोहा०—

माया सगी न तन सगो सगो न यह संसार। परशुराम या जीव को सगो जो सिरजनहार।।
कहते हैं करते नहीं मुंह के बड़े लवार। कारो मुंहड़ो होयगो सोईं के दरबार।।
परसा कीड़ा नीमको चाखन चाहत खांड़। तन राखै वैराग में मन में राखै रांड़।

यदि मन में माया घुसी है, तो शरीर को वैराग्यवेष में रखने से क्या लाभ। नीम तुल्य कड़बे विषयों में आसक्त को भगवान के मधुर-प्रेम रस का स्वाद कैसे मिल सकता है। उस महन्त ने कहा—'आप त्याग का उपदेश देते हैं और स्वयं माया का संग्रह करके बैठे हैं। आचार्य ने कहा—'यह सम्पत्ति भगवान की है, मेरी नहीं है। मैं उसका संग्रह नहीं चाहता हूँ। वह स्वयं मेरे पास आती है।' महन्त ने कहा-मैं विश्वास कैसे करूँ, सर्वस्व त्याग कर मेरे साथ चलिये। एकान्त जंगल में यदि आपके पास सम्पत्ति आवेगी तो मैं आपकी बात सत्य मानूंगा।' यह सुनते ही उसी दिन सम्पूर्ण वैभव को तृणवत् त्यागकर चल दिये। उस सन्त के साथ। मुख्य द्वार से निकलने पर द्वारपाल आदि जानेंगे। जाने न देंगे अतः आधी-रात को पीछे की खिड़की से निकल कर चले। खिड़की खुली देखकर उस महन्त ने कहा—'कोई चोर न घुस जाय।' आपने उत्तर दिया-'जिसे हम त्याग रहे हैं, उसकी चिन्ता कैसी।' बहुत दूर पर्वत कन्दरा में झरने के पास जाकर बैठ गये। समाधि लगाकर भजन करने लगे। भूख-प्यास की परवाह नहीं। उस महन्त को भूख लगी तो वे भिक्षार्थ गये। बहुत देर के बाद चून और नून लेकर बाटियों को बनाकर चार खाईं और चार आचार्यश्री के लिए लाये तो देखते हैं कि आपके सामने अन्न-पक्वान्न और धन के ढेर लगे हैं। लोग जय-जयकार कर रहे हैं। गले में मालायें शरीर पर रेशमी वस्त्र सुशोभित हैं। चरणों में लिपटकर उस महन्त ने कहा-अपराध क्षमा कीजिये, मैंने आपके भाव-प्रभाव को नहीं जाना। आचार्यपाद ने कहा—नहीं आप बड़े परोपकारी हो। मुझे एकान्त भजन का उपदेश देकर आपने मेरे साथ महान् उपकार किया।

रे मन सन्त बड़े उपकारी।
जद्यपि सकल सिद्धि इनके सँग, जीवन सो हितकारी।।
निर्मल मन बोलैं अति निर्मल, निर्मल कथा दृढ़ावै।
निर्मल में मन देखैं कबहूं, तौ ततकाल छुड़ावै।।
माला मिलै महोछौ मांड़ै, आनन्द में दिन काटैं।
करि हरि भक्ति तरै भवसागर, औरन तारन माटैं।।

त्यागैं लेह देह पुनि त्यागैं, चित लालच नहिं काई
चतुरदास इन भक्तन को संग, छांड़ि अनत नहिं जाई।।

यह सुनकर उस महन्त ने कहा-भगवन्! आप तो गुणग्राही हैं। गुणग्राही सर्वत्र गुण को देखकर ही ग्रहण करता है, दोष देखकर कुपित नहीं होता है। इस पर-

दृष्टान्त-ऊँट की ग्रीवा का-दो सन्त एक साथ विचर रहे थे। किसी वन में उन्होंने चरता हुआ एक ऊँट देखा, तो एक सन्त ने कटु व्यंग कहा-यदि तुम्हें ऊँटकी सी लम्बी गर्दन मिल जाए तो क्या करोगे। दूसरे सन्त ने मधुर उत्तर दिया कि मनुष्य देह में परमात्मा ने गर्दन छोटी बनाई है अतः सन्त-भगवन्त के उच्छिष्ट का अनुभव थोड़ी देर ही होता है। यदि ऊँट की-सी गर्दन मिल जायगी तो प्रसाद के स्वाद का अनुभव देर तक मिला करेगा। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी ने उस राजसी महन्त को अपना-सा गुणातीत बना दिया।

विशेष-सोलहवीं शताब्दी में जयपुर राज्य के अन्तर्गत नारनौल के निकट गौड़ ब्राह्मणकुल में श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी का आविर्भाव भाद्र कृष्ण पंचमी को हुआ, किशोरावस्था में ही अन्तःप्रेरणा से आप मथुरा आ गये। वहाँ नारद टीला पर आकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी से मंत्रोपदेश लेकर भजन-साधन में तत्पर हो गये। आपने श्रीगुरुदेव के साथ भारत के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया। शील-स्वभाव को देखकर श्रीगुरुदेव ने आप पर महान् अनुग्रह किया। जिससे आपके हृदय में भगवद्-भक्ति दृढ़ हो गई। आपमें अनन्त सद्गुण और सिद्धियाँ आ गईं। सोलहवीं शताब्दी के मुगल शासनकाल में हिन्दुओं पर यवनों के अनेक अत्याचार होते रहते थे। यवन तान्त्रिक हिन्दूधर्म के मूलोच्छेदन का षड्यन्त्र रचते रहते थे। राजस्थान के प्रसिद्ध एवं पवित्र पुष्करराज एवं द्वारका की यात्रा को जाने वाले हिन्दू यात्रियों पर भी ये बड़ा अत्याचार करते थे। इन्हें शासकों का सहयोग भी प्राप्त था। एक यवन तान्त्रिक, हिन्दू साधु-सन्तों-यात्रियों को बुलाकर उनसे कहता कि-'कुछ चमत्कार-करामात दिखलाओ। अन्यथा राजदण्ड मिलेगा।' इस प्रकार भयभीत करके उन्हें लोभ देकर यवन बनाने का यत्न करता। माला-तिलक-पोथी एवं पूजा का सामान तन्त्र-बल से छीन लेता।

अनेक यात्रियों ने यह दुःखद समाचार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी को सुनाया और इस अत्याचार को रोकने की प्रार्थना की। आचार्य ने अपने शिष्यों के बीच में कहा-है कोई ऐसा गुरु का लाल, जो उसकी सिद्धि को व्यर्थ कर उसका दमन करे। यह सुनकर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी ने उठकर करबद्ध प्रार्थना की 'यदि आशीर्वादपूर्वक आज्ञा मिले तो यह दास जाने को तैयार है।' श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा के साथ गुरुदेव का आशीर्वाद लेकर

चल दिये। इस प्रकार कई सन्तों को साथ लेकर गुरु-आज्ञा से उस फकीर के अड्डे पर पहुँचे उस समय वह वहाँ नहीं था। आपने उसके अड्डे को तहस-नहस करवा दिया और उसके निकट ही अपनी कुटी बनाकर धूनी लगा दी। उसने आकर देखा तो अत्यन्त कुपित होकर इन्हें मारने दौड़ा। आपने दृष्टिपात से उसे स्तब्ध कर दिया। पश्चात् उसने अपने तंत्र का प्रयोग किया किन्तु एक न चला।। सब व्यर्थ हो गया। तब भयभीत होकर वह शरण में आया और क्षमा-प्रार्थना करने लगा। तब आपने कहा—'तुमने बड़े अपराध किये हैं, अतः यहाँ नहीं रह सकते।' तब उसने भविष्य में हिन्दू-धर्म का विरोध न करने की प्रतिज्ञा की। स्थान परशुरामपुरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दुओं से संकट टल गया। सबको बड़ी प्रसन्नता तथा आपकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। अनेक लोगों ने आपकी शिष्यता स्वीकार की। राजा महाराजाओं ने सम्मानपूर्वक सन्त-सेवा के निमित्त धन और धरती दी। आपकी प्रसिद्धि सुनकर तत्कालीन दिल्ली का बादशाह दर्शनार्थ आया। उसने एक बहुत कीमती दुशाला और एक मृगचर्म भेंट किया। उस समय आप धूनी पर बैठे हवन कर रहे थे। दुशाले को भी आपने अग्नि में स्वाहा कर दिया। इससे बादशाह के मन में बड़ा कष्ट हुआ। उसके मनोभाव को समझकर स्वामीजी ने उसी प्रकार के अनेक दुशाले धूनी से निकाल-निकाल कर उसके सामने डाल दिये और कहा—'आप अपना दुशाला पहचानकर ले लीजिये। बादशाह चमत्कार को देखकर लज्जित हो गया। चरणों में गिर पड़ा। आचार्य ने उसे पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया। यथा—समय आपकी वाणी सत्य हुई। (जहाँ बादशाह का पड़ाव था वह स्थान सलेमाबाद के नाम से विख्यात हुआ) बादशाह ने परशुरामपुरी का ताम्रपत्र अर्पण किया। इस प्रकार अनन्त ऐश्वर्य विभूषित आचार्य का दर्शन एक राजसी महन्त ने किया, उपदेश सुना और इन्हें राजसी माना। सर्वस्व त्यागकर आप उसके साथ चले गये। एकान्त में विराजे थे। उसी समय एक बहुत-बड़े व्यापारी ने आकर कुछ दूर पर पड़ाव डाला। उसका नियम था कि किसी सन्त का दर्शन कर उसे प्रथम भोजन कराकर पुनः स्वयं भोजन करना। उसके अनुचरों ने ढूंढ़ा तो आपके दर्शन हुए। पालकी सहित बहुत सामग्री भेंट में आई। तब उस महन्त ने क्षमा-याचना की। चरणों में पड़कर पुनः सलेमाबाद लाया। आज भी परशुरामपुरी में आचार्य की वस्तुयें जैसे माला, चित्रपट, खड़ाऊँ और धूनी आदि विद्यमान हैं। जिनका भक्तजन दर्शन करते हैं। परशुराम-सागर नामक ग्रंथ की आपने रचना की। श्रीमण्ड कवि ने आपके सम्बन्ध में लिखा है—

परशुराम यह नाम नर मुख बोलहु एकबार। कहत पार सब होउगे भवसागर के पार।।
इक मुखसों कहिये कहा महिमा परम विशेष। परशुराम महाराज के गाय सकत गुण शेष।।

आप श्रीपरमासखी के अवतार थे। श्रीसर्वेश्वर प्रभु युगल रूप में व्यक्त होकर आपके साथ क्रीड़ा करते थे। एकदिन नाग पहाड़ (पुष्कर) पर युगलकिशोर अपनी सहचरी परमासखी से वार्तालाप कर रहे थे। उसी समय दर्शक आने लगे। यह देखकर प्रभु अन्तर्धान होने को तैयार हुए कि परमासखी ने उन्हें ऐसा पकड़ा कि वे छुड़ा न सके। तब उसी क्षण परमासखी के हृदय में लीन हो गये। इनके हाथ में सर्वेश्वर प्रभु शालग्राम हो रह गये। जिनका वे अभिषेक करते थे। आपने जीवित समाधि ली। पुष्कर, सलेमाबाद और वृन्दावन में आपने अपने भक्तों को दर्शन दिया। आपकी समाधि पुष्कर गऊघाट पर परशुरामद्वारा में है। (सर्वेश्वर भक्तमालांक)

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी की वाणी—

दोहा— साधु समागम सत्य करि, करै कलंक बिछोह।
'परशुराम' पारस परसि, भयो कनक ज्यौं लोह।।

पद— हरि सुमिरण बिन तन मन झूठा।
जैसे फिरत पशु खर शूकर, उदर भरत इन्द्रिन भ्रमि बूठा।।
अकरम कर्म करत दुख देखत, मध्यम जीव जगत का झूठा।
निर्धन भये स्याम धन हार्‍यौ, माया मोह विषय मिलि मूठा।
हरि सुमिरन परमारथ पति बिन, जमपुर जात न फिरत अपूठा।
'परशुराम' तिनसों का कहिये, जो पारब्रह्म प्रीतम सों रूठा।।

* श्रीगदाधरभट्टजी *

गुननिकर 'गदाधरभट्ट' अति सबहिन कौ लागै सुखद।।
सज्जन सुहृद सुशील बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुणा कौ आलय।।
अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‍यौ बपु भक्तनि काजै।
परम धरम कौ सेतु विदित वृन्दावन गाजै।।
भागौत सुधा बरषै वदन काहू को नाहिन दुखद।
गुननिकर 'गदाधरभट्ट' अति सबहिन कौ लागै सुखद।।१३८।।

शब्दार्थ—गुननिकर=गुणों के समूह। आरज=आर्य, श्रेष्ठ। निर्मत्सर=ईर्ष्या, डाह, क्रोध से रहित। निहकाम=निष्काम, इच्छा रहित। आलय=स्थान।

भावार्थ—श्रीगदाधरभट्टजी समस्त सद्गुणों के समूह तथा सभी को सुख देने वाले थे। आप स्वभाव से सज्जन, सबके मित्र, सदाचारी और पूर्वाचार्यों के वचनों का पालन करने वाले थे। आप ईर्ष्या, कामना आदि दुर्गुणों से रहित कृपा और करुणा के निधान थे। लोगों में अनन्य-भाव पूर्वक भजन-साधन को दृढ़ करने के लिए आपने शरीर धारण किया था। आप परमधर्म के पुष्ट सेतु थे। श्रीवृन्दावन-धाम में सर्वदा विराजते थे। श्रीमद्भागवत की कथा-सुधा आपके श्रीमुख से बरसती रहती थी। आप किसी भी प्राणी के लिए दुःखद नहीं थे।।१३८।।

व्याख्या—गुननिकर-श्रीगदाधरदासजी सद्गुणों के समूह थे इसलिए कि आपमें निष्काम भगवद्-भक्ति थी। (भा० ५-१-१३) में श्रीप्रह्लादजी ने कहा है कि-जिस पुरुष की भगवान में निष्काम-भक्ति है, उसके हृदय में समस्त देवता, धर्म, ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणों के साथ सदा निवास करते हैं। (पूरा श्लोक देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४८) निर्मल रसिक हृदय में स्वयं भगवान प्रिया-प्रियतम विहार करते हैं तब दूसरे दिव्य गुणों को स्वयं आना पड़ता है। 'सुजन समाज सकल गुन खानी'। समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्गुण सज्जन पहँ आवा।। (रा० च० मा०) तालाब निम्न है, नम्र है अतः जल स्वयं उसमें आ जाता है, उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार भक्त के पास कृतार्थ होने के लिए सद्गुण अपने-आप आ जातें हैं। गदतीति गदा=वंशी (स्पष्ट बोलने वाली) धर=धारण करने वाले श्रीकृष्ण अथवा गदा=क्रीड़ा यष्टि, लकुटधारी के दास श्रीगदाधरदास।

सबहिन कौ.....सुखद—'भागौत सुधा बरसै वदन, काहू को नाहिन दुखद।' इसके साथ सुखद का अन्वय है। कथा में अमृत बरसाते हैं। कथा-अमृत सबके दुःखों का नाशक और सबके लिए सुखद है। सुखद-वक्ता महान् पुण्यवान् श्रोता को मिलता है। पापी श्रोता को ऐसा वक्ता नहीं मिलता है। यथा-पक्षपात धन चाह निपुन श्रोतै नहिं जानै। प्रश्न करै तिहि उतरु देइ नाहिन सनमानै। मूर्त बाँधिकै बात मूर्ख हिय धरि न सकै पुनि। सबै शास्त्र पढ़ि लये सार नाहिन लीनौ गुनि। पूछत बात रिसाइ अति क्षमा नाहिं जाकै दिलै। बहुत पाप श्रोता करै तब ऐसो वक्ता मिलै।। (पुरानी टिप्पणी) पक्षपाती, लोभी, श्रोता के भाव को न जानने वाला, प्रश्नकर्त्ता का आदर न करने वाला, विषय को श्रोता के मन में न बैठा पाने वाला, शास्त्र का तात्पर्य न समझाने वाला, प्रश्न करने पर नाराज होने वाला वक्ता सबको सुखद न होगा। आप ऐसे वक्ता न थे। जिसकी कहनी-रहनी एक न हो। यथा—दो०—बात कहै

निर्लोभ की, भर्यो हिये अति लोभ। युगल प्रेम रस रूप की कैसे उपजै लोभ।। पुनः-श्रोता ऐसो चाहिए जाके तन मन स्याम। वक्ता हू हरि को भगत जाके लोभ न काम।। श्रोता ऐसा नहीं होना चाहिए। जैसे-दो०—कथा सुनै नहिं कीरतन बकै आपनी बाइ। पापी मानुष परसुराम ऊँघै कै उठि जाइ।। श्रेष्ठ वक्ता के लक्षण छ० १३४ की व्याख्या देखिये। श्रेष्ठ सन्त वे हैं जो दुःखद को भी सुखद हों। आप चोर को तथा कलंक लगाने वाली स्त्रियों को भी सुखद हुए।

बचन आरज—श्रेष्ठ गुरुजनों के बचनों का पालन करने वाले थे। तभी तो जीवगोस्वामी के पत्र को पढ़ते ही श्रीवृन्दावन को चल दिये। दूसरों का उत्कर्ष न सहना, मत्सरता है। आप ऐसे दोषों से रहित थे।

निष्काम—आप लौकिक कामनाओं से रहित थे। ब्राह्मण-साधु को निष्काम होना चाहिए। यथा— (भा० ७ । १५ । १९, २१) नारद वाक्य—

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः। स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते।।
पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः।।

अर्थ—हे राजन्! जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं है, इन्द्रियों की लोलुपता के कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते हैं। तथा वह विवेक भी खो बैठता है। अनेक विषयों के ज्ञाता, शंकाओं का समाधान करके चित्त में शास्त्रोक्त अर्थ को बैठा देने वाले और विद्वानों की सभा के सभापति, बड़े-बड़े विद्वान, भी असन्तोष के कारण नीचे गिर जाते हैं।

अनन्य भजन दृढ़ करनि—साधक भक्तों के हृदय में अनन्य प्रेम को सुदृढ़ करने के लिए ही आपका अवतार हुआ था। सभी शास्त्रों के विद्वान् प्रवचनकर्ताओं के सन्देहों को दूर कर उनमें अनन्यता का भाव आप दृढ़ करते थे। अनन्य-प्रेम दुर्लभ है। यथा—चौदह चार अठारहौ नव जु षष्ट पढ़ तूल। तुलसी प्रभु चीन्हे बिना ज्यौं पच्छी चण्डूल।। चौदह विद्यायें, चार वेद, अठारह पुराण, नव रस, षट् शास्त्र पढ़कर भी भगवान को नहीं पहचान पाता है और भगवान को पहचाने बिना मनुष्य चण्डूल पक्षी के समान हैं, जो बोलता तो मधुर है पर समझता नहीं है मूर्ख होता है। ऐसे विद्वान् जो पढ़े-लिखे थे, पर ईश्वर-भक्ति को नहीं जानते थे, उन्हें श्रीभट्टजी ने रहस्य का बोध कराया। उनमें अनन्य-भजन का भाव दृढ़ किया, और जो भक्त थे उनमें भी अपनी कथा-सुधा द्वारा भक्ति के भाव को दृढ़ किया।

धर्‌यौ बपु भक्तनि काजै-भगवान एवं भक्तों के अवतार का निमित्त एक है। यथा–'चौबीस प्रथम हरि बपु धरे, त्यौं चतुर्व्यूह कलियुग प्रकट।' (छ० २८) दोनों ही विश्व-कल्याण विशेषतया भक्त-कल्याण के लिए अवतरित होते हैं। यथा–'तिनके रामानन्द प्रगट विश्व मंगल जिन्ह बपु धर्‌यौ।' (छ० ३५) और-'भक्तनि हित भगवत रची देही माधव ग्वाल की।' (छ० १६५), 'तिलकदाम पर काम कों हरीदास हरि निर्मयो।' (छ० १७९), हरीदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यौ (छ० १५६) 'बिनै व्यास मनो प्रगट ह्वै जग को हित माधौ कियौ।' (छ० ७०) भक्तों की सेवा एवं उनसे सत्संग के निमित्त 'धर्‌यौ बपु' अर्थात् भगवान की एवं अपनी इच्छा से शरीर धारण करते हैं। कर्म-बन्धन में फँसकर नहीं।

परम धरम कौ सेतु–श्रेष्ठ वैष्णव धर्म की व्याख्या एवं उसका आचरण करके आपने उसे भवसागर पार के लिए सेतुवत् बना दिया। सेतु बन जाने पर तुच्छ से तुच्छ जीव भवसागर पार गये। यथा-अति अपार जे सरित वर जो नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिन श्रम पारहिं जाहिं। (रा०) तथा परमधर्म के सेतु अर्थात् मर्यादा आप स्वयं श्रीभट्टजी थे। विदित वृन्दावन गाजै-श्रीवृन्दावन में विदित अर्थात् अति प्रसिद्ध थे। पुनः प्रसिद्ध धाम श्रीवृन्दावन में गाजते अर्थात् विराजते थे तथा गाजते=सिंहवत् वन-वृन्दावन में गरजते थे। निडर-निशंक कथा-कीर्तन करते थे, जिसे सुनकर तुच्छ, दम्भ-पाखण्ड आदि भेड़िये भाग जाते। गर्जन से भव-बीजों का भर्जन=(भुनना), सुख-सम्पत्ति भगवद् भक्ति का अर्जन= (उपार्जन-उत्पादन) और यमदूतों का तर्जन=(डराना-भगाना) हो जाता है यथा–

भर्जनं भववीजानामर्जनं सुख सम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां राम-रामेति गर्जनम्।। (रामरक्षास्तोत्र)

भागौत सुधा वरषै०–श्रीभागवत की कथा अमृतरूप है, उसे कहने वाला बरसाने वाला है। ऐसी कथा भी कभी-कभी किसी को रुचिकर नहीं होती है इसलिए कि वक्ता अनुचित रूप से एक पक्ष का मण्डन दूसरे पक्ष का खण्डन कटु शब्दों द्वारा करते हैं। ब्राह्मण वक्ता साधु की, साधु वक्ता ब्राह्मण की निन्दा करता है। तब कथा दुःखद हो जाती है। इसी प्रकार द्वैत-अद्वैत के प्रसंग में किसी आचार्य की निन्दा दुःखद है। अपने-अपने स्थान पर सब ठीक है। भगवान को सभी प्रिय हैं, अतः ये समभाव से मधुर शब्दों द्वारा सैद्धान्तिक उत्कर्ष और अपकर्ष समयानुसार प्रकट करते थे इसलिए सबको सुखद थे। जब इनकी कथा आरम्भ होती तो दूर-दूर गाँव-देशों के लोग घरों

से सीधा-सामान लेकर आते और कथा सुनते। इनके पड़ोस के ही एक सन्त कभी कथा सुनने नहीं जाते। लोग उन्हें कथा की प्रशंसा सुनाकर उनसे चलने के लिए आग्रह करते पर वे न जाते। बहुत दिनों बाद एक सन्त आये और उन्होंने भी आग्रह किया तो उनकी आज्ञा को न टाल सके, कथा सुनने गये। बड़े भाव से कथा सुनने लगे। प्रेम में विभोर हो गये। इसी बीच धेनुकासुर-वध का प्रसंग आया। कृष्ण-बलदेव ग्वालबालो के साथ गये। फल गिराकर खाने लगे। आहट पाकर राक्षस धेनुकासुर दौड़कर आया और रेंगते हुए उसने पिछली दुलत्ती से श्रीबलराम जी के वक्ष स्थल पर प्रहार किया। इतना सुनते ही सन्त का कोमल-हृदय विदीर्ण हो गया। वे अचेत होकर गिर पड़े। श्रोताओं में खलबली मच गई। वैद्यों ने नाड़ी देखकर मृतक घोषित कर दिया। अशान्ति देखकर श्रीगदाधरभट्टजी ने सभी को शान्त करते हुए कहा कि-आप लोग एकाग्रचित्त होकर कथा सुनें। 'तव कथामृतं' भगवत्कथा अमृत है इसे सुनकर कोई मरता नहीं है, अमर हो जाता है। शरीर छोड़कर ये अमृतत्व को प्राप्त हो गये हैं। कई लोग कहने लगे, शरीर छोड़कर गये, अब इनको अमरत्व की प्राप्ति भी हुई तो भी लोक-भाषा में इन्हें मर गये, यही कहा जायगा। अब ये सन्त यदि जीवित हो जायें तो हमको पूरा विश्वास हो जायगा कि कथा अमृत है। भट्टजी ने सभी को सावधान कर प्रेमावेश के साथ प्रवचन कर धेनुक-वध प्रसंग पूर्ण किया, तो सचमुच वे सन्त जीवित हो गये। सर्वत्र यह चर्चा फैल गई। तदनुसार मूल में लिखा गया—'भागौत सुधा बरषै वदन।'

स्याम रंग रँगी पद सुनिकै 'गुसांई जीव' पत्र दै पठाये उभै साधु वेगि धाये हैं।
रैनी बिन रंग कैसे चढ्यौ अति सोच बढ्यौ, कागद में प्रेम मढ्यौ तहाँ लैकै आये हैं।।
पुर ढिंग कूप तहाँ बैठे रस रूप, लगे पूछिबे कौ तिनहीं सों नाम लै बताये हैं।
रहौ कौन ठौर सिरमौर वृन्दावन धाम, नाम सुनि मुरछा ह्वै गिरे प्रान पाये हैं।।५२३।।

शब्दार्थ—रैनी=रँगने का स्थान, रंग की नांद। उभै=दो। मढ्यौ=व्याप्त। रस रूप=रसमूर्ति, परम रसिक।

भावार्थ—श्रीगदाधरभट्टजी, जब अपनी जन्मभूमि घर में ही रहते थे, उस समय उन्होंने 'सखी हौं स्याम रंग रंगी' यह पद बनाया। श्रीजीवगोस्वामी ने श्रीवृन्दावन में किसी को गाते हुए उक्त पद सुना तो उनका मन विभोर हो गया। उन्होंने शीघ्र ही एक पत्र लिखकर दो सन्तों को श्रीगदाधरभट्टजी के पास भेजा। पत्र में लिखा था कि—'बिना रैनी

के आपके ऊपर रंग कैसे चढ़ गया, मुझे यह सोच-विचारकर अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है।' प्रेम से ओत-प्रोत पत्र को लेकर दोनों सन्त श्रीभट्टजी के गाँव पहुँचे। उस समय परमरसिक सन्त श्रीभट्टजी गाँव के (समीप) बाहर एक कुयें पर बैठे दाँतून कर रहे थे। सन्त उन्हें कैसे पहिचानते? उन्होंने श्रीभट्टजी से ही पूछा—'यहाँ श्रीगदाधरभट्टजी कहाँ निवास करते हैं?' उत्तर में श्रीभट्टजी ने उन दोनों सन्तों से पूछा—'आप लोग किस स्थान में रहते हैं?' सन्तों ने उत्तर दिया-विश्वब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ श्रीवृन्दावन-धाम में। यह सुनते ही श्रीभट्टजी मूर्च्छित होकर कुयें से नीचे भूमि पर गिर पड़े। उस समय ऐसा लग रहा था कि मानों इनके प्राणों ने भगवत्प्राप्ति कर ली।।५२३।।

व्याख्या—स्याम रंग रंगी पद-सखी हौं स्याम रंग रँगी। देखि बिकाय गई वह मूरति सूरति माहिं पगी।। संग हुतो अपनो सुपनो सो, सोइ रही रस खोई। जागेहु आगे दीखि परै सखि, नेकु न न्यारो होई।। एक जु मेरी अँखियनि में निसिद्यौस रह्यौ करि भौन। गाय चरावन जात सुन्यो सखि सोधौं कन्हैया कौन।। कासों कहौं कौन पतियावै कौन करै बकवाद। कैसे कै कह्यौ जात 'गदाधर' गूंगे को गुड़ स्वाद।।

इस पद के भावों के पोषक दो कवित्त पुरानी टिप्पणी में पाये जाते हैं—

मोरपक्ष धरे पटपीत वनमाला गरे, सांवरी-सी मूरति प्रवीन मोसों पगी है।
टरत न टारी पल छिनहू न होति न्यारी, जेतिक बिसारी बिसराति नहिं खगी है।।
चलति हौं तो चलति है बैठी हौं तो बैठी है, सोई हौं तो सोई है री जागी हौं तो जगी है।
तुम सब मिलि मेरी आँखिन को दोष देत, येऊ तौ मैं मूंद राखी तऊ तहाँ लगी है।। १।।
कान न करति सखि कानन फिरति सुनि, अति ही हठीली फिरि पाछे पछिताइ है।
धाम काम भूलि जैहै अंगनि में ऐहै काम, नैन सर लागे घूमि-घूमि गिरि जाइ है।।
अबलौं न मानति हो मेरी कही बात सुनि, पाछे जलजातनिके पातनि बिछाइ है।
डीठि कहूँ ऐहैं मनमोहन मनोज छबि, दौरि-दौरि अटनि चढ़े को फल पाइ है।। २।।

ब्रजेश्वरी श्रीकिशोरीजी श्यामसुन्दर के प्रेमरंग में सराबोर होकर कहती है कि अरी सखी! मैं तो श्याम रंग में रँग गई हूँ और गदाधरभट्टजी गोपी-भाव में निमग्न होकर उसका वर्णन करते हैं। श्रीस्वामिनीजी की दासी बनकर, उन्हीं का भावानुगमन कर श्यामसुन्दर के रंग में स्वयं भी रँग गये हैं। अन्यथा इस निकुञ्ज-रस रहस्य का वर्णन ही असम्भव है। यह तो आस्वादन का विषय है, वर्णन का नहीं। परन्तु यह अपनी अन्तरंग सखी के प्रति जो रोके नहीं रुकते हैं, वे प्रेमोद्गार-प्रेमालाप है।। जिस

प्रेम जगत् की यह भाषा है, उसी जगत् के जीव, श्रीजीवगोस्वामी हैं अतः इस पद की भाव गम्भीरता का यही अनुभव करके यह समझ गये कि यह तो निज-निकुंज की कोई अन्तरंग सखी है, इसलिए इनसे मिलने और सत्संग करके इस रस के अन्य पदों को सुनने के लिए ललचाये। अतः ऐसा पत्र लिखे कि जिसे पढ़कर तत्क्षण श्रीवृन्दावन को आ जायें। पत्र–

अनाराध्य राधापदाम्भोजरेणु-मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीर चित्तान्, कुतः श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः।।

सर्वेश्वरी श्रीराधिका के चरण-कमल के रेणुकी आराधना के बिना, श्रीराधा चरण-चिन्हित वृन्दावन-धाम का आश्रय लिए बिना तथा श्रीराधा भाव रस से गम्भीर चित्त वाले रसिकों का संग किये बिना श्याम-रसरूप महासमुद्र में कैसे अवगाहन हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

श्रीजीवगोस्वामी आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं कि रंग कैसे चढ़ा। आप यह नहीं कहते हैं कि तुम पर श्याम रंग नहीं है। अवश्य है, क्योंकि आपकी वाणी और अनुभव बता रहे हैं कि आप पर चोखा प्रेम रंग चढ़ा है। अवश्य ही आपने श्रीराधा-पादारविन्द की आराधना, प्रेमधाम का आश्रय तथा रसिकों के साथ सत् संग भी किया है, अन्यथा श्याम रससागर में अवगाहन की क्या चले, उसकी वायु का स्पर्श भी दुर्लभ है। आपके स्थूल शरीर से न सही दिव्य भावमय शरीर से अथवा पूर्वजन्म में सब कुछ किया है। श्रीमीराजी के ऊपर मेड़ता में ही प्रेम रंग चढ़ गया था। उसी प्रकार इन पर भी घर में ही श्याम रंग चढ़ गया था अतः आगे 'रसरूप' यह विशेषण दिया गया। श्रीजीवगोस्वामी भक्तों की महिमा को जानते हैं अतः उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। धन्यवाद दे रहे हैं। परन्तु श्रीगदाधरभट्टजी में अपार दैन्य है। उन्होंने इस पत्र को पढ़कर यही माना कि अब तक मुझ पर वस्तुतः प्रेम का छींटा भी नहीं पड़ा है अतः वहाँ चलकर प्रेम प्राप्त करना चाहिए। श्रीभट्टजी श्रीवृन्दावन में वास के लिए लालायित थे। परन्तु बिना किसी परिकर के कैसे प्रवेश होगा। अतः प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि श्रीवृन्दावन के दो सन्त पहुँचे। प्रातःकाल का सुहावना समय था, अभी सूर्योदय नहीं हुआ था। कुयें पर बैठकर भट्टजी दातौन कर रहे थे। सन्तों ने उनसे ही पूछा-इस गाँव में श्रीगदाधरभट्टजी का घर किधर है। उस समय भट्टजी को अपार प्रसन्नता हुई क्योंकि आज सवेरे-सवेरे सन्तों के दर्शन हुए और ये आये भी मेरे ही यहाँ हैं। आज सन्त-सेवा

का सौभाग्य मिलेगा। इनके श्रीमुख से कथा-कीर्तन सुनने को मिलेगा। आज के दिवस को जाऊँ बलिहार। इन सुखद भावों में निमग्न श्रीभट्टजी ने पूछा-प्रभो! आप कहाँ से पधारे हैं। 'वृन्दावन' सुनते ही धड़ाम से नीचे गिर गये। अश्रुपात आदि अष्ट सात्विक भाव प्रकट हो गये। सन्तों ने सँभाला। एक श्रीराधारानी का और दूसरा श्रीश्यामसुन्दर का प्रतिनिधि था। पत्र श्रीवृन्दावन-धाम एवं धाम भक्तों का प्रतिनिधि था। इनके साथ श्रीभट्टजी ने श्रीधाम में प्रवेश किया। भक्त-कृपा बिना धाम प्रवेश असम्भव है। इस पर—

दृष्टान्त—एक सेठ का—एक सन्त श्रीवृन्दावन से कलकत्ता को पधारे। सत्संगवार्ता में उन्होंने धाम की महिमा कहते हुए कहा कि—धाम भक्त की कृपा के बिना श्रीधाम में प्रवेश सर्वथा असम्भव है। श्रोताओं में एक धनीमानी सेठजी बैठे थे। उन्हें इस बात पर विश्वास न हुआ। सन्त के साथ कुछ देर तक विवाद भी हुआ। सेठजी ने अपनी बात को सत्य प्रमाणित करने के लिए कहा-मैं आज ही मथुरा की सीट रिजर्व कराता हूँ और गाड़ी में बैठकर वृन्दावन पहुँचकर दिखा दूंगा कि धनबल से शीघ्राति-शीघ्र वृन्दावन जाया जा सकता है। सेठजी स्टेशन पर आ गये और गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी स्टेशन से छूटने वाली थी कि इसी बीच घर से नौकर भागकर आया और उसने कहा कि दुर्घटना से आपका पुत्र घायल हो गया है। लाचार सेठजी घर आ गये। वृन्दावन की यात्रा नहीं कर सके। कुछ दिन बाद सन्त की बात पर विश्वास करके क्षमा-याचना करके किसी सन्त की कृपा से वृन्दावन आये। उन्हें अहंकार था और सन्त की बात को मिथ्या करना चाहते थे अतः वृन्दावन में प्रवेश, भक्तिरस की प्राप्ति तो दूर रही वे सेठजी सीमा का शरीर से भी स्पर्श न कर सके। अवतारी सिद्ध भक्त श्रीभट्टजी तो श्रीजीके नित्य परिकर के थे ही फिर भी इनके द्वारा आदर्श उपस्थित हुआ कि भक्त की कृपा से इन्होंने श्रीधाम में प्रवेश किया।

रैनी बिन रंग—रैनी वृन्दावन है, रंग प्रिया-प्रियतम का प्रेम है और रसिक सन्तजन रंगने वाले हैं। भगवान शिव को मानसरोवर में स्नान करने पर ही गोपी-भाव एवं रासमण्डल में प्रवेश प्राप्त हुआ। श्रीजीवगोस्वामी के मन में शोच बढ़ा कि ऐसे प्रेमी ब्रज से बाहर क्यों हैं अतः पत्र लिखा। वह पत्र प्रेमजटित इसलिए है कि उसमें श्याम-प्रेम प्राप्त करने का उपाय है। जिसे चाहिए वह श्रीराधापादारविन्दका आराधन, वृन्दावन वास एवं रसिकों का नित्य सत्संग करे। इस उपाय से श्यामरंग में रंग जाता है और पग जाता

है। रसरूप अर्थात् रसमें सराबोर हैं हृदय जिनका ऐसे श्रीभट्टजी, पत्र से आकृष्ट होकर श्रीवृन्दावन को चल दिये। श्रीजीवगोस्वामी और श्रीभट्टजी ने परस्पर एक दूसरे की वाणी को समझा।

सिरमौर वृन्दावन—सभी धामों में सिरमौर अर्थात् श्रेष्ठ इसलिए है कि श्रीठाकुरजी जहाँ सर्वथा प्रेम के अधीन होकर नाचते हैं तथा इसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं। यथा—'कृष्णोऽन्यो यदि सम्भूतो यस्तु गोपेन्द्रनन्दनम्। वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।' वृन्दावन सो वन नहीं नन्दगाँव सो गाँव।। पुनः—'बाराहे-वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि।' अर्थात् वैकुण्ठादि लोक श्रीवृन्दावन के अंशांश हैं। श्रीवृन्दावन के नाम को सुनते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े, जैसे मृगीरोग अग्नि एवं जल को देखते ही प्रकट होता है वैसे ही इन्हें प्रेम का आवेश आ गया। स्वयं श्रीभट्टजी ने वृन्दावन की शोभा का वर्णन किया है। यथा—

अद्भुत शोभा वृन्दावन की देखौ नन्दकुमार।
कन्त वसन्त जानि आवत वन, वेलिन कियौ सिंगार।।
पल्लव वरण-वरण तन पहिरे, वरण-वरण फल फूल।
ये तौ अधिक सुहाये लागत, मनो अभरण समतूल।।
बालक विहंग अनंग रंग भरि, बाजत मनो बधाई
मंगल गीत गायबे को जानो, कोकिल बधू बुलाई।
बहत मलय मारुत परिचारक, सबके मन सन्तोषे।
द्विज भोजन सो होत अलिनके, मधुर मकरन्द परोसे।।
सुनि सखि वचन 'गदाधर' प्रभु के, चलु प्रीतम पै जैये।
नवल निकुञ्ज महल मण्डप में, हिलमिल पंचम गैये।।

काहू कही 'भट्ट श्रीगदाधर' जू एई जानौ मानौ, उही पाती चाह फैरिकै जिवाये हैं।
दियौ पत्र हाथ लियो सीस सौं लगाय चाय, बाँचत ही चले वेगि वृन्दावन आये हैं।।
मिले श्रीगुसाईं जू सों आँखैं भरि आईं नीर, सुधि न सरीर धरि धीर वही गाये हैं।
पढ़ें सब ग्रन्थ संग नाना कृष्ण कथा रंग, रस की उमंग अंग अंग भाव छाये हैं।।५२४।।

भावार्थ—श्रीगदाधरभट्टजी की मूर्च्छा देखकर पत्र लेकर आने वाले साधुओं से किसी ग्रामवासी ने बताया कि 'श्रीगदाधरभट्टजी यही हैं।' आश्चर्य करते हुए प्रेम के साथ तब उन साधुओं ने श्रीभट्टजी के कान में कहा कि-'हम आपके लिए श्रीवृन्दावन से श्रीजीवगोस्वामी का पत्र लाये हैं।' यह सुनकर इनकी मूर्च्छा दूर हो गई और उठकर बैठे हो गये। ऐसा

लगा कि मानो उस पत्र को पढ़ने की इच्छा ने ही इन्हें पुनः जीवित कर दिया है। साधुओं ने पत्र दिया, आपने उसे लेकर सिर से लगाया और पढ़कर उसी क्षण उन साधुओं के साथ चल दिये और शीघ्र ही श्रीवृन्दावन को आ गये। यहाँ आकर श्रीजीवगोस्वामीजी से मिले। मिलन-सुख से आँखों में आनन्द के आँसू भर गये। शरीर की सुधि-बुधि भूल गये। तत्पश्चात् धैर्य धारणकर वही 'सखी हौं श्याम रंग रंगी' पद गाया। श्रीवृन्दावन में निवास करते हुए आपने श्रीजीवगोस्वामी से अनेक भक्ति शास्त्रों का अध्ययन और सन्तों के साथ सत्संग किया। श्रीकृष्ण की कथाओं के रस की उमंग आपके अंग-अंग में भर गई। भाव में विभोर होकर आप नित्य श्रीमद्भागवत् की कथा कहने लगे।।५२४।।

व्याख्या—पाती चाह—श्रीभट्टजी को मूर्च्छित देखकर दोनों सन्त चिन्तित् हो गये। इसी बीच उस ग्राम के वे लोग आ गये जो यह जानते थे कि इन्हें प्रेमवश मूर्च्छा आ जाती है। उन्होंने उपाय बताया कि कीर्तन करो। हम लोग कीर्तन करके इन्हें जगाते हैं। 'वृन्दावन' इस शब्द को सुनकर ये तो शरीर छोड़कर श्रीवृन्दावन पहुँच जाना चाहते थे अतः ऐसा लगता था कि प्राण पाये हैं, अर्थात् शरीर को छोड़कर भगवद्धाम को पहुँच गये। यही भट्टजी हैं, यह जानकर दोनों सन्त आनन्दमग्न हो गये ऐसे प्रेमी का दर्शन पाकर। फिर तो कान में जब इनके पत्र का संदेश पड़ा तो उसी प्रकार उठ बैठे, जैसे 'धीर समीरे यमुना तीरे।' सुनकर श्रीपद्मावतीजी उठ बैठी थीं, (क० १६२) धीर समीरे यही प्राण था, प्रियतम का संदेश-कथा ही प्राण हैं भक्तों के। जिस नाम आदि को सुनकर मूर्च्छा होती है, उसी को सुनकर होश भी होता है। मूर्च्छित होने और जागने की दवा एक है। जैसे 'विषस्य विषमौषधम्।' विष की दवा विष ही है। प्रिय सन्देश-कथा जीवन है। श्रीहनुमानजी ने श्रीराम से कहा—'जब तक आपकी कथा सुनने को मिलेगी तब तक यहाँ रहूँगा।' 'प्रान लागे कथा.....बानी विरमानी जहाँ जीवन निराश है।' (क० ९७, श्रीपरीक्षितजी)

दियौ पत्र हाथ—पत्र का नाम सुनते ही आप उठ बैठे। जैसे इनके प्राण-पत्र की प्रतीक्षा करते रहे हों। पत्र को सिर से नेत्रों से तथा छाती से लगाया प्रेमी के पत्र की प्राप्ति अर्द्ध-मिलन के समान है। विरह-सागर में डूबा प्रेमी पत्र पाकर तर जाता है अतः 'प्रीति रंग राती पाती छाती सों लगाई है।' पुनः दो०—'रंग राती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय। पाती काती विरह की छाती रहत लगाय।।' पत्रिका प्रेम रंग में रंगी होती है, अतः हृदय को भी अपने रंग में रंग देती है। प्रीतम उसमें अपने हृदय के भाव लिखते हैं अतः वह पाती विरह की काती अर्थात् कतरनी होती है। प्रेमी इसे छाती से लगाकर स्तब्ध रह जाता है। 'बाँचत

ही चले वेगि'—जैसे वंशी की ध्वनि से आकृष्ट होकर गोपियाँ श्रीकृष्ण की ओर चली आईं, उसी प्रकार पत्र खींचकर इन्हें ले चला। श्रावण की उमड़ती सरिता जैसे सागर की ओर चलती है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। इसी प्रकार आपको घर-धन-परिवार आदि की आसक्तियाँ नहीं रोक सकीं। आसक्ति थी ही नहीं, अब तक कर्त्तव्य-बुद्धि से आसक्तवत् जो व्यवहार होता था वह भी विस्मृत हो गया। क्योंकि पूर्ण रूप से मन श्रीधाम की ओर आकृष्ट हो चुका था। आशा थी कि—'हरि मिलिहैं वृन्दावन में। साधु वचन मैं साँचे जाने फूल भई मेरे मन में।। विहरत संग देखि आलिंगन जुत निविड़ निकुंज भवन में। नैन सिराय पांय गहिबी जब धीरज रहै कवन में।। कबहुँक रास विलास प्रगटिहैं सुन्दर सुभग पुलिन में। विविध बिहार अहार सच्यौ है 'व्यास दास' लोचन में।। (व्यासवाणी) आप प्रेमी थे अतः पत्र को पढ़ते ही चल दिये। जिसे घर-परिवार में आसक्ति है, वह बार-बार बुलाने पर भी नहीं आता है। इस पर—

दृष्टान्त—प्रियादासजी एवं एक सेठ का—श्रीप्रियादासजी श्रीवृन्दावन में श्रीभक्तमाल की कथा कहते। वृन्दावन के भक्तजन बड़े प्रेम से सुनते। होली एवं झूलनोत्सव के अवसर पर बाहर के प्रेमी भी आकर कथा सुनते। धीरे-धीरे दिल्ली के कई भक्त वृन्दावन एवं कथा के प्रेमी बन गये। नियम से प्रतिवर्ष आने लगे। दिल्ली के एक सेठ थे, जो अपने गृह कार्यों में इतने व्यस्त रहते थे कि वे कभी वृन्दावन न आते। उनके साथी धाम के उत्सवों का, कथा-सत्संग का वर्णन करते, उसे सुनकर वे निश्चय करके सबसे कहते कि अगली बार होली में मैं अवश्य चलूंगा। जब चलने का समय आता तब कहते कि इस समय फुरसत नहीं है, श्रावण में जरूर चलूंगा। इस तरह कहते-कहते उन्हें कई वर्ष हो गये, पर वे वृन्दावन नहीं आ सके। इस बात को दिल्ली के भक्तों ने श्रीप्रियादासजी से कहा, तब इन्होंने उसे पत्र लिखा कि तुम वृन्दावन अवश्य आओ। यहाँ तुम्हारे रहने एवं खाने-पीने की सब व्यवस्था हो जायगी। तुम्हें कष्ट न होगा। उसने उत्तर दिया कि—अभी मुझे अवकाश नहीं है। जब अवकाश होगा, तब आऊँगा। प्रत्युत्तर में श्रीप्रियादासजी ने यह कवित्त लिखा—

चाहे धन धाम ग्राम सुत अभिराम वाम, सुख कहै नाहीं कछु सरत न काज है।
चतुरन आगे कोटि चातुरी न काम आवै, बातन बनाये सुनि उपजत लाज है।।
जोपै कहौ साँच या में झूठ न मिलाव नेकु, तोपै श्वान रोक्यो क्योंहू रुकै गजराज है।
वृन्दावन चाहै तौं न चाहै जीव तनहू को, मनहूँ को दूर ऐसौ मिलत समाज है।।

यद्यपि श्रीप्रियादासजी ने अपने कवित्त में उसे खूब समझाया। संसार की नश्वरता तथा श्रीवृन्दावन की दुर्लभता लिखी कि यदि वृन्दावन दर्शन की चाह है तो और वस्तु की क्या चले, अपने शरीर का मोह भी छोड़ना पड़ेगा। यहाँ शरीर से आना तो दूर है ही, मन से भी आना दूर है। ऐसा धाम का समाज है। कवित्त को पढ़कर भी वह वृन्दावन न आ सका। आने वालों से उसकी कुशल श्रीप्रियादासजी पूछ लिया करते। बहुत दिनों के बाद सेठजी को व्यापार में घाटा हुआ। समाज तथा परिवारीजनों ने भी तिरस्कार किया। तब सेठजी को ग्लानि और अशान्ति हुई। उसे दूर होने का आश्वासन देकर लोग इन्हें कठिनाई से वृन्दावन लाये। आने पर कथा-सत्संग एवं धाम-दर्शन से इन्हें सुख-शान्ति मिली। यह श्रीप्रियादासजी की कृपा का फल हुआ। सेठजी को वृन्दावन के वासियों का संग मिला। लौकिक आसक्तियाँ दूर हो गईं। श्रीध्रुवजी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं,
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसंगाः।। (भा० ४-९-१२)

हे कमलनाथ प्रभो ! जिनका चित्त आपके चरण-कमल की सुगन्ध में लुभाया हुआ है, उन महानुभावों का जो लोग संग करते हैं वे अपने इस अत्यन्त प्रिय-शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र-मित्र-गृह-स्त्री आदि की सुधि भी नहीं करते। सेठजी को अखण्ड ब्रजवास मिला।

मिले श्रीगुसाईं जू सों—श्रीजीवगोस्वामीसे मिलकर प्रेमाश्रुपात हुआ कि यदि ये कृपा न करते तो वृन्दावन की प्राप्ति न होती। धैर्य धारण करके उसी पद को बार-बार गाकर सुनाया। यदि धैर्य धारण न किया जाय तो कथा-कीर्तन नहीं हो सकता है। श्रीरूपगोस्वामी धैर्य धारण करके कथा कहते थे। श्रोतागण प्रेमविकल थे, पर आप सावधान थे। पूरा प्रसंग कवित्त ३६० में देखिये। भक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थों को आपने पढ़ा। कृष्ण-कथाओं का अध्ययन करके भक्तिरस की उमंग आई। पद—'अब मैं वृन्दावन रस पायौ। राधाचरण शरण मन दीनौ मोहनलाल रिझायौ।। सोवत हुतो विषय मन्दिर में श्रीगुरु टेरि जगायौ। अब तौ 'व्यास' विहार विलोकत शुक नारद मुनि गायौ।।

कृष्ण कथा रंग—कथा की महिमा स्वयं भट्टजी कहते हैं—पद—

अघ संहारिनी अधम उधारिनी कलिकाल तारिनी मधु मथन गुन कथा।
मंगल विधायनी प्रेम रसदायनी भक्ति अनपायनी होय जिय सर्वथा।।
मथि वेद मथि ग्रन्थ कथि व्यासादि अजहूं आधुनिक जन कहत हैं मति जथा।
परमपद सोपान करि 'गदाधर' पान आन आलाप ते जात जीवन वृथा।।

नाम हो कल्यानसिंह जात रजपूत पूत, बैठ्यो आय कथा सो अभूत रंग लाग्यौ है।
निपट निकट वास 'धौरहा' प्रवास गांव, हास परिहास तज्यो तिया दुख पाग्यौ है।।
जानी भट्ट संग सों अनंग वास दूर भई, करौ लैकै नई आनि हिये काम जाग्यौ है।
माँगत फिरत हुती जुवती और गर्भवती, कही लै रुपैया बीस नैकु कहो राग्यौ है।।५२५।।

शब्दार्थ—पूत=पुत्र, पवित्र। अभूत=अपूर्व, विलक्षण। अनंग=काम। वास=वासना इच्छा। राग्यौ है=मुझमें आसक्त हैं। पाठान्तर=प्रवास, प्रकाश।

भावार्थ—मथुरा-वृन्दावन के मध्य में बसे धौरहरा गाँव का निवासी कल्यानसिंह नामक एक राजपूत श्रीगदाधरभट्टजी की कथा में आने लगा। कथा सुनने से उसके हृदय में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। कथा का ऐसा विचित्र रंग उस पर चढ़ा कि उसने अपनी स्त्री से हँसना-बोलना बिल्कुल छोड़ दिया। इससे स्त्री बड़े दुःख में पड़ गई। उसने समझ लिया कि श्रीगदाधरभट्टजी के कथा-सत्संग का ही प्रभाव है कि हमारे पतिदेव के मन से काम-वासना एकदम दूर हो गई है। स्त्री के हृदय में कामभाव जाग उठा। उसने निश्चय किया कि मैं ऐसी नई युक्ति करूँ, जिससे हमारे पति का मन कथा और कथावाचक से हट जाय और उसके मन में नई काम-वासना जाग उठे। इसी बीच एक गर्भवती तरुणी स्त्री गाँव में भीख माँगती फिरती दिखाई पड़ी। उसे बुलाकर कल्यानसिंह की स्त्री ने कहा ये बीस रुपये लो और कथा में जाकर कह दो कि (कथावाचक व्यास) मुझसे प्रेम करते हैं।।५२५।।

व्याख्या—रजपूत पूत०—कल्यानसिंह यद्यपि रजपूत अर्थात् क्षत्रिय थे। परन्तु पूत अर्थात् पवित्र थे, रजोगुण-तमोगुण से रहित थे। भक्ति के संस्कारों से युक्त थे। ये राजस्थान के निवासी थे और धौरहरा के प्रवासी थे। प्रवास का तात्पर्य यह कि अपना घर त्यागकर अन्यत्र वास। किसी-किसी प्रति में प्रकास पाठ है अर्थात् धौरहरा ग्राम में प्रकास दीपक तुल्य थे। ये नित्य वृन्दावन में आकर यमुना-स्नान और दर्शन कर जाते थे। इन्होंने वृन्दावन में श्रीभट्टजी की कथा की प्रशंसा सुनी तब सुनने गये। सुनते ही अभूत रंग लगा। हृदय

में प्रेम की तरंगे उठने लगीं, संसारी विषय विषतुल्य लगने लगे। उनमें दुर्गन्ध आने लगी। श्रोताओं पर आपकी कथा का ऐसा प्रभाव इसलिए था कि आप सच्चे पण्डित थे।

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।

सर्वे व्यसनिनो मूढ़ाः क्रियावान् यः स पण्डितः।। (नीतौ)

शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने वाले और उसका चिन्तन करने वाले यदि दुर्व्यसनी हैं तो वे मूर्ख हैं। शास्त्रोक्त विधि से जो सोचते-विचारते एवं कर्मों को करते हैं वे पण्डित हैं। स्वयं आचरण न करके दूसरों को उपदेश देने वाले के उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता है। उपदेशक को अपना आचरण पहले सुधारना चाहिए। इस पर दृष्टान्त देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ ३०९। स्वयं गुड़ खाना त्यागकर छोड़ने का उपदेश दिया।

पुनः— अप्रतिबोधे श्रोतरि वक्तुर्वाक्यं प्रयाति वैफल्यम्।
नयनविहीने भर्तरि लावण्यमिव खञ्जन क्षीणम्।। (काव्ये)

अर्थ—श्रोता यदि अज्ञानी है, कथा के तात्पर्य को समझाने पर भी नहीं समझता है तो वक्ता का प्रवचन वैसे ही व्यर्थ हो जाता है। जैसे पति के अन्धे होने पर खंजन के समान नेत्र वाली स्त्री का सौन्दर्य।

करौ लैकै नई—कल्यानसिंह की स्त्री ने निश्चय किया कि कथा के सुनने से जैसे अभूत-विलक्षण रंग मेरे पति पर पड़ा है। उसी तरह मैं भी कथा के रंग को उतारने के लिए एक ऐसा नया प्रयोग करूँ। जैसा आज तक किसी ने न किया हो। ऐसा उसने इसलिए किया कि उसमें काम जाग्यौ है—जैसे-जैसे पति के मन में वैराग्य जगा और बढ़ा, उसी प्रकार स्त्री के मन में काम जगा और बढ़ा। भक्तिभाव से रहित पत्नी भक्तपति के लिए दुःखदा है। भजन में बाधा करने के लिए अभक्ता स्त्री अविद्या माया है। 'नारि विष्णु माया प्रगट।' (रा०) पद—साधो जग में कामिनि ऐसी रे। राजा रंक सबनि के घर में बाघिनि ह्वै कै पैसी रे।। बस्ती छांड़ि करै वनवासा चावत सूखे पाता रे। दांव परे तिनहूँ को मारै दै छाती पर लाता रे।। ज्ञानी गुनी सूर और पण्डित ये तौ सर्व सयाने रे। सूधे होय परैं फाँसी में तिरिया हाथ बिकाने रे।। तीनि लोक में कोउ न छाड़ा देइ दाढ तर मारा रे। हरीदास हरि सुमिरन लागे तब भगवान उबारा रे।। अभक्ता स्त्री भजन-साधन की ओर नहीं जाने देती है यथा—दर्शनात् हरते चित्तं स्पर्शनात् हरते बलम्। संभोगात् हरते वीर्यं स्त्री प्रत्यक्ष राक्षसी।। अर्थ—दर्शन से चित्त, स्पर्श से बल और संभोग से पराक्रम का हरण करती है अतः कामुका स्त्री राक्षसी के तुल्य है।

काम अति प्रबल है, उसके अधीन होने पर कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार नहीं रहता है। स्त्री हो चाहे पुरुष, देव हो या दानव, सभी को परास्त कर देता है। और की क्या बात है, ब्रह्माजी पुत्री के, चन्द्रमा गुरुपत्नी के और महादेव मोहिनी के पीछे पड़ गये। भक्तमाल की पुरानी टिप्पणी में लिखा है कि–'ब्रह्मा के रोंगटा के, फोंगटा की मसी की तुसी पै अध्यास काढ़िये।' सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्माजी के रोंगटा=रोम के, फोंगटा कण की मसी=जले हुए, तुसी=किनका में भी काम का निवास समझिये, अर्थात् वह सबके मन में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। उसे काढ़िये=हरिस्मरण करके मन से दूर कीजिये। कुसंग से उत्पत्ति और सत्संग में भगवत्कथा से काम का नाश होता है। इस पर–

दृष्टान्त–केशव कवि का–ओरछा निवासी केशवकवि ने श्रीतुलसीदासजी की प्रेरणा से उत्तम महाकाव्य-'रामचन्द्रिका' की रचना की और उसे लोगों को सुनाने-पढ़ाने लगे इससे लोगों के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपनी स्त्रियों से हँसना-बोलना छोड़ दिया। वे शोकग्रस्त हो गईं। एकदिन एक बकरा उन्मत्त होकर बकरी के पीछे पड़ा था। मालकिन उसे बार-बार हाँकती पर वह मानता नहीं, उससे भी इठलाता। तब उसने एक छन्द लिखा। उसका आशय यह कि मैं कक्काजू (केशवकवि) से कह दूँगी तो तुझे ऐसा पाठ पढ़ा देंगे, कि हमारे पति की तरह दिन-रात पोथी लिए-लिए, कागज न मिलने पर पृथ्वी पर ही लिखता डोलेगा। फिर इधर भूलकर भी नहीं देखेगा। सवैया-

सूधे कहे तू अबै नहिं मानत, तू इत फेरि न नेकु चितैहैं।
भूमि में आँक बनावत मेटत, पोथियै काँख लिये दिन जैहैं।।
साँची हौं भाषति मोहिं ददा की सौं, प्रीतम की गति तेरियौ ह्वैहैं।
मोसों कहा अठिलात अजासुत, कैहौं ककाजू सों तोहूँ पढ़ैहैं।।

किसी ने यह सवैया केशव कवि को सुना दिया। तो उन्होंने ओरछा की कामिनियों का दुःख दूर करने के लिए 'रसिक प्रिया' की रचना कर शृंगाररस का पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया तो लोग अपनी-अपनी स्त्रियों के प्रति आकर्षित हो गये। इसका तात्पर्य यह है कि भगवत्कथा से कामनाओं की निवृत्ति होती है और लौकिक काव्यों के सुनने से विषयासक्ति बढ़ती है। भजन और सत्संग से कामना का नाश होता है।

गदाधरभट्ट जू की कथा में प्रकाश कहौ, अहौ कृपा करी अब मेरी सुधि लीजियै।
दई लौंडी संग लोभ रंग चित्त भंग किये, दिये लै बताय बोली मेरौ काम कीजियै।।

बोले आप बैठिये जू जाप नित करौं हिये, पाप नहीं मेरौ गई दर्शन दीजियै।
श्रोता दुख पाय भाखैं झूठी याहि मारि नाखैं, सांची कहि राखैं सुनि तन मन छीजियै।।५२६।।

शब्दार्थ—प्रकाश=खोलकर। जाप=स्मरण। नाखैं=निकालकर बाहर करें।

भावार्थ—कल्यानसिंह की स्त्री ने युवती भिखारिन को समझाया कि तुम वृन्दावन को चली जाओ और जिस समय श्रीगदाधरभट्टजी की कथा हो रही हो, उसी समय सबके सामने खोलकर कहना—'महाराज! जैसे आपने मुझ पर कृपा की। मुझे गर्भवती किया, उसी प्रकार अब मेरी सुधि लीजिये। प्रसव का समय है। मेरे रहने-खाने-पीने का प्रबन्ध कीजिये। उस भिखारिन ने स्वीकार कर लिया, तब उसने अपनी एक दासी उसके साथ कर दी। धन के लोभवश भिखारिन का चित्त दूषित हो गया था। दासी के बताने से उसने कथा में जाकर सबको सुनाकर कहा कि-अब मेरा प्रबन्ध कीजिये।' उसकी इन बातों को सुनकर श्रीगदाधरभट्टजी ने कहा—आओ-आओ, बैठो। मैं तो नित्य मन में तुम्हारा स्मरण करता था। परन्तु तुम जाने कहाँ चली गई थीं। इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है। बहुत अच्छा हुआ जो तुमने ठीक समय पर आकर मुझको दर्शन दिया। श्रोताओं ने जब ये बातें सुनी, तो उनके मन में बड़ा दुःख हुआ और कहने लगे कि—यह स्त्री झूठ कह रही है, इसे मारो, दूर भगा दो। यह सुनकर श्रीभट्टजी ने कहा-यह सत्य कहती है। यह सुनकर श्रोताओं को हार्दिक दुःख हुआ, वे रोने-बिलखने लगे।।५२६।।

व्याख्या—लोभ रंग चित्त भंग—मन के ऊपर जब लोभ का रंग चढ़ता है तब विवेक नष्ट हो जाता है। दरिद्रा भिखमंगी लोभ में आकर अनुचित कार्य करने को तैयार हो गई। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। लोभ ही पापों का बाप है। काशी में पढ़कर आये महान् विद्वान् लोभवश वेश्या के यहाँ भोजन करने के लिए तैयार हो गये। पूरा-पूरा दृष्टांत देखिये। द्वितीयखण्ड पृष्ठ ४८९। (कवित्त २५०) बारमुखी की कथा। लोभवश भिखारिन ने सोचा कि दिन-भर भीख माँगने से दो-चार आने भी नहीं मिलते हैं, बीस रुपये मिल जायेंगे तो मेरे जापे का प्रबन्ध हो जायगा और कपड़े-लत्ते भी बन जायेंगे। मेरा काम बन जायगा किसी सन्त को कलंक लगे तो भले ही लग जाय। लोभ में आकर प्राणी आत्मघात कर लेता है। इस पर—

दृष्टान्त—एक गीदड़ का—वन में एक सिंह ने एक शिकारी को मार डाला। उसे देखकर गीदड़ ने विचारा कि मेरे पूरे एक मास का भोजन हो जाय तो ठीक है। दस दिन के लिए दोनों पैर, दस दिन को धड़, चार दिन को दोनों हाथ और पाँच

दिन के लिए सिर हो जायगा। बचा एक दिन, तो आज धनुष की प्रत्यंचा को खालूं। जैसे ही उसने चढ़े धनुष की डोरी को काटा तो धनुष की ठोकर लगी, मस्तक फट गया। लोभवश उसके प्राण चले गये। 'लोभ पाश जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया।।' (रा०)

बोले आप०—श्रीभट्टजी ने कहा-आओ, बैठो और कथा सुनो और 'जाप नित करौं हिये।' इसका एक अर्थ भावार्थ में आया और दूसरा अर्थ यह कि नित्य हृदय में भगवन्नाम का जाप करो। 'जाप नित करौं, दर्शन दीजियै।' इन मधुर शब्दों से आपने उस कलंक लगाने वाली का सत्कार किया। इसी से मूल छप्पय में 'सबहिन कौ लागै सुखद' कहा।

साँची कहि राखैं—उस भिखमंगी की बात सुनकर श्रोतागण मन में अत्यन्त दुःखित हुए। कई लोग उसे गाली देने लगे। उस पर क्रुद्ध होने लगे। आपने देखा कि लोग इसे मारेंगे। तब आपने कहा कि—यह सत्य कह रही है, ऐसा कहकर उसके प्राणों की रक्षा की। (भा० ८-१९-४३) के अनुसार किसी के प्राणों की रक्षा के लिए झूठ निन्दनीय नहीं है। झूठ भी सत्य के समान पुण्यदायक है। पुनः आपने अपने मन में विचारा कि—'उर प्रेरक रघुवंश विभूषण।' सबके हृदय में प्रेरणा करने वाले प्रभु ही हैं। वे ही कहा रहे हैं। कलंक लग रहा है, अपमान हो रहा है। यह तो प्रसन्नता की बात है। 'अपमान सुधापानम्। अपमान अमृतपान के समान मधुर है। अब तक सुयश-सम्मान प्रभु ने दिया, दिलाया। उसे हमने जिस प्रकार स्वीकार किया उसी प्रकार अपयश-अपमान भी सहन करने योग्य है। अपने प्यारे की चाह मुख्य है, वे चाहें जैसे रक्खें उसी में प्रसन्नता है। 'जाही विधि राखैं राम ताही विधि रहिये।' अपनी चाह को त्यागकर प्रियतम प्रभु जो चाहें वही हमें स्वीकार करना चाहिए। इस प्रसंग में 'नरक जौ देयँ' यह कवित्त पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८५ में गही प्रतिकूलताई क० २५ की व्याख्या में देखिये। श्रीसदनजी ने हत्या नहीं की थी परन्तु स्त्री द्वारा हत्या लगाई गई तो इन्होंने स्वीकार कर लिया उसी प्रकार श्रीभट्टजी ने स्वीकार कर लिया। लोग उसे झूठी कहकर दण्ड देना चाहते थे, तब आपने कहा कि यदि आप लोग नहीं मानोगे तो हम कथा कहना ही बन्द कर देंगे। आप लोगों पर यदि कथा का प्रभाव है तो इसे क्षमा करो अन्यथा हम समझेंगे कि आपका श्रवण और मेरा प्रवचन व्यर्थ गया। तब श्रोतागण मन ही मन में अपार दुःख का अनुभव करने लगे। उन्हें सन्त की निन्दा असह्य थी। यदि किसी हल्की वस्तु को कोई सागर में दे मारे तो वह वस्तु कुछ क्षणों के लिए नीचे जाती दिखाई देगी परन्तु वह सदा के लिए सागर के तल में नहीं जायगी। शीघ्र ही ऊपर तैर

आयगी। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति पवित्र एवं नम्रचित्त हैं, वे किसी द्वारा निन्दित-कलंकित किये जाने से नीच नहीं हो जाते हैं। बल्कि उनके चरित्र में और निखार आ जाता है, उनकी गुप्त महिमा प्रकट हो जाती है। श्रीभट्टजी ने कलंक लगने के इस प्रसंग से अवगुणों में गुण ग्रहण किया। इसी प्रकार गुणों को ग्रहण कर 'गुननिकर' हुए।

फाटि जाय भूमि तौ समाय जायँ श्रोता कहैं, बहै दृग नीर ह्वै अधीर सुधि गई है।
राधिकावल्लभदास प्रगट प्रकाश भास, भयौ दुःख रास सुनि सो बुलाय लई है।।
साँच कहि दीजै नहीं अभी जीव लीजै, डरि सबै कहि दीयौ सुख लियौ संज्ञा लई है।
काढ़ि तरवार तिया मारिवे कल्यान गयौ, दयौ परबोध हमें करी दया नई है।।५२७।।

शब्दार्थ—समाय जायँ=धँस जायँ। भास=चमक। संज्ञा भई=होश आया, सुधि आई। परबोध=प्रबोध, ज्ञान।

भावार्थ—सन्त-सद्गुरु की प्रतिष्ठा में हानि पहुँचाने वाली बात सुनकर सब श्रोतागण दुःखी होकर सोच रहे थे कि यदि धरती फट जाय और हम उसमें धँस जायँ तो अच्छा है। पर ऐसा सम्वाद सुनना अच्छा नहीं है। संकोच और दुःखी से उनके नेत्रों से आंसू बह रहे थे, उन्हें शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। श्रोताओं में श्रीराधिकावल्लभदासजी नामक एक सन्त बैठे थे, वे बड़े बुद्धिमान थे, उनमें ज्ञान-ज्योति प्रकाशित थी। उन्हें भी भिखारिन और भट्टजी का संवाद सुनकर महान् दुःख हुआ। उन्होंने उस भिखारिन को एकान्त में बुलाकर उसे समझाया और डरपाया कि-जो सच्ची बात है, उसे बता दो, तब तो तुम्हें छोड़ दिया जायगा। नहीं तो अभी तुझे मार डाला जायगा। यह सुनकर वह डर गई और उसने सब रहस्य खोल दिया, जिसे सुनकर श्रोताओं की जान में जान आई। कल्यानसिंहजी ने जब अपनी स्त्री की यह काली-करतूत सुनी, तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और म्यान से तलवार निकालकर उसे मारने के लिए चले। तब श्रीभट्टजी ने उन्हें रोक लिया और समझाते हुए कहा—इन स्त्रियों ने हमारे ऊपर बड़ी दया की है, हमें उनका उपकार मानना चाहिए। मारना ठीक नहीं है।।५२७।।

व्याख्या-काढ़ि तरवार०—जब कल्यानसिंह मारने चले तब भट्टजी ने चार व्यक्तियों को भेजा कि दौड़कर जाओ और उस स्त्री को बचाओ तथा कल्यानसिंह को मेरे पास बुलाकर लाओ। उन्होंने जाकर समझाया कि यदि स्त्री को कोई भी दण्ड दोगे तो कथा सुनने को नहीं मिलेगी। अतः चलो कथा सत्संग का आनन्द लो।

दयौ परबोध—यह स्त्री का दोष नहीं है, यह काम का दोष है। यथा—कामान्धा ये न पश्यन्ति, जन्मान्धश्च न पश्यति। न पश्यन्ति मदोन्मत्ता अर्थी दोषं न पश्यति।। जो कामी हैं वे अन्धे हैं, उन्हें पुण्य-पाप नहीं दीखता है। तथा जन्म से अन्ध, मद से मतवाला और मतलबी दोष को नहीं देखता है पाप कर बैठता है। अपने मन को शिक्षा दो कि क्षणिक सुख देने वाले विषयों की ओर न जाय। दो०—विषय चुगौ जिनि चुगै मन, चुगत कछुकसुख होय। फिरि फाँसी ऐसी परै, तिहि सम दुक्ख न कोय।। रे मन, कबहूँ जाय जनि भूलि विषय वन रंग। मनमथ ठग मारत तहाँ लिये बहुत ठग संग।। अरे मन पंक्षी! विषय के रंगीले बगीचे में मत जा, वहाँ कामरूपी बहेलिया मार डालेगा। राधावल्लभलाल बिन व्यास न पायौ सुक्ख। डार डार मैं हू फिर्यौं पात पात में दुक्ख।।

श्रीभट्टजी ने कल्यानसिंह आदि सभी श्रोताओं को समझाया कि कथा-प्रवचन करने से, शिष्य-सेवकों के बढ़ने से हमारी प्रभुता बढ़ी। हम उसमें भूले थे, प्रभुता पिशाचिनी हमें खा रही थी। प्रभु के भजन-स्मरण में बाधा सम्भव थी। भगवत्प्रेरिता तुम्हारी भली स्त्री ने हमारे ऊपर बड़ी दया की। हमें प्रभुता पिशाचिनी से बचने का मार्ग दिखाया। कदाचित् कोई यह कहे कि आपने बचाने का यत्न किया। आप उसे ठीक मान रहे हैं, पर उसका तो बुरा हुआ। उससे अपराध ही नहीं महापराध बना। तो इसका समाधान यह कि जीवों के स्वभाव अनादि सिद्ध हैं, किसी के छुड़ाने से नहीं छूट सकते हैं। उदाहरण—श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन मात्र से जीवों के विकार छूट जाते हैं। परन्तु कालीनाग को दर्शन और स्पर्श दोनों की प्राप्ति हुई पर उसका विषैला स्वभाव नहीं छूटा। प्रभुता को घटाने के उद्देश्य से श्रीकबीर ने वेश्या के कन्धे पर हाथ रखकर नगर-भ्रमण किया। काशी नरेश की सभा तक गये। हम अचेत थे प्रभु ने स्वयं—

करी दया नई है—जैसी किसी पर न हुई होगी। कल्याणसिंह पर कथा का अनोखा रंग, इनकी स्त्री ने भी करौं लैकै नई और आप भी कहते हैं कि हमारे कौतुकी कृष्ण ने नये ढंग से हमारे ऊपर कृपा की। हमारे अहंकार को दूर किया। भविष्य के लिए चेतावनी दी कि यह संसार काजर की कोठरी है। पुनः नई कृपा का तात्पर्य यह है कि इस घटना से विश्व में प्रभु ने श्रीभट्टजी की महिमा बढ़ाई। कल्यानसिंह पर प्रेम और वैराग्य का रंग और गहरा हो गया उन दोनों स्त्रियों ने सोचा कि—हमने कलंक लगाया और उन्होंने हमें आदर दिया। धन्य हैं प्रभु के भक्त। ग्लानि से उनके पाप धुल गये। मानसिक विकार नष्ट हो गये और वे शरण में आईं, उन्होंने क्षमा-याचना की। फिर तो नित्य कथा-सत्संग के प्रभाव से वे दोनों भी भक्ता हो गईं। सभी सिद्ध-साधक भक्तों के लिए श्रीभट्टजी आदर्श सिद्ध हुए।

रहैं काहू देस में महन्त आये कथा मांझ, आगें लै बैठाये देखैं सबै साधु भीजे हैं।
मेरे अश्रुपात क्यों न होत सोच सोत परे करे, लै उपाय दै लगाय मिर्च खीजे हैं।।
सन्त एक जानिकै जताय दई भट्टजू कौ, गये उठि सब जब मिलि अति रीझे हैं।
ऐसी चाह होय मेरे रोयकै पुकारि कही, चली जलधार नैन प्रेम आय धीजे हैं।।५२८।।

शब्दार्थ—भीजे=प्रेम में सराबोर हुए। सोच सोत=दुःख का प्रवाह।

भावार्थ—श्रीगदाधरभट्टजी की कथा की प्रशंसा सुनकर ब्रजभूमि से बाहर किसी स्थान के एक महन्तजी भी कथा सुनने आये। लोगों ने उन्हें सम्मानपूर्वक आगे बैठाया। कथा होने लगी तो महन्तजी ने देखा कि कथा सुनकर सभी सन्तों के नेत्रों से आंसू बह रहे हैं, सभी प्रेम में सराबोर हो रहे हैं। अब महन्तजी सोचने लगे कि मेरी आँखों में आँसू क्यों नहीं आते। वे शोक-समुद्र में मग्न हो गये। सोचते-सोचते उन्हें एक उपाय सूझा। दूसरे दिन जब ये कथा सुनने आये तो पिसी हुई लाल-मिर्च छिपाकर साथ लाये और कथा सुनते हुए उन्होंने अपनी आँखों में मिर्च लगा ली फिर मन ही मन अपने ऊपर बहुत रुष्ट हुए। इस बात को किसी सन्त ने जान लिया और कथा के समाप्त होने पर श्रीगदाधरभट्टजी को बता दिया। जब सभी श्रोता चले गये तब श्रीभट्टजी महन्तजी को छाती से लगाकर मिले और रोते हुए पुकार कर बोले-मेरे मन में यदि ऐसी रोने की तीव्र इच्छा प्रकट हो जाती तो मेरा जन्म सफल हो जाता। इस प्रकार कहते-कहते आपके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। उससे महन्तजी भीग गये और उनके हृदय में भी प्रेम प्रकट हो गया।।५२८।।

व्याख्या—महन्त आयौ—श्रीवृन्दावन आदि भगवद् धाम साधुता-सज्जनता की पाठशाला हैं। वहाँ जाकर बड़े-बड़े लोग भी सत्संग करके साधुता को अपनाते हैं। श्रीउद्धवजी जैसे ज्ञानी भक्त वृन्दावनकी पाठशाला में पढ़कर प्रेमी भक्त बन गये। अश्रु न आने से महन्तजी के मन में पश्चात्ताप हुआ। अपने में दोष दिखाई पड़ा कि हम विरक्त और महन्त तो बन गये पर हमारा हृदय कठोर है दूसरे लोग अश्रुपात आदि को देखकर उसे ढोंग समझते हैं। ऐसे लोगों को कथा सुनने से भी यथार्थ लाभ नहीं होता पर महन्तजी ने अपने में त्रुटि का अनुभव किया। तब नेत्रों को दण्डित करने के लिए मिर्च पीस कर लाये। (भा० २-३-२४) में लिखा है कि वह हृदय, हृदय नहीं लोहा है जो भगवन्नाम गुण सुनकर द्रवित नहीं होता। पूरा श्लोक देखिये पूर्वार्द्ध कवित्त ५ की व्याख्या 'जिनके न अश्रुपात' पृष्ठ ३४। अश्मसार कीमती पत्थर का खरल बनता है, उसमें मोती आदि को पीसने पर पिसी वस्तु घटती नहीं है, उसमें चिपकती नहीं

है। ऐसे ही अश्मसार लौह हृदय को कथा स्पर्श नहीं करती है। 'कुलिस कठोर निठुर सो छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती।।' (रा०) दो०—परसा हरिजस सुनत ही स्रवै न जल भरि आँखि। भरि-भरि मूठी धूरि की तिन आँखिन में नाखि।। (नाखि-डालो)। सो०—हरिजस जीवन मूरि, तुलसी सुनत न दृग स्रवैं। तिन नैनन में धूरि, भरि भरि मूठी मेलिये।। महन्तजी खीझे, उन्होंने यह नहीं सोचा कि आँख में कष्ट होगा।

जानिकै जताइ दई—पोटरी खुल गई एक को मिर्च का अनुमान हो गया, जब कथा समाप्त हो गई। सभी श्रोता चले गये तब उसने भट्टजी से कहा—महाराज ! यह महन्त जो आगे बैठे थे दम्भी मालूम पड़ते हैं। मिर्च लगाकर आँसू बहाते हैं। साधारण लोग गुणों में दोष देखते हैं पर जब सन्त के चित्त में दोष, दम्भ है ही नहीं, तब वे दूसरे में कैसे दिखाई पड़ें, मूल छ० के अनुसार भट्टजी 'गुननिकर' थे अतः उन्हें गुण के ही दर्शन हुए। उस व्यक्ति की बात सुनते ही आतुरतापूर्वक महन्तजी के पास पहुँचे। उनके गुण पर रीझ चुके थे अतः उन्हें प्रणिपात करके, छाती से लगाकर रोते हुए चिल्लाकर बोले—आप धन्य हैं और आपका भगवत्प्रेम धन्य है। मुझे भी रोने की ऐसी चाह का वरदान दीजिये। अब तक केवल सन्तों की वाणी में सुनते थे कि जिन नेत्रों में आँसू न आवें वे दण्डनीय हैं पर आपको प्रत्यक्ष इस आदर्श पर चलते देखा। आप सरीखें महापुरुष का दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। अब जब अश्रुपात न होगा तो मैं भी मिर्च लगा लिया करूँगा। सन्त के स्पर्श का और गुणवती वाणी का यह प्रभाव हुआ कि महन्तजी के दोनों नेत्रों से 'चली जल धार' और 'प्रेम आय धीजे हैं।' महन्तजी अविरल प्रेम प्राप्त कर कृतार्थ हुए। जिसके दर्शन और स्पर्श से प्रेम जागृत हो जाय। वे ही सच्चे सन्त हैं।

आयौ एक चोर घर सम्पत्ति बटोरि, गाँठि बाँधी लै मरोरि किहू उठै नाहिं भारी है।
आयकै उठाय दई देखी इन रीति नई, पूछ्यौ नाम प्रीति भई भूलो मैं बिचारी है।।
बोले आप लै पधारौ होत ही सवारौ आवै, और दसगुनी मेरे तेरी यह ज्यारी है।
प्राननि कौं आगें धरौ आनिकै उपाय करौ, रहे समझाय भयौ शिष्य चोरी टारी है।।५२९।।

शब्दार्थ—मरोरि=ऐंठकर, कसकर। ज्यारी=जीविका। टारी=त्यागी।

भावार्थ—एकबार श्रीगदाधरभट्टजी के आश्रम में एक चोर घुस आया और उसने बहुत-सी सम्पत्ति-सामान बटोरकर एक गठरी बाँध ली। परन्तु जब वह गठरी उठाने लगा

तो अधिक-भारी होने के कारण उसे उठा न सका। श्रीभट्टजी देख रहे थे, वे उसके पास आये और उन्होंने गठरी उठवा दी। माल के मालिक की यह नई रीति देखकर चोर को आश्चर्य हुआ। उसने आपका नाम पूछा। तब आपने बता दिया। नाम सुनकर उसके मन में इनके प्रति बड़ा प्रेम हुआ और वह बोला-मुझसे बड़ी भारी भूल हुई, मैं नहीं जानता था कि यह आपका घर है। सिर से गठरी उतारकर वह क्षमा-प्रार्थना करने लगा। तब आपने कहा—आप इस गठरी को ले जाओ। मेरे पास तो सवेरा होते ही इससे दसगुनी सम्पत्ति और आ जावेगी। तुम्हारी तो यही जीविका है। उसने गठरी ले जाने से इन्कार किया तो आपने फिर उसे समझाया—तुम प्राणों को हथेली पर रखकर चोरी का उपाय करते हो अतः अपने परिश्रम का लाभ उठाओ। उसने श्रीभट्टजी के चरण पकड़ लिए और शिष्यता स्वीकार कर ली। चोरी करना छोड़ दिया।।५२९।।

व्याख्या—आयौ एक चोर—वह माँट गाँव का था। उन दिनों माँट गाँव के चोर प्रसिद्ध थे। धन्यवाद के योग्य थे—यथा-धनि-धनि माँट गाँव के चोर। वृन्दावन को यों तकैं जैसे चन्द चकोर।। माँट गाँव से वृन्दावन के मन्दिरों के शिखरों का दर्शन करते थे। शिखर का दर्शन करने से श्रीठाकुरजी के दर्शन का फल मिलता है। वह किसी दूसरी जगह चोरी करने के विचार से आया था परन्तु वहाँ घात न लगी। तब इनके आश्रम के पास आया। ये द्वार को बन्द नहीं करते थे। खुला देखकर भीतर घुस गया और भारी पोटरी बाँधी। भट्टजी नाम जप कर रहे थे। चोर को आया देखकर चुपचाप लेट गये। उसकी चेष्टाओं को देख-देखकर मन में प्रसन्न हो रहे थे कि इसी तरह श्यामसुन्दर गोपियों के घर में घुसकर माखन चुराते हैं। उस पर असन्तुष्ट नहीं हुए, इसलिए कि यहाँ का ठाकुर ही चोर है। हो सकता है कि ठाकुरजी ही आज मेरे यहाँ चोरी की लीला कर रहे हों। चोर से पोटरी नहीं उठी तो आपने उठवा दी। चोर ने 'देखी इन रीति नई' मालिक चोर को पोट उठवा दे, यह नई रीति है। नहीं तो पुरानी रीति यह है कि लोग चोर को पाते ही लाठी-डण्डा, लात-घूंसों से उसकी पूजा करने लग जाते हैं। जो भी आता चार चोटें लगाता है। उसे बाँधकर राजपुरुषों के हवाले कर अधिक से अधिक दण्ड दिलाया जाता है। जब पोट को पटककर वह चरणों में गिर गया तब आपने समझाया कि 'आवैं और दसगुनी' इस सामान को ले जाने से तुम्हारा कम और हमारा अधिक लाभ होगा क्योंकि हम तो कथा वाचक हैं, जब लोग चोरी का समाचार सुनेंगे तो ठाकुरजी के आभूषण वस्त्र और बर्तन आदि दसगुने, पुराने की जगह नये आ जावेंगे। 'तेरी यह ज्यारी है' तुम्हारी यह जीविका है। नहीं ले जाओगे तो तुम्हारा काम-धाम कैसे चलेगा। सबेरा होने

पर दूसरे लोग जानेंगे तो तुम्हें मारेंगे और कैदखाने में बन्द करा देंगे। ऐसा कहकर आपने इसलिए समझाया कि जिससे यह निडर होकर ले जाय। जब नहीं माना तब फिर आपने कहा—

प्राननि कौं आगें धरौ०—किसी भी प्रकार जब वह सामान ले जाने को तैयार न हुआ। तब भट्टजी ने पुनः समझाया कि तुम जो कुछ ले जाते हो वह अपने श्रम के बदले ले जाते हो। सर्वप्रथम तुम अपने प्रिय-प्राणों की बाजी लगाते हो। रात्रि के घने अन्धकार में निद्रा, भय और घर छोड़कर चलते हो। दीवालें फोड़ते हो, छत्तों पर चढ़ते हो, यदि चूक जाओ तो प्राण संकट है। इतना सुनकर उसने इनके चरण पकड़ लिए। तब आपने कहा—'प्राननि कौं आगें धरौ, आनिकै उपाय करौ।' अर्थात् नहीं मानते हो, चोरी छोड़ने को कहते हो और शिष्य बनने के लिए तैयार हो तो अपने प्राण आगे धरौ, प्राणों को भगवदर्पण करो और सन्तों की टहल करके अपने उद्धार का, भगवत्प्रेम प्राप्ति का उपाय करो।। शिष्यता स्वीकार कर उसने भगवत्प्रेम प्राप्त किया। भट्टजी यदि उसे दण्ड देते तो उसका जीवन सुधर नहीं सकता था। क्षमा और प्रेम के द्वारा आपने उसे सुधारा। 'एक घरी आधी घरी.....हरै कोटि अपराध।।' यह वाक्य सत्य हुआ।

चोर सम्पत्ति को चुराता है अतः दुःखद होता है। परन्तु भट्टजी को वह सुखद हुआ। क्योंकि ये भौतिक सम्पत्ति को हरि-भजन में विघ्नकारिणी मानते थे अतः जब चोर चुराने लगा तो इन्हें दुःख न हुआ। आध्यात्मिक सम्पत्ति की चोरी दुःखद होती है, जैसे राजा अम्बरीष की रानी ने सेवा की चोरी की तो राजा को दुःख हुआ। इन्हें चोर दुःखद नहीं हुआ क्योंकि ये सबको सुखद थे। सबके सुखद को दुःख कौन दे सकता है। आपने चोर की चोरी का समर्थन किया। अतः वह प्रभावित हुआ। उपदेश की यह एक शैली है, प्रथम दुर्व्यसनी के व्यसन का समर्थन करना और जब वह प्रभाव में आ जाय तो व्यसन के दोष बताकर, उसकी निन्दा कर व्यसन को छुड़ाना। यदि पहले ही उसके व्यसन की निन्दा कर त्यागने का उसे उपदेश दिया जाय तो वह न उपदेश सुनेगा और न व्यसन त्यागेगा। श्रीगौरांग महाप्रभु अपने परिकर सहित नाम-संकीर्तन का प्रचार करने के लिए ब्रह्मा (वर्मा) को गये। इनके परिकर ने हिंसा और मत्स्य-मांस भोजन को महापाप कहकर उसे सर्वथा छोड़कर श्रीहरिनाम जप और कीर्तन का उपदेश दिया। जिसे सुनकर लोग रुष्ट हो गये और डण्डा लेकर मारने दौड़े। इसके बाद गौरांगदेव ने उनसे कहा—'तुमी माछेर झोल खेये जाओ। हरि-हरि बोले जाओ।' इस प्रकार उपदेश को सभी ने मान लिया। धीरे-धीरे कीर्तन-सत्संग से प्रभावित होने पर उनकी समझ में

आ गया कि मछली खाना पाप है, तब उन्होंने उसे छोड़ दिया। इसी शैली से प्रथम चोरी का समर्थन भट्टजी ने किया और चोर को हरिभक्त बना दिया।

विशेष—हस्तलिखित भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ७१ पर लिखा है कि कुछ दिनों के बाद उस चोर का साथी एक बड़ा चोर उसके पास आया। वृत्तान्त सब पहले ही सुन चुका था। उसने कहा-तुमने भूल की। वे सन्त थे चोरों से शत्रुता करके संकट मोल नहीं लेना चाहते थे अतः जब कहते थे कि ले जाओ, तब तुम्हें सब सामान अपने घर ले आना था। तुम व्यर्थ ही डर गये, चेला बन गये। हम होते तो न तो सामान को छोड़ते, न चेला बनते और न चोरी छोड़ते। इसने उत्तर दिया कि श्रीभट्टजी की छाया पड़ते ही मेरे मन से माया दूर चली गई, उनके रंग में रँग गया। हमारी जगह पर यदि आप होते तो आपका भी यही हाल होता। उसने नहीं माना। आखिर स्वयं श्रीगदाधरभट्टजी के यहाँ चोरी करने जाने के लिए तैयार हो गया। अँधेरी रात में वह भट्टजी के घर में घुसा। सामान की पोटरी बाँधकर उसे सिर पर रखकर चला। पर अब उसे मार्ग दिखाई नहीं पड़ता था। वहीं इधर-उधर भटकता रहा। प्रातः भट्टजी ने उससे पूछा—तुम कौन हो। उसने पूछा-आप कौन हैं। भट्टजी ने अपना नाम बताया। तब उसने सिर से पोटरी उतार कर प्रार्थना करते हुए कहा—महाराज! मैं चोर हूँ आपके यहाँ चोरी करने आया था। सामान लेकर चलने पर अब हमें रास्ता नहीं दिखाई पड़ता है। मैं अन्धा हो गया, आप मेरे ऊपर दया करो। मुझे नेत्र-ज्योति प्रदान करो, मैं आपकी शरण में हूँ। आपके प्रभाव को नहीं जानता था अतः ऐसी भूल हुई। अपनी बात सुनाकर शरण में आने वाले उस चोर पर भी आपने दया की। उसे शिष्य बनाया। उसने भी चोरी करना छोड़ दिया। आपका ऐसा दिव्य प्रभाव था। सन्त किसी की जीविका का नाश नहीं करते। सभी अपने श्रम का उत्तम फल प्राप्त करें, यही चाहते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—अहमद खिजरबियाका—ये एक सूफी सन्त थे। ईश्वर के ध्यान में सदा मग्न रहते थे। इनके पास कभी-कभी धनी-मानी लोग आकर विशेष भेंट चढ़ाते थे, परन्तु आप उसी समय उसे गरीबों को बाँट देते थे। एक चोर ने सोचा कि यह फकीर इतना धन बाँटता है तो इसकी कुटिया में बहुत सम्पत्ति होगी। एक बार अँधेरी रात में वह सन्त की कुटिया में घुसा तो उसे आश्चर्य हुआ कि मिट्टी के दो-एक खाने-पीने के बर्तन एवं फटे-पुराने चीथड़ों के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी न था। निराश होकर चलने लगा, तब सन्त ने पूछा कि—'आप क्यों मेरी कुटिया में आये और बिना कुछ स्वागत-सत्कार स्वीकार किये क्यों वापस जा रहे हैं।' चोर ने सच्ची बात बता दी और कहा कि मेरी यही जीविका है। सन्त

ने कहा—आप यहीं रहिये, प्यास लगी हो तो पानी पीजिये। भूख लगी हो तो रोटी का भी एक टुकड़ा रक्खा है उसे खा लीजिये। मेरे साथ ही ईश्वर का चिन्तन कीजिये। रात बीतने पर कल मुझे जो भी कुछ मिलेगा उसे तुम्हें दे दूँगा। आपको निराश एवं खाली हाथ अपनी कुटिया से वापस न जाने दूँगा। सन्त की बात मानकर वह चोर रात-भर वहीं बैठा नाम जपता रहा। प्रातःकाल किसी धनी भक्त ने एक सौ मुहरें सन्त को भेंट कीं। इन्होंने वे मुहरें उसके सामने रखकर कहा—'यह लो, तुम्हारी की गई उपासना का फल है।' वह चोर अत्यन्त प्रभावित हुआ और बोला—'बड़े खेद की बात है, मैं उस दीन दयालु ईश्वर को भूला हुआ था, जो थोड़ी-सी नाममात्र की उपासना का इतना फल देता है।' उसने मुहरें न लीं। सन्त की शरण ग्रहण कर ईश्वर की अराधना में तल्लीन हो गया। श्रीगदाधरजी ने भी जो भौतिक सम्पत्ति के लोभ से आया था। उसे दिव्य आंध्यात्मिक सम्पत्ति प्रदान की। सत्संग से उसके सारे पाप नष्ट हो गये। वह कृतार्थ हो गया। इस प्रकार दुःखद को भी सुखद हुए। वृक्ष परोपकारी प्रसिद्ध हैं पर यदि गठरी भारी हो जाय, तो उठवाने में समर्थ नहीं हैं। अतः ये सन्त श्रेष्ठ परोपकारी हैं।

प्रभु की टहल निज करनि करत आप, भक्ति कौ प्रताप जानें भागवत गाई है।
देत हुते चौका कोऊ शिष्य बहु भेट ल्यायौ, दूर ही ते देखि दास आयौ सो जनाई है।।
धोबौ हाथ बैठौ आप सुनिकै रिसाय उठे, सेवा ही में चाय वाकौं खीझि समझाई है।
हिये हित रासि जग आस कौं विनास कियौ, पियौ प्रेमरस ताकी बात लै दिखाई है।। ५३०।।

शब्दार्थ—चाय=चाव, रुचि। हित रासि=प्रेम समूह।

भावार्थ—श्रीगदाधरभट्टजी श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ विद्वान् थे अतः सेवा-भक्ति का प्रभाव जैसा भागवत में कहा गया है, उसे भलीभाँति जानते थे। इसलिए भक्त-भगवन्त की सेवा-टहल नित्य आप अपने हाथों से ही करते थे। एकदिन आप मन्दिर में चौका लगा रहे थे। इसी बीच कोई धनी-मानी आपका शिष्य बहुत-सी भेंट लेकर दर्शन करने आया। श्रीभट्टजी के एक शिष्य ने दूर से ही उसे देखकर आपसे कहा—'महाराजजी! आप शीघ्र हाथ धोकर अपने आसन पर बैठ जाइये। भक्त भेंट लेकर आ रहा है।' यह सुनकर आप उसके ऊपर नाराज हो गये। पुनः समझाया कि 'भगवत्-सेवा में ही हमें रुचि है अतः सेवा को त्यागरकर भेंट लेने के लिए गद्दी पर नहीं बैठ सकते हैं।' आपके हृदय में अपार प्रेम एवं प्राणीमात्र के कल्याण की कामना थी। आपने संसार के विषयों की आशा छोड़ दी थी। निरन्तर भगवत्प्रेमामृत का पान करते रहते थे। यह आपके चरित्र में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।। ५३०।।

व्याख्या—निज करनि करत—प्रेमी भक्त अपने प्रियतम की सारी टहल को अपने हाथों से करता है। इसमें उसे अपार सुख का अनुभव होता है। श्रीजानकीजी 'निज कर गृह परिचरचा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।' (रा०) भक्ति का लक्षण भी यही है। यथा-'हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते। (भक्तिरसामृतसिन्धु) इन्द्रियों के समूह से इन्द्रियों के स्वामी की सेवा को भक्ति कहते हैं। पुनः—'हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान्। हृषीकेशस्ततो विष्णुः ख्यातो देवेषु केशव।।' (महाभारत) अर्थ-हृषीक इन्द्रियो कों कहते हैं, आप उनके स्वामी हैं अतः हे केशव ! देवों में आप हृषीकेश नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनके स्वामी भगवान हैं उन इन्द्रियों को जब लौकिक विषय-भोगों में या अन्य की सेवा में लगाया जाता है तब अपराध होता है। इसलिए भट्टजी सन्त-भगवन्त की सेवा में स्वाभाविक रूप से लगे रहते थे। दूसरे आप श्रीभागवतजी के मर्मज्ञ थे, उसमें सेवा की महिमा का वर्णन है। रहस्य को जानकर तदनुरूप आचरण न करना भी अपराध है।

भागवत गाई है—देवानां गुणलिंगानामानुश्रविक कर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।। अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।। (भा० ३-२५-३२-३३) अर्थ—भगवान श्रीकपिलदेव ने कहा—हे माता! जिसका चित्त एकमात्र भगवान में लग गया है, ऐसे मनुष्य की वेदविहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान कराने वाली कर्म एवं ज्ञान दोनों प्रकार की इन्द्रियों की सत्वमूर्ति श्रीहरि के प्रति जो स्वाभाविकी प्रवृति है, वही भगवान की अहैतुकी भक्ति है। तात्पर्य यह कि सात्त्विक पुरुष जो नेत्रों से हरि के रूप को देखता है और कानों से जो श्रीहरि के सुयश को सुनता है और हाथों से जो सेवा करता है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों की वृत्ति जब हरि सम्बन्धिनी हो तो उसे भक्ति कहते हैं। यह मुक्ति से भी श्रेष्ठ है क्योंकि जठराग्नि जिस प्रकार खाये हुए अन्न को पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्म-संस्कारों के भण्डार रूप लिंग-शरीर को तत्काल भस्म कर देती है। यहाँ यह शंका होती है कि लिंग-शरीर का नाश तो मोक्ष में भी हो जाता है, वही भक्ति में भी यदि हुआ तो भक्ति और मुक्ति दोनों तुल्य हुईं, फिर भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ कैसे कहा—समाधान के लिए दृष्टान्त देते हैं कि भोजन किया हुआ अन्न जैसे जठराग्नि पचाता है। जठराग्नि अन्न के सारांश से शरीर का पोषण करता है। असार अंश को मल बनाकर गिरा देता है, उसी प्रकार भक्तिदेवी सार जो गुणातीत लिंग शरीर उसकी रक्षा करती है। असार जो माया गुण का लिंग शरीर उसे जला देती है। मुक्ति में दोनों का नाश हो जाता है इसलिए मोक्ष से भक्ति श्रेष्ठ कही गई है। पुनः नवम

स्कन्ध अ० ४ श्लोक १८ से २० तक श्रीअम्बरीषजी की भक्ति का वर्णन है। वे मन श्रीचरणों में, वाणी गुणगान में, हाथ मन्दिर में, चौका, झाड़ू आदि में तथा कान भगवत्कथा श्रवण में लगाये रहते थे। इसी तरह सभी इन्द्रियों से भगवत्सम्बन्धी कार्य करते थे। इसी प्रकार श्रीगदाधरभट्टजी भी इन्द्रियों से निकुंज-महल की टहल करते थे।

देत हुते चौका०—शिष्य सेवकों के रहते हुए भी नित्य अपने शरीर से सेवा करते थे। मन-वाणी और शरीर तीनों से सेवा का उपदेश देते थे और स्वयं भी करते थे। 'बहु भेट ल्यायौ'—शिष्यों ने देखा कि बड़ा आदमी है, वस्त्र, धन आदि ला रहा है तो आकर आपसे कहा—महाराज ! आप हाथ धोकर चौकी पर बैठ जाइये। माला-झोरी ले लीजिये और दुपट्टा ओढ़ लीजिये। 'सुनिकै रिसाय'—आपने ऊपरी क्रोध दिखाया, जिसके प्रभाव से शिक्षा मान लें। भक्तों को सेवा में त्रुटि देखकर जो रिस आती है वह ठीक है, भोग समय से क्यों नहीं लगाया, दाल में रामरस डालना क्यों भूल गये। शिक्षा के लिए यह क्रोध चाहिए। 'सेवा ही में चाय०'—आपने समझाया कि-हम सेवा क्यों छोड़ें, कोई भेंट दे या न दे पर हम सेवा को नहीं छोड़ सकते। जो यह दर्शन करने और भेंट देने आ रहा है, यह भगवत्सेवा का ही प्रभाव है। अन्यथा कितने ब्राह्मण शूद्रों की धोती धोते हैं उन्हें कोई भेंट-पूजा देने नहीं जाता है। सेवा से भुक्ति, मुक्ति और सबसे दुर्लभ भक्ति प्राप्त हो जाती है। सेवा में ऐसी निष्ठा थी अतः—

हिये हित रासि०—आपके हृदय में हित=प्रेम की राशि थी और हितराशि=श्रीकृष्ण आपके हृदय में विराजमान थे। जहाँ प्रभु और उनका प्रेम दोनों होंगे उसमें महान् आत्मबल होगा। हित=नाता, भगवान से सभी का नाता है अतः ये सभी का आदर करते थे। हिये हित रासि होने के कारण आपने 'जग आस कों विनास कियौ' जिसके पास हीरों का ढेर है, वह काँच के टुकड़ों को क्यों ढूंढ़ेगा। भगवान में जिसका मन रहेगा वह संसार की आशा नहीं करेगा। संसार की यदि आशा है, तो मन प्रभु में नहीं लग सकता।

आशा जाकी जहँ बसी, तहँ ताही को वास।। (भग०)
जग आस किये जगदास बनै, तिनको ममता झकझोरि बहावै।
नर आस करै जबलौं जग की, तबलौं हरि को नहिं दास कहावै।।
बस आस परै नर संसृति में, मन को तन को दुख आस सहावै।
जग आस किये दुख द्वन्द्व सहै, हरि आस किये सुख सिन्धु नहावै।।

संसार की आशा छोड़कर जब प्रभु की आशा की तब 'पियौ प्रेमरस'। जिसे प्रेमरस का पान करना हो वह श्रीराधा-मदनमोहन की आशा करे।

पुनः— मोर दास कहाय नर आसा। करै तो कहौ कहाँ विश्वासा।। (रा०)
सीताराम सुजान तजि करै और को जाप। ताके मुख में दीजिये नौसादर को बाप।।

विशेष—श्रीगदाधरभट्टजी का मूल निवास स्थान आंध्र प्रदेश में हनुमानपुर ग्राम था। ये आङ्गिरस, भार्म्याश्व, मौद्गल्य इन तीनों प्रवरों से युक्त मौद्गल्य गोत्रोत्पन्न तैत्तरीय आप स्तम्व शाखाध्यायी कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे, इनके पूर्व पुरुष एवं माता-पिता का नाम अज्ञात है। श्रीभट्टजी के समय का अनुमान उनके वृन्दावनागमन से ही लगाया जा सकता है। श्रीजीवगोस्वामीजी का वृन्दावनागमन काल वि० सं० १५९० के आस-पास है। श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी का गोलोकवास वि० सं० १६११ माना जाता है, अतः वि० सं० १५९० से १६११ वि० सं० के मध्य ही आप वृन्दावन आये। अनुमानतः उस समय उनकी अवस्था २५ या ३० वर्ष की रही होगी। इस प्रकार आपका जन्मकाल वि० १५६० हो सकता है। ये अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत एवं हिन्दी (ब्रजभाषा) के प्रकाण्ड पण्डित एवं श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के सरस वक्ता थे। इसीसे भट्ट पद से अवबोधित हुए। यद्यपि वृन्दावन आने से पूर्व का कोई वृत्त उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि आप पूर्व संचित भक्ति के विशिष्ट संस्कारों से सम्पन्न थे। श्रीमद्भागवत के रसज्ञ-मर्मज्ञ थे अतः ब्रज-वृन्दावन एवं श्रीराधाकृष्ण में आपकी अनन्या-भक्ति थी और वृन्दावन रस-रसिकों का मधुर सत्संग आपको घर पर ही प्राप्त था। आप गोपी भाव में विभोर होकर संस्कृत एवं ब्रजभाषा में अनन्त पदों का कीर्तन कर प्रेम की वर्षा करते थे। निरन्तर उसी रस में निमग्न रहते थे। वृन्दावन के रसिक सन्त वृन्दावन से आपके पास जाते-आते रहते थे। तभी 'श्याम रंग रंगी' यह पद किसी रसिक के श्रीमुख से श्रीजीव-गोस्वामीजी ने सुना और इन्हें वृन्दावन बुला लिया।

श्रीगोस्वामी श्रीनाभाजी ने अपने छप्पय में इनके जीवन की झाँकी तथा चरित्रगत विशेषताओं की झलक दिखाई है। साथ ही उनके अन्तः और बाह्य दोनों पार्श्वों का रेखांकन किया है। इसके अतिरिक्त श्रीध्रुवदासजी, श्रीनागरीदासजी आदि भक्त-कवियों ने भी इनके समुज्जवल चरित्र, उत्कृष्ट भक्ति-भावना, वाणी की मधुरता एवं श्रीमद्भागवत कथाशैली की प्रशंसा की है। श्रीभट्टजी के द्वारा रचित एक शतक के लगभग फुटकर पद मिलते हैं। संस्कृतनिष्ठ कोमलकान्त पदावली के साथ ब्रजभाषा का सौष्ठव आपके पदों की

विशेषता है। आपकी रचनाओं में सभी भाव प्रधान हैं। मन्दिरों, उत्सवों एवं रासलीलाओं में आपके पदों का गान होता है।

श्रीगदाधरभट्टजी के सेव्य ठाकुर श्रीमदनमोहनजी हैं, जिनका पाटोत्सव माघ शुक्ल ५ (वसन्त पंचमी) को होता है। इसी दिन यह श्रीविग्रह आपको यमुना-पुलिन रेणुका से प्राप्त हुआ था। यह श्रीविग्रह श्रीवृन्दावनस्थ अठखम्भा मुहल्ला स्थित श्रीगदाधरभट्ट गोस्वामी पीठ (श्रीमदनमोहनजी के मन्दिर) में विराजमान हैं। श्रीभट्टजी के वंशज सेवा करते हैं। श्रीभट्टजी की चरणपादुका, उनके समय वि० सं० १६०७ की श्रीमद्भागवत आज भी उक्त मन्दिर में दर्शनीय है। श्रीवृन्दावन आने के बाद फिर कभी आप जन्मभूमि को नहीं गये। परन्तु इनके परिवार के लोग वृन्दावन में आ गये। श्रीगदाधरभट्टजी के दो पुत्र हुए। १-वल्लभरसिकजी। ये महान् सन्त यथा-नाम तथा गुण वाले हुए। इनके भाषा छन्दों में बहुत से पद हैं। जो बड़े ही मार्मिक हैं। २-श्रीयदुपति भट्टजी, इनका उपनाम रसिकोत्तंस था। ये संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में छन्दोवद्ध 'प्रेमपत्तनम्' नामक मनोहर एवं सरस ग्रन्थ की रचना की। इसी वंश में श्रीगोवर्धन भट्टजी संस्कृत के महान् विद्वान् हुए इनके द्वारा रचित मधुकेलिवल्ली, रूप-सनातन स्तोत्र और राधाकुण्डस्तव प्रसिद्ध हैं।

श्रीगदाधरभट्टजी की वाणी—हरिनाम महिमा—

है हरि ते हरिनाम बड़ेरो, ताको मूढ करत कत झेरौ।
प्रगट दरश मुचुकुन्दहिं दीन्हों, ताहू आयसु भो तप केरौ।।
सुत हित नाम अजामिल लीनों, या भव में न कियो फिरि फेरौ।
पर अपवाद स्वाद जिय राच्यौ, वृथा करत बकवाद घनेरौ।।
ताको दसयों अंश 'गदाधर', हरि हरि कहत जात कहा तेरौ।।१।।

युगलवर आवत हैं गँठ जोरें।
संग शोभित वृषभानु-नन्दिनी, ललितादिक तृण तोरें।।
सीस सेहरौ बन्यौ लालकें, निरखि हँसत मुख मोरें।
निरखि-निरखि बलि जाय गदाधर, छबि न बढ़ी कछु थोरें।।२।।

दिन दूलह मेरो कुंवर कन्हैया।
नितप्रति सखा सिंगार सम्हारत, नित आरती उतारति मैया।।
नितप्रति गीत वादित्र मंगल धुनि, नित सुर मुनिवर विरद कहैया।
सिर पर श्रीब्रजराज विराजत, तैसेई ढिंग बलनिधि बल भैया।।
नितप्रति रास-विलास व्याह विधि, नित सुर तिय सुमननि बरसैया।
नित नव-नव आनन्द वारि निधि, नितहिं गदाधर लेत बलैया।।३।।

* चारण भक्त *

चरण शरण चारण भगत हरि गायक एता हुआ।।
चौमुख चौरा चण्ड जगत ईश्वर गुण जाने।
करमानन्द अरु कोल्ह अल्ह अक्षर परवाने।।
माधौ मथुरा मध्य साधु जीवानन्द सीवा।
दूदा नारायणदास नाम माड़न नत ग्रीवा।।
चौरासी रूपक चतुर बरनत बानी ज्यों जुवा।
चरण शरण चारण भगत हरि गायक एता हुआ।।१३९।।

शब्दार्थ—चारण=यश गायक, भाट, कथक। एता=इतने। परवानै=प्रामाणिक। नत ग्रीवा=नम्र। रूपक=दृश्य काव्य, जो नाटक द्वारा खेला जा सके। वह अलंकार जिसमें प्रकृत विषय को न छिपाकर उपमेय में उपमान का आरोप होता है। ज्यों जुवा=अलग-अलग।

भावार्थ—भगवान के चरण-कमलों की शरण ग्रहण करने वाले और उन्हीं के गुणों को गाने वाले तेरह चारण भक्त हुए। श्रीचौमुखजी, श्रीचौराजी, श्रीचण्डजी, जगत् में भगवद् गुण गाने वाले श्रीईश्वरदासजी, श्रीकरमानन्दजी, श्रीकोल्हजी, प्रामाणिक काव्य रचने वाले श्रीअल्हजी, मथुरा में रहने वाले श्रीमाधवजी, सरल सन्त श्रीजीवानन्दजी, श्रीसीवांजी, श्रीदूदाजी, श्रीनारायणदासजी और नम्र स्वभाव वाले श्रीमांडनजी! ये सभी चारण भक्त चौरासी रूपकों की रचना में तथा अनेक प्रकार से हरिगुण गान में परम चतुर हुए।।१३९।।

व्याख्या—चरण-चरन्तीति चरणाः=पैर, पाद, चलना-फिरना। चरणों के द्वारा ही प्रभु भक्त के पास पहुँचते हैं इन्हीं का आश्रय लेकर भक्त भगवान को पाता है, अतः भगवान के श्रीचरण-कमलों की महा-महिमा है, अमित प्रभाव है अतः वन्दनीय हैं। यथा-'चरण-कमल वन्दौ हरिराई (सूरदास) ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्ट दोहं, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।। (भा० ११.५.३३)

अर्थ—हे महापुरुष ! आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने योग्य, माया-मोह के कारण होने वाले सांसारिक पराजयों का अन्त कर देने वाले तथा भक्तों की समस्त अभीष्ट वस्तुओं का दान करने वाले कामधेनु स्वरूप हैं। वे तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाले स्वयं परमतीर्थ स्वरूप हैं। शिव-ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरण में आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवक की समस्त आर्त और विपत्ति के नाशक तथा संसार-सागर से पार जाने के लिए जहाज हैं। मैं उन्हीं की वन्दना करता हूँ। (भा० ११.५.४२) में वर्णन है कि जो प्रेमी भक्त अनन्य भाव से भगवान के चरण-कमलों का भजन करता है, उससे पाप नहीं होते हैं, परन्तु यदि किसी प्रकार कभी हो भी ज़ायँ तो भगवान उसके हृदय में बैठकर पापों को धोकर बहा देते हैं, उसके हृदय को शुद्ध कर देते हैं। इसीलिए भक्त कहते हैं कि—'जाउँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे।' (विनय) शरण में जाते समय श्रीविभीषणजी मनोरथ करते हैं। यथा—

देखिहउँ जाइ चरण जल जाता। अरुण मृदुल सेवक सुख दाता।।
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दण्डक कानन पावन कारी।।
जे पद जनक सुता उर लाये। कपट कुरंग संग धरि धाये।।
हर उर सर सरोज पद जेई अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई।
जिन पायन्ह की पादुकन्ह भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु विलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ।।

श्रीचरणों के सम्बन्ध से ही चरण-चिन्हों की महिमा है। यथा—'चरण-चिन्ह रघुवीर के सन्तनि सदा सहायका।' (भक्तमाल छ० ६) चरण रज-'रामचरण मकरन्द रहति मनसा मदमाती।' श्रीबावनजी (छ० १२६), चरणों में अनन्य दासत्व—'कोसलेश पद कमल अननि दासत व्रत लीनौ।' (छ० १३०) चिन्तनीय चरण-'मुकुन्द चरण चिन्तवन भक्ति महिमा ध्वज धारी।' (श्रीरत्नावतीजी छ० १४२) भक्त हृदय में 'युगल चरण उर जगमगत।' (रामदासजी छ० १९६)

शरण—'शरणं गृह रक्षितोः' अमरकोश के इस कथन के अनुसार शरण का अर्थ है गृह या रक्षक। बोल-चाल में शरण शब्द का प्रयोग 'रक्षा, आड़, ओट, आश्रयस्थल, घर, रक्षक' आदि अर्थों में किया जाता है। साधना के क्षेत्र में इसका प्रयोग भगवान को अपने आश्रय, अपने रक्षक, अपने एकमात्र उपाय के रूप में स्वीकार करने की दृष्टि से किया जाता है। शरण का व्युत्पत्तिगत अर्थ है। 'शृणाति दुखं अनेन' अर्थात् जो दुःख को नष्टकर दे वह शरण है। 'शरणागति' शरण+आगति=आ जाना, लौट जाना। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि जीव तो प्रभु का है ही, उन्हीं के आश्रित था। ना-समझी या अविद्या के कारण भटक कर अन्याश्रय में चला गया अब फिर अपने रक्षक के आश्रय में चला आया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि की विनती उक्ति है—

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वैं वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षु वैं शरणमहं प्रपद्ये।। (६।१८)

अर्थ—जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसे समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्मज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में जाता हूँ। बाल्मीकि रामायण के अनुसार 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार एक बार भी कहने वाले को श्रीराम सभी भयों से निर्भय कर देते हैं। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृ० २२१। द्वितीयखण्ड ५६२। तृतीयखण्ड ४८९ पृष्ठ। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सर्व गुह्यतम यह उपदेश दिया—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गी० १८।६६)

अर्थ—सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आजा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा शोक मत कर।। शरणागति मार्ग का ही दूसरा नाम 'प्रपत्ति' है। प्रपत्ति शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक पद् धातु में ति प्रत्यय के योग से बना है। पद् धातु का प्रयोग, जाना, चलना, पहुँचना, प्राप्त करना आदि अर्थों में होता है। प्रपत्ति शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है प्रकृष्ट रूप से किसी के पास जाना या किसी को प्राप्त करना। पारिभाषिक अर्थ है। प्रकृष्ट रूप से भगवान की शरण में पहुँचना। नारद-पंचरात्र भारद्वाज संहिता में लिखा है—

> निश्चितेऽनन्य साध्यस्य परत्रेऽष्टस्य साधने।
> अयमात्मभरन्यासः प्रपत्तिरिति चोच्यते।। (ना०)

अनन्य साध्य प्रभु प्राप्ति के लिए प्रभु को ही साधन के रूप में ग्रहण कर उनके प्रति आत्म-भर न्यास सम्पूर्ण आत्म-समर्पण को प्रपत्ति कहते हैं, वरवरमुनि प्रपत्ति और शरणागति को एक मानते हैं। यथा-'प्रपत्तिर्नाम भगवच्छरणवरणम्।' भरताचार्य भी यही कहते हैं—

अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वास पूर्वकम्।
तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।।

अर्थात् अन्य किसी उपाय से अभीष्ट श्रीहरि की प्राप्ति सिद्ध न होते देखकर महा विश्वासपूर्वक भगवान से ही अपना उपाय बनने की याचना करना ही प्रपत्ति या शरणागति है।

चारण—इस जाति के लोग राजस्थान में अधिक पाये जाते हैं। राजाओं के दरबार में सामयिक कविताओं को सुनाकर जीविका चलाते हैं। इनमें बड़े-बड़े कवि तथा वीर हुए। राज-सभाओं में इनका आदर होता है। युद्ध में भी कविताओं को पढ़कर वीरों में जोश भरने की कला इनमें होती है। हरिगायक राजाओं के साथ रहने से राजसी स्वभाव तथा सम्मान पाकर प्रायः रजोगुणी हो जाते हैं पर ये चारण भक्त हरि यश के गायक हुए, यह विशेषता है। श्रीराघवदास कृत भक्तमाल छ० ६९८ में लिखा है कि-'चारण घर-घर कवि घणा इतना तो हरि कवि हुआ।' उन्होंने १५ चारण भक्तों का उल्लेख किया है। अचलदासजी और सायाँ ये दो नाम अधिक हैं।

चौरासी रूपक चतुर०—१—ये चारण भक्त रूपक=दृश्य काव्य के चौरासी प्रकारों का वर्णन करने में चतुर थे। २-चौरासी=चौरासी लाख योनियाँ, इनका रूपक अर्थात् नाटक उसके वर्णन में चतुर थे। चौरासी लाख योनियों में जीव कैसे-कैसे दुःख-सुख भोगता है और बार-बार इन योनियों में क्यों जाता है तथा इनसे कैसे छुटकारा मिलता है। इस छप्पय में आये चारण भक्तों ने इसका वर्णन किया। जीव एक नट के समान है, चौरासी योनियों में जाना वहाँ विविध कर्म करना नाटक दिखाना है। उसे देखकर प्रभु जब प्रसन्न हो जाते हैं तब चौरासी के चक्र से मुक्त कर देते हैं। अन्यथा वह इस चक्र में घूमता ही रहता है। इस पर—

दृष्टान्त—सूर और एक सराय—एक सराय थी, जिसमें ८४ कमरे थे और उनमें से बाहर निकलने का दरवाजा एक में था। उसमें एक अंधे सूरदासजी ठहरे। जब बाहर निकलने के लिए दीवाल टटोलते हुए दरवाजे के सामने आये तो भाग्यवश उनका सिर खुजाने लगा। दरवाजा छूट गया। इस प्रकार वे भटकते ही रहे। दार्ष्टान्त में चौरासी कमरे योनियाँ हैं, अंधा

जीव है। बाहर निकलने का मार्ग मनुष्य योनि है। इसमें आकर यदि चूक गया तो पुनः चौरासी में भटकता है। 'बरनत बानी जू जुवा' जू जुवा=अलग-अलग। कुछ विद्वान् लोग-'ज्यौं जुवा' पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि जुवारी लोभ में गांठ के हजारों रुपये हार जाता है, वैसे ही जीव विषय-भोगों के लोभ में मानव जीवन नष्ट कर देता है। इस आशय का वर्णन इन भक्तों ने किया। नाम-गुण-कीर्तन भक्ति की आराधना की।

हरि गायक एता हुआ—इस छप्पय में वर्णित सभी चारण भक्तों ने रचनायें की हैं। उनमें श्रीकरमानन्दजी के दोहे, श्रीअल्हजी के छप्पय, कवित्त, श्रीमाधोदासजी का रामरासो, श्रीनारायणदासजी का गजमोक्ष और मांडन के रूपक प्रसिद्ध हैं, प्राप्त भी हैं, सबसे अधिक रचनायें श्रीईश्वरदासजी की हैं। उनमें हरिरस मुख्य है। इसके अतिरिक्त गरुड़ पुराण, बाललीला, गुण भगवन्त, गुण आगम, निन्दा-स्तुति, देवीयाण, वैराठ, रासकेलास सवापावो, हरजीरा, हजार नाम आदि कुछ फुटकर रचनायें भी हैं।

इस छप्पय में आये तेरह भक्तों में से श्रीप्रियादासजी ने दो तीन भक्तों का चरित्र लिखा। शेष भक्तों की भक्ति का इसीसे अनुमान कर लेना चाहिए। पात्र में से केवल एक चावल देखा जाता है शेष का अनुमान हो जाता है इसी प्रकार समझना चाहिए कि सभी कीर्तन-सेवा आदि निष्ठाओं में परिपक्व महान् भक्त थे। इस पर—

दृष्टान्त—सौ सियाने एक निसाने—एक राजा के बुद्धिमान मन्त्री ने किसी दिन वार्ता-प्रसंगवश राजा के सामने कहा—'सौ सियाने एक निसाने। सौ अयाने सौ निसाने।।' राजा को विश्वास नहीं हो रहा था अतः मन्त्री ने राजा के सामने सौ सयाने बुलाकर उपस्थित किये और कहा कि आप इनकी परीक्षा कर लीजिये। इन सबका लक्ष्य एक है। राजा ने सोच-विचारकर सयानों को आदेश दिया कि घुड़सार के निकट जो हौदी है, उसमें आप सब एक-एक घड़ा दूध प्रातः अन्धेरे में ही डाल जाइये। स्वीकार करके सभी अपने-अपने घर गये और उन्होंने सोचा, दूध है नहीं, किसी ने सोचा पैसा नहीं है। किसी ने सोचा कि दूध डालना व्यर्थ है अतः मैं एक घड़ा पानी डाल आऊँ। निन्नानवें दूध डालेंगे तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इसी तरह सबने सोचा और सभी एक-एक घड़ा पानी डाल गये। यथा-समय राजा मंत्री के साथ निरीक्षण करने आया तो देखा कि पानी ही पानी है। बुलाकर पूछा और उनका सच्चा उत्तर सुनकर मंत्री की बात को सत्य माना और इनाम दिया। यहाँ चरण-शरण और हरिगायन सबका एक ही लक्ष्य था।

श्रीचौमुखजी—इनका दूसरा नाम चौमौ था। भक्तमाल ब्रह्मदास प्रथम १३ में लिखा है—

करड़े मचकूंर चले कवि चौमौ जात मुरार हजूर जठै।
रथ वासण झूर रयौ विचरोई तूट थयौ महमूर तठै।।
धरियौ कँध दूर हुवे जद धंमल दीध मरोरथ पूर दरै।
ग्रहिया व्रिद लाज उवारण ग्रायक काज इसा महराज करै।।

अर्थात् श्रीचौमुखजी अपने नगर से बैलों के रथ पर सवार होकर दर्शनार्थ द्वारकापुरी को जा रहे थे। चलते-चलते रास्ते में जंगल के मध्य एक बैल मर गया। अब एक से रथ कैसे चले। मन में चिन्तित हुए तब उसी क्षण एक बैल आपके रथ के पास आकर खड़ा हो गया। तब आप उसे रथ में जोतकर सानन्द द्वारका आये। यहाँ आते ही वह बैल अन्तर्धान हो गया। तब इन्हें बड़ा दुःख हुआ। भगवान स्वयं बैल बनकर रथ में जुते। यह सोच-सोचकर भगवान की वत्सलता पर न्यौछावर होते थे। इन्हें अधिक चिन्तित देखकर भगवान ने इन्हें स्वप्न में दर्शन देकर इन्हें आश्वासन देकर धैर्य धारण कराया और कहा—कि यदि मैं अपने भक्त पर इतना वात्सल्य न करूँ तो फिर मेरा भजन कौन करे। श्रीराघवदासजी कृत भक्तमाल में लिखा है कि आप एकदिन प्रभु की स्तुति कर रहे थे। आपके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। आपको अपने शरीर की सुधि न थी। उसी समय राजा का नौकर आपको बुलाने आया। किन्तु भगवान की स्तुति छोड़कर आप उसके साथ नहीं आये। इससे राजा रुष्ट हो गया। आप स्तुति-पूजा समाप्त करके राजसभा में गये तो राजा ने इन्हें फटकार कर सभा के बाहर निकाल दिया। यह प्रभु को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने रात को स्वप्न में राजा से कहा—चौमुख की भक्ति से हम प्रसन्न हैं, वह हमें बहुत प्रिय लगता है। तुम आज प्रातःकाल उसे अपने दरबार में बुला लेना और सत्कार करना। नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। भगवान की आज्ञानुसार राजा ने श्रीचौमुखजी को बुलाकर क्षमा-प्रार्थना करके उनका सत्कार किया और इच्छानुसार भजन-पूजन के बाद दरबार में दर्शन देने की प्रार्थना की। उक्त प्रसंग भक्तदामगुणचित्रणी पृष्ठ ७२ पर अंकित है।

श्रीचण्डजी—इनका पूरा नाम चूंड़ाजी भी था। ये इसी छप्पय में आये श्रीमाधवदासजी के पिता थे। ये मेड़ता के ठाकुर श्रीचारभुजा के अनन्य भक्त थे। इनकी भक्ति के प्रभाव से ही इन्हें माधवदास सरीखे भक्त-पुत्र की प्राप्ति हुई।

श्रीईश्वरदासजी—ये रोहड़िया शाखा के चारण थे। इनका जन्म जोधपुर राज्य में भाद्रेस गाँव में वि० सं० १५९५ में हुआ था। आपके जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—'पन्द्रह सौ पंचानबे जनम्या ईसरदास। चारण वर्ण चकार में उस दिन भयौ उजास॥'

पिता का नाम सूजा और माता का नाम अमरबाई था। धर्मपत्नी देवलबाई की असामयिक मृत्यु हो गई। इनके गुरु श्रीपीताम्बरजी भट्ट थे। जामनगर में पेथा भाई अबसूरा की पुत्री राजबाई के साथ दूसरा ब्याह हुआ। पहले ईश्वरदासजी राजाओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी कीर्तिका गान किया करते थे। जामनगर में जाकर वहाँ के राजा को भी आपने कवितायें सुनाईं। उत्तम कविता थी अतः राजा बहुत प्रसन्न हुआ। परन्तु श्रीपीताम्बरजी भट्ट इनकी कविता सुनकर बहुत उदास हुए। उन्होंने प्रशंसा भी नहीं की अतः ईश्वरदासजी के मन में भट्टजी के प्रति द्वेष उत्पन्न हुआ और ये बदला लेने (मारने) की इच्छा से रात में पीताम्बरभट्ट के यहाँ गये और छिपकर बैठ गये। भट्टजी अपनी पत्नी से वार्तालाप कर रहे थे। उसे ईश्वरदासजी सुन रहे थे। उनकी पत्नी ने पूछा कि आप उदास क्यों हैं? उन्होंने कहा—'आज एक चारण दरबार में आया, उसकी सुन्दर कविता सुनकर मेरा मन खिन्न हो गया।' स्त्री ने फिर पूछा कि सुन्दर कविता सुनकर तो आपको प्रसन्न होना चाहिए फिर आप खिन्न क्यों हो गये? तब भट्टजी ने कहा कि इतनी विशिष्ट काव्य रचने की प्रतिभा पाकर उसने राजा के गुण गाकर उसे प्रसन्न किया और धन-मान पाकर फूल गया। क्या अच्छा होता कि यदि वह अपनी कविता के द्वारा ईश्वर की कीर्ति को गाकर उन्हें प्रसन्न करता तो उसे जीवन-जन्म का परम-लाभ मिल जाता। इतना सुनते ही हथियार फेंककर ईश्वरदास प्रकट हो गये और भट्टजी के चरणों में गिर गये, रोने लगे और अपनी दुष्ट-भावना को प्रकट कर बारम्बार क्षमा-याचना करने लगे। उसी समय भट्टजी को गुरु मानकर उनके शिष्य बन गये और प्रतिज्ञा की कि 'अब मैं केवल ईश्वर के गुणों का ही गान किया करूँगा। किसी अन्य का नहीं।' तभी से आप भक्त हो गये। इस प्रतिज्ञा से राज-सभाओं में भी आपका विशेष आदर हुआ। सर्वत्र आप हरियश का गान कर दूसरों को तथा अपने को भी कृतार्थ करते थे। ये लगभग बीस वर्ष की आयु में सं० १६१५ में जामनगर पहुँचे। वहाँ के रावल जाम ने संचणो आदि कई गाँव इन्हें भेंट में दिये। लगभग छः वर्ष जामनगर में निवास करने के बाद पुनः अपने गाँव भाद्रेस में आ गये। वहीं रमणीय नदी के तट पर एकान्त में कुटी बनाकर भजन करने लगे। ये भजनानन्दी, प्रतापी सिद्ध सन्त हुए।

एकबार ये द्वारकाधीश का दर्शन करने के लिए चले। साथ में आपके चाचा आसवदास (आशानन्दी) भी थे। चलते-चलते एक जगह जंगल में सुन्दर सरोवर देखकर वहीं स्नान और भजन-पूजन हुआ। उसके बाद आपने अग्नि चेतायी और उसके ऊपर पात्र में पानी चढ़ा दिया। चाचा आशानन्दजी ने कहा—यहाँ दाल, चावल आदि कुछ भी सामान नहीं है, फिर भी आपने व्यर्थ ही आग पर पानी चढ़ा दिया। श्रीईश्वरदासजीने उत्तर दिया—'ईश भरोसे ऊकले आँधन ईसरदास। ऊकलता में ऊरसी रख वन्दा विश्वास।।' अर्थात् ईश्वर के भरोसे पानी खौल रहा है, ईश्वरदास को विश्वास है कि खौलते हुए जल में प्रभु (दाल, चावल आदि) कुछ डालेंगे। आपका विश्वास फलीभूत हुआ, उसी समय एक बंजारे के वेष में आकर प्रभु ने सब सामान दिया। भोजन बना और भोग लगा तब पुनः एक सन्त के रूप में भगवान ने आकर साथ-साथ भोजन किया। जब आप द्वारकापुरी में श्रीद्वारकाधीशजी का दर्शन करने गये तो उस समय परदा पड़ा हुआ था। आप दर्शनों के लिए लालायित थे अतः बोले—'कह ईसर रे ईसरा खोल पड़द्दा यार। मैं आया तुझ कारने दिखला दे दिद्दार।।' सख्य रसावेश की प्रिय भाषा सुनकर बिना पुजारी के खोले ही परदा खुल गया। चकितचित्त पुजारियों ने बाहर आकर देखा तो जान लिया कि भक्तवर ईश्वरदास के लिए ही अनवसर में स्वयं प्रभु ने परदा खोल दिया है।

भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ७२ पर आपका एक और चरित्र लिखा है—एक बार आप दर्शनार्थ द्वारकापुरी गये। प्रेमोन्मत्त होकर आपने विविध छन्दों को गाकर प्रभु की स्तुति की। भगवान की अद्भुत छवि देखकर इनके मन में साक्षात् प्रभु के दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा जगी। नहीं रहा गया तब आप समुद्र में कूद पड़े। पर थल की तरह जल में इतस्ततः रोते-गाते घूमते रहे। न तो आप डूबे न किसी जीव-जन्तु ने ही पकड़ा और न दर्शन ही हुए। तब भगवत्प्रेरणा से आप बाहर निकल आये और श्रीद्वारकाधीश के द्वार पर अनशन व्रत लेकर बैठ गये। तीसरे दिन आपको आकाशवाणी सुनायी पड़ी। प्रभु ने कहा हम तो तुम्हारे प्रेम के अधीन हैं, अतः तुम कष्ट न सहकर घर को जाओ और सन्त-सेवा के निमित्त तुमने जो धन का संग्रह किया है, उसे सन्त-सेवा में लगा दो। उसके बाद घर पर ही मैं तुम्हें दर्शन दूँगा। प्रातःकाल मैं तुम्हें अपनी प्रसादी-माला दिलाऊँगा। आज्ञा पाकर आपने अनशन त्यागकर प्रसाद लिया। प्रातःकाल भगवान ने पण्डाजी को आज्ञा दी, तब पण्डाजी ने माला-प्रसादी ईश्वरदास

को प्रदान की। इसके बाद आप घर आये और बड़े प्रेम से आपने महोत्सव आरम्भ किया। संग्रहीत धन के अतिरिक्त और भी बहुत-सा धन लगा कर आपने सन्त-सेवा की। विदाई करते समय आपके साथ में प्रत्यक्ष प्रभु, सन्तों का सत्कार कर रहे थे। ये बीच-बीच में प्रभु-दर्शन से विभोर होकर सुधि-बुधि खो बैठते। तब भगवान इन्हें सचेत करके कर्तव्य का निर्देश देते। इसके बाद प्रभु छबि इनके नैनों में, मन में बस गई उसी में मग्न रहते।

अमरेली में भक्त कर्णदासजी रहते थे। उनके पिताजी भी हरिभक्त थे। उनसे आपकी प्रगाढ़ मैत्री थी। परस्पर सत्संग करके दोनों परमानन्द का अनुभव करते थे। एकबार आप अमरेली को जा रहे थे। मार्ग में साँगा गौड़ राजपूत के यहाँ आप ठहरे। आपने भोजन विश्राम किया। साँगा ने एक कम्बल भेंट किया। उसकी कोर बनाना बाकी था अतः आपने कहा कि मैं अमरेली से जब लौटूंगा। तब इसे ले लूंगा ऐसा कहकर आप अमरेली चले गये। वहाँ पर कर्णदास को महान् विषधर सर्प ने डस लिया। उसकी मृत्यु से सभी को बड़ा कष्ट हुआ। लोगों के करुण-क्रन्दन से आपका कोमल-हृदय पसीज गया। तब आपने प्रभु से विनती करके कर्णदासजी को जीवित कर दिया। कुछ दिन वहाँ भजन-कीर्तन एवं सत्संग से लोगों को कृतार्थ कर श्रीईश्वरदासजी लौटे और साँगा राजपूत के यहाँ गये। साँगा की माता ने इनका स्वागत-सत्कार किया। पश्चात् भोजन परोसा, तब आपने पूछा कि साँगा कहाँ हैं। माता ने कहा—आप भोजन कीजिये, वह यहाँ नहीं हैं। आपने कहा—'कम्बल देना पड़ेगा इस भय से मेरे पास नहीं आ रहा है क्या?' माता ने कहा—ऐसा नहीं, आप भोजन कर लें तब उसका पता बताऊँगी। आपने कहा—जब तक वह नहीं आवेगा, तब तक मैं प्रसाद नहीं पाऊँगा। अब माता से नहीं रहा गया, वह रोने लगी। लोगों ने बताया कि वह अपने गोवंश को चराने गया था। नदी पार करते समय भयंकर बाढ़ आई और सभी पशुओं के सहित साँगा डूबकर बह गया। महीनों पहले की बात है। साँगा भक्त के प्रेम में आकर श्रीईश्वरदास ने कहा—अरे! ऐसा तो नहीं होना चाहिए। मुझे कम्बल दिये बिना कहाँ चला गया फिर तो आपने भगवान की विनती की एवं अनेक भावपूर्ण छन्द पढ़े। प्रभु-कृपा से साँगा अपने सम्पूर्ण गोवंश के साथ नदी से निकलकर आ गया। ईश्वरदास के चरणों में उसने दण्डवत्प्रणाम किया। साथ-साथ भोजन कर इन्हें कम्बल भेंट किया। इस ईश्वर लीला से वहाँ की सारी जनता पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। आपके उपदेश

से अनन्त जीवों का कल्याण हुआ। लोगों ने इन्हें साक्षात् ईश्वर के समान माना। मृतक को जीवित करने वाले सिद्ध-सन्त अनेक हुए। पर इतने दिनों बाद उन-उन जीवात्माओं को जाने कहाँ-कहाँ से वापस बुला लेना। यह ईश्वर के अतिरिक्त किसकी सामर्थ्य है। तभी से उक्ति प्रसिद्ध हुई-'ईसरा सो परमेसरा' अर्थात् जो ईश्वर है, वही ईश्वरदास हैं।

नाम महिमा वर्णन करते हुए आप लिखते हैं—

नाम समो बड़ क्वौ नहीं, जप तप तीरथ जोग।
नामे पातक छूटिया, नामे नाशै रोग।।

'हरिरस' नामक ग्रन्थ आपकी प्रमुख रचना है। अब भी भाद्रेस गाँव में आपकी भजन कुटी और चरण पादुकायें हैं। वहाँ दीपमालिका के दिन प्रतिवर्ष मेला लगता है। लोग वहाँ दीपदान और हरिरस का पाठ करते हैं। वहाँ पीलु (जाल) के वृक्ष पर भावुक भक्तों को दीपक का दर्शन होता है। आपके कृपारूप प्रसाद से वहाँ के लोगों के मनोरथ पूर्ण होते हैं। मूल छ० में श्रीनाभाजी ने लिखा है कि 'जगत ईश्वर गुन जानै।' अर्थात् जगत् में प्रकट होकर वहाँ रहते हुए ईश्वर के गुणों को जानते थे। २-जगत् और ईश्वर के गुणों को ईश्वरदासजी जानते थे। इसी से जगत् से मोह न करके इन्होंने ईश्वर से प्रेम किया। ३-जगत् के लोग ईश्वरदासजी को ईश्वर के से गुणों वाला भक्त जानते थे। ईश्वर शब्द का अध्याहार करके अनेक अर्थ इस वाक्य के होते हैं। महामहिम श्रीईश्वरदासजी की महिमा के गौरव को प्रकट करने के लिए अनेकार्थक वाक्य रखा गया। लगभग ८० वर्ष की आयु में आपने वैकुण्ठ धाम गमन किया। घोड़े पर चढ़कर समुद्र में घुस गये। उनके सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

ईश्वर घोड़ा रेलिया भवसागर रै माहि। तारण वालो तारसी साईं पकड़ी बांहि।।

हरिरस के आदि में आपने जामनगर निवासी अपने गुरु श्रीपीताम्बरभट्ट की वन्दना की है—

लागू हूँ पहली खुलै पीताम्बर गुरु पाय। भेद महारस भागवत प्रामू जास पसाय।
जाल टलै मन क्रम गलै निरमल भावै देह। भाग हुवै तो भागवत सांभल जे श्रवणेह।।

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ संख्या और फलस्तुति इस प्रकार है—

ईश्वर ओ हरिरस कियो दुहाँ तीन सौ साठ। महापापी प्रामै मुकुत जो कीजै नित पाठ।।

* श्रीकरमानन्दजी *

करमानन्द चारण की बानी की उचारन में, दारुन जो हियौ होय सोऊ पिघलाइयै।
दियौ गृह त्यागि हरि सेवा अनुराग भरे, बटुवा सुग्रीव हाथ छरी पधराइयै।।
काहू ठौर जाय गाड़ि वहीं पधराये वापै ल्याये, उर प्रभु भूलि आये कहाँ पाइयै।
फेरि चाह भई दई स्याम को जताय बात, लई मँगवाय देखि मति लै भिजाइयै।।५३१।।

शब्दार्थ—दारुन=कठोर। सुग्रीव=कण्ठ। बटुवा=ठाकुरजी को पधराने का डिब्बा।

भावार्थ—चारण कुलमें उत्पन्न भक्त श्रीकरमानन्दजी की वाणी के उच्चारण में ऐसा प्रेमरस था कि कठोर से कठोर हृदय वाला मनुष्य भी उसे सुनकर पिघल जाता था। भगवान की सेवा-भक्ति के अनुराग में भरे श्रीकरमानन्दजी घर छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। भगवान की सेवा का बटुवा गले में लटकाये और हाथ में एक छड़ी लिए रहते थे। जहाँ कहीं आप विश्राम करते, वहाँ छड़ी को पृथ्वी में गाड़कर उसमें ठाकुर बटुवा लटका देते। (ठाकुरजी झूले के सुख में मग्न हैं यह विचारकर आप प्रसन्न होते) एकबार किसी विश्राम-स्थल पर आपने छड़ी गाड़कर उसमें बटुवा झुलाया। चलते समय छड़ी वहीं रह गई। जब विश्राम-स्थल पर ठाकुरजी को पधराने लगे, तब छड़ी का ध्यान आया पर अब छड़ी कहाँ मिले। आपकी इच्छा हुई कि वही छड़ी हो तो उसी में ठाकुरजी को झुलाऊँ। आपने अपनी अभिलाषा श्रीठाकुरजी के सामने प्रकट की, तब भक्तवांछा कल्पतरु प्रभु ने छड़ी मँगवा ली। यह देखकर आप प्रेमरंग में सराबोर हो गये। उसी छड़ी पर प्रभु को झुलाकर प्रसन्न हुए।।५३१।।

व्याख्या—हियो पिघलाइयै—प्रेम से पिघला हृदय जिस कवि का होता है, उसी की कविता दूसरे के कठोर-हृदय में भी प्रेमरस का संचार कर सकती है। जैसे श्रीभरतजी का हृदय प्रेमार्द्र था तो उनके श्रीमुख से जो शब्द-भगवन्नाम निकलते थे उन्हें सुनकर वज्र, पाषाण एवं वज्र-पाषाण हृदय भी द्रवित हो जाते थे। यथा—'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहूँ पासा।। द्रवहिं वचन सुनि कुलिश पषाना।।' जिसके काव्य को सुनकर श्रोता प्रभावित न हो, तो उस कवि की कविता व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में श्रीसूरदास छ० ७३ की व्याख्या द्रष्टव्य है। कविता उसे कहते हैं जो मनोहारिणी हो।

यथा— मोतिन कैसी मनोहरि दाम गुहैं, तुक अक्षर रीझि रिझावैं।
प्रेम को पन्थ कथा हरिनाम की, बात अनूठि बनाइ सुनावैं।।
'ठाकुर' ते कवि भावत मोहिं, जे सन्त सभा में बड़प्पन पावैं।
पण्डित और प्रवीनन के जेई, चित्त हरैं ते कवित्त कहावैं।।

दियौ गृह त्यागि—पिता-माता, स्त्री-पुत्रादि आश्रितजनों की सेवा पालन-पोषण यह सामान्य धर्म है और सबको छोड़कर भगवान की सेवा करना यह परम धर्म है। परम धर्म के लिए सामान्य धर्म छोड़ देना चाहिए। 'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।' (पूरा पद देखिये तृतीयखण्ड मीरा चरित्र पृष्ठ ५३८) पुनः—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।। (चाणक्य) अर्थ—कुल के लाभ के लिए एक को, ग्राम के हित के लिए कुल को, देश के हित के लिए ग्राम को और आत्म-कल्याण के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। 'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।' सब कुछ को छोड़कर भगवान का भजन करना चाहिए। घर में रहकर सेवा में विघ्न होता था। किसी को देने की चिन्ता, किसी से लेने की चिन्ता रहती। इसलिए वन में रहकर के करने लगे। 'वन में काहे को दुःख होय। लेना एक न देना दोय।।' पुनः—भगवत्प्रेरणा से तीर्थ और सन्त-दर्शन के लिए विचरने लगे। 'सन्त सुखी विचरन्त मही।' विचरने वाले सन्त सुखी रहते हैं और सन्त के विचरने से मही-पृथ्वी तथा पृथ्वी पर रहने वाले सभी सुखी रहते हैं। गले में ठाकुर बटुवा और हाथ में छड़ी। छड़ी के नीचे नोंक थी जिससे वह धरती में गड़ जाय। ऊपर बटुवा लटकाने योग्य बनी थी। उसमें झूलते हुए ठाकुरजी प्रसन्न रहते, उन्हें देखकर ये भी प्रसन्न रहते। पृथ्वी पर अपना आसन लगाते, अपने सिरहाने श्रीठाकुरजी को रखते।

भूलि आये—किसी दिन प्रातःकाल सेवा-पूजा करके श्रीठाकुरजी को गले में लटका कर चल दिये। उस समय भगवन्नाम रूप में मन के लगे रहने से छड़ी को भूल गये। भगवान ने ही भक्त-भाव का रसास्वादन करने के लिए यह लीला की। फेरि चाह भई-बिना छड़ी के अब श्रीठाकुरजी को कहाँ और कैसे पधरावें। छड़ी में झुलाने का अभ्यास-नियम था। दूसरा कोई विकल्प नहीं सूझा। तब आपको प्रेमाधिक्य के कारण श्रीठाकुरजी पर प्रणय रोष हुआ। श्रीकरमानन्दजी ने कहा—हम तो जीव हैं, हमसे तो भूल होती ही रहेगी। जब हम भूल गये थे तो आपको छड़ी की याद दिलाना था। कभी दाल-शाक में रामरस-मिर्च कम ज्यादा हो जाता है तो आप बता देते हैं, खीर व कढ़ी पाने की इच्छा होती है तो कह देते

हैं, उसी तरह यदि छड़ी की याद दिला देते तो आपका क्या बिगड़ जाता। अब वह मुकाम यहाँ से चार कोस दूर है, जाने वहाँ छड़ी है कि कोई ले गया। पीछे लौटकर जायँ तो यहाँ सेवा-भोग आदि में बाधा होगी। इतना कहकर श्रीकरमानन्दजी क्या करें और क्या न करें। चिन्तित एवं उदास हो गये। श्रीठाकुरजी ने इन शब्दों को सुनने के लिए यह लीला की थी। अपनी सेवा से सम्बन्धित चिन्ता एवं तत्सुख-सुखित्व के भाव से श्रीठाकुरजी रीझ गये। श्रीकरमानन्दजी इसलिए खीझे कि सदा की भाँति आज मुझे चैतन्य नहीं किया।

लई मँगवाय—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक प्रभु श्रीकरमानन्दजी की डाट-फटकार से प्रभावित हो गये और रीझ गये। जिनकी इच्छा मात्र से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का सृजन होता है उनके लिए चार कोस से छड़ी मँगा लेना यह कौन बड़ी बात है। प्रभु की इच्छा-शक्ति योगमाया ने छड़ी लाकर दिया। ऐसा लगा कि भगवान हाथ बढ़ाकर छड़ी उखाड़ लाये। देखि मति लै भिजाइयै—छड़ी देखकर श्रीकरमानन्दजी प्रेम-विह्वल हो गये और बोले-प्रभो! क्षमा कीजिये। मैंने आपको कठोर शब्द कहे। 'रहत न आरत के चित चेतू। आरत काह न करै कुकरमू।' भगवान ने कहा-जब हम और तुम दो ही हैं तब यदि कुछ कहने-सुनने, लड़ने-झगड़ने की इच्छा होगी तो कहाँ जायेंगे। आपस में ही सब लीलायें होंगी। मैं तुम्हारे ऊपर अति प्रसन्न हूँ और तुम्हारे प्रेम के अधीन हूँ। तुम्हारा रोष मेरे सुख के लिए था।

यहाँ पर श्रीठाकुरजी ने भक्त परवशता दिखाई। 'अहं भक्त पराधीनः' पूरा प्रसंग देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २७२ श्रीअम्बरीष चरित्र। पुनः—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने।।
एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे।। (भा० १०-९-१८-१९)

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने देखा कि मेरी माता का शरीर पसीने से लथपथ हो गया है, चोटी में गुथी हुई मालायें गिर गई हैं, तब कृपा करके वे स्वयं ही अपनी माँ के बन्धन में बँध गये। भगवान परम स्वतन्त्र हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदि के साथ यह सम्पूर्ण जगत् उनके वश में है। फिर भी इस प्रकार बँधकर संसार को यह बात दिखा दी कि मैं अपने प्रेमी भक्तों के वश में हूँ। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त देखिये, एक बुढ़िया का, तृतीयखण्ड पृष्ठ २५७ तथा तिलोक सुनार की कथा।

* श्रीकोल्हजी, श्रीअल्हजी *

कोल्ह अल्ह भाई दोऊ कथा सुखदाई सुनौ, पहिलौ विरक्त मद मांस नहीं खात है।
हरि ही के रूप गुण वाणी में उचार करै, धरै भक्ति भाव हिये ताकी यह बात है।।
दूसरौ अनुज जानौ खाय सब उन मानौ, नृप ही कों गावै प्रभु कभूँ गाय जात है।
बड़े के अधीन रहै सोई करै जोई कहै, ईश करि चहै आप दीनता में मात है।।५३२।।

शब्दार्थ—मात=मग्न, मतवाले। उचार=उच्चारण, गान।

भावार्थ—भक्तिरसबोधिनी टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि अब श्रीकोल्ह और अल्ह दोनों भाइयों की सुख देने वाली कथा को सुनिये। इन दोनों में बड़े भाई श्रीकोल्हजी संसार के विषयों से उदासीन थे। वे तामसी पदार्थ मदिरा-मांस आदि को नहीं खाते-पीते थे। वाणी से अपनी कविता में भगवान के ही रूप और गुणों का सर्वदा गान करते और भक्ति-भावना को हृदय में धारण करते थे। यह तो इनकी बात हुई, दूसरे उनके जो छोटे भाई थे। वे सब कुछ खाते-पीते तथा राजसी भोगों को भोगते थे। राजाओं के गुणों का गान करते थे, कभी-कभी भगवान के गुणों का गान कर लेते थे, परन्तु अपने बड़े भाई के आज्ञाकारी थे। सदा उनके अधीन रहते थे और उन्हें ईश्वर के समान पूज्य मानते थे। सर्वदा दीनता में मग्न रहते थे।।५३२।।

व्याख्या—विरक्त—केवल वैराग्य भय रहित है तथा एकान्तवासी विरक्त ही सुखी हैं। देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार अवस्था है वही वैराग्य है (पूरा प्रसंग देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ १३४ पयहारी चरित) हरि ही के रूप गुण०-'सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते।' (भा० १०.८०.३) जिससे भगवान के गुणों का गान किया जाय वही वाणी धन्य है। 'सो वानी जो हरि गुन गावै।।' भगवद् गुणानुवाद का गान न करने वाली जिह्वा व्यर्थ है। 'जिह्वा सती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथाः।' (भा० २.३.२०) 'जीह सो दादुर जीह समाना। जो नहिं करै राम गुन गाना।।' नाम-गुण गान यह कीर्तन भक्ति है और कलियुग में इसी की प्रधानता है।

दीनता—दीन का अर्थ है दुर्बल और आर्त। यहाँ पर अन्न-धन-वस्त्र आदि से हीन गरीब की दीनता से प्रयोजन नहीं है। किन्तु नाना प्रकार के भोगों-ऐश्वर्यों का अहंकार त्यागकर श्रीकोल्हजी को पूज्य ज्येष्ठ भ्राता एवं परम भगवद्-भक्त मानकर उनके समक्ष तथा उनका स्मरण कर दीनता में मग्न हो जाते थे। श्रीकोल्हजी को

छोड़कर अन्य किसी साधन की आशा न थी और न किसी का विश्वास था। भक्त में ऐसी भक्ति के कारण ये भगवान को परम प्रिय थे। क्योंकि प्रभु को दीन परम प्रिय हैं। यथा-'यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई' (विनय० ११६), 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।' (विनय० २१६) श्रीअल्हजी अपने को तृण से भी तुच्छ मानकर श्रीकोल्हजी के प्रति प्रेम-भाव में ऐसे मग्न हो जाते थे कि जिसमें दूसरी दुनिया का भाव कदापि नहीं समा सकता था अतः टीकाकार लिखते हैं कि दीनता में मात=मस्त रहते थे।

बड़े आय कही चलौ द्वारिका निहारैं सही, मिथ्या जग भोग यामें आयु ही विहात है।
आज्ञा के अधीन चल्यौ आये पुर लीन भये, नये चोज मन्दिर में सुनौ कान बात है।।
कोल्ह नै सुनाये सब जे-जे नाना छन्द गाये, पाछे अल्ह दोय चार कहे सकुचात है।
भर्‌यौ ही हुंकारौ प्रभु कही माला गरें डारौ, ल्याये पहिरावैं कह्यो मेरौ बड़ौ भ्रात है।।५३३।।

भावार्थ—एकदिन बड़े भाई श्रीकोल्हजी ने अल्हजी से कहा—संसार के सभी भोग मिथ्या हैं, इनमें फँसकर आयु व्यर्थ ही बीती जा रही है। इसलिए चलो, श्रीद्वारकापुरी और श्रीद्वारकाधीश के दर्शन कर आवें। छोटे भाई श्रीअल्हजी तो अपने बड़े भाई के सर्वथा वश में थे अर्थात् आज्ञाकारी थे। अतः आज्ञा पाते ही उनके साथ चल दिये और श्रीद्वारकापुरी पहुँचे। जब मन्दिर में दर्शन करने गये तो वहाँ एक विलक्षण घटना घटी, जिसे ध्यान देकर सुनिये। श्रीकोल्हजी ने भगवान को अपने बनाये हुए अनेक छन्द गाकर सुनाये। इसके बाद श्रीअल्हजी ने भी सकुचाते हुए दो चार छन्द सुनाये। इनके पदों को सुनकर श्रीद्वारिकाधीश ने प्रसन्न होकर हुँकार भरी और पण्डाजी को आज्ञा दी कि अल्हजी को मेरी प्रसादी-माला पहनाओ। आज्ञा पाकर पण्डाजी माला लेकर आये और इन्हें पहनाने लगे। तैसे ही इन्होंने कहा-ये मेरे बड़े भ्राता हैं आप इन्हें ही माला पहनाइये। मैं इस योग्य नहीं हूँ।।५३३।।

व्याख्या—चलो द्वारका—पांसवो द्वारकाया वै वायुना समुदीरिताः। पापिनां मुक्तिदाः प्रोक्ताः किं पुनर्द्वारकाभुवि।। (स्कन्द पुराण द्वारका-माहात्म्य) अर्थ—वायु के द्वारा उड़ायी हुई श्रीद्वारकाकी रज पापियों को भी मुक्ति देने वाली है। फिर साक्षात् द्वारका की तो बात ही क्या। वह भक्तों को विशेष सुख देने वाली है, अतः कोल्हजी ने विचारा कि धाम-दर्शन से अल्ह को विषयों से वैराग्य हो जायगा फिर ये सहज में ही उनका त्याग कर देंगे। यहाँ त्यागने को कहूँ तो शायद प्रभाव न पड़े।

मिथ्या जगभोग—श्रीकोल्हजी अनुरागी भक्त थे अतः संसार के भोगों को मिथ्या कहा—'रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।' श्रीरूप-सनातन ने भी वमन के समान संसार के सुखों को छोड़ा—'संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ रूप सनातन त्यागि दियौ।' कटोरी में एक छेद होता है, उससे वह पानी को ग्रहण करती है पर अन्त में वह पानी में डूब जाती है। मनुष्य के शरीर में अनेक छेद हैं, उनसे विषयों का ग्रहण करने पर वह अवश्य ही उसमें डूबेगा। यथा—

एक छेद की यह दशा देहहिं घने देखाइ। गिलति कटोरी वारि को गिली आपु ही जाइ।।
गिली आपु ही जाइ विषय भोगत अज्ञानी। जानी परै न बात आयु कित जात बितानी।।
पुनि जैसे जल लेत थकै डूबै जल बेली। ऐसे ही सब विषै मिटैं गुरु चेला चेली।।

विषयों को भोगने से भोगेच्छा बढ़ती है। यथा—'बुझै न काम अगिनि तुलसी जिमि विषय भोग बहु घी ते।' (विनय०) संसार के सभी भोग्य पदार्थ अन्न-धन-स्त्री आदि एक ही कामी मनुष्य को मिलें और वह आजन्म भोगे तो भी उसे तृप्ति न होगी। देखिये पूर्वार्द्ध ययाति चरित्र पृष्ठ ५०६। तृष्णा और भोगों के सम्बन्ध में भर्तृहरिजी का अनुभव—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तो वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातस्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

अर्थ—भोगों को मैंने नहीं भोगा, उलटे भोगों ने हमें ही भोग लिया। हमने तप नहीं किया परन्तु संसार के तापों से हम तप्त हो गये। काल नहीं बीता हम ही चल बसे, हमारी तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, मैं ही जीर्ण-शीर्ण हो गया।

आयु ही विहात है—जिसका समय भगवान के गुणों के गान अथवा श्रवण में व्यतीत होता है उसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आयु व्यर्थ जा रही है। प्रतिदिन सूर्य अपने उदय-अस्त से उनकी आयु छीनते हैं। (भा० २-३-१७, देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३८१) अतः संसार और संसार के धन-भोग स्वप्नवत् हैं। अपना सच्चा धन श्यामसुन्दर ही हैं। यथा—

सुपनो सो धन अपनो स्याम।
आदि अन्त तासों न बिछुरिये परत काल सों काम।।
तन धन सुत दारा गृह सर्वसु जाहि भजै लै नाम।
देखि-देखि फूलन जिनि फूलौ जग नटवा को धाम।।

ज्यौं बछरा के धोखे गैया चाटति है वह चाम।
ऐसे 'व्यास' आस सब झूठी सांचो है हरिनाम।।

श्रीअग्रदेवजी कहते हैं—'नेह न लागो राम सों अगर बड़ो यह खोट । रानी राज सिंगार पट धोबी को धुबरोट।। धोबी को धुबरोट कियो दुर्लभ मानुष तन। सुलभ विषय लिय जोरि ब्रह्म आधीन जगत जन।। कौड़ी कामिनि कुटुम तिन्हें हित हीरा हार्‌यौ। ज्यौं बनजारो बैल थक्यौ तब मग में डार्‌यौ।।' पुनः-नारायण सुख भोग में, तू लम्पट दिन रैन। अंत समय आयौ निकट, देखु खोलिकै नैन।। धन यौवन यौं जायगो, जैसे उड़े कपूर। नारायण गोपाल भज, क्यों चाटै जग धूर।।

आज्ञा के धनी—'आज्ञा सम न सु साहिब सेवा।' (रा०) सभी सेवायें करे और आज्ञा का पालन न करे तो सब सेवायें व्यर्थ हैं। आज्ञा का पालन करने से सब सेवाओं का फल प्राप्त होता है। भक्त की आज्ञा पालन से उनकी सब सेवायें हो गई और भक्त की सेवा से भगवत्सेवा भी सम्पन्न हुई अतः अल्हजी घर-गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भगवत् सेवक थे। गुरुजनों की आज्ञा का श्रद्धा से पालन करने पर कभी भी धोखा नहीं होता है। गुरुजन सन्मार्ग का ही उपदेश देते हैं। कदाचित् कभी परिस्थितिवश यदि उनकी आज्ञा में कुमार्ग प्रतीत हो, तो भी उसका पालन करने से पाप नहीं होता है। साधक का साधना मार्ग से पतन नहीं होता है। यथा—गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले। चलेउ कुमग पग परै न खाले।। तनय ययातिहिं यौवन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजस न भयऊ।। परशुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोक सब साखी।। गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने से कभी हानि नहीं होती है। इस पर—

दृष्टान्त—एक सिद्ध—साधक का-एक उपकारी एवं महान् सिद्ध सन्त थे। लोग उनके पास आकर अपनी-अपनी व्यथा सुनाते। वे सबको एक न एक उपाय बताते। लोगों के अभीष्ट की सिद्धि हो जाती। एक साधक उनके पास उपदेश सुनने आया करता था। महात्मा में उसका गुरुभाव था। दैवयोग से उसकी सम्पत्ति क्षीण हो गई। वह गरीबी से बहुत दुःखी हुआ। अन्त में एक दिन उसने अपने सिद्ध गुरुदेव को अपना दुःख सुनाकर प्रार्थना की-'प्रभो मुझे धनोपार्जन का कोई उपाय बतलाइये।' सिद्ध गुरु ने कहा—हम प्रभु से पूछकर बतावेंगे। ऐसा कहकर उन्होंने कई चिट्ठियाँ बनाईं। उनमें व्यापार, नौकरी, चोरी और जुवाँ आदि धनोपार्जन के साधन लिखे। श्रीठाकुरजी के आगे चिट्ठियों को डालकर बोले—'इनमें से एक चिट्ठी उठा लो, वही मेरी आज्ञा होगी, उसी से तुम्हें धन की प्राप्ति सुगमता से हो जायगी।'

उसने चिट्ठी उठाई और पढ़ा, तो उसमें लिखा था कि 'चोरों से मिलकर चोरी करो।' वह भला आदमी चोरी और हिंसा से सर्वथा दूर रहने वाला था। पर गुरु-वचनों में उसने विश्वास किया और बहुत बड़े चोर से जा मिला। वह इन्हें साथ ले जाकर रात को एक बड़े धनी-मानी के घर गया। जवाहरात और सोने के साथ-साथ मालिक को भी पकड़ लाया। अपने गुप्त स्थान पर आकर उस चोर ने नये चोर से कहा—'चोरी को छिपाने के लिए इस मालिक की मेरी इस तलवार से हत्या कर दो। उसके बाद हम दोनों आधा-आधा धन बाँट लेंगे।' नये चोर ने हाथ में तलवार ली और उसके मन में न जाने क्या आया। पैंतड़ा बदलकर उस चोर की गर्दन काट दी। मालिक को बन्धन से मुक्त कर दिया। अब तो मालिक बहुत प्रसन्न हुआ। गाँव के राजा की आज्ञा लेकर सम्पूर्ण धन उस नये चोर को देकर उसका कृतज्ञ हुआ। दोनों सिद्ध गुरुदेव के पास आये और उनके उपदेशानुसार भगवद्भजन में लीन हो गये। आज्ञा में विश्वास होने के कारण भगवत्प्रेरणा से हिंसक चोर की हत्या में पुण्य हुआ। राजा-प्रजा को सुख हुआ और अपना मनोरथ भी पूर्ण हुआ। गुरुजनों की आज्ञा मानना भगवान की आज्ञा मानने के समान है।

देखि पुरी लीन भये—धाम प्रभु का श्रीविग्रह है। इसके दो स्वरूप होते हैं, एक नित्य और दूसरा लीला। लीलास्वरूप से धाम प्रकृति मण्डल में रहता है, परन्तु उसको प्रकृति के विकार नहीं छू पाते हैं। वरंच अपने समीप आने वाले के प्रकृति विकारों को हरकर उन्हें अपने नित्यस्वरूप को प्रदान करता है अतः श्रीकोल्ह-अल्ह दोनों भ्राता द्वारिकापुरी के दर्शन से आनन्दमग्न हो गये। द्वारिकापुरी का दर्शन करके श्रीसुदामाजी को अर्पूव दिव्य-सुख हुआ था। यथा—'देखिकै विभूति सुख उपज्यौ अभूत कोऊ।' (क० ५४ पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३००) नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३०२)।

नयो चोज—जिसमें हँसी, व्यंग और गम्भीर भाव हो उसे चोज कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कौतुकी हैं, ये अपने प्रेमियों के साथ व्यंग और विनोद भी करते हैं। (भीमसेन के साथ व्यंग-विनोद देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३५०) जो बड़े एवं विरक्त थे उनका सत्कार न करके छोटे भाई गृहस्थ का सत्कार करके हँसी कराई। गम्भीर भाव यह प्रकट किया कि जो छोटा है, अपने को छोटा मानता है, दैन्यता से युक्त हैं, मैं उसका पहले और विशेष सत्कार करता हूँ। पुनः जैसे मेरी अपेक्षा मेरा भक्त आदरणीय है, उसी प्रकार मैं भक्त की अपेक्षा भक्त के भक्त का विशेष आदर करता हूँ। कोल्हजी के अनन्य भक्त अल्हजी का आदर करके भगवान ने यह सिद्धान्त (गम्भीर भाव) प्रकट किया। 'सुनौ कान बात' कहकर

टीकाकार ने इस प्रसंग में रहस्य का संकेत किया। सदा विरक्तों का आदर करते थे। आज विषयी का आदर किया यह नया चोज है।

कोल्ह ने.....नाना छन्द गाये—छन्द अर्थात् कवित्त, सवैया आदि, छन्द अर्थात् चारों वेद, उपवेद आदि। यहाँ छन्द शब्द श्लेष हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकोल्हजी ने नाना वेद उपवेदों में नाना प्रकार से वर्णित जो भगवान का ऐश्वर्य उसे स्वरचित नाना छन्दों में गा-गाकर सुनाया। यथा—

द्वारका के नाथ सब नाथन के नाथ प्रभु, देवन के दिव्य देव संकट सहाये हैं।
ब्रह्मा शिव देव दैत्य दानौ अरु मानवादि, सबही के रचैया औ सबमें समाये हैं।।
कारज के कारन औ तत्वन के तत्व आप, माया के अधीस ईस अलख लखाये हैं।
महिमा महान गावैं वेद औ पुरान कोल्ह, पार नाहिं पावैं हारि सीस कूं नवाये हैं।।

पाछे अल्ह...कहे सकुचात है—श्रीकोल्हजी ने अपनी कविता-भेंट श्रीद्वारिकानाथ की सेवा में समर्पित करके अपने छोटे भाई अल्हजी को प्रेरित किया कि—'तुम भी कुछ भगवद् गुण-गान करो।' श्रीअल्हजी के मन में बड़ा-भारी संकोच था कि मैं विषयी-तुच्छ प्राणी हूँ, मुझे प्रभु की लीलाओं का अनुभव नहीं है और गुणों का भी ज्ञान नहीं है, फिर क्या और कैसे सुनाऊँ। संसारी राजाओं की मिथ्या बड़ाई करते-करते वाणी दूषित हो गई है, उससे निर्मल निर्विकार प्रभु का सुयश गाते कैसे बनेगा। इस प्रकार सोचकर मौन ही रहे। तब पुनः श्रीकोल्हजी ने अनिवार्य आदेश किया कि संकोच को छोड़कर गुण-गान करो। हमारे पास प्रभु को देने योग्य और है ही क्या, अतः वाणी के द्वारा सेवा करके उसे पवित्र करो। तब श्रीअल्हजी सावधान हुए और सकुचाते हुए प्रभु के माधुर्य का वर्णन करते हुए पटरानियों के और ब्रज-गोपियों के श्रृंगार तथा पारस्परिक प्रेम का वर्णन किया यथा—

गलीन में गोकुल की गांसि गांसि गोपिन कूँ, गोरस औ गोरस कौ दान लै सिहायौ है।
सगरी अलबेलिन कौं नवल नबेलिन कौं, गायकै गवायौ अरु नाचिकै नचायौ है।।
अवलान आन मान प्रान की हरनहारी, बांसुरी बजाय घरबार भुलवायौ है।
जसुदा के छैया रासरंग के रचैया भैया, नेह की नदी में तै नहायौ नहवायौ है।।

देश विदेश के देखे नरेशन रीझिकै कोऊ जो बूझ करैगो।
याते तनै तन जात गिरो गुण सौगुण औगुण गांठि परैगो।।

बांसुरी वारो बड़ो रिझवार है स्याम जु नेक सो ढार ढरैगो।
लाड़िलो छैल छबीलो अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगो।।

भर्‌यौ ही हुँकारौ—श्रीअल्हजी ने दैन्य-भाव में भरकर कविता सुनाई तथा उसमें भक्त-प्रेम का वर्णन था अतः प्रभु ने प्रेम से सुना और हुँकारी भरा, सिर हिलाया, वाह-वाह कहा। जैसे माता यशोदा के द्वारा राम-कथा सुनकर हुँकारी भरी थी वैसे ही यहाँ भी। भगवत्कृपा का हेतु दैन्य है, कृपा कर प्रभु ने पुजारी द्वारा माला-प्रसाद दिया। श्रीअल्हजी ने कहा—मेरे बड़े भ्राता हैं विरक्त सन्त हैं अतः माला-सम्मान के प्रथम अधिकारी हैं, पर प्रभु ने विचारा कि कोल्हजी तो सब कुछ त्यागकर मेरी शरण में हैं। मेरी ओर आकृष्ट हैं ही। इस द्वारिका यात्रा में कोल्हजी, अल्हजी को इसलिए लाये हैं कि यह सब कुछ त्यागकर शरणागत-भक्त हो जायँ अतः अल्हजी के मन-वचन-कर्म को आकृष्ट करने के लिए प्रभु ने भी मन से इच्छा की, अल्ह को अपनाया हुँकारी भरकर वाणी से तथा माला-प्रसाद देकर कर्म से आकृष्ट क़िया। जैसे सन्त-महन्तजन अपने सेवक समुदाय को प्रसाद देकर प्रभावित करते हैं, अपनी ओर आकृष्ट कर भक्ति-पथ का पथिक बनाते हैं। उसी प्रकार द्वारिकाधीश ने भी यहाँ और आगे 'दई उभय पातर' प्रसाद देकर आकृष्ट किया।

दयौ पै न याहि दयौ बड़ौ अपमान भयौ, गयौ बूड़ौं सागर में दुख कौ न पार है।
बूड़त ही आगे भूमि पाई चल्यो झूमि, प्रीति सो अनीति भूलै नाहिं मानो तरवार है।।
सौंही आये लैन हरिजन मन चैन झिल्यौ, मिल्यौ कृष्ण जाय पायौ अति सुखसार है।
बैठे जब भोजन कों दई उभै पातर लै, दूसरी जू कैसी कही वही भार प्यार है।।५३४।।

शब्दार्थ—अनीति=अन्याय, अनुचित पक्षपात। तरवार=तलवार का-सा घाव। सौंही=सामने। झिले=तृप्त हुए। हरिजन=भगवान के पार्षद।

भावार्थ—श्रीअल्हजी के कहने से भी पुजारी ने श्रीकोल्हजी को माला नहीं पहनाई और कहा—यह माला तो प्रभु ने आपके लिए दी है न कि आपके बड़े भाई के लिए। ऐसा कहकर पुजारी ने अल्हजी को माला पहना दी। इससे श्रीकोल्हजी ने अपना बड़ा-भारी अपमान समझा और ग्लानि के मारे समुद्र में कूद पड़े। जल के भीतर घुसते ही इन्हें दिव्य भूमि मिल गई। अब ये आनन्द-मग्न होकर आगे चले परन्तु माला न मिलने वाली अनीति इन्हें भूल नहीं रही थी। तलवार के घाव की तरह रह-रहकर वह अपमान इन्हें दुःखित कर रहा था। कुछ दूर और आगे बढ़ने पर इन्हें भगवान के पार्षद मिले जो कि अगवानी

करने के लिए आये थे। उनसे मिलकर आपको सुख-शान्ति मिली। फिर आपने जब द्वारिकाधीश श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन किये, तब परमानन्द की प्राप्ति हुई। अपमान का दुःख भूल गया। इसके बाद जब कोल्हजी प्रसाद पाने के लिए बैठे, तब भगवान की आज्ञा से सेवकों ने इनके सामने दो पत्तल परोसे। आपने पूछा—यह दूसरा पत्तल किसके लिए है? भगवान ने उत्तर दिया—तुम्हारे छोटे भाई के लिए। वह हमें (और तुम्हें भी) अत्यन्त प्रिय है।।५३४।।

व्याख्या—बड़ौ अपमान भयौ—भगवान ने तो यह समझकर छोटे भाई अल्हजी को माला दी कि जैसे बालक का आदर-प्यार करने से पिता-माता प्रसन्न होते हैं। उसी तरह अल्ह का सम्मान करने पर श्रीकोल्हजी (पिता तुल्य बड़े भाई) प्रसन्न होंगे। परन्तु उस समय इनके मन में अहं जाग उठा और मुझ विरक्त-बड़े का सम्मान ठाकुरजी ने नहीं किया मेरा अपमान किया। 'सुत वित लोक ईषना तीनी।' ये गृहस्थ को और मान-बड़ाई-ईर्ष्या ये विरक्त होने पर भी कभी-कभी मन में आ जाती हैं। जैसे दुर्वासा को अम्बरीष के प्रति उनकी बड़ाई सुनकर ईर्ष्या हुई। उन्हें तप का अहंकार था। श्रीकोल्हजी का अल्हजी के प्रति पूर्ववत् सद्भाव था। श्रीठाकुरजी ने मेरे साथ अन्याय किया, यह समझकर महान् दुःख हुआ। आत्म-हत्या करने के लिए समुद्र में कूद पड़े। माला-प्रसाद पाकर श्रीअल्हजी प्रेम-विभोर थे, बेसुध थे। इन्हें श्रीकोल्हजी के मानसिक दुःख का पता नहीं था। कुछ देर बाद जब श्रीअल्हजी सावधान हुए तो उन्होंने श्रीकोल्हजी को न देखकर मन्दिर से बाहर आकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि समुद्र में डूब गये। भाई के वियोग से इन्हें अपार दुःख हुआ और इन्होंने निश्चय किया कि जब तक हमें बड़े भ्राताजी नहीं मिलेंगे, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। दुःखित अल्हजी ने सोचा कि शायद बड़े भाई साहब घर पहुँच गये होंगे अतः घर को चले आये। समुद्र में डूबते ही स्वर्णमयी भूमि मिली, जैसे पीपाजी को। अहं भाव से उत्पन्न ग्लानि तथा नाराजगी से भी दिव्य द्वारिका तथा द्वारिकानाथ के प्रत्यक्ष दर्शन हुए इससे सिद्ध हुआ कि भक्त का वह अहं भाव भगवत्प्रेरित ही था। अतः श्रीकोल्हजी की भक्ति में थोड़ी भी घटती नहीं माननी चाहिए।

सो अनीति भूलैं नाहिं—भगवान ने मेरी कविता सुनकर हुँकारी नहीं भरी, मुझे माला नहीं दी, उन्हें दूसरी माला और आश्वासन देना चाहिए था। कैसे द्वारिकानाथ हैं, इनके दरबार में न्याय नहीं हुआ। सबको एक समान माना गया। चाहे कोई विरक्त हो और चाहे विषयी। 'अन्धेर नगरी बे-बूझ राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा।।' स्वयं गृहस्थ हैं अतः उन्होंने

गृहस्थ का पक्षपात कर उसका आदर किया। विरक्त का अपमान किया यह अनीति श्रीकोल्हजी को नहीं भूल रही थी। मन में तलवार का-सा गहरा घाव हो गया था। जब द्वारिका की दिव्य-भूमि मिली तो उस प्रसन्नता में थोड़ी देर के लिए दुःख दूर हुआ फिर उसका स्मरण हो आया। फिर जब पार्षद अगवानी को आये तो चैन हुआ और जब श्रीकृष्ण बड़े आदर से मिले तो उस समय दुःख की सर्वथा निवृत्ति हो गई, अति सुखसार मिला। पुनः जब दई उभै पातर तब फिर सब विष हो गया कि फिर उसी का पक्ष ले रहे हैं। यहाँ पर मन की दुरवस्था दिखाई गई। मानसिक दुःख तब दूर हुआ जब पूर्वजन्मकी कथा का ज्ञान हुआ। जैसे शरीर त्याग कर स्वर्ग में जाने पर भी श्रीदशरथजी के मन का दुःख दूर न हुआ। विजयी श्रीराम का दर्शनकर कुछ शान्ति मिली पर मन का क्षोभ दूर नहीं हो रहा था। जब भगवान ने पिताजी से वरदान माँगा कि आप माता कैकेयी को क्षमा कर दें। उनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ। तब दशरथजी का दुःख, क्रोध दूर हुआ। मन पर पड़े संस्कार सहज नहीं मिटते। प्रभु-कृपा से रहस्य का बोध होने पर मिटते हैं। प्रभु न्यायकारी हैं, इसमें कोल्हजी को सन्देह हो गया, उसका कारण अधिक प्रीति है। यथा—'अधिक प्रीति मन भा सन्देहा।' अथवा—'हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीवधर्म अहमिति अभिमाना।।'

सबै विष भयौ दुख गयौ सोई हुयौ नयौ, दयौ परबोध वाकी बात सुनि लीजियै।
तेरो छोटो भाई मेरो भक्त सुखदाई, ताकी कथा लै जताई जामें आपही सों धीजियै।।
प्रथम जनम मांझ बड़ौ राज पुत्र भयौ, गयौ गृह त्यागि सदा मोसों मति भीजियै।
आयौ वन कोऊ भूप संग राग रंग रूप, देखि चाह भई देह दई भोग कीजियै।।५३५।।

शब्दार्थ—विष=कडुवा, अप्रिय। परबोध=प्रबोध, ज्ञान। चाह=वासना।

भावार्थ—दूसरा पारस छोटे भाई के लिए है, यह सुनते ही अमृतमय भोजन प्रसाद विषतुल्य अप्रिय हो गया। अपमान का दुःख जो भूल गया था वह फिर ज्यौं का त्यौं हो गया। यह देखकर भगवान ने श्रीअल्हजी के पूर्वजन्म की कथा कहकर श्रीकोल्हजी को समझाया। जिससे कि इनके मन का दुःख दूर हो जाय। भगवान ने कहा—यह तुम्हारा छोटा भाई पूर्वजन्म में बड़े-भारी राजा का पुत्र था। वहाँ इसे वैराग्य हो गया। घर छोड़कर वन में चला गया। वहाँ इसने मुझमें मन-बुद्धि लगाकर खूब मेरा भजन किया। इसी बीच एक राजा वन में आया उसके साथ अनेक प्रकार के भोग-विलास की सामग्री थी। जिसे देखकर इस राजकुमार के मन में विषय-सुख भोगने की वासना उत्पन्न हो गई। इसलिए हमने इसे संसारी सुखों

को भोगने के लिए मनुष्य का शरीर दिया ताकि यह भोगों को भोगकर उनकी असारता समझकर वासना से मुक्त हो जाय।।५३५।।

दयौ परबोध—भगवान ने श्रीकोल्हजी को समझाया कि मैं हृदय के भाव को देखता हूँ, बाह्य आचरणों को नहीं। अल्ह का हृदय निर्मल है। वह मेरा परम भक्त है। तब श्रीकोल्हजी ने कहा 'वह आपका भक्त कैसे है? कभी भजन-कीर्तन नहीं करता है, राजाओं के गुण गाता है, सब चीजें खाता-पीता है, विषयी है।' भगवान ने उत्तर दिया कि 'हमारा भक्त नहीं है पर आपका भक्त तो है। मैं भक्त के भक्त पर विशेष प्यार करता हूँ।' 'मानत सुख सेवक सेवकाई' वह विषयों का जो भोग-भोगते दिखाई पड़ता है वह तो शरीर का धर्म है एवं पूर्वजन्म की वासना का भोग है। जैसे सदनजी शरीर से कुलधर्म के अनुसार मांस बेचते थे पर उस पाप कर्म में लिप्त नहीं थे। उसी प्रकार से इनका खान-पान विषयी का-सा है पर ये विषयी नहीं है। मेरे द्वारा दिये गये भोगों को भोग रहे हैं।। पूर्वजन्म के भक्त हैं अतः वे संस्कार इनमें से गये नहीं हैं। यथा—'भक्ति बीज पलटै नहीं जो जुग जायँ अनन्त। ऊँच नीच हू करि करम रहै सन्त को सन्त।।' दूसरे के दोषों को न देखकर अपने ही दोष देखने चाहिए। यथा—'नारायण निज हिये में अपने दोष विचार। ता पाछे तू और के औगुन भले निहार।।' श्रीअग्रदेवजी भी यही कहते हैं कि दूसरे की ओर न देखो अपनी ओर देखो, दूसरे को जलने दो अपने हृदय को द्वेष और अहं की अग्नि से बचाओ, सावधान रहो। यथा—'अगर असत आलाप तजि हरिगुन हिरदै लेखि। परबत को कह देखिये पांयन तरकी देखि।। पांयन तरकी देखि बात जनि कहै पराई। आन जरौ कै बरौ राखु उर जरतो भाई। सारो राखत सती सुनो नहिं राखत यारो। अपने पहरे जागि गांठि जो सु तौ उबारौ।।' अल्ह में मान-अपमान का भाव नहीं है, तुममें अहं और अपमान का भाव आ गया। अतः अब भी वह तुमसे श्रेष्ठ है तुम तो इसी जन्म में विरक्त हो और अल्ह पहले जन्म का विरक्त है। ऐसे कहकर प्रभु ने अल्ह के पूर्वजन्म की कथा सुनाई।

मेरो भक्त सुखदाई—भगवान ने कहा कि जैसे तुम मुझे सुखदाई हो वैसे ही अल्ह भी सुखदाई हैं, भक्त भगवान को और सभी प्राणियों को सुखप्रद होते हैं। सुखदाई भक्तों की कथा सुखदाई होती है जैसा कि क० ५३२ में टीकाकार ने कहा है—'कोल्ह अल्ह भाई दोऊ कथा सुखदाई सुनौ।'

आयौ वन कोऊ भूप०—भगवान ने कहा—अल्हजी पूर्वजन्म में जब राज्य सुख को तुच्छ समझकर पुनः उसे त्यागकर वन में भजन करने लगे, तब बहुत दिनों के बाद उस

वन में एक राजा शिकार खेलने के लिए आया। उसके साथ में बड़ा-भारी समाज था। नृत्य-गान करने वाली बहुत-सी स्त्रियाँ थीं। बहुत से इष्ट-मित्र, मन्त्री सैनिकों के साथ राजा का खाना-पीना, हँसना आदि देखकर इनके मन में आया कि हम भी कभी राजा थे। यदि हमने राज्य का त्याग न किया होता तो इसी प्रकार का आनन्द हम भी लेते। अब यदि वापस घर को चलें भी तो भोग योग्य शरीर नहीं रहा। वन में तप करते-करते हम सूख गये। संसार के सुखों का स्वाद न मिला। आदि-आदि बातें मन में सोचते-विचारते ही शरीर छूट गया। 'अन्ते मतिः सा गतिः' के अनुसार भोग्य पदार्थ और भोग योग्य शरीर प्रभु ने दिया।

देखि चाह भई—विषयीजनों को विषय भोगते देखकर तथा सुनकर मन में विषय भोगने की वासना उत्पन्न हो जाती है। यदि कहो कि ये बड़े विरक्त थे, राज्य सुख छोड़कर आये थे, फिर इनको 'राग रंग रूप' देखकर चाह क्यों हुई। तो कहते हैं कि मन की गति दुस्तर है, चञ्चल है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८१) महान् त्यागी विरागी श्रीसौभरि ऋषि ने मछलियों का विहार देखा तो उसका परिणाम यह हुआ कि मान्धाता की पचास कन्याओं से विवाह करना पड़ा। (पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५८६ में पूरी कथा देखिये) भगवान शंकर मोहिनी के रूप को देखकर मोहित हुए, अतः कहा गया कि इन्द्रियों का समूह बलवान है, विद्वानों को आकर्षित कर लेता है। (श्लोक देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १६९ मात्रा स्वस्रा०) विषयी का अन्न-जल एवं संग चाह को उत्पन्न करता है इस पर दृष्टान्त देखिये, राजा और सन्त का द्वितीय खण्ड पृष्ठ २२१। जब तक विषयों की चाह है, तब तक प्रभु की प्राप्ति नहीं होती है। यथा—'देह के भीतर श्वास है, श्वास के भीतर जीव। जीवे भीतर वासना क्यहि विधि पाइय पीव।।' इसलिए मनोनिग्रह करना चाहिए, उसे स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए। यथा—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं, मनसि ह्यनवस्थिते।
यद् विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं, चस्कन्द तप ऐश्वरम्।। (भा० ५-६-३)

अर्थ—इस चञ्चल चित्त से कभी मैत्री नहीं करनी चाहिए। इसमें विश्वास करने से ही मोहिनी रूप में फँसकर महादेवजी का चिरकाल का संचित तप क्षीण हो गया।

श्रीशिवजी, सौभरि आदि मोहित हो गये तो यदि अल्ह का मन विषयासक्त हुआ तो कौन आश्चर्य है। भगवान का कथन है कि—भक्त के मन में राजसुख भोगने की इच्छा हुई तो मैंने प्यारवश देह भोग दोनों दिये। 'यद् यद् वांछति मद्भक्तस्तद् कुर्यामतन्द्रितः।'

मेरे भक्त जो-जो इच्छा करते हैं, निरालस्य होकर मैं वही करता हूँ। यद्यपि श्रीअल्हजी का मन राजा के राग-रंग को देखकर विषयासक्त हो गया, तथापि उनका ऐसा पतन न हुआ कि संसृति चक्र में पड़ जायँ। इस सम्बन्ध में भगवान श्रीउद्धवजी से कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो, विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भयाभक्त्या, विषयैर्नाभि भूयते।। (भा० ११-१४-१८)

अर्थ—श्रीउद्धवजी ! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसार के विषय बार-बार बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं। वह भक्त भी क्षण-क्षण में बढ़ने वाली प्रगल्भ अर्थात् पुष्ट भक्ति के प्रभाव से प्रायः विषयों से पराजित नहीं होता है। सकामी भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करके भगवान प्रसन्न नहीं होते हैं। सकामी वैष्णव-भक्त को भी अन्त में निष्काम-भाव की प्राप्ति कराते हैं। जैसे ध्रुव, विभीषणादि को। श्रीमद्भागवत में देवगण कहते हैं—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां,
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता—
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्।। (भा० ५-१९-२७)

अर्थ—यह सत्य है कि भगवान सकामी भक्तों के माँगने पर उन्हें अभीष्ट पदार्थ देते हैं, किन्तु यह भगवान का वास्तविक दान नहीं है, क्योंकि उन वस्तुओं को पा लेने पर भी मनुष्यों के मन में पुनः कामनायें होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्काम भाव से भजन करते हैं, उन्हें तो वे साक्षात् अपने श्रीचरण-कमल ही दे देते हैं, जो अन्य समस्त इच्छाओं को समाप्त कर देने वाले हैं। श्रीअल्हजी को चाह हुई तदनुसार भोग और देह मिला पश्चात् ये भी निष्काम हुए और प्रभु के श्रीचरण-कमलों की प्राप्ति हुई।

भोग कीजियै—जैसे भगवान ने ध्रुव और विभीषण को उनके मनोरथों के अनुसार राज्य दिया। उसी प्रकार श्रीअल्हजी को भोग देकर उनको भोगने की आज्ञा दी। भगवदाज्ञा के अनुसार वह समय पूरा हो गया तो कोल्ह की प्रेरणा से पुनः भगवान की सेवा में पहुँचे। बिना भक्त-भगवन्त की कृपा के भोगेच्छा नहीं समाप्त होती है। इस पर

दृष्टान्त—दो भोगी योगियों का—एक राजा दो भाई थे। शत्रुओं ने उनकी नगरी पर आक्रमण कर दिया। भयंकर युद्ध के बाद दोनों परास्त होकर प्राण बचाकर भागे। कुछ उपाय

न सूझा तो दोनों कपड़े रंगकर योगी बन गये। पर उन्हें घर-गृहस्थ के सुख नहीं भूलते थे। संयोगवश एक गाँव में भागवत की कथा हो रही थी ये भी वहाँ पहुँच गये। तो इन दोनों ने कथा में सुना कि अन्त में पाण्डवों ने महाप्रस्थान किया। हिमालय में जाने पर वे बर्फ में गल गये और देवों द्वारा सम्मानित हुए। अपने-अपने लोकों को गये। यह सुनकर इन दोनों भाइयों ने भी घोषणा कर दी कि हम अब बर्फ में गलने जा रहे हैं। यह सुनकर ग्रामीण प्रजा ने इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया फिर विदाई दी। मिथ्या ज्ञान-वैराग्य के अहंकारवश ये हिमालय पर चढ़ने लगे। रास्ते में एक खेत मिला, उसमें खरबूजा और ककड़ियाँ लगी थीं। एक खरबूजा के दूसरे ककड़ियों के प्रेमी थे। दोनों के मुंह में पानी भर आया। दोनों अपने-अपने इष्ट की प्रशंसा करने लगे। माँगने पर भी खेत के मालिक ने इनको खरबूजा ककड़ी न दीं। दोनों आगे बढ़े, बर्फ पर गिर पड़े। एक यक्ष को दया आई उसने इनसे कहा तुम दोनों एक-एक वर माँग लो। तब एक ने ककड़ी दूसरे ने खरबूजा माँगा। इसी बीच प्राण छूट गये। वासना के अनुसार इन्हें शृगाल की योनि मिली। दोनों ने अभीष्ट भोग पाये। संसृति के चक्कर में पड़कर मरते और पैदा होते रह गये।

तेरेई वियोग अन्न जल सब त्यागि दियौ, जियौ नहीं जात वापै वेगि सुधि लीजियै।
हाथ पै प्रसाद दीनों आय घर चीन्ह लीनों, सुपनौ सौ गयौ बीति प्रीति वासों कीजियै।।
द्वारिका कौ संग सुनि आवत ही आगै चल्यौ, मिल्यौ भूमि पर दृग भरि वहै दीजियै।
कही सब बात स्याम धाम तज्यौ ताही छिन, कर्‌यौ वनवास दोऊ अति मति भीजियै।।५३६।।

भावार्थ—फिर भगवान ने कोल्हजी से कहा—तुम्हारे वियोग में तुम्हारे छोटे भाई ने अन्न-जल त्याग दिया है। तुम्हारे वियोग में वह अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता है। इसलिए अब तुम शीघ्र घर जाकर उसकी खबर लो यह कहकर भगवान ने कोल्हजी के हाथ में प्रसाद दिया। शंख-चक्र के चिन्ह लेकर आप घर को आ गये। अपमान का दुःख स्वप्न में हुए दुःख के समान बिल्कुल भूल गया। मन में उसके प्रति अपार प्रेम हो गया। इधर छोटे भाई श्रीअल्हजी ने जब सुना कि मेरे बड़े भ्राता कोल्हजी दिव्य द्वारिका का दर्शन करके आ रहे हैं तो उनके स्वागत के लिए चले। भाई को देखकर भूमि पर पड़कर प्रणाम किया। आँखों में आँसू भर गये। श्रीकोल्हजी ने अल्हजी को भगवत्प्रसाद दिया। श्रीकोल्हजी ने द्वारिकापुरी की सब बातें तथा भगवान ने जो कुछ कहा था, वह सब कह सुनाया। उसी समय श्रीअल्हजी गृह और गृह की आसक्ति को सर्वथा त्यागकर वन में रहने लगे। दोनों भाइयों की बुद्धि भक्त-भगवन्त के प्रेम में सराबोर हो गई।।५३६।।

व्याख्या—तेरेई वियोग-भगवान ने पुनः कहा कि तुम तो बड़प्पन में आकर उसके सम्मान को अपना अपमान समझ रहे हो और वह तुम्हारे दुःख से दुःखित होकर अन्न-जल त्यागकर मरने को तैयार है। अपनी ओर देखो और उसकी ओर देखो। यदि तुम शीघ्र ही उसके पास नहीं पहुँचोगे तो वह शरीर त्याग देगा। 'हाथ पै प्रसाद'-जब भगवान ने कहा—चलो, प्रसाद ले लो तब श्रीकोल्हजी प्रसाद पाने के विचार से बैठ गये। रुक्मिणीजी ने पाने के लिए न परोस कर ले जाने के लिए दो पारस दिये। इनके मन में दुःख हुआ तो उठ खड़े हुए। जब भगवान ने पूर्वजन्म का प्रसंग सुनाया और प्रबोध अर्थात् वह ज्ञान दिया जिसमें मान-अपमान, निन्दा-स्तुति में समभाव होता है। अब इन्हें अल्हजी के पास पहुँचने की जल्दी पड़ी, तब भगवान ने दोनों पारस उठाकर इनके हाथ में दिये। शंख-चक्र की छाप दी और अल्हजी के पास जाने की आज्ञा दी। नहीं तो द्वारका में पहुँचने पर इनका विचार वहाँ से लौटने का नहीं था। श्रीकोल्हजी जल्दी-जल्दी भगवान के पार्षदों को और द्वारिका धाम को प्रणामकर चल दिये। प्रभु-कृपा से क्षणमात्र में भौम द्वारिकाधाम में आ गये। उस समय श्रीपीपाजी की तरह इनके भी 'सूखेपट भीजे हिये' अर्थात् वस्त्र सूखे थे और हृदय प्रेम में डूबा था। यहाँ श्रीअल्हजी को ढूंढने लगे। तो लोगों के द्वारा ज्ञात हुआ कि वे घर गये। अब इन्हें घर पहुँचने की जल्दी हुई। इन्होंने आँख मूंदकर व्याकुलता से प्रभु का ध्यान किया तो क्षणमात्र में अपने गाँव के निकट आ गये।

सुपनौ सो गयौ बीति—भगवान के द्वारा प्रबोध पाकर अपमान का दुःख स्वप्न दुःख के समान हो गया। प्रबोध होने पर जागृत अवस्था हो गई। मेरा अपमान हुआ था यह मानने में इन्हें संकोच हुआ। यथा—'सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई।' स्वप्न का दुःख बिना जागे दूर नहीं होता है और मोह का दुःख बिना ज्ञानोदय के दूर नहीं होता। यथा—'जो सपने सिर काटै कोई। बिन जागे न दूरि दुख होई।।' अब अल्ह के प्रति उस प्रीति का उदय हुआ, जो भक्त के हृदय में भक्त-भगवन्त के प्रति होनी चाहिए। भगवान से भी बढ़कर भगवद् दास मान्य हैं। यह भाव आ गया।

द्वारिका कौ संग सुनि०—श्रीअल्हजी का अनशन व्रत प्रसिद्ध हो गया था। श्रीकोल्हजी को देखकर किसी ने दौड़कर इनके शुभागमन की सूचना दी। श्रीअल्हजी ने जब सुना कि दिव्य द्वारिका में भगवान का सत्संग प्राप्त कर बड़े भाई साहब आ रहे हैं। तो वे दौड़कर आये। श्रीकोल्हजी ने पहले ही सोच रखा था कि अब अल्हजी को छोटा न मानकर मैं उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करूँगा अतः अल्हजी के आते ही पृथ्वी पर पड़ गये। यह

देखकर श्रीअल्हजी लपककर श्रीकोल्हजी के चरणों की धूलि मस्तक पर धारण की और स्वयं भी पुनः साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने लगे। दोनों के नेत्रों से अश्रुधारा तो बह ही रही थी। ग्रामवासियों की भीड़ भी पारस्परिक प्रेम को देखकर रो-रोकर प्रणाम कर रही थी। दोनों भाई छाती से छाती लगाकर मिले। श्रीकोल्हजी ने रोकर कहा—'वहै दीजियै' अर्थात् जिस भक्ति के अधीन प्रभु ने हुँकारी भरी और माला दी वही भक्ति हमको भी दीजिये। श्रीअल्हजी ने भी कहा—'वहै दीजियै' जिस भक्ति-भाव से आपने दिव्य द्वारिका और श्रीद्वारिकानाथ का दर्शन किया एवं कृपा-प्रसाद प्राप्त किया वह भक्ति-भाव हमें दीजिये।

धाम तज्यौ ताही छिन—अपने सम्बन्ध में भगवान के द्वारा कहे गये वार्ता-प्रसंग को सुनकर श्रीअल्हजी प्रेममग्न हो गये। मुझ विषयी को प्रभु ने माना, भक्त माना, मेरे लिए प्रसाद भेजा, मुझ पर बड़ी कृपा की, यह स्मरण कर मन पूर्णरूप से भगवान की ओर लग गया अतः गृहासक्ति अपने आप छूट गई। जैसे श्रीगदाधरदासजी जीवगोस्वामी के पत्र को पढ़ते ही वहीं से वृन्दावन धाम को चल दिये, उसी प्रकार श्रीअल्हजी भी वहीं से कोल्हजी के साथ-साथ श्रीवृन्दावन आ गये और दोनों भाई प्रेम में पग गये।

* श्रीनारायणदासजी *

अल्ह ही के वंश में प्रसंस याहि जानि लेव, बड़ौ और भाई छोटौ श्रीनारायण दास है।
दीरघ कमाऊ लघु उपज्यौ उड़ाऊ, भाभी दियो सीरौ भोजन लै भयौ दुख रास है।।
देवौ मोकों तातौ करि बोली वह क्रोध भरि, यहू जा हुँकारौ भरवावै कियो हास है।
गयौ गृह त्यागि हरि पागि कर्‌यौ वैसे ही जू, भक्ति बस स्याम कह्यौ प्रगट प्रकास है।।५३७।।

भावार्थ—सज्जनों के द्वारा प्रशंसनीय श्रीनारायणदासजी को भक्तवर श्रीअल्हजी के वंश में ही प्रकट हुआ जान लीजिये। इनसे बड़े और दूसरे भाई थे, ये सबसे छोटे थे। बड़े भाई लोग अन्न-धन का उत्पादन करने वाले थे और ये श्रीनारायणदासजी कुछ भी कमाते नहीं थे। केवल खर्च ही खर्च करते थे। एकदिन इनकी भाभी ने इन्हें ठण्डा भोजन दिया। इससे इन्हें महान् दुःख हुआ। इन्होंने अपनी भाभी से कहा कि—'मुझे ताजा भोजन बनाकर दो।' इस पर वह क्रोध करके बोली—'तू अल्ह बाबा है क्या? जो मैं तुझे गर्म भोजन बना-बनाकर खिलाऊँ। जा, द्वारिका को चला जा और श्रीद्वारिकाधीशजी को कविता सुनाकर उनसे हुँकारी भरवा, तब मैं तेरा बहुत आदर किया करूँगी और ताजा भोजन बना-बनाकर खिलाऊँगी।' इस प्रकार उसने परिहास किया। श्रीनारायणदासजी को यह बात लग गई।

इन्होंने उसी क्षण घर छोड़ दिया और भगवान में उसी प्रकार का अनुराग किया जैसा कि श्रीअल्हजी करते थे। इन पर भी भगवान प्रसन्न हो गये क्योंकि वे तो भक्त प्रेम के वश में रहते हैं। मैं भक्त के अधीन हूँ, इसे स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से स्पष्ट कहा है।।५३७।।

व्याख्या—अल्हजी के वंश—श्रीनारायणदासजी श्रीअल्हजी के पौत्र थे।

दियो सीरौ भोजन—कुछ कमाते नही थे अतः भाभी का इनके प्रति स्वाभाविक दुर्भाव था। नित्य ही प्रायः परस्पर कुछ न कुछ कहा-सुनी हो जाती थी। एकदिन श्रीनारायणदासजी अपने बड़े भाई के साथ भोजन करने के लिए बैठे तो इनकी भाभी ने अपने पति के आगे ताजा-गर्म भोजन परोसा और इनको ठण्डा-बासी भोजन परोसा। बासी भोजन तामसी होने से त्याज्य होता है। यथा—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। (गी० १७-१०)

अर्थ—अध-पका रसहीन, दुर्गन्ध युक्त, वासी, जूठा और जो देवताओं को अर्पण करने के योग्य न हो, ऐसा भोजन तामसी मनुष्यों को प्रिय होता है। पुनः—ऐसे भोजन से आलस्य, प्रमाद एवं बुद्धि का नाश होता है। अभाव में यदि सभी लोग बासी खा रहे होते हैं तो इन्हें आपत्ति न होती। एक पंक्ति में बैठाकर भेद-बुद्धि से एक को ताजा और एक को बासी भोजन देना सर्वथा अनुचित है। जब श्रीनारायणदासजी ने कहा—'हमें भी ताजी रोटी दो।' तब भाभी ने कहा—'बस, ताजी तो उतनी ही बनाई थीं, सो परोस दी अब ताजी नहीं है।' श्रीनारायणदासजी ने कहा—'नहीं है तो बनाकर दो।' इस पर भाभी ने—'हुँकारौ...हास है' आदर के साथ ताजा भोजन कमाकर लाने वाले को अथवा भगवान का भजन करने वाले को ही मिल सकता है, तुम सरीखे अकर्मण्य को नहीं।

हरि पागि कर्‌यौ वैसे ही—राजा महाराजाओं को कविता सुनाकर उन्हें प्रसन्न करके धन कमाया जाय अथवा भगवान का भजन। इन दोनों में से श्रीनारायणदासजी ने भक्ति-मार्ग को ही अपनाया। क्योंकि—'एष निष्कण्टकः पन्थाः।' भक्त वंश में उत्पन्न हुए थे अतः भक्ति-मार्ग अच्छा लगा। घर छोड़कर द्वारिकाजी को गये। वहाँ श्रीअल्हजी में और उनके चरित्र में तल्लीन होकर भजन करने लगे अतः अल्हजी की-सी भक्ति का उदय इनमें भी हुआ। भक्तमाल फलस्तुति दोहा २१२ में कहा गया है कि जिस भक्त की भक्ति या

चरित्र में जिसका अनुराग होगा। वह उसकी भक्ति का भागीदार होगा। श्रीनारायणदासजी ने जब श्रीद्वारिकाधीशजी को कविता सुनाकर विनती की, तो भगवान ने हुँकारी भरी और माला-प्रसाद आदि देकर इनका सम्मान किया। परन्तु अपनी भक्ति को ख्यात करने के लिए आप घर नहीं गये। ये श्रीअल्हजी के वंशज थे अतः प्रभु इन पर विशेष अनुराग करते। इनकी कविता पर भी भगवान ने हुँकारी भरी यह सुनकर इनके भाई और भाभी भी इनका दर्शन करने के लिए द्वारिका आये। भाभी प्रार्थना करती हुई क्षमा-याचना करने लगी और बोली कि—'अब आप घर पर चलकर ही रहो क्रोध या अज्ञानवश जो कुछ मुख से निकल गया, उसे क्षमा करो।' श्रीनारायणदासजी ने कहा-'आप लोग पिता-माता के तुल्य हैं, आपने मेरे साथ बड़ा-भारी उपकार किया जो भक्तिपथ पर चलने की प्रेरणा दी। इस उपकार का बदला मैं किसी भी प्रकार से नहीं चुका सकता हूँ। अब आप लोग ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मैं भगवद्-भजन कर सकूं।' आप घर नहीं गये। जैसे श्रीध्रुवजी ने विमाता का, श्रीनरसीजी ने अपनी भाभी का उपकार माना, उसी प्रकार श्रीनारायणदासजी ने भी। भक्तिवश श्याम-देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २७३ में अहं भक्त पराधीनः, तथा 'भक्तिप्रियो माधवः।'

* श्रीपृथीराजजी *

नरदेव उभै भाषा निपुन पृथीराज कविराज हुव।।
सवैया गीत श्लोक बेलि दोहा गुन नवरस।
पिंगल काव्य प्रमान विविध विधि गायौ हरि जस।।
पर दुख विदुख श्लाघ्य वचन रचना जु विचारै।
अर्थ विचित्र निमोल सबै सारंग उर धारै।।
रुक्मिनी लता बरनन अनूप बागीश बदन कल्यान सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुन पृथीराज कविराज हुव।।१४०।।

शब्दार्थ—नरदेव उभै भाषा=(राजस्थानी) हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषायें। हुव=हुए। सवैया=एक वर्णच्छन्द, जिसमें आठ सगण अथवा सात भगण और दो गुरु होते हैं। गीत=गायन, पद। श्लोक=अनुष्टुपछन्द, संस्कृत छन्द। बेलि=छन्द विशेष। दोहा=एक मात्रिक छन्द।

गुन=काव्यगुण। पिंगल=छन्द शास्त्र। परदुःख विदुख=दूसरों के दुःख से विशेष दुःखी। विदुष=पण्डित। श्लाघ्य=प्रशंसनीय। अर्थवित्त=कविता का अर्थ रूप धन। सारंग=भ्रमर। सुव=पुत्र। वागीश वदन=सरस्वती कण्ठ।

भावार्थ—श्रीकल्याणसिंहजी के सुपुत्र श्रीपृथ्वीराजजी संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में काव्य रचने में बड़े निपुण हुए। आपके द्वारा रचित सवैया, गीत, श्लोक, बेलि, दोहा आदि विविध छन्दों में काव्योचित गुण, साहित्य के नव रस पाये जाते हैं। आपने छन्दः शास्त्र के सभी नियमों का पालन करते हुए अनेक प्रकार से हरियश का वर्णन किया। दूसरे को दुःखी देखकर उसे सुखी करने का उपाय करते थे। आपकी वचन-रचना विद्वानों के द्वारा प्रशंसनीय है। काव्य के अर्थरूपी धन को अमूल्य मानकर उसे अपने हृदय में उसी प्रकार धारण करते थे जैसे भ्रमर मकरन्द को। 'कृष्ण रुक्मिणी बेलि' नामक आपका काव्य अनुपम है। उसके पढ़ने से ऐसा लगता है कि आपके कण्ठ में सरस्वती का वास था।।१४०।।

व्याख्या—नरदेव उभै भाषा निपुन—मनुष्य भाषा में निपुण इसलिए थे क्योंकि आपमें पूर्ण रूप से मनुष्यत्व था। मानव धर्म एवं मानव संस्कृति में निष्ठा थी। मनुष्यों के द्वारा आदरित थे। जो जिस देश-जाति की भाषा में निपुण होगा। उसका वहाँ आदर होगा और वहाँ की संस्कृति में उसकी निष्ठा संभव हो सकती है। देव-भाषा में निपुण थे। तात्पर्य यह कि आपमें देवत्व था, देवों में आपकी निष्ठा थी। देवगण आपका आदर करते थे। नर-भाषा में निपुण थे, उसी का फल है कि पृथ्वीराज थे। पुनः आपमें देवत्व था अतः देव-भाषा में निपुण थे, अतः उसका फल यह था कि कविराज थे। केवल तुकबन्दी करने वाला कवि नहीं कहलाता है। कवि अर्थात् सर्वज्ञ, विवेकी, बुद्धिमान उनमें राजा अर्थात् श्रेष्ठ थे। 'कवीनामुशना कविः।' (गीता) यदि कोई म्लेच्छ भाषा में निपुण हो तो उसका म्लेच्छ आदर करेंगे और उसमें भी म्लेच्छ भाव सम्भव है और उसकी म्लेच्छ गति भी हो सकती है अतः पूर्वाचार्यों ने उपदेश दिया कि—'न पठेत् यावनीं भाषाम्।' अर्थात् म्लेच्छ, यवन भाषा नहीं पढ़ना चाहिए। पृथ्वीराज में म्लेच्छत्व का अभाव तथा पूर्णरूप से मनुष्यत्व-देवत्व का विकास था। पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों की भाषा नर-भाषा है और ऊपर के लोकों में रहने वालों की भाषा देव-भाषा है अतः दो ही भाषायें मुख्य हैं। श्रीपृथ्वीराज दोनों में चतुर थे। भगवद् गुण-गान एवं स्तवन सच्चे प्रेमभाव से होना चाहिए। चाहे संस्कृत में हो अथवा भाषा में। संस्कृत मूल है और नर-भाषा शाखा है अतः दोनों का अध्ययन करना चाहिए। मूल के बिना शाखा एवं उसके बिना फल-फूल संभव नहीं और शाखा-फल और फूलों के बिना

मूल की शोभा नहीं। विशेष देखिये (तुलसीचरित पृष्ठ २८ में दोहा) दोनों भाषाओं में से किसी एक भाषा के द्वारा लौकिक पारलौकिक सम्पूर्ण लाभ सम्भव हैं। दोनों भाषाओं में सन्तों के वाक्य प्रमाण हैं।

दृष्टान्त—दो पण्डितों का—किसी नगर में दो पण्डित रहते और कथा-प्रवचन करते थे। एक संस्कृत के विद्वान् थे और दूसरे हिन्दी के। एक बाल्मीकि रामायण, भागवत आदि की कथा कहते थे, दूसरे रामचरितमानस, व्रजविलास, भक्तमाल आदि की। संस्कृत के विद्वान् भाषा ग्रन्थों के वाक्यों को प्रमाण नहीं मानते थे। कभी-कभी एक मंच पर दोनों एकत्र हो जाते तो वहाँ परस्पर विवाद हो जाता। दोनों अपने-अपने पक्ष पर दृढ़ रहते। एकबार दोनों में कड़ा संघर्ष हो गया। हाथा-पाई की नौबत आ गई। दण्ड-मुण्ड सम्मेलन की तैयारी हो गई। प्रबुद्ध श्रोताओं के बीच-बचाव करने पर भी वाक्‌युद्ध चालू रहा। हिन्दी के विद्वान् ने संस्कृत के विद्वान् को कई गालियां दे दीं। इससे क्रुद्ध होकर संस्कृत के पण्डित ने न्यायालय में मान-हानि का वाद उपस्थित कर दिया। दोनों न्यायालय में उपस्थित हुए। हिन्दी के पण्डित ने कहा—हमने हिन्दी भाषा में गाली दी है, वादी महोदय हिन्दी वाक्यों को प्रमाण नहीं मानते हैं, अतः हमारी गालियां इनकी दृष्टि में अप्रमाणित हैं, इन्हें बुरा नहीं मानना चाहिए। भाषा वाक्यों को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए हमने गाली दी इसलिए वाद व्यर्थ और निरस्त होने के योग्य हैं। संस्कृत के पण्डित ने कहा—गाली तो गाली है, चाहे जिस भाषा में हो। मानसिक भावों को प्रकट करने का माध्यम भाषा है। इनका मानसिक दुर्भाव प्रकट हुआ अतः प्रमाण है। हमारा अपमान हुआ। दोनों तर्कों को सुनकर विद्वान् न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि संस्कृत के पण्डित ने यदि हिन्दी को गाली मानी तो इन्हें अन्य हिन्दी वाक्य भी प्रमाण मानना चाहिए। अपमानित करने का लक्ष्य नहीं था अतः हिन्दी के पण्डित को मुक्त किया जाता है। तबसे संस्कृत के पण्डित भाषा वाक्यों को भी प्रमाण मानने लगे।

कविराज—कृष्ण रुक्मिणी बेलि काव्य के अतिरिक्त बीठल रा दूहा, (गुरु-प्रार्थना) श्रीकृष्ण-स्तुति, श्रीराम-स्तुति, गंगा-स्तुति, फुटकर गीत, पद और प्रशंसात्मक दूहा आदि विविध रचनायें प्रसिद्ध हैं। सभी प्रकार के छंदों में, सभी रस एवं अलंकारों का उत्कृष्ट रूप से समावेश हुआ अतः कविराज विशेषण अति उपयुक्त है। गुरु महिमा—

दीक्षा गुरु विठलेश हैं, गुरु गदाधर व्यास। चतुराई गुरु रामसिंह तीन गुरु पृथिदास।।

श्रीपृथ्वीराजजी मंगलाचरण में कहते हैं—

हरि ! जेम हलाड़ौ तिम हालीजै। काय धणां सूं जोर कृपाल।।
मोली दिवौ दिवौ छत्र माथै। देवो सो लेऊँ सदयाल।।
रीस करौ भावै रलियावत। गज भावै खर चाढ़ गुलाम।।
माहरै सदा ताहरी माहव। रजा सजा सिर ऊपर राम।।
तू सामी प्रिथीराज ताहरौ। बलि बीजो को करै विलाग।।
रुड़ौ जिकौ प्रताप रावलौ। भूड़ौ जिकौ अम्हीणौ भाग।।

अर्थ—हे हरि ! आप हमें जैसे चलाओ, हम वैसे ही चलते हैं। हे कृपालु! आप स्वामी से मुझ दास का क्या जोर है। आप चाहे मेरे सिर पर लकड़ियों का बोझ रख दें और चाहे छत्र रख दें। आप चाहे मेरे ऊपर क्रोध करें अथवा कृपा करें। यह आपकी इच्छा है। आप चाहें हाथी पर चढ़ा दें और चाहें गधे पर चढ़ा दें, मैं आपका गुलाम हूँ। हे माधव! मेरे ऊपर तुम्हारी सर्वदा कृपा है। हे राम! आपकी दी हुई सजा भी स्वीकार है। आप स्वामी हैं और पृथ्वीराज दास है, फिर दूसरा ऐसा कौन है जो हमें आपसे अलग कर दे। आपका प्रताप जितना श्रेष्ठ है। उतना ही मेरा भाग्य खोटा है। 'बेलि' काव्य के आरम्भ में आप कहते हैं कि मैं निर्गुण हूँ आप गुणनिधि हैं फिर भी मैं आपके गुणों का गान आरम्भ करता हूँ। जैसे कोई कठपुतली चित्रकार के चित्र का चित्रण करने लग जाय। यथा—

आरम्भ मैं कियो जेणि उपायो, गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठ चित्र पूतली निज करि, चीत्रारै लागी चित्रण।।

विविध विध गायौ हरिजस—श्रीपृथ्वीराजजी के काव्य में काव्योचित सभी गुण एवं साहित्य के सभी रस बड़ी गम्भीरता एवं सुन्दरता के साथ पाये जाते हैं। सखियाँ श्रीरुक्मिणी को श्रीकृष्ण के पास ले जा रही हैं, वह पद-पद पर रुकती हैं। जैसे मदमत्त हाथी लोह लंगर से बँधा चल रहा हो। उपमा में तीन बातें हैं, मत्तचाल, यौवन, मदोन्मत्तता और लज्जा। इस दोहले में अनुप्रास, यमक, रूपक, उपमा के दर्शन होते हैं। यथा—

अवलम्बि सखीकर पगि-पगि ऊभी रहती मद बहती रमणि।
लाज लोह लंगरे लगाइय गय जिम आणी गय गमणि।।

द्वारिका में प्रवेश करते समय श्रीकृष्ण की अगवानी के लिए एक ओर से पुरुष और दूसरी ओर से स्त्रियाँ चलीं। मानों द्वारिका नगरी अपनी दोनों बाँहों को फैलाकर श्रीकृष्ण से मिलने चली हों यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा आदि दीखते हैं। यथा—

नर मारगि एकि एकि मगि नारी क्रमिया अति उछाह करेउ।
अंकमाल हरि नगर आपि वा बाहां तिकरि पसारी वेउ।।

श्रीरुक्मिणीजी के अंग-अंग पर रत्न जटित आभूषण उनकी नीली साड़ी के भीतर ऐसे जगमगाते हैं, मानों कामदेव ने प्रसन्न होकर दीपमाला सजाई हो। इस छन्द में अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, पुनरुक्ति प्रकाश झलकते हैं। यथा—

अन्तरि नीलम्बर अबल आभरण अंगि अंगि नग नग उदित।
जाणे सदनि सदनि संजोयी मदनि दीपमाला मुदित।।

गुरुदेव की कृपा के बिना अज्ञान-अन्धकार दूर नहीं होता। बल्लभदेव सुत ने ज्ञान दर्पण दिया। गुरु श्रीविुलनाथ की शरण ग्रहण करके फिर प्राकृत कवितायें नहीं लिखी।

आनि त्रिलोक त्रिवाह सोझन्ता सूझे नहीं। आरीसौ आगाह दीठौ बल्लभ देव सुत।।

कालिय—दमन, वस्त्र-हरण, सर्वस्व समर्पण आदि लीलाओं के वर्णन प्रसिद्ध हैं। नाग के एक-एक फण पर पैर रखकर मृदंग के ताल थेई-थेई के साथ नृत्य करने लगे। यथा—

सो०— प्रभु दे फणि फणि पाग थइ थइ नृत करता थियां।
नाचवियै तैं नाग विहवल वसदेराव उत।।

गोपियाँ जल में हैं, उनके वस्त्रों को लेकर निर्गुण वासुदेव वृक्ष पर विराज गये। देखने में अवगुण है पर यह लीला गुणातीत है—

सो०- नारी अन्तरि नीर निरखै अवगुण औ निगुण।
चढ़ियो तरवर चीर वसि करि वसदेराव उत।।

आत्मा, शरीर और मन-वाणी-कर्म इन सबको, हे हरि! मैंने आपको अर्पण कर दिया है, अब मेरे पास अपना कुछ नहीं है-

सो०— आतम काया आथि मनछा वाचा करमणा।
हरि मैं तोरे हाथ बेच्या वसदेराव उत।।

श्रीराम-स्तुति में बाललीला वर्णन का एक सोरठा। कौशल्या के आँगन में सुन्दर श्याम-शरीर श्रीराम बाल-विनोद करते हुए बढ़ने लगे—

सो०— सुन्दर स्याम सरीर अम्ब कउसिल्या आँगणै।
बाधण लागउ बीर दिनि दिन दसरथ देव उत।।

श्रीगंगाजी की स्तुति करते हुए श्रीपृथ्वीराजजी कहते हैं कि मेरे जन्म-जन्म के पाप समूह को गंगा-माता ने एक साथ ही काटकर मुझे भव-बंधन से मुक्त कर दिया। यथा—

सो०— कीधा पाप जिकेह जनम जनम तइँ जू जुवा।
तइँ भांजिया तिकेह भेला ही भागीरथी।।

भक्ति विषयक फुटकर बहुत से गीत हैं प्रह्लाद, गज, परीक्षित, ग्वाल-बाल और पाण्डव आदि सभी की सुध ली, सबको संकट से बचाया। भक्तों का स्वामी स्वामित्व को निभाने वाला श्रीकृष्ण सरीखा दूसरा नहीं दीखता है।

प्रह्लाद भाल गण भाल परीखत गुवाल पण्डवां भणी।
सारीखो कोई ना सूझै सांवला धणींयप करै सेवगां धणी।।

इस प्रकार कुल मिलाकर ४३४ दोहे और सोरठा तथा ६८ गीत विशेष प्रसिद्ध हैं।

पिंगल काव्य प्रमान—पृथ्वीराजजी की सभी कवितायें पिंगल अर्थात् छन्दः शास्त्र के द्वारा प्रमाणित हैं छन्दों में गुरु लघु वर्णों का और गणों का यथा-स्थान प्रयोग किया गया है। इन नियमों का उल्लंघन करने से कविता में दोष आ जाते हैं। पिंगल एक भाषा भी राजस्थानी के अन्तर्गत है। ये पिंगल-डिंगल दोनों के कवि थे। बेलि में डिंगल भाषा का ही प्रयोग है। छन्द और काव्य-शास्त्र से प्रमाणित छन्द उत्तम माने जाते हैं। यथा—

रचि छन्दहिं सुद्ध रसौ अविरुद्ध सुबुद्ध सचौ शुभ भूषण है।
जुत जुक्ति अनूठिय उक्ति समेत सुअर्थ सुवर्न विदूषन है।।
गुन जाल गुपाल गुहौ मनिमाल बिसाल हृदै कवि भूषन है।
कविता समसार पियूषन है श्रुति भूषन है दृग पूषन है।।

गायौ हरिजस—जिस कविता में भगवान का सुयश नहीं है, उसका पढ़ना उसी प्रकार नीरस है जैसे कठपुतली का संग। यथा-(पुरानी टिप्पणी में)

हरिजस रस नहिं कवित महिं सुने कौन फल ताहि।
सठ कठपुतरी संग घुरि सोये को फल ताहि।।

वचन रचना जु विचारै—विचार करके शास्त्र-सम्मत वाक्यों की रचना करते थे। कवि छन्द में चरन रखते समय विचार करते हैं। और सुवर्ण अर्थात् अच्छे अक्षर को ढूंढ़ते हैं। इन्हें शोर अच्छा नहीं लगता है। यथा—

चरन धरत शंकत हिये भावत नाहीं शोर। सुवरन को ढूँढ़त फिरत कवि विभिचारी चोर।।

सारँग उर धारै—एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। उन्हें भ्रमरवत् सारग्राही कहा गया है। दूसरा अर्थ यह है कि 'सारं गीयते इति सारङ्गः' सार-तत्त्व जो प्रभु एवं उनके गुणगण उन्हें गाने वाले को—सारंग कहा जाता है अतः साधु-सन्त ही सारंग हैं। 'सबै सारँग उर धारै' का अर्थ है, सभी साधु-सन्त आपकी कविताओं को अपने हृदय में—कण्ठ में धारण करते थे। जिसका आदर सन्त न करें, वह काव्य व्यर्थ है। यथा—'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदर हीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं।। (रा०)

रुक्मिनीलता वरनन अनूप—राजस्थानी डिंगल भाषा के इस काव्य का नाम है 'बेलि क्रिसन रुकमणी री'। श्रीमद्भागवत की सुप्रसिद्ध कथा का ही सविस्तार वर्णन है। शृंगार-रस की प्रधानता के साथ अन्य सभी रस भी यथा-स्थान पाये जाते हैं। इसकी आठ-दस टीकायें और संस्कृत, गुजराती आदि में कई अनुवाद हुए हैं। श्रीरुक्मिणी का पत्र लिखना, श्रीकृष्ण का आना, शिशुपाल आदि से युद्ध, विवाह, द्वारिका में विहार आदि का सांगोपांग वर्णन है। प्रस्तुत काव्य के अन्त में कवि का कथन है कि इसका भलीभाँति रसास्वादन करने के लिए तथा अर्थ लगाने के लिए ज्योतिषी, वैद्य, पुराणकार, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक, चारण, भाट, भाषा-चित्रकार तथा सुकवि होना आवश्यक है। यथा—

जोतिखी वैद पौराणिक जोगी संगीतो तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र करि एकठा तो अरथ कहि।।

इस काव्य का नाम बेलि है। उसका हेतु कवि के अनुसार यह है। इसका बीज भागवत पुराण, पृथ्वीराज का मुख पृथ्वी है जिसमें बीज बोया गया। मूल-पाठ डालियाँ, अर्थ जड़ें और श्रोताओं के स्थिर कान ही मण्डप हैं, जिनके ऊपर यह चढ़ी रहती है। सुख रस की पंखुड़ियाँ हैं, अक्षर ही पत्ते हैं। भगवत् यश सुगन्ध है, नवरस इसके तन्तु हैं। यह दिन-रात बढ़ने वाली हैं, भक्ति इसकी मंजरी है, साहित्य रसिक भक्त भ्रमर हैं, मुक्ति इसका फूल है और परमानन्द का भोग इसका फल है। ग्रन्थ छन्द संख्या लगभग ४६० कही जाती है। चाहे जिस कसौटी पर बेलि को कसा जाय, चाहे जिस दृष्टिकोण से उसकी परीक्षा की जाय वह अत्यन्त ही सराहनीय श्रेष्ठ काव्य है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही अनुपम हैं। बेलिकी रचना गागरौनगढ़ सं० १६३८ में हुई (अकबर द्वारा गागरौनगढ़ इनको दिया गया था)।

श्रीपृथ्वीराजजी मूलतः भगवद्-भक्त उसके बाद कवि एवं योद्धा थे। इसमें सन्देह नहीं कि बेलि शृंगार-रस का ग्रन्थ है परन्तु केवल शृंगार-रस की पिपासा शान्ति के लिए इसकी रचना नहीं हुई है, इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। इसका स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थ के अन्तिम भाग में हुआ है। सारे ग्रंथों को ईश्वर-भक्ति का रूप देकर इसे सांसारिक-सुख वैभव, यश ऐश्वर्य आदि का साधन तथा जीवन-मुक्ति की सीढ़ी एवं स्वर्गलोक की सीढ़ी बताया है। द्वारिका के अन्तःपुर में कृष्ण-रुक्मिणी का वर्णन करके कवि ने अपना सखीरूप भी प्रकट कर दिया। रुक्मिणी की सखी सरस्वती द्वारा जैसा जाना वैसा लिखा यह कहकर उसे सत्य प्रमाणित किया और युक्तिपूर्वक अपने ऊपर से भार उतार दिया। यह भी प्रसिद्ध है कि ग्रन्थ को समाप्त कर जब ये उसे द्वारिका में श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करने जा रहे थे, तो श्रीकृष्ण को सुनने की इतनी उत्कण्ठा हुई कि मार्ग में ही एक वैश्य के रूप में आकर इनसे मिले और उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़े प्रेम से सुना। अनेक भाषाओं के साथ संस्कृत में भी बेलि की दो टीकायें हुईं। सं० १७०३ में श्रीसार ने श्रीकृष्णानन्द की आज्ञा से लाहौर में जो टीका की उसमें कई प्रशंसात्मक श्लोक हैं। यथा—

पृथ्वीराजावतारेण भक्तानुग्रहकाम्यया।
स्वयं नारायणो रूपं जगाद चरितं हि तम्।।१।।
दाता भोक्ता हरेर्भक्तः कर्ता शास्त्रस्य शास्त्रवित्।
पृथ्वीराज समो राजा न भूतो न भविष्यति।।२।।

अर्थ—भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने की कामना से स्वयं नारायण भगवान ने पृथ्वीराज का रूप धारण कर अपने चरित्र का वर्णन किया।।१।। शास्त्रानुकूल सुखों का तथा भक्ति-रस का अनुभव करने वाला, दानी, भक्ति काव्य का रचयिता, भक्त और शास्त्रज्ञ पृथ्वीराज के समान दूसरा राजा नहीं हुआ।।२।।

बेलि के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी उनकी विशुद्ध भक्ति-भावना प्रकट है। यथा—'देखि देखि गिरिधरन राधिका प्रभुदास बलिजाई....आज मोपै शोभा वरणि न जाई।' संसारी वैभव को प्राप्तकर यदि प्रभु को भुला दिया तो मानो कौड़ी के बदले हीरा खो दिया। यथा—'हीरो कांइ कवड़ी साटै हारै। कहि समझायो आतम केतो, विभौ किसौ जिणि हरि बीसारै।।' प्रेम के बिना यज्ञ-दान-तप व्यर्थ हैं। यथा—'प्रीति बिना हरि ना मिलैं, देखे बहुत विचारि।।' 'कहा तप गनिका कियौ कहा दियौ सुदामा दान। प्रेम सहित गजराज पुकार्यौ

ताको प्रकट मिले भगवान।।' इनकी कृतियों में दास्य और शृंगार दोनों मिलते हैं परन्तु शृंगार में इनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी थी अतः उसमें अधिक सरसता है। यथा-'रहु रहु रे नन्दकुमार! सलोने साँवरे। मेरो टूटैगो मोतियन को हार सलोने सांवरे।।' गोपी भाव की अनुभूति करके आपने लिखा—'हरि विछुरत निकसैं नहीं प्रेम लजावत प्राण। लाइक होइन दुखन को ढूंढत फिरऊँ मसान।।' इनके काव्य में तन्मयता-वेदना और कलात्मकता के एक-साथ दर्शन होते हैं।

वागीश वदन—सरस्वती कण्ठ में थी इसके अतिरिक्त भाव यह है कि वागीश वदन यह भगवान का विशेषण है, नाम है। यथा—'वागीशा यस्य वदने।' (श्रीधरजी) पूरा श्लोक द्वि० खण्ड पृ० २९४। सरस्वती भगवान के श्रीमुख में निवास करती हैं, भगवान की कृपा से भक्त के कण्ठ में भी निवास करती हैं। ऐसा कहकर भक्त-भगवन्त की एकता प्रतिपादित की गई।

मारवार देस बीकानेर कौ नरेश बड़ौ, 'पृथ्वीराज' नाम भक्तराज कविराज है।
सेवा अनुराग और विषय वैराग्य ऐसौ, रानी पहिचानी नांहि मानों देखी आज है।।
गयौ हो विदेश तहाँ मानसी प्रवेस कियौ, हियौ नहिं छुबै कैसे सरै मन काज है।
बीते दिन तीन प्रभु मन्दिर न दीठि परै, पाछै हरि देखि भयौ सुख कौ समाज है।।५३८।।

भावार्थ—मारवाड़ प्रान्त में स्थित बीकानेर के राजा श्रीपृथ्वीराजजी बहुत बड़े भगवद्-भक्त और महान् कवि थे। भगवान की सेवा में आपको बड़ा-भारी प्रेम था और विषयों से ऐसा वैराग्य था कि आपने अपनी रानी को भी नहीं पहचाना। इन्हें ऐसा लगा कि इससे पहले देखा ही नहीं था, आज देखा है। एक बार आप विदेश गये, वहाँ आपने मानसी-सेवा के निमित्त मन से मन्दिर में प्रवेश किया परन्तु हृदय में भगवान के दर्शन नहीं हुए। अब कैसे सेवा हो और बिना सेवा भोजन-पान आदि कैसे हों। इस प्रकार तीन दिन बीत गये और भगवान के दर्शन मन्दिर में नहीं हुए। चौथे दिन मन्दिर में भगवान के दर्शन हुए, तब आपने उनकी मानसी-सेवा की और महान् सुख का अनुभव किया।।५३८।।

व्याख्या—सेवा अनुराग—दीक्षा देने के साथ ही साथ श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें सेवा का रहस्य बताकर सेवा सौंपी। तभी से इन्हें अनुराग हो गया। सेवा छोड़कर मुक्ति भी भक्त लोग नहीं चाहते हैं (देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ २१८) पुनः—सेवा के अनुरागी चन्द्रहास, नामदेव, देवा पण्डा, सिलपिल्ले भक्ता बाइयों की कथायें द्रष्टव्य हैं।

विषय वैराग्य—लौकिक विषयों में शारीरिक एवं मानसिक रोग रहते हैं अतः त्याज्य हैं। यथा—

हांसी में विषाद बसै विद्या में विवाद वाद, भोग माहिं रोग पुनि सेवा माहि दीनता।
आदर में मान बसै सुचि में गिलान बसै, आवन में जान बसै रूप माहिं छीनता।।
जोग में अभोग और संयोग में वियोग बसै, पुण्य माहिं बन्धन औ लोभ में अधीनता।
निपट नवीन ये प्रवीननि सुबीनि लीन, हरि जू सों प्रीति सबही सों उदासीनता।।

प्राणी सुख के लोभ से विषयों का सेवन करता है, पर जहाँ सुख है नहीं वहाँ कैसे मिलेगा। इस प्रकार सुख से दूर दुःख के निकट पहुँचता है। यथा—(भा० ११-२१-२२)

विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः। वारुणी दिग्गत वस्तु व्रजन्नैद्रीं किमाप्नुयात्।।
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्। वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्।।

अर्थ—जिनका चित्त विषयों में लगा है, ऐसे लोगों का भगवान में प्रेम होना बहुत कठिन है। जैसे किसी की वस्तु खोई और पूरब को गई। उसे ढूंढ़ने वाला यदि पश्चिम दिशा को चला जाय तो क्या वह वस्तु मिल सकती है? अर्थात् नहीं। (विषयों में और प्रेम में ३६ का-सा सम्बन्ध है) पुनः—विषयों का चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षों के समान जड़ हो जाता है। उसके शरीर में उसी प्रकार व्यर्थ श्वास (दूसरों को जलाने के लिए) चलता रहता है, जैसे लोहार की धौंकनी की हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न दूसरे आत्मा-परमात्मा का। वह सर्वथा ज्ञान-भक्ति से वंचित हो जाता है। विषयों की ओर से मन मोड़ने पर ही राम की ओर दृष्टि पड़ती है, जैसे केंचुल छोड़ने पर ही सांप को दिखाई पड़ता है। यथा—'राम प्रेम पथ पेखिये दिये विषय तन पीठि। तुलसी केचुल परिहरे होत सांप को दीठि।।' विषयों के वश सभी जीव हो जाते हैं। यथा—'विषय वश्य सुर नर मुनि स्वामी।' ये राजा होकर विषयों से विरक्त रहे यह विशेषता है।

रानी पहिचानी नाहिं—भगवान की शोभा हृदय में और नेत्रों में सब प्रकार व्याप्त हो गई थी कि दूसरी शोभा, शोभा नहीं प्रतीत होती थी। कहाँ तो रानी के वियोग में व्यथित थे और अब जब से गुरु-कृपा हुई है, तबसे अन्यों की ओर मन ही नहीं जाता है। एक बार आप उत्सव के अवसर पर भगवान की सेवा कर रहे थे, उसी समय रानी चम्पादेवी (चाँपादे) दर्शन करने आईं। तो आपने उसे नहीं पहचाना। साथ में दासी थी, उससे पूछा कि ये कौन हैं। उसने बताया कि—ये रानी साहिबा हैं। रानी को भी आश्चर्य हुआ कि इनका मन प्रभु में पूर्ण आसक्त है। रानी ने भी सेवा करना आरम्भ कर दिया।

मानसी प्रवेश कियौ—भावुक भक्तजन अष्टयाम मानसी-सेवा करते हैं। एक पद्धति तो यह है कि मन-मन्दिर में मनमोहन इष्टदेव की पूजा करना। दूसरी रीति में मन से मन्दिर में प्रवेश कर सम्पूर्ण सेवा करना। बीकानेर में मन्दिर था, आप नित्य वहाँ सेवा करते थे। जब बीकानेर से बाहर जाते तो मन से यहीं मन्दिर में आकर सेवा करते। मानसी-सेवा के दृष्टान्त हैं—श्रीरघुनाथदासजी (द्वि० खं० पृ० ७४६)। टी० क० ३ में मानसी सुनथ की व्याख्या तथा टी० क० १० में मानसी-स्वरूप की व्याख्या देखिये।

प्रभु मन्दिर न दीठि परै—मन्दिर में प्रभु नहीं दीखे अतः सेवा नहीं हो सकी। बिना सेवा किये तीन दिन तक आपने भोजन-प्रसाद नहीं पाया। एक दिन श्रीहरिरामव्यास को भी ध्यान में दर्शन नहीं हुए, वहाँ उसका कारण भक्तापराध था। श्रीकबीरजी की स्तुति करके जब क्षमा कराया, तब दर्शन हुए, यहाँ ऐसी बात नहीं थी। यहाँ ध्यान की सत्यता थी, जब मन्दिर में प्रभु हैं ही नहीं, तो दर्शन कैसे हों। यदि कोई यह कहे कि भगवान बाहर जहाँ थे, वहाँ क्यों नहीं दीखे और मन्दिर में जो मजदूर लगे थे, वे क्यों न दिखाई पड़े। तो उसका समाधान यह है कि आपने मन्दिर के बाहर ध्यान नहीं किया और मजदूरों का ध्यान नहीं किया। अतः वे नहीं दिखाई पड़े। यथा—'तब शंकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना।।' ध्यान करके देखने से जाना जाता है। बिना ध्यान किये ही सम्पूर्ण का ज्ञान भगवान को होता है। यथा—'सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सब दरसी सब अन्तरजामी।।' यद्यपि सती ने सीता का रूप धारणकर रखा था, पर श्रीरामजी ने बिना ध्यान किये ही जान लिया कि ये सतीजी हैं।

लिखिकै पठायौ देस सुन्दर सन्देश यह, मन्दिर न देखे हरि बीते दिन तीन हैं।
लिख्यौ आयो सांच बांचि अति ही प्रसन्न भये, लगे राज बैठे प्रभु बाहर प्रवीन हैं।।
सुनौ एक और यों प्रतिज्ञा करी हिये धरी, मथुरा सरीर त्याग करैं रस लीन हैं।
पृथीपति आनिकै मुहीम दई काबुल की, बल अधिकाई नहीं काल के अधीन हैं।।५३९।।

शब्दार्थ—राज=कारीगर, मिस्त्री। मुहीम=कठिन लड़ाई, आक्रमण। काबुल=एक बड़ा नगर जो अफगानिस्तान की राजधानी है और काबुल=नामकी नदी के तट पर बसा हुआ है।

भावार्थ—भक्तराज राजा पृथ्वीराजजी ने पत्र में यह सुन्दर सन्देश लिखकर अपने देश को भेजा कि तीन दिन तक मन्दिर में भगवान के दर्शन नहीं हुए। वहाँ से जो उत्तर लिखकर

आया उसे पढ़कर आप अत्यन्त प्रसन्न हुए। पत्र में लिखा था कि मन्दिर में सफाई-पोताई एवं मरम्मत के लिए कारीगर लगे थे, इसलिए भगवान तीन दिन तक दूसरी जगह विराजे थे। एक चरित्र और सुनिये, भगवत्प्रेम में तन्मय होकर राजा पृथ्वीराज ने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने शरीर को मथुरापुरी में छोड़ूंगा। यह जानकर परीक्षा के लिए बादशाह ने इन्हें काबुल की लड़ाई पर भेज दिया। आपमें महान् आत्मबल था अतः आप काल के अधीन नहीं थे। (अर्थात् इच्छानुसार शरीर त्यागने की आपमें सामर्थ्य थी)।।५३९।।

व्याख्या—मथुरा शरीर त्याग करै—यद्यपि भक्ति के लिए आवश्यक नहीं है कि वह देश-काल का विचारकर शरीर त्याग करे। परन्तु भावुक-भक्त अपनी भावना के अनुसार शरीर त्यागने में भी इष्ट से, धाम से सम्पर्क रखते हैं। मन का विश्वास नहीं करते। किंचित् मन के चञ्चल होने से उसके अनुसार गति की आशंका बनी रहती है, अतः श्रीहरिदासजी छ० १५६ ने वृन्दावन में ही शरीर त्याग करने का दृढ़ संकल्प किया और श्रीभीष्मपितामहजी ने निश्चय किया कि श्रीकृष्ण का दर्शन करते-करते शरीर छोड़ूंगा। यथा—'स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां, कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।।' देवाधि देव भगवान श्रीकृष्ण तब तक यहीं स्थित रहकर प्रतीक्षा करें, जब तक मैं इस शरीर का त्याग न कर दूँ।

मुहीम दई काबुलकी—एक बार आप अकबर बादशाह के दरबार में बैठे थे। उसी समय बादशाह ने कहा—मैंने सुना है कि कवि होने के साथ-साथ आप बहुत बड़े ज्योतिषी भी हैं, तो यह बताइये कि आपकी मृत्यु कब और कहाँ होगी? तत्काल आपने उत्तर दिया कि—'आज से छः महीने बाद और मथुरा में श्रीयमुनाजी के तट पर। उस समय वहाँ एक सफेद कौवा बैठा दिखाई पड़ेगा।' यह सुनकर बादशाह के मन में आया कि देखें, इनकी बात कैसे सत्य होती है। इसी विचार से काबुल के भंयकर मोर्चे पर भेज दिया। बादशाह ने सोचा कि प्रथम तो ये युद्ध में वहीं मारे जायेंगे। यदि बचे भी तो उतनी दूर से मथुरा आना शीघ्र सम्भव न होगा। तब इनकी बात झूठी हो जायगी। आत्मबल आपमें अधिक था अतः टीकाकार ने कहा—'बल अधिकाई'। नहीं कालके अधीन-यह भक्त में भगवत्ता है, दृष्टान्त श्रीकील्हदेवजी का—'गांगेय मृत्यु गंज्यौ नहीं त्यौं कील्ह करण नहिं कालवश।' (छ०-४०)

जीवन अवधि रहै निपट अलप दिन, कलप समान बीतै पल न विहात है।
आगम जनाय दियौ चाहै इन्हें सांचौ कियौ, लियौ भक्ति भाव जाके छायौ गात गात है।।
चल्यौ चढ़ि साँड़िनी पै लई मधुपुरी आनि, करिकै अस्नान प्रान तजे सुनी बात है।
जै जै धुनि भई व्यापि गई चहूं ओर अहो, भूपति चकोर जस चन्द दिन रात है।।५४०।।

शब्दार्थ—कलप=कल्प, ब्रह्मा का एक दिन, अधिक समय। आगम=भविष्य।

भावार्थ—श्रीपृथ्वीराजजी को अपनी आयु का पता था, जब आपने देखा कि अब हमारी आयु थोड़े दिनों की है तब आपको एक-एक क्षण कल्प के समान बीतने लगा। भगवान इनकी प्रतिज्ञा को सत्य करना चाहते थे अतः प्रभु ने इन्हें भविष्य का ज्ञान करा दिया। राजा के अंग-प्रत्यंग में भक्ति का भाव व्याप्त था। वे तत्काल साँडिनी पर सवार होकर चल दिये और मथुरापुरी में आ गये। यहाँ आपने श्रीयमुनाजी में स्नान किया और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दिया। इसके बाद आसन लगाकर बैठ गये। भगवान का ध्यान करके इन्होंने शरीर को त्याग दिया। चारों ओर जय-जयकी ध्वनि फैल गई। बादशाह ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत प्रभावित हुआ और सदा के लिए आपके सुयशरूपी चन्द्रमा का चकोर की तरह अनुरागी बन गया।।५४०।।

आगम जनाय दियौ—जब जीवन के दो दिन रह गये तब इनके इष्टदेव श्रीगोपालजी एक बालक का रूप धारण कर इनके पास आये और बोले—'आप अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करो। दो दिन की अवधि समीप है।' भक्त गिरा सांची करन प्रभु की बात सुनते ही आपने साँड़नी पर चढ़कर प्रस्थान किया। छः सौ कोस की लगभग दूरी को पारकर दो दिन में मथुरा आ गये। उन दिनों सबसे तेज सवारी साँडिनी (ऊँट) ही थी। बच्चे को घी पिलाकर ज्येष्ठ-वैशाख की धूप में रेतीले मैदान में छोड़ दिया जाता है, वह उसमें गर्मी से भागता रहता है। इस तरह की महीनों की क्रिया से साँडिनी का निर्माण होता है। प्रभुकृपा और इनकी निष्ठा से साँडिनी में भी अपार वेग प्रकट हुआ और बिना विशेष विराम-विश्राम के मथुरा आ गये। शरीर त्याग के समय सफेद कौवा भी देखा गया और आकाश से पुष्प वृष्टि भी हुई। देवताओं के द्वारा की गई जय-ध्वनि मनुष्यों ने भी सुनी। दूत के द्वारा यह समाचार जब अकबर ने सुना तो रो गया और श्रीपृथ्वीराजजी की एक-एक बात जो उसने देखी-सुनी थी, वह सब मन में आने लगीं। कई दिन तक वह अन्यमनस्क रहा, इन्हीं की सबसे चर्चा करता रहा और मन में प्रसन्न होता रहा। इसी भाव से 'भूपति चकोर...रात है।' यह लिखा गया है। इसका दूसरा तात्पर्य यह भी है कि भूपति श्रीपृथ्वीराजजी ही चकोर थे और भगवान का सुयश चन्द्रमा था। जिसको देखकर ये सदा प्रमुदित रहते थे।

विशेष—बीकानेर नरेश महाराजा रायसिंहजी के छोटे भाई तथा राव कल्याणमलजी के पुत्र होने के साथ-साथ महाराज पृथ्वीराजजी भगवद्-भक्ति, कवि, विद्या व्यसनी, धर्मनिष्ठ एवं शूरवीर भी थे। इनकी माता का नाम सोनगरी था। मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा वि० सं०

१६०६ में आपका जन्म हुआ था। ऐश्वर्य और विलास में पलकर भी सरस्वती के उपासक और असाधारण गुणों से सम्पन्न हुए। क्षत्रिय पुनः राजवंश अतः अस्त्र-शस्त्र संचालन कला में प्रवीण, साहसी और वीर शिरोमणि हुए। जैसलमेर के महाराजा हरराज की पुत्री लालांदे के साथ पहला विवाह हुआ। मुगल बादशाह के अधीन रहने वाले प्रायः प्रत्येक राजा को बादशाह के लश्कर में रहना पड़ता था। श्रीरायसिंहजी बादशाह के सेनापति थे। इनके दबाव से आज्ञा से श्रीपृथ्वीराजजी को भी अकबर का दरबारी बनना पड़ा। अन्यथा यह इनके स्वभाव के विरुद्ध था। वहाँ रहकर भी आपने हिन्दुत्व की, सती नारियों की स्वतन्त्रय भावना की रक्षा की और महाराणा के प्रशंसक एवं प्रेरक रहे। रायसिंह ने इन्हें बादशाह के दरबार में जाने की आज्ञा दी। दम्पति को वियोग असह्य था। पृथ्वीराज ने वादा किया कि छः महीने में आ जाऊँगा। इनकी वीरता, चातुरी एवं काव्य-विनोद को देखकर बादशाह ने इन्हें बीकानेर नहीं जाने दिया। मुश्किल से आज्ञा लेकर आये। एकदिन अवधि से ऊपर बीत गया। विरह के वश खान-पान त्यागकर पति-चिन्तन करती हुई लालांदे ने प्राण त्याग दिये। श्मसान में चिता जल रही थी, तब ये पहुँचे। इनके मुख से निकला–

कंथा ऊभा कामणीं साईं तू मत मार। रावण सीता लै गयौ वे दिन आज सँभार।।

अर्थात् हे भगवन्। मैं यहाँ खड़ा हूँ, मेरी प्रिया को मरने मत दो। रावण ने सीता-हरण किया था। उन दिनों को याद कीजिये।

तो रांध्यो नहिं खावहूँ रे बासदे निसड्ड। मो देखत तू बालिया लाला हंदा हड्ड।।

हे अग्नि ! अब तुझसे पकाया हुआ भोजन मैं नहीं किया करूँगा। क्योंकि मेरे देखते देखते तूने लालांदे के शरीर को भस्म कर दिया। इस प्रकार के अनेकों छन्द कहे। पागल की तरह खान-पान छोड़कर विरह-व्यथित रहने लगे। मन्त्रियों ने विचारा कि हरराज की दूसरी पुत्री चांपादे है, जो रूप-गुण, चार्तुय और काव्य-कला में लालांदे के समान ही है, उसे चिता भस्म से निकली पुनर्जीवित हुई कहकर इन्हें दिखाया जाय तो भावोन्माद के वशीभूत ये उसे लालांदे समझ लेंगे। आयोजन सफल हुआ, अब इनके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। उन्माद उतर गया पश्चात् इन्हें रहस्य का बोध हो गया तो बोल उठे–'आयी है चांपा अठे वा लालां अब नाहिं।' विधिवत् पाणिग्रहण हो चुका, तब पृथ्वीराजजी ने कहा–चांपा डगला चार सांमा ह्वै दीजै सजल। हींडल तै गलहार हँसत मुखा हरराय री।।

अर्थात् हे चांपा ! वक्षस्थल पर पड़े हार को झुलाती हुई तथा हास्य की किरण बिखेरती हुई अपने प्रिय के पास आ तो सही। चांपा ने भी कविता में उत्तर दिया—

मुकुल परीमल परिहरे अब आये रितुराज।
अलि नहिं आली हयन की कलि विकसै केहि काज।।

अर्थात् बसन्त ऋतु के आने पर जब भ्रमर पुष्पों के मकरन्द को छोड़ दे तो कली किसके लिए विकसित हो। अपने समान काव्य रचना में कुशल देखकर परस्पर स्नेह बड़ा और दोनों का दाम्पत्य-जीवन सुखमय रहा। प्रसिद्ध है कि एक बार पृथ्वीराज अपनी दाढ़ी सँवार रहे थे, उनको एक सफेद बाल दिखाई पड़ा, तो उसे उखाड़कर फेंक दिया। रानी ने देख लिया तो महाराज ने मुस्कराकर कहा—

पीथल धौला आविया बहुली लागी खोड़। पूरे जोवन पदमणी ऊभी मुक्ख मरोड़।।

पीथल (पृथ्वीराज) कहता है कि सफेद बाल आ गये, यह बात बहुत बुरी हुई। इसलिए कि पूर्ण यौवन को प्राप्त पद्मिनी-प्रिया खड़ी हुई है और मेरी ओर मुख मरोड़कर देख रही है। यह सुनकर चांपादे महाराज के भाव को पहचान गई और आत्म-ग्लानि के भाव को दूर करती हुई अपने पति के सन्तोषार्थ बोली—

प्यारी कह पीथल सुणो धोलादिस मत जोय। नरां नाहरां डिगमरां पाक्या ही रस होय।।

प्यारी कहती है कि हे पीथल! सुनो, सफेद बालों की ओर मत देखो। मर्द, सिंह और दिगम्बर (योगियों) में रस-परिपाक अवस्था पकने पर ही होता है। एकबार श्रीपृथ्वीराजजी बादशाह के दरबार में बैठे थे। बादशाह ने इन्हें चञ्चल चित्त देखकर कहा—

मन उतराधो तन दखण कहो न कवन विचार। मन गुणवन्ती मोहियो तन रूधो दरबार।।

कहिये, पृथ्वीराजजी ! क्या विचार है, आपका मन उत्तर तथा शरीर दक्षिण में है। ऐसा लगता है कि आपका मन आपकी गुणवती पत्नी द्वारा मोहित है, वहीं लगा है और शरीर यहाँ दरबार में रुका हुआ है। यह सुनकर तत्काल पृथ्वीराज ने उत्तर दिया—

कै सेवइ पग नाथना कै सेवइ तटगन्ध। पृथु सेवइ चम्पाकली सदल सरूप सुगन्ध।।

बादशाह ! मेरा मन या तो अपने स्वामी श्रीकृष्ण के चरणों का सेवन करता है अथवा उनके समीप विराजमान तुलसीकी गन्ध का। संसार में आता है तो अपनी रानी के रूप-गुण आदि का सेवन करता है। इस प्रकार आपके बड़े-बड़े सम्वाद प्रसिद्ध हैं। राज्य के

वैभव-विलास में रमे रहने के कुछ दिन बाद ईश्वर की प्रेरणा से इनके मन में एक झटका-सा लगा। जीवन में एक नया मोड़ आया और इन्हें अनुभव हुआ कि इस अनित्य संसार में फँसकर हम अपना जीवन योंही बिता रहे हैं। मानसिक पश्चात्ताप वाणी द्वारा प्रकट हुआ। यथा—

प्रिथु जू मैं अवरां पुणै गुण छंड़ै गोपाल। मांणक गूंथ मोताहलां मड़गल धत्ती माल।।

प्रिथु हिर तजि गुण मांनवा जोड़ै किया जतन्न।
जाणि चित्त भ्रम बांधिया गल गादहां रतन्न।।

पृथ्वीराजजी कहते हैं कि मैने श्रीगोपालजी के श्रेष्ठ गुणों को छोड़कर दूसरों के गुण गाये, अपनी बुद्धि और वाणी का दुरुपयोग किया। मानो अमूल्य रत्नों-मोतियों की मालाओं को मुर्दे के अथवा गधे के गले में पहना दिया। यह बड़ी-भारी भूल हुई। भविष्य में ऐसी भूल नहीं करूँगा। संसार-सागर से पार करने वाला एक ईश्वर ही है—

तूंबी ही तारण समथ जल ऊपर पाखाण। ताइ तरी जग तारणै तइ केहा बाखाण।।
वसती ते ऊजर भई ऊजर ते पुनि वास। इह जग अरहट की घड़ी देखि हँस्यो प्रिथुदास।।

तूम्बी के कारण पत्थर जल पर तैर सकता है, (अर्थात् साधनों से भवसागर पार किया जा सकता है, वह हमारे वश की बात नहीं है) जिसने बिना किसी आधार के पानी पर पत्थर तैरा दिये। उसे जगत् (हम को) तारने में क्या कठिनाई? उस प्रभु की दयालुता आदि का बखान किस मुख से किया जाय । कूप पर रखे चक्र पर घूमती हुई घड़ियाँ भरकर आती हैं तब अहंकार से उनका मुख ऊपर रहता है। परन्तु दूसरे क्षण झुकना पड़ता है और खाली होना पड़ता है तब उनका मुख नीचे की ओर आ जाता है। यह देखकर आज पृथ्वीराज को हँसी आती है। सम्पन्न होकर विपन्न होना, विपन्न होकर फिर सम्पन्न होना, बसना-उजड़ना, पुनः उजड़कर बसना यही संसार का चक्र है। संसार में ही मन को लगाये रखना बुद्धिमानी नहीं है। इस प्रकार के भाव श्रीपृथ्वीराजजी के मन में चक्कर काटने लगे। सोचने-विचारने के पश्चात् उन्होंने तीर्थयात्रा, सत्संग और भगवत् शरणागति को अपना कर्तव्य समझा। स्वयं विद्वान् थे, शास्त्रों के रहस्य का बोध था। सत्संग भी कभी-कभी मिलता था अतः मानसिक पश्चात्ताप ने वैराग्य को उत्पन्न कर दिया।

श्रीपृथ्वीराजजी ने ब्रज में आकर वहाँ के तीर्थों का दर्शन किया। श्रीमथुरापुरी में स्नान-दान के बाद आपने चतुर्वेदी ब्राह्मण से पूछा कि इस समय दर्शन और सत्संग के

योग्य कौन से महापुरुष हैं। उन लोगों ने कहा—राजन्! इस ब्रज-मण्डल में एक से एक बढ़कर महिमा वाले भजनानन्दी, सिद्ध एवं रसिक संत हैं। उनमें गोकुल के श्रीविठ्ठलनाथजी प्रसिद्ध हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा गुनी-ज्ञानी उनकी वन्दना करते हैं। प्रथम आप उनके दर्शन कीजिये। राजा तत्काल गोकुल आये और दर्शनों से प्रभावित होकर उनसे ब्रह्म-सम्बन्ध लेकर उनके शिष्य बन गये। गोसाईंजी ने बालकृष्ण की उपासना का रहस्य, मानसी-सेवा की विधि बताकर आशीर्वाद दिया कि तुम्हें काल न व्यापेगा इच्छा मृत्यु होगी। आपके मन में प्रभु की छबि बस गई। संसार के सब विषय मन से दूर हो गये। गोसाईंजी की आज्ञा से आप घर को आये। रानी ने आकर स्वागत किया, उस समय आप रानी को न पहचान सके। पश्चात् रानी ने जब आपकी ऐसी प्रेम-दशा देखी, तो वह भी इनके भावानुकूल होकर बालकृष्ण की उपासना करने लगी। आपका सम्पूर्ण परिकर वैष्णव हो गया। दो सौ बावन वैष्णववार्ता में लिखा है कि—एक समय राजा परदेश गये, तब बीकानेर के ऊपर शत्रु चढ़ आये। श्रीठाकुरजी ने तीन दिन तक शत्रुओं से युद्ध किया। तीन दिन तक मन्दिर के किवाड़ भीतर से बन्द रहे। किसी के खोलने से नहीं खुले। परदेश में इस बात को मानसी सेवा करते समय श्रीपृथ्वीराजजी ने जाना। दीवान को पत्र लिखा। बीकानेर के सब लोग पत्र पढ़कर आश्चर्यचकित हो गये।

श्रीपृथ्वीराजजी महान् योद्धा थे। उन्होंने अनेक महासंग्रामों में विजय प्राप्त की वीरता के कुछ प्रसंग यहाँ दिये जाते हैं। सम्वत् १६३८ में अपने विद्रोही भाई हकीम से लड़ने के लिए अकबर ने धावा किया। उस समय श्रीपृथ्वीराजजी सेना के अग्र-भाग में विद्यमान थे। इस युद्ध में इनकी शूरवीरता को देखकर पुरस्कार-स्वरूप इनको गागरौनगढ़ की जागीरदारी दी गई। तब भी पृथ्वीराज और खीचीराव में संग्राम हुआ। हार खीचीराव की हुई वि० सं० १६५३ की अहमदनगर की लड़ाई में भी ये बादशाही सेना के साथ थे। वि० सं० १६५६ में इनके भाई रामसिंहजी ने कल्याणपुर के ठाकुर मालदेवजी के साथ युद्ध किया और वहाँ वीरगति को प्राप्त हुए। पश्चात् दिल्ली से आकर श्रीपृथ्वीराजजी ने बदला लिया। ठाकुर मालदेव को युद्ध में मारा।

श्रीपृथ्वीराजजी के भाई अमरसिंह राठौर का अकबर बादशाह से विरोध हो गया। दो हजार राजपूत लेकर अमरसिंह ने बादशाह का खालसा लूट लिया। जब बादशाह को मालूम हुआ तो उसने आरब खां को आज्ञा दी कि अमरसिंह को पकड़कर ले आओ। उस समय पृथ्वीराजजी ने कहा—वह आपके विरुद्ध हो गया अतः आपके द्वारा दण्ड पाने के

योग्य है। परन्तु वह गिरफ्तार होने का नहीं। जो उसे गिरफ्तार करने जायगा, वह भी मारा जायगा। बादशाह ने कहा—मैं उसे अवश्य पकड़वा लूंगा। कुछ दिनों के बाद समाचार आया कि अमरसिंह मारे गये। तब बादशाह ने पृथ्वीराज से कहा—अपने भाई को जलदान करो। इन्होंने कहा—नहीं, बात झूठी है। कुछ देर बाद दूसरी सूचना आई कि—आरब खाँ मारा गया। अमरसिंह का ऊपर का धड़ उड़कर हौदे में पहुँचा और वहाँ से कटारी का वार हुआ। यह सुनकर बादशाह ने कहा—या अल्ला ! धन्यवाद है, अमरसिंह के लिए। पृथ्वीराजजी! अमरसिंह धर्मनिष्ठ था, सच्चा हिन्दू था और उड़ना शेर था। तुम्हें भी धन्यवाद है, तुम्हारा वचन सत्य निकला ये अपने बड़े भाई को पिता के तुल्य मानते थे अतः उनकी आज्ञा से विवश अकबर के प्रतिष्ठित दरबारी रहे। परन्तु कभी अकबर को सिर नहीं झुकाया। देश की स्वतन्त्रता के लिए अकबर से लोहा लेने वाले महाराणाप्रताप का सुयश बार-बार अकबर के दरबार में गाते रहे। एकबार इनकी रानी चांपादे ने इन्हें पत्र लिखा कि-महाराणाप्रताप कुछ कर नहीं पावेगे। आपने उत्तर दिया कि उनकी वीरता का परिचय शीघ्र मिलेगा। आपने मौका पाकर प्रताप को पत्र लिखा। उसके अनुसार भीलों की सेना लेकर राणाप्रताप ने ९ घंटे में आगरा को लूट लिया।

श्रीपृथ्वीराजजी परिस्थितिवश अकबर के सहायक रहे, परन्तु स्वतन्त्रता का झण्डा फहराने वाले एकमात्र महाराणाप्रताप के स्वतन्त्र प्रेम के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा और सहानुभूति रही। जिस समय महाराणा स्वतन्त्रता प्राप्ति की साधना में वन-वन भटक रहे थे। तभी एक दिन वन-बिलाव ने इनके सुपुत्र के हाथ से घास की रोटी का टुकड़ा छीन लिया। क्षुधा से पीड़ित बालक का रोना सुनकर महाराणा का मन दुःखित हो गया। साधारण मानव की सी कमजोरी का अनुभव कर अपने आत्म-गौरव को तिलाजंलि देने को तैयार हो गये तथा अकबर को इन्होंने सन्धि-पत्र लिख भेजा। इस पत्र को पाकर अकबर की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उसने पृथ्वीराज को बुलाकर पत्र दिखाया और व्यंग्य किया कि 'पढ़ो, अपने हिन्दुकूल-सूर्य का पत्र'। इस पत्र को पढ़कर पृथ्वीराज को विश्वास नहीं हुआ। इस अविश्वास को इन्होंने अकबर के सामने प्रकट कर दिया। अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए बादशाह से समय माँगकर इन्होंने इतिहास प्रसिद्ध पद्यबद्ध पत्र लिखा। यदि यह पत्र न लिखा गया होता तो आज जो गौरव महाराणाप्रताप को प्राप्त है, यह न प्राप्त होता। पत्र-पातल जो पतसाह बोलै मुख हूँता वयण। मिहर पछिम दिस मांह ऊगै कास पराव उत।।१।। पटकूं मूछां पांण कै पटकूं निज तन करद। दीजै लिख दीवाण इण दो महली बात इक।।२।।

महाराणाप्रताप यदि अकबर को अपने मुँह से बादशाह कह दें तो समझ लो कि कश्यप के पुत्र सूर्य भगवान पश्चिम दिशा में उगने लगे हैं।।१।। हे एक लिंग के दीवान! मैं मूछों पर ताव दूँ अथवा आत्मघात करलूं? इन दोनों में से एक बात मुझे स्पष्ट लिख भेजो।।२।। इस पत्र को पढ़कर महाराणा का जमा हुआ खून खौल उठा, उन्हें आत्मबोध हुआ। विचार बदल गये, महाराणा ने पृथ्वीराजजी को उत्तर लिखा–

तुरक कहासी मुख पतो, इण तन सूं इकलिंग। ऊगै जाहां ऊगसी प्राची बीच पतंग।।१।। खुसी हूँत पोथल कमध पटको मूछाँ पांण। पछटण है जेतै पतौ, कमला सिर के वांण।।२।। साँग मूंड़ सहसी सकौ समजस जहर सवाद। भड़ पीथल जीतो भलां, वैण तुरक सूं वाद।।३।।

एक लिंग शिव की शपथ, इस शरीर पर जब तक मुख है, तब तक प्रभु प्रताप के मुख से अकबर को तुरक ही कहलावेंगे। सूर्य जहाँ उदित होते हैं वहीं उदय होंगे, पश्चिम दिशा में नहीं।।१।। हे पृथ्वीराज! जब तक शत्रुओं के सिर पर तलवार का प्रहार करने के लिए प्रताप जीवित है आप खुशी से अपनी मूछों पर ताव दें।।२।। बराबर वाले की कीर्ति विष जैसी कड़वी लगती है अतः प्रताप अपने सिर पर सांगों के प्रहार ही सहेगा। आप यवनों से विवाद में विजय प्राप्त करें।।३।।

इसी पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में श्रीपृथ्वीराजजी की दूसरी धर्मपत्नी चांपादे और उनका कविताबद्ध वार्तालाप भी लोक प्रसिद्ध है। चांपादे ने कहा–आज मैंने सुना है कि प्रताप और अकबर में सन्धि हो रही है। यह अति अनुचित है। यथा–'पति जिद की पतसाह सूं यहे सुणी मैं आज। कहँ पातल अकबर कहाँ, करियौ बड़ौ अकाज।।' यह सुनकर पृथ्वीराजजी ने उत्तर दिया–

जबते सुनैहैं बैन तबतें न मोकों चैन, पाती नेक सौ बिलंब न लगावैगो।
लैके जमदूत से समस्त राजपूत आज, आगरे में आठौजाम ऊधम मचावैगो।।
कहै पृथ्वीराज प्रिया नेक उर धीर धरो, चिरञ्जीवी राना सो मलेच्छन भगावैगो।
मन को मरद मानी प्रबल प्रतापसिंह, बब्बर ज्यौं तड़पि अकब्बर पै आवैगो।।

इस प्रकार महाराणा की प्रशस्ति में और भी बहुत से पृथ्वीराज के दोहे प्रसिद्ध हैं जो इनकी दिव्य राष्ट्रीय भावना प्रकट करने वाले हैं। श्रीपृथ्वीराजजी कट्टर सनातनधर्मी और गो-भक्त थे। अपने समय में यवनों द्वारा बढ़ी हुई गो-हत्या को देखकर आपका दिल दहल उठा। तब आपने एक छप्पय लिखकर एक गाय के गले में बाँध दिया। घूमती-फिरती वह

गाय शाही महल के नीचे जा पहुँची और वहाँ जो अदालत की साँकल लटक रही थी, उससे अपना सींग सहलाने लगी। साँकल के हिलने से भीतर घण्टा बज गया। बादशाह ने समझा कि कोई बड़ा फरियादी आया है, वह झट से बाहर निकल आया। गाय के गले से खोलकर छप्पय पढ़ा, तब उसके मन में करुणा आई और उसने गो-हत्या के निषेध का आज्ञा-पत्र प्रसारित कर दिया। गो-हत्या बन्द हो गई। गो-भक्ति की लहर सर्वत्र फैल गई। छप्पय—

अधर धरत तृण मुक्ख ताहिं नहिं कोऊ मारत।
सो मैं निसदिन चरत बैन दुर्बल उच्चारत॥
सदा खीर घृतं झरत मोर सुत पृथी बसावत।
कह तुरकन को कटू कहाँ हिन्दुन मधु पावत॥
हम तगार पन्हीं हमी गलो कटावन हम दिये।
पुक्कार अकब्बर शाह से कहा खून हमने किये॥

प्रसिद्ध है कि अकबर के पास एक दोहा आया। उसका उत्तर किसी ने न दे पाया तब अकबर ने पृथ्वीराज को लाहौर से बुलवाया और दोहा देकर उत्तर माँगा। दोहा—

तेल पीत पावक सुखद रुई श्वेत निरखन्त।
दीप शिखा के ऊपरै कालिम किम दरसन्त॥

इन्होंने दोहा पढ़कर तत्काल उत्तर दिया—

मन्दिर माहीं तम घनो दीप शिखा निखन्त।
उदर तुच्छ उगलत यहै कालिम यों दीसन्त॥

आप बड़े निर्भीक एवं स्पष्टवादी पिंगल तथा डिंगल दोनों भाषाओं के कवि थे। एकबार एक सभा में किसी ने चतुर बुद्धिमान लोगों पर उदासीन रहने का आरोप लगाया तो श्रीपृथ्वीराज ने सुन्दर व्यंग्यात्मक रूप में उत्तर दिया। यथा—

चकवा चातक चतुर नर रहते सदा उदास। खर घुघ्घू मूरख पशु सदा सुखी प्रिथु दास॥

श्रीपृथ्वीराजजी के कटक चले जाने पर अकबर ने अपनी सभा में सूनेपन का अनुभव किया। काव्य-सरिता का प्रवाह मन्द पड़ गया। तानसेन और बीरबल भी संसार से विदा हो चुके थे। ऐसे समय में एक भील चकवी-चकवा को बन्दकर अकबर के पास लाया। ये पक्षी मानव-भाषा को समझते तथा बोलते थे जैसे तोता-मैना। उनसे परीक्षण के तौर पर

पूछा गया—'रात कहाँ बिताई?' उन्होंने उत्तर दिया-इसी पिंजरे में। अकबर ने कहा—यद्यपि यह भील पक्षियों का शत्रु है, फिर भी उसके ऊपर करोड़ों मित्र न्यौछावर किये जा सकते हैं। क्योंकि इसने स्वभावतः रात में वियोग सहने वालों का संयोग कराया है। सभारत्न खानखाना उपस्थित थे, उन्होंने दोहे की अर्धाली बना दी। 'सज्जन बारूँ कोड़धा या दुर्जन की भेंट।' अकबर ने प्रसन्न होकर कहा—इस दोहे को पूरा करो पर खानखानाजी मौन रहे। उस समय अकबर को पृथ्वीराज की याद आई। पत्र लिखकर उन्हें बुलवाया। इन्हें पत्र मिला पर जीवन अवधि सीमित थी अतः बादशाह के पास न जाकर मथुरा विश्रान्त घाट पर आ गये। दूत को पत्रोत्तर दिया। बादशाह ने उनके अन्तिम-संस्कार का समाचार सुना। पत्र पढ़ा तो खानखाना के पद की पूर्ति इस प्रकार थी—

सज्जन बारूँ कोड़धा या दुर्जन की भेंट। रजनी का मेला किया विधि के अक्षर मेंट।।

इस दोहा को पढ़कर अकबर प्रसन्न तो हुआ पर वह धन्यवाद बधाई किसे देता। स्मृति के आँसू बहाते हुए उसने यह दोहा पढ़ा—

पीथल सूं मजलिस गई तानसेन सूं रंग। रीझ बोल हँसि खेलबो गयौ बीरबल संग।।

भक्तवर, कविवर, वीरवर श्रीपृथ्वीराज ने अपने जीवन चरित्र से लोक में आदर्श स्थापित कर वि० सं० १६५७ में नश्वर शरीर त्यागकर भगवद्धाम को प्राप्त किया। उनकी वाणी और उनका चरित्र मनुष्य मात्र को प्रेरणादायक है। (अधिकांश प्रसंग राजस्थान भारती विशेषांक बीकानेर से लिए गये हैं।)

❋ श्रीसीवांजी ❋

द्वारका देखि पालण्टती अचढ़ सीवैं कीधी अटल।।
असुर अजीज अनीति अगिनि मैं हरिपुर कीधौ।
सांगन सुत नै साद राय रनछौरे दीधौ।।
धरा धाम धन काज मरन बीजा हूँ मांड़े।
कमधुज कुटकै हुवौ चौक चतुरभुजनी चांड़े।।
बाढ़ेल बाढ़ कीवी कटक चाँद नाम चांढ़े सबल।
द्वारका देखि पालण्टती अचढ़ सीवैं कीधी अटल।।१४१।।

शब्दार्थ—पालण्टती=पलटती हुई, जलती हुई। अचढ़=अगम, जिस पर चढ़ाई न हो सके। कीधी=किया। असुर=म्लेच्छ यवन। अजीज=अजीज खां। हरिपुर=द्वारिकापुरी। कीधौ=कर दिया। साद=आवाज, पुकार। दीधौ=दिया। बीजा हूँ=दूसरे लोग भी। मांड़े=समर्थन करते या ठानते हैं। कमधुज=राठौर वंश की संज्ञा, राठौर सरदार। कुटकै=टुकड़े, मरे। हुवौ=हो गये। चतुरभुजनी=चतुर्भुज द्वारिकानाथकी। चौक=शहर का चौड़ा मैदान जहाँ बाजार हो। चांड़े-चौड़े में। बाढ़ेल=राठौरों की एक शाखा। बाढ़=काटना। बाढ़ कीवी=काट दिया। कटक=सेना। चाँद नाम=भक्त का नाम, नामरूपी चन्द्रमा। चाँढ़ै=चढ़ाया, उजागर किया। सबल=स्वबल, बलवान।

भावार्थ—एक बार अन्यायी म्लेच्छ अजीज खां ने द्वारिकापुरी में आग लगा दी। तब रणछोड़ श्रीद्वारिकाधीशजी ने सांगन के पुत्र सीवां को पुकारा। धरती, धन और धाम आदि के लिए सभी साधारण लोग भी लड़कर मर जाते हैं। परन्तु इस वीर बाढ़ेलवंशी क्षत्रिय भक्त ने चतुर्भुज श्रीद्वारिकानाथ के चौड़े-चौक में यवनों की सेना का विध्वंस कर अपने तन-मन और प्राणों को न्यौछावर कर दिया। इस प्रकार इस भक्त ने अपने बाहुबल से अपने पूर्वज चाँद के नाम को उजागर किया और नष्ट होती हुई द्वारिकापुरी की तथा वहाँ के निवासियों की रक्षा की एवं उसे सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।।१४१।।

व्याख्या—असुर-सुरों के विरोधी को असुर कहते हैं।, निशाचर, राक्षसों के समान ही इनके स्वभाव और कर्म होते हैं। इनके लक्षण—'बाढे बहु खल चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा।। मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन सन करवावहिं सेवा।। जिनके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निशिचर सम प्रानी।।' (रा०) साद राय रनछौरै—भक्तजन भगवान की और भगवान भक्तों की महिमा को बढ़ाते हैं। यथा—'सन्तत दासन देहु बड़ाई'। (रा०) इसी से भगवान ने इन्हें पुकारा। रणछोड़ ने पुकारा—भाव यह कि हम तो जरासन्ध के सामने मैदान छोड़कर भागे थे, आज भी अपनी रक्षा हमसे नहीं होगी।

धरा धाम धन काज—लोग तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत होकर नाशवान वस्तु के पीछे प्राण दे देते हैं। एक भाई दूसरे भाई को मार देता है। श्रीविलदास के पिता दो भाई थे, वे धन के पीछे लड़कर मर गये। यथा—'भाई उभै माथुर सु राना के पुरोहित हे लरि मरे आपुस में।' (क० ३४८) इस प्रकार मरने वाले निन्दनीय हैं। श्रीसीवांजी ने धामी, धाम और धामवासियों के लिए प्राण अर्पण किये, अतः ये वन्दनीय हैं। चाँदनाम के पूर्वज थे, सीवांजी ने उनके नाम को बढ़ाया। भक्ति करके उनको भगवद् धाम पहुँचा दिया। सबल अर्थात् अपने भक्तिबल से। भक्तिबल से बलवान थे अतः विजयी हुए। तमोगुणी असुर परास्त हुए।

द्वारका देखि पालण्टती—पालण्टती अर्थात् उलटती। असुरगण द्वारिका की प्रजा का नाश करके द्वारिकाधीश के शासन को उखाड़कर, तख्त पलटकर अपना शासन जमाना चाहते थे। सीवांजी अचढ़ अर्थात् अजेय थे। यहाँ भगवान को रणछोड़ और भक्त सीवांजी को अचढ़ कहा। यह विशेष बात है। इसका हेतु आगे प्रियादासजी कहते हैं कि 'प्यारौ हरि' अर्थात् ये भगवान के अत्यन्त प्यारे थे अतः भगवान ने अपने से अधिक भक्त की महिमा को बढ़ा दिया।

कावा पति सींवा सुत सांगन कौ प्यारौ हरि, द्वारावति ईश यों पुकारै रक्षा कीजिये।
सदा भगवान आप भक्त प्रतिपाल करैं, करौ प्रतिपाल मेरौ सुनि मति भीजिये।।
तुरक अजीज नाम धाम कों लगाई आगि लई, बाग घोरन की आये टूक कीजिये।
दुष्ट सब मारे प्रभु कष्ट ते उबारे निज प्रान, बारि डारे यह नयौ रस पीजिये।।५४१।।

शब्दार्थ—कावा=जंगली जाति, भील। बाग=लगाम।

भावार्थ—कावा जाति के (भीलों के) राजा और श्रीसाँगनजी के सुपुत्र श्रीसीवांजी भगवान के प्यारे भक्त थे। एकबार जब यवन अजीजखाँ ने द्वारिकापुरी में आग लगा दी, तब द्वारिकापुरी के स्वामी भगवान श्रीद्वारिकानाथजी ने स्वयं श्रीसीवांजी को पुकारा कि द्वारिकापुरी की और मेरी रक्षा करो। संकट पड़ने पर जो भगवान सदा भक्तों की पुकार सुनकर उनकी सब प्रकार से रक्षा करते हैं, वही आज अपनी रक्षा के लिए पुकारकर कह रहे हैं—'मेरी रक्षा करो।' यह सुनकर श्रीसीवांजी का मन भगवत् प्रेमरंग में डूब गया। अजीजखाँ नामक तुर्क बादशाह ने द्वारिका को घेरकर आग लगा दी है। यह समाचार मिलते ही आप तीव्रगामी घुड़सवारों की फौज लेकर द्वारिका आ गये और बादशाही फौजियों के टुकड़े कर दिये। सभी दुष्टों को मारकर संकट से भगवान की रक्षा की। इसके बाद श्रीसीवांजी ने अपने प्राणों को भगवान के श्रीचरण-कमलों में न्यौछावर कर दिया। भक्ति-भाव के इस नवीन-रस का भावुकजन आस्वादन करें।।५४१।।

व्याख्या—कावा पति—श्रीसीवांजी भीलों के राजा थे, परन्तु स्वयं भील नहीं थे। ये राठौर क्षत्रिय थे। मारवाड़ राठौर राज्य की स्थापना करने वाले राव सीवांजी का तीसरा पुत्र अज था। उसने ओखा मण्डल, (शंखोद्धार) द्वारिका के निकट एक प्रदेश पर अधिकार कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। अज के वंशज बाढ़ेल राठौर हैं जो अब भी वहाँ हैं। (मारवाड़ इतिहास, रेऊ भाग १ पृष्ठ ४४ से प्रमाणित है) 'प्यारौ हरि'—द्वारिका से चार कोस दूर पर श्रीसीवांजी का निवास स्थान था। ये वहाँ से नित्य दर्शन करने आते थे। दर्शन करना, प्रसाद लेना और परिक्रमा लगाना यह आपका नित्य-नियम था। भगवान इन्हें प्रिय थे तथा

ये भगवान को प्यारे थे, तभी तो संकट के समय भगवान ने इनका स्मरण किया। स्वाभाविक है कि संकट में प्रिय की याद आती है। जैसे अजामिल को संकट के समय अपने प्रिय पुत्र नारायण की याद आई, उसीको पुकारा।

पुकारै रक्षा कीजिये—बादशाह के सेनापति अजीज खाँ का उद्देश्य था कि नगर को जलाकर मन्दिर को तोड़ दें। हिन्दू-धर्म के केन्द्र को नष्ट करके इस्लाम-धर्म का केन्द्र स्थापित कर दें। लोग भाग न सकें इस विचार से उसने रात को चारों ओर से घेरकर आग लगाई। तब द्वारकाधीश ने छत के ऊपर चढ़कर पुकारा। 'रक्षा कीजिये'—'यवनों ने पुरी में आग लगा दिया है, सीवांजी! आकर मेरी रक्षा करो।' सीवांजी के कान में ये शब्द पड़े तो इनकी मति भाव में डूब गई। सर्व-समर्थ भगवान सर्वदा भक्तों की रक्षा करने वाले मुझे पुकारते है, यह मुझ पर असीम वात्सल्य एवं दया है। अनेक पार्षद सेवा में उपस्थित हैं, उन्हें छोड़कर प्रभु मुझे आज्ञा दे रहे हैं। अपनी रक्षा करा रहे हैं। जैसे अहिरावण ने कहा—'श्रीराम! अपने रक्षक को याद करो।' तब श्रीरामजी ने हनुमानजी को याद किया। सब कुछ करने-कराने वाले प्रभु ही हैं, जैसे कच्छप अवतार में एक रूप से मन्दराचल को रोके थे, दूसरे रूप से देवता और दैत्यों में प्रविष्ट होकर मन्थन कर रहे थे। प्रेमाकुल सीवांजी ने भी अपनी छत पर चढ़कर नगाड़ा बजाया। जिसे सुनते ही इनके सैनिक घुड़सवार आ गये। उन्हें लेकर द्वारिका पहुँच गये। प्रभु-कृपा एवं आज्ञा की शक्ति से लगभग ५०० घुड़सवार वीरों ने कई हजार सशस्त्र यवन सैनिकों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

प्रान बारि डारे—चाहते तो जीवित रह सकते थे पर शुभ-अवसर देखकर प्राणों को न्यौछावर कर दिया। इसमें हेतु यह है कि श्रीसीवांजीने विचारा कि यदि मैं जीवित रहा, तो लोग कहेंगे कि—'इन्होंने पुरी की रक्षा की, इन्हें श्रीद्वारिकाधीश ने पुकारा।' ऐसी बड़ाई मुझे बड़ा-भारी दुःख देने वाली हो जायगी। एक प्रकार से वह मेरा उपहास होगा। भक्त श्रीत्रिलोचन से जब आकाशवाणी के द्वारा भगवान ने कहा कि-'मैं तो तुम्हारे अधीन हूँ, कहो, तो फिर सेवा करने के लिए आ जाऊँ। यह सुनकर त्रिलोचनजी के मन में दुःख हुआ। यथा—'कीने हरिदास मैं तो दासहू न भयौ नेकु, बड़ौ उपहास मुख जग में दिखाइयै।' (क० १८६) दूसरा कारण यह कि—'सन्मुख मरन वीर कै शोभा।' घर में मरने वाला वीर क्षत्रिय प्रशंसनीय नहीं होता है। कई वीर वीरगति की प्राप्ति के लिए ही धर्मयुद्ध ठानते हैं। इनकी समता योगयुक्त सन्यासी से है। यथा—'द्वाविमौ पुरुष व्याघ्र! सूर्यमण्डल भेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥' (महाभारत) श्रीविदुरजी धृतराष्ट्र से कहते हैं

कि—'हे पुरुषश्रेष्ठ! योगयुक्त सन्यासी और संग्राम भूमि में सामने लड़कर मरने वाला वीर ये दोनों सूर्यमण्डल को पारकर ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं, इनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है।' श्रीद्वारिकाधाम में भगवान की आज्ञा से भगवान के लिए आज यदि मैं शरीर न त्यागूं तो फिर ऐसा अवसर कभी हाथ आने का नहीं है। जैसे 'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काज छन भंगु सरीरा।। बड़े भाग अस पाइय मीचू।।' ऐसा विचारकर आपने प्राण वारि डारे। यह भी प्रसिद्ध है कि कटे हुए आपके धड़ ने बचे-खुचे यवन सैनिकों का संहार किया।

नयौ रस पीजिये—श्रीप्रियादासजी नये भक्तिरस का बोध कराकर उसके आस्वादन की सम्मति देते हैं। पुराना भक्तिरस यह है कि भक्त की आर्त पुकार सुनकर भगवान शीघ्र प्रकट होते हैं अथवा स्वधाम से आते हैं और भक्त की रक्षा करते हैं। गजेन्द्र, द्रौपदी आदि इसके असंख्य उदाहरण हैं। आज भगवान ने पुकारा, भक्त ने कष्ट से बचाया यह नया रस है। भक्तों को बड़ाई देने के लिए तथा भक्त मेरे समान हैं, यह प्रमाणित करने के लिए ही भगवान ने ऐसी लीला दिखाई। महाभारत में विजय के मूल कारण आप प्रभु थे, पर अर्जुन को बड़ाई दी। रुद्ररूप हनुमानजी थे अतः शंकरजी ने लंका-दहन के प्रसंग में श्रीहनुमानजी की बड़ाई न करके प्रभु-प्रताप की बड़ाई की। यथा—'उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहिं खाई।' पुनः-'जापै कृपा करै नन्द नन्दन। तापै आपु करावैं बन्धन।।' पुनः—दोहा—'करै करावैं आपुही नाम न अपनो लेहि। साईं हाथ बढ़ाइयौ जेहि भावै तेहि देहि।।'

* श्रीमती रत्नावतीजी *

पृथीराज नृप कुलबधू भक्तभूप रतनावती।।
कथा कीरतन प्रीति भीर भक्तनि की भावै।
महा महोच्छौ मुदित नित्य नन्दलाल लड़ावै।।
मुकुन्द चरण चिन्तवन भक्ति महिमा ध्वजधारी।
पति पर लोभ न कियौ टेक अपनी नहिं टारी।।
भलपन सबै विशेष ही आमेर सदन सुनखाजिती।
पृथीराज नृप कुलबधू भक्त भूप रतनावती।।१४२।।

शब्दार्थ—कुलबधू=अच्छे घराने की स्त्री। मुदित=प्रसन्न। लोभ न कियौ=मोह न कियौ। सुनखाजिती=सुनखाजीत की कन्या।

भावार्थ—जयपुर के निकट आमेर नगर में निवास करने वाली सुनखाजीत की पुत्री रत्नावती में सब प्रकार की भलाइयाँ विशेष रूप से विद्यमान थीं। आप महान् भक्त राजा पृथ्वीराज के कुल की वधू थीं तथा भक्तों में श्रेष्ठ थीं। भगवान की कथा सुनने में कीर्तन करने में आपको बड़ा प्रेम था। भक्तों की भीड़ आपको अच्छी लगती थी। बड़े-बड़े महा-महोत्सवों को करके प्रसन्न होती थीं। नित्य नन्दलालजी को लाड़ लड़ाती थीं। भगवान के श्रीचरण-कमलों के चिन्तन (ध्यान) में मग्न रहकर आपने भगवद्भक्ति की पताका फहराई। भक्ति के आचरण में बाधा करने वाले पति पर लोभ न करके उनसे अपने मन को हटा लिया और सन्त-भगवन्त का भक्तिरूप अपना प्रण नहीं छोड़ा।।१४२।।

व्याख्या—पृथ्वीराज नृप कुलवधू—कहने का भाव यह कि सामान्य कुल की भक्ता हो और वह अपने कुल की लज्जा-मर्यादा छोड़ दे, तो उतना आश्चर्य नहीं होगा। इतने बड़े राजघराने की कुलवधू होकर इन्होंने जो इतना बड़ा त्याग किया, वह इनके महान् दृढ एवं विशुद्ध प्रेम का द्योतक है। पुनः रानी ने यह भी जाना कि हम जिनके कुल की वधू हैं, वे श्रीबालाबाईजी एवं श्रीपृथ्वीराजजी महान् भक्त थे। यहीं आमेर में रहते हुए उन्हें श्रीद्वारिकानाथजी के दर्शन, गोमती स्नान एवं शंख-चक्र की छाप प्राप्त हुई थी। इससे रानी को प्रेम पथ पर अग्रसर होने का उत्साह विशेष हुआ। श्रीपृथ्वीराज के वंश में अनेक भक्त हुए। भक्त वंश का प्रभाव होता है 'भगवानदास श्रीसहित नित सुहृद सील सज्जन सरस।' (छ० १८८) 'पृथ्वीराजकुल दीप भीम सुत विदित कील्ह सिषि।' '(श्री) मोहनमिश्रित पदकमल आशकरन जस विस्तर्यौ।।' (छ० १७४) आदि अनेक भक्त इसी कुल में हुए। अन्यत्र भी पुत्र-पौत्रों में भक्ति के संस्कार पाये जाते हैं। यथा—'नरहरि गुरु परसाद पूत पोते चलि आई।' (छ० १६३) 'तैसोइ पूत सपूत नूत फल जैसोइ परसा।' (छ० १७२) तथा—'खेमाल रतन राठौर की सुफल बेलि मीठी फली।' (छ० १२२) आदि। ध्रुवजी के सबसे बड़े पुत्र हुए श्रीउत्कलजी। इन्होंने सुना कि हमारे पिताजी ने बाल्यकाल में ही तपस्या करके प्रभु को प्राप्त किया। इससे इनका मन राज्य-सुख से विरक्त हो गया। बड़े होने से राज्य के अधिकारी थे। परन्तु मन्त्री एवं प्रजावर्ग के समक्ष इन्होंने अपने को जड़, बधिर, उन्मत्त प्रमाणित किया। राजा नहीं बने, भगवद्भजन में लग गये। यथा—'ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम्।' सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः।।' (भा० ४-१३-६) अर्थ—श्रीध्रुवजी के वन चले जाने पर उनके पुत्र उत्कल ने अपने पिता के सार्वभौम वैभव और राज्य सिंहासन को अस्वीकार कर दिया। कहने का तात्पर्य यह कि अपने वंश में हुए श्रीपृथ्वीराज एवं बालाबाई का प्रभाव श्रीरत्नावतीजी पर पड़ा, उनसे भी प्रेरणा मिली। अतः 'पृथीराज नृप कुलबधू' कहा।

भक्तभूप रतनावती—जो भगवान की सेवा करते हैं, वे भक्त हैं और जो भगवान एवं उनके भक्तों की (दोनों की) सेवा करते हैं, वे भक्तराज हैं। भक्त श्रेष्ठ हैं, भक्तभूप हैं। जैसे-गोवर्धन गिरिराजजी श्रीकृष्ण, ग्वाल-बाल एवं गौओं की सेवा करते हैं, अतः उन्हें हरिदासवर्य कहा। (भाग० १०-२१-१८) पूरा श्लोक देखिये तृतीयखण्ड पृष्ठ २५ पर। तथा-श्रीलालाचार्यजी-'कही भक्तराज तुम कृपा मैं समाज पायो।' (क० ११४), श्रीहरिपालजी—'मेरौ भक्तभूप लैकै छाती सों लगायौ है।' (क० २३७), श्रीमधुकरशाहजी—'ओड़छे कौ भूप भक्तभूप सुखरूप भयौ।' (क० ४८८) गजगोपालदासजी-'भयौ गजराज भक्तराज साधुसेवा साज।' (क० ३९२), वेषनिष्ठ-राजा-'राजा भक्तराज डोम भांड कौ न काज होय।' (क० २५५), श्रीमोरध्वज-'बोल्यो भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ।' (क० ९२) विशेष देखिये, पूर्वार्द्ध ४७७ पृष्ठ। आदि अनेक उदाहरण हैं। पुनः- बड़े-बड़े दिग्विजयी वीर सारी पृथ्वी को जीत लेते हैं, परन्तु अपने मन एवं इन्द्रियों को नहीं जीत पाते हैं। उनके अधीन रहते हैं। परन्तु श्रीरत्नावतीजी ने अपने मन तथा इन्द्रियों को जीतकर अर्थात् अपने वश में करके भक्तों का तथा भगवान का भजन किया। अतः अबला को भक्तभूप कहा।

कथा कीरतन प्रीति—सन्तों के संग से मेरे पराक्रम का बोध कराने वाली कथायें सुनने को मिलती हैं, उनसे श्रद्धा, रति और प्रेम उत्पन्न होता है। (भा० ३-१५-२६) पूरा श्लोक देखिये, पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४६। कथा-कीर्तन में जिसकी प्रीति है, वह माया से मोहित नहीं होता है और उसके सामने मायाचक्र प्रभावहीन है। यथा-'कीरतन करत कर सुपनेहुँ मथुरादास न माँड़ियौ।' (छ० १४४) बिना कथा-कीर्तन के दूसरे साधन अपूर्ण हैं और कथा-कीर्तन पूर्ण हैं। यथा—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव।।
य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः। अवतारानुचरितं श्रृण्वन् याति परां गतिम्।।
क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽस्थ मानुषे। यत्र यत्रनुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः।।
(भाग० ८-२३-१६-३०-३१)

अर्थ—श्रीशुक्राचार्यजी ने कहा—भगवन् जिस कर्म के आप स्वामी हैं, उनमें कभी कोई त्रुटि नहीं रह सकती, क्योंकि मन्त्रों की, अनुष्ठान पद्धति की, देश-काल-पात्र और वस्तु की सारी त्रुटियाँ आपके नाम-संकीर्तन मात्र से सुधर जाती हैं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवताओं के आराध्य देव अद्भुत लीलाधारी भगवान के अवतार चरित्रों को जो श्रवण करता है, उसे परमगति की प्राप्ति होती है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ किसी भी कर्म का अनुष्ठान करते समय

जहाँ-जहाँ भगवान की लीला का कीर्तन होता है, वह कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है, यह बड़े-बड़े महात्माओं का अनुभव है।

भीर भक्तनि की भावै—इसका हेतु कथा-कीर्तन प्रीति है, जहाँ-जहाँ कथा-कीर्तन का आयोजन होता है, वहाँ-वहाँ अपने-आप भक्तों की भीड़ हो जाती है। बिना भक्तों की भीड़ के कथा-कीर्तन पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं होते हैं। कथा-कीर्तन का समाचार पाते ही कथा-रस के प्रेमी जो वैष्णव हैं, वे दौड़कर आते हैं। यथा—

श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः। धावन्तोऽप्यcraftयु: सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः।।

श्रीमद्भागवत की कथा होगी यह सुनते ही भृगु, वशिष्ठ आदि मुनि वेद, पुराण, गंगा आदि नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर, सभी वन, पर्वत, देव आदि आ गये। (भा० मा० ३-१२) दूसरा कारण आगे कहते हैं कि 'महा महोच्छौ मुदित' बड़े-बड़े उत्सव होते रहते, उनमें भी भक्तों की भीड़ होती थी और वह अच्छी लगती थी। संसारी लोगों की भीड़ में तो बड़ी-भारी अशान्ति हो ही जाती है। कदाचित् एक भी संसारी समीप रहे तो वह संसार की बातें कह-सुनकर वायुमण्डल को दूषित कर देगा। भक्तों की भीड़ में सबका एक-सा भाव रहने के कारण शान्ति रहती है। दासी के कथनानुसार भक्तों की भीड़ में ही रानी को भगवान के दर्शन हुए अतः 'भीर भक्तनि की भावै।'

नित्य नन्दलाल लड़ावै—दो सौ बावन वैष्णववार्ता में लिखा है कि वह दासी गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी की सेवक थी। अतः उसने वात्सल्य-रसोपासना की रीति बालकृष्ण भगवान का ध्यान बताया। फिर जब कभी गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी पधारे, तब रानी ने उनसे मन्त्र लिया और अपने पुत्र को भी दीक्षा दिलवाई। तभी से नित्य-नियम से अष्टयाम उपासना करने लगीं। लड़ावै अर्थात् दुलार प्यार पूर्वक, उपासना करती थीं। बालरूप की सेवा का जितना अवसर मिलता है, उतना किशोररूप की सेवा में नहीं रहता है। बालरूप अपने-आप अपनी कुछ भी सेवा न करके माता के सहारे रहते हैं। अहर्निश सेवा एवं हित चिन्तन माता करती हैं। इसी भाव से रानी सेवा करती थीं अतः नित्य नन्दलाल लड़ावै कहा। वात्सल्य रसोपासना के सम्बन्ध में देखिये, पूर्वार्द्ध पृष्ट २९।

भक्ति महिमा ध्वजधारी—भाव यह कि डंके की चोट प्रकट रूप से आप भक्ति का आचरण करती थीं। जहाँ ध्वज नहीं है, वहाँ उपासना गुप्त रहती है। यथा-'अन्तरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी।' (छ० ५७) ध्वजा का दर्शन दूर से ही होता है। यह ध्वजा दिल्ली तक फहराई। वैष्णवता के चिन्ह कण्ठी-तिलकादि का धारण भी ध्वजा का धारण है। पुनश्च भक्ति

का झण्डा आपने उठा लिया था। उसे फहराया। शोभा-यात्रा में झण्डे वाला झण्डे को लेकर सबसे आगे चलता है, उसकी प्रतिज्ञा होती है कि इसे ऊँचा ही रक्खूंगा। प्राणों की बाजी लगाकर उसे ऊँचा रखता है। विरोधी पहले उस पर ही आक्रमण करता है, झण्डे को छीनना या नष्ट करना चाहता है। इन्होंने प्राण संकट आने पर भी उसका त्याग नहीं किया उसे ऊँचा ही रखा।

पति पर लोभ न कियौ—त्यागी भक्त मान—अपमान, निन्दा-स्तुति और आलोचना के भान का भी त्याग कर देता है। कटाक्ष, कटुवचन, आलोचना से रानी का भाव और दृढ़ हुआ। स्त्री के लिए पति का परित्याग लोक और वेद में अति निन्दनीय है। वह केवल गोपी-भाव से वन्दनीय है। 'बलि गुरु तज्यौ कन्त ब्रज वनितन भे मुद मंगलकारी।' (विनय०) वंशी की मधुर ध्वनी से आकृष्ट होकर आई ब्रजगोपियों को भगवान ने पति सेवा का उपदेश दिया और उसे उचित बताया। तब उन्होंने कहा—आपने जो पति-पुत्र आदि की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म बताया। वह विल्कुल सत्य है, परन्तु आप समस्त शरीरधारियों के (हमारे पतियों के) सुहृद् हो, आत्मा हो और प्रियतम हो और पतियों के भी पति हो अतः आपके इस उपदेश के अनुसार भी हमें आपकी ही सेवा करनी चाहिए। क्योंकि आप सब उपदेशों के चरम लक्ष्य हो, साक्षात् भगवान हो। आत्म-ज्ञान में निपुण महापुरुष आपसे ही प्रेम करते हैं, क्योंकि आप नित्य एवं अपनी ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद् पति पुत्रादि से क्या प्रयोजन? (भा० १०-२९-३२) पति की सेवा उनके अनुकूल रहना धर्म है और भगवान की सेवा परमधर्म है। सामान्य धर्म को छोड़कर परमधर्म का पालन करना अनुचित नहीं है। राज्य भोगादि संसार के सुखों की लालसा न होकर जब भगवत्प्रेम की लालसा होती है तब वे अपने आप ही छूट जाते हैं यथा—'जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः। (भा० ५-१४-४३) भरतजी ने हरि में अनुरक्त होकर स्त्री, पुत्र और राज्य आदि को युवा अवस्था में ही विष्ठा के समान त्याग दिया। श्रीरूप-सनातन और श्रीकरमैतीजी ने वमन की तरह त्यागा। भक्ति विमुख जानकर रानी ने पति पर लोभ न किया और श्रीकरमैतीजी—'नश्वर पति रति त्यागि कृष्णपद सों रति जोरी।' (छ० १६०) श्रीमीराजी, श्रीरत्नावतीजी एवं श्रीकरमैतीजी इन सभी ने गोपी-भाव का अनुसरण किया। पति आदि का लोभ नहीं किया।

टेक अपनी नहिं टारी—'भक्त-भगवान और गुरुजनों से सच्चा निष्कपट भाव और भक्ति की टेक न छोड़ना' यही भक्त का लक्षण है। यथा—'हरि गुरु दासनि सों साँचो सोई भक्त सही गही एक टेक फेरि उरते न टरी है। (क० ९ पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६१ तथा १५ देखिये) प्रतिज्ञा नियम को छोड़ने से पुण्य नष्ट हो जाते हैं। यथा—'सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ। (रा०) साधारण लोग भी अपनी टेक को इसलिए नहीं छोड़ते हैं कि हमको लोग देख रहे हैं, हमारी निन्दा होगी। फोटो

खिंचवाने वाले को भी डर रहता है कि मेरा फोटो बिगड़ जाएगा, इसलिए वह सावधानी से अचल होकर बैठता है। वर्तमान के द्वारा भविष्य बनता है। अभी यदि असावधान रहूँगा तो भविष्य का चित्र बिगड़ेगा। यह मानकर भी लोग अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते हैं। भक्तों कि प्रतिज्ञा नहीं छूटती है, इसमें भगवदिच्छा कारण है। भगवान अपने भक्त की टेक को रखते हैं। उनकी ऐसी प्रतिज्ञा है। माया के, रावण के राज्य में तामसी, आसुरी सेवा के आक्रमण, ज्ञानी-देवों और भक्तों पर होते ही हैं। वे प्रतिज्ञा-पैर को हिलाने की अनेक युक्तियाँ करते हैं। जैसे अंगदजी के चरण को हिलाने-हटाने में उन्होंने पूरी शक्ति लगाई। पर नहीं हटा सके, उसका कारण यह है कि अंगद का जैसा नाम था वैसा ही भाव-स्वभाव भी था। अंग+द=अर्थात् अंग-प्रत्यंग का दाता। अंगद के सम्पूर्ण अंग भगवान श्रीराम को समर्पित थे अतः उनका चरण अचल रहा। 'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा मांझ पन करि पद रोपा।। तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई।।' श्रीरत्नावतीजी को नन्दलाल के प्रताप का बल था तथा सर्वस्व उन्हें समर्पित था अतः अपनी टेक न छोड़ने में समर्थ हुईं।

भलपन सबै विशेष ही—गोस्वामी श्रीनाभाजी ने पृथ्वीराज नृप कुलबधू इस पद से १-सत्कुलोत्पन्ना, कथा-कीर्तन प्रीति से, २-श्रवण और ३-कीर्तन में निष्ठा, भीर भक्तनि की भावै कहकर, ४-भक्त-सेवा और उनके संग में रुचि, नन्दलाल लड़ावै से, ५-अर्चन में प्रेम, मुकुन्द चरण चिन्तवन से, ६-स्मरण एवं ७-पादसेवन, पतिपर लोभ न कियौ से, ८-त्याग और ९-वैराग्य, भक्ति महिमा ध्वजधारी से, १०-निर्भयता, ११-भक्ति-प्रचार निष्ठा, टेक अपनी नहिं टारी से, १२-अनन्यता आदि का वर्णन किया। इतने पर भी उन्हें सन्तोष न हुआ, क्योंकि श्रीरत्नावतीजी का ध्यान करने से उन्हें अनन्त गुण दिखाई पड़े अतः 'भलपन सबै विशेष ही' ऐसा कहा। इस एक वाक्य के द्वारा अनन्त गुण कहे गये। अर्थात् श्रीरत्नावतीजी में समस्त सद्गुण थे और विशेष रूप से थे। तात्पर्य यह कि रानी में विशेष रूप से संयम, नियम, सत्य, दया, क्षमा, धैर्य, सरलता और विवेक आदि सभी गुण थे। तथा हिंसा, लोभ, दम्भ, छल, अहंकार, काम, क्रोध और मद आदि दोषों का लेश मात्र न था, अतः भलपन सबै विशेष ही ऐसा कहकर उनके वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराया गया। श्रीरत्नावतीजी का शरीर सुन्दर था, और उनका मन भी सद्गुण और सुन्दर विचारों से सुसज्जित था। पति चरणों में अगाध प्रेम था। स्वभाव इतना मधुर और पवित्र था कि जो कोई उनसे बात करता, वही उनके प्रति श्रद्धा करने लगता। महल की दासियाँ इनके सद्व्यवहार से मुग्ध होकर इन्हें माता के समान मानती थीं। यह इनके भलप्पन की विशेषता

थी। पुनः रानी ने भक्ति का आश्रय ले लिया, भगवान को अपना लिया। दूसरों को छोड़ दिया, यह सबसे बड़ा भलप्पन है। 'सब कर फल हरि भगति भवानी।' पूर्वजन्म के संस्कारों का उदय हुआ अतः नाम श्रवण मात्र से प्रभावित हो गई। अन्यथा—'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलै विरंचि सम।'

मानसिंह राजा ताकौ छोटौ भाई माधौसिंह, ताकि जानौ तिया जाकी बात लै बखानियै।
ढिग जो खवासिनि सों स्वासनि भरत, नाम रटति जटित प्रेम रानी उर आनियै।।
नवल किसोर कभूं नन्द के किसोर कभूं, वृन्दावनचन्द्र कहि आँखे भरि पानियै।
सुनत विकल भई सुनिबे की चाह भई, रीति यह नई कछु प्रीति पहिचानियै।।५४२

शब्दार्थ—खवासिनि=दासी, सेविका। स्वासनि=प्रति श्वास में, श्वास-श्वास में। जटित= जड़ा हुआ।

भावार्थ—आमेर के राजा मानसिंहजी, उनके छोटे भाई माधौसिंहजी, उनकी रानी श्रीरत्नावतीजी थीं। अब उन्हीं के चरित्र का वर्णन किया जाता है। इनके समीप सेवा के लिए एक दासी रहती थी। वह भगवद् भक्ता लम्बी-लम्बी श्वासें लेकर बार-बार भगवन्नाम का सप्रेम उच्चारण किया करती थी। प्रेमयुक्त भगवन्नाम सुनते-सुनते रानी श्रीरत्नावती के हृदय में भी भगवत्प्रेम का उदय हो गया। वह दासी कभी 'नवल किशोर' कभी 'नन्दकिशोर' और कभी 'हा श्रीवृन्दावनचन्द्र' कहकर आँखों में आँसू भर लेती थी। इस प्रकार प्रेम में व्याकुल होकर उच्चारण किये गये भगवन्नामों को सुनकर रानी भी प्रेमाकुल हो गईं और उनके मन में आया कि मैं इस प्रकार से भगवन् नामों को सुनती ही रहूँ। दासी की प्रेममयी अवस्था रानी के लिए बिल्कुल नयी थी। रानी ने पहचान लिया कि इस दासी के हृदय में विशुद्ध भगवत्प्रेम है ।।५४२।।

व्याख्या—ढिग जो खवासिनि—'क्षत्रियात्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।' (मनु०) ब्राह्मण वर्ण की स्त्री एवं क्षत्रियवर्ण के पुरुष से उत्पन्न पुत्र जाति से सूत कहे गये, इस जाति का कार्य रथ हाँकना होता है, परन्तु नैमिषारण्य में सूतजी वक्ता और अट्ठासी हजार ऋषि श्रोता थे। नीलगिरि पर श्रीकाकजी वक्ता और 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी।।' श्रोता थे। उसी प्रकार यहाँ दासी उपदेश देने वाली और रानी सुनने वाली है। दासी के द्वारा महारानी को प्रेमाभक्ति प्राप्त हुई। इससे सिद्ध हुआ कि जिसमें भक्ति है, वह श्रेष्ठ है। ऊँच-नीच का भेद-भाव मन में न लाकर जहाँ से भी मिले, वहाँ

से कथा-कीर्तन, भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहिए और जैसे ऋषियों ने सूतजी को, गरुड़जी ने काकभुशुण्डिजी को तथा रानी ने दासी को आदर दिया, गुरु माना, उसी तरह मानना चाहिए, महल की अनेक दासियों में रानी के समीप रहने वाली यह दासी भाग्यवती, पुण्यशीला एवं पवित्र प्रेमिका थी। अतः

स्वासनि भरत नाम—'स्वास-स्वास प्रति नाम रटु वृथा स्वास मति खोय। ना जानौं या स्वास को आवन होय न होय।।'

जय राधे जय राधे राधे जय राधे जय श्रीराधे।
जय कृष्ण जय कृष्ण कृष्ण जय कृष्ण जय श्रीकृष्ण।।
श्यामा गोरी नित्य किशोरी प्रीतम जोरी श्रीराधे।
रसिक रंगीलो छैल छबीलो गुन गर्वीलो श्रीकृष्ण।।
रासविहारिनि रसविस्तारिनि मनि उर धारिनि श्रीराधे।
नव नव रंगी नवल त्रिभङ्गी श्याम सुअङ्गी श्रीकृष्ण।।
कंचन बेली रति रस रेली अति अलबेली श्रीराधे।
सब सुखसागर सब गुण आगर रूप उजागर श्रीकृष्ण।।
राधा नामिनि गुन अभिरामिनि हरि प्रिय स्वामिनि श्रीराधे।
अंग अंग टोना सरल सलोना सुभग सुठोना श्रीकृष्ण।।

नवल किसोर कभूं...वृन्दावनचन्द्र कहि०—सनातन, पुराण पुरुषोत्तम आदि नामों को नहीं लेती, इसलिए कि ये प्राचीन हैं, इनमें ऐश्वर्य है। पुराने नाम-रूप की अपेक्षा नये में और ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य में आकर्षण अधिक होता है अतः नवीन-किशोर, नित्य नई लीला का बोध कराने वाले नामों को लेती। विरह की वेदना को शान्त करने का उपाय प्रियतम के नाम और गुणों का कीर्तन ही है। जैसे-गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुत चेतसः। कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्।। (भा० १०-३५-१) अर्थ-श्रीकृष्ण के गोचारणार्थ वन में चले जाने पर उनके साथ गोपियों का चित्त भी चला जाता था। उनका मन श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता और वे वाणी से उनकी लीलाओं का गान करती रहतीं। इस प्रकार वे कठिनाई से अपना दिन बितातीं।। उसी प्रकार दासी भी नाम-संकीर्तन करके दिन बिताती। पुनः जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ प्रभु का प्राकट्य हो जाता है। रासलीला के प्रसंग में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर सभी गोपियाँ उनके आगमन की इच्छा से श्रीकृष्ण के चरित्रों का गान

करने लगीं। यथा-'समवेता जगुःकृष्णं तदागमनकांक्षिताः।' (भा० १०-३०-४५) कीर्तन करते ही दासी के नेत्रों के सामने लीला-पुरुषोत्तम प्रकट होकर एक न एक ऐसे कौतुक की झाँकी करा देते, जिससे वह और अधिक तन्मय हो जाती। तब 'आँखै भरि पानियै' सर्वदा उसके नेत्र सजल रहते, बरसते रहते। इससे ज्ञान हुआ कि भक्तिदेवी इसके हृदय में स्थिर हैं। यथा—'भक्ति रस रूप कौ स्वरूप यहै छबिसार चारु हरि नाम लेत अँसुवन झरी है।।' (क० ९) इसका नामोच्चारण सामान्य न होकर 'प्रेम जटित और रटनशील था, उसका कारण यह था कि इस भक्तिमती दासी के सामने मधुर मूर्ति भगवान बालकृष्ण अनेक प्रकार की लीलायें करके उसे प्रेमानन्द सागर में डुबाये रखते हैं। उसके शरीर में रोमाञ्च, पुलक एवं अश्रुपात आदि प्रेम के अष्ट-सात्विक भावों का उदय होता ही रहता है। इस विलक्षण दशा को रानी बार-बार देखती, कारण समझने की चेष्टा करती। इसी तरह धीरे-धीरे रानी का मन उधर आकृष्ट हुआ एवं उसमें प्रेम उत्पन्न होने लगा। शरीर के अन्दर हृदय में जिस प्रकार के विचारों के परमाणु भरे रहते हैं, उसी प्रकार के परमाणु स्वाभाविक ही शरीर के रोम-रोम से सदा बाहर निकलते रहते हैं। अर्थात् पापी मनुष्यों के शरीर से पाप के, पुण्यात्मा के शरीर से पुण्य के, ज्ञानियों के शरीर से ज्ञान के और प्रेमी-भक्तों के शरीर से प्रेम के परमाणु निकलते ही रहते हैं। ये परमाणु अपनी शक्ति के अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल वायुमण्डल के अनुरूप बाहर फैलते हैं और सब पर अपना असर डालते हैं। यह नियम की बात है, जिनके अन्दर जो भाव परमाणु अधिक मात्रा में और अधिक घने होते हैं, उनके अन्दर से वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। उस प्रेममयी दासी का हृदय पवित्र प्रेम से भरा था, भरा ही नहीं था, उसमें प्रेम की बाढ़ आ गई थी। उसके हृदय में प्रेम समाता नहीं था। बरबस बाहर निकल रहा था। अतः उसी ने रानी पर अपना प्रभाव जमाया। एकदिन जब रानी का हृदय प्रेम से द्रवित हो गया था, उसी समय उसने लम्बी-लम्बी श्वासें भरकर हा नन्दकिशोर! आदि नामों को लिया।

सुनत विकल भई०—किशोरी श्रीराधिका श्रीकृष्ण के नाम-गुणों का श्रवणकर विकल हो गईं, एक सखी उनकी दशा का वर्णन श्रीकृष्ण के प्रति करती है—

जबही ते कुंवर कान्ह रावरी कला निधान, कान परी वाके कछु सुजस कहानी-सी।
तबही ते देखी देव देवता-सी हँसत-सी,रीझत-सी खीझत-सी रुसत रूसानी-सी।।
छोभी-सी छली-सी छीन लीनी-सी छकी-सी औ, झकी-सी औ ठगी-सी लगी थकी थहरानी-सी।
बँधी-सी वेधी-सी विष बूड़त विमोहित-सी, बैठी वह बकत बिलोकत बिकानी-सी।।

दोहा– लाल तिहारे रूप की कहौ रीति यह कौन।
जासौं लागत पलक दृग लागत पलक पलौ न।।
दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गांठ दुर्जन हीये दई नई यह रीति।।

पद– स्याम दृगन की चोट बुरी री।
ज्यौं ज्यौं नाम लेत तू वाकौ मो घायल पै नोन पुरी री।।
ना जानौं अब सुधि-बुधि मोरी कौन विपिन में जाय दुरी री।
'नारायण' नहिं छूटत सजनी जाकी जासों प्रीति जुरी री।।

जा दिन ते श्रवन पर्‌यौ है कान्ह ता दिन ते लग्यौई रहत रसना में आठोयाम है।
चोवा चीर पानी पान चन्दन चमेली हार माँगत ही मुख निकसत घनश्याम है।।
सोचिकै सकोचनि औ मोचनि सकल दुख सुख को दिनेश जिय कोसो जिय धाम है।
प्रीति रीति तन्त्र जग जीतिवे को जन्त्र मनमोहिनी कौ मन्त्र मनमोहन को नाम है।।

जैसे खरबूजे को देखकर खरबूजे का रंग बदल जाता है, उसी प्रकार दासी को देखकर रानी पर भी रंग चढ़ गया। दासियों से कुछ आवश्यक वस्तु माँगती हैं तो वस्तु का नाम भूलकर मुख से भगवान का नाम निकलता है।

जाको जासों मन लग्यौ सोई ताको राम।
रोम रोम में रमि रहयौ नहीं आन सों काम।।

सुनिवे की चाह भई–भगवान के गुण ज्यौं-ज्यौं सुने जायँ, त्यौं-त्यौं उनको और अधिक सुनने की चाह उत्पन्न होती है और फिर सुने बिना रहा नहीं जाता। इसी तरह रूप को ज्यौं-ज्यौं देखा जाय, त्यौं-त्यौं देखने की उत्कण्ठा बढ़ती है, बिना देखे बेचैनी होती है। पुनः अपने भोगों की चाह थी अब प्रेम की चाह हुई यह नई रीति है। रानी को इस नई रीति का अनुभव हुआ। पुरानी रीति के अनुसार देख-सुनकर तृप्ति होनी चाहिए। तृप्ति न होने का कारण समझने की चेष्टा करने पर 'प्रीति पहिचानियै' अर्थात् रानी ने समझा कि इसी को प्रेम कहते हैं। दासी की जो लोकोत्तर अवस्था है। उसका कारण प्रेम है। रानी को भी प्रेम का चस्का लगा। यह सत्संग की महिमा है। अन्यथा राजा-रानी प्रायः राजसी स्वभाव के होते हैं। भगवान ने उद्धव से कहा-सत्संग से दैत्य, प्रेत-पिशाच, खग-मृग आदिकों ने भी मुझे प्राप्त किया। 'सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।।' (भा० ११-१२-३) जैसे यज्ञ पत्नियों को मालिन के सत्संग से श्रीकृष्ण में प्रेम हुआ। एक मालिन वृन्दावन में प्रभु की लीलाओं को देखती, फिर फूलों की पुड़िया बनाकर माथुर

ब्राह्मणों के घरों में देने जाती। तब उनकी स्त्रियों के आगे श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, मन्द-मुस्कान, भ्रू-विलास का तथा ब्रज-गोपियों के साथ हुई लीलाओं का रो-रोकर वर्णन करती। धीरे-धीरे सुनते-सुनते उनमें श्रीकृष्ण प्रेम उत्पन्न हो गया। उसी तरह दासी के सत्संग से रानी रत्नावती को प्रेम हो गया। इनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। यथा-'हरि छबि जल जबते परी तबते छन बिछुरी न। भरत ढरत बूड़त तरत रँहट घटी लौलीन।।' अर्थात् भगवान के छबि रूपी जल में जब से मन-बुद्धि और आँखें पड़ गईं, तब से एक क्षण के लिए भी उससे अलग नहीं हो पाती हैं। रँहट की घड़ी की तरह जल में सदा लीन रहती हैं। जैसे घड़ियाँ भरती हैं, ऊपर आकर ढरती हैं अर्थात् उनसे जल गिरता है। चक्रयन्त्र पर घूमकर वे फिर जल में डूबती हैं पुनः भरकर जल से बाहर निकलती हैं। बुद्धि में और नेत्रों में छबि जल भरता है, फिर उनसे बहने लगता है खाली होकर फिर छबि जल की ओर गमन होता है। इस प्रकार छबि जल को भर-भरकर ये आँखें सूखे हृदय क्षेत्रों का सिंचन करती हैं।

बार बार कहै कहा कहै उर गहै मेरौ, बहै दृग नीर हो सरीर सुधि गई है।
पूछौ मत बात सुख करौ दिन रात, यह सहै निज गात रागी साधु कृपा भई है।।
अति उतकण्ठा देखि कह्यौ सो बिसेस सब, रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है।
टहल छुटाई औ सिरहाने लै बैठाई वाहि, गुरु बुद्धि आई यह जानौ रीति नई है।।५४३

शब्दार्थ—उतकण्ठा=तीव्र अभिलाषा, उत्सुकता।

भावार्थ—एकदिन रानी ने उस दासी से पूछा—'तुम बार-बार क्या कहती रहती हो, किसका नाम लिया करती हो? उसे सुनकर मेरा हृदय भी उधर खिंचता है और मेरे मन में आता है कि मैं भी इसी प्रकार नाम का उच्चारण करूँ।' इस प्रश्न को सुनकर दासी विशेष विकल हो गई, उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली तथा शरीर की सुधि नहीं रही। दासी की ऐसी दशा देखकर रानी की भी वही दशा हो गई। कुछ देर बाद स्वस्थचित होकर दासी ने उत्तर दिया—'महारानी जू! आप इस बात को मत पूछिये। दिन-रात राजसुख भोगिये।' मेरी इस दशा का कारण यह है कि 'मुझ पर एक प्रेमी सन्त की कृपा हो गई है अतः प्रेम-वियोग के सुख-दुःख को मेरा शरीर सहन कर रहा है।' फिर रानी के विशेष आग्रह पर और उनकी उत्कण्ठा को देखकर दासी ने प्रेम-मार्ग के रहस्य का वर्णन किया। उसके समर्थन में ब्रजधाम के रसिक शिरोमणि सन्तों के चरित्र और उनके उपदेश सुनाये। उसका रानी के हृदय पर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि उसने दासी को उसकी सेवा-टहल से छुड़ा दिया

और आदरपूर्वक उसे अपने से ऊँचे आसन पर बैठाया। उस दासी को अपना गुरु मान लिया। प्रेम की रीति-भाँति बड़ी ही विचित्र है।।५४३।।

व्याख्या—बार बार कहै—नाम रटते-रटते दासी को रूप के दर्शन होने लगते, जब उन्हें पकड़ने के लिए लपकती तो कौतुकी कृष्ण दूर भागते नजर आते। दासी के मुख से सहसा निकल पड़ता-'देखो री यह नन्द का छोरा बरछी मारे जाता है। बरछी-सी तिरछी चितवन में पैनी छुरी चलाता है।। हमको घायल देखि बे-दरदी मन्द मन्द मुसकाता है।'ललितकिशोरी' जख्म जिगर पर नोन पुरी बुरकाता है।।' प्रेम के आवेश में आकर दासी बार-बार हा नन्दकिशोर! हा ब्रजचन्द! आदि नामों को लेकर पुकारती रहती, कभी-कभी एक ही बात को बार-बार कहती या पूछती रहती। उसकी इस दशा को देखकर रानी भी बार-बार पूछती। प्रियतम की वार्ता को बार-बार कहना, सुनना और पूछना यह प्रेमी का स्वभाव है। इस पर—

दृष्टान्त—दो वैष्णवों का—एक सन्त तीन दिन के भूखे थे, दूसरे उत्तम-उत्तम पक्वान्न-व्यञ्जन प्रसाद पाकर आये। रात को एक ही स्थान पर ठहरे। भूखे ने कहा—सभी के नाम और स्वाद का वर्णन करो। उसने नाम-रूप-स्वाद और गुण आदि को बताकर सबका वर्णन किया। उसे सुन चुकने पर पुनः-पुनः सुनाने का आग्रह किया। पाँच-सात बार सुनाकर उसने पूछा कि आप बार-बार क्यों पूछते हैं। भूखे वैष्णव ने कहा-आपने प्रसाद पाया है, आप प्रसन्न हैं। हम भूखे हैं, दुःखी हैं। हमारी रात नहीं कट रही है, सुन-सुनकर मन को बहलाते हैं। इसी प्रकार दासी नाम-रूप-गुण आदि का आस्वादन कर रही है। रानी को प्राप्त करने की उत्कण्ठा है। अतः बार-बार पूछती हैं, सुनने से सन्तोष होता है। प्रेमी प्रेमवश हजारों बार कह—सुनकर तृप्त नहीं होता है। 'फिरि फिरि पूछति कहि कहा कह्यौ सांवरे गात। कहा करत देखे कहा अली चली क्यों बात।।'

जैसे श्रीश्यामसुन्दर के वियोग में व्याकुल होकर श्रीराधारानी अँगड़ाई लेती हुई शरीर को सखियों पर गिराती हैं। सखियों के पूछने पर मन की बात न बताकर मन बहलाती हैं, किसी भी कारण उन्हें चैन नहीं था। इसी बीच एक सखी उत्तर लेकर भगवान के पास से आई। तब वे उससे बार-बार पूछती हैं। इसका वर्णन प्रसिद्ध कवि करते हैं—

कबहुँक अंग अंगराई डारै अलिन पै मन बहरावै क्योंहू कल न परति है।
उत्तर सहेली लाई तिनको सन्देश सुनि कहत प्रसिद्ध कवि ऐसे ही अरति है।।
कैसे कैसे गई कहु कैसे कैसे बातें भईं कहाँ हैं ललन सुनि धीर न धरति है।
एक बेर पूंछि फेरि पूंछि फेरि फेरि पूंछि बेर बेर वेई बातें पूंछिबो करति है।।

बहै दृग नीर०—रानी ने पूछा कि अश्रुपात और बेहोशी का क्या कारण है। दासी ने कहा—'बिछुरत ही ब्रजचन्द के मन चकोर कहँ पीर। पीर और मन नयन ते निकसत बनिकै नीर।।' मन के द्रवीभूत होने पर शरीर की सुधि न रहना स्वाभाविक है। पुनः ध्यान में दर्शन से प्रसन्नता और उससे भी बेहोशी होती है। आँसू बहते हैं—'ध्यान आन ढिंग प्रानपति मुदित रहत दिन रात। पल कम्पत पुलकित पलक पलक पसीजत सात।।'

पूछौ मत बात—का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे पूछने पर जब मैं सभी बात बता दूँगी, तो मेरी-सी व्याकुल दशा तुम्हारी भी हो जायगी।

हेरति बारहिं बार उतै अजू बावरी बाल कहा धौं करैगी।
जो कबहूँ रसखानि लखै फिरि क्योंहू न वीर री धीर धरैगी।।
मानिहै काहू की कानि नहीं जब रूप ठगी हरि रंग ढरैगी।
याते कहूँ सिख मान भटू यह हेरनि तेरेइ पैड़े परैगी।।

हिलग अर्थात् प्रेम की बात किसी से कहना नहीं चाहिए। यथा—

बात हिलग की कासों कहिये।
सुन री सखी व्यवस्था तन की समुझि-समुझि मन चुप ह्वै रहिये।।
मर्मी बिना मर्म को जानै यह उपहास जानि जिय सहिये।
'दास चतुरभुज' गिरिधर मिलिकै सबही सुख लहिये।।

सुख करौ दिन रात—प्रेम का रंग चढ़ने से राज्य के सुख छूट जायेंगे। आप राज्य के सुखों को भोगिये। प्रेम-मार्ग में संसारी सुखों का नामो-निशान नहीं है। सुखद वस्तुयें भी दुःखद हो जाती हैं। वस्त्र, सर्प, भोजन विष, घर उजार हो जाता है। अपनी ही श्वास से वियोग-अग्नि हृदय में धधकने लगती है—

बसन डसन भये वदन हसन हीन स्वासनि, ते जागी है वियोग आग आगरी।
धाम तो उजार सोहै छार सोहै कामकाज, आलिन के जूथ जाल ऐसे हाल नागरी।।
भोजन हलाहल कुलाहल सो नाद जाहि, वाद है विवाद सो विषादन की सागरी।
आपुन मृगी के तूल कामदेव सारदूल, बचिहै न मूल सूल उठिहै उजागरी।।

यह सहै निज गात—अर्थात् 'स्नेह मूलानि दुःखानि' सब दुःखों की जड़ स्नेह है। इसमें लौकिक सुख का लेश नहीं है। अलौकिक प्रेम में तादात्म्य भाव है अर्थात् प्रेमी अपने प्रेमास्पद में तल्लीन हो जाता है। वाल्मीकि रामायण में श्रीहनुमानजी श्रीजानकीजी से कहते हैं—'नैव

दंशान्न मशकान् न कीटान्न सरीसृपान्। राघवोपनयेद् गात्रात् त्वद्गते-नान्तरात्मना।।' नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः।। (सु० स० ३६-४२) हे श्रीजानकीजी! श्रीरामचन्द्र का मन आपमें ऐसा लगा हुआ है कि डाँस, मच्छर, पतंग और सर्प आदि उनके शरीर पर रेंगते रहते हैं, पर उनको मालूम ही नहीं होता है। वे आपके ध्यान में, आपके शोक में और आपकी इच्छा में ही परायण रहते हैं। उन्हें नींद नहीं लगती, कभी आँखें झपक गईं, तो हे सीते! हे सीते! कहकर पुकारते हैं। तात्पर्य यह है कि आपके विरह में सन्तप्त रहते हैं। दासी कहती है कि मुझे भी विरह दुःख देता है। तभी मैं आहें भरती और प्यारे के नामों को ले-लेकर पुकारती रहती हूँ।

रागी साधु कृपा भई—'सो बिन सन्त न काहू पाई'। मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत् कृपा लेशाद्वा (ना० सू०) प्रेम की प्राप्ति महत् पुरुषों की और प्रभु की कृपा से होती है। भक्ति की प्राप्ति पुण्य से भी होती है। यथा—'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई'। (रा०) पुण्य से प्राप्त हुई भक्ति के क्षीण होने का भय रहता है। क्योंकि पुण्य प्रायः नाशवान होते हैं। इसलिए प्रेमी-भक्त अपने पुण्य बल से भक्ति नहीं चाहते हैं। वे कृपा से भक्ति चाहते हैं, कृपा का नाश कभी नहीं होता है, अतः कृपा से प्राप्त भक्ति का भी नाश नहीं होता है, उसका अन्त नहीं होता है। इसीलिए सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमानजी ने श्रीरामजी से विनती की—'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी।।' हे नाथ ! आप मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चला भक्ति कृपा करके दीजिये। दासी के कहने का भाव यह है कि महारानीजू! आप सन्त-भगवन्त की कृपा से प्रेम को प्राप्त करने की इच्छा करो। आगे रानी ने प्रथम भगवान की पुनः सन्तों की सेवा कर अविचल प्रेम प्राप्त किया।

कह्यौ सो विसेस—दासी ने कहा—प्रेम-पथ की कठिनाइयों को सुनते ही दिल दहल जाता है। लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर अलौकिक आनन्द मिलता है। यह मार्ग विषय विरागियों का है। इसलिए इधर न देखो। रानी ने कहा—मेरा मन बरबस उनके नाम-रूप की ओर खिंच रहा है। निरन्तर उसकी माधुरी जैसे मिले, वह उपाय बताओ। रानी की उत्कण्ठा देखकर दासी ने कहा—

प्रीति की रीति अनीति है प्रीति करौ जनि कोय। सुखदीपक कैसे बरै विरह नाग जहँ होय।।
विद्या आदर लच्छिमी और ज्ञान गुन गर्व। प्रेम पौरि पग धरत ही गये ततच्छन सर्व।।
नेह नेह सब कोई कहै नेह करौ जनि कोय। मिले दुखी बिछुरे दुखी नेही सुखी न होय।।
नेह स्वर्ग ते उतर्‌यौ भू पर कीनों गौन। गली गली ढूंढ़त फिरै बिन सिरको धर कौन।।
जरे जरे सो जरि बुझे बुझर जरेहु नाहिं। अहमद दाहे प्रेम के बुझि बुझिकै सुलगाहिं।।

प्रेम कठिन संसार में ना कीजै जगदीस। जौ कीजै तो दीजिये तन मन धन अरु सीस।।

प्रेम को सिद्ध करने के लिए प्रभु विरह देते हैं, विरही सुखी नहीं रहता। प्रेम भवन के द्वार पर जाते ही अर्थात् प्रेम के आरम्भ में ही विद्या-धन-ज्ञान आदि के अहंकार छूट जाते हैं। संसार के सुखों के लिए नहीं, अलौकिक आनन्द के लिए प्रेम है। जिस धड़ पर सिर नहीं अर्थात् जिसने अपना सिर सर्वस्व प्रभु को अर्पण किया, उसे प्रेम मिलेगा। लौकिक मोह से दुःखी होकर लोग उसे त्याग देते हैं, बुद्धिमान उस आग में जलता नहीं, परन्तु प्रेम की आग जहाँ लगी है, वहाँ इसलिए नहीं बुझती है कि नित्य संयोग-वियोग की लीला होती ही रहती है। बिना सर्वस्व त्यागे-सौंपे प्रभु प्रेम नहीं मिलता है। रानी सभी कष्ट सहने और सर्वस्व का त्याग करने के लिए तैयार हुई, तब दासी ने प्रेम का उपदेश किया। उसी प्रसंग में—

रसिक नरेसनि की बानी कहि दई—श्रीस्वामी हरिदासजी, श्रीहित हरिवंशजी, श्रीहरिराम व्यास एवं श्रीसूरदास आदि रसिक भक्तों की वाणियों को कहकर संसार की नश्वरता, मानव देह की दुर्लभता, भजन का उत्कर्ष भगवान की भक्तवश्यता एवं कृपालुता आदि का वर्णन किया—

साँचे श्रीराधारमन झूठो सब संसार।
बाजीगर को पेखनो मिटत न लागै बार।। (भगवतरसिक)
जम की मार बुरी अहै छुटै न और उपाय।
दृढ़ करिकै हरिभक्त ह्वै तब हरि भक्ति सहाय।। (व्यासवाणी)

तू बालक नहिं भर्‌यौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहिं नीके।
अतिव सुमिष्ट तजिऽब सुरभिन पय मन बन्धत तन्दुल जल फीके।।
हित हरिवंश नर्क गति दुर्भर जम द्वारे कटियत नक छीके।
भव अज कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यों जु मनुज तनु भीके।।

नर देही पाय चरन कमल चित दीजै।
दीन बचन सन्तन संग दरस परस कीजै।।
लीला गुन अमृत रस श्रवननि पुट पीजै।
सुन्दर मुख निरखि ध्यान नैन माहिं लीजै।।
गद गद स्वर पुलक रोम अंग प्रेम भीजै।
'सूरदास' गिरिधर जस गाय गाय जीजै।।

जौ लौं जीवे तौ लौं हरि भजरे और बात सब बादि।
दिवस चारिके हला भला में तू कह लेइगो लादि।।
माया मद गुन मद जोवन मद भूल्यौ नगर विवादि।
कह 'हरिदास' लोभ चरपट भयौ काहे लगै फिरादि।।

मानुष कौ तन पाय भजौ व्रजनाथ कों। दर्वी लैके मूढ जरावत हाथ कों।।
'हित हरिवंश' प्रपंच विषय रस मोह के। बिनु कंचन क्यों चलै पचीसा लोह के।।

रीति नई है—जीव में विषयासक्ति जन्म-जन्मान्तर की होती है, अतः विषयों में प्रेम पुरानी रीति है, उसको त्यागकर भगवान में प्रेम करना नई रीति है। टहल करने वाली के द्वारा स्वामिनी रानी को उपदेश प्राप्त होना नई रीति है। पुनः रानी दासी हो गई और दासी गुरु-स्वामिनी, पूज्या हो गई यह नई रीति हुई। मोह-मगर ज्ञान-वैराग्य को निगल जाता है। सत्संग से विवेक वैराग्य सुदृढ़ हो गये। रानी का विलास भवन सत्संग भवन बन गया। चरण-सेविका के चरण सेव्य हो गये। सभी बातें नई हो गईं।

निसिदिन सुन्यौ करै देखिवे को अरबरै, देखे कैसे जात जल जात दृग भरे हैं।
कछुक उपाय कीजै मोहन दिखाय दीजै, तबही तौ जीजै वे तो आनि उर अरे हैं।।
दरसन दूर राज छोड़ैं लौटैं धूर पै, न पावै छबि पूर एक प्रेम बस करे हैं।
करौ हरि सेवा भरि भाव धरि मेवा, पकवान रस खान दै बखान मन धरे हैं।।५४४।।

भावार्थ—रानी श्रीरत्नावतीजी दासी के मुख से भगवान के सुन्दर रूप और गुणों को सुनती रहतीं, इससे भगवान के दर्शनों की अभिलाषा तीव्र हो उठी। उन भगवान का दर्शन कैसे होता है? ऐसा पूछते-पूछते रानी के नेत्र-कमल आँसुओं से भर जाते। फिर एक दिन रानी ने दासी से कहा—'आप कुछ उपाय कीजिये, मनमोहन के दर्शन करा दीजिये।' तभी मैं जीवित रह सकती हूँ। वे मेरे हृदय में अड़कर बैठ गये हैं, परन्तु प्रकट होकर दर्शन क्यों नहीं देते हैं। दासी ने कहा—भगवान के दर्शन पाना बहुत दूर अर्थात् कठिन है। उनके दर्शन के लिए राजा लोग राज्य सुख को छोड़कर, विरक्त होकर धूलि में लोटते हैं, फिर भी छबि समुद्र भगवान के दर्शन नहीं पाते हैं। वे तो केवल एकमात्र विशुद्ध प्रेम के वश में हैं और उसी से दर्शन देते हैं अतः सच्चे प्रेम-भाव से भगवान की सेवा करो। विविध प्रकार के रसीले मेवा-मिष्ठानों का भोग लगाओ। तब वे अवश्य ही कृपा करेंगे। दासी ने भगवद् दर्शन के जो उपाय बताये, रानी ने उन्हें मन में धारण कर लिया।।५४४।।

व्याख्या—निसिदिन सुन्यौ करै—भक्तिरसबोधिनी टीका कवित्त ३ के अनुसार 'श्रवण कथा' उबटन है, इससे मन के मैल अहंकारादि का नाश होता है। नवधा-भक्ति में कथा—श्रवण प्रथम भक्ति है। मलिन वासनायें ही सब अनर्थों की मूल हैं, प्रभु की कथा सुनने से उनकी निवृत्ति होती है। श्रृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।। (भा० १-२-१७) अर्थ-श्रवण-कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले हैं। भगवान अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में स्थिर होकर उनकी दुष्ट-वासनाओं को नष्ट कर देते हैं, क्योंकि वे सन्तों के सुहृद् हैं। पुनः—

पिवन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्।। (भा० २-२-३७)

अर्थ—भक्तों के मुख से निकले भगवत्कथामृत को जो अपने कानों के दोनों में भर-भरकर उसका पान करते हैं, उनके हृदय से विषयों का विषैला प्रभाव जाता रहता है, हृदय पवित्र हो जाता है और वे भगवान के चरण-कमलों के निकट शीघ्र पहुँच जाते हैं। दासी के मुख से कथा सुनते-सुनते रानी को प्रत्यक्ष दर्शन करने की उत्कट उत्कण्ठा हुई 'देखिवे को अरबैर'—

कबहूँ देखिहौं इन नैननि।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरति अंग अंग सुख दैननि।।
वृन्दावन विहार दिन दिन प्रति गोपवृन्द संग लैननि।
हँसि हँसि हरषि पतौवन पावन बांटि बांटि पय फैननि।।
'कुम्भनदास' किते दिन बीते किये रैनि सुख सैननि।
अब गिरिधर बिन निस और बासर मन न रहत क्यौं चैननि।।

देखे कैसे जात—'केहि विधि हरि दरसन हौं पाऊँ। स्याम नाम एक सीतल दीखत, जग ज्वाला क्यों जाऊँ।। हौं अबला साधन नहिं एकहुं, क्यहि विधि हरि दिसि आऊँ। जो कछु हौं उपाउ सुनि पावौं, करत न बार लगाऊँ।। छनक चितइ हरि मुख की सोभा मरत न पुनि पछिताऊँ। सुखद परसमनि मम अंग भूषन, लहिकै कण्ठ लगाऊँ।। हिय की जानि उपाय कहसि किन समुझेहि किमि समुझाऊँ। हौं अब तौ हरि चरनन दासी बार-बार सिर नाऊँ।।'

आनि उर अरे हैं—रानी ने कहा-किसी क्षण कुल और मर्यादा की ओर ध्यान जाता है तो सोचती हूँ कि उसका त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए प्रेम-पथ का अनुसरण न करके इसे भुला दूँ, तो भुला भी नहीं पाती हूँ, क्योंकि वे श्रीकृष्ण 'आनि उर अरे हैं'। गुण और महिमा के श्रवण से वे मेरे हृदयस्थ हो गये। अब यदि चाहूँ, तो भी उन्हें निकाल

नहीं सकती। काँटा आदि कोई सीधी वस्तु गड़ जाये तो सरलता से उसे निकाला जा सकता है, पर टेढ़ी वस्तु यदि गड़ जाये तो वह दुःख देने वाली होती है, निकलती नहीं है। यथा—सूधो जो कछु उर गड़ै, सो न कढ़े दुख होय। ललित त्रिभंगी जिहिं गड़े सो दुःख जानै सोय।। श्रीकृष्ण तीन जगह से टेढ़े हैं अतः हृदय में अड़ गये हैं। मैं चाहती हूँ कि मेरे नेत्रों के सामने आवें। दूसरा कोई इस दुःख और सुख को नहीं जान सकता है। तुम जान सकती हो, क्योंकि तुम्हारे हृदय में भी वे गड़े हैं और अधिक से अधिक गड़ जायँ, ऐसी अभिलाषा है। जिस हृदय में भक्ति होगी वहीं भगवान होंगे। यथा—

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या, निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय, प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः।।

जिनके हृदय में अटल हरिभक्ति निवास करती है, वे तीनों लोकों में निर्धन होकर भी अति धन्य हैं। क्योंकि इस भक्ति की डोरी से बँधकर भगवान अपना परमधाम छोड़कर उनके हृदय में आकर बस जाते हैं, प्रविष्ट हो जाते हैं, अड़ जाते हैं। सूरदास के शब्दों में गोपी उद्धव से कहती हैं—

यहि उर माखन चोर गड़े। अब कैसे निकसत सुनि ऊधौ तिरछे ह्वै जु अड़े।।
जदपि अहीर यशोदानन्दन कैसे जात छँड़े। वहँ जादौ पति प्रभु कहियत हैं हमें न लगत बड़े।।
को वसुदेव देवकीनन्दन को जानै को बूझै। सूर नन्द-नन्दन के देखत और न कोउ सूझै।।

दरसन दूर—भगवान के दर्शन विशुद्ध प्रेमाभक्ति से होते हैं। श्रीउद्धवजी से भगवान ने कहा—'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः।' (भा० ११-१४-२१) अनन्य भक्ति से मुझे प्राप्त किया जा सकता है। पर ऐसी भक्ति दुर्लभ है। यथा—ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः। सेयं साधन साहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा।। (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु) ज्ञान से मुक्ति सुलभ है, यज्ञ आदि पुण्यों से स्वर्ग आदि लोकों के भोग सुलभ हैं, किन्तु (अनासंग भावयुक्त) हरिभक्ति हजारों साधनों से भी सुदुर्लभ है। पुनः 'कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया। कभु प्रेम भक्ति ना देय राखे लुकाइया।।' भक्त को इस लोक के अथवा परलोक के भोग सुख तथा सालोक्यादि मुक्ति देकर यदि श्रीकृष्ण छुटकारा पा जायँ, अर्थात् यदि भक्त उन्हें लेकर सन्तुष्ट हो जाय तो भगवान उसे कभी भी अपनी प्रेमा-भक्ति नहीं देते बल्कि उसे छिपाकर रखते हैं। पद-'प्राण दिये बिन प्रेम न पैये। ऐसो मँहगो आहि सखीरी कहि धौं कैसे लैये।। लालबिहारी को यह सर्वसु ता रस को ललचैये। अद्भुत छबि रस की वह धारा 'ध्रुव' मन तहाँ बसैये।।'

एक प्रेम बस करे हैं—यहाँ प्रेम के साथ 'एक' विशेषण है, एक प्रेम अर्थात् अनन्य प्रेम। इसके वश में प्रभु उसी प्रकार हैं जैसे कामी पुरुष काम के वश होता है। यथा—'भक्ति वश श्याम जैसे काम वश कामी नर।' (टी० क० २०४) पुनः—प्रीतम प्रीति सों वश होय। जो अपने प्रीतम प्यारे सों रहिये प्राण समोय।। तौ काहे को और ठौर वह जाय रीति रस खोय। जन्त्र-मन्त्र अरू टोना टामन काम न आवत कोय।। हरि प्रेमिन सों हिलि-मिलि जानों प्रेमपंथ है सोय। देव प्रिया श्रीपति अरु हरिजन इनहिं न मानहु दोय।। भक्तमाल तृतीयखण्ड पृष्ठ ३०२ पर देखिये। पद—प्रीतम प्रीति ही ते पैये।।

करौ हरि सेवा—तन-मन और धन से सेवा के समान दूसरा साधन नहीं है, जैसे मूल में जल देने से वृक्ष के पत्ते-पत्ते तक में पहुँच जाता है। उसी प्रकार सेवा से भक्ति के अन्य अंग पुष्ट हो जाते हैं। यथा—'व्यास' न साधन सकल सम, हरि सेवा सम तूल। पत्रनि पत्रनि जल भिदै, सींचत तरुवर मूल।। (व्यासवाणी) पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६७ में देखिये यथा तरोर्मूल० पुनः—यथा हि स्कन्ध शाखानां तरोर्मूलावसेचनम्। एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि।। (भा० ८-५-४९) अर्थ—जैसे वृक्ष की जड़ को पानी से सींचना उसकी बड़ी-छोटी सभी शाखाओं-डालियों को भी सींचना है, ऐसे ही सर्वात्मा भगवान की आराधना सम्पूर्ण प्राणियों की और अपनी भी आराधना है। नवधा में यह पाँचवीं भक्ति है श्रवण से लेकर अर्चना तक सभी निष्ठायें दासी के सत्संग से दृढ़ हुईं।। दर्शन की उत्कण्ठा तीव्र हुई। मन धरे हैं-दासी गुरु का उपदेश रानी को जँच गया।

इन्द्रनीलमणि रूप प्रगट सरूप कियौ, लियौ वहै भाव यों सुभाव मिलि चली है।
नाना विधि राग भोग लाड़ कौ प्रयोग जामें, जामिनी सुपन जोग भई रंगरली है।।
करत सिंगार छवि सागर न पारावार, रहत निहारि वाही माधुरी सों पली है।
कोटिक उपाय करै जोग जज्ञ पार परै, ऐपै नहीं पावै यह दूर प्रेम गली है।।५४५।।

शब्दार्थ-इन्द्रनीलमणि=मरकत मणि, नीलम। जामिनी=रात्रि। रंगरली=आमोद-प्रमोद, मौजबहार, आनन्द।

भावार्थ—रानी रत्नावतीजी ने दासी के उपदेशानुसार इन्द्रनीलमणि की एक श्रीमूर्ति बनवाई। भाव के अनुसार भगवान स्वयं अर्चा-विग्रह के रूप में प्रकट हो गये। अतः उसमें अपार रूप-माधुरी आ गई। रानी इस अर्चा-विग्रह की सेवा में लग गई। दासी का जैसा भाव और स्वभाव था, उसे ही रानी ने अपने हृदय में धारण कर लिया और दासी के साथ-साथ प्रेम-पथ पर चलने लगी। विविध प्रकार के भोग-राग समर्पण कर भगवान को बड़ा प्यार करती। अष्टयाम भगवानकी सेवा में उपस्थित रहती। भगवानको शयन कराकर रातमें जब

रानी शयन करती तो स्वप्न में भगवान सेवा स्वीकर करते हुए दर्शन देकर उन्हें सुख देते। रानी पर गहरा प्रेम रंग चढ़ गया। नित्य ठाकुरजी का वस्त्र-आभूषणों से सुन्दर शृंगार करती। जिस शोभा-सागर का ओर-छोर नहीं है उसे टकटंकी लगाकर निहारती रहती। अब रानी तन-मन और प्राणों का पोषण भगवान की रूप माधुरी से करती। कोई करोड़ों योग-यज्ञ आदि साधन करे और संसार-सागर से पार भले ही चला जाय, परन्तु भगवान का विशुद्ध-प्रेम उन साधनोंसे नहीं प्राप्त कर सकता है, क्योंकि प्रेम-पथ पर पहुँचना कठिन और दुर्लभ है।।५४५।।

इन्द्रनीलमणि रूप—शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता।। चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्। उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने।। (भा० ११-२७-१२-१३) अर्थ—श्रीकृष्ण ने कहा—हे उद्धव! मेरी मूर्ति आठ प्रकार की होती हैं-पत्थर, लकड़ी, धातु, मिट्टी, चन्दन आदि से चित्रमयी बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी। चल और अचल भेद से प्रतिमायें दो प्रकार की होती हैं। अचल प्रतिमा में नित्य आवाहन विसर्जन नहीं करना चाहिए। चल में करे अथवा न करे। बालुकामयी में नित्य आवाहन विसर्जन करना चाहिए। ब्रज गोपियों ने कात्यायनी की बालुकामयी प्रतिमा का पूजन किया था। यथा-कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्।। (भा० १०-२२-२) रानी ने मणिमयी मूर्ति प्रकट कराई। मूर्ति पूजन से ईश्वर का ज्ञान उसी प्रकार हो जाता है, जैसे छोटे बालकों को अक्षरों का प्रतिबिम्ब बनाकर उस पर उनसे लिखवाया जाता है, और धीरे-धीरे उन्हें अक्षरों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पूजन करते-करते मूर्ति में प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन होने लगते हैं। दृष्टान्त सिलपिल्ले भक्ता दोनों बाइयाँ। द्वितीयखण्ड पृष्ठ ३८० क० १९८ से २०४ तक। तथा श्रीनामदेवजी छ० ४३ पृष्ठ १९३ 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' चित्तका सेवा में लय हो जाय वही सेवा उत्तम है। मन में मन मिलाकर रानी सेवा करती थी अतः 'सुभाव मिलि चली है' ऐसा कहा—सेवा अर्थात् दास्य। यथा—'दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।' (भ० र० सि०) अपने सम्पूर्ण कर्म प्रिय को अर्पण करना और सब प्रकार का कैङ्कर्य करना। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार के हैं। १-स्वाभाविक (नित्य-नैमित्तकादि) और २-जप, ध्यान, अर्चनादि। दोनों मंगलमय हैं। रानी ने दोनों प्रकार के कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण किये। उन्हीं के निमित्त कर्म करती, सेवा के लिए सेवा करती। दूसरी कामनायें अपने-आप समाप्त हो गईं। सेवा से सभी कर्म-बन्धन छूट जाते हैं। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६३० रुचि लै सुचि सेवा करै।

जामिनी सुपन योग—साधक की साधना की कसौटी स्वप्न है। जब तक दुःस्वप्न आते रहें, तब तक साधक को समझना चाहिए कि हमारी साधना में कमी है। साधना पूर्ण होने पर इष्ट के दर्शन, उनसे सम्भाषणादि ये नित्य स्वप्न में होते हैं। रानी जब तक जागती, तब तक सेवा में रहती। सोती तो स्वप्न में मिलकर प्रभु आनन्दित करते। 'याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने, धन्यास्ताः सखि योषितः। अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी।।' विरहिणी गोपी कहती हैं—हे सखि! वे नारियाँ धन्य हैं जो स्वप्न में भगवान से मिलती-जुलती हैं और वार्तालाप करती हैं। जबसे प्यारे श्रीकृष्ण चले गये तब से मुझ अभागिनी को निद्रा भी नहीं आती है, क्या करूँ? दूसरी कहती है—'सोये ढिंग बातैं करैं, जगे उठत गहैं बाट। कित ह्वै आवत जात कित, पौरी लगे कपाट।।' जब मैं सो जाती हूँ तो झट समीप आकर हमसे बातें करने लगते हैं और जब मैं जग जाती हूँ, तो रास्ता पकड़ते हैं चले जाते हैं। देखती हूँ तो पौरी के कपाट बन्द ही हैं, फिर पता नहीं किस रास्ते से आते-जाते हैं। जागृत अवस्था में जिसमें मन रहेगा। स्वप्न में भी वहीं आएगा। यथा—'निद्रावस सो भूप वदन ते नाम उचार्यौ।' (छ० ५७) अन्तर्निष्ठ राजा का चरित्र देखिये। प्रेमी भक्तों का स्वप्न में दर्शन प्रत्यक्ष के समान। 'माई मोहिं सुपने बरी गोपाल।' (श्रीमीराजी) श्रीहितहरिवंशजीको स्वप्न में श्रीजी ने मन्त्र प्रदान किया। 'सपने वानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी।।' (त्रिजटा) 'उहाँ राम रजनी अवशेषा। जागे सीय सुपन अस देखा।।' (श्रीसीताजी) इनके स्वप्न सत्य हुए। रानी स्वप्न में बालकृष्ण भगवान को नाचते-गाते, किलकारी मारते, माखन माँगते-चुराते खाते और हँसते देखती, तो बहुत प्रसन्न होती। जागकर स्वप्न में हुए आदेश-संकेत के अनुसार भोग-राग अर्पण करती तथा शृंगार करती। रानी का वात्सल्य भाव था अतः कहते हैं कि 'लाड़को प्रयोग जामें' प्रत्येक सेवा में वात्सल्य भाव की प्रधानता रहती। प्रीति बढ़ती जाती थी अतः 'रंगरली' अर्थात् प्रेम की अति अधिकता हुई। श्रीठाकुरजी के सामने प्रेम में मग्न होकर नाचती-गाती रहती। जो-जो वस्तुयें नई एवं उत्तम होतीं, उन्हें-उन्हें श्रीठाकुरजी को अर्पण करती, (श्रीभागवत ११-११-४१) में भगवान ने कहा है—

'यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते।।

अर्थ—हे उद्धव ! संसार में जो-जो वस्तु उत्तम हो और जो अपने को तथा मुझे भी प्रिय हो, वह मुझे समर्पित करने से वह अनन्त काल तक अनन्त फल देने वाली होती है। उससे मैं प्रसन्न होता हूँ। इस प्रकार रानी सभी प्रकार की चेष्टायें भगवान के लिए करतीं। स्वप्न और जागृत दोनों में संयोग-वियोग की लीला समान होती हैं।

दो.— सोवों तो सुपने मिलै जागौं तो मन माहिं।
लोचन राता सुधि हरी बिछुरत कबहू नाहिं।। (कबीर)

दूर प्रेम गली है—श्री प्रियादासजी कहते हैं, जो प्रेम रानी को प्राप्त है, उसे कोई अनेकों साधनों से प्राप्त नहीं कर सकता है। तो क्या साधन व्यर्थ होंगे? नहीं, योग-यज्ञादि से मोक्ष अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति हो जायगी। परन्तु प्रेम देवता के समीप पहुँचना कठिन है। प्रेम पाना तो दुर्लभ है ही, उसकी गली में पहुँचना भी दूर अर्थात् कठिन है। योगी-कर्मकाण्डियों के लिए यह गली दूर है, वे भोग या मोक्ष पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु भक्त को तो प्रेम ही चाहिए। यथा—'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।' यदि मस्तक के बदले प्रेम मिले तो उसे काटकर शीघ्र ही दे देना चाहिए।

प्रेम विकन्ता मैं सुना माथा साटे हाट। बूझत बिलम न कीजिये तुरत दीजिये काट।।
जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम गली अति सांकरी जामें द्वै न समाहिं।।
प्रेम गली अति दूर है पहुँचै तजि अभिमान। हाथ पकरि गुरु लै चलै सम्बल सन्त प्रमान।।
प्रेम स्वर्ग ते ऊतर्‌यौ भू पर कीन्यो गौन। गली गली ढूंढत फिरै बिन सिर को धर कौन।।

देख्योई चहति तऊ कहति उपाय कहा? अहो, चाह बात कहौ कौन को सुनाइयै।
कही जू बनावौ ढिग महलकै ठौर एक, चौकी लै बैठावौ चहूं ओर समुझाइयै।।
आवैं हरि प्यारे तिन्हें ल्यावैं वे लिवाय इहाँ, रहें ते धुवाय पांय रुचि उपजाइयै।
नानाविधि पाक सामा आगै आनि धरें, आप डारि चिक देखौ स्याम दृगनि लखाइयै।। ५४६।।

शब्दार्थ—पाक=पक्वान्न, पकवान। सामा=सामान, सामग्री। चिक=बांस की तीलियों से बना परदा।

भावार्थ—रानी श्रीरत्नावतीजी के मन में भगवान के दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा थी। फिर भी दासी से नित्य पूछती ही रहतीं कि भगवान के दर्शन पाने का क्या उपाय है ? एकबार रानी ने दासी से कहा 'दर्शनों की अभिलाषा से मुझे जो व्यथा है, उसे आपको छोड़कर और किसको सुनाऊँ?' यह सुनकर दासी ने कहा—'आप अपने महल के निकट ही एक सन्त-निवास बनवाइये और नगर से बाहर सभी मार्गों पर पहरेदारों को बैठा दीजिये। उन्हें अच्छी प्रकार समझा दीजिये कि जो भी कोई भगवान के प्यारे भक्त आते-जाते मिल जायें, उन्हें अपने साथ आदरपूर्वक यहाँ लिवा लावें। फिर उनके श्रीचरणों को धोकर, उन्हें ठहरावें और अनेक प्रकार के मिष्ठान्न-पक्वान्न उनके सामने परोसकर उन्हें भोजन करावें।

उस समय आप खिड़की पर पड़े चिक के परदे के भीतर से उन भक्तों का दर्शन करें। तब वहाँ आपको श्यामसुन्दर प्रत्यक्ष दिखाई देंगे।।५४६।।'

व्याख्या—चाह बात—रानी को मूर्ति में दर्शन होते थे और स्वप्न में बार्तालाप भी होता था क्योंकि प्रेम की प्राप्ति हो चुकी थी। रानी प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहती थी। भगवान विलम्ब करके ललचवाते थे तथा रानी के प्रेम को अधिक पुष्ट करते। दर्शनों की लालसा से रानी दासी गुरु से विलक्षण वार्तालाप करती। यथा-कुंवरि कहै सखि को दिसि वहै। जहँ वह साँवरो प्रीतम रहै।। सो दिसि हाथ सों सखिन बताई। सो दिसि जीवन मूरि-सी माई।। कमलपत्र लै पक्ष बनावै। उड्यो चहै सो क्यों उड़ि पावै।। मन सों कहै कुटिल तू आई। इकलोई उठि पिय पै जाई।। नेक तो नैननि हू सँग लै रे। मोहन को मुख देखन दै रे।। अर्थात् श्रीकिशोरीजी कहती हैं—हे सखी! किस दिशा में प्रियतम है? सखी हाथ उठाकर बताती है। तो उधर उड़कर जाने के लिए कमल के पत्रों के पंख अपने शरीर में लगाती हैं, फिर जब नहीं उड़ पाती हैं, तो मन से कहती हैं—तू बड़ा कुटिल है, अकेले प्रियतम के पास जाता है, जरा, नेत्रों को भी साथ लेता जा और इन्हें भी मनमोहन के श्रीमुख के दर्शन करा दे।

आवैं हरि प्यारे—दासी गुरु ने रानी को भगवद् दर्शन का उपाय बताते हुए कहा-भगवत् सेवासे तुम्हें प्रेम प्राप्त हो गया है। अब भक्त-सेवा करो, उससे प्रेम-प्रगाढ़ होगा और भगवान के दर्शन होंगे। बिना सन्त-सेवा के किसी ने भगवान को नहीं पाया है। मुख्य साधन सन्त-सेवा है। यथा-'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव।' (ना० सू०) प्रेम और प्रभु दोनों एक हैं। इसी प्रकार भक्त-भगवान दोनों एक हैं। भक्त कृपा के बिना भगवान की प्राप्ति नहीं होती है। जो हरि की सेवा करते हैं, उनके अभीष्ट की सिद्धि में भले संशय हो, पर भक्तों की सेवा करने वाले के कार्य की सिद्धि में बिल्कुल संदेह नहीं। सिद्धिर्भवति० पूरा श्लोक पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३४ में देखिये। पुनः-'यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः। रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनाद्रनः।। (भा० ३-७-१९) भक्तों के चरणों की सेवा से मधुसूदन भगवान के चरण-कमलों में उत्कट प्रेम और आनन्द की वृद्धि होती है। जो दर्शनों में बाधक यन्त्रणा का नाश कर देती है। अतः भक्तों की सेवा में रुचि उपजावो। तब वे तुम्हारे मन में भगवान को प्राप्त करने की रुचि उपजावेंगे।

नानाविधि पाक—दासी ने (क० ५४४) में प्रभु सेवा का उपदेश देते हुए कहा—'करौ हरि सेवा भरि भाव धरि मेवा पकवान रस खान दै बखानमन धरे हैं।' अब भक्तों की सेवा का उपदेश देती हुई कहती हैं—'नानाविधि पाक सामा आगै आनि धरें।' तात्पर्य यह कि नाना प्रकार के पक्वान्न जैसे भगवान के लिए कहे, उसी प्रकार भक्तों के लिए भी कहे। अर्थात् जैसे सप्रेम

राजोपचार भगवान के लिए उसी प्रकार भक्तों को भी अर्पण करो। भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा है कि भगवद्भक्ति के जितने अंग हैं, प्रायः उतने ही अंग भक्त भक्ति के हैं। ऐसा विद्वानों का मत है। अतः समान अथवा उससे अधिक प्रेम से भक्त-सेवा करो। श्लोक देखिये तृतीयखण्ड पृ० ४८६। यावन्ति भगवद् ।'डारि चिक देखौ' चिक के भीतर से बाहर का सब कुछ दिखाई देता है, पर बाहर से चिक के भीतर का कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है। दासी चाहती है कि रानी को कोई न देखे। जब सन्तों की सेवा होगी, तो अनेक महान् पुरुष आवेंगे। उनके बीच में श्यामसुन्दर अवश्य दिखाई पड़ेंगे। मलूकदासजी कहते हैं कि सन्तों के मोहवश उनके बीच में रहते हैं। यथा—

चलि मन ढूंढन जैये सतगुरु के छौना। सिर के साटैं पाइये ये राम खिलौना।।
प्रेम जँजीर जरायकै गहि राखो भाई। इन सन्तन के मोह ते मिलिहैं रघुराई।
कृष्ण कृष्ण नित पढ़त हैं सुचि ते चित लागे। पांय टिकै नहिं पाप के सबही दुख भागे।।
कह 'मलूक' सब छांड़िकै गहि ले यह हाला। जोइ जोइ मूरति सन्त की सोई देखि गुपाला।।

आवैं हरि प्यारे साधु सेवा करि टारे दिन, किहूं पांव धारे जिन्हें ब्रजभूमि प्यारियै।
जुगल किशोर गावैं नैननि बहावैं नीर, ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै।।
पूछी वा खवासिन सों जू रानी कौन अंग?, जाके इतनी अटक संग भंग सुख भारियै।
चली उठि हाथ गह्यौ रह्यौ नहीं जात, अहो सह्यौ दुख लाज बड़ी तनक विचारियै।।५४७।।

भावार्थ—रानी श्रीरत्नावती के महल के निकट सन्त-निवास बन गया और वहाँ भगवान के प्यारे भक्तजन आने लगे। रानी उनकी सेवा करती और उनका दर्शन करती। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हुआ। एकदिन वे सन्त पधारे, जिन्हें ब्रजभूमि प्रिय थी, जो ब्रजरस के रंग में रंगे थे। भगवान युगलकिशोर के नित्य-लीला-विहार के पदों को बड़े प्रेम से गाते। पदों को गाते-गाते उनके नेत्रों से अश्रुधार बहने लगती। ऐसे प्रेममग्न सन्तों के स्वरूप को देखकर रानी का धैर्य छूट गया। रानी ने दासी से कहा—'मैं इन सन्तों के निकट जाकर इनका दर्शन एवं इनके श्रीचरणों का स्पर्श करना चाहती हूँ।' दासी ने कहा—आप रानी हैं अतः महल से बाहर नहीं जा सकती हैं। रानी ने कहा—आप यह तो बताओ कि मेरे इस शरीर के अंगों में से कौन-सा अंग रानी है। रानीपने की मुहर कहाँ लगी है, जिसके कारण ऐसी अटक (रोक) है कि मैं सन्त-संग के महान् सुख को नहीं पा सकती हूँ। इतना कहते-कहते रानी उठकर चली ही थी कि दासी ने हाथ पकड़कर रोक लिया। रानी बोली—अब मुझसे नहीं रहा जाता है। आप विचार कर यह बताइये कि कुल की लज्जा से सत्संग न करके दुःख सहना या उसे त्यागकर सत्संग सुख प्राप्त करना उचित है।।५४७।।

व्याख्या—किहूं पांव धारे—एकदिन एक ऐसे सन्त आये, जिनके हृदय में वृन्दावन था और उसमें हर समय भगवान लीला करते रहते थे। अतः वे प्रेम में सराबोर रहते। इसी कारण नेत्रों से अश्रुपात होता, गद्गद कण्ठ से कीर्तन करते। तुलसी कण्ठी-माला, तिलक, गुंजमाल, छाप और पीताम्बर आदि के द्वारा उनका वेष अति सुन्दर था। यथा—

वृन्दावन वास आस बढ़त हुलास रास, विविध विलास सदा सुख हरिदास के।
भाल पै तिलक स्याम वन्दनी और कण्ठमाल, तुलसी रचत गुंज छापे दै प्रकाश के।।
जुगलकिशोर हिये मुख में झकोर नाम, नीर बौर झूमकैं सु सूचक विलास के।
सदा सत्संग बिनै अंग अंग पगे पुनि, जगे जग माहिं नीके लागे आस पास के।।

एक राजा नित्य पक्षियों को चुगा डालता था तो एकदिन हंस आ गये, उनके दर्शन से राजा कृतार्थ हो गया। उसी प्रकार सन्त-सेवा करते-करते एकदिन रसिक सिद्ध ब्रजवासी भक्त आ गये। जिन्हें ब्रज़भूमि प्यारी थी। उन्होंने सप्रेम 'ब्रजभूमि मोहिनी मैं जानी।' (पूरा पद पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६१६ में देखें) आदि ब्रज-महिमा के सूचक पद गाये—

मीठी वृन्दावन की सेवा।
स्यामा स्यामहिं नीकी लागत ज्यौं बालकहिं कलेवा।।
बेलि हमारी कुल देवी सब विटप गुल्म सब देवा।
और धरम अकरम से लागत बिन माला ज्यौं लगत जनेवा।।
कुञ्जनि कुञ्जनि कुसुम पुञ्ज रचि सैन ऐन मधु मेवा।
मनि कञ्चन भाजन भरि सौंधे अंग धूप कौ खेवा।।
विहरत सदा दुलहिनी दूलह अंग अंग मधुरस पेवा।
'व्यास' रास आकास फिरत दोउ मानहुँ प्रेम परेवा।।

जुगलकिशोर गावैं—'युगलकिशोर हमारे ठाकुर। सदा सर्वदा हैं हम उनके जनम-जनम घर जाये चाकर।। चूक परै परिहरैं न कबहूँ सबही भाँति दया के आकर। जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रणतनि पोषक परम सुधाकर।। पुनः पद—सबते ऊँची प्रेम सगाई। दुरजोधन की मेवा त्यागी साग विदुर घर पाई।। जूठे फल शबरी के खाये बहु विधि प्रेम लगाई। प्रेम विवस नृप सेवा कीनी आप बने हरि नाई।। राजसुयज्ञ युधिष्ठिर कीनौं तामें जूठ उठाई। प्रेम के बस अर्जुन रथ हाँक्यौ भूलि गये ठकुराई।। ऐसी प्रीति बढ़ी वृन्दावन गोपिन नाच नचाई। सूर कूर यहि लायक नाहीं कहँ लगि करों बड़ाई।'

ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै—'जालरन्ध्र मग अंग को कछु उजास सो पाइ। पीठि दिये जग को रहै दीठि झरोखा लाइ।।' जिस प्रेमी को भवन में बनी जाली के रास्ते से प्रियतम के अंग का प्रकाश मिल जाता है, वह संसार की ओर पीठ करके जाली की ओर दृष्टि लगाकर देखता रहता है। सन्त में प्रभु के दर्शन कर फिर उसी ओर प्रेमी टकटकी लगाकर देखता है। प्रेममग्न आँखों से आँसू बहाते हुए सन्त के कीर्तन में भगवान प्रकट हो गये। 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।' नारद ने पूछा—भगवन्! आप कहाँ रहते हैं? भगवान ने कहा—देवर्षि नारदजी! मैं न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में। मेरे भक्त जहाँ मेरे गुणों का गान करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ। रानी ने देखा कि सन्त के पीछे भगवान खड़े होकर गान-कीर्तन सुन रहे हैं और स्वयं प्रेममग्न होकर गायन के साथ-साथ मुरली बजा रहे हैं। गीतगोविन्द का गान सुनने के लिए जैसे मालिन की कन्या के पीछे-पीछे वाह-वाह कर रहे थे। वही लीला यहाँ भी हो रही थी। सन्त के अद्भुत दर्शनों से ही रानी प्रेम-विकल हो गई थी। अब जब दासी-गुरु की बात को सत्य करने के लिए भगवान ने दर्शन दिया तो वह और अधिक अधीर हो गईं। महल से भागकर नीचे उतरने लगीं, वे शीघ्राति-शीघ्र भक्त-भगवन्त के निकट से दर्शन और उनके श्रीचरणों में मस्तक टेकना चाहती थीं। दासी ने रानी को पकड़ लिया और कहा—'तुम रानी हो, तुम्हें महलों से बाहर नहीं जाना चाहिए।' रानी ने कहा—'जैसा तुम्हारा शरीर है, वैसा ही हमारा शरीर है, इसमें यदि कोई अंग रानी है, जिसके कारण सन्त संग में बाधा है, तो मैं उस अंग को काटकर फेंक दूँगी।' मैंने समझ लिया। मेरा रानीपन सत्संग में बाधक है। परन्तु यह रानीपन आरोपित है। मेरा स्वरूप नहीं है फिर—मैं इसे क्यों पकड़े रहूँ। भक्ति-पथ में इस बाधा को क्यों रहने दूँ। मैं रानी हूँ यह अहंकार मिथ्या है, इसे मैंने त्याग दिया। अब मैं सन्त-भगवन्त की दासी हूँ। लोक-लज्जा बड़ी है, यह मानकर अब तक सत्संग से वंचित रहकर मैंने दुःख उठाया। अब मैंने उसे तुच्छ मानकर त्याग दिया अतः सत्संग सुख प्राप्त करूँगी।

देख्यौं मैं विचारि हरिरूप रससार ताकौ कीजिये अहार, लाज कानि नीकें टारियै।
रोकत उतरि आई जहाँ साधु सुखदाई, आनि लपटाई पांय विनती लै धारियै।।
सन्तनि जिमायवे की निजकर अभिलाष, लाख लाख भाँतिन सों कैसे कै उचारियै।
आज्ञा जोई दीजै सोई कीजै सुख वाही में, जु प्रीति अवगाही कही करौ लागी प्यारियै।। ५४८।।

शब्दार्थ—लाज कानि=लज्जा और कुल की मर्यादा। अवगाहन=स्नान करना, डूबना, प्रवेश, चाह, छानबीन।

भावार्थ—रानी रत्नावतीजी ने अपनी दासी गुरु से कहा—'मैंने अपने मन में खूब सोच-विचारकर देख लिया है। भगवान के रूप-माधुर्य का रस सब सुखों का सार (तत्त्व) है। अतः अब मैं लोक-लज्जा और कुल की मर्यादा को बिल्कुल त्यागकर उसी का आहार (आस्वादन) करूँगी।' ऐसा कहकर दासी के रोकते-रोकते रानी राजमहल से उतरकर वहाँ आ गईं, जहाँ सुखप्रद सन्त विराजमान थे। उसने उनके चरणों में लिपटकर प्रार्थना की। भगवन्! अपने हाथों से परोसकर साधु-सन्तों को प्रसाद पवाने की बड़ी-भारी अभिलाषा है। लाख-लाख प्रकार से कहने पर भी उसका वर्णन नहीं हो सकता है और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे मन से दूर नहीं किया जा सकता है। आप लोग मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगी और मुझे उसी में सुख होगा। सन्तों ने अच्छी प्रकार से देख-सुनकर यह जान लिया कि रानी भक्त-भगवन्त के प्रेम में डूबी हुई है, अतः उन्होंने कहा—'जैसी तुम्हारे मन में अभिलाषा है, वैसा ही करो। इससे कुछ भी हानि न होगी।' सन्तों की ऐसी आज्ञा रानी को बहुत प्रिय लगी।। ५४८।।

देख्यो मैं विचारि—भक्ति पौधा को माया से बचाने के लिए विचार ही बाड़ है अतः रानी ने मन ही मन विचारा। 'बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय। काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय।।' विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४५ 'बारि दै विचार' की व्याख्या। संसार की असारता, दुःखरूपता, सत्संग और सेवा की वास्तविकता तथा महत्ता का बोध हो गया। इतना समय व्यर्थ गया, अब उसे व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

कितै दिन हरि सुमिरन बिन खोये।
परनिन्दा रसना के रसकरि केतिक जन्म विगोये।।
तेल लगाय कियौ रुचि मर्दन बस्तर मलि मलि धोये।
तिलक बनाय चले स्वामी ह्वै विषयिन के मुख जोये।।
काल बली ते सब जग कांप्यौ ब्रह्मादिक हू रोये।
सूर अधम की कहौ कौन गति पेट भरे परि सोये।।

हरिरूप रससार—'बिनु हरि शरन सुख नहिं कहूँ। छाँड़ि छाया कलप द्रुम जग धूप दुख क्यों सहूँ।। कलिकाल कलह कलेस सरिता वृथा ता मधि बहूँ। 'दास नागर' ठौर निर्भय कृष्ण चरननि चहूँ।।' (नागर समुच्चय) 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन

जगत सब सपना।।' हरिका रूप आहार है, जैसे आहार के बिना शरीर में प्राण नहीं रहते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि के बिना मेरे शरीर में प्राण नहीं रहेंगे, हरि का रूप ही अब मेरा जीवन है।

लाज कानि नीकें टारियै—प्रेम के प्रबल प्रवाह में लज्जा और मर्यादा के बाँध बह जाते हैं। अतः भक्त उनको त्यागकर भगवद्भजन करते हैं। यथा—'लोक लाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी।' भगवान से मिलने में यदि लज्जा बाधा कर रही हो तो उसे छोड़ ही देना चाहिए। यथा—'लाज के ऊपर गाज गिरौ ब्रजराज मिलैं सोइ काज करौरी।' (विशेष देखिये भ० तृतीयखण्ड, पृष्ठ ५२३) एक ब्रज-गोपी लज्जा को पूज्या ठकुरानी मानकर उससे विनती करती है कि तू दूर हट जा, मोहन के मुखारविन्द का दर्शन करने दे। यथा—

मेरी कुल पूजि तूही मानी ठकुरानी करि, तो ही नित आंखिन में हिये में धरति हौं।
तेरेई सन्तोष देत दच्छिना रसीले गुन, मन मानि आलिन की सीख निदरति हौं।।
आनि बन्यौ जोग अब मेरे बड़भागनि तैं, ताही ते अधीनता लैं दीनता करति हौं।
देखन दै नेकु प्राण प्रीतम मुखारविन्द, हाय लाज आजु तेरे पायनि परति हौं।।

कुल की कानि कहाँ लगि करिहौं।
तु आगे मैं कहौं जु सांची अब काहू नहिं डरिहौं।।
लोग कुटुम जग के जे कहियत पहिले सबहिं निदरिहौं।
अब यह दुख सहि जात न मोपै विमुख वचन सुनि मरिहौं।।
आप सुखी तौ सब नीके हैं उनके सुखका सरिहौं।
'सूरदास' प्रभु चतुर सिरोमनि अबकैं हौं कछु लरिहौं।।

ब्रजगोपियों ने लोक-वेद और कुल की मर्यादा को तृणके समान त्यागा। यथा—

नाचि गाय गोपिन बस कीने नागर नन्दकिशोर।
लोक वेद कुल कानि न मानी डारी तृण ज्यौं तोरि।। (भगवतरसिकजी) पुनः-

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्।।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह।। (भा० ७-४-३९-४०)

अर्थ—कभी-कभी भगवान मुझे छोड़कर चले गये, इस भावना में श्रीप्रह्लादजी का हृदय इतना डूब जाता कि वे जोर-जोर से रोने लगते, कभी मन ही मन उन्हें अपने सामने

पाकर आनन्द के उद्रेकसे ठठाकर हँसने लगते। कभी उनके ध्यान से मधुर आनन्द का अनुभव करके जोर से गाने लगते। कभी उत्सुकतावश चिल्ला पड़ते, कभी लोक-लज्जा का त्याग करके प्रेमोन्मत्त नाचने लगते थे। कभी-कभी उनकी लीला के चिन्तन में इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें अपनी याद ही न रहती, भगवान का अनुसरण करने लग जाते पुनः–'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।' पूरा पद (देखिये तृतीयखण्ड पृष्ठ ५३८) भगवानने उद्धव से (भा० ११-१४-२४ में) कहा है कि–'विलज्ज उद्गायति नृत्यते च।' लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने वाले भक्त सारे जगत् को पवित्र करते हैं। इन प्रमाणों के अनुसार रानी ने भी मन में निश्चय किया कि अब मैं लज्जा-मर्यादा आदि को छोड़कर सत्संग करूँगी।

रोकत उतरि आई–दासी का भगवान में पूर्ण प्रेम था। यदि वह वनावटी होता तो उसका प्रभाव रानी पर न पड़ता। इतने पर भी उसने मर्यादा का उल्लंघन करने की स्पष्ट अनुमति न दी। वह जानती थी कि रानी में पराकाष्ठा का प्रेम प्रकट हो गया है। वह अपने आप मर्यादा के बाँध को तोड़ देगा, मैं दासी हूँ अतः मुझे स्पष्ट आज्ञा नहीं देनी चाहिए। प्रेम दुर्लभता को बताते समय उसने स्पष्ट कहा था कि–'राज छोड़ै लोटै धूर' अर्थात् राज्य आदि का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार दासी के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने से इष्ट की सिद्धि हुई। सन्त पधारें तब आप 'डारि चिक देखौ स्याम दृगनि लखाइयै' दासी के ऐसा कहने पर रानी ने सन्त-सेवा की तब 'ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै' अर्थात् सन्त-दर्शन के साथ-साथ भगवान के भी दर्शन हो गये। भगवद्दर्शन होने पर मर्यादा का टूटना उचित एवं अवश्यम्भावी है। इसमें मर्यादा के उल्लंघन का दोष नहीं होता है। इस प्रसंग में एक टिप्पणीकार ने लिखा है कि–खवासिनने रोका और रानी ने नहीं माना। यहाँ कोई शंका करे कि खवासिन के ही उपदेश से रानी के प्रेम की वृद्धि हुई, तो फिर उसने क्यों रोका? इसका समाधान यह है कि वह खवासिन तो वहीं बनी है और रानी का प्रेम बढ़ गया। इस पर दृष्टान्त–जैसे कोई मुल्ला उमराव-अमीरों के लड़कों को पढ़ाता था। जब वे पढ़ चुके, तो कोई बादशाह के वजीर, कोई जिलेदार, कोई तहसीलदार बने, कोई हाथीनशीन कोई पालकीनशीन हो गये। पर मुल्लाजी चार रुपया महीना के चाकर ही रहे। इसी तरह यहाँ भी दासी वहीं रही और रानी आगे बढ़ गई। एक विचार यह है कि ऐसा कहने से दासी का प्रेम खर्च होता दीखता है। वास्तविकता यह है कि प्रेम के जिस स्तर पर रानी पहुँची है, दासी उससे

नीचे नहीं है। पूर्व में उसमें अष्टसात्विक भावों का उदय तथा—'रागी साधु कृपा भई है।' यह कहा है अतः दासी में पूर्ण प्रेम प्रतीत होता है। इस प्रेम-पथ पर दासी-गुरु का हाथ पकड़कर रानी पहुँची है। यदि दासी पहुँची हुई न होती तो रानी को नहीं पहुँचा सकती थी।

जहाँ साधु सुखदाई—'साँचे सन्त हमारे सङ्गी। और सबै स्वारथ के लोभी चञ्चल मति बहुरङ्गी।। मन काया माया सरिता में बहते आनि उछङ्गी। 'नागरिया' राख्यौ वृन्दावन जिहिं ठां ललित त्रिभङ्गी।।' (नागरीदास) (सन्तमाधुरी का वर्णन देखिये भ० द्वि० ख० पृ० ४०१ कवित्त-लोचन विशाल) रानी ने पहले सन्त के निकट भगवन्त को देखा। फिर जब महल से उतरकर सन्त के समीप आई तो वे सन्त ही भगवन्त के रूप से दिखाई पड़े, पुनः भगवन्त से सन्तरूप के दर्शन हुए। तब साधु को ही सुखदाई मानकर रानी उनके 'आनि लपटाई पांय' तथा 'विनती लै धारियै' रानी में सन्त-भगवन्त के प्रति अपार वात्सल्य उमड़ा अतः अपने हाथों से परोसकर उन्हें भोजन कराने की अनुमति माँगी। 'आज्ञा जोई दीजै' अर्थात् जो आज्ञा होगी। उसी में सुख मानकर उसका पालन करूँगी। अब यदि सन्त कह देते कि अन्दर ही रहो, चिक के भीतर से दर्शन करो, मर्यादा का उल्लंघन न करो, तो रानी मान जाती। सन्त ने रानी की प्रीति का अवगाहन किया तो उसे अथाह पाया, अतः आज्ञा दे दी कि तुमको जो कुछ प्रिय लगता हो, उसे ही करो। उसमें कोई दोष न होगा। तब रानी ने अपने हाथों से सन्तों की सेवा आरम्भ कर दी।

प्रेम में न नेम हेम थार लै उमगि चली, चली दृगधार सो परोसिकै जिवांये हैं।
भीजि गये साधु नेह सागर अगाध देखि, नैननि निमेख तजी भये मन भाये हैं।।
चन्दन लगाय आनि बीरीऊ खबाय, स्याम चरचा चलाय चख रूप सरसाये हैं।
धूम परी गाँव झूमि आये सब देखिवे कों, देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं।।५४९।।

भावार्थ—प्रसिद्ध उक्ति है कि—'प्रेम में नियम नहीं होता है।' तदनुसार साधु-सन्तों की अनुमति प्राप्तकर रानी रत्नावती सोने के थाल में विविध प्रकार के व्यञ्जनों को सजाकर बड़ी उमंग के साथ आई। उस समय उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। रानी ने बड़े प्रेम के साथ परोसकर सन्तों को भोजन कराया। रानी का सागर के समान अपार-अथाह प्रेम देखकर साधु लोग भी प्रेम-सागर में गोते लगाने लगे। उनके हृदय द्रवित हो गये। रानी का विलक्षण प्रेम देखकर वे भी टकटकी लगाकर दर्शन कर रहे थे। भक्त-दर्शन की उनकी अभिलाषा आज पूरी हो गई।

भोजन कराकर रानी ने सबको चन्दन लगाया और ताम्बूल खिलाया। पुनः भगवद्चर्चा चलाई, सन्तों के श्रीमुख से भगवद्वार्ता को सुना। भक्त-भगवान की रूप-माधुरी का दर्शन कर रानी के नेत्र सजल एवं सरस हो गये। उधर सम्पूर्ण आमेर नगर में शोर मच गया कि रानी परदे से बाहर निकलकर वैरागियों के बीच में आ गई हैं। लोग देखने के लिए उमड़ पड़े। राजा के मन्त्री ने यह समाचार लिखकर राजा के पास दिल्ली भेज दिया।।५४९।।

व्याख्या—प्रेम में न नेम—लौकिक एवं वैदिक नियमों की आवश्यकता प्रेम में नहीं रहती, वे बिना छोड़े ही अपने आप छूट जाते हैं। जैसे भगवान भी लोक-संग्रह के निमित्त कर्म-धर्म करते हैं, उसी प्रकार भक्त भी करता है। परन्तु जब प्रेम का प्रवाह उमड़ता है, तब भक्त स्वयं बेसुध हो जाता है। ऐसी स्थिति में लोक-वेद के नित्य-नैमित्तिक कर्म-धर्म नहीं हो पाते हैं। इस स्थिति में उनके न होने से कोई दोष स्पर्श नहीं करता है। तभी तो 'विधि-निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।' श्रीहितहरिवंशजी ने लोक-वेदोक्त विधि निषेध का त्याग किया। पुनः—'लोकलाज कुल श्रृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी।' (श्रीमीरा) तथा-'नश्वर पति रति त्यागी कृष्ण पद सों रति जोरी।' सबै जगत की फांसि तरकि तिनुका ज्यौं तोरी।।' (श्रीकरमैतीजी) आदि ने प्रेम के सामने नियमों का परित्याग किया। 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।' (भा० ११-२०-९) श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धवजी से कहा-जब तक निर्वेद की प्राप्ति नहीं होती और जब तक मेरी कथाओं के श्रवण-कीर्तनादि में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तब तक निष्काम-भाव से नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना ही चाहिए। यहाँ श्रद्धा का अर्थ है, सुदृढ़ निश्चित विश्वास। ऐसी श्रद्धा होने पर यदि कोई भगवद्भक्ति करता है तो उसे फिर अन्यान्य कर्मों के करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसके द्वारा सर्व-कर्म किये हुए हो जाते हैं। यथा—श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय। कृष्ण भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत्त हय।। (चै० च०) पुनः—

पूर्व आज्ञा वेद धर्म कर्मयोग ज्ञान। सब साधि शेषे एइ आज्ञा बलवान।
एइ आज्ञाबले भक्तेर श्रद्धा यदि हय। सर्व कर्म त्याग करि से कृष्ण भजय।। (चै० च०)

श्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने कहा—सनातन! भगवान ने गीता के सत्रह अध्यायों में वेद, धर्म, कर्म, योग एवं ज्ञान आदि का उपदेश किया और फिर अन्तिम अठारहवें अध्याय में गुप्त रहस्य का उपदेश दिया। यथा—

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु में परमं वचः। इष्टोऽसि में दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

हे अर्जुन ! मैं सबसे गुप्त एक रहस्य तुमसे कहता हूँ, उसे सुनो। तुम मेरे अति प्रिय हो, अतः कहता हूँ। तुम अपना मन मुझमें अर्पण करो, मेरे नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन कर मेरे भक्त बनो। निज सुख की कामना त्यागकर मेरा अर्चन करो और आत्म-समर्पण पूर्वक मेरे चरणों में नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम मेरे इस श्यामसुन्दर रूप को प्राप्त करोगे। तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो अतः मैं तुमसे यह सत्य एवं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। पूर्वविधि और परविधि में परविधि ही बलवती होती है। यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है। अतः भगवान की अन्तिम आज्ञा ही मान्य है। सब कुछ छोड़कर प्रेम करे अतः कहते हैं कि 'प्रेममें न नेम।'

इसका तात्पर्य यह है कि प्रेम में लौकिक-वैदिक नियम त्याज्य हैं परन्तु प्रेम में प्रेम के नियम त्याज्य नहीं हैं, उनका तो दृढ़ता से पालन करना चाहिए। प्रेम के नियमों का पालन करने से हृदय में प्रेम दृढ़ होता है और प्रभु प्रकट हो जाते हैं। जैसे भगवान श्रीराम शंकरजी के सामने प्रकट हो गये। यथा—

नेम प्रेम शंकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा।।
प्रगटे राम कृतग्य कृपाला। रूप सीलनिधि तेज विसाला।।

महर्षि श्रीअत्रिजी ने भरतकूप में स्नान की विधि बताते हुए कहा—

प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहैं विमल करम मन बानी।। (रा०च०मा०)

सारांश यह कि भगवान की सेवा में, भक्त के आचरण में नेम और प्रेम दोनों आवश्यक हैं। नेम से प्रेम और प्रेम से नेम दृढ़ होते हैं। लौकिक नियम है कि राजमहिषी को महल से बाहर नहीं निकलना चाहिए और प्रेम का नियम है कि संकोच छोड़कर सन्त-भगवन्त की सेवा तथा उनके दर्शन करना चाहिए। रानीने सामान्य धर्म को छोड़कर भक्ति उत्पन्न करने वाले परमधर्म का पालन किया। (भा० १०-३२-२१) में भगवान ने कहा-'एवं मदर्थोज्झित लोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः' हे गोपियो! इस प्रकार तुम मेरे लिए लोकाचार, वेदधर्म और अपने परिवार आदि को त्यागकर आई हो, मैं तुम्हारी उत्कण्ठा को बढ़ाने के लिए अन्तर्धान हुआ था। अर्थात् लोक-वेद के नियमों का परित्याग केवल भगवान के प्रेम में ही किया जा सकता है। दूसरे कारण से यदि त्याग किया जाय तो पाप होगा। प्रेम में न नेम पर—

दृष्टान्त-श्रीप्रियादासजी एवं श्रीगोविन्ददास का—एकबार भक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादासजी और श्रीगोविन्ददासजी भक्तमाली (छ० १९२) ये दोनों सन्त साथ-साथ श्रीश्रीजीका दर्शन करनेके लिए बरसाना गये। दर्शन करके मोरकुटी जाकर विराजे। एक ब्रजगोपी ने यह समाचार सुना उसके हृदय में इन सन्तों के प्रति बड़ी श्रद्धा थी अतः उसने श्रीजी की प्रेरणा से निश्चय किया कि आज उन दोनों सन्तों को अपने हाथ से परोसकर भोजन कराऊँगी। पिछले प्रहर रात्रि में उठकर उसने बहुत सुन्दर सीरा-पूरी तथा शाक बनाया भोग लगाया और प्रसाद लेकर मोरकुटी पर प्रातःकाल पहुँच गई। बड़े प्रेम से दोनों को दण्डवत् प्रणाम करके बोली—'महाराज'! भोजन करो।' सन्तों ने कहा-हमने अभी दातौन नहीं की है। दातौन-स्नान के बाद ही हम भोजन करेंगे। बाईने बड़े प्रेम से कहा—'बाबा! पहले प्रसाद पालो, फिर दातौन-स्नानकर लेना। प्रसाद पाना अच्छा या सबेरे-सबेरे लकड़ी चबाना अच्छा। हमको जल्दी घर में जाकर अपना काम करना है। इसके प्रेम लपेटे अटपटे वचन सुनकर दोनों मूर्तियों ने प्रसाद पाया। दातौन-स्नान का नियम नहीं रह गया। क्योंकि प्रेम की अधिकता थी। प्रसादके प्रभावसे प्रेमका अमल चढ़ आया उस दिन सत्संग में विशेष आनन्द आया, श्रीजी की कृपा का अनुभव हुआ। ब्रजगोपी के प्रेम से नियम छूटा। (पुरानी टिप्पणी से) इसी प्रकार रानी रत्नावती का नियम नहीं रह गया। प्रेमसिंह है, नियम हाथी है। यथा—

जिहि तन वन गरजत रहै अद्‌भुत केहरि प्रेम। कैसे पावै रहन तहँ गज अनुरूपी नेम।।
जहाँ प्रेम तहँ लोक के रहैं न एकौ नेम। नेम प्रेम के अति कठिन पालै जा उर प्रेम।।

परोसिकै जिवांये है—षट्रस व्यञ्जनों से भरा थाल लेकर रानी आई और उसने परोसना आरम्भ किया। तो यहाँ भी नियम नहीं रह गया। क्रमशः सब पदार्थ सबको नहीं परोस सकी। प्रेम की उमंग में भरी रानी ने जो सामग्री हाथ पड़ी उसे ही सबकी सब परोस दी। स्वयं सन्त भी प्रेम में मग्न थे अतः जो आया उसे ही बड़े प्रेम से पाया। प्रेमाश्रु-सिंचित प्रसाद पाने-पवाने वाले दोनों ही कृतार्थ हो गये।

भये मन भाये हैं—श्रीवृन्दावनवासी इन सन्तों ने श्रीपयहारीजी, श्रीपृथ्वीराजजी आदि महान् सन्तों की कथा सुनी। आमेर में विराजमान श्रीनृसिंहजी की महिमा सुनी और यह भी सुना कि आज भी आमेर में एक से एक भगवत्प्रेमी रहते हैं। तब भक्त दर्शन की लालसा से श्रीधाम को छोड़कर आये। यहाँ रानी का दर्शन करके इनके मनोरथ पूर्ण हो गये अतः कहते हैं कि भये मन भाये हैं।

स्याम चरचा—रानी ने कहा—महाराज ! मुझसे भक्त-भगवान की कुछ भी सेवा नहीं बनती है। जन्म-जन्मान्तर के अपराधों को भगवान कैसे क्षमा करेंगे। यह सुनकर सन्तों ने गाया—देखो हरिजू को एक सुभाव। अति गम्भीर उदार उदधि प्रभु जान सिरोमनि राव।। राई जितनी सेवा को फल मानत मेरु समान। समुझि दास अपराध सिन्धु सम एको बूंद न मान।। वदन प्रसन्न कमल पद सम्मुख जानत हूँ सब ऐसे। विमुखौ भये कृपा या सुख की जब चितवौ तब तैसे।। भक्त विरह कातर करुनामय डोलत पाछे लागे। सूरदास ऐसे प्रभु को कत दीजै पीठि अभागे।।

चख रूप सरसाये हैं—रसिक सन्तों के साथ श्यामसुन्दर की चर्चा करके श्रीरत्नावतीजी के नेत्र श्रीकृष्ण के रूप-रस से सरस हो गये। अर्थात् अब नेत्रों में श्रीकृष्ण की छबि बस गई।

घर घर घाटन में बाटन में कुञ्जन में, बहै रूप गुञ्जौ अलिरूप कहाँ डोलौं मैं।
बेनी कवि गातन में बस्यौ गुन्दना के मिस, रिस करि बातन में कहाँ कहाँ छोलौं मैं।।
मसक मसूस नहीं मारौं मन कौलौं कोऊ, हितु न हमारो ताते बिलख न बोलौं मैं।
मूंदे स्याम पूतरी उघारौं देखौं स्याम एतौ, मेरौं अपराध आँखैं मूंदौं किधौं खोलौं मैं।।
दृग अँसुवन लागी झरी समयौ भयौ अनूप। बूंद बूंद में झलमलै प्रेमी पिय को रूप।।
डबराये नैनानि लखि मोर न जान्यौ हाल। अँसुवन कौ चसमा धरे निरखत प्रेमी लाल।।

हरि छबि देखि नैना ललचाने।
इक टक रहैं चकोर चन्द ज्यौं, निमिष बिसरि ठहराने।।
मेरौ कह्यौ सुनत नहिं श्रवननि, लोक लाज न लजाने।
गये अकुलाइ धाइ मो देखत, नेकहु नाहिं सकाने।।
जैसे सुभट जात रन सनमुख, लरत न कबहुँ पराने।
'सूरदास' ऐसी इन्हि कीन्हीं, स्याम रंग लपटाने।।

लोचन भये स्याम के चेरे।
एते पै सुख पावत कोटिक, मो तन फेरि न हेरे।।
हा हा करत परत हरि चरननि, ऐसे बस भये उनहीं।
उनकौ वदन विलोकत निसदिन, मेरौ कह्यौ न सुनहीं।।
ललित त्रिभंगी छबि पै अटके, फटके मोसों तोरि।
'सूर' दशा यह मेरी कीन्हीं, आपुन हरि सौं जोरि।।

धूम परी गाँव—महलन ते बहरानी रानी। यह सुनि काहू साँच न मानी। धाइ आइ लखि अचरज मानैं। निज निज मति अनुरूप बखानैं।। एक कहैं धनि धनि महरानी। तुमने

भक्ति यथारथ जानी।। पृथ्वीराज कुल बेलि फली है। रानी हरि रति रंगरली है।। ऐसो प्रेम रंग नहिं देख्यौ। लोक लाज कुल तृन सम लेख्यौ।। धन्य भये हम दरसन पाये। रानी गुन गन जाहिं न गाये।। एक कहैं रानी कुल नासी। सब अनरथ की जर है दासी।। याने मिथ्या दम्भ रचाई। रानी चौड़े लाइ नचाई। धिक चेरी ऐसी मति फेरी। सुरभी ते करि दीनी छेरी।। कुल कलङ्किनी दोऊ मरिहैं। राजा कबहुँ क्षमा नहिं करिहैं।। जितने मुख तितनी ही बाता। कहत सुनत नहिं जगत अघाता।। निन्दन बन्दन जग बौराना। प्रेमी के श्रवननि नहिं जाना।।

ह्वै करि निसंक रानी बंक गति लई नई, दई तजि लाज बैठी मोड़नि की भीर में।
लिख्यौ लै दिवान नर आये सो बखान कियो, बांचि सुनि आंच लागी नृप के सरीर में।।
'प्रेमसिंह' सुत ताही काल सो रसाल आयौ, भाल पै तिलक माल कण्ठी कण्ठ तीर में।
भूप को सलाम कियौ नरनि जताय दियौ, बोल्यौ आव मोड़ी के रे पर्‌यौ मन पीर में।।५५०

शब्दार्थ—बंक-टेढ़ी, विपरीत। मोड़नि की=वैरागियों की। जताय=बताय। मोड़ा=राजस्थानी भाषा में साधुओं का अवज्ञा भरा नाम।

भावार्थ—महारानी रत्नावतीजी ने निशंक और निडर होकर कुल की मर्यादा के विपरीत नया मार्ग अपना लिया है और वे लज्जा को छोड़कर मुण्डे वैरागियों की भीड़ में जाकर बैठ गई हैं। मन्त्री के द्वारा लिखा गया उक्त आशय का पत्र लेकर दूत राजा के पास पहुँचे। उन्होंने पत्र दिया और सब समाचार कह सुनाया। पत्र को पढ़ते और दूत के मुख से सारा हाल सुनते ही राजा के शरीर में आग-सी लग गई। संयोगवश इसी बीच रानी श्रीरत्नावती के सुपुत्र रसिक श्रीप्रेमसिंहजी वहाँ आये। उनके मस्तक में तिलक और गले में तुलसी कण्ठी-माला थी। उन्होंने राजा को प्रणाम किया। समीप के लोगों ने राजा को बताया कि राजकुमार श्रीप्रेमसिंहजी प्रणाम कर रहे हैं। यह सुनकर राजा ने प्रेमसिंहजी से कहा—'आ रे वैरागिनके बेटा।' यह सुनकर इनके मन में बड़ी पीड़ा हुई।।५५०।।

व्याख्या—ह्वै करि निसंक—रानी को भगवत्साक्षात्कार हो गया था अतः रानी निःशंक और निर्भय थी। विमुख को भय और शंकायें होती हैं। मेरा मार्ग ठीक है या गलत, इस पर चलने से सद्गति होगी या दुर्गति, लोक-परलोक बनेगा या बिगड़ेगा। इस सम्बन्ध में रानी को सन्देह न था, क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन हो गये थे अतः रानी निःशंक थी। लोक में राजदण्ड और परलोक में यमदण्ड का भी भय न था अतः रानी निर्भय थी। देह-गेह आदि में आसक्ति होने से एवं ईश्वर से विमुख होने से भ्रम-शंका-भय आदि होते हैं। यथा—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।। (भा० ११-२-३७)

योगीश्वर श्रीकविजी ने श्रीनिमिजी से कहा—राजन्! ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में आसक्ति, तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिए अपने गुरु को ही आराध्य देव मानकर अनन्य-भक्ति के द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिए। बङ्कगति—जैसे उल्लू आदि रजनीचरों के लिए दूसरों का दिन भी रात्रि होती है, उसी प्रकार निशाचर स्थानीय जो सम्पूर्ण अज्ञानी मनुष्य हैं, जिनमें परमार्थतत्व-विषयक बुद्धि नहीं है, उन सबके लिए सन्मार्ग ही कुमार्ग है। निष्कण्टक राजमार्ग जिस पर चलने से भूलने-भटकने या गिरने का भय नहीं है, उस भक्ति-पथ पर चलने वाली रानी को लोगों ने टेढ़े-उलटे मार्ग पर चलने वाली बताया।

दई तजि लाज—जिन नेत्रों में श्रीकृष्ण बस जाते हैं, वहाँ से लज्जा का शासन हट जाता है। यथा—दो०—'जिहिं दृग गढ़ सिरताज बसैं राज ब्रजराज। तहाँ कपट को आमली कहा लाज को काज।।' मोड़नि की भीर-भक्तों के बीच में भगवान के दर्शन हुए थे अतः रानी को भक्तों की भीड़ अच्छी लगती थी। इसी से मूल छप्पय में कहा गया कि—'भीर भक्तनि की भावै।' प्रेमसिंह सुत-रानी की भक्ति का प्रभाव बचपन से ही प्रेमसिंहजी पर पड़ा अतः ये मन-बचन-कर्म से कण्ठी-तिलकधारी सच्चे वैष्णव थे। माता के जीवन का गम्भीर प्रभाव जैसे ध्रुव-प्रह्लाद आदि पर पड़ा, उसी तरह श्रीप्रेमसिंहजी पर माता की वैष्णवता का प्रभाव था।

कोप भरि राजा गयौ भीतर सो सोच नयौ, पाछे पूछि लयौ कह्यौ नरनि बखानिकै।
तब तो बिचारी अहो मोड़ा ही हमारी जाति, भयौ दुःख गात भक्ति भाव उर आनिकै।।
लिख्यौ पत्र माजी कों जु प्रीति हिये साजी, जोपै सीस पर बाजी आय राखौ तजि प्रानिकै।
सभा मधि भूप कही मोड़ी को विरूप भयौ, रहैं अब मोड़ी के ही भूलौ मति जानिकै।।५५१

शब्दार्थ—सीस पर बाजी=सिर पर संकट, प्राण संकट। विरूप=भद्दा, निन्दनीय।

भावार्थ—श्रीप्रेमसिंह को अपमानित कर क्रोध में भरा हुआ राजा भीतर चला गया। इधर श्रीप्रेमसिंहके मन में दुःख हो रहा था। समझ में नहीं आ रहा था कि राजाने ऐसा क्यों कहा। पीछे

उन्होंने लोगोंसे पूछा, तो उन्होंने आमेर से आये पत्र का सब समाचार कह सुनाया। तब श्रीप्रेमसिंहजी ने मन में विचारा कि अहो ! धन्य हैं, वैरागी ही हमारी जाति है। अपनी माताजी का स्मरण कर, प्रेम-भक्ति के भावों को हृदय में लाकर ये तन-मन से सुखी हो गये। अपने निवास स्थान पर आकर इन्होंने अपनी माताजी को पत्र लिखा कि—'यदि आपने अपने हृदय में भगवद्-भक्ति को धारण किया है तो उसे छोड़ना मत। चाहे सिर की बाजी लगाना पड़े तब भी। आप अपने प्राणों का मोह छोड़कर भक्ति-भाव की रक्षा करना।' राजा ने भरी सभा में मुझे 'मोड़ी-वैरागिनके बेटा, कहकर मेरा अपमान किया है। (पर मैं इसमें अपना अपमान नहीं मानता हूँ।) मैं चाहता हूँ कि अब मोड़ी-वैरागिन का बेटा ही रहूँ।' अब जब सच्चे मार्ग की प्राप्ति हो गई है, तब हम और आप इसे न भूलें।।५५१।।

व्याख्या—सीस पर बाजी—इसका तात्पर्य यह है कि कष्ट सहकर, सिर देकरके भी अपने धर्म की रक्षा करना चाहिए। धर्म में निष्ठा रखने वालों की दृढ़-भावना होती है कि सर्वस्व चला जाय, परन्तु स्वधर्म बचा रहे, उसी में कल्याण है। यथा—स्वधर्मे निधनं श्रेयः। (गी०) अपने धर्ममें मरण भी कल्याणप्रद है। पुनः—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।
न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मोनित्यः सुखदुखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

अर्थ—एक धर्म ही अपना सुहृद् है, जो मरने के बाद भी प्राणी के साथ जाता है। दूसरा सब कुछ शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है अतः स्वधर्म का नाश नहीं करना चाहिए। पुनः—विषय सुख की कामना से, डर से, लोभ से अथवा प्राणों की ममता से भी धर्म का त्याग नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि धर्म नित्य है, सुख-दुःख क्षणिक हैं। जीवात्मा नित्य है, इसका जन्म लेना और मरना अनित्य है। श्रीप्रेमसिंह के पत्र का तात्पर्य यह है कि—'यतो धर्मस्ततो जयः।' यदि आप अपने वैष्णव-धर्म का त्याग न करेंगी तो आपकी विजय होगी। यदि आप धर्म की रक्षा करेंगी तो वह रक्षित धर्म आपकी रक्षा करेगा। प्रह्लादजी, कबीरजी, यवन हरिदासजी आदि ने अपने धर्म को नहीं छोड़ा। प्राणों की बाजी लगाकर उसकी रक्षा की। धर्म के लिए संकट सहने वाले, मरने वाले अमर हैं।

शिवि दधीचि हरिचन्द नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा।।
रन्तिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना।। (रामा०)

श्रीकबीरजी कहते हैं कि प्रेम प्राप्त करने के लिए सिर उतारकर अर्थात् समर्पित कर इस महलमें, इस भक्ति-पथ पर आओ। तभी सच्चे प्रेम की प्राप्ति होगी। यथा—

जो तुहिं प्रेम मिलनदां चाव। सीस उतारि महल में आव।।
उतर न देइ प्रेम रसमाती। दीपक जरै भबूकै बाती।।
प्रेम खिलत केते सिर हारे। जे खेलैं ते जुग ते न्यारे।।
कह कबीर हम प्रेम समाना। प्रेम समान और नहिं जाना।।

राखौ तजि प्रान को—प्राणों के लोभ को छोड़कर प्रेम की रक्षा करनी चाहिए। यथा—

धन दै नीके राखु तन तन दै राखौ लाज। लाज प्रान तजि दीजिये एक प्रेम के काज।।
नेह करैं ते बावरे करि तोरैं ते कूर। धुर निरबाहैं जे कोऊ तेई प्रेमी सूर।।

अर्थात् शरीर की रक्षा के लिए धन, लज्जा की रक्षा के लिए तन का त्याग करना चाहिए पर तन-धन और प्राणों को भी त्यागकर प्रेम की रक्षा करनी चाहिए। स्नेह करके फिर छोड़ना क्रूरता है और अन्त तक उसका निर्वाह करना सूरता-वीरता है।

रहैं अब मोड़ी के ही—प्रेमसिंहजी को सभा के बीच में पिताजी ने 'मोड़ी कौ विरूप भयौ' ऐसा कहा—कण्ठी-तिलक युक्त रूप उन्हें कुरूप लगा, इसका कारण यह कि वे क्रोधावेश में थे। अन्यथा यह रूप विशिष्ट रूप है, परम दुर्लभ है। मोड़ा, वैरागी बनना सहज नहीं। इस पर—

दृष्टान्त—रोजन गाँव के ब्राह्मण का—रोजन गाँव में एक ब्राह्मण नित्य बात-बात पर पत्नी से लड़ते और कहते कि-'नहीं मानोगी तो सन्तोबाजी के पास जाकर विरक्त बनकर भजन करूँगा।' पत्नी इस धमकी से परेशान हो गई। एकदिन सन्तोबाजी भिक्षार्थ द्वार पर आये। विप्र पत्नी ने अपना दुःख सुनाया। सन्तोबाजी ने कहा—'अब जब भी वह ऐसा कहे, तो तुम कहना कि अभी जाओ। मेरे पास आयेगा तो मैं उसे ठीक कर दूँगा।' सन्तोबाजी के जाने पर ब्राह्मण आया और भोजन में बिलम्ब देखकर बिगड़ा और वही पुराना अस्त्र चलाया कि—समय से भोजन न मिला तो मैं घर छोड़कर वैरागी बन जाऊँगा। पत्नी ने कहा—'देर मत करो, अभी चले जाओ।' ब्राह्मण चक्कर में पड़ गया। लोटा-धोती ली, कुर्ता-टोपी पहनी और सन्तोबाजी के पास आकर बोला कि—'मुझे विरक्त शिष्य बना लो।' सन्तोबाजी ने स्वीकार कर लिया, ब्राह्मण वहीं रह गया। सन्तोबाजी के आदेश से वह जल लाने नदी पर गया, इसी बीच उसके सब कपड़े फाड़कर सन्तोबाजी ने पेड़ पर लटका दिये। आया तो लंगोटी लगाने की आज्ञा दी, उसने लंगोटी लगा ली। अब उसे बड़ी भूख लगी।

सायं को सन्तोबाजी ने उसे भी कुछ कन्दमूल दिये और स्वयं खाने लगे। तो वह बोला-ये तो कड़बे लगते हैं, कोई मीठी चीज दीजिये। संतोबाजी ने नीम की पत्ती तोड़कर दे दी। उसे खाकर वह बोला—'यह तो और ज्यादा कड़बी है, इससे मेरा मुख खराब हो गया।' दूसरे दिन भी वही भोजन देखकर रोने लगा कि—'घर पर सूखी ही सही, देर-सबेर मिल तो जाती थीं। मैं किस आफत में पड़ गया।' सन्तोबाजी ने कहा—'जब वैराग्य के पहले पाठ के पढ़ने में ही तुम रोने लगे, तब पूरा पोथा कैसे पढ़ पाओगे। घर में शान्ति से क्यों नहीं रहते हो, बार-बार विरक्त सन्त बनने की धमकी क्यों देते हो, विरक्त बनना सहज नहीं है। अब तो उसने सन्तोबाजी के चरणों में पड़कर क्षमा माँगी और प्रतिज्ञा की कि—'अब वैरागी बनने की झूठी धमकी कभी न दूँगा।' लँगोटी पहने हुए उसे उसके घर लाये, पत्नी से पहनने के लिए धोती दिलवाई और कहा—अब इसे घर में रहने दो, अब ये झूठी धमकी न देकर शान्ति से रहेगा। 'ब्राह्मण सुख से घर में रहने लगा। (भक्ति विजय-सत्कथाङ्क से) वैराग्य कठिन है, पर सन्त-भगवन्त की कृपा से श्रीरत्नावतीजी को सरल हो गया।

लिख्यौ दै पठाये वेगि मानस लै आये, जहाँ रानी भक्ति सानी हाथ दई पाती बांचियै।
आयो चढ़ि रंग बांचि सुत कौ प्रसंग, बार भीजे जे फुलेल दूर किये प्रेम सांचियै।।
आगे सेवा पाक निसि महल बसत जाय, ल्याय याही ठौर प्रभु नीके गाय नाचियै।
नृप अन्न त्यागि दियौ दियौ लिखि पत्र पुत्र, भई मोड़ी आज तुम हित करि जांचियै।।५५२

भावार्थ—श्रीप्रेमसिंहजी ने पत्र लिखकर तीव्रगामी दूतों के द्वारा माताजी के समीप भेज दिया। वे पत्र लेकर आमेर आये और उन्होंने भक्तिरंग में रंगी रानी के हाथ में पत्र दिया। रानी ने उसे पढ़ा और उसमें लिखे प्रसंग को पढ़ते ही इन्हें प्रेम का आवेश आ गया। इनमें सच्चा प्रेम था अतः इन्होंने इत्र-फुलेलसे भीगे अपने सिर के बालों को मुड़वा दिया और मुण्डी-वैरागिन बन गईं। इसके पहले ये सन्तों को प्रसाद पवाकर तथा उनके साथ सत्संगवार्ता करके रात को राजमहलों में जाकर रहती थीं। परन्तु अब अपने श्रीठाकुरजी को सन्त-निवास में ही ले आईं और वहीं उनकी सेवा-पूजा, नृत्य-गान करने लगीं। राजा का अन्न-धन भी इन्होंने छोड़ दिया। इसके बाद अपने पुत्र प्रेमसिंह को पत्र लिख दिया कि—'मैं मूड़ मुड़वाकर सच्ची वैरागिन बन गई हूँ और दिन-रात उन्हीं के बीच में रह रही हूँ।' तुमने अच्छी तरह समझ-बूझकर अपने तथा मेरे हित की बात लिखी थी।।५५२।।

व्याख्या—भीजे जे फुलेल—श्रीप्रेमसिंह के पत्र को पढ़कर श्रीरत्नावतीजी के ऊपर प्रेम का आवेश चढ़ आया। इत्र-फुलेल से भीगे बालों को कटवाकर मुण्डी (मोडी) वैरागिन बन

गईं। मन में वैराग्य दृढ़ था ही, अब शरीर से वेश भी मोडिन का हो गया। बालों को कटवाकर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि अब मैं परिवार से बिल्कुल अलग हूँ। केश रखना सधवा का चिन्ह है। केश कटवाना यह विधवा और वैरागिनी का चिन्ह है। 'लावण्यं केशधारणम्।' (भा० १२-२-६) इस युग में सिर पर बड़े-बड़े बाल रखना, उनको संवारना, यही शारीरिक सौन्दर्य का चिन्ह है। 'अबला कच भूषण' (रामा०) स्त्रियों के लिए केश भूषण हैं। इसलिए स्त्रियों को केश अत्यन्त प्यारे होते हैं। लौकिक पति को प्रसन्न करने के लिए शारीरिक शृंगार आवश्यक है। जिसकी इनको अब आवश्यकता नहीं है। ईश्वर को रिझाने के लिए मानसिक प्रेम-निष्काम भाव की आवश्यकता है। उसी को रानी ने अपनाया। पुनः केशों में काम और कामनाओं का वास है। रानी ने उन्हें कटवाकर काम और कामनाओं का त्याग किया। वैराग्य लेते समय केशों के त्याग का तात्पर्य लौकिक कामनाओं का त्याग है।

दियौ लिखि पत्र—प्रिय प्रेमसिंह ! तुमने अपना नाम सत्य कर दिया। मेरे हृदय में जो भक्ति का अंकुर जमा है, इसका पालन-पोषण करना तुम्हारा धर्म है। तुम यदि भक्ति का पालन करोगे, तो तुम्हारे आश्रय को पाकर मैं भी निर्भय होकर भक्ति-पथ पर चल सकूंगी। दो०—जब लगि सिर पर सिर हुतौ मानौ फूलनि हार। नहीं सम्हारो जात है सिर उतरे को भार।। अर्थात् जब तक सिर पर बाल रहते हैं तब तक वे पुष्प-हार के समान प्रिय लगते हैं, भार प्रतीत नहीं होते हैं। सिर पर से उतर जाने के बाद यदि उन्हें फिर से सिर पर रखा जाय तो वह अमंगलकारी होगा और सहन नहीं होगा। इसी प्रकार संसार का भार (सम्बन्ध) जब तक रहता है, तब तक अति सुखद प्रतीत होता है, त्यागने के बाद फिर ग्रहण करना अनुचित असह्य होता है। मैं भी जिसका त्याग कर चुकी हूँ उसे अब फिर नहीं अपनाऊँगी। वैसे प्रेम मार्ग कठिन है। यथा—

यह तो सहल नहीं तुम जानौं कठिन इश्क दा रस्ता।
बूझौ जाय बात यह तिनको नेह नगर जो बस्ता।।
सिर साटैं जो मिलै सनेही तौ यह सौदा सस्ता।
'रसनिधि' सो या रस को जानै उर अनुराग सिरस्ता।।

सिर के बदले यदि स्नेही श्यामसुन्दर मिलें तो यह सौदा सस्ता है।

भक्तमाल की एक पुराणी टिप्पणी में निम्नलिखित एक कवित्त है, उसे भक्तिरस-बोधिनी टीका में माना गया है, उसकी संख्या ५४३ है। इसमें प्रेमसिंह के स्वरूप का वर्णन है।

सदा साधु सेवा रङ्ग तिनही प्रसंग सुनि, भीजि जात हृदै जानौ प्रीति कौ स्वरूप है।
प्रेमसिंह नाम ताकौ अर्थ अभिराम सुन्यौ, सिंह सम भक्तिबल हिय स्याम रूप है।।
दोऊ मिलि नाम मान्यौ जान्यौ नरसिंहवत, रसिक बड़ाई याते भयौ भक्ति भूप है।
हरिदेव इष्ट मिष्ट लागी जाकौ सन्त सेवा, श्रेष्ठ गुन वैस लघु कीरति अनूप है।।

श्रीरत्नावती स्वयं भक्ता थीं, उनका पुत्र मातृ गुणों का अनुसरण कर महान् भक्त हुआ। श्रीप्रेमसिंह सरीखे पुत्र को जन्म देकर श्रीरत्नावती का मातृत्व धन्य हो गया। जैसे जंगल का राजा एवं श्रेष्ठ पशु सिंह होता है, उसी प्रकार जग-जंगल के श्रेष्ठ पुरुष श्रीप्रेमसिंह हुए। जैसे श्रीनृसिंहजी में अपार वात्सल्य और रौद्र दोनों थे। श्रीप्रह्लादजी के प्रति वात्सल्य और हिरण्यकशिपु के प्रति रौद्र दोनों भाव प्रकट हुए। उसी प्रकार श्रीप्रेमसिंह में सन्त-भगवन्त में प्रेम और विमुखों के प्रति रौद्र था। तभी तो 'बोल्यौ विषै लगि कोटि-कोटि तनु खोये एक भक्ति पर काम आवे यहै मन आई है।' (क० ५५४) लड़ने-मरने को तैयार हो गये, वह भी पिता के मुकाबले, पर भक्त-वेष और प्रेम-पथ की अवहेलना सहन नहीं की। जैसे स्वयं का भाव था, प्राणों को देकर प्रेम की रक्षा करना, वही माता को लिख भेजा। माता का उत्तर पाकर नौबत बजवाना, बधाई बाँटना यह दृढ़-प्रेम का प्रतीक है। इसलिए प्रेमसिंह का नामगुण के अनुरूप था। साधुओं की सेवा, कथा, श्रवण और सत्संग में इनका बड़ा भारी प्रेम था। छोटी आयु में ही इन्होंने श्रेष्ठ गुण और कीर्ति को प्राप्त कर लिया था।

प्रेम सांचियै—फुलेल से भीगे घुंघराले केशों को कटवाना, महल-वास त्यागकर सन्त-निवास में अपने श्रीठाकुर की सेवा करना, वहीं नृत्य-गान करके भगवान को रिझाना और राजा के अन्न का त्याग करना, ये सब रानी ने सच्चे-प्रेम के कारण किया। राजा के अन्न-धन को छोड़ने के बाद अपने पिता के द्वारा दिया हुआ जो धन था, उससे रानी अपने ठाकुर की और सन्तों की सेवा करने लगी। अभक्त राजा का अन्न त्याज्य है, क्योंकि कर और दण्ड आदि से उसका संग्रह होता है, लोग विवश होकर, कष्ट मानकर देते हैं अतः वह तामसी है। उसके सेवन से तमोगुण की वृद्धि होती है। इसलिए बुद्धिमान लोग वैष्णवों से माँगकर अन्न-जल लेते हैं, उससे पाप नष्ट होते हैं, क्योंकि वह भगवत्प्रसाद होता है। (विशेष देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ ७६) पुनः—'शुद्धं भागवतस्यान्नं शुद्धं भागीरथं जलम्। शुद्धं विष्णु परिक्षिप्तं शुद्धमेकादशीव्रतम्।। (मार्कण्डेय) वैष्णवों का अन्न, गंगाजल, भगवान का प्रसाद और एकादशी व्रत ये सब शुद्ध हैं और जो कोई इनका सेवन करे, उसे भी शुद्ध करने वाले हैं। अतः रानी ने राजा के अन्न का त्याग किया। इस सम्बन्ध में द्वितीयखण्ड

पृष्ठ ४९४ में शिलोञ्छवृति वाले ब्राह्मण का दृष्टान्त देखिये।

गये नर पत्र दियौ सीस सों लगाय लियौ, बांचिकै मगन हियौ रीझि बहु दई है।
नौबत बजाई द्वार बांटत बधाई, काहू नृपति सुनाई कही कहा रीति नई है।।
पूछे भूप लोग कह्यौ मिटे सब सोग भये, मोड़ी के जू जोग स्वांग कियौ बनि गई है।
भूपति सुनत बात अति दुख गात भयौ, लयौ बैर भाव चढ्यौ त्यारी इत भई है।।५५३

शब्दार्थ—स्वांग=नकल, खेल, ढोंग। त्यारी=तैयारी।

शब्दार्थ—रानी श्रीरत्नावती का पत्र लेकर दूत लोग गये और उन्होंने पत्र श्रीप्रेमसिंहजी को दिया। इन्होंने उसे सिरसे लगाया और पढ़कर प्रेमानन्द में मग्न हो गये। आज से भगवद्दासों में हमारी गिनती हो गई। यह मानकर मन में ऐसा उल्लास हुआ कि बहुत-सी सम्पत्ति साधु-ब्राह्मण और दीनों को बाँटी। द्वार पर नौबत बजवाई तथा बधाईयाँ बँटवाईं। किसी ने राजा से कहा-'आज कुंवर प्रेमसिंहजी के यहाँ कोई उत्सव है।' राजा ने कहा—'कौन-सा यह नया उत्सव हो रहा है, पता लगाओ।' तब राजा के लोगों ने इनसे आकर पूछा, तो इन्होंने उत्तर दिया कि—'अब हमारे सब दुःख एवं शोक नष्ट हो गये, अब हम सचमुच वैरागिनके बेटा बन गये। हम इस योग्य नहीं थे, केवल स्वाँग किया पर हमारी बात बन गई माताजी ने वैरागिनका वेष धारण कर लिया है।' यह बात जब राजा ने सुनी तो उनके मन में बड़ा दुःख हुआ। क्रोधवश उन्होंने वैर-भाव से श्रीप्रेमसिंह पर चढ़ाई करके उनसे युद्ध की तैयारी कर ली। जब कुंवर श्रीप्रेमसिंह को यह बात मालूम पड़ी तो वे भी लड़ने-मरने के लिए तैयार हो गये।।५५३।।

व्याख्या—बांचिकै मगन हियौ—पत्र को पढ़ते ही प्रेमसिंहजी को माता की दृढ़-भक्ति का बोध हुआ अतः मग्न हो गये। प्रेमसिंहजी के पत्र को पढ़कर माता रत्नावतीजी और माता का पत्र पढ़कर प्रेमसिंहजी को विशिष्ट प्रेमावेश हो आया।

नौबत बजाई द्वार बांटत बधाई—गृहासक्त से अब वैरागी बन गये। दूसरा जन्म हो गया अतः जन्म के समय जैसा उत्सव होना चाहिए, वैसा उत्सव श्रीप्रेमसिंहजी ने मनाया। पुनः माताजी संसार के बन्धन से मुक्त हो गईं, उनके सम्बन्ध से हम भी मुक्त हो गये अतः बन्धन से मुक्ति मिलने पर जैसा आनन्द होना चाहिए, वैसा आनन्द मनाया। जैसे विरक्त बनने पर भण्डारा होता है उसी प्रकार माता के विरक्ता बनने पर सबका दान-मान हुआ।

श्रीप्रेमसिंहजी के मन में पिता के प्रति भक्ति थी अतः उन्होंने 'आ रे मोड़िनके' इस तिरस्कार वाक्यको सादर स्वीकार कर उपकार माना। यदि पिताजी ऐसा न कहते तो हम लोग वैरागी कैसे बनते। जैसे चिन्तामणिकी फटकार ने विल्वमंगलजी को विरक्त बना दिया और उन्होंने उपकार माना। उसी प्रकार प्रेमसिंहजी ने भी। भक्त का लक्षण यही है कि वह अवगुण में भी गुण ही ग्रहण करे। असारको त्याग दे। श्रीप्रेमसिंहजी ने गुण-ग्रहण किया। दो०—भक्तन को लक्षण यहै दीन वचन सद्भाव। भलौ चहैं कुवचन सहै गुण गहि तजै कुभाव।। राजा ने तिलक-कण्ठी धारणके गुण को त्यागकर अवगुण लिया अतः उनमें वैरभाव आ गया। तब भी प्रेमसिंहजी ने पिता का उपकार माना कि इन्होंने भक्ति पर प्राण अर्पण करने का अवसर दिया इन कारणों से प्रेमसिंह मन में मग्न थे उत्सव मना रहे थे।

स्वांग कियौ बनि गई है—निष्ठापूर्वक वैष्णव वेष को धारण करने से साधक भी सिद्ध बन जाते हैं और ढोंगी सच्चे-साधु बन जाते हैं। भक्तिरसबोधिनी कवित्त २१८ में कोढ़ी राजा की आज्ञा से बधिकों ने हंसों को पकड़ने के लिए साधु-वेष बनाया। श्रद्धा से नहीं, हंसों को ठगने के लिए साधु-वेष बनाने पर जब हंसों ने विश्वास किया, तब बधिकों ने उस वेष के प्रभाव को जाना और सच्चे-सन्त बन गये। यथा-'बधिकनि जानी जासों खगनि प्रतीति कीनी, ऐसो वेष छोड़िये न राख्यौ मति भीजिये।' पुनः छ० ५६ में भाँड़ोंने कपट से सन्त-वेष बनाकर वेषनिष्ठ राजा को ठगना चाहा, उसकी हँसी उड़ानी चाही। परिणाम यह हुआ कि—'भाँड़ वेष गाढ़ो गह्यौ दरस परस उपजी भगति।' भाँड़ सच्चे सन्त बन गये। स्वर्णकी मुद्राओं में दुर्गन्ध आने लगी। त्यागकर वन में भजन करने चले गये। इन लोगों ने किया तो था स्वांग पर भक्तिनिष्ठ बन गये। 'लयौ बैर भाव'—राजा लौकिक मर्यादा सामान्य धर्म की रक्षा के लिए और श्रीप्रेमसिंह प्रेमभाव परम धर्म की रक्षा के लिए मरने-मारने के लिए तैयार हो गये। 'त्यारी इत भई है'—दोनों ओर युद्ध के मारु बाजे बजने लगे। सैनिकों को दोनों ने अपना-अपना सिद्धान्त बताकर युद्ध को उचित और धर्मयुद्ध बताया। प्रेमसिंहजी के सभी सैनिक भी प्रेमी थे, अतः बड़े उत्साह से युद्ध की तैयारी हो गई। प्रेमसिंह ने कवच धारण कर लिया। अस्त्र-शस्त्र सम्भाल लिए। दो०—साधू से तो साधु हौं रंका से तो रंक। बंका से तो बंक हौं तिरबंका चौबंक।।

नृप समझाय राख्यौ देश में चबाव ह्वै है, बुधिवन्त जन आय सुत सों जताई है।
बोल्यो विषै लागि कोटि कोटि तन खोये, एक भक्ति पर आवै काम यह मन आई है।।
पांय परि माँगि लई दई जो प्रसन्न तुम, राजा निसि चल्यो जाय करौ जिय भाई है।
आयौ निज पुर ढिग ढुरि नर मिले आनि, कह्यौ सो बखानि सब चिन्ता उपजाई है।।५५४

शब्दार्थ—चबाव=निन्दा। ढुरि=लुढ़कि, आकर।

भावार्थ—पिता-पुत्र में युद्ध की तैयारी देखकर हितैषी लोगों ने राजा को अच्छी तरह से समझाया कि लड़के के साथ युद्ध करने से सारे विश्व में आपकी निन्दा होगी। बुद्धिमान शुभ-चिन्तकों ने उधर श्रीप्रेमसिंहजी को भी यही कहकर समझाया। इन्होंने कहा—'लौकिक विषयों के लिए मैंने अब तक करोड़ों जन्म गंवाये हैं, यह एक जन्म भगवान की भक्ति के काम आवे। मैं ऐसा ही चाहता हूँ, मुझे यही अच्छा लग रहा है।' श्रीप्रेमसिंहजी का ऐसा दृढ़ विचार सुनकर लोग इनके पैरों में पड़ गये और यह माँगा कि आप शान्त हो जायें। तब श्रीप्रेमसिंहजी ने कहा—जिसमें आप प्रसन्न हैं, हमने वही दिया। लोगों ने कहा-अभी कुछ समय के लिए इन बाजों का बजना बन्द करवा दीजिये। राजा साहब आज ही रात को आमेर चले जायेंगे। फिर आप जो चाहें वह करें। खूब नौबत बजवावें। प्रेमसिंह ने मान लिया, सज्जन मान लेते हैं। राजा नहीं माना, नौबत बन्द हो गई कहकर लोगों ने राजा को शान्त किया। राजा माधवसिंहजी दिल्ली से चल दिये और आमेर आ गये। इनके नगर के निकट पहुँचते ही लोग आकर इनसे मिले और उन्होंने रानी का सब वृत्तान्त कह सुनाया। अब राजा के मन में बड़ी चिन्ता हो गई।।५५४।।

व्याख्या—नृप समझाय राख्यौ—लोगों ने राजा को समझाया कि यह दिल्ली है। यहाँ पर हुआ पिता-पुत्र का संघर्ष देश-विदेश में जल्दी से जल्दी फैल जायेगा। क्योंकि नित्य डाक आती-जाती रहती है। यवन लोग हिन्दू-हिन्दू को लड़ाते रहते हैं। इस पिता-पुत्र की लड़ाई से वे प्रसन्न होंगे। सभी लोग कहेंगे कि राजा के कुल में तिलक-कण्ठी के भक्त श्रीभगवानदासजी थे, जिन्होंने अपना सिर कटाना अच्छा समझा। पर तिलक-कण्ठी को नहीं छोड़ा। (छं० १८८) ये ऐसे हुए कि तिलक-कण्ठी धारण करने वाले अपने लड़के से लड़ गये, उसे मार डालने को तैयार हो गये। लोग आपको विमुख और अवैष्णव कहकर निन्दा करेंगे। इस युद्ध के बाद आंपको पीछे पछताना पड़ेगा। बालक के अपराधों को पिता क्षमा ही करता है।

विषै लगि कोटि कोटि तन-क्षण-भर में नष्ट हो जाने वाले शरीर से कर्तव्य धर्म का पालन कर महान् पुण्य का सञ्चय करना चाहिए। भगवान ने अर्जुन से कहा—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

हे पार्थ! अनिच्छा से प्राप्त बिना माँगे मिले हुए ऐसे खुले हुए स्वर्गद्वाररूप युद्ध को जो क्षत्रिय पाते हैं, वे पुण्यवान और सुखी हैं। यदि तू यह धर्मयुक्त युद्ध नहीं करेगा तो उस युद्ध न

करने के कारण अपने धर्म को और कीर्ति को नष्ट करके केवल पाप को प्राप्त होगा। (गीता २-३२-३३) इस गीतोपदेश के अनुसार प्रेमसिंह लड़ने के लिए तैयार हो गये। ससैन्य श्रीभरतजी को आते देखकर निषादराज ने अपने भील योद्धाओं से कहा—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ।।
समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काज छन भंगु सरीरा।।
भरत भाई नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइय मीचू।।
स्वामि काज करिहौं रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी।।
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दूहुं हाथ मुद मोदक मोरे।।

निषादराजजी जानते थे कि श्रीभरतजी से जीतूंगा नहीं, उसी प्रकार श्रीप्रेमसिंहजी भी जानते थे कि पिताजी के पास राजकीय शक्ति है, इनसे जीतूंगा नहीं, परन्तु भक्ति और भक्त-वेष के नाम पर मरकर लोक में कीर्ति और परलोक में सद्‌गति अवश्य प्राप्त करूँगा। भक्ति बिना जीवन व्यर्थ है। यथा—

नर तैं जनम पाइ कहा कीनौ।
उदर भर्‍यौ कूकर सूकर ज्यौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ।।
श्रीभागवत सुनी नहिं श्रवननि, गुरु गोविन्द न चीन्हौ।
भाव भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषयन में दीन्हौ।।
झूठो सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कै भीनौ।
अघ कौ मेरू बढ़ाइ अधम! तू, अन्त भयौ बल हीनौ।।
लख चौरासी जोनि भरमिकै, फिरि वाही मन दीनौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिन, ज्यौं अंजलि जल छीनौ।।

चिन्ता उपजाई है—राजा को तथा मन्त्रियों को रानी की सच्ची-विशुद्ध भक्ति का पता नहीं था। अतः लोगों ने कहा कि प्रजा का पाप राजा को, स्त्री का पति को तथा शिष्य का गुरु को लगता है। यथा—प्रजा पाप भूपहिं लगै, भामिनि कृत भरतार। शिष्य पाप गुरु को लगै कियौ वेद निरधार।।' यदि यह कहो कि कलियुग में जो पाप करता है, उसे ही लगता है तो भी उक्त अपने सम्बन्धियोंके पाप करने पर लोक में बदनामी तो होती ही है। लोक में निन्दा होना भी पाप लगना है, इसलिए कुछ न कुछ उपाय अवश्य करना चाहिए। पुनः नीतिशास्त्र का कथन है कि—'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टश्च महीपतिः। सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना।।' असन्तुष्ट ब्राह्मण नष्ट है, सन्तुष्ट राजा नष्ट है, क्योंकि उसके राज्य पर

लोग अधिकार कर लेते हैं। सलज्जा वेश्या नष्ट है और निर्लज्ज कुलबधू नष्ट हैं। श्रेष्ठ राजकुल की बधू होकर रानी निर्लज्ज होकर वैरागियों के बीच में रहने लगी अतः यह नष्ट है। इन लोगों का ध्यान लौकिक सामान्य धर्म की ओर था, परम धर्म की ओर नहीं अतः चिन्ता उपजाई है।

भवन प्रवेश कियौ मन्त्री जो बुलाय लियौ, दियौ कहि कटी नाक लोहू निरवारियै।
मारिबौ कलङ्क हू न आवै यों सुनावै भूप, काहू बुधिवन्त नै विचारि लै उचारियै।।
नाहर जु पींजरा में दीजै छाँड़ि लीजै मारि, पाछे ते पकरि वह बात दाबि डारियै।
सबनि सुहाई जाय करी मन भाई आयौ, देख्यौ वा खवासी कही सिंहजू निहारियै।।५५५

भावार्थ—राजा ने राजमहलों में पहुँचकर अपने मन्त्रियों को बुलवाया और कहा—'मेरी नाक तो कट ही गई, वह अब जुड़ नहीं सकती है परन्तु उसमें से जो लगातार खून बह रहा है, उसको किसी प्रकार रोकिये।' (वैरागिन बनी रानी जब तक जीवित है, तब तक संसार में मेरी निन्दा की धारा बहती रहेगी) किसी प्रकार रानी को मरवा डालना आवश्यक है अतः आप लोग कोई ऐसा उपाय सोचिये कि रानी मर जाये और हत्याका कलंक भी न लगे। जब राजाने कहा, तो किसी बुद्धिमान मन्त्री ने बहुत सोच-विचार कर एक उपाय बताते हुए कहा—अपने यहाँ पिंजड़े में जो सिंह बन्द है, उसे रानी के सामने छोड़ दिया जाय। वह रानी को जब मार डालेगा तब फिर उसे पकड़वा लिया जायेगा इस मन्त्रणा को गुप्त रक्खा जाय और बाद में यह प्रचार कर दिया जायेगा कि सिंह छूट गया और उसने रानी को मार डाला। यह उपाय सबको बहुत अच्छा लगा। लोगों ने यही किया, सिंह को छोड़ दिया। जब वह रानी की ओर आया, तो उसे देखकर दासी ने कहा देखो, सिंहजू आपकी ओर आ रहे हैं।।५५५।।

व्याख्या-कटी नाक—भाव यह कि प्रतिष्ठा में हानि तो हो ही गई और रानी के जीवित रहने पर भविष्य में और अधिक होगी, इसलिए किसी उपाय से रानी को मरवाना है, पर स्त्री हत्या का कलंक न लगे। धर्मज्ञ स्त्री का वध नहीं करते हैं। यथा—मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्।।' (भा० १-७-३६) अर्थ—उन्मत्त, पागल, असावधान, सुप्त, बालक, स्त्री, जड़, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रु को धर्मज्ञ लोग कभी नहीं मारते हैं। श्रीराम ने स्त्री वध नहीं करना चाहा तब श्रीविश्वामित्रजी ने रामजी से कहा—गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्ट पराक्रमाम्। नहि ते स्त्रीवधकृते वृणाकार्या नरोत्तम।।

अर्थ—हे नरश्रेष्ठ श्रीराम ! स्त्री का वध करने में दया मत करो, गो-ब्राह्मण एवं प्रजा के हित के लिए इस दुष्टा को मारो। जिससे प्रजाका अहित हो, उसके मारने में राजा को दोष नहीं लगता है। (बा० रा० बाल० २६-१७) रानी के द्वारा किसी का भी अहित नहीं हो रहा है, वैरागिन-वेष बना लिया है अतः इसके मारने पर भारी कलंक लगेगा। अतः राजा कहता है कि 'कलङ्क हू न आवै, असाधु लोग पाप करना चाहते हैं, जान-बूझकर पाप करते हैं, पर उसके फलको नहीं भोगना चाहते हैं सुख चाहेंगे पर सुख के मूल धर्म का आचरण नहीं करेंगे। 'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।' विरक्त साधु पुण्य करके भी उसके फलरूप सुख को नहीं भोगना चाहता है। उसे भगवदर्पण कर देता है। नाममात्र के हुए झूठे पाप का भी दण्ड मांग लेता है। जैसे श्रीसदनजी ने हाथ कटवा लिए। भक्ति के आचरण से तीनों लोकों में प्रतिष्ठा बढ़ती है, परन्तु राजा ने कहा—'कटी नाक' जैसे श्रीकरमैतीजी के वृन्दावन चले आने पर उनके पिता ने आकर कहा कि 'कटी मेरी नाक।' इन्होंने उत्तर दिया—'कही तुम कटी नाक कटै जोपै होय कहूँ, नाक एक भक्ति नाक लोक में न पाइयै।' (कवित्त ५८९) उसी प्रकार राजा ने भी भक्ति के आचरण से नाक को कटी माना। संसारी लोग उलटा मानते हैं।

काहू बुधिवन्त—उपाय बताने वाले को बुद्धिमान कहा, परन्तु परमार्थ से दूर अभक्त की बुद्धिमत्ता मूर्खता सिद्ध हुई। जैसे दुर्वासा ने कालकृत्या से भक्त अम्बरीष को जलाना चाहा था, परन्तु भक्तापराध से चक्र उन्हें ही जलाने लगा। उसी तरह उपाय बताने वालों ने यह नहीं जाना कि सिंह हम लोगों को ही मार डालेगा। 'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परै सुरराया।।' (रा०) शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड और अमर्क ने श्रीप्रह्लादजी को मारनेके लिए कालकृत्या उपजाई। कालकृत्या ने प्रह्लाद को नहीं मारा, उलटे उन्हीं दोनोंको मार दिया। जितने प्रतिकूल हैं उन्हें भी सन्तजन अनुकूल ही मानते हैं। परिणाम में भक्त का हित हुआ और दुष्टों का अहित हुआ। रानी की भक्ति सच्ची जानी गई। राजा को भी भक्ति में तथा भक्तों में प्रेम हो गया अतः उसे बुधिवन्त कहा। 'सन्तनि प्रभाव मणि कोठरी की तारी हैं।' कवित्त ५५४ में सच्चे बुधिवन्त थे जिन्होंने राजा को और प्रेमसिंह को समझा-बुझाकर पिता-पुत्र के युद्ध को रोका। यहाँ सिंह से मरवाने की सलाह देने वाले सही अर्थों में बुधिवन्त नहीं थे। 'सबनि सुहाई' से जनाया कि सभी सलाहकार चापलूस थे। उन्होंने जानते हुए यह नहीं कहा कि—भक्त-पुत्र को हिरण्यकशिपु ने मरवाना चाहा तो स्वयं मारा गया। एक तो स्त्री दूसरे भक्ता अतः मरवाना ठीक नहीं है।

कहीं सिंह जू निहारियै—रानी मन्दिर में श्रीठाकुरजी की सेवा कर रही थी और दासी द्वार पर थी। उसने सिंह को देखा तो उससे भयभीत नहीं हुई। सिंह के समीप आने पर मुख से शब्द निकलना कठिन हो जाता है। पर दासी न तो भागी और न घबराई। उसने स्वयं श्रीनृसिंह का दर्शन कर रानी से कहा 'सिंहजू' अर्थात् नृसिंहजी पधारे हैं। 'निहारियै' अर्थात् दर्शन कीजिये। दासी यदि डरी होती तो रानी से भागने-बचने को कहती, 'निहारियै' ऐसा नहीं कहती। इससे दासी और रानी के भाव में एकता सिद्ध हुई।

करै हरि सेवा भरि रङ्ग अनुराग दृग, सुनी यह बात नेकु नैन उन टारे हैं।
भाव ही सों जाने उठि अति सनमाने, अहो ! आज मेरे भाग श्रीनृसिंहजू पधारे हैं॥
भावना सचाई वही सोभा लै दिखाई, फूल माल पहिराई रचि टीकौ लागै प्यारे हैं।
भौन ते निकसि धाये मानौ खम्भ फारि आये, विमुख समूह ततकाल मारि डारे हैं॥५५६

भावार्थ—जिस समय सिंह आया, उस समय अनुराग रंग में भरी रानी भगवान की सेवा कर रही थीं। उनके नेत्रों से अनुराग की वर्षा हो रही थी। सिंहजू का शुभागमन सुनकर रानी ने थोड़ी दृष्टि घुमाकर उधर देखा। रानी ने प्रेमभाव से पहचाना और उठकर उनका आदर करते हुए कहा—'अहो! धन्य है, आज मेरे बड़े भाग्य हैं जो मेरे घर पर मुझे दर्शन देने के लिए श्रीनृसिंह भगवान पधारे हैं।' रानी की सच्ची भावना थी, अतः भगवान ने अपनी उसी नृसिंह रूप की शोभा का दर्शन कराया। रानी ने फूलों की माला पहनाई और सँवार कर तिलक लगाया (आरती की)। उसके बाद सप्रेम दर्शन किया तो चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीनृसिंहजी की शोभा अत्यन्त प्रिय लगी। रानी की पूजा स्वीकार करके श्रीनृसिंह भगवान रानी के घर से निकले, मानो खम्भ फाड़कर बाहर निकले हों। तत्काल उन्होंने (हिरण्यकशिपु के समान) विमुखों के समूह को मार डाला॥५५६॥

व्याख्या—श्रीनृसिंह जू पधारे हैं—जैसे श्रीकृष्णदासजी पयहारीजी की (क० ६१३) गुफा पर सिंह आया तो उन्होंने उसे ईश्वररूप अतिथि माना और उसे भोजन दिया। उसी प्रकार श्रीरत्नावतीजी ने विचारा कि मेरे बड़े भाग्य से प्रभु पधारे हैं। प्रेमभाव में मग्न भक्त के सामने भगवान के अतिरिक्त और कोई आ ही नहीं सकता है। 'भावना सचाई'—मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥ अर्थ—मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी औषधि और गुरुदेव में जिसकी जैसी भावना होती है, उसको उसी प्रकार की सिद्धि मिलती है अर्थात् वहाँ उसको उसी प्रकार के दर्शन होते हैं। श्रीमीराकी भावना से विष, अमृत और सर्प, शालग्राम भगवान हो गये। श्रीनामदेवजी को कुत्ता, अग्नि

और प्रेत में भगवान के दर्शन हुए। श्रीविभीषणजी ने नरको रामरूप माना। श्रद्धालुजन वानर में हनुमानजी और कछुआ-मछली में भगवानको मानकर उनका समादर करते हैं। रानी को भगवान प्रिय लगे, जैसे माता को पुत्र।

भौन ते निकसि धाये—पुरानी टिप्पणी में लिखा है कि रानी के स्वागत को स्वीकार कर भगवान ने पूंछ हिलाई, प्रसन्नता व्यक्त की, पुनः पूंछ हिलाकर प्रभु ने चेष्टा द्वारा सूक्ष्म रूप से यह कहा कि मैं सब दुष्ट-विमुखों को मारूँगा। यहाँ सूक्ष्म-अलंकार है। 'चेष्टैरनुमेयोऽर्थः सूक्ष्म इत्यभिधीयते।' जहाँ अनुमान करने योग्य चेष्टा हो, तो उसे सूक्ष्मालंकार करते हैं। जैसे—कान्तमायान्तमालोक्य, गता गुरुजनान्तिकम्। करे कलितमम्भोजं सङ्कोचयति सुन्दरी। अर्थ—एकदिन श्रीराधारानी अपने पिता चाचा आदि के समीप खड़ी थीं, तो उसी समय उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को आया देखा। प्रकट वाणी से कुछ न कहकर अपने हाथ के कमल-पुष्प को संकुचित कर दिया उससे यह भाव प्रकट हुआ कि कमल संकुचित होने पर रात्रि में मिलन होगा। श्रीकृष्ण भगवान समझ गये। पुनः एकबार श्रीराधाजी को मान हुआ। श्रीकृष्ण हार गये नहीं मना सके। तब एक सखी मनाने चलीं।

बांसुरी के बीच एक भौंर डारि लाई सखी, मूंदौ पट पल्लव लै बुधि बल भारी सों।
भनत पुराण यामें आपुही सों सुनि होत, कान दैके सुनौ कह्यौ राधा सुकुमारी सों।।
रीझि रीझि बार बार मन में मगन भई, आपु तन चाहि सुख ढांप्यौ स्याम सारी सों।
आंचर में गांठि दै विहँसि उठि चली आली, प्यारी कह्यौ आजु इहां रहिये हमारी सों।।

श्रीकिशोरीजी के पास जब वंशी पहुँची, तो उसने दूती का कार्य किया। शब्द श्रीकृष्ण की प्रार्थना बन गया। यह मुरली प्यारे के अधरामृत का पान करने वाली है, ऐसा मानकर सापत्न्य भाव आया और प्रियतमके अधरामृत के लोभ ने मान को दूर कर दिया। इसी बीच कुञ्ज द्वार पर भगवान श्रीकृष्ण आ गये। उन्हें देखकर श्रीस्वामिनीजी ने नीली साड़ी से मुख ढक लिया और अञ्चल में गाँठ लगा ली। इसके बाद वे उठकर चली गईं। इन चेष्टाओं में सूक्ष्मालंकार है। नीली साड़ी से मुख ढककर जनाया कि रात में शयन के समय पधारो। अञ्चल में गाँठ देकर सूचित किया कि मेरी शपथपूर्वक बात को गाँठ बाँध लो और आज रात में मेरी कुञ्ज में निवास करना। इसी प्रकार नृसिंहजी ने पूंछ हिलाकर कहा कि मैं इस बात को सत्य करूँगा कि—'जो अपराध भक्तकर करई। राम रोष पावक सो जरई।' मेरे क्रोध में दुष्ट जलेंगे। रानी ने भगवान के विचार को समझकर प्रार्थना की—'प्रभो! आप करुणामय हैं, आपके दण्ड में भी दया है, आप सभी का कल्याण करें।'

विमुख समूह तत्काल मारि डारे—श्रीनृसिंह भगवान भवन से निकसि धाये अर्थात् सन्त-निवाससे निकलकर महान वेग से चले, बड़े जोर से उन्होंने गर्जन किया। बाहर द्वार पर पिंजड़े को लोगों ने अड़ा रक्खा था। उसमें बन्द करना चाहते थे परन्तु ये पिंजड़ेमें नहीं गये। वहाँ विमुखों का जितना समूह था, सबको क्षणमात्र में चीड़-फाड़कर मार डाला। राजा बंगलें में बैठा था, उसकी ओर हुँकार और गर्जन करके उसे भयभीत किया। मारा इसलिए नहीं कि यह रत्नावतीजीके शरीर का स्वामी है और मैं उनके आत्मा का स्वामी हूँ। भविष्य में यह भी रानी का भक्त बनेगा अतः अबध्य है। नृसिंहावतार की तरह वात्सल्य और रौद्र रसमयी लीला करके भगवान अन्तर्धान हो गये 'तत्काल मारि डारे है' ऐसा कहकर ईश्वरता प्रमाणित की। उपस्थित लोग अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, पर उन्हें चला न सके। उसका कारण यह है कि क्षणमात्र में मार दिये। निशाना नहीं लगा सके क्योंकि लक्ष्य स्थिर न था। बिजली के वेग से प्रभु ने कार्य किया। उन्हें मारते किसी ने नहीं देखा। झुण्ड के झुण्ड मृतक दिखाई पड़े।

भूप कौं खबरि भई रानी जू की सुधि लई, सुनी नीकी भाँति आप नम्र ह्वैके आये हैं।
भूमि पर साष्टांग करी हरी मति, भई दया आप आय वाके वचन सुनाये हैं।।
करत प्रनाम राजा बोली अजू लाज जू, कौं नैकु फिरि देखौ एक ओर ये लगाये हैं।
बोल्यो नृप राज धन सबही तिहारो धारौ, पति पै न लोभ कही करौ सुख भाये हैं।।५५७

भावार्थ—राजाको रानी का समाचार मिला, लोगों ने बताया कि—'रानी ने सिंह का पूजन किया, शान्त-भाव से पूजन स्वीकार कर वह वहाँ से निकला और सैकड़ों लोगों को मारकर जाने कहाँ गया। राजाने सब बातें ध्यानपूर्वक सुनीं, फिर वह अत्यन्त नम्र होकर रानी के पास आया। रानी की भक्ति के प्रभाव से राजा की बुद्धि बदल गई, विभोर हो गई थी अतः भूमि पर पड़कर उसने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। इन्हें प्रणाम करते देखकर दासी के मन में दया भर गई और उसने रानी को सुनाकर कहा—'देखो, राजा महाराज प्रणाम कर रहे हैं।' रानी ने कहा—'ठीक है, राजा लालजी को प्रणाम कर रहे हैं।' फिर दासी ने आग्रह करते हुए कहा—'आप थोड़ा राजा की ओर घूमकर देखें।' रानी ने कहा—'ये आँखें एक ओर लगी हैं, अब दूसरी ओर नहीं जा सकतीं।' राजाने कहा—'यह सम्पूर्ण राज्य और धन आपका ही है, आप इसे स्वीकार कर सेवा में लें।' अब रानी को पति में या उनकी सम्पत्ति में लोभ नहीं रह गया था अतः उसने कहा—राज्यसुख को आप भोगें, हमारी सम्पत्ति और सुख हमारे लालजी हैं अब यही हमको प्रिय लगते हैं।।५५७।।

व्याख्या—भूप कौं खबरि०—राजा मन में सोच रहे थे कि मरते ही रानी का अमुक विधिसे अमुक स्थान पर संस्कार करा दूँगा। फिर रानी के शील-स्वभाव की याद आती तो दुःख होता कि रानी मारी जायगी। लौकिक मर्यादा का ध्यान आता तो मार डालना ही ठीक जँचता। इसी प्रकार सोचते-विचारते राजा सिंह गर्जन और घुड़की से घबड़ाया और उसने देखा कि लोगों को सिंह ने मार डाला। तब सिपाहियों को बुलाकर पूछा कि—रानी और दासी दोनों को मारा कि एक को? लोगों ने कहा—दोनों में से एक भी नहीं मरी। पूजनादि का समाचार सुनकर राजा को ज्ञान हो गया कि रानी की भक्ति विशुद्ध और सच्ची है। राजा भी भक्त-वंशका था। भक्तों के साथ सम्पर्क था अतः क्षण-भर में ही उसे वास्तविकता का बोध हो गया। अपना अपराध मानकर उसे क्षमा कराने और अपनी सेवा समर्पित करने के विचार से राजा नम्र होकर आया।

साष्टाङ्ग करी हरी मति—जैसे श्रीमधुकरशाहजी ने अपनी रानी गणेशदेई में अपने से विशिष्ट भगवत्प्रेम देखा, तो उनकी परिक्रमा की और पृथ्वी पर पड़ करके उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम किया। (क० ४१७-४१८ तृतीयखण्ड पृष्ठ ३२० में पूरा चरित्र देखिये) उसी प्रकार यहाँ भी राजा ने रानी को। जिसमें भक्ति है, वही बड़ा और वन्दनीय है। 'हरी मति' के कई प्रभाव हैं—राजा की बुद्धि भगवान में लग गई। हरी मति अर्थात् बुद्धि पंगु हो गई, राजा देख-सुनकर दंग था। पुनः रानी में राजा की बुद्धि लग गई। राजा की बुद्धि अब तक भक्तिहीन, नीरस एवं सूखी थी, अब भक्तियुक्त, सरस एवं हरी हो गई। चमत्कार को देखकर नमस्कार किया और नमस्कार करते ही बुद्धि भगवान में लग गई। रानी ने फिर कभी राजा को कहलवा दिया कि अब मैं भगवत्शरण में हो गई हूँ। मेरी चिन्ता छोड़ दो और 'करौ सुख भाये' इच्छानुसार लोक के सुख भोगो। दूसरा ब्याह कर लो। परन्तु राजा ने दूसरा ब्याह नहीं किया। इसके बाद पिता-पुत्र में भी परस्पर बड़ा प्रेम हो गया।

राजा मानसिंह माधौसिंह उभै भाई चढ़े, नाव पर कहूं तहाँ बूड़िवे कों भई है।
बोल्यौ बड़ौ भ्राता अब कीजिये जतन कौन? भौन तिया भक्त कहि छोटे सुधि दई है।।
नेकु ध्यान कियौ तब आनिकै किनारौ लियौ, हियौ हुलसायौ जेठ चाह नई लई है।
कर्‌यौ आय दरसन बिनै करि गयौ भूप अति ही अनूप कथा हिये व्यापि गई है।।५५८

भावार्थ—एकबार राजा मानसिंह जी और माधवसिंहजी दोनों भाई कहीं नाव पर चढ़कर यात्रा कर रहे थे। दैववश नाव डूबने लगी। बड़े भाई मानसिंहजी ने अपने छोटे भाई माधवसिंह से कहा—'अब बचने का कौन सा उपाय किया जाय?' माधवसिंहजी ने कहा—'अपने

घर में रानी भगवान की बड़ी भक्त है, ऐसे समय में उसी का स्मरण किया जाय।' फिर दोनों भाइयों ने रानी श्रीरत्नावती का ध्यान किया। उसका ऐसा अद्‌भुत प्रभाव हुआ कि नाव संकट से बचकर किनारे पर लग गई। इससे दोनों भाइयों के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। मानसिंह के मन में नई अभिलाषा उत्पन्न हुई कि—'भक्ता रानी का दर्शन करना चाहिए।' तदनुसार भाई सहित मानसिंह ने आकर रानी का एवं उनके श्रीठाकुरजी का दर्शन किया और विनती की। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि रानी श्रीरत्नावतीजी की सुन्दर कथा मेरे हृदय में व्याप्त हो गई।।५५८।।

व्याख्या—नाव पर कहूं—दोनों भाई काबुल की लड़ाई पर गये थे विजय प्राप्तकर लौटते समय अटक नदी को पार कर रहे थे। नाव डूबने लगी तो उसके कर्णधार ने सबको सुनाकर कह दिया कि 'अब हमारा वश नहीं है। आप लोग अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कीजिये, तो उस दैवबल से नाव बच सकती है।' यह सुनकर श्रीमानसिंहजी ने श्रीमाधवसिंहजी से कहा—'बताओ, अब क्या करना चाहिए।' श्रीमाधवसिंहजी ने कहा—'भौन तिया भक्त' यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि स्त्री भी ऐसी भक्ता हो सकती है क्या? तब पुनः माधवसिंहजी ने कहा—'कह नर कह नारी कहा भक्ति आदरहि जोय। तिहि सुमिरत संकट विकट छार छार सब होय।। जैसे श्रीशबरीजी ने पम्पासर को पवित्र किया था। उसी प्रकार हमारे कुल को पवित्र करने वाली आपकी कुलवधू भक्ता रानी रत्नावती है। उसी का ध्यान कीजिये। तब दोनों ने 'नेकु ध्यान कियौ' सम्पूर्ण एवं सम्यक् ध्यान नही किया। इससे लोक-मर्यादा की रक्षा हुई। मानसिंहजी रानी के ज्येष्ठ लगते हैं। पुनः भक्त ध्यान की विशेषता दिखाई कि—स्थिर मन से सांगोपांगपूर्ण भगवद् ध्यान फलदायी होता है। यहाँ किञ्चित भक्त के ध्यान ने महान् संकट को दूरकर दिया। इससे मूल-मंगलाचरण 'इनके पद वन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक।' यह वाक्य चरितार्थ हुआ। भक्तपद वन्दन भी भगवत् पद वन्दन के समान सर्व विघ्न नाशक हैं, यह सिद्ध हुआ। श्रीअग्रदेव के स्मरण से सौदागर की नाव बची। (क० १० देखिये)

हियौ हुलसायौ—प्राण बच गये इसलिए प्रसन्नता हुई, पुनः दूसरा कारण यह कि मेरे कुल में ऐसी भक्ता है, तो उसके प्रताप से हम लोग भवसागर को भी पारकर लेंगे। यह जानकर हियौ हुलसायौ। नदी पार करके किनारे पर बैठे तो मानसिंहजी बोले कि—'अब तो बड़ी भूख लगी है, यहाँ पास में भोजन का कुछ प्रबन्ध नहीं है, क्या किया जाय?' तब माधोसिंह ने कहा—'पुनः रानी का ध्यान कीजिये।' फिर ध्यान करने लगे, तो श्रीरत्नावतीजी

की कृपा से उसी क्षण एक ब्राह्मण द्वारा दो पत्तल (पूड़ी, साग, हलुवा और भुंजिया) आ गये। भगवत्प्रसाद पाकर 'हियौ हुलसायौ'। नदी में डूबने से बचना, भोजन मिलना कोई बड़ी बात नहीं है। सच्चे-भक्त का आश्रय लेकर तो बड़े से बड़े पापी भवसागर पार ही नहीं हो जाते हैं, बल्कि भगवान और उनकी भक्ति को भी प्राप्तकर लेते हैं।

जेठ, चाह नई लई—ज्येष्ठ के लिए बहू दर्शनीया नहीं है, पर उसे भक्त मानकर, चमत्कार का अनुभव कर उसमें श्रद्धा हुई, दर्शन की लालसा तीव्र हुई। तब 'कर्‌यौ आय दरसन' दर्शनों से श्रद्धा-भक्ति और बढ़ी तब राजा ने संतों की और श्रीठाकुरजी की विशेष सेवा की फिर 'बिनै करि गयौ' अर्थात् राजा ने विनती की कि हम भक्त-भगवत् प्रताप से अनभिज्ञ थे, अतः श्रद्धाहीन थे। यह अपराध क्षमा हो। इसके बाद राजा आमेर से दिल्ली को गये। बादशाह ने पूछा—संग्राम में विजय प्राप्त करके दूसरे सैनिकों को आपने दिल्ली भेज दिया और स्वयं सेनापति आप आमेर को क्यों चले गये? मुझसे मिलकर जाना चाहिए था। अकबर की यह बात सुनकर राजा ने सब वृत्तान्त निवेदन किया। जिसे सुनकर बादशाह ने कहा कि मुझे भी दर्शन करावो, जिससे मेरा भी कल्याण हो तब राजा ने कहा कि दर्शन चार प्रकार के होते हैं? १-प्रत्यक्ष, २-मूर्त्ति या चित्र, ३-स्वप्न और ४-ध्यान। इनमें प्रत्यक्ष आदि दर्शन असम्भव है। चित्र-दर्शन सम्भव है। ऐसा कहकर राजा ने श्रीरत्नावती का चित्र मँगवा दिया। बादशाह ने उसे अपने पूजा-गृह में रख लिया।

अति ही अनूप कथा—सभी भक्तों की कथायें अनूप हैं और श्रीरत्नावतीजी की कथा अति ही अनूप है। अर्थात् सब प्रकार से अति सुन्दर है। इसकी उपमा किसी दूसरे से नही दी जा सकती है। इनका चरित्र आदि से अंत तक विशुद्ध प्रेम से परिपूर्ण है। श्रीरत्नावतीजी की भक्ति का श्रीगणेश दासी के मुख से भगवन्नामों को सुनकर हुआ। नामोच्चारण होते ही अश्रु आवें तो रसरूपा भक्ति जानना चाहिए—'वृन्दावनचन्द्र कहि आँखैं भरि पानियें'। (क० ५४२) इसका हेतु रागी साधु-कृपा है। दासी के इस रूप ने रानी को भी अपना-सा बनाया। 'जलजात दृग भरे हैं।' (क० ५४४) 'युगल किशोर गावैं नैंनन बहावैं नीर।' रानी पर भी रागी साधु की कृपा हुई लज्जा-मर्यादा तृणवत् छूट गई। 'चली दृग धार सों परोसिकै जिमाये हैं।' (क० ५४९) 'भरि रंग अनुराग दृग।' (५५६) सर्वत्र रसरूपा भक्ति है अतः यह अति अनूप कथा है। दासी और पुत्र से प्रेम की शिक्षा और उसमें दृढ़ता ली, यह भी एक विशेषता है। अन्यथा अपने से बड़ों के द्वारा दी गई शिक्षा को लोग ग्रहण करते हैं। सन्त में भगवद् दर्शन, सन्तों के बीच में दर्शन, श्रीमूर्ति में दर्शन, स्वप्न में दर्शन, ध्यान में दर्शन,

हिंसक भयंकर सिंह में दर्शन मिले। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।' (गी० ७-१९) सब कुछ वासुदेव ही हैं, ऐसा सहज बोध जिसे है, वह महात्मा दुर्लभ हैं। सिंह में वासुदेव दिखाई पड़े यह अनन्य अनुराग का फल है। स्वयं भक्ता बनी, अपने पुत्र, पति, ज्येष्ठ एवं समग्र प्रजा-राजा अकबर तक को भक्त बनाया। यह चरित्र की अति अनूपता है। स्वयं आपने पति लोक-लज्जा आदि का त्याग किया, परन्तु दूसरी स्त्रियों के ऐसे त्याग पर निषेध लागू कर दिया। मेरी तरह पति आदि को वही स्त्री त्याग कर सकती है जो हिंसक भयंकर सिंह, नृसिंहका प्रत्यक्ष पूजन करे। इन्हीं सब विशेषताओं को स्मरण कर श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि यह अति ही अनूप कथा सभी प्रेमी श्रोता-वक्ताओं के तथा मेरे हृदय में व्याप्त हो गई है।

* श्रीजगन्नाथपारीषजी *

पारीष प्रसिद्ध कुल कांथडया जगन्नाथ सीवां धरम।।
(श्री) रामानुज की रीति प्रीति पन हिरदै धारयो।
संस्कार सम तत्त्व हंस ज्यौं बुद्धि विचारयो।।
सदाचार मुनि वृत्ति इन्दिरा पधति उजागर।
रामदास सुत सन्त अनन्य दसधा कौ आगर।।
पुरुषोत्तम परसाद तें उभै अङ्ग पहिरयौ वरम।
पारीष प्रसिद्ध कुल कांथडया जगन्नाथ सीवां धरम।।१४३।।

शब्दार्थ—संस्कार=शुद्धिकरण, पूर्वजन्म की वासना, वैष्णवों के पाँच संस्कार। सम तत्व=समान व्याप्त भगवत्तत्व, समता का भाव। मुनि वृत्ति=सन्त-स्वभाव। इन्दिरा=लक्ष्मी। उभै अङ्ग=दोनों स्थूल एवं भाव शरीर। वरम=कवच, अंग रक्षक।

भावार्थ—परम प्रसिद्ध कांथडया गोत्रमें श्रीरामदासजी के पुत्र श्रीजगन्नाथ पारीखजी वैष्णव धर्म की सीमा थे। श्रीरामानुजाचार्यजी के द्वारा संस्थापित भक्ति की रीति के अनुसार आपने भगवान से प्रेम करने के दृढ़ व्रत को अपने हृदय में धारण किया। आप वैष्णवीय संस्कार से युक्त थे। नीर-क्षीर विवेकी हंस की तरह समान रूप से व्याप्त भगवत्तत्व को आपने अपनी बुद्धि में धारण किया। आपका सात्विक स्वभाव एवं आचार-विचार मुनियों का-सा था, आप लक्ष्मी सम्प्रदाय में चमकते हुए प्रसिद्ध सन्त थे और प्रेमाभक्ति के अनन्य

उपासक थे। गुरुदेव श्रीपुरुषोत्तमाचार्य की कृपा से आपने स्थूल शरीर पर लोहे का और भाव शरीर पर आध्यात्मिकता का कवच धारण किया। इस प्रकार आपके दोनों शरीर सदा सुरक्षित रहे अतः वैष्णवधर्म की सभी मर्यादाओं का पालन करने में आप समर्थ हुए।।१४३।।

व्याख्या—पारीष-कांथडया—परीक्षक, न्यायकारी और जाँच करने वाले को पारीष, पारीख, पारीक, परीक कहते हैं। हीरा-जवाहरात आदि के परीक्षक वैश्य कुल में भी यह शब्द प्रचलित है। छात्रों की परीक्षा लेने वाले ब्राह्मणों के वंशमें भी पारीष होते हैं। कांथडया यह ब्राह्मणों का गोत्र है। इसी में श्रीकरमैतीजी का जन्म हुआ था। 'निर्मलकुल कांथडया धन्य परसा जिहिं जाई।' राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में पारीख ब्राह्मण एवं वैश्य पाये जाते हैं। 'सीवांधरम' का भाव यह कि परमधर्म के दृढ़ उपासक थे।

रामानुज की रीति प्रीति०—श्रीसम्प्रदाय का मत है कि ज्ञान, ध्यान, उपासना आदि शब्दों का पर्यवसान भक्ति विशेष में ही है। प्रेम-मिश्रित ध्यान ही भक्ति है। 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।' स्नेहपूर्वक बार-बार ध्यान को ही विवेकीजन भक्ति कहते हैं। कर्म, ज्ञान, उपासना और शरणागति ये चार मुक्ति के साधन हैं। उनमें कर्म और ज्ञान भक्ति द्वारा मुक्ति में हेतु हैं। इसलिए कर्म को अंग और भक्ति को अंगी कहते हैं। भक्ति का सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्तिसे है। भगवान की प्राप्ति में भगवान ही साधन हैं, इस प्रकार की जो स्थिर बुद्धि है उसे ही साध्य-भक्ति और प्रपत्ति कहते हैं। ईश्वरीय अनुकम्पा प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ और सरल उपाय यही है। इसी को शरणागति कहते हैं। शरणागत को निम्नलिखित प्रकार से प्रार्थना करनी चाहिए।

पितरं मातरं दारान्पुत्रान्बधून्सखीन्गुरुन्। रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च।।
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्। लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो।।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्नराशि, धन, धान्य, खेत और मोक्षपद सहित सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागकर समस्त ब्रह्माण्ड को आक्रान्त करने वाले आपके दोनों चरणों की शरण में आया हूँ।

मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधनकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय। (शरणागतिगद्यम्)

अर्थ—जो मेरे अनादि कर्मों के प्रवाह रूप में चली आ रही है, जो मुझसे भगवान के स्वरूप को छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञानकी जननी है, जो अपने विषय में भोग्यबुद्धि

को उत्पन्न करने वाली है, जो देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्म रूप से स्थित रहने वाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी माया से मुझ दीनदास का आप उद्धार कीजिये। मैं आपका दास हूँ, किंकर हूँ और आपकी शरण में आया हूँ। हे भगवन्! मन, वाणी और शरीर के द्वारा अनादि काल से अनेकों न करने योग्य कर्मों का करना, करने योग्य कर्मों का न करना, भगवान का अपराध, भगवद्भक्तों का अपराध तथा और भी जो अक्षम्य अनाचार रूप नाना प्रकार के अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो प्रारब्ध बन चुके हैं अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं, उन सभी पापों का तथा जिन्हें कर चुका हूँ, जिन्हें कर रहा हूँ और जिन्हें अभी करने वाला हूँ, उन सबको आप क्षमा कर दीजिये।

श्रीवेदान्तदेशिक ने अधिकार संग्रह में लिखा है कि—'प्रपन्नादन्येषां न दिशतिमुकुन्दो निजपदम्।' अर्थात् प्रपन्नों को छोड़कर अन्य लोगों को भगवान मुक्ति नहीं देते हैं अतः प्रभु शरण में जाना ही जीवन का कर्त्तव्य है। (विशेष देखिये षड्विधा शरणागति पूर्वार्द्ध पृष्ठ २२१) श्रीवैष्णव अपने समय को पाँच भागों में बाँटकर निरन्तर भगवदुपासना में लगे रहते हैं। १-अभिगमनकाल-कर्मणा-मनसा-वाचा-जप, ध्यान और अर्चन के द्वारा भगवान के सन्मुख रहना। २-उपदानकाल-पूजा के लिए फल-पुष्प और नैवेद्यादिका संग्रह करना। ३-इज्या-भगवद् विग्रह की सेवा करना। ४-अध्याय-भक्ति शास्त्रों का श्रवण, मनन, पठन-पाठन और उपदेश करना। ५-योग-अष्टांग योग का अनुष्ठान। इस प्रकार भक्ति और प्रपत्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर ही मुक्ति-वैकुण्ठ प्रदान करते हैं। यथा—'भक्ति प्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः सन्नीश्वर एवं मोक्षं ददाति।'

गीता—श्रीमद्भागवत-बाल्मीकि रामायण आदि में वर्णित शरणागति और उपासना को श्रीजगन्नाथ पारीखजी ने अपनाया, क्योंकि आचार्यपाद ने शास्त्रों की महिमा और कृपामय कहा है। यथा—'मातापितासभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रम्। पुनः-यथाभूतवादि हि शास्त्रम्। अर्थात् शास्त्र हमें इतना प्यार करता है, जितना हजारों माता-पिता नहीं कर सकते। पुनः-शास्त्र हमें वैसी बात बताता है, जैसी कि वह है। 'तवानुभूतिसम्भूत-प्रीति कारितदासताम्। देहि में कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा।।' (श्रीरामानुजवाक्यम्) हे नाथ ! कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये, मुझे अपनी दासता का दान दीजिये। कैसी दासता ? जो कि प्रीतिसे होती है। प्रेम जिसको करा लेता है। कैसा प्रेम ? आपके अनुभव से होने वाला। मैं अपार सौन्दर्य-माधुर्यमयी आपकी दिव्य श्रीमूर्तिका दर्शन एवं वात्सल्य आदि गुणों का अनुभव करूँ। आपकी ऐसी सेवा-भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता है।

संस्कार सम तत्व—तिलक, मुद्राछाप, नाम, माला, कण्ठी और मन्त्र ये वैष्णवों के पाँच संस्कार हैं। यथा—'पुण्ड्रं' मुद्रा तथा नाम माला मन्त्राश्च पञ्चमः। अमीहि पञ्च संस्काराः परमैकान्त हेतवः।।' ये वैष्णवता के हेतु हैं। जैसे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्व सृष्टि के कारण हैं, इनके बिना सृष्टि नहीं हो सकती, उसी तरह पञ्च-संस्कारों के बिना वैष्णवता सम्भव नहीं। ऐसा मानकर श्रीपारीषजी पञ्च-संस्कारों को अनिवार्य बताते थे। पुनः आप पूर्वजन्म के भक्त थे, आपके संस्कार ऐसे थे कि आप समान रूप से सर्वत्र व्याप्त ईश्वर तत्व के अनुभवी हो गये।

हंस ज्यौं बुद्धि विचारी—मिले हुए दूध और जल को अलग करने वाला, सारतत्व दुग्ध को ग्रहणकर असारतत्व नीर को त्यागने वाला पक्षी हंस प्रसिद्ध है। ज्ञानी भक्तजन सत् और असत् का विवेचन करते हैं, असत् को त्यागकर सत् को ग्रहण करते हैं। श्रीपारीषजी हंस के समान बुद्धिमान और विवेकी थे अतः मिश्रित सत्-असत् का अलगाव कर सके। तात्पर्य यह है कि आपने ऐसा उपदेश दिया कि लोग मिथ्या माया-मोह से मुख को मोड़कर भगवत् सन्मुख हो गये। एक अन्योक्ति है—'नीरक्षीर विवेकेः हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्। विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं धारयिष्यति कः।।'

अर्थ—हे हंस ! नीर और क्षीर का विवेक करने में यदि तुम आलस्य करोगे और नीर-क्षीर का विवेक नहीं करोगे तो फिर इस समय इस संसार में अपने कुलधर्म के व्रत को कौन धारण करेगा अर्थात् कोई नहीं। तात्पर्य यह कि यदि साधु-सन्त अपने विवेक से स्वयं कुमार्ग को त्यागकर सन्मार्ग का ग्रहण न कर सके, जनता को उपदेश न दे सके, तो फिर संसार में कौन ऐसा है जो इस कार्य को करेगा। श्रीपारीषजी ने अपने विवेक से स्वयं लाभ तो उठाया ही दूसरों को भी लाभ पहुँचाया।

सदाचार—सतां सज्जनानां आचारः-सदाचारः। सज्जनों के आचार का नाम सदाचार है अथवा सत् परमात्मा को पाने के लिए शास्त्र-सम्मत सज्जनों के आचरण को सदाचार कहते हैं। सत्+आचार=सदाचार का अर्थ, उत्तम आचरण, अच्छा व्यवहार। हारीत स्मृति में १३ भेद कहे हैं। १-ब्राह्मणों में भक्ति, २-देव-पितृ भक्ति, ३-सौम्यता, ४-दूसरों को न सताना, ५-दूसरे की निन्दा या उससे द्वेष न करना, ६-कोमलता, ७-कठोर न होना, ८-शरणागत की रक्षा, ९-मैत्री, १०-मधुर भाषण, ११-कृतज्ञता, १२-कारुण्य, १३-पूर्णशान्ति। आचारः प्रथमो धर्मः अर्थात् सदाचार ही प्रथम धर्म है।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्। आचाराल्लभते कीर्ति पुरुषः प्रेत्य चेह च।।
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्भवेत्। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च।।
आचारात् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्।।

अर्थ—आदिराज मनु कहते हैं—सदाचार पालन करने से आयु तथा कान्ति की प्राप्ति होती है। सदाचारी लोक और परलोक में कीर्ति प्राप्त करता है। यदि कोई विशेष गुण न भी हो, परन्तु असूयारहित और भगवदीय विधान में श्रद्धालु है तथा सदाचारी है, तो वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। दुराचारी पुरुष समाज में निन्दित दुःख का भागी, व्याधि युक्त और अल्पायु भी होता है। सदाचार से हीन ब्राह्मण वेद में कहे फल को नहीं पाता है। पर यदि वह सदाचारी हो तो उसे सम्पूर्ण फल मिलता है। इसी से सन्तजन स्वयं सदाचारी होते हैं, दूसरों को भी सदाचार की शिक्षा देते हैं।

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्य दोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम्।। (महाभारत)

अर्थ—काम, क्रोध, लोभ, मोह, असन्तोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा ये बारह दोष सदाचार के बाधक हैं, इनका सदा त्याग करना चाहिए। जैसे व्याध मौका देखकर मृगों को मारता है, वैसे ही इनमें से एक-एक दोष मौका पाकर आक्रमण कर देते हैं।

मुनि वृत्ति—जो निवृत्ति मार्ग में स्थित, सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञाता काम-क्रोधादि से रहित, निष्क्रिय, ध्याननिष्ठ, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सोने को एक समान मानने वाला है, ऐसे ब्राह्मणों को मुनि कहते हैं। जैसे—निवृत्तः सर्व तत्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थे निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः।। (स्कन्द पु०) जीविका, व्यवहार, चित्त की विशेष अवस्था आदि ये वृत्ति के कई अर्थ यहाँ अभीष्ट हैं। श्रीपारीषजी मुनि थे, मुनियों की सी सात्विक जीविका से अपना निर्वाह करते थे, मुनियों का सा शुद्ध-भाव प्राणिमात्र के प्रति था। मुनि अपरिग्रही हाते हैं, राजसी-तामसी जीविका को स्वीकार नहीं करते हैं। इस पर दृष्टान्त शिलोञ्छवृति वाले ब्राह्मण का देखिये द्वि० खं० पृष्ठ ४९४। दूसरा—

दृष्टान्त—महापण्डित कैयटका—व्याकरण महाभाष्य के टीकाकार, संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्रीकैयटजी नगर और गाँव से दूर वन में फूंस की झोंपड़ी बनाकर रहते थे। कमण्डलु चटाई, पूजा-पाठ की सामग्री के अतिरिक्त कुटी में कुछ भी नहीं था। प्राचीन युग के गृहस्थ

ऋषि-मुनियों की तरह सारा समय-पूजा, अध्ययन-अध्यापन और ग्रन्थ-लेखन में बीतता था। उनकी पत्नी मूंज की रस्सी बनाकर बेच लाती, वन से फल-मूल आदि का संग्रह कर लाती, उसी से घर का काम चलता किसी से दान न लेने का प्रण था। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर काशी से कई विद्वान् इनके दर्शनार्थ काश्मीर आये। उन्होंने दर्शन किया और काश्मीर नरेश के पास जाकर कहा कि—'अपने राज्य में रहने वाले कैयटजी की जीविका का आप प्रबन्ध कीजिये।' राजा ने कहा—'मैं डरता हूँ कि ऐसा करने से वे रुष्ट होकर कहीं मेरा राज्य न छोड़ दें।' काशी के ब्राह्मणों ने आस्वासन दिया। राजा भूमि का दान-पत्र लेकर गये। ब्राह्मणों ने दान-पत्र कैयट को दिया। राजा की जैसी आंशका थी, वही हुआ। कैयटजी ने दान-पत्र फाड़कर फेंक दिया। चटाई समेटकर बगल में दबाई, कमण्डलु लेकर उठ खड़े हुए और पत्नी से बोले—'राजा धन-भूमिका लोभ दे रहे हैं, अब यह राज्य रहने योग्य नहीं है। मेरी पुस्तकें उठा लो और चलो।' काशी के ब्राह्मणों ने प्रार्थना करके क्षमा माँगी, राजा चरणों में गिर पड़ा और बोला—'विद्वान्' तपस्वी, ब्राह्मण कष्ट न पायें। यह देखना राजा का कर्त्तव्य है अतः कुछ सेवा करना चाहता था।' कैयटजी ने चटाई और कमण्डलु रख दिया। राजा से कहा—'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे राज्य में हम स्वधर्म पालन करें, वही तुम्हारा कर्तव्य है। अब तुम मेरे पास कभी मत आना और न किसी को भेजना मेरे स्वाध्याय में बाधा न पड़े, बस इतना ध्यान रक्खो, हमें किसी से किसी प्रकार की जीविका नहीं चाहिए।' किसी से दान न लेने वाले के तप-तेज और ज्ञान-भक्ति की वृद्धि होती है। दो०—'विषयी को जल अन्न लै खाये विषयी होय। काम क्रोध सर भर रहै भाजत भक्ति विगोय।।'

उभय अङ्ग पहिरयौ वरम—राजपुरोहित थे। अतः जब युद्ध में राजा के साथ उसकी रक्षार्थ जाते तो शरीर पर लोहे का कवच धारण करते थे। पश्चात् पुरोहिती त्याग कर भजन में लग गये। भगवान के नाम, सत्य, दया और क्षमा आदि के द्वारा स्थूल और भावमय शरीर की अन्दर-बाहर से रक्षा होती है। शारीरिक सुरक्षा के साथ-साथ मानसिक सुरक्षा भी आवश्यक है अतः उभै अङ्ग। पुनः—'कवच अभेद विप्रपद पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा।।' कवच धारण करके आपने मायिक संसार शत्रु को जीता। शारीरिक, मानसिक कवच से शरीर और अन्तःकरण को सुरक्षित रखकर उन्हें प्रभु की सेवा में लगाया। भगवत्सेवा में तन-मन को लगा देना ही उसकी सुरक्षा है। सभी आपत्तियों से भगवान के नाम, रूप, वाहन और आयुध रक्षा करें। हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रिय और प्राणों की प्रभु रक्षा करें। सर्वापद्भ्यो हरेर्नाम रूपयानायुधानिनः। बुद्धिन्द्रिय मनः प्राणान्पान्तु पार्षदभूषणाः।। (नाराण कवच) दोनों अङ्गों में आप कवच धारण कर सके, इसका हेतु 'पुरुषोत्तम

प्रसाद' अर्थात् गुरुदेव की कृपा है। जिस पर गुरु-कृपा है, उसके दोनों अंग सुरक्षित हैं।

विशेष—भक्तदाम गुणचित्रणी पृष्ठ ७६ में तीन कवित्तों में श्रीपारीषजी के दो चरित्रों का उल्लेख है। किसी स्थान पर पाँच-सात ब्राह्मण भगवान श्रीरामजी के उपासक थे, वे अपनी उपासना में तल्लीन थे। इसी बीच एक घोर शाक्त वहाँ पहुँचा और उसने वैष्णवीय उपासना का खण्डन कर दिया। वे ब्राह्मण उससे शास्त्रार्थ नहीं कर पाये। इसी समय दैवयोग से श्रीजगन्नाथजी पारीष वहाँ पहुँच गये। उन्होंने उससे शास्त्रार्थ करके उसे हरा दिया और श्रीरामोपासना का समर्थन किया। इससे वे ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु उस शाक्त को बहुत बुरा लगा। तब उसने मारण-शक्ति का प्रयोग किया। परन्तु इनके ऊपर कुछ भी प्रभाव उसका नहीं हुआ। उल्टे उस मारण विद्या-मूठ से स्वयं मरने लगा, तब श्रीपारीषजी को दया आ गई। उन्होंने उस शाक्तकी रक्षा की। इससे प्रभावित होकर उस शाक्त ने इनकी शरण ग्रहण की और राम-भक्त बन गया।

एक बार आप कहीं जा रहे थे, मार्ग में आपको कई ठग मिले और उन्होंने इन्हें लूटने-मारने का प्रयास किया। परन्तु आपका शरीर तो दिव्य कवच से सुरक्षित था अतः कुछ भी असर न हुआ। आपको यह भी पता न था कि हमारी गर्दन पर किसी ने तलवार मारी है। जब तलवारों के घाव से गर्दन नहीं कटी। कष्ट भी नहीं हुआ। तब वे समझ गये कि ये कोई दिव्य मनुष्य हैं अतः श्रीपारीषजी के चरणों में पड़कर क्षमा-प्रार्थना करने लगे। इन्होंने कहा कि हमारा कुछ भी आपने नहीं बिगाड़ा है। हम क्यों नाराज होंगे। इनकी इस मुनिवृत्ति को देखकर सभी दस्यु इनके शिष्य बन गये। चोरी आदि का उन्होंने त्याग कर दिया। इस प्रकार श्रीपारीषजी कुपात्रों को भी सुपात्र बनाने वाले हुए।

* श्रीमथुरादासजी *

कीरतन करत कर सुपनेहूँ मथुरादास न मांड़ियौ।।
सदाचार सन्तोष सुहृद सुठि सील सुभासै।
हस्तक दीपक उदय मेटि तम वस्तु प्रकासै।।
हरि कौ हिय विस्वास नन्द नन्दन बल भारी।
कृष्ण कलस सों नेम जगत जानै सिरधारी।।
(श्री) वर्द्धमान गुरु वचन रति सो संग्रह नहिं छांड़ियौ।
कीरतन करत कर सुपनेहूँ मथुरादास न मांड़ियौ।।१४४।।

शब्दार्थ—कर=छल, जादू, चेटक। सदाचार=सात्विक व्यवहार, उत्तम आचरण। सन्तोष=वह चित्तवृत्ति जिसमें वर्तमान दशा में पूर्ण सुख का अनुभव हो, तृप्ति। सुहृद=पवित्र हृदय वाला, मित्र। सुठि=सुन्दर। शील=उत्तम स्वभाव। सुभासैं=अच्छी तरह सुशोभित, प्रसिद्ध। हस्तक=हाथ का।

भावार्थ—श्रीमथुरादासजी सर्वदा भगवन्नाम का कीर्तन करते रहते थे। इसलिए इनके ऊपर तान्त्रिकों के मारण-मोहन आदि प्रयोग नहीं चले। आप में शुद्ध आचार, यथा—लाभ-सन्तोष, मैत्रीभाव, सुन्दर शील आदि सभी सद्गुण विशेष रूप से प्रकाशित थे। जिस प्रकार हाथ के दीपक से अंधकार मिट जाता है और वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार भगवत्तत्व ज्ञान के द्वारा आपका हृदय प्रकाशित था। आपके हृदय में प्रभु का विश्वास था, और उन्हीं का बल था। सभी लोग जानते हैं कि श्रीकृष्ण की सेवा के निमित्त जल का घड़ा आप अपने सिर पर रखकर बड़े नेम और प्रेम से लाते थे। आपको अपने गुरुदेव श्रीवर्द्धमानजी के वचनों में बड़ा प्रेम था। उनके उपदेशों का संग्रह एवं पालन करते थे। आपने गुरु-आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं किया।।१४४।।

व्याख्या—कीर्तन करत०—आगे टीका में वर्णित चेटकी का चेटक इनके सामने नहीं चला, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नामनिष्ठ के नामोच्चारण करते ही माया-कपट का नाश हो जाता है। 'कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू।।' (रा०) जागृत की कौन कहे स्वप्न में भी उसे माया मोहित नहीं कर पाती है, क्योंकि जागृत के महा-अभ्यास से वह स्वप्न में भी नाम के आश्रित रहता है। नाममें नामीके समान ही शक्ति है। 'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः।' (चैतन्याष्टक) नाम में अपनी सब प्रकार की शक्तियों को भगवान ने रख दिया है। अतः नाम का आश्रय लेने वाले सर्वत्र विजयी होते हैं। छप्पय के इस प्रथम चरण में आये 'कर' शब्द का अर्थ कई विद्वान् हाथ या शुल्क मानते हैं। उनके अनुसार इस चरण का अर्थ होगा कि—श्रीमथुरादासजी ने कीर्तन करके किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। पुनः—कीर्तन का (कर) अर्थात् शुल्क नहीं लिया। अपने तुच्छ स्वार्थ-लोभ के लिए कीर्तन न करके उसे परमार्थ के लिए किया। आपने स्वप्न में भी कुछ लेने की इच्छा नहीं की, क्योंकि आप स्वभाव से ही निष्काम थे। जिसका जैसा स्वभाव होता है, वह नहीं छूटता है। माँगने का जिसका स्वभाव है, वह जागृत में क्या स्वप्न में भी माँगता है।

सदाचार—सद् उत्तम आचरण से ही जाना जाता है कि ये साधु-संत हैं।

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः। आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किन्नु साध्यते।।१।।
साधवः क्षीण दोषाः स्युः सच्छब्द साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते।।२।।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः। आचारभ्रष्टदेहानां भवेद् धर्मः पराङ्मुखः।।३।।

अर्थ—आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचार से क्या सिद्ध नहीं होता है अर्थात् सारा स्वार्थ-परमार्थ सदाचार से सिद्ध हो जाता है। १-साधु लोग सर्वथा निर्दोष होते हैं। सदाचार में सत् शब्द शिष्ट-साधु का वाचक है, उनका जो आचरण है, वह ही सदाचार कहलाता है। २-(हारीतस्मृति) आचार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के धर्म का पहरेदार है। आचारहीन पुरुषों से धर्म दूर हो जाता है।। (पराशर)

आचार हीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड् भिरङ्गैः।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।।

अर्थ—छः अंगों के सहित पढ़े हुए वेद भी आचारहीन को पवित्र नहीं करते हैं और मृत्युकाल में उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पंख निकल आने पर पक्षी घोंसले को छोड़ देते हैं। तन-धन के नाश होने पर कुछ भी नहीं बिगड़ता है। परन्तु यदि आचार नष्ट हो गया। तो सर्वनाश हुआ समझिये। रावण विद्वान् और ब्राह्मण था पर आचारहीन होने से उसकी राक्षस संज्ञा हो गई। अनाचारी पराधीन होकर कारागार में डाल दिया जाता है। आचार से अपने गाँव, देश, कुल आदि की रक्षा होती है और उसके त्याग से अपने सहित सबका नाश होता है। इस पर—

दृष्टान्त—द्रोण और द्रुपद का—दोनों गुरुकुल में साथ-साथ पढ़ते थे। द्रुपद राजकुमार और द्रोण निर्धन ब्राह्मण के पुत्र थे। दोनों की मित्रता हो गई। द्रुपद ने कहा—जब मैं राजा बनूंगा तो आपका बड़ा सत्कार करूँगा। कालान्तर में द्रुपद राजा हो गये। द्रोणाचार्य निर्धनता में जीवन-यापन करते हुए तप करने लगे। कृपाचार्य की बहिन कृपी के साथ इनका ब्याह हो गया। अश्वत्थामा नामक एक पुत्र हुआ। शस्त्र और शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता होते हुए भी इतने निर्धन थे कि एक गाय भी इनके पास न थी। अश्वत्थामा ऋषि बालकों के मुख से दूध की महिमा सुनी तो आकर माता से मचल गया कि—मैं तो दूध पीऊँगा। माता ने बहुत समझाया पर बालक न माना तब उसने चावल के आटे को घोलकर दिया और कहा—लो, यह दूध है, इसे पीलो। इससे पहले बालक ने कभी दूध नहीं पिया था। अतः

आटे के जल को पीकर प्रसन्नता से नाचता हुआ आकर दूसरे बालकों से कहने लगा कि—मैं दूध पीकर आया हूँ। बच्चोंने तिरस्कार करके कहा कि—तुम्हारे यहाँ गाय तो है ही नहीं, फिर दूध कहाँ से पिया? अश्वत्थामा रोने लगा। इससे द्रोणाचार्य को बड़ा दुःख हुआ। तब उन्हें मित्र द्रुपद की याद आई। वे द्रुपद के राज-दरबार में पहुँचे और मित्र-मित्र कहकर मिलना चाहा। राजमद से भरे द्रुपद ने सहपाठी का तिरस्कार किया। सदाचार को भुलाकर बोला—रे दरिद्र ब्राह्मण ! गुरुकुल की बातको भूल जा। मैत्री बराबर वालों से होती है। तू निर्धन ब्राह्मण, मैं राजा, मेरी-तेरी मित्रता कैसी। तुझे सीधा लेना हो तो यज्ञशाला में जाकर ले ले। नहीं तो अपने घर की राह पकड़। द्रुपद ने अहंकारवश तिरस्कार किया।

दैवयोग से ब्राह्मण इस अपमान को सहन न कर सका। उसने सहिष्णुतारूप सदाचार का त्याग कर दिया। इस अपमान को सुधापान के समान मानकर सह लेना चाहिए था। सम्मान को विष के समान मानकर उसे पीने की इच्छा नहीं करनी चाहिए थी। असहिष्णुता से द्रोणाचार्य भीष्मपितामह के पास जाकर उनके आश्रित रहकर राजपुत्रों को पढ़ाने लगे। जबकि कुलपति के यहाँ जाकर गुरुकुल में निवास कर छात्रों को पढ़ना चाहिए। ऐसा प्राचीन नियम है। द्रोणाचार्य प्रतिक्रियाशील हो गये, अपने अपमान को भूले नहीं। द्रुपद से बदला लेने के लिए उन्होंने अपने शिष्यों से यही दक्षिणा माँगी कि तुम द्रुपद को जीवित पकड़कर लाओ। गुरुकी आज्ञा मानना शिष्य का कर्तव्य है, अनुचित, उचित का विचार आवश्यक नहीं है। 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया।' कौरव-पाण्डव सेना लेकर गये और परास्त कर पकड़ लाये। तब द्रोणाचार्य ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—'राजन् ! मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ।' लज्जित द्रुपद ने कहा—ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपका बन्दी हूँ, मित्रता की क्या बात? आचार्य द्रोणने उन्हें क्षमा नहीं किया। उनको आधे राज्य से वंचित कर दिया। यह ब्राह्मण सदाचार के विरुद्ध हुआ।

द्रुपद ने भी क्षमा नहीं किया, वह मारणतन्त्र का प्रयोग कर बदला लेने के विचार से सैकड़ों ब्राह्मणों के पास गया। किसी ने स्वीकार नहीं किया। तब अन्त में कर्मकाण्ड में प्रवीण शङ्ख के पास जाकर उसने अपनी बात कही। बहुत बड़ी दक्षिणा के लोभ में भी शङ्ख तैयार नहीं हुए। आग्रह को देखकर उन्होंने अपने भाई लिखित के पास राजा को भेजा। लिखित ने द्रुपद का आग्रह स्वीकार कर दक्षिणा के लोभ से ब्राह्मणोचित सदाचार को त्याग कर अभिचार (मारण) यज्ञ कराया। उसीसे धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति हुई जिसने द्रोणाचार्य का वध किया। उसी यज्ञ से द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो महाभारत का कारण बनीं। सदाचार के

परित्याग से महान् युद्ध हुआ। एक महान् आचार्य के सदाचार त्यागने पर असंख्य प्राणियों का संहार तथा स्वयं का भी वध हुआ। एक तपस्वी ऋषि की तरह प्राण त्यागकर द्रोणाचार्य ने उत्तम लोक को प्राप्त किया। सब कुछ भगवदिच्छा से हुआ। परन्तु सदाचार के त्याग का कुपरिणाम प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है अतः सन्त को सदाचार की रक्षा करनी चाहिए।

सन्तोष—बिना सन्तोष के कामनायें नष्ट नहीं होती हैं। अतः मनुष्य स्वप्न में भी सुख नहीं पाता है। 'बिन सन्तोष कि काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।।' असन्तोष की जिह्वा पराये अन्न से दूषित हो जाती है, हाथ दान लेने से कलंकित हो जाते हैं और मन पराई स्त्री के चिन्तन से क्षुब्ध हो जाता है अतः असन्तोषी को सिद्धि नहीं मिलती। यथा—'जिह्वा दग्धा परान्नेन, करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्। मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने।।' (शिवोक्तकुलार्णव) जहाँ सन्तोष नहीं है, वहाँ तृष्णा का साम्राज्य रहता है और 'यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।' (अष्टावक्रगीता) जहाँ तृष्णा है, वहीं दुःखमय संसार है। पुनः 'कोउ विश्राम कि पाव तात सहज सन्तोष बिनु। चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय।।' (रा०) सदाचारी, सन्तोषी, सुहृद, शीलवान होने से श्रीमथुरादासजी 'हस्तक दीपक उदय मेटि तम तत्व प्रकासै।।'अर्थात् दिव्यदृष्टि से युक्त थे, सत्य तत्व के दृष्टा थे।

हिय विश्वास—विश्वास के बिना भगवद्-भक्ति नहीं और उसके बिना इष्ट की कृपा नहीं होती है। 'बिनु विश्वास भगति नहीं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम।।' (रा०) विश्वासी के निकट सर्वदा भगवान का निवास रहता है। उसके सामने माया नहीं चलती है। इस पर—

दृष्टान्त—मुगल और सौदागरका—ईश्वर में विश्वास रखने वाले एक मुगल भक्त थे। वे परदेश जाने लगे तो दस हजार रुपये एक साहूकार के पास जमा कर गये। बहुत दिनों के बाद वापस लौटकर घर को आये। तब उन्होंने साहूकार से रुपये माँगे। साहूकार ने बात को भुलवा दिया और कहा—कैसे रुपये और किसके पास आपने कब रक्खे थे। मैं तो आपको पहचानता भी नहीं हूँ। दोनों में झगड़ा हुआ और दोनों राज-दरबार में गये। वहाँ गवाही माँगी गई। कोई गवाह न था अतः राजा की समझ में नहीं आया कि क्या निर्णय किया जाय। तब शपथ को प्रमाण रक्खा गया। राजा ने कड़ाह में घी डलवाया और उसे गर्म करने लगे। मुगल भक्त ने कहा इसे गर्म क्यों कर रहे हैं। लोगों ने बताया कि यदि यह सौदागर सच्चा होगा तो गर्म घी में इनके हाथ न जलेंगे। इसीलिए घी गर्म किया जा रहा है। सच्चे की रक्षा ईश्वर करता है। यह सुनकर मुगल ने कहा—'घी गर्म न करो, यदि

यह झूठा है और इसने रुपये लिए हैं, तो इसके हाथ ठण्डे घी में जल जायेंगे। सौदागर ने राजा की आज्ञा से ठण्डे घी में हाथ डाले, तो उसके हाथ जल गये। वह रोने लगा। राजा ने कहा तुम झूठे हो रुपये दो और जुर्माना भी। इस प्रकार विश्वासके रूपको दिखाया। श्रीमथुरादासजी में ऐसा दृढ़ विश्वास था। अतः इनके सामने चेटकी का चेटक न चला।

नन्द-नन्दन बलभारी—गोपरूप श्रीवृन्दावन धामचारी नन्द-नन्दनमें माधुर्य विशिष्ट है, पुनः विषपान करने वाली पूतना को माताकी-सी गति देने वाले में दयालुता विशेष है, इन्हें कोई कैसे भी भजे तो ये कृपा करते हैं। यथा-'उलटो सूधो जो जपै नन्द-नन्दन की रीति। सबै भाँति नासैं कलुष समुझि करौ परतीति।।' अतः नन्द-नन्दन को अपनाया। 'बल भारी'—भक्त को भगवान का बल (सहारा) होता है। विमुख अपने बल का अहंकार रखता है। हिरण्यकशिपु ने श्रीप्रह्लादजी से पूछा-मेरे थोड़े से क्रोध से तीनों लोक और उनके लोकपाल काँप उठते हैं, फिर तू किसके बल से निडर होकर मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करता है? श्रीप्रह्लादजी ने उत्तर दिया—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजंगमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।। (भा० ७-८-८)

अर्थ—दैत्यराज ! ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सब छोटे-बड़े, चर-अचर जीवों को भगवान ने अपने वश में कर रक्खा है। न केवल मेरे और आपके, बल्कि संसार के समस्त बलवानों के बल भगवान ही हैं, इन्द्रियबल, देहबल और मनोबल भी वही हैं। इसलिए श्रीमथुरादासजी को नन्द-नन्दन का बल था। निर्बल के बलराम। गजेन्द्र, द्रोपदी आदि ने जब तक अपने बल का प्रयोग किया, तब तक भगवान नहीं आये (पूरा पद देखिये द्वि० खं० ७९८) एक संत द्वारका जा रहे थे। मार्ग में जंगल मिला, भीलों ने इन्हें निडर देखकर पूछा—आप दुशाला ओढ़कर निर्भय जा रहे हैं। यहाँ लुटेरों का डर नहीं लग रहा है। संत ने कहा—हमारा नाम 'हरिबल है' फिर हम क्यों डरें। लुट जाने पर भी हमारी हानि नहीं है, अतः हम निर्भय हैं।

कृष्ण कलस सों नेम—भगवान की सेवा में ऐसा प्रेम था कि नियम से मधुर जल भरकर लाते, जैसे श्रीकिशोरसिंहजी—'राम कलश मन रली सीस ताते नहिं बाच्यौ।' (छ० १२१) प्रतिज्ञापूर्वक भक्ति का आचरण भक्तिदेवी के श्रीअंग में सुगन्ध लगाना है। 'पन सोंधो लै लगाइये।' (क० ३)

गुरु वचन रति—गुरु के वचनों में प्रेम और विश्वास होना आवश्यक है। बिना इसके सिद्धि दुर्लभ है। 'गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।।' (विशेष देखिये द्वि० खं० भ० पृष्ठ ५११) गुरु गदित वचन शिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यौ। (छ० ५८) 'गुरुधर्म निकष निर्वह्यौ।' (छ० १३५) गुरु वचनों का प्रीति-पूर्वक पालन करने से भयदायक स्थान अभयदाय हो जाते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—अम्बादास कल्याण का—अनेक शिष्यों के साथ समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी यात्रा करते हुए मध्याह्न के समय एक विशाल कूप के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगे। अचानक उनके मन में कुछ विचार आया और उन्होंने अपने शिष्यों में से अम्बादास को समीप बुलाया। वृक्ष की एक शाखा कूप के ऊपर थी। उसकी ओर संकेत करके पूछा—'तुम इस शाखा को काट सकते हो?' अम्बादास ने हाथ जोड़कर कहा—'आपकी आज्ञा होने पर अवश्य काट सकता हूँ। श्रीसमर्थजी बोले—'तब कुल्हाड़ी लेकर वृक्ष पर चढ़ जाओ और शाखा को काट दो। इसके पत्ते गिरकर कूप के जल को खराब करते होंगे। शाखा को उसके मूल से ही काटना है। इस आज्ञा को सुनकर दूसरे शिष्य कभी समर्थजी का मुख, कभी अम्बादास का मुख और कभी उस शाखा की ओर देखने लगे। वह शाखा जिस मोटी शाखा से निकली थी, वह तो सीधी ऊपर गई थी। वहाँ दूसरी कोई शाखा नहीं थी, जिस पर खड़े होकर कोई उस शाखा को काट सके। शाखा को मूल से-फूटने के स्थान से काटने का अर्थ था कि उसी शाखा पर खड़े होकर उसे काटा जाय। पैर टिकाने को और कोई स्थान था ही नहीं। उसी शाखा पर खड़े होकर उसे काटने पर तो काटने वाला शाखा के साथ कूप में गिरेगा। उसके प्राण बचने की सम्भावना नहीं है।

अम्बादास ने यह सब न देखा हो, ऐसी बात नहीं थी। लेकिन आज्ञा मिलते ही उन्होंने धोती कसकर बाँध ली और कुल्हाड़ी लेकर वृक्ष पर चढ़ गये। उस शाखा पर ही खड़े होकर उन्होंने उसके फूटने के स्थान पर कुल्हाड़ी मारना शुरू कर दिया। तब श्रीसमर्थजी ने ऊपर देखकर अम्बादास को डराने, उनकी परीक्षा लेने के लिए कहा—मूर्ख! डाल काटते ही तू तो कूप में गिर जायगा और मर जायगा। अम्बादास ने कहा—आपकी कृपा मुझे भवसागर से पार करने में समर्थ है। इस कूप की क्या गिनती, मैं तो आपकी कृपा से सुरक्षित हूँ।' श्रीसमर्थ ने आज्ञा दे दी कि—'इतनी श्रद्धा है तो अपना काम करो।' जब शाखा आधी से कुछ अधिक कट गई, तभी टूटकर अम्बादास के साथ कूप में गिर

गयी। सभी शिष्य व्याकुल हो गये। श्रीसमर्थजी शान्त बैठे थे। गुरु में जिसकी इतनी श्रद्धा है, उसका अमंगल कैसे हो सकता है। अम्बादास के शरीर में कहीं भी चोट नहीं आई और कूप में उन्हें अपने आराध्यदेव—श्रीरामचन्द्रजी का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ तो वे विभोर हो गये, उन्हें कूप से निकाला गया। बाहर आते ही वे श्रीगुरु-चरणों में गिर पड़े और बोले—हे प्रभो ! आपकी कृपा से मेरा कल्याण हो गया।' श्रीसमर्थजी ने कहा-'कल्याण तो तेरा, तेरी श्रद्धा ने किया, अब तू कल्याणरूप हो गया।' तभी से अम्बादासजी का नाम 'कल्याण' हो गया। गुरु वचनों में प्रीति के कारण श्रीमथुरादासजी भी कल्याणरूप थे। तभी तो वेषधारी ठग चेटकी सरीखे लोगों का कल्याण कर सके। (धर्माङ्क से)

बसिकै तिजारे मांझ भक्ति रस रास करी, करी एक बात ताकौ प्रगट सुनाइयै।
आयौ वेशधारी कोऊ करै सालग्राम सेवा, डोलत सिंहासन पै आनि भीर छाइयै।।
स्वामी के जु शिष्य भयौ तिनहूँ के भाव देखि, वाही कौ प्रभाव आय कह्यौ हिय भाइयै।
नेकु आपु चलौ उह रीति कों बिलोकिये जु, बड़े सरवज्ञ कही दूखै नहीं जाइयै।।५५९।।

शब्दार्थ—वेशधारी=वैष्णव, साधुवेश धारण करने वाला, चेटकी, नकली वैष्णव। दूखै=कष्ट पावै।

भावार्थ—श्रीमथुरादासजी ने तिजारे ग्राम में निवास करते हुए भगवद्-भक्ति की खूब आराधना की और प्रजा में भक्ति का प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। वहाँ आपने एक अद्भुत चमत्कार दिखलाया, जिसका वर्णन किया जाता है। एकबार तिजारे में साधु वेषधारी एक जादूगर आया। वह सबको दिखाकर भगवान शालग्राम की सेवा करता था। विशेष बात यह थी कि उसके शालग्रामजी सिंहासन पर हिलते-डोलते थे। इस चमत्कार को देखने के लिए जनता की भीड़ एकत्र हो जाती थी। वहाँ जो श्रीमथुरादासजी के शिष्य-सेवक थे। उनके मन में भाव आया कि यह बड़े-भारी सिद्ध सन्त हैं। तभी तो भगवान इनके आधीन हैं। उन लोगों ने इस प्रभाव का वर्णन श्रीमथुरादासजी के सामने किया और कहा कि उस सन्त की सेवा सभी को अच्छी लगती है। कुछ समय के लिए आप भी चलिये और उसकी उपासना की रीति-भाँति को देखिये। श्रीमथुरादासजी महान् धर्मज्ञ थे। ढोंगी हैं, भक्त नहीं है, इस रहस्य को समझकर बोले—मेरे चलने से उसकी माया नहीं चलेगी तब उसके मन में दुःख हो जायगा, अतः हम वहाँ नहीं जायेंगे।।५५९।।

व्याख्या—बसिकै तिजारे०—यह ग्राम राजस्थान में है, आपने तीर्थधाम को छोड़कर तिजारे ग्राम में रहकर भजन किया। इसका हेतु यह था कि आपको नन्द-नन्दन का बल

था, अतः अपने उद्धार की चिन्ता न थी। लोगों को भक्ति का उपदेश करके उन्हें सन्मार्ग पर लाना, उनका कल्याण करना यह अभीष्ट था अतः आप गाँव में रहते थे। डूबते हुए को बचाने की इच्छा करने वाले को जल में कूदना पड़ता है। इसी तरह मायावियों का कल्याण चाहने वाला भी उनके बीच में जाकर आसन लगाता है। 'भक्तिरस रास करी' का तात्पर्य यह कि माधुर्य रसमयी भक्ति की मन-वचन-कर्म से दृढ़तापूर्वक अखण्ड आराधना की। उसकी रासकरी=ढेरी लगा दी, सन्त-भगवन्त की सेवा, कीर्तन, प्रवचन आदि की धूम मचा दी। मूल में 'सुभासै' शब्द आया है, उसका तात्पर्य सु अर्थात् उत्तम, भाषै=भाषण करे। पुनः भासै अर्थात् चमकै। भक्ति तेजसे आपमें अद्भुत कान्ति थी।

आयौ वेशधारी कोऊ—जो लोग दूसरों को ठगने के लिए साधुवेष धारण करते हैं, वे पाखण्डी भगवान के हृदय में शूल की तरह पीड़ा पहुँचाने वाले होते हैं। वे असली सन्त की अपेक्षा भोली-भाली जनता को अधिक प्रभावित करके पैसा कमाते हैं, शिश्नोदर की पूर्ति करते हैं। यथा—

वेषधारी हरि के उर सालैं।
दम्भी लोभी कपटी नट से शिश्नोदर कौ पालैं।।
गुरु बने घर घर में डोलैं नाम धनी को बेचैं।
परमारथ सपने नहिं जानैं पैसन ही को खैचैं।।
कबहूँक वकता ह्वै बनि बैठैं कथा भागवत गावैं।
अर्थ अनर्थ कछू कहिं भासै पैसन ही को ध्यावैं।।
कबहूँक वे हरि मन्दिर सेवैं करैं निरन्तर वासा।
भाव भगति को भेद न जानैं पैसन की ही आसा।।
नाचैं गावैं चित्र बनावैं कहैं काव्य चटकीली।
साँच बिना हरि हाथ न आवैं सब रहनी है ढीली।।
बिन विवेक वैराग भगति बिन सत्य न एकौ मानो।
'भगवत' विमुख कपट चतुराई सो पाखण्डै जानो।।

कदाचित् कोई अपने मन से अचला लँगोटी लगा ले तिलक-कण्ठी धारण करले, साधुवेष बनाकर सीताराम-राधेश्याम जपे किसी को ठगे नहीं, तो उसका भी कल्याण होगा। वह भगवान को भी प्रिय लगेगा। परन्तु परवंचक प्रभु के लिए प्रजा के लिए और अपने लिए भी महान् दुःखद होते हैं।

करै सालग्राम सेवा—जब भीड़ इकट्ठी हो जाती, तब वह सबको सुनाकर कहता कि—मैंने गण्डकी नदी पर बारह वर्ष तक केवल दूध पीकर तपस्या की थी, उसके प्रभाव से ये शालग्राम भगवान प्राप्त हुए हैं। इनका नाम सर्वेश्वर है। आप लोगों ने सुना होगा कि—भगवान भक्त के आधीन रहते हैं, परन्तु देखा नहीं होगा। आज प्रत्यक्ष देख लीजिये कि भगवान मेरे इशारे पर मेरी इच्छा से हिलते-डुलते हैं, नाचते हैं। कलियुग में आम-जनता के सामने इससे ज्यादा लीला दिखाने की प्रार्थना मैं नहीं करता हूँ। एकान्त में ये मुझसे बातचीत करते हैं, खाते-पीते हैं। इनकी भेंट करके इनकी कृपा से बहुतों के मनोरथ नित्य पूर्ण होते हैं। भेंट से प्राप्त धन को दीन-दुःखियों की सेवा में भगवान की आज्ञा से खर्च करता हूँ। ऐसा कहकर अपने चेटक से शालग्राम को हिलते-डुलते दिखाता। खूब भेंट में धन आता, रोज भारी भीड़ आती। जैसे कठपुतली नचाने वाला नट कठपुतलियों को नचाता है, परन्तु दर्शक रहस्य न जानकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी वह सबको आश्चर्यचकित करके अपने को महान् सिद्ध-भक्त बताता। प्राप्त धन से संसारी विषयों का सेवन करता।

आय कह्यौ हिय भाइयै—श्रीमथुरादासजी के शिष्य भावुक थे, उन्होंने आकर अपने श्रीगुरुदेव से चेटकी चमत्कार का वर्णन किया। तब 'कह्यौ हिय भाइयै।' अपने उन लोगों से उस वेषधारी की निन्दा नहीं की, बल्कि प्रसन्नता व्यक्त की, धन्यवाद है, ऐसे कलिकाल में ऐसे भक्त। लोगों ने कहा—महाराज ! मैंने उससे कहा था कि यहाँ हमारे गुरुदेव विराज रहे हैं, आप भी चलिये। उनसे सत्संग कीजिये, हम आपकी यथाशक्ति सेवा करेंगे। तब उस वेषधारी ने कहा—'हमारे गुरु की आज्ञा है कि 'अपने सर्वेश्वर को छोड़कर किसी महात्मा के पास मत जाना।' तो महाराज! जरा आप ही चलकर उसके सर्वेश्वर का दर्शन कीजिये और उसका चमत्कार देखिये।

बड़े सरवज्ञ० दूखै नहीं जाइयै—गुरु-गोविन्द की भक्ति के बल से सर्वज्ञ थे। 'गुरु प्रसाद सब जानिय राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा॥' चलने का आग्रह करने पर आपने अपने शिष्यों से कहा—'सन्त वेष है अतः उसकी बात पर विश्वास करने से कल्याण होगा। किसी ने कहा—वह जादू को दिखाकर पैसे कमाता है।' तब आपने कहा—'क्या हुआ, येन-केन-प्रकारेण भगवान की सेवा तो करता ही है। शालग्राम भगवान ऐसे देवता हैं कि अश्रद्धा से, दम्भसे सेवा करने पर भी कालान्तर में सच्ची सेवा का फल मिल जाता है। आज दम्भ से कर रहा है तो आगे प्रेम से करने लगेगा।' लोगों ने कहा—'वह आपके पास सन्त दर्शनार्थ नहीं आना चाहता है अतः हमें उसकी भक्ति पर विश्वास नहीं हो रहा है।

कृपा कर एकबार आप चलें, उसको देखें।' आपने कहा–उसे दुःख होगा। 'भजन यही सेवा यही, यही हरी सों प्रीति। कोऊ जीव न हिंसई यह सन्तन की रीति।।' किसी की रोटी-रोजी छिनने से उसे दुःख होता है, मेरे चलने पर उसका व्यापार समाप्त हो जायगा अतः मैं नहीं जाऊँगा।

पांय परि गये लैकै जाय ढिग ठाढ़े भये, चाहत फिरायौ पै न फिरैं सोच पर्यौ है।
जानि गयौ आप कछु याही कौ प्रताप, एपै मारौं करि जाप यों विचार मन धर्यौ है।।
मूठ लै चलाई भक्ति तेज आगे आई नाहिं, वाही लपटाई भयौ ऐसौ मानौ मर्यौ है।
ह्वै करि दयाल जा जिवायौ समझायौ, प्रीति पन्थ दरसायौ हिय भायौ शिष्य कर्यौ है।।५६०।।

भावार्थ–सभी शिष्य-सेवकों ने चरणों में पड़कर प्रार्थना की। तब आप वहाँ गये, जहाँ उसने अपना ढोंग फैला रखा था। ये जाकर उसके पास खड़े हो गये। फिर जब उसने शालग्रामजी को हिलाना-डुलाना चाहा तो वे नहीं हिले-डुले। अब उसके मन में बड़ा भारी शोक हुआ। वह समझ गया कि अभी-अभी जो यह साधु आया है। इसीका यह प्रताप है। हमारी सिद्धाई में यह बाधक है, अतः तन्त्र-मन्त्र-जप आदि करके इसे मार डालूं। इस विचार को उसने अपने मन में दृढ़ किया। फिर उसने इन्हें मारने के लिए मूठ चलाई। वह श्रीमथुरादासजी की भक्ति के सामने आकर व्यर्थ हो गई। उलटकर उस चलाने वाले को ही लगी। जिससे मूर्च्छित होकर यह पृथ्वी पर गिर गया। लोगों को ऐसा लगा कि यह मर गया। पश्चात् दयालु संत श्रीमथुरादासजी ने दया करके उसे जीवित किया। फिंर समझाया और उसे भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया, जो उसे अच्छा लगा। इस प्रकार शिक्षा-दीक्षा देकर आपने उसे कृतार्थ किया।।५६०।।

व्याख्या–चाहत फिरायौ–लोगों ने कहा कि–'हमारे गुरुजी आये हैं, इन्हें शालग्राम का नाच दिखाओ।' भक्त के सामने किसी का कपट नहीं चलता है, बलि के सामने बामन बनकर गये पर भक्त की निष्ठा से त्रिविक्रम विराट् रूप धारण करना पड़ा। भगवान का कपट नहीं चला तो तुच्छ चेटकीका चेटक भक्त के सामने कैसे चल सकता है। उसने चुटकी बजाई, इशारा किया, परन्तु नाच नहीं हुआ। लोग उसे फटकारने-धमकाने तथा उसकी निन्दा करने लगे। किसी ने कहा मारो, किसी ने कहा धन छीन लो, किसी ने कहा न्यायाधीश के पास ले चलो। कोलाहल देखकर श्रीमथुरादासजी ने सबको शान्त किया और कुछ भी न करने की आज्ञा दी। स्वयं अपने आसन पर आ गये। तब उसने फिर लोगों से कहा–'अभी क्या हुआ ? मेरी शक्ति को कल देखना।'

मारौं करि जाप—'कामात् क्रोधोऽभि जायते।' (गी०) उसकी कामनाएँ पूर्ण न हुईं अतः उसे क्रोध हुआ। उसके पास तामसी अपवित्र सिद्धियाँ थीं। अतः यह न समझ सका कि ये सन्त-भक्त महापुरुष हैं, जैसे सूर्य के सन्मुख दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है, वैसे ही इनके सामने हमारी सिद्धि समाप्त हो गई। उसने सोचा कि हमारी विद्या के ऊपर इन्होंने रोक लगाई है, इन्हें अगर मैं मूठ चलाकर मार दूंगा तो मेरे मंत्र-तंत्र फिर पूर्ववत् काम करने लगेंगे। इस मारण अभिचार का यह नियम है कि जिस पर चलाया जाय, उसे यदि किसी कारणवश न मार सके। तो चलाने वाले को ही मार डालता है। (भा० १०.६६) में वर्णित है कि जब पौण्ड्रक और काशीनरेश को युद्ध में श्रीकृष्ण ने मार दिया, तब काशीनरेश के पुत्र सुदक्षिण ने तान्त्रिकों द्वारा अभिचार का प्रयोग कराया। उसके पूर्ण होते ही यज्ञकुण्ड से भयंकर कृत्याग्नि प्रकट हुई और द्वारका आई। श्रीकृष्ण प्रेरित चक्रसुदर्शन के तेज से जब वह द्वारकापुरी को न जला सकी तो उसने वापस जाकर ऋत्विज और आचार्यों के साथ सुदक्षिण को ही भस्म कर दिया। इस प्रकार उसका अभिचार उसी के विनाश का कारण हुआ। पीछे से चक्र ने जाकर सारी काशी को भस्म कर दिया। यहाँ भी श्रीमथुरादासजी चक्र एवं श्रीहनुमदादि पार्षदों से रक्षित थे, अतः इन्हें न मारकर उस मारण शक्ति ने उसे ही मार दिया। उसके मुख से रक्त-फेन गिरने लगा। आँखे उलट गईं। शीघ्र ही किसी ने आकर इन्हें सूचित किया।

ह्वै करि दयाल जा जिवायौ—'लागि दया कोमल चित सन्ता।' सन्तों में बदला लेने की भावना नहीं होती है, अपकार के बदले उपकार करते हैं। 'उमा सन्तकै इहै बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।।' (रा०) पुनः 'कैसो अपकार करै तऊ उपकार करैं ढरैं रीति आपनी ही सरस सुदेश है।।' (भ० कवित्त १५८) आपने जाकर अभिमन्त्रित जल उसके ऊपर छिड़का तो थोड़ी देर में वह स्वस्थ होकर आपके चरणों में गिर पड़ा। आपने दया करके जीवित किया अर्थात् विमुख अभक्त मृतक के समान था। आपकी दया से उसे भक्तिमय जीवन मिला। भगवान की दम्भ से झूठी सेवा का सच्चा फल मिला।

समझायौ प्रीति पन्थ दरसायौ—जो प्रभु प्रसन्न होकर वैकुण्ठ पद प्रदान करते हैं, उन्हें तुच्छ धन के लोभ से नचाना अनुचित है। सेवा से बढ़कर कुछ नहीं है अतः सेवा करके सेवा को चाहो। देवता मन्त्र के आधीन हैं, पर आधीन कर उन्हें दुःख देने पर वे भी दुःख ही देते हैं। ब्रह्मास्त्र में श्रीहनुमानजी बँध गये, पर राक्षसों ने उन्हें दुःख दिया अतः उन्होंने लंका को जला दिया। सेवा-पूजा का प्रदर्शन करने पर उससे पूर्ण लाभ नहीं मिलता, अतः

उसे एकान्त में करना चाहिए। ये उपदेश उसे 'हिय भायौ' तब 'शिष्य कर्यौ है'-'तुलसी पाड़ौ राह को लदो फिरै बहु देस। खाँड़ भरे भुस खात हैं बिन गुरु के उपदेश।।' जैसे भैंसे की पीठ पर तो खाँड़ लदी है, परन्तु उसे खाने को भुस मिलता है। जीव में श्रद्धा है परन्तु श्रीगुरुजी के उपदेश के बिना उससे प्रेमानन्द की प्राप्ति नहीं होती है। आपने उसे समझाया कि भक्तजन हंस के समान हैं, चारों ओर विचरते हैं पर मोती को ही चुगते हैं। तुम उनकी सेवा करोगे तो उनके गुण तुम में आ जावेंगे। पुनः आपने समझाया–

काषायग्रहणं कपाल भरणं केशावली लुञ्चनं,
पाखण्डव्रत भस्मचीवर जटा धारित्वमुन्मत्तता।
नग्नत्वं हरिनामरूप रहिता गोष्ठी सभामण्डले,
सर्वं चोदरपूरणार्थं नटनं न श्रेयसां कारणम्।। (सूक्तिसुधा)

अर्थ–दूसरों को ठगने के लिए गेरुआ कपड़े पहिनना, कपाल धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्ड व्रत, चिता भस्म, वैराग्य बिना कौपीन, जटा आदि धारण करना, उन्मत्त हो जाना, नग्न रहना और भगवान के नाम-रूप से रहित गोष्ठी करना ये सब नाच केवल पेट भरने के लिए है, बिना भक्ति-ज्ञान के वास्तविक कल्याण इससे नहीं होता है।

हरिजन हंस दिसनि यों डोलैं। मुक्ता फल बिन चोंच न खोलैं।।
मौन गहैं कै हरिजस बोलैं। असद अलाप न कबहूं लोलैं।।
मान सरोवर तट के वासी। हरि सेवा रति और उदासी।।
नीर क्षीर को करैं निबेरा। कहत 'कबीर' सोई गुरु मेरा।।

राधाकमल कृष्ण भौंर मिलिकै रस लीनौ। राधा मुखचन्द कृष्ण तमी उदय कीनी।।
राधा नग सम पिरोज मरकत मनि स्यामै। रचि पचि दोउ एक 'दासमथुरा' रति मानै।।

विशेष–भक्तदाम गुणचित्रणी पृष्ठ ७६ के अनुसार आपके कीर्तन में बहुत से दर्शनार्थी लोग आते थे और दर्शन-कीर्तन करके बहुत आनन्दित होते थे। कीर्तन में जो भी द्रव्य आता था, उसे आप स्वयं नहीं लेते थे। सन्त-भगवन्त की सेवा में समर्पित कर देते थे। आपके मत से कीर्तन करके उससे धन संग्रह करना ठीक नहीं। हठ करके देने वाले से आप नाराज हो जाते थे। एकबार आप शयन कर रहे थे। शयन किये-किये स्वप्न में आप नाम-संकीर्तन करने लगे। इसी बीच किसी ने आकर बहुत-सा धन भेंट में रखा। आपने अस्वीकार किया। वह अधिक हठ करने लगा। तब आपने उसे बड़े जोर से

फटकारा—'मूढ़ ! व्यर्थ हठ क्यों करता है।' ऐसा कहते-कहते वे जाग गये। समीपस्थ शिष्य सेवकों ने देख लिया कि—स्वप्न में भी कीर्तन के समय धन लेना आपने उचित न समझा। आप ऐसे निष्ठावान थे। इसी को ध्यान में रखकर मूल में लिखा गया कि—'कीरतन करत कर सुपनेहूँ मथुरादास न मांड़ियौ।।'

भक्तमाल छ० ८२ में श्रीवर्द्धमानजी का स्मरण किया गया है। आप जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य से दो पीढ़ी पूर्व हुए हैं। तदनुसार आपका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त और तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है। वही समय उनके शिष्य श्रीमथुरादासजी का भी होना चाहिए। (सर्वेश्वर भक्तमाल से)

* श्रीनारायणदासजी नृतक *

नृतक नारायणदास कौ प्रेमपुञ्ज आगे बढ्यौ।।
पद लीनौ परसिद्ध प्रीति जामें दृढ़ नातो।
अक्षर तनमय भयौ मदनमोहन रँगरातो।।
नाचत सब कोउ आहि काहि पै यह बनि आवै।
चित्र लिखित सों रह्यौ त्रिभंग देसी जु दिखावै।।
हँड़िया सराय देखत दुनी हरिपुर पदवी कों चढ्यौ।
नृतक नारायणदास कौ प्रेमपुञ्ज आगे बढ्यौ।।१४५।।

शब्दार्थ—नृतक=नर्तक, नाचने वाला। लीनौ=लिया, गया। अक्षर=गाये गये पद के अक्षर, अविनाशी भगवान। तनमय=तल्लीन, प्राणों का लय। रँगरातो=अनुराग रंग में रँगे। चित्र लिखित=फोटो, मूर्ति के समान स्तब्ध। त्रिभंग=जो ग्रीवा, कटि और जानु इन तीन स्थानों से टेढ़ा हो, श्रीकृष्ण। देसी=देश का, एक रागिनी। त्रिभङ्ग देसी=श्रीकृष्ण। दुनी=दुनिया। हरिपुर=वैकुण्ठ। पदवी=उपाधि, दर्जा, ओहदा, मार्ग।

भावार्थ—श्रीनारायणदासजी नर्तक का प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाला था। एक बार आपने वह प्रसिद्ध पद गाकर नृत्य किया, जिसमें प्रीति का नाता ही दृढ़ माना गया है। गाते-गाते उस पद के शब्दों-अक्षरों और भावों में आप तल्लीन हो गये। 'मदनमोहन रंगराते' इसे गाते हुए स्वयं भी मदनमोहन के प्रेम रंग में रंग गये। इस संसार में नाचते-गाते तो सभी लोग हैं, परन्तु ऐसा नाचना-गाना और ऐसी भाव तन्मयता किसमें बन सकती है?

उस तन्मयता में आप चित्र लिखित की भाँति स्तब्ध रह गये। श्रीकृष्ण ने दर्शन दिया। हड़िया सराय नामक गाँव में लोगों के देखते-देखते आप वैकुण्ठ पद को पहुँच गये।।१४५।।

व्याख्या—नृतक नारायणदास—भगवान को प्रसन्न करने के लिए नृत्य की बड़ी महिमा है। चौंसठ भक्ति के अंगों में 'अग्रेताण्डवं' भगवान के आगे नाचना चौबीसवीं भक्ति है। (भ० र० सिं०) में द्वारका-माहात्म्य और श्रीनारदोक्तिके दो श्लोक उद्धृत हैं—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहु सुभक्तितः। स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि।।
नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम्। उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातक पक्षिणः।।

अर्थ—जो व्यक्ति आनन्दित होकर भक्ति पूर्वक अनेक भावों से श्रीकृष्ण (विग्रह) के आगे नृत्य करता है, उसके सैकड़ों मन्वन्तरों के, जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।। ताली आदि बजाते हुए जो व्यक्ति भगवान श्रीकृष्ण के आगे नृत्य करता है, उसके शरीर में रहने वाले पापरूपी पक्षी तत्काल उड़ जाते हैं। नर्तक भक्त के पाप दूर हो जाते हैं, यह तो एक साधारण-सी बात है। (भा० ११.१४.२४) में भगवान श्रीउद्धवजी से कहते हैं कि जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद है, जिसका चित्त द्रवित हो गया है, जो भगवत्स्मरण कर रोता रहता है, कभी-कभी जोर से खिल-खिलाकर हँसने भी लगता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचें स्वर से गाने लगता है, तो कभी नाचने लगता है। मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है। 'अनुहर ताल गतिहिं नट नाचा।' नट ताल के अनुसार नाचता है पर अपनी चरण-धूल से विश्व को पावन करने वाला प्रेमी-भक्त प्रेमावेश में आकर जब नाचता है। तब स्वर और ताल उसका अनुकरण करते हैं। दिव्य प्रकृति भी ताल-मृदंग बजाकर भक्त के नृत्य-गान में सहयोग देती है। यथा—'मारग जात अकेल गान रसना जु उचारैं। ताल मृदङ्गी वृक्ष रीझि अम्बर तहँ डारैं।।' श्रीकात्यायनीजी के नृत्यगान के समय वृक्ष, ताल और मृदङ्गी बजाने लगते थे। ये उन्हें अपने वस्त्र-आभूषण पुरस्कार में दे देतीं। प्रेमी का नाच वेगत और बेताल तथा बिना पखावज के होता है। अकबरावादी भक्त नजीर कहते हैं—

क्या इल्म उन्होंने सीख लिये जो बिन लेखे को बांचे हैं।
और बात नहीं मुंह से निकले बिन होठ हिलाये जांचे हैं।।
दिल उनके तार सितारों के तन उनके तबल तमाचे हैं।
मुंह चंग जबां दिल सारङ्गी पां घुंघुरु हाथ कमाचे हैं।।

हैं राग उन्हींके रंग भरे औ भाव उन्हींके सांचे हैं।
जो वेगत वे सुर ताल हुये बिन ताल पखावज नाचे हैं।।

प्रेमावेशमें उन्मत्त भक्त अपने आप नाच उठता है। नृत्य इष्टको प्रसन्न करनेका सर्वोत्तम साधन है। स्वयं श्रीराधाकृष्ण और ब्रजगोपियोंने इन्हीं भावोंमें मग्न होकर नृत्य किया। प्रेमावेशमें नृत्य करते समय उसे अपने शरीरकी सँभाल नहीं रहती है। नीचे-ऊँचे गिरनेमें प्रभु ही रक्षा करते हैं। (उदाहरण श्रीमाधवदासजी छ० ११२ तृ० खं० पृष्ठ ४९० पर देखिये) 'नृत्य करत नहिं तन सँभार।' तथा 'ऊँचे ते भयौ पात स्याम सांचो पन कीयौ।।' इनका नृत्य सन्तोंमें ऐसा प्रसिद्ध हुआ कि इनके नामके साथ नृतक विशेषण जुड़ गया अतः ये 'नृतक नारायणदास' कहे जाने लगे।

प्रेमपुञ्ज आगे बढ्यौ—ये प्रेम के पुञ्ज समूह थे, प्रेमकी मूर्ति थे। प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता है। 'प्रतिक्षण वर्द्धमानम् प्रेमस्वरूपम्।' (नारद०) इनका प्रेम बढ़ते-बढ़ते प्रेमसागर में समा गया। 'पद लीनौ परसिद्ध'—'साँचो एक प्रीतिहि को नातो। कै जाने राधिका नागरी कै मदनमोहन रङ्गरातो।। यही श्रृङ्खला अति बलवन्ती बाध्यौ मन गज मातो। मीरा प्रभु गिरिधर संग हिल मिल सदा निकुञ्ज बसातो।।' 'अक्षर तन्मय'—पदके अक्षरों, शब्दोंको गाते-गाते उनमें ऐसे तल्लीन हुए कि—अक्षर श्रीकृष्णमें लीन हो गये। मदनमोहन के रङ्गमें रँगे हुए 'मदनमोहन रङ्गरातो' इस तुक को गाते-गाते मदनको मोहित करने वाले श्रीकृष्णके रङ्ग अर्थात् आनन्दमें शरीरको छोड़कर समा गये पूरा पद नहीं गा सके।

मार्गे मार्गे जायते साधुसङ्ग, संगे संगे श्रूयते कृष्णकीर्तिः।
कीर्तौ कीर्तौ नस्तदाकारवृत्ति र्वृत्तौ वृत्तौ सच्चिदानन्दभासः।। (सू० सु०)

अर्थ—सज्जनोंको रास्ते-रास्ते प्रेमी सज्जनोंका सत्सङ्ग प्राप्त है, प्रत्येक सत्सङ्गमें श्रीकृष्णका कीर्तन सुना जाता है, प्रत्येक कीर्तन में हमारी तदाकार वृत्ति होती है और प्रत्येक वृत्तिमें सच्चिदानन्द श्रीकृष्णका अनुभव होता है।

नाचत सब कोउ आहि—संसारमें बहुतसे कलाकार गाते-नाचते हैं, भक्त भी गाते, नाचते हैं। परन्तु ऐसा गाना-नाचना किसीसे नहीं बन सकता है। प्रेमी सिद्ध सन्तों के किसी आचरणकी नकल दूसरोंसे नहीं बन सकती है। प्रेमका पन्थ निराला है, उस रास्ते से दूसरा नहीं जा सकता है। सर पर—

दृष्टान्त—समर्थ और दिलेलखानका—महाराष्ट्र के सन्त श्रीजयराम स्वामी अपने आश्रममें नित्य रातको उच्च-स्वरसे 'श्रीराम जय राम जय जय राम' इस मन्त्रका कीर्तन

करते थे। मिरजका अधिकारी दिलेलखान नित्य रातमें गश्त लगाने जाता तो कीर्तन सुनकर उसका सिर दर्द करने लगता। हिन्दू फकीरोंको कष्ट देनेका उसका स्वभाव था। एकदिन वह कीर्तनमें पहुँच गया। और पूछा 'कीर्तनसे क्या लाभ होता है ?' स्वामीजी ने कहा—यह प्रेमी सन्तों का स्वभाव है, साधन और साधु-मार्ग है। साधु-मार्ग पर चलने से श्रीरामजीके दर्शन प्राप्त होते हैं। अधिकारी दिलेलखानने दूसरे दिन बड़े सबेरे ही दूत भेजकर जयराम स्वामीको बुलवाकर कहा—'साधु जिस रास्तेसे जाय, मैं भी चलनेको तैयार हूँ। मुझे आप अपने रामका दर्शन कराइये। नहीं तो झूठ बोलनेके अपराध में आपको कठोर दण्ड भुगतना पड़ेगा। जाइये, कल तक सोच-विचारकर व्यवस्था कीजिये।' जयराम स्वामी बड़े असमञ्जसमें पड़ गये। उसी समय नदीके किनारे पहुँचे, जहाँ समर्थ स्वामी रामदासजी नित्य-नियम कर रहे थे। सारी दुर्घटना सुनाकर उनसे प्रार्थनकी कि इस सङ्कटसे किसी प्रकार मुझे छुड़ाइये। समर्थजीने खानके पास सूचना भेज दी, कि आज ही नित्य-नियमसे निवृत्त होकर हम लोग चल रहे हैं, तुम भी साथ-साथ चलना, तुम्हें आज ही श्रीरामजीके दर्शन हो जायेंगे। यथा-समय खान तैयार होकर आ गया। समर्थ और जयराम स्वामी निवृत्त होकर चल पड़े। खान भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ दूर चलने के बाद मिरजका किला आ गया। किलेकी दीवालमें कुछ छेद बने थे, जो भीतरसे बन्दूकोंका वार करनेके लिए थे। समर्थजी झट सूक्ष्म रूप बनाकर छेदके रास्तेसे भीतर घुस गये। भीतरसे बोले—जयराम स्वामी ! तुम भी आ जाओ। वे भी भीतर चले गये। फिर समर्थजीने खानसे कहा—खान तुम भी जल्दी इसी रास्ते से आ जाओ ! साधु-सन्त इसी रास्ते से आये हैं। देखो, ये श्रीरामचन्द्रजी खड़े हैं, आकर दर्शन करो। खान अपनी मूर्खता और दुष्टता से लज्जित हुआ। उसने समर्थजी से क्षमा माँगी और भविष्यमें इस प्रकार किसी साधुसे छेड़-छाड़ न करने का वचन दिया। समर्थने समझाया कि—साधु-मार्ग पर साधुकी कृपासे चला जा सकता है और साधु कृपा साधुकी सेवासे प्राप्त होती है। श्रीनाभाजी कहते हैं—'काहि पै यह बनि आवै।' नृतक नारायणदासकी-सी निष्ठा, कीर्तन और नृत्य किससे बन सकता है। अर्थात् सबसे नहीं बन सकता है। (सामर्थाचे सामर्थ्य, सत्कथाङ्क)

चित्र लिखित सों रह्यौ त्रिभङ्ग देसी जु दिखावै—त्रिभङ्गदेशीय अर्थात् तीन स्थानोंसे टेढ़ा होकर जो बना हो, वे श्रीकृष्ण इन्हें दिखाई पड़े। त्रिभङ्गी मदनमोहन की छबि देखकर इन्होंने भी अपने शरीरको तीन स्थानोंसे टेढ़ा करके श्रीकृष्ण-सी आकृति दिखाई। इसी बीच भक्त-भगवन्त दोनों परस्पर रीझ गये और श्रीनारायणदासजीने अपने प्राण भेंट कर

दिये, क्योंकि उससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं दीखी। प्राण निकल जाने पर त्रिभङ्ग शरीर ज्यौं का त्यौं खड़ा रहा। निष्प्राण शरीरकी ऐसी शोभा हुई, जैसे लिखित चित्र हो, मूर्ति हो। देशी रागिनी भी होती है, कुछ सन्तोंके मतसे इसी रागिनीमें पद गाया। 'परन्तु त्रिभङ्ग देसी जु दिखावै' यह एक वाक्य है। त्रिभङ्गदेसी इन्हें दीख रहा है और इसी रूपको ये दिखा रहे हैं। यही मुख्य अर्थ है।

हँड़िया सराय देखत दुनी—प्रयागसे पूर्व लगभग छः कोस की दूरी पर हँड़िया सराय नामक कस्बा है। ये प्रयागसे काशीकी ओर जा रहे थे अतः वहीं पर इन्होंने विश्राम किया। नित्य-नियमके अनुसार अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजा करके उनके सन्मुख नृत्य-गान किया। लोग देखकर प्रभावित हुए और यह समाचार मीरके पास पहुँच गया। तब उसने बुलाया। यदि किसी तीर्थमें एकान्तमें हरिपुरको प्राप्त करते तो आश्चर्य न होता। अयोध्या-वृन्दावन आदि धाम सिद्धोंकी सराय हैं, वहाँ नहीं, हँड़िया सरायमें और वह भी म्लेच्छके स्थान पर, उसके सामने, दुनियाँके देखते हुए। इससे आपकी निष्ठाकी महिमा जानी गई।

हरि ही कें आगे नृत्य करै हिये धरै यही, ढरै देस देसनि में जहाँ भक्त भीर है।
हँड़िया सराय मध्य जाइकै निवास लियौ, लियौ सुनि नाम सो मलेछ जाति मीर है।।
बोलिकै पठाये महाजन हरिजन सबै, आयौ है सदन गुनी ल्यावौ चाह पीर है।
आनिकै सुनाई भई बड़ी कठिनाई अब, कीजै जोई भाई वह निपट अधीर है।। ५६१

शब्दार्थ—ढरै=कृपा करें, विचारें। मीर=शैयद मुसलमानकी उपाधि, मुल्ला।

भावार्थ—श्रीनारायणदासजी का यह दृढ़-नियम था कि वे भगवानके सामने ही नृत्य-गान करते थे, दूसरे किसी मनुष्यके सामने नहीं। इस व्रतको हृदयमें धारण कर भक्ति प्रचार एवं सन्तोंके दर्शनके लिए देश-देशान्तरोंमें जहाँ-जहाँ भक्त समूह होता वहाँ-वहाँ आप जाते। एकबार विचरते हुए आप हँड़िया सरायको गये और वहीं पर आपने निवास किया। श्रीठाकुरजीके सामने नित्य ही नृत्य-कीर्तन करते। कुछ समयके बाद आपके नृत्य-कीर्तनकी प्रशंसा सभी लोग करने लगे। उसे सुनकर वहाँके यवन शासक मीरने आपको यह कहकर बुलवाया कि हमारे यहाँ बड़े-बड़े महापुरुष, भगवद् भक्तजन आये हैं, आप भी आइये। गुणी लोगोंसे मिलनेकी मेरे मनमें बड़ी इच्छा रहती है। उनके न मिलनेसे मनमें दुःख होता है। जब यह सन्देश लोगोंके द्वारा आपको मिला तो उसे सुनकर

आपको बड़ी कठिनाई हुई। लोगोंने समझाते हुए कहा कि 'जैसी आपकी इच्छा हो वही कीजिये। परन्तु मीर साहब आपके नृत्य-कीर्तन देखने-सुननेके लिए बड़े व्याकुल हो रहे हैं।। ५६१।।

व्याख्या—हरि ही आगे नृत्य करें—यह टेक थी। यही भक्तका लक्षण है। यथा—गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है।' (क० ९) टेक न छोड़नेसे भगवानने अपनाया, हरिपुरकी प्राप्ति हुई। लोकको रिझाकर धन-मान प्राप्त करना अभीष्ट न था, भक्त-भगवानसे प्रेमधन लेना रहता था अतः उन्हें ही रिझाते थे।

बिना प्रभु आगें नृत्य करियै न नेम यहै, सेवा वाके आगें कहौ कैसें बिसतारियै।
कियौ यों विचार ऊँचे सिंहासन माला धारि, तुलसी निहारि हरिगान कर्‌यौ भारियै।।
एक ओर बैठ्यौ मीर निरखैं न कोर दृग, मगन किशोर रूप सुनि लै विसारियै।
चाहै कछु वारों परे औचक ही प्रान हाथ, रीझि सनमान कीनौ मीच लागी प्यारियै।। ५६२

भावार्थ—श्रीनारायणदासजी अपने मनमें विचार करने लगे कि—मेरा नियम भगवानके आगे नृत्य करने का है, बिना भगवानको पधराये नृत्य कैसे करूँगा। यवनोंके सामने अपने पूज्य श्रीअर्चा—विग्रह की सेवाका विस्तार कैसे करूँगा इस प्रकार सोचते-विचारते आपने एक मार्ग निकाल लिया और मीर साहबके दरबार में गये। वहाँ एक ऊँचे सिंहासन पर आपने एक श्रीतुलसीजी की माला को विराजमान कर दिया। श्रीतुलसीजी भगवानका अभिन्न रूप हैं, ऐसा मानकर आपने उन्हींके सामने बड़ा उत्तम नृत्य किया। एक ओर मीर साहब बैठे, उनकी ओर आपने एक दृष्टिसे भी नहीं देखा। सिंहासन पर विराजमान तुलसी-श्यामकी ओर ही देखते हुए उनकी किशोर रूपमाधुरी में मग्न हो गये। अपने शरीरकी सुधि-बुधि खो बैठे। आपने रीझकर विचार किया कि कुछ न्यौछावर करूँ। कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ी, अचानक अपने प्राण ही हाथ पड़े। आपने उन्हें ही न्यौछावर कर दिया। आदरपूर्वक भगवानने इस भेंटको स्वीकार किया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि ऐसी मृत्यु हमें प्रिय लगी।। ५६२।।

व्याख्या—कियौ यों विचार—सङ्कट उपस्थित होने पर आपद्धर्मका पालन करना चाहिए पर नियमको नहीं छोड़ना चाहिए। जैसे अम्बरीषजीने विचारा कि—यदि समय पर पारण न होगा तो व्रत खण्डित हो जायगा, दुर्वासा ब्राह्मणको खिलाये बिना पारण करनेसे उनका अपमान होगा। अतः जल-चरणामृत लिया। आपद्धर्मका पालन किया। उसी प्रकार

श्रीनारायणदासजीने भक्त और भगवत्प्रतीक तुलसीके सामने नृत्य किया। परन्तु नियम को नहीं छोड़ा। नियम तीन प्रकारके हैं। १-उत्तम, २-मध्यम, ३-अधम। तीन ही प्रकारके पुरुष हैं, जैसा पुरुष वैसा नियम। उत्तम शिलाकी लकीर, मध्यम बालूकी और अधम पानीकी लकीरके समान है। दो०-उत्तम मध्यम अधम गति, पाहन सिक्ता पानि। प्रीति अनुक्रम जानिये, बैर वितिक्रम मान।। इनका अमिट प्रेम उत्तम था।

माला धारि तुलसी निहारि—तुलसी काष्ठ माला धारण करने वाले भी भगवत् तुल्य पूजनीय हो जाते हैं, (विशेष देखिये द्वि० खं० पृ० ७०) कच्चित् तुलसि कल्याणि गोविन्दरचणप्रिये। सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः।। (भा० १०-३०-७) ब्रजगोपियाँ कहती हैं बहिन तुलसी ! तुम्हारा हृदय तो बड़ा ही कोमल है, तुम सभी का कल्याण चाहती हो, भगवानके श्रीचरणोंमें तुम्हारा प्रेम है, वे भी तुमसे बहुत प्यार करते हैं। तभी तो भौरैंके मड़राते रहने पर भी वे तुम्हारी माला नहीं उतारते, सर्वदा पहने रहते हैं। क्या तुमने अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरको देखा है ? देखा हो तो बताओ। तुलसी की महिमा पर दृष्टान्त सत्यभामाका (द्वि० खं० पृ० २३२)

निरखैं न कोर दृग—नर्तक दर्शकों की ओर देखकर उन्हें अपने हाव-भाव और कटाक्षों से प्रभावित करता है, वहाँ इन्होंने एकबार भी मीर की ओर नहीं देखा। इसलिए कि 'मगन किशोर रूप' इनका नृत्य जिसके रिझाने के लिए था उसकी ओर देखकर स्वयं रीझ रहे थे। उनसे न कोई बड़ा है और न रिझवार-दानी है। यथा—

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।। (भा० २-४-२०)

अर्थ—जो समस्त सम्पत्तियोंकी स्वामिनी श्रीलक्ष्मीदेवीके पति हैं, समस्त यज्ञोंके, प्रजाके, बुद्धिके लोकोंके पृथ्वीके और अन्धक वृष्णि-सात्वत्वंशी क्षत्रियोंके पति हैं तथा जो साधुओं की गति हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हों।। किशोर रूप की ओर मनके सहित दृष्टि लगी थी—

बीरो रङ्ग अधर अबीर रङ्ग बैंदी भाल, पाग पचरङ्ग अनुराग अँखियाँ भरी।
मृदु मुस्कान कान झलकैं सजल मोती, मखमल मूल मूल मूल अलकैं परीं।।
कण्ठा कण्ठ पर कर कटि पर छोर छूटे, नवलकिशोर ठाढ़े घोर घन सांकरी।
अग्र अरबीले संग अङ्गराग अनभङ्ग अङ्गद, अमोल बाहु अङ्ग छबि सांवरी।।

मीच लागी प्यारियै—कीर्तन और नृत्य करके प्राण अर्पण किये, यह लौकिक मृत्यु नहीं है, दिव्य सद्गति है अतः प्यारी लगी। पाण्डवगीता में कहा है—

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति, रात्रौ न कृष्ण पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्न देहाः प्रविशन्ति कृष्णे, हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे।।

अर्थ—जो श्रीकृष्णमें रत हैं, रातमें पुनः उठकर दिनमें उनका सदा स्मरण करते हैं। वे शरीरको छोड़कर उसी प्रकार श्रीकृष्णमें प्रवेश करते हैं, जैसे मन्त्रोंके द्वारा दिया हुआ हविष्यान्न अग्निमें प्रवेश करता है।। श्रीकृष्ण इनके प्रेम पर रीझकर इन्हें गोलोक वैकुण्ठको ले गये।

* भूरिदा भक्तजन *

गुनगन बिसद गोपाल के एते जन भये भूरिदा।।
वोहिथ रामगुपाल कुंवरवर गोविन्द मांडिल।
छीत स्वामी जसवन्त गदाधर अनन्तानन्द भल।।
हरिनाभ मिश्र दीनदास बछपाल कन्हर जस गायन।
गोसू रामदास नारद स्याम पुनि हरिनारायन।।
कृष्णजीवन भगवानजन स्यामदासबिहारी अमृतदा।
गुनगन बिसद गोपाल के एते जन भये भूरिदा।।१४६।।

शब्दार्थ—भूरिदा=अधिक देने वाले अति उदार। बोहिथ=जहाज, एक भक्तका नाम। जस गायन=भगवत् यश गाने वाले। अमृतदा=महामधुर रसके देने वाले, प्रेममय जीवन दाता। बिसद=स्पष्ट, स्वच्छ, सुन्दर, अनूकूल।

भावार्थ—अपने उपदेशोंके द्वारा भगवानके विशद गुणगणोंका महान् दान देने वाले ये भक्त हुए। श्रीबोहितजी, रामगोपालजी, कुंवरवरजी, गोविन्दजी, माँडिलजी, छीतस्वामी यशवन्तजी, गदाधरजी, अनन्तानन्दजी, हरिनाभ मिश्रजी, दीनदासजी, बछपालजी, कन्हरजी, गोसूजी, रामदासजी, नारदजी, श्यामजी, हरिनारायणजी, कृष्णजीवनजी, जनभगवानजी, श्यामदासजी और बिहारीदासजी ये भगवत् सुयशके गायक परम मधुर प्रेमरूपी अमृतके दाता हुए।। १४६।।

व्याख्या—गुनगन बिसद—भगवान की कथा विशद है, श्रोता-वक्ताको भी विशद बना देती है। (भा० १२-१२-४८, ४९) में श्रीसूतजी कहते हैं—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा, न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं, तदेव पुण्यं भगवद् गुणोदयम्।।
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां, यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते।।

अर्थ—जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी भगवानके नाम, लीला, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता है, वह निरर्थक—सारहीन है, सुन्दर होने पर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करने वाली होने पर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवानके गुणों से परिपूर्ण रहते हैं, वे परम पावन हैं, वे मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवानके परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्तकाल तक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लम्बा-चौड़ा और गहरा ही क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिए सूख जाता है। गुनगन, दया, क्षमा, सौशील्य, सौहार्द, ब्रह्मण्य, देवत्व, भक्तवात्सल्य आदि। उनमें 'भक्त वात्सल्य, सबही को टारे हैं।' (क० ४०) भक्तोंको इसी गुणका सहारा है। दण्डवत् मात्रसे विभीषण को अपनाया। 'कं वा दयालु शरणं व्रजेम।'

भूरिदा—लौकिक सम्पत्ति अन्न, धन, धाम, धरती, हाथी और घोड़ा आदिके देने-लेने वालोंको लौकिक लाभ ही होता है। इनको लेने वालेका पुण्य क्षीण होता है। लेते-लेते अहङ्कार लोभ आदि बढ़ते हैं। लोक-परलोक बिगड़ता है, बहुत कुछ पाकर भी सन्तोषके बिना दरिद्र ही रहता है अतः ऐसे दानके देने वाले स्वल्पदा हैं। अन्य वस्तुओंसे शरीरका और कथासे आत्माका पोषण होता है। विशद भगवद्गुणगणोंके दाता गृहीताको आध्यात्मिक लाभ, सुख, सन्तोष तो होता ही है, लोक-परलोक भी सुधर जाता है। इतना ही नहीं, गुण-चरित्र ये प्रभुके श्रीविग्रह हैं, अतः इनका दान देना साक्षात् भगवानका दान करना है, भगवानसे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है अतः ऐसे दानीको 'भूरिदा' कहा। लौकिक दानोंमें दाता श्रेष्ठ और गृहीता कनिष्ठ होता है पर यहाँ दानों श्रेष्ठ हैं अतः यह प्रशंसनीय है। 'प्रबुध प्रेम की राशि भूरिदा आविर्होता।' (छ० १३) नव योगीश्वर भूरिदा हैं। पुनः—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।। (भा० १०-३१-९)

अर्थ—गोपियाँ कहती हैं-प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम्हारी लीला-कथा अमृतस्वरूप है, विरहसे सताये हुए लोगोंके लिए तो वह जीवन सर्वस्व ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी-भक्त-कवियोंने उसका विस्तारसे गान किया है।, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही हैं, साथ ही श्रवण-मात्रसे परम मङ्गलका दान भी करती हैं, वह परम सुन्दर और मधुर हैं। ऐसी तुम्हारी उस लीला-कथाका जो गान करते हैं वे वास्तवमें भू-लोकके सबसे बड़े दाता हैं। सन्तजन देते ही देते हैं—

साँचो उपदेश देत भली भली सीख देत, समता सुबुद्धि देत कुमति हरति हैं।
मारग दिखाय देत भव और भक्ति देत, प्रेम की प्रतीति देत अभरा भरति हैं।।
ज्ञान देत ध्यान देत आतम विचार देत, ब्रह्म को बताय देत ब्रह्ममें चरित हैं।
सुन्दर कहत जग सन्त कछु लेत नाहीं, सन्तजन निसिदिन देबोई करति हैं।।

श्रीबोहितजी—आप अपने आश्रममें निवास करते हुए सदा भगवानके गुणोंका गान किया करते थे। प्रेमीभक्त सुनकर कृतार्थ होते। इस प्रकार ये भवसागरसे पार करने वाले बोहित-जहाज ही थे। आश्रमके निकट एक भूतका निवास था। वह भी दूरसे कथा श्रवण करता। एकबार चाँदनीकी रातमें आश्रमके समीप बहुतसे ग्रामीण बालक खेल रहे थे। भूत भी आकर उनके साथ खेलने लगा। आपने सभी बालकोंको आज्ञा दी कि अब खेल बन्द करके यहाँ मेरे पास आकर नाम-सङ्कीर्तन करो। आज्ञा पाकर सभी बालक आपके समीप आ गये। परन्तु एक दूर ही खड़ा रहा। श्रीबोहितजीके बुलाने पर भी नहीं आया। तब आपने बालकोंको आज्ञा दी कि—इसे पकड़कर लाओ। बालक पकड़ने गये पर वह पकड़में आता ही नहीं कई बालकोंके मिलकर पकड़ने पर भी वह छूट जाता। अलग खड़ा दिखाई पड़ता। अन्तमें आपने आज्ञा दी कि इसकी चोटी पकड़ लो, फिर नहीं छूट सकेगा ऐसा ही हुआ। समीप आने पर आपने उससे पूछा कि बता, तू कौन है। उसने कहा—मैं पूर्वजन्म में राजपूत था कुसङ्गके कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी अतः जुवां, चोरी आदि कुकर्मोंकी हमें आदत पड़ गई। मैंने निरपराधिनी, सुशीला अपनी पत्नीका बध कर डाला था, उसी पापके फलस्वरूप मुझे प्रेतयोनि मिली। किञ्चित् अनिच्छासे कथा-श्रवणका यह उत्तम फल मुझे मिला कि आपके आश्रमके निकट मैं रह रहा हूँ और आपके द्वारा कही गई कथाको सुन रहा हूँ। अब आप कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये। मैं कभी किसीको सताता

नहीं हूँ, आपकी शरण में हूँ। उसकी दीनता भरी वाणी सुनकर आपने उसके कान में भगवन्नाम सुनाया और चरणामृत दिया। वह मुक्त हो गया, आकाशमें उज्ज्वल प्रकाश छा गया, सभीको श्रीबोहितजीकी दान-शीलता एवं शक्तिका परिचय मिल गया। (भक्तदाम-गुण चित्रणी) छ० १६९ में भी आपका नाम आया है। ग्राम सुहेला लिखा है आपका प्रधान स्थान मकरापुरा कर्नाल (पंजाब) में है। वहीं परमधामबास हुआ। वहाँ पर आपकी समाधि बनी है। (सर्वेश्वर भक्तमाल)

श्रीहरिनाथ मिश्र—ये परम सुशील, सदाचारी, साधुसेवी एवं सच्चे उपदेशक थे। जिस समय आप भगवानकी कथा कहते, उस समय श्रोताओंको देह-गेहका स्मरण नहीं रहता। आपके उपदेशामृतसे अनन्त जीवोंका कल्याण होता। एक ब्राह्मण आपका शिष्य था। उसने आकर प्रार्थनाकी—भगवन् ! मेरा एक पुत्र कुसङ्ग में पड़ गया है, इसलिए वह कुकर्मी हो गया है। सभी कर्म-धर्म एवं देवोंकी निन्दा करता है, इनमें उसकी थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है। मेरे समझानेसे भी नहीं मानता है। आप कृपा करके कोई उपाय बताइये। जिससे उसका उद्धार हो। श्रीमिश्रजीने कहा—उसे मेरे पास भेजा करो, यहाँ आयगा तो उसे सत्संग मिलेगा। मैं समझा-बुझाकर उसे ठीक कर दूँगा। ब्राह्मण ने आकर पुत्रसे कहा—तू गुरुजीके पास नित्य जाया कर, उससे तेरी बुद्धि शुद्ध हो जायगी। उसने पिता की बात न मानकर उनका तिरस्कार किया। उसे सत्संगमें जानेमें चिढ़ थी। ब्राह्मणने आकर सब समाचार गुरुजीको सुनाया। तब इन्होंने कहा—तुम चिन्ता मत करो, अब मैं ही कोई न कोई उपाय करुँगा।

संयोगवश एकदिन जब उस ब्राह्मणका पुत्र इनके आश्रमके समीप होकर निकला तो इन्होंने थोड़ा-सा जल उसके ऊपर डाल दिया। कृपापूर्ण जलका स्पर्श पाते ही उसके पाप नष्ट हो गये, उसके विचार बदल गये, बुद्धि निर्मल हो गई अतः नित्य सत्सङ्गमें आने लगा। धीरे-धीरे श्रीमिश्रजीकी रसमयी कथाको सुननेकी आदत पड़ गई। अब तो वह कुसङ्ग और दुराचारसे बहुत दूर रहने लगा। अब कथा-सत्सङ्गके बिना उससे रहा नहीं जाता। वह विष्णु भगवानका अनन्य उपासक बन गया। भ० दा० गु० टीकाकार कहते हैं कि वह जगत् पूज्य हो गया। यथा—

भयौ पूज्य सो जगत माहिं गुण लक्षण सन्त समाना।।
ज्यौं पारस ते लोहा गुन तजि होवै कनक प्रधाना।
अस प्रताप हरिनाभ भक्त कौ विगर्‌या फेरि सुधारा।।

श्रीवच्छपालजी—आप अनन्त भगवद् भक्त थे। आपने अपने भजनके प्रतापसे असंख्य

जीवोंका कल्याण किया। आपकी माताजी को कालज्वर आया। यमके दूत उसे डराने और ले जानेकी तैयारी करने लगे। माताको बड़े कष्टका अनुभव हो रहा था। उनको शरीरकी सुधि नहीं रही, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। श्रीवच्छपालजी घर पर नहीं थे। बाहरसे आकर उन्होंने माताका कष्ट देखा तो वहीं भगवानकी कथा और नामोंका गायन आरम्भ कर दिया। उसे सुनते ही यमदूत भाग गये और विष्णु पार्षदोंने आकर दर्शन दिया। स्वस्थ होकर माताजीने यमदूतोंके द्वारा प्राप्त कष्टका वर्णन करते हुए कहा कि तुम्हारे कीर्तनसे मुझे बड़ा सुख मिला, मेरा सारा कष्ट दूर हो गया। तू धन्य है, तूने नरक से मेरा उद्धार कर दिया। यमदूत मुझे मार रहे थे। विष्णुदूत अब सादर विमान पर बैठाकर ले जा रहे हैं। चित्रणी में लिखा है—

ये मोहिं दीखत प्रगट बोलत पुत्र तोर प्रताप।
अस भाषि सोई नांखि तनकूं गई करि हरि जाप॥
सौ बछू भक्त प्रताप ऐसे उद्धरी निज मात।
हरि भक्त तो सब जगत तारैं मात की का बात॥

श्रीछीतस्वामीजी—श्रीगोपाललालके विशद गुणगणोंके उदार दाता अष्टछापके कविका जन्म लगभग १५७२ वि० सं० में हुआ। आप श्रीमथुराके चतुर्वेदी ब्राह्मण सुबल सखाके अवतार थे। वीर प्रकृतिके कारण ये किसीसे दबते न थे। इनके चार साथी और थे। ये पाँचों नामी-गामी प्रसिद्ध थे, उनमें छीतू चौबे सरदार थे। आये-गये तीर्थयात्रियों से और मथुरा-वासियोंसे भी ये अपनी भेंट-पूजा राजी-राजी और कभी-कभी गैर-राजी भी ले लिया करते थे। इससे प्रायः लोग इनसे भयभीत रहते और इन्हें गुण्डा-पण्डा कहते। जिस समय इनकी अवस्था लगभग बीस वर्षकी थी, उस समय श्रीविट्ठलनाथजीकी दिव्य भक्ति निष्ठाकी चर्चा चारों ओर तेजीसे फैल रही थी। एकदिन छीतू चौबेकी मित्र मण्डलीमें श्रीविट्ठलनाथजीकी चर्चा चारों ओर छिड़ गई। ये लोग कहने लगे कि गोकुलके गोसाईंजी जादू-टोना बहुत अच्छा जानते हैं। जो भी कोई उनके पास पँहुच जाता है, उसके ऊपर जादू चलाकर उसे मोहित कर लेते हैं, फिर तो वह अपने तन-मन-धनका समर्पण कर उनका चेला बन जाता है। दूसरेने कहा-अजी! उनके यहाँ ठाकुरके भोगमें बढ़िया से बढ़िया चक्कमाल मिलते हैं। इसीसे लोग उनके गुन गाते हैं और चेला बन जाते हैं। अन्तमें इन पाँचोंने निश्चय किया कि गोकुल चलकर गोसाईंजीकी परीक्षा ली जाय और देखा जाय कि हम ब्राह्मण लोगों पर कैसे अपनी मोहिनी विद्या चलाते हैं। हम लोग तो

काली कामर हैं, हमारे ऊपर किसीका रङ्ग चढ़नेसे रहा। भेंटके लिए एक सूखा-थोथा नारियल और एक खोटा रुपया लेकर इन लोगोंने नावमें बैठकर गोकुलकी यात्रा की।

वहाँ पहुँचकर छीतू चौबेने कहा—तुम लोग बाहर द्वार पर खड़े रहो। मैं जाकर वहाँका रङ्ग-ढङ्ग देखता हूँ, पीछेसे तुम लोग भी भीतर आ जाना। उस समय श्रीगोसाईंजी विश्राम करके उठे थे और अपनी गद्दी पर बैठकर स्वाध्याय कर रहे थे, उनके हाथमें पुस्तक थी। इनके पुत्र श्रीगिरिधरजी भी समीपमें विराजमान थे। छीतू चौबेने उनके समीप जाकर जब उनका दर्शन किया तो इनके मनमें पश्चात्ताप हुआ कि—मैं दिव्य देव-स्वरूप, शान्त महापुरुषकी मसखरी और परीक्षा लेने आया, मुझे धिक्कार है। इन्होंने नारियल और रुपये को छिपा लिया और श्रीगोसाईंजीको दण्डवत् की। तब वे मुस्करा कर बोले—'आओ, छीतस्वामी ! कहो, अच्छी तरहसे हो न ? तुम बहुत दिनोंमें दिखाई पड़े।' इन्होंने पुनः साष्टाङ्ग दण्डवत् की और हाथ-जोड़कर प्रार्थना की—'महाराज ! मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मुझे अपनाइये।' गोसाईंजीने कहा—'तुम तो मथुरा के चतुर्वेदी हो, मेरे भी पूज्य हो, सिद्ध पुरुष हो, मुझे दण्डवत् प्रणाम क्यों करते हो ?' छीतस्वामीने पुनः कहा—प्रभो ! अब आप मुझ पर कृपा करो, मैं स्वामित्वको छोड़कर आपका दास बनना चाहता हूँ। मेरे मनमें तो बहुत कुटिलता थी, परन्तु आपके दर्शनोंसे वह दूर हो गई। मैं तो अब आपके हाथ बिक गया। आप जो चाहें सो करें। परमदयालु श्रीगोसाईंजीने छीत स्वामीके शुद्ध-भावको जाना और इन्हें नाम देकर इनको अपना बना लिया। उसी समय उनकी कवित्व शक्ति जग गई, इन्होंने बड़ी उमङ्गके साथ गाया—

भई अब गिरिधर सों पहचान।
कपट रूप धरि छलिबे आयौ पुरुषोत्तम नहिं जान।।
छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यौ छाय रह्यौ अज्ञान।
छीत स्वामि देखत अपनायौ श्रीविट्ठल कृपा निधान।।

इनके चारों साथी जो बाहर बैठे ताक-झाँक कर देख रहे थे। इन्होंने कहा—छीतू को तो टोना लग गया, हम लोग यदि यहाँ रुकेंगे तो हमारे ऊपर भी टोना चल जायगा, इसलिए यहाँसे जल्दी भाग चलो। चारों मथुराको वापस आ गये। श्रीगोसाईंजीने छीत स्वामीसे कहा—'हमारी भेंट लाये हो, उसे लाओ। ये मनमें विचार करने लगे कि नारियल और रुपया तो भेंटके योग्य हैं नहीं, ये सर्वज्ञ हैं, इनसे कुछ छिपा नहीं है। जैसे इन्होंने मुझ थोथे-खोटेको अपनाया है, उसी तरह से मेरी भेंट भी स्वीकार करेंगे। ऐसा विचारकर

डरते-डरते इन्होंने भेंट रक्खा। श्रीगोसाईंजीने नारियलको फोड़वाकर श्रीनवनीत-प्रियको भोग धरवाया और रुपयेके पैसे मँगवाये। नारियलमें से अति उत्तम गिरी निकली, सबको प्रसाद मिला रुपया भी चल गया। इससे और अधिक श्रद्धा हुई। इन्होंने सोचा—वस्तुतः कोई भी वस्तु या जीवन गुरु-गोविन्दके योग्य नहीं है, सब कुछ खोटा ही है, भगवदर्पित होकर ही वस्तु खरी होती है और जीव विशुद्ध होता है। मैं भवसागरके प्रवाह में बह रहा था। इन्होंने कृपा करके मेरा उद्धार किया। श्रीगुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम करके भावमें भरकर दूसरा पद गाया—

हौं चरणातपत्र को छहियां।
कृपासिन्धु श्रीबल्लभनन्दन, बह्यौ जात राख्यौ गहि बहियां॥
नव नखचन्द्र सरद राका ससि, त्रिविधि ताप मेटत छिन महियां।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, सुजस बखान सकति श्रुति नहियां॥

इस पदको सुनकर श्रीगोसाईंजी बहुत प्रसन्न हुए। छीतस्वामीने कहा—'महाराज! वेद भी आपकी महिमाका पार नहीं पाते हैं तो उसे तुच्छ कवि क्या गावेगा।' सन्ध्या आरतीका समय हो गया था, इसलिए श्रीगोसाईंजीने आज्ञा दी कि—'मन्दिरमें जाकर श्रीनवनीतप्रियके दर्शन करो।' आपने आकर दर्शन किया तो श्रीठाकुरजीके निकट ही श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। मनमें आया कि भीतरसे मन्दिरमें आनेका रास्ता होगा। उसीसे आ गये। पुनः इधर उधर आकर देखा तो गद्दी पर विराजमान हैं। अब छीतस्वामीने श्रीगोसाईंजीके वास्तविक रूपको समझा और साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम किया। कुछ देर बाद शयन आरती हुई और गोसाईंजीने भगवानका प्रसाद छीतस्वामीको पवाया और आज्ञा दी कि प्रातःकाल ही श्रीगोवर्धन चले जाना और श्रीश्रीनाथजीके दर्शन करके आना। आज्ञानुसार गोकुलमें मङ्गला आरतीके दर्शन करके छीतस्वामी श्रीगोवर्धन आये और राजभोगके समय श्रीनाथजीके दर्शन किये। यहाँ भी मन्दिरमें गुरुदेवके दर्शन हुए तो आपने लोगोंसे पूछा, तब लोगोंने बताया कि गोसाईंजी तो श्रीगोकुल में हैं। अब ये समझ गये कि जो गुरु हैं, वही गोविन्द हैं। गोवर्धनसे चलकर छीतस्वामीने पुनः गोकुल आकर श्रीगोसाईंजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। उन्होंने पूछा—'कहो, श्रीश्रीनाथजीके दर्शन हुए।' इन्होंने कहा—'हाँ महाराज! श्रीश्रीनाथजीके निकट आपके भी दर्शन हुए।' ऐसा कहकर आपने अपने अनुभवका पद गाया—

जे वसुदेव किये पूरन तप, ते फल फलित श्रीबल्लभ देह।
जे गोपाल हते गोकुल में, तेई अब आइ बसे करि गेह॥

जे वे गोप बधू हीं ब्रजमें, तेई अब वेद रिचा भईं एह।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, एई वेई वेई एई कछु न संदेह॥

तीसरे दिन यमुनामें स्नान कराकर गोसाईंजीने इन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध कराया अपना शीत-प्रसाद और पान-बीड़ा देकर इन्हें घर पर रहकर भजन-साधन करते हुए जीवन-यापन करने की आज्ञा दी। घर आने पर पुराने चारों साथी आकर इनसे मिले और बोले—हमने तो उसी समय जान लिया कि इन पर टोना चल गया। इन्होंने कहा—'हाँ, ठीक है, अब हमारा-तुम्हारा साथ छूट गया। अब यदि तुम मेरा साथ चाहो तो गोसाईंजी के शिष्य बनो।' कालान्तरमें इन सब पर श्रीगोसाईंजीकी कृपा हुई।

छीतस्वामीकी दिल्लीमें पुरानी यजमानी थी। बीरबल भी इनका यजमान था। ये प्रतिवर्ष वहाँ जाकर अपनी वार्षिक भेंट लाते। उसी नियमसे दिल्ली गये और बीरबलके यहाँ ठहरे। प्रातःकाल ही आपने अपने नित्य-नियमानुसार पद गाया—

जय श्रीबल्लभ राजकुमार।
पर पाखण्ड कपट खण्डन करि, सकल वेद धुरि धार॥
परम पुनीत तपोनिधि पावन, तन शोभा जित मार।
श्रीमुख वाक्य कथित लीलामृत, सकल जीव निस्तार॥
निज मति सुदृढ़ सुकृत हरि पावन, नवधा भक्ति प्रचार।
दुरितहु दुरत अचेत प्रेतगित, हतित पतित उद्धार॥
नहीं मिति नाथ कहाँ लौं बरनौं, अगनित गुनगन सार।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, प्रगट कृष्ण अवतार॥

इस पदको बीरबलने सुना तो—'प्रगट कृष्ण अवतार' यह बात उसे नहीं जँची। फिर राजभोग रखकर आपने श्रीठाकुरजीके सामने छीतस्वामीने गाया तो—'एई वेई वेई एई' यह भी उसे अच्छा नहीं लगा, तो उसने इनसे कहा—'इन पदोंमें तुम श्रीगोसाईंजीको साक्षात् श्रीकृष्ण बता रहे हो, बादशाह म्लेच्छ है, अगर कहीं सुन पावेगा और तर्क करके, पूछेगा, तो तुम क्या उत्तर दोगे? श्रीछीतस्वामीने कहा—'जब बादशाह कुछ पूछेगा, तब हम उसे जो समझमें आयगा, सो उत्तर देंगे, परन्तु मेरे विचारसे तू ही म्लेच्छ है, क्योंकि तुझे अविश्वास है, अतः मैं तेरा परित्याग करता हूँ। तेरा अन्न-जल और भेंट कभी स्वीकार न करूँगा। बीरबलने समझा-बुझाकर रोकना चाहा, परन्तु आप रुके नहीं। मथुरा आ गये, फिर कभी दिल्ली नहीं गये।

अकबर बादशाह को सब समाचार मिला तो उसने बीरबलसे कहा—तुमको भूल गया, एकबार हम और तुम नावमें बैठकर आगरा जा रहे थे। नाव जब गोकुलमें पहुँची तो उस समय श्रीगोसाईंजी ठकुरानी घाट पर बैठे थे! मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने हमें आशीर्वाद दिया था। उस समय मेरे पास बहुमूल्य एक मणि थी। मैंने श्रीगोसाईंजी को भेंट दी। उन्होंने तीन बार पूछा कि—यह अब मेरी है, मैंने कहा—हाँ, तब उन्होंने मणि को यमुनाजीमें डाल दिया। मुझे दुःख होता देखकर उन्होंने यमुनासे अञ्जलि भरकर मणियाँ निकालकर दिखाईं और कहा कि तुम अपनी मणि इनमेंसे छाँटकर ले सकते हो। मैं प्रभाव देखकर चकित हो गया। फिर उन्होंने मणियाँ यमुनामें डाल दीं। यदि उनके शिष्यने उन्हें प्रकट कृष्णका अवतार कहा तो क्या अनुचित किया।

बिना भेंट विदाई लिए दिल्लीसे रूठकर चले आनेका समाचार सुनकर श्रीविट्ठलनाथ जीने दर्शनार्थ आये लाहौरके वैष्णवोंसे कहा—यदि छीतस्वामी लाहौर पहुँचे तो उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना। इसके बाद आपने इन्हें बुलाकर कहा कि—तुम लाहौर चले जाओ, वहाँ तुम्हारी सेवा हो जायगी। इन्होंने उत्तर दिया कि—भीख माँगनेके लिए मैं वैष्णव नहीं बना हूँ, आपकी कृपासे विश्रान्त घाट पर ही बिना माँगे श्रीयमुना मैया देती-दिलाती हैं, तो फिर आपके चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं क्यों जाऊँ? लाहौरके भक्त प्रतिवर्ष इनके लिए सौ रुपये की हुण्डी भेजने लगे। उसे आप गुरु-गोविन्दकी सेवामें समर्पित कर देते।

एकबार जन्माष्टमीके सुअवसर पर श्रीगोसाईंजी श्रीठाकुरजीको झूला झुला रहे थे। श्रीछीतस्वामीको उस समय अद्‌भुत दर्शन हुए। आपने देखा कि—कभी श्रीठाकुरजीको श्रीगोसाईंजी झुलाते हैं तो कभी श्रीगोसाईंजीको श्रीठाकुरजी झुलाते हैं उस समय श्रीछीतस्वामीने यह पद गाया—

प्रिय नवनीत पालने झूलैं, विट्‌ठलनाथ झुलावैं हो।
कबहुँक आप सङ्ग मिलि झूलैं, कबहुँक उतरि झुलावैं हो॥
कबहुँक सुरँग खिलौना लै लै, नाना भाँति खिलावैं हो।
चकइ फिरकिनी कबहूँ नचावैं, झनु-झुन हाथ बजावैं हो॥
भोजन करत थाल इक झारी, दोउ मिल खाय खबावैं हो।
गुप्त महारस प्रगट जनावैं, प्रीति नई उपजावैं हो॥
धनि धनि भाग दास निज जनके, जिन यह दर्शन पाये हो।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्‌ठल, निगम एक करि गाये हो॥

इनके सेवा-भाव प्रेम-भाव और कवित्व पर रीझकर श्रीविट्ठलनाथजीने इन्हें अष्टछापमें स्थान दिया और श्रीनाथजीकी कीर्तन सेवा सौंपी। ये गोवर्धन पूंछरीके निकट रहते और श्रीनाथजीकी कीर्तन-सेवा करते थे। इनके प्रायः दो सौ पद प्राप्त होते हैं, कुछ अप्रकाशित भी हैं, इनकी भाषा सरल और स्पष्ट है। 'मेरी अँखियनके भूषण गिरिधारी।' (पूरा पद पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३६० में देखिये)

मेरी अँखियन गिरिधर भावै।
कहा कहौं तोसों सुनि सजनीं, उतही कौं उठि धावैं॥
मोर मुकट कानन कुण्डल लखि, तन गति सब बिसरावै।
बाजूबन्द कण्ठ मनि भूषन, निरखि निरखि सचु पावै॥
छीतस्वामि कटि छुद्र घण्टिका, नूपुर पदहिं सुनावै।
यह छबि सदा श्रीविट्ठल के उर, मो मन मोद बढ़ावै॥

श्रीब्रजभूमिके प्रति इनका बड़ा अनुराग था। यथा—

ए हो विधना तो पै अचरा पसारि मांगौं, जनम जनम दीजौ याही ब्रज बसिबो।
अहीर की जाति समीप नन्द घर, घरी घरी स्याम हेर हेर हँसिबो॥
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिनमें, झकझोरिन अङ्ग अङ्ग को परसिबो।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, सरद रैन रस रास को विलसिबो॥

गुरुदेव श्रीविट्ठलनाथजीके लीला प्रवेशके पश्चात् ये उनके वियोगमें व्यथित हो गये। उस समय इन्हें श्रीनाथजीने दर्शन दिया। 'विहरत सातो रूप धरे।' इस पदको गाते-गाते अपने निवास स्थान पूँछरी पर ही आपने वि० सं० १६४२ में शरीर छोड़ा और नित्य-लीला धाममें प्रवेश किया। (वैष्णववार्तासे)

श्रीबिहारीदासजी—भक्त जगतमें श्रीबिहारिनदेव इस नाम से जाने जाते हैं। आपके पिताका नाम मित्रसेन था। ये दिल्ली बादशाहके उच्चपदाधिकारी थे। आप सब प्रकार के सुखोंसे सम्पन्न थे, परन्तु सन्तानके बिना सभी सुख फीके लगते थे। पण्डित चतुर्भुजजी नामके एक आपके घनिष्ठ मित्र थे। इन्हें स्वामी श्रीहरिदासजीकी कृपासे पुत्रकी प्राप्ति हुई थी अतः इन्होंने अपने मित्र मित्रसेनके लिए भी श्रीस्वामीजीसे प्रार्थनाकी। चतुर्भुजजीके कहनेसे मित्रसेनजी भी श्रीस्वामीजीके दर्शनार्थ श्रीवृन्दावन आये और इन्हें भी श्रीस्वामीजी की कृपासे श्रावण शुक्ल ३ को एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। उनका नाम बिहारीदास हुआ। पण्डित चतुर्भुजजीके पुत्र श्रीकृष्णदासजी थे। वे भी श्रीस्वामीजीके कृपापात्र और अनन्य

रसिकोंमेंसे एक थे। ये रात-दिन नित्य-विहार उपासनामें इतने लीन रहते थे कि अन्य बातोंकी सुध-बुध ही नहीं रहती थी। इसलिए आपके द्वारा रचित कोई साहित्य या अन्य विवरण नहीं मिलता है। पिताके देहान्तके बाद श्रीबिहारीदासजी राज-सेवा में नियुक्त हुए। एकबार आसाम पर आक्रमण करनेके लिए आपको खानखाना के साथ जाना पड़ा। वहाँ युद्ध एवं उसकी रीति-नीतिसे आपके मनमें दुःख उसके बाद वैराग्य उत्पन्न हो गया। आपने मनमें दृढ़ निश्चय किया कि अब यवनोंकी नौकरी नहीं करनी है। छुटकारा पानेका कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ा तो आपने अपने ही हाथसे अपना एक हाथ काट डाला। इस महान् प्रायश्चित्तसे प्रारब्ध क्षीण हो गये और यवनराजकी सेवासे सहज में मुक्ति मिल गई।

श्रीधाम वृन्दावनमें आकर निधिवनमें श्रीस्वामीजीके श्रीचरणोंका स्पर्श करते ही आपका कटा हुआ हाथ ज्यौंका त्यौं हो गया, श्रीस्वामीजीकी आज्ञासे श्रीविट्ठलविपुलदेवजी ने इन्हें शिक्षा-दीक्षा प्रदान की और निकुञ्ज-महलकी उपासनाका रहस्य बताया। तभी से 'श्रीबिहारिनदेवजी' इस नामसे आप प्रसिद्ध हुए। आपकी गुरु-गोविन्दमें निष्ठा और कहनी-रहनी ऐसी थी कि आपके समकालीन श्रीहरिरामजी व्यासको कहना पड़ा—

साँची प्रीति बिहारिन दासै।
कै करवा कै कुञ्ज कामरी, कै गुरु स्वामी हरिदासै।।
प्रतिबाधिक सहि सकत न तिनकौ, जानत नहीं कहा कहि त्रासै।
महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै, गावत रस जस जगत उदासै।।
छिन ही छिन परतीति बढ़त रस, रीति निरखि बिवि वदन विलासै।
अङ्ग संग नित्य विहार विलोकत, इहै आस निधुवन बसि व्यासै।।

श्रीस्वामी हरिदासजीके निकुञ्ज प्रवेशके सातवें दिन ही जब स्वामी श्रीविट्ठल-विपुलदेवजी भी श्रीस्वामिनी-स्वरूपमें लीन हो गये, तो उनके स्थान पर श्रीबिहारिनदेवजी ही विराजमान हुए। श्रीबिहारीजीकी सेवा आप उसी लाड़-चावसे करते थे, किन्तु कभी-कभी नित्य केलिकी भावनामें ऐसे लीन हो जाते कि देह कृत्यादिकी सुध-बुध भी भूल बैठते। एकदिन आप स्नान करनेके लिए श्रीयमुना तट पर गये। वहाँ दातुन करते हुए—'विहरत लाल बिहारिन दोऊ, श्रीयमुनाके तीरे तीरे।' इस तुकको गाने लगे। उस समय युगलकी छवि-छटामें आप ऐसे छक गये कि दातुन करते और गाते-गाते सन्ध्या हो गई। त्रिकाल यमुना स्नान करने वाले श्रीमदनमोहनजीके पुजारीने इनकी यह दशा देखी, तो उन्होंने

गोस्वामी श्रीसनातनपादजीसे जाकर निवेदन किया—'महाराज ! आज श्रीयमुनाजी के किनारे एक बाबाजी सबेरे से दातुन कर रहे हैं और पद गा रहे हैं। अब तक न तो उनकी दातुन पूरी हुई और न पद ही पूरा हुआ। यह सुनकर गोस्वामोपाद समझ गये कि ऐसे रसोन्मत्त सन्त तो श्रीबिहारिनदेवजी ही हो सकते हैं। उन्होंने पुजारीके हाथों श्रीमदन-मोहनजीका प्रसाद भेजवाया। पुजारीके द्वारा कई बार कहने पर भी आपने ध्यान नहीं दिया। तो पुजारी गोस्वामीजीके पास लौट आया। गोस्वामीजीने कहा कि—उनसे जाकर यह कहो कि—'श्रीस्वामीजीका प्रसाद लाया हूँ।' पुजारीने जाकर जब इस प्रकार कहा, तो स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीने तुरन्त उठकर हाथ फैलाकर प्रसाद ग्रहणकर लिया। तब आपको अपनी दशाका भान हुआ। उसी समय स्नान आदि करके आये श्रीबिहारीजी की सेवा की। इस घटनाका संकेत आपकी वाणीमें मिलता है—

सरसरूप सुखमें सन्यौ मन अटक्यो गुनगान। बिहारिदास जानैं नहीं कित भोजन असनान।
उठि बैठ्यौ हौं भोर ही एक तान गुणगान। आवत जात अथै गयौ तीन काल असनान॥

मूलचन्द नामक माट गाँवके ब्राह्मण सेवामें सामग्री लाया करते थे। आप कभी यमुनाजीके किनारे बैठे मिलते तो कभी किसी लता-कुञ्जमें। आपकी इस तन्मयताको देखकर उसने स्वयं श्रीबिहारीजीकी सेवा प्राप्त करनेकी प्रार्थनाकी। आपने उसकी भाव-भक्ति देखकर उसे श्रीबिहारीजीकी सेवा सौंप दी। कुछ समय पश्चात् उसका देहान्त हो गया तो उसके भाईने श्रीबिहारीजीकी सेवाकी। उसकी भी मृत्यु हो गई तो कुछ काल तक आपने फिर स्वयं सेवा की। फिर गोस्वामी श्रीजगन्नाथजी पर प्रसन्न होकर आपने उन्हें सेवा सौंपी। तबसे अब तक श्रीबिहारीजीकी सेवा उन्हींके वंशज करते चले आ रहे हैं।

सुहावनी शरद् ऋतुका समय था। निधिवनका सौन्दर्य सीमाको पार कर रहा था। श्रीबिहारिनदेवजी नेत्र मूंदकर प्रिया-प्रियतमकी कुञ्ज-क्रीड़ाके अवलोकनमें निमग्न हो रहे थे। उसी समय त्रिभुवन-मोहन श्यामसुन्दर अपने सखाओंके साथ खेलते हुए वहाँ आ पहुँचे। सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठे—'अरे कन्हैया ! देख आँखोंको बन्द करके यह कौन बैठा है।' श्यामसुन्दरने कहा—'रहने दो, तुम्हें क्या पड़ी सन्तको अपना भजन करने दो।' सखाओंने आग्रह किया—नहीं, भैया ! सन्तसे कुछ वार्तालाप सत्सङ्ग करना चाहिए। नन्दनन्दनने श्रीबिहारिनदेवके समीप आकर उन्हें पुकारा—बाबा ! जरा आँखें तो खोलो।' दो-तीन आवाजोंका कुछ प्रभाव नहीं हुआ तो सभीने मिलकर पुकारा, तब आपका ध्यान इधर आया। आँखें बन्द किये हुए ही बोले—'तुम लोग कौन हो, क्या बात है ?' श्रीकृष्णने कहा

मैं वही हूँ, तुम जिसका ध्यान कर रहे हो। साथमें मेरे सखा हैं। इन्होंने पूछा—'आपके साथ श्रीस्वामीजी भी हैं क्या ?' उत्तर दिया—'वे तो नहीं हैं।' आपने कहा—'तो आपने जिसके चित्तवित्तका अपहरण कर रक्खा है, उसीके पास जाओ हम तो श्रीस्वामी हरिदासजी के अङ्कमें विराजने वाले युगलकिशोरके अनन्य उपासक हैं। उनके बिना और किसी को नहीं चाहते हैं, यह हमारा हठ है।' यथा—

चित्त हरौ सब वित्त हरौ, नवनीत हरौ ब्रजजानि जहाँ कौ।
हरे हरि ह्वै रहिहौं हो लला हौं, तो हेरि रह्यौ हठ ही हठ झांकौ।।
श्रीबिहारिनदास अनन्य मिले, रस पाय पिया पिय अंक महां कौ।
हौं तो और स्वरूप पिछानौ नहीं, हरिदास बिना हरिको है कहां कौ।।

आपके इस प्रेमपूर्ण हठ पर रीझकर श्रीस्वामीजीकी गोदमें विराजकर श्रीयुगल-किशोरने आपको दर्शन देकर कृतार्थ किया। लगभग ९८ वर्षकी आयुमें आपने शरीर को त्यागकर नित्य-निकुञ्ज-लीलामें प्रवेश किया। आप श्रीस्वामीजीके द्वारा प्रवर्तित वृन्दावनकी निकुञ्जोपासनाके सुदृढ़ स्तम्भ, रससिद्धान्तके महान् तत्वज्ञ एवं उसके भाष्यकार थे। आपकी वाणी ओजस्विनी एवं रसीली है। उसमें स्वामीजीके सिद्धान्तोंका विवेचन है। रस और सिद्धान्त दोनों प्रकारकी आपकी रचनायें हैं। श्रीव्यासजी, श्रीध्रुवदासजी आदिने आपकी कहनी-रहनी, निर्भयता आदिकी प्रशंसाकी है। ब्रजनाथजी कहते हैं—

ऐंड्यौ ऐंड्यौ फिरै विपुलबल रसकौ पीये। बानी जाकी सुनत छुटै सब साधन हीये।।
कुंजबिहारी वरविहारकुंजनि बसि गायौ। इहि बल गरजत रह्यौ लरजि रसिकन सिरनायौ।।
रस भूमि उपासक रहसि को ऐसो को ह्वै है सुभट।
सपूत पूत हरिदासको बिहारीदास अननि मुकुट।।

(भक्तमाल सर्वेश्वरसे)

गायौ नित्य विहार रीति सब जग ते न्यारी। स्यामास्याम उपासि महा बांकौ व्रत धारी।।
श्रीयुत बीठल विपुल सुगुरुवर शिष्य उजागर। रचि पद साखीछन्द लड़ावै नागरि नागर।।
एक टेक नित निरबही राउ रंक तजि आस। श्रीहरिदास प्रसाद गुण भयौ बिहारीदास।।

श्रीबिहारिनदेवजीकी वाणी—

दरसैं परसैं अंग अंग लसैं विलसैं सुख सिन्धु न प्रेम अघैहौं।
निरखैं नित नैन सुमाधुरे बैन सु श्रौन सुचैंन सुने गुन गैहौं।।

दम्पति साँच हिये धरि या सुख ते न कहूँ कबहूँ चलि जैहौं।
नित्य विहार अधार हमार श्रीबिहारि बिहारिनि की बलि जैहौं।।
श्रीहरिदासके गर्व भरे अमनैक विहार निहारिन के।
सुमहामधुरे रस पान करै अवसान खता सिलहारिन के।।
दीयौं न लेहिं ते माँगैं कहा बरनै गुन कौन तिहारिन के।
किये रहें ऐंड़ बिहारिहु ते हम वे परवाह बिहारिन के।।

स्यामा स्याम सुकुमार अंग अंग अलङ्कार बहु, सबही की शोभा सब शोभा वारि डारिये।
जो न पहिर्‌यौ सुहाय ताहि पहिरै बलाय, पहिरि जु बहुरि उतारि त्रास कारिये।।
इनको भजन मन रँजन सजन मिलै, अञ्जन मंजन सखी सोऊ न सम्हारिये।
कहत बिहारिदास रस सुखसार यों विहार में सिंगार भार काहे को सिंगारिये।।

मोहन मोहिनी सुहेलरा गाऊँ। लाड़िलीलाल गहेलरा लड़ाऊँ।।
वृन्दावन धन सहज शोभा मन लोभा उपजावै।
जिन पर कृपा करैं श्रीस्यामा ताहि सुन्यौ यश भावै।।
विपुल विलासिनि प्रेम प्रकासिनि जो निज प्रेमहिं पाऊँ।
ज्यौं ज्यौं कुञ्ज विहार करौ मिलि त्यौं त्यौं तुमहिं लड़ाऊँ।।
सुनौ सहेली प्रेम गहेली कौतुक तोहि दिखाऊँ।
अञ्चल जोरि चितै तृन तोरौं तन मन मोद बढ़ाऊँ।।
रायवेलि सतवर्ग सेवती विच विच चम्पक कलियाँ।
रचि रचि चौसर हार गुहैं गुहि पहिरावन चली अलियाँ।।
कुसुमित कुञ्ज गुञ्ज अलिमाला चन्दन चरची गलियाँ।
सुखद समीर बहत सौरभ जल कमल विराजत थलियाँ।
सारस हंस चकोर मोर पिक चातक भाषा भलियाँ
गावत रस जस पिय प्यारी को सुनि सुनि प्रेम निठलियाँ।।
कबहुँक बाल सलज्ज सुपिय तन कबहुँ हँसत मुख मोरी।
कबहुँक निपुन सुरति सुख सागर नागर नवल किसोरी।।
छिन छिन प्रति दम्पति नव नव रति अंग अंग अभिरामा।
प्रथम समागम स्याम दिनहिं दिन दूलह दुलहिनि स्यामा।।
अंसन अंस जोरि भुज बल्लभ भामिनि जामिनि जागे।

विलसत हँसत हँसावत रसबस अति आनन्द अनुरागे।।
नव तन तरुन तमाल लाल मिलि लता ललित फल फलियाँ।
देत असीस बिहारिनिदासी करहु नवल रति रतियाँ।।

* संसार से निवृत्त भक्त *

निरवर्त्त भये संसार ते ते मेरे जजमान सब।।
उद्धव रामरेनु परसराम गङ्गा धूषेत निवासी।
अच्युत कुल ब्रह्मदास विश्राम सेषसाई के वासी।।
किङ्कर कुण्डा कृष्णदास खेम सोठा गोपानन्द।
जैदेव राघौ विदुर दयाल दामोदर मोहन परमानन्द।।
उद्धव रघुनाथी चतुरोनगन कुंज ओक जे बसत अब।
निरवर्त्त भये संसार ते ते मेरे जजमान सब।।१४७।।

शब्दार्थ—निरवर्त्त=निवृत्त, विरक्त, छूटा हुआ, मुक्त। जजमान=यजमान, दानदाता, यज्ञकर्ता। धूषेत=ध्रुवक्षेत्र। कुञ्ज=कुञ्जलता भवन। ओक=स्थान, वृन्दावन।

भावार्थ—भक्तोंकी भक्तिके भावमें डूबकर श्रीनाभाजी लिखते हैं कि जो भक्त मायिक संसारसे सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, वे सभी मेरे यजमान हैं। उनके नाम हैं—श्रीउद्धवजी, श्रीरामरेणुजी, श्रीपरशुरामजी, ध्रुवक्षेत्रमें निवास करने वाले श्रीगङ्गाभक्तजी, शेषशायीके निवासी, अच्युत गोत्रीय, वैष्णवों को विश्राम देने वाले श्रीकृष्णदासजी, कुण्डाके किङ्कर-सेवक श्रीकृष्णदासजी, श्रीखेमजी, श्रीसोठाजी, श्रीगोपानन्दजी, श्रीजयदेवजी, श्रीराघवजी, जयतारण ग्राममें निवास करने वाले श्रीविदुरजी, श्रीदामोदरजी, श्रीमोहनजी, श्रीपरमानन्दजी, रघुनाथी श्रीउद्धवजी और श्रीचतुरोनगनजी जो अब श्रीवृन्दावनके कुञ्ज भवनमें बसते हैं।। १४७।।

व्याख्या—संसार—शब्दका अर्थ है, भव, संसृति, आवागमन, जन्म-मरण। यह संसार क्या है यह विनय-पत्रिका के निम्नलिखित पदसे स्पष्ट हो जाता है—

मैं तोहिं अब जान्यों संसार।
बांधि न सकहिं मोहि हरि के बल प्रकट कपट आगार।।
देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये विचार।

ज्यौं कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरै सार।।
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायौ पार।
महा मोह मृगजल सरिता मँह बोर्‌यौं हौं बारम्बार।।
सुन खल छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहां बसि अब जेहि हृदय न नन्द कुमार।।
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरैं मरै रजु अहि ते बूझै नहिं व्यवहार।।
निज हित सुनु सठ हठ न करहि जो चहसि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासन्ह तजि भजहिं जहां मदमार।।

श्रीमद्भागवत १०-२-२७ में संसार वृक्षका वर्णन है। यथा—संसार सनातन वृक्ष है, इसका आश्रय एक प्रकृति है, सुख-दुःख दो फल हैं, सत्व, रज और तम ये तीन जड़ें हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार रस हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये जानने के पाँच प्रकार हैं। पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना ये छः स्वभाव हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुयें छाल हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ शाखायें हैं। मुख आदि नव द्वार खोडर हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कर्मू, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी हैं, जीव और ईश्वर। इसकी उत्पत्तिके आधार एकमात्र भगवान हैं। उन्हींमें इसका प्रलय और उन्हींकी कृपासे इसकी रक्षा होती है। कामी लोग इसके दुःखरूप फलको खाते हैं, परमहंस वनवासी विरक्त सुखरूप फलको पाते हैं, श्रीगीता अ० १५ श्लोक १-३ में आदि पुरुष, मूल, ब्रह्मा शाखा वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को अविनाशी कहा गया है। मूल सहित जो इसे जाने वही वेदज्ञ है। इस संसार वृक्षकी देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनिरूप शाखायें नीचे ऊपर फैली हैं। मनुष्य लोक में कर्मों के अनुसार बाँधने वाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे ऊपर व्याप्त हैं। इसका रूप जैसा कहा है विचार कालमें नहीं पाया जाता है। क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है। स्थिति भी अच्छी प्रकारसे नहीं है। इसलिए अहन्ता, ममता और वासनारूप दृढ़ मूलों वाले संसाररूप वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिए।

रामचरितमानस उत्तरकाण्डमें संसार वृक्षरूप श्रीरामको नमस्कार किया गया है। भवाटवी-भवसागर-जन्म-मरण से जो रहित हो गये हैं, वे संसार से निवृत्त हैं। भक्तगण भक्तिके प्रभावसे संसारसे निवृत्त हो जाते हैं। यथा–

ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा, नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकिल्विषचेतनास्ते, मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति।।

पाण्डव गीतामें कहा है कि–जो विरक्त माया और ईश्वर तत्वके ज्ञाता हैं, निरन्तर देवगुरु भगवान श्रीनारायणका स्मरण करते हैं। वे इस ध्यानके प्रभावसे पापहीन होकर फिर माताके दुग्धका पान नहीं करते हैं अर्थात् आवागमन से रहित हो जाते हैं।

श्रीमद्रामचरित मानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये।
ते संसार पतङ्गघोरकिरणै र्दह्यन्ति नो मानवाः।। (रा० उ० का०)

अन्तिम मङ्गलाचरण श्लोक २ में कहा है कि–जो भक्तिपूर्वक श्रीमद् रामचरित-मानस सरोवरमें स्नान करते हैं, (अर्थात् सप्रेम कथा सुनते हैं) वे मनुष्य संसाररूपी सूर्य की प्रखर (तेज) किरणोंसे नहीं जलते हैं। अर्थात् परम शान्तिका लाभ पाकर सदा प्रसन्न रहते हैं। ऐसे जो भक्तजन–

ते मेरे जजमान–भाव यह कि मैं उनका पुरोहित हूँ। यजमानों के दान से जैसे पुरोहित की जीविका चलती है, वैसे ही इनके दानसे ही हमारा लोक-परलोकमें निर्वाह होगा। नाई, धोबी आदि प्रजा जीविका देने वालेको यजमान कहती है। मैं सेवक हूँ और ये भक्त मेरे यजमान हैं। कैसा भी पुरोहित या सेवक हो, यजमान लोग उसका पालन-पोषण करते हैं। उसी तरह मैं चाहे जैसा हूँ पर भक्तोंके द्वारा पोष्य हूँ। इसके पहले छ० १४६ में 'भूरिदा' कहा। भाव यह है कि विशद गोपाल गुण गायक और 'कुञ्जओक जे बसत' धामवासी जो सन्त वे ही संसारसे निवृत्त हो सकते हैं, वे ही मेरे यजमान हैं।

श्रीउद्धवजी–श्रीउद्धवजी भगवानके परम अनुरागी सन्त थे। नित्यप्रति सन्त-भगवन्तकी बड़े सद्भावसे सेवा करते। श्रीठाकुरजीकी सेवामें एक बड़ी सुन्दर लुटिया थी। उसीसे नित्य-प्रति भगवानको जल पिलाते थे। किसी दिन एक आगन्तुक सन्तने उस लुटियाको माँगा। आपने प्रसन्नतासे उसे लुटिया दे दी। उसकी जगह पर दूसरी लुटिया सेवामें लाकर रख दी। इससे रुष्ट होकर श्रीठाकुरजीने उसे फेंक दिया। आपने लाकर फिर रक्खा, तो फिर फेंककर बोले–तुम्हारा मुझमें स्नेह नहीं है, तभी तो मेरी अच्छी लुटिया दूसरेको दे दी

और यह जो मुझे पसन्द नहीं है लाकर मेरे पास रख दी। मैं इससे पानी नहीं पीऊँगा। अब तुम मुझे न खिला-पिलाकर उन्हें ही खिलाओ-पिलाओ, जिनसे तुम्हें प्रेम है। यह सुनकर श्रीउद्धवजीने कहा—देखो, महाराज ! नाराज होनेकी जरूरत नहीं है, एक सन्तने लुटिया लाकर दी थी, दूसरा सन्त आकर उसे ले गया, तो क्या अनुचित हुआ। वह लुटिया आपकी नहीं थी। अब आपको जैसी चाहिए, वैसी किसी और से चाहे मुझसे मँगवा लीजिये। हम तो जैसे भी हो, सन्तोंको प्रसन्न करेंगे। आपकी अप्रसन्नताका मुझे भय नहीं है। यह सुनकर प्रभु बहुत प्रसन्न हुए और उसी क्षण उसी तरह की अमिरती मँगवा ली।

एकबार श्रीउद्धवजीके आश्रम पर बहुतसे सन्तोंका आगमन हुआ। तब आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्घ्य पाद्य-आचमनके लिए जल और आसान लगाने के लिए थलका प्रबन्ध करके आपने उन्हें पधराया। देखा तो घरमें सीधा-सामान बहुत थोड़ा-सा था। आपने रसोई बनाना प्रारम्भ कर दिया परन्तु मनमें चिन्ता थी कि इतने सामान से कैसे पूरा पड़ेगा। भक्त-चिन्तासे प्रभावित होकर उसी क्षण 'तबहीं श्रीराम आज्ञा पाय रूपसानी सब सौंजि आनी सो उचारिये।' अर्थात् श्रीरामजीकी आज्ञासे एक रूपवती माता सामान रखकर वहीं लुप्त हो गई। आज जगदम्बाने बड़ी कृपा की है यह विचारकर इनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी।' हरिदास जानी महारानी ठानी कृपा मोपै आने दृग पानी ऐसे ऊधव विचारिये।' आपने उन अक्षय सामान से कई दिन तक खूब सन्त-सेवा की। (भ० गुण० पृष्ठ० ७९)

* श्रीजयतारन विदुर *

झीथड़े ढिग ही में जैतारन विदुर भयौ, भयौ हरि भक्त साधु सेवा मति पागी है।
वरषा न भई सब खेती सूखि गई चिन्ता नई, प्रभु आज्ञा दई बड़ौ बड़भागी है।।
खेत को कटावौ औ गहावो लै उड़ावौ, पावौ दो हजार मन अन्न सुनी प्रीति जागी है।
करी वही रीति लोग देखैं न प्रतीति होत, गाये हरि मीत रासि लागी अनुरागी है।। ५६३

शब्दार्थ—गहावो=दाँय कराओ, मँड़वाओ।

भावार्थ—झींथड़ा ग्रामके निकट एक जयतारन नामक ग्राम है उसमें श्रीविदुरजी भगवानके परम भक्त हुए। साधु-सन्तोंकी सेवामें इनकी बुद्धि पग गई थी अतः बड़े प्रेम से उनकी सेवा करते थे। एकबार वर्षा नहीं हुई अतः सब खेती सूख गई। श्रीविदुरजीके मन में बड़ी चिन्ता हुई कि अब साधु-सेवा कैसे होगी। अपने भक्तके मनमें चिन्ता देखकर

परम बड़भागी श्रीविदुरजीको स्वप्नमें आज्ञा दी कि—सूखे खेतोंको ही कटवाओ, बैलोंसे दाँय करवाओ और फिर हवामें उड़ाओ। ऐसा करने से तुम्हें दो हजार मन अन्नकी प्राप्ति होगी। इस भगवदाज्ञा को सुनकर इनके मनमें भक्त और भगवानके प्रति नई प्रीति उत्पन्न हुई। प्रभुकी आज्ञाके अनुसार आपने खेतोंको कटवाया। दूसरे लोग देखकर इनकी हँसी उड़ा रहे थे। उन्हें विश्वास नहीं था कि इसमें एक दाना अन्न निकलेगा। परन्तु श्रीविदुरजी को दृढ़ विश्वास था अतः भक्त हितकारी भगवानके नाम-गुण-गानके साथ ये किसानी के काममें लगे थे। हवामें उड़ानेसे अन्नका बड़ा-भारी ढेर लग गया। सब लोगोंने समझ लिया कि श्रीविदुरजी प्रेमी भक्त हैं।। ५६३।।

व्याख्या—चिन्ता भई—श्रीविदुरजी को अपने भोजन वस्त्रकी नहीं, सन्त-सेवाकी चिन्ता हुई। अन्न न होनेसे सन्तोंका आगमन न होगा, तथा उनके दर्शन, सेवा और सत्सङ्गका लाभ न होगा। इस असह्य दुःखका अनुमान कर चिन्ता हुई। श्रीलाखाजीकी तरह ये भी अन्यत्र जानेका विचार करने लगे। तब प्रभुने रोका। जब ये खेत कटवाने लगे तो लोगोंने इन्हें पागल समझा। इनसे भगवान वार्तालाप करते थे। इनकी चिन्तासे प्रभु चिन्तित हुए, तब खेत काटनेकी आज्ञा दी अतः इन्हें 'बड़भागी' कहा। भूसा बहुत कम अन्न ही अन्नका ढेर लग गया। भगवान 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। द्रौपदीका वस्त्र प्रभुने बढ़ाया तो बड़े-बड़े ढेर लग गये। दुर्योधनने कई बड़े-बड़े कोठोंमें वस्त्र भरवा दिये। कुछ समय बाद वस्त्रोंको उपयोगमें लेनेकी इच्छासे कोठा खोला तो वहाँ एक टूक भी न था। वस्त्ररूप भगवान थे, वे अन्तर्धान हो गये। इनकी देखा-देखी दूसरोंने भी अपने खेत कटाये पर इनमें भुस ही भुस निकला। तब सबको विश्वास हो गया कि विदुरजी भक्त हैं। सन्त-भगवन्तकी सेवाका फल है कि इन्हें इतना गेहूँ मिला। साधुओं-भक्तों-वैष्णवोंकी संख्या बढ़ानेके निमित्त प्रभु प्रेरणा से अकाल पड़ता है। भक्तके यहाँ सुकाल ही रहता है, इससे उदर निमित्त वेषधारियों की संख्या बढ़ती है। फिर वे सच्चे वैष्णव बन जाते हैं। दूसरे लोगोंने भी इस चमत्कार को देखकर सन्त-भगवन्तकी सेवा करना आरम्भ कर दिया। भ० दा० चित्रणीकार कहते हैं—

दो०— सन्त सेव जिन जिन करी तिन तिन हीकों राम।
तुष्ट होइ सब भांति करि कीन्हें पूरण काम।।

* श्रीस्वामी चतुरोनगनजी *

श्री स्वामी चतुरोनगन मगन रैन दिन भजत हित।।
सदा जुक्त अनुरक्त भक्त मण्डल को पोषत।
पुर मथुरा ब्रज भूमि रमत सबहीं को तोषत।।
परम धरम दृढ़ करन देव श्रीगुरु आराध्यौ।
मधुर बैन सुठि ठौर ठौर हरिजन सुख साध्यौ।।
सन्त महन्त अनन्त जन जस विस्तारत जासु नित।
श्री स्वामी चतुरोनगन मगन रैन दिन भजन हित।।१४८।।

शब्दार्थ—जुक्त=युक्त, उचित, परायण, लगे, हुए, मिला हुआ, योगी। अनुरक्त=प्रेमी, आसक्त। पोषत=पोषण, पुष्ट करते। रमत=विचरत, घूमत, परिक्रमा करते। तोषत=सन्तुष्ट, प्रसन्न करते। साध्यौ=पायौ, साधना की।

भावार्थ—श्रीस्वामी चतुरदासजी नागा दिन-रात भजन-भावमें डूबे रहते थे। आप बड़े-भारी सिद्ध योगी थे। ध्यान-समाधि लगाकर श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें अनुराग करते थे। गृहस्थ-विरक्त भक्त समूहका आप पोषण करते थे। आप श्रीवृन्दावनमें निवास करते थे पर मथुरापुरी और सम्पूर्ण ब्रज-मण्डलमें विचरते थे। वैष्णव धर्मको सुस्थापित करने के लिए आपने अपने श्रीगुरुदेवजीकी आराधना की। आपके वचन अत्यन्त मधुर थे। सर्वदा भगवद् गुणोंका गानकर जहाँ-तहाँ सम्पूर्ण ब्रज-मण्डलमें भक्तोंको सुख देते थे। असंख्य सन्त-महन्तजन सर्वदा श्रीनागाजीके सुयशका विस्तार करते हैं, गाते-गवाते हैं।। १४८।।

श्रीस्वामी.....नगन मगन—मन सहित अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखने वाले तथा साधु-मण्डलमें श्रेष्ठाति-श्रेष्ठ एवं सन्तोंके सेवक-पोषक थे अतः श्रीस्वामी यह विशेषण दिया गया। 'चतुर सिरोमनि ते जग माहीं। जे मणि लागि सुजतन कराहीं।।' (रा०) भक्ति चिन्तामणिको तुष्ट-पुष्ट करनेका सर्वदा उपाय करते थे। उसके प्रचार-प्रसारमें रत होने से चतुर कहा। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।' पूर्ण वैराग्य था अतः कौपीन मात्र शरीर पर धारण करते थे। शीत-वातादिकी बाधायें व्याप्त न होती थीं, सहनशील थे अतः नगन-नागाजी इस उपनाम से प्रसिद्ध हुए। भजन करने वालोंके भजनमें बाधा न हो, उनके हितमें दिन-रात लगे रहते थे। एक सन्तका कथन है कि श्रीनागाजी नगण थे। तीनों लघु हों तो नगण

होता है। मन, वचन, कर्ममें दैन्यता-लघुता थी। उन्हीं पर ही प्रभु कृपा होती है। यथा—'कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते।' जिस सन्तमें जितना बड़ा दैन्य होता है, वह उतना ही बड़ा महान् कृपापात्र होता है। इसलिए ये मगण-सर्वगुरु ऽऽऽ थे। मन-वचन-कर्मसे गुरु-गम्भीर एवं उदार थे अतः जगद्‌गुरु थे। 'भक्त मण्डल को पोषत'—सेवा, दर्शन, उपदेश, कहनी और रहनीके द्वारा भक्तोंमें भक्तिका पोषण करते थे।

ब्रजभूमि—पद—'माया काल न रहत वृन्दावन रसिकन की रजधानी। सदा राज ब्रजराज लाड़िलो राधा सन्तत रानी।। मथुरा मण्डल देश सुवस गढ़ गोवर्धन सुखदानी। रास भण्डार सुभोग रहत अति पावन जमुना पानी।। वंशीवट छत्र पुलिन सिंहासन मृदङ्ग अलि पिक बानी। कटि काछनी टिपारो बाँधे मोर सुअङ्ग गठानी।। निर्भयराज पन्थ चिर बीथिन महल निकुञ्ज रवानी। प्रतीहार ब्रजवासी रोकत सुपनेहूँ न जात अभिमानी।। हरिवंशी हरिदासी महलिनि साधु सनातन जानी। वेगि खबर करि 'व्यास' गुदरवी पिछली पहिचानी।।

भक्तिरसबोधिनी टी० क० ५६४ के सम्बन्धमें सर्वेश्वर भक्तमालमें विशेष ऊहापोहके बाद यह सिद्ध किया गया है कि यह कवित्त यद्यपि बहुत-सी मुद्रित अमुद्रित प्रतियों में पाया जाता है। पर पाठोंमें ऐसा भेद है कि जिससे यही निश्चय होता है कि यह श्रीप्रियादासजी कृत नहीं, प्रक्षिप्त है अथवा पाठन्तरित हैं। श्रीनागाजी नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं बाल्यकालीन विरक्त थे। दूसरोंके मत से किसी गृहस्थाश्रमी अत्यन्त वयोवृद्ध ब्राह्मण गुरुको घर-बार सौंपकर विरक्त बने। सर्वेश्वर भक्तमाल में इसको तथा अन्य कई कवित्तोंको छोड़ दिया गया है पर संख्या नहीं घटाई गई है। अन्तमें ६३४ संख्या पूरी है।

आयौ गुरु गेह यों सनेह सों लै सेवा करैं, धरैं सांचौ भाव हियैं अति मति भीजियै।
टहल लगाय दई नई रूपवती तिया, दियौ वासौं कहि स्वामी कहैं सोई कीजियै।।
सेवा कैं रिझाये याते प्रेम उर नित नयो, दयौ घर धन वधू कृपा करि लीजियै।
धाम पधराय सुख पायकैं प्रनाम करी, धरी ब्रजभूमि उर बसे रस पीजियै।।५६४

भावार्थ—श्रीनागाजीके मनमें सहसा वैराग्यका समुद्र उमड़ा पर आश्रितका त्याग किसके सहारे करें। इनके वैराग्य मार्गको प्रशस्त करने के लिए भगवत्प्रेरणासे पूर्वाश्रमके गुरुदेव पधारे। वृद्ध थे अतः विशेष सेवाके योग्य थे आप उनकी स्नेह पूर्वक सेवा करने लगे। आपका सच्चा भाव था। गुरुमें गोविन्द बुद्धि थी अतः सेवा भावमें बुद्धि ऐसी तल्लीन हो गई कि आपने रूपवती नई स्त्रीको गुरु-सेवा सौंपते हुए आदेश दिया कि ये गुरु भगवान जैसी भोजन-पानकी इच्छा करें, जैसा आदेश-उपदेश दें उसी प्रकार इनकी सेवा करना।

आपकी आज्ञाके अनुसार उसने सेवा करना आरम्भ कर दिया और अपनी सेवा से उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। जब आपने देखा कि गुरु-गोविन्दकी सेवामें इसकी निष्ठा है। तब आपने प्रसन्न होकर कहा—भगवन् ! यह घर, धन और सेवाके लिए इस बधूको लीजिये और कृपा करके यहाँ ही विराजिये। ऐसा कहकर आपने-अपने घरमें उन्हें पधराया। जैसे कोई देव-प्रतिमाको सेवा-पूजाके निमित्त पधराये, उसी भावसे उन्हें पधराया। इस सेवाका प्रबन्ध करके आपको बड़ा सुख मिला। आपने गुरु-गोविन्दको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। उनकी आज्ञा और उनका आशीर्वाद पाकर उनके उपदेशानुसार आपने ब्रजभूमिकी उपासना हृदयमें धारण की। श्रीबाँकेबिहारी आपके हृदय में बस गये, अतः आपने ब्रजभूमिका हृदय जो श्रीवृन्दावन वहीं निवास किया और निरन्तर वृन्दावन-रसकी उपासना करके उसी रसका आस्वादन किया।।५६४।।

व्याख्या—इस चरित्रमें सभी पात्र आदर्श हैं। गुरु-गोविन्दने आज्ञा दी कि जाकर ब्रजमें रहो और घरकी तथा उस पत्नीकी सुरक्षाका भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। ये ऐसे त्यागी कि सम्पत्ति से भरे घरको और नई रूपवती स्त्रीको छोड़कर विरक्त हुए। राजा बलिने भगवान को और इन्होंने गुरुदेवको सर्वस्व अर्पण किया। श्रीभगवन्तमुदितजी ने विचारा था पर अर्पण करने का सौभाग्य उन्हें न मिला। स्त्री पतिके वैराग्य-मार्गमें बाधक नहीं बनी। इसलिए कि इनका स्मरण करती रहूँगी और आज्ञानुसार गुरु-गोविन्द की सेवा करती रहूँगी तो पतिव्रता स्त्रीकी जो गति है, वह हमें मिलेगी। तीनों पात्रोंने सामान्य धर्मकी अपेक्षा परमधर्म को आदर दिया। शिष्यकी महत्ता बढ़ाने के लिए गुरुने सर्वस्व स्वीकार किया। यह कवित्त 'परमधर्म दृढ़....... आराध्यौ' इस चरणकी टीका है।

सनेह सों लै सेवा करैं—स्नेह नाते में तथा अपनपौ में होता है। जैसे पाण्डवों और श्रीकृष्णका परस्पर स्नेह था, सेवा-भाव था। 'तुम ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।' पुनः भक्तका लक्षण है—'गुरु गोविन्द विप्रपद प्रेमा।' ऐसे भक्तजन प्रभुको प्यारे होते हैं। यथा—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे।।

दयौ घर धन बधू—ये सभी सिद्धपात्र थे अतः बधूसे सेवा लेनेमें, सौंपनेमें तथा सेवा करने में दोष नहीं आया। परन्तु सामान्य तथा सिद्ध लोगोंको भी ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस पर—

दृष्टान्त—कान्हा फकीरका—कान्हा फकीर लाहौर में निवास करते थे। उनकी सेवा तथा उनके सत्सङ्ग में भक्तिमती तुलसा खत्राणी जाया करती थीं। सर्वत्र दोष देखने वाले

किसीने बादशाहसे शिकायत की। बादशाहने कान्हा फकीरको बुलाकर पूछा—तो इन्होंने उत्तर दिया कि हमारा सभी स्त्रियोंमें मातृभाव है और तुलसा खत्राणी का भी सभी साधु-सन्तोंमें वात्सल्य है, वह पुत्रवत् मानकर सेवा करती हैं। बादशाहने कहा—तो क्या तुम उसका स्तन पान कर लोगे। उसके स्तनोंमें दूध आ जायगा ? कान्हाने कहा—अवश्य। तुलसा खत्राणी बुलाई गई, तो संकटमें सन्तको देखते ही पुत्रभाव उमड़ा, उसके स्तनोंमें दूध आ गया और कान्हाने स्तन पान कर लिया। बादशाहने दोनोंको नमस्कार करके सादर विदा किया। फिर भी किसी द्वेषीने बादशाहके कान भरे और कान्हा फकीर की शिकायत की। बादशाहने मनमें विचार किया कि—प्रातःकाल कान्हा फकीरका मुख काला करके गधे पर बैठाकर उसे नगरसे बाहर करवा दूंगा। बादशाहके मन की बात जानकर कान्हा फकीर बड़े सबेरे ही स्वयं अपना मुख काला करके और गधे पर सवार होकरके बादशाहके द्वार पर जा खड़े हुए। यह समाचार सुनकर बादशाह बाहर आया और उसने कहा—आप सिद्ध फकीर हैं, इसमें सन्देह नहीं है, फिर आपने ऐसा क्यों किया? कान्हाने कहा—सिद्ध होने पर भी स्त्रीसे किञ्चित् पवित्र सम्पर्क होने पर आपने मेरा मुख काला करने का विचार कर लिया। मैंने भी उसको उचित प्रमाणित करनेके लिए स्वयं अपना मुख काला कर लिया। ताकि दूसरे विरक्त सावधान हो जायँ। किसी भी प्रकार का स्त्रीसे सम्पर्क न रखें। 'जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।।' (रा०) दत्तात्रेयजीने (भा० ११-८-७, १३ में) कहा है—

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः। प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्।।
पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि। स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः।।
नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः। बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा।।

अर्थ—अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखने वाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भाव पर मोहित हो जाता है और घोर अन्धकारमें गिरकर अपना नाश कर लेता है, जैसे पतङ्ग अग्निमें कूदकर। सचमुच स्त्री देवोंकी माया है। विरक्त साधुको कभी पैर से भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अङ्ग-सङ्गसे हाथी बँध जाता है। वैसे ही वह भी बँध जायगा। विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्य रूपसे स्वीकार न करे, क्योंकि वह उसकी मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अन्य बलवान पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा।

श्रीगोविन्दचन्द जू कौ भोर ही दरस करि, केशव सिंगार राजभोग नन्दग्राम में।
गोवर्धन राधाकुण्ड ह्वै कै आवैं वृन्दावन, मन में हुलास नित करें चारि जाम में।।
रहे पुनि पावन पै भूखे दिन तीन बीते, आये दूध लै प्रवीन एऊ रँगे स्याम में।
माँग्यौ नैकु पानी ल्यावौ फेरि वह प्रानी कहाँ ?, दुख मतिसानी निसि कही कियौ काम मैं।।५६५

शब्दार्थ—पावन=नन्दगाँव का पावन सरोवर।

भावार्थ—नागा श्रीचतुरदासजी प्रातःकाल श्रीवृन्दावन धाममें विराजमान श्रीगोविन्ददेवजीकी मङ्गला-आरतीके दर्शन करते, फिर श्रीमथुराजीमें आकर श्रीकेशवदेवजी की श्रृङ्गार-आरती में सम्मिलित होते, उसके बाद वहाँ से चलकर बरसाना-नन्दगाँवमें राजभोग की आरती करके गोवर्द्धन-राधाकुण्ड होते हुए सायंकाल को श्रीवृन्दावन लौट आते। ऐसे ही (प्रातः से सायं तक) चार पहरमें प्रसन्न मनसे श्रीनागाजी नित्य यात्रा करते। एकबार पावन सरोवर पर आपको बिना कुछ खाये-पीये तीन दिन बीत गये। तब परम-प्रवीण भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण स्वयं दूध लेकर आपके पास आये। श्यामसुन्दरके प्रेमरङ्गमें रङ्गे हुए श्रीनागाजीने दूध पीकर जल माँगा। ब्रजवासी बालकरूप-धारी भगवान जल लेने गये तो फिर लौटकर आये ही नहीं। तब आपको बड़ा कष्ट हुआ। फिर प्रभुने रातको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'मनमें दुःख मत मानो, मैंने ही आकर तुम्हें दूध पिलाया था'।।५६५।।

व्याख्या—मन में हुलास नित करें—लगभग छत्तीस कोसकी नित्य यात्रा, श्रम-थकावट का नाम नहीं। योगियोंकी-सी गतिसे आपकी यात्रा होती थी। जैसे श्रीजयदेवजी 'देवधुनी सोत हो अठारै कोस आश्रम ते सदाई असनान करैं धरैं योगताई को।' फिर 'रहे पुनि पावन पै-यह सरोवर नन्दगाँवमें है। नन्द-नन्दन गोचारणके पश्चात् आकर इसीमें अपने श्रीचरणोंको धोते थे अतः यह परमपावन है।

दो०—भजन ध्यान रसबस भये, भोजनको नहिं ध्यान। भक्त क्षुधा ते क्षुधित ह्वै करवायौ पय पान।।' श्रीकूरेशजी तीन दिन भूखे रहे तब थाल दिया। (द्वि० खं० पृष्ठ ६१ देखिये) भूखे दिन तीन पर—

दृष्टान्त-जुगलदासका—एकबार महन्त श्रीयुगलदासजी इसी पावन सरोवर पर कीर्तन-भजन करने लगे और तीन दिन भूखे रहे। तब नन्दगाँवके एक ब्रजवासीने आकर कहा—बाबा ! आपको तीन दिन हो गये, आप भिक्षार्थ गाँवमें नहीं गये। यदि आप मनमें

यह सोचते हो कि हमारे लिए यहीं भोजन आवे। तो ऐसा नहीं होगा। यहाँ लोग गीत गाते हैं कि—'लक्ष्मी-सी जहाँ मालिन डोलैं। बन्दन माला बाँधत डोलें।।' लक्ष्मीको भी यहाँ बिना टहल किये भोजन नहीं मिलता है। यहाँ किसीकी सिद्धाई नहीं चलती है अतः आप किसी ब्रजवासी के यहाँ जाकर प्रसाद पा आओ। यह सुनकर बाबाजी हँस गये और उन्होंने गाँवमें जाकर प्रसाद पाया। श्रीनागाजीको तो भूख-प्यास और निद्रा पर विजय प्राप्त थी पर श्रीठाकुरजीने प्यारवश लाकर दूध दिया और भविष्यमें दुग्ध भिक्षाका मार्ग प्रशस्त किया।

भूखे दिन तीन—आपने क्षुधाको सहन किया परन्तु किसीसे माँगा नहीं क्योंकि—'सबसों बुरो जु माँगिबो माँगन निकसै जीव। पानी चाहै आपनो माँगि न पानी पीव।।' भिखारी मृतक तुल्य है, यदि अपना पानी अर्थात् गौरव रखना है तो पानी भी माँगकर न पिये। यदि माँगना ही पड़े तो निर्लज्ज—नाहीं करने वालेसे न माँगे। यथा दो०—'माँगन तातै जाइये, जाके मुख में लाज। माँगे ते जु प्रसन्न ह्वै पूजै मन के काज।। आवत देखे साधु को पुलकि उठे सब अङ्ग। तुलसी ताके जाइये कीजै तासों सङ्ग।।'

एऊ रँगे स्याम में—श्यामरङ्ग में रँगे लोग सुतृप्त होते हैं, वही सच्चे भक्त हैं—

डोलत हैं इक तीरथ एकनि बार हजार पुरान बके हैं।
एक लगे जप में तप में एक सिद्धि समाधिन में अटके हैं।।
बूझि जो देखत हौं रसखानि जू मूढ़ महा सिगरे भटके हैं।
सांचे हैं वे निज आपनपौ यहि सांवरे ग्वाल पै बारि छके हैं।।

मांग्यौ नेकु पानी—भगवानने रातको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा कि मैं जिसे दूध अर्थात् उत्तम भक्तिरस दे देता हूँ फिर उसे पानी अर्थात् लौकिक विषयरस नहीं देता हूँ। पानी लेकर न लौटने पर आप समझ गये कि वह कोई साधारण बालक न था। तब उसकी शोभाको ध्यानमें लाकर 'दुख मति सानी' अर्थात् विरह-व्यथित हुए कि हमने चरण-स्पर्श नहीं किये। इनके दुःखको देखकर प्रभुने दर्शन दिया।

पानी सौं न काज ब्रजभूमि में विराज दूध, पीवौ घर घर यह आज्ञा प्रभु दई है।
एतौ ब्रजवासी सब क्षीर के उपासी, कैसें मोको लेन दैहैं कही दैहैं सुनी नई है।।
डोलें धाम धाम स्याम कह्यौ जोई मानि लियौ, दियौ परचे हूं परतीति तब भई है।
जहाँ जा छिपावैं पात्र बेगि आप ढूँढ़ि ल्यावै, अति सुख पावैं कीनी लीला रसमई है।।५६६

भावार्थ—भगवानने स्वप्नमें पुनः श्रीनागाजीसे कहा—दूध पिलानेके बाद माँगने पर भी हमने तुमको पानी इसलिए नहीं दिया कि—'तुम्हें अब पानीसे क्या प्रयोजन ? तुम तो

ब्रजभूमि में विराजते हुए घर-घर जाकर दूध ही पिया करो।' श्रीनागाजीने कहा—'प्रभो! ये ब्रजवासी लोग तो दूधके बड़े प्रेमी (लोभी) होते हैं। फिर मुझे कैसे देंगे?' भगवानने कहा—'नहीं, मेरी आज्ञा है, अतः सब लोग तुम्हें दूध अवश्य देंगे।' यह नई आज्ञा श्रीनागाजीने सुनी और स्वीकार की तथा सभी लोगोंको सुनाई। अब श्रीनागाजी भगवानकी आज्ञाके अनुसार ब्रजमें गाँव-गाँवमें घर-घर घूमने लगे और लूट-लूटकर तथा माँग-माँगकर दूध पीने लगे। जिस किसीने दूध नहीं दिया, उसे आपने परिचय एवं चमत्कार दिखाये। सब लोगोंको विश्वास हो गया। विनोद करनेके लिए कोई-कोई ब्रजगोपियाँ दूधसे भरे पात्रोंको घरमें कही छिपा देतीं। तब उसे आप घरमें घुसकर झट ढूंढ़ लाते। इससे ब्रजगोपियाँ बहुत प्रसन्न होतीं। इस प्रकार श्रीब्रजधाममें निवास करते हुए आपने मधुर रसमयी लीलायें कीं।। ५६६।।

क्षीर के उपासी—बिना नचाये नाच छांछ नहिं तुमको देवैं। पूत खसम ते गोबर प्यारो कसम खाय लै लेवैं।। मैया जसुदा तुम्हें गोद ते धरती पै बैठायौ। दूध उफनतो जाय बचायो तब आपहु रिसियायौ।। भाजन फोरि बोरि गोरस तन बँधे उलूखल माहीं। मीसी रोटी चटनी प्यारी पै पय आसा नाहीं।। पुनः—

शेष महेश गणेश सुरेश दिनेशहु जाहि निरन्तर ध्यावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।।
नारद ले शुक व्यास रटैं पचि हारि तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।।

कही दैहैं—ये ब्रजवासी भक्तिके सिद्धान्तको जानते हैं। हमसे अधिक भक्तोंको मानते हैं अतः तुम इनसे माँगकर और स्वतः अपने हाथोंसे लेकर दूध पीवो। दियौ परिचै-दूध न देय करै जो नाहीं। देय न दूध गाय त्यहिं काहीं।। दूध देत जाके मन पीरा। ताके में परि जावैं कीरा।। दुधहिं देत जोइ सकुचावै। ताको दूध लुढकि गिरि जावै।। दान किये दिन दूनी बाढ़ै। घर के रोग दोष सब काढ़ै।।

पहले ब्रजगोपियोंने इस बात पर विश्वास नहीं किया कि—इन्हें दूध लेनेकी आज्ञा हुई है। जब परिचय मिले तब विश्वास हुआ। इनके साथ बहुतसे सन्तजन रहते। ये उन्हें भी खूब दूध पिलाते। विनोदवश मना करतीं कि दूध नहीं है, ढूंढ़ लो। तब आप अत्यन्त छिपे स्थान पर भी पहुँचकर दूध-दही निकाल लाते। उनके मनमें भाव रहता कि इसी बहाने इनके चरण मेरे घरमें पड़ेंगे, मङ्गल होगा, दुःख दरिद्र भाग जायगा। रसमयी लीला तथा जटा उरझने- सुलझनेका संकेत करते हुए लिखते हैं—

कीनी लीला रसमयी है—एक ब्रजगोपी गढ्ढेमें दूध रखकर उसके ऊपर पीढ़ा डालकर बैठ गई। श्रीनागाजी आये तो बोली—जहाँ रक्खा हो, वहाँसे अपने आप ले लो। नागाजी लौटे और द्वार पर बाहर देखकर बोले—मैया ! तेरी गाय छूट गई। वह उठकर गाय पकड़ने दौड़ी। आप भीतर आकर गढ्ढेसे निकालकर दूध पी गये। गोपी हँसने लगी। एकदिन बरसानेके निकट कदमखण्डीमें आप नाचते-गाते प्रेमोन्मत्त विचर रहे थे। उसी समय आपकी विशाल जटायें हींसके झाड़में उलझ गईं। आपने कहा—'अरे ! मेरे केश किसने पकड़ लिए। अरी वीर ! मुझे अपने प्यारे श्यामसुन्दरको ढूंढ़ लेने दे। इस प्रकार आप खड़े प्रेमालाप करते रहे। ब्रजवासी बालकोंने सुलझाना चाहा, तो आपने कहा कि—तुम रहने दो, जिसने उलझायी हैं, वही सुलझायेगा। भूखे-प्यासे जानकर ब्रजवासी बालकोंने इन्हें दूध-दही आदि खिलाना-पिलाना चाहा पर इन्हें तो मात्र युगलकिशोरके दर्शनोंकी भूख-प्यास थी। तीन दिन बाद श्यामसुन्दरने आकर दर्शन दिया और जटा सुलझाने लगे तो आपने कहा—तुम कौन हो ? उत्तर मिला—तुम्हारा आराध्यदेव मोरमुकुटधारी बाँकेबिहारी। दर्शन करो और जो चाहो सो वरदान माँग लो। मैं दानी शिरोमणि और सर्व समर्थ हूँ। आपने श्रीजीके बिना दर्शन नहीं किया। जटा नहीं सुलझवाई और कहा—

थिर नाहीं मांगौं कहा तुम सब देन समर्थ।
'भगत' रसिक अनन्य के केलि विलोकन अर्थ।।
केलि विलोकन अर्थ और सुख नश्वर देखैं।
राज योग तिय भोग मुक्ति पद आदि विसेखैं।।
वर दैकै बहु ठगे सकामी भक्त जाहु फिर।
सुख निधि श्याम सुजान बिना श्यामा तुम नहिं थिर।। (भगवत०)

गौर तेज के बिना श्याम तुम सब विधि अहौ अधूरे।
पूरि सकौ किमि मोर मनोरथ स्वयं नहीं तुम पूरे।।
चतुर शिरोमणि कुंवर कन्हाई चतुरै चतुरा नागा।
श्यामा श्याम धाम छबि प्रगटे भयौ सरस अनुरागा।।
जुगल किशोर जटा सुरझावै कहैं मनोहर बतियाँ।
नागा जू को मन अरझावैं पुनि हँसि लावैं छतियाँ।।
जो सुख सरस्यौ बरस्यौ तहँ पै सो नाहीं कहि आवै।
अब लौं गाय गाय यह लीला गौरसखी सुख पावै।। (भ० व० टि०)

विशेष—श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायके महान् सन्त श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी महाराजके प्रशिष्य श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजी एकबार कुरुक्षेत्र, हरियाणा आदि प्रदेशोंका भ्रमण करके ब्रजमण्डल पधारे और श्रीनागाजीकी जन्मभूमि पैगाँवके सन्निकट एक वनीमें विराजे। कदमके वृक्षोंकी अधिकताके कारण उसे कदमखण्डी कहते हैं। उनके दर्शनार्थ पैगाँवके सभी स्त्री-पुरुष आते और कथा-कीर्तन-सत्सङ्गका अलभ्य लाभ उठाते। उस समय इनकी किशोरावस्था थी, तथापि भगवद् भागवतोंमें इनका बड़ा अनुराग था। ये श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजीकी बड़े प्रेमसे सेवा करते थे। एकदिन चरण-सेवा करते-करते इन्होंने विरक्त दीक्षा देनेकी अभिलाषा प्रकट की। किन्तु श्रीपरमानन्ददेवाचार्यने यह कहकर टाल दिया कि—'अभी तुम बालक हो, पढ़ो लिखो, माता-पिताकी सेवा करो और घरमें रहते हुए ही प्रभुका भजन करो।' श्रीनागाजी उस समय तो मौन हो गये, परन्तु दूसरे-तीसरे दिन फिर वहीं प्रार्थना की। इनकी जन्म-कुण्डलीमें अल्पायु योग था, जिससे इनके माता-पिता चिन्तित रहा करते थे और नागाजीको भी यह ज्ञात हो गया था।

एकबार स्वप्नमें इन्हें प्रभुसे ऐसी प्रेरणा मिली कि—'मेरी भक्ति और मेरे भक्त असम्भवको भी सम्भव कर देते हैं। संसारमें फँसे रहना ही मृत्यु है और इस दुःख पङ्कसे निकल जाना ही मुक्ति और अमरत्व है। तुम सांसारिक मोह छोड़कर गुरुकी शरण लो सन्तोंके समागमका सौभाग्य बड़े भाग्यसे मिलता है।' यह स्वप्नका आदेश इनके चित्तमें जम गया, अतः प्रातः इन्होंने यह समस्त वृत्तान्त अपने माता-पिताको भी सुना दिया। माता-पिता भी सहमत हो गये। सभीके मिलकर अनुरोध करने पर श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजी के चतुरानागाको विरक्त-दीक्षा प्रदानकी। तबसे नागाजी उन्हींकी सेवामें रहने लगे।

कुछ दिनोंके बाद गुरुदेवके साथ श्रीनागाजी हरियाणाको गये। वहाँ अपने गुरु-स्थान ओलीमें पहुँचकर वहीं भक्त-भगवत एवं गुरुदेवकी आराधना करते रहे। वहाँ बहुत-सी गायें थीं, आप उनके लिए घास लाते, उन्हें चराते। निरन्तर भगवच्चिन्तनमें इस प्रकार निमग्न रहते कि इन्हें अपने सिर पर रक्खे घासके भारका ध्यान ही नहीं रहता। एकदिनकी बात कि आप भगवन्नाम जप और ध्यान करते हुए चले आ रहे थे। मस्तक पर रक्खा हुआ घासका बोझ अपने-आप ऊपर-ऊपर चल रहा था। देखने वालोंने विस्मित होकर इसकी चर्चा गुरुदेवके सामने की, तब उन्होंने इनसे कहा—'अब तुम जाओ और निरन्तर ब्रजभूमिमें रहकर वहीं भजन करो।' गुरुदेवकी आज्ञानुसार आप ब्रजमें आ गये और प्रतिदिन परिक्रमा करने लगे। भगवत्साक्षात्कार हुआ, प्रभुने स्वयं दूध पिलाया इनका अल्पायु योग

टल गया। अब आप ब्रजवासियोंके यहाँसे दूध-दही लेकर सन्तोंका पोषण करने लगे।

अनेकों स्थलों पर श्रीनागाजीके मठ, मन्दिर, आश्रम और स्मारक बने हैं। आपके सहस्रों शिष्य-प्रशिष्य हुए। जिन्होंने भारतमें भ्रमणकर सर्वत्र धर्मका प्रचार किया। गोवर्धनमें गोविन्दकुण्ड पर एक मन्दिर और आपकी समाधि है। वैरागपुरा मथुरा, कामवन, बरसाना कदमखण्डी, वहीं पर नागाजीकी गुफा आदि दर्शनीय हैं। वृन्दावन विहार घाट और भरतपुरके किलेमें आपके मन्दिर हैं। किलेके राज-मन्दिरमें आपकी मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। वहीं पर आपकी गूदड़ी सुरक्षित है। आपने अनेक पदोंकी रचना की, उनमें चतुरसखीकी छाप है। आपकी दैनन्दिनी ब्रज-प्रदक्षिणा पद्धतिके अनुसार अब वार्षिक ब्रज-परिक्रमा होने लगी है। जो प्रतिवर्ष नागाजीके अनुवर्ती ब्रज-विदेही महन्तोंकी अध्यक्षतामें भाद्र कृष्ण १० को प्रारम्भ होती है। (सर्वेश्वर भक्तमाल)

श्रीराघवदासकृत भक्तमाल में छप्पयके अतिरिक्त निम्नलिखित सवैया द्वारा श्रीनागाजीकी महिमा कही गई है। यथा—

ब्रजभूमि सूं नेह रमें निहचै चतुरो नगरूप अनूप है नागो।
सनकादिक भाव चुकै नहिं दांव सु भक्ति की नांव सु सिन्धु समागो।।
हरिसार अपार जपैं रसना दिन रात अखण्ड रहै लिव लागो।
राघो कहै घर आदि गह्यौ जिन छाड़यौ नहीं अति ही बड़भागो।।२८३।।

साधु-सन्तोंको लेकर दूध-दही लूटनेकी लीला ब्रजमें प्रसिद्ध है। लोकोक्ति है—

नीमारक के वंश में नागाजी महा सिद्ध। ब्रज दूलह की छाप अरु दूध पूत अध अद्ध।।

संसार ही वस्त्र है, उसका त्याग करनेसे 'नगन' या 'नागा' नाम पड़ा। द्यालवालजी कहते हैं—

कुञ्ज कुञ्ज परसा परस सामी सेवक एक जन।
जगवस्तर तैं नगन हुए चतुरो नागो मगन मन।।
नगन मगन हरि लगन में नगण भगण फल जास।
पावत गावत सन्त सब आवत अजहूँ वास।। (भ० गुण० चित्रणी)

* भक्तसेवी मधुकरिया भक्त *

मधुकरी माँगि सेवैं भगत तिन पर हौं बलिहार कियौ।।
गोमा परमानन्द प्रधान द्वारका मथुरा खोरा।
कालुख सांगानेर भलौ भगवान को जोरा।।
बीठल टोंड़े खेम पण्डा गूनौरै गाजै।
श्यामसेन के वंश चीधर पीपोर विराजै।।
जैतारन गोपाल के केवल कूबै मोल लियौ।
मधुकरी माँगि सेवैं भगत तिन पर हौं बलिहार कियौ।।१४९।।

शब्दार्थ—मधुकरी=वह भिक्षा जिसमें थोड़ा-थोड़ा बहुतों से लिया जाय, मधुकर भ्रमर स्वभाव, चुटकी। बलिहार=न्यौछावर।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीनाभाजी कहते हैं कि चुटकी माँगकर भगवद्-भक्तोंकी सेवा करने वाले सन्तों पर मैं अपना तन-मन और धन न्यौछावर करता हूँ। श्रीद्वारका निवासी गोमानन्दजी, मथुरा एवं खोराके रहने वाले प्रधान भक्त श्रीपरमानन्दजी, कालुख और साँगानेर में विराजने वाले दोनों भगवान नामक भक्त, टोंड़ेके श्रीवीठलजी, गुनौरा ग्रामके श्रीखेमजी, जयतारनवासी श्रीगोपालजी, पीपौर ग्रामके श्रीचीधरजी, सेनवंश में उत्पन्न श्रीश्यामजी और केवलदासजी जो कूबा नामसे प्रसिद्ध हैं। इन भक्तोंने हमें खरीद लिया है। हम इनके क्रीतदास हैं।।१४९।।

व्याख्या—मधुकरी मांगि०—मधुकरी वृत्ति सर्वश्रेष्ठ है। यथा—(भा० ११-८-९) में—
स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता। गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः।।
अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः। सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः।।

अर्थ—श्रीदत्तात्रेयजी श्रीयदुसे कहते हैं—हे राजन् ! विरक्त साधुको चाहिए कि गृहस्थोंको किसी प्रकार का कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिए या सन्त-सेवाके लिए आवश्यकतानुसार (रोटीके टुकड़े या आटा, चावल आदिकी चुटकी) कई घरोंसे माँग ले। जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे चाहे वे छोटे हों या बड़े उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान विरक्तको चाहिए कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सारा निचोड़ ले। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबके यहाँसे

चुटकी मात्र ग्रहण करे। (एक ही स्थानसे ग्रहण करने पर रैदासजीके ऊपर गुरुदेव अप्रसन्न हुए, रैदासको दूसरा जन्म लेना पड़ा।) एक भ्रमर एक कमलकी गन्धमें आसक्त हो गया। रात्रिको कमलके संकुचित होने पर उसीमें बन्द हो गया। यह सोच रहा था कि सूर्योदय होगा, कमलके खिलने पर बाहर आऊँगा। तभी किसी हाथीने कमलको उखाड़ कर खा लिया। भ्रमर नष्ट हो गया। सूक्ति प्रसिद्ध है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सु प्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे, हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।।

उसी प्रकार जिह्वाके लोभसे एक ही गृहस्थका अन्न खाने से उसके सांसर्गिक मोह में फँसकर विरक्त साधु भी नष्ट हो जाता है। साधु-सेवा, अतिथि-सेवाके लिए ही संग्रह करे। केवल अपने लिए सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिए संग्रह न करे। जो लोग संग्रह करके अतिथि, सन्त-सेवा नहीं करते हैं। वे मधुमक्खी की तरह संग्रहके साथ अपना जीवन भी नष्ट कर देते हैं। माधुकरीवृत्ति इसलिए श्रेष्ठ है कि देने वाले को कष्ट नहीं होता है। अतः वह अन्न निर्दोष रहता है। इसलिए भक्तजन माधुकरी माँगते हैं। माँगने में अहङ्कार का नाश हो जाता है। भगवान भी वामन अंगुलके छोटे बन गये थे। बड़प्पन का अहङ्कार भक्तिमें बाधक है। कीर्त्तिका विस्तार देखकर, अहङ्कारको नष्ट करने तथा प्रजाको उपदेश देनेके लिए श्रीमाधवदासजीने भिक्षा माँगना आरम्भ किया। विशेष देखिये (द्वि० खं० पृष्ठ ७१६) 'माँगे में ते माँगे देय। तीनो लोक जीति लेय।।' किसी भी प्रकार से सन्त-सेवा हो, तो उससे भगवान प्रसन्न होते हैं। जैसे हरिपाल भक्तने चोरीकी (छ० ५३) साध्य और साधन दोनों पवित्र होना चाहिए। साध्य सन्त-सेवाका साधन पवित्र माधुकरी-वृत्ति भगवत्प्रीति कारक है। सारग्राही मधुकर-सन्त श्रेष्ठ हैं, उनकी माधुकरीवृत्ति श्रेष्ठ है, उसके द्वारा हुई सन्त-सेवा श्रेष्ठ है। इसलिए श्रीनाभाजी कहते हैं कि—'तिन पर हौं बलिहार कियौ।'

इस छप्पयमें आये हुए श्रीगोमानन्दजी, श्रीपरमानन्दजी, श्रीभगवानजी और श्रीश्यामजी इन चार भक्तों के चरित्र भक्तदामगुण चित्रणी (पत्र ८० से ८१) के आधार पर नीचे लिखे जा रहे हैं—

श्रीगोमानन्दजी—ये सन्त-सेवा के निमित्त चुटकी माँगकर लाते थे और बड़े प्रेमसे साधु-सेवा करते थे। इनके प्रेमसे सन्तों को बड़ा सुख मिलता था। एकबार बीस साधुओं की जमात आ गई। आपने अपना बड़ा भाग्य माना, सप्रेम विनती करके सन्तोंको पधराया। श्रीगोमानन्दजीने हाथ जोड़कर कहा—'मेरे यहाँ भिक्षाका आटा है, जिसमें सभी अनाज

मिले हुए हैं आप जो आज्ञा दें, वही रसोई तैयार करूँ।' यह सुनकर एक सन्तने कहा—मेरी तबियत कुछ खराब-सी है अतः मैं तो गेहूँ की रोटी खाऊँगा। पचकनीका चून हमारे स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं है। इतने में सभी सन्त बोल उठे कि—हम लोग भी गेहूँ की ही रोटी खायेंगे।' उस समय इनके पास गेहूँका आटा तो मात्र एक सेर ही था। एक सन्त ने कहा—'जितना हो, जैसा हो वही दे दो।' पर यह बात सब सन्तों ने स्वीकार न की। आपका स्वभाव था—सन्तोंको सन्तुष्ट करना अतः आपने सबको आग्रह करके रोका। वे चले जाना चाहते थे। आपने कहा—रुचि अनुरूप प्रसाद पवाये बिना मैं जाने न दूंगा। आप लोग, विराजें, थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। ऐसा कहकर आप जल्दी-जल्दी बाजार गये और उधार गेहूँका आटा तथा कुछ और भी सामान माँगने लगे। किसीने भी उधार देना स्वीकार नहीं किया, तब आप बड़े सोच-विचार में पड़ गये, कि 'अब क्या करूँ कहाँ से सामान लाऊँ। भक्त चिन्ता से चिन्तित होकर श्रीरामजीने गोमानन्दका रूप धारण किया और एक गेहूँकी पोट लेकर उनके घर पर आ गये। इनकी धर्मपत्नी से बोले कि—'इनको झट साफ करवा कर पीस लो और पिसवा लो, प्रेम से रोटी बनाकर सन्तों को प्रसाद पवावो। मैं सन्तोंके पास हूँ।' इनकी पत्नीने शीघ्रतासे आटा तैयार करके रोटियाँ बनाना आरम्भ कर दिया। बाजारमें इधर-उधर टक्कर खाकर निराश श्रीगोमानन्दजी घर आये। रोटियाँ बनती देखकर प्रसन्न हुए और पत्नीसे बोले—'आटा कहाँसे आ गया ?' पत्नीने उत्तर दिया—आप ही तो गेहूँ लाकर दे गये थे और पीसकर रोटी बनाने को कह गये थे, इतनी जल्दी कैसे भूल गये। पत्नीकी बात सुनकर आप समझ गये कि आज स्वयं भगवानने कृपा की है और मेरी रुचिके अनुसार सन्त-सेवामें सहयोग दिया है। भक्त-दम्पत्ति का सन्त-सेवा में और अधिक अनुराग बढ़ गया।

श्रीपरमानन्दजी—आप माधुकरी वृत्तिसे अन्न माँगकर लाते और बड़े प्रेम से सन्त-सेवा करते। सन्तोंमें आपका विलक्षण भाव था, जिसका वर्णन नहीं हो सकता है। बार-बार आप कथा-कीर्तन आदिसे सम्बन्धित उत्सव करते ही रहते थे। किन्तु पर्याप्त धन न रहने के कारण आपके मनोरथ पूरे नहीं होते। एकबार आप इस अर्थाभाव के लिए श्रीठाकुरजीको उलाहना देने लगे—भक्तवाञ्छा-कल्पतरु भगवन्! आप अकिञ्चनोंके स्वामी हैं, अकिञ्चन ही आपको प्यारे लगते हैं। यथा—'तेहि ते कहहिं सन्त श्रुति टेरे। परम अकिञ्चन प्रिय हरि केरे।।' भिखारियोंके पास धन नहीं है तो उनके स्वामीके पास धन कहाँसे आयगा और भिखारियोंके राजाके पास धन नहीं है तो फिर भिखारियोंके पास धन कहाँसे आयगा। अपने भक्तकी ऐसी बातें सुनकर भगवान दो सौ सोनेकी मुहरोंको लेकर श्रीपरमानन्दजीके

घर पर आये और उन्हें मुहरें देने लगे। तब श्रीपरमानन्दजीने कहा—प्रभो ! आप यहाँ इन मुहरोंको क्यों लाये ? भगवानने कहा—तुम बड़े चतुर मालुम पड़ते हो, जब मैं कुछ नहीं देता हूँ, तो तुम उलाहना देते हो और जब देता हूँ तो लेते नहीं हो। आपने कहा—प्रभो ! मैंने जो कुछ कहा, वह विनोदमें कहा। ऐसा कहते-कहते परमानन्दके आँखोंमें आँसू भर आये। वे प्रभु-चरणोंमें लिपट गये। भगवान भी भक्त-भावमें विभोर हो गये और बोले तुम्हारे मनमें उत्सव करने की तथा सन्त-सेवा की जैसी अभिलाषा है, उसको इस धनसे पूर्ण करलो तथा जो चाहो सो और भी माँग लो परन्तु अब उलाहना मत देना। मैं तो तुम्हें धन इसलिए नहीं देता कि बिना धनके भी तुम अपना सर्वस्व सन्त-सेवा में अर्पण करके मुझे सन्तुष्ट करते हो। और स्वयं भी प्रसन्नता का अनुभव करते हो। निष्किञ्चन की और धनीमानी की सेवामें अन्तर है। इसे तुम अच्छी तरहसे मानते हो। भगवानके साथ हुए इस सम्वादसे श्रीपरमानन्दजी को जैसा परमानन्द हुआ। उसका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता है। भगवत्कृपासे परिपूर्ण धनको लेकर श्रीपरमानन्दजीने महा-महोत्सव किया। इस प्रकार सन्त-भगवन्त की सेवा करके आपने सभी को सन्त-सेवा करने का उपदेश दिया। 'अस भक्त परमानन्द हरि प्रिय परसपर आसक्त।'

श्रीभगवानजी—आपका निवास कालख ग्राममें था। आपको माधुकरी माँगकर सन्त-सेवा करने का बड़ा-भारी अभ्यास तथा भगवद् भक्तोंमें बड़ा-भारी अनुराग था। दिन-भर भिक्षाटन से जो कुछ प्राप्त होता, उस सर्वस्व से आप अतिथि, अभ्यागत-सन्तों की सेवा करते। एकबार ऐसा अकाल पड़ा कि भिक्षा मिलना बन्द हो गया और सन्तों की भीड़ बढ़ गई। अब यथोचित स्वागत-सत्कार न कर पाने से आपका मन खिन्न हो गया। आपने अपने मनमें निश्चय किया कि अब इस स्थानको छोड़कर अन्यत्र कहीं चला जाऊँगा। उसी दिन आपको आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि—तुम इस स्थान को छोड़कर कहीं मत जाओ।' मैं तुम्हारे लिए धन देता हूँ, तुम उसके द्वारा सन्त-सेवा करो।' आपने कहा—मुझे इस प्रकारके धनसे सन्त-सेवा नहीं करनी है। मैं चाहता हूँ कि लोकमें सभी सुखी-समृद्ध रहें और माधुकरी वृत्ति से हमारी झोली भरे, उससे मैं अपने इष्ट-सन्तों की सेवा करूँ। इस भाव पर रीझकर भगवानने कहा—'एवमस्तु' ऐसा ही हो। नित्य आपही झोली भरने लगी और सुकाल हो गया।

नहिं अन्त आवत सन्त पावत भक्त जस जग छाइये।
अस दुकालहिं नष्ट कीनो भक्त प्रभु को भाइये।।

श्रीश्यामजी—प्रसिद्ध भक्त सेनके वंशमें श्रीश्यामजी महान् भगवद् भक्त हुए। पहले आप गृहस्थाश्रम धर्मका पालन करते हुए भगवद्-भजन और सन्त-सेवा करते थे। एकबार आपके यहाँ एक सिद्ध सन्त आ गये। उन्होंने सन्त-सेवा की महिमा बताकर कहा कि यदि मानव-जीवनको सफल करना हो तो आज ही से सन्त-सेवा का दृढ़ व्रत हृदयमें धारण करलो। दूसरे साधनों का भरोसा छोड़कर अनन्य-भावसे सन्त-सेवा किया करो। श्रीश्यामजीने पूछा-भगवन्! सन्त कैसे होते हैं, उनकी क्या पहचान है। उन्होंने कहा—हमारे जैसे वेश-भूषा (कण्ठी-माला-तिलक) धारण करने वाले सभी सन्त भगवदाश्रित हैं और सेव्य हैं। यदि इसी शरीर से भगवदानुभव चाहते हो तो अब समय आ गया है, गृहस्थाश्रमका त्यागकर दो, माधुकरी वृत्तिसे भिक्षा माँगो, आये-गये साधु-सन्तों और अतिथियोंकी सेवा करो। फिर देखो कि तुम पर कितनी जल्दी प्रभु रीझते हैं और तुम सिद्ध होते हो। उस सिद्ध-सन्तके उपदेशका इन पर ऐसा विलक्षण रङ्ग चढ़ा कि इन्होंने घर-बारका मन और तन दोनों से सर्वदा त्याग कर दिया। विरक्त हो गये और भिक्षाटन एवं सन्त-सेवा करने लगे।

एकबार भिक्षा माँगते हुए आप एक सद्-गृहस्थके द्वार पर गये, तो वहाँ इन्होंने देखा कि उस घरके मालिकका इकलौटा बेटा मर गया है और सभी लोग करुण-क्रन्दन करते हुए विलाप कर रहे हैं। लोगों का आर्त्तनाद सुनकर आपका हृदय द्रवित हो गया। दया भावमें भरकर श्रीराम-नामका सङ्कीर्तन करते हुए आपने जाकर बालक के शरीर का स्पर्श किया तो उसी क्षण वह जीवित हो गया। आपने कहा—तुम लोग व्यर्थ रुदन करते हो, नाम-कीर्तन करो, पुत्र जीवित हो गया। श्रीश्यामजीके इस चमत्कार को देखकर सभी लोग उनके श्रीचरणोंमें लिपट गये। तभीसे उनका एवं अन्य सन्तोंका सभी लोग विशेष सम्मान करने लगे एवं भगवद्-भक्त हो गये। आपने कहा—इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। यह तो सन्त-सेवा का प्रभाव है। कोई भी श्रद्धासे सन्त-सेवा करके इस प्रकार की शक्ति प्राप्त कर सकता है। श्रीश्यामजीके इन उपदेशोंसे बहुत से लोग सन्त-भगवन्त की आराधना में तल्लीन हो गये।

भक्तदाम गुणचित्रणीमें एक निम्नलिखित छप्पय भी श्रीकूबाजी के चरित्रमें है और उसमें १५० की संख्या दी गई है उसकी टीकामें तीन चरित्र भक्तिरसबोधिनीसे अधिक है।

श्रीकेवलदास (कूबाजी)

तारण मरुधर खण्ड कूँ भक्ति धर्म कूबै लयौ।।
भयौ खीच कौ भात दास कौ धर्म अपारा।

मृतिका काञ्चन पात्र भये कीरति संसारा।।
वचन मानिकै सिन्धु गोमती सङ्गम होई।
गेह रमा जुत राम रह्यौ इक बच्छर सोई।।
पग पग परचौ प्रगटियौ जानराय जग में जयौ।
तारण मरुधर खण्ड कूं भक्ति धर्म कूबै लयौ।।

भावार्थ—मारवाड़के प्राणियोंका उद्धार करने के लिए श्रीकूबाजीने दृढ़तासे वैष्णव-धर्मका आचरण किया। बनी-बनाई खिचड़ी (दूध-भात) बन गई, यह दास्य भक्ति का अति अद्‌भुत प्रभाव हुआ। एकबार मृत्तिकाके पात्र सोनेके हो गये। इससे श्रीकूबाजीका सुयश सारे संसारमें फैल गया। द्वारका में गोमतीका समुद्रसे संगम नहीं रह गया था। श्रीकूबाजीके वचन मानकर पुनः सङ्गम हो गया। एकबार सन्त-सेवा निष्ठा पर रीझकर श्रीजानकी सहित श्रीरामजी एक वर्ष तक कूबाजीके यहाँ रहे। इस प्रकार पग-पग पर अनेक परिचय देकर श्रीकूबाजीने भक्तिको पुष्ट किया।

* श्रीकूबाजी केवलदास *

कहत कुम्हार जग कुल निसतार कियौ, केवल सुनाम साधु सेवा अभिराम है।
आये बहु सन्त प्रीति करी लै अनन्त, जाकौ अन्त कौन पावै ऐपै सीधौ नहीं धाम है।।
बड़ी ए गरज चले करज निकासिबे कों, बनिया न देत कुवां खोदौ कीजै काम है।
कही बोल कियौ तोल लियौ नीकें रोलकरि, हितसों जिमाये जिन्हें प्यारो एक स्याम है।।५६७

शब्दार्थ—निस्तार=उद्धार। रोल=शब्द, रोर।

भावार्थ—संसारमें लोग जिन्हें कुम्हार जातिका कहते हैं, उनका सुन्दर नाम श्रीकेवलराम था। आपने अपनी भक्तिके प्रभावसे अपने कुलका ही नहीं संसार का उद्धार किया । आप साधुओंकी बड़ी अच्छी सेवा करते थे। एकबार आपके घरमें बहुतसे सन्त पधारे। जिसकी कोई सीमा नहीं हो सकती है, ऐसी असीम प्रीति आपने सन्तोंमें की। उनका सप्रेम स्वागत-सत्कार किया। परन्तु उस दिन घरमें अन्न-धन कुछ भी न था। बड़ी-भारी आवश्यकता थी अतः आप कर्ज लेने के लिए चले। परन्तु किसी महाजनने कर्ज नहीं दिया। एक महाजनने कहा—'यदि तुम मेरा कुआँ खोदनेका काम कर दो, तो मैं तुम्हारे लिए आवश्यक सीधा-सामान उधार दे सकता हूँ।' इस बातको स्वीकार कर आपने प्रतिज्ञा की और अच्छी तरह रोलकर (अर्थात् प्रसन्नता द्योतक शब्द कहकर, छाँटकर, कंकर, मिट्टी आदिको अलग कर) आवश्यक अन्न-धन लाये। एकमात्र श्यामसुन्दर जिन्हें प्रिय हैं, ऐसे सन्तोंको आपने बड़े प्रेमसे भोजन कराया।।५६७।।

व्याख्या—कहत कुम्हार—कुम्हार निम्न जाति है—यथा—'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।' परन्तु भक्तिका प्रताप ऐसा है कि इस पर कई कोटि ब्राह्मणता न्यौछावर हो जाती है। यथा—'भक्तिकौ प्रताप ऋषि जानत निपट नीके, कैयौ कोटि विप्रताई यापै वारि डारियै।' (क० ३३) (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ २३७-२३८) जहाँ भक्त प्रकट होता है वह कुल, ग्राम, देश और माता पवित्र हो जाती है। (पूरा श्लोक देखिये द्वि० खं० पृष्ठ ६९७) भगवान केवल भक्ति का नाता मानते हैं। 'मनाउँ एक भगति कर नाता।' अहङ्कारी कुलीन ब्राह्मण भवसागरमें डूब जाता है और अकुलीन भक्त स्वयं तर जाता है और दूसरों को तार देता है। यथा—'व्यास नीच सब तरि गये सन्त चरन लवलीन। जाति पांति अभिमानते बूड़े बहुत कुलीन।।' एक कुम्हार जातिके लोग गधा नहीं रखते हैं, अखाद्य नहीं खाते हैं और अपेयको नहीं पीते हैं। सात्विक प्रकृतिके होते हैं। सवर्ण लोग भी इनका जल पीते हैं, इसी जातिके श्रीकूबाजी थे अतः इनके यहाँ सन्तोंका आना-जाना, भोजन करना होता था। श्रीबालकरामजीने लिखा है—'काची मृतिका जन संसारी। तिनहिं बनायो पात्र सुधारी।। हरिकी भक्ति आंव में पाचा। निपजे सन्त रूप सिष सांचा।।' अर्थात् संसारी प्राणी कच्ची मृतिकाके समान हैं, उनको आपने शिक्षा देकर सुन्दर पात्र-योग्य बना दिया और फिर भक्तिके आँवेमें पकाकर सच्चा-पक्का वैष्णव बनाया। ये ऐसे कुम्हार थे।

केवल सुनाम—केवल के अर्थात् विशिष्ट, एकान्तिक, असाधारण, पूर्ण, एकमात्र, एकल भगवान श्रीरामजीके दास थे अतः केवलदास यह सुन्दर नाम था। पीठके ऊपर कूब होनेसे कूबा यह नाम तब पड़ा जब आप कूपसे निकले। कूबका सुन्दर, रुचिकर अर्थ भी होता है अतः नाम और उपनाम दोनों ही सुनाम थे। इनकी पत्नीका नाम पुरी था। कुछ दिन तक आपका नियम रहा कि महीने भरमें केवल मिट्टीके तीस बर्तन बना लेते और एक बर्तनके बेचने में जो पैसे मिलते, उससे एक दिनका खर्च चलाते। बर्तन बनाने में अधिक समय न लगाकर भजनमें अधिक समय लगाते।

आये बहु सन्त—सन्त-सेवाके प्रतापसे इनकी प्रसिद्धि हो गई थी अतः नित्य ही सन्त, भक्त आते-जाते रहते थे। एकबार दो सौ सन्त पधारे। झींथड़ा गाँवमें बहुतसे सेठ-साहूकार थे, किन्तु किसीने भी साधुओंका सत्कार न करके सभीने कूबाजीका नाम बता दिया। सन्तोंको अनन्तके समान मानकर उनमें अनन्त प्रीति की।

प्रीति करी लै अनन्त—एक दो सन्त आते तो प्रीति-प्रसन्नता होती और आज जब बहुतसे सन्त आये तब (भारकी प्रतीति नहीं हई, प्रत्युत) अनन्त प्रीति हुई। यह सच्चे

प्रेमका प्रमाणहै। जितने अधिक सन्तोंका दर्शन होता उतनी अधिक भगवानकी कृपा समझते। सन्तोंकी भीड़का शुभागमन देखकर श्रीकूबाजीने विनती की उसका आशय है—

अक्ष्णोः फलं त्वादृश दर्शनं हि तन्वाः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः।
जिह्वाफलं त्वादृश कीर्तनं हि सुदुर्लभा भागवता हि लोके।।

अर्थ—आप भक्तोंके दर्शनोंमें ही आँखोंकी सफलता है। आप जैसे भक्तोंके अङ्ग स्पर्शमें ही शरीर की सफलता है और आप जैसे भक्तोंके गुणगान में ही जीभकी सफलता है। इस संसार में भगवद्-भक्तोंके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। (हरिभक्ति सुधोदय १३-२) सभीको साष्टाङ्ग दण्डवत् करके जल देकर आसन लगवा दिया। पर 'सीधो नहीं धाम हैं'—अकिञ्चन, उदार सन्त-सेवियोंके सामने प्रायः ऐसी समस्या आती ही रहती है। यह कसौटीका समय होता है। चीधरजीको अपनी स्त्रीका लहँगा बेचना पड़ा। (क० २९१) श्रीहरिपालके निकट लुटनेके लिए भगवानको आना पड़ा। (छ० ५३) श्रीपीपाजी श्रीसीता सहचरीको कन्धे पर चढ़ाकर बनियाँके पास ले गये। (क० २९८) इससे बड़ी और कोई गरज सन्तसेवी की नहीं होती है। स्वार्थी, लोभी, महाजन ऐसे अवसर पर अधिक से अधिक और अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करते हैं। जैसे सीता सहचरीसे बनियाँने वायदा करा लिया तब 'दई सब सोंज कही सही निसि आइये।' ऐसे अभावमें भी सन्त-सेवाकी टेक का पालन करनेसे भगवत्प्रसन्नता होती है और सदाके लिए समस्याका समाधान हो जाता है। इस पर—

दृष्टान्त-शिव और विष्णु भक्तका—एकबार भगवान शङ्कर और विष्णु ये दोनों सन्त रूप धारणकर साथ-साथ पृथ्वी पर विचरने आये। विचार हुआ कि चलो किसी भक्त के घर चलकर उसका स्वागत-सत्कार स्वीकार करें और उसे कृतार्थ करें। शङ्करजीने कहा इसी नगरमें चलो, हमारा एक बड़ा-भारी भक्त है, नित्य जल चढ़ाता है, पूजा करता है मैंने भी उसे बहुत सम्पत्ति दे रक्खी है, वह बड़ा-भारी भक्त व्यापारी है। देखो, सामने गद्दी पर त्रिपुण्ड लगाये बैठा है। हजारों बोरी गेहूँ-चीनी आदिकी लगी हैं। दोनोंने गद्दीके सामने जाकर सीताराम-राधेश्याम की कई आवाजें लगाईं पर सेठजीका ध्यान बही पर से नहीं हटा। जब इन दोनोंने आवाज ऊँची की। तब सेठजीने कहा—कहो, क्या बात है, क्यों कान फोड़े डाल रहे हो। दोनोंने कहा—हम भूखे हैं, कुछ भोजनका प्रबन्ध करो। सेठजीने कहा हमारे पास भोजनका कोई भी प्रबन्ध नहीं है, यह कहते हुए अपने मुनीमसे कहा इन्हें एक सेर बेझर देकर यहाँसे भगाओ। यह सुनकर दोनों वहाँसे चल दिये। शङ्करजीने

कहा यह पहले बड़ा गरीब था। मेरी सेवा करते-करते सेठ बन गया पर इसमें अब अहङ्कार आ गया अतः अतिथिकी सेवामें भाव नहीं है। अब यह फिरसे कङ्गाल हो जायगा।

विष्णु भगवानने कहा—आपके भक्तको देख लिया, अब हमारे भक्तके यहाँ चलो। दोनों एक गरीब बुढ़ियाके यहाँ पहुँचे। उसके एक पुत्र था और कोई परिवारमें नहीं था। घर टूट-फूटकर गिर गया था। सामान भी कुछ विशेष घरमें नहीं था। घरमें एक चक्की थी, बुढ़िया चक्की पीसकर अपना और अपने पुत्रका पालन करती दोनों सन्तोंको अपने घरमें आया देखकर बुढ़ियाने दण्डवत् किया और बालकसे दण्डवत् कराया। हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। लड़के ने जल लाकर हाथ-पैर धुलाये। दोनों सन्त आसन पर बैठे और बोले माताजी! भूख लगी है, कुछ भोजनका प्रबन्ध हो सके तो करो। बुढ़ियाने कहा हाँ, महाराज! अभी करती हूँ, आप लोग विराजिये। घरमें अन्नका दाना न था, उधार मिलनेकी आशा न थी। बुढ़ियाने उपाय सोच लिया। चक्कीके ऊपरका पाट लड़के को दिया और कहा—ये महात्मा लोग देख न पावें, तू इसको बेचकर आटा-दाल ले आ। पीछेसे दीवाल पार करते समय चक्कीका पाठ गिर गया और नीचे पत्थर पर गिरते ही उसके कई टुकड़े हो गये। उदास और भयभीत बालकने यह बात मातासे कही, तो उसे सुनकर बुढ़िया हताश या रुष्ट नहीं हुई। उसने चक्कीके नीचेका पाट खोदकर दिया और कहा—जल्दीसे सामान ले आ। इस बार लड़का सावधानीसे चक्कीके पाटको ले गया और बेचकर आटा-दाल आदि लाया। बुढ़ियाने बड़े प्रेमसे भोजन बनाकर दोनोंको पवाया। भुक्तावशिष्ट खाकर मैया-बेटा बड़े प्रसन्न हुए। इन विष्णु भक्तोंके भाव पर रीझकर शङ्करजीने कहा—तुम्हें जो वरदान चाहिए, वह माँग लो। बुढ़ियाने कहा—महाराज ! आपकी सेवा-भक्तिमें बाधा न हो, वही जो कुछ उचित समझो सो कृपा करके दे दो। शङ्करजीने अपनी झोली दे दी और कहा—इसमें से पत्थरके टुकड़ोंको बेच-बेचकर घर बनाओ, बेटाका ब्याह करो और अतिथि साधु-सन्तोंकी सेवा करो। दोनों अपने-अपने भक्तों की भक्ति पर आश्चर्य करते हुए स्वधाम गये। बुढ़िया का लोक-परलोक सुधर गया। सन्त-सेवामें भाव था, वस्तुके अभावमें टेक न छोड़ने पर भगवत्-कृपा प्राप्त हुई।

बड़ी ए गरज—जैसे कोई आदरणीय मेहमानके आने पर कर्ज करके भी उसका सत्कार करता है, क्योंकि उसे लोक-निन्दाका भय है। उसी प्रकार यहाँ अतिथि सन्त-सेवामें श्रीकूबाजीको बड़ी गर्ज पड़ी अतः कर्ज लेने गये पर 'बनियाँ न देत।' बहुत कहने-सुनने के बाद बनियाने हिसाब लगाया कि इनको जितना सामान चाहिए, उसके मूल्यसे चौगुने

दाम कुएँको खुदवाने में लगेंगे अतः बोला—'कुवाँ खोदौ।' इन्हें गर्ज थी अतः राजी हो गये। सामान लाकर 'हित सों जिमाये।' इसका हेतु है—'जिन्हें प्यारो एक स्याम है।' अर्थात् श्रीकूबाजीको और उन सन्तोंको एक श्यामसुन्दर प्रिय हैं। इसलिए परस्पर प्रीति है और जीमने-जिमानेमें परमानन्द हुआ।

गये कुवां खोदिबे कों सुवा ज्यौं उचारै नाम, हुआ काम जान्यौ वानै भयौ सुख भारी है।
आई रेत भूमि झूमि माटी गिरि दबे वामें, केतिक हजार मन होत कैसे न्यारी है।।
सोक करि आये धाम राम नाम धुनि, काहू कान परी बीत्यो मास कही बात प्यारी है।
चले वाही ठौर स्वर सुनि प्रीति भौंर परे, रीति कछु और यह सुनि बुधि टारी है।।५६८

शब्दार्थ—सुवा=तोता, शुक। भौंर=चक्कर।

भावार्थ—साधु-सन्तोंकी सेवासे अवकाश पाकर श्रीकेवलरामजी महाजनका कुआँ खोदने लगे। खोदते समय आप तोताकी तरह भगवानके नामोंका उच्चारण कर रहे थे। कुआँ खुद गया यह जानकर महाजनको और कूबाजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। खोदते-खोदते रेतीली जमीन आ गई और चारों ओरसे कई हजार मन मिट्टी खिसककर गिर पड़ी। उसमें श्रीकेवलदासजी दब गये। लोगोंने सोचा कि—'अब इनकी मिट्टीको कैसे हटाया जाय। केवलरामजी तो मर ही गये होंगे, अब मिट्टी को हटानेसे भी क्या लाभ। इसप्रकार शोक करते हुए लोग अपने-अपने घरोंको चले गये। एक महीनेके बाद उस फूटे कुएँके पाससे आन-जाने वाले लोगोंने श्रीराम-नामकी ध्वनि सुनी। गाँवमें जाकर यह शुभ प्रिय समाचार सुनाया। सुनते ही बहुतसे लोग वहाँ आये और नाम-संकीर्तनकी मधुर-ध्वनि सुनकर प्रेमके आवेशमें आ गये। लोगोंको अपने शरीरकी सुधि-बुधि नहीं रही। जिस प्रेमके स्वरसे श्रीकूबाजी नाम-संकीर्तन कर रहे थे, वह रीति कुछ और ही थी।।५६८।।

व्याख्या—सुवा ज्यौं उचारै नाम—प्रत्येक फावड़ा नामके साथ चलाते। पुनः-शुकके मुखसे जिस नाम या वाक्यका स्पर्श हो जाता है, वह मधुर-अमृतमय हो जाता है। यथा—'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।' श्रीकूबाजीके मुखसे उच्चरित नाम मधुर एवं प्रीतिवर्द्धक हो जाते थे। पुनः शुक यह श्रेष्ठ श्रोता (और श्रेष्ठ कीर्तनकार) है यथा—'प्रवराश्चातको हंसः शुको मीनादयस्तथा।।' (स्कान्दे भा० माहात्म्ये) चातक, हंस, मीन और शुक ये श्रेष्ठ श्रोता है। क्योंकि वक्ता या पाठकके मुखसे सुनकर जैसाका तैसा रटने लग जाते हैं और रटते ही रहते हैं। श्रीकूबाजी सन्तोंके श्रीमुखसे सुनकर कीर्तन करते थे। कुआँ खोदते समय मिट्टी निकालनेमें नियुक्तजन या इनकी स्त्री संकेतोंके स्थान पर भगवत् नामोंका

ही प्रयोग करती। भीतरसे डलिया भरकर बोलते 'सीताराम' तब ऊपर वाले खींच लेते। ऊपरसे डलिया डालते समय सावधान करनेके लिए बोलते 'जय श्रीरामजी'। शुकको पढ़ाने वाला और शुक दोनों ही एक दूसरेका नामोच्चारण सुनकर नामोच्चारण करते हैं, उसी प्रकार श्रीकूबाजी नामोच्चारण करते-कराते थे। अतः 'सुवा ज्यौं उचारैं नाम' ऐसा कहा। शुकः सुष्ठु मितं वक्ति व्यासं श्रोतृंश्चहर्षयन्। सुपाठितः शुको यद्वच्छिक्षकं पार्श्वगानपि।। (स्कान्दे भा० मा० ४-१४) अर्थ-वक्ता और श्रोताओंको हर्षित करता हुआ शुक सुन्दर और मित (थोड़ा और सत्य) बोलता है। अच्छी तरहसे भक्तके द्वारा पढ़ाया हुआ शुक अपने शिक्षकको तथा अन्य समीपवर्ती लोगोंको रसका आस्वादन कराता है तथा स्वयं भी रसका आस्वादन करता है। गुरुदेव पयहारी श्रीकृष्णदासजीके पढ़ाये हुए शुक हैं श्रीकूबाजी, अतः सप्रेम नाम रटते ही रहते हैं।

श्रीकूबाजीके मनमें आता कि जैसे जड़ पक्षी शुक पाठक के पढ़ाने पर नामको रटने लगता है पर उसे नामका वास्तविक रस नहीं मिलता है। परन्तु फिर भी नाम भगवान अपने प्रभावसे उसका कल्याण कर देते हैं। वैसे ही मैं जड़ हूँ सन्त-सद्गुरुके पढ़ाने-रटाने से मैं नामको रटता हूँ पर मुझे नामका वास्तविक महामधुर रस नहीं मिल रहा है, यह मेरा दुर्भाग्य है पर कृपालु नाम भगवान मेरा कल्याण करेंगे। वस्तुतः मैं नामके रससे अभी वञ्चित ही हूँ। यथा—

गाढानुरागभरनिर्भरभङ्गुरायाः कृष्णेति नाम मधुरं मृदुपाठयन्त्याः।
धिङ्मामधन्यमतिचञ्चलजातिदोषाद् देव्याः काराम्बुरुहकोरकतश्च्युतोऽस्मि।।

भावार्थ—श्रीराधिकाजी प्रिय-शुक पक्षीको हाथ पर बैठाकर अनारके दाने चुगा रही थीं और मधुर श्रीकृष्ण-नामकी शिक्षा दे रही थीं। वह पक्षी कृष्ण-कृष्ण कहते-कहते श्रीराधिकाजीके हाथ से उड़कर श्रीकृष्णके द्वार पर बने चबूतरे पर जा बैठा और कृष्ण कृष्ण कहने लगा। पक्षीके मुखसे अपना नाम सुनकर श्रीकृष्ण उसके पास गये और उसकी प्रशंसा करने लगे। वह पक्षी बोला—मुझमें प्रशंसा की कोई बात नहीं है। धिक्कार है मुझको! मैं चञ्चल स्वभाव वाला पक्षी हूँ। मुझ पर कृपा करके प्रगाढ़ अनुरागवश श्रीराधिकाजी मुझे मधुर कृष्ण-नामकी शिक्षा दे रही थीं। मैं नाम-माधुरीमें स्थिर न रह सका। जातिगत चञ्चलताके वश होकर श्रीराधिकाजीके कर-कमलोंके स्पर्शसे च्युत हो गया। यहाँ श्रीकृष्णके दर्शन होने पर भी शुक नाम-माधुरीमें स्थिर न होने के कारण अपनेको धिक्कारता है।

श्रीराधिकाजीके मुखसे निःसृत मधुर कृष्ण-नामके रससे वञ्चित है, अतएव दुःखी है। (उज्ज्वलनीलमणि) ऐसे ही श्रीकूबाजी अपनी दैन्यताके कारण नामके मधुराति मधुर रसकी प्राप्तिके लिए शुककी तरह दुःखी हैं। अतः 'सुवा ज्यौं उचारैं नाम' ऐसा कहा। कूबाजी निरन्तर नाम जपते थे। नाम-जपकी महा-महिमा है—'जकारो जन्म विच्छेदः पकारः पापनाशकः। तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्म पाप विनाशकः॥' अर्थात्—जन्म और जन्मके हेतु पापका नाश करनेके कारण 'जप' कहा जाता है। (आग्नेय पु०)

उचारैं नाम—श्रीकूबाजीको शरीरसे किसी भी कार्यको करते समय भगवन्नामके उच्चारणका अभ्यास था अतः कुआँ खोदते समय भी भगवन्नामका उच्चारण हो रहा था। राम-नामके रसका चस्का जिसे लग जाता है। उसके अन्य कार्य गौण हो जाते हैं। नाम-जप प्रधान रहता है। यथा—

बैठत रामहिं ऊठत रामहिं, बोलत रामहिं राम रह्यौ है।
जीमत रामहिं पीवत रामहिं, धामहिं रामहिं राम गह्यौ है॥
जागत रामहिं सोवत रामहिं, जोवत रामहिं राम लह्यौ है
देतहु रामहिं लेतहु रामहिं, सुन्दर रामहिं राम कह्यौ है॥

सीताराम नाम ही में वेद संहिता पुरान, ज्ञान ध्यान भावना समाधि सरसतु है।
सीताराम नाम ही में तत्व भक्ति जोग यग्य, पर व्यूह विभव स्वरूप परसतु है॥
सीताराम नाम ही में पाँचों मुक्ति भुक्ति, वरदायक विचित्र एकरस दरसतु है।
जुगल अनन्य सीताराम नाम ही में, मोद विशद विनोद बार बार बरसतु है॥

माटी गिरि दबे वामें—लगभग अस्सी हाथ गहराई पर थे कि चारों ओर से मिट्टी खिसक पड़ी। लोगोंने पूरीको समझा-बुझाकर कुछ भोजनादिका प्रबन्ध किया। एक ने कहा-सन्त थे, किसी प्रारब्धसे ऐसी घटना घटी। किसीने कहा—मुफ्त खोर मुड़ियोंको खिलाने से ऐसी दुर्गति हुई। किसीने कहा—वह दुष्ट था अतः वास्तविक रहस्यको कोई न समझ सका। एक मास बाद यात्रियोंने रातको वहाँ निवास किया तो ताल-मृदङ्गके साथ राम-नाम सङ्कीर्तन की ध्वनि सुनाई पड़ी। राजा-प्रजा सभीने कान लगाकर कीर्तन की अद्भुत ध्वनिको सुना और वे सब प्रेममें पग गये।

माटी दूर करी सब पहुँचे निकट जब, बोलिकै सुनायौ हरे बानी लागी प्यारियै।
दरसन भयौ जाय पांय लपटाय गये, रही मिहराबसी ह्वै कूबहू निहारियै॥

धर्‌यौ जलपात्र एक देखि बड़े पात्र जाने, आने निज गेह पूजा लागी अति भारियै।
भई द्वार भीर नर उमड़ि अपार आये, महिमा विचारि बहु सम्पति लै वारियै।।५६९

भावार्थ—इकट्ठे होकर लोगोंने श्रीकेवलरामजीके ऊपर पड़ी हुई मिट्टीको निकाल कर अलग किया। जब लोग आपके पास पहुँचे, तो आपने 'हरे राम, हरे राम' उच्चारण करके सुनाया। इनकी वाणी सबको बहुत ही प्रिय लगी। जब आपका दर्शन हुआ तो लोग आपके पैरोंमें लिपट गये। जहाँ आप बैठे थे, वहाँ भगवत्कृपासे एक गोल महराब-सी बन गई थी, जिसके कारण आपका शरीर सुरक्षित था। लोगोंने देखा कि अधिक दिनों तक झुककर बैठे रहने से आपकी पीठमें कूबड़ निकल आया है। आपके समीप एक जलसे भरा हुआ पात्र रक्खा था। उसे देखकर लोगोंने श्रीकेवलरामजीको भगवानका महान् कृपापात्र समझा। फिर कुएँसे निकालकर लोग इन्हें इनके घर पर ले आये। अब तो आपकी बड़ी-भारी पूजा-प्रतिष्ठा होने लगी। आपके द्वार पर बड़ी-भारी भीड़ एकत्र हो गई। चारों ओरसे झुण्डके झुण्ड अपार जन-समूह दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ा। आपकी भक्ति और महिमाको जानकर लोगोंने बहुत-सी सम्पत्ति आपको भेंट की तथा दीन-दुःखियों को बाँटी।। ५६९।।

व्याख्या—रही मिहराबसी है—मिट्टी गिरी तो महराब-सी बन गई अतः दबकर प्राणान्त नहीं हुआ। यह श्रीरामजीकी इच्छा, न दबने पर भी श्वास लेने योग्य अवकाश नहीं था। दम घुटकर मृत्यु हो जानी चाहिए थी। वह नहीं हुई, इसका कारण यह कि भगवान इनको सिद्ध बनाना चाहते थे अतः महराब ऊँची नहीं रही जिससे कूब हुआ और उसे देखकर लोगोंको सिद्धाईकी स्मृति सदा बनी रही। जैसे कोई सिद्ध गुफामें बैठ जाय और साधक गुप्त सुरङ्गके रास्तेसे खान-पान पहुँचावे। फिर उसे कुछ दिन बाद निकाल कर उसकी पूजा करवावे। उसी तरहसे इनकी रक्षा करके, प्रसाद एवं जल आदि इनके पास भगवानने पहुँचाया। इन्हें सिद्ध बनाकर अपने भक्तकी महिमा बढ़ाई। इसके बाद सिद्धाई का नाम कूबा ही लोक में अधिक प्रसिद्ध हुआ। कुएँमें भगवद्दर्शन एकान्तमें कीर्तन-सत्सङ्गका जो अपार सुख मिला। वह सन्त-सेवाका फल है। कूबाजी तो सदा इसी तरह रहना चाहते थे। बाहर निकलने की इच्छा न थी पर भगवानने लोकमें भक्ति प्रचारार्थ इन्हें बाहर निकलवाया। जैसे आदि कवि श्रीवाल्मीकिको बाँबीसे प्रकट कराया। लोगोंने इन्हें पात्र माना क्योंकि कूपकी महराबमें इनकी सेवाके लिए श्रीरामजी-श्रीजानकीजी तथा श्रीहनुमानजी प्रकट हो गये। अग्निसे सेक किया। हलुवा पवाया, श्रीजानकीजीके द्वारा दिया गया पायस पात्र इनके निकट पाया गया। योग्य पात्र वही है जिसे प्रभु अपना लें। यथा—

जाकौ हरि अङ्गीकार कियौ।
ताके कोटि विघन हरि हरि के अभय प्रताप दियौ।।
बहुत सासना दई प्रहलादहिं ताहि निशङ्क कियौ।
निकसि खम्भते नाथ निरन्तर निज जन राखि लियौ।।
मृतक भये सब सखा जिवाये विष जल जाय पियौ।
सूरदास प्रभु भक्त वछल हैं उपमा कों न बियौ।।

बड़ा-भारी मेला लगा, सम्पत्ति आई, साधु-सेवा हुई।

सुन्दर स्वरूप श्याम ल्याये पधरायबे कों, साधु निज धाम आय कूबा जू के बसे हैं।
रूप कौं निहारि मन में विचार कियौ आप, करै कृपा मोकों प्रभु अचल ह्वै लसे हैं।।
करत उपाय सन्त टरत न नेक किहूँ, कही जू अनन्त हरि रीझे स्वामी हँसे हैं।
धर्‍यौ जानराय नाम जानि लई हीकी बात, अङ्ग में न मात सदा सेवा सुख रसे हैं।। ५७०

भावार्थ—एकबार एक महात्मा अपने मन्दिरमें पधरानेके लिए जयपुरसे बनवाकर श्यामवर्णका बड़ा सुन्दर श्रीरामजीका स्वरूप ले जा रहे थे। मार्गमें विश्राम करने के लिए श्रीकूबाजीके यहाँ रुके। श्रीरामजीके सुन्दर स्वरूपको देखकर श्रीकूबाजीके मनमें विचार उठा कि—'यदि ये प्रभु हमारे ऊपर कृपा करें, यहीं रहकर मेरी सेवा स्वीकार करें तो बहुत अच्छा हो।' इनकी प्रार्थना स्वीकार करके, अन्तर्यामी भगवान श्रीराम वहीं अचल होकर विराज गये। दूसरे दिन सन्तजी इन्हें ले जानेके लिए उठाने लगे तो अनेक उपाय करने पर भी भगवान वहाँसे नहीं उठे। तब स्वामी श्रीकूबाजीने हँसकर कहा—'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' ये मुझ दास पर रीझ गये हैं अतः यहीं रहेंगे। अब आपके उठाने से नहीं उठेंगे। भगवानने इनके मनकी बात जान ली थी अतः इनकी प्रतिष्ठा करके श्रीकूबाजीने इनका नाम 'जानराय रामचन्द्र' रक्खा। 'जागिये कृपा निधान जानराय रामचन्द्र जननी कहै बार-बार भोर भयौ प्यारे।' प्रभुको अपने घरमें विराजमान कर तथा उनकी सेवाका सुख प्राप्तकर श्रीकूबाजी अपने अङ्गमें फूले नहीं समाते थे। झींथड़ामें जानराय रामचन्द्र अब तक विराजमान हैं।।५७०।।

व्याख्या-रूप कों निहारि—भगवान श्रीरामने कूबाजीके रूपको देखा कि सन्त-सेवामें निष्ठाका प्रमाण-पत्र कूब है, सन्त-सेवामें इनके इस अगाध प्रेमको देखकर भगवान रीझ गये और उन्होंने अपने श्रीविग्रहमें अनन्त माधुर्यको प्रकट कर श्रीकूबाजीको दिखाया तो

श्रीकूबाजी रीझ गये और इन्होंने प्रार्थना की उसे प्रभुने स्वीकार किया। इस प्रकार केवलदासके भगवानको कूबने मोल ले लिया। पश्चात् श्रीनाभाजी भी बिक गये और उन्होंने लिखा कि—केवल कूबै मोल लियो। बिकी हुई वस्तु खरीददारके सर्वथा अधीन होती है, यहाँ भगवान और श्रीनाभाजी अर्थात् भक्तगण कूबाजीके अधीन हो गये। भक्तोंमें भक्तिका यह फल है। भक्तजन भगवानके हाथ बिके होते हैं। यथा—

आगम वेद पुरान बखानत मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपुको ईसु कहावत सिद्ध सयाने।।
धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग विराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै तुलसी हम जानकिनाथ के हाथ बिकाने।।

पुनः— हमें नन्दनन्दन मोल लिए।
सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिए।।
जम की फांस काट मुखराये अभय अजांच किए।।
सुरदास हरिजू के चेरे जूठन खाय जिए।।

श्रीतुलसीदास, श्रीसूरदास आदि भक्तोंको भगवानने मोल लिया और श्रीनाभाजी को कूबाजीके कूबने अर्थात् सन्त-सेवा निष्ठा ने मोल लिया।

चले द्वारावति छाप ल्यावैं यह मति भई, आज्ञा प्रभु दई फिरि घर ही को आये हैं।
करौ साधु सेवा धरौ भाव दृढ़ हिये मांझ, टरौ जिनि कहूँ कीजै जे जे मन भाये हैं।।
गेह ही में शङ्ख चक्र आदि निज देह भये, नये नये कौतुक प्रगट जग गाये हैं।
गोमती कौ सागर सों सङ्गम हो रह्यो सुन्यौं, सुमिरनी पठायकैं यौं दोऊ लै मिलाये हैं।।५७१

भावार्थ—एकबार श्रीकूबाजीके मनमें विचार आया कि—'द्वारका को जाऊँ और शङ्ख-चक्र की छाप लेकर आऊँ।' आप घरसे चल दिये। परन्तु मार्गमें ही भगवानने आज्ञा दी कि—'तुम अपने घर पर ही रहकर सन्त-सेवा करो, सन्त-सेवासे बढ़कर मुझे प्रसन्न करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस भावको दृढ़तासे हृदयमें धारण करो। घरमें रहते हुए ही सब मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे अतः अन्यत्र कहीं मत जाओ।' ऐसी प्रभुकी आज्ञा पाकर श्रीकूबाजी घरको लौट आये। कुछ दिन बाद घरमें रहते हुए ही इनके शरीर में शङ्ख-चक्र आदिकी छाप प्रकट हो गई। इस प्रकारके नये-नये चमत्कार प्रकट हुए तब लोग श्रीकूबाजीकी कीर्तिका गान करने लगे। द्वारकामें गोमती और सागरका सङ्गम अब

नहीं होता है, यह सुनकर आपने अपनी माला सुमिरनी सन्तोंके हाथ भेज दी। दोनोंके मध्यमें सुमिरनी रखते ही फिर सङ्गम होने लगा। इस प्रकार आपने गोमती-सागरका सङ्गम कराया।।५७१।।

व्याख्या—छाप ल्यावैं—वैष्णवीय पञ्च-संस्कारोंमें शङ्ख-चक्र, धनुष-बाण इन भगवदायुधोंकी छाप एक संस्कार है। जिसे दीक्षाके समय ही गुरुदेव दे देते हैं अथवा द्वारका आदि धामोंमें जाकर लिया जाता है। श्रीपीपाजीको श्रीद्वारकानाथने 'दई लैकै छाप पाप जगत के दूरि करौ।' तभी से वैष्णव द्वारका जाकर छाप लेने लगे। बिना द्वारका जाकर छाप लिए साधुको रसोई-पूजामें प्रवेश नहीं करने देते। उसे टकसाली वैष्णव नहीं मानते। (छाप की महिमा द्वि० खं० पृष्ठ ६०७ पर देखिये) द्वारकाकी छाप लेकर सन्त आते, इन्हें देखकर श्रीकूबाजीके मनमें विचार उठा और उन्होंने प्रस्थान कर दिया। तब मार्गमें आकाशवाणी सुनाई पड़ी। 'एकहिं साधै सब सधैं, सब साधे सब जयाँ।' यहाँ साधु भूखे-प्यासे वापस चले जायें, यह ठीक नहीं। भगवत्प्रसन्नताका सबसे बड़ा साधन साधु-सेवा है जैसे आमेर नरेश पृथ्वीराजको घरमें ही दर्शन और छापकी प्राप्ति हुई। उसी प्रकार इन्हें भी। 'पृथ्वीराज परचौ प्रगट तन शंख चक्र मण्डित कियौ।।' (छ० ११६) ऐसा करके भगवानने कूबाजीकी महिमा पर दूसरा पुट दिया। चमत्कार देखकर लोग नमस्कार करने लगे। खूब अन्न-धनकी वृद्धि और उससे सन्त-सेवाका विस्तार हुआ। पुनः गोमती-सागरका सङ्गम न होनेसे भावुक तीर्थ-यात्रियोंको दुःख हो गया। तीर्थकी महिमामें न्यूनतासे लोगोंको अश्रद्धा होने लगी। लोग कहने लगे कि कलिकालकी करालतासे तीर्थ लुप्त हो गया। सागरसे गोमती तक रेत ही रेत दीखती, ज्वार गोमती तक नहीं आता। साधुके द्वारा यह समाचार पाकर आपने एक वैष्णवदलको सुमिरनी देकर कहा—ज्वारके समय मेरी सुमिरनी समुद्रको दिखाना। ऐसा ही हुआ, सुमिरनी दिखाते ही सागर बढ़कर गोमतीमें मिल गया। इससे इनकी महिमा और अधिक बढ़ गई।

भये शिष्य शाखा अभिलाषा साधु सेवा, ही की महिमा अगाध जग प्रगट दिखाई है।
आये घर सन्त तिया करति रसोई, कोई आयौ बाको भाई ताकों खीर लै बनाई है।।
कूबाजी निहारि जानी याकौ हित, सोदर सों कीजियै विचारि एक सुमति उपाई है।
कही भरि ल्यावो जल गई डरि कलपै न लई, तसमई सब भक्तनि जिमाई है।।५७२

शब्दार्थ—कल=धैर्य। कलपै न=दुःख न हो पर उसे चैन नहीं।

भावार्थ—श्रीकूबाजीके बहुतसे शिष्य हुए और उन शिष्य-प्रशिष्योंकी अनेक शाखायें

बढ़ीं। आपके आदेशानुसार सभी शिष्य-प्रशिष्यों में साधु-सेवा की ही विशेष रुचि रहती थी। सन्त-सेवा की महिमा अपार है, इस रहस्य को प्रकट करके आपने दिखा दिया। एकदिन आपके यहाँ कई साधु-सन्त पधारे। श्रीकूबाजी ने पूरी से कहा—'इनके लिए रसोई बना लो।' उसने कहा-मेरी तबियत खराब है, मैं रसोई नहीं बनाऊँगी। ये तो रोज ही आते रहते हैं, मैं कहाँ तक इन्हें बनाकर खिलाऊँगी। श्रीकूबाजी ने कहा—मैं चूल्हा चेताये देता हूँ, तू जब रोटी बनाने लगेगी तो सन्त-कृपा से तेरी तबियत बिल्कुल ठीक हो जायगी। इस प्रकार बहुत कहने-सुनने पर बाजरे के टिक्कर साधुओं के लिए उसने बनाये। इसी बीच उसका भाई आ गया तो बड़े उत्साह से दूसरे के घर से दूध ले आई और उसने अपने भाई के लिए खूब सुन्दर खीर बनाई। श्रीकूबाजी ने देखा तो समझ गये कि इसका स्नेह अपने भाई में अधिक है। तब आपने एक सुन्दर उपाय सोचा। स्त्री से कहा—'तू जल्दी जल भरकर ले आ।' वह जल भरने चली गई परन्तु उसे भय था कि कहीं खीर साधुओं को न परोस दें। जब तक वह जल भरकर आवे तब तक आपने खीर परोसकर संतों को खिला दी।।५७२।।

व्याख्या—याकौ हित सोदर सों—श्रीकूबाजी का भाव अच्युत गोत्रीय वैष्णवों में था। 'मेरे भक्तै देवा देऊ।' खीर देखकर आपने विचारा कि यह भोग लगकर संतों को मिलनी चाहिए। जल-पात्र भरे रखे थे। कूबाजी ने धीरे से उसकी आँख बचाकर जल गिरा दिया। मारवाड़ के कुएँ गहरे एवं दूर होते हैं, जब तक आवे, तब तक भोग लगाकर खीर परोस दी। साधुओं के पात्रों में जल था ही। साधु समदर्शी होते हैं, उन्होंने कहा—माताजी को आ जाने दो। पर कूबाजी ने कहा-आप लोग पावो, फिर हरिगुन गावो। संत जय बोलने लगे तो आपने कहा—पहले प्रसाद पालो, फिर जय बोल लेना।

बेगि जल ल्याई देखि आगि सी बराई हियें, झांकैं मुंह भाई दुख सागर बुड़ाई है।
विमुख विचारि तिया कूबाजू निकारि दई, गई पति कियो और ऐसी मन आई है।।
पर्‌यौई अकाल बेटा बेटी सो न पालि सकैं, तकै कोऊ ठौर मति अति अकुलाई है।
लिये संग कर्‌यौ जोई पुत्र सुता भूख भोई, आय परी झींथड़ा में स्वामी को सुनाई है।।५७३।।

भावार्थ—श्रीकूबाजी की स्त्री जल्दी से जल लेकर आई और जब उसने साधुओं के आगे खीर देखी तो उसके शरीर में आग सी लग गई। अपने भाई के मुख की ओर देखने लगी। भाई भी उदास हो गया। अपने भाई का तिरस्कार मानकर दुःख के समुद्र में डूब गई। श्रीकूबाजी ने अपनी स्त्री को भक्त और भगवान की सेवा से विमुख जानकर उसे घर से निकाल दिया। वह अपने भाई के साथ पीहर चली गई और उसने दूसरा पति कर लिया।

ऐसा ही उसे अच्छा लगा। दूसरे पति के यहाँ उसके कई लड़के और लड़कियाँ हुईं। कुछ दिन बाद अकाल पड़ गया। अब वह अपने बेटा-बेटियों का पालन करने में असमर्थ हो गई। तब किसी दूसरी जगह जाने का विचार करने लगी, जहाँ पेट भर सके पर ऐसा स्थान नहीं मिला, तब बड़ी व्याकुलता हुई। अन्त में लाचार होकर भूख से व्याकुल बालक-बालिकाओं को तथा उपपति को साथ लेकर झींथड़ा आई और श्रीकूबाजी के द्वार पर पड़ गई तथा उसने अपना असह्य दुःख रो-रोकर सुनाया।।५७३।।

व्याख्या—जल ल्याई देखि आगि सी बराई—पूरी विमुख थी अतः जल भरकर लाई और साधुओं की पंक्ति को देखकर क्रोध से जल गई। जल का कार्य अग्नि को बुझाना है ऐसे शीतल पदार्थ के समीप रहते जलने लगी। साधु शीतल सात्विक क्रोधादि के नाशक होते हैं पर यह विमुख थी अतः उन्हें भोजन करते देखकर जली। विमुख शीतलता से जलने लगता है। भीतर रसोई में खीर न थी, भाई के आगे बाजरे के टिक्कर और साधुओं के आगे खीर। वह चाहती थी अपने भाई को खीर और साधुओं को टिक्कर पर उलटा हो गया। उसकी कामना पूर्ण न हुई अतः उसे भारी क्रोध हुआ। उसे विमुख जानकर उसके त्याग की इच्छा से श्रीकूबाजी ने ऐसा किया। परीक्षा हो गई, यदि संतों में सद्भाव होता तो उसे और उसके भाई को बुरा न लगता। उसने अपने भाई का अपमान मानकर झगड़ा किया, लड़ने लगी आपने ऐसा भेद क्यों किया। मैं आपके यहाँ नहीं रहूँगी। तब स्त्री को विमुख विचारकर कूबाजी ने घर से निकाल दिया।

साधो आया अनमनी भाया आया सूरी।
केवल कूबा कहैं तू निकसि बाहरी पूरी।।

आपने कहा—साधुओं को आया देखकर अनमनी-उदास हो जाती है मेरी तबियत ठीक नहीं है, ऐसा कहकर सेवा नहीं करती है और अपने भाई के आने पर सूरी अर्थात् बलवती होकर उत्साह से उसकी खातिरदारी में लग जाती है। तुझे संतों में सद्भाव नहीं है अतः जहाँ जाना चाहती है वहाँ चली जा। तू अपने भाग्य के साथ अथवा अपने भाई के साथ। 'जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।' पूरा पद देखिये तृतीयखण्ड पृष्ठ ५३८) पुनः—विधि न ईंधन पाइये सागर जुरै न नीर। परै उपास कुबेर गृह जौ विपक्ष रघुवीर।। वरषा को गोबर भयौ को चह को कर प्रीति। तुलसी तूँ अनुभवै अब राम विमुख की रीति।। व्यास विवेकी भक्त सों दृढ़ करि कीजै प्रीति। अविवेकी को संग तजि यही भजन की रीति। बिहारीदास न सोहई एक आसन में साध। इत गानौ उत रोवनौ जैसे व्याह सराध।।

सब जग धर्म को दौरत दौरत दोऊ पांय पिराने।
झूठी बातन क्यों मन मानै याते हैं अलसाने।।
दई दई संगत सब सन्तन भजि कहँ जायँ सयाने।
बल्लभ रसिक इकौसेई बस अनुभव हिय सिराने।।

कदाचित् विमुख—मूर्ख या दुष्ट संग बन जाय, तो बोध होने पर उसका त्याग करना ही उत्तम है। इस पर—

दृष्टान्त—भर्तृहरिका—किसी ब्राह्मण ने तप करके अमृत फल प्राप्त किया। उसने उसे राजा भर्तृहरि को दिया कि अमर होकर धर्म की रक्षा और प्रजा का पालन करेगा। राजा अपनी रानी में आसक्त था अतः उसे स्वयं न खाकर अपनी रानी को दे दिया। रानी किसी कोतवाल में आसक्त थी अतः उसने अमृतफल कोतवाल को दे दिया। कोतवाल किसी वेश्या से प्रेम करता था अतः उसने वह फल वेश्या को दे दिया। वेश्या ने सोचा मेरा अमरत्व भी धिक्कार के योग्य होगा अतः उसने राजा भर्तृहरि को अमृत फल दे दिया। राजा ने पता लगाया तो उसे मालूम पड़ गया कि यह फल कहाँ-कहाँ से होकर मेरे पास आया। तब उसने यह श्लोक पढ़ा—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् ताञ्च तञ्चमदनञ्चइमाञ्च मांच।।

अर्थ—मैं दिन-रात प्रेम से जिस रानी का चिन्तन करता हूँ, वह मुझसे विरक्त है और दूसरे को चाहती है। वह पुरुष रानी को न चाहकर दूसरी वेश्या को चाहता है, वह वेश्या उसे न चाहकर मुझे चाहती है। अतः रानी कोतवाल, वेश्या और मुझे भी धिक्कार है। पुनः इन सबकी दुरासक्ति का हेतु जो कामदेव है, उसे भी धिक्कार है। ऐसा विचार कर राजा ने अमृत फल खा लिया और रानी के साथ राज्य का भी परित्याग करके वह विरक्त योगी बन गया।

श्रीहरिराम व्यासजी ने सन्त-सेवा में किंचित् चूक से स्त्री को त्यागा, दण्ड में गहने बिकवा कर पुनः उसे संत-सेवा में लिया। (तृतीयखण्ड क० ३६९) श्रीतुकारामजी की स्त्री खरे स्वभाव की परन्तु सती-साध्वी पतिव्रता थीं। तुकारामजी से लड़ लेती पर किसी सन्त को कुछ न कहतीं। तुकारामजी गाँव से बाहर वन में भजन करते, उन्हें भोजन देने तुकाराम की स्त्री गई। उसके पैर में काँटा लग गया, तो उसे बड़ा कष्ट हुआ। भगवान बालक का

रूप धारण करके आये और उन्होंने काँटा निकाला। स्त्री ने पूछा—तुम कौन हो। भगवान ने कहा—मेरा नाम पण्डरीनाथ है। भगवान ने दर्शन दिया तो पत्थर लेकर मारने दौड़ी कि तुमने मेरे पति को पागल बना दिया, वह रोता-गाता एवं कष्ट पाता है। भगवान भाग गये, परन्तु स्त्री पर संतुष्ट हुए कि तुकाराम को सुखी करना चाहती है। हृदय के सद्भाव पर प्रभु रीझते हैं। 'कहत नसाइ होइ हियँ नीकी। रीझत राम जानि जन जी की।।' उक्त भक्तों ने स्त्रियों को नहीं त्यागा क्योंकि वे विमुख न थीं। विमुख मुख न दिखाई पड़ने का वरदान माँगते हैं श्रीप्रियादासजी क० ६३४ अन्तिम।

पूरी को सत्संग पाकर भी भक्ति नहीं मिली, विमुखता दूर नहीं हुई।

फूलै फलै न बेंत जदपि सुधा बरसै जलद। मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरंचि सम।।

पूरी के चले जाने के बाद जानराय श्रीरामचन्द्रजी की सेवा-पूजा एवं कोठार-भण्डार का सब कार्य कूबाजी ने साधुओं को सौंप दिया। साधु भी निःसंकोच आने-जाने और रहने लगे। इससे श्रीकूबाजी को सुख मिला।

मति अति अकुलाई है—सपरिवार जीवित रहने का उपाय न देखकर पूरी को पूर्व की स्मृति आई कि लोग मुझे भक्त-पत्नी होने के कारण भक्ता एवं गुरु-पत्नी होने के कारण गुरु-माता कहते थे पर मेरे दुर्भाग्य ने ये दिन दिखा दिये। अतः 'मति अकुलाई' सभी अकाल पीड़ित श्रीकूबाजी के यहाँ प्रसाद पाकर जी रहे हैं, यह सुनकर यह भी झींथड़ा पहुँची।

नाना विधि पाक होत सन्त आवैं जैसे सोत, सुख अधिकाई रीति कैसे जात गाई है।
सुनत वचन वाके दीन दुख लीन महा, निपट प्रवीन मन मांझ दया आई है।।
देखि पति मेरौ और तेरौ पति देखि याहि, कैसे कै निबाहि सकै परी कठिनाई है।
रहौ द्वार झार्‌यौ करौ पहुँचे अहार तुम्हें, महिमा निहारि दृग धार लै बहाई है।।५७४।।

भावार्थ—नदी के अखण्ड प्रवाह की तरह श्रीकूबाजी के यहाँ साधु-संत निरन्तर आते-जाते रहते थे। अनेक प्रकार के मिष्ठान्न पकवानों का भोग लगता। सन्त लोग प्रसाद पाते। उस महान् सुख तथा सन्त-सेवा की रीति-प्रीति का वर्णन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता है। दुःख और दीनता से भरे स्त्री के वचन सुनकर श्रीकूबाजी के मन में बड़ी दया आई। क्योंकि ये वैष्णव-धर्म का पालन करने में बड़े ही निपुण एवं उदार थे। आपने उससे कहा—तू मेरे पति परमात्मा को देख, जो मेरा तथा सभी जीवों का पालन कर

रहा है और अपने इस पति को देख, जो अपना, अपनी स्त्री और अपने बच्चों का पेट नहीं भर पा रहा है। महान् संकट में पड़ गया है। अब तुम सब यहीं बाहर द्वार पर पड़े रहो और द्वार के सामने झाड़ू लगा दिया करो। तुम सबको भगवान का प्रसाद पाने को मिल जाया करेगा।' श्रीकूबाजी की महिमा और दया को देखकर वह रोने लग गई।।५७४।।

व्याख्या—नाना विधि पाक होत—जैसे नित्य नये-नये संत आते वैसे नित्य नये-नये पक्वान्न भोग लगते। ज्यौं-ज्यौं प्रसाद पाने वालों की संख्या बढ़ती, त्यौं-त्यौं ऋद्धि-सिद्धि बढ़ती जाती। जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा भी अधिक होती है। इसी सिद्धान्त से जहाँ प्रसाद पाने वाले अधिक होते हैं वहाँ भोग-सामग्री अपने-आप अधिक आती है। 'सुख अधिकाई'—अर्थात् अखण्ड कथा-कीर्तन एवं सामयिक उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते। नित्य आनन्द ही आनन्द। सदा दीपावली सन्त घर। नकली पति के साथ द्वार पर आई, भूख के कारण बोल नहीं पाती थी। किसी ने श्रीकूबाजी से कहा—तो आपने बाहर जाकर सबकी हालत देखी पूरी के अति दीन वचन सुनकर इन्हें 'दया आई है'— 'लागि दया कोमल चित सन्ता।' पुनः-'साधवो दीनवत्सलाः।' साधु के दस लक्षण हैं—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमा दया सर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदाताभयनिर्मलत्वं सतां हि चिह्नं दशलक्षणाख्यम्।।

अर्थ—क्रोध न होना, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सभी में प्यार, लोभ न होना, दान देना, निर्भय रहना और निर्मलता ये सन्तों के दस लक्षण हैं। इनमें दया प्रधान है। (विशेष देखिये प्रथमखण्ड पृष्ठ १२) श्रीकूबाजी 'निपट प्रवीन' थे अर्थात् लोक-व्यवहार और परमार्थ दोनों में अत्यन्त चतुर थे। तभी दया करके पूरी को आश्रय दिया। एक कहार था, उसकी पत्नी किसी दूसरे के साथ चली गई। उसे इतनी लज्जा और ग्लानि हुई कि वह कुयें में गिरकर मर गया। आपने स्त्री के दोषों पर ध्यान नहीं दिया, क्षमा किया। जीव अपने कर्म एवं पूर्वजन्म के संस्कारों के वश होकर इतस्ततः भूलता-भटकता एवं सुखःदुःख भोगता रहता है। इसमें आश्चर्य या दुःख की बात नहीं। ये सब दया के पात्र हैं, शरण में आये हैं, अतः आश्रय देकर इनके प्राणों की रक्षा की।

देखि पति मेरौ और तेरौ—श्रीकूबाजी ने सबको भोजन कराने के बाद पूरी को भगवत् सम्मुख करने के लिए श्रीजानराय रामचन्द्रजी की ओर संकेत करके उससे कहा—मेरे पति को देखो, यह विश्व का भरण-पोषण करने वाला और सभी संकटों से रक्षा करने वाला

तथा सभी सुख प्रदान करने वाला है। जो रक्षा करे उसे ही पति कहते हैं। 'पातीति पतिः' अपने इस पति को देखो, यह स्वयं अपना पेट भरने में, अपनी रक्षा करने में असमर्थ है अतः यह झूठा पति है। अब तुम सब श्रीजानराय श्रीरामचन्द्र को अपना पति समझो, इनके द्वार पर झाड़ू लगा दिया करो, बाहर चौका लगा दिया करो। इनकी ओर से तुम्हें भोजन-प्रसाद मिल जाया करेगा। ऐसा उपदेश देकर आपने उन सबका भविष्य बना दिया। ये सब इस समय कष्ट में दीन-हीन तथा अहंकार रहित थे अतः इन सभी ने श्रीकूबाजी की बात को सत्य माना। 'महिमा निहार'—भक्त श्रीकूबा और भगवानकी अवर्णनीय महिमा को प्रत्यक्ष देखकर 'दृग धार लै बहाई है'—इससे सिद्ध हुआ कि उसे अपनी भूल का अब ज्ञान हो गया। मेरौ पति—

है नीकौ मेरो देवता कोसलपति राम। सुभग सरोरुह लोचन सुठि सुन्दर स्याम।।
सिय समेत सोहत सदा छवि अमित अनंग। भुज विसाल सरधनु धरे कटि चारु निषंग।।
बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रीति। सुमिरत ही मानैं भलो पावन सब रीति।।
देहिं सकल सुख दुख दहै आरत जन बन्धु। गुन गहि अघ औगुन हरैं करुणा सिन्धु।।
देश काल पूरन सदा वद वेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान।।
को करि कोटिक काम पूजे बहुँ देव। तुलसीदास तेहि सेइये शंकर जेहि सेव।।

कियौ प्रतिपाल तिया पूरी कौ अकाल मास, भयौ जब समै विदा कीनी उठि गई है।
अति पछितात वह बात अब पावे कहाँ? जहाँ साधु संग रंग सभा रसमई है।।
करैं जाकों शिष्य सन्त सेवा ही बतावैं, करौ जो अनन्त रूप गुन चाह मन भई है।
नाभाजू बखान कियौ मोकों इन मोल लियौ, दियौ दरसाय सब लीला नित नई है।।५७५।।

भावार्थ—जब तक अकाल का समय रहा तब तक श्रीकूबाजी ने उन सबको भोजन वस्त्र दिया। जब सुकाल आ गया, तब आपने उसे विदा कर दिया। वह भी अपने पति और बालकों को साथ लेकर चली गई। वह अपने मन में बहुत पश्चात्ताप कर रही थी, परन्तु वह स्थान और वह सुख उसे कैसे मिल सकता था। जहाँ नित्य सन्तों की सभा और सत्संग है, जहाँ रसमयी प्रेमा-भक्ति का रंग छाया रहता है। श्रीकूबाजी महाराज जिस किसी को शिष्य बनाते, उसे साधु-सन्तों तथा दोनों की सेवा का ही आदेश-उपदेश देते हुए यही कहते कि 'जिनके रूप और गुण अनन्त हैं, ऐसे प्रभु को प्राप्त करने की इच्छा यदि तुम्हारे मन में है, तो कपट को त्यागकर प्रेम से सन्त-सेवा करो।' टीकाकार कहते हैं कि श्रीनाभाजी ने मूल छ० में जो यह कहा कि—'केवल कूबे मोल लियौ।' केवलरामजी के कूब ने हमें

खरीद लिया है सो मैंने अपनी टीका में उनकी नित्य नई लीलाओं का दिग्दर्शन करा दिया।।५७५।।

अति पछितात—पहले मेरा कितना आदर था, अब भीतर प्रवेश भी नहीं प्राप्त है। पुनः ऐसा कहकर जनाया कि उसने भूल का किंचित प्रायश्चित कर लिया। पर इस जन्म में पहले की तरह साधु-संग एवं सन्त-भगवन्त की सेवा अप्राप्त ही रही। 'विदा कीनी'—साधु-सन्तों का अन्न है, सर्वदा के लिए नहीं मिलेगा। वर्षा होते ही विदा कर दिया। 'करैं जाको शिष्य०'—श्रीकूबाजी जिस किसी को चेला बनाते, उससे सन्त-सेवा की प्रतिज्ञा करवाते। यही उपदेश देते कि यदि भगवद्दर्शन, भक्ति, लोक-परलोक में सुख प्राप्त करना चाहो तो सन्तों की सब प्रकार से सेवा करो। श्रीकूबाजी के चरित्र और गुणों ने नाभाजी को मोल ले लिया। आपने चरित्र सबके कहे पर बिके कूबा के कूब के हाथ। जैसे श्रीशुकदेवजी ने सम्पूर्ण भागवत की कथा कही, परन्तु शरण श्रीरघुनाथजी के श्रीचरण-कमलों की ग्रहण की। यथा—'पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये।।' (भा० ९-११-२१)

भक्तदाम गुण चित्रणी में निम्नलिखित कुछ चरित्र विशेष हैं—कूबाजी की स्त्री पूरी ने सन्तों के लिए खिचड़ी बनाई और अपने भाई के लिए खीर। उसे जल के लिए भेजकर खीर सन्तों को परोसी। यद्यपि खीर थोड़ी थी पर कूबाजी ने उसे बढ़ा दिया, जिससे सभी सन्त तृप्त हो गये। यथा-'जदपि अलप तसमी अरु भाता। भक्त भाव करि वृद्धि पुराता।।' पंगत के समय पूरी ने आकर क्रोध किया और कहा—'जो खावौ तौ खावौ गाई। सन्तन सूँ अस रिस कलपाई।।' अर्थात् उसने शपथ दिलाया कि जो खीर खाय वह गो मांस खाय। इस पर संतों ने भोजन करना बन्दकर दिया और पूछा, तब श्रीकूबाजी ने उत्तर दिया-कि यह कहती है कि—'हरि कूँ गाय गाय कै खावौं। हरि सुमिरन बिन अस मति पावौं।।' भगवन्नाम को गा-गाकर के आप लोग प्रसाद पाइये, ऐसे मौन होकर नहीं। तब सभी सन्त 'श्रीहरिनारायण गोविन्द। राम-कृष्ण गोविन्द।' आदि नामों का कीर्तन करने लगे। भाई के अपमान से व्यथित रोती हुई पूरी को देखकर पुनः सन्तों ने पूछा कि—'मैया क्यों रो रही है। श्रीकूबाजी ने कहा कि—इसकी मैया मर गई है, भैया लिवाने आया है, उसीसे रो रही है। (सन्तों में श्रद्धा-भक्ति का अभाव ही माता की मृत्यु है)

स्त्री के चले जाने पर सन्तों के आवागमन और उनकी सेवा में वृद्धि हो गई। पर सन्तों की सेवा के लिए सेवकों की कमी थी अतः कूबाजी को अधिक श्रम करना पड़ता था। तब अपने भक्तों की सेवा करने के लिए त्रिभुवन के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजी

के सहित वैरागी वेष बनाकर आये और श्रीकूबाजी से बोले—'समै दुकाल अबार गुसाईं। दिन दस रहिहउँ तुम्हरी छाईं।। देव सेव हम करैं तुम्हारी। करि भोजन टारहिं यहु बारी।।' यह सुनकर श्रीकूबाजी ने कहा—'अहो भाग बड़ मम गृह रहिये। तब सो रमा राम गृह रहिया। निज भक्तन की टहल निबहिया।।' दम्पति श्रीरमारामजी वैरागी वेशभूषा धारण किये, सेवा करने लगे। सेवा का विस्तार, सन्तों की प्रसन्नता और श्रीकूबाजी की कीर्ति को बढ़ाते हुए इन्हें एक वर्ष हो गया।। एकदिन तीस संतों की जमात आई। कूबाजी ने श्रीजी से पूछा कि—आज सन्तों के लिए क्या बनाया है, इन्होंने कहा—खिचड़ी। यह सुनकर आपने कहा कि हम तो आज सन्तों को भात और हलुवा आदि उत्तम पदार्थ पवाना चाहते थे। श्रीजी ने कहा-ठीक है, पंगत की सीताराम बोल दो। सन्त बैठ गये, रसोई घर में भात-हलुआ आदि पदार्थों को देखकर आश्चर्यचकित श्रीकूबाजी ने कहा-माताजी! यह क्या? खिचड़ी के स्थान पर हलुआ-भात आदि कैसे हो गया। श्रीजी ने कहा-यह सब जानराय रामचन्द्रकी लीला समझो। मिट्टी के सकोरे बीस ही थे, सन्त तीस थे। कूबाजी ने कहा—अब क्या करूँ? श्रीजी ने सोने के सराव लाकर दे दिये। यह देखकर श्रीकूबाजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। जब सन्त प्रसाद पाकर चले गये, तब इन्होंने श्रीचरणों में मस्तक रखकर प्रार्थना की और कहा—कृपा कर अपना परिचय दे। तब श्रीसीतारामजी ने प्रकट होकर निज रूप से दर्शन दिया और कहा कि—तुम मेरे प्यारे भक्तों की प्रेम से सेवा करते हो, भक्तों से विमुख स्त्री का तुमने परित्याग किया। इस पर रीझकर हम एक वर्ष तक यहाँ रहे और हमने स्वयं सन्त-सेवा की क्योंकि हमें सन्त-सेवा प्रिय है। ऐसा कहकर दम्पति प्रभु अन्तर्धान हो गये। श्रीकूबाजी रोते-रोते मूर्च्छित हो गये। जागने पर सन्त-सेवा में इनकी निष्ठा और अधिक बलवती हो गई।

बन्दत बालकरामजू कूब खूब हरि सन्त। सेय लेय फल जग विदित सन्त अनन्त भनन्त।।

सुन्दरदासजी कहते हैं—

जोग जग्य जप तप तीरथ व्रतादि दान, साधन सकल नहिं याकी सरभर है।
और देवी देवता उपासना अनेक भाँति, संका सब दूरि करि तिनते न डर है।।
सबही के सीस पर पांव दै मुकुति होइ, सुन्दर कहत सो तौ जनमें न मर है।
मन वच काय करि अन्तर न राखै कछु, सन्तनि की सेवा करै सोई निसतर है।।

स्वयं श्रीसीतारामजी ने अपने भक्त सन्तों की सेवा की। इसीसे श्रीकूबाजी अपने शिष्य-सेवकों को सन्त-सेवा का उपदेश देते।

पण्डा गूनौरै गाजैं–खेम भक्त दूसरे हैं। गूनौर या गौनेर यह गाँव का नाम है, इसमें निवास करने वाले पण्डा श्रीदेवादासजी हैं। ये श्रीकील्हदेवजी के शिष्य हैं, इनका स्मरण मूल छ० १५८ कील्हदेव के शिष्यों में किया गया है। श्रीदेवादासजी का जन्म सींवाड़ ग्राम राज्य जयपुर में हुआ था। माता का नाम पालीवाई था। चार भाई थे बाँगड़ ब्राह्मण थे, किसानी-खेती करते थे। देवादासजी की पत्नी का नाम रूपादेवी था। इनके नारायणदास, गोपीनाथ, कन्हैयादास और कल्याणदास नामक चार पुत्र थे। घर में वैष्णवता थी, भक्त और भगवान की सर्वदा सेवा होती थी। सभी भजनोन्मुख थे। एकबार श्रीदेवादासजी खेत पर हल चला रहे थे। मध्याह्न में इनकी माता छाँछ लेकर खेत पर जा रही थी। दयालु प्रभु श्रीराम एक सन्त का रूप धारणकर माताजी को रास्ते में मिले। सन्तसेवी स्वभाव था अतः माता ने प्रणाम करके कहा-बाबा ! भोजन करलो। भगवान ने कहा–यह दूसरे के लिए ले जा रही हो, मैं नहीं खाऊँगा। माता ने कहा–सब कुछ पहले आप सन्तों के लिए है, उसके बाद दूसरे के लिए है। मैं खेत पर फिर छाँछ पहुँचा दूँगी, आप कृपा करके भोजन कर लीजिये। सप्रेम आग्रह को प्रभु टाल न सके। उन्होंने बाजरे की रोटी और राबड़ी (=महेरी) खाई। सन्तुष्ट होकर उन्होंने कहा–माताजी ! इस गाँव का अनिष्ट होने वाला है अतः आप देवादास से कह दें और शीघ्र इस गाँव को छोड़ दें। बैलगाड़ी-छकड़ों में अपना सामान लादकर इस गाँव से प्रस्थान कर दें और जहाँ गाड़ी का जुवाँ टूट जाय वहीं निवास करें। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये।

माता ने खेत पर आकर विलम्ब का कारण और सन्त-प्रभु का आदेश देवादास को सुनाया। देवादासजी हल छोड़कर सन्त-दर्शन के लिए व्याकुल होकर दौड़े। भोजन-स्थल पर भोजन-चिह्न मिले, सन्त को न पाकर रोने लगे। इन्हें अति अधीर देखकर भगवान वहीं प्रकट हो गये। देवादासजी ने चरणों में लिपटकर विनती की। भक्त भगवान को छोड़ना नहीं चाहता था तब भगवान ने कहा–तुम सपरिवार इस गाँव से प्रस्थान करो, जहाँ जुवाँ टूटेगा, वहीं मेरी एक श्रीमूर्त्ति तुमको मिलेगी। उसीकी तुम सर्वदा पूजा करना, मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। ये गाँव छोड़कर सपरिवार जाने लगे तो लोगों ने बहुत मना किया पर आप नहीं माने चले गये। उसी रात को डाकुओं ने आकर गाँव को घेरकर लूटा, घरों को जलाया और लोगों को मारा। गौनेर आते-आते जुवाँ टूट गया। सभी ने उस स्थान पर श्रद्धा सहित दण्डवत् प्रणाम किया और भूमि को खोदा तो श्रीजगदीशरूप श्रीप्रभु का विग्रह मिला। बड़ी प्रसन्नता से अभिषेक और पूजन हुआ। जमींदार ठाकुरों ने

श्रीमूर्त्ति को अपनी भूमि में मिलने के कारण अपनी कहा और छीन ले गये। रात को स्वप्न में भगवान ने आदेश दिया कि मुझे मेरे भक्त के पास पहुँचाओ और उनकी तुम लोग सेवा करो, वे मेरी सेवा करेंगे। ऐसा न करोगे तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। प्रातःकाल होते ही ठाकुरों ने मूर्त्ति दे दी। एक चबूतरे पर पधराकर देवादासजी सेवा करने लगे। तभी से पण्डा यह नाम का विशेषण बन गया।

भगवान ने बाजरे की रोटी खाई थी उसे स्मरण कर एकदिन उन्होंने श्रीदेवादासजी को एक मुट्ठी बाजरा दिया और कहा कि इसे खेत में बो दो। इन्होंने उसे बोया तो बारह मन बाजरा हुआ। भगवानने कहा-इसे कोठी में डाल दो और नीचे के छेद से निकाल कर खर्च करो। यह अक्षय होगा, इसीसे मेरी सेवा और मन्दिर का निर्माण करो। मन्दिर बनने लगा, मजदूर काम करते, सायंकाल को मजदूरी में बाजरा दिया जाता। परन्तु नित्य एक मजदूर, मजदूरी लेते समय कम हो जाता। अन्त में श्रीपण्डाजी को अनुभव हुआ कि स्वयं भगवान भी मजदूर बनकर काम करते हैं। विशाल मन्दिर बन गया, प्रभु की स्थापना हो गई।

एकबार दिल्ली का बादशाह ख्वाजापीर का दर्शन करने अजमेर जा रहा था। गौनेर होकर उसकी सवारी निकली। बादशाह ने मन्दिर की प्रशंसा सुनी तो पण्डाजी से बोला कि कुछ करामात दिखाओ। आपने साफ इन्कार किया और कहा—सेवा को छोड़कर और कुछ करामात मुझमें नहीं है। बादशाह ने मन्दिर की बुर्ज को तोड़ने का आदेश दिया। तोड़ने वालों से सामर्‍या के ठाकुरों ने और इनके पुत्र कल्याणदास ने युद्ध किया। मन्दिर नहीं तोड़ने दिया। इस युद्ध में कल्याणदास वीरगति को प्राप्त हुए। बादशाह स्वयं मन्दिर में आया तो उसको वहीं ख्वाजापीर और मक्का-मदीना के दर्शन हुए। बड़ी देर तक बादशाह बे-सुध रहा, अन्त में सावधान होकर उसने क्षमा-प्रार्थना की और ८७० बीघा जमीन का पट्टा श्रीठाकुरजी को दिया।

कहींका एक राजा मन में यह संकल्प करके दर्शन करने चला कि यदि मन्दिर में पहुँचने पर घेवर का भोग लगा मिलेगा तो मैं देवादासजी पण्डा को सिद्ध-सन्त मानूंगा। इधर ठाकुरजी ने कहा—घेवर बनवाकर भोग लगाओ। पण्डाजी ने कहा—यहाँ किसी को बनाना नहीं आता है और आज घेवर के भोग का कोई पर्व भी तो नहीं है। तब प्रभु ने स्वयं घेवर बनाया, घेवर भोग लगे, उस राजा ने दर्शन कर प्रसाद पाया तो उसे बड़ी श्रद्धा-भक्ति हुई। वह सदा के लिए सेवक बन गया।

देवादासजी की माता का भगवान में बड़ा-भारी अनुराग था। एकदिन उसने प्रभु से कहा-भगवन्! एक मेरे बेटा के कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करें। भगवान ने कहा—उसके पेट पर तुलसी-चन्दन से लिख दो कि—'पुत्र हो।' माता ने ऐसा ही किया, उसके भी सन्तान हो गई। देवादासजी का एक भांजा था। उसका नाम था गोपाल। उसकी और भगवान जगदीश की बड़ी मैत्री थी। एक बार गोपाल भगवान की रसोई के निमित्त लकड़ी लेने गया और बड़े लक्कड़ को उठाने लगा पर वह उठ नहीं रहा था, तो स्वयं भगवान ने उठवाया और कन्धा लगाकर मन्दिर तक लकड़ी लाये। बाद में रहस्य खुला तो सभी ने श्रीचरणों में पुनः मस्तक नवाया। गौनेर में एक बड़ा-भारी तालाब और मन्दिर है। आज भी वहाँ देवादासजी की छतरी के दर्शन हैं। उस पर सं० १५१५ अंकित है, श्रीकील्हदेवजी के शिष्य थे यह भी लिखा है। देवा पंडा के वंशज गलता गद्दी को गुरुद्वारा मानते हैं। वही की शिष्यता स्वीकार करते हैं। रानी के पुत्र नहीं था, उसने मनौती किया तो उसके पुत्र हुआ। तब जयपुर के राजा पृथ्वीसिंह-प्रतापसिंहजी ने एक गाँव भेंट में दिया। अनेक चमत्कारों के लिए यह स्थान प्रसिद्ध है। प्रत्येक द्वादशी को मेला लगता है और भादौं सुदी १२ को विशेष बड़ा मेला लगता है। मन्दिरों में जो सेवार्थ नियुक्त होता है, वह घर में न रहकर मन्दिर में ही निवास एवं ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करता है। इन विशेषताओं को ध्यान में लाकर 'पण्डा गूनौरे गाजै' ऐसा मूल में लिखा गया। श्रीपयहारीजी के शिष्यों में जो श्रीदेवाजी हैं, वे डीडवाणे के हैं, आज भी वहाँ उनकी गद्दी है। 'देवाहित सित केश' ये दूसरे हैं।

* श्रीअग्रदेवजी के शिष्य *

श्रीअग्र अनुग्रह तें भये शिष्य सबै धर्म की धुजा।।
जङ्गी प्रसिद्ध प्रयाग विनोदी पूरन बनवारी।
नरसिंह भल भगवान दिवाकर दृढ़व्रत धारी।।
कोमल हृदै किशोर जगत जगन्नाथ सलूधौ।
औरौ अनुग उदार खेम खीची धरमधीर लघु ऊधौ।।
त्रिविध ताप मोचन सबै सौरभ प्रभु निज सिर भुजा।
श्रीअग्र अनुग्रह तें भये शिष्य सबै धर्म की धुजा।।१५०।।

शब्दार्थ—अनुग्रह=कृपा, अरिष्ट निवारण। प्रभु=समर्थ। सौरभ=सुगन्ध, सुगन्ध-युक्त श्रीअग्रदेव। धुजा=पताका।

भावार्थ—श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्य के अनुग्रह से ये सब शिष्य परम धर्म की ध्वजा

हुए। उनके नाम हैं—श्रीजंगीजी, प्रसिद्ध सन्त श्रीप्रयागदासजी, श्रीविनोदीजी, श्रीपूरनदासजी श्रीबनवारीदासजी, श्रीनरसिंहदासजी, भक्तवर श्रीभगवानदासजी, भगवद्-भजन के नियमोंका दृढ़तासे पालन करने वाले श्रीदिवाकरजी, कोमल एवं सरस हृदयवाले श्रीकिशोरदासजी, जगत्में जागने (सावधान रहने वाले) श्रीसलूधौजी, दूसरे उदार अनुचर (गुरुके अनुगामी) खीची वंश के खेमजी तथा धर्मका धैर्यपूर्वक पालन करने वाले लघु उद्धवजी आदि। सौरभ प्रभु श्रीअग्रदेवजी ने आशीर्वादात्मक अपना कर-कमल इनके सिर पर रक्खा, इससे ये शरणागत जीवों को दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त करने वाले हुए।।१५०।।

व्याख्या—श्रीअग्र अनुग्रह—गुरु अनुग्रह की परम्परा है। आचार्य से लेकर यहाँ तक। श्रीअनन्तानन्दकी कृपा श्रीपयहारीजी पर हुई। यथा—'श्रीअनन्तानन्द पद परसिकै लोकपाल से ते भये।। (छ० ३७) श्रीपयहारीजीकी कृपा श्रीअग्रदेवजी पर हुई। यथा—पैहारी परसाद तें शिष्य सबै भये पारकर।। (छ० ३९) गुरु परम्परासे प्राप्त अनुग्रहको आपने अपने शिष्य-भक्तोंके ऊपर उँड़ेल दिया। इसलिए श्रीनाभाजी ने लिखा कि—श्रीअग्र अनुग्रह तें भये शिष्य सबै धर्म की धुजा।' पुनः—स्वयं श्रीनाभाजीको गुरु-कृपा का अनुभव है। उन्हींकी कृपासे भक्तमालको लिखकर श्रीनाभाजी भी परम धर्मकी ध्वजा हुए। श्रीरामजीके चरणों में ध्वजाका चिह्न है। इस सभी को श्रीराम-चरणों में निवास प्राप्त हुआ। फहराती हुई ध्वजा दूरसे दिखाई देती है। ये सभी सिद्ध-सन्त ऊँचे उठे थे, दूरके लोग भी इन्हें देखते थे अर्थात् ये अति प्रसिद्ध थे। पुनः 'ध्वजा सो विसेस जानो अभैको विश्वास है।' अर्थात् ये अभयदान देने वाले थे। आगे छ० १६६ में अग्र अनुग्रह प्रताप से प्रयागदासजी कृतार्थ हुए। यथा—'श्रीअगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की।' गुरुदेवकी कृपासे ही शिष्य में ज्ञान-भक्ति का उदय होता है। श्रीसुन्दरदासजी गुरु-कृपा का वर्णन करते हैं। यथा—

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दसा को गहै, गुरु के प्रसाद भव दुख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीति हू अधिक बाढ़ै, गुरु के प्रसाद राम नाम गुन गाइये।।
गुरु के प्रसाद सब जोग की जुगुति जानै, गुरु के प्रसाद हरिरूप में समाइये।
सुन्दर कहत गुरुदेव जौ कृपाल होय, तिनके प्रसाद तत्व ज्ञान भक्ति पाइये।।

मस्तक पर गुरुदेव औ हृदय विराजै राम। 'रामदास' दोनों पखा सब विधि पूरन काम।।

त्रिविध ताप—दैहिक, दैविक, भौतिक। जो मिथ्या आहार-विहार और देह के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, वे दैहिक ताप कहे जाते हैं। जैसे ज्वर, अतीसार आदि। जो

देव-भूत-प्रेतादिकों द्वारा होने वाले हैं उन्हें दैविक ताप कहते हैं। जैसे अतिवृष्टि, पाला, पत्थर, बिजली, प्रेत-पिशाचका लगना आदि। जो बीछू, सांप, सिंह, मच्छर, मनुष्य आदि प्राणियोंके आक्रमणसे होते हैं, उन्हें भौतिक ताप कहते हैं। पुनः—काम, क्रोध, लोभसे उत्पन्न ताप। यथा-काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।। प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।। 'त्रिविध ताप मोचन सबै'—श्रीअग्रदेवाचार्य के सभी शिष्य प्राणियोंको इन तापोंसे छुड़ाने वाले थे। यथा-गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा। पापं तापञ्च दैन्यञ्च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः।। गङ्गा पाप, चन्द्रमा ताप और कल्पवृक्ष दैन्यता को दूर करते हैं, परन्तु उदार आशय है जिनका, ऐसे सन्त तो पाप, ताप और दीनता आदि सभी को नष्ट कर देते हैं। इनमें ऐसी शक्ति कहाँसे आई तो कहते हैं कि 'सौरभ प्रभु निज सिर भुजा'—सौरभ प्रभु श्रीअग्रदेव प्रभुका वरदहस्त इन्होंने अपने सिर पर रक्खा था। भक्तजन जीवोंको शरणागतिका उपदेश देकर श्रीहरिके आश्रित कर देते हैं, फिर त्रिविध ताप नहीं व्यापते हैं। यथा—शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः। भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम्।। (भा० ३-२२-३७) अर्थ—श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे व्यासनन्दन विदुरजी ! जो पुरुष श्रीहरि के आश्रित रहते हैं, उन्हें शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक किसी भी प्रकारके दुःख-ताप कैसे कष्ट पहुँचा सकते हैं अर्थात् नहीं पहुँचा सकते हैं। यदि कोई यह कहे कि ताप तो शरीर के साथ लगे हैं, फिर कैसे दूर होंगे तो उसका यही समाधान है कि सत्सङ्गसे आत्म-परमात्म ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति हो जाने पर अहंकारसे हीनको दुःख व्याप्त नहीं होते हैं। गुरु-भक्ति जिनमें है वे गुरु अनुग्रह को प्राप्त करते हैं। गुरु-भक्ति—

गुरु मुख की अब चाल बताऊँ। नीकी भांति सबै समझाऊँ।।
सदा रहै अज्ञा के माँहीं। गुरु की अज्ञा मेटै नाँहीं।।
अपनी बात छिपाय न राखै। ज्यौं की त्यौं गुरु आगे भाखै।।
लज्जा लिये रहै गुरु आगे। ऐंठ ईर्षा गुस्सा त्यागे।।
अपनी प्रभुता नाहिं जनावै। सकुचा रहै दीनता लावै।।
चरणदास कहै मन में धरिये। 'रामरूप' शिष नाहिं विसरिये।।

इस छप्पयमें १३ भक्तोंके आये नामोंमें से भ० दाम० में दो के चरित्र लिखे हैं, उसका संक्षिप्त अनुवाद निम्नलिखित है—

श्रीजङ्गीजी—ये बड़े ही सिद्ध-प्रसिद्ध एवं भजनानन्दी सन्त थे। एकबार तीर्थाटन एवं

भक्ति-प्रचारार्थ भ्रमण करते-करते एक विरक्त साधुके स्थान में जाकर ठहरे। वे स्थानधारी सन्त चिन्तित थे। उसका कारण यह था कि उनका स्थान एक यवन के किले के पास था। उसके अधिकारी किलेका विस्तार करना चाहते थे अतः उन्होंने स्थानधारी सन्त से कहा कि—तुम इस स्थानको छोड़ दो, कहीं दूसरी जगह जाकर रहो। सन्तोंने अभी निश्चय नहीं कर पाया था कि स्थान छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायँ। इस अपनी चिन्ता को वे श्रीजङ्गीजी को सुना ही रहे थे कि इतने में ही बहुत से यवन आ गये और उन्होंने कहा कि तुम फौरन यहाँ से हट जाओ। श्रीजङ्गीजीने जङ्ग ठान दिया और उनसे कहा—तुम लोग जाकर अपने बादशाहसे कह दो कि वह हम लोगोंके रहने योग्य ऐसा ही दूसरा स्थान बनवाकर दे, तब हम इस स्थानको खाली करेंगे। उसके पहले नहीं। मदान्ध यवनोंने श्रीजङ्गीजीकी बात पर ध्यान नहीं दिया और स्थानको तोड़ने—फोड़ने, गिराने-उजाड़ने लगे। तब श्रीजङ्गीजी अपना प्रभाव दिखानेको विवश हो गये। आप आसनसे उठे और किलेके पास जाकर आपने उसमें एक ऐसा चरण-प्रहार किया कि वह दीवाल धाराशायी हो गई। यह देखकर उन यवनोंके होश उड़ गये। उन्होंने जाकर बादशाह से कहा—उसने आकर चरणोंमें गिरकर विनती एवं क्षमा-प्रार्थनाकी। भेंटमें श्रीजङ्गीजीको बहुत-सा धन दिया। आपने वह धन सन्त-सेवामें लगा दिया। इस प्रकार आपने स्थान एवं सन्तोंकी रक्षा की।

श्रीविनोदीजी—श्रीविनोदीदासजी महान् भगवद्-भक्त थे। एकबार आप मानसी पूजा कर रहे थे। बहुत देर तक नेत्र बन्द किये बैठे रहे। मानसी-अर्चन पूर्ण करके आपने आँखे खोलीं। उस समय वहीं समीप बैठे एक भोले-भाले आपके शिष्यने पूछा-प्रभो ! नेत्र बन्द करके इतनी देर तक आप क्या कर रहे थे, उसे बताइये। तब आपने कहा—मैं नेत्र मूंदकर भगवान श्रीसीतारामजीकी मानसी—पूजा कर रहा था। यह सुनकर उस शिष्यने पुनः कहा—महाराजजी ! पूजनके बाद तो चरणामृत-प्रसाद मिलता है, उसे तो आपने दिया ही नहीं। गुरुदेवने कहा—हाँ, तुमने ठीक कहा, लो, भगवानका चरणामृत। ऐसा कहकर आपने समीप रखे जल-पात्र से एक चुल्लू जल दे दिया। उसके पीते ही उसके हृदयमें भगवान श्रीसीतारामजीका दिव्य प्रकाश छा गया। सर्वत्र श्रीसीतारामके दर्शन होने लगे। सम्पूर्ण विश्वके वास्तविक रूपका उसे बोध हो गया, वह कृतार्थ हो गया। श्रीविनोदीदासजीका ऐसा प्रभाव था। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि—श्रीअग्रदेवाचार्यके सभी शिष्योंको ऐसे ही महान् जानिये। विद्वान् कवि अपनी बुद्धिके अनुसार उनका यश गान करते हैं।

ऐसे ही सब जानिये अग्रदेव के दास।
जथा बुद्धि गावत विदुष ज्यूँ खग गति आकास॥

* श्रीटीलाजी का वंश *

भरतखण्ड भूधर सुमेर टीला लाहा की पद्धति प्रगट॥
अङ्गज परमानन्द दास जोगी जग जागै।
खरतर खेम उदार ध्यान केसौ हरिजन अनुरागै॥
सस्फुट त्योला शब्द लोहकर वंश उजागर।
हरीदास कपि प्रेम सबै नवधा के आगर॥
अच्युत कुल सेवैं सदा दासनतन दसधा अघट।
भरतखण्ड भूधर सुमेर टीला लाहा की पद्धति प्रगट॥१५१॥

शब्दार्थ—भरतखण्ड=भारतवर्ष। भूधर=पर्वत। सुमेर=बहुत ऊँचा, अति श्रेष्ठ, पृथ्वीके मध्यका पर्वत। जग जागै=संसारमें सावधान, प्रसिद्ध, विरक्त। खरतर=अति तीक्ष्ण, बहुत तीव्र। लोहकर=लोहार। अङ्गज=पुत्र।

भावार्थ—संसारमें भरतखण्डरूपी सुमेरु पर्वत के शिखर के समान श्रीटीलाजी एवं उनके विरक्त शिष्य श्रीलाहाजीकी परम्परा बहुत प्रसिद्ध हुई। श्रीटीलाजीके पुत्र शिष्य श्रीपरमानन्ददासजी ये जगत्में जागते (सावधान रहते) हुए भजन-परायण रहे। अति तीव्र है, वैराग्य और विवेक जिनका ऐसे श्रीखेमजी, उदार मन वाले श्रीध्यानदास, जोगीदास, केशवदास सभी हरि-भक्तोंके अनुरागी। स्पष्ट वाणी वाले श्रीत्यौलाजी लोहार वंशमें परम प्रसिद्ध थे। श्रीहरिदासजीका श्रीहनुमानजी में परम प्रेम था। श्रीटीलाजीकी परम्पराके सभी गृहस्थ विरक्त-सन्त नवधा-भक्तिकी उपासनामें प्रवीण, वैष्णवोंकी सेवा करने वाले और वैष्णवोंमें प्रेमा-भक्ति करने वाले हुए॥१५१॥

व्याख्या—भरतखण्ड भूधर सुमेर—विश्व ब्रह्माण्डमें कर्मभूमि होने से भारतवर्ष श्रेष्ठ है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६३३) सुमेरु पर्वतोंका राजा है, पुराणोंके अनुसार यह जम्बूद्वीपके इलाव्रतखण्डमें स्थित है, इसका शिरोभाग १२८ हजार कोस, मूलदेश ६४००० और मध्य ४००० कोसका है। इसके शिखरों पर २१ स्वर्ग हैं, वहाँ देवताओंका निवास है। यह

सोनेका है और सूर्य आदि ग्रह इसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। जैसे भारतवर्ष एवं सुमेरु श्रेष्ठ, पवित्र और प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके कृपापात्र श्रीसाकेतनिवासाचार्य उपनाम श्रीटीलाजी परम महान् हुए। जैसे सुमेरु सर्वश्रेष्ठ धातु स्वर्णमय है, उसी प्रकार आप सर्वोत्तम ज्ञान-भक्तिमय थे। जैसे सुमेरु पर देवताओंका निवास है, उसी प्रकार आपमें अनन्त दिव्य गुणोंका निवास था। जैसे सूर्यादि उसकी प्रदक्षिणा करते हैं, उसी प्रकार ये सदा भगवद् भक्तोंसे घिरे रहते थे। सुमेरु ऊँचाईमें प्रसिद्ध है तो आप भी टीला अर्थात् ऊँचे विशिष्ट सिद्ध सन्त थे। मूल छ० पयहारी परसाद तें० ३९ की व्याख्यामें आपका विशेष चरित्र द्वितीयखण्ड पृष्ठ १४९ में लिखा जा चुका है।

जोगी जग जागै—जैसे सूर्यके न रहने से रात होती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्य के न रहने पर मोह-रात्रि होती है। रातको सोते एवं स्वप्न देखते हैं उसी प्रकार मोह-रात्रि में सब सोते हैं और जागृतरूप अनेक प्रकार के स्वप्न देख रहे हैं। स्वप्न देखने वाले अपने को जागता मानते हैं पर यह सच्चा जागना नहीं है। मैं और मेरा-तेरा यही स्वप्न है।

सपने होइ भिखारि नृप रंक नाक पति होय। जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोय।।

मोह निसा सब सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा।।

यहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।

जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।। (रा० च० मा०)

संसाररूपी रात्रिमें योगी लोग जो परमार्थी हैं और संसारके प्रपञ्चसे अलग हैं, वे जागते हैं। जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन सब विषयोंके विलास अर्थात् सुखसे वैराग्य हो जाय। तब जानना चाहिए कि इस जगतरूपी रात्रिसे जीव जग गया है। 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।' यह जान लेने पर ज्ञान, वैराग्य, भक्तिके दृढ़ होने पर जीव जागता है। परमानन्ददास परमार्थके ज्ञाता और रामजीके कृपापात्र थे अतः जागते थे। 'ज्यहि निसि सकल जीव सूतैं, तब कृपापात्र जन जागैं।' पुनः—श्रीपरमानन्ददासजी गृहस्थाश्रममें रहते हुए योगी और संन्यासी थे और जगत् में जागते थे। यथा—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने।।

अर्थ—श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ, करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है। केवल अग्निको और कर्मोंको त्यागने वाला ही संन्यासी, योगी नहीं है।। (गी० ६-१) सभी प्राणियोंके लिए जो रात्रि है उस शुद्ध, बोधस्वरूप

प्रेम-परमानन्दमें भगवत्को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं, तत्वको जानने वाले मुनिके लिए वह रात्रि है। (गी० २-६९) जैसे उल्लू आदि रजनीचरोंके लिए दूसरों का दिन भी रात है, वैसे ही निशाचर स्थानी जो अज्ञानी मनुष्य उनके लिए अज्ञात होने के कारण परमार्थ, तत्व-ज्ञान, भक्तिभाव रात है। सन्त लोगोंको संसारके विषयसे प्रयोजन नहीं अतः इनकी वही रात है। तात्पर्य श्रीपरमानन्ददासजी सन्त-भगवन्त-सेवा उपकारमें लगे रहते थे संसार की ओर उनका ध्यान नहीं था।

अच्युत कुल सेवैं—श्रीटीलाजी की परम्परामें सभी साधु—सेवा करते थे।

साधु न आये पाहुने नयौ न तिनको सीस। चंदन न धोये प्रीति सों बूड़े विस्वे बीस।।
साधुन की सेवा करी हित करि पूजे पांय। सफल जन्म ताने कियौ जम कूं दियौ गवांय।।
पाप गये ता गेह सूं जहँ आये हरिदास। 'रामरूप' मङ्गल भये हरि मिलिबे की आस।।

दासन तन दसधा—भक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है कि श्रीभगवान की भक्तिके जितने अङ्ग हैं, प्रायः उतने ही अङ्ग भक्तोंकी भक्तिके भी विद्वान् लोग मानते हैं।। (पूरा श्लोक ४८६ पृष्ठ तृ० खं० में देखिये)

श्रीटीलाजीकी गृहस्थ एवं विरक्त दोनों परम्परायें हैं, दोनोंमें महान् सिद्ध सन्त हुए। इस छप्पयमें उन्हीं सबका स्मरण किया गया है। श्रीटीलाजीका जन्म खाटू खण्डेलाके पास कालूड़ा गाँवमें हुआ। ये परम प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध जोशी गोत्रीय ब्राह्मण थे इनके पुत्र श्रीपरमानन्ददासजीका जन्म भी वहीं हुआ। उनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम लाड़ाबाई था। उसके पतिदेव श्रीखेमजी भी महान् भक्त थे, इनका नाम भी इस छप्पयमें लिया गया है। दोनों ही सिद्ध भक्त थे, दम्पतिने चक्रतीर्थ गाँवमें रहकर भजन एवं भक्ति-प्रचार किया। श्रीटीलाजीकी भक्तिके अतुल प्रभाव से उनके पुत्र श्रीपरमानन्दासजी एवं उनके चार पुत्र १-जोगीदास, २-हरिदास, ३-ध्यानदास, ४-केशवदासजी ये बड़े सन्तसेवी एवं भगवत्प्रेमी हुए। मनोहरपुराके राव लूणकरणजीने श्रीटीलाजीकी भक्ति एवं सन्त-सेवासे प्रभावित होकर वि० सं० १६०२ में इनको ४०० बीघा भूमि भेंट की। जिसके पट्टे एवं सनदें खोरीमें अब भी सुरक्षित हैं। श्रीटीलाजी के पौत्र श्रीकेशवदासजीका जन्म यहीं खोरीमें हुआ था। इनके पिता यहीं आ गये थे। खोरी गाँव जयपुर राज्यमें शाहपुराके पास है। यहीं पर श्रीपरमानन्ददासजीकी छत्तरी है। भावुक भक्त वहाँ पहुँचकर दर्शन—प्रणाम करके अपने को कृत-कृत्य मानते हैं। श्रीजोगीदासजीने खेलणा ग्राम में अपना एक मन्दिर बनाया। इनके चमत्कारोंसे प्रभावित होकर

बादशाहने इन्हें जागीर दी। मन्दिर में अब तक श्रीजोगीदासजीके वंशज पुजारी हैं।

श्रीटीलाजीके विरक्त शिष्य श्रीलाहाजी थे। ये खाती (बढ़ई) जातिको पवित्र करनेके लिए उसमें अवत्तीर्ण हुए थे। अरणिया ग्राममें स्थित श्रीटीलाजीकी गद्‌दी पर इनके विरक्त शिष्य श्रीटीला-लाहाजी विराजे और इन्होंने बड़े सद्‌भाव पूर्वक सन्त-सेवा की। इन्हीं की परम्परा के विरक्त सन्त अब तक मन्दिरमें सेवा-पूजा करते हैं। अरणियासे तीन कोस दूर खोरा ग्राममें भी रहकर श्रीलाहाजीने भजन किया यहाँ भी इनकी गुफा, भजन-स्थली एवं मन्दिर दर्शनीय हैं। इन्हींकी एक शाखाका मन्दिर रामपुर में है।

इस छप्पयमें ९ भक्तोंके नाम हैं। भ० चित्रणी में ४ का चरित्र वर्णित है। यथा—

श्रीटीलाजी—श्रीटीलाजी गो-भक्त थे अतः एकबार स्वयं गो-चारण करते हुए वन में ही भजन कर रहे थे। इसी बीच एक महान् सिद्ध-सन्त पधारे और बोले कि 'मुझे दूध पिलाओ।' आपने सन्तको भगवन्तके तुल्य मानकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और कहा—हे श्रीरामजी महाराज! आप कृपा करके थोड़ी देर इस स्थान पर ही विराजें, मैं अभी दूध लाता हूँ। सन्तने कहा—कहीं लेने मत जाओ, उस गायको दुहकर ले आओ। श्रीटीलाजीने कहा—भगव्न! यह गाय तो बाँझ है। इसके थनों में दूध कहाँ से आयेगा। पुनः सन्तने कहा-तुम जाकर देखो तो सही, बिना देखे ही क्यों इन्कार करते हो। तब श्रीटीलाजीने जाकर देखा तो उसके स्तन दुग्धयुक्त दिखाई पड़े। हाथ लगाते ही दुग्धधारा प्रवाहित हो चली। आपने आश्चर्यचकित होकर दूध सन्तको दिया। सन्तने दुग्धपान किया। शेष थोड़ा-सा प्रसाद टीलाजीको भी उन्होंने दिया। उसे पीते ही टीलाजीको सब सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं। हृदय में भगवत्प्रेम प्रकाशित हो गया। श्रीटीलाजी तो विभोर हो गये और सन्त-भगवान अन्तर्धान हो गये। (इस प्रकार श्रीपयहारीजीने ही कृपा की। कालान्तर में पुनः सन्तोंकी प्रेरणासे आकर इन्हें दीक्षा दी जिसे द्वि० खं० पृष्ठ १४९ में पढ़िये)।

श्रीलाहाजी—श्रीटीलाजी गुरु आज्ञा से नित्य मानसी-सेवा किया करते थे। आपने लाहाजीको दीक्षा देकर इन्हें भी मानसी-सेवाकी विधि बताई। गुरु-कृपासे श्रीलाहाजीकी मानसी-सेवा भी सिद्ध हो गई। एकबार श्रीटीलाजी मन्दिरमें बैठकर मानसी-पूजा कर रहे थे। बाहर बैठे श्रीलाहाजी भी ध्यानमें अपने गुरुदेवकी मानसी-सेवा को देख रहे थे। इसी बीच एक कोई सेवक आया और उसने लाहाजी से बार-बार पूछा कि बताओ, श्रीगुरु महाराज कहाँ हैं? लाहाजीने डाँटकर कहा—'हही बताऊँ, नहीं बताऊँ।' कुछ देर बाद उसको दूसरे शिष्योंने बताया कि जाकर मन्दिरमें दर्शन करो। तब उसने जाकर मन्दिर में दर्शन किया और

श्रीलाहाजीकी शिकायत की श्रीटीलाजीने श्रीलाहाजी को बुलाया और पूछा कि तुमने इनके पूछने पर ठीक उत्तर न देकर अशिष्ट व्यवहार क्यों किया। श्रीलाहाजीने कहा—आपकी आज्ञा है अतः बताता हूँ—'आप उस समय शरीर से तो मन्दिरमें आसन पर विराजमान थे और मनसे गौशाला में थे।' तब मैं आपको कहाँ बताता। इस रहस्यकी बातको सुनकर श्रीटीलाजी बहुत प्रसन्न हुए। श्रीलाहाजीको छाती से लगाकर इन्हें शुभाशीष प्रदान करके कहा कि-तुम्हारी बात सत्य है। सेवकने सुना तो उसे भी श्रीलाहाजीमें अपार श्रद्धा हुई।

श्रीपरमानन्ददासजी—आपने सन्तोंकी सेवा बहुत अच्छी प्रकार से की। आप योगकी युक्तियोंसे सम्पन्न थे। सर्वथा चित्तसे श्रीसीतारामजीका चिन्तन क़रते रहते थे। एकबार अकाल पड़ा, लोग भूखों मरने लगे। विवश होकर गाँव छोड़कर भाग चले। तब आपने सबको रोका और कहा कि आपके गाँव में ही अनाजका एक बहुत बड़ा भण्डार अमुक स्थान पर है, उसमें से निकाल-निकाल कर सभी लोग सानन्द खायें। ग्रामवासियों ने कहा—महाराज ! हम लोगोंने वहाँ देख लिया। वह भण्डार समाप्त हो गया। अब वहाँ एक दाना भी नहीं है। आपने कहा—तुम लोग बिना देखे पहले ही क्यों मना कर रहे हो, जाकर देखो। सभी लोगोंने निर्दिष्ट स्थान पर जाकर भण्डारको खोला, तो उसमें सुन्दर धान भरे हुए थे। आश्चर्यचकित होकर सभीने श्रीपरमानन्दजीके चरणोंमें सप्रेम बारम्बार नमन किया। आपका पवित्र सुयश सर्वत्र व्याप्त हो गया। लोगोंने उसमें से धान निकाल-निकाल कर खाया। इस प्रकार आपने दया करके सभी के प्राणोंकी रक्षा की। इससे सभी में भक्ति स्थिर हुई। श्रीबालकरामजी कहते हैं—

जग जस गाय विहाय दुकालहिं सन्त सेव हू ठानी।
परमानन्ददास की प्रभुता सुनि करि हमहु बखानी।। (भ० चित्रणी)

श्रीत्यौलाजी—आप लोहार जातिमें उत्पन्न परम श्रीराम भक्त थे। सन्त-सेवा में लगे ही रहते थे, दिन है या रात इसे नहीं देखते। अपने धन, धाम, तन, मन, स्त्री, पुत्रों को सेवामें लगाये ही रहते थे। घोड़ोंकी टापोंमें नाल जड़ने में आप अत्यन्त प्रवीण थे। एकबार उस नगर के मालिक सरदारने आपको नाल जड़नेके लिए बुलाया। आप सन्त-सेवामें दत्तचित्त थे अतः सरदारके बुलाने पर भी नहीं गये। जब चार-बार दूतोंकी बात आपने नहीं सुनी। तब बादशाहसे लोगोंने इनकी शिकायत की। इस पर रुष्ट होकर राजाने कहा—आदेश दिया कि—त्यौला को पकड़कर लाओ और उसमें ऐसी मार लगाओ कि वह हा-हा, खाने लगे। इसी समय श्रीरघुनाथजीने त्यौलाका रूप धारण किया और बादशाह के पास पहुँचे और बोले कि—मैं भक्त-भगवत्सेवामें व्यस्त था। अवकाश न मिलनेके कारण विलम्ब हुआ। ऐसे मधुर शब्दों से

प्रभुने राजाके रोषको शान्त किया और घोड़ोंके पैरोंमें नालें जड़ीं। पश्चात् अपने श्रीधामको चले गये। श्रीत्यौलाजीको राजाकी आज्ञाका ध्यान आया तो आप राजद्वार पहुँचे। राजाने कहा—अभी-अभी आप नाल जड़कर गये हैं पुनः कैसे आये। आपने कहा—मैं तो अभी आ ही रहा हूँ। यह सुनकर राजाने समझ लिया कि इनके बदले प्रभुने आकर दर्शन दिया। धन्य है श्रीत्यौलाजी आपकी भक्ति। ऐसा कहकर राजा त्यौलाजीके चरणोंमें गिर पड़ा। दोनों परस्पर एक दूसरेको धन्यवाद दे रहे थे। अब श्रीत्यौलाजीकी भक्ति प्रकट हो गई। लोगोंने इनके आदेश, उपदेशोंको सादर सुना और धारण किया तथा सभी भगवद्-भक्त होकर सन्त-भगवन्तकी सेवा में तल्लीन हो गये।

तब जानि नृप सनमान कीन्हों भक्त आयौ गेह।
सुजस छायौ जग पुजायौ सन्त ह्वै करि एह॥ (भ० च०)

* श्रीकान्हरजी *

मधुपुरी महोछौ मंगलरूप कान्हर को सौ को करै॥
चारि बरन आश्रम रङ्क राजा अँन पावैं।
भक्तनि कौ बहु मान विमुख कोऊ नहिं जावैं॥
बीरी चन्दन वसन कृष्ण कौ कीरतन बरखैं।
प्रभु के भूषन देय महामन अतिसय हरखैं॥
वीठल सुत विमल्यौ फिरै दास चरणरज सिर धरैं।
मधुपुरी महोछौ मंगलरूप कान्हर को सौ को करै॥१५२॥

शब्दार्थ—मधुपुरी=मथुरा। महोछौ=महोत्सव। को सौ=के समान। वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। आश्रम=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। अन=अन्न। विमुख=निराश। बीरी=पान, पान की गिलौरी। वसन=वस्त्र। महामन=परम उदार। विमल्यौ=प्रमुदित उमँग्यौ। फिरै=घूमै, परिक्रमा करै।

भावार्थ—मथुरापुरीमें मङ्गलमय महोत्सव जैसा श्रीकान्हरजी करते थे। वैसा महोत्सव उन्हें छोड़कर और कौन कर सकता है अर्थात् कोई नहीं कर सकता है। इनके महान् महोत्सवोंमें चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोग अन्न-प्रसाद पाते थे। भक्तोंका बहुत अधिक सम्मान होता था। इनके महोत्सवोंमें आकर कोई भी निराश एवं दुःखी होकर नहीं लौटता

था। अखण्ड नाम-सङ्कीर्तनकी झड़ी लगी रहती थी उसमें बीरी, चन्दन, वस्त्र और आभूषणादि की वर्षा करते थे। परम उदार कान्हरजी नाम-गुणका कीर्तन करने वाले समाजियों को भगवानके आभूषण तक न्यौछावर करके दे देते थे और देकर बहुत प्रसन्न होते थे। उमङ्गसे भरकर श्रीविट्ठलजीके सुपुत्र इन उत्सवोंमें इतस्ततः सभी भक्तोंके समीप जा-जाकर उनके श्रीचरणोंकी रजको अपने मस्तक पर धारण करते थे।।१५२।।

व्याख्या—मधुपुरी महोछौ—श्रीमथुराकी महिमा पुराणोंमें बहुत विस्तार से वर्णित है। यहाँ पर किया हुआ कोई भी सत्कर्म अक्षय पुण्यप्रद एवं भगवत् प्रीतिकारक होता है। मोक्षदा सप्तपुरियोंमें मथुरा उसी प्रकार श्रेष्ठ है, जैसे मनुष्य शरीर में ग्रीवा। 'ग्रीवामूलमुदा हरन्ति मथुरा' इसीसे श्रीध्रुवजी, श्रीअम्बरीषजी आदिने यहीं तप किया।

मथुराञ्च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम्। मूढ़ो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया।।
त्रैलोक्यवर्तितीर्थानां सेवनाद् दुर्लभा हि या । परमानन्दमयीसिद्धि र्मथुरास्पर्शमात्रतः।।

श्रुतास्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराभीष्टदा नृणाम्।।

अर्थ—आदि वाराह पुराणमें कहा गया है कि मथुरा मण्डल को छोड़कर जो मनुष्य अन्यान्य स्थानों पर वास करने में अनुरक्त है, वह मूर्ख मेरी मायाके चक्करमें पड़कर संसारके आवागमनके चक्करमें ही भ्रमता रहता है। पुनः ब्रह्माण्ड पुराणमें कहा गया है कि जिस परमानन्दमयी सिद्धि अर्थात् प्रेम-लक्षणा भक्तिकी तीनों लोकोंके तीर्थोंका सेवन करने से भी प्राप्त करना दुर्लभ है, वह मथुराके स्पर्शमात्रसे प्राप्त हो जाती है।। भक्तिरसामृतसिन्धुके कर्ताका कहना है कि मथुराके श्रवण, स्मरण, कीर्तन वहाँ वास करने की इच्छा, दर्शन, गमन, स्पर्श, आश्रय और सेवनसे समस्त मनोवाञ्छित पूर्ण होते हैं। यह बात अनेक पुराणोंमें प्रतिपादित की गई है। ग्रन्थ विस्तार भयसे हम यहाँ उसका वर्णन नहीं करते हैं। (पुनः इस सम्बन्धमें तृतीयखण्ड पृष्ठ ३११ और क० ५७६ की व्याख्या इसी खण्डमें देखिये) भ० र० सिन्धुकारने भक्तिके ६४ अङ्गोंमें सत्तावनवां अङ्ग—'यथा वैभव महोत्सवः।' अपने वैभवके अनुसार महोत्सव और अट्ठानवां अङ्ग 'ऊर्जादरो विशेषेण।' कार्तिकमासमें विशेष साधन-भजन कर्तव्य बताया है। कार्तिक मासमें मथुरामें निवासकर उत्सव-सेवा की विशेष महिमा कही है। यथा—पाद्मे—

यः करोति महीपाल! हरेर्गेहे महोत्सवम्। तस्यापि भवति नित्यं हरिलोके महोत्सवः।।
सा त्वञ्जसा हरेर्भक्तिर्लभ्यते कार्तिके नरैः। मथुरायां सकृदपि श्रीदामोदरसेवनात्।।

अर्थ—पद्मपुराणमें कहा गया है—हे राजन्! जो व्यक्ति भगवानके मन्दिरमें महोत्सव मनाता है, भगवद्-धाममें उसका महोत्सव मनाया जाता है। (जैसे भगवान दयालु हैं, उसी प्रकार कार्तिक मास भी दयालु है। थोड़े से सत्कर्म को बहुत बड़ा कर देता है अर्थात् स्वल्प साधन का महान् फल देता है) मथुरा-मण्डलमें रहकर कार्तिक मासमें एकबार भी श्रीदामोदरकी पूजा करने से मनुष्योंको दुर्लभा-भक्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इन पुराण वाक्योंके अनुसार ही श्रीकान्हरदासजी कार्तिक मासमें मथुरामें महोत्सव करते थे।

कान्हर को सौ को करै—इनके समान उत्सव कौन कर सकता है। इनके उत्सवकी विशेषता यह थी कि उसमें देश, काल, पात्र, पदार्थ, श्रद्धा आदिका समीचीन योग रहता था, जो कि आवश्यक है। यथा—(गीता १७-२०)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

अर्थ—देना (सेवा करना) ही उचित है, मन में ऐसा विचारकर जिससे प्रत्युपकार चाहा न गया हो ऐसे अधिकारीको मथुरा आदि पुण्यभूमिमें, कार्तिक-संक्रान्ति आदि पुण्यकालमें ब्राह्मण-साधु आदि श्रेष्ठ पात्र को जो दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। श्रीकान्हरदासजी का दान-पुण्य, सेवा आदि सात्त्विक से भी श्रेष्ठ गुणातीत है। ये भक्त थे अतः सब कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ करते थे, सर्वत्र धाममें प्राप्तजनों को प्रभु का कृपापात्र मानकर उनकी सेवा करते थे। किसीका तिरस्कार नहीं करते थे। प्रेममें विभोर होकर सारे कार्य सम्पन्न करते थे। थोड़ा भी एकबार का भी कृत जहाँ महान् होता है, वहाँ महान् से महान् कार्य करते थे। अतः इनकी समानता दूसरे नहीं कर सकते हैं। उत्तरोत्तर इनका प्रेम सेवामें बढ़ता ही जाता था अतः 'कान्हर को सौ को करै।' ऐसा कहा।

विमुख कोऊ नहिं जावैं—आपके उत्सव में षड्दर्शन (जोगी, जङ्गम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेख) गृहस्थ-विरक्त, राजा-रङ्क, ब्राह्मण-चाण्डाल अर्थात् जीवमात्र सभी को प्रसाद मिलता। ऐसा राघवदास कृत भक्तमालमें लिखा है। भक्तोंका विशेष सम्मान होता था। जो लोग कुछ लेना नहीं चाहते थे, वे कथा, कीर्तन, दर्शन, श्रवण से तृप्त हो जाते थे। 'कृष्ण कीर्तन बरषैं'—का भाव यह कि जैसे ग्रीष्म से तपी भूमिमें वर्षा होती है, तो पहले उससे गर्मी निकलती है। पश्चात् अधिक एवं निरन्तर वर्षा से पूर्ण शीतलता आती है। उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। प्रत्येक वस्तु पर सील पहुँच जाती है, वायुमण्डल ही ऐसा शीतल हो जाता है। उसी प्रकार हरि-सङ्कीर्तनसे आरम्भ में लोग पछताते कि हम ऐसी भक्तिसे वञ्चित

हैं, पश्चात् उनमें भक्ति-भाव स्थिर हो जाता तो वे सभी तापों से मुक्त होकर कृतार्थ होते। जो सम्मिलित नहीं हो पाते वे भी समाचारको सुनकर सुखी होते। ऐसा वातावरण हो जाता था। अधिक और निरन्तर हुई वर्षा छायामें स्थिर वस्तु पर भी प्रभाव डालती है, उसी प्रकार इनका कीर्तन समीपस्थ, दूरस्थ सबको प्रभावित करता अतः कीर्तनकी वर्षा से उपमा दी। 'यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।' (भा० ११-५-३२) कलियुगमें कीर्तन-प्रधान यज्ञ करने चाहिए।

प्रभु के भूषण देय—उत्तम नृत्य-गान पर रीझकर न्यौछावर करते-करते जब कोई वस्तु दृष्टिमें, हाथमें नहीं आती तो भगवानके श्रीविग्रह से उतारकर आभूषण दे देते। एकबार इसी तरह जब इन्होंने उमङ्गमें आकर प्रभुके आभूषण लुटा दिये तो प्रभुने देखा कि मेरा श्रृङ्गार बिगड़ गया तो झट आपने ज्यौं के त्यौं सभी आभूषण अपने श्रीअङ्गों पर धारण कर लिए। इस चमत्कारको देखकर सभाके सभी लोग अति प्रमुदित हुए। इस प्रकार प्रभुने अपने भक्तके सुयश का विस्तार किया। श्रीबालकरामजी लिखते हैं—

उहि दिये ते सब किये भूषण तुरत सोभा धारिये।
सब सभा निरखि सुहर्ष होई सुजस प्रगट पसारिये।। (भ० चि०)

महामन—एकबार भोजन कर गये, फिर पारस लेते तो उन्हें जानकर भी मना नहीं करते। ऐसे परमोदार थे। जैसे श्रीगोपालजी एवं विष्णुदासने उदारतापूर्वक सन्त-सेवा की तो परमधामसे आकर श्रीनामदेवजी और श्रीकबीरजीने दर्शन दिया। (क० ५८२) ऐसी सेवासे प्रसन्न होकर महान् पुरुष भी अपने-आप आ जाते हैं। इस पर—

१—दृष्टान्त—श्रीयुधिष्ठिरजीका—एकबार चातुर्मास्यमें धर्मराजजीने नित्य दस हजार साधु-ब्राह्मणोंकी सेवाका व्रत लिया। अभिमान रहित विशुद्ध सेवाको देखकर एकदिन श्रीशुकदेवजी आकर पंगतमें बैठ गये तो बिना बजाये घण्टा अपने-आप बजने लगा। युधिष्ठिरजीने श्रीकृष्ण से पूछा तो उन्होंने बताया कि तुम्हारे प्रेम को देखकर बिना बुलाये श्रीशुकदेवजी आ गये हैं, तुम्हारा यज्ञ पूर्ण हो गया। उनके पास मत जाना, नहीं तो चले जायेंगे। आत्माराम होने से दस हजार ऋषियोंके समान अकेले शुकदेवजी हैं। वहाँ की चरण-रज सिर पर धारण कर लो।

२—दृष्टान्त—सौंध्याके पटेलका—मालवामें रहने वाले सौंध्या जातिके एक भगवद् भक्त थे। गाँवके पटेल थे। उनके यहाँ उत्सव चल रहा था। बहुत से साधु-सन्तोंकी भीड़ थी।

परीक्षार्थ प्रभु प्रेरित एक साधुने एकान्त में पाकर उसके लड़के के गहने उतार लिए और उसको एक पत्थरके नीचे दबा दिया। पटेलको मालूम पड़ गया तो लड़के के शरीर को एक कोठरी में बन्दकर दिया। उस दिन अन्तिम बड़ा भण्डारा था। वह साधु भी आकर पङ्गतमें बैठ गया और पटेलसे बोला—लड़केको बुलाओ। पटेलने कहा—कहीं खेलने गया है। (पटेलने साधुवेषके कारण न तो उसे चोर कहा और न हत्यारा माना) साधुने कहा—बिना बालक के आये प्रसाद नहीं पाऊँगा। तब पटेलने ले जाकर कमरेमें दिखाया। भगवान ने उसे जीवित कर दिया। प्रसाद पाया और अन्तर्धान हो गये। तब पटेलने जाना कि वे सन्तरूपमें भगवान ही थे। सप्रेम सन्त-सेवाके फलस्वरूप स्वयं भगवान पङ्गत में आ गये। उसी प्रकार कान्हरदासजीके भण्डारे में भक्त-भगवान सम्मिलित होकर सुख मानते थे। (पटेलकी एक सौ वर्ष पुरानी बात है। पं० श्रीजगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली) 'विमल्यौ फिरै'—प्रेमकी उमङ्गमें भरे, अश्रुपूरित नैन, प्रसन्न मन, गद्‌गद कण्ठ होकर भक्त चरण-रजसे विभूषित श्रीकान्हरदासजी सन्तोंकी परिक्रमा करते, उनके इस प्रेमको देखकर दर्शकोंके हृदय प्रेमार्द्र हो जाते। 'वीठलसुत' श्रीविट्ठलदासजीके पुत्र थे, जिनका चरित्र (छ० ८४) में कहा गया है। 'विट्ठलदास माथुर मुकुट भयौ अमानी मानदा।। 'रङ्गीरायके छोटे भ्राता थे। इनके पिताजी भी महोत्सव करते थे, भक्तों को इष्ट मानते थे। वही संस्कार इनमें थे अतः इनका भाव अलौकिक था। 'दास चरणरज सिर धरैं—श्रीकबीरजी कहते हैं—

चरनामृत परसाद चरन रज अपने सीस चढ़ाव।
लोक लाज कुल कानि छाड़िकै अभय निसान बजाव।।
कथा कीर्तन मङ्गल उच्छव करि साधुन की भीर।
कभी न काज बिगरिहैं तेरो सत सत कहत कबीर।।

श्रीकान्हरदासजीका कई छप्पयोंमें स्मरण किया गया है। जैसे छ० ३९ श्रीपयहारीजी के शिष्य, छ० १०० भक्तपाल दिग्गज भगत, छ० ११७ भक्तनिकौ आदर अधिक छ० १५२ का प्रसङ्ग चल ही रहा है, छ० १७१ कान्हरदास सन्तनि कृपा, छ० १९१ में श्रीस्वभूरामदेवके कृपापात्र। छः छप्पयोंमें आये कान्हरदास तीन या चार महापुरुष हैं। यह अनुसन्धान का विषय है। श्रीरूपकलाजीने लिखा है कि वि० सं० १६५२ में जब श्रीकान्हरदासजी का भण्डारा हुआ था तो इसमें श्रीनाभाजी उपस्थित थे इनका सम्मान करके उन्हें 'गोस्वामी' पद से अलंकृत किया गया था।

* श्रीनीवाजी *

भक्तनि सों कलिजुग भलैं निबाही नीवा खेतसी।।
आवहिं दास अनेक उठि सु आदर करि लीजै।
चरण धोय दण्डौत सदन में डेरा दीजै।।
ठौर ठौर हरिकथा हृदै अति हरिजन भावैं।
मधुर वचन मुंह लाय विविध भाँतिन्ह जु लड़ावैं।।
सावधान सेवा करैं निर्दूषन रति चेतसी।
भक्तनि सों कलिजुग भलैं निबाही नीवा खेतसी।।१५३।।

शब्दार्थ—खेतसी=खेतसिंह, नाम, खेतकी-सी प्रीति। मुंह लाय=सिर पर चढ़ाकर, मुंह लगाकर, दबकर। निर्दूषन=छल-कपट रहित। चेतसी=मानसी, हार्दिकी, सच्ची।

भावार्थ—श्रीनीवाजी और खेतसी (खेतसिंह) इन दोनोंने इस कलियुग में भी भक्तों के साथ भली प्रकार वैसा ही प्रेम परिपूर्ण व्यवहार किया। जैसा कि किसान अपने खेतोंसे करता है। प्रायः नित्य ही इनके घर पर भगवद्-भक्त आया ही करते थे। भक्तोंके आते ही उठकर आप उनका स्वागत-सत्कार करते थे। उनके चरणोंको धोकर चरणामृत लेते, साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम करते, फिर घरके भीतर ले जाकर उनका आसन लगवाते। आप भगवद्-भक्तोंको हृदय से प्यार करते थे और जहाँ-तहाँ कथा-कीर्तनके आयोजन करते थे। मुखसे श्रद्धा-भक्तियुक्त मधुर वचनों को कहकर अनेक प्रकार से भक्तों का लाड़-प्यार करते थे। हृदय में दोषरहित निष्काम-निष्कपट प्रेम था अतः सर्वदा सावधान होकर भक्त और भगवन्तकी सेवा करते थे।। १५३।।

व्याख्या—निबाही नीवा खेतसी—नीवा और खेतसी दोनों नाम हैं। खेतसी यह खेतसिंहका अपभ्रंश है। यथा—'सुनौ नीवा खेतसी की कथा दोई पिता पुत्र।' (भ० चित्रणी) तथा—'गगन मगन गलतान उभय भ्राता जस गावैं। 'रामहिं रटि राठौर भये तिहुँ लोक उजागर।' (राघवदास कृत भक्तमाल) इन उद्धरणों से यह सिद्ध हुआ कि ये राठौर क्षत्रिय थे और पिता-पुत्र या भाई-भाई थे। इस कलियुगमें स्वार्थ का बाहुल्य है अतः लोक स्नेह-सेवा करते

तो हैं, परन्तु आदिसे अन्त तक उसको निभा नहीं पाते हैं। बीचमें ही स्नेह कम हो जाता है, सेवा का नियम छूट जाता है। परन्तु भक्त और भगवान इनका स्नेह सर्वदा रहता है, क्योंकि यह निः स्वार्थ होता है। यथा—'नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयौ।' (मू० छ० २०१) पुनः—'को रघुवीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा॥' भगवत्कृपासे भक्तोंके नियमोंका, स्नेहका निर्वाह होता है। जैसे—'भली-भाँति निबही भगति सदा गदाधरदास की। (छ० १८६) पुनः—'भक्तपक्ष उद्दारता यह निबही कल्यान की।' (छ० १८९) श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—'दीजै वचन कि हिये आनिये तुलसी को पन निरबहिहौं॥ (वि० २३१) आप मुझे वर दीजिये कि मैं निर्वाह कर सकूं और आप अपने हृदयमें निश्चय कीजिये कि मैं तुलसीदास के साथ प्रेमका निर्वाह करूँगा। इन भक्तोंने उदासीसे नहीं प्रसन्नता से अन्त तक भक्तोंकी सब प्रकार की सेवा की। कुछ विद्वान् 'खेतसी' का अर्थ खेत सरीखा करते हैं। किसान अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर और टीड़ी आदि से खेतीके लगातार नष्ट होने पर भी खेतसे अन्न प्राप्त करने की आशा करता है। घरका सामान बेचकर, कर्ज लेकर भी खेतमें बीज बोता है, श्रम करता है। समय पाकर लाभान्वित भी होता है। उसी तरह इन भक्तोंने भी हानि सहकर ऋण लेकर भी सेवा की। किसानका खेत, वैसे ही इनका सर्वस्व सन्त-सेवा थी।

हरिया हरि सों प्रीति कर ज्यों किसान की रीति। दाम चौगुनो रिन घनो तऊ खेत सों प्रीति।
राम लगावहु आपमें ज्यों किसान मन खेत। 'रामचरण' शीतोषण सहि निसिदिन तहाँ सचेत॥

श्रीमोरध्वजजीने जैसे निभाया एवं जैसे श्रीभगवन्तमुदितजीने निभाया—'एक रस निर्वहे ब्रजवासी जा छुटाये हैं॥ कीनी घर चोरी तऊ नेकु नासा मोरी नाहिं, बोरी मति रङ्ग लाल प्यारी दृग छाये हैं।' (क० ६२८) ब्रजवासी और सन्तोंकी सेवा करते थे। एकबार ब्रजवासी चोरोंने चोरी करली, फिर भी सेवा करना, घर पर ठहराना बन्द नहीं किया।

ऊठि सु आदर करि लीजै—जैसे श्रीरैदासजी—'आजके दिवस की जाऊँ बलिहारा। मेरे घर आया राजा रामजीका प्यारा॥' (पूरा पद द्वितीयखण्ड पृ० ५२७ में) पुनः— श्रीमोरध्वजजी—
बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी, निपट नबेल फल पायौ याते पाये हैं।
दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै सुख लीजै वही, पीजै वाणी रस मेरे नैन लै सिराये हैं।।क०८९

श्रीनीवाजी और खेतसिंहजी सन्तोंके शुभागमन पर इसी प्रकार प्रार्थना करते थे। 'सदन में डेरा दीजै' कहकर सन्तोंमें आत्मीयता जनाई। 'सावधान सेवा करैं'—उत्तम-सेवक वह है जो बार-बार सेवाकी प्रार्थना करें, मना करने पर भी पाद-प्रक्षालन, संवाहन आदि

करे। उत्तम-सेवक सेवाके बदले किसी वस्तुको नहीं चाहता है, केवल स्वामीकी कृपा ही अभीष्ट है। श्रीप्रह्लादजीने श्रीनृसिंह भगवानसे वर माँगा कि मेरे चित्तमें कोई भी वासना अंकुरित न हो। लौकिक वासना-कामना ही भक्ति-सेवामें दोष है। इनकी निर्दूषन अर्थात् निष्काम प्रीति थी। चेतसीका अर्थ कुछ लोगोंने चैत्रकी फसल माना है, जो किसान को सुखद होती है। पर वास्तविक अर्थ हार्दिक प्रीति ही है। हार्दिक प्रेम था अतः सेवामें सावधानी थी, अतः निर्वाह हुआ। पुनः—निभाने से प्रेम में उज्ज्वलता और वृद्धि होती है। 'कनकहिं बान चढ़ै जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निवाहे॥' (रा०) अन्यथा सेवा-धर्म कठिन है—'सब ते सेवक धर्म कठोरा।' भर्तृहरि नीतिशतके—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरु र्यदि न सहते प्रायशोनाभिजातः,
सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः॥

अर्थ—मौन रहे तो गूंगा, बोले तो पागल और बकवादी, पास रहे तो ढ़ीठ, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमा करे तो डरपोक और असहनशील हो तो वह सेवक अकुलीन कहलाता है। सेवा-धर्म ऐसा कठिन है कि योगियोंको भी अगम है।

भक्तदाम गुण चित्रणीमें श्रीबालकरामजी कहते हैं कि क्षत्रियकुलोत्पन्न पिता-पुत्र श्रीनीवाजी और श्रीखेतसिंहजी इन्हें सन्त-सेवामें परमानुराग था। एकबार घरके व्यापार व्यवहारमें इन्हें आर्थिक संकट आ गया। उसका कारण सन्त-सेवामें व्यय अधिक होता। खेती आदि से उतना लाभ नहीं होता साधुओंकी सेवा उसी प्रकार चलती रही अतः एक ब्राह्मण देवताका बड़ा-भारी कर्जा हो गया। कुछ दिनोंके बाद माँगने पर भी ये कर्जा अदा नहीं कर सके तब खीझकर महाजन ब्राह्मणदेव इनके द्वार पर धरना देकर बैठ गये। भूखे-प्यासे ब्राह्मणके भयसे घरमें किसीने भी कुछ नहीं खाया-पीया। अन्तमें इन दोनों भक्तोंने निश्चय किया कि—'कल घर-बार बेचकर इस ब्राह्मणका कर्ज चुका दिया जाय। भक्तकी इस चिन्तासे चिन्तित प्रभु श्रीरामने नीवाजीका रूप धारण किया और रात को घर पर आकर ब्राह्मणसे उन्होंने कहा—विप्रदेव! आप यह सोना लीजिये और भोजन कीजिये। सोनेकी तौल और मोल फिर प्रातः बाजारमें हो जायगी। ब्राह्मणने ऐसा ही किया और प्रातः आकर नीवाजीसे उसने कहा—चलिये, सोने को तोलवाकर बेच दीजिये। नीवाजीने आश्चर्यचकित होकर कहा—कैसा सोना? आपने ही तो रातमें दिया था ऐसा कहकर उस ब्राह्मणने सोना

दिखाया। श्रीनीवाजी श्रीराम-कृपाका अनुभव करके बेसुध हो गये। पश्चात् अर्थ सङ्कट दूर हो गया। श्रीरामजीने सन्त-सेवामें सहयोग दिया।

* श्रीतूंवर भगवानजी *

बसन बढ़े कुन्ती बधू त्यौं तूंवर भगवान के।।
यह अचरज भयौ एक खांड घृत मैदा वरषै।
रजत रुक्म की रेल सृष्टि सबही मन हरषै।।
भोजन रास विलास कृष्ण को कीरतन कीनौ।
भक्तनि कौ बहुमान दान सबही कौ दीनौ।।
कीरति कीनी भीम सुत सुनि भूप मनोरथ आन के।
बसन बढ़े कुन्ती बधू त्यौं तूंवर भगवान के।।१५४।।

शब्दार्थ—कुन्ती बधू=द्रौपदी। तूंवर=तोमर, राजस्थानी क्षत्रिय, राजवंश। रजत=चाँदी। रुक्म=सोना। रेल—अधिकता, भरमार। आन के=अन्य—दूसरोंके।

भावार्थ—भक्तवर श्रीभगवानदासजी तूंवरके महोत्सवमें सभी वस्तुयें इस प्रकार बढ़ीं, जैसे दुःशासनके द्वारा खींचे जाने पर श्रीद्रौपदीजीके वस्त्र बढ़े थे। आपके एक महोत्सवमें महान् आश्चर्य यह हुआ कि खाँड़, घृत, मैदा आदिकी खूब वर्षा हुई। सोने और चाँदी के सिक्कोंकी भरमार हो गई। आशासे अधिक दान-मान प्राप्त कर सभी सृष्टि के प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उस उत्सवमें साधु-ब्राह्मण और दीन-गरीबोंको खूब भोजन कराया गया। रासलीलायें हुईं और कई दिन तक अखण्ड श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन हुआ। भक्तोंका विशेष सम्मान हुआ और सभी लोगोंको दान-मानसे सन्तुष्ट किया गया। श्रीभीमजीके पुत्र भगवानदासजीने ऐसी कीर्तिकी कि—उस महोत्सवका समाचार सुनकर दूसरे राजा लोग भी इच्छा करने लगे कि हम भी ऐसा महोत्सव करें पर वे मनोरथ करके ही रह गये। तूंवर श्रीभगवानदासका-सा महोत्सव कर नहीं सके।।१५४।।

व्याख्या—बसन बढ़े कुन्ती बधू—भगवानने सामग्री बढ़ाकर भक्तवर भगवानदास तूंवरकी लज्जा रक्खी, उसकी उपमा द्रौपदीके चीरसे दी गई। जैसे कौरव उसे नग्न कर उसकी प्रतिष्ठाका नाश करना चाहते थे, उसी प्रकार यहाँ विप्रगण सामग्रीको समाप्त कर भक्तके सुयश पर पानी फेरकर उसका अपयश करना चाहते थे। द्रौपदीके चीर बढ़ने पर सूक्तियाँ—

ऐसी भीर परे पर पीर को हरनहार, गिरि को धरनहार सोई धीर धरि है।
दीननि को बांधव विरद ताकौ रह्यौ, दावानल पान कियौ सोई पीरि हरि है।।
पंडुनि की पतनी कहत ठाढ़ी पंचन में, लपट्यौ है चीर सो तो कैसे कै निबरि है।
खैंचै क्यों न आनि यों दुःसासन से दस और, मोरपक्ष धारी है सो मोरपक्ष धरिहै।।१।।
पाण्डव की रानी गहि रावल सों आनी, सिरमनि बिलखानी बिलखानी पै न चेत है।
घटत घटाये पट घटत न ऐंचे पट, दुःसासन बार बार ढेर कै कै लेत है।।
पांच तनु छित आंच तनक न लागी तन, लखिकै विपति यदुपति कीनौ हेत है।।
गोपिन के चीर चोरि राखे पट कोटि कोरि, तेई मानो जोरि जोरि द्रौपदी को देत है।।२।।
आनि कुरुवंश को अकरम उदय होत, बाढ्यौ छल दुहुँ ओर बन्धुव के गेह में।
पाण्डवन को तौ मान खण्डन सभा के बीच, द्रौपदी पुकारि कह्यौ गोविन्द सनेह में।।
अम्बर के ह्वै गये अटम्बर अकाश लगि, खैंचि खैंचि हारो खल पावत न खेह में।
भक्तन के काज ब्रजराज लाज राखन को, आप ह्वै बजाज बैठे द्रौपदी की देह में।।३।।

बहुमान दान—श्रद्धा एवं मान सहित दान ही श्रेष्ठ है, अश्रद्धासे किया गया दान-तप आदि इस लोक और परलोकमें भी सुखदायक नहीं होता है अतः श्रीतूंवरजी मान-पूर्वक दान देते। (गी० १७-२८) भक्तोंका सम्मान विशेष करते क्योंकि ये भावके ग्राहक हैं ! दान देनेसे ही हाथोंकी सफलता है। दान हाथका, सत्य कण्ठका, शास्त्र वचन श्रवणका भूषण है, इनके रहने पर अन्य आभूषणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। यथा—सूक्ति सुधाकरे—

हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम्। कर्णस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः कि प्रयोजनम्।।
प्रगट चारिपद धर्मके कलि महँ एक प्रधान। येन केन विधि दीने दान करइ कल्यान।। (रा०)
तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञान कर्म च। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड में कहा गया है कि सतयुगमें तपस्या, त्रेतामें—ज्ञान-कर्म, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें एकमात्र दानकी प्रशंसा की गई है। भागवतमें-'सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप।' (१२-३-१८) कलिमें चार चरणोंमें दान ही शेष है अतः अवश्य कर्तव्य है। शुभ-कर्मों द्वारा प्राप्त धन यदि उत्तम देश, काल, पात्रमें आदरपूर्वक दिया जाय तथा फिर अपने मुखसे कहा न जाय, उसका अहंकार न किया जाय तो उससे महान् कल्याण होता ही है। अन्य तीन युगोंमें अविधि पूर्वक दिया राजस-तामस दान व्यर्थ जाता था पर कलियुगमें 'येन केन विधि दीने, जैसे भी बने, फिर चाहे वह राजस-तामस ही क्यों न हो तथा

अनिच्छापूर्वक, भयसे, सकाम, निष्काम कैसे भी क्यों न किया जाय दान कल्याण ही करेगा। उसमें भी अन्न-दानको श्रेष्ठ कहा है—अन्नदान अरु रस पीयूषा' कथा-कीर्तन एवं अभयदान जो सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हें श्रीतूंवरजी देते थे। पुनः—दान नाशके तीन हेतु हैं—देकर पछताना, अपात्रता, अश्रद्धा। ये देकर प्रसन्न होते थे, अपात्र भी इनकी विशुद्ध भक्तिसे सुपात्र थे। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत।' पूर्ण श्रद्धालु थे अतः इनका दान अनन्तफल भगवत्प्रेम प्रदायक था। इनके उत्सवोंमें तीन की प्रधानता थी। भोजन, रास-विलास और कृष्ण कथा-कीर्तन।

कीरति कीनी भीम सुत—सोना, चाँदी, मैदा, घी शक्कर की वर्षा करके प्रभुने इनकी कीर्तिका विस्तार किया। इनमें धन मुख्य हेतु न होकर इनकी भक्ति निष्ठा मुख्य हेतु है। महापुरुषोंकी क्रिया सिद्धिमें साधन-वस्तु की प्रधानता नहीं होती है। यथा—

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि—
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधोद्राक्षसकुलं,
क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।। (सूक्तिसुधाकर)

अर्थ—लङ्का जैसी दुर्गम पुरी पर विजय प्राप्त करनी थी, समुद्रको पैदल पार करना था, रावण जैसा प्रबल शत्रु था, रणभूमि में सहायता करने वाले बन्दर थे, तो भी स्वयं एक पैदल पुरुष श्रीरामचन्द्रने राक्षस कुलका संहार कर दिया। सच है, महापुरुषोंकी क्रिया सिद्धि उनके तेज पर ही निर्भर रहती है, साधनों पर नहीं।।

बीतत बरस मास आवै मधुपुरी, नेम प्रेम सों महोछौ रास हेम हीं लुटाइयै।
सन्तनि जिवांय नाना पट पहिराय, पाछे द्विजन बुलाय कछु पूजैं पै न भाइयै।।
आयौ कोऊ काल धन माल जा बिहाल भये, चाहैं पन पार्‍यौ आये अलप कराइयै।
रहे विप्र दूषि सुनि भयौ सुख भूख बढ़ी, आयौ यों समाज करौ ख्वारी मन आइयै।।५७६

शब्दार्थ—बिहाल=बे-हाल, दुर्दशा। पार्‍यौ=पाल्यौ, पूरा किया। दूषि=दुःखित, द्वेषयुक्त। ख्वारी=निन्दा, बदनामी।

भावार्थ—तूंवर भक्त भगवानदासजी का यह दृढ़ नियम था कि वर्ष के बीतने पर मथुरापुरीको आते थे। वहाँ एक बहुत बड़ा महोत्सव करते, उसमें बहुत-सा सोना लुटाते थे। इस महोत्सवमें वे पहले साधु-सन्तोंको भोजन कराते, उन्हें वस्त्र पहनाते। उसके पश्चात् ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका भी कुछ स्वागत-सत्कार करते। ब्राह्मणोंको यह अच्छा नहीं लगता,

वे प्रायः मनमें नाराज रहते। भाग्यवश कोई ऐसा समय आ गया कि श्रीभगवानदासजी की अर्थिक स्थिति बिगड़ गई। धनकी कमी आ गई। ऐसी हालतमें भी आप अपने प्रणको पूरा करना चाहते थे इसलिए मथुराजीको आये। इनके मनमें विचार था कि इस बार छोटा उत्सव कराऊँगा। मथुराके जो ब्राह्मण लोग इनके उत्सवसे दुःखित होकर इनसे द्वेष करते थे। उन्हें सुख हुआ और लोभ बढ़ा। उन लोगोंने निश्चय किया कि अब ऐसा समय है कि हम लोग आपसमें ही सम्पूर्ण धनको बाँट लें और भगवानदासकी निन्दा करवा दें। ऐसा सबके मनमें आया।।५७६।।

बीतत बरस····मधुपुरी—सालमें एकबार अवश्य आते, कभी-कभी कार्तिक मासमें एक माह रहते, अन्तिम दिन महोत्सव विशेष होता। सप्त मोक्षदा पुरियोंमें मथुरा श्रेष्ठ है। पुनः मथुरा धन्य है, जहाँ सर्वदा भगवान विराजते हैं, पाप और पापियोंका प्रवेश नहीं है। यथा—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारवतीज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः।
अहो मधुपुरी धन्या यत्र सन्निहितो हरिः। सर्वेषां यत्र पापानां प्रवेशोऽपि न विद्यते।।

हेम हीं लुटाइयै—सोना और उसको लुटाना कहकर अति उदारता दिखाई। सोने को लुटाते थे, तो चाँदी, ताँबाकी बात ही क्या है। पुनः आप धन-लक्ष्मीके अनर्थकारी स्वरूपको जानते थे अतः बिना कंजूसी या संकोचके प्रत्येक किसीको मुक्तहस्तसे देते थे। पूर्वजन्मके संस्कारोंसे इनको ऐसा स्वभाव और धन मिला था। पूर्वजन्मके प्रारब्ध एवं भगवत् कृपाके बिना धनकी प्राप्ति और उसका इस प्रकारसे उपयोग करना सम्भव नहीं। किसी कविने लिखा है कि जिसने हाथ से नाई अर्थात् डाला-दान नहीं दिया, उनके हाथ लक्ष्मी नहीं आती है। यथा—

जिन जिन कर नाई तिन तिन कर आई, कर नहीं नाई तिन कर नहीं आई है।
कागद लिखाई जिन कागदै लिखाई पाई, थरा में धराई तिन धरा घूरि खाई है।।
दै दै लबराई जिन लई है पराई अब, ताहू पास नेक हू न रहति रहाई है।
जिन जिन खाई तिन उदर समाती खाई, जिन न खबाई तिन खाई बहुताई।।

याचकको नटना अर्थात् इन्कार नहीं करना चाहिए, जो नटता है वही नट है।

बांस चढ़ी नटिनी कहै मति कोउ नटिनी होय। मैं नटकै नटिनी भई नटै सो नटिनी होय।
दीया जगत अनूप है दिया करौ सब कोय। घर को धर्यौ न पाइये जो कर दिया न होय।
नारद ते वर पाइकै प्रथम सुन्दरी होय। पति वर ते सुअरी भई सुत वर ते पुनि सोय।।

दृष्टान्त—नारद और ब्राह्मण का—एकबार श्रीनारदजीने पृथ्वी पर विचरते हुए एक ब्राह्मण परिवारको अन्न-वस्त्रके अभावमें बहुत दुःखी देखा। दयावश भगवानके पास जाकर प्रार्थना की कि—'प्रभो ! कृपा करके उस ब्राह्मणका दुःख दूर कर दीजिये।' भगवान ने कहा कि उसके भाग्यमें सुख भोग नहीं है अतः देने पर भी उसको नहीं मिल सकता है। नारदजीने कहा—'मैं कैसे मानूं ? हमें तो लगता है कि आप उसे कुछ देना नहीं चाहते हैं।' भगवानने मुस्कराकर कहा—'तो आपही मेरी ओरसे उन तीनों प्राणियोंको अलग-अलग तीन वरदान देकर सुखी कर दीजिये।' भगवदाज्ञानुसार नारदजी पहले विप्र-पत्नी के पास पहुँचे और बोले कि—'तुम मुझसे इच्छित एक वरदान माँग लो और सुखी हो जाओ।' उसने कहा—'भगवन् ! आप मुझे ऐसा वरदान दें कि मैं संसारकी सभी स्त्रियोंमें सबसे अधिक रूपवती हो जाऊँ।' एवमस्तु कहकर नारदजी चले गये। ब्राह्मणीके अति सुन्दरी हो जाने पर यह समाचार चारों ओर फैल गया। राजाने सुना तो उसे बलात् पकड़वाकर अपने महलमें भेज दिया। इससे ब्राह्मणको बहुत दुःख हुआ। इसी बीच इनकी दरिद्रता मिटाने के विचारसे पुनः श्रीनारदजीने आकर ब्राह्मणसे कहा—तुम मुझसे कोई एक अभीष्ट वरदान माँग लो, जिससे तुम्हारा दुःख दूर हो जाय। ब्राह्मणने माँगा—'जिसे राजा पकड़कर ले गया है, वह मेरी स्त्री शूकरमुखी हो जाय। तथास्तु कहकर नारदजी चले गये। राजाने महलमें जाकर ब्राह्मणीको जब शूकरमुखी देखा तो तुरन्त उसे ब्राह्मणके घर भेज दिया। पुनः श्रीनारदजी उनके पुत्रके पास गये और बोले कि—'तुम कोई एक वरदान माँग लो।' उसने कहा कि 'मेरी माता जैसी पहले थी, उसी प्रकार के मुख वाली हो जाय।' नारदजीके तथास्तु कहते ही ब्राह्मणी जैसी पहले थी, वैसी ही हो गई। तीन वरदानोंको पाकर भी इनका दरिद्र दूर नहीं हुआ। इसलिए कि इन्होंने पूर्वजन्ममें दान-पुण्य नहीं किया था। नारदजीकी समझमें आ गया कि भगवानने ठीक ही कहा था। पुनः—इस जन्म में इन्होंने भक्त-भगवन्तकी कृपा भी प्राप्त नहीं की थी, नहीं तो बिना वरदानके ही देवर्षि इन्हें अपने आशीर्वादसे सुखी कर देते।

सन्तन जिवांय—साधुओंके विशेष सम्मानसे (असाधु) विप्रगण द्वेष करते थे। जब उन्होंने देखा कि अकाल पड़ जाने से भगवानदासने अपनी प्रजाको बहुत अन्न-धन बाँट दिया है। इस वर्ष यहाँ मथुरा में छोटा उत्सव होगा तो वे प्रसन्न हो गये। 'जब काहू कै देखहिं विपती। सुखी भये मानहुँ जग नृपती।।' कहने लगे कि—'मुण्डे वैरागियोंकी इसने विशेष पूजा की थी, यह उसीका फल है। जो वैरागीको खिलायेगा वह भी वैरागी हो जायगा।' इन लोगोंने निश्चय किया कि इस बार भगवानदासके उत्सवको बिगाड़कर इसकी अपकीर्ति करानी है।

रहे विप्र दूषि—कोरे कर्मकाण्ड में ही जिनकी निष्ठा है, उनमें भक्ति नहीं आती है। यथा—

बांभन के मन भक्ति न आवै । भूलै आपु सबनि समुझावै।।
औरनि ठगि ठगि अपुन ठगावै। आपुन सोवै सबनि जगावै।।
वेद पुरान बेंचि धन ल्यावै। सत्या तजि हत्याहि मिलावै।।
हरि हरिदास न देखत भावैं। भूत पितर देवन पुजवावैं।।
अपुन नरक परि कुलहिं बुलावै। 'व्यास' भक्ति बिन को गति पावै।।

अति सनमान कियौ ल्याये जोई सौंपि दियौ, लियौ गाँठ बाँधि तब विनती सुनाइयै।
सन्तनि जिंवावौ भावै रास लै करावौ, भावै जेंवौ सुख पावौ कीजै बात मन भाइयै।।
सीधौ लाय कोठे धर्‌यो रोक ही, सो थैली भर्‌यो द्विजन बुलाय देत किहूं निघटाइयै।
जितनौं निकासें ताते सौ गुनौ बढ़त और, एक एक ठौर बीस गुनौ दै पठाइयै।।५७७

शब्दार्थ—रोक=रोकड़, नगद धन। निघटाइयै, समाप्त कीजिये।

भावार्थ—श्रीभगवानदासजी तूंवरने ब्राह्मणोंको बुलाया और जो कुछ अपने साथ लाये थे उसे बड़े आदर-सम्मानके साथ ब्राह्मणोंको सौंप दिया। उन लोगोंने धनकी गाँठ बाँधकर अपने पास रख लिया। तब श्रीभगवानदासजीने हाथ जोड़कर विनती सुनाई। 'मेरे पास बस इतना ही धन है, इससे आप चाहे साधु-सन्तोंका भण्डारा करदें, चाहे रासलीला करवा दें और चाहें स्वयं आप लोग भोजन करलें। जिस प्रकार आपको सुख हो, आप लोग वही काम कीजिये। 'ब्राह्मणों ने सीधा-सामान एक कोठेमें रख दिया और जो नगद धन था उसे थैलियोंमें भर लिया। ब्राह्मणोंको बुलाकर देने लगे। एक-एकको बीस-बीस गुना सामान देने लगे। उनके मनमें था कि किसी प्रकार सीधा-सामान कम पड़ जाय और भगवानदासकी निन्दा हो जाय। परन्तु भगवानकी कृपासे यह लीला हो रही थी कि वे जितना देते थे, उससे सौ गुना। सीधा-सामान और थैलीमें धन बढ़ता जाता था। देते-देते और लेते-लेते लोग थक-थक गये। भक्त और भगवानकी अपार महिमाका सबको प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया।। ५७७।।

व्याख्या—अति सनमान कियौ—श्रीभगवानदासजी को मालूम पड़ गया था कि साधुओंका विशेष सत्कार देखकर ब्राह्मण दुःखी हैं अतः उन्होंने निश्चय किया कि इस बार अपना सर्वस्व ब्राह्मणोंको सौंपकर इन्हें सन्तुष्ट करना है। ब्राह्मण और उसमें भी मथुरा

के, ये तो श्रीकृष्णके स्वरूप हैं। इन्हें सर्वस्व समर्पण करने पर सानन्द उत्सव पूर्ण होगा। ब्राह्मणोंने सर्वस्वको अपने अधिकारमें करके ऊपर मनसे शिष्ट भाषामें कहा—राजन् ! चिन्ता मत करो, इस वर्ष आपका उत्सव ऐसा होगा, जैसा कभी किसीका न हुआ होगा। उनके इस कथनमें कपट था पर इन्हें ब्राह्मण वाक्योंमें पूर्ण विश्वास हुआ। ब्राह्मणोंने निमन्त्रणकी आम-घोषणा करते हुए कहा—'सीधा-सामान और दक्षिणा पहले ब्राह्मणोंको फिर रासधारियोंको फिर साधुओंको उसके बाद जो भी लेने आयेगा सभीको दिया जायेगा।' वे जानते थे कि ब्राह्मणोंको देते-देते सामान नहीं रहेगा। तब जिन ब्राह्मण और साधुओं को कुछ न मिलेगा वे शाप देंगे, अपयश फैलायेंगे। महोत्सवका समाचार सुनकर लोग आ गये, गतवर्षोंकी भाँति रासलीलायें और यत्र-तत्र कीर्तन होने लगे। दूसरी ओर सीधा-सामान बँटने लगा। घटानेके लिए पहले दूना फिर चौगुना-बीसगुना पुनः एक ही को बार-बार देने पर उसी क्रमसे वृद्धि होने लगी। (सुरसा और श्रीहनुमानजीकी-सी होड़ लग गई) अन्तमें ये जितनी देते उससे सौगुनी वृद्धि होने लगी। देने वालोंके हाथ थक-थक गये। प्रातः से सायंकाल तक ढोने वालोंके घर भर गये। सर्वत्र भगवानदासजी की जय-जयकार हो रही थी। अन्त में द्वेषियों के नेत्र खुले, अपराध मानकर क्षमा-याचना करने लगे। कोई लेने वाला नहीं रह गया अतः वितरण बन्द हो गया।

ताते सौ गुनौ बढ़त—पद-जाको मन मोहन अङ्ग करै। ताको केस खसै नहिं सिर से जो जग बैर परै।। हिरनकशिपु पर हार थको प्रह्लाद न नेकु डरै। अजहूँ लगि उत्तानपाद सुत अविचल राज करै।। राखी लाज द्रुपद तनया की कुरुपति चीर हरै। दुरजोधन को मान भङ्ग करि वसन प्रवाह भरै।। जौ सुरपति कोप्यौ ब्रज ऊपर क्रोध न कछु सरै। ब्रज जन राखि नन्द को लाला गिरिधर विरद धरै।। जासु विरद है गर्वप्रहारी सो कैसे बिखरै। 'सूरदास' भगवन्त भजन करि शरन गये उबरै।। दो०—'दण्डक वन पावन करन चरन सरोज प्रभाव। ऊसर जामहिं खल तरहिं होइ रङ्क ते राव।। बिनहीं रितु तरुवर फरत शिला द्रवति जल जोर। राम लखन सिय करि कृपा जब चितवहिं ज्यहि ओर।।' दूसरे दिन ब्राह्मणों ने बचे सामानको लेने के लिए कोठे खोले तो वहाँ कुछ भी नहीं था। लेने-देने वाले, समाचार सुनने वाले तथा स्वयं श्रीभगवानदास आश्चर्यचकित थे। लगातार इनके नेत्रोंसे अश्रु बह रहे थे। सबके चरणोंकी धूली मस्तक पर धारण कर रहे थे। इनके मुखसे शब्द नहीं निकल रहे थे।

विशेष—श्रीभगवानदास तूंवर पाण्डुवंशी क्षत्रिय थे। इनके पिता पाटणसे आकर गाँवड़ीमें बस गये थे। छ० ९९ में सोम, भीम और बीको आदिका जो उल्लेख है, वे सब इसी राजवंशके

हैं। यह वंश जयपुर राज्यके उस प्रदेशके गाँवमें फैला हुआ है। गाँवड़ीसे पश्चिमकी ओर तीन कोसकी दूरी पर भूदौली गाँव में अपने एक कुटुम्बी घरानेमें भीमजीने अपने पुत्र भगवानदासको दत्तक रूपमें दिया था। कुछ दिनोंके बाद उस घरानेमें एक पुत्र का जन्म होने पर भगवानदासजीने अपने-आप ही वहाँसे पृथक् होकर भूदौलीसे दस मील दूर दक्षिणमें अपना स्वतन्त्र शासन जमा लिया। उस गाँवको चीपलाटा कहते हैं। आप बड़ी उदार प्रकृतिके थे। जिस घरानेमें आप दत्तक रूपमें रहे थे, वहाँ की एक राजकुमारी मारवाड़में ब्याही थी। एकबार परिस्थितिवश उसने अपने पीहर भूदौली वालोंसे सहयोग चाहा। जब वे सहायता न दे सके। तब उसने आकर भगवानदासजीसे कहा। आपने उसे तेरह हजार बीघे भूमि दे दी। कालान्तरमें स्थिति सुधरने पर उसने उस भूमिको लौटाना चाहा, तब इन्होंने कहा कि मैं दान देकर फिर वापस कैसे लूं। भूदौली वालोंने उस जमीनको ले लिया। आप ऐसे दानी थे।

एकबार पिता ने विनोदमें ही आपसे कह दिया कि—'तू क्या पाटौदी को जीत सकता है। आपने उसे सत्य करके दिखा दिया। नारनौलके पास पाटौदीके युद्धमें आपकी विजय हुई। आपकी अन्तिम घटना बड़ी महत्वपूर्ण है—एकबार बहिनकी सहायताके लिए बनेटी गाँवमें गये हुए थे। वहाँ भयङ्कर संग्राम हुआ। विपक्षियोंके प्रहारसे आपका सिर कट गया पर वहाँ गिरा नहीं, वह कोसों दूर चीपलाटामें पहुँच गया और घोड़े पर स्थित धड़ने युद्ध करके विपक्षियों को पराजित कर दिया। दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। किसी अपवित्र स्त्रीकी छाया पड़नेसे धड़ घोड़ेसे नीचे गिर पड़ा। बनेटीकी संग्राम भूमिमें आपका स्मारक (जूझार) बना है। चीपलाटामें भी पहाड़ी पर एक छत्रीमें घोड़े पर सवार आपकी प्रतिमा है, जो उपर्युक्त घटनाको सत्य प्रमाणित कर रही है। उस पहाड़ी पर बने मन्दिरमें आपके चरण-चिन्ह हैं, वहाँ जलके दो टाँके भी है। गाँवमें एक चबूतरा है जो भगवानदास की पर्शके नामसे प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ल पंचमीको उनकी स्मृतिके रूप में एक मेला भी लगता है। वैशाख शुक्ल ५ को भी जनता उनकी मनौती मानती है। दोनों उनके जन्म और निधनकी तिथियाँ हैं। यहाँ लोगोंके मनोरथ सिद्ध होते हैं, किसी-किसीको उनके दर्शन भी हो जाते हैं। आस-पासकी जनतामें अपार श्रद्धा है। इनका एक पुत्र सूरदास था जो बादशाहकी नौकरी करते हुए भी नियमित पूजा-पाठ अवश्य करता था। वह राजवंश श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायका अनुयायी था। नन्दगाँवमें रहने वाले श्रीनाफादासजीसे यह घराना दीक्षा लेता था।

(सर्वेश्वर भक्तमालसे)

* श्रीजसवन्तजी *

जसवन्त भक्ति जयमाल की रूड़ा राखी राठवड़।।
भक्तनि सों अति भाव निरन्तर अन्तर नाहीं।
कर जोरे इक पाँय मुदित मन आज्ञा माहीं।।
श्रीवृन्दावन वास कुञ्ज क्रीड़ा रुचि भावै।
राधाबल्लभ लाल नित्तप्रति ताहि लड़ावै।।
परम धरम नवधा प्रधान सदन साँच निधि प्रेम जड़।
जसवन्त भक्ति जयमाल की रूड़ा राखी राठवड़।।१५५।।

शब्दार्थ—रूड़ा=रूढ़ा, प्रचलित परंपरा उत्तम। निरन्तर=लगातार। अन्तर=बीच, भेद। राठवड़=राठौर। प्रेम जड़=प्रेमवश, स्तब्ध, भाव-विभोर, स्नेह जटित। सदन=भवन, घर।

भावार्थ—राठौरवंशी श्रीजसवन्तसिंहजीने अपने बड़े भाई श्रीजयमालसिंहजीकी भक्ति करनेकी जो पद्धति, उसे यथावत् सुदृढ़ रक्खा अर्थात् श्रीजयमालसिंहजी की भाँति आपने भी भक्तिका आचरण किया। आपका भगवद्-भक्तोंमें निरन्तर निष्कपट परम प्रेम था। भक्तोंकी आज्ञा पालन करनेके लिए आप उनके सामने प्रसन्न मनसे हाथ जोड़े एक पैरसे खड़े रहते थे। श्रीधाम वृन्दावनका वास और श्रीवृन्दावन बिहारिणी-बिहारीजीकी निकुञ्ज-लीलामें आपका बड़ा-भारी प्रेम था। श्रीराधाबल्लभलालको आप नित्यप्रति लाढ़-लड़ाते अर्थात् सप्रेम सभी सेवायें समर्पित करते थे। वैष्णव-धर्म और नवधा-भक्ति के प्रधान सदन थे। परम-धर्म और नवधा-भक्तिरूपी सच्ची सम्पत्तिका आपने अपने हृदयमें सञ्चय कर रक्खा था। भगवद् कथा-कीर्तन एवं स्मरण कर आप प्रेममें विभोर होकर जड़वत् (अचल) हो जाते थे।। १५५।।

व्याख्या—भक्ति जयमाल की—आपका चरित्र छ० ५२ और छ० ११७ क० २८६, ४८७ में वर्णित है। गर्मीमें इन्होंने ठाकुरजीके लिए बँगला बनवाया। उसमें रानीको शयन करते हुए भगवानके दर्शन हुए। जिस भावसे श्रीजयमलजी भक्त-भगवन्तकी सेवा करते थे, उसी प्रेम-भावसे श्रीजसवन्तजी भी सेवा करते थे। श्रीजयमलजी इनके बड़े भाई थे। छोटेका कर्तव्य है कि बड़ोंके द्वारा स्थापित मर्यादाका पालन करे।

अति भाव—साधारण भाव अर्थात् भोजन करा दिया, कोई सेवा करदी, अति भाव में

सर्वतो-भावसे सेवा होती है। अति भावयुक्त भक्तकी, अपने इष्टकी सेवामें लोक-वेदकी मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहता है। यथा—'विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।' (मू० छ० ९०) उदाहरण—श्रीपीपाजी, श्रीसीतासहचरीजी, चीधरजी और चीधरानीजी (क० २९१-२९३) श्रीहरिदासजी (छ० १७९ क० ६०८) आदि। 'निरन्तर अन्तर नाहीं'—भक्तोंको भगवानके समान मानते, पुनः अपने और भक्तोंके बीचमें किसी प्रकारका भेद-भाव या छल नहीं रखते थे।

आज्ञा माहीं—'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा।।' आज्ञाको माँगते रहते। भ० चित्रणीमें पृष्ठ ८६ में लिखा है कि एकबार एक सन्तका दर्शनकर इन्होंने विनती की और सेवाकी आज्ञा माँगी। सन्तने कहा—'पहले यह बताओ कि तुम्हारी भक्ति सच्ची है अथवा झूठी।' आपने सविनय उत्तर दिया—'प्रभो ! मैं आपका सच्चा सेवक हूँ और मेरी भक्ति भी सच्ची है, जो भी आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगा।' सन्तने कहा—तो आपके हाथोंके रत्नजटित दोनों कङ्कण मुझे दे दो, मुझे साधुओंका भण्डारा करना है। सन्तका कहना था कि आपने कङ्कण उतारकर प्रसन्नतापूर्वक दे दिये और चरण पकड़कर बोले—मेरा सब कुछ तो आपका ही है, फिर मैं देने वाला कौन ? आपने अपनी वस्तु ही ली। सन्तने प्रसन्न होकर इन्हें आशीर्वाद दिया और कङ्कण बेचकर भण्डारा किया। उस समय अनन्त सन्त-समूहने जसवन्तसिंहजीका जय-जयकार किया।

श्रीवृन्दावन वास—श्रीवृन्दावनको आते और फिर घरको विवश होकर जाते थे। इनकी इच्छा यही रहती कि हमें अखण्ड धामका वास प्राप्त हो। इस प्रकारकी श्रद्धा एवं आशा जिसकी है, वे श्रीधामकी कृपा प्राप्त करते हैं। धामकी माधुरीमें जिसका मन रम जाता है, उसे फिर किसी अन्यकी ओर देखने की आवश्यकता नहीं। श्रीभट्टजी कहते हैं

अरे मन वृन्दाविपिन निहार।
विपिनराज सीमा के बाहर हरि हू को न निहार।।
जद्यपि मिलैं कोटि चिन्तामनि तदपि न हाथ पसार।
जै श्रीभट्ट धूलि धूसर तन यह आशा ऊर धार।।

परम धर्म—अन्य देवी-देवताओंकी एवं सकाम उपासना धर्म है, वैष्णवीय उपासना, निष्काम भजन, (भगवच्चरणोंमें रतिकी प्राप्तिके लिए किया गया धर्म) परमधर्म है। यथा—भागवते—'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।। (भा० १-२-६) पुनः—परम धर्म वह है जिससे भगवानमें ऐसी भक्ति हो, जो निष्काम हो, निरन्तर बनी रहने वाली हो, जिससे

हृदय प्रभुको पाकर कृतकृत्य हो जाता है। भगवानकी आज्ञा शिरोधार्य करना परमधर्म है। जैसे बालकाण्डमें शङ्करजी कहते हैं—'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धर्म यह नाथ हमारा।।' पुनः—हिंसा तीन प्रकारकी है—स्वयं की गई, दूसरे से करवाई गई और अन्य किसीके द्वारा की गई हिंसाको उचित ठहराना। कृता, कारिता और अनुमोदित। मन, वचन और कर्मसे किसीको कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है और वेद ने अहिंसाको परमधर्म बताया है। यथा—'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा।' यज्ञादिक जितने शुभ कर्म हैं, उनमें भी कुछ न कुछ हिंसा होती है। अतः वे साधारण धर्म हैं। शरणागत भागवतधर्म ही परमधर्म है। पुनः—अजामेल परसंग यह निर्णय परम धर्मके जान।' कलियुगमें नाम-संकीर्तन ही परमधर्म है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४५ एवं १७७) श्रीजसवन्तजी परमधर्म एवं नवधाके मुख्य निवास स्थान थे। श्रीराधाबल्लभजी इष्ट थे। दो०—श्रीराधाबल्लभ ध्याइकै औरहिं ध्यावै कौन। व्यासहिं देते बनै नहिं बरी बरी प्रति लोन।। श्रीभगवन्तमुदित कृत 'अनन्य रसिकमाल' के अनुसार आप श्रीराधाबल्लभीय वैष्णव थे। भक्तमाल छ० ५१ सदाव्रती महाजनकी कथा से बिल्कुल मिलती-जुलती आपकी एक कथा भी अनन्य रसिकमालमें लिखी है।

* श्रीहरीदासजी *

हरीदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यौ।।
अमित महागुन गोप्य सार वित सोई जानै।
देखत कौ तुलाधार दूर आसै उनमानै।।
देय दमामौ पैंज विदित वृन्दावन पायौ।
राधाबल्लभ भजन प्रगट परताप दिखायौ।।
परम धरम साधन सुदृढ़ कलियुग कामधेनु में गन्यौ।
हरीदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यौ।।१५६।।

शब्दार्थ—सार वित=प्रेम तत्वके ज्ञाता, प्रेमके धनी। तुलाधार=तुला=तराजू ही है आधार जिसका वैश्य, महाभारतके एक वैश्य भक्त। दूर आसै=गूढ़भाव। उनमानै=अनुमानै। दमामौ=दमाम, डंका, नगाड़ा। पैंज=प्रतिज्ञा।

भावार्थ—उस माताको धन्यवाद है जिसने भक्तोंसे प्रेम एवं उनकी सेवा करने के लिए अतिश्रेष्ठ पुत्र हरिदासजीको जन्म दिया। श्रीहरिदासमें परमश्रेष्ठ अनेक ऐसे शुभ गुण

थे, जो गोपनीय थे, जिन्हें उन्होंने छिपा रक्खा था। उनके गुणोंको कोई प्रेमी ही समझ और जान सकता था। कहने को तो आप वैश्य जातिके थे, परन्तु जहाँ सबकी पहुँच नहीं है, ऐसे गूढ़तम रहस्योंका अनुमान (साक्षात्कार) कर लेते थे अर्थात् समझ जाते थे। आपने डंकेकी चोट पर अपनी प्रतिज्ञा घोषित कर दी थी कि मैं यद्यपि शरीरसे काशीमें रह रहा हूँ, परन्तु ब्रजधाममें शरीर छोड़कर श्रीधामकी रजको (तथा नित्य श्रीवृन्दावन धामको) प्राप्त करूँगा। इस अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार आपने श्रीवृन्दावन धामको प्राप्त किया। आपने श्रीराधाबल्लभजीके अनन्य भजनके अद्‌भुत प्रभावको प्रकट करके सबको दिखा दिया। परम अर्थात् अनन्य वैष्णवधर्मके साधनमें आप सदा सुदृढ़ रहे, उससे कभी विचलित नहीं हुए। इस कराल-कलिकालमें मनोरथोंको पूर्ण करने वाले कामधेनुके सामन जो महान् भक्त उनमें आपकी गणना हुई।। १५६।।

व्याख्या—भक्तनि हित०—इनकी माता परम भगवद् भक्ता थीं, उन्होंने भगवान की आराधना करके यह वरदान प्राप्त किया था कि मेरे जो पुत्र हो, वह मेरे या मेरे परिवारके लिए न हो, मेरा पुत्र मेरा न होकर भक्तोंका होकर रहे। संसारमें सभी लोग सब कुछ अपने लिए चाहते हैं, परन्तु भक्तजन अपने लिए कुछ भी न चाहकर भक्तोंके लिए सब कुछ चाहते हैं। भक्तजन भगवान, भक्ति और गुरु सबके अधिष्ठान हैं अतः 'भक्तनि हित' का तात्पर्य हुआ 'भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरुके लिए ही माताने इन्हें जन्म दिया। अन्यथा उन्हें पुत्र-सुखकी कामना ही नहीं थी। क्योंकि उनके सर्वस्व भगवान ही थे। प्रेम-लक्षणासे सम्बन्धित सभी गुण गोप्य होते हैं, परन्तु' भक्त प्रेममें जब विभोर हो जाता है, तब अपने आप ही वे गुण प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होने पर भी उन्हें प्रेमी-भक्त ही दीखते हैं। अभक्त-विमुखोंको वे गुण भी दोषके समान या दोष ही दिखाई पड़ते हैं। जैसे श्रीकबीरजी और श्रीरैदासजीके गुण काशीके विमुख ब्राह्मणोंको दोष ही दिखाई पड़े। श्रीमधुकरशाहजीकी वेषनिष्ठाको उनके परिवारी और पुरोहितोंने दोष माना। इसीलिए 'सार वित सोई जानै' ऐसा कहा।

जो जानता है वही मानता है। यथा—

जो जानै मानै सोई मानै क्यों बिन जान। रतन जौहरी आदरै ठुकरावै अनजान।।

ऐसे भक्त भगवत्कृपा प्रेरणासे अवत्तीर्ण होते हैं। वे आवागमनके चक्रमें पड़कर जन्म नहीं लेते हैं, बल्कि उन्हें भगवान अपनी भक्तिके प्रचारार्थ प्रकट करते हैं। यथा-भक्तनि हित

भगवत रची देही माधव ग्वाल की।। (छ० १६५) जो भक्तोंके लिए प्रकट हुए हैं, वे भक्तोंको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर संसारी सम्बन्धोंको बिल्कुल त्याग देते हैं। यथा—भक्तन हित सुत विष दियौ भूप नारि प्रभु राखि पति।। (छ० ५०) ऐसे भक्तको प्रकट कर माता-पिता, कुल, देश आदि सभी धन्य तो होते ही हैं, किंचित् सम्पर्क (नाम) रखने वाले भी धन्य होते हैं। यथा-भागौत भली विधि कथन कौ धनि जननी एकै जन्यौ।। (छ० १३४) प्रगट अमित गुन प्रेमनिधि धन्य विप्र जिन नाम धर्‍यौ।। (छ० १६७) विशेष देखिये (कुलं पवित्रं० द्वितीय खण्ड पृष्ठ ९७)

देखत कौ तुलाधार—कुछ लोग तो इन्हें केवल तुलाधार-वैश्य ही मानते थे और कुटिलजन तो तुलाधार=डंडी मारने वाले, बगुला-भक्त समझते, व्यङ्ग करते हुए कहते कि—'बनिया भगत न मूसर धनुहा' दूसरा तात्पर्य यह कि सज्जन लोग इन्हें देखकर कहते थे कि ये महाभारतमें वर्णित तुलाधार भक्तके तुल्य हैं। वे महाभारतके भक्त तो सुननेके लिए हैं और ये हरिदास तुलाधार प्रत्यक्ष दर्शनीय हैं। इस पर—

दृष्टान्त—तुलाधारका—श्रीजाजलि ऋषि ने समुद्र तट पर एक वटवृक्षके नीचे खड़े होकर तपस्या की। दीर्घकाल तक ध्यान लगाये, सर्दी, गर्मी, वर्षा सहन करते, केवल वायु पीते रहे। वे इस प्रकार खड़े रहे कि पक्षियोंने उन्हें ठूंठ समझकर उनकी जटामें घोंसला बना लिया और अण्डे दे दिये। उन अण्डोंके फूटने पर जो शावक निकले, वे वहीं पले, बढ़े और उड़ गये। जाजलिकी समाधि खुली, इच्छा करते ही, इन्हें समस्त भूगोल, खगोलका ज्ञान प्रत्यक्षके समान हो रहा था। एकदिन एक बगुलीने, इनके ऊपर बीट कर दिया इन्होंने क्रोधसे उसकी ओर देखा तो वह भस्म होकर गिर गई। अब इन्हें अपने तप-तेज का बड़ा-भारी अहङ्कार हो गया कि मेरे समान तपस्वी-ज्ञानी कोई नहीं है। आकाशवाणी ने सावधान किया कि—जाजलि ! तुम्हारा गर्व उचित नहीं है। इस पर भी इन्हें बोध न हुआ।

एकदिन ये किसी नगरमें भिक्षार्थ गये। वहाँ एक पतिव्रता अपने पतिकी सेवामें संलग्न थी। इन्होंने उसके द्वार पर पहुँचकर आवाज लगाई—'भिक्षां देहि।' पतिव्रता ने कहा—महात्मन् ! प्रतीक्षा कीजिये, मैं अभी पति-सेवासे निवृत्त होकर भिक्षा देती हूँ। जाजलिने अपना अपमान समझकर क्रोध किया, तब वह बोली—'आप भिक्षा लीजिये और जाइये। मैं बगुली नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे भस्म हो जाऊँ ?' आश्चर्यचकित होकर ऋषि ने उससे पूछा-देवी! इस बात को तुमने कैसे जाना? उसने कहा—'मुझे पति सेवासे अवकाश नहीं है, तुम काशीमें जाकर तुलाधार वैश्यसे पूछो।' ऋषि तुलाधारके पास आये, उस समय वे घी तोल रहे थे उन्होंने

जाजलिको देखते ही कहा–'आप बगुली को भस्म करके अहङ्कारमें चूर पतिव्रताके भेजे मेरे पास आये हैं, यदि दो घड़ी तक आप रुकें तो अवकाश पाकर सब बात बता सकता हूँ' अन्यथा आप धर्मव्याधके पास जाकर पूछ लीजिये।'

ऋषि धर्मव्याधके पास पहुँचे, उस समय वह माँस तोल रहा था। उसने झट उठकर दण्डवत्प्रणाम किया और कहा–'आप पतिव्रताके भेजे तुलाधारके पास होकर मेरे पास आये हैं, तो सुनिये, शास्त्रका तात्पर्य यह है कि 'जिसका जो धर्म है, उसे कर्तव्य समझकर वह उसका पालन करे और मनसा-वाचा कर्मणा सब कुछ भगवानको अर्पण करे तो उसका योग सिद्ध हो जाता है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। उस पतिव्रता, तुलाधार एवं हमने भी उक्त धर्मका पालन करके सर्वज्ञताकी सिद्धि प्राप्त की है, परन्तु अहङ्कारका लेश नहीं है। अब तुलाधारको अवकाश है, आप उनके पास जाइये।'

जाजलि तुलाधार के पास आये तुलाधारने ऋषिको प्रणाम किया, स्वागत-सत्कार करके आसन पर बैठाया। इसके बाद तप और अहङ्कारकी बात बताकर वे बोले–'आप आज्ञा करें, मैं आपकी क्या सेवा करुँ ?' ऋषिने कहा–'आपको यह ज्ञान कैसे हुआ, आपने कितने दिन तप किया।' तुलाधार बोले–'अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करते हुए किसी का अहित न करना, सबमें भगवानको देखना, दीन-दुःखियोंकी सहायता करना, ग्राहकों को ईश्वर-तुल्य मानकर उनके साथ व्यवहार करना, बस यही मैं जानता हूँ। इसी धर्मका पालन करने से मुझे सब कुछका ज्ञान है। मैं घर छोड़कर अन्यत्र कहीं तप करने नहीं गया। अहङ्कारका नाश ही सब साधनोंका उत्तम फल है। धर्मव्याध बिना हिंसाके कुलका धर्म मानकर माँसका व्यापार करता है एवं प्राणीमात्रमें अपने प्रभुको देखता है। इसी प्रकार वह पतिव्रता अपने पतिको परमेश्वर मानकर उसकी सेवामें तल्लीन रहती है अतः उसे भी वास्तविक तत्वका बोध है।' इस उपदेशको सुनकर ऋषिका गर्व नष्ट हो गया। वे अपने साधन-भजनमें लग गये। 'देखते कौ तुलाधार' इस वाक्यसे यही ध्वनि निकलती है कि महाभारत के तुलाधारने ही प्रेमा-भक्ति के रसका आस्वादन करने के लिए पुनः जन्म लिया।

देय दमामौ पैंज०–अपनी टेक के पक्के थे अतः आपने विश्वासपूर्वक भक्तिके पक्षको धारण किया। प्रेमी दृढ़-निश्चयी होता है। यथा-भक्ति निसान बजाइकै काहू ते नाहिन लजी।। (श्रीमीरा) 'भजन प्रगट परताप'–श्रीहरिदासजी में सच्ची, परन्तु गुप्त भक्ति थी, जो जगत्के पाप-तापोंको शान्त करने वाली थी। जैसे दियासलाईकी एक सींक

में हजारों मन रुईको जलानेकी सामर्थ्य है। उसी प्रकार भजनमें अपार-शक्ति है। उसीके प्रताप से आपने श्रीधामके दिव्यरूपको प्राप्त किया।

दूर आसै उनमानै—चतुर भक्तजन अपनी भक्ति के प्रभावसे भक्त-भगवन्तके वाक्यों का उनके हाव-भावोंका गम्भीर भाव जान लेते हैं। जैसे श्रीनाथजीका जाड़ा जब शाल-दुशाला और अग्निसे भी नहीं गया तब श्री विट्ठलनाथजीने गम्भीर आशयका अनुमान कर लिया कि किसी प्रेमी-भक्तकी भेजी पोशाक धारण करना चाहते हैं। (क० ३४२) किसी सन्तने कहा— खीर देवभोग है अथवा कढ़ी खानेसे सर्दी-जुकाम ठीक हो जाता है तो आप समझ जाते कि हमारे श्रीठाकुरजी आज खीर अथवा कढ़ीका भोग आरोगना चाहते हैं। एक सन्तसेवीके कोठारीने पूछा कि आज कितने मूर्तियोंके योग्य सामान भण्डारमें भेजूं। उसी समय दूसरे सन्तोंने वार्तालापके प्रसङ्गमें सवा मन शालग्राम (वृन्दावन) की बात कही, तो सन्तसेवी ने अनुमान कर लिया कि आज प्रभु सवा मनका भोग चाहते हैं। सवा मन का भोग लगा तो पङ्गतके समय सवा-सौ सन्तोंकी जमात आ गई। भक्तकी इच्छा भगवान की इच्छा है और भगवानकी इच्छा भक्तोंकी इच्छा है।

परम धरम—श्रीहरिदासजी महान् परोपकारी थे अतः इन्हें इस युगमें कामधेनु कहा। परोपकार ही परमधर्म है। यथा—'श्रुति कह परम धरम उपकार।' पुनः—पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।' जिससे प्रभुकी प्राप्ति हो वही श्रेष्ठ धर्म यथा—श्रीवशिष्ठजी 'तब मैं हृदय विचारा जोग जग्य व्रत दान। जा कहुँ करिय सो पैहउँ धर्म न यहि सम आन।।' (रामा०) भक्त-भगवत् कथा-श्रवण सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ है क्योंकि उससे प्रभुकी प्राप्ति होती है। यथा—भा० माहात्म्ये—'श्रवणं सर्व धर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः। वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते।।' पुनः—मन सहित सभी इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप और श्रेष्ठ धर्म है यथा—'मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः। विज्ञेयः सर्वधर्मेभ्यः सधर्मः पर उच्चते।।' (ब्रह्माण्डपुराण) श्रीहरिदासजीमें उक्त सभी धर्मोंकी बलवती निष्ठायें थीं। जिनका स्पष्ट संकेत 'दूर आसै उनमानै, राधाबल्लभ भजन' आदि वाक्योंसे मिलता है। (विशेष छ० १५५ की व्याख्या में देखिये)

कामधेनु में गन्यौ—जो भी कोई वत्सवत् योग्य प्राणी इनके पास जिस इच्छा से आता, ये उसके मनोरथको अवश्य पूर्ण कर देते। अतिथियोंका सन्तोंका नित्य स्वागत-सत्कार करते, जैसे श्रीजमदग्निजी एवं श्रीवशिष्ठजी कामधेनुके द्वारा देव, मनुष्य एवं पितृ यज्ञ करते थे। राजाओं की सेवाका भी इन्होंने स्वागत किया। (इनके चरित्र प्रथम खण्ड में देखिये)।

हरीदास बनिक सो कासी ढिग बास जाकौ, ताकौ यह पन तन त्यागौं ब्रज भूमहीं।
भयौ ज्वर नाड़ी छीन छोड़ि गये बैद तीन, बोल्यौ यों प्रवीन वृन्दावन रस झूमहीं।।
बेटी चारि सन्तनि कौ दई अङ्गीकार करौ, धरौ डोली मांझ मोको ध्यान दृग घूमहीं।
चले सावधान राधाबल्लभ कौ गान करै, करै अचरज लोग परी गांव धूमहीं।। ५७८

शब्दार्थ—बनिक=बनिया। छीन=क्षीण, अति मन्द।

भावार्थ—वैश्यकुलमें उत्पन्न श्रीहरिदासजीका निवास स्थान काशीपुरीके निकट था। इनकी यह प्रतिज्ञा थी कि—मैं ब्रज-वृन्दावनमें ही शरीरको छोडूंगा।' अन्तमें ऐसा हुआ कि इन्हें बड़े वेगसे ज्वर चढ़ आया, नाड़ी छूट गई। क्रमशः तीन वैद्य आये और सबने यही कहा कि इनकी असाध्य अवस्था है। इनकी अब कोई चिकित्सा नहीं है। इस अवस्थामें भाव-प्रवीण श्रीहरिदासजीने कहा कि—'मेरा मन ब्रज-वृन्दावन धामके प्रेमरङ्गमें मग्न हो रहा है।' इनके चार पुत्रियाँ थीं, उन्हें चार सन्तोंको देकर बोले कि—'आप इन्हें स्वीकार कीजिये और हमको डोलीमें रखकर श्रीवृन्दावन पहुँचा दीजिये। मेरे नेत्रोंके सामने वहाँका ध्यान बार-बार आ रहा है।' चारों सन्त इन्हें लेकर चले। ये श्रीराधाबल्लभजी के नामका सङ्कीर्तन कर रहे थे। गाँवके सभी लोग इन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे और कह रहे थे कि ये किसी भी प्रकार से वृन्दावन तक नहीं पहुँच सकते हैं।।५७८।।

श्रीहरीदास बनिक—श्रीहरिदासजी भक्त थे, जातिगत गुण-दोषोंसे सर्वथा अलग थे। स्वभावतः वणिक जातिके लोग चतुर कोमल एवं धर्मभीरु होते हैं इस पर—

दृष्टान्त—एक वणिकका—एक वणिक सज्जन थे, उनके कोई सन्तान न थी। किसी भैरव भक्तने कहा कि भैरवजीको बलिदान की मनौती मानो, तो तुम्हारे सन्तान होगी। वणिकने मनौती मानी कि यदि मेरे पुत्र होगा तो मैं भैंसे की बलि दूंगा। कालान्तर में पुत्र होने पर एक भैंसा लेकर वह भैरवजीके पास पहुँचा और बोला-लीजिये, अपनी बलि। जीव हिंसा हमारे कुलमें नहीं होती है। ऐसा कहकर भैंसेको भैरवजीकी पिण्डीमें कसकर बाँध दिया और प्रणाम करके घर चला आया। दोपहरको जब कड़ी धूप लगी तो एक ही झटकेमें भैंसेने भैरवकी पिण्डी उखाड़ ली और तालाबकी ओर भागा। तब हँसकर शीतलाजीने पूछा—भैरवजी ! आज यह कौन-सी लीला कर रहे हो। भैरवजीने कहा—अभी आप किसी वणिकके पाले नहीं पड़ी हो अतः हँस रही हो। मेरी चाहे जैसी हालत हो, उस चतुर अहिंसक वणिक पर मैं क्रोध भी तो नहीं कर सकता हूँ। उसने अपना काम बना लिया, मुझे बलि भी दे दी और स्वयं हिंसासे भी

बच गया। भक्तके भावसे आज 'निर्बल देवी जबर बकरा' यह कहावत सच्ची हो गई। बलि बलवान और बलिका भोक्ता मैं निर्बल हो गया। रातको भैरवजीने गाँवके मुखियाको स्वप्न दिया कि मैं तालाबमें हूँ, यहाँ से निकालकर यथा–स्थान मेरी पुनः स्थापना करो। आजसे मेरे यहाँ कोई किसी जीव की बलि नहीं देगा। इस प्रकार वणिक भक्तके द्वारा अहिंसा परमोधर्मः का प्रचार हो गया। हिंसा बन्द हो गयी, ऐसे होते हैं बनिया भगत।

कासी–काशीमें मरनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। यथा–'काश्यां मरणान्मुक्तिः।' यह वेदवाक्य है, स्वयं शंकरजीका कथन है कि–'काशी मरत जन्तु अवलोकी। जासु नाम बल करौं विसोकी।।' पुनः–मुक्तिकी जन्मभूमि और ज्ञानकी खानि है, वहाँ सर्वदा भवानी और श्रीशंकरजी का निवास है। यथा–मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानिकर। जँह वस शंभु भवानि सो कासी सेइय कस न।। काशीमें शरीर त्यागने पर कैवल्य मुक्ति होगी। वह वैष्णव भक्तोंको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उसमें सेवाका योग नहीं है। श्रीहरिदासजी सेवाशून्य मुक्तिसे डरते थे। अतः इन्होंने दृढ़-निश्चय किया कि मैं वृन्दावनमें शरीर छोडूंगा। सेवा ही अभीष्ट है, भक्त सेवाविहीन मुक्ति नहीं चाहते हैं (इस प्रसङ्ग को देखिये द्वि० खं० २१८) 'वृन्दावन रस झूमहीं'–

शरण श्रीवृन्दावन की जइये।
युगल बिहारी चरण कमल सों, निशि दिन नेह लगइये।।
सेवा कुञ्ज समीप बैठिकै, दम्पति ध्यान समइये।
होय भावना सिद्ध सहज हीं, निरखि नयन हुलसइये।।
लै लै सोत रसिक सन्तन के, बाधा भूख भगइये।
शीतल सुन्दर जल जमुना कौ, पी पी प्यास मिटइये।।
राधेश्याम नाम रटि रसना, आंसू दृगन बहइये।
'सरस माधुरी' पिय प्यारी के, प्रेम पुलक गुण गइये।।

बेटी चारि–भक्तोंमें आपका ऐसा आन्तरिक हित था कि आपने अपनी चारों कन्यायें सन्तोंको दीं। धनी-मानी विमुखोंको न दीं। सन्तोंकी ऐसी सेवाके प्रतापसे आपकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। सभीकी सेवाका फल हरि-सेवासे मिल जाता है और सन्त-सेवासे हरि की सेवाका उत्तम फल मिल जाता है अतः श्रीहरिदासजी सर्वदा सन्तोंकी सेवा करते थे। 'ध्यान दृग घूमहीं– भक्त

नगरी काशीमें आप शरीर से निवास करते थे पर मनसे सदा वृन्दावनका ध्यान बना रहता था अतः अन्त समय में विशेष रूपसे मनमें, नेत्रोंमें श्रीवृन्दावन आ गया। फिर भी श्रीधाम निष्ठाके कारण अपने शरीरको श्रीधाममें छोड़ना चाहा। 'चले सावधान' लगभग ढ़ाई सौ कोस की दूरी तय करके वृन्दावन पहुँचने का श्रीहरिदासजीने निश्चय किया। प्रेमीमें लाखों कोसकी दूरीको तय करके अपने प्राण प्यारे के पास पहुँचने की सामर्थ्य है। आपने कीर्तनको संवल बनाया अतः 'गान करैं–'राधाबल्लभ हित हरिवंश। जय वृन्दावन जय वनचन्द्र।' अविश्वासी लोगोंको आश्चर्य हुआ। अतः गाँव परी धूमहीं।।

आवत ही मग मांझ छूटि गयौ तन, पन सांचौ कियौ स्याम वन प्रगट दिखायौ है।
आय दरसन कियौ इष्ट गुरु प्रेम भरि नेम, पर्‍यौ पूरौ जाय चीरघाट न्हायौ है।।
पाछैं आये लोग सोक करत भरत, नैन बैन सब कही कही ताही दिन आयौ है।
भक्ति कौ प्रभाव यामें भाव और आनौ जिनि, बिन हरिकृपा यह कैसे जात पायौ है।।५७९

भावार्थ–श्रीवृन्दावन धामको आते-आते मार्गमें ही श्रीहरिदासजी का शरीर छूट गया, परन्तु भगवान श्यामसुन्दरने आपके प्रणको सत्य कर दिया। दिव्य शरीर देकर इन्हें श्रीवृन्दावन पहुँचा दिया और श्रीवृन्दावन का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया। श्रीहरिदासजीने श्रीवृन्दावन पहुँचकर अपने इष्टदेव श्रीराधाबल्लभ लालजीके तथा अपने श्रीगुरुदेव भगवान के सप्रेम दर्शन किये। चीरघाट पर जाकर वहीं श्रीयमुना में स्नान किया और अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। जो लोग इन्हें लेकर आ रहे थे, वे लोग शोक करते हुए रोते हुए पीछे से आये और उन लोगोंने श्रीहरिदासजीके गुरुदेव से तथा सन्तोंसे कहा कि–'हरिदासजी को हम लोग श्रीवृन्दावनको ला रहे थे, परन्तु दुःखकी बात है कि मार्ग में उनका शरीर छूट गया। श्रीवृन्दावनके सभी सन्तोंने कहा कि–'वे तो उसी दिन यहाँ आ गये थे। इस भक्त-चरित्र में भक्तिका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट है। दूसरा भाव मनमें नहीं लाना चाहिए और न शङ्का ही करनी चाहिए। भगवानकी कृपाके बिना इस प्रकार दिव्य-देहकी तथा श्रीवृन्दावन की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है।।५७९।।

मग मांझ छूटि गयौ तन–सीतापति रघुनाथ सो लगो चाहिए नेह। तुलसी घर वन पन्थ में कहूँ रहौ यह देह।। श्रीहरिदासजीने प्रतिज्ञा की थी कि 'तन त्यागौं ब्रजभूमि हीं।' भगवान अपने भक्त की प्रतिज्ञा ही नहीं धोखे से मुखसे निकली बात को भी सत्य करते हैं। यथा–'चारौ युग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।' (छ० ५२) पुनः (भा० ३-२५-४२ में)

श्रीकपिल भगवान कहते हैं कि—वायु का बहना, सूर्य का तपना, इन्द्रका बरसना, अग्निका जलाना और मृत्युका मारना आदि सभी कार्य मेरे भयसे होते हैं। फिर भी भगवानने श्रीहरिदासजीके प्रणकी रक्षा क्यों नहीं की। बीचमें ही शरीर क्यों छूट गया। इसका पुरानी टिप्पणी के अनुसार समाधान यह है कि—प्रथम तो इन्होंने श्रीधाम में शरीर त्यागनेकी इच्छा की, परन्तु आते-आते मार्ग में इन्हें दिव्य वृन्दावनका ध्यान में साक्षात्कार हुआ। तब आपका विचार बदल गया, आपने भगवन्तमुदितजीके पिता श्रीमाधवदासजी (क० ५२९) की तरह विचारा-श्रीधाम दिव्य है और प्रियाप्रियतम का विहार-स्थल है। वहाँ मलमूत्रके भाजन इस शरीरको छोड़ने से दुर्गन्ध फैलेगी। इसलिए वहाँ शरीर त्याग करना उचित न समझकर मार्ग में ब्रजसे बाहर ही शरीरको छोड़ दिया तो भगवानने उनके प्रणको 'सांचो कियो' वहीं 'वन प्रगट दिखायौ है' अर्थात् भगवानने वहीं वृन्दावनको प्रकट कर दिया। श्रीहरिदासजीने वृन्दावनमें ही शरीर छोड़ा और दिव्य-देह प्राप्त कर श्रीवृन्दावनमें आ गये और उनकी वन्दना की। पद—वन्द श्रीवृन्दावन धाम। ब्रह्मादिक दुर्लभ तृन तन ह्वै देत तुच्छ जीवन विश्राम।। उद्धव से हरि प्रीतम चाहत गुल्म जन्म लाग्यौ अभिराम। बलि बलि जाऊँ कृपानिधि मोकों लाड़ लड़ावत आठौ जाम।। यही रीति रानी श्रीराधा विचारत नहीं रूप गुण धाम। पांयन लाल भाल दई बैंदी भोडर पिय लखि रीझत स्याम।।

दरसन कियौ इष्ट गुरु—भावमय दिव्य शरीर से ही अखण्ड भगवत् सान्निध्य और सेवा की प्राप्ति होती है, उसे प्राप्तकर हरिदासजी श्रीवृन्दावनको आये और अपने इष्ट श्रीराधाबल्लभलाल और गुरुदेव श्रीवनचन्द्रजी महाराजके दर्शन कर चीरघाट पर गये वहाँ भी लोगोंने इन्हें देखा। पश्चात् आपने श्रीयमुनामें प्रवेश किया और वहीं लुप्त हो गये। साथी वैष्णवोंने मार्ग में वहीं दाह-संस्कार किया। भस्म लेकर श्रीवृन्दावन आये। श्रीवनचन्द्रजीके मुखसे समाचार पाकर वे लोग प्रसन्न हुए। 'भाव और आनौ जिनि' अर्थात् प्रेत-योनिको प्राप्त हुए, उनकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई ऐसा मत समझो। 'जाकी सुरत लगी है जहाँ। कह कबीर सों पहुँचै तहाँ।।'

विशेष—श्रीहरिदासजीके यहाँ सन्त-सेवा होती थी। एकबार एक ब्रजवासी ठग वैष्णव वेश धारणकर आपके यहाँ आया और बहुत दिन तक रहा। एकदिन जब हरिदासजी घरमें नहीं थे, तो उनकी स्त्रीको अकेली देखकर उस ठगने उसे एक खम्भेसे बाँध दिया और मुखमें कपड़ा भर दिया। तत्पश्चात् घरमें से ढूंढ़कर सामान की पोट बाँधी और स्त्रीके शरीर से भी आभूषण उतार लिए। इसी समय हरिदासजी आ गये और उस ठगसे बोले—आप यह क्या कर रहे हैं!

कम्पित-लज्जित होकर वह चरणोंमें गिरने और क्षमा माँगने लगा। तब पत्नीके मनसे अश्रद्धा दूर करने के लिए आपने उससे कहा—भगवन्! मैं समझ गया, आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं। इसी से आपने यह लीला दिखाई। मेरा सर्वस्व आपका है, आप उसे बिना पूछे ही ले रहे हैं। आपके इस सद्भावका ऐसा अद्भुत प्रभाव हुआ कि उस ठगने सदाके लिए ठगीका परित्याग कर दिया और सच्चा सन्त बन गया। (भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ८६)

श्रीभगवन्तमुदितजी कृत रसिक अनन्यमालमें लिखा है कि एकबार श्रीहरिदासने सुना कि वनमें साधुओंकी जमात पड़ी है, शीघ्र ही आप दर्शनार्थ चल दिये। उस समय आपकी आयु ९५ वर्षकी थी। घने जङ्गलमें उन्होंने देखा कि एक सिंहने गायको पकड़ रक्खा है और उसे मार डालना चाहता है। दयावश उन्होंने सिंहमें नृसिंह भगवानकी भावना की और प्रणाम करके प्रार्थना की—भगवन्! गायको छोड़कर मुझे खा लीजिये। सिंहने गायको नहीं छोड़ा, तब आपने उसके आशयका अनुमान किया कि—मुझ वृद्धके शरीर से इनका पेट नहीं भरेगा। इसीसे गायको नहीं छोड़ रहा है। तब आपने कहा—मैं इस गायके बदले अपने पुत्रको लाकर दे दूंगा। आप गायको छोड़ दीजिये। इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर सिंहने गायको छोड़ दिया। श्रीहरिदासजीने घर आकर सब समाचार पुत्रको सुनाया। तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। इस नाशवान शरीरका इससे अच्छा सदुपयोग और क्या हो सकता है। पुत्रको लेकर वनमें पहुँचे। तो उस समय सिंह सो रहा था। इनके नाम-संकीर्तनको सुनकर वह जागा और उसने भयंकर गर्जन किया फिर इनकी ओर झपटा पर ये दोनों भयभीत न होकर सहर्ष अपना शरीर समर्पण के लिए तैयार थे। जो सर्वत्र अपने प्रभुको देखता है, उसे किसीसे भय नहीं रहता है। इनकी ऐसी निष्ठा देखकर नृसिंह भगवान प्रकट हो गये। आपने नमस्कार तो किया पर सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि इनके मन और नेत्रोंमें तो श्रीराधाबल्लभलालजी की शोभा बसी थी। तब भक्तवाञ्छा-कल्पतरु श्रीराधाबल्लभने प्रकट होकर दर्शन दिया। दोनों भक्त कृतार्थ हो गये।

एकबार श्रीहरिदासजी दर्शनार्थ जगन्नाथपुरीको गये। साथमें अपने अर्चा-विग्रह राधाबल्लभलालको भी ले गये। नित्य-नियमसे अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजा करते और रसोई बनाकर भोग लगाते, फिर प्रसाद पाते। अन्यत्रका प्रसाद नहीं लेते मन्दिरके पुजारी जगदीशका प्रसाद लाते तो उसे सिरसे लगाकर स्वीकार कर लेते, पाते नहीं। प्रसादके अपमानको समझकर पण्डा-पुजारी बिगड़ गये पर आप कुछ नहीं बोले। रातको स्वप्नमें श्रीजगन्नाथजीने पण्डोंसे कहा—'हरिदासजीने प्रसादका अपमान नहीं किया है, यह उनकी

अनन्य निष्ठा है।' प्रातःकाल पण्डोंने श्रीहरिदासजी के समीप आकर क्षमा-प्रार्थना की। इनकी प्रसादमें ऐसी अनन्य निष्ठा थी।

* श्रीगोपालजी, श्रीविष्णुदासजी *

भक्ति भार जूड़ैं जुगल धर्म धुरन्धर जग विदित।।
बांबोली गोपाल गुननि गम्भीर गुनारट।
दच्छिन दिसि विष्णुदास गाँव काशीर भजन भट।।
भक्तनि सो यह भाय भजै गुरु गोविन्द जैसे।
तिलक दाम आधीन सुवर सन्तनि प्रति तैसे।।
अच्युत कुल पन एकरस निबह्यौ ज्यौं श्रीमुख गदित।
भक्ति भार जूड़ैं जुगल धर्म धुरन्धर जग विदित।।१५७।।

शब्दार्थ—जूड़ैं=जूड़ा, कलंगी या जुवाँ। सुवर=श्रेष्ठ। गदित=कथित। पाठान्तर=भक्ति भाव जूड़ैं।

भावार्थ—अनन्त सद्गुणोंसे युक्त, स्वभावसे परम गम्भीर और हरिगुण गायक भक्तवर श्रीगोपालजी 'बाँबोली' ग्रामके निवासी थे। भजन-भावमें शूरवीर श्रीविष्णुदासजी दक्षिण दिशा में 'काशीर' गाँवके रहने वाले थे। ये दोनों सन्त-भक्तोंको गुरु-गोविन्दके समान मानकर उनकी सेवा करते थे। तिलक-कण्ठीधारी मात्र की आधीनता और सेवा श्रेष्ठ सन्तोंके समान करते थे। भगवानने अपने श्रीमुखसे अपनेसे भी अधिक अपने भक्तों को जैसे पूज्य कहा है, उसीके अनुसार इन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक सर्वदा अच्युतगोत्रीय सन्तोंकी सेवा की। इस प्रकार ये दोनों सन्त भक्ति-भावके भारको वहन करनेमें श्रेष्ठ, वैष्णव धर्म-धुरन्धर सकल संसार में प्रसिद्ध हुए।। १५७।।

भक्ति भार—भक्तिके भावोंसे, भगवानके रूप और गुणोंकी महिमासे श्रीशुकदेवजी का हृदय इतना परिपूर्ण हो गया था कि उसका भार सहते नहीं बना। तब उन्होंने परीक्षितकी सभामें जाकर वहाँ प्रेमरङ्गकी वर्षा की। तब कुछ हल्के हुए, शान्ति आई। तात्पर्य यह कि सत्पात्रको सुनाये बिना आनन्द नहीं आता है। यथा—'रूप गुण भरि सह्यौ जात कैसे करि।' (क० ९८) इसी

प्रकार इन दोनोंमें भक्तिका भार था। पुनः—भक्तिमय आचरण करना ही भक्तिभार का वहन करना है। भक्तिभार वाहकोंमें जूड़ें=शिरमौर थे। पुनः—जैसे गाड़ी एक, बैल दो, उसी प्रकार एक भक्तके जुये में जुटकर दोनोंने उसका वहन किया। भक्तिकी आराधना और साधना भक्तोंके साथ मिल-जुलकर होती है। जैसे 'इन मिलि आस्वादन कियौ।' (छ० ९४) सन्त-सेवारूप परम वैष्णव धर्मके धुर=भारको इन दोनोंने मिलकर वहन किया। सन्तसेवीको सहयोगी कोठारी, भण्डारी, अधिकारी और रसोइया आदि जब सभी भावुक होंगे, तभी सन्तों की सही सेवा सम्भव है।

गुननि गम्भीर—गुणोंकी गम्भीरता-उत्तमता से प्राणी उत्तम होता है। मात्र ऊँची गद्दी पर बैठकर कोई उत्तम नहीं हो सकता है। ऊँचे कोठेके कँगूरे पर बैठा हुआ कौवा, कौवा ही रहता है, वह गरुड़ नहीं हो सकता है। सूक्ति सुधाकरे—गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः। प्रसादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते।। पुनः ये दोनों सद्‌गुणोंसे गम्भीर थे और सभी सन्तोंके और भगवानके गम्भीर गुणोंको सर्वदा रटते रहते थे। 'भजन भट' जो भोजन में भट्ट हैं वे भजन भट नहीं हो सकते। अजितेन्द्रिय ही कायर हैं, जितेन्द्रिय ही सुभट हैं। कामी-क्रोधी, लोभी और अहंकारियोंसे सन्त-भगवन्तकी सेवा नहीं हो सकती है। (विशेष देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ १५६)

भजै गुरु गोविन्द जैसे—भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।' इस भक्तमालके सिद्धान्तानुसार गुरु और गोविन्दके तुल्य मानकर वैष्णवोंकी सेवा करते थे। श्रीलालाचार्यजी (छ० ३३) को श्रीरामानुजाचार्यजीने एवं गुरुनिष्ठ भक्त (छ० ५८) को वैकुण्ठसे आकर गुरुदेवने आज्ञा दी कि—'करौ भक्त सेवा' (क० २५८)। इस प्रकार गुरु ने पुनः—मद् भक्त पूजाभ्यधिका।' और 'मो ते सन्त अधिक करि लेखा' पाद्म-वैष्णवो मम देहस्तु तस्मात्पूज्यो महामुने।' वैष्णव मेरे ही अङ्ग हैं अतः पूज्य हैं तथा—श्रीमुख पूजा सन्त की आपुन ते अधिकी कही।' आदि कहकर गोविन्दने भक्त-सेवाकी प्रधानता सिद्ध की।

त्रिधाप्येकं सदागम्य गम्यमेक प्रभेदने। प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्।।

अर्थ—प्रेम प्रेमी और प्रेमपात्र ये तीन होकर भी एक हैं। ये सदा अगम्य हैं अर्थात् शीघ्र पहचानमें नहीं आते, इन्हें एक रूप जानना चाहिए। एक की प्राप्ति से शेष दो की प्राप्ति हो जाती है अतः इन तीनोंको मैं नमस्कार करता हूँ। (सूक्ति सुधाकर)

तिलक दाम आधीन—अम्बरीष चरित्र में भगवान ने दुर्वासासे कहा—'जदपि सदा मैं मुक्त, तदपि भक्त बन्धन बँध्यौ। अवश अजेय विरक्त, तऊ विवश हार्‌यौ रँग्यौ।।' यह सुनकर भावुक भक्त भी भक्तोंकी आधीनता स्वीकार कर लेते हैं। भगवानके आधीन तो विवश होकर रहना पड़ता है पर भक्तों के आधीन स्वेच्छा से हुआ जाता है। जो भक्त भगवन्त और गुरुदेव जी की आधीनता स्वीकार नहीं करता है, उसे ही मायाके आधीन होना पड़ता है। 'अच्युत कुल पन एकरस'—'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।' सज्जन जिसे अपनाते हैं फिर उसे छोड़ते नहीं हैं। कष्ट सहकर लोक को त्यागकर अपने प्रण को निवाहा। (विशेष देखिये छ० १५३ की व्याख्या)

रहैं गुरु भाई दोऊ भाई साधु सेवा हिये, ऐसे सुखदाई नई रीति लै चलाइयै।
जायँ जा महोछौ में बुलाये हुलसाये अङ्ग सङ्ग, गाड़ी सामा सो भण्डारी दै मिलाइयै।।
याकौ तातपर्य सन्त घटती न सही जात, बात वे न जाने सुख मानै मन भाइयै।
बड़े गुरु सिद्ध जग महिमा प्रसिद्ध, बोले बिनै कर जोरि सोई कहिकै सुनाइये।। ५८०

शब्दार्थ—भाई=अच्छी लगी। हुलसाये=आनन्दित। सामा=सामान।

भावार्थ—श्रीगोपालदासजी और श्रीविष्णुदासजी दोनों गुरुभाई (अर्थात् एक गुरुके शिष्य) थे। साधु-सेवा में दोनों गुरु-भाइयों का हार्दिक परम अनुराग था। ये दोनों साधु-सन्तों को ऐसे सुख देने वाले थे कि इन्होंने एक नई रीति चलाई। निमन्त्रण पाकर जिस किसी महोत्सव में आप जाते, वहाँ बड़े उल्लास के साथ गाड़ी में भरकर घी, चीनी और आटा आदि सामान ले जाते, तथा कोठारी से मिलकर गुप-चुप सामान में सामान मिलवा देते। किसी को इसका पता न चलता। ऐसा करने में आपका तात्पर्य यह होता था कि महोत्सव में किसी प्रकार की कमी न पड़े और सन्तकी निन्दा न हो। इस भेद को कोई भी जान नहीं पाता था। महोत्सव के बाद सभी को बड़ा सुख होता था कि कोठार-भण्डार में किसी वस्तु की कोई कमी नहीं हुई। इन दोनों भक्तों के गुरुदेव बड़े सिद्ध तथा प्रसिद्ध महात्मा थे। एकदिन इन दोनों ने हाथ-जोड़कर विनती करते हुए अपने गुरुदेव से कहा ।। ५८०।।

व्याख्या—भाई साधु सेवा हिये—इस पर दृष्टान्त देखिये, श्रीलालदासका (तृ० खं० पृ० ३४०) नई रीति लै चलाइयै - अधिकांश लोगों की यह रीति है कि एक का निमन्त्रण मिले, तो तीन पहुँचे। भोजन करके पारस माँगे न मिलने पर झगड़ा करें। भक्तमाली पं. श्रीजगन्नाथ प्रसादजी ने बताया कि—मैं एक बार सांकरीखोर बरसाने में कथा कह रहा था, उस समय एक

ने आकर इकन्नी चढ़ाई और सबको सुनाकर कहा कि मैंने इकन्नी चढ़ा दी है। लोग हँस पड़े। इन दोनों गुरु-भाइयों ने नई रीति चलाई। अपनी सामग्री वह भी गुप्त रूप से भण्डार में मिलाते। ऐसा इसलिए करते कि साधु की उसके यहाँ सामानकी घटती आपसे सहन नहीं होती थी। इसका हेतु यह कि साधु सन्तों में आपकी आत्मीयता थी। साधु की घटती को अपनी घटती मानते थे। 'गाड़ी सामा'—एक महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चले, गाड़ी में सामान लादा, संयोगवश बैल नहीं मिले तो स्वयं दोनों गुरुभाई गाड़ी को खींचकर ले गये। अतः मूल में 'भक्ति भार और धर्म धुरन्धर' कहा। तत्कालीन साधु जगत् में इस बात का प्रचार हो गया था कि जिस महोत्सव में गोपालदास—विष्णुदास उपस्थित रहते हैं, उसमें किसी बातकी कभी त्रुटि नहीं होती है। इसलिए प्रायः सभी इन्हें निमन्त्रण देते और ये भी महोत्सव की उत्तम व्यवस्था करते। 'बड़े गुरु सिद्ध'—दोनों शिष्य महोत्सव करने का मन ही मन विचार कर रहे थे पर श्रीगुरुदेव से कह नहीं पा रहे थे। गुरुदेव सिद्ध थे, उन्होंने इनके मनकी बात जानकर पूछा, तब इन्होंने बताया।

चाहत महोछौ कियौ हुलसत हियौ नित, लियौ सुनि बोले करौ वेगि दै तयारिये।
चहूंदिशि डार्‌यौ नीर कर्‌यौ न्यौतो ऐसे धीर, आवै बहु भीर सन्त ठौरनि सँवारिये।।
आये हरि प्यारे चारो खूंट तें निहारे नैन, जाय पगु धारे सीस बिनै लै उचारिये।
भोजन कराय दिन पाँच लगि छाय रहे, पट पहिराय सुख दियौ अति भारिये।। ५८१

शब्दार्थ—सँवारिये=अच्छी तरह बनाइ। खूंट=दिशा।

भावार्थ—भगवन्! बहुत दिनों से हमारे मन में ऐसी उमंग उठ रही है कि एक महा-महोत्सव हो। उसमें आपकी कृपा और आज्ञा की आवश्यकता है श्रीगुरुजी बोले—यदि ऐसा विचार है, तो शीघ्राति-शीघ्र तैयारी करो।' वे ऐसे सिद्ध थे कि उन्होंने वहीं बैठे-बैठे चारों ओर जल फेंका और सभी साधु-सन्तोंको न्यौता दे दिया। फिर उन्होंने दोनों शिष्यों से कहा कि इस उत्सव में महात्माओं की भारी भीड़ इकट्ठी होगी, अतः उनके ठहरने के लिए कुटिया सुन्दर निवास-स्थान बनवाओ। उत्सव प्रारम्भ होते ही चारों ओर से सन्तजन पधारे। दोनों गुरु-भाइयों ने उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम और विनती की। फिर उन्हें आदरपूर्वक भोजन—प्रसाद पवाया और वस्त्र भेंटकर उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न किया। इस प्रकार पाँच दिनों तक अनन्त सन्त-समूह के द्वारा अखण्ड कथा-कीर्तन होता रहा ।। ५८१।।

व्याख्या—चाहत महोछौ कियौ-दोनों ने हाथ-जोड़कर कहा—प्रभो ! हमारी श्रद्धाशक्ति स्वल्प है पर मनोरथ 'महतो महीयान्' है कि जिसमें सिद्ध सन्तों के दर्शन हों ऐसा महोत्सव हो यथा—'मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।। सूझ न एकउ अङ्ग उपाऊ। मन मति रङ्क मनोरथ राऊ।।' (रा०) कथा-कीर्तन, रामलीला-रासलीला और भण्डारा इन तीनों का जहाँ आयोजन होता है, उसे महोत्सव कहते हैं।

चहुँदिशि डार्यौ नीर—जल डालते ही चार सिद्ध प्रकट हो गये, उन्होंने सर्वत्र न्यौता दिया। 'ऐसे धीर'—पूर्व में बड़े सिद्ध पुनः अब महान् धीर कहा । सिद्ध वे हैं जो ज्ञानरूपी काजल की शलाका से अज्ञानी लोगों के ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्रों को खोल दें। (श्लोक द्वि० खं० पृष्ट १७ में देखिये) 'धीर यह गुरुका स्वरूप है। यथा—'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।' (गुरुगीता) अर्थ-अखण्ड मण्डलके आकार वाला जो ब्रह्म, जिसके द्वारा चराचर व्याप्त है, उन गुरुदेव को नमस्कार है। गुरु ब्रह्मरूप हैं अतः धीर हैं।

बिनै लै उचारियै—इसका एक अर्थ भावार्थ में आ गया । दूसरा तात्पर्य यह कि सन्तों की अनन्त भीड़को देखकर दोनों के मनमें बड़ी-भारी प्रसन्नता के साथ भय हुआ कि सामग्री कम है, कैसे पूरा पड़ेगा। तब गुरुदेव से विनती की, गुरुदेव ने कहा—अनन्त भगवान शालग्रामको ले जाकर भण्डार में पधरा दो और महोत्सव एक दो दिनका न करके पाँच दिन का करो। किसी वस्तु की त्रुटि न होगी, ऐसा ही हुआ। जो दूसरों के उत्सव-महोत्सवोंको अपने सामान से पूर्ण करते थे, उनमें कमी नहीं आने देते थे तो उनके महोत्सव में कमी कैसे आ सकती थी। सिद्ध गुरु की कृपा एवं निष्ठासे सभी वस्तुयें अनन्त हो गई। सभी ने परमानन्द का अनुभव किया।

आज्ञा गुरु दई भोर आवौ फिरि आस पास, महा सुख रासि नामदेवजू निहारियै।
उज्ज्वल वसन तन एकले प्रसन्न मन, चले जाति वेगि सीस पांयनि पै धारियै।
वेई दें बताय श्रीकबीर अति धीर साधु, चले दोऊ भाई परदक्षिना विचारियै।
प्रथम निरखि नाम हरखि लपटि पग लगि, रहे छोड़त न बोले सुनौ धारियै।। ५८२

शब्दार्थ—फिरि आस पास=परिक्रमा करना।

भावार्थ—उत्सव की समाप्ति होने पर श्रीगुरुदेवने दोनों शिष्यों को आज्ञा दी कि कल प्रातः काल सम्पूर्ण सन्त-मण्डलीकी परिक्रमा करने जाना । वहाँ परमानन्दस्वरूप श्रीनामदेवजी के दर्शन होंगे। वे उज्जवल वस्त्र धारण किये हुए प्रसन्न मनसे अकेले ही जा रहे होंगे। उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम करना। वे तुम्हें परम सिद्ध सन्त श्रीकबीरजी का दर्शन करा देंगे।

श्रीगुरुदेवजी की आज्ञा पाकर प्रातःकाल होते ही दोनों गुरुभाई सन्तशालाकी प्रदक्षिणा करने चले। पहले श्रीनामदेवजीके दर्शन हुए। उमङ्गके साथ दोनों उनके श्रीचरणों में लिपट गये। छुड़ाने से भी चरणोंको नहीं छोड़ रहे थे, तब श्रीनामदेवजी ने कहा—'तुम लोग ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो और उसे अपने हृदय में धारण करो ।। ५८२।।

आज्ञा गुरु दई—पङ्गत और विदाई हो चुकी है, अब अधिक देर तक सन्तजन नहीं ठहरेंगे। 'सन्त सुखी विचरन्त मही।' ये तो कृपा करके तुम्हारे प्रेम को देखकर रुक गये। भगवान ने श्रीमुख से कहा है कि मेरी आराधना से भक्तों की आराधनाका सौगुना अधिक फल है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३७२ व्याख्या मोसों बाढ़ पांव लीजियै। श्रुतिदेव चरित्र) अतः सन्तों की प्रदक्षिणा कर आओ। प्रदक्षिणा से जन्म-जन्मान्तर के पापों का नाश एवं आराध्य में प्रेम होता है।

यानि कानि च पापानि जन्मान्तर कृतानि वै। तानि सर्वाणि नश्यन्ति प्रदक्षिणा पदे पदे।।

एकले—बहुतों के एकत्र वाससे कलह, दो में वार्ता, अतः अकेले ही सन्तजन विचरते हैं। कुमारी के कङ्कण की तरह। (भा० दत्तवचनम्) पुनः 'सङ्ग किये तें मिलि लोगन सो घटत प्रेम यह प्रगट प्रमान। कहा कहौं साधक बपुरा की सिद्ध विगूचे भरत समान।।'

(विशेष देखिये तृ० खं० पृ० १५९) उस समय श्रीनामदेव और श्रीकबीरजी धराधाम से भगवद्धाम को जा चुके थे, वहाँ से आये। भक्त नित्य हैं, यथा—'न मे भक्तः प्रणश्यति।' (गी०)

साधु अपराध जहाँ होत तहाँ आवत न, होय सनमान सब सन्त तहीं आइयै।
देखि प्रीति रीति हम निपट प्रसन्न भये, लये उर लाय जावौ श्रीकबीर पाइयै।।
आगें जो निहारें भक्तराज दृग धारें, चलीं बोले हँसि आप कोऊ मिल्यौ सुखदाइयै।
कह्यौ हाँ जू मान दई भई कृपा पूरन यों , सेवा कौ प्रताप कहौ कहाँ लगि गाइयै।। ५८३

शब्दार्थ—श्रीनामदेवजी ने उन दोनों से कहा-जहाँ साधु-सन्तों का अपमान होता है, वहाँ हम लोग कभी नहीं आते-जाते हैं और जहाँ उनका सम्मान होता है, वहाँ हम लोग आते-जाते हैं। हमने तुम्हारी सन्तोंमें प्रीति और सेवा करने की रीति देखी है, उससे हम बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा कहकर श्रीनामदेवजी ने दोनों भक्तोंको गले से लगा लिया। फिर कहा—'जाओ, आगे चलने पर तुम्हें श्रीकबीरजी मिलेंगे। जैसे ही ये दोनों आगे चले, तैसे ही इन्हें भक्तराज श्रीकबीरजी के दर्शन मिले। दोनों ने चरणोंमें पड़कर प्रणाम किया। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। हँसकर श्रीकबीरजी बोले—'कहो, अभी पीछे किसी सुखदाई सन्तके तुम्हें दर्शन

हुए।' इन्होंने उत्तर दिया—'हाँ महाराज ! दर्शन हुए।' इसके पश्चात् श्रीकबीरजीने दोनोंका सम्मान किया। इस प्रकार इन दोनों गुरु-भाइयों पर सन्तों की और गुरुदेवकी पूर्ण कृपा हुई। भक्तिरसबोधिनीकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'कहो सन्त-सेवा की महिमा को कोई कहाँ तक गायेगा, वह अपार है।।५८३।।

व्याख्या—साधु अपराध—राक्षसोंने चरण-प्रहार, परिहास और पूंछमें आग लगाकर श्रीहनुमानजी का अपमान किया तो—'साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरइ नगर अनाथ कर जैसा।।' रावणने चरण-प्रहार करके भक्तराज विभीषणका त्याग और अपमान किया तो 'आयुहीन भये सब तबहीं।। साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिलकै हानी।।' दूसरे पापों का फल देर से मिलता है पर इसका फल तुरन्त मिलता है। अन्य पाप एक दो कल्याणोंके ही नाशक हैं पर यह अखिल-समस्त कल्याणोंका। इस से साधु-अपराध सबसे बड़ा पाप सिद्ध हुआ। सेवा का महान् और शीघ्र फल है, उसी तरह अनादरका भी शीघ्र फल मिलता है। 'रावण जबहिं विभीषण त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा।।' राणाने श्रीमीराजी का अनादर किया तो उनका वैभव नष्ट हुआ, आपत्ति आई। पुनः 'भक्तनको अपराध करै ताको फल गायो। हिरनकशिपु प्रहलाद प्रगट दृष्टान्त दिखायौ।।' (हरिराम हठीले छ० ८५) तृ० खं० पृष्ठ ८३ में श्रीरूपगोस्वामी का दृष्टान्त। (श्रीहरिराम व्यास और कबीरजी द्वि० खं० पृ० ५४८) और अम्बरीष तथा दुर्वासाका प्रसङ्ग।

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! जो लोग महान् सन्त-पुरुषोंका अनादर करते हैं। उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, सुख भोग एवं सबके सब कल्याणके साधनोंको नष्ट कर देता है। (भा० १०-४-४६) 'होय सनमान' युधिष्ठिरके यज्ञ में श्रीशुकदेवजीका आगमन हुआ। 'मान दई'—दोनोंको अपना कहा, पीठ ठोककर शाबाशी दी। वात्सल्यसे भगवान का अपनाना कच्ची और सन्तोंका अपनाना पक्की मोहर है। दृष्टान्त श्रीकाञ्चीपूर्णजी का तृ० खं० पृ० ५८८। श्रीचतुर्भुजदासजी ने कहा—'लीनौ अपनाय आज भीज्यौ मेरौ हियौ है।' (क० ४९६)

* श्रीकील्हदेवजी के शिष्यगण *

कील्ह कृपा कीरति विशद परम पारषद सिष प्रगट।।
आसकरन रिषिराज रूप भगवान भक्त गुरु।

चतुरदास जग अभय छाप छीतर जु चतुरवर।।
लाखै अद्भुत रायमल खेम मनसा क्रम वाचा।
रसिक रायमल गौर देवा दामोदर हरि रँग राँचा।।
सबै सुमङ्गल दास दृढ़ धर्म धुरन्धर भजन भट।
कील्ह कृपा कीरति विशद परम पारषद सिष प्रगट।। १५८।।

भावार्थ—श्रीकील्हदेवाचार्य की कृपासे निर्मल कीर्ति वाले इनके सभी शिष्य भगवत् पार्षदोंके समान थे। राजर्षि श्रीआशकरणजी, श्रीरूपदासजी, गुरुभक्त श्रीभगवानदासजी, निर्भय की छाप वाले श्रीचतुरदासजी, चतुर शिरोमणि श्रीछीतरजी, अद्भुत प्रभाव वाले श्री लाखैजी, मन-वाणी और कर्मसे परोपकारी श्रीरायमलजी, श्रीखेमदासजी, श्रीरसिकरायमल, श्रीगौरदासजी, श्रीदेवादासजी और राम रङ्गमें रङ्गे श्रीदामोदरजी ये सभी मङ्गलमय भगवान श्रीरामके सच्चे सेवक, धर्म-धुरन्धर और भजनमें वीर हुए।।१५८।।

व्याख्या—कील्ह कृपा—'पैहारी परसाद तें' मू० छ ३९। 'श्रीकृष्णदास कृपा करि' मू० छ० ४१। 'श्रीअग्र अनुग्रह तें भये' मू० छ० १५०। 'कील्ह कृपा' कहकर (परम्परासे) गुरु-कृपाका दिग्दर्शन कराया गया। श्रीहरिरामजी व्यास कहते हैं—'जैसे गुरु तैसे गोपाल। श्रीहरिजू तौ तबही मिलिहैं जब गुरु होंहिं कृपाल।। गुरु रूठे गोपाल रूठिहैं वृथा जात है काल। एक पिता बिन गनिका सुत को कौन करै प्रतिपाल।। ज्यौं रज बिन रजपूत कपूत जिय देखत रन कौ चाल। ऐसे ही गुरु विमुख शिष्य को जम करिहैं बेहाल।। सन्त सङ्ग गुरु की सेवा करि सुपचहिं करत निहाल। व्यासदास खिजये गुरु जुग जुग मिटत नहीं उर साल।।' इस छप्पय में आये भक्तों में से भ० दा० गुण० में तीन के चरित्र लिखे हैं, यहाँ उन्हें दिया जा रहा है—

श्रीचतुरदासजी—'तुलसी सोई चतुर हैं राम चरन लव लीन।।' (विशेष देखिये छ० १३१ बात कवित बड़ चतुर की व्याख्या) सन्त एवं तीर्थ दर्शनार्थ भ्रमण करते हुए आप एक गाँवके समीप एक वृक्षके नीचे जाकर ठहरे। ग्रामवासियोंने आकर आपसे कहा महाराज ! यहाँ न ठहरकर आप किसी दूसरे स्थान पर ठहरें। यहाँ एक अत्यन्त प्रबल प्रेतका निवास है। आपने पूछा कि वह क्या करता है तो लोगोंने बताया कि यहाँ रहने वालेको बड़ा कष्ट देता है। भैंसा, सिंह, हाथी आदि रूपोंको धारणकर डराता है और ऊपर ले जाकर फिर पटक देता है। इस तरह वह किसीको जिन्दा नहीं छोड़ता है, मार ही डालता है। श्रीचतुरदासजी श्रीरामजीके

अनन्य भक्त थे, सर्वत्र सबमें अपने प्रभुको ही देखते थे अतः निडर थे। इन्होंने वहीं आसन लगाया अपना नियम करके शयन किया। रातमें प्रेतने इन्हें देखा तो इनके तेजसे भयभीत होकर इनसे दूर ही रहा। गाँवके चारों ओर चक्कर काटता और चिल्लाता रहा कि—यह जगह तो हमारी है, साधु बाबाने अपना आसन लगा लिया, अब हम कहाँ जायें ? लोगोंने उसका प्रलाप सुना। प्रातः आकर देखा तो श्रीचतुरदासजी अपने भजन-पूजनमें व्यस्त हैं। सभीने इन्हें सिद्ध सन्त मानकर इनका स्वागत-सत्कार किया और इनके उपदेश सुने। आपने कह दिया कि अब यहाँ कभी किसी को प्रेत-बाधा न होगी। कुछ दिन बाद एक दूसरे सन्त आये। उनसे लोगोंने इस प्रसङ्ग को कहा, तो वे समझ गये और बोले कि श्रीकील्हजीके सभी शिष्य ऐसे ही महाप्रतापी हैं। एकबार श्रीचतुरदास अग्निमें पड़कर नहीं जले। वे सबसे निर्भय हैं, इस चर्चाको सुनकर प्रेत श्रीचतुरदासजीकी शरणमें गया और उनसे भगवन्नाम को सुनकर प्रेतयोनि से मुक्त हो गया। जैसे 'रसिक छाप हरिदास की।' उसी प्रकार 'चतुरदास जग अभय छाप।'

श्रीरायमलजी—इनका तेज-प्रताप, करनी-करतूति सब कुछ अद्भुत था अतः इनकी अद्भुत छाप थी। इनके द्वारा अनेक चमत्कार हुए, जिनका साधुजन वर्णन करते हैं। सन्तोंकी सेवा बड़े सम्मानके साथ करते थे। एकबार आप ध्यान लगाकर श्रीसीतारामजी की मानसी-सेवा कर रहे थे। होलीके दिन थे, उदण्ड प्रकृतिके कुछ लोग आकर इन पर भी धूल डालने लगे। कुछ देर तक तो आपने मौन रहकर सहन किया। पश्चात् इन्होंने मना किया कि बस, अब हो गया, मेरे भजनमें विघ्न न करो। इतने पर भी जब लोगोंने नहीं माना, तब आपने उन्हें शिक्षा देनेके लिए किञ्चित् क्रोध किया और कहा कि—किसी सन्त पर फूल बरसाओगे तो तुम्हारे ऊपर भी फूल बरसेंगे और यदि धूल बरसाओगे तो धूल बरसेगी। इतना कहते ही उन लोगों पर आकाश से कङ्कड़ और धूल बरसने लगी। जहाँ गये वहाँ भी बरसती रही तब वयोवृद्ध ग्रामवासियों ने सबको साथ ले जाकर श्रीरायमलजीसे क्षमा-याचना की, तब धूल बरसना बन्द हुआ। इस प्रकार आपने लोगोंको प्रभावित कर सबको भक्ति-पथका पथिक बनाया।

तब जानि परचौ लोग सबही क्षमा अरज करन्त।
जन रायमल तब क्षमा कीनी धूरि वृष्टि हरन्त॥
इहि भाँति अद्भुत रायमल सो भयौ जग में ख्यात।
गुरुदेव सुनि यह छाप दीनी सो बखानी बात॥ (भ० दा० गु०)

श्रीखेमदासजी—आप अपने गुरुदेव श्रीकील्हजीकी सेवा बड़ी निष्ठा और श्रद्धाके साथ

करते थे। आपमें आलस्य और प्रमादका लेश न था। सर्वदा गुरु-सेवामें रुचि रखते, उसीमें सन्तुष्ट रहते और नित्य सीथ-प्रसाद लेते थे। जब श्रीकील्हदेवजीने स्वेच्छासे शरीर को त्यागकर साकेत-गमन किया। तब आपने उनका सीथ-प्रसाद रख लिया और नित्य उसका सेवन करते रहे। किसी समय वह गुम गया तो आपके मनमें बड़ा ही दुःख हुआ। आपने भोजन-पान बन्द कर दिया और अधीर होकर रोते कलपते रहे। आपके सच्चे प्रेमको देखकर भगवान श्रीरामचन्द्रजी श्रीकील्हदेवका शरीर धारण करके आये। दर्शन, प्रबोध और सीथ-प्रसाद देकर श्रीरामजी ने इनके दुःख को दूर किया। इस प्रकार सच्ची गुरु-भक्तिसे आपको भगवानके दर्शन मिले। भ० दा० गु० कार प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

इक बार उहि परसाद कण कौ खेम ! अनुगहिं दीजिये।
अहि डस्यौ हौं सो जियौं गुरु प्रीति सु सफल कीजिये।।
बहु फल गुरु सेवा विटप सेवत नर बड़ भाग।
छाया सुख हरि दरस फल लेत अमाय सुराग।।

श्रीआशकरणजी का चरित्र मू० छ० १७४ में वर्णित है। श्रीरूपजी-इनके विवेक और वैराग्य से प्रभावित होकर लोग इन्हें 'वैरागीजी' कहने लगे। रूपजी वैरागी इस नामसे प्रसिद्ध हुए। ये आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजीके सुपुत्र थे। इन्होंने किशनगढ़के उत्तर में अपने नाम पर एक नगर बसाया, जिसका नाम रूपनगर है। आप दौसा के जागीरदार थे। वि० सं० १६१९ में दौसा में आकर अकबर बादशाहने इनसे मुलाकात की। इनके पुत्र जगमलजी हुए, वे बादशाह के मनसबदार थे। श्रीभगवानदासजी (छ० १८८) और आशकरणजी आपके भतीजे थे। (अकबर नामा भाग २, मुहणौत नैनसीकी ख्यातमें उक्त विवरण है) 'दामोदर हरि रङ्ग रांचा'—ये सभी भक्त प्रेमके रङ्गसे रङ्गे थे। प्रेमी बावला दूसरे को भी अपने रङ्गसे रङ्गकर बावला बना देता है। इस पर—

दृष्टान्त—एक किसान का—एक किसान रस्सी बनाने के लिए पलाशकी जड़ खोदने लगा तो उसे एक मोहरों से भरी हँड़िया मिल गई। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। काई और मिट्टी लगने से मुहरें चमक नहीं रही थीं। उसने सोचा कि नदीमें धोकर साफ कर लूं, उसके बाद बाजार में बेचकर पक्की हबेली बनवाऊँगा। दैवयोग से धोते समय हँड़िया हाथसे छूट गई और अथाह नदी में डूब गई तो उसे महान् दुःख हुआ। पागल हो गया, घरको आया। स्त्रीने पूछा—ढाककी जड़ नहीं लाये। तो बोला—हाय! मेरी धोवतमें गई। इसी वाक्यको रटता हुआ इतस्ततः घूमने लगा। एक दिन उसका एक मित्र मिला। उसके पूछने पर सारी बात बताकर कहा—'हाय मेरी धोवत में गई।' मित्र को दुःख हुआ

कि इसके पास मुहरें रहतीं तो उसमें से सौ-पचास हमको भी मिल जातीं। उसने कहा— 'पाई तो धोई क्यों !' वह भी उसीकी तरह पागल हो गया। दूसरे की न सुनकर अपनी ही धुनमें दोनों मतवाले रहते। इसी तरह जिसे प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, वह प्रसन्नता से मतवाला हो जाता है, अपनी ही धुनमें मस्त रहता है, जो कोई उससे वार्तालाप करता है, उसकी भी वही दशा हो जाती है। इस छप्पयमें आये सभी भक्त प्रेमरङ्गमें रंगे थे।

सबै सुमङ्गल दास—दृढ़तासे सुन्दर-मङ्गल के विधान करने वाले भक्तजनोंके दास थे। तथा 'मङ्गलं भगवान विष्णुः। मंगल भवन अमंगल हारी।' श्रीराम के अनन्यदास थे। भजन भट'—जैसे श्रीकील्हजी-'सूर भजनानन्द भागी थे उसी तरह उनके शिष्यगण। सभी शिष्यगण श्रीकील्हदेवजी की प्रकट कृपा थे एवं उनकी उज्जवल कीर्ति थे। गुरु-शिष्यकी कीर्तिमें अचरज नाहीं कोय।' (दोहा १०६) एक की कीर्ति दूसरे की कीर्ति है। परम पारषद अर्थात् नित्य प्रभुके दास थे। साकेतमें निकट रहकर सेवा करने वाले थे।

* श्रीनाथभट्टजी *

रसरास उपासक भक्तराज नाथभट्ट निर्मल बयन।।
आगम निगम पुरान सार शास्त्रनि जु विचार्यौ।
ज्यौं पारौ दै पुटहिं सबनि कौ सार उधार्यौ।।
श्रीरूप सनातन जीव भट्ट नारायण भाख्यौ।
सो सर्वसु उर साँच जतन करि नीके राख्यौ।।
फनीवंश गोपाल सुव रागा अनुगा कौ अयन।
रसरास उपासक भक्तराज नाथभट्ट निर्मल बयन।। १५९।।

शब्दार्थ—रसरास-रसका ढेर, भक्तिके पाँच रसोंकी राशि, माधुर्यरस।

पारौ=पारा, सफेद चमकीला एक तरल धातु, जिसका द्रवरूप गर्मी सर्दीसे बदलता नहीं है। पुट=सम्पुट, मेल।

भावार्थ—फणीवंशमें श्रीगोपालदासजीके सुपुत्र श्रीनारायणजी भट्टके शिष्य श्रीनाथजी भट्ट रागानुगा भक्तिके भवन, शृंगाररसके उपासक थे, आपकी वाणी अत्यन्त निर्मल थी और आप भक्तोंमें श्रेष्ठ थे। आपने सभी वेद-पुराण-शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन-मनन करके उसका सार-तत्त्व उसी प्रकार निकाल लिया था, जैसे जड़ी एवं पारेका पुट देकर रसायनी

तांबेसे रसायन-सोना बना लेता है। गोस्वामी श्रीरूपजी, श्रीसनातनजी, श्रीजीवजी और श्रीनारायणजी भट्टने भक्तिके सिद्धान्तका जिस प्रकार निरूपण किया है, उस सम्पूर्ण रहस्यको शुद्ध और सत्य मानकर उसे यत्न पूर्वक आपने अपने हृदयमें धारण किया। पुनः योग्य पात्रोंमें उसे वितरित किया।।१५९।।

व्याख्या-रसरास—आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि। मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरारतिः ।। (भ० र० सि०) अपने अनुरूप विभावादिकोंके द्वारा सुहृदयोंके हृदयमें पुष्टिको प्राप्त मधुराऱतिको मधुरभक्तिरस अर्थात् श्रृंगाररस कहा जाता है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३१) यह पाँचों रसोंका राजा है। मनकी लगन शान्तरस है, संसारसे उदास होकर सर्वत्रसे मनको खींचकर भगवानमें लगावें जैसे जनक विदेहादि। स्वामीके सर्वथा आधीन रहे, वह दास्यरस है। अपने स्वभावको जीतकर स्वामीकी आज्ञामें रहे जैसे—श्रीहनुमान आदि। भगवानसे बराबरीका भाव सख्यरस है, मित्रता रखना जैसे अर्जुन, श्रीदामादि। भगवानको पुत्रभावसे लाड़ लड़ाना वात्सल्यरस है, जैसे श्रीकौशल्या, श्रीयशोदादि। कान्ता-कान्त सम प्रीति श्रृंगाररस है, जैसे ब्रजगोपियाँ। इनमें श्रृंगाररस ही एक ऐसा है, जिसमें सभी रस विद्यमान रहते हैं, जैसे पृथ्वीमें पाँचों तत्व हैं, आकाशका गुण शब्द, पवनका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वीका गन्ध। पृथ्वीमें ये सभी गुण हैं, ऐसे ही श्रृंगाररसमें सभी रस हैं। इसीसे श्रीनाथभट्टजी ने श्रृंगाररसको अपनाया। युगल सरकारकी उपासना की।

आगम निगम पुरान शास्त्र—श्रुति और स्मृति ये भगवानकी आज्ञायें हैं, यथा—श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा। पुनः-

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्यदर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि।।

अनेक शंकाओंको दूर करने वाला परोक्षके दर्शक शास्त्र सभीके नेत्र हैं, जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, वह अन्धा ही है। गीता १६-२३-२४ में भगवान अर्जुनसे कहते हैं—जो मनुष्य शास्त्र के विधानको छोड़कर स्वच्छन्द आचरण करता है, वह न तो सिद्धि पाता है, न इस लोक में सुख और न परलोकमें स्वर्ग या मोक्ष पाता है।

इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है अतः शास्त्र-विधानसे कही हुई बातको समझकर इस लोकमें स्वकर्म करना उचित है।। आगम अर्थात् पाञ्चरात्र

श्रीनारदजीको नारायण भगवानने पाँच-दिन में पचपन हजार श्लोक सुनाये। उनमें वैष्णवीय उपासना पद्धति का वर्णन है। नाथभट्टने उसीके अनुसार उपासना की।

सार शास्त्रनि जु विचार्‌यौ—समस्त शास्त्रोंमें श्रीकृष्णकी भक्तिको अभिधेय कहा गया है। (अभिधीयते अनेन इति अभिधेयम्) अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाय उसे अभिधेय कहते हैं, यथा—कृष्णभक्ति अभिधेय सर्वशास्त्रे कय। अतएव मुनिगन करियाछे निश्चय।। (चै० च०) मुनिवाक्यम्—

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं,
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा,
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर ! भवानेव शरणम्।। (भ० र० सि०)

अर्थ—मुनिगण कहते हैं—हे भगवन् ! श्रुति अर्थात् वेदोपनिषद् ये माता हैं, इनसे पूछने पर ये आराधनाकी विधि अर्थात् भक्तिका उपदेश करती हैं। स्मृतियाँ भगिनी हैं, ये भी वही बात कहती हैं। पुराण नारद पाञ्चरात्रादि शास्त्र ये सहोदर भ्राता हैं, ये भी माता और बहिनके पीछे-पीछे चलते हैं, उनका समर्थन करते हैं अर्थात श्रीकृष्ण भक्ति का ही उपदेश करते हैं। अतः हे मुरारे! एकमात्र आप ही हमारे आश्रय हैं, यही सत्य है। 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते।। प्रेम भक्ति जल बिनु रघुराई। अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई।।

ज्यौं पारौ दै—जैसे न्यारिया सुनारोंके यहाँ संग्रहीत धातुमलसे अथवा दूसरी धातुओं में से पारेका पुट देकर सोनेको खींच लेता है, उसी प्रकारसे नाथभट्टजीने सभी शास्त्रोंका सार, बुद्धि और युक्तिसे खींच लिया। 'कलौ तद्धरिकीर्तनात्, भक्तिरेवगरीयसी।' कीर्तन और भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीरूप सनातन जीव—श्रीरूपजीने भक्तिरसामृतसिन्धु आदिमें, श्रीसनातनजीने वृहद् भागवतामृत आदिमें, श्रीजीवगोस्वामीने भक्ति-सन्दर्भ आदिमें जो कुछ कहा, उसको आपने अपने हृदयमें रख लिया। 'भट्ट नारायण भाख्यौ—आपके ५२ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ब्रज-महिमा विशेष रूपसे लिखी। (आपका चरित्र छ० ८७ तृ० पृ० ५८ में देखिये) (श्रीजानकी प्रसाद भट्टकृत, नारायण भट्ट चरितामृतसे—)

देहो वापि धनं चापि पुत्र भार्यादिकं तथा। बुद्धिर्बलं मनो विद्या श्रीकृष्णाय समर्पयेत्।।
हरे भक्तिं सदा देहि सेवनं पादपद्मयोः। इति सम्प्रार्थ यद्देवं नैव मोक्षं न चाशिष।।

स्वमतं नैव हातव्यं नावमान्यश्चकश्चन। जिज्ञासुं शिक्षयेच्छिष्यं स्वमतं नैव सर्वतः।।
द्विभुजः सर्वदा सेव्यः श्रीकृष्णो नन्दनन्दनः। वेणुवाद्यरतः शाश्वत् राधागोपी समन्वितः।।
श्रीकृष्णादपरंतत्वं किञ्चित् नैव च नैव च। किन्तु रूपान्तरं सर्वं श्रीकृष्णस्यैवेति मे मतम्।।

अर्थ—देह, धन, स्त्री, पुत्र, मन, बुद्धि, विद्या और बल आदि सब कुछ श्रीकृष्णको समर्पित कर देना चाहिए। हे हरे ! अपनी भक्ति दो, अपने श्रीचरणारविन्दकी सेवा दो। इस प्रकार भगवानसे प्रार्थना करनी चाहिए। दूसरा कोई आशीर्वाद या मोक्ष नहीं माँगना चाहिए। अपने मतका त्याग नहीं करना चाहिए और कभी दूसरे का अपमान नहीं करना चाहिए। श्रद्धालु शिष्यको ही अपने मत का उपदेश देना चाहिए, चाहे जिस किसी को नहीं। श्रीराधा आदिसे समन्वित मुरलीधर द्विभुज-नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही सदा सेव्य हैं। श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ दूसरा कोई तत्व नहीं है।। किन्तु अन्य चतुर्भुज आदि रूप भी सब श्रीकृष्णके ही रूपान्तर हैं। ऐसा मेरा मत है। 'भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी' इसको नाथभट्टने स्वीकार किया। लोभी जैसे धनका संग्रह करे, उसी प्रकार आपने पूर्वाचार्योंके उपदेशोंको अपने हृदयमें धारण किया। अतः 'जतन करि नीके' कहा।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें चौसठ भक्तिके अङ्गोंमें चौथा अङ्ग है—'साधुवर्त्मानुवर्तनं' पूर्व सन्तोंके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना। यथा—स्कान्दे ब्रह्मयामले च।

समृग्यः श्रेयसां हेतुः यथा सन्तापवर्जितः। अनवाप्तश्रम पूर्वेयेन सन्तः प्रतिस्थरे।।
श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्रविधिं बिना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।।

अर्थ—पूर्व सन्तोंने जिस मार्गका अलवम्बन किया है। सर्वसन्ताप रहित मङ्गलमय उसी पथकी खोज करनी चाहिए।। श्रुति-स्मृति, पुराणादि तथा पाञ्चरात्रमें वर्णित विधि को छोड़कर जो (नास्तिकताके कारण) एकान्त भावसे हरिभक्तिका आचरण है, उससे उत्पात ही उत्पन्न होते हैं।। पुनः—महाभारते—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

अर्थ—श्रुति और स्मृतियाँ अनेक हैं, एक मुनि नहीं हैं जिसका वचन प्रमाण माना जाय, धर्मका तत्व गूढ़ है इसलिए महात्माओंने जिसका अनुसरण किया है, वही सत्य मार्ग है उसी पर चलना चाहिए।

रागा अनुगा—(भक्तिरसामृतसिन्धौ)

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्। तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता।।
विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु। रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते।।

अर्थ—अपने इष्ट में स्वभावकी जो एक प्रेममयी तृष्णा है, उसके कारण इष्ट में परमाविष्टता या आवेश हुआ करता है, उस प्रेममयी तृष्णाका नाम है राग और रागमयी भक्तिको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। वह सदा नित्य सिद्ध ब्रजपरिकरों गोप-गोपियोंमें ही विराजमान है। श्रीकृष्ण सेवाकी तीव्र तृष्णा ही इस रागात्मिका का प्राण है। उस रागात्मिकता भक्तिका जो अनुगमन या अनुसरण करती है उसे—'रागानुगा' भक्ति कहते हैं। रागात्मिकता भक्तिके परिकरोंका अनुगमन या अनुसरण रागानुगाका स्वरूप है किन्तु अनुकरण नहीं। श्रीनन्द-यशोदा, सुबल-मधुमङ्गल एवं श्रीराधा-ललितादि नित्य सिद्ध परिकरोंको छोड़कर रागात्मिका भक्ति किसीका भी आश्रय नहीं करती। किसी राजाकी रानी की दासी बनाकर राजाकी सेवा योजना में सहायक होना तो रानीका अनुगमन है, जो प्रशंसनीय है, परन्तु रानीकी तरह राजाकी सेवाका अनुकरण यदि कोई दासी करती है तो निन्दनीय तथा दण्डनीय भी है, इसी प्रकार जो साधक जीव स्वयं राधा, ललिता, नन्द-यशोदा, सखा-सखी बनाकर श्रीकृष्ण-सेवा करना चाहते हैं, वे अनुगमन नहीं करके बल्कि अनुकरण करना चाहते हैं। वह महान् दोष एवं अपराधजनक है। रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की है, कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा।

भक्तिरसबोधिनी टीकाकार श्रीप्रियादासजी—'ब्रजभूमि रहस्य०' (छ० ९९) इस चरणकी विशेषता दिखाकर कहते हैं—'राधाकृष्ण रस की आचारजता कही यामें सोई जीव नाथ भट्ट छपै बानी नाच है।' (क० ३५७) अर्थात् श्रीरूप-सनातन, श्रीजीव गोस्वामी एवं नाथभट्टजी ये सब राधाकृष्ण रसके आचार्य थे।

भ० दामगुण चित्रणी पृ० ८८ पर श्रीनाथभट्टजीके सम्बन्धमें लिखा है कि आपकी वाणी प्रेमकी खानि थी, आप बहुत बड़े विद्वान् थे। एकबार इनके पास एक विवादी कुतर्की कायस्थ आया। वह बहुतोंको परास्त कर चुका था अतः उसे बड़ा-भारी अहङ्कार था। उसने इनसे अनेक प्रश्न किये, कई प्रश्नोंके आपने उत्तर दिये, कई प्रश्नोंको ही असिद्ध कर दिया। आप केवल विद्वान् ही नहीं महान् भगवद् भक्त थे अतः बड़े-बड़े विद्वान् भी भक्तिकी शक्तिको देखकर इनके सामने नत-मस्तक हो जाते थे। आपके सप्रमाण अकाट्य उत्तरोंसे उसकी बोलती बन्द हो गई। उसे तामसी भैरवकी सिद्धि थी। पराजित और लज्जित होकर

उसने भैरवजीका ध्यान किया। झट उसे भैरवका आदेश हो गया। अब वह पुनः तर्क-वितर्क करने लगा। आपने पुनः उसे हरा दिया। हारकर भी हार न मानने पर आपने झट उसकी चोटी पकड़ ली। अब तो वह विवश हो गया और क्षमा-याचना करते हुए कहने लगा कि—अब हमें छोड़ दीजिये, अब मैं कभी हरि-भक्तोंसे विवाद नहीं करूँगा। ऐसा कहकर भैरवजी तो छुट्टी पाकर चले गये। कायस्थने भी आपके श्रीचरणों की शरण ली। वैष्णव शिक्षा-दीक्षा लेकर कृतार्थ हुआ। सद्भावनासे सभी सन्तोंकी सेवा करने लगा। आप बरसाना ऊँचे गाँवके निवासी थे। वहीं रहकर भगवद्-भजन किया करते थे।

* श्रीकरमैतीजी *

कठिन काल कलियुग्ग में करमैती निकलङ्क रही।।
नस्वर पति रति त्यागि कृष्णपद सों रति जोरी।
सबै जगत की फाँसि तरकि तिनुका ज्यौं तोरी।।
निरमल कुल कांथड्या धन्य परसा जिहिं जाई।
विदित वृन्दावन वास सन्त मुख करत बड़ाई।।
संसार स्वाद सुख बांत करि फेरि नहीं तिन तन चही।
कठिन काल कलियुग्ग में करमैती निकलङ्क रही।। १६०।।

शब्दार्थ-फाँसि=बन्धन। तरकि=तर्क, विचारकर, कूदकर।

भावार्थ—श्रीकरमैतीजी इस घोर कलिकालमें उत्पन्न होकर भी सर्वथा निष्कलङ्क रहीं। इन्होंने अपने शरीरके पतिके प्रति नश्वर-प्रेमको छोड़कर, आत्माके पति भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीचरणोंमें सच्चा-प्रेम किया। अपने तर्कोंके द्वारा सोच-विचारकर संसार के सभी बन्धनोंको तोड़ डाला। निर्मल कुल कांथड्या और उनके पिता श्रीपरशुरामजी धन्य हैं, जिन्होंने श्रीकरमैती सरीखी भक्ता जैसी पुत्रीको जन्म दिया। सर्व विदित है कि श्रीकरमैतीजीने घरको छोड़कर श्रीवृन्दावन धाममें निवास किया। सन्तजन इनके त्याग, वैराग्य और भक्तिकी बड़ाई करते थे। इन्होंने सांसारिक विषयोंके भोगोंसे प्राप्त होने वाले सभी सुखोंको वमन की तरह त्याग दिया अर्थात् फिर भूलकर भी उनकी ओर नहीं देखा। उन सुखोंको प्राप्त करने की इच्छा नहीं की।। १६१।।

कठिन काल कलियुग्ग—काल कठिन है, यथा—'मातुलो यस्य गोविन्दः पिता यस्य धनञ्जयः। सोऽपि कालवशं प्राप्तः कालो हि दुरतिक्रमः।।' (सूक्ति सुधाकरे) भगवान श्रीकृष्ण तो जिसके मामा थे और अर्जुन पिता थे, वह अभिमन्यु भी मृत्युको प्राप्त हुआ, सच है, कोई भी कालको लांघ नहीं सकता है। पुनः-कलियुगका समय कठिन है, यथा—'कठिन कालमल कोश धर्म न ज्ञान न योग जप।। सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी।। कलिमल ग्रसे धर्म सब।' श्रीनागरीदासजी कहते है—आयौ महा कलियुग घोर। धर्म धीरज उड़ि गये ज्यौं पात पौन झकोर।। मिटी सजननि सुहृदताई रह्यौ स्वारथ एक। सुखी कोऊ देखिये नहिं दुखी लोग अनेक।। लेत कलि कल्मष दवाये जाइये कहँ भागि। तन तपत त्रयताप में अरु लगी चहुँ दिशि आगि।। 'दास नागरि' नहीं शीतल धाम निर्भय और। जहाँ वृन्दाविपिन जमुना बचैं वाही ठौर।।

करमैती-जिसके त्रिविध कर्मोकी इति अर्थात् समाप्ति हो गई है अथवा सभी जीवोंके प्रति मैत्री भाव था अतः कर-मैत्री नाम पड़ा। 'निष्कलङ्क रही'-सतयुगमें भी अनेक देवता, ऋषि, मुनि विषयोंके वश हुए। कलियुग प्रायः सभीको कलङ्कित कर देता राजा परीक्षितकी बुद्धिको कलियुगने बदल दिया। ऐसे कठिन कलिकालमें भी करमैती निष्कलङ्क रहीं। बड़े-बड़े राजा दश दिशाओंको जीत लेते है पर अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीत पाते हैं। इन्होंने मन सहित इन्द्रियोंको जीता, यह भक्तिका बल है—'अबला शरीर साधन सबल ये बाई हरि भक्ति बल।'

नस्वर पति रति-मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।। (भा० १०-१-३८) श्रीवसुदेवजीने कंससे कहा—हे राजन्! शरीरधारियोंके जन्मके साथ ही मृत्यु उत्पन्न होती है, आज अथवा सौ वर्ष बाद जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी!! श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात। देखत ही छिपि जायगी ज्यौं तारा परभात।।
कबिरा थोरा जीवना माड़ै बहुत मडान। सबही ऊभा मौत मुंह राव रङ्क सुलतान।।

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः,
क्षणं वितैर्हीन क्षणमपि च सम्पूर्ण विभवः।
जरा जीर्णैरङ्गै र्नट इव बली मण्डित तनु,
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानी जवनिकाम्।।

अर्थ—पहले बालक, दूसरे क्षणमें कामी-विषयी जवान हो जाता, किसी क्षण धन से हीन कंगाल दूसरे क्षणमें सम्पूर्ण वैभवोंसे युक्त हो जाता है, फिर वृद्धावस्थासे जर्जर झुर्रियोंसे

युक्त शरीर वाला होकर अन्तमें मनुष्य यमलोकके परदेशमें प्रवेश करता है। पुनः—

आजु किशोर सुघर सो लागै रूप विवश पति पागै।
काल्हि बुढ़ाय होय जर्जर तन झगरत मोह न त्यागै।।
आज धनी कल रङ्क आज है फिरि है नाहीं।
करि ऐसे सों प्रेम होय नहिं सुख जग माहीं।। १।।
आजु सुहागिनि बनिकै फूली भूली जग सुख पाई।
काल्हि अभागिनि बनिकै रोवति नाते ये दुखदाई।। २।।
याते बनि वैरागिनि बसिये वृन्दावन रजधानी।
परम पुरुष सर्वेश्वर नागर पति सब दिन सुखदानी।। ३।। (भ० व० टि०)

कृष्णपद सों रति०—श्रीनन्दनन्दके चरणारविन्दोंमें धीरे-धीरे मनको लगा दे और विषयोंमें वासना का तुरन्त त्याग कर दे तथा वाणी से धीरे-धीरे उसी भगवन्नामका ही उच्चारण करे। सूक्ति सुधाकरे—

नन्दनन्दनपदारविन्दयोर्मन्दमन्दमनु जायता मनः।
मुञ्च मुञ्च विषयेषु वासनाः किञ्च किञ्च तदुदीर्यतां वचः।।

कदाचित् कोई कहे कि मनुस्मृति में लिखा है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्।।
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।।
पानं दुर्जन संसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्। स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट्।।

अर्थ—स्त्री बाल्यावस्थामें पिताके वशमें, यौवनावस्थामें पति के वशमें और पतिके मरने के बाद पुत्रोंके वशमें रहे, स्वतन्त्र कभी न रहे।।१।। स्त्रियोंको (पतिके बिना) अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्त्री जो पतिकी सेवा करती है, उसीसे स्वर्ग में आदर पाती है।।२।। मद्य पीना, दुर्जनोंका संसर्ग, पतिका विरह, इधर-उधर घूमना, कुसमयमें सोना और दूसरोंके घरमें रहना—ये स्त्रियोंके छः दोष हैं।।३।। अतः श्रीकरमैतीका परित्याग अनुचित है? उसका समाधान यह है कि यदि अन्य पुरुषकी ओर देखे, तो अधर्म है यदि भगवानमें मन लगावे तो परमधर्म है। पतिकी सेवा सामान्य धर्म है। सामान्य धर्मको त्यागकर परमधर्मके पालनमें दोष तो नहीं है सर्वथा उचित है। जैसे 'बलि गुरु तज्यौ कन्त ब्रज वनितन भे मुदमङ्गलकारी।' पति केवल शरीरका स्वामी

होता है, परन्तु भगवान शरीर और आत्मा दोनोंके स्वामी हैं। श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं—(भा० ५-१८-२०)

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
स एक एवेतरथा मिथो भय नैवात्मलाभादधि मन्यते परम्।।

भगवन्! आप इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं, स्त्रियाँ तरह-तरहके कठोर व्रतोंसे आपकी ही आराधना करके अन्य लौकिक पतियों की इच्छा किया करती हैं। किन्तु वे उनके प्रिय पुत्र, धन और आयुकी रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वयं ही परतन्त्र हैं। पातीति पतिः जो रक्षा करता है, उसे पति कहते हैं वह सच्चा पति ईश्वर ही है। जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगोंकी सब प्रकार से रक्षा कर सके। ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं। यदि एक से अधिक ईश्वर माने जायें, तो उन्हें एक दूसरेसे भय होने की सम्भावना है। अतएव आप अपनी प्राप्तिसे बढ़कर और किसी लाभको नहीं मानते।। जिस भावसे ब्रज-गोपियोंने पतिसे मनको हटाकर श्रीकृष्णमें मन लगाया। उनके प्रेमकी सभी ऋषियोंने प्रशंसा की और श्रीब्रह्माजीने उनके चरण-कमलोंकी धूलि ली। कलियुगमें श्रीरामजी और श्रीकरमैतीजीने पतियोंका त्याग किया और परमेश्वरमें अनन्य भक्ति की। (विशेष देखिये, व्याख्या छ० १४२)

जगत की फांसि—देह, गेह एवं विषयभोगों में आसक्ति ही फाँसी=गले की फाँसी, दुःखप्रद बन्धन है। उसीके लोभमें फँसता है, जैसे मीन, कपि, शुक आदि फँस जाते हैं। यथा—

जैसे मीन मांस को निगलि जात लोभ लगि, लोह को कण्टक न जानत उमाहे ते।
जैसे कपि गागर में मूठि बांधि राखे शठ, छांड़ि नहिं देत सो तो स्वाद ही के बाहे ते।।
जैसे शुक नारियर चोच मारि लटकत, 'सुन्दर' कहत दुख देत याहि लाहे ते।
देह को संयोग पाइ इन्द्रिन के बस पर्‌यौ, आप ही को आप भूलि गयौ सुख चाहे ते।।

जनम मरन जहँ लगि जग जालू। सम्पति विपति करम अरु कालू।।
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू।।
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं।। (रा०)

सन्त मुख करत बड़ाई—श्रीनाभाजीने अनेकों सन्तोंके श्रीमुख से श्रीकरमैतीजीके त्याग वैराग्य एवं भगवत्प्रेमकी प्रशंसा सुनी, अतः लिखा कि सन्त मुख०। पुनः—सन्त किसीकी मिथ्या प्रशंसा नहीं करते, सत्य भाषणकी उनकी प्रतिज्ञा होती है। उदासीन होते हैं,

किसी के शत्रु या मित्र नहीं। यथा—सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं।। (रा०)

तरकि तिनुका ज्यौं—श्रीकरमैतीजीने तत्वको निश्चित करने की युक्तिसे शास्त्रीय सिद्धान्तसे, प्रमाणोंसे, अपनी इच्छा और विचारोंसे खूब सोचा-समझा तब त्याग किया। अज्ञानतावश, क्रोधादिके आवेशवश, किसीके बहकानेसे जो त्याग करता है, उसका त्याग व्यर्थ जाता है। वह पुनः त्यागे विषयों का सेवन करता है। त्यागकर सेवन करने वाला वान्ताशी (वमन करके उसे फिर खाने वाला) कुत्ते के समान निन्दनीय है।

संसार स्वाद सुख बांत करि—श्रीरूप-सनातनजीने भी इसी प्रकार त्यागा। यथा—'संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ रूप सनातन त्यागि दियौ। (छ० ८९) श्रीभरतजीने दुस्त्यज स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्य को युवावस्था में ही तृणवत् तुच्छ समझकर मलकी तरह त्याग कर दिया। यथा—(भा० ५-१४-४३) 'जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः।' 'रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।' मलवत् त्यागकी अपेक्षा वान्तवत् त्याग श्रेष्ठ है। मल-त्यागके बाद उसके देखनेसे उस प्रकार मन नहीं बिगड़ता है, जैसा कि वमन को देखकर। वमनको देखकर और वमन होता है। श्रीकरमैतीजीने संसार के विषयोंको वमन की तरह त्याग किया, फिर भूलकर भी उधर नहीं देखा। बिना ऐसे वैराग्य के पति-त्याग निन्दनीय है (देखो व्याख्या छ० १४२)

शेषावति नृप के पुरोहित की बेटी जानौ, वास हो खँड़ेला करमैती सो बखानियै।
बस्यौ उर स्याम अभिराम कोटि काम हूँ ते, भूले काम धाम सेवा मानसी पिछानियै।।
बीत जात जाम तन वाम अनुकूल भयौ, फूलि फूलि अङ्ग गति मति छबि सानियै।
आयौ पति गौनो लैन भायौ पितु मातु हिये, लिये चित चाव पट आभरन आनियै।।५८४

शब्दार्थ—करमैती=कर।—कर लिया है, मैती=मित्रता, मैत्री, भगवान से जिसने। पिछानियै=पहिचानिये। वाम=स्त्री।

भावार्थ—श्रीकरमैतीजी शेखावत राजाके पुरोहित श्रीपरशुरामजीकी लड़की थीं। इनका निवास स्थान खँडेला (राजस्थान) था। करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक मनोहर श्रीश्याम-सुन्दर श्रीकरमैती बाईके हृदय में बस गये थे। इसलिए ये घर और घरके काम-काज सब भूल गई थीं। नित्य भगवानकी मानसी-सेवा करती थीं। जब ये ध्यान लगाकर बैठ जातीं तो कई प्रहर बैठे ही बैठे बीत जाते। यद्यपि आपका शरीर स्त्री जातिका था, परन्तु वह भाव-भजन के सर्वथा अनुकूल हो गया। अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रेम से प्रफुल्लित हो गये थे। मन और बुद्धिकी वृत्ति

सर्वदा श्रीकृष्णकी शोभामें पगी रहती थीं। विवाह हो चुका था। उसके कुछ दिन बाद आपके पतिदेव गौना कराने के लिये आये। इनसे इनके पिता-माता के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बड़े चाव के साथ वस्त्र और आभूषणों का संग्रह करने लगे।।५८४।।

पुरोहित की बेटी—राजसुखोंसे परिपूर्ण घरको छोड़ा अतः वैराग्य प्रशंसनीय हुआ। कोई कङ्गाल घर छोड़े तो लोग कहेंगे कि भोजन-वस्त्रके अभावमें छोड़ दिया होगा अतः इनको पुरोहित की बेटी कहा। खँड़ेला जयपुर के अन्तर्गत है।

बस्यौ उर स्याम—श्रीकरमैतीजीके निर्मल मनमें श्यामसुन्दर मनमोहन स्वयं बस गये थे, पवित्र हार्दिक भावों पर रीझकर, उन्होंने बसाया नहीं था। अब विचारी भोली बालिका क्या करे, चितचोरने चित्त चुरा लिया। श्रीलीलाशुक कहते हैं—

माधुर्यादपि मधुरं मन्मथ तातस्य किमपि कैशौरम्।
चापल्यादपि चपलं चेतो मम हरति हन्त किं कर्मः।। (कृ० क०)

अर्थ—श्रीकृष्णकी किशोरावस्था, जो कि मधुरसे भी मधुर और कामदेवस्वरूप है, मेरे चञ्चल से भी चञ्चल चित्तको चुरा रही है, अहो ! मैं क्या करूँ। 'अभिराम कोटि कामहू ते' 'साक्षान्मन्मथमन्मथः।' (भा० दशमे) मनको मथने (क्षुब्ध) करने वाले कामदेव के मन को भी मथने वाले श्रीकृष्ण हैं। ऐसे प्रभु को देखते ही भक्त उन्हें हृदय में बसा लेता है।

कनककमलमालः केशिकंसादिकालः समरभुवि करालः प्रेमवापीमरालः।
निखिल भुवनपालः पुण्यवल्ली प्रवालः वसतु हृदि मदीये सैव गोपालबालः।।

अर्थ—जो सुवर्णमय कमलकी माला धारण करते हैं, केशी और कंस आदिके काल हैं। रणभूमिमें अति विकराल हैं, प्रेम-वापिकाके राजहंस हैं, समस्त लोकोंके प्रतिपालक हैं और पुण्यलताके नूतनपल्लव हैं, वे ही बाल-गोपाल मेरे हृदय में वास करें।। 'भूले काम' अर्थात् संसारी इच्छाओंका अत्यन्ताभाव हो गया। पुनः—माता घरके किसी कामको कहतीं, ये करना भी स्वीकार करतीं, परन्तु मनका श्रीकृष्णमें लय होने के कारण उसे भूल जातीं। मानसी-सेवामें मग्न रहतीं। सायं हुई या सबेरा यह पता नहीं चलता। 'करिया सुत नन्द रायको याकी लीला नित्त। ताही को यह डसत है जाको निर्मल चित्त।।' भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके पूर्व प्रबल-संस्कारों के बिना ऐसा त्यागमय प्रेम प्राप्त होना असम्भव है। जैसे कोई अपने घरमें किसी वस्तु को रखकर परदेश जाता है, अधिक दिनों के बाद भी वापस घरमें आता है तो अन्धेरे घरमें घुसकर अपनी वस्तुको उठा लाता है। ऐसे ही पूर्वजन्मके भजनके प्रभावसे

दूसरे जन्ममें स्वाभाविक प्रेम होता है, जैसे कि श्रीभरतजीको मृग शरीर में भी पूर्वजन्मका विवेक यथावत् बना रहा। अन्त समयमें हरये नमः कहकर मृग शरीर छोड़ा। इसी प्रकार पूर्व-संस्कारवश श्रीकरमैतीबाईको भी बाल्यकालमें ही प्रभु श्रीकृष्णमें अनुराग हो गया। पिताजी विद्वान् राजपुरोहित थे अतः घरमें भी अनुकूल वातावरण था। घरके एकान्त-स्थलमें श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई 'हा नाथ ! हा नाथ!' कहकर पुकारा करतीं। प्रेमावेशमें कभी रोतीं, कभी गातीं, कभी हँसतीं और उच्चस्वर से नाम-सङ्कीर्तन करने लगतीं।

तन वाम अनुकूल भयौ—चून दीप तिरिया तन आहीं। घर मूषक बाहिर शुन खाहीं।। पुरानी टिप्पणी में लिखा है कि स्त्रीका शरीर आटेके दीपकके समान है घरके भीतर चूहोंसे और बाहर कुत्तोंसे उसे डर है, तात्पर्य यह कि उसको भीतर, बाहर, सर्वत्र, भय है अतः स्त्री शरीर वैराग्यके, घर-परिवार त्यागकर वनमें रहनेके लिए अनुकूल नहीं है। परन्तु श्रीकरमैती को भगवत्कृपासे वह अनुकूल हो गया। घरमें रहकर सभी को सन्तुष्ट रखना और भगवद्-भजन करना दोनों सम्भव नहीं हैं। ब्रज-गोपियोंने महारास के प्रसङ्गमें कहा—घरके लोगोंको सन्तुष्ट रखना मेढ़क तौलनेके समान दुष्कर है। एक को पकड़कर रक्खो तो दो कूद जाते हैं। कभी सास, कभी ससुर, कभी नन्द, कभी देवरानी, जेठानी रूसती हैं अतः आप अपनी शरणमें रक्खो।

फूलि फूलि अङ्ग०—इन्होंने अपनी मतिकी गतिको श्रीकृष्णकी शोभामें इस प्रकार घोल दिया था कि वह वहाँसे हटाने पर भी नहीं हटती। तात्पर्य यह कि सर्वदा प्रभु छवि नेत्रोंके सामने रहती थी अतः प्रसन्नताके वेगसे शरीर पुलकित रहता था। दो०—पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोय। सर्वभाव भज कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोय।। (रा०)

पर्‍यौ सोच भारी कहा कीजिये विचारी, हाड़ चाम सों सँवारी देह रति के न काम की।
तातें देवौ त्यागि मन सोवै जनि जाग अरे, मिटै उर दाग एक सांची प्रीति स्याम की।।
लाज कौन काज जोपै चाहै ब्रजराज सुत, बड़ोई अकाज जोपै करै सुधि धाम की।
जानी भोर गौनो होत सानी अनुराग, रङ्ग, सङ्ग एक वही चली भीजी मति बाम की।।५८५

शब्दार्थ—सँवारी=सजाई, बनाई। दाग=मल, दुर्वासना।

भावार्थ—गौनेकी चर्चा सुनकर श्रीकरमैतीजी बड़े सोच-विचारमें पड़ गईं कि—अब हमको क्या करना चाहिए। हड्डी और चमड़ेसे बना यह मानव शरीर प्रेम करनेके योग्य नहीं है अतः इसको त्याग देना चाहिए। पुनः श्रीकरमैतीजी अपने मनको समझाती हुई कहने

लगीं। 'अरे मन! अब तू मत सो, जाग जा। जागने से ही तेरे भीतरके मैल धुलेंगे। श्रीश्यामसुन्दरकी प्रीति ही सच्ची और सुख देने वाली है। संसारमें प्रीति मिथ्या और दुःख देने वाली है। यदि ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको प्राप्त करने की चाह है तो लोक-लज्जा की क्या आवश्यकता ? अब यदि मैं धन-धाममें मोह करती हूँ, तो बड़ा अकाल होगा अर्थात् सब काम बिगड़ जायगा। श्रीकरमैतीजीने जान लिया कि कल प्रातःकाल गौना (विदा) होना है। इन्होंने मनमें पतिदेवके साथ न जाने का निश्चय किया, क्योंकि ये पूर्णरूपसे कृष्णानुरागके रङ्गमें रङ्गी हुई थीं। इनके साथ वही एक श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही थे और कोई न था। श्रीकरमैतीजी की बुद्धि भक्तिरससे सरस हो गई थी अतः घरसे निकल पड़ीं।।५८५।।

व्याख्या—हाड़ चाम सों सँवारी—हड्डी, चमड़ा, मेद, मांस, मज्जा, मल और मूत्रके अतिरिक्त इस शरीरमें कुछ और नहीं है। सुन्दरदासजी कहते हैं—

जा शरीर मांहि तू अनेक सुख मानि रह्यौ, ताहि तू विचारि यामें कौन बात भली है।
मेद मज्जा मांस रग रग में रकत भरो, पेट हू पिटारी-सी में ठौर ठौर मली है।।
हांडन सो भरो मुख हांडन के नैन नाक, हाथ पांव सोऊ सब हांडन की नली है।
'सुन्दर' कहत याहि देखि जनि भूलै कोई, भीतर भण्डार भरीं ऊपर तो कली है।।

देह रति के न काम की—नाशवान शरीर प्रेमके योग्य नहीं, मीराने कहा—'ऐसे बर कूं के बरूँ जो जनमै औ मर जाय। बर बरिये गोपालजी म्हारो चूड़लो अमर ह्वै जाय।।' लैकिक पति हाड़ चाम का है, श्रीकृष्ण दिव्य वपु हैं। अतः प्रेम के योग्य हैं।

जा शरीरमें बसत निरन्तर वात पित्त कफ खांसी।
ताहि भुलाइ हरिहिं दृढ़ गहिये मिटै जगत की फांसी।। (हरिराम व्यास)

मन सोवै जनि जाग—दो०—रे मन चेतन होइके करिले अपनो काम। चूकि गये पछितायगो छन न मिलै विश्राम।। जागना क्या है इस प्रसङ्ग को छं० १५१ जोगी जग जागै की व्याख्या में देखिये। श्रीकरमैतीजीने मन सहित सभी इन्द्रियोंको शिक्षा दी—

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं,
पाणि द्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचन द्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रि युग्मालयं,
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाधोक्षजम्।। (सू० सु०)

भावार्थ—हे जिह्वे! केशवका कीर्तन कर, चित्त! मुरारिको भज, युगलहस्त! श्रीधर की अर्चना करो, हे दोनों कान! तुम अच्युतकी कथा श्रवण करो, नेत्रो! श्रीकृष्णका दर्शन करो, दोनों चरण! भगवानके स्थानोंमें भ्रमण करो, अरी नासिके! मुकुन्द चरणोंमें समर्पित तुलसीकी सुगन्ध लो और हे मस्तक! तुम भगवान अधोक्षजके सामने झुककर प्रणाम करो। पुनः—मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है अतः उसे शिक्षा दी।

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्,
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै,
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति।। (सू० सु०)

भावार्थ—रे चित्त! मैं तेरे हितकी बात बताता हूँ कि वृन्दावन में गौओंको चराने वाले किसी नवीन मेघके समान श्यामसुन्दर पुरुषको मित्र न बना लेना नहीं तो वह सौन्दर्यामृत बरसाने वाली मधुर मुस्क्यानसे तुम्हें सब प्रकार मोहित करके, तुझे और तेरे प्यारे संसारी विषयोंको शीघ्रही नष्ट कर देगा। तात्पर्य यह कि लौकिक विषयोंको नष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णको ही अपना मित्र बनाओ।। शास्त्र और सन्तोंने सोने वाले अज्ञानियों से कहा—

गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोष श्रुतवता,
स्ववेशमन्यारक्षा क्रियत इति मार्गोऽयमुचितः।
नरान्गेहाद् गेहाद् प्रतिदिवसमाकृष्य नयतः,
कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जनाः।। (सू० सु०)

अर्थ—पड़ोसीके घरमें चोरी हो गई, यह सुनते ही शीघ्र अपने घरकी सुरक्षाका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है परन्तु प्रतिदिन घर-घरसे प्राणियोंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी डर नहीं लगता? अतएव हे मनुष्यो! अब भी जग जाओ, सावधान हो जाओ।। पद—मन हठ छांड़ि दे यह टेव। कुटिलई अविवेक बूड़त विकट कलि की रेव।। हितू जानै कहत तोसों भेद यह निज भेव। विषय तजि वैराग कर अनुराग हरि की सेव।। ब्राह्मन सो असुर जन्म सिरोमनि बन्दनी अन्तेव। सांवरो सतभाव भज बिच कुञ्ज देवी देव।। मानुषी तन मत मरन कौं यह बड़ौ लाहा लेव। श्रीबिहारीदास विश्वास गावो सुजस नाम निषेव।। 'साँची प्रीति स्याम की' श्रीकरमैतीजीने जब अपने पितासे रास-पञ्चाध्यायीकी कथा सुनी। तभीसे वे समझ गईं की सच्चे पति तो श्रीकृष्ण ही हैं और वे ही प्रेमको निभाने वाले

हैं। प्रीति की रीति रङ्गीलोई जानै। ब्राह्मण हूँ, राज पुरोहित की बेटी हूँ, लोग क्या कहेंगे। ऐसी 'लाज कौन काज' क० ५४८ की व्याख्या देखिये। 'बड़ोई अकाज' मन पछितैहै अवसर बीते। बुझै न काम अगिनि तुलसी जिमि विषय भोग बहु घीते।। (पूरा पद देखिये तृ० खं० ५७६) 'भीजी मति'—लगन जिसकी लगी पूरी उसे फिर कौन अटकावे।। (ब्रह्मानन्द) सरस अनुराग एवं पूर्ण वैराग्यके बिना त्याग सम्भव नहीं। इस पर—

दृटान्त—एक वैश्य का—एक सड़क पर बैठे एक वैश्य सज्जन रो कर कह रहे थे कि अब मैं घर वालोंका मुख न देखूंगा, तभी एक सन्त वहाँ होकर निकले। रोतेको दुःखी जानकर दया आई। सन्तने समीप जाकर पूछा—'आपको क्या कष्ट है बताओ मैं उसे दूर करने का यथा-सम्भव प्रयत्न करूँगा। आप रोइये मत।' वैश्यने कहा—हमारी स्त्री और पुत्रोंने हमको मार-पीटकर घरसे निकाल दिया है। मैंने बड़े परिश्रमसे उनके लिऐ हबेली बनवाई, बहुत-सा सोना-चाँदी आदिका खूब संग्रह कर दिया। वे सर्वस्वके ऊपर अपना अधिकार करके अब बुढ़ापे में मुझे घरसे निकाल रहे हैं।' सन्तने कहा—तुम मेरे साथ चलो और मेरे आश्रम में रहना। तुमको कोई कष्ट नहीं होगा, आरामसे भोजन-भजन करना, और कोई काम तुमको नहीं करना पड़ेगा। वैश्यने कहा—आप चुप रहो, अपना रास्ता पकड़ो। हमारा घर, हमारी स्त्री और हमारा पुत्र है। अपनेके द्वारा अपमानित होकर भी उसे छोड़ा नहीं जाता है। उन्होंने मारा-पीटा जो भी कुछ किया, वह सहने योग्य है क्योंकि वे अपने हैं। मैं तो ऊपर मनसे रो-रोकर कुछ कह रहा था। यह सुनकर सन्तने मायादेवीको धन्यवाद दिया और चले गये। श्रीकरमैतीजी को मालूम पड़ गया था, कि ससुराल वाले भक्त-भगवानको नहीं मानते वे वैष्णवों-सन्तोंके विरोधी हैं। वहाँ प्यारे श्यामसुन्दरकी सेवाका अवसर नहीं मिलेगा। मन और तनको विषयों में ही लगाना पड़ेगा। यह सोचकर वे अधीर हो उठीं, भगवत्स्मरणकर रोने और प्रार्थना करने लगीं—'प्रभो! इस विपत्तिसे आप ही बचाओ, अपनी दासीको विषय और विषयी लोगोंकी दासी न बनाओ। किसी प्रकार ब्रजधाममें पहुँचा दो।' अकस्मात् इनके मनमें स्फुरणा हुई और इन्होंने निश्चय किया कि सब कुछ त्यागकर चल देना है। आगे रक्षा करना प्रभुका काम है।

आधी निसि निकसी यों बसी हिये मूरति सो, पूरति सनेह तन सुधि बिसराई है।
भोर भये सोर पर्‌यौ पर्‌यौ पितु मातु सोच, कर्‌यौ लै जतन ठौर ठौर ढूँढ़ि आई है।।
चारों ओर दौरे नर आये ढिग ढुरि जानि, ऊँट के करङ्क मध्य देह जा दुराई है।
जग दुरगन्ध कोऊ ऐसी बुरी लागी, जामें वह दुरगन्ध सो सुगन्ध सी सुहाई है।।५८६

शब्दार्थ—पूरति=पूर्ण करती हुई, भरती हुई, पूरित हुई, पूरित, पूर्ण। करंक=पञ्जर, कङ्काल, हड्डियों का ढांचा। दुराई=छिपाई। सुहाई=अच्छी लगी।

भावार्थ—इस प्रकार श्रीकरमैतीजी सबके सो जाने पर आधी-रातको घरसे निकलीं। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी मधुर-मूर्त्ति बस गई थी। इसलिए मन-तनमें स्नेह भरा था और शरीरकी सुधि भूल गई थीं। प्रातः होते ही गाँव-घरमें सर्वत्र शोर मच गया कि—'करमैती का पता नहीं है।' माता-पिताको बड़ा-भारी दुःख हुआ, उन्होंने जहाँ-तहाँ ढूंढ़ा तथा पता लगाने के अनेक उपाय किये। बहुत से लोग चारों ओर दौड़े। जब श्रीकरमैतीजीने देखा कि मुझे ढूंढ़ने वाले लोग अब बिल्कुल समीप आ गये हैं, तब उन्होंने वहीं पर मरे पड़े हुए एक ऊँटके कङ्कालमें अपने शरीरको छिपा दिया। उन्हें विषयी संसारकी दुर्गन्ध ऐसी खराब लगी कि उसकी तुलनामें ऊँटके कङ्काल की वह सड़ी, दुर्गन्ध, सुगन्धके समान अच्छी लगी।। ५८६ ।।

व्याख्या—बसी हिये मूरति सो—श्रीकरमैतीजी कभी घरसे बाहर नहीं निकली थीं। सहज भीरु स्त्री उसमें भी १५-१६ वर्षकी बालिका, तब आधी-रातको अकेले कैसे चलीं। तो कहते हैं कि 'बसी हिये मूरति सो'। जिसे क० ५८४ में कह आये हैं कि बस्यौ उर श्याम। उसी श्याम मूर्त्ति के प्रकाशमें चलीं। सनेह है चिकनाई, घी या तेल। उससे भरी मसाल श्याम मूर्त्ति प्रकाश करने वाली है। यदि कोई कहे कि श्यामतामें प्रकाश कहाँ ? तो उसका समाधान है कि यह श्यामसुन्दर ऐसा ही है कि करोड़ों सूर्य-चन्द्रसे विलक्षण एवं अधिक प्रकाश वाला है, उसीके दिव्य प्रकाशमें चलीं। श्यामता पर—

दृष्टान्त—बादशाहका—एकबार दिल्लीका बादशाह शाहजहाँ विद्वानों और कवियों के मुखसे श्यामसुन्दरकी बड़ी प्रशंसा सुनकर बोला कि तुम लोग झूठ बोलते हो, श्यामतामें सुन्दरता कहाँ ? काला तो कुरूप होता है। दरबारी प्रवीण विद्वानोंने कहा यह श्याम भी है और सुन्दर भी, तीनों लोकोंमें इससे अधिक और कोई दूसरा सुन्दर नहीं है। यह सुनकर बादशाहने बड़े-बड़े चित्रकारोंको बुलाया और उनसे कहा तुम श्यामसुन्दरका ज्यौंका त्यौं एक-एक चित्र बनाओ। चित्रकारोंने उनको देखा तो था नहीं, लोगोंके द्वारा वर्णितका श्रवण करके अनुमान से सभीने चित्र बनाया। बादशाहने सभी चित्रोंको देखा, उनमें एकता नहीं थी और सभी में एक न एक त्रुटि बादशाहको दिखलाई पड़ी। तब उसने सभीको अयोग्य कहकर कारागारमें बन्दकर दिया। बादशाहकी बेगम का नाम नूरजहाँ था, वह अत्यन्त चतुर थी। उसने चतुराई से निरपराध चित्रकारोंको बन्धनसे छुड़ाया।

एकदिन बादशाहके दरबारमें काश्मीरसे बहुत वेश कीमती इत्र आया। बादशाहने उसे सूंघा तो उसे बहुत अच्छा लगा। उसने बेगमको भी सूंघनेके लिए दिया। बेगमने सूंघकर नाक सिकोड़ी और इत्रको फेंककर कहा—इसमें तो प्याजकी बदबू आ रही है। आश्चर्यचकित बादशाहने पता लगाया पर प्याजसे इत्रके प्रभावित होनेका पता नहीं लगा। तब बेगमने कहा कि इत्र जहाँ से आया है, वहाँ चतुर गुप्तचर भेजकर पता लगवाओ। बादशाहने ऐसा ही किया तो काश्मीरसे समाचार आया कि ठीक है, जिन फूलोंसे इत्र बना, वे फूल जब आये तो प्याज वाली टोकरी में रक्खे गये थे। बादशाह बेगमकी चतुराई पर बहुत प्रसन्न हुआ। अवसर पाकर बेगमने कहा कि आपने चित्रकारों को क्यों बन्दकर रक्खा है, उन्हें छोड़ दीजिये। बादशाहने कहा—ये लोग श्यामसुन्दरका हू–बहू चित्र नहीं बना सके अतः बन्द हैं। बेगमने कहा—उनका चित्र बनाना सहज नहीं है, बहुत कठिन है, या यों कहिये कि असम्भव है। पहले आप वैसा रङ्ग मँगवाकर दीजिये। जितने रङ्ग हैं, ये सब तदनुरूप नहीं है। कैसा रङ्ग चाहिए यह पूछने पर बेगमने कहा—आँख की पुतरीका रङ्ग कुछ-कुछ मिलता है, वैसा रङ्ग मँगाइये तो शायद चित्र बन जाय। बादशाहने सोच-विचारकर कहा—ठीक-ठीक वैसा रंग तो नहीं मिलेगा। बेगमने कहा तो फिर चित्र कैसे बनेगा। प्रसन्न होकर बादशाहने चित्रकारों को मुक्त कर दिया। तात्पर्य यह है कि उनके दिव्य-चित्र भक्तके हृदय और नेत्रोंमें बन पाते हैं। करमैतीजीके नेत्रोंमें श्यामसुन्दरकी शोभाका दिव्य प्रकाश था। उसीमें घरसे निकलीं।

दो०— दृग पुतरी लौं श्याम वह लिख्यौ कौन पै जाय।
जगत उज्यारी श्यामता देखौ जिन्हें लखाय।।

करमैतीजी अकेली होती तो उन्हें भय लगता, 'बसी हिये मूरति सो' श्यामसुन्दर साथमें थे। पुनः—हृदय प्रेमसे पूरित अर्थात् लबालब भरा हुआ था, इससे इन्हें अपने शरीरकी भी सुध न थी। तब संसारका मोह और भय कैसे व्याप सकता था।

मनमोहन मूरति आय बसी मन में अब और न बूझि परै।
जग ज्वाल जरै निस द्यौस मरै धनश्याम बिना नहिं बूझि परै।।
जग पावक ते न तपै कबहूँ विरहानल ते वह जूझि परै।
बनि 'बावरिया' वन डोलत तासु दसा न समुझि परै।। (भ०व०टि०)

भोर भये सोर पर्‌यौ—ब्रह्म-मुहूर्तमें करमैतीका मधुर पद-कीर्तन नित्यकी भाँति माताको

नहीं सुनाई पड़ा। पलंग पर भी न देखकर टोला-मुहल्लामें भी माताने खोज की। समाचार सुनकर पिताजी समझ गये कि वह अनुराग-विरागके आवेशमें ही कहीं भगी है पर लोग तो कलङ्क ही लगावेंगे अतः उन्होंने अपने यजमान राजासे जाकर कहा। उसने फौरन सेना-सिपाही घुड़सवार और पैदल बहुत बड़ी संख्यामें चारों ओर दौड़ाये। घोड़ोंकी टापोंका शब्द सुनकर छिपनेका विचार हुआ, परन्तु वहाँ न कोई पहाड़ और न कन्दरा न झाड़ी न जङ्गल। लम्बा-चौड़ा रेगिस्तानका खुला मैदान। करंक की दुर्गन्ध पाकर बे-धड़क उसीके पास गईं। सियार-गीधने पेट फाड़कर मांस खा लिया था। ऊँट का पेट खोह बन गया था। उसीमें छिप गईं।

दुरगन्ध सो सुगन्ध-सी—विषयोंसे बचाने वाली थी अतः अच्छी लगी। प्रेमोन्मत्ता भक्ता-बालिकाके लिए प्रभु-कृपासे वह दुर्गन्ध महान् सुगन्ध बन गई। जिसकी कृपासे अग्नि शीतल, विष अमृत बन जाता है, उसकी कृपासे दुर्गन्ध का सुगन्ध बन जाना कौन बड़ी बात है। काले नागसे डसे गये को कडुबी नीम मीठी लगती है। कृष्ण-सर्पने करमैती को सूंघ लिया है अतः संसारियों को प्रिय लगने वाले विषय इन्हें कडुबे लगे और दुर्गन्ध सो सुगन्ध सी सुहाई है।

विषय वासना संसृतिकारी। सेवत जनम अनेक न हारी।।
श्याम वियोग करावनि हारी। याते भक्त जनन दुःखकारी।।
यहि ते रच्छै सोई प्यारी। दुरगन्धहु सुगन्ध सुखकारी।। (भ०वि०टि०)

बीते दिन तीन वा करङ्क ही में सङ्क नहीं, बङ्क प्रीति रीति यह कैसें करि गाइयै।
आयौ कोऊ सङ्ग ताही सङ्ग गङ्ग तीर आई, तहां सो अन्हाई दै भूषन वन आइयै।।
ढूंढ़त परसराम पिता मधुपुरी आये, पते लै बताये जाय माथुर मिलाइयै।
सघन विपिन ब्रह्मकुण्ड पर बर एक चढ़ि करि, देखी भूमि अँसुवा भिजाइयै।। ५८७

शब्दार्थ—बंक=टेढ़ी, उलटी। वन=वृन्दावन। माथुर=मथुरा के चौबे। सघन=अति घना। बर=वटवृक्ष।

भावार्थ—श्रीकरमैतीजीको ऊँटके कंकाल में ही रहते हुए तीन दिन व्यतीत हो गये। उनके मनमें जरा-सी भी शङ्का नहीं हुई। इसलिए कि प्रीति कि रीति ही बांकी है। कैसे कोई उसका वर्णन कर सकता है। तीन दिनके बाद चौथे दिन ऊँटके कंकालसे निकलकर चलीं, तो आपको तीर्थ-यात्रियोंका साथ मिल गया। उनके साथ आप श्रीगंगाजीके किनारे

आईं। वहाँ स्नानकर आपने अपने सब आभूषण ब्राह्मणोंको दान कर दिये। उसके पश्चात् आप श्रीधाम वृन्दावनको आ गईं। आपके पिता श्रीपरशुरामजी आपको ढूंढ़ते हुए मथुरा आये। वहाँ लोगोंने श्रीकरमैतीजीका पता बताया। तदनुसार मथुराके पण्डोंके साथ आप श्रीवृन्दावनको गये। उन दिनों ब्रह्मकुण्ड पर अत्यन्त घना जङ्गल था। वहाँ एक वटवृक्षके ऊपर चढ़कर देखनेसे श्रीकरमैतीजी दिखलाई पड़ीं। वे प्रिय-विरहमें बैठी रुदन कर रही थीं। उनके आँसुओं से वहाँ की पृथ्वी भीग गई थी।। ५८७।।

व्याख्या—बंक प्रीति रीति—'प्रेम सरोवर की लखी उलटी गति जग माहिं। जो डूबे तेई तरे तीर खड़े भव माहिं।। काम क्रोध भय लोभ मद सबन करत लय जोय। मोह ज्ञान द्वौ तैं परे प्रेम भाषियत सोय।। प्रीति की रीति अनीति सी प्रीति करौ मति कोय। सुख दीपक कैसे बरे विरह नाग जहँ होय।।' जो संसारीजनोंको अनुकूल हैं, वे ही सारे विषय प्रेमीजनोंको प्रतिकूल प्रतीत होते हैं और जो विषय संसारियों के लिए प्रतिकूल हैं, प्रेमियोंके लिए वही अनुकूल होते हैं। अतः यह प्रीति की रीति अवर्णनीय है, केवल प्रेम करके ही उसका अनुभव किया जा सकता है।

ताही सङ्ग गङ्ग तीर आई—धार्मिक तीर्थ-यात्रियोंका समूह था, उसके साथ आप सोरों (शूकरक्षेत्र) गङ्गा तट पर आईं। ऊँटके खोलमें जो गीध आदि से सेवित था, उसमें रही थीं अतः मनमें ग्लानि थी फिर यही उचित प्रतीत हुआ कि प्रथम गंगा स्नान से पवित्र होकर श्रीवृन्दावनमें प्रवेश करूँ। 'दै भूषन वन आइयै' स्नानके बाद दान की विधि है अतः आभूषणोंका दान करके श्रीगंगाजीसे और ब्राह्मणोंसे श्रीकरमैतीजीने श्रीकृष्ण प्रेम और श्रीवृन्दावनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। सोनेमें कलिका वास और उससे अनेक संकटोंकी आशंका रहती है अतः उसका त्यागकर निडर हो गई। भूषण त्याग पर—

दृष्टान्त—श्रीविदुरजीका—श्रीविदुरजी धर्मनीतिकी बात कहते थे, इससे दुर्योधनने इनको पाण्डवोंका पक्षपाती मानकर भरी सभामें इनका तिरस्कार किया। साधु-स्वभावसे सहर्ष इन्होंने उस दरबारका त्याग किया। धुनष-बाण, मुकुट और राजवस्त्र, राजद्वार पर रखकर वनको चले गये। धनुषको इसलिए त्यागा कि पास रखने पर ये लोग यही समझेंगे कि विदुर पाण्डवोंके पक्षसे लड़ेंगे। कौरव पक्षके त्याग का कारण यह है कि इन्हें श्रीकृष्ण छोड़ चुके हैं, अतः ये हैं तो चक्रवर्ती परन्तु मृतकके तुल्य हैं। इनके गृह में कुशल नहीं है अतः इनका त्याग किया। पुनः अब हम वनों और तीर्थोंमें विचरेंगे उसके अनुरूप वेश रहना चाहिए। अस्त्र-शस्त्र राजा या बधिकके चिन्ह हैं, अतः त्याग किया। उसी प्रकार श्रीकरमैतीजीने विचारा कि जब तक

शरीर पर आभूषण रहेंगे, तब तक दुष्ट-विमुख इन्हें लेनेकी इच्छा करेंगे, इनके न रहने पर मेरी ओरनहीं देखें। पुनः—आभूषण कामके आयुध हैं, वह काम है तो विश्वविजयी और चक्रवर्ती परन्तु भक्तोंकी दृष्टिमें मृतक तुल्य है, फिर भी उससे सम्बन्धित ये आभूषण त्याज्य है। वैराग्यमें शृङ्गारके स्वांग की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार आश्रमके अनुरूप वेशभूषा उचित समझकर आभूषणोंका त्याग किया।

पिता मधुपुरी आये—पुत्रीके ब्रज-प्रेमसे परिचित थे अतः श्रीपरशुरामजी समझ गये कि वह मथुरा-वृन्दावनमें ही होगी। उन दिनों वृन्दावन वन ही था यत्र-तत्र सन्तोंकी भजन कुटीरें और वन्य पशु-पक्षी ही थे। एक मालिन नित्य वृन्दावन में फूल लेने आती थी। उसने करमैतीजीको देखा और इनकी प्रेम दशाका वर्णन मथुरामें कई लोगोंसे किया। परशुरामजी मथुरा आकर अपने पण्डा चतुर्वेदीके यहाँ ठहरे। पूछने पर लोगोंने बताया कि हाँ कुछ दिनोंसे एक प्रेम-पागलिनी लड़की वृन्दावन में है। चतुर्वेदी ब्राह्मणोंके साथ वृन्दावन में आकर ढूंढ़ने लगे। वनकी सघनतासे खोज करना कठिन था अतः वृक्षों पर चढ़-चढ़कर इधर-उधर देखने लगे।

ब्रह्मकुण्ड—श्रीवृन्दावन में श्रीरङ्ग मन्दिरके निकट यह परम प्राचीन पवित्र तीर्थ है। यहीं पर वत्स-हरणके बाद श्रीब्रह्माजीने श्रीकृष्णकी स्तुति की, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करके क्षमा-याचना की। तभीसे यह तीर्थ इस लीलाका स्मारक है।

देखी—पुरानी टिप्पणीमें लिखा है कि मूर्त्तिमती तपस्याके समान ध्यानमग्न श्रीकरमैतीजी बैठी हैं। सर्प, बीछू, बाघ-भेड़िया, हिरन, मयूर आदि पशु-पक्षी इतस्ततः बैठे मानो पहरा दे रहे हैं। सम्पूर्ण शरीरमें ब्रजरज लगी है। सिरके केशोंसे बना आड़बन्द कमर में लिपटा है। वटसे गिरे पत्तोंकी पत्तलें कौपीनके स्थान पर हैं। यहाँ यदि कोई यह कहे कि विरक्तोंके लिए बल्कल वस्त्र धारण करनेकी विधि है। उसे इन्होंने क्यों नहीं धारण किया। उसका हेतु यह है कि इन्होंने विचारा कि श्रीधामके सभी वृक्ष, लता आदि दिव्य-चैतन्य हैं और भक्त- भगवत्स्वरूप हैं। इनकी त्वचा उखाड़नेसे इन्हें कष्ट होगा अतः बल्कल नहीं लिए। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीगोपालजीका—एकबार इनके फोड़ा हो गया, किसीने कहा कि बबूलकी हरी पत्ती तोड़कर लाओ और पीसकर फोड़े पर बाँध दो, तो जल्दी ही ठीक हो जायगा। तब श्रीगोपालदासजीने कहा कि वृक्षोंमें भी प्राण होते हैं, उसके पत्ते तोड़ने में उसे कष्ट

होगा। अपने सुखके लिए किसी दूसरेको कष्ट देना अनुचित है। साधु वृक्षादिकोंको भी कष्ट नहीं देते हैं। इसीसे करमैतीजी नित्य पेड़से गिरे पत्तोंके वस्त्र धारण करतीं।

भूमि अँसुवा भिजाइयै—श्रीकृष्णके दर्शनों से हृदय ही पिघलकर नेत्रोंसे बहने लगा। यथा—चन्द्रोदये चन्द्रकान्तो यथा सद्यो द्रवी भवेत्। कृष्ण भक्त्युदये प्रेम्णा तथैव आत्मा द्रवी भवेत्।। (सू० सु०) अर्थ—चन्द्रमाके उदय होने पर जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि स्वयं द्रवीभूत हो जाती है, उसी प्रकार कृष्ण-भक्तिके उदय होने पर चित्त प्रेमसे पिघल जाता है। निरन्तर दर्शनसे निरन्तर अश्रुपात होता था 'भक्तिरस रूप कौ स्वरूप यहै छवि सार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है।।' (क० ९) इससे सिद्ध हुआ कि इनके हृदयमें रसरूपा भक्ति थी।

उतरिकै आय रोय पांय लपटाय गयौ, कटी मेरी नाक जग मुख न दिखाइयै।
चलौ गृह वास करौ लोक उपहास मिटै, सासु घर जावौ मत सेवा चित लाइयै।।
कोऊ सिंह व्याघ्र अजू वपु कों विनास करै, त्रास मेरे होत फिरि मृतक जिवाइयै।
बोली कही सांच बिन भक्ति तन ऐसो जानौ, जोपै जियौ चाहौ करौ प्रीति जस गाइयै।। ५८८

शब्दार्थ—कटी नाक=इज्जत बिगड़ना, प्रतिष्ठा की हानि।

भावार्थ—श्रीकरमैतीजी के पिता वटवृक्ष से नीचे उतरकर आये। उन्होंने अपनी पुत्रीको देखा और उसके चरणोंमें लिपट गये। पुनः—धैर्य धारण कर बोले—'बेटी ! इस प्रकार गौनेके अवसर पर घरसे छिपकर तुम्हारे भाग आनेसे संसारमें मेरी नाक कट गई। मैं मुख दिखानेके योग्य नहीं रह गया। अब तुम चलकर घरमें ही रहो, जिससे संसारमें हमारी हँसी और निन्दा जो हुई है वह मिट जाय। तुम ससुरालको मत जाना, घर में रहकर भगवानकी सेवामें ही मन लगाना। यहाँ इस घोर वनमें कोई बाघ-सिंह तुम्हारे शरीरको नष्ट कर देगा। मुझे इस बातका बड़ा डर लग रहा है। अब सासुके यहाँ न जाना अपने घरको चलो और मृतप्राय मुझे तथा अपनी माताको जीवन दान दो।' यह सुनकर श्रीकरमैती बाईने कहा—पिताजी ! आपने सत्य कहा। बिना भगवद्भक्तिके शरीर मृतक ही समझिये। यदि आप जीवन चाहते हैं तो भगवानमें भक्ति और उनकी कीर्तिका गान कीजिये।। ५८८।।

व्याख्या—उतरिकै आय०—ध्यानस्थ पुत्रीके पास पिताजी लगभग दो घण्टा तक बैठे रहे पर समाधि नहीं खुली। तब पिताजीने उनके शरीरको हिलाया-डुलाया। ध्यान भङ्ग होते ही 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' कहती हुई उच्चस्वर से रोने विलापने लगीं। अश्रुओंके प्रबल-प्रवाह से वहाँकी भूमि भीग गई। कृष्ण-प्रेम को देखकर हर्ष, शरीर और वेशभूषा

को देखकर विषाद हुआ। पिताजी हर्ष-विषादके समुद्रमें डूब गये। इन्होंने अपने को परम धन्य माना। अपनी ओर ध्यान न देकर पिताजी पुत्रीके चरण पकड़कर रोने लगे। तब इन्होंने पिताजीको देखा।

कही कटी नाक—मैं राजाका पुरोहित हूँ, मेरी सारी प्रतिष्ठा धूलमें मिल गई। तुम इस घोर निर्जन वनके कष्टों को सहने योग्य नहीं हो। अभी मैंने अनेक हिंसक जन्तु देखे, अब मेरे यहाँ आनेसे सब इधर-उधर चले गये। इनके द्वारा शरीरकी हानि होने पर भजन में हानि हो जायेगी। 'कही साँच'—जो आपने अपने को मृतक तुल्य कहा सो सत्य है यथा—

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणु न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥

अर्थ—जिस मनुष्यने भगवद् भक्तोंके श्रीचरणोंकी रज कभी अपने सिर पर नहीं चढ़ाई, वह जीता हुआ भी मृतक है। जिसने भगवानके चरणोंमें चढ़ी हुई तुलसी की सुगन्धको लेकर उसकी बड़ाई नहीं की, वह श्वास लेता हुआ भी मृतक है॥ (भा० २-३-२३) जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत शव समान तेइ प्रानी॥ (रा०)

जीवत राम मुये पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जियै तुलसी जग में न त डोलत और मुये धरि देही॥ (क० ३६)

कही तुम कटी नाक कटै जोपै होय कहूँ, नाक एक भक्ति नाक लोक में न पाइयै।
बरस पचास लगि बिषै ही में वास कियौ, तऊ न उदास भये चबे को चबाइयै॥
देखे सब भोग मैं न देखे एक देखे श्याम, तातें तजि काम तन सेवा में लगाइयै।
रात तें ज्यौं प्रात होत ऐसे तम जात भयौ, दयौ लै सरूप प्रभु गयौ हिये आइयै॥ ५८९

शब्दार्थ—नाक=नासिका, स्वर्ग, प्रतिष्ठा। विषै=विषय, संसारी सम्पत्ति, इन्द्रियोंके भोग। उदास=खिन्न, विरक्त। चबे=भोगे हुए। चबाना=भोगना। तम=अज्ञान। सरूप=श्रीविग्रह।

भावार्थ—श्रीकरमैतीजी पुनः पिताजीसे बोलीं कि—आपने जो यह कहा कि—'मेरी नाक कट गई।' जब वह नाक कटे तो जब हो न, जब है ही नहीं, तो कटेगी क्या ? नाक अर्थात् प्रतिष्ठा तो केवल भगवद्-भक्ति है, (भक्तिहीन की कोई प्रतिष्ठा नहीं है) वह नाक लोक में भी दुर्लभ है। आप अपने मनमें विचारिये—पचास वर्षोंसे आप विषयों में आसक्त हैं, फिर भी आपको उनसे वैराग्य नहीं हुआ। चबे हुए को ही बार-बार चबा रहे हैं, अर्थात् भोगे

हुए विषयों को ही बार-बार भोग रहे हैं। मैंने सब भोगोंको देखते हुए भी उनको नहीं देखा, अर्थात् भोगते हुए भी नहीं भोगा। मैंने तो केवल एक श्यामसुन्दर को देखा है, अतः अब संसारकी ओर मेरी दृष्टि नहीं जा सकती। आप भी सब कामोंको छोड़कर भगवानकी सेवामें तन-मन और धनको लगाइये। श्रीकरमैतीजी के इस उपदेश को सुनकर पिता श्रीपरशुरामजी का अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो गया, जैसे प्रातःकाल होते ही अन्धकार दूर हो जाता है। जब वे घरको चलने लगे, तब श्रीकरमैतीजीने उन्हें एक कृष्ण भगवान की मूर्ति दी, उसे लेकर वे घरको चले आये। श्रीकरमैतीजीने जो कुछ कहा, वह उनके हृदय में आ गया अर्थात् उन्होंने उसे मान लिया।। ५८९।।

व्याख्या—कही तुम कटी नाक०—पिताजी आप बुरा न मानें, मेरी धृष्टताको क्षमा करें। नाक स्वर्गलोक में अमृतपान, विमानों की सवारी और अप्सराओंके भोग ही प्राप्त हैं, वहाँ भी भगवद्-भक्ति प्राप्त नहीं है। वे देवगण भारतमें जन्म लेकर भक्ति करने की इच्छा करते हैं। अतः भक्तिमय आचरण करने में ही प्रतिष्ठा है दोनों लोकोंमें। भक्ति के बिना सब प्रकार से सम्पन्न मनुष्य अप्रतिष्ठित है, नकटा है। यथा—

बुद्धि बड़ी चतुराई बड़ी सुख सुन्दरता तन सों लपटी है।
मान बड़ो धन धाम बड़ो यश कीरति हू जग में प्रगटी है।।
झूमत द्वार गजेन्द्र हजार सुरेशहुँ ते कछु नाहिं घटी है।
तुलसी इक राम सनेह बिना मानो सुन्दर नारि की नाक कटी है।।

एक भक्ति—एक अर्थात् प्रधान साधन और साध्य भक्ति ही है दूसरे साधनों में विघ्न है। इसके बिना सद्गति नहीं। यथा—'भगति बिन कूकर शूकर ह्वै हौं। दाँतन पूंछ कुरार पाछिले पाँयन मूड़ खुजैहौं।। साँझ भोर भटकत भँडियाई तउ न अहार अघैहौं। जहँ तहँ विपति विडारे मारे त्रसकारे कटि खैहौं।। मीरा मुए निगोड़े ह्वै हौं खसमै लाज लजैहौं। इह परलोक बिना परमारथ सब विधि बुरे कहैहौं।। कहा भयौ मानुष की आकृति उनते दूगुन खैहौं। बिहारीदास बिन भजन सांवरे सुख सन्तोष न पैहौं।।' भर्तृहरिजी कहते हैं—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती रोगाश्च शत्रवः प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्त्रवति भिन्न घटादिवाम्भौ लोकस्तथा प्यहितमाचरतीति चित्रम्।।

अर्थ—बाघिन की तरह सामने खड़ा बुढ़ापा भयभीत कर रहा है। शत्रुकी तरह रोग शरीर पर प्रहार कर रहे हैं। फूटे घड़ेसे जलकी तरह आयु दिन-दिन घट रही है, आश्चर्यकी बात है कि इतने पर भी मनुष्य पाप करता है।

बरस पचास लगि—श्रीअग्रदेवजी कहते हैं—'अगर आलकस जिनि करो दुर्लभ मानुस देह। ससा अँधेरी छाँड़ि दैं हरि भजि लाहो लेह।। हरि भजि लाहो लेह देह जिन राची तेरी। नातर जम के द्वार मूढ़ पैठे जु पवेरी।। नर तनु दुरलभ पाइ चेत चालै जो भाई। भूले जमपुर जाइ समझि ध्रुवलोक बसाई।।'

जीवन-भर संसारी विषयों को भोगते-भोगते भोग आशा समाप्त नहीं होती है—यथा—(सूक्तिसुधाकरे)

वपुः कुब्जीभूतं गतिरपि तथा यष्टिशरणा,
विशीर्णा दन्तालिः श्रवणविकलं श्रोत्र युगलम्।
शिरः शुक्लं चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो,
मनो मे निर्लज्जं तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति।।

अर्थ—शरीर कुबड़ा हो गया है, चलते समय छड़ी टेकनी पड़ती है, दाँत टूट गये दोनों कान भी बहरे हो गये। सिरके सब बाल सफेद हो गये, नेत्र अन्धकार समूहसे आवृत्त हो गये, फिर भी मेरा निर्लज्ज मन विषयों को भोगने की इच्छा करता है।

विषय ही में वास—जीव विषयों को भोगता है और उन्हीं की आशा रखता है अतः घूम-घूमकर उन्हींको भोगने के लिए जन्म लेता है। (सूक्तिसुधाकरे)

या चिन्ता भुवि पुत्रपौत्रभरणव्यापारसम्भाषणे,
या चिन्ता धनधान्यभोगयशसा लाभे सदा जायते।
सा चिन्ता यदि नन्दनन्दनपदद्वन्द्वारविन्दे क्षणं,
का चिन्ता यमराजभीमसदनद्वारप्रयाणे प्रभो।।

अर्थ—संसारमें पुत्र पौत्रोंके भरण-पोषण, व्यापार और बातचीत करने की जितनी चिन्ता रहती है तथा धन-धान्य, भोग और यशकी प्राप्तिके लिए सर्वदा जितनी चिन्ता होती है उतनी चिन्ता यदि क्षण-भर भी नन्द-नन्दनके चरणारविन्दों के विषयमें हो, तो हे प्रभो! फिर यमराज के भयानक घर के द्वार तक जाने की चिन्ता ही क्यों रहे।।

चबे कों चबाइयै—पिसे को पीसना, चबे को चबाना बुद्धिमानी नहीं है। बार-बार भोगोंके दुष्परिणाम का अनुभव करके भी उससे वैराग्य न होना ही महामोह है। श्रीप्रह्लादजीने कहा—जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वे भोगे हुए विषयोंको फिर-फिर भोगते हुए संसाररूप घोर नरककी ओर जा रहे हैं, ऐसे अभक्त, गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि किसीके सिखाने से अथवा अपने जैसे लोगोंके संगसे भगवानमें नहीं लगती है। (पूरा श्लोक मतिर्न कृष्णे० भा० ७-५-३० तृ० पृ० ४३५ में देखिये)।

देखे सब भोग—संसारी भोगोंकी अधिकतामें मनकी आसक्ति रहती है पर अन्तमें वे सब भोग साथ छोड़ देते हैं, नष्ट हो जाते हैं अतः परिणाम पर ध्यान देना चाहिए।

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्चभृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिबहास्तरला तुरंगाः सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।।

अर्थ—मनमोहिनी अनेकों स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमपूर्ण बोली बोलने वाले हैं। कितने ही हाथी द्वार पर चिग्घाड़ रहे हैं और घोड़े हिनहिना रहे हैं किन्तु आँख मूंदते ही कोई अपना नहीं है।

तातें तजि काम—जो भगवानके भक्त हैं, उनके गाँव, घर, शरीर और कुटुम्ब आदि भी उनके सम्पर्कसे धन्य हो जाते हैं और विमुख अभक्तोंका सब कुछ तिरस्कार योग्य है। यथा-धिक् कुलं धिक् कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक् सुतं च धिक्। आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम्।। कामनाओंके जितने हेतु हैं सभी त्याज्य हैं। भगवद् विमुखका सब कुछ धिक्कार योग्य है।

तन सेवा में लगाइयै—श्रीअग्रदेवाचार्य कहते हैं—अगर उबारे रामपद कै सन्तन की बाँह। हाहा करे न छूटिहै बैरी बस परि जाह।। बैरी बस परि जाह काल जम के सँग हैगो। तात मात सुत बाम धीर कोऊ न धरैगो।। दान पुण्य औषधी तिनहु ते काल न सरही। ह्वै निराश बुध वैद्य उलटि पीछे पग धरई।।

श्रीगोकर्णजीने जैसे अपने पिता आत्मदेवजी को उपदेश दिया उसी प्रकार श्रीकरमैतीजीने अपने पिताको उपदेश दिया। यथा—भा० माहात्म्य (५-७९-८०)

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं, जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं, वैराग्यरागरसिको भव भक्ति निष्ठः।।
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्, सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा, सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।।

अर्थ—हे पिताजी ! यह शरीर हड्डी और रुधिरका पिण्ड है इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री पुत्रादिकों को अपना कभी न मानें। रात-दिन इस संसारको क्षणभंगुर देखें। संसारकी किसी भी वस्तुको स्थाई समझकर उसमें प्रेम न करें। बस, एकमात्र वैराग्य रसके रसिक होकर भगवानकी भक्तिमें लगे रहें।। भगवद्-भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिए रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको त्याग दें तथा दूसरेके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और कथाके रसका पान करें।।

तम जात भयौ—पिताजी स्वयं विद्वान् थे, सब कुछ जानते थे पर मोहका परदा दूर नहीं हुआ था। वह श्रीकरमैतीके सिद्ध वाक्योंसे झट दूर हो गया। पिताजीने उपदेशको स्वीकार किया और बोले—अब मैं भी यहीं श्रीवृन्दावनमें रहकर भजन करूँगा। समझाने पर भी घर जानेको राजी न हुए, तब 'दयौ लै सरूप प्रभु'—श्रीयमुनाजीके कगार से प्राप्त श्रीकृष्णके श्रीविग्रहको श्रीकरमैतीजीने दिया और कहा कि—आप माताजीके साथ इनकी सेवा करना और श्रीवृन्दावनका ध्यान करना। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और वैराग्य रसमें डूबे निरन्तर पुत्रीका और श्रीबिहारीजीका ध्यान करते हुए श्रीवृन्दावनसे घरकी ओर चले। (श्रीबिहारीजी अब तक खण्डेलामें विराज रहे हैं।)

आये निसि घर हरि सेवा पधराय, चाय मन को लगाय वही टहल सुहाई है।
कहूँ जात आवत न भावत मिलाप कहूँ, आप नृप पूछे द्विज कहाँ ? सुधि आई है।।
बोल्यौ कोऊ जन धाम स्याम सङ्ग पागे सुनि, अति अनुरागे वेगि खबर मँगाई है।
कहौ तुम जाय ईश इहांई असीस करौं, कही भूप आयौ हिये चाह उपजाई है।।५९०

शब्दार्थ—भावत=अच्छा लगता। ईश=राजा।

भावार्थ—श्रीपरशुरामजी रातको घरमें आये। बड़े चावके साथ उन्होंने घरमें भगवत्सेवाको पधराया और मन लगाकर सेवा करने लगे। अब उन्हें भगवत्कैङ्कर्य ही अच्छा लगता था। कहीं आना-जाना या लोगोंसे मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता था अतः अब वे किसीसे भी नहीं मिलते-जुलते थे कुछ दिनोंके बाद राजाको अपने पुरोहित श्रीपरशुरामजीकी याद आई, तब उसने लोगोंसे पूछा—'पण्डितजी कहाँ हैं ?' यह सुनकर किसीने राजाको बताया कि—अब वे अपने घरमें ही भगवत्सेवा और सत्सङ्गमें मग्न रहते हैं। ऐसा सुनकर राजाको श्रीपरशुरामजीके प्रति अत्यन्त अनुराग हुआ। तब उसने एक सेवकको भेजकर उनका समाचार मँगवाया। श्रीपरशुरामजीने राज-सेवकसे कहा—तुम जाकर

राजासे कह दो कि—हे राजन्! मैं (आपका पुरोहित) यहाँ अपने घर पर रहता हुआ ही आपको आशीर्वाद देता हूँ, भगवत्चरणोंमें तुम्हारा प्रेम बढ़े। सानन्द सकुशल रहो। परन्तु अब दरबारमें नहीं आ सकता। यह सुनकर राजाके मनमें श्रीपरशुरामजी के प्रति बड़ा प्रेम हुआ और उनके दर्शनोंकी इच्छा हुई, तब राजा आया॥ ५९०॥

आये निसि—श्रीपरशुरामजी दिन-भर गाँवके बाहर रहे, रातको घरमें आये। जैसे श्रीसुमन्त्रजी रथ लेकर वनसे अकेले लौटे तो—'अवध प्रवेस कीन्ह अँधियारे।' उसी प्रकार ये भी दिनमें नहीं आये क्योंकि बिना पुत्रीके लौटे हैं। अनेक लोग अनेक प्रश्न करेंगे। किस-किसको कहाँ तक उत्तर देकर समाधान करूँगा अतः आये निसि। 'मन को लगाय'—मनको शिक्षा देकर समझाया—

रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारे, पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।
पुत्राः कलत्रमितरे नहि ते सहायः, सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम्॥

अर्थ—अरे चित्त ! तू निरन्तर श्रीकृष्णके चरणों का चिन्तर कर। जिससे कि तू भवसागर से पार जा सकेगा। पुत्र कलत्र तथा अन्य कोई भी तेरे सहायक नहीं हैं। हे मित्र ! इन सबको तू मृगतृष्णाके तुल्य समझ॥

कही भूप आयौ—श्रीपरशुरामजीने कहा कि पहले मैं राजा के आश्रित था, उसे आशीर्वाद देता था। अब भगवदाश्रित हूँ, विश्व-कल्याण चाहता हूँ। सभीको आशीर्वाद देता हूँ। यह सुनकर राजा स्वयं आया। पहले ये राजाके यहाँ जाते थे, अब इन्हें राजाकी परवाह नहीं है। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीवनवारीदासका—दाराशिकोह बादशाहके यहाँ मुन्शी वनवारीदासजी लिखा-पढ़ीका काम करते थे। ये बड़े ईमानदार और कार्यकुशल थे। एकबार इनके ऊपर आर्थिक संकट आ गया। तब इन्होंने बादशाहके नाम एक प्रार्थना-पत्र लिखा और उसे लेकर बादशाहके पास गये। ये उसके आगे प्रार्थना-पत्र लिए दो घण्टे तक खड़े रहे बादशाह दूसरी-दूसरी बातोंमें लगा रहा। उसने इन्हें देखकर भी इनकी ओर नहीं देखा। यह नहीं पूछा कि क्यों आये हो, क्या चाहते हो। तब वनवारीदासजीके मनमें बड़ा-भारी दुःख हुआ। मनमें आया कि यदि इतनी देर ईश्वरकी आराधना करता, उससे प्रार्थना करता तो सभी संकट दूर हो जाते। ये तुरन्त दरबारसे घर पर आ गये और जितना घरका सामान था सब गरीबोंको लुटा दिया और विरक्त होकर चल दिये। यह सुनकर बादशाह आया और इन्हें मनाते हुए बोला कि जितना तुम्हारा सामान था, उससे दूना सामान मैं तुम्हें दे दूंगा। तुम कहीं भी मत

जाओ। पर ये न माने, दिल्लीसे निकलकर मेवाड़की ओर चले गये और वहाँ एक पहाड़ पर रहकर भजन करने लगे। एक वर्षके बाद अपनी सेनाके सहित बादशाह वहीं होकर निकला। किसीने उससे बताया कि इस पहाड़ पर एक महान् त्यागी सन्त वनवारीदासजी भजन करते हैं। बादशाह दर्शन करने पहुँचा, इसे देखकर उन्होंने पैर फैला दिये। बादशाहने प्रणाम करते हुए पूछा कि 'पैर फैलाना कबसे सीखा?' बोले—'जबसे हाथ सिकोड़ा।' पुनः उसने पूछा—'हाथ कबसे सिकोड़े।' उत्तर—'जबसे पैर फैलाये।' पुनः बादशाहने कहा—'आप साहिबी छोड़कर अब यहाँ धूलमें पड़े हैं, इससे क्या मिला?' वनवारीदासजीने कहा—इतना तो प्रत्यक्ष है कि हम प्रार्थना-पत्र लेकर तुम्हारे सामने दो घण्टा खड़े रहे पर तुमने मेरी ओर नहीं देखा। वही तुम आज मेरे सामने खड़े हो और हमें तुम्हारी परवाह नहीं है। आगे की ईश्वरके आधीन है। यह सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ और बोला—अब आप (बली) सच्चे सन्त हैं, मेरे लिए सेवाकी आज्ञा दीजिये। यह सुनकर उससे कुछ भी लेनेकी अनिच्छा प्रकट कर उपदेशार्थ छन्द पढ़ा—

डर डारि दिजै उठि राह लिजै, जिस राह में साहिब पाइये जू।
दुःख ते सुख ते नित न्यारे रहौ, हँसिये अरु खेलिये गाइये जू॥
घर बाहर भीतर हेत तजौ अब, चेतन सो चित्त लाइये जू।
मर के जहँ जाना अहै जु, 'बली' तहाँ जीवत क्यों नहिं जाइये जू॥

देखी नृप प्रीति रीति पूछी सब बात कही, नैन अश्रुपात वह रँगी श्याम रंग में।
बरजत आयौ भूप जायके लिवाय ल्याऊँ, पाऊँ जोपै भाग मेरे बढ़ी चाह अंग में॥
कालिन्दी के तीर ठाढ़ी नीर दृग भूप लखी, रूप कुछ औरै कहा कहैं वे उमंग में।
कियौ मने लाख बेर ऐपै अभिलाष राजा कीनी कुटी, आये देस भीजे सो प्रसंग में॥५९१

शब्दार्थ—उमंग=आह्लाद, प्रेमकी अधिकता। प्रसंग=कथा, प्रकरण।

भावार्थ—राजाने परशुरामजीका अद्भुत प्रेम देखा और उनकी सेवाकी रीति देखी। राजाने करमैतीजीका समाचार पूछा। तब श्रीपरशुरामजीने रोते-रोते सब बात कही कि—'वह तो श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके प्रेमरङ्गमें रँग गई हैं।' राजाके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे, उसने कहा—'मुझे श्रीवृन्दावन जाकर दर्शन करने की आज्ञा दीजिये। श्रीपरशुरामजीने मना किया, तब राजाने पुनः कहा—मुझे जाने दीजिये, मैं जाकर समझा-बुझाकर यहाँ ले आऊँगा, तो मेरा बड़ा सौभाग्य होगा, अन्यथा दर्शनकर आऊँगा। मेरे मनमें दर्शनकी बड़ी-भारी इच्छा हो रही है। ऐसा कहकर राजा श्रीवृन्दावनको आया और

उसने यहाँ आकर देखा कि श्रीकरमैतीजी यमुनाजीके तट पर खड़ी हैं, उनके नेत्रोंसे आँसुओं की धारा बह रही है। उनका रूप कुछ और ही प्रकारका हो गया है। प्रेमके उमङ्ग में डूब रही हैं। अब राजा कहे तो क्या कहे ? राजाने प्रार्थना की कि—'कुछ सेवा करनेकी आज्ञा दो।' श्रीकरमैतीजीने कहा—'तुम्हारी किसी भी प्रकारकी सेवा की आवश्यकता नहीं है।' इनके बार-बार बहुत मना करने पर भी राजाने अपनी इच्छासे ब्रह्मकुण्डके निकट ही एक कुटी बनवा दी और उसके बाद अपने देशको लौट आये। श्रीकरमैतीजीके दिव्य भगवत्प्रेम को स्मरण करके राजा भी प्रेमरङ्ग में रङ्ग गया और भगवद्-भजन करने लगा।। ५९१।।

व्याख्या-सब बात कही—पुरोहितजीने कहा—राजन् ! उस पर तो गहरा श्याम रँग चढ़ गया है। (देखो, पद-सखी हौं श्याम रँग रँगी। क० ५२३) इसका प्रमाण यह है कि निरन्तर 'नैन अश्रुपात।' पुत्री करमैती में भक्तिके संस्कार जन्मजात तो थे ही। रास आदिके प्रसङ्गोंको मुझसे सुनकर उसने श्रीकृष्णको अपना पति माना, जैसे ब्रजगोपियोंने। एकबार उसने सुना—(भा० १०-६०-४५)

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री।।

अर्थ—श्रीरुक्मिणीजी भगवान श्रीकृष्णसे कहती हैं कि यह मनुष्य का शरीर जीवित होने पर भी मृतक है। ऊपर से चमड़ा, दाढ़ी, मूछ, रोम, नख और केशोंसे ढका हुआ हैं, परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं। इसे वही मूढ स्त्री अपना प्यारा पति समझकर सेवन करती है जिसे कभी आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूंघने को नहीं मिली है। इसको तथा इस प्रकारके अन्य वाक्योंको सुनकर वह विभोर हो जाती थीं, यह मैं देखता था पर उसके मानसिक भावको नहीं समझ पाता था। पुत्री करमैतीको कृष्ण चरण-कमल मकरन्दकी सुगन्ध मिल गई थी अतः उसने नश्वर पति रतिका त्याग किया। आश्चर्य यह कि आपके हजारों सैनिकोंने उसे उसी प्रकार नहीं ढूढ़ पाया जैसे कुयोगी पुरुष ईश्वर और उसकी भक्तिको नहीं खोज पाते हैं, वह पास ही रहती है। पुत्र कपिल भगवानके द्वारा पिताको सदुपदेश मिला परन्तु कन्याके द्वारा मुझे ही ज्ञान मिला। हमारा कुल पवित्र और धन्य हो गया।

रंगी श्याम रङ्ग—दूसरे रङ्ग मिट जाते हैं, उन पर दूसरा रङ्ग चढ़ जाता है परन्तु श्याम रङ्ग अमिट है और इस पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता है। इसकी विशेषता का वर्णन करते हुए

सूरदासजी कहते हैं–

श्याम रङ्ग राँची ब्रजनारी। और रङ्ग सब दीने डारी।।
कुसुम रङ्ग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भगिनी औ भ्राता।।
दिना चारि में सब मिटि जैहैं। श्याम रंग अजरामर रैहैं।।
उज्वल रंग गोपिका नारी। श्याम रंग गिरिवर के धारी।।
श्यामहिं में सब रंग बसेरो। प्रगट बताय देऊँ का झेरो।।
अरुण सेत सित सुन्दर तारे। पीत रंग पीताम्बर धारे।।
नाना रंग श्याम गुन कारी। सूरश्याम रँग घोष कुमारी।।

कालिन्दी के तीर–राजाने जाकर देखा कि श्रीकरमैतीजीके आँखों से निकली अश्रुधारा यमुनाके प्रवाहमें मिल रही है। यही नहीं कालिन्दीके कृष्णवर्ण जल प्रवाह में इन्होंने अपने मनके प्रवाहको मिला दिया है अब इन्हें और किसी की परवाह नहीं है। ये प्रार्थना करती है–

तुरति विदारिनि सकल जग तारिनि हौ, नित प्रति पारिनी हौ प्यारी ब्रजनाह की।
वृन्दावन रसकेलि कारिनी हौ हारिनि हौ, सबनि के नीकौ भाँति तन मन दाह की।।
सूरति सुकवि रवि नन्दिनी कृपा कै दीजै, लाड़िली औ लाल की सुभक्ति उतसाह की।
और जिती कामना ते सबै परवाह देहु, रहै परवाह एक तेरे परवाह की।। (पु० टि०)

रूप कछु औरे–अर्थात् लोकसे विलक्षण था, उनका शरीर भौतिक न रहकर प्रेमरूप हो गया था। 'कहा कहैं वे उमङ्ग में' राजा उनके प्रेमावेशको देखकर अवाक् रह गया क्योंकि वह वर्णनातीत था। राजाको खण्डेला चलनेकी प्रार्थना करने का साहस न हुआ। उसके मानसिक भावको जानकर करमैतीजीने कहा–'प्रान जाहु तौ जाहु जाहु जस सकल बड़ाई। होहु धर्म को नास भ्रमहिं मग रहो जड़ाई।। आधि व्याधि के दुक्ख करें जे तन को जीरन। करौं नहीं उपचार सहौं तिन नाना पीरन।। बहु विधि वचन कठोर कहि सबै निरादर करौ किन। श्रीवृन्दावनको छाँड़िये यह आओ मन भूलि जिन।। (पु० टि०) ब्रह्मकुण्ड पर कुटीके ध्वंसावशेष अब तक देखे गये। इनका त्याग, वैराग्य और अनुराग अद्भुत था। कृष्ण रूपासक्त मन सदा मतवाला रहता था। आँखों पर वर्षा ऋतु छायी रहती थी।

भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ८९ में लिखा है कि एकबार श्रीकरमैतीजी भजन-ध्यान में इस प्रकार मग्न रहीं कि उन्होंने अठारह दिन तक कुछ भी नहीं खाया-पीया। इनके शरीरको अत्यन्त शिथिल देखकर स्वयं श्यामसुन्दर एक सन्तका रूप धारण करके आये और

बोले—बाई ! लो, यह प्रसाद पालो। इन्होंने हाथ-जोड़कर कहा—महाराज ! कृपा करके ऐसा दिव्य-प्रसाद दीजिये, जिससे फिर कभी भूख-प्यास भगवत्स्मरणमें बाधा न करे। सन्त रूपधारी भगवानने कहा—ऐसा ही होगा। प्रसाद पाकर देखो। एक ग्रासको लेते ही श्रीकरमैतीजीके मनमें बड़ा आह्लाद हुआ वे प्रभुके चरणोंमें पड़ गयीं। प्रभुने दर्शन देकर कृतार्थ किया। तबसे इन्हें भूख-प्यास कभी बाधा न करती और प्रभुकी झाँकी होती ही रहती। इस प्रकार तपस्विनी देवीने प्रभु-कृपासे महान् तप करके प्रेममय वृन्दावन धामको प्राप्त किया।

* श्रीखड्गसेनजी कायस्थ *

गोविन्दचन्द गुन ग्रथन कौं खर्गसेन बानी विसद।
गोपी ग्वाल पितु मातु नाम निरनै कियौ भारी।
दान केलि दीपक प्रचुर अति बुद्धि उचारी॥
सखा सखी गोपाल काल लीला में बितयौ।
कायथ कुल उद्धार भक्ति दृढ़ अनत न चितयौ॥
गौतमी तन्त्र उर ध्यान धरि तन त्याग्यौ मण्डल शरद।
गोविन्दचन्द गुन ग्रथन कौं खर्गसेन बानी विसद॥ १६१॥

शब्दार्थ—ग्रथन=गूंथना, वर्णन करना। विसद=उज्ज्वल।

भावार्थ—श्रीराधागोविन्दचन्द्र के गुणगणों को वर्णन करनेंमें श्रीखड्गसेनजी की वाणी अति उज्ज्वल थी। आपने ब्रजकी गोपियों और ग्वालों के पिता-माताओं के नामों का ठीक-ठीक निर्णय किया। इसके अतिरिक्त 'दान केलि दीपक' आदि काव्यों का निर्माण किया, जिनसे यह मालूम होता है कि आपको साहित्यका प्रचुर ज्ञान था और आपकी बुद्धि प्रखर थी। श्रीराधागोपालजी, उनकी सखियाँ और उनके सखाओंकी लीलाओंको लिखने और गानेमें आपने अपना समय व्यतीत किया। कायस्थ वंशमें जन्म लेकर आपने उसका उद्धार किया। आपके हृदयमें भक्ति दृढ़ थी अतः अन्यत्र (सांसारिक विषयोंकी ओर) नहीं देखा। गौतमीतन्त्र में वर्णित विधि से शरद्पूर्णिमा के महारास का हृदयमें ध्यान धारण कर आपने शरीरका परित्याग किया॥ १६१॥

व्याख्या-गोपी ग्वाल०—श्रीखड्गसेनजी कृत ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। उसकी खोज

है। पूर्वार्द्ध भक्तमाल छ० २२ की व्याख्यामें अष्टसखियोंके परिचय दिये गये हैं। अतः वही द्रष्टव्य हैं। श्रीपादरूपगोस्वामि विरचित गौरगणोद्देश्य-दीपिका में सखा-सखियोंके परिचय विस्तारसे दिये हैं। तदनुसार अष्टसखाओं के परिचय निम्न प्रकार से हैं।

१-श्रीदाम—अङ्गकान्ति श्यामलरुचि, वस्त्र पीताम्बर, पिता श्रीवृषभानु, माता कीर्तिदा। श्रीराधा और अनङ्गमञ्जरी इनकी छोटी भगिनी हैं। २-सुदाम-ईषत् गौरवर्ण, वस्त्र नीलाम्बर, पिता मटुक और माताका नाम रोचना है। ३-सुबल-गौरवर्ण, नीलाम्बर। ये सखी भावका आश्रय लेकर नाना प्रकारकी सेवा करते हैं। प्रिया-प्रियतमके मिलनमें सहयोग करते हैं। ४-अर्जुन-रक्तोत्पलवर्ण, चन्द्रतुल्यश्वेत वस्त्र पिता सुदक्षिण, माता भद्रा, इनके बड़े भ्राता वसुदाम हैं। ५-गन्धर्व-अंगकान्ति चन्द्रतुल्य वस्त्र रक्तवर्ण, पिता-विनाक, माता सुसाध्वी हैं। ६-वसन्त-ईषत् गौरवर्ण, चन्द्रतुल्य वस्त्र, पिता पिङ्गल, माता शारदी। ७-उज्वल-अंगकान्ति रक्तवर्ण, तारा समूह सदृश वस्त्र, पिता सागर और माता का नाम वेणी है। ८-कोकिल--शुभ्रवर्ण, नीलवस्त्र, पिता-पुष्कर, माता मेधा। ९-सनन्द-गौरकान्ति, नीलाम्बर, पिता-अरुणाक्ष, माता मल्लिका। १०-विदग्ध-चम्पकवर्ण सदृश अंगकान्ति, वस्त्र मयूरकण्ठ सदृश, पिता मटुक, माता रोचना। इनके बड़े भ्राता सुदाम, भगिनी सुशीला। ११-मधुमंगल-ईषत् श्यामल, गौरवसन, पिता सन्दीपन, माता सुमुखी, भगिनी नान्दी दादी पौर्णमासीजी हैं।

१-सुहृत्, २-सखा, ३-प्रियसखा, नर्मसखा। सुहृत्-श्रीकृष्णसे बड़े हैं और श्रीबलदेव के समान रक्षामें तत्पर रहते हैं। इनके नाम-सुभद्र, कुण्डल, दण्डी, मण्डल आदि। सखा-अवस्थामें छोटे सेवामें विपुल आग्रह रखने वाले कनिष्टकल्प हैं-विशाल वृषभ, ओजस्वि, देवप्रस्थ, वरूथप, मन्दार चन्दन, कुन्द, कुलिन्द, कुलिक आदि। प्रियसखा-समान अवस्था वाले श्रीदाम, दाम सुदाम, वसुदाम, किङ्किणि, भद्रसेन, अंशुमान, स्तोककृष्ण, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्काक्ष, कलविङ्क और प्रियङ्कर आदि। प्रियनर्मसखा-सुवल, अर्जुन गन्धर्व, वसन्त, उज्वल, कोकिल, सनन्दन और विदग्धादिक। मधुमंगल, पुष्पाङ्क, हासाङ्क आदि हास-विलाससे श्रीकृष्णको प्रसन्न रखने वाले हैं।

श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओं के सकल विषयोंका सम्पादन करने वाली योगमाया भगवती ही पूर्णमासी देवी हैं। ब्रजमें नन्दादि सभी गोपोंकी पूज्या हैं और श्रीनारदजीकी शिष्या हैं। श्रीकृष्ण-बलरामके विद्यागुरु श्रीसान्दीपनि ऋषि पूर्णमासी देवीके पुत्र हैं।

सम्मोहन तन्त्रके अनुसार श्रीलीलावती, साधिका, चन्द्रिका, माधवी, ललिता, विजया,

गौरी और नन्दा ये अष्टसखियाँ हैं। अन्य अष्टसखियाँ हैं—कलावती, रसवती, श्रीमती, सुधामुखी, विशाखा, कौमुदी, माध्वी और शारदा। प्रधान अष्टमञ्जरियोंके नाम रूपमञ्जरी, मञ्जुलीलामञ्जरी, रसमञ्जरी, रतिमञ्जरी, गुणमञ्जरी, विलासमञ्जरी, लवङ्गमञ्जरी, कस्तूरीमञ्जरी। मुख्य सखियोंके नाम लिखे गये, इनकी संख्या अनन्त हैं। (राधाकृष्ण गणोद्देश्य दीपिका से उद्धृत)।

लीला—ये परम पवित्र वैराग्यकी स्वच्छ भूमिका पर पहुँचे हुए थे। इसलिए श्रीराधाकृष्णकी दिव्य-लीलाओंका इन्हें साक्षात्कार था। पाद्मे-गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः। गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कदाचन।। गोपियोंको श्रुतियाँ, ऋषियोंका अवतार, देवकन्या और गोपकन्या जानना चाहिए। वे मनुष्य कभी नहीं हैं। इनमें कुछ तो नित्यसिद्ध हैं, जो अनादिकालसे श्रीकृष्णके साथ दिव्य लीला-विलास करती हैं। कुछ श्रुतियोंकी अधिष्ठात्री देवता हैं, जो श्रुतिपूर्वा कहलाती हैं। कुछ दण्डकारण्य के ऋषि हैं, जो ऋषिपूर्वाके नामसे ख्यात हैं। कुछ देव-कन्यायें हैं जो देवीपूर्वा कही जाती हैं। उक्त तीनों वर्गोंकी गोपिकायें साधनसिद्धा हैं। नित्यसिद्धा गोपीजनोंमें श्रीराधा सर्वेश्वरी हैं। ललिता, विशाखा और चन्द्रावली आदि उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। ये गोपकन्या कहलाती हैं। साधनसिद्धा गोपियाँ पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण सेवा लालसासे साधन सम्पन्न होकर इस जन्ममें गोपीगृहोंमें अवतीर्ण हुई थीं। नित्य-सिद्धाओंका सङ्ग पाकर ये भी दिव्यरूपा हुईं और इन्होंने भी युगल-चरण-सेवाधिकार प्राप्त किया।

कायथ—ये चित्रगुप्तकी सन्तान हैं। सदासे लेखाधिकारी रहे हैं। माथुर, श्रीवास्तव, सक्सेना, निगम, कुलश्रेष्ठ, खरे और अस्थाना आदि अनेक शाखायें हैं। इस जाति में प्रायः सभी चतुर-चालाक तथा पढ़े लिखे होते हैं (चालाकी पर दृष्टान्त देखिये, तृतीयखण्ड पृष्ठ १०)। 'कुल उद्धार' भक्त अपने सम्पूर्ण कुल का उद्धारक होता है। यथा—त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ। यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः।। (भा० ७-१०-१८) भगवान श्रीप्रह्लादजीसे कहते हैं, हे निष्पाप प्रह्लाद ! तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये, इसकी तो बात ही क्या है, यदि उनकी इक्कीस पीढ़ियोंके पितर होते तो उनके साथ ही वे सब तर जाते। क्योंकि तुम्हारे जैसा कुलको पवित्र करने वाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ। अपने पूर्वज भक्तोंका स्मरण कर लोग भक्ति करते हैं अतः भक्त कुलका उद्धार हो जाता है। अतः 'कायथ कुल उद्धार' कहा।

उर ध्यान—गौतमीतन्त्र गोपाल—सहस्रनाम में कहा है—

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियं,
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनु गोगोपसङ्घावृतं,
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे।।

अर्थ—खिले हुए नीलकमलके समान जिनकी श्यामल मनोहर कान्ति है, पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर मुख है, मोरपंख का मुकुट जिन्हें अधिक प्रिय है। जिनका वक्षस्थल श्रीवत्सरेखासे सुशोभित है, जो कौस्तुभमणिको धारण करते हैं और रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं। गोप-सुन्दरियोंके नयनारविन्दों से जिनके श्रीअङ्ग पूजित हैं, गायों तथा गोप-बालकों के समूह जिन्हें घेरकर खड़े हैं तथा जो दिव्य अङ्ग श्रृङ्गार से विभूषित होकर मधुराति-मधुर वेणु बजानेमें संलग्न हैं। उन परम सुन्दर श्रीगोविन्दजीका मैं ध्यान (भजन) करता हूँ।

हेमाभां द्विभुजां वराभयकरां नीलाम्बरेणावृतां,
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलम्।
लोलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं बिम्बाधरां राधिका,
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्यांग भूषां भजे।।

अर्थ—जिनके गोरे अंगोंकी स्वर्णमयी आभा है, जो दो भुजाओंसे युक्त हैं और जो दोनों हाथोंमें क्रमशः वर एवं अभयकी मुद्रा धारण करती हैं। नीले रंगकी रेशमी साड़ी धारण किये हुए हैं जो श्यामसुन्दर के अङ्गमें विलास करती हैं। माँगमें भरे सिन्दूर समूह से जिनकी सौन्दर्यश्री उद्भासित है। चपल-नयन, नित्य नूतन यौवन, मुख पर मन्दहास की छटा तथा बिम्बफल सदृश अधरोष्ठ वाली हैं। जिनके अङ्गोंके आभूषण दिव्य हैं। जो नित्य आनन्दमयी तथा विलास की आवास भूमि हैं। उन श्रीराधिकाजी का मैं ध्यान (भजन) करता हूँ।

तन त्याग्यौ—शरीर त्याग में भी भावुक भक्तों की भावना विलक्षण होती है, वे अपने शरीर के सभी तत्वों को भगवत्सेवा में ही लगाना चाहते हैं—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिबहाः स्वांशान् विशन्तु प्रभौ,
धातस्त्वां शिरसा प्रणम्य कुरु मामित्यद्य याते पुनः।

तद् वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयालये,
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलम्।। (सू० सु०)

अर्थ—हे प्रभो ! मेरा शरीर पञ्चत्व को प्राप्त हो जाय। पाँचों भूत अपने-अपने अंशों में मिल जायें पर हे विधाता ! सिरसे प्रणाम करके तुमको बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा अंश, जल प्यारे श्रीकृष्णके क्रीड़ा सरोवरमें, तेज उनके दर्पणमें आकाश उनके गृहाकाश में, भूमि उनके मार्गमें और वायु उनके पंखों में मिल जाय।।

कायस्थों की कलममें शक्ति होती है। लोभवश लोग उसका दुरुपयोग भी करते हैं परन्तु भक्त श्रीखड्गसेनजीने कभी ऐसा नहीं किया। भक्तोंके भक्त थे अतः भक्ति दृढ़ थी। उनमें अपार गुण थे। श्रीनीलसखीने एक पदमें इनकी महिमा का वर्णन किया है। यथा 'कलम को कायथ सो अधिकारी।। अनुचित लिखन छोड़ि दीनों जिहिं सुचि सुशील सुविचारी। अति सनमान ग्यान मानिन में दीन दान व्रतधारी।। मन वचन काय इष्ट अपनो लखि द्विज को परम पुजारी। जमा खर्च जाके आनन्द कौ अनरथ कौ गथ गारी।। सो प्रसङ्ग याके दफदर में भव की भूल सुधारी। अधिक सुकृत कौ हासिल करि अघ बाकी सुन्न निकारी।। सुमन साहु निनवारी इहि तन इत उत भयौ सुखारी। हरिरस की बढवार दिवस निसि सन्तन कौ हितकारी।। वित प्रमान जाके मन्दिर तें विमुख न फिरै भिखारी। जाकौ वर विरञ्चि वेदन द्वै दास ख्याति निरधारी।। सो तिहि विप्र साधु सेवा करि निगम ईस अनुसारी। हरिपद प्रभव प्रभाव प्रगट मति विमल प्रकृति सुकुमारी।। सुखद शरीर सर्व गुन संयुत सुत सनेह सुचिकारी। गोपी चन्दन तिलक छाप छवि उर मालावलि धारी।। हरिगुरु पद सरोज में जाकौ अलि मन मगन बिहारी। 'नीलसखी' ऐसे प्रधान की संगति में सुख भारी।।' (पुरानी टिप्पणी) दानलीला, दीपमालिका आदि आपके ग्रन्थ कहे जाते हैं। शिवसिंह सरोज ग्रन्थ में आपकी चर्चा है।

ग्वालियर वास सदा रास कौ समाज करें, सरद उजारी अति रंग चढ़यौ भारी है।
भाव की बढ़नि दृग रूप की चढ़नि, तत थेई की रढ़नि जोरी सुन्दर निहारी है।।
खेलन में जाय मिले त्यागि तन भावना सों, झेलत अपार सुख रीझि देह वारी है।
प्रेम की सचाई ताकी रीति लै दिखाई भई, भावुकनि सरसाई बात लागी प्यारी है।। ५९२

शब्दार्थ—रढ़नि=रटनि, बार-बार कथन। भावना=अनुभव से उत्पन संस्कार, कल्पना, इच्छा। झेलत=अनुभव करते हुए। देह वारी=शरीर को न्यौछावर कर त्याग दिया।

भावार्थ—भक्तवर खड्गसेनजी ग्वालियर में निवास करते थे। आप रासके समाज अर्थात् रासलीलाके आयोजन यथा-समय करते ही रहते थे। एकबार शरद् पूर्णिमाको रात्रिमें महारास हो रहा था। उस दिन उनके ऊपर प्रेमका बड़ा-भारी गाढ़ा रङ्ग चढ़ गया। वह भावावेश बढ़ता ही गया, आँखोंमें रासबिहारिणी-बिहारीजीकी सुन्दर छवि निरन्तर समाती ही चली गई। 'तत थेई' कहकर नृत्य और गान करती हुई प्रिया-प्रियतम की सुन्दर जोड़ीको आपने अपलक नेत्रोंसे भलीभाँति निहारा। तो उसी समय मानसिक भावनासे नश्वर-शरीरको त्यागकर युगलकिशोरकी नित्यलीलामें पहुँच गये। इस प्रकार श्रीखड्गसेनजीने अपार दिव्य-सुखका अनुभव कर तथा लीला बिहारीकी छवि पर रीझकर अपने शरीरको न्यौछावर कर दिया। प्रेम ही सत्य है, यह और उसके निभानेकी रीतिको आपने प्रत्यक्ष दिखला दिया। रास-रसके प्रेमी-भावुकोंने जब आपका प्रकट-प्रेम देखा तो उनके मन भी रास-रसमें सराबोर हो गये। इस प्रकार प्रेम करना और शरीर त्यागना सभीको बहुत प्रिय लगा।। ५९२।।

व्याख्या-तत थेई की रढ़नि—तत थेई आदि शब्द नृत्य मुद्राओं के बोल तो हैं ही, साथ ही 'तत्' शब्द परब्रह्मवाची है, 'थ' उसमें स्थिति तथा उसकी नित्यता का बोध कराता है। 'ई' श्रीजी की संज्ञा है। इनका बार-बार रटन-श्रवण श्रीराधाकृष्णके स्वरूप को प्राप्त कराता है। नृत्य, गान और वाद्यकी त्रिवेणीमें मनके आविष्ट होते ही अपार परमानन्द मिला अतः देहको न्यौछावर कर दिया, नित्य-लीलामें प्रवेश किया। श्रीरंगीरायजी (क० ३५४) नृतक श्रीनारायणदासजी (क० ५६२) कुन्ती, रतिवन्ती आदि भक्तों की तरह प्रेमकी सचाई थी। श्रीदशरथजीने सत्य प्रेमवश शरीर छोड़ा-'वन्दौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहिं राम पद।' भई भावुकनि सरसाई अर्थात् जो भक्त थे, उनके मनमें भक्ति बढ़ी। दूसरे लोगोंने इनके शरीर त्यागकी महिमा नहीं समझी। मिलन और बिछुरन दोनों में प्रेमीजन शरीर त्याग देते हैं। यथा—'जग में सराहिये सनेह की नवल रीति, बिछुरनि मीन की औ मिलन पतङ्ग की।।' प्रेमी दो प्रकारके-एक मीनवत् वियोगमें, दूसरे पतङ्गवत् मिलन में शरीर त्याग देते हैं। 'मिलत एक दारुन दुख देहीं।' बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।।

बात लागी प्यारी है—इस प्रकार इन्होंने जिस पदको गाते-गाते शरीर त्याग किया वह पद अत्यन्त प्रिय लगा।

पद—द्वै गोपिन बिच बिच नँदलाला।।

करत नृत्य संगीत भेद गति गुंजनि गरब मराला।
फहरत अंचल चंचल कुण्डल थहरत है उर माला।।
मध्य रली मुरली मोहन धुनि गान वितान छयौ तिहि काला।
चलिय झमकि झंकार वलय मिलि नूपुर किंकिनि जाला।।
देव विमाननि कौतुक मोहे लखि भयौ मदन विहाला।
खङ्गसेन प्रभु रैन सरद की बाढ्यौ रंग रसाला।।

विशेष—श्रीभगवन्तमुदितजी-कृत रसिक अनन्यमालमें श्रीखङ्गसेनजीका परिचय इस प्रकार दिया गया है—आप भानुगढ़ निवासी कायस्थ और ग्वालियरके राजा श्रीमाधव सिंहजीके प्रधान थे। घर पर ही इन्हें बैराग्य और सन्तोंका सङ्ग प्राप्त था अतः श्रीगुरुदेव श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की शरणमें आये। इष्ट-धामका रहस्य प्राप्तकर घर पर ही सन्त-भगवन्त की सेवा और कथा-कीर्तनमें समय बिताने लगे। अनन्य भावसे श्रीराधाबल्लभलाल का भजन करते हुए परीक्षाका समय आ गया। लोगोंने राजासे शिकायत की कि यह कायस्थ नित्य साधु-सेवामें बहुत-सा धन खर्च करता है अतः निश्चित है कि यह चोरी करता है। राजाने इन्हें बुलाकर पूछा, तो आपने कहा कि हमें जो कुछ आप देते हैं उससे ही हम सन्त-सेवा करते हैं। राज-धन की चोरी कभी नहीं करते हैं। इनकी बात पर अविश्वास करके राजाने इन्हें कारागारमें बन्दकर दिया और कह दिया कि इनको मेरी आज्ञाके बिना अन्न-जल कुछ भी नहीं देना। आप प्रभु इच्छा समझकर मनमें प्रसन्न ही रहे और भगवत्स्मरण करते रहे। रातको सोते समय राजाने भयानक यमदूत देखे। वे गलेमें फाँसी डालकर मारने लगे। रोते-चिल्लाते हुए राजासे यमदूतोंने कहा—तूने भक्तको कैदखानेमें बन्द करके कष्ट दिया है, अब यमराजके भेजे हुए हम दूत लोग तुझको नरकमें डालकर महान् कष्ट देंगे। इस प्रकार चुगलखोरोंने और राजाने तीन दिन तक महान् कष्ट पाया। तब लोगोंको विश्वास हो गया कि यह भक्तापराधका फल है। राजाके शुभ चिन्तकोंने खङ्गसेनजी से विनती की और इन्हें राजाके पास ले आये। भक्तको देखते ही यमदूत राजाको छोड़कर भाग गये। श्रीखङ्गसेनजीके चरणों में गिरकर राजाने क्षमा-याचना की। दरबार में इन्हें न बुलाकर राजा स्वयं दर्शन करने इनके घर पर जाने लगा और भक्त-भगवान की सेवा करने लगा। इस घटनासे प्रभावित होकर अनेक लोग हरि भक्त बन गये। किन्हीं लोगोंके मतसे ये दूसरे खङ्गसेन हैं परन्तु कायस्थ जाति तथा ग्वालियरके राजाके दीवान होनेसे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

* श्रीगङ्ग्वालजी *

सखा स्याम मन भावतौ गङ्ग्वाल गम्भीर मति।।
स्यामाजू की सखी नाम आगम विधि पायौ।
ग्वाल गाय ब्रज गाँव पृथक् नीके करि गायौ।।
कृष्ण केलि सुखसिन्धु अघट उर अन्तर धरई।
ता रस में नित मगन असद आलाप न करई।।
ब्रजवास आस ब्रजनाथ गुरु भक्त चरण रज अननि गति।
सखा स्याम मन भावतौ गङ्ग्वाल गम्भीर मति।।१६२।।

शब्दार्थ—भावतौ=अच्छा लगने वाला, प्यारा। असद=मिथ्या।

भावार्थ—श्रीगङ्ग्वालजी भगवान श्यामसुन्दरके प्रिय सखा थे, आपकी बुद्धि अति गम्भीर थी। आपने पुराण एवं धर्म-ग्रन्थोंसे ढूंढ़कर श्रीराधिकाजीकी सखियोंके नाम, ग्वालवालोंके नाम, गायोंके नाम एवं ब्रजके गाँवोंके नाम भलीभाँति अलग-अलग वर्णन किये। श्रीराधाकृष्णके विहारका जो अपार सुख समुद्र उसे आपने अपने हृदयमें धारण किया। सदा उसी रसमें डूबे रहते थे। व्यर्थ वार्तालाप कभी नहीं करते थे। आप ब्रजभूमिमें निवास करते थे एवं मनमें ब्रजनाथ गुरु और ब्रजनाथ श्रीकृष्णकी आशा रखते थे। गुरुदेव और हरि-भक्तोंकी चरणरज में अनन्य भाव था, उसीसे अपनी सद्गति चाहते थे।। १६२।।

व्याख्या—कृष्ण केलि—जिन भक्तोंको हरि-लीलाका साक्षात्कार हो जाता है, उनके हृदय और नेत्रोंमें दूसरा विषय आता ही नहीं है। कुं०—कामी के प्रिय कामिनी लोभी के प्रिय दाम। ऐसे भगवतरसिक के प्रिय श्रीश्यामा श्याम।। प्रिय श्रीश्यामा श्याम भये नैनन को कजरा। केलि विलोकत रहैं और नहिं आवे नजरा।। ते सावन के सूर कहूँ विरले निहकामी। कहन सुनन के बहुत जगत में भगत सकामी।। (भगवतरसिक) उर अन्तर धरईका भाव यह कि कृष्ण केलि को हृदयमें छिपाकर रखते थे। 'रसमें नित मगन'—इस रसमें मग्न हरना ही रसिकोंका नियम है। यथा—मेरे प्रानधन स्वामिनी श्याम राधे। एक रसरूप सम बयस वारिज वदन छके रहैं प्रेम यह नेम साधे।। करत केलि विपरीत परस्पर बिछुरि नहिं जात कहुँ पलक आधे। नैन की सैन वर बैन भगवत रसिक देत सुख लेत सहचरि अगाधे।। (भगवतरसिक)

पारस्परिक प्रेममें मग्न श्रीप्रिया-प्रियतमका ध्यान करने वाले रसिक भी रसमें मग्न हो जाते हैं।

असद आलाप—भगवद् विषय को छोड़कर सांसारिक विषय मिथ्या आलाप हैं। असत्य ही अविश्वासका मूल कारण, कुवासनाओंका निवास स्थान विपत्तियोंका कारण, अपराध एवं वञ्चनाका आधार है अतः त्याज्य है। 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।' सत्य भाषणका पुण्य सहस्रों अश्वमेधोंके पुण्यसे अधिक है तथा सभी धर्मोंकी जड़ है। 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। वेद पुराण विदित मनु गाये।। (रा०) 'सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पद्म।। (वा० रा० अयो० ११९-१३) इस लोकमें सत्य ही ईश्वर है, धर्म सर्वदा सत्य के आश्रित रहता है। अतः सत्यसे बढ़कर कोई दूसरा पद नहीं। सभी धर्म और लक्ष्मी सदा सत्यके आश्रित हैं। इस पर—

दृष्टान्त-एक राजा का—एक राजाने घोषणा की कि मेरे नगर में एक हाट लगाई जाय और उसमें यदि किसी व्यापारी का माल नहीं बिकेगा तो सायं को मैं खरीद लूंगा। एकदिन एक लोहार एक शनैश्चरकी मूर्त्ति बनाकर लाया। उसे किसीने नहीं खरीदा तो सायं को राजाने उसे खरीद लिया। मन्त्रियोंने मना किया कि उसे आप न खरीदें, क्योंकि जहाँ शनैश्चर रहता है, वहाँसे लक्ष्मी चली जाती है। राजाने नहीं माना, सत्य की रक्षाके लिए खरीदा। राजा रातको जब भोजन करके सोया तो लक्ष्मीने आकर राजासे कहा— 'राजन्! तुम्हारे यहाँ शनैश्चर आ गया है, इसलिए मैं जा रही हूँ।' राजाने कहा—'आप सहर्ष चली जायें।' फिर धर्म आया और राजासे बोला कि—'मैं भी जा रहा हूँ।' राजाने उसे भी जाने की सम्मति दे दी। अन्तमें सत्य आया और राजासे बोला—'तुम्हारे यहाँ शनैश्चर आ गया है, इसलिए मैं नहीं रह सकता, मैं भी जा रहा हूँ।' तब राजाने उठकर सत्यके पैर पकड़ लिए और कहा कि—'मैंने वचनोंकी सत्यताको निभानेके लिए ही शनिदेवको खरीदा है, नहीं तो मेरी सत्यता चली जाती। फिर आप क्यों और कैसे जायेंगे। मैंनेतो आपको अपनाया है।' सत्यने सोचकर कहा—'राजन्! सचमुच तुम मेरे सच्चे उपासक हो अतः मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता। सत्यके रुकने पर धर्म और लक्ष्मीको वापस आना पड़ा। अतः सिद्ध है कि सत्यतामें धर्म और लक्ष्मीका स्थिर वास है। दोहा प्रसिद्ध है—सत मत छोड़े सूरमा सत छोड़े पत जाय। सत की बाँधी लच्छिमी फेरि मिलैगी आय।।' (धर्माङ्क से)

ब्रजवास आस—धाममें रहकर यदि दूसरी आशा की जाय तो वह सच्चा धामवास नहीं हैं। क्योंकि—'आशा जाकी जहँ बसी तहँ ताही को वास।' (भ० र०) अतः धाम—धामीकी आशा करनी चाहिए। धामवासके बिना भक्तिमें पूर्णता नहीं आती—

नेम करौ तुम कोटिक हूँ परि प्रेम बिना नहिं काज सरैगो।
वारिज कोटिक बूंद परौ बिन मेह न सूखो सो ताल भरैगो।।
'प्रियादास' जु ज्ञान औ जोग करौ बिनु राधिका नाम न दुख टरैगो।
तासों प्रपंच को दूरि करौ औ करौ ब्रजवास तो पूरो परैगो।।

ब्रजरजमें भक्त और भगवानकी चरण-रज का समावेश है। स्वयं भगवानने खाकर सुख पाया। अतः इसकी महिमा अपार है।

पृथ्वीपति आयौ वृन्दावन मन चाह भई, सारँग सुनावै कोऊ जोरावरी ल्याये हैं।
बल्लभहूँ सङ्ग सुर भरत ही छायौ रङ्ग, अति ही रिझायौ दृग अँसुवा बहाये हैं।।
ठाढ़ौ कर जोरि बिनै करी पै न धरी हियै, जियैं ब्रजभूमि ही सो वचन सुनाये हैं।
कैद करि साथ लिये दिल्ली ते छुटाय दिये, हरीदास तूँवर नें आये प्रान पाये हैं।। ५९३

शब्दार्थ—सारँग=सम्पूर्ण जाति का एक राग। जोरावरी=जबरदस्ती, हठ करके। सुर भरत=राग आलापते ही।

भावार्थ—एकबार दिल्लीका बादशाह श्रीवृन्दावनको आया। उसने इच्छा की कि कोई हमें सारँग राग सुनाये। लोगोंने कहा वर्तमान समयमें सारँग रागके सर्वश्रेष्ठ गायक श्रीगङ्ग्वालजी हैं। बादशाह की आज्ञासे सिपाही लोग बुलाने गये परन्तु आपने अस्वीकार कर दिया, तब वे जबरदस्ती आपको पकड़कर लाये। उस समय आपके साथ बल्लभ नामके एक गायक और थे। दोनों ने स्वर मिलाकर सारँग रागका आलाप किया तो उस समय रागका रंग सर्वत्र व्याप्त हो गया। बादशाहके सहित सभी लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। लोगोंके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। रीझा हुआ बादशाह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और उसने प्रार्थना की कि आप हमारे साथ दिल्ली चलिये। परन्तु श्रीगङ्ग्वालने स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'ब्रजभूमि ही हमारा जीवन है अतः मैं अन्यत्र नहीं जा सकता।' अन्तमें बादशाह आपको कैद करके अपने साथ दिल्ली लाया। वहाँ आने पर भक्तवर श्रीहरिदासजी तूंवरने आपको छुड़वा दिया। तब आप पुनः ब्रजभूमि में आ गये। मृतक हुए को जैसे प्राणों का लाभ हुआ हो, ऐसी प्रसन्नता आपको हुई।। ५९३।।

व्याख्या-आयौ वृन्दावन—एकबार अकबर बादशाह नाव द्वारा दिल्लीसे आगरा को जा रहा था। साथ में सैनिक तथा और भी बहुत से लोग थे। मध्यान्हमें बादशाह गर्मीसे व्याकुल हो गया। उसी समय उसने वृन्दावनके सघन वृक्षोंकी छाया देखी तो वहीं नावको रुकवाकर छाया में बैठ गया और शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त धीरसमीरसे सुखी होकर बोला कि वृन्दावनके किसी सङ्गीतज्ञ कलाकर को बुलाकर लाओ, जो हमें सारंग राग सुनावे। उसके श्रवण से शीतलता प्राप्त होती है। यद्यपि उस समय भी बादशाह के साथ कई कुशल गायक थे परन्तु उसने वृन्दावनके ही कलाकार से सारंग सुनना चाहा। उसका कारण यह कि जब अकबर तानसेन के साथ श्रीस्वामी हरिदासजी के दर्शन करने आया था तब उसने श्रीस्वामीजी के श्रीमुखसे एक पद सुना था। फिर दिल्ली पहुँचकर उसी पदको तानसेनसे गवाया। पद सुनकर बादशाह बोला—कहिये, तानसेनजी! वृन्दावन वाला स्वाद क्यों नहीं आया। तानसेनने कहा—श्रीस्वामीजी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके नायक श्रीराधाकृष्णके लिए गाते हैं और हम आपके लिए गाते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण और आप, वृन्दावन और दिल्ली तथा श्रीस्वामीजी और मुझ तानसेनमें बहुत अन्तर है, तब राग और उसके स्वाद में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। इसी बात को स्मरणकर साथ के गायकों से सारंग सुनने की इच्छा न करके श्रीवृन्दावनके भक्त गायक से सुनना चाहा। सिपाहियोंने पता लगाया तो उन्हें मालमू हुआ कि श्रीगङ्गग्वालजी सारंग राग के सिद्ध गायक हैं। इन्हें जब सिपाहियोंने बुलाया तो पहले तो आपने साफ इन्कार कर दिया कि हम बादशाहको राग सुनाने नहीं जायेंगे। फिर सोचा कि यह स्वामीजीका कृपापात्र बन चुका है, गुणग्राही है और राजा है। 'नराणाञ्च नराधिपः।' पुनः वृन्दावनधामकी कुंज में श्रीप्रिया-प्रियतम ही श्रोता हैं। दूसरे गायक श्रीबल्लभके साथ श्रीगङ्गग्वालजी आये। तानपूरा मृदङ्गके साथ स्वर आलाप करते ही तुरन्त बादशाह मुग्ध हो गया।

दोहा— रूप चोज की बात पुनि और कटीली तान।
रसिक प्रवीनन के हृदय छेदन की हैं बान।।

अश्रुपूरित नेत्र बादशाहकी अनुनय-विनय पर भी आपने दिल्ली जाना स्वीकार नहीं किया तब—'राजा जोगी अगिन जल इनकी उलटी रीति। बचते रहियो परशुराम ये थोरी राखैं प्रीति।।' दिल्ली लाकर इन्हें नजरबन्द कर दिया गया। इन्होंने यमुना जल स्नानपानके बिना कुछ भी खाना-पीना स्वीकार नही किया। तब इन्हें दो सिपाही नित्य यमुना-स्नान कराने ले जाते। श्रीयमुनाजीकी भक्तिसे श्रीहरिदासजी तूंवर स्नानके समय मिल गये। आप यहाँ कैसे ? यह पूछने पर श्रीगङ्गग्वालजीने कहा—'आत्मनो मुख दोषेण बध्यन्ते शुक सारिकाः। वकास्तत्र

न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थ साधकम्।।' जैसे अपनी वाणी के दोषसे तोता और मैना पिंजरेमें बँध जाते हैं, वैसे ही मैं सारंग राग सुनाकर कैदखाने में बन्द हुआ। कौवा और बगुलोंको कोई भी पिंजरे में नही रखता है अतः मौन ही सब कार्योंका साधक है। ऐसा कहकर पूरी घटना सुनाई। श्रीहरिदासजी तूंवर जिनका चरित्र मू० छ०१७९ में वर्णित है, ये बादशाह के यहाँ कुछ समयके लिए ड्यौढ़ीदार थे। जैसे रावण के दरबारमें सभी देवोंको यथा-समय हाजिरी देनी पड़ती थी। उसी प्रकार यवन बादशाह अपने आधीन सभी राजाओं से सेवा लेते थे। श्रीहरिदासजीने कुछ द्रव्य खर्च किया। स्वयं तथा दूसरों से सिफारिश करवाई कि दुःखित मनसे कोई कलाकार अपनी कला नहीं दिखा सकता। इन्हें ब्रजभूमि ही प्रिय है। यहाँ ये मर जावेंगे अतः इन्हें छोड़ दिया जाय। तब बादशाहने इन्हें छोड़ दिया। ब्रजभूमि में आकर आप प्रसन्न हुए।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ९१ पर पाँच छन्दों में आपकी यह कथा लिखी है। आप गूजर गौड़ा ब्राह्मण थे। सन्त-सेवामें आपका बड़ा-भारी अनुराग था। उनकी सेवा और सत्सङ्गमें ही अधिक मन लगाते थे। इनका यह स्वभाव बड़े भाईको अच्छा नहीं लगता था। सन्त-सेवामें अन्न-धनका व्यय उन्हें असह्य था। एकबार कई सन्त पधारे, बड़े भाईकी आँख बचाकर घरसे सीधा-सामान चुरा ले गये और सन्तोंको भोजन कराया। यह जानकर बड़े भाईने बड़ा क्रोध किया। तुम्हें जानसे मार डालूंगा ऐसा कहकर वह मारने के लिए दौड़ा ये बड़ी जोरसे भागे और एक कुयेंमें कूद पड़े। सन्त-सेवासे सन्तुष्ट प्रभुने अधर में ही इन्हें रोक लिया। इनके शरीरमें बिल्कुल चोट नहीं आई। भगवान ने इन्हें वहीं दर्शन दिया और कहा कि मैं तुम्हारी सन्त-सेवा भावना से सन्तुष्ट हूँ, जो चाहो सो वर माँग लो। आपने कहा-प्रभो ! आपकी ब्रजलीला और ब्रजधाम का हमें सदा साक्षात्कार रहे। भगवानने एवमस्तु कहकर कहा कि तुम तो मेरे पुराने सखा हो, मेरी लीलाके परिकर हो। इस प्रकार श्रीगङ्ग्वालजी कुयेंमें भगवद्दर्शन और संभाषणका सुख ले रहे थे। इनके कुयेंमें कूद पड़ने पर बड़े भाई का क्रोध शान्त हो गया। लोगोंको बुलाकर इन्हें कुयेंमें ढूंढ़ने लगा। तीन प्रहर तक सभी लोग परेशान रहे पर आप किसीको नहीं मिले। क्योंकि आप तो भगवानके निकट थे। भगवानने इन्हें सब प्रकारसे सन्तुष्ट करके कुयेंसे उछाल दिया तो आप झट बाहर आ गये। आपके शरीर में अपार तेज, मनमें परम सन्तोष था। बड़े भाईके प्रति इन्होंने स्नेह और कृतज्ञता व्यक्त की। इनके इस चमत्कार से घरके भाई आदि सभी भक्त हो गये और सन्त-सेवा करने लगे। आप निर्द्वन्द होकर ब्रज-महिमा और लीलाओं का गान करने लगे तथा पूर्वदृष्ट रूपके ध्यानमें सदा मग्न रहने लगे। सर्वेश्वर भक्तमालमें आपका यह कवित्त लिखा है—

कर्क पाप पुंजन की पल में पलायमान, षर्क खिन्नता की षंडै जाके नेक छूजिये।
नर्क के निकेत नोकदार ते निकासि नाषै, पुर्षन की पंगति कितेकौ कहूं हूजिये।।
सर्क जाय संकट समूह ग्वाल कवि भाषै, गर्क करै मोद मैन और विधि दूजिये।
तर्क के वितर्क के औ फर्क के मिटैया ऐसे, स्वामी श्रीनिम्बार्क जू के पद्‌म पद पूजिये।।

* श्रीसोतीजी *

सोती श्लाघ्य सन्तनि सभा दुतिय दिवाकर जानियो।।
परम भक्ति परताप धर्म ध्वज नेजा धारी।
सीतापति को सुजस वदन शोभित अति भारी।।
जानकी जीवन चरण शरण थाती थिर पाई।
नरहरि गुरु परसाद पूत पोते चलि आई।।
राम उपासक छाप दृढ़ और न कछु उर आनियो।
सोती श्लाघ्य सन्तनि सभा दुतिय दिवाकर जानियो।।१६३।।

शब्दार्थ—सोती=श्रोत्रिय, ब्राह्मण। नेजा=निशान, वह दण्ड जिसमें ध्वजा लगती है। थाती=धरोहर, पूंजी। थिर=स्थिर, अचल।

भावार्थ—श्रीदिवाकर सोतीजी सन्तोंकी सभामें प्रशंसनीय, ज्ञान तथा भक्तिके प्रकाशक दूसरे सूर्यके समान थे। श्रीभगवद्‌भक्तिके श्रेष्ठ प्रतापसे धर्मरूपी ध्वजाके दण्डको आपने दृढ़ता से धारण किया। सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके पवित्र सुयशसे आपका मुख सदा सुशोभित रहता था अर्थात् उसका गान करते रहते थे। श्रीजानकी जीवन राघवेन्द्र के चरणों की शरणागति आपकी स्थिर पूंजी थी, आपने उसका व्यय नहीं किया। आपके गुरुदेव श्रीनरहरिदासजी थे, उनकी कृपासे आपके पुत्र-पौत्रों तक में भक्ति सुदृढ़ बनी रही। 'राम उपासक' यह आपकी पुष्ट छाप थी। आपने श्रीरामोपासनाके अतिरिक्त और कुछ भी अपने हृदयमें नहीं आने दिया।। १६३।।

व्याख्या-सोती श्लाघ्य सन्तनि सभा—श्रोत्रियका अपभ्रंश सोती है, वेदमें प्रवीण-अभिज्ञ अथवा वेदके अध्ययन करने वाले को श्रोत्रिय कहते हैं। जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।। (रघु० १६-२५) जन्मसे ब्राह्मणत्व, यज्ञोपवीतादि संस्कारोंसे द्विजत्व और विद्याके अध्ययनसे विप्रत्व की प्राप्ति होती है। तीनों से जो युक्त होता है उसे श्रोत्रिय कहते हैं। ऐसे कुलमें जन्म होने पर

भगवान प्रसन्न होते हैं कि यह अपने तप और विद्याके प्रभावसे अपना तथा लोगों का कल्याण करेगा। देवगण प्रसन्न होते हैं कि यज्ञादि के द्वारा हमारा यजन करेगा। इस प्रसन्नता में ये बधाई बाँटते हैं। इसी कुलमें श्रीदिवाकरजी का जन्म हुआ था अतः 'सोतीजी' यह इनका उपनाम प्रसिद्ध था। सन्तोंकी सभा में आप आदरणीय थे तात्पर्य यह कि सदा सत्संग करते रहते थे। जो सन्त-सभाका सेवन नहीं करते हैं, वे लम्पट, कपटी और कुटिल होते हैं और वेद-शास्त्रोंके विरुद्ध बोलते हैं उन्हें यह भी ज्ञान नहीं होता कि क्या लाभ है और क्या हानि। शिव वाक्य—

लम्पट कपटी कुटिल विसेखी । सपनेहुँ सन्त सभा नहिं देखी ।।
कहहिं ते वेद असम्मत वानी । जिनके सूझ लाभ नहिं हानी ।। वा० दो० ११४

श्रीनिषादराजजी कहते हैं—सन्त-सभामें जिसका आदर नहीं, राम-भक्तों मे जिसकी गणना नहीं उसका जीवन व्यर्थ है। वह पृथ्वी का भारमात्र है। यथा—

साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महँ जासु न रेखा ।।
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जौवन बिटप कुठारू।। अयो० दो० १८९

जो गुरुजनों-साधु-सभाओं का सेवन नहीं करते हैं, वे जड़ हैं और निर्दोष को भी दोष देते हैं। श्रीरामवाक्य—दोसु देयँ जननिहिं जड़ तेई। जिन गुरु साधु सभा नहिं सेई।। (अयो० दो० २६२) श्रीदिवाकरजी का मन रामजीके प्रेममें सराबोर था अतः इनका सन्त सभामें बड़ा आदर था। यथा-राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू।। (अयो० दो० २७६)

धर्म ध्वज नेजा धारी—जिस समय आँधी चलती है। उस समय ऊँचे झण्डेके दण्ड को धारण करनेमें अर्थात् सीधा रखनेमें बहुत ही कठिनाई होती है। सोतीजीमें भक्तिकी दृढ़ निष्ठा थी उसीके प्रभावसे कलियुग में जब माया की आँधी चारों ओर से चल रही है तब भी परमधर्म के ध्वजको ऊँचा रक्खा अर्थात् स्वयं भक्तिमार्ग पर दृढ़ रहकर प्रजामें उसका प्रचार-प्रसार किया।

सुजस बदन शोभित—तुलसी रसना सो भली निसदिन सुमिरै राम। नाहिं तो खैंचि निकासिये मुख में भलो न चाम।। 'थाती थिर पाई' अर्थात् जैसे किसी को अपनी रक्खी हुई धरोहर बिना विशेष प्रयास के मिल जाती है उसी प्रकार इन्हें इस जन्म में श्रीराघवेन्द्र के श्रीचरणों की शरण प्राप्त हुई। यह कहकर जनाया कि पूर्वमें भी आप भगवद् भक्त थे। स्थिर रहने वाली पूंजी हरिभक्ति ही है जो जन्म-जन्मान्तर में भी नष्ट नहीं होती है। संसार में सब कुछ नाशवान है, उससे सुख नहीं मिलता है। यथा—(भा०-७-७-३९) में श्री प्रह्लादजी कहते हैं—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभंगुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः।।

अर्थ—दैत्य बालको ! धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँति के ऐश्वर्य-और तो क्या संसारका समस्त धन तथा भोग सामग्रियाँ इस क्षणभंगुर मनुष्य को क्या सुख दे सकती हैं, वे तो स्वयं क्षणभंगुर हैं इनको त्याग करके भक्त दिवाकर ने 'चरण शरण थाती थिर पाई।'

राम उपासक छाप दृढ़—बनै तो रघुवर ते बनै, कै बिगरै तौ भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे में धूर ।। छ०—राम मातु पितु बन्धु सुजन गुरु पूज्य परम हित। साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित ।। देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति ।। परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल ।। (क० ११०) और देखिये भ० तृ० खं० पृ० १५५ अनुपम चरित ।।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ९१ पर श्रीदिवाकर का चरित्र छः मनोहर छन्दों में वर्णित है। उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है—श्रोत्रिय जाति के ब्राह्मण श्रीदिवाकरजी रामजीके अनुरागी तथा राम-मन्त्र के उपासक थे। सन्तों की सेवा में प्रेम था। सन्तजन आपका बड़ा आदर करते थे। किशोर अवस्था वाला एक पुत्र था। उसके शीतला निकल आई। लड़के की माताको बड़ा दुःख हुआ। पुत्रको मरणासन्न देखकर उसने इनसे कहा कि शीतला देवी की पूजा करो और जात देने की मनौती मान दो जिससे लड़के के प्राण बच जायँ। तब आपने स्त्रीको समझाते हुए कहा—

अरी सुनि नारी तू गँवारी न विचारी भक्ति, ताते व्यभिचारी बात उचारी अताइयै।
एक प्राणनाथ रघुनाथ बिना आनदेव, पूज्यौ न सकाम जातें स्वधरम घटाइयै।।
राम की उपास में न आन की उपास मिलै, जैस दूध काँजी दोऊ मिले स्वाद हानियै।
जैसे आन घास पास खेती धान नास जाय, जैसे बहु पति नीकी कौन नारि ठानियै।।
ऐसे ही समझि लेहु राम कौ उपासो जैसे, हाथी पै बठ्यौ सो कैसे खर मन मानियै।
ज्यावौ तौहू राम भलै मारै तौहू राम भलै, पै न चलैं आन पास एही दृढ़ जानियै।।
ऐसे समझाई नारी आन की उपास टारी, धारी प्यारी राम सेवा देवा सब जामहीं।
राम के भरोसे सुत जियौ सुख लियौ कियौ, उच्छव बड़ोई सन्तवृन्द जेमे तामहीं।।

नाना प्रकारके खान-पान और वस्त्र दानके द्वारा सन्तोंकी सेवा करते देखकर श्रीसीतारामजी इनके ऊपर रीझ गये। एकबार इनके पास खर्चे के लिऐ धनकी कमी आ गई। यह देखकर जगदम्बा श्रीजानकीजी इनके घर पर आई। उन्होंने घूंघटमें अपने श्रीमुख को छिपा रक्खा था। भक्त दिवाकरजीके हाथमें चाँदीके बीस रुपये देकर कहा—'मेरे पतिदेवने ये रुपये भेजे हैं, इनसे आप सन्त-सेवा कीजिये। ये पूजन कर रहे थे, इन्होंने रुपये लेकर सिंहासन पर रख दिये और पूछा कि आप कहाँ रहती हैं, अपना परिचय दीजिये। जगन्माताने हँसकर कहा आपने मुझे नहीं पहचाना, मैं आपके समीप ही रहती हूँ। आप मनमें ध्यान करके जान लीजियेगा। ऐसाकहकर श्रीजानकीजी अन्तर्धान हो गई। आपने मन्दिरमें देखा तो उस रुपयों की विशाल राशि दिखलाई पड़ी। तब आप समझ गये कि जानकीजीने कृपा की है। उस दिन से आपके घरमें फिर कभी सम्पत्तिकी कमी नहीं आई। आपने बड़े समारोह से महोत्सव किया। नित्य सन्तोंको भोजन कराना आरम्भ कर दिया।

एकबार आपके पुत्रकी बधू बीमार पड़ गई। अच्छी होती न देखकर श्रीदिवाकरजी की स्त्री बीमारी का कारण पूछने के लिए गुप-चुप एक तान्त्रिकके पास गई। वह भैरवका उपासक था। यह बात जब श्रीदिवाकरजीको मालुम हुई तो आप स्त्रीके ऊपर बहुत रुष्ट हुए और बोले—तुझ सरीखी अभक्ता स्त्रीको मैं घरमें नहीं रक्खूंगा, तुझे अभी मारकर भगा दूंगा। तुझे भगवान और उनके भक्तों में विश्वास नहीं है। किसीको किसी प्रकारका कष्ट है तो उसकी श्रेष्ठ औषधि भक्त और भगवानका चरणामृत है। फटकार सुनकर वह बेचारी काँप कई और बोली कि मैं तो भोली-भाली हूँ अतः मैं वहाँ चली गई, आप मेरा अपराध क्षमा करें। इसके बाद स्त्रीने भी अनन्य-भक्ति भावको स्वीकार किया। सन्त-चरणामृत से ही बधू स्वस्थ्य हो गई। श्रीदिवाकरजी ऐसे भगवान श्रीरामके अनन्य उपासक थे।

* श्रीलालदासजी *

जीवत जस पुनि परमपद लालदास दोनों लही।।
हृदै हरीगुन खानि सदा सतसंग अनुरागी।
पद्मपत्र ज्यौं रह्यौ लोभ की लहर न लागी।।
विष्णुरात सम रीति बँधैरै त्यों तन त्याज्यो।

भक्त बराती वृन्द मध्य दूलह ज्यों राज्यो।।
खरी भक्ति हरिषांपुरे गुरुप्रताप गाढ़ी गही।
जीवत जस पुनि परमपद लालदास दोनों लही।।१६४।।

शब्दार्थ—जीवत=जिन्दा रहते हुए, इस लोक में। विष्णुरात=परीक्षित। राज्यो=सुशोभित हुए। खरी=सच्ची, विशुद्धा। गाढ़ी=दृढ़, घनी पुष्ट। गही=धारण की। लही= प्राप्त की।

भावार्थ—श्रीलालदासजी को यहाँ जीवनमें सुयश और शरीर त्यागनेके बाद परम्-पद-वैकुण्ठ धाम मिला। आपका हृदय भगवदीय गुणोंकी खान था। आप सत्संगके बड़े प्रेमी थे। जैसे कमल-पत्र जलमें रहकर उससे अछूता रहता है, उसी तरह संसारमें रहते हुए भी सांसारिक सुखोंका लोभ आपके मनमें नहीं आया, बघेरे ग्राममें श्रीमद्भागवतकी कथा को सुनकर श्रीपरीक्षितकी तरह आपने भी अपने शरीरको छोड़ा। बारातमें जैसे दूलह की शोभा होती है, उसी प्रकार सन्तोंकी मण्डलीमें आप सुशोभित होते थे। आपने गुरुदेवके प्रतापसे गुरु आश्रम हरिषांपुर में रहकर सच्ची भगवद् भक्ति आपने ग्रहण की। इस प्रकार आपका जीवन और शरीरान्त दोनों धन्य रहे ।। १६४।।

व्याख्या—जीवत जस०—श्रीविदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहा है कि—यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते। तावत्स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते।। जब तक मनुष्यकी पवित्र कीर्ति इस लोक में गाई जाती है, तब तक वह मनुष्य स्वर्गलोकमें पूजा जाता है।। (विदुरनीति) इसलिए बुद्धिमान लोग ऐसा कोई कार्य नहीं करते हैं जिससे अपकीर्ति हो। सत्कीर्ति की स्थापना से उपकार होता है, लोग उसे गाकर पुण्य संचय करते हैं। अपकीर्तिके फैलाने से अपकार होता है क्योंकि उसके कथन-श्रवणसे लोगोंको पाप लगता है। भगवद् भक्त कीर्तिकी भी इच्छा नहीं करते हैं पर भक्तिके प्रतापसे स्वयं भगवान ही उनकी कीर्तिका विस्तार लोक-कल्याणार्थ करते-कराते हैं। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति।' पुनः—जयन्ति ते जना भक्ता ज्ञानवैराग्य विग्रहाः। नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।। (कस्यचित्कवेः) ज्ञान-वैराग्य की मूर्ति उन भक्तों की जय हो, जिनके यशरूपी शरीरमें जरा-मरण का भय नहीं है। जिनकी सत्कीर्ति है वस्तुतः वे ही जीवित हैं और जिनकी अपकीर्ति है, वे मृतक हैं। श्रीरूपकलाजीने लिखा है कि दिल्लीका यवन शासक दाराशिकोह आपका बहुत आदर करता था। दर्शन और सत्संग के लिए इनके पास आया करता था।

दोनों लही—भाव यह है कि श्रीलालदासजी के दोनों लोक सुधरे। इस लोकमें सुख-शान्ति और कीर्तिका लाभ, पश्चात् भगवद् धामकी प्राप्ति हुई। इसका हेतु क्या है ?

तो कहते हैं कि—'सदा सत्संग अनुरागी' श्रीअग्रदेवजीका कथन है—अगर उभय ताकी बनै, जो सन्तन के साथ। यक द्वै द्वै अरु चोपरी पुनि लाई दुहुँ हाथ।। पुनि लाई दुहुँ हाथ कथा हरिजन मिलि गावै। जीवत जस जग माहिं बहुरि सद्गति को पावै।। देव पितर विधि अवधि कोउ बाधा नहिं करई। अननि भजन गुरुगदति नित्य गोविन्द अनुसरई।। सत्संग अनुरागी—त्यज दुर्जन संसर्ग, भज साधुसमागमम्, कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्।। (सू० सु०) अर्थ—दुष्टोंका साथ छोड़कर साधुओं का नित्य सत्संग करो, दिन-रात भगवत्सेवा आदि पवित्र काम करो क्योंकि संसार तथा यह शरीर नाशवान हैं—इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहो।।

लोभ की लहर न लागी—षड् विकारों में काम-क्रोध आदि का जीतना सरल है, पर लोभ का जीतना कठिन है। लोभ सभी पापों को प्रकट करने वाला है। अतः उसे पाप का बाप कहा जाता है। (दृ० देखिये भ० द्वि० खंड पृ० ४८९) श्रीहरिरामव्यासजी कहते हैं। पद—लोभ के सँग लागैं सब पाप। लोभ गये बिन एक न छूटत बाढ़त उर परताप।। जैसे पङ्कहिं पङ्क न छूटै सूखि सरीरहि आप। ऐसे जोग जग्य तीरथ व्रत मेटि सकै नहिं ताप।। विद्यमान श्रीकृष्ण जादवनि मुनि ने दियौ सराप। 'व्यास' भक्ति बिन दुर्लभ हरिपद लोभै सब अघ बाप।।

दूलह ज्यों—यद्यपि बारातमें दूलह से आयु आदिमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ लोग रहते हैं परन्तु सर्वाधिक सम्मान दूलहका ही होता है, उसी प्रकार साधुओं-भक्तों के समूहमें आप अपने से बड़ोंके द्वारा भी आदरित थे। अजमेर राज्यके अन्तर्गत केकड़ी के निकट 'बँघेरा' ग्राम है। हरिषांपुरमें आपका गुरु-स्थान था जो निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबादसे पश्चिमोत्तर में है। इसे हरसोर भी कहते हैं। आपने पदोंकी रचना भी की है। (सर्वेश्वर भक्तमाल) दो०— कथा पान बाढ़ी तृषा नहिं तक्षक को त्रास। शुक वानी विरमी जबै प्रान गये हरि पास।। श्रीलालदासजीका कथामें अति अधिक अनुराग था। जहाँ भी कथा होती आप सुनने जाते। जैसे परीक्षित पर भगवान का अनुराग था। गर्भ में ब्रह्मास्त्र से रक्षा की दर्शन दिया। उसी तरह आप पर भी प्रभुका प्यार तथा कृपा थी।

विशेष—एक वणिक आपका सेवक था। उसके हृदय में भी भक्ति थी। एकबार आपके पास बाइस साधुओं की एक जमात आई। वे बड़े भूखे थे। आपने वणिक शिष्यसे कहा कि शीघ्र ही बनी बनाई रसोई लाकर सब सन्तों को भोजन कराओ। उसने कहा—महाराज! सामान तो घरमें बहुत-सा भरा है पर पिताजीने बहिनके विवाहके निमित्त

बनवाया है। मैं उसे नहीं ला सकता हूँ। मुझसे धन ले लीजिये और आप सन्तोंको जिमाइये। आपने कहा—नहीं, तुम घर जाओ, तुम्हारे पिता इस समय घर पर नहीं हैं। वे किसी काम से दूसरे गाँवको गये हैं। (सन्तोंको जिमानेमें सामान घटेगा नहीं। जितना लाओगे उतना ही बढ़ जायगा।) आज्ञा मानकर सेवक झट घर गया। सामान बाँधने लगा तो उसकी माँ ने पूछा—कहाँ ले जा रहे हो ? इसने उत्तर दिया कि कुछ सामान उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा रहा हूँ। यहाँसे तो सब खर्च हो जायगा। ऐसा कहकर उसने सामान लाकर सन्तोंको खूब भोजन कराया। सन्तोंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। श्रीलालदासजीके कथनानुसार सामान ज्यौं का त्यौं रहा। उसके पिताने यह रहस्य नहीं जाना। पीछेसे इस चमत्कारका पता पड़ा तो सभीको सन्त-सेवामें विश्वास हुआ। श्रीलालदासजी की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

एकबार एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपने पुत्र और स्त्री के सहित श्रीलालदासजी के पास आया और रो कर बोला कि मेरी दरिद्रता दूर करो, मैं भूखों मर रहा हूँ। आपने कहा—मेरी बात मानो तो मैं तुम्हें एक उपाय बताऊँ। ब्राह्मण ने कहा—बताओ, महाराज! आपने बतलाया कि आज ही से तुम सन्तों और अतिथियों की सेवा आरम्भ कर दो। ब्राह्मणने कहा—भगवन्! यह काम धनके बिना कैसे होगा ? आपने कहा—इसमें धन नहीं चाहिए, तुम्हें जब जो कुछ मिले, तब तुम उसीमें से चौथे अंश से सन्त-सेवा कर दिया करो। धीरे-धीरे तुम्हारे पास छः मासमें बहुत-सा अन्न-धन हो जायगा। सन्तके वचनमें विश्वास करके यह भिक्षाके द्वारा सन्त-सेवा करने लगा फिर कालान्तरमें सन्त-सेवा के प्रताप से वह धनी-मानी हो गया। एकबार उसने घर की गिरी दीवाल खोदी उसमें उसे बहुत-सा धन मिला। उसने श्रीलालदासजी के चरणों में बहुत-सा धन भेट किया उससे विशाल भण्डारा हुआ। इस प्रकार सन्त-सेवाका महत्व आपने बढ़ाया।

एकबार एक सरदार असाध्य रोग ग्रसित अपनी पत्नीको लेकर श्रीलालदासजी के पास आया। आपने उसे सन्त-चरणामृतके सेवनका उपदेश दिया। जिससे वह निरोग होकर सन्त-सेवामें प्रेम रखने लगी। चौ०—जब निज तन की मृत्यु लखानी। लालदास तब उस विधि ठानी।। मण्डल के सब सन्त बुलावा। कीन्ह महोच्छौ समै बनावा।।

कथा भागवत भयौ समाजा। सन्तन की अरचा भल साजा।।
सन्त सभा में कह्यौ सुनाई । राम धाम को अब हम जाई।।
सन्तन बन्दि तज्यौं तहँ देहा। लालदास पहुँच्यौ हरि गेहा।।
सब जन जै जै सबद उचारा। विदित बंघेरा ग्राम मँझारा।। (भ.दा.गु.पृ. ९३)

भक्तचरितांक कल्याणमें मेवातके भक्त स्वामी श्रीलालदासजीका चरित इस प्रकार लिखा है—आप महान् भगवद् भक्त और सन्त थे। ये जाति और सम्प्रदाय भेदसे नितान्त ऊपर उठे हुए थे। इनका जन्म सं० १५९७ वि० ग्राम धौलीदूब राज्य अलवरमें हुआ था। ये कबीर और नानकको उपासनामें विश्वास रखने वाले निष्पक्ष सन्त थे तथा श्रीदादूजी और महाकवि जायसीके समकालीन थे। श्रीनाभाजीने इनका चरित्र भक्तमाल में लिखा है। इनके पिता चाँदमलजी तथा माता समदाजी का जीवन भी भक्तिमय था। श्रीलालदासजीने अलवर राज्यके अन्तर्गत बाँधोली ग्राममें अपने जीवनके कुछ दिन बिताये। पहाड़ी क्षेत्रोमें घूम-घूमकर जाड़ा, बरसात और गर्मीमें ये लोगोंको अपने तपस्या पूर्ण जीवनसे प्रभावित करने लगे। धीरे-धीरे इनके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ने लगी। इन्होंने अपने जीवनके कई महत्वपूर्ण चमत्कारोंसे लोगोंको कृतार्थ किया और अपने समयके हिन्दू मुसलमान सभीको ईश्वर प्रेमके मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। इन्होंने कहा कि जीवमात्र एक ही ईश्वरके अंश हैं। उनमें पारस्परिक प्रेमका होना अत्यन्त अनिवार्य है। इन्होंने सं० १७०५ वि० में १०८ वर्षकी अवस्थामें समाधि ले ली। शेरपुरमें उनकी सुन्दर समाधि अब तक अनेक जीवोंको शान्ति प्रदान करती है। इनकी हस्तलिखित कई पुस्तक हैं। (ले०—श्रीकृष्णगोपालजी) छ० १६४ में वर्णित लालदासजी से ये भिन्न हैं।

* श्रीमाधवग्वालजी *

भक्तनि हित भगवत रची देही माधवग्वाल की॥
निसिदिन यहै विचार दास जिहि विधि सुख पावैं।
तिलक दाम सौं प्रीति हृदै अति हरिजन भावैं॥
परमारथ सों काज हिये स्वारथ नहिं जानैं।
दसधा मत्त मराल सदा लीला गुण गानैं॥
आरत हरिगुण सील सम प्रीति रीति प्रतिपाल की।
भक्तनि हित भगवत रची देही माधवग्वाल की॥१६५॥

शब्दार्थ—रची=बनाई। परमारथ=सार वस्तु, उपकार, श्रेष्ठ पदार्थ। स्वारथ=अपना मतलब या लाभ। आरत=निरन्तर लगे, सतत्, प्रवृत्त, दुःखी।

भावार्थ—भगवानने भक्तोंके हित के लिए श्रीमाधवग्वालजी को इस संसार में प्रकट किया। ये दिन-रात इसी सोच-विचारमें डूबे रहते थे कि भक्तको कैसे सुख पहुँचे।

तिलक, कण्ठीसे एवं उनके धारण करने वाले भक्तोंसे आप बड़ा प्रेम करते थे। भगवद् भक्त इन्हें हृदयसे अच्छे लगते थे। आप केवल परमार्थसे प्रयोजन रखते थे। हृदयमें स्वार्थ की भावना कदापि नहीं रखते थे। ये प्रेमा-भक्तिके मराल थे। सदा भगवानकी लीलाओंका गान किया करते थे और भगवद् गुणानुवादको सुननेके लिए सदा आतुर रहते थे। सुन्दर सरल-स्वभाव, सर्वत्र समत्व बुद्धि रखकर आपने प्रीतिकी रीतियोंका प्रतिपालन किया, आदिसे अन्त तक प्रीतिका निर्वाह किया।।१६५।।

व्याख्या—भक्तनि हित भगवत रची०—इसका तात्पर्य यह है कि भक्तजन ब्रह्माकी त्रिगुणमयी सृष्टिसे भिन्न हैं। ये संसृति के चक्रमें पड़कर जन्म नहीं लेते हैं। अतः इनके जन्म-कर्म दिव्य होते हैं। भक्त लोग कृपामयी सृष्टि हैं। जैसे भगवान त्रिगुणातीत हैं उसी प्रकार भक्त भी त्रिगुणातीत होते हैं। भक्तोंकी सेवाके निमित्त भगवान इनकी रचना करते हैं। यथा-तिलक दाम पर काम कों हरीदास हरि निर्मयो।। छ० १७९ 'भगवन्त रचे भारी भगत भक्तनि के सनमानको।' (छ० १७८) निसि दिन यहै विचार दास जिहि विधि सुख पावै।।' 'तिलक दाम सों प्रीति'—पद-जो तू माला तिलक धरै। तौ या तन मन व्रत की लज्जा और निवाह करै।। करि बहु भाँति भरोसा हरि को भवसागर उतरै। मनसा वाचा और कर्मणा तृन करि गनतु घरै। सती न फिरत घाट ऊपर ते सिर सिन्दूर परै। 'व्यासदास' को कुञ्जबिहारी प्रीति न कहुँ विसरै।। उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के।। (श्रीहरिराम व्यास छ० ९२ देखिये तृ० खण्ड) 'दास सुख पावैं—उत्तमा प्रीतिमें तत्सुखसुखित्व होता है अतः भक्तोंके सुखसे सुखी होते थे। सन्त-सेवामें ही आपको प्रेमा-भक्ति प्राप्त थी।'

परमारथ सों काज०— पर उपकार बचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया।।
पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः।।(सू०सु०)

अर्थ—नदियोंमें मधुर जल होता है पर वे स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्षोंमें फल लगते हैं पर वे फलोंको स्वयं नहीं खाते हैं। मेघ भी जल अपने लिए नहीं बरसाते। इसी प्रकार सज्जनोंकी सम्पत्ति तो परोपकार के लिए ही होती है। दूसरा भाव यह कि मन, वाणी और शरीर से श्रीरामजीके चरणों में अनुराग ही श्रेष्ठ परमार्थ अर्थात् सार-वस्तु है। यथा-देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं।। सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू।। पुनः 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'

तात्पर्य यह कि दीन-दुःखी एवं सन्तोंकी सेवा तथा श्रीराम-भजन के अतिरिक्त दूसरे प्रपंचोंसे भक्त माधवग्वालजी का कुछ भी प्रयोजन न था।

स्वारथ नहिं जानैं—स्वार्थ दो प्रकार का होता है, सच्चा और झूठा। यथा—'स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा॥' (उ० ९६।१) भव-बन्धनसे छुड़ाने वाला सच्चा स्वार्थ है। तात्पर्य यह कि सच्चा स्वार्थ और सच्चा परमार्थ मन, कर्म, वचनसे रामपद प्रेम ही है। इससे भिन्न स्वार्थ-परमार्थ दोनों झूठे स्वार्थ हैं। धन, धाम, स्त्री पुत्र और स्वर्गादि सर्वथा झूठे स्वार्थ हैं। श्रीमाधवग्वालजी झूठे स्वार्थको जानते ही नहीं थे। सहज स्नेहसे भक्त-भगवानकी सेवा करते थे। उनमें स्वार्थ अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्षको प्राप्त करने की इच्छा न थी।

दसधा मत्त मराल—भक्तिके भेद एवं अंग पूर्वार्द्ध भक्तमाल क० ३ तथा छ० १४ में द्रष्टव्य हैं। जलसे दुग्धको जैसे हंस ग्रहण करता है उसी प्रकार माधवग्वालजीने सभी भक्तियोंमेंसे प्रेम-भक्तिको ग्रहण किया। पुरानी टिप्पणी में जगतानन्दजीके वाक्योंको उद्धृत कर भक्तिके कुछ भेद इस प्रकार लिखे हैं—विष्णु भक्त की दोय विधि विहिता अविहिता जानि। जगतानन्द बरनन करत प्रभु कौं उर में आनि। अनिमित्ता जो भगवती भक्ति सिद्ध अधिकाइ। ह्वै काम की वासना भस्म करत सब आइ। शास्त्रोक्त विधान पूर्वक की गई भक्तिको विहिता (वैधी) कहते हैं। स्वाभाविक राग या रुचिसे होने वाली भक्ति अनिमित्ता (अविहिता) कही जाती है। विहिता दो प्रकार की हैं—१-मिश्रा, २-शुद्धा। मिश्रा तीन प्रकार की—१-कर्ममिश्रा, २-कर्मज्ञानमिश्रा, ३-ज्ञानमिश्रा। कर्ममिश्रा तीन प्रकार की—१-तामसी, २-राजसी, ३-सात्विकी। तामसी तीन प्रकार की—१-हिंसार्थी, २-दम्भार्थी, ३-मात्सर्यार्थी। राजसी तीन प्रकार की—१-विषयार्थी, २-यशोऽर्थी, ३-ऐश्वर्यार्थी। अर्चादिकोंमें मन लगाकर चाह करना सात्विकी भक्ति है। यह भी तीन प्रकार की है—१-कर्मक्षयार्थी, २-विष्णुप्रीत्यर्थी, ३-विधि सिध्यर्थी। दो०—सब जीवन में देखिये हरि को अपृथक् भाव। भक्ति सात्विकी जानि नर उर धरिये यह दाव॥ कर्मज्ञान मिश्रा के तीन भेद—१-उत्तमा, २-मध्यमा, अधमा। 'उत्तमा' दो०—सब भूतन में देखिये, भगवत् भक्ति पुनीत। प्रभु में देखै जगत सब सो कहि उत्तम प्रीति॥ 'मध्यमा'—हरि हरिजन मूरख विदित प्रेम मित्र किय जान॥ और अपेक्षा देखिये सो मध्यमा बखान। 'अधमा'—प्रतिमा पै हरिबुद्धि है भक्ति अन्य में नाहिं। तासों प्राकृत भक्त कहि, नन्द जगत के माहिं॥ 'ज्ञानमिश्रा'—हरिगुन गति पन श्रवन करि प्रभु में दीजै चित्त। ज्यौं गंगाजल समुद्र में जगतनन्द सुन मित्त॥

'शुद्धा'—भक्ति अहैतुकि जानिये शुद्धा जाको नाम। चारि मुक्ति चाहैं नहीं जगतनन्द निष्काम।। दूसरी 'अविहिता' पाँच प्रकार की—१-कामजा, २-द्वेषजा, ३-स्नेहजा, ४-भयजा, ५-निष्काम।।

* दोहा *

गोपी जन लखि काम तें द्वेष कियो शिशुपाल।
भय ते कंस उधारियो नेह युधिष्ठर पाल।।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी पृ० ९३ के आधार पर श्रीमाधवग्वालजीका एक चरित्र इस प्रकार है—माधो भक्त ग्वाल द्विज जाती। तासु कथा सुनिये रस राती।। बड़ उपकारी तिस गति न्यारी। सेवत दाम तिलक तन धारी।। आप गूजर गौड़ जातिके ब्राह्मण थे। 'ग्वाल' यह इनकी उपाधि थी। ये महान् परोपकारी और भक्तसेवी-सन्त थे। एकबार आपके पास एक सन्तने आकर कहा कि मुझे गुरु-महोत्सव करना है, उसके लिए आप कुछ धन दीजिये। आपने कहा कि मैं यथा-सम्भव धनका प्रबन्ध अवश्य करूँगा। फिर आपने ग्रामवासियोंके पास जाकर कहा कि आप लोग चन्दा करके कुछ धन इकट्ठा कर दीजिये जिससे इस सन्तके गुरुका भण्डारा हो जाय धन तो नाशवान है, जो धन सन्त-भगवान की सेवामें नहीं लगता है उसे चोर ले जाते हैं अथवा किसी दूसरे प्रकार से नष्ट हो जाता है। जैसे कूपसे जलके निकलते रहने पर जल शुद्ध रहता है उसी प्रकार गृहस्थके घरसे यदि सेवार्थ धन जाता है तो वह शुद्ध रहता है अन्यथा गन्दा हो जाता है अतः कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए। इससे आप लोगोंका परम कल्याण होगा। इस प्रकार आपने बहुत कहा-सुना पर लोगोंने चन्दा देना स्वीकार न किया। तब आप उस सन्त को लेकर अपने घर आये। आपने जो कुछ धन और सामान सन्त-सेवा एवं कन्याके व्याहके लिए संग्रह कर रक्खा था, वह सब उस संतको दे दिया। इससे वे संत बहुत ही प्रसन्न हुए, उन्होंने बड़े उत्साह से भण्डारा किया। यह सुनकर माधवग्वालजी की पत्नीको बड़ा दुःख एवं रोष हुआ। वह इनसे पूछने लगी कि आपने कन्याके विवाहका सामान क्यों दे दिया ? माधवग्वालजीने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, सुनी-अनसुनी कर दिया। इसके बाद वह एकदिन भण्डार घरमें गई तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ सब सामान ज्यौं का त्यौं रक्खा हुआ था। तब दौड़कर पतिके पास आई और बोली—यह क्या हुआ, सब सामान तो आपने सन्तको दे दिया था फिर कहाँसे आ गया। आपने सामान दिया था या नहीं ? तब आपने

प्रभुकी कृपाका अनुभव करके उसे समझाते हुए कहा कि यह सन्त-सेवा का चमत्कार है। सन्त को दिया धन अक्षय होता है। पत्नीको और अधिक साधु-सेवामें अनुराग हो गया। सन्तसेवी बड़भागी हैं–'ते बड़भागी जे करत हरिजन सेव विनोद। इहाँ सुजस सम्पति लभत आगे मुक्ति प्रमोद।।'

* श्रीप्रयागदासजी *

श्रीअगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की।।
मानस वाचक काय राम चरणनि चित दीनौ।
भक्तनि सों अति प्रेम भावना करि सिर लीनौ।।
रास मध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई।
आड़ौ बलियौ अङ्क महोछौ पूरी पाई।।
क्यारे कलस औली ध्वजा विदुष श्लाघा भाग की।
श्रीअगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की।।१६६।।

शब्दार्थ–पूरी परी=पूर्ण हुई, निभी, कमी नहीं आई। सिर लीनौ=सेवा की, श्रेष्ठ माना। निर्जान=प्राणहीन। दुति=द्युति, आभा, चमक। देह दुति दसा=शरीरकी दिव्य अवस्था। अङ्क=मध्य में। पूरी आई=पूड़ी प्रसाद लिया। श्लाघा=प्रशंसा।

भावार्थ–सद्गुरु श्रीअग्रदेवाचार्य के श्रीप्रयागदासजी के भक्त भगवत-सेवा सम्बन्धी सभी कार्य पूर्ण हुए, उनमें कभी किसी प्रकार से विघ्न नहीं आया। इन्होंने मन, वाणी और शरीरसे सन्त-भगवन्तकी सेवा की। सब ओर से हटाकर मनको श्रीरामजी के चरणों में लगाया। भक्तोंमें आपका अत्यन्त प्रेम था आपने उन्हें अपनी भावना से प्रभुतुल्य सर्वश्रेष्ठ माना और उनकी खूब सेवाकी। एकबार जब रासलीला हो रही थी। उस समय आपने लीलामें तन्मय होकर शरीर त्याग दिया। आड़ौं बलियौ के महोत्सव में आपने पूड़ी-प्रसाद ग्रहण किया। क्यारे नामक ग्रामके मन्दिर पर कलश चढ़ाया और औली ग्राममें ध्वजारोपण कराया। इस दिव्य चमत्कारको देखकर विद्वानों और सन्तोंने आपके भाग्य की प्रशंसा की।।१६६।।

व्याख्या–पूरी परी–आदि से अन्त तक दास्य भावका निर्वाह हुआ। दास बनना सहज है पर निभाना कठिन है। भगवानसे प्रेम था और भक्तोंसे अति प्रेम था। जैसे–'भक्त

इष्ट अति व्यास के।' रासलीलामें शरीर त्यागके समय आपके दिव्य शरीरकी चमक उपस्थित लोगों को दिखाई पड़ी। आड़ौं बलियौ आबू पर्वतका नाम है। इसीके निकट क्यारा ग्राममें महोत्सव था। सर्वेश्वर भक्तमालके अनुसार औलीगांव हरियाणा प्रान्त में है। यहाँ श्रीनागाजीके गुरुदेव श्रीपरमानन्ददासजी के यहाँ महोत्सव था। इनमें सभी सन्तोंकी श्रद्धा थी। श्रीप्रयागदासजीकी भी इसमें सम्मिलित होनेकी इच्छा हुई। क्योंकि दोनों स्थानोंमें निमन्त्रण प्राप्त हुआ था। सन्त-दर्शनकी तीव्र लालसा देखकर श्रीरामजीने इन्हें दो शरीर दे दिये। औली गाँवमें ध्वजारोपणकी चर्चा मू० छ० १६९ में भी की गई है। यथा—'औली परमानन्द कै ध्वजा सबल धर्म की गड़ी।'

भक्तदाम गु० चि० के पृ० ९३ पर लिखा है कि सन्त-दर्शनमें आपका अपार प्रेम था, अपने शरीरान्तका समय जानकर आपने सन्त-समाजको एकत्र किया। अनन्त सन्त पधारे, उत्सव होने लगा कि किसी सन्तने कहा कि अमुक स्थान पर बड़ा-भारी सन्त-समाज एकत्र हुआ है। यह जानकर श्रीप्रयागदासजी की उत्कट इच्छा हुई कि मैं भी दर्शन करूँ। प्रभुने दो शरीर देकर इन्हें बड़भागी बनाया। एक ही मुहूर्तमें एक स्थानमें कलश चढ़ा, दूसरे स्थानमें सन्त-सेवाका झण्डा लगाया गया। मामा श्रीप्रयागदासजी इनसे भिन्न हैं।

* श्रीप्रेमनिधिजी *

प्रगट अमित गुन प्रेमनिधि धन्य विप्र जिन नाम धर्‌यौ।।
सुन्दर सील सुभाव मधुर वानी मंगल करु।
भक्तनि कों सुख दैन फल्यौ बहुधा दसधा तरु।।
सदन बसत निर्वेद सारभुक जगत असंगी।
सदाचार ऊदार नेम हरिदास प्रसंगी।।
दया दृष्टि बसि 'आगरैं' कथा लोग पावन कर्‌यौ।
प्रगट अमित गुन प्रेमनिधि धन्य विप्र जिन नाम धर्‌यौ।।१६७।।

शब्दार्थ—अमित=अनन्त। सारभुक=तत्व ग्रहण करने वाले, रहस्य के अनुभवी असङ्गी=विरक्त।

भावार्थ—श्रीप्रेमनिधिजीमें प्रेमा-भक्ति सम्बन्धी अनन्त गुण प्रकट थे। उस ज्योतिषी विप्रको धन्यवाद है जिसने गुणोंके अनुरूप ऐसा (सार्थक) नाम रक्खा। आप सुन्दर शीलवान

और स्वभावसे नम्र थे। आपकी वाणी मधुर, रसमयी और श्रोताओंका सर्वविधि से कल्याण करने वाली थी। हरि-भक्तोंको सुख देनेके लिए आप कल्पवृक्षके समान थे, जिसमें प्रेमा-पराभक्तिके बहुतसे फल लगे रहते थे। घरमें रहते हुए आप गृहस्थाश्रमके प्रपञ्चोंसे परम विरक्त थे। विषयोंको त्यागकर सारतत्व जो प्रेम उसका आस्वादन करने वाले, सदाचारी और परम उदार थे। नियमपूर्वक भगवद्-भक्तोंके साथ सत्सङ्ग किया करते थे (आगरा निवासी) भक्तों पर दया करके आपने श्रीवृन्दावनसे बाहर आगरामें निवास किया और भगवानकी कथाओंके द्वारा सबको पवित्र किया।।१६७।।

व्याख्या—प्रेमनिधि-अर्थात् प्रेमके समुद्र, जैसे समुद्रमें जल और रत्नराशि अनन्त हैं उसी प्रकार आपमें प्रेम और शुभ-गुण अनन्त थे। 'धन्य विप्र'—जैसे त्रिकालज्ञ श्रीवशिष्ठजी और गर्गाचार्यजी राम-कृष्णके सार्थक नाम रखकर धन्य हुए उसी प्रकार भविष्य के द्रष्टा पुरोहितने इन्हें महान् प्रेमी जानकर प्रेमनिधि यह नाम रक्खा। ऐसा नहीं कि भूमि एक बिस्वा भी नहीं पर नाम भूपाल। आँखके अन्धे नाम नैनसुख। पासमें कौड़ी नहीं नाम करोड़ीमल।

सुन्दर सील—शीलके बिना दूसरे गुण सुशोभित नहीं होते। भर्तृहरि शतके—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितु धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।।

अर्थ—ऐश्वर्यकी शोभा, सज्जनतासे है। शूरवीरकी शोभा, कम बोलने से है। ज्ञानकी, शान्तिसे। शास्त्राध्ययनकी, नम्रतासे। धनकी, सत्पात्रको दान करने से शोभा है। तपकी, अक्रोधसे। समर्थकी, क्षमासे। धर्मकी, दम्भहीनतासे और सभीकी शोभा सुशीलतासे है। शील ही सब गुणोंका कारण है। श्रीप्रेमनिधिमें सुन्दर शील था इसीसे उनमें अमित गुण प्रकट थे। सज्जन अपने सत्स्वभावको नहीं छोड़ते हैं अर्थात् उनके साथ कोई दुष्टता करे तो भी वे समर्थ सन्त बदला नहीं लेते हैं। श्रीप्रेमनिधिजीने बादशाहसे अपनी शिकायत करने वालोंको दण्ड नहीं दिलाया। सन्त-स्वभावको नहीं छोड़ा—

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धं,
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुकाण्डम्।

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं तप्तवर्णं।
प्राणान्तेऽपि प्रकृति विकृति र्जायते नोत्तमानाम्।। (सू० सु०)

अर्थ—चन्दन को जितना घिसा जाय, उतना अधिक सुगन्ध देता है, गन्ने को जितना ही चूसते जाओ और अधिक मीठा लगता है तथा सोनेको जितना अधिक तपाया जाय उतना ही अधिक चमकता है। इसी प्रकार उत्तम पुरुषोंके प्राणान्त ही क्यों न हो जायँ उनके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

मधुर बानी०—सन्त सभी में अपने आराध्य को देखते हैं अतः मीठी वाणी बोलते हैं। चाणक्यनीतौ—प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः। तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।। अर्थ—मधुर वचन बोलने से सभी जीव सन्तुष्ट होते हैं सबके सन्तुष्ट होने पर प्रभु सन्तुष्ट हो जाते हैं अतः मधुर ही बोलना चाहिए। वचन में क्या दरिद्रता है। (विशेष देखिये भ० तृ० पृ० १५३ क० ३७४)।

सदन बसत निर्वेद—इष्टदेव की निरन्तर आराधना और सत्सङ्ग जहाँ मिले वह आश्रम धन्य है। यथा—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः सङ्ग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः।। (सू० सु०)

अर्थ—वह गृहस्थाश्रम धन्य है, जिसमें आनन्दमय घर, विद्वान् पुत्र, सुन्दरी स्त्री, सच्चे मित्र, सात्विक धन, स्वपत्नी में प्रीति, सेवा परायण सेवक, अतिथि सत्कार, नित्य देवपूजा, मधुरान्न प्रसाद, साधु सङ्ग और इष्ट की उपासना ये सर्वदा प्राप्त होते रहते हैं। श्रीप्रेमनिधिजी हरिदास प्रसङ्गी थे अतः घरमें भी वैराग्य था। (विशेष देखिये द्वि० खं० पृ० ५९९ क० २८५ घर रहौ कै अतीत होय)।

दया दृष्टि बसि आगरैं—डूबते को बचाने के लिए जैसे तैराक दयावश जलाशयमें कूद पड़ता है उसी प्रकार आप भवसागरसे लोगोंको पार करने के लिए आगरामें जाकर रहे। साधन-भजन और धामवास आदिके द्वारा आत्म-कल्याण मात्र करना श्रेष्ठ है परन्तु अपने साथ-साथ लोक-कल्याण करना अतिश्रेष्ठ है। श्रीप्रेमनिधिजीने विचारा कि आगरा में रहनेसे सामान्य प्रजा जो यवनों के अत्याचारसे पीड़ित है, उसे भागवत धर्मोपदेश

देकर स्वधर्मनिष्ठ बनाना आवश्यक है अतः दया करके आगरा में आकर रहे और यवन शासकों को प्रभावित कर लोगों का परम कल्याण किया। पुनः आगरा उप-ब्रज है और ब्रजका प्रवेश द्वार है। दो०—वृन्दावन के घाट को जल आवत यहि बाट। ताते यह है आगरो और गाँव सब घाट॥

कथा लोग पावन कर्यौ—अनेक विद्वान् कथा कहकर धन-माल को प्राप्त करते हैं पर उससे श्रोताओं का मनोरंजन मात्र होता है। जो क्रियावान् हैं, जिनकी कहनी-रहनी एक है उनकी कथासे लोग पावन होते हैं। यथ—(कवित्त पुरानी टि० से)

जैसे ससि निसि को अकास में प्रकास पावै, अमी बरसावै जौ सिरावै ताप तन की।
तैसे रसिकाई औ अननिताई भाई अति, बात मुख सोभित है क्रियावान जन की॥
जैसे धन धाम भाम स्याम जू के लागे काम, होत अभिराम दुख ग्राम नासै मन की।
ऐसे हरिगुन कोऊ पुन्यन बखान करै, तोपै कान प्रान हरै सुनि गुन गन की॥

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥

अर्थ—श्रीशुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं कि हे राजन्! जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार सागर से पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग अनेकों प्रकार के दुःख दावानल से जल रहे हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवानकी लीला-कथारूप रसके सेवन के अतिरिक्त और कोई साधन, नौका नहीं है। ये केवल लीला-रसायन का सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं। (भा० १२-४-४०) कथाके इस महत्व को जानकर ही प्रेमनिधिजी ने आगरा में रहकर लोगोंको कथा सुनाने का निश्चय किया।

प्रेमनिधि नाम करें सेवा अभिराम स्याम, आगरौ सहर निसि सेस जल ल्याइयै।
वरखा सु रितु जित तित अति कीच भई, भई चित चिन्ता कैसे अपरस आइयै॥
जो पै अन्धकार ही में चलौं तौ बिगार होत, चले यों विचारि नीच छुवै न सुहाइयै।
निकसत द्वार जब देख्यौ सुकुमार एक, हाथ में मसाल याके पाछे चले जाइयै॥५९४॥

शब्दार्थ—निसि सेस=थोड़ी रात रहे, रातका चौथा प्रहर। अपरस=दूसरे को छुये बिना, पवित्र।

भावार्थ—श्रीप्रेमनिधिजी मिश्र नामक महान् प्रेमी सन्त आगरा में रहते थे और बड़े सुन्दर भाव से श्रीबिहारीजी की सेवा-पूजा किया करते थे। नित्य कुछ रात रहे

ही श्रीठाकुर सेवाके लिए आप यमुना जल लाया करते थे। एकबार वर्षा का मौसम था, अधिक वर्षाके कारण जहाँ-जहाँ सर्वत्र रास्तेमें कीचड़ हो गयी। तब आपको बड़ी चिन्ता हुई कि अपरस में रहकर यमुना जल कैसे लावें। आपने अपने मन में विचारा कि यदि अन्धेरेमें जल लेने जाऊँ तो कीचड़में फँसने-गिरने का भय है और यदि प्रकाश होने पर जाऊँ, तो आने-जाने वाले नीच जाति के लोगों से छू जाऊँगा। यह भी ठीक न होगा। अन्त में सोच-विचारकर आपने निश्चय किया कि अन्धेरे में ही जल लाना ठीक है। क्योंकि उस समय किसी से छूने का डर नहीं रहेगा। जैसे ही आप दरवाजे के बाहर निकले, तो आपने देखा कि एक सुकुमार-किशोर बालक मशाल लिए जा रहा है आप भी उसीके पीछे-पीछे चल दिये।।५९४।।

व्याख्या—प्रेमनिधि—आप बल्लभकुलीय वैष्णव श्रीविट्ठनाथजी के शिष्य थे। दो सौ बावन वैष्णववार्तामें आपका चरित्र है। आपके आराध्य श्रीठाकुरजी का नाम 'श्यामजी' है। अब भी आगरा में आपका मन्दिर प्रसिद्ध है। श्रीप्रेमनिधिजी अपरस में रहते थे। यवनोंका यातायात अधिक रहता था ये जान-बूझकर स्पर्श कर लेते थे अतः नित्य सवा प्रहर रात रहे यमुना जल लाते। 'देख्यौ सुकुमार'—कवित्त—

लाल रङ्ग पाग जाल बाँधी अनुराग तापै, जोरदार तुर्रा रुरै बनक विशाल है।
झंगा झूमदार झल झलकै फेंटा जूती, जरद लपेटा गरें गेरे गुञ्ज माल है।।
चमकत है चूरा चारु चंचला से चोहूँ कौंध, ऊँचौ कियौ बाहु तामें अमल मसाल है।
मन्द मन्द बाल आगें आगें चलौ जात लोल, भक्त प्रनपाल करि करत निहाल है।। पु.टि.

जानी यहै बात पहुँचाये कहूँ जात यह अबहीं, बिलात भले चैन कोऊ घरी है।
जमुना लौं आयौ अचरज सो लगायौ मन, तन अन्हवायौ मति वाही रूप हरी है।।
घट भरि धर्‍यौ सीस पट वह आय गयौ, आय गयौ घर नहीं देखी कहा करी है।
लागी चटपटी अटपटी न समझि परै, भटभटी भई नई नैन नीर झरी है।।५९५।।

शब्दार्थ—बिलात=गायब होता है। पट=झटपट, शीघ्र। चटपट=आतुरता, व्यग्रता। अटपटी=बे-ढंगी, समझ में न आने योग्य। भटभटी=दिखाई पड़ना, फिर न दिखाई पड़ना, भ्रम, व्याकुलता।

भावार्थ—श्रीप्रेमनिधिजीने अपने मनमें समझा कि यह बालक किसीको पहुँचाकर वापस लौट रहा है, कुछ देर के बाद अपने घर की ओर मुड़कर गायब हो जायगा

पर अच्छा है, कुछ देर तो प्रकाश मिलेगा। जितनी देर मिलेगा उतनी दूर तक सुखसे पहुँच जाऊँगा। इस प्रकार आप सोचते ही रहे, परन्तु वह बालक किसी दूसरी ओर न मुड़कर यमुनाजी के किनारे तक आया। इससे इनके मनमें बड़ा आश्चर्य हुआ और उस मशालची लड़केमें ही मनको लगाये हुए आपने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया, परन्तु इनकी बुद्धिको उसके रूपने अपनी ओर खींच लिया था। स्नानके बाद जलसे भरा घड़ा जैसे ही आपने अपने सिर पर रक्खा उसी क्षण पहले की तरह वह बालक फिर आ गया और फिर आप उसके पीछे-पीछे चले। जैसे ही आप अपने घरके द्वार पर पहुँचे वैसे ही वह मशालची लड़का गायब हो गया। अहो ! प्रभुने यह क्या किया। वह बालक कहाँ गया ? कौन था ? उसे पुनः देखनेके लिए आप आतुर हो गये। पूरे रास्तेमें मशाल दिखाना, यह एक बड़ी अटपटी बात थी, जो समझमें नहीं आती थी। अब आपको उसे फिर देखने की व्याकुलता हुई और आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली, जो बन्द नहीं हो रही थी।।५९५।।

व्याख्या—जमुना लौं आयौ—दो सौ बावनवार्तामें लिखा है कि श्रीयमुना तट पर आते ही उस मशालचीने हाथ-पैर धोया और अन्तर्धान हो गया। तब श्रीप्रेमनिधिको आश्चर्य हुआ। किसी भूत-प्रेमकी सामर्थ्य नहीं है कि मेरे सामने आवे। कौन था, कहाँ गया यही सोचते-विचारते स्नान किया। झट वह फिर आ गया। आपके मनमें आया कि पूछूं कि कौन हो ? पर कुछ न पूछ सका। जिस समय मशालमें तेल डाला जाता है तो थोड़ी देरके लिए अँधेरा हो जाता है पर इसकी मशालने लगातार प्रकाश दिया। पाँच-सात पग चले थे कि 'आ गयौ घर' और फिर मशालची नहीं दिखाई पड़ा। तब इन्हें और आश्चर्य हुआ कि एक कोस यमुनाजी से घर है फिर इतनी शीघ्रतासे कैसे आ गये। अब आप समझ गये कि श्रीठाकुरजीको यमुना जल अत्यन्त प्रिय है अतः उसके लाने में मशाल दिखाई। (अब भी मथुरासे नित्य नाथद्वाराको यमुना जल जाता है) 'कहा करी'—श्रीठाकुरजीने मेरे साथ यह कौन-सी लीलाकी। बात समझमें नही आ रही थी। रोते-रोते मन्दिरमें सेवा करने गये तो श्रीठाकुरजीके हाथ में तेल लगा हुआ था और श्रीचरणोंमें रज तथा कीच लगी हुई थी। यह देखकर आप मूर्च्छित हो गये। तब प्रकट होकर श्रीश्यामजीने कहा—आपको मालूम है मेरा स्वभाव, मुझे जो जैसे भजता है, मैं भी उसे उसी तरह भजता हूँ। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता०) तुम नित्य मेरी अनेक प्रकार से सेवा करते हो मैंने यदि थोड़ी-सी सेवा कर दी तो क्या हुआ। (सेन भक्तके लिए नाई और तुम्हारे लिए मशालची बने)।

श्रीठाकुरजीकी कृपा का अनुभव करके ये रोते ही रहते। दूसरा भजन-ध्यान भूल गये, अब तो मशालची श्यामकी शोभा ही आँखों में बस गई। 'कहा करी'—दूसरे चोर तो अँधेरे में (अँधेरा करके) चोरी करते हैं, इसने तो मशाल जलाकर मेरा चित्त चुरा लिया। भगवत्स्वरूपका ध्यान ही मशाल है, उससे अन्तःकरण प्रकाशित होता है। अपने स्वरूपको दिखाने के लिए प्रभुने कृपा करके मशाल दिखाई। प्रभु ही दिव्य-दृष्टि देते हैं, प्रकाश देते हैं तब उनके स्वरूपका बोध होता है। प्रेम और प्रियतममें अन्तर नहीं, प्रेमने ही प्रकट होकर दर्शन दिया। 'नीर झरी'—

दोहा—रूप छके घूमत फिरैं तनक न तनको ध्यान।
नारायन दृग जल भरे यही प्रेम पहिचान॥
प्रेमकि निधि अति प्रेमनिधि भर्‌यौं प्रेम उर जाल।
सोई मूरति धारिकै प्रगट भये ततकाल॥
पुतरी कारी आँख की रूप श्याम को मानि।
वासों सब जग देखिये वा बिन अन्धो जानि॥
कारी दृग की पूतरी कारौ हरि को अङ्ग।
जिनसों सब जग देखिये जिन बिन रूप न रङ्ग॥ (पु० टि०)

कथा ऐसी कहैं जामें गहैं मन भाव भरैं, करैं कृपादृष्टि दुष्टजन दुख पायौ है।
जायकै सिखायौ बादशाह उर दाह भयौ, कही तिया भली को समूह घर छायौ है॥
आये चोबदार कहैं चलौ एही बार वारि झारी, प्रभु आगे धर्‌यौ चाहै सोर लायौ है।
चले तब सङ्ग गये पूछै नृप रङ्ग कहा ? तियनि प्रसङ्ग करौ ? कहिकै सुनायौ है॥५९६

शब्दार्थ—गहैं=ग्रहण करें, आकर्षण करें। उर दाह=द्वेष। चोबदार=सिपाही। झारी=जलपात्र। रङ्ग कहा=प्रेम, प्रभाव या चाल-चलन कैसा है।

भावार्थ—प्रेमी भक्त श्रीप्रेमनिधिजी चौरासी वैष्णववार्ता, श्रीमद्भागवतादि वैष्णव-ग्रन्थोंकी बहुत अच्छी कथा कहते थे। प्रभुके स्वरूपको दर्शा देते थे उससे श्रोताओं के मनको अपनी और खींचकर उसमें भगवद्-भक्तिके भावोंको भर देते थे। सभी जीवों के ऊपर ऐसी कृपादृष्टि करते थे कि जिससे वे सर्वथा कृतार्थ हो जाते थे। यह देखकर दुष्टोंके हृदय में बड़ा दुःख हुआ। ईर्ष्यावश उन्होंने बादशाह को सिखाया, शिकायत करते हुए उन्होंने कहा कि—'प्रेमनिधिके घरमें अच्छे-अच्छे घराने की बहुत-सी औरतें

हर समय आती जाती रहती हैं।' यह सुनकर बादशाह क्रोधसे जल उठा उसने अपने सिपाहियोंको आज्ञा दी कि—'प्रेमनिधिको फौरन पकड़ लाओ।' श्रीप्रेमनिधिजी जिस समय जल भरी झारी भगवानके सामने रखकर उन्हें जल पिलाना चाहते थे, उसी समय चोबदारोंने आकर इन्हें बादशाहकी कठोर आज्ञा सुनाई और कहा कि—'अभी इसी समय मेरे साथ चलो।' ऐसा कहकर वे लोग शोर मचाने लगे। तब भगवानको जल पिलाये बिना ही श्रीप्रेमनिधिजी बादशाहके समीप गये। उसने इनसे पूछा—कहो, क्या मौज-बहार है, तुम स्त्रियोंके साथ प्रसङ्ग करते हो, हमारे राज्य में ऐसा अन्याय? यह सुनकर आपने कहा।।५९६।।

व्याख्या—कथा ऐसी कहैं—जैसे किसी के पुत्रका पत्र परदेशसे आया और उसकी माताने किसीसे उसे पढ़वाया। तो उसे पढ़कर उस पढ़ने वालेको न तो हर्ष हुआ और न विषाद पर उसकी माताको सुनकर उसे हर्ष या विषाद होता है और वह उसमें मग्न हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कथाके वक्ता-श्रोताका यदि भगवानसे अपनापन होगा तो वह उसमें मग्न हो जायगा। पराया भाव होगा तो कथासे मन द्रवित न होगा। श्रीप्रेमनिधिजीका तथा इनके श्रोताओंका भगवानमें अपनत्व था अतः ये स्वयं कथा रसमें डूब जाते और श्रोताओंको भी डुबा देते। अतः कहते हैं कि—'गहैं मन भाव भरैं'—भगवानका रूप और उनकी कथा मनमोहिनी है।

कन्हैया की आंखे हिरन सी नसीली। कन्हैया की शोखी कली सी रसीली।।
कन्हैया की छवि दिल उड़ा लेने वाली। कन्हैया की सूरत लुभा लेने वाली।।
कन्हैया की हर बात में एक रस है। कन्हैया की यादों से मन मति सरस है।। नफीस खलीली

वक्ता व्यास सो जानियो जाके लोभ न काम।
श्रोता सो पहचानिये जाके तन मन श्याम।।

कृपादृष्टि—मूलमें 'दयादृष्टि बसि आगरैं' का भाव यह कि 'कृपादृष्टि करैं' और 'भाव भरैं' कथा कहते हुए ऐसी कृपा करते थे कि मनमें भाव भर जाता था पुनः कथा ऐसी थी कि उसके द्वारा सज्जन तो कृतार्थ हुए ही, दुष्टजन द्वेष करके सन्तुष्ट हुए पुनः चमत्कार देखकर ऐसे प्रभावित हुए कि कथाके श्रोता बन गये, उनमें भी भाव भर गया अतः मूलमें कहा कि—'कथा लोग पावन कर्यौ' कथा कहकर सभीको पवित्र किया।

दुष्टजन दुख पायौ है—श्रीप्रेमनिधिजीकी प्रतिष्ठाको देखकर विमुख ब्राह्मण इनसे द्वेष करने लगे और उन्होंने बादशाहसे इनकी झूठी शिकायत की। ब्राह्मण जातिके लोग

आपसमें द्वेष करते हैं (विशेष देखिये द्वि० ख० पृ० ४८५ श्रीनन्ददासजीसे द्वेष करके मरी बछिया खेतमें डालकर गो-हत्या लगाई) कौवा, कुक्कुट (मुर्गा), कायस्थ ये अपनी जातिका पोषण करते हैं और कुत्ता, सिंह, ब्राह्मण ये अपनी जातिके द्वेषी होते हैं। यह स्वाभाविक दोष विमुखों में होता है अतः उन्होंने कैदखानेमें बन्द कर दिया। यवन हिन्दुओं और उनके धर्मको नष्ट करने का षड्यन्त्र रचते ही रहते थे, और इनकी फूट से इनका दमन करते थे।

कान्ह भगवान ही की बात सो बखानि कहौं, आनि बैठें नारी नर लागी क़था प्यारी है।
काहू कों बिडारैं झिरकारैं नैकु टारैं, विषै दृष्टि कै निहारैं ताकों लागै दोष भारी है।।
कही तुम भली तेरी गली ही के लोग मोसों, आयकै जताई वह रीति कुछ न्यारी है।
बोल्यौ याहि राखौ सब करौं निरधार नीके, चले चोबदार लैकै रोके प्रभु धारी है।।५९७

शब्दार्थ—बिडारैं=भगावें। झिरकारैं=फटकारें। विषै दृष्टि=बुरी वासनाकी निगाह। निरधार=निर्णय, निश्चित फैसला। रोके=कैद किये।

भावार्थ—श्रीप्रेमनिधिजीने कहा—'मैं भगवान श्रीकृष्ण की ही कथाओं का वर्णन करता हूँ। जिन स्त्रियों या पुरुषोंको कथा अच्छी लगती है, वे आकर कथा में बैठते हैं। जो किसी श्रोताको डाटें, फटकारें या निकालें अथवा उनको बुरी निगाहसे देखें, तो उसे बड़ा-भारी पाप लगता है।' यह सुनकर बादशाने कहा—'यह बात तो तुमने बहुत ठीक कही, परन्तु तुम्हारी गली और मुहल्लेके लोगोंने ही आकर तुम्हारे सम्बन्धमें मुझसे जो कुछ कहा है उसके अनुसार तुम्हारा चाल-चलन, रहन-सहन कुछ और ही है।' यह कहकर बादशाहने चोबदारोंसे कहा—'तब तक इन्हें हवालात में बन्दकर दो, अच्छी तरह जाँच-पड़तालके बाद में फैसला करूँगा।' ऐसी आज्ञा पाकर सिपाहियोंने इन्हें ले जाकर कैदखानेमें बन्दकर दिया। भगवानने निश्चय किया कि मैं दुष्टोंको दण्ड देकर भक्तको बन्धनसे मुक्त करूँगा।।५९७।।

व्याख्या—कान्ह भगवान ही की बात—मैं किसी स्त्री या पुरुष को बुलाता नहीं हूँ और संसारी विषयोंकी बात कभी भी नहीं कहता हूँ। केवल कृष्ण कथा कहता हूँ, जैसे—

माथे पै मुकुट देखि चन्द्रिका चटक देखि, छवि की लटक देखि रूपरस पीजिये।
लोचन विशाल देखि गरे गुञ्जमाल देखि, अधर रसाल देखि चित्त चाव कीजिये।
कुण्डल हलनि देखि अलक बलनि देखि, पलक चलनि देखि सरबस दीजिये।
पीताम्बर छोर देखि मुरली की घोर देखि, सांवरे की ओर देखि देखिबोई कीजिये।।

भगवान और उनकी कथा ऐसी है कि जो भूले-भटके भी देख-सुन लेता है, वह भावुक लुट जाता है। तभी तो घोषणा की गई है। यथा–

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्याः दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्त हस्तोऽपि नितम्ब बिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्।।

अर्थ–अरे पथिको ! उस राह मत जाना, वह रास्ता बड़ा भयानक है। वहाँ अपने नितम्ब-बिम्ब पर हाथ रक्खे जो तमाल सरीखा नील श्याम धूर्त बालक खड़ा है वह अपने समीप होकर जाने वाले प्रत्येक पथिक का चित्तरूपी धन लूटे बिना नहीं रहता। (रा० मा० चि०)।

काहू कों बिडारैं–कथामें कटु-भाषण आदिसे ऐसा पाप लगता है जिसका छूटना कठिन हो जाता है क्योंकि कथा-कथास्थल तीर्थ है। तीर्थके पाप एक ओर काटो दूसरी ओर बढ़ते हैं–'काटत बहुत बढ़ैं पुनि जिमि तीरथ कर पाप।' अतः ऐसे पापोंसे बचना चाहिए। 'कही तुम भली'–बात एक ही है पर कहनेमें भेद है। जैसे किसीका जमाई आया तो किसीने कहा कि आपकी पुत्रीका पति आया, किसीने कहा-दूलहा आया, किसीने कहा–वर आया, किसीने कहा–तेरी बेटीका खसम आया। यह बुरी लग गई तो उसने कहने वालेको पीट दिया। आपके कथनमें स्त्रियों का एकत्र होना दोष रहित है पर उनके कहने से दोष युक्त मालूम पड़ता है।

सोयौ बादशाह निसि आयकै सुपन दियौ, कियो वाकौ इष्ट भेष कही प्यास लागी है।
पीवौ जल कही आबखाने लै बखाने तब, अति ही रिसाने को पियावै कोऊ रागी है।।
फेर मारी लात अरे सुनी नहीं बात मेरी, आप फुरमावौ जोई प्यावै बड़भागी है।
सो तौ तैं लै कैद कर्‌यौ सुनि अरबर्‌यौ डर्‌यौ, भर्‌यौ हिये भाव मति सोवत तें जागी है।।५९८

शब्दार्थ–इष्ट भेष-मुहम्मद साहबका रूप। आबखाने=जलाशय, जल रखने का स्थान। फुरमावौ=आज्ञा दी।

भावार्थ–भक्तवर श्रीप्रेमनिधिजी को कैदखाने में बन्द करवाकर बादशाह उस रातमें, जब सोया, तो श्रीबिहारीजीने उसके इष्ट मुहम्मद साहब का भेष बनाकर स्वप्न में उससे कहा–'मुझे बहुत जोर की प्यास लगी है।' बादशाहने कहा–'आबखाने में जाकर पानी पी लीजिये।' यह सुनकर प्रभु बहुत रुष्ट हुए और बोले–'वहाँ कोई प्रेमी भक्त

है जो मुझे प्रेमसे पानी पिलाये? जब बादशाहने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब भगवानने जोर से उसे एक लात मारी और बोले–'अरे मूर्ख!' तूने मेरी बात नहीं सुनी।' बादशाहने कहा–जिसे आप आज्ञा दें, वही भाग्यशाली पिलायेगा।' पुनः प्रभुने कहा–'उसे तो तूने 'कैदखाने में बन्दकर रक्खा है।' यह सुनकर बादशाह घबड़ाया और डर गया। उसके हृदयमें प्रेमनिधिजी के प्रति सद्भाव भर गया और वह सोतेसे जग गया। उसकी बुद्धिसे मोहनिद्रा दूर हो गई।।५९८।।

व्याख्या–कियो वाकौ इष्ट भेष–इससे उसे विश्वास हुआ कि हमारा और इनका साहब एक है। भगवान मशालची बने मुहम्मद साहबके रूपसे दर्शन दिया। इससे सिद्ध हुआ कि प्रभु कौतुकी बहुरंगी हैं। श्रीकबीरजी कहते हैं–हरि भक्तन के संगी बाबा बहुरंगी बहुरंगी। कुरता टोपी हाथ में छड़िया परवाना है जंगी।। अपने जन के कारण स्वामी बन गये आप फिरंगी। यमुना में कूदि कालिया नाथ्यौ फन पर बाजत पुंगी। कदम वृक्ष से ऐसे कूदे जैसे लंक कूदी बजरंगी। बलि के खातिर ह्वै प्रभु ब्राह्मण तीन पैर भू मंगी।। छल बल कर के लिए वचन में हो गये लंब तडंगी। भाई बन्धु अरु कुटुम कबीलो कोउ न जाय तेरो संगी। कहत कबीर सुनो भाई साधू हरि न भजै सो भंगी।। 'पीवौ आबखाने' रोजा रखकर तुम भी अपने हाथ से लेकर जल नहीं पीते हो, तो फिर मैं अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक अपने हाथ से जल कैसे पीऊँ। मैं रागी-प्रेमीके हाथसे पीता हूँ। बादशाहने कहा–अहो! वह बड़भागी हैं जिसकी सेवा आप स्वीकार करें। 'मति जागी है' उसने इन्हें अपराधी और दम्भी समझा तो मति सोई थी। अब निरपराधी प्रेमी सन्त जाना तो मति जागी अर्थात् मोह दूर हुआ। भक्तमें विश्वास होनेसे मोह रात्रिका दूर होना कहा गया। जब यह जगा तो भगवान अन्तर्धान हो गये। घबड़ाकर लोगोंसे बादशाह ने कहा–कैदखाने से शीघ्र ही श्रीप्रेमनिधिजी को आदर पूर्वक मेरे पास लाओ।

दौरे नर ताही समै वेगि दै लिवाय ल्याये, देखि लपटाये पाँय नृप दृग भीजे हैं।
साहिब तिसाये जाय अबही पियावौ नीर, और पै न पीवैं एक तुमही पै रीझे हैं।।
लेवौ देस गाँव सदा पीव हीं सो लग्यौ रहौं, गहों नहीं नैकु धन पाय बहु छीजे हैं।
सङ्ग दै मसाल ताही काल में पठाये, यों कपाट जाल खुले लाल प्यायौं जल धीजे हैं।।५९९

शब्दार्थ–साहिब=भगवान। तिसाये=प्यासे। पीव=प्यारे, इष्टदेव। छीजे=बिगड़े, नष्ट हुए। धीजे=प्रसन्न हुए।

व्याख्या—उसी समय रातको ही बादशाहने दास-दासियों को आज्ञा दी कि—'शीघ्र ही श्रीप्रेमनिधिजी को कैदखाने से छुड़ाकर लाओ।' यह सुनकर दासी-दास सभी दौड़े और श्रीप्रेमनिधिजी को ले आये। इन्हें देखते ही बादशाह इनके चरणोंमें गिर पड़ा और रोते हुए बोला—'साहब प्यासे हैं, आप अभी ही जाकर उन्हें जल पिलाइये। वे किसी दूसरे के हाथ से नहीं पीते हैं, आप पर बहुत ही प्रसन्न हैं, ठाकुरजी की सेवा के लिए आप मुझसे देश-गाँव तथा इच्छानुसार धन ले लीजिये। सर्वदा अपने प्यारे प्रभुकी सेवामें लगे रहिये। अब आपको कभी कोई कष्ट मैं न दूंगा।' श्रीप्रेमनिधिजी ने कहा—मैं सदा अपने प्रभुमें मन लगाये रहता हूँ, अतः आपके द्वारा दी हुई कुछ भी सम्पत्ति मैं नहीं ले सकता हूँ। (भगवत्कृपासे प्राप्त अन्न-धनसे मेरा निर्वाह हो जाता है) धन पाकर बहुत से लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं, अतः मैं कुछ भी न लूंगा। बादशाहने मशालचियोंके साथ उसी समय श्रीप्रेमनिधिजीको घर भेज दिया। इस भक्त-चरित्रसे बादशाहके तथा अन्य लोगोंके भी मोह कपाट खुल गये अर्थात् अज्ञान नष्ट हो गया। इधर श्रीप्रेमनिधिजी ने घर आकर स्नान किया और श्रीबिहारीजीको जल पिलाकर उन्हें प्रसन्न किया तथा स्वयं भी कृपा का अनुभव करके प्रसन्न हुए।।५९९।।

व्याख्या—तुमही पै रीझे हैं—आप आदमी नहीं हो, पीर-पैगम्बर हो। 'गहौं नहीं नेकु धन'—जैसे श्रीकबीरजीने कहा—'चाहौं एक राम जाको जपै आठो जाम और दाम सों न काम जामें भरे कोटि रोग हैं।' (देखिये क० २७९ पृ० ५७३ द्वि० खं० और जयदेव चरित्र क० १५२ द्वि० खं० पृ० २६७) धन के लोभी की सेवा कच्ची है। दो०—जब लगि भक्त सकामता, जब लगि कच्ची सेव। कह कबीर वे क्यों मिलै निहकामी निज देव।। 'सङ्ग दै समाल'—बादशाह साथ-साथ पहुँचाने चला तो आग्रह कर के उसे वापस किया। आपने कुछ न लेकर यही कहा कि मेरे ही नहीं किसीकी भी पूजा सेवामें आपके द्वारा या आपके सिपाहियों के द्वारा विघ्न नहीं होना चाहिए। इसे बादशाहने स्वीकार किया। पीछे से बादशाहने एक गाँवका पट्टा श्रीश्यामजी के नाम लिख दिया और एक गाड़ी रुपये श्रीश्यामजीको भेंट किये। लड़कोंने धन और गाँव लिया पर आपने उसे सेवा में लगाना स्वीकार नहीं किया। निष्किञ्चन भावसे सेवा करते हुए शरीरको त्यागकर भगवद्धामको प्राप्त किया।

* श्रीराघवदास दूबलोजी *

दूबरो जाहि दुनिया कहै सो भक्त भजन मोटौ महन्त॥
सदाचार गुरु शिष्य त्याग विधि प्रगट दिखाई।
बाहर भीतर विसद लगी नहिं कलियुग काई॥
राघौ रुचिर सुभाव असद आलाप न भावै।
कथा कीर्त्तन नेम मिलें सन्तनि गुन गावै॥
ताय तोलि पूरौ निकष ज्यौं घन अहरनि हीरौ सहन्त।
दूबरो जाहि दुनिया कहै सो भक्त भजन मोटौ महन्त॥१६८॥

शब्दार्थ—बाहर भीतर=व्यवहार और हृदय। विसद=उज्ज्वल। काई=मैल, दोष। असद=झूठ। आलाप=बोलना। ताय=तपाकर। निकष=कसौटी। घन=लोहेका बड़ा हथौड़ा। अहरनि=चोट।

भावार्थ—जिन श्रीराघवदासजी को दुनिया के लोग 'दुर्बलदास या दुबला' के नामसे पुकारते थे, वे शरीर से यद्यपि दुर्बल थे परन्तु सन्तोंकी सेवा करनेमें मोटे अर्थात् बड़े महन्त थे। आपने सदाचार, गुरुता तथा शिष्योंसे कुछ भी धन न लेकर त्याग की रीति सबको प्रत्यक्ष दिखलाई। आप बाहर और भीतर से निर्मल थे। कलियुगके दोष, पापोंने आपका स्पर्श नहीं कर पाया। आपका स्वभाव बड़ा सुन्दर था, मिथ्या-भाषण आपको अच्छा नहीं लगता था। नित्य-नियम से सन्तोंके साथ भक्त-भगवत् कथा-वार्ताको कहते-सुनते और नाम कीर्तन करते थे। जैसे तपाने-छेदने और कसौटी पर कसने से सोनेकी निहाई पर घनोंकी चोटसे हीरे की पहचान होती है, उसी प्रकार श्रीराघवदासजीने भी आपत्तियोंको सहन कर अपनी सच्ची साधुताको लोकमें प्रमाणित किया ॥१६८॥

व्याख्या—दूबरो जाहि०—तपः पूत दुर्बल शरीर था अतः श्रीराघंवदासजी को लोग दुर्बल कहते थे पर थे मोटे महन्त, अर्थात् बड़े-बड़े महोत्सव करते थे। जिनमें अनन्त भक्त-भगवान की उत्तम सेवा होती थी। सन्तोंकी भीड़ सदा ही रहती थी। स्वामी श्रीहरिदासजी, श्रीहित हरिवंशजी, श्रीरूप-सनातनजी, गो० श्रीरधुनाथदासजी आदि सभी सन्त शरीरसे दुर्बल पर भजनमें सबल और माधुर्यके उपासक रहे। वियोग एवं अल्पाहार के द्वारा सन्त अपने शरीरको सुखाकर परमानन्द का अनुभव करते हैं। श्रीयुगलअनन्य-

शरणजी कहते हैं—जीवत ही लक्कर हो जावे सो शक्कर को खावेगा। कोह मोह से टक्कर लेवे तब फक्कर पद पावेगा।। जादू जाहिर चक्कर-मक्कर छोड़ि सरूप समावेगा। युगलानन्य अनूप माधुरी सुनि सुनाय सरसावेगा।

गुरु शिष्य—गुरु शिष्यों के सम्बन्धमें आपने आदर्श उपस्थित किया। शिष्योंसे कुछ लेने की इच्छा न की और गुरुदेवको सर्वस्व समर्पित किया। यथा—'गुरु निर्लोभी चाहिये शिष्य न छाँड़े प्रीति। स्वारथ छाँड़े हरि मिलैं यही भजन की रीति।।' जैसे पयहारी श्रीकृष्णदास छ० ३८। श्रीभगवन्तमुदितजी क० ६२७। कलियुगी-स्वार्थी गुरु-चेला के पारस्परिक भावोंका श्रीहरिरामव्यासजी वर्णन करते हैं—'गुरुहिं न मानत चेली चेला। गुरु रोटी पानी सों घूंटत वे दूध पियें कुकरेला।। शिष्यन के सोने के बासन गुरु के कुंड़ी कुंडेला।। चोर चिकनियन को बहु आदर गुरु को ठेली ठेला। शिष्य तो माखी चूंसा सुनियत गुरु पुनि खाल उचेला।। वह कायर यह कृपन हठीलो ईंट मारि दिखरावै ढेला। कृष्ण कृपा बिन बिधि असमंजस दुख सागर में झेली झेला।।

बाहर भीतर विसद—सभी जीवोंके प्रति सच्चा सद्व्यवहार बाहरी निर्मलता है। निष्कामता एवं समता आदि का होना भीतरी उज्ज्वलता है। इस उज्ज्वलता के कारण कलियुगकी काई नहीं लगी अर्थात् मायिक विषयोंमें आसक्ति नहीं हुई। जिसके मनमें विषय काई लगी है वही अज्ञ, अकोविद (मूर्ख), अंधा और अभागी है। यथा—'अज्ञ अकोविद अन्ध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी।।' मनरूपी दर्पणमें विषय-काईके लगने से अपना तथा इष्टका रूप नहीं दिखाई पड़ता है।

कथा कीर्तन—के बिना भक्त रह नहीं सकता और विमुख कथा-कीर्तनके मध्य में रहकर भी दूर ही रहता है—

अड़सठ तीरथ तहँ बसैं जहँ हरि कथा प्रसंग। सरस माधुरी भक्ति को निशिदिन बरसै रंग।।
पापी सुनै न हरिकथा ऊँघै कै उठि जाय। परसा औगुन उर धरै सुनै न फिरि पछताय।।
कलियुग केवल कीर्तन करनौ बरनौ वेद। सरस माधुरी हरि मिले सतगुरु दीन्हों भेद।।

ताय तोलि पूरो०—जैसे स्वर्ण की पहिचान, उसी प्रकार सन्त की पहिचान।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भि पुरुषः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा।।(सू० सु०)

अर्थ—कसौटी पर घिसने, काटने, तपाने और पीटने इन चार प्रकारसे सोनेकी परीक्षा

होती है। उसी प्रकार विद्या, कुल, शील और कर्म इन चारोंसे ही पुरुषकी परीक्षा होती है। श्रीरामने जब सुना कि सोनेका मृग है तब वाणसे छेदकर उसकी परीक्षाकी, सोना नकली निकला तो मार डाला, त्याग दिया। स्वर्णशैलाभ देह, शाखामृग श्रीहनुमानजी खरे निकले तो उन्हें निजभक्ति देकर अपनाया। श्रीराघवदासजी परीक्षामें खरे उतरे इसका उल्लेख भ० दा० गु० चित्रणी पृष्ठ ९५ पर मिलता है—

एकबार सन्त दर्शन और भक्ति-प्रचारार्थ विचरते हुए श्रीराघवदासजी एक धनी-मानी वैश्य भक्तके यहाँ पहुँचे। वह साधुओंकी सेवा तो अच्छी तरह करता था पर उनकी परीक्षा भी लिया करता था। उसने श्रीराघवदासजीको बड़े आदर के साथ घरमें ठहराया और भलीभाँति भोजन कराया। शयनके समय उस वैश्य ने अपनी स्त्रीसे कहा कि जाकर सन्त की सेवा करो, परीक्षा लो। वह श्रृङ्गार करके सेवार्थ उपस्थित हुई। श्रीराघवदासजी ने सेवा करवाना स्वीकार नहीं किया। तब दम्पति भक्तने बड़ी विनती करके कहा कि हम लोग आप सन्तोंके क्रीतदास हैं। यदि आप मेरी सेवा स्वीकार न करेंगे तो हमारा जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। उसका आग्रह देखकर आप समझ गये कि ये लोग सेवाके साथ-साथ परीक्षा लेना चाहते हैं अतः आपने आज्ञा दे दी। वह चरण दबाने लगी। आप भगवद् ध्यानमें मग्न हो गये। बड़ी देर बाद इनको सोता जानकर चली गई। इस प्रकार उसे सेवा करते-करते बीस दिन बीत गये। सन्तके मन में नाममात्र का भी विकार नहीं दिखाई पड़ा, तब इक्कीसवें दिन उसने कहा कि आप मेरी गोदमें विराज कर मुझे कृतार्थ करो। राघवदासजी 'जो आज्ञा माताजी!' कहकर बालक बन गये और गोदमें बैठकर स्तनपान करने लगे। यह देखकर वैश्य भक्त आपके चरणोंमें गिर पड़ा और क्षमा-याचना करने लगा। श्रद्धालु भक्त दम्पतिको आपने समझाया कि—'सन्तोंकी परीक्षा लेनेसे भक्तिके घटने की आशङ्का रहती है अतः भविष्यमें किसी सन्तकी परीक्षा न लेकर यथाशक्ति सेवा करना और उनके सत्सङ्गसे लाभ उठाना।' इस उपदेश को पाकर वे कृतकृत्य हो गये और सप्रेम सेवा करने लगे। इसी चरित्र को ध्यानमें रखकर मूल छ० में आपको 'ताय तोलि पूरौ निकष' खरा-सोना, सच्चा-सन्त कहा गया।

एकबार श्रीराघवदासजी एक भक्त राजाके यहाँ पहुँच गये। उसने इन्हें पहिचान लिया कि ये महान् सन्त हैं अतः सादर ठहराया और इनकी खूब सेवा करने लगा। नित्य कथा-सत्सङ्ग होने लगा। एक असहनशील ब्राह्मणने सोचा कि—'अब हमारा सम्मान नहीं होगा अतः इनको बदनाम करने के लिए उसने एक वेश्याको कुछ रुपये और

एक अँगोछा दिया और कहा कि जिस समय कथा हो रही हो उसी समय जाकर यह अँगोछा बाबाजी को देकर केवल यह कह देना कि 'महाराज! रातको आप यह अँगोछा मेरे यहाँ भूल आये थे सो लीजिये।' रुपये तुम्हारे इनाम के हैं। ब्राह्मणके सिखाये अनुसार वेश्याने अँगोछा दिया तो आपने निःसङ्कोच ले लिया और उसकी बात का खण्डन नहीं किया। इससे दूसरे श्रोता और राजा सभी असमञ्जसमें पड़ गये। पश्चात् बुद्धिमान राजाने उस वेश्याको बुलाकर डराया-धमकाया। तब उसने सच्ची बात बता दी। राजाने ब्राह्मणको मार डालने की आज्ञा दी जिससे कि भविष्य में कोई किसी सन्त को झूठा कलङ्क न लगाये। श्रीराघवदासजीने जब यह सुना तो राजा तथा ब्राह्मण को समझाया और क्षमा किया। अपकीर्ति की चोट को आपने उसी प्रकार सहन किया जैसे 'घन अहरनि हीरो सहन्त।' इस प्रकार आपने राजा-प्रजा सभी में भक्तिकी स्थापना की। 'ऐसे अविकारी सन्त मन्त सदाचारी गति, न्यारी प्यारी सन्तनको लागै जैसी धारिये।'

* श्रीऊधौजी *

दासनि के दासत्व कौ चौकस चौकी ये मड़ी।।
हरि नारायण नृपति पदम बेरछै बिराजैं।
गाँव हुसङ्गावाद अटल ऊधौ भल छाजैं।।
भेलै तुलसीदास भट ख्यात देवकल्याने।
बोहिथ बीरारामदास सुहेलै परम सुजाने।।
औली परमानन्द कै ध्वजा सबल धर्म की गड़ी।
दासनि के दासत्व कौ चौकस चौकी ये मड़ी।।१६९।।

शब्दार्थ—दासत्व=सेवा। चौकस=सावधान, सचेत। चौकी=पड़ाव, थाना, स्थान। मड़ी=बनी, सुशोभित। छाजैं=शोभित। गड़ी=स्थापित हुई।

भावार्थ—भगवद्भक्तों की सावधानी से सेवा करने के लिए ये सुन्दर स्थान बने। बेरछामें श्रीहरिनारायणजी और राजा श्रीपद्मजी, होशंगाबादमें श्रीऊधौजी अटल होकर विराजते थे। भेलामें प्रसिद्ध श्रीतुलसीदासजी और देवकल्याणजी, सुहेलामें परम सुजान श्रीबोहिथजी तथा श्रीबीरारामजी विराजते थे। औलीमें श्रीपरमानन्दजीका ऊँचा और पुष्ट वैष्णवधर्मका झण्डा गड़ा हुआ था। ये महान् सन्तसेवी थे।।१६९।।

व्याख्या—चौकस चौकी—जैसे भगवत्सेवा की अपेक्षा सन्त-सेवा का विशेष महत्व है उसी प्रकार सन्त-सेवा कठिन भी है और उसमें अधिक सावधानी की आवश्यकता है। अतः चौकस चौकी कहा। असावधान रहने से अपराध होता है। 'ध्वजा सबल धर्म की गड़ी'—सबल अर्थात् बलवान-श्रेष्ठ धर्म है। जिसे स्थान-स्थान पर परम धर्म कहा गया। इसमें सन्त-सेवा ही प्रधान है। सन्त-सेवासे ही वैष्णव धर्मकी रक्षा होती है। इन सन्तोंके स्थान वैष्णव धर्मके रक्षक थे। भक्तदामगुण चित्रणी पृष्ठ ९६ के अनुसार तीन भक्तोंके चरित्र यहाँ दिये जा रहे हैं—

श्रीहरिनारायणजी—आप अच्छी प्रकार के मेवा-पक्वान्न प्रसाद सन्तों को पवाते तथा वस्त्र, पात्र आदि देकर मीठी वणीसे उन्हें सन्तुष्ट करते। इनका एक पुत्र था, वह उद्दण्ड प्रकृतिका था उसका सन्तोंमें भाव न था। इसलिए आपके मनमें बड़ी-भारी चिन्ता रहती कि इसका कल्याण कैसे होगा। मेरे मरनेके बाद सन्त-सेवा बिल्कुल बन्द हो जायगी। आप मन ही मन प्रभुसे प्रार्थना करते कि इस बालक को सद्बुद्धि दो, भक्तों में इसका प्रेम हो। युवा अवस्थाको प्राप्तकर वह लड़का सेनामें भर्ती हो गया। कुछ दिन बाद युद्ध करने के लिए उसे मोर्चे पर जाना पड़ा। भयंकर संग्राम हुआ। यह भक्त का बालक भी शत्रुओं से घिर गया। तब घबराया और पिताकी भक्ति का ध्यान आया। इसने मन ही मन प्रार्थना की और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे प्राणबच गये तो मैं भी पिताजीकी तरह भक्त-भगवान की सेवा करूँगा। हार्दिक प्रार्थनाका ऐसा प्रभाव हुआ कि यह अकेला बच गया, शरीर में चोट भी नहीं आई और सेनाके सभी लोग मारे गये। इससे इसका भी सन्तों में अटल विश्वास और प्रेम हो गया। अब तो यह भी अपने पिताकी तरह सन्त-सेवाको महत्व देने लगा। इस प्रकार प्रभुने श्रीहरिनारायण भक्त की इच्छा पूरी की।

श्रीऊधौजी—आप बड़ी श्रद्धाके साथ सन्त-सेवा करते थे। नित्य ही सन्तों का आना-जाना होता रहता था। कण्ठी, माला, तिलकधारी सन्तोंके अतिरिक्त दुष्ट, विमुखजन आपके आश्रमकी ओर नहीं आते थे। श्रीउद्धवजी को जब कभी यह पता पड़ जाता कि अमुक स्थान पर सन्तजन पधारे हैं तो वहाँ आप अवश्य जाते, सन्तों के दर्शन करते, उन्हें अपने घर लिवा लाते और बड़े प्रेम से उनकी सेवा करते। एकबार आपको समाचार मिला कि किसी सन्तके महोत्सव में बहुतसे साधु-महात्मा पधारे हैं। आपने वहाँ पहुँचकर दर्शन-सत्सङ्ग किया। पश्चात् सभी सन्तोंसे विनय की कि आप लोग पधारकर दासके घर को पवित्र करें। इनके प्रेमको देखकर सभी सन्त चलने के लिए

तैयार हो गये। तब आपके नौकरने आपको सावधान किया कि घर पर इतने सन्तों के भोजनके लिए सामान नहीं है, आपने सबको न्यौता कैसे दे दिया। आपने कहा सन्तोंको पधारने दो फिर पीछे देखा जायगा। सन्तों की भीड़ आपके द्वार पर पहुँच गई तब आपको भी चिन्ता हुई कि अब क्या करूँ? आपकी सन्तों में भक्ति देखकर आकाशवाणी हुई कि चिन्ता मत करो, इतने सामानसे ही पूर्ति हो जायगी। आपने बड़े उल्लासपूर्वक भोजन बनवाया, भोग लगनेके बाद सन्तोंने पूर्ण तृप्त होकर प्रसाद पाया और आशीर्वाद दिया। बचा हुआ प्रसाद आपने ग्रामवासियोंको दे दिया। इस चमत्कारसे सभी के मनमें सन्त-सेवा का भाव और दृढ़ हो गया।

श्रीतुलसीदासजी—भेला ग्राम निवासी श्रीतुलसीदासजी सन्तोंकी रुचि के अनुसार उनकी सेवामें ही सुख मानते थे। एकबार ये किसी दूसरे गाँवको गये और वहाँ से सन्त-सेवाके लिए एक गाड़ी गेहूँ लेकर चले। रास्तेमें कई डाकुओंने घेरकर कहा कि गाड़ी छोड़कर भाग जाओं अन्यथा तुम्हें जानसे मारकर हम लोग गेहूँकी गाड़ी हाँक ले जायेंगे। बिना किसी हर्ष-विषादके आप गाड़ी छोड़कर चल दिये। अभी आप बीस ही पग दूर गये थे कि प्रभुने कला दिखाई। दोनों बैल, गाड़ीसे अलग होकर सिंहके समान गर्जे और चोरोंको मारने दौड़े। सभी भागकर श्रीतुलसीदासजी के पास पहुँचे और चरणोंमें पड़कर बोले—महाराज! अपराध क्षमा करो, अपनी गाड़ी ले जाओ। आपने पूछा कि गाड़ी लेकर अब क्यों छोड़ रहे हो, उसे ले जाओ। तब उन्होंने सब हाल कहा और सदाके लिए श्रीतुलसीदासजी के भक्त बन गये। उन्होंने चोरी छोड़ दी। इस प्रकार आपने सन्त-सेवाके प्रताप से दुष्टों को भी सज्जन बनाया।

* श्रीलालीजी *

अबला शरीर साधन सबल ये बाई हरिभजन बल।।
देमा प्रगट सब दुनी रामाबाई बीरां हीरामनि।
लाली नीरा लक्ष्मि जुगुल पार्वती जगत धनि।।
खीचनि केसी धना गोमती भक्त उपासिनि।
बाँदररानी विदित गङ्गा जुमना रैदासिनी।।
जेवा हरिषां जोइसिनि कुंवरिराय कीरति अमल।
अबला शरीर साधन सबल ये बाई हरिभजन बल।।१७०।।

शब्दार्थ—अबला=स्त्री। साधन=उपाय। सबल=बलवान, श्रेष्ठ।

भावार्थ—ये बाइयाँ शरीरसे अबला थीं परन्तु इनके भजन-साधन अत्यन्त सबल अर्थात् श्रेष्ठ थे। इनमें भगवद्-भक्तिका अपार बल था। सम्पूर्ण जगत्में प्रसिद्ध श्रीदमाबाई, रामाबाई, बीराबाई, हीरामनि, लालीजी, नीराँजी, लक्ष्मीबाई, इस संसारमें धन्य दोनों, पार्वती बाइयाँ, खीचनि, केशी, धनाबाई, भक्तोंकी उपासना करने वाली गोमतीजी, जगत् प्रसिद्ध बाँदररानीजी, गंगा-जुमना दोनों बाइयाँ (रैदासिनी), जेवाबाई, हरिषाबाई, जोइसिनिजी और पवित्र कीर्ति वाली कुवँरिरायजी।।१७०।।

व्याख्या—अबला शरीर—इसका भाव यह कि शरीर का बल सच्चा बल नहीं है। उससे किसी प्रकार के कल्याण की संभावना नहीं है। साधन बल भी बल है, परन्तु हरिभक्तिका बल उससे बहुत श्रेष्ठ है। हरि-भक्ति जिसमें है उसके हृदय में भगवान विराजते हैं और भक्तकी रक्षा का उन्होंने प्रण कर रक्खा है अतः ईश्वर का जो अपार बल है, वह सदा भक्तके साथ रहता है। इसीसे मीराजी, करमैतीजी, रत्नावतीजी, सीतासहचरी तथा सुरसुरीजी आदि के समक्ष विमुख दुष्ट पराजित हुए। शरणमें आये। भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ९७-९८ के अनुसार छः बाइयों की कथा इस प्रकार है—

श्रीदमाबाई—भगवद् भजन परायण दमाबाई की सन्त-सेवामें रुचि बढ़ गई। सन्तों के श्रीमुखसे भगवद् गुणानुवाद सुनते-सुनते आपके मनमें अभिलाषा हुई कि प्रभु कृपा करके दर्शन दें, अपनी मनमोहिनी झाँकी दिखाकर मुझे कृतार्थ करें। इनकी निरन्तर उत्कट अभिलाषा को देखकर कई बार प्रभुने सन्त-वेशमें आकर इन्हें दर्शन दिया पर ये भगवान को पहिचान न सकीं। जब इनकी व्याकुलता अधिक बढ़ गई तो फिर श्रीठाकुरजी एक सन्तका रूप धारण करके आये। आपने बड़े प्रेम से उन्हें भोजन कराकर पूछा-महाराज! कृपा करके यह बतलाइये कि इस युग में भगवान के दर्शन कभी किसी को होते हैं अथवा नहीं। सन्त रूपधारी प्रभुने कहा—'होते हैं, अवश्य होते हैं। आपको भी कई बार हो चुके हैं। एकबार बहुत से पक्वान्नों को तुम परोसती गईं, वे खाते चले गये, न उनको तृप्ति होती थी और न तुम्हारा भण्डार घटता था। तब तुम्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरी बार तुम्हारी नाड़ी देखी और तुम्हें औषधि दी।' इन रहस्यमयी बातों को सुनकर दमाबाई समझ गईं कि ये भगवान ही हैं, फिर इन्होंने पूछा कि इन गुप्त बातों का आपको कैसे पता है। यह कह आपने आगे बढ़कर सन्त-वेशधारी भगवान का हाथ पकड़ना चाहा, तभी वे अन्तर्धान हो गये। अब इन्हें विरह व्याप गया। व्याकुल, तड़पने और विलाप करने लगीं तो भगवानने

स्वप्नमें दर्शन देकर सन्तुष्ट किया और समझाया कि मैं तुमसे दूर नहीं हूँ। तुम्हारी सन्त-सेवा से सन्तुष्ट हूँ। अमृतमयी प्रभुकी वाणी से इन्हें परमानन्द हुआ।

विरह क्यों कीजै मेरी कीजै पहिचान लीजै, जानि मोकूं संग सदा प्रेम बस सही है।
एही सुनि बात गात हिये मोद आत भयौ, गयौ उतपात दमा ऐसे कृपा लही है।

श्रीलालीजी—इनका स्वभाव अत्यन्त सरल था और साधु-सेवामें बड़ी प्रीति थी। एकबार इनके पुत्र की मृत्यु हो गई। उसी समय इनकी सन्त-भक्ति की परीक्षा लेनेके लिए भगवान एक सन्त का वेष धारण करके आय गये। सन्त को आया देखकर ऐसी प्रसन्नता हुई कि उससे पुत्र मृत्यु का दुःख विस्मृत हो गया। झट उन्होंने पुत्रके शवको छिपा दिया और सन्तकी सेवामें उपस्थित हो गईं। आसन पर बैठाकर लालीजीने पूछा—महाराज! आप रसोई अपने हाथ से स्वयं बनावेंगे अथवा मेरे श्रीठाकुरजी का प्रसाद ग्रहण करेंगे। भगवानने कहा—'हम तो तुम्हारे हाथ से बना प्रसाद पावेंगे।' श्रीलालीजी भोजन बनाने लगीं। इतने में भगवान लालीजीके पति का रूप धारण करके आये और उसे फटकारने लगे कि—'यह क्या? घरमें लड़का मरा पड़ा है और तू इस मुड़िया के लिए पकवान्न बना रही है। तुझे न मेरा भय है और न लोक-मर्यादा का।' श्रीलालीजीने बड़ी नम्रतासे कहा पुत्र का संस्कार तो बादमें भी हो जायगा। परन्तु यदि सन्त लौट गये तो इनका आना सम्भव नहीं। सन्त-भगवन्त तो लोक-मर्यादा से अतीत होते हैं। यह सुनकर सन्त रूपधारी प्रभु ने कहा—क्या तुम्हारे पुत्र की मृत्यु हो गई है? बताओ, वह कहाँ है। मेरे पास एक जड़ी है उससे मृतक भी जीवित हो जाता है। आज्ञा मानकर लालीजीने पुत्र का शव लाकर दिखाया। प्रभुने झट उसे जीवित कर दिया और बोले—अब तो मैं स्नान करने जा रहा हूँ। बाद में प्रसाद लूंगा। ऐसा कहकर वे चले गये फिर लौटकर वापस आये ही नहीं। जब लालीजी के पतिदेव आये तो रहस्य खुला। इस प्रकार भगवानने आकर दर्शन दिया और पुत्र को जीवित किया। इस अहैतुकी भगवत्कृपा का अनुभव करके सभी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

श्रीनीराजी—अब सुनहु नीरा नाम बाई तिया अंगद भक्त की। तिस बात परचा की बखानत फेरि हरि अनुरक्त की।। भरतार पुरुषोत्तम प्रभू कौ दरस करि जब आइये। हरि दरस सरस विलास तियकै पास हित करि गाइये।।१२।। नीरा बाई की कथा सुनिये, ये भक्त अंगद (छ० ११३ में जिनका चरित्र है उनकी) धर्मपत्नी थीं। जब श्रीअङ्गदजी श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करके राजा के बुलाने पर घर आये। तब आनन्दमग्न होकर उन्होंने हीरा धारण किये

श्रीजगन्नाथजी की शोभा का खूब वर्णन किया। उसे सुनकर भक्तिमती श्रीनीराबाईके मनमें भी प्रभु दर्शन की तीव्र लालसा जग उठी। विरह व्याप गया, आँखों से निरन्तर अश्रुधारा बह रही थी। उत्कट प्रेममयी उत्कण्ठा देखकर भगवान पुरुषोत्तम प्रकट हो गये। पति मुख से वर्णित सुन्दर रूपमाधुरी का दर्शन कर श्रीनीराजी कृतार्थ हो गईं और विनती करने लगीं। इसी बीच वहीं श्रीअङ्गदजी भी आ गये। उन्होंने भी दर्शन किया। भगवानने कहा तुम्हारी भक्ता पत्नीको दर्शन देने के लिए मैं पुरुषोत्तमपुरी से आया हूँ। इनके विशाल प्रेमजालने मुझे खींच लिया। तब श्रीअङ्गदजीने हाथ जोड़कर कहा कि इस भक्तको धन्य है जिसके प्रेमवश सबल साधना आपने पधारकर मुझे भी दर्शन दिया। दो०—देखहु अबला देह धरि सबल साधना कीन्ह। जाके बस हरि हू भये ऐसे दरसन दीन्ह।। इस प्रकार प्रभु भक्त-दम्पत्ति को कृतार्थ कर अन्तर्धान हो गये।

श्रीखीचनिजी—खीची जाति में उत्पन्न होने के कारण आपका 'खीचनी' यह नाम पड़ गया था। एक राजाके साथ आपका विवाह हुआ था। आपका सन्तों के चरणों में बड़ा-भारी प्रेम था। एकबार खीचनीजी ने सुना कि अमुक गाँवमें सन्तजन पधारे हैं। उनका नाम सुनकर इन्होंने अनेक पक्वान्न बनाये और एक दासी के हाथ भेज दिये। साथ में एक लड़के को भी भेजा। दासी सन्तों को पक्वान्न और भेंट देकर वापस लौटी। मार्ग में लुटेरों ने लड़के को मारकर भगा दिया और दासी को पकड़कर ले गये। लड़केने आकर समाचार सुनाया तो राजा को रानी पर क्रोध आ गया। वह रानी खीचनिको डाटने लगा—'क्यों तें करि मुड़ियन की सेवा मेरी दासी खोई। ऐसी कहाँ मिलै फिर सुन्दर सब विधि चातुर सोई।। ना जानूं मुड़िया लै जावा अस कटु बानी मारी। खीचनि दुख करि सोचत जान्यौ लगी सन्त को गारी।।' मुण्डे वैरागियोंकी सेवा में मेरी दासी क्यों भेजी। वह बड़ी सुन्दर, चतुर और मुझे प्यारी थी। अब वैसी दासी कहाँ मिलेगी। हो सकता है कोई वैरागी ही उसे उड़ा ले गया हो। ऐसे वाग्वाणों से रानी का हृदय घायल हो गया। सन्त निन्दा उससे सही नहीं जा रही थी अब तो वह श्रीठाकुरजी से प्रार्थना करने लगी कि 'प्रभो ! किसी तरह सन्तोंकी प्रतिष्ठा हो, राजाके मनमें भी सन्तों के प्रति प्रेम हो।' करुण-पुकार सुनकर सन्त-सेवासे सन्तुष्ट भगवानने दासी को लाकर राजमहलमें खड़ा कर दिया। दासीने राजासे कहा कि—मैं घने वनसे यहाँ कैसे आ गई मुझे तो पता नहीं। खीचनिके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। राजा के मन में भी सन्त और भगवन्त के प्रति श्रद्धा हो गई। वह भी सेवा करने लगा।

श्रीकेशीबाई—क० ३९९, ४०० में जिनका चरित्र वर्णित है, उन्हीं श्रीखोजीजीकी

धर्मपत्नी श्रीकेशीबाई थीं। खोजीजीके भावानुकूल श्रीकेशीबाई का भी सन्त-सेवामें बड़ा प्रेम था। आप बड़ी श्रद्धा एवं सावधानीसे सन्त-सेवा करती थीं। एकबार सर्दी के समय में आपके यहाँ कई सन्तों का सुभागमन हुआ। कपड़ों की कमी से उन्हें ठिठुरता हुआ देखकर आपने अपने पतिदेव से कहा कि इन सन्तोंके लिए वस्त्रों का प्रबन्ध कीजिये। श्रीखोजीजी ने कहा कि इस समय मेरे पास धनका अभाव है अतः यदि तुम अपने आभूषण दे दो तो उन्हें बेचकर सन्तों को वस्त्र दिये जा सकते हैं। स्त्रियों को आभूषणों से मोह रहता है पर इन्हें तो सन्त-सेवामें प्रेम था अतः बड़ी प्रसन्नतासे इन्होंने अपने आभूषण देकर सन्तों के लिए वस्त्र बनवाये। ऐसी निष्ठाके कारण इन पर सदा प्रभुकी कृपा रहा करती थी।

श्रीबाँदररानीजी—पुरानी टिप्पणी में लिखा है कि इनका नाम तो मोहन दासी था और ये स्वामी हरिदासजी की शिष्या थीं। ये बन्दरोंको चने चुगाकर उनका पालन करती थीं। अतः इनका बाँदररानी यह उपनाम प्रसिद्ध था। भक्तदाम गुण चित्रणी में इन्हें लाखा भक्तकी धर्मपत्नी कहा गया है। यथा—

चौ०—सुनहु नारि जो बाँदर रानी। सो बाँदर की तिया बखानी।।
लाखा नाम भक्त की नारी। जाको सन्त सेवा अति प्यारी।।

श्रीबाँदररानीका जो मूल में नाम आया है वे (छ० १०७) वानरवंशी श्रीलाखाजी की धर्मपत्नी थीं। इन्हें सन्त-सेवा बहुत प्यारी थी। इनके पतिदेवने जब दण्डवत करते हुए श्रीजगन्नाथजी की यात्रा की। तब घर में रहकर आपने सन्त-सेवा शुरू रक्खी। श्रीलाखाजी कुछ दिनों तक के लिए सामान का संग्रह कर गये थे। जब वह समाप्त हो गया तो बाँदररानीने आभूषण बेंचकर सन्त-सेवा की। उसके बाद घरके वर्तन बेंच दिये परन्तु सन्त-सेवा में कमी नहीं आने दी। उसके बाद अन्नकी कमी का अनुभव होने लगा। अब साधु-सेवा कैसे होगी, इस बातकी बड़ी-भारी चिन्ता हुई। जो अपने धर्ममें दृढ़ है, उसके धर्म की रक्षा भगवान करते हैं। भगवान ने एक राजा को स्वप्न दिया कि लाखा भक्तकी स्त्रीके पास खर्चे की कमी हो गई है अतः साधु-सेवाके लिए तुम इन्हें अन्न-धन दो। राजा ने प्रातःकाल होते ही स्वप्न का स्मरण किया अपना सौभाग्य मानकर बहुत-सा सामान लाखाजीके घरको भेज दिया। इस प्रकार बाँदररानी की सेवा-निष्ठा से निरन्तर सेवा चलती रही। (श्रीसर्वेश्वर भक्तमाल में पृ० ८८५ और भक्तमाल तृतीयखण्ड पृ० ३२९ तथा ३७० में श्रीलाखाजी की पत्नी का नाम 'जेवा' लिखा गया है। चरित्र में

कोई अन्तर नहीं है। भक्त चरिताङ्क पृष्ठ ६०९ में वर्णित लाखाजी गौड़ जाति के ब्राह्मण थे, उनकी धर्मपत्नी का नाम खेमाबाई था। भक्त चरितांक में जगन्नाथजी की यात्रा का वर्णन नहीं है अतः निश्चित है कि ये लाखा गौड़ ब्राह्मण दूसरे भक्त हैं। भक्तदाम गुण चित्रणी की दूसरी प्रतियों से पाठ मिलाने पर स्पष्टीकरण होगा)।

श्रीगंगा-जमुनाबाई—मूल छ० १०४ में भी गंगा और जमुना ये दो नाम आये हैं परन्तु वहाँ ये नाम अलग-अलग हैं अतः उनके चरित्र जो प्राप्त नहीं है, अलग-अलग ही होंगे। यहाँ छ० १७० में 'गंगा जमुना रैदासिनि' एक साथ दोनों नाम आये हैं अतः निश्चित है कि ये दोनों श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की शिष्याओंके नाम हैं और इनका परिचय रसिक अनन्यमाल में साथ-साथ दिया गया है। किन्हीं टीकाकारों ने रैदासिनि को गंगा जमुना से भिन्न माना है। कुछ सन्तोंने 'सुन्दर बहुत हुतीं कुलहीन।' (र० अ० मा०) और 'हीनकुली वपुधार सार हितजू सों पायौ।' (श्रीगोविन्द अली भक्तमाल) इन वाक्यों के आधार पर रैदासिनि शब्दको गंगा-जमुना का विशेषण माना है। रसिक अनन्यमाल तथा भक्तचरिताङ्क के आधार पर यहाँ उनका चरित्र संक्षेप से दिया जा रहा है—

सुनौं सन्त हरि कृपा प्रगट संसार दिखाई। जमनत्रास ते छुटीं गंगा जुमना द्वै बाई।।
सदन घेरि बैठारि जमन दुष्टता विचारी। धर्‌यौ सिंह कौ रूप कृष्णजन के हितकारी।।
जनम मृत्यु लखि पग पर्‌यौ, अबलन प्रभु रक्षा करैं।
निकट सदाई श्याम घन, अपने जन के साँकरै।।

(चाचा वृन्दावनदासजी)

ये दोनों बाइयाँ ब्रज प्रदेश (जिला भरतपुर) में स्थित कामवन की रहने वाली थीं। सोलहवीं शताब्दीमें यवनों का अत्याचार जोर पर था। एक मुगल सरदारने कामवन पर चढ़ाई की और गाँवोंको लूटा। इस लूट-खसोट और हत्याकाण्ड में गंगा-जमुना का सारा कुटुम्ब मारा गया। किसी तरह ये दोनों भागकर जंगल में जा छिपीं। प्रभु-कृपासे इनके प्राण बचे। उस समय इनकी आयु ९-९ वर्ष की थी। भूखी-प्यासी और भय से काँपती हुई रो रही थीं। उसी समय मनोहरदास नामक कोई ब्राह्मण मिला। उसे इन पर दया आई, इन्हें अपने साथ मथुरा को ले आया। वह स्वयं सङ्गीत विशेषज्ञ था अतः इन्हें भी उसने नृत्यगान सिखाया। ये पाँच वर्ष में निपुण हो गईं। अब वह इन्हें नचा-गावाकर पैसे कमाने लगा। दोनों परम सुन्दरी थीं। अतः खूब धन मिलता। उसे पैसे का लोभ बढ़ा, उसने सोचा कि इन दोनोंको किसी राजदरबारमें दे दूँ तो मुझे एकबार ही पर्याप्त धन मिल जायगा। इस विचार से वह

आगरा को आया और मानसिंह नामक किसी राजाके सामने इनके रूप और कलाकी बड़ी बड़ाई करके दोनों के दो हजार रुपये माँगे। राजा एक हजार देनेको तैयार हो गया पर मनोहरदास दो हजारसे कम पर राजी न हुआ। तब राजाने कहा—उन्हें मेरे पास लाओ, मैं देखकर दो हजार क्या इससे भी अधिक दे सकता हूँ, यदि उनका रूप-गुण तुम्हारे कथनानुसार हुआ तो। 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।' वह इन्हें लेने मथुरा आया। इस पापका फल उसे तुरन्त मिला। भयंकर सिर दर्द और ज्वर हो आया। मृत्यु निकट जानकर उसने तीस हजार रुपये जो धरतीमें गड़े थे, इन दोनों को बता दिया और स्वयं मर गया। बाइयों ने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की। श्रीपरमानन्द नामक एक सन्त थे, जो इन बाइयों का संगीत सुनने आया करते थे, उनसे दोनों बाइयों का परिचय और प्रेम था। मनोहरदासके मरने पर दोनोंने परमानन्दका आश्रय लिया। अब इन्हें नृत्य-गान द्वारा धन कमानेसे घृणा हो चुकी थी। सन्त-संग के प्रभाव से हरिभजन में रुचि और संसार के विषयोंसे वैराग्य हो गया था क्योंकि बचपन का दुःख और मनोहरदास का मरण इन्होंने देखा था।

अब दोनों बहिनोंने वैष्णवीय दीक्षा लेनेकी इच्छा की, तब श्रीपरमानन्ददासजीने उन्हें अपने गुरुदेव गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजीके शरणापन्न करा दिया। गुरुदेवकी शिक्षा के अनुसार अब ये भगवानके सामने नृत्य-गान, नाम-जप, भजन-पाठ, सन्त-भगवन्त-सेवा बड़े आदरके साथ करने लगीं। इसमें मनोहरदास का धन लगने लगा। इन्हें अपने धन और रूपका अभिमान नहीं था और न हानि-लाभ, दुःख-सुखकी चिन्ता थी। एकबार मनोहर दास इनके सामने प्रेत रूपसे प्रकट हो गया और बोला—तुम लोगों ने मेरे द्वारा संग्रहीत धनको भक्त और भगवान की सेवामें लगाया, इससे हमें सुख-शान्ति मिली। अब हमें अपना चरणोदक पिलाओ, जिससे मैं प्रेतयोनि से छूट जाऊँ। तब इन दोनों बाइयों ने नाम-संकीर्तन और भण्डारा कराया। सभी सन्तोंका तथा उसके उद्धारार्थ अपना भी चरणोदक उसे दिया, जिससे उद्धार हो गया।

उन दिनों मथुरामें (शासकीय अधिकारी, अकबरका कथित धाय भाई) अजीजवेग रहता था। उसने भी इनकी सुन्दरता और कलाकी चर्चा सुनी। फिर उसने जाकर देखा भी। अब तो उसका धैर्य छूट गया, उसने वृन्दावन में इनकी कुटिया के चारों ओर फौज का घेरा डाल दिया। यह जानकर इन्हें दुःख हुआ और ये निरन्तर प्रभु-स्मरण करने लगीं। रातको अजीजवेग इनकी कुटियामें घुसने का विचार करके आया। तो कुटी के द्वार पर उसने एक सिंह देखा। वह गरजकर झपटा तो यह दुष्ट भयभीत होकर भागा। गिरते-पड़ते घर आया,

बार-बार मूर्च्छा, सिर दर्द और ज्वरसे ग्रस्त हो गया। बड़े कष्टसे रात बीती, प्रातःकाल होने पर वह बहुत-सा धन लेकर गंगा-जमुना की कुटी पर आया। ये सन्तोंके साथ बैठीं हरि कीर्तन कर रही थीं। आजीजवेगने हाथ जोड़कर कहा—'माताओ! मेरे अपराध को क्षमा करो।' ऐसा कहकर उसने रात की घटना सुनाई, जिसका इन बाइयों को कुछ भी पता न था। उसके द्वारा दिये गये धनको इन्होंने स्वीकार नहीं किया। उसे साधु-सेवामें लगा देने का उपदेश दिया इससे अजीजवेग की श्रद्धा और बढ़ गई।

उसने बार-बार इनके चरणोंकी रज सिर पर चढ़ाई और फिर अपने घरको आया। इनके सम्बन्धमें श्रीगोविन्द अलीजीने अपनी भक्तमालमें लिखा है—'हीनकुली वपुधार सार हित जू सों पायौ। जैसे पारस परस लोह ते हेम कहायौ।। दास मनोहर दास गृह परमानंद के संग। कुञ्ज महल में प्रगट ह्वै गावति तान तरंग।। इहि विधि जुगल रिझायकै बसीं विपिन में आइ। गंगा जमुना की कथा सुनहु रसिक चित लाइ।।'

* श्रीकान्हरदासजी *

कान्हरदास सन्तनि कृपा हरि हिरदै लाहौ लह्यौ।।
श्रीगुरु शरणै आय भक्ति मारग सत जान्यौ।
संसारी धर्महिं छाँड़ि झूठ अरु साँच पिछान्यौ।।
ज्यौं साखा द्रुम चन्द जगत सों इहि विधि न्यारौ।
सर्वभूत सम दृष्टि गुननि गम्भीर अति भारौ।।
भक्त भलाई वदन नित कुवचन कबहूँ नहिं कह्यौ।
कान्हरदास सन्तनि कृपा हरि हिरदै लाहौ लह्यौ।।१७१।।

शब्दार्थ—लाहौ=लाभ। लह्यौ=लिया। संसारी धर्म=स्वार्थ पूर्ण लोक-व्यवहार। पिछान्यौ=पहिचाना। साखा द्रुम चन्द=एक न्याय; वृक्ष की शाखाके संकेतसे चन्द्र दर्शन। कुवचन=कठोर, असत्य बात।

भावार्थ—श्रीकान्हरदासजी ने सन्तों की कृपासे यह महान् लाभ प्राप्त किया कि अपने हृदयमें भगवानको स्थापित किया। इन्होंने गुरुदेव की शरण में आकर भक्ति-मार्गको सच्चा, सात्विक, सरल और श्रेष्ठ जाना। आपने संसारी धर्म को त्यागकर, क्या सत्य है और क्या झूठ है इस बातको पहिचाना। आप संसार से उसी प्रकार अलग रहे जैसे पेड़ की शाखासे

चन्द्रमा अलग और दूर रहता है। आप सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखते थे। अनेक सद्गुणों से युक्त थे अतः आप महान् थे। आपने अपने मुख से सदा सज्जनों, भक्तोंकी प्रशंसा की। मिथ्या, कटु और पर-निन्दारूप कुवचन आपने कभी नहीं कहे।।१७१।।

सन्तनि कृपा—दो०—नयन निकट काजर बसै पै दरपन दरसाय। त्यौं साधुन के सङ्ग बिन हरि छबि हिय न लखाय।। भगवानको या भगवद्-भक्तिको बिना सन्तके किसीने नहीं पाया। यथा—सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिन सन्त न काहू पाई।। (रा०) श्रीनिष्कुलानन्दजी कहते हैं—सन्त कृपा सुख ऊपजै सन्त कृपा सरकाम। सन्त कृपा से पाइये पुरुषोत्तम शुभ धाम।। सन्त कृपा ते सद्गति जागै सन्त कृपा ते सद्गुन। सन्त कृपा बिन साधुता कहिये पाया कवन।। काम दुधा अरु कलपतरु पारस चिन्तामनि चार। सन्त समान कोई नहीं मैंने किया विचार।। (भ० व० टि०) दृष्टान्त—दम्भी बादशाहका प्रथमखण्ड पृ० ५६।

लाहौ लह्यौ—उन्हींको लाभ है, वही विजयी हैं, भला उनकी पराजय कैसे हो सकती है जिनके हृदयमें नीलकमल सम श्यामसुन्दर विराजते हैं। 'लाभ स्तेषां जय स्तेषां, कुतस्तेषां पराजयः। येषामिन्दी वरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः।। (स्वस्ति०) भक्ति मारग सत जान्यौ'—जिससे प्रभुकी प्राप्ति हो वही सन्मार्ग है। यथा—'उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।।' मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः। उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्वगुणोदयः।। इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एक चेतसः। प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम्।। सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः। सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः।।

अर्थ—भगवान श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! शरीर आदि का जिसमें मैं पन है वही मूर्ख है। जो संसारकी आरेसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है वही सच्चा सुमार्ग है और चित्तकी वहिर्मुखता ही कुमार्ग है।। (भा० ११-१९-४२)। सन्तवर श्रीनारदजी हर्यश्वोंको कृपा करके (बिना बुलाये स्वयं जाकर) उपदेश दिया। तब उन्होंने एकमतसे गुरुदेवके उपदेशोंका रहस्य समझा और श्रीनारदजीकी परिक्रमा करके उस पथके पथिक बन गये, जिस पर चलकर फिर लौटना नहीं पड़ता है।। (भा० ६-५-२१) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित! जगत्में यह भक्ति का पन्थ ही सर्वश्रेष्ठ भयरहित और कल्याणस्वरूप हैं, क्योंकि इस मार्ग पर भगवत्परायण, सुशील साधुजन चलते हैं।। (भा० ६-१-१७) 'संसारी धर्महि छाँड़ि' संसारी धर्म का आश्रय लेने वालोंको संसार और भगवत धर्म का आश्रय लेने वालोंको भगवान

मिलते हैं। संसारी धर्म झूठा और भागवत धर्म सच्चा है। संसारीको क्षणिक और भागवत को अखण्ड सुख की प्राप्ति होती है। 'झूठ अरु साँच पिछान्यौ'—जब तक साँच और झूठकी पहिचान न होगी तब तक उसका ग्रहण और त्याग नहीं होगा। जैसे किसीने काँचके टुकड़े को हीरा मान लिया, उसे हीरे की पहिचान नहीं हैं तो काँचका संग्रह करता है। सन्त-जौहरीकी कृपासे जब पहिचान हुई तो उसे फोड़कर फेंक देना सहज हो जाता है। हीरे को बिना पहिचाने मनुष्य उसे ठुकरा देते हैं। श्रीकान्हरदास ने सन्तों की कृपा से भक्ति-मार्गको सत्य और संसारी विषयों को मिथ्या मानकर भक्तिका ग्रहण और संसारका परित्याग किया। पुरानी टिप्पणीमें लिखा है कि—एकबार राघवदासजी एक पद गा रहे थे, उसकी बहुत-सी तुकों को गा चुकने के बाद जब यह तुक आई कि—'वन अवनी पर मेघ कौं घेर रहे बहुचन्द।' इसको गाते-गाते श्रीराघोदासजीने शरीर छोड़ दिया। पीछेसे आठ तुकोंको इनकी स्त्रीने बनाकर पद पूरा किया। पदमें अड़सठ तुकें हैं। देह-त्यागका हेतु यह है कि उन्होंने देह को मिथ्या नाशवान जाना। ऐसे ही श्रीकान्हरदासजी ने सत्यस्वरूप भगवान को हृदयमें धारण किया, असत्य को त्यागा। दो०—हरि हीरा गुरु जौहरी व्यासहिं दियौ बताय। तन मन आनन्द में मिले नाम लिये दुख जाय॥

ज्यौं साखा द्रुम चन्द-संसार में रहकर फिर संसार से अलग कैसे रहते थे। इस पर दृष्टान्त देते हैं—'ज्यौं साखा द्रुम चन्द।' जैसे द्वितीयाके चन्द्रमा को मन्द दृष्टि वाला जब नहीं देख पाता है, तब जिस सन्तने चन्द्रमा को देख लिया है वह कहता है कि इस पेड़ की इस शाखाके सामने चन्द्रमा है इस प्रकार शाखाके सहारे वह चन्द्रमाको देख लेता है। सत्य यह है कि शाखाके सामने चन्द्रमा नहीं है। इसी प्रकार सन्त संसारमें नहीं हैं। पर संसार शाखाके सहारे उनके दर्शन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि संसारसे सर्वथा अलिप्त रहते हैं। 'जगत् खावै नहिं पछिताय सो खावै सो पछिताय॥ यह जग लाडू भूतको दुहूँ भाँति दुखदाय। दुहूँ भाँति दुखदाय खाज ज्यौं नखनि खुजावत। रोग भोग ते होय शिश्न रसना हित धावत॥ 'श्रीभगवत' उर धारि भक्ति करि मन को दावै। गुरु आज्ञा अनुकूल रहै नहिं वेदनि खावै॥ पुनः—सपने को संसार है जागत को घनस्याम। रे मन चेतन होयकै करिले अपनो काम॥ 'सर्वभूत समदृष्टि'—सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (भा० ११-२-४५) जो सभी प्राणियोंमें भगवान को और भगवानमें सभी प्राणियोंको देखता है। वह उत्तम भागवत है। श्रीकान्हरदासजी उत्तम भागवत थे। अतः 'सियाराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' सभीको नमस्कार करते थे।

कुवचन कबहूँ नहिं कह्यौ—परनिन्दा कुवचन है। सन्तजन स्वयं किसी की निन्दा नहीं करते हैं और यदि कोई दूसरा अपनी निन्दा करता है तो असन्तुष्ट नहीं होते हैं, उनका मत है कि—आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि। शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम।। (सू० सु०) अर्थ—यदि कोई पुरुष मेरे आत्मा की निन्दा करता है तो वह स्वयं अपनी आत्मा की ही निन्दा करता है क्योंकि आत्मा एक है। और यदि इस निन्दनीय शरीर की निन्दा करता है तब तो वह मेरा सहायक है। शरीरकी निन्दा से उसमें आसक्ति नहीं रहती है। दो०—सन्तन निन्दा अति बुरी भूलि करौ जनि कोय। किये सुकृत सब जनम के छिन में डारै खोय।। ये कटु वचन नहीं बोलते थे। तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर। संसारी काम सब दिखावटी हैं। इनमें सन्तोष तृप्ति नहीं। जब देखो तब भूखा। भगवत् प्राप्ति में तृप्ति है। श्रीबाल्मीकि बहुत दिन तक निर्जल, निराहार रहे। परीक्षितजीने सात दिन तक अन्न-जलको त्यागकर कथा सुनी।

विशेष—किसी सन्तसे कोई भूल भी हो जाय तो श्रीकान्हरदासजी कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। भक्तदाम० पृ० ९८ के अनुसार दो चरित्र इस प्रकार हैं। आप सन्तसेवी तो थे ही। सन्तोंका आवागमन बना ही रहता था। एकबार दो सन्त आये, वे कई दिनोंसे भूखे थे। जितना प्रसाद था उन्हें दिया गया। उसे पाकर तृप्त न हुए अतः उन्होंने कान्हरदासजी के घर से एक धातुपात्र लेजाकर हलवाई के हाथ बेच दिया और दोनोंने भर पेट लड्डू-पेड़ा खाया। यह जानकर आपका शिष्य सन्तों को फटकारने लगा। उस अज्ञानी शिष्यको आपने समझाया, कि सन्त बर्तन बेचकर खा गये तो अपना ही खाये। दो०—सब सामग्री राम की सन्त राम के राम। जो चाहैं सोई करैं तू बोलत बेकाम।।

एकबार श्रीकान्हरदासजीको बड़े जोर से बुखार चढ़ आया। तब ये आसन पर पड़े-पड़े ही प्रभुकी मानसी-सेवा करने लगे। भोग लगनेके बाद प्रभुने इनसे कहा कि तुम भी यह प्रसाद लो। तब आपने शिष्य को जोर से पुकार कर कहा—अरे ! प्रसाद लेने के लिए शीघ्र ही पात्र लाओ। शिष्य ने सोचा कि—'ज्वरकी अधिकताके कारण कुछ बक रहे हैं। अतः पात्र न लाकर खड़ा ही रहा। तब फिर आपने डाटकर कहा कि शीघ्र कटोरा लाओ। तब वह कटोरा ले आया। इनके हाथोंमें आते ही कटोरा भर गया। तब सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसमें से जिसने-जिसने प्रसाद लिया। सभी को अद्भुत स्वाद और परमानन्द मिला। सभी सन्तोंको प्रणाम।

* श्रीकेशवजी लटेरा, श्रीपरशुरामजी *

लटचौ लटेरा आन विधि परम धरम अति पीन तन।।
कहनी रहनी एक एक प्रभु पद अनुरागी।
जस वितान जग तन्यौ सन्त सम्मत बड़भागी।।
तैसोई पूत सपूत नूत फल जैसोइ परसा।
हरि हरिदासनि टहल कवित रचना पुनि सरसा।।
(श्री)सुरसुरानन्द संप्रदाय दृढ़ केशव अधिक उदार मन।
लटचौ लटेरा आन विधि परम धरम अति पीन तन।।१७२।।

शब्दार्थ—लटचौ=दुर्बल, कमजोर। आनविधि=दूसरे प्रकार से। पीन तन=स्थूलपुष्ट शरीर वाले। कहनी=कथन, कहने का ढंग। रहनी=लोकमें आचरण, चाल-ढाल, प्रेम। नूत=स्तुत, प्रशंसित, नया, अनोखा। सरसा=सरस, प्रेमरस युक्त।

भावार्थ—श्रीकेशवदासजी लटेरा की कहनी और रहनी एक थी अर्थात् आचार-विचारका जैसा उपदेश देते थे, उसीके अनुसार स्वयं आचरण भी करते थे। प्रभु के श्रीचरणोंमें अनन्य प्रेम था। सारे संसारमें आपकी कीर्ति फैली हुई थी। सन्तोंकी सम्मति आपके साथ थी। अतः आप बड़भागी थे। जैसे निष्ठावान सन्तसेवी भक्त श्रीकेशवजी थे वैसे ही उनके सुपुत्र श्रीपरशुरामजी भी थे। श्रीकेशव रूप कल्पवृक्ष के अनोखे, सन्तों से प्रशंसनीय फल श्रीपरशुरामजी थे। ये भगवान और उनके भक्तोंकी प्रेमसे सेवा करते थे तथा सरस पदोंकी रचना भी करते थे। ये आचार्य श्रीपरमानन्द स्वामी के शिष्य श्रीसुरसुरानन्दजीके शिष्य थे। अपने सम्प्रदाय की पद्धतिके कट्टर अनुयायी और परम उदार हृदयके थे। ये वैष्णव धर्मको पालन करने में परम पुष्ट औरं संसारी कार्यों के लिए अत्यन्त दुर्बल थे।।१७२।।

व्याख्या—लटचौ लटेरा—श्रीकेशवदासजी शरीरसे दुर्बल थे अतः 'लटेरा यह इनका उपनाम पड़ गया था। भण्डारा और महोत्सवों को विशाल रूपसे करते थे उस समय बड़े मोटे-ताजे धनी-मानी प्रतीत होते थे। व्याह आदि जिनका भक्त से सम्बन्ध नहीं होता उन कार्यों में आप बहुत कम खर्च करते तब बड़े गरीब लगते थे। सन्तों के मुख पर हार्दिक भक्तिभाव स्पष्ट रूपसे झलकते हैं। सुन्दर शरीर किस काम का यदि मन सरस नहीं है।

कबिरा हरि के भावतो दूरिहि ते दीखंत। तन छीने मन उनमने जग रूखड़े फिरंत।। कहा चीकने गात रस पूछत खिसले परै। सरस न आवै बात राख उड़े रूखे हिये।।'

कहनी रहनी एक—मन, वचन और कर्ममें एकता साधुका और अनेकता दुष्टका लक्षण है। यथा—मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।। कहते हैं करते नहीं मुंहके बड़े लवार। कारो मुखड़ा होयगो साईं के दरबार।। पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

जस वितान—जैसे मण्डप धूप-ताप आदि से बचाता है, उसी प्रकार संत सुयश मण्डप-दैहिक, दैविक, भौतिक तापोंसे तथा मायाके विकारों से बचाता है। भव-बन्धन से छुड़ाता है। यथा—'माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते।' (भा० ६-१७-४०) धन्यं यशस्य मायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्। स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम्।। (भा० ४-१२-४५) अर्थ—भक्त सुयश धन, यश और आयुकी वृद्धि करने वाला, परम पवित्र और अत्यन्त मङ्गलमय है। इससे स्वर्ग, अविनाशी वैकुण्ठ पद तथा देवत्व की प्राप्ति होती है। यह बड़ा ही प्रशंसनीय और समस्त पापोंका नाश करने वाला है। आपका साधन भजन और जीवन सन्त-सम्मत था अर्थात् सन्त मतके सर्वथा अनुकूल था पुनः सन्तोंने जिस आचरणका निर्देश किया है, उसीके अनुसार आप चलते थे।

बड़भागी—श्रीसरसमाधुरीजीने कथा-कीर्तन प्रेमी तथा ममता-मायाके त्यागी को बड़भागी कहा है। यथा-जगत में जो जन हैं बड़भागी। कथा कहैं अरु करें कीर्तन माया ममता त्यागी।। स्वारथ त्यागि करें परमारथ ज्ञान कला घट जागी। जीवन मुक्त जानिये तिनको तृष्णा जिनकी भागी।। सन्तन की सेवामें निशिदिन तिनकी मति अति पागी। प्रेमभक्ति करि हरिहिं रिझावें उज्वल रस अनुरागी।। 'सरस माधुरी' शरन चरन की लगन जुगल सों लागी।।

पूत-सपूत—सुपुत्र कुलका उद्धारक और कुपुत्र कुलका नाशक होता है—एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना। वासितं स्याद् वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा।। एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना। दह्यते हि वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा।।

अर्थ—जैसे एक ही उत्तम वृक्ष विकसित होकर अपनी सुगन्धसे समस्त वनको सुबासित कर देता है, वैसे ही एक सुपुत्र समस्त कुलको यशका भागी बनाता है। जिस प्रकार एक ही सूखा वृक्ष स्वयं आगसे जलता हुआ सारे वनको जला देताा है उसी प्रकार एक ही कुपुत्र अपने वंशके नाशका कारण बनता है।। (सु० सू०) पिताके द्वारा आचरित

धर्मके अनुयायी सुपुत्र हैं, पितृधर्मके विरुद्ध चलने वाले कुपूत हैं, जैसे धुन्धकारी।

सम्प्रदाय दृढ़—सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः—आचार्य परम्परासे जो सम्यक् रूपसे चला आ रहा है और गुरुदेव जिसमें अधिकारी शिष्यको सम्यक् प्रकार से मन्त्र, आराध्य, आराधना पद्धति तथा आचार पद्धति प्रदान करते हैं, उसी को सम्प्रदाय कहते हैं। इसका सीधा अर्थ है—धर्मका पथ विशेष। सम्प्रदाय साधक को, अनुगामी को एक पथ प्रदान करता है, जिस पर चलकर वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। श्रीलटेराजी की साम्प्रदायिक निष्ठा दृढ़ थी। हमारा मार्ग सर्वथा ठीक है, हमारा मन्त्र, गुरु, उपासना और आचार त्रुटिरहित है, यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ऐसा विश्वास स्वसम्प्रदाय में होना आवश्यक है। इसके साथ ही दूसरे मन्त्रों, गुरुओं एवं ग्रन्थों से घृणा या द्वेष नहीं होना चाहिए। श्रीलटेराजीका अन्य सम्प्रदायों से द्वेष न था अतः 'केशव अधिक उदार मन' ऐसा कहा।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ९९ के आधार पर श्रीलटेराजीका एक चरित्र इस प्रकार है—श्रीकेशवदासजी शरीरसे तो दुर्बल थे पर इनकी भक्ति अति सबल थी। एकबार इस सन्तने महोत्सव किया और अपनी ठकुरानी का विवाह श्रीलटेराजी के लालजीके साथ किया। संतजनोंको साथ लेकर आप बारातमें गये। वहाँ खूब स्वागत, सत्कार हुआ फिर विदाई हुई। दहेज के रूपमें बहुत-सा अन्न-धन-सामान मिला। उसे गाड़ियों में भरकर तथा पालकी में लाड़िलीलाल को पधराकर ले चले। रास्ते में यवन सैनिकोंने इन्हें घेर लिया और पूछा कि गाड़ी और पालकीमें क्या है। श्रीलटेराजीने कहा हमारे लालजीको दहेज में मिला सामान गाड़ी में है और पालकी में लाड़िलीलाल है। यवनोंने कहा—तुम लोग अपने प्राणोंको लेकर दूर भाग जाओ। यह सब सामान हमारे काम आवेगा। इतना कहकर वे लोग गाड़ी और पालकी में देखने लगे कि क्या है। आवरण हटाते ही इन्हें सिंहकी गुर्राहट सुनाई पड़ी। ऐसा लगा कि इसमें सिंह और बाघ भरे हैं। भयभीत होकर भागे तब श्रीलटेराजीने कहा—भयभीत मत होओ। चाहो तो सामान ले जाओ। यवनोंने सन्तोंकी करामात देखी तो भेंट पूजा देकर माँफी माँगकर चले गये। सानन्द बारात आश्रममें पहुँची तो वहाँ एक संत आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बोले कि हमारे यहाँ भण्डारा है उसमें आप कुछ सहायता कीजिये। यह सुनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सारा दहेजका सामान श्रीलटेराजीने उस सन्तके यहाँ भेज दिया। सन्तोंको सन्तुष्ट करना इनका प्रधान लक्ष्य था। ऐसे चरित्रों को ध्यान में रखकर ही मूलमें 'केशव अधिक उदार मन' ऐसा कहा गया है। बिना अपना स्वार्थ देखे दान करने वाले उदार हैं।

* श्रीकेवलरामजी *

केवलराम कलियुग्ग के पतित जीव पावन किये।।
भक्ति भागवत विमुख जगत गुरु नाम न जानैं।
ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनैं।।
निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी।
तत्व दरसी तम हरन सील करुना की रासी।।
तिलक दाम नवधारतन कृष्ण कृपा करि दृढ़ दिये।
केवलराम कलियुग्ग के पतित जीव पावन किये।।१७३।।

शब्दार्थ—पतित=नीचे गिरे अधम, विमुख। पावन=पवित्र, भक्त। तत्व दरसी=रहस्यके ज्ञाता, अनुभवी।

भावार्थ—श्रीकेवलरामजीने साधन पथ-भ्रष्ट अनेक (सिन्ध देशके) पतित जीवोंका उद्धार किया। जो लोग भक्त, भगवान, वैष्णवधर्म और गुरुओंसे विमुख थे, इन सबकी निन्दा करते थे, इनकी महिमा से सर्वथा अपरिचित थे, ऐसे अनेक लोगों को खींचकर भक्ति-मार्ग में लाये। भगवानमें आपका निष्काम प्रेम था। माया एवं मायिक जगत्से आप सर्वथा उदासीन थे। शास्त्रोंका अध्ययन करके आपने भगवत् तत्वको जान लिया था अतः अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेमें आप समर्थ हुए। आप सत्य, सदाचार और करुणाके निधान थे। आपने तिलक, कण्ठी, नवधा-भक्ति रत्न और श्रीकृष्णकी कृपाको, श्रीकृष्ण की ही कृपासे लोगों के मनमें दृढ़ता से स्थापित करके पतित जीवोंको पवित्र किया।।१७३।।

व्याख्या—पतित जीव—साधन-मार्गसे हटा हुआ विषयी प्राणी पतित (भवसागरमें गिरा हुआ) है। पतित किसे कहते हैं, इस प्रश्नका उत्तर मूलमें ही दिया गया है—'भक्ति भागवत विमुख जगत गुरु नाम न जानें। जो भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु से विमुख हैं, उनके निन्दक हैं। उनकी वास्तविकता से नाममात्रका भी परिचय नहीं है। ऐसे लोग नरकमें गिरे माने जाते हैं, यथा—

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्।। (चा० नी०)

अर्थ—अति क्रोध, कठोर वचन, दरिद्रता (असन्तोष), स्वजनोंसे बैर, नीचका सङ्ग और नीच सेवा आदि ये नरक में रहने वालोंके लक्षण हैं। 'विमुख'—दो०—विमुख अधर्मी दुख लहै लोक और परलोक। लख चौरासी योनि में भरमै मिटै न शोक।। 'चौरासीलाख योनियाँ'—'स्थावरं विंशतेर्लक्षं, जलचरा नवलक्षकम्। कृमिश्च रुद्रलक्षं च दशलक्षञ्च पक्षिणाम्।। त्रिंशल्लक्षं पशूनाञ्च चतुर्लक्षञ्च वानराः। ततः मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्।।' अर्थ—बीस लाख स्थावर, नौलाख जलचर, ग्यारह लाख कृमि, दस लाख पक्षी, तीन लाख पशु और चार लाख वानर। ये चौरासी लाख योनियाँ हैं। विमुख प्राणी इन योनियोंमें जन्म लेने के बाद पुनः अहैतुकी प्रभु कृपासे मनुष्य योनिको प्राप्त करता है। कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस विन हेतु सनेही।। मनुष्य शरीर पाकर सत्कर्म करके यदि अपना कल्याण न कर सका तो वह पुनः चौरासी में भटकता है। इस पर—

दृष्टान्त—नगाड़ेका—एक जगह बहुतसे लोग एकत्र होकर ग्राम्यगीत होली आदि गा रहे थे और चारों ओरसे घेरकर एक बड़े नगाड़े को डण्डोंसे बजा रहे थे। संयोगवश वहाँ होकर एक मस्ताने सन्त निकले तो उन्हें सहसा हँसी आ गई। लोगोंने आग्रह करके पूछा तो सन्तने कहा कि मुझे नगाड़ा बजते देखकर हँसी आई। इसमें लगी खालका जीवात्मा ईश्वर विमुख प्राणी था। चौरासी लाख योनियोंमें निजकर्मोंके फलोंको भोगकर उसे बैलकी योनि मिली। दो०—बैल भयौ हर में चल्यौ गाड़ी तर सिर दीन। तेली के कोल्हू चल्यौ बहुरि कसाई लीन। सीस कटो बोटी उड़ी मढ़ी चमार नगार। ताहू पर बाकी रही परत खाल पर मार।। विमुख निन्दनीय हैं। धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक्सुतञ्च धिक्। आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ् मुखम्।। अर्थ—जो भगवानसे विमुख हैं उस कुलको, कुटुम्बको, घरको, पुत्रको, आत्माको और शरीरको धिक्कार है।।

ऐसे लोग अनेक—अर्थात् कलियुगमें विमुखों का ही बाहुल्य है। 'ऐंचि सनमारग आनें'—विमुख विषयी सुखोंमें फँसे रहने के कारण भक्तिमार्ग में आना नहीं चाहते हैं अतः सन्त बलात् खींचकर लाते हैं, जैसे 'विमुखन को दियौ दण्ड ऐंचि सन्मारग आने।' (श्रीशङ्कराचार्य) दृष्टान्त-लोभी वणिक को सूरदासजीने हठात् दर्शन कराया और वैष्णव बनवाया। (द्वि० ख० भ० पृष्ठ ८०९) 'सन्मारग'—संत महानुभाव जिस पर चलते हैं वही सन्मार्ग है। यथा—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।। (महाभारत)

अर्थ-तर्क निराधार हैं उससे एक निश्चय पर पहुँचना कठिन है, श्रुतियाँ अनेक हैं और वे भिन्न-भिन्न मार्ग बताती हैं। ऐसे ऋषि अनेक हैं जिनके वाक्य प्रमाण हैं तो किसे मानें और किसे न मानें अतः धर्मका रहस्य सन्तोंके हृदयरूपी कन्दरामें छिपा है, सन्तज़न जिस साधन मार्ग से चलते आये हैं, वही सीधा सरल मार्ग है उसी पर चलना चाहिए।

अजा ते सदा उदासी—भगवानकी माया विचित्र है असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने वाली है। यथा—श्रुतिशतनिगमान्तशोधकानप्यहह, धनादिनिदर्शनेन सद्यः। कलुषयति चतुष्पदाद्यभिन्ना न घटित घटना पटीयसी माया। (माया पंचक) अर्थ—अहो ! जो सैकड़ों श्रुतियों और वेदान्त वाक्यों के शोधक हैं उन्हें भी माया धन आदि का लोभ दिखाकर तुरन्त इतना कलुषित कर देती है कि उनमें और पशु आदि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अहो ! वह कैसी अघटित घटना पटीयसी है।। ऐसी मायासे केवलरामजी उदासीन थे। मायापतिको प्रसन्न करके मायासे बचे थे। मैं, तैं, मोर और तोरकी भावना से ऊपर उठकर सर्वत्र श्रीकृष्ण तत्वके द्रष्टा थे।

तत्त्वदर्शी—दार्शनिक, ब्रह्मज्ञान के वेत्ता, आत्मा, परमात्मा और प्रकृतिके वास्तविक ज्ञाता थे। पुनः सब तत्वोंमें श्रेष्ठतत्व जो श्रीकृष्ण उसके द्रष्टा थे। 'कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।' (मधुसूदन सरस्वती) दूसरे तत्वज्ञानी अनुमान से तत्व को जानते हैं परन्तु श्रीकेवलरामजी सच्चे तत्त्वदर्शी थे। इन्होंने तत्त्व का साक्षात्कार करके उसे जाना। देहाभिमानी यथार्थ तत्व को नहीं जान सकता है। जैसे एक बादशाहने मसजिदको ही तत्व माना, सुथरा फकीरने उसे तोड़ा। फाँसी की सजा देने वाले बादशाहसे कहा कि यह जितनी टूटी है फिर बन सकती है पर मनुष्य शरीर जो सच्चा ईश्वर का मन्दिर है उसे नष्ट करके आप बना नहीं सकते। मसजिदसे मानव शरीर श्रेष्ठ है, इसे नष्ट करने पर तुम्हें ईश्वरके दरबारमें क्या दण्ड मिलेगा, इसे सोचो। बादशाह की समझ में यथार्थ तत्व आया। पुनः बादशाहके अहङ्कार को दूर करनेके लिऐ पैगम्बरी जूता का जोड़ा बनवाकर एक को मसजिद में रखा। बादशाहने उसे खुदाका जूता समझा और उसकी मान्यता की। तब सुथरा फकीर ने दूसरा जूता दिखाकर कहा कि यह जूता खुदा का नहीं है मेरा बनवाया है। जब तुम ईश्वरके जूतेको नहीं पहचान सके तो ईश्वरको क्या पहिचानोगे। तुम्हारा यह कहना कि मैंने साहबको जान लिया है मिथ्या है। साहब के वन्दे फकीर हैं, उनकी सेवा करके तत्वको जान सकोगे। श्रीकेवलरामजी सन्त-सेवाके प्रतापसे श्रीकृष्ण तत्व के ज्ञाता थे। (पूरा दृष्टान्त पूर्वार्द्ध पृष्ठ

५६ पर देखिये) प्रकाशपुञ्ज परमात्मा इनके हृदयमें विराजमान थे। अतः प्राणियोंके अज्ञानरूपी तमके हरण करने वाले थे। आगे टीका कवित्तमें इनकी करुणाका वर्णन है।

आत्माको ही नहीं बैलके शरीरको अपना माना। मूलमें करुणा की राशि और टीका में करुणानिधान कहा गया । विमुख प्राणियों के दुःखको सह नहीं पाते थे अतः उनको भगवत्सन्मुख करते थे। प्रह्लादजीने करुणावश कहा कि यदि अपने को मारने वालों के प्रति मेरे मनमें द्वेषका अभाव है तो ये दैत्य पुरोहित जीवित हो जायँ। ऐसा कहकर अपने द्वेषी पुरोहितों को जीवित किया। सप्तर्षियोंने अजामिलका उद्धार किया। गौराङ्ग महाप्रभुने करुणावश नीच पतित जगाई-मधाईके पापोंको लिया और वैष्णवता प्रदान की। भक्त और भगवान करुणा की राशि हैं। जैसे—

उमा राम मृदु चित करुणाकर। बैर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।।
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहौ भवानी।। (रा०)

एकबार ये सिन्धु नदी के तट पर भजन कर रहे थे तो वहाँ एक सिद्ध इनकी परीक्षा लेने आया। होड़ लगी, हमें ढूंढ़ों कहकर वह जलमें मछली बन गया। आप उसे मगर बनकर पकड़ लाये। फिर आप जल में जल बन गये, वह इन्हें नहीं ढूंढ़ सका। गोरखनाथ और कबीर की तरह। आपमें भगवद्-भजन की सिद्धि थी, उसमें तान्त्रिक सिद्धि थी अतः हारा और शिष्य बन गया।

घर घर जाय कहैं यहै दान दीजै मोकों, कृष्ण सेवा कीजै नाम लीजै चित लायकै।
देखे भेषधारी दस बीस कहूँ अनाचारी, दये प्रभु सेवनि कों रीति दी सिखायकै।।
करुणानिधान कोऊ सुने नहीं कान कहूँ, बैल के लगायौ साँटो लोटे दया आयकै।
उपट्यौ प्रगट तन मन की सचाई अहो, भये तदाकार कहौं कैसे समुझायकै।।६००

शब्दार्थ—भेषधारी=वेष धारण करने वाला, नकली साधु, खड़िया। अनाचारी= दुराचारी, कुकर्मी। साँटौ=डण्डा। उपट्यौ=उछर्यौ, दाग पर्यौ। तदाकार=तल्लीन।

भावार्थ—श्रीकेवलरामजीने सबके घरोंमें, द्वारों पर जाकर यही कहते कि आप लोग कृपा करके हमको यह दान दीजिये कि—'सदा मन लगाकर भगवान श्रीकृष्ण की सेवा कीजिये और उनके नामका जप कीजिये।' एकबार आपने दस-बीस ऐसे अनाचारी देखे जिनका भेष तो वैष्णवोंका-सा था, परन्तु आचरण दुष्टोंका-सा था। उन पर दया करके आपने उन्हें भगवान शालग्रामकी मूर्तियाँ, मन्त्र, गोपीचन्दन, तुलसी मालायें दीं और सेवा-पूजाकी

विधि सिखा दी वे सब सच्चे सदाचारी वैष्णव बन गये। करुणानिधान तो आप ऐसे थे कि संसार में आप सरीखा दूसरा कहीं नहीं देखा सुना गया। एकबार किसी बनजारेने आपके सामने बैलोंको जोर से डण्डा मारा। दयावश आपको उसकी पीड़ा का ऐसा अनुभव हुआ कि आप उसी क्षण धरती पर गिर गये। डण्डेका निशान आपकी पीठ पर उभर आया। इसे तन और मनकी सच्चाई कहते हैं। श्रीकेवलरामजी तदाकार हो गये थे, उन्होंने बैलके और अपने शरीर में भेद नहीं माना, उसके कष्टको अपना कष्ट माना। ऐसी दयालुताका वर्णन वाणीसे समझकर कैसे किया जाय। महापुरुष ही अनुभव करके जान सकते हैं।।६००।।

व्याख्या—घर घर जाय—जैसे कोई बेड़ी-हथकड़ी से बँधा हो तो वह स्वयं बन्धन से मुक्त करने वालेके पास नहीं जा सकता है। जीव मायाके बन्धनसे बँधा है संत-सद्‌गुरु के पास जानेमें असमर्थ है। अतः ये स्वयं जाते क्योंकि करुणासिन्धु हैं साधवो दीनवत्सलाः। लागि दया कोमल चित संता। द्वार पर पहुँचकर सीताराम-राधेश्यामकी आवाज लगाते तो लोग अन्न-धन लाकर देने लगते, तब आप मना कर देते और कहते कि हमको जो चाहिए उसे देनेकी प्रतिज्ञा करो तब हम माँगें। प्रतिज्ञा करने पर आप यही दान माँगते कि श्रीकृष्णकी सेवा चित्त लगाकर करो, पीपाजीके शिष्यकी तरह नहीं कि तन सेवामें और मन मोचीके यहाँ जूते गाँठ रहा है। भोजन-पान आदि श्रीकृष्ण को अर्पणकर स्वयं सेवन करो और भगवन्नाम जपो। लोग पूछते कृष्ण-सेवा से क्या लाभ या सुख होगा तो आप इस प्रकार समझाते—

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः सन्धाय कोटिद्वयं,
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां,
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्।।

(श्रीशङ्कराचार्य)

अर्थ—अरे चित्त ! चञ्चलताको छोड़कर सामने तराजू के पलड़ों में से एकमें सब विषय सुखोंको और दूसरेमें भगवान श्रीकृष्णको रखो। पुनः विचार करो कि विश्राम और हित किसमें है। फिर युक्ति और अनुभव से जहाँ परमानन्द मिले उसी का सेवन करो। यह सुनकर लोग कहते कि हम इस योग्य कहाँ हैं, तब आप समझाते—'आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः। लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्रं जडं यद्वत्।। (शं०) अर्थ—थोड़ा-सा आश्रय लेने पर राधापति श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं जैसे सामने आये हुए जड़ लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है। नाम महिमा

बताते—गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ। इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन।। (आदि पुराणे) अर्थ—स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! जो मेरा नाम सङ्कीर्तन करता हुआ मेरी सन्निधि में रहता है, मैं उसके हाथ बिक जाता हूँ। मैं यह सच कहता हूँ।। श्रीकेवलरामजीके मधुर उपदेश को लोग स्वीकार करते, तब आप उन्हें सेवा विधि बताकर शालग्रामकी मूर्ति (तिलकके लिए) गोपीचन्दन और तुलसी कण्ठी-माला देते। इस प्रकार नित्य ही अनेकों प्राणियों को वैष्णव बनाकर उनका उद्धार करते।

भेषधारी—अनाचारी—दम्भीजन साधुवेष बनाकर, अपनी पूजा कराकर अपने को तो गढ्ढेमें डालते ही हैं, साथ-साथ श्रीप्रभुको भी कष्ट पहुँचाते हैं। 'बेषधारी हरिके उर शालैं।' (भगवतरसिकजी) 'बैल के लगायौ'—बालद जा रही थी, झुण्डके झुण्ड बैलों की पीठ पर बोझा लदा था। गर्मी और थकावट से एक बैल धीरे-धीरे चल रहा था, श्रीकेवलरामजी कृष्ण-कृष्ण कहते पीछे-पीछे चल रहे थे। बैलके दुःखसे दुःखी होकर उसमें तल्लीन होकर उसके दुःखका अनुभव करने लगे। इसी बीच व्यापारीने मारा तो इनके मुख से निकला—'हा कृष्ण ! बनजारेने मार दिया।' बनजारेने इनके पास आकर कहा—'क्यों मक्कर करते हो, मैंने तुमको तो नहीं मारा है।' तब इन्होंने कहा—'मेरे शरीर को देखो।' उठे चिह्नको देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। क० २४४ पण्डोंके द्वारा लगाई गई रामदासकी चोट को भगवानने अपने शरीर पर लिया उसी प्रकार केवल रामने अपने ऊपर चोट ली। 'दया आइकै'—सुखी सम्पन्न जीवोंसे तादाम्य न करके दुःखी जीवों से करुणावश सर्वदा आपका तादात्म्य था। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।' संतजना तो तेने कहिये पीर पराई जानै रे।। (नरसी) 'पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर।' सर्वधर्मो दयापरः। दया तीन प्रकार की—मानसी, वाचिकी और कायिकी। आप मन, वचन, कर्म तीनोंसे दया करके विश्व-कल्याण करते थे। इनके गिरते ही सभी व्यापारी एकत्र हो गये और जब उन्हें रहस्यका ज्ञान हुआ तो उन्होंने उस बैल से बोझा उतार दिया। उसे विश्राम दिया। सभी ने आपसे वैष्णवता ग्रहण की और बैलों पर थोड़ा-थोड़ा बोझ लादने की प्रतिज्ञा की। भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ ९९ पर लिखा है कि श्रीकेवलरामजीके व्रतको देखकर एक धनिकने परीक्षा लेने का विचार किया। इन्होंने जब उसके द्वार पर आकर कहा—'श्रीकृष्ण नाम लो।' तब उसने कहा—'नाम तो लेते ही रहते हैं आप विराजो और मेरी एक सेवा स्वीकार करो।' ऐसा कहकर उसने एक हजार चाँदीके रुपये भेंट किये। आपने कहा—'नाम जपो और कृष्ण-सेवा करो।' इस

दानके अतिरिक्त हम धन आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। हमें जिससे सन्तोष होगा, वह दान देकर सन्तुष्ट करो।' उस धनिकके बहुत आग्रह करने पर भी आपने धन नहीं लिया। तब उसने नित्य नाम जपने की प्रतिज्ञा करके श्रीकेवलरामजीको सन्तुष्ट किया।

* श्रीआसकरनजी *

(श्री) मोहन मिश्रित पद कमल आसकरन जस विस्तर्‌यौ।।
धर्मसील गुनसींव महा भागवत राजरिषि।
पृथीराज कुल दीप भीम सुत विदित कील्ह सिषि।।
सदाचार अति चतुर विमल बानी रचना पद।
सूर धीर ऊदार बिनै भलपन भक्तनि हद।।
सीतापति राधासुवर भजन नेम कूरम धर्‌यौ।
(श्री) मोहन मिश्रित पद कमल आसकरन जस विस्तर्‌यौ।।१७४।।

शब्दार्थ—मिश्रित=मिले हुए। कुल दीप=वंशमें श्रेष्ठ। विदित=प्रसिद्ध। कूरम=कूर्मवंशी, क्षत्रिय।

भावार्थ—राजर्षि भक्त श्री आशकरणजी धर्मशील और सद्‌गुणों की सीमा थे। आप आमेर नरेश श्रीपृथ्वीराजके पौत्र श्रीभीमसिंहजीके पुत्र और स्वामी श्रीकील्हदेवजीके शिष्य थे। ये सदाचारका पालन करने में परम चतुर थे। आपकी वाणी निर्मल थी, आपने अनेक पदोंकी रचना की। आप शूरवीर, धीर, गम्भीर, उदार, विनयी, भलप्पन आदि से युक्त तथा भक्तोंमें श्रेष्ठ थे। कूर्मवंशीय श्रीआशकरणजी सीतापति श्रीरामचन्द्रजी और राधापति श्रीकृष्णचन्द्र दोनों की नियम पूर्वक सेवा (भजन) करते थे। जिन दोनों ठाकुरों के नाममें मोहन शब्द जुड़ा है ऐसे श्रीजानकीमोहन और श्रीराधामोहन इन दोनों इष्ट स्वरूपों के श्रीचरण-कमलों की आशा करने वाले श्रीआशकरणजीका सुयश सर्वत्र फैल गया।।१७४।।

व्याख्या—धर्मसील—'ऊर्ध्वबाहुबिरोम्येष न कश्चिच्छृणोति मे। धर्मादर्थश्चकामश्च किं धर्मं न सेव्यते।। (महा० स्व० ५-६२) भगवान वेदव्यास कहते हैं कि मैं दोनों हाथ उठाकर पुकार रहा हूँ, किन्तु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। अरे, जिस धर्म से सभी

प्रकारके धन मिलते हैं और सभी प्रकारकी कामनायें पूर्ण होती हैं, उस धर्मका आचरण क्यों नहीं करते? मानव-जीवनकी पूर्णता इसीमें है कि उसका सम्पूर्ण जीवन एवं उसके जीवनकी क्रिया धर्मके द्वारा अनुशासित हो। धर्मकी पूर्णता इसीमें है कि वह सम्पूर्ण जीवनका धारण एवं शासन करता हो जो जीवनके किसी एक अङ्गको अपने अनुशासनसे बाहर छोड़ देता है, वह धर्म उतने अंशमें अपूर्ण है। श्री आशकरणजी सनातन वैष्णवधर्मके अनुशासनसे अनुशासित थे अतः उन्हें धर्मशील कहा। क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुए थे और शूर थे अनेक युद्धोंमें विजयी हुए।

महाभागवत—के लक्षण (भा० ११-२-५०, ५२ में) इस प्रकार कहे गये हैं—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।।
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः।।

अर्थ—जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज-वासनाओं का उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान वासुदेवमें ही निवास करता है वह उत्तम भगवद्-भक्त है।। जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदि में 'यह अपना है और यह पराया' इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता है, समभाव रखता है तथा किसी घटना अथवा संकल्प से विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवानका उत्तम भक्त है।। आशकरणजी गुरु-कृपासे इन लक्षणोंसे युक्त थे।

राजरिषि—अर्थात् सन्त राजा, क्षत्रिय जातिका वह पुरुष जिसने अपने पवित्र जीवनमें साधनामय भक्तिसे ऋषिका पद प्राप्त किया हो। जैसे श्रीजनकजी, श्रीपृथुजी, पुरूरवा आदि। श्रीआशकरणजी परमधर्मवान् क्षत्रिय थे अतः इन्हें राजर्षि कहा गया। ऐसे राजाके राज्यमें रहना चाहिए। 'धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यश्च पञ्चम। पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत्।।' (चाणक्य) अर्थ—धनी, वेदज्ञ ब्राह्मण, धार्मिक राजा, नदी और वैद्य ये पाँचों जहाँ न हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।

कुल दीप—अपने भाई रतनजीकी मृत्युके बाद श्रीआशकरणजी ज्येष्ठ सुदी ८ सं० १६९४ वि० को आमेरकी राजगद्दी पर बैठे। इन्होंने केवल १५ दिन राज्य किया। इसके बाद राजगद्दी छोड़कर तीर्थयात्रा करने चले गये। तब इनके काका श्रीभारमजली गद्दी पर बैठे। इसके बाद बादशाहने इन्हें नरवरगढ़ (मध्य प्रदेश) की जागीरी दी। इनकी मनसबदारी तीन हजारी थी। इनके पिता श्रीभीमसिंहजी भी माघ सुदी ५ सं० १५९० से श्रावण सुदी १५

सं० १५९३ तक आमेरके राजा रहे। अकबर कालमें श्रीआशकरणजीकी महिमा और प्रताप का विस्तार हुआ। राजा टोडरमलके साथ आप विहार प्रान्तमें गये और संग्राममें विजयी हुए। फिर दूसरे वर्ष शाहजाद परवेज और मानसिंह (जो इनके भतीजे और आमेरके राजा थे) के साथ काबुलकी लड़ाई में गये। सं० १५८५ ई० दक्षिण से लौटने के बाद आगराके अधिकारी नियुक्त हुए। बङ्गाल विजयमें भी मानसिंहजी के साथ रहे। इसलिए मूलमें इन्हें 'सूर धीर' कहा गया। (श्रीदेवीसिंह मण्डावासे प्राप्त) मार-काट, खून-खराबीसे वैराग्य हुआ, सेवामें तल्लीन हो गये। प्रगट अर्चा-विग्रह की सेवा और मानसी-सेवा सिद्ध थी अतः महाभागवत कहा।

विमल वानी रचना पद-इनके पदोंके आदि अन्तमें प्रायः 'मोहन' छाप रहती है जैसे 'आसकरन प्रभु मोहन नागर।' श्रीराम-कृष्ण दोनों ही मोहन हैं अतः मोहन शब्दसे दोनोंका बोध होता है। यही कारण है कि आपने अपने ठाकुरजीका नाम 'मोहन' रक्खा था।

पद-मोहन चरनारविन्द त्रिविधताप हारी। कहि न जात कौन पुण्य कर जू सिर धारी।।
निगम जाकी साख बोलै सेवक अधिकारी। धीमर कुल अभय कीनों अहिल्या उधारी।।
ब्रह्मा नहिं पार पावैं लीला वपु धारी। 'आसकरन' पद पराग परम मंगलकारी।।
मोहन देखि सिराने नैना। ग्वाल मण्डली मध्य विराजत सुन्दरता को अयना।।
रजनीमुख आवत गायन सँग मधुर बजावत बैंना।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर बारौं कोटिक मयना।।

सूरधीर—बड़े-बड़े युद्धोंको जीतने वाले शूर-शूर नहीं हैं, जितेन्द्रिय ही शूर हैं। यथा—(योगवाशिष्ठ रा०)

तरन्नि मातंग घटातरंगं रणाम्बुधि ये मयि ते न शूराः।
शूरास्त एवेह मनस्तरंगं देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति।।

अर्थ—हाथियोंके समूहरूपी तरङ्गों वाले युद्ध सागर को जो पार कर जाते हैं, वे मेरी समझसे शूर नहीं हैं, शूर तो वे ही हैं जो मनरूपी तरङ्गोंसे युक्त इस देह इन्द्रियादि रूप समुद्रको पार करते हैं।

सीतापति राधासुवर—श्रीआशकरणजी सीतापति और राधापति दोनों के अनन्य उपासक थे। इस सम्बन्धमें 'रघुवर यदुवर गाइ विमल कीरति संच्यौ धन।' छ० ३७ की व्याख्या द्वितीयखण्ड पृष्ठ ११४ और 'पांयनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यौ।' राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाच्यौ।।' छ० १२१ तृतीयखण्ड भ० पृ० ५७४ द्रष्टव्य हैं। इन सभी

भक्तोंने राम-कृष्णको एक मानकर दोनों की उपासना की। श्रीबिल्वमङ्गलजी और श्रीतुलसीदासजीने भी मुरली और धनुष धारण कराकर दोनोंकी एक रूपता प्रमाणित की।

नरवर पुर ताकौ राजा नरवर जानौ, मोहन जू धरि हियें सेवा नीके करी है।
घरी दस मन्दिर में रहैं रहै चौकी द्वार, पावत न जान कोऊ ऐसी मति हरी है।।
पर्‍यो कोऊ काम आय अबहीं लिवाय ल्यावौ, कहै पृथीपति लोग कानमें न धरी है।
आई फौज भारी सुधि दीजिये हमारी, सुनि बहू बात टारी परी अति खरबरी है।।६०१

शब्दार्थ—नरवर=पुरुषश्रेष्ठ। चौकी=पहरा। खरबरी=घबड़ाहट, जल्दी।

भावार्थ—मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीआशकरणजी नरवरगढ़के राजा थे। आप मनमोहन भगवानको मनमें धारण करके प्रेम पूर्वक उनकी सेवा-पूजा करते थे। दस घड़ी अर्थात् चार घण्टे तक लगातार आप मन्दिरमें रहकर सेवा करते। उस समय द्वार पर चौकीदार को बैठा देते। कोई भीतर जाने नहीं पाता। इस प्रकार आपकी बुद्धि सेवामें भलीभाँति रम गई थी। एकबार किसी आवश्यक कार्य से नरवरगढ़ में दिल्ली का बादशाह आया और उसने अपने सेवकोंसे कहा कि—'आशकरणजीको शीघ्र ही लिवा लाओ।' वे लोग आये, तो उस समय मन्दिरमें थे अतः बादशाहके दूतोंकी बात यहाँ किसीने नहीं सुनी। पहरेदारों ने आशकरणजी को सूचना देनेसे इन्कार कर दिया। तब बादशाहने अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन मानकर बड़ी-भारी सेना भेज दी। सेनापतिने आकर कहा—'मेरे आने की सूचना राजा आशकरणके पास भेजो। (अन्यथा हम नगर पर आक्रमण कर देंगे और बलात् पकड़कर ले जायेंगे) इस बातको सुनकर भी लोगों ने टाल दिया। सेवामें विघ्न भयसे सूचना न दी। अब क्या होगा, यह विचारकर लोगोंके मनमें बड़ी घबड़ाहट पैदा हो गई।।६०१।।

व्याख्या—राजा नरवर—नरवरगढ़ ग्वालियर से दक्षिण में है। श्रीआशकरणजीने शिकार खेलना आदि जो दुर्व्यसन हैं, उनको त्यागकर वैष्णव सदाचार को अपनाया था अतः नरवर कहा। दस घड़ी अर्थात् चार घण्टा सेवामें रहते थे। जैसे श्रीजयमजली—'करै घरी दस तामें कोऊ जो खबरि देत, लेत नहीं कान और ठौर मरवावहीं।' (क० २३१) 'सेवा नीके' जैसे—श्रीअग्रजी—'सेवा सुमिरन सावधान चरण राघव चित लाये।'

हिये सेवा नीके—गीतामें मनको वायु की तरह चञ्चल कहा है। ऐसे मनसे नीकी-सेवा नहीं हो सकती है। सेवामें एकाग्र मनकी लगन चाहिए। मानसिक दृढ़ता से

कार्यमें प्रवृत्त होने पर तुच्छ शरीर वाला महान् कार्यको सिद्ध कर लेता है। इस पर–

दृष्टान्त टिटहरीका–एक समय तट पर रक्खे टिटहरीके अण्डे समुद्रकी लहरमें बह गये। टिटहरीने प्रण कर लिया कि मैं समुद्रको सुखा दूंगी। समुद्र में से चोंच-भर जल लाकर बाहर और बाहर से चोंच-भर रेत लाकर समुद्र में डालने लगी। यह देखकर श्रीनारदजीने पूछा–तो उसने बताया कि इसने मेरे अण्डे बहाये हैं अतः मैं इसे सुखा दूंगी। श्रीनारदजीने कहा–अनन्त जलराशि समुद्र तुम्हारे सुखाये कैसे सूखेगा। उसने कहा–मैं बार-बार जन्म लेकर इस उद्यमको करूँगी और इसे सुखाकर रहूँगी। उसके साहसको देखकर नारदजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने जाकर गरुड़से कहा–तुम्हारी जाति का एक छोटा पक्षी कष्टमें है। तुम जाकर उसकी सहातया करो। तब गरुड़जीने आकर समुद्रसे कहा–तुम इसके अण्डे लाकर शीघ्र ही दे दो अन्यथा मैं अपने पंखोंकी वायुसे तुम्हें सुखा दूंगा। गरुड़जीको कुपित जानकर समुद्रने लाकर अण्डे दे दिये। इस दृढ़तासे जो सेवा आरम्भ करता है। उसे प्रभु-कृपासे सिद्धि-मनकी एकाग्रता प्राप्त होती है।

कहिकै पठाई कहौ कीजियै लराई सुनि, रुचि उपजाई चलि पृथीपति आयौ है।
पर्‌यौ सोच भारी तब बात यों विचारि कही, आप एक जावौ गयौ अचरज पायौ है।।
सेवा करि सिद्धि साष्टाङ्ग ह्वैकै भूमि परे, देखि बड़ी बेर पांव खड्ग लगायौ है।
कटि गई एड़ी एपै टेढ़ीहू न भौंह करी, करी नित नेम रीति धीरज दिखायौ है।।

शब्दार्थ–सिद्धि=पूर्ण, समाप्त, सम्पन्न।

भावार्थ–बादशाहके सेनापतिने बादशाहके पास सूचना भेजी कि–'हमारे कहने से भी कोई राजाको खबर नहीं पहुँचा रहा है, आपकी आज्ञा हो तो मैं युद्ध छेड़ दूं।' यह सुनकर बादशाहके मनमें रुचि उत्पन्न हुई कि राजा कैसा सेवानिष्ठ है, चलकर देखना चाहिए। अब बादशाह स्वयं ही वहाँ आया। तब सभी राज-कर्मचारी बड़े सोच-विचारमें पड़ गये कि अब क्या करना चाहिए। उन लोगोंने बादशाह से कहा–हम राजा की आज्ञाका उल्लङ्घन करके वहाँ नहीं जा सकते हैं और न कुछ सूचना ही दे सकते हैं। आप चाहें तो अकेले जा सकते हैं। बादशाह भीतर गया तो उसे वहाँका दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय श्रीआशकरणजी भगवत्सेवा पूरी करके भूमि पर लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम कर रहे थे। बादशाह खड़ा देखता रहा, बड़ी देर हो गई फिर भी ये न उठे। तब बादशाहने राजा आशकरणके पैरमें तलवार मारी, इससे राजाकी एड़ी तो कट गई, परन्तु उसकी भौंह भी टेढ़ी नहीं हुई, अर्थात् कष्टका किञ्चित् अनुभव नहीं हुआ।

नित्य-नियमके अनुसार राजाने बड़ी शान्ति एवं धैर्यके साथ सब कार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार राजाने अपना अद्‌भुत धैर्य दिखलाया।।६०२।।

टेढ़ी हू न भौंह—मन सेवामें तल्लीन था अतः शरीरके दुःखका भान न हुआ। 'मन तहँ जहँ रघुवर वैदेही। बिन मन तन दुख सुख सुधि केही।।' चींटा भी काट ले तो हाथ से माला छूट जाती है। इन्होंने नित्य-नियम पूरा किया इसे ही दृढ़ता तथा धैर्य कहते हैं। उस गुरुके कृपापात्र हैं जिसके मस्तक में लोहे की कील ठोंकी गई, पर उन्हें पता न चला। (छ० ४०) दो०—'साँचे गुरु को परसुराम साँचो ही सिष होय। जाकी निर्मल भक्ति में दोष न लागे कोय।।'

उठि चिक डारि तब पाछें सो निहारि, कियौ मुजरा विचारि बादशाह अति रीझे हैं।
हित की सचाई यहै नेकु न कचाई होत, चरचा चलाई भाव सुनि सुनि भीजे हैं।।
बीते दिन कोऊ नृप भक्त सो समायौ, पृथीपति दुख पायौ सुनी भोग हरि छीजे हैं।
करैं विप्र सेवा तिन्हें गाँव लिखि न्यारे दिये, वाके प्रान न्यारे लाड़ करौ कहि धीजे हैं।।६०३

शब्दार्थ—मुजरा=जोहार, आदाब, सलाम।

भावार्थ—श्रीआशकरणजी भगवानको साष्टाङ्ग प्रणाम करके उठे और उन्होंने चिक (परदा) डाल दिया। पश्चात् मुड़कर पीछे देखा, तो बादशाह दिखाई पड़ा। तब इन्होंने शिष्टाचारके अनुसार उसे जोहार (सलाम) किया। राजाकी भगवत्सेवामें नियम-निष्ठाको देखकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। प्रेमकी सच्चाई यही है कि उसमें थोड़ी भी शिथिलता या बनावटीपना न हो। इसके बाद बादशाहने श्रीआशकरणजीसे प्रेम-नेम के सम्बन्धमें कुछ बातचीत की और इनके विचार सुनकर वह बहुत ही खुश हुआ। उसका हृदय भक्ति-रससे सराबोर हो गया। कुछ दिनों के बाद श्रीआशकरणजी शरीरको त्यागकर भगवद् धामको चले गये। यह सुनकर बादशाह को बहुत कष्ट हुआ। फिर कुछ दिनों के बाद उसने सुना कि सेवा-पूजा और भोग-रागके अभावमें श्रीठाकुरजी कष्ट पा रहे हैं। तब उसने सेवा-पूजा करने वाले ब्राह्मणोंको अलग-अलग गाँव लिख दिये और उन पुजारियोंको आदेश दिया कि आशकरणजीके प्राण-प्यारे ठाकुरजी की सेवा-पूजा आप लोग बड़े प्रेम-नेमसे किया कीजिये। इस प्रकार भगवत्सेवाका यथोचित प्रबन्ध करके बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ।।६०३।।

व्याख्या—उठि चिक डारि—विश्राम हेतु तथा ठाकुर पर म्लेच्छ दृष्टि न पड़े अतः परदा कर दिया। उसके बाद बादशाह को सलाम किया जैसा कि यवनों का शिष्टाचार है। अपने

नियमानुसार जै श्रीराम या जै श्रीकृष्ण नहीं किया। यह समझकर कि इस समय इनका प्रभुत्व है, इनके विरुद्ध नहीं होना है। कहते हैं कि एकबार श्रीनारदजी वीणा बजाते, हरि गुण गाते विचर रहे थे तभी सहसा हिरण्यकशिपु से भेंट हो गई। श्रीनारदजीने जै शंकरकी कहकर उसका अभिवादन किया। उसने तमक कर पूछा कि यह तुम्हारे पास क्या है, और तुम अभी क्या गा रहे थे। नारदजीने कहा—'हजूर यह वीणा है, इसे बजाकर आपके गुण गा रहा था।' सन्तुष्ट होकर उसने कहा—'तब ठीक है, जाओ, विचरो और मेरे गुण गावो।' नारदजीने देखा कि इस समय इसकी चलती है, नारायणका नाम लेते ही इसके क्रोधका भाजन बनना पड़ेगा। यह भी पार्षद है। भगवान के गुण भी इसीके गुण हैं। चतुर मनुष्य समय देखकर व्यवहार करते हैं अतः श्रीआशकरणजीने मुजरा (सलाम) किया।

बादशाह अति रीझे—नियमकी सच्चाई एवं व्यवहार की कोमलता पर प्रसन्न होकर बादशाहने जेबसे रेशमी रूमाल निकाला और उसे जलाकर ऐड़ीके घावमें भरकर पट्टी बाँध दी। 'चरचा चलाई'—बादशाहने पूछा कि परमात्माकी आराधना कैसे करनी चाहिए। आपने कहा—'हित की सचाई यहै नेकु न कचाई होत'—(इस पर दृष्टान्त फकीर और शहजादे का भ० प्र० पृष्ठ १३५) सच्ची आराधना और सच्चा प्रेम वही है, जिसमें कच्चापन, बनावटीपन, दम्भ न हो। ऐसी भक्ति करनेसे सच्चा जीवन और माया पर विजय प्राप्त होती है। यथा—'साधो भाई भजन किया सोइ जीता। बात बनाये कुछ हाथ न आवे अन्त चल्यौ उठि रीता।। तन इन्द्रिन के बस ह्वै प्रानी खोवत हरि सों मीता। श्रीकुंजविहारिन ललित किशोरी और कहा जग कीता।।' स्त्री, पुत्रादि सारे संसार का सम्बन्ध केवल शरीर से है अतः उनके साथमें शरीरसे व्यवहार करना चाहिए और मनका सच्चा नाता भगवानसे है अतः मन भगवानमें ही लगाना चाहिए। आपके सत्सङ्ग से यवनकी बुद्धि शुद्ध हो गई वह भक्त हो गया। कालान्तर में जब बादशाहने यह सुना कि आशकरणजी परमधाम पधार गये। तब उसे बड़ा शोक हुआ उस दिन उसने भोजन-पान कुछ भी नहीं किया। राजकुमार जो गद्दी पर बैठा है उसने भोग-राग कम कर दिया है यह सुनकर १२ गाँव सेवामें दिये।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी में लिखा है कि एकबार राजा आशकरणको बड़े वेगसे ज्वर आया जिससे इन्हें शरीर की सुध-बुध नहीं रही। इनके कष्टको देखकर प्रभुसे न रहा गया। उन्होंने रातमें पण्डाजी को स्वप्न दिया कि प्रातः मेरा चरणोदक ले जाकर राजा को पिला देना। इससे उनका सब कष्ट दूर हो जायगा। प्रातः पण्डाने

स्वप्नादेश बताकर राजाको चरणोदक पिलाया। सचमुच राजाका ज्वर उतर गया, कष्ट दूर हो गया। इन पर भगवानकी ऐसी अनुकम्पा थी।

एकबार एक राजाने द्वेषवश सेना लेकर आपके ऊपर चढ़ाई कर दी। आप व्यर्थकी खून-खराबी नहीं चाहते थे पर ललकार सुनकर आप भी सेना सहित घोड़े पर चढ़कर संग्राम भूमिमें आये। इनकी सेनाके लोग नाम-कीर्तन कर रहे थे। युद्ध आरम्भ होने वाला था कि इसी बीच आकाशमें घनी घटाएँ घिर आईं। विपक्षी सैन्यदल पर पत्थरों की वर्षा होने लगी। लोग व्याकुल होकर भागने मरने लगे। इनकी सेना पर शीतल फुहार पड़ रही थी। यह देखकर शत्रुपक्ष माँफी माँगता हुआ भाग खड़ा हुआ। इनकी सेना विजयश्री लेकर नाम-कीर्तन करती हुई वापस हुई। राजा आशकरणजी घोड़े पर चढ़े पावस लौट रहे थे, राजभोगका समय हो गया था। मानसी में ही राजाने भगवान को राजभोग अर्पण किया। मानसीमें कढ़ी की हण्डी लेकर चले। घोड़े के विचकनेसे हाथ से हण्डी गिर गई। वस्त्रों पर और पृथ्वी पर कढ़ी गिरी देखी गई। इससे भेद खुल गया। सभीने राजाको महान् भक्त जानकर उसकी प्रशंसा की। आशकरणजी ऐसे महान् भक्त थे। (भ० व० टि०)

* श्रीहरिवंशजी *

निहिकिञ्चन भक्तनि भजैं हरि प्रतीति हरिवंश के।।
कथा कीर्तन प्रीति सन्त सेवा अनुरागी।
खरिया खुरपा रीति ताहि ज्यौं सर्वसु त्यागी।।
सन्तोषी सुठि सील असद आलाप न भावै।
काल वृथा नहिं जाय निरन्तर गोविन्द गावै।।
सिष सपूत श्रीरङ्ग को उदित पारषद अंस के।
निहिकिञ्चन भक्तनि भजैं हरि प्रतीति हरिवंश के।।१७५।।

शब्दार्थ—खरिया=पतली रस्सी से बनी जाली। खुरपा=घास खोदनेका लोहे का हथियार। त्यागी=दानी।

भावार्थ—श्रीहरिवंशजी परम निष्किञ्चन भक्त थे। सभी भक्तोंकी विशेष कर निष्किञ्चन भक्तोंकी बड़े प्रेमसे सेवा करते थे। जिस प्रकार द्वापर के एक घसियारे ने

मात्र खरिया-खुरपा का दान करके श्रेष्ठ लोक तथा प्रसिद्धि पाई। उसी प्रकार आपने भी अपना सर्वस्व भक्तोंकी सेवामें समर्पित कर 'सर्वस्व दानी' पद प्राप्त किया। आप परम सन्तोषी और अत्यन्त नम्र थे। झूठ बोलना और बुरी बात कहना आपको अच्छा नहीं लगता था। समयको व्यर्थ न बिताकर निरन्तर भगवानके गुणोंको गाते रहते थे। आप श्रीरङ्गजीके सुपात्र शिष्य थे और भगवत् पार्षदोंके अंशरूपमें प्रकट हुए थे। भगवान में आपका अटल विश्वास था।। १७५।।

व्याख्या—निहिकिंचन—निष्किञ्चन शब्द का एक अर्थ है धनहीन, भिखमंगा, दूसरा—अहंकार, ममता और मानादिसे रहित सन्त। ये भगवान को प्रिय होते हैं। यथा—तेहि ते कहहिं सन्त श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।। (रा० बा०) निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः। तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे।। (भा० १०-६०-१४) भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी से कहते हैं—देवि ! हम तो सदाके अकिञ्चन हैं, न तो हमारे पास कभी कुछ था और न रहेगा ऐसे ही अकिञ्चन लोगों से हम प्रेम भी करते हैं और वे लोग भी हमसे प्रेम करते हैं। यही कारण है कि अपने को धनी समझने वाले लोग प्रायः हमसे प्रेम नहीं करते, हमारी सेवा नहीं करते। इसके उत्तर में श्रीरुक्मिणीजीने कहा—आपकी अकिंचनता दरिद्रता नहीं है। आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु न होने के कारण आपही सब कुछ हैं अतः आपके पास कुछ नहीं है। जैसे भगवान स्वयं अकिञ्चन और अकिञ्चनोंके प्रेमी हैं। इसी तरह श्रीहरिवंशजी स्वयं अकिञ्चन थे और अकिञ्चनोंकी सेवा करते थे। पद्मपुराण में कहा है—अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत्। अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मनः।।

अर्थ—ऋषियोंने अकिञ्चनत्व और राज्य सुखको तराजू से तोला तो जितेन्द्रिय सन्तके लिए राज्यसे भी अकिंचनत्व श्रेष्ठ (भारी) सिद्ध हुआ। अन्यत्र भी सन्तोंने कहा है—

यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मणः संप्रतिग्रहम्। तथा तथा हि सन्तोषात् ब्रह्मतेजो विवर्धते।
त्यजतः सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः। नहि सञ्चयवान् कश्चित्सुखी भवति मानद।।

अर्थ—साधु-ब्राह्मण जैसे-जैसे त्याग करते हैं, वैसे-वैसे ही सन्तोष से उनका ब्रह्मतेज बढ़ता है। संसारी धन-संचयसे, भक्ति-सञ्चय श्रेष्ठ है। संग्रहका त्याग करने से सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं। मोहवश धन आदि का संग्रह करने वाला कोई भी सुखी नहीं होता है (भ० व० टि०) धनीमें कुछ न कुछ अहङ्कार अवश्य ही रहा करता है, निर्धन में नही अतः

भगवान धनी भक्तकी सेवा उतने प्रेमसे नहीं स्वीकार करते हैं जितने प्रेमसे निष्किञ्चन भक्तकी सेवा स्वीकार करते हैं। इस पर–

दृष्टान्त–निष्किञ्चन दम्पति भक्त का–एक निर्धन, परम सन्तोषी, भगवान्‌के महान् भक्त थे। यथा लाभ सन्तोष करना उनका स्वभाव था। उनकी पत्नी भी पतिके अनुसार ही भक्त थीं। बहुत दिन गरीबी से भगवत्सेवा करते-करते बीत गये। पत्नी को अपने खान-पान-परिधान की चिन्ता न थी परन्तु भगवत्सेवामें सेवा-सामग्री का अभाव उसे बहुत खटकता था। पड़ोसियोंकी सम्पन्नता देखकर उसका मन और मचल गया। उसने अपने पतिसे कहा कि मैं राजोपचारोंसे प्रभुकी सेवा करूँगी। उसके लिए जैसे हो वैसे धनका संग्रह करो। भक्तने पत्नीको बहुत समझाया कि अर्थमें अनन्त अनर्थ भरे हैं अतः उसकी इच्छा मत करो। उससे सेवामें बाधा होगी। इस प्रकार पतिके समझाने से भी उसकी समझमें नहीं आया। वह रूस गई और दो दिन भूखी रही। तीसरे दिन भक्तपति ने कहा–गाँवसे पूर्व वनमें चली जाओ, वहाँ तुम्हें विशाल वटवृक्ष मिलेगा। उसके नीचे बहुत-सा धन गड़ा है, खोदकर ले आओ। प्रसन्न होकर स्त्री गई और जब धन खोदने लगी तब धनके देवताकी आवाज आई कि 'आज तुमने जो श्रीठाकुरजीको जलकी झारी अर्पणकी है, उसका फल हमें दे दो। तब उसके बदले धन ले जाओ। स्त्री बोली–कल जो झारी भरूँगी उसका फल ले लेना। तब देवताने कहा–उसका फल वैसा नहीं होगा। यह सुनकर बिना धन लिए ही वह लौट गई कि धनकी कामना मात्रसे सेवा छूटी। धन मिलने पर न जाने कौन-कौन से अनर्थ होंगे। पतिकी बात समझमें आ गई। निष्किञ्चन भावसे ही सेवा करके सन्तुष्ट रहने लगीं। (वार्तासे)

दृष्टान्त–एक भक्त थे, उनके पास धन-घर आदि कुछ भी न था। एकदिन उन्होंने एक टोकरी बहुत अच्छे पके आम देखे। श्रीठाकुरजीके योग्य समझकर उन्होंने उसे एक रुपयेमें खरीद लिया और भोग लग जाने के बाद रुपया देनेका वायदा किया। नदीके जलमें धोकर आम श्रीठाकुरजी को अर्पण कर दिये। इतनेमें फल वाले आकर कहा कि लाओ, रुपया दो। ये उसी क्षण रुपया न दे सके अतः वह आमके फलोंकी टोकरी उठा ले गया और दूसरे किसी भक्त-साहूकारको बेच दिया। उसने जब भोग लगाया तो आमों के भोगको स्वीकार न करके श्रीठाकुरजी बोले–ये आम मेरे खाये हुए हैं। अमुक भक्तने भोग लगाया था उसे मैंने स्वीकार किया। उस भक्त की महिमा जानकर साहूकारने ढूंढ़कर उसका दर्शन और सत्सङ्ग किया। ऐसे ही भक्त श्रीहरिवंशजी

थे।। श्रीरंतिदेवजी निष्किञ्चन थे। यथा—निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः।। (भा० ९-२१-३) राजा बहुलाश्वने कहा—शान्त निष्किञ्चन मुनियों के लिए आप अपने को ही दे देते हैं। यथा—निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः। (भा० १०-८६-३३) श्रीप्रह्लादजी का कथन है कि जो लोग अकिंचन भगवत् प्रेमी सन्तोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान नहीं करते उनकी बुद्धि भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती है। ऐसे सन्तोंका धन भगवद्-भजन और तप ही होता है। यथा—निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः। (भा० २-९-६) अकिंचन साधुओंकी परमगति भगवान ही हैं। यथा—अकिंचनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम्।। (भा० १०-८९-१७) जो अकिंचन हैं, जितेन्द्रिय हैं, शान्त और समदर्शी हैं। ऐसे सन्तोंके लिए सभी दिशायें सुखमय हैं। अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।। (भा० ११-१४-१३) ऐसे सन्तके पास बटोही बनकर भगवान लुटनेके लिए आये। यथा—निहकिंचन इक दास तासु के हरिजन आये। विदित बटोही रूप भये हरि आपु लुटाये।। (छ० ५३ भक्तमाल)

कथा कीर्तन प्रीति—इसका हेतु है 'हरि प्रतीति हरिवंश के।' जिसकी जिसमें पूर्ण प्रतीति होती है, उसीकी कथा और उसीका कीर्तन अच्छा लगता है। यथा—'कथा कीर्तन प्रीति भीर भक्तनि की भावै।।' (रत्नावतीजी छ० १४२) भा० १०-१-४ के अनुसार केवल पशुघाती-आत्मघाती को कथा-कीर्तन प्रिय नहीं होता है। 'सन्त-सेवा अनुरागी-भक्तदाम गुण चित्रणी में पृष्ठ १०० पर लिखा है—

सुनौ हरिवंश सो प्रसंस भक्त भक्तनि कौ, सबै अनुरक्त सदा प्रीति रीति न्यारी है।
गाँठि में न दाम कोई प्रभु की प्रतीति भोई, त्यागैं हाथ परै सोई बड़ौ उपकारी है।।
आये बहु सन्त द्वार एकबार धार प्रीति, करी नेह रीति सो जिमाये बेंचि थारी है।
वे तौ उठि गये सन्त आये और दूजे दिन, तेऊ लै जिमाये छोटे पात्र बेंचि डारी है।।

अर्थ—भक्तोंके भक्त प्रशंसनीय श्रीहरिवंशजी की कथा सुनिये। इनकी प्रीति की रीति विलक्षण थी। यद्यपि आपके पास धनका अभाव रहता था। इतने पर भी जो वस्तु आपके हाथ पड़ जाती उसको दे देते थे, ऐसे बड़े-भारी परोपकारी थे। एकबार आपके द्वार पर बहुतसे सन्त आ गये। पासमें अन्न-धन कुछ भी न था। तब थार-परात आदि वर्तनोंको बेंचकर सन्तोंकी सेवा कर दी। उन सन्तों के विदा होते ही दूसरे दिन फिर कई सन्त आ गये। प्रसन्नतापूर्वक आपने बचे-खुचे छोटे-छोटे पात्रों को बेंचकर सन्तोंको

भोजन करा दिया। उसके बाद साधु-सन्तोंका जब सुभागमन होता तो आप इधर-उधर से माँग-जाँचकर उन्हें भोजन कराते। प्रायः अन्न-धनका सङ्कोच बना रहता पर इसमें भी आप मनसे सन्तुष्ट रहते, सन्तोंकी सेवा अवश्य करते। सन्त-सेवाके प्रभावसे सन्त-सेवाके निमित्त अन्न-धनकी भेंट भी आने लगी। लोग सन्तोंका भण्डारा भी देने लगे। आपकी उदारवृत्तिके कारण एकबार घरमें अन्न नहीं रह गया। तभी सन्तजन पधारे। आपको चिन्ता हुई तब भगवानने आपके घरमें अन्न-धनकी ढेरियाँ प्रकट कर दीं। भगवान ने अपनी कला दिखाई और सन्त-सेवा सानन्द चलने लगी। किसी दिन पाँच-सात ब्राह्मणोंने आपके पास आकर कहा कि—महाराज! हम लोग अन्न-धनके बिना सकुटुम्ब बड़ा कष्ट पा रहे हैं। आपने प्रसन्न होकर कहा कि आप लोग मेरे घरका सब सामान लूट लो, कुछ भी न छोड़ो। ऐसा ही हुआ घरमें कुछ नहीं रह गया। आपकी उदारतासे सन्तुष्ट होकर सन्तोंके आने पर भगवानने फिर आपके घरमें सामग्री भर दी। इस प्रकार सर्वदा अपना सर्वस्व सेवामें लगाकर ये निष्किंचन बने रहते। भगवान श्रीरामके अतिरिक्त अपना कहने के लिए इनके पास कुछ भी न था। आप भगवानकी अपेक्षा भक्तोंसे अधिक प्रेम करते थे क्योंकि भक्त प्रसन्न होकर भगवानको ही दे देते हैं। यथा—माल मुलक हरि देत हैं हरिजन हरि को देत। हरि से तू जनि हेत कर हरिजन सों कर हेत।।

खरिया खुरपा रीति—महाभारत की कथा—एकबार सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में बहुतसे धार्मिक लोग एकत्र हुए। सभीने स्नान एवं यथाशक्ति दान किया। कड़ी धूममें कुछ यात्रियोंके समूह पर बादलने छाया कर रक्खी थी। वे जिधर भी जाते उन पर बादलकी शीतल छाया रहती। सभी लोग परस्पर विचार करने लगे कि हम सभी पुण्यवान हैं अथवा हम सभीमें कोई एक पुण्यवान है, जिसके प्रभावसे सभी पर छाया है। परीक्षाके निमित्त समूहमें से एक-एक करके चलने लगे। उनमें एक घसियारा था। जब वह चला तो उसके ऊपर छाया करते हुए बादल भी उसके साथ चले। तब सभीने पूछा कि—बताओ, आपने कौन-सा पुण्य-दान किया है। घसियारेने कहा—मेरे पास कुछ था ही नहीं, केवल घास खोदने-बाँधने के लिए खुरपा-खरिया थी। इसीसे मैं जीविका चलाता था और घर-धन आदि कुछ भी मेरे पास नहीं था। मैंने तो केवल खरिया-खुरपाका ही दान किया है। सभीने समझ लिया कि इसने अपना सर्वस्व दान किया है और इसे दानका अहङ्कार नहीं है अतः यही श्रेष्ठ दानी है। जिसने अपने सम्पूर्ण राजकोष आदिका दान किया था वह श्रेष्ठ प्रमाणित नहीं हुआ क्योंकि उसे अपने दानका अहंकार

बना रह गया था। श्रीहरिवंशजी भी इसी प्रकार प्रभु प्रीत्यर्थ अपना सर्वस्व दान करके उसको भगवदर्पण करते थे और उसका अहङ्कार नहीं रखते थे। इसीसे भगवान सर्वदा इनके साथ रहते थे।

सन्तोषी—भगवत्प्रेम, कथा-कीर्तन में प्रीति और सन्त-सेवामें श्रीहरिवंशजी को अनुराग था, ऐसे भगवत्प्राप्त सन्तको कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है अतः वह सहज सन्तोषी होता है। यथा—(भा० ७-१५-४०, १७)

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः। किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः।।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत् पदः शिवम्।।

अर्थ—भगवदीय ज्ञान और भक्ति के द्वारा जिसकी सारी वासनायें निर्मूल हो गई हैं। और जिसने अपनी आत्मा-परब्रह्मस्वरूपको जान लिया है, वह किस विषयकी इच्छा और किस भोक्ताकी तृप्तिके लिए इन्द्रिय लोलुप होकर अपने शरीर का पोषण करेगा।। जैसे पैरोंमें जूता पहनकर चलने वालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई भय नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके मनमें सन्तोष है, उसके लिए सदा सर्वत्र सुख ही सुख है, कहीं दुःख है ही नहीं।।

असद आलाप न भावै—भक्त भगवत् चर्चाको छोड़कर और सभी बातें असत् और व्यर्थ हैं अतः श्रीहरिवंशजी निरन्तर हरि गुण गाते थे। दो०—तीनि लोक की सम्पदा स्वासा सम नहिं होय। सो स्वासा रघुनाथ बिन तुलसी वृथा न खोय।। अज्ञानी लोग समय बितानेके लिए ताश-शतरंज आदि खेलते हैं पर भक्तजनों का 'काल वृथा नहिं जाय'—श्रीअग्रदास हरि भजन बिनु काल वृथा नहिं वित्तयौ।।' सिष सपूत श्रीरंगको'—श्रीरङ्गजी श्रीअनन्तानन्दजीके शिष्य थे इनका चरित्र द्वि० खं० भ० कवित्त ११७ में देखिये। कुपुत्र पिता-माताकी निन्दा करवाते हैं। उसी प्रकार अयोग्य शिष्य गुरुदेव को बदनाम करवाते हैं। कामी क्रोधी द्वौ बुरे गुरुहिं दिवावैं गारि। कारो मुख अपनो करैं खावै यम की मारि।। पार्षद अंशावतार थे, इसीसे सर्वस्व दान सरीखा महान् कार्य कर सके। जैसे बिना सिरके कोई कबन्ध लड़े और विजय प्राप्त करे, उसी प्रकार आपने अन्न-धनहीन होकर भी नैष्टिक बलसे सन्त-सेवा की और मायिक विघ्नों पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार भगवत्कृपासे श्रीहरिवंशजीने आजन्म सन्त-सेवा व्रत को निभाया। भ० दा० गु० कार कहते हैं—ऐसो सो कबन्ध सूर धन बिन लर्‌यौ पूर साही सन्त सेवा कौं निभाई जस गाइये।।

* श्रीकल्याणजी *

हरिभक्ति भलाई गुन गम्भीर बाँटे परी कल्यान के।।
नवल किशोर दृढ़व्रत अनन्य मारग इक धारा।
मधुर वचन मन हरन सुखद जानत संसारा।।
पर उपकार विचार सदा करुना की रासी।
मन वच सर्वसु रूप भक्तपद रेनु उपासी।।
धर्मदास सुत सील सुठि मन मान्यौ कृष्ण सुजान के।
हरिभक्ति भलाई गुन गम्भीर बाँटे परी कल्यान के।।१७६।।

शब्दार्थ—गुन गम्भीर=अनन्त सद्गुणों से युक्त। बाँटे परी=हिस्से में आई। इक धारा=सतत् साधन, एक लगन। भलाई=परोपकार।

भावार्थ—अगाध गुणोंसे युक्त भगवान की भक्ति और भलाई श्रीकल्याणदासजीके हिस्सेमें आई। नदीकी धाराकी तरह आपकी चित्तवृत्ति निरन्तर नवलकिशोर श्रीकृष्णचन्द्र की ओर प्रवाहित रहा करती थी। आपकी अनन्य भावसे भजन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा थी। आपके मधुर वचन मनोहर और सुखप्रद थे इस बातको सभी लोग जानते थे। सदा दूसरोंके साथ उपकार करने का विचार इनके मनमें रहता था। आप कृपा-करुणाके निधान थे। मन-वाणी और अपने समस्त धन से भक्तों के चरणों की रजकी उपासना करते थे। सुन्दर शीलवान श्रीकल्याणदासजी श्रीधर्मदासजी के पुत्र थे और भक्तों के मनकी बातोंको जानने वाले श्रीकृष्णचन्द्रको परम प्रिय थे।।१७६।।

व्याख्या—हरिभक्ति........बाँटे परी—जो जिसके हिस्से की वस्तु है वह उसे अवश्य मिलती है। हिस्सेमें पड़ीका तात्पर्य यह कि इनमें भक्ति सर्वदा 'अविचल' रही। यही प्रेमियों को अभीष्ट है। यथा—पाण्डवगीतामें द्रुपदजी भगवान से कहते हैं—

कीटेषु पक्षिषु मृगषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च।।

अर्थ—हे ! प्रभो जन्म-जन्मान्तर में भी मेरी आपके श्रीचरणों में सदा अविचल भक्ति रहे। मैं कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य किसी भी योनिमें जन्म लूं, हे केशव ! आपकी कृपा से आपमें सदा-सर्वदा अव्यभिचारिणी-भक्ति बनी रहे।

ऐसी भक्ति से सभीमें भगवान और भगवानमें सभी दीखते हैं फिर वह सभीकी भलाई की ही बात दिन-रात सोचता है। जो सबकी भलाई चाहता है उसे प्रभु की 'अचला-अव्यभिचारिणी भक्ति प्राप्त होती है। हरिभक्ति और भलाई करने वाले कल्याणदास कल्याणरूप हैं।'

नवल किशोर—नवल=नवीन, शुद्ध, उज्जवल। किशोर=ग्यारहसे पन्द्रह वर्षकी आयु वाला बालक। नवल नन्दकिशोर की किशोरता भक्तोंके चित्त चुराती है। यथा—

माधुर्यादपि मधुरं मन्मथतातस्य किमपि कैशोरम्।
चापल्यादपि चपलं चेतो बत हरति हन्त किं कुर्मः।। (कृ० कर्णा०)

अर्थ—कामदेवके पिता (प्राप्त करने की कामना के जन्मदाता) श्रीकृष्ण की माधुर्य से भी मधुर और चापल्य से भी चपल किशोरावस्था, हाय ! मेरे हृदय को चुराये ले रही है, मैं क्या करूँ।। श्रीकल्याणदासजीके चित्तको कृष्ण कैशोरने बरबस आकृष्ट कर लिया था अतः वे अनन्य भक्त बन गये। मनोवृत्ति निरन्तर कृष्ण की ओर प्रवाहित हो गई। किशोरावस्थाके सम्बन्धमें विद्वज्जन पद्मपुराणके इन वाक्योंको उद्धृत करते हैं—

न राधिका समा नारी नैव कृष्णः समः पुमान्। वयः परं न कैशोरात् स्वभावः प्रकृतेः परः।।
वन्दे मदनगोपालं कैशोराकारमद्भुतं। यमाहुर्यौवनोद्भिन्ने श्रीमन्मदनमोहनम्।।

अर्थ—श्रीराधिका के समान कोई नारी नहीं, श्रीकृष्ण के समान कोई पुरुष नहीं और कैशोर से श्रेष्ठ कोई अवस्था नहीं।। इसीलिए किशोर आकृति वाले अद्भुत मदनगोपाल की मैं वन्दना करता हूँ जिन्हें यौवन के उदय होने पर श्रीमदनमोहन कहते हैं। श्रीगौराङ्ग महाप्रभु तथा श्रीरामानन्दराय के संवाद में यही आशय प्रकट हुआ है कि किशोरावस्था ही ध्येय है-और यही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, यथा-'अखिलोदारं किशोराकृति।' (कृ० कर्णा० २)

वयः कैशोरकं ध्येयं पुरी मधुपुरी परा। श्याममेव परं रूपमाद्य एव परो रसः।।
ब्रह्मेति केचिद् भगवन्तमेके विष्णुं च भक्ताः परमेश्वरञ्च।
कन्दर्पसाहस्त्रमनोहराङ्गं सदा किशोरं करुणानिधानम्।। (स्कन्दपुराण)

अर्थ-सहस्त्रों कामदेवोंसे सुन्दर मनोहर अङ्गों वाले करुणानिधान सदा किशोर अवस्था वाले नन्दकिशोरको भक्तजन ब्रह्म, भगवान, विष्णु और परमेश्वर मानकर उनका जप और ध्यान करते हैं। श्रीध्रुवदासजी कहते हैं—

महामधुर रसमाधुरी अद्‌भुत वयस किशोर। अद्‌भुत रसमें मगन रहें नहिं जानत निसि भोर।।
नौतन वयस किशोर छवि बसत जासु उर नित्त। पौगंड बाल लीलादि हू भावत नहिं तेहि चित्त।।

इधर चित्त चपल है, उधर श्रीकृष्णका कैशोर चापल्यसे भी चपल है अतएव दोनों एक रूप हो गये। समान शीलताके कारण दोनोंमें मैत्री हो गई 'इक धारा' यह रूप बन गया तब भगवानकी तरह इनके भी वचन मधुर तथा सुखद हो गये और 'पर उपकार विचार' सदाके लिए बन गया। 'हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।' 'परोपकारः कैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः। गुर्वीमुपकृतिं मत्वा अवतारान् दशागृहीत्।।' भगवानने परोपकार और कैवल्य को तोला तो उपकार को श्रेष्ठ मानकर दश अवतार ग्रहण किया। सन्तोंकी सारी क्रियायें परोपकारके लिए होती हैं। धर्म कल्याणका जनक है। धर्माचरण से लौकिक-पारलौकिक कल्याण होता है। यहाँ इस छप्पय में धर्मदास के पुत्र कल्याणदास हैं। ऐसा ही उचित है। श्रीकृष्ण सुजान हैं अतः इनके निर्मल मनको देखकर श्रीकृष्णने इनसे प्रेम किया। अतः ये हरिवल्लभ हैं—'हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आसा धरी।।' (छ० ६ की व्याख्या देखिये)

विशेष—भ. दा. गु. चि. में लिखा है कि एकबार किसी ब्राह्मण ने खेती के लिए एक यवन से कर्ज लिया। संयोगवश खेती में अन्न पैदा नहीं हुआ, इसलिए वह ब्राह्मण यवनके रुपये न चुका सका। यवनने जोर देकर तगादा किया और ब्राह्मण को परेशान करने लगा। श्रीकल्याणदासजीको मालुम पड़ा तो इन्होंने उस यवन का ऋण चुकाया और ब्राह्मण को संकट से छुड़ाया। एक भक्त के पुत्र का विवाह था। उसने आकर श्रीकल्याणदासजीसे विनती की-मुझे दो सौ रुपये उधार दे दीजिये, व्याह के बाद शीघ्र ही मैं आपको दे दूंगा, यदि न दूं तो आप पुत्र और पुत्रवधु दोनों को ले लीजियेगा। वे आपके ठाकुरकी सेवा करेंगे। आपने दो सौ रुपये दे दिये। उसके पुत्रका विवाह हो गया। यथा-समय जब आपने उससे रुपये माँगे। तब उसने कहा-मेरे पास तो एक पैसा भी नहीं है। यदि आप चाहो तो मुझे बेचकर अपने रुपये वसूल कर लो। यह सुनकर श्रीकल्याणदासजीने उसकी परिक्रमा की और प्रणाम करके कहा कि बहुत अच्छा प्रभो ! रुपये आपके ऊपर न्यौछावर हैं। ऐसे गम्भीर और उपकारी भाव देखकर प्रभु श्रीकृष्ण इन पर सन्तुष्ट हुए।

एकबार किसी सन्तने शरद्‌पूर्णिमा का महोत्सव किया। अपने मण्डल के सभी सन्तों को निमन्त्रण दिया परन्तु श्रीकल्याणदासजीको निमन्त्रण देना भूल गया। रातको स्वप्न में

श्रीठाकुरजीने उससे कहा—तुमने कल्याणदासको निमन्त्रण क्यों नहीं दिया। वह मेरा प्यारा भक्त है, उनके बिना आये उत्सव पूर्ण न होगा। स्वप्नमें आदेश पाकर उसने बड़े आदर से इन्हें निमन्त्रण दिया और विशेष सत्कार किया। सर्वेश्वर भक्तमाल पृष्ठ ८९४ पर लिखा है कि श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीके प्रमुख शिष्य श्रीकान्हरदेवजी हुए, उनके शिष्योंमें श्रीधर्मदासजी प्रसिद्ध सन्त हुए। श्रीकल्याणदासजी इन्हीं के कृपापात्र शिष्य थे। (पर मूलमें धर्मदास सुत ऐसा पाठ है अर्थमें धर्मदासजीके शिष्य लिखा गया है)।

* श्रीबीठलदासजी *

बीठलदास हरिभक्ति के दुहूँ हाथ लाडू लिये॥
आदि अन्त निर्वाह भक्तपद रज व्रतधारी।
रह्यौ जगत सों ऐंड़ तुच्छ जाने संसारी॥
प्रभुता पति की पधति प्रगट कुल दीप प्रकासी।
महत सभा में मान जगत जानै रैदासी॥
पद पढ़त भई परलोक गति गुरु गोविन्द जुग फल दिये।
बीठलदास हरिभक्ति के दुहूँ हाथ लाडू लिये॥१७७॥

शब्दार्थ—आदि अन्त=जन्मसे मरण पर्यन्त। ऐंड=ऐंठ, अकड़।

भावार्थ—श्रीबीठलदासजी ने भगवद्-भक्ति के दोनों फलों को प्राप्त किया। आपने आदिसे अन्त तक अर्थात् जीवन-भर भक्तोंकी चरण-रजको प्रतिज्ञा पूर्वक सिर पर धारण किया अर्थात् सब प्रकार से सन्तोंकी सप्रेम सेवा की। अहंकारी धनिकों और विमुखों को आपने तुच्छ जाना, कभी उनकी खुशामद नहीं की। सर्वदा उनसे ऐंठकर ही चलते थे। आप प्रभुताके पति की पद्धतिमें अपने कुल के दीपक हुए। सभी जानते थे कि आप रैदासवंशी (चमार) हैं परन्तु बड़ी-बड़ी सभाओं में बड़े-बड़े महापुरुष आपका सम्मान करते थे। भगवत् लीलापदोंको पढ़ते-पढ़ते आपने शरीर छोड़ा और भगवद्धामको प्राप्त किया। आप पर प्रसन्न होकर श्रीगुरु और गोविन्द दोनोंने दोनों फल दिये अतः आपके दोनों हाथों में हरिभक्तिके लड्डू रहे॥१७७॥

व्याख्या-दुहूँ हाथ लाडू—दोनों हाथोंमें लड्डू यह मुहावरा है। जैसे निषादराज ने कहा-तजौं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।। (रा० २-१८९-६)

जय-पराजय दानोंमें मेरी प्रशंसा होगी। अतः दोनों हाथोंमें प्रसन्नताके लड्डू हैं। भक्त अपने जीवनमें सन्त-भगवन्त-सेवा और परोपकार करके सुयश, पुनः शरीर छोड़कर सद्गति प्राप्त करते हैं अर्थात् दोनों लोकोंको मङ्गलमय बना लेते हैं। जैसे—'जीवत जस पुनि परमपद लालदास दोनों लही।' (छ० १६४) इसी प्रकार श्रीबीठलदासजी के दोनों लोक सुधरे। लड्डू मधुर होता है। इन्हें भी मधुर प्रेम-रसमय फल मिला। इस लोक में सन्त-सेवा फल और वैकुण्ठमें प्रभु-सेवारूप फल मिला। जो इस लोकमें उपकार करके दुःख भोगते रहे। घुणाक्षर न्याय से, सन्त-भगवन्त की कृपासे, परलोक बन गया तो उनके एक ही हाथ में लड्डू रहा, जैसे अजामिल। इस लोक में सुख सम्मान मिला अन्त में नरक गया तो एक हाथ में लड्डू रहा। जिसके दोनों लोक बिगड़े उसके दोनों हाथों में विष के लड्डू हैं। जिसके दोनों लोक सुधरे उसके हाथों में मुदमोदक हैं। 'इह लोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ।'

भक्त पद रज व्रत—भक्तोंकी पद रजके सेवनका व्रत उसीका निभेगा जो सर्वतो-भावेन भक्तोंकी सेवा करेगा। भक्त पद रज के सेवक को बार-बार जन्म लेने से डर नहीं लगता है। यथा—'जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो सन्त पद कंज रेनु सीस पर धारिये।' (क० ७४) विशेष देखिये छ० ९ चरण रेणु आसा धरी। (प्रथमखण्ड भ० पृ० १८७)।

जगत सों ऐंड़—जगत्का विशेषण संसारी है। संसार में आसक्त बड़े से बड़ा होकर भी भक्त-विरक्तकी दृष्टिमें तुच्छ है। इसलिए भक्तजन उनसे ऐंठे रहते हैं। संसारी प्रसन्न होकर संसार की वस्तु ही दे सकता है वह भक्तको चाहिए नहीं। अनन्य भक्तोंको जगत्की आशा नहीं रहती है इसलिए वह जगत्से ऐंड़कर चलता है। उसने लोक-मर्यादा मिटाकर प्रेम-पथ लिया है। तुच्छ, भद्दा, भोंड़ा भेड़ के बच्चे सरीखा जगत् का अनुगामी ऐंठ कर नहीं चल सकता—दो०—ऐंड़ अनन्य ही बनै जिन मेटी जग मेंड़। अन्य न ऐसे चलि सकें कबहु एकहु पैंड़।। जायो भोंड़ो भेंड़को कीनो चाहै ऐंड़। संत सिंह की चाल सों क्यों चालै खल भेंड़।। संसारी मनुष्योंकी क्या चले, अनन्य भक्त उन देवी-देवोंसे भी ऐंठे रहते हैं, जो भगवद्-भक्ति न देकर संसारी सम्पत्ति देते हैं। संसारी अहङ्कारवश और भक्त भगवद् बलसे ऐंठे रहते हैं। पद-हरिबल रहत जगत सों ऐंठे। मुहरैं मन गज वाजि भवन धन इनके लेखे ग्वैंठे।। मगन मस्त सन्तुष्ट रहत नित कृष्ण कलपतरु बैठे। मानी धनी खजूर कूर बड़ तिनहिं गनत अति गैंठे।। जान पिछान न जग में उनकी कुञ्ज महल जे पैठैं। 'बाके' लोक भयानक केहरि

तिनके कान उमेठैं।। संसार मीठा और कडुवा है-क्वचिद् विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः, क्वचिद् वीणावादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्।। क्वचिद् रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जर तनुर्न जाने संसारः किम मृतमयः किं विषमयः।। (सू. सु.) अर्थ—इस संसार में कहीं तो विद्वानों की सभा में सत्सङ्ग है, कहीं मदिरा पीने वालों की लड़ाई है। कहीं वीणा का मधुर स्वर (नाम-कीर्तन) है, कहीं मोहवश रोनेका हा-हाकार है। कहीं (प्रभु कृपापात्र) सुन्दर स्त्री-पुरुष हैं तो कहीं (विमुख) जरा-जर्जरित रोगी शरीर वाले हैं। अज्ञानी यह नहीं जान पाता है कि संसारमें क्या विष है और क्या अमृत। वह विषको ही अमृत मानकर पीता है ज्ञानी विषको त्यागकर अमृतका ग्रहण करते हैं। भक्त जगत्का त्राण करने में तत्पर रहता है और संसारी निगलने को तैयार रहता है। कालको नहीं देखता है। यथा—

भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति,
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति।
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वेजनाः व्याकुलाः,
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते।।

अर्थ—मेढ़क मच्छर को खाने के लिए दौड़ता है, उसके पीछे सर्प दौड़ता है। सर्पके पीछे मोर, मोरके पीछे सिंह और दैववश सिंहके पीछे शिकारी दौड़ता है इस प्रकार अपने-अपने भोजन-विहारके पीछे सभी व्याकुल हो रहे हैं पर पीछे चोटी पकड़े हुए काल खड़ा है, उसे कोई नहीं देखता है। श्रीबीठलदासजीने ऐसे संसारियोंकी उपेक्षा की।

विशेष—श्रीबीठलदासजी का एक चरित्र भ० दा० गु० पृष्ठ १०१ में निम्न प्रकार से है—आप बड़े सन्त-सेवी थे। वर्ष में एक महोत्सव करते थे। एक धनी-मानी सेठ इनके उत्सवमें धन देता था पर ये उसे आदर विशेष न देकर उसकी ओर से उदास ही रहते थे। प्रसङ्गवश किसी समय धनके मदमें चूर उस सेठको आपने फटकार दिया। अप्रसन्न होकर उसने इनके पास आना-जाना बन्दकर दिया फिर भी इन्होंने उसकी परवाह नहीं की। उत्सवका समय आ गया, उस सेठने सोचा कि इस बार मेरी सहायता के बिना देखें कैसे उत्सव होता है। भगवान श्रीरामने यह देखकर एक वणिकका रूप धारण किया और बीठलदासजी के पास आकर कहा—'महाराज ! मैं एक बनिया हूँ, प्रभु की प्रेरणा से आपके पास आया हूँ। ये तीन सौ अशर्फियाँ लीजिये और ठाठके साथ उत्सव कीजिये। मुझे प्यास लगी है अतः थोड़ा जल पिला दीजिये।' श्रीबीठलदासजी जल लेने गये उसी समय प्रभु

अन्तर्धान हो गये। लौटकर आने पर उन्हें न देखकर लोगोंसे पूछा कि वह बनिया भगत कहाँ गया पर किसीने नहीं बताया। क्योंकि बाहर जाते किसी ने देखा ही नहीं था। तब आप समझ गये कि अशर्फियाँ देने वाले श्रीरामजी ही थे। प्रभु-कृपाका अनुभव कर आप विह्वल हो गये। सामान मँगवाकर दो दिनका उत्सव किया। सभी सन्तों को अन्न, वस्त्र, प्रसादसे सन्तुष्ट किया। इस चमत्कारको देखकर उस सेवकका अहङ्कार दूर हो गया। क्षमा-प्रार्थना करता हुआ चरणोंमें गिर गया। तब आपने उसे सप्रेम समझाया कि तुच्छ संसारीका भरोसा न करके श्रीरामजीका ही भरोसा करो।

प्रभुता पति की पधति—प्रभुता श्रीरैदासजीकी धर्मपत्नी, उनके पतिकी अर्थात् श्रीरैदासजीकी प्रणालीसे आपने सन्त-भगवन्तकी सेवा की। कई विद्वान् टीकाकारोंने 'प्रभुता पति की पधति' का अर्थ श्रीसम्प्रदाय किया है। प्रभुताकी पद्धति श्रीसम्प्रदाय है न कि उनके पतिकी। प्रभुताके पति भगवानकी पद्धति यह अर्थ मानें तो उसका भाव है कि भगवान अपने भक्तको अपनेसे अधिक पूज्य बताते हैं, श्रीबीठलदासजी भी भक्तोंको अपना परमाराध्य मानते थे। 'महत सभा में मान' — (दृष्टान्त-शबरी श्वपचादि)

सोई पावन सोइ सुभग शरीरा। जो छल छांड़ि भजै रघुवीरा।।
कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानौं एक भगति कर नाता।। (रा०)

हरि को भजै सो है बड़ा जाति न पूँछै कोय।
जाति न पूछै कोय हरि को भक्ति पियारी। जो कोई करै सो बड़ा जाति हरि नाहिं निहारी।।
पतित अजामिल रहे रहे फिर सदन कसाई। गनिका विस्या सो विमान पै तुरत चढ़ाई।।
नीच जाति रैदास आपुमें लिया मिलाई। लिया गीध को गोद दिया वैकुण्ठ पठाई।।
'पलटू' पारस के छुए लोहा कंचन होय।
हरि को भजै सो है बड़ा जाति न पूछै कोय।।

परलोक गति—भ० दा० गु० चित्रणीकार लिखते हैं—

बीठलदास सभा में बैठो सन्तन सों बतरावहिं।
तबही हरिजन हुकुम पायकै निज कृत पद को गावहिं।।
ताही बार याहि हरि बोला दियौ विमान पठाई।
अन्तरिक्ष सो याको दरस्यौ इन सन्तन सो गाई।।
मोहि बुलावो आयो प्रभु को देहु हुकुम अब जइये।
तब पद भोग देय करि वंदन तनु तजि हरिपद पइये।।

जै जै सबद भयौ ततकालहिं सब सन्तन जस गायौ।
धन्य धन्य बीठल जन ऐसे द्वौ कर लाडू पायौ।।

भगवन्त रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान को।।
क्वाहब श्रीरङ्ग सुमति सदानन्द सर्वसु त्यागी।
स्यामदास लघुलम्ब अननि लाखै अनुरागी।।
मारू मुदित कल्यान परस वंसी नारायण।
चेता ग्वाल गोपाल सङ्कर लीला पारायन।।
सन्त सेय कारज किया तोषत स्याम सुजान को।
भगवन्त रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान को।।१७८।।

भावार्थ—भगवद्-भक्तोंकी सेवा करनेके लिए भगवानने इन संतोंको प्रकट किया। इन सन्तोंने भक्तोंकी सेवाके द्वारा भगवानको प्रसन्न किया। श्रीक्वाहबजी, सुन्दर मति वाले श्रीरङ्गजी, सेवाके लिए सर्वस्वका त्याग करने वाले श्रीसदानन्दजी, लघुलम्ब (बौने) श्रीश्यामदासजी, अनन्य भक्त श्रीलाखाजी, मारू राग के प्रवीण गायक श्रीकल्याणजी, परसवंशमें उत्पन्न श्रीनारायणजी, श्रीचेताजी, श्रीग्वालजी, श्रीगोपालजी और भगवानकी लीलाओंके प्रेमी श्रीशङ्करजी इन भक्तोंने संत-सेवा रूप महान् कार्य किया। उससे सुजान श्यामसुन्दर सन्तुष्ट हुए।।१७८।।

व्याख्या—भगवन्त रचे—जिसे भगवान रचकर भेजते हैं, उसीके द्वारा सन्त-सेवा और संत-सम्मान हो पाता है, साधारण लोगोंके द्वारा नहीं। सम्मान सेवासे भी बढ़कर है। कटु-भाषणसे अपमान होता है और मधुर-भाषणसे सम्मान होता है (दृ० अकबर बीरबल तृ० पृ० १५४ शहजादी का निमन्त्रण।) भगवानने सन्त-सेवाको महान् कार्य समझा, अतः उसके लिए अपनी कृपा एवं शक्तिसे महान् संतोंको प्रकट किया। ये ब्रह्मा की सृष्टिमें, संसृतिचक्रमें पड़कर दुःख-सुख भोगनेके लिए नहीं प्रकट हुए। इस सम्बन्ध में छ० १६५ देखिये। 'भक्तनि हित भगवत रची देही माधव ग्वाल की।' 'तोषत स्याम'०—इससे यह सिद्धान्त निष्पन्न हुआ कि जिस प्रभुने शरीर दिया है, उसे प्रसन्न करना चाहिए और सन्त-सेवा प्रभुको प्रसन्न करनेका सर्वश्रेष्ठ साधन है। 'जेहि तन दियौ ताहि बिसरायौ ऐसो नमक हरामी।' यह ईश्वरके प्रति कृतघ्नता है।

सन्त सेय कारज किया-धर्म, हिन्दू-धर्म, सनातन-धर्म और वैष्णव-धर्मकी सुरक्षा एवं उसका प्रचार-प्रसार सन्त-सेवा से हो जाता है। 'भक्ते तुष्टे हरिस्तुष्टो हरौ तुष्टे च देवताः। भवन्ति सिक्ताः शाखाश्च तरोर्मूलनिषेचिते।' (पु० टि०) अर्थ-भक्त के प्रसन्न होने पर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं और भगवानके प्रसन्न होने पर सभी देवगण प्रसन्न हो जाते हैं जैसे वृक्ष-मूलका सिञ्चन करने पर शाखा आदि सभी का सिञ्चन हो जाता है। इसी प्रकार मूलको काटने से वृक्ष नष्ट हो जाता है। सन्तका अपमान करने से सभी धर्म नष्ट हो जाते हैं। प्रभु भी अप्रसन्न हो जाते हैं। इसीसे जीव गोस्वामी धनको यमुनाजी में डाल देते थे। सेवा करने योग्य कोई शिष्य न था। तृ० खण्ड छ० ९३ क० ३७४ देखिये, कटु-भाषण से अपमान होता है। 'रुचि लै शुचि सेवा करै सेवक कहिये सोय।' श्यामसुन्दर सुजान हैं, सबके मनकी बातको अच्छी प्रकार से जानते हैं, उनके मनकी बात को जानकर भक्तजन सन्त-सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करते हैं अतः सन्त श्रेष्ठ हैं और सन्त-सेवा श्रेष्ठ है। भक्तदाम गुण चित्रणीमें तीन भक्तोंकी कथायें निम्न प्रकार से लिखी हैं—

श्रीसदानन्दजी—आप बड़े प्रेमसे सन्त-सेवा करते थे। आप सर्वस्व त्यागकर भी सन्तोंको सन्तुष्ट करना अपना कर्तव्य समझते थे। संतों के आने पर घरकी सब सामग्री उनके सामने रख देते और प्रार्थना करते कि आप इच्छानुसार इसका उपयोग कीजिये। भण्डारे में सन्त भोजन करके सामान की पोटली बाँधकर चल देते फिर भी आप किसी सन्तको टोकते नहीं। आपकी उदारता के प्रभाव से चारों ओर से ऋद्धि-सिद्धि आया ही करती। एकबार एक संत इनके पास आकर बोले-मैं बड़ा अभागी हूँ। मेरे पास रहने के लिए घर नहीं है। जो था वह छिन गया। खाने पहनने के लिए अन्न-वस्त्र नहीं है अतः मेरे रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध कर दीजिये। श्रीसदानन्दजीने कहा—आप अपने कुटुम्ब के साथ आज ही मेरे स्थान में आ जाइये। रहिये, खाइये। मैं अपने लिए वनमें एक झोपड़ी बना लूंगा। ऐसा कहकर अपना सर्वस्व उसे सौंपकर स्वयं वनमें जाकर रहने लगे। भगवान ने एक अपने धनी भक्त को स्वप्नादेश दिया कि मेरा प्रिय भक्त सदानन्द वनमें रह रहा है। एक आश्रम बनवाकर उसमें उसे रक्खो। सम्पत्ति रहने वाली नहीं है, सन्त-सेवा करके उसे स्थिर करो। ऐसा ही हुआ। उसने आश्रम बनवाकर इन्हें रक्खा और खर्चेके लिए सीमित सीधा-सामान भी देने लगा पर इनके यहाँ सन्तों की भीड़ अधिक होती। कभी-कभी सामान की कमी पड़ने लगी। एकदिन आप उस स्थान को छोड़कर कहीं चले गये। इनके जाते ही साधुओं की बड़ी जमात आ गई। तब भगवान सदानन्दजीका रूप धारण करके आये और उन्होंने सभी संतों की खूब

सेवा की तथा आश्रमको अन्न-धनसे भर दिया। फिर वैश्य भक्त का रूप बनाकर श्रीसदानन्दजीके पास आये और बोले-अरे! आप यहाँ कैसे आ गये। अभी तो आप सन्तों की पंगत करा रहे थे। मैंने देखा है, आपके आश्रममें ऋद्धि-सिद्धिके भण्डार भरे हैं। पंगत करके सन्तोंने वरदान दिया है कि सदानन्द! तुम्हारे यहाँ सदा ही आनन्द रहेगा। कभी किसी वस्तु की कमी न होगी। यह सुनकर आप आये और 'जानी कृपा करी रघुराई। चहल पहल सब भाँति लखाई।। दो०—सदानन्द सेवत भगत पायौ मंगल मोद। ऐसे त्याग्यौ बार बहु कीन्हों परम विनोद।।

श्रीनारायणदासजी—आपकी सन्त-सेवामें बड़ी प्रीति थी। एकबार एक राजा आश्रम के समीप हरे वृक्षोंको कटवा रहा था। श्रीनारायणदासजीने मना किया पर वह नहीं माना। राज-कर्मचारी पेड़ काटने लगे। तब आप पेड़ के समीप खड़े हो गये और बोले कि मैं पेड़ को काटने नहीं देता हूँ। पेड़ काटना जीव हत्या के समान है। राजकर्मचारियोंको क्रोध आ गया। एक ने श्रीनारायणदासजी पर जैसे ही प्रहार किया वैसे ही स्वयं चिल्लाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और छटपटाने लगा। इस समाचार को सुनकर राजा भी वहीं आ गया। प्रहार करने वाले को चोट लगी। सन्त जीवकी रक्षा कर रहे थे अतः उन्हें चोट नहीं लगी। इस चमत्कार से प्रभावित होकर राजाने श्रीनारायणदासजी का विशेष सत्कार किया और इनके उपदेशों को स्वीकार किया। केवल प्राणियों के प्रति ही नहीं वृक्षोंके प्रति भी इनके मनमें करुणा थी। सोरठा-अस नारायणदास भयौ पूज्य जग में विदित। आन आस करि नास सन्त सेव दृढ़ पण धरी।।

श्रीशङ्करजी—सन्तसेवी श्रीशङ्करजी एकबार अपने गाँव से बाहर दूसरे गाँव में गये हुए थे। वहाँ पर आपने किसी सेठके द्वार पर कई साधुओं को देखा। निकट जाकर दण्डवत् प्रणाम करने के बाद पूछने पर मालुम हुआ कि संतजन गेहूँ का आटा और कुछ घी भगवान के भोग के लिए माँग रहे हैं और वह सेठ बेझर के आटेकी पर्ची दे रहा हैं। श्रीशङ्करजीने उससे कहा कि—तेरी गाँठ से क्या जा रहा है। पर्ची तुम्हें बनानी है। सामान पंचायती मिलना है। गेहूँ का ही आटा और थोड़ा घी दे दो। सन्त-सेवा हो जायगी, इसमें तुम्हारी क्या हानि होगी। यह सुनकर सेठने क्रुद्ध होकर कहा—'यदि आप ऐसे बड़े सन्तसेवी हैं तो इन्हें ले जाइये और मनमाना भोजन कराइये।' इस पर आपने सन्तोंसे विनती करके कहा—भगवन्! आप लोग मेरे यहाँ चलिये। अश्रद्धालुका अन्न लेना उचित नहीं है। आपके पास आवश्यक सीधा-सामान न था। इसलिए घर का कुछ सामान बेचकर आपने

गेहूँका आटा और घी आदि लाकर संतों को दिया। सन्तों ने भोग लगाया पाया। आपकी इस सेवा-निष्ठा पर प्रसन्न होकर भगवान एक वैश्यका रूप धारण करके आये और एक पात्रमें भरकर मुहरें देते हुए बोले कि—हमें प्रभु की आज्ञा हुई है अतः हम यह धन सन्त सेवा के निमित्त देते हैं, आप स्वीकार करें। ऐसा कहकर वे तुरन्त अन्तर्धान हो गये। तब आपने जाना कि ये तो स्वयं प्रभु ही थे। कृपा करके आये और सन्त-सेवा का उपदेश दे गये।

श्रीलाखाजी—यह नाम कई स्थानों पर आया है अतः यह प्रतीत होता है कि लाखा नाम के कई भक्त हुए। छ० १८५ में श्रीकील्हदेवजीके शिष्योंमें, श्रीलाखाजी हैं। छ० १०७ में रामोपासक वानरवंशी श्रीलाखाजी हैं। प्रस्तुत छ० १७८ में आये हुए श्रीलाखाजीके सम्बन्धमें सर्वेश्वर भक्तमाल पृष्ठ ८९७ पर लिखा है कि ये गुनीर गाँव हँसुवा फतेहपुर के निवासी अध्वर्यु ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्रीपरमानन्द था। यद्यपि आज वहाँ के निवासियोंको भी इनके गृहस्थ या नैष्ठिक विरक्त आश्रम सम्बन्धी पूरी जानकारी नहीं है पर इनकी रचनाओं से कुछ-कुछ पता चलता है। लक्षपाकी, लाखापाकी, लक्षदास और लाखा आदि इनके कई नामों का उल्लेख मिलता है। इनके द्वारा रचित 'भागवत पुराण सारांश' है। उससे तथा चन्द्रदास कृत 'भक्तविहार' से इनका परिचय मिलता है।

गुनीर गाँव गङ्गाजीके तट पर बसा हुआ है, वहीं झोंपड़ी बनाकर लक्षदासजी रहते थे। इनका गङ्गा-स्नान करने का नित्य-नियम था। दैवयोगसे एकबार गङ्गाजी कुटीसे दूर हट गईं। उस समय ये पूर्ण वृद्ध हो चुके थे फिर भी नित्य स्नान करने जाते थे। ग्रीष्मसे तप्त रेती और उस पर नंगे पैर धीरे चलना, उनकी कठिन तपश्चर्या थी। आने—जाने में असमर्थ होकर एकदिन इन्होंने प्रार्थना की—'मातः गङ्गे ! अब आप अपने पूर्वस्थान पर पधारें, यदि नहीं चलेंगी तो मैं भी कुटिया पर नहीं जाऊँगा।' गंगाकी धारासे आवाज आई कि—'तुम चलो, मैं आ रही हूँ।' यह सुनकर प्रसन्नचित्त आप कुटी पर आये। पीछे से गंगाजी की धारा भी कुटीके निकट आ गई। इस घटनाको देखकर दर्शक चकित हो गये। इनका सुयश चारों ओर फैल गया।

श्रीलक्षदासजीने अपने ग्रन्थ में गुरु-परम्पराका उल्लेख किया है और अपने को श्रीवर्द्धमान एवं गङ्गलभट्टाचार्यकी परम्पराका अनुवर्ती लिखा है। कई स्थानों पर हरिनारायण आदि शब्दोंके साथ गुरु शब्दोंको जोड़कर हरि-गुरुनिष्ठा का परिचय दिया है। इन्हें श्रीरूपनारायणजी से सम्प्रदाय की शिक्षा और श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी से दीक्षा प्राप्त हुई थी।

कहा जाता है कि इनका बचपन से ही प्रभुमें अनुराग था। तपश्चर्या के कारण सिद्धोंमें गिने जाने लगे थे। फिर भी इन्हें गुरुदेवकी खोज थी। एकबार श्रीहरिव्यासदेवाचार्य पर्यटन करते हुए सन्त-मण्डली सहित उधर पधारे। इन्होंने उनकी महिमा सुन रक्खी थी अतः दर्शन पाकर अति प्रसन्न हुए और उनके श्रीचरणोंमें पड़कर दीक्षाके लिए प्रार्थना की। तब आचार्यने एक लाख साधु-ब्राह्मणों को भोजन कराने का आदेश दिया। आपने ऐसा ही किया। आचार्य ने दीक्षा देकर कहा कि—गङ्गा तट पर ही रहकर भजन करो। तभी से लक्षपाकी आदि नाम प्रसिद्ध हुए। अन्तिम अवस्थामें आप श्रीधाम वृन्दावनमें आकर रहे और यहीं शरीर छूटा। सूरदास वाली कुञ्ज, पत्थरपुरा, वृन्दावनमें इनकी समाधि बनी हुई थी।

* श्रीहरिदासजी *

तिलक दाम परकाम कों हरीदास हरि निर्मयो।।
सरनागत कों सिविर दान दधीचि टेक बलि।
परम धर्म प्रहलाद सीस देन जगदेव कलि।।
बीकावत बानैत भक्तपन धर्म धुरन्धर।
तूंवर कुलदीपक सन्त सेवा नित अनुसर।।
पारथपीठ अचरज कौन सकल जगत में जस लियो।
तिलक दाम परकाम कों हरीदास हरि निर्मयो।।१७९।।

शब्दार्थ—परकाम=परोपकार। निर्मयो=बनाया। सिविर=शिवि। टेक=प्रतिज्ञा। बानैत=बाना या बाण चलाने वाला, सैनिक, योद्धा। पारथपीठ=अर्जुन की परम्परा।

भावार्थ—तिलक-कण्ठीधारी वैष्णवोंकी सेवाके वास्ते ही भगवान ने इस पृथ्वी पर श्रीहरिदासजीको प्रकट किया। शरणागत की रक्षा करने में आप राजा शिवि के समान थे। दान देने में श्रीदधीचि ऋषि के समान, प्रतिज्ञा को निभाने में राजा बलिके समान वैष्णव-धर्मका पालन करने में श्रीप्रहलादजीके समान और रीझकर सिर देने में श्रीजगदेवजी के समान थे। श्रीबीकाजीके वंशमें प्रसिद्ध शूरवीर थे। भक्तोचित प्रण और धर्म को पालन करने में अतिश्रेष्ठ थे। तूंवर क्षत्रियकुल के दीपक और नित्य सन्त-सेवामें

तत्पर रहने वाले थे। अर्जुन और परीक्षितके वंशमें उत्पन्न श्रीहरिदासजीमें ऐसे गुणों का होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अपनी दृढ़-भक्ति के कारण आपने समस्त संसार में सुयश प्राप्त किया।। १७९।।

व्याख्या—हरीदास हरि निर्मयो—छ० १६५ में 'भक्तन हित भगवत रची देही माधव ग्वाल की।' छ० १७८ में 'भगवन्त रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान को।' और प्रस्तुत छ० १७९ में—'तिलकदाम पर काम को हरीदास हरि निर्मयो।' इन तीनों वाक्यों का आशय एक ही है कि संत-सेवाके निमित्त विशिष्ट भक्तोंको स्वयं भगवान ही प्रकट करते हैं। एक बातको किसी ग्रन्थमें यदि बार-बार कहा जाता है तो उसे 'अभ्यास' और ग्रन्थ लेखक का 'मन्तव्य' माना जाता है। श्रीभक्तमालमें भक्तों को श्रेष्ठ कहा गया है अतः उनकी सेवा पर विशेष जोर दिया गया है। संत-सेवियोंका महत्व प्रकट किया गया है। यदि भगवत्प्रेम चाहिए तो सन्त-सेवा ही उसका साधन है। (विशेष छ० १६५ और १७८ की व्याख्या देखिये)।

सरनागत कों सिविर—पूर्वार्द्ध भक्तमाल पृष्ठ ४५३ में शिवि राजा का, ४६० में महर्षि दधीचिजीका, ५५५ में श्रीप्रह्लादजी का और ५६१ पृष्ठ में श्रीबलिजी का चरित्र देखिये। इन चारोंके गुण हरिदासमें एकत्र थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा अधिक भावुक भक्त हुए और उन्होंने विशेष भगवत्कृपा-प्रेमको प्राप्त किया इसीलिए कहा गया कि—'और युगन ते कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।' (शरणागति के सम्बन्धमें विभीषण चरित्र देखिये। पूर्वार्द्ध पृष्ठ २२१) श्रीविभीषण शरणागतिके समय भगवान श्रीरामने कहा है—'सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय तिनहिं विलोकत हानि।।' इस पर—

दृष्टान्त—श्रीमाधवसिंहजीका—ये जयपुरके नरेश एवं श्रीगोविन्दजी के परम भक्त थे। महल से गोविन्द मंदिर तक साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए जाकर दर्शन करते। एकबार एक विदेशी अपराधी आपकी शरणमें आया। रक्षाका आश्वासन देकर आपने उसे अपने महलमें सुरक्षित रख लिया। ब्रिटिश शासनको पता चला तो उन्होंने कहा कि इस अपराधीको हमें दे दो। आपने अस्वीकार कर दिया। इस पर कुपित होकर उन लोगों ने इन्हें धमकी दी कि आप गिरफ्तार कर लिए जायेंगे और राज्य भी जब्त कर लिया जायेगा। भयभीत होकर श्रीमाधवसिंहजीने उस अपराधी को शासन के हवाले कर दिया। इससे श्रीगोविन्दजी रुष्ट हो गये। अब श्रीमूर्त्तिके दर्शनोंका आनन्द जाता रहा।

ध्यान में भी प्रभु की छवि नहीं आती। शरीर में भयङ्कर रोग हो गया। जब आपने श्रीगोविन्द की बहुत विनती की और शरीर का त्याग करने के लिए तैयार हो गये। तब श्रीगोविंदजीने आदेश दिया कि दूसरा मंदिर बनवाकर उसमें मेरी मूर्ति स्थापित करके पूजन करो और नित्य नये पदोंकी रचना करके सुनाओ। आपने इसी अनुष्ठान को आरम्भ किया। कालान्तर में निरोग होकर भगवत् कृपापात्र हुए। श्रीहरिदासजीने शरणागतका त्याग नहीं किया। इस प्रसङ्गको आगे पढ़िये।

भक्तपन—संतोंमें भगवद्-भाव रखनेके प्रण को निभाया। सन्तमें दोष नहीं देखा। इसका वर्णन टी० क० ६०८ में किया गया। वीरताके प्रसङ्ग आगे वर्णित हैं। 'सन्त सेवा नित अनुसर' का भाव यह कि स्वयं चाहे जिस परिस्थिति में हों पर साधु-सेवा करते। सुखी सम्पन्न होने पर सभी कुछ न कुछ दान-पुण्य करते हैं। यथा—'सुख में दिन द्वै निशान सबके द्वार बाजैं। दुख में दसरत्थ के तैं गरीब निवाजैं।।' (तुलसीदास) इतने विशिष्ट गुण सुनकर लोगोंको आश्चर्य होगा। इस पर कहते हैं कि—'पारथपीठ अचरज कौन'-ये पाण्डव वंशी थे। जैसे अर्जुन परीक्षित आदि पर प्रभु ने कृपा की उनके यशको विस्तारा उसी प्रकार उनके वंश में होने के कारण इन पर भी प्रभुने प्रेम किया, इनकी कीर्तिका विस्तार किया। वंशके गौरवका स्मरणकर भक्त और वीर कर्तव्य निभाते हैं उन्हें आवेश आ जाता है। इस पर—

दृष्टान्त-छत्रसालका—पन्ना के राजा छत्रसालजी थे। एकबार दिल्ली बादशाह के दरबारमें सभी राजा उपस्थित हुए। छोटे-छोटे राजाओं को सम्बोधित करके उनका तिरस्कार करते हुए बादशाहने कहा—'तुम सभी आधीन हो, इस समय कौन-सा पराक्रम दिखा सकते हो, क्या कर सकते हो?' यह सुनकर सभी राजा चुप रहे। पन्ना नरेश में वीरता जग पड़ी, उन्होंने म्यान से तलवार निकाली और कड़क कर बोले कि-मैं सब कुछ कर सकता हूँ और तुम्हें भी अभी मार सकता हूँ।' भयभीत बादशाहने पन्ना नरेश की प्रशंसा की और कहा कि तलवार म्यानमें रख लो। इन्होंने कहा कि 'यह अमोघ है बिना बार किये म्यानमें नहीं जा सकती है' बादशाह ने कहा-'तो खम्भे पर मार दो।' इन्होंने मारा, तलवार आर-पार गई। बादशाह ने कहा-अब मैं ऐसा कभी न कहूँगा। (भक्तमाली पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी)।

परकाम—स्वयं वारि सरिता नहीं पीवैं। ऐसेहि साधू परहित जीवैं।। वृक्ष मधुर फल कबहुँ न खावैं। तथा सन्त परकाम बनावैं।। 'निर्मयो' हरीदाससे दास सदा ये नित्य धाम में राजैं। अन्धकार तम जग में बाढै करत भक्ति नर लाजैं।। तब प्रकाश के हेतु स्वयं हरि आयसु ते ये आवैं। सदाचार सेवा रसकाई पथ अनन्य दरसावैं। सदा रहैं निर्लेप एकरस सबको यहै सिखावैं। माया मोहित जगत नरक को ये ही स्वर्ग बनावैं।। (भ० व० टि०)

प्रहलाद आदि भक्त गाये गुण भागवत, सब इक ठौर आये देखे हरिदास में।
रीझि जगदेव सो यों कहिकै बखान कियौ, जानत न कोऊ सुनौ करयौ लै प्रकास में।।
रहै एक नटी शक्ति रूप गुण जटी गावै, लागै चटपटी मोह पावै मृदु हाँस में।
राजा रिझवार करै देवे को विचार, पै न पावै सार काटै सीस राख्यौ तेरे पास में।।६०४।।

शब्दार्थ—रीझि=मुग्ध, मोहित या प्रसन्न होना। नटी=नाचने वाली। गुण जटी=गुणवती, गुणज्ञा। सार=प्रिय, तत्व।

भावार्थ—श्रीप्रह्लादजी, श्रीदधीचिजी और श्रीबलिजी इन भगवद् भक्तों के गुण श्रीमद्भागवत में वर्णन किये गये हैं। श्रीहरिदासजी में ये सभी गुण एक स्थान पर ही दिखलाई पड़ते हैं। मूल छप्पय में श्रीनाभाजीने रीझने में श्रीहरिदासजीको श्रीजगदेवजीके समान कहा है, परन्तु श्रीजगदेवजी के रीझने के प्रसङ्ग को प्रायः सब लोग नहीं जानते हैं। मैंने उसे किसी संतसे जैसा सुना है, वैसा यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ। उत्तम रूप और गुणों से युक्त एक नटी थी। वह साक्षात् शक्तिदेवी का स्वरूप ही थी। जब बह गाती थी, तो सुनने वालों को सुनने की बड़ी-भारी चटपटी लग जाती थी और उसकी मधुर-मुसक्यान देखकर लोग मोहित हो जाते थे। रिझवार राजा श्रीजगदेवजीने एकबार उस नटीका अद्भुत नृत्य देखा और मधुर-गानको सुना, तो वह उस पर रीझ गया। जब उसने पुरुस्कार देने का विचार किया, तो कोई भी वस्तु उसके योग्य न दिखाई पड़ी। अन्तमें उसने नटीसे कहा-मैंने अपना सिर तुम्हें दिया, जब चाहो तब इसे ले सकती हो। अब यह मेरा नहीं है, तुम्हारा है।।६०४।।

व्याख्या—रीझि जगदेव—शरणागति, दान आदि में पूर्व युगोंके भक्तों की उपमा दी पर रीझमें कलियुगके भक्तका नाम देकर यह प्रकट किया गया कि कलियुगके भक्तों की रीझ निराली है। रिझवारमें अन्य किसी गुण की अपेक्षा नहीं है पर सच्ची रीझ होनी चाहिए। इसमें वह सर्वदाके लिए अपना सर्वस्व उसे सौंप देता है जिस पर रीझता है। सच्चे रिझवार

श्रीजगदेवजी थे जिन्होंने अपना सिर ही सौंप दिया। सिर सौंपने के बाद कुछ बाकी नहीं रहा। अतः कहा—'राजा रिझवार' इसका भाव है कि राजा रीझने वालों में राजा अर्थात् अति श्रेष्ठ थे। जब माँगा तब सिर दिया। झूठे रिझवार का नशा थोड़ी देरमें उतर जाता है। इस पर—

दृष्टान्त-एक राजा और कलाकार का—एक कलाकारने एक राजा के दरबार में जाकर बहुत अच्छा राग गाया। सभी दरबारी वाह-वाह कह उठे। राजाने रीझकर कहा-मंत्रीजी ! इन्हें एक हजार रुपये देना। बहुत अच्छा, कहकर कलाकार से बोला कल ले लेना। दूसरे दिन भी उस गायकने दरबार में जाकर गाया और रुपये माँगे। उत्तर मिला कि रुपये तैयार हैं चाहे जब ले लेना। इस प्रकार वह गायक कई दिन तक गाता रहा पर उसे एक हजार रुपये नहीं मिले। तब उसने राजा से कहा। राजा बोला—कैसे रुपये ? तुमने गाकर मुझे क्षण-भरके लिए खुश कर दिया और मैंने तुम्हें एक हजार की बात कहकर खुश कर दिया था। इसलिए अब लेना-देना किस बात का। यह असज्जन की झूठी रीझ है। पुरानी टिप्पणी में कवित्त है—

नृत्य गान अभिनय सरूप रीझ रचि करि, विधि हू को सोच परयौ नेही कैसे बचेंगे।
लाख लाख लोगन के घाट घट किये, कहूँ पाँच सात बनि आये तेऊ यामें पचेंगे।।
करत विचार सोच सागर न पारावार, वे ही करतार कछु बुधिबल रचेंगे।
हिये में ही आइ कही मति पछिताहि तबै, चाह बोइ रोपिवौ बनाइ और सचेंगे।।

भक्त और भगवानकी रीझके ही सम्पूर्ण चरित्र श्रीभक्तमाल में वर्णित हैं। भक्त अपने गुण-दोषोंको प्रभुके सामने रखकर उन्हें रिझाता है। यथा—निलजता पर रीझि रघुवर देहि तुलसिहिं छोरि।' (वि० प०) भगवान कीर्त्तन और हृदय के सच्चे स्नेह को देखकर रीझते हैं। यथा—'सुनौं गुनगान रीझौं हिये की सचाई है।' (सदन चरित्र क० ३९४) 'रीझत राम सनेह निसोते।' (रामा०) श्रीपद्मावती-जयदेवके प्रेम पर रीझकर श्रीकृष्ण ने पद लिखा—'आपही जु रीझि लिख्यौ निज कर आनिकै।' (क० १५१) श्रीकृष्णदास पर रीझकर प्रभुने उनके नामसे पद रचना की—गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।' (छ. ८१) श्रीसेन भक्तको रिझानेके लिए प्रभुने राजाके तेल लगाकर उसे रिझाया—'धरि उर श्याम जाय भूपति रिझायौ है।' (क. ३०९) श्रीरत्नावती, मीरा आदि ने प्रभुके रूप पर रीझकर लोक-लाज और कुलकी मर्यादा का त्याग किया। श्रीकात्यायनीजी तो रीझकर अपने वस्त्राभूषणों को ही वृक्षों पर डाल देती थीं—'ताल मृदङ्गी वृक्ष रीझि अम्बर तहँ डारैं।' (छ० १२७) नन्दकुंवरने श्रीकृष्णदास पर

रीझकर अपने पगका नूपुर श्रीकृष्णदासके पगमें बाँधा। श्रीकृष्णदासने भक्त-पदरेणु की उपासना करके श्रीराधालालको रिझाया—'नन्दकुंवर कृष्णदास को निज पग ते नूपुर दियौ। रिझये राधालाल भक्त पद रेणु उपासी।' (छ० १८०) नृतक नारायणदासजीने रीझकर प्राणों को न्यौछावर किया तो प्रभु ने रीझकर इनको अपनाया—'चाहै कछु वारौं परे औचक ही प्रान हाथ रीझि सनमान कीनौ मीच लागी प्यारियै।' (क० ५६२)

भक्तोंका भक्तों पर, गुरुओंका शिष्यों पर रीझना भी प्रसिद्ध है। भक्तों के लिए सुत को विष देने वाली बाई पर सन्त रीझ गये—'रीझि गये सन्त प्रीति देखिकै अनन्त कह्यौ होयगी जु वही सो प्रतिज्ञा तैं जो करी है।' (क० २११) रीझकर तन-मन और प्राण भी दे दिये जाते हैं। चटपटी लगाकर कटी तानसे गाने वाली धन, गुण और रूपसे जटी नटी ने कहा—'द्रव्य तौ न चाहौं रीझि चाहौं तन मन दियौ।' (क० ३५३) रानी ने अपने पति अन्तर्निष्ठ राजा को जब भक्त जाना तो उस पर रीझ गई-'रानी पति पर रीझि बहुत वसु तापर वार्‌यौ।' (छ० ५७) श्रीहित हरिवंश महाप्रभु ने अपने शिष्य नरवाहन की गुरु भक्ति पर रीझकर अपने दो पदों में उनके नाम की छाप दी—'आय दास भयौ कही रीझि पद दियौ है।' श्रीपीपाजी और श्रीसीतासहचरीजी ने सन्त-सेवार्थ द्रव्यदाता वणिक् को रिझाना चाहा—'करिकै सिंगार सीता चली झुकि मेह आयौ काँधे पै चढ़ायौ वपु बनिया रिझाइयै।' (क० २९८) श्रीकृष्णदासजी भक्तिनी पर और भक्तिनी श्रीनाथजी पर रीझी और प्राण दिये। (क० ३४४) उक्त उद्धरण रीझ शब्द के प्रयोग की ओर ध्यान दिलाने के लिए हैं अन्यथा सभी भक्त प्रसङ्ग रीझके ही हैं।

एक नटी—एक कहकर इसकी विशेषता दिखाई यह साक्षात् काली का अवतार थी और रूप, नृत्य और गान इन तीन गुणोंसे युक्त थी (माया के भी तीन गुण हैं) इसने जगदेवको मोहित किया, जैसे कफ, वात और पित्त रूप त्रिदोष से ग्रसित को सन्यपात हो जाता है, बेसुध होकर मर जाता है। कालीदेवी बलि लेती हैं इसने भी माया मृदुहांस से मोहित कर जगदेवका सिर ले लिया। पुनः जीवित करके अपने रूपका परिचय दिया और भक्तके प्रति वात्सल्य दिखाया।

दियौ कर दाहिनो मैं यासों नहीं जाचौं कहूँ, सुनि एक राजा भेद भाव सों बुलाई है।
नृत्य करि गाई रीझि लेवौ कही आई देहु, ओड़यो बायों हाथ रिस भरिकै सुनाई है।।
इतौ अपमान पानि दक्षिन लै दियौ अहो, नृप जगदेवजू कों ऐसी कहा पाई है।
तासों दसगुनी लीजै मोकों सो दिखाय दीजै, दई नहीं जाय काहू मोहिये सुहाई है।।६०५

भावार्थ—श्रीजगदेवजीके द्वारा दिये गये मस्तक दानको स्वीकार कर उस नटी ने कहा—'मैंने भी अपना दाहिना हाथ आपको दिया। अब इस हाथको फैलाकर न तो किसी से कुछ माँगूंगी और न लूंगी। ' कुछ दिनोंके बाद किसी एक राजाने सुना कि उस नटी ने राजा जगदेवसे ऐसा कुछ इनाम पाया है कि उसके बदले अपना दाहिना हाथ उन्हें दे दिया। अब मैं उस नटी को अधिक इनाम देकर जगदेव के इनाम को तुच्छ कर दूं। इस विचारसे उस राजाने नटीको नृत्य करने के लिए अपने दरबारमें बुलाया। नटीने अपना नृत्य-गान प्रस्तुत किया, तब उस राजा ने प्रसन्न होकर नटी को कुछ इनाम देना चाहा। नटीने लेनेके लिए अपना बायाँ हाथ फैलाया। इस पर राजाने रुष्ट होकर कहा-हमारा इतना अपमान।' नटीने कहा—'मैं अपना दाहिना हाथ राजा जगदेवजीको दे चुकी हूँ अतः दाहिने हाथ में किसी से कुछ नहीं ले सकती हूँ।' उस राजाने पूछा—'राजा जगदेवजी से ऐसी कौन-सी अलभ्य वस्तु मिली है ? तुम उस वस्तुको मुझे दिखा दो और उससे दसगुनी वस्तु मुझसे ले लो।' नटीने कहा—दूसरा कोई वैसी वस्तु नहीं दे सकता है अतः राजा जगदेवका दान मुझे अत्यन्त प्रिय लगा।।६०५।।

व्याख्या—दियौ कर दाहिनो—स्त्रीका बायाँ हाथ पतिको समर्पित होता है अतः उस देवीने दाहिना वरदहस्त भक्त जगदेवको दिया। इसके बाद उसने नाचना, गाना और रिझाना बन्दकर दिया। एक राजाने इसकी प्रशंसा सुनकर इसे बुलाया, बहुत लोभ-लालच दिया पर वह नहीं गई। तब उसने अपने दरबार में कहा कि कोई चतुर किसी भी प्रकार से मेरे दरबार में ले आये तो मैं उसे बहुत बड़ा इनाम दूंगा। तब एक भाटने प्रतिज्ञा की कि मैं उसे अवश्य ही आपके दरबार में हाजिर कर दूंगा। ऐसा कहकर उस भाटने नटीके घर जाकर बारह वर्ष तक बड़ी श्रद्धा से उसकी सेवा की और कभी कुछ पाने की इच्छा न की। एकदिन उस देवी ने प्रसन्न होकर कहा—'जो चाहो वरदान मागँ लो।' भाटने कहा—'मेरे राजा के यहाँ एकदिन नृत्य-गान कीजिये।' भाट को अभागी समझकर अपने वचनको पूरा करने के लिए गई।

कितौ समझावे ल्यावौ कहै यहै जक लागी, गई बड़भागी पास वस्तु मेरी दीजियै।
काटि दियो सीस तन रहै ईश शक्ति लखो, ल्याई बकसीस थार ढाँपि देखि लीजियै।।
खोलिकै दिखायो नृप मूरछा गिरायो तन, धन की न बात अब याकौ कहा कीजियै।
मैं जु दीनौ हाथ जानि आनि ग्रीव जोरि दई, लई वही रीझि पद तान सुनि जीजियै।।६०६

शब्दार्थ—जक=धुनि, जिद्द, हठ। बकसीस=वख्शीस, इनाम, पारितोषिक।

भावार्थ—उस राजा को नटीने बहुत समझाया परन्तु उसने नहीं माना। उसे जिद्द सवार हो गई। उसने बार-बार उस वस्तु को लाकर दिखाने का हठ किया। तब नटी परम बड़भागी राजा जगदेव के पास गई और बोली—'राजन्! मेरी वस्तु मुझे दीजिये।' राजा जगदेवने तुरन्त अपना सिर काटकर नटीको दे दिया। नटीने धड़ को न जलाने का आदेश देकर सुरक्षित रखवा दिया और उस पुरस्कार को थाल में ढक्कर उस राजाके पास ले आई और दिखाकर बोली—'इसे देख लीजिये और इससे दसगुनी या बराबर ही दीजिये।' सिरको देखते ही वह राजा मूर्च्छित हो गया और पृथ्वी पर गिर पड़ा। अनेक उपचारोंसे उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब उसने कहा कि—'मैंने तो यह समझा था कि धन मिला होगा अतः उससे दसगुना देनेको कहा था, किन्तु यहाँ धन की बात नहीं रही। अब मैं क्या करूँ और क्या दूं, मेरे वश की बात नहीं है।' नटीने कहा—'ऐसे अमूल्य पुरस्कारके बदले ही मैंने अपना दाहिना हाथ राजा जगदेव को दिया है।' राजा लज्जित हो गया, इसके पश्चात् नटीने आकर राजा जगदेव के धड़से उनका सिर जोड़ दिया और जिस पद पर रीझकर उन्होंने अपना सिर दिया था, उसी पद को गाया। तान के साथ आलाप को सुनकर राजा जगदेव जीवित हो गये।।६०६।।

व्याख्या—काटि दियौ सीस—श्रीजगदेवजीकी रीझ सच्ची थी। इसीसे इन्हें शरीर और प्राणोंके प्रति मोह नहीं हुआ। तभी तो बारह वर्षके बाद उसके माँगने पर उसे अपने हाथसे काटकर सिर दे दिया अतः इन्हें बड़भागी कहा। अपनी प्रतिज्ञा से नहीं टले। क्योंकि दृढ़प्रतिज्ञ थे। तारे, सूर्य, चन्द्र, मेरु, मन्दराचल और कभी-कभी अचला पृथ्वी भी विचलित हो जाती है। परन्तु सज्जन अपने धर्म और वाक्यसे कभी विचलित नहीं होते। (सू० सु०) पुनः आशा देकर जो नहीं देते हैं और जो दाता को दान देने से रोकते हैं तथा जो दिये हुए को वापस ले लेते हैं, उन्हें शास्त्रोंमें बड़ा-भारी पापी कहा गया है। (पुरानी टिप्पणी)।

चलन्ति तारा रविचन्द्रमण्डलं चलेच्च मेरुर्विचलेच्च मन्दरम्।
कदापि काले पृथिवी चलेच्च वै धर्मः सुजनस्य वाक्यम्।।
आशादत्तं न दातारं दातारं प्रतिषेधकः। स्वयं दत्तहृतं एव स पापिष्ठस्तोऽधिकम्।।

लङ्का विजयके पश्चात् श्रीविभीषणजीने सम्पूर्ण लङ्का का राज्य वैभव भगवान श्रीरामजीके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया। इसे स्वीकार करें या अस्वीकार। श्रीरामने मन्त्रियोंका मत जानना चाहा। तब ज्ञानवयोवृद्ध मन्त्री श्रीजाम्बवानजीने कहा—

पूरन शरीर राहु रहित कलङ्क विधु, पच्छन सहित देखे भूधर महान् में।
हर को अनील कण्ठ हरि को विलोके श्वेत, 'भानु' कवि भनै एक रूप देखे भानु में।।
शुद्ध वारि सिन्धु दुइ आँख पाक शासन को, पञ्चमुख देखे चतुरानन सुजान में।
कहैं जामवन्त सुनौ रामचन्द्र बलवन्त, दैके पुनि लेते नाहिं देखे या जहान में।।

सब कुछ देखा गया पर दान करके उस वस्तु को न देते या वापस लेते नहीं देखा गया। फिर आप लंकाका राज्य कैसे लेंगे। इन्हीं विचारों से जगदेवजीने सिर दे दिया। उसका फल यह हुआ कि वे पुनः श्रीजयदेव द्वारा पद्मावती की तरह जीवित कर दिये गये।

सुनी जगदेव रीति प्रीति नृपराज सुता, पिता सों बखानि कही वाही कौ लै दीजियै।
तब तौ बुलाये समुझाये बहु भाँति खोलि, वचन सुनाये अजू बेटी मेरी लीजियै।।
नट्यौ सतबार जब कही डारौ मारि, चले मारिबे कों बोली वह मारौ मत भीजियै।
दृष्टि सों न देखै कही ल्यावौ काटि मूंड़, लाये चाहै सीस आँखिन को गयौ फिरि रीझियै।। ६०७

शब्दार्थ—नट्यौ=मना किया। सतबार=सैकड़ों बार।

भावार्थ—राजा जगदेवजी की रिझवार निष्ठा का वृत्तान्त एक बड़े (यवन) राजा की लड़की ने सुना तो वह उनमें आसक्त हो गई और उसने अपने पिता से कहा कि—'मेरा विवाह आप राजा जगदेवजी के साथ कर दीजिये।' उसने जगदेवजी को बुलाकर अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर स्पष्ट कहा कि—'आप मेरी पुत्री के साथ विवाह कर लीजिये।' श्रीजगदेवजीने स्वीकार नहीं किया। राजाने पुनः-पुनः आग्रह किया, परन्तु इन्होंने हर बार मना ही किया। तब उस राजा ने जगदेवजी को मार डालने की आज्ञा दी। बधिक लोग मारनेके लिए ले जा रहे थे, राज-कन्याने देखा तो वह बोली कि—'इनको मत मारो, मेरा इनमें अनुराग है। इन्हें मेरे सामने लाओ।' सामने लाये जाने पर राज-कन्याने इनको अपनी ओर देखने के लिए बाध्य किया। परन्तु श्रीजगदेवजी ने राज-कन्या की ओर नहीं देखा, तो रुष्ट होकर उसने भी इन्हें मार डालने की अनुमति देकर कहा—'इनके सिर को काटकर मेरे पास ले आओ' बधिकों ने ऐसा ही किया। राज-कन्या अपने सामने कटे सिरको रखकर जब उसकी ओर देखने लगी तो वह सिर राजपुत्री के सामने से घूम गया।। इस निष्ठा पर सभी लोग रीझ गये।। ६०७।।

व्याख्या—नृपराज सुता०—बिना देखे ही उनके चरित्र को सुनकर (अम्बरीष की छोटी रानीकी तरह) व्याह करनेको तैयार हो गई पर उसकी रीझ झूठी थी। श्रीजगदेवजी को रिझाकर अपना दास बनाना चाहती थी, स्वयं दासी बनना नहीं चाहती थी। पिता ने समझाया कि हम यवन हैं, वे क्षत्रिय हैं अतः तुम्हारे साथ व्याह कैसे करेंगे। समझाने पर भी बादशाहकी बेटीने जाति-पाँति का विचार न किया। दो०—नृप विद्या अरु बेलि तिय ये न गनैं कुल जाति। जो इनके नियरे बसै ताही को लपटाति।। व्याह नहीं हुआ तो इसे क्रोध आया कि मैं चाहती हूँ, यह नहीं चाहता है। श्रीजगदेवने व्याह इसलिए नहीं किया कि मेरा सिर अपना नहीं है। पुनः यवन कन्या से व्याह करना धर्म छोड़ना है। जो अपनी निष्ठामें पक्का है वह मृतक नहीं है अतः कटा सिर घूम गया। प्राण देकर धर्म की रक्षा करने वाले थे अतः मरने पर भी धर्म नहीं छूटा, धर्मने इन्हें नहीं छोड़ा। इस अद्भुत चमत्कार से यवन राज-कन्या अति प्रभावित होकर पछताने लगी कि मुझसे बड़ी भूल हुई। कुछ लोगों का कथन है कि उसने पता लगाकर उसी नटी को बुलवाया और विनती की। तब नटी ने जगदेवजी को पुनः जीवित कर दिया। रिझवार का सिर सुरक्षित नहीं है, वह बार-बार अपना सिर कटा सकता है, पर अपने धर्म से नहीं हट सकता है।

निष्ठा रिझवार रीति कीनी विस्तार यह सुनौ, साधु सेवा हरीदास जू ने करी है।
परदा न सन्त सों है देत हैं अनन्त सुख, रह्यौ सुख जानि भक्त सुता चित धरी है।।
दोऊ मिलि सोवैं रितु ग्रीषम की छत पर, गात पर गात सोये सुधि नहीं परी है।
दातुन के करिबे को चढ़े निसि सेस आप, चादर उढ़ाय नीचे आये ध्यान हरी है।।६०८

शब्दार्थ—निष्ठा रिझवार=रीझकर देनेमें, विशेष श्रद्धा। रुख=इच्छा।

भावार्थ—श्रीहरिदासजी की रिझवार निष्ठा का विस्तार से वर्णन किया गया। अब इन्होंने जैसी सेवाकी, उसको सुनिये। राजा होकर इनकी साधु-सेवामें ऐसी निष्ठा थी कि वे सन्तों से परदा या किसी प्रकार का कपट नहीं करते थे। बिना रोक-टोक के साधुओं का महलों में आना-जाना होता था। ये उन्हें सब प्रकार से सुखी करते थे। ऐसी विलक्षण एवं दृढ़-निष्ठा देखकर भगवान ने इनकी परीक्षा ली। क्योंकि वे अपना स्वरूप इन्हें देना चाहते थे। कोई एक पैसे की हण्डी खरीदता है तो उसे भलीभाँति ठोंक-बजाकर पहले देख लेता है। तो भगवान अपना स्वरूप बिना परीक्षा लिए कैसे दें। परीक्षार्थ एक अल्पवयस्क सन्त का रूप धारण करके आये और इनके यहाँ निवास करने लगे। उनके प्रति श्रीहरिदासजीका भगवन्मय वात्सल्य भाव था। वे बालक-बालिकाओंके साथ खेलते रहते। एकदिन ग्रीष्म ऋतु

में बालक-बालिका छत पर सोये हुए थे वे कुछ ओढ़े नहीं थे। श्रीहरिदासजी दाँतुन करने के लिए छत पर चढ़कर गये। गहरी नींद में सन्त-भगवन्तको बेसुध सोये देखकर इन्होंने अपनी चादर उन्हें ओढ़ा दी। शयन के दर्शन कर आप नीचे उतरे तो हृदयमें प्रभु का ध्यान क़र उसमें मग्न हो गये।।६०८।।

जागि परे दोऊ अरबरे देखि चादर कों, पेखि पहिचानी सुता पिता ही की जानी है।
सन्त दृग नये चले बैठे मग पग लये, गये लै एकान्त में यों विनती बखानी है।।
नेकु साबधान ह्वैकै कीजिये निसङ्क काज, दुष्टराज छिद्र पाय कहैं कटु बानी है।
तुमको जु नाव धरैं जरै सुनि हियो मेरौ, डरैं निन्दा आपनी न होत सुखदानी है।।६०९

भावार्थ—प्रातःकाल होने पर बालक भगवान और राजा की कन्या दोनों जगे। बिलम्बसे जगनेके कारण घबड़ाये। विचार करने लगे कि हम चादर ओढ़कर नहीं सोये थे फिर यह किसकी चादर है, कौन ओढ़ा गया। बालिकाने पहचान कर कहा कि यह तो पिताजी की है। भगवान हरिदासजी की परीक्षा ले रहे थे अतः जैसे कुछ भूल हो गयी हो ऐसी मुखमुद्रा बनाये, दृष्टिको नीचे किये हुए छतसे उतरकर (स्नानार्थ) चले। प्रभु की ऐसी चेष्टा देखकर रास्ते में मिलकर श्रीहरिदासजी ने चरण पकड़ लिए और एकान्त में विनती करते हुए कहा कि प्रभो! आप जो भी लीला करें सो उचित है। परीक्षार्थ ऐसी लीला न करें जिससे नास्तिक दुष्टजन सन्तों की निन्दा करें। क्योंकि दुष्टराज नास्तिकजन नाममात्रका भी दोष न होने पर कड़वे वचन कहने लगते हैं और निन्दा करने लगते हैं। उसे सुनकर मेरा हृदय जलने लगता है। मुझे अपनी निन्दा से भय नहीं है वह तो मुझे सुख देने वाली है। परन्तु सन्त निन्दा से हमें भय है।।६०९।।

इतनी जतावनी में भक्ति कों कलङ्क लगै, ऐपै सङ्क वही साधु घटती न भाइयै।
भई लाज भारी विषैवास धोय डारी नीके, जीके दुखरासि चाहै कहूँ उठि जाइयै।।
निपट मगन किये नाना विधि सुख दिये, दिये पै न जान मिलि लालन लड़ाइयै।
गोविन्द अनुज जाके बाँसुरी कौ साँचोपन, मन में न ल्यायौ नृप इहि विधि गाइयै।।६१०

भावार्थ—श्रीहरिदासजीने सन्त भगवान से पुनःकहा कि महाराज! इस प्रकार आपको चेतावनी देनेसे मेरी भक्ति में कलङ्क लगता है। आप चाहें जैसे अपने भक्त की परीक्षा लें मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए। परन्तु मैंने इस शङ्काके कारण आपसे कुछ कहा—कि कहीं कोई साधु-सन्त का अपमान न करे। किसी साधु में किसी प्रकार की कमी है, यह सुनना मुझे अच्छा नहीं लगता। सन्त भगवानने फिर परीक्षार्थ ऐसा भाव दिखाया कि जैसे लज्जित

हो रहे हों। सन्त भगवान ने कहा-मैं अब कहीं अन्यत्र जाकर भजन करना चाहता हूँ। हरिदासने चरण पकड़ लिए और अपने सच्चे सद्भावसे सन्त रूपधारी भगवानको प्रसन्न कर लिया। तब भगवान अपने रूपसे प्रकट हो गये और प्रसन्न होकर उन्हें अपना स्वरूप प्रदान किया फिर बोले-मैं तुम्हारी सन्त-सेवा निष्ठासे प्रसन्न हूँ, जो चाहो सो वरदान माँग लो। श्रीहरिदासजीने कहा-जिहि साधन करि आपु रिझाना। सोई अडिग देउ वरदान।। पुनः हे प्रभो ! आप उसी बालक सन्त रूपसे मेरे घरमें रहिये। साथ-साथ सेवा-भजन करने का सुख दीजिये। एवमस्तु कहकर भगवान पुनः उसी बालक सन्त रूपमें आ गये। सन्तोंमें इनकी ऐसी श्रद्धा थी कि भगवान सन्त रूप धारण कर इनके यहाँ रहे।।६१०।।

दृढ़ निष्ठावान लोक-वेदकी मर्यादाको त्यागकर भक्ति करते हैं। हरिदास ऐसे ही भक्त थे। सामान्य द्वारा अनुकरणीय नहीं है। श्रीप्रियादासजी के तीन कवित्तों को साधारण दृष्टिसे पढ़ने पर मर्यादाका उल्लङ्घन-सा प्रतीत होता है। इनका परोक्षार्थ ध्यान में रखकर इनका भावार्थ लिखा गया। भक्तदामगुण चित्रणी तथा अन्य भाषा टीकाकारों ने भी परोक्षार्थ स्वीकार कर परीक्षामें श्रीहरिदासजी को उत्तीर्ण माना। इनके छोटे भाई श्रीगोविन्ददासजी भगवानके अनन्य भक्त थे। ये बाँसुरी बहुत अच्छी बजाते थे और श्रीकृष्ण की वंशीका-सा प्रभाव भी कभी-कभी प्रकट हो जाता था। यथा—

मुरहर ! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्।।

एक व्रजगोपी कहती है—हे श्रीकृष्ण ! मेरे भोजन बनाते समय इस मुरली की मधुर तान न छेड़ा करो। इसे सुनकर सूखा ईंधन गीला हो जाता है, आग बुझ जाती है। अर्थात् नीरस सरस, स्थावर जंगम, जड़ चैतन्य हो जाते हैं। एकबार श्रीगोविन्ददासजी की मुरलीका ऐसा ही प्रभाव हो गया तभी से इन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब हम भगवान और भक्तोंको छोड़कर और किसीके सामने मुरली नहीं बजायेंगे। किसीने बादशाहसे कह दिया कि ये मुरली बहुत अच्छी बजाते हैं। तब उसने इन्हें बुलाकर कहा कि हमको भी अपनी मधुर वंशी सुनाओ। इन्होंने कहा—हम तलवार चलाने के लिए चाकर हैं, वंशी बजाने के लिए नहीं। 'गोविन्दा गाढ़ी गही वंशी बाजै नाहिं। बाजै हरिके देहुरै, कै साधू संग माहिं।।' इनके स्पष्ट इन्कार करने पर बादशाह मन ही मन बहुत रुष्ट हुआ। इसी बीच किसीने शिकायत कर दी कि इनकी तलवार काठ की है।

एकदिन भरे दरबार में बादशाहने कहा—आप अपनी तलवार निकालो, देखें कैसी है आपने कहा—पहले यह बतला दीजिये कि निकालकर किस पर चलाऊँ। मेरी तलवार बिना प्रयोजनके म्यानसे बाहर नहीं निकलती है। उन दिनों विद्रोही अमरचिंपू से शाही सेना लड़ रही थी, वह कब्जे में नहीं आ रहा था। अतः बादशाह ने कहा—अमरचिंपू पर प्रहार करना है। दो में से एक काम करना पड़ेगा। उस समय किसी कवि द्वारा कथित दोहा प्रसिद्ध है—गोविन्दा गाढ़ी बनी हुकम कियौ पतसाह। कै वंशी की टेर दे अमरचिपू कै बाह।। उसी समय किसीने इनका घोड़ा चुरा लिया जिसे इन्होंने बत्तीस हजार रुपये में खरीदा था। फिर भी साहस के साथ लड़ने का निश्चय करके आप मोर्चे पर गये। वहाँ नौ लाख सैनिकोंके बीचमें घुसकर इन्होंने पालकी में बैठे राजा पर तलवार चलाई। उससे एक ही वार में ('डाँड़ो कटि माँड़ा कट्यौ पगड़ी पाँचों पेच।') पालकी का बाँस और मण्डप फिर राजा की पगड़ी के पाँचों पेंच कट गये। काठ की तलवार का यह चमत्कार देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये। उसी युद्ध में आप वीरगति को प्राप्त हुए तब इनके भाई श्रीहरिदासजीने कहा—गोविन्ददासने तलवार तो ठीक चलाई, शत्रुको घायल कर दिया। अब हमें युद्ध की आज्ञा दीजिये। बादशाह की आज्ञा से श्रीहरिदासजीने वहाँ युद्ध करके विजय प्राप्त की। आपके सम्बन्ध में एक छप्पय किसी प्रति में मिलती है—

* श्रीगोविन्ददासजी *

टेक एक वंशी तनी जन गोविन्दजी निर्वही।
युगलचन्द किरपाल तासुको दास कहावै।
बादशाह सों पैज हुकम नहिं बेनु बजावै।
वीकावत बानैत भक्त पाण्डव अवतारी।।
कपि ज्यौं वीरा लियौ सीस अम्बर कै झारी।
पीठ परीक्षित सारखा सभा साष सन्तन कही।
टेक एक वंशी तनी जन गोविन्द की निर्वही।।

जिन श्रीकृष्णकी वंशीसे सभी मोहित हो जाते थे वे श्रीकृष्ण इनकी वंशी सुनकर रीझ जाते थे। कहनेके लिए बादशाहके पर वस्तुतः युगलकिशोर के दास थे। श्रीहनुमानजी ने जैसे श्रीसीताजीको खोजने का बीड़ा उठाया था उसी प्रकार आपने भक्तिमय आचरण करने की प्रतिज्ञा की थी। सन्त साक्षी हैं आप पाण्डवोंके वंशमें परीक्षित के समान हुए।

विशेष—अनन्यमाल के अनुसार आप राधाबल्लभीय थे। श्रीभगवन्तमुदितजीने लिखा है कि श्रीहरिदासजीने जबसे गुरु-शरणागति ली तबसे ही प्रभु की सेवामें दत्तचित्त हो गये। वैष्णवोचित आचार-विचार का इनके पिताने ज्यौं-ज्यौं विरोध किया त्यौं-त्यौं इनकी निष्ठा दृढ़

हुई। एकबार एक विषधर नाग ने पैरमें काट लिया। लोग उसे मारने लगे। आपने उसकी रक्षा की। प्रभु-कृपासे इनकी समदृष्टि थी अतः इन पर विषका प्रभाव नहीं हुआ। भगवान वैष्णव रूप धारणकर इनके पास आये और बोले—हमने सुना है कि तुम बड़े उदार हो अतः अपना घर भण्डार स्त्री-पुत्रादि सब हमको दे दो। हरिदासजीने कहा—भगवन्! वह तो सब आपका ही है फिर मैं देने वाला कौन हूँ। आओ, आप विराजो। ऐसा कहकर आप वन को चल दिये। सन्त—भगवान ने इन्हें सच्चा मानकर फिर बुलाया और कहा कि अब आप मेरी ओर से घर भण्डार आदि की देखभाल करो। सब कुछ मेरा है, तुम्हारा नहीं। ऐसा कहकर भगवान ने दर्शन दिया। घरमें साधुओं का आना-जाना रहता था ही एक सन्तकी चित्तवृत्ति कन्या की ओर देखकर भी इन्हें रोष न हुआ। तब प्रभुने दर्शन दिया। साधु-सेवा निष्ठामें आप सर्वशिरोमणि थे—

श्रीहरिवंश तनय वनचन्द। तिनके सुत नागर रस कन्द॥
तिनके शिष्य धर्म सम्पन्य। त्यागी सम दृग सम नहिं अन्य॥
श्रीवृन्दावन यमुना तीर। घाट सँवार्‍यौ सब मुख सीर॥
मन्दिर शिखर बन्ध करवायौ। प्रभु पधराइ कियौ मन भायौ॥
श्रीश्यामाजी निकट बुलाये। तनहिं छाँड़ि निज महल सिधाये॥

श्रीसर्वेश्वर भक्तमाल पृष्ठ ९०५ पर शोध सम्प्राप्त वृत्त अङ्कित है—कुछ शताब्दियों से तूंवर राजवंश की एक राजधानी पाटण में रही। यहाँ कई एक विद्वानों के घराने भी प्रसिद्ध थे। इस राजवंश में साँगाजी नामक एक साहसी वीर पुरुष हुए हैं। वे अपनी जन्मभूमि पाटणसे उठकर वहाँ से ८९ कोसकी दूरी पर दक्षिण में (गाँवड़ी गणेश्वर ग्राम में) रहने लगे। यहाँके पहाड़ोंमें कई प्रपात और निर्झर हैं। आस-पास की जनता पर्वोंके समय इन तीर्थों में स्नान करने के लिए एकत्रित होती है। साँगाजीने मीणों को परास्त करके गाँवड़ीको अपने आधिपत्य में ले लिया था। उनकी तीसरी पीढ़ीमें पीपाजीका जन्म हुआ। उनके तीन पुत्रों में बीकाजी सबसे बड़े और बड़े भक्त थे। किसी कारणवश गाँवड़ी को छोड़कर वे चला की ओर चल दिये और वहाँसे चार कोस की दूरी पर भगेगा (पहाड़) में निवास करने लगे। वहाँ ही उनके हरिदासजी और गोविन्ददासजी ये दो पुत्र हुए। कहा जाता है कि उन्हें किसी सन्तका आशीर्वाद मिला था अतः दोनों पुत्र भक्त हुए। इस क्षेत्र में हरिदासजीकी अपेक्षा गोविन्ददास का प्रभाव अधिक है। चला और भगेगा के मध्य गोविन्दपुरा गोविन्ददासकी स्मृति में बसाया गया था। इस क्षेत्र में अनेक मन्दिर निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धति से बने और उनके आधिपत्य में हैं। कहा जाता है कि हरिदासजी के गुरुदेव नाफादासजी नन्दगाँव में रहते थे। एकबार वे किसी जेलखाने के द्वार पर जा बैठे। उन्होंने जेलरसे कहा कि या तो हमें बन्दी बना लो या सभी

कैदियों को छोड़ दो। कई दिन तक अनशन से प्रभावित होकर बादशाहने सभी कैदियोंको छोड़नेकी आज्ञा दे दी।

माघ शुक्ला ६ और भाद्रपद शुक्ला ६ इन दोनों तिथियों में गोविन्ददासजी का स्मृति उत्सव मनाया जाता है। जिन गाँवों में इनके वंशजों का आधिपत्य रहा है वहाँ के किसान उक्त दोनों तिथियोंमें बैलोंको नहीं जोतते हैं। भाद्रपद शु० ६ को तो गोविन्दपुरा में एक अच्छा मेला भी लगता है। जिसमें मनोरञ्जनात्मक कार्यों के साथ श्रीगोविन्ददासजी की पूजा होती है, उन्हें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की जाती हैं। कहा जाता है कि दोनों भाइयोंकी भक्तिसे प्रभावित होकर सम्मानपूर्वक बादशाह ने उनके परिवार को अजमेर शहर प्रदान किया। किन्तु द्वेषियोंने लिखा–पढ़ी के समय अजमेर के अन्त में एक ई की मात्रा बढ़वा दी। जिससे उन्हें बारह गाँवों में से केवल एक अजमेरी ही प्राप्त हो सका। श्रीगोविन्ददासका आज भी ऐसा प्रभाव है कि उन गाँवों में लोग मद्य-मांसका प्रयोग नहीं करते हैं और वैष्णवता धारण कर भक्ति करते हैं। भगेगा तथा गोविन्दपुरा में श्रीगोविन्ददास की चरण पादुकायें हैं।

विशेष–भक्तदाम गुण चित्रणी पृष्ठ १०३, १०४ का सारांश इस प्रकार है। राजा शिवि आदि पाँच महापुरुषोंके गुणों को श्रीहरिदास में कहकर यह जनाया कि इनमें भक्तिके सभी अङ्ग परिपूर्ण थे। क्योंकि मूल में सन्त-सेवा निष्ठा अति बलवती थी। एकबार एक ब्राह्मणका एक तुरककी स्त्रीसे सम्पर्क हो गया उसी प्रसङ्ग में ब्राह्मणने एक नर हत्या कर दी। तुरकने ब्राह्मण का पीछा किया। वह भागकर श्रीहरिदासजी की शरण में पहुँच गया। दलबल सहित तुरकने हरिदास के पास जाकर झगड़ा ठान दिया। इन्होंने उसे नहीं लौटाया। तब उस तुरकने बादशाहके यहाँ पुकार की। बादशाहने इन्हें बुलाकर हत्यारे को वापस करनेका आग्रह किया। इस पर आपने स्पष्ट कहा कि मैं किसी अपराधी का पक्षपाती नहीं हूँ परन्तु यह ब्राह्मण मेरी शरणमें है अतः अब मैं इसका त्याग नहीं कर सकता। इसके बदले मेरा सिर ले लीजिये। इसे छोड़ दीजिये। बादशाह ने कहा–ठीक है। तुम अपना सिर दे दो। शाही हुक्म हो गया, सिर कटने वाला ही था कि बादशाह ने कहा–तुम अपने धर्म के पक्के हो, इसलिए मारे जाने योग्य नहीं हो। प्रसन्न होकर बादशाहने इन्हें पुरस्कार में एक तुर्रा (पूंच) दिया। ये उसे बाँधकर दरबार में जाते। कुछ दिन बाद उसने अपना दिया इनाम इनके पास न देखकर पूछा तो इन्होंने बताया कि किसी ने मुझसे माँगा तो हमने उसे दे दिया। बादशाह ने कहा–ऐसी मूल्यवान वस्तु आपने कैसे दे दी। आपने उत्तर दिया

कि माँगने पर तो मैं अपना सिर भी दे सकता हूँ, तब किसी वस्तु की क्या बात। बादशाह चुप हो गया। तभी मूलमें शरणागत को शिविर कहा।

कुछ दिनोंके बाद बादशाहने दो गुप्तचरोंसे कहा कि तुम फकीरों का वेश बनाकर हरिदासकी परीक्षा लो। इन दोनों ने जाकर कहा कि हमारे पीर साहब के शरीरमें फोड़ा हो गया है। वह अच्छा नहीं हो रहा है। हकीमों ने कहा है कि किसी वीर पुरुष का मांस लाओ तो यह ठीक हो सकता है। प्रसन्नतासे आप दे सकें तो दें। इन्होंने झट छुरी ली और मांस काटने लगे। उन दोनोंने पकड़ लिया और कहा कि अभी नहीं हम फिर आवेंगे। बादशाह ने यह सुनकर इनका बड़ा सम्मान किया।

एकबार एक तिलक कण्ठीधारी आकर रह गया। कुछ दिन बाद प्रभु प्रेरणा से उसकी बुद्धि बदली। राजमहलसे बहुत-सा धन और एक दासी लेकर भाग गया। इस पर लोगों को रोष हुआ। उन्होंने कहा-अब इन्हें भीतर नहीं जाने दिया जाय। बाहर ही इनके भोजनादिका प्रबन्ध कर देना चाहिए। श्रीहरिदासजीने कहा-आप लोग चुप रहिये, सब कुछ सन्तोंका है, वे अपना ले गये, तुम्हें दुःख क्यों। सन्त-सेवा से प्रभु प्रसन्न होते हैं। इसलिए निष्कपट भावसे सन्तवेश मात्र की सेवा करनी है। इसके कुछ दिन बाद बालक सन्त भगवानने कामुकका-सा दृश्य दिखाया पर वे भगवान श्रीहरिदास की द्रृष्टि को धोखा न दे सके। कन्याको भगवत्स्पर्श हुआ, यह देखकर उसके प्रति अमोघ श्रद्धा और वात्सल्य उमड़ा। वह भी श्रीहरिमें अचल अनुरागवती हो गई।

एकबार श्रीहरिदासजी ध्यानमग्न थे। इसी बीच बादशाह को इनसे मन्त्रणाकी जरूरत पड़ी। दूत बुलाने आये पर ध्यान करते देखकर वापस गये। बादशाह ने दो मन्त्री और एक पठानको भेजा कि आवश्यक मन्त्रणा करके आओ। इनके आने पर भी आपका ध्यान नहीं छूटा था। इन्होंने कहा कि हम उनके ध्यानमें बाधा न करेंगे, तब इन्हें भीतर जाने दिया गया। ये लोग बड़ी देर तक बैठे रहे। पठान के मनमें दुर्भाव आया, मिथ्या समाधि जानकर उसने इनके शरीर में परीक्षार्थ छुरी चुभाई पर वह चुभी नहीं। तब उसने अपने शरीर की पूरी शक्ति लगाई। फिर भी छुरी नहीं चुभी, तब वह भयभीत और आश्चर्यचकित हो गया। कुछ देर बाद आपकी मानसी-सेवा पूरी हुई। तब आपने नेत्र खोले। इन लोगोंने आवश्यक मन्त्रणा की और धृष्टता बताई, क्षमा-याचना की। बादशाह ने सुना तो उसकी श्रद्धा बढ़ी। इस प्रकार प्रभु ने आपकी कीर्ति का विस्तार किया।

एक प्रभावशाली दुष्ट सदा इनसे अकारण द्वेष किया करता था। एकबार उसने अपने साथियोंसे कहा कि यदि हरिदासको किसी प्रकार कोई मार डाले तो मैं उसे अपना आत्मीय मानूंगा। एक साथी तैयार हो गया। उसने इनकी उदारता की कथा सुन रक्खी थी। उसका अनुचित लाभ उठानेकी इच्छासे वह इनके पास आया और सेवक बनकर सेवा करने लगा। बहुत दिन बीतने पर एकबार आप उस पर प्रसन्न हो गये और बोले—तुम जो चाहो सो माँग लो। उस राजपूतने कहा—'आप अपना सिर हमें दे दीजिये।' आपने कहा—बहुत अच्छा, यह तलवार है, चाहे आप काट लो, कहो तो मैं काट दूं। अभी एकान्त है किसी को पता भी न पड़ेगा। आप सिर लेकर चम्पत हो जाओ। इनकी निष्कपट बातें सुनकर उसे बड़ा अनुराग हुआ। यह इनके सम्पर्क में रहने का फल था। उसने सच्ची बात बता दी कि मेरा साथी आपका द्वेषी है, उसको प्रसन्न करने के लिए मैंने आपका सिर माँगा है। अब मैं उससे पूछकर तब लूंगा। अपने साथी के पास आकर उसने सब हाल बताकर कहा कि वे महान् धर्मशील हैं, सिर देनेके लिए तैयार हैं। अब तुम उनसे द्वेष न करके प्रेम करो तो मैं उन्हें तुम्हारे पास ले आऊँ। इसने स्वीकार किया, तब उस राजपूतने कहा-आप मेरे साथी के पास चलिये। ऐसा कहकर वह रातको गुप-चुप इन्हें लेकर चला। आपने अपने गले में रस्सी बाँधी और राजपूत के हाथ में थमा दी। फिर उसके पीछे-पीछे चले। इस प्रकार इन्हें आया देखकर वह पानी-पानी हो गया। इनके पैरों पर गिरकर उसने इनका सम्मान किया और निवास-स्थान तक पहुँचाने आया। यह दिल्लीकी घटना है। दो०—'हरीदास हरि निरमयौ अस परहित के काज। सन्त सेव हित करन कों और न अस नर राज।।'

* श्रीकृष्णदासजी *

नन्दकुंवर कृष्णदास कों निज पग तें नूपुर दियौ।।
तान मान सुर ताल सुलय सुन्दरि सुठि सोहै।
सुधा अङ्ग भ्रूभङ्ग गान उपमा को कोहै।।
रत्नाकर संगीत रागमाला रँगरासी।
रिझये राधालाल भक्तपद रेनु उपासी।।
स्वर्णकार खरगू सुवन भक्त भजनपन दृढ़ लियौ।
नन्दकुंवर कृष्णदास कों निज पग तें नूपुर दियौ।।१८०।।

शब्दार्थ—तान=लयका विस्तार। तान मान=तानका प्रमाण। सुर=स्वर, सङ्गीत का सरगम। सुलय=गाने का उत्तम ढंग। भ्रूभङ्ग=भौंहका चलाना या चढ़ाना। सुधाअङ्ग=सुधंग, अच्छा ढंग।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी महान् भक्त थे। एकबार नृत्य करते समय इनके पैर में से नूपुर खुलकर गिर गया। तो स्वयं नन्द-नन्दन ने अपने चरणों में से खोलकर एक नूपुर इनके पैरमें बाँध दिया। जिस समय ये स्वर-ताल को सँभालकर सुन्दर लयके साथ गाते थे, उस समय श्रोताओंको बड़ा ही आनन्द आता था। नाचनेका सुन्दर ढंग, भौहों के साथ अङ्गोंका सञ्चालन और गायन में इसके समान कोई भी नहीं दिखाई देता था। आप सङ्गीत शास्त्र के तो रत्नाकर थे तथा राग समूह के आनन्द की राशि थे। अर्थात् शास्त्रीय सङ्गीत के विशेषज्ञ थे। आपने अपने सद्‌गुणों से श्रीराधा-कृष्ण को रिझा लिया था। भक्तोंकी चरण धूलिके उपासक, खरगू स्वर्णकार के सुपुत्र श्रीकृष्णदासजीने भक्तों की सेवाका दृढ़ नियम ले रक्खा था।।१८०।।

व्याख्या-नन्दकुंवर—भगवान श्रीकृष्ण से बढ़कर कोई नृत्य, गान और वाद्य में प्रवीण नहीं हो सकता है। ऐसे भगवान को भक्तजन रिझा लेते हैं, उसमें मात्र संगीत की कला ही कारण नहीं है। उसमें उनकी भक्त-भगवान की विशुद्ध-भक्ति ही कारण है। भक्ति से हीन कोई भी गुण प्रभु को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हैं।

रागमाला—मूल राग छः हैं—भैरवः कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा। श्रीरागो मेघरागश्च रागाः षडिति कीर्तिताः।।' (भरत) दूसरों ने भिन्न-भिन्न नाम बताये हैं। प्रत्येक राग के अनुरूप छः-छः रागनियाँ होती हैं। छः राग और छत्तीस रागनियों के अतिरिक्त संगीत के अनेक राग हो जाते हैं। इन रागोंमें जब भगवद् गुणगान होता है तब उसकी महिमा अनन्त हो जाती है। अन्यथा ग्राम्यगीतों के गायक और श्रोताओं को संसारमें आसक्त होना पड़ता है। ऐसे रागोंको सर्पका श्वास वायु समझना चाहिए। यथा—

भैरव विलावल मिलावत ललित माँझ, गूजरी देव गन्धार प्रात ही विभास री।
प्रथम मलारमेघ रामकली आशावरी, जैतिसिरी आदि ऐसे अमर धनास री।।
हिंडोल सारंग नट अड़ानो उपावें घटि, कालिङ्गड़ा खम्बायची सोहै चतुर्मास री।
सिरी रागसिन्धु गौरी मालव वसन्त टोड़ी, अरु सोरठ सदा सो रहत उदास री।।
मारु दीपक सूहो कल्यान केदारो गान, बखत बिहागरे को गावत विलास री।
पंचम बड़े अपानो जंगली काफी सयानो, माल गौड़ मालकोस राग को निवास री।।

कहत दयाल ये गुपाल के छतीसौं राग, ऐसी विधि मोहन बजाई वन बाँसुरी।
सोई तो सुजान हरि केरे गुन गाय जाने, बाकी तो बकत ज्यौं भुजंग लेत श्वांस री।।
सुखिनि सुखनिवासो दुःखितानां विनोदः, श्रवणहृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः।
रतिरभसविधाता वल्लभः कामिनीनां, जगति जयति नादः कोकिलानां वसन्ते।।
सस्वरं सरसं चैव सरागं मधुराक्षरम्। सालङ्कारप्रमाणं च षड्विधं गीतलक्षणम्।
स्वरेण पदसंयुक्तं छन्दसा च सुसंयुतम्। समानकं सतालञ्च सङ्गीतं तेन भण्यते।।

अर्थ—रागज्ञान नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि सुखी लोगों को विशेष सुख देने वाला, दुःखी लोगोंके मनको प्रसन्न करने वाल, श्रवण और मनको प्रिय लगने वाला, कामका अग्रदूत, भगवत्प्रेम (कामक्रीड़ा) की उत्सुकता बढ़ाने वाला तथा कामी-कामिनियों को प्रिय जो कोकिलनाद (कोकिल कण्ठ गायक का गान) वसन्त ऋतुमें सभी पर विजयी है। स्वर-सहित, सरस, सराग, मधुराक्षर, सालङ्कार और सप्रमाण ये छः लक्षण गीत के हैं। स्वरोंसे संयुक्त, शास्त्रीय छन्दों से युक्त, समान और ताल सहित जो गाये जायँ उन्हें सङ्गीत कहते हैं।

श्रीकृष्णदासजी इन सभीके विशेषज्ञ थे। रिझये राधालाल कहने का भाव यह कि आपने अपनी सङ्गीत कलासे किसी व्यक्ति विशेष, राजा-महाराजा को न रिझाकर केवल प्रिया-प्रियतमको रिझाया। 'भक्तपद रेणु उपासी' और 'भक्त भजन पन दृढ़ लियौ' कहकर सिद्ध किया गया कि केवल भक्तपद का ध्यान या रज सेवन मात्र न करके सब प्रकार अर्थात् भोजन-पान, वस्त्रादि से सेवा करते थे। 'खरगू' पिता का नाम लेकर उनकी भी भक्तोंमें गणना की गई। 'स्वर्णकार' का भाव यह कि इस जाति के लोग प्रायःछल-बलसे लाभ उठाते हैं, श्रीठाकुरजी के आभूषणों में से भी सोना-चाँदी चुरा लेते हैं। भेंट देना सेवा करना तो बहुत दूर है। परन्तु इस जाति में भी श्रीतिलोक सुनार क० ४०६ और श्रीकृष्णदासजी छ०१८० आदि अनेक भक्त हुए। (सुनारोंकी चालाकी के दृष्टान्त तृतीयखण्ड पृष्ठ २५७ पर देखिये) प्रेमी भक्तोंकी सेवा करके इन्होंने भी प्रेम प्राप्त किया। सो०—नेही अच्छर दोय, ये तौ विधना ना रचे। को पावैगो ओय, नेह पन्थ नेही बिना।।

कृष्णदास ये सुनार राधाकृष्ण सुखसार, लियौ सेवा पाछे नृत्य गान बिसतारियै।
ह्वै करि मगन काहू दिन तन सुधि भूली, एक पग नूपुर सो गिर्‌यौ न सँभारियै।।
लाल अति रङ्ग भरे जानी जति भङ्ग भई, पांय निज खोलि आप बाँध्यौ सुख भारियै।
फेरि सुधि आई देखि धारा लै बहाई नैन, कीरति यों छाई जग भक्ति लागी प्यारियै।।६११

शब्दार्थ—सुखसार=आनन्दमय तत्व, मोक्ष। भंग=भग्न, नष्ट। जति=ताल।

भावार्थ—भक्तवर श्रीकृष्णदासजी सुनार जाति के थे। इन्होंने परमानन्द के रूप युगल श्रीराधाकृष्ण की सेवा को अपनाया। आप नित्य-नियम से प्रिया-प्रियतम की सेवा करके उसके पश्चात् उनके सामने आनन्दमग्न होकर नृत्य और गान करते थे। एकदिन आप नाचने-गानेमें ऐसे मग्न हो गये कि आपको अपने शरीर की सुध नहीं रही। इसी बीच आपके एक पैरका नूपुर टूटकर गिर गया। आप नृत्य भाव में विभोर थे, अतः आप नूपुर को बाँध नहीं सके। नूपुर टूटकर गिर गया है, इसका आपको पता ही न था। घुंघरूके बिना बजे तालकी गति बिगड़ गई। नृत्य-गान और तानके रंगमें रंगे श्रीलालजी से यह सहन नहीं हुआ, अतः उन्होंने अपने श्रीचरण से अपना नूपुर खोलकर कृष्णदासजी के पैरमें बाँध दिया। अब ताल पर घुंघरू का बजना सुनकर श्रीठाकुरजी बहुत ही प्रसन्न हुए। नृत्य-गानको समाप्त कर श्रीकृष्णदासजी जब स्वस्थ हुए तो उन्होंने देखा कि मेरे पैरका नूपुर अलग धरती पर पड़ा है और उसकी जगह मेरे पैरमें दूसरा दिव्य नूपुर बँधा हुआ है। भगवानकी इस कृपालुताका अनुभव करके आपके नेत्रोंसे आँसुओं की धारा बहने लगी। दूसरे जिन-जिन लोगोंने जाना-सुना उन्हें भी भगवद्भक्ति प्रिय लगी, वे भी भजन-कीर्तन करने लगे। श्रीकृष्णदासजी की पवित्र कीर्ति संसारमें फैल गई।।६११।।

व्याख्या—जैसे ये 'ह्वै करि मगन' सेवा तथा नृत्य कीर्तन करते, उसे देख-सुनकर 'लाल अति रंग भरे'। श्रीकृष्णदासके नूपुरको उनके पैरमें न बाँधकर अपने पगका नूपुर बाँधा। अपनी रीझ प्रकट करने के लिए। नृत्य-गान कला प्रवीन हैं अतः हमको तालभङ्ग सहन नहीं होता अतः 'बाँध्यौ सुख भारियै।' सावधान होकर देखने पर दुःख हुआ कि प्रभुके अङ्गका भूषण तो सिर पर धारण करने के योग्य है। प्रभुने समझाया कि हम-तुम एक कुंजके द्वौ सखा हैं अतः दुःख न मानो। उस नूपुरका दर्शन जिन जिनने किया, उन्हें भी प्रभु प्रेम मिला।

* परम धर्म पोषक संन्यासी भक्त *

परमधर्म प्रति पोषकौं संन्यासी ए मुकुटमनि।।
चित्सुख टीकाकार भक्ति सर्वोपरि राखी।
श्रीदामोदर तीर्थ राम अर्चन विधि भाखी।।
चन्द्रोदय हरिभक्ति नरसिंहारन कीनी।
माधौ मधुसूदन सरस्वती परमहंस कीरति लीनी।।

प्रबोधानन्द रामभद्र जगदानन्द कलिजुग्ग धनि।
परमधर्म प्रति पोषकौं संन्यासी ए मुकुटमनि।।१८१।।

शब्दार्थ—प्रति पोषकौं=सब प्रकार से पालन-पोषण। तीर्थ=संन्यासियोंकी एक उपाधि।

भावार्थ—श्रीचित्सुखानन्दजी सरस्वती ने श्रीभगवद् गीता पर चित्सुखी नाम की टीका लिखी, उसमें इन्होंने कर्म, ज्ञान आदिकी अपेक्षा हरिभक्तिको सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया। श्रीदामोदर तीर्थ ने रामार्चन विधि का वर्णन किया, उसमें भक्ति को महत्व दिया। श्रीनृसिंहारण्यजीने हरिभक्ति-चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ लिखा। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्ति रसायन आदि ग्रन्थ लिखे। श्रीमाधवानन्दजी भी भगवद् भक्त हुए। श्रीमाधवानन्दजी और श्रीरामभद्रजी और श्रीजगदानन्दजी भी कलियुगमें भगवद् भक्तिकी आराधना करके धन्यवादके योग्य हुए। इन सभी संन्यासी महानुभावों ने परमधर्म श्रीहरिभक्ति का प्रतिपादन और समर्थन किया अतः ये संन्यासियोंके मुकुटमणि कहे गये।।१८१।।

व्याख्या—परमधर्म—श्रीमद्भागवतके अजामिल उपाख्यान में जिसका निर्णय (६-३-२२) किया गया है वही परमधर्म है। 'अजामेल परसंग यह निर्णय परमधर्म के जान।' (छ० ७ पूर्वार्द्ध पृष्ठ १४५) भगवन्नाम संकीर्तनादिसे उनमें जो भक्तियोग का होना है, यही इस जगत्में जीवों का परमधर्म है। नाम ग्रहणादि भी केवल भगवत् तुष्टिके लिए हो। यदि उसका प्रयोग अर्थ-धर्मादि के लिए होता है तो उसका श्रेष्ठत्व नहीं रहता है। तुच्छ फलके लिए भगवन्नाम का प्रयोग नामापराध है। पुनः श्रीश्रीधर स्वामीने अपनी 'भावार्थ दीपिका' टीका में जिसका निर्णय किया है वह परमधर्म है। यथा—'श्रीधर श्रीभागौत में परम धरम निरनै कियौ' (छ० ४५ द्वितीयखण्ड भक्तमाल पृष्ठ २९० देखिये) इसी का पोषण इन श्रेष्ठ संन्यासियों ने किया। ये संन्यासी मुकुटमणि थे अतः इन्होंने परमधर्म का प्रतिपादन किया। केवल संन्यासी होते तो धर्म का ही पोषण करते। परमधर्म की आराधनाका भी वर्णन भक्तमालमें है। यथा—'परम धरम कौ सेतु विदित वृन्दावन गाजै।' (श्रीगदाधर भट्ट छ० १३८) परमधर्मको दृढ़ करनेके लिए श्रीगुरुदेवकी आराधना की। 'परम धरम दृढ़ करन देव श्रीगुरु आराध्यौ।' (श्रीनागाजी छ० १४८) परम धर्मके साधक कलियुगमें कामधेनु तुल्य हुए। यथा—'परम धरम साधन सुदृढ़ कलियुग कामधेनु में गन्यौ।' (श्रीहरिदासजी छ० १५६) नवधाके द्वारा परमधर्म आराधक श्रीजसवन्त सिंहजी। 'परमधरम नवधा प्रधान।' (छ० १५५) 'परम धरम प्रतिपाल सन्त मारग उपदेसी।' (श्रीलक्ष्मण

भट्ट १८४) 'परमधरम विस्तार हित प्रगट भये नाहिन तथा।' (श्रीसन्तदास, माधवदासजी।' छ० १९०) इस सम्बन्धमें उक्त प्रसङ्ग मननीय हैं।

ज्ञानी स्वयं को ब्रह्म कहकर ईश्वर की समता करते हैं, समान बनना चाहते हैं। वैष्णवोंकी दृष्टिमें यह अपराध है। 'जीव कि ईश समान।' (रा०) भगवान एक हैं, सगुण और निर्गुण ये दोनों उन्हीं के रूप हैं। जो सगुण को अस्वीकार कर केवल निर्गुण की उपासना करते हैं, ऐसे कोरे ज्ञानी को क्लेश मिलता है। दृष्टान्त देखिये द्वि० खं० पृष्ठ ५०६। एक ज्ञानी का शिष्य 'सोऽहंसोऽहं' जपता था, किसी सगुणोपासकने उसमें कमी बताकर आदि में 'दा' को जोड़ दिया। दासोऽहं जपते-जपते पूर्व गुरुने आदि में 'स' और जोड़ने को कह दिया। अब वह सदासोऽहं जपने लगा। पश्चात् द्वितीय गुरुने पुनः 'दा' को जोड़कर मन्त्रको पूर्ण किया। तब 'दासदासोऽहं' मैं भगवद् दासों का दास हूँ, इस मन्त्र को जपने से उसे ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति हो गई।

भक्ति सर्वोपरि राखी—क्योंकि इसमें सुख विशेष है। यथा—इनहिं विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।। वही परमधर्म है जिसके आचरण से प्रभु में भक्ति हो। 'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।' (भा० १-२-६) भक्ति भी ऐसी हो जिसमें भक्ति विरुद्ध कामना न हो और नित्य-निरन्तर स्थिर रहने वाली हो। दो०—

जिनको फल स्वर्गादि सुख सो सब धर्म अनित्य। जाते हरि रति पाइये परमधरम सो सत्य।।
भगवत धर्म न संग्रहे साधे धर्म अनेक। पति पवित्र न होहिंगे बिना अनन्य सु टेक।।
वर्नाश्रम के धर्म कौ भगवत धर्म सहाय। यथा प्रजा राजा बिना दुहूँ हाथ ते खाइ।।

पद— कह व्रत नेम सीत जल साधन ग्रीषम अग्नि और बहु झर की ।
कन निर्जल कह दुग्ध साक भुक कंचन भवन गुफा गहवर की।।
कह मुख मौन हाथ नख दीरघ परे खात भिक्षा घर घर की।
लाल कृपाल प्रेमरस बन्धन निर्भय भक्ति राधिका बर की।।

संन्यासी—दो प्रकारके होते हैं, वैष्णव और शैव। वैष्णव संन्यासी तो विष्णुके उपासक होते ही हैं। इस छप्पयमें कहे गये ये आठ शैव-संन्यासी विष्णु उपासक, रसिक भक्त हुए। शैव संन्यासियोंके दस भेद हैं—गिरी, पुरी, भारती, तीर्थ, वन, सरस्वती, सागर, अरण्य, आश्रम और पर्वत। भगवान शङ्कराचार्यजीके मतानुयायी ये अद्वैत के उपासक होते हैं और भक्ति की अपेक्षा ज्ञानको अधिक महत्व देते हैं। भक्तिको ज्ञानका साधन मानते हैं। वस्तुतः श्रीशङ्कराचार्यजी का आन्तरिक मत (भज गोविन्दं, भज गोविन्दं) भगवद्

भक्ति ही था और उसका प्रचार भी इन्होंने किया। यथा—कह्यो जोई करयौ धर्म भागवत लये है।' इसके बाद भगवदाज्ञा से-'भक्ति ही प्रचार पाछे मायावाद डारि दीनो कीनो प्रभु कह्यौ किते विमुख हू भये हैं।' (भक्तमाल क० १२६) श्रीशङ्कराचार्यजी के आशयको जिन्होंने समझा, उन धीर-गम्भीर संन्यासी सन्तोंने भक्ति का आश्रय लिया और उसीका उपदेश किया। इस छ० में आये सन्तोंने कर्मयोग और ज्ञानयोगके सम्पुट में भक्तियोगरूपी रत्नको सुरक्षित रक्खा। परमहंस चक्रचूड़ामणि श्रीशुकदेवजी की तरह प्रथम निर्गुण की उपासना करके फिर सगुणके उपासक हो गये। भक्तदाम गुणचित्रणीकार ने चार के चरित्रोंको लिखा, उसका सारांश नीचे दिया जाता है—

श्रीदामोदरतीर्थ—ये भगवान श्रीरामके परम भक्त थे। निरन्तर ध्यान में मग्न रहा करते थे। एकबार आप ध्यानमग्न होकर श्रीसीताराम नाम का जप कर रहे थे, उसी समय श्रीसीतारामजीने प्रकट होकर दर्शन दिया। आपके हृदयमें भक्तिका भाव और दृढ़ हो गया। परमानन्दमय प्रभुरूपमें मग्न हो गये। फिर आपके मनमें भाव आया कि यह दर्शन दूसरे भक्तोंको कैसे सुलभ हो। तब श्रीराघवेन्द्रने प्रेरणा की कि अर्चन पद्धति का वर्णन करो। उससे हमारा दर्शन सुलभ हो जायगा। आपके द्वारा लिखित रामार्चन विधिसे अर्चन करके लोगोंने श्रीसीतारामजीका दर्शन पाया। इस प्रकार ग्रन्थोंका निर्माण कर आपने भक्तिपथ प्रदर्शित किया। रामार्चन महत्व—

ये केवलाद्वैतमतानुरक्ताः श्रीराममूर्तिं विमलां विहाय।
ते वै मदान्धा भवने सुधारसं त्यक्त्वा यजन्ति प्रतिबिम्बकुम्भम्।।
ये रामभक्तिममलां सु विहाय रम्यां ज्ञाने रताः प्रतिदिनं परिक्लिष्टमार्गे।
आरान्महेन्द्रसुरभिं परिहृत्य मूर्खा अर्कम्भजन्ति सुभगे सुखदुग्धहेतुम्।।

अर्थ—जो भगवान श्रीरामकी सुन्दर मूर्तिको छोड़कर गुणहीन ब्रह्म की कल्पना कर उसका ध्यान करते हैं, वे घटके अमृतरस को छोड़कर घड़ेकी छाया की आशा करते हैं। दिव्य श्रीरामभक्ति को छोड़कर जो शुष्कज्ञान में रत हैं वे क्लेशके भागी होते हैं। घरमें कामधेनुको छोड़कर सुखरूप दुग्ध की प्राप्ति के लिए अर्क (अकौवा) का सेवन करते हैं। 'जे रघुवीर भक्ति परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।। ते शठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी।। (रामा०)

श्रीनृसिंहारण्यजी—आपको भक्ति अत्यन्त प्रिय थी। आपने हरिभक्ति चन्द्रोदय नामक उत्तम ग्रन्थ की रचना की। उसमें जीवलोक की मुक्ति, भूमि पर विवेक को राजा बताया।

उसके शत्रु मोहसे विवेक का बड़ा-भारी युद्ध हुआ। शील, धर्म, सन्तोष और वैराग्य आदिको विवेकके सेनानी बताया। काम, क्रोध, लोभ और ममता आदि को मोहके सेनानी कहा। चिरकाल तक भयङ्कर युद्धके पश्चात् मोह जीत गया और विवेक की सेना भाग खड़ी हुई। विवेक की एक श्रद्धा नाम की स्त्री थी। उसके गर्भमें प्रीति नाम की एक कन्या थी। उसी समय उसका जन्म हुआ और वह तत्क्षण बहुत बड़ी हो गई। उसने ज्ञानरूपी खड्गको हाथमें लिया और सेना सहित मोहको मार भगाया। फिर विवेकको शक्ति जगी। उसके मरे सैनिक जी उठे। इस प्रकार भक्ति की विजय का वर्णन करके आपने परमधर्म का पोषक किया।

श्रीरामभद्रजी—ये भगवान श्रीरामके परमभक्त थे। चातुर्मास्य व्रतके लिए आप एक स्थान पर ठहरे। वहाँ आपके सदुपदेशोंको सुननेके लिए बहुत भीड़ एकत्र होती। वर्षा ऋतुके बीत जाने पर आप वहाँ से चलने के लिए तैयार हो गये। क्योंकि भीड़-भाड़ और प्रतिष्ठा आपको अच्छी नहीं लगती थी। भगवानने स्वप्न दिया कि वर्षाके बाद शरद्ऋतु में भी यही निवास करो और अपने उपदेशों से लोगों में भक्ति का प्रचार करो। आपने स्वप्नादेश का उल्लङ्घन कर दिया। उसे केवल अपने मनका विकार माना, भगवदादेश नहीं माना और आश्विन शुक्ल दशमी भी नहीं आने दी, प्रतिपदा को ही चल दिये। मार्ग में एक नदी मिली। आपने देखा कि पानी थोड़ा है अतः पैदल ही उसे पार करने के लिए उसमें घुसे। बीच धारमें पहुँचते ही जलकी बाढ़ आ गई। तेज गहरी धारमें श्रीरामभद्रजी बहने और डूबने लगे। तब आपको भगवान श्रीरामकी याद आई, अपनी भूल पर पछताने लगे। शरीर का अन्तिम समय समझकर राम-नामका स्मरण करने लगे। यथा—'ततकाल रामहिं कर्‍यौ सुमिरन भक्त बस प्रभु आइये। झट हाथ गहि रघुनाथ ताको चोजमधु गिर गाइये।।' अर्थात् श्रीरामने झट हाथ पकड़ लिया और बड़ी मधुर वाणीसे बोले—'तुमने मेरी आज्ञाको छोड़ा, अब मैं तुमको नदीके जलमें छोड़ रहा हूँ।' श्रीरामभद्रजीने कहा—'प्रभो ! मैं अज्ञानी जीव, आपका शिशु अनुचित कर सकता हूँ पर आप अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकते हैं।' ऐसे दीनवचन सुनकर प्रभुने इन्हें नदी से निकालकर तट पर खड़ा कर दिया और स्वयं आप फिर नदीमें कूद पड़े। भगवत्स्पर्श और दर्शन से कृतार्थ हुए श्रीरामभद्रजीसे नहीं रहा गया, ये भी नदी में कूद पड़े। हँसकर प्रभुने इन्हें फिर निकाला और अपने दर्शनों से इनके मनोरथ को पूर्ण किया। प्रेममग्न होकर आप पुनः उसी स्थान पर आ गये। यह सुनकर लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। आपने स्वप्नादेश और भगवत्कृपाका वर्णन करके सभीके मनमें भक्तिभाव भर दिया।

श्रीजगदानन्दजी—आपकी जैसी भक्ति भगवान श्रीरामके चरणोंमें थी, वैसी किसी विरले ही पुरुषमें होगी। आपमें वर्ण-आश्रम या विद्या आदि का अहङ्कार बिल्कुल न था। वैष्णव सन्तको देखते ही उनके चरणोंमें सिर झुकाते, उनकी परिक्रमा करते और मधुर वाणीसे सत्कार करते हुए कहते कि—'आज मेरे धन्य भाग्य हैं, जो मुझे श्रीरामजी के प्यारे मिल गये।' भोजन-विश्रामादिके बाद उनसे प्रार्थना करते कि—'कोई श्रीरामजी की कथा सुनाइये।' इस प्रकार सत्सङ्ग में सर्वदा भगवत्कथाओं को कह-सुनकर परमधर्म का प्रचार-प्रसार करते। एकबार दो सन्त तीर्थयात्रा करते हुए काशीजीमें आये। वहाँ एक सन्त बीमार हो गये और उनका शरीर छूट गया। उनके वियोग में दूसरे सन्त करुणक्रन्दन करने लगे—'हाय ! मैं अचानक ही आपके सत्सङ्ग से वञ्चित हो गया।' उसका विलाप सुनकर श्रीजगदानन्दजीसे नहीं रहा गया। निकट जाकर आपने उसे कृपा भरी दृष्टि से देखा और उसके दुःखको दूर करने के लिए उससे कहा—सन्तजी ! आप विलाप न करें, ये मरे नहीं हैं। आपके साथ-साथ तीर्थयात्रा को पूर्ण करके, अपने स्थानमें पहुँचकर आज से एक माहके बाद शरीर त्यागकर वैकुण्ठको पधारेंगे। आपका स्पर्श पाकर सन्त उठ बैठे। दोनों ने आपको सिद्ध महापुरुष मानकर दण्डवत्प्रणाम किया। इस प्रकार आपने अनेकों के सङ्कट काटकर उन्हें परमधर्म का उपदेश दिया।

श्रीमधुसूदन सरस्वती—ईसा की लगभग सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के फरीदपुर जिले के कोटालपाड़ा ग्राममें प्रमोदनपुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके श्रीकमलनयनजी तृतीय पुत्र हुए। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीप के हरिराम तर्कवागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमसे इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं संन्यास ग्रहण किया। संन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पड़ा। पहले इन्हें शास्त्रार्थ करने की धुन थी। इन्होंने बड़े-बड़े विद्वानोंको हराया। श्रीकृष्ण इन्हें अपनाना चाहते थे अतः उनकी प्रेरणा से एक वृद्ध दिगम्बर परमहंस (श्रीविश्वनाथजी) ने इनसे कहा—'स्वामीजी ! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपने को असङ्ग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं पर सच बताइये कि क्या विद्वानोंको जीतकर आपके मनमें अहङ्कार नहीं होता है ? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकेंगे। यदि आपको घमण्ड होता है तो ब्राह्मणों को अपमानित और दुःखी करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो ये उसे फटकार देते, परन्तु उस सच्चे सन्त की सच्ची बात सुनकर आप लज्जित हो गये और मुख मलिन हो गया। पुनः उस परमहंसने कहा—भैया !

इस थोथे पुस्तकीय पाण्डित्य में कुछ नहीं रक्खा है। इससे किसीने मायाके जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देह की होती है और देह नश्वर है। यश-मानकी इच्छा भी शरीरका मोह है। श्रीकृष्ण की शरण लो, अहङ्कार के मलको दूरकर दो, तुम्हें सच्चा आनन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणों में ही मिलेगा।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने उस परमहंसके चरण पकड़ लिए। दयालु सन्तने श्रीकृष्ण मन्त्र, ध्यानविधि और उपासना पद्धति बतायी और चले गये। इन्होंने तीन महीने तक उपासना की पर कुछ लाभ न दिखाई पड़ा, तब काशी छोड़कर घूमने निकल पड़े। कपिल धाराके पास वही परमहंस फिर मिले और इन्होंने कहा—लोग भगवत्प्राप्ति के लिए अनेक जन्मों तक साधन-भजन करते हैं, तब कहीं कठिनतासे उनके दर्शन हो पाते हैं, आप तीन महीनेमें ही घबरा गये। इन्हें अब अपनी भूलका पता लगा। गुरु-चरणोंमें प्रणामकर फिर काशीको लौट आये और फिर भजनमें लग गये तब प्रसन्न होकर भगवान श्यामसुन्दरने इन्हें दर्शन दिया। तबसे ये निरंतर भगवत्प्रेममें मग्न रहने लगे। अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्त-विंदु, वेदांतकल्पलतिका और अद्वैतरत्न रक्षण ये ग्रंथ आपने श्रीकृष्ण शरणागति से पूर्व लिखे। पश्चात् इन प्रेमी भक्तने भक्तिरसायन, गीता की गूढ़ार्थदीपिका व्याख्या और श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखी। आपका कथन है कि—

अद्वैतवीथी पथिकै रुपास्याः स्वाराज्य सिंहासन लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्। न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥

अर्थ—यह ठीक है कि अद्वैतज्ञानके पथ पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं। यह भी ठीक है कि आत्मतत्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वराज्यके सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूँ, किंतु क्या करूँ, एक कोई गोपकुमारियोंका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया॥ प्रमाणोंसे जिसका निर्णय हो चुका है, ऐसे श्रीकृष्ण के अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ़ नहीं सह सकते हैं, वे नरकगामी होंगे॥ (वंशीविभूषित० इसे देखिये तृतीयखण्ड पृष्ठ ३८५)

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं,
ज्योतिःकिञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं,
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥

अर्थ—ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो देखा करें। हमारे नेत्रोंको तो यमुनापुलिनबिहारी नीले तेज वाला साँवरा ही चिरकाल तक सुख पहुँचाता रहे।। (कल्याण भक्तिचरिताङ्क से साभार उद्धृत)।

* श्रीप्रबोधानन्दजी *

श्रीप्रबोधानन्द बड़े रसिक आनन्दकन्द, 'श्रीचैतन्यचन्द' जू के पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण कुञ्ज केलि निपट नवेलि कही, झेलि रसरूप दोऊ किये दृग तारे हैं।।
वृन्दावन वास कौ हुलास लै प्रकास कियौ, दियौ सुख सिन्धु कर्म धर्म सब टारे हैं।
ताहि सुनि सुनि कोटि कोटि जन रङ्ग पायौ, विपिन सुहायौ बसे तन मन वारे हैं।।६१२

शब्दार्थ—पारषद=अन्तरंग सेवक। नवेली=नई। हुलास=आनन्द। कर्म धर्म=लौकिक कर्तव्य। रंग=प्रेमानन्द।

भावार्थ—श्रीप्रबोधानन्दजी बड़े रसिक एवं प्रेमानन्द में विभोर रहने वाले महान् सन्त और आनन्दकन्द श्रीगौरांग महाप्रभुके प्रिय सेवक थे। आपने श्रीवृन्दावनबिहारिणी- बिहारीजीकी नित्य नई-नई निकुञ्ज लीलाओंका अनुभव करके उनका अपने ग्रन्थोंमें वर्णन किया तथा प्रिया-प्रियतमकी अनुपम रूप-माधुरीके मधुर रसका पानकर उन्हें अपने नेत्रोंकी पुतली बना लिया। श्रीवृन्दावन-महिमामृत आदि ग्रन्थोंमें आपने श्रीवृन्दावन धामके वास से मिलने वाले दिव्यसुखको प्रकाशित किया। इस प्रकार व्रजरस के परमानन्द सागर को भावुकों के लिए सुलभ किया तथा भगवद्भक्ति विहीन कर्म-धर्मों के आचरण को आपने त्याज्य बताया। आपके द्वारा वर्णित रससिद्धान्त को पढ़-पढ़कर एवं सुन-सुनकर करोड़ों भक्तोंने प्रेम रंग प्राप्त किया। श्रीवृन्दावन धामका वास आपको ऐसा प्रिय लगा कि आपने उस पर अपना तन-मन और धन सर्वस्व न्यौछावर कर दिया।।६१२।।

व्याख्या-बड़े रसिक०—श्रीगौरांगदेव में, श्रीराधा में, श्रीराधागोविन्द में और श्रीवृन्दावन धाममें आपकी अनन्यनिष्ठा थी। इन सभी तत्वोंका आपको गम्भीर बोध था और इनमें अभेदबुद्धि थी अतः आपको महान् रसिक कहा गया। 'श्रीचैतन्यजूके पारषद प्यारे'० श्रीगौरनिष्ठामें सराबोर होकर आपने 'चैतन्यचन्द्रामृत' लिखा। हा गौरकृष्ण ! कहकर नाचते-गाते हुए आप कहते—(चै० च० ६०, ६१)

निष्ठां प्राप्ता व्यवहृतितितिलौंकिकी वैदिकी वा,
या वा लज्जा प्रहसनमुद्गाननाट्योत्सवेषु।

ये वा भुवन्नहह सहजप्राणदेहार्थधर्म्मा,
गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्याः॥१॥
सान्द्रा नन्दोज्वलरसमयप्रेमपीयूषसिन्धोः,
कोटिं वर्षेत् किमपि करुणास्निग्धनेत्राञ्जनेन।
कोऽयं देवः कनककदलीगर्भगौराङ्गयष्टि-
श्चेतोऽकस्मान्मम निजपदे गाढयुक्तञ्चकार॥२॥

अर्थ—अतिशय बलवान किसी गौरवपूर्ण चोर ने आकर मेरे निष्ठाप्राप्त लौकिकी एवं वैदिकी व्यवहारसमूह तथा प्रहसन-उच्चस्वर सङ्कीर्तन नाट्यादि विषयक लज्जा तथा प्राण और देह के स्वाभाविक धर्म ये समस्त हरण कर लिए हैं॥१॥ जिसके अङ्ग सुवर्ण कदलीवत् गौरकान्ति विशिष्ट हैं, जो करुणारस युक्त कजरारे नेत्रोंसे महान् उज्ज्वल रसमय प्रेमामृतसिन्धुकी श्रेणी बरसा रहे हैं, ये देव कौन हैं? मेरे चित्तको क्यों अपने श्रीचरणारविन्दोंमें दृढ़तापूर्वक आकर्षण कर रहे हैं॥२॥

कुञ्जकेलि कही—गौड़ीय वैष्णवों के मतानुसार आपने 'श्रीराधारस-सुधानिधि' 'श्रीसङ्गीतमाधव' तथा 'आश्चर्यरास प्रबन्ध' आदि ग्रन्थोंमें निकुञ्ज-लीला का अद्भुत वर्णन किया है। सङ्गीतमाधव में गीतगोविन्द की भाँति विविध गेय पदों श्रीयुगलकिशोर के विहारका वर्णन है। राधारससुधानिधिके श्लोक तृ० खं० पृष्ठ ९५-९८ पर द्रष्टव्य हैं।

वृन्दावन वास—दूसरे साधनोंका सहारा छोड़कर आपने धामवास किया। एक सौ श्रीवृन्दावन शतकों को आपने लिखा। दस हजार श्लोकों में धाम महिमा, सौन्दर्य और माहात्म्यका भावपूर्ण वर्णन है। यथा—

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिना ग्रामेषु भिक्षामट,
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीरैः सुकन्थां कुरु।
सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां,
श्रीराधामुरलीधरौ भज रसाद् वृन्दावनं मा त्यज॥१॥
भ्रातस्ते किमु निश्चयेन विदितः स्वस्यान्तकालः किमु,
त्वं जानासि महामनु बलवतो मृत्योर्गतिस्तम्भने।
मृत्युस्त्वत्करणं प्रतीक्षत इति त्वं वेत्सि किं वा यतो-
बारम्बारमशङ्क एव चलसे वृन्दावनादन्यतः॥२॥

अर्थ—भाई! श्रीवृन्दावनके वृक्षोंके नीचे विश्राम करो, ब्रजके गाँवोंसे भिक्षा ले आया

करो, खाकर स्वेच्छापूर्वक श्रीयमुना जलका पान करो। फटे-पुराने कपड़ों की गुदरी बनाकर शीतका निवारण करो। सम्मानको घोर विष और नीचों द्वारा हुए अपमान को उत्तम अमृत समझो तथा श्रीराधामुरलीधर का बड़े प्रेमसे भजन करते हुए श्रीवृन्दावन में वास करो, उसका कभी परित्याग न करो।।१।। भाई ! क्या तुमने अपना अन्तकाल निश्चय जान लिया है ? क्या तुम इस बलवान मृत्युकी गतिको रोकने में समर्थ किसी महामन्त्रको जानते हो ? अथवा क्या तुम ऐसा समझते हो कि मृत्यु तुम्हारे कार्यकी प्रतीक्षा करेगी, जिससे तुम निःशङ्क होकर बार-बार वृन्दावन धामसे बाहर चले जाते हो।।२।।

कदा नु वृन्दावनकुञ्जमण्डले भ्रमम्भ्रमं हेमहरिन्मणि प्रभम्।
संस्मृत्य संस्मृत्य तदद्भुतं प्रियं द्वयं द्वयं विस्मृतिमेतु मेऽखिलम्।।३।।
कदा नु वृन्दावनवीथिकास्वह परिभ्रमञ्च्छ्यामलगौर मद्भुतम्।
किशोरमूर्तिद्वयमेकजीवनं पुरः स्फुरद् वीक्ष्य पतामि मूर्च्छितः।।४।।

श्रीवृन्दावनके निकुञ्जोंमें घूम-घूमकर स्वर्ण और हरितमणिके समान कान्ति वाली राधामाधव की अति अद्भुत और प्यारी युगल जोड़ीको याद कर-करके मैं कब सब कुछ भूल जाऊँगा।।३।। श्रीवृन्दावनकी गलियोंमे विचरता हुआ किशोर और किशोरी की अति अद्भुत श्यामल-गौरवर्ण वाली एक प्राणमयी दोनों मूर्त्तियोंको सम्मुख देदीप्यमान हुई देखकर मैं कब प्रेमावेश से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडूंगा।।४।। 'श्रीश्रुतिस्तुति व्याख्या' आपकी रचना है। इसमें भा० वेदस्तुतिकी अपूर्व व्याख्या है। श्रीविवेकशतक तथा नवद्वीप शतक भी महत्वूपर्ण हैं। सभी ग्रंथ संस्कृतमें हैं।

दो०—वृन्दावन वैकुण्ठको तोल्यौ तुलसीदास। भारी हो सो भुवि रह्यौ हलको गयौ अकास।
वृन्दावनको वास करि साग पात नित खाय। तिनके भाग्यनको सखी ब्रह्मा हू ललचाय।।
बीस कोस वृन्दाविपिन पिय प्यारीको धाम। चार कोस का निजमहल विहरत श्यामाश्याम।।

विशेष—श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद का जन्म एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में हुआ। इनके पूर्वज आंध्रप्रदेशके निवासी श्रीसम्प्रदायी वैष्णव थे। श्रीरङ्गक्षेत्र से प्रभावित होकर उसके निकट कावेरी तट पर बसे बेलङ्गुरीगाँव में आकर सपरिवार निवास करने लगे। इनके ज्येष्ठ भ्राताका नाम श्रीवेङ्कटभट्ट और मध्यम भ्राता का नाम श्रीत्रिमल्लभट्ट था। श्रीगौरांग महाप्रभु तीर्थयात्रा व्याजसे प्रेमभक्तिका वितरण करते हुए दक्षिणदेश में पधारे। तब श्रीवेङ्कटभट्टने उन्हें अपने घर पर चातुर्मास्य बितानेके लिए आग्रह पूर्वक रक्खा। फिर भट्ट परिवार

महाप्रभुजी के प्रेम से प्रभावित होकर उनके पदाश्रित हो गया। श्रीगोपाल भट्ट श्रीवेंकटभट्टजीके सुपुत्र हैं जिनका चरित्र तृतीयखण्ड पृ० १६४ क० ३७५ में वर्णित है। सरस्वतीपाद बाल्यकालमें अति प्रतिभाशाली थे अतः अल्पवयस्में ही अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर सुप्रसिद्ध विद्वान् हो गये और संसारकी कटुता का अनुभव कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना ही काशी आकर उन्होंने संन्यास ग्रहणकर लिया और प्रकाशानंद सरस्वती के नामसे विख्यात हुए। इनकी विद्वतासे प्रभावित होकर असंख्य विद्वान् छात्र इनसे विद्या लाभ करने लगे। वेदान्त–पुराण आदि की व्याख्या सुनकर काशीवासी विद्वान् और संन्यासी इन पर मुग्ध हो गये। विन्दुमाधव के निकट इनका मठ था। आप अद्वैतवाद के प्रधान आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होकर उसका प्रचार-प्रसार करने लगे। आपके शिष्योंकी संख्या दस हजारके लगभग थी।

श्रीमन्महाप्रभु अद्वैतवादी एवं कुतर्कियों को प्रेम प्रदान करते हुए श्रीनीलाचल पधार चुके थे। वहाँ राजा प्रतापरुद्र की प्रेरणा से श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य निवास करते थे। ये भी प्रकाशानंदके समान अद्वितीय विद्वान् तथा इनसे पूर्ण परिचित थे। इनके पास अनेक वेदांती संन्यासी वेदांतभाष्यका अध्ययन किया करते थे। ये भी गौराङ्गदेव से प्रभावित हुए और मायामूलक वेदान्तभाष्यका खण्डन श्रीमहाप्रभुके मुखसे सुनकर इनका विद्याभिमान चूर-चूर हो गया। षड्भुज महाप्रभु का दर्शन करके तो इन्होंने पूर्ण रूपसे प्रभु चरणोंमें आत्म-समर्पण ही कर दिया और उनके अनुयायी बन गये। यह बात जब प्रकाशानंदजीने सुनी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने महाप्रभुको कोई इंद्रजाली समझा। धीरे-धीरे इन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि मेरे पूर्वाश्रम के भ्राता और भतीजा आदि भी श्रीकृष्णचैतन्य संन्यासीके रंगमें रँग गये। उसमें कौन-सा ऐसा गुण है जो सब पर मोहिनी डाल देता है। नाचता-गाता और हँसता, यह कैसा संन्यासी है। इनका मन खीझ उठा और अब वे अद्वैत मतके समर्थन के साथ-साथ भक्तिके अनुष्ठानों की निन्दा करने लगे कि भक्ति तो भावुकों या स्त्रियोंका धर्म है। दुर्बलचित्त अज्ञानियोंने उसकी कल्पना कर ली है। ज्ञानी या पुरुष होकर नाचना-गाना लज्जाजनक है, इससे तो मर जाना अच्छा है।

यद्यपि प्रकाशानन्दजी विद्वान् थे, त्याग-वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे। बहुतसे संन्यासियोंके गुरुपद पर प्रतिष्ठित थे। किंतु मान-अपमान, ईर्ष्या-द्वेष आदि त्यागी विद्वान्के भी समाप्त नहीं होते हैं। केवल अहं ब्रह्मास्मि या सोऽहं की रट लगाकर कोई माया से छुटकारा नहीं पा सकता है, जब तक प्रभु शरणागत न हो। प्रकाशानंदजी सोचते थे कि यदि मेरे सामने एकबार आ जाय, मेरी वेदान्त व्याख्या सुन ले, तो निश्चय ही उसका

नाचना-गाना छूट जायगा। ये अपनी भावनाओं का संवरण न कर सके और गौराङ्गदेव पर अपना प्रभाव जमानेके लिए उन्होंने एक पत्रमें निम्नलिखित श्लोक लिखकर एक यात्रीके हाथ नीलाचल प्रभुके पास भेज दिया—

यत्रास्ते मणिकर्णिका मलहरा स्वर्दीर्घिका दीर्घिका,
रत्नन्तारक मोक्षदं तनुभृते शम्भुः स्वयं यच्छति।
तस्मिन्नद्‌भुतधामनि स्मररिपोर्निर्वाणमार्गे स्थिते,
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवद प्रत्याशया धावति।।

जहाँ मणिकर्णिका नामक निर्मल सरोवर है और श्रीगङ्गा सरीखी पवित्र नदी है तथा जिस स्थान पर स्वयं श्रीशङ्करजी सभी प्राणियोंको मोक्षप्रद तारकमन्त्ररत्न प्रदान करते हैं। कामदेवके रिपु श्रीशिवजीके ऐस अद्‌भुत धाम को जो मोक्षमार्ग में स्थित है, उसे छोड़कर अन्यत्र अज्ञानी पशुवत् मूर्ख मनुष्य ही सुखकी आशासे मृगमरीचिकामें दौड़ता है। तात्पर्य यह कि काशीमें आकर रहने से मोक्ष मिलेगा और अन्यत्र रहनेसे भवसागरमें डूबना पड़ेगा।। श्रीमहाप्रभुजीने बड़े आदर के साथ पत्र को लिया पर श्लोक पढ़कर प्रसन्नता नहीं हुई। पत्र-प्रेषकके सम्मानार्थ श्रीगौराङ्गदेवने उसी यात्रीके हाथ उत्तर स्वरूप निम्नलिखित श्लोक लिखकर भेज दिया—

घर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बुभागीरथी,
काशीनां पतिरर्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं,
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपाद निर्वाणदम्।।

हे सखे ! मणिकर्णिका का जल भगवानके श्रीअङ्गका स्वेद है और श्रीगङ्गाजी उन्हींके श्रीचरणोंका जल-चरणामृत हैं। इसीसे काशीपति विश्वनाथ उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं और वे स्वयं भगवान का अर्द्धाङ्ग हैं और उनका भजन करते हैं। इन्हीं भगवानके नाम-मन्त्रको प्रदानकर शङ्करजी काशीमें सभी प्राणियों को मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिए हे श्रीपाद ! मोक्षदायक श्रीकृष्णके चरण-कमलों का भजन कीजिये।। श्रीप्रकाशानन्दजी इसका कुछ भी खण्डनात्मक उत्तर तो दे नहीं सके। तब महाप्रभुके प्रसाद ग्रहण पर आपत्ति उठाकर उन्होंने पुनः एक यह श्लोक लिखकर भेजा—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।

शाल्यन्न सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।।

विश्वामित्र, पराशर आदि मुनिगण जो केवल वायु, जल एवं पत्ते खाने वाले थे, वे भी स्त्रीके मनोहर मुख-कमलको देखकर मोहित हो गये। तब जो लोग घी, दूध और दहीसे युक्त चावलका नित्यप्रति भोजन करते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियों पर निग्रह कर लें तो समझो कि विन्ध्याचल पहाड़ समुद्र पर तैर गया। अर्थात् उक्त प्रकार का भोजन करने वाले आप जितेन्द्रिय नहीं हो सकते हैं अतः निश्चित है कि विषयी हैं, संन्यासी नहीं।। इस श्लोकको पढ़कर श्रीमहाप्रभुने निष्प्रयोजन समझकर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। परन्तु प्रभुके किसी भक्तने यह उत्तर लिख भेजा—

सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।
परावतस्तृणशिलाकणमात्रभोगी कामी भवेदनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः।।

बलवान सिंह, हाथी और शूकर आदिके मांस का भक्षण करता है किन्तु सिंहनीके साथ वर्षमें एकबार ही रति करता है। परन्तु कपोत तृण-शिलाकणों को खाकर भी प्रतिदिन कामी बना रहता है। बताइये, इसका क्या कारण है ? इस उत्तरको पाकर वे निरुत्तर हो गये। श्रीवासुदेव सार्वभौमजीको जब इसका पता लगा तो वे क्षुब्ध हो गये और उन्होंने प्रभुसे अनुमति लेकर काशी आकर इन्हें समझाना-फटकारना चाहा पर प्रभु ने निषेध कर दिया।

सम्वत् १५७० में श्रीगौराङ्गदेव श्रीवृन्दावनकी यात्रा करते समय काशीमें पधारे। अपने भक्त तपनमिश्र और चन्द्रशेखर की इच्छासे कुछ दिन ठहरे। काशीके एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रकाशानन्द के भक्त थे। महाप्रभु के दर्शन कर और उनका कीर्तन सुनकर इनके अनन्य भक्त बन गये। एकदिन उसने प्रकाशानन्द के सामने महाप्रभु के अष्ट सात्विक विकारों का वर्णन किया और उनकी प्रशंसा की। उसे सुनकर उपहास करते हुए वे बोले—हाँ ! हाँ ! मैंने भी सुना है, चैतन्य नाम का भावुक संन्यासी है। वह हीन सम्प्रदाय का है, इंद्रजाली है, मूर्ख है, उसे तो अपने धर्मका भी ज्ञान नहीं है। इसने सार्वभौम को पागल बना दिया पर यहाँ काशी में उसकी भाव कालिमा किसी पर नहीं चढ़ेगी। यह सुनकर उस ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ। सारा वृत्तान्त उसने महाप्रभुजीको आकर सुनाया और कहा कि उन्होंने केवल चैतन्य-चैतन्य ही कहा, आपका पूरा नाम भी सादर नहीं लिया। श्रीमहाप्रभु ने कहा वे मायावादी हैं, अतः उनके मुख में श्रीकृष्ण नाम कैसे आ सकता है। कुछ दिन काशीमें निवास कर

आप श्रीवृन्दावनकी ओर चल दिये। श्रीप्रकाशानन्दने जब यह सुना तो वे प्रसन्न होकर बोले—मैंने जो कहा था, वही हुआ, मेरे डरके मारे वह मेरे पास तक नहीं आ सका। मेरा विश्वास है कि अब वह काशीमें आवेगा हीं नहीं और यदि आयेगा भी तो क्या कर लेगा पर तुम लोग सावधान रहना उसके पास भूलकर भी न जाना। ज्ञानी संन्यासी के मुख से ऐसी बातें सुनकर सज्जनों के प्राण रो उठते।

श्रीवृन्दावनकी यात्रा करके पुनः श्रीमन्महाप्रभु काशीजी में पधारे और तपन मिश्र के घर ठहरे। गौरभक्त चाहते थे कि प्रभुकृपा सभी को प्राप्त हो। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने सोचा कि प्रकाशानन्दजीने अभी प्रभुके दर्शन नहीं किये हैं, इसीसे निन्दा करते हैं। यदि एकबार उनसे मिलन हो जाय तो उनकी कुमति नष्ट हो जायगी। इस प्रकार दोनों महापुरुषोंको मिलाने के लिए उस ब्राह्मणने काशीके सभी संन्यासियोंको भिक्षाके लिए निमंत्रण दिया। श्रीमहाप्रभु ऐसे किसी भोज-भण्डारेमें जानेके इच्छुक न थे पर वे कई भक्तों के प्रेमाग्रहको टाल न सके। चलने के लिए तैयार हो गये। इस समाचार को सुनकर लोग तरह-तरहकी बातें करने लगे। निर्धारित समय पर सभी संन्यासी इस उत्सुकतासे आये कि देखें उस संन्यासीको, जिससे प्रभावित होकर लोग उसे ही भगवान मानने लगते हैं। कुछ लोग शास्त्रार्थ सुनने, मिलन के दृश्य एवं उसके परिणाम का साक्षात्कार करने आये। श्रीप्रकाशानन्दजी ऊँचे सिंहासन पर आकर विराजे। चारों ओर बैठा दण्डी संन्यासियोंका समुदाय उनकी शोभा और महिमा को बढ़ा रहा था। उसी समय श्रीमन्महाप्रभु अपने भक्तों सहित पधारे। उनके महाज्योतिर्मय, दिव्य भव्य-स्वरूप को देखकर सभी लोग प्रभावित हो गये और कितने तो उठकर खड़े हो गये। प्रभुने सभी की वन्दना की। पाद-प्रक्षालन के बाद वहीं गीली धरती पर ही बैठ गये। इनकी इस निरभिमानता, दीनता को देखकर प्रकाशानन्द सिंहासन पर बैठे नहीं रह सके। उनका अहङ्कार चूर हो गया। शीघ्र ही वे उठकर आये और श्रीप्रभुका हाथ पकड़कर बोले—'आप यहाँ क्यों बैठ गये ? चलिये, सभामें विराजिये।' ऐसा कहकर वे इन्हें सम्मान पूर्वक लाये और अपने समीप आसन पर उन्हें बैठाया। दर्शन और स्पर्शसे प्रकाशानन्दके मनसे द्वेष दूर हो चुका था।

श्रीप्रभुने कहा—मैं तो हीन (भारती) सम्प्रदायका संन्यासी हूँ। अपने को उत्तम सम्प्रदायी संन्यासियोंके बीचमें बैठने योग्य नहीं समझता हूँ। प्रकाशानन्दजीने कहा—आप केशव भारतीके शिष्य हैं, सम्प्रदायी संन्यासी हैं और धन्य हैं। मुझसे दूर हरने का कोई कारण नहीं, आप काशीमें रहें। आप संन्यासी होकर नृत्य-गान करते रहते हैं—ऐसा क्यों ? संन्यासीका धर्म तो

वेदान्त पाठ और ब्रह्मचिन्तन है, प्रभाव तो आपका दिव्य है फिर ऐसा ही आचरण क्यों? श्रीप्रभुने कहा—सुनिये, श्रीपाद! मुझे मूर्ख जानकर मेरे गुरुदेव ने मुझे वेदान्त पाठका उपदेश नहीं दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण-मन्त्र और नाम को बताकर इसे ही जपने और कीर्तन करने की आज्ञा दी। कलिकाल में भगवन्नामको छोड़कर दूसरा कर्म-धर्म नहीं है। नाम ही सबकी गति है। ऐसा उपदेश पाकर मैं नाम जप और कीर्तन करने लगा। इससे पागल हो गया, रोने-गाने और नाचने लगा। इसे देखकर गुरुदेव ने 'एक व्रतः यह (भा० १२-२-४०) श्लोक सुनाया और कहा कि भगवन्नाम का परम फल प्रेम है और नाचना-गाना आदि उसीके विकार है। मैं अपनी स्वेच्छा से नहीं नाचता गाता हूँ। महाप्रभु की मधुर वाणी सुनकर चित्त कुछ-कुछ आकृष्ट हुआ, वे सोचने लगे कि यह युवक महान् व्यक्ति, मृदुभाषी और सुबोध भी है। यदि मेरे पास कुछ दिन रह जाय तो वेदान्तमें इसकी रुचि हो जायगी, फिर यह महापुरुष हो जायगा। ऐसा विचारकर प्रकाशानन्दने फिर कहा—नाम-कीर्तन और प्रेम तो ठीक है पर आप वेदान्त क्यों नहीं पढ़ते-सुनते?

श्रीप्रभुने कहा—'यदि मैं इसका उत्तर दूं, तो आपको दुःख हो जायगा'। नहीं, नहीं आपके मधुर वचन मुझे अमृतवत् प्रिय लग रहे हैं आप कहिये—ऐसी प्रकाशानन्द की बात सुनकर श्रीप्रभुने कहा—वेदान्त सूत्र ईश्वर के वचन हैं, उनमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं करणपाटव आदि दोष नहीं हैं। उपनिषद् प्रमाणोंसे समर्थित तत्वको सूत्र कहता है। मुख्यवृत्तिमें उसका अर्थ करने से उसकी प्रमाणताकी रक्षा होती है। शाङ्करभाष्यमें गौणी-वृत्तिसे ही सूत्रों का अर्थ किया गया है अतः उसकी प्रमाणता नष्ट हो गई। उसके श्रवण से ब्रह्म-जीवके सेव्य-सेवक भावकी हानि होती है अतः यह भक्ति विरोधी है। इसमें लेखक का दोष नहीं है, प्रभुने जैसा लिखाया उन्होंने लिख दिया। मैं उसका अधिकारी नहीं हूँ। ऐसा कहकर प्रभुने कई सूत्रोंके अनुकूल-प्रतिकूल अर्थ प्रस्तुत किये। जिसका प्रतिवाद प्रकाशानन्दजी नहीं कर सके। उनकी मनोवृत्ति बदल गई। उन्होंने प्रार्थना की—आपने अपनी मधुर वाणी से जो कुछ कहा वह सत्य है। आपके भावों को जाने बिना हमने जो कुछ कहा या समझा वह ठीक नहीं था। आप क्षमा करें। इसके बाद सभी भोजन कर अपने स्थानों को चले गये। यत्र-तत्र सर्वत्र इस संवादकी चर्चा होने लगी। प्रकाशानन्द का हृदय द्रवीभूत हो गया था अतः प्रभु के वाक्य और उनकी रूपमाधुरी में ही मन मग्न रहने लगा। एकदिन श्रीप्रभु माधवजीका दर्शन करने गये। वहाँ प्रेमाविष्ट होकर नृत्य और कीर्तन करने लगे। उसे सुनकर प्रकाशानन्दजी भी आ गये। तत्कालीन श्रीप्रभुकी अवस्था को देखकर उन्होंने प्रभुके चरण पकड़ लिए। प्रभुने

कहा—'आप जगद्गुरु हैं, ऐसा न करें। अधीर सरस्वतीपादने कहा—मैं आपकी शरणमें हूँ, यह सुनकर श्रीप्रभुने उनका आलिङ्गन कर उन पर कृपा की। अब वे गौर-कृष्णके प्रेममें निमग्न हो गये। इन्हें प्रभुने प्रबोधानंद यह नाम दिया, नाम-कीर्तन और श्रीवृन्दावन वासकी आज्ञा दी।

श्रीमहाप्रभु नीलाचल की ओर एवं श्रीप्रबोधानन्दपाद सरस्वती श्रीवृन्दावन की ओर चले और सं० १५७१ में श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। यहाँ श्रीलोकनाथ, श्रीभूगर्भ गोस्वामी, श्रीरूप-सनातन आदि से मिलकर हर्षित हुए। श्रीगोपालभट्ट को देखकर तो बहुत ही संतुष्ट हुए। श्रीवृन्दावन के रसिकोंका निरन्तर सत्सङ्ग एवं श्रीवृन्दावन धाम तथा लीलाकी माधुरीका आस्वादन करते हुए संस्कृत काव्यों में उसका वर्णन करने लगे। इनके ग्रंथोंको पढ़ने वाले आनंद-रसोन्मत्त होकर झूम उठते हैं। श्रीगौरगणोद्देश में कहा गया है कि—'तुंगविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्रविशारदा। सा प्रबोधानन्दयति गौरोद्गानसरस्वती।।' ब्रजलीलामें सर्वशास्त्र विशारदा जो तुंगविद्या है, नवद्वीप लीला में वही गौरगुणगायक श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती हुए हैं। जैसे जय-विजय आसुरी भाव में आये और उनके सहारे भगवानने असंख्य असुरों का कल्याण किया। इसी प्रकार उन्हें प्रथम मायावाद में आविष्ट कर श्रीमहाप्रभुने असंख्य मायावादियों का उद्धार किया। श्रीलालदासकृत बंगला भक्तमाल में लिखा है कि—'प्रकाशानंद सरस्वती नाम तार छिल। प्रभु ई प्रबोधानन्द बलिया राखिला।।'

श्रीरसिक-अनन्यमाल में लिखा है कि श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती बड़े-भारी विद्वान् एवं काशीके निवासी थे। शास्त्रार्थ में इन्होंने उद्दण्ड विद्वानों को जीता। काशी से आकर श्रीवृन्दावनके सभी ठाकुरद्वारे देखे और अनेकों आचार्यों के दर्शन किये। परन्तु उनके मत आपको अच्छे नहीं लगे। श्रीपरमानन्दजी रसिक से मिले और सत्संग करके सन्तुष्ट हुए। पर नित्यविहारकी बात आपके मनमें नहीं आई। फिर शास्त्रों-पुराणोंमें वर्णित मानसरोवर की महिमा सुनकर कुछ श्रद्धा हुई। तब वे वैशाखी पूर्णिमा की रातमें जाकर वहाँ रहे। गोधन देखकर प्रसन्नता हुई, उसके बाद वहाँ उदासी दिखाई पड़ी। दो घड़ी रात गये वहाँ भयानक दृश्य दिखाई दिये। फिर सिंह-सिंहनीका गर्जन सुनकर शङ्कित हुए। उसके बाद नाग-नागिनीने दर्शन दिये। पश्चात् पवनने बुहारी लगाई और बादलोंने छिड़काव किया। शीतल मन्द-सुगन्ध समीरके स्पर्श से प्रबोधानन्दजी को निद्रा आ गई। श्रीकुञ्जबिहारीने इन्हें अनधिकारी समझकर मथुरा की कुटीमें पहुँचा दिया। जागने पर आपको विश्वास हुआ आपने परमानन्द से मिलकर सारा वृत्तांत कहा और प्रार्थना की कि—आप हमें नित्य विहार-रस प्रदान कीजिये। तब इन्होंने इस रसके दानी

श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के चरणोंकी सेवाकी सम्मति दी। श्रीप्रबोधानन्दजीने श्रीहितजीके दर्शन किये। इन्होंने कृपा करके रसोपासनाकी पद्धति बताई और नित्यविहार के दर्शन करा दिये। तब श्रीप्रबोधानन्दजीने हित-स्तुति अष्टक एवं श्रीवृन्दावनशतकादि ग्रन्थों की रचना की। उसमें नित्यविहार-रसकेलिका वर्णन किया और अनन्य निष्ठापूर्वक श्रीवृन्दावन धाममें वास किया। दो०—श्रीपरबोधानन्द की बानी वेद प्रमान। रसिक अनन्यन को सुखद भगवत मुदित सुजान।। श्रीध्रुवदासजी कहते हैं—युगल प्रेमरस अवधि में पर्‌यौ प्रबोध मन आय। वृन्दावन रसमाधुरी गाई अधिक लड़ाय।।

श्रीहरिरामजी व्यास आपके गुणोंका गान करते हुए कहते हैं—

प्रबोधानन्द से कवि थोर। जिन राधावल्लभ की लीला रस में सब रस घोरे।। केवल प्रेम विलास आस करि भव बंधन दृढ़ तोरे। सहज माधुरी वचननि कहिकै रसिक अनन्यनि के चित चोरे।। पावन रूप नाम गुन उर धरि विषय विकार जु मोरे। जाया माया गृह देही सों रविसुत बंधन छोरे। लोक वेद सारंग अंग के सेत हेत के फोरे। वह प्रिय 'व्यास' आस करि हित हरिवंशहिं प्रति कर जोरे।।

* श्रीद्वारिकादासजी *

अष्टांग योग तन त्यागियौ द्वारिकादास जानै दुनी।।
सरिता 'कूकस' गाँव सलिल में ध्यान धर्‌यौ मन।
राम चरण अनुराग सुदृढ़ जाके साँचौ पन।
सुत कलत्र धन धाम ताहि सों सदा उदासी।
कठिन मोह कौ फन्द तरकि तोरी कुल फाँसी।।
'कील्ह' कृपा बल भजन के ज्ञान खड्ग माया हनी।
अष्टांग योग तन त्यागियौ द्वारिकादास जानै दुनी।।१८२।।

शब्दार्थ—अष्टांग=योगक्रियाके आठ भेद, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। जोग=योग, चित्त की चञ्चलता को रोकना, मुक्ति का उपाय। दुनी=दुनिया। फन्द=बन्धन, जाल। तरकि=तर्क विचार करके।

भावार्थ—सन्त श्रीद्वारकादासजी 'कूकस' नामक गाँव के निकट बहने वाली नदीके जलमें प्रवेश करके भजन-ध्यान करते थे। श्रीरामचन्द्रजी के श्रीचरणोंमें आपका सुदृढ़ अनुराग था। आपने प्रतिज्ञा पूर्वक भगवान की उपासना की। आप स्त्री, पुत्र, घर और धनसे सदा विरक्त रहे। यद्यपि मोहका बन्धन कठिन होता है। परन्तु आपने अपने विवेक से उसे तोड़-फाड़ डाला। अपने गुरुदेव श्रीकील्हदेवाचार्यजी की कृपा एवं भगवद्-भजन के बलसे आपने ज्ञानरूपी तलवारसे (अविद्या) मायाका नाश कर अष्टाङ्ग योगकी विधि से नदी में शरीरको छोड़ा और साकेत धामको प्राप्त किया। इस बातको दुनिया जानती है।।१८२।।

व्याख्या-कूकस—आमेर से कुछ दूर उत्तर में दिल्ली की सड़क पर कूकस गाँव है और वहाँ कूकस नाम की नदी है। कूकस बन्धा प्रसिद्ध है। 'राम चरण अनुराग' कहकर जनाया कि योगमें ध्यानके समय आप श्रीरामजी के चरण-चिन्हों का ध्यान करते थे। 'राम चरण पंकज प्रिय जिनहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिनहीं।। राम चरण पङ्कज उर धरहू। लंका अचल राज तुम करहू।।' इससे अक्षम्य अपराध भी क्षम्य हो जाते हैं। 'राम चरण मकरन्द रहत मनसा मदमाती।' (छ० १८५ श्रीपयहारीजी) प्रभु-चरणोंमें मन नहीं लगा तो सुन्दर शरीर, सुयश, मेरु तुल्य धन और स्त्री-पुत्रादि से कोई लाभ नहीं हो सकता। यथा—

शरीरं सुरूपं ततो वै कलत्रं यशश्चारुचित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः कि ततः किम्।।

कठिन मोह को फन्द—'मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही।' श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं कि मोहमयी मदिराको पीकर भगवद् विमुख जगत् उन्मत्त हो रहा है। सूर्यके उदय और अस्त से जीवन क्षीण हो रहा है, विविध कार्यों के भारसे गुरुतर प्रतीत होने वाले नाना प्रकारके व्यापारों से समय जाता मालूम ही नहीं पड़ता है। जन्म-जरा और मरण की विपत्ति को देखकर भी भय नहीं होता है क्योंकि जगत् मोह नशामें पागल है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
व्यापारै र्बहुकार्यभारगुरुभिः काला न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।।

अष्टाङ्ग योग—युज् धातु से योग शब्द सिद्ध होतो है, 'युज्यतेऽसौ योगः' जो युक्त करे, मिलावे उसे योग कहते हैं। महर्षि व्यासने 'योगस्समाधिः' कहकर योग को समाधि

बताया। तात्पर्य यह कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु का साक्षात्कार करे। महर्षि पतञ्जलिने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्तवृत्तियोंके निरोध को योग कहा है। इसके आठ अङ्ग हैं—

१-यम—पाँच हैं। वातावरण को शान्त बनाने के लिए इनकी आवश्यकता है। (१) अहिंसा—मन, वाणी और शरीर से किसी को पीड़ा न पहुँचाना, उसका विचार भी न करना। अशुभ-कर्म करके अपना घात न करना। इसके सिद्ध होने से दुष्ट जीव भी दुष्टता का त्याग कर देते हैं। (२) सत्य-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से जिसका निश्चय हुआ हो, उसे प्रिय-निर्भ्रान्त वचनों द्वारा कहना। ईश्वरसे भिन्न किसीको सत्य न मानना। इसके सिद्ध होने पर वाणी क्रिया और फलका आश्रय हो जाती है अर्थात् उसके मुख से जो निकलता है वही सत्य हो जाता है। (३) अस्तेय—निषिद्ध रीति से दूसरों का द्रव्य ग्रहण न करना, वस्तुके स्वामी की अनुमति के बिना उसे काम में न लाना। इसके सिद्ध होने पर सम्पूर्ण रत्नादि पदार्थ स्वयमेव हस्तामलक होते हैं। (४) ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रिय के यथार्थ संयम के साथ, युक्ताहार-विहार, युक्त आचार-विचार एवं युक्त क्रिया-कर्म-निद्रादि का व्यवहार करना। इस प्रकार बलको बढ़ाकर ब्रह्ममें, चर्य=आचरण करना ब्रह्मचर्य है। इसके सिद्ध होने पर अक्षुण्ण बलकी प्राप्ति होती है। (५) अपरिग्रह—नाशवान पदार्थों के संग्रह, सम्बर्द्धन, रक्षण एवं प्रचार में आसक्त न होना तथा प्रमाद, आलस्य और संशय को न बढ़ाना अपरिग्रह है। इसके सिद्ध होने पर मनुष्य जीवन कैसे सफल होगा और उसके लिए किस प्रकार के योगक्षेम की आवश्यकता है, इसका ज्ञान हो जाता है।

२—नियम—जन्म के हेतु भूत काम्य धर्म से निवृत्ति कराकर मोक्ष धर्म के हेतु भूत निष्काम धर्ममें प्रेरणा कराने वाले शौच-तपादि पाँच नियम हैं (१) शौच—शरीरकी बाहरी-भीतरी शुद्धता, जिससे शुद्धाचरण, रोगनिवारण, दीर्घायु होकर आत्मप्रकाश फैलता है। शरीरमें ग्लानि, दूसरों से असम्बन्ध, बुद्धि शुद्धि, इन्द्रियजय और स्वस्वरूप दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है। (२) सन्तोष—प्रारब्ध कर्मानुसार जो अन्न-वस्त्रादि उचित शास्त्रोक्त भोग प्राप्त हों उनमें ही तृप्ति रखना, शान्ति तृष्णाका विलय करके पूर्णकाम होना सन्तोष है इससे अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। (३) तप-शीत, उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वका सहन करते हुए नियमित संयमित जीवन बिताना, अनुष्ठान, जप, उपासना गुरुओं का सम्मान आदि शारीरिक तप है। सत्य-प्रिय भाषण और स्वाध्याय वाङ्मय तप है। मनकी प्रसन्न्ता, मौन, सौम्यता तथा आत्मनिग्रह मानस तप है। (४) स्वाध्याय-पठन-पाठन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन

द्वारा परा-अपरा विद्याओंका सम्पादन, प्रभु का साक्षात्कार करना स्वाध्याय है। इससे इष्टदेव के दर्शन होते हैं। (५) ईश्वर प्रणिधान-सब कर्म और उनके फल ईश्वरको अर्पण करके निष्काम होना। मन-वाणी-शरीर के सभी व्यापार ईश्वर को समर्पित करके अनन्य भक्तियुक्त होना ईश्वर प्रणिधान है।

३-आसन—चिरकाल तक निश्चल होकर एक स्थिति में बैठना आसन कहाता है। कम से कम साढ़े तीन घण्टा, ज्यादास से ज्यादा पाँच घण्टा बैठने से आसन सिद्धि होती है। आसन ८४ हैं, उनमें चार प्रमुख हैं—सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन और सिंहासन।

४-प्राणायाम—तीन प्रकार के होते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक। वामनासा पुट से वायु को खींचकर धीरे-धीरे सभी नाड़ियों में भरना पूरक है। वायु को अचल रखना कुम्भक और दक्षिण नासा पुटसे धीरे-धीरे वायुको निकालना रेचक हैं। इसमें इष्ट मन्त्र जप भी अभीष्ट है। प्राण अपान समान आदि वायुओं से मनको रोकने का अभ्यास (प्राणों का आयाम) प्राणायाम है। नेति, धौति, वस्ति, नौलि, घर्षण और त्राटक ये षट्कर्म प्राणायाम में सहायक है।

५-प्रत्याहार—इन्द्रियोंको राग-द्वेषात्मक विषयों में (विवेक बल से) निवृत्त करके उनका अयोग्य आहार बन्द करके चित्तके आधीन करना प्रत्याहार कहलाता है।

६-धारणा—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के ध्येय देशों में से किसी योग्य ध्येय में चित्तको एकाग्र करना धारणा कहलाती है।

७-ध्यान—धारणा देश में तैलधारावत् मनका अखण्ड प्रवाह तथा मनका निर्विषय होकर इष्टरूपमें लग जाना ही ध्यान है। भेद ध्यान, अभेद ध्यान दो हैं।

८-समाधि—ध्येय वस्तुके स्वरूपको प्राप्त हुआ मन संकल्प-विकल्प से रहित होकर केवल ध्येयके स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तब उस अवस्थाको समाधि कहते हैं। एकमत से ध्याता-ध्येयका एकीकरण समाधि है। असम्प्रज्ञात-संप्रज्ञात (सविकल्प, निर्विकल्प) ये भेद हैं। श्रीद्वारकादासजी भक्तियोगी थे। (योगी का परिवार-भर्तृहरि शतके—)

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिर गेहिनी,
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृत भोजनं,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः।।

अर्थ—धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, सर्वदा शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया

भगिनी है तथा मनका संयम भ्राता है। भूमितल ही जिनकी सुकोमल सेज है दिशायें ही वस्त्र हैं और ज्ञानामृत ही जिसका भोजन है, जिसके ये सब कुटुम्बी हैं, कहो, मित्र ! उस योगी को किससे भय हो सकता है।

कील्ह कृपा बल—कील्हदेवजीके शिष्य परम पार्षदरूप थे—'कील्ह कृपा कीरति विशद परम पारषद सिष प्रगट' (छ० १५८) ज्ञान खड्ग माया हनी—भ० गु० चि० में लिखा है कि श्रीद्वारकादासजीने वैराग्यरूपी घोड़े पर चढ़कर (अविद्या) माया को जीता। आपने भक्तिको लगाम, ध्यान को धनुष, सात्विक गुण को प्रत्यञ्चा, जीवात्मा को बाण बनाकर श्रीरामजीकी प्रीतिको लक्ष्य बनाया। ज्ञानकी तलवार और धैर्य का कवच धारण कर प्रभु-प्राप्ति में बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के द्वारा फैलाये जालको काट दिया। अविद्याको मारा। प्रभुदासी विद्या, मायाको नहीं मारा जा सकता। जिस प्रकार कील्हदेवजी ने मृत्युके दर्शन होकर स्वेच्छासे (ब्रह्मरन्ध्र करि गौन) शरीर त्यागा उसी प्रकार उनके कृपापात्र श्रीद्वारकादासजीने भी माया पर विजय प्राप्त की और सन्त-समाज करके शरीर त्यागा। जैसे—'अष्टाङ्ग योग तनु त्यागियो।' इसका स्पष्टीकरण भक्तदास० में हुआ है—

सोई जाल ज्ञान के षडग करि छेदि डार्‍यौ, जीव बाण नीके राम पद सूं लगायौ है।
निज देह अन्तकाल जानि गेह नेह तजिकै, समाज सन्त तहँ राम राम गायौ है।।
बैठि नदी नीर बीच स्वास को चढ़ायो सीस, तजिकै सरीर आप राम धाम पायौ है।
देखैं सब जन दुनी भई जै जैकार धुनी, सुनी जैसी रीति बनी जग जस छायौ है।।

* श्रीपूर्णजी *

पूरन प्रगट महिमा अनन्त करिहै कौन बखान।।
उदै अस्त परवत गहिर मधि सरिता भारी।
जोग जुगति विस्वास तहाँ दृढ़ आसन धारी।।
व्याघ्र सिंघ गुञ्जैं खरा कछु सङ्क न मानै।
अर्द्ध न जातैं पौन उलटि ऊरध कों आनैं।।
साखि शब्द निर्मल कहा कथिया पद निर्बान।
पूरन प्रगट महिमा अनन्त करिहै कौन बखान।।१८३।।

शब्दार्थ—उदै अस्त परवत=उदयाचल और अस्ताचल। गहिर=गहरा, गम्भीर। गुञ्जैं=शब्द करैं, गर्जै। खरा=खड़ा तीक्ष्ण। साखिशब्द=साक्षी, ज्ञान सम्बन्धी कविता। कथिया=कहा।

भावार्थ—भक्तवर श्रीपूर्णजी की महिमा अपार है, कोई भी उसका वर्णन नहीं कर सकता। आप उदयाचल और अस्ताचल इन दो ऊँचे पर्वत के बीच (गहराईमें) बहने वाली सबसे बड़ी (श्रेष्ठ) नदी के समीप पहाड़ की गुफा में रहते थे। योग की युक्तियों का आश्रय लेकर और प्रभु में दृढ़-विश्वास करके समाधि लगाते थे। व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक पशु वहीं समीप में खड़े गरजते रहते थे। परन्तु आप उनसे बिल्कुल भी नहीं डरते थे। समाधि के समय आप अपान वायुको प्राणवायु के साथ ब्रह्माण्डको ले जाते थे, फिर उसे नीचे की ओर नहीं आने देते थे। आपने उपदेशार्थ साक्षियोंकी, मोक्षपद प्रदान करने वाले पदोंकी रचना की। इस प्रकार मोक्षपदको प्राप्त श्रीपूर्णजीकी महिमा प्रकट थी।।१८३।।

विशेष—इस छप्पय की टीका करते हुए भ० चित्रणीकार लिखते हैं कि 'पूरण वैराठी जू की सुनिये कीरति भारी महा योगवली हू विरागमन भारी है।' एकबार आपका शरीर अस्वस्थ हो गया। आपको औषधिके लिए औंगरा (एक जड़ी) की आवश्यकता थी। इनके मनकी बात जानकर भगवान श्रीरामचन्द्रजीने एक ब्राह्मण का रूप धारण किया और औंगरा लाकर दिया। जिससे ये स्वस्थ हो गये। भगवत्कृपाका अनुभव करके आप प्रेम-विभोर हो गये। आश्रम से कुछ दूर पर नगर था वहाँ यवन बादशाह रहता था। उसकी कन्याने श्रीपूर्णजी का दर्शन किया तो वह अत्यन्त ही प्रभावित हो गई। उसने अपने पितासे कहा कि मैं दूसरे किसी के साथ व्याह न करूँगी। संसारी सुखोंकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है। आप मुझे श्रीपूर्णजी की सेवामें रख दीजिये। बादशाहने श्रीपूर्णजीके पास आना-जाना प्रारम्भ किया और अपनी दीनतासे उन्हें प्रसन्न कर लिया। किसी दिन आपने उससे कहा कि चाहो सो माँग लो। तब उसने यही वरदान माँगा कि मेरी कन्या को आप अपनी सेवामें रख लीजिये। यह अन्यत्र नहीं जाना चाहती है। आपने कहा कि हम विरक्त साधु हैं अपना धर्म छोड़कर उसे संसारी सुख नहीं दे सकते हैं। वह मेरे निकट रहकर भजन-साधन कर सकती हैं। यवन कन्या की भी यही इच्छा थी अतः वह आपके पास रही। आप पूर्ण अकाम थे अतः इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। (कुछ काल बाद यवन कन्या सत्सङ्ग लाभ लेकर सद्गति को प्राप्त हो गई)।

श्रीपूरनजीका नाम श्रीअग्रदेवजीके शिष्योंमें आया है—'जङ्गी प्रसिध प्रयाग विनोदी 'पूरन' वनवारी।' (छ० १५०) द्वाराचार्याङ्क श्रीरामानन्द सन्देश में २३वें द्वाराचार्य जगद्गुरु श्रीपरमानन्दाचार्यजीका परिचय है, उसे संक्षेम में यहाँ दिया जा रहा है। एकबार आप स्वणरिखा

नदी के तट पर स्थित पीपल की छाया मे विराजे थे। भगवत्स्मरण करते हुए शान्त-एकान्त में आपको निद्रा आ गई। वृक्षकी खड़खड़ाहट से आपकी नींद खुली तो आपने एक वानरको पीपल पर इधर-उधर कूदते रेखा। उसी समय वानर के मुख से 'दासोऽहं राघवेन्द्रस्य' यह स्पष्ट सुनाई पड़ा। साक्षात् श्रीहनुमानजी हैं यह जानकर आपने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और हनुमदाज्ञा से उसे पवित्र स्थल जानकर आपने वहीं अपना निवास स्थान बनाया और वहाँ श्रीहनुमानजी की प्रतिमा स्थापित की। भगवन्नाम जप के प्रभावसे आपमें सर्वसिद्धियाँ आ गईं। सुख-शान्ति के निमित्त आने वाले जनसमुदाय के मनोरथ पूर्ण होने लगे। आपकी प्रसिद्धि हो गई।

वह अकबरकाल था। दुष्ट यवन हिन्दू धर्ममें अनेक प्रकार से बाधा करते थे। साधुका सुयश न सह सकने वाले यवन अधिकारियों ने आदेश दिया कि शंख-घण्टानाद मत करो। आपने सुनी-अनसुनी कर दी। सायंकाल को आपने जैसे ही शङ्खध्वनि की, कई सिपाहियों के साथ मुस्लिम थानेदार इनायत खाँ पकड़ने आ गया पर पकड़ न सका, क्योंकि मन्दिरके चारों और बड़े-बड़े बन्दरों की भीड़ थी। सब निराश लौट गये। दूसरे दिन शंख बजते ही वे लोग पुनः पकड़ने आये तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। बाबाजी का छिन्न-भिन्न मृत शरीर देखकर खुश हुए और लौट चले। अभी वे चौकी पर पहुँचे भी न थे कि पुनः शङ्ख बजा। वापस आकर देखा तो फिर वही दृश्य। इनायत खाँ ने इनकी सिद्धियों का चमत्कार अकबर को लिख भेजा। उसे पुत्रकी कामना थी अतः एकदिन वह हाथी पर चढ़कर आया।

श्रीपरमानन्दाचार्यजीने सब कुछ जान लिया। सदल-बल सन्तके पास आते देखकर अहङ्कारी अनधिकारी समझा। आप जिस चौकी पर बैठे थे उसके सहित उड़कर आकाशमें हाथीके हौदे से ऊपर स्थित हो गये और बोले—'गर्व छोड़ो, सम्पत्ति और राज्य नश्वर हैं। हिन्दू-मुस्लिम सभी तुम्हारे लिए समान हैं। मुझ सन्तके आशीर्वाद से तो पुत्र भी सन्त हो जायगा। अतः तुम सलीम शाह चिस्ती (फतेहपुर सीकरी) के पास जाकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करो। श्रीपरमानन्दाचार्य के रूपको देखकर अकबर को विराट्-स्वरूप का ध्यान हो आया और तब उसने हाथ जोड़कर कहा—आप पूर्णवैराठी हैं।' तभी से आपका यह नाम प्रसिद्ध हो गया। पूर्वाश्रम में आपका नाम परमेश्वर प्रसाद था। श्रीअनन्तानन्दाचार्य के प्रशिष्य खेमदासजीसे आपने सं० १५७५ में विरक्त दीक्षा ली। (कुछ लोगों के मतानुसार आप अग्रदेवाचार्यके शिष्य थे, एक द्वारा परिचयमें ऐसा ही छपा है) ग्वालियर में आपकी गद्दी है।

आपने सं० १६६१ में कालूरामाचार्य को दीक्षा दी। आपके द्वारा संस्थापित श्रीहनुमान मन्दिर आपके शिष्यों-प्रशिष्योंके द्वारा अधिक समृद्ध हुआ। इसे ग्वालियर राज्य से जागीर भी मिली थी। इसी परम्परामें श्रीगंगादासजीके नाम पर संस्थापित गंगादासजी की बड़ी शाला ग्वालियर में प्रसिद्ध है। (ले० महन्त श्रीजगन्नाथदासजी ग्वालियर)

* श्रीलक्ष्मणभट्टजी *

श्रीरामानुज पद्धति प्रताप भट्ट लक्ष्मन अनुसर्‍यौ।
सदाचार मुनिवृत्ति भजन भागवत उजागर।
भक्तनि सों अति प्रीति भक्ति दशधा कौ आगर॥
सनतोषी सुठि शील हृदै स्वारथ नहिं लेसी।
परम धर्म प्रतिपाल सन्त मारग उपदेसी॥
श्रीभागवत बखानिकै नीर क्षीर विवरन कर्‍यौ।
श्रीरामानुज पद्धति प्रताप भट्ट लक्ष्मन अनुसर्‍यौ॥१८४॥

शब्दार्थ—मुनिवृत्ति=मुनियोंकी-सी चित्त की विशेष अवस्था, जीविका। आगर=आकर, खान, खजाना। विवरन=उलझे या मिले हुए को सुलझाना या अलगाना, विवेक।

भावार्थ—श्रीलक्ष्मणभट्टजीने श्रीरामानुज सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार भगवान की सेवा-पूजा की और उसीके सिद्धान्तों का अनुसरण किया। आप महान् सदाचारी, मुनियोंकी-सी वृत्ति स्वीकार करके जीवन यापन करने वाले, भजन-परायण और यशस्वी भगवद् भक्त थे। भगवद् भक्तोंमें आपका बड़ा-भारी स्नेह था। आपके हृदयमें दशधा-भक्ति का निवास था। आप परम सन्तोषी, बड़े शीलवान थे। नाम मात्रका भी स्वार्थ आपमें नहीं था। जिससे भगवद्-भक्ति दृढ़ हो उस परम धर्मका पालन करने वाले तथा सन्तोंका जो मार्ग, उसके उपदेशक थे। श्रीमद्भागवत की कथायें कहकर आपने सत् और असत् का उसी प्रकार विवेचन किया, जैसे हंस नीर और क्षीर को अलग करता है। इस प्रकार श्रीभट्टजीने असत्को छोड़कर सत् अर्थात् भगवत् शरणागतिको ग्रहण किया॥१८४॥

व्याख्या-भक्तन सों अति प्रीति—का भाव यह है कि भगवान से भी अधिक प्रीति। यथा—'उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यासके।' (छ० ९२) 'भक्तनि सों अति

प्रेम नेम नहिं किहुँ अंग घाटी।' (छ० ११२) 'भक्तनि सों अति प्रीति रीति सबही मन भाई।' (छ० १८६) अति प्रीतिके उदाहरण श्रीहरिदासजी (छ० १७९) सदाव्रती महाजन 'सुत बध हरिजन देखिकै दै कन्या आदर दियौ।' (छ० ५१) दो बाइयाँ—'भक्तनि हित सुत विष दियौ।' (छ० ५०) आदि भगवान को अति प्रसन्न करने का हेतु है, भक्तनि सों अति प्रीति।

सन्तोषी०—सन्तोषी थे अतः स्वार्थ का लेश न था। सन्तोषी सदा सुखी रहता है। 'बात कहे निर्लोभ की हिय में राखै लोभ। युगल प्रेमरस रीति की कैसे उपजै गोभ।।' जीवन के श्रेय और प्रेय, सन्तोष को सन्त कभी नहीं त्यागते हैं। सूक्तिकारों का कथन है कि—सर्प वायुका भोजन करके रहते हैं पर वे दुर्बल नहीं होते, बनैले हाथी तृण और पत्ते खाकर बलवान होते हैं। मुनिगण कन्दमूल खाकर समय व्यतीत करते हैं, अतः यह निश्चित है कि सन्तोष ही सबसे बड़ा जीवन पोषक खजाना है। सन्तोष के न रहने से लोभ बढ़ेगा, उससे चोरी करने का स्वभाव बनता है, उससे मिथ्या, हिंसा आदि सभी दुर्गुण आ जाते हैं। यथा—

सर्पाः पिबन्ति पवनं नहि दुर्बलास्ते, शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भविन्त।
कन्दैः फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं, सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्।।

सन्त—श्रीलक्ष्मणभट्टजी सन्त थे। सन्त की पहचान उसकी वाणी से ही हो जाती है। यथा—'चित्तह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि, यज्ञोत्पादि श्रवणसुखदं न्यायमार्गानुयायि। तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तवादं यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः संतमाहुः।। (सू० सु०) अर्थ—जो पुरुष चित्तको प्रसन्न करने वाला, व्यसन से विमुख, शोक और तापको शांत करने वाला, पूज्यभाव बढ़ाने वाला, कर्णसुखद, न्यायानुकूल, सत्य, हितकर, मानरहित अर्थगर्भित, विवादरहित और निर्दोष वचन बोलता है, उसे ही विवेकीजन सन्त कहते हैं। ऐसे वचनोंसे सन्तमार्ग अर्थात् साधन मार्गका उपदेश होता है सन्त वचनों को सप्रेम सुनने वाला भी सन्त ही बन जाता है। ये स्वयं आचरण करके उपदेश देते थे—जीव दया, नाम में रुचि और वैष्णव-सेवा ही सन्त मार्ग है।

विशेष—भ० दा० गु० चि० मे वर्णित श्रीलक्ष्मणभट्टजीके चरित्र का सारांश यह है—आप श्रीमद्वल्लभाचार्यके पिता एवं श्रीरामानुज सम्प्रदायमें दीक्षित थे। एकबार आपने एक भक्त शिष्य के यहाँ श्रीमद्भागवत की कथा कही, उसमें प्रचुर भेंट आयी। ज्यौं की त्यौं सम्पूर्ण भेंट सन्त-सेवाके निमित्त एक साधुको समर्पित कर दी। लोभ से कथा का सार चला जाता है। यथा—'करिता' कणलोभेन कथा सारस्ततो गतः।' (भा० मा०) केवल

उपकार-सन्तसङ्गकी भावनासे कथा कहते थे अतः उसमें नीर-क्षीर (सत-असत्) का विवेक हो जाता था अतः मूल में कहा कि–'श्रीभागवत बखानिकै नीर क्षीर विवरन कर्यौ।' एकबार राजाने आपको श्रीभागवत कथाके लिए आमन्त्रित किया, उन्हीं तिथियों में किसी सन्तने कथा के लिए कहा। आप सन्तके वहाँ गये, राजाके यहाँ नहीं गये। ऐसे सन्त प्रेम और निर्लोभी थे। 'श्रीरामानुज-पद्धति'–विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-ईश्वर, जीव, माया। जैसे लड्डू-घी, शक्कर, वेसन। एक की कमी से प्रेम मोदक नहीं बने।

एकबार यात्रा करते हुए कहीं मार्गमें ठहरे। समय होने पर श्रीठाकुरजी के लिए भोग बनाया। इसी बीच में कई यवन वहाँ आ गये, आपने मना किया कि इधर मत आइये। आपके स्पर्शसे तथा छाया पड़नेसे सामग्री ठाकुरजीके भोग्य योग्य नहीं रहेगी। वे लोग अड़ गये कि हम तो बैठेंगे। तुम हमारा क्या कर लोगे। आप चुप रहे, उन्होंने रसोई छू ली। आप वहाँ से चले गये, दूसरी जगह जाकर पुनः रसोई बनाई। भट्टजी की रसोई अपवित्र करके वे लोग बहुत प्रसन्न हो रहे थे। कुछ देर के बाद उनके पेट में पीड़ा होने लगी और मल-मूत्रसे उनके वस्त्र दूषित हो गये। अब इन्हें सन्त के प्रभाव का पता पड़ा। विवश होकर ये सब श्रीभट्टजी के पास आये और दूरसे ही प्रार्थना करने और माफी माँगने लगे। आपको रोष था ही नहीं। सभी ने कहा–महाराज ! मुझे मेरे अपराध का जो चाहिए वह दण्ड दीजिये। तब आपने कहा–कि इस ग्रामके सभी साधु-ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए धन दो और उनसे माफी माँगो तब उन्होंने ऐसा ही किया। फिर सभी पीड़ा रहित और शान्त हो गये। भक्त-भगवत्सेवाके लिए धन अर्पण कर चले गये। साुध-ब्राह्मणों ने भोजन किया, आपकी कीर्तिका विस्तार हुआ।

* श्रीस्वामी कृष्णदासजी पयहारी *

दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति।।
कृष्णदास कलि जीति न्यौति नाहर पल दीयौ।
अतिथि धर्म प्रतिपालि प्रगट जश जग में लीयौ।।
उदासीनता अवधि कनक कामिनि नहिं रात्यो।
रामचरण मकरन्द रहत निसिदिन मद मात्यो।।
गल तें गलित अमित गुण सदाचार सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति।।१८५।।

शब्दार्थ—गलतें=गलता स्थान जयपुर। गलित=परिपक्व, सिद्ध। पल=मांस। रातो=आसक्त। मातो=मग्न, डूबे।

भावार्थ—महान् सिद्ध सन्त पयहारी श्रीकृष्णदासजी श्रीगलताजी की गद्दी पर विराजते थे। आप अनन्त दिव्यगुणों से सम्पन्न, बड़े सदाचारी और अच्छे नीतिज्ञ थे। श्रीदधीचिजीके बाद इस कलियुग में उत्पन्न होकर कलिकाल के विकारों पर आपने विजय प्राप्त की। अतिथिके रूप में प्राप्त सिंहको आपने न्यौता दिया और अपने शरीरमें से मांस काटकर उसे भोजन के लिए अर्पण किया। इस प्रकार विलक्षण रूपसे अतिथि धर्मका पालन करके आपने सुयश प्राप्त किया। आप वैराग्य की तो सीमा ही थे और कभी धन और स्त्रियोंमें आसक्त नहीं हुए। भगवान श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलके पराग में आपका मन उसी प्रकार आनन्दित रहता था, जैसे पुष्परस को पाकर भ्रमर मतवाला हो जाता है।।१८५।।

व्याख्या—अतिथि धर्म प्रतिपालि०—अतिथि सत्कार में स्वसुखकी कल्पना नहीं है अतः यह श्रेष्ठ यज्ञ है। स्मृतिकारोंने जिन पञ्चमहायज्ञों का वर्णन किया है, उनमें नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ प्रधान यज्ञ है। सद्गृहस्थ को ही नहीं, जो भी आश्रम बनाकर बैठे, उसको अतिथि-सेवा करनी चाहिए। कोई ऐसा पुराण या स्मृति नहीं है जिसमें इसका वर्णन न हो। यथा—

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्वह्निशुश्रूषया यथा। गृही स्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात्।।
काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च। अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः।।
उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः। पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः।।
तृणानि भूगिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।

यज्ञ दक्षिणा अग्निहोत्रादि द्वारा जो शुभफल मिलता है, उससे अधिक अतिथिकी पूजा करने से। यदि कोई हजारों मन समिधा या सैकड़ों घड़े घी से होम करे, किन्तु यदि अतिथि प्रसन्न नहीं हुआ तो होम निरर्थक है। उत्तमवर्ण वाले के द्वार पर यदि नीचवर्ण का कोई अतिथि आ जाय तो भी वह यथायोग्य पूजनीय है क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय है। आसन के लिए घास, बैठने के लिए भूमि, जल और मधुर वचन इन चार वस्तुओं का अभाव निष्किञ्चन सज्जन के घर में भी कभी नहीं होता है। शत्रु भी यदि अतिथि बनकर आवे तो उसका सत्कार करना चाहिए। जरासन्धने श्रीकृष्ण और अर्जुन, भीमका आतिथ्य किया। अपना सिर तक देन को तैयार हो गया। आतिथ्य के आदर्श हैं, श्रीरन्तिदेवजी, श्रीमोरध्वज आदि। सामान्य पुरुष अतिथिके सत्कारमें अपने शरीर को कष्ट नहीं दे सकता है। इस पर—(दृष्टान्त कपोत

कपोती और बधिकका तृ० पृ० ३८१) पुनः—

दृष्टान्त—श्रीकृष्णका—महर्षि दुर्वासाने द्वारका में जाकर कहा—'मुझे अपने घर में कौन ठहराता है ? मुझे वही ठहराये जो मेरा सब कुछ सह सके। भगवान श्रीकृष्णने उन्हें अपने महल में ठहराया। ऋषि कभी हँसते, कभी रोते, कभी घर की वस्तुओंमें अग्नि लगा देते, कभी हजारों मनुष्योंके भोजनको अकेले ही खा जाते और कभी बालक की तरह थोड़े में ही तृप्त हो जाते। वे एकदिन बोले—'खीर लाओ। श्रीकृष्ण तुरन्त खीर ले आये। थोड़ी-सी खाकर बोले-'अब इसे अपने सारे शरीर में पोत लो।' श्रीकृष्णने ऐसा ही किया। ऋषिने पास खड़ी रुक्मिणीजी से कहा—तुम भी चुपड़ लो। इसके बाद बोले—रथ मँगाओ।' तुरन्त ही रथ आ गया। घोड़े थक जायेंगे अतः इन्हें खोल दो, रुक्मिणी रथमें जुत जाय। ऐसा कहने पर खीर से लिपटी रुक्मिणीजी रथ में जुत गयीं। दुर्वासाजी चाबुक लेकर रथ पर बैठ गये। मुनिकी इच्छानुसार राजमार्ग पर रथ चला। वे सटासट चाबुक फटकारते रहे रुक्मिणीदेवी पर। इसके बाद वे रथ से उतर कर भागे। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे दौड़े और नम्रता से कहने लगे कि—'भगवन्! प्रसन्न होइये।' दुर्वासाजी खड़े हो गये और पानी-पानी होकर बोले—'गोविन्द ! तुम धन्य हो, तुम्हारे बिना मेरा आतिथ्य कौन कर सकता है।' ऐसा कहकर अनेकों आशीर्वाद देकर ऋषि चले गये।

२-दृष्टान्त—मुद्गल मुनि का—ये कुरुक्षेत्र निवासी महान् तपस्वी गृहस्थ ब्राह्मण थे। उनके पत्नी तथा एक पुत्र था। शिलोञ्छवृत्ति से निर्वाह करते थे। अमावस्या तथा पूर्णिमा को एकत्र अन्न से इष्टीकृत यज्ञ, दर्श तथा पौर्णमास श्राद्ध करके अतिथि-सेवा के बाद बचे अन्नसे तपस्वी परिवार पेटकी ज्वाला को शान्त कर लेता था। नित्य भोजन की व्यवस्था नहीं होती थी। इनके तप, त्याग और अतिथि-सेवा की प्रशंसा सुनकर एक पूर्णिमा को श्रीदुर्वासाजी इनके यहाँ पहुँचे। मुद्गलजीने इनका आतिथ्य किया। दुर्वासाजी ने भोजन किया और बचे-खुचेको अपने शरीरमें लपेट लिया और चले गये किन्तु ब्राह्मण परिवार भूखा रह गया। सब अपने भजन-साधन में लगे रहे भोजन की चिन्ता नहीं। अब प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाके दिन दुर्वासाजी आते और सम्पूर्ण अन्न सफाचट कर जाते। पूरे तीन महीने तक मुद्गल परिवार ने उपवास किया पर प्रसन्न रहा। ऐसे तपोधनको लेने के लिए स्वर्ग से विमान आया पर इन्हें स्वर्ग की कामना ही न थी। विमान निराश लौट गया। अन्त में ये परमपद के अधिकारी और भगवान के कृपापात्र हुए। श्रीपयहारीजी महापुरुष थे अतः आदर्श आतिथ्य कर सके।

निराश होकर अतिथि जब द्वार पर से लौटता है तो वह अपना पाप दे जाता है और आश्रमीका पुण्य ले जाता है यथा-अतिथि र्यस्य भग्नाशे गृहात् प्रति निवर्तते। स दत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।। 'उदासीनता अवधि'—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।

अर्थ—जो पुरुष आकांक्षा से रहित तथा बाहर-भीतर से शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस काम के लिए आया है, उसे पूरा कर चुका है। जो उदासीन अर्थात् पक्षपात से रहित है, दुःखों से छूटा है। वह सर्वारम्भ परित्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है।। जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोच करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मेरे को प्रिय है। (गी० १२-१६, १७)

पद—विषयरस पान पीक सम त्याग। वेद कहैं मुनि साधु सिखावैं विषय समुद्री आग।। को न पान करि भा मतवाला यह ताड़ी को झाग। वीतराग पर मिलन कठिन अति काल कर्म के लाग। 'केशी' एक मात्र तोहिं चहिए राम चरण अनुराग।। 'कनक कामिनि'—साधनमार्गमें ये दो बाधायें मुख्य हैं। दो०—'व्यास' कनक अरु कामिनी ये लम्बी तरवारि। आये हे हरि भजन को बीचहिं लीने मारि। 'राम चरण०'—राम चरन मकरन्द हित मन भौंरा मँडराय। तजिकै नहिं जावै अनत तन की सुधि विसराय।। पद-राम चरण माते जे रहते। तिनकी चरन धूरि ब्रह्मादिक सिर धारन को चहते।। याही ते मानव शरीर की महिमा बुधजन कहते। सो वपु पाय भजे नहिं रामहिं ते शठ डह डह डहते।। 'केशी' तोहिं उत्तम मारग सोइ जिहिं मुनि नायक गहते।। 'राम चरण रस मत्त रहत अहनिसि व्रत धारी।' (छ० १२९)

सुठि नीति—आपका नीति-न्याय उत्तम था। जहाँ दूसरे के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए वहाँ अपने साथ तथा अपने लोगों के साथ भी अन्याय नहीं करना चाहिए। सर्वदा दयामय व्यवहार करना चाहिए। अशुभ कर्म करना अपने साथ अन्याय और आत्मघात है।

दधीचि पाछैं०—श्रीदधीचिजीका चरित्र देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ४६० क० ८६। पयहारी श्रीकृष्णदासजी श्रीशत्रुघ्नजीके अवतार और भक्तमालके कर्ता गो० श्रीनाभाजीके दादागुरु थे। छ० ३८ में आपका विशेष चरित्र द्रष्टव्य है। दधीचिजी ने अपनी हड्डी दी थी। इन्होंने सिंहको अपना मांस दिया। गृहीता पूज्य इन्द्रकी अपेक्षा सिंहमें इनका भगवद् भाव विशेष प्रशंसनीय है। धर्म निभाना ही कलिको जीतना है। धर्म त्यागकर अधर्म करने में कलिकी विजय होती

है। स्वार्थहीन और स्वागतयुक्त दान है। 'न्यौति नाहर०' इस प्रकार सत्कार किया जैसे कोई किसी महापुरुष का निमन्त्रण देकर करता है।

बैठे हे गुफा में देखि सिंह द्वार आय गयौ, लयौ यों विचारि हो अतिथि आज आयौ है।
दई जाँघ काटि डारि कीजियै अहार अजू, महिमा अपार धर्म कठिन बतायौ है।।
दियौ दरसन आय साँच में रह्यो न जाय, निपट सचाई दुख जान्यौ न बिलायौ है।
अन्न जल देबै ही कों झींखत जगत नर, करि कौन सकै जन मन भरमायौ है।।६१३

शब्दार्थ—बिलायौ=मिट गयौ। झींखत=दुःख मानकर पछताते या चिढ़ते हैं। जन मन=लोगों के मन। भरमायौ=घबड़ायौ।

भावार्थ—एकबार पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराज अपनी गुफा में विराजमान थे, उसी समय द्वार पर एक सिंह आकर खड़ा हो गया। आपने विचार किया कि—'आज तो अतिथि-प्रभु पधारे हैं।' उनके भोजन के लिए आपने अपनी जाँघ काटकर मांस सामने रख दिया और प्रार्थना की—'प्रभो ! भोजन कीजिये।' धर्मकी बहुत बड़ी महिमा है और उसका पालन करना बहुत ही कठिन है। इनकी सच्ची धर्मनिष्ठा को देखकर भगवान श्रीरामचन्द्रजीसे नहीं रहा गया, उन्होंने प्रकट होकर दर्शन दिया क्योंकि आपका भाव बिल्कुल सत्य था। भगवान श्रीरामचन्द्र का दर्शन करके जाँघ का दुःख न जाने कहाँ चला गया। संसार में लोग अतिथि को अन्न-जल देने में कष्ट का अनुभव करते हैं, तब इस प्रकार अपने शरीर का दान कौन कर सकता है। आपके इस चरित्र को सुनकर लोगों के मनमें महान् आश्चर्य होता है।।६१३।।

व्याख्या-सिंह द्वार आय गयौ—बड़ी प्रसन्नता हुई, जैसे श्रीरत्नावतीजी को। 'आज मेरे भाग श्रीनृसिंहजू पधारे हैं।' (क० ५५६) भक्त के समीप भक्त-भगवान को छोड़कर दूसरा कोई आ ही नहीं सकता। यथा—'तुम्हारो भवन और सकै कौन आइ इहाँ।' (क० १३८) जब भगवान आये तो 'तन मन प्राण वारिये।' श्रीपीपाजी के पास गर्जता हुआ सिंह उद्दण्डतापूर्वक आया था अतः उन्होंने उसे शिष्य बनाकर शिक्षा दी। यहाँ शान्त भाव से आया अतः पूजा की। कोई परिचित हो, सन्त हो, मनुष्य हो, तब तो उसकी पूजा करने वाले बहुतसे लोग होते हैं। अपरिचित और उसमें भी सिंह उसका आतिथ्य कोई श्रीपयहारी सरीखा महापुरुष ही कर सकता है। इसकी अपार महिमा यह है कि स्वयं श्रीरामजी प्रकट हो गये। ऐसे धर्म को निभाना धर्मज्ञों के लिए भी कठिन है। इस पर—

दृष्टान्त—वंशीदास और कुत्ता अतिथिका—वंशीदास नामक सन्त नर्मदा वन में रहकर भगवद् भजन करते थे भगवत्कृपा से प्राप्त सामग्री से रसोई बनाकर भोग लगाते और पहले किसी सन्तको, अतिथिको प्रसाद पवाते, उसके बाद स्वयं प्रसाद लेते। संयोगवश एकदिन कोई अतिथि नहीं आया तो प्रसाद को सिरसे लगाकर उसे नदीके जल-जीवों को खिला दिया। इस प्रकार जब तीसरे दिन भी कोई अतिथि न आया तब वे बड़ी दीनता के साथ प्रभुसे प्रार्थना करने लगे कि—'प्रभो ! किसी अतिथि को भेजो।' प्रार्थना स्वीकार हुई, एक कुत्ता बड़े गौरव के साथ सामने आकर खड़ा हो गया। सन्तने उसे दुत्कार दिया, वह चुपचाप चला गया। झट सन्त की अन्तरात्मा में आया कि धिक्कार है मुझे, जो मैंने बुलाकर अतिथि भगवान का तिरस्कार किया। अब तो अत्यन्त त्रस्त होकर वे उसी अतिथि कुत्तेको ढूंढ़ने लगे। बहुत देर तक वन में भटके परन्तु वह नहीं मिला, तब विवश होकर अपने आश्रमको लौट आये और क्षमा-प्रार्थना करते हुए पुनः उसी अतिथि के दर्शनार्थ प्रभु से रो-रोकर विनय करने लगे। हृदय के सच्चे भाव को देखकर भगवान उसी कुत्ते के रूपसे पुनः आ गये। अब तो सन्त की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। सादर सविधि अर्घ्य पाद्य देकर सामने प्रसाद रख दिया और भगवद् बुद्धि से पाने की प्रार्थना करने लगे। तब कुत्ते से प्रभु, एक सन्त के रूपमें आ गये। उनके प्रसाद पा चुकने पर अब दृढ़ता से इन्होंने चरण पकड़ लिए। तब भगवानने अपना मधुर मनोहर श्रीरामरूप प्रकट किया। उसका दर्शन करके सन्त की अतिथि-सत्कार साधना सफल हुई। (एक सौ वर्ष से पूर्व की यह घटना है जो किसी सन्तके मुखसे सुनी गई है।)

दृष्टान्त—मनकोजी बोधला—आप पटवारी थे। परिवार में उनकी पत्नी पुत्र तथा पुत्र बधू थी। घरमें धन-धान्य पर्याप्त था। अचानक धामण गाँव में अकाल पड़ा। वृक्षोंकी छाल और पत्तोंका भी अभाव हो गया। ऐसे अवसर पर इनके यहाँ अतिथियों की भीड़ बढ़ गई। घरका अन्न भण्डार, धन, आभूषण, वर्तन और पशुधन सर्वस्व अतिथि-सेवामें समर्पित हो गया। अतिथियोंका आना बन्द हो गया, इससे इन्हें अपार दुःख हुआ। एक-दो दिन परिवार सहित भूखे रहे। तीसरे दिन मनकोजी कुल्हाड़ी लेकर जङ्गल में गये और लकड़ियाँ काटकर लाये। बाजार में बेचने से तीन पैसे मिले। एक पैसा एक मन्दिर में भेंट कर आये। एक पैसेका पाव भर आटा लाये और एक पैसे की ठाकुर-सेवा की सामग्री ले आये। घर आते-आते परिवार तथा अपनी क्षुधाका स्मरण नहीं रहा। मनमें उत्सुकता हुई कि-कोई अतिथि आ जाय तो सेवाका सौभाग्य मिले। ऐसे धर्मात्मा के अन्नका स्वाद लेने के लिए

ब्राह्मण वेशमें स्वयं नारायण पधारे। प्रसन्नता पूर्वक पटवारीजीने पूरा आटा उन्हें दे दिया और थोड़ा नमक भी। ब्राह्मणने उपले सुलगाकर बाटियाँ बनाई। इतने में ब्राह्मणी बनी लक्ष्मीजी भी आ गई और बोलीं—मैं बहुत भूखी हूँ। दोनोंने बाटियाँ खाई, तृप्त होकर पटवारी से बोले-अब तुम भी प्रसाद लो। परिवार सहित प्रसाद लेकर सदा-सदा के लिए इनकी आत्मा तृप्त हो गई। प्रसन्नात्मा शोक-सन्तापसे रहित परिवार को जीवन-जन्मका लाभ हो गया। इस परीक्षाके बाद वर्षा हुई और सुकाल हो गया पुनः अतिथि-सत्कार साधना आरम्भ हो गई। (धर्माङ्क कल्याण पृ० ५७६ से उद्धृत) भक्तदाम गुण चित्रणी में वर्णित है कि भगवान श्रीरामने दर्शन देकर कहा—जिस सिंहके पैर से तुमने काँटा निकाल कर उसके दुःखको दूर किया था, वही कई दिनका भूखा सिंह तुम्हारे पास आया। तुमने लोकोत्तर सत्कार कर मुझे सन्तुष्ट किया। प्रभुके साथ हुए इस संवाद को बाहर एक सेवक सुन रहा था। वह भीतर गुफा में गया तो वहाँ श्रीपयहारीजी के अतिरिक्त कोई भी न था। तब उसने पूछा—महाराज ! आपके साथ कौन बातचीत कर रहा था। आपने कहा—कोई तो नहीं था, फिर उसके आग्रह पर स्वामीजीने सब वृत्तान्त बताया। इस प्रकार यह रहस्य सबके सामने आया। श्रीरामजी कहते है—

देह धरन को यही लाभ है ठानै पर उपकारा। तन धन सबही मेरौ मोकों अरपि होय भव पारा।। पर उपकार विफल नहीं जावै पै देवौ कठिनाई। सीत समय ज्यौं सीतल जल में कातुर न्हात डराई।। प्रथम कठिन पै सुगम पिछारी त्योंही पर उपकारा। जीव दया धरि जीवहिं पोषत कबहुँ न होय बिगारा।। उहि नाहर पग कंटक पीड़ित उद्यम भयौ न कोई। तुम तिस दुख लखि कंटक काढ्यौ निज तन मांसहि सोई।। क्षुधा कष्ट द्वै अष्ट दिवस करि तब सो तुम पै आवा। कृपा करी तुम खरी हरी की हरी विपति मम भावा।। भयौ प्रकट मैं निकट तिहारे अस कहि हरि लुकि जावा। ताही बार द्वार इक सेवक खड़ो यही सुनि पावा।। सो स्वामी पै आय चरन लगि पूछी कहौ बषानी। तुम अबार कासूं बतरावत गयौ कहाँ सो प्रानी।। स्वामी नट्यौ हठ्यौ पुनि सेवक तब सो स्वामी गावा। भयौ वृत्तान्त जथा सबही सो सुनिकै जग वितरावा।।

* श्रीगदाधरदासजी *

भलीभाँति निबही भगति सदा गदाधरदास की।।
लालबिहारी जपत रहत निसिवासर फूल्यौ।

सेवा सहज सनेह सदा आनन्द रस झूल्यौ।।
भक्तनि सों अति प्रीति रीति सबही मन भाई।
आशय अधिक उदार रसन हरि कीरति गाई।।
हरि विश्वास हिय आनिकै सुपनेहुँ आन न आस की।
भलीभाँति निबही भगति सदा गदाधरदासकी।।१८६।।

शब्दार्थ—फूल्यौ=खिले, प्रसन्न। झूल्यौ=झूमते। आशय=अभिप्राय।

भावार्थ—श्रीगदाधरदासजी की भक्ति का सर्वदा निर्वाह हुआ, उसमें कभी कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई। आप श्रीबिहारीलालजीके नाम का जप करते हुए दिन-रात प्रफुल्लित ही रहते थे। भक्त-भगवन्तकी सेवामें आपका सहज स्नेह था। उसी के आनन्द में सर्वदा झूमते रहते थे। भक्तों में आपका बड़ा-भारी अनुराग था। आपकी सन्त-सेवा की रीति सभीको अच्छी लगती थी। आप मन-बुद्धि से परम उदार थे और जिह्वा से सदा भगवान की कीर्तिका गान किया करते थे। हृदय में केवल भगवान का विश्वास और भरोसा रखकर आपने स्वप्नमें भी किसी दूसरे की आशा नहीं रक्खी।।१८६।।

व्याख्या-भलीभाँति निबही—भक्त और भगवान दोनों निभाते हैं—यथा—'भक्तनि सों कलिजुग भलैं निबाही नीवा खेतसी।' (छ० १५३ 'नेह परस्पर अघट निबहि चारों जुग आयौ।' (छ० २०१) प्रेम करना सरल है पर अन्त तक निभाना कठिन है। स्वार्थ की टक्कर लगते ही वह प्रेम टूट जाता है जो कच्चा है। पुष्ट प्रेम किसी भी परिस्थितिमें शिथिल नहीं होता है। भेषनिष्ठावश हाथ पैर काटने वालों का सत्कार करके श्रीजयदेवजीने सन्तों के प्रति भक्तिका निर्वाह किया। भक्तमाल के सभी भक्तोंने कष्ट सहकर भक्तिका निर्वाह किया। कभी चूके नहीं (विशेष देखिये तृ० ख० पृ० ३४५ कियौ निर्वाह की व्याख्या) उसका हेतु था 'सहज स्नेह' सच्चा निष्काम प्रेम ही निभता है। 'जपत रहत'—नामके जपमें मग्न रहते थे अतः नाम भगवान इनकी भक्तिकी रक्षा करते रहते। जप भी साधारण नहीं था उसमें फूले अर्थात् उसीके नशेमें विभोर रहते थे। भगवन्नाम प्राकृत नहीं है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, नाम एवं नामीमें अभेद है—

नाम विग्रह औ स्वरूप तीनों एक रूप। तीनों हैं अभिन्न तीनों चिदानन्दरूप।।
नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरस विग्रहः। पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।।

पद्मपुराणमें कहा गया है कि नाम और नामी की अभिन्नता के कारण चैतन्यरस विग्रह श्रीकृष्णके समान उनका नाम भी चिन्तामणि (सभी इच्छाओं का पूरक) उदार, पूर्ण, शुद्ध, नित्य और मुक्त है।

सेवा सहज सनेह०—भगवान में मन लग जाने से आपकी भक्ति स्वाभाविकी थी। सेवा करने का स्वभाव ही था। श्रीकपिलदेवजी माता देवहूति से कहते हैं—देवानां गुण-लिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।। अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिर्द्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निर्गीणमनलो यथा।। (भाग ० ३-२५-३२, ३३) हे माता ! जिसका चित्त पूरी तरह से भगवान में ही लग गया है, ऐसे मनुष्यकी इन्द्रियों की जो श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही भगवान की अहैतुकी भक्ति है। यह मुक्तिसे बढ़कर है। क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्म-संस्कारों के भण्डाररूप लिङ्ग शरीरको तत्काल भस्म कर देती है।

भक्तनि सों अति प्रीति—यही कारण है 'रीति सबही मन भाई' अर्थात् भक्तों की भजन करनेकी, रहने-खाने-पीने, बोलने-समझने की रीतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी को कोई रीति पसन्द है, कोई नापसन्द है पर श्रीगदाधरदासजीको सभी रीतियाँ पसन्द थीं, भक्तोंके सभी सिद्धान्त पसन्द थे क्योंकि सभी का लक्ष्य एक भगवान ही हैं। धूम्रपान करते देखकर श्रीरसिकमुरारिजीने उन्हें फटकारा नहीं, संकोच छुड़ाने के लिए स्वयं धूम्रपान का कौतुक किया। अति प्रीतिके कारण श्रीपीपाजीने साधु-सेवा में सीतासहचरी को समर्पित किया। श्रीजसवन्तसिंहजी—'भक्तनि सों अति भाव निरन्तर अन्तर नाहीं।' (छ० १५५) 'आशय अधिक उदार'—भक्तों के अभिप्राय गंभीर होते हैं। यथा—'आशय अगाध दुहुँ भक्त को हरि तोषन अतिशै कियौ।' विधर्मको स्वीकार किया पर उसका आशय था श्रीरङ्ग मन्दिर निर्माण। हंस भक्तोंके बन्धन में आनेका आशय था वेशनिष्ठाकी रक्षा। (छ० ५१)

रसन हरि कीरति गाई—दो०—तुलसी रसना सो भली जो सुमिरे हरिनाम। नहिं तौ खैंचि निकासिये मुख में भलो न चाम।। पुनः—'जीह सो दादुर जीह समाना। जो नहिं करै राम गुन गाना।।' वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायाम्।। (भा० १०-१०-३८) नल कूबर मणिग्रीवने कहा—मेरी वाणी आपके गुण गावे और कान श्रवण करें। भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्। त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः।। (भा० १-९-२३) अर्थ— भीष्मपितामहजी कहते हैं—भगवत्परायण योगी पुरुष भक्ति-भाव से श्रीकृष्णमें अपना मन लगाकर और वाणीसे इनके नाम-यशका कीर्तन करते हुए शरीर का त्याग करते हैं

वे कामनाओंसे तथा कर्म के बन्धनसे छूट जाते हैं। श्रीगदाधरदासजी की जिह्वा को रसका चस्का मिल गया था अतः वह हरिकीर्तिका गान करती रहती थी।

सुपनेहुँ आन न आस की—भगवान में विश्वास था अतः उन्हीं की आशा थी। 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहुहु कहा विश्वासा।।' (रा०) आशा जाकी जहँ बसी तहँ ताही को वास। गेही होय विरक्त कै, कै स्वामी कै दास।। (भगवतरसिक) भगवान दत्तात्रेयजी कहते हैं—आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला।। (भा० ११-८-४४) सचमुच संसार की आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है। क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब धनिक पुरुषों की आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी। गीतामें भगवान कृष्ण कहते हैं—

आशापाशशतैर्वद्धाः कामक्रोधपराणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।

(गी० १६-१२)

असुर प्रकृति के लोग आशारूप सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए और काम, क्रोध के परायण हुए विषय-भोगोंकी पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन आदिक बहुतसे पदार्थोंको संग्रह करने की चेष्टा करते हैं अतः सदा दुःखी ही रहते हैं क्योंकि उन्हें सन्तोष नहीं होता है। दुराशा दासके विश्वासको जड़से उखाड़ डालती है। जब भक्त दूसरोंकी आशा करने लगा तो समझ लो कि उसका भगवानमें विश्वास नहीं रहा। इसके बिना भक्ति भी नहीं रहती, बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम।। आशा पिशाचीके समान दुःखदा है—'अब तुलसिहिं दुख देति दयानिधि दारुन आस पिशाची।' (विनय १६३) जब आशा नहीं रहती है तब हृदय निर्मल रहता है। यथा—'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा।।' (कि० १६) पुनः—'जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु विश्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे।। (वि० १६८) दुराशा से सभी दुःख और दोषों की उत्पत्ति होती है। भक्तको भगवानकी आशा लगी रहती है—यथा—'जियौ नहीं जात तऊ राम आसा लागी है।' (क० ३४ शबरीजी) आशा से जीवन है। अयोध्यावासी श्रीराम वन-गमनकाल में आशासे जीते हैं—'अवधि आस सब राखहिं प्राना।' (दृ० बिल्ली का पूर्वार्द्ध पृ० २४०) आशाके टूटते ही मरण कष्ट होता है—'गई आस टूटि तन छूटिबे की रीति भई।' (क० २०५) श्रीनाभाजीको भक्त चरणरजकी आशा है। यथा—हरिबल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आशा धरी।' (छ० ९) परोपकारी गुरु नारदजीको जीव उद्धारार्थ उपदेश की आशा लगी है। यथा—'गये नारद विलासी उपदेश आसा लागी है।' (क० १०३)

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
राग ग्राहवती वितर्क विहंगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।।
माहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गाचन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।। (भर्तृ०)

अर्थ—आशा नामकी एक बड़ी भयानक नदी है, जिसमें मनोरथरूपी जल है, तृष्णारूपी तरंगें हैं, रागरूपी ग्राह है, संकल्प-विकल्परूपी पक्षी हैं और जो धैर्यरूपी तटके वृक्षको उखाड़ देने वाली है तथा जिसकी अति गम्भीर और दुस्तर मोहरूपी भँवरें हैं तथा उसके चिन्तारूपी ऊँचे-ऊँचे करारे हैं, उसके उस पार गये हुए विशुद्धचित्त योगीश्वर ही आनन्दित होते हैं।। श्रीगदाधरदासजी भक्तियोगी थे अतः आशा नदी को पार कर सुखी थे। आशा का त्याग करना कठिन है। सुन्दरदासजी कहते हैं—

गेह तज्यौ पुनि नेह तज्यौ पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी।
मेघ सहे सिर सीत सहे तन धूप समै जु पँचागिनि बारी।।
भूख सहै रहि रूख तरे परि 'सुन्दरदास' सहै दुख भारी।
डासन छाँड़िके कासन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी।।

धैर्यं यस्त पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृत भोजनं,
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः।।

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है और शान्ति जिसकी घर वाली है, सत्य ही मित्र, दया बहिन और मनका संयम जिसका भाई है। भूमितल शय्या, दिशायें वस्त्र, और अमृतमय ज्ञान ही भोजन है जिसका। ऐसे कुटुम्बी योगियोंको किससे भय हो सकता है अर्थात् किसीसे नहीं।

बुहरानपुर ढिग बाग तामें बैठे आय करि, अनुराग गृह त्याग पागे स्याम सों।
गाँव में न जात लोग किते हाहा खात, सुख मानि लियौ गात नहीं काम और काम सों।
पर्‍यौ अति मेह देह बसन भिजाय डारे, तब हरि प्यारे बोले स्वर अभिराम सों।
रहै एक साह भक्त कही जाय ल्यावौ उन्हें, मन्दिर करावौ तेरौ भर्‍यौ घर दाम सों।।६१४।।

शब्दार्थ—किते=कितने। हाहा खात=गिड़गिड़ाना, अनुनय-विनय करना। काम= प्रयोजन, वास्ता। काम=कार्य, कामना।

भावार्थ—श्रीगदाधरदासजी श्यामसुन्दरके प्रेममें ऐसे डूबे कि उनका घर, धन और परिवार सब कुछ छूट गया। परम विरक्त हो गये। कुछ दिन इधर-उधर घूम-फिरकर आप बुरहानपुरको आये और उसीके निकट एक बागमें आसन लगाकर बैठ गये। लोगोंने आपसे बहुत अनुनय-विनय करके कहा—'प्रभो! गाँवमें चलकर किसी मन्दिर में रहिये।' परन्तु उनके कहनेसे आप गाँवमें नहीं गये। उसका कारण यह था कि आपको एकान्त में ही सुख था। भगवद्भजनको छोड़कर दूसरी किसी कामनासे आपका कोई प्रयोजन न था। एकबार कई दिनों तक लगातार वर्षा होती रही, उससे आपका शरीर और वस्त्र भीग गये। इनके कष्टको देखकर प्यारे श्यामसुन्दरने अत्यन्त मीठे स्वरमें एक भक्त सेठ से कहा—तुम्हारे घरमें बहुत-सा धन भरा हुआ है, तुम श्रीगदाधरदासजी के लिए और उनके ठाकुरजी के लिए एक सुन्दर मन्दिर बनवाओ और उन्हें लाकर उस मन्दिर में रक्खो।।६१४।।

व्याख्या-बुरहानपुर ढिग बाग—महाराष्ट्रमें ताप्ती नदीके तट पर बसा है। प्रभुमें जिसका अनुराग हो जाता है, उसे घर भूल जाता है 'जाहि लगन लगी घनश्याम की। जित मुंह उठै तितै उठि धावै भूलि जात सुधि धामकी (तृ० ख० पृ० १७७ पर पूरा पद) श्रीप्रह्लादजीने पिताजीसे कहा—घर अँधेरे कुएँके समान है उसको त्यागकर वनमें जाकर हरिका आश्रय लेना चाहिए।। (भा० ७-५-५) पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५५७ पर पूरा श्लोक देखें।

दो०— नदी किनारे गिरि शिखर बाग इकौसो देखि।
भगवतजन विलमौ तहाँ बाढ़ै भजन विसेखि।। (भ० र०)

गाँवमें न जात—वहाँ गाँवके प्रपञ्च देखने-सुननेमें आवेंगे। भजनमें बाधा होगी।

दो०— तुलसी तहाँ न जाइये जहाँ जनम अरु गाम।
भक्ति भाव बूझैं नहीं धरैं पुराने नाम।।

परचौ अति मेह—कई दिन लगातार वर्षाके होनेसे कीचड़ हो गई। भूमि सोने-बैठने योग्य नहीं रही। खड़े-खड़े जागते और नाम जपते रह गये। प्रसाद ग्रहण करने का भी सुयोग नहीं हुआ फिर भी आपको चिन्ता न थी। भजन-साधनमें युक्त आहार-विहार आवश्यक है। बुलाने पर चले जाना, ऐसा आदेश प्रभुने इन्हें दिया। आपने प्रभुकी आज्ञा स्वीकार की।

नीति नीठि ल्याये हरि वचन सुनाये जब, तब करवायौ ऊँचौ मन्दिर सँवारिकै।
प्रभु पधराये नाम 'लाल' औ 'बिहारी' स्याम, अति अभिराम रूप रहत निहारिकै।।
करैं साधु सेवा जामें निपट प्रसन्न होत, बासी न रहत अन्न सोवैं पात्र झारिकै।
करत रसोई जोई राखी ही छिपाय सामा, आये घर सन्त आप कही ज्यांवौ प्यारिकै।।६१५।।

शब्दार्थ—नीति नीठि=जैसे-तैसे, किस प्रकार। सामा=सामान।

भावार्थ—भगवानकी आज्ञा पाकर उस सेठ भक्तने सुन्दर विशाल मन्दिर बनवाया और भगवान की आज्ञा को सुनकर बहुत आग्रह किया, तब बड़ी मुश्किल से आप उस मन्दिरमें आये। आपने उस मन्दिरमें भगवान के श्रीविग्रह की स्थापना की और उनका नाम 'श्रीलालबिहारीजी' रक्खा। श्रीठाकुरजी के सुन्दर मधुर स्वरूपको देख-देखकर सर्वदा उसी आनन्दमें विभोर रहते। बड़े प्रेमके साथ आप सन्तों की सेवा करते, इनकी सेवा से सन्तजन बहुत प्रसन्न होते और सन्तों को सुखी देखकर आप भी प्रसन्न रहते। सन्त-भगवन्त की सेवाके लिए जो भी कुछ सामान आता था, आप उसे उसी दिन सेवामें लगा देते, बासी, अन्न-धन दूसरे दिन के लिए नहीं रखते। सोते समय सभी पात्रोंको झाड़ कर साफ कर देते, बचा-खुचा सामान पशु-पक्षियों, मोर-बन्दरोंके लिए डाल देते। एकबार रसोइयाने छिपाकर कुछ सामान रख रक्खा था। संयोगवश आश्रममें कई सन्त आ गये। तब श्रीगदाधरदासजी ने अपने रसोइयासे कहा—कुछ सामान हो तो उसीसे रसोई बनाकर प्रेमपूर्वक इन साधु-सन्तोंको भोजन करा दो।।६१५।।

व्याख्या—मन्दिर करायौ—दान, भोग और नाशमें प्रथम दान ही श्रेष्ठ है। सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। दो०—लक्ष्मी के सुत चार हैं धर्म अगिनि नृप चोर। धर्म हेतु खरचै नहीं तीनि करैं भँड़ फोर।। (विशेष द्वि० पृ० ४८९ पर) मन्दिर न बनवाऊँगा तो भगवान प्रेरणा करके नष्ट करवा देंगे अतः ऊँचो=विशाल शिखरदार मन्दिर बनवाया।

रूप रहत निहारिकै—श्रीठाकुरजी की शोभा को देखते ही रह जाते। जैसे श्रीरत्नावतीबाई—'करत सिंगार छबि सागर न पारावार रहत निहारि वाही माधुरी सों पली है।' (क० ४४५) प्रभु रूप के उपासक को पलक पड़ने के अन्तर में भारी दुःख होता है। यथा—'श्रीनारायण वदन निरन्तर ताही देखै। पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं।' (छ० २६) विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६३४ निरन्तर ताही देखैं की व्याख्या। भक्त श्रीरसखानजी अपना अनुभव कहते हैं—

जा दिन तें निरख्यौ नँदनन्दन कानि तजी घर बन्धन छूट्यौ।
चारु विलोकनि कीन सुमार सँभार गई मनमार ने लूट्यौ।।
सागर को सरिता जिमि धावत रोकि रही कुल को पुल टूट्यौ।
मत्त भयौ मन सङ्ग फिरै, 'रसखानि' स्वरूप सुधारस घूट्यौ।।

करैं साधु सेवा—गाँवमें, मन्दिर-आश्रममें रहना आपने साधु-सेवार्थ ही स्वीकार किया। इससे ग्रामवासियोंको भी सेवा-सत्सङ्गका लाभ होगा। पुरानी टिप्पणीमें किसी पुराणका वाक्य लिखा है—हरि भक्तमनाराध्य तन्मूर्ति यस्तु पूजयेत्। मूर्तिर्मृत्युकारी तस्य यतो भक्तवशो हरिः।। जो लोग हरि भक्तोंकी सेवा नहीं करते हैं, केवल मूर्त्ति की ही आराधना करते हैं। उनके लिए वह मूर्ति मृत्यु देने वाली होती है। क्योंकि भगवान तो भक्तोंके वशमें हैं। तात्पर्य यह कि मूर्तिको विविध उपचार भोग-राग आदि समर्पित करके उनके भक्तोंको दिये बिना जो स्वयं अकेले ही खा-पी लेते हैं, उन्हें अपराध लगता है क्योंकि भगवान अपने भक्तोंकी जिह्वासे रसको ग्रहण करते हैं। भक्तों को प्रसाद वितरण न किया जाय तो समझो कि भगवान भूखे रहे, असन्तुष्ट रहे। असन्तुष्ट भगवानसे कल्याण की आशा कैसे की जाय। दो०—साधुन की सेवा किये हरि पावत संतोष। साधु विमुख जे हरि भजैं व्यास बढ़ै दिन रोष।।

बासी न रहत अन्न—संग्रहसे और अधिक संग्रहकी प्रवृत्ति हो जाती है। न रहने से निश्चिन्तता रहती है। रहनेसे चोरों का भय रहता है, ईश्वरका भरोसा न होकर अपने संग्रहका भरोसा होता है। संग्रहका नाश अवश्यम्भावी है, उसके साथ कर्ता भी नष्ट हो जाता है। दो०—सब तत्वनि को तत्व है सोच प्रगट संसार। लगै न अहिंड़ो चोर को ज्यौं माटी तत्व कुम्हार।। सुख निद्रा सों सोवई चोर न मटिया लेइ। निष्किञ्चन संग्रह तजै सुमिरन में मन देइ।। भगवान दत्तात्रेयजी कहते हैं—सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्। पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही।। सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः। मक्षिका इस संगृह्णन् सह तेन विनश्यति।। (भा० ११-८-११, १२)

अर्थ—हे राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि—विरक्त संन्यासी को सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिए भिक्षाका संग्रह नहीं करना चाहिए। भिक्षा लेने के लिए हाथ ही पात्र हो और उसे रखनेके लिए पेट ही वर्तन हो। यदि संग्रह करेगा तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीना कठिन हो जायगा। अतः संग्रह नहीं करना चाहिए, यदि संग्रह करेगा तो मधुमक्खियोंकी तरह अपना जीवन गँवा बैठेगा। इन्हीं विचारोंसे श्रीगदाधरदासजी पात्रोंको

झाड़कर अन्न आदिको पशु-पक्षियों के लिए डालकर सुखपूर्वक प्रभुका भजन करते थे।

बोल्यौ प्रभु भूखे रहें ताके लिये राख्यौ कछू, भाष्यो तब आप काढ़ौ भोर और आवैगौ।
करिकै प्रसाद दियौ लियौ सुख पायौ सब, सेवा रीति देखि कही जग जस गावैगौ।।
प्रात भये भूखे हरि गये तीन जाम ढरि रहे, क्रोध भरि कहें कबधौं छुटावैगौ।
आयौ कोऊ ताही समै दो सत रुपैया धरे, बोले गुरु सीस लैकै मारौ कितौ पावैगौ।।६१६

शब्दार्थ—तीन जाम=तीन प्रहर, नौ घण्टा, अपराह्न। ढरि रहे=बीत गये, चले गये।

भावार्थ—रसोइयाने श्रीगदाधरदासजीसे कहा—'श्रीठाकुरजी भूखे न रहें, इसलिए मैंने भोगके लिए कुछ थोड़ी-सी सामग्री बचाकर रक्खी है।' आपने कहा कि 'उसे निकालो और सन्तोंको खिला दो, प्रातःकाल कहीं न कहीं से कुछ आवेगा।' रसोइयाने आपकी आज्ञाके अनुसार रसोई बनाकर सन्तोंको प्रसाद पवाया। श्रीगदाधरदासजीने भी सन्तोंका प्रसाद लिया और बहुत बड़े सुखका अनुभव किया। सन्त-सेवामें इनके प्रेमको देखकर उन सन्तोंने प्रसन्न होकर कहा—'आपके पवित्र सुयशको सारा संसार गायेगा।' प्रातः हुआ पर कहींसे कुछ भोगके लिए सामान नहीं आया। तीन प्रहर बीत गये, श्रीठाकुरजी भूखे ही रहे, उन्हें भोग नहीं लगा। इससे रसोइयाको क्रोध हुआ, वह कहने लगा—'न जाने कब परमात्मा हमको ऐसे गुरुसे और इस दुःखसे छुटावेगा।' उसी समय किसी भक्त सेवकने आकर दो सौ रुपये श्रीगदाधरदासजीको भेंट किये। तब आप बोले—इन रुपयोंको इसके माथे पर पटक दो। देखें यह कितना खाता है।।६१६।।

व्याखा—इनके रामदास और वेंकटदास नामक दो शिष्य थे, वही रसोई पूजा करते थे। दूसरे दिन सामान नहीं आया तो नाराज हो गये, आसन बाँधकर चलनेको तैयार हो गये। गुरुजीकी दृष्टि बचाकर चले जाना चाहते थे। गुरुजी समझ गये और भीतरसे बाहर आकर माला जपने लगे अतः न जा सके।

डर्‌यौ वह साह मति मोपै कछु कोप कियौ, कियौ समाधान सब बात समुझाई है।
तब तौ प्रसन्न भयौ अन्न लगै जितौ देत, सेवा सुख लेत साधु रुचि उपजाई है।।
रहे कोऊ दिन पुनि मधुपुरी वास लियो, पियौ ब्रजरस लीला अति सुखदाई है।
लाल लै लड़ाये सन्त नीके भुगताये गुन, जाने जिते गाये मति सुन्दर लगाई है।।११७।।

शब्दार्थ—भुगताये=भोग, भोजन कराये, चुकाये।

भावार्थ—श्रीगदाधरदासजीकी इस बातको सुनकर वह सेठ डर गया, उसने सोचा

कि शायद महाराजजी मेरे ऊपर रुष्ट हो गये हैं। पश्चात् श्रीगदाधरदासजीने समझाकर उसका समाधान किया। तब तो वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और भक्त-भगवन्तके भोगमें जितना सामान लगता, नित्य उसे देता। इस प्रकार वह सेवा करके सुख प्राप्त करने लगा। साधु-सेवामें उसकी श्रद्धा अब और अधिक बढ़ गई। कुछ दिन बुरहानपुरमें रहनेके बाद आयुको थोड़ी जानकर श्रीगदाधरदासजी वहाँसे चलकर मथुराजीको आ गये और वहीं रहकर परमानंददायिनी ब्रजलीलाओंके मधुर रसका आस्वादन करने लगे। इस प्रकार आपने श्रीबिहारिणी-बिहारीजीकी तथा साधुओंकी प्रेमसे सेवा की। उनके श्रीचरण-कमलोंमें अपने मनको भलीभाँति लगाया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीगदाधरदासजी के जितने चरित्र मुझे ज्ञात थे, उनका मैंने वर्णन किया।।६१७।।

व्याख्या—डरचौ वह साह—मुझे अपने सिर पर अथवा घरमें पिताजीके सिर पर पटकनेको कहते हैं। मेरा धन लेना नहीं चाहते हैं क्या ? भयभीत जानकर भेद बताते हुए समझाया कि रसोइयाके सिर पर पटकने को कहता रहा। यह गुरु-चेलाका झगड़ा है, आपसी बात है अतः आप नहीं समझे। चेलोंसे कहा—तुम्हारे असद्भाव और अविश्वास से रुपयोंको आनेमें देर लगी, नहीं तो जल्दी ही आ जाते। 'पियौ ब्रजरस'—

काल कराल गयौ सु गयौ अजहूँ पुनि सो छिनही छिन छीजै।
श्रीमथुरा जमुना तट बसिकै जीवत जीवन को फल लीजै।।
नाथ निरन्तर केशव सुन्दर लाल को भागवतामृत पीजै।
छांड़ि सबै नतिया अँखिया भरिकै हरि को मुख देखिबो कीजै।।

मेरे मन आधार प्रभु श्रीवृन्दावनचन्द। नित प्रति यह सुमिरत रहौं व्यासहिं यह आनन्द।
महाप्रलय अबही भई वृन्दावन करि वास। परचौ रहै निश्चित मन छांड़ि जगत की आस।।

* श्रीनारायणदासजी *

हरि भजन सींव स्वामी सरस श्रीनारायणदास अति।।
भक्ति जोग जुत सुदृढ़ देह निज वश करि राखी।
हिये सरूपानन्द लाल जस रसना भाखी।।
परिचे प्रचुर प्रताप जानमनि रहस सहायक।
श्रीनारायण प्रगट मनौ लोगनि सुखदायक।।

नित सेवत सन्तनि सहित दाता उत्तर देस गति।
हरि भजन सींव स्वामी सरस श्रीनारायणदास अति।।१८७।।

शब्दार्थ—सरूपानन्द=रूपके दर्शनका सुख। जानमनि=सुजान शिरोमणि, श्रेष्ठ ज्ञानी।

भावार्थ—श्रीस्वामी नारायणदासजी भगवद्भजनकी सीमा थे और आपका हृदय अति सरस था। आपने भक्तियोगसे युक्त सुदृढ़ शरीरको अपनी भक्तिके प्रतापसे स्वस्थ भक्तिमय आचरण करने योग्य रक्खा। हृदयमें श्रीगोपाललालके सुन्दर रूपके ध्यानका आनन्द लेते हुए, जिह्वासे उनके सुयशका वर्णन करते रहते थे। भक्तिके प्रतापसे आपके द्वारा अनेक चमत्कार प्रकट हुए। सुजान शिरोमणि श्यामसुन्दर रहस्यमय ढँगसे आपकी सहायता करते थे। इसी तरह आप सबके सहायक थे। श्रेष्ठ ज्ञानी होनेके कारण आप रहस्यका बोध कराकर साधककी सहायता करते थे। विश्वका कल्याण करने के लिए मानो स्वयं नारायण भगवानने ही अवतार लिया था। आप बड़े प्रेमके साथ सन्तोंकी सेवा करते थे। उत्तर प्रदेशमें निवास करने वालोंको आपने उपदेश देकर उन्हें सद्गति प्रदान की।।१८७।।

व्याख्या—हरि भजन सींव—भाव यह कि भक्त और भगवान दोनोंके सेवक थे। यथा—'नित सेवत सन्तनि सहित।' दोनोंकी सेवा करने से हरि भजन सींव अर्थात् हरिदासवर्य थे। जैसे सपरिकर कृष्णसेवी श्रीगोवर्धन गिरिराज हरिदासवर्य हैं। (तृ० ख० पृ० २५ देखिये) 'स्वामी' शब्दका अर्थ है एकायत्त अधिकारोंसे युक्त, प्रभु, मन सहित इन्द्रियोंको वशमें रखने वाले उच्चकोटिके सन्त। स्वामी=संन्यासी, शुष्कज्ञानी हैं ऐसा कोई न समझे अतः अति सरस कहा—परम रसीले, महान् रसिक थे। दो० 'व्यास' रसिक वासों कहैं काटै माया फन्द। हरिजन सों हिलमिलि रहै कबहूँ व्याप न द्वन्द्व।। अपनी तथा अपने आश्रितकी माया फाँसी काटने वाले, भक्तोंके भक्त रसिक हैं। इनकी रहनी-सहनी कठिन है। दो०—'व्यास' सु रसिकन की रहनि बहुत कठिन है बीर। मन आनन्द घटै न छन सहत जगत की पीर।। शारीरिक कष्टोंसे मानसिक आनन्द नहीं घटता है। इन्द्रियाँ वशमें थीं अतः 'भक्तियोग युक्त' शरीर वशमें था। तात्पर्य भाव-शरीर और स्थूल शरीर दोनों से प्रभु समाराधन करते थे। ऐसे भक्तियोगकी महिमा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कही है यथा—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्योदेशः कुलञ्च तत्। जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षयतां व्रजेत्।। (सू० सु०) जहाँ कोई (भक्त) योगी उत्पन्न हो जाता है उसके माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं, वह देश और कुल धन्य हो जाता है। उस भक्तियोगीको दिया हुआ अन्न आदि अक्षय हो जाता है।

हिये स्वरूपानन्द—अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को जानते थे अतः मानसी-सेवामें भावमय शरीरसे सेव्यके निकट रहकर उसके आनन्दका अनुभव करते थे। श्रीरसरङ्गमणिजी कहते हैं—रोमहि रोम रमे सियराम निधी रस राम स्वदेह में देखौ। नाम सप्रेम जपौ मुख सों सुख सों मन तासु स्वरूप विसेषौ।। कानन से बहिरो होइ बाहर अन्तर नाम सुनाद परेषौ।। 'लाल जस'—दो०—रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित विसेष बड़ लाहु।।

पद— हरी जस गावत सब सुधरे।
नीच अधम अकुलीन विमुख खल कितने गुनौ बुरे।
नाऊ छीपा जाट जुलाहौ सनमुख आइ जुरे।।
तिन तिन कौ सुख दियौ साँवरे नाहिन विरद दुरे।।
विवस असावधान सुत के हित द्वै अच्छर उचरे।
'बिहारीदास' प्रभु अजामील से पतित पवित्र करे।।

सन्तनि सहित—इसके दो अर्थ हैं—सन्तोंके सहित भगवानकी सेवा करते। स+हित=प्रेमसे सन्त-सेवा करते थे। 'दाता उत्तर देश गति'—उत्तराखण्डकी पहाड़ियोंको आपने उपदेश देकर सद्गति दी। नर रूपसे तो थे ही। सुख सद्गति देनेमें प्रत्यक्ष नारायणके समान थे। नर पदवाच्य परब्रह्मने पहले जलको प्रकट किया अतः जलको 'नार' कहते हैं। नारमें 'अयन' बनाकर रहने से 'नारायन' (जलमें है स्थान जिसका) पुनः नृ नये धातुसे नर शब्द बनता है, नरतीति नरः जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार भोगका न्याय करनेसे ईश्वरका नाम नर है पुनः नार=जीव, अयन=आश्रय, जीवोंका आश्रय होने से नारायण नाम है। जो जिसका भक्त है वह उसीका रूप है तात्पर्य आप नर-नारायण रूप थे, सद्गुरु थे—

लोह को ज्यौं पारस पखान हू पलटि लेत, कञ्चन छुवत होत जग में प्रमानिये।
द्रुम कों ज्यौं चन्दन हू पलटि लगाइ, वास आपके समानता के सीतलता आनिये।।
कीट को ज्यौं भृङ्गहू पलटिकै करत भृङ्ग, सोऊ उड़ि जाय ताको अचरज न मानिये।
'सुन्दर' कहत यह सगरै प्रसिद्ध बात, सद्य शिष्य पलटै सु सत्यगुरु जानिये।।
आये बद्रीनाथ जू तें मथुरा निहारि नैन, चैन भयौ रहें जहाँ केसौजू कौ द्वार है।
आवैं दरसनी लोग जूतनि कौ सोग हिये, रूप कौ न भोग होत कियौ यों विचार है।।

करैं रखवारी सुख पावत हैं भारी, कोऊ जानै न प्रभाव उर भाव सो अपार है।
आयौ एक दुष्ट पोट पुष्ट सो तौ सीस दई, लई चले मग ऐसौ धीरज कौ सार है॥६१८॥

शब्दार्थ—सोग=शोक, चिन्ता। भोग=अनुभव, सुख। पोट=गठरी। पुष्ट=बड़ा मजबूत।

भावार्थ—महात्मा श्रीनारायणदासजी पहले बद्रिकाश्रम में निवास करते थे, फिर वहाँसे श्रीमथुरापुरी को चले आये। यहाँ पुरी का दर्शन करके आपको बड़ा-भारी सुख मिला। आप श्रीकेशवदेवजीके द्वार पर रहने लगे। आपने मनमें विचार किया कि मन्दिर में दर्शन करनेके लिए जो लोग आते हैं, उन्हें भगवानके दर्शनोंका आनन्द अच्छी प्रकारसे नहीं मिलता है, क्योंकि उनके मन में जूतोंके चोरी चले जाने का भय बना रहता है। इसलिए मैं दर्शनार्थियोंके जूतोंकी रखवाली किया करूँ, तो इन भक्तोंको भगवद्दर्शनका पूरा-पूरा आनन्द मिलेगा। ऐसा निश्चय कर आप जूतों की रखवाली करने लगे। इससे दर्शनार्थी और स्वयं आप भी आनन्दित हुए। दूसरे लोग आपके प्रभाव को तथा आपकी सेवा-निष्ठा को नहीं जानते थे कि आपके हृदय में सेवा का कैसा अपार भाव भरा है। एकबार एक दुष्ट आया और उसने एक बड़ी-सी पोटरी आपके सिर पर रख दी और कहा कि—इसे ले चलो। आप बिना किसी ननु-नच के पोटरी लादकर चल दिये। आप ऐसे धैर्यशाली सन्त थे ॥ ६१८॥

व्याख्या—आये बद्रीनाथ जू तें—वहाँ रहकर ब्रजकी लीलओंका स्मरण एवं गान किया करते थे अतः ब्रजभूमिके दर्शनकी उत्कण्ठा हुई। जैसे—श्रीविल्वमङ्गलजी गुरुदेवके पास रहकर—'नये नये चोजके श्लोक पढ़ि जीजिये। चले वृन्दावन मन कहैं कब देखों जाइ।' श्रीजयदेवजी गीतगोविन्दको गाते-गाते उत्कण्ठित होकर श्रीवृन्दावन आये। मथुरा निहारि०' अहो! यह श्रीकृष्णकी जन्मभूमि है यह विचारकर लीलाओंका ध्यानकर मग्न हो गये। जब मथुरा बसाई गई तभी श्रीकेशवदेवकी स्थापना हुई। श्रीकेशवदेवजीके द्वार पर कङ्गालकी तरह पड़े रहते। लोग जानते कि कोई भिक्षुक पड़ा है। 'रहैं सदा अपनपौ दुराये। सब विधि कुसल कुवेष बनाये॥' इससे आपका सच्चा दैन्य प्रकट हुआ। यह महापुरुषका लक्षण है। भगवान कहते हैं-'जिते मेरे साधू कभू चाहें न प्रकाश भयौ करौं जो प्रकाश मानैं महादुखदाइये।' (श्वपच वाल्मीकि क० ७८) 'जूतिन को सोग'—दो०—हरि मन्दिर को जात हैं, हरि दरसन की आस। औंध ह्वै पाँयनि परें चित्त पनहियन पास॥ मथुरावासी, दर्शनार्थी भगवद्रूप हैं धन्य हैं, उनकी सेवा करूँ। विशेष देखिये—'सन्तनि की पानहीं को रक्षक कहाऊँ मैं।' (मदनमोहन सूरदास चरित तृ० खं० पृष्ठ ६०१ क०

४९९) 'एक दुष्ट'—मानहिं मात पिता नहिं देवा। साधुन सन करवावहिं सेवा।। जिनके यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी।। (रा०) जैसे जड़भरतजी रहूगणकी पालकी लेकर चल दिये। उसी तरह ये भी नाराज नहीं हुए। प्रभु ही कृपाकर मुझे अवसर दे रहे हैं। अनन्य भक्त थे। दो०— सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त। मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त।। प्रभु सेवासे कर्म-बन्धन कटता है। (देखिये नामदेव चरित्र द्वि. खं० पृ० २४० मुगलको श्रीराम माना)।

दृष्टान्त—मिथ्या ब्रह्मज्ञानी का—एक ब्रह्मज्ञानी थे वे जहाँ भी जाते वहाँ ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते, अपनेमें तथा सभीमें ब्रह्मको देखने का उपदेश देते। बातचीत में बार-बार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा कहते-रहते। एकबार कही जा रहे थे, किसी आदमीने उनसे कहा—आप रास्ते से हट जाइये मारू बैल आ रहा है। इन्होंने कहा—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रास्ते से नहीं हटे। बैलने आकर मार दिया। घायल हो गये, लोगोंने दौड़कर बचाया। फिर उन्हें किसी सज्जनने समझाया कि बैलमें ब्रह्म है, यह तो आपका मानना ठीक था पर जो बचने को कह रहा था उसमें भी तो ब्रह्म था, आपने उसकी नहीं मानी इसीसे आपको यह कष्ट हुआ। यह ज्ञान जब तक परिपक्व न हो तब तक मिथ्या हठ नहीं करना चाहिए। श्रीनारायणदासजी का सच्चा भाव था अतः कहते हैं कि—ऐसौ धीरज को सार है'—श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं—'सहनसील आसै उदार अति धीरज सहित विवेकी। दुष्टने दुष्टता की पर आपने उसे अपना गुण-सुगन्ध प्रभु प्रेम प्रदान किया। इतने गुन जामें सो सन्त।' श्रीसुन्दरदासजी कहते हैं—

कोउक निन्दत कोउक वन्दत, कोउक देतहि आइ जु भच्छन।
कोउक आय लगावत चन्दन, कोउक डारत धूरि ततच्छन।।
कोउ कहै यह मूरख दीखत, कोउ कहै यह आहि विचच्छन।
'सुन्दर' काहु सु राग न द्वेष न, ये सब जानहु साधु के लच्छन।।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।

कोऊ बड़ौ नर देखि मन पहिचानि लिये, किये परनाम भूमि परि भरि नेह कौ।
जानिकै प्रभाव पाँव लीने महादुष्ट हूँ नै, कष्ट अति पायौ छूट्यौ अभिमान देह कौ।।
बोले आप चिन्ता जिनि करौ तेरौ काम होत, नैन नीर सोत मुख देखौं नहीं गेह कौ।
भयौ उपदेश भक्ति देश उन जान्यौ साधु शक्ति कौ बिसेस इहाँ जानौ भाव मेह कौ।।६१६।।

भावार्थ—सोत=प्रवाह। भक्ति देश=भक्ति निवास स्थान, सन्त, भक्त। मेह=मेघ।

भावार्थ—जब श्रीनारायणदासजी उस दुष्ट की पोटरी को सिर पर लिए जा रहे थे तो उसी समय रास्तेमें एक कोई बड़े प्रतिष्ठित सज्जन मिल गये और उन्होंने श्रीनारायणदासजीको पहचाना फिर बड़े अनुरागमें भरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और उसे बड़े जोर से डाटा-फटकारा तब उस महादुष्टने भी आपकी महिमा को जाना और उसने भी इनके चरण पकड़ लिए। उसके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसका देहाभिमान छूट गया और वह पछताकर कहने लगा कि मुझसे बड़ी-भारी भूल हुई। श्रीनारायणदासजी ने उसे समझाते हुए कहा—'तुम्हारा काम हो रहा है, तुम अपने मन में किसी बातकी चिन्ता मत करो।' यह सुनकर वह रोने लगा, उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसने प्रार्थना करते हुए श्रीनारायणदासजी से कहा कि 'अब मैं घर का मुख नहीं देखूंगा। मुझे अपनी शरणमें रखिये।' उसके दैन्य-भावसे प्रसन्न होकर आपने उसे भगवद्भक्तिका उपदेश दिया। उसे भी मालूम हो गया कि भक्ति जगत् कैसा होता है। साधु-सन्तोंमें क्या विशेषता है, उनकी कैसी क्षमा-शक्ति होती है। इस चरित्रका तात्पर्य यह है साधुजन मेघके समान समदर्शी और उदार होते हैं।।६१९।।

चिन्ता जिनि करौ—मैं असन्तुष्ट नहीं हूँ। 'तेरौ काम होत' का एक भाव यह है कि तुम्हारा सच्चा स्वार्थ सिद्ध हो रहा है क्योंकि तुमने अपना बोझ मेरे सिर पर दिया। अब तुम्हारे कल्याण की चिन्ता हमें है। तुम संसारके भार और ऋणोंसे मुक्त हो गये। इनके सदाचार का ऐसा प्रभाव हुआ कि निर्दयी दुष्ट एक क्षण में विरक्त सन्त बन गया। 'नैन नीर' ग्लानि से जन्म-जन्मान्तर के पापोंका प्रायश्चित हो गया तब बोला—'मुख देखौं नहीं गेह कौ'—घर वालोंकी सम्मति नहीं ली, घरका कुछ प्रबन्ध नहीं किया। वही विरक्त हो गया। 'भयौ उपदेश'—कियौ उपदेश नहीं, अपने आचरण से उपदेश दिया, वाणी से नहीं। वाणी द्वारा दिया उपदेश कभी नहीं भी लगता है पर महत्पुरुष के आचरण का अमोघ प्रभाव पड़ता है। 'साधु सक्ति को विसेष'—उसकी पोटको सिर पर रक्खे उसके कल्याण का चिन्तन करते हुए प्रभुसे प्रार्थना कर रहे थे कि अभी इसका कल्याण कीजिये अतः उस पर पक्का प्रेम रङ्ग चढ़ गया। अभिमान उतर गया—

अब तो हरी रङ्ग लागा। हंसा की गति हंसा जानै क्या जानेगा कागा।। हरि भक्तन को ऐसे मिलिये जैसे सोना सुहागा। कहत कबीर सुनौ भाई साधो अब मन का भ्रम भागा।। एकबार जहाँगीर ने श्रीदादूजी को पत्र भेजा कि उपदेश का सार लिख भेजो। श्रीदादूजीने

लिखा–आपा मेटै हरि भजै तन मन तजै विकार। निर्वैरी सब जीव सों दादू यह मत सार।। यही उपदेश उसे श्रीनारायणदासजीने दिया। शठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।

जानौ भाव मेह कौ–मेघ बिना पक्षपात के सर-ऊसर आदि सभी जगह जल बरसाते हैं, उसी तरह आपने इस महादुष्ट पर और आदर करने वाले बड़े आदमी पर समान रूपसे कृपा की वृष्टि की। उन्हें भक्तिमय जीवन प्रदान किया। विशेष देखिये 'मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।' की व्याख्या। (द्वितीयखण्ड पृष्ठ १५) भक्तदामगुण चित्रणीमें लिखा है कि–

एकबार भक्तवर श्रीनारायणदासजी ने उत्तराखण्ड में रहकर एकान्त गुफा में समाधि लगाई। संयोगवश ऊपर खींचते समय श्वास वायु कहीं उलझ गयी अतः आपके शरीरमें रोग हो गया। इनके कष्टको देखकर नर-नारायण भगवान पधारे और उन्होंने योगकी युक्तियों को बताकर इनके कष्टको दूर किया। तबसे आपका योगसिद्धि हो गया। उत्तराखण्ड के एक गाँवमें एक धनी-मानी वैश्य रहता था। उसके वृद्धावस्था में एक पुत्र हुआ। उसमें उसकी बड़ी-भारी आसक्ति हुई। किशोर अवस्थाको प्राप्त कर उसकी मृत्यु हो गई। उससे उस वैश्यको महान् कष्ट हुआ। वह मोहवश शवको संस्कारके लिए नहीं ले जाने दे रहा था। इसी बीच स्वामी श्रीनारायणदासजी सन्तों के बीचसे उठकर भिक्षा के बहाने उस गाँवमें पहुँच गये भीड़ देखकर आप भी उसके घरमें चले गये। पिता-माता के करुण-क्रन्दन को सुनकर आपका हृदय द्रवित हो गया। भगवत् स्मरण पूर्वक जैसे ही आपने पुत्रके शरीर का स्पर्श किया, उसी समय उसमें प्राण आ गये। सभी ने स्वामीजी के चरण पकड़ लिए। चमत्कार को देखकर सभी भगवद्भक्त बन गये।

✽ श्रीभगवानदासजी ✽

भगवानदास श्री सहित नित सुहृद सील सज्जन सरस।।
भजन भाव आरुढ़ गूढ़ गुन बलित ललित जस।
श्रोता श्रीभागवत रहसि ज्ञाता अक्षर रस।।
मथुरापुरी निवास आस पद सन्तनि इक चित।
श्रीजुत 'खोजी' स्याम धाम सुखकर अनुचर हित।।

अति गम्भीर सुधीर मति हुलसत मन जाके दरस।
भगवानदास श्री सहित नित सुहृद सील सज्जन सरस॥१८८॥

शब्दार्थ—भजन भाव=प्रेममयी उपासना। आरूढ़=तत्पर। इक चित=चित्त में केवल एक, एकाग्र मन। हुलसत=उमङ्गत, सुखी होते।

भावार्थ—भक्त भगवानदासजी श्री से सम्पन्न थे। सभीके सुहृद, सुशील, सज्जन और परम रसिक थे। आप सर्वदा भजन-भाव में तत्पर रहते थे। गोप्य गुणों से युक्त भगवानके मनोहर सुयशसे आपका हृदय परिपूर्ण था। श्रीमद्भागवतके रसिक श्रोता थे, चरित्रोंके गम्भीर रहस्य तथा अक्षर-अक्षरके रसके ज्ञाता-अनुभवी थे। आप श्रीमथुरापुरी में निवास करते थे और एकाग्र मन से एकमात्र सन्तों के श्रीचरणों की आशा रखते थे। श्रीमान् खोजीजी एवं श्यामदासके परिवारको सुख देने वाले तथा उसके हितकारी सेवक थे। आप अत्यन्त धीर-गम्भीर बुद्धि वाले एवं ऐसे प्रेमी भक्त थे कि आपके दर्शन मात्रसे मन प्रसन्न हो जाता था॥१८८॥

व्याख्या—भगवानदास श्री सहित—यहाँ श्री शब्द का अर्थ भक्ति है, श्रीजी भक्ति स्वरूपा है। भक्तिप्रियो माधवः। पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी। भगवानदासजी नित्य-निरन्तर भक्तिरूपा श्री-शोभासे युक्त थे। भक्ति भिन्न श्री भक्तके पास नहीं रहती है। भक्ति श्री के रहने पर सभी प्रकार की श्री, सम्पत्ति, शोभायें आ जाती हैं। 'सुहृद'—सुन्दर हृदय वाले अर्थात् प्राणिमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखने वाले थे। सज्जनोंकी मित्रता दूध और जलकी भाँति होती है, जल दूध और असन्त सन्त बन जाता है पर कपट न हो तब। यथा—जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होय रस जाय, कपट खटाई परत पुनि॥ (रा०) पुनः—(भर्तृहरिशतके)

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैतो पुनस्त्वीदृशी॥

अर्थ—दूध अपने पास आये हुए जलको अपनेमें मिलाकर अपने सभी गुण दे देता है, औटाते समय जलने दूधको जलते देखकर पहले अपनेको भस्म कर दिया। फिर दूधने जल (मित्र) पर आई आपत्ति देखी तो उछलने लगा कि मैं गिरकर आगको बुझाकर जल को बचाऊँ, (दूधको उफनते देखकर जलका छींटा दिया जाता है) फिर दूधको जल मिला तब

वह शान्त हो जाता है। सज्जनोंकी मित्रता ऐसी ही होती है। (सन्मित्र और कुमित्रके लक्षण देखिये पूर्वार्द्ध पृ० २७ तथा द्वितीय खण्ड पृ० ६९९)

भजन भाव आरूढ़—मन-बुद्धि-चित्त और अहङ्कार की सकल वृत्तियों का इष्ट में लीन हो जाना ही भजन भाव में आरूढ़ होना है । ऐसे भक्त की दशा का वर्णन श्रीसुन्दरदासजी करते हैं—

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौं तब भूलि गयौ सबही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित नेकु रही न सरीर सँभारा।।
साँस उसास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
'सुन्दर' कौन करै षटकर्मनि छाकि परयौ रस पी मतवारा।।

न लाज कानि लोक की न वेद को कह्यौ करै। न शंक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरै।।
सुनै न काहु और की रहै न और इच्छना। कहे न और बात भूलि प्रेम भक्ति लच्छना।।

गूढ़ गुन०—इनमें अनेक गूढ़ गुण थे और इनका पवित्र सुयश था। 'श्रोता श्रीभागवत'—अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनोंको करते थे। हीन कक्षासे उच्च-श्रेणीमें पहुँचाने वाला मनन है। मनुष्यमें मनन शक्ति है अतः वह पशु-पक्षी आदिसे श्रेष्ठ है। 'तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति।। (योगवशिष्ठ) जीने को तो वृक्ष, पशु, पक्षी आदि सभी जीते हैं पर वास्तविक जीना उसी का है जिसका मन मननशील है। मनन करते-करते इन्हें निदिध्यासन अर्थात् सतत् स्मरण, तब श्रीभागवत की कथा का रहस्य और अक्षर-अविनाशी प्रभु का मधुरस प्राप्त हुआ। श्रेष्ठ श्रोता थे। चातक, शुक, मीन और हंसके लक्षणोंसे युक्त थे। (विशेष देखिये 'उबटनौ श्रवण कथा' क० ३ पूर्वार्द्ध पृ० ११ तथा 'श्रवण रसिक' क० ९७ पूर्वार्द्ध पृष्ठ ५४१) 'मथुरापुरी'— श्रीनाभाजी की प्रार्थना है—'जे बसे बसत मथुरामण्डल ते दया दृष्टि मोपै करौ।' (छ० १०३) कान्हरदासजी मथुरामें उत्सव करते थे—'मधुपुरी महोच्छौ मङ्गलरूप कान्हर को सो को करै।' (छ० १५२) श्रीतूंवर भगवान भी—'बीतत बरस मास आवैं मधुपुरी।' (क० ५७६) बीकानेर नरेश श्रीपृथ्वीराजजी ने मथुरा में शरीर छोड़ा—'चल्यौ चढ़ि साँड़िनी पै लई मधुपुरी आनि।' (क० ५४०) उक्त स्थलों में मथुरा की महिमा देखिये। 'आस पद सन्तनि इक चित'—मेरे भक्तै देई देऊ।' (तृ० खं० पृ० १२५ देखिये) संसारकी असारता और देहकी नश्वरता का बोध था अतः भक्तोंकी आशा थी, इन्हीं में अनन्य भाव था। सन्त पद विमुख, मैं और मेरेके चक्करमें रहता है। यथा—

मेरो देह मेरो गेह मेरो परिवार सब, मेरो धन माल मैं तो बहु विधि भारो हूँ।
मेरे सब सेवक हुकुम कोउ मेटै नाहिं, मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ।।
मेरो वंश ऊँचो मेर बाप दादा ऐसे भये, करत बड़ाई मैं तौ जगत उज्यारो हूँ।
'सुन्दर' कहत मेरो मेरो कर जानें सठ, ऐसे नहीं जानै मैं तौ काल ही को चारो हूँ।।
जानिवे कों पन पृथीपति मन आई यों, दुहाई लै दिवाई माला तिलक न धारियै।
मानि आनि प्रान लोभ केतिकनि त्याग दिये, छिपे नहीं जात जानी बेगि मारि डारियै।।
भगवानदास उर भक्ति सुखरास भरयौ, करयौ लै सुदेस देस रीति लागी प्यारियै।
रीझयौ नृप देखि रीझि मथुरा निवास पायौ, मन्दिर करायौ हरिदेव सों निहारियै।।६२०

शब्दार्थ—दुहाई=घोषणा, मुनादी। सुदेश=सुन्दर, उपयुक्त।

भावार्थ—एकबार बादशाहके मनमें आया कि तिलक-कण्ठी धारण करनेका प्रण किसका सच्चा और किसका कच्चा है। इसकी परीक्षा करनी चाहिए। उसने मथुरा नगर में ढिंढ़ोरा पिटवा दिया कि—'कोई भी माला-तिलक धारण न करे, यदि कोई माला-तिलक धारण किये देखा जायगा तो उसे फाँसी की सजा दी जायगी। बादशाह की आज्ञा के अनुसार बहुतों ने प्राणों के लोभ में आकर माला-तिलक धारण करना बन्दकर दिया। बहुत से लोग अपने घरोंमें छिप गये, बाहर नहीं निकले। उन्होंने समझाया कि बादशाह जानेगा तो मरवा डालेगा। परन्तु भक्त श्रीभगवानदासजी बादशाह की आज्ञा को सुनकर बिल्कुल भयभीत नहीं हुए, क्योंकि उनके हृदय में आनन्दस्वरूपा अपार भक्ति भरी हुई थी। उन्होंने अति सुन्दर वैष्णव-भेष धारण किया और बादशाह के दरबार में जा पहुँचे। बादशाह को माला-तिलक धारण करने की दृढ़-निष्ठा बहुत ही प्रिय लगी। वह इनकी इस निष्ठा और निर्भयताको देखकर रीझ गया। प्रसन्न होकर बादशाह ने श्रीभगवानदासजी से कहा—'आप जो चाहो, वह माँग लो।' आपने जीवन पर्यन्त मथुरापुरी में निवास करने की इच्छा प्रकट की, इसे बादशाहने स्वीकार कर लिया। इसके बाद आप मथुरा को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं गये। आपने श्रीगोवर्धन में श्रीहरिदेवजी का मन्दिर बनवाया जो आज भी दर्शनीय है।।६२०।।

माला तिलक०—तिलकहि सत असनान तिलक ब्राह्मन सिर सोहै। तिलक बिना कछु करौ सबै फल निष्फल जोहै। तिलक तिया सिंगार तिलक नृप सीस लगावै। तिलक वेद परमान तिलक त्रैलोक चढ़ावै। तिलक तत्व युग-युग सदा तिलक मिले सिधि पाइये। परशुराम ब्रह्माण्ड में सुजस तिलक को गाइये।।' इस महिमा को जानकर आप निष्ठापूर्वक

वैष्णव वेश को धारण करते थे। मालाधारी मृतक बह्यौ सरिता में आयौ। श्रीलालाचार्य छ० ३३। तिलक दाम की सकुच जानि तिन आपु बँधाये। हंस भक्त छ० ५१। तिलक दाम धरि कोय ताहि गुरु गोविन्द जानै। वेशनिष्ठ राजा छ० ५६। तिलक दाम सों प्रीति। श्रीविट्ठलदासजी छ० ८४। इस सम्बन्धमें ये प्रसङ्ग मननीय हैं पुनः—उत्कर्ष तिलक अरु दाम को। छ० ९२ तृतीयखण्ड पृ० १२४ देखिये। श्रीभगवानदासजी स्वयं वैष्णव वेश धारण करते थे और वेशधारियों का सत्कार करते थे।

श्रीभगवानदासजी मथुराके हाकिम थे। जो भी कोई तिलक-कण्ठी धारण करके आता उसकी चुंगी माफ कर देते और भी सुविधायें दे देते। चुंगी बचाने के लोभसे यवन, जैनी आदि भी तिलक-कण्ठी धारण करके आते और बिना चुंगी दिये निकल जाते। धीरे-धीरे आमदनी कम हो गई। तब लोगोंने बादशाह से शिकायत की। स्वयं जहाँगीर आया और उसने घोषणा करा दी कि 'माला तिलक न धारिये।' यदि कोई माला-तिलक धारण किये मिल जायगा तो उसे फाँसी की सजा दी जायगी। लौकिक लाभ के लिए बहुत वेशधारी थे पर अब प्राण देने वाला कोई नहीं दिखाई पड़ता था। कण्ठी-माला सुमिरनी पहिरत सब संसार। पन धारी कोउ एक है औरन कियो सिंगार।। धोखेमें कुछ पकड़े गये उन्हें कारागारमें बन्दकर दिया गया। श्रीभगवानदासजीने विशाल और चमकीले द्वाद्वश तिलक लगाये और तुलसीकी मोटी-मोटी कई मालायें धारण कीं, फिर बादशाह के दरबार में पहुँचे। इन्हें देखकर (जहाँगीर) बादशाह कुपित होकर बोला—आप मेरी आज्ञाकी अवहेलना करनेके लिए, मुझे चिढ़ाने के लिए आज यह विशेष वेश बनाकर आये हैं। अब आपको अवश्य ही प्राणदण्ड दिया जायगा।

श्रीभगवानदासजीने कहा—मेरे भक्ति-शास्त्रोंमे लिखा है और सन्तजन भी कहते हैं कि तिलक-कण्ठी धारण किये हुए जो शरीर छोड़ता है। उसे वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है। अन्तिम-संस्कारके समय भी तिलक लगाते हैं। इसलिए मैं आज प्राणदण्ड को स्वीकार कर वैकुण्ठ-यात्राकी तैयारी करके आपके सामने आया हूँ। आज्ञाका अलंघन कर आपको चिढ़ानेका मेरा उद्देश्य नहीं है। यद्यपि प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि यदि वातादि दोषों के कारण मेरा भक्त मुझे भूल जाता है तो मैं उसका स्मरण करता हूँ जिससे वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है पर प्रभुका निहोरा क्यों करें। कण्ठी-मालाके भरोसे शरीर क्यों न छोड़ें। यह सुनकर बादशाह प्रसन्न हो गया और बोला कि—मैं परीक्षा ले रहा था। उसमें केवल एक आप सच्चे-खरे निकले। 'माँगो, आप क्या चाहते हो।' श्रीभगवानदासजी

ने कहा—मैं श्रीमथुराका निरन्तर निवास चाहता हूँ। दूसरी कोई सेवा अब हमें न दी जाय। मथुरासे बाहर जानेका आदेश न दिया जाय। प्रजा पर चुंगीका भार अधिक है उसे माफ किया जाय। तिलक-कण्ठीधारी जो गिरफतार किये गये हैं, उन्हें छोड़ दिया जाय। बादशाहने ऐसा ही किया। धाम वास इसलिए माँगा कि इससे भक्तिके सभी अङ्गोंकी पुष्टि सहज में सम्भव हो जाती है।

श्रीभगवानदासजीका सत्सङ्ग पाकर रसखान और मीरमाधव आदि अनेकों भक्तोंकी भेषमें दृढ़-निष्ठा हो गई। रसखानजी अपने गले में दो सौ मालायें धारण करते थे। एकबार जहाँगीरने उनसे पूछा कि हिन्दू-साधु भी इतनी मालायें नहीं पहनता है फिर तुम इतनी क्यों पहनते हो ? तब रसखानने यह दोहा पढ़ा—'तन पावन जल अगम को तनक काठ करै पार। बड़े काठ ऊपर तरै जब तन पाहन भार।।' जो पवित्र हैं वे हल्के हैं उन्हें थोड़ा काष्ठ भी पार कर देगा पर मैं तो पापी पत्थरके समान भारी हूँ अतः मेरे लिए बड़ा काठ चाहिए।। मीरमाधवजी प्रेमसे श्रीकृष्ण-नाम-सङ्कीर्तन करते तो उसे सुनने के लिए बहुतसे लोग उनके पीछे-पीछे फिरते। किसी समय उनसे भी बादशाहने प्रश्न किया कि कीर्तन तो बहुतसे लोग करते हैं पर तुम्हारे ही पीछे-पीछे लोग क्यों घूमते हैं ? मीरमाधवने उत्तर दिया—'मधुर वचन सुनि सुवा के काहु न अचरज होय। बोलनि कागा की मधुर सुनि धावै सब कोय।।'

मन्दिर करायौ—श्रीगोवर्धनमें श्रीकेशवाचार्यजीने ठाकुर श्रीहरिदेवजी को प्रकट किया और मानसी-गङ्गाके निकट एक पर्णकुटी में पधराकर उनकी सेवा करने लगे। एकदिन श्रीहरिदेवजीने खीर भोग आरोगन की इच्छा प्रकट की। आचार्यने कहा—मैं तो आपकी सेवामें केवल भावद्रव्य ही समर्पित कर सकता हूँ पर धनकी याचना किसीसे नहीं कर सकता हूँ। श्रीहरिदेवजीने कहा—तुम किसीसे माँगों मत, परन्तु आये हुए धनको अस्वीकार मत करो। आजसे सातवें दिन राजा भगवानदास तुम्हारे पास आवेंगे। उनकी सेवा तुम्हारे द्वारा मैं स्वीकार करूँगा। श्रीहरिदेवजीने राजा भगवानदासको स्वप्न दिया कि मैं गोवर्धनमें हूँ और केशवाचार्यजीके प्रेमसे मेरा प्राकट्य हुआ। तुम मन्दिर बनवाओ और भोग-रागका समुचित प्रबन्ध करो। इस प्रकार श्रीहरिदेवजीकी आज्ञा पाकर श्रीभगवानदास श्रीकेशवाचार्यके समीप आये और लाल पत्थरका विशाल मन्दिर बनवाया। भोग-रागका प्रबन्ध किया। श्रीप्रियादास जी कहते हैं कि 'निहारिये' अर्थात् श्रीहरिदेवजी की तथा मन्दिर की आभा-शोभा-प्रभा अद्भुत और अवर्णनीय है। मैं कहाँ तक कहूँ, पाठक स्वयं जाकर

दर्शन करें। (विशेष देखिये छ० १०२, तृ० पृ० ४१४) पद–

श्रीहरिदेवजू मोहिं प्यारे।
स्वास शरीर मीन ज्यौं जल में ऐसे हौ प्रान हमारे।।
हिरदै में तौ यौं राजत ज्यौं दीपक घरहिं मँझारे।
माथे पर तौ यौं राजत हौ ज्यौं भोगी मनि धारे।।
नन्द जसोमति सुवन कहावत गैयनि चारन हारे।
हरि सेवक के इष्टदेव प्रभु या व्रज के रखवारे।।

विशेष–श्रीभगवानदासजी आमेर नरेश श्रीभारमलजीके पुत्र थे। इनकी माता का नाम राठौड़ रानी श्रीवदनादेवी था। आप दौसा (जयपुर) के निकट लवाण के जागीरदार और अकबरके मनसबदार थे। महान् वीर एवं परमभक्त थे अतः 'बाँके राजा' की उपाधि थी। इनके वंशधर आज भी बांकावत कहलाते हैं। इनके दो पुत्र थे श्रीमोहनदासजी और अखयराजजी। छ० ११७ में श्रीअखयराजजी का नाम आया है। (नैणसीकी ख्यातसे उद्धृत)।

* श्रीकल्याणजी *

भक्तपक्ष उद्दारता यह निबही कल्यान की।।
जगन्नाथ कौ दास निपुन अति प्रभु मन भायौ।
परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायौ।।
प्रान पयानौ करत नेह रघुपति सों जोर्‌यौ।
सुत दारा धन धाम मोह तिनका ज्यों तोर्‌यौ।।
कौंधनी ध्यान उर में बस्यौ राम नाम मुख जानकी।
भक्तपक्ष उद्दारता यह निबही कल्यान की।।१८९।।

शब्दार्थ–पयानौ=प्रस्थान। कौंधनी=करधनी, कमरमें पहननेकी जंजीर।

भावार्थ–भक्तोंका पक्ष लेना तथा उदारता पूर्वक सबसे व्यवहार करना इन दोनों बातोंका श्रीकल्याणदासजीने जीवन-भर निभाया। ये श्रीजगन्नाथजीके सेवक थे और सेवा करनेमें बड़े चतुर थे अतः भगवानको बहुत ही अच्छे लगते थे। भगवानने इन्हें अपना नित्य प्रिय-पार्षद मानकर अपने पास बुला लिया। इन्होंने प्राण त्यागते समय स्त्री-पुत्र, धन-धामके

महा-मोहको तृणके समान तोड़कर केवल भगवान श्रीरामचन्द्रजीसे स्नेह जोड़ा और हृदयमें श्रीरामजीकी कौंधनीका ध्यान तथा मुखसे श्रीसीतारामजीके नामका उच्चारण करते हुए श्रीकल्याणदासजीने सद्गतिको प्राप्त किया।।१८९।।

व्याख्या-भक्तपक्ष—श्रीरूपकलाजीने लिखा है कि एक समय कल्याणसिंह अपने स्थान नौनेरे नगरसे अपने भाई अनूपसिंहके सहित उत्सव दर्शनार्थ श्रीवृन्दावनको जा रहे थे। उन्होंने मार्गमें देखा कि एक धनी शराबगी दुष्ट एक दीन-वैष्णवको कुछ पैसोंके लिए डाट-फटकार रहा है, दुःख दे रहा है। उस समय आपने साधुका पक्ष लिया और उस दुष्टसे रक्षा की। पर्याप्त धन-धान्य देकर उसे सुखी सम्पन्न कर दिया। जैसे पृथ्वी, जल, तेज आदि अपने अंशीकी ओर स्वभावतः आकृष्ट होते हैं, उसी प्रकार भक्तका भक्तकी ओर झुकना स्वाभाविक है। अपने वर्गमें अधिक प्रीति होती है। 'स्ववर्गे परमाप्रीतिः' जो भक्तका पक्ष नहीं लेता है, वह स्वयं भक्त नहीं है। एक भक्त जगत् है और दूसरा अभक्त जगत्। इनमें से अभक्त जगत्को त्यागकर आप भक्तका पक्ष लेते उसीकी सेवा-सहायता आशा और भरोसा करते। 'उदारता' यह भक्त का सहज गुण है। देते समय इन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि भविष्य में वस्तु का अभाव होने पर हमारी क्या हालत होगी। गृहीताकी कल्पनासे भी अधिक दे देते। इस पर—

दृष्टान्त—अमानसिंहका—ये पन्नाके राजा और परम धार्मिक थे। इनके प्रभु प्रेम और उदारता की प्रशंसा चारों ओर हो रही थी। किसी निर्धन विद्वान् ब्राह्मण ने सुना तो उसके मन में आया कि ऐसे भक्तके पास चलूँ, वह श्रेष्ठ श्रोता हैं श्रीभागवत सुननेके अधिकारी हैं। अतः उन्हें ही भागवत सुनाऊँ। ऐसा निश्चय कर श्रीभागवतजीकी पोथी लेकर पन्ना की ओर चले। संयोगवश पन्ना नरेश मन्त्री और सिपाहियोंके साथ घोड़े पर चढ़कर टहलने के लिए नगरसे बाहर निकले थे, वहाँ पर पण्डितजीसे भेंट हो गई। राजाने घोड़ेसे उतरकर प्रणाम किया। मैं आपको कथा सुनाने आया हूँ, यहसुनकर राजाको अपार हर्ष हुआ और वह बोला—'तो महाराज !' कथा सुनाइये।' पं० जीने कहा—'राजमहल में शुभघड़ी देखकर कथा आरम्भ होनी चाहिए। राजाने कहा—जब कथा सुनने को मिले वही शुभघड़ी है और राजमहलकी अपेक्षा यहीं बगीचेमें शान्ति रहेगी अतः अभी यहीं कथा सुनाइये।' बगीचेमें ही एक कम्बल के आसन पर पं० जीको बैठाकर पत्र-पुष्पोंसे पूजन कर राजा स्वयं कुशासन पर बैठ गया। एक अध्यायकी कथा पूर्ण होते ही राजाने कहा—बस महाराज ! अब रहने दीजिये।

मैं गरीब आदमी हूँ, अधिक कथा सुनकर उसकी दक्षिणा नहीं दे सकूंगा। इसके बाद मन्त्रीसे कहा—खजानेसे रुपये लाओ और मेरे तथा पण्डितजीके बीचमें इतना बड़ा ढेर कर दो कि हमको पण्डितजी दिखाई न पड़ें।' ऐसा ही हुआ, तब राजा बोला कि मैं खड़ा हो जाऊँ और पण्डितजी हमको न दिखाई पड़ें। इतना बड़ा ढेर लगाओ। यह सुनकर बुद्धिमान मन्त्रीने विचारा कि इस समय इतने रुपये तो खजानेमें भी नहीं हैं अतः उसने पण्डितजीको संकेत किया। पंडितजी बोले—राजन् बस, अब इससे अधिक दक्षिणाकी आवश्यकता नहीं है, यही पर्याप्त है।' अच्छा महाराज ! कहकर राजाने प्रणाम किया। बैलगाड़ीमें भरकर रुपये पण्डितजी के घर पहुँचे। सदाके लिए ब्राह्मणकी दरिद्रता दूर हो गई। भक्तपक्ष और उदारता आदि सभी निष्ठाओंको निभाया—जैसे—भलीभाँति निबही भगति सदा गदाधरदास की।' (छ० १८६ देखिये)।

निपुन—'तुलसी सोई निपुन है राम चरण लवलीन।' प्रभु चरणोंमें ऐसा स्नेह जैसे मीनका जलमें। दूधमें रखने पर भी उसे सुख नहीं। बुद्धिसे काम निकालना निपुणता है। बुद्धिसे मनको वशमें करके भगवानमें लगाते, संसारसे हटाते। भगवान इन्हें अच्छे लगते और ये भगवानको अच्छे लगते। 'निकट बुलायौ'—श्रीजगन्नाथजीने स्वप्न देकर इन्हें अपनी पुरीमें बुलाया। तब ये धन-धामादिको तृणवत् त्यागकर पुरीमें पहुँच गये। ये भगवान श्रीकृष्णके उपासक थे पर अन्तिम समयमें दशरथ अजिर बिहारी बालकरूप श्रीराममें मन रम गया। 'कौंधनी ध्यान' श्रीअङ्गके स्पर्शसे कौंधनी भी सच्चिदानन्दरूपा थी। भगवदाभूषण जड़ न होकर चैतन्य होते हैं। 'राम नाम मुख' राम नाम की टेक गहि दूजा सहज सुभाय। राम नाम छोड़ै नहीं दूजा आवै जाय।। श्रीरामकृष्ण एक हैं अतः अनन्तताका नाश नहीं हुआ। जैसे अलि भगवान रामोपासक से कृष्णोपासक बन गये तो गुरुजीने इसे अनुचित नहीं बताया। (क० ३७६ देखिये) पूज्य पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमालीने बताया कि—एक बहुत अच्छे गवैया ब्रजवासी सन्त थे। वे श्रीराधारमणलालजी के मन्दिरमें नियमसे कीर्तन-सेवा करते थे। मन्दिरसे प्रसाद मिलता था। अन्तिम समय में वे चित्रकूट पहुँचे। वहीं श्रीराम-नामका उच्चारण करते हुए उन्होंने शरीरका त्याग कर दिया। जीवन-भर श्रीकृष्ण गुणगान किया और अन्तमें श्रीराम-नाम मुखमें आया। इससे श्रीरामकृष्णके नाम-रूप-लीला और धामकी एकता सिद्ध हुई। (विशेष देखिये 'रघुवर यदुवर गाय' छ० ३७ द्वि० खण्ड पृष्ठ ११४) मूल छ० में धन आदिके मोहको तृणवत् त्यागा। इसलिए कि वे जानते थे कि धनसे क्या मिल सकता है और क्या नहीं। (मानवतांक कल्याण से उद्धृत)

आराम मिल सकता है	राम नहीं	रोटी मिल सकती है	भूख नहीं
भोग सुख ”	शान्ति ”	औषधि ”	आयु ”
इन्द्रिय तृप्ति ”	आनन्द ”	आसक्ति ”	शक्ति ”
बिजली ”	अन्तःप्रकाश ”	पलँग ”	नींद ”
स्वर्ण-रत्न ”	अभय ”	चश्मा ”	आँख ”
अभिमान ”	विनय ”	मास्टर ”	सद्गुरु ”
सम्मान ”	श्रद्धा ”	डाक्टर ”	स्वास्थ्य ”
सौन्दर्य प्रसाधन ”	सौन्दर्य ”	संगी ”	मित्र ”
पुस्तक ”	विद्या ”	कामिनी ”	धर्मपत्नी ”
चित्र ”	चरित्र ”	लड़का ”	सुपुत्र ”
मृत्यु ”	अमरता ”	नौकर ”	सेवक ”

भक्तदामगुण चित्रणीकार लिखते हैं कि 'सुनिये कल्याणदास विप्र गोती मोती जैसो, सुद्ध हियौ ज्यौति सीताराम जू प्रकासिये।' आप ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए, मोती के समान आपके शुद्ध हृदयमें श्रीसीतारामजी विराजते थे। एकबार आपके यहाँ कन्या का विवाह था, उसमें आपने सन्तों को निमन्त्रण देकर बुला लिया और उन्हें ही पहले भोजन करा दिया। इससे अन्य ब्राह्मण असन्तुष्ट होकर कहने लगे कि इन लोगों की जाति-पाँतिका ठिकाना नहीं, फिर आपने इन्हें पहले भोजन कैसे करा दिया। आपने सबको समझाते हुए कहा कि ये सब अच्युत गोत्रीय भक्त, विश्वका मंगल करने वाले हैं। श्रीयुधिष्ठरजी का यज्ञ तब पूरा हुआ जब श्वपच बाल्मीकिजीने भोजन कर लिया। इसलिए इन सन्तोंको मैंने पहले भोजन कराया। आपकी निष्ठासे सभी सन्तुष्ट हो गये। इसी प्रकार आपने व्यवहारमें सर्वत्र भक्तपक्षको अपनाया। सन्त भोजन करके विदा हुए उसी समय बीस सन्त और बिना निमन्त्रणके ही आ गये। आपने बड़े आदरके साथ उन्हें भी भोजन कराया। सभी लोग सोच रहे थे कि अभी घराती-बराती बाकी हैं। कैसे सबकी पूर्ति होगी। आपने कहा—प्रभुकी कृपासे सबकी पूर्ति होगी। आपकी उदार भावना से कभी किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आती। देह-त्यागका समय जानकर आपने सन्तों का समाज किया। श्रीसीतारामजी ध्यानमें आये और श्रीरामजीकी कौंधनीमें मन ऐसा अटका कि वहाँसे हटा ही नहीं, सीताराम-सीताराम मुखसे निकाला और शरीर छूट गया। आप सभीके हृदय पटल पर अपनी भक्तिकी छाप छोड़ गये।

* श्रीसन्तदास, माधवदासजी *

सोदर सोभूराम के सुनौ सन्त तिनकी कथा।।
सन्तदास सद्वृत्ति जगत छोई करि डार्यौ।
महिमा महा प्रवीन भक्तिवित धर्म विचार्यौ।।
बहुर्यौ माधवदास भजन बल परचौ दीनौ।
करि जोगिन सों वाद बसन पावक प्रति लीनौ।।
परम धर्म विस्तार हित प्रगट भये नाहिन तथा।
सोदर सोभूराम के सुनौ सन्त तिनकी कथा।।१९०।।

शब्दार्थ—सोदर=सहोदर भाई। सद्वृत्ति=सात्विक स्वभाव। छोई=निःसार, सीठी। वाद=शास्त्रार्थ।

भावार्थ—हे भगवद्भक्त जनो। श्रीशोभूरामदेवाचार्यजी के दोनों सहोदर भाइयों की कथा श्रवण कीजिये। सदाचार एवं सात्विक वृत्तिसे निर्वाह करने वाले श्रीसन्तदास (सन्तरामजी) ने इस जगत्को निरस एवं निःसार वस्तु जान-मानकर उसे त्याग दिया। आप महा-महिमा वाले तथा प्रवीण (अर्थात् सत्यासत्यका निर्णय करनेमें चुतर) थे, भक्ति तत्वके ज्ञाता थे अतः सोच-विचार करके उसे अपनाया। दूसरे भाई श्रीमाधवदासजीने भजनके प्रतापसे चमत्कार दिखाया और अभक्त योगियोंसे वाद-विाद करके अपने वस्त्र जलती अग्निमें डालकर ज्यों के त्यौं वापस कर लिए। परमधर्ममयी श्रीहरिभक्तिके प्रचार-प्रसारके लिए ही ये दोनों भाई प्रकट हुए। इन्होंने जैसा कार्य किया, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता है।।१९०।।

व्याख्या-जगत छोई—सन्तोंने अनुभव करके संसारको सारहीन-सुखरहित बताया है। 'असारसंसार समुद्रमध्ये, सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति। गुरो कृपालो कृपया वदैतत् विश्वेश-पादाम्बुजदीर्घनौका।। (शङ्कराचार्य) शिष्य ने प्रश्न किया—हे कृपालु गुरुदेव ! असार-संसार समुद्रमें डूबते हुए को बचाने वाला कौन है ? कृपा करके बताइये। उत्तर—विश्वेश्वरके चरण-कमल ही जहाज हैं। श्रीभर्तृहरिजीने वैराग्यशतकमें लिखा है—

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भमध्ये,
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषये यौवने विप्रयोगः।
नारीणामप्यवज्ञा विलसति नियतं वृद्धभावोप्यसाधुः,
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्।

अर्थ—गर्भमें अति दुर्गन्धपूर्ण स्थानमें बड़ी कठिनतासे शरीर सिकोड़कर ठहरा जाता है, स्त्रीके वियोगजन्य क्लेशसे मिश्रित जिसके विषय हैं, उस युवा अवस्थामें भारी वियोगका कष्ट उठाना पड़ता है तथा जिसमें स्त्रियाँ भी अपमान करें, वह वृद्धावस्था भी अति दुःखमयी है। अरे मनुष्यो! संसारमें थोड़ा भी सुख हो तो बताओ।। श्रीतुलसीदासजीने उ० का० अं० मं० में संसारको सूर्य कहा जिसकी प्रखर किरणें मनुष्यको जलाती हैं। रामचरितमानसमें अवगाहन करने वाले नहीं जलते हैं। 'ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।' विनय-पत्रिकामें कहते हैं कि—मैं तोहिं अब जान्यौ संसार।। देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये विचार। ज्यौं कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरै सार।। यह संसार देखनेमें सुन्दर सुखमय लगता है, परन्तु विचार करने पर उसमें सार नहीं दिखाई देता है। जैसे केलेका पेड़ देखनेमें अच्छा लगता है पर उसके भीतर सार नहीं है छिलका ही छिलका है। अपने कपटरूपसे मोहित कर लेता है अतः इसे अजेय शत्रु कहा और इसके त्यागीको बीर कहा—'महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।।' (रामा०) श्रीकबीरजीने सेमरके फलसे संसारकी उपमा दी—'यह संसार पेड़ सेमर को सूवा देखि लुभायौ। मारी चोंच रुई जब निकली सिर धुनि धुनि पछतायौ।।' श्रीसन्तदास और माधवदासने 'भक्तिवित धर्म विचार्यौ' भक्तिको धन माना अतः संसारको छोई जानकर त्यागा। हरिरसका पान किया अतः मायाके चक्रसे बचे—

जाको स्वाद परा हरि रसका। सो माया के रहा न बसका।।
वह मतवारो ह्वै कै डोलै। बातें सकल अटपटी बोलै।।
छक्यौ रहै हरि जस रस माहीं। फीको जग त्यहि भावत नाहीं।।
मँहगो मूल्यवान रस पीवैं। बिनु पीये नेकहु नहिं जीवैं।।
जाको और अमल नहिं भावै। ताको दास कबीरा गावै।।

जोगिन सों वाद—एकबार आपने नाथके शिष्य एक राजाको दीक्षा देकर वैष्णव बना लिया। इससे वह कनफटा योगी बहुत नाराज हुआ और बोला कि तुमने ऐसा क्यों किया। आपने कहा—ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि से पूजित होने के कारण विष्णु भगवान श्रेष्ठ हैं। अनके चरणोंसे गंगाकी उत्पत्ति हुई जो त्रिलोकतारिणी अघहारिणी हैं अतः किसी भी देवी-देवके उपासक को विष्णु-भक्तिका उपदेश देना उचित है इससे वे देवगण अप्रसन्न नहीं होते हैं। इस सम्बन्धमें जोगीने श्रीमाधवदासजीसे बहुत वाद-विवाद किया पर इनसे नहीं जीता, तब बोला कि—हम अपने कानों की मुद्रायें और सिंगी को अग्निमें डालते हैं, तुम अपनी

कण्ठी-मालाको डालो। जिसकी वस्तुयें जल जायँ वह हारा और जिसकी न जलें वह जीता माना जायगा। श्रीमाधवदासजी ने कहा—तुलसी-माला को हम अग्निमें नहीं डाल सकते हैं। हम अपना वस्त्र डालेंगे। अग्निमें डालने पर जोगी की मुद्राये और सिंगी जल गई। परन्तु इनका अचला नहीं जला। हारकर उसने चरण पकड़े, क्षमा-प्रार्थना करके अनुयायी बना। उस जोगी में अग्नि स्तम्भन सिद्धि थी। कई स्थानों में उसका प्रदर्शन कर चुका था अतः उसे अहङ्कार था। भक्तिके सामने मायिक सिद्धियाँ व्यर्थ हो जाती हैं इसलिए वह हार गया उन दिनों हरियाणामें नाथों का आतंक था वे वैष्णव-सन्तोंको टिकने नहीं देते थे। एकबार कई लोगोंने आपकी भजन कुटीमें चारों ओर से आग लगा दी पर कुटी नहीं जली। भक्तिके प्रभाव को देखकर बहुत से लोग आपके शिष्य बन गये। इसीसे मूलमें कहा गया कि 'परमधर्म विस्तार हित प्रगट भये नाहिन तथा।।'

स्वभूरामदेवाचार्यके आशीर्वादसे इन दोनों का जन्म हुआ। (छ० ९६ तृ० खं० पृ० २२३ में पूरा चरित्र देखिये) भक्तदाम गुण चित्रणीमें लिखा है कि एकबार श्रीसन्तदासजीके मन में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे जङ्गलमें जा विराजे। संसारियों से आप कुछ भी प्राप्त करने की आशा नहीं करते थे। बहुतसे ग्रामीण लोगोंने आपसे आकर कहा कि आप चलकर गाँव में रहिये, वहाँ आपके भोजनादिका यथोचित प्रबन्ध हो जायगा। यहाँ जङ्गलमें कुछ भी प्रबन्ध नहीं हो सकता है। श्रीसन्तदासजीने कहा—मुझे तो श्रीगोविन्दजी की आशा है। आप लोग मेरी चिन्ता न करें। यह सुनकर गाँवके लोग निराश होकर चले आये। आप वहीं भजनमें मग्न रहे। भगवान ने नगरके हाकिम को आदेश दिया कि मेरा भक्त वनमें बैठा है, उसकी सेवा करो। उस हाकिमने बहुतसे मिष्ठान्न-पक्वान्न लाकर आपको भोजन कराया। समीप में चौकीदारोंको नियुक्त किया। इसके बाद आपकी महिमा बढ़ी। अनेक लोग दर्शन करने और उपदेश लेने आने लगे। इस प्रकार परमधर्मका आपने विस्तार किया।

* श्रीकन्हरदासजी *

बूड़िये विदित कन्हर कृपाल आत्माराम आगम दरसि।।
कृष्ण भक्ति को थम्भ ब्रह्मकुल परम उजागर।
क्षमासील गम्भीर सर्व लच्छन कौ आगर।।
सर्वसु हरिजन जानि हृदै अनुराग प्रकासै।
असन वसन सनमान करत अति उज्वल आसै।।

सोभूराम प्रसाद तें कृपा दृष्टि सब पर बरसि।
बूड़िये विदित कन्हर कृपाल आत्माराम आगम दरसि।।१९१।।

शब्दार्थ—आत्माराम=अपने आत्मामें रमण करने वाले। आगम दरसि=भविष्यके द्रष्टा, शास्त्र तत्वज्ञ। असन=भोजन। आसन वसन=भोजन-वस्त्र। वाद=विवाद, शास्त्रार्थ, झगड़ा। उज्ज्वल आसै=पवित्र उद्देश्य।

भावार्थ—श्रीकन्हरदासजी बूड़िया ग्रामके निवासी, आत्मामें रमण करने वाले, परम दयालु शास्त्रोंके तथाभविष्य के द्रष्टा थे। आप श्रीकृष्ण-भक्ति के आधारभूत खम्भे के तुल्य थे। ब्राह्मण-वंशमें प्रकट, अति प्रसिद्ध, क्षमाशील, गम्भीर एवं सभी शुभ गुणोंसे सम्पन्न थे। भक्तोंको अपना सब कुछ जानकर उनके प्रति बड़ा अनुराग करते थे। भोजन, वस्त्र आदिसे सेवा तथा उनका बहुत सम्मान करते थे। उद्देश्य बड़ा पवित्र था। गुरुदेव श्रीशोभूरामजीकी कृपाका बल पाकर आपने सभी जीवोंके ऊपर कृपा की वर्षा की।।१९१।।

व्याख्या-आत्माराम—आत्मा शब्द के देह, मन, ब्रह्म, धृति, बुद्धि और स्वभाव ये सात अर्थ विश्वप्रकाशमें कहे गये हैं। इन सातोंमें रमण करने वालेको आत्माराम कहते हैं। भावार्थ—दीपिका टीकामें श्रीश्रीधर स्वामीने कहा है—आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः।' स्वरूपमें अति वृहत्व होनेसे एवं जगत् का कारण होनेसे श्रीहरि ही परमात्मा कहे गये हैं। हरि ही सर्वव्यापक एवं सर्वसाक्षी हैं। जो सर्वसाक्षी है वही आत्मा है। श्रीकन्हरदासजी आत्मस्वरूप भगवान श्रीकृष्णमें रमण करते थे अतः आत्माराम कहा। इनके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार सब श्रीकृष्णको समर्पित थे। आत्माराम अपनेमें सन्तुष्ट रहता है। जो आत्माराम हैं वे मुनि-मननशील, निर्ग्रन्थ, निष्किञ्चन हैं उनकी श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति होती है। श्रीकन्हरदासकी श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति थी।

आगम दरसि—भ० चि० में लिखा है कि एकबार रसोई बन रही थी तो आपने अ शिष्य भण्डारीको आज्ञा दी कि बीस मूर्त्तियोंके लिए सामान और बढ़ा दो। सचमुच पंक्तिके समय बीस साधु और आ गये। सानन्द सभीने प्रसाद पाया। आपके शिष्यों ने जान लिया कि महाराज आगमदर्शी हैं। इसी तरह एक सेवकके यहाँ आप गये वहाँ भी आपने रसोईके समय सन्तोंके सुभागमनकी बात कही, वह भी सच हुई। कई बार ऐसी घटना देखकर शिष्यगण आपसे पूछते कि आज कितने सन्त पधारेंगे। आप बता देते, उतने ही सन्त आते। इसीलिए मूलमें आपको आगमदर्शी कहा गया है।

कृष्ण भक्ति को थम्भ—स्तम्भ स्मारक होता है अतः आप कृष्ण-भक्तिके स्मारक थे। स्तम्भ पुष्ट और ऊँचा होता है, आप दृढ़ और बड़े भक्ति प्रचारक थे। स्तम्भ-मण्डप, सेतु तथा भवनका आधार होता है। 'सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यौ भक्ति वित्तान।' (छ० ३०) 'रामानन्द रघुनाथ ज्यौं दुतिय सेतु जग तरन कियौ।' (छ० ३६) आचार्य, सन्त ही स्तम्भ हैं तात्पर्य यह कि आप विधर्मी नास्तिकों से टक्कर लेने वाले तथा श्रीभागवतधर्म के महामहोपदेशक थे। 'ब्रह्मकुल'—आपके पिता सन्तसेवी धनी-मानी, विद्वान् ब्राह्मण थे। तीन स्त्रियोंके होते हुए भी कोई सन्तान न थी। तब आपके गुरुदेव श्रीस्वभूराम-देवाचार्यके वरदान से आपका जन्म हुआ। पिताके स्वर्गवासी होने पर बाल्यावस्थामें ही आपको सर्पने डस लिया। श्रीगुरुदेवकी कृपासे आप पुनः जीवित हुए। (विशेष देखिये तृ० खं० २२५)

क्षमाशील—क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्मतपस्विनाम्। क्षमा सत्यवतां सत्यं क्षमा यज्ञः क्षमा शमः।।१।। क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्। इह सन्मानमिच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम्।।' अर्थ—तेजस्वियोंका तेज क्षमा है। तपस्वियोंका ब्रह्म क्षमा है। सत्यवादियोंका सत्य क्षमा है। क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही शम है। क्षमाशीलोंके लोक-परलोक दोनों सुखमय हैं। 'क्षमा बड़ेन को चाहिए छोटेन को उत्पात। कहा विष्णु को घटि गयौ जो भृगु मारी लात।।' साधु-ब्राह्मणका सबसे बड़ा बल क्षमा ही है, क्षमाशीलता पर—

दृष्टान्त-वशिष्ठजीका—इक्ष्वाकु वंशमें कल्माषपाद नामके एक राजा थे। एकदिन वे शिकार खेलकर लौट रहे थे। वन मार्ग सँकरा था, उसमें एक ही मनुष्य चल सकता था। उसी मार्गसे वशिष्ठजीके सबसे बड़े पुत्र शक्ति मुनि आ रहे थे। राजाने कहा तुम पीछे हट जाओ, मेरे लिए रास्ता छोड़ दो। शक्ति ने कहा—धर्मके अनुसार क्षत्रियका कर्तव्य है कि वह ब्राह्मणके लिए मार्ग छोड़ दे, दोनों में कहा-सुनी हो गई। राजाने चाबुक चला दिया। मुनिने अन्याय समझकर राजाको शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा। राजा राक्षस भावको प्राप्तकर बोला कि तुमने अनुचित शाप दिया है अतः मैं अपना राक्षसपना तुमसे ही प्रारम्भ करता हूँ। ऐसा कहकर कल्माषपाद शक्ति मुनिको मारकर खा गया। उसके बाद वशिष्ठजी के जितने पुत्र थे, सभीको उसने खा लिया इसमें उसका राक्षसपना तो कारण था ही, इसके अतिरिक्त विश्वामित्रने भी पहले द्वेषका स्मरण करके किङ्कर नामके राक्षस को आज्ञा दी थी कि तू कल्माषपाद के शरीर में प्रवेश कर जा, इसीसे राजा ऐसे नीच कर्म में प्रवृत्त हुआ। विश्वामित्र की प्रेरणा से हुए कल्माषपाद के इस पाप कर्म को वशिष्ठजी ने जाना।

प्रतीकारकी सामर्थ्य होते हुए भी उन्होंने क्षमा किया, बदला नहीं लिया। एकबार वनसे वशिष्ठजी अपने आश्रमकी ओर लौट रहे थे। इसी समय ऐसा जान पड़ा कि मानो उनके पीछे-पीछे कोई वेदाध्ययन करता हुआ चलता है। वशिष्ठजी ने पूछा-मेरे-पीछे-पीछे कौन चल रहा है ? आवाज आयी कि—मैं आपकी पुत्रवधू शक्ति पत्नी अदृश्यन्ती हूँ, आपका पौत्र मेरे गर्भमें है, वह बारह वर्षसे गर्भमें ही वेदाध्ययन कर रहा है।

यह सुनकर वशिष्ठजी को बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे वंश का उच्छेद नहीं हुआ है। यही सोचते आ रहे थे कि निर्जन वनमें कल्माषपादसे उनकी भेंट हो गई। वह वशिष्ठजी को खाने दौड़ा। अदृश्यन्ती भी डर गई। वशिष्ठजीने कहा—बेटी डरो मत। इसके बाद उन्होंने जलको हाथमें लेकर उसके ऊपर डाला। वह तुरन्त शापसे मुक्त हो गया। बारह वर्ष बाद शापसे छूटकर वह होशमें आकर बोला—'महाराज!' मैं सुदासका पुत्र कल्माषपाद आपका यजमान हूँ। आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करूँ। 'वशिष्ठजी ने कहा—तुम अपने राज्य की देख-भाल करो अब कभी ब्राह्मण का अपमान न करना। राजा ने प्रतिज्ञा करके कहा कि ऐसा ही करुँगा। क्षमाशील वशिष्ठजीने अयोध्यामें आकर इसी पुत्रघाती राजाको अपने कृपा-प्रसादसे पुत्रवान बनाया। अदृश्यन्ती के गर्भसे पराशरजी का जन्म हुआ। बड़े होने पर जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मेरे पिता को राजा राक्षसने खा डाला था, तब उन्होंने क्रोधवश राजाओं पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया। यह जानकर वशिष्ठजीने इन्हें समझाया कि 'तुम क्षमा करो।' पराशरजीने अपने निश्चय को छोड़ दिया। फिर राक्षसोंके विनाश के लिए घोर यज्ञ आरम्भ कर दिया तब फिर पुलस्त्यजीके साथ आकर वशिष्ठजीने पराशरजीको समझाया कि—क्षमा ही परमधर्म है। तुम्हारे सभी पूर्वज क्षमाकी मूर्ति हैं। इस प्रकार का उपदेश पाकर पराशरजीने भी क्षमा को स्वीकार किया अतः महान् तेजस्वी हुए। श्रीकन्हरदासजी क्षमाशील थे अतः 'गम्भीर' और सर्व लच्छन कौ आगर थे। दो०—चार चिन्ह हरि भक्त के प्रगट दिखाई देत। क्षमा दया अरु दीनता पर अवगुन ढकि लेत।।

सर्वसु हरिजन—संसारी लोग धन, पुत्र और स्त्री आदिको अपना सर्वस्व मानते हैं। भक्तजन भक्त—भगवान को अपना सर्वस्व मानते हैं। 'अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्। धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् विभ्यतोऽरणम्।। सन्तोदिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थिः देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च।। (भा० ११-२६-३३, ३४) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धवजी! जैसे अन्नसे प्राणियोंकी रक्षा होती है, जैसे मैं ही

दीन-दुःखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्यके लिए परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूंजी है—वैसे ही जो लोग संसारसे भयभीत हैं, उनके लिए सन्तजन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोकोंको, जगत् तथा अपनेको देखने के लिए नेत्रदान करते हैं, वैसे ही सन्तजन अपने को तथा भगवान को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि देते हैं। सन्त अनुग्रहशील देवता हैं, सन्त अपने हितैषी सुहृद हैं, सन्त अपने प्रियतम आत्मा हैं और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही सन्तके रूपमें विद्यमान हूँ।। इनमें हार्दिक अनुराग था, ऐसा नहीं कि दिखावा मात्र हो। अन्न-वस्त्रादिका मुक्तहस्तसे वितरण करते थे अतः ऋद्धि-सिद्धि श्रीकन्हरदेवाचार्यजीके समीप मँडराती रहती थीं। दो०—ऋतु वसन्त याचक भया दिये डार द्रुम पात। ताते नव पल्लव भये दियो दूर नहिं जात। इस पर—

दृष्टान्त—भोज के राजकवि का—गर्मीके दिन थे, प्रचण्ड सूर्य अग्नि बरसा रहे थे। पृथ्वी जल रही थी। ऐसी दोपहरीमें ही राजा भोजके राजकवि किसी कार्यवश बाहर निकले। धारा नगरी की सड़क पर चलते समय आपने देखा कि एक दुर्बल व्यक्ति नंगे पैर लड़खड़ाता हुआ चल रहा है, उसके पैरोंमें छाले पड़ चुके थे। वह बार-बार दौड़नेका प्रयत्न कर रहा था। दयालु-कोमल हृदय राजकविसे यह न देखा गया वे उसके समीप गये और अपने पैरों के जूते उन्होंने उसे दे दिये। राजकविका सुकुमार शरीर कोमल चरण, किन्तु उन्हें अपने कष्टका ध्यान न रहा। नंगे पैर चलने लगे, पैर जल रहे थे पर मनमें सुख था। कुछ देर बाद उधरसे महावत हाथी को ला रहा था, उसने देखा तो राजकविको हाथी पर चढ़ा लिया। संयोगवश राजा भोज भी रथ पर बैठे हुए उसी समय उधरसे ही निकले। उन्होंने हँसीमें राजकविसे पूछा—'आपको यह हाथी कैसे मिल गया।' राजकविने उत्तर दिया—उपानहं मया दत्तं जीर्णं कर्णविवर्जितम् तत्पुण्येन गजारूढो न दत्तं वै हि तद्गतम्।। अर्थ—राजन्! मैंने अपना पुराना फटा जूता दान कर दिया। उसी पुण्य से हाथी पर बैठा हूँ। जो धन दान नहीं किया गया उसे व्यर्थ समझो। राजाने प्रसन्न होकर वह हाथी राजकविको दे दिया। (धर्माङ्कसे साभार उद्धृत) यहाँ दानशीलता और दीन पर दयाका महत्व दिखाई देता है। श्रीकन्हरदेवाचार्यमें उक्त सभी गुण थे अतः आगे कहते हैं कि 'कृपा दृष्टि सब पर बरसि'—अर्थात् सभीको भगवद्-भक्तिका दान देते थे। शरणागतके लोक-परलोक दोनों सुधार देते थे। यह शक्ति गुरुदेवसे मिलती है, जैसे 'पैहारी परसाद तें शिष्य सबै भये पारकर।' (छ० ३९) गुरुभक्त-गुरुकृपा प्राप्त शिष्य सभी पर कृपाकी वर्षा करनेमें समर्थ होता है। अतः 'सोभूराम प्रसाद तें' ऐसा कहा।

बूड़िये विदित—पंजाबमें जगाधरीके पास 'बूड़ियों' ग्राम है इसे डूबनेसे बचाने का प्रसङ्ग पूर्वमें आ चुका है। 'बूड़ा-बूड़ा' ऐसा करुण-क्रदन हुआ। सुनकर आचार्यपादने ग्रामकी एवं ग्रामीणजनोंकी रक्षा की।

* श्रीगोविन्ददासजी भक्तमाली *

भक्त रत्नमाला सुधन गोविन्द कण्ठ विकास किय।।
रुचिर सील घननील लील रुचि सुमति सरित पति।
विविध भक्त अनुरक्त व्यक्त बहु चरित चतुर अति।।
लघु दीरघ सुर सुद्ध वचन अविरुद्ध उचारन।
विस्व वास विस्वास दास परिचय विस्तारन।।
जानि जगत हित सब गुननि सु सम नारायनदास दिय।
भक्त रत्नमाला सुधन गोविन्द कण्ठ विकास किय।।१९२।।

शब्दार्थ—भक्त रत्नमाला=भक्तमाल। सुधन=प्रिय सम्पत्ति। घननील=घनश्याम, श्रीराम। लीला रुचि=लीलाओंमें रुचि। व्यक्त=प्रकट। विस्ववास=भगवान।

भावार्थ—भक्त रत्नमाला (श्रीभक्तमाल) रूपी उत्तम धन श्रीगोविन्ददासजीके कण्ठमें सुशोभित होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ। इन्हें सम्पूर्ण भक्तमाल कण्ठस्थ था। अत्यन्त सुन्दर शील-स्वभाव वाले तथा मेघके समान नीलवर्ण वाले भगवान श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें आपकी सहज ही रुचि थी। शुद्ध-बुद्धिके तो आप समुद्र ही थे। सभी प्रकारके भक्तोंमें आपका परम अनुराग था और उन सबके चरित्रोंको वर्णन करनेमें आप अत्यन्त चतुर थे। तथा 'श्रीभक्तमाल' को पढ़ते या गाते समय ह्रस्व-दीर्घ स्वरोंका यथावत् उच्चारण करते थे। चरित्रोंका वर्णन करनेमें वाक्य एवं शब्दोंकी इस प्रकार योजना करते थे कि उसमें विरोध न हो, अर्थकी सङ्गति में बाधा न हो। आप सम्पूर्ण विश्वमें निवास करने वाले भगवान एवं उनके भक्तोंमें दृढ़-विश्वास रखते थे और भक्तोंके चमत्कारोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करते थे। सभी जीवों के हित में तथा भक्त-भक्ति-भगवन्त और गुरुदेव की सेवा-निष्ठा आदिमें श्रीनाभाजी ने अपने समान जानकर 'भक्त-रत्नमाला' रूपी सम्पत्ति को इन्हें प्रदान किया अतः ये (श्रीभक्तमाल) के श्रेष्ठ प्रवक्ता प्रथम 'भक्तमाली' हुए।।१९२।।

व्याख्या-भक्त रत्नमाला—श्रीप्रियादासजीने क० ५ 'पञ्च रस सोई पञ्च रङ्ग फूल थाके नीके।' में भक्तमालके भक्तों की फूलोंसे उपमा दी, यहाँ रत्नमाला कहा। पुष्पमें कोमलता और सुगन्ध ये दो विशिष्ट गुण हैं पर वह चिरस्थाई नहीं होता है। रत्नमें द्युति और स्थायित्व ये दो गुण विशेष हैं पर उसमें काठिन्य है। इस भक्तमालमें पुष्प और रत्न दोनोंके गुण हैं। अस्थायित्व और काठिन्य आदि दोष नहीं हैं, अतः वहाँ 'पुष्पमाला' और यहाँ 'रत्नमाला' कहा। 'सुधन'—धनमें अनेक दोष हैं, (भा० ११-२३-१७) में मुख्य १५ दोष कहे गये हैं (भ० द्वि० क० १५२ पृ० २६७ देखिये) इसके पीछे गुरु-शिष्य, पिता, पुत्र, भाई-भाई और मित्र-मित्रमें भी झगड़े हो जाते हैं। अग्नि, चोर और राजा आदिसे भय भी रहता है, पर ज्ञान-भक्ति और विद्यारूपी धनमें भय-क्लेशका सर्वथा अभाव रहता है अतः इसे 'सुधन' कहा। धन इसी लोकका साधक है, उससे व्यवहार मात्रका निर्वाह और धर्मकी सिद्धि होती है। सुधनसे परलोक बनता है, वैकुण्ठपद और प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति होती है। एक ही लौकिक रत्नका भारी महत्व है पर यहाँ तो ये परम दिव्यरत्न है और उनकी माला है, इसमें असंख्य रत्नोंका समावेश है अतः यह 'सुधन' है, इससे बड़ा कोई धन नहीं है। जिसके पास में है उससे बड़ा कोई धनी नहीं है और भक्त रत्नमाला सुधनके दानीसे बड़ा कोई दानी नहीं है। किसी कविने ठीक ही कहा है—

न चौर्यहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एवं नित्य विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

इस सुधनकी यह विशेषता है कि इसे चोर नहीं चुरा सकता है, दुष्ट राजा हरण नहीं कर सकता है, भाई बाँट नहीं सकता है और यह भारकारी भी नहीं है। पुनः जितना अधिक इसे खर्च करो (दूसरे को दान करो) उतना ही अधिक बढ़ता है। लौकिक धनमें आसक्त प्रभुसे दूर और इस दिव्यधनका लोभी उनके निकट पहुँचता है।

गोविन्द कण्ठ विकास—भक्त रत्नमालाने श्रीगोविन्ददासके कण्ठकी शोभा बढ़ाई और इनके कण्ठमें स्थित होकर उसका विकास हुआ अर्थात् लोकमें प्रकाशित होकर उसने प्रकाश दिया। कलिका फूलकी तरह खिलनेसे उसका सौन्दर्य बढ़ा और भक्तप्रेम मकरन्द सुलभ हुआ, भक्ति-चरित्रोंका विस्तार हुआ क्योंकि छप्पय सूत्रवत् हैं। गोविन्द कण्ठने 'भक्तमाल' का विकास किया और भक्तमालने गोविन्द कण्ठका विकास किया। खानमें रत्न असंस्कृत रहता है, शान पर सुसंस्कृत होकर अपने वास्तविक मूल्य और शोभाको प्राप्त करता है। तब धारकको सुशोभित करता हुआ स्वयं सुशोभित होता है।

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिर गज सिर सोह न तैसी।।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।
तैसेइ सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।।

रुचिर सील—यह गोविन्ददासजी और भगवान दोनोंका विशेषण है। 'घननील' से राम-कृष्ण और नारायणका ग्रहण है। नील सरोरुह श्याम०, नीलाम्बुज श्यामल०। 'सुमति'—शुद्ध, पवित्र बुद्धि थी, बिना इसके लीलामें रुचि नहीं होती है। 'सरित पति'—समुद्रके अनेक विशिष्ट गुण हैं, वह गम्भीर है, अनन्त जलराशि वाला है। दूसरेकी वृद्धि को देखकर बढ़ता है अतः सज्जन है—'सज्जन सकृत सिन्धु सम कोई। देखि पूर विधु बाढइ जोई।। (रा०) नदियों का स्वामी है पर उसे नदियों की कामना नहीं है। यथा—'जिमि सरिता सागर मँहु जाहीं। जद्यपि तांहि कामना नाहीं।।' (रा०) आने न आनेका हर्ष विषाद नहीं है। घटता-बढ़ता नहीं है समरूप वाला है। बड़वानल को अङ्गीकार करके त्यागता नहीं है, यह साधुता है। ऐसे ही गोविन्ददासजी स्वभावसे अति गम्भीर, अनन्त ज्ञान-गुणोंसे सम्पन्न, निष्काम-ऋद्धि-सिद्धियोंके आने न आने की परवाह नहीं, आ गई तो सेवामें समर्पण कर देने वाले और अङ्गीकृतका पालन करने वाले थे। 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।'

विविध भक्त अनुरक्त—सभी वर्ण और सभी आश्रमों के भक्तोंमें समान अनुराग था। पुनः—टी० क० ४ के अनुसार भक्तिके पाँच रस हैं और 'पाँचों रस सार' हैं। भगवान के २४ अवतार हैं और 'अवतार जिते सुखसागर न पारावार' (क० १४) जिसकी जिस रस और जिस अवतार में निष्ठा है, वह उसकी उपासना करता है इसलिए विविध भक्त हैं। श्रीगोविन्ददासजीका सभीमें अनुराग था अतः उन सभी भक्तोंके चरित्रका 'व्यक्त' अर्थात् प्रकट करने में चतुर ही नहीं अति चतुर थे। कई विद्वान्-वक्ता अपने रस और अपने इष्टके भक्तोंके चरित्रोंको विस्तार पूर्वक अच्छी तरहसे कहेंगे। दूसरे चरित्रों की अपेक्षा पूर्वक संक्षेपमें कह देंगे अथवा उनके महत्वको, उनके रस और इष्टको छोटा कह देंगे। ऐसा करने से अपराध हो जाता है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू' अनन्यताके आवेशमें कभी-कभी अपराध की संभावना हो जाती है। चतुरता यह है कि सभी भक्तरस और अवतारोंकी महिमा को यथावत् कहा जाय। श्रीगोविन्ददासजी सभीको सार और पूर्ण मानते थे जैसी कि श्रीअग्रदेव और श्रीनाभाजीकी रीति है अतः जिस रस, अवतार या भक्तका चरित्र करते थे उसे बड़े प्रेमसे कहते थे। उस समय श्रोता यह अनुभव करते थे कि इनको यही रस यही अवतार इष्ट

है, यह अति चातुर्य है। अपने इष्टकी अवहेलना सुनकर श्रोता उत्तेजित हो जाते हैं और प्रतीकार कर बैठते हैं, जिससे श्रोता-वक्ताके उद्देश्यकी असिद्धि हो जाती है। इस पर—

दृष्टान्त-काने भक्तका—एक काशीके शिव भक्त विद्वान् थे। एक स्थान पर श्रीमद्भागवतकी कथा कह रहे थे। अभ्यासवश वे शिवपरत्व सिद्ध करनेमें विष्णुकी निन्दा करने लगे। इससे एक काने विष्णु भक्तको रोष आ गया। उसने एक कंकड़ वक्ता के ऊपर फेंक दिया जिससे चोट तो थोड़ी ही लगी पर अपमान अधिक हुआ। उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने न्यायाधीशके पास जाकर पुकार की। काने विष्णु भक्तको बुलाकर पूछा गया तो उसने कहा कि श्रीमद्भागवत के व्यासासनसे किसी देवी-देवकी निन्दा अनुचित है। इन्होंने विष्णु निन्दा की अतः हमें रोष आ गया और हमने कंकड़ फेंककर मारा। हाकिम ने पूछा कि—श्रोता तो बहुतसे बैठे थे पर तुम्हें ही अधिक रोष क्यों आया। उसने कहा—रामचरितमानसमें लिखा है कि—'हरिहर निन्दा सुनै जो काना। होइ पाप गोघात समाना।।' हरिहर निन्दा सुनने से काने (एक आँख वाले) को गो-हत्या के समान पाप लगता है। मैं काना हूँ इसलिए अधिक रोष आया, पापसे भयभीत होकर मैंने प्रतीकार किया। दूसरे लोग काने न थे अतः उन्हें रोष नहीं आया। वह युक्ति-युक्त उत्तर सुनकर न्यायाधीशने पण्डितजीको समझाया कि आप कथा-प्रवचन में किसी देवताकी निन्दा अब कभी न कीजियेगा काना निर्दोष है अतः इसे मुक्त किया जाता है। पं० जीने काना का कान अर्थ है यह कहकर कुछ कहना चाहा पर न्यायाधीशने उसे नहीं सुना। (भक्तमाली पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजीसे)।

लघु दीरघ सुर सुद्ध०—वेदपाठमें स्वरकी अशुद्धि यजमानका अमङ्गल करती है। लोकमें ऐसी बात नहीं है। यहाँ कहीं-कहीं दीर्घको ह्रस्व और ह्रस्वको दीर्घ उच्चारण करके छन्दके लयको शुद्ध रखना चाहिए। दूसरे ऐसा उच्चारण करना चाहिए कि जिससे अर्थका नाश न हो। 'वचन अविरुद्ध'—का तात्पर्य है कि भक्तिशास्त्र और सन्त-वाणीके अनुकूल बोलते थे तथा अपने प्रवचनमें अन्तर्विरोध नहीं होने देते थे। आदिसे अन्त तक एकरसता-अनुकूलताका निर्वाह करते थे। वचनोंसे मित्रता-शत्रुता, बन्ध और मोक्षादि होते हैं। यथा—

वचन ते दूर मिलै वचन विरोध होइ, वचन ते राग बढ़ै वचन ते दोष जू।
वचन ते ज्वाला उठै वचन सीतल होइ, वचन ते मुदित वचन ते रोष जू।

वचन ते प्यारो लगै वचन ते दूर भगै, वचन ते मुरझाय वचन ते पोष जू।
'सुन्दर' कहत यह वचन को भेद ऐसो, वचन ते बन्ध होत वचन ते मोच्छ जू।

विश्व वास विश्वास—सर्वत्र प्रभु हैं, ऐसा विश्वास जिसे है, वह महात्मा अति दुर्लभ है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' (गीता) ऐसा सन्त किसीका विरोधी नहीं होता है। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।' (रा०) ऐसे सन्त अजात शत्रु होते हैं। भगवान बीच में हैं ऐसा कहने पर ठगोंमें विश्वास करने वाले दम्पति भक्तकी रक्षा श्रीरामजीने की (छ० ५५) ऐसे विश्वासी भक्तको कोई धोखा नहीं दे सकता है। भगवान रक्षा करते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—रहीमजीका—एकबार बादशाहकी आज्ञा पाकर रहीमजीने दक्षिणके एक हिन्दू राजा पर चढ़ाई की। वह बादशाहके आधिपत्यको स्वीकार नहीं करता था। भयङ्कर संग्रामके बाद जब हिन्दू राजाने देखा कि अब हमारी हार होगी, तब उसने दूत भेजकर सन्धि करनेका प्रस्ताव किया। रहीमजीने उसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद उस राजासे भेंट की, उसने ईश्वरको साक्षी देकर कहा कि अब मैं युद्ध न करके मित्रता चाहता हूँ। इस प्रकार मित्रता हो जाने पर उसने रहीमजीको भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। सरल हृदय रहीमजीने स्वीकार कर लिया। यथा—समय रहीमजी भोजन करने चले तो मार्गमें एक बालकने इन्हें अपने पास बुलाकर धीरेसे कहा कि आप भोजन करने मत जाइये। भोजनमें विष मिला हुआ है। रहीमजीने कहा—ऐसा नहीं हो सकता है, मैं मित्र पर और भगवान पर विश्वास करता हूँ अतः निर्भय होकर भोजन करुँगा। बालक ने जब बार-बार हठ किया तो रहीमजीने कहा कि—'क्या तू कन्हैया है, जो मैं तेरी बात मान लूं।' बालक मुस्कराकर चुप हो गया। जब रहीमजीने विशेष दृष्टिसे देखा तो उन्हें श्रीकृष्णके दर्शन हुए। इसके बाद बालक अन्तर्धान हो गया। रहीमजीने युद्ध करके राजा को कैद कर लिया। जाँच करने पर भेद खुल गया। राजा विष खिलाकर इन्हें मार डालना चाहता था। इन्होंने राजाको लज्जित देखकर छोड़ दिया और उसे मित्र ही माना। इनके सद्व्यवहारसे राजा की भी बुद्धि शुद्ध हो गई।

मेघनादने अशोक वाटिकामें श्रीहनुमानजीको ब्रह्मास्त्रमें बाँध लिया। इसके महत्वकी रक्षाके लिए हनुमानजी स्वयं बँध गये पर रावणने अविश्वास किया। अतः लोहेकी मोटी जंजीरसे उन्हें बाँध दिया। इससे ब्रह्मास्त्रने अपना बन्धन ढीला कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उस बन्धनको तोड़कर श्रीहनुमानजीने लंकाको जला दिया। रावणको उसके अविश्वासका फल

मिला। चातक मेघ पर विश्वास करता है मेघ उसे जीवनरूप स्वाती का जल प्रदान करके सुखी करता है। यह विश्वासका लाभ है। विश्वासके बिना सिद्ध लोग भी अपने हृदय स्थित ईश्वरको नहीं देख पाते हैं। श्रीगोविन्ददासजी भक्त और भगवान दोनोंमें श्रद्धा विश्वास करते थे। 'कविनउ सिद्धि कि विनु विश्वासा। विनु हरि भजन न भव भय नासा।। विनु विश्वास भगति नहिं तेहि विनु द्रवहिं न राम। राम कृपा विनु सपनेहु जीव न लह विश्राम।।' (रा०)

जानि जगत हित०—श्रीवेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतकी रचना करके जैसे श्रीशुकदेवजीको अधिकारी जानकर दिया उसी प्रकार श्रीनाभाजीने अपने कृपापात्र शिष्य श्रीगोविन्ददासजीको भक्तमाल दिया अर्थात् उसका रहस्य और महत्व समझाया तथा अपना ग्रन्थ प्रदान करने के साथ-साथ 'भक्तमाली' पदवी प्रदान की। श्रीगोविन्ददासकी परीक्षा करके देख लिया कि इसके मनमें जगत् हित (विश्व-कल्याण) की कामना उसी प्रकार दृढ़ है जैसे कि गुरु-कृपासे मेरे मनमें इस 'भक्तमाल' सम्पत्तिको पाकर यह उसका इस प्रकार प्रवचन-प्रसार करेगा जिससे विभिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंमें परस्पर अनुराग बढ़े। भक्त भक्ति भगवन्त और गुरुमें निष्ठा दृढ़ हो। निष्पक्ष-निष्काम भावसे सभी भक्तोंकी सेवामें अनुराग देखकर श्रीनाभाजीने अपने समान माना, (आशीर्वाद सहित) भक्तमालको पढ़ाया। इसी कारणसे ऊपर कहे हुए दिव्य गुण श्रीगोविन्ददासजी में प्रकट हुए। भ० दाम० चि० में लिखा है कि—स्वयं प्रभुने स्वप्नमें गोविन्ददासजीसे कहा कि भक्तमाल मुझे अति प्रिय है इससे जीवोंका कल्याण और भक्ति का सुदृढ़ प्रचार होगा अतः तुम उसको लिखो, पढ़ो और गावो। ऐसी प्रेरणा पाकर इन्होंने भक्तमाल का अध्ययन कर उसकी कथा कहना आरम्भ किया।

❋ श्रीजगतसिंहजी ❋

भक्तेश भक्त भवतोष कर सन्त नृपति 'बासो' कुंवर।।
श्रीयुत नृप मनि जगतसिंह दृढ़ भक्ति परायन।
परम प्रीति किये सुबस सील लक्ष्मी नारायण।।
जासु सुजस सहज ही कुटिल कलि कल्प जु घायक।
आज्ञा अटल सुप्रगट सुभट कटकनि सुखदायक।।
अति प्रचण्ड मारतण्ड सम तम खण्डन दोरदण्ड वर।
भक्तेश भक्त भवतोष कर सन्त नृपति 'बासो' कुंवर।।१९३।।

शब्दार्थ—भवतोषकर=विश्वरूप शिवको सन्तुष्ट करने वाले। कलिकल्प=कलियुग की कलई। कल्प=विधान, इरादा, पक्ष। घायक=नाशक। दोरदण्डवर=श्रेष्ठ भुजदण्ड।

भावार्थ—भक्तोंके स्वामी जो भगवान उनके महान् भक्त श्रीशिवको सन्तुष्ट करने वाले भक्तराज श्रीजगतसिंहजी वासोदेईके सुपुत्र थे। आप राजाओंमें श्रेष्ठ भक्तिमें दृढ़-निष्ठा वाले भक्त थे। आपने अपनी सच्ची प्रीति तथा विनम्र स्वभावसे श्रीलक्ष्मीनारायण भगवानको अपने वशमें कर लिया था। आपका सुयश कलियुगके दोष-पापोंको नष्ट करने वाला है। आपकी आज्ञा अटल थी, उसको उल्लंघन करनेका साहस किसी योद्धा या दुष्टमें नहीं होता था। समरभूमि में आपके पराक्रमको देखकर वीरोंकी सेनायें प्रसन्न हो जाती थीं और दूने उत्साहसे युद्ध करने लगती थीं। आपके भुजदण्ड-प्रचण्ड सूर्यके तुल्य थे, उससे भवरूप अन्धकार का सर्वथा नाश हो जाता था।।१९३।।

व्याख्या-भवतोषकर—भव शब्दके जन्म, शिव, संसार आदि कई अर्थ हैं अतः भवतोषकर का तात्पर्य यह है कि जिसका जीवन-जन्म सभीको सन्तुष्ट करने वाला है, भगवान शिवको सन्तुष्ट करने वाले थे। वैष्णवों पर शङ्करजी सहज ही सन्तुष्ट रहते हैं तथा बिना शिवको सन्तुष्ट किये श्रीराम-चरणोमें भक्ति नहीं होती है। यथा—'जुगल नयन गुन अयन मयन रिपु महिमा जान न कोइ। विनु तव कृपा राम पद पंकज सपनेहु प्रीति न होइ।।' (वि० प०) श्रीजगतसिंहजी शिवजीको सन्तुष्ट कर दृढ़-भक्ति परायण हुए। पुनः अपनी सज्जनतासे संसारको, हरिभक्तोंको प्रसन्न करने वाले हुए। 'दृढ़ भक्ति परायन' भगवानको जाननेसे विश्वास, विश्वाससे प्रीति और प्रीतिसे भक्ति दृढ़ होती है। यथा—'जाने विनु न होइ परतीती। विनु परतीति होइ नहिं प्रीति।। प्रीति विना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेश जलकै चिकनाई।।' अचला, अनपायिनी भक्ति ही दृढ़ा-भक्ति है। इसके साधनों का वर्णन विनय-पत्रिकाके इस पद में हुआ है। यथा—कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो। (वि० १७२) श्रीरघुनाथजी की कृपासे सन्त-स्वभावका ग्रहण, यथा-लाभ सन्तोष, किसी भी मनुष्य या देवता से कुछ न चाहना, निरन्तर परोपकार, मन-वचन और कर्मसे संयम-नियमोंका पालन, कानोंसे असह्य-कठोर वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न क्रोधकी अग्निमें न जलना, किसी की निन्दा-स्तुति न करना और सुख-दुःखमें समान भाव—'तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि 'अविचल हरि भगति' लहौंगो।' इनमें प्रभु-कृपा और साधु-स्वभाव ही मुख्य है। भक्तजन इसी अविचला, दृढ़-भक्तिको माँगते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥१॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥२॥
यत् त्वां साक्षात् प्रपश्यामि नीचवंशोद्भवाप्यहम्। तथापि याचे भगवंस्त्वयि भक्तिर्दृढागम॥३॥

भक्तराज श्रीप्रह्लादजी श्रीनृसिंह भगवानसे प्रार्थना करते हैं—हे नाथ! सहस्रों योनियोंमें जिस-जिसमें मैं जाऊँ, उसी-उसीमें हे अच्युत! आपके प्रति मेरी सदा-सर्वदा अविचल भक्ति रहे॥१॥ अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो। (विष्णु पु० १-२०-१८, १९)॥२॥ भक्तिमती श्रीशबरीके फलोंको स्वीकार कर भगवान श्रीरामने उनसे वरदान माँगनेके लिए कहा, तब वे कहती हैं—मैं अत्यन्त नीच कुलमें जन्म लेने पर भी आपका साक्षात् दर्शन कर रही हूँ, यह क्या साधारण अनुग्रहका फल है, तथापि मैं यही चाहती हूँ कि आपमें मेरी दृढ़-भक्ति सदा बनी रहे॥३॥ प्रभुने उसे प्रमाण-पत्र दे दिया—'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।'

परम प्रीति०—'राम सनेही राम गति राम चरन रति जाहि। तुलसी फल जग जनम को दियौ विधाता ताहि॥' शीलता-नम्रता और दैन्यको देखकर भगवान भक्तके अधीन हो जाते हैं। यथा—'नारायण हौं सच कहौं भुज उठायकै आज। जौ जिय बनै गरीब तौ मिलै गरीब निवाज॥' 'किये सुबस'—मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्तया सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ (भा० ९-४-६६) भगवान दुर्वासाजीसे कहते हैं कि—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध देने वाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। पुनः 'भक्ति अवशहिं वस करी।' (रा०) 'आज्ञा अटल'—इनकी इच्छाके विरुद्ध बादशाहका हुक्म भी व्यर्थ हुआ। आप दिल्लीमें रहते थे, प्रातःकाल चार बजे मङ्गला आरती के समयसे ही नित्य नौबत बजती थी। इसे सुनकर बादशाहकी निद्रा-भङ्ग हो जाती थी अतः उसने सूचना भेजी कि नौबत मत बजवाओ। आपने उत्तर दिया कि यह भगवानकी नौबत है, बन्द नहीं हो सकती। रुष्ट होकर बादशाहने नगाड़े-नफीरी आदि वाद्योंको यमुनामें फेंकवा दिया। प्रातः चार बजते ही वहीं नौबत बजने लगी। बादशाहने सुना पता लगाया। बिना बजाये यमुनामें बाजे बजे, इससे प्रभावित होकर उसने वाद्योंको यमुना से निकलवाया और नित्य नौबत बजने की अनुमति दी। शयनके लिए दूसरा महल बनवाया। 'सुभट'—

सुनत नागरे चोट विकसै कमलमुख, अधिक उछाह फूल्यौ माया हू न तन में।
फेरैं जब सांग तब कोऊ नहिं धीर धरै, कायर कँपायमान होत देखि मन में।।
कूदिकै पतङ्ग जैसे परत पावक माहिं, ऐसे टूटि परै बहु सामन्त के घन में।
मारि घमासान करि 'सुन्दर' जुहारैं श्याम, सोई सूर वीर रोपि रहे जाय रन में।।

दोरदण्डवर—भगवानकी भुजायें स्मरणीय हैं—'सुमिरत श्रीरघुवीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं।.....।। सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आई करिहैं करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं।।' (गी० उ० १३) शीतल सुखद छांह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निस बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।। (वि०) भगवान के भुजदण्डों की जो महिमा है वही भक्त भुजदण्डों की महिमा है अतः तम खण्डन दोरदण्डवर कहा।

जगता कौ पन मन सेवा श्रीनारायण जू, भयौ ऐसौ परायण रहै डोला सङ्ग ही।
लरिबे कों चलै आगै आगै सदा पाछे रहै, ल्यावे जल सीस ईस भर्‍यौ हियौ रङ्ग ही।।
सुनि जसवन्त जयसिंह कै हुलास भयो, देख्यौ दिल्ली माँझ नीर ल्यावत अभङ्ग ही।
भूमि परि बिनै करी धरी देह तुमहीं नै, यातै पायौ नेह भीजि गये यों प्रसङ्ग ही।।६२१

शब्दार्थ—परायण=तत्पर, प्रवृत्त। डोला=श्रीठाकुरजीकी पालकी। सुवस=अपने वश। अभंग=अखण्ड, लगातार, नित्य।

भावार्थ—भक्तवर राजा श्रीजगतसिंहजी श्रीलक्ष्मीनाराण भगवान की सेवामें पूर्ण रूपसे तत्पर रहते थे, उन्होंने प्रतिज्ञा करली थी कि भगवान का डोला सदा अपने साथ रक्खूँगा तदनुसार डोला आपके साथ ही रहता। जब आप युद्ध करनेके लिए लड़ाई के मैदानमें जाते तो आप आगे रहते और डोला पीछे रहता। इसके अतिरिक्त जब कभी आप किसी यात्रामें जाते तो आगे-आगे भगवानका डोला रहता और सेवककी तरह आप पीछे-पीछे चलते। आपके हृदयमें श्रीठाकुरजीकी सेवाका ऐसा उत्साह था कि सेवाके लिए नित्य जल भरकर घड़ेको अपने सिर पर रखकर लाते। एकबार दिल्ली में सभी राजा लोग इक्ट्ठे हुए। वहाँ श्रीयमुना जलका घड़ा सिर पर रखकर लाते हुए श्रीजगतसिंहको जयसिंह और जसवन्तसिंहने देखा, तो धरती पर लेटकर प्रणाम किया। फिर विनती करते हुए कहा—'वस्तुतः आपका शरीर धारण करना ही सफल है, क्योकि आपने शरीरसे सेवा करके भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लिया।' इस प्रकार इनकी प्रशंसा करते-करते दोनों ही भगवत्प्रेमके प्रसङ्गमें डूब गये।।६२१।।

व्याख्या—पन मन सेवा...डोला संग ही—भक्तदाम गुणचित्रणी में लखा है कि—श्रीजगतसिंहजी बड़ी निष्ठा और प्रतिज्ञाके साथ श्रीलक्ष्मीनारयणकी सेवा करते थे—

एकदा जगतसिंह चाकरी ते आयौ गेह, नेह भरि स्याम तासूं स्वप्न में उचारी है।
तू तौ गयौ चाकरी कौं मोकूँ इहाँ छाड़ि पाछे, राग भोग सेवा नीकी बनी न हमारी है।।
ताही दिन पाछे आछे प्रभु कौ बनायौ डोल, राखै सँग रंग भर्‌यौ दास भाव धर्‌यौ है।
दास आप प्रभु रहैं जुद्ध समें आगे, एकदा वचन आप जुद्ध समें कर्‌यौ है।।
बैरी फौज अधिक है तौहू जीत अपनी ही, ह्वै है ऐसी संगिन सूं प्रगट उचार्‌यौ है।
भयौ जुध भारी बैरी गये सब हारी बात, मुरारी सुधारी भक्त बोल साँच पर्‌यौ है।।

एकबार श्रीजगतसिंहजी दिल्ली गये और कुछ दिन वहीं बादशाहके यहाँ रहे। उसके बाद लौटकर जब घर आये तो श्रीठाकुरजीने उनसे स्वप्न में कहा कि—तुम तो दिल्ली गये और पीछेसे हमारी सेवा-पूजा और भोग-राग यथाविधि नहीं हुआ। उसी दिन आपने श्रीठाकुरजी के लिए पालकी बनवाई और जहाँ जाते वहाँ साथ-साथ पीछे-पीछे चलते, स्वयं सेवा-पूजा करते। युद्ध में प्रभुकी पालकी पीछे रहती। एकबार दिल्ली बादशाहकी ओर से कठिन मोर्चे पर युद्ध करने गये। वहाँ अपने सैनिकोंसे कहा—यद्यपि शत्रुकी सेना बहुत बड़ी और हमारी सेना छोटी है पर विजय हमारी ही होगी। भगवानने आपकी वाणीको सत्य किया, आप विजयी हुए। एकबार श्रीजगतसिंहजीने अपने एक गोत्री बन्धुसे कहा—आप लोग हिरन आदिका शिकार और मांसाहार बन्दकर दें। क्योंकि इससे बड़ा-भारी पाप लगता है। उन लोगोंने कहा कि हम क्षत्रिय लोग सिंह हैं और मांस हमारा भक्ष्य है अतः हमें कोई दोष नहीं। आपने कहा—तब आप लोग अन्न खाना छोड़िये। मनुष्य स्वभावतः मांसाहारी नहीं है। क्षत्रिय पराक्रममें सिंहके समान हैं न कि मांसाहारमें। इनके समझाने पर भी वह न माना। इसके बाद एक ही मासमें उसके चार पुत्रोंमें से तीन मर गये। तब उसे बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने समझाया कि अब भी कुशल है मांसाहार छोड़ दो। आपकी बात को मानकर उसने हिंसा और मांसाहार छोड़ दिया। एकबार जगतसिंहजीके शत्रुने सोचा कि जिस समय ये जल भरने जाते हैं, उस समय इनके साथ सशस्त्र सैनिक अधिक नहीं रहते हैं। कुछ लोग कीर्तन आदिमें लगे रहते हैं। घात करने का अच्छा अवसर जानकर उसने इन्हें धोखेसे मरवा डालने के लिए सैनिक भेजे। वे लोग प्रहार करने के लिए जैसे ही जगतसिंहके सामने आये तो उन्हें लगा कि इनका शरीर सूर्यके समान तेजस्वी है। व्याकुल वे लोग भूमि पर मूर्च्छित होकर ऐसे

गिर पड़े, जैसे मर गये हों। बड़ी देर के बाद जब वे होशमें आये, तब उन्होंने जगतसिंहकी महिमा का विस्तार किया।

नीर ल्यावत–रींवा नरेशने अपनी भक्तमालमें लिखा है कि–'भूप करौली को रह्यौ जगतसिंह अस नाम। भयौ सन्तसेवी विमल कहौं चरित अभिराम।।' एकबार दिल्लीमें श्रीजगतसिंहजी ब्राह्मण, वैष्णव और सिपाहियों सहित बाजे-गाजेके साथ श्रीयमुना जल ला रहे थे। बाजोंकी ध्वनि सुनकर जयपुर नरेश जयसिंहजी और जोधपुर नरेश जसवन्तसिंहजीने भीड़ देखी और बाजों की ध्वनि सुनी। तब आकर दोनोंने दर्शन-प्रणाम किया और कहा–'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।।' नाशवान शरीर बिष्ठा, कृमि या राख हो जाता है उससे अविनाशी भक्ति करने वाले ही धन्य हैं, नहीं तो 'नर तन पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं।।' पुनः–

जिन हरि गढ़ि गढ़ि एतक बनायौ ताहि, तुलसी को दलहु तैं काहे ते चढ़ायौ नाहिं।
गाढी करि गह्यौ व्रत प्रभु को न मान्यौ कृत, प्रभु ने रिझायौ और प्रभु तैं रिझायौ नाहिं।।
खान परिधान सब रचे तेरे भावते पै, ऐसो मन भावतो हू तेरे मन भायौ नाहिं।
लक्ष जग जीवनि के नेह विन देह धरी, जायौ जग माहिं ऐसे मेरे जानि जायौं नाहिं।।

जोधपुर नरेश श्रीजसवन्तसिंहजी के राज्यमें अन्नादि बहुत सस्ते थे। राज्यमें समृद्धि थी–एक किसानने गधा लादा और गधी, लादी, इसके बाद पोटरी अपने सिर पर रक्खी और बाजारमें ले जाकर अनाज बेचा, परन्तु एक रुपया उसे नहीं मिला। तब उसने कहा–'गदहा लादि गदहिया लादी, सिर पर धरी पुटरिया। जसवन्ता तेरे राज में तऊ न बँध्यौ रुपैया।।' राजाने जब यह सुना तो भाव बढ़ाकर किसानों को सुखी किया। यह प्रसिद्ध है।

नृपति जैसिंहजू सों बोल्यौ कहा नेह मेरे? तेरी जो बहिन ताकी गन्ध को न पाऊँ मैं।
नाम दीपकुंवरि सो बड़ी भक्तिमान जानि, वह रसखानि ऐपै कछुक लड़ाऊँ मैं।।
सुनि सुख भयौ भारी हुती रिस वासों टारी, लिये गाँव काढ़ि फेरि दिये हरि ध्याऊँ मैं।
लिखिके पठाई बाई करैं सो करन दीजै, लीजै साधु सेवा करि निसदिन गाऊँ मैं।।६२२

भावार्थ–राजा जगतसिंहजीने जयसिंहजी से कहा–'मुझमें भगवत्प्रेम कहाँ है? सच्चा प्रेम तो आपकी बहिन दीपकुंवरिजी में है, उसके प्रेमकी गन्धको भी मैं नहीं पा सकता हूँ, वे तो वात्सल्य प्रेमरसकी खान हैं। मैं तो थोड़ी-बहुत भगवानकी सेवा कर पाता हूँ। प्रेम तो मेरे लिए दुर्लभ ही है।' यह सुनकर जयसिंहजीको बड़ा सुख हुआ। कुछ समय से किसी कारणवश

ये अपनी बहिन श्रीदीपकुंवरिसे नाराज रहते थे। अब श्रीजगतसिंहजीसे उनके प्रेमका परिचय पाकर जयसिंहजीने उस नाराजगीको अपने हृदय से निकाल दिया। बहिनके जो गाँव छीन लिए थे, वे फिर से दे दिये और मन्त्रीको लिखित आदेश दिया कि—'बहिनजी जैसे-जैसे सन्त-भगवन्तकी सेवा करना चाहें, वैसे-वैसे उन्हें करने देना। इनकी कृपासे अब मैं भी दिन-रात भक्त-भगवत्गुणोंका गान करता हूँ।।६२२।।

विशेष—भक्तचरितांक (कल्याण वर्ष २६) पृष्ठ ५७७ पर राव श्रीजगतसिंहजीका परिचय इस प्रकार दिया गया है—जोधपुर तहसील जैतारणमें बलूदा नामक एक ग्राम है। उसमें प्रसिद्ध राठौर राव दूदाजीके पौत्र जयमलजी थे। महाराणाप्रतापने चित्तौड़का किला उन्हींके सुपुर्द कर दिया था। इन राव जयमलजी के भाई राव चाँदाजीने बलूंदा ग्राम बसाया था और इसीको अपनी स्वतन्त्र रियासत बनाया था। इनके पुत्र राव रामदासजी हुए और इन्हीं राव रामदासजीके पुत्र थे—भक्त राव श्रीजगतसिंहजी। राव जगतसिंहजी जोधपुर के प्रथम राजा महाराजा जसवन्तसिंहजी को अपना पूर्वज मानते थे। जगतसिंहजी परम वैष्णव भक्त थे। ये राजसी ठाट छोड़कर सदा साधुवृत्तिसे रहा करते थे। सदैव भगवान श्रीश्यामजी (बलूंदामें गढ़के अन्दर श्रीमन्दिर के ठाकुरजी) की सेवामें रहते। स्वयं अपने सिर पर उठाकर तालाब या बावली से सेवाके लिए जलका कलश लाते। मेवाड़में श्रीरूपचतुर्भुज भगवानका मन्दिर इन्होंने ही बनवाया था और उसकी सेवा-पूजा के लिए 'टीबड़ी' नामक एक गाँव अपने पट्टेमें से अर्पण किया था, जो अब तक है। इन्हीं श्रीचतुर्भुजजीके पुजारी श्रीदेवाजी थे, जिनके लिए भगवद्विग्रहके बाल सफेद हो गये थे।

राव श्रीजगतसिंहजीका नित्य भगवच्चरणामृत लेनेका नियम था। एकदिन की बात है—जनानी ड्यौढ़ीसे एक मेहतरानी हाँड़ीमें राबड़ी लिए आ रही थी। इन्होंने मेहतरानीको पहचाना नहीं, पूछा—तुम्हारी हाँड़ीमें क्या है? उस दिन कुछ पाहुने आये हुए थे, उनमेंसे एकने हँसीमें कह दिया—'इसकी हाँड़ीमें चरणामृत है।' इस पर रावजी चरणामृत लेने के लिए बड़े आदर के साथ मेहतरानी से आग्रह करने लगे। उसने हाथ जोड़कर कहा—'मैं भंगिन हूँ, हाँड़ीमें राबड़ी (महेरी) है, चरणामृत नहीं है।' पर ये यही कहते रहे कि बाई! इसमें चरणामृत है तू मुझे पिलाती क्यों नहीं। आखिर रावजीने हाँड़ीका मुख खुलवाया। देखा, तो भगवानका चरणामृत भरा है। उस पर हरा तुलसीदल तैर रहा है। तब तो उन पाहुनोंकी बड़ी लज्जा हुई। उन्होंने अपना अपराध माना और वे क्षमा-प्रार्थना करने लगे। उन्होंने चरणामृत

पान किया। राव जगतसिंहजी भक्तिमती मीराबाईके भतीजे लगते थे और उन्हींके उपदेशसे इनमें दृढ़-भक्तिके संस्कार पड़े थे।

एकबार राव जगतसिंहजी जोधपुरस्थ अपने महलमें विराजते थे, लगातार सात दिनों तक वर्षा होती रही। सूर्य भगवान के दर्शन दुर्लभ हो गये। जोधपुरमें ऐसे बहुत से नर-नारी थे, जो सूर्यके दर्शन होने पर ही भोजन करते थे। घनघोर घटाओंमें जब सूर्य भगवानके शीघ्र उदय होने की आशा नहीं रही, तब नगरके लोगोंने महाराजा जोधपुर से प्रार्थना की कि आप भी हमारे सूर्य हैं। आप हाथी पर सवार होकर दर्शन दे दें, ताकि सब लोग भोजन कर सकें। जोधपुर नरेश स्वयं व्रतके पक्के थे। उन्होंने कहा कि—'और लोग तो मेरे दर्शन करके भोजन कर लेंगे, परन्तु मैं किसके दर्शन करके भोजन करूँगा ?' अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि मैं भक्तराज राव जगतसिंहजीके दर्शन करके भोजन करूँगा। जोधपुर नरेश हाथी पर सवार होकर नगर में निकले। उधर जब राव जगतसिंहजीको पता लगा तो उन्हें संकोच हुआ। वे उस समय भगवान श्रीश्यामजीकी सेवामें थे। उन्होंने दैन्यभावसे प्रार्थना की, उसका परिणाम यह हुआ कि महाराज जोधपुरकी सवारी बाजार तक आते-आते बादलोंको चीरकर भगवान भास्कर प्रकट हो गये। सभीने सूर्य-दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। जोधपुर नरेश भी दर्शन करके वापस लौट गये। श्रीजगतसिंहजी की प्रार्थनाका यह फल देखकर सब लोग चकित रह गये। इन्होंने अपने यहाँ पशु वध सर्वथा बन्द करा दिया था, जो अब तक बन्द है। भगवान श्रीश्यामजीके सामने कीर्तन करते हुए ही इन्होंने शरीर छोड़कर परमधाम को गमन किया।

श्रीमान् पं० श्रीगङ्गादत्तजी जयपुर से ज्ञात हुआ कि एक जगतसिंह काँगड़ा हिमाचल प्रदेश के शासके थे। इनके पिताका नाम बासू था। ये दोनों पिता-पुत्र बादशाही मनसबदार थे। ये जगतसिंह शाहजहाँ के समय में थे। इनकी मृत्यु सं० १७०३ में पेशावर में हु (शाहजहाँ हिन्दू मनसबदार नामक पुस्तकसे) दूसरे जगसिंहका परिचय इस प्रक है—दिल्ली सम्राट् दिलीपजी हुए, फिर उनसे राजधानी छूटी, उनके वंशमें जैतपाल हुए जिन्होंने नूरपुर नामक नगर बसाया। इन्हींकी चौबीसवीं पीढ़ीमें बासो हुए, वे जहाँगीर के कहने से चित्तौड़ आये। महाराणा अमरसिंह से इन्होंने एक मूर्ति माँगी। राणाने गाँवकी जागीर सहित भगवानकी मूर्ति दी। जो आज भी नूरपुरके किलेमें 'ब्रजराज' स्वामीके नामसे प्रसिद्ध है और दर्शनीय है। बासोके पुत्र जगतसिंहजी हुए। ये भी बड़े प्रतापी थे। ये सं०

१६६८ में बागी हो गये थे। तब राणा अमरसिंहने समझाया। उनके पास गये। इनकी छठी पीढ़ीमें राणा वरसिंहजी हुए। उन्होंने रणजीतसिंहजीसे नूरपुर छीन लिया। उनके वंशधर नूरपुर से आधा मील दूर पर अब भी रहते हैं। जगतसिंहजी अन्तमें हिमालय में जाकर गल गये। (जोधपुर इतिहास पृष्ठ ९९१ से)

* श्रीगिरिधरग्वालजी *

गिरिधरन ग्वाल गोपाल कौ सखा साँचलौ संग कौ॥
प्रेमी भक्त प्रसिद्ध गान अति गद्‌गद बानी।
अन्तर प्रभु सों प्रीति प्रगट रहै नाहिन छानी॥
नृत्य करत आमोद विपिन तन वसन बिसारै।
हाटक पट हित दान रीझि ततकाल उतारै।
मालपुरै मंगल करन रास रच्यौ रसरङ्ग कौ।
गिरिधरन ग्वाल गोपाल कौ सखा साँचलौ संग कौ॥१९४॥

शब्दार्थ—साँचलो=सच्चे, पक्के। अन्तर=भीतर हृदय। छानी=छिपी। आमोद=प्रसन्नता, दिव्य गन्ध। हाटक=सोना। हित दान=प्रेम दान।

भावार्थ—श्रीगिरिधरग्वालजी गोपालकृष्णके सच्चे सखा और साथी थे। ये प्रसिद्ध प्रेमी भक्त थे। प्रेम के आवेशमें आकर गद्‌गद कण्ठसे जब ये भगवद्‌गुण गान करते तो उस समय आपके हृदयकी प्रीति छिपाये नहीं छिपती थी, प्रकट हो जाती थी। प्रेम-विवश आनन्दमें मग्न होकर जब ये श्रीवृन्दावनमें नृत्य करते तो उस समय इन्हें अपने शरीर की तथा वस्त्राभूषणोंकी सुध नहीं रहती। उस समय यदि कोई आपके सामने पड़ जाता तो आप रीझकर उसे सोनेके गहने और वस्त्र उतारकर दे देते। एकबार प्रेमी भक्तोंके मङ्गल, कल्याणके लिए आपने मालपुरा नामक ग्राममें रास करवाया। उसमें रसरूपी रंग की वर्षा हुई जिसमें सभी रँग गये॥१९४॥

व्याख्या—गिरिधरन ग्वाल गोपाल—गिरिधरन यह श्रीगोपालकृष्णका विशेषण है और भक्तका नाम भी है। गिरिधरन श्रीकृष्णके गिरिधरनग्वालजी सखा थे। भाव यह कि जब प्रभुने गोवर्धन धारण किया तब इन्होंने भी अपनी लठिया लगाकर अपना सख्य प्रदर्शित किया था। गोपालके सखा थे अर्थात् द्वापरमें गो-चारण लीलामें साथ-साथ रहते थे। इसीलिए इनको

'साँचलो सखा' सच्चा और पक्का सखा कहा गया। केवल कलियुग में इस शरीरसे नहीं पहलेके, सदा-सर्वदाके सखा थे। गानमें वाणी अति गद्‌गद हो जाती थी अर्थात् वाणी निकलती ही नहीं थी फिर जब निकलती थी तब अति उच्च स्वरसे विलक्षण गान करते। ऐसे भक्त भुवनको पावन करने वाले होते हैं। (भा० ११-१४-२४। पू० ६९) भक्त अपने प्रेमको छिपाना चाहता है पर वह पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ प्रेम छिपाये नहीं छिपता है अतः कहते हैं कि 'रहै नाहि न छानी।' 'कबहु छिपाये नहिं छिपैं इश्क मुश्क अरु पान।' प्रेम, कस्तूरी और मद्यपान ये छिपानेसे नहीं छिपते हैं। 'नृत्य करत'०—आ=समन्तात्, मोद=आनन्द है जहाँ, वहाँ आप नृत्य करते थे। निरन्तर जहाँ क्लेश है, वहाँ विमुख नाचता है—'नाचत ही निसि दिवस मर्‌यौ।' (वि० ९१) निरन्तर आनन्द भगवद्धाम श्रीवृन्दावनमें है, शरीरसे बाहर रहने पर भी प्रेमी भक्त श्रीधाममें ही रहता है। गिरिधरजी जाति से ब्राह्मण थे। गोपालके भक्त थे, गो-धन ही इनका मुख्य धन था। गो-धनकी समृद्धि से इनके घरमें ऋषि-सिद्धि और सम्पत्ति अटूट थी। गो-चारणमें स्वाभाविक स्नेह था अतः ग्वाल इनकी उपाधि थी। गो-चारणके लिए वनमें जाते, वहाँ कीर्तनमें श्रीगोपालकृष्णका सान्निध्य प्राप्त करके नृत्य करते। प्रेम विवश 'तन वसन विसारै'—

कबहु कै हँसि उठै नृत्य करि रोवन लागैं। कबहुँक गद्‌गद कण्ठ शब्द निकसै नहिं आगैं।।
कबहुँक हृदय उमँगि बहुत ऊँचे स्वर गावैं। कबहुँक कै मुख मौन मगन ऐसे रहि जावैं।।
चित्तवृत्ति हरि सों लगी सावधान कैसे रहैं। यह प्रेम लच्छना भक्ति है शिष्य सुनहि सुंदर कहैं।।

हाटक पट हित दान०—स्वर्णसूत्रसे शीलित (जरीके) वस्त्र दानके लिए शरीर से उतारने में देर नहीं लगती थी। उसका हेतु यह कि रीझ जाते थे। ऐसे ही एकबार रीझकर आपने अपने वस्त्र दान कर दिये, जिनका मूल्य उस समय तीन सौ रुपये था। कभी-कभी वनमें नाचते-गाते हुए आप अपने वस्त्राभूषण वृक्षों-लताओं पर डाल आते। प्रेमावेशमें आपको ऐसा लगता कि ये सब प्रभुके सखा-सखी हैं। 'मालपुर ग्राम (राजस्थान जयपुर) में आपका निवास था। वहाँ रासलीलाके आयोजन होते रहते थे। एकबार बड़ा दिव्य-भव्य आयोजन हुआ। बहुतसे साधु-स और प्रेमी सद्‌गृहस्थोंने दर्शन किया। उसमें आप ऐसे रीझे कि तत्कालीन तीन लाख रुपये की सम्पत्ति लुटा दी, मुहरोंसे भरी थैलियोंको फेंका। इस प्रकार ये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर कृत-कृत्य हुए। इनके इस चरित्र का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव हुआ कि उस क्षेत्रमें श्रीकृष्ण-भक्ति व्याप्त हो गई। इस प्रकार हाटक पट और प्रेम दान करके आपने मालपुर में मङ्गल किया। आप श्रीगोपालीबाई के सुपुत्र थे।

विशेष—प्रेमीभक्त होनेके साथ-साथ आप नामी मल्ल भी थे। कृष्ण-बलरामसे कुश्ती लड़ने वाले थे अतः इस जन्ममें भी आप में वह संस्कार और कौशल बना हुआ था। एकबार दिल्लीके बादशाहने आपको बुलाकर कहा—मैंने सुना है कि आप मल्ल-विद्यामें बड़े प्रवीण हो अतः मेरे दिग्विजयी मल्लोंके साथ कुश्ती लड़कर अपनी कला दिखलाओ। आपने अस्वीकार किया। जैसे-जैसे आपने लड़नेसे इन्कार किया, वैसे-वैसे बादशाह एवं अन्य लोगोंका आग्रह बढ़ा। अन्तमें आपने कहा कि—आपका दरबारी पहलवान जो सबसे बड़ा हो, वह पहले मेरी गर्दन पर रगड़ा मारे। उसके बाद मैं उसकी गर्दन पर रगड़ा मारूँ। इसीमें बल और कलाका पता पड़ जायगा। दरबारी पहलवानने स्वीकार करके गर्दन पर रगड़ा मारा, तो आपकी नासिकासे रक्तकी कुछ बूँदें निकल आईं। इसके बाद गिरिधरजी ने उसकी गर्दन पर रगड़ा मारा, तो एक ही रगड़ेंमें उसके प्राण पखेरू उड़ गये। लोगोंको शल-तोशल के बध की याद आ गई। सन्तुष्ट होकर सभीने आपकी जय-जयकार की। बादशाहने आपका बड़ा सम्मान किया और अपने दरबारमें रहनेकी प्रार्थना की, जिसे किसी भी मूल्य पर आपने स्वीकार नहीं किया।

गिरिधर ग्वाल साधु सेवा ही कौ ख्याल जाके, देखि यो निहाल होत प्रीति साँची पाई है।
सन्त तन छूटे हूँ ते लेत चरणामृत जो, और अब रीति कहौ कापै जात गाई है।।
भये द्विज पञ्च इकठौरे सो प्रपञ्च मान्यौ, आन्यौ सभा माँझ कहैं छोड़ौ न सुहाई है।
जाके हो अभाव मत लेवौ मैं प्रभाव जानौं, मृतक यों बुद्धि ताकौ बारो सुनि भाई है।।६२३

शब्दार्थ—ख्याल=खयाल, सुधि, स्मरण। निहाल=पूर्णकाम, कृतार्थ, पंच=पाँच या अधिक लोगोंका समुदाय जो झगड़ोंको निबटावे। प्रपंच=आडम्बर, ढोंग। बारो=मना करो।

भावार्थ—श्रीगिरिधर ग्वालजीको सर्वदा साधु-सेवा ही का स्मरण रहता था। सन्तोंका दर्शन करके आप कृतार्थ हो जाते थे, अपने को धन्य मानते थे। साधु-सन्तोंमें आपको सच्चा प्रेम प्राप्त हो गया था। सन्त-तत्वको आपने भलीभाँति समझ लिया था अतः शरीर छूट जानेके बाद भी उस सन्तका चरणामृत लेते थे। इससे अधिक और सन्तों में प्रीति करनेकी रीति और क्या हो सकती है। ऐसी निष्ठाका महत्व कौन कवि वर्णन कर सकता है। जो ब्राह्मण लोग इनकी दृढ़-निष्ठासे अपरिचित थे, उन्होंने मृतकका चरणामृत लेना अनुचित मानकर पंचोंको एकत्र किया और उसमें श्रीग्वालभक्तजीको भी बुलाया। सभी लोगोंने इनसे कहा कि—'मृतक का चरणोदक लेना ठीक नहीं है, आप इसे छोड़ दीजिये।' आपने उत्तर दिया कि—'जिसे सन्तोंमें

अश्रद्धा हो, जो उनके महत्वको न जानता हो, वह उन्हें मृतक मानकर उनका चरणामृत न ले। मैं सन्तोंमें श्रद्धा करता हूँ, उनके अद्भुत प्रभावको भलीभाँति जानता हूँ। शरीर त्यागकर भगवत् धाम जाने वाले सन्तोंको मृतक नहीं मानता हूँ। अतः उनका चरणामृत लेता हूँ, जिसे मृतक-बुद्धि हो, आप लोग उसे मना कीजिये।' यह सुनकर सभीने इनका जाति-पाँतिसे बहिष्कार कर दिया, फिर चमत्कारको देखकर सभी नत-मस्तक हुए। सबको इनकी दृढ़-निष्ठा अच्छी लगी। सभी लोग इनकी प्रशंसा करने लगे।।६२३।।

व्याख्या-साधु सेवा ही कौ ख्याल—जिस भी कार्य को करते उसका मुख्य लक्ष्य साधु-सेवा होता। साधु-सेवाके निमित्त ही आपने गो-धनका संग्रह कर रक्खा था। 'देखिकै निहाल'—'सन्त निरखि उर फुल्लित हरषै। यथा जलधि राका ससि निरषै।।' (भ० दा०) रंकको जैसे पारस, ऐसे ही इन्हें साधुका दर्शन था। साधु-सेवा श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका मुख्य साधन है, साधुसे विमुख रहने वाले कृष्ण के कोपभाजन हैं। 'साधुन की सेवा किये हरि पावत सन्तोष। साधु विमुख जे हरि भजैं व्यास बढ़ै दिन रोष।।' (व्यास०) 'आवैं जब सन्त सुख होत है अनन्त तन ढक्यौ के उघारौ कहा चरचा चलाई है।' (श्रीचीधरजी क० २९२) जो सुख होत भक्त घर आये। (पूरा पद द्वि० खं० पृ० ६१२)

सन्त तन छूटे-साधु सदा अमर हैं अतः 'तन छूटे' कहा, मर गये ऐसा कहीं नहीं कहा। ब्रह्मवैवर्तमें नारायणने नारदसे कहा है कि हे ब्रह्मन्! महाप्रलयमें ब्रह्माण्डके डूब जाने पर भी मेरे भक्त का नाश नहीं होता है। पुनः इस लोकमें जिनकी अपकीर्ति है, वे मृतक हैं— (भर्तृहरिशतके)

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनै,
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।।

यदि लोभ है तो दूसरे अवगुणों से क्या, यदि चुगली है तो पापोंसे क्या। यदि सत्य है तो तप की क्या आवश्यकता, यदि मन पवित्र है तो तीर्थाटन से क्या लाभ, यदि उत्तम विद्या है तो धनसे क्या और यदि अपयश है तो मृत्युसे क्या अर्थात् अपयश ही मृत्यु है। ताके गृह इन जन तन तजिया। इन ताकौ अति उच्छव करिया।। एकबार किसी सन्तका शरीर आपके घर पर ही छूट गया। संस्कार से पूर्व गिरिधरजीने उनका चरणोदक लेकर अपना नियम पूरा किया। सन्तजन

मरते नहीं, शरीर को त्यागकर भगवद्धामको जाते हैं। (अतः 'सन्त तन छूटे' कहा) इस वाक्यको प्रमाणित करने के लिए श्रीमद्भागवतके दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ। मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान्।।
भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन। भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनाऽऽसनमास्थितः।।

श्रीशुकदेवजी (भा० १०-५०-१) में कहते हैं कि राजन्! कंसकी दो रानियां थीं—अस्ति और प्राप्ति। अपने पति कंसके मर जाने पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे अपने पिताके घर चली गईं। (भा० १०-४९-१७) में श्रीअक्रूरजी धृतराष्ट्रसे कहते हैं—हे महाराज धृतराष्ट्र! आप कुरुवंशियोंकी कीर्तिको बढ़ाने वाले हैं, अपने भाई पाण्डुके (उपरत) होने परलोक गमनके बाद आप राजसिंहासनके अधिकारी हुए हैं।। यहाँ कंसके प्रसङ्गमें 'मृते' और पाण्डुके लिए 'उपरते' शब्दका प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अभक्त विमुख लोग 'मरते' हैं और भक्तजन 'उपरत' अर्थात् निवृत्त होते हैं, माया से छूटकर भगवद्धामको जाते हैं। अतः श्रीगिरिधरजीने कहा—'मृतक यों बुद्धि ताकौ बारौ।' यदि भक्तको मरने का सन्देह होता है तो उसे भगवान दूरकर देते हैं। जैसे प्रलय पवन द्वारा नौकाके कम्पित होने पर राजा सत्यव्रतको मरणका सन्देह उपस्थित हुआ तो भगवानने आकर असामयिक प्रलयका दृश्यमात्र दिखाकर रक्षा की। उपदेश देकर सन्देह निवृत्त किया। कदाचित् कोई यह कहे कि—नाथ सकल जग काल कलेवा।' काल सभी को ग्रसता है, उससे कोई नहीं बचता है। इसके समाधानार्थ—

दृष्टान्त-बिल्ली का—बिल्ली जब चूहेको पकड़ती है, तो चूहेका शरीर चूर-चूर हो जाता है, मर जाता है। उसी मुखसे उन्हीं दाँतोंसे बिल्ली अपने बच्चेको पकड़ती है, एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाती है, तो उस समय बिल्लीके बालकको नाममात्रका भी क्लेश नहीं होता है क्योंकि बालकके प्रति उसका वात्सल्य है। इसी तरह काल भगवान विमुखोंको ग्रस करके शुभ-अशुभ कर्मोंका फल देते हैं और भक्त पर कृपा करके उसकी रक्षा करते हैं। भक्तका शरीर त्याग क्रीड़ामात्र है। जैसे भानुमती के तमाशेमें नट सूत्र द्वारा आकाशमें चढ़ता है, कटकर गिरता है, भानुमतीके सती हो जाने पर नट आता है, उसके बुलाने पर महलसे भानुमती आ जाती है। (द्वि० खं० ४२७ पर देखिये) इसी प्रकार भक्तका जन्म लेना और शरीर छोड़ना भी एक क्रीड़ामात्र है, मरण नहीं है। अतः चरणोदक लेना उचित है। यह बात ब्राह्मणोंकी समझमें नहीं आई, तो भगवानने लीला रची, एकबार ब्रह्मभोज हुआ। उसमें गिरिधरग्वालका बहिष्कार किया गया, निमन्त्रण नहीं दिया गया। तब—'द्विज भोजन में कीट दिखाना। भक्त हेतु हरि लीला ठाना।।'

भोजनमें कीड़े दीखे, तब एकने कहा—'गिरिधर ग्वालहिं क्यों तुम टारा। वह प्रेमीजन हरि को प्यारा।।' शीघ्र चलकर उनके चरण पकड़ो। ऐसा ही हुआ, आपके आते ही सबकी दृष्टि शुद्ध हो गई। अब भोजनमें कीट नहीं दीखे। सभीने सानन्द भोजन किया। भक्त भक्ति दृढ़ हो गई। सभी भक्त भगवानके सेवक बन गये। विविध पक्वान्न, मालपुवा आदि अति मात्रामें भक्त-भगवन्तको समर्पित हुए तथा ये मल्ल थे। इन्हीं कारणोंसे इनके गाँवका नाम मालपुरा पड़ गया।

* श्रीगोपालीजी *

गोपाली जनपोषकों जगत जसोदा अवतरी।।
प्रगट अङ्ग में प्रेम नेम सों मोहन सेवा।
कलियुग कलुष न लग्यौ दास तें कबहुँ न छेवा।।
बानी सीतल सुखद सहज गोविन्द धुनि लागी।
लक्षन कला गँभीर धीर सन्तनि अनुरागी।।
अन्तर सुद्ध सदा रहै रसिक भक्ति निज उर धरी।
गोपाली जनपोषकों जगत जसोदा अवतरी।।१९५।।

शब्दार्थ—छेवा=घाव, भेद, अलगाव। लक्षन=चिन्ह, तरीका, चाल-ढाल। कला=कारीगर, हिस्सा, गुण, शोभा, युक्ति।

भावार्थ—भक्तोंका पालन-पोषण करनेके लिए श्रीगोपाली बाईके रूपमें मानो श्रीयशोदाजीने ही अवतार लिया था। इनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें प्रेम प्रकट था। नित्य-नियम से अपने मोहनलालकी सेवा करती थीं। कलियुग के दोष-पापोंने आपके तन-मनको छू तक नहीं पाया था और भक्तोंसे किसी प्रकार का छल-कपट आपने नहीं रक्खा। आपकी वाणी सहज ही शीतल एवं सुख देने वाली थी। श्रीगोविन्द भगवानके नामको सदा रटती रहती थीं। भक्ता एवं पतिव्रता स्त्रियोंके सभी शुभ-लक्षण एवं कलायें आपमें विद्यमान थीं। स्वभावसे धीर-गम्भीर एवं सन्तोंमें श्रद्धा-भक्ति रखने वाली श्रीगोपाली बाईका अन्तःकरण सदा परम पवित्र रहता था। इन्होंने वात्सल्य रसमयी भक्ति अपने हृदयमें धारण की।।१९५।।

व्याख्या-जगत जसोदा अवतरी—माता श्रीयशोदाजी वात्सल्यरसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं। सभीको यश प्रदान करने वाली हैं अतः इन्हें श्रीकृष्णने अपनी माता माना। जो दूसरोंको अपयश देते हैं, ऐसे निन्दक श्रीकृष्णसे विमुख रहते हैं। एकदिनकी बात है यशोदाजी घरके आवश्यक कार्योंमें व्यस्त थीं। बाल गोविन्द मचलकर बोले—मुझे गोदमें ले लो। मैयाने कुछ ध्यान नहीं दिया तब खीझकर आप आँगन में रोने और लोटने लगे। नादरजी उसी समय आ पहुँचे और इस दृश्यको देखकर बोले—तेरा सौभाग्य महान् है, तेरी गोदमें चढ़नेके लिए ब्रह्म पृथ्वी पर लोट रहा है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृ० ६१९) लीलाशुक (२-२७) में कहते हैं—

यद् रोमरन्ध्रपरिपूर्तिविधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तन्नाम नाथमरविन्ददृशं यशोदा पाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयाम्बभूव।।

यशोदया समा कापि देवता नास्ति भूतले। उलूखले यया बद्धो मुक्तिदो मुक्तिमिच्छति।।

बाराह अवतारमें सारे समुद्र जिनके रोम-कूपको भी भरनेमें समर्थ न हो सके उन्हीं कमल-नयन श्रीकृष्णको मैया यशोदाने अञ्जलि-भर पानीसे नहला दिया। संसार में यशोदाके समान कोई भी देवता नहीं है, जिसके द्वारा ऊखलमें बाँधे जाने पर मुमुक्षुओं को मोक्ष देने वाले भगवान श्रीकृष्ण भी मोक्ष (छूटने) की इच्छा करते हैं।

माता श्रीयशोदाजीने पुत्ररूपमें श्रीकृष्ण को प्राप्तकर उनमें प्रेम किया, लाड़ लड़ाया। परन्तु श्रीकृष्णके भक्तोंकी भक्ति करने की, लाड़ लड़ानेकी अभिलाषा शेष रह गई। पुत्ररूपमें परमात्मा को प्राप्त करने के बाद भक्तपुत्र प्राप्त करने की इच्छा हुई अतः श्रीयशोदाजी ने अवतार लिया। भक्तोंकी भक्तिसे, सेवासे श्रीकृष्ण अति प्रसन्न होते हैं अतः श्रीगोपाली बाई के रूपमें प्रकट होकर श्रीयशोदाने भक्तोंका पोषण किया। भक्तिके जो चौंसठ अङ्ग जिनका प्रथमखण्ड पृष्ठ १९ में उल्लेख हुआ है, उन सभी अङ्गोंके द्वारा गोपाली बाई (यशोदा) ने भक्तोंकी आराधना की। गिरिधरग्वालजी श्रीकृष्ण के प्रियसखा (भक्त) थे, उनको पुत्ररूपमें प्राप्तकर लाड़ लड़ाया। अपनी भक्तिसे प्रभु उतने प्रसन्न नहीं होते जितना कि भक्त की भक्ति से। इस रहस्यको जानकर ही श्रीयशोदाजी गोपालीके रूपमें प्रकट हुई। बल्लभकुलकी शिष्या थीं।

प्रगट अङ्ग में प्रेम—अश्रु, कम्प, पुलक आदि प्रेमके अष्टसात्विक विकार श्रीगोपाली बाईके अङ्गोंमें प्रकट दिखाई पड़ते थे। दूसरा भाव कि अङ्ग अर्थात् प्रिय जो भक्त भगवान उनमें प्रकट प्रेम था। 'नेम सों.....सेवा'—कृष्ण-सेवा का पूर्वजन्मका अभ्यास था अतः वात्सल्य भावसे

मोहन की सेवा करती थीं। सेवामें नेम और प्रेम दोनों थे। प्रेममें प्रेमके नियम रहते हैं, उससे भिन्न नियम छूट जाते हैं। अपने उपास्यके अतिरिक्त शेष संसार जब शून्यवत् होता है तब प्रेमधर्म हृदयमें प्रविष्ट होकर दूसरे नियमों को छुड़ा देता है। यथा—'एक नेम या प्रेम कौ, सबै नेम छुटि जाय। जो कहुँ छोड़े जानिके सो नहिं प्रेम कहाय।।'

कलियुग कलुष न०—कलिके दोष स्पर्श न कर सके, क्योंकि हरिदासोंसे कपट नहीं रखती थीं। भक्तोंसे छल करना, भक्तको तुच्छ समझना आदि दोष नहीं लगे। कलिके दोषोंका वर्णन करते हुए श्रीव्यासजी कहते हैं—'अब साँचे ही कलियुग आयौ। पूत न कह्यो पिताको मानत करत आपनो भायो।। बेटी बेंचत शंक न मानत दिन दिन मोल बढ़ायौ। यहि ते बरसा मन्द होत है पुन्य ते पाप सवायौ। मथुरा खुदति कटति वृन्दावन मुनिजन शोच उपायौ। इतनो दुख सहिबे के काजे काहे 'व्यास' जिवायौ।।' हरि विमुख कलि के दोषों से लिप्त हो जाते हैं। भक्त जलमें कमलदलवत् निर्लिप्त रहते हैं। 'वानी सीतल सुखद' मधुर होनेके साथ हरि चर्चासे युक्त थी अतः सुखद थी। द्वेष, पाप और निन्दा से युक्त वाणी दुःखद है, गर्म है और कटु है। 'गोविन्द धुनि'—शरीरसे सेवा कार्यों को करते हुए भगवन्नामोंको रटती थीं। हृदयमें निरन्तर भक्त और भगवान रहते थे अतः शुद्ध रहता था। हरि प्रेमपूर्ण हृदयमें दोषके लिए नाममात्रका स्थान नहीं रहता है। 'रसिक भक्ति'—रसिक=श्रीकृष्ण और रसोपासक सन्तोंके प्रति रसिक=वात्सल्य रसमयी भक्ति हृदयमें धारण की।

गम्भीर धीर—महापुरुष महान् विभूति पाकर भी उद्धृत नहीं होते हैं, किन्तु छोटे लोग थोड़ेसे धन-मानसे ही मर्यादासे बाहर हो जाते हैं।। यथा—अगाध जल सञ्चारी विकारी नैव रोहितः। गण्डूषजलमात्रेण शफरी फर्फरायते।। अगाध जलमें रहने वाला रोहित नामक महामत्स्य कभी क्षुभित नहीं होता है, किन्तु चुल्लू-भर पानीमें रहने वाली मछली प्रत्येक समय फुदकती रहती है।। श्रीगोपालीबाईजी को गिरिधरग्वाल सरीखा प्रतापी-भक्तपुत्र, सम्पत्तिसे परिपूर्ण घर और लोकमें सम्मान, प्राप्त था पर वे परम गम्भीर थीं। 'धीर'—अर्थात् धृति-धैर्य यह सन्तोंका महाव्रत है, धर्मका प्रथम लक्षण है। गीताजीमें धृतिका लक्षण इस प्रकार बताया है। धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। (१८-३३) ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओंको धारण करता है, वह धारणा-धृति सात्त्विकी है। धीर न्यायमार्गसे विचलित नहीं होता है। वह सभी परिस्थितियों में समान चित्त रहता है। धैर्यशाली व्यक्तिको

हिमालयकी उपमा दी गई है—धैर्येण हिमवानिव (मूल रा०) धैर्य बिना सर्वत्र असफलता ही हाथ लगती है। साधनात्मक जीवनमें धैर्यकी बड़ी आवश्यकता है। श्रीकबीरजी कहते हैं—धीरे धीरे रे मना धीरे सब कछु होय। माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आये फल होय।।

विशेष—भक्तदाम गुण चित्रणी में लिखा है कि—'श्रीमुख बानी मोते अधिकी है सन्त सेवा सोई सुख लेवा गोपा लोक ते उतरी है। तैसोइ आवेस अंग रंग सू मोहन रूप सेवै हियौ लेवै लाहौ प्रेम भरी है।।' 'श्रीमुख पूजा सन्त की आपुन तें अधिकी कही।' इसी वाक्यको प्रमाण मानकर श्रीयशोदाजी गोलोक से पृथ्वी पर आईं। वही आवेश आपके अंगमें था। प्रेमसे मोहनलालकी सेवा करती थीं। एकबार इनकी भक्ति पर रीझकर प्रभु एक सन्तका वेश धारणकर इनके घर पर पधारे। उस समय गोपालीबाई श्रीठाकुरजी को भोग लगा रही थीं। सन्त भगवानका सत्कार करके प्रसादसे भरी थाली लाकर बाई ने सन्तके सामने रखकर प्रार्थना की—'प्रसाद पाइये।' सन्तने कहा—पहले भगवानको पवाओ। बाईने कहा—भगवान तो गन्धमात्र ग्रहण करते हैं, मैं उन्हें कैसे पवाऊँ ? सन्तने कहा—यदि आप अपने हाथसे उनके श्रीमुख में ग्रास दे दें तो वे अवश्य ही खायेंगे। बाई ने मन्दिर में थाल ले जाकर अपने हाथ से भगवानके मुखमें ग्रास दिया। बड़े प्रेमसे भगवानने खा लिया। इससे बाईको बड़ा-भारी सुख हुआ, वे प्रेममें विभोर हो गईं। जिस सन्तकी कृपासे यह अभूतपूर्व आनन्द मिला, उस सन्तको भोजन कराने की उत्कण्ठासे मन्दिरके बाहर आईं। तो सन्तके दर्शन न हुए। अब इन्हें बड़ी बेचैनी हुई। आप समझ गईं, कि वे सन्त-भगवान ही थे। फिर आप मन्दिरमें श्रीठाकुरजीको पवाने लगीं। इस बार प्रभु ने कुछ भी नहीं खाया। तब ये अधीर होकर रुदन करने लगीं। उसी समय आकाशवाणी हुई कि एकबार मैंने तुम्हारे प्रेमसे खा लिया। अब तुम आग्रह न करो। मैं रसका आस्वादन अपने भक्तोंकी रसनासे करता हूँ। तुम भक्तोंको उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराओ, उनकी सेवा करो।

इस आज्ञाके बाद बाई को भक्तोंकी इच्छाका अनुभव होने लगा। तदनुसार ये सेवा करने लगीं। एक दिन दस सन्त आये, उनके मनमें था आज सीरा मिले। बाईने जानकर सीरा बनाकर भोग लगाया और सन्तोंके सामने रख दिया। सन्तोंके मनमें आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन सन्तोंने आपमें बातचीत करके खीर भोग आरोगने की इच्छा की। तो बाईने खीर ही खवाई। तीसरे दिन सिखरन भात की इच्छा हुई, तो बाईने सिखरन भात ही पवाया। आश्चर्यचकित होकर सन्तोंने पूछा—तो आपने बताया कि—मुझे सन्त-भगवन्तका आशीर्वाद मिल गया है

अतः उसका ज्ञान हो गया है। फिर कभी दो सन्त पधारे, उन्होंने इच्छा की कि हमारे वस्त्र फट गये हैं। तो गापाली बाईके यहाँ पहुँचकर उनसे नये वस्त्र ले लेंगे। इस इच्छा से आये सन्तोंको भोजन कराकर बाईने वस्त्र अर्पण करके कहा कि जो इच्छा हो सो बनवा लो। सन्तोंने त्याग दिखाया और वस्त्र लेने से इन्कार कर दिया, तब बाईने कहा—'जब आप वस्त्रकी इच्छा करके आये हैं, तब फिर अब क्यों अस्वीकार करते हैं। सन्तोंने गोपालीके चरणोंकी वन्दनाकी और आशीर्वाद के साथ वस्त्र प्राप्त किये। इस प्रकार इनका सुयश सन्तोंमें फैल गया।'

✻ श्रीरामदासजी ✻

श्रीरामदास रस रीति सों भलीभाँति सेवत भगत॥
सीतल परम सुशील वचन कोमल मुख निकसै।
भक्त उदित रवि देखि हृदै बारिज जिमि विकसै॥
अति आनन्द मन उमँगि सन्त परिचर्य्या करई।
चरण धोय दण्डौत विविध भोजन विस्तरई॥
बछवन निवास विस्वास हरि जुगल चरण उर जगमगत।
श्रीरामदास रस रीति सों भलीभाँति सेवत भगत॥१९६॥

शब्दार्थ—रस रीति=प्रेमके नियम। जगमगत=चमकते, झलकते।

भावार्थ—श्रीरामदासजी बड़े मधुर भावसे भक्तोंकी सेवा करते थे। इनके मुखसे शीतल, कोमल और नम्रतापूर्ण वचन ही निकलते थे। सूर्योदय होते ही जैसे कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार भक्तको देखकर आपका हृदय खिल उठता था। मनमें अपार उत्साह रखकर बड़ी रुचि के साथ सन्तोंकी विविध प्रकारसे सेवा-शुश्रुषा करते थे। आते ही सन्तोंके श्रीचरणोंको धोकर चरणोदक लेते, उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् करते, तत्पश्चात् अनेक प्रकारके उत्तमसे उत्तम भोजन-प्रसाद पवाते। बच्छवनमें आपका निवास स्थान था, भगवानमें आपका अटल विश्वास था और उन्हींके युगल श्रीचरण-कमल आपके हृदय-भवनमें जगमगाते रहते थे॥१९६॥

व्याख्या—रसरीति सों—'द्वयोर्मनसि सन्तोषः पूर्णरूपेण सर्वदा। सौरस्यं तद्विजानीयात् वैरस्यं विपरीततः॥' (कस्यचित्कवेः) दोनों प्रेमियोंके मनमें पूर्णरूपसे सर्वदा यदि सन्तोष बना

रहे तो उसे रसमयी उत्तम प्रीति जानना चाहिए। इसके विपरीत यदि किसी भी कारणसे असन्तोष हो जाय तो उसे रसहीन नाममात्रकी प्रीति समझना चाहिए। श्रीरामदासजीके मनमें सन्तोंके प्रति सदा एकरस प्रेम रहा। सन्तोंके किसी भी व्यवहार से असन्तुष्ट नहीं होते थे और सन्तोंके साथ कभी ऐसा व्यवहार आपने नहीं किया जिससे वे असन्तुष्ट हो जायँ। सर्वतोभावेन सर्वस्वको समर्पित करके मन, वचन और शरीरसे सेवा करते थे अतः रसरीति सों और भलीभाँति ये दो विशेषण सेवाके दिये। मायासे मुक्ति पानेका एकमात्र साधन साधु-सेवा है और कुलटा स्त्रियोंका तथा स्त्री लम्पटोंका सङ्ग नरकका द्वार है। यथा—'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्॥' (भा० ५/५-२)

भक्त उदित रवि०—कमलसे सूर्य बहुत दूर हैं फिर भी उसे देखकर विकसित वियोगमें संकुचित हो जाता है। ऐसे ही श्रीरामदासजी दूरसे भी किसी सन्त की महिमा सुनते तो प्रसन्न हो जाते। कमल सूर्यको देखकर विकसित होता है पर सूर्य पर कमलका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता है। सूर्यके प्रेमकी अपेक्षा कमलको नहीं है, इसी प्रकार सन्तोंमें आप प्रेम करते थे, सेवा करते थे, उनसे सेवा प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि आपका निष्काम प्रेम था। केवल सन्त-कृपा चाहते थे।

अति आनन्द मन०—भलीभाँति सेवा कैसी होती है ? तो कहते हैं कि उत्साहित मनसे चरण प्रक्षालन, साष्टाङ्ग दण्डवत् और रुचिके अनुरूप, यथासंभव उत्तमोत्तम प्रसाद पवाना। परिचर्या=सब प्रकारसे सेवा करते। ब्राह्मण और गौ ये हरिके शरीर हैं और सन्तजन हरिके प्राण हैं। इस महत्वको मानकर सेवा करते।

बच्छवन—इसका प्राचीन नाम वत्सवन है। कवि जगतानन्दके ब्रजके चौबीस उपवनोंमें इसकी गणना की है और वाराहपुराणके अनुसार द्वादश तपोवनमें से वह एक वन है। यह सेई ग्रामके निकट है। बल्लभकुलीय गोस्वामियोंकी ब्रजयात्राका यह उन्नीसवाँ मुकाम है। इसके सम्बन्ध में पौराणिक उपाख्यान प्रसिद्ध है। यहीं पर श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ बछड़े चराया करते थे। कहते हैं कि जब ब्रह्माजी श्रीकृष्ण दर्शनार्थ ब्रजमें आये थे, तब उन्होंने यहीं पर गोप-बालकोंके साथ श्रीकृष्ण को खाते-पीते देखा था। उससे ब्रह्माजीको श्रीकृष्णके अवतार होनेमें शंका हुई थी। परीक्षाके लिए ब्रह्माजीने गोप-बालकों और बछड़ोंका हरण कर लिया था। तब श्रीकृष्णने उनके स्थान पर वैसे ही दूसरे बालक और बछड़े प्रकट कर दिये थे, जिससे लज्जित होकर ब्रह्माजीने श्रीकृष्णकी प्रार्थना की और क्षमा

माँगी थी। तभीसे इसकी विशेष प्रसिद्धि हो गई। यहाँ पर चार स्तम्भों वाला एक अद्‌भुत वृक्ष है, जिसे चतुर्मुख ब्रह्माका प्रतीक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ ब्रह्मकुण्ड और ओरछा नरेश वीरसिंह द्वारा निर्मित श्रीबिहारीजी का मन्दिर है। ब्रह्मकुण्ड पर छोकर वृक्षकी छायामें गोसाईंजीकी बैठक है।

जुगल चरण०—युगलके ध्यानकी महिमा एवं दौर्लभ्य—

युगल ध्यान सीखे सुनि समझे जो चित्त लाय। ताहि रीझि 'भगवतरसिक' लेत आप उर लाय।।
योगी ज्ञानी कर्मठी तपसिन ते अति दूर। नागर रसिक अनन्य नित रहत नैन भरपूर।।
नवधा भक्ति निमित्त लै जे सेवत अवतार। चाह मुक्ति वैकुण्ठ की तिनहिं नहीं अधिकार।

'श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।' श्रीराधा चरणोंकी महिमा देखिये तृ० खं० पृष्ठ-९५।। श्याम चरण—श्रीरामदासके हृदयमें बीस नखचन्द्र सदा जगमगाते रहते थे। स्वयं सूरश्याम कहते हैं—श्याम कमल पद नख की शोभा। जे नखचन्द्र इन्द्र सुर परसे शिव विरंचि मन लोभा। जे नखचन्द्र सनक मुनि ध्यावहिं नहिं पावत मर्माहीं। जे नखचन्द्र प्रगट ब्रज युवतिन निरखि निरखि हरषाहीं। जे नखचन्द्र फणीन्द्र हृदय ते एकौ निमिष न टारत। जे नखचन्द्र महामुनि नारद पलक कभू न विसारत।। जे नखचन्द्र भजत खल तारत रमा हृदय नित परसत। 'सूरश्याम' नखचन्द्र विमल छवि गोपी नैन मिलि दरसते।। श्रीरामदासजी युगल प्रिया—प्रियतमका पूजन-ध्यान करते थे। क्योंकि श्रीराधा-श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं, बिना उनके श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण लीला आदिका प्रकाश और प्रभाव अपूर्ण रहता है। श्रीराधा पूर्णिमा तिथिमें ही श्री कृष्णचन्द्रकी सम्पूर्ण कलायें प्रकाशित होती हैं। और तभी वे सौन्दर्य-माधुर्य की पराकाष्ठाको प्राप्त होते हैं। इसलिए कहा है—राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः। अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः।। अर्थ—जिस समय श्रीराधाके साथ विराजते हैं, उस समय श्रीकृष्ण मदनको भी मोहित करते हैं और बिना श्रीराधाके विश्वविमोहन श्रीकृष्ण स्वयं मदनसे मोहित हो जाते हैं।।

सुनि एक साधु आयौ भक्ति भाव देखिवे कों, बैठें रामदास पूछै रामदास कौन है ?।
उठे आप धोये पाँव आवै रामदास अब, रामदास कहाँ ? मेरे चाह और गौन है।।
चलौ जू प्रसाद लीजै दीजै रामदास आनि, यही रामदास पग धारौ निज भौन है।
लपटानौ पाँयन सों चयन समात नाहिं, भायनि सों भर्‌यौ हिये छाई जस जौन्ह है।।६२४।।

शब्दार्थ—गौन=गौण, साधारण, गमन। जौन्ह=चाँदनी, चन्द्रिका।

भावार्थ—किसी सन्तने श्रीरामदासजीके भक्ति-भाव की प्रशंसा सुनी, तो वे इनकी भक्ति निष्ठाको देखने के लिए श्रीरामदासजीके आश्रम पर आये। संयोगवश ये वहीं बैठे थे। वे सन्त इन्हींसे पूछने लगे कि—'श्रीरामदासजी कौन हैं ?' सन्तको आया देखकर श्रीरामदासजी शीघ्र से उठे और उन्होंने सन्तके चरण धोकर चरणामृत लिया। इसके बाद साष्टाङ्ग दण्डवत् करके बोले—'आप विराजो, रामदास अभी आता है।' आगन्तुक सन्तने कहा—'पहले हमें यह बतलाइये कि रामदासजी कहाँ हैं, उनसे मिलने की मुझे तीव्र लालसा है और यहाँ आने का हमारा यही मुख्य प्रयोजन है। उनसे मिलकर हमें शीघ्र ही चले जाना है।' श्रीरामदासजीने उत्तर दिया—'पहले आप चलकर प्रसाद लीजिये, फिर रामदास आ जायगा।' सन्तने कहा—नहीं, पहले रामदासजीको बुलाकर उनका दर्शन करा दीजिये। उसके बाद ही मैं प्रसाद पाऊँगा। इस प्रकार उनका आग्रह देखकर श्रीरामदासजीने कहा—'आप सन्तोंका सेवक रामदास यही है, यह आपका ही आश्रम है, कृपा करके आप अपने आश्रममें पधारिये और प्रसाद पाइये।' यह सुनते ही सन्त श्रीरामदासजीके चरणों में गिर पड़े। उनका हृदय आनन्दसे भर गया, वे फूले नहीं समा रहे थे। वे कहने लगे—'आपके सुयश की चाँदनी सर्वत्र फैली है, उससे सभी लोगोंको सुख-शान्ति मिल रही है। आपका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। मेरे हृदय में भी प्रकाश हो गया।।६२४।।

व्याख्या-एक साधु आयौ—वह भावुक साधु थे अतः दर्शनार्थ आये। साधु भावुक होते हैं, जो भावुक नहीं वे साधु नहीं। यथा—साधू भूखे भाव के भोजन भूखे नाहिं। भोजन भूखे साधु जे ते वे साधू नाहिं।। कई स्थानोंमें उन्होंने श्रीरामदासजीकी सन्त-सेवा निष्ठाकी अच्छे-अच्छे सन्तोंके मुखसे बड़ाई सुनी, अतः दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ी। दो०—सन्त मिलन को जाइये तजि माया अभिमान। ज्यौं ज्यौं पग आगे बढ़ै कोटिक यज्ञ समान।। सरदातपनिसि ससि अपहरई। सन्त दरस जिमि पातक टरइ।। 'रामदास कौन हैं ?' पुनः 'रामदास कहाँ' और 'मेरे चाह' इन वाक्योंसे दर्शनकी तीव्र लालसा विदित हुई। श्रीरामदासजीने कहा ठहरिये, भोजन-विश्राम कीजिये, फिर रामदास मिल जायेंगे। तब उस साधुने कहा—'और गौन है'—अर्थात् भोजन-विश्राम की इच्छा गौण है, प्रथम उनके दर्शन फिर दूसरे काम होंगे। इन्होंने अपनेको छिपाया। 'रहैं सदा अपनपौ दुराये।' पहले अपनेको प्रकट कर देते तो वे चरण नहीं धुलाते, ये चरणोदकसे वञ्चित रह जाते। सन्तने कहा—जब तक श्रीरामदासके दर्शन नहीं होंगे हम प्रसाद नहीं पावेंगे। तब आपने अपनेको प्रकट किया—'इसी शरीरको साधुजन रामदास कहते हैं।' प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।। परस्पर

मिलकर दोनोंने-पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।। 'छाई जस जौन्ह है'—शिक्षित, धनी, गुणी सनाढ्य ब्राह्मण होते हुए सन्तसेवी। ब्राह्मणताका अहङ्कार नहीं छूटता है। मरने के बाद भी दूसरी जातिको स्पर्श नहीं करने देते। ये साधुमें जाति भेद को न मानकर उनकी सेवा करते। वर्णाश्रम धर्म-कर्मसे ब्रह्मलोक तक और वैष्णव धर्मसे वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है अतः वैष्णव-सेवा करते थे।

बेटी को विवाह घर बड़ौ उतसाह भयौ, किये पकवान नाना कोठे माँझ धरे हैं।
करैं रखवारी सुत नाती दिये तारौ रहैं, और ही लगाई तारी खोल्यौ नहीं डरे हैं।।
आये गृह सन्त तिन्हें पोट बँधवाय दई, पायौ यों अनन्त सुख ऐसे भाव भरे हैं।
सेवा श्रीबिहारीलाल गाई पाक सुद्धताई, मेरे मन भाई सब साधु उर हरे हैं।।६२५

भावार्थ—श्रीरामदासजीकी कन्याका विवाह था। उस अवसर पर सबको बड़ा-भारी उत्साह हुआ। अनेक प्रकारके पक्वान्न बाराती और घरातियोंके लिए बनाकर कोठे में रख दिये गये। इनके पुत्र और नाती पक्वान्नोंकी रखवाली करने लगे। उन्होंने कोठीमें ताला बन्दकर दिया। क्योंकि इनके मनमें डर था कि कहीं बाबाजी सब सामान साधु-सन्तोंको बाँट न दें। अवसर पाकर श्रीरामदासजीने दूसरी ताली लगाकर कोठेका ताला खोल लिया। आप किसीसे डरते न थे। सन्तजन पधारे, आपने पोटरी बँधवा दी और कहा कि—स्थानमें ले जाकर आप लोग भोग लगाइये और पाइये। सन्त-भगवन्तको पक्वान्नों की पोटरियाँ बँधवाकर आपने महान् सुख प्राप्त किया। सन्त-सेवामें ऐसा विलक्षण भाव आपके हृदयमें भरा था। बड़े अनुराग के साथ आप श्रीबिहारीलालजी की सेवा-पूजा करते थे। बड़ी स्वच्छता एवं पवित्रताके साथ रसोई बनाकर भगवान को भोग लगाते थे। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीरामदासजीकी भक्ति मुझे प्रिय लगी। सन्तोंकी सेवा करके आपने उनके मन हरण कर लिए हैं।।६२५।।

व्याख्या—बेटी को विवाह—क० ३७० श्रीहरिरामजी व्यासकी तरह आपने बारातियोंके लिए बने पक्वान्न सन्तोंको खिला दिये। लड़कोंने सुना तो रामदासजीसे लड़ने लगे। तब आपने कहा—'पहले अपना कोठार-भण्डार देखो।' लड़कोंने देखा तो सामान ज्यौं का त्यौं देखकर चरणोंमें पड़ गये। 'साधु ते होय न कारज हानी।' मन्दिरमें श्रीबिहारीजी अब भी दर्शनीय हैं। भगवानके लिए भोजन पक्वान्न बनाने की विधि तथा स्वच्छता, पवित्रताका जिसमें वर्णन है, ऐसी पुस्तक बनाई।

विशेष—चाचा श्रीवृन्दावनदासजीकृत रसिक अनन्य परचावली छ० सं० २८ में

श्रीरामदासजीका परिचय दिया गया है। यथा—

श्रीकृष्णदास गुरुचरण कमल चिन्तवन सदाई। राधावल्लभ कुंजकेलि रस मगन महाई।।
ज्यौं इन्द्री चैतन्य होत प्राननकें पायें। असन वसन सनमान करत यौं हरिजन आये।।
दम्पति चरण प्रलाप नित अधिक प्रेम रैनी चढ़ी।
रामदास बसि बच्छवन इष्ट भजन रति अति बढ़ी।।२८।।

श्रीगोविन्दअलीकृत भक्तअनन्य गाथा छ० नं० ९५

श्रीगुरु के उपदेश सीस पै प्रभु पधराये। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग एकरस लाड़ लड़ाये।।
आवै सन्त समाज मुदित आगे ह्वै लावैं। भोजन छाजन सैन ऐन अति सुखद करावैं।।
श्रीकृष्णदास हित कृपा ते पाक माहिले साज।
सेई बछवन में रसिक रामदास द्विज राज।।९५।।

श्रीरामदासजी श्रीहितप्रभुजीके द्वितीय पुत्र श्रीकृष्णदासजी महाराजके कृपापात्र थे।

* श्रीरामरायजी *

विप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी।।
भक्ति ज्ञान वैराग जोग अन्तरगति पाग्यौ।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर सब त्याग्यौ।।
कथा कीरतन मगन सदा आनन्द रस झूल्यौ।
सन्त निरखि मन मुदित उदित रवि पङ्कज फूल्यौ।।
वैर भाव जिन द्रोह किय तासु पाग खसि भ्वैं परी।
विप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी।।१९७।।

शब्दार्थ—सारसुत=सारस्वत। अन्तरगति=चित्तवृत्ति। द्रोह=बैर। पाग=पगड़ी। खसि=खिसलकर।

भावार्थ—सारस्वत ब्राह्मणवंशमें जन्म लेकर श्रीरामरायजीने भगवानमें प्रेम किया। आपकी चित्तवृत्ति ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोगमें सर्वदा पगी रहती थी। काम, कोध, अहङ्कार, लोभ, मोह और ईर्ष्या आदि मायिक विकारोंको आपने सर्वथा छोड़ दिया था। आप सर्वदा भगवत्कथा—कीर्तनमें मग्न होकर इसके आनन्दमय अनुभवसे झूमते रहते थे। सन्तोंको देखकर आपका मन उसी

प्रकार खिल जाता था जैसे सूर्यको देखकर कमलका पुष्प। जिन दुष्टोंने आपसे द्वेष किया, आपको नीचा दिखाना चाहा उनकी पगड़ी सिर से पृथ्वी पर गिर गई अर्थात् उन्हें स्वयं ही नीचा देखना पड़ा।।१९७।।

व्याख्या-विप्र सारसुत०—श्रीरामरायजी में अनन्त गुण थे, महान् विद्वान् थे। फिर भी इनमें बड़ी-भारी दीनता और भक्त-भगवान में भक्ति थी। ब्राह्मण जाति का अहङ्कार प्रायः बना ही रहता है, इनमें उसका लेश न था यह विशेषता थी अतः 'विप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी' ऐसा कहा। पुरानी टिप्पणीमें श्रीनीलसखी का एक पद है, उसमें आपके सद्गुणोंका उल्लेख है—

पद—प्रथमहिं नर तन लागत नीकौ। तामें बरनाश्रम की बढ़ती, लखि आनन्द सबही कौ।। वन्दनीय वर विप्र तासु मधि कहियतु वर्न सिरोमनि। पुनि साचार वेदपाठी निज कर्म निरत जप होमनि।। निरभिमान निरदम्भ निष्कपट सदा सील सन्तोषी। हिंसा रहित निरामिष निरुपधि दीनदया चित पोषी।। सावधान निज नारी में व्रत तामें सो संयोगी। सत्यवाक् निन्दा निज तामें भोजन में लघु भोगी।। अनुचित दान प्रतिग्रह त्यागी अति उदार शुभ दानी। सबल निग्रहानुग्रह में पुनि मति निगमागम सानी।। ता मधि ऊरधपुण्ड्र तिलक उर तुलसी माल विराजै। शंख चक्र हरिनाम सहित तन छापनि की छवि छाजै।। तामें हरि अनुराग हृदय में सतगुरु सत उपदेसी। तामें नित्य सन्तसेवी पुनि सन्तसील अनसेषी।। हरि गुरु साधु प्रतीति परायन तामें पर उपकारी। जीव दया कामादि वियोगी तामें द्वैत विचारी।। आपु अमान मान सबहिन कर सबहिं समान निहारैं। अनुचित उचित दान कोटिन कौ जो कौशल्य विचारैं।। तात्पर्य दरसी हरि मति कौ ज्ञानी तहाँ विवेकी। तामें उदित मुदित विज्ञानी पुनि विराग मति टेकी। भक्तिमान तामें अनन्य पुनि नवधा भक्ति भण्डारी। तामें प्रेमलक्षना गति कौ सर्वोपरि अधिकारी।। सकल भक्ति कौ कलष मानसिक सखी टहल सुख जाके। सो नर नारी मुक्त जीव तिहिं भवभय त्रास न ताके।। श्रीभागवत कथा सरिता कौ मीन [illegible] गहिरे कौ। कथा वारि विनु व्याकुल छिन छिन रह न सकत बहिरे कौ।। सत विवेक वि[illegible] मानसर विमल मराल विलासी। छीर नीर गुन दोष जगत में सारासार प्रकासी।। सुभगुन छीर सार को संग्रह त्यागी अवगुन जल कौ। भोजन विसद प्रसन्न परम सब हरिजस मुकताहल कौ। यह बरनन सज्जन श्रवनन में अमृत स्वाद ढरकायौ। वंस हंस द्विजराज सन्त कौ 'नीलसखी' जस गायौ।। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।' अपने गौरवको भुलाकर—

हरि रति करी—भक्त और भगवान के प्रति सस्नेह दैन्यको धारण किया अतः हरिमें रति रही। एकबार श्रीरामरायजी गोकुलको दर्शन करने गये। श्रीगोकुलनाथका दर्शन करके फिर

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीसे मिले, दण्डवत् करके बैठे। तो श्रीगोस्वामीजी ने इनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि—'आप दर्शनीय एवं वन्दनीय विभूति हैं, मैंने अनेक सज्जनोंसे आपकी प्रशंसा सुनी है।' यह सुनकर श्रीरामरायजीने कहा—

ऐराकी निज गति चलै ताकौ अचरज नाहिं। पुनि खरताकी गति चलै त्यहिं देखन सब जाहिं।।
विदित हंसता हंसकी ताकौ अचरज नाहिं। काग देहको हंस करि त्यहि देखन सब जाहिं।।

अरबी घोड़ा यदि तुर्की चाल चलता है तो उसकी लोग विशेष बड़ाई नहीं करते हैं, परन्तु यदि खच्चर तुर्की चाल चले तो सभी देखने जाते हैं और बड़ाई करते हैं। ऐसे ही हंसकी हंसता यदि कौवेमें हो तो उसे बड़प्पन मिलता है। यह सुनकर श्रीगोस्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हें हृदय से लगा लिया।

भक्ति ज्ञान०—भगवद् भक्ति के बिना संसारी मनुष्य कुत्तेकी तरह काम, क्रोधादि से पीड़ित होकर यहाँ कष्ट और फिर नरकमें यम-यातना पाता है। यथा—(भर्तृहरिशतके)

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो,
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः,
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः।।

जो दुर्बल है, काना है, लँगड़ा है, कनकटा है, पूंछसे हीन है, जिसका सारा अङ्ग घावोंसे भरा और पीबसे भीगा हुआ है, सैकड़ों कीड़ोंसे जिसका शरीर भरा है, जो भूख से व्याकुल और जराग्रस्त है तथा जिसके गलेमें घड़ेका कण्ठ फँसा हुआ है, ऐसा कुत्ता भी कुतियोंके पीछे दौड़ रहा है। ओह ! यह कामदेव मरे हुए को भी मारता है।।

काम....लोभ०—कामादि षड्विकारोंको भक्त त्याग देता है क्योंकि—इनमें दुःख ही दुःख है। चाणक्य ने कहा है—'नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः। नास्ति क्रोधसमो बन्हिर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्।।' अर्थ—कामके समान कोई रोग नहीं, मोहके समान कोई शत्रु नहीं, क्रोधके समान जलाने वाली कोई आग नहीं और ज्ञानके समान कोई सुख नहीं है। कामादिक त्याग किये बिना भगवद्-भजन सम्भव नहीं। श्रीरामचरितमानस से—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु भजहिं जेहि सन्त।
काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुःख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूप।।

धनकी तृष्णासे ग्रस्त मनुष्य तरह-तरहके उपाय करने पर भी जब धन नहीं पाता है, तब वह पछताता है, तब यदि प्रभु कृपा हो तो वैराग्य हो जाता है। इस पर—

दृष्टान्त—मङ्कि मुनि का—मङ्कि नामक ब्राह्मण विविध सुख भोगनेकी कामनासे धन कमानेकी चेष्टा करने लगा पर उसे सफलता न मिली। जिस-जिस व्यापार को करता उसमें घाटा ही होता। इस प्रकार उसका सब धन प्रायः नष्ट हो गया। अन्तमें बचे थोड़ेसे धनसे उसने दो नये बछड़े खरीदे। मङ्कि एकदिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर हल चलाने की शिक्षा देने के लिए ले जा रहे थे। जब वे दोनों बछड़े गाँव से बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े। जब वे उसकी गर्दन के पास पहुँचे तो ऊँटके लिए यह असह्य हो गया। वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया। दोनों बछड़े उसकी गर्दनमें लटक गये। तब वह दोनों बछड़ोंको गर्दनमें लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा। बलपूर्वक अपहरण करने वाले उस ऊँटके द्वारा उन दोनों बछड़ोंको अपहृत होते और मरते देखकर मङ्किने कहा—'मनुष्य कैसा भी चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धनको वह भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता है। मैंने जितने उपाय किये, सभीमें अनर्थ उठ खड़े हुए, फिर भी मैं मूर्ख धनोपार्जनकी चेष्टा में लगा ही रहा। आज यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर टेढ़े मार्गसे भाग रहा है। दैवयोग से ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं। यह केवल दैव की ही लीला है। हठपूर्वक किये गये पुरुषार्थसे क्या होता है। सुखकी इच्छा रखने वाले पुरुषको धन आदिकी ओर से वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिए। धन आशासे निराश विरक्त सुखकी नींद सोता है। श्रीशुकदेवजीने ठीक ही कहा है—जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका त्याग कर देता है। इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि कामनाओंका अन्त नहीं है। (महाभारत शान्तिपर्व)

मणी वोष्ट्रस्य लम्वेते प्रियौ वत्सतरौ मम। शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्
तस्मानिर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता। सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने
यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात्सर्वकामनां परित्यागो विशिष्यते।।

बैर भाव जिन द्रोह किये—यहाँ पर बैर और द्रोह दोनों शब्दोंको ग्रहण करनेसे यह अर्थ हुआ कि बैर भाव है जिनका—'बैर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों।।' (रामचरित मा०) सर्प क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः। मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते।। (चाणक्यनीतौ) साँप और दुष्ट दोनों क्रूर अर्थात् निर्दयी-निठुर होते हैं तथापि

दुष्ट पुरुष साँपसे भी अधिक क्रूर होता है, क्योंकि साँप तो मन्त्र और औषधिके वशमें हो जाता है अतः उससे बचा जा सकता है, उसका निवारण किया जा सकता है, किन्तु दुष्ट का कैसे निवारण किया जाय। ऐसे दुष्टोंने आपसे द्रोह किया निन्दा की पर आपने उसका प्रतीकार नहीं किया। तब स्वयं परमात्माने उसे दण्ड दिया। उसके मुख पर बड़े जोरका तमाचा पड़ा, इससे उसकी पगड़ी जमीन पर गिर पड़ी। उसने उठाकर सिर पर रक्खी तो फिर तमाचा लगा और फिर पगड़ी गिरी। मारने वाला दिखाई न पड़ा, अनेक तमाचे लगे। अन्तमें जब उसने श्रीरामरायके चरण पकड़े, तब तमाचे लगना बन्द हुआ और सिर पर पगड़ी रुकी। इस प्रकार कई बार दुष्टोंकी दुष्टता का नाश आपके द्वारा हुआ। श्रीरामरायके समीप साधु-सन्तोंकी भीड़ रही आती थी। यह सुनकर इब्राहीम लोदीने आपको बुलाकर कहा कि—तुमने इतने नागाओंको क्यों एकत्र किया है। यह अनुचित है, इन लोगोंने अपनी फौज बनाई है। ये राजद्रोह करने की तैयारी कर रहे हैं। इनको भगाओ, अन्यथा हम इन्हें कैद कर लेंगे। इस प्रकार वह कह रहा था कि उसके सिरकी टोपी नीचे गिर पड़ी और सिर पर एक जोर की थाप लगी। उसके होश गुम हो गये। भयभीत होकर बोला—सेवाकी आज्ञा दो। आपने कहा—अब साधुओंको न सताना। आपके लिए एक मकान बनवा दूँ, इस पर आपने कहा—हमारे लिए वृक्ष और लतायें ही ठीक हैं, अब हमें कभी मत बुलाना यथा—(इमलीतला माहात्म्य)।

दो०— इब्राहीम लोदी कही रामराय बुलवाय।
इतने नागा क्यों किये एक जगह तुम लाय।।

चौ०— बन्द करौं यह है हरजाई। इन फकीर मिलि फौज बनाई।।
ताकों कटु बोलत बिन शापा। पाग गिराई सिर दै थापा।।।
भय वस बोल्यौ चाह बताऔ। राम कही साधू न सताऔ।।
कहो मकान करादें थल में। कही रहें वृक्षन के तल में।।
खुश ह्वै बोल्यौ फिर भी आना। राम कह्यौ अब नहीं बुलाना।।

हरि रति करी—सत्सङ्ग केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम्। असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्।। (चा० नी०) इस असार संसार में साधुओंका सङ्ग, ईश्वरकी भक्ति और श्रीगङ्गाजीका स्नान इन तीनोंको ही सार समझना चाहिए।

विशेष—श्रीरामरायप्रभुका जन्म रावी नदीके तट पर बसे लाहौर (पंजाब) में वि० सं० १५४० वैशाख शुक्ल ११ के मध्याह्नमें हुआ। आपके पिता श्रीगुरुगोपालजी और माता श्रीयशोमतीजी थीं। परम्परागत घरमें विराजमान श्रीगीतगोविन्दके कर्ता श्रीजयदेवजीके ठाकुर श्रीराधामाधवजीने श्रीगुरुगोपालको स्वनादेश दिया कि मेरा चरणामृत अपनी धर्मपत्नी श्रीयशोमतीको पिलाओ, उससे एक महान् चमत्कारी भक्तपुत्र उत्पन्न होगा। पादोदक पान करते ही श्रीयशोमतीको अनुभव हुआ कि किसी शक्ति विशेषने मेरे उदरमें प्रवेश किया। कुछ लोगोंका मत है कि यशोमतीजी अपने भ्राता श्रीगोविन्दजीके साथ तीर्थयात्रामें गईं और श्रीरामेश्वरम्के दर्शनका लाभ प्राप्त होते ही वहीं उन्होंने एक पुत्ररत्न को प्रकट किया। एक मास वहाँ निवास फिर श्रीद्वारका आदिके दर्शन करके लाहौर आईं। रामेश्वरम्में जन्म होने के कारण रामेश्वर, रामराय, रामदास और रामगोपाल आदि नामसे होनहार पुत्रकी प्रसिद्धि हुई। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत हुआ। पिताने इन्हें गायत्री के साथ श्रीराधागोपाल-मन्त्र दिया। जो यमुनापुलिन धीरसमीर वृन्दावनमें श्रीजीके द्वारा श्रीजयदेवजीको प्राप्त हुआ था। श्रीरामराय जी के प्राकट्य के १० वर्ष बाद श्री चन्द्र गोपालजी का जन्म हुआ। इन्हे सबलोग चित्रा सखीका अवतार मानते थे।

श्रीरामरायजीने वि० सं० १५५२ वसन्त पञ्चमीके दिन श्रीजयदेवजीकी जन्म जयन्तीके उपलक्ष्यमें बिना सामग्री मँगाये ही एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया। इससे आपकी महिमा सर्वत्र विख्यात हो गई। ठाकुर श्रीराधामाधवजीने आज्ञा दी कि तुम श्रीवृन्दावन जाओ, उसके बाद मैं चन्द्रगोपालके साथ आऊँगा। आदेश पाकर सप्तमी की रातको ही आप योगबलसे हरिद्वार आ गये। श्रीगङ्गा तट पर आपको श्रीआशुधीरजी मिले जो आपके नानाके बड़े भ्राता थे। यहाँ कैसे आये और किसके साथ आये, इस प्रश्नका उत्तर सुनकर श्रीआशुधीरका इनमें परमानुराग हो गया और वे इनके साथ ही श्रीवृन्दावनके लिए पधारे। उपव्रज (अलीगढ़) में प्रसादी नामक सारस्वत ब्राह्मणकी पर्णकुटी ही आने-जाने वाले साधु-सन्तोंका आश्रय थी। आप दोनों वहीं ठहरे। प्रसादी ब्राह्मण श्रीरामरायजीके दर्शनोंसे प्रभावित हुआ और सेवक बनकर उसने प्रार्थना की—'प्रभो !' मैं पुत्र पौत्रवान् होते हुए भी परम दरिद्र और व्याकुल हूँ। उसके दीन वचन सुनकर आपने अपनी मुद्रिका उतारकर उसे दे दी और आशीर्वाद देते हुए कहा—'आजसे तुम्हारी दरिद्रता दूर हो गई। अब श्रीराधामाधवका भजन करो।' कालान्तरमें अनन्तश्री से सम्पन्न होकर प्रसादजीने श्रीराधामाधवजीको अपने ऊपर पधराया और दत्तचित्त होकर सेवा करने लगे। श्रीरामरायजीने आशुधीरको ब्रजयात्रा करवाई। आप जहाँ-जहाँ जाते,

वहाँ-वहाँ ब्राह्मणों और ब्रजवासियोंकी खूब सेवा करते। आपके अलौकिक प्रभावको देखकर सभी ब्रजवासी आपको 'प्रभु' कहने लगे। रावल, गोवर्धन, गोकुल आदि-आदि स्थानों में आप बहुत दिनों तक रहे। मथुरामें सम्पूर्ण कार्तिक मास कल्पवास करके सभी ब्राह्मणों को उत्तम भोजन से तृप्त किया।

एकदिन आपने श्रीवृन्दावनमें रहने की इच्छा प्रकट की, यह जानकर लोगोंने कहा कि वहाँ तो सिंह, भालू आदि अनेक हिंसक जन्तु रहते हैं अतः वहाँ आपका जाना ठीक नहीं है, श्रीआशुधीरजीकी भी यही सम्मति थी। एकदिन श्रीरामरायजी सबको निद्रामें छोड़कर अकेले ही श्रीवृन्दावन धाम में पधारे। वहाँ यमुनापुलिन धीरसमीर में आपको श्रीराधामाधवजीके दिव्य-दर्शन हुए फिर श्रीठाकुरजीने आज्ञा दी कि प्रथम तीर्थाटन करो, उसके बाद यहाँ आकर वास करना। श्रीरामरायजी अपने योगबलसे हिंसक जन्तुओंको मनुष्य बनाकर मथुरा आदिको भेज देते, वे आज्ञानुसार कार्य करके वापस आ जाते। श्रीधामके सभी जीवोंसे आपकी मित्रता थी। लताओं और वृक्षोंसे आप बातचीत करते। उनसे वृन्दावन-विहारकी कथा सुनते। एकदिन आप आशुधीरजीको भी लाये। निधिवन कुटीर आदिके दर्शन कराये। इन्हें हिंसक जन्तुओं से भयभीत देखकर आपने उन्हें भक्तिदान देकर उन योनियोंसे मुक्त कर दिया। इस प्रकार कुछ दिन श्रीधाममें रहकर तीर्थाटन के लिए चले। मोहन चौबेको आशुधीरके पास रखकर आप काशीमें पहुँच गये। विद्वानोंने प्रभावित होकर आपकी शोभा-यात्रा निकाली। उसमें श्रीमाधवेन्द्रपुरी, राजेश्वरतीर्थ, प्रकाशानन्द सरस्वती, श्रीबल्लभाचार्य, श्रीगोकुलानन्द, विद्यासागर, गोविन्द, कवि रङ्गनाथ एवं विश्वनाथ आदि महापुरुष उपस्थित थे। इन विद्वानोंके साथ सत्सङ्ग वार्ता से परमानन्द हुआ। ईर्ष्यावश जिन्होंने शास्त्रार्थ किया, उन्हें पराजित करके आपने भक्ति की स्थापना की। हजारों लोगोंको भोजन-प्रसाद पवाकर उन्हें संतुष्ट किया।

श्रीरामरायजीके इस प्रभावको अकस्मात् आये श्रीनित्यानंद प्रहाप्रभुने देखा तो प्रसन्न होकर उन्होंने आपके ऊपर वशीकरण-मन्त्र चलाया। उसे समझकर आप मुस्करा गये। इतनेमें श्रीमाधवेन्द्रपुरीजी बोले—आपके प्रति श्रीनित्यानन्दजीकी अत्यन्त प्रीति है। आप जगदीश वंश भूषण हैं और वे संकर्षण भगवान हैं। आप इनका सम्मान करो और इनके गुरुत्वको स्वीकार करो। यह सुनकर श्रीरामरायजीने कहा—'हमारे तो सभी सन्त गुरुदेव हैं।' ऐसा कहकर आपने श्रीनित्यानन्दजीसे दीक्षा ली। यद्यपि अपनी परम्पराके ये स्वयं आचार्य थे फिर भी ऐसे दीन और निरहङ्कारी थे कि श्रीनित्यानन्दजीको अपना गुरुदेव मानकर उनका आदर किया। आपके

उत्कृष्ट दैन्यको देखकर श्रीबल्लभाचार्यजी बहुत ही सन्तुष्ट हुए। इस प्रकार दोनों महापुरुष धन्य एवं गौरवान्वित हुए।

इसके बाद श्रीरामरायजी श्रीनित्यानन्दजीके साथ श्रीनवद्वीप धाम पहुँचे, वहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभुका दर्शन और प्रेम सम्मेल हुआ आपने 'पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्। त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम।। नाथ हरे जय नाथ हरे, सीदति श्रीराधावासगृहे।' इस अष्टपदीको गाकर सुनाया। जिसे सुनकर श्रीमहाप्रभुजी उत्कट वियोगसे अत्यधिक श्रान्त हो गये। पश्चात् आपने मानसी-सेवाके महा-प्रसादसे सभीको तृप्त किया। जब तक आप रहे नित्य सुखसागर उमड़ता रहा। श्रीमहाप्रभुजीने कहा—आप साक्षात् रामभद्र हैं, श्रीवृन्दावनमें आकर मैं आपसे मिलूंगा। अपने साथ भूगर्भ और लोकनाथ को ले जाओ। इन्हें वहाँ अच्छी तरह से रखना। इसके बाद नवद्वीपसे आप जगन्नाथधाम पहुँचे। वहाँ पर एक वर्ष तक रहे और जगन्नाथजीकी सम्पूर्ण भोग-रागकी नित्य-सेवा करते रहे। नित्य गीतगोविन्दका गान सुनाते। अनेक वस्त्र-आभूषण धारण कराकर अपने हाथसे श्रीजगदीश की आरती उतारते। जहाँ-तहाँ अनेक मन्दिरोंका निर्माण कराकर आपने ब्राह्मणों को दान किया। इसके पश्चात् आप श्रीधाम वृन्दावनमें आ गये।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीजीने गोवर्धनमें आकर वि० सं० १५६० में वहाँ श्रीश्रीनाथजी को प्रकट किया। महान् उत्सव और सेवा होने लगी। श्रीनाथजीकी आज्ञा पाकर श्रीपुरीजी चन्दन-कर्पूर लेने के लिए उड़ीसा चले तो श्रीरामरायजीको बुलाकर उन्होंने इन्हें सेवाका भार सौंपा। आप सानन्द सेवा-भोग-राग, रासलीला आदि कराने लगे। कुछ दिनोंके बाद श्रीरामरायजी दो बंगाली वैष्णवोंके द्वारा श्रीनाथजीकी सेवा कराने लगे। पश्चात् जब आप पुरी पधारे तब बंगाली वैष्णव स्वतन्त्र होकर सेवा करने लगे।

जगन्नाथपुरीमें लाहौरके भक्तोंसे भेंट हुई, उनको साथ लेकर मार्गस्थ अनेक स्थानों को पावन करते हुए आप अपने इष्ट धाम दिव्य श्रीवृन्दावन धाम पधारे। दिव्य श्रीवृन्दावन, केलि-कुञ्ज और श्रीयमुनाके दर्शन तथा आशुधीरजीसे भेंट कराकर आपने लाहौरके भक्तोंको विदा किया। श्रीरामराय सरीखे पुत्रके वियोगमें व्यथित होकर श्रीगुरु गोपाल और यशोमतीजीने शरीर त्यागकर परमधाम गमन किया। यह जानकर आपने श्रीचन्द्रगोपालको स्वप्न दिया। वे ठाकुर श्रीराधामाधवको लेकर अपनी पत्नी सहित श्रीवृन्दावन आ गये और वंशीवट स्थानमें ठहरे। आप श्रीराधामाधवलालके दर्शन कर प्रेम विभोर हो गये। इन्हें छातीसे लगाकर श्रीठाकुरजीने आज्ञा दी कि श्रीवृन्दावनरसकी वर्षा करो, तुम्हारी वाणी 'आदिवाणी' कहलायेगी।

इस प्रकार आदिवाणीका प्राकट्य हुआ। आदिवाणी पद प्रसङ्ग—एक ब्रजगोपी अपने घरमें सोई थी। श्रीकृष्ण आये और लौट गये। अतः उसे नींद बहुत ही बुरी लगी, वह उसे बेचने लगी, दूसरी खरीददारी सखी मिल गई, उसने बताया कि मैं सो रही थी स्वप्नमें प्यारे मेरे पास आये। मैं मिलने चली इसी बीच मेरी नींद खुल गई। मैंने जागकर गँवाया और तूने सोकर। गोपीभावमें निमग्न होकर प्रभुजी आदिवाणीमें गाते हैं—

निंदरिया साँचे विष की भरी।
मेरे प्यारे लालन फिरि गये कैसी खोटी घरी।
अब जीऊँ का विधि सुनु सजनी कहाँ गई जीवन जरी।।
देखि कहूँ जो मिलै बुलावहु बरसत आँखिन झरी।
'रामराय' या नींदहिं बेचूँ हौं तौ भई बावरी।।

प्यारे श्यामसुन्दर श्रीराधारानी का दर्शन करके कहते हैं कि आपका श्रीमुख अमृत-पंक है, उससे दो नेत्र कमल प्रकट हुए। मेरा मतवाला मन पुतरी बनकर वहाँ बैठा। उसे तृप्ति न हुई तो कपोलका तिल बन गया फिर अतृप्त होकर मस्तककी श्याम-विन्दी बना। तात्पर्य यह कि गौर श्रीमुखमें श्याम अनेक रूपोंसे विराजमान हैं। यथा—

तेरौ मुख पीयूष पंक प्यारी प्रगटे तामें द्वै इन्दीवर।
मेरौ मन मत्त मधुप सों जाय बस्यौ पुतरी ह्वै तिन अन्तर।।
रस लोभी एक सौं अनेक भयौ तौहू न तृपति मानत रस कन्दर।
'श्रीरामराय' पुनि कपोल दल तिल बन्यौ मस्तक स्याम विन्दीवर।।

श्रीराधामाधवजी और श्रीश्रीनाथजी दोनों स्वरूपोंकी सेवाका भार आपके ऊपर रहा। आप दोनोंकी सेवा में उपस्थित रहते। प्रतिवर्ष बड़े चावसे साधु-ब्राह्मण और ब्रजवासियोंका झरा-भण्डारा करते।

श्रीगौराङ्ग महाप्रभु वृन्दावन पधारे और अक्रूर घाट पर ठहरे। श्रीरामरायजी उन्हें नित्य गीतगोविन्द सुनाकर प्रसन्न करते। महाप्रभुजीने गोपालजीके दर्शनोंकी इच्छा की पर गिरिराजजीके ऊपर पैर नहीं रखना चाहते थे। उसी समय अकस्मात् यवन आतंकवश वैष्णवजन श्रीनाथजीको गाँठौली ले आये। तब श्रीमहाप्रभुने दर्शन किया। इस प्रकार ब्रजमें महाप्रभुजीका सङ्ग-सुख आपको प्राप्त हुआ। श्रीगोपालजीके प्राकट्यका समाचार पाकर

श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु यहाँ पधारे। आपसे पूर्व परिचय था अतः आपके पास ठहरे, आपने सभी ब्रजवासियोंकी सम्मतिसे श्रीनाथजीकी सेवा श्रीबल्लभाचार्य को सौंप दी। इन्होंने मन्दिर बनवाया और सेवा तथा भोगरागकी विशेष व्यवस्था की। आपने बंगाली वैष्णवको सेवासे नहीं हटाया। कालान्तरमें अधिकारी श्रीकृष्णदासजीने इन्हें वि० सं० १६३० में सेवासे हटाया। उस विवादमें आपने बल्लभकुलका ही पक्ष लिया अतः बंगाली वैष्णव आपसे असन्तुष्ट हुए। बारह वैष्णववार्तामें लिखा है कि इसी कारणसे श्रीरामरायप्रभुकी चर्चा गौड़ीय साहित्यमें बहुत कम हुई। श्रीजीवगोस्वामीजी ने प्रसन्न होकर कहा कि भजनका अर्थ प्रपञ्च नहीं है, श्रीगोपाल-पूजा सबको स्वतः सुलभ है। विवादके पीछे माया है। आपके महत्वको समझकर श्रीजीवगोस्वामीने 'सन्दर्भ' के मङ्गलाचरणमें आपकी वन्दना की। यथा-वन्दे श्रीपरमानन्दं भट्टाचार्यं सुखालयम्। रामरायं तथा वाणी विलासं चोपदेशकम्।। अन्तमें आपने इतस्ततः यातायात बन्दकर दिया। वन-विहार और वंशीवटमें ही रहकर भजन-ध्यानमें डूबे रहते। उसी समय आपने ब्रह्मसूत्र पर गौर-विनोदिनीवृत्ति लिखी। इनके छोटे भ्राता श्रीचन्द्रगोपालजीने वृत्तिके ऊपर भाष्य किया। श्रीरामरायजीके संस्कृतमें द्वादश ग्रन्थ हैं। आदिवाणी और गीतगोविन्द पर पदावली ये भाषा ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार वि० सं० १५४० तक आपकी दिव्य जीवन लीला रही। आपके १२ प्रधान शिष्य थे। भक्तमालकी टिप्पणीमें यह कवित्त पाया जाता है—

भक्ति भगवानदास ज्ञान कों गरीबदास, बाँको वैराग्य विष्णुदास को दिखानो है।
जोग को जुगलदास अन्तरगति राधानाथ, काम कों किशोर क्रोध केशव को मानो है।।
मद को मनोहर लोभ लाखादास मोहमधु, मत्सर हरिदास त्याग तीरथ पिछानो है।
कथा तत्व भागवत कीर्तन सुख रामराय, या विधि सों बारह गुरु सङ्ग लपटानो है।।

मूल छ० १९७ में मुख्य द्वादश विशेषण श्रीरामरायजीके हैं, विशेषरूपसे एक-एक गुण देकर आपने द्वादश शिष्य बनाये। १—भक्ति श्रीभगवानदासजी, २—ज्ञान-श्रीगरीब दासजी, ३—वैराग्य श्रीविष्णुदासजी, ४—योग-श्रीयुगलदासजी, ५—अन्तरगति-श्रीराधालालजी, ६—काम विजय-श्रीकिशोरीदासजी, ७—क्रोध त्याग-श्रीकेशवदासजी, ८—मद त्याग- श्रीमनोहर दासजी, ९—लोभ त्याग-श्रीलाखादासजी, १०—मोह त्याग- श्रीमधुसूदनदासजी, ११—मत्सर त्याग-श्रीहरिदासजी और १२—सर्वस्व त्यागकर भजनकी शिक्षा श्रीतीरथरामजीको श्रीरामराय प्रभुने दी। कथा भागवत और नाम-सङ्कीर्तनमें अपने द्वादश शिष्योंके साथ निमग्न रहकर आपने विशुद्ध-भक्तिका प्रचार-प्रसार कर विश्व-कल्याण किया। गोस्वामी श्रीब्रह्मगोपालजी

ने 'बारह वैष्णववार्ता' में उक्त सभी सन्तों के चरित्र और उनकी वाणियों का सङ्कलन किया है। उसका सारांश निम्नलिखित है—

१—भक्ति-श्रीभगवानदासजी—इनका चरित्र पीछे छ० १८८ और क० ६२० में आ चुका है। ये आमेर नरेश भारमल के पुत्र और राजा मानसिंह के पिता थे। आप अकबर बादशाहके संरक्षक एवं प्रधान सेनापति थे। लाहौर के मोर्चे पर जाते समय आपने बादशाहसे कहा कि इस संग्रामको जीतकर आनेके बाद फिर किसी मोर्चे पर न जाकर विरक्त होकर भगवद्-भजन करूँगा। लाहौर विजय के बाद आकर आपने सद्‌गुरुकी खोज में तीर्थाटन किया, अनेक सन्तोंके दर्शन किये। उनको भेंट देकर धनका सदुपयोग कर पुनः वृन्दावन आये। सन्तोंके मुखसे श्रीरामरायप्रभुकी प्रशंसा सुनकर श्रीराधामाधव-वाटिका में पहुँचे। इन्हें देखकर प्रभु स्नानार्थ चले गये क्योंकि वे धन-मानियोंसे दूर ही रहते थे। अधिक समय बिताकर आने तक दृढ़-निश्चयी भगवानदास रुके ही रहे। श्रृङ्गार के दर्शन खुले, सभीने दर्शन किया। उसके बाद रेणुका निर्मित गादीके आगे सब बैठ गये। एक मुट्ठी अशर्फी गदी पर भेंट रखकर अपने दीवान आदिके साथ भगवानदासजी भी बैठ गये। विष्णुदासने गरीबदास से कहा—मैं राजभोगकी मालाके लिए फूल लेने जा रहा हूँ। तुम गादीके आगे सोहनी लगा दो। गरीबदासने सोहनी ली और पहले ही अशर्फीके ढेरमें मारी और बोले कि—इन्हें अपने पास ही रक्खो। गद्दी पर न रक्खो। इस त्यागसे चकित होकर लोग सोचने लगे कि शिष्योंमें इतना त्याग है, तो फिर गुरुदेवमें कैसा होगा। इतनेमें प्रभु आकर गद्दी पर विराजे। भेंट रखकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करके भगवानदासने प्रार्थना की। महाप्रभो ! मैं बहुत भटका, अब आपकी शरण में हूँ। प्रभुने कहा—एक राजा श्रीराधामाधवजी मेरे हृदयमें विराजमान हैं, फिर दूसरे राजा आपको वहाँ कैसे बैठाऊँ। भगवानदासने कहा—भगवन् ! मुझे तो आप अपने श्रीचरणोंमें स्थान दीजिये। मैं आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ।

प्रभुने आदेश दिया कि प्रथम राज्य आदिका त्याग करना होगा। उसके बाद शरणागति की चर्चा। इस धनको मेरे सामने न रखकर आप अपने सम्पूर्ण धनको चार भागोंमें विभक्त कर दीजिये। एक भाग श्रीश्रीनाथजीकी सेवामें, दूसरा श्रीहरिदेवजीके निमित्त, तीसरा मानसी गङ्गाके घाटोंके लिए, चौथा अपने सगे सम्बन्धियोंको देकर निश्चिन्त हो जाओ। राजाने ऐसा ही किया। तब आपने उन्हें शिक्षा-दीक्षा देकर उनके हृदयमें दृढ़ हरिभक्ति स्थापित की। राजाने विरक्त भेष धारण कर लिया। फिर इनके हृदयमें जब भक्तिभाव उमड़ा तब गुरुकृपासे कीर्तन पदावलीकी रचना की। इनके पदोंमें प्रायः 'कह भगवान हित रामरायप्रभु' यह छाप मिलती है।

गीतामें भगवानने कहा है कि—'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।' (गी० १८-५५) उस पराभक्तिके द्वारा मेरेको तत्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूँ तथा उस भक्तिसे मेरेको तत्वसे जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् अनन्य भावसे मेरेको प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेव के बिना और कुछ भी नहीं रहता। राजा इसी न्यायसे भक्तिमें रत हो गये। एकबार श्रीवृन्दावनमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी सभामें उपस्थित अनेक रसिकों के समक्ष आपने यह पद गाया।

और कोऊ समुझौ सो समुझौ हमको इतनी समझ भली।
ठाकुर नन्द किशोर हमारे ठकुराइनि वृषभानु लली।।
सुवल आदि सब सखा श्याम संग श्यामा संग ललितादि अली।
ब्रजपुर वास शैल वन विहरन कुञ्जन कुञ्जन रङ्ग रली।।
इनके लाड़ चाव सेवा सुख भाव वेलि रस फलनि फली।
कह भगवान हित रामराय प्रभु सबते इनकी कृपा बली।।

एक दिग्विजयी विद्वान्ने बहुतसे विजय-पत्र एकत्रित किये। पश्चात् उसे वैराग्य हुआ। वह सद्गुरुकी खोजमें शास्त्रार्थ करने लगा। उसे कहीं अहङ्कारहीन सन्त न मिला। संयोगवश भगवानदासजी मिल गये। इनसे भी उसने विवाद करना चाहा। इन्होंने सर्वथा निषेध किया। तब उसने कहा कि आपका जो साम्प्रदायिक सिद्धान्त हो, उसका समर्थन कीजिये अथवा मुझे विजय-पत्र लिख दीजिये। तब आपने अपनी समझ और अपने सिद्धान्तका बोध कराने वाला उक्त पद गाकर सुनाया। जिसे सुनकर वह आपका अनुयायी बन गया। प्रेमवैचित्र्य वर्णन—

श्याम श्याम श्याम रटत प्यारी आपुई श्याम भईं।
पूछत फिरत सकल सखियन सों प्यारी कहाँ गईं।।
वृन्दावन वीथिन यमुना तट श्रीराधे श्रीराधे।
सखी सङ्ग की यह सुख निरखैं सकल संग ही साधे।।
गुर्वी प्रीति कहा न करावै क्यों होइ गति तैसी।
कह भगवान हित रामराय प्रभु लगन लगै तौ ऐसी।।

परमधाम यात्राके समय सभी सन्त एकत्र हुए। नाम-संकीर्तन के बाद किसीने पूछा कि इस समय आप किसका ध्यान कर रहे हैं। तब आपने कहा कि मेरा तम्बूरा लाओ। निम्नलिखित पद गाकर आपने अन्तिम तुकके साथ अन्तिम श्वास ली। शरीर को त्यागकर नित्य-लीलाधाममें पहुँच गये। पर—

मैं चली री तहाँ जहाँ मोहन मुरली मधुर मधुर धुनि बाजै री।
जमुना पुलिन सुभग वृन्दावन मोहन मदन विराजै री।।
सजन नील घनश्याम वरन तन लसत दामिनी छाजै री।
मोर मुकुट की शोभा बरनौं इन्द्रधनुष दुति लाजै री।।
घूंघर वारी अलकैं झलकैं चन्दन तिलक ललाटै री।
अमल कमल दल मंजुल नैना जोवत हैं मम बाटैं री।।
कुण्डल किरन कण्ठ कौस्तुभ मनि आनन्द मुख्य प्रकासी री।
देखे बनै वह चरन धरन गति कौतुक कुञ्ज निवासी री।।
जाको मन मिलि रह्यौ कृष्ण सों ताकी अकथ कहानी री।
कह भगवान हित रामरायप्रभु सुमिरन मांझ समानी री।।

२—ज्ञान-गरीबदासजी—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बचपनमें ही इनके माता-पिता परलोक सिधार गये। कुछ दिन बाद ये रामगिरि संन्यासीके शिष्य बन गये। रामगिरि अद्वैतके समर्थक शुष्क ज्ञानी थे। भक्तिको भी मायिक खेल बताते। उन्होंने इनका गोविन्द गिरि नाम रक्खा। एकबार श्रीरामरायप्रभुसे इन दानोंका सोरों गङ्गाघाट पर समागम हुआ। कुछ शास्त्र चर्चा चली। वह सेवाका समय था अतः विशेष वार्तालाप न करके प्रभु ने इन्हें दूसरे दिन भिक्षार्थ निमन्त्रित किया। दूसरे दिन राजभोगके बाद प्रसाद पाकर शास्त्र चर्चा आरम्भ हुई। रामगिरिने कहा—'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य और संसार झूठा है। प्रभुने कहा-जब ब्रह्म सत्य है, तो जगत् झूठा कैसे हो सकता है— 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'वासुदेव सर्वमिति, इदं हि विश्वं भगवान्' आदि उपनिषद्, गीता और श्रीमद्भागवतके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि जो भी कुछ है, वह सब सत्य है। केवल व्यवहारमें मिथ्यात्वकी भावना करनी पड़ती है, वही दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के संवादसे अनेक सत्सङ्गी बड़े प्रसन्न हुए। रामगिरिको मौन होना पड़ा। उसी समय गोविन्दगिरिने प्रभुकी शरण ग्रहण की, वैष्णवीय शिक्षा-दीक्षा प्राप्तकर कृतार्थ हुए। शुष्कज्ञानका अहङ्कार दूर हुआ।

सेवारूप ज्ञान को प्राप्तकर सभी संशय दूर हो गये। प्रभुने इन्हें श्रीराधामाधवकी फूल-सेवा प्रदान की। इनका नाम गरीबदास पड़ा। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे, श्रृङ्गार-शतक, आनन्द-शतक और वृन्दावन-शतक। उनके उदाहरण—

श्रीराधामाधव स्वयं मूर्तिमान श्रृङ्गार। सब श्रृङ्गारन को प्रकट इनहीं सो श्रृङ्गार।।
गूढ़ भाव अंकुर सोई श्रृङ्ग नाम विख्यात। आर नाम रस कौ कह्यौ सो श्रृङ्गार कहात।।
प्रथम नाम आनन्द है पाछे परमानन्द। पूर्णानन्द आनन्द श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द।।
जो चाहत सो सदा सर्व जग आनन्द चाहैं। सुर नर मुनि के प्रान सोई आनन्द सुधा हैं।।
विषयानन्द विलीन जीव डूबे भव सागर। जो श्रीकृष्णानन्द प्रगट त्रयलोक उजागर।।
श्रीवृन्दावन धाम सों धाम न दूजो मित्र। जहाँ मिले ही रहत हैं जमुना पुलिन पवित्र।।
जमुना पुलिन पवित्र बालुका शोभा बरनी। शीतल मंद सुगंध त्रिविध सुखवायु विहरनी।।
रमा शची रति रची विरंचि शिवमन हरनी। श्रम न होय छिन पलक ध्यान करते भव तरनी।।
रामराय गुरु चरन शरन राजे रज मन्दा। दास गरीब सु प्रान प्रेम जीवन श्रीवृन्दा।।

३—वैराग्य विष्णुदासजी—ये आगरा के रहने वाले और सराफाके प्रधान साहूकार थे। एकबार श्रीरामरायप्रभु आभूषण बनवानेके लिए अपने सेवकोंके साथ इनकी दुकान पर पहुँचे। इन्होंने सादर बैठाया, सेवक ने खण्डित आभूषण और हीरा-मोती खोलकर विष्णुदासके आगे रख दिये। विष्णुदासने पूछा-प्रभो ! बिकेंगे अथवा बनेंगे। प्रभु ने कहा-हम तो सेवा-श्रृङ्गारमें फूलोंके आभूषण धारण कराने वाले हैं। परन्तु हमारे छोटे भाई की बहू मणिजटित आभूषणोंसे श्रीठाकुरजी का श्रृङ्गार करती हैं अतः श्रीठाकुरजीके लिए मुकुट, कौंधनी और हार आदि आभूषण बना दो और अपनी बनवाई ले लो। हाँ, हाँ करके विष्णुदास सोना तौलने लगे, उन्होंने तौलनेमें एक रत्ती सोना मार दिया (कम तौला)। सर्वज्ञ प्रभुने समझकर जीवके उद्धारार्थ चेतावनी, दोहा पढ़ा—आँखन देखत बावरो रत्ती रत्ती खाय। आँख मिचे रत्ती कहा तौला हू रहि जाय।। तू अबोध जीव देखते-देखते रत्ती-भर सोना खा गया। परन्तु समझ ले, आँख मूँदने पर रत्ती और तोला तो छूटेगा ही, उसके साथ तौलने वाला तुम्हारा शरीर भी साथ न जाकर यहीं रह जायेगा। प्रभुकी अमोघ वाणीका ऐसा प्रभाव हुआ कि उसका मन एकदम बदल गया। उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा कि इन सब आभूषणोंको तैयार करके श्रीवृन्दावनको भेज देना और तुम मुझे मरा हुआ मान लो, मेरी आशा छोड़ दो। ऐसा कहकर प्रभुकी घरमें पधरावनीकी और शिक्षा-दीक्षा लेकर विरक्त हो गये। प्रभुके साथ वृन्दावन आ गये। इस प्रकार

प्रभुने विष्णुदासको सुदृढ़ और सच्चा वैराग्य दिया। श्रीराधामाधवकी सेवा करते हुए उन्होंने 'वैराग्य-विज्ञान' और 'श्रीकृष्णलीला' नामक ग्रंथ बनाया। पद—

दोउ जन बातन बातन भूले।
कहाँ जात है कहाँ पहुँच गये हँसि हँसि लाजन भूले।।
मात यशोदा न्यौछावर करि राई नोन जु तूले।
विष्णुदास नन्द जू के मन्दिर निरख युगल सब फूले।।
जे धन कोश धरे ही रहे पशु पाश बँधे अपने अपने।
नारि किवारि लौं देखत द्वार लौं मित्र मशान गये झपने।।
देह सनेह भरो सो परी लकरी की चिता में लगी तपने।
'विष्णु' के प्रान कृपा के निधान श्रीराधिकामाधव जू जपने।।

श्रीविष्णुदासजी जैसे महान् गृहासक्त थे, उसी प्रकार उत्कट वैराग्यवान हुए। श्रीराधामाधव इन्हें सेवाके अनुभव करा देते थे। श्रीरामरायसे कहकर श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें बहुत दिनों तक अपने निकट गोकुलमें रक्खा। उसके बाद श्रीराधामाधवने स्वप्न देकर इन्हें श्रीवृन्दावन बुला लिया।

४—योग—युगलदासजी—आप दिल्ली निवासी कपूर खत्री थे। इन्हें ज्ञानमार्गियों का सङ्ग मिला अतः ये निर्वाणपुरी नामक संन्यासी के शिष्य बन गये। किसी समय तीर्थयात्रा करते हुए गुरु-शिष्य दोनों वृन्दावन आये। यहाँ वन-विहारकी झाड़ीमें मार्ग भूल गये और संयोगवश श्रीराधामाधव-वाटिकामें जा पहुँचे। भूख-प्याससे खिन्न एक वृक्षके नीचे पड़ गये। श्रीरामरायप्रभुके सेवकोंने इन्हें स्नान कराया और सादर प्रसाद पवाया। दोनों बहुत प्रसन्न हुए। मध्याह्नोत्तर जब प्रभु सत्सङ्ग चर्चा करने लगे तब निर्वाणपुरीजी ने अष्टाङ्गयोगका वर्णन किया। प्रभुने कहा-पुरीजी ! सूखेमें क्यों जा रहे हो, श्रीहरिकी हरियाली में आओ। गीतामें 'योगः कर्मसु कौशलम्। और पातञ्जल सूत्रमें 'योगश्चित्त- वृत्तिनिरोधः' कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंका निरोध कर कर्मकी जो कुशलता है, वही योग है। भा० च० अ० २९ में श्रीनारदजीने प्राचीनवर्हिसे कहा है—'तत्कर्म हरितोषं यत्' अर्थात् जिससे श्रीहरि प्रसन्न हों, वह सेवा ही कर्म है। उस कर्मयोगके आठ अङ्ग हैं। यम-मङ्गला, नियम श्रृङ्गार, आसान-गोपालदर्शन, प्राणायाम राजभोग, प्रत्याहार उत्थापना धारणा इच्छाभोग, ध्यान संध्या भोग, समाधि शयन-भोग। इस प्रकार से अष्टाङ्गयोग हुआ। भगवान भोक्ता हैं, शेष सभी जीव भोग्य हैं। यदि जीव ने भोग्यको अर्पण न किया तो वह योग अर्थात् प्रभु मिलनेसे वञ्चित रह

जायेगा। गीता में भूमि, आप, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये अष्टधा प्रकृति अष्ट सहचरियाँ हैं। अपरा अन्या प्रकृति मेरी प्रिया है। ये मेरी सेवामें सर्वदा बनी रहती है, इन प्रकृतियों को नित्य मुझे अर्पण करना ही योगका सार है। ऐसा श्रीकृष्णका कथन है। इस सत्सङ्ग चर्चासे सभी बहुत सन्तुष्ट हुए। दोनों वहीं रह गये, कुछ दिनों बाद निर्वाणपुरी श्वास रोगके कारण वृन्दावनकी रजको प्राप्त हो गये। कपूरजी श्रीरामराय प्रभुके शिष्य बन गये। आपको प्रभुसे उक्त अष्टाङ्ग योगकी उपलब्धि हुई। आपने 'भक्तियोग' और 'योगकल्पवल्ली' नामक दो ग्रन्थ रचे, उनका अंश यहाँ उद्धृत है–

भज सेवा जा धातु सों निष्ठा प्रत्यय पाय। सिद्ध होत निष्ठा सहित सेवा भक्ति कहाय॥
ता सेवा के अंग बहु नवधा भक्ति विलासु। श्रवण कीर्तन सुस्मरण पद सेवन अर्चासु॥
वन्दन दास्य सुसख्य पुनि आत्मनिवेदन होय। प्रेम लक्षणा सों सने सफल भये सब कोय॥
ईश्वर अरु या जीव को भेद अभेद महान्। शास्त्रन में वर्णन कियो अन्त न पायो जान॥
मिलिवो ईश्वर जीव को सेवा श्यामा श्याम। भक्ति योग प्रेमी कहै सोही आठो याम॥

इस प्रकार युगलदासजीने निर्गुण योगाभ्यास छोड़कर श्रीराधामाधवकी सेवा करने लगे। प्रभुने इन्हें सोहनीकी उत्तम सेवा सौंपी जो श्रीयमुना पटरानीने कुरुक्षेत्रमें माँगी है। क्योंकि रज उड़कर शरीरका स्पर्श करती है, उससे वह धन्याति-धन्य हो जाता है। श्रीयुगलदासजी सेवाके अनन्य अधिकारी हुए।

५–अन्तरगति–गो० श्रीराधिकानाथ प्रभु–श्रीरामरायप्रभुके लघुभ्राता गोस्वामी श्रीचन्द्रगोपालजी, उनके एकमात्र पुत्र थे श्रीराधिकानाथजी। मङ्गला-आरती के बाद श्रीचन्द्रगोपालजी 'माखन लो, माखन लो, ऐसा कहकर बुलाते थे अतः इनका एक नाम 'माखन प्रभु' पड़ गया। राधिकानाथ, राधाप्रिया एवं श्यामा सखी ये चार नाम इनके प्रसिद्ध हुए। इनके काव्योंमें भी चारोंकी छाप पाई जाती है। इनकी विशेष महिमा तब फैली, जब एकदिन श्रीरामरायप्रभु राजभोग अर्पणकर जगमोहनमें बैठकर श्रीमद्भागवत का पाठ करने लगे। सात वर्षकी अवस्था वाले श्रीराधिकानाथजी भी उनके साथ कण्ठस्थ पाठ करने लगे। इससे सभीको बड़ा-भारी आश्चर्य और हर्ष हुआ। किसीकी नजर न लग जाय इसलिए श्रीचन्द्रगोपालजीने इन्हें अपने पास बुलाकर कहा-पाठमें विघ्न मत करो। आँखें बन्द करके ध्यान करो। श्रीराधामाधव भोग आरोग रहे हैं। पिताजी की आज्ञानुसार आप नेत्र बन्दकर ध्यान करने लगे। थोड़ी देर बाद नेत्र खोलकर बोले–पिताजी! आपने जो भोग रखा है, उसमें

कढ़ीमें लवण नहीं डाला है। भगवान कैसे आरोगेंगे। बालकपनकी बात समझकर किसीने इनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। राजभोगके पश्चात् जब सभी प्रसाद पाने लगे तो अलोनी कढ़ी पाकर आश्चर्यचकित हो गये। श्रीरामरायजीने श्रीराधिकानाथको गोदमें बैठाकर बड़े प्रेमसे पूछा-वत्स ! कढ़ी अलोनी है, यह तुम्हें कैसे मालूम हो गया था। आपने कहा-पिताजी की आज्ञा से मैं ध्यान करने लगा तो ध्यानमें श्रीजीने मुझे अधरामृत-प्रसाद दिया, तब मैंने जाना। इस चमत्कारके बाद सभीके भाव बदल गये। लोग इन्हें अन्तरङ्ग श्याम-सखीका रूप समझने लगे। प्रभु-सेवामें इनका अनुराग हो गया। गुरु-कृपासे इनकी अन्तरगति श्रीप्रभुमें पग गई।

श्रीगौराङ्गदेव और श्रीबल्लभाचार्य इन दोनों महाप्रभुओंके आशीर्वाद फलित हुए जानकर श्रीरामरायप्रभुने परम्परागत श्रीगोपाल-मन्त्रकी दीक्षा देकर वैष्णव-धर्मकी शिक्षा दी। अब ये सेवाके भाव प्रकट करने लगे और श्रीराधामाधवजीको अपना सर्वस्व मानने लगे। कालान्तर में आपने अपने पिताके अपूर्ण ग्रन्थों को पूर्ण किया। आदिवाणी और गौड़ीय महावाणी की टीका समाप्त की। आपके द्वारा रचित संस्कृतमें, सेवा-पत्र है। ब्रजभाषामें श्रीराधासुधानिधिकी टीका, सवैया छन्दोंमें है। रसविन्दु, प्रेमसम्पुट और सेवा-प्रणालिका आदि ग्रन्थ भी आपने ब्रजभाषामें लिखे। पद—

प्रेमरस सर्व रसन सिरताज।
जात पांत कुल कान न देखै मेटै जग की लाज।।
पढ़े न मिलै न मिलत पढ़ाये चमकत जैसे गाज।
तीन लोक लाखन जन्मन धरि फिरो सकल वे काज।।
जा तन उमगत अवगति की गति सो तन साजे साज।
श्रीचैतन्य महाप्रभु वितरत अटल विश्व को राज।।
श्रीबल्लभ विट्ठल गोकुलपति गिरिधर रति सम्राज।
'माखन' को यह ही माखन है अन्य छाछ जल मांझ।।
श्रीशिव औ सनकादि के ध्यान न आवैं जोई ब्रजराज दुलारौ।
श्रीवृषभानु सुता वसनाञ्चल पौन के पर्श भयौ मतवारौ।।
मानत धन्य कृतार्थ महा निजु जीवन कों मधुसूदन प्यारौ।
'श्याम' के धाम सु रावल ग्राम दिशा को प्रानन किये सुख भारौ।।

६–काम के त्यागी–श्रीकिशोरदासजी–५-२३ श्रीगीताजीमें लिखा है कि मृत्यु से पहले जो काम-क्रोधादिसे उत्पन्न वेगको सहन करता है, वही धन्य है और सुखी है। राजपूतानेमें चित्तौड़के पास एक साधुओंका स्थान था, वहाँके महन्त श्रीबल्लभदासजीने वृद्ध होने पर एक अष्टादश वर्षीय गौड़ ब्राह्मणको अपना शिष्य बनाया और किशोरदास नाम रखकर उसे अपना उत्तराधिकार सौंपा। कुछ दिनों बाद वृद्ध महन्त की मृत्यु पर किशोरदास महन्त बन गये। धन, यौवन, प्रभुत्व और अविवेक का सङ्गम, सत्सङ्गका अभाव होनेसे किशोरदास बड़े कामुक हो गये। बहुत दिन बीतने पर काम, क्रोधके संस्कार सुदृढ़ हो गये। प्रजावर्गके लोगोंने राजासे कई बार शिकायत की पर धन बलसे राजकर्मचारियोंको प्रभावित कर किशोरदास कुमार्गमें ही बढ़ते गये। किसी समय रामराय महाप्रभु वहाँ पधारे। दर्शनार्थियोंकी अपार भीड़ हुई। आपने राजा-प्रजा सभीको सदुपदेश दिया। अवसर पाकर कुछ लोगोंने किशोरदासकी कथा सुनाकर प्रार्थना की कि आप कृपा करके साधु-स्थानकी रक्षा करें। तब आपने अपने सेवकको भेजकर किशोरदासको बुलवाया पर वे नहीं आये और बोले-ऐसे साधु-सन्त नित्य ही आते रहते हैं, मैं किसीके पास नहीं जाता हूँ। यह सुनकर श्रीरामरायप्रभुको दया और हँसी आई।

उसी रात्रिमें किशोरदासको हैजा हो गया। किसी उपचारसे लाभ न हुआ, मूर्च्छित पड़े रहे। किञ्चित् चेत हुआ तो आपने अपने मित्रोंसे कहा कि यदि मुझे बचाना चाहो तो वृन्दावन वाले सन्तको शीघ्र बुलाकर लाओ। लोग सवारी लेकर गये, दयावश आपने आकर किशोरदासको देखा। मरणासन्न भूमि पर पड़े किशोरदासने रोकर कहा-महाराज ! मुझे बचाओ मैं आपकी शरणमें हूँ। इसे दुःखित देखकर प्रभुने भगवत्-चरणामृतमें मिली ब्रजरज किशोरदासके मुखमें डाली और वरदहस्त सिर पर रखकर कहा-अब तुम पूर्णरूपसे स्वस्थ हो जाओगे। लोगोंसे आपने कहा–'प्रभु-चरणामृतके अतिरिक्त दूसरी वस्तु आज इनको न देना।' ऐसा कहकर श्रीरामरायप्रभु वहाँसे चलने लगे तो किशोरदासने प्रार्थना की-प्रभो ! मुझे छोड़कर मत जाइये। लोगोंने भी आग्रह किया, तब आप वहीं साधु-स्थान में ठहर गये। तीन दिनमें किशोरदास स्वस्थ हो गये और उन्होंने प्रभुसे शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। इनकी वृन्दावनवासकी प्रार्थना मानकर प्रभुने पञ्चायतको मन्दिर सौंप दिया और सेवा-पूजाकी व्यवस्था कर दी। लाखों रुपयेकी सम्पत्तिका त्यागकर किशोरदासजी प्रभुके साथ श्रीवृन्दावन धामको आये। ये ब्रजरसके अनन्य उपासक और उच्च भावुक हुए। निरन्तर रसिक साधुओंकी सेवा सङ्गतिमें रम गये। दोहा, सवैया, चौपाई आदि छन्दोंमें आपने एक 'काम कलेवर' नामक

ग्रन्थकी रचनाकी, जिसमें आपने विश्व-कल्याणार्थ आप बीती काम गाथा गाई। सन्त सद्गुरु ही हम जैसे जीवों का उद्धार कर सकते हैं और कोई नहीं यह सिद्ध कर सका। दोहा—

श्रीगुरुदेव दयाल की चरण कमल रज पाइ। मैल मजे मन के सकल मिले गोवर्धन राइ।।
मन ही मन यह सोचतो तिया तीर भरमार। काहू के कर होयगो मेरो हू उद्धार।।
सो विपदा इक रात में रामराय गुरुराय। हरि लीनी दीनी घुटी दास किशोरहिं प्याय।।

नाम वृन्दावन श्याम वृन्दावन धाम वृन्दावन वास करायौ।
वेद पुरान निदान न जानत सो रस पान महान पिवायौ।।
राधिका माधव सेवा मिली मन मेवा मिली हिय टेवा बसायौ।
'दासकिशोर' निराश की ओर सों जोर कियौ अभिलाष पुरायौ।।

७—क्रोध विजयी—केशवदासजी—क्रुद्धो हन्ति स्वमात्मानं क्रुद्धो नश्यति सत्कुलम्। क्रुद्धो हरिं न जानाति क्रुद्धो हन्याद् गुरुनपि।। क्रोधी आत्मघाती और कुलघाती होता है। क्रोधी अपने गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है, वह श्रीहरिको नहीं पहचान सकता है। अतः क्रोधको त्यागना चाहिए। केशवदासजी (ब्रजमें) करहला ग्रामके निवासी और अहीर कुलके बालक थे। किसी चेटकी से इन्हें यक्षिणीकी सिद्धि प्राप्त हो गई। अपने गुरु-स्थान लाहौरमें रहने लगे। चमत्कारोंसे प्रभावित होकर इनके हजारों सेवक बन गये। जिस वस्तुको जहाँ से चाहते, मँगा लेते। भूत-भविष्य-चोरी और लोगोंके मनकी बात बताते। इससे इन्हें खूब धन-मान मिलता। किसी पर क्रुद्ध हो जाते तो उसका अनिष्ट कर देते अतः लोग इनसे डरते भी थे। श्रीरामरायप्रभुकी पितृभूमि लाहौर थी अतः इनके भी बहुत से सेवक थे। वे भी प्रायः केशवदासके शिष्य बन गये। कुछ लोगोंने लाहौरसे वृन्दावन आकर श्रीरामरायजीको सुनाया कि वहाँ वैष्णवधर्मका सर्वथा लोप हो रहा है। यह सुनकर वैष्णवधर्मकी रक्षाके लिए श्रीप्रभु लाहौर गये। साथ में चार-सम्प्रदायके वैरागी साधुओंको भी ले गये। केशवदासके समीप ही एक सेवकके घर पर विराजे। इनका नाम सुनकर बहुत से लोग इनके दर्शन करने आने लगे।

केशवदासने अपनी सिद्धाई फीकी होती देखकर इनके पास सूचना भेजी। यदि आपको धन चाहिए तो मेरे पास आकर मनमाना धन ले लीजिये और लाहौर छोड़कर अन्यत्र चले जाइये अन्यथा आपकी पण्डिताई धूलमें मिल जायगी। आपने हँसकर उत्तर भेजा कि अब तक तुम्हारी सिद्धाई बहुत चली, अब नहीं चलेगी। तुमने अनेक चमत्कार लोगोंको दिखाये, अब मेरे ऊपर कुछ करके दिखाओ तो हम जानें। यह सुनकर केशवदास ने अपनी यक्षिणीसे

कहा-तू जा और उस पण्डितको पकड़कर मेरे पास ले आ। विकराल- रूपा यक्षिणी छत्त फाड़कर श्रीरामरायप्रभुके पास आई। प्रभुने सन्ध्यापात्र से जल लेकर उसके ऊपर डाल दिया। वह जलकर चिल्लाने लगी कि मेरी रक्षा करो। तब प्रभु ने उसकी रक्षा कर उसे आज्ञा दी कि केशवदास की चुटिया पकड़कर उसे मेरे पास ले आ। थोड़ी देर बाद ही उसने लाकर केशव को प्रभु के सामने पटक दिया। प्रभु ने उस पर जल डालकर उसे चैतन्य किया। और दयावश यक्षिणीको मुक्ति देकर उसे परमधाम भेज दिया। शरणागत दीन केशवदासको प्रभुने शिक्षा-दीक्षा देकर वैष्णव बनाया। क्रोधादि विकारोंको दूरकर प्रभुप्रेम प्रदान किया। प्रभुजी के श्रीचरण-प्रसाद से लाहौर में वैष्णवधर्म की पताका फहराने लगी। सभी लोग भक्ति की आराधनामें रत हो गये। केशवदासजी को साथ लेकर आप श्रीवृन्दावन पधारे। केशवदास दृढ़-निष्ठावान, परम त्यागी और सत्सङ्गी सन्त हुए। इनके लिखे छः ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। गुरुपूर्णिमा, वैष्णवभेद, भक्तिवर्द्धिनी, लोकदीपिका, क्रोध-क्रूरता और तत्वत्रयी। दो०-लोभ भजनको कीजिये मोह मधुर हरिनाम। ताके मद छाक्यौ रहै शोक भाव विन काम।। क्रोध करत तामस बनै क्रोधीजन चण्डाल। हरिगुरु को सोहै नहीं भक्ति विमुख विकराल।। तामस देवी देव की सेवा क्रोध बढ़ाइ। अन्न तामसी जो भखे सो तामस ह्वै जाय।।

चौ०— तत्वतीन गुरुदेव बताये। प्रथम तत्व ईश्वर समझाये।।
दुतिय तत्व सो वेद बखाने। तीजो माया सब लपटाने।।
तीनिउ तत्व शरीर बिहारी। जीव ईश माया वपु धारी ।।
हिये बसत ईश्वर अरु जीवा। मायामय छविधर सुखसीवा।।

८-मदमुक्त-मनोहरदास—श्रीमद्भागवतमें कुन्तीजीने श्रीकृष्ण से कहा है कि—जो कुल और धन आदिके मद से मत्त हैं, ऐसे अभिमानी लोग आपके नामका उच्चारण करने के अधिकारी नहीं हैं, उसे केवल आपके निष्किञ्चन भक्त ही ले सकते हैं। मनोहर दासजी जयसवाल पटनाके रहने वाले थे। कलवारों में सबसे बड़े धनी-मानी थे। मदिरा पानका बड़ा—भारी दुर्व्यसन था। चार पुत्र, नौ पौत्र अनेक दौहित्र और भाई-बन्धुओं से भरा—पूरा घर था। इन्हें अपने धन—कुटुम्ब आदिका भारी मद था। कोई भी साधु-ब्राह्मण कदाचित् इनके द्वार पर पहुँच जाता तो ये उसे खूब गालियाँ देते। श्रीरामरायप्रभु प्रतिवर्ष जगदीशपुरी को दर्शनार्थ पधारते थे। क्योंकि श्रीजयदेवजी जगन्नाथ जी के ही स्वरूप थे। एक वर्ष पचास वैष्णवों के साथ मार्ग में विश्राम के लिए कई दिन पटना नगर में विराजे। एकदिन भावुक निम्बार्कीय सन्त गोपालदास जी नगरमें भ्रमण करते हुए अकस्मात् मनोहरदास के द्वार पर पहुँच गये। तिलकधारी इस सन्त को देखते

ही उसने गाली देना प्रारम्भ कर दिया। साधु तो साधु ही ठहरे, मनमें आया कि यदि ऐसे अधमका उद्धार न हुआ तो श्रीरामरायप्रभुका इस नगर में पधारना व्यर्थ ही माना जायगा। वे शीघ्र ही प्रभु के पास आये, समाचार सुनकर प्रभु ने पहले तो टाला कि संसार है अपने को क्या करना है। परन्तु गोपालदास के आग्रह को स्वीकार कर एकदिन आप सन्ध्या के समय कई वैष्णवों के साथ मनोहरदास के द्वार पर गये।

उस समय मनोहरदास के द्वार पर थारू स्त्रियों का अश्लील नृत्य हो रहा था। मदोन्मत्त मनोहरदास एक तखत पर बैठे नर्तकियों को धन और वस्त्र बाँट रहे थे, उनकी प्रशंसा कर रहे थे। सैलानियों की काफी भीड़ थी। उसी समय भीड़ में घुसकर प्रभु उसके पास पहुँच गये। गाली देने का उसका साहस तो नहीं हुआ पर वह निर्लज्जतापूर्वक बोला—आइये, बैठिये और देखिये, कैसा सुन्दर नृत्य हो रहा है। प्रभु ने कहा—मूर्ख! तेरे हृदय में और घर में सर्वत्र अपवित्रता है, कहाँ बैठायेगा। उसने उपेक्षापूर्वक कहा—बाबा! तुम जैसे भीख माँगने वाले यहाँ प्रातः से सायं तक नित्य ही जाने कितने आते-जाते हैं। इसी बीच ऐसा चमत्कार हुआ कि किसी अदृष्ट पुरुष ने मनोहरदास के मुख पर बड़े जोर से एक थप्पड़ मारा, जिससे उसकी पगड़ी जमीन में जाकर गिरी। वह एक क्षण के लिए अचेत-सा हो गया पुनः स्वस्थ होकर प्रभु के श्री चरणों में गिर पड़ा। गान-तान समाप्त हो गया। उसने एक तखत बिछवाया, गद्दी-तकिया लगाकर उस पर प्रभु को प्रार्थनापूर्वक विराजमान कराया। उसके चारों पुत्र आ गये, वे भी चरणों में पड़कर बोले—महाराज! पिता सहित हमारे अपराधों को क्षमा कर हमको अपनी शरण में लीजिये। प्रभु ने गङ्गाजल मँगवाकर सबको पिलाया। उपदेश देकर सबको सन्मार्गका अनुयायी बनाया। शिक्षा-दीक्षा पाकर सभी कृतार्थ हो गये। अब मनोहरदास का मद उतर गया। घरबार त्याग कर उसने वैराग्य ले लिया और प्रभु के साथ ही उसने जगदीशपुरी की यात्रा की। पश्चात् श्री राधामाधव-वाटिका वृन्दावन में आकर रहने लगे और श्रीठाकुरजी की सामग्री भण्डार का इन्हें अधिकार मिला। पहले ये जैसे विषयी थे, वैसे ही महान् त्यागी-अनुरागी हुए। भगवान की सेवा कर इन्होंने अपना जीवन-जन्म सफल कर लिया। रसिकवंश वर्णन तथा श्रीगङ्गा-यमुना की स्तुति काव्य लिखकर मनोहरदासने अपनी वाणी को पवित्र किया। यथा—दोहा—

स्वयं कृष्णरस तृष्णजन पूरन रस की प्यास। रसिकराय जयदेव वपु जगन्नाथ सुखरास।
रामराय गुरुदेव मम प्रगट भये यहि वंश। अनुपम ब्रजलीला विपिन वृन्दावन अवतंस ॥

सारस्वत ब्राह्मण विदित सरस्वती के पूत। कै तो ये राजा बनें कै जोगी अवधूत।।
आनन्दकन्द ब्रजचन्द कृष्ण पटरानी। कहुँ मूरति महिमा कहुँ प्रवाह को पानी ।।
वंशीवट तट पर निकट सदा अगवानी। राधारानी के जीवन की सुन्दर रजधानी।।
सुख नहीं त्रिलोकी श्रीवृन्दावन तजके। हैं परम उपासक शिव विरञ्चि या रजके।।
यह रज प्रभु ने निज जिह्वा से चाटी है। पावन पवित्र ब्रज की माखन माटी है।
जिनने लाखन जन्मन में पाप किये हैं। धर्म को आसरो नाहिन कबहु लिये हैं।।
साधन बल तज आश्रम करि बसे किनारे। गङ्गा मैया ने कौन कौन नहिं तारे।।

९—लोभ त्याग—लाखादासजी—रजोगुण की वृद्धि से लोभ बढ़ता है। लाखाजी लखीमपुर के राजा थे। जैसे ये कंजूस थे वैसे ही इनकी प्रजा थी। कभी किसी ब्राह्मण को दान या दीन के साथ उपकार न करने से इनका राज्य नष्ट हो गया। सपरिवार सोरोंजी गङ्गा तट पर झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। किसी समय रामरायप्रभु वहीं पधारे। इनकी झोंपड़ी के निकट ठहरे, प्रभु ने गङ्गा स्नान किया। इनके गीले वस्त्रों को उठाकर लाखाजी ने धो डाला फिर अपने पुत्रों से कहा—दूध लाकर महाराजजी के लिए दूधपाक सिद्ध करो। प्रभु ने निषेध करके मानसी द्वारा अपने सेवकों को तथा सपरिवार लाखाजीको पूर्ण तृप्त करके भजनोन्मुख किया। इन्हें सिद्ध जानकर लाखाने दीनतापूर्वक विनती की—प्रभो! मेरा दरिद्र दूर करो। प्रभु ने कहा—लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार से सुख तुम्हारे भाग्य में नहीं है पर तुमने गङ्गाका आश्रय, और-किञ्चित दीनता दिखाई है अतः तुम्हारे मनोरथ पूरे होंगे। परन्तु धन पाकर साधु-ब्राह्मण का सत्कार करना। लोभ न करना। हम तो अब जा रहे हैं, प्रातःकाल सामने वाले वटवृक्षकी जड़में खोदने से तुम्हें धन मिल जाएगा। प्रातः खोदने से लाखा को एक करोड़ धन की प्राप्ति हुई। पहले से भी अधिक वैभव हो गया। किन्तु धन पाकर ये पुनः मदान्ध हो गये। इनके पुत्र-भृत्य भी क्रूर बन गये। साधु-ब्राह्मण और भिखारी यदि द्वारा पर आता तो धक्का देकर उसे भगा देते।

इनकी परीक्षा लेने के लिए श्रीरामरायप्रभु स्वयं ब्राह्मण का रूप धारण कर इनके द्वार पर पहुँचे और बोले-हम लाखाजी से मिलेंगे। द्वारपाल ने फटकारा धक्का दिया। प्रभु के अङ्गका स्पर्श करते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। आप भीतर लाखाके सामने पहुँचे। रजोगुणी लाखाने कहा-क्यों रे ब्राह्मण! तू हवेली में कैसे घुस आया। किसी नौकर ने तुझे रोका नहीं? ऐसा कहकर लाखाने मारने के लिए लाठी उठाई। प्रभु वहीं अन्तर्धान हो गये।

दूसरे दिन सोमवती अमावस्या थी। लाखाजी घर से न निकले इसलिए कि किसी को कुछ देना पड़ेगा। एकदिन रामलीला में रावण-वध देखने के लिए घोड़ा-गाड़ी पर बैठकर मेला में गये। जब ये मेला देखने लगे, तब अवसर पाकर श्रीरामरायप्रभु ने लाखाका रूप धारण किया और घोड़ा-गाड़ी में बैठकर घर आ गये। लड़कों ने पूछा—दादा! इतनी जल्दी कैसे आ गये। इन्होंने उत्तर दिया कि अब तुम मेले में मत जाना। वहाँ एक ठग मेरा-सा रूप धारण करके घूम रहा है। यहाँ आकर वह तुम्हें ठग न ले। इसलिए मैं चला आया हूँ। तुम लोग उससे सावधान रहना। उधर घोड़ा-गाड़ी न पाकर लाखाजी पैदल ही घरको लौटे। उन्हें देखते ही सभी लड़के गाली देने लगे और बोले कि यहाँसे भाग जा नहीं तो हम तेरी दुर्दशा कर देंगे। लाखाजी क्रोधित होकर पुत्रोंको मारने दौड़े, उसी समय चारों पुत्रोंने ऐसी मार लगाई कि लाखाजी उठने लायक न रहे। तब नौकरों से उठवाकर जङ्गलमें पटकवा दिया।

दुःखित लाखाजी अपने मित्रोंसे मिले और राज-दरबारमें पुकार की। न्यायाधीशके सामने दोनों लाखा उपस्थित हुए। आश्चर्यचकित होकर न्यायाधीशने पूछा कि बताओ, तुम्हारा किससे क्या लेना है और किसको क्या देना है? जो ठीक-ठीक बता देगा वही सच्चा लाखा माना जायगा। लाखाके मुनीम-दीवान सही लिखा-पढ़ी रखते थे अतः ये सही उत्तर न दे सके। लाखा-रूपधारी सर्वज्ञ प्रभुने पैसे-पैसेका लेना-देना बता दिया। न्यायाधीशने उन्हें सच्चा मान लिया और लाखाजीको कैदखानेमें बन्दकर दिया। सब ओरसे हताश-निराश लाखाको कैदखानेमें श्रीरामरायप्रभुकी याद आई कि उन्होंने हमारे दरिद्रको दूर किया था, आज भी वे ही मेरे सङ्कटको दूरकर सकते हैं। रो-रोकर बिनती करने पर दयालु प्रभु कारागारमें पहुँच गये। अपना-सा रूप देखकर पूछा-आप कौन हैं, कृपा करके बताइये। तत्क्षण प्रभुने अपना स्वरूप धारण करके दर्शन दिया और पूछा कि क्या मैंने तुमको धन इसलिए दिया था कि लाठीसे हमें मारो। लाखाजी सब समझ गये और चरणोंमें गिरकर प्रार्थना करते हुए बोले-प्रभो! मैं अज्ञानी धन पाकर मदोन्मत्त हो गया था, आपने ठीक शिक्षा दी, अब कृपा करके अपनी शरणमें लो। बिनती सुनकर प्रभुने कारागारसे मुक्त कराया और शिक्षा-दीक्षा देकर वैष्णव बनाया। प्रभु-कृपासे अब इन्हें प्रबल वैराग्य उत्पन्न हुआ। सब कुछ छोड़कर निरन्तर प्रभु-सेवामें लग गये। घरमें पैर नहीं रक्खा। इनके चार ग्रन्थ हैं—त्याग तरङ्ग, उत्सव विलास, आचार्य चालीसा और सेवामुख। ये सभी उत्तम हैं। कुछ छन्द नीचे लिखे जाते हैं—

श्रीगुरुदेव अनन्त गुन रामराय भगवान। इनकी पद रज सों मजे हृदय भयौ निर्वान।।
रङ्क देखि राजा कियौ राजा सों पुनि रङ्क। करुना जल गोता दियौ धुव्यौ देह मल पङ्क।।

गुरु बिन कौन उधारे मोय।
गुरु श्रीकृष्ण गुरु श्रीराधा गुरु उपासक जोय।।
गुरु वृन्दावन गुरु श्रीयमुना गुरु जयदेवहु सोय।
रामराय गुरु कृपा ज्ञान भयौ 'लाखा' लख सब कोय।।

१०—मोहमुक्त—मधुसूदनदास—मान और मोहसे मुक्त, सङ्गदोषसे रहितजन ही अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं। श्रीरामरायप्रभुने मधुसूदनदासको मोहसे मुक्त किया। ये काशीनरेशके कोषाध्यक्ष थे। सोमवती पर्वके दिन ये सपरिवार पंचगङ्गा घाट पर स्नान करने आये। मधुसूदनका पैर फिसल गया और गोता खाकर डूब गये। मल्लाहोंने इनका शव गङ्गा से बाहर किया। मधुसूदनकी पत्नी ने समीप ही स्नान कर रहे प्रभुजीका वस्त्र पकड़ लिया और बोली कि—तुमने ही मेरे पतिको धक्का देकर डुबा दिया। बहुत समझाने पर भी नहीं मानी। दूसरे लोग भी उसीकी बातका समर्थन करने लगे। अब आपने कहा कि इस काशीमें श्रीगङ्गा और विश्वनाथजी मेरे परिचित हैं यही मेरा पक्ष लेंगे और न्याय करेंगे। कहो तो मैं गङ्गाजीसे कहलवा दूँ कि मैंने धक्का नहीं दिया है। दुष्टजन आपका उपहास करते हुए बोले अच्छा गङ्गाजी से कहला दो। परिवारका करुण-क्रन्दन सुनकर आपको दया आई। आपने श्रीजयदेव प्रभुका ध्यान करके गङ्गाजीकी स्तुति की। लोगोंके देखते- देखते चतुर्भुज-रूपधारिणी श्रीगङ्गाजी प्रकट हो गईं, आपने पूजन-वन्दन किया, उसे स्वीकार कर अन्तर्धान हो गईं। प्रभुने श्रीगङ्गाजीका प्रसाद-जल मधुसूदन के मुखमें डाला, वह तत्काल ही जीवित होकर उठ बैठा। इस घटनासे प्रभावित होकर बहुतसे लोग आपके शिष्य-सेवक बन गये। मधुसूदनने विरक्त शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की और श्रीवृन्दावनधाम वास कर अपने जीवनको धन्य बनाया। सेवाके अनुभव प्राप्त कर आपने चार ग्रन्थ लिखे। श्रीकृष्णलीला, स्वरूप-परिचय, भक्ति-वितान और कर्तव्य निर्णय। पद

भावत श्रीगिरिधर की बतियाँ।
जब बोलत तब रस की वर्षा वरसत हरसत छतियाँ।।
कैसे लागत कटिधर कर को मनु निरतत बहु भतियाँ।
नैन सलोने बैन रसीले मोहन सुर मुनि मतियां।।

अंग अंग सोहत सुघराई नवल लाल रति पतियां।
कल न परत छिन भर बिन देखे रसिकराज रस गतियां।।
गोल कपोल लोल दृग मोहन भुज दण्डन भर छतियां।
'मधुदासी' गुरु रामरायप्रभु कृपा कल्प नव लतियां।।

११—मत्सरमुक्त-हरिदासजी पटेल—एकबार श्रीरामरायप्रभु सेवकों को साथ लेकर द्वारकापुरी पधारे। द्वारकाधीश की सेवा में आपका दर्शनकर अनेक लोग कृतार्थ हुए। आप भोग अर्पण करके बाहर बैठे थे। दर्शनार्थियों की भीड़ थी। उसी समय भोजकट का निवासी हरिदास पटेल अपने नौकरों के साथ दर्शनार्थ आया। पहले की तरह आज पुजारियों ने माला आदि से इसका सत्कार नहीं किया, क्योंकि वे सब श्रीरामरायप्रभुके निकट थे। तब क्रोध करके पटेलने कहा-आप लोग जब दक्षिणा लेने आओगे तो देखूं तुम्हें दक्षिणा कौन देगा। ऐसे अभिमान भरे शब्द सुनकर प्रभुने पूछा, तो पुजारियों ने बताया कि धनी-मानी पटेल है, जब आता था तब हम इसका स्वागत करते थे, यह हमको भेंट देता था। आज किसी ने बात नहीं पूछी, इससे रुष्ट हो गया है। प्रभु ने आज्ञा दी कि इसे मेरे समीप बुलाकर लाओ। वह क्रोध में डूबा हुआ था अतः प्रभुके समीप नहीं आया, तब प्रभु स्वयं उसके पास गये। इनकी दृष्टि पड़ते ही उसका क्रोध और मत्सर शान्त हो गया। तब नमस्कार करके बोला-भगवन्! मैं क्रोधावेश में था, मेरे मुखसे जो अपशब्द निकले, उन्हें आप क्षमा करें।

प्रभु हँस पड़े, उसी समय द्वारकाधीशकी चौक में स्वर्ण की मुहरें बरसने लगीं। आधा घण्टे के इस कौतुहल से सभी आश्चर्यचकित हो गये। फिर आपने आज्ञा दी कि— हमारे कारण पुजारी तुमसे नहीं बोले, आज तक तुमने जितना धन इनको दिया है, आज उससे दूना ले लो, कुछ बाकी न रहे। हरिदास पटेल और उसकी पत्नी कमला दोनों ने पुजारी से पूछा—ये कौन हैं। पुजारी ने बताया कि ये जयदेव प्रभु के वंशभूषण गोस्वामी श्रीरामराय प्रभुजी महाराज हैं। इनके प्रेम में इतना बल है कि श्रीकृष्ण इनके साथ में लगे डोलते हैं। परिचय पाकर सभी यात्री और हरिदास प्रभु के सेवक बन गये, प्रभु ने हरिदास पर ऐसी कृपा की कि उनका मद-मत्सर सर्वथा दूर हो गया, उन्होंने घर, धन, स्त्री और पुत्रों को छोड़कर वैराग्य ले लिया। हजारों वर्षों की तपस्या से भी दुर्लभ प्रेम गुरु-कृपा से प्राप्त हो गया। प्रभु के साथ ही श्रीवृन्दावन में आकर सेवा-सत्सङ्ग करने लगे। गुजराती भाषा में इनके बहुत से कीर्तन हैं। यथा—

हुँ हरिनो हरि छै मम रक्षक एम भरोसो जाय नहीं।
जे हरि करसे ते मम हित नुं ए निश्चय बदलाय नहीं ।।
शक्ति छतां परमारथ थल थी पाछा पगला भराय नहीं।
स्वार्थ तणां पण काम विषे कदी अधरमने अचराय नहीं।।

१२—त्याग—श्रीतीर्थरामजी जोशी—श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। श्रीकृष्ण भगवानने गीता के बारहवें अध्याय में कहा है कि अमर्मज्ञ अज्ञान से ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान, ध्यान से कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है। त्याग से स्थायी शान्ति मिलती है। गुरु श्रीरामरायप्रभुकी कृपा से तीर्थरामजी ने उस रहस्य को समझा और संसार को त्यागकर प्रेम-पथके पथिक बने। एकबार श्रीरामरायप्रभु सौराष्ट्रसे ब्रजको पधार रहे थे। उस समय मारवाड़में एक गाँव मिला। प्रभुने आज्ञा दी कि आज रातको यहीं विश्राम करना है अतः कोई ठहरने योग्य स्थान देखो। सेवकोंने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि इस गाँव के सबसे धनी-मानी तीर्थराम जोशी हैं और उनकी चौपाल ही लोगोंके ठहरनेका उत्तम स्थान है, यह जानकर सेवकों सहित प्रभु वहीं पहुँच गये। तीर्थरामजी जितने बड़े धनी थे, उतने ही बड़े कृपण थे। प्रभुके सङ्ग वैष्णवोंको आते देखकर वे घरमें घुस गये। लोगोंने कहा—प्रभो ! इसके उद्धार से समस्त गाँवका उद्धार हो जायगा अतः आप इसका उद्धार करो। प्रभुने कहा—उन्हें मेरे पास बुलाकर लाओ। हम उनसे दो बातें करके अन्यत्र चले जायेंगे। लोग बुलाने गये तो तीर्थरामने कहा—तुम लोग मेरे पीछे क्यों पड़े हो, बाबा लोगोंसे कह दो कि उनका शरीर अस्वस्थ है। इसके बाद गाँवके कई सज्जनोंने जाकर समझाया कि ये माँगने-खाने वाले सन्त नहीं हैं, इनका दर्शन दुर्लभ है, तुम चलकर दर्शन कर लो, वे रुकने वाले नहीं हैं।

इस प्रकार बहुत कहने-सुननेसे तीर्थरामजी घरसे बाहर आकर प्रभुसे मिले। प्रभुने कहा—सभी लोग दूर हट जायँ। एकान्तमें आपने जोशीजीको उक्त गीताका श्लोक सुनाया। त्यागसे शान्ति सुनकर जोशीजीने उसी क्षण मनसे सर्वस्वका त्याग कर दिया। क्योंकि उनके मनमें बड़ी अशान्ति थी। पृथ्वीमें गढ़े धनमें मोह रहने से सर्पयोनि मिलेगी। इस भयसे प्रभुकी शरण ग्रहण की। इसके बाद सभीको बुलाकर तीर्थराम जोशीने कहा मैं प्रातः प्रभुजीसे विरक्त दीक्षा लूंगा और घर-द्वार छोड़कर श्रीवृन्दावन चला जाऊँगा। यह सुनकर गाँव वालोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। लोग प्रभु की प्रशंसा करने लगे। रात-भर सत्सङ्ग होता रहा। प्रातःकाल सभीने

स्नान कर दीक्षा ली, सेवक बने। तीर्थरामने खेतमें तीन लाख रुपये गाड़ रक्खे थे, उन्हें खोदकर प्रभुको समर्पित कर दिया। प्रभुने पचास हजार रुपये पञ्चायतको दिये, उनसे आगन्तुक अतिथि अभ्यागतोंकी दैनिक सेवाका प्रबन्ध हुआ। शेष धन तीर्थरामके पुत्रोंको दे दिया। तीर्थराम प्रभुके साथ वृन्दावन धाममें आये। निरन्तर धामवासकी प्रतिज्ञा करके श्रीराधामाधवका कैङ्कर्य करने लगे। आपने गीता-रहस्य, यमुनास्तवराज, ब्रजभाव-माधुरी आदि ग्रन्थ लिखे। यमुनास्तव—

नमामि श्रीगोकुलनाथ प्यारी। वृहद्वने ब्रह्म प्रकाश नारी।।
वृन्दा सुवृन्दावन सिञ्चनारी। जै होय जै श्रीयमुने तिहारी।।
पुरी प्रधाना मथुरा किनारी। अनेक सौगन्ध सुगन्ध धारी।।
सेवा समाधान विधान कारी। जै होय जै श्रीयमुने तिहारी।।

(आचार्य श्रीब्रह्मगोपाल गोस्वामी कृत 'बारह वैष्णववार्ता' से श्रीरामरायप्रभु के द्वादश शिष्योंका चरित्र संक्षेपसे लिखा गया। यह ग्रन्थ आचार्य श्रीयमुनाबल्लभ गोस्वामी, श्रीराधामाधव मन्दिर, दुसायत, श्रीवृन्दावनसे प्राप्त हुआ) गोस्वामी श्रीविश्वनाथजी चक्रवर्तीने दशमकी सारार्थदर्शिनी टीकामें लिखा है—

श्रीमद् गदाधर नमो नृहरे नमस्ते श्रीरामराय नम एव नमः स्वरूप।
श्रीरूप सानुग नमोऽस्तु नमोस्तु तुभ्यं श्रीमत्सनातन नमोऽस्तु नमो नमोऽस्तु।।

भक्तदाम गुण चित्रणीकार लिखते हैं कि श्रीरामरायजीमें अनन्त गुण थे। उनमें भगवद्-भक्ति भरी थी। कठिन साधनमय भगवदाराधन करके आपने अपने शरीररूपी वनमें ज्ञानरूपी अग्निको प्रकट कर लिया, उससे अविद्या (माया) के काम, क्रोधादि सेनापति जल गये। भक्तिकी शक्ति प्रबल हो गई। एकबार आप कुलग्राम में विराजे थे। भजन के प्रतापसे आपकी महिमा बढ़ गई थी, अनेक महापुरुष आपका मान-सम्मान कर रहे थे। किन्हीं विमुख ब्राह्मणोंको यह अच्छा नहीं लगा। वे लोग आपसे शास्त्रार्थ करने लगे। पर सभी पराजित हो गये। तब उन लोगोंने निश्यच किया कि रात्रिमें इनको मारकर यहाँसे भगा देंगे। ऐसा सोचते ही इन लोगोंके सिरकी पगड़ियाँ नीचे गिर गईं। भूमिसे उठाकर सिर पर रखनेसे वे पुनः गिर गईं। अपनी भूल पर पश्चात्ताप करके सभीने आपके चरण पकड़े। तब उनके सिरों पर पगड़ियाँ रुकीं। ऐसे ही जब-जब जिसने आपसे बैर किया, उसे नीचा देखना पड़ा।

* श्रीभगवन्तमुदितजी *

भगवन्त मुदित उदार जस रस रसना आस्वाद किय।।
कुञ्ज बिहारी केलि सदा अभ्यन्तर भासै।
दम्पति सहज सनेह प्रीति परमिति परकासै।।
अननि भजन रसरीति पुष्ट मारग करि देखी।
विधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय विशेखी।।
माधव सुत सम्मत रसिक तिलक दाम धरि सेव लिय।
भगवन्त मुदित उदार जस रस रसना आस्वाद किय।।१९८।।

शब्दार्थ—अभ्यन्तर=हृदय। भासै=प्रकाशै, दिखाई पड़े। परमिति=आखिरी हद, अन्तिम। पुष्ट मारग=दृढ़ निर्विघ्न सरल मार्ग।

भावार्थ—श्रीमाधवदासजीके सुपुत्र श्रीभगवन्तमुदितजीने रसिक भक्तोंसे समर्थित तुलसी-कण्ठी और तिलक धारणकर अपने इष्टदेव श्रीराधाकृष्णकी नित्य-नियमसे सेवाकी तथा उदार भगवानके परमोदार सुयशको अपनी वाणीसे वर्णन करके उसके रसका आस्वादन किया। श्रीकुञ्जबिहारिणी-कुञ्जबिहारीकी नित्य-निकुञ्ज लीला इनके हृदयमें सर्वदा प्रकाशित रहती थी। दम्पत्ति श्रीराधाकृष्णका जो पारस्परिक सहज स्नेह और प्रीति की जो अन्तिम सीमा है उससे आपका हृदय प्रकाशित था। अनन्य भावसे सेवा करनेकी जो रसमयी रीति है उसीको आपने उत्तमसे उत्तम मार्ग मानकर उसे अपनाया, उसी पर चले। भक्तिसे भिन्न लौकिक-वैदिक विधि-निषेधोंका सहारा छोड़कर आपका हृदय विशेष कर श्रीराधाकृष्णके परमानुरागमें सराबोर रहता था।।१९८।।

व्याख्या—उदार जस—स्वयं भगवन्तमुदितजी उदार थे, उनका यश भी उदार है, उन्होंने भक्तिके मधुर रसका आस्वादन किया। भगवानका यश उदार है। यथा— रामचरितमानससे— 'बाल चरित पुनि कहहु उदारा।' (बाल०) और—'कृपासिन्धु मैं आउब देखन चरित उदार।' (उत्त०) 'रस रसना आस्वाद'—जिससे हरिगुण-गान न हो वह जिह्वा व्यर्थ है। यथा— 'जीह सो दादुर जीह समाना। जो नहिं करइ राम गुन गाना।।' (रा०) पुनः भा० २-३-२० में 'जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः।।' और भा० ६-३-२९ में यमराज कहते

हैं कि जिसकी जिह्वा भगवानके नाम और गुणोंका गान नहीं करती, जिसका चित्त भगवत्पादारविन्दका स्मरण नहीं करता है और एकबार भी जिसने भगवानको नमस्कार न किया हो ऐसे लोगोंको मेरे लोकमें ले आना। यथा—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्।।

केलि अभ्यन्तर भासै—प्रिया—प्रियतमकी केलि ही रसिकों की सम्पत्ति है और वह श्यामा-श्याम के देने से ही मिलती है। यथा—'हमारी सम्पति दम्पति केलि। दिन दिन बढ़त घटत नहिं कबहूँ सुखसागर की रेल।। अतुलित अमित अनुपम अद्भुत रस की ठेला ठेल। 'भगवतरसिक' दृगन में दीनी श्यामा श्याम सकेल।।' चकोरको छोड़कर गरुड़ भी अग्निको नहीं खा सकते हैं। किलकिला पक्षी ही जलमें गोता लगाकर मछलीको खा सकता है अन्य नहीं, कोई साहसी ही सिंहके दाँतमें दबे मांस को ला सकता है। ऐसे ही रसिक अनन्य ही इस रसका आस्वादन कर सकते हैं। दूसरा बड़े से बड़ा होकर भी इसे नहीं पा सकता है। अनन्य रसिकोंका अनुकरण न करके अपनी योग्यताके अनुसार भजन करना चाहिए। यथा—

भगवत श्यामा श्याम को पावक रूप निहार। नहिं समर्थ खगराज की करै चकोर अहार।।
करै चकोर अहार किलकिला जलचर पावै। साहसीक मृगराज दशन ते आमिष लावै।।
ऐसेहि रसिक अनन्य और नर नागर खगवत। सेंघ पराई तजौ भजौ वित माफिक भगवत।।

अमल अनूप परम उज्वल रस उर अन्तर सरसायौ।
'भगवतरसिक' अनन्य आभरण नहिं नीरस परसायौ।।
यह रस रीति प्रिया प्रीतम की दिव्य स्वाति जल जैसे।
विषयी ज्ञानी भक्त उपासक प्रापत सबको कैसे।।
कदली कमल पपीहा सीपी पात्र भेद गुण तैसे।
'भगवत' बीज विषमता नाहीं भूमि भाग्यफल ऐसे।।

रसिक भक्त की शरणमें जाकर ही यह सुख मिलता है। यथा—

निशि दिन्न अछिन्न प्रपन्न भजै तो मया फँद ते सुख सों सटकै।
महलन्नि के सुक्ख सों जानि पिछानि करै तु तबै त्यहि को हटकै।।
निरख्खि हरख्खि परख्खि नई नित केलि महारस को गटकै।
श्रीबिहारी बिहारिनि दास भनैं निज कुञ्जन में मन जो अटकै।।

दम्पति—दम्पति अर्थात् श्रीराधाकृष्णमें, दम्पति सस्त्रीक भगवन्तमुदितजीका सहज स्नेह था। 'प्रीति परमिति' आपमें प्रीति अपार थी पर उसमें से थोड़ीका प्रकाश करते थे। जैसे कोई धनवान अपने समस्त धनको प्रकट न करके समयानुसार थोड़-थोड़ा प्रकट करता है। अपने पास धनका भारी भण्डार है, ऐसा कहने से उसके नष्ट होनेका भय होता है। इसी तरह भक्त अपनी भक्तिको अधिक से अधिक छिपाता है, कमसे कम प्रकट करता है। 'अनन्य भजन०' श्रीस्वामी हरिदासजी, हित हरिवंशप्रभु आदि रसिकोंकी सुदृढ़ प्रणालीसे चलते थे। प्रेमाभक्ति सम्बन्धी विधिनिषेधोंका पालन करते थे पर लौकिक, वैदिक, सामान्य विधिनिषेधोंका भरोसा नहीं रखते थे। उसका कारण यह था कि 'पागि रति हृदय विशेखी' हृदय विशिष्ट प्रेममें सराबोर था। विधिनिषेधोंके त्यागी थे पर रसिकोंकी सम्मति है जिसमें ऐसा भेष रखते और भक्त-भगवानकी सेवा करते थे। विधिनिषेध पर शुष्काष्टकमें सूक्ति है—

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे,
माया मोहौ क्षयमुपगतौ कष्टसन्देहवृत्तेः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य सत्वावबोधं,
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः कौ विधिः को निषेधः।।

अर्थ—शब्दातीत त्रिगुणरहित भगवत् तत्वके बोधको प्राप्तकर जिसकी सन्देहवृत्ति नष्ट हो गई है, उसके भेदाभेद तत्काल गलित हो जाते हैं तथा माया और मोह क्षीण हो जाते हैं। ऐसे त्रिगुणातीत प्रेम-मार्गमें विचरने वाले उस भक्तियोगीके लिए क्या विधि और क्या निषेध है ? अर्थात् कुछ नहीं। परन्तु प्रेमाभाक्तिको प्राप्त किये बिना विधिनिषेधों का सर्वथा त्याग ठीक नहीं है।

सूजा के दिवान भगवन्त रसवन्त भये, वृन्दावन वासिन की सेवा ऐसी करी है।
विप्र कै गुसाईं साधु कोऊ ब्रजवासी जाहु, देत बहु धन एक प्रीति मति हरी है।।
सुनी गुरुदेव अधिकारी श्रीगोविन्द देव, नाम हरिदास जाय देखैं चित धरी है।
जोग्यताई सीवां प्रभु दूध भात माँगि लियौ, कियौ उत्साह तऊ पेखैं अरबरी है।।६२६

भावार्थ—श्रीभगवन्तमुदितजी परमरसिक सन्त थे। आप आगराके सूबेदार नवाब शुजाउल्मुल्कके दीवान थे। आपने ब्रजवासियोंकी ऐसी सेवा की कि जिसका वर्णन असम्भव है। कोई भी ब्राह्मण, गोसाईं, साधु या गृहस्थ ब्रजवासी जब आपके यहाँ पहुँच जाता, तो आप अन्न, धन और वस्त्र आदि देकर प्रसन्न करते थे। क्योंकि ब्रजवासियोंके प्रेममें इनकी

बुद्धि रम गई थी। आपके गुरुदेवका नाम श्रीहरिदासजी था। ये श्रीवृन्दावन के ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजीके मन्दिरके अधिकारी थे। इन्होंने ब्रजवासियोंके मुखसे श्रीभगवन्त-मुदितजीकी बड़ी प्रशंसा सुनी, तो इनके मनमें आया कि हम भी आगरा जाकर (शिष्य) भक्तकी भक्ति देखें। वैसे ये ऐसे अनुरागी थे कि जिसकी सीमा नहीं। एकबार ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजीने इनसे कहा-बहुत दिन हो गये, हमको तुमने दूध-भातका भोग नहीं लगाया। इस प्रकार प्रेमसे माँगकर दूध-भातका भोग आरोगा। फिर भी भक्तप्रेमीको देखने की उनसे मिलनेकी उत्कण्ठा एवं आतुरता हुई।।६२६।।

व्याख्या—रसवन्त—ईखके भीतर रस होता है, उसके ऊपर कड़ा छिलका होता है, यन्त्रसे पीड़ित करने पर रसकी उपलब्धि होती है। कुछ रसिक ऐसे भी होते हैं कि ऊपर से कठोर और भीतर से परम रसीले परन्तु श्रीभगवन्तमुदितजी तो भीतर और बाहर भी रसमय थे। इनसे रस प्राप्त करना सरल-संभव था।

ब्रजवासी जो सुख लेत सदा ब्रजवासी।
सो सुख सपनेहू नहिं पावत जे जन हैं वैकुण्ठ निवासी।।
यहँ घर घर ह्वै रह्यौ खिलौना जगत कहत जाको अविनासी।
नागरिदास विश्व ते न्यारी लगि गई हाथ लूट सुखरासी।।

सेवा ऐसी करी है—विशिष्ट सेवा करने का कारण यह था कि ब्रजवासियोंको अपने प्रियतमके गाँव-देशका मानते थे। जैसे कुलवधू अपने पीहरसे आये किसी व्यक्तिकी अति प्रेमसे सेवा करती है।

एक प्रीति मति हरी है—एक अर्थात् अनन्य प्रीतिसे मति हरी अर्थात् नित्य नई अशुष्का थी। पुनः प्रीतिमें बुद्धि खो गई थी अथवा अनन्य प्रीतिसे हरि भगवानमें मति लग गई थी। मति हरिमयी हो गई थी। भगवान श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—योगीजन, ज्ञान, वैराग्ययुक्त भक्तियोगके द्वारा शान्ति (मिलन) प्राप्त करनेके लिए मेरे निर्भय चरण-कमलों का आश्रय लेते हैं। यथा—'ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः। क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशयन्त्यकुतो-भयम्।।' (भा० ३-२५-४३) तीव्र भक्तियोगके द्वारा भगवन्त-मुदितजी की मति भगवान में लग गई थी। 'सुनी गुरुदेव' जैसे ध्रुव भक्तको देखनेके लिए भगवान आये। उसी प्रकार शिष्यकी भक्तिका दर्शन करने गुरुदेव पधारे। 'अरबरी' शब्दसे अति उत्कण्ठा दिखाई।

सुनी गुरु आवत अमावत न किहूँ अंग रंग, भरि तिया सों यों कही कहा कीजियै ?।
बोली घरबार पट सम्पत्ति भण्डार सब, भेंट करि दीजै एक धोती धारि लीजियै।।
रीझे सुनि बानी साँची भक्ति तैं ही जानी, मेरे अति मनमानी कहि आँखैं जल भीजियै।
यही बात परी कान श्रीगुसाईं लई जान, आये फिर वृन्दावन पन मति धीजियै।।६२७

भावार्थ—श्रीभगवन्तमुदितजीने सुना कि श्रीगुरुदेव आ रहे हैं, तो इन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि ये अपने अङ्गोंमें फूले नहीं समाये। गुरुदेवके प्रेम रंगमें हृदय डूब गया। ये अपनी स्त्रीसे बोले कि—'कहो, श्रीगुरु-चरणोंमें क्या भेंट देना चाहिए।' स्त्रीने कहा—'हम दानों एक-एक धोती धारण करलें और शेष सब घर-द्वार, कोठार-भण्डार, चल-अचल सम्पत्ति श्रीगुरुदेवको समर्पण कर दें और हम दोनों वृन्दावनमें चलकर भजन करें। स्त्रीकी ऐसी बात सुनकर श्रीभगवन्तमुदितजी उस पर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'सच्ची गुरु-भक्ति करना तो तुम ही जानती हो, यह तुम्हारी सम्मति हमको अत्यन्त प्रिय लगी है।' ऐसे कहते हुए उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। सर्वस्व त्याग करके विरक्त बनना चाहते हैं, जिसका अभी योग नहीं है अतः आप उसी समय श्रीभगवन्तमुदितजीसे बिना मिले ही श्रीवृन्दावन को चले आये और इनके प्रेम-भरे त्यागके प्रण पर बहुत ही सन्तुष्ट हुए।।६२७।।

व्याख्या—सुनी गुरु आवत—श्रीहरिदासजी महाराज वृन्दावनसे पैदल ही आगराको गये। आगमन सुनकर इनके मनमें विविध भाव उठने लगे। दण्डवत् करूँगा, चरणामृत लूंगा मालाध ारण कराके सविधि पूजन करुँगा, प्रसाद पावाऊँगा और भेंट दूंगा आदि। गुरुदेव एक बगीचे में ठहर गये, रात हो गई, अब कल आवेंगे। द्वार बन्दकर लिए। 'रीझे सुनि बानी'—सर्वस्व भेंट की बात सुनकर पत्नीकी गुरु-भक्तिको भगवन्तमुदितजीने श्रेष्ठ माना। राँका-बाँका, मधुकरशाह, गणेशदेई तथा सदाव्रती महाजनकी तरह रीझे। इन्होंने अपनी पत्नीको वन्दनीय मानकर आदर दिया। द्वारस्थ गुरुदेवने सुना तो उनके प्रेममें डूब गये। निस्पृही थे अतः नहीं मिले। ये सम्पत्तिका सेवामें सदुपयोग करते हैं अतः इन्हीं के पास रहना चाहिए। कुछ देर तक द्वार पर रुककर वापस हुए। कोई परिचित मिला। उससे कहा कि भगवन्तमुदिसे कह देना कि तुम्हारी भेंटको गुरुदेवने स्वीकार कर लिया है, अब सम्पत्तिको मेरी मानकर उससे सेवा करो। यह सुनकर इन्हें अपार दुःख हुआ। गुरु-शिष्य दोनों ही महान् भक्त थे अतः दोनों में परस्पर परम-प्रेमके दर्शन हुए।

रह्यौ उत्साह उर दाह कौ न पारावार कियौ, लै विचार आज्ञा माँगि वन आये हैं।
रहे सुख लहे नाना पद रचि कहे, एकरस निर्वहे ब्रजवासी जा छुटाये हैं।।
कीनी घर चोरी तऊ नेकु नासा मोरी नाहिं, बोरी मति रंग लाल प्यारी दृग छाये हैं।
बड़े बड़भागी अनुरागी रति जागी, जग माधव रसिक बात सुनौ पिता पाये हैं।।६२८

भावार्थ—श्रीभगवन्तमुदितजीको जब यह मालूम हुआ कि श्रीगुरुदेव आये और वापस चले गये तो आपका उत्साह नष्ट हो गया। हृदयमें अपार पश्चात्ताप हुआ। फिर आपने गुरुदेवके दर्शन करने का विचार किया और नवाब से आज्ञा माँगकर श्रीवृन्दावन आये। गुरुदेवके दर्शन कर सुखी हुए। बहुत से लीला पदोंकी रचना की। इस प्रकार आपने अनन्य-प्रेमका एकरस निर्वाह किया। गुरुदेव से आज्ञा लेकर आगराको लौट आये। वहाँ किसी कारणवश कई ब्रजवासी कैदखाने में बन्द थे। आपने उन सभी को छुड़ाया। एकबार ब्रजवासी चोरोंने आपके घरमें ही चोरी कर ली पर इससे आपने नाक-भौंह जरा भी टेढ़ी न की अर्थात् मनमें दुःख न माना । क्योंकि आपका मन भगवान की भक्ति में सराबोर था और दृष्टिमें श्रीवृन्दावन-बिहारिणी-बिहारीजी समाये हुए थे। वास्तव में आप बड़े ही भाग्यशाली और प्रेमी सन्त थे। संसार में आपका भगवत्प्रेम जागृत अर्थात प्रसिद्ध था। श्रीभगवन्तमुदितजी के पिता श्रीमाधवदासजी रसिक थे। आगे उनकी कथा सुनिये।।६२८।।

व्याख्या—उर दाह कौ न पारावार—भक्तदाम गुण चित्रणीमें लिखा है कि जब इनके मनमें बहुत दुःख हुआ तो इनके गुरु-प्रेम पर रीझकर स्वयं श्यामसुन्दर श्रीहरिदासजी का रूप धारण करके आये। देखते ही बड़े उत्साह के साथ चरणों में पड़ गये। गुरु-रूपधारी प्रभु से बोले-भगवन ! आप अकेले ही पधारे, कोई शिष्य आपके साथ नहीं आया। प्रभुने कहा—पहले जल लाकर पैर धुलाओ फिर मेरे लिए आसन बिछाओ। दम्पति ने श्रीचरणों को धोया, उसके बाद आसन लेने गये। इसी बीच प्रभु अन्तर्धान हो गये। इधर-उधर खोजने पर जब कुछ पता नहीं लगा तो समझ गये कि स्वयं श्यामसुन्दरने आकर दर्शन दिया। पछतावा इस बातका रहा कि पूरा स्वागत-सत्कार न कर सके। गुरु-भक्ति से भगवत्प्राप्ति होती है, यह सिद्ध हुआ।

नाना पद रचि कहे—आपके द्वारा रचित ग्रन्थ 'श्रीरसिक अनन्यमाल' है। जिसमें दोहा और चौपाइयों में ३६ भक्तोंका चरित्र वर्णित है। ये सभी श्रीराधाबल्लभीय सम्प्रदाय के हैं। आप यद्यपि गौड़ीय सम्प्रदायके थे परन्तु इस ग्रन्थकी रचनासे विदित होता है कि आप श्रीराधाबल्लभीय रसिक

भक्तोंके अति निकट थे। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद कृत 'श्रीवृन्दावन- शतक' का आपने अनुवाद किया। उसका एक छप्पय—

नहिं चाहत धन धाम ग्राम सुख सुत सुखदाता।
नहिं चाहत परलोक मुक्ति वैकुण्ठ सु ग्याता।।
नहिं चाहत आनन्द ब्रह्म सुख गति को देवा।
नहिं चाहत हरि भक्ति चरण श्रीपति की सेवा ।।
खेलत जहाँ किशोर वर रास रसिकिनी रास रस।
चाहत सोइ वृन्दाटवी जनम जनम यह वास बस।।

बोरी मति रंग—चोरी करने वाले ब्रजवासियों पर किञ्चित् भी रोष न होने का कारण यह था कि धनको अपना न समझकर गुरुदेवका और भक्त-भगवन्त का समझते थे। वे अपना धन ले गये, उन्होंने ठीक ही किया। इष्टके दोष न दिखाई पड़ें तभी भक्ति सच्ची मानो। क०-

धन लेहु जन लेहु अरधङ्गी हरि लेहु, माँगे ते नो देहु जपै उदभट गामी हैं।
सुत हू को मारो तन टूक टूक करि डारौ, दुःख न निवारो चहै बड़े मति ठामी है।।
ऐसे ब्रजवा की ताकी जग उपहासी करै, मेरे तौ अवासी ये तौ सुकृत सुधामी हैं।
पुनि हौं तो जानौं भगवन्त इष्ट करि मानौं, इनमें जु दोष आनौं बड़ी मति खामी हैं।

कीनी घर चोरी तऊ नेकु नासा मोरी नाहिं—जिसमें अनन्य-भक्ति है, वह अपने इष्ट या पूज्यके अभद्र-व्यवहार से भी क्षुब्ध नहीं होता है। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीएकनाथजी की साधुता की ख्याति सर्वत्र फैल रही थी, उससे ईर्ष्यालु जल रहे थे। एकबार एक गरीब ब्राह्मण अपनी कन्याके विवाह के लिए धनकी याचना करता हुआ आया। एक ईर्ष्यालुने कहा कि हम तुम्हें दो सौ रुपये देंगे यदि तुम एकनाथ को अपने व्यवहार से कुपित कर दो। ब्राह्मण तैयार हो गया। एकनाथजीके घर में पहुँचकर वह उसी अवस्थामें कपड़े-जूते पहने सीधा एकनाथजी के पूजा-गृह में चला गया और उसी भेषमें जाकर एकनाथकी जंघा पर बैठ गया। कोई भी अपरिचित व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार से क्रोधित हो उठता। किन्तु एकनाथजी साधारण व्यक्ति तो थे नहीं। उन्होंने उसको प्रेम पूर्वक आलिङ्गन दिया और कहा—आपका मेरे प्रति प्रेम-भाव विलक्षण है। सच्चा-प्रेम किसी भी मर्यादाको नहीं मानता। यही सच्चे-प्रेमका लक्षण है। इन शब्दोंके साथ एकनाथजीने उसके

स्नान और रहनेकी व्यवस्था की। उनके लिए ये अतिथि भगवान थे। इनके शांतिपूर्ण व्यवहारसे ब्राह्मण मन ही मन खिन्न हुआ। फिर उसने कई अशिष्ट व्यवहार किये पर सफलता न मिली। अन्तमें उसने अमोघ उपाय सोचा।

एक दिन भोजन के लिए एकनाथजी उस ब्राह्मणके साथ बैठे। एकनाथजीकी साध्वी पत्नी परोसगारी करने लगी। जैसे ही वह ब्राह्मणदेवकी थालीमें सामान परोसने के लिए झुकीं, वैसे ही ब्राह्मणदेव उचककर उसकी पीठ पर जा विराजे। सन्त एकनाथजीने अपनी पत्नी से कहा—'सावधान ! ब्राह्मण गिरकर चोट न खा जायँ।' पत्नीने कहा—आप निश्चिन्त रहें। मुझे अपने पुत्र हरि पण्डितको पीठ पर बैठाकर काम करने का पूरा अभ्यास है। मैं अपने इस बालकको गिरने न दूँगी। दम्पतिके शब्दोंको सुनकर ब्राह्मणदेव लज्जित हो गये। सन्त एकनाथके चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना करने लगे। साथ ही उन्होंने अपने असभ्य व्यवहार का सच्चा कारण भी बतलाया। इनाम के रुपये न मिलेंगे इस दुःख को भी प्रकट किया। एकनाथजीने कहा—यह सब आपने पहलेसे क्यों नहीं कहा ? यदि मेरे क्रोधसे आपको लाभ होता जानता तो मैं अवश्य ही क्रोध प्रकट कर देता। इसके बाद ब्राह्मणकी कन्याके विवाहार्थ श्रीएकनाथजीने पर्याप्त रूपमें आर्थिक सहायता दी। सभीमें, अतिथि एवं ब्राह्मणमें विशेष भक्ति थी अतः रुष्ट न हुए। इसी प्रकार श्रीभगवन्तमुदितजी भी ब्रजवासियों पर रुष्ट न हुए। प्रभु परीक्षा ले रहे हैं। उन्होंने ही माखन और चीर चुराकर इन्हें चोरी सिखाई है। फिर तो ब्रजनाथ और ब्रजवासियों की लीला चाहे जैसी हो परमानन्ददायिनी है।

आयौ अन्तकाल जानि बेसुधि पिछानि, सब आगरे तें लैकैं चले वृन्दावन जाइयै।
आये आधी दूर सुधि आई बोले चूर ह्वैकै, कहाँ लिये जात कूर ? कही जोई ध्याइयै।।
कह्यौ फेरौ तन वन जाइवे कौ पात्र नाहीं, जरै बास आवै प्रिया पिय को न भाइयै।
जानहारौ होई सोई जायगौ जुगल पास, ऐसे भावरासि ताही ठौर चलि आइयै।।६२९

भावार्थ—श्रीमाधवदासजी बेसुध हैं, नाड़ी छुटने वाली है, अब इनका अन्तिम समय आ गया है। ऐसा जानकर लोग उन्हें पालकीमें बैठाकर आगरासे श्रीवृन्दावन धाम को चले। जब आधी दूर आ गये, तब श्रीमाधवदासजी को होश आया। दुःखित होकर आपने लोगोंसे पूछा कि—क्रूरो ! 'तुम लोग मुझे कहाँ लिए जा रहे हो ?' लोगोंने कहा—'आप जिस श्रीवृन्दावन धामका नित्य ध्यान किया करते हैं, वहीं ले चल रहे हैं।' यह सुनकर आपने कहा—'अभी

लौटाओ, यह शरीर श्रीवृन्दावन जानेके योग्य कदापि नहीं है, इसे जब वहाँ जलाया जायेगा, तब इसमेंसे बड़ी-भारी दुर्गन्ध निकलेगी, वह प्रिया-प्रियतम को अच्छी नहीं लगेगी।' प्रिया-प्रियतमके पास जाने योग्य जो होगा, वह अपने आप उनके पास चला जायगा।' आप ऐसे भावकी राशि थे। वापस जाकर आगरामें ही आपने शरीर छोड़ा।।६२९।।

व्याख्या—लैकैं चले वृन्दावन—श्रीधाम शरणागति के छः प्रकार हैं। १—जन्मसे मरण पर्यन्त निवास। २—अन्यत्र जन्म होने पर आमरण धाम वास। ३—पर्वों और उत्सवों पर उपस्थित होकर दर्शन व वास। ४—मनसे धामका सतत् स्मरण। ५—धाम वासियोंकी सेवा। ६—धाममें जाकर शरीर त्याग करना। उक्त प्रकारोंमें से किसीका भी आश्रय धाम-धामीकी प्राप्ति कराता है। अतः लैकैं चले वृन्दावन। 'फेरौ तन'—शरीर मल-मूत्रका आगार है, दिव्य वायुमण्डल और पवित्र रजमें जाने योग्य नहीं है। भक्तोंकी भावनायें भिन्न होती हैं। अपने-अपने स्थान पर उनका महत्व है। बीकानेर नरेश पृथ्वीराजने प्रतिज्ञा की—'मथुरा शरीर त्याग करैं।' (क० ५३९) और हरिदास वनिक—'ताकौ यह पन तन त्यागौं ब्रजभूमहीं।' (क० ५७८)। ये कहते हैं कि 'फेरौ तन वन जाइवे कौ पात्र नाहीं।' इसीलिए श्रीनाभाजीने कहा—'याकौ पावत न ओर छोर।' (देखिये क० ११ पूर्वार्द्ध पृष्ठ ८८)

जानहारौ होई सोई जायगौ—इसका भाव यह कि 'जहाँ मन तहाँ हम।' और 'आशा जाकी जहँ बसी तहँ ताही को वास।' इस सिद्धान्तके अनुसार हम प्रिया-प्रियतमकी चरण-सेवामें अवश्य पहुँचेंगे। 'अन्ते मतिः सा गतिः।' (गीता अ० ८-५-६) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।।

हे अर्जुन! जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है और सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है। तत्वबोधमें कहा है—'तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथवा। ज्ञान सम्प्राप्ति समये मुक्तोऽसौ विगताशयः।' जिसकी संसारी कामनायें दूर हो गई हैं, वह चाहे काशीमें मरे और चाहे चाण्डालके घरमें। वह तो ज्ञान-भक्तिकी प्राप्तिके समय से ही मुक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त हो जाता है। प्रेमी, प्रियतमके पास रहे चाहे दूर। (सूक्ति सुधाकरे)—

इन्दुः क्व क्व च सागरः क्व च रविः पद्माकरः क्व स्थितः,
क्वाभ्रं वा क्व मयूरपंक्तिरमला क्वालिः क्व वा मालती।
मान्दाध्वक्रमराजहंसनिचयः क्वासौ क्व वा मानसं,
यो यस्याभिमतः स तस्य निकटे दूरेऽपि वा बल्लभः॥

अर्थ—कहाँ तो चन्द्रमा हैं और कहाँ समुद्र ? कहाँ सूर्य हैं और कहाँ कमल वन की स्थिति ? कहाँ बादल हैं और कहाँ मयूरोंकी विमल पंक्ति ? कहाँ भौंरे रहते हैं और कहाँ मालती ? कहाँ मन्दगामी राजहंसोंके झुण्ड और कहाँ मानसरोवर ? इन सबमें इतना अन्तर रहते हुए भी परस्पर प्रीति है, सच है जो जिसको चाहता है वह उसके पास रहे या दूर, प्रियतम ही हैं। ऐसे भावराशिके पुत्र श्रीभगवन्तमुदितजी भी महाभाव की राशि थे।

* श्रीलालमतीजी *

दुर्लभ मानुष देह कौ लालमती लाहौ लियौ॥
गौर श्याम सों प्रीति, प्रीति जमुना कुञ्जनि सों।
वंशीवट सों प्रीति, प्रीति ब्रजरज पुञ्जनि सों॥
गोकुल गुरुजन प्रीति, प्रीति घन बारह वन सों।
पुर मथुरा सों प्रीति, प्रीति गिरि गोवर्द्धन सों॥
वास अटल वृन्दाविपिन दृढ़ करि सो नागरि कियौ।
दुर्लभ मानुष देह कौ लालमती लाहौ लियौ॥१९९॥

शब्दार्थ—दुर्लभ=सहज न मिलने योग्य। लाहौ=लाभ। पुञ्जनि=समूह, ढेर। नागरि =चतुर, विदग्धा।

भावार्थ—परमभक्ता श्रीलालमतीजीने गौर-श्याम श्रीराधाकृष्णजी, श्रीयमुनाजी तथा उसके तट पर विराजमान कुञ्ज भवनोंसे प्रेम किया। इनके हृदयमें वंशीवट, ब्रज-रज, गोकुल, ब्रजवासी, रसिक सन्त, श्रीमथुरापुरी एवं श्रीगिरिराजजी गोवर्धनके प्रति अपार प्रीति थी। इस चतुर ब्रज-भक्तादेवीने श्रीवृन्दावन धाममें अखण्ड-वास किया। इस प्रकार इन्होंने दुर्लभ मानव-देहका अलभ्य लाभ प्राप्त किया॥१९९॥

व्याख्या—दुर्लभ मानुष देह—भा० ७-६-१ प्रह्लादवाक्य-'दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्य-ध्रुवमर्थदम्।' इस जगत् में मनुष्य जन्म बड़ा ही दुर्लभ है, इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इसका नाश हो जाय अतः बुद्धिमान मनुष्य जवानी या बुढ़ापेके भरोसे न रहकर बचपनमें ही भगवत्प्राप्तिके साधन करे। श्रीजनकजी कहते हैं—'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठ प्रियदर्शनम्।।' (भा० ११-२-२९) जीवोंके लिए मनुष्य शरीर प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो मृत्यु भय सिर पर सवार रहता है क्योंकि यह क्षणभंगुर है। ऐसे मानव जीवनमें भगवद्-प्रिय सन्तोंका दर्शन और भी दुर्लभ है। पुनः—'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं।' (भा० ११-२०-१७) सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्। यस्तारयाति नास्मानं तस्मात्पापतरोऽत्र कः।। (सू० सु०) जो पुरुष मुक्ति-भक्तिके सोपान (सीढ़ी) रूप अति दुर्लभ मनुष्य शरीरको पाकर भी अपनेको नहीं तारता है, उससे बड़ा पापी संसारमें कौन है? अर्थात् कोई नहीं।। कूकर, शूकर, कीट-पतङ्ग आदि चौरासी लाख योनियोंके बाद प्रभु-कृपासे मनुष्य शरीर मिलता है।

चौ०— बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सुधारा।।
कबहुक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेत सनेही।।
नर तनु सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति सुभ देनी।।
सो तनु धरि हरि भजहि न जे नर। होहिं विषय रत मंद मन्दतर।।
काँच किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं।।

(रामचरितमानस उत्तरकाण्ड)

लाहौ लियौ—दुर्लभ मनुष्य जन्मका सबसे बड़ा लाभ भगवद्-भक्ति की प्राप्ति है। यथा—'लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।' (भा० ११-१९-४०) भगवानने उद्धवजीसे कहा—उत्तम लाभ मेरी भक्ति है। रामचरितमानस उत्तरकाण्डमें कागभुशुण्डिजी कहते हैं—

लाभु कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति सन्त पुराना।।
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई।।

श्रीहरि भक्तिके समान कोई लाभ नहीं है—'लाभ कि रघुपति भगति अकुण्ठा।' सुत, धन, स्त्री, परिवार, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रताप तेज, बल, ज्ञान, योग, जप, तप, दान, स्वर्ग और

अपवर्गकी प्राप्ति भी इसके सामने कुछ भी लाभ नहीं है और इन सबका नाश भी भक्ति हीनताके समान हानि नहीं है। भक्तिके सामने लौकिक लाभ व्यर्थ हैं। यह सिद्ध हुआ। जो रस श्रीलालमतीजी ने प्राप्त किया वह ज्ञानी और योगियों को नहीं मिलता है। यथा-'जोगी ज्ञानी करमठी' तपसिन ते अति दूर । नागर रसिक अनन्य नित रहत नैन भरि पूरि।।'

गौर श्याम—इन दोनों तत्वोंमें अभेद सम्बन्ध है, भेद समझना या मानना पाप है- सम्मोहन तन्त्रे—

गौर तेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् । जपेद्वा ध्यायते वापि सभवेत्पातकी शिवे।।
एकं ज्योतिरभूद्वेधा राधामाधवरूपकम् । यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।।

श्रीशङ्करजी कहते हैं-देवि ! गौर तेजोमयी श्रीराधा के बिना श्याम तेजोमय श्रीकृष्णका जो अर्चन, जप और ध्यान करते हैं , वे पातकी होते हैं। एक ही ज्योतिके राधा और माधव दो रूप हैं। जो राधा हैं वही श्रीकृष्ण हैं जो श्रीकृष्ण हैं वही श्रीराधा हैं। भेद-बुद्धि रखने वाले कि सद्गति नहीं होती है। 'अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते।' अभेद मानकर एक की पूजा करने पर दोनों की पूजा हो जाती है। भेद मानने पर युगलको विरह दुःखद होता है।

एक रूप द्वै नाम हैं रसिकन को हि लखात। एक प्राण द्वैव गात हैं छिनु बिछुरे न सुहात।।
जोइ कृष्ण सोइ राधिका राधा हैं सोइ कृष्ण। न्यारे निमिष न होत हैं समुझि करौ यह प्रश्न।।
कबिरा धारा अगम की सद्गुरु दई लखाय। उलटि ताहि पढ़िये सदा स्वामी संग लगाय।।

श्रीकबीरदासजी कहते हैं सद्गुरुने अगम-अगोचर ब्रह्म की 'धारा' को बता दिया, उसे पलटकर 'राधा' पढ़िये, स्वामी श्रीकृष्णको साथ लगाइये अर्थात् राधाकृष्ण का स्मरण कीजिये।

आदौ समुच्चरेद् राधां पश्चात् कृष्णं च माधवम्।
विपरीतं यदि पठेत् ब्रह्महत्यां लभेद् ध्रुवम्।।
श्रीकृष्णोऽस्ति जगत्तात जगन्माता च राधिका।
पितुः शतगुणा माता वन्द्या पूज्या गरीयसी।।

आदिमें राधा उसके पश्चात् कृष्ण नामका उच्चारण करना चाहिए । विपरीत पढ़ने में दोष है श्रीकृष्ण जगत्पिता हैं और श्रीराधिका जगन्माता हैं। पितासे माता सौ गुना श्रेष्ठ, पूज्य और वन्दनीय हैं। श्रीराधाके चरणों की सेवाको छोड़कर जो श्रीकृष्ण से मिलना चाहता है वह समझो

अमावस्या के दिन पूर्णचन्द्रका दर्शन चाहता है। श्रीराधा पूर्णिमा तिथि के बिना श्रीकृष्णचन्द्र पूर्ण प्रकाशित नहीं होते हैं। श्रीराधाके संयोग से ही श्रीकृष्ण रूप रस माधुरी से पूर्ण होते हैं। (श्रीराधासुधानिधी)—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया।
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति॥

गौर श्याम सों प्रीति—लालमतीजी प्रेम में विलपती रहतीं। यथा—

व्याकुल ही तड़पौं विनु प्रीतम कोऊ तो नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप सुधा विनु पानिय पी कौ प पी है पियाओ॥
जीय में हौंस कहूँ रहि जाय न हा हरिचन्द कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारौ अरे! कोऊ हाल तौ जायकैं मेरो सुनाओ॥

आज इन दोउन पै बलि जैये।
रोम रोम ते छवि बरसत है निरखत नैन सिरैये॥
रूपरासि मृदुहास ललित अति उपमा देर लजैये।
'नारायण' सा गौर शयाम को हृदय निकुञ्ज बसैये॥

प्रेमसे ही प्रेमीके वशमें होकर भगवान विविध लीलायें करते हैं अतः प्रेम ही सुन्दर श्रेष्ठ तत्व है। श्रीबिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

गोपालाजिरकर्दमे विहरमे विप्राध्वरे लज्जसे,
ब्रूषे गोधनहुङ्कृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से विदाम्।
दास्यं गौकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु,
ज्ञातं कृष्ण तवांघ्रि पङ्कजयुगं प्रेमाचलं मंजुलम्॥

हे श्रीकृष्ण तुम ग्वालों के आँगनकी कीचड़में बड़े प्रेमसे खेलते हो, किन्तु वेदपाठी ब्राह्मणों की यज्ञशालामें पैर रखने में भी लजाते हो। गौओं एवं बछड़ों का शब्द सुनकर उन्हें हीयो-हीयो करके बड़े प्रेम से पुकारने लगते हो, किन्तु बड़े-बड़े ज्ञानियों के सैकड़ों बार स्तुति करने पर भी तुम्हारे मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता, तुम मौनी बन जाते हो। गोकुलकी पुंश्चलियों की गुलामी करने में उनके घर के मामूली से मामूली कामों के करने में भी अपना अहोभाग्य समझते हो पर जिन्होंने योगाभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर लिया है ऐसे योगीन्द्र-मुनीन्द्रों के स्वामी बनने में भी सकुचाते हो, उन्हें अपनी सेवाका सौभाग्य नहीं प्रदान करते! मैंने जान लिया

कि तुम्हारे मनोहर चरणारविन्द प्रेम से ही वशीभूत होते हैं, अन्य किसी साधन से उन्हें वश में करना शक्य नहीं है।

प्रीति जमुना—श्रीयमुनाका श्यामजल देखकर विरहिणीको श्यामसुन्दरकी याद आ गई और वह उनसे अपना सन्देश कहती हैं—

कहना प्यार हृदय का यमुने पर अन्तर की पीर न कहना।
कहना तेरी राधारानी नित मेरे तट पर आती हैं।।
तेरे कर की छुई गगरिया अपने कर भर लाती हैं।
पर मुझको कितना दे जाती निज नयनों का नीर न कहना।। कहना०।।
कहना पुनम की रातों में सुधि बरबस आ जाती है।
मधुवन की परिचित कुञ्जों में जाकर दिल बहलाती है।
लेकिन कितना कर लाती है गीला तन का चीर न कहना।। कहना०।।
कहना तेरी अमराई में फिर से हैं बौर लगे आने।।
बौराई डालों पर कोयल फिर से गीत लगी है गाने ।
किन्तु उन्हें सुन ही उठता है कितना हृदय अधीर न कहना।। कहना०।।
कहना राधा साँझ सबेरे जसुदा के द्वारे जाती है।।
तेरी कारी धौरी गैया अपने कर दुह आती है।
भरता कितना पात्र धरा पर गिरता कितना क्षीर न कहना ।। कहना० ।।
कहना राधा मेरे तट पर मंगल दीप जलाती हैं।।
आयेंगे दो चार दिनों में मैया को समझाती हैं।
किन्तु निराशा में आशा का डूबा जाता तीर न कहना।। कहना०।।

साँवल वरन गात न्हात जाको करें गौर आप जल रूप वाको करैं कल रूप है।
आपनो प्रवाह वाहि करैं थिर वृन्दावन आप घटै बढ़ै वह एक ही सरूप है।।
आन राखैं रज वाके खोवैं रज तम तीनों कीनो और ठाट यह कौतुक अनूप है।
कृष्ण पटरानी ऐसी जमुना बखानी कहि सकत न बानी नीके जानै भक्त भूप है।।

प्रीति जमुना कुञ्जनि सों—

जमुना पुलिन कुञ्ज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद कञ्जन प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गाय सुनाऊँ।।

कूकुर ह्वै ब्रज वीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकन के खाऊँ।।
'ललित किशोरी' आस इहै मन ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ।।

कलिन्द नामक पर्वत जो सूर्यका स्वरूप है, उससे प्रकट जलधारा श्रीयमुनाजी हैं। सूर्यकी पुत्री और यमकी भगिनी हैं। इन्होंने तपस्या करके श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त किया है। द्रवीभूत प्रेम ही यमुना जल है। श्रीसनत्कुमार संहितामें श्रीयमुनाजीकी उत्पत्ति श्रीप्रिया-प्रियतमकी केलिके श्रमजल-कणसे कही गई है। यथा—

युवयोर्वैक्तृ सञ्जाताः केलिश्रम कणाः शुभाः। अतः सञ्जायते नूनं तटिनी कापि चोत्तमा।।
सर्वैः सखीगणैः पेयं त्वं प्रसीद कुरुष्व च। इदमेव परं पुण्यं युवयोः केलिजं जलम्।।
तस्यास्तद् वाक्यमाकर्ण्य सा चकार नदी वराम्।

किसी समय श्रीप्रियाजूने श्रीलालजूके साथ परम पवित्र सुरति केलि की, जिससे उनके मुखारविन्द पर स्वेद-विन्दु आ गये। उनको देखकर श्रीललिताजीने कहा-आप दोनोंके लीला-विलासके श्रमसे जो मुखारविन्द पर परम पवित्र श्रमकण आये हैं, निश्चय उनसे कोई नदी प्रकट होनी चाहिए। उसके उत्तम जलको हम सब पान करेंगी। आप प्रसन्न होकर इससे एक नदीका निर्माण कीजिये। यह सुनकर श्रीप्रियाजीने श्रीयमुनाजीको प्रकट किया। श्रीधाममें नित्य ही इनकी स्थिति है। (वृन्दावनाङ्क सर्वेश्वरसे) 'हा हा श्रीयमुना रंग श्यामल द्रवीभूत प्रियरूप। जल विहार सुखसार देत तुम सुखमय युगल सरूप।।' (चाहवेली) पुनः माघ—

या घर्मभा भास्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः।
कृष्णाऽपि शुद्धेरधिकं विधात्री विहन्तुमघराशिविधौ पटीयसी।।

अत्यन्त उष्ण (गरम) है दीप्ति जिनकी ऐसे सूर्य तिनकी कन्या अपने शीतल जल से, यमकी भगिनी होकर भी जन के जीवनरूप जलसे स्वयं कृष्णा (श्यामल जल वाली) होकर भी शुद्धको अधिक शुद्ध करने वाली श्रीयमुनाजी अपने जलसे पापराशिको नाश करने में परम प्रवीण हैं।

वंशीवट—शरद् पूर्णिमाकी रमणीय रात्रिमें रासक्रीड़ा करनेकी इच्छासे भगवान श्रीकृष्णने जिस वटवृक्ष पर चढ़कर वंशी बजाई, उसीको वंशीवट कहते हैं, वंशीकी ध्वनि सुनकर अनन्त ब्रजगोपियोंके यूथ यहीं पर आये। यह स्थान माधुर्यलीला (महारास) का उपक्रम स्थल है। यहीं ब्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णका मधुर संवाद हुआ अतः रसिक भक्तों को यह स्थान अति प्रिय है।

धनि वंशीवट विटप वर वंशीवट रसलीन। जिहिं तट पटु नटवर मनी त्रिभुवन मोहित कीन।।
वंशीवट तर जाइकै कर लीजै दो काम। मुख में ब्रजरज डारिकै बोलो राधेश्याम।।
वंशीवट गोपीश शिव निकट रास को ध्यान। करि अजहूँ सुख पावहीं साधक सिद्ध महान्।।

हा हा मुरली मधुर शब्द करि जब लाड़िली बुलावौ।
सो धुनि नेकु सुनाय रसिकिनी तन मन प्राण जियावो।।
हा हा श्रीवंशीवट वट तेरे परी छबीली जोरी।
तामें वट देवे नहिं समरथ दीजै छवि कछु थोरी।। (चाहवेली)

प्रीति ब्रजरज पुञ्जनि सों—श्रीब्रजभूमि दिव्य है अतः यहाँकी रज स्वभावतः दिव्य है। नंगे पैरोंसे श्रीराधाकृष्ण विचरे और विहरे हैं अतः उनके श्रीपदोंसे संस्पृष्ट है। पुनः ब्रजगोपियों एवं अनेक रसिक अनन्योंके पादपद्मोंके मकरन्दसे मिश्रित है। गौओंके खुरोंसे छुकर अति प्रसन्न हुई है। श्रीकृष्ण के विरहमें ब्रजगोपियोंके नेत्रोंसे चले अश्रु-प्रवाहसे गीली एवं सरस है। अतः भक्तोंके लिए ब्रज धूरि मधुराति मधुर है, उनकी प्रिय सम्पत्ति है। यथा-मैदा मिश्री मुहरैं मेरे वृन्दावन की धूरि। पूरा पद तृतीयखण्ड १४४ पृ०। श्रीउद्धवजी ब्रजगोपियोंके प्रेमसे ऐसे प्रभावित हुए कि ब्रजमें लता-गुल्म बनकर ब्रजरजका निरन्तर सेवन कर रहे हैं। (भा० १०-४७-६१) श्लोक देखिये पूर्वार्द्ध पृ० १८८। श्रीब्रह्माजीने साठ हजार वर्ष तप किया ब्रजरजकी प्राप्तिके लिए। फिर वरदान माँगा कि यहाँ किसी भी योनिमें हमें जन्म मिल जाय जिससे कि ब्रजरजकी प्राप्ति हो। (भा० १०-१४-३४) पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६२८। श्रीअक्रूरजी तो रथसे कूद पड़े और ब्रजरजमें लोटने लगे। (भा० १०-३८-२६) पू० पृ० १३८। विशेष देखिये तृतीयखण्ड भक्तमाल पृ० २३। 'वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।। (भा० १०-४७-६३) श्रीब्रह्माजी कहते हैं—नन्दब्रजकी गोपियोंकि चरणोंकी धूलिकी मैं वन्दना करता हूँ। जिनके द्वारा गाई गई श्रीकृष्ण कथा तीनों लोकोंको पवित्र करती है।

गोकुल गुरुजन प्रीति—बड़े-बूढ़े गोप एवं अनन्यरसिक सन्त, ब्रजवासी सभी गुरुजन हैं। इनमें श्रीलालमतीजीका परम अनुराग था। स्तुति करते हुए श्रीब्रह्माजी कहते हैं—(भा० १०-१४-३५)

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति,
नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता,
यद्धामार्थ सुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते।।

हे प्रभो ! इन गोकुल (ब्रज) वासियोंको इनकी सेवाके बदलेमें आप क्या फल देंगे? सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा मन मोहित हो रहा है। आप उन्हें अपना स्वरूप देकर भी उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि आपके स्वरूपको तो उस पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों अघासुर, वकासुर आदिके साथ प्राप्तकर लिया, जिसका केवल भेष ही साध्वी स्त्रीका था पर जो हृदयसे महान् क्रूर थी। फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है। जिनका सब कुछ आपके ही लिए है, उन ब्रजवासियों को भी वही फल देकर आप उऋण कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते, ऋणी ही रहेंगे। गोपालचम्पू उ० ३७ में श्रीजीवगोस्वामी समस्त प्रेमी परिकर के दर्शन की उत्कण्ठा करते है–

श्रीमद्वृन्दावनेन्दोर्मधुपखगमृगाः श्रेणिलोका द्विजाता,
दासा लाल्याः सुरम्याः सहचरहलभृत्तातमात्रादिवर्गा।
प्रेयस्यस्तासु राधा प्रमुख वरदृशश्चेति वृन्दं यथोर्द्धं,
तद् रूपालोकधृष्णक् प्रमदमनुदिनं हन्त पश्याम कर्हि।।

अहा ! वह दिन कब होगा जब श्रीवृन्दावन के चन्द्रमा भगवान श्रीकृष्ण के भ्रमर पशु-पक्षी, तेली-तमोली आदि व्यवसायिवर्गके लोग,ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि द्विजाति वर्णके मनुष्य, दास-दासियाँ, उनकी पौष्य गौयें, सखा गोपबालक, श्रीबलदाऊ भैया तथा उनके पितृवर्ग एवं मातृवर्ग के गोप-गोपीवृन्द, उनकी प्रियतमा श्रीगोपीजन और उनमें भी सर्वश्रेष्ठ राधा आदि इन समस्त परिकरों के समूह को-जो उनकी अनूप रूपमाधुरी का दर्शन करके लोकातिशायी आनन्द में मग्न रहता है–हम प्रतिदिन अवलोकन करके निहाल हो जायेंगे। ब्रजके अनन्य रसिकों में प्रीति अर्थात् उनका अनुकरण, उनकी भजन-पद्धति के अनुसार भजन करना।

बारह वन–ब्रजमें वन मुख्य हैं । यथा– (आदिपुराणे)

आद्यं मधुवनं तत्र द्वितीयं तालसंज्ञितम् । तृतीयं कुमुदं नाम बहुलाख्यं चतुर्थकम्।
खदिरं पञ्चमञ्चैव षष्ठं विल्व संज्ञितम् । सप्तमं लोहसंज्ञं तु भाण्डीरं चाष्टमं स्मृतम्।।
नवमं भद्रकं नाम कामकं दशमं वनम् । एकादशं छत्रवनं वृन्दावनमथानिभम्।
यथैव द्वादशादित्यास्तेषु विष्णुपरो मतः । तथा वनेषुसर्वेषु परं वृन्दावनं स्मृतम्।।

१-मधुवन, २-तालवन, ३-कुमुदवन, ४-बहुलावन, ५-खदिरवन, ६-विल्ववन, ७-लोहवन, ८-भाण्डीरवन, ९-भद्रवन, १०-कामवन, ११-छत्रवन (छाता) १२-श्रीवृन्दावन। जैसे बारह सूर्यों में सबसे श्रेष्ठ विष्णु हैं, उसी प्रकार सभी वनों में श्रीवृन्दावन मुख्य है। ब्रजभक्ति-विलासमें बारह वन, बारह उपवन, बारह प्रतिवन और बारह अधिवनोंका वर्णन है। इनके अधिपति, देवता, ऋषि और मन्त्रों के साथ इनकी उपासनाका भी वर्णन है। वाराह पुराणमें द्वादश तपोवन, आदिपुराणमें १२ मोक्षवन, भविष्यपुराणमें १२ कामवन और स्कन्दपुराणमें १२ अर्थवनोंका उल्लेख है। इस सम्बन्धमें श्रीनारायण भट्टजीकृत ब्रजभक्ति-विलास द्रष्टव्य है।

पुर मथुरा—मोक्षदा सप्तपुरियोंमें प्रधान पुरी है, पुराणोंमें इसकी महिमा बड़े विस्तारसे कही गई है। मधुरा, मथुरा और मधुवन आदि अनेक इसके नाम हैं श्रीभागवतमें लिखा है—

शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्। हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्।।
शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्। माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा।।
राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्। मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः।।

श्रीशत्रुघ्नजीने मधुवनमें मधुके पुत्र लवण नामक राक्षसको मारकर वहाँ मथुरा नाम की पुरी बसाई।। (९-११-१४) प्राचीनकालमें यदुवंशी राजा शूरसेन मथुरा पुरी में रहकर मथुरा मण्डल और शूरसेन मण्डल का शासन करते थे। उसी समय से मथुरा समस्त यदुवंशी राजाओंकी राजधानी हो गयी थी। वहाँ सर्वदा भगवान श्रीहरि विराजमान रहते है।। (१०-१-२७, २८) विशेष देखिये क० ५४० लई मधुपुरी आनि। छ० १५२ मधुपुरी महोछौ। क० ५७६ बीतत बरस मास आवैं मधुपुरी।

गिरि गोवर्धन—गोलोक रासमण्डलमें विराजमान श्रीकृष्णसे श्रीराधिकाजीने कहा—'यदि आप प्रसन्न हैं तो श्रीवृन्दावनमें यमुना तट पर विहार योग्य मनोरम स्थान प्रकट कीजिये।' श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कहकर अपने हृदयकी ओर देखा। उसी समय उनके हृदयसे मूर्तिमान अनुराग, सघन तेजपुञ्ज प्रकट होकर रासभूमिमें गिरकर पर्वताकार हो गया। उसमें सुन्दर झरने, वृक्ष, लता, कुञ्ज एवं कन्दरायें थीं। रत्न धातुमय अनेक शिखरोंसे युक्त पर्वतको देखकर सखियों सहित श्रीराधिका अति प्रसन्न हुईं और उसीमें विहार करने लगीं। अवतारकालमें गोवर्धनका भू-तलमें प्राकटय हुआ। द्रोणाचलके पुत्ररूपसे प्रकट होने पर सभीने इनका अभिवादन किया। एकबार इन्हें पुलस्त्यने देखा तो मोहित होकर द्रोणाचलसे कहा-तपस्याके लिए मुझे अपना पुत्र दे दो। उसे काशी ले जाकर उस पर तपस्या करूँगा। इससे तुम्हारा और

तुम्हारे पुत्रका भी कल्याण होगा। पुत्रस्नेह-कातर द्रोणाचलने ऋषिकी माँग स्वीकार की। श्रीगोवर्धन ने कहा-ठीक है मुने ! बीचमें यदि कहीं रख दोगे तो फिर मैं वहाँ से न उठूंगा। पिताको प्रणाम कर मुनिके दाहिने हाथ पर आरूढ़ श्रीगोवर्धन ने मार्ग में श्रीकृष्ण-लीला भूमिको देखा। वहीं रहनेकी इच्छासे उन्होंने अपना भार बढ़ाया तो ऋषिने वहीं स्थापित कर दिया और तब श्रीगोवर्धन ने पूर्व वाक्य का स्मरण कराकर ऋषिको प्रणाम किया। ऋषिने तिल-तिल घटनेका आशीर्वाद दिया। घोर कलिमें इनका नाम रह जायगा। प्रत्यक्ष दर्शन न होंगे। जब तक इनका दर्शन है कलिका प्रभाव मन्द ही रहेगा।

कल्पभेद से दूसरी कथा—श्रीरामावतारमें समुद्र पर सेतु-बन्धनके समय वानरों द्वारा अनेक गिरि-शिखर लाये गये थे। श्रीहनुमानजी द्रोणाचलके पुत्रके रूपमें स्थित गोलोकसे अवतरित श्रीगोवर्धन गिरिको भगवद्दर्शनका प्रलोभन देकर लिए चले आ रहे थे। ब्रजभूमिमें पहुँचे ही थे कि प्रभुका आदेश पहुँचा कि जिनके हाथमें जो भी पर्वत या वृक्ष जहाँ कहीं भी हों, वे वहीं रखकर तुरन्त आ जायँ। श्रीहनुमानजीने श्रीगोवर्धनको ब्रजमण्डलमें रख दिया। इससे गोवर्धन अत्यन्त उदास हो गये। श्रीहनुमानजीने श्रीराघवेन्द्र सरकार से इनकी व्यथा निवेदन की। तब भगवान श्रीरामने वचन दिया कि अगले श्रीकृष्ण अवतारमें मैं गोवर्धनको दर्शन दूंगा, उन्हें अपने सिर-माथे पर धारण करूँगा। स्वयं उनकी पूजा करके उन्हें जगत्में परमपूज्य पद प्रदान करूँगा। श्रीहनुमानजीने जब यह शुभ-सन्देश श्रीगिरिराजजीको सुनाया तो वे प्रेमसे गद्गद हो गये।

हरिदासवर्य श्रीगोवर्धन—गोकुलमें श्रीकृष्णकी बाललीलायें हो रहीं थीं। कंसके अत्याचारोंसे उद्विग्न होकर उपनन्दजीकी सम्मत्तिसे नन्दादि सभी गोप अपने गोधनके साथ वृन्दावन आ गये तो वहाँकी शोभा और श्रीगोवर्धनको देखकर श्रीकृष्ण-बलरामके हृदयमें परम प्रीतिका उदय हुआ। श्रीगोवर्धनने भी जब श्रीकृष्ण-बलरामका दर्शन किया तो उनकी जन्म-जन्मकी साधना सफल हो गई, उन्होंने अपने को धन्य और कृतकृत्य माना। सर्वतो भावेन अपना सर्वस्व श्रीप्रभुके चरणारविन्दमें समर्पित कर दिया। श्रीगोवर्धनकी पवित्र सेवाओंका स्मरण कर प्रेमकी ध्वजा ब्रजगोपियोंने उन्हें श्रीहरिदासवर्यकी पदवी प्रदान की। यथा—(भा० १०-२१-१८)

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥

अर्थ—अरी गोपियो ! यह गिरिराज गोवर्धन तो भगवानके भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। धन्य हैं इसके भाग्य ! देखती नहीं हो, हमारे प्राणबल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरण-कमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितने आनन्दित रहते हैं ? यह कौन कहे। इनके भाग्यकी सराहना कौन करे ? यह तो उन दोनोंका तथा ग्वालबाल और गौओंका बड़ा ही सत्कार करते हैं। स्नान-पानके लिए झरनोंका जल और गौओंके लिए सुन्दर हरी-हरी घास देते हैं। विश्रामके लिए कन्दरायें और खानेके लिए कन्दमूल फल और अंकुर देते हैं। वास्तवमें ये धन्य और हरिदासवर्य हैं। गोपाल और गोवर्धन दोनों एक ही हैं। इन्द्रके अहङ्कारको नष्ट करनेके लिए भगवान श्रीकृष्णने इन्द्र यज्ञको रोककर श्रीगोवर्धनकी पूजा-परिक्रमा की और सभी गोपोंसे करवाई। अतः ये जगत्पूज्य और भक्तोंके परम आश्रय हुए। वाराह पुराणमें लिखा है—

गोवर्धनं परिक्रम्य दृष्ट्वा देवं हरिं परम्। राजसूयाश्वमेधानां फलं प्राप्नोत्यसंशयम्।।

श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करके श्रीहरिदेवजी का दर्शन करने वाला मनुष्य निःसन्देह राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके फलको प्राप्त करता है। श्रीकेशवाचार्यजी गोवर्धन-शतकमें प्रार्थना करते हैं—

नगपति तटभूमौ सन्निवासं मदीयं वितर कमलसूनो सृष्टिकारी यतस्त्वम्।
तव यदि न कदाचिच्छक्तिरेतादृशी भो पुनरधिकमनर्थं मा कृथा मादृशेषु।।
नेच्छामि स्वच्छतरनन्दनकेलिलक्ष्मीं वाञ्छामि नो शिवपुरी जनितं निवासम्।
पृच्छामि नैव विनतासुतकेतुलोकं गोवर्धने यदि भवेन्मम सन्निवासः।।

अर्थ—हे विधाता ! तुम सृष्टिकर्ता हो अतः प्रार्थना करता हूँ कि मुझे गोवर्धनके निकट भूमिमें निवास दो। यदि तुम्हारी ऐसी शक्ति नहीं है तो हम सरीखे जीवों पर विशेष अनर्थ मत करना अर्थात् अन्यत्र निवास मत देना। यदि मुझे श्रीगोवर्धनका निवास मिले तो मैं स्वच्छ नन्दन-वनकी क्रीड़ा की तथा शिवलोक और विष्णुलोककी भी इच्छा नहीं करता हूँ। पुनः—श्रीगिरिराज-दर्पणमें—

समुझौ नहिं सैल इन्हें यह तौ हरि हैं हरि दासन में वर हैं।
बनि ब्रह्म विरागी मुनीस इन्हींकी तरेटी में कीन्ह चहें घर हैं।।
चरचा भुवलोक की कौन करै वैकुण्ठहु ना इनकी सर हैं।
करि प्रीति प्रतीति भजो गिरिराज विराज रहे ब्रज ऊपर हैं।।

तरहटी गोवरधन की रहिये।
नित प्रति मदनगोपाल लाल के चरण कमल चित लैये।।
तन पुलकत ब्रजरज में लोटत मानसि गंगा न्हैये।
कुण्ड कुण्ड में अचवन लैके जीवन सफल बनैयै।।
शिला लता द्रुम खग मृग परिकर निरखि निरखि सुख लहियै।
'प्रीतम रसिक' चित्त की बातें गिरिधारी सों कहियै।।
हा हा श्रीगोवर्धन गिरिधर लाल द्वितीय स्वरूप।
एकबार दृग तपन बुझाओ दरसावो वह रूप ।। (चाहवेली)

वास अटल वृन्दाविपिन—महावनमें उपद्रवोंको देखकर उपनन्दजीने कहा कि हम सभी यहाँ से चलें। श्रीवृन्दावन नामका एक वन है, उसमें छोटे-छोटे और भी बहुतसे नये-नये, हरे-भरे वन हैं। वहाँ बड़ा ही पवित्र पर्वत, घास और हरी-भरी लता वनस्पतियाँ हैं, पशुओंके लिए बहुत हितकारी है। गोप, गोपी और गायोंके लिए वह सेवन करने योग्य स्थान है। यथा—'वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्। गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्।। (भा० १०-११-२८) ब्रज गोपियाँ कहती हैं—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्।।

अरी सखी ! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोक तक पृथ्वीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है। क्योंकि यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण के चरण-कमलोंके चिह्नोंसे चिह्नित हो रहा है। सखि ! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजन मोहिनी मुरली बजाते हैं। तब मोर मतवाले होकर उसकी तान पर नाचने लगते हैं।। (भा० १०-२१-१०) ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणम्। स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।। यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः।। (भा० १०-१८-२-३) ग्रीष्म नामक ऋतु थी। यह शरीरधारियोंको बहुत प्रिय नहीं है परन्तु श्रीवृन्दावनके स्वाभाविक गुणोंसे वहाँ वसन्तकी-सी बहार थी। क्योंकि वहाँ भगवान श्रीकृष्ण-बलदेवजीके साथ निवास करते थे।। श्रीवृन्दावन-शतकमें श्रीप्रबोधानन्दपाद सरस्वती कहते हैं—

वृन्दारण्ये चर चरण दृक् पश्य वृन्दावन श्रीः,
जिह्वे वृन्दावनगुणगणान् कीर्तय श्रोत्रदृष्टान्।

वृन्दाटव्या भज परिमलं घ्राण मात्र त्वमस्मिन्,
वृन्दारण्ये लुठ पुलकितं कृष्णकेलिस्थलीषु॥

हे चरणो ! वृन्दावनमें चलो, हे नेत्र ! वृन्दावनकी शोभा निहारो, हे जिह्वे ! तुम कानोंसे सुनी हुई वृन्दावनकी गुणावलीका गान करो, हे घ्राण ! वृन्दावनकी सुगन्धका अनुभव करो और हे शरीर ! तू इस वृन्दावनके भीतर कृष्णके क्रीड़ा-स्थलोंमे पुलकित हो-होकर बारम्बार लोट।

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट,
स्वच्छन्दं पिव यामुनं जल मलं चीराणि कन्थां कुरु।
सम्मानं कलयाति घोर गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज॥

हे भैया ! वृन्दावनमें वृक्षोंके नीचे निवास करो, गाँवोंसे भिक्षा लाकर उदरपूर्ति कर लो। निर्मल यमुना जल पान करो, फटे-पुराने कपड़ोंकी गूदरी बनाकर जाड़ेसे बचो। सम्मानको घोर-गरल और नीचोंसे मिले अपमानको अमृत समझो। इस प्रकार श्रीराधा-मुरलीधरका भजन करो। श्रीवृन्दावनको छोड़कर अन्यत्र न जाओ॥ भगवान भी 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।' पद—

वृन्दावन अब जाय रहूँगी विपति न सपनेहुँ जहाँ लहूँगी।
जो भावै सो करौ सबै मिलि मैं तो दृढ़ हरि चरनन गहूँगी॥
प्राननाथ प्रियतम के ढिंग रहि मनमाने बहु सुखनि पगूँगी।
भली भई बन गई बात यह अब जग दारुन दुख न सहूँगी॥
करिहैं सुरति कबहुँ तौ स्वामी विषयानल में अब न दहूँगी।
'जुगलप्रिया' सतसङ्ग मधुकरी विमल जमुन जल सदा चहूँगी॥१॥

प्रथम दरस गोविन्द रूप के प्रान पियारे। दूजे मोहन मदन सनातन शुचि उर धारे॥
तीजे गोपीनाथ मधू हँसि कण्ठ लगाये। चौथे राधारमन भट्ट गोपाल लड़ाये॥
पाँचे हित हरिवंश सुवल्लभ राधा। छठें जुगलकिशोर व्यास सुख दियौ अगाधा॥

सातें श्रीहरिदासके कुञ्ज विहारी हैं जहाँ।
'भगवतरसिक' अनन्य मिलि वास करौ निधिवन तहाँ॥२॥

कुञ्जन सों उठि प्रात गात जमुना में धोवै। निधिवन करि दण्डवत बिहारी कौ मुख जोवै।।
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा। घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन बाधा।।
संग करै भगवतरसिक कर करवा गूदर गरे। वृन्दावन विहरत फिरै युगल रूप नैननि भरे।।

प्रेम दो प्रकारका है—'महात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्च।' (भ० र० सिं०) माहात्म्य ज्ञानयुक्त और केवल। 'गोकुले केवल्य रति ऐश्वर्य ज्ञान हीन। पुरी द्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य प्रवीन।। कृष्णेर यतेक खेला। सर्वोत्तम नर लीला।। विधिमार्गे ना पाइये व्रजे कृष्णचन्द्र। रागानुगामार्गे तारे भजे जेइ जन।। सेई जन पाये ब्रजे ब्रजेन्द्रनंदन।। (चै. च.) श्रीलालमतीमें विशुद्ध केवल रति थी। मथुरा और द्वारकामें ऐश्वर्य प्रधान लीलाहै। वहाँ विधिमार्गसे प्रभु प्राप्त होते हैं। परन्तु ब्रजमें तो केवल रागानुगामार्गसे ही मिलते हैं। यमुना, कुंज, वंशीवट, ब्रजरज, गोकुल, गुरुजन; बारह वन, मथुरा और गोवर्धन ये सभी गौर-श्याम-श्रीराधाकृष्णके स्वरूप ही हैं अतः इनसे स्वाभाविक प्रेम था।

नागरी—'नागर नर श्रीकृष्ण हैं नागरि राधा वाम। इनमें जाको प्रेम है सोई नागरी नाम।।' स्वयं भगवानने ब्रजधाममें विश्राम प्राप्त किया। यथा—

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ। संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्ब्रजे।

(भा० १०-१५-४६) श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयोंने माताओंका परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न भोजन किया। इसके बाद बड़े लाड़-प्यारसे दुलार-दुलाकर कर यशोदा और रोहिणीने उन्हें सुन्दर शय्या पर सुलाया। श्याम और राम बड़े आरामसे सो गये। मुझ ईश्वरको भक्त और धामके आश्रयसे सुख मिला, जो भी सुख चाहे वह भक्त और धामका आश्रय ले। अतः भक्तजन भी धाममें वास कर विश्राम पाते हैं। श्रीलालमतीजीने भी अटल-अखण्ड श्रीधाममें वास किया। इसीसे श्रीनाभाजीने श्रीलालमतीका चरित्र लिखकर विश्राम दिया। प्रकारान्तरसे सभी मनुष्योंको उपदेश दिया कि—दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर तुम भी अखण्ड धाम वास कर उसका लाभ लो। धाम वाससे नाम, रूप और लीलाकी उपासना सिद्ध हो जाती है। 'छांड़ि स्वाद सुख देह के और जगत की लाज। मनहिं न मारत हारिकै वृन्दावन में गाज।।'

विशेष—भ० गु० चि० कार लिखते हैं कि श्रीलालमतीजीने यमुना, कुञ्ज आदि अष्ट स्थानोंमें प्रेम किया वे इनकी यात्रा करती रहती थीं। शरीरके क्षीण होने पर भी दर्शन-यात्रा सेवा आदिमें शिथिलता नहीं आई। दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा देखकर प्रभुने इन्हें स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि—प्रातःकाल श्रीयमुना, कुञ्जमें आओ, वहाँ तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। तुम्हारा

शरीर शिथिल हो गया है अतः यात्रा बन्द करके श्रीवृन्दावनमें ही वास करो। स्वप्नका स्मरणकर आपके मन में बड़ा मोद हुआ। प्रातः आपने अपनी दासी के साथ यमुना स्नान किया और कुञ्जमें आकर बैठ गई। वहीं पर श्रीराधाकृष्णने इन्हें दर्शन दिया। प्रेममें विह्वल प्रभुकी शोभाका गान करके दासीको सुनाने लगी। दासी भी सुनने लगी पर दासीको भगवानकी छायाके भी दर्शन नहीं हो रहे थे। श्रीलालमतीजी ने प्रार्थना की-प्रभो ! दासी पर भी किञ्चित् कृपा करो। भगवान ने प्रार्थना स्वीकार करके मुरली बजाई। जिसकी ध्वनि दासीको सुनाई पड़ी और वह भी कृतार्थ हुई। इसके बाद लीलाधारी प्रभु यमुनामें कूद पड़े। कुछ दूर तक बाईको दर्शन होते रहे। इसके बाद प्रभु अन्तर्धान हो गये। श्रीलालमतीजी दासी सहित कुञ्जमें बेसुध पड़ी रहीं। पश्चात् श्यामसुन्दरकी उसी शोभाका ध्यान करती रहीं। इस प्रकार श्रीधाममें वास प्राप्तकर श्रीलालमतीजीने जीवन-जन्म सफल किया। बालकरामजी लिखते हैं—'केती दूरि देखे बाई अपनी कमाई पाई प्रेम की सगाई जामें और न खटाइये।।'

* भक्त परत्व *

कविजन करत विचार बड़ौ कोउ ताहि भनिज्जै।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनिज्जै।।
सो धारी सिर सेस, सेस शिव भूषन कीनौ।
शिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनौ।।
रावन जीत्यौ बालि, बालि राघो इक सायक दँड़े।
'अगर' कहैं त्रैलोक में हरि उर धरें तेई बड़े।।२००।।

शब्दार्थ—कविजन=ज्ञानी, भक्तगण। भनिज्जै=भणीजै, गाया जाय। फनिज्जै=शेष। दँड़े=दण्ड दिया, मारा।

भावार्थ—परम विवेकी ऋषिगण एकत्र होकर विचार करने लगे कि सबसे बड़ा कौन है? जिसका भजन-कीर्तन किया जाय। किन्हीं लोगोंने कहा कि पृथ्वी सबसे बड़ी है, क्योंकि यह सारे विश्वको धारण किये हुए है। (दूसरेने कहा कि) उस पृथ्वीको शेष भगवानने अपने फणों पर धारण कर रक्खा है अतः शेष उससे बड़े हैं। (तीसरेने कहा कि) शेषको श्रीशङ्करजीने अपने उर पर भूषणकी तरह धारण कर रक्खा है अतः शङ्करजी बड़े हैं। (चौथेने कहा कि) शिवका निवास स्थान कैलाश पर्वत है, उसके सहित रावणने शिव को अपनी

भुजाओं पर उठा लिया। उस रावणको बालिने जीत लिया। ऐसे पराक्रमी बालि का बध करने वाले भगवान श्रीरामचन्द्रजी सबसे बड़े हैं। (यह सुनकर पाँचवें श्रीपञ्चने कहा कि) ऐसे महतो महीयान् भगवानको जो भक्त अपने हृदयमें धारण करते हैं, वे तीनों लोकों में सबसे श्रेष्ठ हैं। श्रीअग्रदेवजीका मत है कि सबसे बड़े जो भक्तजन हैं उन्हीं की सेवा करो।।२००।।

कविजन—कवि यह भगवान का एक नाम है। यथा—'वेदाङ्गो वेदवित्कविः।' (विष्णुसहस्रनाम-२७), इसी अर्थमें भगवद्गीतामें प्रयुक्त है। यथा—'कविं पुराणमनुशासितारम्।' (८-९) श्रीशङ्कराचार्यने अर्थ किया है—कविं=क्रान्तदर्शिनं, सर्वज्ञम्। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमानको जानने वाला। अन्यत्र कवि शब्दके मेधावी, पण्डित और विचारक ऋषि आदि अनेक अर्थ किये गये हैं। यथा—'कवीनामुशना कविः।' (१०-३७) यहाँ कवि=सर्वज्ञ भगवान, उनके जन=दास अर्थात् विवेकी, ज्ञानी, भगवद्भक्त। ये लोग विचार करने लगे। अथवा कवि=काव्यकार, जन=लोग विचार करने लगे। नारदकृत सङ्गीत मकरन्दमें कविके लिए सत्रह गुण आवश्यक कहे गये हैं। यथा—

शुचिर्दक्षः शान्तः सुजन विनतः सुन्दरतरः,
कलावेदी विद्वानति मृदुपदः काव्य चतुरः।
रसज्ञः दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुल भवः,
शुभाकारश्छन्दो गुणगण विवेकी स च कवि।।

यहाँ 'गुणगण विवेकी' से काव्य गुणोंसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि काव्यचतुर पहले ही पादमें कहा है। प्रत्युत काव्यनायकके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता होनेसे तात्पर्य है। (मा० पी० से) 'जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि' जहाँ सूर्यादि न जा सकें, वहाँ पहुँचने वाले को कवि कहते हैं। ऐसे कवि—वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास आदि। श्रीनाभाजी भक्तगणगणोंके पूर्णज्ञाता थे अतः उन्होंने धीरोदात्त, सर्वथा निर्दोष और सर्वगुणगणविभूषित भगवद्-भक्तोंको अपने काव्यका नायक चुना।

बड़ौ कोउ ताहि भनिज्जै—बड़ा अर्थात् दिव्य, अप्राकृतका ही वर्णन करना चाहिए। अदिव्य, प्राकृत काव्य करनेसे सरस्वती रुष्ट हो जाती हैं। यथा—'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।।' (रा० मा०) प्राकृत नरकाव्य करनेमें मिथ्या का आश्रय लेना पड़ता है। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७) अतः सरस्वती रुष्ट हो जाती हैं, शाप देती हैं कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ ऐसे ही तुम्हारी कविता व्यर्थ हो, उसका सम्मान न हो। जैसे तूने मुझे नीचके कथनमें लगाया, वैसे ही तुम भी नीचगति पावोगे। प्राकृत नरकाव्य करने वाले

कविका जीवन आशा, दीनता, निरादर और दुःखसे बीतता है। नीच और नीचताका वर्णन करके कवि भी नीचगतिको प्राप्त करता है। बड़ेका बड़प्पन कहकर बड़ाई-सद्‌गतिको पाता है। अतः 'बड़ौ कोउ ताहि भनिज्जै'=बरनिये। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७६ सन्तन निर्णय कियो। दोहा ३ की व्याख्या)।

कोउ कह अवनी बड़ी—पृथ्वीके भक्तोंने कहा कि जिसमें क्षमागुण पूर्णरूपसे विद्यमान है वही बड़ा है। पृथ्वीको जाने कितने पैर हर समय ठुकराते हैं तथा सभी जीव अनेक प्रकारसे उसका अपमान करते हैं पर वह कभी रुष्ट नहीं होती है, कोई प्रतीकार नहीं करती है। इनका नाम ही क्षमा है। क्षमावानकी पृथ्वीसे उपमा दी जाती है। यथा—'क्षमयापृथिवी समः'। (मूल-रामायण) लोकको धारण करने वाली हैं। 'पृथ्वी त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णु ना धृता। त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्।। (सन्ध्यायां) पुनः—आन्हिके—'समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले। विष्णु पत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।। चारों ओर जिनके समुद्र वस्त्रवत् सुशोभित हैं। स्तनरूपी पर्वत मण्डलसे अमृततुल्य जल निकलता है, उसको पीकर विश्व पुष्ट होता है। श्रीविष्णु की पत्नी हैं। सबकी आधारभूता हैं अतः पृथ्वी बड़ी हैं। उन्हींके गुणोंका गान करना चाहिए।

सो धारी सिर सेस—पाताल निवासी भक्तोंने कहा—पातालसे नीचे तीस हजार योजनकी दूरी पर अनन्त भगवान विराजते हैं। यह दृष्टा और दृष्टको खींचकर एक कर देते हैं, इसलिए पाञ्चरात्र आगमके अनुयायी भक्तजन इन्हें संकर्षण कहते हैं। इन भगवान अनन्तके एक हजार मस्तक हैं। उनमें से एक पर रक्खा हुआ यह सारा भू-मण्डल सरसोंके दानेके समान दिखाई देता है। यथा—'यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इस लक्ष्यते।।' (भा० ५-२५-२) पुनः—(भा० ५-२५-१२)

मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम्।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः को वीर्याण्यधिगणयेत्सहस्रजिह्वः।।

यह पर्वत नदी और समुद्रादिसे पूर्ण, समस्त भू-मण्डल उन सहस्रशीर्षा भगवानके एक मस्तक पर एक रजः कणके समान रक्खा हुआ है। वे अनन्त हैं, इसलिए उनके पराक्रमका कोई परिमाण नहीं है किसीके हजार जिभ्यायें हों, तो भी उन सर्वव्यापक भगवानके पराक्रमोंकी गणना करने का साहस वह कैसे कर सकता है ? अतः पृथ्वीसे शेष भगवान

बड़े हैं, इन्हींका भजन-कीर्तन करना चाहिए। पुनः 'ब्रह्माण्ड भुवन विराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।' (रामचरितमानस)

सेस शिव भूषन कीनौ—'भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।' (रा० अयो० मङ्ग०) राहुसे भयभीत, अल्पकालवान, बाल चन्द्रमा मस्तकमें, देव-दानवादि त्रिलोकी की रक्षाके लिए विषको कण्ठमें और शेष भगवानको वक्षःस्थल पर धारण करते हैं। इसलिए कि ये सहस्रमुखोंसे निरन्तर नाम जप करते हैं। 'शिव भूषन' सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौर सँवारा।। कुण्डल कंकन पहिरे व्याला। तथा—नयन तीनि उपवीत भुजंगा।। (रामा०) 'अहि भूषन दूषन रिपु सेवक' (विन० ९) भूषण और भार भयप्रद नहीं होते हैं। रुचि पूर्वक शेषको अपना प्रिय भूषण बना लेने वाले शिव ही भजनीय और कीर्तनीय हैं। शिवलोकवासी भक्त कवियोंने अपना यह मत व्यक्त किया।

शिव आसन कैलास०—रावण पुष्पकयानको जीतने के बाद उसी विमान पर चढ़कर कैलाश पर गया। वहाँ नन्दीश्वरने उसे रोका। इस पर उसने क्रोधित होकर कैलाशको उठा लिया। यथा—कौतुक ही कैलाश पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ। मनहुँ तौलि निज बाहु बल चला बहुत सुख पाइ।। (बा० १७९) ऐसा भी कहा जाता है कि एकबार श्रीपार्वती देवीको मान हो गया। भगवान शङ्कर ने बहुत मनाया पर वह न मानीं। रावणने भी मान छोड़नेकी प्रार्थना की न मानने पर उसने कैलाशको उठा लिया। कैलाशके कम्पित होनेसे भयभीत हुईं श्रीपार्वतीजी भागकर शिवसे लिपट गईं, अपने-आप मान छूट गया अतः श्रीशङ्करजी प्रसन्न हुए। दो०—पुनि नभसर मम कर निकर कमलन्ह पर करि वास। सोभित भयउ मराल इस संभु सहित कैलास।। (लं० २२) रामचन्द्रिकायां—दो०—गेद करचौं मैं खेल कौ हर गिरि केशवदास। सीस चढ़ाये आपने कमल समान सहास।।

रावन जीत्यौ बालि—एकबार रावण वानरराज बालिको जीतने के विचारसे किष्किन्धाको गया। द्वारपालने कहा—वे इस समय सन्ध्या-तर्पण करनेके लिए पूर्व समुद्र की ओर गये हैं। रावणने वहाँ जाकर देखा तो बालि ध्यानमग्न थे। इसके मनमें आया कि धोखेसे पछाड़ दूँ अतः धीरे-धीरे गया बालिने इसकी चालाकीको समझकर ही नेत्र बन्दकर लिए थे। पहुँचते ही झट रावणको पकड़कर बालिने अपनी काँखमें दबा लिया। बहुत छटपटाया पर छूट न सका। बालि चारों समुद्रोंमें सन्ध्या करके किष्किन्धा आया। उसे अंगदके पालनेमें बाँध दिया। इसके बाद मन्दोदरीने तारासे जाकर सख्य किया। ताराके कहनेसे बालिने रावणसे

मित्रता करली और उसे छोड़ दिया। अंगद वाक्य—'एक कहत मोहिं सकुच अति रहा बालि की कांख।' (लंका०)

बालि राघो इक सायक दँड़े—बालि और सुग्रीवमें शत्रुता हुई। सुग्रीवने श्रीरामजी से मित्रता करली। मित्रके संकटको सुनकर श्रीरामने कहा—'सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहिं एकहि बान। ब्रह्म रुद्र सरनागत गये न उवरहिं प्रान।।' अपने बल पर विश्वास करानेके लिए एक बाणसे ही मारने को कहा अथवा रोषके कारण ऐसी प्रतिज्ञा की। 'जो अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।' पुनः मित्रका दुःख अपने दुःखसे भी अधिक दुःखद है, अतः सुग्रीवको उभय प्रकार निर्भय करते हैं। एक तो जीते जी बालि तुम्हारा कुछ न कर सकेगा। एक बाणसे मार दूँगा। दूसरे, मरने पर भी न डरो कि प्रेत बनकर दुःख देगा। इसे बाणका स्पर्श प्राप्त होगा अतः हमारे पार्षद हमारे धामको ले जायेंगे। रावणको समझाते हुए मन्दोदरी कहती हैं। दो०—बधि विराध खर दूषनहिं लीला हत्यौ कबन्ध। बालि एक सर मारेउ तेहि जानहु दसकन्ध।। (लंका ३५) भक्त रक्षार्थ छिपकर मारा। जैसे शिवकी रक्षाके लिए जालन्धर रूपसे वृन्दाके पास गये।

अगर कहैं—विवेकी कवियोंने विचार किया तो पृथ्वी, शेष, शिव, श्रीराम उत्तरोत्तर बड़े हुए। ऐसे षडैश्वर्य सम्पन्न भगवानको अपने हृदयमें धारण करने वाले भक्तजन सबसे बड़े हैं। यथा—'बन्दौं पवनकुमार खलवन पावक ज्ञान घन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।।' (रामा०) पुरुषसूक्तमें 'सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपाद परमात्मा दस अंगुल हृदय स्थान में रहते हैं। ऐसा वर्णन है। 'हरि उर धरे तेई बड़े'—ब्रह्माण्ड निकाया निरमित माया रोम रोम प्रति वेद कहैं। मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहैं।

सबही बड़े छिति छितहू ते सिन्धु बड़े, सिन्धुहू ते बड़े मुनि वारिधि अँचे रहे।
तिनहूँ ते बड़े नभ तामें मुनि अनेक, जाके बीच तारागन चारों ओर छै रहे।।
नभहू ते बड़े पग वामन बढ़ाये जब, तिनकी ऊँचाई देखि तीनों लोक नै रहे।
तिनहूँ ते बड़े सन्त साहिब अगम गति, ऐसे हरि बड़े जाके हृदै घर कै रहे।।

इस सम्बन्धमें पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७६ 'सब सन्तन निर्णय कियौ' की व्याख्या देखिये। भक्त भगवानको अपने हृदयमें इस दृढ़तासे धारण करते हैं कि फिर वे निकल न सकें। तभी तो श्रीबिल्वमङ्गलजीने चुनौती दी—'कहा भयौ कर छुटे वदौं जो हिय ते जाई।' (छ० ४६) 'हिरदै ते जब जाहुगे मरद बखानों तोहि।' श्रीनारायण स्वामी कहते हैं—'मोहन बसि गयौ मेरे मन

में।' श्रीसूरदासजी कहते हैं—'मन में रह्यौ नाहिंन ठौर। नन्द नन्दन अछत कैसे आनिये उर और।।' श्रीरामचरितमानसमें भगवान श्रीरामके पूछने पर महर्षि वाल्मीकि ने कहा—'आप अपने अनन्य निष्काम सच्चे भक्तोंके हृदयमें निवास कीजिये।' भक्त-हृदयको छोड़कर भगवानके लिए सुखद कोई दूसरा स्थान है ही नहीं।

स्वयं भगवान अपने श्रीमुखसे भक्त महत्व-परत्व कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।

(भा० ११-१४-१६) भगवान उद्धवजीसे कहते हैं—जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है। उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।। इसी भक्तपरत्वके कारण मूल-मङ्गलाचरण दोहा ४ में श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने श्रीनाभाजीको आज्ञा दी कि भक्तोंके चरित्रोंका गान करो। भवसागरसे तरने का दूसरा उपाय नहीं है। अम्बरीषसे भगवानने कहा है 'साधु हमारे हृदय हैं, मैं साधुओंका हृदय हूँ।' तात्पर्य यह कि भक्तके हृदयमें भगवान और भगवानके हृदयमें भक्त निवास करते हैं। परस्पर एकसे दूसरेका बड़प्पन सिद्ध है अतः मूल दोहा ३ में भजनके लिए दोनोंको सुन्दर कहा। आरम्भमें 'जय जय मीन वराह' और उपसंहारमें 'कविजन' ये दोनों छन्द श्रीअग्रदेवाचार्यकृत हैं। इन्हें आदि अन्तमें लिखकर श्रीनाभाजीने सम्पूर्ण भक्तमालको गुरु-कृपाकृत बताया।

हरि सुजस प्रीति हरिदास कैं त्यों भावै हरिदास जस।।
नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयौ।
अनुचर कौ उतकर्ष स्याम अपने मुख गायौ।।
ओत-प्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जानैं।
पुर प्रवेश रघुवीर भृत्य कीरति जु बखानैं।।
अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस।
हरि सुजस प्रीति हरिदास कैं त्यों भावै हरिदास जस।।२०१।।

शब्दार्थ—ओत-प्रोत=संगठित, एक दूसरे से मिला हुआ। अनुग=सेवक, भक्त। भावै=रुचै, अच्छा लगे।

भावार्थ—जिस प्रकार भगवद्-भक्तोंको भगवानके सुयशमें प्रीति होती है, उसी प्रकार भगवानको भी अपने प्रेमी भक्तोंकी कथा बहुत ही अच्छी लगती है। भक्तोंके और भगवानके पारस्परिक प्रेमका चारों युगोंमें निर्वाह हुआ है यह सर्वदा पूर्ण और एक-सा रहता है। अपने भक्तोंकी महिमाको भगवानने बार-बार अपने श्रीमुखसे गाया है। भगवान भक्तोंके अनुरागमें सदा ही सराबोर रहते हैं। इस बातको समस्त संसार जानता है। वनवास की अवधि पूरी होने पर श्रीअयोध्यापुरीमें प्रवेश करते समय भगवान श्रीरामचन्द्रजीने अपने अनुचरों की कीर्तिका वर्णन किया है। श्रीअग्रदेवाचार्य कहते हैं कि उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि भक्तों के गुणोंका वर्णन करने से सीतापति श्रीरामचन्द्रजी सदा के लिए वश में हो जाते हैं।।२०१।।

व्याख्या-हरि सुजस प्रीति हरिदासके—श्रीहनुमानजी—'यत्र यत्र रघुनाथ कीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। वाष्पवारिपरिपूर्ण लोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।।' जहाँ-जहाँ हरि कथा होती है, वहाँ-वहाँ हनुमानजी बिना बुलाये पहुँच जाते हैं। नेत्रों में आँसू भरकर, हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कथा सुनते हैं। 'राम कथा सुनिवे को रसिया।' शौचशेष जलको पाकर प्रेतने श्रीतुलसीदासको बताया कि कुष्ठी का रूप धारण करके कथा सुनने के लिए हनुमानजी नित्य सबसे पहले आते हैं और सबके बाद जाते हैं। यथा—'रामायन कथा सो रसायन है काननि को आवत प्रथम पाछे जात घृना छाये हैं।' क० ५०९। श्रीशुकदेवजी गर्भसे निकलते ही चल लिये, व्यासजी सरीखे पिताके बुलाने पर भी वापस नहीं लौटे। ऐसे विरक्त थे पर 'अहो बकीयं' इस 'दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई।' (क० ९८) वनसे वापस आये और पिताजी से आपने भागवत को सुना, पढ़ा। श्रीपृथुजी ने दस हजार कान माँगे। श्रीशंकरजीने मराल बनकर श्रीकागभुशुण्डिसे कथा सुनी। 'श्रवण रसिक कहूँ सुने न परीक्षित से।' (क० ९७) हरिद्वार में श्रीभागवत की कथा होगी। यह सुनकर कथा-रसके लम्पट वैष्णव लोग पहले ही भागकर आये। यथा—

श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः। धावन्तोऽप्यापयुः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः।।

(भा० माहा० ३-१२) श्रीरामचरितमानस में कहा है कि राम कथा चंद्रिकाको चकोर सन्त सदा पान करते हैं। कथा सन्तजनोंकी संजीवन मूरि है। यथा—

चौ०— रामकथा ससि किरन समाना। सन्त चकोर करहिं जेहि पाना।।
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई।।
असुरसेन सम नरक निकन्दनि। साधु विवुधकुल हित गिरि नन्दनि।।

श्रीभक्तमालजीमें कथाके श्रोता-वक्ता अनेक सन्त हैं अथवा यों कहिये कि सभी भक्त कथाके प्रेमी होत हैं। कुछ में यह निष्ठा प्रधान होती है। श्रीनारायणमिश्रजी ऐसे प्रेमी थे कि ग्रंथकार को लिखना पड़ा—'भागौत भली विधि कथन कौ धनि जननी एकै जन्यौ।' (छ० १३४) श्रीलालदासजी कथा सुनकर परीक्षित की तरह शरीर त्यागा यथा—'विष्णुरात सम रीति बँघैरै त्यौं तन त्याज्यो।' (छ० १६४) श्रीप्रेमनिधिजी—'दया दृष्टि बसि आगरैं कथा लोग पावन कर्‌यौ।' (छ० १६७) आदि। भगवत्कथाके भावुक रसिक भक्त ही अधिकारी हैं—'पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।' (श्रीमद्भागवत)।

त्यौं भावै हरिदास जस—भक्त जैसी-जैसी प्रीति भगवान में करते हैं, भगवान भी वैसी-वैसी प्रीति भक्तमें करते हैं। उन्होंने गीतामें कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (४-११) अर्थात् जो जिस प्रकार से, जिस प्रयोजनसे मुझे भजते हैं, उसी प्रकार उनको भजकर उन पर अनुग्रह करता हूँ, उनके मनोरथ पूर्ण करता हूँ क्योंकि उन्हें मोक्ष की इच्छा नहीं होती है। भक्तमाल माहात्म्यमें भगवानने स्वप्नमें चोरों से कहा—'इक दुख भक्त रहे दुख माहीं।' भक्तमाल पुनि सुनी सु नाहीं।। मोहिं जहाँ को तहँ करि आवौ। ना तर तुम बहुतै दुख पावौ।।' श्रीप्रियादासजीके मित्र श्रीगोवर्धननाथजी साँभरकी रामत करने जयपुर गये। वहाँ श्रीगोविन्दजीके मन्दिरमें भक्तमाल की कथा कहने लगे। बीचमें कथा बन्द करके रामत को गये। वापस आकर पुनः श्रीगोवर्धननाथजी कथा कहने बैठे। पर कहाँ तक कथा हुई, यह किसीको याद नहीं था। तब श्रीगोविन्ददेवजीने पुजारीसे कहा—'श्रीरैदास भक्त की गाथा। भई कहो आगे अब नाथा।।' यह सुनकर सभी के नेत्रों में आँसू आ गये। लोगोंने समझ लिया कि भक्त-चरित्रके प्रेमी श्रोता भगवान ही हैं। विशेष भक्तमाल-माहात्म्य पूर्वार्द्धके आरम्भ में देखिये) भक्त और भगवान ये एक दूसरे की कथा सुने बिना रह नहीं सकते। श्रीजाम्बवानजीने समुद्र उल्लंघन के समय श्रीहनुमानजीको कर्तव्य का बोध कराकर श्रीरामका सुयश सुनाया। तो उन्हें अति प्रिय लगा। यथा—

चौ०— एतना करहु तात तुम्हु जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई।।
तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना।।

छ०— कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहिं आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।।
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुवीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई।। कि० काण्ड।।

चौ०— जामवन्त के वचन सुहाये। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाये।।

इसके बाद जब श्रीहनुमानजी लंका जलाकर श्रीसीताजीका समाचार लेकर श्रीरामजीके पास आये। तब श्रीजामवन्तजीने श्रीहनुमानजीका चरित्र श्रीरामजीको सुनाया। तो उन्हें अति ही प्रिय लगा। 'अति भाये' दोनों ओर कहा गया। यथा—

चौ०— नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी।।
पवन तनय के चरित सुहाये। जामवन्त रघुपतिहि सुनाये।।
सुनत कृपानिधि मन अति भाये। पुनि हनुमान हरषि हियँ लाये।। (सु० काण्ड)

श्रीमद्भागवत दशम अ० ७० में वर्णित है कि एकदिन भगवान श्रीकृष्ण द्वारका में अपनी सुधर्मा सभामें विराजमान थे। उसी समय एक दूतने आकर जरासन्धके कारागारमें बन्द बीस हजार राजाओंकी प्रार्थना सुनाई—प्रभो ! हमें शीघ्र ही बन्धनसे मुक्त कीजिये। भगवानने स्वीकार किया। इसी बीच श्रीनारदजी आये तो उनसे भगवानने अपने भक्त युधिष्ठिर आदि की कथा पूछी। तब देवर्षिने पाण्डवोंका कुशल समाचार एवं उनके विचारोंका वर्णन करते हुए उनकी कथा सुनाई। उससे प्रभावित होकर भगवानने उद्धवजी से मन्त्रणा की और परिकर सहित उनके यज्ञको पूर्ण करने के लिए सपरिकर वहाँ पधारे। यहाँ भक्तवार्ताके श्रवणसे प्रसन्न होना जाना गया।

नेह परसपर अघट—श्रीसुग्रीव और श्रीरामने—'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।' और 'कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।' दो प्रेमी परस्पर प्रेम करके पाग या मुद्रिका आदि किसी वस्तुको पलट लेते हैं, अदला-बदली कर लेते हैं। भक्त-भगवान ये हृदयको उलटा-पलटी कर लेते हैं। तभी तो दुर्वासासे प्रभुने कहा—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।।' (भा० ९-४-६८) साधुजन मेरे हृदय हैं, मैं साधुओं का हृदय हूँ। भक्तजन मुझसे भिन्न किसी दूसरे को नहीं जानते हैं, मैं भी उन्हें छोड़कर किसी दूसरे को नहीं मानता हूँ। तात्पर्य यह कि दोनों परस्पर अनन्य हैं। दोनों का सिद्धान्त एक है—'हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।।' श्रीमदनमोहन सूरदासकी नाम श्रृंखला जुरी अटल।। (छ० १२६) गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।। (छ० ८१) 'स्ववर्गे परमा प्रीतिः।'

दोहा—प्रेम अपनपौ अपुन में स्वाभाविक विलसाहिं। पञ्चतत्व दृष्टान्त हैं सब अपनी दिसि

जाहिं।। भक्त और भगवान द्वौ एक तत्व ही आहिं। आकर्षण निज तत्व दिसि घटत प्रेम यों नाहिं।। भ० व० टी०।।

परस्पर अघट प्रेमका एक कारण यह भी है कि आत्मस्वरूप भक्तों को अपनी लीलाके लिए तथा भक्ति-प्रचार के लिए उन्हें स्वयं प्रकट करते हैं। यथा—

भक्तनि हित भगवन्त रची देही माधवग्वाल की।। छ० १६५।।
भगवन्त रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान कों।। छ० १७८।।
तिलक दाम पर काम कों हरीदास हरि निर्मयो।। छ० १७९।।

भक्तजन कृपासृष्टि के जीव हैं 'निबहि चारौ युग आयौ'—सत्ययुगमें-विधि, नारद, शंकर, सनकादिक, प्रह्लाद आदि। त्रेतामें—निषादराज, गीधराज, जटायु, शबरी आदि। द्वापरमें-सुरथ, सुधन्वा, मोरध्वज, कुन्ती, द्रोपदी और पाण्डव आदि। कलियुगमें-श्रीमीरा ने विष पानकर, श्रीरत्नावतीने प्राण अर्पणकर, श्रीमदनमोहन सूरदासने कारागारमें यातना सहकर, श्रीसदनजी, श्रीजयदेवजी ने हाथ कटवाकर, श्रीकरमैतीजीने ऊँट के करंग में छिपकर और अनेकानेक, भक्तोंने अनेक कष्टों को सहकर प्रेम निभाया। भगवान ने मीन, वाराह, नृसिंह, नाई, अन्तर्यामी, साँवलिया सेठ आदि अनेक रूप धारण कर, जगन्नाथजी माधवदास की सेवा कर, जसू स्वामीके बैल बनकर, देवा पण्डा के लिए श्वेत केश धारण कर प्रेम निभाया। पारस्परिक प्रेम निभाने के लिए दृष्टान्त प्रत्येक इतिहास-पुराण एवं भक्तमाल में भरे पड़े हैं। इस प्रसङ्गमें पुरानी टिप्पणीमें आदि पुराण के श्लोक उद्धृत हैं—

मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव। भक्तानामनु गच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह।।
लोकस्य गुरवौ भक्ता भक्तानां गुरवो वयम्। सर्वत्र गुरवो भक्ता वयं च गुरवो यथा।।
अस्माकं बान्धवा भक्ता भक्तानां बान्धवा वयम्। अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम्।।

अर्थ—भगवान कहते हैं, हे अर्जुन ! मेरे भक्त जहाँ जाते है, उनके पीछे-पीछे मैं और श्रुतियोंके साथ मुक्तियाँ भी वहाँ पहुँच जाती हैं।। १।। भक्त सभीके गुरु अर्थात् पूज्य हैं और मैं भक्तोंका गुरु हूँ। जैसे मैं सर्वत्र गुरु हूँ उसी प्रकार भक्त भी सर्वत्र गुरु हैं।।२।। भक्तजन मेरे बन्धु हैं और मैं भक्तोंका बन्धु हूँ। भगवानने (भा० ११-१४) आदि स्थानों में भक्तोंका उत्कर्ष अपने श्रीमुखसे कहा है दोनों परमार्थी हैं अतः प्रेम निभाते हैं। स्वार्थी प्रेम नहीं निभा सकता है। 'जानत प्रीति रीति रघुराई।' (वि० प०) 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।। को रघुवीर सरिस संसारा। सील सनेहु निबाहन हारा।।' (रामा०)

ओत प्रोत अनुराग—हम शिष श्यामा श्याम के गुरु हमरे श्यामा श्याम। ओत प्रोत अरपन कियौ निज मन तन धन धाम।। निज मन तन धन धाम निरन्तर अन्तर नाहीं। निसिदिन दुख सुख संग अशुचि शुचि घर वन माहीं। नश्वर देह निमित्त देह नाते सों उपसम। भगवत हमरे प्राण सदा भगवत के हैं हम।। (भगवतरसिकजी)

पुर प्रवेश रघुवीर भृत्य कीरति जु बखानैं—
गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे। इनकी कृपा दनुज रन मारे।।
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे।।
मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहु ते मोहिं अधिक पियारे।।

कीर्ति वर्णनके साथ श्रीराम लंकाकी विजय का श्रेय अपने भक्तों को दे रहे हैं। अपनी ईश्वरता भूल जाते हैं। 'वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशता हूँ।' (क० ९) उत्तरकाण्ड दोहा ३७ में श्रीभरतजीने श्रीरामजीसे कहा—

सन्तन्ह कै महिमा रघुराई। बहु विधि वेद पुरानन्ह गाई।।
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई।।
सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन। कृपासिन्धु गुन ग्यान विचच्छन।।

श्रीरामने भरतादिके समक्ष सन्त-महिमा का वर्णन किया—

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता।।
सन्त असन्तन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।
ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखण्ड। अनल दाहि पीटत घनहिं परसु वदन यह दण्ड।।
विषय अलम्पट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।।
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया।।
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी।।
विगत काम मम नाम परायन। सान्ति विरति विनती मुदितायन।।
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री।।
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर।।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं।।
निंदा अस्तुति उभय सम समता मम पद कंज। ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मन्दिर सुख पुंज।।

हनुमन्नाटक १४-६२ श्रीरामजी कहते हैं—

निवासः कान्तारे प्रियजनवियोगाधिरधिको—
धनुर्मात्रत्राणं रिपुरपि धुरीणः पलभुजाम्।
अकूपारं पारे वसति च स कात्र प्रतिकृति—
र्न मित्रं सुग्रीवो यदि तदियती राघवकथा।।

हे जानकी ! वनमें निवास, प्रियजनोंका वियोगरूप बड़ा रोग, एकमात्र धनुष ही रक्षक और मांसाहारी राक्षसराज रावण सरीखा बलवान शत्रु, उस पर भी शत्रु का समुद्र पार निवास, तो फिर ऐसी हालत में क्या प्रतीकार हो सकता था ? यदि सुग्रीव हमारे मित्र न होते तो मुझ राघवकी बस इतनी कथा रह जाती कि रघुकुल में एक राम हुए थे, उन्हें वनवास हुआ था और रावणने उनकी स्त्रीका हरण कर लिया था। मेरी कथा और कीर्तिका विस्तार इन वानर मित्र-भक्तोंके द्वारा हुआ।

सीतापति नित होयँ बस—जहाँ-जहाँ भक्तचरित वर्णित हैं। वहाँ-वहाँ प्रायः फल स्तुतिमें कहा गया है कि इसके श्रवण-कीर्तन से भक्ति प्राप्त होती है यथा—'श्रुत्वैतच्छ्रद्धया भीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम्। भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात्क्लेशसंक्षयः।।' (भा० ४-१२-४६)

अर्थ—भक्त ध्रुवके इस पवित्र चरित्रको जो श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनते हैं, उन्हें भगवानकी भक्ति प्राप्त होती है। जिससे उनके सभी दुःखोंका नाश हो जाता है। पुनः—इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः। सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत्।। (भा० ९-५-२७) महाराज, अम्बरीषका यह परम पवित्र आख्यान है, जो इसका संकीर्तन स्मरण और श्रवण करता है, वह भगवानका भक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि भक्ति प्राप्त होनेसे भक्त हो जाता है। भक्त होनेसे भगवान उसके अधीन हो जाते हैं। 'अहं भक्तपराधीनो।' मैं भक्तके अधीन हूँ, यह श्रीमुखसे स्वयं भगवान ने अम्बरीषके प्रसङ्गमें दुर्वासा से कहा है। अरण्यकाण्ड दोहा-४५ में श्रीनारदजी और श्रीरामजी का सम्वाद है—

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भव भंजन भीरा।।
सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ।।
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा।।
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी।।
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना।।
गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह। तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह।।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती।।
जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।।
विरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना।।
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।।
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला।।
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।।

* सन्त उत्कर्ष *

उतकर्ष सुनत सन्तनि कौ अचरज कोऊ जिनि करौ।।
दुर्वासा प्रति स्याम दास बसता हरि भाषी।
ध्रुव गज पुनि प्रहलाद राम शबरी फल साखी।।
राजसूय जदुनाथ चरण धोय जूंठ उठाई।
पाण्डव विपति निवारि दियौ विष विषया पाई।।
कलि विशेष परचौ प्रगट आस्तिक ह्वैकै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत सन्तनि कौ अचरज कोऊ जिनि करौ।।२०२।।

शब्दार्थ—उतकर्ष=श्रेष्ठता, बड़ाई। विषया=कन्या, जो चन्द्रहास को व्याही गई। राजसूय=वह यज्ञ जिसे केवल सम्राट् कर सकता है।

भावार्थ—इस भक्तमालमें या अन्यत्र इतिहास-पुराणोंमें सन्तोंकी बहुत बड़ी प्रशंसा का वर्णन सुनकर कोई आश्चर्य अविश्वास न करे क्योंकि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीभागवतमें दुर्वासा ऋषिसे कहा है कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ।' श्रीध्रुवजी, गजेन्द्र, श्रीप्रह्लादजी आदि के चरित्र एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा शबरीके फलोंका सादर खाया जाना आदि प्रसंग सन्तोंकी बड़ाईके साक्षी हैं। श्रीयुधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञमें श्रीकृष्णने साधु-ब्राह्मणोंके चरण धोये और उनकी जूंठी पत्तलें उठाई। पांडवों पर आई अनेक बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे उनकी रक्षा की। भक्त चन्द्रहासजीको दुष्टने विष दिया पर उसके बदले उन्हें विषया नामक स्त्री और राज्यकी प्राप्ति हुई।

ये तो पिछले तीन युगोंकी बातें हुई। इस कलियुगमें तो विशेष सन्तोंके चमत्कार प्रकट हुए अतः कुतर्क त्यागकर विश्वासपूर्वक आस्तिक-बुद्धिसे भक्त-चरित्रोंको हृदयमें धारण करो। तभी रहस्य समझमें आयगा।। २०२

उतकर्ष सुनत......अचरज जिनि करौ—भक्त और भगवानकी सभी लीलायें लोकोत्तर हैं अतः परमाश्चर्यमयी हैं। यहाँ आश्चर्यका निषेध, अन्यत्र उसीका वर्णन। यथा—'बच्छ हरन पाछै विदित सुनौ सन्त अचरज भयो।' (छ० ५४) 'अचरज भयो तहँ एक सन्त सुनि जिन हो विमने।' (मू०छ० ६६) और—'यह अचरज भयौ एक खाँड़ घृत मैदा बरसै।' (छ० १५४) यहाँ भक्तोंकी भक्तिका अनोखापन मनको प्रसन्न करने वाला और भक्तिवर्द्धक है। 'अचरज कोऊ जिनि करौ' का तात्पर्य यह कि ऐसा अविश्वास करके यह न समझो कि ऐसा संभव नहीं। जिनका विचार-विवेक निर्मल है, वे आश्चर्य नहीं करते हैं। यथा—'राम अनन्त अनन्त गुन अमित कथा विस्तार। सुनि 'आचरज' न मानिहैं जिनके विमल विचार।।' (१-३३ रामा०)

आश्चर्यमय उत्कृष्ट कुछ चरित्रोंका स्मरण कराते हैं। १-सर्वेश्वर भगवान ने कर्मानन्दके वश होकर उन्हें लाकर छड़ी दी। 'अहं भक्तपराधीनोः' को सत्य किया। २-पाँच वर्षकी आयु वाले श्रीनामदेवके हाथसे प्रभुने दूध पिया। जैसे पञ्चवर्षीय बालक ध्रुव के तपसे प्रसन्न होकर दर्शन करने आये। ३-श्रीप्रेमनिधिजी को कारागारसे छुड़ाया। जैसे गजेन्द्रको ग्राहसे। ४-जमींदार और राजाकी कन्याने शिला टूकसे भगवानको प्रकट किया। जैसे प्रह्लादने पत्थरके खम्भेसे नृसिंह को प्रकट किया। ५-त्रिलोचनके घर सेवक बनकर तेरह मास रहे। सन्तों की जूठन खाई। जैसे शबरी के बेर श्रीराघवेन्द्रने खाये। ६-सेन भक्तका रूप धारण कर राजा के तेल लगाया। जैसे युधिष्ठिर के यज्ञमें जूठे पत्तल उठाने की सेवा की, सबके चरण धोये। इस सेवाके लिए कोई सहर्ष तैयार न था। ७-कबीरजी के यहाँ बालद लेकर आये। ब्राह्मणोंके क्रोधसे रक्षा की, सिंह रूप धारणकर बादशाह से रक्षा की। जैसे दुर्योधनके भेजे श्रीदुर्वासाजीसे पाण्डवोंकी रक्षा की। वरदान दिलाया, जलते लाक्षागृहसे बचाया। ८-नरसीके मुनीम बनकर छूछक में सभी स्त्री-पुरुषों को वस्त्र पहनाये। जैसे सभामें वस्त्र बढ़ाकर दुःशासन से द्रोपदीकी रक्षा की। ९-श्रीमीराजीकी विषसे रक्षाकी। जैसे चन्द्रहासको विषके बदले विषया दी। दो०-'जिन पाँयन पनहीं नहीं तिन्हें देत गजराज। विष देते विषया मिली बड़े गरीब निवाज।।' कलियुगमें तीन युगोंकी अपेक्षा विशिष्ट लीलामय चरित्र हुए। 'और युगन ते कमलनयन कलियुग बहुत कृपा करी।' (छ० ५५) विश्वामित्रजीके

तपसे त्रिशंकु स्वर्ग को न जा सका पर श्रीकबीर और श्रीतुकारामजी सशरीर वैकुण्ठको गये। आदि-आदि भक्तोंके उत्कर्ष हैं। इन्हें सुनकर विमुख ही आश्चर्य या सन्देह करेगा। भक्त-भगवान-'तृण ते कुलिश कुलिश तृन करई।' सर्व समर्थ हैं। साधु-भक्त महिमा अवर्णनीय है, उसे यथावत्-सम्पूर्ण कोई नहीं कह सकता। यथा—(रामचरितमानसे-१-३)

विधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।।
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे।।

किसी दिन स्वर्ग में देवताओंकी एक सभा हुई। उसमें सभी देवता इकट्ठे हुए। तब साधु-महिमा कहने की वरणी ब्रह्माको दी। कहते-कहते बहुत दिन बीत गये तब सरस्वतीजी उदास होकर बोलीं—मेरे पति कब तक कहते रहेंगे। अब यह वरणी महादेवजीको देनी चाहिए क्योंकि ये पाँच मुख वाले हैं।' फिर महादेवजी प्रसन्न होकर कहने लगे। निदान देवताओंने देखा कि बहुत दिन हो गये और अन्त न हुआ तब तो कार्तिकेयजीको वरणी दी गई। इन्होंने बहुत कुछ कहा पर अन्त न हुआ तब तो पार्वती बोल उठीं, देखो देवता बड़े स्वार्थी होते हैं, मेरा बालक कब तक कहता रहेगा, बहुत दिन बीत गये, अब नहीं कहेगा। तब देवताओंने मिलकर वह वरणी शेषनागको दी। क्योंकि इनके सहस्रमुख और दो सहस्र जिह्वायें हैं। ये बहुत शीघ्र साधु-महिमा कह लेंगे। इनको भी कहते-कहते कई कल्प बीत गये, तब तो ये हार मानकर लाचार हो पातल लोकमें जा छिपे, सिर झुकाकर बैठ गये, सो उसी लज्जाके कारण आज तक बैठे ही हैं। प्रमाण-'सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्।' (स्कन्दपुराण, मानस पीयूषसे उद्धृत)

भगवान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, भक्त-प्रेमवश स्वयं उसके अधीन हो जाते हैं। क्योंकि भक्त स्वयं सर्वथा भगवानके अधीन रहता है। आदि पुराण में श्रीमुख का वाक्य है—'सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः। अजितोऽपि जितोऽहं तैरवशोऽपि वशीकृतः।।' सदा मुक्त होता हुआ भी मैं भक्तोंमें उनकी प्रेमरूपी डोरी से बँधा हुआ हूँ। अजित होकर भी उनके द्वारा जीता जा चुका हूँ और अवश होकर भी उनके वशमें हूँ। 'दास वसता हरि भाषी'—क्लेशं पापं हरतीति हरिः। यद्यपि मैं पाप और संकटों को हरने वाला हूँ पर भक्तके अपराधी का सङ्कट दूर नहीं कर सकता। शरणागति व्यर्थ नहीं हुई। उपाय बतला दिया। रक्षा करने में अम्बरीष ही समर्थ हैं।

कलि विशेष परचौ प्रगट—कलिकी विशेषता द्वि० खण्ड पृ० ४।१७६ और ४९७ में तथा प्रथमखण्ड पृष्ठ १४२ में देखिये। 'आस्तिक ह्वैकै चित धरौ'—सन्त सद्गुरुदेवकी

शरणागतिसे भक्तोंमें आस्तिकता होती है। बार-बार सन्त-चरित्रों का श्रवण-कीर्तन-मनन करके उन्हें चित्त में धारण करो। तब भक्त-महिमा का साक्षात्कार होगा। आस्तिक में विश्वास रहता है, अतः वह मान लेता है। किसीने कहा कि चनाके खेतमें ऊँट खो गया। चनाके काटनेमें, दाँय करनेमें, पीसने में और आटा माड़ने में नहीं मिला। जब रोटी बनने लगी तब निकल आया। आस्तिकने कहा—प्रभु कर्तुं अकुर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। ऐसा भी हो सकता है। नास्तिकने नहीं माना। इस पर दृष्टान्त श्रीयुधिष्ठिर और दुर्योधन का। (द्वि० खं० भ० पृ० ४८१ और पूर्वार्द्ध प्रथमखण्ड पृष्ठ २ में) अम्भोधिः स्थलतां देखिये, महाप्रभु की व्याख्या। आस्तिक-साधु, गुण ग्रहण करते हैं। इस पर—

दृष्टान्त—ऊँट और महापुरुष का—ऊँट को देखकर एक सन्तने सन्त से कहा—यदि ऐसी ही लम्बी गर्दन तुम्हारी होती तो क्या करते ? उत्तर—बहुत अच्छा होता, अधिक देर तक प्रभुके प्रसाद का स्वाद लेता। सन्तने अनुकूल भाव ग्रहण किया। कोई असन्त होता तो रुष्ट हो जाता। पुनः आस्तिकता पर—

दृष्टान्त-दो बालकोंका—हिन्दू मुसलमान दो बालक एक टीले पर बैठे थे। परस्पर वार्ता होते-होते अपने-अपने इष्टको बड़ा बताने लगे। अन्तिम निश्चय हुआ कि इस टीले से कूदने पर जो बचेगा, वही बड़ा माना जायगा। मुसलमान ने कहा-पहले तुम कूदो, तुमने चर्चा चलाई है। हिन्दू बालक 'श्रीराम' कहकर कूद पड़ा, उसमें विश्वास था अतः बिल्कुल चोट न लगी। उसने कहा—अब तुम कूदो। मुसलमान ने सोचा—इसे चोट नहीं लगी है, इसीका इष्ट बड़ा मालूम पड़ता है। वह 'राम' और 'खुदा' दोनों नामोंको लेकर कूदा। उसे चोट आ गई। तब समझमें आया कि जिसमें पूर्ण विश्वास हो, उस एक का नाम लेना चाहिए था। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और समुद्रादिको देखकर ईश्वरमें विश्वास सुदृढ़ करना चाहिए। सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि ईश्वर की सत्ता-महत्ताका बोध कराती है। कुतर्क से भक्ति का नाश होता है। वक्ताने कहा—अग्निमें प्रह्लादजी नामके प्रभाव से नहीं जले। कुतर्कीने कहा—वक्ताको अग्निमें डालकर देखो, यदि न जलें तो सत्य और जलें तो झूठ। ऐसे कुतर्क न करके सन्त-गुरुदेवके वाक्योंमें विश्वास करना चाहिए।

पादप पीड़हिं सींचते पावै अँग अँग पोष।
पूरबजा ज्यौं बरनते सब मानियो सन्तोष॥२०३॥

शब्दार्थ—पादप=पाद=पैर, जड़से—प=पीने वाले, वृक्ष। पीड़हिं=जड़को। पूरबजा=पूर्वाचार्य।

भावार्थ—जैसे पेड़की जड़को सींचने से उस पेड़ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शाखा, पत्र, पुष्प आदि सभी पुष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार पूर्वाचार्यों के वर्णन से सभी भक्तोंका वर्णन हो गया, ऐसा मानकर जिनका चरित्र इस भक्तमाल में नहीं आया, उनका भी स्मरण कर सन्तोष करना चाहिए।।२०३।।

व्याख्या-पूरबजा०—जैसे वृक्ष के अङ्गोंको अपने मूलके सिञ्चन से सन्तोष-पोष रहता है, उसी प्रकार सम्प्रदायाचार्यके वर्णन से सम्पूर्ण सम्प्रदायके सन्तोंको सन्तुष्ट रहना चाहिए। सम्प्रदायाचार्यके चरित्रके साथ उस सम्प्रदाय के सभी सन्तों का चरित्र कहना चाहिए। सन्त अनन्त हैं, सभी का वर्णन सम्भव नहीं। ग्रन्थकार सम्प्रदायाचार्यका चरित्र कहकर शेष सभीका स्मरण कर उन्हें नमस्कार करते हैं।

भक्त जिते भू लोक में कथे कौन पै जायँ।
समुद्र पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ।।२०४।।

शब्दार्थ—कथे=कहे। चिरि=चिड़िया।

भावार्थ—इस जगत्में जितने भगवानके भक्त हैं, उन सबके चरित्रोंका वर्णन कौन कर सकता है ? जैसे कोई छोटी चिड़िया समुद्रके सम्पूर्ण जल को पी लेने की श्रद्धापर्वूक इच्छा करे तो वह उसके पेट में कैसे समा सकता है। अर्थात् नहीं।।२०४।।

व्याख्या—भक्त जिते०—जैसे समुद्र सात हैं, उसी प्रकार सन्तोंके अनेक सम्प्रदाय हैं। एक समुद्र का ही कोई अन्त नहीं पा सकता है तो फिर सातका कैसे पायेगा। एक सम्प्रदाय का, एक सन्त का ही वर्णन नहीं हो सकता है तो फिर अनेकका वर्णन कैसे किया जाय।। चिड़िया की उपमा देकर ग्रंथकार अपना दैन्य प्रकट करते हैं।

श्रीमूरति सब वैष्णव (लघु) दीरघ गुणनि अगाध।
आगे पीछे बरनते जिनि मानौ अपराध।।२०५।।

शब्दार्थ—श्रीमूरति=भगवद्रूप, श्रीतुलसी। लघु दीरघ=छोटे-बड़े। अगाध=अथाह, अपार।

भावार्थ—भगवद्-विग्रह या तुलसी-दल चाहे छोटा हो अथवा बड़ा, सबकी एक जैसी महान् महिमा है, उसी प्रकार वैष्णवजन चाहे छोटे हों या बड़े, सभी अनन्त गुणोंके कारण

महा-महिमा वाले हैं। इस भक्तमाल में किसी का वर्णन आगे-पीछे, बड़े-छोटे की दृष्टि से नहीं किया गया है इसलिए यदि कहीं आगे वर्णनीयका, पीछे वर्णन दिखाई पड़े, तो पाठकजन इसमें दासका अपराध न मानें।।२०५।।

व्याख्या—श्रीमूरति०—श्रीमूर्ति (भगवद्-विग्रह) शालग्राम-शिला, वैष्णव-भक्त, तुलसी-पत्र और भगवन्नाम इनमें छोटे-बड़े का भेद नहीं होता है। सभी भक्त भगवान के स्वरूप हैं। उनमें कुल, आयु और विद्या आदिके कारण किसीको छोटा या बड़ा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सबमें गुण अगाध हैं। श्रीमलूकजी कहते हैं—'जोइ जोइ मूरति सन्त की सोइ सोइ जान गोपाला। कह मलूक सब छाँड़िकै गहि लो यह हाला।।' जिनकी महिमा विशेष रूपसे प्रकट हो गई वे जैसे श्रीकबीरजी, जिनके चरणामृत से सूखा ठूँठ हरा हो गया। अन्य सभीसे संभव नहीं। श्रीहनुमानजी समुद्र लाँघ गये। सभी समर्थ नहीं थे पर भक्त सभी हैं अतः सभी वन्दनीय हैं। 'आगे पीछे बरनतें—जैसे भक्तमाल में श्रीनामदेवजीके चरित्रका वर्णन पहले किया गया और उनके गुरुदेव श्रीज्ञानदेवजीका बादमें वर्णन किया गया। इसे अपराध न मानें, क्षमा करें।'

फल की सोभा लाभ तरु, तरु सोभा फल होय।
गुरु शिष्य की कीर्ति में, अचरज नाहीं कोय।।२०६।।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्षमें लगे रहने से फलोंकी शेभा होती है और फल में स्थित बीज से वृक्ष उत्पत्तिरूप लाभ होता है तथा फलों से वृक्ष की शोभा और वृक्ष से फलों का लाभ मिलता है, उसी प्रकार गुरुजनोंकी महिमा और कीर्तिसे शिष्योंकी महिमा और कीर्ति बढ़ती है तथा शिष्योंकी कीर्तिसे गुरुजनोंकी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।।२०६

व्याख्या-फल की सोभा०—वृक्ष से फल और फलोंसे वृक्ष की शोभा एवं सार्थकता है। बन्ध्य वृक्ष प्रशंसनीय नहीं हैं। यदि गुरुने किसीको शिष्य न बनाया, उपदेश न दिया, भगवत् शरणमें नहीं पहुँचाया तो वहाँ गुरुत्वकी शोभा नहीं है। एक प्रकार से गुरुत्व का अभाव है। इसी प्रकार किसीने गुरुकी सेवा न की, बिना उनके उपदेश के ही स्वयं सिद्ध बन गया तो उसकी शोभा नहीं है। उसकी सिद्धि में सन्देह है। अतः गुरुदेव शिष्य को आश्रय दें, शिक्षा दें और सन्मार्ग पर अग्रसर करें यह उचित है। फल परिपक्व होकर वृक्षसे अलग होता है, ऐसे ही शिष्य में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य जब पुष्ट हो जायँ, तब गुरुदेव अपने से अलग भ्रमण या निवास करनेकी आज्ञा देकर धर्म-प्रचार करवायें। असिद्ध शिष्य अलग न हो। सिद्ध गुरुसे शिष्य की और सिद्ध शिष्य से गुरुदेव की कीर्ति बढ़ती है, जैसे श्रीअग्रदेवजीसे श्रीनाभाजी की

और श्रीनाभाजीसे श्रीअग्रदेवजी की कीर्ति बढ़ी। श्रीतुलसीदासजीसे श्रीनरहरिदासजी की प्रसिद्धि हुई। यथा—दो०—'शिष्य अनन्तानन्द को नरहरिदास सुजान। ताको शिष तुलसी भयौ जानत सकल जहान।।' (श्रीरघुराजसिंहजी) द्वादश महाभागवत आचार्य श्रीरामानन्दकी कीर्ति का विस्तार करते हैं। ऐसे ही सर्वत्र समझिये।

चारि जुगन में भगत जे तिनके पद की धूरि।
सर्वसु सिर धरि राखिहौं मेरी जीवन मूरि।।२०७।।

शब्दार्थ—जीवन मूरि=सञ्जीवनी बूटी, अति प्यारी वस्तु।

भावार्थ—चार युगोंमें जितने भक्त हुए हैं तथा जो आगे होंगे, उनके श्रीचरण-कमलों की धूलि सर्वदा हमारे मस्तक पर रहे, वही हमारी जीवन मूरि है और वही सर्वस्व है।।२०७।।

व्याख्या-सर्वसु......धूरि—जैसे धनसे सारे लौकिक व्यवहार सिद्ध होते हैं अतः उसे लोग सर्वस्व मानते हैं, उसी प्रकार सारे परमार्थ भक्तपद धूलि से सिद्ध हो जाते हैं अतः श्रीनाभाजी उसे अपना सर्वस्व मानते हैं। जैसे किसी के हाथमें स्वामी की अनुकम्पा से भण्डार की ताली आ जाय तो भण्डार में स्थित सभी वस्तुयें मिल जाती हैं उसी तरह भक्त,चरणरजमें श्रद्धा होते ही, उसका सेवन करते ही सभी अभीष्ट सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि को प्रदान करने में समर्थ है पद धूलि, अतः भक्त और भक्तपद न कहकर भक्तपद धूलि कहा। इसमें अपार दैन्य है। भक्तमालमें श्रीनाभाजी बार-बार पद धूलि की आशा एवं उसकी याचना करते हैं, उसे जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त करना चाहते हैं। यथा—

हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरणरेणु आसा धरी।। मू० छ० ९।।
अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जाँचिहौं।। मू० छ० ११।।
तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे।। मू० छ० १२।।
पद पराग करुणा करौ जे नियंता नवधा भगति के।। मू० छ० १४।।
बाल वृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पाद रज।। मू० छ० २२।।

अन्य भक्तोंने भी इसे सर्वस्व माना, सिर पर धारण किया। यथा—

भक्तनि की अंघ्रिरेणु वहै धारी सर्वसु सिर भूषन।। मू० छ० १२३।।
वीठल सुत विमल्यौ फिरै दास चरण रज सिर धरैं।। मू० छ० १५२।।

उद्धृत छप्पयों की व्याख्यामें भक्त चरण-रजकी महिमा द्रष्टव्य है। (भा० ५-१२-१२) रहूगणैतत्० तथा (भा. ७-५-३२) नैषां मतिः भी इस प्रसङ्गमें स्मरणीय हैं। आरम्भ छ० ९ में, मध्य में २२ तथा यहाँ अन्त में भक्तपद रजको सिर पर धारण कर अपनी निष्ठा दिखाई। पूर्वार्द्ध पृष्ठ १८७ देखिये। वह आदि, मध्य और अन्तमें है, साधन और साध्य है। 'रघुपति भगति सजीवन मूरी।' यदि जीवन है तो सभी लाभ होंगे अर्थात् भक्त पदरज से ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका पोषण होगा।

जग कीरति मङ्गल उदै तीनों ताप नसायँ।
हरिजन को गुण बरनते हरि हृदि अटल बसायँ।।२०८।।

शब्दार्थ—नसायँ=नष्ट हों, अत्यन्त अभाव हो। बसायँ=बसें।

भावार्थ—भगवद् भक्तों के गुण और चरित्रों का वर्णन करने से इस संसार में कीर्ति और सभी प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है, त्रिताप का नाश होता है तथा हृदय में अटल रूपसे भगवानका वास हो जाता है।।२०८।।

व्याख्या-जग कीरति०—श्रीहरि की कीर्ति अक्षय है, उनके नाम, रूपादि सभी मङ्गल भवन अमङ्गल हारी हैं, दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को दूर करने वाले हैं। 'मङ्गल उदै'—'अन्तरङ्ग अनुचर हरि जू के जो इनकौ जस गावैं। आदि अन्त लौं मङ्गल तिनके श्रोता वक्ता पावैं।।' (छ० ७) भगवान की लीलाओंमें नित्य ही भक्तों का साहचर्य रहता है या यों कहिये कि बिना भक्तोंके भगवानकी लीलायें होती ही नहीं हैं। भगवान के साथ भक्तोंकी कीर्ति भी मङ्गलमयी, अविनाशिनी और त्रितापहारिणी हो जाती है। भक्त कथा भगवत्प्रिय होती है अतः उसका गान करने वाले के हृदयमें भगवानका निश्चित निवास हो जाता है। अर्थात् भक्त-चरित्रके श्रोता-वक्ता भक्त हो जाते हैं। भक्तमालमें पूर्ण रूपसे विशुद्ध भागवतधर्मका प्रतिपादन हुआ है। भागवत (वैष्णव) ही भागवतधर्म का आचरण करते हैं अतः भागवत धर्मानुयायी ही भागवत (वैष्णव) हैं अर्थात् भागवतधर्म और भागवत एक ही हैं। इनकी महिमा कहते हुए श्रीनारदजी श्रीवसुदेवजी से कहते हैं— श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः। सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि।। (भा० ११-२-१२) हे वसुदेवजी ! यह भागवतधर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसे कानोंसे सुनने, वाणीसे उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण करने, हृदय से स्वीकार करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो

उसका अनुमोदन करने से ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है। चाहे वह भगवानका एवं सारे संसारका का द्रोही ही क्यों न हो।

भक्ताराधनका विधान स्वयं भगवान कहते हैं। यथा—

मल्लिङ्गमद्भक्तजन दर्शनस्पर्शनार्चनम्। परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्।।

(भा० ११-११-३४) हे उद्धव ! मेरी मूर्ति, मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे और भक्तों के गुण-कर्मोका कीर्तन करे। श्रीचमसजी कहते हैं—रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः। दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्।। (भा० ११-५-७) हे राजन् ! रजोगुणकी अधिकता के कारण जिनके सङ्कल्प बड़े घोर होते हैं, जिनकी कामनाओं की सीमा नहीं होती है, जिनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे साँप का। बनावट और घमण्डसे जिन्हें प्रेम होता है। ऐसे पापी लोग भगवानके प्यारे भक्तोंकी हँसी उड़ाया करते हैं। श्रीनृसिंह भगवान श्रीप्रह्लादजी से कहते हैं।

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं कलेवरं कालजवेन हित्वा।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः।।

य एतत्कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः। त्वां च मांच स्मरन्काले कर्मबन्धात्प्रमुच्यते।।

हे प्रह्लादजी ! भोगके द्वारा पुण्यकर्मोंके फल और निष्काम पुण्यकर्मोंके द्वारा पाप का नाश करते हुए, समय पर शरीर का त्याग करके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे। (एक मन्वन्तर तक राज्य करो), देवलोकमें देवगण भी तुम्हारी विशुद्ध कीर्तिका गान करेंगे।। तुम्हारे द्वारा की हुई मेरी इस स्तुतिका जो मनुष्य कीर्तन करेगा और जो मेरा और तुम्हारा स्मरण करेगा, वह समय पर कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। (भा० ७-१०-१३, १४)

हरिजन को गुण बरनते जो करै असूया आय।
इहाँ उदर बाढ़ै बिथा और परलोक नसाय।।२०९।।

शब्दार्थ—असूया=निन्दा, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, ईर्ष्या। बिथा=व्यथा, कष्ट।

भावार्थ—श्रीहरि-भक्तोंके गुण वर्णन को सुनकर जो लोग उनके गुणोंमें दोषारोपण करते हैं। उन्हें इस जन्ममें जलोदर आदि अनेक उदर रोगोंसे कष्ट भोगना पड़ता है और मरने के बाद उनका परलोक भी नष्ट हो जाता है।।२०९।।

व्याख्या-करै असूया—जैसे भक्त-वन्दन प्रभुको प्रसन्न करने का मुख्य साधन है, उसी प्रकार भक्त-निन्दन महाअपराध है। क्रमशः मार्कण्डेय पुराण और स्कन्द पुराणके वाक्य प्रमाणरूप में उद्धृत हैं—

यो हि भागवतां लोकेह्यु पहासं द्विजोत्तम। करोति तस्य नश्यन्ति धर्ममर्थो यशः श्रुतम्।।
त्रिवर्षेषु त्रिमासेषु अथवा त्रिदिनेषु वै। मृत्युं प्राप्नोति पापिष्ठः पश्चान्निरयवासकृत्।।

हे विप्रवर्य ! जो झूठा दोष लगाकर भक्तोंकी निन्दा करते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हैं, उनका अर्थ, धर्म, यश और विद्याका नाश हो जाता है।। और—हे विप्रवर ! तीन वर्षों, तीन महीनों और तीन दिनोंमें भक्त-निन्दक की मृत्यु हो जाती है। उसके बाद वह पापी अनन्तकाल तक नरकोंमें पड़ा रहता है।। 'निन्दा भक्तजन की करै सुनै जोइ अघरास। वे तौ एकै संग दोउ बँधत भानुसुत पास।।' यहाँ रोग और फिर नरक दोनों लोकों का बिगड़ना कहा। (हरिवाक्य) श्रीअग्रदेवजी कहते हैं—

श्रीपति दुखित भक्त अपराधै।
सन्तन द्वेष द्रोहता करि नित आरति सहित मोहिं आराधै।।
सबै सुनौ वैकुण्ठ के वासी सत्य कहत मानौ जनि खेदै।
तिन पर कृपा कैसे कै करिहौं पूजत पांव कण्ठ को छेदै।।
सन्तन द्रोह प्रीति मोहू सों मेरो नाम निरन्तर लैहै।।
अग्रदास भागवत वदत है मोहिं भजत पर जमपुर जैहै।।

दो०— सन्तन निन्दा अति बुरी भूलि करौ जनि कोय।
जनम जनम के सुकृत को पल में डारै खोय।।

जौं हरि प्राप्ति की आस है तौ हरिजन गुन गाय।
न तरु सुकृत भुजे बीज ज्यों जनम जनम पछिताय।।२१०।।

शब्दार्थ—न तरु=नहीं तो। भुजे=अग्नि से भुने।

भावार्थ—यदि भगवानको प्राप्त करने की आशा है तो भक्तोंके गुणोंको गाइये, निःसंदेह भगवत्प्राप्ति हो जायगी। नहीं तो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये अनेक पुण्य भुने हुए बीजकी तरह बेकार हो जायेंगे। उनसे कल्याण न होगा फिर जन्म-जन्ममें पछताना पड़ेगा।।२१०।।

व्याख्या-हरि प्राप्ति—'आचारज जामात की कथा सुनत हरि होय रति।' (मू० छ० ३३) पुनः—'एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति।।' (मू० छ० ५६)

भक्तचरित्र श्रवण में भगवानकी दयालुता, उदारता, शरणागत वत्सलता आदिका बोध होता है, तब उसे भक्ति और उससे श्रीहरिकी प्राप्ति होती है। भाँड़ हँसी करने, ठगने आये थे पर भक्तके 'दरस परस उपजी भगति।।' मू० छ० ५६।। छीत स्वामी श्रीविट्ठलनाथजी की परीक्षा लेने गये थे। सूखा सड़ा नारियल और एक खोटा रुपया लेकर पर वहाँ श्रीविट्ठलनाथजीके दर्शन और भाषणके प्रभावमें आकर शिष्य बन गये, भक्तिकी प्राप्ति हो गई। 'भुजे बीच'—न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।। (भा० १०-२२-२६) भगवान श्रीकृष्णने कात्यायनी व्रत करने वाली कुमारियोंसे कहा—जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रक्खा है, उनकी कामनायें उन्हें सांसारिक भोगोंकी ओर ले जाने में समर्थ नहीं होतीं, ठीक वैसे ही जैसे भुने हुए या उबाले हुए बीज फिर अंकुरके रूपमें उगने के योग्य नहीं रह जाते।। भक्त-चरित्रका कथन-श्रवण न होनेसे भक्तमें भक्ति नहीं होती है, तब अनेक भक्तापराध बन जाते हैं, उसीसे जलकर पुण्य राख हो जाते हैं। व्यर्थ हो जाते हैं। पुण्यकर्ता पुण्योंके भरोसे रहकर सुखकी आशा करता है पर मिलता है दुःख। अतः अक्षय-पुण्यदायक भक्तमाल पढ़ो, सुनो।

भक्तदाम संग्रह करै कथन श्रवन अनुमोद।
सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यौं बैठे हरि की गोद।।२११।।

शब्दार्थ—भक्तदाम=भक्तमाल। अनुमोद=समर्थन।

भावार्थ—जो कोई भक्त-चरित्रोंका संग्रह करे अथवा कथन-श्रवण एवं समर्थन करे, वह भगवानको पुत्रके समान प्रिय है, उसे भगवान अपनी गोदमें बैठा लेते हैं।।२११।।

व्याख्या-भक्तदाम संग्रह—सन्तोंसे पूछकर अनेक ग्रन्थों को पढ़कर, भक्तों की जन्मभूमि-लीलाभूमि में जाकर, पता लगाकर भक्तचरित्रोंका संग्रह करना चाहिए। श्रीनाभाजी भक्तमालकी रचना करके अपने से आगे आने वाली पीढ़ीको भक्त-चरित्रोंका विस्तार करनेकी सम्मति देते हैं। साथ ही उससे होने वाले अनुपम लाभ को बताते हैं कि—'सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यौं।' पुत्र पिताकी गोदका अधिकारी होता है। उस पर पिता का सहज वात्सल्य होता है। अन्य साधनोंसे भक्तको भगवान अपना दास मान लेते हैं पर भक्तमाल संग्रहीको पुत्र मानते हैं, उसके अनेक अपराधोंको क्षमा कर देते हैं। श्रीनाभाजीने कह दिया है अतः इसे मानने के लिए भगवान सहर्ष तैयार हैं। 'कथन श्रवन'—भक्त-चरित्रों के कथन-श्रवण की महिमा (भा० ६-१७-४०, ४१ में) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः। माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते।।
य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत्। इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम्।।

अर्थ—महात्मा चित्रकेतुका यह पवित्र इतिहास केवल उनका ही नहीं समस्त विष्णु-भक्तोंका माहात्म्य है। इसे जो सुनता है, वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। जो पुरुष प्रातःकाल उठकर मौन रहकर श्रद्धाके साथ भगवत् स्मरण करते हुए इन इतिहासोंका पाठ करता है, उसे परमगति-परमप्रेमकी प्राप्ति होती है।। (भा० ९-५-२७) में—

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः। सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत्।।

हे परीक्षित ! महाराज अम्बरीषका यह आख्यान परम पवित्र है, जो इसका सङ्कीर्तन और स्मरण करता है, वह भगवान का भक्त हो जाता है। अतः भक्त-चरित्रों का नित्य पठन, श्रवण करना चाहिए। भक्तदाम संग्रह करै का भाव यह भी है कि ग्रन्थ का संग्रह-पूजन करे। 'तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे। तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद।।' (नारदगीता) वैष्णव-शास्त्र जिसके घरमें पूज्य हैं, वहाँ स्वयं भगवान निवास करते हैं। भक्तमाल-माहात्म्य प्रथमखण्ड में देखिये-एक भक्त ने भक्तमाल लिखवाकर घरमें रक्खा। मृत्यु समय छाती पर रखने से यमदूतों से छुटकारा मिला।

अच्युत कुल जस बेर यक जाकी मति अनुरागि।
उनकी भक्ति भजन को निहचैं होय विभागि।।२१२।।

शब्दार्थ—निहचैं=निश्चय। विभागि=भागीदार, हिस्सेदार।

भावार्थ—अच्युत गोत्रीय भगवद्-भक्तोंकी कीर्तिको कहने-सुननेमें जिसके मनमें एकबार भी अनुराग हो गया, वह मनुष्य निश्चय ही उन सन्तोंके भजन और पुण्यमें हिस्सेदार हो जाता है।।२१२।।

व्याख्या-निहचैं होय विभागि—श्रीलाखाजीने परमहंस-संहिता श्रीमद्भागवत पुराणमें परमहंसोंके चरित्रों का सप्रेम श्रवण किया, अतः उनकी-सी भक्ति और कीर्ति उन्हें मिली। तभी श्रीनाभाजीने लिखा—'परमहंस बंसनि में भयौ विभागी वानरौ।' (छ० १०७) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—

इत्थंभूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः। कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते।।
य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत्। श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात्।।

हे विदुरजी ! परम भागवत श्रीपृथुजी ऐसे ही प्रभावशाली थे। उनके चरित्र बड़े उदार हैं। मैंने तुम्हारे सामने उनका वर्णन किया। जो पुरुष इस परम पवित्र चरित्र को श्रद्धापूर्वक, निष्काम भावसे एकाग्रचित्त होकर पढ़ता सुनता अथवा सुनाता है—वह भी महाराज श्रीपृथुके पदको, भगवानके परम धामको प्राप्त होता है। (भा० ४-२३-३०-३१) भागीदार अपने भागको प्राप्त करने का वास्तविक अधिकारी होता है उसमें यदि कोई बाधा आती है तो उसे दूर करना सरकारका कर्तव्य होता है। सुनते रहनेसे कभी न कभी किसी न किसी चरित्रमें अनुराग हो ही जायगा और भक्ति प्राप्त हो जायगी।

कुसङ्गसे असत् कथाओंको सुनकर उनमें अनुराग होता है, उससे पापकर्म बनते हैं और भक्तिमें अविश्वास हो जाता है अतः श्रीनारदजी कहते हैं—'नास्तिक बैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।' नास्तिकों के और भक्त-द्रोहियोंके चरित्र नहीं सुनना चाहिए। जैसे पिताकी सम्पत्तिमें सभी पुत्रोंका अधिकार होता है, उसी तरह भगवद्-भक्तिमें सभी का अधिकार है परन्तु जिस पुत्र की मृत्यु हो जाती है उसका हिस्सा नहीं रहता है। यहाँ भक्त-भगवद् विमुख प्राणी मृतक तुल्य हैं वे अनधिकारी हैं, भक्तिसे वञ्चित रहते हैं।

भक्तदाम जिन जिन कथी तिनकी जूंठनि पाय।
मो मतिसार अक्षर द्वै कीनौं सिलौ बनाय॥२१३॥

शब्दार्थ—कथी=कही, रची, बनाई। मतिसार=बुद्धिके अनुसार। सिलौ=फसल कटनेके बाद खेतमें बिखरा हुआ अन्न।

भावार्थ—जिन-जिन सन्त, विद्वान् महानुभावोंने भक्तों के चरित्रों का वर्णन किया है, उन्हींकी जूठन लेकर मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार इस 'भक्तमाल की रचना की है। जैसे कोई सिला बीनकर अन्नका संग्रह करे, उसी प्रकार॥२१३॥

व्याख्या-भक्तदाम जिन जिन कथी—सभी इतिहास वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि सभी पुराण श्रीमद्भागवत आदि, प्रपन्नामृत, चैतन्यचरितामृत आदि में जहाँ-जहाँ भक्त-चरित्र मिले, वहाँ-वहाँ से लेकर भक्तमालमें उनका वर्णन किया। किसी ग्रन्थसे कुछ ले लेना और फिर उसे स्वीकार न करना स्वयंको कर्ता बताना साहित्यिक चोरी है। इस दोषसे सर्वथा बचनेके लिए कविजन उन ग्रन्थों और कवियों के नाम ले लेते हैं। श्रीनाभाजी तो सन्त हैं अतः 'जूठनि लेना स्वीकार करते हैं। सन्तों का उच्छिष्ट लेकर ही श्रीनाभाजी

सिद्ध हुए, अतः 'जूठनि पाय' कहते हैं। 'पाय' का अर्थ खाकर भी होता है अर्थात् सन्त-कवियोंकी जूठन खाकर ही मैंने भक्तमाल लिखा है। 'जूठनि पाय और कीनौं सिलौ बनाय, अक्षर द्वै' इन पदों के प्रयोगसे पराकाष्ठाका दैन्य दिखाया। जूठनि पाना भक्तदास्यमयी वृत्ति है। शिलोञ्छ वैदिक मुनियों की वृत्ति है। ये दोनों ही आदर्श हैं। सन्तोंके ग्रन्थोंसे एवं उनके श्रीमुख से भक्त-चरित्र प्राप्त हुए और उन्हींकी जूठन खाने से शुद्ध कवित्त की प्राप्ति हुई। मतिसार के स्थान पर एक सन्त मतिसाल पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि मेरी मति ही पट्टी है उस पर सन्त-चरित्र सम्बन्धी दो अक्षर अर्थात् बहुत कम लिख सका हूँ। आदिमें 'भक्त' और अन्तमें 'दास' मैं भक्तोंका दास हूँ। इतना ही लिख सका हूँ। कृपा कर भक्तजन मुझे अपना दास मानें श्रीविभीषण, सुग्रीव और हनुमदादि की कथायें रामायणसे और द्वादश-भागवत आदि की कथायें भागवतादि से ली गईं। जैसे-द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा भागवत।' (क० २०) 'चित्रकेतु प्रेमकेतु भागवत ख्यात।' (क० ६९) 'भरत दधीचि आदि भागवत बीच गाये।' (क० ८६) 'पढ़ै उठि प्रात फल जैमिनि में साखिये।' (क० ६८) आदि से सिद्ध है कि नाना पुराण-इतिहासों से तथा सन्तोंके श्रीमुखसे इस भक्तमाल का संग्रह किया गया।

काहू के बल जोग जज्ञ कुल करनी की आस।
भक्तनाम माला अगर उर (बसो) नारायण दास॥२१४॥

शब्दार्थ—करनी=कर्म, करणीय, कर्तव्य।

भावार्थ—किसीको योग और यज्ञ आदि का भरोसा है, इनसे कल्याण होगा यह विश्वास है। किसीको अपने उत्तम कुल और पवित्र कर्मोंकी आशा है कि इन्हींसे भवसागर पार हो जायेंगे लेकिन इन योग, यज्ञादि का अनुष्ठान मेरे वशका नहीं है। इसलिए हमें इनकी आशा नहीं है। मुझ नारायणदास की तो यही इच्छा है कि गुरुदेव, भगवद्-भक्तोंके नाम और उनके चरित्र मेरे हृदयमें निवास करें॥२१४॥

व्याख्या—जोग जज्ञ—ये साधन वर्तमान युग में कठिन हैं।

यहि कलिकाल न साधन दूजा। योग यज्ञ जप तप व्रत पूजा॥
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥
कलियुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना॥

राम-गुनगान की अपेक्षा भक्त-गुनगान विशिष्ट है अतः कलियुगका मुख्य साधन है।

उर बसो—टीका क० ५ के अनुसार श्रीनाभाजीके भक्तमालको बनाकर श्रीश्यामसुन्दर को पहनाया। प्रसादरूपा उसी मालाको गुरुदेवको अर्पण करके प्रार्थना करते हैं कि अब यह प्रसाद मेरे कण्ठमें, हृदयमें बाहर-भीतर निवास करे। यह ऐसी दिव्य माला है कि भगवानके गलेसे श्रीगुरुदेवजीके गले में होकर श्रीनाभाजी के गले में आ गई पर वहाँ अभाव नहीं हुआ। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।' पूर्णसे पूर्ण निकलने पर पूर्ण ही शेष रहता है। उसी प्रकार एक से दूसरे के कण्ठमें जाती है पर जहाँ से जाती है वहाँ अभाव नहीं होता है। 'उर बसो नारायणदास' यह भक्तमाल मुझ नारायणदासके तथा जितने नारायणदास हैं सभीके कण्ठ का हार बने, सभीके हृदयमें निवास करे। यह अन्तिम आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण और प्रार्थना हैं। यह उरमें बसे यही अभीष्ट है अतः दूसरी किसी वस्तुको इसका फल न मान रहे हैं और न चाह रहे हैं। यह भक्तमालमें अनन्य निष्ठा है। गुरु-कृपासे इस ग्रन्थ की रचना हुई है अतः अन्तमें उनका नाम लेकर उन्हें भी हृदयमें विराजमान किया।

कोई कहे कि भगवान को हृदय में न विराजमान करके भक्तमाल को क्यों उर में रखना चाहते हैं। इसलिए कि 'धारी उर प्यारी किहूँ करत न न्यारी।' (क० ५) भक्तमाल को उरमें धारण करुँगा तो साथ में भगवान अवश्य रहेंगे। क्योंकि इसे अपने कण्ठसे भगवान अलग नही कर सकते। भगवान को हृदयमें धारण करना और भक्तमालको हृदय में धारण करना एक ही बात है। इतने पर भी भक्तमाल को हृदय में बसाने की प्रार्थना इसलिए करते हैं कि 'भक्तमाल' में असंख्य भक्त हैं, सबके हृदयमें विचित्र-विचित्र विविध रूपसे भगवान हैं। भक्तमाल के हृदयमें रहने पर वे सभी भगवान के रूप हृदयमें रहेंगे। सभीकी लीलायें सभी का विलास हृदयमें रहेगा। श्रीनाभाजीने सभी भगवत्स्वरूपोंका, भक्तोंका चरित्र गाया और सभीको पूर्ण माना अतः सभी स्वरूपों से भगवान श्रीनाभाजीके हृदयमें निवास कर चुके हैं इसीसे सभी भक्त और उनके इष्टदेवों से प्रार्थना करते हैं कि सानन्द विराजो। सबसे बड़े भगवान को हृदयमें रखने वाला भक्त बड़ा होता है। असंख्य भक्त और उनके इष्टोंको धारण करके श्रीनाभाजी सबसे बड़े भक्त सिद्ध हुए। यह भक्तों में अनन्य-भक्तिका प्रताप है।

श्रीनाभाजी ने 'भक्त' शब्द से ग्रन्थ आरम्भ किया और 'दास' शब्द अन्तमें कहकर ग्रन्थको पूर्ण किया। इसका आशय यह है कि—मैं भक्तों का दास हूँ। सभी भक्तदास बनकर कल्याणके भागी बनें। इस ग्रन्थमें भक्तदासों की कथायें ही मुख्य हैं, अधिकांश उन्हीं का

वर्णन हुआ है। 'भक्तदास' शब्द का एक अर्थ होता है—केवल भोजन लेकर सेवा करने वाला। श्रीनाभाजी भक्तोच्छिष्ट पाकर निःशुल्क दास्य करने वाले थे। अतः उन्होंने अपने को भक्तदास माना। भक्तों की शरणागति स्वीकार की-यथा—(छ० १६) 'ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यौ तिन्हें शरण हौं अनुसरौं।'

विना भक्तचरित्राणि साधनं नैव भूतले। अतः सदैव श्रोतव्यं भक्तमालकथामृतम्।।
हरि भक्तन्ह सेये विना हरि की प्राप्ति न होय। भक्तमाल के श्रवण विन साधन और न कोय।।
भक्तमाल पीयूष नित पान करौ चित लाय। विषयकथा विष-सी लगै भूलि चित्त नहिं जाय।।
(भक्तबल्लभा टिप्पणी)

योग, यज्ञ, कुल, और करनी की आशा को छोड़कर भक्तमाल की आशाको दृढ़तासे धारण किया है। अब इसे छोड़ नहीं सकते। पद—

साधो जो पकरी सो पकरी।
अब तौ टेक गही सुमिरन की ज्यौं हारिल की लकरी।।
ज्यौं सूरा ने सस्तर लीन्हों ज्यौं बनिया ने तखरी।
ज्यौं सतवन्ती लियौ सिंधौरा तार गह्यौ ज्यौं मकरी।।
ज्यौं कामी कूं तिरिया प्यारी ज्यौं किरपिन कूं दमरी।
ऐसे हमकूं राम पियारे ज्यौं बालक कूं ममरी।।
ज्यौं दीपक कूं तेल पियारो ज्यौं पावक को समरी।
ज्यौं मछरी कूं नीर पियारो बिछुरे देखै जमरी।।
साधू के संग हरिगुन गाऊँ ताते जीवन हमरी।
'चरनदास' सुकदेव दृढ़ायौ और छुटी सब गमरी।।

रसिकाई कविताई जाहि दीनी तिनि पाई, भई सरसाई हिये नव नव चाय हैं।
उर रङ्ग भवन में राधिका रवन बसैं लसैं, मुकुर मध्य प्रतिबिम्ब भाय हैं।।
रसिक समाज में विराज रसराज कहैं चहैं, मुख सब फूलैं सुख समुदाय हैं।
जन मन हरि लाल मनोहर नांव पायो, उनहूँ को मन हरि लीनौ याते राय हैं।। ६३०

शब्दार्थ—रसिकाई=रसिकता, माधुर्यरस की उपासना। कविताई=काव्य रचना। सरसाई=सरसता, प्रेमार्द्रता। नव नव=नये-नये। चाय=चाव, उमंग। रंग भवन=रंगमहल, दम्पति विहार भवन। बसै=सुशोभित हों। मुकुर=दर्पण। प्रतिबिम्ब=छाया। राय=सरदार, राजा।

भावार्थ—भक्तिरसबोधिनी टीकाकार श्रीप्रियादासजी भक्तमालके उपसंहारमें अपने गुरुदेवजी श्रीमनोहरदासजीका परिचय देते हुए कहते हैं कि—मेरे गुरुदेवने जिन-जिन लोगों को रसिकता और कवित्व प्रदान किया, उन्हें-उन्हें उसकी प्राप्ति हुई और उनके हृदय में सरसता तथा नवीन प्रेमका चाव उत्पन्न हुआ। मेरे गुरुदेव के हृदयरूपी रंगमहल में श्रीराधारमणजी उसी प्रकार निवास करते हैं। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब स्वाभाविक रूपसे रहता है। मेरे गुरुदेवजी रसिकोंकी सभामें विराजमान होकर जिस समय उज्ज्वल शृङ्गाररस की कथा कहते हैं, उस समय सभी भावुक श्रोता उनके श्रीमुख की ओर टकटकी लगाकर देखते ही रह जाते हैं और आनन्दमें मग्न होकर फूले नहीं समाते हैं। अपने भक्तों के मनको हरण करके भगवान श्रीकृष्णने 'मनोहर' यह नाम पाया परन्तु मेरे श्रीगुरुदेव ने मनोहर के मनको भी हरण कर लिया है। इसीलिए वे 'मनोहरराय' हैं।।६३०।।

व्याख्या—रसिकाई—नित्य जो रसिकबिहारी भगवान उनकी निष्काम भाव से दिन-रात निकुञ्ज में सेवा करने वाले, तन, धन, यौवन को अनित्य मानकर मन, बुद्धि और चित्तको अर्पण करने वाले रसिक कहे जाते हैं। यथा—

भगवत रसिक विहारी नित्य। निसिदिन सेवत छांड़ि निमित्त।।
अर्पण कीन्हो मन बुधि चित्त। तन धन यौवन जानि अनित्य।। (भ० र०)

देखो देखी रसिक न होवे रसिक पंथ है बंका।
सद्गुरु सन्त कृपा अनुभव विन मिटै न मन की शंका।।

कविताई—गुरुप्रदत्त कवित्व निर्दोष और भक्त-भगवान को प्रिय होती है। उसमें स्वाभाविक रूपसे सभी गुणों का समावेश होता है। कविता के तीन गुण हैं। १-ओज, २-प्रसाद, ३-माधुर्य। ओज=पदाडम्बरका गुण, प्रसाद=वह सुबोध भाषा जिसको सुनते ही भाव समझमें आ जाय। माधुर्य=वह रचना जिससे चित्त द्रवीभूत होता है और अत्यन्त प्रसन्नता होती है, शब्दावलीसे मनको मोह लेने वाला गुण। कविताके तीन दोष हैं—१-पद दोष, २-वाक्य दोष, ३-वाक्यार्थ दोष। पद दोष १६ प्रकार के हैं। १-असाधु=शब्दशास्त्र के विरुद्ध, २-अप्रयुक्त=कवि जिसका प्रयोग न करते हों, ३-कष्ट=कर्णकटु, ४-अनर्थक, ५-अन्यार्थक=रुढ़िच्युत, ६-अपुष्टार्थ=तुच्छ अर्थवाला, ७-असमर्थ=असङ्गत, ८-अप्रतीत=एक शास्त्र में ही प्रसिद्ध, ९-क्लिष्ट, १०-गूढ़,

११-नेयार्थ=रुढ़ि और प्रयोजन के बिना लक्षण वृत्तिसे बोध्य, १२-संदिग्ध, १३-विपरीत, १४-अप्रयोजक, १५-देश्य=जो व्युत्पत्ति से सिद्ध न हो, १६-ग्राम्य=अमङ्गल।

वाक्यदोष १६ प्रकारके हैं। १-शब्दहीन=अपशब्दोंका प्रयोग, २-क्रम भ्रष्ट=जिसमें शब्दोंका अर्थोंका क्रम भङ्ग हो, ३-विसन्धि=सन्धि रहित, ४-पुनरुक्तिमत्, ५-व्याकीर्ण=विभक्तियों की असङ्गति, ६-वाक्य सङ्कीर्ण=अन्यवाक्य मिश्रित, ७-अपद, ८-वाक्यगर्भित=जिसमें गर्भित आशय भी प्रकट किया गया हो, ९-भिन्न लिङ्ग=जिसमें उपमान उपमेय भिन्न लिङ्ग के हों, १०-भिन्न वचन=उपमान उपमेय भिन्न वचनके हों, ११-न्यूनोपम=उपमानमें उपमेय की अपेक्षा न्यूनता, १२-उपमानमें उपमेय की अपेक्षा अधिकता, १३-छन्दोभङ्ग, १४-यतिभङ्ग, १५-अशरीर=क्रियारहित, १६-अरीतिमत्=रीति विरुद्ध।

वाक्यार्थ दोष १६ प्रकार के हैं—१-अपार्थ=जिसका कोई तात्पर्य न हो। २-व्यर्थ=जिसका तात्पर्य पूर्व में आ गया हो। ३-एकार्थ=जो अर्थ पूर्व में आ गया हो। ४- ससंशय=संदिग्ध। ५-अपक्रम=क्रमरहित। ६-खिन्न=वर्णनीय विषयका यथोचित निर्वाह करने में असमर्थ। ७-अतिमात्र=असम्भव कथन। ८-परुष=कठोर। ९-विरस। १०- हीनोपम=उपमा की लघुता। ११-अधिकोपम=बहुत बड़ी उपमा। १२-अदृश्योपम= उपमामें सादृश्यका न होना। १३-अप्रसिद्धोपम। १४-निरलङ्कार। १५-अश्लील। १६-विरुद्ध (सरस्वती कण्ठाभरणसे उद्धृत)।

जाहि दीनी तिनि पाई—माधुर्यरस की उपासना जल के समान न होकर दिव्य स्वाती जलके समान है। जैसे स्वाती का जल एक है पर पात्र भेद से फलमें भेद हो जाता है। बीजमें विषमता नहीं हैं पर भूमि (भाग्य) के अनुसार फल मिलता है। १-विषयी पुरुष=कदली (केला) के समान है, उसमें पड़े स्वातीके जलसे वंशलोचन बन जाता है। २-ज्ञानी=कमलपत्रवत् हैं। जहाँ स्वाती की बूँद लिप्त न होकर मोती के समान सुशोभित होती है। ३-भक्तजन=पपीहाके समान होते हैं। स्वाती बूँदके बिना प्यासे ही रहतें हैं। स्वाती विन्दु पाकर ही तृप्त होते हैं। ४-अनन्य उपासक=सीपी के समान हैं। इसमें पड़ने से स्वाती का जल सच्चा मोती बन जाता है। ऐसे गुरुदेव भगवानका उपदेश स्वाती का जल है, सच्चा प्रेमी, उपासक सीपी है, उसमें उपदेश सच्चा मोती=(विशुद्ध प्रेम) बन जाता है। ऐसी रसिकता श्रीप्रियादासजी को श्रीगुरुदेवने दी—

यह रस रीति प्रिया प्रियतम की दिव्य स्वाति जल जैसे।
विषयी ज्ञानी भक्त उपासक प्रापत सबको कैसे॥

कदली कमल पपीहा सीपी पात्र भेद गुण तैसे।
भगवत बीज विषमता नाहीं भूमि भाग्य भल ऐसे।। (भगवतरसिक)

जाहि दीनी तिनि पाई भई सरसाई—दो०—महा परिश्रम सों अलभ जो जग माहिं कवित्व। श्रीगुरुवर की कृपा सों छिन में मिलत महत्व।। श्रीविट्ठलनाथजीकी कृपासे छीतस्वामीको और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे कवि कर्णपूरको क्षण-भरमें ही कवित्व-शक्ति प्राप्त हुई। गुरुजन शिष्य की योग्यता देखकर जो जिस उपासना वस्तुका अधिकारी होता है, उसे वही देते हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गुरुदेव समर्थ हैं अतः जिस पर कृपा कर देते हैं वह अनधिकारी भी अधिकारी हो जाता है। मुझमें कोई योग्यता न थी पर गुरुदेवने रसिकाई और कविताई प्रदान की। ईश्वर बाजीगरके समान है, संसार रस्सीका साँप है। इससे सुर, नर और मुनि सभी डरते हैं पर नट का सेवक जमूड़ा उसे गले में डालकर घूमता है, उसे समर्थ गुरुने युक्ति बता दी है अतः जमूड़ा भी बाजीगर के समान हो गया है। ऐसी गुरु की महिमा है—(भगवतरसिकजी कहते हैं)—

ईश्वर बाजीगर रच्यौ जग जेवरी को साँप। जीव जमूरा मेलि गल सुर नर मुनि सब काँप।
सुर नर मुनि सब काँप विषयिनन्ह व्यापी माया। फन काढ़े फुसकरै जहर जन लगै न काया।।
'भगवतरसिक' समर्थ गुरु जिहि ज़ुक्ति बताई। जानि भयौ तिहि तुल्य भूलि नहिं जाइ सुभाई।।
वेदनि खोवै वैद सो गुरु गोविन्द मिलाप। भूख भजै भोजन सोई 'भगवत' और खिलाफ।।

उर रङ्ग भवन में राधिका०—दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब की शोभा है उसी प्रकार श्यामा-श्याम की शोभाा है। जो स्वार्थका चश्मा लगाये हैं उन्हें सभी स्वार्थी दीखते हैं। भक्ति-भावके न रहने से भक्त का स्वरूप नहीं दीखता है, ऐसे मान और मद में डूबे लोग हरि, गुरु और साधु को छोड़कर अपनी प्रभुता का बखान करते हैं, उनके हृदय में श्यामा-श्याम कहो कैसे आ सकते हैं—(भगवतरसिकजी की वाणी है)—

आवे जो सो चून को जहँ जइये तहँ चून। दियौ चून चश्मा चखनि भक्ति भाव भयौ नून।।
भक्ति भाव भयौ नून साधु को रूप न सूझै। रहे मान मद बूड़ और की औरै बूझै।।
हरि गुरु साधु विहाय आपनी प्रभुता गावै। 'भगवत' श्यामा श्याम कहो उर कैसे आवै।।

काया कुञ्ज निकुञ्ज मन नैन द्वार अभिराम।
'भगवत' हृदय सरोज सुख विलसत श्यामा श्याम।।
कुञ्ज बिहारिनि लाड़िली कुञ्ज बिहारी लाल।
'भगवतरसिक' हृदय बसत गौर श्याम की माल।।

'व्यास' बड़े हरि के जना हरिहिं नवावत माथ।
जिनके हिय में बसत हैं तीनि लोक को नाथ।।

रसिक समाज में०—रसिकों के समाज में ही रसराज का वर्णन करना चाहिए। 'चहैं मुख'—श्रोता को चाहिए कि मन और दृष्टि को वक्ताकी ओर लगाये। तब भाव का ग्रहण होगा उससे सुख होगा, मन-बुद्धि खिल उठेंगे। एकटक देखते रहना चाहिए न जाने कब भाव-बिन्दु टपक पड़ें। श्रोता प्रेममग्न हो जाते जैसे—'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना।।' मोरके नाचते समय मोरनी उसके नेत्रोंसे प्रवाहित मद को यदि पीती है तो मोर होता है। नीचे टपके हुए मदका पान करती है तो मोरनी को जन्म देती है। मोरनी की तरह एकटक दृष्टि वक्ताकी ओर रखनी चाहिए।

जन मन हरि लाल०—श्रीलालजी भक्तों के मनको हरने वाले हैं, 'मनांसि हरतीति मनोहरः।' सूरदासजीके भ्रमर गीतमें ब्रजगोपी कहती हैं—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियौ माधुरी मूरति निरखि नयन की कोर।।
पकरे हुते आनि उर अन्तर प्रेम प्रीति कैं जोर।
गये छुड़ाय तोरि सब बन्धन दै गये हँसनि अँकोर।।

माधुर्य उपासकों पर रीझते हैं, श्रीमनोहरदासजी माधुर्यके उपासक हैं अतः इन्होंने रिझाकर, श्रीकृष्णने मनको हरण कर लिया है अतः ये मनोहर राय हैं।

चौंकि परी जागत निसि बीती तारे गिनत भइ भोर।
सूरदास प्रभु सरवसु लूट्यौ नागर नवल किशोर।।

श्रीकिशोरी अलीजी कहती हैं—

हमारो मन स्यामा स्याम हर्‌यौ।
मृदु मुसक्याय गाय मुरली में चेटक चतुर कर्‌यौ।।
वा छवि तें मन नेक न निकसत निसिदिन रहत अर्‌यौ।
'अली किशोरी' रूप निहारत परबस प्रान पर्‌यौ।।

जनकपुर में सखियोंने श्रीरामजीको चितचोर कहा—

आली सियावर कैसो सलोना।
चितवन में चित चोरि लियो है भूल्यौ खान पान अरु सोना।।

जनक नगर में सोर पर्‍यौ है देखि सखी चल राज ढुढोना।
श्रीरघुराज मौर वाले पर अबतौ मोहिं फकीरिनि होना।।

उनहूँ को मन हर लीनौ०—'आभार वामनयनाहृतमानसाय, दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण।।' (रहीम) ब्रजगोपियोंने आपका मन चुरा लिया है अतः हे प्रभो ! मैं अपना मन तुम्हें देता हूँ कृपा करके स्वीकार करो। अकबर ने तानसेन से पूछा—कृष्णके ऊपर तो सभी रीझते हैं पर वह किस पर रीझ रहा है ? तानसेन ने कहा—इस समय तो वह मीराजीके ऊपर रीझ रहा है। यह सुनकर दर्शन करने गया।

इनहीं के दास दास दास प्रियादास जानौ, तिन लै बखानौ मानौ टीका सुखदाई है।
गोवर्द्धननाथ जू कें हाथ मन पर्‍यौ जाको, कर्‍यौ वास वृन्दावन लीला मिलि गाई है।।
मति उनमान कह्यौ लह्यौ मुख सन्तनि के, अन्त कौन पावै जोई गावै हिय आई है।
घट बढ़ जानि अपराध मेरौ क्षमा कीजै, साधु गुणग्राही यह मानि मैं सुनाई है।। ६३१

शब्दार्थ—हाथ=वश। उनमान=सदृश, अनुमान। घट बढ़=कम ज्यादा। गुणग्राही= सद्‌गुणोंके ग्राहक।

भावार्थ—इन्हीं श्रीमनोहरदासजीके दासोंका दास यह प्रियादास है ऐसा जानिये। उसने श्रीभक्तमाल की इस सुखदायिनी भक्तिरसबोधिनी टीका का वर्णन किया है। श्रीगोवर्धननाथजीके हाथों में जिनका मन पड़ गया है, उसने श्रीवृन्दावनमें निवास करके और सन्तोंसे मिलकर इस लीला का गान किया है। सन्तोंके श्रीमुखसे जैसा कुछ सुना, उसे ही अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया। इन लीलाओंका अन्त कौन पा सकता है अर्थात् कोई भी नहीं पा सकता है। सम्पूर्ण लीलाओंका वर्णन करना असम्भव है। जिसकी बुद्धि में जितनी लीलायें आई उसने उतनी गाई हैं। इन लीलाओंको गाने में मुझसे जो कुछ घटी-बढ़ी हो गई हो इस अपराधको आप लोग क्षमा कीजिये। साधुजन गुणग्राही होते हैं, त्रुटियोंकी ओर ध्यान नहीं देते हैं, ऐसा मानकर ही मैंने अपनी तुच्छ-बुद्धि के अनुसार इन लीलाओं को गाकर सुनाया है।। ६३१।।

व्याख्या-इनहीं के दास दास०—(भा० ११-१७-२७) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि—आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोष-दृष्टि से न देखे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होते हैं।। (भा० ६-७-२९) में देवगण कहते हैं—हे विश्वरूप ! आचार्य (गुरुदेव) ब्रह्म (वेद) की, पिता ब्रह्माजी की, भाई इन्द्र की और माता साक्षात् पृथ्वी की मूर्त्ति होती है।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत्कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः।
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिमाता साक्षात् क्षितेस्तनुः।।

महर्षि श्रीवाल्मीकिजी श्रीलक्ष्णम सहित श्रीसीतारामजी को रहने के लिए स्थान बताते हुए कहते हैं कि–

तुम्ह ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।
सबु करि मांगहिं एक फल रामचरन रति होउ। तिनके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ।।

पाण्डव गीता में कर्ण ने अनन्य भगवद् दास्य की याचना की और कृपाचार्य ने दासानुदास बनने का वरदान माँगा। यथा–

नान्यं वदामि न श्रृणोमि न चिन्तयामि, नान्यं स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि।
भक्त्या त्वदीयचरणाम्बुजमादरेण, श्री श्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम्।।१।।
मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे, मत्प्रार्थनीय मदनुग्रह एष एव।
त्वद् भृत्य भृत्य परिचारक भृत्य भृत्य, भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ।।२।।

हे श्रीलक्ष्मीनिवास ! हे पुरुषोत्तम ! मैं कुछ और न कहूँ, न सुनँ, न चिन्तन करुँ, न स्मरण करूँ, न किसी दूसरे का भजन करूँ और न आश्रय लूँ। भक्तिपूर्वक अपने चरण-कमलों का दास्य मुझे दीजिये।।१।। हे मधुकैटभ के शत्रु ! मेरे जीवन-जन्म का यही फल मिले, यही हमारा प्रार्थनीय है और हमारे ऊपर यही अनुग्रह हो, हे लोकनाथ ! आप हमें अपने दासोंका दास दासानुदास बनायें।।२।। यहाँ श्रीप्रियादासजी का विलक्षण भाव यह है कि गुरुदेवके दासोंका दासानुदास बनाना चाहते हैं। भगवान की अपेक्षा गुरुदेव में भक्ति करना श्रेष्ठ है और भगवद्-दासानुदास की अपेक्षा गुरु-दासानुदास अति श्रेष्ठ है। यह भगवान को सर्वाधिक प्रसन्न करने वाला है अतः कहते हैं कि 'इनहीं के दास दास दास प्रियादास जानौ।' जैसे ग्रन्थकार श्रीनाभाजी विशिष्ट गुरु-भक्ति और भक्त-भक्ति से इस दिव्य-ग्रन्थकी रचना करने में समर्थ हुए, उसी प्रकार श्रीटीकाकार भी गुरु-भक्ति और भक्त-भक्तिसे टीका करने में समर्थ हुए अन्यथा ऐसे विशुद्ध, सम्मान्य और सर्वमान्य ग्रन्थ की न तो रचना हो पाती और न टीका ही हो पाती। गुरुदेव का परिचय देकर अपने को टीकाकार कहते हैं, इस प्रकार कर्तापनका अहङ्कार छोड़कर सन्तोंको, सद्गुरुदेव को, गौरव प्रदान करते हैं।

गोवर्धन नाथ जू कें हाथ मन पर्‌यौ जाकौ–श्रीगोवर्धननाथ भगवान श्रीकृष्ण हैं और दूसरे गोवर्धननाथजी भक्तमालके व्यास हैं, प्रियादासजी के अन्तरङ्ग मित्र थे। यथा–भक्तमाल माहात्म्ये–

प्रियादास जू के सुमित्र वर। श्रीगोवर्धननाथ नाम कर।।
ते श्रीभक्तमाल रँग छाये। पढ़ि सांभरि की रामति आये।।
मग में श्रीगोविन्द देव जो। तिनके दर्शन को गमने सो।।
होन लगी तहँ भक्त सुमाला। जहाँ विराजत गोविन्द लाला।।

इन्हीं दोनोंके हाथोंमें श्रीप्रियादासजी का मन था, तभी वृन्दावन वास और भक्तचरित्रोंका गान हुआ। 'श्रीवृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ।' (छ० ९४) आरम्भमें—'महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरण जू के चरण को ध्यान।' लिखा। 'महाप्रभु कृष्ण-भगवान, महाप्रभु चैतन्य-भक्त, मनहरण-श्रीगुरुदेव और ध्यान-नामगान-भक्ति।' इसमें 'भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक।' के अनुसार अपनी आराधना प्रकट की। यहाँ अन्तमें—इनहींके दास दास—गुरुदेव, गोवर्धननाथ—श्रीकृष्ण भगवान, गोवर्धननाथ भक्तमाली-भक्त और वृन्दावनवास लीलागान-भक्ति। उसी चतुर्नामकी उपासनामें अपनेको लीन बताया। चारों की आराधना करके इसी पथ पर चलनेकी सम्मति प्रदान की। धाममें वास करके लीला गान करना चाहिए। टीका की रचना श्रीवृन्दावन में हुई। यह प्रमाणित हुआ।

कर्‍यौ वास वृन्दावन—श्रीधामका ऐश्वर्य-माधुर्य अनन्त है—

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां, श्रृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनु, वृन्दानि चेति सुख सिन्धु रहो विभूतिः।।

अहो ! श्रीवृन्दावनके ऐश्वर्यकी बात कहाँ तक कहें। वहाँ चिन्तामणि गोपियों के चरणोंके आभूषण हैं, कल्पवृक्ष उनके श्रृङ्गार साधनके लिए पुष्प प्रस्तुत करते हैं, कामधेनुओंके झुण्ड ही वहाँका गोधन है। श्रीवृन्दावन की विभूति सुखका अनुपम सिन्धु है। (भक्ति अङ्क पृष्ठ ३२४) श्रीनागरीदासजी श्रीधामके प्रकट और गुप्तरूप का वर्णन क्रमशः दो कवित्तोंमें करते हैं—

सहजै श्रीकृष्ण कथा ठौर ठौर होत तहाँ, कीरतन धुनि मीठी हिय के हुलास तैं।
स्यामा स्याम रूप गुन लीला रङ्ग रँगे लोग, तिनके न ध्वान्त उर प्रेम के प्रकास तैं।।
ऐरे मन ! मेरे चेत उनहीं सौं करि हेत, 'नागर' छुड़ाय देत जग दुख पास तैं।
काम क्रोध लोभ मोह मत्सरता राग द्वेष, चाह दाह जैहैं सब वृन्दावन वास तैं।। १।।
कुञ्जनि कलप तरु रतन जटित भूमि, छवि जगमगत जकी सी लगै काम कों।
सीतल सुगन्ध मन्द मारुत बहत नित, उड़त पराग रैन चैन सब जाम कों।।

देव वधू द्रुमनि में कोकिला स्वरूप गावैं, दम्पति विहार बीच वृन्दावन नाम कों।
नागरिया नागर सु दीन्हें गरबाहीं तहाँ, मन ! रूप रवनी ह्वै देखि ऐसे धाम कों।।२।।

साढ्वा पादप्रहारानपि च शतशतं धिक्कृतीनां च कोटिः,
क्षुत्तृट् शीतादिवाधा शतमपि सततं धैर्यमालम्ब्य सोढ्वा।
मुञ्चन् शोकाश्रुधारामतिकरुण गिरा राधिकाकृष्णनामा-
न्युद्गायन् कर्हि वृन्दावनमतिविकलोऽकिञ्चनः संचरामि।।

श्रीप्रबोधानन्दपाद सरस्वती कहते हैं—चाहे जितने कष्ट क्यों न सहने पड़ें, शत-शत बार पाद प्रहार क्यों न सहना पड़े, लाख-लाख बार धिक्कार क्यों न खानी पड़े, क्षुधा-पिपासा और सर्दी-गर्मी की बाधायें पग-पग पर क्यों न सहनी पड़ें-परन्तु सबको धैर्यपूर्वक सहन करता हुआ, शोकाश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गद्गद वाणी द्वारा करुणापूर्वक श्रीराधाकृष्णके नामका कीर्तन करता रहूँ और श्रीवृन्दावन वासकी तीव्र उत्कण्ठासे युक्त अकिञ्चन रूपमें भ्रमण करता रहूँ। (वृन्दावन-शतक) श्रीहरिरामजी व्यास पुकार कर कहते हैं पर सुनने वाले थोड़े ही हैं। पद—

वृन्दावन साँचो धन भैया।
कनक कूट कोटिक लगि तजिये भजिये कुंवर कन्हैया।।
जहँ श्रीराधा चरण रेणु की कमला लेति बलैंया।
तिनमें गोपी नाच नचावति मोहन बेनु बजैया।।
कामधुने कौ क्षीर सिन्धु तजि भजहु नन्द की गैया।
चारों मुक्ति कहा लै करिहों जहाँ न जसोदा मैया।।
अद्भुत लीला अद्भुत वैभव सत शुकदेव कन्हैया।
आरत 'व्यास' पुकारत वन में थोरे लोग सुनैया।।

लह्यौ मुख सन्तनि के—भक्त-चरित्रोंकी प्राप्तिका अन्य कोई साधन नहीं है। सन्तों की वाणी लिखितरूपमें अथवा प्रत्यक्ष सुनकर वर्णन की। सन्तों के वचन सत्य एवं प्रमाण होते हैं। 'अन्त कौन पावै'—अर्थात् कोई नहीं पा सकता। सन्त-चरित्रका समझना कठिन है—जैसे श्रीअगस्त्यजीने समुद्र को पान कर लिया। उस समय उनकी अंजलि बड़ी हो गई अथवा समुद्र छोटा हो गया। यह समझना कठिन है। हृदयमें सन्त-भगवन्तने जैसे रूप-लीला का दर्शन

कराया वैसा गान किया। 'साधु गुणग्राही'—सूप, भ्रमर और सन्त, सार का तथा चलनी, मेढ़क तथा दुष्टजन असारको ग्रहण करते हैं। यथा—दोहा—सूप सन्त अलि भाव बस ग्रहन करत नित सार। चलनी खल मण्डूक ये रुचि सों गहैं असार।। 'शूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गृह्णन्ति साधवः।' सन्त-भगवन्त गुणग्राही श्रोता हैं, वे ही इसको सुनने-पढ़ने के अधिकारी हैं। सन्तोंके अनन्त चरित्र हैं, उनका सम्पूर्ण वर्णन कर सकना असम्भव है। अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए सन्त-भगवन्तकी प्रेरणा से इसका गान किया गया।

कीनी भक्तमाल सुरसाल नाभा स्वामी जू ने, तरे जीव जाल जग जन मन पोहनी।
भक्ति रस बोधिनी सो टीका मति सोधिनी है, बाँचत कहत अर्थ लागै अति सोहनी।।
जोपै प्रेम लक्षना की चाह अवगाहि याहि, मिटै उर दाह नेकु नैननि हूँ जोहनी।
टीका अरु मूल नाम भूल जात सुनै जब, रसिक अनन्य मुख होत विश्वमोहनी।।६३२

शब्दार्थ—सुरसाल=सुन्दर रसमयी। जीवजाल=प्राणियोंके समूह। पोहनी=पुहने, गूँथने वाली। सोधिनी=शुद्ध करने वाली। बाँचत=पठन करते समय। कहत=प्रवचन करते समय। सोहनी=सुन्दर, अच्छी, झाडू। प्रेम लक्षना=परमश्रेष्ठा भक्ति। अवगाहि=स्नान, अन्तःप्रवेश करो। जोहनी=देखनी।

भावार्थ—गोस्वामी श्रीनाभाजीने सुन्दर मधुर-रस से व्याप्त श्रीभक्तमाल की रचना की। यह सभी भक्तों के मनको गूँथने वाली है। इसका पठन-श्रवण करके अनेक जीव भव-सागरसे तर गये। उसी भक्तमाल में यह भक्तिरसबोधिनी नाम की टीका है। इसके पठन-श्रवणसे मायासे मोहित बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। पढ़ने में, कहनेमें और अर्थ करने में यह बहुत ही अच्छी लगती है। यदि किसी को प्रेम-लक्षणा भक्ति को प्राप्त करने की इच्छा है, तो वह टीका का निरन्तर पठन, श्रवण और मनन करे। जो इसे मनके नेत्रोंसे भलीभाँति देखेगा, उसके हृदयका दाह दूर हो जायगा। इसकी एक विशेषता यह भी है, कि इसे प्रेमसे सुनते समय यह भूल जाता है कि हम मूलका श्रवण कर रहे हैं या टीका का। अनन्यरसिक भगवद्भक्तके श्रीमुखसे जब इसका कथन होता है, तब यह सारे जगत् को मोहित करने वाली हो जाती है।।६३२।।

व्याख्या—सुरसाल—श्रीभक्तमाल भगवानके प्रति और भक्तोंके प्रति भगवान के सुमधुर प्रेम भावोंका सुन्दर वर्णन होनेसे सुरसाल है। जैसे विदुर-विदुरानी, सुदामाजी, निषादराज और

शबरी आदि सभी चरित्रोंमें भक्त-भगवानके पारस्परिक भावोंका अनुपम दर्शन होता है। श्रीपरशुरामाचार्य के भाव पर महन्तजी रीझे, चरणोंमें लिपट गये और प्राण न्यौछावर करने की इच्छा करने लगे—'आय लपटायौ पायँ भाव मैं न जान्यौ कछू' आन्यौं उर माँझ आवै प्रान वारि डारियै।' (क० ५२२)

तरे जीव जाल जग—संसार सागर से तर जाना, तार देना तो बहुत छोटी बात है। ये तो प्रेमसागर में सराबोर कर देते हैं। यथा—'जितो गौड़ देश भक्ति लेशहूँ न जानै कोऊ, सोऊ प्रेमसागर में बोर्‍यौ कहि हरी है।। भये सिरमौर एक एक जग तारिबे।' (क० ३३२) कथा सुनकर भावमग्न होकर ही नहीं, धुवाँ लगने से भी प्रेत तर गये। यथा—'छूट्यौ तन वन राम आज्ञा हनुमान आये, कियौ दाह धुआँ लगे प्रेत पार नेरो है।' (क० २३०) विभीषणजी को राजतिलक करके वापस आये, वानर-भक्तोंको भगवान श्रीरामने अमृतमयी वाणी कहकर सुखी किया। यथा—

किये सुखी कहि बानी सुधा सम बल तुम्हारे रिपु हयौ।
पायौ विभीषन राज तिहुँपुर जसु तुम्हारौ नित नयौ।।
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं।
संसार सिन्धु अपार पार प्रयास विनु नर पाइहैं।। (रा० लं०)

श्रीराम वचनोंसे प्रमाणित हुआ कि तीनों लोकोंमें सर्वदा भक्तोंका सुयश नवीन रहता है और अपार भवसागरसे बिना प्रयास के लोगोंको पार करता है।

जन मन पोहनी—भक्तमाल की कथा सुई के समान है, भक्तोंके मनको बेधकर भगवानसे एकता करा देती है और भक्त बनाकर उसे भक्तमाल में सम्मिलित कर लेती है। इस प्रकार भगवानमें प्रेम कराकर भगवानका प्रेमपात्र बना देती है। टीकाके उपक्रम (क० २) में टीकाका सौन्दर्य कह चुके हैं पुनः यहाँ फलस्तुति कहते हैं कि बुद्धिशोधिनी है—अर्थात् भक्तमालसे शुद्ध मन, बुद्धि भगवानको अर्पण करनेके योग्य होती है। बुद्धिके शुद्ध होने पर ही भक्तिमय जीवन है और नाश होने पर मरण-नरक है। 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।' यह कहने-सुननेमें अच्छी हैं क्योंकि मन-बुद्धि में अति सोहनी-पूरी झाड़ू लग जाती है, उससे उसके मैल दूर हो जाते हैं। तब कहने-सुनने से महाप्रभु का प्रेम प्राकट्य निश्चित रूपसे हो जाता है।

प्रेम लक्षना की चाह—क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा। सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।। (भ० र० सि०)

भक्ति क्लेशोंको नाश करने वाली, कल्याणोंको प्रदान करने वाली, कैवल्यमुक्तिको तुच्छ बना देने वाली, अतिशय कठिनता से प्राप्त होने वाली, सान्द्रानन्द विशेषात्मा अर्थात् घने आनन्द से परिपूर्ण और श्रीकृष्णको अपनी ओर आकृष्ट करने वाली है। क्लेशघ्नी, शुभदा ये साधन भक्तिके, मोक्ष लघुताकृत, सुदुर्लभा ये भाव-भक्तिके तथा सान्द्रानन्द विशेषात्मा, श्रीकृष्णाकर्षिणी ये विशेषण प्रेमभक्ति के हैं। साधन-भक्ति के द्वारा भाव- भक्ति फिर उसके गाढ़ होने पर उसको प्रेम-भक्ति कहते हैं। भक्तमालसे इनकी प्राप्ति होती है। जैसे प्रेम-लक्षणा सर्वोत्कृष्ट साध्य हैं, उसी प्रकार उसकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन 'श्रीभक्तमाल' है। प्रेम-लक्षणा की चाह वाले को तो इस भक्तमाल में डूब जाना चाहिए और 'उर दाह' दैहिक, दैविक, भौतिक ताप तो थोड़ी-सी झलकते ही दूर हो जायेंगे अथवा प्रियतमके वियोग से प्रकट जो उर का दाह वह भी विवेक नेत्रोंके दर्शनसे अर्थात् अनुशीलन से मिट जायगा, इष्टदेवकी प्राप्ति हो जायगी। 'टीका अरु मूल नाम भूल जात' इसलिए कि 'नाभा जु कहाई' है। 'विश्वमोहिनी'—विश्वं यह भगवान का मुख्य नाम है। विष्णुसहस्रनाम में इसे सर्वप्रथम कहा गया है। यथा—'विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।' इसलिए मुख्य तात्पर्य यही है यह उन भगवान को भी मोहित करने वाली है जो सभीको मोहित करते हैं। पुनः विश्व शब्दका सर्वादिगण में पाठ है अतः विश्व सर्वनाम (सबका नाम) है, जो भी प्रेमसे सुने उसे मोहित करने वाली है। भक्ति कृष्णाकर्षिणी है और भक्तमाल विश्वरूप प्रभु को मोहित करने वाली है तात्पर्य यह कि भक्तमाल भक्ति-स्वरूपा है।

सुनी कै सुनाई सुखदाई भक्तमाल जिन, प्रीति सरसाई भई भोर शुभ बोहिनी।
मति गति पागी अनुरागी भगवन्त माँझ, साथ नहिं छाँड़े जैसे चन्द्रमा को रोहिनी।।
एकबार स्वाद पाय फिरि फिरि ललचाय, गाय न अघाय पाय जैसे सुधा दोहिनी।
पाप ताप कोहिनी सुभक्त जक्त छोहिनी, सुचित्त रत्नपोहिनी कथा सु विश्वमोहिनी।।१।।

मायामय बेड़ी टूटी हिय की किवार खूटी, सुधाकी-सी घूँट घूटी छूटी भीतकालकी।
पुण्यवन वेली फूली भई सब अनुकूली, मति रस झूल झूली भूली चाल जाल की।।
तन मन हाल की न तिया पति बाल की, न नर लोक पालकी न चिन्त धनमाल की।
भूत जमदूत भागे भाल के सुभाग जागे, मन मति रागे कथा सुनी भक्तमाल की।।२।।

धामहू छुड़ाये काम पूरे न परन पाये, मन हुलसाये मति माती रति लाल की।
असन वसन भूले लोचन सरोज फूले, भावरस झूले सुनि बानी सुरसाल की।।

लोक कुल कर्म टारे धीरज बिडारि डारे, रंग भरि भरि मारे बानी वाग्जाल की।
प्रेम सुख ताल नची श्याम रति रंग रची, बाँसुरी गोपालकी कि कथा भक्तमाल की।।४३।।

पुरानी टिप्पणीमें लिखा है कि मथुरा-वृन्दावन आदि स्थानों में जब श्रीगोविन्ददास, श्रीप्रियादासजी और श्रीगोवर्धननाथजी आदि भक्तमाली भक्तमाल की कथा कहते तब प्रेमी-स्त्री पुरुष सभी मतवाले हो जाते, रोते, गाते, हँसते और नाचने लग जाते। कई बार घरके कामोंमें विषमता हो जाती। स्त्रियाँ आभूषणों की सुध भूल जातीं, शरीर से उतार कर दान कर देतीं। तभी उसे विश्वमोहिनी कहा।

नाभा जू कौ अभिलाष पूरन लै कियौ मैं, तौ ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइकै।
भक्ति विसवास जाके ताही कों प्रकास कीजै, भीजै रंग हियो लीजै सन्तनि लड़ाइकै।।
सम्वत् प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर, फालगुन मास वदी सप्तमी बिताइकै।
नारायणदास सुखरास भक्तमाल लैकै, प्रियादास उर बसौ रहौ छाइकै।।६३३

शब्दार्थ—अभिलाषा=मनोरथ। साखी=साक्षी, प्रमाण। प्रकाश कीजै=सुनाइये।

भावार्थ—मैंने श्रीनाभाजी की अभिलाषा को ही पूर्ण किया है। उसकी साक्षी मैंने पहले ही भलीभाँति गाकर सुना दी है। जिसके हृदयमें भक्त-भगवत् चरणारविन्दोंमें भक्ति और विश्वास हो, उसीके सामने इस भक्तमाल की कथाको कहना चाहिए। जिसे सुनकर उसका हृदय भक्तमाल के रंगमें डूब जाय और वह श्रद्धा सहित सन्तों की सेवा करने लग जाय। प्रसिद्ध विक्रम सम्वत् १७६९ फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को यह 'भक्तिरसबोधिनी' टीका पूर्ण हुई। मेरी प्रार्थना है कि सुखप्रद श्रीनारायणदासजी (श्रीनाभास्वामी) सुख-स्वरूप श्रीभक्तमाल-ग्रन्थ के सहित दासानुदास मुझ प्रियादास के हृदय में सर्वदा निवास करें।।६३३।।

व्याख्या—नाभाजू को अभिलाष—श्रीनाभाजी चाहते थे कि कोई सन्त भक्तमाल पर टीका करें। इसलिए कि बिना टीकाके शैव, वैष्णव और शाक्त साधु, सौभाग्यवती स्त्रियाँ, पुरुष, सत्काव्य, वर (दूलह) ब्राह्मण और राजा ये अमङ्गलप्रद हैं। किसी कविने ठीक ही कहा है—

शैवास्तथा वैष्णवशाक्तसाधवः, सौभाग्यशीलाः पुरुषा अपि स्त्रियः।
सत्काव्यग्रन्था वरविप्रभूमिपाः टीकां बिना मङ्गलदाप्यमङ्गलाः।।

ताकी साखी प्रथम—अर्थात् टीकाके पहले कवित्तमें ही कह दिया—'टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै।' (क० १) आदि। इस प्रसङ्ग में 'टीका कौ चमत्कार' (क० ४) की

व्याख्या पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३३ में द्रष्टव्य है।

भक्ति बिसवास जाके ताही कों प्रकास कीजै—जिसे सन्त, सद्गुरु और वेद-शास्त्रके वाक्योंमें श्रद्धा-विश्वास न हो उसे नहीं सुनाना चाहिए। अनधिकारी सुनकर परिहास करेगा। आज श्रद्धा-विश्वास नहीं है या कम है। सुनकर इसे विश्वास होगा, ऐसा अनुमान हो तो सुनाना चाहिए। लोभवश अनधिकारीको मुख्य श्रोता बनाकर नहीं सुनाना चाहिए। सार्वजनिक कथा हो रही हो वहाँ कोई भी बैठकर सुने, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। भगवान शङ्कर श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं—

तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई।।
यह न कहिय सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।।
कहिय न लोभिहिं क्रोधिहि कामिहिं। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइहि कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।
राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी।।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें श्रीसूतजीने कहा-हे शौनकजी ! आपके मनमें प्रीति है अतः मैं तुम्हें कथा सुनाता हूँ-राजा परीक्षित की सभा में जब श्रीशुकदेवजीने कथा कहना प्रारम्भ किया तो उसी समय देवगण अमृत-कलश लेकर आये और नमस्कार करके श्रीशुकदेवजी से बोले-अमृत ले लो और उसके बदले हमको कथा सुना दो। इस प्रकार विनिमय हो जाने पर राजा अमृत का पान करे और हम लोग कथामृत का पान करें। श्रीशुकदेवजीको हँसी आ गई कि देवगण कैसे स्वार्थी हैं। कहाँ काँच और कहाँ मणि कहाँ भागवत की कथा और कहाँ यह अमृत। देवोंको अभक्त जानकर उन्हें कथामृत नहीं दिया। इस प्रकार यह कथा देवों के लिए भी दुर्लभ है—

परीक्षिते कथा वक्तुं सभायां संस्थिते शुके। सुधाकुम्भं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन्।।
शुकं नत्वावदन् सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः। कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम्।।
एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम्। प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम्।।
क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्। ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह।।
अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम्। श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा।।

योग्य पात्रको विद्या एवं कथा न देने से दोष लगता है। इस पर—

दृष्टान्त—प्रेत और श्रीयादवप्रकाश का—काञ्ची नरेश की राजकुमारी प्रेतवाधा से पीड़ित

हुई। अनेक मन्त्रज्ञ बुलाये गये पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें यादवप्रकाशजी को बुलाया गया। शिष्योंके सहित पहुँचकर इन्होंने जैसे ही मन्त्र प्रयोग आरम्भ किया राजकुमारी के मुखसे प्रेत बोला—तू जीवन-भर मन्त्रपाठ करे तो भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। मैं चाहूँ तो अभी तुझे धर पटकूं तू तो पूर्वजन्म का विषखोपड़ा है, सन्तने जूठा पत्तल तेरे बिल पर डाल दिया, सन्त सीत-प्रसाद खाने से तुझे मनुष्य शरीर मिला। मैं तो कई जन्मोंका याज्ञिक ब्राह्मण हूँ। भयभीत यादवप्रकाश पीछे हट गये। तब उनके विद्यार्थी श्रीरामानुजने आगे आगकर पूछा—ब्रह्मन्! आपने यह दुःखद योनि क्यों पाई। प्रेतने कहा—पूर्वजन्ममें मैंने विद्या छिपाकर रक्खी, दान नहीं किया इसीसे प्रेत हुआ। आप समर्थ हैं, मेरे सिर पर हाथ रखकर अभयदान दें तो मैं इस योनि से छूट जाऊँ। श्रीरामानुजजीने उसके सिर पर हाथ रक्खा। प्रेत मुक्त हो गया राजकुमारी स्वस्थ हो गई। (सत्कथाङ्क)

विसवास—कालीनाग का दमन करने के लिए श्रीकृष्ण कालीदह में कूद पड़े। नन्द-यशोदा आदि भी दुःखित होकर कालीदह में कूदने लगे। तब श्रीबलरामजीने सबको समझाया कि कृष्णका कुछ न बिगड़ेगा, धैर्य धारण करो अभी आकर तुमसे मिलेंगे। लोगों ने श्रीबलदेवजी की बात पर विश्वास किया तो श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई अन्यथा दहमें कूदकर कष्ट पाते। वनमें दावाग्नि प्रकट हुई। ग्वालवालोंने त्राहि-त्राहि पुकारा, भगवानने कहा नेत्र बन्द करो। विश्वास पूर्वक सभीने नेत्र बन्द किये, प्रभुने दावानल का पान करके सबकी रक्षा की। चारों ओर आग लगी है आँखें बन्द करने से समीप आकर दावानल जला देगा। ऐसी शंका होती तो भगवान रक्षा नहीं करते। मणि को ढूंढ़ते हुए श्रीकृष्ण जाम्बवान् की गुफा में घुसे। यादवों से कह गये कि हम मणि लेकर आते हैं, यहीं ठहरना पर इन्हें विश्वास न हुआ। १२ दिन बाद द्वारका को लौट आये। इनके अविश्वास से सभी को भारी कष्ट हुआ। २८ दिन बाद भगवान आये। अतः अविश्वासीको न सुनाकर विश्वास-पात्रको सुनाने का आदेश देते हैं। अविश्वासीको सुनाना अपराध है। 'हीन अश्रद्धा नास्तिक हू हरिधर्म बहिर्मुख। तिनसों कबहुँ न कहै, कहै तौ लहै नहीं सुख।।'

नारायणदास...प्रियादास उर०—जैसे श्रीविट्ठलविपुलजीको स्वामी श्रीहरिदासजी की गोदमें विराजमान श्यामाकुञ्जबिहारी इष्ट हैं, उसी प्रकार भक्तमाल धारणकिये हुए भक्त-भगवान ही श्रीनाभाजीको तथा श्रीप्रियादासजी के इष्ट हैं। उन्हें अपने हृदयमें बसाना चाहते हैं। पुनः मूल दोहा २१४ में श्रीनाभाजी गुरुदेव सहित श्रीभक्तमालको अपने हृदय में निवास करने की प्रार्थना करते हैं। उसी भावमें लीन श्रीप्रियादासजी, श्रीनाभाजी सहित

भक्तमाल को हृदय में बसा रहे हैं। इससे मूल-ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों का साध्य-साधन तत्व एक सिद्ध हुआ। मूल-ग्रन्थकार के भावानुकूल टीका सिद्ध हुई। यह टीका की विशेषता है। 'रहो छाइकै'—घर छाया करिकै सर्वदा रहो। छाया=कृपा करके रहो नारदगीता में कहा है कि—'तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे। तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद।।' वैष्णव शास्त्र जिस घरमें रहते हैं, वहाँ स्वयं नारायण भगवान रहते हैं। जहाँ भगवान रहते हैं वहाँ उनके भक्त रहते हैं। भक्तमाल-माहात्म्य में कथा देखिये। भक्तमाल ग्रन्थको मृत्यु समय छाती पर रक्खा तो यमदूत भाग गये विष्णुके पार्षद आकर ले गये अतः भक्तमालको हृदयमें धारण करना चाहते हैं।

अगिनि जरावौ लैके जल में बुड़ावौ, भावै सूली पै चढ़ावौ घोरि गरल पिवायबी।
बीछू कटबावौ कोटि साँप लपटावौ, हाथी आगे डरबावौ ईति भीति उपजायबी।।
सिंह पै खबावौ चाहौ भूमि गड़बावौ, तीखी अनी विधबावौ मोहिं दुख नहीं पायबी।
ब्रजजन प्रान कान्ह बात यह कान करौ, भक्त सों विमुख ताको मुख न दिखायबी।।६३४

शब्दार्थ—भावै=अच्छा लगे। अनी=भाला आदि की नोक।

भावार्थ—ब्रजजनोंके प्राणस्वरूप हे श्रीकृष्ण भगवान ! आप चाहें मुझे अग्निमें डालकर जलाइये, चाहे जलमें डुबाइये, आपकी इच्छा हो तो शूली पर चढ़ा दीजिये, घोलकर विष पिला दीजिये, बीछुओं से कटवाइये, मेरे शरीर में करोड़ों साँप लिपटवाइये, मतवाले हाथीके आगे डलवा दीजिये, ईति, भीति आदि मेरे कष्टके लिए प्रकट कर दीजिये, सिंह के द्वारा मरवाइये, चाहे धरती में गड़वाइये तीक्ष्ण भाला आदि छिदवाइये, इन सबसे मुझे नाममात्रका भी दुःख नहीं होगा। (परन्तु हे कान्ह !) ध्यानपूर्वक मेरी यह बात कान कर लीजिये अर्थात् सुनिये कि जो भक्त-विमुख हैं उनका मुख कभी न दिखाइये उससे मुझे बहुत भयङ्कर कष्ट होगा।।६३४।।

व्याख्या-अगिनि जरावौ०—इस कवित्तमें अति भयङ्कर सभी कष्ट कहे गये तात्पर्य यह कि अब और शरीर छूटनेके बाद नरक के कष्ट अच्छे पर विमुख सङ्ग, सङ्ग नहीं मुख देखना भी असह्य है। 'बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देय विधाता।।'

वरमसि धारा तरुतलावासो वरमिह भिक्षा वरमुपवासः।
वरमपि घोरे नरके पतनं न च हरिभक्तेर्विमुख सङ्गः।।

तलवारकी धारका घाव अच्छा, वृक्षके नीचे धरती पर निर्जन वनमें रहना अच्छा, भिक्षा माँगकर खा लेना अथवा भूखा रह जाना अच्छा है तथा घोर नरक में पड़ना भी अच्छा है

किन्तु भक्तिसे विमुख की सङ्गति अच्छी नहीं अर्थात् विमुख के साथ रहने से चाहे कितने ही संसारी सुख मिलें पर वे अच्छे नहीं। श्रीहरिरामव्यासजी कहते हैं—

जो दुख होय विमुख घर आये। ज्यौं कारो कारी लागै निसि कोटिक बीछू खाये।। दुपहरि जेठ परत बारू में घायनि लोन लगाये। काँटन माँझ फिरै विन पनहीं मूंड़ में टोला खाये।। टूटत चाबुक कोटि पीठ पर तरुवर बाँधि उठाये। जो दुख होय अगिनि के दाहे सर्वस धनहिं हेराये।। ज्यौं बाँझहिं दुख होति सौति के सुन्दर बेटा जाये। देखत ही दुख होत जितौ वह विसरत नहिं बिसराये।। भटकत फिरत निलज बरजत ही कूकर ज्यौं झहराये। गारी देत बिलग नहिं मानत फूलत दमरी पाये।। अति दुख दुष्ट जगत में जेते नेकु न मेरे भाये। वाके दरस परस मिलवत ही कहत 'व्यास' यों न्याये।। दाग जु लाग्यो नील को सौ मन साबुन धोय। कोटिन जतन प्रबोधिये कौवा हंस न होय।। संगति भई तो कह भयौ हिरदो भयौ कठोर। नौ नेजे पानी चढ्यौ तऊ न भीजी कोर।।

ऐसे शठ दूर रहें, यही अच्छा है। ऐसे लोग कथा-सत्सङ्गमें केवल कुतर्क करने के लिए जाते हैं। जैसे-वक्ता कहता है कि श्रीराम-नाम से समुद्र में पत्थर तर गये। विमुख कहता है—अब तरावो तो साँच मानें, नहीं तो झूठ। वक्ता कहता है गङ्गाजल से स्नान करो, करावो। कुतर्की कहता है कि चरणों का धोवन है। यमुनाजी में सूर्य को जलाञ्जलि देते देखकर कहता है कि ऐसा मत करो, अपनी पुत्रीका जल कैसे लेंगे। किसी को चरणामृत लेते देखकर कहते हैं कि इसे कभी मत लो, पेट में जाकर बिगड़ जायगा। ऐसे कुतर्की, निन्दक और विमुखसे प्राणों की रक्षा करो, क्योंकि आप, हम सब ब्रजभक्तों के प्राण हैं।

ब्रजजन प्रान—

चन्दन घोरिकै विन्द लगाइकै कुञ्जन ते निकस्यौ मुसक्यातो।
राजति है वनमाल गरे अरु मोर पखा सिर पै फहरातो।।
जा दिन तें 'रसखानि' लख्यौं तब तें कछु औरन मोहिं सुहातो।
प्रीति की रीति में लाज कहा कछु है सो बड़ो यह नेह को नातो।। १।।

एक समै मुरली धुनि में 'रसखानि' लियौ कहुँ नाम हमारौ।
ता छिन ते वह बैरिन सासु कितौ कियौ झाँकन देति न द्वारौ।।
होत चबाय बलाय सों आलि री जो भरि अंक में लीजत प्यारौ।
दीठि परे ही लग्यौ चटकौ हियरे अटक्यौ पियरे पटवारौ।।२।।

ताको मुख न दिखाइबी—विमुखके क्षणिक सङ्गसे महती हानि होती है। इस पर—

दृष्टान्त—हंस और कौवा का—एक वृक्ष की डाल पर एक कौवा बैठा था। उड़ता हुआ हंस भी आकर वहीं बैठ गया। शिकार खेलने से थका-हारा एक राजा उसी वृक्षके नीचे बैठकर थकावट दूरकर रहा था। इसी बीच कौवे ने राजाके ऊपर बीट कर दी। क्रोधवश राजाने बाण चलाया। कौवा बीट करके उड़ गया था बाण हंसके लगा। हंस को गिरा देखकर राजाने कहा—अरे ! क्या यहाँ कौवे सफेद होत हैं। हंसने कहा—नहीं, राजन् ! यह कुसंगका फल है। दो०—विमुख सङ्ग छन एक में करै बड़ी ही हानि। काक संग ते हंस मैं मर्‍यौ भूप ले जानि।।

विमुख जैसे दुःखद एवं त्याज्य हैं, वैसे ही सन्त संग्रहणीय और सुखद हैं। 'सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।' श्रीहरिरामजी व्यास कहते हैं—जो सुख होत भगत घर आये। सो सुख होत नहीं बहु सम्पति बाँझहिं बेटा जाये।। (पूरा पद भ० द्वि० खं०) पुनः—निरखि हरि दासन नैन सिरात। श्याम हृदय में आवत तवहीं मिलत गात सों गात।। श्रवण होत सुख भवनदवन दुख सुनत छबीली बात। दूर होत परिताप पाप सब मुख चरनोदक जात।। प्रेमा भक्ति रीति रस बाढ़े लै करि जूठनि खात। गद्गद उर पुलकत यश गावत आनन्द नीर चुचात।। तिनके मुख मसि घसि लपटाऊँ जिनहिं न सन्त सुहात। 'व्यास' अनन्य भजन विन युग युग बहुत लोग पछितात।। भक्तोंसे विमुख का मुख न दिखाइये, भक्तों के जो सम्मुख हैं, उनसे सेवकों को सदा दर्शन और सत्सङ्ग दीजिये। इस प्रकार सत्सङ्ग को अभीष्ट कहकर उसे ही कर्तव्य मानते हैं। सत्सङ्ग महिमा—(अध्या० रा० ३।४।५५)।

भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां,
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा।
सङ्गं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनानन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा।।१।।

भगवान श्रीराम कहते हैं—जो तत्परता पूर्वक साधु-सेवामें अनन्य-बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तोंका, निर्मल और शान्तचित्त वाले योगियों का, मेरी सेवा-पूजामें अनुराग रखने वालों का तथा ज्ञानी भक्तों का सदा ही संग करता है। मोक्ष उसके करतलगत होता है और मैं अहर्निश उसको दर्शन देता रहता हूँ, दूसरे किसी उपाय से मैं दर्शन नहीं दे सकता।।१।। पुनः—सुक्तिसुधाकरे—

तत्वं चिन्तय सततं चित्ते परिहर चिन्तां नश्वरवित्ते।
क्षणमिह सज्जन सङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।।२।।

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि।।३।।

चित्तमें निरन्तर भगवद्-तत्त्वका चिन्तन करो। नाशवान धनकी चिन्ता छोड़ दो। सज्जनोंका एक क्षण सत्सङ्ग भी संसार-सागर से तारने के लिए नौका रूप है।।२।। सन्त यदि कोई उपदेश न भी करें, तब भी उनकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि जो उनकी अपनी इच्छा से बातें होती हैं वे भी शास्त्र ही हैं।

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते सतां हि सङ्गः सकलं प्रसूते।।४।।

कल्पवृक्ष केवल कल्पित वस्तुयें ही देता है, कामधेनु केवल इच्छित भोग ही प्रदान करती है तथा चिन्तामणि भी चिन्तित पदार्थ ही देती है किन्तु सत्पुरुषोंका संग सभी कुछ कर देता है और दे देता है।।४।। आदिपुराणे—

वैष्णवः परमो धर्मो वैष्णवः परमं तपः। वैष्णवः परमाराध्यो वैष्णवः परमं गुरुः।।
तं देशं विफलं मन्ये यत्र नास्ति हरिप्रियः। तं देशं सफलं मन्ये यत्रास्ते भगवत्प्रियः।।

वैष्णव-भक्त ही साक्षात् परमधर्म हैं, वैष्णवजन श्रेष्ठ तप हैं, वैष्णव ही परम गुरु हैं और वैष्णव ही परमाराध्य हैं, सर्वदा उन्हींकी सेवा करनी चाहिए। जिस देश और ग्रन्थमें भगवानके प्यारे भक्तों की चर्चा नहीं है वे व्यर्थ हैं असेव्य हैं। उस देश में निवास तथा उस ग्रन्थका अध्ययन नहीं करना चाहिए। वही देश और शास्त्र सफल हैं जिनमें भक्तजन निवास करते हैं, उन्हीं का सेवन करना चाहिए। (पुरानी टिप्पणी से)

सुस्मृति आगम निगम सत औ पुरान मतसार। भक्तमाल में साखि धरि भगत भये भवपार।।
श्रीनाभा नभ उदित ससि भक्तमाल सो जान। रसिक नरेश चकोर तुम पान करौ रसखान।।
भक्तमालस्य व्याख्येयं भक्तमालप्रसादतः। रामेश्वरस्य दासेन सङ्ग्रहीता हरिप्रिया।।
त्रुटिग्रामं परित्यज्य मत्वा माणविकीं गिरां। शूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणान्गृह्णन्तु साधवः।।

श्रीसीताराम विवाह पंचमी (मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी) वि० सं० २०६५

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

श्रीराम

श्री सुदामादास जी महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

लेखकः- जगन्नाथदास शास्त्री,
सुदामा कुटी, वृन्दावन

सन्तों के गुण लक्षण अनन्त होते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीमहाराजजी का यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनन्त श्री सम्पन्न, महामहिम, गो, सन्त, ब्राह्मण सेवी श्रीवैष्णव चरणनिष्ठ, श्रीधाम निष्ठ, प्राणिमात्र के प्रति दयामय, सत्यव्रती, परमयति, विरक्त, शिरोमणि, युगपुरुष, परमार्थ-पथ-पथिक, परमार्थ-पथप्रदर्शक, वैष्णव धर्ममण्डन, विधर्म विखण्डन, वैष्णव धर्ममानी, परम भक्तिदानी, भक्तमाली, भक्तमाल-गायक, भक्त भक्तिदायक, एकान्तसेवी, लोकसुखत्यागी, परम विरागी, हरिहर पदानुरागी श्रीवैष्णव कुलभूषण, स्वनाम धन्य महान्त श्रीसुदामादासजी महाराज एक अवतारी पुरुष थे। इस शताब्दी में सर्वगुण सम्पन्न ऐसा महापुरुष नहीं देखा गया और न ही सुना गया।

भगवदिच्छा से निर्मित यह संसार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, नायक प्रभु का विशाल लीला मंच है। इस मंच पर आने वाले कुछ जीव प्रारब्धवश सुख-दुःख भोगने के लिए आते हैं, कुछ नित्य लीला के परिकर भी आते हैं, जो प्रभु की प्रेरणा से अपने चरित्र के द्वारा भक्ति-ज्ञान, सद्विवेक, सदाचार, वैराग्य, अनुराग जीवमात्र के प्रति करुणा, दया, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, धामैकनिष्ठता, नामैकनिष्ठता, प्रेमैकनिष्ठता द्वारा भगवद् विमुख जीवों को भगवद् सन्मुख करके, अध्यात्म-पथ का पथिक बना देते हैं। मुमुक्षु जीवों के लिए कल्याण मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रेमी भक्तों को प्रभु की गंगा में अवगाहन कराकर, मनसा-वाचा-कर्मणा विशुद्ध बनाकर प्रभु की पावन गोद में बैठा देते हैं—जैसे माता अपने लाड़ले बेटे को स्नान कराकर, वस्त्राच्छादित करके, केशों को सँवारकर, काजल, दिठौना लगाकर, शृंगार करके पिता की गोदी में बैठा देती है। ऐसे ही भगवद्-परिकरों में से एक परिकर आप थे, जो अपने चरित्र के द्वारा हम सबको सन्मार्ग दिखाकर और उस पर चलकर चले गये। भौतिक शरीर से चले गये, किन्तु यश रूपी शरीर से आज भी विद्यमान हैं और आगे भी रहेंगे। कीर्तिर्यस्य स जीवति।

जन्म—आपका जन्म बिहार प्रान्त के जनपद गोपाल गंज, ग्राम छिपाया फार्म में परम पवित्र वैष्णव कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ, जो सत्य, सदाचार, वैदुष्य तथा भगवद् भक्ति के कारण उस क्षेत्र में प्रसिद्ध था।

इसी वंश में पण्डित श्रीजयराम दुबे परम अकिंचन परम भगवद् भक्त निवास करते थे। उनकी धर्म पत्नी श्रीमती हंसिया देवी भी भगवान् की परम भक्ता एवं पति परायणा थी। आप दोनों की भक्तिमय आराधना के फलस्वरूप सन् १८९९ में एक होनहार नवजात शिशु की प्राप्ति हुई। "होनहार विरवान के होत चीकने पात" इस युक्ति के अनुसार नवजात शिशु का गौरांग वर्ण, उन्नत ललाट, चन्द्रमा सी मुखाकृति, जिसने देखा, देखता ही रह गया। माताएँ नाना प्रकार के मांगलिक गीत गाने लगीं, लौकिक रीति-रिवाज करने लगीं। पण्डितजी मन-ही-मन में प्रमुदित हैं, परन्तु बोलते नहीं हैं, मित्रों के बहुत कुरेदने पर बोले, मेरे पूर्वजन्म के पुण्य तथा इस जन्म के भगवद्-भजन के प्रभाव से भगवान ने हमें यह पुत्र रत्न दिया है। इसके अनन्तर पण्डित श्रीजयराम दुबेजी ने शिशु के कल्याण के निमित्त अनेक प्रकार के दान, पुण्य, भोज, भण्डारे किये।

शैशवकाल—शिशु जब एक वर्ष का हो गया तो पण्डित जी शिशु को गोद में लेकर मन्दिर में जाते। बालक बहुत प्रसन्न रहता, परन्तु जब घर के लिए लौटते वह रोदन करने लगता, पूज्य चरण श्रीराम सेवकदासजी से पण्डितजी कहते—महाराज यह बालक मन्दिर में प्रसन्न रहता है, घर जाना नहीं चाहता। आपने कहा कि कोई भगवद् भक्त मालूम पड़ता है। वहीं पर एक वृद्ध ज्योतिषी आ गये। उन्होंने बालक की मस्तक रेखा एवं हस्त रेखा देखकर कहा—"पण्डितजी यह बालक आगे चलकर कोई महान् कार्य करेगा, अपना तथा अपने वंश का नाम रोशन करेगा। बालक बड़ा ही धीर-गम्भीर सुशील स्वभाव का था। बाल्यजन्य चपलता नाम मात्र भी नहीं थी। यह देखकर विज्ञ लोग बार-बार कहते कि यह कोई महापुरुष प्रगट हुआ है।"

उपनयन संस्कार—जब आपकी आयु पाँच वर्ष की पूर्ण होने वाली थी, उस समय अच्छे मुहूर्त्त में वेद-विधि से विद्वानों द्वारा आपका उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार किया गया। एक पुत्री के विवाह में जिनता द्रव्य व्यय होता है, उतना ही धन एक पुत्र के उपनयन संस्कार में होता है।

विद्या-अध्ययन—आपको ग्राम के प्राइमरी पाठशाला में अध्ययन के लिए प्रवेश दिलाया गया। कुशाग्र बुद्धि थी, जो भी विषय दिया जाता उसे अच्छी तरह से तैयार कर लेते थे।

अध्यापक आपको बहुत प्यार करते, अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते थे। इस प्रकार आपने केवल कक्षा पाँच तक ही अध्ययन किया, इससे आगे अध्ययन की अभिरुचि नहीं हुई।

सहज ज्ञान एवं विश्वास जो जन्मजात प्राप्त था, उसी में सन्तुष्ट रहकर कथा, कीर्तन, सत्संग, रामायण के अखण्ड पाठ आदि में आपकी सुरुचि बढ़ती गयी। हनुमान चालीसा और रामचरित मानस का पाठ आप इतने सुन्दर स्वर से करते कि सुनने वाले मगन हो जाते थे। जहाँ कहीं भी अखण्ड पाठ या संकीर्तन होता था सर्व प्रथम बुलावा आपके पास आता था। आप पाठ एवं संकीर्तन में मजीरा बड़े सुन्दर ढंग से बजाते थे। ताल मात्रा का ज्ञान अच्छा था। इस प्रकार गृह कार्य से अवकाश मिलने पर कथा सत्संग में आवागमन बढ़ता गया, कुछ समय एकान्त में बैठकर चिन्तन में व्यतीत करते। मठिहनिया ग्राम के मन्दिर में जाते तो भगवान के मन्दिर की छोटी बड़ी सेवा बड़े प्रेम से करते। दो-दो चार-चार दिन घर नहीं आते, सन्तों की सेवा में आपकी अभिरुचि संस्कारगत जन्मजात थी, घर में जब चर्चा चलती कि बालक दीख नहीं रहा है। पण्डितजी (पिताजी) कहते कि चले जाओ मठिहनिया मन्दिर में मिलेगा, जाने पर वहीं सेवा करते मिलते।

वैराग्य—इस प्रकार कथा, सत्संग, कीर्तन, भजन करते आप चौदह वर्ष के हो गये, हृदय में वैराग्य की प्रबल ज्वाला जलने लगी, संसार नश्वर प्रतीत होने लगा। घर, द्वार, महल, मकान, धन, सम्पत्ति, माता-पिता, परिवार, सगे सम्बन्धी सबकी ममता वैराग्य रूपी ज्वाला में जलकर भस्म हो गयी, अब तो हृदय में एक ही अभिलाषा रह गयी "कब मिलिहहु रघुनाथजी हमारे" "राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं।।" अतः गृह त्यागकर मठिहनिया ग्राम के मन्दिर पर आकर अनन्त श्री विभूषित महान्त श्री रामसेवकदास जी महाराज की सेवा में, सत्संग में निमग्न हो गये। आपके प्रबल वैराग्य के भाव, भगवत-निष्ठा, सेवा-पारायणता देखकर श्री गुरुदेव भगवान ने अच्छे मुहूर्त्त में श्रीराम मन्त्र की विधिवत् दीक्षा दी तथा विरक्त भेष प्रदान कर पंच संस्कार करके सन्तों की रहनी, रेक, टेक, साधना, पूजा की विधि, अनुष्ठान विधि की शिक्षा देने लगे। सायं काल जब आप श्री गुरुदेव भगवान की चरण सेवा करते उस समय श्री गुरुदेव भगवान श्रीराम जी की तथा श्यामसुन्दर की कृपामयी ऐसी कथा सुनाते कि गुरु-शिष्य दोनों के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती। दोनों का हृदय गद्गद् हो जाता, वाणी अवरुद्ध हो जाती, कथा का विराम हो जाता। इसी दशा में अपने-अपने आसन पर दोनों शयन कर जाते। स्वप्न में भी भगवान की अनेक प्रकार की झाँकियों का दर्शन करके हृदय विह्वल हो जाता। यह क्रम

सात-आठ वर्ष तक चलता रहा। प्रभु प्राप्ति के परम प्रबल प्रवाह का प्रज्वार उमड़ पड़ा, फिर क्या था बड़ी नम्रतापूर्वक अपने सद्गुरुदेव भगवान के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके, बिना कुछ बताए, मार्ग व्यय के बिना ही चल दिये। गन्तव्य का पता नहीं ''को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा'' कतिपय दिवस भूखे, प्यासे, प्रेम मदमाते, हरिगुण गाते, रोते बिलखते चलते रहे। प्रभु दर्शन की ललासा इतनी उत्कट थी कि रात्रि में आँखों से नींद गायब हो चुकी थी। निशीथ वेला में कोई आहट हो तो मन मयूर नाच उठता कि क्या मेरे प्रभु इधर से पधार रहे हैं। देखते तो कुछ नहीं दीखता, मन खिन्न हो जाता। पुनः प्रभु की बाट जोहते, करुणामयी श्रीजगज्जननी की करुणा उमड़ पड़ी। आपने प्रेरणा करके अपने धाम श्रीजनकपुर में बुलवा लिया। सन्तों की टोली मिल गयी। उनके साथ आप जनकपुर आ गये। ऐसा अनुभव होने लगा, मानों यहाँ से जन्म-जन्मान्तर का कोई सम्बन्ध हो।

जब सन्तों के साथ जानकी महल में किशोरी जी के दर्शन किये तब प्रेम-प्रवाह उमड़ पड़ा। फूट-फूट कर रोने लगे। दर्शक समझते कि कोई शारीरिक कष्ट है अथवा किसी वस्तु का अभाव है, परन्तु यहाँ तो भाव ही विलक्षण था, प्रभु दर्शन के अतिरिक्त और किसी वस्तु या पदार्थ की कामना का लेश भी नहीं था। सन्तों ने समझाने का पुरजोर प्रयास किया, परन्तु सारा प्रयास व्यर्थ गया। आपके हृदय की पीड़ा को कोई समझ नहीं सका, इसे तो सर्वेश्वर प्रभु श्रीराम जी तथा जगज्जननी जानकी जी ही समझ सके। कतिपय दिवस जानकी महल में आसन रखा। भगवत भजन में व्यवधान महसूस हुआ। अग्नि कुण्ड पर चले गये। वहीं रहने लगे-प्रतिदिन दूधमतीजी के परम पावन जल में स्नान करके वही तट पर बैठकर भजन करते, लौटकर जब आते तो बिना कैंकर्य किये प्रसाद नहीं ग्रहण करते। इस निष्ठा को देखकर सभी सन्त आपसे बहुत प्रसन्न रहते। श्री महन्त जी तो अत्यधिक स्नेह करते, सायंकाल मालाझोली लेकर विविध मन्दिरों में भगवान का दर्शन करके आत्म विभोर हो जाते। मुख्य रूप से आप जिस-जिस मन्दिर में जाते थे, वे हैं—श्रीजानकी महल, रंगभूमि, दूल्हा-दुल्हन मन्दिर, श्रीराम मन्दिर, विहार कुण्ड, रतन सागर इत्यादि। अग्नि कुण्ड पर तीन मास निवास करने के पश्चात् आप विहार कुण्ड पर वैद्य जी के स्थान में आकर रहने लगे। कभी कमला विमला के परम पवित्र जल में गोते लगाते, कभी दूधमती में, कभी विहार कुण्ड में कभी अग्नि कुण्ड में अब आपने नित्य जनकपुर की पंचकोसी परिक्रमा का नियम बना लिया। जनकपुर निवास में नित्य ही परम पवित्र नदियों-सरोवरों में स्नान, परिक्रमा, दर्शन एवं सेवा (कैंकर्य) करते षट्मास व्यतीत हो गये, आपको ऐसा लगा कि अभी-अभी

तो चन्द दिन हुए आये—"जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट्वीति" फाल्गुन मास में चौरासी कोस की परिक्रमा में चले गये जगज्जननी की लीलाभूमि का यत्र-तत्र दर्शन करके प्रेमातिरेक के कारण अविरल अश्रुधारा बहने लगती, मन में अनेकों प्रकार के सात्त्विक भावों की उत्ताल तरंगें तरंगायमान होने लगतीं। अपने भावों को छिपाकर आँसूओं को पोंछकर पुनः आगे चलते, इसी क्रम से आपने परिक्रमा पूर्ण की।

श्री अवध के लिए प्रस्थान—जगदम्बा की अहैतुकी अनुकम्पा से प्रेरणा हुई कि श्री अवध का दर्शन करना चाहिए। सन्तों के संग का सुअवसर जगदम्बा ने प्रदान कर दिया। आपने सन्तों के साथ जनकपुरी एवं जगदम्बा को प्रणाम करके अश्रुपूरित नेत्रों से प्रस्थान किया, मार्ग में अनेक सन्तों के आश्रमों में विश्राम करते, मार्ग में पड़ने वाले धनुषा इत्यादि तीर्थों में निमज्जन करते, दर्शन करते हुए एक महीने में श्रीअवधपुरी का दर्शन किया। परम पावन कलिमलहारिणी प्रेमाभक्ति प्रदायिनी नारायण नेत्रोद्भवा श्री सरयू नदी में स्नान, पान करके आप भाव-विभोर हो गये, तन पुलकित हो गया, रोमावलियाँ खड़ी हो गयीं, वाणी गद्‌गद् हो गयी, प्रेम के सात्त्विक भाव उदय हो गये, नेत्रों से आँसूओं के झरना-झरने लगे, मानो नारायणनेत्रोद्भवा से श्री सुदामानेत्रोद्भवा का परम पावन मिलन हो रहा हो।

अवध निवास—भारत के प्रसिद्ध साधु सेवाी स्थान श्रीमणिरामदासजी की छावनी में आपने अपना निवास बनाया। नित्य नियम से श्रीसरयू जी का स्नान एवं जल-पान करते तथा श्रीराम जन्मभूमि बड़ी जगह (दशरथ महल) हनुमान गढ़ी, श्री कनक भवन विहारिणी विहारी जी के परम मनोहर दर्शन करके देह की सुध-बुध भूल जाते। आपके त्याग, वैराग्य, प्रेम, निष्पृहता एवं भजनानन्दीय वृत्ति को देखकर अयोध्या के अधिकतर सन्त महान्त महानुभाव अपने पास ही रखकर भजन साधन की सुविधा देना चाहते थे, परन्तु आप मणिराम छावनी छोड़कर कहीं नहीं गये। साधु सेवा की भावना का बीजारोपण तो श्रीअवध में ही हो गया था, परन्तु अंकुरित पल्लवित पुष्पित तथा फलरूपता तो वृन्दावन में हुई। अस्तु आप नित्य नवीन भावनाओं से ओत-प्रोत होकर भजन साधना में अग्रसर होते रहे। इसी क्रम में माँझा निवासी श्रीराम नाम जापक श्री मौनी जी महाराज का सत्संग प्राप्त हुआ। परिणाम स्वरूप श्रीराम नाम जप में आपकी अनुरक्ति और अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गयी। प्रत्येक दिन एक लक्ष श्री सीताराम नाम का जप करने लगे, नामामृत का पान करके प्रभु कृपा का सुपात्र बन गये—"नाम लेने का मजा जिसकी ज़वाँ पर आ गया, मुक्त जीवन हो गया चारों पदारथ पा गया।" वहीं पर भारत के सुप्रसिद्ध बूढ़े रामायणी श्री रामसुन्दरदासजी

महाराज का सान्निध्य प्राप्त हुआ, उनकी सेवा का सौभाग्य मिला। आपने उनसे विधिवत् रामायण का अध्ययन किया, आपके अतिरिक्त आपके साथ रामायणी जी की सेवा में जो महानुभाव रहे, वे हैं श्री दीनबन्धुदास जी महाराज चार सम्प्रदाय अखाड़ा, नासिक, पूज्य महान्त श्री नवलकिशोरदास जी महाराज पानीघाट, वृन्दावन, श्री सखाजी महाराज प्रभृति सन्त बड़ी श्रद्धापूर्वक सेवा करते थे तथा साधुओं का गुर (गूढ़ रहस्य) सीखते थे। इसी प्रकार से सेवा, भजन, साधना, दैनिक कथा, सत्संग, भगवद् भागवद् चरितामृत का रसास्वादन करते-करते पाँच छः वर्ष ऐसे व्यतीत हो गये मानो पाँच-छः माह व्यतीत हुए हों। इसी अन्तराल में श्रीधाम वृन्दावन के स्वामी श्री दामोदर जी की मण्डली की रासलीला श्री मणिराम छावनी में देखने को मिली। श्रीरासविहारी भगवान का दर्शन करके आप शरीर की सुध-बुध खोते रहे और जब तक मण्डली श्री अवध में रही श्री रासविहारी जी की लीला का अवलोकन करते रहे। जब मण्डली वृन्दावन आ गयी, तब अन्तःकरण में छिपे हुए माधुर्य के संस्कार जाग्रत हो गये, मन रासविहारी की ओर आकृष्ट हो गया। श्री लीलाविहारी ने आपके अन्तःकरण को इस प्रकार से वश में कर लिया कि सन् १९२६ में सभी सन्तों, महान्तों को श्री अयोध्यापुरी को, श्री सरयूजी को एवं अयोध्यानाथ भगवान तथा हनुमानजी को दण्डवत् करके श्री वृन्दावन धाम के लिए प्रस्थान कर दिये।

श्री अयोध्यापुरी से श्री वृन्दावन के लिए प्रस्थान करते समय आपके परम प्रिय सखा परम भागवत महान्त श्री दीनबन्धुदास जी महाराज, नासिक (चतुःसम्प्रदाय) भी आपके साथ में थे। आप दोनों श्री बूढ़े रामायणी जी से रामायण का अध्ययन करते थे, इसी सम्बन्ध से आप में गुरु-भ्राता का सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का दोनों ने आजीवन निर्वाह किया।

व्रज वृन्दावन आगमन—श्री अवध से चलकर आप मथुरा रेलवे स्टेशन पर उतरे। तत्काल व्रजभूमि को साष्टाङ्ग दण्डवत् किया, अहा धन्य है, व्रजभूमि जहाँ मेरे प्रणाधार प्रभु नंगे पैर विचरण करते रहे, यह कितनी पवित्र, कितनी भाग्यशाली है, "वन्दे व्रज वसुन्धराम्।" स्मरण करते ही प्रेम के सात्त्विक भाव उदय हो गये, आँखें अश्रुपूरित हो गयीं, यह दिव्य भाव देखते ही बनता था। पैदल चलकर आप वृन्दावन धाम पहुँचे। यहाँ आप श्रीरामबाग राम मन्दिर, ज्ञान गुदड़ी में आपने आसन लगाया। सायंकाल सन्तों से पूछकर यहाँ के दर्शनीय मन्दिरों के दर्शन करने गये, जिस किसी मन्दिर में जाते घण्टों खड़े रहते। ऐसा अनुभव होता जैसे कोई प्रेयसी लम्बी प्रतीक्षा के बाद अपने प्रियतम को पाकर अवाक् रह जाती है। कहने के भाव मन में बहुत हैं, परन्तु संकोचवश बोलती नहीं, केवल प्रियतम

के मुखारविन्द का अवलोकन और अश्रुपात ही हृदय के भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हों। यह क्रम प्रायः नित्य का ही था। आप श्री रासविहारी भगवान की रासलीला का अवलोकन बड़े भाव से करते तो प्रेम के सात्त्विक भाव में विभोर हो जाया करते। जब तक लीला का दर्शन करते, आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह होता रहता। जहाँ-जहाँ रासविहारी जी की लीला होती, वहाँ-वहाँ जाकर नित्य ही रासविहारी जी की रासलीला का अवलोकन करके तन-मन की सुध-बुध भूल जाते। यदि कहीं से दो-चार पैसे मिल जाते तो उससे श्री रासविहारी सरकार के लिए भोग एवं माला लाकर अर्पण कर देते। (तत्कालीन समय में पैसे बमुश्किल मिलते थे) भण्डारे में दक्षिण एक आना दो आना मिलती थी।

व्रज चौरासी कोस के अन्तर्गत भगवान श्री राधामाधव ने जहाँ-जहाँ जो-जो लीला की है। उन-उन स्थलों की दर्शन की अभिलाषा प्रबल हो गयी। अतः आप व्रज चौरासी कोस की परिक्रमा के लिए निकल पड़े। हृदय में अगाध प्रेम राशि को समेटे, कंधे पर आसन, गले में माला झोली, भगवद् नाम जपते हुए यात्रा कर रहे हैं। जब मधुवन ध्रुव टीले पहुँचे तो किसी अतीत की परिकल्पना में निमग्न हो गये। अहा ! यही वह परम पावन भूमि है, जहाँ बालक ध्रुव ने तपस्या की है, नारायण ने छः महीने में ही दर्शन देकर भक्त ध्रुव को कृतार्थ कर दिया आदि........। आगे श्री गिरिराज जी, बरसाना, नन्दगाँव, प्रेम सरोवर इत्यादि समस्त व्रजमण्डल में विचरण करते प्रेमातिरेक में कभी रोते, गाते, गोते लगाते, ब्रजरज में लोटते, आँसू बहाते, कभी भूखे, कभी अघाते, डोलते रहे। भगवद् विरह के कारण आपकी भक्ति और सुदृढ़ हो गयी। इस प्रकार आप परिक्रमा पूर्ण करके पुनः वृन्दावन आ गये। तीर्थवास की सफलता सत्संग से होती है। तीर्थ में यदि वास करना हो अथवा कर रहे हैं तो सत्संग नित्य नियम से करना चाहिए। भगवद् महिमा, धाम महिमा, नाम महिमा, यमुना महिमा, जप महिमा, तप महिमा, व्रत महिमा, सन्त महिमा, ब्राह्मण महिमा, व्रजवासी महिमा, रज महिमा, सेवा महिमा का ज्ञान सत्संग से ही होता है। अतः महाराज श्री ने भी कथा सत्संग में जाना प्रारम्भ कर दिया।

कभी श्री नित्यानन्द जी भट्ट जी की कथा कभी पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली का सत्संग श्रवण करते। श्री भक्तमाली जी की कथा आपको बहुत प्रिय लगती थी। वृन्दावन अतिप्रिय लगा, उसमें मन रम गया। भजन, साधना, आराधना, उपासना की दृष्टि से श्रीधामवास अनुकूल रहा, मन प्रभु चरणों में लगता चला गया। व्रजवासियों के घर के अन्न से क्षुधा की तृप्ति करते, भजन साधना करते श्री रामबाग में अनुमानतः चार वर्ष तक निवास किया।

इस बीच में पूज्य पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद भक्तमाली जी से आपकी घनिष्ठता बढ़ गयी। जहाँ-जहाँ भक्तमाली जी की कथा होती वहाँ-वहाँ जाकर कथा सुनते। अब आपने श्री भक्तमाल जी का पाठ करना प्रारम्भ कर दिया। सन्तों के साथ मिलकर आप भक्तमाल जी का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन उक्त भक्तमाली जी से करने लगे। कभी-कभी भक्तमाली जी के यहाँ ठाकुर जी की रसोई कई दिनों तक बनाते रहते थे। रामबाग से आकर आपने ज्ञानगुदड़ी में श्याम दिगम्बर के सामने कुछ काल तक निवास किया तथा भिक्षान्न से सन्त सेवा प्रारम्भ कर दी। ज्ञानगुदड़ी से आकर आप खाकचौक के सामने परम हंस श्री गंगादास जी की झोंपड़ी में तीन वर्ष तक रहे तथा भिक्षान्न से सन्त सेवा करते रहे, भजन साधना अनवरत चलती रही।

वर्तमान कुटी के स्थान पर सन्त श्री रामकुमारदास जी महाराज कुटी बनाकर निवास करते थे तथा साधना में तत्पर रहते थे। श्री रामकुमारदास जी महाराज ने आपकी भजन की वृत्ति तथा सन्त-सेवा की निष्ठा को देखकर कहा कि आप हमारी कुटी में आकर रहो, भजन करो, जो भी हमसे सहयोग बनेगा सन्त सेवा में करेंगे। महाराज जी बात टालते रहे। एकदिन बाबा श्री रामकुमारदास जी महाराज विशेष आग्रह करने लगे। उनके आग्रह पर आप उनकी कुटिया में आकर रहने लगे तथा भिक्षान्न से ठाकुर सेवा, सन्त सेवा चलती रही। कतिपय महीनों के पश्चात् ही श्री रामकुमारदास जी महाराज ने कुटिया, आपको समर्पित कर दी और कहा कि आप ही कुटिया विहारी की सेवा और सन्त सेवा करें। मैं तो शरीर से वृद्ध हो गया हूँ। प्रभु की इच्छा समझकर आपने स्वीकृति दे दी। अब आपके ऊपर सेवा का भार और बढ़ गया, प्रातःकाल तीन बजे जगते, नित्य कर्म करके श्री यमुना स्नान करके एक घड़ा यमुनाजल ठाकुर सेवा के लिए लाते, उससे ठाकुर सेवा करते, मंत्रराज का जप करते, आरती करके झोली लेकर भिक्षा के लिए यमुना पार गाँवों में चले जाते, लौटते समय मार्ग पर पड़े हुए कण्डों (उपलों) को भी उठाकर लाते। उस समय यमुना पल्लीपार गोचारण भूमि पर्याप्त थी, गायें चरती रहती थीं। उस समय भिक्षा में ज्वार, बाजरा, जौ, चना, गेहूँ मिलवाँ आटा मिलता था। उसे लाकर आप अपने हाथ से रसोई बनाते, ठाकुर जी को भोग लगाकर सन्तों को प्रेम से प्रसाद पवाते, अन्त में जो कुछ बच जाता उसे स्वयं पाते। एक बात ध्यान देने योग्य है कि आप जब भिक्षा करने जाते थे तथा रसोई बनाते थे तब भी आपका नाम जप निरन्तर चलता रहता था, परिणामस्वरूप आपका जप परा पश्यन्ती को पार करके अजपा में पहुँच गया।

उपर्युक्त सेवा प्रकल्प कतिपय वर्षों तक चलता रहा, प्रभु कृपा से श्री मथुरादास जी भक्तमाली, श्री माधुरीशरण जी, पुजारी श्री मोहनदास जी व्यास, बाबा कमलेश्वरदास जी इत्यादि त्यागी, तितिक्षु भजनानन्दी सेवा परायण सन्त सहयोगी भी आपके साथ कुटिया में रहने लगे। दिन प्रतिदिन सेवा में वृद्धि होने लगी, सन्तों का आगमन बढ़ता गया, सन्त निवास का नितान्त अभाव था, सन्त यमुना किनारे से झाऊ तथा मुञ्जाटवी से मूँज काटकर लाये। मूँज की झोपड़ी बनाकर सन्तों को आश्रय दिया गया। श्री गीताजी में "योगक्षेमं वहाम्यहम्" की घोषणा करने वाले करुणावरुणालय अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक भगवान श्री श्यामसुन्दर को अपने भक्तों की चिन्ता विशेष रहती है। उन्होंने अपनी वाणी को सत्य करके चरितार्थ किया। धीरे-धीरे सेवा प्रकल्प बढ़ता रहा, सन्तों का आगमन भी बढ़ता रहा, सन्तों ने सेवा आपस में बाँट ली, पुजारी श्री मोहनदास जी व्यास मन्दिर की सेवा इतने मनोयोग से करते कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। किसी प्रकार का साज-सज्जा नहीं होने पर भी श्री ठाकुर जी इतने सुन्दर सलोने सुहावने लगते कि दर्शन के बाद जाने का चित्त नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता मानो कुछ बोलने वाले हैं। हमें ही देख रहे हैं। मन्दिर सुगन्ध से सुवासित रहता था। रसोई का भार बाबा श्री कमलेश्वरदास जी प्रभृति सन्तों ने सँभाल लिया, आप सब बड़े ही प्रेम से ठाकुर जी की रसोई समय से बनाकर भोग लगाकर पंगत कराते रहे।

बाबा श्री माधुरीशरण जी महाराज पहले सुदामा कुटी में ही निवास करते थे, बाद में जाकर उन्होंने रमणरेती में अलीमाधुरी कुटी का निर्माण किया। आप सुदामा कुटी में भजन साधना करते तथा आने-जाने वाले सन्तों की देख-रेख सेवा सुश्रुषा बड़े मनोयोग से करते और अपने भक्तों से भी कुटिया में सेवा कराते। जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य भगवान की सवारी का स्वागत एवं सभी सन्तों, भक्तों का स्वागत सुदामा कुटी में तभी से होता आ रहा है। यह क्रम आज भी चल रहा है। आशा है भविष्य में भी चलता रहेगा।

बाबा श्रीमथुरादास जी भक्तमाली—आप विद्यालय में पढ़ने एक दिन भी नहीं गये, और उनमें से थे "मसि कागज छुयो नहीं कलम गही नहीं हाथ" सम्पूर्ण भक्तमाल छप्पय, कवित्त के सहित आपको कण्ठस्थ थी, रामचरित मानस का भी लगभग यही स्वरूप था। विशेष बात यह थी कि सम्पूर्ण महाभारत की कथा आपको आनुपूर्वी कण्ठस्थ थी। बिना पुस्तक देखें सम्पूर्ण कथा सुना देते थे। सम्पूर्ण कथा का क्रम आपका बड़ा विलक्षण था। आप श्रोता से पूछते कि महाभारत कितने दिन में सुनना चाहते हो? श्रोता पूछता महाराज

मैं आपका आशय नहीं समझाा। आप कहते कि सम्पूर्ण महाभारत एक महीने छः महीने, एक वर्ष तथा १२ वर्ष में सुनाता हूँ, जो क्रम तुम्हें पसन्द हो, उस क्रम से सुनो। पुराणों और उपनिषदों के कई हजार श्लोक भी आपको कण्ठस्थ थे। श्री मथुरादास जी के विषय में वृन्दावन के मूर्धन्य विद्वान् श्री श्रीनाथ जी शास्त्री पुराणाचार्य के शब्दामें में "इस दुबले-पतले शरीर के ऊपर यह खोपड़ी क्या है? यह चलती-फिरती पुस्तकों की लाइब्रेरी है।" ऐसी महान् विभूति भी सन्त सेवा की गरिमा का विचार करके यमुना पार ईंधन के लिए लकड़ी तथा कण्ड़ा (उपला) चुनने जाते, सबको एकत्र करके सिर पर रखकर लाते। इस प्रकार से सेवा करते।

अब पूज्य महाराज श्री को पर्याप्त सहयोगी मिल गये, आप केवल भिक्षा के लिए जाते और अपने हाथों से सन्तों की पंगत कराते। शेष समय नाम जप और सत्संग में व्यतीत करते। यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा, भजन साधना में तन्मयता बढ़ती रही। भक्त वत्सल प्रभु तो लालीधारी हैं, उन्हें अपने यश से ज्यादा अपने भक्त के यश की चिन्ता रहती है, प्रभु प्रेरणा से सज्जनों, भक्तों, सन्तों, महान्तों का आगमन प्रारम्भ हो गया, धीरे-धीरे निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गये। भक्तमाली श्री गिरिधारीदास जी महाराज एवं आपके शिष्य श्री वैष्णवदास जी, श्री हरिदास जी (वर्तमान महान्त गोरेदाऊजी मन्दिर, परिक्रमा मार्ग) रामचरणदास जी कोठारी इत्यादि बड़े ही मनोयोग से सन्त सेवा में हाथ बटाने लगे। सुदामा कुटी की सेवा की सुगन्ध चतुर्दिक फैल गयी। अब मन्दिर में मुख्य पुजारी श्री रामचन्द्रदास जी महाराज बड़ी भावपूर्ण सेवा पूजा करने लगे थे। श्रावण मास में जनकपुर से श्री सीताराम जी की झाँकियाँ आया करतीं तथा झूलनोत्सव बड़े धूमधाम से मनाते थे। आज भी झाँकियाँ आती हैं, उत्सव मनाया जाता है। कुटिया विहारी प्रभु की इच्छा अब बड़े मन्दिर में रहने की हुई। अतः आपने प्रेरणा करके बड़ा मन्दिर बनवा लिया। बड़ा मन्दिर बना तो बड़ी मूर्ति भी लानी पड़ी। बड़े श्री ठाकुर जी की प्राण प्रतिष्ठा सं. २०२१ मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष पंचमी (विवाह पंचमी) रविवार तदनुसार दिनांक १०.१२.१९७२ को बड़े धूमधाम से की गयी। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में बड़े-बड़े गण्यमान्य महापुरुषों का आगमन हुआ, जिससे उत्सव की अपूर्व शोभा हुई। समागत महापुरुषों में पूज्य चरण श्री बूढ़े रामायणी श्री रामसुन्दरदास जी महाराज, अयोध्या, पूज्य श्री गंगादासजी महाराज, छोटी छत्ता जगन्नाथ पुरी, पूज्य महन्त श्री नृत्यगोपालदास जी महाराज, श्री मणिरामदास जी छावनी, अयोध्या, रामभक्त आयुर्वेदाचार्य राष्ट्रीय सन्त श्री बलरामदास जी महाराज, लोद्रा, उत्तर गुजरात, श्री वृन्दावन धाम की महान्

विभूति परम सरल सन्त पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली, ज्ञानगुदड़ी इत्यादि प्रमुख थे।

श्री ठाकुर जी के मन्दिर के जगमोहन में रामायणी श्री रामेश्वरदास जी महाराज चित्रकूटी के द्वारा श्री रामचरितमानस एवं श्री भक्तमाल जी की कथा बड़ी सरस एवं मनोहारी होती थी। कथा की मधुरता के कारण भक्तजन आगरा से भी आते थे। उनकी कथा की विशेषता की चर्चा वृन्दावन से बाहर श्री अवध, मिथिला, चित्रकूट, हरिद्वार इत्यादि तीर्थों में भी होने लगी। आश्रम श्रोताओं से परिपूर्ण हो जाता था तथा पूज्य महाराज श्री अपने हाथों से पंखा चलाकर हवा करते थे। इस काल में सन्त सेवा और भी वृद्धि को प्राप्त हुई। इसी काल में श्री रामानन्द पुस्तकालय की भी स्थापना हुई। यहाँ से भक्तमाल चार खण्डों में प्रकाशित है तथा और भी अनेक धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। पुस्तकालय सम-सामायिक प्रकाशन करता रहता है। इसकी सम्पूर्ण देख-रेख प्रकाशन से लेकर वितरण पर्यन्त पूज्य भक्तमाली श्री गणेशदास जी महाराज बड़े ही मनोयोग से करते हैं। हमारे चरित्र नायक को दर्शनार्थियों की भीड़ से एकान्त भजन में किञ्चित् विक्षेप का अनुभव हुआ तो यमुना पार कुटी बनाकर भजन करने लगे। लीलाधर की लीला अपरम्पार है। वे क्या लीला करना चाहते हैं, वे ही जानें। भक्तों की भीड़ वहाँ भी होने लगी। वहाँ भी मन्दिर एवं गोशाला तथा सन्त निवास का निर्माण हो गया। अखण्ड हरिनाम संकीर्तन प्रारम्भ हो गया सैकड़ों गायें तथा पचासों सन्त निवास करने लये, यह अद्यावधि सुचारु रूपेण कार्यान्वित है। यमुना पल्लीपार भी दर्शनार्थियों की भीड़ होने लगी, साधना में व्यवधान महसूस हुआ, व्रज रासेश्वरी जी ने अपनी तरफ आकृष्ट किया तो चले गये प्रेम सरोवर। वहाँ कुछ वर्षों तक साधना अवाधित गति से चलती रही, प्रिया-प्रियतम को लाड़ लड़ाते रहे। लाड़लीजी की कृपा विशेष हो गयी और प्रेम सरोवर पर विशाल मन्दिर का निर्माण हो गया। भगवान श्री सीताराम जी, लक्ष्मण जी, श्री राधाकृष्ण जी, श्री हनुमान जी, भगवान शंकर जी, की अपनी पंचायत के सहित स्थापना हुई साथ ही पूज्य महाराज जी के विग्रह की भी स्थापना हुई।

इस आश्रम की देख-रेख, व्यवस्था श्री रामरजदास जी महाराज करते हैं। आप बड़े ही त्यागी सन्त हैं। सन्त सेवा में आपकी अपूर्व निष्ठा है। आपकी व्यवहार कुशलता के कारण प्रेम सरोवर पर सैकड़ों सन्त पड़े रहते हैं, गो सेवा भी बड़े प्रेम से करते हैं, साथ-साथ स्पष्टवादी भी हैं, लोभ छू नहीं गया। विशेष बात यह है कि पूज्य श्री बड़े महाराज जी की सेवा आपने पहले भी की है, प्रेम सरोवर पर भी की, आपकी सेवा से महाराज जी बहुत

सन्तुष्ट रहते थे। इसी कारण से महाराज श्री ने प्रेम सरोवर पर सेवा का भार आपको सौंपकर निश्चिन्त भजन किया। रामरजदास जी बड़े ही कर्मठ, भजनानन्दी, सेवा परायण, व्यवहार कुशल सन्त हैं। महाराज श्री की सेवा के सहभागी महानुभावों का नाम श्री गंगादास जी महाराज, पूज्यमहन्त श्री भगवानदासजी महाराज, श्री सुरेशदासजी शास्त्री, श्री नन्ददासजी, अम्बिकादास जी महाराज, श्री रामदास जी, श्री नन्दकिशोर जी मथुरा वाले, श्री भरत जी शर्मा (वकील) गोपेश्वर, श्री शिवनारायण जी गुप्त, डॉ. रूपकिशोर जी वर्मा इत्यादि महानुभावों की सेवा सराहनीय रही है।

धामनिष्ठा—महाराज श्री की धाम निष्ठा अपूर्व थी, वृन्दावन आने के पश्चात् भी आप प्रत्येक वर्ष श्री अवध जाते, श्री रामजन्मोत्सव से आषाढ़ मास तक श्री अवध-वास करते थे। चैत्र से आषाढ़ तक चार महीने मणिरामदास जी महाराज की छावनी के बगीचे में एकान्त में एक कमरा तथा कूप (कुआँ) था, वहीं भजन में तल्लीन रहते थे। अपने हाथ से हल्का थोड़ा सा फलाहार बनाकर अपने सेव्य ठाकुर जी को भोग लगाकर प्रसाद पाते थे। सन्ध्या काल में श्री रामजन्मभूमि, श्री कनक भवन विहारी जी एवं श्री हनुमान गढ़ी इत्यादि मन्दिरों का दर्शन करते हुए अपने निवास पर आ जाते थे।

नोट : एक बात ध्यान देने योग्य है कि आप रात्रि के तीन बजे के बाद कभी भी बिस्तर पर नहीं मिलते थे, स्नान इत्यादि क्रिया करके भजन ध्यान में बैठ जाते थे। कहीं भी रहें यह क्रम आपके जीवन में कभी खण्डित नहीं हुआ। श्री वृन्दावन धाम की निष्ठा का तो कहना ही क्या ? सम्पूर्ण जीवन वृन्दावन एवं प्रेम सरोवर में व्यतीत किया सन्तों को भी यही उपदेश देते थे कि भगवान के धाम में सन्तों के बीच में रहकर भजन साधना करनी चाहिए।

इसी अन्तराल में आप समय निकालकर गर्मियों में हरिद्वार, ऋषिकेश गंगा किनारे भजन करने चले जाते। दो-दो तीन-तीन महीने गंगा किनारे भजन साधना करते रहे। गंगा मैया ने कृपा की वहाँ भी मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ हो गया। एक बात ध्यान देने योग्य है कि आप जहाँ-जहाँ भजन किये, वहाँ-वहाँ प्रभु कृपा से मन्दिरों का निर्माण होता रहा तथा सभी जगह सन्त-सेवा, गोसेवा, विधिवत् होती है।

आचार्य जयन्तियाँ—यों तो आचार्य जयन्ती सभी सम्प्रदायों में मनायी जाती है, सभी वैष्णवजन अपने-अपने आचार्य की जयन्ती मनाते हैं परन्तु श्री सुदामा कुटी में आचार्य

जयन्ती मनाने की बड़ी रोचक कथा है, इसे हमने पण्डित प्रवर श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली एवं परमपूज्य चरण श्री सुदामादास जी महाराज के मुखारबिन्दों से सुना है। कथा निम्न प्रकार से है—एक बार भक्तमाली श्री जगन्नाथ प्रसाद जी महाराज श्री यमुना जी में स्नान करके आ रहे थे, प्रातःकाल का समय था। आपने बड़ा अद्‌भुत दृश्य देखा कि जगद्‌गुरु श्री रामानन्दाचार्य जी की सवारी निकल रही है, साथ में वैष्णव सन्त एवं भक्तों की मण्डली है, कीर्तन करते हुए जा रहे हैं, बीच-बीच में "जगद्‌गुरु श्री रामानन्दाचार्य जी महाराज की जय हो", ऐसा जयघोष करते हुए स्वामी जी की सवारी सन्त मण्डली के सहित श्री सुदामा कुटी में प्रविष्ट हो गयी, इस दृश्य को देखकर आप अपने निवास पर चले गये, ठाकुर पूजा भजन पाठ से निवृत्त होने पर आपने कुटिया पर आकर श्री सुदामादास जी महाराज को सारा वृत्तान्त बताया आपस में विचार विमर्श हुआ, निर्णय हुआ कि स्वामीजी की जयन्ती सवारी निकाल कर धूमधाम से मनाई जाय तथा श्री वैष्णवाराधन विशेष रूप से किया जाय। तभी से आचार्य जयन्ती को धूमधाम से मनाई जा रही है। जो प्रत्येक वर्ष अभिवृद्धि को प्राप्त हो रही है। साकेतवासी पूज्य चरण श्री महाराज जी सभी उत्सव बड़े ही उत्साह के साथ मनाते थे परन्तु आचार्य जयन्ती पर विशेष जोर देते थे।

शताब्दी—सन् १९९९ में आपने शतायु पूर्ण की। इसके उपलक्ष्य में महान्त श्री भगवानदास जी महाराज ने बड़े ही धूमधाम से समारोह पूर्वक शताब्दी महोत्सव मनाया, जिसमें अयोध्या, मिथिला, बक्सर, हरिद्वार, ऋषिकेश, गुजरात, राजस्थान से सन्त महन्त मण्डलेश्वरगण पधारे और समारोह की शोभा बढ़ाई मुख्य आगन्तुक महानुभाव श्री मणिरामदास जी छावनी के महन्त श्री नृत्यगोपालदास जी महाराज, अयोध्या, रामभक्त श्री बलरामदास जी महाराज, लोद्रा गुजरात, श्री अग्रदेवाचार्य पीठाधीश्वर श्री राघवाचार्य जी महाराज, रैवासा धाम, सीकर, राजस्थान, बक्सर से मामाजी श्री नारायणदास जी भक्तमाली, श्री वृन्दावनधाम के समस्त महान्त मण्डलेश्वर उपस्थिति थे। तत्पश्चात् सभी को भेंट विदाई वस्त्र दक्षिणा से सम्मानित किया गया। वृन्दावन का झरा भण्डारा किया गया। सभी सन्तों को वस्त्र एवं दक्षिणा दी गयी। इस प्रकार शताब्दी भव्य रूप से सम्पन्न हुई।

भगवद् कृपा का चमत्कारिक क्षण—एकबार की घटना है कि ग्रीष्म ऋतु में भीषण गर्मी पड़ रही थी, सभी लोग आतप ताप से संतप्त थे। गर्मी अपने यौवन का दृश्य दिखा रही थी, जिसके विषय में कवि बिहारी ने लिखा—"जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ"

महाराज श्री बरना वृक्ष के नीचे तख्त के ऊपर विश्राम कर रहे थे, रात्रि का समय था, गर्मी विशेष थी, मच्छर भी लग रहे थे, नींद नहीं आ रही थी, आँख लगते ही आपके कर्ण कुहरों में बड़ी ही मीठी मधुर अमृतमय शब्द सुनाई पड़े बाबा ! बाबा ! हमें भी गर्मी लग रही है। आप घबड़ाकर उठे कि कौन सा बालक बोल रहा है। आपने उठकर देखा एक आठ-दस वर्ष का पीताम्बर धारी बालक कानों में कुण्डल, शीश पर किरीटमुकुट, हाथों में धनुष बाण धारण किये पैर में पैजनी बजने की आवाज, वह मन्दिर की तरफ गया और अदृश्य हो गया। महाराज श्री पीछे-पीछे गये किन्तु कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ा।

महाराज श्री ने रात्रि में ही मन्दिर का कपाट खोला, श्री लालजी को निकालकर लाये और तख्त पर अपने पास ही सुलाया रात भर पंखा झलते रहे। प्रातःकाल आरती के पश्चात् बढ़ई को बुलवाकर मन्दिर में खिड़की जाली लगवाईं, हाथ से खींचने वाला पंखाा लगाया। सभी सन्त बड़े प्रेम से पंखा खींचते थें। महाराज श्री घण्टों पंखा करते थे।

घटना बहुत पुरानी है। एकबार सन्ध्याकालिक ब्यारू (रात्रि भोजन) सन्तों को बँट गयी और महाराज श्री के लिए कुछ नहीं बचा। उस दिन महाराज श्री को भूख भी ज्यादा लग रही थी, तो आप पानी पीकर सो गये, साढ़े दस बजे किसी ने आवाज लगाई बाबा ! बाबा ! तो आपने दरवाजा खोला। देखा एक आठ-दस वर्ष का बालक पीतल के गिलास में दूध लेकर खड़ा है। आपने प्रश्न किया कि लाला ! तू इतनी रात्रि में कैसे आया ? बालक ने उत्तर दिया कि मेरी मैया ने आपके लिए दूध भेजा है। मैया बोली "लाला यह दूध सुदामादास बाबा को दे आ, वह भूखे सो रहे हैं", इसलिए मैं दूध लेकर आया हूँ। आप बालक के हाथ से गिलास लेकर दूध पीने लगे, दूध पीने के बाद देखते हैं तो बालक अदृश्य था। बाहर रोड़ पर आकर चारों दिशाओं में देखा परन्तु उस अजनबी बालक का दर्शन नहीं हुआ। आप कल्पना लोक में खो गये—कौन था ? क्यों आया ? किसने भेजा ? कहाँ से आया ? कहाँ गया ? इत्यादि। उसके बाद जो कोई बालक आता, उसे बड़े गौर से देखते कि दूध वाला बालक तो नहीं है ? परन्तु वह बालक फिर नहीं दीखा। आखिर वह कौन था ?

एक वैष्णवी बाई जी ने बताया कि महाराज श्री लोगों के मन की बात जान लेते थे। आगे बाई जी ने बताया कि मेरे मन में यह कामना हुई कि जो रेशमी वस्त्र महाराज जी पहने हैं, उसे मैं उनसे माँगूँगी। एक घण्टे के बाद जब मैं सड़क पर गयी, तो आपने

छत से हमें देखकर अपना रेशमी वस्त्र हमारे ऊपर फेंक दिया, मैं आवाक् एवं आश्चर्यचकित रह गयी कि मैंने तो महाराज जी से कहा भी नहीं और इन्होंने अपना रेशमी वस्त्र मुझ दे दिया, महाराज जी मेरे मन की बात जान गये, इसलिए उन्होंने हमें दे दिया। इससे मैं अभिभूत हो गयी, धन्य हैं महाराज एवं उनकी महानता। बाई जी अभी जीवित हैं, उन्होंने नाम न छापने को कहा है।

एकबार श्री यमुना जी का जलस्तर इतना बढ़ गया कि कुटिया के अस्तित्व को ही खतरा हो गया। सन्तों ने महाराज श्री से निवेदन किया कि कटान बहुत तेज है, रसोई एवं पंगत घर के गिरने का भय है। आपने पूजन की सभी सामग्री मँगाई। ५ किलो दूध आया, आपने विधिवत् श्री यमुना मैया का पूजन किया, दूध चढ़ाया, भोग लगाया, आरती की और चरणों में निवेदन किया माँ! हम सब सन्त आपके बच्चे हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं, वृन्दावन वास करते हैं, रखना चाहती हैं तो रखें, नहीं तो कहीं और भजन करेंगे इत्यादि-इत्यादि। एक घण्टे के बाद यमुना जी का जल घटना प्रारम्भ हो गया, रातभर में तो मैया बहुत दूर चली गयी, सभी सन्त प्रसन्न हो गये।

एकबार की बात है महाराज जी श्री बाँकेबिहारी जी का दर्शन करने गये। ठाकुर जी के प्राङ्गण में पहुँचते-पहुँचते कपाट बन्द हो गये, आप दण्डवत् करके कुछ देर बैठकर भगवत् स्मरण करते रहे, पुनः दण्डवत् करके निराश मन से लौट आये। प्रातःकाल जब आप ध्यान में बैठे, मन की वृत्ति सम होते ही एक मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी "बाबा! बाबा! मैं आ गया, कल आप दर्शन करने गये कपाट बन्द हो गया, अब दर्शन कर लो", आँख खोलकर देखा ललित त्रिभंगी मूर्ति, मोर मुकुट, घुँघराले केश, फेंट में दुपट्टा बँधा है, हाथ में मुरली एवं लकुट लिए खड़े हैं। दर्शन करके जीवन सफल हो गया, सार्थक हो गया, अलभ्य लाभ मिला। साधना सफल हो गई। वृन्दावन वास एवं सन्त सेवा सफल हो गई। जीवन कृतकृत्य हो गया, अब कुछ पाना शेष नहीं रहा, साधना की सिद्धि हो गयी, दूसरे ही क्षण वह मन्द मुस्कान वाले, पीताम्बरधारी मोर मुकुटधारी, त्रिभंगी लाल जी लोप संज्ञा को प्राप्त हो गये। इस प्रकार प्रभु अनेक रूपों में आनन्दित करते रहे।

बात बहुत पुरानी है जब कुटिया में थोड़े सन्तों की रहने की व्यवस्था थी। एकबार कुटिया में सौ-सवा सौ सन्तों का भण्डारा हुआ। प्रसाद बना था बूँदी, पूड़ी, साग। पंगत जब बैठ गयी तब पचास-साठ सन्तों की जमात आ गयी। रसोईया आपस में चर्चा करने लगे कि

अब क्या होगा ? सामान सीमित है। सन्त ज्यादा हैं ? सेठ जी घबड़ा गये, क्या किया जाय ? (सेठ जी अब भी जीवित हैं, जिन्होंने भण्डारा किया था) महाराज जी बोले कि पंगत क्यों नहीं फेरते हो ? तब सन्तों की जमात की चर्चा हुई आपने निश्चिन्त भाव से कहा कि जो सन्त आये हैं, वह अपना भाग्य लेकर आये हैं और हम तो ठाकुर जी के सहारे हैं, वही पूर्ति करेंगे। आप सब पंगत परोसें महाराज श्री अपने हाथों से सामान भर कर देते रहे। रसोईया केवल पंगत फेरते रहे, पंगत पूर्ण हो गयी और दस सन्तों के पाने लायक प्रसाद बच गया, इस घटना से सभी आश्चर्यचकित रह गये, सबने यही कहा कि सबकी लज्जा प्रभु बचाते हैं। वे विश्वम्भर हैं, उन्होंने ही पूर्ण किया है, आगे भी करते रहेंगे, जीव तो निमित्त मात्र हैं। इससे इस भाव को बल मिलता है कि सन्त की सेवा भगवन्त करते हैं और पूज्य महाराज जी कहते थे कि–"सन्त की सेवा भगवान की सेवा है।"

एकबार की घटना है सर्दियों का मौसम था, ठण्ड अपने चरम पर थी। चतुर्दिक सिहरन एवं ठिठुरन का वातावरण था, रात्रि के बारह बजे महाराज जी को अचानक सर्दी लगने लगी। आप अपने मन में सोचने लगे कि यही रजाई मैं नित्य प्रति ओढ़ता हूँ, कभी सर्दी नहीं लगती, आज क्या बात है ? इतने में एक मधुर स्वर सुनाई पड़ा। बाबा ! बाबा ! हमें भी ठण्डी लग रही है, फिर क्या था आप उठे मन्दिर खोलकर देखा तो लाल जी के ऊपर से रजाई सिखक कर नीचे पड़ी है। आपने पुनः रजाई ओढ़ा दी तथा क्षमा याचना की। प्रातः पुजारी जी से आपने निवेदन किया कि रात्रि में ठीक से वस्त्र ओढ़ाया करें। आज प्रभु को सर्दी लगी है। लाल जी को रजाई ओढ़ाने के बाद महाराज जी की सर्दी स्वतः दूर हो गयी। कुटिया बिहारी सरकार की पूज्य महाराज जी से कैसी-कैसी लीला चलती थी वे ही जानें। "सोई जानइ जेहि देहु जनाई।"

आप भारतवर्ष की विभूतियों में अन्यतम रहे। आप जैसे सन्तों को भगवान कृपा करके भेजते हैं, जो अपने त्याग, तपस्या, भजन, साधना, सेवा, पूजा, भक्ति के द्वारा हम सबको शिक्षा देकर परमार्थ पथ का पथिक बनाकर चले गये, अब चलना हम सबको है। अब ऐसे सन्तों का दर्शन बड़ा दुर्लभ है। अन्तिम समय तक जो भी दर्शनार्थ आता हाथ के इशारे से संकेत करते कि इन्हें प्रसाद पवाओ, बिना प्रसाद के कोई खाली हाथ नहीं जाता। यदि कोई सन्त ब्राह्मण, व्रजवासी दर्शनार्थ आते तो उन्हें प्रसाद के साथ दक्षिणा अवश्य देते थे।

गोलोकगमन के एक वर्ष पूर्व आप कुछ विशेष ही अस्वस्थ हो गये थे। पूज्य महन्त श्री भगवानदास जी महाराज ने श्री सुतीक्षणदास जी से कहा कि जगन्नाथदास जी को बुलाओ, आपने मुझे फोन किया। मेरे राम तत्काल पहुँचे। दण्डवत् प्रणाम की औपचारिकता के बाद बोले महाराज जी की तबियत खराब है। डॉक्टरी दवा से कुछ लाभ नहीं हो रहा है, क्या करना चाहिये ? हमारे राम बोले कि महाराज जी के हाथ से संकल्प कराकर श्री रामचरितमानस का अखण्ड पाठ, श्रीमद्भगवद् गीता का अखण्ड पाठ, श्रीमद्भागवत जी का अखण्ड पाठ एवं श्री भक्तमाल जी का अखण्ड पाठ, अखण्ड ज्योति के साथ करना चाहिए। आपने अविलम्ब स्वीकृति दे दी। आनन-फानन में सम्पूर्ण तैयारी करके दो घण्टे के भीतर चारों पाठ प्रारम्भ हो गये। आपने (श्री महन्त भगवानदास जी महाराज) कहा कि ये चारों पाठ तो चल रहे हैं और भी कोई उपाय हो तो सोचकर बताओ, वह भी करेंगे। रात्रि में विचार आया कि गोदान, महामृत्युञ्जय का सवालक्ष जप एवं रुद्राभिषेक हो जाये तो अच्छा रहेगा। प्रातःकाल मेरे राम ने जाकर निवेदन किया—आपने बिना न नु न च के स्वीकार कर लिया और बोले जाओ अभी ब्राह्मणों को ढूँढ़कर बात करलो, यथाशीघ्र प्रारम्भ करा दो। महाराजजी के लिए जो श्री कुछ करना हो हम सब करेंगे खर्चे की चिन्ता नहीं करना। वर्षा हो रही थी। छाता लेकर मेरे राम गये ब्राह्मणों से बात की अगले दिन से जप एवं अभिषेक प्रारम्भ हो गया, गोदान भी हो गया। महाराज जी स्वस्थ हो गये। जब महाराज को यह जानकारी हुई कि मरे निमित्त श्री भगवानदास जी ने महामृत्युञ्जय जप कराया है, तो वह बड़े नाराज हुए कि इस नश्वर शरीर के लिए भगवान को कष्ट क्यों दिया ? क्या यह शरीर अमर रहेगा ? परन्तु भगवानदास जी ने जो किया, वह उनका कर्त्तव्य था, अपने कर्त्तव्य का पालन किया, आप जैसे सेवा भावी और आज्ञाकारी शिष्य का मिलना बड़ा दुर्लभ है।

गोलोक गमन के पूर्व तीन वर्ष तक आप यमुना पार गोशाला के साधना कक्ष में आराधनारत रहे, इस अन्तराल में आपका कहीं भी आवागमन नहीं हुआ।

भगवत् कृपा से अनुष्ठान सफल रहा। इस प्रकार आप अपनी पुरानी साधना-स्थली श्री सुदामा कुटी में एक वर्ष तक साधना, ध्यान में निमग्न रहे।

जिस संसार में हम निवास कर रहे हैं, वह नाशवान है, परिवर्तनशील है, एक जैसा चिरस्थाई नहीं रहता। इस संसार में जो जन्म लेता है उसे मरना अवश्य है, और जो मर गया है उसे जन्म भी लेना है। गीता में श्याम सुन्दर कहते हैं—"जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु ध्रुवं

जन्म मृत्यस्य च।'' इस संसार में जो आया वह गया, यहाँ तक कि बड़े-बड़े अवतारी पुरुष, महापुरुष, योगी, यती, तपस्वी, त्यागी, दीर्घजीवी राजे, महाराजे। परन्तु संसार में आकर प्रभु की प्राप्ति करना सर्वोपरि है। जो प्रभु की भक्ति करते हैं जप, तप, साधन सेवा करते हुए जीवित हैं उन्हीं का जन्म सफल है, और मृत्यु भी उसी की सराहनीय एवं सफल है जो भगवद् नामोचारणपूर्वक मरते हैं, जैसे दशरथ जी महाराज—

राम-राम कहि राम कहि राम-राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राऊ गयऊ सुर धाम।।

जिसके जीने पर ब्राह्मण, मित्र, स्वजन सम्बन्धी, साधु पुरुष सुखी हों उसी का जीना (जीवन) सफल है, अपने लिए कौन नहीं जीता है।

जीविते यस्य जीवन्ति विप्राः सुहृद साधवाः।
सफलं जीवनं तस्य आत्मार्थें को न जीवति।।

ऐसे ही महापुरुष श्री सुदामादास जी महाराज थे, जिन्होंने लोक-परलोक दोनों बना लिए और हमें रास्ता दिखा दिए—

''लोक लाहु परलोक निबाहू''

अन्तिम महाप्रयाण यात्रा—उपर्युक्त प्रकार से भजन, साधना, सेवा सुमिरण करते हुए महाराज श्री सुदामा कुटी में संवत् २०६२ श्रावण कृष्णपक्ष द्वादशी को रात्रि ११.३५ बजे राम शब्द का उच्चारण करते हुए देवायु १०६ वर्ष प्राप्त करके भगवद् धाम को चले गये।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि श्री भगवानदास जी एवं श्री सुतीक्षणदास जी ने जब देखा कि महाराज जी की तबियत ज्यादा खराब है तो आप सब सेवा में तत्पर हो गये, दिन-रात पास में रहकर सेवा करते और कराते रहे। उक्त तिथि को महान्त श्री भगवानदास जी महाराज ने कृपा करके दास को बुलवाया। मरे राम ९ बजे पहुँच गये। अन्तिम सेवा तथा दर्शन का सौभाग्य मिला, इसे उनकी अपार कृपा मानता हूँ, इस नश्वर शरीर का परित्याग करके भगवद् धाम जाते ही सन्तों, भक्तों, शिष्यों में हर्ष एवं शोक दोनों युगपद व्याप्त हो गये। हर्ष इसलिए कि रामनाम उच्चारण करके भगवद्धाम गये।

''जनम-जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं।''

शोक इसलिए कि सद्गुरुदेव का वियोग जो हुआ, यह स्वाभाविक था। बड़ा ही करुण दृश्य उपस्थित हुआ। सबने धीरज से काम लिया। रात्रि के १२ बजे अयोध्या श्री

मणिरामदास जी की छावनी के पूज्य महान्त श्री नृत्यगोपालदास जी महाराज को फोन द्वारा ही भगवानदास जी महाराज ने रुदन करते हुए बताया कि महाराज श्री हम सबको अनाथ छोड़कर भगवद्धाम चले गये। जब तक आपका आगमन नहीं होगा, हम अन्तिम संस्कार नहीं करेंगे। आपने रात्रि को १२.३० बजे अयोध्या से वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर दिया। यहाँ पर महाराज जी के पार्थिव शरीर को भक्तमाल भवन में बर्फ से आविष्ट करके तख्त के ऊपर रख दिया गया था। रात्रि में ही सभी सन्तों एवं भक्तों को फोन से सूचित कर दिया गया। प्रातःकाल से ही सबका आगमन प्रारम्भ हो गया। वृन्दावन में आपके गोलोक गमन की सूचना सुनते ही सम्पूर्ण व्रजवासी आबाल, वृद्ध, नर, नारी अपनी श्रद्धा सुमन अर्पित करने के लिए पंक्तिबद्ध हो गये। जनता की इतनी भीड़ हो गई कि भक्तमाल भवन का परिसर छोटा पड़ गया। पुष्पमालाओं का अम्बार लग गया। सभी लोग अश्रुपूरित नेत्रों से श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे। हरिद्वार, ऋषिकेश, उत्तरांचल, अयोध्या, काशी, चित्रकूट से सन्त-महान्त आकर अपनी श्रद्धा सुमन अर्पित कर रहे थे। २.१५ मिनट पर छावनी के पूज्य महान्त श्री नृत्यगोपालदास जी महाराज ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

उसके बाद श्री महाराज जी का विमान नगर भ्रमण के लिए निकल पड़ा। विमान में महाराज श्री का शिरोभाग इतना चकमता था, तेज इतना बढ़ गया कि ऐसी चमक सजीवता में भी नहीं थी। आपकी अन्तिम नगर भ्रमण महायात्रा में इतना जन सैलाव उमड़ पड़ा कि दो-ढाई किलोमीटर लम्बी कतार लग गई। सभी व्रजवासी आपके अन्तिम दर्शन की अभिलाषा से अपने घरों के बाहर आकर प्रतीक्षारत थे। श्री बाँकेबिहारी जी के सामने पहुँचने पर आपके लिए श्री बिहारी जी ने अपनी प्रसादी माला और गोटे जड़ी इकलाई सेवायत गोस्वामी जी द्वारा भिजवाईं, जिन्हें धारण कर आपकी शोभा और अनूठी हो गई। आप सबको सफल मनोरथ करते हुए भ्रमण करते हुए वंशीवट श्री यमुना तट पर पहुँचे, जहाँ पहले से ही चिता सजाकर रखी गई थी। जिसमें कुंटलों चन्दन की लकड़ी, मनो कपूर, कई पीपे देशी घृत, और भी बहुत सुगन्धित द्रव्य थे। श्री रामानन्दीय श्री वैष्णव परम्परा के अनुसार महान्त श्री भगवानदासजी महाराज ने मुखाग्नि दी तथा अन्तिम संस्कार किया। यमुना तटपर लगभ दस हजार भक्तों की भीड़ थी, ऐसी भीड़ किसी भी सन्त-महान्त की अन्तेष्टि में नहीं देखी गई। एक मेला सा लगा हुआ था।

श्री रामानन्दीय विरक्त श्री वैष्णव परम्परा के अनुसार महान्त श्री भगवानदास जी महाराज ने सत्रहवीं भण्डारा बड़े ही धूमधाम से महोत्सव पूर्वक मनाया, जिसमें श्रीमद्भागवत

का पाठ, श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का पाठ, श्रीरामचरितमानस का पाठ, श्रीगीताजी का पाठ, श्रीभक्तमाल जी का पाठ, नारायण बलि कथा, सत्संग, रामलीला, रासलीला, नवदिवसीय गोलोक गमनोत्सव मनाया गया। इस उत्सव में सन्त नित्य प्रसाद सेवा करते थे। छः दिन तक भण्डारे का आयोजन हुआ। प्रथम दिवस वृन्दावन के सभी महान्त, मण्डलेश्वर, मुख्य विद्वान्, विप्र वृन्द तथा बाहर से आमन्त्रित सन्त, महान्त, वृन्द।

दूसरे दिन षड्दर्शन साधु समाज का झरा भण्डारा तथा वस्त्र दक्षिणा सहित। तीसरे दिन ब्राह्मण चार-पाँच हजार चिट्ठी देकर भोजन, वस्त्र, दक्षिणा देकर सत्कार किया गया। चौथे दिन स्कूल के छोटे बच्चे, ग्वाल-बाल जिनमें श्याम सुन्दर मिलकर खेलते हैं। उन्हें भोजन, दक्षिणा से सम्मानित किया। पाँचवे दिन बंगालिन माताऐं, मँगता, रमते राम, फक्कड़ इनका भी भोजन दक्षिणा से सत्कार किया गया। छठे दिन वृन्दावन-बन्धु सफाई कर्मचारियों को भी भोजन दक्षिणा से सम्मानित किया गया। श्री महाराज जी के ही अनुरूप उनका वृहद् गोलोक गमनोत्सव मनाया गया, जो वृन्दावन में अभूतपूर्व एवं अद्भुत था।

श्री सुदामादास जी महाराज की विशेषताएँ

१. भजन, पाठ, पूजा, जप, तप, साधना जो आपने अपने प्रबल वैराग्य काल में अपनाया, उसे अन्त तक निभाया, नियम को घटाया नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ाया, यही सफल साधक का लक्षण है।

२. किसी भी विषम परिस्थिति में कभी विचलित होते नहीं देखा गया, यह है भगवान् पर भरोसा एवं आत्मबल।

३. जब भी देखा गया, जप करते, पाठ करते, हवन करते, पूजा करते मिलते थे। समय का सदा ही सदुपयेग किया।

४. कटु शब्दों का प्रयोग कभी नहीं देखा गया, सामने वाला व्यक्ति कितना भी अपराधी हो।

५. अपशब्दों (गाली) का प्रयोग कभी किसी ने सुना ही नहीं।

६. कभी भी किसी की निन्दा आपने अपने मुख से नहीं की।

७. कोई भी सन्त या भक्त आपके पास आते उनसे आप भगवान् की चर्चा या भक्तमाल के भक्तों की ही चर्चा करते। सांसारिक काम-काज, गृह-सम्बन्धि चर्चा नहीं करते।

८. आपके दर्शनार्थ जो भी आता खाली नहीं जाता, कुछ न कुछ प्रसाद अवश्य मिलता।

९. आप दो बातों पर विशेष ध्यान देते थे—पहला - मृत्यु को हमेशा याद रखो और दूसरा—भगवद् स्मरण सतत् बना रहना चाहिए।

दो बातन को भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण एक मौत को दूजो श्री भगवान्।।

१०. आपका ऐसा मृदुल कोमल स्वभाव था कि कभी किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं किया, वाद-विवाद से सर्वथा दूर रहते थे। आपने किसी से कभी शत्रुता नहीं की, इसलिए बैरी भी आपकी प्रशंसा तहे दिल से करते थे।

११. ब्रज में तथा ब्रजवासियों में आपकी अटूट श्रद्धा थी। ब्रजवासियों को आप श्रीकृष्ण के परिकर वृन्द करके मानते तथा यथा साध्य सेवा भी करते थे।

१२. गुरु भक्ति आपकी विलक्षण थी, जब आपके श्री गुरुदेव भगवान् का चित्र आपको दिखाया गया तो आप भाव विह्वल हो गये, किसी अतीत की कल्पना में खो गये। आँखों से अश्रुपात होले लगा एवं बोले कि आज ७० वर्षों के बाद श्री गुरुदेव भगवान् का दर्शन हुआ है।

१३. जिन्हें हम साधारण बन्दर कहते हैं, श्री महाराज जी उन्हें हनुमान जी के रूप में देखते थे, तथा सेवा भी करते थे।

१४. इतना सब कुछ वैभव होने पर भी आप अपने ऊपर बहुत कम खर्च करते थे। कहते थे यह सब तो सन्तों के भाग्य का है। हमारा इसमें कुछ नहीं है।

१५. पूज्य महाराज जी सदा दूसरों को खिलाकर प्रसन्न होते थे खाकर नहीं। महाराज जी में सद्गुण अनन्त थे। उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भगवान् श्री राम नारद जी से कहते हैं—

सुनु मुनि साधुन के गुन जेते।
कहि न सकहि शारद श्रुति तेते। (मानस)

केवल कतिपय गुणों का ही संक्षिप्त वर्णन है।

***

श्री गणेशदासजी भक्तमाली जी की संक्षिप्त जीवनी

सीतापुर जिले के परम पवित्र नैमिषारण्य क्षेत्र में मिश्रिख तीर्थ के पास गोमती तट पर कुरसी ग्राम में कान्य कुब्ज कुलोत्पन्न श्रीलक्ष्मणप्रसादजी त्रिपाठी निवास करते थे। आपकी धर्म पत्नी का नाम सुश्री कैलाशी देवी था। उनके पिता (नानाजी) परम वैष्णव थे। वे बड़ी छावनी अयोध्या के शिष्य थे। कालान्तर में उनकी प्रेरणा से सभी लोग छानवी के शिष्य हो गए। विवाहोपरान्त कुछ दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। एकबार श्रीअवध-धाम की यात्रा हुई। दम्पत्ति ने तत्कालिन श्रीमहान्तजी के चरणों में प्रणाम करके अपने मनोभाव को व्यक्त करना चाहा कि स्वयं बाबा ने कहा आप दोनों सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाले नैमिषारण्य में जाकर अभी जो फाल्गुन शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से द्वादशी तिथि है उसमें सम्पन्न होने वाले पयोव्रत का अनुष्ठान करें। गुरुदेव की आज्ञा से आपने नैमिषारण्य में जाकर विधिवत् व्रत का अनुष्ठान किया, ब्राह्मण भोजन वैष्णवाराधन करके शुभाशिर्वाद लिया। व्रत के फलस्वरूप पत्नी ने गर्भ धारण किया और पौष शुक्लषष्ठी सम्वत् १९७५ को पुत्रका जन्म हुआ। पुत्र जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। बालक का नाम गयाप्रसाद रखा गया। बाल्यकाल में ही बालक के अध्यात्म-लक्षण प्रगट होने लगे।

आठ वर्ष की आयु में बालक का विधिवत् यज्ञोपवित संस्कार हुआ। अब बालक गाँव की पाठशाला में पढ़ने लगा। कक्षा ४ तक हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही भाषाओं का अध्ययन हुआ। गाँव के पास ही एक संस्कृत पाठशाला खोली गई। ४-६ विद्यार्थियों के साथ आप पढ़ने जाने लगे। पढ़ाई में मुगल सभ्यता का प्रभाव था, नृशंशतापूर्वक पिटाई होती थी। अतः आप काशी अध्ययन के लिए चले गये। कान्यकुब्ज संस्कृत विद्यालय में मध्यमा व्याकरण से उत्तीर्ण किये। इसी अन्तराल में समय निकालकर पं. श्रीनृसिंहजी द्विवेदी से भागवत पढ़ने जाते थे। श्री भागवत श्रवण से आपको वैराग्य उत्पन्न हो गया, संसार नश्वर प्रतीत होने लगा अतः अध्ययन छूट गया।

प्रवलवैराग्य—सत्पात्र में ही भक्तिज्ञान वैराग्य ठहरता है। भगवत शरणागति को ही जीवन का परम् पुरुषार्थ विचारकर अब आप अत्यन्त गम्भीर रहने लगे। अपने हृदय का भावबोधकपत्र आपने अपने पिताजी को लिखा। उत्तर में पिताजी की स्वीकृति मिल गई। यह कोई साधारण बात नहीं थी। पिताजी ने लिखा कि प्रत्येक जीव को अपना परम् कल्याण करने का पूर्ण अधिकार है।

घर छोड़े जो हरि मिले तो घर छोड़ो सौ बार।
घर छोड़े घर-घर फिरे तो घर कहा बिगार।।

इस स्वीकृति से आपका वैराग्य प्रबल हो गया। अपनी पुस्तकें विद्यार्थियों को वितरित करके, काशी श्रीविश्वनाथजी को प्रणाम करके, पैदल ही विन्ध्याचल पहुँच गये। वहाँ कुछ काल निवास करके प्रयाग आगये। त्रिवेणी स्नान करके चित्रकूट आगये। यहाँ श्रीरामचरित मानस की गूढ़ार्थ प्रकाशिका टीका के लेखक श्रीरामाधीन पण्डितजी के शरणापन्न हुए। पण्डित जी ने मन्त्र, कण्ठी, तिलक देकर साधन-भजन का उपदेश किया। उन्होंने अयोध्या जाने का मार्ग-दर्शन किया। वहाँ से चलकर मुड़ारा इत्यादि स्थलों में निवास करते हुए राम राजा की नगरी ओरछा में पधारे। यहाँ आपको प्रभू की कृपा का विशेष अनुभव हुआ, जो जीवन-पर्यन्त अनुभव करते रहे। ओरछा में सन्तों की सेवा की कोई जगह नहीं थी, आपको बारबार यह बात खटकती थी। जीवन के अन्तिम क्षणों में बस यही एक इच्छा अधूरी रह गई थी, जिसे आपके शिष्यों व सेवकों ने मिलकर पूर्ण किया। वहाँ से चलकर आप गोवर्धन आये। वहाँ सरपंच बाबा श्रीरामचरणदासजी का सान्निध्य मिला। आपको श्रीअवध हुनमानगढ़ी में लाकर विरक्त दीक्षा हुई। अब आप गयाप्रसाद से गणेशदास जी हो गये। आप हनुमानगढ़ी में दो बार पुजारी बने और श्रीहनुमानजी की पूजा कीये। इसके पश्चात् आप गोवर्धन लक्ष्मण मन्दिर आकर इस मन्दिर का सेवा-कार्य सविधि सम्भाला। तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन में श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमाली से विधिवत् श्रीभक्तमालजी का अध्ययन किये तथा भक्तमाली श्री गिरिधारीदासजी से भक्तमाल श्रवण किये। इन दोनों महापुरुषों में आप गुरुभाव रखते थे। भक्तमाल अध्ययनोपरान्त आप भक्तमालजी की भक्त वल्लभा टिप्पणी लिखे जो बड़ा ही मनोरम है, सर्वगाह्य है। श्रीसुदामाकुटी में श्रीरामेश्वरदासजी रामायणी की रामकथा नित्यप्रति होती थी जो बड़ी मनोहारिणी थी। श्रीरामायणीजी

पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमाली तथा श्रीगिरिधारीदासजी भक्तमाली से भक्तमाल अध्यनन किये तथा भक्तमालजी की वृहद् टीका लिखना प्रारम्भ कर दिये। कुछ खण्ड पूर्ण हो गये, कुछ खण्ड पूर्ण होने वाले थे। विधि का विधान बड़ा विचित्र होता है, आप वृन्दावन छोड़कर गोवर्धन आ गये। इसके आगे का लेखन कार्य भक्तमाली श्रीगणेशदासजी ने किया जो बड़ा ही प्रशंसनीय रहा। चारों खण्डों का प्रकाशन आपकी देख-रेख में होता रहा और भी आपके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं।

जैसे—सूर सौरभ, सूर काव्याञ्जलि, वल्लभदिग्दर्शन, केशव यश चन्द्रिका, चित्रकूट चर्चिका, चित्रकूट चन्द्रिका, श्रीधाम के विग्रह, श्रीगिरिराज चालिसा इत्यादि। आपने व्रजसाहित्य परिषद् की स्थापना किये तथा अध्यक्ष भी रहे।

चन्द्रसरोवर पर सूरश्याम गोशाला के आप संस्थापक एवं अध्यक्ष थे। वहीं पर आपने एक विद्यालय की भी नींव रखी उसके भी आप अध्यक्ष थे। दोनों संस्थाएँ सुचारू रूप से संचालित है। विद्वता के साथ-साथ आप बड़े ही धीर-गम्भीर सन्त थे। किसी भी विषम परिस्थिति में आप कभी क्षोभ को नहीं प्राप्त होते थे। कोई आपको क्षुभित नहीं कर सका। ऐसे धैर्यवान् सन्त विरले ही होते है। आप त्याग-तपस्या की मूर्ति थे। आपका जीवन अनुकरणीय था। श्रीभक्तमाल भवन के निर्माण में आपकी महती भूमिका थी। कुटिया विहारी सरकार में आपकी विलक्षण आस्था थी। जीवन के अन्तिम दिनों में जब आपको अस्पताल से लाया गया तो आप बोले कुटिया में ले चलो ठाकुरजी के दर्शन करेंगे। साथ वालों ने कहा कि अब वहाँ क्या है? क्यों जायेंगे? तब आप एक क्षण के लिए भावुक हो गये और बोले कि कुटिया में मेरा नरा गड़ा है। आप ठाकुरजी के दर्शन करके मलूक पीठ में चले गये। इस प्रकार आप ३०-३५ वर्ष पर्यन्त सुदामाकुटी में निवास किये। साधना-भजन के साथ साहित्य सेवा करते हुए आप सन् २००६ में जेष्ठ शुक्ल पंचमी को इस नश्वर शरीर का परित्याग करके भगवद्धाम को पधार गये।

***

महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्री का संक्षिप्त जीवन-परिचय

श्रीधाममें धामीका दिव्य-परिकर ही निवास करता है, अतः वहाँ सिद्ध, प्रसिद्ध, विद्वान्, कवि और सन्तोंका सर्वदा रहना स्वाभाविक है। उसी परम्परा में महामहिम महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्री श्रीधाम वृन्दावनकी विशिष्टतम विभूति थे। पौष कृष्ण ६ सं० २०४० ता० २५ दिसम्बर ८३ को आपने नश्वर शरीर त्यागकर नित्य लीला धाममें प्रवेश किया। आपका संक्षिप्त-परिचय इस प्रकार है—'वास' ग्राम जिला हिसार में वि० सं० १९७५ माघ शुक्ल वैकुण्ठ चतुर्दशीके दिन प्रकट होकर आपने गौड़ ब्राह्मण वंश एवं हरियाणा प्रान्तको अलंकृत किया। साथ ही भक्तिमती 'श्रीजँजीरीदेवी' जननी और जननीतिज्ञ पं० श्रीतुलाराम नामक जनकको कृतार्थ किया। प्रारम्भिक हिन्दी, उर्दू की शिक्षा प्राप्तकर १२ वर्ष की आयु में संस्कृत अध्ययनार्थ आप श्रीकाशी पहुँच गये। वहाँ ३ वर्ष अध्ययन कर आप श्रीवृन्दावनको आ गये। यहाँ राधारमणीय पण्डितप्रवर श्रीरासबिहारी गोस्वामीसे मध्यमा पर्यन्त व्याकरण का अध्ययन कर श्रीरङ्ग लक्ष्मी विद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ व्याकरण, साहित्य और वेदान्तादि का अध्ययन कर आपने सभी परीक्षायें उत्तम श्रेणीमें उत्तीर्ण कीं। बड़ी-बड़ी विद्वत्सभाओंमें संस्कृतके सुन्दर काव्योंको सुनाकर महाकवि और काव्यतीर्थकी उपाधियाँ प्राप्त कीं। घटिकाशतक एवं आशुकवि होने के साथ-साथ आपकी विशेषता यह थी कि आपकी सभी रचनायें भगवद्भक्ति परिपूर्ण हैं।

इनके दीक्षा-गुरु प्रातःस्मरणीय श्रीमध्वमतानुयायी वैष्णव श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी महाराज थे। उनकी कृपासे आप महान् विरक्त सन्त एवं सख्य-रसोपासक हुए। इनके द्वारा विरचित मौलिक ग्रन्थोंकी सूची इस प्रकार है—

१—(श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य)—इसके नायक दीक्षा-गुरु हैं और इसमें सोलह सर्ग हैं। २—(श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य) अपने गुरु-भ्राताको नायक बनाकर आपने इसे अष्टादश सर्गोंमें निबद्ध किया है। इस दिव्य-महाकाव्यको उत्तर प्रदेशीय भारत सरकारने 'कालिदास पुरस्कार' से सादर पुरस्कृत किया। ३—(श्रीसख्य-सुधाकर)—इसमें सख्य-भावमयी कविताओंके साथ श्रीरूप-सनातनादि कवि मुकुटमणियोंका सूक्ष्मतर इतिहास भी हैं। ४—(श्रीराधारमण-शतक)—इसमें श्रीगोपालभट्टजी की प्रार्थना से शालग्रामशिलासे 'श्रीराधारमण' नामक श्रीविग्रह के प्रादुर्भावका १२० श्लोकोंमें वर्णन है। ५—(श्रीवनमालि प्रार्थना-शतक)—इसमें श्रीवनमाली भगवानकी भावमयी प्रार्थना १३० श्लोकोंमें की गई है। ६—(श्रीभक्त-नाम-मालिका)—इसमें १३१ विविध छन्द हैं। चारों युगोंके प्रसिद्ध सभी भक्तों के नामों का इसमें गुम्फन है। 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' श्रीवृन्दावनसे प्रकाशित भक्तमाल पूर्वार्द्धके प्रथम, द्वितीय संस्करणोंमें और भक्तचरिताङ्क कल्याणमें 'भक्तनाम-मालिका' छपी है जो नित्य पठनीय है। ७—(श्रीमध्वसिद्धांतकणिका)। ८—(अनेक प्रकारके स्तोत्र)। इस कविके जिह्वारूप उदयाचल

पर कवितारूप सविता का उदय इनकी बाईसवीं वर्षकी अवस्थामें ही हो गया था। महाकाव्योंकी रचनायें भी प्रायः उसी समय की हैं।

इनके द्वारा विरचित टीकासे युक्त ग्रन्थ—(श्रीभक्तिमाला, श्रीपद्यावली, श्रीगौरप्रेमोल्लास काव्य, श्रीगोपाल-चम्पू, श्रीआनन्द-वृन्दावन-चम्पू और स्तवरत्ननिधि)। श्रीमहाभारत, श्रीवाल्मीकीय, श्रीहरिवंश पुराणीय और श्रीजैमिनीयाश्वमेधपर्वीय चार सूक्ति संग्रह हैं। अपने निवासस्थान स्वर्गाश्रम श्रीवृन्दावनमें श्रीमध्वगौराङ्ग विद्यालयका उद्घाटन करके छात्रोंके लिए भोजन-वस्त्रादि देकर व्याकरण साहित्य और श्रीमद्भागवतादिका आपने निःशुल्क आजीवन अध्यापन किया। अनेक विद्वान् कविता करके संशोधनके लिए आपके पास आते तो आप विनयपूर्वक उनकी त्रुटियोंको दूरकर उनको सन्तुष्ट करते। श्रीभक्तमालमें आपकी अपार श्रद्धा थी, आपने 'भक्तनाम-मालिका' की रचना ही नहीं की, उसका नित्य-नियमसे पाठ भी करते थे। 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' से प्रकाशित होने वाले इस भक्तमाल से आप पूर्ण सन्तुष्ट थे। बड़े आदरके साथ आपने अपनी शुभ-सम्मति दी जो पूर्वार्द्ध भक्तमाल में प्रकाशित है। नित्य-अवकाश निकालकर भक्तमाल का अध्ययन करते थे। शरीर अस्वस्थ होने से और नेत्रों के कमजोर होने पर दूसरों से बँचवाकर भक्तमाल का श्रवण करते थे। '(बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है)।' इस श्रीप्रियादासकी उक्तिको पूर्ण सत्य मानकर श्रीभक्तमालका गौरव वर्णन कर बड़े प्रेम से प्रेमियों को सुनाते थे। समीपवर्ती परिचारकोंने बताया कि शरीर छोड़नेसे एकदिन पूर्व आपने श्रीअङ्गदजीका '(अभिलाष भक्त अङ्गद कौ पुरुषोत्तम पूरन कर्यौ)' (छ० ११३) यह चरित्र सुना तो आपको ऐसा प्रेमावेश आया, जिसे आप रोक नहीं सके। विह्वल होकर ऐसे प्रेमको प्राप्त करने की अभिलाषा करते हुए बहुत देर तक रुदन करते रहे। भक्तकी भक्तिमें अनुराग करने वाला निश्चित ही उस भक्तिका भागीदार होता है। यशः शरीर से आप सदा अजर-अमर हैं। 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' इस भगवदुक्ति के अनुसार भक्तका नाश नहीं होता है। अजर-अमर महाकवि के श्रीचरणोंमें शत-शत वन्दन।

श्रीकृष्णमित्रं गुरुभक्तदासं निकुञ्जवृन्दावनधामवासम्।
महाकविं काव्यरसस्य रासं नमाम्यहं श्रीवनमालिदासम्॥

दासानुदास—गणेशदास

सन्त-वदना

दो०— सन्त सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरण रति देहु॥
वन्दौं सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोय।
अञ्जलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय॥

—श्रीतुलसीदासजी

अकारादि वर्णक्रम से श्लोक-सूची

श्लोक	पृष्ठ
(अ)	
अनन्याश्चिन्तयन्तो	६१
अकालमृत्यु हरणं	६३
अनेकधर्म	९४
अनाढ्यतैवा	१०१
असन्तुष्टस्य	१२०
अनाराध्य राधा	१२४
अप्रतिबोधे	१३१
अनिमित्ता भागवती	१४३
अनन्य साध्ये	१५०
अथ चेत्त्वमिमं	२४३
असन्तुष्टा	२४४
अणुभ्यश्च महद्	३०८
अक्ष्णोः फलं त्वादृश	३१५
अक्रोधवैराग्य	३२८
अनाश्रितः कर्मफलं	३३९
अयोध्या मथुरा	३५४
अहो मधुपुरी	३५४
अखण्डमण्डला	३७५
अनेकसंशयो	३८२
अत्यन्तकोपः	४६६
अकिञ्चनत्वं राज्यं	४८०
अकिञ्चनस्य	४८२
अद्वैतवीथी	५२१
अतिथि र्यस्य	५४३
अनपेक्ष शुचिर्दक्ष	५४३
असारसंसार	५७१
अस्तिः प्राप्तिश्च	५९५
अन्तकाले च	६४०
अस्माकं बान्धवा	६६४
(आ)	
आनन्द कानने	४७
आकृष्टे युधि	७१
आचाराल्लभते	२५७
ईर्ष्या जुगुप्सा	२५७
आचारः परमो	२६१
आचार हीनं न	२६१
आयुः श्रियं यशो	३७७
आत्मोचितै	३८२
आत्मनो मुख	४२१
आत्मानं यदि	४६१
आश्रितमात्रं	४७०
आत्मानं चेद्	४८४
आशादत्तं न	५०३
आदित्यस्य गता	५३२
आशापाशशतै	५४९
आशा नाम नदी	५४९
आद्यं मधुवनं	६४८
आचार्यं मां	६८८
आचार्यो ब्रह्मणो	६८८
(इ)	
आचारात् विच्युतो	२५७
इष्टे स्वारसिकी	३८५
इन्दुः क्व क्व च	६४१
इत्येतत् पुण्य	६६६
(उ)	
उत्पथश्चित्त	४६०
ऊर्ध्वबाहुर्विरो	४७२
उत्तमस्यापि	५४१
(ए)	
एक एव सुहृद	२३६
ऐश्वर्यस्य	४३६
एकेनापि सुवृक्षेण	४६४
एकेन शुष्कवृक्षेण	४६४
एषां घोषनिवासि	६४७
(क)	
केयूरा न विभूषयन्ति	८३
काम क्रोध महालोभ	१०१
किं तेन हेम	११०
कृष्णोऽन्यो	१२६
क्रियमाणे कर्मणीदं	२०२
क्वचिद्रुदति	२२७
कान्तमायान्त	२४८
काषायग्रहणं	२७१
कच्चित् तुलसि	२७८
कृष्णे रताः कृष्ण	२७९
कनककमल	३९१
कीटेषु पक्षिषु	४८५
कदा नु वृन्दावन	५२४
काष्ठभार	५४१
कृतार्थौ पितरौ	५५६
क्षीरेणात्मगतो	५६२
कृच्छ्रेणामेध्य	५७१

श्लोक	पृष्ठ
कृशः काणः खञ्जः	६०७
क्लेशघ्नी शुभदा	६९२
कल्पद्रुमः कल्पित	७००
(ग)	
गोप्यः कृष्णे वनं	२०७
गोब्राह्मणहितार्थाय	२४५
गाढानुरागभर	३१८
गुणैरुत्तमतां	३७२
गृहे पर्यन्तस्थे	३९४
गोप्यस्तु श्रुतयो	४१३
गीत्वा च मम	४७१
गोपालाजिर	६४४
(घ)	
घृष्टं घृष्टं	४३६
घर्माम्भोमणि	५२६
(च)	
चरितं रघुनाथ	२
चलाचलेति	२१९
चतुर्णामपि	२६१
चन्द्रोदये चन्द्र	४०१
चेतोहरा युवतयः	४०५
चेतश्चञ्चलतां	४७०
चलन्ति तारा	५०३
चित्तह्लादि	५३९
(ज)	
ज्ञानविज्ञान	९२
ज्ञानतः सुलभा	२१७
जिह्वा दग्धा	२६३
जकारोजन्म	३१९
जिह्वे कीर्तय	३९३
जीवञ्छवो	४०२
जन्मना ब्राह्मणो	४२३
जिह्वा न वक्ति	६३३
जनन्युपहृतं	६५४
(त)	
तत्रैव गङ्गा	९९
तावत्कर्माणि	२३०
तवानुभूति	२५५
तव कथामृतं	२८०
त्रैलोक्यवर्ति	३४४
तपः कृते प्रशंसन्ति	३५२
त्रिधाप्येकं सदा	३७२
तस्माच्छास्त्रं	३८२
त्वक्श्मश्रुरोम	४०९
त्रिःसप्तभिः पिता	४१३
त्यज दुर्जन संसर्ग	४२८
त्रिंशल्लक्षं	४६७
तर्कोऽप्रतिष्ठः	४६७
तरन्नि मातङ्ग	४७४
त्यजतः सञ्चयान्	४८०
तृणानि	५४१
तरवोऽपि हि	५६३
तनुं त्यजतु	६४०
त्रिवर्षेषु	६७६
त्वद् भृत्य भृत्य	६८८
तिष्ठते वैष्णवं	६९६
तत्वं चिन्तय	६९९
तं देशं विफलं	७००
(द)	
दर्शनात् हरते	१३१
देवानां गुण	१४३
दाता भोक्ता हरे	१८३
द्वाविमौ पुरुष	१९९
दुराचारो हि	२५७
दृष्ट्वा स्त्रियं	३०१
दातव्यमिति	३४५
देहो वापि धनं	३८३
द्विभुजः सर्वदा	३८४
देहेऽस्थिमांस	४०५
द्वयोर्मनसि	६००
(ध)	
ध्येयं सदा परि	१४८
ध्रुवस्य चोत्कलः	२०१
धर्मं भजस्व	४०५
धन्यं यशस्य	४६४
धनिकः श्रोत्रियो	४७३
ध्यानाभ्यास	५२१
धैर्यं यस्य पिता	५३४
धैर्यं यस्य पिता	५५०
(न)	
निश्चितेऽनन्य	१४९
न कुर्यात्कर्हि	१७०
नैव दशान्न	२१२
नाहं वसामि	२२५
न जातु कामान्न	२३६
नीरक्षीर विवेकेः	२५६
निवृत्तः सर्व तत्वज्ञः	२५७
न केवलं मे भवतश्च	२६४
नृत्यतां श्रीपते	२७३
नाधिगच्छेत्	३०१
नन्दनन्दन पदार	३८८
नास्ति स्त्रीणां	३८८
न काम कर्म	४७३

श्लोक	पृष्ठ
न यस्य स्वः	४७३
निष्किञ्चना वयं	४८०
निष्किञ्चनानां	४८२
न राधिका समा	४८६
न यज्ञैर्दक्षिणा	५४१
नामचिन्तामणिः	५४७
न चौर्यहार्यं	५७९
नाथ योनि सह	५८५
नास्ति कामसमो	६०७
निरपेक्षं मुनिं	६६०
निवासः कान्तारे	६६६
नान्यं वदामि	६८७
(प)	
पण्डिता बहवो	१२०
पठकाः पाठका	१३१
पांसवो द्वारकाया	१६१
पृथ्वीराजावता	१८३
पिवन्ति ये	२१६
पितरं मातरं	२५४
पदापि युवतीं	३०१
पञ्चत्वं तनुरेतु	४१४
प्रिय वाक्य प्रदानेन	४३७
परोपकारः कैवल्ये	४८७
पृथ्वी त्वया	६५७
(फ)	
फुलेन्दीवर	११४
(ब)	
ब्रह्मेति केचिद्	४८६
(भ)	
भर्जनं भव	१२१
भोगा न भुक्ता	१६२
भयं द्वितीयाभि	२३५
भेको धावति	४९०
भक्ते तुष्टे हरि	४९३
भैरवः कौशिकः	५१३
भ्रातस्तिष्ठ तले	५२३
भ्रातस्ते किमु	५२३
भक्त्याऽऽवेश्य	५४८
भेदाभेदौ सपदि	६३४
भ्रातस्तिष्ठ तले	६५३
भोगेन पुण्यं	६७५
भक्त्या त्वदीय	६८८
भक्तानां मम	६९९
(म)	
मन्येऽसुरान्	९८
मन्त्रतस्तन्त्रत	२०२
मन्मना भव	२३०
मत्तं प्रमत्तमु	२४५
मन्त्रे तीर्थे द्विजे	२४७
मदीयानादिकर्म	२५४
मातापितासहस्रे	२५५
मथुराञ्च परि	३४४
मौनान्मूकः	३५०
मनसश्चेन्द्रियाणां	३६५
मातुलो यस्य गोविन्दः	३८६
मज्जन्मनः	६८८
मनस्येकं वचस्येकं	४६४
माहात्म्यं विष्णु	४६४
माधुर्यादपि	४८६
मुरहर ! रन्धन	५०७
मणी वोष्ट्रस्य	६०८
मूर्धन्यर्पित	६५७
मद्भक्ता यत्र	६६४
मल्लिङ्गमद्भक्त	६७५
मृत्युर्जन्मवतां	३८७
(य)	
यद्धात्रा लिखितं	६१
या राका शशि	८७
ये कुर्वन्ति	८८
यो ब्रह्माणं	१४९
यातयामं गत	१७५
यथा हि स्कंध	२१८
याः पश्यन्ति	२२०
यद् यदिष्टतमं	२२०
यदृच्छया	२४३
यो नृत्यति	२७३
ये मानवा विगत	२९५
यां चिन्तयामि	३२६
या निशा सर्व	३३९
यानि कानि च	३७६
यः शास्त्रविधि	३८२
या चिन्ता भुवि	४०४
यावत् कीर्ति	४२७
यथा यथा न	४८०
ये केवलाद्वैत	५१८
ये रामभक्तिम	५१८
यत्रास्ते मणि	५२६
या प्रीतिरविवेकानां	५८५
यत् त्वां साक्षात्	५८५
यद् रोमरन्ध्र	५९७
यशोदया समा	५९७
यः कामानाप्नु	६०८
यं यं वापि स्मरन्भावं	६४०

श्लोक	पृष्ठ
युवयोवैक्तृ	६४६
या षर्मभा	६४६
यो हि भागवतां	६७६
(र)	
रात्रिर्गमिष्यति	३०९
रे चेतः कथयामि	३९४
रे चित्त चिन्तय	४०७
रायः कलत्रं	४२५
राधादास्यम	६४४
राजधानीततः	६४९
रजसा घोर	६७५
(ल)	
लिखिता चित्र	६०
लाभ स्तेषां जय	४६०
लोभश्चेदगुणेन	५९४
लोकस्य गुरवौ	६६४
(व)	
वाल्मीकिस्तुलसी	२
विरक्तो वैष्णवो	९४
वाध्यमानोऽपि	१७१
विषयाविष्ट	१८५
विषयाभिनि	१८५
विजेतव्या लङ्का	३५३
विराजन्तीमभि	३८५
वपुः कुब्जीभूतं	४०४
वन्दे मदनगोपालं	४८६
वयः कैशोरकं	४८६
विश्वामित्रपरा	५२६
वन्दे नन्दव्रज	६४७
वृन्दावनं सखि	६५२
वृन्दारण्ये चर	६५२
विना भक्तचरित्रा	६८२
वरमसि धारा	६९७
(श)	
श्रीमद्भागवतस्याथ	९२
श्रीकृष्णासक्त	९२
श्रीभागवतपीयूष	२०३
शृण्वतां स्वकथां	२१६
शैली दारुमयी	२१९
शुद्धं भागवतस्या	२४०
श्रियः पतिर्यज्ञ	२७८
शुकः सुष्ठु मितं	३१८
शारीरा मानसा	३३६
श्रुतास्मृताकीर्ति	३४४
श्रवणं सर्व धर्मेभ्यो	३६५
श्रुतिर्माता पृष्टा	३८३
श्रीकृष्णदापरं	३८४
श्रुतिस्मृतिपुराणादि	३८४
श्रुतिर्विभिन्ना	३८४
श्रुतिशतनिगमा	४६८
शरीरं सुरूपं	५३२
श्रीमद्वृन्दावने	६४८
शत्रुघ्नश्च मधोः	६४९
शूरसेनो यदु	६४९
श्रुत्वैतच्छ्रद्धया	६६६
श्रुतोऽनुपठितो	६७४
(स)	
स्वयं भागवतो	९३
सर्वधर्मान्	१४९
स्वमातुः स्विन्न	१५९
सत्यं दिशत्यर्थित	१७१
सत्सङ्गेन हि	२०९
सकल भुवन	२१७
सर्वगुह्यतमं	२३०
सर्वधर्मांश्च	२५४
सर्वलक्षणहीनो	२५७
सर्वापद्भ्यो हरे	२५८
साधवः क्षीण दोषा	२६१
स्तोकं स्तोकं	३०८
स्वमतं नैव	३८४
समृग्यः श्रेयसां	३८४
स वै पतिः स्याद	३८९
सत्यमेवेश्वरो	४१९
सानन्दं सदनं	४३७
संसारसिन्धु	४३८
सध्रीचीनो ह्ययं	४६०
सर्वभूतेषु यः	४६१
स्थावरं विंशते	४६७
सदा सन्तुष्ट	४८४
सुखिनि सुख	५१४
सस्वरं सरसं	५१४
सान्द्रा नन्दो	५२३
सिंहोबली द्विरद	५२७
सर्पाः पिबन्ति	५३९
सायन्तनं श्व	५५३
सत्सङ्ग केशवे	६०९
समुद्रवसने	६५७
सदा मुक्तोऽपि	६६९
(ह)	
हे जिह्वे रस सारज्ञे	८३
हृषीकाणीन्द्रिय	१४३
हस्तस्य भूषणं	३५२
हरे भक्तिं सदा	३८३
हेमाभां द्विभुजा	४१४

अकारादि क्रम से पद-कवित्त आदि की सूची

पद/कवित्त	पृष्ठ
(अ)	
अबलौं नसानी	१३
अलप तौं अवधि	७०
अघ संहारिनी	१२९
अधर धरत तृण	१९५
अरे मन वृन्दा	३६०
अगर आलकस	४०४
अगर उबारै	४०५
अरी सुनि नारी	४२५
अगर उभय	४२८
अब तो हरी	५६०
अमल अनूप	६३३
(आ)	
आगम वेद पुरान	३२२
आनि कुरुवंश	३५२
आयौ महा कलियुग	३८७
आजु किशोर	३८८
और कोऊ समुझौ	६१६
आज इन दोउन	६४४
आली सियावर	६८६
(ई)	
ईश्वर बाजीगर	६८५
(ए)	
ऐसी तोहिं न	३३
ऐसो सोच न	५६
ए हो विधना तो पै	२८८
ऐंड्यौ ऐंड्यौ	२९१
ऐसी भीर परे	३५२
एक समै मुरली	६९८
(क)	
काम से रूप	६७
कीरति को मूल	८९
काठ बैठ पाले	११२
कान न करति	१२३
करड़े मचकूंर	१५२
कबहुंक अंग	२११
कबहूंक देखिहौं	२१६
केहि विधि हरि	२१६
कुंवरि कहै	२२२
किते दिन हरि	२२६
कुल की कानि	२२७
क्या इल्म उन्होंने	२७३
कलम को कायथ	४१५
कामी के प्रिय	४१८
कर्क पाप पुंजन	४२३
कह व्रत नेम	५१७
काल कराल	५५५
कोउक निन्दत	५५९
कबहुँ कै हँसि	५९२
कहना प्यार हृदय	६४५
(ग)	
गौर तेज के बिना	३०५
गुरु के प्रसाद	३३५
गुरु मुख की	३३६
गुरुहिं न मानत	४४८
गेह तज्यौ पुनि	५५०
गुरु बिन कौन	६२८
(घ)	
घर घर घाटन	२३३
(च)	
चाह न वा चरचा	१०२
चाहे धन धाम	१२८
चलि मन ढूंढन	२२३
चित्त हरौ सब	२९१
चन्दन घोरिकै	६९८
(ज)	
जाके प्रिय न	४३
जहाँ वाल्मीकि	४५
जिन्हें तू मगन	५७
जो फल ना कुरुक्षेत्र	५८
जग आस किये	१४५
जबते सुनैहैं	१९४
जय राधे जय	२०७
जबही ते कुंवर	२०८
जा दिन ते श्रवन	२०९
जे वसुदेव किये	२८५
जय श्रीबल्लभ	२८६
जाको हरि अङ्गीकार	३२१
जोग जग्य जप	३३१
जिन जिन कर	३५४
जाको मन मोहन	३५७
जैसे गुरु तैसे	३७८
जैसे मीन मांस	३८९
जा शरीर मांहि	३९३
जैसे ससि निसि	४३८
जीवत ही लक्कर	४४७
जगत में जो जन	४६४
जाति न पूछै	४९१
जाको स्वाद परा	५७२

पद/कवित्त	पृष्ठ
जिन हरि गढ़ि	५८८
जमुना पुलिन	६४५
(ड)	
डोलत हैं इक	३०३
डर डारि दिजै	४०८
(त)	
तब ते कहाँ	५६
तुलसीकृत राम	७०
तिलकहिं सत	११३
तुरति विदारिनि	४१०
तेरौ मुख पीयूष	६१३
(थ)	
थिर नाहीं मांगौं	३०५
(द)	
देवसरि सेवौं	४८
दिन दूलह मेरो	१४७
देश विदेश के	१६५
देखो हरिजू को	२३३
दरसैं परसैं अंग	२९१
द्वै गोपिन बिच	४१७
(ध)	
धूत कहौ अवधूत	२
धूत कहौ अवधूत	६९
धन लेहु जन	६३८
धामहू छुड़ाये	६९३
(न)	
न मिटै भव संकट	२
नेह न लागो	१६३
नर तैं जनम पाइ	२४४
नेम करौ तुम	४२०
न लाज कानि	५६३
निंदरिया साँचै	६१३
निशि दिन्न अछिन्न	६३३
नहिं चाहत धन	६३८
(प)	
प्रभु सत्य करी	३७
पन दो इक भोग	६७
पक्षपात धन	११९
प्रीति की रीति	२१३
प्राण दिये बिन	२१७
प्रिय नवनीत	२८७
पाण्डव की रानी	३५२
प्रान जाहु तौ जाहु	४१०
पूरन शरीर राहु	५०४
प्रबोधानन्द से	५३१
प्रथमहिं नर तन	६०६
(ब)	
बन्दौं अवध गोकुल	४१
बुद्धि बड़ी चतुराई	६६
बसी उर जोरी	९१
बात हिलग की	२१२
बसन डसन भये	२१२
वृन्दावन वास	२२४
बिनु हरि शरन	२२६
बांसुरी के बीच	२४८
वेषधारी हरि के	२६७
बीरो रङ्ग अधर	२७८
बैठत रामहिं	३१९
बांभन के मन	३५६
वन्दे श्रीवृन्दावन	३६९
बुद्धि बड़ी चतुराई	४०३
विषयरस पान	५४३
वचन ते दूर	५८१
ब्रजवासी जो सुख	६३५
व्याकुल ही तड़पौं	६४४
वृन्दावन अब	६५३
वृन्दावन साँचो	६९०
(भ)	
भूमिपाल ब्यालपाल	४०
भई अब गिरिधर	२८४
भगति बिन कूकर	४०३
भैरव विलावल	५१३
भावत श्रीगिरिधर	६२८
(म)	
मारुति मन रुचि	४९
मैं हरि पतित	५६
मोरपक्ष धरे	१२३
मीठी वृन्दावन की	२२४
मेरी कुल पूजि	२२७
मेरी अँखियन के	२८८
मोहन मोहिनी	२९२
मैं तोहिं अब	२९२
मन हठ छांड़ि दे	३९४
मनमोहन मूरति	३९७
मेरे प्रानधन	४१८
मोहन चरनारविन्द	४७४
मेरो देह मेरो गेह	५६४
मैं चली री तहाँ	६१७
मधुकर स्याम	६८६
मायामय बेड़ी	६९३
(य)	
युगलवर आवत	१४७
यहि उर माखन	२१७
युगलकिशोर	२२४
यह तो सहल	२३९
यह रस रीति	६८४
(र)	
राम कृष्ण कहिये	४०
रे मन सन्त बड़े	११५

पद/कवित्त	पृष्ठ	पद/कवित्त	पृष्ठ	पद/कवित्त	पृष्ठ
रचि छन्दहि सुद्ध	१८१	सो जननी सो पिता	४४	सुनत नगारे चोट	५८६
राम मातु पितु	४२५	सैन करहु रघुवीर	४६	सुमिरत श्रीरघुवीर	५८६
राम चरण माते	५४३	संकर सहर सर	५३	साँवल वरन गात	६४५
(ल)		सन्त हैं अनन्त	१०६	सबही बड़े	६५९
लोचन रहे बैरी	१९	सखी हौं स्याम	१२३	साधो जो पकरी	६८२
लोचन भये स्याम	२३३	साधो जग में	१३१	सुनी कै सुनाई	६९३
लोभ के सँग	४२८	सूधे कहे तू अबै	१३२	(ह)	
लाल रङ्ग पाग	४३९	सुपनो सो धन	१६२	है हरि ते हरिनाम	१४६
लोह को ज्यौं	५५७	स्याम दृगन की	२०९	हरि ! जेम हलाड़ौ	१७८
(श)		सबते ऊँची प्रेम	२२४	हांसी में विषाद	१८५
श्रीमत्तुलसीदास	३९	साँचे सन्त हमारे	२२९	हेरति बारहिं बार	२१२
शेष महेश गणेश	३०४	साँचो एक प्रीतिहि	२७४	हरि छबि देखि	२३३
शरण श्रीवृन्दावन	३६७	साँचो उपदेश देत	२८१	हौं चरणातपत्र को	२८५
श्याम रङ्ग राँची	४१०	साँची प्रीति बिहारिन	२८९	हमें नन्दनन्दन	३२२
श्रीहरिदेवजू	५६७	स्यामा स्याम	२९२	है नीकौ मेरो देवता	३२९
श्याम श्याम श्याम	६१६	सीताराम नाम	३१९	हरी जस गावत	५५७
श्रीपति दुखित	६७६	सब जग धर्म को	३२६	हम शिष श्यामा	६६५
(स)		सन्त कृपा सुख	४६०	हमारो मन स्यामा	६८६
स्वस्ति श्रीतुलसी	४३	साधो भाई भजन	४७८		

वैष्णव-धर्म

(लेखक – श्रीरामप्रसाद अवस्थी आचार्य)

गौराङ्ग महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी लोगोंने पूछा—प्रभो! वैष्णव कौन हैं? प्रभुने कहा—'(जाँर मुखे एक बार सुनि कृष्ण नाम। सेई वैष्णव ताँर करिओ सम्मान)।।' जिसके मुख से एकबार भी भगवानका नाम सुनो, वही वैष्णव हैं। उन्हींका सम्मान करो। दूसरे वर्ष भी ग्रामवासियोंने वही प्रश्न किया। इस बार महाप्रभु ने कहा— '(कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार बदने। सेइ वैष्णव श्रेष्ठ भज ताहार चरणे)।।' जिनके मुखमें निरन्तर श्रीकृष्णका नाम हो उन्हें श्रेष्ठ वैष्णव समझो और उनके चरणोंकी सेवा करो। तीसरे वर्ष उसी प्रश्नके उत्तरमें गौराङ्गदेव ने कहा— '(जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्ण नाम। ताँहार जानिओ तुमि वैष्णव प्रधान)।।' जिनका दर्शन होते ही दर्शकके मुखमें भगवानका नाम आ जाय। तुम लोग उनको प्रधान वैष्णव समझो। इस प्रकार वैष्णव, श्रेष्ठ-वैष्णव और प्रधान-वैष्णवके लक्षण बताये। वैष्णव-दीक्षा लेकर श्रीविग्रहकी सेवा करें, उन्हें अपना इष्टतम मानें वही वैष्णव हैं। '(विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः)।' '(लिंग पुराणे)' विष्णु शब्दसे राम, कृष्ण और नारायण आदि सभी का बोध होता है। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः।' अर्थात् जो व्याप्त हो उनका नाम विष्णु है। व्याप्ति अर्थ वाचक नुकप्रत्ययान्त 'विष्' धातु का रूप विष्णु बनता है। पुनः—'यस्माद् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः। तस्मादेवोच्यते विष्णुविश धातोः प्रवेशनात्।।' उनमें सभी रमण करते हैं और वे सभीमें रमण करते हैं अतः श्रीराम, विष्णु ही हैं।

रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति राम पदेनैतत् परं ब्रह्माभिधीयते।। (प० पु०)

कृषिर्भू वाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
विष्णुस्तद्भाव योगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः।। (महा०)

'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है और 'ण' आनन्द का। श्रीविष्णुमें ये दोनों भाव हैं। इसलिए वे कृष्ण कहलाते हैं।

नराज्जातानि तत्वानि नारायणेति ततो विदुः।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः।। (महाभारते)

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।। (मन्त्रार्णवे)

महाभारतमें कहा है—तत्व नरसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वे नार कहलाते हैं। वे ही भगवान के अयन, हैं, इसलिए भगवान नारायण कहलाते हैं। मन्त्रार्णव कहता है—जो कुछ भी

जगत् दिखाई या सुनाई देता है, उस सबको बाहर-भीतरसे व्याप्त करके नारायण भगवान स्थित हैं। इन वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि एक ही प्रभु अनेक नाम, रूपोंसे ध्येय और गेय है। विज्ञ वैष्णव अपने इष्टमें परत्व मानकर दूसरे रूपोंको भी अपने इष्टका रूप मानते हैं। श्रीभक्तमालमें सभी रूपोंके भक्तोंको समान मानकर उनका सुयश कहा गया है और भेद-भाव को मिटाकर एकता स्थापित की गई है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उनमें उच्च या नीचका कोई विरोध नहीं होता है। वे विद्या, धन और कुलके गौरवको त्यागकर अपनेको सबका सेवक मानते हैं। 'सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी।।' (रा०)

वैष्णवोंकी साधना सार्वजनिक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। सभी लोग उसके अधिकारी हैं। 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा।' (वै० म०) शरणागतिका द्वार सर्वदा सभीके लिए खुला है। शरणागत का देह, भगवानका रथ है, हृदय, सिंहासन है। उनके चलनेमें परिक्रमा है। बोलने में नाम-मन्त्र जप है, उसकी दृष्टिमें प्रेम और सम्पूर्ण व्यवहारमें पूजा है। ऐसे आदर्श भक्तोंका चरित्र पढ़नेसे भागवत धर्मका ज्ञान होता है और उसमें निष्ठा होती है। विश्वासमय जीवन प्राप्त होता है। अपने लौकिक, पारलौकिक कल्याण की कामना भी भक्तको नहीं सताती है, वह तो सर्वदा विश्व-कल्याणकी कामना करके भगवानका प्रियतम बन जाता है। अतः सुनिश्चित है कि भक्तमालसे समर्थित साधना-पथ, वैष्णव-धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।

प्राप्य पुस्तकें

भक्तमाल : भाषा-टीका एवं व्याख्या सहित (४ भाग) में—

भक्तमाल प्रथमखण्ड
भक्तमाल द्वितीयखण्ड
भक्तमाल तृतीयखण्ड
भक्तमाल चतुर्थखण्ड
द्वादश महाभागवत-चरित
श्रीरामानन्दाचार्य-चरित
अग्र-ग्रन्थावली
अयोध्या-दर्पण
श्रीतुलसी-चरित
वृहद् चित्रकूट-माहात्म्य
श्रीराम-स्तवराज
श्रीभक्तमाल (भक्तिरसबोधिनी)
भक्तमाल (मूल) गुटका छप्पय मात्र
सुदर्शनसिंह चक्र रामायण प्रथम भाग
सुदर्शनसिंह चक्र रामायण द्वितीय भाग
श्रीसीताराम उपासना पद्धति
श्रीप्रियादास ग्रन्थावली
श्रीधाम के विग्रह
श्रीराम स्तुति संग्रह
श्रीअनुभव प्रकाश
श्रीहरिजन प्रमोद रामायण
श्रीचित्रकूट-चन्द्रिका
श्रीचित्रकूट-चर्चिका
श्रीगोस्वामी तुलसीदास गुणकीर्तन
अनुष्ठान विधि
सन्त श्रीसुदामादासजी-
महाराज स्मृति ग्रन्थ
श्रीरामानन्दार्चन पद्धतिः

— एवं अन्य पुस्तकें —

पुस्तक प्राप्ति-स्थल :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, सन्त सुदामादासजी मार्ग, वंशीवट, वृन्दावन (मथुरा)

भक्तमाल-महिमा

जयति भक्तमाला रसाला विशाला। नमो भक्त भगवन्त गीता सुमाला।।
राम उर राजती वैजयन्ती सदा। ज्ञान हरि भक्ति मुद मोद मङ्गलप्रदा।।
प्रेम अरु नेम युत येन गीता यदा। पूर्ण प्रभु प्रीति तेन क्रीता तदा।।
पाप परिताप हित शक्ति काली कराला। जयति भक्तमाला रसाला विशाला।।
भक्त भगवन्त गुरु कीरतन कारिनी। भीम भवभय महादुक्ख दल दारिनी।।
रोग अरु शोक संसार सरि तारिनी। सत्य कविवर्य रसना उपरि चारिनी।।
उज्ज्वला भक्ति रस पञ्च गंगा सुबाला। जयति भक्तमाला रसाला विशाला।।
नाम लीला तथा रूप की गायिका। धाम गुण गोप्य गम्भीर परिचायिका।।
श्रीशिवा शारदा राधिका नायिका। गोपिका प्रेमिका प्रेमपथ दायिका।।
नमो पंच रति रत्नमाला सुमाला। जयति भक्तमाला रसाला विशाला।।
काम मद कोह कलिकाल रस शोषिणी। दुष्ट दुष्कर्म दुर्दैव की दूषिणी।।
अग्र नाभा प्रियादास परितोषिणी। शिष्य सद्‌गुरु सुघर भावना पोषिणी।।
भक्ति पचरंग रंगी सुजाला मराला। जयति भक्तमाला रसाला विशाला।।

राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम
सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम

मूल्य : 400/- रुपये

ISBN 938483605-2

9789384836054